जय श्रीसीतारामजी की

दो शब्द

श्रीसीतारामजी की कृपा से आज पुस्तक-भंडार ने यह तिलक प्रकाशित कर अपना कर्त्तव्य पूर्ण किया है। हमारी बरसों से इच्छा थी कि श्रीरामचरितमानस पर सुन्दर टीका हम जनता के समक्ष उपस्थित करें। इस कार्य के लिये कई विद्वान् सामने आये और टीका लिख डालने की रुचि दिखलाई। एकाध ने तो आदर्श में कुछ लिखकर दिखलाया भी, परन्तु अज्ञात कारणवश हमें सन्तोष नहीं हुआ। यह कार्य यों ही पड़ा रहा और इधर पुस्तक-भंडार की आयु बढ़ती चली गई!

आज से प्रायः चार बरस पहले हमारे मित्र वैष्णव-भूषण 'श्रीपलटलालजी, एम्० ए०, बी० एल्० के यहाँ इस तिलक के रचयिता श्री १०८ महात्मा पण्डित श्रीकान्तशरणजी ने कृपा करके श्रीरामायणजी की कथा कही थी और उसी समय आपके 'मानस-तत्त्व-विवरण' नामक ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ था। प्रभु-कृपा से हमारे हृदय में यह बात आई कि इनसे तिलक लिखने के लिये प्रार्थना की जाय! कई दिनों तक प्रार्थना करने का साहस नहीं हुआ। अन्ततः, कथा समाप्त होते-होते हमने प्रार्थना कर ही दी। श्रीमहाराजजी ने इसे स्वीकार किया और श्रीअवध लौटकर तिलक लिखने में हाथ लगाया। प्रायः ढाई बरसों में, रात-दिन अनवरत परिश्रम कर, प्रभुकृपा से यह तिलक आपने लिखा। इतने दिनों तक आपने भगवद्-सम्बन्धी अपने सभी अन्य नियमों को समेट डाला।

श्रीमहाराजजी ने तिलक तो समाप्त कर दिया, लेकिन वर्तमान युद्ध के कारण इस बृहद् ग्रन्थ के छापने की समस्या जटिल जान पड़ी। संयोग से श्रीमहाराजजी श्रीमिथिलाजी विचरते पुस्तक भंडार में इस विचार से आये कि यदि अभी यह तिलक न छपा तो पीछे कापी का सम्पादन तो दूर रहा, यह नष्ट हो जायगी उनके दर्शन मिलते ही हममें वह स्फूर्ति आई कि उसी क्षण प्रेस को कापी दे दी गई और श्रीमहाराजजी से तिलक समाप्त होने तक प्रेस में ठहरने की प्रार्थना की गई। प्रभुकृपा से आपने स्वीकार कर लिया।

इस महँगी के समय कागज़ और छपाई की सामग्री जुटाना कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव-सा हो गया है। परन्तु, इस तिलक के लिये इसका संग्रह बिना प्रयास होता गया। श्रीमहाराजजी ने भी रात-दिन के अनवरत परिश्रम से ग्यारह महीने यहाँ ठहरकर तिलक के सम्पादन में अपनेको खपा डाला। इस प्रकार आज यह तिलक श्रीसीतारामजी की कृपा से सामने है। हमारी साध पूरी हुई और श्रीमहाराजजी का आशीर्वाद-स्वरूप 'पुस्तक-भंडार' को यह 'तिलक' मिला!

पुस्तक भंडार की स्थायी सम्पत्ति स्वरूप गत २६ बरसों में जितने ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, उनमें यह तिलक शिरोभूषण है और एक एकान्तनिष्ठ महात्मा का आशीर्वाद है। बिना प्रयास के इस गौरव को पाकर यह अपनेको धन्य समझता है।

श्रीमहाराजजी के विषय में हम कुछ लिखना चाहते थे, परन्तु आपने इसके लिये आज्ञा न दी। इतना अवश्य है कि यह तिलक संसार का कल्याण करता हुआ, श्रीमहाराज-जी को संसार से भूलने न देगा।

हम भी अपनेको धन्य मानते हैं कि इतना बड़ा गुरुतर कार्य पुस्तक-भंडार से सम्पन्न कराके श्रीसीतारामजी ने पुस्तक-भंडार पर निर्हेतुकी कृपा की है। हम और यह पुस्तक-भंडार दोनों श्रीमहाराजजी के सदा कृतज्ञ रहेंगे और जो कुछ अपराध समीप में रहने के कारण हमसे हो गया हो उसे अपनी ओर देखकर क्षमा कर देंगे।

श्रीसीतारामजी के उपासकों का चरणरेणु—

ज्येष्ठ शुक्ल २, २००१,

रामलोचनशरण

—॥ श्रीरामः ॥—

श्रीरामचरित-मानस

की

विषय-सूची

बालकाण्ड

विषय	पृष्ठ-संख्या
अपनी दीनता एवं श्रीरामगुण-वर्णन	१६१—१६६
श्रीरामकथा एवं चरित-माहात्म्य	१६९—१८४
श्रीअयोध्याधाम वर्णन एवं रामचरित मानस-अवतार	१८४—१९३
मानस-प्रसंग (कीर्त्ति-सरयू-सहित)	१९४—२४०
श्रीयाज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद	२४०—२५४
उमा-शंभु-संवाद	२५४
सती-मोह-प्रसंग	२५४—२८७
पार्वती-जन्म एवं तप	२८८—३०५
पार्वती-प्रेम-परीक्षा	३०५—३१८
मदन-दहन	३१८—३३०
द्वितीय बार की प्रेम-परीक्षा	३३०—३३४
शिव-बारात-वर्णन	३३४—३३८
उमा-शंभु-विवाह	३३८—३५८
कैलास-प्रकरण	३५८—४१०
उमा-प्रश्न	३५८—३७७
प्रश्नोत्तर	३७७—४१०
अवतार-हेतु	४११—५३८
वैकुंठवासी विष्णु भगवान् के रामावतार का हेतु	४११—४१६
नारद-मोह एवं क्षीरशायी अवतार	४१६—४५०
श्रीरामावतारों के त्रिविध भेद	४५०—४५२
मनु-शतरूपा	४५२—४७६
भानु-प्रताप	४७६—५१६
रावणादि जन्म	५१६—५३८
अवतार और बालचरित	५३८—५७४
विश्वामित्र-आगमन एवं यज्ञ-रक्षा	५७४—५८८
अहल्योद्धार	५८८—५९३
श्रीमिथिला-यात्रा	५९४—६२७
पुष्प-वाटिका	६२७—६६५
धनुष-यज्ञ	६६५—७२७
परशुराम-पराजय	७२७—७६३
श्रीसियरघुवीर-विवाह	७६३—८८६

श्रीसीतारामाभ्यां नमः

भगवते श्रीरामानन्दाय नमः

श्रीमते गोस्वामि तुलसीदासाय नमः

ॐ नमो गुरुभ्यः

उपोद्घात

प्रातःस्मरणीय परम-पूज्य जगद्गुरु श्रीमद्गोस्वामि तुलसीदासजी की भक्ति-रसमयी और जगन्मनोहारिणी वाणी के द्वारा निष्पन्न सर्वमान्य द्वादश ग्रंथ प्रसिद्ध हैं, यथा—"राम-लला नहछू, त्यों विराग संदीपनिहुँ, बरवै बनाइ बिरमाई मति साँईं की। पारबती, जानकी के मंगल ललित गाय, रम्य राम-आज्ञा रची कामधेनु नाईं की॥ दोहा औ कवित्त, गीतबंध, कृष्णकथा कही, रामायन बिनै माँहि बात सब ठाईं की। जग में सोहानी जगदीसहू के मनमानी, संत सुखदानी बानी तुलसी गोसाईं की॥" यह मिरजापुर-निवासी पं० रामगुलाम द्विवेदीजी ने लिखा है। इनमें श्रीरामचरितमानस, गीतावली, कवितावली, विनय-पत्रिका, दोहावली और रामाज्ञा—ये छः बड़े-बड़े ग्रंथ हैं और रामलला नहछू, वैराग्य-संदीपनी, जानकी-मङ्गल, पार्वती-मङ्गल, बरवै रामायण और कृष्णगीतावली—ये छः छोटे-छोटे हैं; (श्रीहनुमानबाहुक कवितावली का ही अंश है।)

श्रीगोस्वामीजी के इन ग्रंथों में श्रीरामचरितमानस एक परम रहस्यमय ग्रंथ है। यह निबन्ध पूर्वक लिखा गया है। इसमें समस्त सद्ग्रंथों का सार तत्त्व अत्यन्त संक्षेप में कहा गया है, जैसा कि—"नाना पुराण निगमागम सम्मतं यत्··" इस ग्रंथकार की प्रारंभिक प्रतिज्ञा से ही स्पष्ट है। यह इतना सरल है कि हिन्दी की साधारण वर्णमाला जाननेवाले भी इसे पढ़कर लाभ उठा सकते हैं, पर इसका आशय इतना गूढ़ और गम्भीर है कि बड़े-बड़े विद्वानों को आजीवन प्रयास करने पर भी सम्यक् रूप से उसका ज्ञान होना अति दुर्लभ है। अभ्यास करने से प्रति दिन नये-नये भाव प्रकट होते रहते हैं। यह केवल नर-काव्य नहीं कहा जा सकता। स्पष्ट कहा भी गया है—"भनिति मोरि सिवकृपा बिभाती।" (बा० दो० १४) "तस कहिहउँ हिय हरि के प्रेरे।" (बा० दो० ३०) एवं "गुरु-पद-रज···तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनउँ रामचरित भवमोचन॥" (बा० दो० १) इत्यादि इन सबकी सहायता से श्रीगोस्वामीजी की दिव्य प्रतिभा के द्वारा यह निष्पन्न हुआ है अतएव इसकी महिमा अपरिमित है। इसी से संसार-भर—कङ्गाल की झोपड़ियों से लेकर राजा के महलों तक—में इसका आदर है।

जिस तरह श्रीगोस्वामीजी ने श्रीरामनामाराधन से श्रीरामजी का साक्षात्कार किया, उसी तरह और इसी साधन से आपने इस 'श्रीरामचरितमानस' को भी प्राप्त किया जिसके द्वारा आपने सारे जगत को अपना लिया है। इस ग्रंथ के कहने पर कोई भी वस्तु ऐसी नहीं रह गई जिसके कहने की आवश्यकता हो। यह प्रधानतया आध्यात्म विद्या का ग्रंथ है, साथ ही इसमें प्रकृति-चित्रण एवं लोक-रीतियों के भी पूर्ण रूप से प्रदर्शन कराये गये हैं।

प्राचीन टीकाकार करुणासिंधु श्रीरामचरणदासजी, श्रीशिवलाल पाठकजी, श्रीजानकीदासजी, श्रीसंतसिंहजी पंजाबी, श्रीहरिहरप्रसादजी, श्रीबैजनाथजी, श्रीवंदन पाठकजी, श्रीहरिदासजी और श्रीविनायकरावजी आदि ने टीकाएँ लिखकर और रामायणी श्रीरामबालकदासजी ने टिप्पणियाँ लिखकर एवं और भी बहुत-से महानुभावों ने इस ग्रंथ पर अपने-अपने विशद भाव व्यक्त किये हैं। पं० रामकुमारजी ने माधुर्य के जितने विशद भाव प्रकट किये हैं, उतने और किसी के नहीं पाये जाते।

ऐसे टीकाकारों एवं रामायणी व्यासों के भाव उनकी कथाओं से लिख-लिखकर, महान् परिश्रम से महात्मा श्रीअञ्जनीनन्दनशरणजी ने मानसपीयूष का निर्माण किया। जिससे जहाँ-तहाँ के लोग भी रामायणी होने लगे; अन्यथा श्रीअयोध्याजी एवं श्रीकाशीजी आदि में टिप्पणियाँ लिख-लिखकर ही होते थे।

उक्त ग्रंथों के रहते हुए भी इस तिलक को सामने रखने की प्रवृत्ति क्यों हुई? इसका उत्तर यह है कि पूर्व के टीकाकारों में मयङ्ककार श्रीशिवलाल पाठकजी, श्रीकरुणासिन्धुजी एवं और भी कई महानुभाव दर्शन-शास्त्र के भारी विद्वान् थे। पर उस समय इस भाषा के ग्रंथ पर दार्शनिक विचारों की दृष्टि से टीका करने की प्रवृत्ति टीकाकारों में नहीं थी। दिनोंदिन इस ओर लोगों की प्रवृत्ति बढ़ती गई। तब कुछ केवलाद्वैत सिद्धान्त के विद्वानों ने मानस पर केवलाद्वैत सिद्धान्त लिखना प्रारंभ किया। तब श्रीरामानन्दीय वैष्णवों की इस ओर विशेष दृष्टि हुई, क्योंकि इनका तो यह ग्रंथ सर्वस्व ही है। श्रीगोस्वामीजी इसी सम्प्रदाय की परम्परा में हैं, इसको सभी जीवनी-लेखकों ने माना है।

कई वैष्णव रामायणियों ने मुझसे कहा कि मानस के सिद्धान्त-निर्णय पर मैं कुछ लिखूँ। पुनः सं० १९९४ में जब मैं श्रीचित्रकूट में था, वहाँ पर न्या० वे० आचार्य पं० श्रीअखिलेश्वरदासजी पधारे, फिर संयोगतः दर्शननिधि श्रीरघुवराचार्य वेदान्तकेसरी (सिगरा) भी वहाँ आये। दोनों विद्वानों के समक्ष मानस के उक्त दोभ पर कुछ चर्चा चली। श्रीरघुवराचार्यजी ने मुझसे दो-एक प्रश्न किये। समुचित समाधान होने पर वे प्रसन्न हुए और उन्होंने सम्पूर्ण मानस की विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त-परक टीका लिखने की मुझे आज्ञा दी। पं० अखिलेश्वरदासजी ने तो यहाँ तक कहा कि आप लिखिये मैं जयपुर में उसे छपवाने का प्रबंध कर दूँगा; इसकी चिन्ता नहीं।

मैंने सोचा कि टीका लिखने में केवल सिद्धान्त-सम्बन्धी बातों से ही तो काम नहीं चलेगा, किन्तु अक्षरार्थ और भावार्थ भी लिखने ही होंगे। अतः, उपयुक्त अवकाश नहीं देखकर मैंने केवल सिद्धान्त-विषय की एक छोटी सी पुस्तक लिखने की इच्छा प्रकट की। चार महीने में 'मानस-सिद्धान्त-विवरण' तैयार हो गया। उसी समय श्रीअयोध्याजी से न्या० वे० आचार्य पं० श्रीरामपदार्थदासजी कुछ समय के

लिये श्रीचित्रकूट में निवास करने आये। आपने इस ग्रंथ का अवलोकन कर उसकी सराहना की। साथ ही आपने भी सम्पूर्ण टीका के साथ इन सिद्धान्तपरक बातों के रखने की ही प्रेरणा की। आपने यह भी कहा कि अवकाशाभाव है तो अक्षरार्थ छोड़ दो, अन्य टीकाओं से पाठक देख लेंगे। इत्यादि।'

यह मानस-सिद्धान्त-विवरण ग्रंथ जब छप गया, तब उपर्युक्त पं० श्रीरामपदार्थदासजी और न्या० व्या० मीमांसाचार्य स्वामी श्रीवासुदेवाचार्यजी 'दार्शनिक सार्वभौम' ने उसपर अपनी-अपनी सम्मतियाँ भी लिखीं और उन्हें साप्ताहिक पत्रिका 'संस्कृतम्' ता० १३-९-१९२८ ई० में प्रकाशित कराया।

मानस-सिद्धान्त-विवरणोपरि-सम्मतिः

श्रीवैष्णव पण्डित श्रीकान्तशरण महोदयेन सम्पादितस्य 'मानससिद्धान्त-विवरणस्य' कतिपयांशो मयेदानीमवलोकितः। मानसे (तुलसीकृत रामायणे) दार्शनिक सिद्धान्तेषु ग्रंथकर्त्ता को वा सिद्धान्तः समादृत इत्यत्र संदिहाना एव बहवो दृश्यन्ते। संदेहमिममपाकर्त्तुं प्रवृत्तनाऽऽधुना साधुना साधीयसीभिः युक्तिभिर्गोस्वामि-पादानां दार्शनिकः सिद्धान्तः विवेचकानां समक्षमानीत इति महानयं प्रमोदविषयः मानसमननशालिनामित्युपगच्छन्ति।

वासुदेवाचार्यः
न्या० व्या० वेदान्त, मीमांसाचार्यः
श्रीअयोध्याजी

(२)

अस्मिन्मानससिद्धान्त-विवरणाख्य ग्रन्थे श्रीगोस्वामिपादानां दार्शनिक सिद्धान्त निश्चयः प्रौढ़प्रमाणेन सद्युक्त्या च सम्यङ् निरूपितो दृश्यते। जीवेश्वरप्रकृतीनां स्वरूपं संसारतरणोपायश्च तथाऽन्यान्यपि साधनान्यैहिकामुष्मिकफलप्रदानि प्रकाशन्ते। एवं च पूर्वपक्ष-उत्तरपक्षरीत्या सिद्धान्तस्य स्पष्टीकरणं सम्यगकारि ग्रन्थकारेण तथाचार्थसौष्ठवं ग्रन्थावलोकनेनैव प्रज्ञाविषयीभूतं भविष्यति। किं बहुना एतद्ग्रन्थपर्यालोचनेन वैष्णव-शिरमौलिमणेराचार्य श्रीगोस्वामि तुलसीदासस्य सैद्धान्तिक रहस्ये कस्यचिदपि शङ्कालेशोपि न भविष्यतीत्यवधारयति।

पं० रामपदार्थदासः
न्याय-वेदान्त-आचार्य
जानकीघाट-श्रीअयोध्याजी।

उपर्युक्त स्वामी श्रीवासुदेवाचार्यजी ने उक्त ग्रंथ को देखकर श्रीगोस्वामीजी के मानस की सिद्धान्त-सम्बन्धी पूरी टीका लिखने की ही आज्ञा दी थी और फिर तैयार होने पर 'सिद्धान्त-तिलक' इसका नामकरण भी आपने ही किया है। आपने यह भी कहा था कि अद्वैत-सिद्धान्त-परक तिलक एक विद्वान् ने तैयार किया है। अत, यह कार्य शीघ्र होना ही चाहिये। इस तिलक में प्रमाणों से इसके सिद्धान्त का समर्थनमात्र किया गया है। दूसरे सिद्धान्तों पर तनिक भी आक्षेप नहीं किये गये हैं।

इसके पश्चात् संयोग से मैं श्रीमिथिला-तीर्थ गया। वहाँ पुस्तक-भंडार के अध्यक्ष रायसाहब श्रीरामलोचनशरणजी से भेंट हुई। मेरे मानस-सिद्धान्त-विवरण के—जो कि पहले ही उनके प्रेस में छप चुका था—अवलोकन से उनकी प्रबल इच्छा हुई कि इस सिद्धान्त के अनुकूल पूरा तिलक मेरा पुस्तक-भंडार प्रकाशित करे; अतः उन्होंने इस तिलक को लिखने के लिये मुझसे अनुरोध किया। उनकी विशेष श्रद्धा देखकर मुझे यह निश्चय हो गया कि ग्रंथ प्रस्तुत होते ही प्रकाशित हो जायगा। पुनः पहले भी उपर्युक्त महान् विद्वान् महात्माओं की आज्ञा थी ही। यही समझकर मैंने लिखने का निश्चय कर लिया। कहा भी है—"गुरु० पितु-मातु-स्वामि-सिख पाले। चलेहु कुमग पग परइ न खाले॥" (अ० दो० ३१४)। यह भी निश्चित है कि साधक की दृढ़ श्रद्धा को भगवान् पूर्ण करते हैं। यथा—"यो यो यां यां तनुं ..तस्या श्रद्धयायुक्तः..." (गीता ७-२१,२२); इसी बल पर मैंने भी यथामति लिखना प्रारंभ कर दिया।

इस तिलक का मुख्य उद्देश्य श्रीरामचरितमानस में निहित विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त दिखाने का है; जो श्रीगोस्वामीजी का हार्दिक अभिप्राय और उनकी गुरु-परंपरा से संरक्षित सम्पत्ति है। साथ-साथ अक्षरार्थ और भावार्थ भी दिये गये हैं कि जिससे भावों के साथ-साथ सिद्धान्त-सम्बन्धी बातें भी सबके सम्मुख आ जायँ। इस तिलक के ऐश्वर्य-प्रसंग—जैसे नाम-वन्दना, पाँच गीताएँ (श्रीलक्ष्मणगीता, रामगीता, भगवद्गीता (धर्मरथप्रसंग), पुरजनगीता, और भुशुंडि-गीता) एवं अन्यत्र के ज्ञान, विराग, भक्ति और प्रपत्ति-प्रसंग आदि—प्रायः आज तक की अन्य टीकाओं से निराले हैं। अपने सिद्धान्त की दृष्टि से श्रुति-स्मृति के प्रमाणों के साथ लिखे गये हैं। शेष माधुर्य के भावों में से अधिकांश उपर्युक्त टीकाओं और श्रीअयोध्याजी के विद्वान् महात्मा और रामायणी लोगों के हैं। क्योंकि इनके बिना सर्व-साधारण को सुगमता नहीं होती। एतदर्थ मैं उक्त महानुभावों का कृतज्ञ हूँ। विस्तार-भय से माधुर्य के भाव बहुत ही सूक्ष्मता से लिखे गये हैं। प्रासङ्गिक चरित भी टीका के साथ ही सूक्ष्म रूप में दे दिये गये हैं।

शङ्का-समाधान प्रायः एक ही प्रधान अर्थ से किये गये हैं। प्रमाण भी सर्वमान्य ग्रंथों के ही लिये गये हैं। आवश्यकता के अनुसार कठिन शब्दों के अर्थ भी स्पष्ट कर दिये गये हैं।

पाठ-संशोधन

पाठ के विषय में प्राचीन प्रतियों में भी बहुत भेद हैं। इसपर विचार करने के लिये श्रीअयोध्याजी के प्रसिद्ध रामायणी श्रीरामबालकदासजी के यहाँ बड़ी छावनी में एक दिन बैठक हुई। वहाँ श्रीअयोध्याजी के और-और रामायणी लोग एवं पं० श्रीअखिलेश्वरदासजी भी उपस्थित थे। इसपर फिर दूसरे दिन पंडितजी के स्थान में पं० श्रीरामपदार्थदासजी वेदान्ती के यहाँ भी उन्हीं लोगों के समक्ष विचार हुआ। यही निश्चय किया गया कि प्राचीन प्रतियों में जहाँ शब्दों का भेद है, वहाँ जिससे अर्थ-सौष्ठव हो वही रक्खा जाय। कवर्गी 'ख' की जगह जहाँ मूर्धन्य 'ष' है, वहाँ 'ख' ही रक्खा जाय। 'राजु' वस्तु, पशु, सबु, आदि के उकार न रक्खे जायँ, क्योंकि किसी प्राचीन प्रतियों में भी इनका सर्वत्र निर्वाह नहीं पाया जाता। प्रायः आधे से अधिक स्थलों में इनका प्रयोग नहीं है। यदि यह कहा जाय कि बैसवाड़ी अवधी भाषा में ऐसे उकारान्त शब्दों का प्रयोग होता है, तो समाधान यह है कि वहाँ 'चोर' को 'चोरु'; 'इनका' को 'इनकेर' न कहकर 'इनक्यार' कहते हैं। अर्थात् 'ओ' का 'वा' और

'ष' का 'ख' प्रयोग होता है। एवं नहाने को 'न्हाना' कहते हैं। ऐसे और भी बहुत-से शब्द हैं, जो मानस में नहीं पाये जाते ; तो हकार-मात्र ही का इतना प्रयोग क्यों रहे ?

पुनः गुरु शब्द का 'गुर' और प्रेम का 'पेम', पाठ भी, कहीं-कहीं है। ऐसे प्रयोग अयोध्याकांड में विशेष रूप से हैं, शेष छः काण्डों में कहीं-कहीं ही पाये जाते हैं। अतः, इनका भी शुद्ध प्रयोग ही किया गया है। पुनः रायं, सुभायं, कौसिलां, हृदयं आदि के व्यर्थ बिन्दु भी नहीं रहने चाहिये, क्योंकि इनका भी निर्वाह किसी प्राचीन प्रति में नहीं देखा जाता। 'य' पद के आदि में 'ज' और अन्यत्र 'य' ही रहता है। 'व' भी आदि में 'ब' और अन्यत्र 'व' ही रहता है। उक्त श्रीरामबालकदासजी रामायणी की संशोधित प्रति में उपर्युक्त रीति से ही पाठ रक्खा गया है।

पुनः 'श' की जगह पर 'स' तो रहता है, पर आधे 'श' की जगह कहीं 'स' और कहीं 'श' मिलता है, जैसे कि 'श्र' 'श्री' 'श्रु' आदि एवं 'प्रश्न' आदि को देखते हुए एक नियम रखने के विचार से अर्द्ध 'श्' को तालव्य ही रक्खा गया है। ऐसे ही 'बिष्नु' शब्द में भी मूर्धन्य ष् के साथ 'न' का सम्बन्ध उचित न मानकर 'नु' को 'णु' ही रक्खा गया है।

ऐसे ही पूर्व के बालकांड और अयोध्याकांड में 'दोउ' शब्द मिलते हैं, आगे कहीं 'दोउ' और कहीं 'दौ' मिलते हैं। अतः, एक नियम रखते हुए मैंने सर्वत्र 'दोउ' ही रक्खा है, इत्यादि।

इस पाठ-संशोधन में और बालकाण्ड पर्यन्त तिलक के प्रूफ संशोधन में पुस्तकभंडार के विशिष्ट विद्वान्, 'बालक' के सहकारी सम्पादक श्रीअनुग्रहनारायणजी का भी हाथ था। किन्तु दैवगति और ही हुई कि वे साकेत पधार गये, जिससे मुझपर संशोधन-कार्य का भीषण भार आ पड़ा। किन्तु श्रीरामजी की कृपा से पुस्तक-भंडार के अध्यक्ष, 'बालक'-सम्पादक (रायसाहब) श्रीरामलोचनशरण 'आचार्य' जी ने स्वयं एक बार अंतिम प्रूफ देखने का भार लिया। इस कार्य को उन्होंने अपने नित्य नियम का एक अंग बना लिया। प्रेस के मैनेजर पं० नारायण राजाराम सोमण तथा हेड प्रूफरीडर पं० रामभरोस झा एवं और भी प्रेस के कार्यकर्त्ताओं ने इस कार्य को पारमार्थिक जानकर श्रद्धापूर्वक किया है। तथापि मानव-स्वभाव के अनुसार इस तिलक में बहुत-सी त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक है, एतदर्थ मैं पाठकों से क्षमा-प्रार्थी हूँ।

—तिलककार

श्रीगोस्वामीजी के दार्शनिक विचार

श्रीगोस्वामीजी श्रीरामानन्दीय वैष्णव थे, यह सर्वसम्मति से निश्चित है। भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजी भगवान् बोधायन (श्रीपुरुषोत्तमाचार्य्यजी) की शिष्य-परम्परा में हैं। अतः, बोधायन-वृत्ति में प्रतिपादित सिद्धान्त उनका दार्शनिक सिद्धान्त है। उसी बोधायन वृत्ति का अनुसरण कर भगवान् श्रीरामानुजाचार्यजी ने भी विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त-परक 'श्रीभाष्य' लिखा है। भगवान् श्रीरामानन्दाचार्य्यजी ने अपने आनन्द-भाष्य मे बोधायनवृत्ति के विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का स्पष्ट उल्लेख किया है। यथा—"एवञ्चाखिलश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणसामञ्जस्यादुपपत्तिबलाच्च विशिष्टाद्वैतमेवास्य ब्रह्म मीमांसाशास्त्रस्य विषयो न तु केवलाद्वैतम्।" (ब्र० सू० आनन्दभाष्य १।१।१); अर्थात् इस तरह सम्पूर्ण श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण की संगति से तथा उपपत्ति (युक्ति) के बल से विशिष्टाद्वैत ही इस ब्रह्ममीमांसा शास्त्र का विषय है, केवलाद्वैत नहीं। वही सिद्धान्त श्रीगोस्वामीजी का भी है। श्रीरामचरितमानस और विनय-पत्रिका एवं इनके सभी ग्रन्थों से यह बात स्पष्ट है।

पहले सूक्ष्म रीति से विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का परिचय करा देना आवश्यक है; फिर वही श्रीगोस्वामीजी के ग्रन्थों में दिखाया जायगा।

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का परिचय

चित्, अचित् और ब्रह्म—ये तीन तत्त्व हैं। चित् का अर्थ जीव, चेतन एवं आत्मा है। अचित् का अर्थ जड़, प्रकृति, माया और प्रधान है। ब्रह्म ईश्वर, परमात्मा, परब्रह्म, परमेश्वर, परतत्त्व, नर, आत्मा, भगवान् एवं श्रीराम आदि शब्दों से कहा गया है।

चित् और अचित् व्याप्य हैं और ब्रह्म व्यापक है। व्याप्य पदार्थ व्यापक में रहता है। जैसे घड़े में आम है, इसमें आम व्याप्य और घड़ा व्यापक है। उसी प्रकार पृथिवी पर रहनेवाले पदार्थ व्याप्य हैं और पृथिवी व्यापिका है। ऐसे ही ब्रह्म में चित् और अचित् स्थित हैं; यथा—"मत्स्थानि सर्वभूतानि" (गीता ९।४), "ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।" (ईशा० १), अर्थात् चित् और अचित् का सम्यक् आधार ब्रह्म है।

जो पदार्थ जिसमें रहता है उसका उससे कुछ सम्बन्ध अवश्य रहता है। वैसे चित्-अचित् का ब्रह्म से अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध है। इनका सम्बन्ध कभी टूट नहीं सकता ये तीनों तत्त्व यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं, तथापि एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते; यथा—"चिदचिद्वस्तुनोः शरीरतयाऽपृथक्सिद्धत्वेन प्रकारत्वम्, तद्विशिष्टस्य ब्रह्मणश्च शरीरित्वेन प्रकारित्वं शाश्वतिकमेव" (ब्र॰ सू॰—आनन्दभाष्य १।१।१) अर्थात् जीव और प्रकृति शरीर रूप से अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध के द्वारा विशेषण और इनसे विशिष्ट ब्रह्म शरीरी होने से विशेष्य है। इनका यह सम्बन्ध नित्य है।

अचित् की दो अवस्थाएँ होती हैं—सूक्ष्म और स्थूल। सृष्टि बनने के पहले 'सूक्ष्म अचित्' रहती है। उस समय इसे 'नामरूप विभागानर्ह' कहते हैं। जब सृष्टि बन जाती है तब यह 'स्थूल अचित' कही जाती है और 'नामरूप विभागार्ह' कहाती है। अर्थात सूक्ष्मा वस्था में इसमें घट-पट आदि नामों और नील-पीत आदि रूपों (आकृतियों) के वि भाग नहीं होते और स्थूलावस्था में उन नामों और रूपों के विभाग होते हैं।

चित् (जीव) अणुपरिमाणवाला है। वस्तुतः इसमें न तो सूक्ष्मावस्था होती है और न स्थूलावस्था ही, परन्तु जब यह स्थूलावस्थ अचित् के साथ सम्बद्ध होता है, तब इसे भी स्थूल मान लिया जाता है; यथा—"यो यच्छ्रद्धः स एव सः।" (गीता १७।३); वैसे ही यह चित्-तत्त्व सूक्ष्म अचित् में सम्बद्ध रहने से सूक्ष्म कहा जाता है। अतः, चित् भी दो प्रकार का है—सूक्ष्म चित् और स्थूल चित्।

सूक्ष्म और स्थूल दोनों अवस्थाओं में चित् और अचित् दोनों ब्रह्म में ही रहते हैं। ये दोनों ब्रह्म के विशेषण हैं। अतः, इनसे विशिष्ट ब्रह्म भी इनकी उभयावस्थाओं के सम्बन्ध से दो प्रकार का कहा जाता है। सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टब्रह्म और स्थूलचिदचिद्विशिष्ट-ब्रह्म। यद्यपि ब्रह्म अभेद है तथापि दो भिन्न विशेषणों के कारण वह दो प्रकार का कहा जाता है। इस तरह ब्रह्म दो प्रकार का हुआ और दोनों ही प्रकारों में वह विशिष्ट है।

इसपर यह शङ्का हो सकती है कि ब्रह्म तो सर्वत्र एक ही कहा गया है, इस सिद्धान्त में दो क्यों हुए? इस शंका के समाधान के लिये 'विशिष्ट' शब्द के साथ 'अद्वैत' शब्द की भी योजना हुई और इस तरह इस सिद्धान्त का नाम 'विशिष्टाद्वैत' कहा गया। इसकी परिभाषा इस प्रकार है "विशिष्टं च विशिष्टं च विशिष्टे ब्रह्मणी। विशिष्टयोः = ब्रह्मणोः, अद्वैतं—अभेदः, विशिष्टाद्वैतम्।" अर्थात् 'विशिष्टं च विशिष्टं च' इसमें विशिष्ट पद दो बार आया है। पहला 'सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट' कारण-परक है, और दूसरा 'स्थूल चिदचिद्विशिष्ट' कार्यपरक है। इन दोनों का अद्वैत (अभेद) है। दोनों अवस्थाओं में ब्रह्म के विशेषणों में विकार होते हुए भी उसके स्वरूप में विकार नहीं प्राप्त होता, वह सदा एकरस ही रहता है। यही विशिष्टाद्वैत शब्द का अर्थ है।

परिणामवाद

उपर्युक्त वर्णन से निश्चित हुआ कि प्रलय काल में ब्रह्म सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट था, वही सृष्टि काल में स्थूलचिदचिद्विशिष्ट हो गया। इसी से प्रपञ्च ब्रह्म का परिणाम कहा जाता है, यही परिणामवाद है।

श्रुतियाँ भी इसीका प्रतिपादन करती हैं, छान्दोग्योपनिषत् में कहा गया है कि महर्षि उद्दालक का पुत्र श्वेतकेतु व्रत-नियमपूर्वक विद्या पढ़ने पर जब पंडित होकर अहङ्कार से भरा हुआ आया, तब उसका अहङ्कार दूर करने के लिये महर्षि उद्दालक ने उससे प्रश्न किया—"हे पुत्र ! क्या तुम वह विद्या भी जानते हो कि जिस एक के ही जानने से अन्य सबका ज्ञान हो जाता है ?" तब श्वेतकेतु ने इस प्रश्न के उत्तर के लिये पिता से ही प्रार्थना की। तब महर्षि उद्दालक ने कहा—"यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारोनामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥" (६।१।४) अर्थात्—हे सौम्य ! एक मृत्पिण्ड के ज्ञान से सब मृत्तिकामय (मिट्टी के बने हुए पात्रों) का ज्ञान हो जाता है। वाणी का आरम्भ करने के लिये उसके विकारों के नाम रख लिये गये हैं, मिट्टी ही सत्य (पदार्थ) है। भाव यह है कि जैसे मिट्टी के पिंड (लौंदे) के ज्ञान से सब मृन्मय (घड़ा-शराव या परई आदि) पात्रों का ज्ञान हो जाता है, वैसे ही उस एक कारण-सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म के ज्ञान से कार्य-रूप सर्व जगत्—स्थूल चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म—का ज्ञान हो जाता है। मिट्टी के स्वरूप को विशेष स्पष्ट करती हुई श्रुति 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं···' कहकर समझाती है कि वह मिट्टी वाणी के आरम्भ करने के लिये (व्यवहार के उपयोगी होने के लिये) विकार (आकार)-विशेष और नाम-विशेष को धारण करती है; अर्थात् मिट्टी घट आदि आकारों के पिण्ड धारण करती है तब उसको 'घट' नाम दिया जाता है और तभी "घट से जल लाओ" ऐसी वाणी का आरम्भ एवं उससे जल लाने का व्यवहार होता है। पिण्डाकृति में से मृन्मय (घटाकृति होना) रूप गुणवाली मिट्टी ही सत्य है। मिट्टी जैसे स्वयं सत्य है वैसे उसमें उसका गुण भी सत्य है ; अर्थात् वह पिण्डाकृति में से घटाकृति होने के गुण से युक्त है। वह गुण उसमें नित्य है, जो कभी उससे अलग नहीं हो सकता। मिट्टी के पिण्ड को ऐसे गुण-विशेषवाला समझने से ही केवल उस मिट्टी के पिण्ड के ज्ञान से सर्व मृन्मय पदार्थों का ज्ञान हो सकता है ; अन्यथा नहीं। इसी तरह ब्रह्म की सूक्ष्मावस्था में भी जगत् के उत्पादक गुण उसमें वर्तमान थे। वे ही परिणाम में स्थूलावस्थापन्न हुए। तभी सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म के ज्ञान से सम्पूर्ण जगत् के ज्ञान की प्रतिज्ञा सार्थक होती है।

इस दृष्टान्त के द्वारा महर्षि उद्दालक आगे सिद्धान्त की बात समझाते हैं ; यथा—"सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।" (६।२।१) ; अर्थात् हे सौम्य ! आगे यह

चेतनाचेतनात्मक जगत् सत् ही, एक ही एवं अद्वितीय था। 'इदम्-अग्र-आसीत्' अर्थात् यह जो देख पड़ता है, यही जगत् आगे (पहले)—प्रलयकाल में—था। फिर यह बात भी श्रुति ही कहती है कि अभी जैसा देख पड़ता है, वैसा नहीं था; किन्तु 'सदेव' (सत्+एव)—सत् ही अर्थात् एक ही रूप में था। इससे असत् कार्य-वाद का निराकरण हुआ। जब जीवमात्र सुषुप्ति-अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, तब प्राकृत पदार्थ-मात्र उत्तरोत्तर मिलते हुए अन्त में त्रिगुणसाम्य मूलप्रकृतिरूप हो जाते हैं और जीव-वर्ग के साथ वह प्रकृति सत् में पैठ जाती है। इसी का नाम प्रलय है। इसी बात को श्रुति समझाती है कि आगे सत् ही था। वह कैसा था? जैसा मृत्तिका का पिण्ड (जो ऊपर दृष्टान्त-रूप में कहा गया है)। घट-शराव (परई, कसोरा) आदि सूक्ष्म-रूप से मृत्पिण्ड में रहते हैं, इसीसे उसमें से कुलाल के व्यापार द्वारा प्रकट होते हैं। पुनः घट, शराव आदि टूट-फूटकर मृत्तिका हो जाने पर मृत्तिका कहे जाते हैं और फिर उसी से वैसे ही घट आदि बनते हैं। इसी प्रकार जीव और प्रकृति प्रलय-काल में सूक्ष्म होकर उस सत् में रहते हैं और सत् ही कहे जाते हैं। पुनः सृष्टि-काल में नाम-रूप से प्रकट होते हैं। इसीसे सूक्ष्मावस्थापन्न प्रपंच 'कारण' और स्थूलावस्थापन्न प्रपंच 'कार्य' कहा जाता है।

'एकमेव' अर्थात् एक ही। इसका भाव यह है कि जो पहले प्रलयावस्था में सत् था, वही जगत् है। सत् को जगत् होने के लिये द्रव्यान्तर की अपेक्षा नहीं पड़ी; अर्थात् इस कार्य-रूप जगत् का कारण वही सत् है। अतः, कार्य और कारण—वह एक (अकेला) ही है। इससे स्पष्ट हुआ कि सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट सत् ही जगत् का उपादान कारण है। पुनः उसी सत् को आगे के 'अद्वितीयम्' शब्द से जगत् के निमित्त-कारण और सहकारी-कारण भी सूचित किया गया है।

कारण तीन प्रकार के होते हैं—उपादान कारण, निमित्त-कारण और सहकारी-कारण। जो वस्तु स्वयं कार्य-रूप में परिणत हो, उसे 'उपादान-कारण' कहते हैं। जैसे, मृत्तिका घट का उपादान-कारण है। जो उपादान वस्तु को कार्य-रूप में परिणत करता है, वह 'निमित्त कारण' है। जैसे, उपादान वस्तु मृत्तिका है, उसे घट-रूप में परिणत करने-वाला कुलाल है। अतएव कुलाल घट का निमित्त-कारण है। जो कार्य की उत्पत्ति में उपकरण (साधन)-रूप हो, वह 'सहकारी-कारण' कहा जाता है। जैसे, दंड चक्र, चीवर आदि घटोत्पत्ति में साधन-रूप हैं। अतः, ये घट के सहकारी कारण हैं।

उपर्युक्त श्रुति के अनुसार जगत् के तीनों कारण वह सत् (ब्रह्म) ही है। सूक्ष्मचिद-चिद्विशिष्ट ब्रह्म उपादान कारण है। वही 'बहुस्यां प्रजायेय' अर्थात् 'मैं बहुत हो जाऊँ'—'अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊँ' इस प्रकार सङ्कल्प-विशिष्ट होकर निमित्त-कारण होता है और

वही ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज—इन छः ऐश्वर्यों से विशिष्ट होकर सहकारी कारण होता है, क्योंकि ये छः ऐश्वर्य ब्रह्म में ही रहते हैं; यथा—"ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः। भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥" (विष्णुपुराण)। इनमें ऐश्वर्य और वीर्य से उत्पत्ति, शक्ति और तेज से पालन तथा ज्ञान और बल से संहार-कार्य होते हैं।

उपर्युक्त 'सदेव' इस श्रुति में उपादान कारणता स्पष्ट कही गई। उसके आगे की श्रुति से निमित्त-कारणता भी स्पष्ट की जाती है; यथा—"तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" (छां॰ ६।२।३) अर्थात् उस (सत्) ने ईक्षण (अनुसन्धान) किया—'मैं बहुत हो जाऊँ—अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊँ'। इसमें 'तत्—ऐक्षत' में 'तत्' इस सर्वनाम से उपर्युक्त 'सत्' ही कहा गया है। अतः, बहुत होने का अनुसन्धान उस 'सत्' ने ही किया, इस तरह वही निमित्त-कारण है।

इस प्रकार ब्रह्म में 'अभिन्न निमित्तोपादानत्व' स्पष्ट हुआ। इसीको "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च।" (मुं॰ १।१।७)। इस श्रुति में मकड़ी के दृष्टान्त से भी समझाया गया है कि ऊर्णनाभि (मकड़ी) जाल को अपने मुँह में से फैलाकर उसमें खेलती है और फिर उसे अपने में ही समेट लेती है। पुनः दूसरी श्रुति भी कहती है; यथा—"सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ॥" (छां॰ ६।८।४) अर्थात्—हे सौम्य! इन सब प्रजाओं (जगत) का मूल सत् ही है तथा सत् ही इनका आश्रय है और सत् ही प्रतिष्ठा है। इसमे 'सदायतनाः' कहकर सत् मे ही जगत का रहना कहा गया है और 'सत्प्रतिष्ठा' से उसी सत् में इसकी लय-स्थिति भी कही गई है।

वह सत् ही जगत् का आधार है, जगत् के प्रत्येक पदार्थ के भीतर भी रहता है, वही सबका आत्मा है; यथा—"ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा।" (छां॰ ६।८।७); अर्थात् एतद्रूप ही यह सब है, वह सत्य है, वह आत्मा है। 'ऐतदात्म्यमिदं' जिन सबकी एतत् (सत्) आत्मा है उसे 'एतदात्म' कहते हैं, उसका भाव 'ऐतदात्म्य' है, अर्थात् सब जगत् का आत्मा सत् (भगवान्) ही है। इस तरह सब जगत् भगवान् का शरीर है; भगवान् इसके शरीरी हैं; यथा—"जगत्सर्वं शरीरं ते।" (वाल्मी॰ ६।११७।२७)। शरीर से शरीरी की और शरीरी से शरीर की सिद्धि होती है। इसी तरह जैसे प्रलय-दशा में यह सब 'सदेव' अर्थात् सत् ही कहा जाता है। वैसे ही सृष्टि-दशा में भी यह सब ब्रह्म ही कहा जाता है; यथा—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म।" (छां॰ ३।१४।१) अर्थात् यह सारा जगत् निश्चय ब्रह्म ही है। तथा—"तस्माद्रामस्वरूपोऽयं सत्यं सत्यमिदं जगत्।" (श्रीरामरत्नराज-सनत्कुमार संहिता)।

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट हुआ कि, सृष्टि और प्रलय इन दोनों अवस्थाओं में ब्रह्म चिदचिद्विशिष्ट ही रहता है। वही जगत् का उपादान, निमित्त और सहकारी कारण है। ये सभी बातें "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।" इस श्रुति की व्याख्या में कही गई हैं।

श्रीगोस्वामीजी ने भी उन्हीं बातों को अपने छंद के एक ही चरण में कहा है; यथा—"जेहि सृष्टि उपाई त्रिविध बनाई संग सहाय न दूजा।" (बा० दो० १८५)—इसका अर्थ उपर्युक्त 'सदेव' श्रुति के मिलान के साथ तिलक के पृ० ५३३ में देखिये। पुनः 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' की व्यवस्था भी इन वचनों मे स्पष्ट कही गई है कि उसके संकल्प के साथ ही जगत् की रचना हो जाती है; यथा—"लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया।" (बा० दो० २२४); "भृकुटि-विलास सृष्टि लय होई।" (आ० दो० १७). "एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥" (आ० दो० १४); तथा—"उत्पति पालन प्रलय समीहा।" (लं० दो० १४) इत्यादि।

भगवान् के शरीर रूप में जगत् प्रवाहतः नित्य कहा जाता है, वैसे ही श्रीगोस्वामीजी ने भी कहा है; यथा—"विश्व रूप रघुवंसमनि।" (लं० दो० १४) "विधि प्रपंच अस अचल अनादी॥" (अ० दो० २८१); "पल्लवत फूलत नवल नित संसार विटप नमामहे।" (उ० दो० १२)—तिलक का पृ० ४०४ भी देखिये।

श्रीगोस्वामीजी ने बहुत जगह जगत् को मिथ्या भी कहा है, इसका समाधान यह है कि जहाँ मिथ्या कहा गया है वहाँ अविद्यात्मक दृष्टि के नानात्व भ्रम से तात्पर्य है—देखिये, तिलक पृ० ११-१४, ३९७-४०४।

केवलाद्वैत निराकरण

यदि कहा जाय कि "रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः।" एवं "रजत सीप महँ भास जिमि···" आदि का अर्थ नानात्व भ्रम-परक न करके केवलाद्वैत-सिद्धान्त की दृष्टि से विवर्त्तवाद का क्यों न किया जाय? तो इसका उत्तर यह है कि श्रीगोस्वामीजी के ग्रन्थों मे केवलाद्वैत-सिद्धान्त की और-और पारिभाषिक बातें नहीं पाई जातीं, जैसे—

केवलाद्वैत	श्रीगोस्वामीजी
(१) केवलाद्वैत-सिद्धान्त में निर्गुण ब्रह्म निर्विशेष माना गया है।	श्रीगोस्वामीजी ने निर्गुण ब्रह्म को अव्यक्त, षडैश्वर्यपूर्ण एवं प्रभु कहा है—बा० दो० २२ चौ० ६-८ का तिलक देखिये।

भी - ज्ञप्ति मात्र अर्थात् निर्विशेष-ज्ञान-स्वरूप है।

तव किंकर ह्वै रावरो नाम हौं रहिहौं। येहि नाते नरकहु सचु पइहौं या बिनु परमपदहु दुख दहिहौं॥" (वि० २११)—अर्थात् परम पद (मोक्ष) में भी किङ्कर-भाव से ही रहूँगा। इसके बिना (शुष्क ज्ञान की कैवल्य-मुक्ति) मेरे लिये दुःखद एवं दाहक है, इत्यादि!

उपर्युक्त प्रसङ्गों से स्पष्ट हो गया कि श्रीगोस्वामीजी का अभीष्ट केवलाद्वैत-सिद्धान्त नहीं है, किन्तु समन्वय (विशिष्टाद्वैत) सिद्धान्त है।

समन्वय सिद्धान्त में तत्त्वत्रय (चित्-अचित्-ईश्वर) की व्यवस्था है, यथा—"सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते तस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे। पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति॥" (श्वे० १।६)—अर्थात् समस्त प्राणियों के जीवन के हेतु-भूत, सबकी स्थिति के एक मात्र आधार, बहुत बड़े ब्रह्मचक्र में हंस (हन्ति गच्छतीति हंसः) = जीव भ्रमण करता रहता है। भ्रमण करानेवाला (प्रेरक) परमात्मा है और भ्रमण करनेवाला मैं उसका शेष (सेवक) हूँ, शरीर-भूत हूँ—इस प्रकार अपनेको पृथक् मानकर जब जीव ध्यान करता है, तब भगवान् की प्रसन्नता से वह मुक्ति पाता है। इसी भाव की ओर भी श्रुतियाँ हैं; यथा—"प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः।" (श्वे० ६।१६); "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म चैतत्।" (श्वे० १।१२); "संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।···क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।" (श्वे०१।८—१०)। इन श्रुतियों में स्पष्ट रूप से चिदचित् (जीव और प्रकृति) का प्रेरक (स्वामी) ब्रह्म कहा गया है।

श्रीनारद-पञ्चरात्र में भगवान् ने श्रीशुक से तत्त्वत्रय के वर्णन किये हैं। गीता में भी इसी तरह के सम्बन्ध सहित तीनों तत्त्वों के वर्णन किये गये हैं; यथा—"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय। अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥" (७।४—६)।

तत्त्वत्रय का वैसा ही वर्णन श्रीगोस्वामीजी ने भी किया है, यह इस श्रीरामचरितमानस के अनुबंध चतुष्टय से ही स्पष्ट हो जाता है।

अनुबन्ध चतुष्टय

(१) विषय, (२) सम्बन्ध, (३) अधिकारी और (४) प्रयोजन—ये भेद हैं।

(१) **विषय**—श्रीराम-नाम का तत्त्व-निरूपण इस ग्रंथ का विषय है। यथा—"येहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥" (बा॰ दो॰ १)। इसे ही उपसंहार पर भी पुष्ट किया है; यथा—"मत्वा तद्रघुनाथनाम-निरतं···"। इसीसे श्रीराम-नाम-वंदना प्रकरण विस्तारपूर्वक तत्त्वार्थ-निरूपण की दृष्टि से वर्णित है। मंत्र एवं नाम का अर्थानुसंधान के साथ आराधन होता है। नामार्थ ही चरित है। अतएव, चरित का विस्तार करना नाम का ही अंग है।

(२) **सम्बन्ध**—चार संवाद ही मानस के सम्बन्ध हैं; यथा—"सुठि सुंदर संवाद बर, बिरचेउँ बुद्धि बिचारि। तेइ येहि पावन सुभग सर, घाट मनोहर चारि॥" (बा॰ दो॰ ३६)। चारो घाटों के श्रोता-वक्ता लोग कर्म, ज्ञान, उपासना और प्रपत्ति की दृष्टि से इस मानस से सम्बन्ध रखते हैं। श्रीगोस्वामीजी प्रपत्ति-घाट के, श्रीयाज्ञवल्क्यजी कर्म-घाट के, श्रीशिवजी ज्ञान-घाट के और श्रीभुशुंडिजी उपासना-घाट के वक्ता हैं।

(३) **अधिकारी**—यथा—"सदा सुनहिं सादर नर नारी। ते सुरबर मानस अधिकारी॥" (बा॰ दो॰ ३७); "राम-कथा के तेइ अधिकारी। जिन्हके सतसंगति अति प्यारी॥ गुरु-पद-प्रीति नीति-रत जेई। द्विज-सेवक अधिकारी तेई॥" (उ॰ दो॰ १२७)।

(४) **प्रयोजन**—यथा—"भाषाबद्ध करबि मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई॥ जस कछु बुधि बिवेक-बल मोरे। तस कहिहउँ हिय हरि के प्रेरे॥ निज संदेह-मोह-भ्रम हरनी। करउँ कथा भव-सरिता-तरनी॥" (बा॰ दो॰ ३०)। इन तीनों अर्द्धालियों में तत्त्वत्रय का ज्ञान ही प्रयोजन कहा गया है। तिलक पृ० १७३–१७४ देखिये। अन्यत्र जो यह भी कहा गया है कि अपनी वाणी पवित्र करने के लिये मैं कथा कहता हूँ; यथा—"निज गिरा पावनि करन कारन राम-जस तुलसी कह्यो।" (बा॰ दो॰ ३६१) उसका भी यही तात्पर्य है कि चरित के पठन-पाठन से उक्त तत्त्वत्रय का ज्ञान हो जायगा, उससे तीनों अवस्थाओं की शुद्धि के साथ-साथ तीनों वाणियों (वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती) की शुद्धि हो जायगी, तब तुरीयावस्था में शुद्ध परा वाणी प्राप्त हो जायगी। अतः, तत्त्वत्रय का ज्ञान प्राप्त करना इस ग्रंथ के अध्ययन का प्रयोजन है।

तत्त्वत्रय में चित् और अचित् ईश्वर के शरीर हैं। अतः, शरीर सहित ईश्वर का ज्ञान ही प्रकर्ष-बोध एवं ब्रह्मविद्या का फल है; यथा—"नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥" (गीता ११।५३)।

श्रीगोस्वामीजी ने तत्त्वत्रय की व्यवस्था विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की दृष्टि से मानी है। तीनों तत्त्वों का पृथक् दिग्दर्शन कराया जाता है—

केवलाद्वैत	श्रीगोस्वामीजी
(२) अन्तःकरणावच्छिन्न ब्रह्म ही जीव है, अन्तःकरण में पड़ा हुआ ब्रह्म का प्रतिबिम्ब ही जीव है, जीव एक है, इत्यादि रीति से जीव की व्यवस्था है।	जीव ईश्वर का अंश है और यह वास्तविक तत्त्व है, उ० दो० ११६ चौ० २ का तिलक देखिये।
(३) भक्ति का फल ज्ञान माना जाता है और फिर उससे मुक्ति का विधान है।	ज्ञान भक्ति का ही अंग है, यथा—"कहहिं भगति भगवंत कै, संजुत ज्ञान विराग ॥" (आ० दो० १४)। इन्होंने भक्ति से मुक्ति की प्राप्ति मानी है; यथा—"राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरि·आईं ॥" से "असि हरि भगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सुहाई ॥" (उ० दो० ११८) तक। एवं "श्रुति पुरान सद्ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं ॥" से "बारि मथे घृत होइ बरु, सिकता ते बरु तेल। बिनु हरि-भजन न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल ॥" (उ० दो० १२१) इसमें नौ असंभव दृष्टान्तों से भक्ति से ही भव-तरण का अपेल सिद्धान्त कहा गया है। अपरोक्ष सरस ज्ञान को पराभक्ति से अभेद कहा गया है—आ० दो० १४ चौ० ७ का तिलक देखिये।
(४) निर्विशेष ब्रह्म के साक्षात्कार से कैवल्य-मुक्ति का विधान है।	सरस ज्ञान से भिन्न कैवल्य-परक ज्ञान भी योग-शास्त्र के अनुसार उ० दो० ११६–११७ में लिखा है; उसका तिलक देखिये।
(५) वाक्य-ज्ञान से मुक्ति मानी गई है।	इसका खंडन किया है; यथा—"वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुन भव पार न पावइ कोई। निसि गृह मध्य दीप की बातन्ह तम निवृत्त नहिं होई ॥" (वि० १२३)।

केवलाद्वैत	श्रीगोस्वामीजी
(६) शुद्ध निर्विशेष कारण ब्रह्म का अवतार लेना नहीं माना जाता, उनके मत में अशुद्ध मायोपहित कार्य-ब्रह्म (ईश्वर) है, वही अवतार लेता है।	शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म का ही अवतार लेना लिखा है; यथा—"सुद्ध सच्चिदानन्द मय; कंद-भानु-कुल केतु। चरित करत नर अनुहरत, संसृति सागर सेतु॥" (अ० दो० ८७); "चिदानंद मय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥" (अ० दो० १२६)
(७) निर्गुण ब्रह्म की अपेक्षा सगुण को न्यून कहा जाता है। निर्गुण को शुद्ध निर्विशेष और सगुण को अशुद्ध मायोपहित विग्रहवान् माना जाता है।	दोनों को अभेद मानते हैं, इन्होंने न्यूनाधिक कहनेवालों को अधम आदि कहकर बड़ी फटकार बताई है—कैलास-प्रकरण बा० दो० ११३ चौ० ८ से दो० ११५ तक देखिये।
(८) माया का अस्तित्व ही नहीं माना जाता। विवर्तवाद की दृष्टि से जगत्-रचना भ्रम-मात्र कही जाती है।	श्रीरामजी की अधीनता में उसका अस्तित्व मानते हैं; यथा—"यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं···" (बा० मं० ६); "सो दासी रघुवीर कै···" (उ० दो० ७१); "सोइ राम व्यापक ब्रह्म···मायाधनी।" (बा० दो० ५१)। जगत्-रचना को भी इन्होंने भ्रम से प्रतीत होना नहीं लिखा कि जिससे अद्वैत का विवर्तवाद समझा जाय; प्रत्युत् 'बनाई' कहा है; यथा—"जेहि सृष्टि उपाई त्रिविध <u>बनाई</u>···" (बा० दो० १८५)।
(९) 'जहद्जहत् भाग-त्याग-लक्षणा' से मुक्ति का विधान है। इस लक्षणा में ईश्वर का सर्वज्ञता-रूप ईश्वरत्व और जीव का अल्पज्ञता-रूप जीवत्व—दोनों का त्याग होकर केवल शुद्ध चिति में लक्षणा करके तात्पर्य माना जाता है। वह चिति	मोक्ष होने पर भी जीवों में जीवत्व एवं उनका सेवक-सेव्य भाव माना है; यथा—"हम सब सेवक अति बड़ भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥ निज इच्छा प्रभु अवतरइ, सुर महि गो द्विज लागि। सगुन उपासक संग तहँ, रहहिं मोच्छ सब त्यागि॥" (कि० दो० २६)। "खेलिबे को खग मृग·

चित (जीव)-प्रकरण

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में जीव वास्तविक तत्त्व है। यह सच्चिदानन्द-स्वरूप, अणुपरिमाण और ईश्वर का अंश एवं विशेषण है। जीव परस्पर भिन्न और अनन्त हैं। सब ब्रह्म के शरीर हैं। ब्रह्म समस्त शरीरी है। इन सबका ब्रह्म के साथ अपृथक्-सिद्ध-सम्बन्ध है। जीव ईश्वर का धार्य, नियाम्य, सखा और शेष है। यह कर्त्ता, भोक्ता और निर्विकार है (इन सब लक्षणों पर श्रुतियों के प्रमाण साम्प्रदायिक ग्रन्थों में देखें ; यहाँ विस्तार-भय से नहीं लिखे जाते)।

इन लक्षणों के उदाहरण—

जीव लक्षण	श्रीगोस्वामीजी
१ सच्चिदानन्द स्वरूप	—"चेतन अमल सहज सुखरासी ॥" (उ० दो० ११६)—
२ अणु-परिमाण	” ” —(तिलक देखिये)।
३ ईश्वर का अंश	—"ईश्वर अंस जीव अविनासी।" (उ० दो० ११६)।
४ ” विशेषण	—"विश्वरूप रघुबंसमनि···" (लं० दो० १४)।
५ ” धार्य	—"विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक ते एक सचेता ॥ सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई ॥" (बा० दो० ११६)।
६ ” नियाम्य	—"जेहि जस रघुपति करहिं जब, सो तस तेहि छन होइ ॥" (बा० दो० १२४); "ईस रजाइ सीस सबही के। उतपति थिति लय बिषहुँ अमी के ॥" (अ० दो० २८१)।
७ ” सखा	—"राम प्रानप्रिय जीवन जी के। स्वारथरहित सखा सबही के ॥" (अ० दो० ७१); "ब्रह्म जीव इव सहज सँघाती ॥" (बा० दो० १६)।
८ ” शेष	—"सेवक हम स्वामी सियनाहू।" (अ० दो० २१)।

"सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥" (लं० दो० २१); "नाथ दास मैं स्वामि तुम्ह।" (अ० दो० ७१)।

९ ईश्वर का शरीर —"हृदय घाव मेरे पीर रघुवीरै।..." (गो० लं० १५); "मम हृदय भवन प्रभु तोरा।" (वि० १२५); तथा लं० दो० १४–१५ में देवताओं को श्रीरामजी का अंग कहा गया है।

१० जीव परस्पर भिन्न और अनन्त हैं —"जीव अनेक एक श्रीकंता।" (उ० दो० ७७)।

११ कर्त्ता और भोक्ता —"निज कृत करम-भोग सब भ्राता।" (अ० दो० ९१)। "जो जस करइ सो तस फल चाखा।" (अ० दो० २१८)। "निज कृत कर्म-जनित फल पायउँ।" (आ० दो० २)।

१२ निर्विकार —"निर्मल निरामय एक रस तेहि हर्ष सोक न ब्यापई।" (वि० १२६)।

१३ ईश्वर से अपृथक्‌सिद्ध सम्बन्ध। विशेषण दो प्रकार के होते हैं—एक पृथक्‌सिद्ध और दूसरा अपृथक्‌सिद्ध। जो विशेषण विशेष्य (धर्मी) से पृथक् भी रह सके, वह पृथक्‌सिद्ध-विशेषण है, जैसे 'कुंडली देवदत्त' इसमें 'कुंडली' (कुंडलवाला) यह विशेषण पृथक् सिद्ध है क्योंकि देवदत्त से पृथक् भी कुंडल रह सकता है। जो विशेषण विशेष्य से पृथक् नहीं रह सके, वह अपृथक्‌सिद्ध-कहा जाता है। जैसे, 'श्यामो युवा देवदत्तः' इसमें श्यामत्व और युवत्व देवदत्त से पृथक् नहीं रह सकते। अतएव ये उसके अपृथकसिद्ध-विशेषण हैं। ऐसे ही समस्त जीवों का ईश्वर के

श्रीगोस्वामीजी ने इस सम्बन्ध को बहुत स्पष्ट रूप में कहा है; यथा—"अनवद्य अखंड न गोचर गो, सब रूप सदा सब होइ न सो। इति वेद बदन्ति न दन्तकथा रवि-आतप भिन्न न भिन्न जथा।" (लं० दो० १०१); अर्थात् वास्तव में जीव पृथक् तत्त्व है, जैसे सूर्य और सूर्य का प्रकाश। सूर्य आकाश के बहुत ऊपर के भाग में रहते हैं, पर उनका प्रकाश भूमि पर सभी को प्राप्त होता रहता है। प्रकाश की सूर्य से पृथक्-सिद्धि नहीं हो सकती। जब सूर्य रहेंगे तब ही उनका प्रकाश भी रहेगा। प्रकाश सूर्य के उदय पर फैलता है और उनके अस्त होने के साथ ही उन्हीं में लीन हो

साथ अपृथक्सिद्ध-सम्बन्ध है ; यथा— "मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।" (गीता ७।७)।

जाता है। वैसे ही प्रकाश-पुञ्ज की तरह समष्टि जीव-वर्ग है। जैसे, व्यष्टि-भेद से प्रकाश में किरणें अनन्त हैं, वैसे ही जीव-वर्ग भी व्यष्टि-भेद से अनन्त हैं। सूर्योदय की तरह सृष्टि-काल में ईश्वर की इच्छा से जीव-वर्ग नाना रूपों और नामों से फैलते हैं। फिर सूर्यास्त-रूपी प्रलयकाल में सब ईश्वर में ही लय को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे, उभय अवस्थाओं में किरणें सूर्य की सत्ता में ही रहती हैं, वैसे ही ईश्वर की सत्ता में जीवों की स्थिति है; यथा—"मत्स्थानि सर्वभूतानि" (गीता ९।४); "तू निज कर्मजाल जहँ घेरो। श्रीहरि संग तज्यो नहिं तेरो।" (वि० १३६); "ब्रह्म जीव इव सहज सँघाती।" (बा० दो० १९); "ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू।" (बा० दो० २१६), इत्यादि।

जीवों के भेद

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में जीवों के मुख्य तीन भेद कहे गये हैं—बद्ध, मुक्त और नित्य। इन्हीं में कोई पाँच और कोई छः भेद मानते हैं। बद्ध के दो भेद हैं—बुभुक्षु और मुमुक्षु। मुमुक्षु के दो भेद हैं—कैवल्य-परायण और भगवत्प्राप्ति-रूपी मोक्ष-परायण। मुक्त के दो भेद हैं—विदेहमुक्त और जीवन्मुक्त।

बद्ध—जो अपने कर्मानुसार संसार में जन्म-मरण-रूप धर्मों को प्राप्त हैं, वे बद्ध हैं। ब्रह्मा से लेकर कीट पर्यन्त जीव परवश होने से बद्ध हैं। बद्ध की दशा ; यथा—"सो माया बस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥ जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥ तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी॥" (उ० दो० ११६) : "तव विषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे। भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे॥" (उ० दो० १२) ; "आकर चारि लाख चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अविनासी॥" (उ० दो० ४४) ; तथा—"भव-प्रवाह संतत हम परे।" (लं० दो० १०८)—यह देवताओं ने कहा है।

बुभुक्षु—ये धर्म, अर्थ और काम-परायण रहते हैं। इनमें एक तो अर्थ और काम-परायण होते हैं; यथा—"सिस्नोदर पर जमपुर त्रास न।" (उ० दो० ३९); दूसरे धर्म-परायण, यथा।-"करि मज्जन पूजहिं नर-नारी। गनप गौरि तिपुरारि तमारी॥ रमा-रमन-पद-बंदि बहोरी। विनवहिं अंजुलि अंचल जोरी॥" (अ० दो० १०२)।

मुमुक्षु—जिसे सज्जनों के संग से अथवा भगवत्कृपा से संसार की करालता समझ पड़े और उसकी निवृत्ति के उपाय में तत्पर हो जाय कि 'मैं कैसे भव-बन्धन से छूटूँ'—वह मुमुक्षु है; यथा—"कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसमूढचेता। यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥" (गीता २।७)। इस प्रकार शिष्य गुरु के पास जाकर प्रार्थना करे कि हे कृपालो! कृपया मेरी दुःख-निवृत्ति का उपाय कीजिये। फिर उपाय निश्चित् करके साधन में लग जाय; यथा- "जहँ जहँ विपिन मुनीश्वर पावउँ। आश्रम जाइ जाइ सिर नावउँ॥ बूझउँ तिन्हहिं राम गुन गाहा। कहहिं सुनहुँ हरषित खगनाहा॥ छूटी त्रिविधि ईषना गाढ़ी। एक लालसा उर अति बाढ़ी॥ राम-चरन बारिज जब देखउँ। तब निज जन्म सुफल करि लेखउँ॥" (उ० दो० ११०)।

कैवल्य परायण—इसका वर्णन ज्ञान-दीपक-प्रसंग उ० दो० ११७–११८ में देखिये; यथा—"सो कैवल्य परम पद लहई।"

भगवत्प्राप्ति रूप मोक्ष-परायण—इनके दो भेद हैं—भक्त और प्रपन्न।

भक्त—यथा—"राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥" ... "भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा॥" (उ० दो० ११८)।

मोक्ष के इन्हीं दो भेदों (कैवल्यपद और भगवत्प्राप्ति) को अन्यत्र स्पष्ट भी कहा है; यथा—"राम-चरन-रति जो चहइ, अथवा पद निर्बान।" (उ० दो० १२८)।

प्रपन्न—जो अकिञ्चन और अनन्य-गतिक होकर भगवान् की प्रपत्ति (शरणागति) करते हैं, वे प्रपन्न हैं। इनके दो भेद हैं—एकान्ती और परमैकान्ती।

एकान्ती—जो मोक्ष के साथ-साथ और फलों की इच्छा भी केवल भगवान् से ही (और स्वतन्त्र देवों से नहीं) रखता है, उसे एकान्ती कहते हैं; यथा—"मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहा बिस्वासा॥" (उ० दो० ४५); तथा—"ये सेवक संतत अनन्य गति, ज्यों चातकहि एक गति घन की॥" (गी० म० ७१)।

परमैकान्ती—जो ज्ञान-भक्ति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहते हैं ; यथा—"जाहि न चाहिय कबहुँ कछु, तुम्ह सन सहज सनेह।" (अ० दो० १३१); "अरथ न धरम न काम-रुचि, गति न चहउँ निरबान। जनम-जनम रति राम-पद, यह बरदान न आन ॥" (अ० दो० २०४)।

परमैकान्ती के भी दो भेद हैं—दृप्त और आर्त्त।

दृप्त—'जो कुछ मेरे शुभाशुभ कर्म हैं, उनका फल-भोग अवश्य ही करना है'। इस सिद्धान्त पर आरूढ़ रहकर जो प्रारब्ध कर्म का भोग करता हुआ मृत्यु की प्रतीक्षा करता रहता है, उसे दृप्त कहते हैं। इसके उदाहरण-रूप श्रीभरतजी हैं; यथा—"अवसि हौं आयसु पाइ रहौंगो। जनमि कैकई कोखि कृपानिधि क्यों कछु चपरि कहौंगो ॥" (गी० अ० ७७); "अब गोसाइं मोहि देहु रजाई। सेवउँ अवध अवधि भरि जाई ॥" (अ० दो० ३१२)।

आर्त्त—जो संसार की प्रबल ज्वाला से घबड़ाया हुआ प्रपत्ति के पश्चात् ही मोक्ष की इच्छा रखता है, वह आर्त्त है। इसके उदाहरण रूप में श्रीलक्ष्मणजी हैं; यथा—"न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव। मुहूर्त्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ ॥" (वाल्मी० २।५३।३१), तथा—"राम बिलोकि बंधु कर जोरे। देह-गेह सब सन तृन तोरे ॥" (अ० दो० ६१); "कृपासिंधु अवलोकि बंधु तन प्रान कृपान बीर सी छोरे।" (गी० अ० ११) अर्थात् क्षण-मात्र वियोग भी नहीं सह सके। अतः, "गहे चरन अकुलाइ" (अ० दो० ७१)। तब श्रीरामजी ने उन्हें साथ लिया ही।

(विदेह) मुक्त—जो भक्ति-प्रपत्ति आदि किन्हीं भी उपायों से भगवान् के स्वरूप का अनुभव करके बन्धन के कारण-रूप सम्पूर्ण कर्मों का नाश कर तदुपार्जित देह छोड़ दिव्यधाम में सायुज्य मुक्ति का आस्वादन करता है, वह मुक्त (विदेह मुक्त) कहाता है। उस अवस्था में भी ईश्वर और जीवों में भेद रहता ही है ; यथा—"तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।" विष्णुसूक्तम् इस वेदवाक्य में परम-पद-रूप नित्य-धाम में भी 'सदा पश्यन्ति सूरयः' कहा गया है। 'सूरयः' इस बहुवचन शब्द से मुक्तात्माओं का अनन्त होना और 'सदा पश्यन्ति' से उनका नित्य-पार्थक्य स्पष्ट है। वे सब उपर्युक्त रीति से अपृथक्-सिद्ध-सम्बन्ध सहित ब्रह्म के साथ-साथ उसके समान ही दिव्य भोगों को भोगते हैं; यथा—"भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च" (ब्र० सू० ४।४।१७); तथा—"सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता।" (तै० २।१) अर्थात् मुक्तात्मा परमात्मा के साथ-साथ सब कामनाओं का भोक्ता होता है। इसी का नाम सायुज्य मुक्ति है; यथा—"सायुज्यं प्रतिपन्ना ये तीव्रभक्तास्तपस्विनः। किङ्करा मम ते नित्यं भवन्ति निरुपद्रवाः ॥" (नारद पञ्चरात्र परम

संहिता) अर्थात् क्षुधा-पिपासा आदि उपद्रवों से रहित होकर ब्रह्म के साथ-साथ कैङ्कर्य भाव से सब कामनाओं को भोगनेवाले जीव सायुज्य मुक्त कहाते हैं। सायुज्य भोग्य-साम्य को कहते हैं।

श्रीगोस्वामीजी को यही मुक्ति इष्ट थी; यथा—"खेलिबे को खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं। यहि नाते नरकहु सचु पैहौं या बिनु परम पदहु दुख दहिहौं॥" (वि० २३१) अर्थात् परम पद (मोक्ष-अवस्था) में भी कैङ्कर्य भाव से ही रहूँगा। इसके बिना (शुष्क ज्ञान की कैवल्य मुक्ति पाकर भी) दुःख से जलूँगा। इस मानस ग्रंथ के उपसंहार पर भी—"कामिहि नारि पियारि जिमि···" इस निरन्तर भक्ति-याञ्चा का यही अभिप्राय है कि 'तत्क्रतुन्याय' से मुझे यही भक्ति मुक्तावस्था में भी रहे। श्रीगोस्वामीजी के ग्रन्थों में कहीं-कहीं मुक्ति की उपेक्षा भी की गई है; यथा—"गति न चहउँ निरबान।" (अ० दो० २०४); "सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं।" (लं० दो० १११) इत्यादि। इन वाक्यों में कैवल्य मुक्ति की ही उपेक्षा है, जो कि भक्ति-भाव के विरुद्ध है, क्योंकि उसमें मुक्तात्मा प्रभु-कैङ्कर्य से रहित रहता है।

मुक्त का उदाहरण; यथा—"मुकुत कीन्हि असि नारि।" (आ० दो० ३६)।

जीवन्मुक्त—जीवन्मुक्ति की व्यवस्था उ० दो० ४२ एवं ११७ चौ० ५ में देखिये; तथा अ० दो० २७६ चौ० १–३ भी देखिये।

यह भी कहा गया है—"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये।" (छां० ६।१४।२) "न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति। अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः॥" (छां० ८।१२।१) अर्थात् उस ज्ञानी के मुक्त होने में तभी तक देर है, जबतक उसका देहपात न हो, क्योंकि जिसका शरीर कर्मवश आरब्ध हुआ है, उसके प्रिय और अप्रिय भाव बने ही रहते हैं; नाश नहीं होते। जब वह शरीर-रहित होता है, तब उसे ये प्रिय-अप्रिय स्पर्श नहीं करते।

इन श्रुतियों का तात्पर्य उपर्युक्त विदेह-मुक्ति से है। वह साक्षात् मुक्ति है। वही देहावसान के पीछे प्राप्त होती है। इस जीवन्मुक्ति में भी श्रुति-प्रमाण है; यथा—"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥" (कठ० २।६।१४) अर्थात् जब इस आत्मा के हृदय में से विषय-सम्बन्धी सब मनोरथ निकल जाते हैं, तब उसी समय वह उपासक अमृत हो जाता है (अर्थात् उसके पूर्व-पूर्व पापों का नाश हो जाता है और उत्तर पापों का त्याग हो जाता है)। उसी समय ब्रह्मोपासन-काल में ही वह ब्रह्म का अनुभव करता है।

जीवन्मुक्ति के उदाहरण—

"जीवन्मुक्त ब्रह्म पर, चरित सुनहिं तजि ध्यान।" (उ० दो० ४२)।
"ज्ञानवंत कोटिक महँ कोऊ। जीवन्मुक्त सकृत जग सोऊ॥" (उ० दो० ५३)।
"जीवन्मुक्त महामुनि जेऊ। हरि गुन सुनहिं निरंतर तेऊ॥" (उ० दो० ५२)।
"सुक सनकादि मुक्त विचरत तेउ भजन करत अजहूँ।" (वि० ८६)।

नित्य-कर्मवश होकर जिनका जन्म मरण न हो और जिन्हें भगवान् के अवतारों की तरह स्वेच्छा से अथवा भगवदिच्छा से ही कभी भूमंडल में आना पड़े—कर्माधीन होकर नहीं—वे नित्य-जीव हैं। इस प्रकार के नित्य-जीव श्रीहनुमान्‌जी, श्रीअनन्त और श्रीगरुड़जी आदि बहुत हैं। वे त्रिपाद विभूति (नित्य धाम) में ही सदा श्रीभगवान् का अनुभव करते हुए निवास करते हैं।

श्रीगोस्वामीजी ने इनका वर्णन भी कई स्थलों पर किया है, यथा—"तात राम कहँ नर जनि मानहु। निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु॥ हम सब सेवक अति बड़ भागी। सतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥ दो०—निज इच्छा प्रभु अवतरइ, सुर महि गो द्विज लागि। सगुन उपासक संग तहँ, रहहिं मोच्छ सब त्यागि॥" (कि० दो० २६)। यह श्रीजाम्बवान्‌जी ने श्रीअङ्गदजी से कहा है। इसमें 'सतत सगुन ब्रह्म अनुरागी' होना और 'मोक्ष त्यागकर संग आना' उपर्युक्त नित्यत्व का सूचक है, (क्योंकि मुक्तावस्था में भी सेवक भाव से नित्य स्थिति कही गई है।) इनका नित्य शेषत्व भी कहा गया है, यथा—"भरतादि अनुज विभीषनांगद हनुमदादि समेत ते। गहे छत्र चामर व्यजन धनु असि चर्म सक्ति बिराजते॥" (उ० दो० ११) तथा बा० दो० १६–१७ का तिलक पृ० १०८–११३ भी देखिये।

अचित् प्रकरण

जो विविध विकारों का आश्रय है और जिसमें ज्ञान का अभाव है, उसे अचित् (जड़) कहते हैं।

इसे श्रीगोस्वामीजी ने विद्या-माया के नाम से कहा है, क्योंकि विद्या की दृष्टि से प्रकृति एवं उसका कार्य रूप जगत् भगवान् के शरीर-रूप में ही साक्षात्कार होता है। इसके पूर्व-पक्ष रूप में नानात्व दृष्टि रूपा अविद्या-माया है। माया के इन दोनों भेदों का वर्णन तिलक के पृष्ठ ११–१५, ३५७–४०२, १५७१–१५७३ में देखिये।

यह तीन प्रकार का है—शुद्ध-सत्त्व, मिश्र सत्त्व और सत्त्वशून्य।

शुद्ध सत्त्व—जो रजस् और तमस् से रहित केवल सत्त्व-रूप है, वह शुद्ध सत्त्व है। उसे त्रिपाद विभूति भी कहते हैं। वह नित्य, ज्ञान-जनक और आनन्दजनक है। भगवान् की इच्छामात्र से प्रासाद, मण्डप, गोपुर और विमान आदि रूप से भोगस्थान रूप में परिणत होता है; तथा ईश्वर-शरीर आदि के रूप से भोग्य भी है। भूषण, वस्त्र, आयुध, चन्दन, पुष्प आदि रूप से भोग का साधन भी होता है। निरवधिक तेजोरूप है, स्वयं प्रकाश-स्वरूप है। मुक्त-जीव, नित्य-जीव और ईश्वर से भी अपरिच्छेद्य है।

ईश्वर इसे 'अपरिच्छेद्य' रूप मे ही जानता है। इयत्ताशून्य वस्तु की इयत्ता न जानने मे उसकी सर्वज्ञता में दोष नहीं है, प्रत्युत गुण-रूप है।

शुद्ध सत्त्व के उपर्युक्त नित्यत्व आदि मे प्रमाण—

"तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।" विष्णुसूक्तम् इस श्रुति मे 'सदा पश्यन्ति' शब्द से सूचित किया गया है कि वह धाम तीनों कालों मे अविनाशी है। तभी तो सदा मुक्तात्माओं की दृष्टि का विषय होता रहता है। तथा—"न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परम मम॥" (गीता १५।६) अर्थात् वह भगवान् का धाम स्वयं-प्रकाश-स्वरूप है, वहाँ सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि के प्रकाश की अपेक्षा नहीं है। इस गीता के वाक्य को कोई-कोई भगवान् के स्वरूप में लगाते हैं, जो ठीक नहीं है, क्योंकि 'मम धाम' यह भेद से कहा गया है और 'गत्वा' शब्द से भी आश्रय-रूप कहा गया है।

श्रीगोस्वामीजी ने भी कहा है—

"पुनि मम धाम पाइहहु, जहाँ संत सब जाहिं।" (लं० दो० ११६); "हरि-पद-लीन भइ जहँ नहि फिरे।" (आ० दो० ३६)।

"राम बालि निज धाम पठावा।" (कि० दो० १०)।

"देहि राम तिन्हहुं निज धामा।" (लं० दो० ४४), इत्यादि।

मिश्र सत्त्व—रजस् और तमस् के साथ मिलकर रहनेवाले सत्त्व को मिश्र सत्त्व एवं अशुद्ध सत्त्व भी कहते हैं। यह बद्ध-जीवों के ज्ञान और आनन्द का आच्छादक है; विपरीत ज्ञान का उत्पादक है। नित्य है, भगवान् की लीला का साधन है, क्योंकि जीव इस मिश्र सत्त्व के जाल में पड़कर विपर्यय बुद्धि से अनेक प्रकार के कर्म करने लगता है, यही कर्म इसका बाँधनेवाला हो जाता है। कर्मानुसार फल देना भगवान् का स्वभाव है। उसी स्वभाव-प्रवृत्ति को भगवान् की लीला कहते हैं।

भगवान् की लीला का प्रधान साधन होने से इसे लीला-विभूति एवं 'प्रधान' कहते हैं। विचित्र सृष्टि का साधनीभूत द्रव्य होने के कारण इसे 'माया' और विविध विकारों को उत्पन्न करने के कारण इसे 'प्रकृति' कहते हैं।

इसीसे अनन्त ब्रह्मांडों की सृष्टि होती है। श्रुति कहती है ; यथा - "गौरनाद्यन्तवती सा जनयित्री भूतभाविनी।" अर्थात् 'गौः' (प्रकृति) अनादि और अनन्त है (तीनों कालों में सत्य है,)। वही सब प्राणियों को पैदा करती है, सबकी माता है। तथा—"मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।" (गीता ९।१०)।

श्रीगोस्वामीजी ने भी कहा है—

"लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया॥" (बा० दो० २२४)।
"सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया॥" (सुं० दो० २०)।
'एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥" (आ० दो० १४)।

इस जगत् को रचनेवाली प्रकृति के चौबीस भेद हैं ; यथा—"महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥" (गीता १३।५); अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पाँच महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि (महत्तत्त्व), अव्यक्त (प्रकृति), ११ इन्द्रिय (१० इन्द्रिय और १ मन) और पाँच इन्द्रिय-विषय एवं तन्मात्राएँ।

इन चौबीसों का क्रमिक विवेचन इस प्रकार है—

(१) तीनो गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है ; यथा—"सत्त्व-रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिरिति।" (साङ्ख्यसूत्र)। इस अवस्था में तीनों गुण समान रहते हैं।

(२) उपर्युक्त तीनों गुणों के विषम होने पर जो पहला परिणाम होता है, वह महत्तत्त्व है। यह धर्मी (गुण-क्रियादि का आश्रय) है।

(३) महत्तत्त्व का जो कार्य है, वही अहङ्कार है। यह सात्त्विक, राजस और तामस—इन भेदों से तीन प्रकार का है। इनमें सात्त्विक अहङ्कार से एकादश इन्द्रियाँ और तामस से शब्द-तन्मात्रा उत्पन्न होती हैं। राजस अहंकार, सात्त्विक और तामस इन दोनों अहंकारों का सृष्टि करने में सहायक है। (मन को कोई-कोई इन्द्रिय और कोई-कोई अन्तःकरण भी मानते हैं)।

(४) पञ्च तन्मात्रा—अहङ्कार के कार्य और पञ्च महाभूतों की सूक्ष्मावस्था का नाम तन्मात्रा है। ये शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध—इन भेदों से पाँच हैं।

'शब्द-तन्मात्रा' से आकाश और स्पर्श-तन्मात्रा की उत्पत्ति होती है। स्पर्श-तन्मात्रा से वायु और रूप-तन्मात्रा की; रूप-तन्मात्रा से तेज (अग्नि) और रस-तन्मात्रा की; रस-तन्मात्रा से जल और गंध-तन्मात्रा की और गंध-तन्मात्रा से पृथिवी-मात्र की उत्पत्ति होती है।

इन्द्रियों के नाम उनके विषय और देवता का वर्णन बा० दो० ११६ चौ० ५ के तिलक पृ० ३९६ में देखिये।

उदाहरण—

पञ्च महाभूत—"गगन समीर अनल जल धरनी।" (सुं० दो० ५८)।
दस इन्द्रियाँ—"दसहुँ दसहुँ कर संजम जो न करइ''''''" (वि० २०४)
अन्तःकरण—"चौथि चारि परिहरहु बुद्धि मन चित अहँकार।" „
पञ्च तन्मात्रा एवं विषय } "पाँचइँ पाँच परस रस शब्द गंध अरु रूप।" „

पञ्चीकरण

पुराणों के मत से पञ्चीकरण-प्रक्रिया इस प्रकार है—पञ्चभूतों में से एक-एक भूत को लीजिये और उनके दो-दो समान भाग कर डालिये। उन दो-दो भागों में से एक-एक को तो जहाँ का तहाँ रहने दीजिये। परन्तु प्रत्येक के दूसरे भाग के चार-चार समान भाग और कर डालिये। जिस भूत में चार भाग किये गये हैं, उसको छोड़कर शेष जो चार भूत हैं, उनके प्रधान-प्रधान भागों में इसके एक-एक करके चारो भागों को मिला दीजिये। इसी पञ्चीकरण-प्रक्रिया के द्वारा भूतों में शब्द आदि की प्रतीति होती है।

पृथिवी आदि सब भूतों में यद्यपि सब भूत मिले हुए हैं, तथापि किसी को पृथिवी और किसी को जल आदि इसलिये कहा जाता है कि पृथिवी में पृथिवी का ही अंश अधिक है। अन्य तत्त्वों के अंश बहुत अल्प हैं। ऐसे ही जल और अग्नि आदि के विषय में भी जानना चाहिये।

कोई-कोई सप्तीकरण-प्रक्रिया भी मानते हैं। वे उपर्युक्त पञ्चमहाभूतों में अहङ्कार और महत्तत्त्व को भी मिला लेते हैं।

वैदिक (छां० ६।३।२–३ के) मत में तो त्रिवृत्करण ही माना गया है, इसमें तेज, जल और पृथिवी, इन्हीं तीन तत्त्वों को मिलाकर सृष्टि बनना कहा गया है। त्रिवृत्करण का क्रम इस प्रकार है कि इन तीनों तत्त्वों के दो-दो भाग समान रूप में करना चाहिये।

प्रत्येक के एक-एक भाग को जहाँ के तहाँ छोड़कर दूसरे-दूसरे भागों के पुनः दो-दो भाग करना चाहिये। फिर उन्हें स्वेतर (अपने से भिन्न) तत्त्वों के प्रधान भागों में मिला देना चाहिये—यही त्रिवृत्करण-प्रक्रिया है।

पञ्चीकृत पाँचो भूतों से बने हुए द्रव्य का नाम अण्ड है। इस अण्डोत्पत्ति से पूर्व सृष्टि का नाम समष्टि-सृष्टि है। अण्डोत्पादन के अनन्तर सृष्टि का नाम व्यष्टि-सृष्टि है।

सत्त्वशून्य—काल सत्त्वशून्य कहा जाता है। काल—"ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः।" (श्वे० ६।१६); अर्थात् भगवान् ज्ञाता हैं, काल के भी काल हैं, सर्वगुणाधार हैं और सर्वज्ञ हैं। तथा—"कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तु-मिह प्रवृत्तः।" (*गीता ११।३२) अर्थात् भगवान् लोकों के क्षय करनेवाले काल हैं।*

श्रीगोस्वामीजी ने भी कहा है—

"तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेश्वर कालहु कर काला॥"—(सुं० दो० ३८)।
"अंड कटाह अमित लयकारी। काल सदा दुरतिक्रम भारी॥" (उ० दो० ९३)।

ईश्वर-प्रकरण

ईश्वर वह तत्त्व है जिसके द्वारा संसार को उत्पत्ति, पालन और संहार होते हैं; यथा—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते॥ येन जातानि जीवन्ति॥ यत्प्रयन्त्यभि-संविशन्ति॥ तद्विजिज्ञासस्व॥ तद्ब्रह्मेति॥" (तैत्त० ३।१); जैसे किसी खेत (क्षेत्र) को जो बोता है, रक्षा करता है और जिसके यहाँ उसका अन्न जाता है, वही उस खेत का स्वामी कहा जाता है। वैसे ही उपर्युक्त तीनों कार्य जिस परम तत्त्व से होते हैं, वही ईश्वर है। श्रीगोस्वामीजी ने श्रीरामजी में ही वह ईश्वरत्व कहा है; यथा—"उतपति *पालन प्रलय समीहा।" (लं० दो० १२); "विधि हरिहर मय···" (बा० दो० १८)*; "हरिहि हरिता विधिहि विधिता शिवहिं सिवता जो दई। सोइ जानकीपति मधुर मूरति मोद-मय मंगल-मई॥" (वि० १३५); "उमा राम की भृकुटि-बिलासा। होइ सृष्टि पुनि पावइ नासा॥" (लं० दो० ३१)। इस प्रकार श्रीरामजी को ही परात्पर तत्त्व कहा है। स्पष्ट कहा है; यथा—"यन्मायावशवर्त्ति···वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामा-ख्यमीशं हरिम्॥" (बा० मं० ६)। इसका तिलक पृ० १०-१५ देखिये।

पुनः 'अशेष कारणपरम्' पर यहाँ कुछ विशेष भी कहा जाता है; यथा—"संक्षिप्य हि पुरा लोकान्मायया स्वयमेव हि। महार्णवे शयानोऽप्सु मां त्वं पूर्वमजीजनः" से "तवस्त्वमसि

दुर्धर्षोत्तस्माद्भावात्सनातनात्। रक्षां विधास्यन्भूतानां विष्णुत्वमुपजग्मिवान्।" (वाल्मी० ७।१०४।४-९); अर्थात् परात्पर ब्रह्म श्रीरामजी ने लोकों को अपनेमें समेट लिया (महाप्रलय में सर्वजगत् को अपनेमें लीन कर लिया), फिर उन्होंने ही जल पैदा कर और उसमें नारायण-रूप से शयन कर अपने नाभि-कमल से ब्रह्मा को उत्पन्न कर के सृष्टि की। उन्होंने ही विष्णु-रूप से सब प्राणियों की रक्षा का विधान किया—यह श्रीब्रह्माजी का वचन है इसमें सृष्टि के कारण ब्रह्मा, परम कारण श्रीमन्नारायण और उससे पूर्व के अशेष-कारण रूप श्रीरामजी कहे गये हैं।

श्रुतियों में भी परब्रह्म-परत्व ऐसा ही कहा गया है; यथा—"तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्। पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेश-मीड्यम्॥ न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्ति-र्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥" (श्वे० ६।७।८) अर्थात् वह ईश्वरों का परम महेश्वर, देवताओं का परम देवता, पतियों का पति, सबसे उत्कृष्ट, भुवनों का ईश्वर और सबसे स्तुत्य है। उसका कोई कार्य और करण नहीं हैं। कोई न उसके समान ही है और न अधिक ही। उसकी परा-शक्ति विविध प्रकार की सुनी जाती है, उसके ज्ञान, बल और क्रिया स्वाभाविक हैं।

ग्रंथारंभ में (मङ्गलाचरण में) ही श्रीगोस्वामीजी ने 'अशेष-कारण पर' श्रीरामजी को अपना ध्येय कहा है। श्रीरामजी के नित्य आयुध धनुष-बाण हैं। अतः, उनके स्वरूप के साथ ही इनका भी ध्यान किया जाता है; यथा—"जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥" (सुं० दो० ४६); "सब साधन कर एक फल, जोइ जान्यो सोइ ज्ञान। ज्यों-त्यों मन मंदिर बसहिं, राम धरे धनुबान॥" (दोहावली ९०); तथा—"जासु हृदय आगार, बसहिं राम सर चाप धर।" (बा० दो० १७) इत्यादि।

धनुष और बाण, इन दोनों के कार्य श्रीरामजी के बिना कदापि सिद्ध नहीं हो सकते। श्रीरामजी धनुष को अपने हाथ से चढ़ाकर फिर उसे एक हाथ में लेते हैं। पुनः दूसरे हाथ से तर्कश से बाण लेकर उसका सन्धान करते हैं। फिर जितने बल से छोड़ते हैं, उतनी ही दूर वह जाता है और वैसा ही कार्य करता है। इसी प्रकार जीव-समूह बाणों के समान और प्रकृति धनुष के समान है; यथा—"प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥" (मुं० २।४) अर्थात् प्रणव (ॐकार) धनुष और आत्मा (जीवात्मा) बाण हैं, ब्रह्म इनका लक्ष्य है। शान्त चित से वेधना चाहिये कि जीव बाण के समान तन्मय हो जाय। ॐकार से यहाँ प्रकृति का -

तात्पर्य है ; यथा—"प्रणवत्वात्प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिनः ।" (रामतापनीय उ०)। प्रकृति के सत्वादि गुणों से ज्ञान-भक्ति आदि उपाय होते हैं । उनका कार्य श्रीरामजी की ही सत्ता से होता है। यथा,—"सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ।" (गीता १०।३६); यथा—रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।" (गीता ७।८) इत्यादि । जैसे श्रीरामजी के धारण करने से धनुष में कार्य-क्षमता है ; वैसे प्रकृति के द्वारा भी उन्हीं की सत्ता से कार्य होता है, अन्यथा वह जड़ ही है । यथा—"मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।" (गीता ९।१०) । पुनः जैसे श्रीरामजी बाणों को तर्कश से निकालकर उन्हें धनुष के रोदे पर चढ़ाते हैं, वैसे ही जीवों को श्रीरामजी ही प्रेरणा करके उपायारूढ़ करते हैं । जैसे बाण को श्रीरामजी जितना बल लगाकर छोड़ते हैं उतने ही बल के अनुसार वह आघात करता है, वैसे ही जीवों को भी श्रीरामजी जितना सामर्थ्य देते हैं, वे तदनुसार ही साधन करते हैं ; यथा—"पौरुषं नृषु ।" (गीता ७।८); "यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति । तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते । लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥" (गीता ७।२२)। पुनः जैसे सन्धान करके बाणों को श्रीरामजी ही लक्ष्य पर नियुक्त करते हैं वैसे ही स्व-स्वरूप और पर-स्वरूप का ज्ञान भी श्रीरामजी ही कराते हैं ; यथा—"सोइ जानइ जेहि देहु जनाई ।" (अ० दो० १२६); "जाने बिनु भगति न जानिबो तिहारे हाथ···" (वि० २५१)।

श्रीरामजी के बाण कार्य करके पुनः लौटकर उनके तर्कश में ही आ जाते हैं ; यथा—"पुनि रघुबीर निषंग महँ, प्रबिसे सब नाराच ।" (लं० दो० ६७); "मंदोदरि आगे भुज सीसा । धरि सर चले जहाँ जगदीसा ॥ ··· प्रबिसे सब निषंग महँ जाई ।" (लं० दो० १०१); उसी प्रकार श्रीरामजी की प्रेरणा से जीव उपायारूढ़ हो उनकी ही दी हुई शक्ति से साधन कर, रावण-रूपी मोह आदि विकारों का नाश कर, फिर श्रीरामजी को ही प्राप्त होते हैं। वे श्रीरामजी के शरीर रूपी नित्य धाम में सायुज्य मुक्त होकर रहते हैं । ऊपर का *'विदेह मुक्त' प्रकरण भी देखिये । इसी दृष्टि से एवं इसी ज्ञान की प्राप्ति के* लिये कर्मेन्द्रिय भुजाओं पर धनुष-बाण के चिह्न धारण किये जाते हैं कि जिससे कर्मों का कर्तृत्वाभिमान नहीं हो ।

जैसे धनुष-बाण के कार्य श्रीरामजी के धारण करने एवं उनकी प्रेरणा के बिना सिद्ध नहीं हो सकते, वैसे ही जीवों और प्रकृति की व्यवस्था भी श्रीरामजी के द्वारा ही जाननी चाहिये। जैसे श्रीरामजी का धनुष एक है और उनके अक्षय तर्कश में बाण अनन्त रहते हैं ; वैसे ही प्रकृति एक और जीव अनन्त हैं । इससे चिदचित् का भगवान् से अपृथक्-सिद्धि-सम्बन्ध सिद्ध होता है और उपर्युक्त चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म की व्यवस्था

भी प्रत्यक्ष होती है। अतएव, श्रीगोस्वामीजी की ध्येय-व्यवस्था भी विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त के ही अनुकूल है।

इनके ग्रंथों में ईश्वर-सम्बन्धी और बातें भी विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुकूल ही हैं। कुछ मिलान आगे लिखे जाते हैं—

विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त	श्रीगोस्वामीजी
ईश्वर अखिल हेय प्रत्यनीक है; अर्थात् वह समस्त दोषों का विरोधी है। जैसे तेज तम का विरोधी है; यथा—"य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्य सङ्कल्पः।" (छां० ८।७।१) अर्थात् आत्मा पाप-रहित, जरा-रहित, मृत्यु-रहित, शोक रहित, क्षुधा-रहित, पिपासा-रहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है।	"सकल विकार-रहित गत भेदा। कहि नित नेति निरूपहिं वेदा॥" (अ० दो० ९१); "अस प्रभु हृदय अछत अविकारी।" (बा० दो० २२), "निर्मल मन जन सो मोहिं पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥" (सुं० दो० ४३); "छली न होइ स्वामि सनमुख ज्यों तिमिर सातहय जान सों।" (गो० सुं० ३२)।
ईश्वर दिव्य गुणों से युक्त है; अर्थात् वह वात्सल्य, सौशील्य एवं शौर्य, पराक्रम आदि गुणों से पूर्ण है।	"राम अमित गुनसागर, थाह कि पावइ कोइ।" (उ० दो० ९१), "गुन-सागर नागर वर बीरा॥" (बा० दो० २४०)।
ईश्वर अनन्त है; अर्थात् वह सब देशों, सब कालों और सब वस्तुओं में है, क्योंकि वह सर्वात्मा, नित्य और व्यापक है।	"देस काल दिसि बिदिसहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥" (बा० दो० १८४), "देस काल पूरन सदा बद वेद पुरान। सबको प्रभु सबमें बसै सबकी गति जान।" (वि० १०७); "राम अनंत अनंत गुन।" (बा० दो० ३३)।
ईश्वर सर्वान्तर्यामी है; यथा—"अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा।" (आर० १।३।११); अर्थात् वह सबके अभ्यन्तर मे प्रविष्ट है, सब जीवों का शासक है और वही सर्वात्मा है।	"अंतरजामी राम सिय।" (अ० दो० २५६); "सबके उर अंतर बसहु।" (अ० दो० २५७), "राम उमा सब अंतरजामी।" (आ० दो० ३८); "अंतरजामी प्रभु सब जाना।" (उ० दो० ३५); "रघुबर सब उर अंतरजामी।" (बा० दो० ११८);

ईश्वर सच्चिदानन्द-स्वरूप है, यथा—"रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥" (रा० पू० ता० १।६), "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।" (तैत्त० २।१); "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् ॥" (तैत्त० ३।६)।

ईश्वर षडैश्वर्य पूर्ण हैं; यथा—"ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः। भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥" (विष्णुपुराण); ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरिणा ॥" (श्रीभगवद्गुण दर्पण)। ये ऐश्वर्य ईश्वर में निरुपाधिक (स्वाभाविक) एवं निस्सीम हैं; यथा—"पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।" (श्वे० ६।८); "यतो वाचो निवर्तन्ते ॥ अप्राप्य मनसा सह ॥" (तैत्त० २।४) इत्यादि।

ईश्वर अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष देनेवाला है, यथा—"श्रुतत्वाच्च" ब्र० सू० ३।२।३८। सर्वं भोगापवर्गादि लक्षण फलं परमात्मैव प्रयच्छतीति श्रूयते—'स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानो विदन्ते वसु य एवं वेद।' (बृह० ४।४।२४) इति।" (ब्र० सू०—आनन्द भाष्य ३।२।३८)।

"सत चेतन घन आनन्द-रासी।" (बा० दो० ११); "राम सच्चिदानन्द दिनेसा।" (बा० दो० ११५); "जय सच्चिदानंद जग पावन।" (बा० दो० ४१); "सुद्ध सच्चिदानन्दमय कंद भानुकुल-केतु। चरित करत…" (अ० दो० ८७); "चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी ॥" (अ० दो० १२६)।

षडैश्वर्य-प्रसंग बा० दो० १२ चौ० ४, बा० दो० २२ चौ० ६–७ और बा० दो० ११८ देखिये तथा—ज्ञान; यथा—"ज्ञान अखंड एक सीतावर।" (उ० दो० ७७); बल—"मरुत कोटि सत बिपुल बल।" (उ० दो० ११), "बल धामा।" (उ० दो० ७१); शक्ति—"अखिल अमोघ सक्ति भगवंता ॥" (उ० दो० ७१)। ऐश्वर्य—"रोम-रोम प्रति लागे, कोटि-कोटि ब्रह्मंड।" (बा० दो० २०१), वीर्य—"पुरुष सिंह दोउ बीर" (बा० दो० २०८); "बिधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई।" (उ० दो० ११); तेज—"रामं तेज बल बुधि बिपुलाई। सेष सहस सत सकहिं न गाई ॥" (सुं० दो० ५५)।

बा० दो० १८ चौ० ३–७ देखिये। तथा—अर्थ; यथा—"जो संपति सिव रावनहि, दीन्हि दियें दस माथ। सोइ संपदा बिभीषनहिं, सकुचि दीन्हि रघुनाथ ॥" (सुं० दो० ४९); धर्म; यथा—"चारिउ चरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा……" (उ० दो० २०); काम; यथा—"सकल काम पूरन करै, जानै सब कोइ।" (वि० १०८); मोक्ष—शबरी, गृध्र

विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त	श्रीगोस्वामीजी
	•आदि को गति दीं, अंत में अयोध्यावासी जन्तु पर्यन्त को साथ ले गये।
ईश्वर ही जगत् का कारण है। कारण तीन प्रकार के होते हैं। उपादान, निमित्त और सहकारी। तीनों कारण ईश्वर ही हैं।	ईश्वर में तीनों प्रकार की कारणता पृ० ६ में लिखी जा चुकी और उससे श्रीगोस्वामी जी के ग्रन्थ का मिलान भी किया गया है।
ईश्वर की जगत्-रचना का कारण लीला-मात्र है। जैसे राजा आदि गेंद आदि की क्रीड़ा लीला-रूप में करते हैं वैसे ही सर्वकाम-पूर्ण ब्रह्म भी लीला-रूप में जगत् का व्यापार करता है। देव, मनुष्य, पशु और कीट आदि की विषम सृष्टि से उसमें विषमता नहीं आती और न संहार करने की निर्दयता ही। क्योंकि वह जीवों के प्राचीन कर्मानुसार ही सब विधान करता है; यथा—"पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन।" (बृह० ४।४।५)।	श्रीगोस्वामीजी ने भी लिखा है; यथा—"जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥" (अ० दो० १२६); "मुनि कर हित मम कौतुक होई।" (बा० दो० १२८); तथा—"कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥" (अ० दो० २१८)। "काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम-भोग सब भ्राता॥" (अ० दो० ९१); करइ जो करम पाव फल सोई।" (अ० दो० ७६)।

प्रश्न—ऊपर कहा गया कि जगत् के तीनों कारण ईश्वर ही हैं। सूक्ष्म चिद्-चिद्विशिष्ट ब्रह्म ही स्थूल चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म-रूप से परिणत होता है। इस तरह जगत् ब्रह्म का ही परिणाम है। ईश्वर ही जगत् रूप है। जगत् तो विकारी है, तब तो ईश्वर भी विकारी होगा। यह बात श्रुतियों के विरुद्ध है। श्रुतियाँ ईश्वर को निर्विकार कहती हैं।

उत्तर—परिणाम दो तरह का होता है—एक सद्वारक और दूसरा अद्वारक। सद्वारक वह है जो परिणाम अन्य पदार्थ में होता हो, पर उसका निर्देश अन्य वस्तु में किया जाता हो। अद्वारक वह है जिस पदार्थ में परिणाम होता हो उसी में उस परिणाम का निर्देश किया जाता हो। यहाँ ब्रह्म में जो जगत् का परिणाम है वह सद्वारक है; अर्थात् चिदचिद्रूप विशेषण-विशिष्ट ब्रह्म का जगद्रूप से परिणाम होता है। चित् और अचित् ब्रह्म के विशेषण हैं। ये ब्रह्म से भिन्न रह नहीं सकते, क्योंकि इनका ब्रह्म से अपृथक्-सिद्ध-सम्बन्ध है। अतः, परिणामी अचित् में परिणाम होता है, परन्तु उसका परिणाम विशेष्यभूत ब्रह्म में निर्दिष्ट होता है। साक्षात् ब्रह्म का परिणाम नहीं होता,

किन्तु अचित् रूप विशेषण द्वारा होता है। अतः, ब्रह्म के स्वरूप में परिणाम-रूप विकार नहीं होता। जैसे ऊर्णनाभि (मकड़ी) अपने शरीर-भूत विशेषण के द्वारा तन्तु रूप कार्य के प्रति उपादान कारण होती है, पर इस कार्य में उसके स्वरूप में विकार नहीं होता; जैसे जीवात्मा स्वरूपतः निर्विकार है, परन्तु मनुष्य आदि शरीर-विशिष्ट रहने से उसके शरीर के धर्म बालत्व, युवत्व और वृद्धत्व आदि के प्रति उसमें विकार नहीं आता, परन्तु बालत्व आदि उसी के प्रति कहे जाते हैं। ऐसे ही ब्रह्म का शरीर जगत् है, शरीर का परिणाम शरीरी (ब्रह्म) में कहा जाता है; फिर भी वह स्वरूप से निर्विकार ही है।

ईश्वर विभु (व्यापक) है। उसकी व्यापकता तीन प्रकार की है—(१) स्वरूप से, (२) धर्मभूत ज्ञान से और (३) विग्रह से। सर्वान्तर्यामित्व भगवान् का स्वरूप है। वे सर्वान्तर्यामित्व के द्वारा सर्वत्र व्यापक हैं। यह उनकी स्वरूप व्याप्ति है; यथा—"उर-प्रेरक रघुबंस-बिभूषन।" (उ० दो० १११); "सब को प्रभु सब में बसे, सब की गति जान।" (वि० १०७) इत्यादि। भगवान् अपने व्यापक ज्ञान के द्वारा समस्त चराचर जगत् का निरीक्षण करते हैं। यह उनकी ज्ञान-व्याप्ति है; यथा—"नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ।" (अ० दो० २५४) "सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी।" (बा० दो० ११८) इत्यादि। सब जगत् भगवान् का शरीर है; यथा—"जगत् सर्वं शरीरं ते।" (वाल्मी० ६।११७।२७), "पादोऽस्य विश्वाभूतानि" (पुरुषसूक्त)। यह जगत् रूप शरीर सर्वत्र है, यही विग्रह-व्याप्ति है; यथा—"बिस्व-रूप रघुबंस-मनि" से "मनुज बास सचराचर, रूप राम भगवान्॥" (लं० दो० १५) तक।

फल-दातृत्व—किसी भी साधन के द्वारा भोग एवं मोक्ष की प्राप्ति और किसी देवता एवं ऋषि के वरदान एवं आशिष-द्वारा प्राप्त होनेवाले फलों की सिद्धि ईश्वर के द्वारा ही होती है; यथा—"फलमत उपपत्ते" (ब्र० सू० ३।२।३७), तथा—"स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥" (गीता ७।२२)

श्रीगोस्वामीजी ने भी कहा है; यथा—"सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईस देइ फल हृदय बिचारी॥" (अ० दो० ७६), "कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता॥" (अ० दो० २८१)। इसी से श्रीनारदजी ने भगवान् को ही स्मरण करके आशिष दी है; यथा—"अस कहि नारद सुमिरि हरि, गिरिजहि दीन्हि असीस॥" (बा० दो० ७०)।

जीवों के कर्मानुसार ही फल देने से ईश्वर में विषमता और निर्दयता का भी प्रसंग नहीं आता; यथा—"वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति।" (ब्र० सू० २।१।३४), अर्थात् परमेश्वर जीवों के किये हुए पूर्व के शुभाशुभ कर्मानुसार देव-मनुष्य

आदि की विषम-सृष्टि करता और उसका संहार करता है। अतः, प्रत्येक जीव के कर्म ही उसके वैषम्य और संहार में कारण हैं, ईश्वर नहीं। ऐसा ही श्रुतियाँ कहती हैं ; यथा—"पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन।" (बृह० ४।४।५) अर्थात् पुण्य-कर्म से पुण्य और पाप से पाप होते हैं। अतः, शुभाशुभ सृष्टि जीवों के पूर्वार्जित कर्मानुसार होती है।

शंका—जब कर्म ही देव-मनुष्य आदि सृष्टि का कारण है, तब ईश्वर की ईश्वरता का क्या महत्व रह गया ?

समाधान—जैसे बीज बोने पर भी, वर्षा के जल बिना उनमें अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती! वैसे ही कर्मों के होने पर भी परमात्मा के बिना देव मनुष्य आदि के आकार की सृष्टि नहीं हो सकती—ब्र० सू० आनन्दभाष्य २।१।३४

पुनः जीवों के पूर्व कर्मानुसार ही ईश्वर के सङ्कल्प होते हैं, तदनुसार जीवों की प्रवृत्ति होती है। उन कर्मों का सम्पादन भी जीव ईश्वर की सत्ता में ही करता है। गीता में कहा है ; यथा—"यो यो यां यां तनुं···स तया श्रद्धया···" (७।२१-२२) देखिये। जैसे घर के कोने में, जलते हुए दीपक के प्रकाश में, भोजन-शयन आदि कर्म सम्पन्न किये जाते हैं ; यद्यपि उन कर्मों में दीपक तटस्थ रहता है, तथापि यह कहा जाता है कि इस दीपक ने मुझसे भोजन आदि व्यवहार अच्छी तरह कराये। वैसे ही ईश्वर की व्यापक सत्ता में जीवों के समग्र व्यवहार होते हैं। दीपक की तरह ईश्वर भी तटस्थ (पाप-पुण्य से अलिप्त) है, फिर भी ऐसा कहा जाता है कि ईश्वर ने अमुक-अमुक कर्म कराये ; यथा—"एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमन्वानुनेपत्येष एवैनमसाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो नुनुत्सत एष लोकपाल एष लोकाधिपतिरेष सर्वेश्वरः स म आत्मेति विद्यात्स म आत्मेति विद्यात्॥" (कौषी० ३।८) अर्थात् जीव से वही उत्तम कर्म कराता है जिसे उत्तम गति देना चाहता है। वही असत्कर्म कराता है जिसे निकृष्ट गति देना चाहता है। वही लोकपाल, लोकाधिपति एवं सर्वेश्वर है, वही मेरी आत्मा है।

प्रश्न—किससे उत्तम कर्म कराता है और किससे निकृष्ट ?

उत्तर—"उक्तञ्च स्वयमेव भगवता—तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥" (गीता १०।१०) ; "तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥" (गीता १६।१९), इति यः परमपुरुषाराधनं कुर्वन् स्वयं तु निर्ममः कर्मानुतिष्ठति तं तत्कर्मण्यभिरुचिं जनयन् सद्बुद्धिप्रदानद्वारा परमात्मैव प्रेरयति। यश्च स्वयमभिमानवान् हिंसादिरूपनिषिद्ध-

कर्माण्याचरति तस्य तथा भूतेष्वेव कर्मसु प्रीतिमुत्पादयन् तत्रैव प्रवर्तयतीति भावः। तथा च न परमात्मनो दोषलेशोऽपि न वा विहित, प्रतिषिद्धानां कर्मणामपि वैयर्थ्यमिति सर्वं निरवद्यम्।" (ब्र० सू०—आनन्द भाष्य २।३।४१) अर्थात् गीता के 'तेषां…' एवं 'तानहं …' इन वचनों का आशय यह है कि जो भगवान् का आराधन करते हुए ममत्वरहित कर्मानुष्ठान करते हैं उन्हें भगवान् उस कर्म में रुचि उत्पन्न कराते हुए सद्बुद्धि देकर वैसी ही प्रेरणा करते हैं। और जो अभिमानी हिंसा आदि निषिद्ध कर्मों का आचरण करता है, उसे वे उसी प्रकार के कर्मों में प्रीति उत्पन्न करते हुए वैसी ही प्रेरणा करते हैं। अतएव, इसमें परमात्मा का दोष-प्रसंग कुछ भी नहीं है और न इसमें विधि-निषेध कर्मों की ही व्यर्थता होती है।

जैसे अच्छे राजा की सामान्य दृष्टि प्रजा के हित पक्ष में ही रहती है, वह शिक्षा-द्वारा प्रजा का उत्कर्ष ही चाहता है, पर विशेष दृष्टि से तो प्रजागण अपने-अपने कर्मानुसार ही सुख-दुःख पाते हैं; वैसे ही ईश्वर भी शास्त्र एवं सत्संग की प्रवृत्ति कराके जीवों का उत्कर्ष ही चाहता है। फिर भी जीव अपने-अपने कर्मानुसार सुख-दुःख पाते ही हैं। जैसे राजा के स्वामित्व का महत्व रहता ही है, वैसे ईश्वर की ईश्वरता का महत्व है ही। जैसे कि ऊपर इसी प्रसंग में श्रुति-प्रमाण से ईश्वर का 'लोकपाल, लोकाधिपति…' होना कहा गया है।

इसपर अ० दो० २१८ चौ० ३-८ का तिलक एवं वि० २३८, २४६ आदि देखिये।

सगुण-निर्गुण-प्रकरण

भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजी ने निर्णय किया है—"निर्गता निकृष्टाः सत्वादयः प्राकृता गुणा यस्मात्तन्निर्गुणमिति व्युत्पत्तेर्निकृष्टगुणराहित्यमेव निर्गुणत्वम्। तथैव च—'सत्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः। स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु॥ वि० पु०॥ योऽसौ निर्गुणः प्रोक्तः शास्त्रेषु जगदीश्वरः। प्राकृतैर्हेय सत्वाद्यैर्गुणैर्हीनत्वमुच्यते॥ प० पु०॥ इत्यादौ प्रतिपादितत्वात्प्राकृतसत्वादिगुणनिषिद्धे सति ब्रह्मणो दिव्यगुणाश्रयत्वसिद्धेः। तादृश दिव्यगुणानाञ्च 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।' (श्वे० ६।८) इत्यादौ स्वाभाविकत्वाभिधानात्प्राकृतहेयगुणरहितत्वेन निर्गुणत्वं, दिव्यगुणवत्वेन च सगुणत्वमित्युभयथैकस्यैव ब्रह्मणो निर्देश इति न किञ्चिदनुपपन्नम्।" (ब्र० सू०—आनन्दभाष्य १।१।२) अर्थात् जिसमें सत्वादि प्राकृत गुण नहीं हों, वह निर्गुण है। यही 'सत्वादयो…' तथा 'योऽसौ…' इन स्मृति-वाक्यों से भी प्रतिपादित है। … प्राकृत सत्वादि गुणों के निषिद्ध होने पर ब्रह्म का दिव्य-गुण-आश्रयत्व सिद्ध है। इस तरह

के दिव्य गुण भी श्रुति में कहे गये हैं; यथा—'पराऽस्य.....' अर्थात् ब्रह्म की पराशक्ति विविध प्रकार की सुनी जाती है, उसके ज्ञान, बल और क्रिया आदि स्वाभाविक हैं। दिव्य-गुणों के स्वाभाविक कहे जाने से प्राकृत हेय गुणों से रहित होना ही निर्गुणत्व है और दिव्य-गुण-युक्त होना सगुणत्व है। दोनों प्रकार से एक ही ब्रह्म का निर्देश होता है।

भगवान् को जहाँ निराकार कहा गया है वहाँ प्राकृत आकार का ही निषेध है। दिव्य आकार तो भगवान् का है ही। यदि कहा जाय कि आकार-विशेष मानने से ब्रह्म सावयव होगा, उससे अनित्यत्व का प्रसंग आवेगा तो उसका समाधान यह है कि सावयव पदार्थ वही अनित्य होता है जो अनेक अवयवों से बना हो। जैसे, घट अनेक अवयवों से बना है, अतएव अनित्य है। भगवान् का दिव्य विग्रह तो उनकी इच्छा से निष्पन्न है; यथा—"इच्छा मय नर वेष सँवारे। होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे॥" (बा० दो० १५१); "निज इच्छा निर्मित तनु, माया गुन गो पार।" (बा० दो० १९१)। यथा—"सर्वे शाश्वता दिव्या देहास्तस्य परात्मनः। हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित्॥" (वाराहपुराण)।

श्रीगोस्वामीजी ने ब्रह्म की स्थिति उपर्युक्त रीति से ही मानी है। इन्होंने स्वतन्त्र रूप से निर्गुण ब्रह्म का प्रसंग कहते हुए उसमें षडैश्वर्य माना है और उसे 'प्रभु' एवं 'अविकारी' भी कहा है। बा० दो० २२ चौ० १-८ देखिये। 'प्रभु' शब्द से ब्रह्म का दिव्य-गुण-विशिष्ट होना और 'अविकारी' शब्द से प्राकृत हेय सत्त्वादि गुणों से रहित होना स्पष्ट है। मनु के प्रसंग में भी 'अगुन अखंड अनंत...' से निर्गुणत्व कहकर फिर उन्हीं के अंश से अनेकों त्रिदेवों का आविर्भूत होना कहा है। पुनः 'सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा।' कहकर उसके दर्शनों की अभिलाषा की। तब दिव्य विग्रह से ही भगवान् ने अपने दर्शन दिये हैं।

उसी दिव्य विग्रह के प्रकट होने पर आनन्द से सम्पूर्ण ब्रह्मांड पूर्ण हो गया। सूर्य भगवान् भी एक महीना उस आनंद में बेसुध रह गये। उस मर्म को किसी ने नहीं जाना। अतः, सारा ब्रह्मांड वैसा ही मुग्ध हो गया था।

श्रीगोस्वामीजी ने "अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा।" (बा० दो० २२) कहा है और निर्गुण से सगुण होना कहा है; यथा—"निर्गुण ब्रह्म सगुन भये जैसा।" (कि० दो० १६); "जेहि श्रुति निरंजन ब्रह्म व्यापक बिरज अज कहि गावहीं।...सो प्रगट करुनाकंद सोभा-बृंद अग जग मोहई॥" (बा० दो० ३१); "अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम-बस सगुन सो होई॥" (बा० दो० ११५) इत्यादि। इसका रहस्य नाम-वन्दना-प्रसंग में विस्तृत रूप से प्रकट किया गया है। वहाँ निर्गुण रूप के प्रसंग में कहा है; यथा—"अस प्रभु हृदय अछत अविकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥" अर्थात्

उस षडैश्वर्यपूर्ण प्रभु के विना जाने ही जीव दुखी हैं; यथा—"आनंद-सिंधु मध्य तव वासा। बिनु जाने कत मरसि पियासा॥" (वि० १३६)। इस तरह उसे अव्यक्त जनाया है; यथा—"कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव। अव्यक्त जेहि श्रुति गाव॥" (लं० दो० १११) में यह स्पष्ट भी कहा है।

इसी निर्गुण अव्यक्त ब्रह्म को वेदों से जानकर मनु-शतरूपा ने आराधन किया है; यथा—"सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा।" (बा० दो० १४३)। उस समय उनके हृदय में निरन्तर अभिलाषा हुआ करती थी; यथा—"देखिय नयन परम प्रभु सोई॥ अगुन अखंड···ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत-हेतु लीला तनु गहई॥ जो यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमारि पूजिहि अभिलाषा॥" (बा० दो० १४४)। इस अभिलाषा के साथ आराधन करने पर प्रभु अव्यक्त से व्यक्त (प्रकट) हो गये। उन्हें दर्शन दिये। फिर क्रमशः अपने गुण प्रकट करते हुए संसार का उन्होंने कल्याण किया। यह प्रसंग—"राम-भगत-हित नर-तनु धारी।" से "राजा राम अवध रजधानी। गावत गुन सुर मुनि बर बानी॥" (बा० दो० २४) तक कहा गया है। वहाँ अहल्या-प्रसंग के श्रीरामजी के उदारता-गुण से जीवों की कुमति का सुधरना और विश्वामित्र-यज्ञ-रक्षा-प्रसंग के वीर्य-गुण से दुःख-दोष के साथ दुराशा का नाश होना कहा गया है। इसी तरह वहाँ के नवो प्रसङ्गों में नव गुण कहे गये हैं, जिनके द्वारा मुमुक्षुओं को उत्तरोत्तर अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। चरम अवस्था-प्राप्ति—"फिरत सनेह-मगन सुख अपने। नाम-प्रसाद सोच नहिं सपने॥" पर कही गई है। वहाँ दो दोहों में स्पष्ट रूप से सगुण का प्रसंग है। बा० दो० २२-२४, तिलक पृ० १४०-१५१ देखिये।

यों तो ब्रह्म श्रीरामजी में असंख्य गुण हैं, परन्तु आप अवतार लेने पर मुमुक्षुओं के उपयोगी गुणों को प्रकट करके उनके उद्धार का उपाय करते हैं। उन्हीं गुणों के द्वारा साधकों का कल्याण होता है। कहा भी है—"सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन-हित तनु धरहीं॥" (बा० दो० १२१) तथा—"यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके। तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥" (गीता २।४६) अर्थात् जैसे सब ओर जलपूर्ण जलाशय से मनुष्य का जितना प्रयोजन रहता है, वह उसमें से उतना ही जल ले लेता है; वैसे ही वेदज्ञ लोग वेदों से प्रयोजन-मात्र (मोक्षसाधनीभूत) भगवान् के गुण ही लेते हैं। इसीलिये भगवान् मुमुक्षुओं के उपयोगी अपने गुणों को स्वयं प्रकट करके दिखाते हैं। यही उनका व्यक्त (सगुण) स्वरूप है।

यों भी समझना चाहिये कि जीव उस परमात्मा की सत्ता में विविध कर्म करते हैं, और तदनुसार फल पाते हैं। वह निर्लिप्त भाव से साक्षी-मात्र रहता है, अपनेको प्रकट नहीं करता। यही उसका निर्गुणत्व है: यथा—"जद्यपि सम नहिं राग न रोषू।

गहहिं न पाप पुन्य गुन दोषू ॥ करम प्रधान विश्व रचि राखा । जो जस करइ सो तस फल चाखा ॥" (अ० दो० २१८) । इसका वर्णन बा० दो० १२ चौ० ३ के तिलक में श्रुति के प्रमाणों के साथ किया गया है और उ० दो० ११० चौ० २–७ में भी इसका वर्णन है । ज्ञान-दीपक-प्रसंग में इसी का आराधन कहा गया है ।

पुनः जब भक्त लोग उस (ब्रह्म) के दिव्य गुणों को जानकर प्रेमपूर्वक उसकी आराधना करते हैं तब वह उन्हीं दिव्य गुणों को प्रकट कर उनके द्वारा भक्तों का अभीष्ट सिद्ध करता है ; यथा—"राम सगुन भये भगत प्रेम-बस ।" (अ० दो० २१८) ; "प्रेम ते प्रभु प्रगटै जिमि आगी ।" (बा० दो० १८४) ; "उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूप-कल्पना ॥" (श्रीरामतापनीय उ०) । यही व्यक्त भाव उसका सगुणत्व है ।

सारांश यह है कि ब्रह्म एक ही है उसका अव्यक्त भाव निर्गुणत्व और व्यक्त भाव सगुणत्व है ; यथा—"व्यक्तमव्यक्त गतभेद विष्णो ।" (वि० ५४) ; "जेहि श्रुति निरंजन ब्रह्म व्यापक बिरज अज कहि गावहीं ।···सो प्रगट करुनाकंद सोभावृंद अग जग मोहई ॥" (बा० दो० ५१) । बा० दो० ११५ चौ० १–३, कि० दो० १६ चौ० २, लं० दो० १११ छं० ७ तथा—"जे ब्रह्म अज अद्वैत ···" (उ० दो० १२) भी देखिये ।

ईश्वर की पञ्चधा स्थिति

ईश्वर की स्थिति पाँच प्रकार की है ; यथा—"परो व्यूहश्च विभवो नियन्ता सर्वदेहिनाम् ॥ अर्चावतारश्च तथा दयालुः पुरुषाकृतिः । इत्येवं पञ्चधा प्राहुर्मां रहस्यविदो जनाः ॥" ऐसा स्मृतियों में कहा गया है । पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार—ये पाँच प्रकार हैं ।

पर—जो अनेक पार्षदों, नित्य एवं मुक्त जीवों से परिवेष्टित श्रीजानकीजी के साथ साकेतलोक-निवासी भगवान् श्रीरामजी का द्विभुज रूप है, वह 'पर' है ; यथा—"स्थूल-मष्टभुजं प्रोक्तं सूक्ष्ममेव चतुर्भुजम् । परं तु द्विभुजं प्रोक्तमाद्यरूपमिदं हरेः ॥" (आनन्द सं०); "वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ।" (बा० मं० ६) । इन्हीं से नाना अवतार हुआ करते हैं ।

व्यूह—जो सब अवतारों का कंदभूत पर (वासुदेव) परमात्मा है, उससे सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये तीन रूप होकर कार्य करते हैं । कहीं-कहीं इन्हें चतुर्व्यूह भी कहा गया है, उसका तात्पर्य उसी वासुदेव पर्यायी पर परमात्मा को व्यूह में परिगणित करने में है ।

विभव—अवतारों को विभव कहते हैं। यद्यपि विभव अनन्त हैं, तथापि उनमें मुख्य और गौण ये दो भेद माने जाते हैं। साक्षात् अवतारों को मुख्य और आवेशावतारों को गौण कहा जाता है। आवेशावतारों में दो भेद कहे जाते हैं—स्वरूपावेश और शक्त्यावेश। परशुराम आदि स्वरूपावेश और ब्रह्मा, शिव आदि शक्त्यावेश हैं। आवेशावतार स्वरूपतः गौण नहीं, किन्तु भगवदिच्छा से गौण हैं।

श्रीरामजी और श्रीकृष्णजी आदि मुख्य विभव हैं। श्रीरामजी जब श्रीसीताजी के साथ नित्य परधाम में विराजमान रहते हैं तब उन्हें 'पर' कहा जाता है। जब वे करुणावश अवतार-रूप में पृथिवी पर पधारते हैं, तब 'विभव' कहे जाते हैं।

अवतार दस हैं—मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, श्रीराम, श्रीकृष्ण, बुद्ध और कल्की। विनयपत्रिका के ५२ वें पद में दसों के वर्णन देखिये।

अन्तर्यामी—स्वर्ग-नरक आदि सर्वत्र जो सुहृद्भाव से हृदय में स्थित भगवत्स्वरूप है, उसे अन्तर्यामी कहते हैं; यथा—"तू निज कर्म-जाल जहँ घेरो। श्रीहरि संग तज्यो नहिं तेरो॥" (वि० १३६); "परिहरि हृदय कमल रघुनाथहि बाहेर फिरत बिकल भयो धायो॥" (वि० १४४); "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।" (गीता १८।६१)।

अर्चावतार—प्रतिमावतार को अर्चा कहते हैं; यथा—"अर्चावतारोऽपि च देशकालप्रकर्षहीन' श्रित सम्भवश्च। सद्दिव्यगुप्राकृतदेहयुक्त पूर्णोऽर्चकाधीन समास्तकृत्यः॥" (वैष्णव-मताब्ज भास्कर) अर्थात् देश-काल की उत्कृष्टता से रहित, आश्रिताभिमत, अर्चक के सम्पूर्ण अपराधों को क्षमा करनेवाले, दिव्य देह से युक्त, षडैश्वर्यपूर्ण एवं गृह, ग्राम, नगर, प्रदेश और पर्वत आदि में वर्तमान तथा अपने समस्त कृत्यों में अर्चक की अधीनता स्वीकार करनेवाले मूर्त्ति-विशेष को अर्चावतार कहते हैं।

अर्चावतार चार प्रकार के हैं—स्वयंव्यक्त, दैव, सैद्ध और मानुष। यथा—"स्वयं व्यक्तश्च दैवश्च सैद्धो मानुष एव च। देशादौ हि प्रशस्ते स वर्त्तमानश्चतुर्विध.॥" (वैष्णव-मताब्ज भास्कर) अर्थात् प्रशस्त देश आदि में वर्तमान वह अर्चावतार स्वयं व्यक्त, दैव, सैद्ध और मानुष, इन भेदों से चार प्रकार के हैं।

जो विग्रह स्वयं प्रादुर्भूत हुआ हो, वह स्वयं व्यक्त है। जो देवों के द्वारा स्थापित हो, वह दैव है। जो सिद्धों के द्वारा स्थापित हो, वह सैद्ध है और जो मनुष्यों के द्वारा स्थापित हो, वह मानुष है।

आदि-ईश्वर के पाँचों प्रकारों का क्रमिक आविर्भाव एवं उनकी उपासना का रहस्य भी श्रीगोस्वामीजी ने बा० दो० १२ चौ० ३–५ में सूक्ष्मतया मार्मिक रीति से वर्णित किया है। तिलक पृ० ८५–८८ देखिये। और भी—अर्चावतार पृ० १२६, अ० दो० १२८ चौ० १–५, और दो० ३२५। विभव लं० दो० १८८ चौ० ७, अवतार-हेतु प्रकरण पृ० ४११–५३८। व्यूह बा० दो० २० चौ० ४–६। 'पर' बा० मं० श्लोक ६ एवं कैलाश-प्रकरण पृ० ३५८–४१०। अन्तर्यामी—बा० दो० २२ चौ० ६–७ देखिये।

उपर्युक्त 'पर', व्यूह आदि पाँचों अवस्थाओं में भगवान् श्रीजी के साथ ही रहते हैं। श्रीजीका विरह कभी नहीं होता। जैसा कि कहा है—"नित्यैवैषा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी। *यथा सर्वगतो विष्णुस्तथैवेयं द्विजोत्तम॥* देवत्वे देवदेहेयं *मनुष्यत्वे* च मानुषी विष्णोरेवानुरूपां वै करोत्येषाऽऽत्मनस्तनुम्॥" तथा "अनन्या हि मया सीता भास्करेण प्रभा यथा॥… न विहातुं मया शक्या कीर्तिरात्मवता यथा।" (वाल्मी० ६।११८।१९–२१); "गिरा अरथ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न। बंदउँ सीताराम-पद,…" (बा० दो० १८)।

ईश्वर की पञ्चधा स्थिति भी ग्रन्थकार ने विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार ही मानी है।

तात्पर्य-निर्णय

इस ग्रन्थ (श्रीरामचरित मानस) का तात्पर्य ज्ञान-विराग-युक्त भक्ति के प्रतिपादन का है। उपक्रमोपसंहार आदि छओं लिङ्गों से इसका निर्णय ग्रन्थ के अन्त में 'सतपंच चौपाई मनोहर' के प्रसंग में किया गया है। वहीं पर देखिये। यह भी विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की ही दृष्टि से है।*

---

* इन सब विषयों का विशेष रीति से वर्णन एवं शंका समाधानपूर्वक निर्णय मेरे "मानस, सिद्धान्त विवरण" ग्रन्थ में किया गया है। पुन हमें यह आशा है कि इस 'सिद्धान्त तिलक' के आद्योपान्त मनन करने से मानसकार के सिद्धान्त-विषय में यथासम्भव पाठक का प्रवेश हो जायगा।

—"तिलककार"

श्रीगोस्वामीजी की प्रामाणिक गुरु-परम्परा

मारवाड़ देश के मीयरा स्थान में श्रीकूबाजी की गद्दी है। श्रीकूबाजी के समकालीन गुरु-भाई श्रीरघुनाथदासजी महाराज ने श्रीकूबाजी की जीवनी लिखी है। वह उक्त गद्दी में वर्तमान है। वह संस्कृत में है, उसके बीच-बीच में भाषा के दोहे भी हैं। उसमें श्रीनरहरि दासजी के प्रथम शिष्य श्री केवलराम कूबाजी लिखे गये हैं। द्वितीय में श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी का नाम आया है; यथा—"द्वितीये नरहरि दास के, भये जो तुलसीदास। रामायण शुचि ग्रंथ रचि, जग में कियो प्रकास॥" उसमें यह भी लिखा है कि श्रीकूबाजी का जन्म संवत् १५४५ है। इससे वे श्रीगोस्वामीजी के समकालीन भी थे, क्योंकि श्रीगोस्वामीजी का जन्म संवत् मयङ्क-टीकाकार के मत से संवत् १५५४ है और अन्य लेखकों के मत से १५८९ है।

यह परम्परा इस प्रकार है—

१ भगवान् श्री रामानन्दाचार्यजी
२ अनन्त श्रीस्वामी सुरसुरानन्दजी
३ " " माधवानन्दजी
४ " " गरीबानन्दजी
५ " " लक्ष्मीदासजी
६ " " गोपालदासजी
७ " " नरहरिदासजी

८ " श्रीकेवल राम कूबाजी श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी

श्रीगोस्वामीजी ने गीतावली रामायण में एक पद लिखा है, यथा—"जागिये कृपा-निधान जानराय रामचन्द्र ..." इसके 'जानराय' पद से स्पष्ट होता है कि यह पद श्रीगोस्वामीजी ने अपने गुरु-भाई के सम्बन्ध से मीयरा स्थान में रहते हुए वहीं पर निर्माण किया है। मीयरा गद्दी के श्रीठाकुरजी का नाम 'जानराय' है, यह बहुत प्रसिद्ध है। इसकी कथा भक्तमाल की टीका में भी है, यथा—"धर्यो जानराय नाम जानि लई ही की बात" (भ० टी० क० १२६)।

अनत श्रीस्वामी युगलानन्यशरणजी महाराज
लक्ष्मण किला।

अनन्त श्री प० जानकीवरशरण महर्षि,
लक्ष्मण किला।

अनन्त श्रीस्वामी रामवल्लभाशरणजी महाराज,
श्रीसद्गुरुसदन, गोलाघाट।

अनन्त श्री प० रामवल्लभाशरणजी महाराज
जानकीघाट।
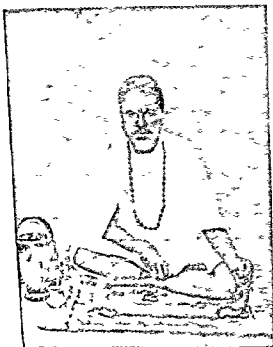
अनन्त श्रीस्वामी रामकुमारदासजी, प्रमोदवन, बड़ी कुटिया।

अनन्त श्रीस्वामी गोमतीदासजी महाराज हनुमन्निवास।
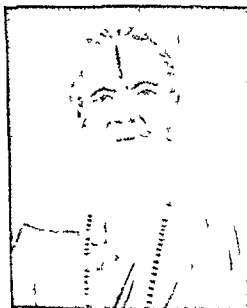
अनन्त श्री पं० रामपदार्थदासजी 'वेदान्ती' जानकीघाट।

इसी परम्परा को डाक्टर ग्रियर्सन साहब ने बहुत पहले लिखा है। जिसकी, उपर्युक्त गद्दी के प्रमाण को नहीं जानते हुए, काशी नागरी-प्रचारिणी सभा ने समालोचना की है कि श्रीनाभाजी से श्रीगोस्वामीजी की भेंट हुई थी। श्रीनाभाजी श्रीरामानन्दाचार्य से पाँचवीं पीढ़ी में हैं; तब श्रीगोस्वामीजी का आठवीं पीढ़ी में होना युक्त नहीं है। (सभा की प्रति अभी खोजने पर मुझे नहीं मिली। सुनी हुई बात मैंने लिखी है)। उक्त सभा के सभापति बाबू श्यामसुन्दर दासजी 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक ग्रंथ में लिखते हैं—"श्रीरामानन्दाचार्यजी का समय सं० १३५६ से १४६७ तक है।···अनुमान से सं० १४५० के लगभग उनके द्वादश शिष्यों का शिष्य होना मान्य है।" अर्थात् उक्त स्वामीजी की ६६ वर्ष की आयु के बाद शिष्य होने लगे और कुल ११ वर्षों में ही वे सब कुछ करके साकेत पधारे। उनका यह अनुमान कोई भी नहीं मान सकता।

रही नाभाजी के समकालीन होने की बात।

इसकी मीमांसा इस प्रकार होगी कि भगवान श्रीरामानन्दाचार्यजी का जन्म संवत् १३५६ है और श्रीगोस्वामीजी का, मानस के मयङ्क-टीकाकार के मत से, सं० १५५४ है। शेष लोगों ने १५८९ लिखा है। मयङ्ककार के मत से २०० वर्षों का और अन्यान्य लोगों के मत से २३३ वर्षों का अन्तर है। कम-से कम २०० वर्ष का अन्तर तो है ही। इसमें श्रीनाभाजी पाँचवीं पीढ़ी में हैं। अतः, इनकी ५० वर्ष की प्रत्येक पीढ़ी लेने से चार पीढ़ियाँ बीतीं। ऐतिहासिक दृष्टि से गृहस्थों की वंश-परम्पराएँ सामान्यतया २५ वर्ष की प्रत्येक पीढ़ी ली जाती है। साधुओं की गुरु परंपरा की प्रत्येक पीढी ४० वर्ष तक मान्य हो सकती है।

उपर्युक्त परंपरा में श्रीगोस्वामीजी श्रीरामानन्दाचार्यजी से आठवीं पीढ़ी में हैं। अतः, दो सौ वर्षों में सात पीढ़ियों के बीतने में प्रत्येक पीढ़ी २९ वर्ष की ही पड़ती है। सामान्य रीति से यह ठीक है। साधुओं की परम्परा में अपने वर्त्तमान काल में आज दिन भी प्रायः ४–५ पीढ़ियाँ बीत जाती हैं। अधिक-पीढ़ियों का होना कुछ भी असंगत नहीं, प्रत्युत् कम होना ही असंगत है। यदि ४० वर्ष से भी अधिक में पीढ़ियाँ पड़ें, तो उन्हें ठीक नहीं जानना चाहिये; परन्तु हमारी ऊपर दी हुई परम्परा में कोई दोष नहीं है।

परम्परा के विषय में मतभेद होने का कारण यह है कि श्रीगोस्वामीजी ने मानस के मंगलाचरण में 'नर रूप हरि' कहकर 'नरहरि दास' मात्र अपने श्रीगुरुजी के नाम का सङ्केत किया है। इस नाम के पाँच महात्मा भक्तमाल में कहे गये हैं। इससे लोगों में दो तीन मत हो गये हैं। किन्तु, उपर्युक्त परम्परा एक बड़ी भारी गद्दी की है और डाक्टर ग्रियर्सन से लेकर अभी तक के प्रायः सभी प्रतिष्ठित जीवनी-लेखकों ने इसको उद्धृत किया है। पर वे इसके दृढ मूल को न जानकर इसमें संशय कर बैठते थे। अब मैं आशा करता हूँ कि इसके विषय में किसी प्रकार का संदेह नहीं रह जायगा। 'तिलककार'

नवाह्न और मासिक विराम

नवाह्न	मासिक	विरामों के स्थान	दोहा-संख्या
	१	राम-चरित-राकेस कर, सरिस सुखद सब काहु	बा० दो० ३२
	२	बेदसिरा मुनि आइ तब, सबहि कहा समुझाइ	,, ,, ७३
	३	मगन ध्यान रस दंड जुग, पुनि मन बाहेर कीन्ह	,, ,, १११
१	×	हरि गुन नाम अपार, कथा रूप अगनित अमित	,, ,, १२०
	४	यह इतिहास पुनीत अति, उमहि कहा बृषकेतु	,, ,, १५२
	५	मन संतोष सबन्हि के, जहँ तहँ देहिं असीस	,, ,, १९६
	६	सतानंद - पद - बंदि प्रभु, बैठे गुरु पहिं जाइ	,, ,, २३९
२	×	उदित उदय गिरि मंच पर, रघुबर बाल पतग	,, ,, २५४
	७	देवन्ह दीन्ही दुदुभी, प्रभु पर बरषहिं फूल	,, ,, २८५
	८	मुदित अवधपति सकल सुत, बधुन्ह समेत निहारि	,, ,, ३२५
	९	सिय - रघुबीर - बिबाहु, जे सप्रेम गावहिं सुनहिं	,, ,, ३६१
३	×	प्रमुदित पुर-नर-नारि सब, सजहिं सुमंगल चार	अ० ,, १३
	१०	द्वार भीर सेवक सचिव, कहहिं उदित रबि देखि	,, ,, ३७
	११	सुठि सुकमार कुमार दोउ, जनक - सुता सुकुमारि	,, ,, ८१
	१२	तात बचन पुनि मातु-हित, भाइ भरत अस राउ	,, ,, १२५
४	×	तब बसिष्ठ मुनि समय सम, कहि अनेक इतिहास	,, ,, १५६
	१३	मातु भरत के बचन मृदु, सुनि पुनि उठी सँभारि	,, ,, १६४
	१४	तनु पुलकेउ हिय हरष सुनि, बेनि - बचन अनुकूल	,, ,, २०५
	१५	भोर भये रघुनंदनहि, जो मुनि आयसु दीन्ह	,, ,, २४७
	१६	बार बार मिलि भेंटि सिय, बिदा कीन्हि सनमानि	,, ,, २८७
५	×	राखि राम रुख धरम ब्रत, पराधीन मोहि जानि	,, ,, २९३
	१७	भरत चरित करि नेम, तुलसी जे सादर सुनहिं	,, ,, ३२६

नवाह्न	मासिक	विरामों के स्थान ❀	दोहा-संख्या		
	१८	हरषित बरषहिं सुमन सुर, बाजहिं गगन निसान	आ०	दो०	२०
	१६	दीप-सिखा सम जुवति-तन, मन जनि होसि पतग	”	”	४६
६	×	बदरी बन कहँ सो गई, प्रभु आज्ञा धरि सीस	कि०	”	२५
	२०	नीलोत्पल तनु श्याम, काम कोटि सोभा अधिक	”	”	३०
	२१	निमिप-निमिष करुनानिधि, जाहिं कल्प सम बीति	सुं०	”	३१
	२२	सकल सुमगल - दायक, रघुनायक - गुन गान	”	”	६०
	२३	रिपु-बल धरषि हरषि कपि, बालि - तनय बलपुंज	ल०	”	३४
७	×	कछु मारे कछु घायल, कछु गढ चढ़े पराइ	”	”	४६
	२४	निसिचर अधम मलाकर, ताहि दीन्ह निज धाम	”	”	७०
	२५	मुरुछा बिगत भालु कपि, सब आये प्रभु पास	”	”	९७
	२६	यह कलिकाल मलायतन, मन करि देखु विचार	”	”	१२०
८	×	ज्ञान गिरा गोतीत अज, माया - मन - गुन पार	उ०	”	२५
	२७	एहि विधि नगरनारिनर, करहिं राम - गुन - गान	”	”	३०
	२८	जथा अनेक वेप धरि, नृत्य करइ नट कोइ	”	”	७२
	२९	सुनि सिव बचन हरषि गुरु, एवमस्तु इति भाखि	”	”	१०६
६	३०	पुण्य पापहर सदाशिवकर विज्ञानभक्तिप्रद ·· ·· ··	अंतिम	श्लोक	

इन विराम-स्थलों में प्राय. रामायणी लोगों में मतभेद रहता है। इनमें विचारना यही है कि नित्य के लिये बराबर बराबर पाठ पड़ें और विश्राम अच्छे स्थल पर हों। किसी-किसी का ऐसा भी मत है कि मासिक पाठ के एक दिन के पाठ में काण्ड का उल्लघन भी न करना पड़े। मेरे उपर्युक्त निबन्ध मे इसका भी निर्वाह हो गया है और नित्य के लिये पाठ भी बराबर हैं।

नोट—❀ जिन दोहों एव सोरठों पर विराम है, उनकी पहली पंक्ति ही यहाँ दी गई है; परन्तु पाठ इनके अंतिम चरण पर समाप्त होते हैं।

पारायण-विधि

श्रीरामचरितमानस का विधिपूर्वक पाठ करनेवाले सज्जनों के लिये सामान्य और विशेष दो प्रकार की विधियाँ हैं। नवाह्न और मास-पारायण—दोनों में इनकी आवश्यकता है।

"सामान्य विधि" यह है कि पाठ करनेवाला पाठ करने बैठे। जो नवाह्न एवं मासिक-परायण के विराम-स्थान इसके पूर्व में बतलाये गये हैं, उनमें क्रमशः एक का प्रति दिन पाठ करता हुआ नवाह्न का नौ दिन में एवं मासिक का एक मास में सम्पूर्ण पाठ समाप्त करे।

"विशेष विधि" इस प्रकार है कि पवित्र स्थान में एक चौकी को दिव्य वस्त्रादि से सुसज्जित करके उसपर श्रीचूर्ण (रोली) से अष्टदल कमलाकार यंत्र बनावे। उस यंत्र के आग्नेय, नैर्ऋत्य, वायव्य, और ईशान कोणवाले चार दलों पर श्रीतुलसीदासजी, श्रीयाज्ञवल्क्यजी, श्रीकाकभुशुण्डिजी और श्रीमहादेवजी—इन श्रीमन्मानस के चारों आचार्यों का पूजन करे। दक्षिण, पश्चिम और उत्तर इन तीन दिशावाले दलों पर श्रीलक्ष्मणजी, श्रीभरतजी और श्रीशत्रुघ्नजी इन तीनों श्रीप्रभु के भ्राताओं का शक्तियों के साथ पूजन करे और पूर्व दिशावाले दल पर श्रीहनुमानजी का अर्चन करे। यंत्र की मध्य कर्णिका में परात्पर प्रभु साकेताधीश्वर श्रीसीतारामजी का पूजन करे। यंत्र का चित्र और पूजा के मंत्र आगे दिये जाते हैं—
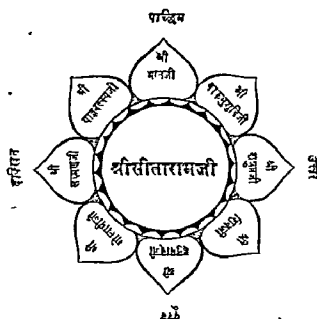
नमस्ते तुलसीदास रामभक्ति महोदधे ।
अग्निकोणे समाविश्य पूजां चेमां गृहाण मे ॥१॥ ॐ तुलसीदासाय नमः
याज्ञवल्क्य नमस्तुभ्यं रामतत्वप्रदर्शक ।
नैर्ऋत्ये तिष्ठ विप्रेन्द्र संगृहाण ममार्चनम् ॥२॥ ॐ याज्ञवल्क्याय नमः
भो भुशुण्डिन् नमस्तुभ्यं रामभक्ति दृढव्रत ।
वायव्ये ह्युपविश्याथ प्रतिगृह्णीष्व मेऽर्चनम् ॥३॥ ॐ भुशुण्डिने नमः
गौरीपते नमस्तुभ्यमिहागच्छ महेश्वर ।
ईशाने तिष्ठ देवेश गृहाण मम पूजनम् ॥४॥ ॐ गौरीपतये नमः
श्रीलक्ष्मण नमस्तुभ्यमिहागच्छ सहप्रियः ।
याम्यभागे समातिष्ठ पूजनं संगृहाण मे ॥५॥ ॐ सपत्नीकाय लक्ष्मणाय नमः
श्रीभरत नमस्तुभ्यमिहागच्छ सहप्रियः ।
पीठस्य पश्चिमे भागे तिष्ठ पूजां गृहाण मे ॥६॥ ॐ सपत्नीकाय भरताय नमः
श्रीशत्रुघ्न नमस्तुभ्यमिहागच्छ सहप्रियः ।
पीठकस्योत्तरे भागे पूजनं स्वीकुरुष्व मे ॥७॥ ॐ सपत्नीकाय शत्रुघ्नाय नमः
श्रीहनुमन्नमस्तुभ्यमिहागच्छ कृपानिधे ।
पूर्वभागे समातिष्ठ पूजनं स्वीकुरु प्रभो ॥८॥ ॐ हनुमते नमः
अथ प्रधानपूजा च कर्तव्या विधिपूर्वकम् ।
पुष्पाञ्जलिं गृहीत्वा तु ध्यानं कुर्यात्परस्य च ॥९॥
रक्ताम्भोजदलाभिरामनयनं पीताम्बरालंकृतम् ।
श्यामाङ्गं द्विभुजं प्रसन्नवदनं श्रीसीतया शोभितम् ॥
कारुण्यामृतसागरं प्रियगणैर्भ्रात्रादिभिर्भावितम् ।
वन्दे विष्णुशिवादिसेव्यमनिशं भक्तेष्टसिद्धिप्रदम् ॥१०॥
आगच्छ जानकीनाथ जानक्या सह राघव ।
गृहाण मम पूजां च वायुपुत्रादिभिर्युतः ॥११॥
सुवर्णरचितं राम दिव्यास्तरण शोभितम् ।
आसनं हि मया दत्तं गृहाण मणि चित्रितम् ॥१२॥
इदं पाद्यं मया दत्तं दिव्यं नरवरोत्तम ।
प्रसीद जानकीनाथ गृहाण सम्मुखो भव ॥१३॥
दिव्यौषधिरसोपेतं दिव्यसौरभ्य संयुतम् ।
तुलसीपुष्पदर्भाढ्यमर्घ्यं मे प्रतिगृह्यताम् ॥१४॥

सुगन्धवासितं दिव्यं निर्मलं सरयूदकम्।
गृहाणाचमनं नाथ। जानक्या सह राघव ॥१५॥
नमो रामाय भद्राय तत्त्वज्ञानस्वरूपिणे।
मधुपर्कं गृहाणेमं जानकीपतये नमः ॥१६॥
पञ्चामृतं मयानीतं पयो दधि घृतं मधु।
युतं शर्करया देव गृहाण जगतीपते ॥१७॥
दिव्य तीर्थाहृतैस्तोयैस्सर्वौषधिसमन्वितैः।
स्नपयामि अहं भक्त्या गृह्यतां जानकीपते ॥१८॥
सन्तप्तकांचनप्रख्यं पीताम्बरमिदं हरे।
संगृहाण जगन्नाथ रामचन्द्र नमोस्तुते ॥१९॥
यज्ञोपवीतं सौवर्णं मया दत्तं रघूत्तम
गृहाण सम्मुखो भूत्वा प्रसीद करुणानिधे ॥२०॥
किरीटं कुण्डलं हारं कङ्कणाङ्गदनूपुरम्।
नानारत्नमयं त्वङ्गे भूषणं प्रतिगृह्यताम् ॥२१॥
प्रधानदेवनीयश्च सर्वमङ्गलकर्मणि।
प्रगृह्यतां दीनबन्धो, गन्धोऽयं मङ्गलप्रद ॥२२॥
मलयाचलसंभूतं शीतमानन्दवर्द्धनम्।
काश्मीरघनसाराढ्यं चन्दनं प्रतिगृह्यताम् ॥२३॥
नमः श्रीरामचन्द्राय नमो मङ्गलमूर्त्तये।
उत्तरीयमिदं वस्त्रं गृहाण करुणानिधे ॥२४॥
कोमलानि सुगन्धीनि मञ्जरी संयुतानि च।
तुलस्याः सुदलान्येव गृहाण रघुवल्लभ ॥२५॥
सौरभाणि सुमाल्यानि सुपुष्परचितानि च।
नानाविधानि पुष्पाणि गृह्यतां जानकीपते ॥२६॥
दूर्वादलसमायुक्तं पत्र पुष्पं सहांकुरम्।
यवं तिलं महाभाग गृह्यतां सीतया सह ॥२७॥
नमः श्रीजानकीनाथ सौन्दर्यादिगुणाम्बुधे।
पादगुल्फादिप्यङ्गेषु ह्यङ्गपूजां - गृहाण मे ॥२८॥
वनस्पतिरसोत्पन्नं सुगन्धाढ्यं मनोहरम्।
धूपं गृहाण देवेश जानक्या सह राघव ॥२९॥

घृतवर्त्तिसमायुक्तं कर्पूरादिसमन्वितम् ।
दीपं गृहाण देवेश मम सिद्धिप्रदो भव ॥३०॥
पूपमोदकसंयावपयः पक्वादिक वरम् ।
निर्मितं बहुसंस्कारैर्नैवेद्यं प्रतिगृह्यताम् ॥३१॥
शीतलं स्वादु शुद्धं च परितृप्तिकरं जलम् ।
समस्त देवदेवेश प्रीत्यर्थं प्रतिगृह्यताम् ॥३२॥
सर्वौषधिरसोपेतं सौरभं सरयूजलम् ।
आचम्यं च मया दत्तं गृहाण करुणानिधे ॥३३॥
इदं फलं मया देव स्थापितं पुरतस्तव ।
तेन मे सकला प्राप्तिर्भवेज्जन्मनि जन्मनि ॥३४॥
ताम्बूलं पूगसयुक्तं चूर्णखादिरसंयुतम् ।
लवङ्गादियुतं दिव्यं राघव प्रतिगृह्यताम् ॥३५॥
आञ्जनेय महाभाग राम - भक्तिमहोदधे ।
प्रसादं रामचन्द्रस्य संगृहाण प्रसीद मे ॥३६॥
भ्रातृसुग्रीवकादिभ्यो देवेभ्यश्च यथार्हतः ।
प्रसादो रामचन्द्रस्य देयस्तुष्यन्ति तेन वै ॥३७॥
नृत्यगीतादि वाद्यादि पुराणपठनादिभिः ।
राजोपचारैरखिलैः सन्तुष्टो भव राघव ॥३८॥
कर्पूरवर्त्तिसंयुक्तं गोघृतेन सुपूरितम् ।
नीराजनं गृहाणेदं कृपया भक्तवत्सल ॥३९॥
मणिसौवर्णमाल्यैश्च युक्तं पुष्पाजलिं प्रभो ।
गृहाण जानकीनाथ कृपया भक्तवत्सल ॥४०॥
श्रीफलं स्वादु दिव्यं च सुधाधिकतरं प्रियम् ।
सदक्षिणं गृहाणेदं प्रणतार्तिहर प्रभो ॥४१॥
श्रीवल्लभानन्त जगन्निवास श्रीराम राजेन्द्र नमो नमस्ते ।
त्वया सनाथं कुरु मामनाथं नाथ प्रभो दीनदयालुमूर्ते ॥४२॥
समस्तैरुपचारैश्च या पूजा तु मया कृता ।
सा सर्वा पूर्णतां यातु अपराधं क्षमस्व मे ॥४३॥
यानि कानि च पापानि जन्मान्तरकृतानि च ।
तानि सर्वाणि नश्यन्तु प्रदक्षिण पदे - पदे ॥४४॥

राजेन्द्रपुत्राय परात्पराय स्वच्छाय सस्मेरशुभाननाय ।
श्यामाय रामाय सहप्रियाय नमः सदाभीष्टफलप्रदाय ॥४५॥
सहप्रियस्त्वं हृदये वस प्रभो मुखे यशो नामगुणानुवादनम् ।
प्रीत्यार्चनं ते करवाणि सन्ततं प्रदेहि मह्यं कृपया कृपाम्बुधे ॥४६॥
दयाऽब्धे जानकीनाथ महाराज कुमारक ।
ममाभीष्टं कुरुष्वाद्य शरणागतवत्सल ॥४७॥
आवाहनं न जानामि न जानामि विसर्जनम् ।
पूजां चैव न जानामि त्वं गतिः परमेश्वर ॥४८॥
इस प्रकार पूजन समाप्त करके हाथ में जल लेकर नीचे लिखा हुआ विनियोग करे—

ॐ अस्य श्रीमन्मानसरामचरितस्य श्रीशिव-काकभुशुंडि याज्ञवल्क्य-गोस्वामि तुलसीदासा ऋषयः चतुष्पाद्यादिनि छन्दांसि श्रीरामो देवता श्रीराम नाम बीजं भवरोग हारिणी शक्ति मम निरस्ताशेषविघ्नतया श्रीराम नाम प्रीतिपूर्वक सकल मनोरथ-सिध्यर्थं पाठे विनियोगः ॥

फिर

श्रीरामाय नमः, श्रीरामभद्राय नमः, श्रीरामचन्द्राय नमः

इन तीनों मंत्रों से आचमन कर युगुल बीज मन्त्र से प्राणायाम करे। इसके बाद नीचे लिखी चौपाईयों से करन्यास और अंगन्यास करे—

जग मंगल गुनग्राम राम के । दानि मुकुति धन धर्म धाम के ॥ अंगुष्ठाभ्यां नमः
राम-राम कहि जे जमुहाहीं । तिन्हहि न पाप पुंज समुहाहीं ॥ तर्जनीभ्यां नमः
राम सकल नामन्हते अधिका । होहु नाथ अघ खग गन बधिका ॥ मध्यमाभ्यां नमः
उमा दारु जोषित की नाईं । सबहि नचावत राम गोसाईं ॥ अनामिकाभ्यां नमः
सनमुख होइ जीव मोहि जबही । जन्म कोटि अघ नाशहि तबही ॥ कनिष्ठिकाभ्यां नमः
मामभिरक्षय रघुकुल नायक । धृत वर चाप रुचिर कर सायक ॥ करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः
जग मंगल गुनग्राम राम के । दानि मुकुति धन धर्म धाम के ॥ हृदयाय नमः
राम - राम कहि जे जमुहाहीं । तिनहिं न पाप पुंज समुहाहीं ॥ शिरसे स्वाहा
राम सकल नामन्ह ते अधिका । होहु नाथ अघ खग-गन बधिका ॥ शिखायैवषट्
उमा दारु जोषित की नाईं । सबहि नचावत राम गोसाईं ॥ कवचाय हुं
सनमुख होइ जीव मोहि जबही । जन्म कोटि अघ नासहि तबही ॥ नेत्राभ्यां वौषट्
मामभिरक्षय रघुकुल नायक । धृतवर चाप रुचिर कर सायक ॥ अस्त्राय फट्

फिर निम्नलिखित चौपाइयों से प्रभु का ध्यान करे—

मामवलोकय पंकज लोचन । कृपा बिलोकनि सोच बिमोचन
नील ताम रस श्याम काम अरि । हृदय कंज मकरंद मधुप हरि
जातुधान बरूथ बल भंजन । मुनि सज्जन रंजन अघ गंजन
भूसुर ससि नव वृन्द बलाहक । असरन सरन दीनजन गाहक
भुजबल बिपुल भार महि खंडित । खर दूषन बिराध बध पंडित
रावनारि सुख रूप भूपवर । जय दसरथ कुल कुमुद सुधाकर
सुजस पुरान विदित निगमागम । गावत सुर मुनि संत समागम
कारुनीक व्यलीक मद खंडन । सब बिधि कुसल कोसलामंडन
कलिमल मथन नाम ममताहन । तुलसिदास प्रभु पाहि प्रनत जन

तत्पश्चात् श्रीराम-मंत्र की एक माला जप कर पाठ प्रारंभ करे, विश्राम पर पाठ समाप्त करके श्रीराम-मंत्र की एक माला फिर जपे और अष्टांग धूप या यव तिलआदि से हवन करे।

जिस दिन पाठ समाप्त हो उस दिन यव, तिल, शक्कर आदि के सवा दो सेर, या सवा पाँच सेर साकल्य से आम की समिध के साथ १००० आहुति हवन करे और हवन से क्रमशः दशांश-दशांश तर्पण, मार्जन और ब्राह्मण-भोजन करावे।

पाठ करनेवाले को ब्रह्मचर्य व्रत से रहना चाहिये और दिन में एक बार सात्विक भोजन करना चाहिये।"

अनन्त श्री पं० रामवल्लभाशरणजी महाराज जानकीघाट, श्रीअयोध्या की प्रति से उद्धृत।

× × × × ×

नोट—जो प्रेम-पूर्वक पाठ के अर्थ पर रखते हुए निष्काम पारायण करते हैं उनके लिये विशेष विधियों का उतना बन्धन नहीं है।

अनुष्ठान के प्रयोग

श्रीरामचरित मानस साक्षात् श्रीरामजी का स्वरूप * है। अत, इसके द्वारा ऐहिक और पारमार्थिक सभी बातें प्राप्त हो सकती हैं। यह निश्चित है कि इसके द्वारा श्रीरामजी का प्रेम एवं श्रीरामजी का साक्षात्कार होता है, इस कारण प्राकृत वस्तुओं की प्राप्ति के लिये इसका प्रयोग करना ठीक नहीं। क्योंकि यह मणि देकर काँच लेने के समान गर्हित है। फिर भी पूर्व के महात्माओं ने पारमार्थिक और लौकिक दोनों ही प्रकार के प्रयोग लिखे हैं। लौकिक स्वामियों के समक्ष चापलूसी करके स्वार्थ साधने की अपेक्षा भगवान् से किसी वस्तु का माँगना उत्तम ही है। कहा भी है—"तोहि माँगि माँगनो न माँगनो कहायो।" (वि० ७८)। पुन, कतिपय लौकिक वस्तुओं की प्राप्ति से प्रतीति दृढ़ होने पर श्रीरामजी में निष्काम प्रेम करने की भी प्रवृत्ति होती, है, तब परमार्थ भी बनता।

आवश्यक बात तो यह है कि इस मानस को पुस्तक-मात्र न मानकर इसे श्रीरामजी का स्वरूप मानना चाहिये और इसपर दृढ़ श्रद्धा और विश्वास रखना चाहिये, तभी सब प्रयोग सिद्ध होंगे। यथा—"भवानी शङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ। याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥" (बा० म०।)

परमार्थिक प्रयोग

(१) श्रीरामजी के प्रत्यक्ष दर्शन पाने के लिये

बालकाण्ड से आरम्भ करके उत्तरकाण्ड की समाप्ति पर्यन्त १०५ पाठ करना चाहिये, चाहे जितने दिनों में हो। प्रत्येक दिन पाठ के आदि में, विसर्जन के समय और बीच बीच में भी इन चौपाइयों को पढ़ना चाहिये—

जौ अनाथ हित हम पर नेहू। तौ प्रसन्न होइ यह बर देहू॥
जो स्वरूप बस सिव मन माहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं॥

---

* बालकाण्ड प्रभु पाय, अयोध्या कटि मन मोहै।
उदर बन्यो आरण्य, हृदय किष्किंधा सोहै॥
सुंदर ग्रीव मुखारविंद, लंका कहि आयो।
जेहि महँ रावन आदि, निसाचर सर्व समायो॥
मस्तक उत्तरकांड गनु, एहि विधि तुलसीदासभनु।
आदि अंत लौं देखिये, श्रीमन्मानस रामतनु॥

जो भुसुंडि मन मानस हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा ॥
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति मोचन ॥
(बा० दो० १४५)।

इस प्रयोग के विधान में बहुत प्रेम-पूर्वक एक पवित्र स्थान पर एकान्त में शुद्ध चित्त से दर्शनों की कांक्षा से नित्य श्रीरामजी का ध्यान करना चाहिये। १०५ पाठों की समाप्ति पर, आशा है कि परम कारुणिक श्रीरामजी दर्शन देंगे।

२—श्रीसीताजी के साथ परम पुरुष श्रीरामजी के दर्शनों के लिये

नील सरोरुह नील मनि, नील नीरधर स्याम।
लाजहिं तनु सोभा निरखि, कोट कोटि सत काम ॥ (बा० दो० १४६)

इस दोहे से पाठ प्रारंभ करके उत्तरकाण्ड की समाप्ति तक पढ़ जाय और फिर बालकांड के आदि से प्रारंभ कर इसी दोहे के पहले की चौ०—"भगत बछल प्रभु कृपानिधाना। विश्ववास प्रगटे भगवाना ॥" पर समाप्त करे।

३—भक्ति-प्राप्ति के लिये

भक्त कल्पतरु प्रनत हित, कृपासिंधु सुखधाम।
सोइ निज भगति मोहि प्रभु, देहु दयाकरि राम ॥ (उ० दो० ८४)।

इस दोहे का सम्पुट या सम्पुटवल्ली लगाकर सम्पूर्ण श्रीरामचरितमानस का पाठ करना चाहिये।

मनोरथ की चौपाई एवं दोहे को प्रत्येक पद्य (दोहे-चौपाई आदि) के साथ एक-एक बार पढ़ते हुए पाठ करना सम्पुट और दो-दो बार पाठ करते जाना सम्पुटवल्ली कहा जाता है। जो सम्पुट से कार्य-सिद्धि न हो तो सम्पुट-वल्ली पाठ करना चाहिये। मनोरथ वाले पद्य से प्रारंभ कर ग्रन्थ-समाप्ति तक पाठ करके फिर बालकांड के आदि से प्रारंभ कर उसी पद्य पर पूर्ति करनी चाहिये।

४—ज्ञान-प्राप्ति के लिये

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा ॥
(कि० दो० १०)

५—प्रेम-वैराग्य-प्राप्ति के लिये

भरत चरित करि नेम, तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद प्रेम, अवसि होइ भव रस बिरति ॥ (अ० दो० ३२६)

६—वैराग्य सहित भक्ति-प्राप्ति के लिये

अब प्रभु कृपा करहु यहि भाँती । सब तजि भजन करउँ दिन राती ॥

(कि० दो० ६)।

७—संशय-निवृत्ति के लिये

रामकथा सुंदर करतारी । संसय बिहँग उड़ावनहारी ।

(बा० दो० ११३)

७—पराभक्ति वशीकरण

केहरि कटि पट पीत धर, सुखमा सील निधान
देखि भानुकुल भूषनहि, बिसरा सखिन्ह अपान ॥ (बा० दो० २२३)

लौकिक प्रयोग

१—जल वर्षा के लिये

सोइ जल अनल अनिल सघाता । होइ जलद जग जीवनदाता ॥

(बा० दो० ६)

२—विघ्न-नाश करने के लिये

सकल विघ्न व्यापहि नहिं ताही । राम सुकृपा बिलोकहिं जाही ॥

(बा० दो० ३८)

३—कार्य की सिद्धि के लिये

स्वयसिद्ध सब काज, नाथ मोहि आदर दियउ ।
अस बिचारि जुबराज, तनु पुलकित हरषित हियउ ॥ (लं० दो० १७)

४—रक्षा करने के लिये

मोरे हित हरि सम नहि कोऊ । येहि अवसर सहाय सोइ होऊ ॥

(बा० दो० १३१)

मामभिरक्षय रघुकुलनायक । धृत वर चाप रुचिर कर सायक ॥

(ल० दो० ११४)

५—विपत्ति का नाश करने के लिये

राजिव नयन धरे धनुसायक । भगत बिपति भंजन सुखदायक ॥

(बा० दो० १७)

६—तिजरा आदि ज्वर छुड़ाने के लिये

सुनु खगपति यह कथा पावनी । त्रिबिध ताप भव भय दावनी ॥

(उ॰ दो॰ १४)

७—प्रियतम-आकर्षण के लिये

जेहि कर जेहि पर सत्य सनेहू । सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू ॥

(बा॰ दो॰ २५८)

(उपर्युक्त रीति से सम्पुट पाठ करे अथवा इसी चौपाई मात्र को बराबर जपता रहे, जबतक प्रियतम न आवे।)

८—दुःख मिटाने के लिये

जब ते राम ब्याहि घर आये । नित नव मंगल मोद बधाये ॥ (अ॰ चौ॰ १)।

९—भूत-प्रेत इत्यादि से बचने के लिये

प्रनवउँ पवन कुमार, खल बन पावक ज्ञानघन ।
जासु हृदय आगार, बसहिं राम सर चाप धर ॥ (बा॰ दो॰ १७)।

१०—उत्सव करने के लिये

सिय रघुबीर बिबाहु, जे सप्रेम गावहिं सुनहिं ।
तिन्ह कहँ सदा उछाहु, मंगलायतन राम जसु ॥ (बा॰ दो॰ ३६१)।

११—उपद्रव की शान्ति करने के लिये

दैहिक दैविक भौतिक तापा । रामराज नहिं काहुहि ब्यापा ॥ (उ॰ दो॰ २०)।

१२—दरिद्रता नाश करने के लिये

अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के । कामद घन दारिद दवारि के ॥ (बा॰ दो॰ ३१)।

१३—जीविका उपार्जन करने के लिये

बिस्व भरन पोषन कर जोई । ताकर नाम भरत अस होई ॥ (बा॰ दो॰ १९६)।

१४—यात्रा में सफलता के लिये

प्रबिसि नगर कीजे सब काजा । हृदय राखि कोसलपुर राजा ॥ (सुं॰ दो॰ ४)।

१५—संकट नाश करने के लिये

जपहिं नाम जन आरत भारी । मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी ॥ (बा॰ दो॰ २१)।
जो प्रभु दीनदयाल कहावा । आरति हरन बेद जस गावा ॥ (बा॰ दो॰ ५८)।
दीनदयाल बिरद संभारी । हरहु नाथ मम संकट भारी ॥ (सुं॰ दो॰ २६)।

१६—सुख और सम्पति की प्राप्ति के लिये

जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं । सुख संपत्ति नाना विधि पावहिं ॥ (उ० दो० १५)।

१७—विद्या की प्राप्ति के लिये

गुरु गृह गये पढ़न रघुराई । अलप काल विद्या सब आई ॥ (बा० दो० २०८)।

१८—विष का नाश करने के लिये

नाम प्रताप जान सिव नीको । कालकूट फल दीन अमी को ॥ (बा० दो० १८)।

१९—मोहन प्रयोग करने के लिये

करतल बान धनुष अति सोहा । देखत रूप चराचर मोहा ॥ (बा० दो० २०३)।

२०—क्लेश का नाश करने के लिये

हरन कठिन कलि कलुष कलेसू । महा मोह निसि दलन दिनेसू ॥ (अ० दो० ३२५)।

२१—पुत्र की प्राप्ति के लिये

एक बार भूपति मन माहीं । भई गलानि मोरे सुत नाहीं ॥ (बा० १८८)।

यहाँ से आरम्भ कर उत्तरकांड समाप्त करे और बालकाण्ड आरम्भ करके नीचे के दोहे पर समाप्त करे—

कौसल्यादि नारि प्रिय, सब आचरन पुनीत ।
पति अनुकूल प्रेम दृढ़, हरि पद कमल विनीत ॥ (बा० दो० १८८)।

सङ्केत-सूची

अ०—अयोध्याकांड तथा अध्याय
आ०—अरण्यकांड
उ०—उत्तरकांड
क०—कवितावली रामायण
कि०—किष्किंधाकांड
गी०—गीतावली रामायण
गीता—श्रीमद्भगवद्गीता
चौ०—चौपाई
तै० + तैत्त०—तैत्तरीयोपनिषत्
दो०—दोहा
बा०—बालकांड
ब्र० सू०—ब्रह्मसूत्र (वेदान्त)
बृ०, बृह०—बृहदारण्यकोपनिषत्
का०, कठ०—कठोपनिषत्
छां०, छांदो०—छान्दोग्योपनिषत्
मुं०, मुण्ड०—मुण्डकोपनिषत्
भाग०, श्रीमद्भाग०—श्रीमद्भागवत
वाल्मी०—श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण
श्वे०, श्वेता०—श्वेताश्वतरोपनिषत्
कौषी०—कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषत्
मं०—मङ्गल एवं मङ्गलाचरण
लं०—लङ्काकाण्ड
सुं०—सुन्दरकाण्ड
सो०—सोरठा
मनु०—मनुस्मृति
स०—सर्ग
वि०—विशेष

श्रीरामशलाका प्रश्न

सु	प्र	उ	बि	हो	मु	ग	ब	सु	नु	बि	घ	धि	इ	द
र	रु	फ	सि	सि	रे	बस	है	मं	ल	न	ल	य	न	अं
सुज	सो	ग	सु	कु	म	स	ग	त	न	ई	ल	धा	बे	नो
त्य	र	न्	कु	जो	म	रि	र	र	अ	की	हो	सं	रा	य
पु	सु	थ	सी	जे	इ	ग	म	सं	क	रे	हो	स	स	नि
ति	र	त	र	स	इ	हू	व	य	प	चि	स	य	स	तु
म	का	ा	र	र	मा	मि	मी	म्हा	ा	जा	हू	हीं	ा	जू
ता	रा	रे	री	ह्र	का	फ	खा	जि	ई	र	रा	पू	द	ल
नि	को	मि	गो	न	म	ज	य	ने	मनि	क	ज	प	स	ल
हि	रा	म	स	रि	ग	द	न	प	म	खि	जि	मनि	त	ऊं
सिं	मु	न	न	कौ	मि	ज	र	ग	धु	ख	सु	का	स	र
गु	क	म	अ	घ	नि	म	ल	ा	न	ब	ती	न	रि	भ
ना	पु	व	अ	ढा	र	ल	का	ए	तु	र	न	नु	व	थ
सि	ह	सु	म्ह	रा	र	स	हिं	र	त	न	प	ा	जा	ा
र	सा	ा	ला	धी	ा	री	ज	हू	हीं	पा	जू	ई	रा	रे

उपर्युक्त 'श्रीरामशलाका प्रश्न' के द्वारा जब किसी को अपने इच्छित प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने की अभिलाषा हो, तब सबसे पहले उसको भगवान् श्रीरामजी का स्मरण करना उचित है। तत्पश्चात् श्रद्धा और विश्वास के साथ अपने मन में इच्छित प्रश्न का स्मरण करते हुए प्रश्न की मनचाही बन्धनी में अँगुली रख देनी चाहिये और उस बन्धनी में जो अक्षर हो उसे किसी कोरे कागज अथवा स्लेट पर अलग लिख लेना चाहिये। ऐसा कोई चिह्न प्रश्न की बन्धनी में भी लगा देना चाहिये जिसके द्वारा न तो प्रश्न-संख्या गन्दी हो और न प्रश्नोत्तर की प्राप्ति होने तक वह बन्धनी भूल जाय। बन्धनी का जो अक्षर अब लिख लिया गया है, उससे आगे बढ़ना चाहिये और उसके

दसवें कोष्ठ में जो अक्षर पड़े उसे भी लिख लेना चाहिये। इस तरह हरएक दसवें अक्षर को क्रम के साथ लिखते जाना चाहिये और जबतक सभी पहले कोष्ठ के अक्षर तक अँगुली पुनः न पहुँच जाय तबतक लिखते जाना चाहिये। पहले कोष्ठ का अक्षर जिस कोष्ठ के अक्षर से दसवाँ पड़ेगा, वहाँ तक जाते-जाते एक पूरी चौपाई हो जायगी। वही चौपाई प्रश्नकर्त्ता के इच्छित प्रश्न का उत्तर होगी। इस बात का यहाँ विचार रखना चाहिये कि किसी-किसी कोष्ठ में सिर्फ 'आ' की मात्रा (ा) और किसी कोष्ठ में दो-दो अक्षर हैं। अतएव गिनती करते समय मात्रावाले कोष्ठ को न तो छोड़ना चाहिये और न दो अक्षरोंवाले कोष्ठ को दो बार गिनना चाहिये। मात्रा का कोष्ठ जहाँ आवे वहाँ पहले लिखे अक्षर के आगे मात्रा लिखनी चाहिये और दो अक्षरोंवाला कोष्ठ जहाँ आवे वहाँ एक साथ दोनों अक्षर लिखना चाहिये।

उदाहरण-स्वरूप उपर्युक्त 'श्रीरामशलाका प्रश्न' से एक चौपाई किसी प्रश्न के उत्तर में निकाली जा सकती है। पाठकों को ध्यान से देखना चाहिये। यदि किसी ने भगवान् श्रीरामजी का स्मरण और अपने इच्छित प्रश्न का चिन्तन करते हुए प्रश्न-संख्या ※ इस निशान से युक्त 'सु' वाले कोष्ठ में अँगुली रक्खी और वह क्रम के अनुसार ऊपर बताये अक्षरों को गिन-गिनकर लिखता गया तो उत्तर में संख्या ※ ६ की चौपाई बन जायगी—

१—सुनु सिय सत्य असीस हमारी। पूजिहि मन-कामना तुम्हारी ॥ (बा॰ दो॰ २३५)।

—प्रश्न अच्छा है, कार्य होगा।

२—प्रबिसि नगर कीजे सब काजा। हृदय राखि कोसलपुर राजा ॥ (सु॰ दो॰ ४)।

—भगवान् श्रीरामजी का स्मरण करके कार्य करो, सिद्ध होगा।

३—उघरे अंत न होइ निबाहू। कालनेमि जिमि रावन राहू ॥ (बा॰ दो॰ ६)।

—इस कार्य में भलाई नहीं है, कार्य की सफलता में संदेह है।

४—बिधि-बस सुजन कुसंगति परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं ॥ (बा॰ दो॰ २)

—खोटे मनुष्यों का साथ छोड़ दो, कार्य पूरा होने में संदेह है।

५—होइहै सोई जो राम रचि राखा। को करि तरक बढ़ावहि साखा ॥ (बा॰ दो॰ ५१)।

—अपने कार्य को भगवान् पर छोड़ो, कार्य होने में संदेह है।

※६—मुद मंगलमय संत समाजू। जिमि जग जंगम तीरथराजू ॥ (बा॰ दो॰ १)।

—प्रश्न अच्छा है, कार्य सिद्ध होगा।

७—गरल सुधा रिपु करय मिताई। गो पद सिंधु अनल सितलाई ॥ (सु॰ दो॰ ४)।

—प्रश्न बहुत अच्छा है, कार्य सिद्ध होगा।

८—बरुन कुबेर सुरेस समीरा। रन सनमुख धरि काहु न धीरा ॥ (लं॰ दो १०२)।

—कार्य सिद्ध होने में संदेह है।

९—सुफल मनोरथ होहु तुम्हारे। राम लखन सुनि भए सुखारे ॥ (बा॰ दो॰ २३६)

—प्रश्न बहुत अच्छा है, कार्य सिद्ध होगा।

कुछ विशिष्ट सम्मतियाँ

प्रसिद्ध रामायणी श्रीरामबालक दासजी, बड़ी छावनी, श्रीअयोध्याजी से लिखते हैं—

॥ श्रीसीतारामाभ्यां नमः ॥

परमादरणीय पं० श्रीश्रीकान्तशरणजी !

आपका मानस-सिद्धान्त-तिलक मिला। मैंने उसके कतिपय सैद्धान्तिक स्थलों को देखा। आपका परिश्रम प्रशंसनीय है। यद्यपि मानस की गण्यमान्य कई टीकाएँ हुई हैं, तथापि इस सिद्धान्त-तिलक की भाषा तथा लेखन-शैली परिष्कृत है। इसीलिये यह ग्रन्थ सर्वोपादेय होना चाहिये।

—रामायणी रामबालकदास

न्याय-वेदान्ताचार्य पं० श्रीरामपदार्थदासजी, श्रीजानकी घाट, श्रीअयोध्या से लिखते हैं—

॥ श्रीसीतारामाभ्यां नमः ॥

इस जगत् के भाषा-साहित्यों में सर्वोच्च स्थान निर्विवाद रूप से श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी के 'श्रीरामचरित-मानस' को दिया जाता है। अपनी-अपनी बुद्धि-वैभव के अनुसार विद्वानों ने इस अमूल्य ग्रन्थ पर अनेक दृष्टियों से टीकाएँ की हैं। कहना न होगा कि उक्त टीकाकारों की दृष्टियों से वे अपने-अपने स्थान में उपयुक्त ही हैं।

यह तो विदित ही है कि श्रीगोस्वामीजी ने वैष्णव-साम्प्रदायिक दार्शनिक सिद्धान्तों के निचोड़ों को पूर्णतः ध्यान में रखकर ही अपने ग्रन्थों की रचनाएँ की हैं। इसलिये यह निर्विवाद सिद्ध है कि श्रीगोस्वामीजी का दार्शनिक सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत ही है।

इसकी आवश्यकता बहुत दिनों से प्रतीत होती थी कि श्रीगोस्वामीजी के रामचरितमानस की टीका सिद्धान्तानुसार हो। इस अभाव की पूर्त्ति श्री पं० श्रीकान्तशरणजी महाराज ने अथक परिश्रम करके की है। 'तिलक' को देखकर मेरा मन बहुत सन्तुष्ट हुआ। श्रुति-स्मृतियों के प्रमाणों का सुन्दर सामञ्जस्य श्रीगोस्वामीजी महाराज की कृपा से श्रीरामायणजी में जिस भाँति से है उसको श्री पं० श्रीकान्तशरणजी ने स्पष्ट करके आर्य सन्तानों के समक्ष इस सुन्दरता और सरलता से रखते हुए विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त के सारांश को झलकाकर जो कल्याण किया है उसके लिये समस्त धार्मिक जगत् के आप धन्यवाद के पात्र बन गये हैं।

शब्द बोध में वक्ता का तात्पर्य ज्ञान कारण माना जाता है। उसके बिना अर्थात् तात्पर्य-विरुद्ध अर्थ करने से वह अर्थ अर्थ नहीं कहा जा सकता। इस तिलक में इस सम्बन्ध की त्रुटियों का लेश भी नहीं मिलने से सहृदय लोगों का यह एक उत्तम आदर्श तिलक होगा।

—वेदान्ती रामपदार्थदास
वै० कृ० २, रविवार, २००१

न्याय-वेदान्ताचार्य पं० श्रीअखिलेश्वरदासजी, श्रीजानकी घाट, श्रीअयोध्या से लिखते हैं—

॥ श्रीहनुमते नमः ॥

यद्यपि श्रीमानस रामायण के ऊपर अनेकों टीकाएँ लिखी गईं हैं और वे सभी यथासाध्य लोक का उपकार कर रही हैं, तथापि यह श्रीमानस-सिद्धान्त-तिलक सम्प्रदाय-सिद्धान्त समझाने के लिये अत्यन्त उपयुक्त है। इस टीका के देखने में विशिष्टाद्वैत-सिद्धांत मानस के तत्-तत्स्थलों पर—जहाँ देखने में विभिन्न सिद्धान्त प्रतीत होता है—बड़ी खूबी से समन्वित है। वास्तव में यह सिद्धान्त गोस्वामी-पाद का हार्दिक भाव-प्रतीत होता है। उसी सिद्धान्त को टीकाकार ने पूर्ण परिश्रम के साथ विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त अनभिज्ञ प्रजा के और मानस-प्रेमियों के सामने रक्खा है। इस विकाश-युग में ऐसी टीका की परम आवश्यकता थी, जिसको लिखकर टीकाकार ने बड़ा ही उपकार किया है। इनका परिश्रम प्रशंसनीय है।

—अखिलेश्वरदास

स्वामी वैष्णवदासजी शास्त्री न्याय-रत्न, वेदान्त-तीर्थ, तर्कवागीश, न्याय-वेदान्त-केसरी, पहाड़ीबाबा का आश्रम, वंसीवट ग्वाक-चौक, श्रीवृंदावन (यू० पी०) से लिखते हैं—

॥ श्रीसीतारामाभ्यां नमः ॥

॥ श्री १९०८ आनन्दभाष्यकार श्रीरामानन्दाचार्याय नमः ॥

जिसकी व्यापकता, विश्वोपयोगिता, विश्वप्रियता तथा निष्पक्षपातिता में यही प्रबल प्रमाण है कि आज उसकी करोड़ों प्रतियाँ आदर-पूर्वक जनता के कर-कमलों में विद्यमान हैं; केवल हिन्दी भाषा में ही जिसकी सैकड़ों टीकाएँ हो चुकी हैं; भारत में कोई भी प्रान्त; कोई भी जाति तथा कोई भी सम्प्रदाय ऐसा नहीं जो उसे प्रेम-पूर्वक न अपनाता हो; जिसे हिन्दी भाषा में वेदों का उत्तम उपबृंहण; प्रस्थान-त्रय का भाष्य तथा भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यकृत श्रीमद्‌आनन्दभाष्य का तात्पर्य और श्रेष्ठतम भागवत प्रस्थान कहने में अत्युक्ति न होगी; समस्त विश्व जिसके माधुर्यामृत का पिपासु है; दुनिया की भाषाएँ जिसके अनुवादरूप चारु भूषण से विभूषित होने पर अपना परम गौरव समझती हैं; आवालवृद्ध, आपामर पण्डित तथा आरङ्कराव और हीन जाति से लेकर उत्कृष्टतम जाति के नर-नारियों का जो एकमात्र आधार है; जो श्रीसम्प्रदाय के प्रधानाचार्य श्री ११०८ जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराज यतिसार्वभौम के परम वैदिक तथा युक्तियुक्त विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का उत्कृष्ट प्रकाशक है; श्रीरामानन्द सम्प्रदाय (श्रीसम्प्रदाय) के आचार्य शिरोमणि पूज्यपाद श्री १००८ स्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज कवि-सम्राट् द्वारा विरचित अपने उसी "श्रीरामचरितमानस" की ओर श्रीसम्प्रदाय की कुछ उपेक्षा देखकर मुझे अत्यन्त दुःख हो रहा था। क्यों? श्रीगोस्वामीजी की श्रीरामायणाध्ययन-परम्परा के अनेकों महानुभावों तथा अन्यान्य श्रीरामायणी महानुभावों ने अनेकों टीका-टिप्पणियाँ लिखी हैं। उक्त महानुभावों ने रहस्य स्थलों का विशद स्पष्टीकरण भी किया है। परन्तु श्रीगोस्वामीजी के सम्प्रदाय (श्रीसम्प्रदाय—श्रीरामानन्द - सम्प्रदाय) के प्रधानाचार्य आनन्दभाष्यकार भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराज यतिराज के श्रौतयौक्तिकबाधरहित श्रीविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की ओर किसी ने विशेष ध्यान नहीं दिया है। प्रत्युत् आपात प्रतिभासित जगन्मिथ्यात्व का प्रतिपादन करके तो भगवान् श्रीआनन्दभाष्यकार और श्रीगोस्वामीजी के सिद्धान्त का विघात ही किया है। परन्तु श्रीअयोध्या-निवासी स्वामी श्री श्रीकान्त-

शरणजी द्वारा विरचित "सिद्धान्त तिलक" विभूषित "श्रीरामचरितमानस" को देखकर मुझे परम आनन्द प्राप्त हुआ । क्योंकि भगवान् भाष्यकार तथा श्रीमानसकार के विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तानुकूल ही यह व्याख्यान हुआ है । वादी के समाधान के लिये श्रुति-स्मृति गीता पुराणादि तथा श्रीवाल्मीकि-रामायण आदि के प्रमाणों और शास्त्रानुकूल तर्कों को देते हुए व्याख्याकारजी ने स्वसाम्प्रदायिक जनों के समाधानार्थ भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजी विरचित श्रीआनन्दभाष्य तथा श्रीगोस्वामीजी के ग्रन्थान्तरों तथा स्थलान्तरों के श्रीमानस-वचनों का प्रमाण दिया है । मैं भगवान् श्रीजानकीनाथ तथा जगज्जननी श्रीजानकीजी से प्रार्थना करता हूँ कि इस उत्कृष्ट साम्प्रदायिक ग्रन्थ का गौरव तथा प्रचार आचन्द्र-दिवाकर बढ़ता ही जावे, तथा भारतीय जनता तथा भावुक सन्तों के मनोमिलिन्द आचार्य सिद्धान्तात्मक गन्ध और भगवत रस से परिपूर्ण इस रमणीय प्रबन्ध-पङ्कज के सर्वथा आस्वादन में अविरत रत रहें ।

पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय (दरभंगा) के श्रीमान अध्यक्ष महानुभाव को सहस्रशः धन्यवाद है, जिन्होंने ऐसी-महँगी में भी इस ग्रन्थ-रत्न का प्रकाशन कर साम्प्रदायिक प्रचार में उत्तम सहयोग दिया । भगवान् आपके ऐश्वर्य, आयुष्य, कीर्ति और भक्ति को बढ़ावें । इति शम् ।

— स्वामी वैष्णवदास शास्त्री
१२–५–१९४४ ।

श्रीसीताराम

श्रीगोस्वामितुलसीदासकृत

श्रीरामचरितमानस

(सिद्धान्त-तिलक समेत)

प्रथम सोपान (बालकाण्ड)

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि।
मङ्गलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ ॥१॥

टीकाकार कृत मंगल

सीतानाथसमारम्भां रामानन्दार्यमध्यमाम्।
अस्मदाचार्यपर्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम् ॥

सोरठा—

वन्दउँ श्री गुरु भानु वचन किरण, तम मोह-हर।
भव रुजहर पद ध्यानु, नख दुति-भासै हरि चरित ॥१॥

सरयाम छप्पय—

वन्दउँ तुलसी वानि रानि हरि-चरित विलासिनि।
जेहि प्रसाद लहि मरम लसै मम वानि सवासिनि॥
विनवउँ मारुति वीर धीर लिपि विघन-विनासन।
रिपुहन लछिमन भरत विविध विधि धरम प्रकासन॥
प्रनवउँ पुनि सिय-पिय चरन, नाथ ! ढरहु करुनाद्दगनि।
देहु सुमति जेहि अनुसरहुँ, वर सिद्धान्त-तिलक रचनि॥२॥

अन्वय—वर्णानां अर्थसंघानां रसानां छन्दसां अपि च मङ्गलानां कर्त्तारौ वाणी-विनायकौ (अहं) वंदे।

अर्थ—अक्षरों, (अक्षरों के) अर्थसमूहों, रसों, छन्दों एवं मंगलों के करनेवाले श्रीसरस्वतीजी और श्रीगणेशजी की मैं वंदना करता हूँ ॥१॥

विशेप—

(१) यह श्लोक अनुष्टुप् छंद में बना है, जिसके प्रत्येक चरण का छठा वर्ण गुरु और पाँचवाँ लघु, दूसरे और चौथे चरणों के सप्तम वर्ण लघु तथा प्रथम और तृतीय चरणों के सप्तम वर्ण गुरु होते हैं।

श्रीमद्वाल्मीकिजी के मुख से श्रीमद्रामायण का बीज-रूप यही छन्द प्रकट हुआ था, यथा—"मा निषाद प्रतिष्ठान्त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥" इस छंद के प्रथमोद्गार से तथा 'व' अक्षर प्रथम देने से आप (श्रीगोस्वामीजी) ने अपने को श्रीवाल्मीकिजी का अवतार सूचित किया है। और भी—"जनम-जनम जानकीनाथ के गुनगन तुलसिदास गाये।" (गीतावली सं॰ ७१) अर्थात् इन्होंने पूर्व जन्म में भी गाया था। अयोध्याकांड में प्रायः आठ-आठ अर्द्धालियों पर दोहा और पचीस दोहों पर छन्द नियमित रूप से हैं, उसमें कुल तेरह छन्द हैं; बारह में तो 'तुलसी' नाम की छाप है और एक में —जो एक सौ पचीसवें दोहे पर है—'तुलसी' छाप नहीं है; क्योंकि वह श्रीवाल्मीकिजी का कथन कथा-प्रसंग में है ही, इस प्रसंग से अपना वही पूर्व रूप जनाया है। श्रीनाभाजी ने भी लिखा है—"कलि कुटिल जीव निस्तार हित वाल्मीकि तुलसी भयो ॥" (भक्तमाल १११)।

श्रीवाल्मीकिजी श्रीब्रह्माजी के अवतार हैं। श्रीशिवजी ने श्रीपार्वतीजी से कहा है—"वाल्मीकि-रभवद्ब्रह्मा वाणी वक्तृत्वरूपिणी। चकार रामचरितं पावनं चरितव्रतः ॥" (स्कन्दपुराण); तथा— "ब्रह्मणा निर्मितं यच्च शतकोटिप्रविस्तरम्। वाल्मीकिना च यत्प्रोक्तं श्रीरामाख्यानमुत्तमम् ॥" (मत्स्यपुराण)। इसी से जो वेद प्रथम चतुरानन श्रीब्रह्माजी के द्वारा प्रकट हुआ है; यथा—"तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यंति यत्सूरयः।" (भाग॰ मंगलाचरण); तथा—"यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" (श्वे॰ ६, १८)" फिर वही वेद उन्हीं ब्रह्मा के द्वितीय विग्रह वाल्मीकिजी के द्वारा रामायण रूप से प्रकट हुआ। यथा—"वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे। वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥" (वाल्मी॰ मू॰ रा॰ माहा॰); इसीसे वाल्मीकीय रामायण वेदोपबृंहण एवं आर्ष कहता है और उसके रचयिता उपर्युक्त ब्रह्माजी की तरह आदि कवि कहाते हैं। अतः, श्रीगोस्वामीजी श्रीब्रह्माजी के तृतीय विग्रह हैं। यथा—"मेरे जान जब ते हौं जीव ह्वै जनम्यों जग, तबते बेसाह्यों दाम लोह कोह काम को ॥" (क॰ उ॰ ७०); अर्थात् प्रथम आप ब्रह्मारूप देव-कोटि में भी थे। वाल्मीकि-रूप से मनुष्यकोटि में कहे गये और वहाँ भी प्रथम काम- क्रोध के वश थे। आदि आचार्य होने से ही इनके ग्रन्थों में सब शास्त्रों के सिद्धान्त पाये जाते हैं। अतएव श्रीमद्वाल्मीकीय की तरह यह ग्रंथ भी वेदोपबृंहण--वेदार्थप्रकाशक एवं आर्ष है।

(२) इस श्लोक के आदि में मगण पड़ा है, जो तीन दीर्घ (गुरु) अक्षरों का होता है। इस गण का देवता भूमि है, जो दिव्य गुणवाली है, और मंगल श्री देती है--'मो पृथ्वी श्रीप्राप्तिफल' ऐसा पिंगलशास्त्र में कहा है।

(३) मंगलाचरण ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति एवं उसके मंगलकारी होने के लिये किया जाता है-- "आदिमध्यावमानेषु यस्य ग्रन्थस्य मङ्गलम्। तत्पठनात् पाठनाद्वापि दीर्घायुर्धार्मिको भवेत् ॥" ऐसा सुना जाता है। इसीसे ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ के सातो सोपानों के आदि में नमस्कारात्मक एवं वस्तुनिर्देशात्मक मंगला-चरण किया है। यहाँ ग्रन्थकार ने वाणी और गणेशजी के नमस्कार करने का प्रयोजन भी व्यक्त किया है—

वर्णाना—"आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक विधाना ॥ भाव भेद रस भेद अपारा। कवित-दोष-गुन विविध प्रकारा ॥" (बा॰ दो॰ ८), इन सबके उत्तम विधानकर्त्ता सरस्वतीजी और श्रीगणेशजी हैं। क से ह तक ३३ वर्ण हल् (व्यञ्जन) हैं और अ से औ तक ९ स्वर (अच्) हैं। सब ४२ अक्षर हैं, इन सबों के अनेक-अनेक अर्थ होते हैं। कविता में कौन अक्षर कहाँ पड़ना चाहिये ; यह ज्ञान इन दोनों के द्वारा मुझे प्राप्त हो। यहाँ अक्षरों और उनके अर्थसमूहों के अंतर्गत वेद के शिक्षा आदि छओ

अंग आ गये। रसों में समस्त काव्य-ग्रंथों का और छन्दों से वेदों का भाव गर्भित है। इन-सबों के उपयुक्त भाव योग्य स्थलों पर आवें; ये सब इन्हीं दोनों के द्वारा प्राप्त होते हैं, यथा—"पुनि बंदउँ सारद सुरसरिता। जुगल पुनीत मनोहरचरिता ।। मज्जन पान पापहर एका। कहत सुनत यक हर अबिबेका।।" (बा० दो० १४); तथा—"मोदकप्रिय मुद मंगलदाता। विद्या-वारिधि बुद्धि-विधाता।" (विनय० १)।

(४) यह मानस काव्य ध्वन्यात्मक है; क्योंकि ध्वनि से इस श्लोक में सातो काण्डों का वस्तुनिर्देश भी किया है—'वर्णानां' से बालकांड—क्योंकि जिस परब्रह्म की कोई जाति नहीं, उसने वर्ण (जाति) धारण किया और विवाह आदि जातीय लीला भी इसमें हैं। 'अर्थसंघानां' से अयोध्याकाण्ड—क्योंकि इसमें प्रथम राज्य हेतु फिर वनवास के लिये अनेकों अर्थ (प्रयोजन) के साधन अवधवासियों और देवताओं ने किये। 'रसानां' से आरण्य कांड; क्योंकि रस का अर्थ वीर्य (पराक्रम) है—'शृंगारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रस इत्यमरः'। इस कांड में केवल अपने ही पराक्रम से श्रीरामजी ने रावण के तुल्य खरादि चौदह हजार राक्षसों का वध किया है। 'छन्दसां' से किष्किंधाकांड—क्योंकि छंद करोड़ों जातियों के होते हैं; वैसे इसमें वानरी सेना एकत्र हुई। छंद का अर्थ स्वतंत्र भी है, ऐसे ही श्रीरामजी सेना सहित युद्धार्थ स्वतंत्र हुए। 'अपि' से सुंदरकांड—क्योंकि अपि निश्चयार्थक है और इस कांड में श्रीसीताजी के लंका में होने का ठीक निश्चय हुआ। 'मङ्गलानां' से लंकाकांड—क्योंकि रावण-नाश से जगत् का मंगल हुआ। 'कर्त्तारौ' से उत्तरकांड—क्योंकि इसमें श्रीरामजी ने चक्रवर्त्ती होकर आज्ञा से जगत्-कर्तृत्व किया।

(५) यहाँ मूर्त्तिमान् गणेशजी के साथ में सरस्वतीजी के मूर्त्तिमान रूप की वंदना की है, आगे प्रवाह-रूपा गंगाजी के साहचर्य में प्रवाह रूप में भी करेंगे। यथा—"पुनि वन्दउँ सारद······"उपर्युक्त गणेशजी प्रधानतया मंगल-विधानकर्त्ता हैं और सरस्वती वर्णादि की कर्त्री हैं—दोनों का साथ ही प्रयोजन जानकर साथ ही वन्दना की। पुनः, श्री सरस्वतीजी संभाषण में अद्वितीय हैं, वैसे गणेशजी लिखने में—इसलिये भी एक साथ वन्दना की, क्योंकि यहाँ दोनों प्रयोजन साथ ही हैं।

(६) छन्दसां:—वर्णों की रचना में जब मात्राओं की संख्या, विराम (यति) और गति नियमानुसार होती है, अंत में अनुप्रास होता है, तब उसे छन्द कहते हैं। छन्दों में दोष-गुण के विचार विविध भाँति के होते हैं।

रसानां—मनोविकारों का वर्णन जब कार्यों, कारणों और सहकारियों के सहित किया जाता है, तब वे विकार पढ़नेवाले के मन में भी जाग्रत होते हैं और एक प्रकार का आनंद उत्पन्न करते हैं। इसीको रस कहते हैं। यथा—"रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" (तैत्ति० २।७)। रस के नव भेद कहे जाते हैं—"शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः। बीभत्साद्भुतशान्त्याख्या नवाप्येतेरसास्मृताः।"

प्रश्न—'व' अक्षर से क्यों प्रारंभ किया?

उत्तर—(१) श्लोक में कहे हुए वाणी-विनायक का आदि अक्षर व है; अतः, बीजवत् है। बीजयुक्त मंत्र अधिक प्रभावशाली होता है। अतः, इन दोनों के बीज से प्रारंभ कर उसी अक्षर पर समाप्त किया है—'दह्यन्ति नो मानवाः' आदि-अंत बीज से संपुटित करके ग्रंथ को मानों इनसे प्रसादान्वित किया है।

(२) तंत्रशास्त्र की दृष्टि से 'व' अमृत बीज है। अतः, इससे संपुटित ग्रंथ के पठन श्रवण से अमृत रूपा श्रीराम-भक्ति की प्राप्ति होकर अमर-पद का लाभ होगा। यथा—"कथा सुधा मथि काढ़हिं, भगति मधुरता जाहि।" (उ० दो० १२०) तथा—"तौ लौं सुधा सहस्र सम, राम भगति सुठि सीठि।।" (दोहावली ८२)।

शंका—श्रीगोस्वामीजी ने अपने इष्ट श्रीसीतारामजी को छोड़कर वाणी-विनायक की वंदना आदि में क्यों की, जब कि इसी ग्रंथ के शेष तीन वक्ताओं ने श्रीराम ही की वंदना से मंगलाचरण किया है ?

श्रीयाज्ञवल्क्यजी—"प्रनवउँ सोइ कृपाल रघुनाथा। बरनउँ बिसद तासु गुनगाथा।" (बा० दो० १०४)

श्रीशिवजी—"बन्दउँ बाल रूप सोइ रामू······
करि प्रनाम रामहिं त्रिपुरारी। हरषि सुधा सम गिरा उचारी॥" (बा० दो० ११२)

श्रीकाकभुशुंडिजी—"भयेउ तासु मन परम उछाहा। लाग कहइ रघुपति गुनगाहा॥
प्रथमहिं अति अनुराग भवानी। रामचरित सर कहेसि बखानी॥"(उ० दो० ६२)

समाधान—(१) श्रीगोस्वामीजी ने इष्ट की वंदना प्रथम व्यष्टि रूप में की है, कि चराचर जगत् श्रीरामजी का शरीर है ; जैसा कि सर्वत्र विराट् रूप में दिखाया है—"अहंकार सिव बुद्धि अज, मन ससि चित्त महान। मनुज-बास सचराचर, रूप राम भगवान॥" (लं० दो० १५); 'ब्रह्मा शम्भुश्च रुद्रश्च गणेशो भास्करस्तथा। विचिन्त्य वासुदेवस्य तनुभूताविभूतयः॥" (नारदपंचरात्रे बृहद्ब्रह्मसंहितायाम्)। अतः, जिस अंग से श्रीरामजी जो कार्य करते हैं, उस कार्य के निमित्त आपके उसी अंग की वंदना की है। सरस्वतीजी भी आपकी नियाम्यभूता शक्ति है, यथा—"तदपि जथा श्रुत कहउँ बखानी। सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी॥ सारद दारुनारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी॥ जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कवि उर अजिर नचावहिं बानी।" (बा० दो० १०४)। इसी प्रकार स्वशरीर-रूप नियाम्य गणेशजी के द्वारा मंगल आदि के विधायक श्रीराम ही हैं।

इस प्रकार सर्व-शरीरी के प्रति अनन्यता है। स्पष्ट कहा भी है, यथा—"सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर। रूप स्वामि भगवंत॥" (कि० दो० ३)। "उमा जे राम चरनरत··· निज प्रभुमय देखहिं जगत ॥ (उ० दो० ११२) एवं—"जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राममय जानि। बन्दउँ सबके पद-कमल",······से "सीयराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥" (बा० दो० ७) तक।

(२) फिर आगे—"जनकसुता जगजननि जानकी···" (बा० दो० १७) से इष्ट (श्रीसीतारामजी) के माधुर्य रूप की वन्दना प्रारम्भ करके प्रथम नव दोहों में नाम की; "सुमिरि सो नाम राम-गुन-गाथा।···" (बा० दो० २७) से दो दोहों में रूप की; "निज संदेह मोह भ्रम हरनी" से दो दोहों में लीला की ; और—"नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥" (बा० दो० ३३)। से एक दोहे में धाम की वन्दना की है। इस प्रकार नामादि चतुष्टय की वंदना सम्यक् वंदना हुई। यथा—"रामस्य नाम रूपंच लीलाधाम परात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दविग्रहम्॥" (वशिष्ठ-संहिता)। तब कथा प्रारम्भ हुई। अतएव इनकी वंदना उभय प्रकार की अनन्यतापूर्ण है। उपर्युक्त याज्ञवल्क्यादि तीन वक्ताओं की वन्दना सूक्ष्म है; अतः, माधुर्य रूप ही की है।

संबंध—प्रथम श्लोक से छन्दोरचना और उसमें मंगल का अवलम्ब प्राप्त करके, ग्रन्थ में जो वस्तु (श्रीरामचरित) कहना है, उसके आदि आचार्यरूप श्रीशिव-पार्वती की वन्दना करते हैं, कि जिनकी कृपा से प्राप्त श्रद्धा-विश्वास द्वारा उन्हें इस (मानस) की प्राप्ति हुई। वे ही गुण उनके प्रसाद से मुझे प्राप्त हों।

भवानी-शङ्करौ वन्दे, श्रद्धा-विश्वासरूपिणौ ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति, सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥२॥

शब्दार्थ—श्रद्धा-विश्वास—किसी बात की गूढ़ता और विचित्रता से आकृष्ट हो, वेद, शास्त्र एवं गुरु से उसके जानने की उत्कट इच्छा को श्रद्धा कहते हैं और जब उसपर किसी प्रकार ठीक भरोसा हो जाता है, तब वह विश्वास कहाता है।

अन्वय—(अहं) श्रद्धा विश्वास-रूपिणौ भवानीशङ्करौ वन्दे, याभ्या विना सिद्धाः अपि स्वान्तःस्थमीश्वरं न पश्यन्ति।

अर्थ—मैं श्रद्धा और विश्वास के रूप श्रीपार्वतीजी और श्रीशिवजी की वन्दना करता हूँ, जिनके बिना सिद्ध लोग भी अपने अंतःकरण में स्थित ईश्वर को नहीं देख सकते।

विशेष—

(१) यहाँ श्रद्धा-रूपा श्रीपार्वतीजी हैं, क्योंकि श्रीराम के प्रति इन्हें सती-रूप मे सन्देह हुआ। उसके निवारण की इच्छा दूसरे जन्म (पार्वती-रूप) में भी बनी ही रही। अतः अत्यंत आर्त्त होकर बारबार प्रार्थनापूर्वक प्रश्न किया है, यथा—"हरहु नाथ मम मतिभ्रम भारी ···" (बा० दो० १०७) से "अति आरति पूँछउँ-सुरराया। रघुपतिकथा कहहु करि दाया॥" (बा० दो० १०९) तक। यही श्रद्धा का यथार्थ रूप है।

श्रीशिवजी विश्वास-रूप हैं। यथा—"नाम प्रभाव जान सिव नीको। कालकूट फल दीन्ह अमी को॥" (बा० दो० १८); "जरत सकल सुर बृंद, विषम गरल जेहि पान किय।" (कि० मं०); अर्थात् क्षीर-समुद्र के मथते समय और सब देवता थे और सभी श्रीराम नाम के महत्त्व के ज्ञाता थे; पर कालकूट की तीक्ष्णता न सह सके तथा शिवजी का नाम-प्रताप पर पूरा विश्वास था; अतः, वे पी गये, जिससे मरने की अपेक्षा अजर अमर हो गये। यथा—"खायो कालकूट भयो अजर अमर तन।" (क० उ० १५८)।

(२) यहाँ ग्रन्थकार श्रीपार्वतीजी की सी श्रद्धा और श्रीशिवजी के समान विश्वास चाहते हैं। यह श्रीपार्वतीजी और श्रीशिवजी के प्रसाद से होगा। इसलिये इनकी वन्दना की कि श्रीरामचरित-ज्ञान के लिये वैसी श्रद्धा हो। यथा—"श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्।" (गीता ४।३९)। चरित के साथ ही उसके बीज रूप श्रीरामनाम का महत्त्वज्ञान होगा, तब श्रीशिवजी के समान श्रीरामनाम में विश्वास होगा, और नाम-कामतरु से चरित रचना रूपी मनोरथ की सिद्धि होगी। क्योंकि श्रीशिवजी को श्रीराम नाम से ही चरित का साक्षात्कार हो गया। यथा—"मंगल-भवन अमंगलहारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी।" (बा० दो० ९); नामप्रसाद संभु अविनासी। साज अमंगल मंगलरासी॥" (बा० दो० २५); "ब्रह्म राम ते नाम बड़, बरदायक बर दानि। रामचरित सत कोटि महँ, लिय महेस जिय जानि॥" (बा० दो० २५); नाम के द्वारा चरित का ज्ञान अन्यत्र भी कहा है। यथा—"जानहिं सिय रघुनाथ भरत को सील सनेह महा है। कै तुलसी जाको रामनाम ते प्रेम नेम निबहा है॥" (गी० अ० ७४); तथा—"नाम राम को कल्पतरु, कलि कल्यान निवास। जो सुमिरत भयो भाँगते, तुलसी तुलसीदास॥" (बा० दो० २६), "हौं तो बलि जाऊँ राम नाम ही ते लह्यो हौं।" (वि० २६०)। श्रीवाल्मीकि-तन में भी आप (गोस्वामीजी) उल्टे रामनाम (म रा) के जपने से श्रद्धा विश्वास के बल पर रामायण के आदि-निर्माता हुए। यथा—"महिमा उल्टे नाम की मुनि कियो किरातो।" (वि० १५१)।

(३) श्रद्धा और विश्वास जैसे अन्योन्य सापेक्ष्य एवं अभिन्न हैं; वैसे श्रीशिव-पार्वती भी हैं। जैसे
शिव-पार्वती की प्राप्ति दुर्लभ है, वैसे श्रद्धा-विश्वास की भी। वे ही (श्रद्धा-विश्वास) इन (शिव-उमा)
की वन्दना से प्राप्त होते हैं। विश्वास के विना श्रीराम-भक्ति की प्राप्ति नहीं होती। यथा—"बिनु बिस्वास
भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिं न राम।" (उ० दो० ९०) तथा—"जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न
पाव मुनि भगति हमारी॥" (बा० दो० १३७)। ऐसे ही श्रद्धा विना रामचरित की प्राप्ति नहीं, यथा—"जे श्रद्धा
संबल रहित, नहिं संतन कर साथ। तिन कहँ मानस अगम अति, जिनहिं न प्रिय रघुनाथ॥" (बा० दो०
३८)। ये चरित्र-सुगमता के तीन साधन माने गये हैं, इनमें विश्वास द्वारा भक्ति से श्रीरामप्रियत्व और
श्रद्धा यह दोनों स्पष्ट है, और 'संतन कर साथ' के प्रति आगे—'अवध पुरी यह चरित प्रकासा।' (बा० दो०
३३) कहा है; अर्थात् आपने सत्संग के लिये संतों के बीच में (ग्रन्थ-रचना कार्य) प्रारम्भ किया है।
तथा—"अगनित गिरि कानन फिरयो" (विनय २६६) अर्थात् पहले भी बहुत सत्संग किया है।

(४) 'याभ्यां विना···' जब ईश्वर के दर्शनार्थ साधन पूर्ण हुआ, तभी वे सिद्ध कहे गये, फिर उन्हें वह
ईश्वर क्यों नहीं दीख पड़ता? इसका समाधान यह है, कि वे श्रद्धा-विश्वास के विना केवल तर्क और ज्ञान
से ही साधन करते हैं और ईश्वर तो इन से परे है, यथा—"मनसमेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं
सकल अनुमानी॥" (बा० दो० ३४०)। "मायागुन-ज्ञानातीत अमाना।···" (बा० दो० १९१)।
"नैषा तर्केण मतिरापनेया:" (मुंड० उ०)। जीव के मन, बुद्धि आदि परिमित हैं और ईश्वर अपरिमित है। हाँ,
जीव जब श्रद्धानिष्ठ होकर साधन करे, तब भगवान् उस श्रद्धा को अपनी शक्ति से धारण कर उसके हृदय के
विश्वासानुसार प्राप्त होते हैं। यथा—"यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां
श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान्मयैव
विहितान्हितान्॥" (गीता ७।२२); तथा—"मणिर्यथा विभागेन नीलपीतादिभिर्युता। रूपभेदमवाप्नोति
ध्यानभेदात्तथाच्युतः॥" इत्यादि स्मृतियों में कहा है। अतः, उनकी दी हुई शक्ति से उनका प्राप्त होना युक्त है।
स्वान्तःस्थमीश्वरम्—यह श्रीरामजी का ही अव्यक्त रूप है। यथा—"परिहरि हृदय कमल रघुनाथहि बाहेर फिरत
विकल भयो धायो॥" (वि० २४४), तथा—"अंतरजामी राम सिय, ·····" (अ० दो० २५६)।

शंका—(क) अंतर्यामी रूप अव्यक्त है, यथा—"कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव, अव्यक्त जेहि श्रुति गाव॥"
(ल० दो० ११२); तथा—"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।" (गीता ९।४)। वह अनुभवगम्य
है, उसे 'पश्यन्ति' क्यों कहा गया?

समाधान—उपर्युक्त रीति से जब श्रद्धा-विश्वास से भजन किया जाता है, तब वही रूप व्यक्त होकर
दर्शन का विषय होता है। यथा—"अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥"
(बा० दो० ११५); "नाम निरूपन नाम जतन ते। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन ते॥" (बा० दो० २२)।

(ख)—श्रीशिव पार्वतीजी में तो बहुत गुण हैं, यथा—"प्रभु समरथ सर्वज्ञ शिव, सकल-कला-गुन-
धाम। जोग-ज्ञान-वैराग-निधि,······" (बा० दो० १०७)। यहाँ श्रद्धा-विश्वास रूप मात्र ही क्यों कहे गये?

समाधान—ग्रन्थकार को यहाँ मुख्य प्रयोजन इन्हीं दो गुणों से था। लिये श्रीशिव-पार्वती की वन्दना की,

सम्बन्ध—ऊपर श्लोक से श्रद्धा विश्वास द्वारा मानस-प्राप्ति के
तब श्रद्धा-विश्वास को सदुपदेश से दृढ़ करनेवाले श्रीगुरु की वन्दना करते हैं। मानस के आदि आचार्य
श्रीशिवजी हैं, फिर उन्होंने श्रीपार्वतीजी को दिया, तब क्रमश परम्परा द्वारा श्रीगुरु से इन्हें (गोस्वामीजी
को) मिला। यथा—"रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमय सिवा सन भाषा। सोइ सिव···
मैं पुनि निज गुरु सन सुनी,······तदपि कही गुरु बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा॥
भाषाबद्ध करबि मैं सोई।" (बा० दो० ३०)। अत', साथ ही वन्दना भी करते हैं।

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।
यमाश्रितोहि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते ॥३॥

अन्वय—यम् आश्रितः हि वक्रः अपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते, (एवं भूतं) बोधमयं नित्यं शंकररूपिणम् गुरुम् (अहं) वन्दे।

अर्थ--जिनके आश्रित होने से निश्चय ही टेढ़ा भी चन्द्रमा सर्वत्र वंदित होता है, ऐसे ज्ञान-स्वरूप, नित्य, शङ्कररूप गुरुजी की मैं वन्दना करता हूँ।

विशेष—

(१) 'बोधमयम्'—गुरु-लक्षण में कहा गया है; यथा—"गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद्रुशब्दस्तन्निरोधकः। अंधकारनिरोधत्वाद्गुरुरित्यभिधीयते ॥" अर्थात् 'गु' शब्द का अर्थ अज्ञान रूप अंधकार है और 'रु' का अर्थ उसका निवारक है। अज्ञान-निवारक होने से गुरु कहाते हैं। तथा--"महा-मोह-तम-पुंज, जासु बचन रविकर निकर ॥" (बा० दो० १); 'बिनु गुरु होइ कि ज्ञान—" (उ० दो० ८१)। एवं—"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" (मुंडको० ।।१२)।

'नित्यम्'—गुरुत्व तत्त्व नित्य है, वह भगवान् से क्रमशः मंत्र-परंपरा द्वारा श्रीगुरु में प्राप्त है। तन्निष्ठ होने से गुरुजी नित्य हैं, क्योंकि—"श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।" (गीता १७।३); अर्थात् - यह पुरुष श्रद्धामय है, (इसलिये) जो जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है। अर्थात् भगवान् के गुरुत्व अंश के श्रद्धानिष्ठ होने से भगवान् की तरह वे (गुरु) भी नित्य हैं। यथा—"भक्ति भक्त भगवंत गुरु, चतुर नाम वपु एक।" (भक्तमाल)। वेद वाक्य भी है, यथा—"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।" (श्वे० ६।२३)। इसमें गुरु को ब्रह्म तुल्य कहा है। एवं—"गुरुर्ब्रह्मागुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः। गुरुः साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥" (गुरुगीतायाम)। आगे भी—"बंदउँ गुरु-पद-कंज, कृपासिंधु नररूपहरि।" (बा० मं०) गुरु के उपमान-रूप शंकर भी नित्य हैं। यथा—"नामप्रसाद संभु अविनासी।" (बा० दो० २५)।

(२) 'वक्रोऽपि—' टेढ़े चन्द्रमा से शुक्ल द्वितीया का चन्द्रमा जानना चाहिये, यथा—"टेढ़ जानि बंदइ सब काहू। वक्र चन्द्रमहिं ग्रसइ न राहू ॥" (बा० दो० २८०)। द्वितीया के चन्द्रमा को ललाट पर धारण कर शिवजी ने अपना आश्रय दिया। इससे उसकी वन्दना सब कोई करते हैं। इसी प्रकार श्रीगुरु-शरण होने से अनधिकारी चेले का भी मान होने लगता है। ऐसे ही मेरी वक्र-बुद्धि से निर्मित यह श्रीरामयश भी सब कहीं आदर पावे और उस संबंध से मैं भी वंदनीय होऊँ—यही गुरु-वंदना का भाव है। आप वंदनीय हुए भी, यथा—"राम नाम को प्रभाव, पाउ महिमा प्रताप, तुलसी से जग मानियत महामुनि सो ॥" (क० उ० ७२)। श्रीकाकभुशुंडिजी भी प्रथम वक्र थे, गुरु-कृपा से वंदनीय हो गये। उत्तरकांड में विस्तार से कहा है।

(३) 'शंकररूपिणम्'—श्रीरामचरितमानस सम्बन्धी गुरुत्व श्रीशिवजी से चलकर परंपरा द्वारा श्रीगुरुजी में आया। उपर्युक्त विशेष (१) की रीति से उस गुरुत्वांश में श्रद्धानिष्ठ होने से श्रीगुरुजी को शंकररूप कहा। वैसे ही मंत्र-संबंधी गुरुत्व से आगे 'नररूप हरि' कहेंगे ; क्योंकि मंत्र-परंपरा हरि (श्रीराम) जी से है। आप ने कहा भी है, यथा—"हित उपदेश को महेस मानो गुरु कै।" (हनु० बाहुक); तथा—"गुरु पितु मातु महेस भवानी।" (बा० दो० १७)। शंकर कल्याणस्वरूप हैं, वैसे गुरुजी भी हैं। इस वंदना से अपने ग्रंथ एवं इसके श्रोता-वक्ताओं का कल्याण मनाया गया है।

(४) शंका—ऊपर के श्लोक १ में वाणी-विनायक, २ में भवानी-शंकर, एवं आगे भी ४ में कवीश्वर-कपीश्वर, पुनः ५–६ में श्रीसीतारामजी दो-दो की साथ-साथ वंदना की गई है। यहाँ श्रीगुरु की अकेले क्यों ? तथा चार ऊपर चार नीचे, एवं मध्य में रखने का क्या भाव है ?

समाधान—(१) श्रीगुरु महाराज अद्वितीय हैं, इनकी बराबरी का दूसरा कोई नहीं, यथा—"तुम (श्रीराम) ते अधिक गुरहिं जिय जानी। सकल भाय सेवहिं सनमानी।" (अ० दो० १२८); "राखइ गुरु जौं कोप बिधाता। गुरु-बिरोध नहिं कोउ जगत्राता॥" (बा० दो० १६५) अर्थात् ईश्वर से भी अधिक महत्त्व गुरु का है।

(२) चार-चार नीचे ऊपर रत्न के उनके बीच में इन्हें डब्बे में रत्न की भाँति रक्खा।

(३) यंत्र-पूजाविधि में 'प्रधान' बीच में पधराये जाते हैं।

सम्बन्ध—तीन श्लोकों में ग्रंथ-रचना के अंगभूतों की वंदना करके अब रामयश के अनन्य श्रोता-वक्ता श्रीवाल्मीकिजी और श्रीहनुमानजी की वंदना से आप (ग्रंथकर्त्ता) भी इस श्रीसीताराम-गुणग्राम में विहार करना चाहते हैं—

सीताराम-गुणग्राम-पुण्यारण्यविहारिणौ ।
वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ ॥४॥

अन्वय—सीताराम-गुणग्राम-पुण्यारण्य-विहारिणौ विशुद्ध-विज्ञानौ कवीश्वर-कपीश्वरौ (अहं) वंदे ॥४॥

अर्थ—श्रीसीतारामजी के गुण-समूह रूपी पवित्र वन में विहार करनेवाले, विशुद्ध विज्ञानी श्रीवाल्मीकिजी और श्रीहनुमानजी की मैं वंदना करता हूँ।

विशेष—

(१) गुणग्राम को पुण्य-वन का रूपक इसलिये दिया कि ये दोनों पुण्य वन के रहनेवाले हैं और श्रीसीताराम गुणग्राम भी पवित्र है। नौ वन पवित्र कहे गये हैं, यथा—"दण्डकं सैन्धवारण्यं जाम्बूमार्गश्च पुष्कलम्। उत्पलावर्तमारण्यं नैमिषं कुरुजांगलम्। हिमवानर्बुदश्चैव नवारण्यंच मुक्तिदाः।" (स्कन्दपुराण)। चरित्रपवित्रता—"मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनइ जो कथा श्रवन मन लाई॥" (उ० दो० १२५)।

(२) 'सीता···विहारिणौ'···—कवीश्वर—"बन्दउँ मुनि-पद-कंज, रामायन जेहिं निरमयेउ।" (बा० दो० १४);—"कूजंतं रामरामेति मधुरं मधुराक्षरम्। आरुह्य कविताशाखां वंदे वाल्मीकिकोकिलम्॥" श्रीनारदजी से प्रश्न करके वाल्मीकिजी ने श्रीरामचरित्र सुना भी है, जो मूलरामायण के नाम से ख्यात है। कपीश्वर—"जयति रामायणश्रवणसंजातरोमाञ्चलोचन-सजल-सिथिल बाणी।" (वि० २६); "महानाटक निपुण, कोटि कविकुल-तिलक, गान-गुन-गर्व गंधर्व-जेता (वि० २१)। अर्थात् दोनों इस पुण्य वन में आदर्श श्रोता-वक्तारूप से विहार-कर्त्ता हैं। 'कपीश्वर'—प्रायः अन्यत्र श्रीसुग्रीवजी कपीश कहे गये हैं; पर यहाँ के विशेषण श्रीहनुमानजी पर ही घटते हैं। यथा—"पवन तनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिज्ञान निधाना॥" (कि० दो० २९); "अतुलित बल······ज्ञानिनामग्रगण्यम्। सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं रघुपतिवरदूतं वातजातं नमामि॥" (कि० मं०); "कपीशमक्षहंतारं वन्दे लंकाभयंकरम्।" (मूल रामायण); "नव तुलसिका बृंद तहँ, देखि हरष कपिराय॥" (सुं० दो० ५); गुणगण-विहार के उदाहरण ऊपर दिये गये। सुग्रीवजी का चरित-रचयिता एवं विज्ञानी होना इस प्रकार प्रसिद्ध नहीं है।

(३) 'विशुद्धविज्ञानी'—(क) विज्ञानी के मन में भी कामादि से कभी-कभी क्षोभ हो जाता है, यथा—"तात तीनि अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ। मुनि, विज्ञानधाम मन, करहिं निमिष महँ छोभ ॥" (आ० दो० ३८)। अतः, 'विशुद्ध' विशेषण भी दिया गया है, क्योंकि इन दोनों का विज्ञान सदा एकरस रहता है। (ख) केवल 'विज्ञानी' से यह भी हो सकता है कि वे निर्गुण मत के विहारी होंगे, यथा—"ब्रह्मज्ञान रत मुनि बिज्ञानी मोहिं परम अधिकारी जानी ॥ लागे करन ब्रह्म उपदेसा। अज अद्वैत अगुन हृदयेसा।" (उ० दो० ११०)। इस संदेह-निवृत्ति के लिये 'विशुद्ध' पद दिया, क्योंकि ये दोनों सरस ज्ञानी हैं। यथा—"सोह न राम-प्रेम बिनु ज्ञानू।" (अ० दो० २७७) और श्रीसीतारामगुणग्राम-विहारी भी कहकर उक्त दोष को छुड़ाते हुए सगुण मत को स्पष्ट किया।

सम्बन्ध—अब उक्त गुणग्राम के देवता श्रीसीतारामजी की मंत्रात्मक वंदना दो श्लोकों में करते हैं—

उद्भव-स्थिति-संहारकारिणीं क्लेशहारिणीम् ।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ॥५॥

अन्वय—उद्भव स्थिति-संहारकारिणीम्, क्लेशहारिणीम्, सर्वश्रेयस्करीम्, रामवल्लभाम्, सीतां अहं नतः।

अर्थ—उत्पत्ति पालन और संहार करनेवाली, दुःखों को हरनेवाली, सम्पूर्ण-कल्याणों को करनेवाली, श्रीरामजी की प्रिया श्रीसीताजी को मैं प्रणाम करता हूँ।

विशेष—

(१) लक्ष्य—"श्रीरामसान्निध्यवशाज्जगदानंददायिनी।
उत्पत्ति स्थिति-संहारकारिणी सर्वदेहिनाम् ॥" (श्रीरामतापनीय०)

(२) विशेषणों के क्रम—उत्पत्ति-पालन और संहार त्रिदेवों की तीनों शक्तियों के कार्य हैं, अतः, 'उद्भव-स्थिति०' से इनकी कारणरूपा मूल-प्रकृति का भ्रम होता। यथा—"मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।" (गीता ९।१०)। इसके निवारणार्थ 'क्लेशहारिणी' भी कहा। यह गुण विद्यामाया में है। अतः, 'सर्वश्रेयस्करी' कहा। इससे भी महालक्ष्मी का भ्रम होता। श्रीजानकीजी तो ब्रह्मस्वरूपा एवं सब मायाओं की मूलभूता हैं। यथा—"माया सब सिय माया माहू।" (अ० दो० १५१)। तथा—"उपजहिं जासु अंस गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी ॥" (बा० दो० १४७)। अतः 'रामवल्लभा' भी कहा है। यथा—"जनकसुता जगजननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की ॥" (बा० दो० १८)। इस अंतिम पद से विशेषणों की अतिव्याप्ति (दोष) दूर हुई।

(३) उक्त छः विशेषणों से श्रीसीताजी को षड़ैश्वर्यपूर्ण श्रीरामजी के तुल्य कहा। विशेष्य रूप में सीता नाम कहा गया है, क्योंकि यही मुख्य नाम है। इसका अर्थ—"सिनोत्यतिगुणैः कान्तं सीयते तद्गुणैस्तु या। वात्सल्यादिगुणैः पूर्णा ता सीता प्रणतोस्म्यहम् ॥" अर्थात् 'षिञ् बन्धने' धातु से सीता शब्द सिद्ध होता है। तदनुसार यह श्लोक है—जो अपने अति गुणों से कान्त (श्रीरामजी) को बाँधें एवं उनके गुणों से स्वयं बँधी रहें, वात्सल्यादि गुणों से पूर्ण ऐसी श्रीसीताजी को मैं प्रणाम करता हूँ। प्रथम श्रीमनुशतरूपा के वरदान-प्रसंग में भी यही नाम कहा गया है। यथा—"भृकुटिबिलास जासु जग होई। राम बाम-दिसि सीता सोई ॥" (बा० दो० १४७)

श्लोक का मंत्र से मिलान

(४) श्रीसीता-मंत्र का प्रथमाक्षर विन्दु-युक्त श्रीबीज है, वह श्री शब्द 'श्रृ-विस्तारे' धातु से सिद्ध होता है। तदनुसार सृष्टि-विस्तार रूप उत्पत्ति यहाँ कही है। 'श्रण्-दाने गतौ च' से श्री शब्द होता है। अतः, स्थिति-कार्य व्यक्त हुआ। 'शृ-हिंसायां' से श्री शब्द बनता है, इससे संहारकारिणी शब्द हुआ। 'श्रु-श्रवणे' से श्री शब्द हुआ, तदनुसार श्रीरामजी को चेतनों की प्रार्थना सुनाने एवं स्वयं सुनकर रक्षा करने को क्लेशहारिणी कहा है। 'श्रिञ्-सेवायाम्' से श्री शब्द निष्पन्न होता है। तदनुसार वे ब्रह्मा-इन्द्र-रुद्र आदि देव, मुनिगण एवं चराचर चेतनों से सेवित होकर उनका कल्याण करती हैं, इससे सर्वश्रेयस्करी कहा है। इस प्रकार धातुओं के अनुसार 'श्री' के पाँच अर्थ हुए। श्रीशब्द का अर्थ शोभा भी होता है। अपनी शोभा से श्रीरामजी को वश करने से वे उनकी वल्लभा हैं। यथा—"देखि सीय-सोभा सुख पावा। हृदय सराहत बचन न आवा॥" (बा० दो० २११)। पुनः "प्रभु जब जात जानकी जानी। सुख-सनेह-सोभा गुन खानी॥ परम प्रेममय मृदु मसि कीन्ही। चारु चित्त भीती लिखि लीन्ही॥" (बा० दो० २३१)। इस शोभा से वशीभूत हो श्रीरामजी ने धनुष तोड़कर श्रीजी को वल्लभा किया। अत', 'रामवल्लभा' यह श्री शब्द का छठा अर्थ है। श्री बीज के अतिरिक्त शेष चतुर्थी सहित सीता शब्द इस श्लोक के 'सीतां' से और मंत्र का अंतिम 'नमः' शब्द यहाँ के 'नतः' से अर्थ में अभेद है। अतः, यह श्लोक श्रीसीता मंत्र का अर्थ ही है।

सम्बन्ध—पहले श्रीसीताजी की वंदना की, क्योंकि यही रीति है कि शक्तिमान् के पहले उनकी शक्ति का नाम कहा जाता है। जैसे—राधाकृष्ण, लक्ष्मीनारायण एवं गौरीशंकर इत्यादि। पुन' पहले बालक माँ को ही जानता है। जब वह शृंगार करके योग्य बना देती है, तब पिता की गोद का अधिकारी होता है। अतः, अब इन्हीं श्रीजी से निर्मल मति प्राप्त कर श्रीराम-प्रार्थना करेंगे। यद्यपि तत्त्व की दृष्टि से दोनों तुल्य हैं; तथापि लोक में स्त्री की अपेक्षा पुरुष का प्राधान्य रहता है। अत, शक्तिमान् अशेष-कारण पर श्रीरामजी की वंदना शेष (अंत) में करते हैं—

यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा
यत्सत्त्वादमृषेव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः।
यत्पादप्लव एक एव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ॥६॥

अन्वय—यन्मायावशवर्त्ति ब्रह्मादि देवाःअसुराः अखिलं विश्वं, यत्सत्वात् सकलं (विश्वं) अमृषा इव भाति, यथा रज्जौ अहेः भ्रमः। भवाम्भोधेः तितीर्षावतां यत्पादप्लवः एकः एव हि, अशेष कारणपरं हरिं ईशं रामाख्यं अहं वन्दे।

अर्थ—जिनकी माया के वश में ब्रह्मादि देवता, असुर और सब जगत् हैं, जिनकी सत्यता से सम्पूर्ण जगत् सत्य सा जान पड़ता है, जैसे रस्सी में साँप का भ्रम हो; भवसागर तरने की इच्छावालों के लिये जिनके चरण ही एक नाव हैं, सम्पूर्ण कारणों से परे, दुःख हरनेवाले ईश्वर की, जिनका 'राम' (यह) नाम है, मैं वंदना करता हूँ।

विशेष—

(१) यह शार्दूलविक्रीडित छंद[1] है। इस छन्दवाले मंगलाचरण से ग्रंथकार ने अपने इष्ट को सिंहवत् सर्वश्रेष्ठ पराक्रमी जनाया है। यथा—"सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहिं समर न जीतनिहारा॥" (अ० दो० १२८)।

(२) 'यन्मायावश ..' अर्थात् ब्रह्मादि देवता सत्त्वगुणी, असुर तमोगुणी, और अखिल विश्व में रजोगुणी भी आ गये। अतः, तीनों लोकों-पर इनकी माया की आज्ञा चलती है। यथा—"बंध मोच्छप्रद सर्व पर, मायाप्रेरक सीव॥" (आ० दो० १५); "जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥ सोइ प्रभु भ्रू-विलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥" (उ० दो० ७१); "मायावस्य जीव अभिमानी। ईसवस्य माया गुनखानी॥" (उ० दो० ७७)।

(३) 'यत्सत्त्वादमृषेव'— यहाँ जगत् की नानात्व (अनेकत्व) सत्ता को 'सकलं' शब्द से जनाया है, जो 'सुत-वित्त-देह-गेह नेह (स्नेह) इति जगत्' रूप में प्रसिद्ध है। इसका विस्तृत अर्थ आगे "जासु सत्यता ते जड़ माया।" से "जासु कृपा असि भ्रम मिटि जाई।" (बा० दो० ११७) तक तथा "झूठउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने॥ जेहि जाने जग जाइ हिराई" (बा. दो. ११२) के स्वतंत्र प्रसंग से किया जायगा।

यहाँ दृष्टान्त में रज्जु और सर्प तथा दार्ष्टान्त (उपमेय) में श्रीरामजी और जगत् हैं। श्रीरामजी सुत-कुटुम्बादि चर और पृथ्वी आदि अचर जगत् में वासुदेव रूप से व्यापक हैं। उनकी प्रेरणा एवं सत्ता से ही सब नातों का बर्ताव एवं गंध-रसादि की अनुभूति होती है। यथा—"जासों सब नाते फुरैं तासों न करी पहिचान।" (वि० १९०); "गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोकहँ जानइ दृढ़ सेवा॥" (आ० दो० १७); तथा—"पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः। "गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृद्॥" (गीता ९-१७-१८); इति चर जगत्। पुनः—"रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः। पुण्योगंधः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ॥" (गीता ७।८-९), इति अचर जगत्। इससे निश्चित हुआ कि श्रीराम ही इस जीव को चराचर जगत् रूप शरीर से पालते-पोसते हैं। चर माता-पितादि में वात्सल्यादि गुणों की प्रेरणा द्वारा और अचर पृथिवी में गंध (भूमि में एक दाना बोने से दस देकर वासनापूर्ति), जल में रस (स्वाद), अग्नि में तेज आदि से पालते हैं। यही उनका रस्सी की तरह सब ओर से आवृत करना है। यथा—"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।" (गीता ९।४); तथा—"मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।" (गीता ७७)।

(क) रस्सी प्रधानतया कुँए से जल भरने के काम में आती है। कुँए में रस्सी डालने से गोलाकार बैठती जाती है। वहाँ अँधेरा रहता ही है। अतः, सर्पवत् दीखती है। उसके बीच में पड़ा हुआ मेढक जैसे अँधेरे में उसे सर्प मानकर डरे, वैसे ही भवकूप में पड़े हुए जीवों को अज्ञान रूपी अँधेरे में भय लगता है। यद्यपि अपने सब शरीरों से श्रीरामजी ही उनका पोषण करते हैं, तथापि वे भ्रम से सबको पृथक्-पृथक् सत्तावान् मानकर उन-उन रूपों के उपकारानुसार ऋणी होकर नानात्व जगत् में आसक्त होते हैं। इसी से जन्म-मरणों के कष्टों को भोगते हैं। अज्ञानी जीव नाना उपायों से जैसे अपने शरीर को पोसते हैं, भगवान् भी अपने शरीर रूपी जीवों को ज्ञानपूर्वक उनके अपने-अपने कर्मानुसार चराचर शरीर के व्यवहार द्वारा पोषण

---

१. इस छन्द के प्रत्येक पद में १९ वर्ण हैं, यानी मगण (तीन गुरु), सगण (दो लघु+एक गुरु), जगण (एक लघु+एक गुरु+एक लघु), सगण, तगण (तीन लघु या ह्रस्व), तगण (दो गुरु+एक लघु) और एक गुरु रहते हैं। ऐसे इसमें चार चरण होते हैं।

करते हैं। यही अपना स्वरूप विस्मृत होना, सर्प काटने की मूर्च्छा है। यथार्थज्ञान-रूपी उजाला होने पर चराचर रूप श्रीरामजी रस्सी की तरह देख पड़ते हैं। वे अपने नानारूपों से इसलिये उपकार करते हैं कि जीव सब प्रकार से मुझे ही पालक जानकर, मेरे लिये ही अपनी स्थिति समझें, और सब ओर से ममता-रूप रस्सी हटाकर मुझमें ही दृढ़ प्रीति करें। यथा—"जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥ सब कै ममता-ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी॥" (सु० दो० ४२)

(ख) जैसे कुँए में पड़ा हुआ जीव जब जान ले कि मेरे चारों ओर यह सर्प नहीं, किन्तु रस्सी है, और यह ऊपर से आई हुई मेरे चारों ओर लिपटी हुई है, तब वह उसी रस्सी को दृढ़ता से पकड़ धीरे-धीरे ऊपर चढ़कर कुँए से बाहर आ जाय। वैसे मुमुक्षु जीव जब श्रीरामजी को जगत् के कारण (मूल) रूप में ऊर्ध्व-(ऊपर)-स्थित एवं शाखा-रूप में चराचर रूप से अपने सब ओर जानता है, यथा—"ऊर्ध्वमूलमधः शाखं" (गीता १५।१); "अव्यक्तमूलमनादि तरु···" (उ० दो० १२); तब इन नानारूपों से किये हुए उनके उपकारों को समझ-समझ कर प्रीतिपूर्वक उनकी आराधना करता है। यथा—"समुझि-समुझि गुनग्राम रामके उर अनुराग बढ़ाउ।" (वि० १००)। यही ऊपर चढ़ना है। आयुपर्यन्त आराधना से प्रारब्ध कर्म-कूप की मर्यादा समाप्त करना भव-कूप से बाहर होना है। इसलिये आगे चरण- में 'यत्पादप्लव' का आराधन ही इसका उपाय कहा गया है।

(ग) इस प्रकार के नानात्व भ्रम का प्रमाण—"साँचो जान्यो झूठ को झूठे कहँ साँचो जानि। को न गयो को न जात है को न जैहै करि हित हानि॥" (वि० १२०); इसमें नानात्व जगत् को 'झूठा' और सत्ता रूप से शरीरी श्रीरामचन्द्रजी को 'सच्चा' कहा है।

तथा—"तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा।" (श्रीमद्भागवत स्कं० १ अ०) अर्थात् जैसे तेजस (अग्नि) में जल और काँच आदि मिट्टी का विनिमय (एक में दूसरे का भ्रम) हो, उसी तरह जहाँ (भगवान् के शरीर रूप में) मृषा त्रिसर्ग (त्रिगुणात्मिका सृष्टि) अमृषा (सत्य) है, अर्थात् उनके शरीर रूप में तो सत्य है, अन्यथा मृषा है। जैसे काँच में जल की, अग्नि में काँच की और जल में अग्नि की भ्रांति दृष्टिदोष से हो, वैसे अविद्या के दोष से भगवान् के शरीर-रूप चराचर जगत् में 'सुत-वित-देह-गेह-स्नेह' रूप नानात्व सत्ता की भ्रान्ति होती है। मानसोक्त 'यत्सत्त्वात्' के 'सकलं' में इसके 'त्रिसर्ग' का और 'रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः' में 'तेजोवारि···' का अन्तर्भाव है।' 'त्वमेक एवास्य सतः प्रसूतिस्त्वं संनिधानं त्वमनुग्रहश्च। त्वन्मायया संवृतचेतसस्त्वां पश्यंति नाना न विपश्चितो ये॥—(भाग० १०।२।२८)

"मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन। मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥" (कठो० २।१।११) अर्थ—(शुद्ध) मन से ही यह ज्ञान प्राप्त करने योग्य है, निखिल प्रपंच में कुछ भी ब्रह्म से भिन्न (पृथक्-पृथक् सत्तावान्) नहीं है। जो कोई भी प्रपंच में भिन्न-भिन्न जैसा देखता है, वह मृत्यु से (फिर) मृत्यु को प्राप्त होता है। इसमें भी उपर्युक्त अविद्या का ही निषेध है।

एवं—"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥" (यजुर्वेद मं० अ० ४० मंत्र १५) अर्थ—स्वर्णमय पात्र के द्वारा सत्य का मुख आच्छादित हो गया है, हे पूषन् (जगत् के पालनेवाले भगवान्!), आप उसको (ढकने को) सत्य-धर्म के देखने के लिये खोल दीजिये।

भावार्थ—स्वर्णमय पात्र यहाँ 'सुत-वित्त-देह-गेह स्नेह' रूप जगत् को कहा है। इसमें जीव का अनादि काल से स्नेह चला आता है। जैसे स्वर्ण में सहज प्रीति होती है, यथा—"सनु मित्र मध्यस्थ नीति ये मन कीन्ह बरियाई। त्यागब गहब उपेच्छनीय अहि हाटक तृन की नाई॥" (वि० १२४)। इसमें यथासंख्य अलंकार से स्वर्ण में सहज प्रीति वर्णित है। अतः, कृत्रिम चमकीला हुआ पात्र समष्टि जगत् हुआ।

सत्यस्य—सत्ता-विद्यमानता-उपस्थितिः तस्य भावं सत्यम् । अर्थात् उक्त देह-गेहादि में व्यापकता (भगवान् की उपस्थिति) का मुख (प्रवृत्ति) अपिहित (छिपा हुआ) है।

अर्थात् जीव कृत्रिम स्नेह में आसक्त हैं; क्योंकि वे यह नहीं जानते कि जगत् भगवान् का शरीर (व्याप्य) है और उसके द्वारा किये हुए कार्य भगवान् की प्रवृत्ति से हैं। आगे 'पूषन्' कहकर स्पष्ट किया है कि भगवान् ही सब रूपों से पोषण करनेवाले हैं। अतः, प्रार्थना है कि उस अविद्या रूप ढकने को खोल दीजिये। कारण स्पष्ट है—'सत्यधर्माय दृष्टये'। यहाँ 'सत्यधर्माय' में षष्ठी के अर्थ में वैदिक चतुर्थी हो गई है और 'सत्यधर्म' भी षष्ठीतत्पुरुष है। अतः, 'सत्यस्य धर्मस्तस्य' अर्थात् सत्य का धर्म जो सुत वित्त देह-गेह आदि में ईश्वर की सत्ता (व्यापकता) से (उन-उन रूपों से) किये हुए उपकार हैं उसके 'दृष्टये' अर्थात् जानने के लिये (जिससे सबसे ममता छोड़ भगवान् में दृढ़ प्रीति हो)।

यहाँ स्पष्ट रूप से भगवान् के शरीर में नानात्व कल्पनारूप भ्रम के निवारणार्थ एवं उनके शरीर-रूप में जगत् के ज्ञानार्थ प्रार्थना है।

महर्षि शांडिल्य ने भी अपने 'भक्तिसूत्र' में यही कहा है—'शक्तित्वान्नानृतं वेद्यम्' अर्थात् ईश्वर की सत्ता में स्थित रहने के कारण यह जगत् मिथ्या नहीं है।

(४) श्लोक के प्रथम चरण में माया का विद्यात्मक स्वरूप कहा, जिसे ग्रंथकार ने विद्यामाया कहा है। यथा—"एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहि निज बल ताके॥" (आ० दो० १४); अर्थात् जैसे मनुष्य के हाथ-पैर की प्रवृत्ति उसकी इच्छानुसार होती है, वैसे तीनों लोकों के जीवों की प्रवृत्ति भी श्रीरामजी की प्रेरणा से होती है। दूसरे चरण में उसी में नानात्व कल्पना रूप भ्रम से माया का अविद्यात्मक रूप कहा, यथा—"एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भव-कूपा॥" (आ० दो० १४)। यह अविद्या माया श्रीगोस्वामीजी की माया का पूर्वपक्ष है और विद्यामाया सिद्धान्त-रूपा है। ये दोनों पक्ष आगे (बा० दो० ११७ में) स्पष्ट होंगे। तीसरे चरण 'यत्पादप्लव' में उक्त भ्रमनिवृत्ति का साधन कहा है।

(५) 'यत्पादप्लव'—यह भ्रम सामान्य नहीं है कि जीव अपने ज्ञान से जान लें, क्योंकि—'भ्रम न सकइ कोउ टारि' (बा० दो० ११७) कहा है। अतः, मुमुक्षुओं के लिये प्रभु चरण ही एक मात्र उपाय है। 'एक एव हि' से जनाया कि दूसरा उपाय है ही नहीं। अतः, अन्य उपायों का भरोसा छोड़कर चरण ही ग्रहण करना चाहिये, यही शरणागति है; यथा—"अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्। तदेकोपायतायाञ्चा प्रपत्तिः शरणागतिः॥" (भरताचार्यः) अर्थात् अपना अभीष्ट अन्य उपायों से सिद्ध होता न देखकर 'आप ही मात्र मेरे उपाय हैं' इस महा-विश्वास पूर्वक ऐसी याचना करना शरणागति है। तथा—"दैवी ह्येषा गुणमयी मममाया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥" (गीता ७।१४)। यही ऊपर वि० (३ ख) में रस्सी पकड़कर चढ़ने का भी भाव है।

(६) पुनः चौथे चरण में उपर्युक्त सर्व शरीरी एवं उपेय (फल) रूप श्रीरामजी की वंदना, अशेषकारण पर, ईश और हरि कहकर करते हैं। अशेष कारणों से परे कहकर शरण्य—शरण में रखने की—योग्यता दिखाई गई; क्योंकि 'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददामि··· ' (वाल्मी०)। यह वही कह एवं कर सकता है, जो सबसे परे हो। अतः—"सर्वस्यवशी सर्वस्येशानः।" (श्रुति) अर्थात् वह सब का प्रेरक और सब को वश में रखनेवाला है। यह ऐश्वर्य श्रीरामजी में ही है, यही स्पष्ट करने के लिये 'ईश' भी कहा गया है।

(७) 'ईश'—"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥" (गीता १८।६१) अर्थात् हे अर्जुन ! शरीररूपी यंत्र में आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियों को अन्तर्यामी परमेश्वर

अपनी माया से (उनके कर्मानुसार) घुमाता हुआ उनके हृदय में स्थित है। इसमें प्रथम चरणोक्त—'यन्मायावशवर्त्ति' वाला भाव ज्यों-का-त्यों है, क्योंकि श्रीरामजी ही अपने शरीररूप जगत् के कर्मानुसार दैवी-आसुरी संपत्तिरूपा माया के द्वारा नियामक हैं। यथा—"विधि हरिहर ससि रवि दिसिपाला। माया जीव करम कुलि काला॥ अहिप-महिप जहँलगि प्रभुताई। जोगसिद्धि निगमागम गाई॥ करि विचार जिय देखहु नीके। राम रजाइ सीस सबही के॥" (अ० दो० २५३)

(८) 'हरिम्'—'हरिर्हरति पापानि' अर्थात् पाप एवं उसके फलस्वरूप दुःखों के हरनेवालेको, 'हरि' कहते हैं। यह विशेषण ऊपर द्वितीय चरण में कही हुई अविद्या से उत्पन्न दुःखों को तृतीय चरण की शरणागति-द्वारा हरण करने के प्रति है। हरि शब्द इन्द्र, विष्णु, अग्नि, सूर्य आदि अनेकों का बोधक है। अतः, 'रामाख्य' कहा। राम से भी बलराम-परशुराम आदि का बोध होता है। अतः, 'ईश' भी कहकर अतिव्याप्ति दोष मिटाया है।

(९) शंका—ऊपर के १-२ चरणों में जो रामरूप संसार अर्थ किया गया है, उसके अनुरोध से 'रामाख्यमीशं हरिम्' में संसाररूप राम क्यों नहीं कहा गया? और 'सकलं' के अर्थ में सर्वात्मना (सम्यक् रूप से) जगत् का मिथ्यात्व क्यों न माना जाय?

समाधान—ईश विशेषण में स्पष्ट है, ऊपर वि० (७) देखिये। यही दृष्टान्त-'रजुभुजंग' का (बा० दो० १११ में), है। वहाँ स्पष्ट रूप मे—'जेहि जाने जग जाइ हेराई।' कहा है, और 'जग' का नानात्व ही अर्थ है। आगे उस प्रसंग में देखिये।

(१०) सारांश—श्लोक के प्रथम चरण मे श्रीरामजी का शरीररूप जगत् कहा गया। दूसरे में अविद्या के द्वारा विपर्यय बुद्धि से नानात्व रूप सर्प मानकर क्लेश भाजन होना और तीसरे में उसका उपाय शरणागति ही मात्र कहा गया। चौथे चरण मे 'अशेष कारणपर' से श्रीरामजी में शरण-योग्यता और-'ईशं हरिम्' से रक्षा करने का प्रकार जनाया गया है कि शरणागत होने पर आसुरी संपत्ति से डरे हुए जीवों के हृदय में (ईशन्=प्रेरण द्वारा) दैवी-सम्पत्ति प्रबल करके उनके क्लेश हरते हैं। यथा—"सतरंज कैसो राज काठ को सबै समाज महाराज बाजी रची प्रथम न हति। तुलसी प्रभू के हाथ हारियो जीतियो नाथ बहु वेष बहु मुख सारदा कहति॥" (वि० २४६)। यही भाव गीता अ० १० के श्लोक ९-१०-११ में भी है।

सिद्धान्त

(११) यहाँ उपक्रम में ग्रंथकार ने अपने उपास्य देव रामाख्य ब्रह्म की चिदचिद्विशिष्ट—जीव माया-युक्त—रूप में वदना की है। इसके १-२-३ चरणों में क्रमशः तीन बार प्रारंभ में यत् शब्द से इष्टनाम (राम) का र, अ, म तीनों वर्णों के अर्थ रूप में महत्त्व कहा है, जैसे—'रश्च रामेऽनिले वह्नौ' (एकाक्षरकोशे); अर्थात् 'र' श्रीरामजी का वाचक है, जो ब्रह्म है, यथा—"राम ब्रह्म परमारथ रूपा।" (अ० दो० ९१)। ब्रह्म का स्वरूप—"बंध मोच्छप्रद सर्व पर, मायाप्रेरक सीव॥" (आ० दो० १०)। अपनी माया की प्रेरणा द्वारा—जो बद्ध को विद्या द्वारा मुक्त करे और अविद्या द्वारा मुक्तप्राय को भी बद्ध करे—जैसे नारद कामवश और सनकादि क्रोधवश हुए—ये दोनों कार्य ब्रह्म अपनी दैवी और आसुरी सम्पत्ति से करता है। यथा—"दैवीसम्पद्विमोक्षाय निबंधायासुरी मता॥" (गीता० १६-५), तथा—"तुलसिदास यह जीव मोह-रजु जोइ बाँध्यो सोइ छोरै॥" (वि० १०२)। यही बात श्लोक के प्रथम चरण 'यन्माया...' में है। अतः, प्रथम चरण र का अर्थ है।

द्वितीय वर्ण अ वासुदेव-वाचक है, यथा—'अकारो वासुदेवस्यात्' (एकाक्षरकोशे)। वासुदेव का अर्थ है जो सब में बसे एवं सबको अपने में बसावे। वैसे ही अकार वर्ण भी सब वर्णों में सत्ता (व्यापक) रूप से बसता है; तभी सब सार्थक होते हैं। वैसे ही 'यत्सत्त्वात्'''में भी 'रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः' से सर्प-भ्रम निवृत्त होने पर रज्जु के दार्ष्टान्त—उपमेय से व्यापक (वासुदेव) रूप श्रीरामजी का बोध हुआ, यथा—"सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।" (गीता ११।४०)। ; अतः, द्वितीय चरण अ का अर्थ है।

तृतीय वर्ण म भक्ति का कारण है, यथा—"रकारहेतुर्वैराग्यं परमं यच्च कथ्यते। अकारो ज्ञानहेतुश्च मकारो भक्तिहेतुकम्॥" (महारामायणे)। यही भक्ति—'यत्पादप्लव'''''' इस तीसरे चरण में कही गई है। अतः, यह मकारार्थ है। श्रीराममंत्र में नाम ही अपने मकार का स्वरहीन होने पर बीज होता है और उसी का विवरण (अर्थ) अवशिष्ट मंत्र होता है, अतः, यह श्लोक मंत्रार्थगर्भित है *।

चौथे चरण में उपर्युक्त गुणविशिष्ट श्रीरामजी की वंदना है। इस श्लोक में ब्रह्म, माया और जीव की व्यवस्था विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के रूप में ही कही गई है। उपाय भी शरणागति ही को कहा गया, जो विशिष्टाद्वैत-वादियों के सम्प्रदाय में प्रधान रूप में है।

सम्बन्ध—वंदना के प्रथम श्लोक में वक्तृत्व और लेख के सहायक वाणी-विनायक की वंदना की, फिर जिस काम के लिये वंदना है, उसके आचार्य उमा-समेत श्रीशिवजी की, तब जिन श्रीगुरुजी से मानस कथा प्राप्त हुई, उनकी वंदना की। पुनः रामायण के मुख्य रचयिता श्रीवाल्मीकिजी और श्रीहनुमानजी की वन्दना हुई। तत्पश्चात् इस चरित के प्रतिपाद्य श्रीसीतारामजी की पाँचवें और छठे श्लोकों में वंदना की है। अब सातवें में 'इस ग्रंथ' के वर्ण्य विषय की प्रतिज्ञा करते हैं—

नानापुराण-निगमागम-सम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति॥७॥

अन्वय—(१) यस्मिन् रामायणे नानापुराणनिगमागमसम्मतं निगदितं, क्वचिदन्यतः अपि (निगदितम्), अति मञ्जुलं तत् रघुनाथगाथा स्वान्त सुखाय तुलसीदासः भाषानिबन्धं आतनोति।

(२) यस्मिन् रामायणे नानापुराणनिगमागमसम्मतं निगदितं, अति मञ्जुलं तत् रघुनाथगाथा स्वान्तः सुखाय तुलसीदासः भाषानिबन्धं आतनोति, प्रसंगतः क्वचित् अन्यतः अपि निबन्धम्।

अर्थ—(१) जिस रामायण में नाना पुराणों, वेदों और शास्त्रों का सम्मत कहा गया है और कुछ अन्यत्र से भी कहा हुआ है; वही बड़ी उज्ज्वल श्री रघुनाथजी की कथा अपने अंतःकरण के सुख के लिये तुलसीदास (जी) भाषा रचना में विस्तारपूर्वक कहते हैं।

(२) जिस रामायण में अनेकों पुराणों एवं वेद-शास्त्रों का सम्मत वर्णित है, अति निर्मल वही श्रीरघुनाथजी की कथा को अपने हृदय के सुख के लिये तुलसीदासजी भाषा-रचना में विस्तार करते हैं, प्रसंगानुसार (साथ-साथ) कुछ और-और भी प्रबंध कहेंगे।

---

* इस श्लोक पर पूर्ण रूप से मंत्रार्थ मिलान मेरे 'श्रीमानस नामवन्दना' ग्रन्थ—वेंकटेश्वर प्रेस बंबई—में है। यहाँ विस्तारभय से नहीं लिखा।

विशेष—

(१) यह श्लोक 'वसन्ततिलका वृत्त' * है।

(२) 'नानापुराण'—पद्मपुराण आदि १८ पुराण और १८ उपपुराण प्रसिद्ध हैं। पुराणों के दोनों प्रकारों में छ सात्त्विक, छ राजस और छ तामस हैं। दृष्टान्त द्वारा विषय समझाने के लिये पुराणों की आवश्यकता पड़ती है, अतः, राजाओं के त्रिगुणात्मक चरित्र इसमें जहाँ-तहाँ कहे गये हैं, यथा—'सिबि दधीचि हरिचन्द कहानी ' (अ० दो० ४७), 'ससिगुरुतियगामी नहुष, चढेउ भूमि सुर जान। लोकवेद तें बिमुख भा, अधम न वेन समान ॥' (अ० दो० २२८)। इसी प्रकार और भी बहुत कथाएँ हैं जो पुराणों से ही जानी जा सकती हैं।

'नानानिगम'—४ वेद और ४ उपवेद, वेद के ६ अंग—शिक्षा, व्याकरण, कल्प, ज्योतिष, निरुक्त और छन्दस् और वेद के ४ उपांग—इतिहास, पुराण, स्मृति और न्याय। स्मृतियाँ भी मुख्य १८ हैं, इनमें ६-६ सत्त्व, रज और तमोगुण सम्बन्धी कही जाती हैं। इतिहास—जैसे श्रीमद्रामायण एवं महाभारत आदि। धर्माधर्म के समझाने में स्मृतियों से सहायता ली गई है, यथा—'कहहिं बसिष्ठ धरम इतिहासा।' (बा० दो० ३५८), एवं 'नारि धरम सिखवहिं मृदुबानी।' (बा० दो० ३३३)। इतिहास—'तब बसिष्ठ मुनि समय सम, कहि अनेक इतिहास।' (अ० दो० १५६), वेद काण्डत्रय—कर्म-ज्ञान-उपासना—के रूप में प्रसिद्ध है, वे तीनों भी इसमें बहुत आये हैं। कर्म—'कठिन करम गति जान बिधाता। ' (अ० दो० २८१); एवं 'करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥' (अ० दो० २१८)। ज्ञान—'ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥' (अ० दो० १४)। उपासना—'बिनु हरि-भजन न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल।…' 'हरिं नरा भजंति येऽतिदुस्तरं तरंति ते॥' (उ० दो० १२२); 'भगति स्वतंत्र सकल सुखखानी।' (उ० दो० ४४) इत्यादि।

'नानाआगम'—तन्त्र और अतन्त्र। तंत्र यथा—शैव, बौद्ध एवं कपिलोक्त। अतन्त्र के भी बहुत भेद हैं, सकाम जप-यज्ञ के विधान इनमें हैं, यथा—"आगम बिधि जप जाग करत नर सरत न काज खरोसो।' (वि० १७३)।

(३) 'यद्रामायणे …' यहाँ किस रामायण का तात्पर्य है—यह आगे के प्रसंगों से और उपसंहार के श्लोक से स्पष्ट हो जाता है, यथा—'रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमय सिवा सन भाषा॥…' 'कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई।' (बा० दो० ३४)

अर्थात् श्रीरामचरितमानस रचकर श्रीशिवजी ने अपने हृदय में रक्खा, फिर सुसमय पाकर उमा को सुनाया, वही शिवजी ने काकभुशुंडी को दिया, उनसे याज्ञवल्क्य को मिला, फिर प्रयाग में कथा हुई, और संसार में प्रचलित हुई, वही श्रीगोस्वामीजी के गुरु महाराज को श्रीशिवजी से प्राप्त हुई, फिर श्रीगोस्वामीजी को मिली। यथा—"मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत।… तदपि कही गुरु बारहिं बारा ''भाषाबद्ध करबि मैं सोई'' (बा० दो० ३०-३०)। उसका लक्षण भी यहाँ के 'नानापुराण … ' से मिलता है। यथा—"बरनउँ रघुबर बिमल जस, श्रुति सिद्धान्त निचोरि॥" (बा० दो० १०९)। उपसंहार में भी कहा है, यथा—"यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमं … भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्॥" (उ० दो० १३०); अर्थात् जिस रामायण (मानस) को प्रथम श्रेष्ठ कवि प्रभु श्रीशिवजी ने दुर्गम रचा था, उसी मानस को मैंने भाषाबद्ध किया है।

* इसके चारों चरणों में १४-१४ वर्ण होते हैं, प्रत्येक चरण के तगण—त (दो गुरु+एक लघु), भ (एक गुरु+दो लघु), ज (आदि-अंत लघु) और दो गुरु रहते हैं।

अतः, स्पष्ट हुआ कि 'यद्रामायणे' से उमा-शिव-संवाद में वह श्रीरामचरितमानस नामक ग्रंथ है। जैसे गीता का ज्ञान प्रथम कानोंकान प्रचलित था, जब श्रीभगवान् ने अर्जुन से कहा, तब लेखबद्ध होकर जगत् में उसका विशेष प्रचार हुआ। कल्प के आदि मे वेदों और शास्त्रों को तप के द्वारा महर्षियों ने ग्रहण किया; उसी तरह श्रीशिवजी की कृपा से श्रीरामनामनिष्ठ श्रीगोस्वामीजी ने इस रामायण को प्राप्त किया। इससे पूर्व यह लेखबद्ध नहीं हुआ था और न उतना ख्यात ही था। इसीसे तो कहा है—"जिन्ह यह कथा सुनी नहिं होई। जनि आचरज करइ सुनि सोई ॥ कथा अलौकिक सुनहिं जे ज्ञानी।" (बा० दो० ३३) अर्थात् कथा अलौकिक है। जैसे परतम प्रभु साकेतविहारी का अवतार मनु-शतरूपा द्वारा हुआ, वैसे उनके चरित का (भाषा में) आविर्भाव श्रीगोस्वामीजी के द्वारा जगत् में लेखबद्ध होकर ख्यात हुआ। प्राचीन रामायणों में एक तो महारामायण और दूसरी अध्यात्मरामायण कुछ अंशों में इससे मिलती हैं, पर पहली तो बहुत कम ही मिलती है और दूसरी अध्यात्म में स्पष्ट रूप से सिद्धान्त-विरोध है; अतः यह अलौकिक कथा उन दोनों से भिन्न रही है।

(३) 'क्वचिदन्यतोऽपि'—नाना पुराणादि जब आ ही गये तब कुछ और प्रसंग कौन हैं ? उत्तर—अन्वय (१) के अनुसार—"औरउ एक कहउँ निज चोरी। सुनु गिरिजा अति दृढ़मति तोरी ॥" (बा० दो० १६५)—यह प्रसंग, एवं—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना।" (आ० दो० ३८); "निज अनुभव अब कहउँ खगेसा।" (उ० दो० ८८), और काकभुशुंडि-गरुड़ संवाद की कथाएँ तथा और भी श्रीपार्वतीजी के प्रश्न और उनके उत्तर की कथाएँ उक्त शिव-मानस में अन्यत्र की हो सकती हैं।

अन्वय (२) के अनुसार—ग्रंथ के आदि में दो० ३३ तक अपनी दीनता और सबकी वन्दना, उसके पश्चात् मानस-प्रबंध की चारघाट-रचना, सती-मोह, शिव-उमा-विवाह और जहाँ-तहाँ अपने मन के उपदेश एवं लोक-शिक्षात्मक बातें अन्यत्र की कही गई हैं।

'क्वचिदन्यतोऽपि' मे नाना पुराणनिगमागम के अतिरिक्त हनुमन्नाटक, उत्तर रामचरित, प्रसन्नराघव, हितोपदेश, पंचतंत्र आदि अन्य ग्रन्थों से भी आशय लिये जाने का भाव है।

(४) 'भाषानिबन्धम्'—प्रश्न—जब भाषा मे रचना करने की प्रतिज्ञा करते हैं, तब यहाँ तक के सात श्लोक संस्कृत मे क्यों बनाये? और, आगे प्रत्येक सोपान के आदि में, ग्रंथ के उपसंहार में, कहीं-कहीं स्तुतियों में भी संस्कृत श्लोक क्यों बनाये ?

उत्तर—(१) संस्कृत देववाणी है; अतः पवित्र एवं मांगलिक है। इससे उसको मंगलाचरण में रक्खा और सम्मान दिया। देवों की स्तुतियों में भी उनकी वाणी से उनका सम्मान किया है।

(२) गोसाईंजी के विषय में कहा जाता है कि प्रथम श्रीकाशीजी में आपने संस्कृत में मानस-रचना प्रारम्भ की। दिन में जो रचना करते, रात में लुप्त हो जाती। सात दिनों तक यही होता रहा। तब रात में श्रीशिवजी ने स्वप्न में भाषा में रचना करने की आज्ञा दी और कहा कि तुम्हारे भाषा-काव्य की महिमा वेद ऋचा की तरह होगी—दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ेगी। फिर गोसाईंजी के जागने पर भी शिवजी प्रकट हुए और आश्वासन दे पूजित होकर अन्तर्धान हो गये, यथा—"सपनेहु साँचेहु मोहि पर, जो हर-गौरि पसाउ। तौ फुर होउ जो कहेउँ सब, भाषा भनिति प्रभाउ ॥" (बा० दो० १५)। अतः, गोसाईंजी श्रीअवध में आकर

भाषा में रचना करने लगे, तब पूर्वरचित श्लोकों से आगे यह सातवाँ श्लोक बनाकर प्रतिज्ञा जनाई। श्रीशिवजी के अनुरोध से यद्यपि मंगलाचरण के लिये संस्कृत में जहाँ-तहाँ श्लोक भी बनाये, तथापि उनमें जहाँ-तहाँ भाषा-सिद्धि के लिये संधि एवं विभक्ति आदि में भेद कर दिया है, जैसे—"मन-भृङ्ग-संगिनी" (उ० मं०), "गतिं स्वकं" (श्रां० दो० १२); आदि भी एक प्रकार के भाषा-छंद ही हैं। श्रीगोस्वामीजी ने इन्हें जान-बूझकर रक्खा है, तोड़-मरोड़ की आवश्यकता नहीं है।

सात श्लोकों का एक कारण तो उत्तर (२) में आ ही गया। दूसरा कारण यह है कि वन्दना की बातें इन सात श्लोकों में आईं। तीसरा—"यहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति-भगति केर पंथाना॥" (उ० दो० १२८); अर्थात् सातो सोपानों (काण्डों) के मंगलार्थ भी आदि में सात श्लोक रक्खे। चौथा कारण यह भी कहा जाता है कि सात की संख्या विषम एवं मांगलिक होने से संसार में अधिक है, जैसे—सागर, द्वीप, दिन और ऋषि आदि सात-सात ही ख्यात हैं।

(५) 'अति मंजुल'—यथा—"सुठि सुंदर संवाद वर, विरचेउँ बुद्धि विचारि।" आदि रचनाएँ अति सुन्दर भाषा में हैं और श्रीराम-कथा तो मंजुल है ही।

(६) 'स्वान्तः सुखाय'—यहाँ हृदय-सुख के लिये प्रारम्भ किया, पूर्ति पर 'स्वान्तस्तमः शान्तये' कहा। अंतः का तम (अज्ञान) दूर होने से भी सुख ही होता है; अतः आदि-अन्त में एक ही कामना है और वह सिद्ध भी हुई, यथा—"पायेउँ परम विश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ।" (उ० दो० १३०)।

सम्बन्ध—ऊपर ७ वें श्लोकों में भाषा-निबन्ध की प्रतिज्ञा की। अतः, अब भाषा का मंगलाचरण करते हैं—

सोरठा—

जो सुमिरत सिधि होइ, गननायक करिबरबदन ।
करउ अनुग्रह सोइ, बुद्धिरासि सुभगुन-सदन ॥१॥

शब्दार्थ—जो—जिसे, जिसके; यथा—"जो सुमिरत भयो भाँग से, तुलसी तुलसीदास ।" (बा० दो० २६); "जो अवलोकि मोर मन छोभा ।" (अ० दो० १३); "जो अवलोकत लोकपति, लोकसंपदा थोरि ।" (बा० दो० ३३३) ।

अर्थ—जिनके स्मरण से सिद्धि होती है, जो गणों के स्वामी और सुन्दर हाथी के समान श्रेष्ठ मुखवाले हैं, वे बुद्धि की राशि और शुभ गुणों के घर (गणेशजी) मुझपर दया करें ।

विशेष—

(१) यह सोरठा छन्द है। इसके प्रथम और तृतीय चरणों में ११-११ मात्राएँ होती हैं और दूसरे तथा चौथे में १३-१३; अतः, प्रथम की अपेक्षा दूसरे में वृद्धिक्रम है, जिससे ग्रन्थ की दिनों-दिन वृद्धि हो, यह भाव है। यह बात दोहा, चौपाई और अन्य छन्दों में नहीं होती। दोहे में प्रथम १३ तब ११ मात्राएँ होती हैं, ऊँचे से नीचे गिरने का रूप ह्रासक्रम होता है और चौपाई आदि छन्दों में समक्रम होता है।

(२) शंका—इस सोरठे में ज अक्षर प्रथम पड़ा है, वह दग्धाक्षर है, तब इससे मंगल कैसे किया ?

समाधान—(क) इसका जकार गुरु (दीर्घ) है और देव-काव्य है, फिर वंदना भी उन्हीं देव की की गई है जो सिद्धि के दाता एवं विघ्नहर्ता हैं, अतः दोष नहीं है, यथा—"सुर कविता मंगलमयी, आदि जो गुरु कल होय। दग्धाक्षर अरु गणन को, दोष न व्यापै कोय ॥" ऐसा छन्दःशास्त्र में कहा है।

(ख) इसका प्रथम गण भगण है, दूसरा नगण है। दोनों मित्र हैं; अतः दोष नहीं है।

(३) इसमें श्रीगणेशजी का नाम-रूप-लीला-धामात्मक स्मरण है। यथा—'गननायक' से नाम, 'करिवरबदन' से रूप, 'करउ अनुग्रह' 'बुद्धिरासि' और 'सुभगुन' से लीला और 'सदन' से धाम ध्वनित है।

(४) श्रीगणेशजी के सिद्धि और बुद्धि नाम की दो शक्तियाँ हैं, उनके साथ प्रार्थना की जिससे विघ्नों से बचते हुए कार्य-सिद्धि हो और कार्य के योग्य बुद्धि हो, इसलिये दोनों के साथ प्रार्थना है तथा ग्रन्थ में शुभ-गुण पड़ें; अतः 'सुभगुन' सदन कहा। 'सुमिरत' से यह जनाया कि पूजा का अधिकार सबको नहीं होता, पर स्मरण सब कर सकते हैं। पुनः स्मरण करते ही सिद्धि होती है, देर नहीं लगती। किन बातों की सिद्धि होती है, यह नहीं लिखा, क्योंकि अमुक-अमुक कहने में इति हो जाती कि इतने ही की सिद्धि होती है। अतः, सिद्ध हुआ कि जो इच्छा करे, सबकी सिद्धि होती है। प्रस्थान करने में गणेशजी का स्मरण ही किया जाता है। 'जो' शब्द से यह भी निकलता है कि चाहे जो वर्ण हों, सब उनका स्मरण कर सकते हैं।

(५) क्रम—प्रथम स्मरण का फल सिद्धि कहकर स्मरणार्थ नाम 'गननायक' कहा। नामस्मरण के साथ रूप का ध्यान चाहिये, इसलिये 'करिवरबदन' से रूप कहा। रूप के विशेषण में पशुत्व दोष है; अतः, बुद्धिराशि और शुभगुणसदन कहा। साथ ही इन दो गुणों की कामना भी रूप से की। पुनः गण-नायक से स्वामिकार्तिक भी समझे जाते हैं। यथा—"स्कंदश्च सेनापतिः" तथा—"सेनानीनामहं स्कंदः" (गीता १०।२४); इसके निवारणार्थ 'करिवरबदन' साथ ही कहा है।

(६) अपने इष्ट श्रीसीतारामजी के अतिरिक्त गणेशजी की प्रार्थना क्यों की ? इसका समाधान ऊपर प्रथम श्लोक के 'वाणी-विनायक' प्रसंग में हो चुका है।

(७) प्रथम श्लोक की तरह इस पहले सोरठे में अक्षरों की ध्वनि से सातों काण्डों का अनुसंधान टीकाकारों ने किया है। रामायणी लोग भी यही कहते हैं। यथा—'जो सुमिरत सिधि' से बालकाण्ड, क्योंकि इसमें शिव-पार्वतीजी, नारदजी, मनुशतरूपा का स्मरण और उससे सिद्धि वर्णित है और श्रीदशरथजी एवं जनकजी की कामना-सिद्धि कही गई है।

'होइ गननायक' से अयोध्या काण्ड, क्योंकि इसमें राजा-प्रजा सभी चाहते थे कि श्रीरामजी युवराज हों। मंथरा-कैकेयी चाहती थीं कि श्रीभरत युवराज हों।

'करिवरबदन'—से आरण्य, क्योंकि इसमें श्रीरामजी ने श्रेष्ठ प्रतिज्ञा की और अपने सुन्दर मुख से निशिचरों को मोहित किया।

'करउ अनुग्रह सोइ'—से किष्किंधा, क्योंकि 'सोइ' पूर्व परिचयसूचक है, यथा—"प्रभु पहिचानि परेउ···" (दो० १); श्रीहनुमान्जी, सुग्रीवजी, बालि, तारा, अंगदजी और सब ऋक्ष-वानरों पर श्रीरामजी ने अनुग्रह किया।

'बुद्धिरासि'—से सुन्दर, क्योंकि इसमें जाम्बवान्जी, विभीषणजी और श्रीहनुमानजी की बुद्धि की चतुरता की परीक्षा वर्णित है।

'सुभ गुन' से लंका, क्योंकि इसमें निशिचरों को भी शुभ गति का मिलना, सुरों का बंदीगृह से छूटना, विभीषण का राज्य पाना, जगत् में शुभ गुणों का पुनः प्रचार होना आदि शुभ घटनाएँ हैं।

'सदन' से उत्तर, क्योंकि इसमें श्रीरामजी अपने सदन श्रीअवध में आये, और बंदर-भालू तथा विभीषण आदि भी अपने-अपने घर गये, देवता लोग भी अपने-अपने लोकों में सुख से बसे।

उपर्युक्त कथन की पुष्टि के लिये उदाहरण विस्तार-भय से नहीं दिये गये। और टीकाओं में देखें।

मूक होइ बाचाल, पंगु चढ़इ गिरिबर गहन।
जासु कृपा सो दयाल, द्रवउ सकल कलिमलदहन ॥२॥

शब्दार्थ—बाचाल = बोलने में तेज, वाक्पटु। गहन = गंभीर, दुर्गम।

अर्थ—जिनकी कृपा से गूँगा भी श्रेष्ठ वक्ता होता है तथा लूला-लँगड़ा भी दुर्गम पहाड़ पर चढ़ता है, वे कलि के पापों को जलानेवाले दयालु (मुझपर) दया करें।

विशेष—

(१) इसका अर्थ कोई विष्णुपरक और कोई सूर्यपरक करते हैं—

विष्णुपरक—(क) विष्णु भगवान् का नाम पापनाशन है, वही अर्थ 'कलिमलदहन' का है। ये पाँव के देवता हैं; अतः, इनकी कृपा से पंगु का पर्वत पर चढ़ना कहा गया है। ये गिरा के पति हैं—'सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी।' (बा० दो० १०४); अतएव मूक का बाचाल होना भी स्वयंसिद्ध है।

इसमें वैकुंठवासी विष्णु का और आगे क्षीरशायी का वर्णन करेंगे, क्योंकि दोनों का अवतार कहना है। दो कल्प (जय-विजय, जलंधर) के लिये वैकुंठ से और एक कल्प (रुद्रगणों) के लिये क्षीरसागर से अवतार कहा जायगा। साकेतवासी की वंदना आगे प्रधान रूप में है ही। अतः, चारों कल्पों के अधिदेवता का मंगलाचरण हो जाता है।

(ख) पुनः—"मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम्। यत्कृपा तमहं वंदे परमानंदमाधवम्।"

यह प्राचीन श्लोक है जिसे श्रीधरजी ने श्रीभागवत-टीका के मंगलाचरण में लिखा है। यह इस सोरठे से मिलता है, केवल 'सो दयाल···' की जगह—'तमहं वंदे परमानंदमाधवम्' है। श्लोक में 'माधवं' से स्पष्ट विष्णु को कहा है। यह बहुत प्रसिद्ध है, अतः सोरठे में नाम नहीं कहा।

(२) सूर्यपरक—(क) बालक जन्म-काल में मूक और पंगु भी रहता है, सूर्य बालक को दिनोंदिन पोसते तथा उक्त दोष दूर करते हैं। सोरठे में कथित गुण भी इनमें हैं, यथा—"दीनदयाल दिवाकर देवा।···दहन दोष दुख दुरित रुजाली।·· सारथि पंगु दिव्य रथगामी।" (वि० २)।

(ख) प्राचीन श्लोक से विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि सूर्य नारायण के रूप भी हैं, यथा—"हरि संकर विधि मूरति स्वामी।" (वि० २); "एष ब्रह्मा च विष्णुश्च शिवः स्कंदः प्रजापतिः।" (वाल्मी० यु० स० १०६)।

(ग) विनय-पत्रिका में गणेशजी के पश्चात् सूर्य की स्तुति है। उस क्रम से यहाँ भी सूर्यपरक अर्थ चाहिये। सूर्य रघुकुल के गुरु (पूर्वज) भी हैं, इनसे चरित जानने में सहायता मिले, यथा—"कुल रीति प्रीति समेत रवि कहि देत सब सादर किये।" (बा० दो० ३२३); गुरु—"उदय करहु जनि रवि रघुकुल-गुरु।" (अ० दो० ३६)।

श्रीगोस्वामीजी ने इस ग्रंथ का प्रारंभ श्रीअवध में किया। अवधवासियों का मत भी पंचदेवोपासना से श्रीरामजी की प्राप्ति और प्राप्त होने पर रक्षा चाहना है, यथा—"करि मज्जन पूजहिं नर-नारी। गनप गौरि त्रिपुरारि तमारी॥ रमारमन पद बंदि बहोरी।" (अ० दो० २७२); अतः, इसे सूर्यपरक मानने से पंचदेव की पूर्ति हो जाती है, जो भाषा के मंगलाचरण में आवश्यक है।

(३) 'सकल कलिमल'—"जे पातक उपपातक अहहीं। करमबचनमनभव कवि कहहीं॥" (अ० दो० १६६); "मन क्रम वचन जनित अघ जाई।" (उ० दो० १२५); अर्थात् पाप कायिक, वाचिक और मानसिक होते हैं। बड़े पाप पातक हैं और छोटे उपपातक। मूक और पंगु होना पापों के फल है। वे पाप इनकी कृपा से नष्ट होकर पुण्य-प्राप्ति से मूक वाचाल होते और पंगु पहाड़ पर चढ़ते हैं।

यहाँ श्रीरामचरित रूपी पहाड़ पर चढ़ना है और मानसकार पंगु हैं, यथा—"सूझ न एकउ अंग उपाऊ। मन-मति रंक मनोरथ राऊ॥" (बा० दो० ७); अर्थात् बुद्धि से पंगु हैं। वाणी से मूक हैं—"सुनिहहिं बाल बचन मन लाई॥ जौं बालक कह तोतरि बाता।" (बा० दो० ७); हृदय को कलिमल भरा माना है, इसीसे उक्त तीनों गुणों का स्मरण करते हुए प्रार्थना की है।

शंका—'कलिमल दहन' गुणवाले से 'द्रवउ' की प्रार्थना क्यों की ? परस्पर विरोध है—दहन अग्नि का और द्रव जल का धर्म है।

समाधान—पाला भी जल ही है, पर कृषि को जला देता है, यथा—"सियरे बचन सूखि गये कैसे। परसत तुहिन तामरस जैसे॥" (अ० दो० ७०)।

नील सरोरुह स्याम, तरुन अरुन बारिज नयन।
करउ सो मम उर धाम, सदा छीरसागर-सयन ॥३॥

शब्दार्थ—अरुन = वह लालिमा जो प्रकट न हो, नेत्रों के किनारे वाले डोरों की-सी थोड़ी ललाई; यथा—"अरुणोऽव्यक्तरागे स्यात्"— इति विश्वकोशे।

अर्थ—जो नील कमल के समान श्याम हैं, जिनके नेत्र नवीन खिले हुए अरुण कमल के समान हैं और जो सदा क्षीरसमुद्र में शयन करनेवाले हैं, वे (श्रीमन्नारायण) मेरे हृदय में घर करें।

विशेष—

(१) श्रीरामचरित की प्रेरणा करने के लिये हरि को हृदय में निवास कराते हैं, यथा—"जस कछु बुधि बिबेक बल मेरे। तस कहिहउँ हिय हरि के प्रेरे॥" (बा० दो० ३०)।

(२) 'नील सरोरुह स्याम'—श्याम रंग नेत्रप्रिय होता है, भगवान् भी प्रियदर्शन हैं, कमल की भाँति कोमल आपका स्वभाव भी है—'बेगि पाइयहि पीर पराई।' (अ० दो० ८४)। श्याम रंग फीका नहीं होता और उसपर दूसरा रंग नहीं चढ़ता, वैसे प्रभु शरणागत की सँभाल रखते हैं, कृपारूप रंग सदा रहता है।

'तरुन अरुन···'—नवीन कमल आर्द्र होता है, वैसे आपके नेत्र करुणारस पूर्ण हैं, तरुणता के कारण दुःख हटाने में आलस्य न करेंगे।

'सदा छीरसागर···'—दुर्वासाजी के कोप से श्रीलक्ष्मीजी क्षीरसिंधु में लुप्त हो गईं और मथने पर प्रकट हुईं, वैसे कलि-कोप से भक्ति का लोप है; अतः, मेरा हृदय मथकर श्रीराम-भक्ति प्रकट कीजिये जिससे जगत् का उद्धार हो। जहाँ राजा रहता है, वहाँ चोर नहीं रह सकते; अतः आप बसें, तब कामादि नहीं आवेंगे। आपके साहचर्य में सर्प रूप से भी शेषजी निरंतर श्रीराम-यश गाते हैं, मेरा हृदय भी कामादि सर्पों के संग से विकृत हो गया, उससे भी श्रीराम-यश गान कराइये। यह अभिप्राय है।

अलंकार—(३) 'नील सरोरुह स्याम' में नील कमल उपमान और श्याम धर्म है, वाचक और उपमेय लुप्त हैं, अतः वाचकोपमेयलुप्तोपमालंकार है। तरुनअरुन धर्म, बारिज—उपमान, नयन—उपमेय है, अतः वाचकलुप्तोपमालंकार है।

शंका—(४) सर्वत्र तो श्रीरामजी को ही हृदय में निवास कराते हैं, यथा—'बसहिं राम सिय मानस मोरे।' (वि० १); यहाँ क्षीरशायी रूप को क्यों निवास कराया?

समाधान—(क) श्रीरामजी के नाम रूपादि का परत्व जानने के कारण क्षीरशायी भगवान् भी श्रीरामरूप धारण कर लीला करते हैं। नारद-शाप की कथा इसी प्रसंग में है। तथा—"पयपयोधि तजि अवध बिहाई। जहँ सिय राम लखन रहे आई॥" (अ० दो० १३८); अतः, श्रीगुसाईंजी ने चरित-वर्णन में उनकी सहायता पाने की इच्छा से उन्हें हृदय में बसाया। "तस कहिहउँ हिय हरि के प्रेरे।" (बा० दो० ३०) कहा ही है।

(ख) क्षीरशायी रूप से भगवान् हृदय में बसेंगे, तब क्षीरसमुद्र की तरह हृदय स्वच्छ हो जायगा और वह श्रीसीताराम रूप के निवास-योग्य होगा, यथा—"हरि निर्मल, मलग्रसित हृदय, असमंजस मोहि जनावत। जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत॥" (वि० १८५)।

(ग) अगस्त्य-संहिता, श्रीरामतापनीय उपनिषद् आदि में क्षीरशायी भगवान् पीठदेवता कहे गये हैं; अतः इष्ट श्रीरामरूप के पूर्व इनका निवास कराना योग्य ही है।

कुंद इंदु सम देह, उमारमन करुना-अयन।
जाहि दीन पर नेह, करहु कृपा मर्दन-मयन ॥४॥

शब्दार्थ—कुंद उज्ज्वल, कोमल और सुगंधित फूल का नाम है, इसका पौधा जूही की तरह होता है।

अर्थ—कुन्द और चन्द्रमा के समान (गौर) देह वाले करुणा के घर—जिनका दीनों पर स्नेह रहता है—(ऐसे) काम को जलानेवाले श्रीपार्वती के पति (शिवजी मुझपर) कृपा करें।

विशेष—

(१) यहाँ 'उमारमन' से शक्तिविशिष्ट भाव जनाया है, क्योंकि शिवजी अर्द्धनारीश्वर हैं; अतः, यहाँ श्रीशिव-पार्वती दोनों का बोध होता है। इसके ऊपर के तीन सोरठों के क्रमशः गणेश, सूर्य, और रमापति को लेने से पंचदेव-वंदना की पूर्त्ति हो जाती है।

शंका—(२) 'उमारमन' में शिव-उमा दोनों का अर्थ लेने से उमा में 'मर्दन-मयन' कैसे घटेगा ?

समाधान—शिवजी की काम जलाने की कथा प्रसिद्ध है। उमा ने अपने त्याग से ही काम का मर्दन कर रक्खा है। यथा—"अब भा भूठ तुम्हार पन, जारेउ काम महेस।" (बा० दो० ८१) इस प्रकार सप्तर्षियों के कहने पर उमा का उत्तर है—"तुम्हरे जान काम अब जारा। अबलगि सभु रहे सविकारा॥ हमरे जान सदासिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी॥ जो मैं सिव सेयेउँ अस जानी।" (बा० दो० ८१)।

(३) 'कुन्द इन्दु'—गोराई के साथ कोमलता और प्रकाश-युक्त होना भी प्रकट किया। जब उमा-रमण से श्रीशिव-पार्वती दोनों का अर्थ हो, तब कुन्द के समान कोमलता, दया-युक्त सरसता और सुगंध गुण युक्त उमा का शरीर और शुद्ध ज्ञान स्वरूप, शीतल स्वभाव वाले, चन्द्रमा के समान प्रकाशमान यश-पूर्ण शिवजी का रूप जानना चाहिये।

(४) 'मर्दन मयन—उमारमन'—जब काम को भस्म ही कर दिया, तब उमा-रमण कैसे? उत्तर यह है कि इनका विहार दिव्य चिन्मय है। इस नाम से ग्रंथकार ने अपने हृदय को निष्काम बनाने की कामना ध्वनित की है।

(५) 'उमारमन-करुनाअयन'—शिवजी ने उमा को तप करते और देवताओं को तारकासुर से दुखी देखा, तब उमा से विवाह किया। फिर उमा की प्रार्थना से करुणा करके उन्हें श्रीरामचरित सुनाया।

(६) 'मर्दन······दीन पर नेह'—काम को जलाने पर रति रोती हुई गई, तब शिवजी ने उसकी दीनता पर करुणा करके वर दिया—"अब ते रति तव नाथ कर, होइहि नाम अनंग। बिनु बपु ब्यापिहि सबहि पुनि, सुनु निज मिलन प्रसंग॥ जब जदुबंस ''कृष्णतनय होइहि पति तोरा।" (बा० दो० ८७)।

सम्बन्ध—यहाँ चार सोरठों में वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण किया गया है, क्योंकि कथा के प्रयोजनीय गुणों के निमित्त प्रार्थना की गई है। यहाँ देव-वंदना का प्रथम प्रसंग पूरा हुआ। अब आगे नमस्कारात्मक मंगलाचरण प्रारंभ करते हैं—

वंदउँ गुरु-पद-कंज, कृपासिंधु नर-रूप हरि।
महामोह तमःपुंज, जासु बचन रविकर-निकर ॥५॥

अर्थ—मैं श्रीगुरुजी के चरण कमलों की वंदना करता हूँ, जो कृपा के समुद्र और नर के रूप में हरि (भगवान्) ही हैं, जिनके वचन महामोह-रूप अंधकार समूह के विनाश के लिये सूर्य-किरण समूह हैं।

विशेष—

(१) श्रीगोस्वामीजी ने इस ग्रंथ में तीन गुरुओं का आश्रय लिया है—

(क) श्रीशिवजी का —"गुरु-पितु-मातु महेस भवानी।" (बा० दो० १४)

(ख) निज मंत्रोपदेष्टा गुरु अनन्त श्रीस्वामी नरहरिदासजी का; यथा—"मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकरखेत।।" (बा० दो० ३०)

(ग) श्रीरामचरित का —"सद् गुरु ज्ञान बिराग जोग के।" (बा० दो० ३१.)।

तीनों से काव्य को गौरव प्राप्त होना भी कहा है। क्रमशः—

(क) "भनिति मोरि सिवकृपा बिभाती। ससि समाज मिलि मनहुँ सुराती॥" (बा० दो० १४)।

(ख) "तदपि कही गुरु बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा। भाषाबद्ध करबि मैं सोई···" (बा० दो० ३०); इसकी ख्याति प्रत्यक्ष ही है।

(ग) "प्रभु सुजस संगति भनिति भलि होइहि सुजन मनभावनी॥" (बा० दो० ६)।

तीनों गुरुओं का कर्त्तव्य भव-सागर से पार उतारना है। क्रमशः—

(क) "गुणागारसंसारपारं नतोऽहम्।" (उ० दो० १०७)।

(ख) "गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई।" (उ० दो० ९२)।

(ग) "भवसागर चह पार जो पावा। राम-कथा ता कहँ दृढ़ नावा।" (उ० दो० ५२)।

(२) गुरुजी का नाम प्रत्यक्ष लेने का निषेध जानकर रूप शब्द की ओट से लिखा है और युक्ति से जनाया है। श्रीगोस्वामीजी के गुरु का नाम अनंत श्रीनरहरिदासजी था। जीवनी से प्रसिद्ध है। साथ ही महत्त्व भी उन्हीं शब्दों में कहा है कि गुरु नर रूप में हरि ही हैं। जैसे—हरि मीन, कमठ वाराह आदि अवतार धारण करते हैं, वैसे ये नरावतार हरि हैं। हरि के अवतार का कारण कृपा है, यथा—"कृपासिंधु जनहित तनु धरहीं।" (बा० दो० १२१); "भये प्रकट कृपाला···" (बा० दो० १९१), "कृपासिंधु मानुष तनुधारी।" (सुं० दो० ३९)। ऐसे ही यहाँ भी 'कृपासिंधु' शब्द से नर-रूप में अवतार का कारण कहा। 'महामोह तमपुंज, जासु बचन रविकर-निकर' से अवतार की लीला कही गई है।

श्रीरामजी और श्रीगुरुजी के अवतार का मिलान

श्रीरामजी	श्रीगुरुजी
श्रीरामावतार रावण-वध के लिये हुआ।	(१) श्रीगुरु का अवतार महामोह-नाश के लिये है। महामोह ही रावण है,—'महामोह रावण······' (वि० १८१)।

श्रीरामजी ने बाण से रावण को मारा। (२) यहाँ वचन ही बाण हैं, उनसे महामोह का नाश किया। यथा—'जीभ कमान बचन सर नाना।' (अ० दो० ४०)।

श्रीरामबाण सूर्य के समान हैं। (३) यहाँ गुरु-वचन को भी 'रविकर-निकर' कहा है। यथा—'रामबान रवि उये जानकी।' (सुं० दो० १५)।

(३) श्रीगुरुजी के हरि-रूप होने के प्रमाण—"गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः। गुरुः साक्षात्परंब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥" (गुरु-गीता) और भी—"यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।" (श्वे० ६।२३)।

(४) 'जासु बचन रविकर……'—जिनके वचनों में मोह-नाशक सामर्थ्य हो, वे ही गुरु हैं; क्योंकि गु शब्द का अर्थ अंधकार और रु का अर्थ उसका निरोधक है। मोहांधकार का नाश करने से गुरु कहाते हैं। ऐसे ही गुरु हरि के रूप हैं। यह लक्षण श्रुति में कहा है; यथा—"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।" (मुंडको० १।२।१२)। इसमें श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ शब्दों के द्वारा सामर्थ्य जनाया है।

(५) यहाँ श्रीगुरु के मन, वचन और शरीर तीनों दिखाये। मन—कृपासिंधु शरीर—नर-रूप हरि और वचन—'महामोह तमपुंज' के लिये 'रविकर-निकर' हैं।

(६) 'रविकर निकर'-किरणें चन्द्रमा में भी हैं, पर उनसे तम का नाश नहीं होता। अतः, 'रविकर' कहा। सूर्य सहस्रांशु कहे जाते हैं। अतः, यहाँ भी 'निकर' कहा है। जब गुरु-वचन रविकर हैं, तब उनका हृदय ब्रह्मांड और ज्ञान सूर्य है; यथा—"जासु ज्ञान रवि भवनिसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा॥" (अ० दो० २७६)। ऊपर श्लोक में 'बोधमयं नित्यं' कहा है, अर्थात् हृदय में सदा ज्ञान-रूप सूर्य का उदय रहता है। ऊपर 'शंकर' रूप और यहाँ 'हरि' रूप कहकर दिखाया गया कि गुरु सम्पूर्ण कल्याण करते हैं और (भवसागर का) क्लेश हर लेते हैं।

'महामोह'—ईश्वर में संदेह होना महामोह है—"भवबंधन ते छूटहिं, नर जपि जाकर नाम। खर्ब-निसाचर बाँधेउ, नागपास सोइ राम॥" इसे ही आगे कहा है—'महामोह उपजा उर तोरे।' (उ०दो० ५८।५६); तथा ऐसे ही संदेह के प्रति—'जिन्ह कृत महामोह मद पाना।' (बा० दो० ११८) भी कहा है। श्रीगुरुजी ईश्वर का ज्ञान कराते और उस सम्बन्ध के सब संशय-समूह रूप अंधकार निवृत्त करते हैं। इसीलिये महामोह को 'तमपुंज' कहा है।

(७) पाँच सोरठों में भाषा का मंगलाचरण क्यों हुआ? इसका उत्तर 'मूकं करोति……' में विष्णुपरक अर्थवाले यह देते हैं कि गोस्वामीजी ने सूर्य में खास प्रयोजन की बात न देखी और उनका ज्ञानांश गुरु द्वारा प्राप्त होता है। अतः, गुरु की ओट से उपमान रूप में वंदना करके पंचदेव-वंदना की पूर्ति की। पुनः 'नर-रूप हरि' का अर्थ नर-रूप सूर्य भी होता है।

(८) 'नर रूप हरि'—से नरहरि अर्थात् नृसिंह (नर रूप में सिंहाकृति) का भी ध्यान होता है, क्योंकि श्रीगुरु महाराज पंच संस्कार-विशिष्ट हैं। सिंह को 'पंचानन' भी कहते हैं, क्योंकि उसके चार पंजे भी चीर-फाड़ का काम मुख के समान ही करते हैं। सिंह अजा (बकरी) के मुख को मुख से और उसके चार पाँवों को अपने पंजों से पकड़े तो क्षण-भर में मार लेता है। वैसे ही श्रीगुरु महाराज भी पंच संस्कारों के द्वारा माया (अजा) का पाँचों अंगों (शब्द स्पर्श-रूप-रस गंध) समेत सहज में नाश कर सकते हैं।

माया प्रकृति का पर्यायवाची शब्द है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति का नाम भी 'अजा' है। यथा—"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।" (श्वे० ४।५)। इस श्रुति में माया का अजा नाम और रक्त-श्वेत-कृष्ण से क्रमशः रज, सत्त्व, तम के अनुसार उसका रंग भी कहा है। वैसे बकरियाँ भी कुछ लाल एवं श्वेत रंग की होती हैं; विशेषकर काली ही होती हैं, क्योंकि माया विशेषतः तमरूपा ही है। बकरी 'मैं-मैं' बोलने से जानी जाती है। माया की पहचान भी 'मैं' ही है; यथा—"मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हें जीव-निकाया॥" (आ० दो० १४)। इसमें मैं से मोर और तैं हुए, फिर तैं से तोर भी हुआ। बकरी के चार खुर (पाँव) दो-दो भागों में मँढे रहते हैं तथा मुख भी नीचे ऊपर दो फाँकों का होता है, वैसे माया के भी शब्दादि पाँचों विषय शुभ और अशुभ दो-दो प्रकार के होते हैं।

श्रीगुरुजी स्वयं पाँचों संस्कार (नाम, माला, ऊर्ध्वपुण्ड्र, मुद्रा और मन्त्र) धारण किये रहते हैं और उन्हीं से शिष्यों की रक्षा माया के उपर्युक्त पाँचों अंगों से करते हैं। शब्द-ग्रहण की इंद्रिय कान है, रक्षार्थ मन्त्र कान में ही देते हैं और उसी को कर्मेन्द्रिय वाक् से जपाते हैं। स्पर्श के वायु-तत्त्व की कर्मेन्द्रिय हाथ है। रक्षार्थ धनुष-बाण हाथ पर देते हैं। रूप का केन्द्र ललाट है, क्योंकि रूप मुख एवं ललाट ही पर देखा जाता है; रक्षार्थ ऊर्ध्वपुंड्र ललाट पर (द्वादश तिलक सर्वांग में भी; क्योंकि सब रूप ही हैं) देते हैं। रस विषय की इन्द्रिय रसना से गृहीत पदार्थ कंठ होकर भीतर जाता है। रक्षार्थ कंठी (माला) भी कंठ ही में पहनाते हैं और नाम का सम्बन्ध पृथ्वी-भर में रहता है—भाई, पिता, मित्र आदि सम्बन्धों से बँधा रहता है, रक्षार्थ भगवत् सम्बन्धी नाम देकर पृथिवी के सांसारिक-वासनात्मक गन्ध-विषय से भी बचाते हैं।

कौन संस्कार किस अर्थ के अनुसंधान से किस विषय से रक्षा करता है, ये सब विस्तार-पूर्वक मेरे ग्रंथ 'श्रीमन्मानस नाम-वंदना' में हैं, यहाँ इन्हें विस्तारभय से नहीं लिखा। और, पंच संस्कार की नृसिंह-स्वरूपता भी उसी में 'राम नाम नरकेसरी····' के अर्थ में दिखाई गई है; क्योंकि नाम बीज और मंत्र उसका विवरण (अर्थ) है, यथा—"न च, नाममंत्रयोर्भेदाशंकातयोर्बीजतद्विवरणरूपेणैक्यात्।" (श्रीरामतापनीय० उ० भाष्य पृ० २०४)।

सम्बन्ध—इस सोरठे में मोह-नाश कराने के लिये 'पदकंज' की वंदना की, आगे उसके कार्य-रूप भव-रोगों के नाश के लिये 'गुरु-पद-पदुम-पराग' की वंदना करते हैं—

चौपाई *

वंदउँ गुरु-पद-पदुम-परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा॥ १॥

अर्थ—(१) मैं श्रीगुरुजी के चरण-कमलों के रज (धूल) की वंदना करता हूँ, जो सुरुचि रूपी सुगंध और अनुराग रूपी रस से युक्त है।

(२) मैं श्रीगुरुजी के चरण-कमलों के रज की वंदना करता हूँ, जो सुष्ठु (उत्तम) रुचि, सुष्ठु वास, सम्यक्-रस और अनु (अल्प) ललाई से युक्त है।

(३) मैं श्रीगुरुजी के चरण-कमलों के रज की वंदना करता हूँ जो सु-रुचि, सु-वास और श्रेष्ठ अनुराग से पूर्ण है।

(४) मैं सुष्ठु रुचि, सुष्ठु वासना और श्रेष्ठ अनुराग सहित गुरु-पद-पद्म-पराग की वंदना करता हूँ।

* इस छन्द के प्रत्येक चरण में सोलह-सोलह मात्राएँ होती हैं।

विशेष—

(१) अर्थ (१) 'पदुम'-शब्द दीपदेहली न्याय से पद और पराग दोनों का विशेषण है। ऊपर सोरठे में 'पद-कंज' की वंदना की, तब विचारा कि श्रीगुरुचरणों को कमल क्या कहूँ, जब कि कहीं से लिपटी हुई धूल में ही कमल के धर्म हैं, कमल में सुगंध और रस होता है, इसमें सुरुचि ही सुगंध और अनुराग ही रस है।

शंका—धूल तो जड़ पदार्थ है, उसमें रुचि और अनुराग कैसा?

समाधान—श्रीगुरु-पद-पद्म पराग में शिष्य की जितनी उत्तम रुचि एवं श्रद्धा होगी, पराग से उतनी ही सुगध की प्राप्ति उसको होगी और जितना शिष्य का अनुराग होगा, उतना ही रस का अनुभव होगा। भगवान् की मूर्त्ति और तीर्थों में भी यही देखा जाता है। जैसे श्रीगोस्वामीजी ने श्रीरामयश के विषय में अपनी कार्पण्य रूपी लघुता को श्रीरामयश रूपी जल का हलकापन रूप गुण कहा है। यथा—"आरति विनय दीनता मोरी। लघुता ललित सुबारि न खोरी।" (बा० दो० ४२)

(२) अर्थ (२) लाल कमल के पराग का रूप कुछ ललाई लिये हुए होता है और उसके धर्म के तीन प्रकार हैं—गुण, स्वभाव और क्रिया। पराग में रुचिकारकता गुण, सुगंध, स्वभाव और रस उसकी क्रिया है, यह उपमान में है और उपमेय रूप श्रीगुरु-पद-पद्म-पराग का भी रूप अल्प ललाई से युक्त है, क्योंकि चरण लाल हैं, उनके सेवन का गुण है कि शिष्य के हृदय में उत्तम रुचि उत्पन्न हो, तब वह अच्छे धर्म में रत होता है और उसकी सुष्ठुयश रूपी सुगंध का फैलना स्वाभाविक है। अतः, यह स्वभाव हुआ। पुनः उस शिष्य में रसरूपा भक्ति जाग्रत होती है। यही सरसता रूप क्रिया है।

(३) श्रीगुरु-पद-पद्म-पराग के चार विशेषण हैं, उनके सेवन से चारों फल भी प्राप्त होते हैं। सुरुचि से अर्थ, क्योंकि रुचि चाह को भी कहते हैं। यथा—'सब पायेउँ रज पावनि पूजे" (अ० दो० १) यहाँ राजा दशरथजी ने अर्थ प्राप्ति ही कही है। सुवास से धर्म, क्योंकि धर्म से यशरूपी सुगंध फैलती है। सरस से काम, क्योंकि वह भी रसरूप है। अनुराग से भक्ति की प्राप्ति जनाई, यथा—'मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा।' (उ० दो० ६१)। कमल में चार गुण हैं, वही पराग में आते हैं, वैसे ही श्रीगुरु-चरण के गुण धूल में हैं।

(४) अर्थ (१) के अनुसार इसमें अधिक तद्रूपकालंकार है, क्योंकि कमल पराग में रुचि, वास और रस है और गुरु-पद-पद्मपराग में सुष्ठु रुचि, सुष्ठु वास और श्रेष्ठ अनुराग है। इस पराग की उपासना से शिष्य की भी उत्तम रुचि एवं भक्ति भगवान् में होती है। श्रीगुरु के साथ इसका भी यश होता है। यह सुवास है और गुरु के संसर्ग से गुरु के समान इसमें भी श्रेष्ठ अनुराग होता है; जैसे श्रीभरत के प्रसंग में कहा है—"जबहि राम कहि लेहिं उसासा। उमँगत प्रेम मनहुँ चहुँपासा॥ द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना। पुरजन प्रेम न जाइ बखाना॥" (अ० दो० २११)।

(५) पदुम-पराग उपमान, गुरु-पद-पराग उपमेय, सुवास सरस के अनुरूप सुरुचि-अनुराग धर्म हैं, वाचक जनु, मनु, सम आदि लुप्त हैं; अतः, वाचकलुप्तोपमा अलंकार है।

(६) प्रथम शंकर-रूप में स्वरूप की वंदना की और द्वितीया के चन्द्रमा के समान उनके आश्रित हुए, तब स्वरूप की अगाध महिमा समझी और अपने को उसके अयोग्य मानकर चरण-कमल की वंदना कर वचनों द्वारा महामोह की निवृत्ति चाही। फिर श्रीचरण-कमल की समीपता में धृष्टता समझकर उसकी

धूल की वंदना कर भव-रोग नाश आदि का उपाय ग्रंथकार कर रहे हैं, आगे अपने को धूल के भी योग्य न मानकर नख-प्रकाश की शरण लेंगे, जो श्रीचरण से कुछ दूर है; क्योंकि धूल तो चरण में लगी हुई है।

सम्बन्ध—इस अर्द्धाली में जो सुरुचि गुण आदि कहे गये हैं, उनका चरितार्थ अगली तीन अर्द्धालियों में दिखाते हैं—

अमिअ-मूरि-मय चूरन चारू। समन सकल भवरुजपरिवारू ॥२॥

अर्थ—(यह धूल) अमृत मूरि-(जड़ी)-मय सुन्दर चूर्ण है, भव-रोग के सब परिवार (कामादि) का नाश करनेवाली है।

विशेष—

(१) अमिअ-मूरि—लोग संजीवनी जड़ी के सेवन से अमर (देवरूप) हो जाते हैं, वैसे यह चूर्ण मोक्ष रूपी अमृतमय है, असाध्य भव-रोगों का नाश करता है, परिणाम में दिव्य रूप प्राप्त कराता है। वह चूर्ण खाने में मधुर, देखने में सुन्दर, रोगनाशन गुणवाला है, वैसे यह सेवन में सुलभ (मधुर), लोक में शोभा और असाध्य भव-रोगों का नाशक है।

(२) इसमें अधिक तद्रूपकालंकार है—वह देह-रोग दूर करता है, यह भव-रोग। देह-रोग दो-चार हैं और भव-रोग बहुत। यथा—"एक व्याधि बस नर मरहिं, ये असाध्य बहुव्याधि।" (उ० दो० १२१), असाध्यत्व—"नेम धरम आचार तप, ज्ञान जज्ञ जप दान। भेषज पुनि कोटिक नहिं, रोग जाहिं हरिजान।" (उ० दो० १२१)। अर्थात् देह-रोग साध्य हैं और ये असाध्य, यह चूर्ण उनका भी नाश करता है। अतः, उपमान से उपमेय में बहुत अधिकता है।

शंका—भव-रोग सूक्ष्म हैं, यथा—"धड़े अलेखी लखि परे परिहरे न जाहीं।" (वि० १०७); और श्रीगुरु-पदरज स्थूल है। फिर इससे उनका नाश कैसे हो सकता है?

समाधान—जैसे यज्ञ, तीर्थ, व्रत आदि से साधक की भावना के अनुसार मन की शुद्धि होती है, वैसे यहाँ भी उत्तम रुचि से शिष्य के हृदय में रुचि अर्थात् प्रकाश (रुच् दीप्तौ धातु है) होगा, अविद्या-नाश के साथ ही भव-रोग भी नष्ट होंगे। यथा—"प्रबल अविद्याकर परिवारा। मोह आदि तम ···" (उ० दो ११०); यहाँ उपर्युक्त सुरुचि चरितार्थ हुई।

सुकृत संभु-तनु विमल बिभूती। मंजुल-मंगल-मोद-प्रसूती ॥३॥

शब्दार्थ—मंगल - बाह्य इन्द्रियों का सुख। मोद=अन्तःकरण का सुख।

अर्थ—(यह धूल) पुण्य रूपी शिवजी के शरीर को निर्मल करने की विभूति (भस्म) है तथा सुन्दर मंगल और मोद को उत्पन्न करनेवाली (माता) है।

विशेष—

(१) यहाँ 'सुकृत' को 'संभु-तनु' कहा है, क्योंकि शिवजी स्वयं धर्म के मूल हैं, यथा—'मूलं धर्मतरोः' (बा० मं०), सुकृत-सेवन और शिव-सेवन का फल एक है। यथा—"सकल सुकृत फल राम-सनेहू।" (बा० दो० २१); एवं—"सिव-सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति राम-पद होई ॥" (उ० दो० १०५)।

(२) श्मशान की धूल स्वयं तो अपवित्र है, परन्तु शिवजी के शरीर के स्पर्श से पवित्र होती है। श्रीगुरुजी के चरण-कमलों की धूल स्वयं इतनी अधिक पवित्र है कि सुकृत रूपी शिवजी के शरीर ही को निर्मल करती है, अतएव उपमान से उपमेय में बहुत अधिकता है। इससे यहाँ भी अधिक तद्रूपकालंकार है।

पुण्य का विमल होना यह है कि गुरु-आश्रित होकर जो सुकृत किया जाता है, शास्त्र-सम्मत होने के कारण उसमें ममता, फलेच्छा और कर्तृत्वाभिमान रूप मल नहीं रह पाते। अतः, कल्याण-रूप होने से 'संभुतनु' हो गया है।

(३) 'मंजुल' शब्द से पाया गया कि कोई-कोई मंगल और मोद मलिन भी होते हैं। जो निंदित कर्मों द्वारा वाह्य सुख कामादि सम्बन्धी हैं, इन विचारों से जो प्रकट होते हैं, वैसे मंगल-मोद मलिन हैं।

'विमल' विशेषण देकर सुकृत से मंजुल, मंगल और मोद पैदा करने में उपर्युक्त 'सुवास' चरितार्थ हुआ, उत्तम पुण्य से यश रूप सुगंध फैलती ही है।

जन मन मंजु मुकुर मल हरनी। किये तिलक गुन गन बस करनी ॥२॥

शब्दार्थ—मल=मैल, यथा—"मोह जनित मल लाग""मन मलिन विषय संग लागे।" (वि० ८२); 'काई विषय मुकुर मन लागा।' (बा० दो० ११४)।

अर्थ—(यह धूल) जन (दास) के सुन्दर (स्वच्छ) मन रूप दर्पण की मैल को हरनेवाली है और तिलक करने से गुण-समूहों को वश में करनेवाली है।

विशेष—

(१) जन का मन स्वभावतः निर्मल होता है, फिर भी 'मंजु, विशेषण से उसकी उत्तमता व्यक्त की गई है, तब यह मल कैसा ?

उत्तर—यद्यपि दासों का मन निर्मल रहता है, यथा—"बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा ॥" (कि० दो० १६); 'जिमि हरिजन हिय उपज न कामा।' (कि० दो० १५ ; तथापि—"काल-सुभाव करम बरियाई। भलेउ प्रकृति बस चुकइ भलाई ॥" (बा० दो० ६); इस नियम से—'बिधि-बस सुजन कुसंगति परहीं।' (बा० दो० २); क्योंकि—"विषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहुँ हृदय का नर बापुरे ॥" (उ० दो० १२१); और—'विषय बश्य सुर नर मुनि स्वामी।' (कि० दो० २०) भी कहा ही है। श्रीनारदजी कामवश और सनकादि क्रोध-वश हुए, जिनके मन प्रथम 'मंजु' ही थे। जनों का स्वधर्माचरण मंजुता है, भगवान् एवं उनके भक्तों से विमुख होना मलिनता है।

(२) यहाँ तक त्रिविध जीवों का हित जनाया—"विषयी साधक सिद्ध सयाने। त्रिविध जीव जग वेद बखाने ॥" (अ० दो० २७१) यथा—'जनमन मंजु''' से विषयी का हित होगा, उनके मन की मैल दूर होगी। 'समन सकल भव रुज '' से मुमुक्षु का हित होगा, क्योंकि कामादि शत्रु साधन में बाधा डालते हैं। 'मंजुल मंगल मोद प्रसूती।' से मुक्त कोटि के सिद्धों का हित होगा, क्योंकि उनके 'मुद' (आनंद-कल्याण) आदि बने रहेंगे।

(३) 'किये तिलक गुन गन बस करनी'—तन्त्र-शास्त्र की रीति से वशीकरण प्रयोग होता है जो जिसके उपलक्ष्य में किया जाता है, वह वश में आ जाता है, वैसे यह धूल श्रद्धालु के लिये (निष्ठा से) तिलक करने से शुभ गुणों को वश में कर देती है। यथा—"जे गुरु-चरन-रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल बिभव बस करहीं ॥" (अ० दो० २)

(४) 'समन'''परिवारू'—में मारण, 'मंजुल मंगल मोद प्रसूती।' से सुकृति को सुशोभित कर मंगलादि को मोहित करके लाने में मोहन, 'मल हरनी' में उचाटन, 'गुनगन बस करनी' में वशीकरण—ये चार प्रयोग सिद्धियाँ रज से दिखाईं।

ग्रंथकार का प्रयोजन ग्रंथ-रचना के सम्बन्ध में 'भवरुज' से नीरोग होना और शुभ गुणों से युक्त होना प्रत्यक्ष था; अतः, दो प्रयोग प्रकट कहे गये और शेष दो युक्ति से बतलाये गये हैं।

(५) श्रीगुरु-पदपद्म-पराग का यश सं० व्याकरण के तीनों लिंगों में गाया है। यथा—'पराग' पुँल्लिग है। अतः, 'चूर्ण' पुँल्लिग, 'विभूति' स्त्रीलिंग है, उसे वैसे ही प्रसूती, मलहरनी, बसकरनी कहा और 'रज' नपुंसक है। इसे ही आगे अंजन (नपुंसक) भी कहेंगे।

(६) यहाँ तक यह दिखाया कि रज की वचन से वंदना करे, चूर्ण रूप में उसे खाय, सुकृत के शरीर में लगावे, मन से सेवे, उसका तिलक करे। आगे नेत्रों में उसका लगाना भी कहते हैं। यथा—'गुरुपदरज मृदुमंजुल अंजन।' इस प्रकार वचन, मन और कर्म से श्रीगुरुचरणरज का सेवन करे।

श्रीगुरु पद-नख मनिगन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती ॥५॥

शब्दार्थ—दिव्यदृष्टि = दिव्यनेत्र = बुद्धि में पारमार्थिक प्रकाश; यथा—'ज्ञान बिराग नयन उरगारी।' (उ० दो० १११); 'दिव्य ददामि ते चक्षुः' (गीता ११।८)

अर्थ—श्रीगुरुजी के चरणों की नखरूपी मणि-समूह के प्रकाश का स्मरण करते ही हृदय में दिव्य दृष्टि होती है। (मैं उनकी वंदना करता हूँ)।

विशेष—

(१) यहाँ ग्रंथकार ने 'बंदउँ' न देकर 'श्री' शब्द दिया, इससे श्री शब्द को उपर्युक्त 'पदकंज' और 'पद-पद्म पराग' के साथ जनाया और 'बंदउँ' शब्द को यहाँ के नख-प्रकाश के साथ भी जनाया। इस प्रकार थोड़े अक्षरों से अधिक काम लिया। यह काव्य-कला का चमत्कार है। यथा—"सौंपे भूप रिषिहि सुत, बहु बिधि देइ असीस। जननी-भवन गये प्रभु, चले नाइ पद सीस॥" (बा० दो० २०८) इसमें एक जगह आशीष और दूसरी जगह शीश नवाना कहकर दोनों जगह दोनों बातें दिखाई हैं।

किसी-किसी का यह भी भाव है कि 'बंदउँ' शब्द 'पद कंज' के साथ दे चुके हैं, नख चरणों में ही हैं; अतः, फिर नहीं दिया। रज को श्रीचरण से भिन्न पदार्थ जानकर 'बंदउँ' शब्द उसमें दिया है। नखों को मणिगण कहा, मणिगण श्री (लक्ष्मी) जी के विभव हैं; अतः, 'श्री' शब्द गुरु के साथ भी दिया है।

(२) पहले 'रज' से भव रोगों का शमन करके मन रूपी दर्पण भी स्वच्छ किया, तब नख-प्रकाश के स्मरण के अधिकारी हुए। अब 'दलन मोहतम''' तक में मोह का सूक्ष्मांश भी निवृत्त करेंगे। तब हृदय के 'विमल' नेत्र का उघरना कहेंगे।

(३) श्रीचरण में कई नख हैं, अतः, उपमान में 'मनिगन' कहा। मणि कहने का हेतु यह है कि ज्योति तो दीपों में भी होती है, पर वायु एवं पतंगों से उनके बुझने का भय होता है। मणि का प्रकाश एक रस रहता है, यथा—'परम प्रकास रूप दिन-राती।' (उ० दो० ११८)

(४) 'हिय होती'—सिद्धांजन आदि लगाने से बाहर की दिव्य दृष्टि होती है। यंत्र, मंत्र आदि से देवता द्वारा एवं ज्योतिष से बाहर की दृष्टि अधिक होती है, परन्तु हृदय के ज्ञान विराग रूप नेत्र ऐसी दिव्य मणियों के प्रकाश से ही खुलते हैं।

(५) शंका—'रज' का प्रसंग फिर आगे कहेंगे, उसे अधूरा छोड़कर बीच में नखों का प्रसंग क्यों कहने लग गये ?

समाधान—आगे दोनों का मेल दिखाना है, अतः, प्रथम चार अर्द्धालियों में 'रज' का प्रसंग कहकर यहाँ से चार ही में नख प्रकाश का भी गुण दिखाते हैं, नख-प्रकाश से जब हृदय के निर्मल नेत्र उघरेंगे, तब अंजन की आवश्यकता होगी। फिर अंजन रूप में 'रज' का प्रसंग चलेगा।

दलन मोहतम सोसुप्रकासू। बड़े भाग उर आवहि जासू ॥६॥

शब्दार्थ—सोसुप्रकास=सो-सुप्रकासू=वह सुन्दर प्रकाश अथवा (सोसु=सहस्रांशु=हजार किरणोंवाले, सूर्य) सूर्य का प्रकाश।

अर्थ—(क) (नख का) वह सुन्दर प्रकाश मोह रूपी अंधकार का नाश करनेवाला है। जिसके हृदय में (नख प्रकाश का ध्यान) आवे, उसके बड़े भाग्य हैं।

(ख) वह सुन्दर प्रकाश मोह रूपी अंधकार नाश करने को सूर्य के प्रकाश के सामान है।......।

विशेष—

(१) अर्थ (क) के अनुसार—'बड़े भाग'—जैसे अनमोल मणियाँ भाग्यवान् ही को प्राप्त होती हैं, वैसे गुरु पद नखों की ध्यान रूपी परम भक्ति बड़े भाग्य के उदय पर ही होती है, यथा—"जे गुरुपद अंबुज अनुरागी। ते लोकहु वेदहु बड भागी॥" (अ० दो० २५८) अर्थात् यह भक्ति अति दुर्लभ है।

(२) अर्थ (ख) के अनुसार मणियों में सामान्य प्रकाश विचार कर उनके साथ सूर्य के प्रकाश से तुलना की।

(३) शंका—'महामोह तमपुंज' का तो नाश कर चुके, अब यहाँ 'दलन मोहतम' की क्या आवश्यकता पड़ी ?

समाधान—महामोह और मोह दोनों पंचपर्वा (तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अंधतामिस्र—ये पाँच पोरों वाली) अविद्या में पृथक् पृथक् माने गये हैं, अतः, यहाँ दोनों का नाश भी भिन्न भिन्न उपाय से कहा। यहाँ भी ग्रंथकार की विलक्षण सँभाल है कि महामोह का नाश मुख से वचन द्वारा कहा और मोह महामोह से प्रजा की भाँति छोटा है, उसके लिये पैरों के नखों को ही योग्य समझा, अतः मुख से मुखिया को और चरण से प्रजा को जीता।

उघरहिं बिमल बिलोचन हीं के। मिटहि दोष-दुख भव-रजनी के ॥७॥

शब्दार्थ—बिलोचन ही के = हृदय के दोनों नेत्र—'ज्ञान बिराग नयन उरगारी।' (उ० दो० ११६)

अर्थ—(उक्त नखों के प्रकाश से) हृदय के निर्मल नेत्र खुल जाते हैं तथा संसार रूपी रात्रि के दोष और दुःख मिट जाते हैं।

विशेष—

(१) शंका—'उघरहिं' से प्रथम बंद रहना सूचित होता है। मन-मुकुर की शुद्धता एवं 'दिव्य दृष्टि हिय होती' से तो हृदय के नेत्र शुद्ध थे ही, फिर बंद क्यों थे ?

समाधान—जब तक सूर्य का प्रकाश न था, तब तक 'भवरजनी' थी। अँधेरे में नेत्र खुलकर ही क्या करते ? उजाला होते ही लोग जागते हैं और नेत्र भी खोलते हैं। जब रात्रि का दोष रूप अंधकार दूर

हुआ और दुःख रूप चोर, साँप, बिच्छू आदि का भय मिटा तब नेत्रों का भी खुलना योग्य ही है। अतः, नख-सूर्य का प्रकाश कहकर नेत्रों का खुलना कहा।

(२) 'दोष दुख'—'भव-रजनी' का दोष अविद्या रूपी तम (अंधकार) है, चोर रूप कामादि, राग आदि सर्प, मत्सर आदि बिच्छू अविद्या रात्रि के दुःख हैं। मोह रूपी तम से न सूझना भी दुःख ही है। यथा—'मत्सर मान मोह मद चोरा।' (उ० दो० ३०), 'रागादि सर्प गन पन्नगारि।' (वि० ६४), 'मोह आदि तम मिटइ·· ' (उ० दो० ११७)।

(३) बाहरी नेत्रों के देवता सूर्य हैं, सूर्य से उनमें प्रकाश होता है, वैसे ज्ञान विराग रूपी नेत्रों के देवता नख-रूपी सूर्य हैं, अत, नखों के प्रकाश से नेत्रों का 'उघरना' कहा।

(४) मणिगण रूप नखों की ज्योति से दिव्य दृष्टि हुई। जब रात का मिटाना हुआ, तब सूर्य की उपमा दी, वस्तु दीखने लगी। फिर नेत्रों का खुलना योग्य ही है।

सूझहिं राम-चरित-मनि-मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥८॥

अर्थ—(क) श्रीरामचरित रूपी मणि और माणिक्य, जो जहाँ और जिस खान में गुप्त और प्रकट हैं, देख पड़ने लगते हैं।

(ख) श्रीरामचरित रूपी मणि और माणिक्य, जो जहाँ जिस खान में गुप्त हैं, वे प्रत्यक्ष देख पड़ने लगते हैं।

विशेष—

(१) अर्थ – (क)—'मनि-मानिक'—मणि सर्प में गुप्त रहती है, दैव-योग से मिलती है, पारखी (मर्मी) की समझ से बाहर है, वैसे ही गुप्त चरित भी श्रीरामकृपा होने पर अनुभवी संतों से मिलते हैं, *यथा—'बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता।' (सु० दो० १) गुप्त चरित—"मास दिवस कर दिवस भा, मरम न जानइ कोइ।"* (बा० दो० १९५), "प्रभु चरित काहु न लखे, नभ सुर सिद्ध मुनि देखहिं खरे।" (ल० दो० १०७); इत्यादि। माणिक्य पर्वतों और खानों में होता है, उसके मर्मी उसे जानते हैं, वैसे श्रीरामचरित वेद-पुराण रूपी पर्वतों में गुप्त है, सज्जन (विद्वान्) मर्मी हैं, यथा—"पावन पर्वत वेद पुराना। राम-कथा रुचिराकर नाना॥ मरमी सज्जन सुमति कुदारी। ज्ञान विराग नयन उरगारी······" (उ० दो० ११६)। यह माणिक्य रूप बाह्य चरित मर्मी से मिलता है, अत, प्रकट कहा। प्रमाण—"मनि मानिक मुकुता छवि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥" (बा० दो० १०), इसमें यथासंख्यालंकार से 'अहि' में मणि और 'गिरि' में माणिक्य कहा है।

(२) अर्थ (ख)—'जहँ जो जेहि खानिक'—इसमें कोई-कोई अनेक रसों के चरित्रों का भाव लेते हैं—*शृंगार-श्याम, करुणा-पीत, वीर-लाल, वात्सल्य हरा, शांत श्वेत इत्यादि। लंका में वीर, लक्ष्मण के* शक्ति-प्रसंग में करुणा, पुष्पवाटी में शृंगार इत्यादि। सूझना = रसानुसार चरित चित्रण होना है।

(३) आवृत्तियाँ—१—रज मुक्त-मुमुक्षु विषयी से सेव्य, २—रज मन कर्म वचन से सेव्य, ३—रज मारणादि चार प्रयोगों का साधक, ४—लिंग-त्रय में रज की महिमा, ५—सात गुण रज के और सात ही नख-प्रकाश के कहे गये हैं, ६—रज का छः प्रकार से सेवन, ७—रज से भवरोग का, नख-प्रकाश से भव के दोष दुःख का और श्रीरामचरित में भय का (स्वयं) भी मिटना तरस्य हो में कहते हैं। इन भेदों से सात आवृत्तियाँ इस प्रसंग में हैं।

सम्बन्ध—चार-चार अर्द्धालियों में रज और नख-प्रकाश कहकर अब कहते हैं कि साधक आदि सिद्धांजन से भूतल आदि के द्रव्य देखते हैं, वैसे मैं रज-रूप अंजन से श्रीरामचरित का अनुभव करता हूँ।

दोहा

जथा सुअंजन अंजि दृग, साधक सिद्ध सुजान ।
कौतुक देखहिं सैल बन, भूतल भूरि निधान ॥ १॥

शब्दार्थ—सु अंजन = सिद्धांजन—जिसको नेत्रों में लगाने से भूमि में गड़ी वस्तुएँ, पहाड़ों में खानें और जल एवं वन के गुप्त पदार्थ देख पड़ते हैं। भूरि निधान = अनेक लयस्थान।

अर्थ—जैसे नेत्रों में सिद्धांजन लगाकर साधक, सिद्ध और सुजान लोग पहाड़ों, वनों और पृथिवी पर अनेक लयस्थानों के कौतुक देखते हैं।

विशेष

(१) जीव तीन प्रकार के हैं—विमुक्त, विरत और विषयी (प्रमाण उ० दो० १४ में देखिये), इसीसे यहाँ भी तीन 'साधक-सिद्ध सुजान' कहे। इससे यह दिखलाया कि जीव की योग्यता से प्रयोजन नहीं, अंजन के प्रभाव से ही देख पड़ता है। ऐसे ही 'रज' के सब अधिकारी हैं, द्रव्य देखने में साधक प्रधान होते हैं; अतः इसे प्रथम रक्खा।

(२) निधान का अर्थ कोश में लयस्थान (जहाँ कोई वस्तु अदृश्य रूप में गुप्त हो) लिखा है और कौतुक का अर्थ आश्चर्य भी होता है। अतः, शैल आदि के अनेक गुप्त स्थलों के आश्चर्यजनक पदार्थ भी दीखते हैं, जैसे—पहाड़ों में माणिक्य। वन का अर्थ जल भी है; अतः उसमें मुक्ता और 'भूतल' (भू + तल = बिल) में सर्पों की मणि आदि देख पड़ती हैं। जगत् में तीन स्थान हैं—नभ (आकाश), स्थल और जल। पहाड़ों से नभ, 'भूतल' से स्थल और वन से जल कहा। वन का अर्थ जंगल लेने से वहाँ दिव्य ओषधियों को देखते हैं।

(३) प्रश्न—'जथा···' में उपमान कहा गया है, उपमेय में रज-रूपी अंजन से 'रामचरित' ही आगे कहा है, उसमें शैल आदि की गुप्त बातें क्या हैं?

उत्तर—(क) वेद-पुराणादि पर्वतों में राम-कथा रूपी खानें हैं, जिनमें माणिक्य रूप चरित हैं, यथा—"पावन पर्वत वेद-पुराना। राम-कथा रुचिराकर नाना" (उ० दो० ११९), चराचर संसार ही वन है, उसमें अंतर्यामी श्रीरामजी के बहुत चरित्र हुआ करते हैं, जो भवरोग के दिव्य ओषधि रूप हैं। यथा—'संसारकान्तार अतिघोर गंभीरघन ' (वि० ५९), सिद्ध भक्तों का हृदय 'भूतल' है, उनके अनुभवात्मक श्रीरामचरित मणि हैं। यथा—"शंकर-हृदय भक्ति भूतल पर ' ' (गी० उ० १५)।

(ख) श्रीचित्रकूट-सुबेल आदि पर्वत, दण्डकादि वन और श्रीअवध-मिथिला आदि 'भूतल' हैं; इन स्थलों में होनेवाले गुप्त प्रकट चरित ही मणि, माणिक्य और मुक्ता हैं।

सम्बन्ध—दोहे में उपमान कहा, अब उपमेय-रूप रज-अंजन का वर्णन करते हैं—

गुरु-पद-रज मृदु मंजुल अंजन। नयन अमिअ दृग-दोष-बिभंजन ॥१॥

अर्थ—श्रीगुरुजी के चरणों का रज कोमल स्वच्छ अंजन है, (यह) नयनामृत नेत्रों के दोषों को दूर करनेवाला है।

विशेष—

(१) यह अंजन नेत्रों के लिये अमृत-रूप है, इसीसे इसका नाम 'नयनामृत' है। श्रीरामचरित के सम्बन्ध में 'ज्ञान-विराग' नेत्र हैं (उ० दो० ११९); इन्हीं से चरित दीखना लिखा है—'ज्ञान नयन निरखत मनमाना।' (बा० दो० ३९); इन नेत्रों के दोष अहं-मम हैं, यथा—"कविहिं अगम जिमि ब्रह्म-सुख, अह मम मलिन जनेषु॥" (अ० दो० २२५); अर्थात् चरित गुरु-द्वारा प्राप्त होने से 'मैंने शास्त्रों द्वारा ज्ञान से प्रकट चरित जाना एवं वैराग्य से चित्त एकाग्र करके अनुभव से गुप्त चरित जाना' आदि दृग-दोष नहीं रहते। अतः, 'दृग-दोष-विभंजन' यह इसका गुण है। अंजन लगाने में मृदु और देखने में सुन्दर है, अर्थात् तत्त्वज्ञ गुरु दयालु होते हैं, अतः सेवन में मृदुता है, तत्त्वार्थ बतला देते हैं, शास्त्र-मंथन-रूप कठिनाई नहीं पड़ती। गुरु-मुख से चरित प्राप्त करने में शोभा है, यही सौंदर्य है।

(२) प्रथम रज और नख-प्रकाश को समान कहा। अब यहाँ रज-द्वारा ही चरित-वर्णन करते हैं, इससे यह दिखलाया कि मैं रज का ही अधिकारी हूँ।

तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनउँ रामचरित भवमोचन ॥२॥

अर्थ—उस अंजन से ज्ञानरूपी नेत्र स्वच्छ करके भव (संसार) को छुड़ानेवाले श्रीरामचरित का वर्णन करता हूँ।

विशेष—

'तेहि करि···' नख-प्रकाश से भी विवेक-नेत्र खुलता (निर्मल होता) है, यथा—'उघरहिं बिमल···' और उससे भी श्रीरामचरित सूझता है—'सूझहिं रामचरित···'; पर मैंने रज अंजन से ही दृग दोष रूप अज्ञान का निवारण कर ज्ञान-नेत्र से वर्णन करता हूँ अर्थात् नख-प्रकाश और रज-अंजन का प्रभाव बराबर है—

मिलान

नख प्रकाश	रज
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के।	(१) तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन।
सूझहिं रामचरित मनि-मानिक॥	(२) बरनउँ रामचरित भवमोचन॥
मिटहिं दोष दुख भव-रजनी के।	(३) समन सकल भव-रुज-परिवारू।

सिद्धांजन से बाहरी नेत्र और रज-रूप अंजन से हृदय के नेत्र निर्मल होते हैं; अतः, उपमेय में बहुत विशेषता है।

श्रीगुरु-देव-वन्दना-प्रसंग समाप्त

बंदउँ प्रथम महीसुर - चरना। मोह-जनित संसय सब हरना ॥३॥

अर्थ—मैं प्रथम ब्राह्मणों के चरणों की वन्दना करता हूँ, जो मोह से उत्पन्न सब सन्देहों के हरनेवाले हैं।

विशेष—

(१) चार सोरठों में स्वर्ग के देवों की वन्दना का एक प्रकरण हुआ। फिर 'बरनउँ राम चरित भव-मोचन' तक 'नर रूप हरि' कहकर ईश्वर-कोटि ही में गुरु वंदना-प्रकरण हुआ। अब तीसरा प्रकरण

प्रारंभ करने के अवसर पर प्रथम-प्रथम पृथ्वी के देवता-रूप ब्राह्मणों की वंदना करते हैं, क्योंकि पृथ्वी तल में वे ही श्रेष्ठ हैं। 'महीसुर' शब्द ही से प्रथम शब्द का भाव एवं ब्राह्मणों की वन्दोग्र-योग्यता दिखाई कि चारों वर्णों में वे प्रथम हैं। अतः, प्रथम शब्द साभिप्राय है।

(२) 'मोह-जनित······'—मोह देहाभिमान को कहते हैं, इससे देह के हितैषियों में राग और विपक्षियों में द्वेष होता है, यथा—"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।" (गीता ३।३४); राग-द्वेष सर्व-शरीरी ब्रह्म को न जानने से होते हैं, क्योंकि जगत् भगवान् का शरीर है। भगवान् अपने व्यष्टि अर्थात् विभिन्न शरीरों से तत्तत्कर्मानुसार (उन-उन जीवों के कर्मानुसार) उनके साथ यथायोग्य ही व्यवहार कर रहे हैं, जैसे—मनुष्य अपनी देह के फोड़े को एक हाथ से चीरता है और दूसरे से उसमें दवा भी भरता है। ये सब संशय ब्राह्मण लोग कथा-द्वारा दूर करते हैं, क्योंकि कथा ब्राह्मणों से सुनी जाती है।

सम्बन्ध—प्रथम गुरु-वंदना की, तब विप्रों की वंदना की, क्योंकि विप्र श्रीराम-रूप हैं, यथा—'मम मूरति महिदेवमयी है।' (वि० १३६); गुरु को उनसे भी श्रेष्ठ मानना कहा है—"तुम्हते अधिक गुरहिं जिय जानी। सकल भाय सेवहिं सनमानी॥" (अ० दो० १२८); यही चरितार्थ भी है, यथा—"पुनि बसिष्ठ-पद सिर तिन्ह नाये।··· विप्र बृन्द बन्दे दुहुँ भाई।" (बा० दो० ३०७) तथा—"पूजहु गनपति गुरु कुलदेवा। सबबिधि करहु भूमिसुर-सेवा॥" (अ० दो ५), अतः, श्रीगुरु के पीछे ब्राह्मणों की वंदना की।

विप्र पूजन का फल संतों का मिलना है, यथा—"पुन्य एक जगमहँ नहिं दूजा॥ मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा॥" (उ० दो० ४४); ऐसे पुण्य-समूह हों, तब संत मिलते हैं; यथा—"पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता।" (उ० दो० ४४); इस नियम के चरितार्थ-द्वारा संसार को शिक्षा देते हुए, विप्र-वंदना के पीछे अब सुजन-(संत)-वंदना करते हैं।

सुजन-समाज सकल गुनखानी। करउँ प्रनाम सप्रेम सुबानी॥४॥

अर्थ—(मैं) सर्व गुणों की खान सज्जनों (साधुओं) के समाज को, प्रेम-सहित सुन्दर वाणी से प्रणाम करता हूँ।

विशेष—

(१) 'सुजन ··'—जैसे माणिक्य और चाँदी इत्यादि की खानें होती हैं, वैसे संत-समाज भी गुणों की खान है। जो इन संतों का संग करेगा, उसीको शुभ गुण प्राप्त होंगे। यहाँ 'गुनखानी' के साथ 'सुजन', आगे परोपकार साधक गुण के साथ 'साधु' और मुद-मंगलमय के साथ इन्हें ही 'संत' भी कहेंगे। यद्यपि ये तीनों शब्द पर्यायी हैं, तथापि गुणों के अनुसार शब्दों में कुछ भेद भी ध्वनित किये। 'सुबानी'—यथा—"अर्थ बड़ो आखर अलप, मधुर श्रवण सुखदानि। सोंची समय सुहावनी, कहिये ताहि सुबानि॥" (बैजनाथ-टीका)

सम्बन्ध—'गुनखानि सुजन समाज' के गुणों का अब विस्तार करते हैं—

साधु-चरित सुभ चरित-कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू॥५॥

अर्थ—साधु-चरित कपास के चरित्र से शुभ है, जिसका फल नीरस, उज्ज्वल और गुणमय होता है।

विशेष—

यहाँ विशेषणों के सब शब्द श्लिष्ट हैं जो साधु और कपास दोनों विशेष्यों में लागू हैं। कपास-चरित उपमान और साधु-चरित उपमेय है। कपास के फल में तीन भाग होते हैं; अतः, तीन ही

विशेषण भी दिये गये हैं। 'सुभ'—अभिप्राय यह है कि ये संत शुभ ही कर्म करते हैं एवं कपास से अधिक शुभ हैं। फल का अर्थ कपास-पक्ष में वनस्पति-विकार और साधु-पक्ष में कर्म-परिणाम है।

जो सहि दुख पर-छिद्र दुरावा। बंदनीय जेहिं जग जस पावा॥६॥

अर्थ—जो दुःख सहकर पराये दोषों को ढक लेते हैं, जिससे वे जगत् में वंदनीय हैं। उन्हीं को यश प्राप्त है।

विशेष—

कपास और साधु चरित का मिलान (क्रमशः)

कपास	साधु
'निरस' है = इसमें रस नहीं होता।	(१) साधु काम-क्रोधादि विकारात्मक रसों से रहित होते हैं, इसीसे विषय में लिप्त नहीं होते—'विगत काम…' 'विषय अलंपट…' (अ० दो० ३०), 'तो नव रस षट रस रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे।" (वि० १००) या चरित का फल नीरस है = वे अनासक्ति भाव से कर्म करते एवं भोगास्वाद नहीं चाहते हैं।
'बिसद' = उज्ज्वल है।	(२) साधु के कर्म निष्काम और भक्ति रूप में सात्त्विक होते हैं। इसी कारण इनका हृदय निष्काम एवं चरित्र उज्ज्वल होता है। यथा—"सरिता सर निर्मल जल सोहा। संत-हृदय जस गत मद मोहा।…हरिजन इव परिहरि सब आसा॥" (कि० दो० १५)।
'गुनमय' = सूत्रमय है।	(३) सन्त भी गुणमय हैं—"सुनु मुनि संतन के गुन कहऊँ।" से "सुनु मुनि साधुन्ह के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते॥" (आ० दो० ४५) तक।
फल = तीन फाँकें, छिलके, बिनौले और रुई।	(४) साधु के तीन गुण फाँकें, तीन अवस्थाएँ छिलके और तीनों गुणों के अभिमान बिनौले हैं। इन तीनों पदार्थों को प्रकृति का कर्तृत्व मानते हुए अपने को उनसे पृथक् मानकर रुई की तरह तुरीयावस्था ही को सार समझ ग्रहण किये रहते हैं, यही परिणाम (फल) अवस्था है।
'सहि दुख' = प्रथम ओटी जाती है, फिर धुनकी से रेशा अलग कर काती जाती है, फिर वह सूत के रूप में बाँटी और पीटी जाती और वस्त्र के रूप में बुनी जाती है और अंत में सुई से छेदी जाती है।	(५) साधु का जन्म गृहस्थी में होता है। वे उसकी ममता के त्याग का कष्ट तथा गुरु के यहाँ की शिक्षा एवं परीक्षा का कष्ट पाते हैं; ज्ञान-विराग एवं भक्ति के साधनों का कष्ट और तीर्थाटन में शीत-उष्णादि कष्ट सहते हैं, पराये हित के लिये भी कष्ट सहते हैं। खलों के अपकार भी सहते हैं।
परछिद्र दुरावा = वस्त्र-रूप होकर दूसरे की (गुह्य-उपस्थ आदि) छिद्रात्मक इन्द्रियों के साथ शरीर को ढकती है।	(६) साधु दूसरों के अवगुणरूप छिद्रों को छिपाते हैं, यथा—"गुन प्रगटहिं अवगुनन्हि दुरावा।" (कि० दो० ६); अर्थात् उपदेश से गुण प्रगट करते हैं और पहले के रहे हुए अवगुण छुड़ा देते हैं। वे अवगुण फिर देखने में न आवें; यही ढकना है।

प्रश्न—उक्त रीति से संतों के चरित दूसरों के लिये होते हैं, तब उन संतों का उद्धार कैसे होता है ?

उत्तर—साधुओं के साधन ऊपर कहे गये हैं, उनसे सम्पन्न होकर विश्वरूप श्रीरामजी की ही उपासना परोपकार के रूप में भी करते हैं। यथा—"सदा सर्वगत सर्वहित, जानि करेहु अति प्रेम।" (उ० दो० १६); तथा—"सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत॥" (कि० दो० ३); इसीसे वे परमात्मा को प्राप्त होते हैं, यथा—"ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।" (गीता १२।४)।

मुद-मंगलमय संत-समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू॥७॥

शब्दार्थ—मुद-मंगलमय = भीतर-बाहर सुखमय। जंगम = चलनेवाला।
अर्थ—संत-समाज मुद-मंगलमय है जो जगत् में चलता-फिरता प्रयाग-राज है।

विशेष—

संत-समाज में भक्ति-सम्बन्धी परमानन्द और ज्ञानात्मक ब्रह्मानन्द-रूप में 'मुद' और भगवान् के सम्बन्ध के उत्सवादि में बाह्य सुख रूप में 'मंगल' रहता है। 'जंगम' शब्द से स्थावर प्रयाग से इसमें विशेषता दिखाई है। यहाँ से प्रयाग का सांग रूपक कहते हैं—

राम-भगति जहँ सुरसरि-धारा। सरसइ ब्रह्म-बिचार प्रचारा॥८॥
बिधि-निषेधमय कलिमलहरनी। करम-कथा रबि-नंदिनि बरनी॥९॥
हरिहर-कथा बिराजति बेनी। सुनत सकल मुद मंगल देनी॥१०॥
बट बिस्वास अचल निज धर्मा। तीरथ साज समाज सुकर्मा॥११॥

शब्दार्थ—ब्रह्म-बिचार-प्रचार = ब्रह्मज्ञान कथन करना। बिधि = ग्राह्य कर्म। निषेध = त्याज्य कर्म। हरिहर-कथा = भगवत्-भागवत-कथा। हरि = भगवान्। हर = शिवजी। वे भागवत हैं, यथा—'वैष्णवानां यथा शम्भुः' (श्रीमद्भागवत)। निज धर्म = शास्त्र-दृष्टि से गुरुद्वारा उपदेश किया हुआ अपना धर्म। साज = सामग्री। समाज=समूह।

अर्थ—जहाँ (संत-समाज में) श्रीरामभक्ति गंगाजी की धारा है, ब्रह्म-विचार का कथन सरस्वतीजी हैं॥८॥ विधि-निषेधात्मक कर्मों की कथा, जो कलि के पापों को हरनेवाली है, यमुनाजी हैं॥९॥ भगवत् और भागवत- कथा त्रिवेणी रूप से शोभित है, (वह) सुनने से सब आनन्द मंगल की देनेवाली है॥१०॥ अपने धर्म में अटल विश्वास वट वृक्ष (अक्षयवट) है, शुभ कर्मों के समूह ही तीर्थ-राज के साज हैं॥११॥

विशेष—

(१) प्रयाग में श्रीगंगाजी श्रेष्ठ हैं और संतसमाज में श्रीराम-भक्ति श्रेष्ठ है। इसलिये प्रथम इन्हीं का कथन हुआ। दोनों की समता—(क) दोनों सर्वतीर्थमयी हैं, यथा—'सर्वतीर्थमयी गंगा' तथा—"ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन।''''''सब पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल''' " (उ० दो० ४८)। (ख) दोनों की उत्पत्ति हरिचरणों से है। भक्ति भी गंगा की तरह चरणों के ध्यान से उपजती है। (ग) दोनों छोटे-बड़े को पावन कर अपने समान बनाती हैं, यथा—"कर्मनास जल सुरसरि परई। तेहि को कहहु

सीस नहिं धरई ॥" (अ० दो० १६१); पाई न गति केहि पतितपावन राम भजि ······" (उ० दो० १३०); "निज संगी निज सम करत,'······मलयाचल हैं संत जन······" (वैराग्य सं० १८)। (घ) दोनों का शिवजी के यहाँ आदर है, यथा-'देवापगा मस्तके' (अ०मं०); 'संकर हृदय भगति भूतल ···' (गी०४०१५)।

(२) यमुना और कर्मकथा की समता—(क) यमुनाजी की सूर्य से उत्पत्ति है और कर्म का सूर्योदय से (संध्यादि रूप में) प्रारम्भ। (ख) यमुना श्याम वर्ण हैं और कर्म कुछ अहंकार के सम्पर्क से श्यामल। (ग) 'जमुना कलिमलहरनि सुहाई।' (लं० दो० ११६); 'कलिमलहरनी कर्मकथा' (उपर्युक्त)।

(३) सरस्वती और ब्रह्मविचार की समता—(क) सरस्वती ब्रह्मा की पुत्री हैं और ब्रह्मविद्या भी ब्रह्माजी ने प्रथम अथर्वा ऋषि से कही। (ख) सरस्वती गंगा-यमुना के मध्य में गुप्त रहती है और ब्रह्म विचार भी कर्म एवं भक्ति में गुप्त रीति से रहता है।

(४) त्रिवेणी और हरिहर-कथा की समता—कथा में कर्म-ज्ञान-भक्ति तीनों साथ ही होते हैं।

(५) अक्षयवट और अपने धर्म में अटल विश्वास—(क) वट का प्रलय में भी नाश नहीं होता, वैसे संत का विश्वास आमरण बना रहता है-" कोटि विघ्न ते संत कर, मन जिमि नीति न त्याग॥" (लं० दो० ३१)। (ख) दोनों शिव-रूप हैं—"प्राकृतहु बट बूट बसत पुरारि हैं।" (क० उ० १३४) तथा—'श्रद्धाविश्वासरूपिणौ' (बा० मं०)। (ग) प्रलय में अक्षयवट पर भगवान् रहते हैं, वैसे ही विश्वास में भगवान् रहते हैं।—"बिनु बिस्वास भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिं न राम॥" (उ० दो० ९०) कहा है।

(६) तीरथ-राज—"त्रिवेणीं माधवं सोमं भरद्वाजं च वासुकीम्। वंदेऽक्षयवटं शेषं प्रयागं तीर्थनायकम्॥" कहा है, वैसे संतों में पाप-नाशक सुकर्म-समूह के आचरण होते हैं।

(७) 'राम-भगति······'—'जहँ' का भाव यह कि उत्तमा भक्ति यहीं (संतसमाज में) है। 'धारा' उत्तम भक्ति भी तैल धारा के समान कहाती है। 'ब्रह्म-विचार'—संत-समाज में ही गुप्त रूप से सरस्वती की तरह रहता है, क्योंकि और लोग उसके अनधिकारी होते हैं। कर्म भी अधिकारी से ग्राह्य है। भक्ति का अधिकारी सर्व जगत् है। गंगाजी में मिला होने से आगे श्रीसरस्वती का जल भी सबको सुलभ हो जाता है, वैसे ही भक्ति के सहारे ब्रह्मविद्या भी सबको सुलभ हो जाती है, यथा—'जुग बिच भगति देवधुनि-धारा। सोहति सहित सुबिरति बिचारा॥" (बा० दो० ३१)

(८) हरिहर-कथा को वेणी कहा, क्योंकि कथा भी धारा-प्रवाह के तुल्य कही जाती है या हरिहर-कथा में उपर्युक्त तीनों धाराएँ शोभित होती हैं, क्योंकि इसमें उसी कथा का विस्तार है।

(९) पहले 'कर्म-कथा' को यमुना कहा है, उसका तात्पर्य कर्मशास्त्र से है, जिसमें उसके विधि-निषेध कहे गये हैं और 'समाज सुकर्मा' का सुकर्म-समूह के आचरण से तात्पर्य है; अतः, पुनरुक्ति नहीं है।

सम्बन्ध—आगे संत-समाज में प्रयाग से अधिकता दिखाते हैं—

सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा॥१२॥
अकथ अलौकिक तीरथराऊ। देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ॥१३॥

शब्दार्थ—अलौकिक=लोक से परे। कलेस=क्लेश, दुःख। दुःख योग-सूत्र में ५ प्रकार के माने गये हैं—'अविद्याऽस्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः।' (अस्मिता=अहंभाव, अहंकार। अभिनिवेश=मृत्यु का भय।)

अर्थ—संत-समाज रूप प्रयाग सभी को, सब दिन और सभी देशों में सुलभ है, आदर पूर्वक सेवन करने से यह क्लेशों का नाश करनेवाला है ॥१२॥ यह तीर्थ-राज अलौकिक है और (इसकी महिमा) अकथनीय है। इसका प्रभाव (ऐसा) प्रसिद्ध है कि यह तुरत फल देता है ॥१३॥

विशेष—

(१) उपमेय में उपमान से अधिक अभेदरूपक—(व्यतिरेक अलंकार)-द्वारा विशेषता दिखाते हैं—

प्रयाग	संत-समाज
स्थावर—एक ही जगह है।	(१) जंगम है, क्योंकि संत सर्वत्र विचरण करते हैं।
धनी और नीरोग को ही प्राप्त होता है, सबको नहीं।	(२) 'सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा।'—ऊँच नीच, धनी-निर्धन—आदि सबको सुलभ है।
इसका विशेष माहात्म्य माघ महीने एवं मकर के सूर्य-सम्बन्ध में है।	(२) इसका माहात्म्य सब दिन एकरस रहता है सत्संग सब देशों में प्राप्त होता है, यथा—"भरत-दरस देखत खुलेउ, मग-लोगन्ह कर भाग। जनु सिंहलवासिन भयो, विधि-बस सुलभ प्रयाग ॥" (अ० दो० २२३)
इसकी महिमा कथ्य है, यथा—'बंदी बेद-पुरानगन, कहहिं बिमल गुनग्राम।' (अ० दो० १०४)।	(३) इसका माहात्म्य अकथ्य है, यथा—"विधिहरिहर कवि-कोविद-बानी। कहत साधु-महिमा सकुचानी॥" (बा० दो० २)।
यह लौकिक है=इसके अंग देख पड़ते हैं।	(४) इनके निष्ठा-विश्वास-भाव आदि अचिन्त्य हैं।
पंचप्रयाग तीर्थ हृषीकेश में दूसरा भी है, जो इससे अधिक भी कहाता है।	(५) इसके तुल्य और तीर्थ देवता आदि लोक में नहीं हैं, क्योंकि इसके सेवन से संत-स्वभाव तुरत प्राप्त होता है।
इससे चारों फल प्राप्त होते हैं; यथा—'चारि पदारथ भरा भँडारू।' (अ० दो० १०४,;पर मोक्ष मरने पर ही मिलता है; अतः, प्रभाव प्रकट नहीं है।	(६) इससे चारों फल इसी शरीर में शीघ्र ही प्राप्त हो जाते हैं। सत्संग से जीवन मुक्त हो जाता है। अतः, इसी शरीर में मोक्ष प्राप्त होता है। अतः, प्रभाव प्रकट है।

(२) 'जंगम', 'सबहिं', 'सब दिन', 'सब देसा' 'अकथ', 'अलौकिक' और 'सद्य' शब्द संत-समाज की विशेषता के सूचक हैं।

दोहा

सुनि समुझहिं जन मुदित मन, मज्जहिं अति अनुराग।
लहहिं चारि फल अछत तनु, साधु - समाज प्रयाग ॥२॥

अर्थ—जो लोग एवं भक्त-जन साधु-समाज प्रयाग (की महिमा) को आनंदपूर्वक सुनकर समझते हैं और अनुराग के साथ (उसमें) स्नान करते हैं, वे इसी शरीर में चारों फल पा जाते हैं।

विशेष—

(१) संतों में सप्रेम सत्संग ही स्नान है, यथा—"कहत सुनत हरपहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं॥" (बा० दो० ४०); यहाँ सुनना किनारे पहुँचना, समझना धारा में हलना और अनुराग होना गोते लगाना है।

(२) 'सुनि' से श्रवण, 'समुझहिं' से मनन, 'मुदितमन' से निदिध्यासन (पुनःपुनः स्मरण) कहा गया है। फिर समझते हुए अति अनुराग-युक्त होना जीवन्मुक्तावस्था है।

(३) उपमान रूप प्रयाग के माहात्म्य को सुन तथा समझकर प्रसन्न मन से अनुराग-पूर्वक स्नान करे तो चारों फल मिलते हैं, पर मोक्ष तो मरने ही पर मिलता है।

सम्बन्ध—'अछत तनु' में भी कितने काल में प्राप्त होगा; अब यही कहते हैं—

मज्जन-फल पेखिय ततकाला। काक होहिं पिक बकउ मराला॥१॥
सुनि आचरज करइ जनि कोई। सतसंगति महिमा नहिं गोई॥२॥
बालमीकि नारद घटजोनी। निज निज मुखनि कही निज होनी॥३॥

शब्दार्थ—पेखिय (प्रेक्षण)=देखा जाता है। बकउ=बगला भी। घटजोनी (घटयोनि)=अगस्त्यजी। होनी=क्या-से-क्या हो गये, वृत्तान्त।

अर्थ—संत-समाज रूपी प्रयाग में स्नान का फल तत्काल ही देखा जाता है कि कौए कोकिल और बगले भी हंस हो जाते हैं॥१॥ यह सुनकर कोई आश्चर्य न करे, क्योंकि सत्संगति की महिमा छिपी हुई नहीं है॥२॥ वाल्मीकिजी, नारदजी और अगस्त्यजी ने अपने-अपने मुख से अपना-अपना वृत्तान्त कहा है॥३॥

विशेष—

(१) 'ततकाला' शब्द देहलीदीपक है, जो 'मज्जन-फल' के साथ भी है और 'काक-पिक' आदि के साथ भी। काक और बक कुत्सित पक्षी हैं और कोयल तथा हंस उत्तम। यथा—"जहँ तहँ काक उलूक बक, मानस सकृत मराल।" (अ० दो० २८१); भीतर-बाहर की शुद्धि दिखाने के लिये दो दृष्टान्त दिये गये हैं।

'काक होहिं पिक'—काक कटुभाषी और (निंब आदि) तिक्त फल खानेवाला होता है। कोयल मधुर भाषी और सरस (आम्रादि) फल खानेवाली होती है, बाहरी रूप दोनों का मिलता हुआ होता है। कटुवादी और विषयी ["विषय निंब कटु लगत न ताही।" (वि० १२०)] लोग कौए के समान हैं। वे सत्संग में पड़ने से मधुर भाषी और श्रीराम-नाम का कीर्त्तन करनेवाले हो जाते हैं, यथा—"आखर मधुर मनोहर दोऊ।" (बा० दो० १९) और भगवत्प्रसाद सात्त्विक भोजन करने लगते हैं। यह उनकी बाह्य शुद्धि हुई। यथा—"कूजन्तं रामरामेति मधुरं मधुराक्षरम्। आरुह्य कविता-शाखां वंदे वाल्मीकिकोकिलम्॥" यह प्रसिद्ध है।

'बकउ मराला'—बक के समान जो दुष्ट दंभी और कपटी होते हैं, वे सत्संग से विवेकी और सुहृद् हो जाते हैं। यथा—"संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि-बिकार॥" (बा० दो० ६) यह भीतरी शुद्धि हुई अर्थात् सत्संग से प्रथम बाह्य आचरण सुधरता है, तब भीतरी शुद्धि होती है, यह क्रम का भाव हुआ।

(२) ऊपर चारों फलों की प्राप्ति इसी शरीर से बतलाई थी। अब यह दिखाते हैं कि उनमें अनेक गुण भी आ जाते हैं और रूप वही बना रहता है। बगले और हंस मे, बाहरी आकृति मे, कौए और कोयल का-सा सादृश्य नहीं होता, परखों तथा चोंचों के रंग और चाल में भेद होता है, पर उनके अंतरंग से ही उपमा का प्रयोजन है।

काक-बक का स्वभाव बदल जाना कहा गया, यह आश्चर्य है, यथा—"एष मे सहजो दोषः स्वभावोदुरतिक्रमः।" (वाल्मी० यु०) तथा—"सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।" (गीता ३।३३) अतः, संदेह-निवारण के लिये कहते हैं—

(३) 'सुनि आचरज''''' महिमा बढ़ाकर कही गई जान पड़ती है। अतः, प्रसिद्ध प्रमाण की आवश्यकता हुई। इसीसे कहा कि सत्संगति की महिमा छिपी नहीं है। यदि कहो कि काक से पिक आदि कौन-कौन, कहाँ-कहाँ और कैसे-कैसे हुए? तो इसको सत्य सिद्ध करने के लिये प्रसिद्ध महात्माओं की स्वयं कही हुई घटनाएँ—आत्मकथाएँ—कहते हैं।

(४) 'बालमीकि · ·· 'इन तीनों महात्माओं की उक्तियों को संसार प्रमाण-रूप में मानता है। वाल्मीकिजी के आश्रम पर जब श्रीरामजी गये थे, तब उन्होंने अपनी कथा कही थी। सत्संग के अवसर पर श्रीनारदजी ने व्यासजी से और अपने आश्रम मे अगस्त्यजी ने शिवजी से अपना वृत्तान्त कहा था। यथा—"एक बार त्रेता जुग माहीं। संभु गये कुंभज रिषि पाहीं॥" (बा० दो० ४७)

महर्षि वाल्मीकिजी ने अध्यात्म रामायण (अयोध्या कांड, सर्ग ६) में अपना हाल श्रीरामजी से कहा है —"हे रघुनन्दन! मैं पूर्वकाल में, बचपन से, किरातों मे पाला गया। जन्म तो विप्रकुल में था, पर आचार शूद्रों का रहा। शूद्रा स्त्री से मेरे बहुत पुत्र हुए। पीछे मैं चोरों के संग से चोर हुआ और धनुषबाण से जीवों का घात किया करता था। एक समय एक भारी वन मे सात तेजस्वी मनुष्यों को देखकर उनके पीछे दौड़ा। उन मुनियों ने पूछा—'रे द्विजाधम! तू क्यों दौड़ा आ रहा है? मैंने कहा कि मेरे पुत्र स्त्री आदि हैं और वे बहुत भूखे हैं। अतः, आपलोगों के वस्त्रादि लेने के लिये आ रहा हूँ। वे डरे नहीं और प्रसन्न मन से बोले कि तू उन सब से पूछ आ कि वे इस पाप में भी भागी होंगे या नहीं? मैंने घर आकर हरएक से पूछा। उत्तर मिला—'नहीं।' यह सुनकर मेरे मन में वैराग्य हुआ। मैं खेद और ग्लानि के साथ मुनियों के पास गया। उनके दर्शनों से हृदय शुद्ध होने पर मैं उनके चरणों पर दंडाकार गिरा और दीन वचनों से अपने उद्धार की प्रार्थना की। उन्होंने आश्वासन देते हुए उठाकर कहा कि हमलोग तुझे उपदेश करेंगे, जिससे तू मोक्ष पावेगा। मुनियों ने परस्पर विचार कर मुझ अधम शरणागत की रक्षा के लिये 'मरा-मरा' जपने का उपदेश दिया और कहा कि जबतक हमलोग न लौटें, इसी जगह रहकर एकाग्र मन से जप कर। मैंने वैसा ही किया। नाम मे लीन होने से देह की सुधि भूल गई। दीमकों ने देह पर मिट्टी का बेमौर (बाँबी) बना दिया। हजार युग बीतने पर वे मुनि लोग फिर आये और कहा कि बाँबी से निकल। सुनते ही मैं निकला, तब उन्होंने कहा कि तेरा (नया) जन्म बाँबी (वल्मीक) से हुआ, अत तू 'वाल्मीकि' नाम का मुनीश्वर है। हे रघुनन्दन! उसी के प्रभाव से ऐसा हुआ कि मुझे अपने घर बैठे सीता-लक्ष्मण सहित आपके दर्शन हुए।"

श्रीनारदजी ने श्रीमद्भागवत (स्कंध १, अ० ५-६) में श्रीव्यासजी से अपनी कथा कही है कि मैं एक वेदवादी ब्राह्मण की दासी का पुत्र था। एक समय उसके यहाँ कुछ ऋषि लोग चातुर्मास व्रत करने के लिये ठहर गये। मैं उनकी सेवा करता और उनका उच्छिष्ट भोजन मुझे मिलता था। उससे ज्ञान-दृष्टि हुई। भगवत् कथा सुनने एवं सत्संग से भगवद्धर्म में सप्रेम निष्ठा बढ़ी। व्रत की पूर्त्ति पर ऋषियों के जाते समय

उनके साथ जाने के लिये मैं रोने लगा। मेरी दीनता पर उन ऋषियों ने भगवान् के दर्शनों के लिये उपाय बतलाया। उससे ईश्वर में पराभक्ति हुई। मेरी माँ औरों की सेवा कर मुझे पालती थी। मेरी ज्ञानवृत्ति क्रमशः बढ़ती गई। माँ सर्प काटने से मर गई। तब मैं घोर वन में जाकर एक पीपल के नीचे भगवान् का चिन्तन करने लगा और देह की सुधि भूल गया। तब भगवान् के दर्शन हुए। समय पर, काल प्राप्त होने पर, मैं भगवान् का पार्षद हुआ।

श्रीअगस्त्यजी की कथा—वाल्मीकीय उत्तर कांड में श्रीरामजी ने लक्ष्मणजी से कहा है कि राजा निमि के शाप से वशिष्ठजी देह-रहित हुए, तब पिता ब्रह्माजी से जाकर प्रार्थना की कि देह के बिना धर्म-कर्म एवं कोई भी क्रिया नहीं होती; अतः मुझे देह प्राप्त हो और मैं पुत्र आप ही का रहूँ। तब ब्रह्माजी ने आज्ञा दी कि मित्रावरुण के तेज में जाकर प्रवेश करो जिससे अयोनि रहोगे। वशिष्ठजी ने वैसा ही किया।

एक समय श्रीशिवजी अगस्त्यजी के आश्रम पर श्रीरामचरित सुनने गये थे। तब उस प्रसंग में श्रीअगस्त्यजी ने आत्मकथा कही है कि मित्रावरुण ने एक बार यज्ञ किया। उसमें अनेकों ऋषि, सिद्ध और देवगण एकत्र हुए थे। सब ने मिलकर घट स्थापित किया और उसमें अपनी-अपनी शक्ति और तेज रक्खे। उसी घट से मेरी तथा वशिष्ठजी की उत्पत्ति हुई। उसी कुंभ में वशिष्ठजी के साथ मेरा सत्संग हुआ था।

जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना ॥४॥
मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई ॥५॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहु बेद न आन उपाऊ ॥६॥

शब्दार्थ—जड़ = श्वास-रहित, ज्ञानशून्य (स्थावर)। चेतन = श्वास-सहित, ज्ञानयुक्त (जंगम)। जहान = संसार। गति = शुभ गति, मोक्ष। भूति = वैभव, वृद्धि।

अर्थ—जल, स्थल और आकाश में विचरनेवाले अनेकों जीव, जड़ या चेतन जो संसार में हैं ॥४॥ (इनमें) जब कभी और जिस यत्न से, जहाँ भी जिसने बुद्धि, कीर्ति, सद्गति, वैभव एवं भलापन पाये, ये सब सत्संग के ही प्रभाव से जानना चाहिये। लोक में भी तथा वेदों में (इनकी प्राप्ति का) दूसरा उपाय नहीं है।

विशेष—

(१) सृष्टि में प्रथम जल, तब स्थल और फिर नभचरों की प्रवृत्ति हुई तथा प्रथम जड़ पदार्थ हुआ, तब चेतन हुए, उसी क्रम से ये कहे भी गये हैं। ये जड़-चेतन विशेषण तीनों प्रकार के जीवों के साथ हैं। संसार के सभी जीव सत्संग से ही बढ़ते हैं।

(२) 'जलचर'—जड़ मैनाक पर्वत था, पवन और समुद्र के संग से सुमति उपजी, तब श्रीरामजी के दूत को विश्राम दिया। चेतन मकरी थी। श्रीहनुमान्‌जी के संग (स्पर्श) से सुमति उपजी और कालनेमि का छल बतलाया।

'थलचर'—जड़ वनों के वृक्षादि थे जिन्होंने श्रीरामजी और उनके भक्तों के संग से परोपकार कर कीर्ति कमाई। यथा—"सब तरु फरे राम हित लागी। रितु अरु कुरितु काल गति त्यागी ॥" (लं० दो० ४)

चेतन शबरीजी, सुग्रीवादि वानरों, जाम्बवान् आदि भालुओं, कोल-भील आदि जंगली मनुष्यों की सुमति एवं कीर्त्ति प्रसिद्ध है, यथा—"करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगत बैर बिचरहिं सब संगा ॥" (अ०दो०१२७)

'नभचर'—जड़ श्रीभरतजी के संग (दर्शनों) से मेघों को सुमति मिली। उन्होंने उनकी सेवा कर कीर्त्ति और गति पाई। यथा—"किये जाहि छाया जलद, सुखद बहइ बर बात। तस मग भयेउ न राम कहँ, जस भा भरतहि जात।" (अ० दो० २१६)। चेतन संपाति को चन्द्रमा मुनि के संग से सुमति हुई, यथा—"तिन्हहि देखाय दिहेसु तैं सीता।'''राम हृदय धरि करहु उपाई ॥" (कि० दो० १८–२१) इत्यादि। सीताजी को दिखाने का और वानरों से भलाई का श्रेय मिला। बदले में दिव्य पंख, लोचन एवं गति को पाया।

उपर्युक्त सब जीवों ने मति-कीर्त्ति आदि प्राप्त कीं, सत्संग से प्रधानतया विवेक की प्राप्ति कही जाती है, यथा—'बिनु सतसंग बिवेक न होई।' अतः, 'मति' को प्रथम कहा।

(३) इस प्रसंग का अर्थ यथासंख्यालंकार से यों होता है। 'जलचर, थलचर, नभचर, जड़ और चेतन' ये पाँच प्रकार के जीव तथा 'मति, कीरति, गति, भूति और भलाई' पाँच ही प्रकार की प्राप्ति कही गई है। अत, क्रमश लगाना चाहिये—जैसे, जलचर मकरी को सुमति मिली। थलचर।(स्थलचर) गजेंद्र को (पूर्व के राजा इन्द्रदमन के शरीर मे) अगस्त्य का सग हुआ, उससे गजेन्द्र का शरीर पाकर विशाल कीर्त्ति मिली। गजेन्द्र-मोक्ष प्रसिद्ध है। नभचर जटायु को उस समय श्रीदशरथ महाराज का संग हुआ था, जब शनैश्चर-पराजय में इन्होंने राजा की सहायता की थी (पद्मपुराण में कथा है)। इससे सुमति पाकर श्रीसीताजी के लिये प्राण दिये और उत्तम गति पाई। जड़ अहल्या गौतम के संग (शाप) से श्रीरामजी का चरण-रज चाहती थी, जिसे पाकर पति की भूति को प्राप्त हुई। चेतन श्रीसुग्रीव-विभीषण आदि ने श्रीहनुमान्‌जी के संग से भलाई का श्रेय प्राप्त किया।

(४) संतों के संग से मति आदि पाँच फलों की प्राप्ति हुई और इनके विरुद्ध कामी के संग (विषय) से इन्हीं पाँचों का नाश भी कहा है, क्योंकि—'संत संग अपबर्ग कर, कामी भव कर पंथ।' (उ० दो० ३३)। यह नियम है, यथा—"जो आपन चाहइ कल्याना। सुजस सुमति सुभगति सुख नाना ॥ सो परनारि लिलार गोसाईं। तजउ चौथि के चंद कि नाईं ॥" (सुं० दो० ३०)। इसमें—'जो चाहइ' से उपर्युक्त जलचरादि सब जीव आ गये, और उपर्युक्त मति, कीरति, गति, भूति, भलाई—ये पाँचो यहाँ के सुमति, सुयश, शुभगति, सुख, कल्याण में क्रमश अभेद हैं। अत', ये पाँचो सुसंग से प्राप्त और कुसंग से नष्ट होते हैं।

बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम-कृपा बिनु सुलभ न सोई ॥७॥
सतसंगति मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला ॥८॥

अर्थ—बिना सत्संग के विवेक नहीं होता और वह (सत्संग) श्रीरामजी की कृपा के बिना सुलभ नहीं है ॥७॥ सत्संगति आनन्द-मंगल की जड़ है, सब साधन फूल हैं, वही (सत्संगति) सिद्धि (रूप) फल है।

विशेष—

(१) इन दोनों अर्द्धालियों में सत्संग के दो साधन आर दो फल कहे गये हैं। सत्संग का एक फल विवेक और दूसरा 'मुद-मंगल' हुआ। इसी तरह एक साधन तो श्रीरामकृपा है और अन्य फूल रूप में कथित

सब साधन हैं; क्योंकि फूल में ही सिद्धि-(परिपक्व अवस्था)-रूप फल कहा है। अतः, एक प्रकार का सत्संग कृपासाध्य और दूसरे प्रकार का साधनसाध्य है। कृपासाध्य का सदसद्विवेक फल है और साधनसाध्य का मुदमंगल फल कहा है।

कृपासाध्य—"बिनु हरि-कृपा मिलहिं नहिं संता।" (सुं० दो० ६) "जब द्रवैं दीनदयाल राघव साधु-संगति पाइये॥" (वि० १३६)

साधनसाध्य—"पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥ पुन्य एक जग महँ नहि दूजा। मन-क्रम-बचन बिप्रपद-पूजा।" (उ० दो० ४४)

(२) विवेक—"कहहि वेद इतिहास"—से "संत हंस गुन गहहिं पय,"···"अस बिबेक जब देइ बिधाता।" (बा० दो० ५-६) तक में कहा गया है।

(३) इस प्रसंग में 'मुद मंगल' तीन बार तीन भावों के लिये आया है। यथा—'मुद-मंगलमय संत समाजू।'—संत मुद-मंगल के स्वरूप हैं। 'सुनत सकल मुद मंगल देनी।'—कथा सुनाकर मुद मंगल देते हैं। यहाँ 'मुद मंगल मूला' कहा है कि 'मुद मंगल' उत्पन्न करते हैं।

(४) यदि प्रथम 'मति-कीरति' आदि की प्राप्ति कही गई, तो सत्संग सब लोग क्यों नहीं करते? इसका उत्तर यही है कि श्रीरामकृपा के बिना सत्संग की प्राप्ति नहीं होती।

सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस-परस कुधातु सुहाई॥९॥
बिधि-बस सुजन कुसंगति परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं॥१०॥

अर्थ—शठ सत्संग पाकर सुधर जाते हैं, जैसे पारस के स्पर्श से लोहा शोभित होता है॥९॥ दैवयोग से सज्जन (यदि कभी) कुसंग में पड़ जाते हैं, (तो वे) साँप की मणि के समान अपने गुणों को ही व्यक्त करते हैं॥१०॥

विशेष—

(१) लोहा कुधातु है, पारस उसे सुधातु (सोना) बना देता है, तब वह शोभा पाता है। वैसे सत्संग से शठों की महिमा बढ़ती है और वे शोभा पाते हैं।

शंका—संत तो संगी को अपने समान करते हैं, यथा—'निज संगी निज सम करत,'···'मलयाचल हैं संत जन,'··· (वैराग्य सं० १८) और यहाँ तो पारस सोना मात्र ही बनाता है, पारस नहीं। यह क्यों?

समाधान—जो शठ नहीं हैं, उनको अपने समान करते हैं और शठ को नीच से उत्तम बनाते हैं। पुनः 'मज्जन फल पेखिय ततकाला' का ही प्रसंग चल रहा है। अतः, तत्काल ही स्पर्श मात्र से उत्तम बनाते हैं। तत्काल का भाव दिखाने का भी यह दृष्टान्त है।

इस दृष्टान्त से यह भी दिखलाया कि सत्संग निष्कपट भाव से करना चाहिये, क्योंकि पारस और लोहे के बीच में यदि महीन भी कागज या कपड़े का अंतर रहे, तब वह सोना नहीं होता।

(२) 'बिधिबस···'—ऊपर पारस-लोहे के दृष्टान्त से दूसरों को सुधारना कहा। अब मणि के दृष्टान्त से दिखाते हैं कि उनके संग से स्वयं नहीं बिगड़ते। यथा—"अहि अघ अवगुन नहिं मनि गहई। हरइ गरल दुख दारिद दहई॥" (उ० दो० १२१); बिधिबस अर्थात् जैसे मणि की उत्पत्ति सर्प के यहाँ हुई, वैसे

प्रारब्ध की प्रबलता से शठों के यहाँ सज्जनों का अवतार हो, तब ही वे कुसंगति में पड़ते हैं—कुछ अपनी इच्छा से नहीं पड़ते। 'परहीं' अर्थात् जैसे मणि सर्प के पास उसके जन्म भर भी रहे, तो भी उसके विष का दुर्गुण मणि में नहीं आता, प्रत्युत मणि विष ही को मारती है, वैसे संत शठ के यहाँ चाहे जन्म-भर भी पड़े रह जायँ, तो भी वे नहीं बिगड़ते; प्रत्युत शठों को ही सुधारते हैं, जैसे श्रीप्रह्लादजी और श्रीविभीषणजी की कथाएँ प्रसिद्ध हैं।

बिधिहरिहर कबि कोबिद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी ॥११॥
सो मोसन कहि जात न कैसे। साक-बनिक मनि गन गुन जैसे ॥१२॥

शब्दार्थ—साक (शाक)=साग, भाजी वा काँच की पोत या गुरिया। कोबिद=(बृहस्पति के समान) पंडित।

अर्थ—ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कवि और कोविद की वाणी भी साधु-महिमा कहने में सकुच गई ॥११॥ वह (महिमा) मुझसे कैसे नहीं कही जाती, जिस प्रकार साग वा काँच की गुरिया बेचनेवाला मणियों के गुणों को नहीं कह सकता ॥१२॥

विशेष—

(१) ब्रह्मा आदि दिव्य ज्ञान वाले और ईश्वर-कोटि के सन्त मणि के जौहरी कहलाते हैं। वे भी इस रत्न का यथार्थ मोल नहीं कर पाते हैं तो उसकी महिमा कुँजड़े एवं गुरिया बेचनेवाले के समान मैं कैसे कह सकता हूँ? महिमा कह देने में उतनी ही उसकी मिति हो जाती है, यही मोल कर देना है। संतों की महिमा अपरिमित है, क्योंकि सच्चे भक्तों के अधीन भगवान् सेवक की तरह रहते हैं, तब उनकी महिमा का क्या अन्दाजा है? यथा—"अहं भक्तपराधीनोह्यस्वतंत्र इव द्विज॥" (श्रीमद्भागवत)।

'सकुचानी'—इतने बड़े-बड़ों की भी वाणी असमर्थ होकर नहीं कह सकती है तो आश्चर्य है। अतः, लज्जा होती है। ग्रंथकार ने और जगह भी कहा है; यथा—"क्यों बरनै मुख एक, तुलसी महिमा संत की। जिन्हके बिमल बिबेक, सेष गनेस न कहि सकहिं॥" (वैराग्य संदीपनी)।

इसपर एक आख्यायिका भी है कि किसी समय स्वर्ग में सब देवगण इकट्ठे हुए और साधु-महिमा कहने में उद्यत होकर श्रीब्रह्माजी को नियुक्त किया। उन्हें कहते हुए बहुत काल बीते। तब श्रीसरस्वतीजी की प्रेरणा से श्रीशिवजी नियुक्त हुए; क्योंकि वे पंचानन हैं। बहुत काल के पीछे देवताओं ने षडानन को नियुक्त किया; पर वे भी अंत न पा सके। तब श्रीपार्वतीजी की प्रेरणा से देवताओं ने शेषजी को नियुक्त किया; क्योंकि उनके सहस्र मुख और दो सहस्र जिह्वाएँ हैं; अतः शीघ्र साधु-महिमा कह लेंगे। इन्हें भी कई कल्प बीत गये, तब ये हार मानकर पाताल लोक में जा शिर झुकाकर बैठे, लज्जा से आज तक बैठे ही हैं। यथा—"सहस्रास्यः शेषः प्रभुरपि ह्रिया क्षितितलमगात्।" (स्कन्दपुराणे)।

दोहा

बंदउँ संत समान-चित, हित अनहित नहिं कोउ।
अंजलि गत सुभ सुमन जिमि, सम सुगंध कर दोउ॥

संत सरल चित जगत हित, जानि सुभाउ सनेहु।
बाल-विनय सुनि करि कृपा, राम - चरन रति देहु ॥३॥

शब्दार्थ—सुभ सुमन = उत्तम एवं सुगंधित फूल। कर = हाथ, करता है।

अर्थ—मैं समान चित्तवाले संतों को प्रणाम करता हूँ, जिनके कोई मित्र और शत्रु नहीं है और जो अंजलि में प्राप्त उत्तम फूल की तरह (दाहिने-बायें) दोनों हाथों को बराबर सुगंधित करते हैं॥ संत सरल-चित और संसार के हितैषी होते हैं, ऐसा स्वभाव और स्नेह जानकर (विनती करता हूँ कि मुझ) बालक की विनती सुनकर कृपा करके (मुझे) श्रीरामचरण में प्रीति दीजिये ॥३॥

विशेष—

(१) 'बंदउँ' शब्द आदि में देने से दोनों दोहों के साथ अन्वित हो गया है। 'समान चित' से संतों को पराभक्तिनिष्ठ जनाया, यथा—"समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।" (गीता १८।५४) प्रथम समान-चित्त कहकर फिर उसे 'हित अनहित नहिं कोउ' से स्पष्ट किया, पर इससे जगत् से उदासीन होने की शंका हुई; अतः 'अंजलि ·····' कहा। भाव यह कि एक हाथ फूल को तोड़ता है तो दूसरा ग्रहण करके रखता है। अतः, तोड़नेवाला शत्रु और रखनेवाला मित्र हुआ। फूल दोनों भावों पर दृष्टि न देकर दोनों हाथों को बराबर सुगंधित करता है, ऐसा ही सर्व-हितैषी स्वभाव संत का है, यथा—"काटै परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥" (उ० दो० ३६)।

'संत सरल····· ' उपर्युक्त दोहों में कथित गुण लेकर इसमें अपना प्रयोजन प्रकट करते हुए कहते हैं कि संत सरल अर्थात् सीधे एवं निश्छल चित्त हैं; अतः मुझे भी वैसा ही निश्छल मानेंगे, यथा—"नाथ सुहृद सुठि सरलचित, सब पर प्रीति प्रतीति जिय, जानिय आप समान॥" (अ० दो० २१७), फिर उनका जगत् हितैषी एवं स्नेही स्वभाव भी है, तब मुझ बालक की विनती पर कृपा अवश्य होगी; मुझे श्रीरामचरण में रति प्राप्त होगी। आगे भी कहा है—'बाल-विनय सुनि सुरुचि लखि, मोपर होहु कृपाल (बा० दो० १४)।

'बाल-विनय'—बालकों की साधारण बात माता-पिता पूरी करते हैं, यदि वह विनय से भी कहे तो क्या कहना?

(२) 'समान चित' और 'सरल चित' में मन से; 'हरिहर कथा बिराजति बेनी। सुनत सकल मुद मंगल देनी'॥ में वचन से और 'जो सहि दुख परछिद्र दुरावा।' में कर्म एवं शरीर से परोपकार करना दिखाया। यथा—"पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाव खगराया॥" (उ० दो० १२०)।

संत-वंदना प्रकरण का यहाँ उपसंहार हुआ जिसका उपक्रम "सुजन समाज सकल गुनखानी" से हुआ था।

संत-समाज एवं संत-वंदना प्रसंग समाप्त

बहुरि बंदि खल गन सतिभायें। जे बिनु काज दाहिनेहु बायें॥१॥
परहित हानि लाभ जिन्ह केरें। उजरें हरष बिषाद बसेरें॥२॥

शब्दार्थ—बहुरि=फिर (संत-वंदना के पीछे)। सतिभायें=सच्चे भाव से।

अर्थ—फिर (मैं) सच्चे भाव से खल-समाज की वंदना करता हूँ जो बिना प्रयोजन ही अपने हितैषियों के भी प्रतिकूल हो जाते हैं ॥१॥ पराये हित की हानि ही जिनका लाभ है तथा दूसरों के उजड़ने में जिनको हर्ष और बसने में दुःख होता है ॥२॥

विशेष—

(१) प्रश्न—एक तो खलों की वंदना और 'सतिभाय' से—ऐसा क्यों ?

उत्तर—(क) जैसे 'सुजन-समाज' को 'सप्रेम सुबानी' से प्रणाम किया है वैसे खलों के साथ भी चाहिये, क्योंकि अभी ऊपर 'संत समान चित······अंजलि—' से संत-लक्षण कह आये हैं। स्वयं आचरण करके दिखाया। संत ऐसा इसलिये करते हैं कि वे चराचर-रूप में भगवान् ही को देखते हैं, यथा—"मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत।" (कि० दो० ३)। वे ही दैवी और आसुरी सम्पत्ति युक्त संसार में व्याप्त हो रहे हैं। अतः, 'सतिभाय' शब्द की सार्थकता होती है। अन्यथा व्यंग्य में कवि की गंभीरता में दोष आवेगा।

(ख) इसका समाधान स्वयं ग्रंथकार ने भी किया है, यथा "तेहि ते कछु गुन दोष बखाने। संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने॥" (बा० दो० ५); अर्थात् इस प्रसंग से संतों के गुण संग्रह के लिये और खलों के अवगुण त्याग के लिये कहे गये। अतः, इससे लोगों को ग्रहण और त्याग का उपदेश हुआ।

(२) 'बंदि' का अर्थ वन्दना करके भी है जो अपूर्ण क्रिया है। इसका भाव यह है कि अभी खल गण (साधारण खलों) की वंदना है, आगे इनके (खलों के) राजाओं की वंदना करेंगे, तब वहाँ पूर्ण क्रिया देंगे। यथा—"बंदउँ खल जस सेष सरोषा॥" से "सहस नयन परदोष निहारा॥" तक। अतः, प्रजा में अपूर्ण और राजा में पूर्ण वंदना देकर उनकी एकता और यथायोग्य बर्ताव भी दिखाया। अपूर्ण क्रिया से खल राजों को धैर्य भी देते हैं कि आपके गणों की वंदना करके शीघ्र ही आप की भी करूँगा।

(३) 'दाहिनेहु बाँये'—संत स्वयं दुःख सहकर भी शत्रुओं की भलाई ही करते हैं, यह 'सम सुगंध कर दोउ' में कहा गया है। वैसे खल अपने दाहिनेहु अर्थात् हितैपियों का भी निष्प्रयोजन अहित करते हैं, यथा—"जो कर हित अनहित ताहू सों।" (उ० दो० ३८) "खल बिनु स्वारथ पर-अपकारी।" (उ० दो० १२०)। प्रयोजन के लिये वाम (शत्रु) के साथ साधारण लोग भी वाम होते हैं और ये बिना प्रयोजन दाहिने (मित्र) से भी बाम होते हैं, यही इनकी विशेषता है।

(४) 'परहित हानि ···'—दूसरे की हानि देखकर इनको सुख होता है। 'उजरे हरष' किसी के यहाँ चोरी हो या आग लगे तो हर्ष होता है। यथा— "जब काहू की देखहिं बिपती। सुखी भये मानहुँ जगनृपती॥" (उ० दो० ३९)।

'बिषाद बसेरे'—किसी का घर धन जन से पूर्ण देखकर इनको दुःख होता है। यथा—"खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी॥" (उ० दो० ३८)।

हरि-हर-जस राकेस राहु से। पर अकाज भट सहसबाहु से॥३॥
जे पर-दोष लखहिं सहसाखी। पर-हित घृत जिन्हके मनमाखी॥४॥

शब्दार्थ—राकेस (राका + ईश = राकेश) पूर्णचन्द्रमा। से = सदृश = समान। सहसाखी = सहस-आँखी, सह-साखी (साक्षी) और सहसा (बलात्) आँखी।

अर्थ—(खल) हरि-हर यश-रूपी पूर्ण चन्द्रमा के लिये राहु के समान हैं, दूसरे का कार्य बिगाड़ने के लिये सहस्रबाहु के समान योद्धा हैं ॥३॥ जो पराये दोषों को 'सहसाखी' देखते हैं, दूसरे के हितरूपी घी में जिनके मन मक्खी (की तरह जा पड़ते) हैं।

विशेष—

(१) 'हरि-हर-जस''''' भगवान् और महादेव की कथा को पूर्णचन्द्र कहा, क्योंकि 'चदि-आह्लादने' धातु से 'चन्द्र' शब्द बनता है अर्थात् चन्द्रमा अमृतमय किरणों से जगत्-मात्र को आह्लादित करता है, वैसे कथा के ज्ञानामृत से जगत् का उपकार होता है। पूर्णचन्द्र ही से राहु का वैर है। अतः, उसीको पूनो में ग्रसता है, अन्य तिथियों में नहीं। यथा—"वक्र चन्द्रमहिं ग्रसइ न राहू।" (बा० दो० २८०); वैसे खलों का हरिकथा से वैर है, यथा—"संत-संग हरिकथा न भावा।" (उ० दो० ३६); क्योंकि कथा में उनका दोष प्रकट होता है। पूर्णचन्द्र-रूपा रसीली कथा यदि कहीं सौम्य स्वभाव के भोलेभाले पंडित कहते हैं, वहाँ खल जाकर तर्क करके विघ्न डालते हैं। यदि कोई ऐसा कुतर्क कर दे, जिससे कथा बन्द हो जाय तो यही सर्वग्रास होना है। हर पूर्णिमा को राहु नहीं ग्रसता, अपनी संधि पाकर ही ग्रसता है। यथा—"ग्रसइ राहु निज संधिहिं पाई।" (बा० दो० २३७); वैसे खल भी जिस प्रसंग में कुतर्क की संधि पाते हैं, उसी के अवसर पर आकर विघ्न डालते हैं। यदि पंडित वक्रोक्ति वाले हों तो उनकी कथा में नहीं आते, जैसे टेढ़े चन्द्रमा को राहु नहीं ग्रसता।

(२) 'पर अकाज''''' सहस्रबाहु का नाम कार्तवीर्य भी है। यह कृतवीर्य का पुत्र था। इसकी राजधानी माहिष्मती नगरी थी। भगवान् दत्तात्रेय ने इसे योग सिद्ध करा दिया था कि घर बैठे प्रजा के मन की बात जान ले। अतः, जैसे कोई किसी की हानि का विचार मन में लाता कि यह तुरत वहाँ धनुष-बाण लेकर पहुँच जाता; इससे प्रजा हानि से डरती थी। यह हजारों भुजाओं से एकसाथ ही सूर्य का तर्पण करता था। परशुरामजी के पिता जमदग्नि ऋषि से उनकी कपिला गाय बलात् छीन ले गया, फिर उन्हें मार भी डाला। इसीसे परशुरामजी ने इसका वध किया। सर्वदा इसके भुजाएँ दो ही रहती थीं; युद्ध आदि के अवसर पर हजार हो जाती थीं। यथा—"तस्य बाहु सहस्रं तु युद्धतः किल भारत। योगाद्योगेश्वरस्येव प्रादुर्भवति मायया ॥" (हरिवंश ३३।१५)।

सहस्रबाहु की तरह खलों के भी भुजाएँ दो ही हैं, परन्तु पर-हानि करने में इतना श्रम करते हैं, मानों हजार भुजाओं से हानि कर रहे हों। ये भी किसी का काम बनता सुनते हैं तब वहाँ जा पहुँचते हैं, तो उसे भय हो जाता है कि विघ्न न करें। जैसे उक्त राजा ने मुनि की गाय छीनने में अत्याचार किया वैसे ये भी पर वस्तु हरने में करते हैं। उसके पर (शत्रु) के अकाज में हजार भुजाएँ युद्ध के लिये होती थीं, ये पराये अकार्य में उतना ही पुरुषार्थ दो भुजाओं से ही कर दिखाते हैं।

(३) 'जे परदोष लखहिं''''' (क) यहाँ 'लखहिं' का अर्थ लक्ष्य करते हैं, यथा—"लखा न मरम राम बिनु काहू।" (अ० दो० २११)। जो दोष प्रकट नहीं है, उसे भी (खल) जान लेते हैं। ऐसी सूक्ष्म दृष्टि से देखते हैं; मानों हजार आँखों से देखते हों। (ख) वे दुष्ट हैं ; अतः अकेले उनके कहने से लोग सत्य न मानेंगे, इसलिये साखी के सहित देखते हैं। (ग) 'सहसा-आँखी' = बलात् देख लेते हैं कि कोई दोष छिपाने भी न पावे।

(४) यहाँ पर 'पर-दोष लखहिं' और 'पर-दोष निहारा' कहा है, पुनरुक्ति नहीं है, क्योंकि 'लखहिं' का अर्थ गुप्त दोष के जानने में है और 'निहारा' का अर्थ प्रकट दोष देखने का है।

(५) 'पर हित घृत···' हित को घी के समान कहा, क्योंकि घी भी आयु एवं बल-वर्द्धक रूप से हितकर है। मक्खी घृत में पड़ने पर चिपक जाती है, उसका अंग भंग हो जाता है, लोग उसे निकाल फेंकते हैं, फिर वह मर जाती है। इसी प्रकार 'खल' भी पर-हित हानि में लगते हैं। यदि हानि न हो सकी तो मनोरथ-भंग से दुःख होता है यही अंग-भंग के समान है। इनकी बातें झूठी होने से फिर कोई विश्वास नहीं करता, यही मरने के समान है।

तेज कृसानु रोष महिषेसा। अघ अवगुन धन धनी धनेसा ॥५॥
उदय केतु सम हित सबही के। कुंभकरन सम सोवत नीके ॥६॥
पर-अकाज लगि तनु परिहरहीं। जिमि हिम-उपल कृषी दलि गरहीं ॥७॥

शब्दार्थ—महिषेसा=(क) महिषासुर। यह असुर बड़ा क्रोधी था। इसके क्रोध से देवतागण काँपते थे। इसे कालिका देवी ने मारा। (ख) महिषेश=महिष+ईश=भैंसे का देवता=यह देवता जिसका वाहन भैंसा है=यमराज।

अर्थ—(ये दुष्ट) तेज में अग्नि के और क्रोध में महिषेश के समान हैं तथा पाप और अवगुण रूपी धन में कुवेर के समान धनी हैं ॥५॥ सभी के हित में केतु के समान हो जाते हैं। अतः, कुंभकरण के समान इनका सोते रहना ही अच्छा है ॥६॥ दूसरे की कार्यहानि के लिये शरीर भी छोड़ देते हैं; जैसे ओले खेती का नाश करके (स्वयं भी) गल जाते हैं ॥७॥

विशेष—(१) 'तेज कृसानु···' (क) अग्नि स्वयं तपता रहता है, जितना ईंधन पाता है, उतना ही दूसरों को अधिक तपाता है, वैसे 'खल' स्वयं क्रोधाग्नि से जलते रहते हैं, जितना ही विभव पाते हैं, उतना ही अधिक प्रचंड होते हैं, इससे अपनेको तेजस्वी समझते हैं।

(ख) अग्नि जो पाता है, सभी को जलाता है, वैसे ये 'खल' शत्रु-मित्र किसी को नहीं छोड़ते।

(ग) बात-बात में खलों का रोष प्रचंड हो जाता है। ये महिषासुर की तरह लाल आँखें निकालकर हाँफने लगते हैं तथा यमराज की भाँति भयंकर रूप धारण कर प्राण हरने को उद्यत हो जाते हैं।

(२) "अघ अवगुन धन···"—'खल' कुवेर की तरह पाप और अवगुण रूप धन बटोरते हैं और उन्हीं की तरह इनके भी इस धन की संख्या नहीं है। यथा—"खल अघ अगुन साधु गुनगाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा ॥" (बा० दो० ५)। कुवेर के भंडार से जितना धन नित्य निकलता जाता है, वह भरा ही रहता है, वैसे खलों के हृदय से भी नित्य चाहे जितने 'अघ अवगुन' प्रकट होते जायँ, पर हृदय उनसे भरा ही रहता है—कभी खाली नहीं होता।

(३) "उदय केतुसम···" (क) केतु पुच्छल तारा है। इसके उदय से राजा-प्रजा की हानि होती है। लोगों को अनेक कष्ट होते हैं। वैसे ये खल किसी का भी हित होता जानकर वहाँ जा धमकते हैं, उसे हानि का भय होता है।

(ख) भाग्य से कुछ विभव-प्राप्ति रूप उदय हुआ तो 'खल' सभी के बाधक होते हैं। अतः, "कुंभकरन-सम···" कुंभकरण की तरह जब ये सोते ही रहें अर्थात् ऐश्वर्य एवं अधिकार-हीन होकर मर मिटें, तभी संसार का कल्याण हो। जैसे—केतु के अस्त होने पर जगत् सुखी होता है। यथा—"दुष्ट उदय जग आरत-हेतू। जथा प्रसिद्ध अधमग्रह केतू ॥" (उ० दो० १२०)।

(४) पूर्व 'हरिहर-जस राकेस राहु से' कहा था, यहाँ केतु के समान भी कहा, क्योंकि दोनों एक

ही शरीर के शिर और धड़ हैं; अतः एक ही प्रसंग में प्रथम शिर कहा, तब धड़। समुद्र-मंथन के पीछे चोरी से अमृत पीते समय भगवान् ने राहु का शिर काटा था। तब शिर राहु और धड़ केतु कहलाया।

(५) 'पर अकाज लगि॰' प्रथम सहस्रबाहु के समान पुरुषार्थ करने में खलों को योद्धा कह आये हैं। अब दिखाते हैं कि यदि न हो सका तो पराये अकाज के लिये ये स्वयं भी मर मिटते हैं। शरीर का भी त्याग हो जाय, पर अकाज करके ही मरते हैं, यथा—"पर-संपदा बिनासि नसाहीं। जिमि ससि हति हिम-उपल बिलाहीं॥" (उ॰ दो॰ १२०)। जैसे—ओले बहुत संख्या में एक साथ गिरकर कृषि का नाश करते हैं, वैसे 'खल' भी अपने दल बाँधकर 'अकाज' करते हैं, क्योंकि यहाँ 'परिहरहीं' और 'मरहीं' बहुवचन हैं। 'खल-गन' का ही प्रसंग भी है।

सम्बन्ध—यहाँ तक 'खल गन' के अवगुण कहे, अब उनके राजाओं के अवगुण कहते हैं—

> बंदउँ खल जस सेष सरोषा। सहस बदन बरनइ पर-दोषा॥८॥
> पुनि प्रनवउँ पृथुराज समाना। पर-अघ सुनहिं सहस दस काना॥९॥
> बहुरि सक्र सम बिनवउँ तेही। संतत सुरानीक हित जेही॥१०॥
> बचन बज्र जेहि सदा पियारा। सहस नयन पर-दोष निहारा॥११॥

शब्दार्थ—यहाँ सरोषा, सहस बदन, पर-दोषा, पर अघ और सुरानीक पद श्लिष्ट हैं, अर्थात् इनके एक अर्थ खल-पक्ष के और दूसरे अन्य पक्षों के हैं—

'सरोषा' = (१) जोश के साथ, क्रोध-पूर्वक। (२) प्रसन्नतापूर्वक (सहर्ष) यथा—"सर्बस देउँ आजु सहरोषा।" (अ॰ दो॰ २०७); वा शेषनाग के प्रलयकालीन रोष की भाँति।

'सहस बदन' = (१) स+हास्य-बदन = हँसते मुख से। (२) हजार मुखों से।

'पर-दोषा' = (१) पराये दोषों को। (२) दोषों से परे हरि (का यश)।

'पर-अघ' = (१) दूसरे के पाप। (२) पापों से परे हरि (का यश)।

'सुरानीक' = (१) अच्छी शराब, मदिरा-प्रिय। (२) सुर+अनीक = देव सेना।

अर्थ—मैं खलों को शेषजी के समान प्रणाम करता हूँ, जो हजार मुखों से जोश के साथ 'पर-दोष' का वर्णन करते हैं॥८॥ पुनः राजा पृथु के समान (मानकर उनको) प्रणाम करता हूँ, जो दस हजार कानों से 'पर-अघ' को सुनते हैं॥९॥ फिर इन्द्र के समान उनकी विनय करता हूँ, जिनको 'सुरानीक' सर्वदा प्रिय है,॥१०॥ जिन्हें वचन-रूपी वज्र सदा प्रिय लगता है और जो हजार नेत्रों से 'पर-दोष' को देखते हैं॥११॥

विशेष—

(१) 'बंदउँ खल जस॰॰॰' (क) जैसे—शेषजी प्रलयकाल में क्रोध करते हैं, वैसे 'खल' दूसरे का सर्वनाश करने के लिये क्रुद्ध होते हैं, शेष हजार मुखों की दो हजार जिह्वाओं से हरियश उत्साह जोश-पूर्वक कहते हैं, 'खल' हँसते हुए मुख से एवं एक मुख से ही हजार मुखों के तुल्य पराये दोष कहते हैं।

(ख) शेष प्रसन्नता के साथ हरियश और 'खल' क्रोध-पूर्वक पराये दोषों को नित्य कहा करते हैं। 'पर-दोषा' से अपने दोषों पर ध्यान नहीं देते—यह भी ध्वनित है।

(२) 'पुनि प्रनवउँ पृथुराज···' राजा वेणु बड़ा दुष्ट था। इसीसे मुनियों ने शाप देकर उसे मार डाला और उसका शरीर मथा, तब उससे पृथुराज प्रकट हुए। ब्रह्माजी ने इनको राज्य दिया। ये बड़े प्रतापी हुए। इन्होंने अनेक यज्ञ किये। इन्द्र ने भय मानकर दो बार यज्ञ का घोड़ा चुराया। राजा पृथु ने इन्द्र को भस्म करने के लिये कुशावाण अभिमंत्रित किया; तब ब्रह्माजी ने आकर समझाया कि सौ यज्ञ करने पर इन्द्र पद मिलता है, परन्तु वह भी अनित्य ही है। अतः, तुम यज्ञ में न पड़ो; भगवान् के भक्ति-रूप अमृत से कृतार्थ हो। इन्होंने वही किया। इनकी उत्कृष्ट अभिलाषा पर प्रभु ने दर्शन दिये, तब इन्होंने वरदान माँगा कि आपका यश सुनने में मुझे दस हजार कानों की शक्ति मिले और उससे तृप्ति न हो। प्रभु ने वही वर दिया। वैसी शक्ति से पृथु 'अघ' से परे भगवान् का यश सुनते हैं, 'खल' भी अपने दो ही कानों से दस हजार कानों की तरह चाव के साथ पराये पापों को सुना करते हैं।

(३) 'बहुरि सक्र सम···' इन्द्र को देव-सेना प्रिय है, वैसे खलों को तेज मदिरा प्रिय है, (मादक पदार्थ गाँजा आदि भी मद मे गिने जाते हैं)। इन्द्र देव सेना को हितैषी जानकर, उनके भरोसे निश्चिन्त रहते हैं, वैसे खल भी नशे में निश्चिन्त रहते हैं।

(४) 'बचन बज्र ' इन्द्र को वज्र भी प्रिय है तो खलों को भी वज्रवत् कठोर वचन प्रिय है। इन्द्र वज्र को सदा धारण नहीं किये रहते हैं पर इन्हें वचन रूप वज्र सदा प्रिय रहता है। 'खल' वचन ही से वज्रवत् चोट करते हैं, जिससे पर्वत के समान धीरों के हृदय भी विदीर्ण हो जाते हैं। 'सहस नयन ··' इन्द्र हजार नेत्रों से 'अघ' से परे (श्रीरामजी) को निहारते हैं, यथा—"रामहिं चितव सुरेस सुजाना।···आजु पुरंदर सम कोउ नाहीं॥" (बा० दो० ३१६); 'खल' दो ही नेत्रों से हजार नेत्रों की तरह पराये छिद्र देखते हैं और वैसा ही सुख पाते हैं।

(५) इस प्रसंग में सहस्र संख्या की चार बातें कही गई हैं—(१) 'पर-दोष लखहिं सहसाखो।' (२) 'सहस बदन बरनइ पर-दोषा।' (३) 'पर-अघ सुनहिं सहस दस काना।' (४) 'सहस नयन पर-दोष निहारा।' अर्थात् खल पराये दोष परखते हैं, कहते हैं, सुनते हैं और देखते हैं। अतः, इन चारों दोषों से सज्जनों को बचना चाहिये। खलों का लक्ष्य करना, कहना, सुनना और देखना—सब दोष-युक्त ही है, खलों की उपमा के लिये तीनों लोकों में श्रेष्ठ श्रेष्ठ एक-एक ही व्यक्ति मिले—शेष पाताल के, पृथुराज भूमि के और इन्द्र स्वर्ग के। अतः, एक एक कर्म के लिये तीनों लोकों में ढूँढ़ना पड़ा। उपमानवाले तीनों अपने अपने गुणों से बड़े हैं और खल अवगुणों से बड़े हैं।

दोहा—उदासीन अरि मीत हित, सुनत जरहिं खल रीति।
जानि पानि जुग जोरि जन, बिनती करइ सप्रीति॥४॥

अर्थ—चाहे कोई उदासीन (शत्रु-मित्र से पृथक्=मध्यस्थ) हो, शत्रु हो या मित्र ही हो, खल तीनों का हित सुनकर जलते हैं; यह उनकी रीति है—ऐसा जान दोनों हाथ जोड़कर यह जन (मानसकार) प्रेम सहित उनसे विनय करता है।

विशेष—(१) ऊपर 'परहित हानि' में लाभ कह आये हैं। यहाँ स्पष्ट किया कि 'खल' मित्र की भी हानि में लाभ ही मानते हैं और उनकी उन्नति में जलते हैं। यथा—"खलन्ह हृदय अति ताप बिसेखी।

जरहिं सदा पर संपति देखी ॥" (उ० दो० १८) । प्रायः शत्रु के हित में साधारण लोग भी जलते हैं, पर मित्र के हित में जलना खलों की रीति है। यह दोष उनका स्वाभाविक है। सब जगत् भगवान् का शरीर है; अतः, इन रूपों में मैं विचित्र-स्वभाववाले श्रीरामजी की ही सप्रीति विनती करता हूँ, यह सप्रीति का भाव है। अन्यथा अहितकर्त्ताओं के प्रति 'सप्रीति' विनती नहीं हो सकती।

(२) 'जन'...... अपने अनुगतों एवं पालकों पर तो बाघ आदि हिंसक जन्तु भी स्नेह करते हैं, इसी तरह 'जन' होकर विनती से वे 'खल' भी कृपा करेंगे, यह आशा है। 'जानि' का पाठान्तर 'जानु' भी है जिसका अर्थ 'घुटना' है।

मैं अपनी दिसि कीन्ह निहोरा। तिन्ह निज ओर न लाउब भोरा ॥१॥
बायस पलिअहिं अति अनुरागा। होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा ॥२॥

अर्थ—मैंने अपनी ओर से प्रार्थना की, (पर) वे (खल) अपनी तरफ से न चूकेंगे; (क्योंकि स्वभावज दोष छोड़ना कठिन है, (देखिये) ॥१॥ कौए को अत्यन्त प्रीति-पूर्वक पालें, तो क्या कौए कभी मांस खाना छोड़ सकते हैं ? ॥२॥

विशेष—(१) 'कबहुँ कि......' यहाँ वक्रोक्ति है, अर्थात् कभी नहीं। अब यह शंका होती है कि प्रार्थना का ही व्यर्थ प्रयास क्यों करते हैं ? इसका उत्तर 'अपनी दिसि' से दिया है कि वे दुष्ट हमारे ग्रंथ में दोष लगाने से नहीं चूकेंगे, पर जैसे वे अपना स्वभाव नहीं छोड़ते; वैसे मैं भी अपना (संत) स्वभाव नहीं छोड़ता। उनका स्वभाव पर-निन्दा का है, तो मेरा स्वभाव सभी को सम्मानित करने का है।

(२) शंका—इसमें 'बायस' और 'कागा' शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं और दो बार होने से पुनरुक्ति दोष की शंका है।

समाधान—'कागा' से पुनरुक्ति दोष तब होता जब एक 'बायस' कर्त्ता शब्द से ही 'पलिअहिं' और 'निरामिष होहिं' इन दोनों क्रियाओं का काम चल जाता, पर यहाँ तो 'निरामिष होहिं' के लिये 'बायस' का ही सर्वनाम 'वह' कर्त्ता की विवक्षा करनी ही पड़ती है। अतः, 'वह' न देकर 'कागा' ही दे दिया गया है, दो क्रियाएँ होने से पुनरुक्ति नहीं है। यदि कहा जाय कि संज्ञा के दुहराने के बदले उसका सर्वनाम रूप ही वाक्य-निर्बंध में उत्तम है—'कागा' शब्द का प्रयोग कुछ न्यून है तो समाधान यह है कि महाकवि के द्वारा प्रयुक्त होने में यह न्यूनता नहीं के समान है। कोई-कोई 'पायस (खीर खिलाकर)' पाठान्तर देकर दोष-परिहार करने की चेष्टा करते हैं, पर यह (पाठान्तर) प्राचीन प्रतियों में नहीं मिलता।

खल-वंदना-प्रकरण समाप्त

बंदउँ संत असज्जन चरना। दुखप्रद उभय बीच कछु बरना ॥३॥
बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं। मिलत एक दारुन दुख देहीं ॥४॥

अर्थ—(मैं) संत और असंत के चरणों की वंदना करता हूँ। दोनों दुःख देनेवाले हैं, (पर उनमें) कुछ अंतर कहा जाता है ॥३॥ एक (संत) बिछुरते ही प्राण हर लेते हैं और दूसरे (असंत) मिलते ही तीव्र दुःख देते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'बंदउँ संत-असज्जन ......' यहाँ से संत-असंत के गुण-अवगुण का वर्णन एक चामत्कारिक रीति से करते हैं। प्रथम भिन्न-भिन्न वर्णनों से यह संदेह हो सकता था कि संतों और खलों में जाति-भेद एवं देश-भेद होगा। अतः, एक-साथ वंदना से सूचित करते हैं कि संत और खल एक ही देश एवं जाति में होते हैं। इनका भेद लक्षणों से जाना जाता है। जैसे—एक ही भूमि में बीज-भेद से विष और संजीवनी ओषधियाँ होती हैं, वैसे पूर्व के संस्कार-भेद से एक ही देश और जाति में खल और साधु होते हैं। वैद्यक शास्त्र के अनुसार गुण-दोष जानकर ओषधियों का संग्रह या त्याग होता है, वैसे यह वर्णन भी संग्रह-त्याग के लिये है।

(२) 'दुखप्रद उभय .... ' यहाँ प्रथम तो संतों की निन्दा जान पड़ी, पर जब कहा कि, एक (संत) बिछुड़ते ही प्राण हर लेते हैं, तब बड़ाई हुई कि इनका संग सदा बना रहे कभी वियोग न हो, यथा—"कहु कपि केहि बिधि राखउँ प्राना। तुम्हहूँ तात कहत अब जाना ॥" (सुं० दो० २६)। पुनः 'बंदउँ संत असज्जन .. ' से प्रथम खलों की स्तुति हुई, फिर जब प्रयोजन का भेद खुला कि ये मिलते ही प्राण हर लेते हैं, जैसे—यती के वेष से रावण ने मिलते ही श्रीसीताजी को प्राणान्त-तुल्य दुःख दिया; तब दोष-कथन हुआ, अर्थात् इनका संयोग न हो, तभी भला। यहाँ क्रम से व्याजस्तुति और व्याज निंदा अलंकार हैं।

संत अपने समागम से भगवत् कथा-रूपी अमृत पान कराते हैं; अतः, वियोग में उस अमृत के बिना प्राण जाने का दुःख होता है। खलों के मिलने पर उनके विष-रूप वचनों से प्राण जाने की दशा आ जाती है अर्थात् दोनों के गुण भिन्न-भिन्न हैं। इसीको आगे दृष्टांत से स्पष्ट करते हैं—

उपजहिं एक संग जग माहीं। जलज जोंक जिमि गुन बिलगाहीं ॥५॥

सुधा सुरा सम साधु असाधू। जनक एक जग जलधि अगाधू ॥६॥

अर्थ—(दोनों) जगत् में एक साथ पैदा होते हैं, जैसे—कमल और जोंक, (परन्तु इनके) गुण भिन्न-भिन्न होते हैं ॥५॥ साधु अमृत और असाधु मदिरा के समान हैं, दोनों का उत्पत्ति-स्थल एक ही जगत्‌रूपी अगाध समुद्र है ॥६॥

विशेष—(१) 'उपजहि एक संग...' यहाँ 'जग माँही' से एक देश के उत्पन्न में भेद दिखाते हैं। कमल जड़ है और जोंक चेतन। दोनों जल ही में उत्पन्न होते हैं। वैसे साधु और खल भी विषय-रूप जल के सम्बन्ध से जन्म लेते हैं। पर, कमल जड़ रूप से जल में निर्लिप्त रहता है, वैसे संत भी विषय-रूप जल के सम्बन्धियों—नातों से निर्लिप्त एवं मानापमान आदि द्वन्द्व-सहिष्णु होने से जड़ के तुल्य रहते हैं; यथा—"जे बिरंचि निरलेप उपाये। पदुमपत्र जिमि जग जल जाये ॥" (अ० दो० ३१६); जोंक चेतन है, जल को प्रिय जानती है, उसी में डूबती-उतराती हुई लिप्त रहती है, वैसे 'खल' संसार को प्रिय जानते हैं और उसी के सुख-दुःख में डूबते-उतराते रहते हैं।

कमल सूँघने से रक्तवृद्धि होती है और आनन्द होता है। जोंक खून चूसती है और उसे देखकर डर लगता है। ऐसे ही संतों के दर्शनों से क्षमा आदि गुण बढ़ते हैं और आनन्द होता है। खलों के देखने से डर लगता है, इससे खून सूखता है। इनके संसर्ग से क्षमा आदि गुण घटते हैं। जैसे—कमल देवों के सर पर चढ़ता है, वैसे संत अपने गुणों से देवताओं से भी अधिक सम्मान पाते हैं। जोंक फोड़े का दूषित रक्त ही पीती है, वैसे 'खल' राग-द्वेष सम्बन्धी धान्य (अन्न) से निर्वाह करते हैं।

ग्रंथकार ने अन्यत्र खलों को जोंक से अधिक भी कहा है—"जोंक सूध-मन कुटिल गति, खल विपरीत विचारि। अनहित सोनित सोप सो, सो हित सोपनिहार ॥" (दोहावली ४००)। कहीं-कहीं 'जल माँही' भी पाठ मिलता है जो प्राचीन नहीं है।

(२) 'सुधा सुरा सम···' इसमें 'जनक एक' से एक जाति में भेद होना दिखाते हैं। सुधा (अमृत) और मदिरा एक ही समुद्र के मंथन से निकलीं, वैसे एक ही जगत्-रूप अगाध समुद्र के साधु और असाधु भी रत्न हैं। कमल और जोंक का उत्पत्तिस्थान नियत नहीं; अतः, जलमात्र ही कहा जाता है, क्योंकि इन (जलज-जोंक) दोनों का जन्म तालाब, नदी, गड्ढे एवं समुद्र में भी होता है; किन्तु सुधा-सुरा का नियत जन्म-स्थान समुद्र ही है।

भल अनभल निज-निज करतूती। लहत सुजस अपलोक बिभूती ॥७॥
सुधा सुधाकर सुरसरि साधू। गरल अनल कलिमल सरि ब्याधू ॥८॥

शब्दार्थ—अपलोक = अपयश। कलिमल सरि = कर्मनाशा नदी। ब्याधू = ब्याध = खल।

अर्थ—अच्छे और बुरे (दोनों) अपनी-अपनी करनी से सुयश और अपयश की विभूति (ऐश्वर्य) पाते हैं ॥७॥ साधु अमृत, चन्द्रमा और गंगाजी के समान हैं और असंत विष, अग्नि और कर्मनाशा के समान हैं ॥८॥

विशेष—'भल अनभल···' उपर्युक्त दृष्टान्तों की करनी यहाँ दिखाते हैं कि कमल और अमृत के समान साधु अपनी भली करनी से सराहे जाते हैं और अंत में सुयश की विभूति स्वर्ग (वा परविभूति) को पाते हैं। जोंक और मदिरा के समान असाधु अपनी बुरी करनी से दूषित हो जाते हैं और अंत में अपयश की विभूति (नरक) को पाते हैं।

(२) 'सुधा-सुधाकर···' यहाँ साधुओं और खलों के तीन-तीन दृष्टांत क्रमशः उनके वचन, मन और तनु (कर्म) दिखाने के लिये हैं। साधु का वचन सुधा के समान मधुर, सन्तुष्टि-प्रद, पुष्टि-रूप विराग-वर्द्धक और अमरत्व-रूप मोक्षदाता है। मन चन्द्रमा के समान शीतल, स्वभाव सबको आह्लाद-कारक है और शरीर गंगाजी की तरह पवित्र है जिसका कर्म स्पर्श से पाप का हरण करना है। यथा—"जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइये।" (वि० १३६)। यहाँ दर्शन को चन्द्रमा के समान तापहारी, स्पर्श को गंगा के समान पापहारी और समागम को सुधा के समान वचनों द्वारा संशयहारी कहा है। संत इन तीन प्रकारों से पापराशि का नाश करते हैं। खलों के वचन विष के समान मृत्युकर, मन अग्नि के समान तापकर और तनु कर्मनाशा के समान शुभ कर्म हरनेवाला है। इनके भी समागम से मृत्यु, दर्शनों से ताप और स्पर्श से पाप की प्राप्ति दिखलाई।

गुन अवगुन जानत सब कोई। जो जेहि भाव नीक तेहि सोई ॥९॥

दोहा—भलो भलाइहि पै लहइ, लहइ निचाइहि नीच।
सुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीच ॥५॥

अर्थ—गुण और अवगुण सब कोई जानते हैं, पर जिसको जो रुचता है, उसे वही अच्छा लगता

है ॥६॥ भला भलाई ही पर (प्रशंसा) पाता है और नीच निचाई ही पर (शोभा) पाता है, जैसे अमृत अमरता पर सराहा जाता है और विष मृत्यु पर सराहा जाता है ॥५॥

विशेष—(१) 'गुन अवगुन···' उपर्युक्त प्रसंग से शंका हुई कि 'खल' अवगुणों को नहीं जानते होंगे, जानते तो वैसा नहीं करते। इसपर कहते हैं कि जानते हैं, पर प्रारब्धानुसार जिस विषय में जैसी चित्त-वृत्ति होती है, वही भाव हुआ करता है। यह बिना गुण-दोष विचारे ही स्वतः हो जाता है, यही स्वभाव कहाता है। यह सत्संग से ही बदलता है। जैसे—'काक होहिं पिक बकउ मराला।' पर कहा गया; अन्यथा अमिट है। यथा—"जो जो जेहि-जेहि रस मगन, तहँ सो मुदित मन मानि ॥" (दोहावली ३७१); "महादेव अवगुनभवन, विष्णु सकल गुनधाम। जेहि कर मन रम जाहि सन, तेहि तेही सन काम ॥" (बा० दो० ८०) अर्थात् 'खल' सुधा आदि के गुण भी जानते हैं, पर 'गरल' आदि के गुण उनके भावानुसार हैं; अतः, उन्हीं को ग्रहण किया है और उन्हीं में उन्हें हर्ष रहता है। संत भी दोनों पक्षों के ज्ञाता हैं, पर वे सुधा आदि की भाँति गुण-ग्रहण किये हुए हैं, उन्हींमें उन्हें हर्ष होता है, यह प्राकृतिक प्रवृत्ति है।

खल अघ अगुन साधु गुनगाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा ॥१॥
तेहि ते कछु गुन-दोष बखाने। संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने ॥२॥

शब्दार्थ—गाहा (गाथा) = कथा। अवगाहा = अथाह। अगुन = अवगुण।

अर्थ—खलों के पापों और अवगुणों की तथा साधुओं के गुणों की कथाएँ—ये दोनों अपार और अथाह समुद्र की भाँति हैं ॥१॥ इसीसे कुछ गुण-दोष कहे गये हैं, क्योंकि बिना पहचाने इन (गुण-दोषों) का ग्रहण और त्याग नहीं हो सकता।

विशेष—(१) 'खल अघ···' अर्थात् खलों के पापों का पार और थाह नहीं मिल सकता। इनके विस्तार और गंभीरता का अंत नहीं है। दैवी-आसुरी संपत्ति अनादि काल से आ रही है, और आगे भी कल्पान्त तक जायगी। तब कहने का प्रयास क्यों किया? इसपर कहते हैं—

(२) 'तेहिते कछु···'—साधारणतया तो गुण-अवगुण सभी जानते ही हैं, ऊपर कह आये हैं; पर उतना ही जानना प्रकृति प्रवाह में काम नहीं देता, इसलिये यहाँ 'बखाने' कहा है अर्थात् विस्तार-पूर्वक कहा। जैसे, साधुओं को सुधा आदि तीन और खलों को गरल आदि तीन दृष्टान्तों द्वारा जनाया। ऊपर भी बड़े-बड़े दृष्टान्तों द्वारा बतलाया है, यही सत्संग स्वभाव-भंग का साधन है, जो पूर्व 'काक होहिं पिक···' में कहा गया था।

शंका—गोस्वामीजी तो श्रीरामचरित लिखते हैं, इन गुण-दोषों के कथन से क्या प्रयोजन है?

समाधान—विस्तार-पूर्वक कहने से उसपर चित्त-वृत्ति रहेगी; अतः, संग्रह-त्याग में सहायता होगी। गुणी का संग और अवगुणी का त्याग करेंगे; अतः यह वर्णन शिक्षात्मक है।

सम्बन्ध—ऊपर गुण-अवगुण के स्वरूप कहे गये हैं, इनका ग्रहण और त्याग विवेक से होता है। विवेक का स्वरूप अब कहते हैं—

भलेउ पोच सब बिधि उपजाये। गनि गुन दोष बेद बिलगाये ॥३॥
कहहिं बेद इतिहास पुराना। बिधि-प्रपंच गुन अवगुन साना ॥४॥

शब्दार्थ—इतिहास = श्रीमद्वाल्मीकीय, महाभारत आदि। पुराण = १८ पुराण आदि।

अर्थ—बुरे और भले सभी को ब्रह्माजी ने उत्पन्न किया है, गुणों और दोषों को विचार कर वेदों ने उन्हें पृथक्-पृथक् कर दिया है ॥३॥ वेद, इतिहास और पुराण कहते हैं कि ब्रह्मा की सृष्टि गुण-अवगुण से सनी हुई है ॥४॥

विशेष—'भलेउ पोच...' ब्रह्मा ने भला बुरा मिलाकर उपजाया है, उसे ही समझाने एवं अलग अलग करने के लिये वेद की प्रवृत्ति हुई। 'विद्-ज्ञाने' धातु से 'वेद' शब्द निष्पन्न है—जो भले-बुरे का ज्ञान करावे, वह वेद है। 'गनि'—विचार-पूर्वक संख्या कर दी है कि विधि-प्रपंच में ये गुण और ये अवगुण हैं। वेद के कहे हुए उन्हीं गुणों को गुण और दोषों को दोष हम भी कह रहे हैं। ग्रहण-त्याग के लिये यह विवेक-पूर्ण परिपाटी वेद की चलाई हुई है। वेद के बिलगाने के स्वरूप का जैसा विस्तार इतिहास-पुराणों ने किया है, वही आगे कहते हैं—

दुख सुख पाप पुन्य दिन राती। साधु असाधु सुजाति कुजाती ॥५॥
दानव देव ऊँच अरु नीचू। अमिअ सजीवन माहुर मीचू ॥६॥
माया ब्रह्म जीव जगदीसा। लच्छि अलच्छि रंक अवनीसा ॥७॥
कासी मग सुरसरि क्रमनासा। मरु मारव महिदेव गवासा ॥८॥
सरग नरक अनुराग बिरागा। निगम अगम गुन दोष बिभागा ॥९॥

शब्दार्थ—लच्छि = लक्ष्मी। मरु = मारवाड़। मारव = मालवा। गवासा = गोभक्षी = कसाई। क्रमनासा = कर्मनाशा नदी, ['क + विनासा' = 'क' से कर्म अर्थ हुआ—'नामैकदेशग्रहणे नाममात्रग्रहणम्'—इति न्यायात्, यथा—"अंगद हनू समेत।" (सुं० दो० ४४), और विनाश का अर्थ नाश लेने पर 'कर्मनाशा' स्पष्ट हुआ, इसका पाठान्तर 'क्रमनासा' भी है। यह भी कर्मनाशा का ही बोधक है, पर प्राचीन प्रतियों का पाठ 'क्रविनासा' ही है] कर्मनाशा नदी शाहाबाद जिले के कैमोर पहाड़ से निकलकर चौसा के पास गंगाजी में मिली है। श्रीमद्वाल्मीकीय में कथा है कि राजा त्रिशंकु ने सदेह स्वर्ग-प्राप्ति के लिये यज्ञ कराने को गुरु वशिष्ठजी से कहा। गुरुजी ने कहा कि इस देह से स्वर्ग-प्राप्ति नहीं हो सकती। तब राजा ने गुरु पुत्रों से भी यही कहा। उन्होंने भी अस्वीकार किया। जब फिर राजा ने कहा कि हम दूसरा गुरु कर लेंगे, तब गुरुपुत्रों ने चांडाल होने का शाप दिया। फिर चांडाल-रूप से वे श्रीविश्वामित्रजी की शरण में गये। उन्होंने त्रिशंकु को अपने तपोबल से स्वर्ग पहुँचाया। वहाँ से देवताओं ने उसे ढकेल दिया, तब वह 'त्राहि-त्राहि' करता हुआ उलटा नीचे गिरा। विश्वामित्रजी ने उसे तपोबल से आकाश ही में रोक दिया। उसी त्रिशंकु के शरीर से पसीना गिरा और मुख से जो लार गिरी, उससे कर्मनाशा नदी हुई, जो स्पर्श से शुभ कर्मों का नाश करती है। उसी त्रिशंकु के रथ की छाया ८६ कोस पूर्व-पश्चिम और ६४ कोस उत्तर-दक्षिण पर पड़ी, वही स्थान मगह (मगध) देश है। यह बिहार प्रान्त का दक्षिण भाग है। यह देश अपवित्र माना गया है।

अर्थ—दुःख-सुख, पाप-पुण्य, दिन-रात, साधु-असाधु, उच्च जाति और नीच जाति ॥५॥ दैत्य-देवता, ऊँच-नीच, अमृत जीवनरूप-विष मृत्युरूप ॥६॥ माया-ब्रह्म, जीव-जगदीश (ईश्वर), लक्ष्मी-दरिद्रता, रंक-राजा ॥७॥ काशी-मगध, गंगा-कर्मनाशा, मारवाड़-मालवा, ब्राह्मण-कसाई ॥८॥ स्वर्ग-नरक, अनुराग-विराग—[सृष्टि के इन द्वन्द्व (जोड़े) पदार्थों में] वेद-शास्त्रों ने गुण-दोषों का विभाग कर दिया है ॥९॥

विशेष—यहाँ एक साथ सम्बन्धवाली परस्पर विरोधी बातें कही गई हैं। दुःख-सुखादि स्पष्ट हैं। माया—त्रिगुणात्मिका—सत्त्व, रज और तम तीन गुणोंवाली, जो जीवों को मोहित करती है, यथा—"मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हें जीव निकाया॥" (आ० दो० १६)। ब्रह्म—जो जीव को मोह के रज्जु (रस्सी) से छुड़ाता है, यथा—"बंध मोच्छप्रद सर्वपर, मायाप्रेरक सीव।" (आ० दो० १७)। जीव—नियाम्य—किसी के बनाये हुए नियमों से चलनेवाला। 'जगदीश' से यहाँ लोकपाल, इन्द्रादि एव त्रिदेव लिये जायँगे, जो जीव की बाहर-भीतर इन्द्रियों में एक-एक रूप से रहकर सामान्य जीवों के नियामक (नियमों मे चलाने वाले) हैं।

शंका—माया, ब्रह्म और जीव ब्रह्मा के 'उपजाये' कैसे हैं ? क्योंकि माया से शिव-ब्रह्मा स्वयं डरते हैं, जीव ईश्वर का अंश और ब्रह्म ब्रह्मा का ही अंशी है।

समाधान—ग्रंथकार ने यहाँ दो भूमिकाएँ लिखी हैं। एक—'भलेउ पोच सब बिधि उपजाये।' की और दूसरी—'बिधि प्रपंच गुन अवगुन साना।' की। अतः, जो ब्रह्मा के 'उपजाये' हैं, पहली भूमिका के अनुसार उनकी गणना 'विधि-प्रपंच' में करनी चाहिये और जो स्वतः सने हुए हैं; जैसे—माया ब्रह्म और जीव, दूसरी भूमिका के अनुसार उन्हें 'बिधि प्रपंच' में नहीं गिनना चाहिये। जैसे—"सभय रानि कह कहसि किन, कुसल राम महिपाल। लखन भरत रिपुदमन सुनि, भा कुबरी उर साल॥" (अ० दो० १२) यहाँ 'साल' होना भरत-शत्रुघ्न के विषय में नहीं है।

जीव कर्मानुसार फल-भोग के लिये हैं, माया का कार्य ही प्रपंच है और ब्रह्म अंतर्यामी रूप से प्रपंच मे सना हुआ-सा है।

(२) 'निगम अगम गुन दोष···' इस द्वन्द्व कथन का उपक्रम 'भलेउ पोच सब···गनि गुन दोष बेद बिलगाये।' से है और यहाँ उपसंहार हुआ। इसके बीच में दुःख दोषरूप और सुख गुणरूप तथा पाप दोषरूप और पुण्य गुणरूप है, इसी तरह सब द्वन्द्वों में समझना चाहिये।

सम्बन्ध—ऊपर वेदों का गुण-दोष विभाग करना कहा, अब उसका प्रयोजन कहते हैं—

दोहा—जड़ चेतन गुन-दोष-मय, बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार ॥६॥

अर्थ—इस जड़-चेतन और गुण दोषमय विश्व (प्रपंच) को ब्रह्मा ने रचा है, हंस रूपी संत दोष रूपी जल को छोड़कर गुण रूपी दूध को ग्रहण करते हैं।

विशेष—यहाँ गुण-अवगुण से सने हुए प्रपंच का स्वरूप प्रकट करते हैं कि वह जल और दूध की तरह एक दूसरे में सना (मिला) है, जैसे जल मिश्रित दूध यन्त्र के द्वारा जाना जा सकता है कि इसमें इतना जल है और इतना दूध, पर दोनों के मिश्रण से जल त्यागकर दूधमात्र पी लेना हंस ही का कार्य है।

वैसे ही यन्त्र-रूप वेद-शास्त्र के द्वारा गुणों और दोषों का स्वरूप जाना जा सकता है, पर उनमें से दोषों को त्यागकर गुणमात्र ग्रहण करना संतों का ही कार्य है। यह सामर्थ्य दूसरे में नहीं होता, यथा—"सगुन खीर अवगुन जल ताता। मिलइ रचइ परपंच विधाता॥ भरत हंस रविबंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥ गहि गुन पय तजि अवगुन बारी। निज जस जगत कीन्ह उजियारी॥" (अ० दो० २३१); अर्थात् संतों को चाहिये कि उपर्युक्त द्वन्द्वों में दोषों का त्याग और गुणों का संग्रह करें॥

अस विवेक जब देइ विधाता। तब तजि दोष गुनहिं मन राता॥१॥

अर्थ—जब ब्रह्मा ऐसा (उपर्युक्त हंस का-सा) विवेक दें; तभी मन दोषों को छोड़कर गुणों में रत (अनुरक्त) होता है।

विशेष—'अस विवेक…' 'अस' शब्द से स्पष्ट हुआ कि उपर्युक्त दोष-रूपों का त्याग और गुण-रूपों का ग्रहण ही विवेक का स्वरूप है। उसकी प्राप्ति ब्रह्मा के देने से कही गई है अर्थात् वेद के बिलगा कर कहने से ही विवेक नहीं हो सकता, क्योंकि विवेक बुद्धि से होता है, उसके देवता (प्रकाशक) ब्रह्मा हैं, यथा—"अहंकार सिव बुद्धि अज।" (लं० दो० १५)। वे जब बुद्धि में वेद का तात्पर्य समझने की शक्ति दें, तब विवेक हो। ब्रह्माजी ने 'भलेउ पोच' को उपजाया है; अतः गुण-दोषों के यथार्थ ज्ञाता भी वे ही हैं।

तात्पर्य यह है कि श्रीब्रह्माजी ने जगत् की रचना की और वेद का भी विस्तार करके संसार को गुणों और दोषों का रूप बतलाया। तब लोग उपर्युक्त गुणों में अनुरक्त होने लगे, अर्थात् काशी और मालवा में वास करते तथा मगह और मारवाड़ का त्याग करते, इसी प्रकार वे ब्राह्मण का संग, कसाई का त्याग, माया का त्याग, ब्रह्म का ग्रहण आदि करते हैं। वैसे शरीर-रूपी अंड (सृष्टि) में भी एक रूप से बुद्धि में ब्रह्मा हैं और प्रत्येक इन्द्रिय और अन्तःकरण में शुभ-अशुभ वृत्ति रूप दो देश हैं। संत को ब्रह्मा से प्रसादित (अनुगृहीत) बुद्धि-द्वारा शुभ ही को ग्रहण करना चाहिये। जैसे, काशी के पास ही मगह भी है, पर संत काशी में बसते हैं, मगह का त्याग करते हैं, वैसे बुद्धि में परमार्थ-वृत्ति काशी है और संसार-वृत्ति मगह; चित्त से श्रीरामजी में प्रेम होना मालवा और व्यावहारिक राग द्वेष-वृत्ति 'मरु' देश है। भक्ति-सम्बन्धी अहंकार-वृत्ति गंगाजी और कर्म की अहंकार-वृत्ति कर्मनाशा है। मन की परमार्थ-वृत्ति ब्राह्मण और सांसारिक वृत्ति कसाई है। इसी प्रकार श्रवण आदि इन्द्रियों में भी परमार्थ पक्ष की वृत्तियाँ गुणरूपा और सांसारिक वृत्तियाँ दोषरूपा हैं। गुण रूपा वृत्तियों का ग्रहण और दोष रूपा वृत्तियों का त्याग करना विवेक है; अतः, असत् पक्ष का त्याग और सत् पक्ष का ग्रहण-रूप विवेक जो शास्त्रों में कहा गया है, यहाँ स्पष्ट हुआ। यथा—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि-भजन जगत सब सपना॥" (आ० दो० ३८); तथा—"नासतो विद्यते भावोनाभावो विद्यते सतः।" (गीता २।१६), इसमें भी सत् से जीवात्मसम्बन्धी परमार्थ पक्ष और असत् से देहसम्बन्धी व्यवहारपक्ष लिया गया है।

सत्संग से भी विवेक का होना कहा गया है, यथा—"बिनु सतसंग बिबेक न होई।" (बा० दो० ३) अर्थात् संत लोग सब इन्द्रियों से गुण-रूप भगवद्भजन ग्रहण कर चुके हैं, शुद्ध सत्त्वमय होने से भगवत् भजन दूध के समान है उसके ग्रहण से संत हंस के समान होते हैं। इन्द्रियों से विषय-व्यवहार त्याग रखना है, यही 'बारि-बिकार' का त्याग है, क्योंकि विषय को 'बारि' कहा गया है, यथा—"बिषय बारि मनमीन भिन्न नहिं होत…" (वि० १०२)। संतों के संग से इन्द्रियाँ भजन में लग जाती हैं, विषय-व्यवहार छूट जाता है। यही विवेक का होना है।

काल सुभाव करम बरियाई। भलेउ प्रकृति बस चुकइ भलाई ॥२॥
सो सुधारि हरिजन जिमि लेहीं। दलि दुख दोष विमल जस देहीं ॥३॥
खलउ करहिं भल पाइ सुसंगू। मिटइ न मलिन सुभाव अभंगू ॥४॥

अर्थ—काल, स्वभाव और कर्म की प्रबलता से भले लोग भी मायावश होकर भलाई से चूक जाते हैं ॥२॥ उस चूक को हरिजन जैसे सुधार लेते हैं और दुःख-दोष का संहार कर निर्मल यश देते हैं ॥३॥ (वैसे ही) खल भी सुसंग पाकर भलाई करते हैं, (पर) उनका मलिन एवं अमिट स्वभाव नहीं छूटता ॥४॥

विशेष—(१) 'काल सुभाव करम···' इन कालादि की प्रबलता सबपर व्याप जाती है, यथा—"काल कर्म गुन सुभाव सबके सीस तपत।" (वि० १३१); काल अपने अनुकूल मनुष्यों की प्रवृत्ति बना देता है, जैसे—राजा परीक्षित भलाई से चूक गये, मुनि के गले में साँप डाल दिया। दुर्भिक्ष आदि काल के वश में कितनों का धर्म छूट जाता है। कर्म की प्रबलता से ही राजा नृग भलाई से चूक गये, जिससे उन्हें गिरगिट होना पड़ा। स्वभाव की प्रबलता किसी अंश में ज्ञानी को भी वश में रखती है यथा—"सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।" (गीता ३।३३); मायावश होने से सतीजी भलाई से चूक गईं, यथा—"बहुरि राम-मायहि सिर नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा॥" (दो० ५५)

(२) 'सो सुधारि···' यहाँ हरिजनों का सुधार-कार्य करना कहते हैं; अतः, उपर्युक्त भले लोग जो कालादिवश चूके हैं वे सामान्य हैं, और ये हरिजन विशेष हैं, इनपर कालादि की प्रबलता नहीं पड़ती, यथा—"बिधिबस सुजन कुसंगति परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं॥" (दो० २) तथा—"कोटि बिप्र ते संत कर, मन जिमि नीति न त्याग॥" (लं० दो० ३४); ये संत हंस की तरह विवेकी हैं; अतः, दुग्धरूप गुण छोड़कर दोषरूप जल को ग्रहण नहीं करते। कहा भी है—"जे रहीम सोंचे प्रकृति, का करि सकत कुसंग। चंदन बिष व्यापत नहीं, लिपटे रहत भुजंग॥" इत्यादि। अतः, ये संग करनेवालों के भी दोष-दुःख का नाश कर और उन्हें अपना गुण देकर निर्मल यश देते हैं।

(३) 'खलउ करहिं भल···' खल स्वाभाविक मलिन होते हैं। यदि संयोगवश उन्हें सत्संग प्राप्त हो गया, तब कुछ काल तक भलाई करने लगते हैं, पर ज्यों ही उन्हें कुसंग मिला कि फिर वे पूर्व स्वभाव के हो जाते हैं, क्योंकि साधारणतया तो स्वभाव अभंग ही होता है। अनेक जन्मों की कुटेवें थोड़े सुसंग से नहीं सुधरतीं, विशेष सत्संग की आवश्यकता रहती है। तभी उनका सुधार होता है। यथा— "सठ सुधरहिं सतसंगति पाई॥" (दो० २)।

(४) 'दुख दोष···' दुःख उक्त चूक का है और दोष कालादिवश होने से आ जाते हैं। दुःख-दोष मिटने पर उनकी प्रशंसा होने लगती है। राजा परीक्षित की चूक के प्रति हरिजन शुकदेवजी ने उनके दुःख-दोष मिटाये और निर्मल यश भी दिया। ऐसे ही सती की चूक को शिवजी ने और काकभुशुंडि की चूक को उनके गुरु ने सुधारा और निर्मल यश प्राप्त कराया। हरिजन अपने परोपकारी स्वभाव से दुःख-दोष छुड़ाते हैं, यथा—"पर-उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाव खगराया॥" (उ० दो० १२०)।

सम्बन्ध—ऊपर स्वभाव-व्यतिक्रम कहा, अब वेष-व्यतिक्रम कहते हैं—

लखि सुबेष जग बंचक जेऊ। बेष-प्रताप पूजिअहिं तेऊ ॥५॥

उघरहिं अंत न होइ निबाहू। कालनेमि जिमि रावन राहू ॥६॥
कियेहुँ कुवेष साधु सनमानू। जिमि जग जामवंत हनुमानू ॥७॥

अर्थ--जो जगत् को ठगनेवाले भी हैं, सुन्दर वेष (धारण करते हैं, उसको) देखकर उस वेष के प्रताप से वे भी पूजे जाते हैं ॥५॥ परन्तु अंत में खुल जाते हैं, (फिर उनका) निर्वाह नहीं होता, जैसे कालनेमि, रावण और राहु का (निर्वाह नहीं हुआ) ॥६॥ कुवेष किये रहने पर भी साधु का सम्मान होता है, जैसे संसार में श्रीजाम्बवान् और श्रीहनुमानजी का हुआ ॥७॥

विशेष—(१) 'लखि सुवेष···' 'जगबंचक,' यथा—"बंचक भगत कहाइ राम के। किंकर कंचन कोह काम के॥" (दो० ११); बिरचि हरिभगति को वेष वर टाटिका कपट-दल हरित पल्लवनि छावौं॥" (वि० १०८)। ऐसे ठग भी सुवेष के प्रताप से पूजे जाते हैं, पर हृदय शुद्ध न रहने से कलई खुल जाती है, यथा--"बचन वेष से जो बनै, सो बिगरै परिनाम। तुलसी मन से जो बनै, बनी बनाई राम॥" (दोहावली १५४)।

(२) 'उघरहिं अंत···' वंचक कपट खुलने पर मारे जाते हैं, जैसे—सुवेष देखकर ही श्रीहनुमानजी ने पहले कालनेमि की पूजा की (माथ नवाया), फिर कपट खुलने पर मारा इसकी कथा 'लं० दो० ५५-५६' में है। रावण पंचवटी में यति वेष बनाकर श्रीसीताजी के पास गया। वेष देखकर उन्होंने 'गोसाईं' कहा, और दुष्ट वचन सुनकर भी 'दुष्ट की नाईं' कहा, दुष्ट नहीं कहा। अंत में कपट खुला, श्रीहनुमानजी से जानकर श्रीरामजी ने उसे मार ही डाला। राहु भी सुवेष (देव-रूप) करके अमृत पीने पाया, यह आदर हुआ, फिर तुरत कपट खुला, तब शिर काटा गया।

(३) 'कियेहुँ कुवेष······' साधु अपने कल्याण के लिये कुवेष बनाये रहते हैं, यथा—"सब विधि कुसल कुवेष बनाये।" (दो० १६०), क्योंकि सुवेष से लोक में प्रतिष्ठा होगी, उससे अपनी हानि है, यथा—"लोकमान्यता अनल सम, कर तप कानन दाहु।" (बा० दो० १६१), खल तो पुजाने के लिये सुवेष बनाते हैं और संत पुजने के डर से कुवेष बनाये रहते हैं।

सम्बन्ध—अब आगे कुसंग-सुसंग से हानि लाभ दिखाते हैं—

हानि कुसंग सुसंगति लाहू। लोकहु बेद बिदित सब काहू ॥ ८ ॥
गगन चढ़इ रज पवन प्रसंगा। कीचहिं मिलइ नीच जल संगा ॥ ९ ॥
साधु असाधु सदन सुक सारी। सुमिरहि राम देहिं गनि गारी ॥१०॥

अर्थ—कुसंग से हानि और सुसंग से लाभ होता है, यह बात लोक में भी और वेद में सभी को विदित है ॥ ८ ॥ वायु के संग से धूल आकाश पर चढ़ती है और नीच (गतिवाले) जल के संग से कीचड़ में मिलती है ॥ ९ ॥ साधु के घर के तोता-मैना राम-नाम का स्मरण करते हैं और असाधु के घर के चुनी हुई गालियाँ देते हैं ॥१०॥

विशेष—(१) 'हानि कुसंग ······' यथा—"को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मते चतुराई॥" (अ० दो० २४) एवं—"केहि न सुसंग बड़प्पन पावा।···" (दो० ३)।

(२) 'गगन चढ़इ ······' यथा—"रज मग परी निरादर रहई। सब कर पद-प्रहार नित सहई॥ मरुत उड़ाव प्रथम तेहि भरई।" (उ० दो० १०५) अर्थात् सबकी लात सहनेवाली तुच्छ धूल को ऊर्ध्व गतिवाली हवा ऊँचे ले जाती है, वही धूल नीचे जानेवाले जल के संग कीचड़ में जा मिलती है, फिर हवा उड़ाना भी चाहे, तो नहीं उड़ा सकती, वैसे जो कुसंग में बहुत समय तक पड़े रहने से अति मूर्ख हो गये हैं, उनके हृदय में सत्संग का प्रभाव नहीं पड़ता, यथा—"फूलइ फरइ न बेत, जदपि सुधा बरषहिं जलद। मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहिं बिरंचि सम॥" (लं० दो० १६)।

(३) 'साधु असाधु—' साधु के संग से तोते-मैना की पहले तो लोक में प्रशंसा होती है, फिर राम-नाम से परलोक बनता है। असाधु के संग से लोक में उनकी निंदा होती है और परलोक भी बिगड़ता है। यथा—संत संग अपवर्ग कर, कामी भव कर पंथ।" (उ० दो० ३३)। गनि गारी=चुनी-चुनी गालियाँ—यह मुहावरा है।

धूम कुसंगति कारिख होई। लिखिय पुरान मंजु मसि सोई॥११॥
सोइ जल अनल अनिल संघाता। होइ जलद जग जीवनदाता॥१२॥

शब्दार्थ—कारिख=कालिख (स्याही)। अनिल=वायु। संघाता=मेल से। जीवन=प्राण।

अर्थ—धुआँ कुसंग से कालिख होता है, वही (सुसंग से) सुन्दर स्याही (मसि) बनता है और उससे पुराण लिखे जाते हैं॥११॥ वही (धुआँ) जल, अग्नि और पवन के संग से मेघ होकर संसार का जीवनाधार बनता है॥१२॥

विशेष—(१) 'धूम कुसंगति ··' धुएँ लकड़ी, कंडे आदि के कुसंग से स्याही होकर घर काला करता है, तेल-बत्ती आदि के सुसंग से काजल बनकर 'मसि' बनता है और पुराण लिखने में काम आता है, जिससे यह पूजनीय हो जाता है। पुराण ही का लिखा जाना कहा है, वेद का नहीं, क्योंकि वेद श्रुति कहाता है। अतः, कानों-कान ही आने में उसका सम्मान है, लिखना मना है। यथा—"वेदस्य लेखकाश्चैव-नरा निरयगामिनः।" (महाभारत, अनुशासन पर्व; भीष्मवचन)।

(२) 'सोइ जल···' ताप-बल से जल ज्यों ही भाप बनकर अंतरिक्ष में इकट्ठा होता है और धूम-कण अथवा रजःकण से जमता है, त्यों ही जलद (मेघ) बन जाता है। यथा—"धूमज्योतिः सलिल मरुतां सन्निपातः क्व मेघः॥" (मेघदूत) तथा—'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः' (गीता ३।१४); "धूम अनलसंभव सुनु भाई। तेहि बुझाव घन पदवी पाई॥" (उ० दो० १०५)।

'जीवनदाता'—(धुआँ) स्याही बनकर पंडितों का जीवनदाता हुआ, मेघ बनने पर अन्न आदि पैदा कर जगत्मात्र का जीवनाधार बना।

(३) इस प्रसंग में 'रज, पवन, जल, धूल'—इन जड़ों में और 'सुक-सारी' आदि चेतनों में भी परस्पर संग का प्रभाव कहा गया, अर्थात् जड़ में जड़ के संग का और चेतन में चेतन के संग का प्रभाव पड़ता है।

दोहा—ग्रह भेषज जल पवन पट, पाइ कुजोग सुजोग।
होहिं कुबस्तु सुबस्तु जग, लखहिं सुलक्खन लोग॥

सम प्रकास तम पाख दुहुँ, नाम भेद बिधि कीन्ह।
ससि सोषक पोषक समुझि, जग जस अपजस दीन्ह ॥

शब्दार्थ—सुलच्छन (सुलक्षण) = अच्छे लखनेवाले, ज्योतिषी, वैद्य आदि।

अर्थ—ग्रह, ओषधि, जल, पवन और वस्त्र—(ये) बुरा और भला योग (संग) पाकर संसार में बुरे और भले पदार्थ हो जाते हैं, सुलक्षण लोग ही इसे लख (जान) सकते हैं॥ दोनों (कृष्ण शुक्ल) पक्षों में उजाला और अँधेरा बराबर ही रहता है, (पर) ब्रह्माजी ने नाम में भेद कर दिया (एक का कृष्ण और दूसरे का शुक्लपक्ष नाम रख दिया), एक चन्द्रमा को घटानेवाला और दूसरा उसकी वृद्धि करनेवाला है, ऐसा समझकर संसार ने एक (कृष्णपक्ष) को अपयश और दूसरे (शुक्लपक्ष) को यश दिया॥

विशेष—(१) ग्रह भेषज...'—'ग्रह—रवि, सोम, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु—ये नौ हैं। ये ग्रह शत्रु-मित्र के संयोग से क्रूर और शुभ होते हैं, यथा—"ससि सर नव दुइ छ दस गुन, मुनि फल बसु हर भानु। मेषादिक क्रमते गनहि, घातचन्द्र जिय जानु॥" (दोहावली ४५१) अर्थात् चन्द्रमा इन इन स्थानों पर घातक है—मेषादि राशियों पर क्रमशः १,५,६,२,६,१०,३,७,४,८,११,१२। ऐसे ही और ग्रहों के भी संयोगादि की व्यवस्था ज्योतिषी जानते हैं। इनमें कुछ शुभ हैं और कुछ अशुभ। कितने अशुभ भी शुभ के योग से शुभ और शुभ भी अशुभ के योग से अशुभ हो जाते हैं।

'भेषज'—रोग के निदान, समय एवं अनुपान के योग से ओषधियों में गुण या दोष होता है, जैसे सर्पादि के जंगम विष से संखिया आदि के स्थावर विष के द्वारा रक्षा होती है अन्यथा संखिया प्राण घातक है, यह भेद वैद्य लोग ही जानते हैं।

'जल'—गुलाब आदि के संग से सुगंधित और मोरी आदि के संग से दुर्गंधित होता है। कर्मनाशा में पड़ने से अशुभ और गंगाजी में पड़ने से शुभ होता है तथा स्वाती का जल अनेक स्थलों के योग से अनेक रूपों का होता है, ऐसा प्रसिद्ध है। 'पवन'—फुलवारी आदि के संग से सुगंधित एवं सड़े चमड़े आदि के संग से दुर्गंधित होता है। 'पट'—देवता का चढ़ा हुआ तथा महात्मा की मृतक देह पर का भी प्रसाद-रूप शुभ माना जाता है। साधारण मृतक की कफन अशुभ है, आदि।

(२) 'सम प्रकास तम...' दोनों पक्षों में पन्द्रह-पन्द्रह ही तिथियाँ होती हैं, और चन्द्रमा की कलाएँ बराबर रहती हैं, परन्तु कला घटानेवाले को कृष्ण और बढ़ानेवाले को शुक्ल पक्ष नाम रक्खा गया। तदनुसार संसार एक को अँधेरा एवं अशुभ पक्ष और दूसरे को उजेरा एवं शुभ पक्ष कहकर अपयश और यश देता है।

पाठान्तर—'ससि पोषक सोषक' भी अन्य प्राचीन प्रतियों का पाठ है जिससे पहले प्रकाश और पोषक, फिर तम और शोषक एवं यश और अपयश का क्रम लेने से प्रथम शुक्ल तब कृष्ण पक्ष सूचित होता है। पुनः आगे—"घटइ बढ़इ बिरहिनि दुखदाई।" (बा० दो० २३७); में प्रथम कृष्ण, तब शुक्ल पक्ष कहा है। इसपर कहा जाता है कि नर्मदा के उत्तरार्द्ध में प्रथम कृष्ण और दक्षिणार्द्ध में प्रथम शुक्ल पक्ष माना जाता है। अतः, ग्रंथकार ने दोनों मतों की रक्षा कर दी है।

मैंने उपर्युक्त 'सोषक-पोषक' श्रीअयोध्या के श्रावण कुंज का पाठ रक्खा है, जिसका बालकाण्ड सब से प्राचीन एवं प्रामाणिक माना जाता है। उसके अनुसार प्रथम कृष्ण तब शुक्ल पक्ष ही ग्रहण होता

है। अतः—'घटइ बढ़इ······' में कवि के वर्त्तमान देश की अनुकूलता है। भेद इसमें केवल 'जस अपजस' के क्रम-भंग का है, क्योंकि इस पाठ से 'अपजस जस' होना चाहिये; पर इसमें दक्षिण और उत्तर देशों का समन्वय नहीं करना पड़ता।

साधु-असाधु-वंदना-प्रकरण समाप्त।

जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राममय जानि।
बंदउँ सबके पद-कमल, सदा जोरि जुग पानि ॥
देव दनुज नर नाग खग, प्रेत पितर गंधर्व।
बंदउँ किन्नर रजनिचर, कृपा करहु अब सर्व ॥७॥

शब्दार्थ—गंधर्व = ये सब ब्रह्माजी की कांति से पैदा हुए हैं, देवयोनि हैं, स्वर्ग में रहते हैं, गान-विद्या में निपुण और रूपवान् होते हैं। किन्नर = ये पुलस्त्य वंशज देवयोनि के हैं, संगीतवेत्ता हैं, इनके मुख घोड़े की भाँति होते हैं। नाग = ये भी एक देवयोनि ही में हैं, भोगावती पुरी में रहते हैं। जत (यत्) = जितने।

अर्थ—संसार में जड़ और चेतन जितने भी जीव हैं, सब को 'राममय' मानकर, मैं सदा दोनों हाथ जोड़ उन सबके चरण-कमलों की वंदना करता हूँ। देवता, दैत्य, मनुष्य, नाग, पक्षी, प्रेत, पितर, गंधर्व, किन्नर और निशिचर सबको प्रणाम करता हूँ, कि अब सब कोई मुझपर कृपा करें।

विशेष—'जड़ चेतन······' अब उपर्युक्त साधु-असाधु से पृथक् जीवों की वन्दना करते हैं। वंदना आदि कोई भी व्यवहार किसी नाते से होता है। यहाँ 'राममय' का नाता है अर्थात् एक श्रीरामजी के शरीर-रूप में ही सर्व जगत् है, श्रीरामजी सबके अंतर्यामी हैं, यथा—"विश्वरूप व्यापक रघुराई।" (कि० दो० २१); "हरि व्यापक सर्वत्र समाना। ······देसकाल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥ अग जग मय ······" (दो० १८४); "जगत् सर्वं शरीरं ते" (वाल्मी० यु०); "खं वायुमग्निं सलिलं महीञ्च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशोद्रुमादीन्। सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥" (भाग० स्कंध ११)।

सम्बन्ध—ऊपर जीवों की समष्टि (समूह-रूप से) वंदना की, अब व्यष्टि (पृथक्-पृथक्) करते हैं—

आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव नभ जल थल बासी ॥१॥
सीयराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥२॥

शब्दार्थ—आकर चार = जीवों की चार खानें हैं,—१ अंडज = जो अंडे से पैदा होते हैं, २ जरायुज = जो झिल्ली में बँधे हुए पैदा होते हैं, ३ उद्भिज् = जो बीज से भूमि फोड़कर उगते हैं, ४ स्वेदज = जो पसीने से पैदा होते हैं। जाति का अर्थ यहाँ योनि है, चौरासी लाख योनियाँ = स्थावर (वृक्षादि) २० लाख, जलचर ९ लाख, कृमि ११ लाख, पक्षी १० लाख, पशु ३० लाख, वानर ४ लाख—इन ८४ लाख योनियों से मानवयोनि भिन्न है। यथा—"स्थावरं विंशतेर्लक्षं जलजं नवलक्षकम्। कृमिश्च रुद्रलक्षं च दशलक्षं च पक्षिणः॥ त्रिंशल्लक्षं पशूनां च चतुर्लक्षं च वानराः। ततो मनुष्यतां प्राप्य ततः कर्माणि साधयेत्॥" प्रसिद्ध है।

अर्थ—जो जीव आकाश, जल और पृथ्वी पर रहनेवाले तथा चार खानों और चौरासी लाख योनियों में हैं ॥१॥ (इन जीवों से पूर्ण) सब जगत् को 'श्रीसीताराममय' जानकर और दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ ॥२॥

विशेष—(१) 'आकर चारि···' यथा—"आकर चारि लाख चौरासी। जोनिभ्रमत यह जिव अबिनासी ॥ कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस······" (उ० दो० ४३)। यहाँ 'नभ, जल, थल' को उनकी उत्पत्ति के क्रम से कहा है।

प्रथम ग्रंथकार ने श्रीराममय जगत् की वंदना ऐश्वर्य दृष्टि से की, क्योंकि जड़-चेतनात्मक जगत् के श्रीरामजी प्रकाशक हैं, जगत् उनका प्रकाश्य है, यथा—"बिषयकरन सुर जीव समेता ॥ सकल एक ते एक सचेता। सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई ॥ जगत् प्रकाश्य प्रकासक रामू।" (दो० ११६); उस 'जड़ चेतन जग···' दोहे के 'सकल' की व्याख्या के रूप में 'देव दनुज नर···' यह दोहा कहा और उन श्रीराम-प्रकाश्य रूप जीवों से कृपा माँगी ॥ अब माधुर्य रीति से श्रीसीताराममय जगत् की वंदना करते हुए प्रथम जीवों के व्यष्टि-भेद को 'नभ, जल, थल' वासियों, चार खानों और चौरासी लाख योनियों द्वारा कहकर और पीछे दोनों हाथ जोड़कर वंदना की। ऐश्वर्य रूप की वंदना में 'जोरि जुगपानी' कहा था, वैसे यहाँ भी कहा है, अतः, दोनों में तुल्यभाव दिखाया।

(२) 'सीयराममय · ' अंतर्यामी-रूप में भी श्रीरामजी सीता-सहित ही हैं, यथा—"अंतरजामी रामसिय,···" (अ० दो० २५६)।

सम्बन्ध—ऐश्वर्य-प्रसंग में जैसे 'कृपा करहु···' माँगा था, वैसे माधुर्य में भी माँगते हैं—

जानि कृपाकर किंकर मोहू। सब मिलि करहु छाँड़ि छल छोहू ॥३॥

शब्दार्थ—कृपाकर = कृपा के आकर, कृपा की खान, कृपा करनेवाले।

अर्थ—मुझे भी कृपालु श्रीरामजी का दास समझते हुए आपलोग सब मिल छल छोड़कर कृपा करें।

विशेष—(१) प्रथम जगत् को 'सीयराममय' कहा, फिर यहाँ 'किंकर' कहा, यह श्रीगोसाईंजी की अनन्यता है, यथा—"सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत।।" (कि० दो० ३); इस भाँति सचराचर रूप स्वामी से सेवक भाव द्वारा कृपा चाहते हैं कि कृपा के 'आकर' श्रीरामजी आपलोगों पर कृपा करते हैं। आप यह जानकर मुझ श्रीरामजी के किंकर पर कृपा करें, इससे श्रीरामजी आपलोगों पर अधिक प्रसन्न होंगे।

(२) 'सब मिलि'—(क) एक-दो की कृपा से मुझे उतनी बुद्धि न, हो सकेगी, जिससे अगाध श्रीरामचरित कहा जाय; अतः सब मिलकर कृपा करें। (ख) सबसे 'सीयराममय' मानकर प्रार्थना है। अतः, श्रीसीतारामजी सर्वान्तर्यामी रूप से सबकी एक मति करके कृपा करावें, यह भी धारणा है। अन्यथा आपस के वैर से एक दूसरे का भक्त जानकर बाधा करते हैं; इसलिये एक अंतर्यामी का शरीर मानकर प्रार्थना है।

(३) 'छाँड़ि छल छोहू'—स्वार्थ ही छल है, यथा—"स्वारथ छल फल चारि बिहाई।" (अ० दो० ३००); संसार स्वार्थी है, यथा—स्वारथ मीत सकल जग माहीं।" (उ० दो० ४६) ; "सुर नर मुनि सबकै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती ॥" (कि० दो० ११); इसलिये कहते हैं कि मुझसे स्वार्थ

की इच्छा नहीं कीजिये, क्योंकि इन सबमें देव, पितर आदि भी कहे गये हैं। सब जीवों पर इनका ऋण रहता है। जबतक ये तृप्त न किये जायँ, परमार्थ-साधन में बाधक भी होते हैं, जैसे जरत्कार ऋषि के पितरों ने विघ्न किया है। महाभारत के आस्तीक-अनुपर्व में इनकी कथा है। कहा भी है—"ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्। अनपाकृत्य मोक्षं तु सेव्यमानो व्रजत्यधः॥" (मनुस्मृति)।

यहाँ श्रीगोस्वामीजी ने 'कृपाकर-किंकर' कहकर प्रथम अपनेको शरणागत-रूप अधिकारी सिद्ध किया, क्योंकि प्रपन्न (प्रभु-शरण में आया हुआ) ही उपाय-शून्य होकर केवल कृपा से गति चाहते हैं, तब स्वार्थ त्याग कर 'छोह' करना कहा, क्योंकि शरणागत पर किसी का भी ऋण नहीं रहता, यथा—"देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किंकरो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतं मुकुन्दं परिहृत्य कृत्यम् ॥" (श्रीमद्भागवत, ११ स्कंध)। अतः, स्वार्थ छोड़कर अब यशःप्राप्ति के लिये मुझपर 'छोह' करें।

निज बुधि-बल भरोस मोहिं नाहीं। तातें बिनय करउँ सब पाहीं॥४॥
करन चहउँ रघुपतिगुनगाहा। लघुमति मोरि चरित अवगाहा॥५॥

अर्थ—मुझे अपनी बुद्धि के बल का भरोसा नहीं है, इससे सबसे विनय करता हूँ॥४॥ मैं रघुनाथजी के गुणों की गाहा (गाथा=कथा) करना (कहना) चाहता हूँ, परन्तु मेरी बुद्धि थोड़ी है और चरित अथाह है॥५॥

विशेष—'लघुमति···अवगाहा' यथा—"क्व सूर्यप्रभवोवंशः क्व चाल्पविषयामतिः। तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥" (रघुवंश); अर्थात् कहाँ सूर्य-वंश का चरित और कहाँ मेरी अल्पश्रुत मति! मैं मोह वश उडुप (घन्नई-बेड़ा) से दुस्तर सागर पार करना चाहता हूँ।

सूझ न एकउ अंग उपाऊ। मन मति रंक मनोरथ राऊ॥६॥
मति अति नीचि ऊँचि रुचि आछी। चहिय अमिअ जग जुरइ न छाछी॥७॥

अर्थ—मुझे काव्य का एक भी अंग (दोष, गुण, रीति और अलंकार) और उन अंगों के उपाय (साधन) नहीं सूझते, मन और बुद्धि दरिद्र हैं और मनोरथ राजा है॥६॥ बुद्धि तो अत्यन्त नीची है और रुचि (इच्छा) ऊँची एवं अच्छी है, (कहावत है कि 'चाहैं अमृत मिलै न छाछ') संसार में अमृत की चाह है और जुड़ता छाछ भी नहीं॥७॥

विशेष—(१) 'मन मति रंक···' श्रीराम-गुण गाने का मनोरथ राजा है, मन और मति उसकी साधन-सम्पत्ति से रंक हैं; अतः, प्रवेश नहीं कर पाते, इसलिये आगे इन्हें तीर्थस्नान के योग्य बनावेंगे। बुद्धि को मानस तीर्थ में—"अस मानस मानस-चख चाही। भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही॥" (दो० ३८); और मन को कविता-सरयू में—"मति-अनुहारि सुबारि गुन, गन गनि मन अन्हवाइ।" (दो० ४३) नहलावेंगे। इस प्रकार दोनों निर्मल होने पर योग्य बनेंगे, तब कथा कहेंगे।

(२) 'मति अति नीचि···' मति—यथा—"कहँ रघुपति के चरित अपारा। कहँ मति मोरि निरत संसारा॥" (दो० ११) अतः, 'अति नीची' कहा, इसे प्राकृत राजा-रईसों के चरित-गान रूपी छाछ की भी योग्यता नहीं है। श्रीरामचरित गान रूपी अमृत चाहते हैं, अतः, रुचि को ऊँची और

अच्छी कहा है। छाछी मट्ठे की हंडी की धोवन को भी कहते हैं, उससे और अमृत से जितना अंतर है, उतना ही अंतर प्राकृत चरित और श्रीरामचरित में सूचित किया। 'जग ···'—अर्थात् छाछी जगत् की तुच्छ वस्तु है, अतः, प्राकृत है और श्रीरामचरित अप्राकृत (अमृत) है।

छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई। सुनिहहिं बाल-बचन मन लाई ॥८॥
जौं बालक कह तोतरि बाता। सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता ॥९॥
हँसिहहिं कूर कुटिल कुबिचारी। जे पर-दूषन-भूषन-धारी ॥१०॥

अर्थ—सज्जन मेरी ढिठाई को क्षमा करेंगे और मुझ बालक के वचन को मन लगाकर सुनेंगे ॥८॥ जैसे जब बालक तोतली बोली बोलता है, तब माता-पिता प्रसन्न मन से उसे सुनते हैं ॥९॥ क्रूर, कुटिल और कुत्सित विचारवाले—जो पराये दोष रूपी भूषण को धारण किये रहते हैं—हँसेंगे ॥१०॥

विशेष—(१) 'छमिहहि ·····' ऊपर कहा है कि 'ऊँचि रुचि आछी' आगे भी कहेंगे—'साधु-समाज भनिति सनमानू।' (दो० १३)। इसपर यह संदेह हो सकता है कि मैं ऊँची रुचि से व्यास-वाल्मीकि की श्रेणी में बैठने की धृष्टता करता हूँ। इसपर कहते हैं कि मैं सज्जनों का बालक बनकर प्राकृत भाषा के टूटे-फूटे शब्दों में श्रीरामचरित सम्बन्धी अपनी ऊँची रुचि की पूर्ति चाहता हूँ। अतः, पिता-माता रूप सज्जन क्षमा करेंगे ही। जैसे श्रीभरतजी ने कहा है—"जद्यपि मैं अनभल अपराधी।··· आपन जानि न त्यागिहहिं, मोहि रघुबीर भरोस॥" (अ० दो० १८३); वैसे मुझे भी सज्जनों का विश्वास है।

(२) 'जौं बालक ···' बालक जैसे लड्डू को अड्डू, रोटी को ओटी आदि अशुद्ध शब्दों में कहता है, उन्हें सुनकर माता-पिता प्रसन्न हो उसकी रुचि- पूरी करते हैं, वैसे सज्जन मेरी भद्दी वाणी भी सुनेंगे। इसका सम्मान करना ही लड्डू देना है। यथा—'बेद बचन मुनि-मन अगम, ते प्रभु करुनाअयन। बचन किरातन्ह के सुनत, जिमि पितु बालक-बयन॥" (अ० दो० १३६)।

(३) 'हँसिहहिं कूर ···' क्रूर अर्थात् जो मुझ बालक पर भी दया न करें वे निर्दय और कुटिल हैं, यथा—"आगे कह मृदु बचन बनाई। पाछे अनहित मन कुटिलाई॥" (कि० दो० ६)। 'कुबिचारी' अर्थात् कुत्सित विचारवाले, यथा—"येहि पापिनिहिं बूझि का परेऊ। छाइ भवन पर पावक धरेऊ॥" (अ० दो० ४६)।

'जे परदूषन भूषन धारी।'—जिसमें स्वयं ऐसे गुण नहीं हैं कि जिनसे भूषित हों, अतः, छिद्रान्वेषी बनकर उल्टेसीधे कुतर्क करके अपनेको अच्छे ज्ञाता एवं समालोचक सिद्ध करते हैं, और इसी बड़ाई से अपने को भूषित करते हैं।

यहाँ हँसनेवालों के क्रूर आदि चार विशेषण दिये गये हैं। इनका हँसना आगे 'काक कहहिं कलकंठ ·' (दो० ८) से प्रारंभ करके कहेंगे। पुन, यहाँ सज्जनों से तो माता-पिता का नाता जोड़ा, पर खलों से नहीं जोड़ा, क्योंकि—"'खल परिहरिय स्वान की नाईं।" (उ० दो० १०५) कहा है।

सम्बन्ध—उपर्युक्त कथन से पाया गया कि हँसनेवालों की कविता उत्तम होती होगी। इसपर आगे कहते हैं—

निज कबित्त केहि लाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका ॥११॥

जे पर-भनिति सुनत हरषाहीं। ते बर पुरुष बहुत जग नाहीं ॥१२॥
जग बहु नर सर-सरि सम भाई। जे निज बाढ़ि बढ़हिं जल पाई ॥१३॥
सज्जन सकृत सिंधु सम कोई। देखि पूर बिधु बाढ़इ जोई ॥१४॥

अर्थ—अपनी (बनाई हुई) कविता किसे अच्छी नहीं लगती है—चाहे वह रसीली हो या अत्यन्त फीकी ? ॥११॥ जो दूसरे की कविता सुनकर प्रसन्न होते हैं, ऐसे श्रेष्ठ पुरुष संसार में बहुत नहीं हैं ॥१२॥ हे भाई ! संसार में तालाब और नदी के समान बहुत-से मनुष्य हैं, जो जल पाकर अपनी ही बाढ़ से बढ़ते हैं ॥१३॥ समुद्र के समान कोई एक ही सज्जन होता है जो चन्द्रमा को पूर्ण देखकर बढ़ता है ॥१४॥

विशेष—(१) 'निज कवित्त केहि···' की उपमा 'जग बहु नर···' है, और 'जे परभनिति सुनत···' की उपमा 'सज्जन सकृत···' है जो क्रम से हैं; अतः, यथासंख्य अलंकार है। अपनी कविता नीरस होने से भी अच्छी ही लगती है, जैसे—'ग्वालिन अपने खट्टे दही को भी खट्टा नहीं कहती'—यह कहावत है। इसे ही 'सरसरि' की उपमा से समझाते हैं।

(२) 'जग बहु नर ' नदियाँ और तालाब जगत् में बहुत हैं जो थोड़े जल की बाढ़ से ही मर्यादा छोड़ देते हैं, वैसे तुच्छ लोग भी बहुत हैं, जो थोड़ी विद्या-बुद्धि पाकर मर्यादा भंग करके सबको तुच्छ समझने लगते हैं। यथा—"क्षुद्र नदी भरि चली तोराई। जस थोरे धन खल इतराई ॥" (कि० दो० १३)। 'भाई'—यह प्रिय सम्बोधन सबके लिये तथा अपने मन के लिये भी है, यथा—"जो नहाइ चह येहि सर भाई।" (दो० ३८); "चली सती सिव-आयसु पाई। करइ बिचार करउँ का भाई॥" (दो० ५१), इत्यादि।

(३) 'जे पर-भनिति 'तथा 'सज्जन सकृत···'—विद्या-रूपी जल से पूर्ण समुद्र के समान सज्जन विरले (एक) ही होते हैं, जो बहुत उन्नति से भी नहीं उछलते, जैसे समुद्र बहुत नदियों का जल पाकर अपनी बाढ़ से नहीं उछलता। वरन् जब चन्द्रमा की पूर्णता देखता है, तभी उछलने लगता है, यही उसका हर्ष है, जिसे 'ज्वार आना' कहते हैं; यथा—"राका ससि रघुपतिपुर, सिंधु देखि हरषान। बढ़्यो कोलाहल करत जनु, नारि-तरंग समान ॥" (उ० दो० ३); इसी तरह सज्जन भी दूसरे की वृद्धि पर आनंदित होते हैं।

चन्द्रमा पर समुद्र का वात्सल्य भी है, क्योंकि वह समुद्र का पुत्र है, वैसे श्रीगोस्वामीजी ने भी अपने को बालक और सज्जनों को पिता-माता माना है, अतः, उनकी काव्य-कीर्त्ति पर भी सज्जन आनंदित होंगे—यह गर्भित है। 'निज कवित्त···नाहीं' तक के भाव को मिलाइये -'अपि मुदमुपयान्तो वाग्विलासैः स्वकीयैः परभणितिषु तोषं यान्ति सन्तः कियन्तः' (प्रसन्नराघव १।११)।

पाठान्तर—कहीं-कहीं 'सकृत' की जगह 'सुकृत' भी है; अतः, सुकृत-सिंधु का अर्थ 'पुण्य समुद्र के समान' होगा। 'सरसरि' की जगह 'सुरसरि' भी है, पर इसमें 'बहु नर' के साथ मेल नहीं है। 'सुरसरि' एकवचन भी है। यहाँ 'सरसरि' (क्षुद्र नदी तालाब) ही पाठ संगत है।

दोहा—भाग छोट अभिलाष बड़, करउँ एक बिस्वास।
पैहहिं सुख सुनि सुजन जन, खल करिहहिं उपहास ॥८॥

अर्थ—मेरा भाग्य तो छोटा है और रुचि बड़ी है, पर एक विश्वास करता हूँ कि इसे सुनकर सज्जन सुख पावेंगे और खल उपहास करेंगे।

विशेष—(१) प्रथम 'मन' और 'मति' को रंक कहा, तब 'मनोरथ' को राजा कहकर उसकी दुर्लभता कही, फिर भाग्य का सहारा लिया, उसे भी छोटा देखकर निराश हुए। हाँ, यही एक विश्वास है कि सज्जन इससे सुख पावेंगे। इसीसे मेरा श्रम सफल होगा। यथा—"जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि बाल कवि करहीं।" (दो० १३); अपनी बुद्धि और भाग्य का भरोसा नहीं है, यथा—"निज बुधि-बल भरोस मोहि नाहीं॥" (दो० ७)।

'भाग छोट'— मेरा भाग्य छोटा है अर्थात् मैं प्राकृत कवियों में बैठने योग्य हूँ और अभिलाषा बड़ी है कि मैं व्यास आदि की श्रेणी मे जाऊँ, पर उतनी योग्यता नहीं है। हाँ, सज्जनों के सुख मानने से मेरा श्रम सफल हो जायगा। यथा—"तुम्हरी कृपा सुलभ सोउ मोरे।" (दो० ११)। सुख पाना तो खलों का भी सूचित किया, क्योंकि परिहास सुख से ही होता है।

(२) 'छमिहहिं सज्जन···' से 'पैहहिं सुख सुनि···' तक में साधुओं और खलों से कविता का आदर और निरादर बतलाया। सज्जनों के सुनने एवं आदर करने में पाँच हेतु कहे हैं, १—मुग्ध बालक की तोतली बात मानकर—"सुनिहहिं बाल-बचन मन लाई।" २—दूसरे की वृद्धि पर प्रसन्न होने के स्वभाव से—"सज्जन सकृत सिंधु···"। ३—इसे राम-भक्ति से भूषित जानकर—'राम-भगति भूषित···'। ४ श्रीरामयश से अंकित जानकर—'प्रभु सुजस संगति भनिति भलि···' ५—श्रीरामनाम का यश अंकित जानकर—'सब गुन रहित···'। इसी तरह खलों के परिहास में भी पाँच ही हेतु हैं—१–'हँसिहहिं क्रूर', २–'कुटिल', ३–'कुबिचारी', ४–'जे परदूषन भूषनधारी', ५–'जे निज बाढ़ बढ़हिं···'।

खल-परिहास होइ हित मोरा। काक कहहिं कलकंठ कठोरा॥१॥

अर्थ—खलों के हँसने से मेरा हित होगा, (जैसे) कौए मधुरकंठ (कोयल) को कठोर कहते हैं (पर इससे कोयल का कुछ नहीं बिगड़ता)।

विशेष—कौए और कोयल की बोली सुनकर सभी जान लेते हैं। इससे कोयल का आदर और कौए का निरादर होता है। खल मेरा पक्ष लेते तो मैं भी वैसा ही नीच समझा जाता; अतः उनकी निन्दा से संत समझा जाऊँगा और मेरी कविता का आदर होगा।

हंसहि बक गादुर चातक ही। हँसहि मलिन खल बिमल बतकही॥२॥

अर्थ—बगला हंस को और चमगादर पपीहे को हँसते हैं, (वैसे) मलिन स्वभाववाले खल (असज्जन) निर्मल वाणी पर हँसते हैं।

विशेष—(१) हंस और चातक, बगले और चमगादर की निन्दा से, निन्दित नहीं माने जाते, वैसे मलिन खलों की हँसी से मेरी कविता निन्दित नहीं होगी।

(२) तीन उपमानों द्वारा खलों के वचन, कर्म और मन की व्यवस्था बतलाई है। कौआ कोयल के वचन को कठोर कहता है। बगला हँस के क्षीर-नीर अलग-अलग करने रूप कर्म को हँसता है। चमगादर चातक की टेक को हँसता है, टेक मन का धर्म है; परन्तु संसार में जैसे रात की अपेक्षा दिन और कटु

की अपेक्षा मधुर सराहा जाता है, वैसे कौए के कठोर शब्द के साथ तुलना में कोयल के मधुरस्वर की, बक के हृदय की कुटिलता के प्रति हंस के विवेकपूर्ण कर्म को और चमगादर के स्वमल-भोजन-रूप कुविचार की अपेक्षा चातक की अनन्यतापूर्ण टेक की सराहना होती है, वैसे खलों की कुयुक्तियों से की हुई मन-वचन-कर्मात्मक निन्दा को जान-सुनकर सज्जन लोग अपनी सुंदर युक्तियों से उनका खंडन करेंगे और इस कविता को सराहेंगे, तब इसका महत्त्व बढ़ेगा, यही हित होगा।

(३) उपर्युक्त 'हँसिहहि कूर···' के चारों प्रकारों को यहाँ चरितार्थ किया, 'काक' क्रूर, 'बक' कुटिल, 'गादुर' कुविचारी और 'मलिन खल' 'परदूषन भूषन धारी' हैं। 'बिमल···' बतकही निर्मल भी है तब भी वे हँसते हैं।

(४) इन दो अर्द्धालियों में तीनों दृष्टान्त पक्षी के ही दिये, क्योंकि ये सब पक्षपाती हैं और विपक्ष की अपेक्षा अपने पक्ष का हित भी सिद्ध किया। स्वपक्ष-ग्रहण से काकभुशुंडिजी ने पक्षी होने का शाप पाया।

(५) 'बिमल बतकही'—'बतकही' का अर्थ बात-चीत एवं वार्त्तालाप है। श्रीगोस्वामी ने इसे बड़ा महत्त्व दिया है और धर्म-सम्बन्धी बात में इसका प्रयोग कर शिक्षा दी है कि धर्म ही की बात करनी चाहिये। आपने सात कांडों में सात ही बार यह शब्द लिखा है; अतः सातों कांडों को 'बतकही' बनाया है यथा—१—'हंसहिं बक गादुर चातकही ···' यह यहीं पर है, पर इसे अयोध्याकांड में लेना चाहिये, क्योंकि उसमें 'भरत हंस···' कहा है और उनके विरुद्ध मलिनों—दुष्टों को कौशिल्याजी, वशिष्ठजी एवं श्रीरामजी ने भी शाप दिया एवं दोष लगाया है। २—"करत बतकही अनुजसन,···" (दो० २१०); यह बालकांड में है। ३—"दसकंधर मारीच बतकही।" (अ० दो० ६५); यह आरण्यकांड में ही हुई है। ४—"यहि विधि होत बतकही,·· " यह किष्किंधाकांड (दो० २१) में है। ५—"तब बतकही गूढ़ मृगलोचनि।" (लं० दो० १५); इसे सुन्दरकांड में लगाना चाहिये, जो श्रीरामपरत्व श्रीहनुमान्‌जी ने कहा था, वही मंदोदरी ने प्रथम कहा, फिर यह विराट्‌रूप में कहा है। ६—"काज हमार तासु हितहोई। बतकही सोई।" (लं० दो० १६)। ७—"निज-निज गृह गये आयसु पाई। बरनत प्रभु बतकही सुहाई॥" (उ० दो० ४६)।

पाठान्तर—'गादुर' की जगह 'दादुर' पाठ भी है। दादुर और चातक दोनों मेघ-प्रेमी और वर्षा के आकांक्षी हैं। दादुर सामान्य जल में संतुष्ट रहता है, जल का विचार नहीं करता और चातक विशिष्ट जल (स्वाती) का प्रेमी है। दादुर चातक के विचार के प्रति हँसता है कि नाहक प्याससे मरता है, मेरी तरह सब जल में विहार नहीं कर के प्राण गँवाता है। पर 'गादुर' में विशेषताएँ हैं—१—दोनों (गादुर-चातक) पक्षी हैं। यहाँ तीनों पक्षियों के ही दृष्टान्त हैं, यहाँ वाणी का प्रसंग है, जिसकी उत्प्रेक्षा पक्षियों के गान आदि में दी जाती है। २—'काक' क्रूर तथा 'बक' कुटिल हैं और साथ ही 'गादुर' कुविचारी भी ठीक है, क्योंकि स्वमल-भोजी है, ३—दोनों नभचर हैं, वृक्ष पर टँगा रहना भी शून्यावास है, ४—जैसे काक-पिक और हंस-बक का एक रंग है, वैसे इन दोनों का भी वर्ण साम्य है। ५—पक्षी का पक्षी के प्रति हँसना भी युक्त है, सजातीय ही एक दूसरे को हँसते हैं।

सम्बन्ध—प्रथम 'खल-परिहास' से अपना हित कहकर आगे सब प्रकार के श्रोताओं का हित कहते हैं—

कवित - रसिक न रामपद नेहू। तिन्ह कहँ सुखद हास-रस येहू॥३॥
भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी॥४॥

प्रभु-पद प्रीति न सामुझि नीकी । तिन्हहिं कथा सुनि लागिहि फीकी ॥५॥
हरिहर-पदरति मति न कुतरकी । तिन्ह कहँ मधुर कथा रघुवर की ॥६॥
राम-भगति-भूषित जिय जानी । सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी ॥७॥

अर्थ— जो (केवल) कविता के रसिक हैं (पर) श्रीरामचरणों में स्नेह नहीं रखते, उनको यह (मेरी रचना) हास्य रस के रूप में सुख देगी ॥३॥ भाषा की कविता और (फिर भी) मेरी भोली बुद्धि (से रचित, अतः,) हँसने के योग्य ही है, हँसने में उनका दोष नहीं है ॥४॥ जिनकी प्रभु के चरणों में न तो प्रीति है और न समझ ही अच्छी है, उनको यह कथा सुनने पर फीकी लगेगी ॥५॥ हरिहर के चरणों में जिनकी प्रीति है और बुद्धि कुतर्कवाली नहीं है, उनको श्रीरघुवर की कथा मीठी लगेगी ॥ ॥ सज्जन लोग इसे हृदय से श्रीराम-भक्ति-भूषित जानकर सुन्दर वाणी से सराह-सराहकर सुनेंगे ॥७॥

विशेष—(१) 'कवित-रसिक न हँसिबे जोग'''—यहाँ से पात्रानुसार सभी का सुख सूचित करते हैं। जो संस्कृत काव्य के अभिमानी हैं, उनका इस टूटी फूटी 'भाषा-भनिति' पर हँसना योग्य ही है। यद्यपि श्रीरामचरित चाहे भाषा में हो चाहे संस्कृत में, हँसना दोष ही है, तथापि ग्रंथकार उन्हें भी निर्दोष बनाते हैं, यह इनकी साधुता है।

(२) 'प्रभु-पद प्रीति न ''' 'प्रभु-पद' में प्रीति के बिना भक्ति-रस का स्वाद नहीं मिलेगा। समझ अच्छी नहीं रहने के कारण काव्य में भी रस नहीं मिलेगा एवं तर्क भी बहुत होंगे; अतः, फीकी लगेगी।

(३) 'हरिहर-पद-रति मति'' '—हरि= विष्णु, हर= शिव, इन दोनों में दोनों के उपासक लोग प्रायः कुतर्क करते हैं, वह न हो, किन्तु अभेद बुद्धि रहे, तब कथा मधुर लगती है; क्योंकि शिवजी परम भागवत हैं; अत. श्रीरामजी के प्रिय हैं। शिवजी श्रीरामजी को इष्ट-रूप में प्रिय मानते हैं, इसके विरुद्ध भाव पर दोनों अप्रसन्न होंगे।

अथवा यदि 'हरिहर पदरति' को पृथक् मानें तो 'मति न कुतरकी' का अर्थ श्रीरामजी के अवतार एवं माधुर्य लीलाओं में कुतर्क बुद्धि करना होगा, यथा—'तजि कुतर्क संसय सकल' (उ० दो० ९०)। 'मधुर कथा'—"कथा सुधा मथि काढ़हिं, भगति मधुरता जाहि॥" (उ० दो० १२०); इस अर्द्धाली में मधुरता के साधन के ठीक विरुद्ध ऊपर की अर्द्धाली फीकी लगने की है।

(४) 'राम-भगति भूषित''' सुजन कवित्व-विवेक पर ही नहीं रीझते, वे भक्ति के भावुक होते हैं। अत., इसमें भक्ति-भूषित देखकर सुनेंगे और सराहेंगे कि कैसी उत्तम रचना है!

(५) इन पाँच अर्द्धालियों में क्रमशः चार प्रकार के श्रेष्ठ श्रोता हैं—(१) अधम—'कवित-रसिक न'''भाषा-भनिति ''' (२) निकृष्ट—'प्रभु-पद प्रीति न''' (३) मध्यम—'हरिहर''' (४) उत्तम—'राम भगति'' '।

इन्हीं उत्तम श्रोता-रूप सुजनों को श्रोता के रूप में जहाँ-तहाँ कहा है, यथा—"सादर सुनहु सुजन मन लाई।" (दो० १४) आदि।

कबि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू। सकल कला सब बिद्याहीनू॥८॥
आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद-प्रबंध अनेक बिधाना॥९॥

भाव - भेद रस - भेद अपारा। कवित-दोष गुन विविध प्रकारा ॥१०॥
कवित - विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे ॥११॥

शब्दार्थ—सकल कला=गाना, बजाना, आदि ६४ कलाएँ हैं। सब विद्या=व्याकरण, ब्रह्मज्ञान, ज्योतिष आदि १४ विद्याएँ हैं। कागद=कागज।

अर्थ—मैं न कवि हूँ और न वक्तृत्व में ही निपुण हूँ, (किन्तु) सब कलाओं और विद्याओं से हीन हूँ ॥८॥ अक्षर, अर्थ, अनेक प्रकार के अलंकार और अनेक भाँति की छन्द-रचना ॥९॥ भावों और रसों के अपार (अगणित) भेद, अनेक प्रकार के दोष और गुण काव्य में होते हैं ॥१०॥ (इनमें से) एक भी कविता का विवेक मुझमें नहीं है, यह मैं कोरे कागज पर लिखकर सत्य ही कहता हूँ ॥११॥

विशेष—(१) 'कवि न होउँ ' (क) आप काव्य के सब गुणों से पूर्ण हैं; यह कार्पण्य शरणागति है। जैसे श्रीहनुमानजी भक्ति के पूर्ण ज्ञाता हैं, फिर भी शपथ करके कहा है, यथा—"तापर मैं रघुबीर-दोहाई। जानउँ नहिं कछु भजन-उपाई ॥" (कि० दो० ३)।

(ख) आप यह यथार्थ भी कह रहे हैं कि मेरे कवित्व-विवेक से ऐसी उत्तम कविता नहीं बनी, प्रत्युत देव-प्रसाद से बनी है, यथा—"जदपि कवित-गुन एकउ नाहीं। रामप्रताप प्रगट येहि माहीं ॥" (दो० ९); और—"भनिति मोरि सिव-कृपा बिभाती।" (दो० १४); पुनः, स्मरण-द्वारा आकर श्रीसरस्वतीजी ने काव्य के अंग भी सम्पन्न कर दिये, यथा—"सुमिरत सारद आवति धाई। जौं बरखइ बर होहिं कवित मुकता मनि चारु ॥" (दो० १०)। अतः, यह अलौकिक काव्य है, इसके प्रेरक और संयोजक और हैं।

(ग) यह भी भाव कहा जाता है कि मेरी दृष्टि केवल श्रीरामयश पर ही है, काव्य के अंगों पर नहीं। वे स्वतः आवें तो आते जायँ, अन्यथा दोष-गुण का विचार नहीं करूँगा। मेरी कविता श्रीरामयश ही से भूषित होगी।

(२) 'सत्य कहउँ लिखि···' कोरे कागज पर स्याही चढ़ाना शपथ है अर्थात् मैं निष्कपट भाव से कहता हूँ। इस शपथ की अक्षरशः सार्थकता यों भी होती है कि जो चरित-चित्रण करना है, यह उनका है जिन्हें श्रुतियाँ मन-वाणी से परे कहती हैं, यथा—"यतो वाचो निवर्त्तन्ते ॥ अप्राप्य मनसा सह ॥" (तैत्ती० २ वल्ली)। तथा—"ज्ञान गिरा गोतीत अज, माया-मन-गुन पार। सोइ सच्चिदानंदघन, करत चरित्र उदार ॥" (उ० दो० २५)। उन रामजी के मुकाबले में एक मनुष्य की विद्या-बुद्धि क्या काम दे सकती है—भले ही संसार की दृष्टि में वह अप्रतिम विद्वान् हो। इसी दृष्टि से अभी आगे भी कहेंगे, यथा—"जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं ॥" (दो० ११)।

(३) 'आखर अरथ···' यहाँ काव्य-रचना के अंगों का स्मरण करते हैं—'आखर' अर्थात् अक्षर ऐसे प्रयुक्त होने चाहिये जो सार्थक एवं प्रसंगपोषक हों। शब्द से अर्थ का नित्य सम्बन्ध है, अतः, साथ ही अर्थ भी कहा है। 'अलंकृति' का अर्थ अलंकार है। अलंकार-ग्रंथों में प्रधान अलंकार १०८ प्रकार के कहे गये हैं। उनमें भी बहुत भेद हैं। जैसे भूषण धारण करने से मनुष्य की शोभा होती है, वैसे शब्दार्थ की शोभा अलंकारों से होती है। 'छन्द' से गायत्री, दोहा, चौपाई आदि का ग्रहण है। छन्द वर्णिक और मात्रिक इन दो भेदों में बहुत प्रकार के होते हैं और 'प्रबंध' का अर्थ वाक्य-विस्तार है, यथा—"कोटि छानवे जाति हैं, नाग-सूत्र में छंद। तैंतिस कोटि प्रबंध हैं, भेद अनेक असंद ॥" (छन्द-शास्त्र)।

(४) 'भाव भेद रस भेद ·····' भाव का अर्थ मन का तरंग है। किसी रस के अनुकूल मन के विकार को भाव कहते हैं, जैसे—"कंकन किंकिनि नूपुर-धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि॥" (दो० २२१); यहाँ शृंगार-रस के अनुकूल मन की दशा हो गई। यही मनोविकार भाव हुआ। इसके प्रथम चार भेद हैं—विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी (संचारी) और स्थायी। एतदतिरिक्त और २८ भेद भी हैं। फिर उन एक-एक में भी बहुत भेद हैं। रस के शृंगारादि नव भेद हैं; (मं० के १ श्लोक में देखें)।

(५) 'कवित दोष गुन······' उपर्युक्त बातें काव्य के गुण हैं। काव्य में दोष वे हैं जो उसके उत्कर्ष को नष्ट करते हैं। यदि छन्दों के आदि में म, न, भ, य ये चार उत्तम गण पड़ें तो गुण और ज, र, स, त गण पड़ें तो दोष हैं। और भी दोष प्रथम ५ प्रकार के हैं—अंध, बधिर, पंगु, नग्न और मृतक। फिर ग्यारह दोष और भी हैं—देश-काल-आगम-विरोध, यतिभंग, पुनरुक्ति आदि छन्दःशास्त्र में हैं। इनका विवरण एवं उदाहरण विस्तारभय से यहाँ नहीं दे सके। पुनः गुण प्रधानतया तीन कहे जाते हैं—

(१) माधुर्य, जिसके सुनते ही मन द्रवीभूत हो जाय, यथा—"कहहु सखी अस को तनुधारी। जो न मोह यह रूप निहारी॥" (दो० २१०)।

(२) ओज, जिसके सुनते ही मन उत्तेजित हो और उसमें टवर्ग एवं संयुक्ताक्षर विशेष हों, यथा—"फट-कटहिं जंबुक प्रेत ·····" (आ० दो० ११) तथा—'चिक्करहिं मर्कट भालु ···' (लं० दो० ८०)।

(३) प्रसाद—जिसके वर्ण रुचिकर एवं अर्थ स्पष्ट हों, यथा—"ज्ञानी तापस सूर कवि, कोविद गुन आगार। केहि के लोभ बिडंबना, कीन्ह न येहि संसार॥" (उ० दो० ७०)।

पाठान्तर—'बचन प्रबीनू' की जगह 'चतुर प्रबीनू' भी पाया जाता है, उसका अर्थ है चतुरों में प्रवीण। यदि चतुर और प्रवीण को एकार्थी मानें तो पुनरुक्ति हो जाती है। पर कथा-रचना में वचन-प्रवीणता की आवश्यकता विशेष है कि पाठकों का चित्त मुग्ध हो जाय, अतः 'बचन' पाठ ही उत्तम है। श्रावण कुंज का यही पाठ भी है।

दोहा—भनिति मोरि सब गुन रहित, बिस्वबिदित गुन एक।
सो बिचारि सुनिहहिं सुमति, जिन्हके बिमल बिबेक॥ ९॥

येहि महँ रघुपति-नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति-सारा॥ १॥
मंगलभवन अमंगलहारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी॥ २॥

अर्थ—मेरी कविता सब गुणों से रहित है, (परन्तु उसमें) एक जगत्प्रसिद्ध गुण है, उसे विचार कर सुन्दर बुद्धिवाले व्यक्ति और वे, जिनका विवेक निर्मल है, इसे सुनेंगे॥९॥ इसमें अत्यन्त पवित्र वेदों और पुराणों का निचोड़, मंगलों का घर और अमंगलों का नाश करनेवाला श्रीरघुनाथजी का उदार नाम है जिसे श्रीपार्वतीजी के सहित श्रीशिवजी जपते हैं॥१-२॥

विशेष—(१) 'भनिति मोरि···गुन एक'—मेरी कविता काव्य के सब गुणों से रहित है, परन्तु इसमें एक ही गुण है। जो एक अर्थात् अद्वितीय है और जिसे संसार जानता है तथा जिसके बराबर दूसरा गुण नहीं है, वह श्रीराम नाम है, आगे स्पष्ट होगा। यथा—"यस्यनाममहद्यशः न तस्य प्रतिमास्ति"—यह वेद-वाक्य है। इस गुण (नाम) के प्रताप से कविता भी विश्वविदित होगी। यथा—"नाम राम! रावरो

सयानो किधौं बावरो, जो करत गिरी ते गरु तृन ते तनक को ॥" (कवित्ता० उ० ७१३)। 'विश्वविदित', यथा—"रामनाम भुविख्यातमभिरामेण वा पुनः" (श्रीरामतापनीय उ०); अर्थात् श्रीरामनाम सर्वप्रियत्व से जगत् में ख्यात है, जैसे लोग शपथ में रामदुहाई, सत्य में रामोराम, आश्वासन में राम-राम, मिलने में राम-राम-सीताराम, सौदा तौलने में राम-राम, आदि कहते हैं। 'सो बिचारि सुनिहहिं···' इसके विचारने के लिये निर्मल विवेक वाली सुंदर बुद्धि चाहिये, यथा—"उघरहिं बिमल बिलोचन ही के।" (दो० १) वह गुण यदि लौकिक होता तो 'मति' और 'विवेक' ही पर्याप्त थे, किन्तु वह अलौकिक एवं दिव्य है; अतः, 'सु' और 'विमल' विशेषण दिये। फिर केवल 'सुमति' भी हो तो सदसद्विवेक के बिना मनुष्य शास्त्रों के वाद ही में रह जाते हैं, फिर विवेक भी हो, पर विमल न हो तो कामादि के क्षोभ का भय है, अतः, विमल विवेक हो, तब श्रीराम-नाम में निष्ठा होगी और तभी लोग मेरी कविता को प्रीति से सुनेंगे।

(२) 'येहि महँ रघुपति नाम···' उपर्युक्त गुण को यहाँ अंगुल्या-निर्देश किया—साफ-साफ बतला दिया कि वह उदार श्रीराम नाम है। उदार अर्थात् श्रेष्ठ एवं अत्यन्त दाता है, यथा—"जद्यपि प्रभु के नाम अनेका। श्रुति कह अधिक एक ते एका॥ राम सकल नामन्ह ते अधिका॥" (आ० दो० ४१); पुनः जो देश, काल एवं पात्र का विचार न करके सब को दे, वह उदार है, यथा—"पात्रापात्राविवेकेन देशकालाद्युपेक्षणात्। वदान्यत्वं विदुर्वेदा औदार्यं वचसा हरेः॥" (भगवद्गुणदर्पणे)। उदारता—"पाई न गति केहि···कहि नाम बारक तेऽपि पावन होहिं···" (उ० दो० १२१); वही इस ग्रंथ में है, यथा—"राम नाम जस अंकित जानी।" आगे कहते हैं।

'अति पावन···'अन्यान्य नाम पावन हैं, यह अति पावन है, यथा—"तीरथ अमित कोटि सत पावन। नाम अखिल अघपुंज-नसावन॥" (उ० दो० ९१); पुरान श्रुति सारा'—वेद का उपबृंहण-(वृद्धि, सञ्चय)-रूप रामायण है, उसका सार राम नाम है, यथा—"रामचरित सतकोटि महँ, लिय महेस जिय जानि॥" (दो० २५); तथा वेद-पुराण का प्रतिपाद्य ब्रह्म है, उसके साक्षात् सच्चिदानन्द स्वरूप का वाचक यह नाम है, अतः, 'सार' कहा, क्योंकि नाम और नामी अभिन्न होते हैं।

(३) श्रीरामजी के नाम, रूप, लीला और धाम—चारो उदार एवं मंगलकारी हैं; यथा—नाम—औदार्य और मंगलकारित्व दोनों इसी चौपाई में स्पष्ट हैं। रूप—'सुनहु उदार परम रघुनायक।' (आ०दो०४१); 'मंगलभवन अमंगलहारी। द्रवउ सो दसरथ अजिरबिहारी॥" (दो० ११२)। लीला—"देखन चरित उदार" (लं० दो० ११५); "मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की॥" (दो० ६)। धाम—"नृप-गृह कलस सो इंदु उदारा।" (दो० १९४); "सब बिधि पुरी···मंगलखानी।" (दो० ३४); क्योंकि चारो सच्चिदानन्दरूप हैं—"रामस्य नामरूपञ्च लीलाधामपरात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दविग्रहम्।" (वसिष्ठ-संहिता)।

(४) 'मंगलभवन···उमा सहित···' पूर्वार्द्ध में नाम का फल प्रापक (प्राप्त करानेवाला गुण) कहकर उत्तरार्द्ध में साधन कहा है कि जिस श्रीराम-नाम के जपने से अमंगल साजवाले शिवजी मंगल-राशि हो गये, यथा—"नाम-प्रसाद संभु अबिनासी। साज अमंगल मंगलरासी॥" (दो० २५); 'उमासहित' से विधि बतलाई कि जप भी यज्ञ है, यथा—'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' (गीता १०।२५); अतः, वह सपत्नीक होना ठीक ही है। नाम का शिष्ट-परिग्रहत्व भी जनाया कि आद्याशक्ति-सहित ईश्वर शिवजी भी जपते हैं। साथ ही 'पुरारी' कहने से दिखाया कि इसी के प्रभाव से शिवजी ने त्रिपुरासुर का वध भी किया।

भनिति बिचित्र सुकबि-कृत जोऊ। राम-नाम बिनु सोह न सोऊ॥३॥

बिधुबदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी ॥४॥

अर्थ—विलक्षण कविता हो और अच्छे कवि की बनाई (क्यों न) हो, वह भी श्रीराम-नाम के बिना नहीं सोहती ॥ ३ ॥ (जैसे) सब प्रकार से सजी हुई चन्द्रमुखी श्रेष्ठ स्त्री भी बिना वस्त्र के शोभा नहीं पाती ॥ ४ ॥

विशेष—'भनिति बिचित्र···' यह अर्द्धाली उपमेय है और 'बिधुबदनी···' उपमान है। अतः, 'चन्द्रमुखी' की तरह सुकवि-कृत कविता स्वरूप से सुंदर हो, 'सब भाँति सँवारी' अर्थात् सब अलंकारों से युक्त हो, तो भी वस्त्ररूप श्रीराम नाम के बिना वह नहीं सोहती। यथा—"बादि बसन बिनु भूषन भारू।" (अ० दो० १७७); प्रत्युत उसके देखने से पाप होता है, जैसे नंगी स्त्री के देखने से पाप होता है, यथा—"न नग्नां स्त्रियमीक्षेत पुरुषो वा कदाचन॥" (कूर्म-पुराण)। 'सब भाँति सँवारी' से वस्त्र छोड़कर शेष पन्द्रह शृंगारों से युक्त अर्थ है।

इन्हीं के प्रतिरूप दो अर्द्धालियाँ सुंदरकांड में भी हैं—"राम नाम बिनु गिरा न सोहा। देखु बिचारि त्यागि मद मोहा॥ बसन हीन नहिं सोह सुरारी। सब भूषन भूषित बर नारी॥" (दो० २२)।

सब गुन रहित कुकबि-कृत बानी। राम-नाम जस अंकित जानी ॥५॥
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुनग्राही ॥६॥

अर्थ—सब गुणों से हीन और फिर बुरे कवि की कही हुई वाणी को भी, श्रीरामजी के नाम-यश की छाप से युक्त जानकर, बुद्धिमान् लोग आदर के साथ कहते और सुनते हैं, (क्योंकि) संत लोग भ्रमर के समान गुण ही को ग्रहण करनेवाले होते हैं ॥ ५-६ ॥

विशेष—(१) 'राम-नाम जस अंकित' वाक्य 'बानी' और 'जानी' दोनों के बीच में देहली-दीपक रूप है। अंकित अर्थात् चिह्नित, जैसे राजा का नाम और रूप अंकित होने से ताँबे, और गिलट के भी सिक्के एवं कागज के भी नोट बहुमूल्य रूप में माने जाते हैं, वैसे ही जिस कविता में श्रीराम-नाम-यश की छाप होती है, संत उसीका आदर करते हैं, यथा—"नाम-नरेस-प्रताप प्रबल जग जुग जुग चलत चाम को।" (वि० ६६)।

(२) 'सादर कहहिं···' संत आदर करते हैं, अतः, श्रीराम-नाम-रूपी गुण को ग्रहण करते हैं, इसीसे गुणग्राही हैं और असन्त अवगुणग्राही, क्योंकि वे निरादर करते हैं। पूर्वार्द्ध में 'बुध' और उन्हें ही उत्तरार्द्ध में 'सन्त' कहा, अतः, पर्यायी सूचित किया। पूर्व काव्य विचित्र और उसके रचयिता सुकवि थे; अतः, कार्य और कारण दोनों उत्तम थे और यहाँ दोनों ही बुरे हैं, पर श्रीराम-नाम-यश ही से इसे ग्राह्य और सुशोभित कहा, क्योंकि—"राम नाम हीन तुलसी न काहू काम को।" (क० उ० १७८)।

'मधुकर सरिस···' भ्रमर सब जगहों के और सब प्रकार के फूलों से रस लेता है—वह रसग्राही है, वैसे सन्त भी सब देशों एवं सब जातियों के द्वारा की हुई कविता से श्रीराम-नाम-यश ग्रहण करते हैं। पुनः फूल चाहे काला हो या लाल, भ्रमर की दृष्टि रस पर रहती है, वैसे कविता चाहे भाषा में हो या संस्कृत आदि में—चाहे उत्तम हो या निकृष्ट—सन्तों की दृष्टि श्रीराम-नाम-यश पर ही रहती है, वे उसी को पाकर आदर करते हैं, यथा—"तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो यस्मिन्प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि। नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः॥" (श्रीमद्भागवत स्कंध १ अ० ५)।

(३) 'सब गुन रहित···' में 'सबगुन' का अर्थ काव्य के समस्त गुण और 'गुनग्राही' में गुण का अर्थ उपर्युक्त 'गुन एक' में कथित श्रीराम-नाम अर्थ है, अतः, 'गुन' से उपक्रम और 'गुन' ही पर उपसंहार करके छः अर्द्धालियों में श्रीराम-नाम का महत्त्व कहा गया, क्योंकि श्रीराम-नाम में छः मात्राएँ हैं, यथा—"रामनाम्नि तु विज्ञेयाः षण्मात्रास्तत्त्वबोधकाः।" (शिवरहस्य)।

जदपि कवित-रस एकउ नाहीं। राम-प्रताप प्रगट येहि माहीं॥ ७॥
सोइ भरोस मोरे मन आवा। केहि न सुसंग बड़प्पन पावा॥ ८॥
धूमउ तजइ सहज करुआई। अगर-प्रसंग सुगंध बसाई॥ ९॥
भनिति भदेस वस्तु भलि बरनी। रामकथा जग मंगल करनी॥१०॥

शब्दार्थ—अगर = सुगंधित लकड़ी। प्रसंग = साथ। बसाई = वास देता है। भदेस = भद्दा।

अर्थ—यद्यपि इस (कविता) में काव्य-रस एक (कुछ) भी नहीं है; तथापि इसमें श्रीरामजी का प्रताप प्रत्यक्ष है॥ ७॥ यही भरोस मेरे मन में आया है कि भले के संग से किसने बड़ाई नहीं पाई ? (अर्थात् सब ने पाई)॥ ८॥ धुआँ अगर के संग से अपना स्वभाविक कडुवापन भी छोड़ देता है और सुगंध से वासित होता है॥ ९॥ वाणी तो भद्दी है, पर इसमें जगत् का मंगल करनेवाली श्रीरामकथारूप अच्छी वस्तु कही गई है॥ १०॥

विशेष—(१) ऊपर श्रीरामनाम-द्वारा कविता की शोभा बतलाई, अब श्रीरामजी के प्रताप-द्वारा कहते हैं कि अन्य कविताओं में वह प्रताप गुप्त है, पर इसमें तो प्रकट है, यथा—"जिन्हके जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रवि सीतल लागे॥" (दो० २४१); "बान-प्रताप जान मारीचा।" (लं० दो० ३५–१७); "प्रभु-प्रताप उर सहज असंका।"···से—"समुझि राम-प्रताप कपि कोपा।···" (लं० दो० १७–२४) तक; "जबते राम-प्रताप खगेसा। उदित भयो···" से "यह प्रताप रवि जाके, उर जब करइ प्रकास।" (उ० दो० ३०–३१) तक। 'सोइ भरोस···' उसी श्रीराम-प्रताप के भरोस को धुएँ के दृष्टान्त से समझाते हैं।

(२) 'धूमउ तजइ···' कविता धुएँ के समान है, 'अगर' श्रीराम-प्रताप है। धुएँ में कोई गुण नहीं है, पर अगर के संग से देवताओं के योग्य हो जाता है, यही धुएँ को बड़ाई मिलती है। धुआँ अगर के संबंध से ही निकलता है, जो उसमें गंध-रूप से रहता है, वैसे मेरी कविता में कोई गुण नहीं है, पर यह श्रीरामप्रताप-द्वारा ही निकलती है और वही प्रताप इसमें प्रत्यक्षरूप से है। अतः, यह भी संतरूप देवताओं के योग्य होगी, यही इसे बड़ाई मिलेगी।

'जदपि कवित···' से 'सुगन्ध बसाई' तक में प्रताप कहा, आगे—'भनिति भदेस···' से 'सरित पावन पाथ की।' तक में कथा के गुण कहते हैं—

छन्द—मंगलकरनि कलिमलहरनि, तुलसी कथा रघुनाथ की।
गति कूर कविता सरित की ज्यों सरित पावन पाथ की॥

शब्दार्थ—पाथ = जल। कूर (क्रूर) = टेढ़ा।

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरघुनाथजी की कथा मंगल करनेवाली और कलि के पापों को हरनेवाली है। इस कविता-नदी की चाल टेढ़ी है, जिस प्रकार पवित्र जलवाली नदी की (हुआ करती है।)

विशेष—(१) इस छंद का नाम हरिगीतिका है। इसके प्रत्येक चरण में २८ मात्राएँ होती हैं और उनमें १६–१२ पर विराम होता है। अंत में लघु-गुरु होते हैं।

(२) यहाँ 'कविता-नदी' उपमेय, 'सरित पावन पाथ की' उपमान, 'ज्यों' वाचक और 'गति कूर' धर्म है; अतः, पूर्णोपमा अलंकार है। उपमान में किसी पवित्र नदी का नाम न देकर सरयू, गंगा, यमुना, मंदाकिनी एवं नर्मदा आदि सभी को सूचित किया। वाणी (सरस्वती) का स्थूलरूप नदी है और 'एकतार भाषण' को धाराप्रवाह कहते भी हैं। अतः, इस पुण्य यश युक्त कविता को यहाँ तथा अन्यत्र भी नदी का रूपक दिया है, यथा—"पावन गंग तरंग माल से।··· राम कथा मन्दाकिनी, ··· जग जमुना सी। ··· मेकल सैल-सुता सी॥" (दो० ३०–३१); "चली सुभग कविता सरिता सी। ··· सरजू नाम ··· ' (दो० ३८)।

(३) 'गति कूर ···' कूर का अर्थ कविता-पक्ष में भद्दी और नदी-पक्ष में टेढ़ी है, जैसे, गंगा आदि के पवित्र जल के सम्बन्ध से टेढ़ाईरूप दोष पर कोई दृष्टि नहीं देता, वैसे ही इस कविता में पवित्र कथा के सम्बन्ध से भद्दापन दोष नहीं है, प्रत्युत पावन है।

'सरित पावन पाथ की' और 'कविता सरित' का मिलान (क्रमशः)—(क) दोनों प्रवाहरूपा हैं, (ख) गति टेढ़ी—भद्दी, (ग) पवित्र जल—पावन कथावस्तु, (घ) पवित्र नदी पाप नाश करके मोक्ष देती है—कथा कलिमलहरणी और मंगलकरणी है और (ङ) पुण्य जल से टेढ़ाई दूषित नहीं—कथा की पावनता से कविता का भद्दापन भी दूषित नहीं।

कथा की चाल भी टेढ़ी है—श्रीअयोध्या से प्रारंभ होकर मिथिला गई, फिर अयोध्या, चित्रकूट, केकयदेश, अयोध्या, चित्रकूट, अयोध्या, लंका और पुनः अयोध्या आई, अतः गंगा, सरयू आदि से भी अधिक टेढ़ी है।

सम्बन्ध—ऊपर टेढ़ाई से गुण दिखाकर अब 'असुहावनि अपावनि' को 'सुहावनि पावनि' कहते हैं—

प्रभु-सुजस-संगति भनिति भलि होइहि सुजन मनभावनी।
भव-अंग-भूति मसान की सुमिरत सोहावनि पावनी॥

शब्दार्थ—भव = शिवजी। भूति = विभूति, राख।

अर्थ—श्रीरामजी के सुन्दर यश के संग से यह कविता अच्छी हो जायगी और सज्जनों के मन को भी अच्छी जँचेगी, जैसे शिवजी के अंग में लगने से श्मशान की (अपवित्र) विभूति भी स्मरण करते ही शोभित और पवित्र होती है।

विशेष—यहाँ 'प्रभु-सुजस' और 'भव-अंग,' 'भनिति' और 'मसान की भूति' 'सुजन मनभावनी'—'भलि होइहि' और 'सुहावनि-पावनी' (होती है), ('कहत-सुनत' गुन) और सुमिरत, क्रमशः उपमेय और उपमान हैं। कविता श्मशान की राख की तरह भद्दी एवं अपवित्र है, पर प्रभु-सुयश रूप शिवजी के अंग-संग से 'भली' एवं 'सुजन मनभावनी' होगी। कविता भद्दी है, इसीलिये इसका कहना-सुनना नहीं कहा। जैसे वह श्मशान की राख स्वयं पवित्र होती है और दूसरे को अच्छी लगती है, वैसे 'भनिति' स्वयं अच्छी होगी और सुजनों को भी पसंद आवेगी।

यहाँ तक कविता में योग्यता-प्राप्ति के पाँच हेतु कहे गये हैं—१.—'राम-भगति भूषित जिय जानी ॥ २—'येहि महँ रघुपति-नाम उदारा।' ३—'राम-प्रताप प्रगट येहि माहीं।' ४—'भनिति भदेस-बस्तु··· रामकथा ···'। ५—'प्रभु सुजस संगति भनिति भलि होइहि'···।

दोहा—प्रिय लागिहि अति सबहि मम, भनिति रामजस-संग।
दारु विचार कि करइ कोउ, बंदिय मलय-प्रसंग॥

अर्थ—श्रीराम-यश के संग से मेरी कविता सभी को अत्यन्त प्रिय लगेगी, जैसे मलय-गिरि के प्रसंग से सब काष्ठ वंदनीय हो जाते हैं। फिर क्या कोई लकड़ी का विचार करता है?

विशेष—मलय पहाड़ पर बबूल, निम्ब एवं कुरैया आदि जो भी वृक्ष हों, उनमें उसके असली चंदन की गंध वायु-द्वारा प्राप्त होकर चन्दन की-सी सुगध आ जाती है; उन वृक्षों के पत्ते आदि का पूर्व आकार ज्यों-का-त्यों रहता है, तब भी चन्दन के गंध-गुण की प्रधानता से उनकी लकड़ियाँ चन्दन ही मानी जाती हैं। उस चंदन को भी लोग देवताओं पर चढ़ाते और मस्तक पर लगाते हैं। फिर बबूल, नीम आदि के नाम भी उनमें नहीं रह जाते। यथा—"किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा यत्रस्थिताश्च तरवस्तरवस्तरव। मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण कंकोलनिम्बकुटजा अपि चन्दनाः स्युः॥" (भर्तृहरिशतक)। इसी प्रकार बबूल आदि के सदृश मेरी कविता है, वह भी श्रीरामयश रूप मलयाचल के संग से चन्दन के समान सुगंधित एवं आदृत होगी।

श्याम सुरभि पय बिसद अति, गुनद करहिं सब पान।
गिरा ग्राम्य सियराम-जस, गावहिं सुनहिं सुजान॥१०॥

अर्थ—काली गाय का दूध अति उज्ज्वल और गुणकारी होता है, (अत. उसे) सब लोग पीते हैं, इसी तरह श्रीसीतारामजी का यश (ग्रामीण भाषा में होने पर भी) सुजान लोग गावेंगे और सुनेंगे।

विशेष—यहाँ 'श्याम सुरभि' और 'गिरा ग्राम्य,' 'पय बिसद', 'अति गुनद' और 'सियराम जस,' 'करहिं पान' और 'गावहिं''सुनहिं' 'सब' और 'सुजान' क्रमशः उपमान और उपमेय हैं।

यश का रंग उज्ज्वल है और श्रीसीतारामजी का यश परम उज्ज्वल है, यथा—"जिन्ह के जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रवि सीतल लागे॥" (दो० २११)। इसीसे चारों दृष्टान्त उज्ज्वल वस्तुओं के दिये गये हैं—गंगा का जल, शिवजी का शरीर, मलयाचल, और दूध। चारों दृष्टान्तों से यशःसम्बन्धी पृथक्-पृथक् बातें दिखाई गईं। तीन के विषय में ऊपर कहा गया है। यहाँ उसके ग्रहण करने के लिये ग्राम्य भाषा का दृष्टान्त श्यामा गाय से दिया गया है।

वैद्यक ग्रन्थों में श्यामा गाय का दूध विशद एवं अति गुणद कहा गया है। गाय के शरीर की श्यामता (कालापन) दूध में नहीं आती, वैसे मेरी भाषा का भद्दापन यश में न्यूनता नहीं ला सकेगा।

'अति गुनद'—"कृष्णाया गोर्भवं दुग्धं वाताहारि गुणाधिकम्" (वैद्यरहस्य); अर्थात् काली गाय का दूध वात रोगों का नाशक और अधिक गुणवाला होता है। वैसे भाषा-काव्य में अधिक गुण यह

है कि यह थोड़े परिश्रम में ही सबके पढ़ने-समझने में आ जाता है और इसके पाठ का अधिकार भी सब को है। संस्कृत सत्त्वगुणी देववाणी है, अतः, उजली गाय के समान हुई। उजली गाय का दूध काली गाय के दूध की अपेक्षा कम गुणद होता है, क्योंकि वह कफवर्द्धक कहा जाता है, वैसे संस्कृत में वर्णित यश को कम ही लोग पढ़-समझ सकते हैं, यही कम गुणद हुआ, क्योंकि संसार की अधिकांश जनता उससे वंचित ही रह जाती है।

'गिरा ग्राम्य' एवं 'गावहिं सुनहिं सुजान' से यह भी आशय निकलता है कि जिस गाँव में जो चरित्र हुआ है, वहीं की भाषा में उसका वर्णन किया जाना अधिक उपयुक्त है। अतः, अवध का चरित्र अवधी भाषा में ही अधिक यथार्थ है। श्रीमद्वाल्मीकीय उसी समय की रचना है। उसमें श्रीहनुमान्‌जी के शुद्ध संस्कृत बोलने की प्रशंसा श्रीरामजी ने श्रीलक्ष्मणजी से बहुत की है। अतः, उस समय भी प्राकृत भाषा थी। श्रीहनुमानजी लंका में अशोक-वृक्ष पर बैठे सोच रहे हैं—'यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्। रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥ वानरस्य विशेषेण कथं स्यादभिभाषणम्। अवश्यमेव वक्तव्यं मानुषं वाक्यमर्थवित्॥ (वाल्मी० सुंदर० सर्ग ३०, श्लोक १८।१६), इन वाल्मीकीय श्लोकों से भी उस समय संस्कृत से भिन्न प्राकृत भाषा (मानुषवाक्य) का अस्तित्व सूचित होता है। संस्कृत का अर्थ 'व्याकरण द्वारा संस्कार की हुई भाषा' है। हाँ, उस समय संस्कृत विशेष रूप में प्रचलित थी। फिर भी प्राकृत का-सा स्वारस्य साधारण जनता के लिये संस्कृत में नहीं आता। यथा—'भैया! कहहु कुसल दोउ बारे।' यह वचन श्रीदशरथ महाराज का है जो वात्सल्य में मुग्ध होकर श्रीजनकपुर के दूतों से कहा गया है। श्री अवध में ज्येष्ठ पुत्र और बड़े भाई को 'भैया' कहते हैं। राजा ने श्रीरामजी का कुशल-समाचार लाने से उन्हें श्रीराम के समान मानकर 'भैया' कहा है। ऐसे ही श्रीकौशल्याजी ने भी श्रीरामजी को 'भैया' कहा है, यथा—"पितु समीप तब जायेहु भैया।" (अ० दो० ५२)। इस 'भैया' शब्द का स्वारस्य संस्कृत में नहीं आ सकता। अतः, इस प्राकृत भाषा में चरित ज्यों-का-त्यों कहा गया है, इससे ग्राम्य भाषा 'अति गुणद' और 'सुजानों' से ग्राह्य कही गई है।

गाय के दृष्टान्त पर यशःप्रसंग की समाप्ति से यह भी भाव है कि गाय सर्वत्र विचरनेवाली एवं पंचगव्य द्वारा कल्याण करनेवाली तथा लोकपूज्या है एवं कामधेनु सब मनोरथों को देती है, वैसे इस कविता का सर्वत्र प्रचार होकर कल्याण होगा। कामधेनु की तरह यह चारों फल देगी और लोक-पूज्या होगी; यथा—"राम कथा कलि कामद गाई। सुजन सजीवन मूरि सुहाई॥" (दो० ३०)।

सम्बन्ध—ऊपर कविता के गुण-दोष दिखाकर वह गुण कहा जिससे सज्जन ग्रहण करेंगे। इसपर यदि कोई कहे कि कोई ग्रहण करे या न करे—आप तो गाते ही हैं। उसपर कहते हैं—

मनि-मानिक-मुकता छबि जैसी। अहि-गिरि-गज-सिर सोह न तैसी॥१॥
नृप-किरीट तरुनी-तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥२॥
तैसेहिं सुकवि कवित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं॥३॥

अर्थ—मणि, माणिक्य और मुक्ता जैसी छबिवाले हैं, उसी तरह सर्प, पर्वत और हाथी के सिर में नहीं शोभित होते॥१॥ (वे सब ही) राजा के मुकुट और युवती स्त्री के शरीर के सम्बन्ध से अधिक शोभा को प्राप्त होते हैं॥२॥ पंडित कहते हैं कि उसी तरह सुकवि की कविता और जगह रची जाती है तथा और ही जगह शोभा पाती है॥३॥

विशेष—(१)'मनि-मानिक-मुकता···' मणि-माणिक्य और मुक्ता का क्रमशः यथासंख्यालंकार की रीति से सर्प, पर्वत और हाथी से होना सूचित किया है। ये क्रमशः उत्तम, मध्यम और निकृष्ट होते हैं, वैसे कविता भी ध्वनि, व्यंग्य और सामान्य क्रम से उत्तम, मध्यम और निकृष्ट समझी जाती है।

(२) 'नृप-किरीट···' राजा के मुकुट में मणि आदि का जड़ा जाना और युवती के अंग में हार आदि के रूप में रहना कहा; इससे दोनों के अंगों और भूषणों में इनका जटित होना भी जनाया, जैसे (दो० २०८) 'सौंपे भूप···' में पिता के यहाँ आशीष और माता के यहाँ शीश नवाना कहा है, पर दोनों जगह दोनों बातें ली जाती हैं।

(३) 'तैसेहिं सुकवि···' जैसे मणि आदि की उत्पत्ति सर्प आदि से होती है और उनकी शोभा 'नृप-किरीट' एवं 'तरुनी-तनु' में होती है, वैसे कविता की उत्पत्ति कवि से और उसकी शोभा पंडितों के समाज में होती है, यथा—कविः करोति काव्यानि बुधः संवेत्ति तद्रसान्। तरुः प्रसूते पुष्पाणि मरुद्वहति सौरभम्।" ऐसा प्रसिद्ध है।

सम्बन्ध—ऊपर मणि-मुक्तादि की उपमा दी। आगे यह कहते हैं कि वैसी कविता श्रीसरस्वती की कृपा से होती है और वे श्रीरामयश के सम्बन्ध में ही कृपा करती हैं—

भगति - हेतु बिधि-भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवत धाई ॥४॥
रामचरित - सर बिनु अन्हवाये। सो श्रम जाइ न कोटि उपाये ॥५॥
कबि कोबिद अस हृदय बिचारी। गावहिं हरिजस कलिमलहारी ॥६॥
कीन्हे प्राकृतजन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगति पछिताना ॥७॥

शब्दार्थ—कोविद=पंडित। प्राकृतजन=साधारण मनुष्य, सांसारिक मनुष्य। गिरा=सरस्वतीजी।

अर्थ—कवि के स्मरण करते ही सरस्वतीजी भक्ति के कारण ब्रह्मलोक को छोड़कर दौड़ी आती है ॥४॥ उनके तुरंत दौड़कर आने का वह श्रम, बिना श्रीरामचरित-रूपी तड़ाग में स्नान कराये, करोड़ों उपाय करने पर भी, नहीं जाता ॥५॥ ऐसा हृदय में विचार कर कवि-कोविद लोग कलि के पापों को हरने-वाले भगवान् के यश गाते हैं ॥६॥ संसारी मनुष्यों के गुण गाने से सरस्वतीजी अपना सिर पीट-पीटकर पछताने लगती हैं (कि मैं श्रम करके नाहक आई) ॥७॥

विशेष—(१) 'भगति हेतु···' सरस्वतीजी उपासिका हैं, यथा—"सारद उपमा···एक टक रही रूप अनुरागी।" (दो० ३१८), इसीसे वे श्रीराम-यश-गान रूपा भक्ति के लिये ब्रह्मलोक का आनन्द पूर्णभवन छोड़कर उत्साह से दौड़ी आती हैं। दौड़कर आना यों भी है कि परा, पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी ये चार वाणियाँ हैं, जिनके स्थान क्रमशः नाभि, हृदय, कंठ और जिह्वा हैं। हरियश सम्बन्धी वाणी परा है, वह नाभि-स्थल में बुद्धि के देवता ब्रह्मा के पास रहती है। वह स्मरण होने से हृदय, कंठ होती हुई वैखरी पर शब्द-रूप होकर आती है। यही दौड़कर आना है, यथा—"हिय सुमिरी सारदा सुहाई। मानस ते मुख-पंकज आई॥" (अ० दो० २१६); अनुभवात्मक कविता का स्वतः उद्गार होना, शारदा का दौड़कर आना है, जैसे श्रीवाल्मीकिजी के मुख से 'मा निषाद'··· श्लोक निकला। थके हुए का श्रम स्नान से दूर होता है, अतः इस 'रामचरित-सर' में नहलाना कहा। महाकवि जयदेव ने भी अपने 'प्रसन्नराघव नाटक'

की प्रस्तावना में सूत्रधार से यही कहलाया है—'झगति जगती मागच्छन्त्या पितामहविष्टपान्महति पथि यो देव्या वाचः श्रमः समजायत। अपि कथमसौ मुञ्चे देनं नचेदवगाहते। रघुपतिगुणग्रामश्लाघासुधामयदीर्घिकाम्॥ (प्रस्तावना ११११)।

(२) 'कीन्हें प्राकृत'''सिर धुनि''' शारदा का सम्बन्ध श्रीरामजी से है, यथा—"सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी।" (दो० १०४) अतः, उनका उपयोग अदिव्य के विषय में होने से उन्हें दुःख होता है, तब वे सिर पीट-पीटकर पछताती हैं और कोसती हुई कहती हैं कि जैसे मेरा आना व्यर्थ हुआ, वैसे तुम्हारी कविता भी व्यर्थ हो। मुझे नीच के कथन में लगाया; अतः, तुम भी नीच गति पाओगे। पुनः मनुष्य-यश-वर्णन में सूर्य के समान प्रताप, चंद्रमा के समान यश आदि उपमानों द्वारा मिथ्या कथन भी होता है, जिससे उन्हें दुःख होता है, यथा—"मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितम्।" (भर्तृहरिः)।

हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाती सारद कहहिं सुजाना॥८॥
जौं बरषइ बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकतामनि चारू॥९॥

दोहा—जुगुति बेधि पुनि पोहियहि, रामचरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर, सोभा अति अनुराग॥११॥

अर्थ—पंडित लोग कहते हैं कि हृदय समुद्र, बुद्धि सीप और सरस्वती स्वाती के समान हैं॥८॥ यदि (शारदा-रूपा स्वाती) श्रेष्ठ विचार-रूपी उत्तम जल की वर्षा करे तो कविता-रूपी सुन्दर मुक्तामणि (उत्पन्न) होते हैं॥९॥ (उन कविता-रूपी मुक्तामणियों को) युक्ति से वेध (छेद) कर रामचरित-रूपी सुन्दर धागे में गूँथें (तो उसे) सज्जन अपने निर्मल हृदय पर पहनते (धारण करते) हैं और अत्यन्त अनुराग-रूपी शोभा पाते हैं।

विशेष—(१) 'हृदय सिंधु''' हृदय समुद्र के समान गंभीर हो, उसमें सीप-(सितुही)-रूपा बुद्धि कविता-रूपी मुक्तामणि के उत्पन्न के लिये, शारदा-रूपा स्वाती के बरसे हुए सद्विचार-रूप जल को धारण करे। प्रथम मूर्त्तिमती शारदा का कथा सुनने को दौड़कर आना कहा था। यहाँ उनका वाणी रूप से विचार देना कहते हैं, इससे यहाँ उनके दो रूप सूचित किये।

(२) 'जौं बरषइ''' स्वाती की वर्षा प्रायः कम होती है। यथा—कहुँ-कहुँ वृष्टि सारदी थोरी।' (कि० दो० १५); सब जगह उसकी वर्षा नहीं होती, वैसे शारदा भी श्रेष्ठ विचार-रूपी जल सब कवियों के हृदय में नहीं बरसातीं। स्वाती समुद्र के अन्य पात्रों पर एवं सब सीपियों पर वर्षा नहीं करती, वैसे शारदा की भी कृपा किसी विरले ही भाग्यवान् पर होती है; अतः, संदिग्ध सूचक 'जौं' कहा गया।

स्वाती का जल हाथी के कान में पड़े तो गजमुक्ता, कदली में कपूर, गाय में गोरोचन एवं बाँस में पड़ने से वंशलोचन पैदा करता है, पर सबसे अधिक मूल्य का पदार्थ सीप ही में पड़ने से होता है, वैसे सद्विचार बुद्धि ही द्वारा प्रकट होता है; अतः, 'मति' को 'सीप' कहा।

(३) 'जुगुति बेधि''' प्रथम कविता को मुक्ता के समान कहा था। वहाँ गजमुक्ता थी। यहाँ सीप की मुक्ता है। वहाँ उन मणि-मुक्ता आदि से 'नृप-किरीट' एवं 'तरुनी तनु' में शोभा होना कहा गया, यहाँ सज्जनों में शोभा होना कहा है। 'बिमल उर' के सज्जनों में अनुराग प्रकट करने से इस मुक्ता-हार की शोभा और इस हार से सज्जनों की शोभा है; अतः, अन्योन्य सापेक्ष्य हैं।

(४) पूर्ण रूपक का क्रमशः उपमेय और उपमान—हृदय-सिंधु, मति-सीप, शारदा-स्वाती, शारदा की कृपा कभी किसी पर होती है जैसे स्वाती को वर्षा भी कहीं-कहीं होती है; वर विचार—वर वारि, कविता—मुक्तामणि, सूक्ष्म युक्ति से काव्य की शोभा—महीन छिद्र से मोती की शोभा, युक्ति—महीन बरमा, रामचरित का काव्य में वर्णन-रूप प्रवेश—डोरे का मोती में गूँथना, हृदय में धारण करना—माला का छाती पर पहनना, सज्जन—धनी, अति अनुराग होना—शोभा होना।

इस मानस-ग्रंथ में चार संवादों के द्वारा सब कथाएँ वर्णित हैं। सूक्ष्म युक्ति-रूप बरमे से कविता-मणि में छेद किया। फिर श्रीरामचरित-रूप धागे को लेकर प्रथम श्रीगोस्वामीजी ने याज्ञवल्क्य के संवाद में मिलाया। उन्होंने शिवजी के संवाद में, फिर शिवजी ने काकभुशुंडि के संवाद में मिलाया, यही संपूर्ण चरित का गूँथना है।

(५) यहाँ 'बिमल उर' के साथ 'अति अनुराग' कहा गया है। अतः, सामान्य लोगों का सामान्य अनुराग होना सूचित हुआ। मुक्ता के पक्ष में युक्ति का अर्थ चतुरता है और काव्य-पक्ष में अर्थ यह है कि वक्ता के वचन अपने गुप्त आशय को श्रोता के हृदय में प्रकट कर विनोद प्राप्त करें; यथा—"जुगुति सुनत रावन मुसुकाई।" (लं० दो० ३३)।

सम्बन्ध—उपर्युक्त कथन से प्रश्न हो सकता है कि क्या मानस की कविता ऐसी ही है? उसपर कहते हैं कि ऊपर की बातें तो सत्कवियों के विषय में कही हैं; मेरी कथा अब सुनिये—

जे जनमे कलि काल कराला। करतब बायस बेष मराला ॥१॥
चलत कुपंथ बेद-मग छाँड़े। कपट कलेवर कलिमल भाँड़े ॥२॥
बंचक भगत कहाइ राम के। किंकर कंचन कोह काम के ॥३॥
तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। धिग धरमध्वज धंधक धोरी ॥४॥

शब्दार्थ—कलेवर = देह। भाँड़ = बर्तन। बंचक = ठग। कोह = क्रोध। रेख = गिनती। धिग (धिक्) = धिक्कार। धर्मध्वज = धर्म का आडंबर खड़ा करके स्वार्थ साधन करनेवाला, पाखंडी। धंधक = काम-धंधे का आडंबर, जंजाल। धोरी = धुरी का धारण करनेवाला, वह बैल जो अधिक बोझे की गाड़ी में दो बैलों के आगे जोता जाता है। धंधक धोरी = हर घड़ी जंजाल में जुता रहनेवाला।

अर्थ—जिनका जन्म कराल कलिकाल में हुआ है और जिनका वेष तो हंस के समान है, पर करनी कौए की-सी है ॥१॥ जो वेद-(विहित)-मार्ग को छोड़कर कुमार्ग में चलते हैं, जो कपट के पुतले एवं कलि के पापों के बर्तन हैं ॥२॥ जो ठग हैं, कहाते तो हैं श्रीरामजी के भक्त; पर दास हैं लोभ, क्रोध और काम के ॥३॥ जगत् के ऐसे लोगों में प्रथम हमारी गिनती है, जो धिक्कार के योग्य और धर्मध्वजी हैं तथा हर घड़ी जंजाल में जुते रहनेवाले हैं ॥४॥

विशेष—'जे जनमे···' कलि सब युगों की अपेक्षा अति भयंकर है, इसका वर्णन—"सो कलि-काल कठिन उरगारी···' से 'सुनु ब्यालारि काल कलि, मल अवगुन आगार।' (उ० दो० १०२) तक है। ऐसे काल में इन पाखंडियों का जन्म है, अतः, तदनुसार ही इनका आचरण भी है; यथा—"ऐसे अधम मनुज खल,···बृन्द बहु, होइहहिं कलिजुग माँहि॥" (उ० दो० ४०)।

(२) 'करतब बायस ' वे लोग कौए की तरह छली, मलिन एवं अविश्वासी हैं, यथा—"काक समान पाकरिपु-रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥" (अ० दो० ३०१); पाप का रूप काला है, वे भी पाप-रूपधारी हैं; अतः काले कौए के समान कहे गये हैं। हंस का वेष उजला है, वैसे वे भी दूसरों को ठगने के लिये विवेकी साधुओं का-सा उज्ज्वल वेष धारण किये रहते हैं।

(३) 'चलहिं कुपथ···' पाखंडियों के चलाये हुए मार्ग कुपंथ हैं, यथा—"दंभिन्ह निज मत कलपि करि, प्रगट किये बहु पंथ।" (उ० दो० ९७); तथा—'इमि कुपंथ पग देत खगेसा।' (आ० दो० ३७), अर्थात् ये चोरी, व्यभिचार आदि भी करते हैं। 'कपट कलेवर'—कलियुग कपट-निधान है, यथा—'कालनेमि कलि-कपटनिधानू।' (दो० २६); ये कलि में जनमे हैं, अतः, कपट के पुतले हैं। 'भाँड़े' अर्थात् भीतर भी पाप ही भरा है। 'करतब बायस···' में कपट, और 'चलत कुपंथ बेदमग छाँड़े।' में पाप कहकर उत्तरार्द्ध 'कपट कलेवर कलिमल भाँड़े' में दोनों एकत्र कहे।

(४) 'बंचक भगत···' 'भगत' के साथ 'कहाइ' और 'कंचन' आदि के साथ 'किंकर' पद दिया, अर्थात् ये पाखंडी श्रीरामजी के भक्त कहाते मात्र हैं, पर दास तो 'कंचन' आदि के ही हैं, क्रोध और काम के साहचर्य से 'कंचन' शब्द लोभ का वाचक है। प्रस्तुत प्रसंग द्रव्य ठगने के लिये वेष बनाने का है, अतः, यहाँ लोभ प्रथम कहा गया है।

(५) 'तिन्ह महँ प्रथम ··' कलिकाल जब से हुआ एवं इसमें जन्मे हुए जिनके कर्म ऊपर तीन अर्द्धालियों में कह आये हैं, वैसे-वैसे जगत्-भर के पापियों में मैं सबसे अधिक हूँ। सत्ययुग में दैत्य, त्रेता में राक्षस, और द्वापर में दुर्योधन आदि खल थे, वे सामान्य थे; कलि के 'खल बृंद' उनसे अधिक हैं, उनमें भी मैं श्रेष्ठ हूँ।

(६) 'धिग धर्मध्वज ··' यह धिक्कार केवल अपने प्रति है। धर्म का पताका लिये हुए अर्थात् उत्तम साधु के वेष में निकम्मे धंधे (जंजाल) का भार ढोनेवाले (मुझ जैसे) बैल को धिक्कार है।

पाठां०—'धंधक' की जगह 'धंधक' भी पाठ है, पर कोष में उसका भी अर्थ धंधक ही है।

जौं अपने अवगुन सब कहऊँ। बाढ़इ कथा पार नहिं लहऊँ॥५॥
ताते मैं अति अलप बखाने। थोरेहि महँ जानिहहिं सयाने॥६॥

अर्थ—जो मैं अपने सब अवगुणों को कहूँ तो कथा बढ़ जायगी पर पार नहीं पाऊँगा॥५॥ इसीसे मैंने (अपने विषय में) बहुत थोड़ा ही कहा, चतुर लोग थोड़े ही में समझ जायँगे॥६॥

विशेष—'जौं अपने···' मेरे अवगुण अपार हैं, यथा—"जद्यपि मम अवगुन अपार···" (वि० ११८); "मैं अपराधसिंधु ·" (वि० ११७); इत्यादि लिखकर पूरा हो सकता तो लिखता भी, इतने ही से काम नहीं चलेगा। अपने अवगुण-कथन में एक तो बात बढ़ जायगी, दूसरे सयाने तो इशारे से भी जान लेते हैं; अतः, संक्षेप ही में कहा, यथा—"सुंदर सुजान सुसाहिबहिं बहुत कहब बड़ि खोरि।" (अ० दो० ३००)। सरस्वती कृत * अर्थ सयानों के लिये यह भी है कि यह ग्रंथकार का कार्पण्य है, जो शरणागति के छः अंगों (अनुकूलता का संकल्प, प्रतिकूलता का त्याग, भगवान् के द्वारा रक्षा का विश्वास, रक्षा के लिये प्रार्थना करना, आत्म समर्पण और कार्पण्य) में छठा है।

* सरस्वती की [illegible] है। [illegible] सार्थ-[illegible] देखिये।

समुझि विविध विधि बिनती मोरी। कोउ न कथा सुनि देइहि खोरी ॥७॥
एतेहु पर करिहहिं जे असंका। मोहि ते अधिक ते जड़ मति रंका ॥८॥

अर्थ—मेरी अनेकों प्रकार की प्रार्थनाओं को समझकर कोई भी कथा सुनकर दोष न देगा ॥७॥ इतने पर भी जो आशंका (शंका) करेंगे, वे मुझसे भी अधिक मूर्ख एवं बुद्धि के दरिद्र (सिद्ध) होंगे ॥८॥

विशेष—'समुझि···'—मैंने ही कह दिया तो कोई दोष क्यों देगा? शंका का तात्पर्य यहाँ दोष देने में ही है। भाव यह कि जो कोई चतुर हो, कवि हो तो उसकी समालोचना करके दोष निकालना बुद्धिमत्ता है, जड़मति की कविता में दोष निकालना जड़ता ही है। यही बात आगे कहते हैं—

कवि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ। मति-अनुरूप राम गुन गावउँ ॥९॥
कहँ रघुपति के चरित अपारा। कहँ मति मोरि निरत संसारा ॥१०॥
जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं ॥११॥

अर्थ—मैं न कवि हूँ और न चतुर कहलाता हूँ (वा चतुर कहलाने की चेष्टा करता हूँ,), किन्तु मति के अनुसार श्रीरामजी के गुण गाता हूँ ॥९॥ कहाँ तो श्रीरघुनाथजी के अपार चरित और कहाँ मेरी संसार (के विषय) में रचित बुद्धि? ॥१०॥ जिस वायु से सुमेरु आदि पहाड़ उड़ जाते हैं, (उसके सामने) कहिये तो (भला,) रुई किस गिनती में है? ॥११॥

विशेष—(१) प्रथम मणि-मुक्ता के समान कविता से सज्जनों की शोभा कहकर अपना कार्पण्य कहने लगे कि मुझसे वैसी कविता नहीं बन सकती; अत:, इस कविता से मैं न तो कवि और न चतुर कहलाना चाहता हूँ, प्रत्युत मति के अनुरूप ज्यों त्यों करके राम-गुण गाता हूँ। फिर यह प्रश्न होता है, कि क्या इस मति से श्रीराम गुण गा लेंगे? इसपर कहते हैं—

(२) 'कहँ रघुपति···'—कहाँ यह और कहाँ वह? यह बहुत अंतरसूचक है। चरित की अपारता, यथा—"रघुबीर चरित अपार बारिधि पार कवि कौने लह्यो।" (दो० ३६१)। पूर्वोक्त दो० ७ की चौ० ५ भी देखिये। यहाँ से आगे—'करत कथा मन अति कदराई।' तक अपनी कादरता कहते हैं।

(३) 'जेहि मारुत···' श्रीरामचरित रूपी वायु के सामने शारदा शेष आदि वक्ता भी, जो सुमेरु की भाँति हैं, हलके होकर उड़ जाते हैं अर्थात् 'नेति-नेति' कहकर हार मानते हैं, तब रुई के समान हलकी बुद्धिवाला मैं तो उड़ा हुआ हूँ ही।

समुझत अमित राम-प्रभुताई। करत कथा मन अति कदराई ॥१२॥

दोहा—सारद सेष महेस बिधि, आगम निगम पुरान।
नेति-नेति कहि जासु गुन, करहिं निरंतर गान ॥१२॥

अर्थ—श्रीरामजी की अमित प्रभुता को समझकर कथा की रचना करते हुए मेरा मन अत्यन्त कदराता (डरता) है ॥१२॥ सरस्वतीजी, शेषजी, शिवजी, ब्रह्माजी, शास्त्र, वेद और पुराण, जिन (श्रीरामजी) के गुणों को 'नेति-नेति' कहते हुए सदा गाते रहते हैं ॥१२॥

विशेष—(१) 'समुझत ···'—'राम-प्रभुताई'—यथा—"सुनु खगेस रघुपति-प्रभुताई।···"से—"देखि चरित यह सो प्रभुताई।" (उ० दो० ७१-८१) तक तथा—"महिमा नाम रूप-गुन गाथा।" से—"राम अमित गुनसागर,···" (उ० दो० ९०-९२) तक, इत्यादि। 'करत कथा'—शब्द के भीतर जो बातें आती हैं, वे कहने पर अपने अर्थों से सीमित हो जाती हैं। इस प्रकार कहने से 'प्रभुताई' भी शब्दों के अनुसार ही सीमित रूप में अल्प समझी जाती है और तब उसकी लघुता होती है, यथा—"कहिय सुमेरु कि सेर सम, कवि-कुलमति सकुचानि॥" (अ० दो० २८८)।

(२) 'सारद सेष ···'—यहाँ से अपनी कादरता का निवारण और धैर्य का साधन कहते हैं कि उक्त शारदा आदि सातों वक्ता भी 'राम-प्रभुताई' को दिन-रात कहते रहते हैं, फिर भी 'इति' नहीं लगती। सब कोई 'नेति' ('न+इति' अर्थात् इति नहीं हैं,) ही कहते हैं, यथा—"तुमहिं आदि खग मसक प्रजंता। नभ उड़ाहिं नहि पावहिं अंता॥ तिमि रघुपति-महिमा अवगाहा। तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा॥" (उ० दो० ९०); यहाँ सात मुख्य वक्ताओं के नाम दिये गये हैं, इन्हें ही प्रथम 'गिरि मेरु' की उपमा से बतलाया था, क्योंकि ग्रंथकार ने मुख्य सात ही पर्वत माने हैं, यथा—"उदय अस्त गिरिबर कैलासू। मंदर मेरु सकल सुरबासू॥ सैल हिमाचल आदिक जेते। चित्रकूट जस गावहिं तेते॥ बिंध मुदित मन सुख न समाई।" (अ० दो० १३७)। शारदा प्रथम कही गई हैं, क्योंकि वे वक्तृत्व की ही देवता हैं, अतः, सबकी जिह्वा पर रहती हैं।

सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई॥१॥

अर्थ—(उन) श्रीरामजी की उसी प्रभुता को सब जानते हैं, तो भी बिना कहे किसी से नहीं रहा गया।

विशेष—'सोई' वही, जिसके लिये मैं कदराता हूँ और शारदा आदि 'नेति-नेति' कहते हैं। तात्पर्य यह कि वे लोग एक दूसरे को थका हुआ एवं नहीं पार पाया हुआ देखकर भी चुप न रहे, उसी नियम से मैं भी अपनी शक्ति-भर कहने का साहस करता हूँ। इसपर एक आख्यायिका है कि एक समुद्र के तट पर कुछ तैराक इकट्ठे हुए। वे एक-एक कर तैरने के लिये कूदते गये। कोई मील भर पर, कोई आधे मील पर, कोई अधिक, कोई कम दूरी पर डूबते ही चले गये। सब के पीछे एक तैराक कूदा। वह थोड़ी ही दूर पर डूबने लगा। लोगों ने उसे पकड़ लिया और डाँटा कि जब तैरने का साहस नहीं था तब कूदा क्यों? उसने उत्तर दिया कि जैसे सब कूदे, वैसे मैं भी कूदा। वे लोग भी तो पार नहीं ही हो सके।

तहाँ बेद अस कारन राखा। भजन-प्रभाव भाँति बहु भाषा॥२॥

अर्थ—इस (विषय) में वेदों ने ऐसा कारण रक्खा है कि भजन का प्रभाव (प्रकट करने के लिये एक ही ब्रह्म को) बहुत प्रकार से कहा है।

विशेष—प्रथम वेदों ने एक ही ब्रह्म को अनेक नामों से कहा है। उन नामों के अर्थों से प्रकट गुण उस ब्रह्म के विशेषण हुए। उन विशेषणों के अनुकूल भक्त लोग ध्यान करने लगे, तदनुसार ब्रह्म ने रूप धर कर लीला की, उन्हीं गुणों एवं लीलाओं को उपयुक्त अन्य वक्ता लोग गाते हैं कि एक-एक गुण भी निःसीम हैं। उनका अंत न पाकर वक्ता लोग 'नेति-नेति' कहते हैं। यथा—"जो नयन-गोचर जासु गुन नित नेति

कहि श्रुति गावहीं (कि० दो० १)। भगवान् का स्वभाव कल्पवृक्ष के समान है; अतः, जिस विशेषण के द्वारा उनमें जैसा ध्यान होता है, वैसे ही गुणों से वे मनोरथ-पूर्त्ति करते हैं। यथा—"उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूप-कल्पना ॥" (श्रीरामतापनीय)। स्मृति वाक्य भी है—"मणिर्यथा विभागेन नीलपीतादिभिर्युवा। रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात्तथाच्युत ।" इसीलिये आगे वेदों के कहे हुए ब्रह्म के 'एक, अनीह' आदि नाम और फिर उसका अनेक रूपों में आविर्भाव भी कहते हैं—

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा ॥३॥
व्यापक विश्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना ॥४॥
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी ॥५॥

शब्दार्थ—एक = अद्वितीय। अनीह = चेष्टारहित। अरूप = रूप में अनासक्त। अनाम = नामाभिमान-रहित। अज = अजन्मा। सच्चिदानंद = जिसका आनन्द सत् (सदा एकरस रहनेवाला) और चित् (ज्ञानात्मक) हो वा नित्य-चैतन्य आनद रूप। परधामा = जिसका धाम सबसे परे हो। व्यापक = जो सब का आधार एवं सब में हो। विश्वरूप = विराट् रूप। भगवान् = ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज इन छः भगों (ऐश्वर्यों) से पूर्ण।

अर्थ—जो ब्रह्म एक, चेष्टारहित, रूपासक्तिरहित, नामाभिमानरहित, अजन्मा एवं सच्चिदानन्द-स्वरूप है और जिसका धाम सबसे परे है ॥३॥ जो चराचर में व्याप्त है, जगत् ही जिसका शरीर है और जो षडैश्वर्य पूर्ण है, उसीने देह धारण करके अनेकों चरित किये ॥४॥ वह (देह धर करके नाना चरित करना) केवल भक्तों के हित के लिये है, (क्योंकि) वह परम कृपालु और शरणागतों का अनुरागी है ॥५॥

विशेष—(१) यहाँ ब्रह्म के एक, अनीह आदि नौ विशेषण कहे गये हैं। सच्चिदानन्द में सत्, चित् और आनन्द—इस भेद से तीन और लिये जायँगे। नौ से आगे संख्या नहीं है, क्योंकि आगे फिर वह एक और शून्य से दस आदि संख्याएँ चलती हैं। इससे ब्रह्म के अनंत नाम जनाये। यथा—'अनंत नामानी।' (४० दो० ५१) कहा है, इन्हीं नौ विशेषणों को वेद ने भी एक साथ ही कहा है—"एकोदेव. सर्वभूतेषु गूढ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्ष सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥" (कृ० यजु० श्वे० ६।११) अर्थ—एक ही देव सब जीवों में गुप्त रूप से रहता है, सब में व्यापक है, सब प्राणियों का अंतरात्मा है, कर्मों का मालिक है, सब प्राणियों में अधिपति रूप से निवास करता है, सबका साक्षी है, चैतन्यकर्ता और कैवल्य-स्वरूप तथा निर्गुण है।

इनमें अंत का 'निर्गुण' शब्द ब्रह्म का मुख्य वाचक है, यथा—'लागे करन ब्रह्म उपदेसा। ···' फिर इसे ही निर्गुण मत कहा—'निर्गुन मत मम हृदय न आवा।' (उ० दो० ११०), पुन —"अगुन सगुन दुइ ब्रह्म ···' से प्रसंग लेकर वसे ही 'ब्रह्म राम ते।" (दो० २२) कहा। अत, यह विशेष्य भी है, इसलिये निर्गुण शब्द सब के साथ भी लिया जायगा।

'एकोदेव ···'—जो गुणासक्त नहीं है अर्थात् अपने प्रकाश (गुणों) से होनेवाले कर्म-फलों का भोक्ता नहीं है, वह एक ही देव (प्रकाशकरूप से) सब प्राणियों में गुप्तरूप से रहता है, चराचर रूप से पालन करता हुआ भी अपने को गूढ (गुप्त) रखता है, जिससे मोहासक्त जीवों को जगत् में नानात्व का भ्रम होता है, पर है वह 'एक'। संसार के पालन करने के श्रेय से निर्लिप्त (निर्गुण) है, इसीसे अपने को गुप्त रखता है। 'सर्वव्यापी' जल में रस, अग्नि में तेज आदि रूपों से सर्वव्यापी है, फिर भी निर्लिप्त होने से

'अनीह' है। 'सर्वभूतान्तरात्मा'—सब जीवों के शरीरों में अंतर्यामी है, उसीके तेज से रूप-लावण्य है, यथा—'जिमि बिनु तेज न रूप गोसाईं।' (उ० दो० ८१); फिर भी वह इन सब रूपों से निर्लिप्त है, क्योंकि समय पर सब रूपों को मृत्यु-द्वारा नष्ट करता है। अतः, रूप-ममत्वरहित होने से 'अरूप' है। 'कर्माध्यक्षः'—गीता (१८।१४) में देह, इन्द्रियाँ, प्राण, कर्त्ता (जीव) और दैव (ईश्वर)—इन पाँचों के द्वारा शुभाशुभ कर्मों का होना कहा गया है। पाँच में प्रथम तीन तो जड़ ही हैं, चौथा, जीव का कर्त्तृत्व ईश्वराधीन है, क्योंकि वह भगवान् का शरीर है, यथा—"यस्यात्मा शरीरम्" (माध्य० ५।७।२२ बृ० ३।७।२२)। अतः, शरीर के कर्त्तृत्व का अभिमानी शरीरी होता है, इससे वह कर्माध्यक्ष है, पर स्वयं कर्मों से निर्लिप्त है, यथा—"न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।" (गीता ४।१४); अतः, वह 'अज' है, क्योंकि जीवों को कर्म-वश ही नाना जन्म लेने पड़ते हैं और उसके जन्मों (अवतारों) में कर्म हेतु नहीं है। 'सर्व भूताधिवासः'—वह सब जीवों के हृदय में अधिपति-रूप से बसता है, पर उन शरीरों का नामी नहीं होता। अतः, उपर्युक्त रीति से वह 'अनाम' है। 'साक्षी'—जीव पूर्ववासना के अनुसार अनेकों संकल्प करके कर्म करता है, ब्रह्म साक्षी रूप से देखता हुआ, लिप्त नहीं होता, उसीसे सदा एकरस रहता है, अतः 'सत्' रूप है। 'चेता'—सब को चैतन्य करता हुआ स्वयं 'चित्' रूप है। 'केवलः'—वह 'आनन्द' रूप है यथा—'तुरीयमेव केवलम्' (आ० दो० ४); अर्थात् वह आनन्दमय तुरीय में स्थित 'केवल' (शुद्ध ज्ञान) रूप है। 'निर्गुणः'—त्रिगुणात्मिका प्रकृति से परे है, अतः 'परधामा' है।

इस प्रकार नौ विशेषणों के दिखाने का तात्पर्य है। श्रुति—"द्वासुपर्णा······समाने वृक्षे पुरुषो···" (श्वे० ४।५–६) में कहा है कि ईश्वर और जीव दोनों पक्षी की तरह शरीररूप वृक्ष में रहते हैं। जीवशरीर-रूप वृक्ष के कर्मरूप फलों में स्वाद मानकर उनका भोक्ता होकर रहता है और ईश्वर प्रकाशक मात्र रहता है। जीव उस स्वाद में निमग्न हो असमर्थता के कारण मोह को प्राप्त होकर सोचता रहता है। जब अपने सहायक सखा समर्थ ईश्वर की महिमा देखे तब शोकरहित हो, वही महिमा वेद के 'एको देवः···' से कही गई है कि जिससे 'एक-अनीह' आदि नओ विशेषणों के लक्ष्य से जीव क्रमशः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, प्रकृति, और स्वेच्छा नामक नओ आवरणों से मुक्त हो, (इन नओ लक्ष्यों से—नओ आवरणों से छूटना मेरे 'श्रीमन्मानसनाम-वंदना' ग्रंथ में विस्तार से है) जब वेद-वाक्य मात्र से कार्य न हो सका, तब व्यापकादि पाँच रूपों से जीवों के उद्धार का उपाय किया।

(८)—'व्यापक विश्वरूप···'—'व्यापक' अर्थात् अंतर्यामी, 'विश्वरूप' अर्थात् विराट् (पर) रूप, 'भगवान्' में ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज—ये छः ऐश्वर्य, होते हैं, वे ही भगवान् ज्ञान-बल से युक्त संकर्षण; ऐश्वर्य-वीर्य से युक्त प्रद्युम्न और शक्ति-तेज से युक्त अनिरुद्ध-रूप से क्रमशः संहार, उत्पत्ति और पालन करने से व्यूह-रूप कहे जाते हैं। 'तेहि धरि देह'—मत्स्य, कूर्म आदि 'विभव' और 'चरित कृत नाना' से अर्चा रूप हुए, क्योंकि विभव-रूप में भगवान् ने जिस प्रकार जो चरित किये हैं, उनके पार्थिव आदि आठ प्रकार के विग्रहों से अर्चा रूप होते हैं। इस प्रकार इस अर्द्धाली में ईश्वर की पंचधा स्थिति कही गई है।

जैसे किसी का प्यारा पुत्र किसी कारण जेलखाने में आ पड़े तो उसके छुड़ाने के लिये उसी मार्ग से (स्वेच्छापूर्वक-कृपावश) पिता भी जाता है और उसके सहित लौटने में व्यतिक्रम से उन्हीं मुकामों को तय करता हुआ आता है, वैसे प्रिय पुत्र रूप जीव क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी में आकर बद्ध हुआ सोचता है। इन पाँचो तत्त्वों के क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध—इन पाँचो विषयों से छुड़ाने के लिये क्रमशः पाँचो तत्त्वों को स्वेच्छा एवं निर्लिप्ततापूर्वक धारण करते हुए ईश्वर के पाँच रूप होते हैं।

ब्रह्म का पहला व्यापक (अंतर्यामी) शरीर आकाश है। यथा—"यद्वाऽकाश सनातनम्।" (वाल्मी० उ० स० ११०); यहाँ सनातन आकाश-रूप मे व्यापक ही कहा है तथा—"स पर्यगाच्छुक्रमकायम्' (यजु० अ० ४०, मंत्र ८)—यहाँ भी 'परि-अगात्' से आकाश के समान कहा है। इसका वर्णन ऊपर 'एको देवः…' में हो गया। आकाश का विषय शब्द है, उसके सुनने से उसके अर्थ से उत्पन्न विषयों मे कामनाएँ होती हैं, जिनका विस्तार आकाश के समान है। वे कामनाएँ उपर्युक्त एक-अनीहादि के लक्ष्य से निवृत्त होती हैं।

दूसरा, विराट् रूप धारण करना ब्रह्म का वायु तत्त्व मे आना है, क्योंकि वह इस रूप मे कर्म-परिणाम रूप जगत् को अपने शरीर में धारण करता है। कर्म प्राणवायु की चेष्टाओं से होते हैं और कर्मेन्द्रिय हाथ भी पवन-तत्त्व का है। अतः, संपूर्ण जगत् के द्वारा निष्पन्न कर्मों का कर्त्ता स्वयं ब्रह्म ही हुआ, क्योंकि शरीर द्वारा किये गये कर्म शरीरी के कहे जाते हैं। इस रूप के ज्ञान से कर्म के कर्तृत्वाभिमान से जीव की रक्षा होती है। यही वायु के विषय से रक्षा है।

तीसरा, व्यूहरूप धारण करना ब्रह्म का अग्नि-तत्त्व में आना है, क्योंकि व्यूह देवरूप हैं। देवताओं के शरीर अग्नि, वायु और आकाश—इन तीन ही तत्त्वों के होते हैं। उनमे अग्नि प्रधान रहता है। व्यूह के तीन रूप हैं—संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। ब्रह्मरूप वासुदेव के उपर्युक्त छः ऐश्वर्यों में प्रत्येक व्यूहरूप के दो-दो ऐश्वर्य होते हैं। संकर्षण का स्वरूप 'ज्ञान'मय होता है। वे 'बल' अर्थात् विराग-द्वारा मोह का संहार करते हैं, यथा—'जब उर बल बिराग अधिकाई।' (उ० दो० १२१)। प्रद्युम्न का रूप 'ऐश्वर्य'मय होता है। वे 'वीर्य' से दिव्य गुण उत्पन्न करते हैं। अनिरुद्ध का रूप 'तेज'मय होता है। वे 'शक्ति' से भक्ति-द्वारा पालन करते हैं। इस (व्यूह) रूप से जीव की रक्षा अग्नि के रूप-विषय से होती है, क्योंकि रूप में आसक्ति ही मोह है—'मोह न नारि नारि के रूपा।' (उ० दो० ११५) तथा—'मुनिहिं मोह मन हाथ पराये।' (दो० १३३); पुनः मोह से बुद्धि नष्ट हो जाती है, यथा—"मुनि मति-बिकल मोह मति नाठी।" (दो० १३४) अतः, दिव्य गुण नहीं उपजते। रूपासक्तिरूपी कामुकता से भक्ति नहीं हो पाती, यथा—" ……कामिहिं हरि कथा। ऊसर बीज बये फल जथा।" (सुं० दो० ५७)। वे तीनों (मोह, बुद्धि-नाश, भक्ति-नाश) दोषों का निवारण इस (व्यूह) रूप से करते हैं। यही अग्नि के विषय से रक्षा है।

चौथा, विभवरूप धारण करना ब्रह्म का जल-तत्त्व में आना है; क्योंकि वे रज-वीर्य से होनेवाले शरीरों के समान बाल, युवा आदि अवस्थाओं को अपने दिव्य रूप में धारण करते हैं। इससे असुरों का संहार और धर्म-संस्थापन के द्वारा साधुओं की रक्षा होती है। जीवमें कामादि आसुरी संपत्ति की प्रबलता रसना के द्वारा षट्रस पदार्थों से होती है। रसना-द्वारा इस रूप के लीला-गान से हृदय की आसुरी संपत्ति का नाश होकर धार्मिक वृत्ति होती है, इससे जीव रूप साधु की रक्षा जल के रस विषय से होती है।

पाँचवाँ, अर्चा-रूप में पाषाण आदि के विग्रहों मे आना ब्रह्म का पृथ्वी-तत्त्व मे आना है। इनका सेवक (साधक)-अपनी देह और तत्संबंधी वस्तुएँ इन्हीं (अर्चारूप) को अर्पण कर, सेवा में ही आयु समाप्त कर देता है; इससे वह पार्थिव देह सम्बन्धी तीनों (देव, पितृ, ऋषि) ऋणों से मुक्त हो जाता है; यथा—"देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना य शरणं शरण्यं गतं मुकुन्दं परिहृत्य कृत्यम्॥" (श्रीमद्भागवत ११ स्कंध), यही पृथ्वी के विषय से रक्षा होती है।

जीव प्रतिलोम—उल्टी रीति से इन पाँचों रूपों की उपासना करता हुआ उत्तरोत्तर अवस्थाओं का लाभ करता जाता है, क्योंकि इसे नीचे से ऊँचे चढ़ना है। अत, यह क्रमशः अर्चा, विभव, व्यूह, पर (विराट्) और अतर्यामी के ज्ञान का अधिकारी होता है। जैसे जीव ब्रह्म के प्रथम अर्चा रूप की आराधना करता हुआ,

उसी की सेवा के साथ-साथ विभव आदि का अनुभव करेगा, अन्त में परिज्ञान सहित 'पर' की आराधना से अन्तर्यामी के साक्षात्कार करने में समर्थ होगा। भगवान् प्रत्येक अवस्था में षडैश्वर्य पूर्ण ही रहते हैं। इस पंचधास्थिति का विस्तार पंचरात्र एवं रहस्य ग्रंथों में है, यथा—"स एव करुणासिंधुर्भगवान्भक्तवत्सल। उपासकानुरोधेन भजते मूर्त्तिपंचकम्॥ तदर्चाविभवव्यूहसूक्ष्मान्तर्यामिसञ्ज्ञकम्। यदाश्रित्यैव चिद्वर्गस्तत्तज्ज्ञेय प्रपद्यते॥ पूर्वपूर्वोदितोपास्ति विशेषक्षीणकल्मष। उत्तरोत्तरमूर्त्तीनामुपास्त्यधिकृतो भवेत्॥" इन श्लोकों के भावार्थ उपर्युक्त ही हैं।

इसमें आराधन क्रम है और श्रीगोस्वामीजी ने भगवान् के रूप धरने का क्रम लिखा है। शेष करुणासिन्धु भक्तवत्सल आदि विशेषण दोनों में समान हैं।

(३) 'सो केवल ''' ऊपर के प्रसंग में स्पष्ट है कि भक्तों के ही लिये भगवान् ने पाँच रूप धरने की कृपा की, यथा—"तुम सारिखे संत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहिं आन निहोरे॥" (सु० दो० ४०), राम सगुन भये भगत प्रेमबस।" (अ० दो० २१८), 'अवतरेउ अपने भगत हित, " (दो० ५१) तथा 'भगत-हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप।" (उ० दो० ७२)। 'केवल'—दुष्टों का नाश और धर्म स्थापना साधुरक्षा के ही अंग हैं। ऊपर विभव प्रसंग देखिये। 'परम कृपाल'—कृपा से ही सब रूप धारण करते हैं, यथा—कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं। (दो० १२१) एवं भये प्रगट कृपाला " (दो० १९१)। महर्षि शाण्डिल्य भी इस विषय में कहते हैं— मुख्यं तस्य हि कारुण्यम्।" इत्यादि।

सम्बन्ध—इसी परम कृपालुता को आगे दो अर्द्धालियों में दिखाते हैं—

जेहि जन पर ममता अति छोहू। जेहि करुना करि कीन्ह न कोहू॥६॥
गई बहोर गरीब - निवाजू। सरल सबल साहिब रघुराजू॥७॥

अर्थ—जिसके (हृदय में) अपने दास पर ममता और दया है, जिसने करुणा करके फिर क्रोध नहीं किया॥ ६॥ जो गई हुई वस्तु को दिलानेवाले, गरीबनिवाज, सरलस्वभाव, सबल, समर्थ स्वामी और रघुकुल के राजा हैं॥ ७॥

विशेष—(१) 'जेहि जन ' ऊपर के 'परम कृपाल' को 'अति छोहू' और 'प्रनत अनुरागी' को 'ममता' शब्द से व्यक्त किया। अति 'छोहू' के कारण ही भक्त को शरणागत होते ही आप (श्रीभगवान्) स्वीकार करते हैं और उसके सब अपराध भूल जाते हैं, यथा—"कोटि बिप्रबध लागहिं जाहू। आये सरन तजउँ नहिं ताहू॥ सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥' (सु० दो० ४४)।

उपर्युक्त 'प्रनत अनुरागी' के प्रति यह संदेह हो सकता है कि फिर क्रोध भी करते होंगे, क्योंकि राग के साथ द्वेष भी होता है। यहाँ उसका निवारण किया कि आप जिसपर 'ममता' और 'छोह' करते हैं, उस पर क्रोध नहीं करते, यथा—"जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्ह कुचाली॥ सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहुँ सो न राम हिय हेरी।" (दो० २८) तथा—"कथंचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति। न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥" (वाल्मी० अ० १।११)। क्रोध न करने का कारण आपकी पूर्ण समर्थता है, क्योंकि कम सामर्थ्य होने पर क्रोध होता है, यथा—"भली भाँति जाने पहिचाने साहिब जहाँ लौं जग जूड़े होत थोरे ही थोरे हो गरमे॥" (वि० २५१)। फिर ममता के कारण यह विचारते हैं कि जब यह मेरा है तब मुझे सँभालना था, मेरे ध्यान न देने पर ही इसमें यह विकार हो

गया। अतः, इसका दोष नहीं है। करुणा गुण ही दूसरे के दुःख दूर करने की प्रेरणा करता रहता है। अतः, दास के दोष चित्त में आने नहीं पाते। यथा—"सरल प्रकृति ··· करुनानिधान की। ··· दास दोष सुरति चित रहति न दिये दान की ॥" (वि० ४२)।

(२) 'गईबहोर ···।' राजा दशरथ का कुल जा रहा था, जन्म लेकर आपने उसे लौटाया। विश्वामित्र का यज्ञ भी बंद हो रहा था, बाहु-बल देकर सम्पन्न कराया। अहल्या का पातिव्रत्य पुनः प्राप्त कराया एवं गौतम को उनकी गई हुई स्त्री लौटा दी। सुग्रीव का गया हुआ राज्य फिर प्राप्त कराया। देवताओं की संपत्ति रावण-द्वारा छिन गई थी, फिर से लौटा दी। यथा—"दसमुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाये नाक चना है। सुबस बसे गावत जिनके जस अमर नाग नर सुमुखि सनाहै॥" (गीतावली उ० १३)।

'गरीब-निवाज'—यथा—"बालि बली बलसालि दलि, सखा कीन्ह कपिराज। तुलसी राम कृपाल को, बिरद गरीब-निवाज ॥" (दोहावली १५८) तथा—"राम कृपाल निषाद निवाजा।" (अ० दो० १४६)। भगवान् ने 'गहोरा (जंगली देश) वासियों एवं कोल-किरातों को निहाल किया। ऐसे उदाहरण अयोध्याकांड-भर में तथा अन्यत्र भी बहुत हैं। 'सरल'—यथा—"राम कहा सब कौसिक पाहीं। सरल सुभाव छुआ छल नाहीं ॥" (दो० २३६); "सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि, जाइ जाइ सुख दीन्ह ॥" (आ० दो० ६)। 'सबल'—यथा—"तव भुजबल महिमा उदघाटी। प्रगटी धनु-विघटन परिपाटी ॥" (दो० १३८)। "देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती।" (कि० दो० ६); "अतुलित बल अतुलित प्रभुताई।" (आ० दो० १)।

'साहिब'—यथा "बड़ी साहिबी मे नाथ बड़े सावधान हो।" (कविता० उ० १२६); "हरि तजि और भजिये काहि। नाहिंने कोउ राम सों ममता प्रनत पर जाहि॥ · " (वि० २१६) तथा—"नाहि न भजिवे जोग बियो। श्रीरघुनाथ समान आन प्रभु पूरन कृपा हियो ॥" (गीतावली, सुं० ४६) एवं "सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई ॥" (लं० दो० २१)।

'रघुराजू'—रघुकुल में एक-से एक शरणपाल राजा हुए हैं, उनमें आप श्रेष्ठ हैं। आपका-सा राज्य भी किसी ने नहीं किया। यथा—"राम-राज बैठे त्रैलोका। हरषित भये गये सब सोका ॥"·· से "बिधु महि पूरि मयूखन्हि, रवि तप जेतनहिं काज। माँगे बारिद देहि जल, रामचन्द्र के राज ॥" (उ दो० २२) तक देखिये।

(३) आप भक्तों के लिये 'सरल' हैं, राक्षसों के मारने को 'सबल' भी हैं और तीनों लोकों की रक्षा करने को 'साहिब' (समर्थ) हैं। धर्म-रक्षा तो 'रघुराज' शब्द से ही ध्वनित है।

(४) श्रीराम मे पूर्व के सातों अवतारों के गुण सूचित किये गये हैं, क्योंकि ये सबके अवतारी हैं। यथा—'गईबहोर' में मीन, कमठ, वाराह के गुण हैं। मीन रूप द्वारा शंखासुर से वेद लाकर ब्रह्मा को लौटाया, कमठ रूप से समुद्र मथाकर लक्ष्मी को फिर प्रकट किया जो दुर्वासा के शाप से समुद्र में लुप्त हो गई थीं। वाराह-रूप से हिरण्याक्ष से पृथ्वी को लौटा लाये। 'गरीब निवाजू' से नृसिंह-अवतार के गुण जनाये जिन्होंने दीन प्रह्लाद की रक्षा की थी। 'सरल' से वामन-अवतार के गुण जनाये, क्योंकि प्रभुता छोड़कर भीख माँगी। 'सबल' से परशुराम के गुण सूचित किये, क्योंकि उन्होंने बल से पृथ्वी को इक्कीस बार क्षत्रियरहित किया। 'साहिब रघुराजू' से श्रीरामरूप के गुण जनाये, क्योंकि इस अवतार से सम्पूर्ण वानरों और ऋक्षों को निःशुल्क सेवक बनाकर दुष्टों का निग्रह और आश्रितों की रक्षा की। पुनः रघुवंशियों की गद्दी पर राज्य शासन किया।

(५) इसमें सातो कांडों के चरित भी सूचित किये गये हैं। 'गईबहोर' से बालकांड, इसमें विश्वामित्र अहल्या, गौतम, जनक आदि के प्रति उनकी खोई हुई वस्तु लौटा लेने की बात ऊपर विशेष (२) में लिखी

गई है। 'गरीब निवाज़' के उदाहरण अयोध्या कांड के दिये गये हैं। 'सरल' से आरण्य कांड सूचित हुआ, क्योंकि इसमें भगवान् ने सब मुनियों के आश्रमों में जा-जाकर सुख दिया है। 'सबल' से किष्किंधा सूचित है। कारण, बलशाली बालि का वध एवं बली वानरों को वशीभूत करना है। 'साहिब' से सुन्दर और लंका दोनों जनाये, क्योंकि भगवान् ने श्रीसीताजी का पता लगा सेना के साथ जाकर समुद्र को वश किया, भगवान् ने विभीषण को शरण में लिया, उसके विरोधी को मारकर उसे राज्य दिया और श्रीसीता-सम्बन्धी प्रतिकार भी रावण के प्रति किया। 'रघुराजू' से उत्तर जानना चाहिये क्योंकि इसमें रघुवंशियों की गद्दी पर उत्तम रीति से राज्य किया।

बुध बरनहिं हरिजस अस जानी। करहिं पुनीत सुफल निज बानी ॥८॥
तेहि बल मैं रघुपति-गुनगाथा। कहिहउँ नाइ रामपद माथा ॥९॥
मुनिन्ह प्रथम हरि-कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहिं भाई ॥१०॥

शब्दार्थ—सुफल = वाणी की सफलता उसके सत्य होने में है, ईश्वर के विषय में जितना भी बढ़ाकर कहा जाय—सत्य ही होगा। मोहिं भाई = हे भाई ! मुझे वा मेरी समझ में।

अर्थ—ऐसा (जो ऊपर तीन अर्द्धालियों में कहा गया) जानकर बुद्धिमान् मनुष्य हरि-यश का वर्णन करते हैं, उससे अपनी वाणी को पवित्र और सुफल करते हैं ॥८॥ उसी के बल से मैं श्रीरामजी के चरणों को शीश नवाकर, उन्हीं रघुपति के गुणों की कथा कहूँगा ॥९॥ मुनियों ने प्रथम भगवान् की कीर्ति गाई है, उसी मार्ग पर चलना मेरी समझ में सुगम है। (वा हे भाई ! उसी मार्ग पर चलना मेरे लिये सुगम है।)

विशेष—(१) 'करहिं पुनीत'—यथा—"निज गिरा पावनि करन कारन रामजस तुलसी कह्यो ॥" (दो० १११); यहाँ यश गाने का यह भी प्रयोजन कहा।

(२) 'तेहि बल···' (क) उपर्युक्त वाणी के पावन एवं सफलता के लिये 'रघुपति गुनगाथा' कहता हूँ। (ख) बुधों अर्थात् पंडितों को ऐसा करते देखकर मैंने श्रीरामचरित-वर्णन को उचित समझा; अतः, मुझे भी अधिकार है। (ग) जैसे पंडित श्रीरामजी का वर्णन उन्हें 'गईबहोर···' आदि जानकर करते हैं, वैसे मैं भी 'कहिहउँ' अर्थात् आगे कहूँगा, तब माथा नवाकर—"अब रघुपति-पद-पंकरुह, हिय धरि पाइ प्रसाद। कहउँ 'जुगल···' (दो० ४२)—वर्णन करने लगूँगा, अभी तो वंदना करता हूँ।

(३) 'मुनिन्ह प्रथम···' पूर्व बहुत मुनियों ने गाया है, वही मार्ग मैं भी ग्रहण करूँगा। मार्ग का भाव यह है कि बाल, वन एवं रण-चरित आदि जिस क्रम से गाये हैं, उसी क्रम से मैं भी कहूँगा। पुनः भाव के साथ गाने से प्रभु प्रसन्न होते हैं; अतः, यह भी भजन का एक मार्ग है, यथा—"तदपि कहे बिनु रहा न कोई।" (उपर्युक्त); "यहि भाँति निज-निज मति-बिलास मुनीस हरिहिं बखानहीं। प्रभु भावगाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सचु पावहीं ॥" (उ० दो० ११)।

सम्बन्ध—मार्ग की सुगमता आगे के दोहे में दृष्टान्त-द्वारा कहते हैं—

दोहा—अति अपार जे सरित बर, जौं नृप सेतु कराहिं।
चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु, बिनु श्रम पारहिं जाहिं ॥१३॥

येहि प्रकार बल मनहि देखाई । करिहउँ रघुपति-कथा सुहाई ॥१॥

अर्थ—जो बड़ी नदियाँ अत्यन्त अपार (दुस्तर) हैं उनपर यदि राजा पुल बनवा दें तो अत्यन्त छोटी-छोटी चींटियाँ भी बिना परिश्रम के पार चली जाती हैं ॥१३॥ इस प्रकार का बल मन को दिखाकर श्रीरघुनाथजी की शुभ कथा कहूँगा ॥१॥

विशेष—(१) 'अति अपार'···' ऊपर 'कहँ रघुपति के चरित अपारा ।' कहा था, इसीलिये अपार नदी की उपमा दी। समुद्र साधारणतः अपार होता ही है, उसकी उपमा न दी, क्योंकि अभी ऊपर चरित को 'कीरति' कह आये हैं, आगे भी 'रघुपति कथा' कहेंगे; इसलिये स्त्रीलिंग के विचार से 'अति अपार' कहकर नदी ही की उपमा दी है। यहाँ उपमान—उपमेय सरितवर—रामयश, नृप—वाल्मीकि आदि, सेतु—उनके ग्रंथ हैं, 'कराहिं' धर्म है, वाचक शब्द (जिमि, इव आदि) लुप्त हैं, अतः, वाचक-लुप्तोपमालंकार है।

(२) 'येहि प्रकार बल ···' ऊपर 'तेहि बल मैं'···' कहा था, यहाँ फिर 'येहि प्रकार बल'···' कहा। इसका तात्पर्य यह है कि प्रथम—"समुझत अमित राम प्रभुताई । करत कथा मन अति कदराई ॥" से मन के कदराने का प्रसंग लेकर 'तेहि बल मैं'···' तक के प्रसंग से मन को धैर्य देकर प्रवृत्त किया। फिर मन को पार जाने मे संशय आ पड़ा, तब 'मुनिन्ह प्रथम'···' से इसका प्रसंग लेकर यहाँ 'येहि प्रकार'···' पर पूरा किया।

ऊपर 'तेहि बल मैं ·· कहिहउँ नाइ राम'···' कहा था और यहाँ 'करिहउँ रघुपति कथा सुहाई ।' कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि ऊपर 'बुध बरनहिं हरिजस'···' के बल पर अपने लिये भी वर्णन के पर्याय में 'कहिहउँ' पद दिया और यहाँ 'नृप सेतु कराहिं' के बल पर अपने लिये भी 'करिहउँ' दे रहे हैं कि मैं भी दूसरों के लिये वैसा ही करूँगा, यह ध्वनित किया। 'सुहाई'—कथा सुन्दर है, अतः, मुझे प्रिय लगती है और सबको प्रिय लगेगी, यथा—"प्रिय लागिहि अति सबहिं मम, भनिति राम-जस संग ।" (दो० १०)।

कार्पण्य-युक्त वंदना का प्रकरण समाप्त

ब्यास आदि कविपुंगव नाना । जिन्ह सादर हरि-सुजस बखाना ॥२॥
चरन-कमल बंदउँ तिन्ह केरे । पुरवहु सकल मनोरथ मेरे ॥३॥

अर्थ—व्यास आदि अनेक कवि श्रेष्ठ (हुए), जिन्होंने आदर के साथ हरि-सुयश कहा है ॥२॥ उन सबके चरण-कमलों की वंदना करता हूँ, आप (वे) सब मेरे मनोरथ को पूरा करें ॥३॥

विशेष—(१) 'व्यास आदि · ' पहले कहा था—'मुनिन्ह प्रथम हरि-कीरति गाई ।' यहाँ 'कवि पुंगव' कहकर उनकी ही वंदना करते हैं, क्योंकि वंदना ऐश्वर्यवान् की की जाती है। 'नाना' से यहाँ अगस्त्य, वशिष्ठ, नारद आदि हैं। व्यासजी को आदि में रखकर उन्हें परम समर्थ सूचित किया, क्योंकि वे भगवान् के २४ अवतारों में हैं तथा १८ पुराणों एवं वेदों के भी शिरोभाग वेदान्तशास्त्र के रचयिता हैं। वे सत्यवती और पराशर ऋषि के पुत्र तथा श्रीशुकदेवजी के पिता हैं। उन्होंने ही संजय को दिव्यदृष्टि दी थी जिससे वे घर बैठे हुए धृतराष्ट्र को महाभारत का हाल कहते थे। ग्रंथकार भी व्यासजी से वैसी ही दिव्य दृष्टि चाहते हैं, जिससे श्रीरामचरित सूझे, इसी लिये उन्हें आदि में रक्खा और बड़ाई दी अन्यथा उनसे पहले के नारद-पराशर आदि भी कविपुंगव ही हैं।

'सादर बखाना'—मन से स्नेह-समेत, बुद्धि से समझकर, सावधानता पूर्वक और चित्त से हर्षित होकर कहना आदर-सहित है, यथा—"जे येहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहि सुनिहहिं समुझि सचेता॥" (दो० १४); "रघुपति चरित महेस तब, हरषित बरनइ लीन्ह।" (दो० १११) तथा "सुनहु तात मन-मति चित लाई।" (आ० दो० १४)।

कलि के कबिन्ह करउँ परनामा। जिन्ह बरने रघुपति-गुनग्रामा॥४॥
जे प्राकृत कबि परम सयाने। भाषा जिन्ह हरिचरित बखाने॥५॥
भये जे अहहिं जे होइहहि आगे। प्रनवउँ सबहि कपट सब त्यागे॥६॥

अर्थ—मैं कलियुग के (उन) कवियों को प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने श्रीरघुनाथजी के गुण-समूह का वर्णन किया है॥४॥ जो परम चतुर प्राकृत कवि हैं, जिन्होंने भाषा में हरि-चरित का बखान किया है॥५॥ और जो (ऐसे कवि) हो गये एवं मौजूद हैं तथा जो आगे होंगे, उन सबको समस्त कपट छोड़कर (मैं) प्रणाम करता हूँ॥६॥

विशेष—(१) 'कलि के कबिन्ह ···' उपर्युक्त व्यासादि को सत्ययुग, त्रेता और द्वापर के कवि व्यक्त किया। उन्हें 'कबिपुंगव' एवं 'चरनकमल बंदउँ' कहा। कलियुग के कवियों को केवल 'प्रनवउँ' कहा; अतः, यथायोग्य सम्मान दिया। व्यासादि तीन युगों के कवियों को एक श्रेणी में रक्खा, कलि के कवियों के दो भाग किये—एक संस्कृत के कालिदास एवं भवभूति आदि की वन्दना इसी अर्द्धाली में की। दूसरी श्रेणी में भाषा के कवियों को रक्खा, इन्हें 'जे प्राकृत ··' से कहते हैं।

(२) 'जे प्राकृत कबि ··' प्राकृत गुण-विशिष्ट नायकों का यश रचनेवाले, यथा—"यह प्राकृत-महि-पाल-सुभाऊ।" (दो० २०); इन्हें 'परम सयाने' इसलिये कहा कि संस्कृतवालों ने समय पर ध्यान नहीं दिया कि इस कलि में संस्कृत के ज्ञाता बहुत कम होंगे और इन्होंने समयानुसार भाषा में सबके लिये 'हरि चरित' सुलभ कर दिया।

(३) 'भये जे अहहिं ··' 'भये' अर्थात् जो पूर्व हो चुके, यथा—चन्द कवि, विद्यापति ठाकुर आदि; 'अहहिं'—वर्त्तमान के सूरदास, केशवदास आदि और जो आगे भविष्य में होंगे।

(४) तीनों श्रेणियों के प्रति—'जिन्ह सादर हरि सुजस बखाना।' 'जिन्ह बरने रघुपति गुनग्रामा।' एवं 'भाषा जिन्ह हरिचरित बखाने।' कहा है अर्थात् इन तीनों में प्रयोजन हरिचरित-वर्णन का सम्बन्ध लेकर ही है।

(५) 'कपट सब त्यागे'—भाषावाले कवियों के प्रति कपट की संभावना है कि ऊपर से प्रणाम करता है, भीतर से बराबरी करने का अभिप्राय है अथवा इस स्वार्थ से कि कोई मेरे ग्रंथ की निन्दा न करें। पुन भविष्यवालों के प्रति भी प्रणाम किया है। वे छोटे होते हैं, ; अत, उनके प्रति कपट नहीं समझा जाय। इन सब प्रकारों के कपट त्याग कर सद्भाव से प्रणाम करता हूँ।

पाठान्तर—'कपट सब' की जगह 'कपट छल' भी पाठ है, इसमें 'कपट' का अर्थ भेद-भाव और छल का पूर्णता है।

होहु प्रसन्न देहु बरदानू। साधु-समाज भनिति सनमानू॥७॥

जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं । सो श्रम बादि . बाल कवि करहीं ॥८॥
कीरति भनिति भूति भलि सोई । सुरसरि-सम सब कहँ हित होई ॥९॥

शब्दार्थ—प्रबंध = काव्य = निबंध । बादि = व्यर्थ । बाल = मूर्ख । भूति = ऐश्वर्य ।

अर्थ—आपलोग प्रसन्न होकर वरदान दें कि इस मेरी कविता का आदर साधु-समाज में हो ॥७॥ क्योंकि जिस कविता का आदर बुध (साधु) नहीं करते, उसका श्रम ही व्यर्थ है—ऐसा काव्य मूर्ख कवि करते हैं ॥८॥ कीर्त्ति, कविता और ऐश्वर्य वे ही अच्छे हैं, जो श्रीगंगाजी के समान सबको उपकार करनेवाले हों ॥९॥

विशेष—(१) 'जो प्रबंध बुध ···' साधु-समाज में काव्य का सम्मान माँगने से संदेह हो सकता है कि तुम यश चाहते हो । उसका निराकरण करते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि इसमें मैं आत्मश्लाघा नहीं करता, प्रत्युत श्रम की सफलता चाहता हूँ। साधुओं में सम्मान के योग्य कैसी कविता होती है, इसे कहते हैं—

(२) 'कीरति भनिति···' जैसे भगीरथजी बड़े श्रम से श्रीगंगाजी को पृथिवी पर ले आये, जिससे उनके ६०००० 'पुरखा' तरे और आज तक गंगाजी से संसार भर का हित हो रहा है । गंगाजी प्राणिमात्र का हित करती हैं; वैसे कविता भी पवित्र और श्रीरामयश से युक्त तथा सरल हो जिससे प्राणिमात्र का हित हो सके । साथ ही वह 'निज संदेह-मोह-भ्रम-हरनी ।' भी हो एवं 'सकल जनरंजनि' तथा 'भव-सरिता तरनी ।' होकर श्रीगंगाजी की तरह मोक्ष भी देनेवाली बने ।

इसी तरह कीर्त्ति भी परोपकार एवं दान-पुण्य द्वारा निःस्वार्थ भाव से हो, जिससे अपना और जगत् का हित हो । ऐश्वर्य भी जो संसार के हित सम्बन्धी है, वही गंगाजी के समान हितकर है, अन्यथा खुशामद से ऊँचा पद पा प्रजा को चूसकर सम्मान पाना भला नहीं है ।

उपमान-रूपा श्रीगंगाजी त्रिपथगामिनी हैं; अतः उपमेय भी तीन कहे गये ।

राम - सुकीरति भनिति भदेसा । असमंजस अस मोहि अँदेसा ॥१०॥
तुम्हरी कृपा सुलभ सोउ मोरे । सिअनि सुहावनि टाट पटोरे ॥११॥
करहु अनुग्रह अस जिय जानी । बिमल जसहिं अनुहरइ सुबानी ॥१२॥

शब्दार्थ—असमंजस = दुविधा । अँदेसा = चिन्ता । पटोर = रेशमी वस्त्र । अनुग्रह = कृपा । अनुहरइ = सुरूपता (योग्यता) पावे ।

अर्थ—श्रीरामजी की कीर्त्ति सुन्दर है और मेरी वाणी भद्दी है; यह असमंजस है, इसी की मुझे चिन्ता है ॥१०॥ आप (कवि-कोविदों) की कृपा से वह भी मुझे सुलभ हो सकता है, (कि मेरी कविता कीर्त्ति के योग्य हो जाय) जैसे रेशम की सिलाई से टाट सुशोभित होता है ॥११॥ ऐसा जी में जानकर कृपा कीजिये कि मेरी सुन्दर वाणी निर्मल हरिचरित-वर्णन करने के योग्य हो जावे ॥१२॥

विशेष—(१) 'असमंजस अस···' मेरी वाणी कीर्त्ति के योग्य नहीं है । यदि इस असंगति से संत इसे ग्रहण न करें तो न कहना ही भला, पर रुचि प्रबल है; अतः, बिना कहे भी नहीं रहा जाता । पर 'अँदेसा' इसी बात का आ पड़ा है कि कहीं मेरी भद्दी वाणी के संग से श्रीरामयश की न्यूनता न हो, जैसे

नीच मनुष्यों के नाम-सम्बन्ध से देवी-देव के नाम भी निरादर से पुकारे जाते हैं, यथा—"तुलसी गुरु लघुता लहत, लघु संगति परिनाम। देवी देव पुकारियत, नीच नारि नर नाम॥" (दोहावली ३६०)।

(२) 'तुम्हरी कृपा सुलभ...' इसमें 'पटोरे' और 'रामचरित्र', 'टाट' और मेरी 'भदेस भनिति' क्रमशः उपमान और उपमेय हैं। 'सुहावनि' धर्म है, वाचक जिमि-तिमि आदि लुप्त हैं; अतः, वाचक-लुप्तोपमालंकार है।

पूर्व 'रामचरित वर ताग' कह भी आये हैं, अतः, यहाँ भी वह 'पटोरे' (रेशम) के अर्थ में होगा। भद्दी 'भनिति' की उपमा टाट से दी गई, क्योंकि सर्वसाधारण लोगों में टाट का उस समय अधिक महत्त्व हो जाता है, जब दस भाई इकट्ठे होकर उसपर बैठते हैं, तब 'अमुक जगह टाट पड़ा है' इस तरह प्रशंसा होती है। इसी तरह कविता में श्रीरामचरित रूपी 'बर ताग' की 'सुहावनि सियनि' है ; क्योंकि अच्छी सीवन से मोटे वस्त्र की भी शोभा बढ़ जाती है। उस सम्बन्ध से इसे सुशोभित देखकर आपलोग कृपा करके ग्रहण करेंगे तो इसकी भी शोभा हो जायगी, यही मेरे श्रम की सफलता होगी, तब वह असमंजस दूर हो जायगा, क्योंकि संतों के ग्रहण से सब यही कहेंगे कि योग्य है, तब संतों ने इसे अपनाया ; यही सुलभता है।

जैसे टाट में रेशम के तागे की 'सुहावनि सियनि' दूर से चमकती है और सब की दृष्टि 'सियनि' की उत्तमता पर ही जाती है, वैसे इसमें 'सरल कवित कीरति बिमल' है, इसके अर्थ और भाव सर्व-साधारण को भी सुस्पष्ट बोध होंगे—यही चमकना है, तब भाषा की न्यूनता न देखकर लोग इसके चरित-चित्रण की ही प्रशंसा करेंगे।

(३) 'करहु अनुग्रह...' अर्थात् टाट पर रेशम की 'सियनि' है, इसे अपने जी में जानकर अनुग्रह कीजिये कि टाट के समान मेरी वाणी रेशम के तुल्य हो जाय, तब रेशम में 'रेशम की सियनि' के योग्य हो। जैसे आजकल पाट (सन) को साफ करके रेशम की तरह बड़े चमकीले वस्त्र आदि वस्त्र बनाये जाते हैं, उसी प्रकार आपलोग 'बिमल मति' देंगे तो 'सरल कवित' में ही निर्मल कीर्त्ति का सुन्दर चित्रण होगा, यही वस्त्र की तरह रेशम की तुल्यता है, इसी का स्पष्टीकरण आगे तीन दोहों द्वारा करते हैं—

दोहा—सरल कबित कीरति बिमल, सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बैर बिसराइ रिपु, जो सुनि करहिं बखान॥
सो न होइ बिनु बिमल मति, मोहि मति-बल अति थोर।
करहु कृपा हरि-जस कहउँ, पुनि-पुनि करउँ निहोर॥
कबि कोबिद रघुबर चरित, मानस - मंजु - मराल।
बाल-बिनय सुनि सुरुचि लखि, मोपर होहु कृपाल॥

शब्दार्थ—सरल कवित=प्रसाद गुण की कविता जिसका आशय सुनते ही समझ में आ जाय। कीरति बिमल = (श्रीरामजी की) निर्मल कीर्त्ति, यथा—"बरनउ रघुबर-बिमल जसु।" (दो० १७)। सहज बैर = स्वाभाविक वैर, जो पूर्व के कर्म से प्रकृति के साथ निहित हो, जैसे चूहे-बिल्ली का। बखान = प्रशंसा पूर्ण वर्णन।

अर्थ—जो कविता सरल हो और जिसमें (श्रीरामजी की) निर्मल कीर्त्ति का वर्णन हो, चतुर लोग उसीका आदर करते हैं और उसे सुनकर शत्रु भी स्वाभाविक वैर छोड़कर प्रशंसा करते हैं अर्थात् सरलता और निर्मल कीर्त्ति के कारण ही चतुर और वैरी दोनों ही आदर करते हैं ॥ वह (ऐसी कविता) निर्मल बुद्धि के बिना नहीं हो सकती और मुझमें बुद्धि का बल बहुत कम है। अतः, आपसे बार-बार प्रार्थना करता हूँ कि आप ऐसी कृपा करें, जिससे मैं हरि का यश कह सकूँ ॥ जो कवि एवं कोविद (विद्वान्) श्रीराम-चरित-मानस रूपी उज्ज्वल-मानस-सरोवर के सुन्दर हंस हैं, वे मुझ बालक की प्रार्थना सुनकर और मेरी सुन्दर रुचि देखकर मुझपर कृपा करें ॥१४॥

विशेष—(१) 'सरल कवित···' कविता में दोनों ही चाहिये। प्रथम तो कविता सरल हो, फिर उसमें भगवान् की निर्मल कीर्त्ति हो, तभी 'सुजान' आदर करते हैं, कठिन काव्य में कवि का विद्या-मद रूपी दोष रहता है और श्रीराम-कीर्त्ति के बिना चतुरों को उससे कुछ प्रयोजन ही नहीं। यथा—"सब गुन-रहित कुकवि कृत बानी। राम-नाम जस-अंकित जानी ॥ सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही ॥" (दो० ९)। 'सहज बैर' छूटना यद्यपि असंभव-सा है, तथापि उत्तम काव्य उसे भी भुला देता है। शत्रु पहले तो सुनते ही नहीं, सुनें तो उपेक्षा कर देते हैं, पर 'बखान' करना भी असंभव-सा ही है और जब शत्रु भी 'बखान' करते हैं, तब उसे दिव्य कविता समझना चाहिये। यथा—"ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्।" (नैषध काव्य) अर्थात् नैषध-रचयिता श्रीहर्ष के पिता के शत्रु कान्यकुब्जेश्वर के दरबार के प्रधान पंडित ने नैषध की कविता सुन हार मानकर पान के दो बीड़े दिये और अपनी जगह अर्थात् प्रधान राज-पंडित के पद पर भी श्रीहर्ष को ही नियुक्त किया।

(२) 'सो न होइ···' वैसी कविता मेरे थोड़े मति-बल से न हो सकेगी, इसलिये आपलोगों से बार-बार विनय करता हूँ, यथा—'होहु प्रसन्न देहु बरदानू।···करहु अनुग्रह···करहु कृपा···' आदि इसी प्रसंग में कहे हैं।

(३) 'कवि कोविद···' कवि काव्य-रचयिता को कहते हैं, जैसे व्यास आदि। कोविद का अर्थ वक्ता एवं टीकाकार है—जैसे, श्रीशुकदेवजी आदि। 'मंजु' शब्द देहलीदीपक न्याय से 'मानस' और 'मराल' दोनों के साथ है। हंस की उज्ज्वलता मानस-सरोवर के प्रति अनन्यता में है कि वह उसे छोड़कर अन्यत्र नहीं जाता। वैसे कवि-कोविद भी हरियश को नहीं छोड़ते, यथा—"कवि-कोविद अस हृदय बिचारी। गावहि हरि-जस कलिमलहारी ॥" (दो० १०); यथा—"सीताराम गुणग्रामपुण्यारण्य-विहारिणौ···कवीश्वरकपीश्वरौ" (मं० श्लोक)। 'बाल बिनय'—पिता पुत्र के मानपूर्ण भी वचन को पूरा करता है, यदि बालक विनय-युक्त वचन कहे और अच्छे काम की रुचि प्रकट करे, तब पिता-माता उसको पूरा करने में देर नहीं करते, वैसा ही नाता यहाँ ग्रंथकार चाहते हैं कि जैसे आप लोग श्रीराम-चरितमानस के 'मंजु मराल' हैं, वैसी ही रुचि मेरी भी है, कृपा से ही पूर्ण करें। पुत्रवत् भाव से विनय एवं सुरुचि प्रकट करने के अतिरिक्त और उपाय मेरे पास नहीं हैं। 'लखि'—मेरे हृदय के भाव को आपलोग लक्ष्य कर लें।

पूर्व ही ग्रंथकार ने 'संत सरल चित···' से सरल स्वभाव पाया। इस कवि-प्रसंग में 'बिमल मति' पाई और विमल-यश से काव्य को अंकित किया। पुनः सरल कविता की रीति भी प्राप्त की। अतः, इनका ग्रंथ देश-भर में आदर पा रहा है, यह प्रत्यक्ष है।

कवि-वंदना-प्रकरण समाप्त

सम्बन्ध—सब कवियों की वंदना करके अब मुख्य विषय रामायण के आदिकवि वाल्मीकिजी की वंदना करते हैं, जैसे वीरता के काम में श्रीमहावीरजी की वंदना होती है—

सोरठा—बंदउँ मुनि-पद-कंज, रामायन जेहि निरमयेउ।
स-खर सुकोमल मंजु, दोष-रहित दूषन-सहित ॥

शब्दार्थ—स खर = खर राक्षस की कथा सहित। दूषन = दूषण नामक राक्षस, दोष।

अर्थ—उन (महर्षि वाल्मीकि) मुनि के चरण-कमलों की मैं वंदना करता हूँ जिन्होंने रामायण का निर्माण किया है, जो (रामायण) खर-(राक्षस का नाम)-सहित होने पर भी सुष्ठु-(उत्तम), कोमल और सुन्दर है तथा दूषण-(राक्षस का नाम)-सहित होने पर भी दोष-रहित है।

विशेष—"दंड जतिन्ह कर, भेद जहँ, नर्तक नृत्य समाज।" (उ० दो० २२) इस दोहे के अर्थ में कहा है कि श्रीराम-राज्य में दंड केवल यती के हाथ में और भेद नर्तकों के नृत्य-समाज में रह गया अर्थात् दंड और भेद-नीति का नाममात्र इन दो स्थलों में पाया जाता था और कहीं ये दोनों नीतियाँ न थीं; ऐसा उत्तम राज्य था। वैसे इस सोरठे का भी अर्थ है—रामायण के आदिकवि (निर्माता) मुनि की रामायण कैसी है कि उसमें कठोरता का नाममात्र खर राक्षस के नाम के साथ है, सारा ग्रंथ सुकोमल एवं मंजु है। इसमें दोष भी नहीं है। हाँ, दोष के स्थल में दूषण राक्षस का नाम ही मिलेगा।

(२) इसमें श्लेषालंकार का सुन्दर चित्रण किया गया है। 'स-खर' और 'दूषन-सहित' ये दोनों पद श्लिष्ट हैं। 'स खर' का एक अर्थ कठोरता-सहित और दूसरा खर नाम राक्षस के सहित है। ऐसे ही 'दूषन-सहित' का एक अर्थ दोष सहित और दूसरा दूषण नाम राक्षस के सहित है। यथा—"नमस्तस्मै कृता येन पुण्या रामायणी कथा। सदूषणापि निर्दोषा सखरापि सकोमला ॥" (महारामायण)। इसमें भी महर्षि की ही वंदना है और भाव एवं श्लेषालंकार ज्यों-के-त्यों मिलते हैं। अतः, सोरठे का उक्तार्थ ही यथार्थ है। 'सखर…'—'सखर' और 'सुकोमल-मंजु' तथा 'दोष रहित' 'दूषन सहित' में विरोध जँचता है, पर अर्थ पर विचारने से जरा भी विरोध नहीं रहता। अतः, विरोधाभास अलंकार है। इस अर्थ के प्रति व्यर्थ ही लोग शंका करते हैं कि रावण कुम्भकर्ण मुख्य हैं, उनके नाम न देकर खर दूषण ही क्यों कहे गये ? समाधान यह है कि कवि को कठोरता और दोष का पर्याय नाम खर-दूषण ही में मिला। अतः, उसे ही ग्रहण किया।

बंदउँ चारिउ वेद, भव-बारिधि-बोहित सरिस।
जिन्हहिं न सपनेहुँ खेद, बरनत रघुबर-बिसद-जस ॥
बंदउँ बिधिपद-रेनु, भव-सागर जेहि कीन्ह जहँ।
संत सुधा ससि धेनु, प्रगटे खल-बिष-बारुनी ॥

शब्दार्थ—बोहित = जहाज (बड़ी नाव)। खेद = दुःख, थकावट।

अर्थ—मैं चारों वेदों की वन्दना करता हूँ जो संसार-सागर के लिये जहाज के समान हैं, जिन्हें श्रीरघुनाथजी का उज्ज्वल यश वर्णन करते हुए स्वप्न में भी खेद नहीं होता। श्रीब्रह्माजी के चरण-रज की वन्दना करता हूँ, जिन्होंने संसार रूपी समुद्र बनाया, जहाँसे अमृत, चन्द्रमा और कामधेनु-रूपी सत निकले और विष और मदिरा रूपी खल प्रकट हुए।

विशेष—(१) वन्दना का क्रम—भगवान् का अवतार जानकर प्रथम व्यासजी की वन्दना की। वाल्मीकिजी प्रचेता के ही पुत्र हैं, अत, उनकी वन्दना पीछे की। वाल्मीकिजी वेद के उपबृंहण-(विस्तार)-रूप रामायण के रचयिता हैं। अत, इनके पीछे रामायण के मूल-रूप वेदों की वन्दना की। फिर वेदों के आदिवक्ता ब्रह्मा की वन्दना की। तत्पश्चात् और देवों की वंदना की। वाल्मीकि और ब्रह्मा के बीच मे वेदों की वन्दना की गई है, क्योंकि ब्रह्मा के मुख से वेद आविर्भूत हुए और वे ही वेद रामायण-रूप से वाल्मीकिजी के द्वारा प्रकट हुए।

'भव-बारिधि ·····' वेदों के अनुसार चलने से मनुष्य भवसागर से सहज में पार हो सकता है। 'खेद'—श्रीराम-यश वेदों का निज विषय है, अत, उत्साहपूर्वक वर्णन करने से क्लेश या थकावट नहीं होती। दूसरों को जानने में श्रम होता है, इन्हें नहीं, क्योंकि ये श्रीरामजी के ज्ञान-रूप हैं। 'बरनत रघुबर-बिसद जस'—इसमें प्राय शंका की जाती है कि वेदों मे तो श्रीराम शब्द भी बहुत कम आये हैं, फिर वेदों का निरंतर वर्णन करना क्यों कहा गया? इसका समाधान यह है कि वेदों मे अधिकतर ब्रह्म के 'इन्द्र' और 'देव' नाम आये हैं, वे राम शब्द के पर्यायी हैं, क्योंकि 'इंधी-दीप्तौ' धातु से 'इन्द्र' शब्द और 'राजृ दीप्तौ' से 'राम' शब्द बनता है तथा 'दिवु क्रीड़ायां' धातु से देव और 'रमु क्रीडायां' से राम शब्द निष्पन्न होता है। वेद परोक्षवादी कहे गये हैं, अत, वे अपने इष्ट को साक्षात् नाम ('राम') के अतिरिक्त अन्य नामों से पुकारते हैं।

दूसरा समाधान यह है। श्रीरामजी ही ब्रह्म हैं। इसीको पुष्ट करने के लिये श्रीमद्रामायण का आविर्भाव हुआ। यथा—"जेहि इमि गावहिं बेद बुध,···सोइ दसरथ-सुत जगतहित,···" (दो० ११८) तथा—"सो अज प्रेम भगति बस, कौसल्या के गोद।" (दो० १९८)—यथा—"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥" (गीता ४।६)। अत, जो ब्रह्म का यश है, वही रघुबर-यश है, फिर वेद तो अनन्त कहे गये हैं। कितने ग्रंथ विधर्मियों के अत्याचार से नष्ट हो गये जो इतिहास के पाठकों को विदित ही है। जैसे, रामायणें ही सौ करोड़ कही जाती हैं, पर उनमें बहुत कम ही उपलब्ध हैं।

वेद श्रीरामजी के माधुर्य-यश का भी गान करते हैं। यह स्वयं वेदों ने ही कहा है—"हम तव सगुन जस नित गावहीं।" (उ० वेदस्तुति)।

(२) 'बंदउँ बिधिपद ···'—'भव' को 'सागर' रूप कहा। 'सागर' से भली और बुरी वस्तुएँ निकली हैं, वैसे 'भव' से भी। संत के वचन अमृत रूप हैं, जिसके द्वारा वे जीवों को मृत्यु रूप 'भव' से बचाते हैं और प्रियभाषी होते हैं। संत का मन चन्द्रमा के समान शीतल है और वे उज्ज्वल यश को पाये हुए हैं। संत कर्म से कामधेनु के समान परोपकारी एवं सरल प्रकृति हैं। खल इनके विपरीत स्वभाव के हैं। जैसे विष घातक होता है, वैसे खल भी संसार का अहित करते हैं। मदिरा मादक एवं मोहक होती है, वैसे खलों मे भी अज्ञान और उन्माद होता है। ब्रह्मा इन सबके परम पितामह हैं। अत, इनके चरणों की धूल की वंदना करता हूँ।

यहाँ यह शंका की जाती है कि शाप-वश ब्रह्माजी अपूज्य हैं, फिर यहाँ इनकी वंदना क्यों हुई ? समाधान यह है कि यहाँ तो नमस्कार है जो वर्जित नहीं है। इनका प्रणाम किया जाना बहुत जगह है।

दोहा—बिबुध बिप्र बुध ग्रह चरन, बंदि कहउँ कर जोरि।
होइ प्रसन्न पुरवहु सकल, मंजु मनोरथ मोरि ॥१४॥

अर्थ—देवता, ब्राह्मण, पंडित, ग्रह इन सबके चरणों की वंदना करके हाथ जोड़कर कहता हूँ कि आप सब प्रसन्न होकर मेरे उज्ज्वल मनोरथ को पूर्ण करें ॥

विशेष—'मनोरथ मोरि'—मनोरथ पुँल्लिंग शब्द है, अतः, 'मोर' क्यों नहीं कहा ? समाधान यह है गोस्वामीजी कुछ शब्दों का व्यवहार दोनों लिंगों में करते थे। जैसे—प्रश्न और मनोरथ। इसके उदाहरण बहुत हैं।

यहाँ तक १४ दोहों मे १४ भुवनों के जीवों की वंदना 'सियाराममय' रूप से की गई है।

पुनि बंदउँ सारद सुरसरिता। जुगल पुनीत मनोहर चरिता ॥१॥
मज्जन पान पापहर एका। कहत सुनत एक हर अबिबेका ॥२॥

अर्थ—पुनः शारदा और गंगाजी की वन्दना करता हूँ। ये दोनों पवित्र एवं मनोहर चरित वाली हैं ॥१॥ एक (गंगाजी) में स्नान करने और उनके जल पीने से पाप दूर होते हैं और दूसरी (शारदा) के कहने-सुनने से अज्ञान का नाश होता है ॥२॥

विशेष—ऊपर सब देवों के साथ ब्रह्माजी की वंदना की गई है। फिर आगे श्रीशिवजी की वंदना हुई है। बीच में यहाँ दोनों की शक्तियों की एकसाथ वंदना की गई है। ब्रह्माजी की शक्ति शारदाजी और शिवजी की गंगाजी हैं, यथा—"दास तुलसी त्रासहरनि भवभामिनी।" (वि० १८)। गंगाजी की तरह सरस्वतीजी भी द्रव-रूपा हैं और गंगाजी की ही तरह वाणी भी धारा प्रवाहवाली कहाती है। अत, एकसाथ वंदना हुई। प्रथम शारदा का नाम लिया, फिर गुण-कथन में प्रथम गंगाजी को कहा; इससे दोनों में तुल्य भाव दिखाया। प्रथम मंगलाचरण 'वाणी-विनायकौ' में स्वरूप की वंदना थी, यहाँ वाणी के रूप की वंदना की गई; इसलिये नदी-रूप के साथ कहा। 'मज्जनपान' और 'कहत-सुनत', यथा—"कहत-सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं।" (दो० ४१)। 'कहत-सुनत' से वक्ता-श्रोता—दोनों का अविवेकहरण कहा।

गुरु पितु मातु महेस भवानी। प्रनवउँ दीनबंधु दिनदानी ॥३॥
सेवक स्वामि सखा सिय-पी के। हित निरुपधि सब बिधि तुलसी के ॥४॥

अर्थ—मैं शिव-पार्वतीजी को प्रणाम करता हूँ जो गुरु, पिता और माता हैं, दीनबंधु और नित्य दान देनेवाले हैं ॥३॥ श्रीसीताजी के पति (श्रीरामजी) के सेवक, स्वामी और सखा हैं, सब प्रकार से (मुझ) तुलसीदास के बाधारहित हितकारी हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'गुरु पितु मातु···'—'महेस भवानी' हित उपदेश के गुरु हैं, यथा—"हित उपदेस को महेस मानो गुरु कै।" (हनु० बा० ४१); साथ ही माता-पिता रूप भी हैं, यथा—"जगत मातु पितु संभु भवानी।" (दो० १०१) ; अथवा किसी कल्प में ये उत्पत्ति-पालन एवं संहारकर्त्ता भी होते हैं। इससे भी माता-पिता हैं। 'दीनबंधु'—यथा—"सकत न देखि दीन कर जोरे।" (वि० ७); 'दिनदानी'—प्रति-दिन दान देनेवाले, यथा—"दानि बड़ो दिन देत दये बिनु बेद बड़ाई भानी॥ (वि० ७)।

(२) 'सेवक स्वामि···' शिवजी रामजी के सेवक हैं, यथा—"रघुकुल-मनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नायेउ माथ।" (दो० ११६); स्वामी हैं, यथा—"तब मज्जन करि रघुकुलनाथा। पूजि पारथिव नायेउ माथा।" (अ० दो० १०२) तथा सखा भी हैं, यथा—"संकर-प्रिय मम द्रोही, सिव-द्रोही मम दास। ते नर करहि कलप-भरि, घोर नरक महँ बास॥" (लं० दो० २)।

पुनः सेतु-बंध के प्रसंग में भी 'रामेश्वर' नाम की व्याख्या में तीनों भाव निकलते हैं, यथा—"रामस्तत्पुरुषं वक्ति बहुव्रीहिं महेश्वरः। ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे ऋषयः कर्मधारयम्॥" अर्थात् 'रामस्य ईश्वरः रामेश्वरः' (तत्पुरुष), 'रामः ईश्वरो यस्यासौ रामेश्वरः (बहुव्रीहि), 'रामश्चासौ ईश्वरश्च' (कर्मधारय)—इन तीन प्रकारों में क्रमशः शिवजी के स्वामी, सेवक और सखाभाव पाये जाते हैं।

शिवजी सदा सेवक-भाव ही रखते हैं, इसलिये प्रस्तुत प्रसंग में वही प्रथम दिया गया है। भक्ति-भाव में सभी नाते बन सकते हैं। 'सब बिधि'—और लोगों को शिवजी एक-एक प्रकार ही के हितैषी हैं, यथा—'कलि बिलोकि जगहित···।' जिसे आगे कहते हैं। पर, मेरे लिये तो 'सब बिधि' हितैषी हैं।

कलि बिलोकि जग-हित हर-गिरिजा। साबर-मंत्र-जाल जिन्ह सिरजा॥५॥
अनमिल आखर अरथ न जापू। प्रगट प्रभाव महेस-प्रतापू॥६॥

अर्थ—कलियुग को देखकर जगत् के हित के लिये जिन शिव-पार्वतीजी ने शाबर-मन्त्रों को रचा॥५॥ जिन मन्त्रों में अक्षर बेमेल पड़े हैं, (प्रसंग से ठीक) अर्थ नहीं है और न (विशेष) जाप (का विधान) है। शिवजी के प्रताप से उनका प्रभाव प्रकट है॥६॥

विशेष—(१) 'कलि बिलोकि···' कलि के प्रारम्भ में प्रकट प्रभाववाले वैदिक एवं तांत्रिक मंत्र कील दिये गये, तब जीवों के दुःख-निवारणार्थ श्रीशिव-पार्वतीजी भील-रूप में प्रकट हुए। श्रीशिवजी भील-भाषा में मन्त्र-समूह रचते गये और श्रीपार्वतीजी की आज्ञा से श्रीगणेशजी उन्हें लिखते गये, वही ग्रंथ 'सिद्ध शाबर' तंत्र कहलाया। सर्प-बिच्छू आदि का विष झाड़ने से तुरन्त उतर जाता है। यह तो सर्वत्र उन मन्त्रों का प्रभाव प्रकट है। और भी नाना प्रकार की बाधाओं के लिये उसमें मन्त्र हैं जिनके प्रभाव प्रत्यक्ष रूप में देखे जाते हैं।

(२) 'अनमिल आखर···' अन्य मन्त्रों के सिद्ध करने में लाख, सहस्र, इत्यादि बार जप का परिमाण होता है तथा कुछ विशेष विधि भी रहती है। विधिवत् जप में मंत्रार्थ के अनुसंधान से उसके देवता का स्मरण गुणों के साथ होता है, तदनुसार ही फल भी मिलता है। शाबर मंत्रों के अक्षर सार्थक तो हैं, पर उनके, अर्थों और ठीक प्रसंगों का मेल नहीं है। कुछ सामान्य ही विधि एवं जप करना पड़ता है; पर उसका 'प्रगट प्रभाव' अर्थात् फल तुरत ही देखा जाता है। यह केवल महेश का ही प्रताप है—न कि अक्षर और उसके अर्थ का प्रभाव।

उदाहरणार्थ शावर का एक मंत्र यहाँ दिया जाता है—"गौरा जाई अंजनी सुत जाये हनुमंत। वद सकारी गलसुआ तथैला ये चारों भसमंत ॥१॥ काली कंकाली कहाँ चली कैलाश पर्वत को चली कैलाश पर्वत पै जायके क्या करैंगी, निहानी वसूली गढ़ावैगी। निहानी वसूली गढ़ाकर क्या करैंगी, वद्कों कन्मारी कौं गलसुए कौं ले कीं तीनों कूँ काटेंगी कपटेंगी करैंगी विचार, देखूँ तेरी शक्ति गुरु की भक्ति फुरो मंत्र ईश्वर उवाच ॥२॥

सोउ महेस मोहि पर अनुकूला। करहिं कथा मुद-मंगल मूला ॥७॥
सुमिरि सिवा-सिव पाइ पसाऊ। बरनउँ रामचरित चित चाऊ ॥८॥

शब्दार्थ—सिवा = श्रीपार्वतीजी। पसाऊ = प्रसाद, प्रसन्नता। चाऊ = चाव, उत्साह।

अर्थ—वे ही शिवजी मुझपर अनुकूल हों और (भाषा में भी) कथा को 'मुद-मंगल-मूल' करें ॥७॥ (मैं) श्रीशिव-पार्वतीजी का स्मरण और उनकी प्रसन्नता पाकर उत्साह-सहित श्रीरामचरित का वर्णन करता हूँ ॥८॥

विशेष—(१) 'सोउ महेस''' यहाँ उक्त शावर मंत्र के प्रभाव का लक्ष्य करके शिवजी को 'महेस' अर्थात् 'महान्-ईश' कहकर कहते हैं कि जैसे कलि के जीवों के हित के लिये आपने अनमिल आखर आदि में अपना प्रताप रक्खा, वैसे मेरी भाषा-कविता में भी अपना प्रताप रक्खें, जिससे यह भी कलि के जीवों के लिये 'मंगल-मूल' हो। इसपर यह शंका हो सकती है कि कथा तो स्वतः मंगल-मूलक है, यथा—"मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।" (दो० १); फिर श्रीशिवजी की क्या अपेक्षा है? इसका समाधान इस प्रसंग के उपसंहार से स्पष्ट हो जाता है, यथा—"सपनेहुँ साँचेहु मोहि पर, जौं हर-गौरि पसाउ। तौ फुर होउ जो कहउँ सब, भाषा भनिति प्रभाउ ॥" (दो० १५); अर्थात् भाषा में भी होने से इसका प्रभाव वैसा ही हो। संदिग्ध वाक्य के निर्णय का यही नियम भी है, यथा—"संदिग्धं तु वाक्यशेषात्।" अर्थात् संदिग्ध बात का निर्णय वाक्य के उपसंहार से करे। उपक्रम में 'कथा' मात्र से संदेह था; वही अंत में 'भाषा-भनिति' से स्पष्ट हो गया। संस्कृत देव (दिव्य) वाणी है; अतः, उसमें स्वतः भी प्रभाव है। ग्रन्थकार इस प्राकृत भाषा में देवों में श्रेष्ठ महादेव का प्रताप चाहते हैं जिससे भाषा की न्यूनता न रहे, क्योंकि अन्यत्र संस्कृत और भाषा में गंगाजल और सामान्य जल का-सा अंतर कहा जाता है। वेद मंत्रात्मक है, उसका उपबृंहण-रूप रामायण भी मंत्र ही है। मंत्र संस्कृत के ही द्वारा महत्त्वशाली होते हैं; अतः प्रार्थना की अपेक्षा हुई।

(२) 'सुमिरि सिवा-सिव''' श्रीगोस्वामीजी के प्रति श्रीशिव-पार्वतीजी की प्रसन्नता हुई; इसे अनुभव-द्वारा जानकर कथा के लिये चित्त में उत्साह हुआ, तब वर्णन में प्रवृत्त हुए।

पाठा०—'करहिं' की जगह 'करिहिं' और 'करहु' भी है, पर अर्थ उपर्युक्त ही होगा।

भनिति मोरि सिव-कृपा बिभाती। ससि-समाज मिलि मनहुँ सुराती ॥९॥
जे येहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता ॥१०॥
होइहहिं राम-चरन-अनुरागी। कलिमल-रहित सुमंगल-भागी ॥११॥

शब्दार्थ—बिभाती = सुशोभित। सुराती = सुष्ठु रात्रि, शुक्ल पक्ष की रात।

अर्थ—मेरी वाणी श्रीशिवजी की कृपा से सुशोभित है—जैसे नक्षत्रों के साथ चन्द्रमा से मिलकर सुन्दर रात (सोहती है) ॥९॥ (अतः,) जो इस कथा को स्नेह-पूर्वक सावधानी से समझकर कहे-सुनेंगे ॥१०॥ वे श्रीरामजी के चरणों में अनुरागी बन जायँगे तथा कलि के पापों से रहित होकर अच्छे मङ्गल के भागी होंगे।

विशेष—(१) 'भनिति मोरि''' इसमें 'भनिति मोरि' और 'राति', सिव-कृपा' और 'ससि-समाज' क्रमशः उपमेय और उपमान हैं, 'मनहुँ' वाचक और 'बिभाती' धर्म है; अतः, पूर्णोपमा अलंकार है। रात अंधकार एवं और भी बहुत दोषों से युक्त होती है, वैसे मेरी कविता विविध दोषों से युक्त है, पर शिव-कृपा से मिलकर सुशोभित हुई; अतः, 'सुराती' हुई। शिव-कृपा चन्द्रमा, पार्वतीजी की कृपा रोहिणी, गणेशजी की कृपा बुध और शिव-गणों की कृपा तारागण हैं, सब मिलकर 'ससि-समाज' हुए। शिवजी ने कृपा करके वही शाबर मंत्रवाला प्रताप इस ग्रंथ में भी दिया; अतः, इसमें प्रकाश आ गया।

(२) 'जे येहि कथहिं ''' इसमें 'समुझि' अपूर्ण क्रिया है; अतः, सावधानी के साथ समझकर कहना और सुनना व्यक्त किया; यथा—"जे गावहिं यह चरित सम्हारे। ते येहि ताल चतुर रखवारे॥" (दो० ३७); तथा—"कहत सुनत हरषहि पुलकाहीं।" (दो० ४०)। 'कहत सुनत'—इसका भाव यह है कि इसे कहे या सुने अथवा दोनों ही करे। 'जे' पद से इसमें सर्वाधिकार भी जनाया। 'सनेह समेता' अर्थात् कहने एवं सुनने में तृप्ति न हो, प्रेम की उमंग बढ़ती जाय।

(३) 'होइहहिं राम-चरन''' इसमें 'राम चरन-अनुरागी' से उपासना का फल, 'कलिमल-रहित' से कर्म का फल और 'सुमंगल भागी' से ज्ञान का फल सूचित किया, क्योंकि 'सुमंगल' और मोक्ष पर्यायी शब्द कहे जाते हैं। इससे तीनों प्रकार के जीवों का कल्याण सूचित किया। विषयी जीव के लिये 'कलिमल-रहित' होना, विरक्त के लिये 'ज्ञान' और विमुक्त के लिये 'राम-चरन-अनुरागी' होना है। यथा—"सुनहिं बिमुक्त बिरत और बिषयी। लहहिं भगति गति संपति नई॥" (उ० दो० १४)।

दोहा—सपनेहु साँचेहु मोहिं पर, जौं हर-गौरि-पसाउ।
तौ फुर होउ जो कहेउँ सब, भाषा-भनिति-प्रभाउ ॥१५॥

अर्थ—जो मुझपर स्वप्न में भी सचमुच शिव-पार्वतीजी की प्रसन्नता है तो भाषा-कविता के जितने प्रभाव मैंने कहे हैं, सब सत्य हों ॥१५॥

विशेष—उपर्युक्त 'सुमिरि सिवासिव...' का स्मरण करके कहते हैं कि जो मैंने 'होइहहि रामचरन''' ऊपर कहा है, वह 'फुर' हो। 'फुर' शब्द भी 'शाबर मंत्र' के प्रायः सब के अंत में आता है। अपनी कविता की उपमा उसके 'अनमिल आखर—' की दे ही चुके हैं, उसी का प्रसंग ले आ रहे हैं, उसमें 'प्रगट प्रभाव महेस प्रतापू।' कहा था; वैसे यहाँ भी-'भाषा भनिति प्रभाउ' कहते हैं। 'सपनेहु' यह मुहाविरा है अर्थात् किसी तरह एवं कैसी भी दशा में यदि ठीक ठीक कृपा हुई हो तो 'फुर'। पुनः, श्रीगोस्वामीजी को स्वप्न एवं प्रत्यक्ष में भी शिवजी की प्रसन्नता की कथा मं० श्लोक ७ की टिप्पणी में दी गई है, वह भी इस दोहे में घटित है।

बाह्य चिदचिद्विभूतिवंदना-समाप्त

बंदउँ अवधपुरी अति पावनि। सरजू सरि कलि-कलुष नसावनि ॥१॥
प्रनवउँ पुर-नर-नारि बहोरी। ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी ॥२॥

अर्थ—मैं अति पवित्र और कलियुग के पापों का नाश करनेवाली श्रीअयोध्यापुरी और श्रीसरयू नदी की वन्दना करता हूँ ॥१॥ फिर मैं अयोध्यापुर के नर-नारियों को प्रणाम करता हूँ, जिनपर प्रभु (श्रीरामजी के हृदय) में ममता कम नहीं है अर्थात् बहुत है ॥२॥

विशेष—(१) 'बंदउँ अवध····' श्रीशिव वंदना के पीछे अब श्रीरामजी के धाम और परिकर की वन्दना करते हैं, क्योंकि शिव कृपा से श्रीराम-भक्ति मिलती है, यथा—"जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥" (दो० १३८)। श्रीअवध-सरयू का नित्य सम्बन्ध है, इसीलिये एक ही अर्द्धाली में साथ ही वन्दना की और 'बंदउँ' शब्द आदि में देकर दोनों की अभिन्नता भी सिद्ध की, क्योंकि दोनों के विशेषणों के भाव दोनों में हैं, जैसे अति पावन होने से अवधपुरी भी 'कलि कलुष नसावनि' है, ऐसे ही सरयूजी भी हैं; अतः, 'अति पावनि' भी हैं। श्रीसरयूजी श्रीअयोध्या का अंग हैं, इसीलिये महर्षिजी ने भी एक साथ ही वर्णन किया है, यथा—"कैलासपर्वते राम मनसा निर्मितं परम्॥ ब्रह्मणा नरशार्दूल तेनेदं मानसं सरः। तस्मात्सुस्राव सरसः सायोध्यामुपगूहते॥ सरःप्रवृत्ता सरयूः पुण्या ब्रह्मसरश्च्युता।" (वाल्मी० बा० स० २४।८-१०)।

'अति पावनि'—मोक्ष देनेवाली सप्तपुरियों (अयोध्या, मथुरा, माया अर्थात् हरिद्वार, काशी, कांची, अवन्तिका अर्थात् उज्जैन और द्वारका) में अयोध्याजी श्रेष्ठ हैं, क्योंकि सप्तपुरियों को विष्णु-अंग में कहते हुए इसे मस्तक (उत्तमांग) कहा है। यथा—"विष्णोः पादमवन्तिका···ऽयोध्यापुरी मस्तके।" यह प्रसिद्ध है। यहाँ सब तीर्थों के राजा प्रयाग भी नौमी पर आकर पवित्र होते हैं—"तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं।" (दो० ३३)। श्रीअयोध्याजी श्रीसीतारामजी का विहारस्थल एवं प्रिय पुरी है, यथा—"पावनि पुरी रुचिर यह देसा।···जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद पुरान बिदित जग जाना॥ अवध सरिस प्रिय मोहि न सोऊ।" (उ० दो० ३)। सरयूजी की महिमा भी पुराणों में बहुत कही गई है; यथा—"मन्वन्तरसहस्रेण काशीवासेन यत्फलम्। तत्फलं समवाप्नोति सरयूदर्शनान्नरः॥" (स्कन्दपुराण)। अतः, 'अति पावनि' है।

'कलिकलुष····' कलियुग में अन्य युगों की अपेक्षा अधिक पाप है, यथा—"ऐसे अधम मनुज खल, कृतजुग त्रेता नाहिं। द्वापर कछुक बृन्द बहु, होइहहिं कलिजुग माँहि॥" (उ० दो० ४०), 'कलि केवल मलमूल मलीना। पापपयोनिधि जन मन-मीना॥ (दो० २९)। जब ऐसे युग के भी पापों का नाश करती हैं, तब अन्य युगों की तो कोई बात ही नहीं।

(२) 'प्रनवउँ पुर नर नारि····' अयोध्यानिवासियों पर प्रभु की बहुत ममता है, यथा—"अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी।" (उ० दो० ३)। 'पुर नर नारि' कहकर 'ममता' का प्रयोग किया, अतः, 'पुर' के सम्बन्ध से ममता सूचित की; अतः, पुरी में भी ममता है—"मम पुरी सुहावनि' (उ० दो० ३); इससे पुरवासियों को पुण्य-पुंज सूचित किया, यथा—हम सम पुन्य पुंज जग थोरे। जिन्हहिं राम जानत करि मोरे॥" (अ० दो० २०३)। आगे ममता का स्पष्ट उदाहरण देते हैं—

सिय निंदक अघ-ओघ नसाये। लोक बिसोक बनाइ बसाये ॥३॥

अर्थ—(क) श्रीसीताजी की निन्दा करनेवालों (पुरजनों एवं रजक) के पाप समूह का नाश कर उन्हें शोकहीन करके अपने शोकरहित लोक में बसाया।

(ख) श्रीसीताजी की निन्दा करनेवालों के पाप-समूह का नाश किया और विशोक लोक बनाकर (उसमें उनको) बसाया।

विशेष—(१) उपर्युक्त पुर के नर-नारियों पर श्रीरामजी की अत्यन्त ममता दिखाते हैं। उनमे कितनों ने श्रीजानकीजी की निन्दा में भाग लिया था। श्रीरामजी को राज्य करते हुए दस हजार वर्ष हो जाने पर जहाँ तहाँ गुप्त रूप में श्रीसीताजी के विषय मे अपवाद होने लगा। गुप्त चरों द्वारा श्रीरामजी ने जान लिया, यथा—"चरचा चरनि सों चरची जानमनि रघुराइ। दूत-मुख सुनि लोक-धुनि घर घरनि बूझी आइ॥" (गीतावली उ० २७), निन्दकों मे रजक प्रकट हो गया था, इसीसे उसका नाम 'विनय' में प्रकट आया है, यथा—"बालिस बासी अवध को बूझिये न खाको। सो पाँवर पहुँचो तहाँ जहँ मुनि-मन थाको॥" (वि० १५२) तथा—"सिय निंदक मतिमंद प्रजा रज निज नय नगर बसाई॥" (वि० १६५)। श्रीमद्वाल्मीकीय में भी उपर्युक्त 'लोक धुनि' गीतावली की तरह ही है।

दूसरे के दोष कथन को 'परिवाद' और किसी पर झूठा दोष लगाने को 'अपवाद (निन्दा)' कहते हैं, यथा—"परिवादोपवादो वा राघवे नोपपद्यते।" (वाल्मी० अ० स० १२।२७)। निन्दा का स्वरूप—"अगुन अमान जानि तेहि, दीन्ह पिता बनबास।······जब तेहि कीन्ह राम की निंदा।" (लं० दो० ३०)। यहाँ रावण ने झूठा दोष श्रीरामजी पर लगाया, यही निन्दा हुई। यह बहुत भारी पाप है, यथा—"पर-निंदा सम अघ न गिरीसा।" (उ० दो० १२)। किसी सामान्य व्यक्ति की निन्दा भी भारी पाप है; फिर जगज्जननी एव आदिशक्ति की, जो उमा रमा आदि की कारणभूता एव उनसे वन्दिता हैं, निन्दा तो पाप-समूह का ही संचय करना है; इसीसे 'अघ-ओघ' कहा है।

उपर्युक्त अर्थ—(क) के अनुसार ऐसे भारी पाप से उन लोगों को शोकमय नरक जाना चाहिये और जीवितावस्था में कराल दंड द्वारा शोक (कष्ट) होना चाहिये, परन्तु अति ममता के कारण उनके महान् पाप का नाश कर, उन्हें आदर पूर्वक बसा रक्खा। इसके लिये श्रीसीताजी का भी त्याग कर दिया। फिर साथ-साथ उनलोगों को अपने नित्य विशोक धाम में ले गये। इस पक्ष मे उपर्युक्त 'निज नय नगर ' का अर्थ 'अपनी लोकोत्तर नीति से नगर मे ही बसाये रक्खा' है।

अर्थ—(ख) के अनुसार मनुष्य इस लोक मे जैसे-जैसे भारी पुण्य करता है, तदनुसार उसके लिये परलोक में लोक बनता जाता है। जैसे परशुरामजी के बने हुए लोकों का श्रीरामजी के अमोघ बाण द्वारा नाश होना वाल्मी० बाल०, सर्ग ७५ मे, लिखा है, वैसे इन निन्दकों के अन्य सुकृत एव अवध-वास रूप पुण्य से जो लोक परलोक मे बने, वे इस घोर निन्दा-जन्य पापों से नष्ट हो गये थे। उनके लिये श्रीरामजी ने नया 'विशोक लोक' बनाया और अपने साथ ले जाकर उसमे बसाया, यही उनके पापों का (फल) नाश करना एव नये नगर में बसाना है।

बंदउँ कौसल्या दिसि प्राची। कीरति जासु सकल जग माँची॥४॥
प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारू। बिस्वसुखद खल-कमल-तुषारू॥५॥

अर्थ—मैं कौशल्या-रूपी पूर्व दिशा को प्रणाम करता हूँ, जिसकी कीर्ति सम्पूर्ण संसार में फैली

है ॥४॥ जहाँ से संसार को सुख देनेवाले और खल रूपी कमल के लिये पाले की भाँति श्रीरघुनाथजी सुन्दर चन्द्रमा के समान प्रकट हुए ॥४॥

विशेष—(१) इसमें कौशल्या और पूर्व दिशा, श्रीरामजी और चन्द्रमा, खल और कमल—क्रमश केवल उपमेय और उपमान हैं। अतः, रूपकालंकार है। चन्द्रमा के उदय से पूर्व दिशा प्रकाशित होती है, वैसे कौशल्याजी की कीर्त्ति फैली, यही सफेदी है। चन्द्रमा पूर्व से प्रकट भर होता है, उसका जन्म वहाँ से नहीं होता, वैसे श्रीरामजी भी प्रकट-मात्र हुए—गर्भ से जन्म नहीं हुआ, यथा—'भये प्रकट कृपाला ···' (दो० १९१)। चन्द्रोदय से संसार को सुख होता है; वैसे श्रीरामजी के प्रकट होने से संसार-भर को सुख हुआ। चन्द्रमा कमल को भस्म करता है, वैसे श्रीरामजी से खल भस्म हुए, यथा—"रजनीचर-वृंद पतंग रहे। सर-पावक तेज प्रचंड दहे।" (लं० दो० १३)। 'ससि चारू' से पूर्णिमा का चन्द्रमा ही अभिप्रेत है, वही पूर्व से उदित भी होता है और उस दिन चन्द्रमा सोलह कलाओं से युक्त होकर उगता है; वैसे श्रीरामजी का भी षोड़श कलापूर्ण अवतार है, यथा—"षोड़शकल सोम्यपुरुष. ···" (छां० ६।७।१) अर्थात् परमात्मा षोड़श कलाओं से परिपूर्ण है, इस वेद-वाक्य के अनुसार परब्रह्म का पूर्ण अवतार यहाँ सूचित किया।

'बिस्वसुखद'—शंका—खल भी तो विश्व में ही हैं, फिर 'विश्व सुखद' कैसे? समाधान—अधिक लोगों को सुखद होने से समस्त कहा गया, यह 'प्रायोवाद' कहा जाता है। जैसे जिस ग्राम में मल्ल अधिक होते हैं, वह 'मल्ल ग्राम' कहा जाता है—चाहे भले ही उसमें कुछ व्यक्ति नरककाल हों। यहाँ चन्द्रमा के योग में कमल से खल की उपमा दी गई, यथा—"कीचहि मिलइ नीच जल-संगा।" (दो० ६)।

यहाँ अकेले श्रीकौशल्याजी की वन्दना, बीच में 'दसरथराउ सहित सब रानी' की और फिर अकेले 'अवधभुआल' की वन्दना की गई है। इसका भाव यह है कि—(क) इस प्रस्तुत अवतार में मनु-शतरूपाजी दशरथ-कौशल्या हुए हैं और अन्य कल्पों में कश्यप-अदिति होते हैं, अत, इस कल्प की कौशल्या को आदि में और 'अवधभुआल' को अंत में रक्खा, अन्य-तीन कल्पों की रानियों के साथ राजा को बीच में कहा। (ख) श्रीकौशल्याजी सुकृति एवं कीर्त्ति में सब रानियों से बड़ी हैं। अत, इन्हें सब रानियों की समता से भिन्न रक्खा और मनु-रूप में राजा ने भी शतरूपा के साथ-साथ समान तप किया था, अत, रानी की समता के लिये इन्हें भी अंत में अकेले कहा। आदि में शक्ति को और अन्त में शक्तिमान् को कहा, क्योंकि यह नियम है कि शक्ति का नाम पहले लिया जाता है।

दसरथराउ सहित सब रानी। सुकृत सुमंगल मूरति मानी ॥६॥
करउँ प्रनाम करम मन बानी। करहु कृपा सुत-सेवक जानी ॥७॥
जिन्हहिं बिरचि बड़ भयेउ बिधाता। महिमा-अवधि राम-पितु माता ॥८॥

अर्थ—सब रानियों के साथ राजा दशरथ को पुण्य और सुंदर मंगल की मूर्त्ति मानकर ॥६॥ कर्म, मन और वचन से प्रणाम करता हूँ कि वे अपने पुत्र का सेवक जानकर मुझपर कृपा करें ॥७॥ जिनकी रचना कर ब्रह्माजी भी बड़े हुए, ऐसे श्रीरामजी के पिता-माता हैं, अत, महिमा की सीमा हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'दसरथ राउ······' राजा और रानियों ने बराबर सुकृत किये हैं, इसीसे श्रीरामजी के पिता-माता हुए, यथा—"तुम्ह गुरु बिप्र धेनु सुर-सेवी। तसि पुनीत कौसल्या देवी॥ सुकृती तुम्ह समान जग माहीं। भयेउ न है कोउ होनेउ नाहीं॥ तुम्हते अधिक पुन्य बड़ काके। राजन राम सरिस सुत जाके॥···

तुम्ह कहँ सर्बकाल कल्याना।" (दो० ३१२) अर्थात् सुकृत से कल्याण-रूप 'सुमंगल' होते हैं, वे दम्पती दोनों की मूर्त्ति हैं। 'सब रानी'–ये रानियाँ ७०० कही गई हैं, यथा—"पालागन दुलहियन सिखावति सरिस सासु सत-साता। देहिं असीस ते 'बरिस कोटि लगि अचल होउ अहिवाता' ॥" (गी० बा० १०८)।

(२) 'सुत-सेवक जानी'—पुत्र का सेवक अत्यन्त प्रिय होता है; अतः, कृपा अवश्य करें।

(३) 'जिन्हहिं बिरंचि'''' परात्पर ब्रह्म ने भी जिन्हें अपना माता-पिता बनाया, वे महिमा की सीमा क्यों न हों, क्योंकि इन्होंने निरवधि ब्रह्म को भी आकार-विशेष में नियुक्त कर गोद में लिया। फिर उनके निर्माणकर्त्ता ब्रह्माजी भी धन्य हैं कि जिनको ऐसी बड़ाई मिली। ब्रह्माजी के पुत्र मनु-शतरूपा हैं, वे ही दशरथजी और कौशल्याजी हुए, ब्रह्माजी इस प्रकार भी धन्य हुए।

दोहा—बंदउँ अवधभुआल, सत्य प्रेम जेहि राम-पद।
बिछुरत दीनदयाल, प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ॥१६॥

अर्थ—मैं श्रीअयोध्या के राजा की वंदना करता हूँ, जिनका प्रेम श्रीरामजी के चरणों में ऐसा सच्चा था कि (जिन्होंने) दीनदयालु भगवान् के बिछुड़ते ही अपने प्यारे शरीर को तृण की तरह त्याग दिया।

विशेष (१) 'सत्य प्रेम''' सच्चे प्रेम का स्वरूप यही है कि प्रिय का वियोग न सह सके, प्राण तक त्याग दे, यथा—"मकर उरग दादुर कमठ, जल जीवन जल गेह। तुलसी एकै मीन को, है साँचिलो सनेह॥" (दोहावली ३१८)। "निंदहिं आप सराहहिं मीना। धिग जीवन रघुबीर-बिहीना॥" (अ० दो० ८५); "आनि काठ रचु चिता बनाई। मातु अनल पुनि देहि लगाई॥ सत्य करहि मम प्रीति सयानी।" (सुं० दो० ११)।

मनुजी ने भगवान् से प्रथम अभीष्ट वर माँगा कि मुझे आपके समान पुत्र प्राप्त हो, यही शतरूपाजी ने भी माँगा। दोनों को श्रीरामजी ने वर दिया कि मैं ही पुत्र-रूप से प्रकट होऊँगा। फिर मनुजी ने पुत्र-विषयक प्रीति माँगी और उसका लक्षण भी कहा—"मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहिं अधीना॥ एवमस्तु करुनानिधि कहेऊ॥" इसपर श्रीरामजी ने कहा—"होइहहु अवध-भुआल, तब मैं होब तुम्हार सुत॥" (दो० १५१)। वही 'अवध-भुआल' शब्द यहाँ पड़ा है और उसी वर के 'जल बिनु मीना' की सराहना भी है। इसपर कहा जाता है कि राजा की रानियों के साथ ऊपर की वंदना मनु-रूप के प्रथम वर के अनुसार है और यह पृथक् वंदना दूसरा पृथक् वर माँगने के उपलक्ष्य में है।

(२) 'अवधभुआल' कहकर सूचित किया कि श्रीरामजी के बिना सब ऐश्वर्य एवं सुख-समन्वित शरीर को भी त्याग दिया, यथा—"अवध-राज सुरराज सिहाई। दसरथ-धन लखि धनद लजाई॥ (अ० दो० ३२३); तथा—"नृप सब रहहिं कृपा अभिलाखे। लोकप करहिं प्रीति-रुख राखे॥" (अ० दो० १)। दशरथजी की प्रीति सच्ची थी। अवध-धाम के और भी राजा हुए, पर 'सत्य प्रेम' आदि से राजा दशरथ ही का बोध होगा; क्योंकि—'जीवन राम दरस आधीना।' 'जीवन मोर राम बिनु नाहीं।' (अ० दो० ३२) की बातें इन्हीं में थीं। 'रामपद'—इनका वात्सल्य भाव था; अतः, सामान्य रीति से चरणों में प्रेम कहना अयोग्य-सा लगता है, पर इन्होंने 'सत्य प्रेम' के साथ ही यह भी माँगा था कि—"सुतविषयक तव पद-रति होऊ। मोहिं बड़ मूढ़ कहइ किन कोऊ॥" (दो० १५०)। जीवन-काल में 'पद-रति' रही भी—"अस कहि गे बिश्रामगृह, रामचरन चित लाइ॥" (दो० ३५५)। इसपर यह भी कहा जाता है कि राजा दिन में तो सामान्य वात्सल्य की रीति रखते थे और रात को रामजी के चरणों में प्रेम की स्थिति रहती थी।

(३) 'बिछुरत दीनदयाल ''—इसपर यह संदेह हो सकता था कि राजा का तो प्रेम सच्चा था, पर श्रीरामजी निष्ठुर थे, जिनके वन जाने ही से इनके प्राण छूटे। इसका समाधान 'दीनदयाल' कहकर किया कि राक्षसों के अत्याचार से 'संत सुर' दुखी एवं दीन थे, उनपर दया करके वन गये, यथा-"तुलसिदास जौं रहौं मातु हित को सुर-बिप्र भूमि-भय टारे।" (गी० अ० २)। "तुलसिदास सुरकाज न साध्यो तौ तो दोष होय मोहिं महिआयक।" (गी० अ० ३)। अर्थात् दीनदयालुता इतनी उत्कृष्ट है कि ऐसे प्रेम निधि पिता का भी वियोग सहकर उसे बचा रक्खा। 'प्रिय तनु'— देह सबको प्रिय होती है, यथा—"सबके देह परम प्रिय स्वामी।" (सुं० दो० २१), "देह-प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।" (दो० २०७) तथा श्रीरामजी इसी शरीर से पुत्र रूप से मिले, इससे यह परम प्रिय है, यथा—"राम-भगति येहि तनु उर जामी। ताते मोहिं परम प्रिय स्वामी॥" (उ० दो० ९५)। श्रीराम ही के वियोग में उस शरीर को छोड़ा, अन्यथा वह परम प्रिय था।

'तृन इव परिहरेउ'—जैसे तृण (खरपात) के फेंकने मे किसी को ममता नहीं होती, वैसे दशरथजी ने श्रीराम-वियोग के समक्ष शरीर का मोल कुछ नहीं समझा; अत, त्याग दिया, यथा—"सो तनु राखि करबि मैं काहा। जेहि न प्रेम-पन मोर निबाहा॥" (अ० दो० १५४)। श्रीरामजी की वन-यात्रा इसी शरीर-द्वारा की गई प्रतिज्ञा के कारण हुई, अत', शरीर को श्रीराम-विमुख मानकर त्याग दिया, क्योंकि "राम-विमुख लहि विधि सम देही। कवि-कोविद न प्रसंसहिं तेही॥" (उ० दो० ९५)।

शंका—राजा ने श्रीरामजी की वन-यात्रा के कई दिन पीछे शरीर त्याग दिया, फिर 'बिछुरत' क्यों कहा ?

समाधान—राजा ने रामजी के वन जाते समय ही सुमंत्रजी से कह रक्खा था कि वन दिखलाकर चार दिनों में लौटा लाना, अथवा श्रीजानकीजी ही को लौटा लाना, जिससे मेरे प्राणों का अवलंब हो, क्योंकि जानकीजी श्रीरामजी की अर्द्धांगिनी एवं अभिन्नतत्त्व हैं। फिर श्रीसुमंत्रजी के कहने से पिता के वचन मानकर श्रीरामजी रथ पर चढे, तब लौटानेवाले वचन भी माने जाने की आशा हुई और इसी आशा पर सुमंत्रजी रामजी का रथ पुरजनों से छिपाकर रात में ले गये थे। जब तक श्रीसुमंत्रजी नहीं आये थे, राजा 'मनि बिनु फनि' की तरह जीते थे, यथा—"जाइ सुमंत दीख कस राजा। अमिअ-रहित जनु चंद बिराजा॥" (अ० दो० १४०)। फिर सुमंत्र से ठीक-ठीक रामजी का वन जाना सुनते ही व्याकुल होकर गिरे और तृणवत् प्राण त्याग दिये। इससे प्रथम 'मनि बिनु फनि' के अनुसार व्याकुल होकर जिये, पुन 'जल बिनु मीन' के अनुसार शरीर छोड़ा, क्योंकि यही वरदान माँगा गया था।

शंका—पहले भी श्रीविश्वामित्र के साथ श्रीरामजी के जाने पर राजा को वियोग हुआ, तब उन्होंने शरीर क्यों नहीं छोड़ा ?

समाधान—इसमें प्रथम वशिष्ठजी ने समझाया, फिर विश्वामित्र ने भी कहा, यथा—"रिपु रन दलि, मख राखि, कुसल अति अलप दिननि घर अइहैं।" (गी० बा० ४८)। पुन. राजा ने अपना पितृत्व भी विश्वामित्र में स्थापित किया था जिसमें वे पिता की तरह श्रीरामलक्ष्मण का लाड़-प्यार करते रहें, यथा—"तुम मुनि पिता आन नहिं कोऊ।" (दो० २०७)। श्रीरामजी इस यात्रा में वैसा तापस वेष बनाकर गये भी नहीं थे और उनके अंश एवं उन्हीं के समान रूप भरत-शत्रुघ्न आधार के लिये भी थे, तब भी 'मनि बिनु फनि' की तरह व्याकुल जीते रहे। यह दशा जनकपुर पहुँचने पर कही गई है, यथा "सुत हिय लाइ दुसह दुख मेटे। मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे।" (दो० ३००)। अत, इसमें 'मनि बिनु फनि' की दशा रही और दूसरी बार १४ वर्षों के वियोग में 'जल बिनु मीन' की दशा चरितार्थ हुई।

प्रनवउँ परिजन सहित बिदेहू। जाहि राम-पद गूढ़ सनेहू ॥१॥
जोग-भोग महँ राखेउ गोई। राम बिलोकत प्रगटेउ सोई ॥२॥

शब्दार्थ—परिजन = परिवार। गूढ़ = गुप्त, गंभीर। भोग = विषय। गोई = छिपा।

अर्थ—मैं परिवार के साथ जनकजी को प्रणाम करता हूँ, जिनका गूढ़ स्नेह श्रीरामजी के चरणों में था ॥१॥ (जिस स्नेह को उन्होंने) योग और भोग में छिपा रक्खा था, (पर) श्रीरामजी के देखते ही वह प्रकट हो गया ॥२॥

विशेष—(१) 'प्रनवउँ परिजन···' परिजन में भी श्रीजनक महाराज के गुण थे; अतः, 'सहित' पद से साहचर्य कहा। 'गूढ़ सनेह'—यह पद राजा दशरथ की वंदना के पास ही है। अतः, गूढ़ कहने से जनकजी का गुप्त और दशरथजी का प्रेम प्रकट सूचित किया। दशरथजी ने रामजी के वियोग पर प्राण त्याग कर अपने प्रेम को प्रमाणित किया, यथा—"तुलसिदास तनु तजि रघुबर-हित कियो प्रेम परवान।" (गी० अ० ५६); और राजा जनक ने पहले स्नेह को गुप्त रक्खा था, श्रीरामजी के संयोग होने पर उसे प्रत्यक्ष करके प्रमाणित किया। गूढ़ स्नेह होने ही से जनकजी ने श्रीराम की वन-यात्रा पर अपना शरीर नहीं छोड़ा।

'विदेहू'—श्रीवशिष्ठजी के शाप से राजा निमि का शरीर प्राण-रहित हुआ था। तब ऋषियों ने यज्ञ-द्वारा उन्हें शरीरधारी बनाना चाहा, पर निमि ने प्राणियों की पलकों पर वास करने की इच्छा की। फिर उनका शरीर मथा गया और उससे एक पुरुष प्रकट हुआ जिनका नाम 'मिथि' हुआ और उन्हीं का नाम 'विदेह' भी पड़ा, क्योंकि उनका शरीर, माता-पिता के संयोग के बिना ही, यज्ञ-द्वारा बना था। उनके नगर का नाम 'मिथिला' एवं 'विदेह' पड़ा, जिसका नाम पहले 'वैजयंत नगर' था। तब से उस गद्दी के राजाओं की उपाधि 'विदेह' एवं 'मिथिलेश' होती आई है। दशरथजी के समकालीन विदेह महाराज का नाम सीरध्वज और उनके छोटे भाई का नाम कुशध्वज था। इस गद्दी के प्रायः सभी राजा योगीश्वर होते आये हैं, परन्तु महाराज सीरध्वज बड़े ज्ञानी थे और याज्ञवल्क्य मुनि के शिष्य थे। इनके ज्ञान की प्रशंसा गीता एवं उपनिषदों में भी है। श्रीजानकीजी इन्हीं की पुत्री हुईं।

शंका—*अवधवासियों के बीच में ही मिथिलेश महाराज की वंदना क्यों हुई?*

समाधान—श्रीदशरथजी श्रीरामजी के पिता हैं और श्रीजनकजी श्वशुर। अतः, तुल्य मानकर एक साथ रखना योग्य समझा। यथा—"सकल भाँति सम साज समाजू। सम समधी देखे हम आजू ॥" (दो० ३११)। शास्त्रों में श्वशुर को पिता के तुल्य कहा भी है, यथा—"जनिता च प्रणेता च यस्तु विद्यां प्रयच्छति। कन्यादाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः।" (चाणक्य)। सुकृत में भी दोनों तुल्य हैं, क्योंकि ब्रह्म युगल स्वरूप में तत्त्वतः अभिन्न होने से मिलकर एक ही है। उसने एक-एक रूप से दोनों के यहाँ प्रकट होकर तुल्य आदर दिया। यथा—"जनक-सुकृत-मूरति बैदेही। दसरथ-सुकृत राम धरे देही ॥" (दो० ३०१)। दोनों भक्ति में भी तुल्य हैं, एक का प्रेम वियोग पर प्रगट हुआ तो दूसरे का संयोग पर। अतः, परिकर-रूप में इन्हें भी अवधवासियों के ही साथ रक्खा।

(२) 'जोग भोग महँ····' श्रीविदेहजी योग की परिपाक दशा के साथ अनासक्त भाव से भोगों का भी अनुभव करते थे। तत्त्वज्ञ लोग उनको योगी और सामान्य लोग भोगी समझते थे। उनकी वृत्ति स्वाभाविक ब्रह्मानंदमय रहती थी, अचानक श्रीराम-लक्ष्मण पर दृष्टि पड़ते ही वे उनके सौन्दर्य

से मुग्ध हो गये। हठात् ब्रह्मानंद को त्याग कर मन अत्यन्त अनुरागपूर्वक उनमें लग गया। उन्होंने महर्षि विश्वामित्र से पूछा—"कहहु नाथ !···बरबस ब्रह्म-सुखहिं मन त्यागा॥" (दो० २१५)। इससे उन्हें ब्रह्म का निश्चय श्रीराम-रूप में हुआ और उनका परम उच्च कोटि का अनुराग श्रीरामजी में है, ऐसा सब ने जाना।

शंका—जब श्रीविदेहजी पूर्ण ज्ञानी थे, तब फिर श्रीरामजी में प्रेमरूप साधन की क्या आवश्यकता थी ?

समाधान—श्री जनकजी सिद्ध ज्ञानी थे। यथा—"मुनिगन गुरु धुरधीर जनक से। ज्ञान अनल मन कसे कनक-से॥ जे बिरंचि निरलेप उपाये। पदुम पत्र जिमि जग जल जाये॥" (अ० दो० ११६); इनकी जड़-चेतन ग्रंथि भी निर्मुक्त थी, यथा—'गाँठि बिनु गुन की कठिन जड़ चेतन की, छोरी अनायास साधु सोधक अपान को।" (गी० बा० ८६) और ये भजननिष्ठ थे। यही उच्च कोटि के ज्ञानियों की रीति है। यथा—"आत्मारामश्च मुनयो निर्ग्रन्थाप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणोहरिः॥" (श्रीमद्भाग०); क्योंकि—"सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू। करनधार बिनु जिमि जल-जानू॥" (अ० दो० २७१)। श्रीनारदजी एवं सनकादि इसी दृष्टि से भजन करते हुए पाये जाते हैं।

प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना। जासु नेम ब्रत जाइ न बरना॥३॥
राम-चरन-पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥४॥

अर्थ—मैं पहले श्रीभरतजी के चरणों को प्रणाम करता हूँ, जिनके नियम और व्रत का वर्णन नहीं किया जा सकता॥३॥ जिनका मन श्रीरामजी के चरणकमलों में भौंरे की तरह लुब्ध है, (उनका) पास नहीं छोड़ता॥४॥

विशेष—(१) 'प्रनवउँ प्रथम···' इतनी वंदना कर चुकने पर भी 'प्रथम' कहा, क्योंकि (क) यहाँ से श्रीरामजी के नित्य विशिष्ट पार्षदों की वंदना प्रारंभ होती है। इनमें श्रीभरतजी प्रधान हैं। (ख) यहाँ से भ्राताओं एवं सखाओं की वंदना प्रारंभ हुई, उनमें भी श्रीभरतजी बड़े हैं। (ग) श्रीभरतजी श्रीराम-प्रेम की मूर्त्ति ही हैं। यथा—"भरतहिं कहहिं सराहि सराही। राम-प्रेम-मूरति तनु आही॥" (अ० दो० १८३) अतः—'जग जपु राम राम जपु जेही।' (अ० दो० २१७)। पुनः अन्य भक्तों का जितना प्रेम श्रीराम-चरणों में था, इनका उससे कहीं अधिक प्रेम श्रीराम-पादुका में था। इन प्रेमियों में सर्वोपरि होने से 'प्रथम' कहा। (घ) अभी तक प्रायः मूर्त्ति की वंदना होती आई, यहाँ से चरणों की प्रारंभ हुई, तब प्रथम भरत की वंदना की।

'चरना'—भगवान् के चरण धन्य हैं, अतः, जो भगवान् के तुल्य एवं उनके मुख्य अंश से उत्पन्न माने जाते हैं, उनके भी चरणों की वंदना की जाती है। श्रीभरत आदि श्रीरामजी के विशिष्ट पार्षद एवं अंगभूत हैं, अतः, उनके चरणों की वन्दना हुई। 'जासु नेम ब्रत···' 'नेम-ब्रत'—"नित नव राम-प्रेम पन पीना।···सम दम संजम नियम उपासा। नखत भरत हिय बिमल अकासा॥···मुनि ब्रत नेम साधु सकुचाहीं।···मुनि-मन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को।···" (अ० दो० ३२४)। 'जाइ नहिं बरना'—'भरत-रहनि-समुझनि-करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती॥ बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेष गनेस गिरा गम नाहीं॥" (अ० दो० ३२४); "मोहि भावति कहि आवति नहिं भरत जू की रहनि।" (गीता० अ० ८१)।

(२) 'रामचरन पंकज मन···' उपर्युक्त 'नेम-व्रत' शरीर से करते हैं। यहाँ मन का धर्म कह रहे हैं। यह नियम-व्रत का फल है, यथा—जप तप नियम जोग व्रत धरमा।···तव पद-पंकज-प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल यह सुंदर॥" (उ० दो० ४८)।

'लुबुध मधुप इव···' भ्रमर सब फूलों का रस लेता है, पर जब कमल को पाता है, तब उसमें इतना लुभा जाता है कि कमल के संपुट होते समय उसीमें बँध जाता है। यद्यपि काष्ठ-भेदन में भी समर्थ होता है, तथापि प्रीतिवश कमल की कोमल पंखुरियों को नहीं काटता। इसी तरह श्रीभरतजी भी श्रीरामचरण-कमल के प्रेम-रस-पान में इतने निमग्न रहते हैं कि अन्य सामान्य धर्मों एवं प्राकृत सुख-ऐश्वर्य की ओर दृष्टि ही नहीं फेरते, प्रेम का यथार्थ स्वरूप यही है। यथा—"तवामृतस्यन्दिनि पादपङ्कजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति। स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे मधुव्रतोनेक्षुरसं समीक्षते॥" (यामुनाचार्यस्तोत्र)।

बंदउँ लछिमन-पद-जल-जाता। सीतल सुभग भगत-सुखदाता॥५॥
रघुपति-कीरति बिमल पताका। दंड समान भयेउ जस जाका॥६॥

अर्थ—मैं श्रीलक्ष्मणजी के चरण-कमलों की वंदना करता हूँ, जो शीतल सुन्दर और भक्तों के सुख देनेवाले हैं॥५॥ श्रीरघुनाथजी की कीर्त्तिरूपी निर्मल पताका में जिनका यश डंडे के समान हुआ॥६॥

विशेष—(१) 'बंदउँ लछिमन पद···' यहाँ चरणों की वंदना करते हुए विशेषणों द्वारा स्वरूप के गुण कहते हैं। लक्ष्मणजी का स्वभाव शीतल है, वे शरीर से सुंदर हैं और इनमें भक्तों को सुख देनेवाले गुण हैं। यथा—"सहज सुभाय सुभगतनु गोरे। नाम लषन लघु देवर मोरे॥" (अ० दो० ११६) अर्थात् इनके सुंदर शरीर से भक्तों के नेत्रों को और शीतल स्वभाव से हृदय को सुख होता है। इसी तरह अन्यत्र भी चरण-वंदना के साथ स्वरूप के गुण कहे गये हैं, यथा—"बंदउँ गुरु-पद-कंज, कृपासिंधु नररूप हरि।···" (मं० सो०); इत्यादि।

(२) 'रघुपति कीरति···' यहाँ कीर्त्ति की उपमा स्त्रीलिंग शब्द पताका से एवं यश की पुँल्लिंग दंड से दी गई है। दंड पताका का आधार होकर उसे ऊँचा करके दिखाता है, वैसे जब धनुर्भंग-प्रसंग में लक्ष्मणजी ने श्रीरामजी के प्रताप से अपना बल कहा और उसकी सत्यता प्रकट करने के लिये पृथिवी डोल गई तथा दिग्गज डोले, तब प्रथम इनका यश हुआ और इन सब कार्यों को ये केवल श्रीराम-प्रताप से ही कर सकते हैं, इसमें श्रीरामजी की कीर्त्ति फहराई।

सम्पूर्ण युद्ध-कीर्त्ति में भी ये सहायक रहे। मारीच आदि के वध में, विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षा में, वन की एवं रण की लीलाओं में इन्होंने प्रधान भाग लिया है। श्रीरामजी के प्रति न्यूनता किये जाने का अनुमान करके इन्होंने श्रीजनकजी, श्रीपरशुरामजी एवं श्रीभरतजी से कुछ उठा नहीं रक्खा। श्रीरामकीर्त्ति को उच्च रखने का विशेष प्रयत्न किया।

सेष सहससीस जग-कारन। जो अवतरेउ भूमि-भय-टारन॥७॥
सदा सो सानुकूल रह मोपर। कृपासिंधु सौमित्रि गुनाकर॥८॥

अर्थ—जो हजार सिरोंवाले शेषजी और जगत् के कारण हैं तथा जिन्होंने पृथिवी का भय दूर करने के लिये अवतार लिया॥७॥ वे कृपा के समुद्र श्रीसुमित्राजी के पुत्र और गुणों की खान (लक्ष्मणजी) मुझपर सर्वदा अनुकूल रहें॥८॥

विशेष—(१) 'सेष सहस्र सीस...' श्रीलक्ष्मणजी सहस्र शिरोंवाले शेषजी और जगत् दोनों के कारण हैं; अर्थात् ये शेषजी के भी शेषी (अंशी) हैं। यथा—"दिसिकुंजरहु कमठ अहि कोला। धरहु धरनि धरि धीर न डोला॥ राम चहहिं संकर-धनु तोरा। होहु सजग सुनि आयसु मोरा॥" (दो० २५१)। यहाँ 'अहि' अर्थात् शेषजी को आज्ञा दे रहे हैं; अतः शेषजी के भी कारण हैं। जहाँ ये शेष संज्ञा से कहे गये हैं, वहाँ चार कल्पों की कथा एक साथ होने के कारण अथवा कार्य-कारण की एकता की दृष्टि से जानना चाहिये। इनका महत्त्व अन्यत्र भी कहा गया है, यथा—"तुम कृतान्त-भच्छक सुर-त्राता।" (लं० दो० ८३); "सक संग्राम जीति को ताही। सेवहिं सुर-नर-अग-जग जाही॥" (अ० दो० ५४) तथा—"जय अनंत जय जगदाधारा।" (लं० दो० ७६)। शेषजी सहस्र फणों पर पृथिवी का धारण करते हैं और इनके विषय में सम्पूर्ण ब्रह्मांडों का एक ही शिर पर रजःकण की तरह धारण करना लिखा है, यथा—"ब्रह्मांड भुवन बिराज जाकें एक सिर जिमि रजकनी।" (लं० दो० ८२)। अतः, शेष की कारणता स्पष्ट है। श्रीलक्ष्मणजी का द्विभुज किशोर रूप ही नित्य है, क्योंकि श्रीसतीजी की परीक्षा में भी इनका स्वरूप नित्य, अखंड तथा एकरस सिद्ध हुआ। यथा "सोइ रघुबर सोइ लछिमन सीता। देखि सती अति भई सभीता।" (दो० ५४)।

(२) 'सदा सो सानुकूल···' 'कृपासिंधु' कहकर अवतार लेने का कारणभूत गुण कहा और ऊपर 'भूमि-भय-टारन' कार्य कहा है। 'सौमित्रि' शब्द से श्रीसुमित्राजी के उपदिष्ट गुणों की स्थिति इनमें सूचित की, जो—"गुरु पितु मातु बंधु सुर साईं।—" से—"तुलसी प्रभुहिं सिख देइ···" (अ० दो० ७३–७५); तक में कहे गये हैं। 'गुनाकर' से और भी शुभगुणों की खान बतलाई। ग्रंथकार इनकी सदा अनुकूलता चाहते हैं, क्योंकि ये श्रीरामजी के प्राण-प्रिय एवं परम समीपी हैं, यथा—"सिय-रघुबीरहिं प्रानपियारे।" (अ० दो० ११६)। 'लखन राम के नेव।' (अ० दो० १६)

प्रश्न—इनकी वंदना सबसे अधिक चार अर्द्धालियों में क्यों की गई?

उत्तर—श्रीगोस्वामीजी पर इनकी अनुकूलता सबसे अधिक है, जैसे जब 'विनय' में श्रीगोस्वामीजी ने कहा—'बहुरि बूझिये पाँचो।' तब पाँचों में प्रत्यक्षरूप से श्रीरामजी से इन्हीं ने पैरवी की है, यथा—"मारुति-मन रुचि भरत की लखि लखन कही है। कलिकालहुँ नाथ नाम सो प्रतीति प्रीति एक किंकर की निबही है।" (२७९)। अतः, इनकी सेवा विशेष की है।

रिपु-सूदन-पद-कमल नमामी। सूर सुसील भरत-अनुगामी ॥९॥

अर्थ—(मैं) श्रीशत्रुघ्नजी के चरण-कमलों को प्रणाम करता हूँ, जो शूर, सुशील और श्रीभरतजी के अनुगामी हैं।

विशेष—आपका नाम रिपुसूदन है। शत्रु का नाश शूरता से होता है, इसलिये शूरता का वर्णन पहले किया। शूरता की शोभा शील से है। अतः, शूर के पीछे सुशील कहा। शील की प्राप्ति 'बुध-सेवकाई' से होती है। यथा "सील कि मिल बिनु बुध-सेवकाई।" (उ० दो० ८९)। इसलिये 'बुध' भरत की सेवा भी बताई है। आप भरतजी के अनुगामी हैं, यथा—"भरत सत्रुहन दूनउ भाई। प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई॥" (दो० १९०)। आप शूर हैं, यथा—"जयति लवणांबुनिधि-कुंभसंभव, महादनुज-दुर्जन-दवन दुरित हारी।" (वि० ४०)।

महावीर बिनवउँ हनुमाना। राम जासु जस आप बखाना ॥१०॥

सो०—प्रनवउँ पवनकुमार, खल-बन-पावक ज्ञान-घन ।

जासु हृदय-आगार, बसहिं राम सरचाप धर ॥१७॥

शब्दार्थ—ज्ञान घन = ज्ञान-पूर्ण, वा ज्ञान के मेघ अर्थात् औरों को भी आप से ज्ञान प्राप्त होता है। आगार = घर। धर = धारण किये हुए वा धारण करनेवाले।

अर्थ—(मैं)महावीर्यवान् श्रीहनुमानजी की विनती करता हूँ, जिनके यश का वर्णन श्रीरामजी ने स्वयं किया है॥ १८॥ वायु के पुत्र, दुष्ट रूपी वन को अग्निरूप और ज्ञान से पूर्ण (अथवा ज्ञानरूपी मेघ) श्रीहनुमान्जी को प्रणाम करता हूँ, जिनके हृदयरूपी घर में श्रीरामजी धनुषवाण धारण किये हुए बसते हैं॥ १७॥

विशेष—(१) 'महावीर' यथा—"कह्यो द्रोन-भीषम समीर-सुत महावीर, वीररस वारिनिधि जाको बल जल भो।" (हनुमानबाहुक ५)। सुंदरकांड एवं लंकाकांड में आपकी वीरता के उदाहरण स्थान-स्थान पर देखने योग्य हैं। 'हनुमान'—आपने जन्म-समय में ही प्रातःकालीन सूर्य को लाल फल समझकर, उन्हें निगलने के लिये छलाँग मारी। उसी समय ग्रहण का अवसर था। अतः, राहु ने आकर देखा कि आप सूर्य का ग्रहण कर रहे हैं और जाकर इन्द्र से कहा। राहु को डरा हुआ देख और हाल सुनकर इन्द्र चकित हो गये तथा राहु की रक्षा के लिये आये। तब आपने उनके ऐरावत हाथी को श्वेत फल समझकर पकड़ना चाहा। इतने में इन्द्र ने वज्र का प्रहार कर दिया। उस अमोघ अस्त्र से आपकी 'हनु' (ठुड्डीमात्र) दब गई और थोड़ी देर के लिये मूर्च्छित हो गये। फिर पवन देव के कुपित होने पर सब देवों के साथ ब्रह्माजी आये और सब ने वरदान दिया। इन्द्र ने आपकी अत्यन्त दृढ़ हनु (ठुड्डी) देखकर 'हनुमान्' नाम रक्खा।

'राम···आप बखाना' यथा—"सुनु कपि तोहि समान उपकारी।"···से—"सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं।···" (सुं० दो० ३१) तक तथा "तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना।" (कि० दो० २)। शिवजी ने भी कहा है, यथा—"गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार-बार प्रभु निज मुख गाई।" (उ० दो० ४६)।

(२) 'प्रनवउँ पवनकुमार,······' प्रथम आपकी वंदना श्रीरामजी के भाइयों के साथ की गई, क्योंकि आप उनके भी सेवक एवं परम प्रिय हैं तथा उन्हींके साथ भी रहते हैं। यथा—"भ्रातन्ह सहित राम एक बारा। संग परम प्रिय पवनकुमारा॥" (उ० दो० ३१) तथा—"हनूमान भरतादिक भ्राता। संग लिये सेवक-सुख-दाता॥" (उ० दो० ४६)। अब वानरों के साथ भी वन्दना हुई, किन्तु सुग्रीव आदि से प्रथम आपकी वन्दना करते हैं, क्योंकि श्रीरामजी का सम्बन्ध प्रथम आपको, तब सुग्रीव को, फिर जाम्बवान् को और उसके पीछे विभीषणजी को प्राप्त हुआ। इसी क्रम से वन्दना भी की गई है, पुनः सब वानरों की अपेक्षा आपपर श्रीरामजी का ममत्व भी अधिक है, क्योंकि राजगद्दी के पीछे और वानरों की विदाई हुई, परन्तु आप बराबर साथ रहे।

श्रीगोस्वामीजी पर आपकी कृपा निरुपाधि एवं निराली है, यथा—"तुलसी पर तेरी कृपा निरुपाधि निरारी।" (वि० ३४)। इसलिये मंगलाचरण में 'कवीश्वरकपीश्वरौ' कहा तथा दो बार यहाँ भी वन्दना की।

(३) विशेषणों के क्रम और भाव—यहाँ तीन विशेषण क्रम से हैं—'खल-बन-पावक,' 'ज्ञान-घन' और 'जासु हृदय आगार बसहि राम···।' काम क्रोध-लोभादि विषय खल हैं, यथा—"तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना॥" (सुं० दो० ४६)। प्रबल वैराग्य के द्वारा आप इनके नाशक हैं। यथा—प्रबल बैराग्य दारुन प्रभंजनतनय विषय बन दहनमिव धूमकेतू।" (वि० ५८)। विषय-वि

से चित्त का शुद्ध होना निष्काम कर्म का फल है। 'ज्ञान-घन' से ज्ञान की पूर्णता और श्रीरामजी के हृदय में बसने से उपासना की पूर्णता है। अतः, क्रमशः काण्ड-त्रय की पूर्णता आपमें दिखाई गई है।

जीव तीन प्रकार के होते हैं। इन गुणों से आप तीनों के सेवन करने योग्य हैं। यथा—"बिषयी साधक सिद्ध सयाने। त्रिविध जीव जग बेद बखाने॥" (अ० दो० २७६)। 'खल-बन-पावक' होने से विषयी के, 'ज्ञान-घन' से साधक के और 'बसहिं राम···' से सिद्धों के सेवन करने योग्य हैं, क्योंकि विषयी को हृदय-शुद्धि, साधक को ज्ञान और सिद्ध को भी भक्ति की आवश्यकता है। श्रीरामजी परम स्वतंत्र हैं, अतः, सिद्धों के भी वश नहीं हो सकते, पर श्रीहनुमानजी के ऋणी हैं, यथा—"रिनियाँ राजा राम से, धनिक भये हनुमान॥" (दोहावली १११)। अतः, सेवन करने से प्रसन्न होकर सिद्धों के भी हृदय में 'रामरूप' बसा देंगे।

निष्काम कर्म का फल ज्ञान है, यथा—"सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥" (गीता ४।३३); और ज्ञान का फल भक्ति है, यथा—"जप तप मख सम दम ब्रत दाना। बिरति बिबेक जोग बिज्ञाना॥ सब कर फल रघुपति-पद-प्रेमा।···" (उ० दो० ४४)। इसलिये उक्त तीनों विशेषण क्रम से कहे गये हैं।

(४) शंका—जब 'ज्ञान-घन' हैं, तब 'खल-बन-पावक' कैसे? क्योंकि ज्ञान में तो समता चाहिये, यथा—"आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ (गीता ६।३२) और पूर्ण ज्ञान के पीछे उपासना क्यों?

समाधान—ज्ञानी जगत् को विराट् रूप में देखता है। खल विराट् रूप में फोड़े-फुंसी की तरह हैं। अतः, जब एक बाँह में फोड़ा होता है; तब दूसरा हाथ चीरता-फाड़ता है। पीछे आरोग्य होने पर उस हाथ को भी सुख होता है; अतः, यह निष्ठुरता भी सौहार्द का साधन है। श्रीहनुमानजी ने राक्षसों को मारा, वे सब मुक्त होकर सुखी हुए। यथा—"रावन सो राजरोग बाढ़त बिराट उर···" (क० सुं० २५)—इस कवित्त में विस्तार से वर्णित है। परमेश्वर की अपेक्षा किसी की भी बुद्धि अधिक सम नहीं है, परन्तु वह भी अवतार लेकर दुष्ट-निग्रह और साधु-अनुग्रह करता है। जैसे—श्रीरामजी ने दुष्ट कर्म के कारण रावण को दंड दिया, फिर विभीषण के प्रति सौहार्द दिखाते हुए उनसे स्वयं रावण की अन्त्येष्टि क्रिया करवाई, क्योंकि आपकी बुद्धि उसके प्रति निर्वैर थी। ज्ञान की पूर्णता पर भी उपासना से उसकी शोभा है, यथा—"सोह न राम-प्रेम बिनु ज्ञानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू॥" (अ० दो० २७६)। ज्ञानी को कामादि शत्रुओं से स्वयं सावधान रहना पड़ता है और जब वह उपासक होकर श्रीरामजी को हृदय में बसाता है, तब वे धनुष-बाण सहित उन शत्रुओं से उसकी रक्षा करते हैं। यथा—"तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥" (सुं० दो० ४६) तथा—"भरत हृदय सिय-राम निवासू। तहँ कि तिमिर जहँ तरनि-प्रकासू॥" (अ० दो० २९४); "यह बिचारि पंडित मोहिं भजहीं। पायेहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं॥" (आ० दो० ४२)।

श्रीहनुमानजी के हृदय में भी एक बार अभिमान हुआ था। यथा—"सुनि कपि-मन उपजा अभिमाना।" (लं० दो० ५६); तब उसी क्षण हृदय-स्थित प्रभु ने अपने प्रभाव स्मरण-द्वारा रक्षा की है, यथा—"राम-प्रभाव बिचारि बहोरी।···" (लं० दो० ५७–५८)। भक्त-वत्सल श्रीरामजी भक्तों की रक्षा करने में शीघ्रता के लिये सर्वदा धनुष-बाण धारण ही किये रहते हैं।

कपिपति रीछ निसाचरराजा। अंगदादि जे कीस-समाजा॥१॥
बंदउँ सबके चरन सुहाये। अधम सरीर राम जिन्ह पाये॥२॥

अर्थ—वानरों के राजा सुग्रीवजी, ऋक्षों के राजा जाम्बवान्‌जी, निशाचरों के राजा विभीषणजी और अंगद आदि जितने वानरों के समूह हैं, ॥१॥ जिन्होंने अधम शरीर से ही श्रीरामजी को प्राप्त किया है, इन सब के शोभायमान चरणों की मैं वंदना करता हूँ ॥२॥

विशेष—'अधम शरीर'''।' सभी पांचभौतिक शरीर अधम हैं, यथा—"छिति जल पावक गगन समीरा। पंच-रचित अति अधम सरीरा।" (कि० दो० १०); फिर उनमें वानरी देह तो और भी निकृष्ट है। यथा—"असुभ होइ जिन्ह के सुमिरे तें बानर रीछ बिकारी।" (वि० १६६); पर श्रीराम-भजन से वे वानर, ऋक्ष और भी पावन तथा सुहावन हो गये। यथा—"सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तनु पाइ भजिय रघुबीरा॥" (उ० दो० ९६) और इसी जगत् में उनका सम्मान हुआ, यथा—"कियेहुँ कुबेष साधु सनमानू। जिमि जग जामवंत हनुमानू॥" (दो० ६), क्योंकि—"जेहि सरीर रति राम सों, सोइ आदरहि सुजान। रुद्र देह तजि नेह-बस, बानर भे हनुमान॥" (दोहावली १४२)।

'चरन सोहाये'—मनुष्य-देह 'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा' है, उसके द्वारा भी भगवत्प्राप्ति दुर्लभ है, उन्होंने तो पशु-राक्षस देह से भगवान् की प्राप्ति कर ली। अतः, इनके चरण शोभायमान कहे गये। उन्होंने इन्हीं चरणों से दौड़ धूपकर श्रीसीताजी को खोजा है, जिससे श्रीरामजी के प्रिय हुए।

रघुपति-चरन-उपासक जेते। खग मृग सुर नर असुर समेते ॥३॥
बंदउँ पद-सरोज सब केरे। जे बिनु काम राम के चेरे ॥४॥

अर्थ—पक्षी, पशु, देवता, मनुष्य और असुर—इन सबको लेकर श्रीरामजी के चरणों के जितने उपासक हैं ॥३॥ जो श्रीरामजी के निष्काम सेवक हैं, मैं उन सबके चरण-कमलों की वन्दना करता हूँ ॥४॥

विशेष—(१) 'बंदउँ प्रथम भरत के चरना।' से नित्य-परिकरों की वंदना प्रारम्भ करके 'बंदउँ सबके चरन सोहाये।''' तक मैं उसे पूरा किया। अब उन भक्तों की वंदना समष्टि रूप से करते हैं, जिन्होंने उपासना-द्वारा इन परिकरों का साहचर्य प्राप्त किया और पूर्ण काम होकर श्रीराम-सेवा-परायण हैं। इसी से यहाँ 'खग-मृग' के भी चरणों की उपमा कमल से दी है, क्योंकि वे भक्त उपासना-द्वारा संसार से मुक्त हो श्रीराम रूप होकर दिव्य शरीर से श्रीभरत आदि के साथ श्रीराम-सेवा करते रहते हैं और दिव्य भोगों को भोगते हैं। यथा—"सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता।" (तै० उ० २।१)।

(२) 'खग'-'मृग' और 'नर' से मृत्युलोक के, 'सुर' से देव लोक के और 'असुर' से पाताल-लोक के उपासकों की वन्दना है। अतः, तीनों लोकों के उपासक आ गये।

कोई भी जीव हों, वे निष्काम भक्ति से अपने इष्ट के रूप को प्राप्त होते हैं। अतः, खग-मृग आदि भी निष्काम भक्ति से रामरूप हुए; तब इनके भी चरण 'सरोज' कहे गये। यहाँ खग से जटायु, मृग से सुग्रीव आदि, सुर से इन्द्रावतारी बालि, नर से अनेक नर-शरीरधारी भक्त और असुर से मारीच आदि पर लक्ष्य है।

शंका—प्रथम तो "देव दनुज नर नाग खग,''' (दो० ७) में 'सुर-असुर' आदि की वन्दना हो ही चुकी, फिर यहाँ दोबारा क्यों?

समाधान—प्रथम सब जीवों की वन्दना है, यहाँ उनमें उन्हीं उपासकों की की गई है, जिन्हें उपासना-द्वारा फल भी प्राप्त हो चुका है।

सुक सनकादि भगत मुनि नारद। जे मुनिवर बिग्यानबिसारद ॥५॥
प्रनवउँ सबहिं धरनि धरि सीसा। करहु कृपा जन जानि मुनीसा ॥६॥

शब्दार्थ—विज्ञान = तीन अवस्थाओं एवं तीन गुणों से अपनी स्थिति पृथक् समझते हुए तुरीयावस्था में स्थित रहना, प्रकृति-वियुक्त (रहित) आत्मा का ज्ञान। बिसारद = चतुर। जन = दास।

अर्थ—श्रीशुकदेवजी, श्रीसनक-सनातन-सनन्दन-सनत्कुमारजी और श्रीनारद आदि जितने श्रेष्ठ मुनि भक्त हैं और विज्ञान में प्रवीण हैं ॥५॥ मैं उन सबको पृथ्वी पर शिर रख कर प्रणाम करता हूँ, हे मुनीशो ! अपना दास जानकर मुझपर कृपा करें।

विशेष—(१) यहाँ भक्त, मुनि एवं विज्ञानी आदि विशेषण सबके साथ हैं। भक्त कहकर इनको 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि के रूक्ष ज्ञानियों से पृथक् किया। यहाँ पृथ्वी पर शिर रखकर प्रणाम से विशेष श्रद्धा एवं नम्रता दिखाई, क्योंकि ये सब ज्ञानी भक्त हैं, जो भगवान् के विशेष प्रिय हैं। यथा—"ज्ञानी प्रभुहिं बिसेषि पियारा।" (दो० २१)।

'करहु कृपा···' आप सब मुनीश हैं और मैं आपका दास हूँ; इस नाते से मुझपर कृपा कीजिये, क्योंकि—"बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं।" (दो० १६६)।

सुग्रीव आदि ने अधम शरीर से श्रीरामजी को पाया। शरीर की अधमता दूर होना कर्म का फल है। 'रघुपति चरन उपासक जेते।···' में उपासना-कोटि की और यहाँ के—'सुक सनकादि···' में ज्ञान-कोटि की वन्दना है।

शंका—सनकादि ब्रह्मा के मानसी पुत्र आदि सृष्टि के हैं और शुकदेवजी उनके बहुत पीछे हुए, फिर शुकदेवजी का नाम प्रथम क्यों रक्खा गया ?

समाधान—(क) शुक में दो ही वर्ण हैं और सनकादि में चार। छोटा शब्द बड़े के पूर्व रहे तो क्रम अच्छा बनता है; इसलिये ऐसा रक्खा। (ख) शुकदेवजी वैराग्य और विवेक में सनकादि से भी अधिक हैं, क्योंकि सनकादि को जब ब्रह्माजी ने सृष्टि करने की आज्ञा दी, तब उन्होंने अपने पिता से वाद कर वन की राह ली और तप करके वर माँगा कि हम नित्य बाल्यावस्था ही में स्थित रहें, पर इस अवस्था में भी जय-विजय को शाप दे ही दिया। शुकदेवजी जन्मते ही किशोर अवस्था के हो गये। गर्भ से पैदा होते ही वन की राह ली। माता-पिता की ओर देखा तक नहीं। पिता व्यासजी रोते हुए आपके पीछे-पीछे चले और समझाने का यत्न किया, तब आपने वृक्ष में प्रवेश कर उनसे बातें कीं। आपका विवेक ऐसा दृढ़ है कि किसी के प्रति क्रुद्ध न हुए कि शाप देने का संयोग लगे। राजा परीक्षित की सभा में भी बालक शुकदेवजी को आते देख उनको ज्ञानवृद्ध जानकर बड़े-बूढ़े ऋषि खड़े हो गये थे।

(२) ऊपर नित्य परिकरों की और आगे श्रीसीतारामजी की वंदना है। बीच में इन मुनियों की दो अर्द्धालियाँ (१ चौ०) में वंदना है, यह तो व्यास तथा वाल्मीकि आदि के साथ होनी चाहिये थी, पर ऐसा करने में एक रहस्य है और वह है ग्रंथ के तात्पर्य-निर्णय की विधि जो उपक्रम उपसंहार आदि छः लिंगों (चिह्नों) के द्वारा होता है। इस रामायण का उपक्रम इसी चौपाई से है, क्योंकि श्रीसीतारामजी की वंदना अब प्रारंभ होगी, जो ग्रंथ के प्रतिपाद्य हैं। उपक्रम में पूर्व ही यह 'सुक सनकादि···' की चौपाई वंदना क्रम से भिन्न रक्खी गई है। ऐसे ही इस ग्रंथ के उपसंहार पर जहाँ गरुड़जी के सातों प्रश्न पूरे हुए, वहाँ भी—"सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म-बिचार बिसारद ॥ सब कर

मत खग-नायक येहा। करिय राम-पद-पंकज नेहा ॥" (उ० दो० १२१) है। बस, यहीं से मानस के चारों घाटों का विसर्जन प्रारंभ हुआ। वहाँ पर भी ये मुनि एवं इनके विशेषण हैं, केवल 'सिव-अज' दो नाम और जोड़ दिये गये हैं और यह चौपाई वहाँ भी इसी प्रकार प्रसंग से अलग-सी है। इसका तात्पर्य यह है कि यह ग्रंथ निवृत्तिपरक है; अतः, प्रवृत्ति की ओर से माया विरोध करेगी; तब पंचायत होगी (इस पंचायत का वर्णन 'सव पंच चौपाई मनोहर···' पर होगा); इसलिये अपने निवृत्ति-पक्ष के दो सत-पंच इन शुक-सनकादि का यहाँ वरण किया कि आपलोग मुझे अपना जन जानकर कृपा करें अर्थात् इस जन के यहाँ आवें और इस ग्रंथ में शोभित हों, क्योंकि ये लोग महान् विरक्त एवं विवेकी हैं—प्रतिपक्षी के पक्षपाती नहीं हैं। तीसरे सत-पंच श्रीनारदजी हैं, इनका वर्णन मध्यस्थ (सरपंच) रूप से किया गया है, क्योंकि ये उभय पक्षों के मान्य हैं। रावण-कंस आदि के यहाँ भी इनका सत्कार होता था और इधर के देवर्षि तो हैं ही। श्रीनारदजी उभय पक्षों के ज्ञाता भी हैं, यथा—"अस कहि चले देवरिषि, करत राम-गुन-गान। हरिमाया-बल बरनत, पुनि-पुनि परम सुजान ॥" (उ० दो० ५१)। नारदजी व्यास-वाल्मीकि के भी गुरु हैं। सबको 'भगत' विशेषण देकर अपना तात्पर्य बताया कि मैं भक्ति-परक ही ग्रंथ लिखूँगा, और 'बिग्यान-बिसारद' से विज्ञान-सम्बन्धी अनुमति भी चाही कि मेरा भक्ति-सिद्धान्त विज्ञान-सम्मित रहे जिससे पंचायत में मेरी हार न हो। इतना प्रबंध करके 'जनकसुता जगजननि···' से ग्रंथ का आरंभ कर चले।

जनकसुता जगजननि जानकी। अतिसय प्रिय करुना-निधानकी ॥७॥
ताके जुग-पद-कमल मनावउँ। जासु कृपा निर्मल मति पावउँ ॥८॥

शब्दार्थ—करुना-निधान = करुणा के सागर। [करुणा-लक्षण—"सेवक को दुख देखि कै, स्वामि विकल हो जाय। तजि दुख-सुख साजै सकल, करुना गुन सो आय ॥" प्रसिद्ध है।]

अर्थ—श्रीजनकजी की कन्या, जगन्माता और करुणा-सागर (श्रीरामजी) की अतिशय-प्रिया श्रीजानकीजी के दोनों चरण-कमलों को मनाता हूँ, जिनकी कृपा से (मैं) निर्मल बुद्धि पाऊँ ॥७-८॥

विशेष—(१) 'जनक-सुता जग जननि···' यहाँ श्रीजानकीजी की चारो प्रकार की उत्तमताएँ तीन विशेषणों से सूचित कीं—'जनक सुता' से जन्म-स्थान की श्रेष्ठता, यथा—"पिता जनक देउँ पटतर केही। करतल भोग जोग जग जेही ॥" (अ० दो० ११८); तथा—"जासु ज्ञान-रवि भव-निसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा ॥" (अ० दो० २७६); 'जग-जननी'—से स्वभाव और रूप की श्रेष्ठता, यथा—"आदि-सक्ति जेहि जग उपजाया।" (दो० १५१); तथा—"उमा-रमा ब्रह्मादि-बंदिता।" (अ० दो० २३); 'अतिसय-प्रिय···' से संग की श्रेष्ठता, अखिल ब्रह्मांड-नायक श्रीरामजी का संग एवं प्रियत्व है। यथा—"तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा ॥" (सुं० दो० १४)।

'जनकसुता' मात्र कहने से श्रीजनकजी की और कन्याओं का भ्रम होता। 'जगजननि' शब्द भी गिरिजा आदि में प्रयुक्त होता है, यथा—"जगतजननि दामिनि-दुति गाता।" (दो० २३४); तथा—'अतिसय प्रिय' भी भक्तों के प्रति कहा गया है, यथा—"सुनु लंकेस सकल गुन तोरे। ताते तुम अतिसय प्रिय मोरे ॥" (सुं० दो० ४८), एव—"सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरे। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे ॥" (आ० दो० ३५)। अतः, तीनों को एक साथ कहकर अतिव्याप्ति दोष मिटाते हुए, श्रीजानकीजी का बोध कराया। जानकी शब्द विशेष्य और तीन विशेषण हैं। अतः, 'जनकसुता' शब्द से पुनरुक्ति नहीं है।

करुणा-निधान के प्रियत्व से जानकीजी का स्वभाव भी करुण सूचित हुआ, क्योंकि बिना प्रकृति मिले प्रियत्व नहीं होता। यह भी सुना जाता है कि श्रीजानकीजी पति के लिये सम्बोधन-रूप में 'करुणा-निधान' शब्द कहा करती थीं। जब श्रीहनुमान्‌जी ने 'सत्य सपथ करुना-निधान की।' (सु० दो० १२) कहा, तब इस गुप्त संकेत से श्रीजानकीजी ने इनका विश्वास किया।

(२) 'ताके जुग-पद-कमल···' बालक माता के यदि दोनों चरण पकड़ ले, तो वह जिस वस्तु के लिये मचला रहता है, माता को देते ही बनता है। यथा—"हौं मचला लै छाड़िहौं जेहि लागि अर्यो हौं।" (वि० २६७); वैसे ही श्रीगोस्वामीजी निर्मल बुद्धि के लिये दोनों चरण मना रहे हैं। निर्मल बुद्धि से श्रीरामजी का ऐश्वर्य विदित होता है। श्रीरामजी का ऐश्वर्य उनके दोनों चरणों के २४-२४ चिह्नों के परिज्ञान से जाना जाता है। जो-जो चिह्न श्रीरामजी के दाहिने-बायें चरणों में हैं, वे ही क्रमशः श्रीजानकीजी के बायें-दाहिने में हैं। अतः, दोनों चरणों के संकेत से अपना अभीष्ट भी जना रहे हैं।

सम्बन्ध—प्रथम शक्ति की वंदना करके तब शक्तिमान् की करते हैं, यही नियम है—

पुनि मन बचन करम रघुनायक। चरन-कमल बंदउँ सब लायक॥९॥

राजिवनयन धरे धनु सायक। भगत-बिपति-भंजन सुखदायक॥१०॥

अर्थ—फिर मैं मन, वचन और कर्म से राजीवलोचन, धनुष-बाणधारी, भक्तों के दुःख हरनेवाले और सुख देनेवाले श्रीरघुनाथजी के चरण-कमलों की वन्दना करता हूँ, जो सब प्रकार से योग्य हैं॥९-१०॥

विशेष—(१) 'सब लायक'—(क) सबके लायक अर्थात् श्रीरामजी सबको सब सुख देने में समर्थ हैं। यथा—"सुनु सेवक-सुरतरु सुरधेनू। बिधि-हरि-हर-बंदित पद-रेनू॥" (दो० १४५); "नाथ देखि पद-कमल तुम्हारे। अब पूरे सब काम हमारे॥" (दो० १४८)। (ख) इनके सेवन से मन वचन-कर्म शुद्ध होते हैं; इसीलिये इन्हीं तीनों से यहाँ वंदना भी की गई है। मन—यथा—"जे सकृत सुमिरत बिमलता मन सकल कलिमल भाजहीं॥ (दो० ३२४); वचन—"जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कबि उर-अजिर नचावहिं बानी॥" (दो० १०४); कर्म—"पाप करत निसि-बासर जाहीं। ······अब ते प्रभु-पद-पदुम निहारे। मिटे दुसह दुख दोष हमारे॥" (अ० दो० २५०)। (ग) ये कोल-किरात ऐसे दीनों और ब्रह्मादि बड़ों से सेवा कराने के योग्य हैं। यथा—"बचन किरातन्ह के सुनत, जिमि पितु बालक-बयन।" (अ० दो० १३६); "जासु चरन अज-सिव अनुरागी।" (उ० दो० १०५)

(२) 'राजिवनयन···' राजीव लाल कमल को कहते हैं। भक्तों की विपत्ति के भंजन में धनुष-बाण से काम लिया जाता है। अतः, रौद्र और वीर में लाल नेत्रों की आवश्यकता है। ऐसे ही प्रसंगों पर 'राजीवनयन' कहे गये हैं। यथा—"सुनि सीता-दुख प्रभु सुखअयना। भरि आये जल राजिवनयना॥" (सुं० दो० ३१); "राजीवबिलोचन भव-भय-मोचन···" (दो० ११०), इत्यादि। ऐसे ही शांत रस में पुंडरीकाक्ष (श्वेत कमल-तुल्य नेत्र) और शृंगार रस में नील कमल के समान नेत्र कहे जाते हैं।

दोहा—गिरा अरथ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीताराम-पद, जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न॥१८॥

अर्थ—मैं श्रीसीतारामजी के चरणों की वन्दना करता हूँ, जिन्हें दीन अत्यन्त प्रिय हैं। जो वाणी और अर्थ एवं जल और जल की लहर के समान कहने में तो भिन्न हैं, पर (तत्त्वतः) भिन्न नहीं हैं।

विशेष—(१) प्रथम श्रीसीताजी और श्रीरामजी की पृथक् पृथक् वंदना की, अब एक ही में क्यों ? उत्तर—(क) वे वाह्यतः भिन्न-भिन्न देखे-सुने जाते हैं। अतः, भिन्न-भिन्न ही वंदना हुई। तत्त्वतः अभिन्न हैं। अतः, अभिन्न वंदना हुई। (ख) श्रीगोस्वामीजी आगे नाम-वंदना करेंगे, तब-'बंदउ नाम राम···' कहेंगे। वहाँ यह शंका होगी कि मानसकार केवल श्रीराम ही के उपासक हैं अन्यथा 'सीताराम नाम बंदउँ' या और कोई युगल नामसूचक शब्द कहते। अतः, सीता नाम ब्रह्म का नहीं है। इसलिये यहाँ प्रथम ही दोनों रूपों को अभिन्न सिद्ध करते हैं। तब नाम की तत्त्वतः अभिन्नता स्वतः हो जायगी; क्योंकि नाम और नामी अभिन्न होते हैं। यथा—"न भिन्नो नाम नामिनोः। (पद्मपुराण में पार्वतीजी के प्रति शिवजी का वाक्य)। जो गुण एवं ऐश्वर्य रूप में होता है वही उसके नाम में भी रहता है। जैसे कोई ज्योतिषी चोरी को प्रकट करने की विद्या में निपुण हो और इसमें उसकी ख्याति हो जाय, तब उसके निवास से दूरस्थल पर भी जहाँ चोरी होने पर घरवाला ज्योतिषी का नाम लेते हुए उससे जाँच कराने को कहता है; तब चोर डरकर चुराया माल भी किसी युक्ति से दे जाते हैं। इस रीति से ज्योतिषी की समग्र विद्या-शक्ति ने उसके नाम द्वारा रूपका-सा कार्य किया। पुन नाम की प्रशंसा से रूप प्रसन्न होता है, नाम-द्वारा मुहूर्त्त शोधकर कार्य करने से रूप का कल्याण होता है, इत्यादि।

यही एकता अन्यत्र के प्रमाणों से भी पाई जाती है, यथा—"द्वौ च नित्यं द्विधारूपं तत्त्वतो नित्यमेकता। राममन्त्रे स्थिता सीता सीतामन्त्रे रघूत्तमः॥" (बृहद् विष्णुपुराण)। इसमें भी तत्त्वतः रूप की एकता दिखाते हुए मन्त्र एवं नाम की भी एकता कही गई है। तथा—"श्रीसीतारामनाम्नस्तु सदैक्यं नास्ति संशयम्। इति ज्ञात्वा जपेद्यस्तु सधन्योभाविनांवरः॥" (महारामायण)।

(२) 'गिरा अरथ···' इसमें 'गिरा-बीचि' और 'अर्थ-जल' उपमान है, क्रमशः सीता और राम उपमेय, 'कहियत भिन्न न भिन्न' धर्म और 'सम' वाचक हैं। अतः, पूर्णोपमा है। इसमें ग्रन्थकार का प्रयोजन धर्म के द्वारा दोनों रूपों को तत्त्वतः अभिन्न दिखाने का है। वाणी और अर्थ तत्त्वतः एक हैं, जैसे 'पय' वाणी और 'दूध' उसका अर्थ है। इसमें पय और दूध एक ही वस्तु है। ऐसे ही जल और उसकी लहर दोनों जल-रूप की एक ही वस्तु हैं; इसी प्रकार सीता और राम एक ही वस्तु हैं, दोनों ही मिलकर एक अखंड ब्रह्म-तत्त्व हैं। रघुवंश के मंगलाचरण में भी यही कहा है—'*वागर्थाविव सम्पृक्तौ*'। यही बात मनु-शतरूपाप्रकरण (दो १४१ से १५२ तक) में खोलकर दिखाई गई है। वहाँ स्वायंभुव मनु और शतरूपा प्रथम सच्चिदानंद ब्रह्म का स्मरण करते थे, फिर उसीको हरि-(क्लेशहर्त्ता) रूप से प्राप्ति के लिये तप करने लगे और यह अभिलाष करने लगे कि हम उसी परम प्रभु को अपने नेत्रों से देखें, जो निर्गुण, अखंड, अनंत और अनादि है; जिसका चिन्तन परमार्थ-वादी करते हैं, वेद 'नेति नेति' कहकर जिसका निरूपण करते हैं, जो स्वयं आनंदरूप और उपाधिरहित एवं अनूप है, जिसके अंश से अनेक शिव, ब्रह्मा और विष्णु भगवान् उपजते हैं, ऐसा प्रभु भी सेवक के वश में है और वह भक्तों के लिये लीला को अपने शरीर में ग्रहण करता है। लीला का अर्थ यह कि अपने दिव्य शरीर में ही प्राकृत मनुष्यों की तरह बाल पौगंड आदि अवस्थाओं का धारण करता है, वैसी बात करता एवं देख पड़ता है। यदि यह (ब्रह्म के 'लीला तन गहई' का) वचन वेद ने सत्य कहा है तो हमारी अभिलाषा पूरी होगी। ऐसा दृढ संकल्प करके तप करते थे, तब विधि-हरि-हर बहुत बार आये, वर के लिये बहुत प्रकार से लोभ दिखाया, पर इनकी अखंड वृत्ति परब्रह्म में लगी थी। अतः, उनके वचन ही न सुने। तब परब्रह्म परमात्मा ने मनु को अपना अनन्य दास जानकर ब्रह्म-वाणी द्वारा वर माँगने को कहा। उससे इनका क्षीण शरीर पहले की तरह हो गया। तब इन्होंने कहा कि जो स्वरूप शिवजी के मन में रहता है, जिसके लिये मुनि यत्न करते हैं और जो भुशुंडी के मन-मानस का हंस है, वेद जिसकी प्रशंसा 'सगुण निर्गुण कहकर करते हैं, हम वही रूप नेत्र भरकर देखें। (अर्थात्

(२) यहाँ अग्नि आदि तीन ही कारण कहने के प्रयोजन ये हैं—(क) नामी (रूप) का गुण ही नामार्थ-द्वारा प्रकट होता है। श्रीरामजी से तीनों की उत्पत्ति वेद में कही गई है, यथा—"चन्द्रमा मनसो· जातश्चक्षोः सूर्योऽजायत। मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत॥" (यजुर्वेद); तथा—"नयन दिवाकर··· आनन अनल···मन ससि···" (लं० दो० १४)।

(ख) श्रीराम-नाम अग्नि आदि तीनों का कारण है, मूल है और जिह्वा पर इन्हीं तीनों का निवास भी है, यथा—"जिह्वामूले स्थितोदेवःसर्वतेजोमयोऽनलः। तदग्रे भास्करश्चन्द्रस्तालुमध्ये प्रतिष्ठितः॥" (योगियाज्ञवल्क्यः); अतः, जिह्वा से इन तीनों वर्णात्मक श्रीराम-नाम के जपने से—अपने-अपने मूल की प्रकाश-प्राप्ति से— अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा द्वारा होनेवाले उपर्युक्त वैराग्य, ज्ञान और भक्ति का पूर्ण विकास होता है तब वैराग्य-द्वारा अन्तःकरण-शुद्धि से कर्म-दोष, ज्ञान-द्वारा गुणातीत होने से गुण-दोष और भक्ति-द्वारा काल-दोष निवृत्त होता है, क्योंकि काल भगवान् की इच्छा है, यथा—"भृकुटिविलास भयंकर काला।" (लं० दो० १४); और भक्ति से भगवान् अधीन हो जाते हैं; यथा—"भगति अवसहिं बसकरी॥" (आ०दो०२५)।

(ग) श्रीराम-नाम में इन तीनों का कारण अन्यत्र भी कहा गया है, यथा—"जासु नाम पावक अघ तूला"। (अ० दो० २४७); "जासु नाम भ्रम-तिमिर-पतंगा।" (दो० ११५); "राका रजनी भगति तव, राम नाम सोइ सोम।" (आ० दो० ४२)।

(३) प्रश्न—श्रीरामजी के अनेकों नाम हैं, यहाँ श्रीराम-नाम ही की वंदना क्यों?

उत्तर—भगवान् के और सब नाम गुण-कर्म के द्वारा हैं और श्रीरामनाम साक्षात् सच्चिदानंद-स्वरूप का वाचक होने से मुख्य है, यथा—"रमन्ते योगिनोनंते सत्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ· परंब्रह्माभिधीयते॥" (श्रीरामपूर्वतापनीय० १।६); अर्थात् अनंत, नित्यानंद और चिदात्मा में योगी रमण करते हैं। इस प्रकार राम शब्द के द्वारा ये दाशरथी श्रीरामजी परंब्रह्म कहे जाते हैं। 'राम' नाम के अर्थ में ब्रह्म-स्वरूप के सत्, चित् और आनंद का अर्थ ज्यों-का त्यों है, यथा—"चिद्वाचकोरकारस्यात्सद्वाच्याकार उच्यते। मकारानन्दवाचीस्यात् सच्चिदानन्दमव्ययम्॥" (महारामायण) अर्थात् र चिद्वाचक, आ सद्वाची और म आनंदवाची है; अतः, सच्चिदानंद अविनाशी ब्रह्म श्रीरामजी हैं। तथा—"नारायणादि नामानि कीर्तितानि बहून्यपि। आत्मा तेषां च सर्वेषां रामनामप्रकाशकः॥" (महारामायण) इसी अभिप्राय से श्रीनारदजी ने—"राम सकल नामन्ह ते अधिका।" (आ० दो० ४१) कहा है और इसी नाम से श्रीवशिष्ठजी ने भी नामकरण किया है; अतः, आत्मा की वंदना से सम्पूर्ण शरीर के समान अन्यान्य नामों की भी वंदना हो गई।

बिधि-हरि-हर-मय बेद प्रान सो। अगुन अनूपम गुन-निधान सो॥२॥

शब्दार्थ—अगुन = प्राकृत सत्व, रजस् और तमोगुण से परे। गुन-निधान = दिव्य गुणों की खान।

अर्थ—यह (श्रीराम-नाम) बिधि-हरि-हर-मय है, वेद का प्राण है; गुणों से परे, उपमा-रहित और दिव्य गुणों की खान है॥२॥

विशेष—(१) 'बिधि-हरि-हर-मय'—'मय' तद्धित का एक प्रत्यय है जो तद्रूप, विकार और प्राचुर्य अर्थ में शब्दों के साथ लगता है। तद्रूप—'सियाराममय सब जग जानी।' विकार—'अमिअ-मूरिमय चूरन चारू।' प्राचुर्य—'मुद-मंगल-मय संत-समाजू।'

ग्रंथकार ने 'मय' के प्राचुर्यभाव को श्रीराम-नाम के विषय में लिया है, यथा—"जथा भूमि सब बीजमय, नखत निवास अकास। राम-नाम सब धरममय, जानत तुलसीदास॥" (दोहावली २६) अर्थात् जैसे अनन्त बीज पृथिवी में रहते हुए, उसकी ही सत्ता से, वृक्ष-अन्न आदि उत्पन्न कर सकते हैं, वैसे ही श्रीरामनाम के द्वारा बुद्धि में सब धर्मों का विकाश होता है, फिर आकाश में अनन्त नक्षत्रों की स्थिति की भाँति नाम ही से हृदयाकाश में अनन्त दिव्य गुण जगमगाते रहते हैं।

इसी प्रकार यहाँ 'बिधि-हरि-हर-मय' का अर्थ यह होगा कि श्रीराम-नाम ही के अंश से अनेकों त्रिदेव अपने-अपने ब्रह्मांडों के साथ आविर्भूत (प्रकट) होते हैं और इसी के आधार से उनमें उत्पत्ति, पालन और संहार की शक्तियाँ हैं। यथा—"राम-नामांशतोजाता ब्रह्माण्डाः कोटि-कोटिशः। रामनाम्नि परेधाम्नि संस्थिता स्वामिभिस्सह॥" (पद्मपुराण—ब्राह्मणों के प्रति व्यासजी का कथन) तथा—"राम-नाम-प्रभावेण स्वयंभूः सृजते जगत्। बिभर्त्ति सकलं विष्णुः शिवः संहरते पुनः॥" (महाशंभुसंहिता)। यही अर्थ श्रीराम-नाम के अक्षरार्थ से भी प्रकट होता है अर्थात् राम शब्द में 'र, आ, म, अ' ये चार वर्ण हैं। उनमें प्रथम का 'र' आधार और शेष तीनों उसके आधेय हैं, यथा—"रेफारूढ़ा मूर्त्तयः स्युः शक्त्यस्तिस्र एव च।" (श्रीरामतापनीय २।३)। 'रेफारूढ़ा मूर्त्तयः वृक्षारूढ़ा वानरा इव' अर्थात् जैसे वृक्ष के आधार से वानर स्थित रहते हैं, वैसे रेफ के आश्रित 'आ, म्, अ' तीनों वर्ण एवं उनके वाच्य त्रिदेव और उनकी शक्तियाँ हैं। रेफ के वाच्य श्रीरामजी, आ के ब्रह्मा, म् के शिव और अ के विष्णु हैं, यथा—"रश्च-रामेऽनिलेवह्नौ, अकारो वासुदेवः स्यात्। ह्याकारस्तु प्रजापतिः। 'मः शिवश्चन्द्रमाः'" (एकाक्षरकोश)

नाम का यही अर्थ महत्त्व रूप में भी कहा है, यथा—"हरिहिं हरिता सिवहिं सिवता बिधिहिं बिधिता जेहि दई। सोइ जानकीपति···" (वि० १३५); यही परात्परत्व का असाधारण लक्षण है। यथा—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते॥ येन जातानि जीवन्ति॥ यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति॥ तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति॥" (तैत्तिरीयो० भृ० व०)।

(२) 'बेद प्रान सो'—प्राण का अर्थ जीव, सार और तत्त्व है, यथा—"येहि महँ रघुपति-नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥" (दो० ६); तथा—"वेदे व्याकरणे चैव ये च वर्णाः स्वराः स्मृताः। रामनाम्नैव ते सर्वे जाता नैवात्र संशयः॥" (महारामायण)। पुनः वेद का प्राण प्रणव (ओम्) है, वह राम-नाम से सिद्ध होता है। जैसे 'राम'—इस पद में 'र, अ, अ, म, अ' ये पाँच अक्षर हैं, उनमें वर्ण-विपर्यय करने पर 'अ, र, अ, म्, अ' होता है, उसमें "अतोरोरप्लुतादप्लुते" (पा० ६।१।११३) इस सूत्र से 'र' का 'उ' हुआ और "आद्गुणः" (पा० ६।१।८७) सूत्र से 'अ उ' के स्थान में 'ओ' हुआ, और "एङः पदान्तादति" (पा० ६।१।१०९) से द्वितीय 'अ' का पूर्व रूप और अंतिम 'अ' का पृषोदरादित्व से वर्णनाश होकर 'ओम्' बनता है। अथवा राम शब्द की प्रकृतिभूत 'रम्' धातु मे वर्ण-विपर्यय मानकर पूर्वोक्त 'अतोरो०' से 'र' से 'उत्व' और उपर्युक्त 'आद्गुणः' से 'ओत्व' करने पर 'ओम्' बनता है। यथा—"रकारं गुरुराकारस्तथा वर्णविपर्ययः। मकारं व्यञ्जनं चैव प्रणवं चाभिधीयते॥ रामनाम्नः समुत्पन्नः प्रणवो मोक्षदायकः।" (महारामायण) तथा—"स्वभूर्ज्योतिर्मयोनंतरूपी स्वेनैवभासते। जीवत्वेनेदमोंयस्य सृष्टिस्थितिलयस्य च॥" (राम पू० ता० २।१४) अर्थात्···"सर्ववेद-मंत्रकारणस्य प्रणवस्य तत्प्रकाश्यत्वमाह जीवत्वेनेदमों यस्येति यस्य वह्नि बीजस्य जीवत्वेन स्फोटकत्वेनेदं सर्ववेदसर्वमन्त्रात्मकं ॐ काराक्षरं भासते ननु वस्तुतः तद्भिन्न ॐकारोस्तीत्यर्थः" (श्रीहरिदास कृत भाष्य)।

(३) 'अगुन अनूपम'' अगुण अर्थात् गुणातीत, अनुपम अर्थात् इसकी उपमा के योग्य कुछ

हम देखकर ही जानेंगे कि उस अखंड ब्रह्म का कैसा रूप है ?) तब भक्त-वत्सल भगवान् युगल (सीता-राम) रूप से ही प्रकट हुए अर्थात् यही अखंड ब्रह्म का स्वरूप है। ब्रह्म नित्य सर्वशक्तिमान् है। अत', शक्ति-सहित ही अखंड है। यही प्रायः सभी दार्शनिकों का सिद्धान्त भी है कि शक्ति और शक्तिमान् को अभिन्न मानते हैं।

उपर्युक्त प्रसंग पर कोई-कोई कहते हैं कि 'लीला तन गहई' का अर्थ यह है कि ब्रह्म लीला का शरीर ग्रहण करता है और मनु ने लीला-शरीर के दर्शन माँगे। अतः, यह लीला का शरीर भगवान ने दिखाया और उदाहृत शिव आदि भी इसी लीला-शरीर के प्रेमी हैं, परन्तु ब्रह्म का परस्वरूप और है।

यह कहना अयोग्य है, क्योंकि 'ब्रह्म नित्य रूप से अतिरिक्त लीला का शरीर दूसरा ग्रहण करता है।' इस तरह आदि विग्रह (शरीर) से पृथक् विग्रह धारण करने पर वह दूसरा शरीर सादि होने से घटादिवत् अनित्य होगा, फिर उस रूप के उपासक को मुक्ति कैसे सिद्ध होगी और "यं यं भावं स्मरन्वापि त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति···" (गीता ८।६) यह वाक्य व्यर्थ होगा। ऐसे और भी इस अर्थ में बहुत दोष हैं। श्रीरामतापनीय भाष्य के पृ० १५७-१६६ में "उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना" की व्याख्या देखें। भगवान् के सब शरीरों के भाव इस प्रकार नित्य हैं, जैसे कोई स्फटिकमणि नील-पीतादि पुष्पों के बीच में रक्खी हो तो उस-उस ओर नील-पीतादि रूप से देख पड़ती है। ऐसे ही भगवान् उपासकों के ध्यान के अनुसार अपने आदिविग्रह में लीला के द्वारा अनेक रूपों और भावों के साथ दीखते हैं। यथा—"जेहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ। तेहि तस देखेउ कोसलराऊ॥" (दो० १४२)

(३) शंका—एक ही दृष्टान्त से एकता सिद्ध हो जाती तो दो क्यों दिये गये और स्त्रीलिंग-पुँल्लिंग की उपमाओं का हेरफेर क्यों किया गया ?

समाधान—'गिरा-अर्थ' मात्र कहे गये होते तो 'गिरा' शब्द के स्त्रीलिंग होने से सीताजी का कारण होना और अर्थरूप श्रीरामजी का कार्य होना सिद्ध होता, क्योंकि 'गिरा' से अर्थ होता है। ऐसे ही 'जल-बीचि' में भी जल संस्कृत में नपुंसक लिंग होते हुए भी भाषा में पुँल्लिंग है। अतः, जल श्रीरामजी के लिये है और बीचि स्त्रीलिंग श्रीसीताजी के प्रति है। जल का कार्य 'बीचि' है; अतः, श्रीरामजी कारण और श्रीसीताजी कार्य समझे जाते।

इन दो दृष्टान्तों से दोनों में कार्य-कारण का निराकरण किया। इसपर यदि पूर्वपक्ष किया जाय कि—"प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चंद्रिका चंद्र तजि जाई॥" (अ० दो० ९६); इसमें प्रभा और चंद्रिका क्रम से सूर्य और चन्द्रमा की कार्यरूपा हैं, इस अनुरोध से यहाँ 'गिरा' को श्रीरामजी की उपमा मानकर श्रीरामजी कारण और श्रीसीताजी कार्य मान लिये जायँ।

सिद्धान्त—उपमा के धर्म से ही कविता का प्रयोजन रहता है। जैसे 'कमल के समान कोमल चरण' में 'कोमल' धर्म है, अतः, कोमलता ही दिखाने का प्रयोजन है, कमल के रंग-रूप-रस आदि चाहे मिलें अथवा न मिलें। वैसे ही उक्त चौपाई में—प्रभा, चंद्रिका और श्रीसीताजी तथा भानु, चंद्र और श्रीरामजी क्रमशः उपमान-उपमेय हैं, 'जाइ कहँ···बिहाई'—कहँ ···तजि जाई' ये दोनों धर्म हैं, वाचक पद सम, इव आदि लुप्त हैं। अतः, उपमा-द्वारा कवि का प्रयोजन, केवल श्रीजानकीजी का अपृथक्-सिद्ध सम्बन्ध दिखाना मात्र है कि प्रभा और चंद्रिका जैसे सूर्य तथा चन्द्र से पृथक् होकर नहीं रह सकतीं, वैसे मैं आपके बिना नहीं रह सकूँगी। ऐसे ही "तनु तजि रहति छाँह किमि छेकी॥" (अ० दो० ९६) में अपृथक्-सिद्ध सम्बन्ध ही दिखाने का प्रयोजन है। अत', उपर्युक्त 'गिरा-अरथ' में लिंग विरोध करके श्रीरामजी ही को

कारण सिद्ध करना अयोग्य है। जहाँ लिंग के अनुकूल उपमान का अर्थ असंगत होता है, वहाँ लिंग-विरोध किया जाता है। यहाँ श्रीजानकीजी को कार्य कहने में अनित्यता होगी, जो भारी दोष है।

और भी देखिये। राजा दशरथ को वरदान था कि वे श्रीरामजी के दर्शनों के बिना 'जल बिनु मीन' की तरह नहीं जी सकते। उन्होंने सुमंत्र से कहा कि यदि जानकी फिरें तो मेरे प्राणों का अवलंब हो (अ० दो० ८१)। यदि श्रीजानकीजी श्रीरामजी से भिन्न तत्त्व होतीं, तब राजा कैसे जी सकते थे? इत्यादि।

(४) 'परम प्रिय खिन्न'—साधारण रीति से प्रभु को सभी जीव प्रिय हैं, पर 'खिन्न' परम प्रिय हैं, यहाँ खिन्न का अर्थ दीन-हीन है, जो संसार को भयंकर जानकर प्रभु के शरणापन्न हैं, शरीर-निर्वाह के अतिरिक्त जगत् से सम्बन्ध नहीं रखते। इस तरह अभिमानरहित जीव ही श्रीसीतारामजी को परम प्रिय हैं। यथा—"करमठ कठमलिया कहैं, ज्ञानी ज्ञानविहीन। तुलसी त्रिपथ बिहाय गो, राम-दुआरे दीन। (दोहावली ९६); "जेहि दीनपियारे वेद पुकारे ···" (दो० १८५)।

इति धाम परिकर-श्रीसीतारामरूप-वंदना-प्रकरण समाप्त

नाम-वन्दना-प्रकरण *

बंदउँ नाम राम रघुबर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को ॥१॥

अर्थ—(मैं) श्रीरघुवर के राम-नाम की वंदना करता हूँ, जो अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा का हेतु (कारण एवं बीज) है।

विशेष—(१) 'बंदउँ नाम···' अभी ऊपर रूप की वंदना की थी, अब नाम की वंदना प्रारंभ करते हुए कहते हैं कि 'बंदउँ नाम'; कौन नाम? उसपर 'राम' कहा। फिर यह प्रश्न होगा कि कौन राम? क्योंकि 'राम' शब्द से परशुराम एवं बलराम का भी बोध होता है; अतः, 'रघुबर को' कहा अर्थात् दशरथ-कुमार श्रीरामजी के 'राम'-नाम की वंदना करता हूँ। अर्द्धाली के पूर्वार्द्ध से नाम का परिचय देकर उत्तरार्द्ध में उसके गुण कहते हैं—'हेतु कृसानु···'। राम-नाम में सामान्यतः तीन वर्ण 'र, अ और म' हैं। इनमें 'र' अग्नि-बीज, 'अ' भानु-बीज और 'म' चन्द्र-बीज है, यथा—"रकारोऽनलबीजं स्यात्ये सर्वे वाडवादयः। कृत्वा मनोमलं सर्वं भस्म कर्म शुभाशुभम्॥ अकारो भानुबीजं स्याद्वेदशास्त्रप्रकाशकम्। नाशयत्येव सद्दीप्त्या याऽविद्या हृदये तमः॥ मकारश्चन्द्रबीजञ्च पीयूषपरिपूर्णकम्। त्रितापं हरते नित्यं शीतलत्वं करोति च॥" (महारामायणे शिव-वाक्यम्)। इन्हीं गुणों से ये तीनों क्रमशः कर्म के फल रूप वैराग्य, ज्ञान एवं भक्ति के भी कारण हैं, यथा—"रकारहेतुर्वैराग्यं परमं यच्च कथ्यते। अकारो ज्ञानहेतुश्च मकारो भक्तिहेतुकम्॥" (महारामायणे) अर्थात् शुभाशुभ कर्म भस्म होने से वैराग्य और अविद्या दूर होने से ज्ञान होता है तथा भक्ति रूपी सुधा से इंद्रियाँ तृप्त होती हुई तीनों (दैहिक, दैविक और भौतिक) तापों से बचती हैं, इस प्रकार से भक्ति की पहचान होती है। एकाक्षरकोश से भी—'रश्च रामेऽनिलेवह्नौ', 'अकारो वासुदेवः स्यात्'— वासुदेव, नारायण, विष्णु के पर्यायी नाम हैं, सूर्य भी नारायण-रूप हैं। 'मः शिवश्चन्द्रमाः'—इस प्रकार उक्तार्थ ही सिद्ध होता है।

* यह प्रकरण यहाँ से— भाय कुभाय अनख ···' तक नौ दोहों में है। इसका विस्तार मेरे लिखे श्रीराम-नामार्थ पर नामाराधन रीति की अखिल साधन-सम्पन्न व्याख्या रूपी 'तत्त्वार्थ-सुमिरनी' टीका सहित 'श्रीमन्मानस-नाम-वंदना' ग्रंथ में है। यहाँ यह विषय संक्षेप ही में लिखा जाता है।

नहीं है, यथा—"यस्य नाम महद्यशः न तस्य प्रतिमाऽस्ति।" (यजुर्वेद)। 'गुन-निधान' अर्थात् ज्ञान, वैराग्य, शांति, क्षमा आदि दिव्य गुणों का खजाना है।

महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुति हेतु उपदेसू ॥३॥
महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ ॥४॥

अर्थ—श्रीराम नाम महामंत्र है, जिसे शिवजी जपते हैं और जिसका उपदेश काशीजी में मुक्ति का कारण है ॥३॥ जिस (राम नाम) की महिमा गणेशजी जानते हैं, वे इसी नाम के प्रभाव से (सब देवताओं से) प्रथम पूजे जाते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'महामंत्र···' 'महेसू'—महान् ईश अर्थात् सब देवताओं के स्वामी भी इसे जपते हैं। अतः, यही महामंत्र है। यथा—"महामंत्र जपिये सोई जो जपत महेस।" (वि० १०८), "उमा सहित जेहि जपत पुरारी।" (दो० ६)। माहात्म्य-कथन में प्रथम शिवजी को कहा, क्योंकि—"नाम प्रभाउ जान सिव नीको।" (दो० १८); "महिमा रामनाम की जान महेस। देत परम पद कासी करि उपदेस॥" (बरवा ५२) तथा—"यत्प्रभावं समासाद्य शुको ब्रह्मर्षिसत्तमः। जपस्व तन्महामन्त्रं रामनामरसायनम्॥" (शुकपुराण)। भारी महत्त्व एवं सुलभता से भी यह महामंत्र है, क्योंकि महा अपावन यवन, किरात, अजामिल आदि भी इस नाम के उल्टे-पुल्टे कहने से पावन हो गये। शुद्ध, अशुद्ध एवं मृतदेह लिये हुए भी लोग इसका उच्चारण कर मंगल-भागी होते हैं और यह विधि - अनुष्ठानादि की भी अपेक्षा नहीं रखता। 'भाय कुभाय अनख आलसहूँ' आदि सब भाँति कल्याण ही करता है।

संसार के संहारकर्त्ता ईश्वर महेश भी उसे जपते हैं। अतः, यह महामंत्र शिष्टपरिगृहीत—बड़े बड़ों से ग्राह्य है। 'कासी मुकुति ·····' काशी में मरते समय जीवों को श्रीशिवजी श्रीराम नाम ही का उपदेश करते हैं, उसीसे उनकी मुक्ति होती है। यथा—"जासु नाम बल संकर कासी। देत सबहिं सम गति अविनासी॥" (कि० दो० १)।

शंका—श्रीरामतापनीय उपनिषद् में षडक्षर मंत्रराज के उपदेश से शिवजी का मुक्ति देना कहा है और यहाँ श्रीराम-नाम से कहते हैं। ऐसा क्यों?

समाधान—श्रीराम-नाम ही मंत्रराज का बीज होता है और उसीका विवरण अवशिष्ट-मंत्र है, अतः, नाम और मंत्र तत्त्वतः अभेद हैं, यथा—"सर्वेषां राममन्त्राणां श्रेष्ठं श्रीतारकं परम्। षडक्षरमनुं साक्षात्तथा युग्माक्षरं वरम्॥" (मत्स्यपुराण)। 'उपदेसू'—यथा—"पेयं पेयं श्रवणपुटके राम-नामाभिरामं, ध्येयं ध्येयं मनसि सततं तारकं ब्रह्मरूपम्। जल्प्यं जल्प्यं प्रकृति-विकृतौ प्राणिनां कर्णमूले, वीथ्यां वीथ्यामटति जटिलः कोऽपि काशीनिवासी॥" (स्कंदपुराण—काशीखंड)। यहाँ श्रीशिवजी ने स्वयं मोक्ष-फल पाया और औरों को मोक्ष-फल लुटा रहे हैं। अतः, नाम का मोक्ष-फल देना सिद्ध है।

(२) 'महिमा जासु ·····' गणेशजी के राम-नाम-प्रभाव जानने की कथा पद्मपुराण में इस प्रकार है कि एक समय श्रीब्रह्माजी ने सब देवताओं के समक्ष प्रथम पूज्य पद का प्रस्ताव किया। सभी अपने को योग्य कहने लगे। इसपर ब्रह्माजी ने कहा कि जो तीनों लोकों की परिक्रमा करके मेरे पास प्रथम आवेगा, वही यह पद पावेगा। सब देवता अपने-अपने वाहन पर शीघ्रता से चले। गणेशजी का वाहन चूहा है। अतः, वे सबसे पीछे रह गये और उदास हुए। तब भगवान् की दया से श्रीनारदजी आ गये और

उपदेश किया कि श्रीराम-नाम सर्वब्रह्मांडमय है, तुम उसे ही पृथिवी पर लिखकर और उसीकी परिक्रमा करके श्रीब्रह्माजी के पास चले जाओ। इन्होंने ऐसा ही किया। अन्य देवता जहाँ जाते वहीं चूहे के पैरों का चिह्न आगे पाते थे। अतः, वे सब निराश हुए और गणेशजी ने ही यह पद पाया। इन्होंने स्वयं कहा है—"अहं पूज्योऽभवँल्लोके श्रीमन्नामानुकीर्त्तनात्। अतः श्रीरामनाम्नस्तु कीर्त्तनं सर्वदोचितम् ॥" (गणेशपुराण)।

यहाँ श्रीगणेशजी की अपनी कामना सिद्ध हुई और ये संसार की कामनासिद्ध करते हैं, इसीसे सम्पूर्ण शुभ कार्यों में इनका प्रथम पूजन होता है। अतः, यहाँ श्रीराम-नाम का काम फल देना सिद्ध है।

जान आदिकवि नाम प्रतापू। भयेउ सुद्ध करि उलटा जापू ॥४॥

अर्थ—श्रीवाल्मीकिजी श्रीराम नाम का प्रताप जानते हैं ये उल्टा नाम (मरा) जपकर शुद्ध हो गये।

विशेष—'उलटा जापू' यथा—"राम बिहाइ 'मरा' जपते बिगरी सुधरी कविकोकिलहू की।" (क० उ० ८९)। "जहाँ बाल्मीकि भये व्याध ते मुनीन्द्र साधु 'मरा-मरा' जपे सुनि सिष रिषि सात की ॥" (क० उ० १३८)।

श्रीवाल्मीकिजी की कथा—इनका पूरा वृत्तान्त दो० २ की तीसरी चौ० में लिखा गया है। यहाँ प्रयोजन मात्र लिखते हैं। ये ऋषि के बालक थे। बचपन ही में भीलों का संग हो गया। एक भील-कन्या से विवाह भी हुआ। ससुराल ही में रहने लगे। उन्हीं के संग से पूरा व्याधा हो गये। फिर तो ये ब्राह्मण-साधु को भी नहीं छोड़ते, जीव-हत्या करते थे और धन वस्त्रादि लूटकर कुटुम्ब पालते थे। एक समय सप्तर्षियों को भी मारना चाहा, तब उनके प्रभाव एवं उपदेश से आँखें खुलीं और दीनतापूर्वक उद्धार का उपाय पूछा। उन्होंने राम-नाम का उपदेश किया। वह भी इनसे न बना। तब दयालु ऋषि 'मरा मरा' जपने का उपदेश देकर चले गये। ये उसी शरीर से व्याधा से मुनि हुए। 'नाम-प्रतापू'—प्रताप, यथा—"जाकी कीरति सुयश सुनि, होत शत्रु उर ताप। जग डेरात सब आप ही, कहिये ताहि प्रताप ॥" अर्थात् किसी व्यक्ति की कीर्ति और सुयश ही से शत्रु को भय हो जाय, उस व्यक्ति को वहाँ न जाना पड़े तो वह प्रताप कहा जायगा। वैसे ही यहाँ साक्षात् नाम के बिना 'मरा-मरा' से करोड़ों ब्रह्महत्या आदि पापों की शुद्धि हुई। यही नाम का प्रताप है। 'हराम' कहने से यवन की गति हुई। अतः, वहाँ भी नाम का प्रताप कहा गया, यथा—"आँधरो अधम जड़ जाजरो जरा जमन····· नाम के प्रताप बात विदित है जग में।" (क० उ० ७६)। 'भयेउ सुद्ध'—जो पाप करोड़ों यज्ञों से शुद्ध नहीं हो सकता था, वह नाम के प्रताप से हुआ। अतः, यहाँ नाम का अमित अर्थ फल देना है, क्योंकि बहुत शुद्ध धान्य एवं द्रव्य प्राप्त होता, फिर उससे उत्तम समय में एवं अच्छे-अच्छे कार्यकर्त्ता द्वारा सैकड़ों यज्ञ किये जाने से जो फल होता वह वाल्मीकिजी को केवल उलटा नाम जपने ही से प्राप्त हुआ। ऐसे वे श्रीवाल्मीकिजी भी नाम-द्वारा प्राप्त गुणों से रामायण रचकर उसके एक-एक अक्षर से संसार के पापों की शुद्धि करते हुए अर्थ-फल प्रदान कर रहे हैं। यथा—"एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्" (मू० रा० माहात्म्य)।

अन्य मंत्र किंचित् भी अविधि होने पर उल्टे विघ्न करते हैं, पर श्रीराम-नाम तो उल्टे जप में भी भारी फल देते हैं। आश्चर्य महत्त्व है। इससे यह भी सूचित हुआ कि नाम का प्रत्येक अक्षर पृथक्-पृथक् भी बड़े महत्त्व का है।

इस दोहे भर में सब श्रीशिवजी और उनके ही परिवार हैं। बीच में एक महर्षि कहे गये, क्योंकि श्रीराम-नाम एवं श्री रामचरित के सम्बन्ध से महर्षि भी शिवजी को गणेशजी के समान प्रिय हैं।

सहस नाम सम सुनि सिव-बानी। जपति सदा पिय संग भवानी ॥६॥
हरषे हेतु हेरि हर ही को। किय भूषन तिय-भूषन ती को ॥७॥

अर्थ—श्रीशिवजी के ये वचन सुनकर—"एक 'राम' नाम (विष्णु) सहस्रनाम के समान है"—श्रीपार्वतीजी उसे अपने पति के साथ सदा जपती हैं ॥६॥ उनके हृदय की प्रीति को देखकर श्रीशिवजी प्रसन्न हुए और पतिव्रता स्त्रियों में शिरोमणि स्त्री (श्रीपार्वतीजी) को अपना भूषण बना लिया अर्थात् भूषण की तरह इन्हें आधे अंग में धारण करके शोभा मानी ॥७॥

विशेष—(१) श्रीपार्वतीजी की कथा—श्रीशिवजी की आज्ञा से श्रीपार्वतीजी ने वामदेव ऋषि से वैष्णव मंत्र का उपदेश लिया। गुरुजी ने इन्हें नित्य विष्णुसहस्रनाम के पाठ का नियम करा दिया। ये किया करती थीं। एक दिन भोजन के समय श्रीशिवजी स्वयं भोजन करने बैठे और इन्हें भी भोजन करने के लिये बुलाया। इन्होंने कहा कि अभी मेरा पाठ समाप्त नहीं हुआ। तब श्रीशिवजी ने सुअवसर समझकर उनको उपदेश दिया कि एक बार श्रीराम नाम कहकर आओ और भोजन कर लो। इन्होंने वैसा ही किया। पीछे इन्होंने श्रीशिवजी से पूछा कि आपने मेरा नियम क्यों छुड़ा दिया? शिवजी ने कहा कि तुम्हारा नियम एक बार ही राम नाम कहने से पूरा हो गया, क्योंकि राम नाम विष्णुसहस्र नाम-समूह के तुल्य है, यथा—"राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे। सहस्रनामतत्तुल्यं राम नाम वरानने ॥" (पद्मपुराण, पाताल खण्ड)। 'सिवबानी'—ईश्वर की वाणी है, अतएव कल्याणकारी एवं सत्य है। यथा—"संभु गिरा पुनि मृषा न होई।" (दो० ५०)। अत, तत्काल प्रभाव पड़ा।

'जपति सदा''' यथा—"मंगलभवन अमंगलहारी। उमासहित जेहि जपत पुरारी ॥" (दो० ६); 'जपति सदा' पाठ अयोध्या श्रावणकुंज का है, यह उपर्युक्त कथा से भी मिलता है, क्योंकि सहस्र नाम की तुल्यता भोजन के पीछे कही गई है, परन्तु कई प्रतियों का पाठ 'जपि जेईं' भी है जिसका अर्थ है 'जपकर भोजन किया।'

(२) 'हरषे हेतु हेरि''' पार्वतीजी का श्रीराम नाम में विश्वास एवं अपने वचन में हेतु (प्रीति) देखकर शिवजी को हर्ष हुआ। हर्ष का ध्वनितार्थ हेतु यह भी है कि सती-शरीर में संदेह के कारण उपदेश नहीं लगा था। यथा—"लाग न उर उपदेस—" (दो० ५१); और अब पूर्ण श्रद्धा है।

इसमें श्रीपार्वतीजी को पातिव्रत्य धर्म के फलस्वरूप पति के रूप की प्राप्ति, जो अन्यत्र मृत्यु के बाद होती है, वह इसी शरीर से हो गई। पार्वतीजी भी संसार को यही धर्म लुटा रही हैं, यथा—"येहि कर नाम सुमिरि संसारा। तिय चढ़िहहिं पतिव्रत असि धारा ॥" (दो० ६६), यह वचन हस्त-रेखा से भविष्य के लिये कहा गया है, नाम जपने पर यह सामर्थ्य हुआ। स्त्री के लिये यह एक ही धर्म है, यथा—"एकइ धरम एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पति-पद-प्रेमा ॥" (आ० दो० ४)। अत, यहाँ नाम का 'धर्म फल' प्रदान करना सिद्ध है।

इस प्रसंग से यह भी सिद्ध हुआ कि पतिव्रता को भी, पति के रहते हुए भी, भगवान् का भजन करना चाहिये। अन्य प्राकृत जीवों की भक्ति मना है। भगवान् तो दिव्य एवं चराचर के पति हैं, यथा—'पतिं विश्वस्य' वेद में कहा है। श्रीनारदजी ने याज्ञवल्क्यजी से कहा है—"रामनामरता नारी सुतं सौभाग्यमीप्सितम्। भर्तुः प्रियत्वं लभते न वैधव्यं कदाचन ॥ पतिव्रताना सर्वासां रामनामानुकीर्त्तनम्। ऐहिकामुष्मिकं सौख्यं दायकं सर्वशो मुने ॥" (शांडिल्यपुराण)।

नाम-प्रभाव जान सिव नीको। कालकूट फल दीन्ह अमी को ॥८॥

अर्थ—श्रीशिवजी नाम का प्रभाव भली भाँति जानते हैं; इसी से कालकूट (विष) ने उनको अमृत का फल दिया।

विशेष—'नाम-प्रभाव जान...' प्रभाव और देवगण भी जानते हैं, पर उसे भली भाँति श्रीशिवजी ही जानते हैं; इसी से कहा है—"रामायन सतकोटि महँ, लिय महेस जिय जानि।" (दो० १६); "तुम पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंगअराती॥" (दो० १०७), तथा—"जासु नाम सर्वस सदासिव पार्वती के।" (गी० बा० १२) उदाहरण उत्तरार्द्ध में देते हैं, यथा—'कालकूट फल...'—श्रीमद्भागवत स्कंध ८ अ० ५ से ७ तक में शिवजी के हालाहल पीने की कथा आई है। यहाँ सारांश मात्र लिखी जाती है। पूर्व समय में, जब देवासुर संग्राम हो रहा था और दैत्य लोग प्रबल होकर देवताओं का विनाश कर रहे थे, उसी समय विष्णु भगवान् ने दुर्वासा ऋषि को प्रसाद रूप में फूलों की एक माला दी थी। ऋषि ने वह माला इन्द्र को दी जो ऐरावत पर चढ़े हुए रणभूमि की ओर जा रहे थे। इन्द्र ने उसे हाथी के मस्तक पर रख दिया। माला नीचे गिर पड़ी, हाथी ने पैरों से उसे कुचल डाला। यह देखकर ऋषि ने शाप दिया—'तू शीघ्र ही भ्रष्ट-श्री हो'। वैसा ही हुआ। संग्राम में तीनों लोकों के साथ इन्द्र श्री-विहीन हो गये। यज्ञादि धर्म बंद हो गये। इन्द्रादि देवता शिवजी को साथ लेकर सुमेरु पर ब्रह्माजी के पास गये। ब्रह्माजी ने सबके साथ क्षीर-सागर पर जाकर भगवान् की स्तुति की। भगवान् ने प्रकट होकर उपाय कहा कि इस समय अपनी कार्य-सिद्धि तक तुमलोग दैत्यों से मेल कर लो और उनके साथ अमृत निकालने के लिये, क्षीर सागर में तृण ओषधि आदि डालकर मंदराचल की मथानी से उसे मथो। वासुकी नाग से रस्सी का काम लो। प्रथम कालकूट निकलेगा, उससे नहीं डरना। फिर रत्न भी प्रकट होंगे। उनका भी लोभ न करना। अन्त में अमृत निकलेगा जिसको पीकर तुमलोग अमर और अजेय हो जाओगे, इत्यादि समझाकर भगवान् अंतर्धान हो गये।

भगवान् का आदेश पाकर इंद्र दैत्यराज बलि से मिले तथा सबने मिलकर मंदाराचल उखाड़ा और ले चले। राह में थककर गिर पड़े। उनमें बहुत कुचल गये। उनकी दीनता पर भगवान् आये और पर्वत को लीला-पूर्वक गरुड़ पर रखकर क्षीरसागर पहुँचा दिया। अमृत के लोभ से वासुकी रस्सी बने। समुद्र मंथन होने लगा। पर्वत को जल पर स्थित रखने के लिये भगवान् ने कच्छपरूप धारण कर उसे अपनी पीठ पर उठा रक्खा था। बहुत मथने पर भी देव-दानवों को सफलता नहीं मिलती देखकर भगवान् स्वयं मथने लगे। प्रथम कालकूट निकला, वह सबको असह्य हो गया। भगवान् की प्रेरणा से सब मृत्युंजय शिवजी की शरण गये और स्तुति की, तब शिवजी ने सतीजी के अनुमोदन से, जगत् कल्याण के लिये श्रीरामजी का नाम लेकर कालकूट को हथेली पर रख पी लिया। श्रीरामनाम के प्रताप से उस कालकूट ने अमृत का काम किया। यथा—"खायो कालकूट भयो अजर अमर तन" (क० उ० १५८)। उस विष को शिवजी ने कंठ में ही रख लिया जिससे उनका कंठ नीला हो गया और इसीसे उनका नाम 'नीलकंठ' हुआ। श्रीनन्दीश्वर के वचन भी हैं—"*शृणुध्वं भो गणास्सर्वे रामनामपरं बलम्। यत्प्रसादान्महादेवो हालाहलमयीं पिबेत्॥ जानाति रामनाम्नस्तु परत्वं गिरिजापतिः। ततोऽन्यो न विजानाति सत्यं सत्यं वचो मम॥*" (नंदीपुराण)। इससे जाना गया कि नाम महत्त्व के ज्ञाता सब देव वहाँ थे भी, पर विश्वास न था। शिवजी ही यथार्थ जानते थे; तभी विश्वासपूर्वक कालकूट पी गये।

सारांश—(क) इस दोहे में आदि-अंत श्रीशिवजी कहे गये हैं, क्योंकि ये जापकों एवं ज्ञाताओं में

आदि और फल पानेवालों में अवधि हैं, नाम से अविनाशी हो गये। (ख) श्रीगणेशजी और वाल्मीकिजी को साथ कहा, क्योंकि एक तो नाम से आदिपूज्य हुए और दूसरे आदिकवि बने। (ग) श्रीपार्वती और श्रीशिवजी को साथ कहा, क्योंकि दोनों नाम के श्रद्धा-विश्वास के आदर्श हैं और श्रद्धा विश्वास से ही सिद्धि होती है। (देखिये, मं० श्लोक।) (घ) इस दोहे में चारों प्रकार के नाम के अर्चा-रूप कहे गये—स्वयंव्यक्त, दिव्य, सैद्ध और मानुष्य। जैसे श्रीशिवजी के हृदय में 'स्वयंव्यक्त' रूप प्रकट हुआ, क्योंकि इन्हें स्वयं नाम का ज्ञान एवं विश्वास हुआ। पार्वतीजी के हृदय में इसी विश्वास तथा ज्ञान को महादेवजी ने स्थापित किया। अतः, 'दिव्य' हुआ। वाल्मीकिजी के हृदय में सप्तर्षि सिद्धों ने स्थापित किया; अतः 'सैद्ध' हुआ। गणेशजी ने स्वयं (अपनेआप) पृथिवी पर लिखकर और नाममूर्त्ति निर्माण कर परिक्रमा करके फल पाया। अतः, यहाँ 'मानुष्य' हुआ।

दोहा—बरषा रितु रघुपति-भगति, तुलसी सालि सुदास।
राम नाम बर बरन जुग, सावन भादव मास ॥१६॥

अर्थ—रघुपति-भक्ति वर्षा-ऋतु है, तुलसी एवं अच्छे दास धान हैं। श्रीरामनाम के दोनों श्रेष्ठ अक्षर सावन-भादों के महीने हैं।

विशेष—(१) बरषा रितु''' ऋतुएँ छः होती हैं, वैसे भक्ति भी पाँच तो पंचदेवों की और एक रघुपति की है। वर्षा से ही पाँचों ऋतुएँ हरी-भरी रहती हैं, वैसे ही श्रीरामभक्ति से ही पाँचो देवों में महत्त्व है। अतः, वे लोग रामभक्त के प्रति स्वतः प्रसन्न रहते हैं।

पंचदेव—"करि मज्जन पूजहिं नर-नारी। गनप गौरि त्रिपुरारि तमारी॥ रमारमन पद बंदि बहोरी।" (अ० दो० २७२)। इनमें गणेश, गौरी और शिव का राम-भक्ति करना ऊपर कहा गया। सूर्य—"दिनमनि चले करत गुन गाना" (दो० १९५); विष्णु—"हरि हित सहित राम जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे॥" (दो० ३१६)। 'तुलसी सालि सुदास'—यहाँ 'सु' उपसर्ग उपमेय 'दास' में लगा है, पर उसकी उपमा 'सालि' में नहीं है, क्योंकि उसमें 'सु' का भाव स्वतः है। सालि (शालि) जड़हन धान को कहते हैं, जो प्रथम बीज रूप में बोया जाता है, वह ग्रीष्म ऋतु के ही मृगशिरा नक्षत्र (जब इस नक्षत्र में सूर्य आते हैं) की तपन के पीछे आर्द्रा में बोया जाता है, फिर उखाड़कर श्रावण के पुष्य आदि नक्षत्रों में लगाया (रोपा) जाता है। इसमें बीज रूप में सामान्य धान रहता है। रोपने पर 'शालि' कहाता है और उसमें बड़ी-बड़ी बालें होती हैं। वैसे उपमेय रूप रघुपति-भक्ति के पक्ष में सुदास की अभक्त अवस्था का मन मृगशिरा की भाँति तीनों तापों से तपता हुआ वर्षा-रूपी रामभक्ति चाहता है। मन का देवता चन्द्रमा है, उसका वाहन मृग है; अतः वह मृग का शिररूप स्वामी होने से मृगशिरा का उपलक्षक है। फिर आर्द्रा की वर्षा की तरह सत्संग द्वारा नाम रटन होने लगा, यही बीज बोना है, परन्तु योंही भक्ति रहने से श्रीराम प्राप्ति रूप उत्तम बालें नहीं लगतीं, क्योंकि अभी मिथुन राशि के सूर्य की तरह मैथुनी शरीर द्वारा की जानेवाली भक्ति है। अतः, 'मनमुखी' (गुरु-दीक्षा के बिना मनमानी) है। श्रावण में कर्क के सूर्य होते हैं, तब बीज उखाड़कर रोपा जाता है। वैसे ही मनमुखी भक्त भी कर्क अर्थात् दीनता से नित्र होकर गुरुमुख होते हैं, तब उनका नया जन्म होता है। फिर वे शालि के समान होकर सुदास कहाते हैं। तदनन्तर रामनाम रटने लगते हैं। तब रकारार्थ का ज्ञान कर्क के सूर्य और मकारार्थ का ज्ञान सिंह

के सूर्य के समान पोषक होता है। श्रावण-भादों में वर्षा होती है, तब शालि (धान) होता है, वैसे राम नाम के 'र' के अर्थ से ब्रह्मस्वरूप, 'म' के अर्थ में जीव स्वरूप और दोनों के बीच के अकारार्थ से जीव ईश्वर के संबंध का ज्ञान होता है, जिससे भक्ति होती है। यथा—"रकारार्थो रामः सगुणपरमैश्वर्यजलधिर्मकारार्थो जीवः सकलविधकैंकर्यनिपुणः। तयोर्मध्याकारो युगलमथसम्बन्धमनयोरनन्यार्हं ब्रूते त्रिनिगमस्वरूपोऽयमतुलः॥" (श्रीराममंत्रार्थ)। शालि का जीवन वर्षा है, वैसे तुलसी एवं सुदास का जीवन श्रीरामनाम है। यथा—"श्यामघन सींचिये तुलसी सालि सफल सुखाति।" (वि० २२१); "अति अनन्य जे हरि के दासा। रटहिं नाम निसि दिन प्रति स्वासा॥" (वैराग्य-संदी०)।

ऊपर के दोहे में तीन वर्णों के रूप में माहात्म्य कहा। यहाँ से एक दोहे में दो वर्णों के रूप में कहते हैं—

आखर मधुर मनोहर दोऊ। बरन बिलोचन जन जिय जोऊ॥१॥

शब्दार्थ—बिलोचन = नेत्र एवं विशेष नेत्र। जोऊ = देख लो। जिय = हृदय।

अर्थ—दोनों अक्षर (रा और म) मधुर और मनोहर हैं, सब वर्णों के नेत्र हैं। हे जनो! हृदय में देख लो।

विशेष—(१) नाम का जप उसका अर्थ विचारते हुए करना चाहिये, यथा—"तज्जपस्तदर्थभावनम्" (योगसूत्र)। उपर्युक्त रीति से दोनों वर्णों से ब्रह्म और जीव के स्वरूप एवं संबंध का ज्ञान होते हुए मधुरता एवं मनोहरता का अनुभव हृदय में होता है। इसीलिये 'जन जिय जोऊ' कहा है। जैसे आम का स्मरण होने पर उसके मीठे स्वाद एवं रस पर मन जाता है, वैसे नाम का अर्थभूत महत्त्व उसके स्मरण करते ही हृदय में आता है, मधुर लगता और मन भी हर जाता है। यथा—"कूजन्तं रामरामेति मधुरं मधुराक्षरम्। आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम्॥" प्रसिद्ध है तथा—"हे जिह्वे! मधुर प्रिये सुमधुरं श्रीरामनामात्मकम्। पीयूषं पिब प्रेम-भक्ति मनसा···" (सनक सनातन संहिता)।

(२) 'बरन बिलोचन'—जब तन्त्रशास्त्र की रीति से वर्णमाला के कुल अक्षरों द्वारा सरस्वती का चित्र बनता है, तब र और म नेत्र रूप से स्थापित किये जाते हैं। अतः, इन दो वर्णों के बिना सरस्वती भी अंधी हैं। अथवा 'दोऊ' पद को दीप-देहली मानकर अर्थ करने से दोनों वर्णविशेष नेत्र अर्थात् ज्ञान-विराग रूपी नेत्र हैं। यथा—"ज्ञान बिराग नयन उरगारी।" (उ० दो० ११९); क्योंकि रकारार्थ से ईश्वर स्वरूप का ज्ञान होता है और मकारार्थ से ईश्वर का शेष (भोग्य) रूप जीव का ज्ञान होता है। उस दृष्टि से इसका जगत् से वैराग्य स्वतः होता है।

सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। लोक लाहु परलोक निबाहू॥२॥

अर्थ—उक्त दोनों अक्षर स्मरण करने में सब को सुलभ और सुख देनेवाले हैं तथा लोक में लाभ और परलोक में निर्वाह करते हैं।

विशेष—(१) 'सुमिरत सुलभ···' इन दोनों अक्षरों के उच्चारण में व्याकरण की अपेक्षा नहीं रहती, सहज ही में बच्चे एवं अनपढ़ भी कह लेते हैं तथा सबके लिये सुलभ (अधिकार) है एवं जैसे-तैसे स्मरण किया जा सकता है, किसी विशेष नियम और आसन-विधि आदि की अपेक्षा नहीं है। 'सुखद सब

काहू ''' शूद्र, अंत्यज एवं स्त्री आदि सबको इस नाम में अधिकार भी है और सुख भी देता है। यथा—"नीचेहू को ऊँचेहू को, रंक हू को राय हू को, सुलभ सुखद आपनो सो घरु है।" (वि० २५५)। इसमें नाम का ही प्रसंग है। अपने घर में सब सुख एवं सबको अधिकार रहता है।

(२) 'लोक लाहु परलोक निबाहू' हरएक मंत्र लोक (स्वार्थ) और परलोक (परमार्थ) दोनों नहीं बना सकते, पर इसमें दोनों लाभ हैं। यथा—"स्वारथ परमारथ सुलभ, राम नाम के प्रेम।" (दोहावली १५), "स्वारथ साधक परमारथ-दायक नाम।" (वि० २५४) अर्थात् नाम लोक में रोटी, लूगा (वस्त्र), धन, यश और परलोक में श्रीरामजी को प्राप्त कराता है।

कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके। राम लखन सम प्रिय तुलसी के ॥३॥

शब्दार्थ—सुठि (सुष्ठु) = अत्यन्त वा पूरा-पूरा, यथा—"सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारू।"

अर्थ—वे कहने, सुनने एवं स्मरण करने में बहुत ही अच्छे हैं और मुझ तुलसीदास को तो श्रीराम-लक्ष्मण के समान प्रिय हैं।

विशेष—'कहत ''नीके' यथा—"बारक राम कहत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ॥" (अ० दो० २१६); 'सुनत ''' यथा—"जाकर नाम सुनत सुभ होई।" (दो० १९२)। 'सुमिरत' यथा—"जासु नाम पावक अघ तूला। सुमिरत सकल सुमंगलमूला॥" (अ० दो० २४०) तथा—"राम सुमिरन सब बिधि ही को राज रे।" (वि० ६७); यही 'सुठि नीके' है। 'रामलखन सम ''' रा श्री राम ब्रह्म का वाचक और म जीव-रूप श्री लक्ष्मण का वाचक है। नाम नामी अभेद होते हैं; इसलिये 'राम-लखन सम प्रिय' कहा है। श्रीरामलक्ष्मण सबको प्रिय हैं। यथा—'ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी।" (दो० २१५)। 'तुलसी' इन्हीं के उपासक हैं, अत: प्रिय होने ही चाहिये। यथा—"बंदउँ राम लखन बैदेही। जे तुलसी के परम सनेही॥" (वि० ३६)। कहा भी है—"सुमिरे सहाय राम लखन आखर दोउ'''" (हनु० बाहुक) अर्थात् नाम में नामी (रूप) के समान प्रेम करना चाहिये।

बरनत बरन प्रीति बिलगाती। ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती ॥४॥

अर्थ—रकार और मकार अक्षर (पृथक्-पृथक् वर्ण के रूप में) वर्णन करने में दोनों वर्णों की प्रीति-पृथक्ता (सी) जान पड़ती है, पर वास्तव में ये वर्ण ब्रह्म और जीव के समान स्वाभाविक साथी हैं।

विशेष—(१) 'बरनत बरन '' बिलगाती' अर्थात् अलग होती है, यथा—"मो बिलगाउ बिहाइ समाजा।" (दो० २००)। जैसे—(क) 'र' वर्ग और 'म' पवर्ग। (ख) प्रयत्न के अनुसार 'र' तालु सम्बन्धी है और 'म' ओष्ठ सम्बन्धी। अत, इनके वर्णन में न संग है और न प्रीति, ऐसा जान पड़ता है, पर वास्तव में संग और प्रीति दोनों हैं। र ब्रह्मवाचक है और म जीववाचक। यहाँ वाच्य को उपमान और वाचक को उपमेय कहा है। अत, अगले वि० २ से भाव स्पष्ट होगा।

(२) 'ब्रह्म जीव सम''' ब्रह्म से जीव का सम्बन्ध अपृथक् है। यही स्वाभाविक संग है, जीव का अस्तित्व ही ब्रह्म से भिन्न नहीं है और ब्रह्म सदा संग रहकर प्रकाश करं रहा करता है। यथा—"तू निज कर्म जाल जहँ घेरो। श्रीहरि संग तज्यो नहिं तेरो॥" (वि० १३६) "ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू।" (दो० २१६) तथा—"द्वासुपर्णा सयुजा सखाया'''" (श्वे० ४।५)।

इसी तरह वर्णमाला में 'र' और 'म' के बीच में 'य' अक्षर पड़ता है, यही दोनों को विलग किये हुए है, तो भी ये दोनों उसी प्रकार एक हैं जैसे बीच में नाक होने पर भी दोनों नेत्रों के अवयव एक हैं। जहाँ एक आँख जाती है, वहाँ दूसरी भी। दोनों नेत्र एक-तत्त्व हैं और एक-सी शक्तिवाले हैं। वैसे ही सरस्वती के वर्णात्मक विग्रह में 'र' और 'म' नेत्र रूप तथा 'य' नासिका रूप माना जाता है। इस तरह विचार करने पर सहज प्रीति स्पष्ट हो जाती है। पुनः रा जब बीज रूप 'रां' रूप में कहा जाता है, तब म स्वयं अनुस्वार रूप से आ जाता है, यही सहज संघातीपन (मैत्री) है।

नरनारायन सरिस सुभ्राता। जगपालक बिसेषि जनत्राता ॥५॥
भगति-सुतिय कल करनविभूषन। जग-हित-हेतु बिमल बिधु पूषन ॥६॥

अर्थ—दोनों (वर्ण) नर-नारायण के समान सुन्दर भाई हैं, साधारणतया तो जगत् भर के पालक हैं, पर अपने जनों के विशेष रक्षक हैं। ॥५॥ भक्ति-रूपिणी सुन्दरी स्त्री के सुन्दर कान के भूषण (कर्णफूल) हैं तथा जगत् के हित के लिये निर्मल चन्द्रमा और सूर्य हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'नर-नारायन ···' इनका भायप प्रसिद्ध है। जैमिनीय भारत में कथा है कि सहस्र-कवची दैत्य ने सूर्य भगवान् को तप से प्रसन्न करके वर माँगा कि मेरे शरीर में हजार कवच हों और जब कोई हजार वर्ष युद्ध करे, तब कहीं मेरा एक कवच टूट सके। फिर कवच के टूटते ही वह शत्रु भी मर जाय। उसके मारने को नर-नारायण का अवतार हुआ। एक भाई हजार वर्ष युद्ध करके एक कवच तोड़कर मरता, तब दूसरा उसे मंत्र से जिला लेता और स्वयं हजार वर्ष युद्ध कर दूसरा कवच तोड़कर मरता। फिर पहला दूसरे को जिलाता और स्वयं लड़ता। निदान जब एक कवच रह गया, तब वह दैत्य भागकर सूर्य में लीन हो गया। नर-नारायण बदरीनारायण में तप करने लगे, वही असुर द्वापर में कर्ण हुआ, जो गर्भ ही से कवच धारण किये हुए निकला, तब नर-नारायण ही ने अर्जुन और श्रीकृष्ण होकर उसे मारा।

इसी तरह दोनों वर्ण भी भाई हैं, क्योंकि जिह्वा रूपी माता से प्रकट होते हैं, यथा—"जोह जसोमति हरि हलधर से।" (दो० १६) तथा एक ही स्थल रूप वेद समुद्र से हुए, यथा—"*ब्रह्माम्भोधि-समुद्भवं···*" (कि० मं० श्लोक)। यहाँ जगत् के पालन रूप के अनुरोध से सगुण की उपमा दी, क्योंकि निर्गुण से स्पष्टतया पालन नहीं होता। 'बिसेषि जनत्राता'—नर-नारायण ने जगत् भर की अपेक्षा भरत-खंड की विशेष रक्षा की, वैसे ही ये दोनों वर्ण जगत् मात्र की अपेक्षा जापक रूप जन की विशेष रक्षा करते हैं, अर्थात् ईश्वरत्व धर्म से सबकी और भक्त-वात्सल्य गुण से जन की विशेष रक्षा करते हैं, यथा—"सब मम प्रिय सब मम उपजाये।···सुचि सेवक मम प्रान-प्रिय।···" (उ० दो० ८५-८७)।

(२) 'भगति-सुतिय ···' जैसा सुन्दर भूषण हो, वैसा ही सुन्दर धारण करनेवाला भी चाहिये, तब शोभा होती है। स्त्रियाँ कर्णफूल धारण करती हैं और स्त्रियों में भक्ति से सुन्दर और कोई नहीं, क्योंकि परम नागर श्रीरामजी इस भक्ति के रहते हुए, लोकत्रयमोहिनी माया की ओर ताकते भी नहीं, यथा—"माया भगति सुनहुँ तुम दोऊ।···पुनि रघुबीरहि भगति पियारी।" (उ० दो० ११५)। अतः, भक्ति को 'सुतिय' कहा है। कानों के भूषण कहने का भाव यह है कि यह और इन्द्रियों से श्रेष्ठ है, क्योंकि कान अन्य चार तत्त्वों के कारण आकाश तत्त्व की ज्ञानेन्द्रिय है। इसी नाम के मंत्र रूप को कान के द्वारा श्रवण से उत्तम भक्ति प्रारम्भ होती है, एवं नवधा में भी श्रवण भक्ति आदि है। कहा भी है—"मुक्तिस्त्रीकर्णपूरो ··" (महारामायणसंहिता में शिव-वाक्य)। कान में कर्णफूल का रहना सौभाग्य का चिह्न

है। पुरुष अपने सम्बन्ध-सूचक कर्णफूल के बिना स्त्री को अपने से बेपरवा जानकर उससे उपेक्षा रखता है, वैसे श्रीरामजी भी श्रीरामनाम के बिना भक्त से उपेक्षा रखते हैं, अतः श्रीरामनाम भक्ति का कारण एवं रक्षक है। श्रीरामनाम के बिना भक्ति विधवा के समान अशोभन है और उससे उत्तम फल रूप संतान की भी आशा नहीं। कान से कर्णफूल का गिरना सुहाग (सौभाग्य) भंग का सूचक है, यथा—"मंदोदरी सोच उर बसेऊ। जब ते श्रवनपूर महि खसेऊ ॥" (लं० दो० १३)। अतः भक्त को सदा श्रीरामनाम जपना चाहिये।

'जग-हित-हेतु ...' यहाँ 'रा' सूर्य और 'म' चन्द्रमा रूप हैं। सूर्य किरणों द्वारा अंधकार हरते, जल बरसाते एवं अन्नादि उपजाते हैं, इसी प्रकार रकार अपने ज्ञान-रूप प्रकाश से अज्ञान तम का नाश कर अनुभव रूपी वर्षा से दिव्य गुण उपजाते हैं। चन्द्रमा अमृतमय किरणों से वनस्पतियों एवं अन्नादि में रस प्रदान करता और ताप हरता है, वैसे मकार जीव के शेषत्वपरक * अर्थ से विवेक विरागादि दिव्य गुणों को भक्ति रस से पूर्ण करता है। भक्ति ही अमृत है, यथा—"भगति सुधा सुनाज" (वि० २१६)। वह मकार नवधा, प्रेमा और परा भक्ति द्वारा क्रमश दैहिक, भौतिक, और दैविक ताप हरता है। 'विमल' अर्थात् "रा' और 'म' विमल (निर्मल) हैं। सूर्य और चन्द्रमा समल हैं। सूर्य जल बरसाता है और फिर सोखता है ऐसे ही कमल को पोसता है, फिर उसी को जलाता भी है, तथा चन्द्रमा जड़ी-बूटी को पुष्ट करता है, फिर पाले के द्वारा जलाता भी है, पर 'रा' और 'म' सदा दिव्य गुण द्वारा वृद्धि ही करते हैं।

स्वाद तोष सम सुगति सुधा के। कमठ सेष सम धर बसुधा के ॥७॥

अर्थ—(वे दोनों अक्षर) शुभ गति रूपी अमृत के स्वाद और संतोष के समान हैं तथा कच्छप और शेषजी के समान पृथ्वी को धारण करनेवाले हैं।

विशेष—(१) 'स्वाद तोष सम ...' अमृत में स्वाद और संतोष दो गुण होते हैं। अमर करना तो उसका स्वरूप ही है वैसे श्रीराम नाम शुभ गति प्राप्त करा देते हैं, जिसके अनुभव में आह्लाद रूपी स्वाद होता है। फिर अन्य साधनों की तृष्णा नहीं रह जाती। यथा—"राम नाम-मोदक सनेह-सुधा पागि है। पाइ परितोष तू न द्वार द्वार बागि है ॥" (वि० ७०)। इस अवस्था में जीव फिर माया के चक्कर में नहीं पड़ता।

(२) 'कमठ सेष ...' 'वसु' का अर्थ धन और 'धा' का अर्थ धारण करना है ऐसे ही धर्म-ग्रन्थ अनेक सुख-धन हैं, उनका धारण नाम के 'रा' कमठ और 'म' शेष बनकर पृथिवी की तरह करते हैं, यथा—"यथा भूमि सब बीजमय, नखत निवास अकास। राम नाम सब धरममय, जानत तुलसीदास।" (दोहावली २१); सकल परम धरनीधर सेषू ॥" (अ० दो० २०५)। जैसे अमृत स्वाद और संतोष के बिना व्यर्थ है, वैसे ही श्रीराम-नाम के बिना मुक्ति भी व्यर्थ है।

जन-मन मंजु कंज मधुकर से। जीह जसोमति हरि हलधर से ॥८॥

अर्थ—(नाम के दोनों अक्षर) भक्त के उज्ज्वल मन रूपी सुन्दर कमल के लिये मधु (दल) और कर (सूर्य किरण) के समान हैं तथा जीभ रूपी यशोदाजी के लिये श्रीकृष्ण और बलरामजी के समान हैं।

---

* जो वस्तु व व्यक्ति जिसके भोग में आवे वह उसका शेष है। जैसे पैर का जूता पैर का शेष कहा जाता। इसी प्रकार जीव ईश्वर का शेष (अंश) है और ईश्वर शेषी (अंशी)।

विशेष—(१) 'जन मन'''—उपर्युक्त अवस्था के अनुसार मन स्वच्छ हो चुका है। अतः, सुन्दर कमल की तरह है। कमल के लिये जल और सूर्य की किरण दोनों साथ-साथ चाहिये; तब वह प्रफुल्ल रहता है। 'मधु' जल का एक नाम है, यथा—'मधु मद्ये जले क्षौद्रे'— रत्नकोश। 'कर' का अर्थ किरण मात्र है, पर 'कंज' के साहचर्य से यहाँ सूर्यकिरण' ही अपेक्षित है। यहाँ मधु रूप मकार और रवि-किरण रूपी रकार है। जीव के शेषत्व रूप के प्रकाशक मकार से भक्ति गुण रूपी जल की वर्षा हुआ करेगी और ब्रह्म रूप श्रीरामजी के अनुभव रूप किरणों का प्रकाश रकार से हुआ करेगा; तब इस 'मंजु 'मन' की 'मंजुता' एकरस रहेगी।

(२) 'जीह जसोमति''''' जैसे श्रीकृष्ण भगवान् देवकीजी से प्रकट हो गुप्त ही आकर यशोदाजी के पुत्र कहलाये और बलरामजी भी देवकी के ही गर्भ से योगमाया-द्वारा रोहिणीजी के गर्भ से प्रकट हुए तथा मित्रता के संयोग से बाहर से आकर यशोदाजी के पुत्र कहलाये। वैसे ही नाम उच्चारण के समय प्रथम दोनों वर्ण नाभि स्थान रूप मथुरा में परावाणी रूपिणी देवकी से स्फुरित होते हैं। वाणी—"नाभिहृत्कंठजिह्वोरथाश्रतसः क्रमतोगिरः। परा तथा च पश्यन्ती मध्यमा वैखरी च ताः॥ श्रीसीतारामयोस्तत्त्वं वर्णनं सा परा भवेत्। याथात्म्यजीवतत्त्वं च पश्यन्ति कथयेत्तदा॥ धर्मार्थस्वर्गकामादीन् वर्णयेत्सा तु मध्यमा। व्यवहारे वैखरी प्रोक्ता केवलं यच्च प्राकृतम्॥" (जिज्ञासापंचक)। अकेले श्रीकृष्णजी की तरह रा मुख-रूप गोकुल में आकर जिह्वा-रूप यशोदा से प्रकट होता है। अतः, नाम-मात्र पुत्र हुआ, पर यशोदाजी की तरह जिह्वा भी रा को अपना पुत्र अर्थात् अपने द्वारा उच्चारित ही जानती है और मकार रूप बलरामजी को ओष्ठ स्थानरूपिणी रोहिणी ने भी अपना पुत्र प्रसिद्ध रूप में समझा, यह भी इसे परावाणी रूपिणी देवकी के गर्भ से उत्पन्न नहीं जानती। वैखरी वाणी से नाम लेने में मकार के उचारण के समय जिह्वा से ओष्ठ का संयोग होता है, यही यशोदा-रोहिणी की मित्रता से बलराम की प्राप्ति है। जैसे श्रीकृष्ण-बलराम एकत्र हुए और यशोदा द्वारा ही उनका पुत्र-रूप से लालन-पालन स्नेह-पूर्वक हुआ, वैसे वैखरी वाणी द्वारा श्रद्धा एवं स्नेह सहित अहर्निश रटन करते रहना चाहिये, तब मन रूप मथुरा से स्वभाव रूप कंस से प्रेरित काल, कर्म, गुणादि द्वारा, जितनी बाधाएँ प्राप्त होंगी, नाम ही द्वारा नष्ट होती जायँगी। विस्तारभय से यहाँ नहीं लिखते हैं। प्राय' श्रीकृष्ण के मुख्य-मुख्य सब चरित्र 'राम-नाम' मे आ गये हैं। मेरे 'श्रीमन्मानस नाम-वंदना' ग्रंथ मे देखें। जैसे धन से भरा भी घर बिना बालक के सूना लगता है, वैसे ही मुख रूपी घर में जिह्वा रूपिणी माता की गोद मे 'रा-म' बालक न हों, तो शोभा नहीं होती, यथा—"दम्पति-रस रसना दसन, परिजन बदन सुगेह। तुलसी हर हित बरन सिसु, संपति सहज सनेह॥" (दोहावली २४)। इसमें रूपक स्पष्ट है।

यहाँ एक ही वर्ण्य (विषय) के भिन्न-भिन्न धर्मों के लिये 'राम-लखन सम' से यहाँ तक नौ दृष्टान्त दिये गये, अतः 'भिन्नधर्ममालोपमालंकार' है।

दोहा—एक छत्र एक मुकुटमनि, सब बरननि पर जोउ।
तुलसी रघुबर नाम के, बरन बिराजत दोउ॥२०॥

अर्थ—श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि देखो, श्रीरघुनाथजी के नाम के दोनों वर्णों में से एक छत्र रूप (ँ) से और दूसरा मुकुट-मणि रूप (ं) से सब अक्षरों पर शोभित होता है।

विशेष—यहाँ से दोनों वर्णों के रूप का महत्त्व कहते हैं। यथा—"निर्वर्णं रामनामेदं केवलं च स्वराधिपम्। मुकुटं छत्रं च सर्वेषां मकारो रेफ व्यंजनम्॥" (महारामायण) अर्थात् इस अर्थ के द्वारा नाम के दोनों वर्ण जीवों को भरोसा देते हैं कि जैसे स्वर-हीन होने पर हम सवर्गीय सब वर्णों के ऊपर शोभित होने लगते हैं, वैसे ही जापक को स्वर (श्वास) हीन (मृत्यु) होने पर उद्र्ध्व गति-रूप परात्पर साकेत लोक प्राप्त करावेंगे। यथा—"यन्नामसंसर्गवशादृद्विवर्णौ नष्टस्वरौ मूर्ध्निगतौ स्वराणाम्। तन्नामपादौ हृदि संनिधाय देही कथं नोर्ध्वगतिं प्रयाति॥" यह प्रसिद्ध है। नाम का नित्य स्वरूप भी यही है। इस रूप से जैसे नाम स्वयं सवर्गीय वर्णों से पूज्य होते हैं, वैसे जापक भी प्राकृत रूप रहित होने पर लोकत्रय पूज्य आत्मरूप पाता है। यथा—"त्रयलोक पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई।" (वि० १३६) तथा च—"निर्वर्णं रामनामेदं वर्णानां कारणं परम्। ये स्मरंति सदा भक्त्या ते पूज्या भुवनत्रये॥" (महारामायण)। लोक में जिसके शिर पर छत्र और मणि-जटित मुकुट होता है, वह राजा कहाता है, वैसे जो भक्त श्रीरामनाम-नैष्ठिक होते हैं, वे भक्त-शिरोमणि कहाते हैं, जैसे श्रीप्रह्लादजी और श्रीहनुमानजी।

समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परस्पर प्रभु अनुगामी॥१॥
नाम रूप दुइ ईस-उपाधी। अकथ-अनादि सुसामुझि साधी॥२॥

शब्दार्थ—नामी=रूप। दुइ (दु=दोनों, इ=यह)=ये दोनों। ईस (ईश)=समर्थ। उपाधि (उप=समीप, अधि=प्राप्त)=समीप प्राप्त हैं=धर्म चिंतावाले। सुसामुझि=सुन्दर समझवाली बुद्धि से। साधी (साध्य)=साधने के योग्य।

अर्थ—नाम और रूप (श्रीरामजी) समझने में एक से हैं और परस्पर दोनों में स्वामी-सेवक की भाँति प्रीति है॥१॥ (क) नाम और रूप—ये दोनों समर्थ हैं और अपने समीप अर्थात् हृदय स्थान में ही प्राप्त हैं। दोनों 'अकथ-अनादि' हैं। अतः, सुन्दर समझवाली बुद्धि से साधने के योग्य हैं। (ख) नाम और रूप—ये दोनों समर्थ एवं अपने-अपने धर्म की चिन्ता (सावधानता) वाले हैं।..... ॥२॥

• विशेष—(१) 'समुझत सरिस नाम···' ऊपर दोहे में नाम का अनिर्वचनीय रूप एवं परावाणी में उसकी स्थिति कही गई है। परावाणी के साथ तुरीयावस्था रहती है, जिसका साक्षी परमात्मा का अंतर्यामी (वासुदेव) रूप है, अतः नाम और नामी की तुल्यता सूक्ष्मरूप में हुई। अब यहाँ गुण की तुल्यता का समझौता करते हैं कि समझने पर नामी के गुण नाम में ज्यों-के-त्यों रहते हैं, अतः, दोनों समान हैं। पूर्व ज्योतिषी के दृष्टान्त से कहा गया। परन्तु इनमें परस्पर स्वामी-सेवक की प्रीति है, जैसे नाम अपने अर्थ से रूप के ही गुणों का विस्तार करता है, अतः नाम अनुगामी और रूप प्रभु हुए। रूप भी नाम के व्यक्त किये हुए गुणों के अनुसार, जापक की पुरुषार्थ-कामना पूरी करने के लिये, अपने ऐश्वर्यों को आधार किये हुए रहता है और उसकी श्रद्धा को अपने बल से धारण कर नाम की सेवा करता है। यथा—"यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हितान्॥" (गीता ७। २१—२२)। इस तरह रूप नाम-प्रभु का अनुगामी हुआ।

(२) 'नाम रूप दुइ ईस...' दुइ ईस, यथा—"खोटों को जो नाम लाजते, नहिं राखे रघुबीर।" (वि० १७५); "बारक राम कहत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ॥" (अ० दो० २१६)—यह नाम का

सामर्थ्य है तथा—"मम पन सरनागतभयहारी।" (सुं॰ दो॰ ४२); "कोटि विप्र-बध लागइ जाहू। आये सरन तजउँ नहिं ताहू ॥" (सुं॰ दो॰ ४१)—यह रूप का सामर्थ्य है। उपाधि, यथा—"अपनेहि धाम नाम सुरतरु तजि विषय बबूर बाग मन लायो॥" (वि॰ २४५)—यह नाम की सामीप्य प्राप्ति है तथा—"परिहरि हृदय कमल रघुनाथहि बाहेर फिरत विकल भयो धायो॥" (वि॰ २४५)—यह रूप की सामीप्य प्राप्ति है। इसके दूसरे अर्थ में 'धर्म-चिंता' के उदाहरण उपर्युक्त 'दुइ ईस' वाले ही हैं, क्योंकि आश्रित रक्षा रूप धर्म की सावधानता से तात्पर्य है।

शंका—हृदय तो जड़ अंतःकरण को कहते हैं, इसमें रहने से नाम भी मायिक होगा। यथा—"गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानहु भाई॥" (आ॰ दो॰ १६)।

समाधान—ऊपर जो नाम का अनिर्वचनीय रूप कहा गया, वह वाणी का विषय नहीं है और वह 'वासुदेव रूप' भी अनादि है अतः मायिक नहीं है, इसीलिये 'अकथ - अनादि' विशेषण भी साथ ही कहे हैं।

'सुसामुझि साधी'—अभी तक मोहवश भूला तो भूला, अब सुन्दर समझवाली बुद्धि से निश्चय-पूर्वक साधन करना चाहिये। साधन की रीति आगे कहते हैं। इस दोहे में 'समुझत, सुसामुझि, समुझिहहिं, समुझत'— यह चार बार लिखकर इसे अति गूढ़ सूचित किया है।

को बड़ छोट कहत अपराधू। सुनि गुन भेद समुझिहहिं साधू ॥३॥
देखियहि रूप नाम आधीना। रूप ज्ञान नहिं नाम बिहीना ॥४॥

अर्थ—(नाम और नामी में) कौन बड़ा है और कौन छोटा—ऐसा कहने में अपराध होता है। उनके गुण सुनकर साधु लोग भेद समझ लेंगे ॥३॥ देखा जाता है कि रूप (नामी) नाम के अधीन होता है और रूप का बोध नाम के बिना नहीं होता ॥४॥

विशेष—(१) 'को बड़ छोट···' यहाँ पर दोष ऐसा कहने में है, कि नाम सर्वव्यापक, सर्वेश्वर तथा सर्वरक्षक आदि है और रूप नहीं है। यह तो कहते नहीं हैं, किन्तु इनके गुण-रूप की समानता तथा स्वामी सेवक की भाँति प्रीति से साधुओं (साधन करनेवालों) को गुण (लाभ) होता है, उसे सुनकर भेद (मर्म=वह अभिप्राय जिसके लिये इन्हें 'प्रभु-अनुगामी' आदि कहा है) साधु लोग समझेंगे।

(२) 'देखियहि रूप ···' देखा जाना यह नियम लिखकर इशारा है कि उपर्युक्त साधु भी देखें। लोक में किसी का नाम लेने से रूप चला आता है। नामानुकूल संशोधित मुहूर्त्त में रूप के यात्रा आदि कार्य सिद्ध होते हैं तथा तांत्रिक रीति से नाम के बेधने से रूप की मृत्यु होती है, वैसे यहाँ रूप को नाम के अधीन कहकर नाम में षड़ैश्वर्यों का 'बल' ऐश्वर्य आया। षड़ैश्वर्य—यथा—"ज्ञानशक्ति-बलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः। भगवच्छब्दवाच्यानि विनाहेयैर्गुणादिभिः॥" (विष्णुपुराण)।

'रूप ज्ञान नहिं—' नाम के विना कोई वस्तु नहीं समझी जा सकती। नाम की प्रशंसा से रूप प्रसन्न होता है। इस प्रकार समग्र गुणों के साथ रूप नाम में ही रहता है। अतः, नाम का स्वरूप ज्ञानमय हुआ। इस प्रकार नाम में 'ज्ञान' ऐश्वर्य भी आया।

ऊपर जो 'समुझिहहिं साधू' कहा गया, उसके समझने का प्रसंग यहाँ से है कि ऊपर दोहे में नाम निर्गुण सूक्ष्म रूप और उसका वाच्य सूक्ष्म वासुदेव रूप भी कहा गया। वासुदेव में षडैश्वर्य रहते हैं, वे कार्य हेतु व्यूह (संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध) रूप होकर क्रमशः संहार, उत्पत्ति तथा पालन करते हैं। उनमें 'ज्ञान-बल' युक्त संकर्षण, 'ऐश्वर्य वीर्य' युक्त प्रद्युम्न और शक्ति तेज' युक्त अनिरुद्ध रूप होता है। पहले दो० १८ के अर्थ में ज्योतिषी के दृष्टान्त से कह आये हैं कि रूप ही के गुण नाम द्वारा कार्य करते हैं। यहाँ भी ऊपर कहा गया है कि नाम द्वारा व्यक्त गुणों के अनुसार रूप द्वारा वह कार्य होता है और इसीलिये नाम और नामी में स्वामी-सेवक की प्रीति कही गई है। यहाँ नाम-जापक के हृदय में नाम द्वारा संकर्षण का कार्य होना कहा गया, 'ज्ञान' मय नाम का स्वरूप और 'बल' द्वारा रूप के वश करने में मोह का संहार हुआ, क्योंकि ब्रह्म के वश होने में आप्तकामादि गुणों से प्रबल वैराग्य होता है, उसीसे मोह की निवृत्ति होती है। वैराग्य ही बल है—'जब उर बल बिराग अधिकाई।' (उ० दो० १११)।

रूप बिसेष नाम बिनु जाने। कर-तल-गत न परहि पहिचाने ॥५॥
सुमिरिय नाम रूप बिनु देखे। आवत हृदय सनेह बिसेषे ॥६॥

अर्थ—रूप विशेष्य है (अतः, नाम विशेषण हुआ, ऐसे) नाम के बिना जाने साक्षात् हथेली पर प्राप्त भी रूप की (गुणैश्वर्य सहित) पहचान नहीं होती ॥५॥ रूप के बिना देखे ही यदि नाम का स्मरण कीजिये तो विशेष (ऐश्वर्यवान् = रूप) के प्रति हृदय में स्नेह आता है ॥६॥

विशेष—(१) 'रूप बिसेष नाम—' रूप विशेष (विशेष्य) है। जिसमें कुछ ऐश्वर्य हो, वह विशेष्य कहाता है और उसके ऐश्वर्य के प्रकाशक शब्द को विशेषण कहते हैं। वैसे यहाँ नाम को विशेषण सूचित करते हुए रूप को विशेष्य कहा। जैसे कोई गुण विशिष्ट वस्तु चाहे अपने हाथ में भी हो, पर उसके विशेषण (नाम) के बिना गुणैश्वर्य के साथ उसकी पहचान तथा उसके गुणों में प्रतीत नहीं होती। इसी प्रकार रूप यद्यपि अपने ही हृदय में प्राप्त है, तथापि प्रेरक रूपसे रमण करानेवाले उसके गुणों की पहचान नाम के जाने बिना नहीं होगी। जीवों को रमण करानेवाले ब्रह्म में गुण 'एक अनीह आदि हैं। यह वर्णन दो० १२ की अर्द्धाली ३ के अर्थ में वेद प्रमाण के साथ किया गया है और महिमा रूप उन्हीं गुणों के लक्ष्य से साधक जीव के भी हृदय में कुछ अंशों में वे ही गुण आते हैं, जिनसे यह जीव नव्यो आवरणों—अष्टधा प्रकृति (भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार) और जीव की स्वेच्छावृत्ति—से मुक्त होता है। अतः, यहाँ रूप के सब ऐश्वर्य नाम में होने से नामका 'ऐश्वर्य'मय रूप हुआ और भक्त हृदय रूपी भूमि में 'एक अनीह' आदि दिव्य गुण उपजाने में वीर्य' ऐश्वर्य का भी कार्य हुआ। इससे यहाँ नाम द्वारा 'प्रद्युम्न' रूप के 'ऐश्वर्य वीर्य' के कार्य आये।

(२) 'सुमिरिय नाम रूप—' रूप (विशेष्य) के बिना देखे ही यदि विशेषण रूप नाम द्वारा स्मरण करें तो नामार्थ द्वारा रूप के अपने 'एक अनीह' आदि गुणों को प्रकट करते हुए, निर्हेतु जीवों की रक्षा करने की प्रतीति होकर विशेष्य (रूप) के प्रति प्रीति उपजती है, जिससे उसमें स्नेह पूर्वक दृढ़ भक्ति होती है। स्नेह—"चलनि मिलनि बोलनि भली, ललित दृष्टि सो नेह। प्रीति होय सर्वांग उर दृष्टि अधीन सनेह ॥" तथा "प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगेस जल की चिकनाई ॥" (उ० दो० ८८)। इसी दृढ़ भक्ति से जीव को दिव्य सुख प्राप्त होता है, जिससे इसका पालन होता है। यथा—"सेवक सुमिरत नाम सप्रीती। ..फिरत सनेह मगन सुख अपने। नाम-प्रसाद सोच नहिं सपने।" (दो० २५)।

रूप के बिना देखे हुए गुणों का ज्ञान कराके भक्ति द्वारा रूप का आविर्भाव कराने में नाम का प्रभाव ('तेज') मय रूप हुआ और उक्त पालन कार्य 'शक्ति' का है, अत, यहाँ अनिरुद्ध रूप के 'तेज—शक्ति' ऐश्वर्य के कार्य नाम द्वारा आये।

नाम-रूप-गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी ॥७॥
अगुन सगुन-बिच नाम सुसाखी। उभय-प्रबोधक चतुर दुभाषी ॥८॥

अर्थ—नाम-रूप की गति की कहानी अकथ्य है जो समझने में सुख देती है—कहते नहीं बनती ॥७॥ निर्गुण और सगुण के बीच में नाम सुन्दर साक्षी है। चतुर दुभाषिये (दो भाषाएँ जाननेवाले) की तरह दोनों का प्रकर्ष बोध करानेवाला है ॥८॥

विशेष—(१) 'नाम रूप-गति ' भाव यह कि इन दोनों की गति परस्पर सुख के लिये है, इसीसे दोनों ऐसे गुँथे हैं कि एक की बड़ाई के साथ दूसरे की बड़ाई झलकती है। नामार्थ के अन्तर्गत गुणों की पूर्त्ति रूप करता है और नाम रूप के ही गुणों का विस्तार करता है। अत दोनों में अगाध प्रीति है, इसीसे अकथ्य है। यथा—"मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी। कविकुल अगम करम मन बानी॥" (अ० दो० २४०); पर समझने मे सुखद है। यथा "सो सुख जानइ मन अरु काना। नहिं रसना पहँ जाइ बखाना॥" (उ० दो० ८७); । 'एक छत्र एक मुकुट मनि' से नाम और रूप की अनिर्वचनीयता का उपक्रम और यहाँ के 'अकथ' पर उपसंहार हुआ तथा 'समुझत सरिस...' से नाम-नामी के समझौते का उपक्रम और 'समुझत सुखद ..' पर उपसंहार है।

(२) 'अगुन-सगुन बिच···' साक्षी तीन प्रकार के होते हैं—एक तो 'कुसाक्षी' होते हैं जो जिधर झुके उसकी रक्षा और प्रतिपक्षी का नाश कराते हैं। दूसरे 'साक्षी' हैं, वे जिधर रहते हैं, उसका हित लिये हुए सत्य कहते हैं और तीसरे 'सुसाक्षी' हैं, ये दोनों पक्षों के लिये निरपेक्ष कहते हैं। निर्गुण-सगुण के समझौता कराने मे नाम ऐसा ही सुसाक्षी है। 'उभय प्रबोधक .. ' साधारण दुभाषिया तो दो देशों के लोगों को उनकी पृथक् पृथक् भाषा में बोध कराता है, तब उन दोनों मे प्रीति और व्यवहार होता है; पर नाम यहाँ चतुर दुभाषी है जो एक ही अपने शब्द 'राम' से निर्गुण-सगुण दोनों देशों का प्रकर्ष बोध कराकर प्रीति दृढ कर देता है। 'बोधक' के साथ 'प्र' उपसर्ग भी (प्रकर्ष अर्थ में) दिया गया है, क्योंकि इन दोनों का समझौता बड़ा कठिन है। यथा—"जिनके अगुन न सगुन बिबेका। जल्पहिं कल्पित बचन अनेका॥" (दो० ११४)। उनका भी एक ही शब्द से बोध कराते हैं। दोनों तत्त्वत एक ही हैं, इसलिये एक ही शब्द से बोध कराते हैं। यथा—"अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥ अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥ जो गुन रहित सगुन सो कैसे। जलहिम उपल बिलग नहिं जैसे॥" (दो० ११५)। श्रीजनकजी ने भी दोनों को एक ही तत्त्व कहा है। यथा—"ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥" (दो० २१५)।

दोनों का बोध—'रमन्ते योगिनो यस्मिन्' अर्थात् जिसमें योगिगण रमण करते हैं, ये निर्गुण राम और—"कोटिकंदर्पशोभाढ्यो सर्वाभरणभूषिते। रम्यरूपार्णवे 'रामे' रमन्ते सनकादय ॥" (महारामायणे) ये सगुण राम हैं। दोनों का अर्थ 'रम्' धातु से निष्पन्न राम शब्द से होता है।

सम्बन्ध—दोनों का बोध और उसका फल अगले दोहे से कहते हैं—

दोहा—राम नाम मनि दीप धरु, जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ, जौं चाहसि उजियार ॥२१॥

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि जो तू भीतर और बाहर भी उजाला चाहता है तो (मुख रूपी) द्वार की जीभ रूपी देहली पर श्रीराम-नाम रूपी मणि-दीपक रख।

विशेष—(१) 'राम नाम मनि दीप ‥ ‥' भाव यह कि तेल बत्ती के दीप में तेल का घटना, पवन एवं पतंगों की अधिकता से बुझना और प्रकाश का भी न्यूनाधिक रहना रहता है, वैसे कर्म-ज्ञानादि साधनों में धन घटने का भय एवं कामादि भय रहते हैं। ये बाधाएँ मनि-दीप में नहीं होतीं, यहाँ अन्य दीपों के समान ज्ञानादि साधनों के समक्ष श्रीराम-नाम को मणि-दीप कहा है। अन्यत्र भी "राम-नाम महामनि फनि जग जाल रे।" (वि० ६८), तथा "पायो नाम चारु चिन्तामनि‥‥" (वि० १०६) प्रमाण हैं।

ऊपर दो० १६ के 'वर्षारितु ‥‥‥' के प्रसंग में नाम को मुख्य भक्ति रूप कहा है, तदनुसार भक्ति-चिन्तामणि के रूप में भी इसके गुण कहे गये हैं—"परम प्रकास रूप ‥ ‥"से—"तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई॥" (उ० दो० ११६) तक। मणि-दीप के समान रखने का यह भी भाव है कि मणि-दीप बुझता नहीं और सदा एक रस प्रकाशित रहता है, वैसे नाम भी जिह्वा पर सदा एक रस चला करे।

'भीतर बाहरहुँ'—भीतर निर्गुण और बाहर सगुण देख पड़ता है, यथा—"हिय निर्गुन नयनन्हि सगुन, रसना राम सुनाम। मनहुँ पुरट संपुट लसत, तुलसी ललित ललाम॥" (दोहावली ७)।

'जौं चाहसि ‥‥‥' बिना (नाम) जपे (हृदय में) उजाला नहीं हो सकता, यथा—"सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं, निर्गुन मन ते दूरि। तुलसी सुमिरहु राम को, नाम सजीवनिमूरि॥" (दोहावली ८)।

'जीह देहरी द्वार'—देह, मंदिर, मुख द्वार और जिह्वा देहली है। पूर्व 'हेतु कृसानु भानु हिम करके।' के अर्थ-प्रसंग में कहा गया है कि जिह्वा पर अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा के निवास हैं, वे अपने कारण श्रीराम-नाम के जप सम्बन्ध से क्रमशः वैराग्य, ज्ञान और भक्ति की पूर्णावस्था प्राप्त कराते हैं। अतः, यहाँ वैराग्य ज्ञान से निर्गुण और भक्ति से सगुण का देखना जानना चाहिये। 'जीह' से यहाँ रूपक-द्वारा वैखरी वाणी ही स्पष्ट है।

नाम जीह जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि-प्रपंच-बियोगी॥१॥
ब्रह्म-सुखहिं अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा॥२॥

अर्थ—योगी लोग नाम को जीभ से जपकर जागते हैं और वैराग्यवान् होकर ब्रह्मा के प्रपंच से रहित हो जाते हैं॥१॥ और उपमा-रहित ब्रह्म-सुख का अनुभव करते हैं, जो अकथनीय—कहने में नहीं आ सकता तथा रोग-रहित है और जिनके नाम है, न रूप।

विशेष—(१) 'नाम जीह जपि ‥‥‥' यहाँ 'जोगी' योग-शास्त्र के नियमानुसार साधक है जो कैवल्य ज्ञानी भी कहा जाता है। 'जागहिं'—यथा—"मोह निसा सब सोवनिहारा। देखिय सपन अनेक प्रकारा॥ येहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी॥" (अ० दो० ९२)। देहाभिमान मोह रूपी रात है, धन एवं कुटुम्ब की ममता सोना है और इनसे वैराग्य वृत्ति का जागना

होना जागना है। यथा—"सुत बित नारि भवन ममता निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी॥" (वि० १४१), "अहंकार ममता मद त्यागू। महामोह निसि सोवत जागू॥" (लं० दो० ५५); "जानिय तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥" (अ० दो० ९२)।

'बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी।'—माया की गुण-अवगुण-मिश्रित रचना 'विधि-प्रपंच' है। यथा—"बिधि-प्रपंच गुन अवगुन साना।" ···से—"जड़ चेतन गुन-दोष-मय, बिश्व कीन्ह करतार॥" (दो० ६) तक। प्रपंच का विकार, यथा—"जोग-बियोग भोग भल मंदा।"······से—"मोह मूल परमारथ नाहीं॥" (अ० दो० ९१) तक देखिये। उपर्युक्त 'जागहिं' में विषय-विलास रूपी गृह-कुटुम्ब की ममता का छूटना और 'बिरति बिरंचि प्रपंच' में प्रपंच-विकार का त्यागना है। पुनः 'बियोगी' इसलिये कहा गया है कि विषय-त्याग पर भी सूक्ष्म विषयानुराग रहने से तत्संबंधी संकल्प हुआ करते हैं, उनका भी योग न रहे, तब योगिपना सार्थक हो। यथा—"नह्यसन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥" (गीता ६।२)।

इस प्रकार शुद्ध योगी होने पर ब्रह्मसुख का अनुभव होता है, यथा—"योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव य.। स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥" (गीता ५ २४)। इसी ज्ञान को उ० दो० ११७ में दीपक के रूप मे कहा है। यहाँ 'बिरति' शब्द उक्त ज्ञान की सप्तभूमिकाओं में चौथी भूमिका का भाव कहकर शेष को 'बियोगी' से ध्वनित किया है।

(२) 'ब्रह्मसुखहिं अनुभवहिं···' 'ब्रह्मसुख'—यथा—"ब्रह्मपियूष मधुर शीतल जो पै मन सो रस पावै। तो कत मृगजल रूप बिषय कारन निसि बासर धावै॥" (वि० ११७)। 'अनुभवहिं'—ब्रह्मसुख के ज्ञानमात्र से आनन्द होता है, क्योंकि वह स्थूल वस्तु नहीं है। वह स्थूल, सूक्ष्म और कारण देहों से भिन्न अणु-परिमाण है, अतः, रूप नहीं और जब रूप नहीं है, तब प्राकृत नाम भी नहीं है, अतः, अकथ्य भी है और इसीसे वह प्राकृत विकार क्षीण-पीनादि आमयों (रोगों) से रहित है। इस आत्मसुख के समान दूसरा प्राकृत सुख नहीं है; अतः अनूप है।

जिस ज्ञान की परम दुर्लभता एवं घुणाक्षर न्याय से सिद्धि कही गई है, वही यहाँ श्रीरामनाम के जीभ से जपने मात्र से प्राप्त होना कहा गया है। इसी प्रकार चरित्र से भी निर्वाण-पद नाम-द्वारा इसी कैवल्य की प्राप्ति कही है, यथा—"राम-चरन रति जो चहइ, अथवा पद निर्वान। भाव सहित सो यह कथा, करउ श्रवन पुटपान॥" (उ० दो० १२८)।

यहाँ ऊपर निर्गुण सगुण दोनों का प्रबोधक कहकर प्रसंग प्रारम्भ हुआ है। अतः, प्रथम योगी के प्रसंग द्वारा निर्गुण मत रूपी रूक्ष ज्ञान कहकर आगे चार प्रकार के भक्तों के उदाहरण देकर सगुण मत विस्तार से कहेंगे; उसमें सरस ज्ञानी भक्त को पृथक् कहेंगे।

इस योगी को निष्काम कर्मयोग के द्वारा जीवात्म-साक्षात्कार के साधक रूप में लेकर आगे के जिज्ञासु का अंग मानना भी प्रसंग से संगत है। पूर्वापर प्रसंग मिलान के साथ विस्तार-पूर्वक मेरे बनाये 'श्रीमन्मानसनामवंदना' ग्रन्थ में कहा गया है।

जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहिं तेऊ॥३॥
साधक नाम जपहिं लव लाये। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाये॥४॥
जपहिं नाम जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥५॥

अर्थ—जो गूढ़ गति को जानना चाहते हैं, वे भी नाम को जीभ से जपकर जान लेते हैं ॥३॥ साधन करनेवाले नाम को लौ लगाकर जपते हैं तो अणिमादिक सिद्धियों को पाकर सिद्ध हो जाते हैं ॥४॥ जो भक्त बड़े आर्त्त होकर नाम जपते हैं, उनके कुसंकट दूर हो जाते हैं और वे सुखी होते हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'जाना चहहिं ' ' यहाँ जिज्ञासु भक्तों को कहते हैं। वे ब्रह्म की जिज्ञासा चाहते हैं और 'गूढ़ गति' ब्रह्म ही को कहा गया है, यथा—"एकोदेव सर्वभूतेषु गूढ़"—यह श्रुति अर्थ के साथ पूर्व दो० १२ चौ० ३ में कही गई है। 'जेऊ' और 'तेऊ गूढ़तासूचक हैं। इनके सिवा वे भक्त और भी अपेक्षित गूढ़ गतियों को जानते हैं, अत कोई एक न कहा। 'जीह जपि'—क्योंकि जिह्वा पर ज्ञान प्रकाशक सूर्य का वास है। यह पहले 'हेतु कृसानु भानु हिमकर को' के अर्थ में कहा गया है।

(२) 'साधक नाम ' सिद्धि प्राप्ति की कामना में लौ लगाये हुए और एक लय (एकतार) से नाम जपते हुए नामरूपी कामतरु (कल्पवृक्ष) से सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। यथा—"कामतरु रामनाम जोई-जोई माँगि हैं। तुलसिदास स्वारथ परमारथ न खाँगि हैं॥" (वि० ७) तथा—"सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू।" (दो० १११)। यहाँ अर्थार्थी भक्त कहे गये। 'अनिमादिक'—ये आठ सिद्धियाँ भगवत् सम्बन्धी हैं, श्रीमद्भागवत स्कंध ११ अ० १५ में भगवान् ने उद्धवजी से इनका वर्णन किया है और वहीं इनके नाम और प्राप्ति के उपाय भी कहे हैं। आठ सिद्धियों के नाम—१ अणिमा—जिससे देह अणु (सूक्ष्म) हो, २ महिमा—जिससे देह बढ़े, ३ गरिमा—जिससे देह पर्वत आदि की तरह भारी हो, ४ लघिमा—देह हलकी करनेवाली, ५ प्राप्ति—अप्राप्त वस्तु प्राप्त करानेवाली, ६ प्राकाम्य—स्वच्छन्द करनेवाली, ७ ईशता—प्रेरणा करनेवाली, ८ वशिता—वश करनेवाली। और भी गुण सम्बन्धी तुच्छ सिद्धियाँ हैं, वे भी वहीं श्रीमद्भागवत में कही गई हैं। यहाँ आठ ही का प्रसंग है।

(३) 'जपहिं नाम जन ''—'जन' अर्थात् जिन्हें भगवान् के बल का भरोसा है, यथा—'जनहि मोर बल ' ' (आ० दो० ४५)। 'आरत भारी' का भाव यह कि जनसाधारण दु ख में प्रभु को नहीं पुकारते, जब भारी संकट पड़ता है, तब शरणापन्न हो नाम का सहारा लेकर प्रभु को पुकारते हैं, जो संकट प्रभु ही से निवृत्त हो सकता है। यथा—"जेहिकर अभय किये जन आरत बारक बिबस नाम टेरे।" (वि० १३६)। जैसे द्रौपदीजी ने प्रथम स्वय चीर कसकर बाँधा, फिर भीष्म द्रोणादि तथा समर्थ पाँचो पतियों की ओर देखा। निदान सबसे निराश होने पर पूर्ण दीनता से भगवान् की शरण में आने से कष्ट दूर हुआ। ऐसी ही गजेन्द्र की भी व्यवस्था है। 'होहिं सुखारी'—दु ख छुड़ाकर फिर सुखी भी करते हैं। यहाँ आर्त्त भक्त कहे गये।

'जपहिं'—जप शब्द का अर्थ ग्रन्थकार ने जिह्वा से बार-बार कहने के रूप में यहाँ-वहाँ माना है। अत, स्पष्ट उच्चारण को ही विशेष माना है, क्योंकि अत करण के जप से जीवन्मुक्ति और जीभ के जपने से भक्ति की प्राप्ति होती है। यथा—"अन्तर्जपन्ति ये नाम जीवन्मुक्ता भवन्ति ते। तेषां न जायते भक्तिर्न च राम समीपका ॥ जिह्वयाऽप्यन्तरेणैव रामनाम जपन्ति ये। तेषांचैव पराभक्तिर्नित्य रामसमीपका ॥"

(महारामायण)

राम-भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा ॥६॥

चहूँ चतुर कहुँ नाम-अधारा। ज्ञानी प्रभुहि बिसेषि पियारा ॥७॥

चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम-प्रभाऊ। कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ ॥८॥

अर्थ—जगत् में श्रीराम-भक्त चार प्रकार के हैं, वे चारो पुण्यात्मा, निष्पाप और उदार होते हैं ॥६॥ चारो चतुरों का आधार नाम ही है, पर ज्ञानी भक्त प्रभु को अधिक प्रिय हैं ॥७॥ चारो युगों और चारो वेदों में नाम का प्रभाव है; कलियुग में तो विशेषकर दूसरा उपाय ही नहीं है ॥८॥

विशेष—(१) 'राम-भगत जग चारि···' इन चारों के नाम और 'सुकृती' आदि विशेषण भी गीता के उसी प्रसंग में कहे गये हैं। यथा—"चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन। आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते। प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥" (गीता ७।१६-१८)। ये चारो सुकृती हैं, तभी भजन करते हैं। यथा—"सकल सुकृत-फल राम-सनेहू ।" (दो० २६) एवं अनघ भी हैं। यथा—"पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ ॥" (सु० दो० ४१) तथा उदार का अर्थ श्रेष्ठ है। वे भक्त श्रेष्ठ इससे हैं कि अन्य अवलंब रूपी छल छोड़ मन-वचन-कर्म से श्रीरामजी को ही सर्वोपाय रूप जानकर भजन करते हैं। ऐसे ही भक्तों को श्रेष्ठता के विशेषण दिये जाते हैं। यथा—"सोइ सर्वज्ञ सोइ गुनज्ञाता" से—"जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा ॥" (उ० दो० १२६) तक। 'चतुर' यथा—"परिहरि सकल भरोस, रामहिं भजहिं ते चतुर नर ॥" (आ० दो० ८)। 'चतुर' अंत में और 'नामअधारा' के साथ रखकर इन भक्तों की चतुराई दिखाई है कि उपर्युक्त बातें अन्य साधनों से दुर्घट थीं, पर इन सबने नाम-द्वारा अल्प प्रयास में प्राप्त कर लिया।

(२) 'ज्ञानी प्रभुहिं बिसेषि···' यहाँ ज्ञानी प्रभु का विशेष प्यारा कहा गया है। इससे अन्य भक्त भी प्यारे हैं, पर ज्ञानी विशेष प्रिय हैं—यह गर्भित है। यथा—"भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी ॥" (उ० दो० ८५)। इस ज्ञानी को यदि उपर्युक्त 'योगी' मानें तो उसमें भक्ति-सम्बन्धी एक भी बात नहीं है, और भक्त ही जहाँ-तहाँ प्रभु के प्रिय कहे गये हैं। अतः, इसीके अगले दोहे में कथित 'सकल कामना हीन जे, राम-भगति रस लीन।···' का भक्त ही यहाँ का ज्ञानी भक्त है। वहाँ 'जे' शब्द से पूर्वोक्त इसी ज्ञानी को सूचित करते हुए कहा गया है; क्योंकि उपर्युक्त गीता में कहे हुए, ज्ञानी के लक्षण प्रियत्व के मिलते हैं, जैसे—'तेषां ज्ञानी···' में ज्ञानी 'एकभक्तिः' कहा गया है और 'ज्ञानी को प्रभु अति प्रिय हैं' तथा 'ज्ञानी प्रभु को अति प्रिय है' ऐसा कहा है। वैसे यहाँ योगी को ब्रह्म सुख की चाह थी, कैवल्य होने से वह भक्त नहीं है। जिज्ञासु को तत्त्व-ज्ञान की और प्रभु की चाह (भक्ति), अर्थार्थी को अर्थ की और प्रभु की चाह एवं आर्त्त को दुःख निवारण की और प्रभु की चाह है। अतः, ये सब द्वि-भक्ति वाले हैं; पर ज्ञानी 'एकभक्तिः' है। वह एक प्रभु ही को चाहता है, इसीसे उसे प्रभु अति प्रिय हैं, यही बात उपर्युक्त दोहे के 'सकल कामनाहीन' में 'एकभक्तिः' का भाव और 'नाम सुप्रेम···मीन' में प्रभु का अति प्रिय होना स्पष्ट है तथा—'ज्ञानी प्रभु को अति प्रिय है'—यह बात यहाँ के 'ज्ञानी प्रभुहिं बिसेषि पियारा' में है। गीता में 'तेषां' से चार में ही एक ज्ञानी है, वैसे यहाँ भी तीन ही भक्त ऊपर के और एक इन्हें लेकर चार हुए।

(३) 'चहुँ जुग चहुँ श्रुति···' 'चहुँ जुग'—यथा—"गायन्ति रामनामानि वैष्णवाश्च युगे-युगे। त्यक्त्वा च सर्वकर्माणि धर्माणि च कपिध्वज ॥" (आदिपुराण)। सत्ययुग में श्रीप्रह्लाद, श्रीध्रुवजी आदि; त्रेता में श्रीहनुमानजी, श्रीशबरीजी आदि नाम-जापक हुए। इनके प्रमाण आगे दोहा २४-२५ में हैं। द्वापर में श्वपच आदि, यथा—"आभीर जमन किरात खस, स्वपचादि अति अघरूप जे। कहि नाम बारक तेऽपि पावन होहिं···" (उ० दो० १२९) और कलियुग के भक्तों के उदाहरण भक्तमाल में बहुत प्रसिद्ध हैं, जिनमें श्रीगोस्वामीजी आदि भी हैं। 'चहुँ श्रुति'—यथा—"यस्य नाम महद्यशः" (यजुर्वेद म० ३२ मं० ३) इत्यादि। सब वेदों के संहिता-भागों में भी प्रमाण बहुत हैं।

'कलि बिसेषि'···' यथा—"रामेति वर्णद्वयमादरेण सदा स्मरन्मुक्तिमुपैति जन्तुः। कलौ युगे कल्मषमानसानामन्यत्र धर्मे खलु नाधिकारः॥" (महासंहिता) तथा—"कलि केवल मलमूल मलीना।" से "पालिहि दलि सुरसाल॥" (दो० २७–२८) तक। "नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं।" (उ० दो० १०३)।

दोहा—सकल कामनाहीन जे, राम-भगति-रस लीन।
नाम सुप्रेम पियूष ह्रद, तिनहुँ किये मनमीन ॥२२॥

अर्थ—जो सब कामनाओं से रहित और श्रीराम भक्ति के रस में लीन हैं, वे भी नाम के सुन्दर प्रेम रूपी अमृत कुंड में अपने मन को मछली बनाये हुए हैं।

विशेष—(१) यहाँ 'जे' शब्द से उसी ज्ञानी भक्त का संकेत है जिसके लिये 'बिसेषि पियारा' ऊपर कह चुके हैं। वहीं इसके गुणों के भाव भी देखिये।

यहाँ श्री 'राम-भक्ति' को 'रस' और 'नाम सुप्रेम' को 'पियूष ह्रद' कहा, इससे 'नाम सुप्रेम' को अन्य भक्ति से बहुत श्रेष्ठ सूचित किया गया है। यथा—"पसु सुरधेनु कलपतरु रूखा। अन्नदान अरु रस पीयूषा॥" (लं० दो० २५) अर्थात् पशुओं और अन्य वृक्षों के समान रस और कामधेनु और कल्पतरु के समान अमृत है। जल एवं गुड़-संतरे आदि के रस को भी रस ही कहते हैं, इन सब रसों में स्वाद तो होता है, पर संतोष नहीं होता। अमृत में स्वाद और संतोष दोनों हैं। अतः, इसके पीने पर और पदार्थ के खाने पीने की इच्छा नहीं रहती। यथा—'स्वाद तोष सम सुगति सुधा के।' (दो० १९)। वैसे ही उपर्युक्त जिज्ञासु आदि भक्तों के और-और कामना रूप स्वाद कहे गये, पर यह ज्ञानी सकल कामनाहीन है, क्योंकि इसे नाम सुप्रेम-रूपी अमृत-कुंड ही प्राप्त है। तात्पर्य यह कि नाम में उत्तम प्रेम होने से श्रीरामजी इसके हृदय में निरन्तर बसते हैं, फिर इसे कभी कोई कामना होती ही नहीं। यथा—"सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥" (दो० २५)। इसीलिये निष्काम ज्ञानी भी नाम से उत्तम प्रेम करते हैं।

अगुन सगुन दुइ ब्रह्मसरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा ॥१॥
मोरे मत बड़ नाम दुहूँ ते। किय जेहि जुग निज बस निज बूते ॥२॥

अर्थ—ब्रह्म के दो स्वरूप हैं—सगुण और निर्गुण। (दोनों) अकथ (अनिर्वचनीय), अगाध (अथाह), सनातन और उपमा रहित हैं ॥१॥ मेरी सम्मति में नाम (निर्गुण सगुण) दोनों से बड़ा है कि जिसने अपने पराक्रम से दोनों को अपने वश में कर रक्खा है ॥२॥

विशेष—(१) 'अगुन सगुन दुइ ······' इसमें 'अकथ' आदि विशेषण दोनों के हैं। निर्गुण में ये सब सहज एवं प्रसिद्ध हैं। सगुण के उदाहरण—'अकथ'—"रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा॥" (दो० १९८); 'अगाध'- "प्रभु अगाध सतकोटि पताला॥" (उ० दो० ९१), "राम अमित गुनसागर, थाह कि पावइ कोइ।" (उ० दो० ९१), 'अनादि'—"आदि अंत कोउ जासु न पावा।" ·····से—"सोइ दसरथसुत ······" (दो० ११८) तक; 'अनूप'—"निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै।" (उ० दो० ९२); "चिदानंद निरुपाधि अनूपा।" (दो० १४१)।

निर्गुण और सगुण दोनों भगवान् के अव्यक्त और व्यक्त रूप हैं, यथा—"अगुन अरूप अलख

अज जोई। भगत-प्रेम-बस सगुन सो होई ॥" (दो० ११५); "व्यक्तमव्यक्त गतभेद विष्णो।" (वि० ५४), "फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भये जैसा ॥" (कि० दो० १६); "कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव, अव्यक्त जेहि श्रुति गाव। मोहि भाव कोसलभूप, श्रीराम सगुन सरूप ॥" (लं० दो० ११२)।

(२) 'मोरे मत बड़ नाम' ....' भाव—औरों का चाहे जो मत हो, पर मेरा मत यही है। उत्तरार्द्ध में प्रमाण भी देते हैं—'किये जेहि जुग .....' वश होनेवाला छोटा और वश करनेवाला बड़ा कहा जाता है और नाम के अधीन निर्गुण-सगुण सर्वत्र प्रसिद्ध ही हैं। यथा—"मंत्र परम लघु जासु बस, बिधि हरि हर सुर सर्ब।" (दो० २५६)। नाम भी मंत्र ही है—'महामंत्र जोइ'..... ' (दो० ८) में कहा गया है। मनु-शतरूपा ने प्रथम निर्गुण ब्रह्म का स्मरण किया, यथा—"सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा।" (दो० १४४)। स्मरण नाम से ही होता है, वह वश में हुआ, तब सगुणत्व धारण कर आकाशवाणी की और सगुण (व्यक्त) रूप से दर्शन भी दिये।

'निज बूते' का भाव यह है कि नाम को श्रुतियों की तरह प्रार्थना नहीं करनी पड़ती, किन्तु वह पराक्रम से वश कर लेता है। ऐसा बलवान् है कि 'अकथ अगाध अनादि अनूपा।' को भी वश कर लेता है।

प्रौढ़ि सुजन जनि जानहिं जन की। कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की ॥३॥
एक दारुगत देखिय एकू। पावक सम जुग ब्रह्म-बिबेकू ॥४॥
उभय अगम जुग सुगम नाम ते। कहउँ नाम बड़ ब्रह्म राम ते ॥५॥

अर्थ—सज्जन लोग इसे मुझ दास की प्रौढ़ता (एवं प्रौढ़ोक्ति) न समझें, मैं अपने मन की प्रतीति, प्रीति और रुचि कहता हूँ ॥३॥ ब्रह्म के उपर्युक्त दोनों स्वरूपों का ज्ञान दो अग्नियों के समान है। एक अग्नि लकड़ी में रहता है और दूसरा प्रकट देखने में आता है ॥ ४ ॥ दोनों (का ज्ञान) कठिन हैं और दोनों नाम (के साधन) से सुगम हो जाते हैं, इसीसे मैं नाम को ब्रह्म (अगुण) और राम (सगुण) से बड़ा कहता हूँ ॥५॥

विशेष—(१) 'प्रौढ़ि सुजन.......'—'मोरे मत' कहने से प्रौढ़ता पाई जाती है, इसलिये ग्रथकार यहाँ नम्र प्रतिज्ञा करते हैं कि थोड़ी देर आपलोग मुझ जन की प्रौढ़ि अर्थात् प्रौढोक्ति पर ध्यान न दें तो मैं अपने मन की प्रतीति, प्रीति और रुचि कहूँ। वेद, शास्त्र और सद्गुरु द्वारा नाम प्रभाव जानकर प्रतीति हुई, उससे प्रीति हुई, तब प्रीति-पूर्वक नाम रटने से जो मन में रुचि अर्थात् प्रकाश (ज्ञान) हुआ, वही कहता हूँ। अतएव यह आस्तिक्य है, 'प्रौढ़ि' नहीं। कहा भी है—"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती ॥ प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। .." (उ० दो० ८८)।

(२) एक दारुगत '.....' प्रथम ब्रह्म के दो स्वरूप कहे। अब दोनों का विवेचन कहते हैं। एक अग्नि लकड़ी में है, वह रगड़ने से प्रकट होता है, वैसे निर्गुण ब्रह्म चराचर रूप लकड़ी में व्याप्त है, अव्यक्त होने से दिखाई नहीं देता, प्रकृति के सत्त्वादि गुण और मुमुक्षु जीव के योगादि साधन रूप रगड़ से वह ज्ञानाग्नि रूप से प्रकट होता है। यथा—"पुनि बिबेक पावक कहँ अरनी।" (दो० ३०); "अति संघरषन जौं कर कोई। अनल प्रगट चन्दन ते होई।" (उ० दो० ११०)। सगुण ब्रह्म प्रकट अग्नि के समान है। इसके गुण अग्नि के प्रकाश एवं उष्णत्व की तरह प्रकट देख पड़ते हैं। गुण रूपी प्रकाश से

भक्तों का हित और क्रोध रूपी उत्पात के द्वारा दुष्टों का दलन होता है। तत्त्वत. दोनों अग्नि एक ही हैं—केवल मनमें अव्यक्त और व्यक्त रूप का ही भेद होता है। वैसे दोनों ब्रह्म के भी (व्यक्त-अव्यक्त) रूप मात्र का भेद है। ऊपर सप्रमाण कहा गया।

(३) 'उभय अगम जुग······' दोनों ही अन्य साधनों से अगम हैं, नाम ही से सुगम हैं। यथा—"सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं, निर्गुन मन ते दूरि। तुलसी सुमिरहु राम को, नाम सजीवन मूरि॥" (दोहावली ८)। नाम द्वारा निर्गुण का सुगम होना अगली तीन अर्द्धालियों में और सगुण की सुगमता अगले दोहे में बड़ाई-छोटाई के द्वारा कहते हैं—

> ब्यापक एक ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँदरासी॥६॥
> अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥७॥
> नाम निरूपन नाम जतन ते। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन ते॥८॥

अर्थ—जो ब्रह्म अंतर्यामी-रूप से सबमें व्याप्त है, अद्वितीय है, जिसका कभी नाश नहीं होता, जो सदा एकरस रहता है, चेतन है और घन-आनंद की राशि है॥६॥ ऐसे विकार-रहित समर्थ (ईश्वर) के हृदय में रहते हुए, सब जीव संसार मे दीन और दुखी हैं॥७॥ नाम के अर्थ-विचार-पूर्वक नाम के जपने से वह (निर्गुण ब्रह्म) भी प्रकट होता है, जैसे रत्न से मोल प्रकट होता है॥८॥

विशेष—(१) 'अस प्रभु हृदय···'– ऊपर की अर्द्धाली में ब्रह्म के छ विशेषण कहे गये हैं। फिर उसे ही यहाँ 'प्रभु' और 'अविकारी' भी कहा है। भाव यह कि इन छ विशेषणों के अंतर्गत वह छ ऐश्वर्यों से *पूर्ण है, इसी से प्रभु अर्थात् समर्थ है और इन षडैश्वर्यों के रहते हुए, इसमें कामादि छः विकारों का* अवकाश नहीं है। ऐसे प्रभु के हृदय में होते हुए भी जीवों के दीन-दुखी रहने का हेतु यह है कि वे उस प्रभु को नहीं जानते। यथा—"आनंदसिंधु मध्य तव बासा। बिनु जाने कत मरसि पियासा॥" (वि० १३६) इस आनंद-सिंधु प्रभु के बिना जाने जीव विषयतृष्णा रूपी प्यास से 'दीन' हैं और उस अविकारी के ज्ञान के बिना काम-क्रोधादि छ विकारों से 'दुखारी' हैं।

ब्रह्म के षडैश्वर्य और षड्‌विकारराहित्य अर्थात् छ विकारों का अभाव—

निर्गुण ब्रह्म अव्यक्त रूप है। अत, इसके षडैश्वर्य भी अव्यक्त रूप में ही हैं, युक्ति से व्यक्त होते हैं। जैसे, षडैश्वर्य—ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य ये छ हैं। षड्‌विकार—काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मत्सर ये छ विकार हैं। तदनुसार ही क्रम से ब्रह्म के छ विशेषण भी हैं—व्यापक, एक, अविनाशी, सत, चेतन और घन-आनंदराशि। ब्रह्म शब्द विशेष्य है, यथा—"ब्रह्म राम ते नाम बड़" (दो० २५) अर्थात् यह मुख्य संज्ञा है। अब क्रम से प्रत्येक विशेषण से एक-एक ऐश्वर्य की पूर्णता और एक-एक विकार का राहित्य (अभाव) दिखाया जाता है—

१—'व्यापक'—जैसे घड़े में आम हो तो आम व्याप्य और घड़ा व्यापक है, वैसे अखिल ब्रह्मांड रूप ऐश्वर्य व्याप्य है और वह (ब्रह्म) व्यापक है। अत, सम्पूर्ण ऐश्वर्य उसमें है तो वह कामना किसकी करे? क्योंकि कामना अपने से भिन्न पदार्थ की होती है। इस प्रकार ब्रह्म के पहले 'ऐश्वर्य' की पूर्णता और 'काम' का राहित्य प्रकट हुआ।

२—'एक'—वह एक ही चराचर रूप से जीवों की रक्षा एवं पालन करता है। अतः उसे जानकर उसकी शरण में जाने से तीनों ऋणों के अधिकारियों का भय छूटता है। यथा—"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥" (गीता० ।८।६६) अर्थात् अर्जुन ने भीष्म-द्रोणादि की रक्षा को ही धर्म समझा था, उस भ्रम को भगवान् ने यह कहकर मिटाया कि मैं 'एक' ही सब रूपों से रक्षा-शिक्षा आदि करनेवाला हूँ। अतः, मेरी शरण में आओ, मैं सब पापों से मुक्त कर दूँगा। अतः, जो पाप सब धर्मों से छूटते हैं उन्हें एक प्रभु ही छुड़ाते हैं तो सब धर्म यहाँ 'एक' विशेषण में आये। जहाँ धर्म की पूर्णता होती है, वहाँ 'क्रोध' नहीं रह सकता, क्योंकि दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। यथा—"करइ क्रोध जिमि धर्महिं दूरी।" (कि० दो० १४)। क्रोध पाप मूल और धर्म पुण्य-मूल है। इसमें 'धर्म' की पूर्णता और 'क्रोध' का राहित्य प्रकट हुआ।

३—'अविनासी'—'हेतु कृसानु भानु हिमकर को' (दो० १८) के विशेष में श्रीरामजी से अनेकों चन्द्रमाओं का होना कहा गया। चन्द्रमा सुधाकर है, उसी से अमृत पाकर देवता अमर रहते हैं, तब उसके परम कारण रूप ब्रह्म का अविनाशी होना युक्त ही है। चन्द्रमा की कारणता से यश की पूर्णता है, यथा—'भेन्दुर्यशो-निर्मलम्' (श्रुतबोध) अर्थात् भगण का देवता चन्द्रमा निर्मल यश का दाता है तो वह यश का भंडार है। अतः, उसका कारण-रूप ब्रह्म 'यश' पूर्ण है। जहाँ यश की पूर्णता होगी, वहाँ लोभ के लिये स्थान ही नहीं रह जायगा। यथा—"लोभी जस चह चार गुमानी। नभ दुहि दूध चहत ये प्रानी॥" (अ० दो० १८)। अतः, इसमें 'यश' की पूर्णता और लोभ' का राहित्य आया।

४—'सत' (सत्) इसका अर्थ 'सदा एक रस 'स्थित' होता है। इससे उसका हर्ष-विषाद-रहित एक रस रहने में ब्रह्म का 'श्री' ऐश्वर्य है, यथा—"प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः। मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मंजुलमंगलप्रदा॥" (अ० म० श्लोक)। मुख-श्री एक रस रहने में मद का अभाव है, क्योंकि धन मद, विद्या-मद आदि की हर्षमय चेष्टाओं से श्री एकरस नहीं रह सकती। अतः, ब्रह्म के 'सत' होने में 'श्री' की पूर्णता और 'मद' का अभाव प्रकट हुआ।

५—चेतन'—ब्रह्म स्वयं चित् (ज्ञान) रूप है और सबका चैतन्यकर्त्ता है। अतः, उसमें 'ज्ञान' ऐश्वर्य की पूर्णता और 'मोह' का राहित्य है, क्योंकि ज्ञान की पूर्णता होने पर मोह नहीं रह सकता यथा—"भये ज्ञान बरु मिटइ न मोहू।" (अ० दो० ११८)।

६—'घन आनँद रासी'—इससे ब्रह्म में 'वैराग्य' की पूर्णता और 'मत्सर' का राहित्य है, क्योंकि जब वह स्वयं पूर्ण आनन्द रूप है, तब नश्वर विषय सुखों में राग क्यों करेगा तथा स्वयं सुख की पूर्णता पर 'मत्सर नहीं रह सकता, क्योंकि जब अपने सुख की न्यूनता होती है, तब दूसरे के अधिक सुख के प्रति ईर्ष्या-रूप मत्सर होता है।

श्रीगोस्वामीजी ने यहाँ निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप, विवेक, लक्षण और अगली चौपाई में साधन भी स्वतंत्र रूप में लिखा है। इसपर भी जो निर्गुण ब्रह्म को 'चिति मात्र' एवं 'निर्विशेष' कहते हैं, उन्हें इसपर अवश्य विचार करना चाहिये।

(२) 'नाम निरूपन नाम···' निरूपन-(निरूपणः स्यादालोके विचारे च निदर्शने।—मेदिनी।) अर्थात् अर्थ-महत्त्व का विचारना, यथा—"करइ निरूपन बिरति बिबेका।" (दो० ११२)। 'जतन' अर्थात् रटना, जपना, अभ्यास आदि। 'सोउ' अर्थात् उपर्युक्त छः विशेषणोंवाला निर्गुण ब्रह्म भी। जो हृदय में रहकर भी स्वतः नहीं जनाता, जो अगम है, वह भी। 'प्रगटत जिमि मोल रतन ते'—जैसे किसी (हीरे आदि) रत्न का मोल जौहरी के द्वारा प्रकट होता है, तब उसके भँजाने पर बड़े बड़े मूल्यवाले सिक्के मिलते हैं, फिर उन प्रत्येक

से बहुत बहुत मुहरें मिलती हैं, फिर उनसे भँजानेवाले को भोजन-वस्त्रादि के लिये कुछ कमी नहीं रहती। यथा—"असन वसन पसु वस्तु विविध विधि सब मनि महँ रह जैसे।" (वि० १०४), वैसे नाम के निरूपण से प्रथम निर्गुण ब्रह्म के षडैश्वर्य रूप छः बड़े-बड़े सिक्के प्रकट होंगे जिनसे साधक का उपर्युक्त दैन्य दुःख दूर होगा। यथा "जाके भवन बिमल चिन्तामनि सो कत काँच बटोरै।" (वि० १११), "पायो नाम चारु चिन्तामनि " (वि० १०५)। यहाँ साधन-क्रम होने से चिन्तामणि न कहकर रत्न ही कहा है क्योंकि यहाँ भँजाने एवं मोल प्रकट करने का रूपक लेना था। जापक चिन्तामणि-रूप में नाम का महत्त्व सिद्धावस्था में जानेगा।

(३) 'नाम निरूपन'—श्रीसीतारामजी कल्पवृक्ष के समान हैं, उनके निकट ज्ञानपूर्वक मनोरथ करने से अभीष्ट प्राप्त होता है। यथा—"देव देवतरु सरिस सुभाऊ। ··" (अ० दो० २६७), वैसे ही सद्गुरु द्वारा नाम भी हृदय में ही कल्पवृक्ष के समान प्राप्त रहता है। यथा—"अपनेहि धाम नाम-सुरतरु ··" (वि० २११)। इससे भी निरूपण अर्थात् पहचान करके निकट जाय अर्थात् आराधन रूपी यत्न करे, तो यह भी अप्रकट ब्रह्म को प्रकट करके साधक की दीनता एवं दुःख दूर कर देता है।

नाम का अर्थ पूर्व ही "हेतु कृसानु भानु हिमकर को। बिधि हरि हर मय ··" (दो० १८) के विशेष में कहा गया है। इन्हीं छओं के साथ क्रमशः ब्रह्म के उपर्युक्त छओं ऐश्वर्यों की आराधना अनुसंधानपूर्वक करनी चाहिये। जैसे षडैश्वर्यों में प्रथम 'ऐश्वर्य' है। उन सम्पूर्ण ब्रह्माण्डरूप ऐश्वर्य का कारण यज्ञमूलक अग्नि है, यथा—"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा " (गीता ३।१०) और अग्नि का कारण 'हेतु कृसानु' रूप नामार्थ से ब्रह्म है। अतः, इससे ब्रह्म के सम्पूर्ण 'ऐश्वर्य' का साक्षात्कार होगा। दूसरा ऐश्वर्य 'धर्म' है। उसके कारण सूर्य हैं, क्योंकि सूर्य ही सब धर्मों के प्रकाशक हैं और सूर्य का कारण 'हेतुभानु' के नामार्थ से ब्रह्म है। अतः, 'धर्म' ऐश्वर्य, साक्षात्कार होगा तथा 'हेतु हिमकर' में राम नाम के यशोमय चन्द्रमा के कारण होने से 'यश' ऐश्वर्य का साक्षात्कार होगा। चौथा ऐश्वर्य 'श्री' है, इसके लिये 'विधिमय' नामार्थ सहित यत्न करना चाहिये। ब्रह्मा सम्पूर्ण संसार को कर्मानुसार रचकर सब जीवों से मान्य होने से 'श्री' ऐश्वर्ययुक्त (शोभायुक्त) विराजते हुए एक रस रहते हैं, ये औरों की भी श्री के विधाता हैं। अतः, इस लक्ष्य से 'श्री' ऐश्वर्य का साक्षात्कार होगा। पाँचवाँ ऐश्वर्य 'ज्ञान' है, इसके लिये 'हरिमय' नामार्थ सहित जपना चाहिये। विष्णु ज्ञान धाम हैं, यथा—"ज्ञानधाम श्रीपति असुरारी।" (दो० ५०)। अतः, 'ज्ञान' ऐश्वर्य का साक्षात्कार होगा। छठा ऐश्वर्य 'वैराग्य' है, इसके लिये 'हरमय' नामार्थ है। शिवजी वैराग्य के प्रकाशक हैं, यथा—"वैराग्याम्बुजभास्करम् ··" (अ० म० श्लोक)। अतः, 'वैराग्य' ऐश्वर्य का साक्षात्कार होगा। इन छः ऐश्वर्यों के साथ के उपर्युक्त छः विशेषण अनुसंधान में क्रमशः रहने चाहिये। इस प्रकार षडैश्वर्य पूर्ण 'प्रभु' की आराधना से और उपर्युक्त रीति से साथ-साथ छः विकारों के अभाव से 'अविकारी' ब्रह्म प्रकट होता है।

इस प्रकार ब्रह्म के प्रभुत्व के ज्ञान से साधक की दीनता और उसके अविकारित्व से दुःख छूटता है, यथा—"द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समाने वृक्षे ··" (श्वे० ४।६)—इन दोनों श्रुतियों में कहा है कि सखा एवं सेव्यरूप ब्रह्म की महिमा के ज्ञान से जीव शोकरहित होता है।*

---

* इन छः [illegible] के [illegible] छः [illegible]—[illegible] [illegible] [illegible] देखिये [illegible], [illegible]—[illegible] होने और [illegible] के [illegible] में देखें।

दोहा—निरगुन ते येहि भाँति बड़, नाम-प्रभाव अपार ।
कहउँ नाम बड़ राम ते, निज बिचार अनुसार ॥२३॥

अर्थ—इस प्रकार निर्गुण ब्रह्म से नाम बड़ा है और उसका प्रभाव अपार है, अब मैं अपने विचार के अनुसार नाम को श्रीरामजी से बड़ा कहता हूँ ॥२३॥

विशेष—'येहि भाँति'—नामरूपी रत्न के अभ्यास से नामी का प्रकट होना ही मानों नामी को नाम से मोल लेना है। इस रीति से सुलभता-द्वारा नाम बड़ा है। श्री राम नाम (महामंत्र) में यह भारी प्रभाव है कि यह निर्गुण ब्रह्म को भी प्रकट करके जीव का कल्याण करता है। अब नाम को सगुण ब्रह्म (राम) से भी बड़ा कहते हैं। पूर्व 'मोरे मत' कहा था। यहाँ भी 'निज बिचार अनुसार' कहते हैं, क्योंकि ग्रन्थकार का यह विचार विलक्षण है। अन्यत्र भी कहा है यथा—"प्रिय राम नाम ते जाहि न रामो। ताको भलो "राम ते अधिक नाम करतब जेहि किये नगर गत गामो॥" (वि० २२८) तथा—"राम रत्नोऽधिकं नाम इति मे निश्चता मतिः। त्वया तु तारितायोध्या नाम्ना तु भुवनत्रयम्॥" (हनुमत्संहिता)।

राम भगत-हित नर-तनु-धारी। सहि संकट किय साधु सुखारी ॥१॥
नाम सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद-मंगल-बासा ॥२॥

अर्थ—श्रीरामजी ने भक्तों के लिये मनुष्य का शरीर धारण किया और दुःख सहकर साधुओं को सुखी किया ॥१॥ परन्तु प्रेम के साथ नाम जपने से भक्त लोग बिना परिश्रम (मानसी) आनन्द और (उत्सव आदि) मंगल के निवास-स्थान हो जाते हैं ॥२॥

विशेष—'राम भगत-हित नरतनु धारी।' यथा—"कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं।" (दो० १११); "राम सगुन भये भगत-प्रेम बस।" (दो० ११८)। 'नरतनुधारी'—श्रीमन्नारायण और विष्णु भगवान् जब श्रीराम-रूप में अवतार लेते हैं, तब चतुर्भुज से द्विभुज नराकार होकर लीला करते हैं और परात्पर साकेतविहारी का श्रीरामरूप में 'नरतनु' धरना यह है कि वे अपने नित्य किशोर दिव्य विग्रह में ही प्राकृत नरवत् बाल-पौगंड आदि अवस्थाएँ धारण करते एवं नरवत् ही सब व्यवहार करते हैं। आपका नराकार रूप ही परात्पर है, यथा—"आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुष विधः।" (बृहदा० १।४।१); "स्थूलं चाष्टभुजं प्रोक्तं सूक्ष्मं चैव चतुर्भुजम्। परं तु द्विभुजं रूपं तस्मादेतत्त्रयं यजेत्॥" (आनन्दसंहिता)। वे नित्य किशोर अवस्था में रहते हैं, वे ही मनु शतरूपा की प्रार्थना से प्रकट हुए। यह पहले 'तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्' (मं० श्लो०)' में कहा भी गया है।

'सहि संकट'—यथा—"अजिन बसन फल असन महि, सयन डासि कुसपात। बसि तरुतर नित सहत हिम, आतप बरषा बात॥" (अ० दो० २११)।

'किय साधु सुखारी।' यथा—"सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि, जाय जाय सुख दीन्ह॥" (आ० दो० ११)। 'नाम सप्रेम जपत'''बासा।' यथा—"नाम प्रसाद संभु अविनासी"'''से "भये मुकुत हरि-नाम-प्रभाऊ॥" (दो० २५) तक।

तात्पर्य यह है कि श्रीरामजी ने भक्तों के लिये नर-नाट्य करते हुए, कष्ट सह-सहकर अपने एक-एक गुण का विस्तार किया जिससे साधुलोग सुखी हुए। वे ही गुण नाम द्वारा लोक में अनन्त होकर विस्तृत

हुए। जैसे कोई लता यदि किसी फल के बीज से उत्पन्न होकर बहुत शाखाओं में फैल जाय तो उसके फूल-फल आदि से लोककल्याण हो, वैसे ही श्रीराम रूप फल, और उनका गुण बीज है। उन गुणों से कीर्त्ति का फैलना और तदनुसार सर्वत्र नाम का होना अनेक फल है। नाम के अर्थों में गुण विचार कर उसका जपना फल खाने के समान हुआ। इस फल के खानेवाले को भी पूर्व के बीज-कारण रूप फल के ही स्वादादि गुण प्राप्त होते हैं। यहाँ कारण के एक फल के समान श्रीराम रूप है, उसीसे होनेवाले बहुत फलों के समान नाम हुआ। रूप के गुण नाम-द्वारा एक ही समय करोड़ों स्थलों पर भक्तों के हृदय में रूप का-सा कार्य करते हैं। पहले दो० १८ में ज्योतिषी के दृष्टान्त से भी यही लिखा गया था। यहाँ से दो दोहों में इसी प्रकार नाम द्वारा रूप से कोटि गुण कार्य का होना कहा जायगा। यही नाम का बड़प्पन है।

राम एक तापस-तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी ॥३॥
रिषि हित राम सुकेतुसुता की। सहित सेन सुत कीन्ह बिबाकी ॥४॥
सहित दोष दुख दास दुरासा। दलइ नाम जिमि रबि निसि नासा ॥५॥

अर्थ—श्रीरामजी ने एक तपस्वी (गौतम ऋषि) की स्त्री (अहल्या) को तारा और नाम ने तो करोड़ों खलों की कुत्सित बुद्धि सुधार दी ॥३॥ श्रीरामजी ने विश्वामित्र ऋषि के लिये सुकेतु यक्ष की कन्या (ताड़का) का सेना और पुत्र के साथ नाश किया ॥४॥ परन्तु नाम दासों की दुराशा को दुःख और दोष के साथ ऐसे नष्ट करता है, जैसे सूर्य रात को (बिना श्रम नष्ट करते हैं) ॥५॥

विशेष—(१) 'राम एक तापस-तिय ···' —अहल्या की कथा आगे दो० २०६ में आवेगी। इसमें श्रीरामजी का गुण उदारता एवं निर्हेतु कृपालुता है। यथा—"अस प्रभु दीनबंधु हरि, कारन-रहित कृपाल।" (दो० २११)। देश-काल एवं पात्र न देखकर याचक मात्र को देना उदारता है, वही यहाँ भी है। अहल्या शापित एवं दुराचारिणी होने से गति देने के योग्य नहीं थी। देश भयंकर जंगल था, तीर्थ आदि भी न थे। रूप का यही गुण लेकर नाम ने करोड़ों खलों की कुमति सुधारी, यथा—"सहस सिला ते अति जड़ मति भई है। कासों कहौं कौने गति पाहनहिं दई है।" (वि० १४१)। रूप ने एक को तारा और वह भी तपस्वी की स्त्री थी, नाम करोड़ों खलों और कुमतियों को सुधार रहा है—यही उसमें विशेषता है।

(२) 'रिषि हित राम···'। ताड़का—सुकेतु एक वीर यक्ष था। इसने संतान के लिये तपकर ब्रह्मा के वरदान से कन्या पाई, जिसमें हजार हाथियों का बल था। यह सुंद से ब्याही गई थी। मारीच और सुबाहु सुदोपसुंद के पुत्र थे। सुंद अगस्त्य के शाप से मारा गया। इससे ताड़का क्रुद्ध हो पुत्रों के साथ ऋषि को खाने दौड़ी और ऋषि ने सबको शाप देकर राक्षस बना डाला। ताड़का ने राक्षसी बनकर मलद और कारूषक—दो प्रान्तों को निर्जन जंगल बना डाला। तब से यह विश्वामित्र के आश्रम के मुनियों को दुःख दिया करती थी। ताड़कादि वध की कथा आगे आवेगी। 'रिषिहित'—ऋषि की आज्ञा से उनके हित के लिये रामजी ने ताड़का को मारा, अन्यथा वीरों के लिये स्त्रीवध निषिद्ध है। 'बिबाकी' अर्थात् निश्शेष, उस स्थान पर एक भी शेष न बचा। 'सहित दोष दुख' के अर्थ में उपमान के 'सेन' का होना 'स+हित' में है, हित का अर्थ सहायक (सेना)—उसके सहित, 'दुरासा' अर्थात् दुःखप्रद चाह, यथा—"अब तुलसिहिं दुख देति दयानिधि दारुन आस पिसाची॥" (वि० १६३)। यहाँ श्रीरामजी का वीर्य (वीरता) गुण है, क्योंकि थोड़ी ही अवस्था में अब साधारण भी युद्ध नहीं देखा था, रोकने के पहुँचाने से विकट वीर राक्षसों को युद्ध करके मारा तो भी ग्लानि नहीं आई।

यही वीर्य गुण लेकर नाम अनंत दासों की दुराशा एवं दोष-दुःख का नाश कर रहा है। हृदय की दुराशा के अनुसार इन्द्रियों के प्रवृत्त होने से उनमें कुटेव रूप दोष पड़ जाता है। इन इन्द्रियों का प्रेरक दूषित मन मारीच हुआ और दुराशा-सम्बंधी अनेक संकल्पों का समूह सुबाहु एवं और सेना है। यथा—"पदराग याग चहौं कौसिक ज्यों कियो हौं। कलिमल खल देखि भारी भीति भियो हौं।" (वि० १८१); 'जिमि रवि निसि नासा।' अर्थात् रूप को श्रम हुआ और मारने के लिये निकट जाना पड़ा। पर नाम को कुछ भी श्रम नहीं होता है और न कहीं जाना पड़ता है। अतः, नाम बड़ा है। दुराशा आदि अज्ञान से होने से रात के समान हैं।

प्रश्न—अहल्या का प्रसंग विश्वामित्र से पहले क्यों रक्खा गया ?

उत्तर—यहाँ नामाराधन क्रम के अनुसार अहल्या-प्रसंग के गुण की प्रथम आवश्यकता थी, क्योंकि प्रथम कुमति सुधरे, तब उससे दुराशा आदि दूर हों।

भंजेउ राम आप भव-चापू। भव-भय-भंजन नाम-प्रतापू ॥६॥
दंडक बन प्रभु कीन्ह सोहावन। जन-मन-अमित नाम किय पावन ॥७॥
निसिचर निकर दले रघुनन्दन। नाम सकल कलि-कलुषनिकंदन ॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी ने तो स्वयं शिवजी के धनुष को तोड़ा और नाम का प्रताप ही जन्म-मरण के भय का नाश कर देता है ॥६॥ प्रभु ने दंडक वन को शोभायमान कर दिया और नाम ने असंख्य दासों के मन को पवित्र कर दिया ॥७॥ श्रीरामजी ने तो निशिचर-समूह का नाश किया, परन्तु नाम सम्पूर्ण कलि के पापों को जड़ से उखाड़ डालता है ॥८॥

विशेष—(१) 'भंजेउ राम आप भव-चापू।' रूप (रामजी) को पिनाक धनुष तोड़ने में श्रम नहीं हुआ, क्षण-भर में तोड़ डाला। इससे यहाँ श्रीरामजी का बल गुण है। यथा—"तव भुज-बल महिमा उद्घाटी। प्रगटी धनु विघटन परिपाटी ॥" (दो० २३८)। इसी बल-गुण से जनकजी की रक्षा हुई, जिससे सुयश हुआ और अहल्योद्धार आदि की कीर्त्ति मिलकर प्रताप हुआ। यथा—"जाकी कीरति सुयश मिलि, होत शत्रु-उर ताप। जग डेरात सब आप ही, कहिये ताहि प्रताप ॥" (बैजनाथ)। यही प्रताप गुण नाम-द्वारा अनन्त होकर सर्वत्र जड़ धनुष के समान जन्म-मरण के दुःख का नाश करता है। शिवजी त्रिगुणात्मक अहंकार के देवता हैं। वही अहंकार धनुष है। जीव का गुणाभिमानी होना उसमें जड़त्व है, उसीसे 'भव-भय' है। यथा—"कारणं गुण संगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।" (गीता १३।२१)। अतः, धनुष और अहंकार में समता है। नाम की विशेषता यह है कि 'रूप' को जाकर हाथ से धनुष तोड़ना पड़ा और नाम का प्रताप ही वह कार्य किया करता है। इसीसे कहा है—"प्रभु हू ते अधिक प्रताप प्रभु-नाम को।" (क० उ० ७०)। 'भव-चाप' श्रीरामजी से ही टूटा, वैसे भव-भय का नाश भी नाम से ही होता है।

(२) 'दंडकवन प्रभु'''' दंडक-वन—इस स्थान में पहले महाराज इक्ष्वाकु के कनिष्ठ पुत्र राजा दंड की राजधानी थी। पीछे यहाँ के सब पदार्थ झुलस गये, प्रजा का नाश हो गया और राक्षस रहने लगे। इसका कारण ग्रंथकार ने लिखा है—"उग्र साप मुनिवर कर हरहू।" (आ० दो० १४)। यह शाप श्रीमद्-वाल्मीकीय के अनुसार यों है कि राजा दंड ने अपने विद्यागुरु शुक्राचार्य की कन्या अरजा पर बलात्कार किया। इसपर शुक्राचार्य ने शाप दिया कि यहाँ जलती हुई रेत बरसेगी। वैसा ही हुआ। तब से यह

'दंडकारण्य' प्रसिद्ध हुआ। 'कीन्ह सोहावन'—भयावन से शोभायुक्त (हरा-भरा, फल फूल युक्त) कर दिया। यथा—"जब ते राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भये मुनि बीती त्रासा॥ गिरि बन नदी ताल छवि छाये। दिन-दिन प्रति अति होत सोहाये॥" (आ० दो० १५) 'सोहावन' की जगह 'पुनीत' भी कहा है। यथा—"दंडक पुहुमि पाँय परसि पुनीत भई उकठे बिटप लागे फूलन फरन।" (वि० २५८)।

इसमें श्रीरामजी का दया गुण है, क्योंकि आपने निःस्वार्थ रूप से वा अपने पतित-पावन चरणों से स्पर्श करके दंडक वन को 'पावन' तथा 'सोहावन' कर दिया। यथा—"दया दयावतां ज्ञेया स्वार्थस्तत्र न कारणम्।" (भगवद्गुण दर्पण)। उसी दया गुण के साथ नाम ने अनंत रूप से अनन्त भक्तों के मन को दंडक-वन के समान पवित्र कर दिया है।

(३) 'निसिचर निकर···' यहाँ पंचवटी के खर-दूषणादि चौदह हजार राक्षसों के वध का प्रसंग है। इसमें श्रीरामजी का शौर्य गुण है। सुर, असुर, नर, नाग आदि तीनों लोकों के वीर एकत्र होकर युद्ध करें तब भी आप उत्साह के साथ उनका सामना करें और क्षण-भर में सबका नाश करें। यथा—"सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहिं समर न जीतनिहारा॥" (अ० दो० १८८) तथा—"खरदूषन सुनि लगे पुकारा। छन महँ सकल कटक उन्ह मारा॥" (आ० दो० २१)।

इसी शौर्य गुण के साथ नाम अनन्त रूपों से अनन्त स्थलों के जीवों के हृदय की एकादश इन्द्रियाँ और तीन अन्तःकरण—इन चौदहों की कामादि सम्बन्धी सहस्र-सहस्र पाप रूप संकल्पों का निकन्दन (समूल नाश) करता है। काष्ठजिह्वा स्वामी (देव) ने भी कहा है—'भाई। पंचवटी के रन में, बड़ो रंग समुमन में। चाह सुपनखा सदासुहागिनि खेलि रही मन बन में। लखन दास ताके धरि काटे नाक कान यक छन में। खर है क्रोध लोभ है दूषन कःम बसे त्रिसिरन में। कामै क्रोध लोभ मिलि दरसै तीनों एकइ तन में॥ भाई०॥" (वैराग्यप्रदीप)।

दोहा—सबरी गीध सुसेवकनि, सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल, बेदबिदित गुनगाथ॥२४॥

अर्थ—श्रीरामजी ने तो शबरीजी और जटायुजी-जैसे सुन्दर सेवकों को शुभ गति दी, पर नाम ने अगणित खलों का उद्धार किया। इन गुणों की कथा वेदों में प्रसिद्ध है।

विशेष—'सुसेवकनि'—श्रीशबरीजी की प्रेमपूर्ण सेवा गीतावली और भक्तमाल में प्रसिद्ध है। कथा आगे (आ० दो० ३५-३६ में) आवेगी। तथा—"घर गुरुगृह प्रियसदन सासुरे भइ जब जहँ पहुनाई। तब तहँ कहि सबरी के फलनि की रुचि माधुरी न पाई।" (वि० १६४); "शबर्या पूजितः सम्यग्रामो दशरथात्मजः॥" (वाल्मी० मू० रा०)। गीधराज जटायुजी ने श्रीजानकी जी की रक्षा में अपने प्रिय प्राण ही दे दिये। इससे दोनों 'सुसेवक' कहे गये। 'सुगति दीन्हि'—यथा (शबरी)—"जोगि बृन्द दुर्लभ गति जोई। तो कहँ आजु सुलभ भइ सोई॥" (आ० दो० ३५); (गीध) "गीध अधम खग आमिषभोगी। गति दीन्ही जो जाँचत जोगी॥" (आ० दो० ३२)। दोहावली में इनकी मृत्यु की सराहना छः दोहों में की है। 'नाम उधारे···' यथा—"स्वपच सबर खस जमन जड़, पामर कोल किरात। राम कहत पावन परम, होत भुवन बिख्यात॥" (अ० दो० १९४)। "अपत अजामिल गज गनिकाऊ। भये मुकुत हरिनाम-प्रभाऊ॥" (दो० २५)।

इन दोनों भक्तों के प्रति श्रीरामजी का अनुकंपा-गुण है। यथा--"रक्षिताश्रितभक्तानामनुराग-सुरेच्छया। भूयोभीष्टप्रदानाय यश्च तानुधावति॥ अनुकंपागुणो ह्येष प्रपन्नप्रियगोचरः॥" (श्रीभगवद्गुणदर्पण)। अर्थात् पूर्व से रक्षित एवं आश्रित भक्तों की अभिलाषा पूरी करके सुखी करने की इच्छा बनी रहना अनुकंपा है। यही गुण नाम-द्वारा अनन्त होकर अमित खलों को भी शबरी-गीध की सी गति देता है। नाम ऐसा बड़ा है।

राम सुकंठ बिभीषन दोऊ। राखे सरन जान सब कोऊ॥१॥
नाम गरीब अनेक निवाजे। लोक बेद बर बिरद बिराजे॥२॥

अर्थ—श्रीरामजी ने सुग्रीव और विभीषण दोनों को शरण में रखा—यह सब कोई जानते हैं॥१॥ और नाम ने अनेक गरीबों की रक्षा की, इस (नाम) की श्रेष्ठ विरुदावली लोक और वेद में जगमगा रही है॥२॥

विशेष--नाम में 'बर बिरद' कहा, क्योंकि श्रीरामजी ने परिश्रम करके सुग्रीवादि की रक्षा की। पीछे लोक-दिखावे में एक ने सेनासहित और दूसरे ने भेद बतलाकर कुछ सहायता भी की, किन्तु नाम में वह सहायता भी नहीं। रूप की विरद को 'जान सब कोऊ' कहा अर्थात् वेद-पुराण के बतलाने से लोग जानते हैं और नाम की विरद को 'बिराजे' कहा है कि अब भी जापक इससे सुखी होते हैं। यह प्रत्यक्ष है। अतः, नाम बड़ा है।

श्रीसुग्रीव और विभीषणजी आर्त्त भक्त थे। यथा—"सो सुग्रीव दास तव अहई॥ ·····दीन जानि तेहि अभय करीजे॥" (कि॰ दो॰ ४); तथा—"कृत भूप बिभीषन दीन रहा॥" (ल॰ दो॰ ११०) और दोनों दुःख से अकुला कर शरणागत हुए थे। यथा--"बालि-त्रास ब्याकुल दिन राती। तन बहु ब्रन चिंता जर छाती॥ सो सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ॥" (कि॰ दो॰ ११) तथा—"रावन क्रोध अनल निज, श्वास समीर प्रचंड। जरत बिभीषन राखेउ······" (सुं॰ दो॰ ४९)। इस प्रकार से आश्रित की रक्षा करने में श्रीरामजी का करुणा गुण है। यथा—"सेवक को दुख देखि के, स्वामि विकल होइ जाय। दलि दुख साजै सकल सुख, करुणा गुण सो आय॥" यह प्रसिद्ध है। जैसे सेवक सुग्रीव का दुःख सुनते ही रामजी की भुजाएँ फड़क उठीं, अकुलाकर झट बालि-वध की प्रतिज्ञा कर ही दी, फिर गाली सहकर भी उसका निर्वाह करना पड़ा, ऐसे ही विभीषण का भी तुरंत ही राज्याभिषेक कर दिया। रावण का संग्राम अभी शेष ही था। इसी गुण ने नाम-द्वारा अनंत रूप हो अनेक गरीबों को सुखी किया।

राम भालु कपि कटक बटोरा। सेतु हेतु श्रम कीन्ह न थोरा॥३॥
नाम लेत भव सिंधु सुखाहीं। करहु बिचार सुजन मन माहीं॥४॥

अर्थ—श्रीरामजी ने तो भालु-वानरों की सेना इकट्ठी की और पुल के लिये थोड़ा परिश्रम नहीं किया अर्थात् बहुत श्रम किया॥३॥ नाम लेते ही लेते संसार रूपी समुद्र सूख जाते हैं; हे सज्जनो! अपने मन में (नाम की बड़ाई पर) विचार कीजिये॥४॥

विशेष—श्रीरामजी को प्रथम भालु कपियों का कटक बटोरना, फिर तीन दिनों तक समुद्र से राह माँगना, फिर पत्थर आदि ढुलवाकर पुल बाँधना—आदि कामों में बहुत श्रम पड़ा, फिर भी सागर बना

ही रहा, पर नाम के लेते ही संसार-सागर सूख जाते हैं। यहाँ 'सुखाहीं' बहुवचन है। जैसे—सागर सात हैं, वैसे भवसागर भी सात हैं। भव-सिंधु दैहिक, दैविक और भौतिक इन तीनतापों से भरा है। इसके कारण संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण ये तीनों सकाम शुभाशुभ कर्म हैं। कर्म के सकाम होने का कारण अविद्या है। अतः, सब मिलकर सात हुए। ये सातों श्रीराम-नाम से नष्ट होते हैं—'हेतु कृसानु भानु हिमकर को ··।' (दो० १८) का अर्थ देखिये। ऊपर अविद्यात्मक कर्म का परिणाम देह कहा गया, उसे ही सागर भी कहा है। यथा—"कुनप अभिमान सागर भयंकर घोर····" (वि० ५८)। यह देह सप्त धातुओं से निर्मित है, यथा—"सातैं सप्त धातु निर्मित तनु करिय बिचार।" (वि० २०७)। श्रीमद्भागवत में भी कहा है—"जायमानो ऋषिर्भीतः सप्तवध्रिः कृताञ्जलिः।" (स्कं ३, अ० ३१)। इस प्रकार भी सप्त सागर आ जाते हैं। तीनों ताप देह के ही कार्य हैं। अतः, देहाभिमान को सोखना ही भव-सिंधु को सोखना है।

यहाँ श्रीरामजी का चातुर्य गुण है, क्योंकि आपने वानर भालुओं एवं राक्षसों से उनकी भाषा में बोलने एवं प्रीति-व्यवहार से दुःसाध्य कार्य अपनी बुद्धि से किया। यथा—"केवलया स्वबुद्ध्यैव प्रयासार्थं विदुत्तमाः। दुःसाध्यकर्मकारित्वं चातुर्यं चतुराः विदुः॥····" (श्रीभगवद्गुणदर्पण)। यही गुण लेकर नाम ने सप्तांग भव-सिंधु को सुखा ही दिया। यह नाम की बड़ाई देखिये। आप लोग सुजान हैं; अतः, थोड़े ही में जान लें।

> राम सकुल रन रावन मारा। सीय सहित निज पुर पगु धारा॥५॥
> राजा राम अवध रजधानी। गावत गुन सुर मुनि बर बानी॥६॥
> सेवक सुमिरत नाम सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोह-दल जीती॥७॥
> फिरत सनेह मगन सुख अपने। नाम-प्रसाद सोच नहि सपने॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी ने तो कुटुंब-समेत रावण को मारा और श्रीजानकी के सहित अपने पुर (श्रीअवध) में आये॥५॥ श्रीरामजी अयोध्या राजधानी में राजा हुए। देवता और मुनि श्रेष्ठ वाणी से उनके गुण गाते हैं॥६॥ पर सेवक प्रीति सहित नाम-स्मरण करते हुए, बिना श्रम ही बड़े भारी बली मोह को उसकी सेना समेत-जीतकर, नाम के स्नेह के साथ अपने सुख में मग्न हुए विचरते हैं और नाम के प्रसाद से उन्हें स्वप्नों में भी सोच नहीं होता॥७-८॥

विशेष—'सकुल रावन' तथा 'प्रबल मोह दल'—मोह दसमौलि तद्भ्रात अहँकार पाकारिजित काम विश्रामहारी। लोभ अतिकाय, मत्सर महोदर दुष्ट क्रोध पापिष्ठ विबुधांतकारी॥ द्वेष दुर्मुख, दंभ खर, अकंपन कपट, दर्प मनुजाद मद-सूलपानी। अमितबल परम दुर्जय निसाचर निकर···" (वि० ५८)। तथा—"काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह के धारि।" (आ० दो० ४३)।

'गावत गुन सुर मुनि बर बानी।'—देवता बंदीगृह से छूटे और मुनियों का भय मिटा। अतः, सब सुखी होकर गुण गाते हैं। यथा—"त्रिपुरन जीति सुजस सुर गावत।" (उ० दो० १); "बार बार नारद मुनि आवहिं। चरित पुनीत राम के गावहिं।" (उ० दो० ३१)। देवता दिव्य होते हैं, उनकी वाणी भी दिव्य एवं सत्य होती है और मुनि लोग भी मुनिव्रती होते हैं। अतः, सुहृत की रक्षा के लिये झूठ नहीं बोलते। यथा—"सत्यमूल सब सुकृत सुहाये।" (अ० दो० २०); "सुनहुँ भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥" (अ० दो० २०१)।

'सनेह मगन' अर्थात् नाम के स्नेह में डूबे हुए हैं। यथा—"राम सनेही सों तैं न सनेह कियो।··· जपि नाम करहि प्रनाम कहि गुन-ग्राम रामहिं धरि हिये। बिचरहि अवनि अवनीस चरन सरोज मन मधुकर किये॥" (वि० १३५); 'सुख अपने' अर्थात् निजानंद (आत्मसुख)। 'सप्रीती'—"नाम सों प्रतीति प्रीति हृदय सुथिर थपत। पावन किय रावन रिपु तुलसिहुँ से अपत॥" (वि० १३०)।

'सेवक सुमिरत नाम ···'। यहाँ के सकुल रावण-वध सम्बन्धी श्रीरामजी के स्थिरता, शौर्य, वीर्य, धैर्य, तेज और बल आदि गुणों को नामार्थ में विचारते हुए तथा 'सेवक' अर्थात् श्रीरामजी के प्रकट अर्चा-रूप में एवं मानसी सेवा ध्यानपूर्वक करते हुए प्रीति से नाम जपना चाहिये। प्रीति, यथा—"अत्यंत-भोग्यताबुद्धिरानुकूल्यादिशालिनी। परिपूर्णेश्वरूपा या सा स्यात्प्रीतिरनुत्तमा।" (श्रीभगवद्गुणदर्पण) अर्थात् जब इन्द्रियों के विषय मन में मिलें और मन, चित्त, अहंकार की वासना बुद्धि में मिले, तब शुद्ध बुद्धि अनुकूल होकर प्रभु के गुणों का स्मरण करते हुए लाखों अभिलाषाएँ करती रहे, वही उत्तम प्रीति है।

'फिरत सनेह मगन सुख अपने।'—जैसे श्रीरामजी अवध के राजा हुए, तब विभीषण आदि विशेष स्नेहपूर्वक सेवा-सहित ब्रह्मानंद (आत्मसुख) के भोक्ता हुए। यथा—"ब्रह्मानंद-मगन कपि, सबके प्रभु-पद-प्रीति। जात न जाने दिवस निसि, गये मास षट बीति॥" (उ० दो० १५)।

'नाम-प्रसाद सोच नहिं सपने।'—जैसे श्रीरामजी के परिकरों के प्रति लिखा है—"बिसरे गृह सपनेहुँ सुधि नाहीं।" (उ० दो० १५); वैसे जापक के पक्ष में गृह रूप स्थूल-सूक्ष्म शरीर आदि में वृत्ति का जाना है। जापक नाम के प्रसाद से बराबर तुरीयावस्था में ही रहता हुआ आनंदपूर्ण रहता है, फिर सोच कहाँ रहता है ? यथा—"तरति शोकमात्मवित्"—यह श्रुति है। तथा—"प्रीति रामनाम सो प्रतीति राम नाम की प्रसाद राम नाम के पसारि पाँय सूतिहौं॥" (क० उ० ६६)।

दोहा—ब्रह्म राम ते नाम बड़, बरदायक बरदानि।
रामचरित सतकोटि महँ, लिय महेस जिय जानि॥२५॥

अर्थ—(१) ब्रह्म (निर्गुण) और राम (सगुण) से यह (राम) नाम बड़ा है और वर देने-वालों का भी वरदाता है। शिवजी ने हृदय में ऐसा जानकर सौ करोड़ रामचरितों में से (अपने लिये 'राम' नाम) लिया॥ (२) शिवजी ने सौ करोड़ रामचरितों का जीव (या प्राण) जानकर लिया।

विशेष—(१) ऊपर 'कहउँ नाम बड़ ब्रह्म रामते।' उपक्रम है, उसीका उपसंहार यहाँ—'ब्रह्म राम ते नाम बड़···' पर हुआ। 'बरदायक बरदानि' का भाव यह है कि वर देनेवाले त्रिदेव हैं। यथा—"बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु-समीप आये बहु बारा॥ माँगहु बर बहु भाँति लोभाये।···" (दो० १४४)। नाम इनका भी वरदाता है। यथा—"सावित्री ब्रह्मणा सार्द्धं लक्ष्मीर्नारायणेन च। शंभुना राम रामेति पार्वती जपति स्फुटम्॥" (पुलहसंहिता)। 'लिय महेस जिय जानि'—। यथा—"सतकोटि चरित अपार दधि-निधि मथि, लियो काढ़ि वामदेव नाम घृतु है।" (वि० २५४)।

शंका—तब तो शेष सभी चरित छाछ की तरह निस्सार रह गये ?

समाधान—यहाँ उपमा का केवल इतना ही अंश लिया गया है कि जैसे घी दही में सार तत्त्व है, वैसे नाम चरित का सार रूप है। चरित नाम का अर्थ है और गिरा-(वाणी)-अर्थ का नित्य सम्बंध है।

यथा—'गिरा अरथ ''' (दो० १८) में कहा गया। इसीसे रामचरित के एक-एक अक्षर प्रभावशाली हैं। यथा—"चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम। एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम॥" कहा है। अत, 'मथि लियो काढ़ि' का 'छानबीन करके निश्चित किया' यह भाव है।

इसकी कथा इस प्रकार है - ब्रह्माजी ने सौ करोड़ रामचरित रचे और नारदजी को पढ़ाये। श्रीनारदजी से सूत्र रूप मे प्राप्त कर ब्रह्माजी की प्रेरणा से श्रीवाल्मीकिजी ने सौ कोटि श्रीरामचरित बनाये और भक्तों में अगुआ जानकर श्रीशिवजी को दिखाये। कैलाश पर कथा होने लगी। वहाँ तीनों लोकों के श्रोता सुनने आये। सब सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। देवताओं ने चाहा कि ये सब सुर-लोक में ही रहें, तब श्रीशिवजी न उनके तीन भाग कर दिये। अब जब सौ करोड़ श्लोकों में से प्रत्येक (स्वर्ग मर्त्य-पाताल) को ३३३३३३३३३ मिलने पर १ श्लोक बचा, जो अनुष्टुप छंद का था; क्योंकि गणना इसी छंद से होती है, इसके ३२ अक्षरों में भी दस-दस अक्षर फिर तीनों लोकों में बाँटे गये, शेष दो अक्षर 'रा-म' बचे। इन्हें श्रीशिवजी ने अपना भाग कहकर ले लिया कि इन्हीं से हम त्रिलोकों से न्यारी काशी के निवासियों का उद्धार करेंगे।

अतः, प्रथम अर्थ के अनुसार श्रीशिवजी ने अपने वर देने का प्रकाशक जान कर और दूसरे के अनुसार चरित का सार तत्त्व जानकर लिया। वे निरंतर जपते रहते हैं। यहाँ तक दो दोहों में सगुण की अपेक्षा भी सौलभ्य गुण में नाम को बड़ा कहा।

नाम - प्रसाद संभु अविनासी। साज अमंगल मंगलरासी॥१॥

सुक सनकादि सिद्ध मुनि जोगी। नाम-प्रसाद ब्रह्म-सुख भोगी॥२॥

अर्थ—नाम के प्रसाद से शिवजी अविनाशी हैं और शरीर में अमंगल साज रखते हुए भी मंगल की राशि हैं॥१॥ श्रीशुकदेवजी और श्रीसनकादिक (सनक, सनातन, सनन्दन, सनत्कुमार) सिद्ध मुनि और योगी नाम ही के प्रसाद से ब्रह्म-सुख के भोगी हैं॥२॥

विशेष—(१) 'नाम प्रसाद संभु ' ' श्रीरामतापनीयोपनिषद् में कथा है कि श्रीशिवजी ने काशी-वासियों को मुक्त करने के लिये हजारों मन्वंतरों तक श्रीराम मंत्राराधन कर श्रीरामजी से वर माँगा। तब श्रीरामजी ने वर दिया और कहा कि आप इस काशी-क्षेत्र में जिसके कान में मेरा मंत्र उपदेश करेंगे, वह मुक्त होगा। इसीसे श्रीशिवजी जन्तुमात्र को मुक्ति देते हैं। अतः, मंगल की राशि हैं। वे कालकूट पीकर नाम के प्रसाद से ही अविनाशी हुए, जो पूर्व दो० १८ में कहा गया। 'साज अमंगल'—भूत प्रेतों का संग, भाँग धतूर आदि का सेवन, चिता-भस्म आदि का लेपन, मुंडमाल का धारण, बैल की सवारी, सर्पादि का लपेटना इत्यादि अमंगल साजों से भी नाम के प्रसाद से शिवजी मंगल-राशि हैं।

(२) 'सुक सनकादि ''' शुकदेवजी। यथा—"यन्नामवैभवं श्रुत्वा शाङ्कराच्छुकजन्मना। साक्षादीश्वरतां प्राप्त पूजितोऽहं मुनीश्वरैः॥ नाम स्वरवरं धातु श्रुतिसिद्धान्तगोचरे। दृष्टं श्रुतं मया क्वापि सत्यं सत्यं वचोमम॥" (शुकसंहिता) अर्थात् एक समय शिवजी पार्वतीजी को अमर कथा (रामनामार्थ) सुनाते थे। शिवजी ने यद्यपि करताली से सब पक्षियों को उड़ा दिया था, फिर भी संयोग से एक तोते का अंडा, जो सूख गया था, समीप में रह गया। बस, वह अमरकथा के प्रभाव से सजीव होकर सुनने लगा। 'छल से कथा सुन रहा है'—यह जानकर शिवजी ने उसे त्रिशूल से मारना चाहा। वह उड़ता हुआ आया और जम्हाई लेती हुई व्यासजी की पत्नी के मुख से उदर में प्रवेश कर गया। वही शुकदेव के रूप से प्रकट हुआ जो परमहंसों के भी गुरु हुए। गणेशपुराण में भी यह कथा आई है। इसी महत्त्व का स्मरण कर

शुकदेवजी ने स्वयं कहा है कि जिनका नाम-वैभव शिवजी से सुनकर मैंने शुकजन्म से भी इतनी श्रेष्ठता पाई कि मुनीश्वरों से भी पूज्य हुआ। अतः, नाम से श्रेष्ठ कुछ नहीं है, यह मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ। श्रीमद्भागवत मे भी उन्होंने नाम का प्रभाव बहुत कहा है। सनकादि की नाम-निष्ठा उनकी (सनत्कुमार) संहिता से प्रकट है, यथा—"श्रीरामेति परं जाप्यं तारकं ब्रह्मसंज्ञकम्।" (श्रीरामस्तवराज)। 'सिद्ध, मुनि,'जोगी'—यथा—"सुक सनकादि मुक्त बिचरत···" (वि० ८६); तथा—"योगीन्द्राय नमस्तस्मै शुकाय ब्रह्मरूपिणे।" (श्रीमद्भागवत १२।१३)। शुक को सनकादि से प्रथम कहे जाने का भाव पूर्व दो० १७ (चौ० ५) के विशेष में कहा गया है।

नारद जानेउ नाम - प्रतापू। जग-प्रिय हरि हरि हर प्रिय आपू॥३॥
नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगतसिरोमनि भे प्रहलादू॥४॥

अर्थ—श्रीनारदजी ने नाम का प्रताप जाना है। संसार को हरि प्रिय हैं और हरि को हर (महादेव) प्रिय हैं, तथा हर को (वा हरि-हर दोनों को) आप (नारदजी) प्रिय हैं॥३॥ नाम जपने से प्रभु ने अनुग्रह (प्रसन्नता प्रकट) किया, जिससे प्रह्लादजी भक्तों मे शिरोमणि हुए॥४॥

विशेष—(१) 'जग प्रिय हरि···' में मालादीपक अलंकार है। यथा—"जग जपु राम राम जपु जेही।" में है। जगत् को हरि प्रिय हैं, यथा—"ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी।" (दो० १२५); हरि को हर प्रिय हैं, यथा—"कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरे।" (दो० १३०) और हरि-हर—दोनों को नारदजी प्रिय हैं। यथा—"करत दंडवत लिये उठाई। राखे बहुत बार उर लाई।···कवन बस्तु असि प्रिय मोहि लागी। जो मुनिबर न सकहु तुम माँगी॥" (आ० दो० ४०-४१)। यह हरि-प्रियत्व है तथा—"मार-चरित संकरहि सुनाये। अति प्रिय जानि महेस सिखाये॥" (दो० १२६) यह हर-प्रियत्व है।

'नारद जानेउ नाम प्रतापू'—नारद-मोह के प्रसंग मे नाम का प्रताप प्रकट है जो कथा आगे आवेगी। ये जब भगवान् का नाम-स्मरण करने लगे, तब शाप की गति रुक गई और अचल समाधि लग गई। इन्द्र ने काम को भेजा, वह सम्पूर्ण कला करके हार गया, यथा—"काम-कला कछु मुनिहि न ब्यापी।" फिर काम ने डरकर चरण पकड़ लिये। नारद के मन में भी कुछ रोष नहीं हुआ। प्रत्युत उन्होंने उसे प्रिय वचनों से समझाया। यथा—"भयेउ न नारद मन कछु रोषा॥" उस समय उन्होंने नाम का प्रताप नहीं समझकर अपना प्रभाव मान लिया। इसपर जब विश्वमोहिनी-द्वारा काम क्रोध दोनों से हारे, तब जाना कि पूर्व में नाम के प्रताप से ही मैंने काम को जीता था। काम जीतने से शिवजी के प्रिय हुए, क्योंकि शिवजी ने भी काम को जीता है। सजातीय मे प्रियत्व होता ही है। यथा—'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्।' भृगु की परीक्षा में भगवान् क्रोधजित् सिद्ध हैं, इससे नारदजी क्रोध के जीतने से हरि के प्रिय हुए।

(२) 'नाम जपत · प्रहलादू।'—प्रह्लादजी भक्तशिरोमणि कहे गये, क्योंकि बारह परम भागवतों में इनकी प्रथम गणना है। यथा—"प्रह्लाद नारद-पराशर-पुंडरीक-व्यासाम्बरीष-शुक-शौनक-भीष्म-दाल्भ्यान्। रुक्मांगदार्जुन - वशिष्ठ - विभीषणादीन् पुण्यानिमान्परमभागवतान्स्मरामि॥" (पांडवगीता)। यहाँ श्रीनारदजी का नाम प्रह्लादजी से प्रथम लिखे जाने का कारण, एक तो नामार्थ के अन्तर्गत तत्त्व विचार का क्रम है, दूसरे यह कि नारदजी इनके गुरु हैं।

श्रीप्रह्लादजी ने अपनी कथा (भा० स्कं० ७ अ० ७ में) दैत्य बालकों के समझाने के समय नाम में विश्वास के लिये कही है—"जब हिरण्यकशिपु तप करने को गया, तब इन्द्रादि देवताओं ने दैत्यों पर

धावा किया। वे सब जान बचाकर भागे, तब इन्द्र राजरानी (मेरी माँ) को पकड़कर स्वर्ग को चले। मार्ग में श्रीनारदजी मिले और इन्द्र के इस कर्म को अयोग्य कहा। तब इन्द्र ने कहा कि इसके गर्भ में दैत्यराज का वीर्य है, उससे उत्पन्न पुत्र को जन्मते ही उसका वध करके इसे छोड़ दूँगा। नारदजी ने कहा कि इसके गर्भ में महाभागवत है। विश्वास मानकर इन्द्र ने मेरी माँ को छोड़ दिया। तब नारदजी मेरी माता को आश्रम पर लाये और मेरे उद्देश्य से धर्म-तत्त्व और विशुद्ध ज्ञान का उपदेश दिया। ऋषि के अनुग्रह से मैं उसे अभी तक नहीं भूला। जो लज्जा छोड़कर हरिकीर्त्तन करता है, वह मुक्त हो जाता है।"

श्रीप्रह्लादजी सर्वत्र श्रीरामजी ही को देखते थे, यह वृत्ति छुड़ाने के लिये इनके पिता ने इन्हें पानी में डुबोया, आग में जलाया, विष पिलाया, हाथियों के आगे डलवाया, पर इनका कुछ नहीं बिगड़ा। इन्होंने 'श्रीराम-नाम' का त्याग नहीं किया। अंत में उसने स्वयं इनका वध करना चाहा, तब भगवान् श्रीरामजी नृसिंह रूप से पत्थर के खंभे से प्रकट हो गये और उस दुष्ट का वध किया। फिर इनकी प्रार्थना से प्रसन्न हो इन्हें गोद में लेकर आश्वासन दिया।

ध्रुव सगलानि जपेउ हरि नाऊँ। पायेउ अचल अनूपम ठाऊँ ॥५॥
सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू ॥६॥

अर्थ—ध्रुवजी ने ग्लानि के साथ,हरि का नाम जपा, (उससे) अचल और उपमारहित स्थान पाया ॥५॥ पवन के पुत्र श्रीहनुमान्जी ने इस पवित्र नाम का स्मरण करके श्रीरामजी को अपने वश में कर रक्खा है ॥६॥

विशेष—'ध्रुव सगलानि···' ध्रुवजी की कथा श्रीमद्भागवत (स्कं० ४, अ० ८-१२) मे विस्तार से है। यहाँ संक्षेप में लिखते हैं। स्वायम्भुव मनु के पुत्र उत्तानपाद हुए। उनके सुनीति और सुरुचि नाम की दो रानियाँ थीं। छोटी सुरुचि से 'उत्तम' का और बड़ी 'सुनीति' से ध्रुव का जन्म था। राजा के यहाँ सुरुचि का आदर और सुनीति का निरादर था। एक समय राजा उत्तम को गोद में लिये हुए सिंहासन पर बैठा था। ध्रुवजी ने भी (जो अभी निरा बालक थे) पिता की गोद में बैठना चाहा। वैसे ही विमाता सुरुचि बोल उठी कि पहले तप करके हमारे उदर से जन्म ले, तब इस गोद का अधिकारी होना। यह सुनकर ये ग्लानि के साथ रोते हुए अपनी माता के पास आये। उसकी सप्रेम आज्ञा और उपदेश पाकर तप करने को निकले। मार्ग में श्रीनारदजी मिले। इन्होंने दया करके मंत्र का उपदेश किया। तब ध्रुवजी मथुरा में जाकर यमुना-तट पर मंत्राराधन रूप से तप करने लगे। शीघ्र ही प्रकट होकर श्रीहरि ने वर दिया और कृपा करके इनके कपोल में अपने शंख का स्पर्श करा दिया। बस, ये सम्पूर्ण विद्याओं के निधान हो गये। फिर वेद-विधि से भगवान् की स्तुति की। प्रभु ने कहा कि छत्तीस हजार वर्ष इस पृथिवी पर राज्य करने के उपरान्त अचल और अनुपम लोक का राज्य करोगे। ऐसा कहकर भगवान् अंतर्धान हो गये और ये घर आये। तब श्रीनारदजी की प्रेरणा से इनके पिता इन्हें राज्य देकर स्त्री-समेत वन को गये। अंत में इन्हें अचल लोक मिला। ध्रुव तारा इन्हीं का लोक है। 'विनय' का ८६ वाँ पद भी देखिये।

(२) 'सुमिरि पवनसुत······'। 'पावन' नाम के साहचर्य में स्मरणकर्त्ता भी योग्य कहे गये, क्योंकि पवन स्वतः पवित्र है तथा औरों को भी पवित्र करता है। यथा—"पवनः पवतामस्मि।" (गीता १०।३१)। उसके पुत्र परम पावन हैं। पावन वह है, जिसमें विकार न हो और छवों विकारों में सबका मूल काम है। कामनाएँ जिन पदार्थों की होती हैं, वे सब मणि में रहती हैं। यथा—"असन

बसन वसु वस्तु विविध विधि सब मनिमहँ रह जैसे।" (वि० ११५)। ऐसी बहुमूल्य मणियों की माला को भी श्रीहनुमान्‌जी ने श्रीरामनाम से हीन (निःसार) जानकर तोड़ डाला। फिर अपने रोम-रोम में श्रीरामनाम को ध्वनि समेत दिखा दिया।" (भक्तमाल टीका-प्रियादास क० २७) तथा—"नाम्नः पराशक्तिपतेः प्रभावं प्रजानते मर्कटराजराजः। यद्रूपरागीश्वरवायुसूनुस्तद्रोमकूपे ध्वनिमुल्लसंतम्॥" (प्रमोदनाटक)। आपने निष्काम नाम जप किया है, इसीसे श्रीरामजी आपके वशीभूत हैं। यथा—"बचन करम मन मोरि गति, भजन करहिं निःकाम। तिन्हके हृदय कमल महँ, सदा करउँ बिश्राम॥" (आ० दो० १६)। सकाम स्मरण अपावन है। श्रीहनुमान्‌जी ने साधन एवं सिद्धि किसी भी अवस्था में कुछ नहीं चाहा, यही बात 'राखे' पद में है कि प्रभु को वश में कर लेने पर भी उनसे कुछ नहीं चाहते। यथा—"दीवे को न कछू रिनियाँ हौं धनिक तु पत्र लिखाउ।" (वि० १००)। और देवता मंत्र से वश होते हैं, यथा—"मंत्र परम लघु जासु बस, बिधि हरिहर सुर सर्व।" (दो० २५६)। श्रीरामजी का मंत्र 'राम' नाम है, इसीसे इसके जप से वे वश होते हैं। यहाँ तक उच्चकोटि के छः भक्त कहे गये। आगे तीन पतित भी कहते हैं—

अपत अजामिल गज गनिकाऊ। भये मुकुत हरिनाम-प्रभाऊ॥७॥
कहउँ कहाँ लगि नाम बड़ाई। राम न सकहिं नाम गुन गाई॥८॥

अर्थ—अजामिल, गजेन्द्र और गणिका ऐसे पतित भी हरि-नाम के प्रभाव से मुक्त हुए॥७॥ मैं नाम की बड़ाई कहाँ तक कहूँ, श्रीरामजी भी नाम के गुण नहीं गा सकते॥८॥

विशेष—'अपत अजामिल···' 'अपत'=पतित। यथा—"पावन किय रावन-रिपु तुलसिहुँ से अपत।" (वि० १२१); तथा—"पतितपावन राम नाम सों न दूसरो।" (वि० ६६)। 'अजामिल'—इनकी कथा श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध में विस्तार से है। यहाँ सारांश लिखते हैं—अजामिल एक योग्य एवं विद्वान् ब्राह्मण थे जो कन्नौज के रहनेवाले थे। एक दिन यज्ञ-सामग्री लाने को वन में गये। वहाँ एक कामी शूद्र को वेश्या से निर्लज्जतापूर्वक रमण करते देखकर काम-वश हो गये। फिर उसी वेश्या के पीछे इन्होंने पिता की सारी सम्पत्ति नष्ट कर दी। अपनी सती स्त्री एवं परिवार को भी छोड़कर उस कुलटा के साथ रहने तथा जुआचोरी आदि से निर्वाह करने लगे। उस दासी से इनके नौ पुत्र हुए, दसवाँ गर्भ में था। संयोग से उस ग्राम में एक साधु-मंडली आई। लोगों ने परिहास से उन संतों को इनका नाम बतलाया कि वह संत-सेवी धर्मात्मा है, अतएव वहीं जाइये। संत वहाँ गये। उस दासी ने आदर किया। संतों के दर्शनों से अजामिल की बुद्धि सात्त्विक हो गई। सेवा पर रीझकर संतों ने कहा कि गर्भस्थ बालक का नाम 'नारायण' रखना। अतः, छोटे पुत्र का नाम 'नारायण' पड़ा। यह पुत्र इनको प्राणों से भी प्रिय था। अंतकाल में इनका चित्त इसी पुत्र में लग गया और दूर खेलते हुए इसे 'नारायण-नारायण' कहकर पुकारा। तुरत नारायण भगवान् के पार्षद आये और इनको यमदूतों से छीन लिया। पार्षदों और यमदूतों का विवाद सुनकर इन्हें पश्चात्ताप हुआ। पार्षदों के दर्शनों से इनकी एक वर्ष की आयु भी बढ़ गई और भगवद्भजन कर परमधाम की प्राप्ति हुई। इसपर श्रीशुकदेवजी ने कहा है—"म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन्पुत्रोपचारितम्। अजामिलोऽप्यगाद्धाम किं पुनः श्रद्धया गृणन्॥" (भाग० स्कंध ६ अ० २) तथा—"नाम लिये पूत को पुनीत कियो पातकीस।" (क० उ० १८)।

'गज'—क्षीर-सागर के मध्य में त्रिकूटाचल नाम का एक पहाड़ है। वहाँ वरुण भगवान् का 'ऋतुमत्' नाम का बगीचा है और मध्य में एक सरोवर भी है। एक गजेन्द्र हथिनियों के साथ उसमें

क्रीड़ा कर रहा था। उसी में एक बली ग्राह भी रहता था। उसने गजेंद्र का पैर पकड़ लिया। हजार वर्षों तक खींचातानी होती रही। अंत में साथियों ने भी गजेन्द्र को छोड़ दिया। तब देवताओं का स्मरण कर, उनसे भी हताश हो भगवान् को पुकारा। आर्त्तनाद सुन भगवान् गरुड़ पर से कूदकर तुरंत आ गये और दोनों को बाहर निकालकर ग्राह का शिर काट डाला और गजेन्द्र को पार्षद बनाया। इसकी विस्तृत कथा भाग० स्कंध ८, अ० २-३-४ में है।

'गणिका'—सत्ययुग में परशू नामक वैश्य के एक स्त्री थी। उस स्त्री के पिता का नाम रघु था। वह स्त्री विधवा होने पर व्यभिचारिणी हो गई। उसके कोई सन्तान न थी। उसने एक तोते का बच्चा पाला था। किसी संत के उपदेश से उसे रामनाम पढ़ाया करती थी। तोते को पढ़ाते-पढ़ाते एक दिन उस कुलटा की मृत्यु हुई और नाम के प्रभाव से वह मुक्त हो गई। (क्रियायोगसार)।

इन पंक्तियों के द्वारा यह दिखाया कि जाने या अनजाने भी नामोच्चारणमात्र से मुक्ति होती है। यथा—"जानि नाम अजानि लीन्हें नरक जमपुर मने।" (वि० १६०), जैसे आग छू जाने मात्र से जलाती है। 'कहहुँ कहाँ लगि नाम ··' यहाँ ग्रंथकार को नाम की बड़ाई असीम देख पड़ी कि अजामिल, गज और गणिका आदि 'अपत' ने भी जैसे-तैसे नाम के उच्चारणमात्र से गति पाई। फिर उस नाम का महत्त्व मैं कहाँ तक कहूँ? स्वयं श्रीरामजी भी (जिनका यह नाम है और जो सर्वज्ञ हैं) इसके पूर्ण गुण नहीं कह सकते। यथा—"राम एवाभिजानाति रामनामफलं हृदि। प्रवक्तुं नैव शक्नोति ब्रह्मादीनां तु का कथा॥"(वसिष्ठ तंत्र)

श्रीरामजी के भी न कह सकने के कारण—(क) नाम की महिमा अनंत है। यथा—"महिमा नाम रूप गुन-गाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा॥" (उ० दो० ९०); "रामनाम कर अमित प्रभावा। संत पुरान उपनिषद गावा॥ (दो० ४५)। यह संतों एवं वेदादि की कही हुई मर्यादा है। किसीके द्वारा भी कह चुकने पर मर्यादा का भंग होता है। फिर श्रीरामजी सर्वज्ञ हैं। अतः, अनंत को अनंत रूप में ही जानना सर्वज्ञता है। (ख) श्रीरामजी जीवों को रमण कराने से श्रीराम संज्ञा से सुशोभित हैं। उस कार्य में रूप की अपेक्षा नाम अनंत रूप होकर जीवों को सुलभता से रमण कराता है। यही ऊपर दो दोहों में कहा है। अत, श्रीरामजी कृतज्ञता से भी नाम की अनंत महिमा की सिद्धि के लिये नहीं कह सकते।

शंका—ऊपर अजामिल आदि में कहीं कहीं 'नारायण-वासुदेव' आदि अन्य नामों का भी प्रसंग है, फिर सब श्रीराम नाम में क्यों लिये गये?

समाधान—श्रीराम नाम ब्रह्म के सच्चिदानंद स्वरूप का साक्षात् वाचक है और विष्णु-नारायण आदि नाम गुण-कर्म-सूचक ब्रह्म के नाम हैं, पूर्वोक्त दो० १८ चौ० १ में भी देखिये। अत, कारण-रूप रामनाम में सबका अंतर्भाव हो जाता है। यथा—"विष्णुनारायणादीनि नामानि चामितान्यपि। तानि सर्वाणि देवर्षे जातानि रामनामत॥" (पद्मपुराण)

दोहा—नाम राम को कलपतरु, कलिकल्यान निवास।
जो सुमिरत भये भाँग ते, तुलसी तुलसीदास॥२६॥

अर्थ—कलियुग में श्रीरामजी का नाम कल्पवृक्ष है, जिसमें कल्याण का निवास है, जिसके स्मरण करने से तुलसीदास भाँग से तुलसी हो गये।

विशेष—कल्पवृक्ष के नीचे पहचानकर जानेवाला मनोरथ पाता है। यह अर्थ, धर्म और काम देता है, घाम हरता है और श्रीराम नाम मोक्ष भी देता है और त्रिताप हरता है। यथा—"राम नाम कामतरु देत फल चारि रे।" (वि० ६८); "सुमिरे त्रिविध घाम हरत।" (वि० २५५); यहाँ पहचानना उपर्युक्त अर्थ जानना है। 'कलि-कल्याननिवास' का भाव यह है कि इस घोर कलियुग में अन्य साधन रूप वृक्षों में फल नहीं लगते। कल्याण-रूप ज्ञान-विरागादि फल नाम ही में आ बसे हैं। यथा—"यहि कलिकाल सकल साधन तरु हैं श्रम फलनि फरो सो।···सुरत सपनेहुँ न जोग सिधि साधन रोग बियोग धरोसो। काम क्रोध मद लोभ मोह मिलि ज्ञान बिराग हरो सो॥" (वि० १७३)। 'भाँग ते तुलसी'—भाँग और तुलसी की मंजरी एक-सी होती है, पर गुण में बड़ा अंतर है। भाँग मादक है। हरएक मादक में विषाक्त परमाणु रहते हैं। तभी तो उसका सेवन अधिक मात्रा से होने पर मृत्यु हो जाती है। भाँग के विरुद्ध धर्मवाली तुलसी है। इसके रस-सेवन से विष का नाश एवं मादकता दूर होती है। वैसे श्रीगोस्वामीजी विषयी से रामभक्त हो गये। इनके उपदेश से औरों का विषय-रूप विष उतर जाता है। यथा—"केहि गिनती महँ गिनती जस बन घास। राम जपत भये तुलसी तुलसीदास॥" (बरवा रा०)। "राम नाम को प्रभाउ पाउ महिमा प्रताप तुलसी सो जग मानियत महामुनी सो॥" (क० उ० ७१) तथा तुलसीदासजी तुलसी के समान पावन एवं श्रीराम-प्रिय हुए। यथा—"रामहिं प्रिय पावनि तुलसी-सी।" (दो० ३०)।

चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भये नाम जपि जीव बिसोका॥१॥
बेद - पुरान - संत - मत येहू। सकल - सुकृत - फल राम-सनेहू॥२॥
ध्यान प्रथम जुग मख-बिधि दूजे। द्वापर परितोषन प्रभु पूजे॥३॥
कलि केवल मलमूल मलीना। पाप-पयोनिधि जन - मन - मीना॥४॥
नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला॥५॥

अर्थ—चारो युगों, तीनों कालों तथा तीनों लोकों में जीव नाम जपकर शोक-रहित हुए॥१॥ वेदों, पुराणों और संतों का यही मत है कि सब पुण्यों का फल श्रीराम-स्नेह है॥२॥ सत्ययुग में ध्यान से, त्रेता में यज्ञ की विधि से और द्वापर में पूजा से प्रभु प्रसन्न होते थे॥३॥ कलियुग में 'केवल' (नाम से), क्योंकि कलि पाप का मूल और मलिन है तथा पापरूप समुद्र में लोगों के मन मछली हो रहे हैं॥४॥ ऐसे कठिन काल में नाम कल्पवृक्ष है, स्मरण (करते ही) सब सांसारिक जाल का नाश करता है॥५॥

विशेष—(१) 'चहुँ जुग तीनि काल···' चारो युग कहकर फिर तीन काल भी कहे गये अर्थात् जापक निरंतर विशोक होते आये, होते हैं और होंगे। चारो युगों के जापकों के प्रमाण पूर्व दो० २१ चौ० ८ में देखिये।

(२) 'बेद-पुरान-संतमत···' सब सुकृत रूप साधनों का फल श्रीराम-स्नेह है, यह वेदादि सब का मत है। यथा—"जप तप नियम जोग निज धर्मा। ··सब पद-पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल यह सुन्दर॥" (उ० दो० ४८)। "साधन सिद्धि राम-पद नेहू। मोहिं लखि परत भरत मत येहू॥" (अ० दो० २२८); "तुम्ह तो भरत मोर मत येहू। धरे देह जनु राम सनेहू।" तथा—"सकल सुमंगल

मूल जग, रघुबर-चरन सनेहु ॥'''सो तुम्हार धन जीवन प्राना ॥" (अ० दो० २०७) अर्थात् श्रीभरतजी का सा स्नेह ही सर्वमत से उपर्युक्त 'चहुँ जुग''' के शोक के अभाव का कारण है। श्रीभरतजी का स्नेह अयोध्या कांड भर में कहा गया है, उसीके लिये आगे चारो युगों में साधन कहते हैं—

(३) 'ध्यान प्रथम जुग'''। यथा—"कृत जुग सब जोगी बिज्ञानी। करि हरि-ध्यान तरहिं भव प्रानी ॥ त्रेता बिबिध जज्ञ नर करहीं। प्रभुहिं समर्पि कर्म भव तरहीं ॥ द्वापर करि रघुपति-पद-पूजा। नर भव तरहिं उपाय न दूजा ॥" (उ० दो० १०७)। 'परितोषन' अर्थात् तृप्ति, प्रसन्नता। भगवान् प्रसन्न होते हैं, तभी शान्ति एवं परम स्नेह उनमें होता है। यथा—"तत्प्रसादात्परां शांतिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।" (गीता १८।६२)। तथा—"तुम अपनायो तब जानिहौं, प्रभु-गुन सुनि हिय हरषि है नीर नयननि ढरिहैं। तुलसिदास भयो राम को बिस्वास प्रेम लखि'''" (वि० २६८)।

(४) 'कलि केवल, मल मूल''' यहाँ कलि के साथ 'केवल' कहकर उसे उद्देश्यांश में साकांक्ष ही छोड़ कलि की करालता कहने लगे, उसे फिर अगली चौ०—'नाम काम तरु''' से खोलेंगे, क्योंकि फिर वहाँ 'कलि' का नाम नहीं है। अतः, वह करालता यहीं के 'कलि'-प्रसंग की है। श्रीमद्भागवत में भी लिखा है—"कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः। द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्त्तनात् ॥" (१२।३।५२)

इससे स्पष्ट हुआ कि जब कलि में केवल नाम ही अभीष्ट-पूरक है, तब अन्य युगों में दो-दो साधन थे। जैसे ऊपर चौ० में 'मखविधि' कही है। अतः, ध्यान और पूजा भी विधि हुई। जैसे प्रजा खेती वाणिज्य आदि विधि (उपाय) करती है, तब राजा उसकी विधि का निर्वाह करता है। नहीं तो चोर-डाकू आदि से निर्वाह न हो, वैसे नाम सब युगों के विधि-रूप साधनों का राजा है। जैसे—"नाम जीह जपि जागहिं जोगी।" आदि कहे हैं। फिर जब कोई कराल काल (अकाल) पड़ता है, तब वही राजा अपने ही कोष से प्रजा का अभीष्ट सिद्ध करता है। वैसे ही उपर्युक्त तीन युगों में नाम (राजा) विधि सहित लोगों का अभीष्ट पूरा करता था, परिपूर्ण श्रीराम-स्नेह प्राप्त कराता एवं रक्षा करता था। करालकाल (अकाल) रूप कलि में केवल जप (नामाराधन) मात्र ही श्रीरामस्नेह प्राप्त कराता है। कारण भी कहते हैं। कलि पापमूल एवं मलिन है और लोगों के मन पाप-समुद्र की मछली हो रहे हैं जो पापमूलक विषय सामग्री विना तड़पने लगते हैं। यथा—"विषय बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।" (वि० १००)।

(५) 'नाम कामतरु काल'''—'काल कराला'—"सो कलिकाल कठिन उरगारी।"'''से—"सुनु ब्यालारि कराल कलि, मलअवगुन आगार ॥" (उ० दो० ९८–१०२) तक। 'जग जाला'—"जोग वियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा ॥ "जनम मरन जहँ लगि जग-जालू।" (अ० दो० ९१); अर्थात् योग वियोग आदि द्वन्द्वों से चित्त भ्रमित होकर जन्म-मरण में फिरने लगता है। यही जगत् रूप जाल है। जाल जल मे मछलियों को फँसाता है, वैसे ही उपर्युक्त द्वंद्व विषय वारि मे ही रहते हैं। यथा—"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।" (गीता० ३।३)। कलि में भी जापक के मन रूप मीन को जगत्जाल से हटाकर नाम अपने प्रेम रूप अमृत का कुंड प्राप्त कराता है। यथा—"सकल कामनाहीन जे।'''मन मीन ॥" में कहा गया, वही यहाँ का उपर्युक्त स्नेह है।

राम नाम कलि - अभिमत - दाता। हित परलोक लोक - पितु माता ॥६॥

नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू ॥७॥

कालनेमि कलि कपट निधानू। नाम सुमति समरथ हनुमानू ॥८॥

अर्थ—कलियुग में राम नाम सब मनोरथों को देनेवाला है, परलोक का हितैषी और इस लोक के लिये माता-पिता के समान है ॥६॥ कलियुग में न कर्म है, न भक्ति और न ज्ञान ही है; एक श्रीराम नाम ही का सहारा है ॥७॥ कपट का खजाना कलियुग कालनेमि के समान है, (उसका नाशक) नाम सुन्दर मतिमान् बलवान् श्री हनुमान्‌जी है ॥८॥

विशेष—(१) 'राम-नाम कलि अभिमत······' ऊपर 'कामतरु' कहा था, यहाँ गुण-द्वारा जनाया। 'हित परलोक' से मोक्ष भी देना कहकर कल्पतरु से अधिकता कही। 'पितु-माता' रूप से भी नाम की अधिकता ही है, क्योंकि कल्पवृक्ष से माँगना पड़ता है, एवं वह कुपथ्य भी देता है, पर नाम माता-पिता रूप है। अतः, बिना माँगे ही देता है और कुपथ्य नहीं देता। उदाहरण दो० १६, चौ० २ में देखिये।

(२) 'नहिं कलि करम न भगति······' यथा—"करम जाल कलि काल कठिन आधीन सुसाधित दाम को। ज्ञान बिराग जोग जप तप भय लोभ-मोह-कोह-काम को॥" (वि० १५५)। "करम उपासना कुवासना बिनास्यो ज्ञान, बचन बिराग बेष जगत हरो सो है॥" (क० उ० ८४) अर्थात् कलिकाल में मन पापरत होने से और कुसंग के कारण उक्त कर्म आदि के साधन नहीं निवहते। इसीसे कलि के जीव इनके अनधिकारी भी कहे जाते हैं। यथा—"रामेति वर्णद्वयमादरेण सदा स्मरन्मुक्तिमुपैति जन्तुः। कलौ युगे कल्मषमानसानामन्यत्र धर्मे खलु नाधिकारः॥" (महासंहिता)।

(३) 'काल नेमि कलि कपट······', कलि ने राजा नल तथा राजा परीक्षित से भी छल ही किया, क्योंकि बल से उनको नहीं जीत सकता था। ऐसे ही कर्म-ज्ञानादि पर इसका बल चलता है, पर श्री राम नाम को बल से नहीं जीत सकता; अतः कपट से जीतना चाहता है। जैसे श्रीहनुमान्‌जी के प्रभाव से कालनेमि पहले ही डरा था, इससे कपट से मारना चाहा। जैसे श्रीहनुमान्‌जी ने सुमति से उसके कपट को जान लिया और सामर्थ्य से मारा, वैसे नाम भी 'सुमति' से कपट जानकर सामर्थ्य से कलि का नाश करता है। कालिनेमि का प्रसंग लं० दो० ५६-५७ में है। वहाँ प्रथम श्रीहनुमान्‌जी उससे श्रीराम गुण-गाथा सुनते ही गये, जब अपने ज्ञान की बड़ाई करने लगा तब 'सुमति' से ताड़ गये कि यह संत नहीं है। फिर मकरी-द्वारा भी सुनकर मारा। यहाँ नाम ने कलि का कपट नष्ट किया।

दोहा—राम नाम नरकेसरी, कनककसिपु कलिकाल।
जापक जन प्रह्लाद जिमि, पालिहि दलि सुरसाल ॥२७॥

शब्दार्थ—सुरसाल=देवताओं को दुखानेवाला एवं सुर-रूप सद्‌गुणों का नाशक, यथा—"सद्‌गुन सुरगन।"

अर्थ—जैसे नृसिंह भगवान् ने देवताओं को दुखानेवाले हिरण्यकशिपु को मारकर प्रह्लाद की रक्षा की, वैसे ही श्रीराम का नाम सद्‌गुण-नाशक कलिकाल का नाश करके जापक को पालेगा।

विशेष—(१) 'राम-नाम नरकेसरी···' श्रीराम का नाम अपने जापक के विरोधी कलि पर महान् क्रोध करता है, इसलिये नृसिंह भगवान् की उपमा दी। हिरण्यकशिपु नृसिंह के अतिरिक्त सबसे अवध्य था, वैसे नाम ही से कलि का समूल नाश होता है। अन्य उपाय कलि में व्यर्थ हो जाते हैं।

'सुरसाल'—इस पद का उपमेय नहीं प्रकट किया गया, उपमान में यह 'कनक-कसिपु' का विशेषण है, उपमेय में यही 'कलिकाल' का भी विशेषण होगा और इसका अर्थ 'सद्गुण एवं सद्धर्म पर धक्का पहुँचानेवाला' होगा। यथा—"सद्गुन सुरगन अंब अदिति-सी।" (दो० २०), "कलि सकोप लोपी सुचाल निज कठिन कुचाल चलाई।" (वि० १३५), "कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भये सदग्रंथ।" (उ० दो० ६७)।

अतः, जैसे हिरण्यकशिपु प्रथम बहुत काल से देवताओं को दुःख देता रहा, पर नृसिंह-भगवान् नहीं प्रकट हुए किन्तु, भक्त प्रह्लाद पर विघ्न करते ही प्रकट हुए। यथा—"सहे सुरन्ह बहु काल बिषादा। नरहरि किये प्रगट प्रहलादा॥" (अ० दो० २६७)। वैसे कलि भी सद्गुणों एवं सद्धर्मों पर बाधा करता रहता है, तब तक नाम उसकी उतनी परवाह नहीं करता, पर जापक रूप प्रह्लाद पर बाधा करने पर उसका समूल नाश कर डालता है।

प्रश्न—श्रीहनुमान् रूपी नाम के द्वारा कलि का नाश कह चुके, फिर दोहे में कलि का मारना क्यों कहा गया? प्रथम रूपक में 'कालनेमि' रूप कलि प्रथम है, दूसरे में 'राम नाम नरकेसरी' प्रथम क्यों?

उत्तर—प्रथम रूपक में 'कलि' का कपट नष्ट हुआ, उसमें जापक-रूप में श्रीलक्ष्मणजी हैं, वे मूर्च्छित थे, तब नाम के नामी (श्रीरामजी) ही ने नाम रूपी हनुमान्‌जी को उपाय रूप में नियुक्त किया। अत, वहाँ की बाधा परम समर्थ श्रीरामजी एवं नाम पर ही थी। इसीलिये कलि ने कपट-द्वारा ही सामना किया और उसका वह कपट रूप नष्ट हुआ। इसमें अपने पर ही बाधा जानकर तुच्छ बाधक से लापरवा रहे, सामने आने पर पीछे मारा। अत, इसमें 'कलि' ही प्रथम कहा गया। दूसरे रूपक में जापक शिशु प्रह्लाद रूप में है, वहाँ कलिकाल ने इसे तुच्छ समझकर अपने पुरुषार्थ से ही मारना चाहा, तब नाम अपने वात्सल्य गुण-प्राधान्य से प्रथम ही 'नरकेसरी' संज्ञा से कहा गया और उसके पुरुषार्थ का भी नाश कर सर्वांश से उसे दूर किया।

भाय कुभाय अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥१॥

अर्थ—भाव, कुत्सित भाव, अनख (अन=बुरी, अख=आँख=क्रोध) और आलस्य (किसी भी प्रकार) से नाम जपने से दशों दिशाओं में मंगल ही होता है।

विशेष—विजय-दोहावली में इन सबके भावगर्भित उदाहरण हैं—"भाव-सहित संकर जप्यो, कहि कुभाव मुनिबाल। कुंभकरण आलस जप्यो, अनख जप्यो दसभाल॥" मानस में इनके क्रमश उदाहरण—"सादर जपहु अनँगआराती।" (दो० १०७)। "भयेउ सुद्ध करि उलटा जापू।" (दो० १९)। "राम रूप गुन सुमिरत, मगन भयेउ छन एक।" (लं० दो० ६३)। "कहाँ राम रन हतउँ प्रचारी।" (लं० दो० १०२) अर्थात् चाहे शिवजी की तरह प्रेमपूर्वक मन, वचन की एकाग्रता एवं नामार्थ विचार-पूर्वक सादर जपे, चाहे श्री वाल्मीकि की तरह उल्टा (अनादर-सहित) जपे, चाहे कुंभकरण की तरह आलस्य में जँभाते-अँगड़ाते हुए नाम कहे, चाहे रावण की तरह क्रोध से कहे, नाम-द्वारा सब प्रकार से कल्याण ही होता है। 'दिसि दसहूँ'—चाहे मथुरा, अयोध्या आदि पुरियों में, चाहे प्रयाग आदि तीर्थों में, चाहे गिरि-वन आदि कैसे भी स्थल में नाम-जप से मंगल ही होता है। दश दिशाएँ—"देसकाल दिसि बिदिसिहु माँहीं।" (दो० १८४)। अर्थात् पूर्व आदि ४ दिशाएँ, अग्नि आदि ४ विदिशाएँ (कोण), ऊपर और नीचे मिलकर दस दिशाएँ होती हैं।

नौ दोहों में नाम का विस्तृत महत्त्व कहकर अंत में यहाँ सारांश रूप में कहा गया कि यह नाम देश-काल एवं पात्र की अपेक्षा न कर मंगल ही करता है, यथा—"श्रद्धया हेलया नाम वदन्ति मनुजा भुवि। तेषां नास्ति भयं पार्थ रामनामप्रसादतः ॥" (आदिपुराण) तथा—"दभहू कलि नामकुम्भज सोचसागर सोखु।" (वि० १५१), "मंत्रोऽयं रसनास्पृशेव फलति श्रीरामनामात्मकः ॥" (शुकसंहिता)।

प्रश्न—श्रीरामनाम की वंदना सबसे अधिक नौ दोहों मे क्यों की गई ?

उत्तर—(क) श्रीरामनाम गोस्वामीजी का सर्वस्व है, इसी से इनका कल्याण हुआ है। अतः, प्रेम से अंकों की सीमा तक वंदना की। अंकों की सीमा नौ ही तक है, आगे शून्य है। तदनुसार कल्याण-दायक पुरुषार्थों की सीमा का भी इन्हीं में पर्यवसान किया अर्थात् इनसे आगे जो अन्य पुरुषार्थों को खोजें, तो शून्य ही हाथ लगेगा, क्योंकि विघ्नों से निर्वाह न होगा। यथा—"तुलसी अपने राम को भजन करहु निःसंक। आदि अंत निर्वाहिवो, जैसे नव को अंक ॥" (तुलसीसतसई); "रामनाम छाड़ि जो भरोसो करै और रे। तुलसी परोसो त्यागि माँगै कूर कौर रे ॥" (वि० ६६), "राम की सपथ सर्वस मेरे राम नाम कामतरु कामधेनु मोसे छीन-छाम को।" (क० उ० १०१); "सकर साखि जो राखि कहउ कछु तो जरि जीह गरो। अपनो भलो राम नाम हि ते तुलसिहिं समुझि परो ॥" (वि० २२६)।

(ख) जैसे नौ का पहाड़ा लिखते हुए उसके दूने-तिगुने आदि मे इकाई-दहाई जोड़ने पर भी वह (नौ का मान) नहीं घटता। समान ही (नव का नव ही) रहता है, वैसे ही नामाराधन काल, कर्म, गुणादि की किसी भी प्रकार की बाधाओं में नहीं घटेगा।

श्रीरामनाम वन्दना-प्रकरण समाप्त

सुमिरि सो नाम राम-गुनगाथा। करउँ नाइ रघुनाथहिं माथा ॥२॥
मोरि सुधारिहि सो सब भाँती। जासु कृपा नहि कृपा अघाती ॥३॥

अर्थ—उस श्रीराम-नाम का स्मरण कर और श्रीरघुनाथजी को माथा नवाकर उनके गुणों की कथा की रचना करता हूँ ॥२॥ वे मेरी त्रुटियाँ सब तरह से सुधार लेंगे, जिनकी कृपा कृपा करते रहने से भी नहीं अघाती (चुकती) ॥३॥

विशेष—(१) 'सुमिरि सो नाम ......' ऊपर नाम की वंदना कर चुके। अब यहाँ से—"येहि विधि निज गुन दोष कहि' तक दो दोहों में अपनी दीनता और स्वामी के गुण वर्णन करते हुए रूप की बड़ाई करते हैं कि जिस नाम के भाव-कुभावादि द्वारा भी स्मरण से सब देशों एवं सब कालों मे मंगल होता है, अब मैं उसी का स्मरण कर और उसके नामी (श्रीरामजी) ही को माथा नवाकर उनकी गुण-गाथा की रचना करता हूँ। यदि कोई कहे कि गुण-गाथा करने में जो-जो त्रुटियाँ हैं, उनके लिये क्या प्रबन्ध किया ? तदर्थ आगे कहते हैं—

(२) 'मोरि सुधारिहि सो " ' 'सुधारिहि' अर्थात् मेरी बहुत तरह से बिगड़ी है—(क) "सूझ न एकउ अंग उपाऊ। मन मति रंक मनोरथ राऊ ॥" (दो० ७) अर्थात् मन और मति अयोग्य है। (ख)—'कवित-विवेक एक नहीं मोरे।" (दो० ८); "भनिति मोरि सब गुन-रहित, ..." (दो० ९) अर्थात् मेरी विवेकहीनता से रचना में काव्यगुण नहीं आ सकते। (ग)—भाग्य छोटा है—"भाग छोट अभिलाष बड़,—" (दो० ८), इत्यादि सबको सुधारेंगे।

(३) "जासु कृपा नहिं कृपा अघाती।" अर्थात् जिसपर कृपा हुई, फिर बराबर हुआ करती है, अतः, मुझपर भी हुई है, फिर बराबर होती रहेगी, इससे सब सुधर जायँगे। किस प्रकार कृपा की और करेंगे, यही आगे कहते हैं—

राम सुस्वामि कुसेवक मो सो। निज दिसि देखि दयानिधि पोसो ॥४॥
लोकहुँ बेद सुसाहिब रीती। बिनय सुनत पहिचानत प्रीती ॥५॥

अर्थ—कहाँ श्रीरामजी-से अच्छे स्वामी और कहाँ मुझ-सा कुत्सित सेवक ? पर दयासागर ने अपनी ही ओर देखकर मुझे पाला ॥४॥ वेदों में और लोक में भी अच्छे स्वामी की यह रीति है कि वे विनय सुनते हुए हृदय की प्रीति को पहचान लेते हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'राम सुस्वामि कुसेवक···' और स्वामी कुसेवक को नहीं रखते, जिसको रखते भी हैं उसे सेवा के अनुसार ही फल देते हैं, पर श्रीरामजी ऐसे सुस्वामी हैं कि बिना सेवा ही कृपा करते हैं और कुसेवक पर भी दया करते हैं, ऐसा दयानिधि स्वामी कहीं नहीं, क० उ० २३-२४-१२ तथा "जौं पै दूसरो कोउ होइ··· " (वि० ११०) आदि देखिये। तथा—"बेचे खोटो दाम न मिलै न राखे काम रे। सोऊ तुलसी निवाज्यो ऐसो राजा राम रे।" (वि० ७१)।

(२) 'लोकहुँ बेद सुसाहिब···' लोक में देखा जाता है और वेद में लिखा है, इसीका विस्तार करते हैं।

गनी गरीब ग्रामनर नागर। पंडित मूढ़ मलीन उजागर ॥६॥
सुकबि कुकबि निज-मति-अनुहारी। नृपहिं सराहत सब नर नारी ॥७॥

शब्दार्थ—गनी = अमीर। मलीन = मलिन वृत्तिवाले। उजागर = स्वच्छ, प्रसिद्ध।

अर्थ—अमीर, गरीब, गँवार, चतुर, पंडित, मूर्ख, मलिनवृत्ति और स्वच्छवृत्ति, अच्छे और बुरे कवि—ये लोग सब स्त्री-पुरुष अपनी बुद्धि के अनुसार (अपने) राजा की बड़ाई करते हैं ॥६-७॥

विशेष—इन दसों की सराहना का विषय और उनके भेद आगे कहते हैं—

साधु सुजान सुसील नृपाला। ईस-अंस-भव परम कृपाला ॥८॥
सुनि सनमानहिं सबहिं सुबानी। भनिति भगति नति गति पहिचानी ॥९॥

शब्दार्थ—साधु = सद्भाववाला। सुजान = अच्छा जानकार। नृपाल = नरों का पालक (राजा)। नति = प्रणाम एवं नम्रता। गति = पहुँच, दशा। भव = उत्पन्न।

अर्थ—साधु, सुजान, सुशील, ईश्वर के अंश से उत्पन्न और परम कृपालु राजा ॥८॥ सबकी सुनकर, उनकी वाणी, भक्ति, नति और गति पहचानकर, सुन्दर वचनों से उन सबका आदर करता है ॥९॥

विशेष—(१) 'ईस-अंस-भव'—यथा—"नराणां च नराधिपम् ॥" (गीता १०।२७) तथा—"इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च। चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः॥ यस्मादेष सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः। तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा॥" (मनुस्मृति)। यहाँ राजा की स्तुति करनेवाले पाँच प्रकार के हैं—१—गनी—गरीब, २ ग्रामनर नागर, ३—पंडित-मूढ़, ४—मलीन-उजागर, ५—सुकवि-कुकवि। राजा भी पंचगुण युक्त है - १—साधु, २—सुजान ३ - सुशील, ४- ईश-अंश-भव, और ५—परम कृपालु। राजा भी अपने इन गुणों से प्रजा की पाँच ही बातों को पहचानकर उसका सम्मान करता है, १—प्रीति ('बिनय सुनत पहिचानत प्रीती।' ऊपर कहा है), २-गति, ३—नति, ४ - भक्ति, और ५—भनिति [इस भनिति, भक्ति, नति, गति में उल्टा क्रम है, यथा—"कृतजुग त्रेता द्वापर, पूजा मख अरु जोग।" (उ० दो० १०१)।]

प्रशंसकों के नाम	गनी-गरीब	ग्रामनर-नागर	पंडित-मूढ़	मलीन-उजागर	सुकवि-कुकवि
सम्मान के हेतुभूत गुण	प्रीति	गति	नति	भक्ति	भनिति
पहचान के हेतुभूत राजा के गुण	साधुता	परम कृपालुता	ईशअंश भवता	सुशीलता	सुजानता

उपर्युक्त बातों के प्रमाण—साधुता से प्रीति की पहचान। यथा—"मानत साधु प्रेम पहिचानी।" (अ० दो० २४६)। ईश-अंश-भवगुण से नति=प्रणाम पहचानता है, क्योंकि ईश्वर एकबार प्रणाम से ही अपनाते हैं। यथा—"सकृत प्रनाम किये अपनाये।" (अ० दो० २६८) और सुजानता से काव्य के गूढ़ आशय एवं काव्य कला आदि जानता है।

यह प्राकृत महिपाल-सुभाऊ। जानिसिरोमनि कोसलराऊ॥१०॥
रीझत राम सनेह निसोते। को जग मंद मलिन मति मो ते॥११।

शब्दार्थ—प्राकृत=साधारण। जानि=ज्ञानी, सुजान। निसोत=निस्त्रोत=तैल धारावत् एकरस रहनेवाला वा मिलावट से रहित—'कहौं सो साँच निसोते।' (वि० १६१)।

अर्थ—यह तो प्राकृत राजाओं का स्वभाव है। कोशल के राजा श्रीरामजी तो सुजानों के शिरोमणि हैं॥१ ॥ श्रीरामजी शुद्ध प्रेम से रीझते हैं, (परन्तु) संसार में मुझसे बढ़कर मंद और मलिन बुद्धिवाला कौन है ? ॥११॥

विशेष—और राजा प्राकृत हैं, श्रीरामजी अप्राकृत (दिव्य) हैं, यह गर्भित है एवं और सुजान हैं, तो श्रीरामजी सुजानशिरोमणि हैं। यथा—"नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥" (अ० दो० २५४) तथा "राम सुजान जानि जन जी की।" (अ० दो० ३०३); "सबके उर अंतर बसहु, जानहु भाव कुभाव।" (अ० दो० २५७)। जैसे सुजानता में अधिकता कही गई, ऐसी ही अधिकता उपर्युक्त राजा के अन्य गुणों की अपेक्षा भी श्रीरामजी में है, यह गर्भित है। यहाँ राजा की तुलना के संबंध से श्रीरामजी को भी 'कोसलराऊ' कहा है।

(२) 'रीझत राम···' अर्थात् और राजा लोग उक्त गुणों के साथ स्नेह से रीझते हैं और श्रीरामजी केवल शुद्ध स्नेह से रीझते हैं, पर मैं अति मलिन हूँ, क्योंकि 'निसोत' स्नेह नहीं है। स्नेह जल रूप है, उससे हृदय का मल नहीं रह जाता। यथा—"राम-चरन-अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै।" (वि० ८२)।

दोहा—सठ सेवक की प्रीति रुचि, रखिहहिं राम कृपालु ।
उपल किये जलजान जेहि, सचिव सुमति कपि भालु ॥
हौंहुँ कहावत सब कहत, राम सहत उपहास ।
साहिब सीतानाथ से, सेवक तुलसीदास ॥२८॥

अर्थ—(मुझ) शठ सेवक की प्रीति और रुचि को कृपालु श्रीरामजी रक्खेंगे, जिन्होंने पत्थरों को नाव और भालू वानरों को सुन्दर मतिमान् मंत्री बनाया है ॥ मैं भी कहलाता हूँ और सबलोग कहते हैं तथा श्रीरामजी इस उपहास को सहते हैं कि कहाँ तो श्रीसीतानाथ-ऐसे स्वामी और कहाँ तुलसीदास-सा उनका सेवक ! ॥२८॥

विशेष—(१) 'सठ सेवक की···।' जब प्राकृत राजा भी कृपालुता-गुण से सब का सम्मान करते हैं, तब मुझे विश्वास है कि मुझ शठ की भी प्रीति और रुचि श्रीरामजी अवश्य रक्खेंगे, क्योंकि वे कृपालु हैं, इसी को शठ कपि-भालुओं और जड़ पत्थरों की उपमा से पुष्ट करते हैं। जैसे—मुझे श्रीराम-कथा कहने की प्रीति एवं रुचि है, वह सुमति के बिना नहीं हो सकती। यथा—"सो न होइ बिनु बिमल मति, मोहि मति बल अति थोरि।" (दो० १४)। अतः, जिन्होंने भालू-वानरों को सुमति देकर मंत्री बनाया, वे मुझे भी सुमति देंगे।

पुनः—"करन चहउँ रघुपति-गुनगाहा। लघुमति मोरि चरित अवगाहा॥" (दो० ७) अर्थात् रघुपति की कथा अथाह सागर की तरह है। मैं शठ बुद्धि से कैसे पार पाऊँगा ? अतः, दूसरा दृष्टान्त दिया कि जिन्होंने जड़ पत्थरों को जल पर उतराया और उन्हीं का पुल बनाकर शठ बन्दरों को पार लगाया, वे मुझ शठ-बुद्धि को भी पार लगावेंगे। जैसे पत्थर स्वयं डूबते और दूसरों को भी ले डूबते हैं, वैसे सगुणचरित ऐसे ऐसे गुरु (भारी) हैं, जिनको बुद्धि से ग्रहण करते ही सती एवं गरुड़ आदि भी संशयसिंधु में डूब गये। श्रीराम के प्रताप से ही पत्थर पुलरूप में हो गये, वैसे उन्हीं की कृपा से चरितरूपी सेतु हो सकता है। यथा—'जौं नृप सेतु कराहिं' (दो० ११) में रूपक है। नटों के नचाने योग्य वानर-भालुओं को सुमति देकर मंत्री बनाया तो मैं तो नर-शरीर हूँ, क्यों न सुमति देंगे ?

ऊपर जो प्राकृत राजाओं के पाँच गुण कहे थे, उनमें से 'सुजानता' की जगह श्रीरामजी को 'जानि-सिरोमनि' ऊपर कहा, यहाँ 'कृपालुता' भी प्रकट की, शेष आगे कहते हैं।

(२) 'हौंहुँ कहावत···'—यहाँ अपने उपर्युक्त विश्वास का प्रमाण प्रत्यक्ष रूप में दे रहे हैं कि प्रभु मेरी प्रीति-रुचि अवश्य रक्खेंगे, क्योंकि—'सीतानाथ' शब्द से श्री रामजी का बड़प्पन कहा गया है। यथा—"सो सीतापति भजन को, प्रगट प्रताप प्रभाउ।" (अ० दो० २४३), "सीतापति से साहिबहि, कैसे दीजे पीठि।" (दोहावली ८८)। श्री सीताजी के विषय में कहा है—"उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता।" (उ० दो० २४), एवं—"लोकप होहिं बिलोकत तोरे। तोहिं सेवहिं सब सिधि कर जोरे॥" (अ० दो० १०२)। वे सीताजी भी जिनकी सेवा करती हैं, यथा—"राम पदारबिंद-रति करति सुभावहिं खोइ।" (उ० दो० २४)। ऐसे सीतापति का मैं सेवक बनता हूँ, पूछने पर कहता हूँ कि मैं रामदास हूँ'। इससे लोग भी मुझे 'राम-दास' कहते हैं। इसमें श्री रामजी का बड़ाभारी उपहास होता है कि जिनकी सेवा त्रिदेव करते हैं—"देखे सिव बिधि बिष्णु अनेका। अमित प्रभाव एक ते एका॥ ···बंदत चरन करत प्रभु-सेवा।" (दो० ५४)। फिर त्रिदेव भी शक्तियों सहित जिनके चरणों की वंदना करते हैं, वे अमितप्रभावा ब्रह्मस्वरूपिणी श्रीसीताजी भी जिनकी

सेवा करती हैं, उनका दास ऐसा तुच्छ शठ हो, इस अयोग्यता पर लोग मजाक उड़ाते हैं कि भगवान् को कोई अच्छा सेवक न जुड़ा, तब तो ऐसे शठ को सेवक बना रक्खा है ! इस उपहास को श्रीरामजी अपने शील-गुण से सहते हैं। सहने का प्रमाण यह है कि वे सर्वप्रेरक हैं, मेरा यह नाता न स्वीकार होता तो लोगों से न कहलाते अथवा मुझे ऐसा उद्वेग कर देते कि उनका वेष-बाना भी छोड़ बैठता। यहाँ 'सुशीलता' गुण प्रकट किया।

अति बड़ि मोरि ढिठाई खोरी। सुनि अघ नरकहुँ नाक सिकोरी ॥१॥
समुझि सहम मोहि अपडर अपने। सो सुधि राम कीन्हि नहिं सपने ॥२॥

अर्थ— इतने बड़े स्वामी का सेवक बनना—(यह) मेरी बहुत बड़ी ढिठाई और दोष है जिस पाप को सुनकर नरक भी नाक सिकोड़ता है ॥१॥ अपनी ढिठाई और दोष को समझकर मुझे अपने ही अपडर के कारण डर हो रहा है, (पर) श्रीरामजी ने स्वप्न में भी उसका स्मरण नहीं किया ॥२॥

विशेष—(१) अति बड़ि मोरि···'ढिठाई'—ढिठाई यह कि जिनकी सेवा त्रिदेव-वंदिता श्री सीताजी भी करती हैं, उनका सेवक बनना, फिर भी मैं इतना बड़ा निर्लज्ज हूँ कि जान-बूझकर इतना ऊँचा बनने का साहस करके सुशील स्वामी को उपहास सहने का कष्ट दे रहा हूँ। यथा—"धिगशुचिमविनीतं निर्दयं मामलज्जं, परमपुरुष योऽहं योगिवर्याग्रगण्यैः। विधिशिवसनकाद्यैर्ध्यातुमत्यंतदूरं, तव परिजनभावं कामये कामवृत्तः ॥" ऐसा अभियुक्तों ने कहा है तथा—"बड़ो साईंद्रोही न बराबरी मेरी को कोऊ नाथ की सपथ किये कहत करोरि हौं। दूरि कीजे द्वार ते लबार लालची प्रपंची सुधा सों सलिल सूकरी ज्यों गहडोरि हौं ॥" (वि० १५८) इत्यादि। ऐसे महापाप के प्रति नरक को भी घृणा लगती है, अतः वह भी नाक सिकोड़ता है।

(२) 'समुझि सहम मोहि···' 'अपडर' अर्थात् झूठा डर—जहाँ डर की बात न हो वहाँ डरना—"अपडर डरेउँ न सोच समूले। रविहिं न दोष देव दिसि भूले ॥" (अ० दो० २१६)। अपनी 'ढिठाई खोरी' रूप पाप को समझकर मुझे अपनी ओर से डर हुआ, यद्यपि पापी पाप से नहीं डरता; तथापि मेरा पाप इतना भारी है कि मैं स्वयं डर गया हूँ, पर श्री रामजी ने तो स्वप्न में भी इसका स्मरण नहीं किया। ईश्वर में स्वप्नावस्था नहीं होती, पर यह लोकोक्ति (मुहावरा) है अर्थात् भूलकर भी खयाल नहीं किया—यह माधुर्य दृष्टि से कहा है, क्योंकि लीलामानव 'कोसलराऊ' के गुण कह रहे हैं।

प्रत्युत इस ढिठाई को प्रभु ने भक्ति मानकर ही ग्रहण किया। यथा—"ऐसेहुँ कुमति कुसेवक पर रघुपति न कियो मन बावौं ॥" (वि० १७१) तथा—"सो मैं सब विधि कीन्हि ढिठाई। प्रभु मानी सनेह सेवकाई ॥" (अ० दो० २१७) अर्थात् श्री भरतजी ने जिसे ढिठाई कहा उसे ही श्री रामजी ने स्नेह एवं सेवकाई माना। अतः, सिद्ध है कि श्री रामजी ने इस ढिठाई की सुधि तक नहीं की। यह इससे भी जाना कि यदि वे सुधि करते तो मेरे हृदय में उद्वेग होता और रही-सही भक्ति-वृत्ति भी नहीं रहती।

सुनि अवलोकि सुचित चख चाही। भगति मोरि मति स्वामि सराही ॥३॥
कहत नसाइ होइ हिय नीकी। रीझत राम जानि जन जी की ॥४॥

शब्दार्थ—सुचित=सुन्दर चित्त। चख=(चक्षु) नेत्र। चाही=देखी, विचारी। यथा—'सीय चकित चित रामहि चाहा।' (दो० २४७)। सुचित चख चाही=हृदय से विचार कर।

अर्थ--दूसरों से सुनकर और स्वय सुन्दर चित्तरूपी नेत्र से देखकर मेरी भक्ति और बुद्धि को स्वामी ने सराहा ॥३॥ कहने में चाहे बिगड़ जाय परन्तु हृदय की अच्छी हो, श्रीरामजी दास के हृदय की (अच्छाई) जानकर रीझते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'सुनि अवलोकि सुचित • '—इसके कुल भाव विनय के अन्तिम पद में आ गये हैं। यथा—"मारुति मन रुचि भरत की लखि लखन कही है। कलिकाल हू नाथ नाम सों प्रतीति प्रीति एक किंकर की निबही है। सकल सभा सुनि लै उठी जानी रीति रही है। कृपा गरीब निवाज की देखत गरीब को साहब बाँह गही है। बिहँसि राम कह्यो सत्य है सुधि मैं हूँ लही है। मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ हाथ सही है ॥ २७९)। इसमें लखन कही है' और 'सुधि मैं हूँ लही है'—यह श्रीलक्ष्मण और श्रीसीताजी से सुनना, 'देखत' में 'अवलोकि' का भाव, 'बिहँसि राम कह्यो ' में 'सुचित चख चाही' का भाव और 'सत्य है' में उपर्युक्त सभा की सराहना स्वीकार करने में 'सराही' का भाव है। प्रतीति प्रीति की सराहना 'मति' की सराहना है। चूक को भुला देते हैं और भक्ति को देखते, सुनते एव सराहते हैं, क्योंकि आप भक्तिप्रिय हैं। यद्यपि ईश्वर का ज्ञान निरावरण है, अत देखना, फिर सुचित से देखना नहीं बनता, तथापि यहाँ माधुर्य लेकर कथन है। अत, ठीक है।

इसका यों भी अर्थ होता है—मनि (गुरु एव सतों से) सुनकर हृदय के नेत्रों से सुचित्त होकर अव लोकन किया, तब देख पड़ा कि मेरी मति के अनुसार जो भक्ति मुझमें है वह स्वामी की सराही हुई है। कौन भक्ति सराही हुई है ?—उत्तर—"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभय सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रत मम ॥" (वाल्मी० यु०), इसके अनुसार—'हौंहुँ कहावत सब कहत • " इस उपर्युक्त दोहे में वही भक्ति (शरणागति) सराही गई है।

'कहत नसाइ होइ • ' यथा—"कहत नसानी ह्वै है हिये नाथ नीकी है। जानत कृपानिधान तुलसी के जी की है ॥" (वि० १८८) 'कहत नसाइ' अर्थात् मैं शठ होते हुए भी जो अपने को सेवक कहता हूँ, यह बात अयोग्य होने से नसानी'—नष्ट है पर जो हृदय में प्रीति रुचि' है, यह नीकी' है। यथा—"सठ सेवक की प्रीति रुचि" (उपर्युक्त)। इसीसे श्रीरामजी रीझते हैं। यथा—'तुम रीझहु सनेह सुठि थोरे।" (दो० ३४१)। 'जानि जन जी की'—हृदय की निकाई (स्वच्छता) पर रामजी रीझते हैं चाहे कर्म और वचन ठीक न भी हों और वचन कर्म मात्र से नहीं रीझते—यह गर्भित है।

रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सय बार हिये की ॥५॥
जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली ॥६॥
सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहुँ सो न राम हिय हेरी ॥७॥
ते भरतहि भेंटत सनमाने। राज सभा रघुबीर बखाने ॥८॥

शब्दार्थ—चूक=भूल, धोखा। किये की=की हुई। सय=सौ। सुरति=स्मरण। हेरी—देखी।

अर्थ—प्रभु के चित्त में अपने भक्त की की हुई चूक (याद) नहीं रहती। वे उसके हृदय की नीकी' को बारबार स्मरण करते रहते हैं ॥५॥ जिस पाप से वालि को (श्रीरामजी ने) व्याध की तरह (छिपकर) मारा था, फिर वही कुचाल सुग्रीवजी ने की ॥६॥ और वही करतूत विभीषणजी की थी, (परन्तु) श्रीरामजी

स्वप्न में भी उस दोष को हृदय में नहीं लाये ॥७॥ ये सब श्रीभरतजी से मिलते समय सम्मानित किये गये और राजसभा में भी श्रीरघुवीर ने उनकी बड़ाई की ॥८॥

विशेष—'रहति न प्रभुचित ···' उपर्युक्त 'कहत नसाइ' का विवरण करते हैं—'चूक किये की'—चूक करना यह कर्म है। भाव यह कि कर्म एवं वचन—ये बहिरंग हैं। इनके बिगड़ने को प्रभु नहीं देखते हैं—यदि हृदय का भाव अच्छा हो। यथा—"बचन वेष से जो बनै सो बिगरै परिनाम। तुलसी मन से जो बनै, बनी बनाई राम ॥" (दोहावली १५४); "अपिचेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥" (गीता ९।३०) अर्थात् जन के मन में तो अनन्य भजन का निश्चय है, पर काल-कर्मादि की बरियाई (बली प्रभाव) से चूक (धोखे में अनुचित) हो जाती है, उसे प्रभु नहीं देखते, प्रत्युत हृदय की 'निकाई' का ही बार-बार स्मरण करते हैं। यथा—"अपने देखे दोष, राम न सपनेहुँ उर धरयो ॥" (दोहावली ४७)।

(२) 'जेहि अघ बधेउ ···' इसमें 'जेहि अघ', 'सोइ कुचाली' और आगे 'सोइ करतूत' कहे गये। अतः, तीनों का एक ही अर्थ है। बालि ने छोटे भाई सुग्रीवजी की स्त्री को पत्नी बनाया। यथा—"हरि लीन्हेसि सर्वस अरु नारी। (कि० दो० ५)। छोटे भाई की स्त्री कन्या के समान है। यथा—"अनुजवधू भगिनी सुत नारी सुनु सठ कन्या सम ये चारी ॥" (कि० दो० ८)।

बालि के मरने पर सुग्रीवजी ने भी बालि की स्त्री तारा को अपनी स्त्री बनाया। बड़े भाई की स्त्री भी माता के समान है। यथा—"तात तुम्हारि मातु बैदेही।" (अ० दो० ७३)। इसी तरह विभीषणजी ने भी मंदोदरी को अपनी स्त्री बनाया था। यह भी इनकी माता के तुल्य थी। कन्या और माता पर कुदृष्टि का पाप बराबर है। फिर भी श्रीरामजी ने इन दोनों के अवगुणों पर भूलकर भी ध्यान नहीं दिया, क्योंकि वे इनके पूर्व की हृदय की नीकी (अच्छाई) का बार-बार स्मरण करते थे। इनके हृदय की निकाई—यथा—सुग्रीव—"सुख-सम्पति-परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई ॥" (कि० दो० ६) तथा—विभीषण—"उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु-पद-प्रीति-सरित सब बही ॥ अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु ···" (सु० दो० ४८)। इन दोनों को श्रीरामजी ने अपनी प्रसन्नता से राज्य दिया, फिर राज्य-मद-संसर्ग से 'कुचालि' एवं 'करतूत' दोनों की बिगड़ी, पर हृदय की निकाई नहीं गई थी। अतः, उपर्युक्त नियम से उसे नहीं देखा।

'ब्याध जिमि'—ब्याधा छिपकर पक्षियों को मारता है, वैसे रामजी ने बालि का वध किया। अपने जन के लिये गाली तक सुनी। यथा—"हत्यो बालि सहि गारी।" (वि० ११६)। जैसे सुग्रीव आदि के दोष न देखे, वैसे मेरी 'ढिठाई-खोरी' भी नहीं देखेंगे।

'ते भरतहिं भेटत ···' श्रीभरतजी से मिलते समय सम्मान—"ये सब सखा सुनहुँ मुनि मेरे।" से "भरतहुँ ते मोहि अधिक पियारे ॥" (उ० दो० ७) तक तथा—"राम सराहे भरत उठि, मिले राम सम जानि।" (दोहावली १०८) में यह भी भाव है कि चौदह वर्ष पर श्रीरामजी श्रीभरतजी से मिले थे। संभव था, उस समय सुग्रीव आदि को भूल जाते, पर श्रीरामजी ने उस समय भी इनके सम्मान पर दृष्टि रक्खी। इस हार्दिक प्रीति से उपर्युक्त 'सपनेहुँ सो न राम हिय हेरी' की पुष्टि है।

'राज-सभा रघुबीर ···' यथा—"तब रघुपति सब सखा बुलाये।" ··से—"मोरे अधिक दास पर प्रीती ॥" (उ० दो० १५) तक। 'राज-सभा'—सभा के समक्ष में कही हुई बात अधिक प्रामाणिक होती है।

सम्बन्ध—सुग्रीव-विभीषण की बहिरंग चूक की क्षमा कहकर अब अन्य वानरों के (बहिरंग) अपराध कहते हैं। इन्होंने तो श्रीरामजी ही का अपराध किया है—

दोहा—प्रभु तरु तर कपि डार पर, ते किय आप समान ।
तुलसी कहूँ न राम से, साहिब सील-निधान ॥
राम निकाईं रावरी, है सबही को नीक ।
जौं यह साँचो है सदा, तौ नीको तुलसीक ॥

शब्दार्थ—सील = हीन दीन-मलिन से घृणा न करके आदर करना । यथा—'हीनैर्दीनैर्मलीनैश्च बीभत्सैः कुत्सितैरपि । महतो छिद्रसंश्लेषं सौशील्यं विदुरीश्वराः ॥" (श्रीभगवद्गुणदर्पण) । तुलसीक = तुलसी को ।

अर्थ—स्वामी श्रीरामजी तो पेड के नीचे रहते हैं और बंदर डाल पर ! (कहाँ मर्यादापुरुषोत्तम चक्रवर्त्तिकुमार और कहाँ पशु-योनि बंदर, फिर भी बेअदब इतने कि सिर के ऊपर चढ़कर बैठे ।) उनको भी आपने अपने बराबर किया श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरामजी के समान शील-निधान स्वामी कहीं भी नहीं है ॥ हे श्रीरामजी ! आपकी भलाई सभी को अच्छी है । यदि यह सदा सच है तो तुलसीदास के लिये भी अच्छी ही होगी ॥

विशेष—(१) 'प्रभु तरु तर कपि डार पर...' वानर-भालू भी बेअदबी के कारण चूके हैं । श्रीरामजी ने इनके भी दोषों पर ध्यान नहीं दिया । केवल हृदय की निकाई ही देखते रहे कि जो इनलोगों ने प्रीतिपूर्वक रामकार्य करने में शरीर तक का छोह नहीं किया । यथा—'रामकाज लयलीन मन, बिसरा तनुकर छोह ।" (उ० दो० ११), *"ममहित लागि जनम इन्ह हारे ।"* (उ० दो० ७); "प्रेम-मगन नहिं गृह कै इच्छा ।" (लं० दो० ११७); इत्यादि ।

'ते किय आप समान'—(क) यथा—"आप सरिस कपि अनुज पठावउँ ।" (लं० दो० १०५) । यहाँ वचन से अपने तुल्य कहा है । (ख) सखा बनाया, फिर अपने तुल्य रूप भी दिया । यथा—"ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे ।" "हनुमदादि सब बानर बीरा । धरे मनोहर मनुज-सरीरा ॥" (उ० दो० ७) । (ग) कीर्त्ति भी अपने समान दी—*"मोहिं सहित सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जो गाइहैं । संसार-सिंधु* अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं ॥" (लं० दो० १०६) । अत, श्रीरामजी के समान शील-निधान कोई स्वामी नहीं है । यहाँ तक दिखाया कि जैसे मेरी 'ढिठाई खोरी' पर स्वप्न में भी ध्यान नहीं दिया, प्रत्युत साकेत में बखान किया, उसकी पुष्टि के लिये सुग्रीव-विभीषण और वानरों का दृष्टान्त दिया कि इनकी भी 'ढिठाई-खोरी' को स्वप्न में भी नहीं देखा और राजसभा में बखान (बड़ाई) किया है । अत, और भक्तों को भी उपदेश है कि श्रीरामजी हृदय की 'निकाई' से रीझते हैं ।

(२) 'राम निकाई रावरी ..' सेवक का अपराध नहीं देखना—यह 'निकाई' है । यथा—'जन-अवगुन प्रभु मान न काऊ । दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ ॥" (उ० दो० १), "जनगुन अलप गनत सुमेरु करि अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन ॥" (वि० २०६) । यही इस दोहे भर में दिखाते आये कि सभी का भला होता है—"रावरी भलाई सबही की भली भई ।" (वि० २५२) । इसी नियम एवं स्वभाव से तुलसी का भी भला हुआ एवं होगा । यथा—' लहइ न फूटी कौड़िहू, को चाहै केहि काज । सो तुलसी महँगो कियो, राम गरीबनिवाज ॥" (दोहावली १०८); "मेरो भलो कियो राम आपनी भलाई ॥' (वि० ७२) ।

येहि बिधि निज गुन दोष कहि, सबहिं बहुरि सिर नाइ।
बरनउँ रघुबर-बिसद जस, सुनि कलिकलुष नसाइ ॥२६॥

अर्थ—इस तरह अपने गुण-दोष कहकर और सबको सिर झुकाकर श्रीरघुनाथजी के निर्मल यश का वर्णन करता हूँ जिसके सुनने से कलियुग के पाप नष्ट होते हैं।

विशेष—'निजगुन दोष'—यथा—'तुलसी राम कृपालु सों, कहि सुनाव गुन दोष। होइ दूबरी दीनता, परम पीन सन्तोष ॥" (दोहावली ६६)। सन्तोष इस गुण-दोष कथन के लाभ का परिणाम है। 'गुन'—"है तुलसी के एक गुन, अवगुननिधि कहैं लोग। भलो भरोसो रावरो, राम रीझबे जोग॥" (दोहावली ८५) अर्थात् मैं श्रीरामजी का हूँ और उन्हीं की कृपा का भरोसा है। यही गुण है, यही ऊपर—"सठ सेवक की प्रीति रुचि, रखिहहिं राम कृपालु।"—से "तौ नीको तुलसीक॥" तक कहा गया। साथ-साथ—"को जग मंद मलिन मन मोते।"—'सठ सेवक' 'अति बड़ि मोरि ढिठाई खोरी।' पूर्व भी—'जो अपने अवगुन सब कहऊँ।' (दो० ११) इत्यादि दोष भी कहे हैं। अपना गुण इसलिये कहा कि वह श्रीरामजी के प्रसन्न करने योग्य है। 'सुनि कलि-कलुष नसाइ'—यथा—"बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा॥" (दो० ३४); "कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।" (दो० १०)। 'सबहिं बहुरि सिर नाइ।' प्रथम सबकी वंदना कर चुकने पर नाम की बड़ाई की; फिर रूप को माथा नवाकर उसी की बड़ाई की—'करिहउँ नाइ राम-पद माथा।' (दो० १७)। फिर यहाँ लीला की बड़ाई कहने के लिये सबको सिर नवाते हैं, ऐसे ही आगे धाम की बड़ाई कहने के लिये भी—"पुनि सबहीं बिनवउँ कर जोरी।" (दो० ३३) कहा है।

अपनी दीनता एवं श्रीरामगुणवर्णन-प्रकरण समाप्त

जागबलिक जो कथा सुहाई। भरद्वाज मुनिबरहिं सुनाई॥१॥
कहिहउँ सोइ संबाद बखानी। सुनहु सकल सज्जन सुख मानी॥२॥

अर्थ—(यहाँ से मानस-परंपरा कहते हैं—) श्रीयाज्ञवल्क्य मुनि ने जो शोभायमान कथा मुनि-श्रेष्ठ भरद्वाजजी को सुनाई है॥१॥ वही संवाद मैं बखान कर कहता हूँ, हे सब सज्जनो! सुख-पूर्वक सुनिये॥२॥

विशेष—इस ग्रंथ में चार संवाद चार घाट-रूप में हैं, चारों के प्रथम बीज कहकर, पीछे संवाद कहते हैं।

(१) श्रीगोस्वामीजी और सज्जन-संवाद का बीज—"तेहि बल मैं रघुपति-गुनगाथा। कहिहउँ नाइ राम-पद माथा॥" (दो० १२); संवाद का प्रारंभ—"कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई॥" (दो० ३४)।

(२) याज्ञवल्क्य और भरद्वाज-संवाद का बीज—"जागबलिक जो कथा सुहाई। भरद्वाज ···"; प्रारंभ—"कहउँ जुगल मुनिवर्य कर, मिलन सुभग संवाद॥" (दो० ४१)।

(३) शिव-पार्वती संवाद का बीज—"कीन्हि प्रश्न जेहि भाँति भवानी। जेहि विधि संकर कहा बखानी ॥" (दो० ३२), प्रारंभ—"कहउँ स्वमति अनुहारि अब, उमा-संभु-संवाद।" (दो० ४७)।

(४) भुशुंडी-गरुड़ संवाद का बीज—"सुनु सुभ कथा भवानि···कहा भुसुंडि बखानि, सुना विहँगनायक गरुड़ ॥" (दो० १२०)। प्रारंभ—उत्तरकांड दो० ६३ से किया गया है।

इन चारों घाटों के वर्णन आगे आवेंगे। ये चारो क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर के घाट हैं। ग्रंथकार यहाँ दक्षिण घाट से इस मानस-सर में प्रवेश करते हैं।

संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा ॥३॥
सोइ सिव काग भुसुंडिहि दीन्हा। राम-भगत अधिकारी चीन्हा ॥४॥
तेहि सन जागबलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा ॥५॥

अर्थ—श्रीशिवजी ने यह शोभायमान चरित रचा, फिर कृपा करके पार्वतीजी को सुनाया ॥३॥ वही चरित शिवजी ने कागभुशुंडीजी को श्रीराम-भक्त और अधिकारी, जानकर दिया ॥४॥ उन (काक-भुशुंडीजी) से याज्ञवल्क्यजी ने पाया और फिर उन्होंने इसे भरद्वाजजी से कहा ॥५॥

विशेष—'संभु कीन्ह यह ·····' ऊपर 'कथा सुहाई' कहा था, यहाँ 'चरित सुहावा' स्त्रीलिंग और पुल्लिंग दो प्रकार से कहा, क्योंकि आगे १ दोहे में कथा-रूप में और फिर १ दोहे में चरितरूप में माहात्म्य कहेंगे, उसका बीज यहाँ परंपरा में भी जनाया।

जैसे शिवजी ने उमा को और याज्ञवल्क्यजी ने भरद्वाज को दिया—यह लिखा, वैसे काकभुशुंडीजी का गरुड़जी को देना नहीं लिखा, क्योंकि इनका संवाद उत्तरकांड में है। उमा को कृपा करके सुनाना कहा गया है, क्योंकि स्त्री होने से वे अनधिकारिणी थीं, यथा—"जदपि जोषिता अनअधिकारी। दासी मन-क्रम-वचन तुम्हारी॥ गूढ़उ तत्त्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं॥ अति आरत पूछउँ सुरराया।" (दो० १०१), अर्थात् दासी और आर्त्त होने से शिवजी ने इनपर कृपा करके सुनाया। यह भी सूचित किया कि ईश्वर के कृपापात्र भी अधिकारी ही हैं।

(२) 'सोइ सिव काग ·····' यहाँ भी राम-भक्त और अधिकारी पहचान कर देना कहा है, क्योंकि शाप होने के पीछे चरित की प्राप्ति हुई। भुशुंडीजी चांडाल पक्षी के रूप में अनधिकारी थे। यथा—"देखु गरुड़ निज हृदय विचारी। मैं रघुवीर-भजन अधिकारी॥ सकुनाधम सब भाँति अपावन।" (उ० दो० १२२)। अतः, लोमश के द्वारा परीक्षा लेकर सच्चा राम-भक्त जानकर दिया। भक्त चाहे किसी योनि में हो, उसे अधिकार है। यथा—"ताकहँ यह बिसेष सुखदाई। जाहि प्रान-प्रिय श्रीरघुराई॥" (उ० दो० १२७)।

शंका—भुशुंडीजी को तो लोमशजी से राम-चरित मिला है। उ० दो० ११०-११२ में इसकी विस्तृत कथा भी है। फिर यहाँ शिवजी ने दिया, यह क्यों कहा गया ?

समाधान—शिवजी ने भुशुंडीजी को आशीर्वाद दिया था — पुरी-प्रभाव अनुग्रह मोरे। राम-भगति उपजिहि उर तोरे॥" (उ० दो० १०९)। इस वरदान के अनुसार भक्ति के भाव इनमें आ गये, तब शिवजी के भी अंतर्यामी श्रीरामजी ने लोमश-रूप द्वारा परीक्षा ली, जब सच्चे निकले, तब

मुनि-द्वारा श्रीरामचरितमानस इन्हें मिला। उसी समय लोमशजी ने कह भी दिया—"संभु-प्रसाद तात मैं पावा ॥ तोहिं निज भगत राम कर जानी। ताते मैं सब कहेउँ बखानी॥" (४० दो० ११२)।

श्री भुशुंडीजी को अनेक जन्मों की सुधि भी है। अतः, यह बात जानते हैं कि शिवजी ने भक्ति दी और उस भक्ति को देखकर ही लोमशजी ने 'मानस' दिया और भी कहा कि यह शिवजी का दिया हुआ है, जो मैं तुम्हें देता हूँ। अतः, शिवजी का देना सिद्ध है, क्योंकि दाता चाहे स्वयं दे अथवा दूसरे के द्वारा दे, दोनों रीतियाँ हैं। इसीसे यहाँ 'दीन्हा' लिखा है, सुनाना या कहना नहीं; क्योंकि सुनाने-कहने मे श्रोता-वक्ता का समीप होना पाया जाता है। शिवजी का दिया हुआ जानकर उनमें गुरु-भाव सहित भुशुंडीजी का उनके साथ रहना भी पाया जाता है। गीतावली बा० पद १४ में 'संग सिसु शिष्य' कहा है।

श्री पार्वतीजी का किसी को देना या सुनाना नहीं कहा गया, अतः वे परंपरा में नहीं हैं। शिवजी से भुशुंडीजी और उनसे याज्ञवल्क्यजी को मिला, फिर याज्ञवल्क्य ने जब भरद्वाज को सुनाया तब साथ में बहुत ऋषियों ने भी सुना, जिनसे औरों को प्राप्त हुआ।

श्री भरद्वाजजी पूर्ण अधिकारी हैं, अतः इनमें अधिकार-हेतु नहीं कहा गया।

ते श्रोता बकता समसीला। सवदरसी जानहिं हरिलीला॥६॥
जानहिं तीनि काल निज ग्याना। करतल - गत आमलक - समाना॥७॥
औरउ जे हरि-भगत सुजाना। कहहिं सुनहिं समुझहिं बिधि नाना॥८॥

अर्थ—वे सुनने और कहनेवाले समान चरित्र वाले हैं, सर्वज्ञ हैं और हरिलीला को जानते हैं॥६॥ अपने ज्ञान से तीनों कालों (भूत, भविष्य और वर्त्तमान) का हाल हथेली में प्राप्त आँवले के समान जानते हैं॥७॥ और भी जो सुजान हरिभक्त हैं, वे अनेक प्रकार से कहते, सुनते और समझते हैं॥८॥

विशेष—(१) 'ते श्रोता बकता…' यहाँ समशीलता ग्रंथकार ने अक्षरों से भी दिखा दी है, क्योंकि पूर्व शिव आदि वक्ताओं के ही नाम प्रथम आये हैं, वैसे ही याज्ञवल्क्य के पीछे भरद्वाज भी कहे गये हैं, पर यहाँ श्रोता पद ही प्रथम दिया है। अतः, दो बार में हेर-फेर से तुल्यता दिखाई है। सर्वज्ञ हैं, इसीसे हरिलीला भी जानते हैं, अथवा दोबार 'जानहिं' के प्रयोग से अनुभवात्मक लीला का भी जानना है।

(२) 'जानहिं तीनि काल…' उपर्युक्त 'सबदरसी' से संदेह था कि वर्त्तमान काल ही जानते होंगे, इसलिये यहाँ 'तीनि काल' भी कहा गया। 'निज ग्याना' अर्थात् अपने ज्ञान-बल से जाना। जैसे व्यासजी के वर से संजय की दिव्य-दृष्टि महाभारत में कही गई है, वैसा ज्ञान नहीं। 'आमलक समाना'—हथेली पर आँवला रखने से वह पूर्णरूप से दिखाई देता है। उसी तरह तीनों काल की बातें उनके लिये प्रत्यक्ष-सी थीं। अयोध्याकांड में—"गुरु बिबेक-सागर जग जाना। जिन्हहिं बिस्व करबदर समाना॥" (दो० १८१) कहा है। आँवला पथ्य और बदरी फल कुपथ्य है। यथा—"धात्रीफलं सदा पथ्यं कुपथ्यं बदरीफलम्।" प्रसिद्ध है। दो जगह दो प्रकार से कहने का भाव यह है कि तीनों कालों पर दृष्टि रखना पथ्य और संसार पर दृष्टि रखना कुपथ्य है एवं निष्काम कर्मकांडी संसार को पथ्य और ज्ञानी कुपथ्य समझते हैं।

(३) 'औरउ जे हरि…' अर्थात् भरद्वाज से और-और हरिभक्तों ने सुना, क्योंकि यहाँ तो प्रति संवत् सत्संग होता ही रहता है। क्रमशः यह श्री गोस्वामीजी के गुरु महाराज तक आया। यह आशय भी गर्भित है। प्रथम मुख्य-मुख्य वक्ता-श्रोताओं के नाम देते आये। अब बहुत हो गये। अतः, नाम नहीं देते।

'कहहिं सुनहिं'···' भक्त लोग श्रोता से कहते, वक्ता से सुनते और श्रोता-वक्ता के अभाव में समझते हैं। नाना विधि की शंकाएँ प्रकट करके समझौता करते हैं, यद्यपि सुजान हैं, फिर भी 'मानस' शिवजी का बनाया हुआ है। अतः, गंभीर है, इसीसे नाना विधियों से समझना पड़ता है। यहाँ तक श्रोता-वक्ता को समशील एवं सुजान कहते आये। आगे गुरु के समक्ष में स्वयं श्रोता होंगे, तब अपनेको न्यून कहेंगे, क्योंकि गुरु से न्यूनता ही चाहिये।

दोहा—मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकरखेत।
समुझी नहिं तसि बालपन, तब अति रहेउँ अचेत॥
श्रोता-बकता ज्ञान-निधि, कथा राम कै गूढ़।
किमि समुझउँ मैं जीव जड़, कलिमल ग्रसित बिमूढ़॥३०॥

शब्दार्थ—सूकरखेत=वाराह क्षेत्र जो सरयू घाघरा के संगम-स्थल पर श्री अवध से बारह कोस पश्चिम है। तसि=यथार्थ या जैसा उपर्युक्त श्रोताओं ने समझा।

अर्थ—फिर मैंने उस कथा को वाराहक्षेत्र में अपने गुरुजी से सुना। उस समय मैं बालकपन के कारण अत्यंत अचेत था। इसीसे वह वैसी (भली भाँति) समझ में नहीं आई, (जैसी औरों ने समझी थी)॥ श्री रामजी की कथा गूढ़ है, इसके श्रोता और वक्ता ज्ञान-पूर्ण होने चाहिये, मैं कलिमल का ग्रसा हुआ और अत्यन्त मूर्ख, जड़ जीव कैसे समझ सकूँ?॥३०॥

विशेष—(१) भरद्वाजजी तक उत्तम, हरिभक्त सुजान आदि मध्यम और यहाँ निकृष्ट श्रोता कहते हैं। तब मैं 'अति अचेत' था, भाव अचेत तो अब भी हूँ, जिसे आगे 'कलिमल-ग्रसित' आदि से व्यक्त किया है। अपने गुरु का किसी से मानस पढ़ना नहीं कहा, क्योंकि वे शिष्य के भगवान् हैं। यथा—"तुम ते अधिक गुरहिं जिय जानी॥" (अ० दो० ११८)। अतः, किसी का शिष्य होना प्रत्यक्ष में नहीं कहा, आशय से उपर्युक्त 'औरउ जे'···'में जनाया है।

(२) 'कथा राम कै गूढ़' अर्थात् गंभीर आशय वाली कथा। यथा—"उमा राम-गुन गूढ़, पंडित मुनि पावहिं बिरति। पावहिं मोह बिमूढ़, जे हरिबिमुख न धर्मरति॥" (आ० दो० १)।

तदपि कही गुरु बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा॥१॥
भाषाबद्ध करबि मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई॥२॥
जस कछु बुधि-बिबेक-बल मेरे। तस कहिहउँ हिय हरि के प्रेरे॥३॥

अर्थ—तो भी श्रीगुरुमहाराज ने बारंबार कथा कही, तब बुद्धि के अनुसार कुछ समझ पड़ी॥१॥ उसी को मैं भाषा (निबंध=काव्य) में रचूँगा, जिससे मेरे मन को पूरा बोध होता रहे (या हो)॥२॥ मुझमें बुद्धि-विवेक का जैसा कुछ बल है, वैसा ही मैं हृदय में (स्थित) हरि की प्रेरणा से कहूँगा॥३॥

विशेष—(१) 'तदपि कही···' ग्रंथकार का कहना है कि श्रीगुरुजी ने मेरे न समझने पर भी मुझे जड़ जानकर त्याग नहीं किया, प्रत्युत बारंबार समझाया। अतः, गुरुजी को ज्ञाननिधि एवं परम दयालु जनाया। ऐसे गुरु हों, तो कैसा भी शिष्य रहे, बोध करा ही देते हैं। ग्रंथकार की बुद्धि थोड़ी थी; अतः, कुछ समझ पड़ा तो जगत्-भर का उपकार हुआ, मति भारी होती और यथार्थ समझते तो क्या होता? 'बारहि बारा' से १२+१२=२४ बार भी ध्वनितार्थ लिया जाता है अर्थात् गुरुजी ने मुझे २४ बार समझाया तो कुछ समझ पड़ा ; क्योंकि गायत्री के २४ अक्षरों का विवरण ही रामायण है।

(२) 'भाषाबद्ध करबि···' 'सोई' अर्थात् जो गुरुजी से संस्कृत में पढ़ा था, उसे ही भाषा में बनाऊँगा।

शंका—गुरुजी के पढ़ाने से प्रबोध नहीं हुआ तो क्या स्वयं रचने से होगा?

समाधान—आगे भूल जाने का भय नहीं रहेगा। गूढ़ विषय है, लिखा रहने से बार-बार देखने से हृदयस्थ रहेगा। उसीसे प्रकर्ष बोध रहेगा, यहाँ का प्रकर्ष बोध तत्त्वत्रय-सम्बंधी है आगे—'निज संदेह मोह भ्रम हरनी।' से स्पष्ट होगा। उसे बारंबार मनन करने की आज्ञा शास्त्र में है। यथा—"आप्रयाणात्तत्रापि हि दृष्टम्।" (ब्र० सू० ४।१।१२) तथा—"तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च।" (गीता ८।७); पुनः यथार्थ समझना भी तभी कहा जाता है, जब दूसरों को समझा सके। तभी अपने हृदय को सांत्वना (तसल्ली) होती है, प्रबोध का अर्थ तसल्ली भी होता है।

यहाँ 'मन प्रबोध' ग्रंथ के उपक्रम में 'स्वांतः सुखाय' और अंत में 'स्वान्तस्तमः शान्तये' कहा गया है—यही ग्रंथकार का प्रयोजन है। अंत. का अर्थ मन है। जब तत्त्वत्रय का बोध होता है, तभी मन में सुख एवं शांति आती है।

(३) जस कछु बुधि···' ग्रंथकार 'कछु' कह रहे हैं, यह कार्पण्य है, क्योंकि इन्हें बुद्धि-विवेक का पूर्ण बल प्राप्त है। यथा—"जनकसुता·· जासु कृपा निर्मल मति पावउँ॥" (दो० १०) तथा—"संभु-प्रसाद सुमति हिय हुलसी।" (दो० १५) अर्थात् श्रीजानकीजी से और शिवजी से बुद्धि-बल प्राप्त है। तथा—"गुरु-पदरज मृदु मंजुल अंजन।···तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनउँ राम-चरित भव-मोचन॥" (दो० १) अर्थात् गुरु प्रसाद से विवेक बल प्राप्त है। फिर भी हरि-प्रेरणा का बड़ा बल है। यथा—"*तस कहिहउँ हिय हरि के प्रेरे॥*" *तथा—"उरप्रेरक रघुबंसबिभूषन।" (उ० दो० ११२) । हरि-प्रेरणा से सरस्वतीजी* वश हो जाती हैं, यथा—"सारद दारुनारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतर्यामी॥ जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कवि-उर-अजिर नचावहिं बानी॥" (दो० १०४)

निज संदेह-मोह-भ्रम-हरनी। करउँ कथा भवसरिता-तरनी ॥४॥

अर्थ—अपने संदेह, मोह और भ्रम को हरनेवाली और संसार रूपी नदी के लिये नाव-रूपी कथा रचता हूँ। (यहाँ से २५ स्त्रीलिंग और २८ पुँल्लिंग विशेषणों के द्वारा कथा-माहात्म्य कहते हैं)।

विशेष—यहाँ 'संदेह, मोह और भ्रम'—तीनों एक साथ कहे गये हैं, अन्यत्र ये पर्यायी भी माने जाते हैं। पर यहाँ तीनों तीन लक्ष्यों पर कहे गये हैं। अतः, ठीक है।

'संदेह'—अर्थात् संशय, किसी वस्तु के ज्ञान में द्विविधा होना, जैसे श्रीरामजी को परब्रह्म मानकर श्रीशिवजी ने प्रणाम किया और पार्वतीजी की चरित की दृष्टि से रामजी मनुष्य जान पड़े। अतः, संदेह हो

गया कि शिवजी ईश हैं, इनका निश्चय अन्यथा कैसे हो ? पर मुझे तो रामजी मनुष्य ही दीखते हैं। यथा—"सती सो दसा संभु कै देखी। उर उपजा संदेह बिसेषी ॥" (दो० ४१)। फिर वहीं पर कहा—"अस संसय मन भयेउ अपारा।" शिवजी ने भी कहा—"संसय अस न धरिय उर काऊ।" और समझाया भी कि श्रीरामजी परब्रह्म हैं। न मानने पर भी शिवजी ने कहा—"जौं तुम्हरे मन अति संदेहू। तौ किन जाइ परीछा लेहू ॥" इसपर सतीजी ने ईश्वरता की ही परीक्षा ली। फिर दूसरे शरीर से कैलाश-प्रकरण सुनकर ईश्वर-रूप का निश्चय होने पर कहा—"तुम कृपाल सब संसय हरेऊ। राम-सरूप जानि मोहिं परेऊ ॥" (दो० ११९)। रामायण-उपसंहार पर भी गिरिजा का वचन है—"नाथ कृपा मम गत संदेहा। राम-चरन उपजेहु नव नेहा ॥" (उ० दो १२८)। अतः, संदेह का अर्थ ईश्वर के स्वरूप ज्ञान में द्विधा है।

'मोह' का अर्थ अपने (जीव) स्वरूप में अज्ञान होना है, जिससे अपने को देह ही मानना और इन्द्रियाभिमानी होकर दसो इन्द्रियों के भोक्ता होने में दशमुख-रूप होना है। यथा—"मोह-दसमौलि···" (वि० ५८)।

'भ्रम' का अर्थ अचित् (माया) तत्त्व में अनिश्चय होना अर्थात् ब्रह्म के शरीर-रूप जगत् में नानात्व सत्ता का भ्रम होना है—"रज्जौयथाऽहेर्भ्रमः" पर यह लिखा गया, आगे—"जासु सत्यता तें जड़ माया।···भ्रम न सकइ कोउ टारि ॥" (दो० ११७) पर भी कहा जायगा।

अतः, यहाँ संदेह, मोह और भ्रम क्रमशः ब्रह्म, जीव और माया के विषय में कहे गये हैं। इन्हीं तीनों (तत्त्वत्रय) का ज्ञान 'प्रकर्षबोध' कहा जाता है और इसी से 'भव' का भी नाश होता है। यह कथा का मुख्य गुण प्रथम कहकर तब और सामान्य गुण कहेंगे।

भव को अन्यत्र 'भवसागर' रूप कहा जाता है, यहाँ 'सरिता' ही कहा, क्योंकि कथा के समक्ष यह साधारण नदी-सा रह जाता है और कथारूपी नाव से शीघ्र ही उसका पार मिल जाता है।

बुध - बिश्राम सकल-जन-रंजनि। रामकथा कलि-कलुष-बिभंजनि ॥ ५ ॥
रामकथा कलि-पन्नग - भरनी। पुनि बिबेक-पावक कहँ अरनी ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—पन्नग = साँप। भरनी = मयूरनी; यथा—'भरणी मयूरपत्नी स्यात्' (मेदिनीकोश)। अरनी = अरणि, काठ का बना एक यंत्र, जिससे यज्ञ में आग प्रकट की जाती है।

अर्थ—राम-कथा पंडितों के लिये विश्रामरूपा, सब प्राणियों को आनंद देनेवाली और कलि के पापों का नाश करनेवाली है ॥ ५ ॥ रामकथा कलि-रूपी साँप के लिये मोरनी के समान है और विवेकरूपी अग्नि के (उत्पन्न करने के) लिये अरणी है ॥६॥

विशेष—(१) 'बुध-बिश्राम···' जो पंडित वेद-शास्त्र पुराणादि पढ़ते हुए थक जाते हैं, पर यथार्थ तत्त्व-ज्ञान नहीं प्राप्त होता, वे इस ग्रंथ में तत्त्वार्थ का निश्चय कर विश्राम पावेंगे, क्योंकि इसमें—"श्रुति-सिद्धान्त निचोरि।" (दो० १०९) कहा है तथा इसमें पुराण श्रुति का सार श्रीराम-नाम का यश कहा गया है। यथा—"येहि महँ रघुपति-नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा ॥" (दो० ९)। उसमें निष्ठा प्राप्त कर 'बुध लोग' और सबको छोड़कर विश्राम ले लेते हैं। यथा—"विश्रामस्थानमेकं कविवर-वचसां,······भूतये राम-नाम ॥" (हनुमन्नाटक)। प्रायः जहाँ बुद्धिमानों का विश्राम होता है, वहाँ 'सकल जन रंजन' नहीं होता, पर इस कथा में दोनों का हित है।

'कलि-कलुष··· ' इसमें 'बि-भंजनि' अर्थात् कथा कलि के पापों को विशेष रीति से नष्ट करती है, जिससे वह फिर पनप नहीं सके। अन्यान्य सुकृतों से पाप नष्ट होते हैं, फिर बढ़ते भी हैं। यथा—"करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं। रक्तबीज सम बाढ़त जाहीं॥" (वि० १२८)। यहाँ कलि का कार्य-रूप कलुष नाश कहा, आगे चौ० में कलि (कारण-रूप) का भी नाश कहते हैं।

यहाँ तक कथा से तीनों प्रकार के जीवों का कल्याण कहा गया। 'बुध-विश्राम' से मुक्त कोटि का, 'संदेह-मोह-भ्रम हरनी', एवं 'भव सरिता-तरनी' से मुमुक्षु का और 'सकल जन रंजनि' से विषयी का हित निश्चित हुआ। यथा—"सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई।" (उ० दो० १४)।

(२) 'रामकथा कलि-पन्नग·······' मोरनी सर्प को पाते ही निगल जाती है, वैसे ही यह कथा कलि को निर्मूल करती है। अरणी देखने में काष्ठमय है, पर उसमें अग्नि भरा है, क्योंकि रगड़ने से अग्नि ही प्रकट होता है। वैसे ही यह कथा भी देखने में सर्वथा उपासना-रूपा है, पर इसके अभ्यंतर ज्ञान भरा है। अभ्यास रूपी रगड़ से प्रकट होता है। कलि और उसके पाप के रहते हुए विवेक नहीं होता। अतः, इनके नाश के पीछे विवेक का होना कहा।

राम-कथा कलिकामद गाई। सुजन - सजीवन - मूरि सुहाई॥७॥
सोइ बसुधातल सुधातरंगिनि। भयभंजनि भ्रम-भेक-भुअंगिनि॥८॥

अर्थ—श्री राम-कथा कलियुग में कामधेनु-रूपा है और सज्जनों के लिये सुंदर संजीवनी जड़ी है॥ ७॥ पृथिवी पर वही (रामकथा) अमृत की नदी है, भय का नाश करनेवाली और भ्रम-रूपी मेंढक के लिये सर्पिणी है॥ ८॥

विशेष—(१) 'राम-कथा कलि···' कलि में और धर्म लुप्तप्राय हो गये। उसमें भी यह कथा कामधेनु के समान चार फल देती है, फिर और युगों में तो इसका महत्त्व अप्रमेय है। कलि में उद्धार करनेवाली यही एक है। यथा—"कलिजुग केवल हरिगुन-गाहा। गावत नर पावहिं भवथाहा॥" (उ० दो १०२)।

कामधेनु सर्वत्र पूज्य है, इसी तरह कथा की भी पूजा करनी चाहिये।

'सुजन सजीवनि मूरि···'—यह कथा सज्जनों की जीवन-रूपा है, अत्यन्त प्रिय है। अतः, वे इसे अहर्निश सँजोये रहते हैं। यथा—"जिवनमूरि जिमि जोगवत रहेऊँ।" (अ० दो० ५८)। इसी से अविनाशी-पद पाते हैं, यही अमरत्व है।

सकामों के लिये 'कामधेनु' और निष्कामों के लिये 'सजीवन मूरि' कहा है।

(२) 'सोइ बसुधातल···'—पृथ्वी तल पर अमृत की बूँद भी अप्राप्य है, पर कथा अमृत की नदी रूपा है, क्योंकि इससे सबके जन्म-मरण छूट सकते हैं।

'भ्रम-भेक भुअंगिनि'—सर्पिणी नदी के समीप के मेढकों को खाती है। वैसे ही कथा-प्रसंग के सम्बन्ध से जो-जो भ्रम होंगे, उनका इसी से समझौता हो जायगा। ऊपर 'निज संदेह मोह भ्रम हरनी।' में माया-सम्बन्धी भ्रम का हरण कहा गया, यहाँ और-और कथा-सम्बन्धी भ्रमों का नाश कहा गया। अथवा वहाँ 'निज भ्रम' का नाश और यहाँ औरों के भ्रमों का नाश अर्थ है। अतः, पुनरुक्ति नहीं है।

असुर-सेन-सम नरक - निकंदिनि । साधु-बिबुध-कुल - हित गिरिनंदिनि ॥ ९ ॥
संत - समाज - पयोधि - रमा-सी । बिस्व - भार - भर अचल छमा सी ॥१०॥

अर्थ—जैसे श्रीपार्वतीजी ने दुर्गा-रूप से देवताओं के समाज के हित के लिये असुरों की सेना का नाश किया, वैसे यह कथा साधु-समाज के लिये नरक-समूह को निर्मूल करती है ॥९॥ संत-समाज रूपी क्षीरसागर के लिये राम-कथा लक्ष्मीजी के समान है और संसार का भार धारण करने को अचल पृथ्वी के तुल्य है ॥१०॥

विशेष—(१) 'असुर-सेन-सम''' पार्वतीजी ने असुर-सेना का संहार किया। यथा—"जमुख-हेरंबअम्बासि जगदम्बिके !'''चंड भुज दंड-खंडनि बिहंडनि मुंड महिष मद भंग करि अंग तोरे। शुंभनि शुंभ कुंभीशरणकेसरिणि, क्रोधवारिधि वैरि बृन्द बोरे ॥" (वि० १५)। इसी प्रकार यह कथा भक्तों के लिये नरकसमूह का नाश करती है। पार्वतीजी गिरिनंदिनी हैं। वैसे कथा भी 'पुरारि-गिरि संभूता' है। उमा से देवताओं के साथ औरों का भी हित हुआ। वैसे कथा से साधुओं के साथ औरों का भी हित होता है। जैसे असुरों की सेना बहुत है, वैसे नरक भी शास्त्रों में २८ प्रकार के कहे गये हैं। उन एक एक का विस्तार बहुत है। असुरों से प्राणियों को पीड़ा पहुँचती है, वैसे नरकों से भी। असुरों का रूप भयंकर और घृणित है, वैसे नरकों का भी। 'असुरसेन' का अर्थ गयासुर भी किया जाता है, पर उसमें लिंग-दोष एवं अप्रसिद्धि दोष भी है, क्योंकि वह पुँल्लिंग है और यहाँ कथा की सब उपमाएँ स्त्रीलिंग ही हैं और इसका 'गयासुर' अर्थ कोषों की छानबीन से ही मिलता है। जहाँ साधारण अर्थ में असंगति होती हो, वहाँ ही इतनी दौड़ लगाने की रीति है। ग्रंथकार की 'सरल कवित कीरति-बिमल' (दो० १४) की प्रतिज्ञा भी है।

(२) 'संत-समाज-पयोधि-रमा-सी।'—क्षीरसागर श्वेत वर्ण है, वैसे संत समाज शुद्ध सत्त्वगुणी है। क्षीरसिंधु से लक्ष्मी प्रकट हुईं, लक्ष्मीजी के संबंध से भगवान् भी वहीं रहते हैं। वैसे कथा भी संत-समाज से प्रकट हुई और वहीं रहती है, यथा—"बिनु सतसंग न हरि-कथा।" (उ० दो० ६१) और कथा के संबंध से भगवान् भी संतों के हृदय में रहते हैं। लक्ष्मीजी क्षीरसिंधु की सर्वस्व-रूपा हैं, वैसे ही कथा भी—'सन्तन को सर्वस' कही गई है।

'बिस्व-भार-भर'' '—यद्यपि पृथ्वी अचला-सी है, तथापि प्रलय आदि कारणों से चलायमान होती है, पर कथा सप्तर्षि एवं शिव आदि के हृदय में निवास होने से सदा अचल रहती है, यह अधिकता है। पृथ्वी की तरह कथा भी संसार के धर्मों की आधारभूता है। यहाँ पार्वती और 'रमा' की उपमा तो दी, पर सरस्वती की न दी, क्योंकि कथा तो वाणी-रूपा है ही। यह बात "कहत सुनत एक हर अबिबेका।" (दोहा० ११) एवं—"जौं बरषै बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकुतामनि चारू॥" (दो० १०) में कही गई है।

जम-गन-मुँह-मसि जग जमुना सी । जीवन-मुकुति-हेतु जनु कासी ॥११॥
रामहिं प्रिय पावनि तुलसी-सी । तुलसिदास-हित-हिय-हुलसी-सी ॥१२॥

अर्थ—यह कथा यमदूतों के मुख में स्याही लगाने को जगत् में यमुनाजी के तुल्य है, जीवों को मुक्ति देने के लिये मानों काशीपुरी ही है ॥११॥ श्रीरामजी को यह कथा पवित्र तुलसी के समान प्रिय है, मुझ तुलसीदास के लिये हृदय के आनन्द (उल्लास) के समान है ॥१२॥

विशेष—(१) 'जम-गन-मुँह-मसि'''—पद्मपुराण में कथा है कि कार्त्तिक शुक्ल द्वितीया को यमराज ने अपनी बहिन यमुनाजी के यहाँ भोजन किया और वर दिया कि इस दिन जो तुममें स्नान करेगा, उसे यमदूत नरक को नहीं ले जायँगे। पर श्रीगोस्वामीजी यह महत्त्व यमुना में नित्य मानते हैं। यथा—"जमुना ज्यों-ज्यों लागी बाढ़न।''' ज्यों-ज्यों जल मलीन त्यों जमगन मुख मलीन भये आढ़न।" (वि० २१)। यमदूतों के मुख में स्याही लगना यह है कि जब पापी को लेने दूत आते हैं, वहाँ उसके या उसके पास के किसी के मुख से एक-आध चौपाई रामायण की कही जाय तो तुरन्त श्रीराम-पार्षद आकर पापी को यमदूतों से छीन लेते हैं। दूत लज्जित होकर लौट जाते हैं। यही मुँह में कालिख (स्याही) लगना है। यमपुर से निवृत्त होने पर मुक्ति चाहिये। अतः, उत्तरार्द्ध में कथा को काशीरूपा कहते हैं। 'जीवनमुकुति हेतु'''' उपर्युक्त मुख्य अर्थ के अनुसार काशी मुक्ति की खान है, वैसे कथा भी मुक्ति देती है। दूसरा अर्थ यह भी होता है कि जीवन्मुक्ति की कारणरूपा कथा काशी के समान है जो जीते ही मुक्तप्राय कर देती है।

(२) 'रामहिं प्रिय पावनि''' तुलसी पवित्र है एवं प्रभु में अनन्या है। अतः, श्रीरामजी को प्रिय है, वे अर्चारूप में बराबर धारण करते हैं। तुलसी की माला भी सदा धारण करते हैं। वनमाला में तुलसी मुख्य है। यों भी—"उरन्हि तुलसिका माल।" (दो० २४३)); तथा—"अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय।" (आ० दो० ५) कहा ही है। वैसी ही रामकथा भी पवित्र है, श्रीराम ही का यश-कथन है। अतः, उनमें अनन्या भी है; यथा—"आदिकाव्यमिदं राम त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्। नह्यन्योऽर्हति काव्यानां यशोभाग्राघवादृते ॥" (वा० रा० ६८।१८) और इसी से प्रिय है। 'हुलसी सी'—कथा आनन्दरूपा एवं उल्लासरूपा है, यथा—"सुखमूल दूलहु देखि दंपति पुलक तनु हुलस्यो हिये॥" (दो० ३२१) अर्थात् मेरे हृदय के श्रीरामविषयक उल्लास का उद्दीपन करनेवाली है। कोई-कोई 'हुलसी' श्रीगोस्वामीजी की माता का नाम कहते हैं और अर्थ करते हैं कि हिय को हित करनेवाली माता के तुल्य है, पर उनकी माता का यही नाम था—इसमें सन्देह है।

सिव-प्रिय मेकल सैल-सुता-सी। सकल - सिद्धि-सुख-संपति-रासी ॥१३॥
सद्‌गुन सुरगन अंब अदिति-सी। रघुबर-भगति-प्रेम परिमिति-सी ॥१४॥

शब्दार्थ—मेकल सैल-सुता = नर्मदाजी। अदिति = देवताओं की माता। परिमिति = सीमा।

अर्थ—यह कथा शिवजी को नर्मदाजी के समान प्रिय है, सब सिद्धियों, सुखों और संपत्तियों की राशि है ॥१३॥ सद्‌गुण रूपी देवताओं को (उत्पन्न करने में) माता अदिति के समान है तथा श्रीरघुनाथजी की भक्ति और प्रेम की सीमा है ॥१४॥

विशेष—(१) 'सिवप्रिय''' शिवजी को नर्मदा नदी बहुत प्रिय है, इसी से वे नर्मदेश्वर रूप से उसमें निमग्न रहते हैं। वे अनेक रूप धारण कर नर्मदा में क्रीड़ा करते रहते हैं। नर्मदा ही की तरह शिवजी को यह कथा प्रिय है, तभी तो निर्माण करके अपने 'मानस' में ही इसे बहुत समय तक रक्खा था। पुनः इसे पूर्ण अधिकारियों को ही दिया। वे इसके अक्षर-अक्षर में निमग्न रहते हैं, यही अनेकरूपत्व है। कोई-कोई 'मेकल-सैल-सुता' का द्वन्द्व समास करके 'मेकल-सुता' (नर्मदा) और 'शैल-सुता' पार्वती—दोनों के समान प्रिय कहते हैं।

(२) 'सद-गुन सुरगन ···'– जैसे अदिति से देवताओं की उत्पत्ति हुई वैसे कथा से सद्गुणों की उत्पत्ति होती है, तथा जैसे वे देवता अमर एवं दिव्य होते हैं, वैसे कथा से प्राप्त सद्गुण भी दिव्य एवं चिरस्थायी होते हैं। जैसे अदिति ने अपने पुत्रों (इन्द्रादिकों) की रक्षा एवं उनके सुख-विधान के लिये तप करके भगवान् को वामन-रूप से प्रकट कराया था, इसी तरह कथा भी भक्तों के सद्गुणों की रक्षा के लिये उनके हृदय में भगवान् का आविर्भाव कराती है। इससे कलिमल से रक्षा होती है और सद्गुण चिरस्थायी रहते हैं।

'रघुबर-भगति'''—सद्गुणों के पीछे भक्ति कथारसिकों में प्रेम का उत्कृष्ट रूप उत्पन्न करती है, जिससे भगवान् हृदय में बसते हैं। यही सद्गुण आदि साधनों का फल है। यथा—"तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुंदर॥" (उ० दो० ४८)। 'परिमिति' का भाव यह है कि भक्ति और प्रेम का प्रतिपादक ऐसा ग्रंथ दूसरा नहीं है।

दोहा—रामकथा मंदाकिनी, चित्रकूट चित चारु।
तुलसी सुभग सनेह बन, सिय-रघुबीर बिहारु॥३१॥

अर्थ—श्री रामकथा मंदाकिनी नदी है, सुंदर एवं पवित्र चित्त चित्रकूट है। श्री तुलसीदासजी कहते हैं, सुन्दर स्नेह वन है, जहाँ श्री सीतारामजी का विहार होता है।

विशेष—मन्दाकिनी-यह नदी त्रिपथगा गंगाजी की एक धारा है जो अनसूया स्थान के पास पर्वत से निकली है और यमुना में मिली है। अनसूया स्थान चित्रकूट से पाँच कोस दक्षिण है। इसे श्री अनसूयाजी अपने वृद्ध पति अत्रि के स्नानार्थ अपने तपोबल से लाई हैं। इसकी कथा अ० दो० १३१ में है। 'सुभग सनेह' को वन कहा है, क्योंकि वन की तरह स्नेह में भी लोग भूल जाते हैं, वन में मार्ग भूलते हैं और स्नेह में मार्ग एवं देह भी भूल जाते हैं। यथा—"सराहि सनेह बिबस मग भूला।" (अ० दो० २३७)। मंदाकिनी का महत्त्व चित्रकूट के साहचर्य में विशेष है। यथा—"नदी पनच सर सम दम दाना। सकल कलुष कलि-साउज नाना॥ ···चित्रकूट जनु अचल अहेरी।" (अ० दो० १३२); वैसे 'चारु-चित्त' के चिंतन से कथा का महत्त्व विशेष है। मंदाकिनी में सब ऋतुओं में प्रवाह रहता है, वैसे कथा में सर्वत्र प्रेम-प्रवाह के गुण परिपूर्ण हैं। चित्रकूट और मंदाकिनी की शोभा वन से है, तभी श्री रामजी का मन रमा। यथा—"रमेउ राम मन देवन जाना॥" (अ० दो० १३२); वैसे सुभग स्नेह से कथा एवं चित्त की शोभा होती है और तभी 'सिय-रघुबीर बिहार' होता है अर्थात् क्रीड़ा-सहित श्री सीतारामजी चित्त में बसते हैं। फिर खल कामादि भी निकट नहीं आते, जैसे श्री रामजी के डर से राक्षस समीप नहीं आते थे।

चित्रकूट-विहार श्री सीताराम-लक्ष्मण को इतना प्रिय है कि वे गुप्त रूप से सब दिन बसते हैं। यथा—"चित्रकूट सब दिन बसत, प्रभु सिय लखन समेत॥" (दोहावली ४); वैसे 'चारु-चित्त' से कथा के सुभग स्नेही के हृदय में वे सदा विहार करते हैं।

'रघुबीर' अर्थात् वीर हैं तभी स्त्री के साथ वन में विहार करते हैं। रघुबीर से श्री राम-लक्ष्मण दोनों का अर्थ लेना भी संगत है, क्योंकि विहार-गर्भित रूपक में तीनों हैं—"राम-लखन-सीता सहित, सोहत परन-निकेत। जिमि बासव बस अमरपुर, सची जयंत समेत॥" (अ० दो० १४१)।

राम - चरित-चिंतामनि चारू। संत - सुमति-तिय-सुभग-सिँगारू ॥१॥
जगमंगल गुनग्राम राम के। दानि मुकुति धन धरम धाम के ॥२॥

अर्थ—श्रीरामचरित सुन्दर चिन्तामणि है, संतों की सुमतिरूपिणी स्त्री का सुंदर शृंगार है ॥१॥ श्रीरामजी के गुणसमूह जगत् का मंगल करनेवाले हैं और मुक्ति, धन, धर्म तथा धाम के दाता हैं ॥२॥

विशेष—(१) 'रामचरित चिंतामनि चारू।'—चिंतामनि मनमाँगे पदार्थों को देकर चित्त की चिंता मिटा देती है। यथा—"तुलसी चित चिन्ता न मिटै बिनु चिंतामनि पहिचाने।" (वि० २२५); वैसे श्रीरामचरित भी तृप्त कर चिंता मिटाता है। चिंतामणि के गुण भक्ति-रूपक में कहे गये हैं, यथा—"राम-भगति चिंतामनि सुंदर।"…से—"दुख लवलेस न सपनेहुँ ताके॥" (उ० दो० ११६) तक। इन सब गुणों को यहाँ भी जानना चाहिये। चिंतामणि में प्रधान चार गुण हैं—तम का नाश करना, दरिद्रता का हरण करना, रोग को दूर करना और विघ्नों को हटाना, वैसे इस कथा से अविद्या तम का नाश, मोह रूपी दरिद्रता का हरण, मानस रोगों का शमन और कामादि विघ्न निवारण होते हैं। चिंतामणि मणियों में श्रेष्ठ है; यथा—"चिंतामनि पुनि उपल दसानन।" (लं० दो० २५)। वैसे चरित सब धर्मों में श्रेष्ठ है। 'सुभग'—स्त्रियाँ मणि को सिर पर रखती हैं, वैसे संत इस कथा से सुमति की सर्वोपरि शोभा मानते हैं। 'चारू'—क्योंकि यह चरित भक्ति-मुक्ति भी दे सकता है।

(२) 'जगमंगल गुनग्राम…' यहाँ चारो फलों का देना सूचित किया, जैसे मुक्ति और धर्म स्पष्ट हैं और धन अर्थ का ही पर्याय है, तथा धाम अर्थात् गृह से गृहिणी समेत का तात्पर्य है, क्योंकि गृहिणी ही गृह है; यथा—"न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते॥ वृक्षमूलेऽपि दयिता यस्य तिष्ठति तद्गृहम्। प्रासादोऽपि तया हीनं कान्तार इति निश्चितम्।" (महाभारत)। अतः, काम भी आ गया।

सद्गुरु ज्ञान विराग जोग के। बिबुधबैद भव-भीम रोग के ॥३॥
जननि जनक सियराम-प्रेम के। बीज सकल ब्रत-धरम-नेम के ॥४॥

शब्दार्थ—बिबुधबैद=अश्विनी कुमार, ये सूर्य के पुत्र हैं। इन्होंने एक कुंड में बूटी आदि ओषधियाँ डालकर बूढ़े च्यवन ऋषि को स्नान कराया जिससे वे किशोर अवस्था के युवा हो गये। ये स्वर्ग के वैद्य हैं।

अर्थ—श्रीरामजी के गुण-समूह ज्ञान, वैराग्य और योग के सद्गुरु हैं और जन्म-मरण रूपी भयंकर रोग के लिये देवताओं के वैद्य अश्विनीकुमार हैं ॥३॥ श्रीसीतारामजी के प्रेम के (उत्पन्न करनेवाले) माता-पिता हैं तथा सम्पूर्ण व्रत, धर्म और नियमों के बीज हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'सद्गुरु ज्ञान…' यथा—"सद्गुरु मिले जाहिं जिमि, संसय भ्रम समुदाइ॥" (कि० दो० १६)। वैसे श्रीरामचरित ज्ञानादि सम्बंधी संशय-भ्रम के नाशक हैं और उसका यथार्थ बोध करानेवाले हैं। छोटे रोगों को छोटे वैद्य भी अच्छा कर सकते हैं, पर भव (संसार) भीम (भयंकर) रोग है, अतः, 'बिबुध-बैद' कहा।

(२) 'जननि जनक…' माता-पिता की तरह प्रेम को उत्पन्न करके फिर पालते (स्थिर रखते) भी हैं। बीज से वृक्ष होते हैं, वैसे चरित से व्रत आदि स्फुरित होते और बढ़ते हैं।

समन पाप संताप सोक के। प्रिय पालक परलोक लोक के ॥५॥
सचिव सुभट भूपति बिचार के। कुंभज लोभ-उदधि-अपार के ॥६॥

अर्थ—श्रीरामजी के गुण पाप, संताप और शोक के नाशक हैं, इस लोक और परलोक के प्रिय पालक हैं ॥५॥ विचार रूपी राजा के मंत्री और अच्छे योद्धा हैं। लोभ-रूपी अपार समुद्र सोखने के लिये अगस्त्यजी हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'प्रिय पालक'—श्रीरामजी के गुण प्रेमपूर्वक इस लोक में सुख देकर अंत में सुगति भी देते हैं। 'पाप' कारण और 'संताप-शोक' कार्य हैं, कार्य-कारण दोनों का नाश करते हैं।

(२) 'सचिव सुभट ···' राजा के सात अंग हैं, यथा—"स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च।" अर्थात् राजा, मंत्री, मित्र, कोश, देश, (भूमि) दुर्ग (किला) और सेना। इनमें मंत्री और सुभट (सेना) मुख्य हैं। मंत्री सलाह देता है, सेना रक्षा करती है। इससे राज्य स्थिर रहता है। इस प्रकार चरित में विचार मुख्य राजा है। चरित-द्वारा सद्विचारों के लक्ष्य प्राप्त होंगे और कामादि से रक्षा उदाहरणों द्वारा होगी। राजा के ये दो अंग सदा साथ रहने चाहिये। यथा—"संग सचिव सुचि भूरि भट,···" (दो० २१५)। मंत्री को चतुर और योद्धाओं को लड़ाका होना चाहिये, यथा—"नृप-हितकारक सचिव सयाना।···अमित सुभट सब समर जुझारा॥" (दो० १५१)। रामचरित में दोनों योग्यताएँ पूरी हैं।

'कुंभज लोभ···'। कुंभज=(कुंभ—ज=घड़े से पैदा) अगस्त्यजी। इन्होंने 'रामाय, रामचन्द्राय, रामभद्राय' कहकर तीन चुल्लुओं में समुद्र को पी लिया। इसी से ये 'समुद्रचुलुक' एवं 'पीताब्धि' भी कहाते हैं। लोभ लाभ के साथ-साथ बढ़ता ही जाता है। यथा—"जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई" (लं० दो० १०१)। इसलिये उसे अपार समुद्र के समान कहा। श्रीरामचरित से संतोष प्रकट होता है, उसी से लोभ सूखता है। यथा—"जिमि लोभहि सोखइ संतोषा।" (कि० दो० १५)। जैसे, समुद्र सोखने के पीछे अभी दीखता भर है, पर पीने के काम का नहीं रहा, वैसे संतोष की पूर्णता पर अनायास विभव आता भी है, पर अनासक्ति से जन्म-मरण का साधक नहीं रहता। यथा—"आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापःप्रविशन्ति यद्वत्। तद्वत्कामा यं प्रविशंति सर्वे स शांतिमाप्नोति न कामकामी॥" (गीता २।७०)।

काम कोह कलिमल करि-गन के। केहरि-सावक जन मन बन के ॥७॥
अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के। कामद घन दारिद दवारि के ॥८॥

अर्थ—(श्रीराम के गुण) भक्तजनों के मनरूपी वन में बसनेवाले कलि के विकार रूप काम, क्रोध आदि हाथियों के झुंड के (नाश करने के) लिये सिंह के बच्चे के समान हैं ॥७॥ त्रिपुरासुर के शत्रु शिवजी को अतिथि के समान पूज्य और अति प्रिय हैं। दरिद्रतारूपी दावानल के (बुझाने के) लिये कामनापूर्ण करनेवाले मेघ के समान हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'काम कोह कलि······'—ऊपर लोभ और यहाँ कामक्रोध भी कहकर तीनों कहे, क्योंकि ये तीनों नरक के द्वार हैं। यथा—"त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथालोभः" (गीता १६।२१)। ये तीनों पापरूप हैं। अतः, 'कलिमल' कहा। जिस वन में सिंह रहता है, वहाँ हाथी नहीं जाते और जाते तो मारे जाते हैं, वैसे जिस जन के मन में श्रीरामचरित रहता है, वहाँ कामादि जाते ही नहीं, यदि जायँ तो नष्ट होते हैं।

(२) 'अतिथि पूज्य प्रियतम'''' सभी अतिथि पूज्य हैं, यथा—''तस्मादेव सदापूज्यः सर्वदेवमयोऽतिथिः ॥' (हितो०)। इनमें जो श्रेष्ठ हैं वे प्रियतम पूज्य हैं अर्थात् जीवन-सर्वस्व हैं, वैसे श्रीरामचरित शिवजी का सर्वस्व है। शिवजी कामारि हैं अत, निष्काम प्रेम करते हैं। इसी से यहाँ उनके लिये फल देना नहीं कहा गया। सकामों के लिये उत्तरार्द्ध में देना कहा कि सुकृत मेघ होकर सुखरूपी जल की वर्षा करके दारिद्र्य रूपी अग्नि बुझाते हैं।

मंत्र-महामनि बिषय ब्याल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के ॥९॥
हरन मोहतम दिनकर-कर से। सेवक-सालि-पाल जलधर से ॥१०॥

अर्थ—(श्रीरामजी के गुण) विषयरूपी सर्प (का विष हरण) के लिये मंत्र और महामणि हैं, ललाट पर लिखे हुए कठिन बुरे अंकों को मेट देनेवाले हैं ॥९॥ मोहरूपी अंधकार के हरने को सूर्य-किरण के समान हैं और सेवकरूपी धान के पालनेवाले मेघ के तुल्य हैं ॥१०॥

विशेष—(१) 'मंत्र-महामनि ''' मंत्र के सुनने और मणि के धारण करने से विष उतरता है, इसी प्रकार रामजी के गुण सुने और हृदय से धारण करे तो ये हृदय की विषय-वासना हर लेते हैं, इसीलिये दो उपमाएँ दी गईं। यथा—"अहि अघ अवगुन नहिं मनि गहई। हरइ गरल ''" (अ० दो० १८३)। 'महा' पद को दीपदेहली रूप मानने से महामंत्र और महामणि अर्थ होगा, इससे मंत्र और मणि में समानता होगी।

मेटत कठिन''' विषय-सेवन के फल-स्वरूप भाल के कुअंक हैं; अत. विषय-नाश के पीछे कुअंक का मिटना कहते हैं कुअंक की कठिनता—"कह मुनीस हिमवंत सुनु, जो बिधि लिखा लिलार। देव दनुज नर नाग मुनि, कोउ न मेटनहार॥" (दो० ६८)। ये कुअंक पूर्वकृत बुरे कर्मों के फल-रूप हैं; अतः, अभाग्य भी कहे जाते हैं। यथा—"भाग है अभागहू को '''" (वि० ६९) तथा—"बाम बिधि भाल हू न कर्मदाग दागि है।" (वि० ७०); यह नाम द्वारा कहा है, वैसे रामजी के चरितों से भी जानना चाहिये।

(२) 'हरन मोहतम ' यों तो मोह का नाश होना बहुत कठिन है। यथा—"माधव ! मोह फाँस क्यों टूटै ?" (वि० ११५); पर चरित रविकिरण-रूप से बिना श्रम ही उसका नाश करते हैं। यथा—"उगेउ भानु बिनु श्रम तम नासा।" (दो० २३८)। पुनः सूर्य-किरणों से वर्षा भी होती है। यथा—"आदित्याज्जायते वृष्टि''''"(मनुस्मृति); अत', साथ ही चरित को जलधर-रूप भी कहते हैं कि सेवक के समान धान को पालते हैं। धान के समान सेवक भी 'रामचरित' से ही जीते हैं।

अभिमतदानि देव तरु-बर-से। सेवत सुलभ सुखद हरि-हर से ॥११॥
सुकवि-सरद-नभ मन उड़गन से। राम-भगत जन जीवन - धन से ॥१२॥

अर्थ—ये चरित वांछित फल देने में श्रेष्ठ कल्पवृक्ष के समान हैं, सेवा करने से हरि-हर के समान सुलभ और सुखद हैं ॥११॥ सुकविरूपी शरद् ऋतु के मन-रूपी आकाश (को शोभित करने) के लिये तारों के समान हैं और राम-भक्तों के तो जीवन सर्वस्व ही हैं ॥१२॥

विशेष—(१)'अभिमतदानि''' यहाँ चरितों को श्रेष्ठ कल्पतरु कहा है, क्योंकि ये हित ही करते हैं, चाहने पर भी अनहित नहीं करते। प्राकृत कल्पवृक्ष क्षीरसागर से प्रकट हुआ है, इसकी छाया में भली या

बुरी जैसी कामना हो, उसी रूप प्राप्त होती है। यथा—"देव देवतरु-सरिस सुभाऊ। सन्मुख विमुख न काहुहिं काऊ॥ जाइ निकट पहिचानि तरु, छाँह समनि सब सोच। माँगत अभिमत पाव जग, राउ रंक भल पोच॥" (अ० दो० २६७)। ऊपर सेवक को 'सालि' स्थावर (जड़) और चरित को 'जलधर'-जंगम (चेतन) कहा है और यहाँ चरित को वृक्ष-(स्थावर) तथा सेवक को जंगम सूचित किया अर्थात् चरित सेवक के पास जाकर (अपना आशय अल्प प्रयास से जनाकर) सुख देते हैं और इसके अपने पास आने पर भी तत्त्वार्थ ज्ञान से सुख देते हैं।

'सेवत सुलभ सुखद ···' चरित-द्वारा हरि की सुलभता—"सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥" (सुं० दो० ४३)। हर की सुलभता -"सेवा सुमिरन पूजिबो पात आखत थोरे।" (वि० ८)—दोनों सुखद भी हैं। शिवजी मुक्ति और श्रीराम नाम के द्वारा मुक्ति भी देते हैं। हरि (श्रीरामजी) के सुख-प्रदान के सहस्रों उदाहरण हैं। इसी तरह चरितों का सेवन (पढ़ना) भाषा में होने से बहुत ही सुलभ है और इनसे श्रुति-सिद्धान्त की प्राप्ति से सुख भी बहुत मिलता है। सुख देने में 'हरि-हर' ही की उपमा दी, क्योंकि इनकी सेवा में विघ्न नहीं होता और अत्यधिक सुख भी मिलता है।

(२) 'सुकवि सरद नभ ···' जिन कवियों का मन शरद् ऋतु के आकाश की तरह निर्मल है, यथा—"बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा॥" (कि० दो० १५); उन्हींके मन में रामचरित उदित होकर शोभा बढ़ाते हैं। अतः, रामचरित का अनन्त और अनादि होना सूचित किया। सुकवि के हृदय में उदित होते हैं, उनके बनाये नहीं हैं। यथा—"हर-हिय रामचरित सब आये।" (दो० १११)। यहाँ 'सुकवि' भगवान् के यश गानेवालों को कहा है।

सकल-सुकृत-फल भूरि भोग-से। जगहित निरुपधि साधु लोग से॥१३॥
सेवक-मन-मानस-मराल-से। पावन गंग-तरंग माल-से॥१४॥

अर्थ—(ये चरित) सम्पूर्ण पुण्यों के फलस्वरूप भोगों के समान हैं, जगत् का एकरस हित करने में संतों के समान हैं॥१३॥ सेवक के मन रूपी मानस-सरोवर के लिये हंस के तुल्य हैं तथा पवित्रता में गंगाजी के तरंग-समूह के समान हैं॥१४॥

विशेष—(१) 'सकल-सुकृत-फल···' सकल सुकृतों का फल होने से भोग भी 'भूरि' (बहुत) कहे गये। तात्पर्य यह कि श्रीरामचरित में सब सुकृतों का फल है, यथा—"धर्ममार्गं चरित्रेण···" (श्रीरामतापनी०)।

ऊपर सेवकों एवं जनों का हित करना कहा था। यहाँ जगत-भर का हितकारित्व भी कहा। निरुपधि= (निः+उपाधि), निरवधि=एकरस।

(२) 'सेवक-मन-मानस···' गंगाजी के समान श्रीरामजी और तरंगों के समूह के समान उनके चरित हैं। जैसे तरंग अनंत हैं, वैसे चरित भी। गंगा से तरंगें उठती हैं, वैसे श्रीरामजी से चरित-समूह प्रकट होते हैं। तरंग और गंगा अभेद हैं, वैसे श्रीरामजी और चरित भी अभेद हैं, यथा—"रामस्य नाम रूपं च लीलाधाम परात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दमव्ययम्॥" (वसिष्ठसंहिता)।

दोहा—कुपथ कुतरक कुचालि कलि, कपट दंभ पाखंड।
दहन राम-गुन-ग्राम जिमि, इंधन अनल प्रचंड॥
रामचरित राकेस कर, सरिस सुखद सब काहु।
सज्जन-कुमुद चकोर-चित, हित बिसेषि बड़ लाहु॥३२॥

अर्थ—कुमार्ग, कुत्सित तर्क, बुरी चाल, कलह, कपट, दंभ और पाखंड रूपी ईंधन को जलाने के लिये श्रीरामजी के गुण-समूह प्रज्वलित अग्नि के तुल्य हैं॥ श्रीराम के चरित पूर्णिमा के चन्द्रमा की किरणों के समान सब किसी को समान रूप से सुख देनेवाले हैं, (परन्तु) सज्जन-रूपी कुईं और चकोर के चित्त के विशेष हितकारी एवं बड़े लाभदायक हैं॥३२॥

विशेष—(१) 'कुपथ कुतरक···' 'कुपथ'—यथा—"चलत कुपंथ वेद-मग छाड़े।" (दो० ११); कुतर्क=व्यर्थ या बेढंगी दलीलें करना। कुचालि=खोटे कर्म करना। कलि=कलह=झगड़ा करना। कपट=भीतर से अपने स्वार्थ-साधन के भाव को छिपाये रखना और ऊपर से प्रिय बर्ताव—यह हृदय से होता है, यथा—"लखी न भूप कपट चतुराई।" (अ० दो० २६)। दंभ=औरों को दिखाने के लिये उत्तम वेष एवं आचरण करना, जिससे आदर हो यथा "नाना वेष बनाइ दिवस निसि परवित जेहि तेहि जुगति हरौं॥" (वि० १४१)। पाखंड=दुष्ट तर्कों और युक्तियों से वेद-विरुद्ध मत की स्थापना करना, यथा—"जिमि पाखंडवाद ते, गुप्त होहिं सदग्रंथ॥" (कि० दो० १५) अर्थात् कपट, दंभ और पाखंड का क्रमशः मन, कर्म और वचन से सम्बन्ध है।

(२) 'रामचरित राकेस कर···' यहाँ 'सरिस' पद दीप-देहली है; अतः, सब किसी को समान सुखद है, पर सज्जन को विशेष है। चन्द्रमा से जगत् का हित होता है। यथा—"जग-हित हेतु विमल विधु पूषन।" (दो० १६)। सज्जन दो प्रकार के हैं—एक कुमुद की तरह स्थावर अर्थात् प्रवृत्ति मार्गवाले और दूसरे चकोर की तरह जंगम अर्थात् निवृत्ति मार्गवाले। प्रवृत्तिवाले चित्त लगाये हुए प्रफुल्लित रहते हैं, तथा चरित-सम्बन्ध में ही शोभा और इसी सम्बन्ध के सुयश-रूप सुगंधवाले होते हैं। विषय-वारि संबंध में भी उससे निर्लिप्त चित्त रहते हैं। निवृत्तिवाले चकोर की भाँति चित्त लगाये हुए श्रीरामचरित का पान चन्द्रिका (अमृत) के समान करते हैं, शरीर-मन-सहित निमग्न रहते हैं। यथा—"राम-कथा ससि-किरन समाना। संत चकोर करहिं जेहि पाना॥" (दो० ४६)। प्रवृत्तिवाले विशेषकर नवधा भक्तिवाले हैं और निवृत्तिवाले विशेषकर प्रेमा और पराभक्तिवाले हैं। इससे प्रवृत्तिवाले अपना बड़ा हित और निवृत्तिवाले बड़ा लाभ मानते हैं।

श्रीराम-कथा-माहात्म्य तथा रामचरित-माहात्म्य—दोनों को चित्त ही के प्रसंग पर समाप्त किया—'चित्रकूट चित ··' और 'कुमुद चकोर चित' क्योंकि कथा चित्त ही तक है।

यहाँ तक दो दोहों के बीच भक्त जनों के मन, बुद्धि और चित्त का लगना और कथा से तीनों का हित होना दिखाया गया है। यथा—'सेवक मन मानस मराल से।' 'संत सुमति तिय ··' 'सज्जन कुमुद चकोर चित।' दार्शनिक दृष्टि से मति, मन और चित्त भिन्न-भिन्न हैं। प्रमाण—'थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई॥' (आ० दो० १४)।

कथा-माहात्म्य और चरित-माहात्म्य में छ-छः बार साधुओं का ही हित होना, साधु के पर्यायी पदों द्वारा, कहा गया है, क्योंकि चरित के विशेष अधिकारी वे ही हैं।

श्रीरामकथा एवं चरित-माहात्म्य-प्रसंग समाप्त

कीन्हि प्रश्न जेहि भाँति भवानी। जेहि बिधि संकर कहा बखानी ॥१॥
सो सब हेतु कहब मैं गाई। कथा-प्रबंध बिचित्र बनाई ॥२॥

अर्थ—जिस प्रकार श्री पार्वतीजी ने प्रश्न किया और जिस रीति से शिवजी ने विस्तार से कहा ॥१॥ उन सब कारणों को मैं कथा की विचित्र रचना करके गाकर (प्रेम एवं विस्तारपूर्वक) कहूँगा ॥२॥

विशेष—(१) 'कीन्हि प्रश्न जेहि भाँति'—यह प्रसंग दो० १०७ से १११ पर्यन्त है। पुन उ० दो० ५२ से ५४ तक है। 'जेहि बिधि संकर''''—यह दो० १११ से प्रारंभ है।

(२) 'सो सब हेतु कहब मैं''' अर्थात् उमा के प्रश्न करने के हेतु शिवकृत मानस में नहीं हैं, वे 'याज्ञवल्क्य-भरद्वाज' के संवाद में हैं, इसीलिये मैं उन कारणों को विस्तार से कहूँगा और उसी में संवाद का हेतु भी कहूँगा। अतः, 'सब हेतु' कहा अथवा 'सब' अर्थात् विस्तार से कहूँगा, संक्षेप में नहीं।

'कथा प्रबंध बिचित्र बनाई।'—प्रबंध का अर्थ एक दूसरे से संबद्ध वाक्यों की रचना है। इसमें विचित्रता यह है कि प्रथम मानस सरोवर का रूपक स्वयं रचेंगे। वह बड़ा ही विचित्र है, जिसमें चार घाटों, चार प्रकार के श्रोता-वक्ताओं के सम्बन्ध और उनके द्वारा काडत्रय एवं प्रपत्ति (शरणागति) की सँभाल रखते हुए, मुख्य उपासना रूपा ही कथा चलेगी। तब आगे हेतु कहेंगे।

जेहि यह कथा सुनी नहि होई। जनि आचरज करइ सुनि सोई ॥३॥
कथा अलौकिक सुनहिं जे ज्ञानी। नहिं आचरज करहिं अस जानी ॥४॥
रामकथा कै मिति जग नाहीं। असि प्रतीति तिन्ह के मनमाहीं ॥५॥

अर्थ—जिन्होंने यह कथा अन्यत्र न सुनी हो, वे इसे सुनकर आश्चर्य न करें ॥३॥ जो ज्ञानी अपूर्व कथा को सुनते हैं, वे यह जानकर आश्चर्य नहीं करते।४। संसार में राम-कथा की सीमा नहीं है—ऐसा विश्वास उनके मन में रहता है ॥५॥

विशेष—(१) 'जनि आचरज करइ ''' क्योंकि यह कथा पूर्वोक्त रामायणों से विलक्षण है।

(२) 'कथा अलौकिक''' अब आश्चर्य न करने के कारण बतलाते हैं—पहला—ज्ञानी का प्रमाण देते हैं और कहते हैं कि उन्हीं के मन में यथार्थ प्रतीति होती है कि राम-कथा की 'मिति' नहीं है। इस कथा में भी अलौकिकता है, जिसके लिये आश्चर्य नहीं करना कहते हैं, जैसे—सती-मोह प्रसंग, भानु-प्रताप और मनु शतरूपा-प्रसंग, फिर कश्यप-अदिति और नारद शाप आदि चार कल्पों की लीलाएँ एक साथ सिद्ध हों, यह आश्चर्य ही सा है, क्योंकि प्रत्येक कल्प के परिकर भिन्न-भिन्न होते हैं और कालभेद होना भी स्वाभाविक है, पर इसमें सब एक परात्पर की लीला में अंतर्भूत हैं।

नाना भाँति राम-अवतारा। रामायन सतकोटि अपारा ॥६॥
कलप-भेद हरि-चरित सुहाये। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाये ॥७॥
करिय न संसय अस उर आनी। सुनिय कथा सादर रति मानी ॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी के अवतार अनेक प्रकार से हुए हैं। रामायणें सौ करोड़ एवं अपार हैं॥६॥ कल्पभेद के कारण भगवान् के सुन्दर चरित मुनीशों ने अनेक प्रकार से गाये हैं॥७॥ ऐसा मन में जानकर संदेह नहीं करना चाहिये और कथा को आदर-पूर्वक प्रेम से सुनना चाहिये॥८॥

विशेष—(१) अब आश्चर्य-निवारण का दूसरा कारण कहते हैं कि अनेक प्रकारों एवं कारणों से श्रीरामजी के अवतार हुए हैं। अतः, कुछ-न-कुछ भेद पड़ना स्वाभाविक है। इसी से अमित प्रकार होने के कारण हैं, जिससे ज्ञानियों की प्रतीति ऊपर कही गई।

'सतकोटि'—"रामचरित सतकोटि अपारा। श्रुति सारदा न बरनइ पारा॥" (उ० दो० ५१) एवं—"चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्।" भी कहा है। अर्थात् रामायणें सौ करोड़ (अनन्त) हैं—इसी से अपार कहा है।

'कलप-भेद'—कल्प ब्रह्मा के एक दिन को कहते हैं, इसमें १४ मन्वन्तर होते हैं। इस एक दिन में एक-एक सहस्र बार चारो युग (सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि) बीत जाते हैं, फिर उतनी ही बड़ी उनकी रात्रि होती है। यथा—"सहस्रयुग पर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः। रात्रिं युगसहस्रां तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥" (गीता ८।१७)

(२) 'करिय न संसय ...' 'संशय' यह है कि अमुक-अमुक ग्रंथ में तो और प्रकार हैं, गोस्वामीजी ने ऐसा कैसे लिखा? अथवा इन्हीं ने अमुक जगह ऐसा लिखा, पर इस जगह ऐसा क्यों? 'अस' उपर्युक्त कल्पभेद एवं अपारता आदि। 'सादर' अर्थात् मन-मति-चित्त लगाकर भाव-सहित, यथा—"सुनहु तात मति मन चित लाई।" (आ० दो० १४); "भाव-सहित सो यह कथा, करउ श्रवनपुट पान॥" (उ० दो० १२८)।

दोहा—राम अनंत अनंत गुन, अमित कथा-बिस्तार।
सुनि आचरज न मानिहहिं, जिनके बिमल बिचार ॥३३॥

अर्थ—श्रीरामजी अनंत हैं। उनके गुण भी अनन्त हैं, और उनकी कथा का विस्तार भी अमित है; अतः, जिनके विचार निर्मल हैं, वे सुनकर आश्चर्य नहीं करेंगे।

विशेष—श्रीरामजी अनंत हैं। अतः, इनके विषय में आश्चर्य न करें कि अमुक ग्रंथ के एवं अमुक ऋषि के प्रतिपाद्य राम में और श्रीगोस्वामीजी के राम में अमुक अंतर क्यों है? गुण भी अनन्त हैं, यथा—"विष्णु कोटिसत पालनकर्त्ता।......" (उ० दो० ९१) आदि। कथा का विस्तार भी अमित है, 'पूर्व—'रामकथा कै मिति जग नाहीं।' से कथा के अनेकप्रकारत्व पर किये गये संदेह का का निवारण किया था। अब उसके विस्तार का भी संदेह निवृत्त करते हैं कि अमुक कथा अमुक ग्रंथ में इतनी ही है, यहाँ इतनी अधिक कहाँ से लाये, इत्यादि। यहाँ आश्चर्य-निवारण का तीसरा हेतु समझाया। ऊपर ज्ञानियों और यहाँ विमल विचारवालों को प्रतीति होना दिखाया। यथा—"सो बिचारि सुनिहहिं सुमति, जिनके बिमल बिबेक॥" (दो० ९) अर्थात् अज्ञानियों और अविवेकियों को तो आश्चर्य होगा ही।

येहि बिधि सब संसय करि दूरी। सिर धरि गुरु-पद-पंकज-धूरी ॥१॥
पुनि सबही बिनवउँ कर जोरी। करत कथा जेहि लाग न खोरी ॥२॥

अर्थ—इस प्रकार सब संदेहों को दूर कर और श्रीगुरु-पद-कमल की धूल शिर पर धारण करके ॥१॥ फिर से हाथ जोड़कर सबसे विनती करता हूँ जिससे कथा (निर्माण) करने में दोष न लगे ॥२॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि सब संसय···' उपर्युक्त तीनों प्रकारों के समाधानों को यहाँ इकट्ठे कहते हैं। 'सिर धरि गुरु...' पूर्व ग्रंथकार ने गुरु-पद-रज के अंजन से नेत्र (विवेक विलोचन) निर्मल किये थे। यथा—"तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनउँ राम-चरित भवमोचन ॥" (दो० १)। अब यहाँ शिर पर धारण करना लिखा, इससे सब विभव वश होते हैं, यथा—"जे गुरुचरन-रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल बिभव बस करहीं ॥" (अ० दो० २)। फिर आगे इसके सेवन से मन निर्मल करेंगे। यथा—"श्रीगुरु-चरन-सरोज रज, निज मन मुकुर सुधारि। बरनउँ रघुबर बिसद जस..." (अ० मं०) अर्थात् ग्रंथ में तीन बार रज-सेवन तीन प्रयोजनों से लिखा है। यहाँ चरित-विभव के लिये है।

(२) 'पुनि सबही बिनवउँ···' प्रथम एक बार इस विषय पर सबसे विनती कर चुके हैं। यथा—"समुझि बिबिध बिधि बिनती मोरी। कोउ न कथा सुनि देइहि खोरी ॥" (दो० ११) अर्थात् इस कथा को सुनकर कोई जिससे दोष न दे और यहाँ इसलिये फिर विनती की, जिससे इस कथा में दोष लगे ही नहीं। रचने में मेरी असावधानी से दोष न आ पड़े; अतः, वहाँ कार्य के लिये और यहाँ कारण-निवृत्ति के लिये विनती है। वंदना की यह अंतिम आवृत्ति है।

सादर सिवहिं नाइ अब माथा। बरनउँ बिसद राम-गुन-गाथा ॥३॥
संवत सोरह सै इकतीसा। करउँ कथा हरि-पद धरि सीसा ॥४॥
नौमी भौमबार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा ॥५॥

अर्थ—अब आदरपूर्वक शिवजी को शिर झुका (प्रणाम) कर श्रीरामजी के गुणों की निर्मल कथा कहता हूँ ॥३॥ भगवान् के चरणों पर शिर रखकर संवत् १६३१ में कथा प्रारम्भ करता हूँ ॥४॥ नवमी तिथि, भौम अर्थात् मंगलवार और मधुमास अर्थात् चैत्र के महीने में, अयोध्याजी में, यह चरित प्रकाशित (प्रारंभ) हुआ ॥५॥

विशेष—(१) 'सादर सिवहिं...।' शिवजी इस ग्रंथ के आचार्य हैं। अतः, प्रारंभ-काल में फिर वंदना की। यह इनकी तीसरी बार वंदना है।

(२) 'संवत सोरह सै···' यहाँ से ग्रंथकार इस ग्रंथ का जन्म, संवत्, महीना, दिन, तिथि, पक्ष, आदि तथा जन्मभूमि, नामकरण और नाम का अर्थ एवं फल कहते हैं—

इस संवत् में प्रारंभ करने का कारण यह कहा जाता है कि इसमें श्रीरामजन्म के प्रायः सब योग, लग्न आदि एकत्र थे। अतः, चरितों और उनके नायक के जन्म में समता हुई।

१६३१ संवत् पर यह भी भाव कहा जाता है कि श्रीरामजी १६ कलाओं से पूर्ण अवतार थे। अतः, चरित भी १६ कलाओं से पूर्ण कहे गये हैं। यथा—"बालचरित मय चंद्रमा, यह सोरहकला निधान।"

(गीतावली ११) । श्रीरामजी ने ३१ बाण छोड़कर रावण को मारा है। यथा—'छाड़े सर यकतीस' (लं० दो० १०२)। इसीलिये १६ में ३१ लगाने से जो संवत् बना, उसी में चरित का प्रारम्भ किया कि इससे भी मोहरूपी रावण का संहार हो। यथा—"मोह दसमौलि...।" (वि० ५८)।

(३) 'नौमी भौमवार...' नवमी तिथि यद्यपि रिक्ता कही जाती है, तथापि जो ईश्वर ने जन्म के लिये उस तिथि को ग्रहण किया वो यह परम श्रेष्ठ है। फिर भी रिक्तादोष भी कोई कोई दिन के दस ही बजे तक मानते हैं और श्रीरामजी का और कथा का जन्म १२ बजे दिन में हुआ तथा मंगलवार भी परमभक्त श्रीहनुमान्‌जी का जन्मदिन है और श्रीहनुमान्‌जी की आज्ञा से श्रीअवध में रामायणजी का प्रारंभ भी कहा जाता है। इसीलिये उसी दिन प्रारंभ किया। श्रीरामजन्म भी इसी दिन ग्रंथकार ने लक्षित किया है जो जन्म-प्रसंग में कहा जायगा। ज्योतिष ग्रन्थों में भी कहा गया है—'शनिभौमगता रिक्ता सर्वसाम्राज्यदायिनी'। वा 'रथार्थं समाप्यं शनिभौमवारे'। 'प्रकासा'- अर्थात् श्रीरामजी की तरह उनके चरित भी नित्य हैं, जैसे वे प्रकट होकर चन्द्रवत् प्रकाशित हुए। यथा—"प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारू।" (दो० १५), वैसे चरित भी पूर्ण चन्द्र रूप से प्रकाशित हुए। यथा—"रामचरित राकेस कर, सरिस...।" (दो० ३२)। चरित भी सनातन हैं, ऋषियों के द्वारा प्रकट होते हैं।

जेहि दिन राम-जनम श्रुति गावहिं। तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं ॥६॥

अर्थ—जिस दिन श्रीरामजी का जन्म होता है, वेद कहते हैं कि उस दिन (पृथिवी भर के) सब तीर्थ वहाँ (श्रीअयोध्याजी में) चले आते हैं।

विशेष—(१) 'जेहि दिन राम-जनम...' श्रीरामजन्म किस दिन हुआ, इसमें मतभेद है। कोई रवि, कोई सोम और कोई बुधवार को कहते हैं। ग्रंथकार ने किसी एक दिन का नाम नहीं लिखा, परन्तु गीतावली बा० २ पद से (ध्वनि से) मंगल पाया जाता है। यथा—"चैत चारु नौमी सिता मध्य गगनगत भानु। नषत जोग ग्रह बार भले दिन मंगल-मोद-निधान॥" इसमें दिन के साथ मंगल पढ़ने से आ जाता है। ग्रंथकार सब मतों की रक्षा करते हुए अपना मत रखते हैं। वही मंगलवार यहाँ मानस के जन्म में स्पष्ट कहा गया है।

श्रीगोस्वामीजी की यह रीति है कि जो बात दो जगहों में कहनी होती है, उसे कुछ एक जगह और कुछ दूसरी जगह कह देते हैं। दोनों को मिला देने से दोनों जगहों की पूर्त्ति होती है। अतः, श्रीराम जन्म-प्रसंग का—'काल लोक बिश्रामा' (दोपहर), 'शुक्ल पक्ष' और 'अभिजित मुहूर्त्त' ये दो० १९० से लेकर यहाँ लगाना चाहिये और यहाँ का 'अवधपुरी' और 'भौमवार' वहाँ दो० १९० पर ले जाना चाहिये; तभी दोनों स्थलों की पूर्त्ति होगी।

इसपर यह शंका होगी कि जब योग आ गया, तब श्रीरामजी का ही अवतार क्यों न हुआ? इसका समाधान यह है कि रूप की जगह लीला का ही अवतार हुआ। तत्त्वतः रूप और लीला तुल्य हैं। यथा—"रामस्य नामरूपञ्च लीलाधामपरात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानंदमव्ययम्॥" (वसिष्ठसंहिता)।

कहा जाता है, इस सं० १६३१ के भौमवार को नवमी स्मार्त्तों की थी; क्योंकि उदयगामिनी तिथि न थी। वैष्णवों के व्रत की नवमी दूसरे दिन बुध को थी। ग्रंथकार के इस दिन नवमी लिखने पर कुछ लोग उनको स्मार्त्त कहते हैं, पर यह भूल है। श्रीगोस्वामीजी उस दिन अपना व्रत करना नहीं लिख रहे हैं। वे तो मध्याह्नकालव्यापिनी नवमी को ग्रंथारंभ करना लिख रहे हैं। यदि बुध को लिखना प्रारंभ करते तो मध्याह्न

में सब योग एवं नवमी न मिलती। आज दिन भी वैष्णव एकादशी का व्रत जब दूसरे दिन करना होता है तब भी तिथि को एकादशी ही लिखते हैं। श्रीगोस्वामीजी अनन्य वैष्णव हैं। इसके लिये इन्होंने शपथ करके बहुत जगह कहा है। अन्य देवताओं की वन्दना-प्रार्थना इन्होंने श्रीराम-भक्ति के लिये ही की है। मंगलाचरण में इसपर कुछ लिखा जा चुका है। 'तीरथ···चलि आवहिं' सब तीर्थों के अधिष्ठातृ देवता कामरूप से चलकर उस दिन अयोध्याजी में आते हैं। यथा—"बन सागर सब नदी तलावा। हिमगिरि सब कहँ नेवत पठावा॥ काम-रूप सुन्दर तनु धारी। सहित समाज सहित बर नारी॥ गये सकल तुहिनाचल-गेहा।···" (दो० ६३)। भारत में रीति है कि जो ग्राम आदि प्रथम बसाये जाते हैं, उनके अधिष्ठातृ देवता भी स्थापित किये जाते हैं। तीर्थराज प्रयाग अन्य तीर्थों में नहीं जाते, पर वे भी उस दिन श्रीअवध में आते हैं। अयोध्या-माहात्म्य से सिद्ध है। इसीलिये यहाँ 'सकल' लिखा है। सब तीर्थ पाँव-पाँव चलकर आते हैं, इससे श्रीरामनवमी और अयोध्या का माहात्म्य सबसे बढ़कर दिखाया।

असुर नाग खग नर मुनि देवा। आइ करहिं रघुनायक-सेवा॥७॥
जनम-महोत्सव रचहिं सुजाना। करहिं राम-कल-कीरति गाना॥८॥

अर्थ—असुर, नाग, पक्षी, मनुष्य, मुनि और देवता आकर श्रीरघुनाथजी की सेवा करते हैं॥७॥ सुजान लोग जन्म के महान् उत्सव की रचना करते हैं और श्रीरामजी की सुन्दर कीर्त्ति का गान करते हैं।

विशेष—'असुर नाग खग' से श्रीरामोपासक असुर प्रह्लाद-विभीषण आदि, नाग से शेष वासुकी आदि और खग से काक भुशुंडी-गरुड़-जटायु आदि को जानना चाहिये। 'असुर-नाग' पाताल के, 'नर-खग-मुनि' मृत्यु-लोक के और 'देवा' स्वर्ग के हैं। अतः, तीनों लोक-वासी भक्त उस दिन आते हैं, यह जनाया।

ऊपर तीर्थ आदि स्थावर का आना और यहाँ असुर आदि जंगम का आना कहा गया। अतः, चराचर जगत् भर के हरि-भक्तों का आना सूचित हुआ।

श्रीराम-जन्म के समय देवता पृथिवी पर नहीं आये, महोत्सव की रचना पुरवासियों ने ही की थी, दो० १६३ से १६५ तक कहा है। देवताओं ने आकाश ही से सेवा की थी और महोत्सव देखकर ऊपर ही से भाग्य सराहते चले गये थे। यथा—"गगन-बिमल संकुल सुर-जूथा। ·····बहु बिधि लावहिं निज-निज सेवा॥" दो० १९०)। पुनः—"देखि महोत्सव सुर-मुनि-नागा। चले भवन बरनत निज भागा॥" (दो० १९५)। कारण यह था कि उस समय प्रभु को विधि-वचन सत्य करना था कि नर के ही हाथ से रावण का मरण हो, देवताओं के आकर प्रकट होने से ऐश्वर्य खुलता। शिवजी ने भी कहा है—"गुपुत रूप अवतरेउ प्रभु, गये जान सब कोइ।" (दो० ४८)। अतः, देवता लोग गुप्त रीति से ही उत्सव में आये थे और अब हर साल नवमी के अवसर पर आते हैं और महोत्सव-रचना में भी सम्मिलित होते हैं। 'सुजान'—जो रचनाप्रवीण हैं।

दोहा—मज्जहिं सज्जन बृन्द बहु, पावन सरजू-नीर।
जपहिं राम धरि ध्यान उर, सुन्दर स्याम सरीर॥३४॥

अर्थ—झुंड-के-झुंड सज्जन पवित्र श्रीसरयू-जल में स्नान करते हैं और सुन्दर श्याम शरीरवाले श्रीरामजी का ध्यान हृदय में धारण करके उनका नाम जपते हैं।

विशेष—यहाँ ग्रन्थकार ने श्रीरामोपासकों को उस दिन का कर्त्तव्य बतलाया है कि श्रीसरयूजी में स्नान करके श्रीरामजी का रूपध्यान-समेत नाम जपना चाहिये। समय के अनुरोध से यहाँ बाल-स्वरूप का ही ध्यान उपयुक्त है। यह स्नान महोत्सव के पीछे लिखा है। अतः, इसे 'दधिकाँदो' के पीछे का स्नान जानना चाहिये। 'जपहिं राम धरि ध्यान उर,''।' का भाव यह है कि रूप के ध्यान के साथ नाम जपना विधि है, क्योंकि नाम या मंत्र का अर्थ उसके देवता का रूप है और अर्थ-विचार एवं भावना के साथ ही मंत्र जपने से फल प्राप्त होता है। यथा—"तज्जपस्तदर्थभावनम्" (योगसूत्र); एवं—"मंत्रोयं वाचको रामो वाच्यः स्याद्योगएतयोः। फलदश्चैव सर्वेषां साधकानां न संशयः॥" (श्रीरामतापनीय उ०)। रूप का ध्यान या तो श्रीसीताजी के साथ किशोर अवस्था का किया जाता है या बाल-रूप का। किशोरावस्था के ध्यान में कृपामयी श्री जानकीजी के साहचर्य-वश कृपा-गुण का उद्दीपन रहने से श्रीरामजी की सर्वज्ञता (जो जीवों के दोष प्रकट करती है) और सर्व-शक्तिमत्ता (जो दोषानुसार दंडविधायिका है) की कुछ नहीं चलती और जीव का कल्याण हो जाता है। बाल-रूप के ध्यान में उस अवस्था के अनुरोध से भी भगवान् में उक्त दो गुण अंतर्भूत रहते हैं और उदारता आदि गुण तो स्वाभाविक रहते ही हैं। अतः, जीव का कल्याण होता है। यथा—"बंदउँ बाल-रूप सोइ रामू। सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू॥" (दो० ११२)। इसी से अयोध्या-माहात्म्य में राम-जन्म-भूमि के स्थल पर नाम-जप का बहुत महत्त्व लिखा है। लौकिक दृष्टान्त भी दिया जाता है कि जैसे भानुपीठ (आतशी शीशा) और भानु (सूर्य) का ठीक सामना होने पर ही आग प्रकट होती है, वैसे ही रूप के ध्यान के साथ नाम के जप से रूप की प्राप्ति होती है।

दरस परस मज्जन अरु पाना। हरइ पाप कह वेद पुराना॥१॥
नदी पुनीत अमित महिमा अति। कहि न सकइ सारदा बिमल मति॥२॥

अर्थ—वेद-पुराण कहते हैं कि (श्रीसरयूजी के) दर्शन, स्पर्श, स्नान और जलपान ये पाप को हर लेते हैं॥१॥ यह नदी निस्सीम पवित्र है, इसकी महिमा अत्यन्त है, (जिसको) निर्मल बुद्धिवाली शारदाजी भी नहीं कह सकतीं॥२॥

विशेष—(१) 'दरस परस मज्जन अरु पाना।' ये चारों क्रम से होते हैं। प्रथम दूर ही से दर्शन होते हैं फिर पहुँचकर स्पर्श, फिर जल में प्रवेश कर स्नान और पीछे जल-पान होता है। इन चारों कर्मों में एक भी हो, तो भी पाप नष्ट होते हैं। यहाँ से श्रीसरयू-माहात्म्य कहते हैं।

(२) 'नदी पुनीत अमित'''।' श्रीसरयूजी की निस्सीम महिमा श्रीरामजी के सम्बन्ध से है। जैसे जहाँ-जहाँ क्षण-भर के लिये भी श्रीराम-सम्बन्ध हुआ, वहाँ-वहाँ की महिमा बहुत कही गई है। यथा—"जे सर सरित राम अवगाहहिं। तिन्हहिं देवसरसरित सराहहिं॥" (अ० दो० ११२)। "सुरसरि सरसइ दिनकरकन्या।"''से—"कहहिं देव दिन राति॥" (अ० दो० १३८) तक और श्रीसरयूजी में तो श्रीरामजी की नित्य स्नान-क्रीड़ा होती थी। ऐसे ही ११००० हजार वर्षों तक वे रहे। पुनः उनके गुरु की कन्या (महर्षि वशिष्ठ मनु के हित के लिये सरयूजी को मानससरोवर से ले आये थे। अतएव सरयूजी उनकी कन्या हुई) एवं कुलमान्या भी हैं। अतः, अमित महिमायुक्त ही हैं। पद्मपुराण आदि में इनकी बहुत महिमा कही गई है।

'कहि न सकइ सारदा'''।' शारदा एक तो विमल मति हैं, फिर अनंत रूप से सबकी जिह्वा पर कहनेवाली भी हैं। जब वे नहीं कह सकतीं, तब दूसरे के लिये तो अकथ्य ही है।

रामधामदा पुरी सुहावनि। लोक समस्त बिदित अति पावनि ॥३॥
चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजे तनु नहिं संसारा ॥४॥

शब्दार्थ—राम-धाम-दा = रामजी के (परधाम = साकेत) धाम को देनेवाली।

अर्थ—यह सुहावनी पुरी साकेत धाम को देनेवाली है, समस्त लोकों में प्रसिद्ध है और अत्यन्त पवित्र है ॥३॥ जगत् के अनगिनत जीवों की चार खानें (उत्पत्ति-स्थान) हैं, श्रीअयोध्याजी में शरीर छूटने से फिर (उनका) संसार नहीं रहता अर्थात् वे जन्म-मरण के चक्कर से सदा के लिये मुक्त हो जाते हैं ॥४॥

(१) 'राम-धाम-दा पुरी''' इसमें पूर्व पाप का नाश होना कहा, तब रामधाम की प्राप्ति कही, क्योंकि पाप-नाश से ही परधाम की प्राप्ति होती है।

शंका—राम-धाम तो श्रीअयोध्या ही है, फिर वह कौन है जिसे यह अयोध्या देती है ?

समाधान—श्री अयोध्याजी दो हैं—एक भूतल पर और दूसरी ब्रह्मांड से परे। दोनों तत्त्वतः एक हैं। भेद केवल माधुर्य और ऐश्वर्य लीला का है। यथा—"भोगस्थानं परायोध्या लीलास्थानं त्वियं भुवि।" (शिवसंहिता)। भोगस्थान परायोध्या साकेत नाम से ख्यात है और लीला-स्थान अयोध्या यही है, जो वर्त्तमान काल में फैजाबाद जिले में कही जाती है। तत्त्वतः एकता से दोनों का एक नाम है। यथा—"अयोध्या नंदिनी सत्यानामा साकेत इत्यपि। कोशलाराजधानी च ब्रह्मपूरपराजिता॥ अष्टचक्रा नवद्वारा नगरी धर्मसम्पदा। दृष्ट्वैवं ज्ञाननेत्रेण ध्यातव्या सरयूस्तथा॥" (शिवसंहिता अ० २० श्लोक १५-१६)। इसीका वेद में विस्तृत वर्णन है। यथा—"पुर यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥२८॥ यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्। तस्मै ब्रह्म च ब्रह्माश्च चक्षुः प्राण प्रजां ददुः।२९॥ नवैतं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा। पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥३०॥ अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्यमय कोश स्वर्गो ज्योतिषावृत ॥३१॥ तस्मिन्हिरण्ययमये कोशे त्र्यरे त्रि-प्रतिष्ठिते। तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥३२॥ प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा सम्परीवृताम्। पुरं हिरण्यमयीं ब्रह्माविवेशापराजिताम् ॥३३॥" (अथर्ववेद संहिता, दशमकांड, प्रथम अनुवाक्, द्वितीय सूक्त, मंत्र २८-३३)। इन साढ़े पाँच मंत्रों में अत्यन्त स्पष्टरूप में श्रीअयोध्याजी का वर्णन है। इनमें व्याख्याताओं को अपनी ओर से कुछ मिलाना नहीं पड़ता।*

लीला-स्वरूप। अयोध्या प्रकृति-मंडल में रहती है, परन्तु उसको प्रकृति का विकार नहीं लगता, प्रत्युत औरों के प्रकृति विकार को हरकर अपने नित्य रूप को देती है। इसी से यहाँ इस पुरी को 'राम-धाम-दा' कहा है।

(२) 'चारि खानि जग जीव'''—ऊपर 'अति पावनि' कहा। यह पावनता यहाँ दिखाते हैं कि चारों खानों (इनका वर्णन—'आकर चारि''' दो० ७ में हो गया) के सभी प्रकार के जीव इस धाम में शरीर-त्याग करके मुक्ति पाते हैं अर्थात् पाप शुद्ध होकर श्रीरामजी के धाम को प्राप्त होते हैं। यहाँ एक शंका

* इनकी व्याख्या "अयोध्या श्रीमद्राममहार मंत्रनामथि ५" में विस्तारपूर्वक हिन्दी में है। पाठक वहीं देखें।

हो सकती है। श्रुतियों का सिद्धान्त है कि—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' अर्थात् ज्ञानोपासना के बिना मुक्ति नहीं होती और यहाँ धाम में शरीर-त्यागने मात्र से मुक्ति कही गई है। *यह विरोध है। इसका समाधान यह है* कि धाम से मुक्ति होने की भी श्रुतियाँ हैं। यथा—"काश्यां मरणान्मुक्तिः"—यह प्रसिद्ध है तथा यहाँ ऊपर की चौपाई के अर्थ में उद्धृत श्रुतियाँ अयोध्या के ध्यान से मुक्ति का विधान करती हैं। "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"—यह सामान्य रीति से सब जीवों के प्रति है; अतः, सर्वदेशीय एवं सामान्य है और—"काश्यां मरणान्मुक्तिः"—यह एक काशी के लिये है। अतः, विशेष है। विशेष (अपवाद) सामान्य (उत्सर्ग) की अपेक्षा बलवान होता है। यथा—"···अपवादरिवोत्सर्ग···" (रघुवंश १५।७)। जैसे कोई विज्ञापन निकाले कि मैं अमुक गाँव के लोगों से व्यवहार नहीं करूँगा, यह वहाँ के सर्वसाधारण के लिये है और वह उसी गाँव के किसी एक व्यक्ति के नाम पत्र लिखे कि आप कृपा करके आवें, मेरा अमुक प्रयोजन है। यह विशेष वाक्य है, तब आशय यह हुआ कि इसे छोड़कर शेष के लिये उक्त सामान्य वचन है। अतः, धाम से मुक्ति प्राप्त होना निर्विरोध है।

फिर भी यह शंका होगी कि तब तो सभी धामवासी साधन छोड़ बैठेंगे। इसका समाधान यह है कि साधन से क्रमशः मुक्ति के लक्षण यहीं प्राप्त होते जायँगे और अंत के लिये भी निश्चय रहेगा, पर धामवास मात्र में विकारों का दौरा रहेगा और मरने का भी निश्चय नहीं। यदि किसी कारणवश अन्यत्र शरीर छूटा तो फिर पुनर्जन्म के चक्कर में पड़ना होगा।

'बंदउँ नाम राम रघुबर को···' से—यहाँ तक क्रमशः नाम, रूप, लीला और धाम की वंदना एवं माहात्म्य-कथन हुआ। पृथक्-पृथक् का भेद दो० २६ के अर्थ में देखिये।

सब बिधि पुरी मनोहर जानी। सकल सिद्धि-प्रद मंगलखानी ॥५॥

बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम-मद-दंभा ॥६॥

अर्थ—अयोध्यापुरी को सब प्रकार से मनोहर और सब सिद्धियों की देनेवाली एवं सब मंगलों की खान समझकर ॥५॥ इस निर्मल कथा का मैंने (यहीं) प्रारंभ किया, जिसके सुनने से काम, मद और दंभ का नाश होता है ॥६॥

विशेष—(१) 'सब बिधि पुरी···' विधियाँ ऊपर कही गईं कि यहाँ ब्रह्म का अवतार होता है और इस समय श्रीरामजन्म के योग भी पड़े हैं। इस अवसर पर सब तीर्थ भी आये हैं, जन्मोत्सव होता है, देवता भी आये हैं। यह मनोहरपुरी अति पवित्र एवं रामधाम देनेवाली तथा सर्व सिद्धियों एवं मंगलों की खान है। अतः, 'बिमल कथा' का जन्मस्थल होने के योग्य है; क्योंकि जैसी कथा 'विमल' है वैसा ही उसका जन्मस्थल भी विमल चाहिये। ऊपर 'रामधामदा' आदि से परलोक का बनना और यहाँ 'सकल सिद्धिप्रद' आदि से लोक-सुख का प्रदान करना भी जनाया।

'काम-मद-दंभा'—ये तीनों ही कथा के विरोधी हैं, पर काम मुख्य है। यथा—"क्रोधिहि सम कामिहिं हरि-कथा। ऊसर बीज बये फल जथा॥" (सु० दो० ५७)। अतः, काम प्रथम कहा गया। मानस का अवतार इन कामादि के नाश के लिये है। आगे नामकरण करते हैं—

रामचरित-मानस येहि नामा। सुनत श्रवन पाइय बिश्रामा ॥७॥

मन-करि बिषय-अनल-बन जरई। होइ सुखी जो येहि सर परई ॥८॥

अर्थ—इसका नाम 'रामचरित-मानस' है, इसे कानों से सुनते ही विश्राम मिलता है ॥७॥ मन रूपी हाथी विषय रूपी दावानल में जल रहा है, यदि वह इस सर में पड़े तो सुखी हो ॥८॥

विशेष—'रामचरित-मानस···' यहाँ तो ग्रन्थकार नाम का परिचय दे रहे हैं कि इसका नाम करण शिवजी ने किया है। यथा—"धरेउ नाम हिय हेरि हरषि हर।" आगे कहा है, जैसे श्रीरामजी का नामकरण वसिष्ठजी ने किया है।

'सुनत श्रवन···'—कानों से सुनते ही विश्राम पाकर मन तृप्त हो जाता है, फिर इधर-उधर नहीं भटकता। यथा—"पायेउँ परम विश्राम ··" (उ० दो० १३०)।—श्रीगोस्वामीजी, "सुनेउँ पुनीत राम गुन-ग्रामा। तुम्हरी कृपा लहेउँ विश्रामा॥" (उ० दो० ११४)।—गरुड़जी। तथा, इसी तरह और जो भी सुनेंगे, विश्राम पावेंगे।

(२) 'मन-करि विषय···' मनरूपी हाथी। 'मन-मतंग' प्रसिद्ध है। कामादि विषय ही अग्नि हैं, यथा—"बुझइ न काम अगिनि ··" (वि० १९८), इन्द्रिय समूह वन हैं, उन सबकी कामनाएँ दावानल के समान हैं। मन इसी आग में जल रहा है। वह इस सरोवर में 'परई' अर्थात् पड़ा ही रहे तो सुखी हो जाय, क्योंकि यह कथा सुखमय है, यथा—"मम गुन ग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ, परानन्दसन्दोह॥" (उ० दो० ४६) तथा—"सुनि बिरंचि अतिसय सुख मानहिं। पुनि पुनि तात करहु गुन गानहिं॥ सुनि गुन-गान समाधि बिसारी। सादर सुनहिं परम अधिकारी॥" (उ० दो० ४१) तथा—"बिषइन्हि कहँ पुनि हरि-गुन-ग्रामा। श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥" (उ० दो० ५२)। 'येहि सर' अर्थात् मानस-सर हिमालय पर है, अत, अन्य सरों की अपेक्षा अत्यन्त शीतल है, वैसे यह 'राम-चरित-मानस' भी अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा अत्यन्त शान्ति देनेवाला है।

रामचरितमानस मुनिभावन। बिरचेउ संभु सुहावन पावन॥९॥
त्रिविध-दोष-दुख-दारिद-दावन। कलि कुचालि-कुलि-कलुष नसावन॥१०॥

शब्दार्थ—त्रिविध-दोष = कायिक-वाचिक एवं मानसिक कुचेष्टें। त्रिविध दुख = दैहिक-दैविक और भौतिक ताप। त्रिविध-दारिद = तन-जन और धन सम्बन्धी दरिद्रता। दावन = नाशक।

अर्थ—मुनियों के मन को भानेवाले, सुहावने और पवित्र इस 'रामचरित-मानस' को श्रीशिवजी ने रचा ॥९॥ यह तीन प्रकार के दोषों, दु:खों और दरिद्रताओं का दमन (नाश) करनेवाला और कलियुग के कुत्सित आचरणों तथा सम्पूर्ण पापों का नाशक है ॥१०॥

विशेष—'मुनि भावन' "रामचरित-मानस शांतिरस पूर्ण है, इससे यह मुक्तकोटि के मुनियों (सिद्धों) को भी भाता है। ऊपर—'मन करि विषय··' से विषयियों का और—'सुनत नसाहिं काम-मद-दम्भा' से मुमुक्षुओं का हित कहा गया। अत, तीनों प्रकार के जीवों का प्रियत्व बनाया। यथा—"सुनहि बिमुक्त बिरत अरु बिषई।" (उ० दो० १४)।

'बिरचेउ संभु'—ईश्वर का रचा हुआ है। 'सुहावन'—काव्य-गुणों से पूर्ण है।

'पावन'—क्योंकि इसमें पवित्र रामयश रूपी जल भरा है। यहाँ इसका अपना सौष्ठव कहा गया है। इसका सेवक को सुन्दर बनाना तो प्रसिद्ध है जो 'त्रिविध-दोष ··' से स्पष्ट है।

रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमय सिवा सन भाषा ॥११॥
तातें रामचरित-मानस बर। धरेउ नाम हिय हेरि हरषि हर ॥१२॥

अर्थ—शिवजी ने (इसे) रचकर अपने हृदय में रक्खा और अच्छा अवसर पाकर श्री पार्वतीजी से कहा ॥११॥ इसीलिये श्री शिवजी ने अपने हृदय में विचार कर हर्ष पूर्वक इसका श्रेष्ठ नाम 'रामचरित-मानस' रक्खा ॥१२॥

विशेष—(१) 'रचि महेस'''अब नामकरण का हेतु कहते हैं। 'राखा' अर्थात् बहुत काल तक आठो पहर इसीके मनन में रहा करते थे। अतः, यह शिवजी का अष्टयाम-ध्येय था।

'पाइ सुसमय'''यहाँ तक श्री पार्वतीजी से तीन बार कथन करना कहा गया। यथा—"बहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा।" (दो० २६); इसमें 'सुनावा' पद संवाद सूचक है, फिर—"कीन्हि प्रश्न जेहि भाँति भवानी। जेहि विधि संकर कहा बखानी॥" (दो० ३३)। इसमें प्रश्नोत्तर के हेतु एवं प्रश्न-प्रकार को प्रस्तावना है और यहाँ 'सुसमय' मे वर्णन जनाया। इन्हीं तीनों को आगे—"कहउँ सुमति-अनुहारि अब, उमा संभु-संबाद। भयेउ समय जेहि, हेतु जेहि, सुनु मुनि मिटिहि बिषाद॥" (दो० ४७) पर—एकत्र करेंगे और वहीं से इन तीन सूत्रों की व्याख्या प्रारंभ होगी।

(२) 'तातें रामचरित'''—'तातें' अर्थात् अपने मानस मे रखने के कारण। 'बर—हेरि' अर्थात् बहुत विचारा, पर इससे श्रेष्ठ और नाम नहीं समझ पड़ा और चित्त में इसके स्फुरण से हर्ष हुआ। इस-लिये 'हरषि' भी कहा है। 'धरेउ नाम ' हर' अर्थात् मैंने गुरु-परंपरा से पाकर इसका प्रारंभ किया और नाम कहा, पर नाम-करण तो शिवजी ने ही किया था, मैंने नहीं।

कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई ॥१३॥

अर्थ—मैं उसी सुख देनेवाली और सुहावनी (श्री रामचरित-मानस) कथा को कहता हूँ, हे सज्जनो! मन लगाकर आदर-पूर्वक सुनिये।

विशेष—पूर्व—"जागबलिक जो कथा सुहाई। भरद्वाज मुनिवरहिं सुनाई॥" (दो० २६) पर ग्रंथ को चारों संवादों का बीज बोना और कथा का प्रारंभ करना लिखा गया, उसके अनुसार श्री गोस्वामीजी का संवाद यहाँ से प्रारंभ हुआ। इनका प्रारंभ-स्थल अयोध्या है—"अवधपुरी यह चरित प्रकासा।" (दो० ३३) से निर्दिष्ट है। ऐसा ही याज्ञवल्क्यजी का कथास्थल प्रयाग है—"भरद्वाज मुनि बसहिं प्रयागा।'''जागबलिक मुनि परम बिबेकी। भरद्वाज राखे पद टेकी॥" (दो० ४३-४४)। काकभुशुण्डीजी का नीलगिरि है, यथा—"उत्तर दिसि सुंदर गिरि नीला। तहँ रह कागभुसुंडि सुसीला॥ ''गयेउ गरुड़ जहँ बसइ भुसुंडी ''';" (उ० दो० ६१-६२) और शिवजी का कैलाश है, यथा—"परमरम्य गिरिवर कैलासू। सदा जहाँ-सिव उमा निवासू॥ ' कथा जो ' सोइ पूछन चह सैलकुमारी॥" (बा० दो० १०४-१०६)।

'सुखद'—'सादर'—जो आदर-पूर्वक मन लगाकर सुनेंगे, कथा उन्हीं के लिये सुखद एवं सुहावनी होगी।

श्री अयोध्याधाम-वर्णन एवं रामचरितमानस-अवतार-प्रसंग समाप्त

———

मानस-प्रसंग

दोहा—जस मानस जेहि विधि भयेउ, जग प्रचार जेहि हेतु।
अब सोइ कहउँ प्रसंग सब, सुमिरि उमा-वृषकेतु ॥३५॥

शब्दार्थ—वृषकेतु = (वृष = बैल = नंदी, केतु = ध्वजा) जिनकी ध्वजा पर नंदी है (शिवजी) वा वृष अर्थात् चारों चरणों (सत्य, शौच, दया, दान) से पूर्ण धर्म जिनकी ध्वजा पर हो एवं धर्म के ध्वजा-रूप (शिवजी)।

अर्थ—जैसा मानस का स्वरूप है, जिस तरह मानस हुआ (बना) और जिस कारण से जगत् में इसका प्रचार हुआ, वे ही सब प्रसंग अब मैं श्रीगौरी-शंकर का स्मरण करके कहता हूँ।

विशेष—(१) यहाँ से दो० ४३ तक मानस-प्रसंग आठ दोहों में है। उस समस्त प्रसंग की प्रस्तावना इस दोहे में की गई है—

'जस मानस'—'सुमति भूमि थल'''से—'अस मानस मानसचख चाही।' (दो० ३८ चौ० १) तक मानस का स्वरूप कहा गया है।

'जेहि विधि भयेउ'—जिस तरह उत्पन्न हुआ, यह प्रसंग—"भयेउ हृदय आनंद उछाहू।'''से—सुमिरि भवानी संकरहिं, कह कवि कथा सुहाइ॥" (दो० ४३) तक है।

'जग प्रचार जेहि हेतु' यह प्रसंग—"अब रघुपति-पद-पंकरुह, हिय धरि पाइ प्रसाद। कहउँ जुगल मुनिबर्य कर, मिलन सुभग संबाद।" (दो० ४३) से है। 'सुमिरि उमा-वृष-केतु'—स्मरण के कारण—(क) ये दोनों श्रद्धा-विश्वासरूप हैं, मं० श्लोक में कहे गये हैं। इनके स्मरण से ये दोनों गुण दृढ़ होंगे, तब भगवान् से वैसी शक्ति प्राप्ति होगी, जिससे ग्रन्थ-रचना में सफलता होगी। गीता ७-२१-२२ में प्रमाण है। (ख) दोनों की प्रसन्नता चरित-वर्णन के विषय में पा चुके हैं, यथा—"सुमिरि सिवा सिव पाइ पसाऊ।" (दो० १४); (ग) शिवजी ने इसे रचा और पार्वतीजी ने जगत् के हित के लिये प्रकट कराया, यथा—"कीन्हेहु प्रस्न जगत हित लागी।" (दो० ११२); अतएव ये मुख्य वक्ता-श्रोता हैं।

संभु-प्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरित-मानस कवि तुलसी ॥१॥
करइ मनोहर मति-अनुहारी। सुजन सुचित सुनि लेहु सुधारी ॥२॥

शब्दार्थ—हुलसी = विकसित हुई = उल्लसित हुई। सुचित = ध्यान देकर वा सुन्दर चित्त से।

अर्थ—श्रीशिवजी की प्रसन्नता से हृदय में सुमति का विकास हुआ, जिससे मैं तुलसीदास रामचरित-मानस का कवि बना ॥१॥ तुलसी इसे अपनी बुद्धि के अनुसार मनोहर ही बनाता है। हे सज्जनो! आपलोग सुन्दर चित्त से सुनकर इसे सुधार लें ॥२॥

विशेष—(१) 'संभु-प्रसाद सुमति''' यहाँ 'सुमति हुलसी', अतः ध्वनित हुआ कि ग्रन्थकार पहले घबराते थे। यथा—"मति अति नीच " (दो० ७) और—"करत कथा मन अति कदराई।" (दो० ११)। इसके लिये ग्रन्थकार ने प्रथम 'सीयराममय' चराचर से मति माँगी। यथा—"निज बुधि-बल भरोस मोहि नाहीं। ताते बिनय करउँ सब पाहीं॥" (दो० ७)। फिर श्रीशानकीजी से भी मति माँगी।

यथा—"जासु कृपा निर्मल मति पावउँ।" (दो० १७), उसी कृपा का फल शिवजी के प्रसाद-रूप से प्राप्त हुआ, यह पूर्व ही—"सुमिरि सिवा-सिव पाइ प्रसाऊ" (दो० १४) में कहा गया; उसी को यहाँ कहते हैं। अतः, जो मति पहले अति नीच थी, वही 'सुमति' पाकर 'तुलसी'। और, तब इस भाषा राम-चरित-मानस के कवि तुलसी हुए। भाव संस्कृत रामचरित-मानस के कवि शिवजी हैं। यथा—"यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना···" (उ० दो० १३०)। उनके प्रसाद से मैं भी भाषा का कवि हुआ। इसके पहले न था। यथा—"कवि न होउँ···" (दो० ८)। 'संभु-प्रसाद' होने पर अपने को 'कवि' कहा, आगे भी कहते रहेंगे, यथा—'यह कवि कथा सुहाई' (दो० ४३); 'सुकवि लपन-मन की गति भनई।" (अ० दो० २३१); "सुनि कठोर कवि जानिहि लोगू।" (अ० दो० ११७); "कवि-कुल कानि मानि सकुचानी।" (अ० दो० ३०२)। यहाँ अपने को 'कवि' कहना आत्मश्लाघा-रूप में नहीं है, किन्तु कवि का तात्पर्य ग्रंथ-रचयिता होने से है। पूर्व योग्यता न थी, अब वह शिवप्रसाद से हुई, तब अपने को रचयिता कहा। अतः, यह शिवप्रसाद एवं उपर्युक्त उसकी कारणरूपा श्रीजानकीजी की कृपा की बड़ाई है। यथा—"रामनाम को प्रभाउ, पाउ महिमा प्रताप तुलसी से जग मानियत महामुनी सो॥" (क० उ० ७२)। श्रीशिवजी के ही कहने एवं ग्रन्थ में प्रभावास्थापन के आश्वासन से ये ग्रंथ-रचना में उत्साहपूर्वक आरूढ़ हुए। पूर्व मं० श्लोक ७ और दो० १५ पर कहा गया, यहाँ उसका स्मरण किया गया है।

(२) 'करइ मनोहर मति···' 'मनोहर' अर्थात् काव्य-गुण युक्त एवं प्रत्येक रस के प्रेमियों के अनुकूल। जब 'संभुप्रसाद' से सुमति प्राप्त हुई, तब उससे विरचित कथा का प्रबंध मनोहर होगा, यह विश्वास है। फिर भी सज्जनों की सहायता लेते हैं कि मानव-स्वभाव वश रचना में कहीं त्रुटि रह जाय, तो आपलोग सुधार लेंगे।

'मति अनुसारी···।' ईश्वर की देन पर भी 'मति अनुसारी' कहा है, क्योंकि मानव-हृदय परिमित सुमति ही धारण कर सकता है, इसीसे सुधारना भी कहा और यह कार्पण्य दृष्टि से शिष्ट परं-परा भी है।

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। बेद पुरान उदधि घन साधू॥३॥

शब्दार्थ—[यहाँ से इस चरित का मानस सर से सावयव रूपक बाँधकर स्वरूप कहते हैं कि यह मुझे कैसे प्राप्त हुआ?]—भूमि = तालाब के आसपास की ऊँची भूमि, जहाँ का बरसाती जल तालाब में आता है, यहाँ वही ग्राह्य है। थल = तालाब की गहरी भूमि जिसमें जल आकर ठहरता है, यथा—"जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई।" (उ० दो० ११८)। उदधि = समुद्र।

अर्थ—सुमति भूमि है, हृदय गहरा स्थल है, वेद-पुराण समुद्र हैं और साधु बादल हैं॥३॥

विशेष—'सुमति भूमि···'—जैसे भूमि चराचर का उत्पत्ति स्थान है, वैसे सुमति भी गुणगण का उत्पत्ति-स्थान (योनि) है। यथा—"लोक कनकलोचन, मति छोनी। हरी बिमल गुनगन जग-जोनी॥ भरत-बिबेक बराह बिसाला। अनायास उधरी तेहि काला॥" (अ० दो० २९६)। यहाँ संसार रूप हिरण्याक्ष ने सुमति रूपी पृथ्वी को हरा था। यथा—"कहँ मति मोरि निरत संसारा।" (दो० ११)। अब 'संभुप्रसाद' रूप वाराह ने उद्धार किया, तब यह सुमति भी गुणों का उत्पादक होकर राम सुयश रूप 'बर बारि' के धारण करने योग्य हुई।

'थल हृदय अगाधू।' यहाँ हृदय का अर्थ 'सु-मानस' अर्थात् सच्छु (श्रेष्ठ) मन है। यहीं पर

आगे कहा गया है—'भरेउ सुमानस सुथल थिराना।" श्रुति भी है—"हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा।" (ऐतरेयो०)। सुमति भूमि वाला हृदय गहरा होता ही है। यथा—"कहि न सकत कछु अति गभीरा। प्रभु प्रभाव जानत मतिधीरा॥" (दो० ५२)। 'बेद पुरान उदधि'—वेद-पुराण ही ज्ञान की राशि हैं, जैसे समुद्र जल की राशि है। समुद्र का जल मेघ-द्वारा सर्वत्र प्राप्त होता है। नदी, तालाब, कुँए, बावली आदि में पूर्ण रहता है, वैसे ही वेद-पुराण का ही ज्ञान संसार-भर में फैला है। इसके प्रचारक सब देशों के साधु ही हैं। जैसे समुद्र का जल प्रथम आकाश में जाकर भूमि पर आता और जमीन के नीचे जाता है। फिर खोदकर पाताल से निकाला जाता है—सहसा समझ में नहीं आता। वैसे ही रसायन, विज्ञान आदि सब विद्याएँ इसी विद्यासमुद्र से यूरोप और अमेरिका को प्राप्त हैं, किंतु गति सहसा समझ में नहीं आती।

शंका—पूर्व ग्रन्थकार ने कहा था कि मैं शिवकृत मानस को ही भाषा बद्ध करूँगा और अब वेद-पुराण से साधुओं द्वारा प्राप्त करना कहते हैं। यह क्यों?

समाधान—(क) कथा भाग ही शिवकृत है। इसमें अन्य विचित्रताएँ और अनेक मत साथ-साथ हैं, वे सब मुनियों द्वारा-प्राप्त वेदपुराण-सम्मित हैं।

(ख) समुद्र का जल प्रथम सूर्य-किरण से आकाश में जाकर चन्द्रकिरण और वायु आदि के सयोग से मेघ बनता है, तब भूमि पर आता है, वैसे यह वेदादि से प्रथम शिवजी के हृदय में आया, यथा—"बरनहुँ रघुबर बिसद जस, श्रुति-सिद्धान्त निचोरि॥" (दो० १०९); फिर भुशुंडीजी, याज्ञवल्क्यजी तथा परंपरा से श्रीगुरुजी को प्राप्त हुआ। श्रीगुरुजी से श्रीगोस्वामी की मेधा में आया। गुरु को साधु कहा है, यथा—"परम साधु परमारथ-बिंदक।" (उ० दो० ११२)।

बरषहिं राम-सुजस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी ॥४॥

अर्थ—(साधु रूपी मेघ) राम सुयश रूपी श्रेष्ठ जल बरसाते हैं, जो मधुर, मनोहर और मङ्गलकारी होता है।

विशेष—यहाँ 'राम-सुजस' को 'बर बारि' कहा, क्योंकि मेघ का जल भी श्रेष्ठ होता है, पर समुद्र का जल खारा होता है, जो न तो पीने ही योग्य होता है और न खेत ही सींचने योग्य। वैसे अखिल धर्म मूल होने से वेद-पुराणों में काम्य कर्म का भी विशेष प्रतिपादन है, वह ऐसे विषयी जलचरों के लिये अनुकूल है जिनका मन विषय वारि में मछली के समान रहता है। वे निवृत्ति मार्गवालों को अध पशु आदि समझते हैं और इनके लिये त्याग की महिमा मानते हैं, पर विवेकी साधुलोग वेदों का वास्तविक सिद्धान्त राम-यश ही निकालते हैं। यथा—"बंदउँ चारिउ बेद'''बरनत रघुबर बिसद जस।" (दो० १४), "हम तव सगुन जस नित गावहीं।" (उ० दो० १२)। यह वेदों ने ही कहा है। साधुलोग काम्य कर्म आदि को खारा, अज्ञानियों से प्राप्त होने से कुरूप और भवरोगमय होने से अमंगलकारी मानते हैं। राम सुयश कहने-सुनने में प्रेमोत्पादक होने से मधुर, भवरोगहारक होने से मंगलकारी और इन्हीं गुणों से यह मन हर लेता है, यही मनोहरता है। भूमि में पड़ने से पहले मेघ के जल में मधुरता आदि गुण रहते हैं। वर्षा के प्रथम कुछ देर वायु रुककर गर्मी होती है, तब वर्षा होती है, ऐसे साधु भी राम-यश-कथन के पूर्व ध्यान विचार करने में चित्त-वृत्ति को एकाग्र करते हैं, यही वायु का रुकना है, उत्साह का होना गर्मी है, यथा—"मगन ध्यान रस दंड जुग, पुनि मन बाहेर कीन्ह। रघुपति चरित महेस तब, हरषित बरनइ लीन्ह॥"

(दो० १११)। मेघ जंगम होते हैं, वैसे साधु-समाज भी—"ज्यों जग जंगम तीरथराजू।" (दो० १); में जंगम कथित हैं। राम-सुयश के गुणों के उदाहरण—मधुर, यथा—"श्रवनवंत अस को जग माहीं। जाहि न रघुपति-चरित सोहाहीं॥" (उ० दो० ५२), मनोहर, यथा—"लागे कहन कथा अति सुंदर॥" (सुं० दो० ३२) और मंगलकारी, यथा—"मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की॥" (दो० १)।

लीला सगुन जो कहहिं बखानी। सोइ स्वच्छता करइ मल हानी ॥५॥
प्रेम-भगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता सुसीतलताई ॥६॥

अर्थ—जो सगुण लीला का वर्णन करके कहते हैं, वही स्वच्छता मल का नाश करती है ॥५॥ और इसमें जो प्रेमा-भक्ति है, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता, वही मिठास और तरावट है ॥६॥

विशेष—(१) 'लीला सगुन जो··· ··' सगुण लीला कहने से निर्गुण लीला भी ध्वनित होती है। निर्गुण ब्रह्म अव्यक्त है, निष्क्रिय है, पर उसके सन्निधान (समीप की स्थिति) से माया द्वारा संसार का व्यापार चलता रहता है, यही उसकी लीला है। यथा—"एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु-प्रेरित नहिं निज बल ताके॥" (आ० दो० १४) तथा—"सुनु रावन ब्रह्मांडनिकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया।" (सुं० दो० २०)।

'सगुन लीला'—जब-जब धर्म की ग्लानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब साधुओं की रक्षा और दुष्टों के नाश के लिये प्रभु अवतीर्ण होकर लीला करते हैं कि जिसे गा-गाकर भक्त लोग भवसागर से तर जायँ। यथा—"जब-जब होइ धरम कै हानी।······" से—"कृपासिंधु जन-हित तनु धरहीं॥" (दो० १२०—१२१) तक। यही लीला सम्पूर्ण रामायण है, जो सूत्र-रूप में—"प्रथमहिं अति अनुराग भवानी।"······से—"कथा समस्त भुसुंडि बखानी।" (उ० दो० ६१—६७) तक के ८४ प्रसंगों में कही गई है कि जिसे गाकर भक्त लोग ८४ लाख योनियों से मुक्त हो जायँ। 'कहहिं बखानी।'—निर्गुण लीला के विस्तार से कहने का कोई प्रयोजन नहीं। अतः, उसका बखान नहीं कहा और सगुण लीला तो गाने के लिये ही की जाती है, जिससे बड़ा लाभ यह होता है कि संसार से छुटकारा मिल जाता है। अत, वह गाई जाती है। यथा—"सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं॥" (दो० १२१)।

'सोइ स्वच्छता'—राम-यश रूपी जल में सगुण लीला का बखान स्वच्छता है। जल की शोभा स्वच्छता में है, वैसे राम यश की शोभा सगुण-लीला के बखान में है। भगवान् के जन्म-कर्म दिव्य हैं, यथा—"जन्म कर्म च मे दिव्यम् · " (गीता ४।९)। उनका जन्म स्वेच्छा से होता है, यथा—"इच्छामय नर-देह सँवारे। होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे॥" (दो० १५१) और वे कर्म की ममता तथा फलेच्छा से रहित हैं, इसी से वे निर्लिप्त रहते हैं। यथा—"कर्म सुभासुभ तुम्हहिं न बाधा।" (दो० १३६) उनके जो कर्म देखे जाते हैं वे लोक-कल्याण के लिये लीला-रूप में हैं। यथा—"जथा अनेक वेष धरि नृत्य करइ नट कोइ। सोइ-सोइ भाव देखावइ, आपुन होइ न सोइ। असि रघुपति लीला उरगारी। · " (उ० दो० ७२)। अत, भगवान् की लीला कर्मवशतारूपी मलिनता से-रहित है और लीला का दिव्य होना उसकी स्वच्छता है।

'करइ मलहानी'— स्वच्छ जल से ही मल छूटता है। सगुण ब्रह्म में मनुष्यता की कल्पना मल है जो भरद्वाज, पार्वती और गरुड़ के हृदय में हुई थी। इन सबने ब्रह्म में प्राकृतत्व (मनुष्यता) का आरोपण किया, फिर सम्पूर्ण सगुण लीला के सुनने से वह भ्रम निवृत्त हुआ। यथा—गरुड़ की मोहनिवृत्ति—"गयेउ

मोर संदेह, सुनेउँ सकल रघुपति-चरित।" (उ० दो० ६४)। पार्वतीजी की मोहनिवृत्ति "तुम्हरी कृपा कृपायतन, अब कृतकृत्य न मोह।" (उ० दो० ५२) और कवि ने स्वयं भी कहा है—"रघुवंसभूषन-चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं॥" (उ० दो० १३०)। इस अर्द्धाली में उपर्युक्त 'मनोहरता' का स्पष्ट हुआ। आगे मधुरता और तरावट कहते हैं—

(२) 'प्रेम भगति जो बरनि'''—प्रेमाभक्ति में मधुरता का अत्यंत स्वाद है, जिससे उसका वर्णन नहीं होता, जैसे अत्यन्त मीठा खाने से मुख बँध जाता है। यथा—"अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।" (नारद भक्तिसूत्र) तथा—"कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूछा। प्रेम भरा मन निज गति छूछा॥" (अ० दो० २४१); "परम प्रेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥ कहहु सो प्रेम प्रगट को करई। केहि छाया कवि मति अनुसरई॥" (अ० दो० २४०) "बूझत कृपानिधि कुसल भरतहिं बचन बेगि न आवई। सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई॥" (उ० दो० ५) इत्यादि।

'सुसीतलताई' अर्थात् अनुकूल शीतलता (तरावट)। जो दुःख से तप्त है उसका सुखी होना शीतल होना है। यथा—"जराजन्मदुःखौघतातप्यमानम्।" (उ० दो० १०७); "मन करि बिषय अनल बन जरई। होइ सुखी जौं येहि सर परई॥" (दो० ३४)।

शंका—पूर्व—'मधुर मनोहर मंगलकारी।' में मधुर कहा ही है, यहाँ फिर क्यों कहा ?

समाधान—वहाँ मधुर होना कहा था। यहाँ यह दिखाया कि मधुरता क्या वस्तु है।

सम्बन्ध—उक्त जल को मनोहर और मधुर कह चुके, आगे उसका मंगलकारित्व कहते हैं—

सो जल सुकृत सालि हित होई। रामभगत जनजीवन सोई॥७॥
मेधा महिगत सो जल पावन। सकिलि श्रवन-मग चलेउ सुहावन॥८॥

शब्दार्थ—मेधा=अंतःकरण की धारणाशक्ति जिससे देखी-सुनी बात मन में बनी रहती है। सकिलि=सिमटकर।

अर्थ—वह जल पुण्यरूपी धान के लिये हितकर है और श्रीरामभक्तजनों का जीवन वही है॥७॥ (साधुरूपी मेघों का बरसाया हुआ) वह सुहावन पावन जल धारणा शक्ति रूपी पृथिवी पर प्राप्त हुआ और कान के रास्ते से सिमटकर चला॥८॥

विशेष—(१) 'सो जल सुकृत सालि'''—'सुकृत'—"तीर्थाटन साधन समुदाई।"—से—"जहँ लगि साधन बेद बखानी॥" (उ० दो० १२५) तक देखें। धान की तरह सुकृत को भी रामसुयश रूपी जल की बड़ी प्यास है। यथा—"धर्ममार्गं चरित्रेण ज्ञानमार्गं च नामतः"। (श्रीरामतापनीय उ०) तथा—"बीज राम-गुन गन नयन, जल अंकुर पुलकालि। सुकृती सुतनु सुखेत बर, बिलसत तुलसी सालि॥" (दोहावली ५६८)। सुकृत की वृद्धि से श्रीराम में स्नेह होता है। यथा—"सकल सुकृत फल राम सनेहू।" (दो० २१)। यही—'रामभगत जन''' से उत्तरार्द्ध में कहा है कि रामकथा ही श्रीरामभक्तों का जीवन है। यथा—"यावद्रामकथा वीर चरिष्यति महीतले। तावच्छरीरे वत्स्यन्तु प्राणा मम न संशयः॥ यच्चैतच्चरितं दिव्यं कथां ते रघुनन्दन। तन्ममाप्सरसो राम श्रावयेयुर्नरर्षभ॥" (वाल्मी० उ० स० ४०।१७।१८)। अर्थात् श्रीहनुमान्‌जी ने श्रीरामजी से वर माँगा है कि आपकी कथा जबतक सुना करूँ, तभी तक मेरे शरीर में प्राण रहें।

(२) 'मेधा महिगत सो जल···' जहाँ तक का जल बहकर आता है, वही मानस सर की प्रान्तभूमि है, वैसे ही जहाँ तक की बात सुनाई दे, वही इस मेधा (धारणवाली बुद्धि) की प्रान्तभूमि है।

'सकिलि श्रवन मग ···' जब जल सिमटकर बहता है, तब एक रास्ता बन जाता है। उसी मार्ग होकर सब पानी बहता है। इसी तरह राम-सुयश श्रवण-बुद्धि द्वारा आकर धारण-बुद्धि (मेधा) में प्राप्त होता है। 'सकिलि' अर्थात् जो बात समझ में बैठती है वही श्रवण-बुद्धि में आती है। यहाँ जो श्रवण-धारण बुद्धि कही गई है उसका प्रमाण—"बुद्ध्याह्यष्टांगया युक्तम्···" (वाल्मी० कि० स० ५४।२) अर्थात् बुद्धि आठ प्रकार की है। यथा—"शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा। ऊहापोहार्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः॥" बहती हुई नाली की तरह कान के छिद्र से बात आती है। यह रूपक का बाह्य मेल है। यथा—"मृतक जियावनि गिरा सुहाई। श्रवन-रंध्र होइ उर जब आई॥" (दो० १४४)।

भरेउ सुमानस सुथल थिराना। सुखद सीत रुचि चारु चिराना॥१॥

शब्दार्थ—सीत (शीत) = ठंढा। रुचि = स्वादिष्ट। चिराना (सं० चिरंतन) = पुराना, जीर्ण।

अर्थ—(श्रवणमार्ग से आये हुए राम यश रूप जल से) सुन्दर मानस भर गया, अच्छे स्थल में जल थिर हुआ। फिर वह सुखद, ठंढा, स्वादिष्ठ, सुन्दर और पुराना हुआ।

विशेष—(१) 'भरेउ सुमानस सुथल···'यहाँ 'मानस' शब्द श्लिष्ट है। उपमान-पक्ष में सुंदर मानस सर के अर्थ में और उपमेय में सुन्दर मन के अर्थ में है। तालाब जल से भरा और मन रामसुयश से भर गया। यहाँ 'श्रवन-मग चलेउ' में श्रवण, 'भरेउ सुमानस' में मनन और 'सुथल थिराना' में निदिध्यासन तथा 'चिराना' में समाधि का भाव है। चिराना हुआ अर्थात् परिपक्व हुआ, जैसे दूसरे साल का चावल पुराना और तीसरे साल का 'चिराना' कहा जाता है, वैसे वर्षा का जल नया, शरद् का पुराना और हेमन्त का 'चिराना' कहा जाता है। यह जल वैद्यक में भी अत्यन्त गुणकारी कहा गया है। श्री गोस्वामीजी ने बचपन में गुरुजी से सुना, तब नया था, फिर सत्संग-द्वारा मध्यावस्था में मनन किया, तब पुराना हुआ और वृद्धावस्था में 'चिराना' होने पर मानस प्रकट हुआ। प्रथम—'जस मानस' और 'थल हृदय' कहा गया था, यहाँ जब राम-सुयश रूप जल से भरा, तब 'सु-मानस' और 'सु-थल' कहा गया, यह कवि के भाव को अनुसार है।

वर्षा का जल भूमि पर पड़ने से ढाबर (गँदला) हो जाता है। पुराना होने पर मिट्टी बैठ जाती है। फिर चिराना होने पर जल में पूर्व गुण आ जाते हैं। यहाँ के 'शीत', 'रुचि' और 'चारु'—ये ही पूर्व के 'मंगलकारी', 'मधुर' और 'मनोहर गुण' हैं। वैसे ही राम-सुयश भी प्रथम सुनते ही संशय, तर्क आदि से ढाबर हो जाता है। सत्संग से स्वच्छ और फिर मनन आदि से पूर्व गुण युक्त होने पर सुखद होता है। बुद्धि में रजोगुण का भी अंश है, इसके संशय, तर्क आदि ही धूल के समान हैं, जिनसे ढाबरपना हुआ, बुद्धि पृथिवी के अंश से उत्पन्न भी है, यथा—"बुद्धिर्जाता क्षितेरपि।" (जिज्ञासापंचक)।

दोहा—सुठि सुंदर संबाद बर, बिरचे बुद्धि बिचारि।
तेइ यहि पावन सुभग सर, घाट मनोहर चारि॥३६॥

अर्थ—अत्यन्त सुन्दर और श्रेष्ठ संवाद बुद्धि से विचार करके (मैंने) बनाये हैं, वे ही इस पवित्र, सुन्दर तालाब के चार मनोहर घाट हैं।

यहाँ एक तो चारो घाटों को 'मनोहर' कहा है। फिर भी 'बिरचे' भी कहा है। केवल 'रचेउ' से काम चल जाता। यहाँ विशेषतासूचक 'वि' उपसर्ग है। लोक में घाट की जब विशेष रचना होती है, तब मणि-माणिक्य आदि भी लगाये जाते हैं। वैसी ही रचना इन घाटों में भी है। श्रीरामचरित को भी मणि माणिक्य के समान कहा है। यथा—"सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥" (दो० १)। यहाँ चार संवाद-रूप खानों के चरित्र चार प्रकार के रत्न हैं। श्रीशिवजी 'गरल कंठ' हैं, अतः, इनकी कविता सर्पमणि है। याज्ञवल्क्य की कथा माणिक्य है, क्योंकि यह—'पावन पर्वत बेद पुराना' (उ० दो० ११९) से निकलती है। यही बात—"करगत बेद - तत्त्व सब तोरे।" (दो० ४४) से सूचित की गई है। भुशुंडीजी की कथा गजमुक्ता है, क्योंकि जैसे हाथी के खाने के दाँत और तथा दिखाने के और होते हैं, वैसे ये देखने में काक हैं, पर बोलते मधुर हैं। यथा—"मधुर बचन बोलेउ तब कागा।" (उ० दो० ६२)। अतः, यह कथा मणि-माणिक्य-मुक्ता रूप होने से 'सुठि सुन्दर' है, क्योंकि यह सुकवियों द्वारा निर्मित है, पर इनकी कविताएँ जहाँ उत्पन्न हुईं वहाँ पर शोभित नहीं हुईं, जैसी मेरे संवाद में पड़कर हुईं। यथा—"मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहिगिरि गज सिर सोह न तैसी॥ नृपकिरीट तरुनी-तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥ तैसहि सुकवि कवित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं॥" (दो० १०)।

ज्ञान नृप है, यथा—"सचिव बिराग बिवेक नरेसू।" (अ० दो० २३४)। कर्म मुकुट है, यथा—"मुकुट न होहिं भूप-गुन चारी॥ साम दाम अरु दंड बिभेदा।" (लं० दो० ३७)। ये चारो प्रकार की नीतियाँ कर्म हैं। उपासना तरुणी है, यथा—"भगति सुतिय ···" (दो० १९)। इन तीनों की कविताएँ यहाँ के ज्ञान-घाट, कर्म-घाट और उपासना-घाट पर आकर सुशोभित हुईं। रहा तुलसी-सज्जन संवाद। उसे सीपी का मोती कहा है। यथा—"हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाती सारद कहहि सुजाना॥ जौं बरखइ बर बारि बिचारू। होहिं कवित - मुकुतामनि चारू॥ जुगुति बेधि पुनि पोहिअहि, रामचरित बर ताग। पहिरहि सज्जन बिमल उर, सोभा अति अनुराग॥" (दो० ११)। सज्जनों का उर पाकर इसकी भी शोभा बढ़ गई। अतः, यह भी 'सुठि सुन्दर' है। इस प्रकार चारों घाट रत्नमय हैं।

प्रथम ग्रंथकार ने प्रतिज्ञा की थी कि "मुनिन्ह प्रथम हरि-कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहिं भाई॥" (दो० २), पर यहाँ घाट रूप संवाद-रचना में इन्होंने किसी का अनुकरण नहीं किया, क्योंकि इस तरह चार-चार कल्पों की कथाएँ एकसाथ कहीं नहीं पाई जातीं। इसी से 'बिरचे बुद्धि बिचारि' लिखा है अर्थात् अपनी ही बुद्धि से काम लिया है।

'तेइ येहि पावन सुभग सर'—मैल एवं पाप दूर करनेवाली वस्तुएँ 'पावन' कहाती हैं और मन को आकृष्ट करनेवाली वस्तुएँ 'सुभग' (सुंदर) कही जाती हैं। दोनों बातें एकत्र कम होती हैं, पर यहाँ दोनों हैं। पावन, यथा—"निज गिरा पावनि करन कारन राम-जस तुलसी कह्यो।" (दो० ३६१)। ये घाट सुन्दर हैं, तभी तो विषयी लोगों के भी चित्त को आकर्षित करते हैं। यथा—"बिषइन्ह कहँ पुनि हरिगुन-ग्रामा। श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥" (उ० दो० ५२)।

सप्त प्रबंध सुभग सोपाना। ज्ञाननयन निरखत मन माना॥१॥

अर्थ—सातो प्रबंध (काण्ड) इस मानस की सुन्दर सीढ़ियाँ हैं जिन्हें ज्ञानरूपी नेत्र द्वारा देखते ही मन प्रसन्न हो जाता है।

विशेष—'सप्त प्रबंध'—प्रथम घाट कहे, घाटों में सीढ़ियाँ भी होती हैं। इन्हें अब बतलाते हैं कि सात कांड ही सात सीढ़ियाँ हैं। इन सब पर राम-सुयशरूपी जल भरा है। इन्हीं पर से आगे कविता-सरयू बहेगी। इसपर प्रश्न हो सकता है कि जल-भरा होने से सीढ़ियाँ दिखाई कैसे देंगी? इसलिये उत्तरार्द्ध में कहते हैं—"ज्ञाननयन निरखत मनमाना।" सातो कांड—बाल, अयोध्या आरण्य, किष्किंधा, सुन्दर, लंका और उत्तर के नामों से प्रसिद्ध हैं। यद्यपि यह भी कहा जाता है कि ग्रंथकार ने इन (बाल आदि) नामों को नहीं लिखा, लोगों ने अन्य रामायणों की रीति से नाम रख लिये हैं, तथापि इन नामों को माने बिना भी काम नहीं चलता। जैसे ग्रंथभर में कहीं भी किष्किंधा का नाम नहीं आया है। यदि चौथे प्रबंध का किष्किंधा नाम न मानें तो—"मंत्रिन पुर देखा बिनु साईं।" आदि वाक्यों में 'पुर' का नाम कहाँ से जाना जायगा?

'प्रबंध' का अर्थ प्रकर्ष करके बाँधना है। नीचे की सीढ़ी दाबकर ऊपर की सीढ़ी बाँधी जाती है, वैसे यहाँ एक कांड की फल-स्तुति का दूसरे कांड के मंगलाचरण से संयोग होना ही 'दबाव' है और कांडों का सम्बन्ध मिलाना सीढ़ियों का जोड़ना है। यथा—

बालकांड का अंत—"आये राम ब्याहि घर जबते। बसे अनंद अवध सब तबते॥" पर है, इसका जोड़ अयोध्याकांड के आदि—"जबते राम ब्याहि घर आये। नित नव मंगल मोद बधाये॥" से है। इन दोनों अर्द्धालियों के बीच का प्रसंग ("प्रभु बिवाह जस भयेउ उछाहू।"—से—"जो दायक फल चारि" तक) 'दबाव' है। इस दबाव (दोनों जोड़ों के बीच) में चूना दिया जाता है, वैसे ही सातो कांडों के मंगलाचरण में संस्कृत के श्लोक सात्त्विक देववाणी में होने से सफेद चूने की तरह हैं। इनसे दोनों जोड़ों को बाँधा है।

अयोध्याकांड का अंत—"भरत-चरित करि नेम, तुलसी जे सादर सुनहिं···।" पर है, इसका जोड़ आरण्यकांड के आदि-"पुर-नर-भरत-प्रीति मैं गाई।" से है। बीच का प्रसंग 'दबाव' है।

आरण्यकांड का अंत—"सिर नाइ बारहिं बार चरनन्हि···" या 'देखी सुन्दर तरुवर छाया। बैठे अनुज सहित रघुराया॥" पर है, इसका जोड़ किष्किन्धाकांड के आदि—"आगे चले बहुरि रघुराया।" से है। बीच का प्रसंग 'दबाव' है।

किष्किन्धाकांड का अंत—"जामवन्त मैं पूछउँ तोही।" पर है, इसका जोड़ सुंदरकांड के आदि—"जामवंत के वचन सुहाये।" से है। बीच का भाग 'दबाव' है।

सुंदरकांड का अंत—"निज भवन गवनेउ सिंधु श्रीरघुपतिहिं यह मत भायेऊ।" पर है, इसका जोड़ लंकाकांड के आदि—"सिंधु बचन सुनि राम, सचिव बोलि ··" से है। बीच का प्रसंग 'दबाव' है।

लंकाकांड का अन्त—"प्रभु हनुमंतहिं कहा बुझाई। धरि बटु रूप···तुम चलि आवहु।" पर है, इसका जोड़ उत्तरकांड के आदि—"राम बिरह-सागर महँ, भरत मगन मन होत। बिप्र-रूप धरि पवनसुत आइ गयेउ जनु पोत॥" से है। इसके बीच में दोनों कांडों के 'दबाव'-प्रसंग बहुत हैं, क्योंकि सीढ़ी नीचे से बँधती है और यह ऊपर की सीढ़ी है। अतः, इसमें 'दबाव' अधिक चाहिये ही।

बालकांड के आदि में और उत्तरकांड अंत में श्लोक अधिक हैं, क्योंकि नीव में चूने की मजबूती और ऊपरी भाग में भी चूने की गच चाहिये।

(२) 'ज्ञाननयन निरखत मनमाना।'—उत्तरकांड दो० १२८ में कहा है—"येहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति-भगति केर पंथाना॥" इससे इसके भाव स्पष्ट हो जाते हैं अर्थात् सातो सोपान श्रीराम-

विशेष—(१) 'सुठि सुंदर संवाद बर'—श्रोता-वक्ता के प्रश्नोत्तर को 'संवाद' कहते हैं। इन संवादों के श्रोता-वक्ता श्रेष्ठ हैं। अतः, 'बर' कहा है। संवाद-पक्ष में 'सुठि सुंदर' और घाट के पक्ष में 'मनोहर' कहा है, क्योंकि सुंदरता के उत्कर्ष में मनोहरता आ जाती है। यथा—"तब देखी मुद्रिका मनोहर। राम नाम अंकित अति सुंदर ॥" (सु० दो० १२)। अतः, वस्तु-भेद नहीं है। श्री रामजी के चरित मनोहर हैं, अतः उनके घाट भी मनोहर होने ही चाहिये। यथा—"परम मनोहर चरित अपारा। करत फिरत चारिउ सुकुमारा ॥" (दो० २०२)।

(२) इस ग्रंथ में चार संवाद हैं, वे ही घाट-रूप हैं। घाट से जल ग्रहण करना सुगम होता है। वैसे इन संवादों से चरित-सम्बन्धी क्रमशः प्रपत्ति (शरणागति), कर्म, ज्ञान और उपासना के गूढ़ रहस्य सुगमता से समझ में आ जायँगे।

१—सबसे पूर्व श्री गोस्वामी जी का संवाद प्रारंभ हुआ। यथा—"कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई ॥" (दो० ३४)। इसी से यह 'पूर्व घाट' कहलाया। प्रायः तालाबों में पूर्व की ओर ही जल बहने की ढालू भूमि होती है। अतः, उधर ही से लूले, लँगड़े एवं पशु वगैरह भी जल पीने आते हैं। इसीसे वह 'गो-घाट' कहाता है। वैसे कर्म ज्ञानादि होन दोनों के लिये 'प्रपत्ति घाट' एवं 'दैन्य घाट' भी कहाता है। गोस्वामी जी ने प्रपन्नों (दीनों) के आश्वासन के लिये प्रपत्ति की सँभाल भी जहाँ-तहाँ की है। यथा—"भव-भंजन रघुनाथ, भजु तुलसी तजि मान मद ॥" (दो० ११४)।

२—मानसकार ने अपना संवाद-रूप घाट कर्मप्रधान याज्ञवल्क्य-भरद्वाज के संवाद-रूप घाट से मिलाया है। यथा—"कहउँ जुगल मुनिबर्य कर, मिलन सुभग संवाद ॥" (दो० ४१)। यह माघ-स्नान के सम्बन्ध से प्रारंभ है। अतः, कर्मप्रधान पंचायती घाट कहाता है। प्रदक्षिणा-क्रम से यह 'दक्षिण घाट' है। इन्होंने कर्म की सँभाल जहाँ-तहाँ की है, यथा—"भरद्वाज सुनु जाहि जब, होइ बिधाता बाम। धूरि मेरु सम जनक जम, ताहि ब्याल सम दाम ॥" (दो० १७५)।

३—याज्ञवल्क्य ने अपना संवाद-रूप घाट ज्ञानप्रधान शिवजी के संवाद-रूप घाट में मिलाया है। यथा—"कहउँ सुमति अनुहारि अब, उमा-संभु-संवाद।" (दो० ४७)। "झूठेउ सत्य जाहि बिनु जानें। ··" (दो० १११) आदि ज्ञान संबंध से प्रारंभ होने के कारण यह 'ज्ञान-घाट' है। उपर्युक्त क्रम से यह पश्चिम का 'राजघाट' है। इन्होंने ज्ञान की सँभाल भी की है। यथा—"बोले बिहँसि महेस तब, ज्ञानी मूढ़ न कोइ। जेहि जस रघुपति करहिं जब, सो तस तेहि छन होइ ॥" (दो० १२४)।

४—शिवजी ने अपना संवाद रूप घाट उपासना प्रधान काकभुशुंडीजी के संवाद-रूप घाट में मिलाया है। यथा—"सुनु सुभ कथा भवानि,··· ··कहा भुसुंडि बखानि, सुना बिहँगनायक गरुड़ ॥ सो संवाद उदार, जेहि बिधि भा आगे कहब ॥" (दो० १२०)। इन्होंने अनुराग-पूर्वक प्रारंभ किया। यथा—"प्रथमहिं अति अनुराग भवानी ·· · " (उ० दो० ६२)। इसीसे 'उपासना-घाट' है। उपर्युक्त क्रम से यह उत्तर का 'पनिघट' है। इन्होंने उपासना की सँभाल भी जहाँ-तहाँ की है। यथा—"कुलिसहुँ चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहुँ चाहि। चित्त खगेस राम कर, समुझि परइ कहु काहि ॥" (उ० दो० १९)।

इन चारों घाटों की समाप्ति विलोम (उलटे क्रम) से लगी है, क्योंकि जिसने जिसका आवाहन किया है, उसी के द्वारा उसका विसर्जन भी योग्य है। यथा—४—गयउ गरुड़ बैकुंठ तब, हृदय राखि रघुबीर ॥" (उ० दो० १२५) । यह उत्तर घाट की इति शिवजी ने लगाई। ३—"राम-कथा गिरिजा मैं बरनी।" (उ० दो० १२८)। यह पश्चिम घाट की इति है। इसीके आगे अपनी इति पर याज्ञवल्क्य के

वचन है—२—"यह सुभ संभु-उमा-संवादा। सुखसंपादन समन बिपादा।" (उ० दो० १११)। यह दक्षिण घाट की छवि है। इसी पावन चरित का हेतु लेकर श्रीगोस्वामीजी ने इति कही। १—रघुपति-कृपा जथामति गावा। मैं यह पावन चरित सोहावा॥" (उ० दो० १११)।

(३) तालाब के घाट जैसे एक दूसरे से मिले होते हैं, वैसे ही ये चारों भी परस्पर सम्बद्ध हैं। मानस सर के राजघाट पर इन्द्रादि उत्तम देव, पनिघट झँझरीदार घाट पर देवांगनाएँ, पंचायती घाट पर सामान्य देवगण और गोघाट पर देवों के वाहन एवं और लूले लँगड़े स्नानादि करते हैं।

वैसे ही इन संवादात्मक घाटों के भी स्वरूप हैं—१—पहला गोघाट एव दैन्य घाट दीनतापूर्वक है। यथा—"करन चहउँ रघुपति-गुन-गाहा। लघुमति मोरि चरित अवगाहा॥ सूझ न एकउ अंग उपाऊ। ..." (दो० ७) इत्यादि। यह दीनों के लिये सुगम 'प्रपत्ति' घाट है जो आचार-विचार-हीन पशुतुल्य एवं कर्म-धर्म हीन लूले-लँगड़े हैं, वे इस दृष्टि से यहीं अवगाहन करें।

२—दूसरे पंचायती घाट में स्मार्तों की दृष्टि से श्रीराम-भक्ति का निरूपण है। श्री याज्ञवल्क्यजी ने प्रथम श्रीराम-कथा कहने का संकल्प किया। यथा—"तात सुनहु सादर मन लाई। कहउँ राम कै कथा सुहाई॥" (दो० ४६)। फिर प्रथम गौरी, गणेश और महेश का महत्त्व-वर्णन-पूर्वक मंगल किया। यथा—शिव-महत्त्व—"संकर जगतबंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावहिं सीसा॥" (दो० ४१); "सब सुर बिष्णु बिरंचि समेता। गये जहाँ सिव कृपानिकेता॥" (दो० ८७); शक्ति-महत्त्व—"मैना सत्य सुनहु मम बानी। जगदंबा तव सुता भवानी। अजा अनादि सक्ति अबिनासिनि ...।" (दो० ६७); गणेश-महत्त्व—"मुनि-अनुसासन गनपतिहिं, पूजे संभु भवानि।" (दो० १००) इत्यादि। इसका प्रयोजन यह कि इन सबके उपासक भी अपने इष्ट का महत्त्व पाकर इस मानस में प्रवेश करें। तभी यह कथा 'सकल-जन-रंजनि' होगी। यथा—"बुध बिश्राम सकल जन रंजनि। रामकथा..." (दो० ३०)। अतः, सर्वसाधारण के प्रवेश योग्य होने से यह पंचायती घाट है।

३—तीसरा राजघाट है। इसमें ज्ञान-दृष्टि से मानस का प्रवेश एवं भक्ति का निरूपण है। अतः, श्रेष्ठ ज्ञानी लोग इस घाट से प्रवेश करें। इसमें प्रथम ब्रह्मविद्या रूपी श्री उमाजी को ब्रह्म के सगुणत्व में संदेह हुआ। यथा—"ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज,...सो कि देह धरि होइ नर,..." (दो० ५०)। शिवजी ने समाधान भी किया। यथा—"आदि अंत कोउ जासु न पावा।...सोइ दसरथ-सुत भगत हित,..." (दो० ११८)। इनकी दृष्टि से प्रवेश करने पर यह 'मानस' "पुनि बिबेक पावक कहँ अरनी।" (दो० ३०) रूप से ज्ञात होगा।

४—चौथा पनिघट है। यथा—"पनिघट परम मनोहर नाना। तहाँ न पुरुष करहिं असनाना॥" (उ० दो० २८)। यह झँझरीदार घाट (सती) स्त्रियों के स्नान आदि के लिये होता है। यह अनन्य उपासना का घाट है। उपासक अपने इष्ट का अपकर्ष नहीं सह सकते। अतः, गरुड़जी ने काकजी से प्रश्न किया और उन्होंने अनुराग-पूर्वक इष्ट (उपास्य देव) का ही मंगलाचरण किया। इष्ट की महिमा ही से प्रबोध किया। यथा—"राम काम सतकोटि सुभग तन।..." (उ० दो० ६०) तथा—"सेवक-सेव्यभाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।" (उ० दो० ११९) इत्यादि। इसी दृष्टिवालों के लिये कहा है कि—"रामकथा कलि-कामद गाई। सुजन-सजीवनमूरि सुहाई॥" (दो० ३०)। इस संवाद में श्रीराम-परत्ववार्ता के अतिरिक्त अन्य वार्ता नहीं है, ऐसी ही अनन्यता सती स्त्रियों की होती है।

(४) 'बिरचे बुद्धि बिचारि'—श्री गोस्वामीजी ने विचारा कि शिव-कृत मानस दुर्गम है। यथा—'यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशंभुना दुर्गमम्।" (उ० दो० १३०)। उसे उक्त चार प्रकार के अधिकारियों को सुगम कराने के लिये आपने चार संवाद-रूप घाटों का अपनी बुद्धि से निर्माण किया।

भक्ति के क्रमशः ऊर्ध्वगति के मार्ग हैं। जैसे, प्रथम बालकांड है, इसमें श्रीरामजी के जन्म, व्रतबंध एवं विवाह आदि का वर्णन है। यथा—"उपबीत ब्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं।" (दो० ३६१)। यह कर्म है। कर्म का फल सुख है। अतः, इसका नाम 'सुखसंपादन' है। दूसरे सोपान में प्रेम-वैराग्य का वर्णन है। यथा—"सीयराम पद प्रेम, अवसि होइ भव-रस-बिरति।" (अ० दो० ३२६)। इसीसे इसका नाम—'प्रेम-वैराग्य संपादन' है। तीसरे में विमल-वैराग्य निष्कर्ष रूप में कहा गया है, यथा—"दीप-सिखा सम जुवति-तनु, मन जनि होसि पतंग।" (आ० दो० ४६)। अतः, इसका नाम 'विमल वैराग्य सम्पादन' है। चौथे में मनोरथ-सिद्धि फलरूप में कही गई है। यथा—"तिनकर सकल मनोरथ, सिद्ध करहिं त्रिसिरारि।" (कि० दो० ३०)। मनोरथ-सिद्धि से संतोष होता है। अतः, यह 'विशुद्ध-संतोष-सम्पादन' कहा गया है। पाँचवें में ज्ञान-प्राप्ति कही गई है। यथा—"सुख-भवन संसय-समन दमन बिषाद रघुपति-गुनगना।··· सादर सुनहिं ते तरहिं भव, सिंधु बिना जलजान॥" (सुं० दो० ६०) अर्थात् संशय-शमन एवं भव-निवृत्ति को ज्ञान कहते हैं। अतः, यह 'ज्ञान-संपादन' है। छठे की फलश्रुति में विज्ञान कहा गया है, यथा—"कामादि हर बिज्ञान कर ···" (लं० दो० १२१)। इसलिये यह 'विज्ञान-सम्पादन' कहा गया है। सातवें की फलश्रुति में 'अविरल-हरि-भक्ति' वर्णित है, यथा—"कामिहिं नारि पियारि जिमि, लोभिहिं प्रिय जिमि दाम। तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहि राम॥" (उ० दो० १३०)। इसीसे यह 'अविरल-हरि-भक्ति-संपादन' कहा गया है।

जैसे एक सीढ़ी से दूसरी सीढ़ी पर चढ़ा जाता है, वैसे क्रमशः साधनों के फलरूप सातों सोपान हैं अर्थात् कर्म से प्रेम-वैराग्य, उससे विमल वैराग्य, फिर संतोष, तब ज्ञान, पुनः विज्ञान, तत्पश्चात् अविरल-हरि-भक्ति प्राप्त होती है। इसी ज्ञान-विज्ञान के फलरूप पराभक्ति है। यथा—"ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥" (गीता १८/५४)। ये ही (सीढ़ियाँ) ज्ञान नयन से देखने पर मन प्रसन्न करनेवाली हैं।

रघुपति-महिमा अगुन अबाधा। बरनब सोइ बर बारि अगाधा॥२॥

शब्दार्थ—अगुन = गुणातीत होना। अबाधा = बाधा-रहित, एकरस। बरनब = कथन करना।

अर्थ—श्रीरघुनाथजी की निर्गुण एकरस महिमा का कथन ही उत्तम जल की गहराई है।

विशेष—'महिमा अगुन अबाधा'—यथा—"करहिं जोग जोगी जेहि लागी। कोहु मोहु ममता मद त्यागी॥ ब्यापक ब्रह्म अलख अबिनासी। चिदानंद निरगुन गुनरासी॥···महिमा निगम नेति कहि कहई। जो तिहुँ काल एकरस अहई॥" (दो० ३४०) तथा—"जानउँ महिमा कछुक तुम्हारी॥···ऊमरि तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥···" (आ० दो० १२) इत्यादि।

सगुण की लीला के वर्णन से जल की स्वच्छता कही गई और निर्गुण-महिमा से अगाधता, क्योंकि ऐश्वर्य-वर्णन एवं उसकी निर्लिप्ति से यश की गंभीरता होती है। प्रथम 'थल हृदय अगाधू' से स्थल की अगाधता कही थी, अब उसमें रहनेवाले जल की अगाधता बतलाई। 'अबाधा'—सगुण की महिमा लीला सम्बन्ध से न्यूनाधिक देखने में आती है। जैसे प्रभु ने श्रीसीता-विरह में विलाप आदि किये और नागपाश में बँधे, इत्यादि। पर निर्गुण-महिमा में बाधा नहीं है, सदा एकरस रहती है।

राम-सीय-जस-सलिल सुधासम। उपमा बीचि बिलास मनोरम॥३॥

अर्थ—श्रीसीताराम का यश अमृत के समान जल है, इसमें जो उपमाएँ दी गई हैं, वे ही मन को रमानेवाली लहरों के विलास हैं।

विशेष—'राम-सीय-जस···' का भाव यह कि श्रीरामयश में श्रीसीताजी का भी यश मिला, तो माधुर्य और शृंगार दोनों एकत्र हो गये। यह युगल यश भक्तों को विशेष आह्लादवर्द्धक होता है। इसी से पुष्पवाटिका एवं विवाह का प्रसंग इस ग्रंथ में सर्वोत्तम माना जाता है। "एक बार चुनि कुसुम सुहाये।"···से 'रघुपति चित्रकूट बसि नाना। चरित किये श्रुति-सुधा समाना॥" (आ० दो० १-२) तक। यहाँ श्रीसीतारामजी का गुप्त रहस्य है और 'श्रुति-सुधा समाना' कहा भी है। तथा—"रामसीय सोभा अवधि···" (दो० ३०६); "हृदय विचारहु धीर धरि, सिय रघुवीर बिवाहु।···येहि बिधि संभु सुरन्ह समुझावा।" (दो० ३१४)। 'उपमा बीचि बिलास···' उपमा एक अर्थालंकार है, जिसमें दो वस्तुओं में भेद रहते हुए भी उनका समान धर्म दिखाया जाता है। जिस वस्तु का वर्णन किया जाता है, उसे 'उपमेय' और जिसके साथ समता दी जाती है, उसे 'उपमान' कहते हैं। इसमें 'जिमि, तिमि, सम' आदि शब्द 'वाचक' और जिस गुण, लक्षण एवं देश की समानता दिखाई जाती है, वह 'धर्म' कहाता है। उपमा का प्रयोजन धर्म से रहता है। उपमा में चारों अंग (उपमेय, उपमान, वाचक और धर्म) होते हैं, तब वह पूर्ण-उपमा होती है। जैसे—'कमल-सम कोमल चरण' यह पूर्णोपमा है। इसमें कमल उपमान, चरण उपमेय, सम वाचक और कोमल धर्म है। इसी में तमाम अर्थालंकारों का अन्तर्भाव हो जाता है और अर्थालंकारों के विना सरस्वती विधवा की भाँति शोभाहीन हो जाती है। यथा—'अर्थालङ्काररहिता विधवेव सरस्वती'॥ (अग्निपुराण)। उदाहरण—'ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू' (दो० २१६) तथा 'स्यामसरोज दाम सम सुंदर। प्रभुभुज करिकर सम दसकंधर॥' (सुं० दो० ६) इत्यादि।

पुरइनि सघन चारु चौपाई। जुगुति मंजु-मनि-सीप सोहाई॥४॥

अर्थ—सुन्दर चौपाइयाँ ही घनी फैली हुई पुरइनें (कमल के पत्ते) हैं, कविता की युक्तियाँ उज्ज्वल मोतियों की सुन्दर सीपियाँ हैं।

विशेष—जैसे तालाबों में पुरइनें जल को आच्छादित कर, सघन फैली हुई हों, वैसे ही इस श्रीराम-चरितमानस में विस्तृत चौपाइयाँ हैं। इन्हीं की ओट में श्रीराम-सुयश रूपी जल है। जो भावार्थ के मर्मी हैं, वे ही श्रीरामसुयश रूपी जल को देखते हैं, अन्य तो पत्ते ही देखते हैं। यथा—"पुरइनि सघन ओट जल, बेगि न पाइय मर्म। मायाछन्न न देखिये, जैसे निर्गुन ब्रह्म॥" (आ० दो० ४०)। अतः, मर्मी ही राम-सुयश रूप जल का पान करते हैं, और लोग तो ऊपर की बातों में भटकते हुए, काव्य के ही गुण-दोषों पर दृष्टि रखते हैं।

'जुगुति मंजु मनि सीप···' जुगुति (युक्ति)—क्रिया से कर्म के छिपाने को युक्ति कहते हैं, यथा—"बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूपकिसोर देखि किन लेहू॥" "पुनि आउब येहि बिरियाँ काली।" (दो० २३३) तथा—"देखित पीर बिहँसि तेहि गोई। चोरनारि जिमि प्रगटि न रोई॥" (अ० दो० २६)। "गूलरि फल समान तव लंका। बसहु मध्य तुम्ह जन्तु असंका॥ मैं बानर फल खात न बारा। आयसु दीन्ह न राम उदारा॥···जुगुति सुनत रावन मुसुकाई।" (लं० दो० ३३)।

युक्ति के भीतर जो बात है, वही मोती है। मोती बहुमूल्य होता है, वैसे युक्ति की बात भी बुद्धि की चतुरता से प्रकट होने पर अच्छा विनोद प्रकट करती है। जैसे सीप में मोती दिखाई नहीं पड़ता, वैसे ग्रंथकार ने भी मोती को स्पष्ट नहीं लिखा, किंतु मणि की सीप कहकर जनाया है।

शंका—पुरइन के साथ ही कमल कहना था, पर यह न कहकर बीच ही में 'मणि-सीप' क्यों कहा ?

समाधान—पुरइन के नीचे सीपियाँ रहती हैं, ऐसे ही चौपाई के भीतर युक्तियाँ हैं। सुंदर युक्तियाँ सुंदर मोती हैं, इसलिये इन्हें साथ ही कहकर तब ऊपर की अन्य बातों (कमल आदि) का वर्णन करेंगे।

छंद सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा ॥५॥

अर्थ—इसमें जो सुंदर छन्द, सोरठे और दोहे हैं, वे ही बहुत रंगों के कमल-समूह शोभित हैं ॥५॥

विशेष—'छंद'—वह वाक्य - निबंध है जिसमें वर्ण या मात्रा की गणना के अनुसार यति आदि का नियम हो। यह दो प्रकार का होता है—एक वर्णिक और दूसरा मात्रिक। जिस छंद के प्रत्येक चरण की गणना वर्णों द्वारा हो और लघु-गुरु का नियम हो, वह वर्णिक (वर्णवृत्त) है और जिसमें केवल मात्राओं की संख्या के अनुसार यति आदि का एवं प्रत्येक चरण का नियम होता है, वह मात्रिक छंद कहा जाता है। हरिगीतिका, दोहा, सोरठा, चौपाई आदि मात्रिक छंद हैं और अनुष्टुप, नगस्वरूपिणी, तोमर आदि वर्णिक छंद हैं। इस ग्रंथ में प्रायः १४ प्रकार के छंद पाये जाते हैं, विस्तारभय से यहाँ नहीं लिखे गये।

'बहुरंग कमल-कुल'—बहुरंग से यह दिखाया कि इन कमलों में अनेक रस भरे हुए हैं। इस ग्रंथ में चार प्रकार के कमलों का होना पाया जाता है। यथा—"मानिक मरकत कुलिस पिरोजा। चीरि कोरि पचि रचे सरोजा ॥" (दो० २८७)। इसमें चार प्रकार के रत्नों के रंगों के अनुसार चार रंगों के कमल कहे गये। वे लाल, श्याम, पीत और श्वेत रंग के कहे जाते हैं। यथा—"नील पीत जलजाभ सरीरा।" (दो० १३२) "कंजारुन लोचन" (सुं० दो० ४४); "कमल-सित-श्रेनी।" (दो० ३११)। 'कुल' अर्थात् एक-एक रंग में कई-कई भाँति के होते हैं।

कमल पुरइन से प्रकट होता है, वैसे छंद-सोरठा आदि भी चौपाई से निकलते हैं। यथा—"सो वर मिलिहि जाहि मन राँचा।" यह चौपाई का उत्तरार्द्ध है, इसी में से छंद निकला, तब उसके ही शब्दों को लेकर प्रकट हुआ, यथा—"मन जाहि राँच्यो मिलिहि सो वर···" (दो० २३६)। सब पुरइनों से कमल नहीं होता, वैसे आठ, नौ, दस और कहीं-कहीं ११, १५, २६ चौपाइयों (अर्द्धालियों) पर छंद-सोरठा आदि होते हैं।

लाल कमल भारत के प्रायः सभी प्रान्तों में मिलते हैं। श्वेत कमल काशी के आस-पास और जहाँ-तहाँ हैं। नील मिथिला के उत्तरी भाग में नौआही सीतामढ़ी के अगलबगल, विशेष कर काश्मीर के उत्तर तिब्बत, चीन आदि में और पीत कमल यहाँ कहीं-कहीं पाये और सुने जाते हैं।

अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरंद सुबासा ॥६॥
सुकृतपुंज मंजुल अलिमाला। ज्ञान-बिराग-बिचार मराला ॥७॥

शब्दार्थ—सुकृतपुंज = पुण्य-समूह या पुण्य-समूह वाले। अलिमाला = भौंरों का समूह।

अर्थ—उपमारहित अर्थ, सुंदर भाव और सुन्दर भाषा ही पराग, मकरंद और सुगंध हैं ॥६॥ पुण्यों के समूह सुन्दर भमरों की पंक्ति हैं तथा ज्ञान, वैराग्य और विचार हंस हैं ॥७॥

विशेष—(१) 'अरथ अनूप…' ऊपर कमल कहे गये। अब उनके गुण कहे जाते हैं। जैसे शब्द के भीतर अर्थ होता है, वैसे ही पराग फूल की पंखुरी के भीतर की ओर रहता है। जैसे मकरंद पराग के नीचे रहता है और सहज में दिखाई नहीं पड़ता, वैसे सुन्दर भाव भी अर्थ के अंतर्गत होते हैं। सुगंध का विस्तार दूर तक होता है, वैसे ही यह प्रधानतया अवधी भाषा में है, पर इसमे पूर्वी, बंगाली, पंजाबी, बुंदेलखंडी, गुजराती, फारसी, अरबी आदि दूर-दूर की भाषाएँ भी सम्मिलित हैं और दूर-दूर के देशों में प्रचार है। इसमें पूर्वार्द्ध में उपमेय और उत्तरार्द्ध में उपमान क्रमशः हैं। अतः, यथासंख्यालंकार है। यों तो यह प्रकरण ही सांगोपांग रूपक-अलंकार का है।

(२) 'सुकृतपुंज…' कमल और उसके गुण कहकर अब उसके स्नेही हंस को कहते हैं, क्योंकि हंस कमल पर बैठता है। यथा—"हिय सुमिरी सारदा सुहाई। मानस ते मुख पंकज आई॥ बिमल बिवेक धरम नयसाली। भरत भारती मंजु मराली॥" (अ० दो० २९९)। "पुनि नभसर मम कर-निकर, कमलन्हि पर करि बास। सोभत भयेउ मराल इव, संभु सहित कैलास॥" (लं० दो० ११)।

इस ग्रंथ मे जहाँ-तहाँ पुण्यकर्म के स्वरूप वर्णित हैं, जैसे विप्रपद-पूजा और परोपकार आदि। और, पुण्य-पुरुष भी बहुत जगह कहे गये हैं। यथा—"पुन्य एक जगह महँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्रपद-पूजा॥" (उ० दो० ४४) "परहित सरिस धर्म नहिं भाई।" (उ० दो० ४०) तथा—"ते पुनि पुन्य पुंज हम लेखे। जे देखिहि देखिहहिं जिन्ह देखे॥" (अ० दो० ११९); "हम सम पुन्य-पुंज जग थोरे। जिन्हहि राम जानत करि मोरे॥" (अ० दो० २०२); "पुन्य पुरुष कहँ महि सुख छाई।" (दो० २१३)। 'ज्ञान बिराग बिचार मराला।' यहाँ ज्ञान, विराग और विचार हंस कहे गये हैं, क्योंकि हंस श्वेत रंग के होते हैं। वैसे ही ज्ञानादि भी सत्त्व गुण से होते हैं। उस गुण का भी रंग श्वेत हो माना जाता है। हंस दूध और जल अलग करके दूध-मात्र ही पी लेता है, वैसे ही इनसे सत्-असत् का निर्णय होकर सत्-मात्र का ग्रहण होता है।

'बिचार'—यह सोचना कि सुत-बित-देह-गेह-स्नेह रूप नानात्व जगत् का व्यवहार भ्रम से है। भ्रमात्मक व्यवस्था भी अनित्य है। यथा—"देखत ही कमनीय कछू नाहिन पुनि किये बिचार। ज्यों कदली तरु मध्य बिलोकत कबहुँ न निकसत सार॥" (वि० १८८)। तब वैराग्य उत्पन्न होता है, जैसे मनु-शतरूपा को प्रथम विचार उठा कि—"होइ न बिषय बिराग, भवन बसत भा चौथपन। हृदय बहुत दुख लाग, जनम गयो हरि-भगति बिनु॥" (दो० १४२)। तब वैराग्य उत्पन्न हुआ, यथा—"नारि समेत गवन बन कीन्हा।" कहा है। फिर वैराग्य से ज्ञान होता है। यथा—"ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।" (उ० दो० ८९)। मान का सर्वथा निर्मूल हो जाना ज्ञान का लक्षण है। यथा—"ज्ञानमान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥" (आ० दो० १४)।

ज्ञानादि तीन हंस कहे गये हैं; क्योंकि हंस तीन ही प्रकार के होते हैं—हंस, कलहंस और राजहंस। यथा—'संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार॥" (दो० ६); "बोलत जल-कुक्कुट कल-हंसा।" (आ० दो० ४१) और "सखी संग लइ कुँअरि तब, चलि जनु राज-मराल।" (दो० १३४)।

कमल में भ्रमर और हंस वास करते हैं, वैसे इन छन्दादि में सुकृत एवं ज्ञानादि वास करते हैं, अर्थात् इनके कहने-सुनने से सुकृत होता है और ज्ञान, विराग तथा विचार हृदय में आते हैं।

धुनि अवरेब कवित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती॥८॥

अर्थ—(इस श्रीरामचरित-मानस में) ध्वनि, अवरेब, गुण और जाति ही—जो कविता के भेद हैं—बहुत प्रकार की सुन्दर मछलियाँ हैं।

विशेष—(१) यहाँ ध्वनि, अवरेब, कवित्त-गुण और कवित्त-जाति—इन चार को मछली कहा है, क्योंकि मछलियाँ चार जातियों की होती हैं। फिर इन एक-एक में भी अनेक भेद होते हैं। मछली जल के भीतर रहती है। इसी तरह ध्वनि आदि भी काव्य के अंतर्गत रहती हैं। मीन के चार भेद हैं। यथा—"बुधि बल सील सत्य सब मीना।" (अ० दो० ४४)।

'धुनि' (ध्वनि)—जहाँ शब्दार्थ के सामान्य रूप के कुछ भिन्न ही अर्थ या भाव झलकता हो, उसे ध्वनि कहते हैं—चाहे वह वाच्यार्थ से प्रकट हो अथवा लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ से निकले। व्यंग्य भी ध्वनि के ही अन्तर्गत होता है। भेद यही है कि व्यंग्य में वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न एक तीसरे ही प्रकार के विलक्षण अर्थ की प्रतीति होती है। यथा—"समर बालि सन करि जसु पावा।" (सुं० दो० ११); पुनः—"पुनि आउब ग्रेहि बिरियाँ काली। अस कहि मन बिहँसी इक आली॥" (दो० २३३)। इसमें ध्वनि यह है कि आज चला जाय, तब तो कल इसी समय फिर आने का संयोग होगा। तथा—"जेहि बिधि होइहि परम हित, नारद सुनहु तुम्हार।···कुपथ माँग रुज ब्याकुल रोगी। बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी॥···येहि बिधि हित तुम्हार मैं ठयेऊ।" (दो० १३२)। इसमें ध्वनि यह है कि मैं अपना रूप तुम्हें न दूँगा; पर ऊपर अर्थ से हित कहने में मनोरथ-सिद्धि मालूम होती है।

'अवरेब'—तिरछी या टेढ़ी चाल अर्थात् जिसमें शब्दों का उलट-फेर (अन्वय) करने पर ठीक अर्थ निकले। यथा—"रामकथा कलि पन्नग-भरनी।" (दो० ३०)। इसमें 'भरनी' को उलटकर रामकथा के साथ लगाना पड़ता है। एवं—"रामकथा कलि बिटप कुठारी।" (दो० ३०) तथा—"इहाँ हरी निसचर बैदेही। बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही॥" (कि० दो० १); इसमें 'इहाँ' को 'खोजत' के साथ लगाना चाहिये।

'गुन'—जिससे चित्त को हर्ष हो। उत्कर्ष सम्पादन में यह रस का मित्र कहाता है। गुण मुख्य तीन हैं और वे माधुर्य, प्रसाद और ओज के नामों से प्रसिद्ध हैं। माधुर्य—जिससे श्रोता का चित्त द्रवीभूत हो, टवर्ग और कटु वर्ण न पड़ें और अनुस्वार-युक्त हो, कोमल वर्ण भी पड़ें। यह कर्ण-प्रिय उपनागरिका वृत्ति में होता है। यथा—"उदित उदयगिरि मंच पर, रघुबर बालपतंग।" (दो० २५४) "रामचंद्र मुखचंद्र छबि, लोचन चारु चकोर। करत पान सादर सकल, प्रेम प्रमोद न थोर॥" (दो० ३२१)।

'प्रसाद'—जिसमें भाव की झलक स्पष्ट हो, पद कोमल हों, इसकी प्रवृत्ति गौड़ी वृत्ति में है। यथा—"लागे बिटप मनोहर नाना। बरन बरन बर बेलि बिताना॥" (दो० २२६) तथा—"ज्ञानी तापस सूर कवि, कोविद गुनआगार। केहि कै लोभ बिडंबना, कीन्ह न येहि संसार॥" (उ० दो० ७०)।

'ओज'—यह प्रायः परुषा वृत्ति में होता है और वीर, रौद्र तथा बीभत्स रसों में इसकी प्रवृत्ति रहती है। इसमें उद्धत शब्द और संयोगी वर्ण एवं बड़े-बड़े समास होते हैं। इसमें कवर्ग, टवर्ग की अधिकता होती है। यथा—"धिग धर्मध्वज धंधक धोरी। (दो० ११); "धरु धरु मारु मारु धरु मारू।" (लं० दो० ५२); "कटकटहिं जंबुक भूत प्रेत पिसाच खप्पर संचहीं। (आ० दो० १६); "मर्कट बिकट भट जुटत कटत न लटत तन जर्जर भये।" (लं० दो० ४८) इत्यादि।

'जाति'—जिसके अर्थ स्पष्ट देख पड़ें और जैसा जिसका रूप, गुण, स्वभाव हो, वैसा ही वर्णन किया जाय। यथा—"जाको जैसो रूप गुन, कहिये ताको साज। तासों जाति सुभाव कहि, बरनत सब कविराज॥" (भाषाभूषण)। उदाहरण—"मनु जाहि राँच्यो मिलिहि सो बर सहज सुंदर साँवरो।'

(दो० १२६); "विद्या-विनय-निपुन गुन सीला। खेलत खेल सकल नृप-लीला॥" (दो० २०४)। "राजकुमारि बिनय हम करहीं।"···से—"को आहिं तुम्हारे॥" (अ० दो०.११५-११६) तक।

(२) ध्वनि आदि के साथ मानसर की चार प्रकार की मछलियों से समता—

(क) पाठीन—यह बड़ी मछली होती है। इसे पढ़िना, रोहू भी कहते हैं। यह बिना सेहरे की होती है। इसका पेट लम्बा, मुख काला होता है और इसके कंठ में मंजरी होती है। यह जल के भीतर रहती है। भेदी ही इसको जानते हैं। वैसे ही ध्वनि भी शब्दों के भीतर होती है।

(ख) बामी—यह मुख और पूँछ मिलाकर चलती है, जैसे अवरेब में आगे-पीछे के शब्द मिलाने से अर्थ निकलता है।

(ग) सिधरी (सहरी)—ये छोटी होती हैं और दस-बीस मिलकर एक साथ चलती हैं, वैसे ही गुणकाव्य में भी दो-दो ती-तीन अक्षरों के पद होते हैं और उनमें यमक, अनुप्रास की आवृत्तियाँ होती हैं। उनमें दो-चार मिलकर चलने में समता है।

(घ) चेल्हवा—यह चमकती हुई चलती है और पृथक् रहती है। वैसे जातिकाव्य में भी अर्थ शब्दों से चमकता है।

सम्बन्ध—ऊपर-"पुरइनि सघन" से—"कवित गुन जाती।" तक तल्लीन जलचरों की उपमाएँ दी गई, जो सर से बाहर क्षण भर भी नहीं रह सकते। वैसे ध्वनि आदि भी शब्दों के भीतर ही रहती हैं। अब आगे तद्गत की उपमा दी जायगी—अर्थात् मगर-घड़ियाल आदि की जो सर से बाहर भी आ जाते हैं। पूर्व मीन और अब जलचर कहकर शब्द-भेद भी किया है—

अरथ धरम कामादिक चारी। कहब ज्ञान बिज्ञान बिचारी॥ ९॥
नव रस जप तप जोग बिरागा। ते सब जलचर चारु तड़ागा॥१०॥

अर्थ—अर्थ, धर्म काम और मोक्ष—ये चारो और ज्ञान-विज्ञान का विचार करके कहना, ॥९॥ नवो रसों, जप, तप, योग और वैराग्य (का कथन)—ये सब इस सुंदर तालाब के जलचर हैं॥१०॥

विशेष—(१) 'अरथ धरम कामादिक······' यहाँ शंका होती है कि ऊपर—'ज्ञान-बिराग-बिचार मराला।' कह ही आये हैं, फिर यहाँ ज्ञान क्यों कहा गया? इसका समाधान एक तो यह भी है कि वहाँ ज्ञान का स्वरूप कहा गया और यहाँ उसका कथन। दूसरा यह कि जैसे हंस दूर से देख पड़ता है, वैसे कहीं-कहीं ज्ञान का स्वतंत्र प्रसंग विस्तार से कहा है। जहाँ ज्ञान का आनुषंगिक वर्णन संकोच से है, वहाँ जलचर जानना चाहिये, क्योंकि जलचर जल में गुप्त रहते हैं।

जैसे मछली आदि जाल, वंशी से ऊपर करने से दिखाई पड़ती हैं, वैसे ध्वनि आदि बुद्धि की चतुरता से दिखाई देती हैं और मगर आदि जलचर स्वतः देख पड़ते हैं, वैसे यहाँ के अर्थ आदि स्वतः स्पष्ट रहते हैं।

यहाँ उपर्युक्त अर्थ आदि १९ वस्तु-कथनों के उदाहरण इस ग्रंथ से दिये जाते हैं—

अर्थ—जैसे सुग्रीव-विभीषण को धन-धाम प्राप्त हुए। यथा—"पावा राजकोप पुर नारी।" (कि० दो० १०) तथा—"सोइ संपदा बिभीषनहि, सकुचि दीन्ह रघुनाथ।" (सुं० दो० ४९) यह अर्थ है।

धर्म—"बरनाश्रम निज-निज धरम, निरत बेद-पथ लोग।" (उ० दो० २०)। यह धर्म है।

काम—कामना सिद्ध होना, जैसे पुत्र-काम यज्ञ से राजा दशरथ की एवं औरों की कामना-पूर्ति भी हुई। यह काम है।

मोक्ष—यथा—"मुकुति कीन्ह असि नारि।" (आ० दो० ३६); कीन्हें मुकुत निसाचरभारी।" (लं० दो० ११३)। यह मोक्ष हुआ।

ज्ञान-विज्ञान—उ० दो० ११६ से ११७ तक तथा आ० दो० १३ से १६ तक।

नौरस—यथा—शृंगार—"नारि बिलोकहिं हरषि हिय, निज-निज रुचि अनुरूप। जनु सोहत सिंगार धरि, मूरति परम अनूप॥" (दो० २४१) एवं और भी जनकपुर के प्रसंगों में देखें। आरण्यकांड 'एक बार चुनि कुसुम सुहाये''''' (आ० दो० १) में भी शृंगार रस है। ये उदाहरण संयोग शृंगार के हैं। वियोग शृंगार के उदाहरण भी आरण्य, किष्किंधा और सुन्दर में भरे पड़े हैं, यथा—"कहेउ राम बियोग तव सीता। मो कहँ सकल भयेउ बिपरीता।" (सुं० दो० १४) इत्यादि।

हास्य—"नाना जिनिस देखि प्रभु कीसा। पुनि-पुनि हँसत कोसलाधीसा॥" (लं० दो० ११७)।

करुणा—"मुख सुखाहिं''''' मनहुँ करुन रस कटकई, उतरी अवध बजाइ॥" (अ० दो० ४६)।

बीभत्स—"वृष्टि होइ रुधिरोपल छारा।" (लं० दो० ४५)।

रौद्र—"जौं सत संकर करहिं सहाई। तौ मारउँ रन राम-दुहाई॥" (लं० दो० ७४)।

भयानक—"डरे कुटिल नृप प्रभुहिं निहारी। मनहु भयानक मूरति भारी॥" (दो० २४०)।

वीर—"उठि कर जोरि रजायसु माँगा। मनहुँ वीर रस सोवत जागा॥" (अ० दो० २२४)।

अद्भुत—"जो सब अद्भुत देखेउँ, बरनि कवनि बिधि जाइ।" (उ० दो० ८०)।

शांत—"बैठे सोह कामरिपु कैसे। धरे सरीर सांत रस जैसे॥" (दो० १०६)।

जप—"द्वादस अच्छर मंत्र पुनि, जपहिं सहित अनुराग।" (दो० १४३)।

तप—पार्वतीजी, नारदजी, मनु-शतरूपा और रावण आदि का तपःप्रसंग देखिये।

योग—यम, नियम, आसन, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान, धारणा और समाधि के भेदों से अष्टांग है। इस ग्रंथ में शिवजी की एवं नारदजी की समाधि वर्णित है।

विराग—"कहिय तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी॥" (आ० दो० १४)।

सुकृती साधु नाम-गुन गाना। ते बिचित्र जल-बिहँग समाना॥११॥
संत-सभा चहुँ दिसि अँवराई। श्रद्धा रितु बसंत सम गाई॥१२॥

अर्थ—पुण्यात्माओं, साधुओं और राम-नाम के गुणों का गान विचित्र जलपक्षियों के समान है॥११॥ संत-सभा ही (इस सर के) चारों दिशाओं की अमराई (बगीचा) है और श्रद्धा वसन्त ऋतु के समान कही गई है॥१२॥

विशेष—(१) 'सुकृती साधु नाम गुन''''' यहाँ 'गुन गाना' सुकृती, साधु और नाम तीनों के साथ है। पूर्व 'सुकृतपुंज' को भ्रमर कह आये हैं। यहाँ 'सुकृती-गुन-गान' को जलपक्षी कहते हैं।

'सुकृती-गुन-गान'—"सुकृती तुम्ह समान जग माहीं। भयेउ न है कोउ होनेउ नाहीं॥ तुम्हते अधिक पुन्य बड़ काके। राजन राम-सरिस सुत जाके॥" (दो॰ २११)।

'साधु-गुन-गान'—"सुजन समाज सकल गुनखानी।"..... से—"सम-सुगंध कर दोउ॥" (दो॰ ३) तक तथा आरण्यकांड दो॰ ४४ से ४६ तक एवं उ॰ दो॰ ३६ से ३८ तक, इत्यादि। 'नाम-गुन-गान'—दो॰ १८ से २७ तक।

'सुकृत' से साधु मिलते हैं। यथा—"पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता।" (उ॰ दो॰ ४४)। इसलिये साधु से प्रथम सुकृत कहा गया। साधु ही नाम गुण गान करते हैं। अतः, नाम से प्रथम कहे गये।

यहाँ जल के प्रसंग में ही जलचर, थलचर और नभचर तीनों प्रकार के जीव कहे गये हैं—

(क) 'पुरइनि सघन चारु.....' पुरइन थलचर है, क्योंकि यह थल के ही आधार से होती है।

(ख) 'सुकृतपुंज मंजुल अलिमाला।'......से—'जलबिहँग समाना।' तक नभचर हैं।

(ग) 'धुनि अवरेब कबित'...से—"ते सब जलचर चारु तड़ागा॥" तक जलचर हैं।

(२) 'संत-सभा चहुँ दिसि......' पूर्व साधु-गुण-गान को विहंग कहा। अब संत-सभा को अमराई कहते हैं। 'चहुँदिसि'—जैसे मानस-सर के चारों तरफ आम के बगीचे हैं, वैसे इस चरित (मानस) के चारो घाटों के चारो वक्ताओं के पास की संत-सभाएँ हैं।

(क) पूर्व दिशा की—"सादर सुनहु सुजन मन लाई।" श्रीगोस्वामीजी और सज्जनों की सभा।

(ख) दक्षिण की—"भरद्वाज आश्रम अति पावन......" से—"जाहिं जे मज्जन तीरथराजा॥" तक याज्ञवल्क्य-भरद्वाज की संत-सभा है।

(ग) पश्चिम की—"सिद्ध तपोधन जोगि जन, सुर किन्नर मुनि बृंद। बसहिं तहाँ सुकृती सकल,...." (दो॰ १०५), यह शिव-उमा तथा अन्य (श्रोताओं) की सभा है।

(घ) उत्तर की—"बृद्ध-बृद्ध बिहँग तहँ आये। सुनहिं राम के चरित सुहाये॥" (उ॰ दो॰ ६२)—यह श्रीभुशुंडि-गरुड़ की संत-सभा है।

पहले जल मे तल्लीन और तद्गत—उसमें रहनेवाले पदार्थ कह आये हैं। इस अर्द्धाली से तदाश्रित—सर के आश्रित पदार्थ कहते हैं, क्योंकि अमराई आदि सर के बाहर हैं, पर रहते हैं सर के आश्रित ही।

भगति-निरूपन बिबिध बिधाना। छमा दया द्रुम लता बिताना॥१३॥
संयम नियम फूल फल ग्याना। हरिपद-रति रस बेद बखाना॥१४॥

अर्थ—अनेक प्रकार से भक्ति के निरूपण (जो संत सभा में होते हैं) वृक्ष हैं। क्षमा, दया, लता और वितान (चँदोवा) हैं अथवा लताओं के वितान हैं॥१३॥ संयम, नियम (इस अमराई) के फूल हैं, ज्ञान फल है, भगवान् के चरणों में प्रीति का होना फल का रस है (ऐसा) वेदों ने कहा है॥१४॥

विशेष—(१) 'भगति निरूपन...' ऊपर श्रद्धा को वसंत ऋतु कहा था। अब उसके धर्म कहते हैं कि लताएँ फैलती हैं और वृक्ष फूलते-फलते हैं, फिर पक्व होने पर रस होता है, वैसे ही श्रद्धालु संत-सभा में विविध प्रकार की भक्ति के निरूपण रूप वृक्ष के आधार-पर क्षमा-दया का आविर्भाव एवं विस्तार होता है। जैसे लता वितान से वृक्ष की शोभा होती है, वैसे ही क्षमा-दया से भक्ति की भी होती है। अमराई में

वृक्ष रहते हैं और उनपर लताएँ लिपटती हैं, वैसे ही संत-सभा में भक्ति-निरूपण और उसके आश्रित क्षमा-दया गुण रहते हैं।

विविध विधान भक्ति के निरूपण—श्रीरामजी ने श्रीलक्ष्मणजी से आ० दो० १५-१६ में कहा है, फिर आ० दो० ३५ में श्रीशबरीजी से भी कहा है। श्रीलक्ष्मणजी से श्रवणादिक नवधा तथा सूक्ष्मतया प्रेमा और परा भी कही है। श्रीशबरीजी से निवृत्तिपरक नवधाभक्ति कही गई है। अ० दो० १२७ से १३१ तक भी १४ आश्रम-वर्णन रूप में श्रीवाल्मीकिजी ने भक्ति के ही मार्ग बतलाये हैं। उ० दो० ४५-४६ में पुरजनों के प्रति श्रीरामजी ने भक्ति ही कही है। फिर भुशुंडीजी ने भी गरुड़जी से कई प्रकार से कई प्रसंगों में इसे कहा है।

(२) 'संजम नियम फूल···' संयम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी नहीं करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (दान नहीं लेना)—ये पाँच प्रकार के यम (संयम) के भेद हैं। नियम—शौच, संतोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान (अनुराग), ये पाँच प्रकार के नियम के भेद हैं। पूर्व 'योग' को जलचरों में कहा था, अब उसके अन्तर्गत यम-नियम को फूल और योग की सिद्धिरूप ज्ञान को फल कहते हैं।

वसंत में बौरें लगती हैं और आम फलते हैं। संत-सभा में श्रद्धा से संयम, नियम और ज्ञान होते हैं। फल पक्व होने पर उसमें रस होता है, वैसे ही ज्ञान की पूर्णता पर हरि-पद में प्रीति होती है। यही ज्ञान का रस है। यथा—"सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू।" (अ० दो० २७६) अर्थात् संयम-नियम का फल ज्ञान और ज्ञान का फल भक्ति है। यथा—"धरम ते बिरति जोग ते ज्ञाना।" (आ० दो० १७) तथा "होइ बिबेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ-चरन अनुरागा॥" (अ० दो० ९२)।

पाठांतर—कहीं-कहीं 'संजम' की जगह 'सम जम' भी पाठ मिलता है।

औरउ कथा अनेक प्रसंगा। तेइ सुक पिक बहु बरन बिहंगा॥१५॥

अर्थ—और भी कथाओं के अनेक प्रसंग (जो इस मानस में आये हैं वे) ही तोता, कोयल आदि बहुत रंगों के पक्षी हैं॥१५॥

विशेष—जैसे मानस-सर की अमराई में बाहर के शुक आदि पक्षी आते हैं, जल पीते और अमराई में कुछ देर ठहर फिर उड़कर चले जाते हैं, वैसे ही इस श्रीरामचरितमानस में भी अनेक कथाओं के प्रसंग आते हैं। इन्हीं को वक्ता लोग बाहर से प्रमाण लेकर विस्तार से कहते हैं। फिर मानस की कथा कहने लगते हैं, यही उन प्रसंगरूप पक्षियों का उड़ जाना है।

प्रसंग, यथा—"सिबि दधीचि हरिचंद नरेसा। सहे धरम-हित कोटि कलेसा॥ रंतिदेव बलि भूप सुजाना। धरम धरेउ सहि संकट नाना॥" (अ० दो० ९५); तथा—"ससि गुरु-तिय गामी नहुष, चढ़ेउ भूमिसुर-जान। लोक बेद ते बिमुख भा, अधम न बेनु समान॥ सहसबाहु सुरनाथ त्रिसंकू। केहि न राज-मद दीन्ह कलंकू॥" (अ० दो० २२८) इत्यादि।

दोहा—पुलक बाटिका बाग बन, सुख सु-बिहंग बिहारु।
माली सुमन सनेह जल, सींचत लोचन चारु॥३७॥

शब्दार्थ—पुलक = आनंद से रोमांच होना। सुमन = सुन्दर (निर्मल) मन।

अर्थ - (संत-सभा में कथा से) रोमांच होना फुलवारी, बाग और वन है। जो सुख होता है, वह सुन्दर पक्षियों का विहार है। निर्मल मन माली है और वह स्नेहरूपी जल से सुन्दर नेत्र-(रूपी घड़ों के) द्वारा सींचता है।

विशेष—यहाँ भीतर (सर) की ओर से अमराई की तीन परिखाएँ सूचित कीं कि प्रथम चारों ओर वाटिका है, फिर बाग और फिर वन। यही क्रम श्रीजनकपुर में है। यथा—"सुमनवाटिका बाग वन, बिपुल बिहंग निवास। फूलत फलत सुपल्लवत, सोहत पुर चहुँ पास॥" (दो० २१२)। अन्य प्राकृत वनों में माली नहीं रहता, पर यहाँ मानस-सर के पास का वन वृन्दावन, प्रमोद वन आदि की तरह का है। अतः, माली का भी रहना युक्त है। पुलक के लिये तीन उपमाएँ हैं। अतः, पुलकावली तीन प्रकार की हैं। वैसे ही इस श्रीरामचरितमानस के पास की संत-सभारूपी अमराई में भी तीन परिखाएँ (विभाग) हैं। भक्तिकांड वालों की पुलकावली वाटिका है। वाटिका में दिन-भर जल की नहर लगी रहती है, वैसे भक्तिशालों के नेत्रों से बार-बार अश्रुपात हुआ करते हैं, इसीसे पुलकरूप वाटिका बारहों मास फूलती रहती है। इन पुलक-रूप फूलों में श्रीसीता-रामजी के गुण एवं रूप-माधुरी रस है। उसमें अपने भावानुकूल जो सुख होते हैं, वे ही रायमुनियाँ आदि पक्षी हैं। वे भक्त विहार-पूर्वक माधुरीरस को ग्रहण करते हैं। ज्ञान कांडवालों की पुलकावली बाग है। बाग में कहीं छठे-छमासे वा वर्ष मे जल दिया जाता है, वैसे ज्ञान में 'पुलकावली' थोड़ी होती है। बाग मे फल होता है, वैसे इनमें जीवन्मुक्ति फल है और ब्रह्मानन्द ही उसका रस है। बुद्धि के अनुसार सुख शुक आदि विहंग हैं जो ब्रह्मानन्द मे विहार किया करते हैं। कर्म कांडियों की पुलकावली वन है। वन की सिंचाई दैवात् कभी होती है, वैसे कर्मकांडियों में और भी कम पुलकावली होती है और अर्थ, धर्म, काम ही मध्यम, उत्तम और निकृष्ट फल लगते हैं। अहंकारपूर्वक होनेवाले सुख ही तीन प्रकार के लवा आदि पक्षी हैं। वे फलों के भोगरूप रस को ग्रहण करते हुए विहार किया करते हैं। तीनों प्रकारों में सुन्दु मन की बड़ी आवश्यकता है।

जे गावहिं यह चरित सँभारे। ते येहि ताल चतुर रखवारे॥१॥
सदा सुनहिं सादर नरनारी। ते सुरबर मानस अधिकारी॥२॥

शब्दार्थ—सँभारे = सावधानता-पूर्वक। ☞ यहाँ वक्ता-श्रोता कहता रहे हैं।

अर्थ—जो इस रामचरितमानस को सावधानी से गाते हैं, वे इस सर के चतुर रखवाले हैं॥१॥ जो स्त्री-पुरुष इसे आदर के साथ सुनते हैं, वे ही इस सुन्दर मानस के देवता रूप उत्तम अधिकारी हैं॥२॥

विशेष—(१) 'जे गावहिं यह ···' ऊपर दोहे तक सर का वर्णन हुआ। अब उसके बाहर की बात कहते हैं कि जैसे सर में बाहर की खराबियों (थूक-खखार आदि) से रक्षा करने को पहरेदार रहते हैं, वैसे इस रामचरित मानस के रखवालों को कहते हैं। 'जे गावहिं'—इस मानस के चार श्रोता-वक्ता तो घाट के ही रूपक मे हैं। यहाँ अन्य गानेवालों को कह रहे हैं कि रखवालों का काम है कि स्त्री के घाट पर पुरुष न जाय, कोई सर मे नहीं थूके और न निषिद्ध वस्तु ही डालने पावे। वैसे ही गानेवालों को चाहिये कि स्त्रीलिंग-पुँल्लिंग का विचार रक्खें। पाठ बदलना एवं क्षेपक मिलाना निषिद्ध वस्तु डालना है और अशुद्ध पढ़ना थूकना है—ये सब बचाते हुए सँभालकर पढ़ें। प्रसंग पर ध्यान रखते हुए, तदनुसार अशुद्धि बचाते हुए, सावधानी से पढ़ना चतुरता है।

(२) 'सदा सुनहिं सादर···' मानस सर में स्नान के अधिकारी ऋषि एवं देवता लोग हैं, वैसे इस रामचरितमानस के अधिकारी वक्ता ऊपर कहे गये। अब श्रोताओं को कहते हैं। श्रोताओं के लिये दो बातें आवश्यक हैं—एक तो सदा सुनना और दूसरी आदर के साथ सुनना। आदर यह कि बुद्धि, मन और चित्त लगाकर सुने। यथा—"सुनहु तात मति मन चित लाई।" (आ० दो० १४)। उत्तम श्रोता आदर के साथ ही सुनते हैं। यथा—"तात सुनहु सादर मन लाई। कहउँ राम कै कथा सुहाई॥" (दो० ४६), "सादर सुनु गिरिराजकुमारी।" (दो० ११३); "भरद्वाज सादर सुनहु।" (दो० १२४) अर्थात् यह मानस तीर्थ है। अतः, सादर स्नान करने से ही फल मिलता है। यथा—"सादर मज्जन पान किये ते। मिटहिं पाप परिताप हिये ते॥" (दो० ४१)। 'नर-नारी' अर्थात् उक्त दो नियमों से चाहे जो हो, सबको अधिकार है। 'बर' पद दीपदेहली रूप से 'सुर' और 'मानस' दोनों के साथ है, क्योंकि कथा-श्रवण भक्ति है और देवता लोग अपने ऐश्वर्य-मद से भक्ति नहीं कर पाते। यथा—"हम देवता परम अधिकारी। स्वारथ-रत तव भगति बिसारी॥" (लं० दो० १०६)। अतः, श्रोता देवताओं से श्रेष्ठ हैं।

सम्बन्ध—ऊपर अधिकारी कहे, अब अनधिकारी कहते हैं—

अति खल जे बिषई बग कागा। येहि सर निकट न जाहिं अभागा॥३॥
संबुक भेक सेवार समाना। इहाँ न बिषय कथा रस नाना॥४॥
तेहि कारन आवत हिय हारे। कामी काक बलाक बिचारे॥५॥

शब्दार्थ—संबुक=घोंघा। भेक=मेढक। सेवार=जलाशयों में किनारे के पास पानी में काई की तरह हरी-हरी घास जमती है, उसमें छोटे-छोटे जीव फँसकर रहते हैं। काक-बक इन्हें खाते हैं। सेंवार से हलवाई लोग चीनी साफ करते हैं। बलाक=बगुला।

अर्थ—जो विषयी अत्यन्त दुष्ट हैं, वे बगुले और कौए के समान हैं। वे अभागे इस सर के पास नहीं जाते॥३॥ (क्योंकि यहाँ) घोंघे, मेंढक और सेंवार की तरह अनेक प्रकार की विषय—रस की कथाएँ नहीं हैं॥४॥ इसी कारण बेचारे कौए और बगुले रूपी कामी यहाँ आने में हृदय से हार मानते हैं॥५॥

विशेष—(१) 'अति खल जे बिषई···' भाव यह है कि सामान्य खल विषयी कामी सत्संग से सुधर जाते हैं। यथा—"खलउ करहिं भल पाइ सुसंगू।" (दो० ६); "काक होहिं पिक बकउ मराला।" (दो० ३), "बिषइन्ह कहँ पुनि हरिगुन-ग्रामा। श्रवनसुखद अरु मन अभिरामा॥" (उ० दो० ५२)। इसी से यहाँ 'अति' विशेषण दिया गया कि ये स्वयं सत्संग से दूर रहते हैं। अतः, अभागे हैं। यथा—"सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होंहि बिषय अनुरागी॥" (आ० दो० ३२); "काई बिषय मुकुर मन लागी।···सपनेहुँ संत सभा नहिं देखी॥" (दो० ११४)। ये काक हैं। क्योंकि इन्हें विषयरूपी नीम कड़वी नहीं लगती, विषय के लिये दंभ करते हैं। अतः, बक भी हैं। 'अभागा'—भाग्यवान् श्रीराम यश सुनते हैं और अभागे विषयरस चाहते हैं।

(२) 'बिचारे'—इनका चारा संबुक, भेक और सेवार ही है, वे सब यहाँ नहीं हैं तो किसलिये आवें? इसी से दीन-हीन पड़े रहते हैं। 'हिय हारे'—क्योंकि कामी के हृदय में हरि-कथा की जगह नहीं है, यथा—"क्रोधिहि सम कामिहि हरिकथा। ऊसर बीज बये फल जथा॥" (सु० दो० ५७)।

सम्बन्ध—जैसे मानस-सर में जाने की कठिनाइयाँ एवं बाधाएँ हैं, वैसे रामचरितमानस में भी हैं। यही आगे कहते हैं—

आवत येहि सर अति कठिनाई। राम-कृपा बिनु आइ न जाई ॥६॥
कठिन कुसंग कुपंथ कराला। तिन्हके बचन बाघ हरि ब्याला ॥७॥

शब्दार्थ—हरि = सिंह। ब्याल = सर्प, खूनी हाथी (संस्कृत शब्दार्थ-कौस्तुभ)

अर्थ—इस (रामचरितमानस) सर में आने में बहुत ही कठिनाइयाँ हैं। श्रीराम-कृपा बिना यहाँ आना नहीं हो सकता ॥६॥ कठिन कुसंग ही भयंकर बुरे रास्ते हैं, उन (कुसंगियों) के वचन बाघ, सिंह और साँप (अथवा खूनी हाथी) हैं ॥७॥

विशेष—(१) 'आवत येहि सर···' उस मानस-सर में कठिनाई है और इसमें 'अति कठिनाई' है। इसमें आने का साधन श्रीराम-कृपा ही है। यथा—"अति हरि-कृपा जाहि पर होई। पाउँ देइ येहि मारग सोई ॥" (उ० दो० ११८) और कृपा का साधन भजन है। यथा—"मन क्रम वचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई ॥" (दो० १६१)।

(२) कठिन कुसंग···' मानस-सर में भयंकर, जंगली एवं पहाड़ी ऊबड़-खाबड़ रास्ते हैं और वहाँ बड़े-बड़े बाघ, सिंह और साँप एवं खूनी हाथी रहते हैं। वैसे इस रामचरितमानस में आने के मार्ग में कठिन कुसंग है। कठिन कुसंग वह है, जो छूटने योग्य न हो—जैसे-विद्यागुरु, माता, पिता, भ्राता और स्त्री-पुत्र आदि का होता है। उनकी परवशता कठिनता है। यथा—"सुत दार अगार सखा परिवार बिलोकु महा कुसमाजहि रे। सबकी ममता तजि कै समता सजि संत-सभा न बिराजहि रे (क० उ० ३०); "कह संग सुसील सुसंतन सों तजि कूर कुपंथ कुसाथहिं रे ॥" (क० उ० ३१)। इन कुसंगियों के वचनों की तीन उपमाएँ हैं। उनमें बराबरवाले भाई-सखा आदि के वचन बाघ हैं, क्योंकि वे ईर्ष्या करते हैं और कहते हैं कि वहाँ (कथा में) लोग परस्त्रियों से नजरें लड़ाने जाते हैं जिससे और पाप लगता है। यों तो अनजान का क्षम्य है, इत्यादि। पिता-माता आदि गुरु-जन यदि दुष्टप्रकृति हुए, तो चाहे स्पष्ट न भी रोकें, तब भी भय रहता ही है। जैसे सिंह विशेषकर हाथी ही पर चोट करता है, पर उससे डर तो सभी को रहता है। यदि वे रोकें तो धर्मभय से सिंह के गर्जन की तरह उनसे हृदय दहल जाता है। स्त्री-पुत्रादि छोटों के वचन साँप हैं। ये प्रत्यक्ष न भी कहें तो भी फुसकार मारते हैं अथवा ममता के कारण इनका मधुर बोलना ही डँसना है या ममता में फँसे रहनेवाले को स्त्री-पुत्रादि खूनी हाथी की तरह कुचल डालते हैं। इन्हीं लोगों के प्रति कहा है—"जरउ सो संपति सदन सुख, सुहृद मातु पितु भाइ। सनमुख होत जो राम-पद, करइ न सहस सहाइ ॥" (अ० दो० १८५)।

गृहकारज नाना जंजाला। तेइ अति दुर्गम सैल बिसाला ॥८॥
बन बहु बिषम मोह मद माना। नदीं कुतर्क भयंकर नाना ॥९॥

शब्दार्थ—विषम = दुर्गम, तीक्ष्ण। मोह = शरीराभिमान वा आसक्ति। मद = अपने गुणों का गौरव प्रत्यक्ष रूप में मानना। मान = आत्मगौरव (मानसिक) रहना।

अर्थ– घर के कार्यों और अनेक धंधों के बंधन ही अति कठिन ऊँचे बड़े-बड़े पर्वत हैं ॥८॥ मोह, मद और अभिमान ही बहुत-से कठिन वन हैं और कुतर्क ही अनेक प्रकार की भयकर नदियाँ हैं ॥६॥

विशेष–(१) 'गृहकारज नाना···' मानस-सर के रास्ते मे एक-से-एक ऊँचे पहाड़ पड़ते हैं। उनका ताँता नहीं टूटता। फिर चढ़ाई भी कठिन, इससे मार्ग नहीं चुकता, वैसे यहाँ घर के एक काय से छुट्टी मिली नहीं कि दूसरे और भारी आ जाते हैं, उनमें भी शास्त्रोक्त कार्य—जैसे श्राद्ध, व्याह, यज्ञोपवीत आदि आ पड़ते हैं, इनकी चढ़ाई चुकने नहीं पाती। 'नाना जंजाला'—अपने और मित्रों के अनेक प्रकार की उपाधियाँ (उपद्रव) और मामले आ पड़ते हैं, जिनकी मानसिक चिंताएँ भी पिंड नहीं छोड़तीं।

(२) 'वन बहु विषम···' भाव यह है कि सामान्य वन एव सामान्य नदी से पार जाना हो सकता है, वैसे सामान्य मोह, मद मानवाले एव सामान्य तर्कवाले किसी तरह कथा में चले जाते हैं, पर विषम एवं भयंकर मोहादिवाले नहीं जा सकते।

गृहकार्य से किसी तरह छूटे भी तो मोह-मद-मान बड़े कठिन जान पड़ते हैं। यहाँ से पहाड़ों के ऊपर के वन कह रहे हैं। मद पाँच प्रकार के कहे जाते हैं। यथा—"जातिर्विद्या महत्त्वं च रूपयौवन-मेव च। यत्नेन परिवर्ज्येया. पचैते भक्तिकंटकाः॥" प्रसिद्ध है।

मोह—स्त्री घर में अकेली है, बच्चा हिलमिल गया है—जाने नहीं देता, घर में ताला न टूट जाय, परिवार में अमुक दुखी है, मित्र आ गये, इनके पास न बैठें तो नहीं बनता, इत्यादि।

मद—मैं उत्तम ब्राह्मण हूँ, शूद्र से अथवा अपनेसे न्यून से कथा क्या सुनूँ, फिर वह हमसे अधिक पढ़ा हुआ भी नहीं है। श्रोता बनने से उसे श्रेष्ठ मानना होगा।

मान–वक्ता अभिमानी है, वहाँ जाने से मेरा मान हो वा न हो।

कुतर्क—घरवाले लड़कों को स्वार्थ-दृष्टि से भय देते है कि रामायण साधुओं के लिये है, उसमें पड़कर फिर गृहस्थी के काम का नहीं रहता, दरिद्रता आ जाती है। देखो, असुर ने कुछ काल सुना था, उसका वश ही नष्ट हो गया। वक्ता लोगों ने स्वार्थ-साधने के लिये परलोक की लीला रच ली है। भला, किसी श्रोता के लिये स्वर्ग से विमान आया है या वहाँ से किसी का पत्र आया है ? इत्यादि।

'कराल कुपथ' से पहाड़ अधिक, फिर उससे कठिन विषम वन, उससे भी कठिन भयंकर नदी है, वैसे उनके उपमेयों की क्रमश अधिक कठिनता जाननी चाहिये।

विषमवन से यह भी जनाया कि प्रथमोक्त 'पुलक वाटिका बाग वन' वाले वन ललित थे, क्योंकि वे मानस के पास के थे और ये विषम वन रास्ते के हैं।

यहाँ प्रथम पहाड़-वन कहकर नदी का वर्णन किया, क्योंकि नदियाँ अधिकतर पहाड़ से निकलती है। यथा—"अस कहि कुटिल भई उठि ठाढी। मानहु रोष-तरंगिनि बाढी॥ पाप-पहार प्रगट भइ सोई। भरी क्रोध-जल जाइ न जोई॥" (अ० दो० ३३)।

दोहा—जे श्रद्धा - संबल - रहित, नहि संतन कर साथ।
तिन्ह कहँ मानस अगम अति, जिनहि न प्रिय रघुनाथ ॥३८॥

अर्थ—जिनके पास श्रद्धा रूपी राहखर्च नहीं है और न सतों का साथ है एव जिनको श्रीरघुनाथजी प्रिय नहीं हैं, उनको यह मानस अत्यन्त कठिन है ॥३८॥

विशेष—इस मानस की अगमता का उपक्रम—'आवत येहि सर अति कठिनाई।' से हुआ। बीच में कई प्रकार की अगमताएँ कहीं—जैसे कुसंग, कुसंगियों के वचन, गृहकार्य, नाना जंजाल, मोह-मद-मान और कुतर्क। इनसे भी मानस अगम ही है, पर यहाँ के कथित श्रद्धाहीन, संतसंग-रहित और श्री राम-स्नेह-रहित मनुष्यों को तो 'अति अगम' है। इससे यह भी दिखाया कि मानस इन्हीं तीन उपायों से सुगम हो सकता है—श्रद्धा हो, संतों का साथ हो और श्रीरामजी में प्रेम हो।

जैसे तीर्थ में प्रेम हो, खर्च पास हो अथवा किसी धनी का साथ हो तो रास्ते की कठिनाइयाँ नहीं जान पड़तीं, वैसे इस मानस के देवता श्रीरामजी हैं। अतः, उनमें प्रेम हो, कथा में श्रद्धा हो और सत्संग करे, तभी यह सुगम हो।

जौं करि कष्ट जाइ पुनि कोई। जातहिं नींद जुड़ाई होई॥ १॥
जड़ता जाड़ बिषम उर लागा। गयेहुँ न मज्जन पाव अभागा॥ २॥

अर्थ—फिर भी जो कोई मनुष्य कष्ट झेलकर वहाँ पहुँच जाय, तो उसे जाते ही नींद रूपी जूड़ी आ जाती है॥१॥ जड़ता रूपी-कठिन जाड़ा हृदय में लगा, (अतः) वह अभागा जाने पर भी स्नान नहीं कर पाया॥ २॥

विशे —(१) 'जौं करि कष्ट···' अभी तक मार्ग के कष्ट कहे। अब पहुँचने पर भी स्नान में जो विघ्न होते हैं, उन्हें कहते हैं। 'करि कष्ट' जानेवाले न तो 'अति खल विषयी कामी' ही हैं, क्योंकि वे तो जा ही नहीं सकते और न वे ही हैं जिनका श्रद्धा आदि साधनों से पहुँचना कहा गया। ये वे हैं जिनके पास श्रद्धा आदि तीनों नहीं हैं, किंतु ईर्ष्या से कष्ट करके जा पहुँचते हैं। 'जातहिं', अर्थात् कुछ देर पीछे जूड़ी (जड़ैया-बुखार) आवे तो स्नान कर लें, वैसे कथा में पहुँचकर कुछ तो सुन लें, पर जाते ही नींद आ जाती है कि एक अक्षर भी न सुनें।

(२) 'जड़ता जाड़···' ऊपर का जाड़ा आग तापने से भी छूट जाता है, पर हृदय का जाड़ा किसी तरह नहीं छूटता। जड़ता (मूर्खता) हृदय से होती है, इसलिये 'उर लागा' कहा है। मूर्खता से कथा पर ध्यान न देने एवं न समझने से ही नींद आती है, इसी से श्रवण-मनन रूपी स्नान नहीं हो पाता। ऊपर—'अति खल जे···अभागा।' कहा था। फिर यहाँ भी 'अभागा' ही कहते हैं। तात्पर्य यह कि जो कथा में नहीं गये अथवा जो जाकर भी सो जाते हैं, दोनों ही अभागे हैं।

करि न जाइ सर मज्जन पाना। फिरि आवइ समेत अभिमाना॥ ३॥
जौं बहोरि कोउ पूछन आवा। सर-निंदा करि ताहि बुझावा॥ ४॥

अर्थ—(श्रीरामचरितमानस-रूपी सरोवर) में स्नान-पान तो किया नहीं जाता और अभिमान-सहित लौट आता है॥३॥ फिर जो कोई पूछने आया तो सर की निन्दा करके उसको समझा दिया॥४॥

विशेष—(१) 'करि न जाइ ····' स्नान से मैल छूटती है और पीने से प्यास बुझती है, वैसे ही कथा का श्रवण करना स्नान है, धारण करना पीना है; अभिमान ही मैल है, यथा—"मैल अभिमान अंग अंगनि छुड़ाइये।" (भक्तमाल-टीका-प्रियादास) और मैल ही पाप कहाती है। आशा ही प्यास

है। यथा—"आस पियास मनोमल हारी।" (दो० ४२)। आशा से ही भाँति-भाँति के परिताप होते हैं, कथा से पाप-परिताप दोनों ही छूटते हैं। यथा—"सादर मज्जन पान किये ते। मिटहिं पाप परिताप हिये ते॥" (दो० ४२)। स्नान-पान होता तो अभिमान-रहित होकर लौटता।

(७) 'जौं बहोरि कोउ ......' 'बहोरि' अर्थात् दूसरी बार (लौटने पर)। 'बुझावा'—जैसे जल डालकर अग्नि बुझाई जाती है, वैसे निन्दा-रूपी जल से उसकी श्रद्धा-रूपी उत्तेजित अग्नि को बुझा दिया कि वहाँ क्या है, जाड़ों मरना है। पुरइनें भरी हैं। जल जो वहाँ है वही यहाँ भी, ऐसे ही मानस में दोहा-चौपाई ही तो हैं, हम घर में ही बाँच ले सकते हैं तथा और वक्ता-श्रोताओं के सम्बन्ध की भी निन्दा कर देता है।

सकल बिघ्न ब्यापहिं नहिं तेही। राम सुकृपा बिलोकहिं जेही॥५॥

सोइ सादर सर मज्जन करई। महा घोर त्रयताप न जरई॥६॥

अर्थ—जिसको श्रीरामजी अत्यन्त कृपा-दृष्टि से देखते हैं, ये सब विघ्न उसको बाधक नहीं होते॥५॥ वही इस सर में आदर के साथ स्नान करता है और महा घोर दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से नहीं जलता॥६॥

विशेष—(१) 'सकल बिघ्न...' ऊपर बतलाया गया है कि श्रीरामजी की कृपा के बिना कैसी गति होती है। अब कृपा-दृष्टि होने की व्यवस्था कहते हैं कि जितने विघ्न ऊपर कह आये हैं, उनमें से कोई भी विघ्न नहीं होता। 'सुकृपा' अर्थात् अन्य वस्तुएँ कृपा के अवलोकन से प्राप्त होती हैं, पर श्रीरामचरितमानस का स्नान तो तभी होता है, जब 'सुकृपा' अर्थात् प्रभु अति कृपा करते हैं। यथा—"अति हरिकृपा जाहि पर होई। पाँव देइ येहि मारग सोई॥" (उ० दो० १२८)।

(२) 'सोइ सादर सर ......' सोइ अर्थात् अति हरि-कृपा पात्र ही। 'त्रयताप'—"दैहिक दैविक भौतिक तापा।" (उ० दो० २०); अर्थात् शरीर सम्बन्धी ज्वर आदि दैहिक, साँप—चोर आदि की बाधाएँ भौतिक और ग्रहादि एवं दुःकाल आदि बाधाएँ दैविक ताप हैं। यथा—"श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये। ते संसारपतङ्गघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः॥" (उ० दो० १३०)।

'सादर'—यथा—"सादर मज्जन पान किये ते। मिटहिं पाप परिताप हिये ते॥" (दो० ४१), मानस-सर के मज्जन से ताप दूर होता है, इससे त्रयताप दूर होते हैं—यह आधिक्य है। ऐसे स्थलों में व्यतिरेक अलंकार होता है।

ते नर यह सर तजहिं न काऊ। जिन्हके रामचरन भल भाऊ॥७॥

जो नहाइ चह येहि सर भाई। सो सत्संग करउ मन लाई॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी के चरणों में जिनका उत्तम प्रेम है, वे इस सर को कभी नहीं छोड़ते॥७॥ हे भाई! जो इस सर में स्नान करना चाहे, वह मन लगाकर सत्संग करे॥८॥

विशेष—(१) पूर्व दोहे में श्रद्धा, श्रीरामपद-प्रेम और सत्संग को श्रीरामचरितमानस की प्राप्ति के साधन बतलाया। यहाँ की ६, ७, ८ वीं अर्द्धालियों में उनका ही क्रमशः विशेष वर्णन किया। जैसे—'सादर मज्जन' में श्रद्धा स्पष्ट है। शेष दो में भी श्रीराम-पद-प्रेम और सत्संग स्पष्ट कहा ही है।

'तजहिं न काऊ' अर्थात् श्रद्धा-हीनों को—'फिरि आयइ समेत अभिमाना।' कहा, पर ये श्रद्धालु इसे कभी छोड़ते ही नहीं। वे सर-निन्दा करके औरों की भी श्रद्धा घटा देते हैं, पर इन्हें देखकर दूसरों को भी श्रद्धा होती है।

(२) 'जौं नहाइ चह····' यहाँ इसका साधन सत्संग ही कहा है। यथा—"बिनु सत्संग न हरि-कथा, तेहि बिनु मोह न भाग।" (उ० दो० ६१)। 'मन लाई' अर्थात् बहुत काल तक बराबर सत्संग करे तब इसके संशय-भ्रम दूर होते हैं। यथा—"तबहि होइ सब संसय भंगा। जब बहुकाल करिय सतसंगा॥" (उ० दो० ६०)।

अस मानस मानस-चख चाही। भइ कवि-बुद्धि बिमल अवगाही॥९॥

शब्दार्थ—चाही = देखकर, यथा—"सीय चकित चित रामहिं चाहा।" (दो० २४७)। मानस-चख = हृदय के नेत्र से, ज्ञानदृष्टि से।

अर्थ—कवि की बुद्धि ऐसे 'मानस' को हृदय के नेत्र से देखकर, (उसमें) गोता लगाकर, निर्मल हो गई।

विशेष—(१) 'अस मानस'—इसका—'जस मानस जेहि बिधि भयेउ, ' पर उपक्रम हुआ था, यहाँ 'अस मानस' कहकर उपसंहार किया अर्थात् इस उपक्रम-उपसंहार के बीच में मानस का स्वरूप कहा गया।

'मानस-चख चाही'—बारंबार मनन करके। 'अवगाही'—गोता लगाकर' थाह पाकर अर्थात् चरित्र-चित्रण का अन्दाजा करके। 'भइ कवि-बुद्धि बिमल'—भाव प्रथम जो काव्य करने में बुद्धि कदराती थी, वह मैल छूट गई; अब बुद्धि काव्य-निर्बंध के लिये उत्साहित हुई।

प्रश्न—इस मानस-प्रसंग में प्रथम 'आइ न जाई' और 'इहाँ आदि निकटसूचक शब्द आये हैं। फिर बीच में 'जौं करि कष्ट जाइ, जातहि, गयेउ' इत्यादि दूरसूचक पद आये और फिर अंत में 'अस मानस' 'यह' आदि निकटसूचक पद क्यों हैं?

उत्तर—प्रथम समीप का वर्णन-प्रसंग था, तब समीप के शब्द पड़े, जब दूर की कहने लगे, तब वैसे शब्द दिये, फिर बुद्धि स्नान करने के लिये सर के समीप आई, तब फिर निकट-सूचक शब्द दिये।

अगली चौपाई से श्रीसरयूजी के समान कीर्त्ति-सरयू का रूपक प्रारंभ होता है, इसके लिये श्रीसरयूजी की जन्म-कथा जानने की आवश्यकता है। अतः, वह कथा सत्योपाख्यान अ० ३७ के अनुसार संक्षेप में दी जाती है—

श्रीसरयूजी ने स्वयं अपनी उत्पत्ति की कथा राजा दशरथजी से कही है कि सृष्टि के आदि में जब श्रीब्रह्माजी भगवान् के नाभि-कमल से उत्पन्न हुए और तप की आज्ञा पा दिव्य हजार वर्षों तक कुम्भक(साँस) को चढ़ाकर भगवान् की आराधना की तब भगवान् वहाँ आये और अपनी आज्ञा में निष्ठा एवं अपनी भक्ति में तत्परता देखकर उनके नेत्रों से करुणा-जल बह चला। ब्रह्माजी ने नेत्र खोलकर देखा, तब दंडवत् किया और उस दिव्य जल को हाथ में उठा लिया। फिर बड़े प्रेम से उसे कमंडल में रक्खा। भगवान् के अंतर्धान होने पर, इस दिव्य जल को रखने के लिये मन से एक 'मानस' सर रचा और उसी में इस 'ब्रह्मद्रव' को स्थापित किया।

फिर बहुत काल बीतने पर तुम्हारे पूर्वज राजा इक्ष्वाकु की प्रार्थना से श्रीवशिष्ठजी मानस सर पर गये। वहाँ मंजुकेशि ऋषि (जो इस जल की रक्षा के लिये नियुक्त थे) की स्तुति की। ऋषि ने वर माँगने को कहा, तब इन्होंने नदी माँगी। ऋषि ने ('नेत्रजा' को) ले जाने की आज्ञा दी, तब उस सर से हम नदी रूप होकर निकलीं। श्रीवशिष्ठजी आगे आगे चले और हम पीछे-पीछे यहाँ श्री अयोध्या को प्राप्त हुई। फिर यह भी कहा है, हम श्रीरामजी को सदा अपनी कुक्षि में धारण किये रहती हैं, क्योंकि इन्हीं के नेत्र से हमारी उत्पत्ति है।

यहाँ कीर्ति-सरयू के सम्बन्ध में शिवजी ब्रह्मा हैं, जिन्होंने हरि-करुणा नेत्र से चरित जल प्राप्त करके अपने मन-मानस रूप कमंडल में रक्खा था। कवि का मन इक्ष्वाकु और मनोरथ वशिष्ठ हुआ, तब काव्यरूपा सरयूजी को संत - समाज रूपी अयोध्या में ले आये। मानस से सरयूजी नदी-रूप होकर निकलीं, वैसे हृदय-मानस में जो राम-यश-जल भरा था, वह कविता रूपा नदी होकर निकला और उसका नाम 'कीर्त्ति-सरयू' पड़ा।

भयेउ हृदय आनंद उछाहू। उमँगेउ प्रेम-प्रमोद प्रवाहू ॥१०॥
चली सुभग कविता सरिता सो। राम बिमल जस-जल-भरिता सो ॥११॥

अर्थ—हृदय में आनंद और उत्साह हुआ, (उससे) प्रेम और आनन्द का प्रवाह उमड़ आया ॥१०॥ और कविता रूपी सुन्दर नदी बह चली, जो निर्मल श्रीराम यश रूपी जल से भरी हुई है ॥११॥

विशेष—(१) पूर्व दो० ३५ में—'जग प्रचार जेहि हेतु' कहा था, उसका प्रकरण यहाँ से प्रारंभ हुआ कि हृदय में आनंद और उत्साह बढ़ा जिससे कविता प्रवाह-रूप में निकल पड़ी। अब, इस 'कीर्त्ति सरयू' की उत्पत्ति हृदय से हुई। हृदय और मानस (मन) एक ही हैं। सरयूजी भी मानस-सर से निकलीं, इससे दोनों मानस-नन्दिनी हैं। इसीसे इनका मूल पहाड़ नहीं कहा गया। करुणा भी मन से होती है, इसीलिये वहाँ—'सेन मनहुँ करुनासरित' (अ० दो० २७५) पर भी पहाड़ का वर्णन नहीं है।

(२)—'राम बिमल जस जल......' ऊपर श्रीसरयूजी के जन्म प्रसंग में कहा गया कि श्रीसरयूजी श्रीरामजी को सदा अपनी कुक्षि में रखती हैं, वैसे ही यहाँ 'कीर्त्तिसरयू' ने श्रीरामजी के यश रूप सच्चिदानन्दविग्रह को भी अपने उदर में भर रक्खा है, ऐसा कहा है।

शंका—श्रीराम-सुयश प्रथम मानसकार ने श्रीगुरुजी से वाराहक्षेत्र में सुना था, फिर साधुओं ने वेद पुराण से लेकर मेघ रूप से बरसाया, तब यह 'कीर्त्ति-नदी' किस प्रसंग की है ?

समाधान—प्रथम श्रीराम सुयश श्रीगुरुजी से सुना था। वह हृदय रूप कुंड में भरा था। फिर साधुओं द्वारा बरसकर भी आया, तब जहाँ-तहाँ भेद जान पड़ा। यही मलिनता हुई। जब बहुत काल मनन-रूप गोते लगाये, तब मानस का पूर्व रूप, जो श्रीगुरुजी से सुना था, यथार्थ रूप में देख पड़ा। इससे असंदिग्ध बुद्धि निर्मल होकर उत्साहित हुई और राम-यश कविता रूप से प्रवाहित हुआ। 'कीर्त्ति नदी' का जन्म कहकर आगे नामकरण भी कहते हैं—

सरजू नाम सुमंगल मूला। लोक - वेद - मत मंजुल कूला ॥१२॥
नदी पुनीत सुमानस-नंदिनि। कलि-मल-तृन-तरु-मूल निकंदिनि ॥१३॥

अर्थ—(इस कवितारूपिणी नदी का) नाम सरयू है, जो सुन्दर मंगलों की जड़ हैं। लोकमत और वेदमत (इनके दोनों) सुन्दर किनारे हैं ॥१२॥ ये 'सुमानस नन्दिनी' नदी पुनीत हैं और कलि के पाप रूपी तृणों और वृक्षों को जड़ से उखाड़ फेंकनेवाली हैं ॥१३॥

विशेष—(१) 'सरजू नाम······' सरश्च्युता होने से—सर से निकलने से 'सरयू' नाम है। लोक-रीति का वर्णन लोकमत है। यथा—"लोकरीति जननी करहिं, बर दुलहिनि सकुचाहिं।" (दो० ३५०)। वेदमत श्रीरामजी का परब्रह्म परत्व प्रतिपादन एवं कांडत्रय की बातों तथा और भी वेद-विधियों का वर्णन है। यथा—"जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ज्ञान-गुन-धामू॥" (दो० ११६); दोनों मत, यथा—"निगम-नीति कुल-रीति करि······" (दो० ३२६); "करि लोक-वेद-बिधान कन्यादान नृपभूषन किये।" (दो० ३२३) इत्यादि। ये 'कीर्त्ति-सरयू' दोनों मतों की प्रतिपादिका हैं। नदियों में एक किनारा खड़ा और दूसरा प्रायः ढालू होता है, वैसे इनमें कहीं वेदमत की प्रधानता तो कहीं लोकमत की प्रधानता है। ये कीर्त्ति सरयूजी दोनों मतों का प्रतिपादन मंजुल रूप में करती हैं। दोनों मत राम-यश रूप मे ही हैं। अतः, सुयश-वारि से पूर्ण हैं।

(२) 'नदी पुनीत···'—एक में भगवान् का नेत्र-जल और दूसरी में राम-सुयश-रूप जल है। अतः, दोनों पुनीत एवं सु-मानस-नन्दिनी हैं।

'कलिमल तृनतरु'···'–पाप दो प्रकार के होते हैं—पातक और उपपातक। यथा—"जे पातक उपपातक अहहीं। करम-बचन मन-भव कवि कहहीं॥" (अ० दो० १६६)। यहाँ पातक तरु और उपपातक तृण हैं। 'मूलनिकंदिनि' पाप के मूल 'करम-बचन मन' हैं, इन्हें शुद्ध कर देती हैं। अतः, पाप होते ही नहीं। यथा—"मन क्रम-बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई॥" (उ० दो० १२५) अर्थात् मनन से मन शुद्ध होता है, कथन से वचन शुद्ध होता है, फिर तदनुसार कर्म भी होने लगते हैं।

(३) अधमता और उत्तमता भी चार प्रकार से देखी जाती है—जन्म, संग, स्वभाव और शरीर से। यथा—"निसिचर-बंस जनम सुरत्राता।" (सु० दो० ४४)—जन्म-स्थान-दूषित ; "नाथ दसानन कर मैं भ्राता।" (सुं० दो० ४४) ;—संग-दूषित; 'सहजपापप्रिय'—स्वभाव-दूषित और 'तामस देहा'—शरीर-दूषित। ऐसे ही यहाँ कीर्त्ति-सरयू में चारों की उत्तमता है। यथा—'सुमानसनंदिनि' में जन्मस्थान, 'नदी पुनीत' में तनु, 'राम-भगति सुरसरितहिं जाई, मिली···' में संग और 'सुकीरति सरजु सुहाई।' में स्वभाव की उत्तमता है।

दोहा—श्रोता त्रिबिध समाज पुर, ग्राम नगर दुहुँ कूल।
संत-सभा अनुपम अवध, सकल सुमंगल मूल ॥३९॥

अर्थ—तीन प्रकार के श्रोताओं के समाज इसके दोनों किनारों के पुर, ग्राम और नगर हैं। उपमा-रहित और सब उत्तम मंगलों की खान संत-सभा श्रीअयोध्याजी हैं।

विशेष—(१) 'श्रोता त्रिविध'—यथा—"सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई। लहहिं भगति गति संपति नई॥" (उ० दो० १४)। उदाहरण—मुक्त—"जीवन्मुक्त महामुनि जेऊ। हरिगुन सुनहिं निरंतर तेऊ॥" (उ० दो० ५२)। बिरत (विरक्त)—"महाराज कर सुभ अभिषेका। सुनत लहहिं नर बिरति बिवेका॥" (उ० दो० १४)।—बिषई—"बिषइन्ह कहँ पुनि हरिगुन-ग्रामा। श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥" (उ० दो ५२)। यहाँ जो 'बिरत' हैं, वे ही मुमुक्षु भी कहे जाते हैं।

(२) यों तो पुर, ग्राम, नगर पर्यायी भी कहे जाते हैं, पर यहाँ त्रिविध के रूपक में कहे गये हैं। अतः, लोक में जैसे पुर (पुरवा) से ग्राम बड़ा कहा जाता है और ग्राम से नगर बड़ा। वैसे यहाँ भी लेना चाहिये। यहाँ विषयी पुरवा हुए, जो कथा में श्रवण-सुख एवं मनोरञ्जन के लिये जाते हैं। अतः, इनकी निष्ठा दृढ़ नहीं होती। जैसे पुरवे के किनारे के स्थल: प्रायः धार से कट जाते हैं; अतः, उजड़ जाते हैं, वैसे विषयी कथा में कम ठहरते हैं। मुमुक्षु (विरत) ग्राम-रूप हैं, इन्हें विराग-विवेक के लिये कथा में विषयी से अधिक निष्ठा रहती है। मुक्त-नगर रूप हैं। किनारे पर नगर कम होते हैं, वैसे जीवन्मुक्त श्रोता भी कम होते हैं, पर ये नगर की तरह दृढ होते हैं; अतः, कथा से प्रायः नहीं हटते; जैसे नदी की धार से नगर प्रायः नहीं कटते; यथा—"जीवन्मुक्त ब्रह्मपर, चरित सुनहिं तजि ध्यान।" (उ० दो० ४२)।

(३) 'संत-सभा अनुपम अवध ···'—यह संत-सभा उपर्युक्त तीनों प्रकार के श्रोताओं से पृथक है। जैसे श्रीसरयूजी श्रीअयोध्या के लिये ही आईं, वैसे कीर्त्ति-सरयू भी संत-सभा के लिये प्रकट हुईं। यथा—"होहु प्रसन्न देहु बरदानू। साधु-समाज भनिति सनमानू॥" (दो० १४)। यह संत-सभा निष्काम अनुरागी है, इसीके लिये कहा है—"येहि सम प्रिय तिन्हके कछु नाहीं॥" (उ० दो० १२१)। तथा—"संत-समाज पयोधि रमा सी।" (दो० ३०)।

(४) 'अनुपम'—अयोध्या और संत-समाज दोनों अनुपम हैं। यथा—"बिधि हरि हर कवि कोविद बानी। कहत साधु-महिमा सकुचानी॥" (दो० २)। अतः, इनके बराबर दूसरा नहीं है। तथा—'जद्यपि सब वैकुंठ बखाना।···अवध-सरिस प्रिय मोहि न सोऊ।' (उ० दो० ३)। अतः, अनुपम हैं।

(५) दोनों सुमंगलमूल हैं। यथा—"मुदमंगलमय संत-समाजू।" (दो० १) एवं—"सतसंगति मुद-मंगल-मूला।" (दो० २) तथा—"अवध सकल सुमंगल मूल" है।

(६) दोनों (संतसभा और अवध) ही श्रीसीतारामजी के विहारस्थल हैं। अयोध्याजी विहारस्थल प्रसिद्ध ही हैं और संत-समाज में कथा के सम्बन्ध से विहार रहता है। यथा—"रामकथा मंदाकिनी, चित्रकूट चित चारु। तुलसी सुभग सनेह बन, सिय-रघुबीर-बिहारु॥" (दो० ३१) एवं—"संत-समाज पयोधि रमा सी।" (दो० ३०)।

(७) श्रीसरयू का महत्त्व श्रीअयोध्या में अधिक है, वैसे कीर्त्ति-सरयू का संत-सभा में। जैसे श्री-अयोध्या की शोभा श्रीसरयू से और श्रीसरयू की श्रीअयोध्या से है, वैसे ही संत-सभा और कीर्त्ति-सरयू में परस्पर शोभा-सापेक्ष्य है।

राम-भगति सुरसरितहिं जाई। मिली सुकीरति - सरजु सुहाई॥ १॥

अर्थ—सुकीर्त्ति रूपी सुन्दर सरयू राम-भक्ति रूपी गंगा में जाकर मिलीं॥१॥

विशेष—सुकीर्त्ति रूपी सरयू पहले शिवजी के मानस में थीं, गिरिजाजी के प्रश्न से उमड़ीं और निकल पड़ीं—"सुनु गिरिजा हरिचरित सुहाये। बिपुल बिसद निगमागम गाये॥" (दो० १२०) से

इसका प्रवाह चला। इसके प्रथम शिवजी ने—"अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा।'''"—से—"मिटि गइ सब कुतर्क कइ रचना॥" (दो० ११८) तक श्री राम-यश का स्वरूप कहा है।

जैसे श्री सरयूजी कुछ दूर चलकर छपरे के पास गंगाजी में मिली हैं, वैसे कीर्त्ति-सरयू का प्रवाह उपर्युक्त गिरिजाजी के प्रश्नोत्तर से चला। बीच के तीन कल्पों के अवतार-प्रसंग कथित होते हुए चौथे कल्प के परब्रह्म श्री साकेतविहारी के अवतार-प्रसंग तक पहुँचा। वहाँ मनु-शतरूपा की अनन्य भक्ति कही गई। यथा—"बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आये बहु बारा॥ माँगहु बर बहु भाँति लोभाये। परम धीर नहिं चलहिं चलाये॥" (दो० १४४) अर्थात् त्रिदेव के भी प्रलोभन में नहीं आये। यही उत्तम भक्ति है। यही कीर्त्ति-सरयूजी का गंगाजी में मिलना है। गंगाजी और श्रीराम-भक्ति का रूपक पूर्व—"राम भगति जहँ सुरसरि-धारा।" (दो० २) में कहा गया है।

शंका—श्री सरयूजी राजा इक्ष्वाकु के समय में आई हैं और गंगाजी उनसे बत्तीसवीं पीढ़ी पीछे राजा भगीरथ के समय में आईं। फिर सरयू का गंगा में मिलना कैसे कहा गया ?

समाधान—उपमा के जितने अंश मिलते हैं, कवि को उतने ही से प्रयोजन रहता है। वर्त्तमान काल में श्री सरयूजी का ही मिलना श्री गंगाजी में कहा जाता है। अतः, काल के अनुरोध से कवि का कथन यथार्थ ही है।

यह भी कहा जाता है कि श्री गंगाजी ने ब्रह्माजी से वर माँग लिया था कि जिस किसी भी नदी से मेरा संगम हो, उसके आगे फिर मेरा ही नाम रहे।

इस कीर्त्ति-सरयू का रूपक सम्पूर्ण श्री रामचरितमानस है। अतः, इसकी उपमाएँ इसी ग्रंथ के प्रसंगों के साथ लगेंगी। जैसे, यहाँ मनु-शतरूपा का प्रसंग कहा गया।

सानुज राम-समर-जस पावन। मिलेउ महानद सोन सुहावन॥ २॥

अर्थ—छोटे भाई लक्ष्मणजी के साथ श्रीरामजी के युद्ध का पवित्र यश 'सुहावन' महानद शोण (सोन) उस (गंगा) में मिला है।

विशेष—'सानुज राम-समर' मारीच-सुबाहु की लड़ाई में साथ-साथ श्रीलक्ष्मणजी भी थे। इन्होंने सम्पूर्ण सेना का संहार किया और श्रीरामजी ने सुबाहु को अग्निबाण से मारा और मारीच को वहाँ से उड़ा दिया। अन्य लड़ाइयों में श्रीरामजी अकेले हैं और आगे लंका में तो वानर-भालु भी थे। इस समर को महानद सोन कहा है, क्योंकि महासंग्राम हुआ। युद्ध में रक्त की धारा चलती है, सोन के जल में भी वर्षा का लाल रंग मिला होता है। यथा—"बरषा घोर निसाचर-रारी।" (दो० ४१)। सोन की धारा विस्तृत, तीव्र और भयावनी लगती है। वैसे समर भी भयावन लगता है। सोन नद विन्ध्याचल के अमरकंटक के पास से निकला है और मगह होकर बहता हुआ गंगाजी में मिल जाता है। इस नद के सम्बन्ध से मगध भूमि पवित्र और उर्वरा बन गई है, इसलिये इसका एक नाम 'मागध' भी है। समर-भूमि में राक्षसों की मुक्ति हुई। 'पावन'—क्योंकि निश्छल युद्ध हुआ है, इससे निशिचरों की मुक्ति हुई। अधर्म होना बंद हो गया। भक्तों और देवताओं को सुख मिला। कहा ही है—"निर्बानदायक क्रोध जाकर'''" (आ० दो० २५)।

यहाँ कोई-कोई महानद को पृथक् मानकर शोण के सामने गंगा में मिलनेवाले महानद संज्ञक नद को लेते हैं और दोनों भाइयों के यश को पृथक्-पृथक् मानते हैं, पर यह असंगत इसलिये मालूम होता है

कि यहाँ 'सानुज' पद से अनुज का सहायक रूप में साथ होना है। अत., एक ही यश का लेना ठीक है, फिर आगे त्रिमुहानी की सगति भी यहाँ के एक लेने में ही होगी, अन्यथा सरयू-गगा-शोण और महानद ये चार प्रवाह हो जायँगे।

जुग बिच भगति देवधुनि-धारा। सोहति सहित सुबिरति बिचारा ॥३॥
त्रिबिध ताप-त्रासक तिमुहानी। राम-सरूप सिंधु समुहानी ॥४॥

शब्दार्थ—तिमुहानी = तीन मुखोंवाली = गंगा में सरयू, फिर सोन के मिलने के बाद की धारा। समुहानी = सामने की ओर चली।

अर्थ—दोनों के बीच में गंगाजी की धारा कैसी सोहती है जैसे ज्ञान और वैराग्य के साथ भक्ति शोभित हो ॥३॥ तीनों तापों को डरानेवाली यह त्रिमुहानी (गगा) राम-स्वरूप-सिंधु की ओर चली ॥४॥

विशेष—(१) 'जुग बिच भगति···' यहाँ कीर्त्ति-सरयू विरति, सोन विचार और भक्ति गंगा हैं। कीर्त्ति सुनने से वैराग्य होता है, जैसे राजा परीक्षित को भूख प्यास तक की भी सुधि न रही और समर-यश से विचार (ज्ञान)-क्योंकि लंकाकांड का नाम ही विज्ञान-सपादन सोपान है। ऐसी ही ज्ञान विचार-युक्त भक्ति की शोभा है। यथा—"श्रुतिसमत हरिभगति पथ, सजुत बिरति बिवेक।" (उ० दो० १०), "कहहिं भगति भगवत कै, सजुत ज्ञान-बिराग।" (दो० ४४)।

(२) 'त्रिबिध ताप त्रासक ···' सरयू, गगा और सोन के सगम का नाम 'त्रिमुहानी' हुआ। आजकल सोन की धारा जहाँ गगाजी मे मिलती है, पहले उससे बहुत दूर पच्छिम ही यह सगम था जहाँ दूसरी ओर सरयूजी गगाजी मे मिलती हैं। इससे गोस्वामीजी ने उस स्थान को ठीक ही 'त्रिमुहानी' कहा है। इसका माहात्म्य ऐसा कहा जाता है कि राजा दशरथ की माता इन्दुमतीजी एक दिन छत पर विराजमान थीं। आकाश-मार्ग से जाते हुए, श्रीनारदजी की वीणा से एक पुष्पमाला खिसक पडी जो इन्दुमतीजी के उपर आ पडी। अत्यन्त सुकुमारता के कारण इनका प्राणान्त हो गया। तब इसी त्रिमुहानी मे स्नान कराने पर जी उठीं और इसका माहात्म्य प्रकट हुआ।

त्रिमुहानी से आगे गगाजी प्रधान रहीं। वे ही इन दोनों के साथ समुद्र से मिलने चलीं, वैसे विराग और विचार के साथ भक्ति से श्रीरामजी मिलते हैं। अत, श्रीराम प्राप्ति कराने में भक्ति ही मुख्य है।

ये कीर्त्ति-सरयू कैलाश प्रकरण से चलीं। मनुशतरूपा प्रकरण की अनन्य भक्तिरूपा गगा मे मिलीं। फिर मारीच-सुबाहु के समर-प्रसग मे समर-यश सोन से भी मिलकर त्रिमुहानी हुईं। फिर राजसिंहासनासीन श्रीराम स्वरूप समुद्र के सम्मुख चलीं। समुद्र मे पहुँचने पर कुछ दूर समुद्र के भीतर भी गगाजी चली गई हैं, वैसे राजगद्दी के-"प्रथम तिलक बसिष्ठ मुनि कीन्हा।" (उ० दो० ११), से लेकर 'शीतल अमराई' के प्रसग दो० ५१ तक चरित का वर्णन है। वह नित्य-चरित है। उस नित्य-चरित मे कुछ दूर-प्रवेश ही सिंधु मे कुछ दूर जाना है। यहाँ तक त्रिमुहानी का फल कहकर अब केवल कीर्त्ति-सरयू का ही वर्णन करेंगे।

'त्रिबिध ताप त्रासक ···' जैसे त्रिमुहानी की तीनो धाराओं की तीव्रता से भय लगता है, वैसे इस कथा से तीनों तापों को भय होता है। ताप—"दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम-राज नहिं काहुहिं ब्यापा॥" (उ० दो० २०)।

मानस - मूल मिली सुरसरिहीं । सुनत सुजन मन पावन करिहीं ॥५॥
बिच-बिच कथा बिचित्र बिभागा । जनु सरि तीर-तीर बन बागा ॥६॥

अर्थ—कीर्त्ति - सरयू का मूल (उत्पत्ति-स्थान) मानस है और ये गंगाजी में मिली हुई हैं, (अत.) सुनने पर ये सुजनों के मन को पवित्र करेंगी ॥ ५ ॥ बीच-बीच में जो भिन्न-भिन्न प्रकार की विचित्र कथाएँ कही गई हैं, वे ही नदी के किनारे के पास-पास के वन और बाग हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'मानस मूल···' सब नदियों की अंतिम गति सिंधु है, जिसे त्रिमुहानी के द्वारा कह चुके। अब मूल और संगम के द्वारा माहात्म्य कहते हैं। आगे भी इन्हीं दोनों के बीच के रूपक कहेंगे। जैसे इस कीर्त्ति नदी के आदि-अंत शुद्ध हैं, वैसे यह श्रोता को भी शुद्ध करेगी। मन की मलिनता विषय है। यथा—"काई विषय मुकुर मन लागी।" (दो० ११४)। यह विषय - वासना दूर कर भगवान् को ही इन्द्रियों का विषय बना देगी अर्थात् भक्ति देगी।

(२) 'बिच-बिच कथा···' जैसे नदी के किनारे-किनारे ऊपरी भाग में वन और बाग होते हैं; वे नदियों के सम्बन्ध से प्रफुल्लित रहते हैं; उनसे पथिकों को आनन्द मिलता है; वैसे कीर्त्ति-सरयू में भी विचित्र कथाएँ वर्णित हैं। वे मुख्य रामचरित से पृथक् हैं, पर उससे सम्बन्ध रखती हैं। जैसे जलंधर, नारद-मोह, भानुप्रताप आदि की कथाएँ। इनमें बड़ी कथाएँ वन और छोटी बाग हैं। मुख्य रामचरित छोड़कर इनका प्रसंग आता है। इनकी समाप्ति पर फिर मुख्य चरित का प्रारंभ हो जाता है। अतः, बीच की कथाएँ हैं। जैसे वन-बाग से लोगों को आराम होता है, वैसे इन चित्र-विचित्र कथाओं से श्रोताओं को आनन्द होता है। ये कथाएँ मुख्य श्रीरामचरित से सम्बन्ध रखती हैं, इसीसे ललित लगती हैं।

प्रथम भी सरयूजी 'कलिमल तृन तरु मूल निकंदिनि' कही गई हैं, पर वे 'तृन तरु' बिल्कुल तट के हैं, इसीसे उनका उखाड़ फेंकना कहा गया है। मानस-सर के किनारे वाटिका भी वर्णित है—'पुलक वाटिका बाग बन।' पर यहाँ 'वाटिका' नहीं कही गई, क्योंकि तालाब के तट पर वाटिका होती है, नदी-तट पर नहीं।

उमा - महेस - बिबाह बराती । ते जलचर अगनित बहु भाँती ॥७॥
रघुबर - जनम अनंद बधाई । भँवर तरंग मनोहरताई ॥८॥

अर्थ—श्रीपार्वती और शिवजी के विवाह की बारात के लोग ही (कीर्त्ति-सरयू के) बहुत भाँति के अगणित जलचर हैं ॥७॥ श्रीरघुवर-जन्म की आनन्द-बधाइयाँ ही भँवरों और तरंगों की मनोहरता है ॥८॥

विशेष—(१) 'उमा-महेस-बिबाह···' नदियों में रंग बिरंग के और भाँति-भाँति की आकृतियों वाले असंख्य जलचर होते हैं—कोई भयानक और कोई सुन्दर, वैसे ही शिवजी के विवाह में बराती भी कहे गये हैं। यथा—"कोउ मुख-हीन बिपुल मुख काहू। · " से—"देखियत अति बिपरीत, बोलहिं बचन बिचित्र बिधि॥" (दो० ९३-९३) तक, इत्यादि भयानक जलचर हैं। ब्रह्मा-विष्णु आदि के समाज सुन्दर जलचर हैं। शिवजी जलप्रिय हैं, क्योंकि उन्हें जल बहुत चढ़ाया जाता है, इससे भी उनके बराती जलचरों की भाँति कहे गये।

(२) 'रघुवर जनम अनंद······' यहाँ आनंद और बधाई क्रमशः भँवर और तरंग हैं। आनन्द—यथा—"दसरथ पुत्र-जनम सुनि काना। मानहुँ ब्रह्मानंद समाना॥ परम प्रेम मन पुलक सरीरा। चाहत उठन करत मतिधीरा॥" (दो० १९१)। आनंद में मन वैसे ही डूब जाता है, जैसे नदी की भँवर में पड़कर मनुष्य का निकलना कठिन हो जाता है। इस आनंद में पड़कर सूर्य को भी ऐसी दशा हुई। यथा—"मास दिवस कर दिवस भा, मरम न जानइ कोइ। रथ समेत रवि थाकेउ, निसा कवनि बिधि होइ॥" (दो० १९५)। 'बधाई' बजने पर तरंग उठने की तरह शब्द होता है, लोगों की भीड़ होती है, कितने भीतर से बाहर और बाहर से भीतर जाते हैं। यह आना-जाना भी तरंगों की तरह होता है। बधाई—यथा—"गृह-गृह बाज बधाव सुभ, प्रगटे सुषमाकंद। हरषवंत सब जहँ-तहँ, नगर नारि नर-बृंद॥" (दो० १९४); "कनक कलस मंगल भरि थारा। गावत पैठहिं भूप-दुआरा।" (दो० १९३)।

'रघुबर' शब्द चारों भाइयों का भी बोधक है। यथा—"नामकरन रघुबरनि के नृप सुदिन सोधाये।" (गी० बा० ६); "नेकु बिलोकि धौं रघुबरनि। चारि फल त्रिपुरारि तो को दिये कर नृप-घरनि।" (गी० बा० २५)। "मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ ······" (कि० मं० श्लोक)। अतः, यहाँ चारों भाइयों की बधाइयाँ भी आ गईं।

दोहा—बालचरित चहुँ बंधु के, बनज बिपुल बहु रंग।
नृप रानी परिजन सुकृत, मधुकर बारिबिहंग॥४०॥

शब्दार्थ—बनज (बन = जल, ज = उत्पन्न) = कमल। सुकृत = धार्मिक, शुभ कार्य-कर्ता।

अर्थ—चारों भाइयों (श्रीरामजी, श्रीभरतजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी) के बाल-चरित (कीर्त्ति-सरयू में) विविध रंगों के बहुत-से कमल हैं। धार्मिक श्रीदशरथ महाराज और रानियाँ (उन कमलों पर के) भ्रमर हैं और धार्मिक कुटुम्बी लोग जलपक्षी हैं।

विशेष—(१) 'बाल-चरित' का प्रसंग—"बालकेलि रस तेहि सुख माना"॥ ·····से—"यह सब चरित कहा मैं गाई।" (दो० २०५) तक बहुत रंगों के कमलों का होना कहा गया, क्योंकि भाई चार हैं, कमल भी चार रंगों के होते हैं। यथा—"सोइ बहु रंग कमल कुल सोहा।" (दो० ३१) में कहे गये हैं। ऐसे ही बाल-चरित भी सात्त्विकादि भेदों से चार रंगों के होते हैं। यथा—"बेद पुरान सुनहिं मन लाई। आप कहहिं अनुजन्ह समुझाई॥" (बा० दो० २०४); इसे श्वेत रंग, "देखरावा मातहिं निज अद्भुत रूप अखंड।"······से—"अब जनि कबहूँ ब्यापइ, प्रभु मोहिं माया तोरि॥" (दो० २०२) तक, इसे पीत रंग, "आयसु माँगि करहिं पुरकाजा।" (दो० २०४); इसे अरुण रंग और—"पावन मृग मारहिं जिय जानी।" (दो० २०४), इसे नील रंग का कमल जानना चाहिये।

(२) 'नृपरानी परिजन ·····' इसमें यथासंख्य अलंकार की रीति से धार्मिक नृप रानी को भ्रमर और धार्मिक परिजनों को 'बारिबिहंग' (जलपक्षी) जानना चाहिये। राजा-रानियों एवं परिजनों को वात्सल्य रस का आनंद पाना शुभ कर्म के फल-रूप में ही है। यथा—"पुन्य फल अनुभवति सुतहि बिलोकि दसरथघरनि।" (गी० बा० २४); "दसरथ सुकृत मनोहर बिरवनि रूप करह जनु लाग।" (गी० बा० २६)। भ्रमर कमल का आलिंगन करता है, रस चूसता है, वैसे राजा-रानी चारों भाइयों को दुलारते हैं गोद में लेते हैं और मुख चूमते हैं। यथा—"कर, पद, मुख, चख कमल लसत लखि लोचन

भ्रमर भुलावों।" (गी० बा० १५); और जलपक्षी कमल को देखकर प्रसन्न होते हैं, वैसे परिजन रघुवरों की बाल-केलि देखकर प्रसन्न होते हैं। भ्रमर और जल-पक्षी दोनों कमल से सुख पाते हैं वैसे बाल-चरित से नृप रानी और परिजन सुख पाते हैं; यथा—"बंधु सखा सँग लेहिं बुलाई।"…… " से—"देखि चरित हरषइ मन राजा॥" (दो० २०४) तक और "जेहि बिधि सुखी होहिं पुर लोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा॥" (दो० २०४)। कमल में रस होता है, वैसे बाल-केलि में भी रस है। यथा—"बाल-केलि रस तेहि सुख माना।"(दो० २१०)। तथा— सुख मकरंद भरे श्रीमूला।" (अ० दो० ५१)।

सीय-स्वयंवर-कथा सुहाई। सरित सुहावनि सो छबि छाई॥१॥
नदी नाव पटु प्रश्न अनेका। केवट कुसल उतर सबिबेका॥२॥

शब्दार्थ—पटु=प्रवीण, अन्यत्र पटु का अर्थ सुन्दर भी होता है। कुसल=चतुर।

अर्थ—श्रीसीताजी के स्वयंवर की जो सुन्दर कथा है, वही इस सुहावनी नदी में छवि छा रही है॥१॥ प्रवीणों के अनेक प्रश्नों का होना इस (कीर्त्ति) नदी की नावें हैं और उनका विवेक-सहित उत्तर देना चतुर केवट है॥२॥

विशेष—(१) 'सीय-स्वयंवर-कथा ……'—स्वयंवर चार प्रकार के होते हैं, १—इच्छा स्वयंवर (इस स्वयंवर में कन्या अपनी इच्छा से चुनकर अभिलषित वर के गले में जयमाल डाल देती है।) जैसे, विश्वमोहिनी का। २—शुल्क स्वयंवर (इसमें कन्या उस योग्य वर को चुनती है जो कन्या के मन के अनुसार उसके पिता या भाई की इच्छा पूरी करता है) जैसे, तारावती (जिसकी प्रतिज्ञा थी कि जो शत्रु को मारकर पिता का राज्य लौटा देगा उसे ही मैं पति बनाऊँगी) का। ३—पण या प्रतिज्ञा-स्वयंवर, जैसे, द्रौपदी का. सीय-स्वयंवर भी इसी पण स्वयंवर के अन्तर्गत है, यथा—"टूटत ही धनु भयेउ बिबाहू।" (दो० २८५); फिर यहाँ जयमाल पड़ी। यथा—"रघुबर उर जयमाल,…" (दो० २६४) और ४—वीर्य-स्वयंवर इसमें जो अधिक वीरता या उत्कर्ष गुण दिखाता है, कन्या उसी को पसंद करती है। जैसे, महाभारत में कथित काशीराज की कन्याओं का।

'सीय-स्वयंवर' कथा का प्रसंग—"धनुष-यज्ञ सुनि रघुकुलनाथा। हरषि चले कौसिक मुनि साथा।" (दो० २०६) से ही इसकी भूमिका है, पर प्रसंग—"सीय-स्वयंवर देखिय जाई।……" (दो० २११) से—"गौतम-तिय गति सुरति करि, नहिं परसति पग पानि। ……" (दो० २६५) तक है।

'सरित ''छबि छाई।' अर्थात् इस स्वयंवर की कथा से कीर्त्ति-नदी में छवि छा गई, जैसे कोई सुन्दरी स्त्री हो और फिर वह शृंगार करे, वैसे कीर्त्ति-नदी स्वयं सुन्दरी है, पर यह 'सुहाई कथा' इसका शृंगार है।

ऊपर 'रघुबर-जन्म' कहा और यहाँ 'सीय-स्वयंवर' कहते हैं, क्योंकि पुत्र का जन्मोत्सव सुखवर्द्धक और कन्या का विवाह सद होता है।

(२) 'नदी नाव पटु'…' ग्रंथ में अनेक प्रश्न और उनके उत्तर हैं, वैसे अनेक नावें और केवट जानना चाहिये। जैसे छोटे-बड़े प्रश्न हैं, वैसी ही नावें और उनके उत्तरों को भी वैसे ही केवट समझना चाहिये। प्रश्न का उत्तर न बनना नाव का डूबना है। इस ग्रंथ में सब उत्तर चतुराई से दिये गये हैं। अतः, कोई नाव नहीं डूबी। प्रश्नोत्तर परशुराम-लक्ष्मण संवाद में हुए। श्रीरामजी के प्रश्न के उत्तर श्री वाल्मीकिजी ने (अ० दो० ११५ में) दिये। यह विषय अंगद-रावण संवाद तथा श्री हनुमान्‌जी और रावण के संवाद में भी देखना चाहिये।

सुनि अनुकथन परसपर होई। पथिक-समाज सोह सरि सोई ॥ ३ ॥
घोर धार भृगुनाथ रिसानी। घाट सुबद्ध राम-बरबानी ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—अनुकथन = (परस्पर) बातचीत । पथिक = नदी के उतरनेवाले राही ।

अर्थ—सुनकर परस्पर बातचीत होना ही कीर्त्ति-सरयू में यात्रियों का समाज शोभा पा रहा है ॥३॥ इसमें जो परशुरामजी के क्रोध का वर्णन है, वही नदी की घोर धारा है, (उनके क्रोध को शान्त करनेवाला) श्री रामजी का श्रेष्ठ वचन ही अच्छी तरह से बाँधा हुआ (पक्का) घाट है ॥४॥

विशेष— (१) 'सुनि अनुकथन···' यहाँ अनुकथनवालों की ही शोभा वर्णित है, क्योंकि नदी की शोभा ऊपर 'सरित सुहावनि सो छबि छाई ।' में कही गई ।

(२) 'घोर धार भृगु···' घोर धार ; यथा—"सीस जटा ससि बदन सुहावा । रिसि बस कछुक अरुन होइ आवा ॥"···से—"देखत भृगुपति बेष कराला । उठे सकल भय-बिकल भुआला ॥" (दो० २६७-६८) तक । यहाँ 'घोर धार' का स्वरूप प्रकट हुआ । 'घोर धार' देखकर डर लगता है, वैसे सब राजा डर गये । 'घोर धार' में बहुत-सी नावें डूबती हैं, वैसे इनके क्रोध में सहस्रबाहु ऐसे वीर नष्ट हुए तथा २१ बार सम्पूर्ण क्षत्रियों का नाश हुआ । 'घोर धार' से बड़े बड़े नगर भी कट जाते हैं, वैसे इस समय भी इन्होंने जनकनगर को उलटना चाहा था । यथा—"उलटउँ महि जहँ लगि तव राजू ।" (दो० २११) । अतः, नगर-रक्षार्थ घाट बँधने की आवश्यकता हुई, तब श्री रामजी सम्मुख हुए और शीतल वचनों से उन्हें शांत करना चाहा । यही कोठी गलाना है । पर, वे शांत न हुए, मानों धारा ने कोठी उखाड़ फेंकी तब श्री लक्ष्मणजी ने सामना किया, इन्होंने दो कोठियों को गलाना चाहा । यथा—"बहु धनुहीं तोरी लरिकाईं ।···येहि धनु पर ममता केहि हेतू ।" इन दो बातों में से एक को तो इन्होंने उखाड़ फेंका; अर्थात् उत्तर दे दिया,—"धनुहीं सम त्रिपुरारि-धनु ।" दूसरी का उत्तर न बना, अतः एक कोठी जमी । धारा का मुख थोड़ा मुड़ा और विदेह की ओर 'निहोरा' करने लगे। फिर श्री विश्वामित्र का निहोरा करने लगे । पीछे श्री रामजी से भी कहा—'अनुहरइ न तोही ।' इत्यादि । धारा कुछ शिथिल पड़ी, तब श्री रामजी ने अपने वचनों से क्रोध शांत किया, यही घाट का सुदृढ़ बँधना हुआ कि परशुरामजी की शक्ति भी श्री रामजी में आ गई और शांत हो हथियार भी सौंपकर तप के लिये चले गये ।

'भृगुनाथ रिसानी'—भृगु की तरह परशुराम ने भगवान् ही पर क्रोध किया और उसी तरह यहाँ भी भगवान् ने क्षमा की है। ये भृगु के वंशज हैं । अतः, क्रोध होना योग्य ही है । इस चरित-प्रसंग का भी इसी नाम से उपक्रम तथा उपसंहार किया गया है । यथा—उपक्रम—"आये भृगुकुलकमल-पतंगा···"; उपसंहार—"भृगुपति गये बनहिं तप हेतू ॥" (दो० २८४) ।

सानुज राम - विवाह उछाहू । सो सुभ उमँग सुखद सब काहू ॥५॥
कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं । ते सुकृती मन मुदित नहाहीं ॥६॥

अर्थ—भाइयों के साथ श्रीरामजी का विवाह-उत्सव कीर्त्ति-सरयू की शुभ बाढ़ है, जो सब किसी को सुख देनेवाली है ॥५॥ जिनको इसके कहने-सुनने में हर्ष और रोमाञ्च होता है, वे ही सुकृती कीर्त्ति-सरयू में प्रसन्न मन से नहाते हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'सानुज राम ···' चारों भाइयों के विवाह का उत्साह-प्रसंग—"धेनुधूलि बेला बिमल···" से—"प्रभु-बिबाह जस भयेउ उछाहू।" (दो० ३६०) तक है। इसे शुभ उमंग कहा है। और नदियों की अशुभ उमंग से बाढ आती है, तब वह तटस्थलोगों को दुःखद होती है, पर श्रीसरयूजी में शुभ उमग की बाढ ग्रीष्म ऋतु में बर्फ गलने से आती है वह सबको सुखदायी होती है, वैसे ही कीर्त्ति-सरयू में जनकपुरवासी विदेह की प्रतिज्ञा से तप रहे थे और अवधवासी प्रभु के वियोग से तप्त थे, इस विवाहोत्सव रूप बाढ से दोनों सुखी हुए।

सरयूजी की इस बाढ से दूर के लोगों को भी स्नान में सुलभता होती है और माँझा (कछार) वाले लोग खेती से लाभ उठाते हैं, वैसे इस विवाह-उत्सव से और भी बहुतों को सुख हुआ एवं होता रहेगा। यथा—"सिय-रघुबीर-बिबाहु, जे सप्रेम गावहिं सुनहिं। तिन्ह कहँ सदा उछाहु, मंगलायतन राम जस॥" (दो० ३६१)

(२) 'कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं ···'—कहने-सुनने में हर्ष और पुलक का होना उत्साह है। उत्साह-पूर्वक ही तीर्थ-स्नान करना चाहिये। यथा—"मज्जहिं प्रात समेत उछाहा।" (दो० ४३) तथा—"सुनि समुझहिं जन मुदित मन, मज्जहिं अति अनुराग।" (दो० २)। वैसे यहाँ भी कहा गया।

'ते सुकृती'—यह हर्ष-पुलक स्नेह से होता है और श्रीराम-स्नेह सब सुकृतों का फल है, यथा—"वेद पुरान संत मत येहू। सकल सुकृत-फल राम-सनेहू॥" (दो० २६)। अत', सुकृती का स्नान करना कहा गया। 'हरष-पुलक'—"सुने न पुलकि तनु, कहे न मुदित मन, किये जो चरित रघुबंसराय।" (वि० ८३)। बड़े सुकृत से श्री सरयू-स्नान प्राप्त होता है, वैसे चरित-सरित् का स्नान भी दुर्लभ है। यथा—"अति हरि-कृपा जाहि पर होई। पॉव देइ येहि मारग सोई॥" (उ० दो० १२८)।

राम-तिलक हित मंगल साजा। परब जोग जनु जुरेउ समाजा॥७॥
काई कुमति कैकई केरी। परी जासु फल बिपति घनेरी॥८॥

शब्दार्थ—परब (पर्व) = ग्रहण, अमावस्या, पूर्णिमा, संक्रान्ति, गोविंदद्वादशी आदि पर्वदिन हैं। पर्व योग = पर्व के दिन। इस दिन पुण्य कर्म ही करना चाहिये, मास मैथुन आदि इस दिन बहुत निषिद्ध हैं। साज = सामग्री।

अर्थ—श्रीरामजी के राज्याभिषेक के लिये जो मंगल साज सजाया गया, वही इस कीर्त्ति नदी पर पर्व के योग में यात्रियों के समाज का जुड़ना (एकत्र होना) है॥७॥ कैकेयी की दुर्बुद्धि कीर्त्ति-सरयू में काई है, जिसके कारण बहुत विपत्ति आ पड़ी॥८॥

विशेष—(१) 'राम-तिलक हित ···' यह प्रसंग—"सबके उर अभिलाष अस,··· जुबराज-पद, रामहिं देउ नरेस॥" (अ० दो० १) से प्रारंभ होकर—"सकल कहहिं कब होइहि काली॥" (अ० दो० १०) तक है। जैसे पर्वयोग दुर्लभ होता है, वैसे श्रीराम-राज्य दुर्लभ था। अत सब चाहते थे।

जब सोमवार को तीन प्रहर तक अमावस्या हो, तब प्रतिपदा के योग से सूर्यग्रहण लगता है, वैसे यहाँ राज्याभिषेक-समारोह के दिन तीन प्रहर तक मानों अमावस्या रही। कैकेयी ने चौथे प्रहर मथरा से सुनकर विघ्न का आरंभ किया, वही प्रतिपदा का योग है, जिससे राज्याभिषेक-रूप सूर्य पर बाधा-रूप ग्रहण लगा।

(२) काई कुमति कैकई केरी। ''' इसका प्रसग—"नाम मंथरा मंदमति, चेरी कैकइ केरि। '''" (अ० दो० १२) से—"सजि बन साज'''प्रभु चले करि सबहिं अचेत।।" (अ० दो० ८१) तक है।

सब विपत्तियों का कारण कैकेयी की कुमति ही है। यथा—"कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी। भइ रघु-बंस-बेनु-बन आगी।। ' से—"बर बिचारि नहिं कुमतिहि दीन्हा।।" (अ० दो० ४६ ४०) तक तथ—"भइ दिनकर-कुल-बिटप कुठारी। कुमति कीन्ह सब बिस्व दुखारी।।" (अ० दो० ६१ । 'बिपति घनेरी' का प्रसंग—"येहि बिधि बिलपहि पुर नरनारी।" ' से—"अति बिषाद-बस लोग-लोगाई।" (अ० दो० ५०) तक। पुनः—"चलत राम लखि अवध अनाथा। '''" (अ० दो० ८१) से—"बिषम बियोग न जाइ बखाना।।" (अ० दो० ८५) तक; इत्यादि।

ऊपर—'घाट सुबद्ध राम बरबानी।' पर पक्के घाट का बँधना कहा गया। पक्के घाट पर जल और कीचड़ के संयोग से काई जम जाती है। यहाँ मंथरा कीचड़ और कैकेयी की राज्य-वासना रूप जल का संयोग होकर कुमति रूपी काई जमी। काई का होना उत्पात है, वैसे ही कुमति का फल विपत्ति हुआ। राजा का मरण, रानियों का विधवापन, प्रजा का शोक और भरतजी का दु ख—आदि विपत्तियाँ पड़ीं।

काई को बिना जाने बेधड़क चलने से लोग फिसल पड़ते हैं, वैसे इस काई को राजा दशरथ नहीं जानते थे। अतः, सहसा वचन दे दिया। फिर प्रतिज्ञा पूरी करने के लिये श्रीराम-शपथ भी कर डाली, यही इसपर चलना हुआ, जिससे ऐसा गिरे कि फिर न उठे।

दोहा—समन अमित उतपात सब, भरत-चरित जप जाग।
कलि-अघ खल-अवगुन-कथन, ते जलमल बक काग ।।४१।।

अर्थ—असंख्य उपद्रवों को शान्त करनेवाला भरतजी का चरित जप यज्ञ रूप है, कलि के पापों और खलों के अवगुणों का कहना इस नदी के जल की मैल के (लिये) बगले और कौए हैं ।।४१।।

विशेष—(१) 'समन अमित''' काई का होना उत्पात है। ऐसा जहाँ होता है, वहाँ धर्मात्मा लोग प्रथम तो काई निकलवाते हैं, फिर उत्पात-शांति के लिये यज्ञ करते हैं। वहाँ धर्मात्मा श्रीभरतजी आये और कैकेयी का कुमति के कारण त्याग किया। फिर माता न कहा, यही काई निकलवाना है। पश्चात् कैकेयी की कुमति नहीं रह गई, प्रत्युत उसके कारण उसे पश्चात्ताप हुआ। यथा—"गरइ गलानि कुटिल कैकेई।" (अ० दो० २७२)। यही काई का सूखना है। यह भी श्रीभरतजी के चरित से ही हुआ।

पुनः एक-दो उत्पात हों तो सामान्य यज्ञ किया जाता है, पर यहाँ अमित उत्पात हैं। अत, विशेष यज्ञ (जप-यज्ञ) की आवश्यकता हुई, यथा—"यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।" (गीता १०-२५) अर्थात् जप सब यज्ञों में श्रेष्ठ है। यहाँ जप-यज्ञ रूप श्रीभरतजी के चरित से श्रीसीताराम और लक्ष्मण तीनों प्रसन्न हुए, प्रजा सुखी हुई, और स्वर्गस्थ राजा दशरथ भी संतुष्ट हुए। भरत-चरित का माहात्म्य, यथा—"परम पुनीत भरत-आचरनू। मधुर मंजु मुद मंगलकरनू।।'' समन सकल संताप समाजू।'''राम-सनेह सुधाकर सारू।।" (अ० दो० ३२५)। तथा—"मिटिहहिं पाप प्रपंच सब, अखिल अमंगल भार। लोक सुजस परलोक सुख, सुमिरत नाम तुम्हार।।" (अ० दो० २६३)।

(२) 'कलि अघ खल-अवगुन''' श्रीसरयूजी जब मानस-(दिव्य)-सर में थीं, तब वहाँ न तो जल के मलरूप घोंघे-सेंवार थे और न बगले-कौए ही थे। यथा—"संबुक भेक सेवार समाना। इहाँ न बिषय-कथा रस नाना॥ तेहि कारन आवत हियँ हारे। कामी काक बलाक बिचारे॥" (दो० ३०)। जब श्रीसरयूजी प्राकृत देशों को चलीं, तब देश-देश की भूमि के योग से 'संबुक-भेक-सेवार' रहने लगे और इनके सम्बंध से बक-काक भी रहने लगे। वैसे ही कीर्त्ति-सरयू जबतक कवि के स्वच्छ हृदय रूप मानस में रहीं, तबतक वहां विषय कथा के संबंध न थे, जब उनका काव्य-निबंध करने लगे, तब प्राकृत लोगों को समझाने के लिये प्राकृत दृष्टान्त दिये गये, वे ही जल में मैल हुए। जैसे कहा गया है—"कद्रू बिनतहि दीन्ह दुख" (अ० दो० १६); इत्यादि, तब राम-सुयश-वारि के साथ-साथ इसे भी सुनकर लोगों के मन में आया कि जब देव-कोटि वाले भी ऐसा करते हैं, तब हमलोग क्यों न करें? यही जल में मैल है।

इन दोषों के निवारण के लिये कलि के पाप कहे गये हैं। यथा—"कलिमल ग्रसे धर्म सब" ‥ ‥ से—"सुनु ब्यालारि करालकलि, मल अवगुन आगार।" (उ० दो० ९०—१०२) तक। इन सब पाप-समूह के कथन बक-समूह हुए। पुनः—'खल-अवगुन कथन'—'बहुरि बंदि खलगन सति भाये।"‥‥से—"उभय अपार उदधि-अवगाहा॥" (दो० ३—५) तक; तथा—"सुनहु असंतन केर सुभाऊ।"—से—"ऐसे अधम मनुज खल,''''''बृंद बहु, होइहहिं कलियुग माहिं॥" (उ० दो० ३८—४०) तक, इत्यादि।

जैसे जल की उक्त मैल को बगले-कौए खा जाते हैं, जल साफ हो जाता है, वैसे ही इन पापों और अवगुणों को सुनकर उपर्युक्त मल धारण करनेवालों को ग्लानि होती है कि ये सब कर्म, जो हम करते हैं, पाप हैं; कलि के विकार हैं और दुष्टों के कर्म हैं। अतः, इन कुकर्मों को त्यागना चाहिये। इस पश्चात्ताप से हृदय साफ हो जाता है, फिर वे कर्म छूट जाते हैं, इसी से ये कथन बक और काक के रूप में कहे गये हैं।

सम्बन्ध—चरितके जितने अंश नदी के अंग-रूपक में आये, वे कहे गये। अभी बहुत मुख्य-मुख्य अंश-छूट गये हैं, उन्हें तत्संबंधी ऋतुओं के रूपक से कहते हैं—

कीरति सरित छहूँ रितु रूरी। समय सुहावनि पावनि भूरी॥१॥

अर्थ—यह कीर्त्ति-नदी छओं ऋतुओं में प्रशस्त है, पर समय-समय पर बहुत ही सुहावनी और पावनी (पवित्र) है॥१॥

विशेष—(१) 'छहूँ रित रूरी'—अन्यत्र के ऋतु-भावों की अपेक्षा यहाँ छओ ऋतुएँ प्रशस्त रूप में सब काल रहती हैं, इसी से यह नदी अत्यन्त सुहावनी है। कीर्त्ति श्रीरामजी की है, इसी से अत्यधिक पवित्र है। आगे छओं के पृथक्-पृथक् निर्देश किये हैं, उनमें चार की सुन्दरता स्पष्ट है, शेष ग्रीष्म राम-बन-गमन है, वह भी सुहावा' है, यथा—"कहेउँ राम-बन-गवन सुहावा।" (अ० दो० १४१) और—'वर्षा घोर……' की सुंदरता उत्तरार्द्ध में ही कह दी है कि वह—'सुरकुल-सालि सुमंगलकारी।' है।

(२) 'समय सुहावनि…' श्रीसरयूजी सब ऋतुओं में सुन्दर ही रहती हैं, पर कातिक, श्रीरामनवमी आदि विशेष अवसरों पर अधिक सुहावनी एवं पवित्र मानी जाती हैं, वैसे कीर्त्ति-सरयू भी वन-चरित तथा युद्ध की लीलाओं द्वारा भी तारने में समर्थ हैं, पर पुष्पवाटिका एवं शरणागति आदि प्रसंगों के द्वारा अत्यन्त सुहावनी और पवित्र हैं।

'छहूँ रितु'—(१) हिमऋतु—अगहन-पूस में (२) शिशिर—माघ-फागुन में (३) वसंत—चैत्र-बैशाख में (४) ग्रीष्म—जेठ-आषाढ़ में (५) वर्षा—सावन-भादों में और (६) शरद्—आसिन-कातिक में रहती है।

शंका—वर्षाऋतु में नदियाँ अपवित्र कही जाती हैं, क्योंकि वर्षा में उनका रजस्वला होना कहा जाता है, यहाँ कीर्त्ति-सरयूजी को सब ऋतुओं में प्रशस्त और पावन कैसे कहा है ?

समाधान—कीर्त्ति-सरयू में उपमा का उतना अंश न लेने से भी समाधान हो सकता है, पर इसकी उपमान-रूपा मातृस्वरूपिणी श्रीसरयूजी एवं गंगा-यमुना भी दिव्य होने से उक्त दोष से रहित हैं। यथा—"सिंहकर्कटयोर्मध्ये सर्वा नद्यः रजस्वलाः। तासु स्नानं न कुर्वीत वर्जयित्वा समुद्रगाः।" साथ ही यह भी लिखा है—"नदीषु मातृतुल्यासु रजोदोषो न विद्यते ॥" (कृत्यशिरोमणि)। यथा—"न दुष्येचीर-वासिनाम्" (निगम)

यह भी समाधान है कि रजोधर्म बाल्य और वृद्धावस्था में नहीं होता और सरयू-गंगा आदिवाली वृद्धावस्थावाली कही जाती हैं। अजर होने पर भी पृथ्वी के संयोग से देवताओं में वार्धक्य संभव है।

हिम हिमसैल-सुता सिव-ब्याहू। सिसिर सुखद प्रभु-जनम उछाहू ॥२॥

अर्थ—श्रीशिव-पार्वती का ब्याह हेमन्त ऋतु है। श्रीरामजी का जन्मोत्सव सुखदायी शिशिर ऋतु है ॥२॥

विशेष—(१) यहाँ से ऋतु-धर्म का मिलान करते हैं। प्रथम हिम कहा, क्योंकि अमरकोष में 'हिम' को प्रथम गिना है। इसका प्रथम मास अगहन है, यही मार्गशीर्ष भी कहाता है। इसे भगवान् ने अपनी विभूति कहा है, यथा—"मासानां मार्गशीर्षोऽहम्···" (गीता १०।३५)। प्राचीन वैदिक क्रम के अनुसार यह अग्रहायण अर्थात् वर्ष का प्रथम मास भी है। गुजरात में यह क्रम वर्त्तमान भी है।

(२) उमा-शंभु के ब्याह ही से वर्णन का प्रारंभ क्यों हुआ ? उत्तर यह है कि यह मानस-प्रसंग ग्रंथ भर के चरित की एक प्रकार की सूची है और साथ ही यह भी दिखाना है कि—'जग प्रचार जेहि हेतु।' इसमें इस प्रसंग की प्रथम आवश्यकता है, तब श्रीराम-जन्म के प्रसंग की। पुनः इससे रूपक मिलान भी ठीक-ठीक होता है। और भी—'हिम हिमसैल-सुता···' हिम ऋतु में पाला पड़ता है और पार्वतीजी 'हिमसैलसुता' हैं, यह मेल है। जाड़ा अमीरों को सुखद और गरीबों को दुखद होता है और बहुतों को कँपाता है। वैसे अमीर रूप देवता लोग इस ब्याह से सुखी हुए; यथा—"तारक असुर भयेउ तेहि काला" से—"येहि बिधि भलेहि देव-हित होई ॥" (दो० ८१–८२) तक। इसमें मैना आदि अबलाएँ गरीबिन हैं, इन्हें दुःख हुआ। यथा—"बिकट बेष रुद्रहि जब देखा। अबलन्ह उर भय भयेउ बिसेखा ॥" से "बहु भाँति बिधिहिं लगाइ दूषन नयन बारि बिमोचहीं ॥" (दो० ९५–९७) तक। शिवजी के कोप से तीनों लोक काँप उठे। यथा—"भयेउ कोप कंपेउ त्रयलोका ॥" (दो० ८९)। शिव-उमा-विवाह-प्रसंग दो० ९०–१०३ में है।

(३) 'सिसिर सुखद प्रभु···' यह जन्म प्रसंग दो० १९२–१९७ में है। शिशिर के माघ मास में सोधराज में समाज का सुख और फाल्गुन में होली की बहार सुखद है, वैसे श्रीरामजी के जन्म-समय पर देवता, ऋषि गन्धर्व आदि का समाज एकत्र हुआ। फिर—"ध्वज पताक तोरन पुर छावा।··· मृगमद चंदन-कुंकुम-कीचा। मची सकल बीथिन्ह बिच बीचा ॥···अगर धूप बहु जनु अँधियारी। उड़ै अबीर मनहुँ अरुनारी ॥" (दो० १९३–१९४)—यह होली की बहार भी है। अतः, सुखद है।

बरनब राम - बिबाह - समाजू। सो मुद-मंगल-मय रितुराजू ॥३॥
ग्रीषम दुसह राम-बन-गवनू। पंथ-कथा खर आतप पवनू ॥४॥

शब्दार्थ—दुसह (दुस्सह) = असह्य। आतप = तपन। खर = तीक्ष्ण।

अर्थ—श्रीरामजी के विवाह के समाज का वर्णन ही आनन्द-मंगलमय वसन्त-ऋतु है ॥३॥ श्रीरामजी का वन-गमन ग्रीष्म-ऋतु है और वन के मार्ग की कथाएँ तीक्ष्ण धूप और लू हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'बरनब राम-बिबाह···' जैसे उमा-शिव के ब्याह को हिम और उनकी बारात (समाज) को जलचर रूप में पृथक् कहा है। 'बराती' ही विवाह-समाज हैं। यथा—"बिहँसे सिव समाज निज देखा॥" (दो० ६२)। यहाँ 'विवाह-समाज' को वसन्त-ऋतु कहते हैं, क्योंकि दोनों मुद-मंगलमय हैं। वसंत में वृक्षों के पुराने पत्ते झड़ जाते हैं और फिर फूल-फलों से युक्त हो जाते हैं। वैसे ब्याह में बराती लोग पुराने वस्त्राभूषण उतारकर रंग-बिरंग के नये वस्त्राभूषण पहनते हैं। जैसे राम-विवाह के 'बराती' जो वस्त्राभूषण अयोध्या से नये पहनकर गये थे, वहाँ बहुत दिन रहने के कारण वे सब उतर गये और नये दिव्य वस्त्राभूषणों से सजधज के आये, जो श्रीमिथिलेश महाराज के यहाँ से ऋद्धि-सिद्धियों-द्वारा प्राप्त हुए थे। कहा भी है—"बने बराती बरनि न जाहीं। महामुदित मन सुख न समाहीं॥" (दो० ३४७)।

(२) 'ग्रीषम दुसह राम-बन···' ग्रीष्म और वन-गमन दोनों दुःसह हैं। ग्रीष्म में ताप होता है, वन-गमन में भी लोगों को विरह-ताप हुआ। यथा—"राम चलत अति भयेउ बिषादू। सहि न जाइ पुर आरत-नादू॥" (अ० दो० ८०); "सहि न सके रघुबर-बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भागी॥" (अ० दो० ८३); "सुनि बिलाप दुखहू दुख लागा। धीरजहू कर धीरज भागा॥" (अ० दो० १५१)। इत्यादि।

'बन-गवनू'—यह प्रसंग अ० दो० ७६ से १३२ तक है।

'पंथ-कथा', यथा—"सहित बिषाद परस्पर कहहीं।"—से—"होहिं प्रेम-बस लोग इमि, राम जहाँ जहँ जाहिं॥" (अ० दो० ११४–१२१) तक तथा क० अ० ११–१३ में भी कही गई है।

ग्रीष्म के दिन बड़े होते हैं, वैसे ही दुःख के दिन भी जल्द बीतते नहीं जान पड़ते। यथा—"अति परिताप सीय मन माहीं। लव-निमेष जुग सय सम जाहीं॥" (दो० २५७); "देखि परम बिरहाकुल सीता। सो छन कपिहि कलप सम बीता॥" (सुं० दो० ११)। सुख के दिन बीतते नहीं जान पड़ते, बहुत छोटे होते हैं। यथा—"कछुक दिवस बीते यहि भाँती। जात न जानिय दिन अरु राती॥" (दो० १९६); 'सुख समेत संबत दुइ साता। पल सम होहिं न जनियहि जाता॥" (अ० दो० २७९)।

इसी लिये दुःख के दिनों की उपमा ग्रीष्म से दी गई है और उमा-शंभु के विवाह और श्रीरामजन्म के उछाह से भरे सुखमय दिनों को उपमा हेमन्त-शिशिर के छोटे दिनों से दी गई है। जैसे वसन्त के दिये हुए धन-ऐश्वर्य को ग्रीष्म की लू और तपन नष्ट कर देते हैं, वैसे ही वनगमन कथा ने विवाह-समाज के आनन्द को नष्ट कर दिया!

यद्यपि वनगमन-कथा दुःखद है, तथापि श्रोताओं को परधाम देनेवाली है। यथा—"अजहुँ जासु उर सपनेहुँ काऊ। बसहि लखन सिय राम बटाऊ॥ रामधाम पथ पाइहिं सोई। जो पथ पाव कबहुँ मुनि कोई॥" (अ० दो० १२३); "भव-भेषज रघुनाथ-जस, " (कि० दो० ३१); इसी से—"कहेउँ राम-बन गवन सुहावा।" (अ० दो० १४१) कहा है।

बरषा घोर निसाचर-रारी। सुरकुल सालि सुमंगलकारी ॥५॥
राम-राज-सुख बिनय बड़ाई। बिसद सुखद सोइ सरद सुहाई ॥६॥

अर्थ—घोर निशाचरों के साथ भयानक लड़ाई घोर वर्षा है, जो देव समाज रूपी धानों के लिये अत्यन्त मंगलकारी है ॥५॥ श्रीरामराज्य का सुख और विशेष नीति की बड़ाई ही उज्ज्वल, सुखद और सुहाई शरद् ऋतु है ॥६॥

विशेष—(१) 'बरषा घोर'''' घोर वर्षा और घोर-निशाचर-युद्ध दोनों भयावन हैं। 'घोर रारी' और 'घोर बरषा' में सामान्य 'रारी' और 'बरषा' भी गर्भित हैं, जैसे वर्षा ऋतु से प्रथम ही आर्द्रा और पुनर्वसु नक्षत्रों में सामान्य वर्षा भी होती है, वैसे विराध-कबन्ध-वध वर्षा होने के पूर्व की पुरवाई का चलना और मेघों का एकत्र होना है। खर-दूषण आदि का समर आर्द्रा की वर्षा और सुन्दरकांड में हनुमान्‌जी का युद्ध पुनर्वसु की वर्षा है। लंकाकांड की 'घोर-निशाचर-रारी' घोर वर्षा है, उसमें वर्षा का पूरा रूपक भी कहा गया है। यथा—"प्रलय काल के जनु घन घट्टा॥" से—"जनु नावरि खेलहिं सरि माहीं॥" (लं० दो० ८६–८७) तक। अन्यत्र भी कहा है—"लागे बरषन राम पर, अस्त्र-सस्त्र बहु भाँति॥" (आ० दो० १९); "दस दिसि रहे बान नभ छाई। मानहुँ मघा मेघ झरि लाई॥" (लं० दो० ७२); इत्यादि।

'सुरकुल सालि'''' जैसे-जैसे वर्षा होती है, धान का पोषण होता है। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों राक्षस मरते हैं, देवता सुखी होते हैं, जैसा कि प्रथम खर-दूषणादि के युद्ध पर कहा है—"हरषित बरषहिं सुमन सुर, बाजहिं गगन निसान।" (आ० दो० २०)। यहाँ धान का अंकुर जमा, क्योंकि देवताओं को भरोसा हुआ, पुनः श्रीहनुमान्‌जी के कर्त्तव्य से श्रीरामजी का प्रताप देखकर विभीषण शरणागत हुए। उनका तिलक देखकर देवताओं को पूर्ण भरोसा हुआ कि अब रावण-वध अवश्य होगा। अत, देवताओं ने बहुत आनन्द मनाया, यथा—"अस कहि राम तिलक तेहि सारा। सुमन बृष्टि नभ भई अपारा॥" (सुं० दो० ४८)। यही धान का पुन: रोपा जाना है, क्योंकि यह आनन्द शरणागत (विभीषण) के नये जन्म के उपलक्ष्य में है, शरण होने पर दूसरा जन्म माना जाता है। पुनः कुंभकर्ण-वध पर—"सुर दुंदुभी बजावहिं हरषहिं। ''" मेघनाद - वध पर—"बरषि सुमन दुंदुभी बजावहिं।''" और रावण-वध पर—"बरषहि सुमन देव-मुनि-बृंदा।" कहा है।

(२) 'राम-राज-सुख''' जैसे राम-राज्य सुखद है, वैसे, शरद् भी है। विशेष नीति उज्ज्वल है वैसे शरद् भी उज्ज्वल है और विशेष नीति प्रजा को सुख देनेवाली तथा सुन्दर कीर्त्ति बढ़ानेवाली होती है। यही बड़ाई है जिसके अनुरूप शरद् को 'सुहाई' कहा है।

इसका प्रसंग—"राम-राज बैठे त्रयलोका।''' से—"करहिं राम-गुन गान॥" (उ० दो० १९–२०) तक। यहीं तक मुख्य चरित है। अतः, यहीं पर ऋतुओं का प्रसंग समाप्त किया गया।

सती-सिरोमनि-सिय - गुन - गाथा। सोइ गुन अमल अनूपम-पाथा ॥७।
भरत - सुभाव सुसीतलताई। सदा एकरस बरनि न जाई ॥८॥

अर्थ—पतिव्रताओं की शिरोमणि श्रीसीताजी के गुणों की कथा इस उपमा-रहित जल का अनुपम-निर्मल गुण है ॥७॥ श्रीभरतजी का स्वभाव इस नदी की सुष्ठु शीतलता है जो सदा एकरस रहती है और जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥८॥

विशेष—(१) 'सती-सिरोमनि'''' यह गुण-गाथा,—"पति अनुकूल सदा रह सीता।"''' से—"राम-पदारविंद-रति, करति सुभावहिं खोइ॥" (उ० दो० २४–२४) तक प्रधानतया वर्णित है तथा—"पति-देवता-सुतीय-मनि, सीय'''" (अ० दो० १९६) में भी है।

शरद् ऋतु कहकर जल के गुण कहते हैं, क्योंकि जल में निर्मलता, शीतलता और मधुरता आदि गुण शरद् ही में आते हैं। श्रीराम-सुयश-बरवारि को अनुपम कहकर भी श्रीसीताजी के सतीत्व को उसकी निर्मलता कहा, क्योंकि श्रीसीताजी के पातिव्रत्य गुण से श्रीरामजी की कीर्त्ति निर्मल है ; यथा—"पुत्रि पवित्र किये कुल दोऊ। सुजस धवल जग कह सब कोऊ॥" '''से—"पितु कह सत्य सनेह सुबानी॥" (अ० दो० २८६) तक।

शंका—मानस-रूपक में 'सगुण-लीला' को स्वच्छता कहा है ; यथा—"लीला सगुन''' सोइ स्वच्छता'''" (दो० ३५) ; वही गुण-'सिय-गुन-गाथा' में क्यों कहा गया ?

समाधान—श्रीसीतारामजी तत्त्वतः एक हैं। यथा—"गिरा अरथ जल बीचि'''" (दो० १८) में कहा गया है। जब 'राम-सुजस-बारि' को 'बर' कहा तब 'सिय-गुन-गाथा' को 'अमल' बतलाया। पुनः श्रीरामजी की सगुण-लीला श्रीजानकीजी की ही इच्छा के प्राधान्य से होती है। अतः, दोनों की गुण-गाथा एक ही है। यद्यपि नर नाट्य में लोक-शिक्षा के लिये श्रीजानकीजी पातिव्रत्य धर्म के अनुसार सेवा करती हैं, पर श्रीरामजी भी उनको सँजोते रहते हैं ; यथा—"जोगवहिं प्रभु सिय-लखनहि कैसे। पलक बिलोचन गोलक जैसे॥" (अ० दो० १४१)।

(२) 'भरत-सुभाव ''' यहाँ 'भरत - सुभाव' को 'बरनि न जाई' कहा है, यथा—"सुनहु लखन भल भरत - सरीसा।"'''से—"कहत भरत-गुन-सील सुभाऊ। प्रेम-पयोधि मगन रघुराऊ॥" (अ० दो० २३०–२३१) तक। यहाँ श्रीरामजी वर्णन करते-करते ही प्रेम में डूब गये, वर्णन भी न कर सके, यथा—"प्रभु पितु मातु सुहृद गुरु स्वामी।'''" से—"भरत बिनय सुनि देखि सुभाऊ। सिथिल सनेह सभा रघुराऊ॥ रघुराउ सिथिल सनेह साधु-समाज मुनि मिथिलाधनी। मन महँ सराहत भरतभायप '''" (अ० दो० २९७–३०१) तक। यहाँ इनका स्वभाव देखकर सब प्रेम-निमग्न हो गये और सराहना चाहा, पर सबके कंठ रुँध गये, इससे मन में ही सराहने लगे। तात्पर्य यह कि भरतजी का स्वभाव चित्त में आते ही प्रेम उमड़ आता है, फिर कोई कह ही नहीं पाता। इनका स्वभाव प्रेम-भक्तिमय है, प्रेम-भक्ति में भी यही गुण कहा गया है यथा—"प्रेम भगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता सुसीतलताई॥" (दो० ३५)। प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है। यथा—'अनिर्वचनीयं प्रेम-स्वरूपम्।" (नारदभक्तिसूत्र)। इसीसे कहा है—"भरत-सुभाव न सुगम निगम हू। लघु मति चापलता कवि छमहू॥" (अ० दो० ३०३)। 'सुसीतलताई'—ऐसी शीतलता नहीं कि छूते ही कँपा डाले; प्रत्युत सुष्ठु शीतलता है अर्थात् सुखद है। भरतजी के स्वभाव में सदा एकरस शीतलता रहती है—कभी क्रोध-रूपी गर्मी नहीं आती।

दोहा—अवलोकनि बोलनि मिलनि, प्रीति परस्पर हास।
भायप भलि चहुँ बंधु की, जल - माधुरी सुबास ॥४२॥

अर्थ—चारों भाइयों (सर्व श्री राम, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्नजी) का परस्पर देखना, बोलना, मिलना, प्रीति करना, हँसना और सुन्दर भाईचारा—ये इस जल की मिठास और सुगंध हैं।

विशेष—इनमे वाह्य-इन्द्रियों के व्यवहार—'अवलोकनि, बोलनि, मिलनि और हास'—जल की 'सुवास' हैं, क्योंकि सुगंध जल के बाहर फैलती है। अंतःकरण के व्यवहार—'भायप और प्रीति'—माधुरी हैं, क्योंकि माधुरी जल के भीतर का गुण है, यह समता है। उदाहरण—

'अवलोकनि'—"अनुरूप वर दुलहिनि परस्पर लखि सकुचि हिय हर्षहीं।" (दो० ३२५)। इसमें 'लखि' से 'अवलोकनि' और 'सकुचि' से 'हास' है; क्योंकि चारों बड़े छोटे श्याम-गौर जोड़ों को एक साथ सपत्नीक बैठने से परस्पर देख-देखकर सकुच में ध्वनि से 'हास' है।

'बोलनि'—"बंधु सखा सँग लेहिं बोलाई।" "आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई।"······(दो० २०४), तथा—"करत बतकही अनुज सन।" (दो० २३१)।

'मिलनि'—"बरबस लिये उठाय उर, लाये कृपानिधान। भरत राम की मिलनि लखि, बिसरे सबहिं अपान॥" (दो० २४०)। "मिलि सप्रेम रिपुसूदनहिं, केवट भेंटेउ राम। भूरि भाय भेंटे भरत, लछिमन करत प्रनाम॥ भेंटेउ लखन ललकि लघु भाई॥ ··" (अ० दो० २४०)।

'प्रीति'—"बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम-चरन-रति मानी॥ भरत सत्रुहन दूनउ भाई। प्रभु-सेवक जसि प्रीति बड़ाई॥" (दो० १९७); "राम करहिं भ्रातन्ह पर प्रीती॥"—"सेवहिं सानुकूल सब भाई। राम चरन-रति अति अधिकाई॥" (उ० दो० २४)।

'भायप'—"अनुज सखा सँग भोजन करहीं।" (दो० २०४); "चलत पयादे खात फल, पिता दीन्ह तजि राज। जात मनावन रघुबरहिं, भरत सरिस को आज॥ भायप भगति भरत आचरनू।" (अ० दो० २२२); "गुरु सिख देइ राय पहँ गयेऊ।····· से—"प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई।" (अ० दो० ९) तक और "जोगवहिं प्रभु सिय लखनहिं कैसे।" (अ० दो० १४१) इत्यादि।

आरति बिनय दीनता मोरी। लघुता ललित सुबारि न थोरी॥१॥
अदभुत सलिल सुनत गुनकारी। आस-पियास मनोमल हारी॥२॥

अर्थ—मेरी आर्ति, प्रार्थना और दीनता—ये इस सुन्दर जल का हलकापन है। ये ललित हैं, इनसे इस सुन्दर जल की न्यूनता नहीं है॥१॥ यह जल-विलक्षण है, सुनते ही गुण करता है, आशा-रूपी प्यास और मन की मलिनता को दूर करता है॥२॥

विशेष—(१) 'आरति बिनय दीनता ···'—ग्रंथ के आदि में ३५ वें दोहे तक आर्ति आदि वर्णित हैं। 'मोरी लघुता'—रचयिता की लघुता से ग्रंथ की भी लघुता होती है, जो मैंने अपने मुख से अपनी आर्ति आदि कही है, ये कार्पण्य रूप में गुण हैं, उनसे यश की लघुता नहीं है, औरों की आर्ति आदि स्वार्थ के लिये होती हैं पर मेरी आर्ति आदि श्रीराम यश के लिये हैं। अतः, इनसे यश-रूपी जल की बड़ाई ही है, क्योंकि जल में यदि हलकापन न हो तो वह बादी होता है।

(२) 'अदभुत सलिल ·····' ऊपर जल का बाह्य रूप कहा। अब प्रयोग द्वारा गुण दिखाते हैं—

'सुनत गुनकारी'—जल पीने से गुण करता है, इस यशरूपी जल का पान श्रवण से होता है। यथा—"राम-चरन रति जो चहइ, अथवा पद निर्बान। भाव-सहित सो यह कथा, करउ श्रवनपुट पान॥" (उ० दो० १२८)। यह जल आशा-रूपी प्यास हरकर श्रीरामजी में विश्वास दृढ़ करता है, यथा—"मोर दास कहाइ नर

आसा। करइ तो कहहु कहाँ बिस्वासा॥" (उ० दो० ४५) अर्थात् इससे श्रीरामजी के शरण्यत्व आदि गुण से औरों की आशा छूटकर उनमें विश्वास होगा।

'मनोमलहारी।'—विषय ही मन की मैल है, यथा—"मन मलिन विषय सँग लागे।" (वि० ८२) तथा—"काई विषय मुकुर मन लागी।" (दो० ११४)। इसके श्रवण से श्रीरामजी में प्रीति होती है, तब सब इन्द्रियों के विषय श्रीरामजी ही हो जाते हैं। विषय-तृष्णा छूट जाती है। यथा—"उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु-पद-प्रीति सरित सो बही॥" (सुं० दो० ४८); "रामचरन अनुराग-नीर बिनु मल अति नास न पावै।" (वि० ८२)।

राम सुप्रेमहिं पोषत पानी। हरत सकल कलि-कलुष-गलानी॥३॥
भव-श्रम-सोषक तोषक तोषा। समन दुरित दुख-दारिद-दोषा॥४॥

अर्थ—यह जल श्रीरामजी मे सुन्दर प्रेम को बढ़ाता है और कलियुग के समस्त पापों की ग्लानि को दूर करता है॥३॥ संसार के आवागमन के परिश्रम का शोषण करनेवाला, संतोष को भी संतुष्ट करनेवाला तथा पाप और दुःख-दरिद्रता आदि दोषों का नाश करनेवाला है॥४॥

विशेष—(१) 'राम सुप्रेमहिं पोषत···'—वह जल देह पुष्ट करता है, यह राम-प्रेम को पुष्ट करता है, यही राम-प्रेम को उत्पन्न भी करता है, यथा—"जननि जनक सियराम-प्रेम के।" (दो० ३१) अर्थात् माता-पिता की तरह राम-प्रेम को पैदा करता है, फिर उसे पुष्ट भी करता है।

'हरत सकल कलि···' कलि के पापों को, जो मलिन स्वभाव से हो गये हैं, समझकर ग्लानि होती है; यथा—"तउ न मेरे अघ अवगुन गनि हैं।" (वि० ९५); "जौं करनी आपनी बिचारौं तउ कि सरन हौं आवउँ।" (वि० १४२)। ये सब ग्लानियाँ राम-सुयश रूपी जल से दूर होती हैं, यथा—"जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥" (उ० दो० १); "कोटि बिप्र-बध लागहिं जाहू। आये सरन तजउँ नहिं ताहू॥" (सुं० दो० ४३) इत्यादि सुयश सुनकर दृढ़ प्रतीति के साथ शरण होने से ग्लानि नहीं रह जाती।

प्रथम रामकथा 'कलि को हरनेवाली' कही गई, यथा—"रामकथा कलि पन्नग भरनी।" (दो० ३०); फिर कहा कि यह उससे उत्पन्न कलुष का भी नाश करती है; यथा—"रामकथा कलि-कलुष-बिभंजनि।" (दो० ३०)। यहाँ कलुष-जन्य ग्लानि को भी हरना कहा है।

(२) 'भवश्रम सोषक···' अनेक योनियों का भ्रमण परिश्रम है, यथा—"भव-पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे।" (उ० दो० १२)। यही श्रम भवसागर का जल हुआ, यह उसे सोखता है।

'तोषक तोषा'—संसार को संतुष्ट करनेवाले संतोष को भी संतुष्ट करता है। इस तरह के प्रयोग 'मानस' में अन्यत्र भी हैं; यथा—"धीरजहू कर धीरज भागा।" (अ० दो० १५२)।

'समन दुरित···' दुरित का अर्थ पाप है पाप कारण है और दुःख-दारिद्रय आदि कार्य हैं। यथा—"करहिं पाप पावहिं दुख, भय रुज सोक बियोग।" (उ० दो० १००)। यह जल कार्य-कारण दोनों को हरता है।

काम-कोह-मद-मोह-नसावन। बिमल-बिबेक-बिराग-बढ़ावन ॥५॥
सादर मज्जन-पान किये ते। मिटहिं पाप परिताप हिये ते ॥६॥

अर्थ—(यह जल) काम-क्रोध-मद और मोह का नाश करनेवाला तथा निर्मल विवेक और विराग का बढ़ानेवाला है ॥५॥ आदर के साथ स्नान-पान करने से हृदय के पाप-परिताप दूर होते हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'काम-कोह-मद···' कथा का मुख्य शत्रु काम है; यथा—"क्रोधिहि सम कामिहि हरिकथा। ऊसर बीज बये फल यथा॥" (सुं० दो० ५७)। इसलिये इसका नाम प्रथम लिया। ये कामादि मानस रोग हैं, इनका नाश होने पर ही विवेक-विराग बढ़ते हैं। इसलिये क्रम से कहे हैं। सामान्य विवेक-विराग और साधनों से भी बढ़ते हैं, यथा—"धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना।" (आ० दो० १५); पर 'बिमल बिबेक-बिराग' राम-सुयश से ही बढ़ते हैं। ये विवेक आदि सद्गुण हैं, इनकी उत्पत्ति भी चरित से ही होती है। यथा—"सदगुन सुरगन अंब अदिति सी।" (दो० ३०) यह प्रथम ही कहा था। यहाँ इन्हीं का बढ़ाना भी कहा।

(२) 'सादर मज्जन पान···' सादर का भाव यह है कि आदर ही से फल प्राप्त होते हैं, यथा—"सादर मज्जहिं सकल त्रिबेनी।" (दो० ४३) एवं—"सोइ सादर सर मज्जन करई। महा घोर त्रय ताप न जरई॥" (दो० ३८)। राम-यश रूपी जल के सम्बन्ध में कहना-सुनना ही मज्जन-पान है; यथा—"मज्जन पान पाप हर एका। कहत सुनत एक हर अबिबेका॥" (दो० ४१)। 'सादर'—मन मति चित्त लगाकर सुनने का फल पाप परिताप का मिटना कहा है। पाप का फल ही परिताप है। परिताप मानसी व्यथा (आधि) को कहते हैं। यथासंख्यालंकार की रीति से मज्जनरूप कहने से पाप और पान रूप सुनने से परिताप का दूर होना जानना चाहिये।

इस प्रसंग में पाप का नाश तीन बार कहा गया, यथा—(क) "हरत सकल कलि कलुष गलानी।" (ख) 'समन दुरित···' (ग) 'मिटहिं पाप···'। अतः, कायिक, वाचिक और मानसिक—तीनों पापों का नाश जानना चाहिये; यथा—"जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कबि कहहीं॥" (अ० दो० १६६)।

सम्बन्ध—यहाँ तक चरित सम्मुखता का फल कहा, आगे विमुखता का कहते हैं—

जिन्ह एहि बारि न मानस धोये। ते कायर कलिकाल बिगोये ॥७॥
तृषित निरखि रबिकर भवबारी। फिरिहहिं मृग जिमि जीव दुखारी ॥८॥

अर्थ—जिन्होंने इस (राम-सुयश-रूप) जल से अपने हृदय को नहीं धोया, उन कायरों को कलिकाल ने नष्ट कर डाला है ॥७॥ वे जीव उन प्यासे मृगों की तरह, जो सूर्य-किरणों से उत्पन्न जल को देखकर मारे-मारे फिरते हैं, भटकते हुए दुखी रहा करेंगे ॥८॥

विशेष—(१) 'जिन्ह एहि बारि···' जैसे देह पर मिट्टी आदि की मैल लगी रहती है, वह नहाने से छूटती है, वैसे मानस की मैल श्रीराम-सुयश रूपी जल के कहने-सुनने से छूटती है; यथा—"जनम अनेक किये नानाबिधि करम कीच चित सानेउ। होइ न बिमल बिबेक नीर बिनु बेद पुरान बखानेउ॥"

(वि० ८८)। इसमें विवेक को जल कहा है। वह भी राम-सुयश से ही होता है। यथा—"पुनि बिबेक पावक कहँ अरनी।" (दो० ३०)। अतः, अभेद है। तथा—"आस पियास मनोमल हारी।" (उपर्युक्त)।

'ते कायर...' कायर शब्द कादर का ही रूपान्तर है। जैसे लोचन का लोयन, मदन का मयन आदि। बिगोये (विगोपन)= नष्ट किये हुए। यथा—"राज करत निज कुमति बिगोई।" (अ० दो० २२)। जो लोग स्नान से डरते हैं, वे 'कादर' कहे जाते हैं, वैसे यहाँ रामसुयश रूपी जल के श्रवण-कथन-रूप स्नान-द्वारा कलिकाल से युद्ध करना है, इसमें कदराने से कलिकाल नष्ट ही कर देगा। विषय में मन लगाना ही नष्ट होना है, यथा—"जो पै जानकीनाथ सों नातो नेह न नीच। स्वारथ परमारथ कहाँ कलि कुटिल बिगोयो बीच॥" (वि० १९२)।

(२) 'तृषित निरखि...' यहाँ उपर्युक्त नष्ट व्यक्तियों की दशा कहते हैं। बालू के मैदान में सूर्य-किरणों के संयोग से प्यासे मृग को जल का धोखा होता है। वह जल की आशा से दौड़ता फिरता है। इसी को 'मृगतृष्णा' 'मृगजल' आदि कहते हैं। सांसारिक विषय-सुख की आशा को 'मृगतृष्णा' कहते हैं, क्योंकि इससे तृप्ति नहीं होती और तृष्णा बढ़ती ही जाती है; यथा—"बुझै न काम-अगिनि तुलसी कहुँ बिषय-भोग बहु घी ते॥" (वि० १९८); तथा—"जो पै राम-चरन रति होती।...तौ कत बिषय बिलोकि मूढ़ जल मन कुरंग ज्यों धावै।" (वि० ११८);। "तौ कत मृगजल रूप बिषय कारन निसि बासर धावै।" (वि० ११७); यही आशा-रूप प्यास है, जिसका मिटना ऊपर श्रीराम-सुयश रूपी जल से कहा गया। यथा—"आस पियास मनोमलहारी।" अर्थात् यह मृगतृष्णा राम-सुयश रूपी जल की वर्षा से ही शांत होती है।

दोहा—मति-अनुहारि सुबारि-गुन, गन गनि मन अन्हवाइ।
सुमिरि भवानी-संकरहिं, कह कबि कथा सुहाइ॥

अर्थ—अपनी बुद्धि के अनुसार इस उत्तम जल के गुण-समूह को विचार कर और उसमें मन को स्नान (मनन) कराके श्रीउमा-शिव का स्मरण-पूर्वक कवि (तुलसीदासजी) सुंदर कथा कहता है।

विशेष—(१) 'मति अनुहारि...' श्रीरामजी के गुण तो अनंत हैं, पर मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार उनमें से कुछ ही का विचार किया है। प्रथम तीर्थ-माहात्म्य कह-सुनकर स्नान करने की विधि है। अतः, प्रथम गुण-गण कहकर मन को नहलाया। यथा—"गाधिसूनु सब कथा सुनाई। जेहि प्रकार सुरसरि महि आई॥ ...तब प्रभु रिषिन्ह समेत नहाये। (दो० २११); तथा—"चित्रकूट-महिमा अमित, कही महामुनि गाइ। आइ नहाने सरितबर, सिय समेत दोउ भाइ॥" (अ० दो० १३२), इत्यादि।

पूर्व ग्रंथकार ने मन और मति को रंक कहा था। यथा—"मन मति रंक मनोरथ राऊ" (दो० ७)। इसलिये मति को मानस-सर रूप चरित में नहलाया। यथा—"अस मानस मानस चख चाही। भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही॥" (दो० ३८) और यहाँ मन को कीर्त्ति-सरयू में स्नान कराया। यथा—"गुन गन गनि मन अन्हवाइ।" इस प्रकार दोनों को निर्मल करके अब श्रीराम-यश कहते हैं।

मानस-प्रकरण यहाँ संपुटित हो रहा है। अमूल्य रत्न डब्बे में रक्खा जाता है, वैसे इस प्रकरण रूपी रत्न को आदि-अंत के तीन-तीन उपक्रम-उपसंहार-रूपी डब्बों में सुरक्षित किया है। यथा—उपक्रम (क) "संभु-प्रसाद सुमति हिय हुलसी।" (ख) "सुमिरि उमा-वृषकेतु।" (ग) "कबि तुलसी।" (दो० ३५)

और उपसंहार, (क) "मति अनुहारि ..." (ख) "सुमिरि भवानी-संकरहिं" (ग) "कहइ कवि कथा।" उपक्रम में नाम दिया और यहाँ 'कवि' मात्र लिखकर सम्बन्ध जनाया।

यह मानस-प्रकरण सम्पूर्ण चरित का बीज है। इसे हर-गिरिजा के स्मरण से सम्पुटित किया। अतः, इनके प्रसाद से शाबर-मंत्र जाल के महत्त्व की तरह इसके भी अक्षर-अक्षर से सर्व-सिद्धियाँ चाहते हैं। यह वर्णन दो० १४-१५ में किया गया है।

पूर्वोक्त—"जस मानस, जेहि विधि भयेउ, जग प्रचार जेहि हेतु।" की तीनो प्रतिज्ञाएँ यहाँ तक पूरी हुई। आगे संवादों का प्रसंग कहेंगे।

मानस-प्रकरण (कीर्त्ति-सरयू सहित) समाप्त

अब रघुपति-पद - पंक-रुह, हिय धरि पाइ प्रसाद।
कहउँ जुगल मुनिवर्य कर, मिलन सुभग संवाद ॥४३॥

अर्थ—अब श्रीरघुनाथजी के चरण-कमलों को हृदय में रखकर और उनकी प्रसन्नता पाकर (मैं) दोनों मुनिश्रेष्ठों का मिलना और उनका सुन्दर संवाद कहता हूँ।

विशेष—(१) 'अब' से पूर्व प्रसंग का स्मरण करते हैं—"जागबलिक जो कथा सुहाई। भरद्वाज मुनिबरहिं सुनाई॥...कहिहउँ सोइ संवाद बखानी।" (दो० २१)। वहाँ—'कहिहउँ' कहा था, वही अब ('कहउँ') कहते हैं।

ऊपर—'सुमरि भवानी संकरहि' कहकर तब यहाँ 'रघुपति-पद...' अर्थात् श्रीराम-चरण-कमल का हृदय में धरना और प्रसाद पाना लिखा, क्योंकि शिव-कृपा से श्रीराम-पद की प्राप्ति होती है। यथा—"जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥" (दो० १३७) एवं प्रथम—"सुमिरि सिवासिव पाइ पसाऊ।" (दो० १५) कहा ही था। अब यहाँ 'पाइ प्रसाद' अर्थात् श्रीराम-प्रसाद पाना लिखा है। अतः, यह काव्य देव-प्रसाद है। यद्यपि पूर्व में श्रीरामजी की बहुत प्रकार से वंदना कर आये, तथापि अब यहाँ से रामायण के मुख्य प्रसंग का प्रारंभ है। अतः, 'रघुपति-पद' से माधुर्य रूप की फिर वंदना की।

'जुगल मुनिवर्य' का संवाद कर्मघाट का है, इसी से कथा प्रारंभ करते हैं। इसके बाद ज्ञानघाट और उसके पीछे उपासनाघाट कहेंगे, क्योंकि प्रथम कर्म से अंतःकरण शुद्ध होकर भगवान् के स्वरूप का ज्ञान होता है, तब उत्तम उपासना की रीति है।

भरद्वाज मुनि बसहिं प्रयागा। तिन्हहिं राम-पद अति अनुरागा ॥१॥
तापस सम-दम-दया-निधाना। परमारथ-पथ परम सुजाना ॥२॥

अर्थ—श्री भरद्वाज मुनि प्रयाग में रहते हैं, उन्हें श्रीराम पद में बहुत ही प्रेम है ॥१॥ वे तपस्वी हैं तथा शम, दम और दया के निधान हैं, साथ ही परमार्थ-मार्ग में बड़े ही प्रवीण हैं ॥२॥

विशेष—(१) 'भरद्वाज मुनि बसहिं······' भरद्वाजजी का स्थान प्रयाग है। ये आंगिरस गोत्र के उतथ्य ऋषि की स्त्री ममता के गर्भ से उत्पन्न एक वैदिक ऋषि हैं जो गोत्रप्रवर्तक और मंत्रकार हैं। द्रोणाचार्य इनके ही पुत्र थे। 'भावप्रकाश' के अनुसार ये अनेक ऋषियों की प्रार्थनापर स्वर्ग जाकर इन्द्र से आयुर्वेद सीख आये थे। ये राजा दिवोदास के पुरोहित और सप्तर्षियों में हैं। ये श्रीवाल्मीकिजी के शिष्य हैं। वन-यात्रा में श्रीरामजी की और श्रीभरतजी की पहुनई इन्होंने विशेष रूप से की है। यह कथा श्रीमद्वाल्मीकीय और इस ग्रंथ में भी है।

(२) 'तापस सम दम···' तापस, यथा—"सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥" (अ० दो० २०१) अर्थात् इन्द्रियों को वश में करने के लिये तथा अभीष्ट-सिद्धि के लिये भी सांसारिक व्यवहारों से पृथक् रहकर व्रतोपवास आदि नियम से रहने को 'तप' कहते हैं। तप कायिक, वाचिक और मानसिक और गुणत्रय रीति से तीन-तीन प्रकार के (गी० १७।१४-१९ में) माने गये हैं। 'सम'—अंतःकरण का निरोध करना। 'दम'—बाह्य इन्द्रियों का रोकना। 'दया'—नि स्वार्थ परोपकार करना। भरद्वाजजी इन तीनों गुणों में पूर्ण हैं। यहाँ 'तापस' शब्द से अपने शरीर की बाह्य इन्द्रियों का और शम, दम, दया से अंतःकरण का कसना जनाया है। साथ ही ये स्वयं तो कष्टसहिष्णु हैं ही, पर दूसरों के लिये दया के निधान हैं। इससे इनका कर्मकांडी होना सूचित हुआ।

'परमारथ पथ परम···' अर्थ-द्रव्य आदि लौकिक वस्तुओं को कहते हैं और परम अर्थ से विवेक-विराग आदि पारलौकिक सामग्री का ग्रहण होता है। यथा—"येहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी॥" (अ० दो० ९१)। परमार्थ पथ मे 'परम सुजान' कहकर इनका श्रेष्ठ ज्ञानी होना भी जनाया।

ऊपर 'अति अनुराग' से उपासना में श्रेष्ठता और इस चौ० में 'निधान' और 'परम सुजान' से कर्म और ज्ञान में श्रेष्ठता कही गई है। उपासना इनके हृदय में प्रधान है, इसलिये प्रथम उसीकी चर्चा की गई है।

माघ मकर-गत रवि जब होई। तीरथपतिहिं आव सब कोई॥३॥
देव - दनुज - किन्नर - नर - श्रेनी। सादर मज्जहिं सकल त्रिवेनी॥४॥
पूजहिं माधव - पद - जलजाता। परसि अछयबट हरषहिं गाता॥५॥

अर्थ—माघ महीने में जब सूर्य मकर-राशि में प्राप्त होते हैं तब प्रयागराज मे सब कोई आते हैं॥३॥ देवताओं, दैत्यों, किंपुरुषों और मनुष्यों के झुंड आदर के साथ त्रिवेणीजी में स्नान करते हैं॥४॥ वे विदु-माधव के पदकमल की पूजा करते हैं और अक्षयवट का स्पर्श करके शरीर से हर्षित होते हैं अर्थात् हर्ष से शरीर पुलकित होता है (अक्षयवट के भेंटने की रीति है)।

विशेष—(१) 'माघ मकर-गत रवि···' यहाँ 'माघ' और 'मकरगत रवि' से चांद्र (अमावस्या से अमावस्या तक चांद्रमास है) और सौर (संक्रांति से संक्रांति तक सौरमास कहाता है।) -दोनों मास सूचित किये। आगे इन दोनों को स्पष्ट भी कहेंगे—"येहि प्रकार भरि माघ नहाहीं।" "एक बार भरि मकर नहाये।" (दो० ४४)। माघ-स्नान चन्द्रमा की तिथि के अनुसार पूर्णमासी तक होता है और मकर स्नान मकर की संक्रान्ति से प्रारंभ होता है—वह चाहे पौष में पड़े, चाहे माघ में। 'सब कोई' जिन्हें देव आदि नामों से आगे कहा है।

(२) 'देव-दनुज ···' इनमें देव-किन्नर स्वर्ग के, दनुज पाताल के और नर मृत्युलोक के हैं। नर शब्द को अंत में दिया और उसकी श्रेणी भी लिखी। इससे जनाया कि सब कोई नर-रूप में ही आते हैं।

'सादर मज्जहिं ···' क्योंकि सादर स्नानादि से ही तीर्थ का फल मिलता है। यथा—"सादर मज्जन पान किये ते। मिटहिं पाप परिताप हिये ते॥" (दो० ४१) एवं—"सेवत सादर समन कलेसा।" (दो० १)। प्रयाग में सादर मज्जन की रीति यह है कि लोग वहाँ भद्र होते हैं (शिर-मूँछ-दाढ़ी आदि मुड़ाते हैं)। माहात्म्य सुनते, स्नान-दान करते और त्रिवेणी की पूजा करते हैं।

(३) 'पूजहिं माधव-पद ···' क्योंकि भगवान् का पद भी प्रयाग ही है। यथा—"रामचरन अभिराम कामप्रद तीरथराज बिराजै। ··· प्रभु-पद प्रयाग अनुरागै॥" (गी० उ० १५)। इस पद में पूरा रूपक है। पुन बारह महीनों में भगवान् बारह नामों से पूज्य माने जाते हैं, उनमें माघ के माधव पूज्य हैं, इसीसे यहाँ इनकी पूजा की विशेषता है।

प्रलय-काल में माधव अक्षयवट के पत्र पर निवास करते हैं। इसलिये यहाँ साथ ही अक्षयवट का स्पर्श भी होता है।

'पूजहिं माधव' में 'दर्शन', 'परसि अघयवट' में स्पर्श और 'सादर मज्जहिं' में स्नान भी कहा, क्योंकि—"दरस परस मज्जन अरु पाना। हरइ पाप कह बेद-पुराना॥" (दो० ३७) ऐसा कहा है।

यहाँ चार प्रयाग हैं—एक तो त्रिवेणी-रूप में भूमंडल का प्रयाग, दूसरा माधव-पद प्रयाग, तीसरा भानु-मंडल का प्रयाग होता है। कुछ उदित रवि गंगा, प्रात काल की पूर्व की अरुणाई सरस्वती, कुछ रात्रि का सम्बध यमुना होकर यह काल प्रयाग माना जाता है। मकर के सूर्य भी अरुण नाम के होते हैं, यथा-'अरुणो माघ मासे तु'। प्रयाग-स्नान इसी समय श्रेष्ठ माना जाता है। संत-समाज भी एकत्र होने पर चौथे 'साधु समाज प्रयाग' (दो० २) का भी सत्संग-रूप मज्जन होता है।

भरद्वाज - आश्रम अति पावन। परम रम्य मुनिवर-मन-भावन ॥६॥
तहाँ होइ मुनि - रिषय-समाजा। जाहिं जे मज्जन तीरथराजा ॥७॥
मज्जहिं प्रात समेत उछाहा। कहहिं परस्पर हरि - गुन-गाहा ॥८॥

शब्दार्थ—रम्य=रमणीक। मुनि और ऋषि, दोनों अन्यत्र पर्यायी शब्द रहते हैं, यहाँ दोनों हैं। (मुनि=मननशील; ऋषि=मंत्र-द्रष्टा)। प्रात=सवेरे सूर्योदय से डेढ़ घंटा पहले से अर्थात् जब पूर्व में अरुणाई देख पड़ती है, तब से सूर्योदय तक प्रात काल माना जाता है। गाहा (गाथा)=कथा।

अर्थ—श्री भरद्वाजजी का आश्रम बहुत ही पवित्र और अत्यन्त रमणीक तथा मुनिश्रेष्ठों के मन को रमानेवाला है॥६॥ वहाँ (उन) मुनियों और ऋषियों का समाज होता है, जो तीर्थराज (प्रयाग) में स्नान को जाते हैं॥७॥ प्रात काल उत्साह-पूर्वक स्नान करते हैं और एक दूसरे से हरि के गुणों की कथा कहते हैं॥८॥

विशेष—(१) 'भरद्वाज-आश्रम ···' 'अति पावन'—पावन तो औरों के भी आश्रम हैं, पर इनका अति पावन है क्योंकि—'तहाँ होइ मुनि रिषय समाजा।' आगे कहा है। 'मुनिवर मन-भावन'—जो स्थान पवित्र और रमणीक होता है, वही मुनिवरों को भाता है। यथा—"आश्रम परम पुनीत सुहावा।

देखि देवरिषि मन अति भावा ॥" (दो० १२७); "सुचि सुन्दर आश्रम निरखि, हरषे राजिव-नैन ॥" (अ० दो० १२४)।

(२) 'तहाँ होइ मुनि रिषय···' अर्थात् आते सभी हैं, पर समाज बाहर से आनेवाले मुनियों तथा ऋषियों का ही होता है। औरों का समाज भी अन्य स्थलों पर भले ही होता हो, पर 'तहाँ' (भरद्वाज के आश्रम) पर नहीं।

(३) 'मज्जहिं प्रात समेत···'—स्नान तो त्रिकाल होता है, पर प्रातःकाल का स्नान मुख्य होता है और भरद्वाज-आश्रम पर समाज का जुड़ना इसी समय का नियम है। अन्यत्र प्रायः दिन के चौथे पहर में कथा होती है।

'समेत उछाहा'—क्योंकि उत्साहपूर्वक कार्य से धन-धर्म की वृद्धि होती है, अन्यथा हानि। यथा—"उत्साहभंगे धन-धर्म हानिः।" यह प्रसिद्ध है। यह भी भाव है कि वे सब शीत से नहीं डरते।

'परसपर'—यह कोई नियम नहीं रहता कि कोई विशेष व्यक्ति ही कथा कहे, प्रत्युत देश-देश के मुनि-ऋषि रहते हैं। अतः सब की वाणी सुनने की रुचि सब को रहती है। समय-समय पर अपनी-अपनी मति के अनुसार सभी कहते हैं।

प्रथा भी चल पड़ी है कि प्रातः स्नान करे, फिर माधव-पूजन तथा अक्षयवट-स्पर्श करके भरद्वाज-दर्शन-पूर्वक कथा सुने।

सम्बन्ध—'भरद्वाज-आश्रम' से देश तथा 'प्रात' से काल का निर्देश किया। अब अगले दोहे में वस्तु कहते हैं, जो उस देश-काल में होती है—

दोहा—ब्रह्म-निरूपन धर्म-बिधि, बरनहिं तत्त्व-बिभाग।
कहहिं भगति भगवंत के, संयुत ज्ञान-बिराग ॥४४॥

शब्दार्थ—ब्रह्म-निरूपन = ब्रह्म का विचार = उत्तर मीमांसा। धर्म-बिधि = पूर्व-मीमांसा (जिसमें धर्म कर्म का विधान है)। तत्त्व-विभाग = सांख्य-शास्त्र, यथा—"सांख्यसास्त्र जिन्ह प्रगट बखाना। तत्त्व-बिचार निपुन भगवाना॥" (दो० १४१)। भगति अर्थात् भक्ति के एवं उसके ग्रंथ = शांडिल्य सूत्र आदि। ज्ञान = उत्तर मीमांसा के साधनांश।

अर्थ—(उस गोष्ठी में मुनि लोग) ब्रह्म के निरूपण, धर्म के विधान एवं तत्त्वों के विभाग का वर्णन करते हैं और ज्ञान-वैराग्य के सहित भगवान् की भक्ति कहते हैं।

विशेष—(१) 'ब्रह्म निरूपन···' इस दोहे के पूर्वार्द्ध में तीन बातें कही गई हैं और इन्हीं तीनों की धर्मभूत तीन बातें उत्तरार्द्ध में हैं। जैसे ब्रह्म-विचार का निष्कर्ष ज्ञान है और धर्म-विधान का वैराग्य; यथा—"धरम ते बिरति जोग ते ज्ञाना।" (आ० दो० १५)। तत्त्व-विभाग का निर्णय होने पर जीव का कर्त्तव्य भगवान् की भक्ति ही रह जाता है। इनमें प्रथम ब्रह्म-निरूपण होता है, तब धर्म-विधि की आवश्यकता होती है, फिर धर्म-निष्ठ को तत्त्व-विभाग की अनिवार्य आवश्यकता होती है। तब तत्त्व-निर्णीत भक्ति के सहायक-रूप में ज्ञान-विराग रहते हैं।

(२) 'ब्रह्मनिरूपन'—यह प्रसंग पूर्व—"एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥" (दो० १२) के विशेष में कहा गया है। वहीं देखना चाहिये। उसका निष्कर्ष यह है कि ब्रह्म के एक अनीह-अरूप आदि नवों विशेषणों के लक्ष्य से जीव क्रमशः पृथिवी, जल अग्नि, वायु, आकाश, मन,

प्रथम भी 'आव सब कोई' और 'सादर मज्जहिं सकल त्रिवेनी।' सर्व साधारण के लिये कहकर, पीछे मुनियों का आना कहा गया है और मुनियों का स्नान भी पृथक् ही कहा गया है। यथा—"तहाँ होइ मुनि रिषय समाजा। जाहिं जे मज्जन तीरथराजा॥" और—'मज्जहिं प्रात समेत उछाहा।" इसी तरह सर्वसाधारण का जाना भी प्रथम कहकर तब मुनियों का कहा।

एक बार भरि मकर नहाये। सब मुनीस आश्रमन्हि सिधाये॥३॥
जागबलिक मुनि परम बिबेकी। भरद्वाज राखे पद टेकी॥४॥

अर्थ—एक बार मकर-भर स्नान करके सब मुनीश्वर अपने आश्रमों को चले॥३॥ तब भरद्वाज मुनि ने परम विवेकी याज्ञवल्क्य मुनि के चरणों पर प्रणाम कर उनको रोक रक्खा॥४॥

विशेष—(१) 'एक बार भरि······' अर्थात् माघ और मकर बीतने पर फाल्गुन में कथा होगी।

(२) 'जागबलिक मुनि ······' ये ऋषि यज्ञवल्क्य मुनि के पुत्र और व्यास-शिष्य वैशंपायन के भाँजे तथा शिष्य भी थे। किसी कारण से अप्रसन्न हो जाने पर इन्होंने उनसे पढ़ी हुई सब विद्याएँ उगल दीं। उन्हें वैशपायन के अन्य शिष्यों ने तीतर-रूप से चुन लिया। अतः, उनकी शाखाओं का नाम 'तैत्तिरीय' पड़ा। श्रीयाज्ञवल्क्यजी ने फिर तप करके सूर्य को प्रसन्न कर लिया और उनसे विद्या पढ़ी। तब ये शुक्ल यजुर्वेद (वाजसनेयी संहिता) के आचार्य हुए। इसीसे इनका नाम वाजसनेय भी हुआ। इनके गार्गी और मैत्रेयी नाम की दो स्त्रियाँ थीं जो बड़ी ही ब्रह्मवादिनी और विदुषी थीं। उपनिषद् में इनकी कथा आई है।

'परम बिबेकी'—एक समय श्रीजनक महाराज ने ऋषि-समाज एकत्र करके यह प्रतिज्ञा की कि जो मेरे प्रश्नों के उत्तर दे सकें, वे इन लक्ष अलंकृत गौओं को ले जायँ। श्रीजनकजी के प्रश्नों के उत्तर देने में वह समाज असमंजस में था कि याज्ञवल्क्यजी ने अपने शिष्यों को आज्ञा दी कि गौओं को ले जाओ, हम उत्तर दे लेंगे। ऐसा ही हुआ। उसी समय ब्रह्मवादिनी गार्गी से इनका वाद हुआ था। शास्त्रार्थ में हारकर ही गार्गी इनकी पत्नी बनी थीं। तब से ये याज्ञवल्क्यजी निमि-कुल के गुरु हुए। यथा—"जोगी जागबलिक प्रसाद सिद्धि लही है।" (गी० बा० ८५) तथा—"यह सब जागबलिक कहि राखा।" (बा० दो० २८७)।

'राखेउ पद टेकी।'—पंजाबी मुहावरा है—'मत्था टेकूँ' ऐसा उदासियों में कहा जाता है अर्थात् चरणों पर मत्था धरके प्रणाम करना। टेकना का अर्थ धरना है—यथा—"जानु टेकि कपि भूमि न गिरा। उठा सँभारि ···· " (लं० दो० ८३) अर्थात् चरणों पर प्रणाम करके चरण पकड़ लिये। भाव यह कि विदा करने की मेरी इच्छा नहीं है—बलात् आप भले ही चले जायँ। यह भी अभिप्राय है कि गुरु भाव से रोका, कुछ बराबरी से नहीं।

सादर चरन सरोज पखारे। अति पुनीत आसन बैठारे॥५॥
करि पूजा मुनि-सुजस बखानी। बोले अति पुनीत मृदु बानी॥६॥

अर्थ—(भरद्वाजजी ने) आदर-पूर्वक चरण-कमलों का प्रक्षालन करके उन (याज्ञवल्क्यजी) को अत्यन्त पवित्र आसन पर बैठाया॥५॥ मुनि की पूजा करके उनका सुयश-वर्णन (स्तुति) किया और अति पवित्र कोमल वाणी बोले॥६॥

विशेष—'करि पूजा'—षोड़शोपचार पूजन किया। यथा—"आसनं स्वागतं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम्। मधुपर्काचमनं स्नानं वस्त्राण्याभरणानि च ॥ सुगन्धं सुमनोधूपं दीपं नैवेद्य वन्दनम्।" इनमें यहाँ चरण धोना (पाद्य) और आसन—दो विधान कहकर स्तुति कही है। शेष को 'पूजा' शब्द से सूचित किया। 'सुजस बखानी'—आपने अमुक-अमुक का अज्ञान दूर किया था, अमुक-अमुक को भक्ति-उपदेश से कृतार्थ किया, बड़े-बड़े ज्ञानी जनक आदि भी आपके पद-कंज के भ्रमर हैं। 'अति पुनीत मृदुबानी।' निश्छल एवं सरल वाणी पुनीत कही जाती है। यथा—"लछिमन बचन कहे छलहीना।" (अ० दो० ११); "सुनत गरुड़ के गिरा बिनीता। सरल सप्रेम सुखद सु पुनीता॥" (उ० दो० ६३)। अपनी चतुराई दिखाने अथवा परीक्षा लेने के विचार से किये हुए प्रश्न 'अपुनीत' हैं; पर ये वचन निश्छल (पुनीत) हृदय से कहे गये और कानों को सुनने में कोमल भी हैं।

नाथ! एक संसय बड़ मोरे। करगत बेद-तत्त्व सब तोरे ॥७॥
कहत सो मोहि लागत भय लाजा। जौं न कहउँ बड़ होइ अकाजा ॥८॥

अर्थ—हे नाथ! मेरे हृदय में एक बड़ा भारी संदेह है और सम्पूर्ण वेद-तत्त्व आप के हाथ में प्राप्त हैं (आप वेद-तत्त्व अच्छी तरह जानते हैं) ॥७॥ वह (संशय) कहने में मुझे डर और लज्जा लगती है और यदि न कहूँ तो बड़ी भारी हानि होती है ॥८॥

विशेष—(१) 'नाथ! एक संसय ...'—सामान्य संशय होता तो स्वयं विचार करने से निवृत्त हो जाता, पर यह बड़ा संशय है। यथा—"नाना भाँति मनहिं समुझावा। प्रगट न ज्ञान हृदय भ्रम छावा" (उ० दो० ५८)। अतः, यह संदेह आप-जैसे परम विवेकी से ही निवृत्त होगा। 'करगत वेद-तत्त्व सब ...'—उपर्युक्त परम विवेकी का भाव यहाँ खोला कि जिसे वेदतत्त्व का साक्षात्कार हो, वही परम विवेकी है। इनसे श्री रामजी के विषय में प्रश्न करना है और श्री रामजी ही वेद-तत्त्व हैं। यथा - "वेदतत्त्व नृप तव सुत चारी।" (दो० १९७) और श्री रामजी के चरित भी वेद-तत्त्व हैं। यथा—"बरनहु रघुबर बिसद जस, श्रुति-सिद्धान्त निचोरि।" (दो० १०९)। तत्सम्बंधी ही प्रश्न करना है, इसलिये 'करगत वेदतत्त्व' कहकर अपना अभीष्ट सूचित किया। फिर इसी (रामायण) से ही उन्होंने इनका संदेह भी दूर किया।

(२) 'कहत सो मोहिं लागत भय लाजा।'—भय का कारण यह कि ये यह न समझ लें कि मेरी परीक्षा ले रहे हैं। अतः, अप्रसन्न होकर कहीं शाप न दे दें, क्योंकि श्री याज्ञवल्क्यजी को जब सूर्य से विद्या प्राप्त हुई तब विद्यार्थी लोग इनसे बड़े उत्कट (उग्र) प्रश्न करने लगे। इसपर इन्होंने सूर्य से कहा। तब सूर्य भगवान् ने वर दिया कि जो कोई तुमसे वैसा प्रश्न करेगा, उसका सिर फट जायगा। एक बार श्री जनकजी के यहाँ ऋषि-सभा में पंचशिखा ऋषि ने वैसा ही उग्र वाद किया। अतः, उनका शिर फट गया था!

अप्रसन्नता के और भी कारण हैं। जैसे—ये प्रश्न करेंगे—'प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ'। वैसा ही श्री पार्वतीजी ने किया, जिससे शिवजी ने अप्रसन्न होकर बहुत कटु वाक्य कहे थे। यथा—"कहहिं सुनहिं अस अधम नर...." से—"तिन्ह कर कहा करिय नहिं काना॥" (दो० ११४) तक। यहाँ भी याज्ञवल्क्यजी कहेंगे ही—"कीन्हेउ प्रश्न मनहुँ अति मूढ़ा।" अतः, भय का यही कारण है कि कहीं मेरी भी माथा फटने की दशा न हो!

'लाजा'—लाज का कारण यह है कि परम तत्त्व-वेत्ता महर्षि वाल्मीकिजी के शिष्य होकर भी (भरद्वाजजी को तत्त्व का) बोध नहीं हुआ, वृद्ध हो चले, इतना भी नहीं जाना। दंभ से श्रेष्ठ बने प्रयाग-क्षेत्र में बैठे हैं। पुनः इसमें गुरु वाल्मीकिजी की निन्दा होगी कि उन्होंने कुछ नहीं बतलाया।

बुद्धि, प्रकृति और स्वेच्छा नाम के नवों आवरणों से मुक्त हों। ये नौ आवरण इसकी सांसारिक सुखों की चाह (राग) से हुए हैं। अतः, विराग की आवश्यकता होती है और विराग का साधन धर्म है। अतः, आगे 'धर्म विधि' कहते हैं।

(३) 'धर्म-विधि'—धर्म-शास्त्र में कथित विधि। विधि-निषेधात्मक कर्म-धर्म का विधान कहा जाता है। यथा—"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः। स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विंदति तच्छृणु। यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः॥" (गीता १८।४५-४६)। यहाँ 'सिद्धि' वैराग्य के अर्थ में है, क्योंकि इसे ही आगे 'नैष्कर्म्य सिद्धि' कहकर फिर 'सिद्धिं प्राप्तः' (गीता १८।४९-५०) से यही वैराग्यपरक अर्थ बतलाया गया है। तथा—"प्रथमहिं बिप्र-चरन अति प्रीती। निज-निज कर्म-निरत श्रुति-रीती॥···येहि कर फल मन विषय विरागा।" (आ० दो० १५); इत्यादि रीतियों से वैराग्य होगा। परन्तु इसमें आसक्ति और फलेच्छा त्याग के साथ कर्म-योग के लिये तत्त्व-विभाग के ज्ञान की आवश्यकता है। यथा—"एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च। कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥" (गीता १८।६)। इसमें के 'संगं' अर्थात् कर्तृत्वाभिमान रूप आसक्ति और फलेच्छा की तभी निवृत्ति हो सकती है, जब कर्तृत्व से अपने को पृथक् जाना जाय। अतः, तत्त्व-विभाग का ज्ञान चाहिये।

(४) 'तत्त्व-विभाग'—यथा—"महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रिय-गोचराः॥" (गीता १३।५)। इसमें पञ्चतत्त्व, अहंकार, बुद्धि और चित्त, ११ इन्द्रियाँ (मन और दसों इन्द्रियाँ) और पाँच विषय— इन चौबीस तत्त्वों का स्थूल शरीर कहा गया है। प्रत्येक कर्म के पाँच कारण कहे गये हैं, यथा—"अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्॥ शरीर-वाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः। न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥" (गीता १८।१४-१५) अर्थात् अधिष्ठान (शरीर), कर्त्ता (जीव), इन्द्रियाँ, प्राण और दैव (ईश्वर)—इन पाँच के द्वारा कर्म होते हैं। इनमें शरीर, इन्द्रियाँ और प्राण तो जड़ ही हैं। रहा जीव—उसका कर्तृत्व ईश्वर-परतंत्र है। यथा—"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया॥" (गीता १८।६१)। अतः, वह (जीव) ईश्वर का नियाम्य (नियम में चलनेवाला) मात्र है, तो इसका कर्तृत्वाभिमानी होना अयोग्य है। अपनी प्रकृति रूपी देह के द्वारा ईश्वर ही कर्त्ता है। यथा—"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते॥" (गीता ३।२७) अर्थात् प्रकृति के सत्त्वादि गुणों के प्राधान्य से तीनों अवस्थाओं के कार्य होते हैं।

आकाशादि तत्त्वों के साहाय्य में सात्त्विक अहंकार द्वारा कान आदि इन्द्रियाँ होती हैं, वे सब अपने-अपने मूल तत्त्व के शब्दादि विषयों के प्रवाह में निमग्न रहती हैं अर्थात् श्रोत्र (कान) आकाश के विषय (शब्द) में, त्वचा वायु के विषय (स्पर्श) में और नेत्र अग्नि के विषय (रूप) में स्वभावतः अनुरक्त रहा करता है। वैसे ही जीव ईश्वर का अंश है। यथा—"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।" (गीता १५।७), तथा—"ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥" (उ० दो० ११६)। अतः, इसे गुण कृत कार्यों से अनधिकार चेष्टा-रूप अहंकार-वृत्ति हटाकर अपने अंशी ईश्वर की भक्ति करनी चाहिये। उसी में स्वाभाविक प्रवृत्ति होनी चाहिये। यथा—"तुम अपनायो तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै। जेहि सुभाय विषयनि लग्यो त्यों सहज नाथ सों नेह छाड़ि छल करि है"॥ (वि० २६८)।

(५) 'भगति भगवंत कै'—भगवंत (भगवान्) शब्द में ही भक्ति का बीज है अर्थात् भगवान् अपने षडैश्वर्यों (ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज) के द्वारा जगत् की उत्पत्ति, पालन और

संहार करते हैं। जैसे खेत को जो बोता है, सींचता है, और काटता है, उसका अन्न उसी के लिये होता है। उस अन्न का वही भोक्ता है, अन्न भोग्य है। वैसे ही जगत् रूप खेत के तीनों कार्य (उत्पत्ति-पालन-संहार) करने से भगवान ही भोक्ता हैं और सम्पूर्ण जगत् के चराचर जीव उनके भोग्य हैं। जीव का हर अवस्था में भगवान् के भोग्य रूप में रहना ही भक्ति है। कान से उनका यश श्रवण, हाथ से कैंकर्य (सेवा) नेत्र से दर्शन आदि करते रहना इन्द्रियों द्वारा भोग्यत्व है। यथा—'हृषीकेश्च हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते।" (नारदपंचरात्र)। यह नवधा भक्ति है यही परिपक्व होने पर प्रेमा और फिर परा रूप में परिणत होती है। विस्तार-भय से इनके भेदों को यहाँ नहीं लिखते।

(६) 'संयुत ज्ञान-विराग'—ऊपर कह आये हैं कि ब्रह्म निरूपण का निष्कर्ष रूप ज्ञान और धर्म-विधि का निष्कर्ष रूप वैराग्य है। उन्हींको यहाँ अंग रूप में भक्ति का सहायक होना कहा है। उस ज्ञान के प्रसंग में वहाँ एक अनीह आदि गुणों के प्रदर्शन में भगवान् का निस्वार्थ भाव से जीवों का पालन करना दिखाया गया है और उनकी महिमा भी ज्ञात हुई। इससे प्रतीतिपूर्वक प्रीति दृढ़ रहेगी। पुनः उक्त वैराग्य से अन्य कर्मों की चेष्टा से बची हुई इन्द्रियाँ भजन में लगी रहेंगी। प्राकृत कामनाओं से वैराग्य रहने में भक्ति की अनन्यता भी सुरक्षित रहेगी। यथा—"कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः। तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥" (गीता ७।२०) अर्थात् कामनाओं की पूर्ति के लिये ही अन्य देवताओं की आराधना में चित्त-वृत्ति दौड़ती है।

अतएव, इस साधु-समाज प्रयाग के सत्संग का निष्कर्ष ज्ञान-विराग संयुक्त भक्ति है, यही और जगह भी कही गई है। यथा—"जुग बिच भगति देवधुनि-धारा। सोहति सहित सुबिरति बिचारा॥" (दो० ३१), "श्रुति-संमत हरि-भगति-पथ, संयुत बिरति बिबेक।" (उ० दो० १००) इत्यादि।

यह सत्संग इस ग्रंथ का मूलाधार है, क्योंकि यहीं से सत्संग-कथा का उद्घाटन हुआ है। अतः, इसमें कही हुई बातों का आगे ग्रंथ में जहाँ-तहाँ विस्तारपूर्वक कथन आवेगा।

येहि प्रकार भरि माघ नहाहीं। पुनि सब निज-निज आश्रम जाहीं॥१॥
प्रति संवत अस होइ अनंदा। मकर मज्जि गवनहिं मुनिबृंदा॥२॥

अर्थ—इसी प्रकार सब माघ भर स्नान करते हैं, फिर अपने-अपने आश्रमों को लौट जाते हैं॥१॥ प्रत्येक वर्ष ऐसा ही आनन्द होता है और मकर-स्नान करके मुनियों की मंडलियाँ चली जाती हैं॥२॥

विशेष—(१) 'येहि प्रकार भरि माघ······' 'येहि प्रकार' से कथा का और 'भरि माघ' से माघ-स्नान का निरंतर होना एवं पूरे माघ तक रहकर पूरा कल्पवास (किसी निश्चित समय तक अनवरत तीर्थ सेवन) करना सूचित किया; क्योंकि एक दिन भी कम होने से कल्पवास खंडित हो जाता है। ऐसा ही सौर मास के लिये भी आगे—'भरि मकर नहाये।' कहते हैं।

(२) 'प्रति संवत अस······' कल्पवास में किसी वर्ष का अंतर नहीं पड़ता अर्थात् किसी साल नियम खंडित हो जाने से कल्पवास अधूरा छूट जाता है।

'मकर मज्जि गवनहिं······' प्रथम भी जाना कहा था—'पुनि सब निज'···' ये चांद्र मास वाले हैं, वे माघ की पूर्णिमा नहाकर चले जाते हैं। वे मकर की पूर्ति नहीं देखते और सौर मास वाले सौर मास देखते हैं, पर मुनिबृंद तो दोनों रीतियों से मास की पूर्ति करके ही जाते हैं।

'होइ अकाजा'—अकाज की बात अगले दोहे में कहते हैं—

दोहा—संत कहहिं असि नीति प्रभु, श्रुति-पुरान मुनि गाव।
होइ न बिमल बिबेक उर, गुरु सन किये दुराव ॥४५॥

अर्थ—हे प्रभो ! संतलोग ऐसी नीति कहते हैं तथा वेद, पुराण और मुनि लोग भी (यही) गाते हैं कि गुरु से छिपाव करने पर निर्मल ज्ञान नहीं होता।

विशेष—(१) लाज की बात औरों से भले ही न कहे, गुरु से अवश्य कहे, अन्यथा बड़ी हानि है, क्योंकि गुरु से कपट रहने से उनकी करुणा न होगी और उसके बिना विमल-विवेक भी नहीं होगा और न भव-निवृत्ति ही होगी। यथा—"तुलसिदास हरि-गुरु करुना-बिनु बिमल बिवेक न होई। बिनु बिवेक संसार घोर निधि पार न पावइ कोई॥" (वि० ११५)। 'बिमल'—गुरु के बिना जो 'मनमुखी' (गुरुहीन) ज्ञान होता भी है, वह समल होता है। यथा—"वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुन भव पार न पावइ कोई। निसि गृह मध्य दीप की बातन तम निवृत्ति नहिं होई॥" (वि० १२३)। जैसे सतीजी ने शिवजी से 'दुराव' किया। यथा—"भयबस सिव सन कीन्ह दुराऊ।" (दो० ४५)। फिर उस शरीर में विमल विवेक हुआ ही नहीं। इसीसे श्रीरामजी ने सरलता दिखाई है। यथा—"राम कहा सब कौसिक पाहीं। सरल सुभाव छुआ छल नाहीं॥" (दो० २२६)। अतः, गुरु से दुराव नहीं चाहिये।

अस बिचारि प्रगटउँ निज मोहू। हरहु नाथ करि जन पर छोहू ॥१॥
राम नाम कर अमित प्रभावा। संत पुरान उपनिषद गावा ॥२॥

अर्थ—ऐसा विचारकर अपना अज्ञान प्रकट करता हूँ, हे नाथ ! इस दास पर कृपा करके इस (अज्ञान) को दूर कीजिये ॥१॥ श्रीरामनाम का असीम प्रभाव है, उसे संतों, पुराणों और उपनिषदों ने गाया है ॥२॥

विशेष—(१) 'अस बिचारि…' मुझे विमल विवेक की इच्छा है। 'करि छोहू'—दया करके ही मोह हरिये, क्योंकि मुझमें प्रत्युपकार की योग्यता नहीं है। ऊपर 'गुरु' कहा था, यहाँ उसका कार्य ['गु' से अंधकार (मोह), रु = निवारण करना] प्रकट किया।

(२) 'राम नाम कर …' संत, पुराण और उपनिषद्—तीन का प्रमाण दिया। उपनिषदें वेद के अंतिम (शिरो) भाग हैं। इनमें ब्रह्मविद्या का ही निरूपण रहता है। ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुंडक, मांडूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छांदोग्य, बृहदारण्य—ये दस प्रधान हैं। इनके अतिरिक्त श्वेताश्वतर, मैत्रायणी और कौषीतकी भी आर्ष ही मानी जाती हैं। भक्ति एवं श्रीरामनाम और मंत्र के महत्त्व-प्रकाशन में श्रीराम-तापनीय प्रधान है। उपनिषदें १०८ तक मानी जाती हैं।

उपनिषदों के गूढ़ तत्त्व पुराणों में उदाहरणों के साथ सविस्तर दिखाये गये हैं तथा संतों ने आराधन करके साक्षात्कार किया है और अपनी-अपनी संहिताओं में कहा भी है। अत, तीनों जिसका वर्णन एक-स्वर से करते हैं, वह अवश्य मान्य है।

श्रीराम-यश के चरित (रामायण) का उपक्रम यहाँ के 'राम' शब्द से हो रहा है और उपसंहार भी 'बिप साणु मोहि राम' में 'राम' शब्द ही पर होगा।

'पूछउँ'—क्योंकि विना पूछे श्री रामतत्त्व को नहीं कहना चाहिये। फिर 'कृपानिधि' कहने का यह भाव है कि ऐसे प्रश्न पर क्रोध होने का योग है। अतः, दया से समझाकर कहें।

(२) 'एक राम अवधेस'''' आगे कहेंगे—'ऐसेइ संसय कीन्ह भवानी।' अर्थात् सतीजी की तरह इनको भी ब्रह्म के अवतार लेने में और उनके चरित में भी सन्देह है। यथा—"ब्रह्म जो व्यापक'''सो कि देह धरि होइ नर''''" (दो० ५०), "जौं नृपतनय तो ब्रह्म किमि, नारि-विरह मति भोरि॥" (दो० १०८)। ये ही दोनों संदेह इन्हें भी हैं। इसी से शिवजी के इष्ट राम का महत्त्व नाम द्वारा ही कहा--रूप नहीं बतलाया, क्योंकि इनके मत में ब्रह्म अरूप है। सगुण लीला में भी ब्रह्म को कामी-क्रोधी कहकर संदेह प्रकट किया।

शिवजी के इष्ट राम ब्रह्म हैं और मैं जिनको जानता हूँ, वे तो अवधेश के कुमार हैं। ये राम ब्रह्म कैसे हो सकते हैं? क्योंकि इनमें प्रत्यक्ष दो विरोधी बातें हैं—एक तो यह कि ब्रह्म अजन्मा है और इनका जन्म दशरथ महराज के यहाँ हुआ है। दूसरी यह कि ब्रह्म सम एवं बोध स्वरूप है और ये कामी क्रोधी हैं। फिर शिवजी सदा से जपते हैं और ये मत्स्य पुराण के अनुसार इस कल्प के चौबीसवीं चतुर्युगी के त्रेता में हुए हैं।

'विदित संसारा'—इनके इन काम-क्रोध के चरितों को संसार-भर जानता है, क्योंकि चक्रवर्ती के कुमार होने से प्रसिद्ध थे। ब्रह्म में ऐसे अज्ञान के विकार सुने भी नहीं गये।

(३) 'रन रावन मारा।'—बराबर दोनों ओर से युद्ध हुआ। श्री रामजी नागपाश से बाँधे भी गये तो ईश्वर कैसे? यथा—"भृकुटि-भंग जो कालहिं खाई। ताहि कि सोहइ ऐसि लड़ाई॥" (ल० दो० ६५); 'मोहिं भयेउ अति मोह, प्रभु-बंधन रन महँ निरखि। चिदानंद-संदोह, राम विकल कारन कवन॥" (उ० दो० ६८) अर्थात् ब्रह्म होते तो इच्छामात्र से ही रावण को मार डालते। यथा—"उमा काल मर जाकी ईछा।" (लं० दो० १०१)। फिर इतना श्रम क्यों करते?

तात्पर्य यह कि शिवजी के इष्ट राम में तो अमित प्रभाव है, और इनमें कुछ नहीं। ऐसा ही गरुड़जी ने भी कहा है—"सो अवतार सुनेउँ जग माहीं। देखेउँ सो *प्रभाव कछु नाहीं॥*" (उ० दो० ५१)।

दोहा—प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ, जाहि जपत त्रिपुरारि।
सत्यधाम सरबज्ञ तुम्ह, कहहु बिबेक बिचारि॥४६॥

अर्थ—हे प्रभो! ये वही राम हैं या कोई और हैं जिनको त्रिपुर के शत्रु (श्री महादेवजी) जपते हैं? आप सत्य के धाम और सर्वज्ञ हैं, अतः विवेक से विचारकर कहिये॥४६॥

विशेष—'त्रिपुरारि'—त्रिपुर दैत्य तीनों लोकों में एक एक रूप से रहता था। इसे यह वर प्राप्त था कि जब कोई इसके तीनों रूपों को एक साथ ही परास्त कर सकेगा, तब यह मरेगा। तीनों लोकों में इसके किले थे, जिनमें अमृत रहता था। शिवजी ने संग्राम में बहुत श्रम किया, पर यह न मरा। तब शिवजी ने श्रीरामजी का ध्यान किया। श्रीरामजी ने वत्स रूप से अमृत पी लिया, तब शिवजी से त्रिपुर का संहार हुआ।

(क) शिवजी ने भी जिनसे सहायता ली, क्या ये वे ही राम हैं?

(ख) त्रिपुर के जीतनेवाले एवं कामारि शिवजी कामी क्रोधी को कैसे भजेंगे?

(ग) ऐसे समर्थ शिवजी जिन्हें भजते हैं, वे मनुष्य कैसे हो सकते हैं? यथा—"हैं दससीस मनुज रघुनायक। जाके हनूमान से पायक॥" (लं० दो० ६२)।

'सत्यधाम सरबग्य · · · ' एक तो आप सब जानते हैं, फिर सत्य ही कहेंगे। अतः, यथार्थ ही होगा।

यद्यपि भरद्वाज मुनि ने यह संशय पूर्व पक्ष रूप में किया है, परन्तु सगुण-चरित्र ही ऐसे गूढ़ होते हैं कि मुनियों को भी भ्रम होता है। यथा—"निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन न जानइ कोइ। सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि-मन भ्रम होइ॥" (उ० दो० ७३)।

जैसे मिटइ मोह भ्रम भारी। कहहु सो कथा नाथ! बिस्तारी॥ १॥

अर्थ—हे नाथ! जिससे (मेरा) भारी मोह और भ्रम दूर हो, वही कथा विस्तार से कहिये॥१॥

विशेष—(१) ऊपर—"अस बिचारि प्रगटउँ निज मोहू।" में मोह-कथन का उपक्रम है और यहाँ "जैसे मिटइ मोह भ्रम भारी।" पर उपसंहार हुआ। इससे प्रथम—"नाथ! एक संशय बड़ मोरे।" इन्होंने ही कहा था। 'संसय' को बड़ और 'मोह-भ्रम' को भारी कहकर दोनों को बराबर कहा।

ये ही तीनों बातें चारों घाटों के प्रसंग में बीज रूप में हैं—

श्री पार्वतीजी—"हरहु नाथ मम मति भ्रम भारी।" (दो० १०७); "जेहि बिधि मोह मिटइ सोइ करहू।" तथा "अजहूँ कछु संसय मन मोरे।" (दो० १०८)।

श्री गरुड़जी—"जो नहिं होत मोह अति मोही।"—"भयेउ हृदय मम संसय भारी"॥ "सोइ भ्रम अब हित करि मैं माना।" (उ० दो० ६८)।

श्री गोस्वामीजी—"निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करउँ कथा भव-सरिता तरनी॥" (दो० ३०)। यहाँ संदेह=संशय और मोह-भ्रम एक साथ ही कहे गये हैं जिनका अभिप्राय क्रमशः ईश्वर जीव और माया (=तत्त्वत्रय) के अज्ञान में है। इस चौपाई के विशेष में लिखा गया कि इन्हीं तीनो तत्त्वों का बोध होना इस ग्रंथ का प्रयोजन है। यही प्रयोजन चारों घाटों का है। यह ग्रंथकार की सावधानता है।

(२) 'कहहु सो कथा· · ·'—कथा ही से तीनों निवृत्त होंगे—अन्य उपायों से नहीं। यथा—"तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। कहि रघुनाथ-कथा बिधि नाना॥" (दो० १०७)। 'बिस्तारी'—मूढ बनकर प्रश्न किया है इसलिये विस्तारपूर्वक कहने की प्रार्थना है; अन्यथा समझ में न आवेगी।

जागबलिक बोले मुसुकाई। तुम्हहिं बिदित रघुपति-प्रभुताई॥२॥
राम-भगत तुम्ह मन-क्रम-बानी। चतुराई तुम्हारि मैं जानी॥३॥
चाहहु सुनइ राम-गुन-गूढ़ा। कीन्हेहु प्रश्न मनहुँ अति मूढ़ा॥४॥

अर्थ—श्री याज्ञवल्क्यजी ने मुसकुराकर कहा कि तुमको श्रीरघुनाथजी की प्रभुता ज्ञात है॥२॥ तुम मन, कर्म और वचन से श्रीरामजी के भक्त हो, मैंने तुम्हारी चतुराई जान ली॥३॥ (कि इस व्याज से) श्रीरामजी के गूढ़ गुणों को सुनना चाहते हो, (इसीसे ऐसे) प्रश्न किये हैं, मानों बडे मूर्ख हो॥४॥

विशेष—(१) "जागबलिक बोले · " मुसकुराने का कारण इनकी चतुराई का लखना है। यथा—"देखि कृपानिधि मुनि-चतुराई। लिये संग बिहँसे दोउ भाई॥" (बा० दो० ११)। स्वयं ज्ञाता होकर भी मूढ बनकर पूछने में चतुराई है जिससे मुनि विस्तारपूर्वक कथा कहें। अन्यथा इस प्रकार प्रश्न मूर्ख नहीं कर सकता। जैसे—प्रथम—"राम नाम कर अमित प्रभावा।"·· से—"कहहु बुझाइ कृपा-

निधि मोही ॥" तक 'विषय' कहा। फिर -"एक राम अवधेस" से—"भयेउ रोष रन रावन मारा ॥" तक 'पूर्व पक्ष' किया। पीछे—"प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ. " इस दोहे में 'संशय' किया। अब सिद्धान्त चाहते हैं। यह वेदान्तियों की रीति है, पर सरल भाव से 'नाथ! कृपनिधि! प्रभु!' आदि मृदु सम्बोधन भी हैं। अतः, बराबरी एवं वाद की छाया नहीं है। इसमें भीतर चतुराई है, पर ऊपर से मूढ़ता की तरह है। अत', 'मनहुँ अति मूढ़ा' कहा है।

'चतुराई' का प्रयोग श्रीराम-भक्ति के विषय में अन्यत्र भी आया है। यथा—"रीझेउँ देखि तोरि चतुराई। माँगेहु भगति मोहि अति भाई ॥" (उ० दो० ८४)।

(२) 'राम-भगत तुम्ह मन क्रम बानी।'—चतुराई को देखकर इनकी भक्ति भाँप ली और इसीसे मोहादि का न होना भी समझा। यथा—"मोह गये बिनु राम-पद, होइ न दृढ अनुराग॥' (उ० दो० ६१)। इसीसे 'मनहुँ अति मूढ़ा' कहा है, मूढ़ तो हो नहीं, पर बने हो। किस लिये बने हो? वही-'चाहहु सुनइ···' से कहा है।

(३) 'राम-गुन गूढ़ा'—इसे ही ऊपर 'रघुपति प्रभुताई' कहा था अर्थात् रघुपति की प्रभुता लीला में अप्रकट रूप में है। लीला के अति माधुर्य-प्रसंग में बहुत को भ्रम हो जाता है जैसे जिन दो बातों पर इन्होंने संदेह प्रकट किया है, उन्हें ही सतीजी ने वास्तव में नहीं समझा। इसी लक्ष्य पर शिवजी ने कहा भी है—"उमा राम-गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति।" (आ० दो० १)।

(४) ऊपर कहा गया है कि भरद्वाज का, सती का और गरुड़ का संशय, मोह और भ्रम करना एक समान है। इसीसे तीनों श्रोताओं के प्रति इन तीनों वक्ताओं का बर्ताव भी समान है। प्रश्न सुनकर प्रथम जिज्ञासुओं का आदर किया गया कि वे घबरा न जायँ। फिर युक्ति से उनके प्रश्नों का अनौचित्य भी कह दिया।

शिवजी—"तुम्ह रघुबीर-चरन-अनुरागी। कीन्हेहु प्रश्न जगत हित लागी॥ राम-कृपा ते पारबति, सपनेहु···कछु नाहिं॥" (दो० ११२)।

भुशुंडीजी—"सब निधि नाथ पूज्य तुम मेरे।" तुम्हहिं न संसय मोह न माया।" (उ० दो० ६६)।

याज्ञवल्क्यजी—"तुम्हहि बिदित···राम भगत तुम मन क्रम बानी। चतुराई···"

तात सुनहु सादर मन लाई। कहउँ राम कै कथा सुहाई ॥५॥
महा मोह महिषेस बिसाला। राम-कथा कालिका कराला ॥६॥

अर्थ—हे तात! आदर-सहित मन लगाकर सुनो। मैं श्रीरामजी की सुन्दर कथा कहता हूँ ॥५॥ महामोह रूपी बड़े भारी महिषासुर के लिये श्रीराम-कथा बड़ी कराल (भयंकर) कालिका है ॥६॥

विशेष—(१) 'तात सुनहु सादर ···'—ऊपर 'राम-गुन-गूढ़ा' कहा था, अतः, 'सादर' और 'मन लाई' सुनने को कहते हैं, क्योंकि गूढ़ विषय के समझने की यही रीति है कि मन-मति-चित्त कथा में लगे रहें और स्नेहपूर्वक सुने। 'तात' शब्द यद्यपि छोटे-बड़े सभी के प्रति आता है, पर यहाँ बराबर के भाव में है। यथा—"तात! तात बिनु बात हमारी।" (अ० दो० २०१)। इसमें पहला तात भाई के लिये और दूसरा पिता के लिये है। "सुनहु तात! तुम कहँ मुनि कहहीं।" " (अ० दो० ७६)। इसमें पुत्र के लिये आया है। यह अत्यंत प्रेमसूचक सम्बोधन है।

(२) "महा मोह महिषेस'''"—भरद्वाज ने कहा था—"जैसे मिटइ मोह भ्रम भारी।" उसी के प्रति यह वचन है। जीव के स्वरूप में अज्ञान होना 'मोह' है और ईश्वर के रूप में अज्ञान होना 'महा मोह' है। यथा—"महा मोह उपजा उर तोरे।" (उ० दो० ५८)। इस महा मोह को विशाल महिषासुर कहा गया, क्योंकि महिषासुर को कालिका देवी ने मारा और इस महा मोह ने तो कालिका (सती) को ही जीत लिया। यथा—"भयेउ मोह सिव कहा न कीन्हा।" (दो० ६७)। दूसरे जन्म तक भी यह महा मोह रह ही गया। यथा—"जदपि मोहबस कहेहु भवानी।" (दो० ११३)। इसलिये महा मोह को विशाल महिषासुर और उसको नष्ट करनेवाली कथा को कराल कालिका कहा है।

'कालिका'—महिषासुर से परास्त होकर देवता लोग ब्रह्मा के पास गये। ब्रह्मा, शिव तथा और भी देववृंद विष्णु के पास गये। विष्णु भगवान् ने कहा कि उसके वध के लिये सब देवता मिलकर थोड़ा-थोड़ा तेज निकालें। उससे एक स्त्री बनेगी और वे ही उस असुर का वध करेंगी क्योंकि वर के कारण वह किसी भी पुरुष से नहीं मर सकता। तब ब्रह्मा ने अपने मुख से रक्त वर्ण का, शिव ने रौप्य वर्ण का, विष्णु ने नील वर्ण का, इन्द्र ने विचित्र वर्ण का, एवं सब देवताओं ने अपना-अपना तेज निकाला, उससे एक तेजस्विनी देवी प्रकट हुईं। इन्हींने महिषासुर का संहार किया। वर्ण काला होने से इनका नाम 'कालिका' पड़ा। यह कथा देवी भागवत के अनुसार है।

'महिषासुर'—यह रंभ नामक दैत्य का पुत्र था और इसकी आकृति भैंसे की-सी थी। इसने हेमगिरि पर कठिन तप करके ब्रह्मा से वर पाया था कि स्त्री छोड़कर पुरुष मात्र से मेरा वध न हो। जब इसने इन्द्रादि देवों को जीत लिया तब कालिका के द्वारा मारा गया।

जिस महा मोह ने सती को भी हराया, उसे कथा ने ही जीता। यथा—"ससि-कर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥" (दो० ११६)।

राम-कथा ससि-किरन समाना। संत-चकोर करहिं जेहि पाना॥७॥

ऐसेइ संसय कीन्ह भवानी। महादेव तब कहा बखानी॥८॥

अर्थ—श्रीराम-कथा चन्द्रमा की किरण के समान है, संत-रूपी चकोर जिसका पान करते हैं॥७॥ इसी प्रकार का संदेह श्रीपार्वतीजी ने किया था। तब शिवजी ने विस्तारपूर्वक (राम-कथा का) वर्णन किया था॥८॥

विशेष—(१) 'राम कथा ससि-किरन'''' चकोर चन्द्रमा का अनन्य प्रेमी होता है, वैसे संत श्रीरामचंद्र के अनन्य भक्त होते हैं। वह किरण-पान करता है, वैसे संत कथा-श्रवण करते हैं। यथा—"नाथ! तवानन ससि श्रवत, कथा-सुधा रघुबीर। श्रवन पुटन्हि मन पान करि, नहिं अघात मति-धीर॥" (उ० दो० ५२); "राम-चरित राकेस-कर, सरिस'''" (दो० ३२)।

यहाँ कथा के लिये दो दृष्टान्त हैं—महा मोह नाश के लिये कराल है, संतों के लिये शशि-कर के समान शीतल एवं आह्लादवर्द्धक है। प्रथम मोह नाश करके फिर सुख देती है, जैसे असुर का नाश कर देवी ने देवताओं को सुखी किया।

(२) 'ऐसेइ संसय कीन्ह''''' ऐसेइ अर्थात् जैसे भरद्वाजजी ने ब्रह्म के अवतार लेने में संदेह किया और उसकी लीला में कामुकता कही; इसी प्रकार श्रीपार्वतीजी ने भी संशय किया था। भवानी =

भव-पत्नी = श्रीपार्वतीजी, जिन्होंने सती-शरीर में संशय किया। फिर दूसरे (पार्वतीजी) शरीर से कथा सुनकर संशय-निवृत्त किया।

श्रीयाज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद-प्रकरण समाप्त

उमा-शंभु-संवाद-प्रकरण प्रारम्भ

दोहा—कहउँ सो मति अनुहारि अब, उमा - संभु - संवाद।
भयेउ समय जेहि हेतु जेहि, सुनु मुनि मिटिहि बिषाद ॥४७॥

अर्थ—अब मैं (अपनी) बुद्धि के अनुसार वह शिव-पार्वती का संवाद, जिस समय और जिस कारण से हुआ, कहता हूँ। हे मुनि! उसे सुनो, तुम्हारा दुःख दूर हो जायगा ॥ ४७ ॥

विशेष—श्रीयाज्ञवल्क्यजी ने 'ऐसेइ संसय कीन्ह भवानी।' से अपना संवाद उमा-शंभु-संवाद में मिलाया। अब उनके संवाद-द्वारा भरद्वाज का सदेह मिटाना चाहते हैं, क्योंकि शिवजी के इष्ट पर उनका विश्वास है। यथा—"राम नाम कर अमित ···" से—"जाहि जपत त्रिपुरारि।" तक कहा गया है। अत', उन्हीं के मुख का कहा हुआ, भरद्वाजजी के लिये विश्वस्त एवं प्रिय होगा। अतः, यह वक्ता की चातुरी है। पुनः यह प्रायः सभी वक्ताओं की रीति है कि वे श्रुति परंपरा की ही कथा कहते हैं। जैसे आगे शिवजी भी भुशुंडीजी से सुनी हुई ही कथा कहेंगे—यद्यपि यह भुशुंडीजी को भी शिवजी से ही प्राप्त हुई है। 'सो'—जिसके लिये पूर्व दो० ३२ चौ० १–२ में प्रतिज्ञा भी की थी।

सती-मोह-प्रसंग

एक बार त्रेता जुग माहीं। संभु गये कुंभज रिषि पाहीं ॥१॥
संग सती जगजननि भवानी। पूजे रिषि अखिलेश्वर जानी ॥२॥

अर्थ—त्रेता युग में एक समय शिवजी अगस्त्य ऋषि के पास गये ॥१॥ साथ में जगन्माता भवानी सतीजी थीं, ऋषि ने सर्वेश्वर जानकर उनकी पूजा की ॥२॥

विशेष—(१) 'एक बार त्रेता जुग ···' यह त्रेता युग प्रथम कल्प के प्रथम मन्वन्तर का है जिसमें स्वायंभुव मनु और शतरूपा के तप से परात्पर साकेतविहारी का अवतार हुआ था। इसीका प्रारम्भ श्रीशिवजी ने "अपर हेतु सुनु सैलकुमारी।···" (दो० १४०) से किया है। शिवजी वहाँ (अगस्त्यजी के पास) बराबर जाया करते थे, पर यह प्रसंग एक बार का है।

'कुंभज'—अगस्त्य ऋषि की उत्पत्ति विलक्षण है कि घड़े से पैदा हुए और समुद्र सोख लिया। अत, बड़प्पन दिखाया कि बड़े बड़े ऋषि भी अगस्त्यजी के पास सत्संग के लिये आते थे। यथा—"तहाँ रहे सनकादि भवानी। जहँ घटसंभव मुनिवर ज्ञानी॥" (उ० दो० ३१); तभी शिवजी इनके पास गये, क्योंकि बड़े लोग बड़े के यहाँ जाते ही हैं।

(२) 'संग सती जगजननि भवानी। ...'—कथा-श्रवण के लिये जाने में सतीजी के लिये तीन उत्तम विशेषण दिये गये और लौटते समय कथा के चरित में संदेह होने के आगम पर 'दच्छ-कुमारी' ही कहेंगे। इन तीन विशेषणों के द्वारा सतीजी का क्रमशः पालन, उत्पत्ति और संहार करना जनाया। 'सती' से सत्त्व गुण धारण कर जगत् का पालन, 'जग-जननि' से उत्पत्ति और 'भवानी' (भव-पत्नी) से संहार-कर्तृत्व सूचित किया। यथा— जग-संभव-पालन-लयकारिनि। निज इच्छा लीला बपु धारिनि ॥" (दो० ६७)। "जगजननि के साथ ही भवानी' कहने का भाव यह है कि ये ईश्वर के संग से ही जगत् की उत्पत्ति आदि कर सकती हैं।

केवल 'सती' कहने से अन्य सतियों का भी भ्रम होता। अतः, 'जगजननी' कहा; फिर रमा और सरस्वती का भ्रम होता, इसलिये 'भवानी' भी कहकर अतिव्याप्ति मिटाई। 'अखिलेश्वर जानी'—अतिथि मात्र जानकर नहीं, प्रत्युत (अ=नहीं, खिल=शेष) निःशेष (सम्पूर्ण) जगत् का ईश्वर जानकर मुनि ने शिवजी की पूजा की।

राम-कथा मुनिवर्य बखानी। सुनी महेस परम सुख मानी ॥३॥
रिषि पूछी हरि-भगति सुहाई। कही संभु अधिकारी पाई ॥४॥

अर्थ—मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यजी ने राम-कथा विस्तार से कही और शिवजी ने परम सुख मानकर सुनी ॥३॥ ऋषि अगस्त्यजी ने भगवान् की सुन्दर भक्ति पूछी। शिवजी ने अधिकारी पाकर कही ॥४॥

विशेष—(१) 'राम कथा मुनिवर्य ...' अगस्त्यजी मुनिवर्य हैं, क्योंकि इनके श्रोता शिवजी हैं और इनके पास सनकादिक भी आते हैं। 'परम सुख मानी'—क्योंकि सनकादिक और शिवजी भी ध्यान के ब्रह्मानंद आदि सुख छोड़कर चरित सुनते हैं। यथा—"जीवन्मुक्त ब्रह्मपर, चरित सुनहिं तजि ध्यान।" (उ० दो० ४२)। तथा—"मगन ध्यान रस दंड जुग, पुनि मन बाहेर कीन्ह। रघुपति-चरित महेस तब, हरषित बरनइ लीन्ह ॥" (दो० १११)। चरित परानंद-रूप है। यथा—"मम गुनग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ, परानंद संदोह ॥" (उ० दो० ४६)।

शंका—शिवजी के बिना जिज्ञासा किये ही मुनि ने कथा क्यों कही? इसमें कथा का अपमान है।

समाधान—अगस्त्यजी जानते हैं कि शिवजी राम-कथा से ही रीझते हैं, क्योंकि यही उनको परम प्रिय है। यथा—"सिव-प्रिय मेकलसैल सुता सी।" (दो० ३०), "अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के।" (दो० ३१)। अतः, पूजा के अंत में स्तुति की जगह राम-कथा ही सुनाई। इसी तरह अनसूयाजी ने श्रीजानकीजी की पूजा वात्सल्य दृष्टि से करके अंत में बिना उनके पूछे ही पातिव्रत्य धर्म कहा है, क्योंकि यह इन्हें प्रिय है। अतः, सुनकर प्रसन्न होंगी।

(२) 'रिषि पूछी हरि-भगति ...' ऋषि ने पूछा, क्योंकि शिवजी श्रीरामभक्ति के कोषाध्यक्ष—'खजांची' हैं। यथा—"जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी ॥" (दो० १३७)। जब शिवजी चरित सुनकर परम सुखी हुए, तब मुनि ने भक्ति पूछी, फिर भी शिवजी ने इन्हें अधिकारी पाकर ही कही, क्योंकि भक्ति परम दुर्लभ वस्तु है। यहाँ परा भक्ति से तात्पर्य है, जो शांडिल्य सूत्र आदि ग्रंथों में कही गई है, क्योंकि वक्ता-श्रोता दोनों उच्च कोटि के हैं। यह भक्ति अनधिकारी से अग्राह्य है। अधिकारी के लक्षण कथा-अधिकारी के प्रसंग उ० दो० ११२ और १२७ में कहे गये हैं। तथा—"राम-भगत-अधिकारी चीन्हा।" (दो० २१)। इसके अधिकारी पहचानने का प्रसंग लोमश के वाद-प्रसंग में है।

यथा—"लीन्ही प्रेम-परीक्षा मोरी।" (उ० दो० ११२)। यहाँ—"उमा जे रामचरन रत, बिगत काम-मद क्रोध। निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहिसन करहिं बिरोध॥" इस दोहे में भक्ति के लक्षण कहे और उस प्रसंग में चरितार्थ रूप में दिखाये भी हैं।

कहत सुनत रघुपति-गुनगाथा। कछु दिन तहाँ रहे गिरिनाथा॥५॥
मुनि सन बिदा माँगि त्रिपुरारी। चले भवन सँग दच्छकुमारी॥६॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी की कथा कहते-सुनते शिवजी वहाँ कुछ दिनों तक रहे॥५॥ अगस्त्य मुनि से विदा (जाने की आज्ञा) माँगकर शिवजी दक्ष की पुत्री (सती) के सहित अपने स्थान को चले॥६॥

विशेष—'बिदा माँगि'—यह प्रीति की रीति है। प्रीति का मुख्य अंग प्रणय है अर्थात् मैं आपका हूँ। अत, आप की आज्ञा के बिना नहीं जा सकता। यथा—"सकल मुनिन्ह सन बिदा कराई। सीता सहित चले दोउ भाई॥" (आ० दो० १), "चले राम मुनि-आयसु पाई।" (आ० दो० ११)।

'सँग दच्छकुमारी'—यहाँ पति का संबंधसूचक नाम नहीं दिया, क्योंकि आगे सतीजी पति द्वारा त्यागी जायँगी। दक्ष ने जामाता ही मानकर शिवजी का निरादर किया और उसका फल भी पाया, वैसे सतीजी भी पति के इष्ट रामजी को प्राकृत मनुष्य मानकर परीक्षा-रूप से उनका निरादर करेंगी। यथा—"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परंभावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥" (गी० ९।११) फिर पति का वचन न मानकर अपमान करेंगी और वैसा फल पावेंगी। इसी से दक्ष सम्बंधी नाम दिया गया। दक्ष एक प्रजापति हैं जिनका जन्म ब्रह्मा के दाहिने अंगूठे से और इनकी पत्नी का जन्म बायें अंगूठे से हुआ। इस पत्नी से दक्ष के ६० कन्याएँ हुईं, जिन में एक सती हैं जो शिवजी से ब्याही गई थीं। पुराणों में इनकी कथा है।

यहाँ सती मात्र का संग कहा गया है। अतः, और कोई गण शिवजी के साथ नहीं थे।

तेहि अवसर भंजन महि-भारा। हरि रघुबंस लीन्ह अवतारा॥७॥
पिता-बचन तजि राज उदासी। दंडक बन बिचरत अविनासी॥८॥

अर्थ—उस समय पृथिवी का) ' भार हरने के लिये हरि'(भक्तों के दु खहर्त्ता) ने रघुवंश में अवतार लिया॥७॥ पिता के वचन से राज्य को छोड़कर और उदासी वेष से वे अविनाशी (भगवान्) दंडक वन में विचरते थे॥८॥

विशेष—(१) 'तेहि अवसर ' '—शिवजी अगस्त्यजी के यहाँ सत्संग में थे और कथा का ही अनुकथन होता था। यहाँ 'लीन्ह अवतारा' से बालकांड, 'तजि राज' से अयोध्याकांड और 'दंडक बन बिचरत' से आरण्यकांड की वर्तमान कथा तक हुई। वही इन दो अर्द्धालियों में कही गई है। सम्भवत इसी प्रसंग में अगस्त्यजी ने कह दिया होगा कि वे ही प्रभु इस समय निर्जन वन में भाई और सीताजी के साथ घूम रहे हैं जिसे सुनकर शिवजी ने उत्कंठित हो प्रभु दर्शन का अच्छा अवसर जानकर विदा माँगी और चल पड़े। अत, आगे कहते हैं कि—"हृदय बिचारत जात हर, केहि बिधि दरसन होइ।" ऐसा ही एक प्रसंग और भी है। यथा—"आनि समय सनकादिक आये। तहाँ रहे सनकादि भवानी। जहँ घटसंभव मुनिबर ज्ञानी॥ राम-कथा मुनिबर बहु बरनी।..."(उ० दो० ३१); यहाँ भी कथा में प्रभु के वाटिका (एकान्त) में आने की लीला और समय जानकर आना लिखा है।

'हरि'—'रामाख्यमीशं हरिं' (मंगल श्लोक ६) में कहे हुए श्रीरामजी।

'रघुबंस लीन्ह···' पहले यह वंश सूर्यवंश या इक्ष्वाकु मनु वंश के नाम से प्रसिद्ध था। इसी कुल में उत्पन्न दीर्घबाहु दिलीप ने सन्तान-प्राप्ति के लिये गुरु वशिष्ठजी की आज्ञा से नन्दिनी धेनु की आराधना कर उससे वंश चलानेवाले पुत्र की याचना की। फल-स्वरूप 'रघु' नामक पुत्र हुआ। इसीसे पीछे इस वंश का नाम 'रघुवंश' पड़ गया। पद्मपुराण के आधार पर कवि कालिदास ने 'रघुवंश' में यह कथा लिखी है। इस वंश के लोग तेजस्वी होते आये हैं, उनमें प्रभु का तेज छप जायगा—प्रकट न होगा, क्योंकि ब्रह्मा का वचन सत्य करने के लिये मनुष्यत्व ही दिखाना है। पुनः यह धर्मात्मा वंश है और हरि ने भी धर्म की रक्षा के लिये अवतार लिया है। 'लीन्ह'—स्वेच्छा से अवतीर्ण हुए। यथा—"इच्छामय नर-वेष सँवारे। होइहउँ प्रगट···" (दो० १५१)।

(२) 'पिता-बचन तजि राज···' पिता के वचन की रक्षा के लिये राज्य छोड़ा, उदासीन वेष धारण किये हुए, दंडक वन ऐसे दुःखमय वन में भी विचरते हैं अर्थात् आनन्द वृत्ति के साथ लीला कर रहे हैं। राज्य छोड़ने में त्याग -वीरता है। यथा—"पितु आयसु भूषन बसन, तात तजे रघुबीर। बिसमय हरष न हृदय कछु, पहिरे बलकल चीर॥" (अ० दो० १६५)। वेष - यथा—"तापस वेष बिसेषि उदासी।" (अ० दो० २८)। 'अविनासी' - 'लीन्ह अवतारा' से जन्म कहा गया और जिसका जन्म होता है, उसका मरण भी निश्चित रहता है। यथा—"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः" (गीता २।२७), पर भगवान् का जन्म-कर्म दिव्य एवं स्वेच्छा से होता है। अतः, अविनाशी हैं। पुनः खर-दूषणादि इनको न मार सके और न आगे कोई इनका विनाश कर सकेगा।

'दंडक वन'—इसकी कथा पूर्वोक्त दो० २३ चौ० ७ के विशेष में देखिये।

शंका—पिता ने वचन से नहीं कहा, कैकयी ने वचन-बद्ध होना कहा, जिससे श्रीरामजी वन को चले आये। तब यहाँ 'वचन' क्यों कहा गया ?

समाधान—पिताजी वचन-बद्ध होने में-श्रीरामजी की शपथ भी कर चुके थे, इसी से उसके विरुद्ध कुछ कह न सके। पिता के सामने ही कैकयीजी ने वे वचन कहे, राजा ने क्रूर वचन स्वयं न कह सकने के कारण उन्हीं (कैकयीजी) को ही कह दिया था—"अब तोहिं नीक लाग करु सोई।" (अ० दो० ३५)। 'अपना नीक लगना'—उन्होंने अपनी पसंद की बात पहले ही राजा से कह दी थी। यथा—"होत प्रात मुनि-वेष धरि, जौं न राम बन जाहिं। मोर मरन राउर अजस···"(अ० दो० ३३); फिर उसे आजन्म त्याग की प्रतिज्ञा भी कर ली। अतः, कैकयी द्वारा कहे हुए वचन राजा ही के हैं। यही चरितार्थ भी है। यथा—"हम पितु-बचन मानि बन आये।" (कि० दो० २); "पिता-बचन मैं नगर न आवउँ।" (लं० दो० १०५) इत्यादि। पिता के स्वयं स्पष्ट न कहने पर भी श्रीरामजी ने मान लिया और प्रतिज्ञाबद्ध पिता को कैकयी से उऋण किया और उन्हें सत्यव्रत सिद्ध किया। यह उत्कृष्ट पितृ-भक्ति है।

दोहा—हृदय बिचारत जात हर, केहि बिधि दरसन होइ।
गुपुत रूप अवतरेउ प्रभु, गये जान सब कोइ॥
सोरठा—संकर उर अति छोभ, सती न जानइ मरम सोइ।
तुलसी दरसन-लोभ, मन डर लोचन लालची॥४८॥

अर्थ—श्रीशिवजी हृदय में विचारते जाते हैं कि किस प्रकार से दर्शन हों, क्योंकि प्रभु (परम समर्थ) श्रीरामजी ने गुप्त रूप से अवतार लिया है और मेरे (समीप) जाने से सब कोई उन्हें जान जायँगे॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि शिवजी के हृदय में बड़ी खलबली है, दर्शनों को लालसा से नेत्र ललचा रहे हैं, पर मन डर (भी) रहा है। इस भेद को सतीजी नहीं जानतीं ॥४८॥

विशेष—'केहि बिधि दरसन होइ'—शिवजी श्रीरामजी के दर्शनों के लिये समयानुसार किसी विधि से आया करते हैं, जैसे बाल-रूप के दर्शनों के लिये आगामी बनकर आये, विवाह एवं राज्याभिषेक पर भी आये। वैसे ही यहाँ विधि (युक्ति) खोज रहे हैं कि निकट आकर भी इष्ट के दर्शन न करें तो मन नहीं मानता। यदि दर्शन करते हुए अनजान की भाँति प्रणाम आदि न करें तो इष्ट का अनादर होता है और जो प्रणामादि करें तो सब कोई जान जायँगे कि ये परब्रह्म हैं, तभी तो शिवजी भी प्रणाम आदि करके इनसे सेवक का बर्ताव करते हैं। इससे लीला में बाधा होगी और स्वामी को संकोच होगा। यह मेरे सेवक-धर्म के विरुद्ध होगा। यथा—"जो सेवक साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥" (अ० दो० २६७) इत्यादि ; पर कोई युक्ति न बनी।

'गुपुत रूप'—ब्रह्मा का वचन मनुष्य-रूप से रावण के मरने का है, उसकी रक्षा के लिये प्रभु ने रघु-वंश में अवतार लिया कि यहाँ रघु आदि बड़े-बड़े तेजस्वी हुए हैं, जिनके प्रताप के आगे रावण भी ठंढा पड़ गया था। इस कुल में प्रभु के बल, प्रताप, वीरता को देखकर कोई ईश्वर न कहेगा। इस छिपाव का कारण अगली चौपाई में कहेंगे। 'मन डर'—प्रभु के संकोच का डर है।

रावन-मरन मनुज-कर जाँचा। प्रभु बिधि-बचन कीन्ह चह साँचा ॥१॥
जौं नहिं जाउँ रहइ पछितावा। करत बिचार न बनत बनावा ॥२॥

अर्थ—(शिवजी सोच रहे हैं कि) रावण ने अपना मरण मनुष्य के हाथ से माँगा है। प्रभु ब्रह्माजी के वचनों को सत्य करना चाहते हैं॥ १॥ जो नहीं जायँ तो मन में पछतावा रहेगा। (इस प्रकार अनेक) विचार करते हैं, पर कुछ बनाये नहीं बनता॥२॥

विशेष—(१) 'रावन-मरन मनुज······' रावण ने घोर तप से ब्रह्मा को प्रसन्न किया और वर माँगा—"हम काहू के मरहिं न मारे। बानर मनुज जाति दुइ बारे॥" इसपर ब्रह्मा ने कहा—"एवमस्तु तुम बड़ तप कीन्हा।······" (दो० १७६)। फिर उसने इन्द्रादि देवताओं को बंदीगृह में डाल दिया, त्रिदेव भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते थे। फिर बेचारे मनुष्य क्या कर सकते? इसलिये प्रभु ने स्वयं मनुष्य-रूप से रावण का वध करना और ब्रह्मा का वचन सत्य करना निश्चित किया है। इसलिये प्राकृत मनुष्य की सी लीला कर रहे हैं। 'प्रभु'—वे परम समर्थ हैं, यथा—"भृकुटि-बिलास सृष्टि लय होई।" (आ० दो० २७); "प्रभु सक त्रिभुवन मारि जियाई।" (लं० दो० ११३)। ब्रह्मा को यह अधिकार प्रभु ने ही दिया है। यथा—"बिधिहिं बिधिता ·····जेहि दई। सोई जानकीपति ·····" (वि० १३५)। यदि ब्रह्मा का वचन (वर) सत्य न हो, तो फिर इनका तप कोई क्यों करेगा?

(२) 'जौं नहिं जाउँ रहइ ··'—'हृदय बिचारत जात हर ··' उपक्रम है और यहाँ 'करत बिचार न बनत' पर उपसंहार हुआ। 'न बनत बनावा'—एक भी युक्ति ठीक न बनी। इतने निकट आकर भी दर्शन न हुए, तो पछतावा रहेगा, वह किस काम का? यथा—"समय चुके पुनि का पछिताने।"(दो० २६०)।

येहि विधि भये सोच-बस ईसा। तेही समय जाइ दससीसा॥ ३॥
लीन्ह नीच मारीचहिं संगा। भयेउ तुरत सोइ कपट कुरंगा॥ ४॥
करि छल मूढ़ हरी बैदेही। प्रभु-प्रभाव तस बिदित न तेही॥ ५॥

अर्थ—इस प्रकार शिवजी सोच के वश हुए। उसी समय नीच रावण ने आकर नीच मारीच को साथ लिया। वह (मारीच) तुरंत ही कपट का मृग बन गया। ३-४॥ मूर्ख (रावण) ने छल करके श्री जानकीजी को हर लिया, (क्योंकि) प्रभु का जैसा प्रभाव है, वैसा उसे मालूम नहीं था॥ ५॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि···' यद्यपि ईस (ईश) समर्थ शिवजी हैं, तथापि ऐसे सोच में पड़ गये हैं जैसे कोई असमर्थ किसी के वश में अचानक पड़ जाय और छूटने का उपाय न सूझे। 'तेही समय'—इधर शिवजी उपाय के तर्क-वितर्क में पड़े हैं। 'बस'—बड़ी देर सोच में रहे। उधर नीच रावण अपने छल कार्य में लगा।

(२) 'लीन्ह नीच मारीचहिं···' 'नीच' विशेषण रावण और मारीच दोनों के लिये है, क्योंकि दोनों ने नीचता की है। यथा—"बान-प्रताप जान मारीचा। तासु कहा नहिं मानहि नीचा॥" (लं॰ दो॰ ३५)। यहाँ मंदोदरी ने रावण को नीच कहा है, क्योंकि चोरी से पर स्त्री हरण नीचता है। रामजी ने मारीच को बिना फर के बाण से सौ योजन सागर पार भेजकर प्राण बचाये। इसने बाण-प्रताप जान लिया, और उपकार भी, पर फिर भी रावण के वश (एवं ईर्ष्यावश कि इसका वंश समेत नाश हो—वाल्मीकि आ॰, सर्ग, ४१, श्लोक १७-१८) होकर इसने नीचता की कि तुरत कपट का मृग बन गया फिर (छल करके) प्रभु को दूर ले जाकर वचन से भी छल किया। यथा—"लछिमन कर प्रथमहि लै नामा। पाछे सुमिरेसि मन महँ रामा॥" (आ॰ दो॰ २६)। श्री राम का-सा स्वर मिलाकर ऐसा बोला कि श्री जानकीजी को धोखा हुआ, यह उसकी नीचता है। यथा—"सुकृत न सुकृती परिहरइ, कपट न कपटी <u>नीच</u> मरत सिखावन देइ चले, गीधराज <u>मारीच</u>॥" (दोहावली ३३१)।

'कपट कुरंगा'—यथा—"तब मारीच कपट मृग भयेऊ। ···अति बिचित्र कछु बरनि न जाई। कनक देह मनि रचित बनाई॥ ··· सीता परम रुचिर मृग देखा।" (आ॰ दो॰ २१)।

(३) 'करि छल मूढ़ हरी···' रावण ने मारीच को छलकारी मृग बनाया और स्वयं छल से यती (संन्यासी) का रूप धारण किया। यथा—"होहु कपट मृग तुम्ह छलकारी। जेहि बिधि हरि आनउँ नृप-नारी॥" (आ॰ दो॰ २१)। मारीच ने छल किया भी—"प्रगटत दुरत करत छल भूरी। येहि बिधि प्रभुहिं गयउ लै दूरी॥" (आ॰ दो॰ २६)।

'रावण का छल'—"सून बीच दसकंधर देखा। आवा निकट जती के बेषा॥" (आ॰ दो॰ २७)।

'प्रभु प्रभाव तस ··' 'तस' वैसा अर्थात् जैसा है, वैसा नहीं जानता था। ध्वनि से आता है कि कुछ जानता भी था। यथा—"जौं रघुबस लीन्ह अवतारा।" (आ॰ दो॰ २२); पर वह संदेह में पड़ गया। इसी से कपट-मृग से परीक्षा का भी अभिप्राय था। जो यथार्थ प्रभाव जानता तो अपनी वृत्ति के अनुसार भजन ही करता। यथा—"उमा राम-प्रभाव जिन्ह जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥" (सुं॰ दो॰ ३३)। फिर बराबरी भी नहीं करता। यथा—' जो पै प्रभु-प्रभाव कछु जाना। तौ कि बराबरि करत अयाना॥" (दो॰ २७६) इत्यादि। प्रभाव न जानने और छल करने आदि से 'मूढ़' भी कहा है।

मृग बधि बंधु सहित प्रभु आये। आश्रम देखि नयन जल छाये ॥ ६ ॥
बिरह-बिकल नर इव रघुराई। खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई ॥ ७ ॥
कबहूँ जोग-बियोग न जाके। देखा प्रगट बिरह-दुख ताके ॥ ८ ॥

अर्थ—हिरन को मारकर प्रभु (श्रीरामजी) भाई (लक्ष्मणजी) के साथ आश्रम पर आये। उसे (शून्य) देखकर उनके नेत्रों में आँसू भर आये ॥ ६ ॥ श्री रघुनाथजी मनुष्यों की तरह विरह से व्याकुल हैं और दोनों भाई वन में (माया-सीता को) ढूँढ़ते-फिरते हैं ॥ ७ ॥ जिनके (यथार्थ में) कभी संयोग-वियोग (के विकार रूप हर्ष-विषाद) नहीं हैं, उनको प्रकट में विरह का दुःख देखा गया ॥ ८ ॥

विशेष—(१) 'मृग बधि······ प्रभु···' पूर्व कहा गया था—"सत्यसंध प्रभु बध करि येही। आनहु चर्म कहति बैदेही ॥" (आ० दो० २६)। कार्य पूरा हुआ। अतः, 'प्रभु' कहा गया। यहाँ माधुर्य लीला है। इसलिये 'प्रभु' और 'नर इव' कहा जिससे इनमें पाठकों की प्राकृत बुद्धि न हो जाय। ऐश्वर्य दिखाया कि ये विरह आदि नर-नाट्य हैं। कहा ही है—"जस काछिय तस चाहिय नाचा।" (अ० दो० १२६)। श्री रामजी सोचते हैं कि यदि दुःख प्रकट न करें तो सीताजी के हरण से हमको कलंक लगेगा! सीताजी कहाँ किस अवस्था में दुःख भोग रही हैं—इससे तथा प्रिय-वियोग आदि कारणों से भी उनकी आँखों में आँसू भर आये।

(२) 'बिरह बिकल···'—विरह की विकलता में केवल 'रघुराई' (श्रीरामजी) हैं और खोजने में दोनों भाई कहे गये हैं। चौपाई का पूर्वार्द्ध पृथक् और उत्तरार्द्ध पृथक् है।

(३) 'देखा प्रकट···'—दुःख प्रकट में (दिखाव में) ही है। यथा—"बाहिज चिंता कीन्हि बिसेषी।" (आ० दो० २१)। वास्तव में दुःख नहीं है।

दोहा—अति बिचित्र रघुपति-चरित, जानहिं परम सुजान।
जे मतिमंद बिमोह-बस, हृदय धरहिं कछु आन ॥ ४६ ॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी का चरित्र बड़ा ही विचित्र है, इसे परम सुजान ही जानते हैं। जो मन्दबुद्धि विशेष मोह के वश हैं, वे हृदय में कुछ और ही मान लेते हैं ॥ ४६ ॥

विशेष—(१) 'अति बिचित्र···' इस चरित में प्रज्ञा-विचाररूपिणी सती को ही भ्रम हो गया, तब 'अति बिचित्र' अवश्य है और इसके ज्ञाता भक्तों में अग्रगण्य शिवजी के समान भगवान् के कृपापात्र ही 'परम सुजान' हैं। यथा—"जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥ तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा। और तुम्हहिं को जाननिहारा॥ सोइ जानइ जेहि···तुम्हरि हि कृपा तुम्हहिं ·····' चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥ नरतनु धरेहु "राम देखि मुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥" (अ० दो० १२६) तथा "उमा रामगुनगूढ़, पंडित मुनि पावहिं बिरति। पावहिं मोह बिमूढ़, जे हरि-बिमुख न धर्मरति॥" (आ० मं०) अर्थात् दैवी बुद्धिवाले एवं भक्त-जन ही परम सुजान हैं और हरि-विमुख आसुरी बुद्धिवाले मतिमंद आदि हैं। परम सुजान ही (जानने के) अधिकारी हैं, जो 'चिदानंदमय देह ' रूप से प्रभु को जानते हैं।

लीला एक है—उसके समझनेवाले दो तरह के हो गये। जैसे पवन एक ही है, पर उसके स्पर्श से जल में शीतलता और अग्नि में उष्णता होती है; वैसे इस चरित से पंडित मुनि वैराग्य ग्रहण करते हैं,

कि स्त्री की आसक्ति दुःखद है, तब तो श्रीरामजी भी रो रहे हैं। अतः, हमें इसका त्याग करने को उपदेश दे रहे हैं, पर मूढ़ लोगों की बुद्धि में आता है कि स्त्री की आसक्ति बहुत उत्तम है, तभी तो श्रीरामजी इसके लिये रो रहे हैं। यथा —"कामिन्ह कै दीनता दिखाई। धीरन्ह के मन बिरति दृढ़ाई ॥" (आ० दो० ३८)।

(२) 'अति बिचित्र'—पर अनेकों भाव हैं—जैसे (क)—जहाँ अनेक रंग मिले होते हैं, वहाँ विचित्र रंग कहा जाता है। वैसे यहाँ अनेक रसों के मिले हुए चरित हैं, यही विचित्रता है। तपस्वी-वेष—शांत रस—श्वेत रंग, धनुर्बाण धारण—वीररस—पीत, मारीच वध—रौद्र रस—काला, प्रिया-वियोग वियोग शृंगार रस – श्याम इत्यादि अति विचित्र हैं। (ख) अंतर्यामी का चरित्र चित्र, विराट् का विचित्र और रघुपति का अति विचित्र है। इन्हें जाननेवाले क्रमशः जान, सुजान और परम सुजान हैं और न जाननेवाले भी क्रमशः मंद, अतिमंद और 'मतिमंद बिमोहबस' हैं।

संभु समय तेहि रामहिं देखा। उपजा हिय अति हरष बिसेषा ॥१॥
भरि लोचन छबि-सिंधु निहारी। कुसमय जानि न कीन्हि चिन्हारी ॥२॥

अर्थ—शिवजी ने उसी समय श्रीरामजी को देखा तो उनके हृदय में बहुत बड़ा आनन्द हुआ ॥१॥ छवि के समुद्र श्रीरामजी को देखा, परन्तु अनवसर जानकर जान-पहचान न की ॥२॥

विशेष—(१) 'संभु समय तेहि…'—विशेष हर्ष का कारण इष्ट-दर्शन है और नर-नाट्य की पूर्णता भी शोकादि के स्वाँग में देखी। इससे हर्ष हुआ कि कैसा स्वाँग रचा है!

(२) 'भरि लोचन…' नेत्र रूप घड़ों को छवि-समुद्र में भर लिया अर्थात् रामजी के अंग-अंग में अपार छवि है, अल्पांश छवि में ही वे घड़े पूर्ण हो गये। पूर्व के लालची नेत्र तृप्त हो गये। कहा गया था—"तुलसी दरसन लोभ, मन डर लोचन लालची।" 'कुसमय'—ब्रह्मा का वचन रखना है, रावण-वध के पीछे सुसमय होगा। यथा—"देखि सुअवसर प्रभु पहिं, आये संभु सुजान।" (लं० दो० ११४)।

जय सच्चिदानंद जगपावन। अस कहि चलेउ मनोजनसावन ॥३॥
चले जात सिव सती - समेता। पुनि-पुनि पुलकत कृपानिकेता ॥४॥
सती सो दसा संभु कै देखी। उर उपजा संदेह बिसेखी ॥५॥

अर्थ—'जय सच्चिदानन्द जगपावन' ऐसा कहकर काम के नाश करनेवाले शिवजी चल दिये ॥३॥ कृपा के स्थान शिवजी सतीजी के साथ चले जाते हैं और बारंबार पुलकायमान हो रहे हैं ॥४॥ शिवजी की उस प्रेम की दशा को देखकर सती के हृदय में विशेष संदेह उत्पन्न हुआ ॥५॥

विशेष—(१) 'जय सच्चिदानन्द…'—हे सत्-चित्-आनन्दस्वरूप भगवान् रामजी! आपको जय हो—(सच्चिदानन्द का अर्थ दो० १२ चौ० ३ में देखिये)। 'जग पावन' क्योंकि इस लीला को गाकर जगत् पवित्र होगा। यथा—"पूछेउ रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जगपावनि गंगा॥" (दो० १११)। पूर्व—'बिरह बिकल नर इव रघुराई।' कहा गया था, उसका निराकरण यहाँ हुआ कि वे सच्चिदानन्द ब्रह्म हैं, नर नहीं। 'मनोजनसावन' यद्यपि शिवजी काम का नाश आगे करेंगे, तथापि कवि भविष्य की बात पूर्व भी कहते हैं, उसे भाविक अलंकार कहा जाता है। जैसे—"रावनरिपुजन सुखदाई।" (दो० २११);

यह अहल्या ने कहा—यद्यपि रावन की रिपुता आगे सिद्ध होगी। पुन: देवताओं के स्वरूप अनादि हैं और उनके गुण भी उनमें नित्य हैं। यथा—"मुनि-अनुसासन गनपतिहिं, पूजे संभु भवानि। कोउ सुनि संसय करइ जनि, सुर अनादि जिय जानि॥" (दो० १००) । शिवजी में कामजित् गुण भी नित्य है। यथा--"तुम्हरे जान काम अब जारा। ·" "अभोगी॥" (दो० ८१) । तात्पर्य यह कि यदि श्रीरामजी यथार्थ कामी होते तो उनमें कामारि शिवजी की सच्ची निष्ठा कैसे रहती? अत:, यह स्वांग-मात्र है।

(२) 'संदेह निसेपी'—सतीजी को संदेह तो विरहाकुल नर को 'सच्चिदानंद···' कहने ही पर हुआ था। शिवजी के प्रेम की दशा देखकर विशेष सन्देह हो गया। वही आगे कहते हैं—

संकर जगत-बंद्य जगदीसा। सुरनर मुनि सब नावत सीसा॥६॥
तिन्ह नृप-सुतहिं कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानंद परधामा॥७॥
भये मगन छवि तासु बिलोकी। अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी॥८॥

अर्थ—शिवजी जगद्वन्दनीय और जगदीश्वर हैं, सुर-नर-मुनि सभी उनको सिर झुकाते हैं॥६॥ उन्होंने एक राज-पुत्र को 'सच्चिदानंद परधाम' कहकर प्रणाम किया॥७॥ और उनकी छवि को देखकर (ऐसे) निमग्न हो गये हैं कि अभी भी हृदय में प्रीति नहीं समाती॥८॥

विशेष—'तासु'—सतीजी श्रीरामजी को सामान्य राजपुत्र ही मान रही हैं, इसीसे 'तासु' हलका पद देती हैं। 'रहति न रोकी'—शिवजी उस प्रेम की दशा को छिपाना चाहते हैं, पर प्रेमाश्रु एवं पुलकावली आदि दशाएँ उसे प्रत्यक्ष किये देती हैं। कहा भी है—"बैर प्रेम नहिं दुरइ दुराये।" (अ० दो० २६२)।

दोहा—ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत बेद॥५०॥

शब्दार्थ—बिरज=रजोगुण-रहित, निर्मल। अकल=कला-रहित, पूर्ण, जो घटता-बढ़ता नहीं। अनीह—वासना या चेष्टा से रहित। अभेद=शत्रु-मित्र उदासीन, भेद-रहित, समदृष्टि।

अर्थ—जो ब्रह्म व्यापक, निर्मल, अजन्मा, कला-रहित, चेष्टारहित और भेद-रहित है, जिसको वेद भी (यथार्थ) नहीं जानते, वह देह धरकर मनुष्य कैसे हो सकता है?

विशेष—सतीजी विचारती हैं कि यदि शिवजी के सच्चिदानंद-परधाम कहने पर रामजी को ब्रह्म माना जाय तो बहुत तर्कणाएँ होती हैं। ब्रह्म सर्वव्यापक है और ये एक तनुधारी हैं। वह बिरज और ये मन के मलिन (कामी) हैं एवं इनका जन्म हुआ, ये बाल युवादि रूप में बढ़े भी, इनमें चेष्टाएँ भी होती हैं, ये शत्रु-नाशन में तत्पर हैं। अत:, उपर्युक्त ब्रह्म के लक्षणों के विरुद्ध हैं।

बिष्णु जो सुरहित नरतनुधारी। सोउ सरबग्य जथा त्रिपुरारी॥१॥
खोजइ सो कि अग्य इव नारी। ग्यानधाम श्रीपति असुरारी॥२॥
संभु-गिरा पुनि मृषा न होई। सिव सरबग्य जान सब कोई॥३॥

अर्थ—विष्णु भगवान् जो देवताओं के लिये मनुष्य-शरीर धारण करते हैं, वे भी शिवजी की तरह सर्वज्ञ हैं ॥१॥ जो ज्ञान के धाम, लक्ष्मी के पति और असुरों के शत्रु हैं, वे क्या अज्ञानियों की तरह स्त्री को खोजते फिरेंगे? अर्थात् कभी नहीं ॥२॥ फिर शिवजी के वचन भी तो झूठे नहीं हो सकते, क्योंकि वे सर्वज्ञ हैं, यह सब कोई जानते हैं ॥३॥

विशेष—यहाँ तीन प्रकार के संदेह आरोपित हुए—(क) निर्गुण ब्रह्म नर-शरीर नहीं धारण कर सकता। (ख) सगुण विष्णु भगवान् हैं, वे अवतार लेते हैं, पर वे सर्वज्ञ हैं तब सीता की सुधि क्यों नहीं जानेंगे? 'ज्ञान धाम' हैं, अज्ञानियों की तरह रोते क्यों हैं? 'श्रीपति'—जिनका श्री से वियोग नहीं हो सकता, फिर वे तो 'असुरारी' हैं—असुर स्वयं डरते रहते हैं, वे उनकी स्त्री को कैसे हरेंगे? (ग) शिवजी भूलते हों, यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि सर्वज्ञ हैं, इत्यादि संशय ही हैं।

अस संसय मन भयेउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा ॥४॥
जद्यपि प्रकट न कहेउ भवानी। हर अंतरजामी सब जानी ॥५॥
सुनहि सती तव नारि-सुभाऊ। संसय अस न धरिय उर काऊ ॥६॥
जासु कथा कुंभज रिषि गाई। भगति जासु मैं मुनिहि सुनाई ॥७॥
सोइ मम इष्ट-देव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनि धीरा ॥८॥

अर्थ—इस प्रकार से मन में अपार संदेह हुआ। हृदय में पूर्ण बोध का प्रचार (प्रकाश) नहीं होता ॥४॥ यद्यपि सतीजी ने प्रकट नहीं कहा, तथापि हृदय के जाननेवाले शिवजी सब जान गये ॥५॥ (और कहा) हे सती! तुम्हारा स्त्री-स्वभाव है, तुम्हें मन में ऐसा संदेह कभी नहीं करना चाहिये ॥६॥ जिनकी कथा अगस्त्यजी ने कही है और जिनकी भक्ति मैंने मुनि को सुनाई है ॥७॥ वे ही ये हमारे इष्टदेव श्रीरघुवीर हैं, जिनकी सेवा धीर मुनि लोग सदा करते रहते हैं ॥८॥

विशेष—'नारि सुभाऊ'—स्त्रियों के स्वाभाविक आठ अवगुण रावण ने कहे हैं। यथा—"अहो मोह महिमा बलवाना॥ नारि-सुभाव सत्य कवि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥ साहस अनृत चपलता माया। भय अविवेक असौच अदाया॥" (लं० दो० १५)। इनमें यहाँ साहस, अविवेक और चपलता का ग्रहण है।

'मम इष्टदेव'—मेरा कहना यथार्थ है। ये ही इष्टदेव हैं। अतः, तुम्हें भी ऐसा ही मानना चाहिये। आगे—'सेवत जाहि' से—'रघुकुलमनी' तक में प्रमाण देते हैं।

छंद—मुनिधीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं॥
सोइ राम व्यापक ब्रह्म भुवननिकायपति मायाधनी।
अवतरेउ अपने भगत-हित निज तंत्र नित रघुकुलमनी॥

अर्थ—धीर मुनि और सिद्ध योगी विमल मन से जिनका ध्यान निरंतर करते हैं। वेद, पुराण और शास्त्र जिनकी कीर्त्ति 'नेति-नेति' कहकर गाते हैं; उन्हीं व्यापक ब्रह्म, समस्त ब्रह्मांडों के स्वामी, माया के स्वामी, स्वतंत्र, नित्य श्रीरामजी ने अपने भक्तों के लिये रघुकुलमणि रूप में अवतार ग्रहण किया है।

विशेष—धीर मुनि, सिद्ध योगी निर्मल मन से जिसका ध्यान करते हैं, वेद आदि जिसे ही नेति कहते हैं; इन सबका निश्चय अन्यथा नहीं हो सकता। 'नेति'—दो० १२ देखिये। 'अपने भगत हित' यथा—"सो केवल भगतन हित लागी।···" (दो० १२) भी देखिये। इससे अनन्य भक्त मनुशतरूपा का भी लक्ष्य है, क्योंकि यह प्रसंग उसी कल्प का है। 'निज तंत्र'=स्वतंत्र, यह 'अवतरेउ' और 'रघुकुल मनी' दोनों के साथ है। यथा—"निज इच्छा प्रभु अवतरइ" (कि० दो० २६); "परम स्वतंत्र न सिर पर कोई।" (दो० १३६)।

सोरठा—लाग न उर उपदेस, जदपि कहेउ सिव बार बहु।
बोले बिहँसि महेस, हरि-माया-बल जानि जिय ॥५१॥

अर्थ—यद्यपि शिवजी ने बहुत बार कहा, तो भी सतीजी के हृदय में उपदेश नहीं लगी, तब महादेवजी अपने हृदय में भगवान् की माया का बल जान मुसकुराकर बोले।

विशेष—'बोले बिहँसि'—हँसे इसलिये कि सतीजी मुझे देवता मानती हैं। अतः इष्ट का उपदेश—फिर भी वह बहुत बार हुआ, पर उससे बोध नहीं होता, तो अवश्य भारी कारण है और वह हरिमाया ही है। 'हरि-माया-बल'—"सुनु खग प्रबल राम कै माया।"···से—"सिव बिरंचि कहँ मोहै, को है बपुरा आन॥" (उ० दो० ५८–६१) तक।

जौ तुम्हरे मन अति संदेहू। तौ किन जाइ परीछा लेहू ॥१॥
तब लगि बैठ अहउँ बट-छाहीं। जब लगि तुम्ह अइहहु मोहि पाहीं ॥२॥
जैसे जाइ मोह भ्रम भारी। करेहु सो जतन बिबेक बिचारी ॥३॥
चलीं सती सिव-आयसु पाई। करहिं बिचार करउँ का भाई ॥४॥

अर्थ—जो तुम्हारे मन में अत्यन्त संदेह ही है तो जाकर परीक्षा क्यों नहीं ले लेतीं? ॥१॥ जबतक तुम मेरे पास (लौटकर) आओगी, तबतक मैं वट-वृक्ष की छाया में बैठा रहूँगा ॥२॥ जिस तरह तुम्हारा भारी मोह भ्रम दूर हो, वही उपाय विवेक-पूर्वक विचार कर करना ॥३॥ शिवजी की आज्ञा पाकर सतीजी चलीं और हृदय में विचारती हैं कि हे भाई, मैं क्या करूँ? ॥४॥

विशेष—(१) 'अति संदेहू', फिर इसे ही 'मोह भ्रम भारी' भी कहा है, क्योंकि मेरे (शिवजी के) उपदेश से भी न मिटा (दूसरे शरीर तक लगा रहेगा)।

शंका—शिवजी सती को परीक्षार्थ भेज रहे हैं, जिससे उसे दुःख होगा, यह क्यों?

समाधान—जाने बिना प्रतीति न होगी और न प्रीति हो, इसका उपाय अब परीक्षा ही शेष है। उसमें भी शिवजी सावधान करके भेज रहे हैं कि विवेक से काम लेना, सहसा अनुचित न कर बैठना। भावीवश अनुचित ही हो गया; शिवजी का दोष नहीं है।

'बट छाहीं'—वट-वृक्ष शिवजी को प्रिय है। यथा—"प्राकृतहुँ बट-बूट बसत पुरारि हैं।" (क० उ० १४०) तथा—"तेहि गिरि पर बट बिटप बिसाला।···सिव बिश्रामबिटप श्रुति गाया॥" (दो० १०५); एवं पास में यही वृक्ष रहा होगा।

पुनः दोपहर दिन के समय धूप कड़ी होने से भी इसकी छाया की आवश्यकता रहती है, क्योंकि यह जाड़े में गर्म और गर्मी में ठंढा रहता है। यथा—"कूपोदकं वटच्छाया श्यामाक्षी चेष्टकागृहम्। शीतकाले भवेदुष्णमुष्णकाले च शीतलम्॥" (हितोपदेश)।

'करषँ का भाई'—'भाई' हृदय के प्रति संबोधन है, ऐसा मुहावरा है। यथा—"होइहि जाव गहरु मोहिं भाई।" (दो० १३१)।

> इहाँ संभु अस मन अनुमाना। दच्छसुता कहँ नहिं कल्याना॥५॥
> मोरेहु कहे न संसय जाहीं। बिधि बिपरीत भलाई नाहीं॥६॥
> होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तरक बढ़ावइ साखा॥७॥
> अस कहि जपन लगे हरिनामा। गईं सती जहँ प्रभु सुखधामा॥८॥

अर्थ—यहाँ शिवजी ने मन में अनुमान किया कि दक्ष की पुत्री (सती) का कल्याण नहीं है॥५॥ मेरे कहने से भी संदेह दूर नहीं होते; (इससे जान पड़ता है कि) विधाता वक्र हैं। अतः, भलाई न होगी॥६॥ होगा वही, जो श्रीरामजी ने रच रक्खा होगा, तो तर्क करके शाखा कौन बढ़ावे?॥७॥ ऐसा (हृदय में) कहकर वे भगवान् का नाम जपने लगे और सतीजी वहाँ गईं, जहाँ सुख के धाम प्रभु श्रीरामजी हैं॥८॥

विशेष—(१) 'इहाँ संभु ···' शंभु कल्याणकर्त्ता हैं, इसी से सती के कल्याण पर दृष्टि है। 'दच्छ-सुता'—हठी दक्ष की कन्या हैं। अतः, कल्याणकर्त्ता पति से भी हठ ही किया, उपदेश नहीं माना। अतः, दक्ष की-सी दशा भी होगी।

(२) 'को करि तरक बढ़ावइ···' तर्क की शाखा बढ़ाना यह कि ऐसा होगा, फिर ऐसा, तब ऐसा भी हो सकता है, इत्यादि।

'जो राम रचि राखा'—जीव का भविष्य उसके कर्मानुसार भगवान् के हृदय में प्रथम ही आ जाता है, तदनुसार युक्त-निमित्त-द्वारा होता है। जैसे, गीता में युद्ध का भविष्य प्रथम ही अर्जुन को भगवान् ने अपने में दिखा दिया। यथा—"मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।" (गी० ११।३३)। भक्त लोगों को जब कोई असमंजस आ पड़ता है, तब वे अपना तर्क छोड़कर हरि-इच्छा को ही मुख्य मानते हैं। यथा—"भरद्वाज कौतुक सुनहु, हरि इच्छा बलवान॥ राम कीन्ह चाहहिं सोइ होइ। करइ अन्यथा अस नहिं कोई॥" (दो० १२७) तथा—"राम-रजाइ सीस सबही के।" (अ० दो० २५३) इत्यादि। फिर तर्क छोड़कर अपने भजन नियम में लग जाते हैं। वैसे यहाँ भी आगे कहते हैं।

(३) 'अस कहि जपन लगे···' क्योंकि भजन ही माया से बचने का उपाय है। यथा—"हरि-माया कृत दोष गुन, बिनु हरि-भजन न जाहिं।" (उ० दो० १०४)। 'हरि' शब्द यहाँ क्लेशहरण के लक्ष्य पर है।

'प्रभु सुखधामा'—सतीजी उन्हें असमर्थ एवं दुःखपूर्ण समझकर जा रही हैं, पर वहाँ वे 'प्रभु' और 'सुखधाम' हैं, ऊपर का दृश्य दिखावा-मात्र है।

दोहा—पुनि पुनि हृदय बिचार करि, धरि सीता कर रूप।
आगे होइ चलि पंथ तेहि, जेहि आवत नरभूप ॥५२॥

अर्थ—(सतीजी) बार-बार हृदय में विचार कर श्रीसीताजी का रूप धारण करके उस मार्ग की ओर आगे बढ़ चलीं, जिधर राजा रामजी आ रहे थे।

विशेष—'पुनि पुनि ···' परीक्षा के विषय में बहुत सोचने पर यही हृदय में आया कि श्रीरामजी इस समय श्रीसीताजी के विरह में व्याकुल हैं। अतः, सीताजी का रूप धरने पर सहसा हर्षित होकर मिलने दौड़ेंगे। यह न जान पावेंगे कि ये 'सती' हैं, क्योंकि 'नरभूप' तो हैं ही और यदि ईश्वर होंगे तो जान जायँगे।

'नरभूप'—यथा—"तिन्ह नृपसुतहिं कीन्ह परनामा।" (दो० ७१) अर्थात् सती समझती हैं कि रामजी प्राकृत नर हैं।

लछिमन दीख उमा कृत बेषा। चकित भये भ्रम हृदय बिसेषा ॥१॥
कहि न सकत कछु अति गंभीरा। प्रभु-प्रभाव जानत मतिधीरा ॥२॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी ने सतीजी का कृत्रिम वेष देखा तो चकित हुए और हृदय में विशेष भ्रम हुआ ॥१॥ कुछ कह नहीं सकते, क्योंकि अत्यन्त गंभीर और मति के धीर हैं, तथा प्रभु के प्रभाव को जानते हैं ॥२॥

विशेष—(१)'लछिमन दीख···' श्रीलक्ष्मणजी ने सती के कपट को नहीं जाना, क्योंकि जीव ध्यानावस्था ही में सर्वज्ञ हो सकता है। यथा—'तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सब जाना ॥" (दो० ५५)। स्वतः सर्वज्ञ तो श्रीरामजी ही हैं, यथा—"ज्ञान अखंड एक सीताबर।" (ब० दो० ७७)। इसीसे लक्ष्मणजी चकित हुए कि रूप के अनुसार यदि श्रीसीताजी ही हैं तो ये निर्भय अकेली वनमार्ग में क्यों फिरेंगी? वे तो श्रीरामजी के सकुशल दर्शनों के लिये व्याकुल थीं, यहाँ क्योंकर आ गईं? 'भ्रम'-यह कि रूप तो ठीक-ठीक सीता ही का है। जैसे असत् में सत् का भ्रम होता है। वैसे इन्हें कृत्रिम रूप में सीता का भ्रम हुआ। श्रीरामजी ईश्वर, सर्वदर्शी एवं सर्वांतर्यामी हैं। अतः, वे जानेंगे। श्रीलक्ष्मणजी ने ही सती को प्रथम देखा, क्योंकि खोजने में सावधान हैं। चित्रकूट में श्रीभरतजी को भी प्रथम इन्हीं ने देखा है।

(२) 'कहि न सकत कछु ···' कुछ न कहने के कारण—(क) अति गंभीर हैं। अतः, उतावली न की। (ख) मति के धीर हैं, अतः विचार रहे हैं—सहसा कुछ-का-कुछ नहीं कह बैठते। (ग) प्रभु का प्रभाव जानते हैं—"लछिमन बिहँसि कहा सुनु माता॥ भृकुटि-बिलास सृष्टि लय होई। सपनेहुँ संकट परइ कि सोई॥" (आ० दो० १७), "सपने होइ भिखारि नृप," से—"सिय-रघुबीर-चरन-रति होहू॥" (अ० दो० ९२-९३) तक अर्थात् प्रभु सर्वज्ञ हैं, वे स्वयं निर्णय करेंगे।

सती-कपट जानेउ सुरस्वामी। सबदरसी सब-अंतरजामी ॥३॥

सुमिरत जाहि मिटइ अज्ञाना। सोइ सरबज्ञ राम भगवाना ॥४॥
सती कीन्ह चह तहहुँ दुराऊ। देखहु नारि-सुभाव-प्रभाऊ ॥५॥

अर्थ—देवताओं के स्वामी श्रीरामजी ने सती का कपट जान लिया, क्योंकि वे सर्वदर्शी और सब के अंतःकरण की बात जाननेवाले हैं ॥३॥ जिनके स्मरण मात्र से अज्ञान मिट जाता है, वे ही सर्वज्ञ भगवान् श्रीरामजी हैं ॥४॥ (*श्री याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि हे भरद्वाजजी !*) स्त्री के स्वभाव की महिमा तो देखो, सतीजी वहाँ भी दुराव (छिपाव=कपट) करना चाहती हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'सती-कपट'''—ये शिवजी की शक्ति हैं और—"भव-भव-विभव-पराभव-कारिनि।" (दो० २३४) कही गई हैं। इनका कपट मनुष्य क्या, देवता भी नहीं जान सकते। महादेवजी भी ध्यान धरकर ही जानेंगे। उस कपट को श्रीरामजी ने देखते ही जान लिया। अतः, वे 'सुरस्वामी' कहे गये। प्रथम सतीजी की दृष्टि के अनुसार 'नरभूप' कहे गये थे। देवता मन की जान लेते हैं और ये तो उनके भी स्वामी हैं, क्यों नहीं जानेंगे ?

(२) यहाँ 'जानेउँ' क्रिया के लिये ये तीन विशेष्य पद दिये गये—सर्वदर्शी, सर्वान्तर्यामी और सर्वज्ञ। अतः, 'परिकरांकुर अलंकार' है। 'सबदरसी' अर्थात् आपके सूर्य और चंद्रमा नेत्र हैं, यथा—"शशिसूर्यनेत्रम्" (गीता ११।१९)। अतः, दिन-रात में इनसे सूझता है। 'सबअंतरजामी' अर्थात् सब के भीतर की भी सब बातें जानते हैं। 'सरबज्ञ' अर्थात् तीनों कालों की भी सब बातें जानते हैं। 'भगवाना'—षडैश्वर्य पूर्ण हैं। यथा—"उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव जीवानां गतिमागतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यांच स वाच्यो भगवानिति।"

(३) स्त्री कितनी भी उच्च कोटि की क्यों न हो पर उसका स्वभाव नहीं छूटता। देखिये, एक तो पतिव्रता-शिरोमणि, फिर शिवजी की पत्नी, तब भी इस तरह का अज्ञान उनमें देखने में आया तो प्राकृत स्त्रियों के लिये क्या कहना है ?

निज माया-बल हृदय बखानी। बोले बिहँसि राम मृदु बानी ॥६॥
जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू। पिता-समेत लीन्ह निज नामू ॥७॥
कहेउ बहोरि कहाँ बृषकेतू। बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू ॥८॥

अर्थ—हृदय में अपनी माया के बल की प्रशंसा करके श्रीरामजी मुसकुराकर कोमल वाणी में बोले ॥६॥ प्रभु ने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और पिता के साथ अपना नाम लिया ॥७॥ फिर कहा कि 'वृषकेतु' (शिवजी) कहाँ हैं ? आप अकेली वन में किस लिये फिर रही हैं ? ॥८॥

विशेष—(१) 'निज माया-बल'' माया का काम है प्रभु को तमाशा दिखाना। उसने इतनी प्रभावशालिनी सती को भी मोहित कर लिया, इस कौतुक पर प्रभु हँसे।

(२) 'पिता समेत''' प्राचीन काल में प्रणाम करने की ऐसी ही रीति पाई जाती है। यथा—"पितु समेत कहि निज निज नामा। लगे करन सब दंड प्रनामा॥" (दो० २६८)।

'वीरभद्र-चम्पू' में भी ऐसा ही कहा गया है—"किं यक्ष्या दनुजा नागा वानरा किन्नरा नराः। धरस लक्ष्मण पश्यैतां मायां मायाविमोहिताम्॥ नमस्ते दक्षतनये नमस्ते शम्भुभामिनि। किमर्थं धूर्जटिं देवं त्यक्त्वा भ्रमसि कानने॥"

दोहा—राम-वचन मृदु गूढ़ सुनि, उपजा अति संकोच ।
सती सभीत महेस पहिं, चलीं हृदय बड़ सोच ॥५३॥

अर्थ—श्री रामजी के कोमल और गूढ़ वचन सुनकर (सतीजी के) हृदय में बड़ा संकोच उत्पन्न हुआ, इससे डरी हुई सतीजी शिवजी के पास चलीं । उनके हृदय में बड़ा शोच है ।

विशेष—'मृदु'—श्री रामजी ने तीन बातें कही हैं—(क) मैं दाशरथी राम हूँ और आपको प्रणाम करता हूँ । (ख) वृषकेतु कहाँ हैं ? (ग) आप वन में अकेली क्यों फिर रही हैं ? कोमल तो सभी कथन हैं, पर हाथ जोड़कर कहे गये हैं, इससे और अधिक मृदुता आ गई है ।

'गूढ़'—(क) अपने स्वरूप का परिचय दिया कि कथा में अगस्त्यजी ने मनु-शतरूपा का दशरथ-कौसल्या होना कहा है, हम उन्हीं के पुत्र वही राम हैं ।

(ख) 'वृषकेतु' अर्थात् जिनकी ध्वजा पर वृष है । वृष=बैल, धर्म । यह शिवजी का नाम कहकर अपना जानना जनाया । पुनः आप पातिव्रत्य धर्म की ध्वजा लिये फिरती थीं, वह अब कहाँ गई ? अब पराई स्त्री बनने चली हैं !

(ग) 'बिपिन अकेलि···' शिवजी की अर्द्धांगिनी होकर अकेले फिरने में स्वतंत्रता है, यह आपको अयोग्य है । यथा—' जिमि स्वतंत्र भये बिगरहिं नारी ।' (कि० दो० १४) । पुनः हम तो श्री जानकीजी को खोजने में फिर रहे हैं, आप किस लिये फिर रही हैं ?

'अति संकोच'—संकोच तो रामजी के प्रणाम ही करने पर हुआ था, वचनों से और भी हो गया ।

'सभीत'—क्योंकि शिवजी ने विवेक से यत्न करना कहा था, पर मैंने अनुचित किया । अतः, अवज्ञा हुई, वे कोप करेंगे ।

'सोच'—अब शिवजी को क्या उत्तर दूँगी ? इन संकोचादि के कारण आगे कहते हैं—

मैं संकर कर कहा न माना । निज अज्ञान राम पर आना ॥ १ ॥
जाइ उतर अब देइहउँ काहा । उर उपजा अति दारुन दाहा ॥२॥
जाना राम सती दुख पावा । निज प्रभाव कछु प्रगटि जनावा ॥३॥

अर्थ—मैंने शंकरजी का कहा न माना और अपना अज्ञान श्रीरामजी पर आरोपित किया ॥१॥ अब जाकर (शिवजी को) क्या उत्तर दूँगी ? (यह विचार करने पर) हृदय में बड़ी कठिन जलन उत्पन्न हुई ॥२॥ श्रीरामजी ने जाना कि सतीजी को दुःख हुआ । (शिवजी के वचन—'रामजी सच्चिदानन्द परधाम ब्रह्म हैं'—को प्रमाणित करने के लिये) अपना कुछ प्रभाव प्रकट करके दिखाया ॥३॥

विशेष—(१) 'मैं संकर कर ···'—वे वचन मेरे कल्याण-कर थे (शं=कल्याण) ।

(२) 'जाना राम ···' राम हैं, सब में रमे हैं, इससे जान गये । 'दुख पावा'—सती के दुःख पर दया उमड़ पड़ी और विचारा कि मेरे सामने आने पर तो इनका भ्रम मिट ही जाना चाहिये, इससे पति-वचन में भी विश्वास हो जायगा । मेरा प्रभाव मेरी ही कृपा से जाना जाता है । यथा—"तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनंदन । जानहिं भगत-भगत उर चंदन ॥" (अ० दो० १२६) और बिना प्रभाव जाने प्रतीति-

प्रीति नहीं होती। यथा—"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥" (उ० दो० ८८)। अतः, अपना प्रभाव कुछ प्रकट करके बता दूँ तो संदेह दूर हो जाय।

सती के हृदय में कई संदेह थे। वे सब इस दृश्य में निवृत्त हो जायेंगे। वचनों द्वारा 'गूढ़' रूप में कहा गया, अब दृश्य-द्वारा प्रकट कर देंगे। जैसे भगवान् ने अर्जुन को गीता के १० वें अध्याय में पहले वचनों से (विभूति-योग) कहा, फिर दया से ११ वें में (विश्वरूप) दिखाया।

'प्रभाव कछु'—उतना ही प्रभाव दिखाना है जितना सती को अपेक्षित है। यों तो वह अमित है।

गूढ़ वचनों से सतीजी श्रीरामजी को सर्वदर्शी; सर्वांतर्यामी और सर्वज्ञ तथा भगवान् जान भी गई हैं, वे भाव भी दृश्य में पुष्ट होंगे। पहले के संदेह निर्गुण ब्रह्म का अवतार नहीं लेना एवं सगुण (विष्णु) सम्बन्ध की बातें तथा सीताहरण और रामविरह आदि थे, वे इसमें निवृत्त होंगे।

सती दीख कौतुक मग जाता। आगे राम सहित श्री भ्राता॥४॥
फिरि चितवा पाछे प्रभु देखा। सहित बन्धु सिय सुन्दर बेखा॥५॥
जहँ चितवहिं तहँ प्रभु आसीना। सेवहिं सिद्ध मुनीस प्रवीना॥६॥
देखे सिव बिधि बिष्णु अनेका। अमित प्रभाव एक ते एका॥७॥
बंदत चरन करत प्रभुसेवा। बिबिध बेष देखे सब देवा॥८॥

दोहा—सती बिधात्री इंदिरा, देखीं अमित अनूप।
जेहि जेहि बेष अजादि सुर, तेहि तेहि तनु अनुरूप॥५४॥

अर्थ—सतीजी ने मार्ग में जाते हुए यह कौतुक देखा कि श्रीरामजी श्री (सीताजी) और भाई (लक्ष्मणजी) के साथ आगे चले आ रहे हैं॥४॥ फिर कर देखा, तो प्रभु को भाई और श्रीजानकीजी के साथ सुन्दर वेष में पीछे भी देखा॥५॥ जहाँ देखती हैं, वहाँ प्रभु बैठे हैं और प्रवीण सिद्ध और मुनीश्वर उनकी सेवा कर रहे हैं॥६॥ अनेक शिव, ब्रह्मा और विष्णु एक-से-एक अमित प्रभाव वाले देखे गये, जो प्रभु के चरणों की वंदना और सेवा कर रहे हैं, सब देवताओं को अनेक वेषों में देखा॥७-८॥ उपमा-रहित असंख्य सतियों, सरस्वतियों और लक्ष्मियों को देखा, जिस-जिस वेष में शिव-ब्रह्मादिक देवता थे, उन्हीं के अनुरूप इन देवियों के भी वेष थे॥५४॥

विशेष—पूर्व कह आये थे कि—"कबहूँ जोग बियोग न जाके। देखा प्रगट बिरह-दुख ताके॥" (दो० ४८), वही नित्य संयोग यहाँ 'आगे राम सहित श्री भ्राता' और 'पाछे'—'सहित बंधु सिय' के दृश्य से दिखाया। इससे—"खोजइ सो कि अज्ञ इव नारी। ज्ञानधाम श्रीपति असुरारी॥" (दो० ५०)—यह सती का भ्रम दूर होगा अर्थात् श्रीसीताराम का वियोग न तो पहले हुआ था और न आगे होगा। खोजना एवं विरह लीला मात्र हैं। माया-सीता का ही हरण हुआ है।

प्रथम 'आगे' देखने पर चित्त में आया कि अभी तो ये दो ही पीछे थे, तीनों आगे कैसे आ गये? लौट (फिर) कर पीछे भी देखा, किन्तु सुन्दर वेष (पूर्ण शृंगार युक्त) देखा, जिससे वन के कष्ट झेलने का भी भ्रम दूर हुआ कि वह भी लीला ही थी।

'फिर अब जहाँ देखती हैं, वहाँ ही प्रभु सिंहासनासीन (सिंहासन पर बैठे) हैं और सब देवता अपनी अनुरूप शक्तियों के साथ सेवा में तत्पर हैं। सिद्ध-मुनीश एवं त्रिदेव भी सेवा-परायण हैं। अतः शिवजी ने जो श्रीरामजी को अपना और अगस्त्य आदि का इष्ट कहा था, यह प्रत्यक्ष हुआ।

'जेहि जेहि बेष अजादि' "अनुरूप'—जिस रंग तथा आकृति के जो देवता हैं, उनकी शक्ति भी उसी आकृति एवं वर्ण की हैं, जैसे-जहाँ विष्णु चतुर्भुज हैं वहाँ वैसी ही और जहाँ अष्टभुज हैं, वहाँ उसी तरह की लक्ष्मी भी हैं, इत्यादि। सप्तशती चंडी-पाठ में भी इसी भाव का एक श्लोक है—"यस्य देवस्य यद्रूपं यथा भूषण-वाहनम्। तद्वदेव हि तच्छक्तिरसुरान्योद्धुमाययौ ॥" (अ० ८)।

यहाँ अनेक आकृतियों के विष्णु आदि से अनेक ब्रह्मांडों का होना जनाया। इससे—"भुवन-निकायपति मायाधनी।" (दो० ५१) का प्रत्यक्षीकरण हुआ।

देखे जहँ तहँ रघुपति जेते। सक्तिन्ह सहित सकल सुर तेते ॥१॥
जीव चराचर जे संसारा। देखे सकल अनेक प्रकारा ॥२॥
पूजहिं प्रभुहिं देव बहु बेखा। राम-रूप दूसर नहिं देखा ॥३॥
अवलोके रघुपति बहुतेरे। सीता सहित न बेष घनेरे ॥४॥
सोइ रघुबर सोइ लछिमन सीता। देखि सती अति भई सभीता ॥५॥

अर्थ—(सतीजी ने) जहाँ-जहाँ जितने रघुपति देखे, वहाँ वहाँ शक्तियों-सहित उतने ही उतने देवता भी देखे ॥१॥ चर और अचर जितने जीव संसार में हैं, वे सब अनेक प्रकार के देखे ॥२॥ देवता लोग तो अनेक वेषों से प्रभु को पूजते हैं; पर श्रीरामजी का दूसरा रूप कहीं नहीं देखा ॥३॥ सीताजी के साथ बहुत-से रघुपति देखे, परन्तु उनमें वेषों की अनेकता न थी (प्रत्युत एक-सा ही वेष सब जगह था) ॥४॥ वही रघुबर, वही लक्ष्मण और वही सीता—(सर्वत्र इस दृश्य को) देखकर सतीजी बहुत ही डर गईं ॥५॥

विशेष—'सकल अनेक प्रकारा' और 'रामरूप दूसर नहिं'—अर्थात् जीव अनेक हैं और वे कर्म-परतंत्र हैं। *विविध-कर्मानुसार उनके वेष एवं आकृतियाँ भिन्न-भिन्न हैं। श्रीरामजी कर्म से निर्लिप्त हैं।* यथा—"न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।" (गीता ४।१४) तथा—"करम सुभासुभ तुम्हहिं न बाधा।" (दो० १३६)। अतः, इनके वेष स्वेच्छानुसार हैं। यथा—"इच्छामय नरबेष सँवारे। होइहउँ प्रगट ·"(दो० १५१) और ये अखंड ज्ञानस्वरूप हैं। अत, इनके रूप में भेद नहीं है। इसी प्रकार श्री सीताजी भी हैं। अत.—'सीता सहित न बेष घनेरे' कहा गया है।

इसी तरह भुशुंडीजी ने भी देखा। यथा—"प्रति ब्रह्मांड राम-अवतारा। देखेउँ बाल-बिनोद अपारा ॥ भिन्न भिन्न मैं दीख सब, अति बिचित्र हरिजान। अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु, राम न देखेउँ आन ॥" (उ० दो० ८१)।

शंका—यहाँ 'सोइ लछिमन' से लक्ष्मणजी का भी सर्वत्र एक वेष कहा गया, पर उ० दो० ८० में—'बिबिध रूप भरतादिक भ्राता।'—कथित है, यह भेद क्यों ?

समाधान—श्री भरत, लक्ष्मण आदि के विग्रह भी श्रीरामजी के समान दिव्य हैं, पर ये नित्य जीव-कोटि में हैं, कर्म-परतंत्र नहीं हैं। ये स्वेच्छा से एवं भगवान् की इच्छा से अवतारों की तरह भू-मंडल में आते हैं। श्रीहनुमानजी एवं गरुड़जी भी नित्य जीवों में ही हैं, इनमें जहाँ अज्ञान एवं कर्म-वशता के भेद की अनेक आकृतियाँ देखी जाती हैं, वे भगवान की इच्छा से लीला-विधि के लिये अथवा किसी वैदिक धर्म की संस्थापना के लिये हैं। यथा—"त्वदाश्रितानां जगदुद्भवस्थितिप्रणाशसंसारविमोचनादयः। भवन्ति लीलाविधयश्च वैदिकास्त्वदीय गंभीरमनोनुसारिणः ॥" (आलवंदारस्तोत्र)।

यहाँ तीन अर्द्धालियों में तीन प्रकार हैं—जो केवल रामरूप के, जो युगल रूपों के और जो तीनों रूपों के उपासक हैं, उन-उन के ध्यान-भेदों से भी ऐसा दिखाया है।

'देखि सती अति भईं सभीता।'—यह उपसंहार हुआ। इसका उपक्रम—'सती सभीत महेस पहिं, चलीं' है। 'सभीत' तो गूढ़ वचन से थीं, दृश्य देखकर 'अति सभीत' हो गईं। इसकी दशा आगे कहते हैं—

सर्वत्र के विराट्-दर्शन की तरह यहाँ भी अद्भुत रस ही है।

हृदय कंप तनु सुधि कछु नाहीं। नयन मूँदि बैठीं मग माहीं ॥६॥
बहुरि बिलोकेउ नयन उघारी। कछु न दीख तहँ दच्छकुमारी ॥७॥
पुनि पुनि नाइ रामपद सीसा। चलीं तहाँ जहँ रहे गिरीसा ॥८॥

दोहा—**गईं समीप महेस तब, हँसि पूछी कुसलात।**
लीन्हि परीछा कवन बिधि, कहहु सत्य सब बात ॥५५॥

अर्थ—(सती का) हृदय काँपने लगा, देह की सुधि न रह गई, (तब) वे आँखें मूँदकर राह में बैठ गईं ॥६॥ फिर आँखें खोलकर देखा तो वहाँ दक्ष की पुत्री सतीजी कुछ नहीं देख पाईं ॥७॥ बार-बार श्रीरामजी के चरणों में शिर झुकाकर, वे वहाँ को चलीं, जहाँ कैलाश के स्वामी शिवजी थे ॥८॥ जब पास पहुँचीं, तब शिवजी ने हँसकर कुशल पूछा और यह भी कहा कि तुमने किस प्रकार परीक्षा ली, सब बातें सच-सच बताओ ॥५५॥

विशेष—'नयन मूँदि'—डरने पर लोग स्वभावतः ऐसा करते हैं, जिससे डरानेवाली वस्तु फिर न देख पड़े। शरीर-सुधि की विस्मृति से कुछ देर में शान्ति आई, तब फिर आँखें खोलीं।

'कछु न दीख'—वह अद्भुत दृश्य नहीं देख पड़ा। पूर्ववत् प्रभु का नर-नाट्य ही रह गया।

'दच्छकुमारी'—सतीजी परम भक्त शिवजी के विरोधी दक्ष की कन्या हैं। अतः, अभी भी पूर्ण बोध की धारणा न रहेगी, झूठ भी बोलेंगी।

'पुनि पुनि नाइ···' सतीजी प्रथम जब परीक्षा के लिये 'नर-भूप' समझकर रामजी के पास आई थीं, तब प्रणाम नहीं किया था। जब प्रभाव देखा तब बारंबार प्रणाम करती हैं। पश्चात्ताप और भय-की दशा है। ऐसे ही गीता में अर्जुन भी विराट् रूप देखने पर बारंबार प्रणाम करने लगे थे।

'हँसि पूछी'—क्योंकि सतीजी के मन का थाह लेना है, अथवा उनकी बाहरी चेष्टा से कुछ अनर्थ का भाव समझकर शिवजी अवहेला से भी हँसे और इसीसे सत्य-सत्य बात पूछते हैं।

सती-मोह और अद्भुत रूप-दर्शन प्रकरण समाप्त

सती समुझि रघुबीर-प्रभाऊ। भयबस सिव सन कीन्ह दुराऊ ॥१॥
कछु न परीछा लीन्हि गोसाईं। कीन्ह प्रनाम तुम्हारिहि नाईं ॥२॥
जो तुम्ह कहा सो मृषा न होई। मोरे मन प्रतीति अति सोई ॥३॥
तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सब जाना ॥४॥

अर्थ--श्रीरघुनाथजी का प्रभाव समझकर सतीजी ने भय के वश शिवजी से छिपाव (छल) किया ॥१॥ (और कहा कि) हे गोसाईं ! मैंने कुछ परीक्षा नहीं ली, आप ही की तरह उन्हें प्रणाम कर लिया ॥२॥ जो आपने कहा, वह झूठ नहीं हो सकता, मेरे मन में यह पूरा विश्वास है ॥३॥ तब शिवजी ने ध्यान धरके देखा और सतीजी के किये हुए सब चरित जान गये ॥४॥

विशेष—'कीन्ह दुराऊ'—पहले पति के इष्ट से दुराव किया था। यथा—"सती कीन्ह चह तहउँ दुराऊ।" (दो॰ ५२)। अब पति से भी करने लगीं।

'धरि ध्याना'—शिवजी ने सती की चेष्टा देखी और फिर यह भी विचारा कि प्रथम बहुत समझाने पर भी न समझ सकीं, अब कैसे प्रतीति आ गई ? अतः, संदेह हुआ। तब ध्यान किया। प्रभु ने स्वतः जान लिया था, क्योंकि वे ईश्वर हैं और ये जीव। अतः, ध्यान से जाना।

बहुरि राम-मायहिं सिर नावा। प्रेरि सतिहिं जेहि झूठ कहावा ॥५॥
हरिइच्छा भावी बलवाना। हृदय बिचारत संभु सुजाना ॥६॥
सती कीन्ह सीता कर बेषा। सिव-उर भयउ बिषाद बिसेषा ॥७॥
जौं अब करउँ सती सन प्रीती। मिटइ भगतिपथ होइ अनीती ॥८॥

अर्थ—फिर (शिवजी ने) श्रीरामजी की माया को शिर नवाया, जिसने प्रेरणा करके सती से झूठ कहलाया ॥५॥ सुजान शिवजी हृदय में विचारते हैं कि हरि-इच्छा रूपी भावी प्रबल है ॥६॥ सतीजी ने श्रीसीताजी का रूप धारण किया, (इस बात का) शिवजी के हृदय में भारी दुःख हुआ ॥७॥ यदि अब मैं सती से (दाम्पत्य) प्रेम करूँ तो भक्ति-मार्ग का नाश होगा और अनीति होगी ॥८॥

विशेष—'राम-मायहिं...'—शिवजी ने माया को प्रबलता समझकर प्रणाम किया। यथा—"सिव चतुरानन जाहि डेराहीं।" (उ॰ दो॰ ७०)। 'प्रेरि'—बलात् नियुक्त करके। अन्यथा—'सतिहिं'—अर्थात् पतिव्रताशिरोमणि देवी पति से झूठ कहें, यह असंभव है।

'हरि-इच्छा भावी'—जीवों के कर्मानुसार फल देने के लिये भगवान् को जो इच्छा होती है, वही भावी, दैव अथवा अदृष्ट कहाती है। उसीको कर्मवादी भावी—दैव, ज्ञानी अदृष्ट और उपासक हरि-इच्छा कहते हैं। 'बलवाना'—क्योंकि अपने (शिवजी के) उपायों को निष्फलता हुई। यथा—"मुनति भावी मिटइ नहिं।" (दो॰ १०१)। 'सुजाना'—यथा—"अति बिचित्र रघुपतिचरित, जानहिं परम सुजान।" (दो॰ ४९) अर्थात् शिवजी जानते हैं, तभी हरि-इच्छा ही समझ रहे हैं। 'बिषाद बिसेषा'—दुःख तो उसी समय से था, जब उपदेश निष्फल हुए थे—"मोरेहु कहे न संसय जाहीं। बिधि-बिपरीत भलाई नाहीं ॥" (दो॰ ५१)। अब अपनी इष्ट-देवी का रूप बनाना जानकर सती के प्रति विशेष दुःख हो गया।

दोहा—परम पुनीत न जाइ तजि, किये प्रेम बड़ पाप।
प्रगटि न कहत महेस कछु, हृदय अधिक संताप ॥५६॥

अर्थ – सतीजी परम पवित्र हैं। अतः, छोड़ते नहीं बनता और प्रेम करने में बड़ा पाप है। शिवजी कुछ खोलकर नहीं कहते, पर हृदय में बड़ा संताप है।

विशेष—'परम पुनीत'—सती पतिव्रता-शिरोमणि हैं, इधर जो श्रीरामजी के रूप में सन्देह और पति के वचन का न मानना एवं मूठ बोलना आदि अपराध हुए वे तो राम-माया की अधीनता में हैं, ऐसा शिवजी का मत है। विवशता के दोष विवेकी नहीं गिनते। अतः, सती 'परम पुनीत' हैं। सामान्य धर्म की दृष्टि से पतिव्रता स्त्री त्याज्य नहीं है। याज्ञवल्क्य ने भी इसी दृष्टि से कहा है कि—"शिव सम को रघुपतिव्रतधारी। बिनु अघ तजी सती असि नारी॥" (दो० १०३)।

'किये प्रेम बड़ पाप'—शिवजी रघुपति-व्रत-धारी हैं। अतः, इष्ट श्रीरामजी पिता-तुल्य हैं और श्रीसीताजी माता-तुल्य होती हैं सती ने माता का वेष धारण किया। उपासना विशेष धर्म है। उसकी दृष्टि से सती से पत्नीत्व प्रेम में पाप है। इसी दृष्टि से श्रीनारदजी ने सती का अपराध कहा है। यथा—"प्रिय-वेष सती जो कीन्ह तेहि अपराध शंकर परिहरी।" (दो० १७)।

इधर तो अग्नि को साक्षी बना-ब्याही हुई पाणि-गृहीती पतिव्रता पत्नी का त्यागना धर्म-संकट है और उधर उपासना-व्रत की बाधा रूपी परम हानि है। शिवजी इस द्विविध संकट में पड़े हैं—खुलकर कुछ नहीं कहते, क्योंकि गंभीर-स्वभाववाले हैं।

'परम पुनीत' का पाठान्तर 'परम प्रेम' भी है, इसमें अर्थ होगा कि एक ओर प्रिया-वियोग और दूसरी ओर धर्म-संकट। इस द्विविधा में शिवजी पड़े हैं, इसका भी प्रमाण मिलता है—"दुखी भयेउँ वियोग प्रिय तोरे।" (उ० दो० ५५)।

तब संकर प्रभुपद सिर नावा। सुमिरत राम हृदय अस आवा ॥१॥
येहि तनु सतिहि भेंट मोहि नाहीं। सिव संकल्प कीन्ह मन माहीं ॥२॥
अस बिचारि संकर मतिधीरा। चले भवन सुमिरत रघुबीरा ॥३॥
चलत गगन भइ गिरा सुहाई। जय महेस भलि भगति दृढ़ाई ॥४॥
अस पन तुम्ह बिनु करइ को आना। रामभगत समरथ भगवाना ॥५॥

अर्थ—(जब हृदय मे बहुत संतप्त होते हुए कुछ भी निश्चय नहीं कर सके) तब शिवजी ने प्रभु के चरणों में सिर नवाया (प्रभुपद को उपाय-रूप में वरण किया)। प्रभु का स्मरण करते ही हृदय में यह आया ॥१॥ कि सती को इस शरीर से हमसे (दाम्पत्य भाव में) भेंट न होगी—शिवजी ने मन में यह संकल्प किया ॥२॥ धीर-बुद्धि शिवजी ऐसा विचार कर श्रीरघुनाथजी का स्मरण करते हुए, घर (कैलाश) को चले ॥३॥ चलते समय सुन्दर आकाशवाणी हुई कि हे महेश! आपकी जय हो, आपने भक्ति भली भाँति दृढ़ की है ॥४॥ ऐसी प्रतिज्ञा आपके बिना और कौन कर सकता है; क्योंकि आप रामभक्त, समर्थ और भगवान् हैं ? ॥५॥

विशेष—'संकल्प कीन्ह'—जैसे हाथ में कुश जल लेकर मंत्र-सहित लोग दृढ़ प्रतिज्ञा-रूप में संकल्प करते हैं, वैसे शिवजी ने सती-त्याग का संकल्प मन से किया। श्रीरामस्मरण से यह विचार आया था। अतः, उत्तम है कि जिस शरीर से सती ने माता जानकीजी का वेष किया था, उसी का त्याग हुआ; दूसरे शरीर से संयोग होगा ही। इस शरीर से प्रेम करने के पाप से भी बचे। संकल्प इसलिये किया कि बहुत काल के स्नेह-संबंध से कहीं असावधानी में प्रेम न हो जाय जिससे बड़ा पाप लगे।

'मति धीरा'—'सुमिरत रघुबीरा'—(क) यद्यपि शिवजी नियम निबाहने में मति के धीर हैं तथापि कामादि शत्रु बड़े धोखेबाज हैं। कहीं पत्नी-सहवास पाकर विघ्न न करें। अतः, बचने के लिये रघुवीर का स्मरण किया। यथा—"तिनको न काम सकै चापि छाँह, तुलसी जे बसहिं रघुबीर-बाँह॥" (गी० अ० ११)। (ख) दक्षसुता का त्याग किया है, उसका पक्ष लेकर दक्ष कोई उपाधि न करे, अथवा शाप न दे जैसे कि अन्य पत्नियों को छोड़कर रोहिणी ही से प्रेम करने के कारण चन्द्रमा को क्षयी होने का शाप दिया था।

शिवजी के संतोषार्थ आकाशवाणी भी हुई जिसमें इनकी मन.कामना की सफलता है। उपदेश भी है कि जो भक्ति को दृढ करके ग्रहण करेगा, उसकी जय है। यथा—"बिरति चर्म असि ज्ञान मद, लोभ मोह रिपु मारि। जय पाइय सो हरि भगति।·· " (उ० दो० १२०)।

> सुनि नभगिरा सती उर सोचा। पूछा सिवहि समेत सकोचा॥६॥
> कीन्ह कवन पन कहहु कृपाला। सत्यधाम प्रभु दीनदयाला॥७॥
> जदपि सती पूछा बहु भाँती। तदपि न कहेउ त्रिपुरआराती॥८॥

अर्थ—आकाशवाणी सुनकर सतीजी के मन में शोच हुआ और सकुचती हुई उन्होंने शिवजी से पूछा॥६॥ हे कृपालो ! आपने कौन-सा प्रण किया है—वह कहिये। आप सत्य के धाम हैं और समर्थ तथा दीनदयालु हैं॥७॥ यद्यपि सतीजी ने बहुत प्रकार से पूछा, तो भी त्रिपुरारि शिवजी ने नहीं बतलाया।८॥

विशेष—'उर सोचा' और समेत सकोचा' क्योंकि सतीजी से अपराध हो गया है और कपट इन्होंने किया ही था, उसे भी शिवजी ने ध्यान से जान लिया।

'कीन्ह कवन पन ' ' इसमें चारों विशेषण साभिप्राय हैं। 'कृपाला'—आप दयालु हैं। अतः, क्रोध न करें। 'सत्यधाम' होने से सत्य ही कह दें, 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं, अमिट भी प्रतिज्ञा को मिटा सकते हैं। यदि कहें कि मुझे प्रतिज्ञा मेटने का क्या प्रयोजन है? तो आप 'दीनदयालु' हैं और मैं 'दीन' हूँ, यह नाता है।

'जदपि सती ···'—'बहु भाँती'—उपर्युक्त चार विशेषणों के भावों से पूछा। 'न कहेउ'—तो भी नहीं कहा, क्योंकि 'त्याग' का वचन अप्रिय है, इसलिये चुप ही रहे, क्योंकि—"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्नब्रूयात्सत्यमप्रियम्॥" ऐसी मनुजी की आज्ञा है।

'त्रिपुरआराती'—यहाँ कामादि तीनों पुरों के साथ विजय का प्रसंग है। सती ऐसी स्त्री रत्न के त्याग में काम और लोभ का जीतना और अवज्ञा एवं अपराध पर भी क्रोध न किया, इसमें क्रोध का जीतना भी है, इसलिये यह विशेषण साभिप्राय है।

दोहा—सती हृदय अनुमान किय, सब जानेउ सरबज्ञ।
कीन्ह कपट मैं संभु सन, नारि सहज जड़ अज्ञ॥

सोरठा—जल पय सरिस बिकाइ, देखहु प्रीति की रीति भलि।
बिलग होइ रस जाइ, कपट खटाई परत पुनि॥५७॥

अर्थ—(तब) सतीजी ने हृदय में अनुमान किया कि सर्वज्ञ शिवजी ने सब जान लिया है। मैंने शंभु (कल्याण-कर्त्ता) से कपट किया; क्योंकि स्त्रियाँ स्वभावतः ही मंद और विवेकरहित होती हैं॥ प्रीति की भली रीति देखिये कि जल भी (दूध में मिलने से) दूध के भाव बिकता है, किन्तु कपट रूपी खटाई के पड़ते ही दूध फट जाता है; (अर्थात् दूध और पानी अलग-अलग हो जाते हैं) और रस (स्वाद) जाता रहता है॥५७॥

विशेष—'जल-पय'—जल दूध में अभेद भाव से मिल जाता है, यह प्रीति है। फिर दूध के भाव बिकता है, यह महत्त्व पाता है। अग्नि जब दूध को जलाने लगता है, तब जल प्रथम अपना शरीर जलाता है। इसकी पीर मिटाने के लिये दूध बार-बार अग्नि को बुझा देने एवं घृतांश देकर उसे तृप्त करने को उफनता हैं। पानी का छींटा पड़ने से मित्र को आया जानकर शान्त हो जाता है। फिर मित्र के बिना वह जितने अंश में रह जाता है, उसे लोग 'खोआ' कहते हैं कि इसने मित्र को खो दिया, पर इस दशा में भी वह मित्र को चाहता रहता है जिससे खोए में जल मिलाकर खाने से गुणद होता है। उसी जल और दूध में खटाई पड़ जाने से सब रस चला जाता है, वैसे प्रीति में कपट पड़ जाने से वह निस्तत्त्व (साररहित हो जाती है। इसमें दृष्टांत अलंकार है।

हृदय सोच समुझत निज करनी। चिंता अमित जाइ नहिं बरनी॥ १॥
कृपासिंधु सिव परम अगाधा। प्रगट न कहेउ मोर अपराधा॥ २॥
संकररुख अवलोकि भवानी। प्रभु मोहि तजेउ हृदय अकुलानी॥ ३॥
निज अघ समुझि न कछु कहि जाई। तपै अवाँ इव उर अधिकाई॥ ४॥

अर्थ—अपनी करनी समझकर (सतीजी के) हृदय में शोच और अपार चिंता है, जिसका वर्णन नहीं हो सकता॥ १॥ शिवजी कृपासिंधु एवं परम गंभीर हैं, इससे मेरा अपराध प्रकट नहीं कहा॥ २॥ शिवजी का रुख देखकर भवानी समझ गईं कि प्रभु ने मेरा त्याग किया, (तब) हृदय में व्याकुल हुईं॥३॥ अपना दोष समझकर कुछ कहा नहीं जाता, हृदय अवाँ की तरह भीतर-ही-भीतर और भी अधिक जलने लगा॥ ४॥

विशेष—'चिंता अमित'—यथा—"चिंता ज्वाल शरीर बन, दावा लगि लग जाय। प्रगट धुआँ नहिं देखिये, उर अंतर धुँधुआय। उर अंतर धुँधुआय जरै ज्यों काँच कि भट्टी। रक्त माँस जरि जाय रहै पाँजर की टट्टी॥ कह गिरिधर कविराय सुनो हो मेरे मिंता। वे नर कैसे जियें जिन्हें तन व्यापै चिन्ता॥"

'न कछु कहि जाई।'—क्योंकि-'कहेहूँ ते कछु दुख घटि होई।' (सुं० दो० १४); पर ये जिससे कहेंगी, वही उलटे इन्हीं को दोष देगा। अतः, कहकर भरम गँवाना है।

'अवाँ इव'—कुम्हार की भट्ठी की तरह भीतर-ही-भीतर संताप की आग से हृदय जल रहा है, कोई अंश खाली नहीं है, बाहर से नहीं देख पड़ता।

सतिहिं ससोच जानि बृषकेतू। कहीं कथा सुंदर सुख-हेतू॥ ५॥
बरनत पंथ बिबिध इतिहासा। बिश्वनाथ पहुँचे कैलासा॥ ६॥
तहँ पुनि संभु समुझि पन आपन। बैठे बटतर करि कमलासन॥ ७॥
संकर सहज सरूप सम्हारा। लागि समाधि अखंड अपारा॥ ८॥

अर्थ—सतीजी को चिन्तान्वित जानकर वृषकेतु शिवजी ने उनको सुख देने के लिये सुन्दर कथा कही॥ ५॥ मार्ग में नाना प्रकार के इतिहासों का वर्णन करते (सतीजी का जी बहलाते) हुए शिवजी कैलाश पहुँचे॥ ६॥ फिर अपना प्रण समझकर वहाँ वट के नीचे शिवजी कमलासन लगाकर बैठ गये॥ ७॥ शिवजी ने अपना स्वाभाविक रूप सँभारा (स्मरण किया) तो अखंड और अपार समाधि लग गई॥ ८॥

विशेष—(१) 'सतिहिं ससोच··· बृषकेतू'=शिवजी धर्म की ध्वजा हैं। धर्म में दया श्रेष्ठ है, सती शरण में हैं, उनको सन्तोष और आनन्द देने के लिये इतिहासात्मक कथाएँ कहते हैं, जिनके सुनने में सुख हो। कुछ संदेह मिटाने के लिये नहीं कहते, क्योंकि वह प्रयास तो प्रथम ही व्यर्थ हुआ।

(२) 'बरनत पंथ···' कथा-इतिहास से मार्ग शीघ्र कटता है। यथा—"सीय को सनेह सील कथा तथा लंक की कहत चले चाय सों सिरानो पथ छन में।" (क० सुं० ३१)। धारा-प्रवाह इतिहास-पर-इतिहास कहते ही गये कि सती को बात छेड़ने का अवसर ही नहीं मिले।

(३) 'तहँ पुनि संभु··· कमलासन'—यह योगक्रिया का एक आसन है। इसे पद्मासन भी कहते हैं। इसमें दोनों जंघाओं पर पैर चढ़ाकर फिर दाहिना हाथ पीठ पर से घुमाकर दाहिने पैर का अँगूठा, जो बाईं जंघा पर रक्खा है, पकड़ते हैं, इसी प्रकार बायें हाथ को पीठ पर से घुमाकर दाहिनी जंघा पर का अँगूठा पकड़कर सीधे बैठते हैं।

(४) 'संकर सहज सरूप···' (क) शिवजी साकेत लोक में महाशंभु-रूप से श्री सीतारामजी की सेवा में नित्य रहते हैं, उस रूप में वृत्ति ले जाने तथा इस देह से वृत्ति का अभाव होने से अखंड तथा अपार समाधि लग गई।

(ख) एक ब्रह्म ही गुण-त्रय सम्बन्ध से त्रिदेव रूप होकर उत्पत्ति-पालन और संहार करता है। शंकरजी ने उसी अपने शुद्ध, बुद्ध और नित्य मुक्त ब्रह्मस्वरूप को सँभारा, इसीसे अखंड तथा अपार समाधि लग गई।

'सहज स्वरूप'—"निज सहज अनुभव रूप तव खल भूलि चलि आयो तहाँ।" (वि० १३६) तथा—"मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥" (आ० दो० ३५)।

दोहा—सती बसहिं कैलास तब, अधिक सोच मन माहिं ।
मरम न कोऊ जान कछु, जुग सम दिवस सिराहिं ॥५८॥

अर्थ—तब सतीजी कैलाश पर रहती थीं, परन्तु उनके मन में शोच बढ़ता ही गया। इस भेद को कोई कुछ भी नहीं जानता, परन्तु इनके दिन युग के समान बीतते हैं।

विशेष—कैलाश परम रमणीक और सब सुखों से पूर्ण है। यथा—"परम रम्य गिरिबर कैलासू।" …से—"सेवहिं सिव सुखकंद॥" (दो० १०५) तक। वहाँ भी सतीजी के लिये सुख न था, क्योंकि इनके मर्म का ज्ञाता कोई न था, जिससे दुःख कहें और कुछ घटे। यथा—"कहेहूँ ते कछु दुःख घटि होई। काहि कहउँ यह जान न कोई॥" (सुं० दो० १४)।

नित नव सोच सती - उर भारा। कब जइहउँ दुख-सागर-पारा॥ १॥
मैं जो कीन्ह रघुपति - अपमाना। पुनि पतिबचन मृषा करि जाना॥ २॥
सो फल मोहिं बिधाता दीन्हा। जो कछु उचित रहा सोइ कीन्हा॥ ३॥
अब बिधि अस बूझिय नहिं तोही। संकरबिमुख जियावसि मोही॥ ४॥

अर्थ—सतीजी के हृदय में नित्य नई चिन्ता का बोझ उत्पन्न होता है कि मैं इस दुःख-समुद्र के पार कब जाऊँगी ?॥ १॥ मैंने श्री रघुनाथजी का अपमान किया और पति के वचनों को झूठा करके जाना॥२॥ उसका फल ब्रह्माजी ने मुझे दिया, जैसा उचित था, वही किया॥ ३॥ अब हे विधि ! ऐसा आपको नहीं समझना चाहिये जो शिवजी से विमुख रखकर मुझे जिला रहे हैं॥ ४॥

विशेष—'सागर पारा'—दुःख सागर की तरह अपार है, अतः पार की प्रतीक्षा है।

'मैं जो कीन्ह…'—श्री रामजी को नर कहना—यह वचन से, शिवजी के समझाने पर भी विश्वास न हुआ—यह मन से तथा परीक्षा के लिये सीता का रूप धारण करना—यह कर्म से रघुपति का अपमान है। पति के वचनों में अविश्वास से पति का भी अपमान हुआ। 'सो फल…'—रघुपति के अपमान के फल-रूप में व्यभिचारिणी बनाई गईं और पति के अपमान से पति द्वारा त्यक्त हुईं। 'उचित'—"जो जस करइ सो तस फल चाखा।" (अ० दो० २१८), "करइ जो करम पाव फल सोई॥" (अ० दो० ७७)।

'अब बिधि…' आप विधिवत् विधान करने से ही 'विधाता' कहाते हैं। अतः, ऐसी बूझ (बुद्धि या समझ) आपके लिये होना अयोग्य है; क्योंकि मैंने शंकर - विमुखता के अभिप्राय का कर्म अपनी बुद्धि से नहीं किया।

कहि न जाइ कछु हृदय गलानी। मन महँ रामहिं सुमिरि सयानी॥५॥
जौं प्रभु दीनदयालु कहावा। आरतिहरन बेद जसु गावा॥६॥
तौ मैं बिनय करउँ कर जोरी। छूटउ बेगि देह यह मोरी॥७॥

अर्थ--हृदय की ग्लानि कुछ कही नहीं जाती, सयानी सतीजी ने मन में श्रीरामजी का स्मरण किया ॥ ५ ॥ हे प्रभो ! जो आप दीनदयालु कहाते हैं और 'विपत्तिहरण' कहकर आपका ऐसा यश वेद गाते हैं ॥ ६ ॥ सो मैं हाथ जोड़कर विनती करती हूँ कि मेरी यह देह शीघ्र छूट जाय ॥ ७ ॥

'सयानी'—सब उपायों से हताश होकर श्रीरामजी की शरण में प्राप्त होना अर्थात् उन्हीं को एक मात्र उपाय-रूप में वरण करना चतुरता है। यथा—"परिहरि सकल भरोस, रामहिं भजहिं ते चतुर नर ॥" (आ० दो० ६) । पुनः श्रीरामजी के अपमान से दुःख हुआ। अतः, उन्हीं की शरण से उसकी निवृत्ति सोचना भी सयानपना है।

'जौ प्रभु···'—आप प्रभु अर्थात् समर्थ हैं, और मैं दीन हूँ, आर्त हूँ, अपने सामर्थ्य से रक्षा करें। यहाँ—'मन महुँ' 'बिनय करउँ' और 'करजोरी' से क्रमशः मन, वचन और कर्म से शरणागत हुई। 'छूटउ बेगि देह यह'—शिवजी की प्रतिज्ञा जान गई—'येहि तन सतिहि···' यह श्रीराम-स्मरण का फल है। ऐसे ही स्मरण से शिवजी में भी प्रण की बुद्धि हुई थी।

जौ मोरे सिवचरन सनेहू। मन क्रम बचन सत्य ब्रत येहू ॥८॥

दोहा—तौ सबदरसी सुनिय प्रभु, करउ सो बेगि उपाइ।
होइ मरन जेहि बिनहि श्रम, दुसह बिपत्ति बिहाइ ॥५६॥

अर्थ—जो मेरा शिवजी के चरणों मे मन, वचन एवं कर्म से स्नेह हो और यह व्रत मेरे मन, वचन तथा कर्म से सत्य हो ॥८॥ तो हे सर्वदर्शी प्रभो ! शीघ्र वह उपाय कीजिये जिससे मेरी मृत्यु हो और बिना परिश्रम ही दुःसह दुःख दूर हो ॥५६॥

विशेष—'व्रत येहू'—मन, वचन और कर्म से पति के चरणों में सच्चा स्नेह ही पातिव्रत्य धर्म है। यथा—"एकइ धर्म एक व्रतनेमा। काय बचन मन पति पद-प्रेमा ॥" (आ० दो० ५) । 'सबदरसी'—मेरे मन, वचन और कर्म की व्यवस्था भी आप जानते ही हैं।

येहि बिधि दुखित प्रजेसकुमारी। अकथनीय दारुन दुख भारी ॥१॥
बीते संबत सहस सतासी। तजी समाधि संभु अबिनासी ॥२॥
रामनाम सिव सुमिरन लागे। जानेउ सती जगतपति जागे ॥३॥
जाइ संभुपद बंदन कीन्हा। सनमुख संकर आसन दीन्हा ॥४॥

अर्थ—इस प्रकार से दक्ष प्रजापति की कन्या सतीजी दुःखित हैं, उनका भारी और विषम दुःख कहने योग्य नहीं है ॥१॥ सत्तासी हजार वर्ष बीतने पर अविनाशी शिवजी ने समाधि छोड़ी ॥२॥ शिवजी श्रीराम नाम का स्मरण करने लगे, तब सतीजी ने जाना कि जगत् के स्वामी शिवजी जाग गये हैं ॥ ३ ॥ जाकर शिवजी के चरणों की वन्दना की। उन्होंने सामने बैठने के लिये आसन दिया ॥४॥

विशेष—(१) 'येहि विधि'''—"सती बसहिं कैलास'''" से—"बिपति बिहाइ ॥" तक अर्थात् पूरे एक दोहे में दशा कहकर श्रीराम-शरणागति के साथ ही विपत्ति की इति लगाई। 'प्रजेस कुमारी'—क्योंकि सती शिव-विमुख दक्ष की कन्या हैं, दुःखित क्यों न हों ? और, यह भी भाव है कि इष्ट और पति के अपमान से 'प्रजेस-कुमारी' तक की यह दशा है तो प्राकृत स्त्रियों के लिये क्या कहना ?

(२) 'बीते संबत सहस '''—जब तक सतीजी विधि आदि के आश्रय लेती थीं, तब तक प्रभु चुप थे। जब सब भरोसा छोड़कर शरण में आईं तब प्रेरक प्रभु ने आर्त का दुःख हरने के लिये, वैसी प्रेरणा की जिससे शिवजी समाधि छोड़ें और सती के दुःख मिटें।

शंका—सत्तासी हजार वर्ष के बीच में ही श्रीरामजी की रण-क्रीड़ा एवं राज्याभिषेक चरित में शिवजी का आना कहा है, यथा—"हमहूँ उमा रहे तेहि संगा।" (लं० दो० ८०) तथा—" ''संभु तब, आये जहँ रघुबीर।" (उ० दो० १२); फिर इसकी संगति कैसे लगेगी ?

समाधान—हिमाचल राज के निमंत्रण में नदी-तालाब आदि का भी सुंदर शरीर धर-धरकर आना इसी ग्रंथ में लिखा गया है। उस समय वे सब दूसरे रूप से जगत् के कार्य में रहे। यदि नदी-तालाब आदि के अधिष्ठातृ देवताओं में यह सामर्थ्य है तो शिवजी तो महादेव हैं। ये एक रूप से कैलाश में रहते हैं, दूसरे रूप से रण देखते तथा अन्य रूपों से किसी के तप का फल देते एवं संहार आदि कार्य करते हैं। श्रीसौभरि ऋषि की कथा भी प्रसिद्ध है कि वे एक ही समय में ५० रूपों से मान्धाता की ५० कन्याओं के महलों में पृथक्-पृथक् रहते थे, तब शिवजी के लिये शंका क्यों ?

'तजी समाधि' शिवजी ने प्रभुप्रेरित होकर अपनी इच्छा से समाधि छोड़ी। दूसरी बार प्रभु की आज्ञा पर ध्यान न रखकर समाधिस्थ हो जायँगे, तब वह समाधि काम की उपाधि से छूटेगी। यह "छूटि समाधि'''" (दो० ८१) पर कहा जायगा।

'अबिनासी'—प्राकृत-देहधारी की समाधि इतने काल तक नहीं रह सकती, शिवजी का शरीर अविनाशी है, इसी से बनी रही।

'जागे'—क्योंकि समाधि में बाहर की इन्द्रियाँ भीतर स्वरूप में लीन रहती हैं, निद्रा की तरह शरीर जड़वत् रहता है। अतः, समाधि छूटने पर जागना कहा जाता है।

(३) 'जाइ संभुपद''' 'संभु-पद'—अर्थात् कल्याणकारी चरण हैं, सती इन्हीं से कल्याण चाहती हैं। शिवजी सती में अब मातृ (सीता) भाव मानते हैं, इसी से सम्मुख आसन दिया, क्योंकि माता को सम्मुख ही आसन दिया जाता है।

लगे कहन हरिकथा रसाला। दच्छ प्रजेस भये तेहि काला ॥५॥
देखा बिधि बिचारि सब लायक। दच्छहिं कीन्ह प्रजापतिनायक ॥६॥
बड़ अधिकार दच्छ जब पावा। अति अभिमान हृदय तब आवा ॥७॥
नहिं कोउ अस जनमा जगमाहीं। प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं ॥८॥

अर्थ—(शिवजी सती से) रसीली हरिकथा कहने लगे, उसी समय में दक्ष प्रजापति हुए ॥५॥ ब्रह्माजी ने विचारकर दक्ष को सब तरह योग्य देखा, तब उन्हें प्रजापतियों का नेता (सरदार) बनाया ॥६॥

जब दक्ष ने बड़ा अधिकार (दर्जा) पाया, तब उनके हृदय में बहुत अभिमान हुआ ॥७॥ याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि जगत् में ऐसा कोई नहीं पैदा हुआ, जिसे प्रभुता (आधिपत्य) पाकर अभिमान न हुआ हो ॥८॥

विशेष—'प्रजेस' एवं 'प्रजापति नायक'—सृष्टि के उत्पन्न करनेवाले प्रजापति कहाते हैं। इनकी संख्या के कल्पभेद से कई प्रकार हैं। मरीचि, अत्रि आदि दस और कहीं इक्कीस तथा कहीं ब्रह्मा, सूर्य, मनु दक्ष आदि १३ कहे गये हैं। दक्ष अपने कल्प के वर्ग में नेता हुए थे।

सम्बन्ध—दक्ष का अभिमान शिव-विरोध का कारण है। अब कार्य कहते हैं—

दोहा—दच्छ लिये मुनि बोलि सब, करन लगे बड़ जाग।
नेवते सादर सकल सुर, जे पावत मख-भाग ॥६०॥

अर्थ—दक्ष ने सब मुनियों को बुलवा लिया और बड़ा भारी यज्ञ करने लगे। उसमें उन सब देवताओं को, जो यज्ञ में भाग पाया करते हैं, आदर सहित नेवता दिया।

विशेष—जब यज्ञ करने लगे तब नेवता भेजा, क्योंकि उसी क्रम से कहा गया है। 'नेवते सादर' में शिवजी के निरादर का आशय है, क्योंकि शिवजी का नेवता काटना है। शिवजी को अपमानित करने के अभिप्राय से यह यज्ञ किया जा रहा है, अतएव 'तामस' है। यथा—"परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्।" (गी० १७।१९)। इसीसे विघ्न भी हुआ।

किन्नर नाग सिद्ध गंधर्बा। बधुन्ह समेत चले सुर सर्बा ॥१॥
बिष्णु बिरंचि महेस बिहाई। चले सकल सुर जान बनाई ॥२॥
सती बिलोके ब्योम बिमाना। जात चले सुंदर बिधि नाना ॥३॥
सुरसुंदरी करहिं कल गाना। सुनत श्रवन छूटहिं मुनिध्याना ॥४॥

अर्थ—किन्नर, नाग, सिद्ध, गंधर्व और सब देवता अपनी अपनी स्त्रियों के साथ चले ॥१॥ विष्णु, ब्रह्मा और महेश को छोड़कर सभी देवता विमान सजाकर चले ॥२॥ सतीजी ने देखा कि अनेक प्रकार के सुन्दर विमान आकाश-मार्ग में चले जा रहे हैं ॥३॥ देव-नारियाँ सुन्दर गान कर रही हैं, जिसे कानों से सुनते ही मुनियों का ध्यान छूट जाता है ॥४॥

विशेष—(१) 'बिष्णु बिरंचि महेस ···' ब्रह्मा और विष्णु जो निमन्त्रित थे, पर तो भी नहीं गये, क्योंकि जानते थे कि इस यज्ञ में शिवजी को भाग नहीं दिया जायगा। शिवजी के अपमान में अपना भी अपमान मानते थे। और देवता लोगों ने लोभ वश इस बात पर ध्यान नहीं दिया। अत, दण्ड पावेंगे। यथा—"सकल सुरन्ह बिधिवत फल दीन्हा।" (दो० ६७)।

(२) 'सती बिलोके ···' शिवजी का स्थिर चित्त कथा में लगा था और सतीजी का चित्त अंतरंग दुःख के कारण व्यग्र था, इससे इन्होंने ही देखा।

(३) 'सुरसुंदरी करहिं · '—'कल गान' का प्रभाव ही है कि वह मुनियों का ध्यान छुड़ा दे। यथा—"कल गान सुनि मुनि ध्यान त्यागहिं कामकोकिल लाजहीं।" (दो० ३११)। यह यश दरबार-कन

रास्ते में हुआ। वहाँ से कैलाश तक उस राह में बहुत मुनियों के आश्रम थे, जिस होकर विमान जा रहे थे। यथा—"सिद्ध तपोधन जोगि जन, सुर किन्नर मुनिवृन्द। बसहिं तहाँ सुकृती सकल, सेवहिं सिव सुखकंद॥" (दो० १०५)। इनके गाने से मुनियों को विघ्न हुआ। अत, भविष्य के अमंगल का हेतु यह भी कहा जाता है।

पूछेउ तब सिव कहेउ बखानी। पिता जग्य सुनि कछु हरषानी॥५॥
जौं महेस मोहि आयसु देहीं। कछु दिन जाइ रहउँ मिस एहीं॥६॥
पतिपरित्याग हृदय दुख भारी। कहइ न निज अपराध बिचारी॥७॥
बोलीं सती मनोहर बानी। भय संकोच प्रेम-रस सानी॥८॥

दोहा—पिता - भवन उत्सव परम, जौं प्रभु आयसु होइ।
तौ मैं जाउँ कृपायतन, सादर देखन सोइ॥६१॥

अर्थ—(सतीजी ने) पूछा (कि ये विमान कहाँ जा रहे हैं), तब शिवजी ने विस्तार-पूर्वक कहा। पिता का यज्ञ-उत्सव सुनकर कुछ हर्ष हुआ॥५॥ (हृदय में विचारती हैं कि) जो महादेवजी मुझे आज्ञा दें, तो कुछ दिन इसी बहाने वहाँ जाकर रहूँ॥६॥ पति के त्यागने का हृदय में भारी दु:ख है, (परन्तु) अपना ही अपराध विचारकर कहती नहीं हैं॥७॥ भय, संकोच और प्रेम-रस से सनी हुई मनोहर वाणी सतीजी बोलीं॥८॥ हे प्रभो! पिता के घर में बहुत बड़ा उत्सव है, जो आपकी आज्ञा हो, तो हे कृपालु! मैं आदर-सहित देखने जाऊँ॥६१॥

विशेष—(१) 'पूछेउ तब···' प्राय सब उत्सवों में स्त्रियाँ नहीं भी जाती हैं। इसमें जा रही हैं। अत:, पूछा। 'कछु हरषानी'—यद्यपि यह बड़े हर्ष की बात थी, तथापि इनको कुछ ही हर्ष हुआ, क्योंकि हृदय में भारी परिताप है, हर्ष भी इससे हुआ कि कुछ दिन जी बहलेगा।

(२) 'जौं महेस···' 'जौं' से दुविधा है कि आज्ञा दें या न दें। 'मिस एहीं'· 'सादर' क्योंकि पति का त्यागना अभी औरों को नहीं मालूम है, यज्ञोत्सव के बहाने वहाँ जाने और कुछ दिन रहने में यह कोई न जानेगा कि पति के त्यागने से आई हैं। पति से त्यागी हुई स्त्री को कहीं आदर नहीं मिलता है।

(३) 'बोलीं सती मनोहर बानी···' भय, सकोच और प्रेम-रस से वाणी मनोहर है। 'जौं तौ' 'आयसु होइ' आदि में संकोच का भाव है। 'कृपायतन,' 'आयसु होइ' आदि के भावों मे प्रेम रस-भरा है। 'महेस' 'प्रभु' आदि से भय दर्शित होता है। यों तो सम्पूर्ण वाणी इन तीनों गुणों से सनी है।

कहेहु नीक मोरेहु मन भावा। यह अनुचित नहिं नेवत पठावा॥१॥
दच्छ सकल निज सुता बोलाईं। हमरे बैर तुम्हहुँ बिसराईं॥२॥
ब्रह्म-सभा हम सन दुख माना। तेहि ते अजहुँ करहिं अपमाना॥३॥
जौं बिनु बोले जाहु भवानी। रहइ न सील सनेह न कानी॥४॥

जदपि मित्र-प्रभु-पितु-गुरु-गेहा। जाइय बिनु बोलेहु न सँदेहा ॥५॥
तदपि बिरोध मान जहँ कोई। तहाँ गये कल्यान न होई ॥६॥

अर्थ—(शिवजी ने कहा) तुमने अच्छी बात कही, यह मेरे मन को भी भाई, परन्तु (दक्ष ने) नेवता नहीं भेजा, यह अनुचित है ॥१॥ दक्ष ने अपनी और सब कन्याओं को बुलाया, (परन्तु) हमारे वैर से तुम्हें भी भुला दिया ॥२॥ ब्रह्माजी की सभा में (दक्ष ने) हमसे दुःख माना था, इसीसे अब भी हमारा अपमान करते हैं ॥३॥ हे भवानी ! जो बिना बुलाये जाओगी तो शील और स्नेह न रहेगा और न मर्यादा ही बचेगी ॥४॥ यद्यपि मित्र, स्वामी, पिता और गुरु के घर बिना बुलाये भी जाने की रीति है, इसमें संदेह नहीं ॥५॥ तो भी जहाँ कोई विरोध मानता हो, वहाँ जाने से कल्याण नहीं होता ॥६॥

विशेष—(१) 'नीक'—यह भगवान् का अंग है; अतः, देखना अच्छा है। सती के वचन का समर्थन करके फिर उसमें अनुचित-अंश कहा, जिससे वे प्रीति से ग्रहण करें।

(२) 'दच्छ सकल निज···' 'दच्छ' का अर्थ चतुर भी है। यह उन्होंने चतुराई की है कि सबको बुलाकर एक को न बुलाने में उसका अपमान होगा और वैर सधाया जायगा। वास्तविक चतुराई तो उनकी तब थी कि तुम्हारे सम्बन्ध से हमारा भी वैर भुला देते, पर उन्होंने हमारे वैर से तुम्हें भी भुला दिया।

(३) 'ब्रह्म-सभा···' भागवत स्कंध ४, अ० २-३ में, कथा है—"प्राचीन समय में विश्व-स्रष्टाओं ने एक यज्ञ किया। उसमें समस्त बड़े-बड़े ऋषि और देवता उपस्थित थे। दक्ष उस समय आये। इनके तेज से धर्षित हो ब्रह्माजी और शिवजी को छोड़कर सबने आसन से उठ उनका सम्मान किया। ब्रह्मा को प्रणाम करके उनके दिये हुए आसन पर दक्ष बैठ गये। दक्ष ने देखा कि शिवजी जामाता होकर भी सामने ही बैठे रहे—उठकर मेरा सम्मान नहीं किया। अतः उन्हें क्रूर दृष्टि से देखते हुए बहुत दुर्वचन कहे, पर शिवजी कुछ न बोले। फिर दक्ष ने शाप भी दिया कि देव-यज्ञ में इन्द्रादि देवगण के साथ ये यज्ञ-भाग नहीं पावेंगे। फिर चल दिये, इसके प्रतिकार रूप में इधर से नन्दीश्वर ने भी दक्ष को और उनके अनुयायियों को घोर शाप दिया। फिर उधर से भृगुजी शिवजी के गणों को घोर शाप देने लगे, तब शिवजी पार्षदों समेत चल दिये। दक्ष द्वेष-भाव हृदय में रक्खे रहे। 'दुख माना'—मैंने जान-बूझकर उनका अपमान नहीं किया, पर उन्होंने मान लिया। 'अजहुँ'—यह यज्ञ भी मेरा निरादर करने के लिये ही किया है।

(४) 'जौं बिनु बोले जाहु···' बिना बोलाये जाने पर शील, स्नेह और 'कानि' (मर्यादा) न रहेगी। यही तीनों आगे दो० ६२ में चरितार्थ होंगे। यथा—"दच्छ न कछु पूछी कुसलाता। सतिहि बिलोकि जरे सब गाता॥"—यहाँ स्नेह न रहा। "दच्छ-त्रास काहु न सनमानी" "भगिनी मिलीं बहुत मुसुकाता।" —शील न रहा। "कतहुँ न दीख संभु - कर भागा।" "प्रभु-अपमान समुझि उर दहेऊ।" इत्यादि मर्यादा भी न रही।

भाँति अनेक संभु समुझावा। भावीबस न ज्ञान उर आवा ॥७॥
कह प्रभु जाहु जो बिनहिं बोलाये। नहिं भलि बात हमारे भाये ॥८॥

दोहा—कहि देखा हर जतन बहु, रहइ न दच्छकुमारि।
दिये मुख्य गन संग तब, बिदा कीन्ह त्रिपुरारि ॥६२॥

....—अनेक प्रकार से शिवजी ने समझाया, पर भावीवश सतीजी के मन को बोध न हुआ ॥७॥ फिर प्रभु (शिवजी) ने कहा कि जो तुम विना बुलाये जाओगी, तो हमारी समझ में अच्छी बात नहीं है ॥८॥ शिवजी ने बहुत यत्न से कहकर देखा कि दक्ष-सुता नहीं ही रहना चाहती है, तब त्रिपुरारि शिवजी ने मुख्य गण साथ कर दिये और इन्हें विदा किया ॥६२॥

विशेष—(१) 'भावी बस न ज्ञान ·····' सतीजी अभी भावी-वश नहीं समझ सकीं। जब शिवजी का भाग वहाँ न देखेंगी, तब यह ज्ञान होगा। यथा—"तब चित चढ़ेउ जो संकर कहेऊ।" (दो० ६२)। 'भाँति अनेक'—'उपर्युक्त बातें और यह भी कि पतिव्रता को पति-द्रोही का सर्वथा त्याग करना चाहिये, इत्यादि।

(२) 'नहिं भलि बात'—अर्थात् वहाँ तुम्हारा कुछ अमंगल न हो जाय, शिवजी के वचनों में भावी का ज्ञान होना गर्भित है, पर भावी अमिट होती है। फिर भी अपना कर्त्तव्य करना चाहिये। फल तो ईश्वर की इच्छा से होगा ही। इसी दृष्टि से शिवजी समझाते ही हैं।

(३) 'कहि देखा हर······'—'रहइ न' भा० स्क० ४, अ० ४ में लिखा है कि सतीजी बिन आज्ञा लिये ही चल दीं। 'दच्छ-कुमारि'—दक्ष हठी थे, वैसा इनमें भी हठ है। 'दिये मुख्य गन संग'—क्योंकि सतीजी ने 'सादर देखन' की आज्ञा माँगी थी। अतः, उनके आदरार्थ गण साथ कर दिये, उनके मानापमान में अपना भी मानापमान है ही। पुनः दक्ष से वैर है, यदि वे विघ्न करें तो उसके प्रतिकार के लिये अस्त्र शस्त्र में निपुण हजारों गण भेजे। ऐसा भा० स्कं० ४, अ० ४ में प्रमाण है। 'त्रिपुरारि'—शिवजी त्रिपुर के जेता (जीतनेवाले) हैं, दक्ष से कुछ भय नहीं है।

पिता-भवन जब गईं भवानी। दच्छत्रास काहु न सनमानी ॥१॥
सादर भलेहि मिली एक माता। भगिनी मिलीं बहुत मुसकाता ॥२॥
दच्छ न कछु पूछी कुसलाता। सतिहिं बिलोकि जरे सब गाता ॥३॥
सती जाइ देखेउ तब जागा। कतहुँ न दीख संभु कर भागा ॥४॥
तब चित चढ़ेउ जो संकर कहेऊ। प्रभु-अपमान समुझि उर दहेऊ ॥५॥

अर्थ—जब सतीजी पिता के भवन में पहुँचीं, तब दक्ष के डर से किसी ने उनका सम्मान नहीं किया ॥१॥ भले ही एक माता आदर-पूर्वक मिली और बहनें तो बहुत मुसकुराती हुई मिलीं ॥२॥ दक्ष ने कुछ कुशल भी नहीं पूछा, प्रत्युत सतीजी को देखकर उनके सब अंग जलने लगे। (क्योंकि पहले का शिवकृत अपमान चित्त में आ गया) ॥३॥ तब सती ने जाकर यह देखा, वहाँ शिवजी का भाग कहीं नहीं देख पड़ा ॥४॥ तब शिवजी का कहा हुआ चित्त में चढ़ा और पति का अपमान समझकर हृदय जलने लगा ॥५॥

विशेष—(१) 'गईं भवानी'—प्रथम 'दच्छ-कुमारि' कहा था क्योंकि दक्ष के यहाँ जाने को उद्यत थीं, यहाँ 'भवानी' कहा, क्योंकि भव (शिवजी) के संबंध से ही अपमान हो रहा है।

(२) 'सादर भलेहि······' माता का स्नेह कन्या पर अत्यन्त होता है। सतीजी की माता मनु की कन्या हैं, अतः, हृदय शुद्ध है और दक्ष की भी पत्नी होने से तुल्या हैं; अतः, उनका भय नहीं, इससे आदर से मिली। नेत्रों में आँसू चले और गद्गद स्वर से कुशल पूछा।

'भगिनी ·····मुसुकाता'—क्योंकि ये सब नेवता देकर सादर बुलाई गई थीं। हँसने में व्यंग्य है, कि शिवजी का वह घमंड अब कहाँ गया, जो यज्ञ-सभा में पिताजी का अपमान किया था, अब नेग लेने के लिये पत्नी को भेजा है।

(३) 'सती जाइ देखेउ तब ·····'—'तब' अर्थात् जब पिता के हस्त से अपना अपमान देखा, तब संदेह हुआ कि कहीं शिवजी का तो अपमान न हुआ हो, इसलिये यज्ञशाला में गई। 'कतहुँ न'—ब्रह्मा और विष्णु भी नहीं गये थे, तो भी उनके भाग रक्खे गये थे, पर शिवजी का भाग ही न था। 'प्रभु अपमान'—प्रथम अपने अपमान पर वैसा संताप नहीं हुआ था, पर जब शिवजी का अपमान देखा, तब पहले अपमान की भी प्रतीति हुई।

पाछिल दुख अस हृदय न व्यापा। जस यह भयेउ महापरितापा ॥६॥
जद्यपि जग दारुन दुख नाना। सब ते कठिन जाति-अपमाना ॥७॥
समुझि सो सतिहिं भयेउ अति क्रोधा। बहुबिधि जननी कीन्ह प्रबोधा ॥८॥

दोहा—सिव-अपमान न जाइ सहि, हृदय न होइ प्रबोध।
सकल सभहिं हठि हटकि तब, बोलीं बचन सक्रोध ॥६३॥

अर्थ—पिछला (पति त्याग का) दुःख ऐसा हृदय में नहीं व्यापा (लगा) था, जैसा यह पति-अपमान का महाघोर दुःख हुआ ॥६॥ यद्यपि जगत् में विषम दुःख अनेक (भाँति के) हैं, तो भी जाति-अपमान इन सबसे कठिन है ॥७॥ यह समझकर सतीजी को बड़ा ही क्रोध हुआ, (इसपर) माता ने उनको बहुत तरह से समझाया ॥८॥ पर शिवजी का अपमान नहीं सहा जाता और न हृदय को प्रबोध ही होता था ; अतः, सतीजी सब समाज को हठ पूर्वक हटकि (चुप कराके = अपनी ओर आकर्षित करके) क्रोधपूर्वक बोलीं ॥६३॥

विशेष—(१) 'पाछिल दुख अस······' प्रथम भी असह्य दुःख था। यथा—"एहि विधि दुखित प्रजेसकुमारी। अकथनीय दारुन दुःख भारी ॥" (दो० ५९); परन्तु वह अपने हृदय की ही बात थी, कोई नहीं जानता था। यहाँ तो यज्ञ में सुर, मुनि आदि बहुत लोग निमंत्रित हैं। इनमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश का बराबर भाग मिलता था ; पर यहाँ शिवजी का अपमान हुआ है, इसे सभी जान गये। इससे अत्यन्त परिताप हुआ। यथा—"संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन-कोटि-सम दारुन दाहू ॥" (अ० दो० ९४) तथा—"अकीर्तिञ्चापि भूतानि······" से—"ततो दुःखतरं नु किम् ॥" (गीता २।३४-३६) तक।

(२) 'जननी कीन्ह प्रबोधा'—माता ने पिता से अपमानित सती की चेष्टा देखकर इसका साथ नहीं छोड़ा कि यह निमन्त्रित नहीं है, जिससे कोई कुछ कह न दे। प्रबोध भी किया कि तुम्हारी विदाई सब बहनों से अधिक रूप में मैं करूँगी, इत्यादि।

सुनहु सभासद सकल मुनिंदा। कही सुनी जिन्ह संकर-निंदा ॥१॥
सो फल तुरत लहब सब काहू। भली भाँति पछिताब पिताहू ॥२॥

संत - संभु - श्रीपति - अपवादा। सुनिय जहाँ तहँ असि मरजादा ॥३॥
काटिय तासु जीभ जो बसाई। श्रवन मूँदि न त चलिय पराई ॥४॥

शब्दार्थ—मुनिंदा (मुनीन्द्र) = मुनीश्वरो। लहब = पाओगे। अपवादा = निन्दा = झूठा दोषारोपण। मरजादा (मर्यादा) = नियम, रीति, रसम।

अर्थ—हे सभासदो और समस्त मुनीश्वरो ! सुनिये। जिन्होंने शंकरजी की निन्दा कही और सुनी है, उन सबको इसका फल तुरंत ही मिलेगा और पिता भी भली भाँति पछतावेंगे। १-२॥ संत, शंभु और विष्णु भगवान् की निन्दा जहाँ सुनने मे आवे, वहाँ नियम तो ऐसा है कि अपना वश चले, तो निन्दक की जीभ काट ले, नहीं तो कान में अंगुल दे (मूँद) कर भाग जाय ॥३-४॥

विशेष—'निंदा'—जो दोष किया गया हो और उसे कोई कहे, उसे 'परिवाद' कहते हैं और झूठा दोष लगाकर कहना अपवाद (निंदा) है—"परिवादोऽपवादो वा राघवे नोपपद्यते ॥" (वा० अ० ११।१७)। यथा—"अगुन अमान जानि तेहि, दीन्ह पिता बनबास। सो दुख अरु जुवती-बिरह।..." से—"बसुकु तजि टेक॥" (लं० दो० ३१) तक—ये सब बातें श्रीरामजी के दोष रूप में रावण की गढ़ी हुई हैं और झूठी हैं। अतः, इसे ही कहा—"जब तेइ कीन्ह राम कै निंदा।" इसपर अंगद ने रावण की जीभ किस तरह काटी है—अंगद ने श्रीरामप्रताप से वहाँ बहुत-कुछ कहा है और प्रभाव प्रकट करके भी दिखाया है। अतएव समर्थ थे, पर शास्त्र प्रमाणों के द्वारा उसकी वाणी का खंडन ही किया है। यथा—"सो नर क्यों दसकंध, बालि बध्यो जेहि एक सर।" नरत्व का खंडन इस प्रमाण एवं—"राममनुज कस रे सठ बंगा।...तव सुन मारि।" (लं० दो० २६) इत्यादि और भी प्रमाणों से किया है। फिर अंगद ने—"मैं तव दसन तोरिबे लायक।" ...से—"आयसु दीन्ह न राम उदारा॥" (लं० दो० ३३) तक अपना पुरुषार्थ कहा। रावण ने 'लबार' कहकर उनकी निन्दा की, तब अंगद उसकी जीभ उखाड़ने को कहते हैं। यथा—'साँचेहुँ मैं लबार भुज बीहा। जौं न उपारउँ तव दस जीहा॥" (लं० दो० ३३)। इसपर अंगद ने पाँव रोपकर उठाने को कहा। रावण समाज के साथ भी यह न कर सका, इस तरह अपने कर्म से उसकी वाणी (जीभ) को उखाड़ा (खंडन किया)। दूसरे प्रकार में काटने का भाव छुरे से काटना एवं कहीं-कहीं 'काढ़िय' भी पाठ है, जड़ से उखाड़ फेंकने का भाव भी—"गिरहि न तव रसना अभिमानी॥ गिरिहहिं रसना संसय नाहीं। सिरन्हि समेत समर महि माहीं॥" (लं० दो० ३२)। इस वचन से श्रीराम-पुरुषार्थ द्वारा कहा गया है। श्रीमद्भागवत में भी इस अवसर में देवी ने यही कहा है—"कर्णौ पिधाय निरयाद्यदकल्प ईशे धर्मावितर्यसृणिभिर्नृभिरस्यमाने। छिन्द्यात्प्रसह्य रुशतीमसतीं प्रभुश्चेज्जिह्वामसूनपि ततो विसृजेत्स धर्मः॥ (स्क० ४, अ० ४, श्लोक १७)। यहाँ भी 'छिन्द्यात्' से काटने (शास्त्र-प्रमाणों से वाणी-खंडन करने) का ही भाव है छुरा लगाकर जीभ उखाड़ने का नहीं ! 'न त चलिय पराई'—बैठे रहने पर निंदा में सहमत होना होता है। अतः, पाप है। निन्दा भारी पाप है—"परनिंदा सम अघ न गिरीसा।" (उ०दो० १२०) एवं—"हरि-हर निंदा सुनहिं जे काना। होइ पाप गोघात समाना॥" (लं० दो० ३१)।

जगदातमा महेस पुरारी। जगत-जनक सबके हितकारी ॥५॥
पिता मंदमति निंदत तेही। दच्छ-सुक्र-संभव यह देही ॥६॥

तजिहउँ तुरत देह तेहि हेतू। उर धरि चंद्रमौलि वृषकेतू ॥७॥
अस कहि जोगअगिनि तनु जारा। भयेउ सकल मख हाहाकारा ॥८॥

अर्थ—महादेवजी जगत् के आत्मा, त्रिपुरासुर के शत्रु, जगत् के उत्पादक और सबका हित करने वाले हैं ॥४॥ नीच बुद्धि पिता उनकी निंदा करते हैं और यह देह उन (पति निंदक) के वीर्य से उत्पन्न है ॥६॥ इस कारण (द्वितीया के) चन्द्रमा को ललाट पर धारण करनेवाले, धर्म को ध्वजा शिवजी को हृदय में धारण करके मैं इस देह को शीघ्र ही त्याग दूँगी ॥७॥ ऐसा कहकर सतीजी ने योगाग्नि में शरीर जला दिया, इससे समस्त यज्ञशाला में हाहाकार मच गया ॥८॥

विशेष—(१) 'जगदातमा महेस···' जगत् के आत्मा से वैर करना अपने आत्मा ही से वैर करना है (कल्पभेद से शिवजी से सृष्टि भी होती है; यहाँ स्तुति-प्रसंग है। अतः, पूर्ण ऐश्वर्य कहा गया है)। 'महेस'—इन्द्रादि देवों की निंदा भी भारी पाप है, ये तो महादेव हैं। 'पुरारी'—त्रिपुरासुर के वध से इनका बल भी समझ लेना चाहिये। 'जगतजनक'—निंदक के भी पिता हैं। अत, गुरुजन-निन्दा और भी भारी पाप है। 'सब के हितकारी'—अतएव शिव-निन्दक का किसी प्रकार हित नहीं हो सकता।

(२) 'पिता मंदमति निंदत···'—पिताजी ने पूर्व ब्रह्म-सभा में वचन से निन्दा की थी, अब यज्ञ करके इनका नेवता काटकर एवं भाग न रखकर अपमानपूर्वक सहस्रों ऋषियों और देवताओं के समक्ष कर्म-द्वारा शिवजी की निन्दा कर रहे हैं कि शिवजी अयोग्य हैं, तभी तो नेवता कटा एवं भाग बन्द हुआ।

(३) 'तजिहउँ तुरत देह···' श्रीमद्भागवत, स्कंध ४ में दक्ष के प्रति सती के वचन हैं—"जैसे अज्ञान-वश अशुद्ध अन्न खाने पर वमन करने ही से उसकी शुद्धि होती है, वैसे तुमसे उत्पन्न इस देह का त्यागना ही प्रायश्चित्त है। तेरे संबंध से मुझे लज्जा है, ऐसे जन्म को धिक्कार है, इत्यादि"—कहकर देह त्यागना कहा है। 'तुरत' एक क्षण भी पिता का सम्बन्ध नहीं सह सकती।

'उर धरि चन्द्रमौलि···' द्वितीया का चन्द्रमा दीन-क्षीण है, उसका धारण कर उसे महत्त्व दिया। वैसे शिवजी मुझ दीना को भी स्वीकार करेंगे और महत्त्व देंगे। वे धर्म की ध्वजा हैं, मेरे पातिव्रत्य-धर्म की रक्षा करेंगे—उसके फलरूप में अपनी प्राप्ति देंगे।

(४) 'अस कहि जोग···'—योगाग्नि में शरीर जलाने की क्रिया, भाग० स्क० ४, अ० ४ में कही गई है—"सतीजी उत्तर की ओर मुख करके मौन होकर बैठ गईं। पीताम्बर धारण कर आचमन किया। नेत्र बन्द कर आसन लगाकर, 'प्राण' और 'अपान' वायु को नाभिचक्र में स्थिर करके 'समान' (वायु) किया। फिर नाभिचक्र से 'उदान' वायु को धीरे-धीरे उठा तीनों मिले हुए वायुओं को हृदय में स्थिर करके, तब वहाँ से उन्हें कंठ-मार्ग से भ्रुकुटियों के बीच में ले गईं। इस प्रकार वायु रोककर योगाग्नि की धारणा की और एक मात्र शिवजी ही इनके ध्यान में रह गये। ऐसा होते ही समाधि से उत्पन्न योगाग्नि द्वारा शरीर तुरंत जल उठा।"

शंका—योगाग्नि से शरीर जलने से पुनर्जन्म नहीं होता। यथा—"तजि जोग-पावक देह हरि-पद लीन भइ जहँ नहिं फिरे।" (आ० दो० ३६)। इसमें शबरीजी की मुक्ति कही गई है। फिर सतीजी का हिमाचल के यहाँ जन्म क्यों हुआ?

समाधान—शबरीजी ने वैसा कोई वर नहीं माँगा था, इससे लीन होना कहा गया है, पर यहाँ तो सतीजी ने वर माँगा था। यथा—"सती मरत हरिसन बर माँगा। जनम जनम सिव-पद-अनुरागा॥

तेहि कारन हिमगिरि-गृह जाई। जनमीं पारवती-तनु पाई॥" (दो० ६४)। इसे ग्रंथकार ने ही समझा दिया है। ऐसी ही शरभंग मुनि की भी व्यवस्था है। यथा—"अस कहि जोग-अगिनि तनु जारा।···ताते मुनि हरि-लीन न भयेऊ। प्रथमहिं भेद भगति वर लयेऊ॥" (अ० दो० १०)।

(५) 'हाहाकारा'—भा० स्कं० ४, अ० ५ में कहा गया है कि लोग कहने लगे—"हा-हा! बड़े खेद की बात है। शिवप्रिया सतीजी ने कुपित होकर प्राण ही त्याग दिये। अहो! इस प्रजापति की महामूढ़ता और दुर्जनता तो देखो। इसने अपनी कन्या का ही निरादर किया जो सभी की माननीया एवं पूज्या है!"

दोहा——सती-मरन सुनि संभुगन, लगे करन मख खीस।
जज्ञ-विध्वंस बिलोकि भृगु, रच्छा कीन्हि मुनीस॥६४॥

अर्थ—सतीजी का मरना सुनकर शिवजी के गण यज्ञ को नष्ट-भ्रष्ट करने लगे। यज्ञ का नाश होते देखकर मुनीश्वर भृगु ने उसकी रक्षा की॥६४॥

विशेष—'मरन सुनि'—गण लोग यज्ञशाला में नहीं जाने पाये थे। आकाशचारी देवों के हाहाकार के शब्दों से जानकर अस्त्र-शस्त्र सजे हुए वहाँ घुस पड़े।

'भृगु'—महाभारत के अनुसार रुद्र के महायज्ञ में ब्रह्माजी के तेज - द्वारा अग्निशिखा से इनका जन्म हुआ। ये सप्तर्षियों में भी माने जाते हैं। त्रिदेवों की परीक्षा में इन्हीं ने विष्णु भगवान् की छाती पर लात मारी थी, जिसका तात्पर्य यह था कि उनकी छाती में श्री (लक्ष्मी) का निवास है, उनपर लात मारना अर्थात् विरक्त रहना ब्राह्मण को योग्य है। दैत्यगुरु शुक्राचार्य तथा श्रीपरशुरामजी इन्हीं के वंश में हुए। दैत्यों का आश्रय देने के कारण इन्हीं की पत्नी को विष्णु ने मार डाला था।

'भृगु रच्छा कीन्ह···'—ब्रह्म-सभा के शिव-दक्ष-विवाद में भृगुजी दक्ष के पक्ष में थे और इस यज्ञ के (संभवतः) आचार्य भी थे। अतः, रक्षा की। "विघ्ननाशक मंत्रों से आहुति दी, जिससे ऋभु नामक सहस्रशः वीर, तेजस्वी तथा यज्ञरक्षक देवगण तुरंत प्रकट हुए और जलती हुई लकड़ियों से प्रहार करके शिवगणों को मार भगाया।" (भा० स्कं० ४ अ०, अ० ४)। 'मुनीस'—क्योंकि भृगुजी मुनियों में समर्थ भी थे।

समाचार सब संकर पाये। बीरभद्र करि कोप पठाये॥१॥
जज्ञबिधंस जाइ तिन्ह कीन्हा। सकल सुरन्ह बिधिवत फल दीन्हा॥२॥
भइ जगबिदित दच्छगति सोई। जसि कछु संभु-बिमुख कै होई॥३॥
यह इतिहास सकल जग जाना। ताते मैं संछेप बखाना॥४॥

अर्थ—जब शिवजी ने सब समाचार जाने तब क्रोधित होकर वीरभद्र को भेजा॥१॥ उन्होंने जाकर यज्ञ का नाश कर डाला और सब देवताओं को यथायोग्य फल दिया॥२॥ दक्ष की वही जगत्-प्रसिद्ध दशा हुई, जैसी कुछ शिव-द्रोहियों की हुआ करती है॥३॥ यह इतिहास सारा संसार जानता है, इसी से मैंने थोड़े ही में इसका वर्णन किया है॥४॥

विशेष—(१) 'समाचार सब''' श्रीनारदजी के द्वारा समाचार पाना (श्रीमद्भागवत स्कं० ४) में कहा गया है, अथवा भागे हुए गणों के द्वारा ही जाने गये हों।

'बीरभद्र करि कोप''' श्रीमद्भागवत में लिखा है कि शिवजी ने क्रुद्ध होकर जटा उखाड़ी और उसे पृथिवी पर पटक दिया जिससे वीरभद्र प्रकट हुए। इनका शरीर बड़ा विशाल था और हजार भुजाएँ थीं। सूर्य के समान तेज था, तीन नेत्र थे, दाँत कराल और शिर के केश अग्निज्वाला के समान थे। श्याम वर्ण, मुंडमाला पहने और अस्त्र-शस्त्रों से सजे हुए थे। (वे ही 'ज्वर' कहे जाते हैं।) कुपित होकर शिवजी ने आज्ञा दी—"हे वीर! दक्ष के यज्ञ को नष्ट करो।" वे अपने को कृतार्थ मानकर आज्ञा पालने के लिये कुछ और गणों के साथ दौड़े हुए, यज्ञशाला की ओर चले। उधर यज्ञशाला की ओर अशुभसूचक महाघोर उत्पात आकाश और अंतरिक्ष में होने लगे। दक्ष का हृदय भी काँप उठा।

(२) 'जग्य बिधंस''' वीरभद्र ने गणों के साथ यज्ञशाला को घेर लिया और उसे नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। किसी ने होमकुंड में मूत्र कर दिया, अग्नि बुझा दी, इत्यादि।

'सकल सुरन्ह''' मणिमान् रुद्र ने भृगु को बाँध लिया और वीरभद्र ने दक्ष को। चण्डीश ने सूर्य देव को और नन्दीश्वर ने भग देव को जा दबोचा। भृगु की दाढ़ी उखाड़ ली गई, क्योंकि जब दक्ष ने शिवजी की निंदा की थी, तब ये दाढ़ी हिला-हिलाकर इसका समर्थन कर रहे थे। इसी तरह भग देवता की आँखें और पूषा के दाँत निकाले गये तथा और भी जिन्होंने जिन अंगों से दक्ष का अनुमोदन किया था, उनके वे ही अंग नष्ट किये गये। वीरभद्र ने दक्ष को गिरा उसका शिर मरोड़कर उसी से हवनकुंड की पूर्णाहुति की। ऐसी ही विविध दशा अन्य कार्यकर्त्ताओं की भी हुई। फिर यज्ञशाला को जलाकर रुद्र-गण कैलाश को लौट गये।

सती मरत हरि सन बर माँगा। जनम-जनम सिवपद-अनुरागा ॥५॥
तेहि कारन हिमगिरि-गृह जाई। जनमीं पारबती - तनु पाई ॥६॥
जब ते उमा सैलगृह जाई। सकल सिद्धि संपति तहँ छाई ॥७॥
जहँतहँ मुनिन्ह सुआश्रम कीन्हे। उचित बास हिमभूधर दीन्हे ॥८॥

अर्थ—सतीजी ने मरते समय हरि (श्रीरामजी) से वर माँगा कि जन्म-जन्म में शिवजी के ही चरणों में मेरा अनुराग हो ॥५॥ इसी कारण वे हिमाचलराज के घर पार्वती-शरीर पाकर उत्पन्न हुईं ॥६॥ जब से उमाजी का हिमाचल के यहाँ जन्म हुआ, तब से वहाँ सब सिद्धियाँ और सम्पत्तियाँ छा गईं ॥७॥ मुनि लोग जहाँ-तहाँ सुन्दर आश्रम बनाकर रहने लगे, उन्हें (आश्रम बनाने के लिये) हिमाचल ने उचित स्थान दिये ॥८॥

विशेष—(१) 'तेहि कारन''' पूर्व—'*अस कहि जोग-अगिनि'''*' (दो० ६३) पर कहा गया कि योगाग्नि से शरीर त्याग होने पर पुनर्जन्म नहीं होता। उसी का समाधान यहाँ करते हैं कि इन्होंने ऐसा वर ही माँग लिया था, इसी से जन्मीं।

श्री सतीजी ने हरि से शिवजी के चरणों में अनुराग माँगा था, उसके योग्य हिमगिरि स्थल है, क्योंकि तपोभूमि है और कैलाश का-सा स्वच्छ वर्ण एवं उसका सम्बन्धी है।

सती की इच्छा भी यहाँ के जन्म के विषय में कही जा सकती है। यथा—"निज इच्छा लीला वपु धारिनि।'''अब जनमि तुम्हरे भवन निजपति लागि दारुन तप किया॥" (दो० ९७)।

(२) 'जब ते उमा सैल'''' घर में प्रभावशाली सन्तान के उत्पन्न होने से अभ्युदय होता ही है। यथा—"तब ते दिन दिन उदय जनक की जब ते जानकि जाई।" (गी० बा० १६)।

(३) 'जहँतहँ मुनिन्ह'''—ब्रह्म-विद्या की मूलरूपा एवं सिद्धियों की अधिष्ठात्री उमा के जन्म-संसर्ग से हिमालय को सिद्धपीठ जानकर मुनिलोग विशेष करके रहने लगे हैं।

दोहा—सदा सुमन-फल-सहित सब, द्रुम नव नाना जाति।
प्रगटीं सुंदर सैल पर, मनि आकर बहु भाँति॥६५॥

अर्थ—उस पर्वत पर नाना भाँति के सभी नवीन वृक्ष सदा फूल-फलों से युक्त रहते हैं और बहुत प्रकार की सुन्दर मणियों की खानें पर्वत पर प्रकट हुईं॥६५॥

विशेष—पत्ते, फूल और फल वृक्षों की ये तीन संपत्तियाँ हैं। यहाँ तीनो सम्पत्तियाँ सदा रहती हैं। फूल, फल-स्पष्ट हैं। 'नव' से नवीन पल्लव भी आ जाते हैं। पुनः 'नव' से अर्थान्तर के द्वारा 'नये (झुके) हुए भी' अर्थ हो सकता है। यथा—"फल भारन नमि बिटप सब, रहे भूमि नियराइ।" (आ० दो० ४०)। यह उमाजन्म के प्रभाव से है। यथा—"जबते आइ रहे रघुनायक। तबते भयो बन मंगलदायक॥ फूलहिं फलहिं बिटप...' से—"सुखसागर जहँ कीन्ह निवासू॥" (अ० दो० १३६—३८) तक।

सरिता सब पुनीत जलु बहहीं। खग मृग मधुप सुखी सब रहहीं॥१॥
सहज बैर सब जीवन त्यागा। गिरि पर सकल करहिं अनुरागा॥२॥
सोह सैल गिरिजा गृह आये। जिमि जिन रामभगति के पाये॥३॥
नित नूतन मंगल गृह तासू। ब्रह्मादिक गावहिं जस जासू॥४॥

शब्दार्थ—सरिता सब=(गंगा, यमुना आदि) सब नदियाँ। पुनीत=पवित्र। सहज बैर=स्वाभाविक बैर (जैसे चूहे-बिल्ली एवं हाथी-सिंह का)।

अर्थ—वहाँ सब नदियाँ पवित्र जल प्रवाहित करती हैं। पक्षी, मृग (जंगली जानवर), भ्रमर—ये सब सुखी रहते हैं॥१॥ सब जीवों ने अपने स्वाभाविक वैर छोड़ दिये और उस पर्वत पर सभी अनुराग रखते हैं॥२॥ श्रीपार्वतीजी के घर में आने से पर्वतराज हिमाचल का स्थान (राज्य) शोभायमान हो रहा है, जैसे मनुष्य श्रीराम-भक्ति पाने से सोहता है॥३॥ उसके घर में नित्य नये मंगल होते हैं और ब्रह्मादि यश गाते हैं॥४॥

विशेष—(१) 'सहज''' 'बैर'—यथा—"करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगत बैर बिचरहिं सब संगा॥" (अ० दो० १३०)।

(२) 'जिमि जन राम-भगति...'—श्रीराम-भक्ति परम दुर्लभ है। यथा—"नर सहस्र महँ..." से—"सो हरि-भगति काग किमि पाई।" (उ० दो० ५३) तक।

इस भक्ति के भेद—"भगति-निरूपन विविध विधाना।..." (दो० ३६) में कहे गये हैं। इसके कुछ लक्षण, यथा—"कहहु भगति-पथ कवनि प्रयासा।" से—"परानंदसंदोह॥" (अ० दो० ४६) तक तथा आरण्य कांड में कई जगह कहे गये हैं। इस भक्ति से श्रीरामजी ही भक्त के वश हो जाते हैं। इससे वह शोभा पाता है, यथा—"आछ को ललात जे ते रामनाम के प्रसाद खात खुनसात सोंधे दूध की मलाई है।" (क० उ० ७४)। इसी प्रकार भक्ति-हीन अशोभित होता है, यथा—"भगतिहीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल वारिद देखिय जैसा॥" (आ० दो० ३४)।

(३) 'नित नूतन मंगल...' जैसे छठी, बरही, नामकरण आदि।

नारद समाचार सब पाये। कौतुक ही गिरिगेह सिधाये॥५॥
सैलराज बड़ आदर कीन्हा। पद पखारि बर आसन दीन्हा॥६॥
नारि-सहित मुनिपद सिर नावा। चरनसलिल सब भवन सिंचावा॥७॥
निज सौभाग्य बहुत गिरि बरना। सुता बोलि मेली मुनिचरना॥८॥

अर्थ—नारदजी ने (उमा-अवतार के) सब समाचार पाये, तब वे मनोविनोद के लिये हिमाचल के घर गये॥५॥ पर्वतराज हिमालय ने उनका बड़ा आदर किया, चरण धोकर उत्तम आसन बैठने को दिया॥६॥ फिर स्त्री के साथ मुनि के चरणों में प्रणाम किया, और उनके चरणोदक से सारा घर सिंचाया (छिड़कवाया कि पवित्र हो)॥७॥ (मुनि के शुभागमन पर) गिरिराज ने अपना बहुत सौभाग्य कहा और कन्या (पार्वती) को बुलाकर मुनि के चरणों पर डाल दिया (प्रणाम कराया)॥८॥

विशेष—(१) 'नारद समाचार ..' ऊपर कहा है कि ब्रह्मादिक उमाजी का यश गाते थे। उन्हीं से नारदजी को भी समाचार मिला। 'कौतुकही' क्योंकि नारदजी कौतुक-प्रिय हैं। यथा—"मुनि कौतुकी नगर तेहि गयेऊ।" (दो० १२६)। 'गिरिगेह'—क्योंकि नारदजी सर्वत्र जा सकते हैं और इनसे कहीं कोई परदा नहीं करता। यथा—"त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ तुम्ह, गति सर्वत्र तुम्हारि।" (दो० ६६) तथा—"नारद को परदा न नारदसों पारिखो।" (क० बा० १६)। कौतुकी को आलस्य नहीं। अतः, 'सिधाये' कहा है।

(२) 'सैलराज बड़ आदर...' बड़े आदर का ही वर्णन आगे है—परात में चरण धोना, चरणोदक लेना, चरणामृत से घर पवित्र करना, सुन्दर आसन देना और आगमन के सम्बन्ध से अपना भाग्य सराहना—इत्यादि बड़ा आदर है। कहा भी है—"पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता।" (उ० दो० ४४), "जौं रघुबीर अनुग्रह कीन्हा। तौ तुम्ह मोहिं दरस हठि दीन्हा॥" (सुं० दो० ६)। "बड़े भाग पाइय सतसंगा।" (उ० दो० ३२।) 'मेली'—डाल दिया, यथा—"पद-सरोज मेले दोउ भाई।" (दो० २६८)।

दोहा—त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ तुम्ह, गति सर्वत्र तुम्हारि।
कहहु सुता के दोष-गुन, मुनिबर हृदय बिचारि॥६६॥

अर्थ—हिमालय ने नारदजी से कहा कि आप तीनों कालों के जाननेवाले एवं सब विद्याओं के भी ज्ञाता हैं, और सब जगह आपकी पहुँच है। अतः, हे मुनिवर! अपने हृदय में विचार कर इस कन्या के दोष-गुण बतलाइये।

विशेष—'त्रिकालज्ञ'—आप तीनों कालों अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान के जाननेवाले हैं। अतः, तीनो कहिये ! श्रीनारदजी ने तीनों कहा भी है—"सुता तुम्हारि सकल गुनखानी। "सब लच्छन संपन्न कुमारी।"—यह वर्तमान; "होइहि संतत पियहि पियारी"।···से—"परी हस्त असि रेख॥" (दो॰ ६७) तक भविष्य कहा और भूतकाल के कथन में अभी ऐश्वर्य प्रकट हो जायगा, तब दंपती को वात्सल्य का सुख न होगा। इसलिये इसे आगे—"पूरब कथा-प्रसग सुनावा।···"से—"गिरिजा सर्वदा संकरप्रिया॥" (दो॰ ६७) तक के प्रसंग से कहेंगे।

'सर्वज्ञ'—आप सामुद्रिक शास्त्र भी जानते हैं। अतः, हाथ देखकर इसके गुण-दोष कहिये। 'गति सर्वत्र तुम्हारि'—अतः, इसके योग्य वर भी आप बतलावें, यह अभिप्राय है। श्रीनारदजी आगे गुण-दोषों के साथ-साथ वर भी बतलाते हैं—

कह मुनि बिहँसि गूढ़ मृदु बानी। सुता तुम्हारि सकल गुनखानी॥१॥
सुंदर सहज सुसील सयानी। नाम उमा अंबिका भवानी॥२॥
सब लच्छनसंपन्न कुमारी। होइहि संतत पियहि पियारी॥३॥
सदा अचल येहि कर अहिवाता। येहि ते जस पइहहि पितु माता॥४॥

अर्थ—श्रीनारद मुनि ने हँसकर गूढ और कोमल वचन कहा कि तुम्हारी कन्या सम्पूर्ण गुणों की खान है॥१॥ यह स्वाभाविक ही सुन्दरी, सुशील और सयानी है। उमा, अम्बिका और भवानी इसके नाम हैं।॥२॥ यह कुमारी सब सुलक्षणों से पूर्ण है, यह निरंतर पति को प्यारी होगी॥३॥ इसका अहिवात (सुहाग) सदा अचल रहेगा। माता-पिता इससे यश पावेंगे॥४॥

विशेष—(१) 'कह मुनि बिहँसि गूढ '—'बिहँसि'—कौतुकप्रियता के कारण मुनि हँसे; क्योंकि इस वर्णन से आगे बड़े-बड़े कौतुक होंगे। पुनः हिमालय गिरिजा का ऐश्वर्य नहीं जानते और नारदजी जानते हैं। अतः, प्रसन्न हुए।

'गूढ मृदु बानी'—दम्पती के समझने में स्पष्ट अर्थवाले प्रिय कोमल वचन है, पर इनके गूढ़ाशय में उमाजी की स्तुति और ऐश्वर्य भरा है। प्रकट अर्थ अक्षरार्थ में ही है। गूढ़, यथा—"सकल गुनखानी'—सत्, रजस् और तमस् ये तीन गुण हैं, इनसे ये उत्पत्ति, पालन और संहार करनेवाली हैं। यथा—"जग-संभव-पालन-लय कारिनि।" (दो॰ ६७)। उमा अंबिका भवानी।'—उमा अर्थात् 'ओम्' (अ, उ, म्) स्वरूपा हैं। यह वर्तमान का नाम है, इससे स्वयं शोभायुक्ता हैं, क्योंकि ब्रह्म-विद्या की मूलरूपा हैं। 'अंबिका'—यह मूल प्रकृति की भी संज्ञा है, इससे भूतकाल का नाम जनाया तथा स्वामि कार्तिक और गणेश की अम्बा (माता) हैं, इससे पुत्र सम्बन्ध की भी शोभासम्पन्ना हैं। 'भवानी' भव (शिवजी) की पत्नी रूप मे होकर भवानी होंगी, यह भविष्य का नाम कहा। यह पति-संबंध की महिमा है।

'संतत पियहिं···सदा अचल ..' से शिवजी का नित्य सम्बन्ध जनाया जिससे—"अजा अनादि सक्ति अविनासिनि। सदा संभु अरधंग निवासिनि॥" (दो॰ ६७) का महत्त्व भी सूचित हुआ। 'जस पइहहि···'—इससे श्रीरामचरित मानस प्रकट होगा, जिससे इसके साथ पिता-माता की भी कीर्त्ति चलेगी, अन्यत्र पिता से संतान की ख्याति होती है, पर यहाँ संतान से ही पिता-माता की बड़ाई है; यथा—"ध्रुव हरि-भगत भयेउ सुत जासू।" (दो॰ १७१)।

होइहि पूज्य सकल जग माहीं । येहि सेवत कछु दुर्लभ नाहीं ॥५॥
येहि कर नाम सुमिरि संसारा । त्रिय चढ़िहहिं पतिव्रत-असिधारा ॥६॥
सैल सुलच्छन सुता तुम्हारी । सुनहु जे अब अवगुन दुइ चारी ॥७॥

अर्थ—(यह कन्या) समस्त जगत् में पूज्य होगी, इसकी सेवा करने से कुछ भी दुर्लभ न रहेगा। ॥५॥ संसार में स्त्रियाँ इसका नाम स्मरण कर पातिव्रत्य रूपी तलवार की धारा पर चढ़ेंगी ॥६॥ हे गिरिराज ! यह तुम्हारी कन्या सुलक्षणा है। अब जो दो-चार अवगुण हैं, उन्हें भी सुनो ॥७॥

विशेष—(१) 'होइहि पूज्य···' यथा—"पतिदेवता सुतीय महँ, मातु प्रथम तव रेख।।" "देवि पूजि पद कमल तुम्हारे। सुरनर मुनि सब होहिं सुखारे ॥" "सेवत तोहिं सुलभ फल चारी। वरदायिनी पुरारि-पियारी ॥" (दो० २३५)।

(२) 'येहि कर नाम सुमिरि··' इसके नाम में ऐसी शक्ति होगी कि वह स्त्रियों को पतिव्रता बनावेगी। पातिव्रत्य धर्म पर आरूढ़ होना तलवार की धार पर चढ़ना है। तलवार की धार पर पैर रखना ही कठिन है, उसपर खड़ा रहना तो असंभव-सा है, वैसे पातिव्रत्य धर्म पर आरूढ़ रहना अति कठिन है। वह भी इसके नाम के बल पर सुगम हो जावेगा। स्त्रियाँ पातिव्रत्य धर्म की दृढ़ता के लिये गौरी-पूजन करती भी हैं।

(३) 'सैल सुलच्छन सुता···'—'सुता तुम्हारी' अर्थात् जबतक तुम्हारी सुता-रूप में तुम्हारे यहाँ है, तबतक तो इसमें सब सुलक्षण ही हैं। हाँ, विवाह के पीछे पति-सम्बन्ध से अवगुण होंगे, (यहाँ पति-पत्नी एक मानकर पति के अवगुण इसमें कहते हैं, वही आगे स्पष्ट कहेंगे) यथा—'जे जे बर के दोष बखाने।' (दो० ६८)।

'दुइ चारी'—यह अल्पतासूचक मुहावरा है। प्रथम 'दुइ' कहकर 'चारी' कहा कि घबरा न जायँ।

(४) प्रथम—'सुता तुम्हारि सकल गुनखानी।' कहकर 'सुलच्छन सुता तुम्हारी।' पर उपसंहार किया। इसमें उमा के ११ ही गुण कहे गये हैं—'सुंदर, सुशील, सयानी, उमा, अंबिका, भवानी, संतत-पियहिं-पियारी, अचल अहिवात, येहितें जसु पैहहिं पितु-माता, होइहि पूज्य, येहि कर नाम सुमिरि···।' क्योंकि रुद्र ११ हैं और ये रुद्राणी हैं।

अगुन अमान मातु-पितु-हीना। उदासीन सब संसय छीना ॥८॥

दोहा—जोगी जटिल अकाम मन, नगन अमंगल बेख।
अस स्वामी येहि कहँ मिलिहि, परी हस्त असि रेख ॥६७॥

अर्थ—गुणहीन, मानहीन, माता-पिता-हीन, उदासीन, सब चिन्ता रहित, योगी, जटाधारी, काम-रहित मनवाला, नंगा और अमंगल (चिता-भस्मधारी) वेषवाला—ऐसा स्वामी (वर) इसको मिलेगा। इसके हाथ में ऐसी ही रेखा पड़ी है ॥८-६७॥

विशेष—उपर्युक्त दोष-परक प्रकट अर्थ है और इनके गूढ़ार्थ में नारद का हार्दिक अभिप्राय है—

	प्रकट अर्थ	गूढ़ार्थ
अगुन—	एक भी गुण नहीं है	गुणातीत हैं, सत्त्वादि गुणों से परे हैं।
अमान—	स्वात्माभिमानरहित एवं अप्रतिष्ठित	अभिमान-जित् = निरभिमान
मातु-पितु-हीना—	शिवजी के माँ-बाप का पता नहीं	स्वयंभू = अजन्मा हैं।
उदासीन—	रुक्ष स्वभाव एवं घर-बार-हीन	जीवमात्र पर शत्रु-मित्र भावरहित, निर्लेप।
सब संसय छीना—	घर-द्वार तथा खाने-पीने की चिन्ता नहीं	औरों के भी संशय छुड़ानेवाले हैं, स्वयं तो जगद्गुरु हैं ही।
जोगी—	जोगड़ा = भीख माँगनेवाला	परमात्मा में नित्य योगनिष्ठ एवं सिद्ध हैं।
जटिल—	बड़ी भारी जटावाला (भयानक)	चिरकालीन तपस्वी हैं।
अकाम-मन—	नपुंसक (कन्या पति-सुख से वंचित रहेगी)	कामजित् एवं पूर्णकाम हैं।
नगन—	निर्लज्ज एवं एकाकी रहनेवाला	माया के आवरणरूपी वस्त्र-रहित हैं एवं दिगंबर हैं।
अमंगल बेष—	'ब्याल-कपाल-बिभूषन छारा' = अशुभ	अ + मंगल = अतिशय मंगल। 'अ' अतिशयार्थबोधक भी है। यथा—'बुंद अघात सहैं ···।'

सुनि मुनिगिरा सत्य जिय जानी। दुख दंपतिहि उमा हरषानी ॥१॥
नारदहूँ यह भेद न जाना। दसा एक समुझब बिलगाना ॥२॥
सकल सखी गिरिजा गिरि मैना। पुलक सरीर भरे जल नैना ॥३॥
होइ न मृषा देवरिषि भाषा। उमा सो बचन हृदय धरि राखा ॥४॥

अर्थ—श्रीनारद मुनि के वचन सुनकर और जी में सत्य जानकर दंपती (हिमाचल और मैना) को दुःख हुआ और श्रीपार्वतीजी हर्षित हुई ॥१॥ श्रीनारदजी ने भी यह भेद नहीं जाना, क्योंकि दशा तो सबकी एक-सी थी, पर समझ भिन्न-भिन्न थी ॥२॥ सब सखियाँ, पार्वतीजी, हिमाचल और मैनाजी—इन सभी के शरीर पुलकपूर्ण हैं, और सबके नेत्रों में आँसू भरे हैं ॥३॥ देवर्षि नारदजी के वचन मिथ्या नहीं हो सकते, (अतः) उमा ने उन वचनों को हृदय में धारण कर लिया ॥४॥

विशेष—(१) 'सुनि मुनि गिरा सत्य '—यह उपसंहार है। इसका उपक्रम—'कह मुनि बिहँसि गूढ़ मृदु बानी।' पर है। इसी अर्द्धाली का स्पष्टीकरण आगे की छः अर्द्धालियों में है।

(२) 'नारदहूँ यह भेद न ···'—श्रीनारदजी के वचन अमिट हैं। इससे अवगुणों को सुनकर दंपती और सखीगण दुःखित हुई और श्रीपार्वतीजी ईश्वरी हैं, इन्हें वचनों का गूढ़ाशय समझ पड़ा। अतः शिवजी की प्राप्ति के सम्बन्ध से हर्ष हुआ, परन्तु पुलक और नेत्रों में आँसू आदि की दशा आपाततः एक-सी दीखती है। श्रीनारदजी ने इसपर विशेष ध्यान नहीं दिया, लोकरीति के अनुसार यही समझा कि माँ, बाप एवं परिजनों का दुःख देखकर पार्वतीजी भी दुःखित हो गई हैं, जैसे श्रीसीतारामजी को दुःखित समझकर निषादराज को दुःख हुआ है। यथा—"सोवत प्रभुहिं निहारि निषादू। भयेउ प्रेमबस

हृदय विषादू ॥ तन पुलकित जल लोचन बहई ।" (अ० दो० ८१) । श्रीनारदजी की सर्वज्ञता ईश्वर के ध्यान पर निर्भर है, क्योंकि जीव हैं। जीव ईश्वर के ध्यान-द्वारा ही सर्वत्र की बातें जान सकता है। यथा—"तब संकर देखेउ धरि ध्याना । सती जो कीन्ह चरित सब जाना ॥" (दो० ५५) ।

विशेष दृष्टि देने पर हर्ष और दुःख की पुलकावली एवं आँसुओं का भेद भी दिखाया जाता है। जैसे—"तासु दसा देखी सखिन्ह, पुलक गात जल नैन। कहु कारन निज हरष कर, पूछहिं सब मृदु बैन ॥" (दो० २२८) । यहाँ सखियों ने हर्ष के पुलक एवं आँसू जान लिये । हर्ष में आँसू शीतल और पुलक उमंग से खिले हुए शरीर को प्रकट करता है। दुःख में आँसू गर्म और पुलक में शरीर के चर्म सिकुड़े रहते हैं, इत्यादि। अगली ४, ५, ६ अर्द्धालियों में पार्वतीजी के हर्ष का कारण कहते हैं—

उपजेउ सिव-पद-कमल-सनेहू । मिलन कठिन मन भा संदेहू ॥५॥
जानि कुअवसर प्रीति दुराई । सखी - उछँग बैठि पुनि जाई ॥६॥
झूठि न होइ देवरिषि-बानी । सोचहिं दंपति सखी सयानी ॥७॥
उर धरि धीर कहइ गिरिराऊ । कहहु नाथ का करिय उपाऊ ॥८॥

अर्थ—शिवजी के चरण-कमलों में स्नेह उपज पड़ा, पर मिलना कठिन है, यह जानकर हृदय में संदेह हुआ ॥५॥ फिर उमाजी अनवसर जानकर प्रीति को छिपा सखी की गोद में जा बैठीं ॥ ६ ॥ देवर्षि की वाणी झूठी नहीं होती; अतएव स्त्री-पुरुष (हिमाचल और मैना) और सयानी सखियाँ सोचती हैं ॥७॥ हृदय में धैर्य धारण करके हिमाचल राज बोले कि हे नाथ ! कहिये, क्या उपाय किया जाय ? ॥८॥

विशेष—(१) 'उपजेउ सिव-पद ·' उमाजी ने नारदजी के गूढ़ाशय को जाना, शिवजी ही मुझे मिलेंगे; इसपर प्रेम उमड़ पड़ा, रोमांच एवं पुलकावली हुई ।

(२) 'जानि कुअवसर···'—ऋषि त्रिकालज्ञ एवं सर्वज्ञ हैं। मेरे हार्दिक प्रेम को न जान जायँ और माँ, बाप एवं सखियों के समक्ष भी पति विषयक प्रेम एवं दुःख भी छिपाना ही चाहिये। फिर कर्त्तव्य कर्म करूँगी ही।

(३) 'झूठ न होइ···' सामान्य देवता भी झूठ नहीं बोलते और ये तो देवर्षि हैं। अतः, कभी झूठ नहीं बोल सकते। दंपती और सयानी सखियाँ सोचती हैं कि ऐसी सुलक्षणा कन्या को ऐसा बुरा वर मिलेगा ! क्या करें ?

(४) 'उर धरि धीर···'—राजा प्रथम अधीर हो गये थे, अब धीर धरा। सामान्य गिरि भी गंभीर होते हैं। ये तो गिरिराज हैं, फिर क्यों न धैर्य धारण करें ?

दोहा—कह मुनीस हिमवंत सुनु, जो बिधि लिखा लिलार ।
देव दनुज नर नाग मुनि, कोउ न मेटनहार ॥६८॥

अर्थ—मुनीश्वर (नारदजी) बोले कि हे हिमाचल ! सुनो, ब्रह्माजी ने जो ललाट पर लिख दिया है, उसे मिटानेवाला देवता, दैत्य, मनुष्य, नाग और मुनि—कोई भी नहीं है।

विशेष—यहाँ देवता से देवलोक, दैत्य, और नाग से पाताल, और नर तथा मुनि से मर्त्य लोक-वासी कहे गये हैं। 'नाग' अर्थात् अष्टकुल नाग—ये हरि के द्वारपाल हैं। यथा—"तेषां प्रधानभूतास्ते शेषवासुकितक्षकाः॥ शंखः श्वेतो महापद्मः कम्बलाश्वतरौ तथा। एलापत्रस्तथा नागः कर्कोटकधनञ्जयौ॥" (विष्णुपुराण अंश १ अ० २१)। इसमें नागों के नाम कहे गये हैं।

ऊपर—'परी हस्त असिरेख।' कहा था, उसी को यहाँ—'बिधि लिखा लिलार' कहा गया है। इसी को 'भावी' भी कहते हैं अर्थात् जीव के कर्मानुसार हस्तरेखा और ललाट के अंक ब्रह्मा बनाते हैं। यथा—"बिधि के लिखे अंक निज भाला।" (लं० दो० २८) इत्यादि।

तदपि एक मैं कहउँ उपाई। होइ करइ जौं दैव सहाई॥१॥
जस बर मैं बरनेउँ तुम्ह पाहीं। मिलिहि उमहि तस संसय नाहीं॥२॥
जे जे बर के दोष बखाने। ते सब सिव पहिं मैं अनुमाने॥३॥
जौं बिबाहु संकर सन होई। दोषउ गुन सम कह सब कोई॥४॥

अर्थ—तो भी मैं एक उपाय कहता हूँ। जो दैव सहाय करे तो कार्य सिद्ध होगा॥१॥ जैसे वर का मैंने तुमसे वर्णन किया है, वैसा ही उमा को मिलेगा, इसमें संदेह नहीं॥२॥ वर के जो-जो दोष मैंने कहे हैं, वे सब मेरे अनुमान से शिवजी में हैं॥३॥ यदि शिवजी के साथ विवाह हो तो दोषों को भी सब लोग गुणों के समान ही कहेंगे॥४॥

विशेष—(१) 'तदपि एक···' अर्थात् दैव (ईश्वर) की सहायता से भावी भी मिट सकती है। अतः, कर्त्तव्य के साथ दैव का भरोसा भी चाहिये।

(२) 'दोषउ गुन सम···' अन्य लोगों में ये दोष हैं, पर शिवजी में गुणों ही के सदृश हैं, इसी के लिये आगे प्रमाण देते हैं। 'सब कोई' अर्थात् यह प्रसिद्ध बात है—कुछ अकेला मैं ही नहीं कहता।

जौं अहिसेज सयन हरि करहीं। बुध कछु तिन्ह कर दोष न धरहीं॥५॥
भानु कृसानु सर्ब रस खाहीं। तिन्ह कहँ मंद कहत कोउ नाहीं॥६॥
सुभ अरु असुभ सलिल सब बहई। सुरसरि कोउ अपुनीत न कहई॥७॥
समरथ कहुँ नहिं दोष गोसाईं। रबि पावक सुरसरि की नाईं॥८॥

अर्थ—जो हरि (क्षीरशायी भगवान्) शेष-शय्या पर शयन करते हैं, तो पंडित लोग उनको कुछ दोष नहीं लगाते॥५॥ सूर्य और अग्नि सर्व-प्रकार के रस खींचते हैं, किन्तु उनको कोई बुरा नहीं कहता॥६॥ गंगाजी के जल में शुभ और अशुभ सब पदार्थ बहते हैं, पर उन्हें कोई अपवित्र नहीं कहता॥७॥ अतः जैसे गोस्वामी (हरि), सूर्य, अग्नि और गंगाजी को दोष नहीं लगता, वैसे ही किसी भी समर्थ को दोष नहीं लगता॥८॥

विशेष—'समरथ कहँ...' यहाँ प्रथम हरि का उदाहरण दिया, फिर उनके अंगों का, क्योंकि सूर्य हरि भगवान् के नेत्र, अग्नि मुख और गंगाजी चरणोदक हैं। भगवान् स्वयं समर्थ हैं और सूर्य आदि तीनों उनके अंग होने से समर्थ हैं, वैसे ही शिवजी भी भगवान् के अहंकारस्वरूप हैं। यथा—"अहंकार सिव बुद्धि अज,..." (लं० दो० १५); अतः, समर्थ हैं। समर्थ के संयोग से दूषण भी भूषण हो जाते हैं। श्रीमद्भागवत के 'तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा' में केवल अग्नि ही का दृष्टान्त है।

'गोसाईं' शब्द का अर्थ 'इन्द्रियों के स्वामी' (हृषीकेश) 'हरि' ही यहाँ उपयुक्त है, क्योंकि ऊपर चार समर्थ क्रमशः कहे गये, उन्हीं को यहाँ उसी क्रम से एकत्र किया है। अन्यथा हिमाचल के लिये सम्बोधन मानना नारदजी की ओर से उतना संगत नहीं है। यहाँ 'समरथ' उपमेय, 'गोसाईं, रवि, पावक, सुरसरि' उपमान, 'नाईं' वाचक और 'नहिं दोष' धर्म है, अतः, पूर्णोपमा है।

दोहा—जौ असि हिसिषा करहिं नर, जड़ बिवेक अभिमान।
परहिं कलप भरि नरक महँ, जीव कि ईस समान ॥६९॥

शब्दार्थ—हिसिषा = ईर्ष्या = स्पर्धा = तुल्य भावना। जीव = मनुष्य, क्योंकि इसी अर्थ में पूर्वार्द्ध में नर शब्द है। ईस = शिवजी, यथा—"भयेउ ईस मन छोभ बिसेषी।" (दो० ८६); यहाँ 'जीव' चराचर जीव के अर्थ में नहीं है, क्योंकि 'विवेक-अभिमान' मनुष्य को ही हो सकता है और 'ईस' भी परमेश्वर के अर्थ में नहीं है, प्रसंगानुसार शिवजी के लिये है।

अर्थ—जो मूर्ख मनुष्य अपने ज्ञान के अभिमान से ऐसी बराबरी (स्पर्धा) करते हैं (वा करें) (कि मनुष्य शिवजी के तुल्य हैं, अर्थात् मैं भी तो ज्ञानी हूँ। अतः, शिवजी के तुल्य हूँ), वे कल्प-भर नरक में पड़ते हैं (वा पड़ें)। मनुष्य क्या शिवजी के तुल्य हो सकता है?

विशेष—'जीव कि ईस समान'—शिवजी और मनुष्य के अंतर को आगे दृष्टान्त से दिखाते हैं—

सुरसरि-जलकृत बारुनि जाना। कबहुँ न संत करहिं तेहि पाना ॥१॥
सुरसरि मिले सो पावन जैसे। ईस अनीसहि अंतर तैसे ॥२॥

अर्थ—गंगाजी के किये हुए (छाड़न) जल को मदिरा जानकर कभी संत लोग उसे नहीं पीते हैं ॥१॥ और जो जल गंगाजी में मिला हुआ है वह जैसे पावन है, वैसे समर्थ (शिवजी) और असमर्थ (मनुष्य) में अंतर है ॥२॥

विशेष—यहाँ के प्रसंग के अनुरोध से 'सुरसरि जल कृत' है का अर्थ अवरेव से होगा। जैसे—"राम-कथा कलिबिटप-कुठारी।" में 'कुठारी' को राम-कथा के साथ लगाया जाता है, वैसे ही 'कृत' को 'सुरसरि' के साथ लगाना चाहिये। 'सो पावन' की जगह 'सुपावन' भी पाठांतर है।

गंगाजी का छाड़न जल गंगा 'कृत' है, क्योंकि वह न तो मेघ 'कृत' है और न मनुष्य 'कृत'। इस जल को 'गंगोक' (गंगोद) कहते हैं। यथा—"तुलसी रामहिं परिहरे, निपट हानि सुनु ओझ। सुरसरि-गत सोई सलिल, सुरा-सरिस गंगोझ॥" (दोहावली ९८)। तदनुसार ही अन्यत्र भी कहा

है—"गंगायाः निस्सृतं तोयं पुनर्गंगां न गच्छति। तत्तोयं मदिरातुल्यं पीत्वा चान्द्रायणं चरेत्॥" अर्थात् जो स्रोत गंगाजी से निकलकर फिर गंगाजी के धार-सम्बन्ध से भिन्न हो जाता है, वही छाड़न (गंगोफ़) कहाता है, वह मदिरा-तुल्य हो जाता है। दूसरा वह स्रोत है जो गंगाजी से निकला हुआ पृथक् तो है, पर उसका सम्बन्ध गंगाजी की धार से है अर्थात् वह धारा में मिला हुआ है। अतः, पावन है।

यहाँ गंगाजी के तुल्य परब्रह्म परमात्मा हैं, मिले हुए स्रोतों के जल की तरह पूर्णब्रह्म के अंगभूत समर्थ शिवजी हैं और छाड़न जल की तरह अनीश (मनुष्य) हैं। जैसे गंगाजी में मिला हुआ जल और छाड़न जल तत्त्वतः एक हैं, वैसे शिवजी और मनुष्य तत्त्वतः जीव ही हैं, पर शिवजी नित्य परमात्मा से मिले हुए हैं। अतः, समर्थ एवं पावन हैं। मनुष्य अपनेको परमात्मा से पृथक् सत्ता मानने तथा मायावश परिच्छिन्न (परिमित रूप से भिन्न) होने से असमर्थ एवं अपावन हैं। अतः, तुल्य नहीं हो सकते।

यहाँ उपमा की वर्तमान व्यवस्था से ही प्रयोजन है कि एक वह जल जो मिला हुआ है और दूसरा वह जो भिन्न है। शिवजी प्रथम ही से परमात्मा में मिले हुए हैं, छूटकर नहीं मिले, क्योंकि इन्हें 'संभु सहज समरथ भगवाना।' आगे कहा है; अर्थात् ये 'सह-ज'=जन्म के साथ ही से समर्थ आदि हैं। इससे पावन हैं, छाड़न जल भी कभी वर्षा के संबंध से धारा में मिल जाय तो पावन है, पर उपमा में इसका प्रयोजन नहीं है।

'जाना' शब्द भी शास्त्र-दृष्टि से जानने के अर्थ में है। यदि कहा जाय कि 'गंगाजल की बनी हुई मदिरा' अर्थ क्यों न करें; तो यह 'जाना' शब्द व्यर्थ हो जायगा ; क्योंकि वह तो गंगाजल से बनी ही है, मदिरा है ही। पुनः 'जैसे तैसे' शब्द प्रत्यक्ष होनेवाली बातों में आते हैं, गंगाजल की मदिरा बनाना और गंगा में उसे छोड़ना—आदि का बर्ताव कहीं नहीं देखा जाता। 'संत'—संत ही गंगोफ़ को मदिरातुल्य मानते हैं , और लोग प्रायः ग्रहण ही करते हैं और मदिरा का ग्रहण तो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य भी प्रायः नहीं करते, इत्यादि कारणों से उपर्युक्त अर्थ-संगत है।

उत्तरकांड दो० १११ के 'जीव कि ईस समान' का भाव यहाँ नहीं लेना चाहिये, क्योंकि वहाँ 'ईस' शब्द परमात्मा के अर्थ में है और यहाँ 'शिवजी' के अर्थ में। "तब संकर देखेउ धरि ध्याना।" (दो० ५५) से शिवजी का जीवत्व सिद्ध है।

संभु सहज समरथ भगवाना। येहि बिबाह सब बिधि कल्याना॥३॥
दुराराध्य पै अहहिं महेसू। आसुतोष पुनि किये कलेसू॥४॥
जौ तप करइ कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी॥५॥

शब्दार्थ—आसुतोष=शीघ्र संतुष्ट होनेवाले। दुराराध्य=कठिनाई से सेवा करने योग्य।

अर्थ—शिवजी स्वाभाविक ही समर्थ एवं भगवान् हैं। अतः, इस विवाह से सब प्रकार का कल्याण ही है॥३॥ परन्तु महादेवजी दुराराध्य हैं; फिर भी (साधन) क्लेश करने से शीघ्र संतुष्ट होनेवाले हैं॥४॥ यदि तुम्हारी कन्या तप करे तो त्रिपुरारि (शिवजी) भावी भी मिटा सकते हैं॥५॥

विशेष—कल्याण के सम्बन्ध में 'शंभु' (कल्याणकर्त्ता) नाम सुसंगत है, वैसे ही 'दुराराध्य' और 'आसुतोष' के सम्बन्ध में महेश (महान्-ईश=परम समर्थ) नाम है कि उनमें दोनों विपर्यय (विरुद्धभाव) सिद्ध हैं। पुनः भावी मेटने में 'त्रिपुरारी' शब्द बड़ा चोखा है, जैसे त्रिपुर को कोई देवता न जीत सका तो शिवजी ने जीता, वैसे जिस भावी को सुर-नर-नाग-मुनि—इनमें कोई नहीं मिटा सकता, उसे वे मिटा देंगे।

भावी मेटना इसलिये है कि यदि उक्त लक्षणों से शिवजी ही पति होंगे तब मिलेंगे ही। यदि और कोई वर होगा तो उस भावी को मिटाकर स्वयं इसे वरण करेंगे।

जद्यपि वर अनेक जग माहीं। येहि कहँ सिव तजि दूसर नाहीं ॥६॥
वरदायक प्रनतारति-भंजन। कृपासिंधु सेवक-मन-रंजन ॥७॥
इच्छित फल बिनु सिव अवराधे। लहिय न कोटि जोग जप साधे ॥८॥

अर्थ—यद्यपि संसार में अनेक वर हैं, तथापि इसके लिये शिवजी को छोड़कर दूसरा (वर) नहीं है ॥६॥ शिवजी वर देनेवाले, शरणागत का दुःख मिटानेवाले, कृपा के समुद्र और अपने सेवक के मन को प्रसन्न करनेवाले हैं ॥७॥ बिना शिवजी की उपासना किये योग-जप के करोड़ों साधन करने पर भी मनोभिलषित फल नहीं प्राप्त किया जा सकता ॥८॥

विशेष—(१) 'जद्यपि वर'''—इसका चरितार्थ आगे दो० ८० में है। वहाँ सप्तर्षियों के बहुत प्रलोभन देने पर भी गिरिजाजी ने शिवजी में ही अटल निष्ठा दिखाई है। यथा—"महादेव अवगुनभवन" से—"वरउँ संभु नत रहउँ कुमारी ॥" तक।

(२) 'सेवक-मन-रंजन' एवं 'इच्छित फल' सेवक को प्रसन्न करने एवं उसकी इच्छा-पूर्ति में आप सहसा 'एवमस्तु' कह ही देते हैं, चाहे उसका परिणाम उलटे अपने ही सिर क्यों न पड़े! जैसे भस्मासुर ने आपसे वर पाकर फिर आप ही को भस्म करना चाहा था।

दोहा—अस कहि नारद सुमिरि हरि, गिरिजहिं दीन्हि असीस।
होइहि यह कल्यान अब, संसय तजहु गिरीस ॥७०॥

अर्थ—ऐसा कहकर श्रीनारदजी ने हरि (क्लेशहर्त्ता=भगवान्) का स्मरण करके पार्वतीजी को आशीर्वाद दिया कि अब इसका कल्याण होगा। हे गिरिराज! तुम संदेह छोड़ दो।

विशेष—'सुमिरि हरि'—क्योंकि देवता और मुनि लोग जिस किसी को वर एवं आशीष देते हैं, उसकी पूर्त्ति भगवान् ही करते हैं। गिरिजा के दुःख-हरण में 'हरि' शब्द संगत है। 'दीन्हि असीस'—प्रथम मुनि आये, तब—'सुता बोलि मेली मुनि-चरना।' कहा है, पर वहाँ आशीर्वाद नहीं लिखा और यहाँ आशीर्वाद लिखते हैं, पर प्रणाम नहीं। अतः, दोनों जगह दोनों बातें लगा लेनी चाहिये। जैसे दो० २०८ में पिता का आशीष देना और माता के यहाँ प्रणाम कहा गया है पर दोनों जगह दोनों बातें ली जाती हैं। यहाँ प्रथम गिरि की भक्ति दिखाने में प्रणाम कराना लिखा, पीछे नारद की प्रीति प्रकट करने में आशीर्वाद लिखना उपयुक्त है।

कहि अस ब्रह्मभवन मुनि गयेऊ। आगिल चरित सुनहु जस भयेऊ ॥१॥
पतिहि एकांत पाइ कह मैना। नाथ न मैं समुझे मुनिबैना ॥२॥

जौं घर बर कुल होइ अनूपा। करिय बिबाह सुता-अनुरूपा ॥३॥
न त कन्या बरु रहउ कुमारी। कंत उमा मम प्रान-पियारी ॥४॥

अर्थ—(याज्ञवल्क्यजी कहते हैं) ऐसा कहकर नारद मुनि ब्रह्मलोक को गये, आगे जैसा चरित हुआ, वह सुनो ॥ १ ॥ पति को एकान्त में पाकर मैनाजी ने कहा कि हे नाथ! मैंने मुनि के वचनों को नहीं समझा ॥२॥ जो घर, वर (दुलहा) और कुल कन्या के योग्य अनुपम हों तो विवाह कीजिये ॥३॥ नहीं तो चाहे कन्या कुँआरी ही पड़ी रहे, (पर अयोग्य से ब्याह न कीजिये) क्योंकि हे नाथ! उमा मुझे प्राणों से भी प्यारी है ॥४॥

विशेष—'न मैं समुझे'''—क्योंकि मैनाजी वर के दोष सुनकर विह्वल हो गई थीं, इसी से समझने में संदेह है। अब यथार्थ समझना चाहती हैं, अथवा इस रीति से प्रसंग छेड़कर अपना मनोरथ कहना चाहती हैं। 'मैना'—शिवपुराण के अनुसार ये पितरों की मानसी कन्या थीं जो हिमाचल से ब्याही गई थीं।

'घर बर कुल'—कन्या के ब्याह में वर के कुल-विचार में पिता की इच्छा, घर (भोजन-वस्त्र एवं परिवार उत्तम होने) के विचार में माता की इच्छा और वर के विषय में कन्या की इच्छा प्रधान रहती है। यथा—"कन्या वरयते रूपं माता वित्तं पिता कुलम्। बान्धवा मानमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जनाः॥" यह प्रसिद्ध है। यहाँ 'घर' प्रथम कहा गया है, क्योंकि मैना का कथन है, वे अपनी इच्छा आगे रखती हैं। 'न त कन्या''' यथा—"काममामरणात्तिष्ठेद्गृहे कन्यर्तुमत्यपि। नचैवैनां प्रयच्छेत गुणहीनाय कर्हिचित्॥" (मनु०)

जौं न मिलिहि बर गिरिजहि जोगू। गिरि जड़ सहज कहहिं सब लोगू ॥५॥
सोइ बिचारि पति करेहु बिबाहू। जेहि न बहोरि होइ उर दाहू ॥६॥
अस कहि परी चरन धरि सीसा। बोले सहित सनेह गिरीसा ॥७॥
बरु पावक प्रगटइ ससि माहीं। नारद बचन अन्यथा नाहीं ॥८॥

दोहा—प्रिया सोच परिहरहु अब, सुमिरहु श्रीभगवान।
पारबतिहि निरमयेउ जेहिं, सोइ करिहि कल्यान ॥७१॥

अर्थ—जो गिरिजा के योग्य वर न होगा तो सब लोग यही कहेंगे कि गिरि (पहाड़) स्वाभाविक जड़ हैं (तभी तो ऐसा अयोग्य वर ढूँढ़ा) ॥५॥ हे पति! वही विचारकर विवाह करियेगा, जिससे फिर हृदय में जलन न हो ॥६॥ ऐसा कहकर मैनाजी चरणों में सिर रखकर पड़ गईं, तब हिमाचल स्नेह-सहित बोले ॥७॥ चाहे चन्द्रमा में अग्नि प्रकट हो, परन्तु नारदजी के वचन अन्य प्रकार नहीं हो सकते ॥८॥ हे प्रिये! सब शोच छोड़कर श्रीभगवान् का स्मरण करो, जिन्होंने पार्वती का निर्माण किया है, वे ही इसके कल्याण (के विधान) भी करेंगे ॥७१॥

विशेष—'अस कहि परी'''—इस परिपूर्ण करुणा-सहित प्रार्थना पर गिरिराज को दया आ गई। अतः, स्नेहपूर्वक आश्वासन करने लगे।

'बरु पावक'''—चन्द्रमा हिमकर है, वह हिमालय पर हिम बरसाता ही रहता है, यह प्रत्यक्ष है। इसमें अग्नि का प्रकट होना असंभव है। वैसे नारद के वचनों का विपर्यय (उलटा) होना भी असंभव है। चन्द्रमा देवता और नारद देवर्षि हैं। चन्द्रमा भगवान् के मन से पैदा हुआ है और नारदजी भी ब्रह्मारूप भगवान् के मानस पुत्र हैं। अतः, उपमा में देश एवं वस्तु की पूर्ण संगति है।

'श्रीभगवान'—क्योंकि योग्य-विधान में उनकी सोभा है। अत, पार्वती के अनुरूप ही विधान करेंगे।

अब जौं तुम्हहिं सुता पर नेहू। तौ अस जाइ सिखावन देहू ॥१॥
करइ सो तप जेहि मिलहिं महेसू। आन उपाय न मिटिहि कलेसू ॥२॥
नारद-बचन सगर्भ सहेतू। सुंदर सब गुन निधि बृषकेतू ॥३॥
अस बिचारि तुम्ह तजहु असंका। सबहि भाँति संकरु अकलंका ॥४॥

अर्थ—अब जो कन्या पर तुम्हारा स्नेह है, तो अभी जाकर उसे ऐसी शिक्षा दो ॥१॥ जिससे वह ऐसा तप करे कि महादेवजी मिलें, (क्योंकि) और उपायों से क्लेश नहीं मिटेगा ॥२॥ श्रीनारदजी के वचन गर्भित (गूढ़ आशययुक्त) और हेतु (कारण) युक्त हैं। शिवजी सुन्दर और सब गुणों के निधान हैं ॥३॥ ऐसा विचार कर तुम व्यर्थ शंका छोड़ दो। शिवजी सभी प्रकार कलंक-रहित हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'अब जो'''—अभी अवसर है, मुनि के वचनों का प्रभाव सब पर है। अतः, तत्संबंधी शिक्षा शीघ्र प्रभाव डालेगी। ऊपर दोहे में भगवान् का भरोसा कहा, अब उपाय भी कहते हैं, क्योंकि ऊपर दो० ६८ चौ० १ में ऐसा ही कहा है।

(२) 'सो तप'—पूर्व—'दुराराध्य पै अहहिं महेसू।' कहा गया है, उसके अनुसार कठिन तप करे, जिससे इस बालिका के कष्ट पर शिवजी शीघ्र प्रसन्न हों।

(३) 'नारद-बचन सगर्भ सहेतू।'—श्रीनारदजी के वचनों में गूढ़ाशय है। जैसे गर्भ में बालक रहता है, पर दिखाई नहीं देता, वैसे उनके वचनों में अवगुणों के अंतर्गत गुण भरे हैं। कुरूपता वर्णन में सुन्दरता गर्भित है, यही उत्तरार्द्ध में—'सुंदर सब''' से प्रकट है। 'सहेतू'—हेतुयुक्त है, उपाय सिद्ध होने के विचार से वैसे वाक्य प्रबंध से कहे गये हैं। शिवजी के संबंध से कन्या भवानी होकर जगत् में पूजी जायगी और हमारी भी महिमा बढ़ेगी, इत्यादि।

(४) 'असंका' (आशंका) = अनिष्ट की भावना, या (अ = नहीं, शंका) बिना शंका की शंका।

सुनि पतिबचन हरषि मन माहीं। गई तुरत उठि गिरिजा पाहीं ॥५॥
उमहि बिलोकि नयन भरे बारी। सहित सनेह गोद बैठारी ॥६॥
बारहिं बार लेति उर लाई। गदगद कंठ न कछु कहि जाई ॥७॥
जगतमातु सर्बग्य भवानी। मातु-सुखद बोलीं मृदुबानी ॥८॥

दोहा—सुनहि मातु मैं दीख अस, सपन सुनावउँ तोहि।
सुंदर गौर सुबिप्रवर, अस उपदेसेउ मोहि ॥७२॥

अर्थ—पति के वचन सुन मन में प्रसन्न हो तुरन्त उठकर मैनाजी पार्वतीजी के पास गईं ॥५॥ उमा को देखकर आँखों मे आँसू भर लिये और स्नेहपूर्वक गोद में बैठा लिया ॥६॥ बारंबार उनको हृदय में लगा लेती हैं, कंठ गद्‌गद हो गया, कुछ कहा नहीं जाता ॥७॥ जगन्माता, सर्वज्ञ, भवानी माता को सुख देनेवाली कोमल वाणी बोलीं ॥८॥ हे माता ! सुनिये, मैंने ऐसा स्वप्न देखा है, वह तुम्हें सुनाती हूँ कि एक सुंदर, गौर वर्ण श्रेष्ठ ब्राह्मण ने मुझे ऐसा उपदेश दिया है ॥७२॥

विशेष—यहाँ मैनाजी का मन, वचन और कर्म से स्नेह प्रकट हुआ, यथा—'हरषि मन माहीं'—मन, 'लेति उर लाई'—कर्म, 'न कछु कहि जाई'—वचन, एवं उमा के लिये पति से प्रार्थना भी वचन-स्नेह है।

'न कछु कहि जाई'—बहुत कुछ कहने आईं, परन्तु राजकन्या की अति सुकुमारता पर मुग्ध हो गईं। प्रेम के कारण कंठावरोध हो गया—गला रूँध गया। तप की शिक्षा के लिये चलने में मन में हर्ष हुआ था, यह तप सिद्ध होने का उत्तम शकुन है।

'जगतमातु सर्वज्ञ भवानी'—माता के समक्ष विवाह-सम्बन्ध की बातें करना अयोग्य है। अतः, कहा कि ये सामान्य कन्या नहीं हैं, प्रत्युत जगत् की माता हैं। 'सर्वज्ञ' हैं, क्योंकि माता के मन की जान गईं, उनके अनुकूल ही कहेंगी। 'भवानी'—क्योंकि भव (शिव) का सम्बन्ध चाहती हैं, अथवा ये तो नित्य शिवजी की पत्नी हैं—'गिरिजा सर्वदा संकरप्रिया।' (दो० ६८)। कोई नया संबंध नहीं चाहतीं कि जिसकी चर्चा माता के सामने अयोग्य हो।

करहि जाइ तप सैलकुमारी। नारद कहा सो सत्य बिचारी ॥१॥
मातु-पितहिं पुनि यह मत भावा। तप सुखप्रद दुख दोष नसावा ॥२॥
तपबल रचइ प्रपंच बिधाता। तपबल बिष्णु सकल-जग-त्राता ॥३॥
तपबल संभु करहिं संहारा। तपबल सेष धरइ महिभारा ॥४॥
तप-अधार सब सृष्टि भवानी। करहि जाइ तप अस जिय जानी ॥५॥

अर्थ—(कि) हे शैलकुमारी ! श्रीनारदजी का कहा सत्य समझकर और जाकर तप करो ॥१॥ (यदि संशय हो कि माता-पिता की आज्ञा हो या न हो, उसपर कहते हैं कि) माता-पिता को भी यह मत अभीष्ट है, कि तप सुख देनेवाला और दुःख-दोष को नष्ट करनेवाला है ॥२॥ (देखो) तप के बल से ब्रह्मा संसार को रचते हैं और विष्णु सब जगत् की सम्यक् रक्षा (पालन) एवं शिवजी संहार करते हैं। तप ही के बल से शेषजी पृथिवी का भार धारण करते हैं ॥३-४॥ (कहाँ तक कहूँ) हे भवानी ! तप ही के आधार पर सब सृष्टि है, ऐसा जी में जानो और जाकर तप करो ॥५॥

विशेष—'करहि जाइ'—घर में रहते हुए तप न हो सकेगा, क्योंकि संसर्ग रहते हुए विषयों से वैराग्य नहीं होता। यथा "होइ न बिषय बिराग, भवन बसत भा चौथपन।" (दो० १४२)।

'सैलकुमारी'—भाव यह कि धैर्य धारण करो। यथा—"धैर्येण हिमवानिव" (मूलरामायण)।

'दुख दोष'—वर के दोष और तत्सम्बन्धी दुःख अर्थात् कार्य-कारण दोनों नष्ट होंगे।

'भवानी'—शिवजी का सम्बन्ध स्वप्न में विप्रमुख से प्राप्त हो चुका, अतः, सिद्धि निश्चय है।

'तप-अधार सब सृष्टि ......' यथा—"जनि आचरज करहु मन माहीं। सुत तप ते दुर्लभ कछु नाहीं॥" से—"तप ते अगम न कछु संसारा॥"(दो० १६१) तक।

सुनत बचन बिसमित महतारी। सपन सुनायेउ गिरिहि हँकारी॥६॥
मातु पितहिं बहु बिधि समुझाई। चलीं उमा तप-हित हरषाई॥७॥
प्रिय परिवार पिता अरु माता। भये बिकल मुख आव न बाता॥८॥

दोहा—बेदसिरा मुनि आइ तब, सबहि कहा समुझाइ।
पारवती-महिमा सुनत, रहे प्रबोधहिं पाइ॥७३॥

अर्थ—(उमा का यह) वचन सुनकर माता को आश्चर्य हुआ। इन्होंने गिरिराज को बुलाकर स्वप्न सुनाया॥६॥ माता-पिता को बहुत प्रकार समझाकर तप के लिये उमा हर्षित होकर चल दीं॥७॥ प्यारे कुटुंबी, पिता और माता व्याकुल हो गये, (यहाँ तक कि) इनके मुख से वचन नहीं निकलता॥८॥ तब वेद-शिरा मुनि ने आकर सबको समझाकर कहा। पार्वतीजी की महिमा सुनकर सब को प्रबोध हुआ, तब वे लोग रहे—रुके॥७३॥

विशेष—'बिसमित'—क्योंकि जिस लिये आई, वह स्वप्न-द्वारा दैवी-गति से हो गया।

'बहु बिधि समुझाई'—"उमाजी माता से कहती हैं कि श्रीनारदजी के वचन ही स्वप्न में भी सिद्ध हुए। तुम्हारा भी सम्मत स्वप्न में कहा गया, वह भी सत्य ही है, तो शेष वचन भी सत्य ही होंगे। मुझे तप के लिये श्रद्धा एवं उत्साह है। अतः, कष्ट न होगा। ध्रुव आदि तो मुझसे कम अवस्था के थे। हृदय में उत्साह के कारण सिद्धि में भी विश्वास है, इत्यादि।

'बेदसिरा मुनि'—"ये हिमालय पर ही रहते थे। इनका उग्र तप देखकर इन्द्र ने अप्सरा भेजी, पर इनके ऊपर उसके उपाय निष्फल हुए, अंत में वह इनके अंग में लिपट गई। तब इन्होंने शाप दिया कि जल हो जा। फिर उसकी प्रार्थना पर उद्धार किया कि तुममें शालग्राम निवास करेंगे।" (कार्तिकमाहात्म्य)।

'रहे'—ये सब पार्वती के साथ ही चले जाते थे, प्रबोध पाकर लौटे।

उर धरि उमा प्रान-पति-चरना। जाइ बिपिन लागीं तप करना॥१॥
अति सुकुमार न तनु तपजोगू। पतिपद सुमिरि तजेउ सब भोगू॥२॥
नित नव चरन उपज अनुरागा। बिसरी देह तपहिं मन लागा॥३॥

अर्थ—पार्वतीजी प्राणपति शिवजी के चरणों को हृदय में रख वन में जाकर तप करने लगीं॥१॥ शरीर अत्यन्त सुकुमार है, अतः, तप के योग्य नहीं है। इन्होंने पति के चरणों का स्मरण कर

सब भोग छोड़ दिये ॥२॥ (शिवजी) के चरणों में नित्य नया अनुराग उपजने लगा, तप में (ऐसा) मन लगा कि देह की सुधि न रही ॥३॥

विशेष—'प्रानपति'—'पति-पद' आदि से उमा की निष्ठा पति-भाव से प्राप्ति के लिये ही है, 'प्रानपतिचरना'—सती-शरीर का त्याग करते समय भी चरण ही का ध्यान था। यथा—"ततः स्वभर्तुश्चरणाम्बुजासवं जगद्गुरोश्चिन्तयती न चापरम्।" (भा० स्कं० ४, अ० ५) वही संस्कार इस जन्म में भी बना है। 'पति'=रक्षक, वन में रक्षा के लिये पति-चरणों का ही भरोसा है।

संवत सहस मूल फल खाये। साग खाइ सत बरष गँवाये ॥४॥
कछु दिन भोजन बारि बतासा। किये कठिन कछु दिन उपवासा ॥५॥
बेलपाति महि परइ सुखाई। तीनि सहस संवत सोइ खाई ॥६॥
पुनि परिहरे सुखानेउ परना। उमहि नाम तब भयेउ अपरना ॥७॥

शब्दार्थ—मूल = खाने योग्य मीठी जड़ें, जो पृथ्वी के नीचे होती हैं। फल—पृथ्वी के ऊपर वृक्षों में होते हैं। साग = भरसा, चँवराई आदि पत्ते। बतास = पवन।

अर्थ—सहस्र वर्षों तक मूल-फल खाये सौ वर्ष शाक खाकर बिताये ॥४॥ कुछ दिन जल और पवन का ही आहार रहा, फिर कुछ दिन कठिन उपवास किया ॥५॥ बेल के जो पत्ते स्वयं सूखकर पृथ्वी पर गिरते थे, तीन सहस्र वर्षों तक उन्हीं को खाया ॥६॥ फिर सूखे पत्ते भी छोड़ दिये, तब उमा का नाम 'अपर्णा' हुआ ॥७॥

विशेष—(१) श्रीपार्वती का शरीर अति सुकुमार था, इसलिये यहाँ क्रमशः भोग छोड़ना हुआ। जैसे प्रथम राज-भोग छोड़ मूल (नीरस) सेवन किया, फिर फल, तब साग, फिर जल और अंत में पवन का आहार किया, फिर दूसरी आवृत्ति का प्रारम्भ बेल-पत्र से किया, इसमें सिद्धि ही हो गई।

आहार घटाने के साथ-साथ क्रमशः तप की निष्ठा अधिक होती गई। श्रीपार्वती-मंगल में भी तप एवं आहार का यही नियम है। यथा—"कंद मूल फल असन कबहुँ जल पवनहिं। सूखे बेल के पात खात दिन गवनहिं॥ नाम अपरना भयेउ परन जब परिहरे।" (छं० ४१-४३)। कुमार-संभव में भी 'अपर्णा' नाम की व्युत्पत्ति यही है-'स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः। तदप्यपाकीर्णमतः प्रियंवदां वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविदः॥—(सर्ग ५)

(२) तप-क्रम के भाव—(क) श्रीपार्वतीजी ने यवाकार तपस्या की है। यव का एक सिरा पतला होता है, क्रमशः बीच तक अधिक मुटाई होती है, फिर घटते हुए, दूसरा सिरा प्रथम सिरे की तरह पतला होता है। तप का ऐसा ही क्रम है। प्रथम १००० वर्ष, फिर १०० वर्ष (दशांश घटा, इस नियम से) १० वर्ष जल और पवन का और १ वर्ष कठिन उपवास का हुआ। इस प्रकार ११११ वर्षों का प्रथम पुरश्चरण हुआ। इसमें कोई वरदायक न आया। तब दूसरा पुरश्चरण तिगुना करके प्रारम्भ हुआ, तब ३००० वर्ष बेलपत्र आहार से रहीं, फिर ३०० वर्ष उसे भी त्याग के रहीं, इसपर मनोरथ सिद्धि का वर मिल गया। नहीं तो ३०,३ वर्ष का करके ३३३३ वर्षों का दूसरा पूरा होता। फिर ९९९९ का तीसरा, तब ३३३३ का चौथा, पुनः ११११ का पाँचवाँ पुरश्चरण यवाकृति होकर पूर्ण होता। पाँच आवृत्तियों का भाव यह कि शिवजी पंचमुख हैं।

(ख) रुद्री के क्रम से तपस्या की—प्रथम १०००+१००=११०० वर्षों की एक आवृत्ति हुई, यह १ रुद्री हुई, क्योंकि रुद्र ११ हैं। दूसरी आवृत्ति में संख्या नहीं है। परन्तु इसमें प्रथम के 'मूल-फल'—'साग' की तरह 'बारि-बतासा'—'उपवासा' तीन ही साधन वर्णित हैं। अतः, उसी क्रम से और वही संख्या लेने से जल-पवन १००० और उपवास १०० वर्ष=११०० वर्ष की द्वितीय रुद्री हुई। फिर कठिन नियमों से ३०००+३००=३३०० वर्षों की तीन रुद्री हुई—सब पाँच रुद्री हुई।

(ग)-जप-यज्ञ की रीति से तप किया है। इसमें जप, तर्पण, मार्जन, विप्र भोजन और दक्षिणा—ये पाँच अंग हैं। यहाँ मूल-फल सहित १००० वर्ष जप-यज्ञ हुआ, इसका दशांश १०० वर्ष साग के सहित तर्पण, इसका दशांश १० वर्ष पवन सहित जल का मार्जन, ३००० वर्ष बेलपत्र का अशन विप्रभोजन और इसके दशांश ३० वर्ष उपवास में दक्षिणा-सहित पञ्चांग पूर्ण यज्ञ हुआ। तीनों में पाँच ही पाँच का भाव उपर्युक्त (क) में लिखा है।

देखि उमहिं तपखीन सरीरा। ब्रह्मगिरा भइ गगन गँभीरा ॥८॥

दोहा—भयेउ मनोरथ सुफल तव, सुनु गिरिराज-कुमारि।
परिहरु दुसह कलेस सब, अब मिलिहहिं त्रिपुरारि ॥७४॥

अर्थ—श्रीपार्वतीजी का शरीर तप से क्षीण देखकर आकाश से गंभीर ब्रह्म-वाणी हुई। ८ हे गिरिराजकुमारी! सुन। तेरा मनोरथ सिद्ध हुआ। सब दु सह (कठिन) क्लेश छोड़ दे। अब शिवजी मिलेंगे ॥७४॥

विशेष—'मिलिहहिं'—स्वयं तुम्हारे यहाँ आकर (सादर) तुम्हें मिलेंगे—यह नहीं कि तुम्हारे पिता वहाँ जाकर दे आवें।

अस तप काहु न कीन्ह भवानी। भये अनेक धीर मुनि ज्ञानी ॥१॥
अब उर धरहु ब्रह्म-बर-बानी। सत्य सदा संतत सुचि जानी ॥२॥
आवइ पिता बुलावन जबहीं। हठ परिहरि घर जायेहु तबहीं ॥३॥
मिलहिं तुम्हहिं जब सप्तरिषीसा। जानेहु तब प्रमान बागीसा ॥४॥

अर्थ—हे भवानी! अनेक धीर मुनि और ज्ञानी हो गये हैं, पर ऐसा तप किसी ने नहीं किया ॥१॥ अब सदा सत्य और निरंतर पवित्र श्रेष्ठ जानकर ब्रह्मवाणी को धारण हृदय में करो ॥२॥ जभी तुम्हारे पिता बुलाने आवें, तभी हठ छोड़कर घर चली जाना ॥३॥ जब तुम्हें सप्त ऋषीश्वर मिलें, तब शिवजी की (ओर से भी) प्रमाण बात जानना ॥४॥

विशेष—(१) 'अस तप …' ऐसी सुकुमार अवस्था में जैसा कठिन तप इन्होंने किया है, वैसा किसी ने नहीं किया। 'भवानी'—ब्रह्म-वाणी ने आश्वासन के लिये अभी से ही भवानी (भव-पत्नी) कहा है। 'सत्य सदा संतत…' सत्य और शुचि के भाव ये हैं कि कहीं-कहीं वचन सत्य होते हुए भी

उसमें वक्ता का वंचनात्मक भाव रहता है, जैसे 'कुंजरो नरो' की प्रसिद्धि है, किन्तु ब्रह्म-वाणी उक्त दोष से रहित और शुचि ही होती है।

(२) 'हठ परिहरि'—का भाव यह है कि प्रथम कई बार पिता के आग्रह करने पर भी घर न गई थीं। अब जाना चाहिये, क्योंकि विवाह वहीं होगा और मनोरथ सिद्धि भी हो ही गई।

(३) 'जानेहु तब प्रमान बागीसा।'—प्रायः 'बागीसा' का अर्थ ब्रह्मवाणी का ही किया जाता है, पर मनु आदि के प्रसंगों में इस प्रकार के प्रमाण की व्यवस्था नहीं देखी जाती, यहाँ भी उसे 'सत्य सदा' कहा ही है। हाँ, शिवजी की स्वीकृति के विषय में उमा को संदेह-निवृत्ति चाहिये, क्योंकि यह उमा की दृष्टि में असंभव सी है। यथा—"चहत बारि पर भीति उठावा।" एवं—"बिनु पंखन हम चहहि उड़ाना।" (दो० ७७); आगे शिवजी इसीलिये सप्तर्षियों को भेजेंगे भी। यथा—"दूरि करेहु संदेहु!" (दो० ७७)। अतः, इसका उपर्युक्त अर्थ (वाक् ईसा = शिवजी का वचन) ही ठीक है।

सुनत गिरा बिधि गगन बखानी। पुलक गात गिरिजा हरषानी ॥५॥
उमा-चरित सुंदर मैं गावा। सुनहु संभु कर चरित सुहावा ॥६॥

अर्थ—ब्रह्मवाणी, जो आकाश से कही गई है, उसे सुनकर श्री पार्वतीजी हर्षित हुई और उनका शरीर पुलकित हो गया ॥५॥ (श्रीयाज्ञवल्क्यजी भरद्वाजजी से कहते हैं कि) मैंने सुन्दर उमा-चरित कहा। अब शिवजी के सुहावन चरित सुनो ॥६॥

विशेष—'गिरा बिधि'—यहाँ इसका अर्थ सर्व-विधानकर्त्ता श्रीरामजी की वाणी लेना योग्य है, क्योंकि आगे शिवजी को समझाने के लिये श्रीरामजी ही प्रकट होंगे।

'उमा-चरित सुंदर ...' यहाँ उपसंहार है। इसका उपक्रम—'जब ते उमा सैलगृह जाई।' (दो० ६१ चौ० ७) पर हुआ था।

सती-मोह और पार्वती-जन्म एवं तप-प्रकरण समाप्त

जब ते सती जाइ तनु त्यागा। तब ते सिवमन भयेउ बिरागा ॥७॥
जपहिं सदा रघुनायक-नामा। जहँ-तहँ सुनहिं राम-गुन-ग्रामा ॥८॥

दोहा—चिदानंद सुखधाम सिव, बिगत-मोह-मद-काम।
बिचरहिं महि धरि हृदय हरि, सकल-लोक-अभिराम ॥७५॥

अर्थ—जब से सतीजी ने (दक्ष-यज्ञ) में जाकर शरीर त्याग दिया, तब से शिवजी के मन में वैराग्य हो गया ॥७॥ वे श्रीरघुनाथजी का नाम सदा जपने और जहाँ-तहाँ श्रीरामजी के गुण-समूह सुनने लगे ॥८॥ शिवजी ज्ञानानंद-स्वरूप एवं सुख के धाम तथा मोह-मद-काम से रहित हैं, वे समस्त लोकों के आनंद देनेवाले हरि (श्रीरामजी) को हृदय में धारण करके पृथिवी पर विचरने लगे ॥७५॥

विशेष—'तब ते सिव-मन ...'—यहाँ शंका होती है कि क्या पूर्व में शिवजी रागी थे? प्रमाण तो ऐसा है—"वैराग्याम्बुजभास्करम्" (मा० मं०) अर्थात् शिवजी वैराग्य-कमल के लिये सूर्य हैं।

समाधान—यहाँ 'बिरागा' का तात्पर्य कैलाश-स्थल से है, उसमें राग (प्रेम) था। सती के संग वहाँ रहते थे, त्याग-प्रतिज्ञा से सतीजी दुःखित रहती थीं, उनका दुःख देखकर आपको भी दुःख होता था। सती के शरीर-त्याग से स्वतंत्र हो गये, सती के सहवास से सत्संग होता था। अब उनके बिना वहाँ से जी उचट गया, सत्संग के लिये जहाँ-तहाँ ऋषियों के धामों में विचरने लगे। यथा—"दुखी भयेउँ बियोग प्रिय तोरे॥ सुंदर बन गिरि सरित तड़ागा। कौतुक देखत फिरउँ बिरागा॥"…से—"सादर सुनि रघुपति-गुन, पुनि आयेउँ कैलास॥" (उ० दो० ५५-५७) तक। अतः, यहाँ घर छोड़कर तीर्थाटन करने को 'बिराग' कहा है। 'चिदानंद सुखधाम…' स्वयं ज्ञानानंद स्वरूप हैं, औरों के लिये सुख के धाम हैं। 'सकल लोक अभिराम यथा—"रामनामभुविख्यातमभिरामेण वा पुनः।" (श्रीरामतापनी० उप०)।

कतहुँ मुनिन्ह उपदेसहिं ग्याना। कतहुँ रामगुन करहिं बखाना॥१॥
जदपि अकाम तदपि भगवाना। भगत-बिरह-दुख-दुखित सुजाना॥२॥
येहि बिधि गयेउ कालु बहु बीती। नित नइ होइ रामपद-प्रीती॥३॥

अर्थ—(शिवजी) कहीं मुनियों को ज्ञान का उपदेश करते और कहीं रामयश का बखान करते॥१॥ यद्यपि निष्काम हैं, तथापि वे भगवान् सुजान हैं; अतएव अपने भक्त के विरह-दुःख से दुःखित हैं॥२॥ इस प्रकार बहुत काल बीत गया, श्रीरामजी के चरणों में नित्य नवीन प्रीति होने लगी॥३॥

विशेष—(१) 'कतहुँ मुनिन्ह…' शिवजी ज्ञानियों को ज्ञान सिखाते हैं और उपासकों के प्रति राम-गुण-वर्णन करते हैं। जहाँ अन्य कोई न रहा, वहाँ निरंतर श्री राम-नाम जपते हैं। यथा—"तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंगअराती॥" (दो० १०८)।

(२) 'जदपि अकाम…' भगवान् के छः ऐश्वर्यों में करुणा भी है। अपने आश्रित पर करुणा होती है। फिर भक्त के हृदय की बातें जानते भी हैं; क्योंकि सुजान हैं। साथ ही भक्त के दुःख में दुखी होना योग्य ही है। यथा—"जन के दुख रघुनाथ दुखित अति सहज प्रकृति करुनानिधान की।" (गी० सुं० ११) सतीजी की आपमें मन, वचन और कर्म से पूर्ण भक्ति है। यथा—"जौं मोरे सिव-चरन-सनेहू। मन क्रम बचन सत्य ब्रत येहू॥" (दो० ५८); "सती मरत हरि सन बर माँगा। जनम-जनम सिवपद-अनुरागा॥" (दो० ६५) इत्यादि। इसी से शिवजी भी उनके दुःख में दुखी हैं, कुछ काम से नहीं, क्योंकि अकाम हैं। यथा—"हमरे जान सदासिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी॥" (दो० ८१)।

(३) 'नित नइ होइ राम-पद…'—भाव यह कि सती के विरह-दुःख में भी श्रीराम-प्रेम कम न हुआ, प्रत्युत दिनोंदिन बढ़ता ही जाता है।

नेम प्रेम संकर कर देखा। अबिचल हृदय भगति कै रेखा॥४॥
प्रगटे राम कृतज्ञ कृपाला। रूप-सील-निधि तेज बिसाला॥५॥

अर्थ—शिवजी का नियम, प्रेम और हृदय में भक्ति की अटल रेखा देखकर॥४॥ कृतज्ञ एवं कृपालु श्रीरामजी प्रकट हो गये, जो रूप और शील के निधान हैं और जिनका तेज विशाल है॥५॥

विशेष—(१) 'नेम प्रेम संकर…'—नियम (सती-त्याग का)—"येहि तनु सतिहि भेंट मोहि नाहीं। सिव संकल्प कीन्ह मन माहीं॥" (दो० ५६); प्रेम—'नित नइ होइ राम पद प्रीती।' 'अबिचल

हृदय ''' यथा—"चलत गगन भइ गिरा सुहाई। जय महेस भलि भगति दृढ़ाई। अस पन तुम्ह बिनु करइ को आना।" (दो० ५६); यथा—"सिव सम को रघुपति-व्रतधारी।" (दो० १०३)। प्रेम से प्रभु प्रकट होते हैं, यथा—"प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना! ''प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥" (दो० १८४); अतः, आगे प्रकट होना कहते हैं।

(२) 'प्रगटे राम कृतज्ञ'''—श्रीरामजी कृतज्ञ हैं, अतएव शिवजी के उपर्युक्त नियम-प्रेम को अधिक करके जानते है, इसीसे कृपा उमड़ पड़ी और स्वेच्छा से प्रकट हो गये। अतः, 'कृपाला' भी कहे गये हैं। पुनः सती की अवज्ञा को भुलाकर उनपर भी कृपा करेंगे, शिवजी के संयोग के लिये उपाय करेंगे, रूप से शिवजी को सुखी करेंगे और शील-गुण से कोमल वचनों द्वारा कार्य करायेंगे, जिसमें शिवजी और पार्वतीजी का भी हित हो। विशाल तेज से प्रकट हुए, जिससे शिवजी पर प्रभाव पड़े।

यहाँ रूप और तेज की विशालता प्रत्यक्ष है कि उसमें निमग्न होकर शिवजी प्रणाम तक करना भूल गये।

> बहु प्रकार संकरहिं सराहा। तुम्ह बिनु अस व्रत को निरबाहा॥६॥
> बहु बिधि राम सिवहिं समुझावा। पारबती कर जनम सुनावा॥७॥
> अति पुनीत गिरिजा कै करनी। बिस्तर सहित कृपानिधि बरनी॥८॥
>
> दोहा—अब बिनती मम सुनहु सिव, जौं मो पर निज नेहु।
> जाइ बिबाहहु सैलजहिं, यह मोहिं माँगे देहु॥७६॥

अर्थ—श्रीरामजी ने बहुत प्रकार से शिवजी की सराहना की—"तुम्हारे अतिरिक्त ऐसे व्रत का निर्वाह कौन कर सका है?" ।६। श्रीरामजी ने शिवजी को बहुत तरह से समझाया और पार्वतीजी के जन्म का हाल कहा ॥७॥ कृपासागर श्रीरामजी ने पार्वतीजी की अत्यन्त पवित्र करनी का विस्तार-सहित वर्णन किया ॥८॥ (और कहा)

हे शिव! मेरी विनती सुनिये। यदि आपका मुझपर स्नेह है तो अब जाकर पार्वती को ब्याह लाइये, यह मुझे माँगा दीजिये ॥७६॥

विशेष—(१) 'अस व्रत'—यथा—"सिव सम को रघुपति-व्रतधारी। बिनु अघ तजी सती असि नारी॥" (दो० १०३); "अस पन तुम्ह बिनु करइ को आना।" (दो० ५६)। 'सिवहिं समुझावा।'—तुम्हारी प्रतिज्ञा सती-शरीर के विषय में थी—'येहि तनु सतिहिं भेंट मोहिं नाहीं।' (दो० ५६); सती के उस शरीर का त्याग हो गया, दूसरा पार्वती-शरीर धारण हुआ, इस शरीर से तुम्हारे लिये बड़ा उग्र तप किया है और वह मन, वचन, कर्म से तुम्हारे प्रति प्रेम रखती है। अतः, ग्रहण करना ही चाहिये। तुम्हारी प्रतिज्ञा भी रही, इसमें तुम्हें कोई दोष नहीं। फिर ब्रह्मवाणी भी हो चुकी, उसे भी सत्य करना ही है, इत्यादि।

'अति पुनीत'''—गिरिजा का अब सती-शरीर से सम्बन्ध नहीं रहा, इस शरीर से तो इसने परम 'पुनीत करनी' की है। तप के आचरण कहे, यही पवित्र करनी है।

१२ रुद्रसावर्णि मन्वन्तर में—शुचि, तपस्वी, सुतपा, तपोमूर्त्ति, तपोनिधि, तपोरति और तपोधृति।
१३. देवसावर्णि मन्वन्तर में—धृतिमान्, अव्यय, तत्त्वदर्शी, निरुत्सुक, निर्मोह, सुतपा और निष्प्रकम्प।
१४. इन्द्रसावर्णि मन्वन्तर में—अग्नीध्र, अग्निबाहु, शुचि, मुक्त, माधव, शुक्र और अजित।
प्रत्येक कल्प में ये ही १४ मन्वन्तर होते हैं।

(४) 'प्रेम-परीक्षा लेहु'—प्रश्न—शिवजी ने प्रभु के आज्ञा-पालन को परम धर्म माना है, प्रभु गिरिजा की प्रतीति करनी कह गये और स्वीकार के लिये भी आज्ञा दे गये, फिर परीक्षा क्यों? उत्तर—ब्रह्मवाणी में सप्तर्षियों के गिरिजा के पास आने की बात शिवजी की तरफ से कही गई, शिवजी उसे पूरा करना और गिरिजा का प्रेम जगत्-प्रसिद्ध करना चाहते हैं, अन्यथा परीक्षा के साथ ही उनको घर भेजने एवं संदेह मिटाने को नहीं कहते। इससे स्पष्ट है कि इनके सच्चे प्रेम पर शिवजी को पूर्ण विश्वास है। इसी प्रकार अग्नि-परीक्षा से श्रीरामजी ने श्रीजानकीजी का महत्त्व दिखाया है। तथा—"प्रेम अमिय मंदर बिरह, भरत पयोधि गँभीर। मथि प्रगटेउ सुर साधु हित, कृपासिंधु रघुबीर॥" (अ० दो० २३८)।

(५) 'दूरि करेहु संदेहु'—गिरिजा को संदेह है, यथा—"मिलन कठिन मन भा संदेहू।" (दो० ६०)। हिमाचल को गिरिजा के घर लौटने में संदेह है जो ब्रह्मवाणी से सूचित होता है। यथा—"हठ परिहरि घर जायेहु तबहीं।" अर्थात् पिता कई बार घर लौटाने को गये थे, पर न लौटी थीं। अतः, गिरिजा को मिलने का भरोसा देकर गिरिराज को समझा देना कि अब मनोरथ-सिद्धि पर गिरिजा अवश्य लौटेंगी। अतः, लाइये।

रिषिन्ह गौरि देखी तहँ कैसी। मूरतिमंत तपस्या जैसी॥१॥
बोले मुनि सुनु सैलकुमारी। करहु कवन कारन तप भारी॥२॥
केहि अवराधहु का तुम्ह चहहू। हम सन सत्य मरम किन कहहू॥३॥

अर्थ—ऋषियों ने गौरी (श्रीपार्वतीजी) वहाँ कैसी देखी कि मानों तपस्या ही मूर्तिमती हो॥१॥ मुनि बोले कि हे शैलकुमारी! तुम किस कारण से भारी तप कर रही हो?॥२॥ किसकी आराधना कर रही हो और क्या चाहती हो? हमसे सत्य-सत्य भेद क्यों नहीं कहती हो?॥३॥

विशेष—(१) 'देखी तहँ'—यथा—"देखि उमहिं तपखीन सरीरा।" (दो० ७६)।
(२) 'मूरतिमंत तपस्या जैसी।' यहाँ 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है, क्योंकि तपस्या का मूर्तिमान् होना कवि की कल्पनामात्र है।

सुनत रिषिन्ह के बचन भवानी। बोलीं गूढ़ मनोहर बानी॥४॥
कहत बचन मन अति सकुचाई। हँसिहहु सुनि हमारि जड़ताई॥५॥
मन हठ परा न सुनइ सिखावा। चहत बारि पर भीति उठावा॥६॥
नारद कहा सत्य सोइ जाना। बिनु पंखन्ह हम चहहिं उड़ाना॥७॥
देखहु मुनि अबिबेक हमारा। चाहिय सदासिवहि भरतारा॥८॥

अर्थ—ऋषियों के वचन सुनते ही भवानी गूढ़ और मनोहर वाणी बोलीं ॥४॥ (सीधी) बात कहने में मन सकुचता है, हमारी मूर्खता को सुनकर आपलोग हँसेंगे ॥५॥ मन हठ में पड़ गया है; इसीसे शिक्षा नहीं सुनता। वह पानी पर दीवार उठाना चाहता है ॥६॥ श्रीनारदजी का कथन सत्य समझकर हम बिना पंखों के उड़ना चाहती हैं ॥७॥ हे मुनियो ! हमारा अज्ञान तो देखिये कि हम सदाशिव को पति (बनाना) चाहती हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'बोलीं गूढ़ मनोहर बानी'—क्योंकि भवानीजी जान गई हैं कि ये सप्तर्षि परीक्षा लेने आये हैं। गूढ़—क्योंकि ये जो वचन कहेंगी, उन्हीं पर ऋषियों की वचन-रचना होगी। अपने में अवगुण का आरोपण करना वचन में मनोहरता है। 'सैलकुमारी' के प्रति वक्ता लोग 'भवानी' कहते हैं; क्योंकि इन्होंने अपनेको भव-पत्नी के भाव में निश्चय कर रक्खा है।

(२) 'कहत बचन मन'''' ऋषियों ने सत्य मर्म पूछा था और संबोधन में शैलकुमारी (जड़ की पुत्री=जड़वत्) शब्द कहा था। जड़ न तो मर्म समझ सकता है और न कह सकता है, इसलिये भवानीजी 'बचन' कहती हैं कि सीधे वचन सुनिये। 'सकुचाई'—क्योंकि 'छोटे मुख बड़ी बात' का विषय कहना है, अथवा स्त्री को अन्य स्त्री के समक्ष भी पति-संबंधी बातें करने में लज्जा लगती है और ऋषि लोग तो पिता-तुल्य एवं चिरकालीन हैं। अतः, 'अति' संकोच है। 'जड़ताई'—क्योंकि 'शैलकुमारी' तो हूँ ही। अतः, जड़ की पुत्री में जड़ता योग्य ही है।

(३) 'मन हठ परा ''' इससे मेरा यह मन आपकी भी शिक्षा नहीं सुनेगा।

'चहत बारि पर भीति '''—शिवजी का मन स्वाभाविक वैराग्य-निष्ठ है, वही जल है, श्रीपार्वतीजी उस मन में राग लाना चाहती हैं, यही 'जल पर भीति उठाना' है अर्थात् असंभव का संभव करना है। शिवजी 'अगेह' हैं, उनकी गेहिनी (गृहिणी) बनना चाहती हैं।

(४) 'बिनु पंखन हम'''—शिव-प्राप्ति के योग्य साधन पंख हैं, मैं उनके बिना शिवजी की प्राप्ति चाहती हूँ। यहाँ विभावना अलंकार स्पष्ट है।

(५) 'सदासिवहिं भरतारा।'—श्रीनारदजी ने कहा है कि—'सदा अचल येहि कर अहिवाता।' उस 'सदा अचल' के अनुसार सदाशिव कहा है, अथवा वे सदा कल्याणरूप हैं।

(६) श्रीपार्वतीजी की मन, वचन और कर्म से शिव-प्राप्ति की इच्छा स्पष्ट हुई—'मन हठ परा' यह 'मन', 'बिनु पंखन''' यह कर्म और 'चाहिय सदा''' यह वचन है।

दोहा—सुनत बचन बिहसे रिषय, गिरिसंभव तव देह।
नारद कर उपदेस सुनि, कहहु बसेउ किसु गेह ॥७८॥

अर्थ—ये वचन सुनते ही ऋषि लोग बहुत ही हँसे कि वाह, क्यों न हो ? पहाड़ से तो तुम्हारा शरीर ही उत्पन्न हुआ है। (भला) कहो तो नारद का उपदेश सुनकर किसका घर बसा है ? (किसु=कस्य=किसका)।

विशेष—'बिहँसे'—सप्तर्षि निरादर से हँसे, क्योंकि परीक्षा लेने आये हैं, इसी से नारदजी के प्रति निन्दासूचक वचन कहते हैं, परन्तु भीतर स्तुति का भाव है। 'गिरिसंभव'—पहाड़ जड़ है, तुम उससे

'अस बिनती मम...' यहाँ भक्त-पराधीनता का सुन्दर आदर्श है। प्रभु का जोर भक्तों पर नहीं चलता, इसलिये विनती की और 'माँगे देहु' कहा, यथा—"अहं भक्त-पराधीनो ह्यस्वतंत्र इव द्विज।" (श्रीमद्भागवत, ९।४।६३)। 'जाइ'—सम्मान-पूर्वक बरात सजकर जाइये और ब्याह लाइये।

कह सिव जदपि उचित अस नाहीं। नाथबचन पुनि मेटि न जाहीं ॥१॥
सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा ॥२॥
मातु पिता गुरु प्रभु कै बानी। बिनहिं बिचार करिय सुभ जानी ॥३॥
तुम्ह सब भाँति परम-हितकारी। आज्ञा सिर पर नाथ तुम्हारी ॥४॥

अर्थ—शिवजी ने कहा कि यद्यपि ऐसा उचित नहीं है, फिर भी हे नाथ! (आपके) वचन मिटाये नहीं जा सकते ॥१॥ हे नाथ! आपकी आज्ञा सिर पर चढ़ाकर करें, यही हमारा परम धर्म है ॥२॥ माता, पिता, गुरु और स्वामी की बात बिना विचारे ही शुभ जानकर करनी चाहिये ॥३॥ (फिर) आप तो सब प्रकार से परम हितकारी हैं, हे नाथ! आपकी आज्ञा हमारे सिर पर है ॥४॥

विशेष—(१) 'कह सिव जदपि...'—आप हमारे स्वामी हैं, आपको केवल आज्ञा ही देनी चाहिये। 'बिनती मम सुनहु' और 'मोहिं माँगे देहु'—ऐसा कहना यद्यपि योग्य नहीं है, तथापि नाथ! कैसे भी कहें, आपके वचन मेटे नहीं जा सकते; क्योंकि "सिर धरि आयसु ''मातु पिता'''तुम्ह सब भाँति'''" यथा—"गुरु पितु मातु स्वामि हित बानी। सुनि मन मुदित करिय भलि जानी॥ उचित कि अनुचित किये बिचारू। धरम जाइ सिर पातक भारू॥" (अ० दो० १७६) अर्थात् जहाँ-जहाँ पुत्र, शिष्य एवं सेवक का भाव है, वहाँ उचित-अनुचित विचार की आवश्यकता नहीं, वहाँ तो—"आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।" (अ० दो० ३००) ही कर्त्तव्य है।

अत, 'उचित अस नाहीं' का वक्तार्थ ही माह्य है, शिवजी को अनुचित ठहराने का अधिकार ही नहीं है।

'हमारा'—बहुवचन है, सब भक्तों के सहित अपना धर्म कह रहे हैं।

'बिनहिं बिचार'—क्योंकि—"उचित कि अनुचित किये बिचारू। धरम जाइ सिर पातक भारू॥" (अ० दो० १७६)

'तुम्ह सब भाँति...' यथा—"मोरे प्रभु तुम्ह गुरु पितु माता।" (कि० दो० १०) तथा—"गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। ' से—"मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी।" (अ० दो० ७१)।

प्रभु तोषेउ सुनि संकरबचना। भगति-बिबेक धरमयुत रचना ॥५॥
कह प्रभु हर तुम्हार पन रहेऊ। अब उर राखेहु जो हम कहेऊ ॥६॥
अंतरधान भये अस भाखी। संकर सोइ मूरति उर राखी ॥७॥
तबहिं सप्तरिषि सिव पहिं आये। बोले प्रभु अति बचन सुहाये ॥८॥

दोहा—पारवती पहिं जाइ तुम्ह, प्रेम-परीक्षा लेहु ।
गिरिहि प्रेरि पठयेहु भवन, दूरि करेहु संदेहु ॥७७॥

अर्थ—भक्ति, विवेक और धर्मयुक्त रची हुई श्रीशिवजी की वाणी सुनकर प्रभु संतुष्ट (प्रसन्न) हुए ॥५॥ प्रभु ने कहा कि हे शिवजी ! तुम्हारा प्रण रहा (यथार्थ निबहा), अब जो मैंने कहा है, उसे हृदय में रखना ॥६॥ ऐसा कहकर (प्रभु) अंतर्धान हो गये, शिवजी ने (प्रभु की) वही मूर्त्ति हृदय में रख ली ॥७॥ तभी (उसी समय) सप्तऋषि शिवजी के पास आये, प्रभु (शिवजी उनसे) बहुत ही सुहावन वचन बोले ॥८॥ कि पार्वती के पास जाकर उनके प्रेम की परीक्षा लो और गिरिराज को प्रेरित करके, उनके द्वारा पार्वती को घर भिजवाओ, (गिरिराज और पार्वती) का संदेह दूर करना ॥७७॥

विशेष—(१) 'भगत बिबेक धरम···' सब वचनों में तीनो बातें मिश्रित हैं, अथवा उपर्युक्त तीन अर्द्धालियों में क्रमशः 'धरम' 'बिचार' और 'आज्ञा-पालन' शब्द पड़े हैं, उन्हीं में धर्म, विवेक और भक्ति लगा लेनी चाहिये ।

(२) 'अंतरधान भये···' रामजी शिव के सामने ही प्रकट हुए थे, फिर वहीं अंतर्धान भी हो गये । उनका कहीं से आना-जाना नहीं कहा गया, क्योंकि शिवजी का ऐसा ही विश्वास, भक्ति एवं प्रीति है । यथा—"जाके हृदय भगति जस प्रीती । प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहि रीती ॥"···से—"प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी ॥" (दो० १८४) तक ।

'सोइ मूरति'—भक्तों के प्रति भगवान् की झाँकी नित्य नवीन एवं विलक्षण होती रहती है, शिव के हृदय में अभी तक वन के दर्शनों की झाँकी थी, अब इस नवीन छवि को उर में बसा लिया ।

(३) 'तबहिं सप्तरिषि···' स्मरण करने से आये, यथा—"चिन्तितोपस्थितांस्तावत् शाधि नः करवाम किम् ।" (कुमारसंभव ६।१।२१); तथा—"सिव सुमिरे मुनि सात आइ सिरनाइन्हि । कीन्ह संभु सनमान जनम-फल पाइन्हि ॥ (पार्वतीमंगल ८४) ।

सप्तर्षि—यह सात तारों का एक समूह है जो 'सतभैया' कहलाता है । यह ध्रुव की परिक्रमा करता है । मार्कण्डेय पुराण के अनुसार इस समूह में प्रत्येक मन्वन्तर में सात-सात ऋषि रहते हैं । यथा—

१. स्वायंभुव मन्वन्तर में—मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ ।
२. स्वारोचिष मन्वन्तर में—अर्ज्जता, प्रम्भरण, दत्तोली, ऋषभ, निश्चर, चारु और अवीर ।
३. उत्तम मन्वन्तर में—प्रमद, विमद, अनुमद, शक्ति, ऋभु, उन्मद और कुमुद ।
४. तामस मन्वन्तर में—ज्योतिर्धाम, पृथु, काव्य, चैत्र, अग्नि, वलक और पीवर ।
५. रैवत मन्वन्तर में—हिरण्यरोमा, वेदश्री, ऊर्द्ध्वबाहु, वेदबाहु, सुधामा, पर्जन्य और वसिष्ठ ।
६. चाक्षुप मन्वन्तर में—सुमेधा, विरजा, हविष्मान्, उन्मत, मधु, अतिनामा और सहिष्णु ।
७. वैवस्वत मन्वन्तर में—कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और भरद्वाज ।
८. सावर्णि मन्वन्तर मे—गालव, दीप्तिमान्, परशुराम, अश्वत्थामा, कृप, ऋष्यश्रृंग और व्यास ।
९. दक्षसावर्णि मन्वन्तर में—मेधातिथि, वसु, सत्य, ज्योतिष्मान्, द्युतिमान्, सबल और हव्यवाहन ।
१०. ब्रह्मसावर्णि मन्वन्तर में—आपोमूर्ति, हविष्मत्, सुकृति, सत्य, नाभाग, अप्रतिम और वसिष्ठ ।
११. धर्मसावर्णि मन्वन्तर में—हविष्मत्, वसिष्ठ, आरुणि, निश्चर, अनघ, विष्टि और अग्निदेव ।

उत्पन्न हो, इसी से तुम्हारी बुद्धि पथरा (जड़ हो) गई है। स्तुति-पक्ष—गिरि तप-स्थल एवं गंभीर होते हैं, वैसे तुम्हारी देह तप स्थल और बुद्धि गंभीर है।

'बसेउ किसु गेह'—जीव का घर देह है, वह उजड़ जाती है अर्थात् देह से सम्बन्ध-रहित होने पर जीव मुक्त हो जाता है, यह स्तुति-पक्ष है।

दच्छसुतन्ह उपदेसेन्हि जाई। तिन्ह फिरि भवन न देखा आई ॥१॥
चित्रकेतु कर घर उन घाला। कनककसिपु कर पुनि अस हाला ॥२॥

अर्थ—दक्ष के पुत्रों को जाकर (नारदजी ने) उपदेश दिया, तो उनलोगों ने फिर लौटकर घर का मुँह नहीं देखा ॥१॥ चित्रकेतु का घर भी उन्होंने चौपट किया, फिर हिरण्यकशिपु की भी ऐसी ही हालत (दशा) हुई ॥२॥

विशेष—स्तुति-पक्ष—'भवन न देखा' अर्थात् संसार में न फिरे, मुक्त हुए, चित्रकेतु का भी देहाभिमान मिटा और हिरण्यकशिपु भी मुक्त हुआ।

(१) 'दच्छसुतन्ह ···'—पंच-जन प्रजापति की कन्या से दक्ष ने ब्याह करके हर्यश्व नामक दस हजार पुत्र उत्पन्न किये। उन सबको दक्ष ने सृष्टि रचने के लिये तप करने को भेजा। वे सिन्धु नदी और समुद्र के संगम पर नारायण-सर तीर्थ में तपस्या करते थे। श्रीनारदजी वहाँ पहुँचे और विचारा कि अभी इनका हृदय स्वच्छ है। भगवद्भजन का उपदेश लगेगा। अत, उनसे पारमार्थिक उपदेश-गर्भित दस प्रश्न किये, वे वचन गूढ़ (कूट के) थे। उनका भाव समझकर उनलोगों ने श्रीनारदजी की परिक्रमा की और उस मार्ग को चल दिये जहाँ से कोई न लौटा हो। (इस कथा का विस्तार, दस प्रश्न और उनके भाव भा० स्कं० ६ अ० ५ श्लो० १-२१ में हैं)।

इसके पीछे फिर दक्ष ने पंचजन की कन्या से सबलाश्व नामक सहस्र पुत्र उत्पन्न किये। इन्हें भी वहीं तप करने को भेजा। श्रीनारदजी ने इनसे भी वे ही प्रश्न किये, फिर इन्होंने भी पूर्व के अपने भाइयों की रीति ग्रहण की, लौटकर घर न गये। दक्ष ने समाचार पा क्रुद्ध होकर नारदजी को बहुत कटु वचन कहे, पुनः कहा कि प्रथम बार तो मैंने ब्रह्माजी के कहने से क्षमा की थी; पर अब मैं शाप देता हूँ—तुम एक जगह स्थिर न रहोगे, तीनों लोकों में घूमते-फिरते रहोगे, कहीं तुम्हारे पैर न जमेंगे। (भा० स्कं० ६ अ० ५) फिर दक्ष ने ६० कन्याएँ पैदा करके ऋषियों को ब्याह दीं और इनके द्वारा सृष्टि रचाने लगे।

'जाई'—प्राय. शिष्य गुरु के पास जाते हैं, पर नारदजी स्वयं उक्त शिष्यों के पास गये, ऐसे ही तुम्हारे (पार्वती के) पास भी स्वय आये, क्योंकि स्वार्थी हैं (स्तुति-पक्ष—परोपकारी दयालु हैं)।

(२) 'चित्रकेतु कर घर · '—चित्रकेतु शूरसेन देश के सार्वभौम राजा थे। इनके एक करोड़ रानियाँ थीं, पर न कोई पुत्र था और न कन्या ही। एक दिन अंगिरा ऋषि इनके यहाँ आये और इन्हें चिंतित देखकर कारण पूछा। इन्होंने अपना दुखड़ा कह सुनाया और पुत्र-प्राप्ति के लिये प्रार्थना की। ऋषि ने पुत्रेष्टि यज्ञ किया और उसका अवशिष्ट चरु ज्येष्ठ रानी को देकर कहा कि इसे खा लो। इससे एक पुत्र होगा, पर उससे तुम्हें हर्ष और विषाद दोनों होंगे। ऐसा कहकर ऋषि चले गये। पुत्र उत्पन्न हुआ, बहुत दान दिये गये। पुत्रवती होने के कारण इस रानी पर राजा की प्रीति दिनोंदिन अधिक होती गई जिससे और रानियों के हृदय में डाह होने लगी। ग्लानि से सब रानियों ने मिलकर अवसर पा बच्चे के ओठों पर विष लगा दिया, जिससे वह मर गया। यह देखकर उसकी माता चिल्ला उठी, कोलाहल मचा, राजा भी रोते हुए मूर्च्छित हो गये।

इस अवसर पर अंगिरा ऋषि और श्रीनारदजी वहाँ पहुँचे और राजा को बहुत प्रकार से समझाया, तब राजा को ज्ञान हुआ और दोनों ऋषियों को जानना चाहा। इन्होंने परिचय दिया। पुनः कहा कि हम दोनों तुमपर अनुग्रह करने को ही आये हैं। फिर ऋषियों ने जगत् की नश्वरता दिखाई। श्रीनारदजी ने राजा को एक मंत्र बतलाया और कहा कि इसके आराधन से सात दिनों में संकर्षण भगवान् के दर्शन होंगे। फिर नारदजी ने मृत पुत्र को जिला दिया। वह लड़का जी उठा और बोला जिसका सारांश यह कि जगत् कर्मानुसार चल रहा है, कोई किसी का पुत्र, पिता, मित्र, शत्रु आदि नहीं है। जीव नित्य, अव्यय, सूक्ष्म और स्वयंप्रकाश है। (भा० स्कंध ६, अ० १४-१५)। इसके बाद वह जीव फिर कहने लगा—"मैं पाञ्चाल देश का राजा था, विरक्त होने पर एक गाँव में गया। एक स्त्री (जो अभी मेरी माता है) ने मुझे भोजन बनाने के लिये कंडा दिया, जिसमें अनेक चींटियाँ थीं। मैंने विना देखे-सुने आग लगा दी। सब चींटियाँ जल गईं। फिर भोजन बनाकर मैंने शालग्राम भगवान् को भोग लगा प्रसाद पाया। वे ही चींटियाँ मेरी सौतेली माताएँ हुईं। प्रभु का भोग लगाने से सबने एक ही साथ एक ही जन्म में बदला ले लिया, नहीं तो करोड़ों जन्म इसी निमित्त होते। यथा—'सिव राखी श्रुति-नीति अरु मैं नहिं पावा कलेस॥' (उ० दो० १०९)।" इतना कहकर वह जीवात्मा उस शिशु शरीर से निकल गया। इससे राजा को ज्ञान हुआ और उन्होंने राज्य छोड़ दिया। नारद मुनि के उपर्युक्त मंत्राराधन से उन्हें संकर्षण भगवान् के दर्शन हुए, फिर उनको एक विमान मिला। उसपर चढ़े आकाश-मार्ग में घूमते हुए, पार्वतीजी के शाप से वृत्रासुर हुए। भा० स्कं० ६ में वृत्रासुर और इन्द्र का संवाद है।"

'कनककसिपुकर'''—नारदजी ने हिरण्यकशिपु की स्त्री को उपदेश दिया, गर्भस्थ प्रह्लाद ने जिसका धारण किया, जिससे पिता से विरोध हुआ। पिता मारा गया। इस प्रसंग की कथा दो० ७५ चौ० ४ में देखिये।

यहाँ तीनो लोकों के एक-एक उदाहरण हैं। दक्षसुत देवलोक के, चित्रकेतु भूलोक के और हिरण्यकशिपु पाताल के हैं अर्थात् तीनो लोकों के घर बिगाड़नेवाले ये ही नारदजी हैं। तीन बहुवचन हैं। अतः, सूचित हुआ कि बहुत घर बिगड़े।

नारद-सिख जे सुनहिं नरनारी। अवसि होहिं तजि भवन भिखारी॥३॥
मन कपटी तन सज्जन चीन्हा। आप सरिस सबही चह कीन्हा॥४॥

अर्थ—नारद की शिक्षा जो स्त्री-पुरुष सुनते हैं, वे अवश्य घर छोड़कर भिखारी होते हैं॥३॥ वे (नारदजी) मन से तो कपटी हैं, तन में सज्जनों के चिह्न हैं, वे अपने समान सभी को करना चाहते हैं॥४॥

विशेष—'अवसि होहिं'''भिखारी।'—नारद को द्वार-द्वार भीख माँगनी पड़ती है, दुःख उठाना पड़ता है। इसी से स्पष्ट है कि वे मन के कपटी हैं और चाहते हैं कि जैसे हम घर-बार-रहित हैं, वैसे सब हो जायँ, बसा घर उजाड़ने की खोज में रहते हैं। देह में ऊपर से तिलक, कंठी, माला धारण किये हुए, वीणा लिये श्रीराम यश गाते रहते हैं। ये सज्जनों के चिह्न रखते हैं, पर कर्त्तव्य तो निराला ही है कि सज्जन बिछुड़ों को मिलाते हैं और ये फोड़ते हैं।

'नरनारी'—उपर्युक्त तीनो (दक्षसुत, चित्रकेतु और हिरण्यकशिपु) पुरुष हैं, उनमें भी प्रह्लाद-सम्बंधी उपदेश उनकी माता को दिया गया है। स्पष्ट करने को यहाँ 'नर' और 'नारी' भी कहे गये कि कोई भी सुने, वही दशा होती है।

नारद को मन, वचन, कर्म तीनों से पर-घर-घालक सूचित किया। यथा—'मन कपटी'—मन, 'सिख'—वचन, 'तनु सज्जन चीन्हा'—कर्म।

स्तुति-पक्ष—भिखारी अर्थात् विरक्त बनाते हैं, मन को संसार से कपटे (अलग किये) हुए हैं और स्वयं सज्जन का बाना रखते हैं, वैसे ही औरों को भी बनाते हैं।

तेहि के बचन मानि बिस्वासा। तुम्ह चाहहु पति सहज उदासा ॥५॥
निर्गुन निलज कुबेष कपाली। अकुल अगेह दिगंबर ब्याली ॥६॥
कहहु कवन सुख अस बर पाये। भल भूलिहु ठग के बौराये ॥७॥
पंच कहे सिव सती बिबाही। पुनि अवडेरि मरायेन्हि ताही ॥८॥

अर्थ—उनके वचन पर विश्वास करके तुम (ऐसे को) पति बनाना चाहती हो, जो स्वाभाविक ही उदासीन है ॥५॥ गुण-रहित, निर्लज्ज, बुरे वेषवाला, मुंडमाल-धारी, कुल-हीन, गृह-हीन, नंगा और सर्प लपेटनेवाला है ॥६॥ कहो तो भला, ऐसा वर पाकर कौन सुख मिलेगा ? उस (नारद) ठग के बहकाने में तुम खूब आ गई हो ॥७॥ पंचों के कहने से शिवजी ने सती को ब्याहा था, फिर उसे फेर (चक्कर) में डालकर मरवा डाला ॥८॥ (अवडेरना = फेर में डालना, तंग करना)।

विशेष—शिवजी 'सहज उदासा' 'अगेह'— उदासीन लोगों की तरह श्मशान एवं नदी तट पर पड़े रहते हैं। वहाँ मुर्दा आदि देखते रहने से देह की अनित्यता एवं आत्म-बुद्धि बनी रहती है। शिवजी को किसी का संग नहीं सुहाता। जब गेह (घर) ही नहीं है, तब रहोगी कहाँ! 'दिगंबर'—वे स्वयं नंगे रहते हैं, तो तुम्हें कहाँ से वस्त्र लाकर पहनावेंगे ? 'अकुल'—तुम्हें सास, श्वशुर आदि परिवार नहीं मिलेंगे, ऐसे सूने स्थान में कैसे रहोगी ?

इन शब्दों के स्तुति-पक्ष के अर्थ से शिवजी में संतों के लक्षण आ जाते हैं। दो० ६६ की चौ० ८ के विशेष में देखिये।

दोहा—अब सुख सोवत सोच नहिं, भीख माँगि भव खाहिं।
सहज एकाकिन्ह के भवन, कबहुँकि नारि खटाहिं ॥७९॥

अर्थ—(शिवजी) अब सुख से सोते हैं, कुछ शोच (फिक्र) नहीं है और संसार में भीख माँगकर खाते हैं। भला, जो स्वाभाविक अकेले रहनेवाले हैं, उनके घर में क्या स्त्री कभी ठहर (निभ) सकती है ?

विशेष—'अब सुख सोवत'—जब सती थीं, तब शोच था, उनके मरने से सुखी हैं। पैर पसारकर बेफिक्री की नींद ले रहे हैं।

स्तुति-पक्ष—यथा—"प्रसाद रामनाम के पसारि पायँ सूतिहौं।" (क० उ० ६९); तथा—"सोवै सुख तुलसी भरोसे एक राम के।" (क० उ० १०९)।

अजहूँ मानहु कहा हमारा। हम तुम्ह कहँ बर नीक बिचारा ॥१॥

अति सुंदर सुचि सुखद सुसीला। गावहिं बेद जासु जस लीला ॥२॥
दूषनरहित सकल-गुन-रासी। श्रीपति-पुर-बैकुंठ-निवासी ॥३॥
अस बर तुम्हहि मिलाउब आनी। सुनत बिहँसि कह बचन भवानी ॥४॥

अर्थ—अब भी हमारा कहा मानो तो हमने तुम्हारे लिये अच्छा वर सोच रक्खा है ॥१॥ जो बहुत सुंदर, पवित्र, सुख देनेवाले और सुशील हैं, जिनके यश और चरित को वेद गाते हैं ॥२॥ जो दोषों से रहित और सब गुणों की राशि हैं, लक्ष्मी एवं शोभा के स्वामी और वैकुंठपुर के रहनेवाले हैं ॥३॥ ऐसे वर लाकर (हम) तुमसे मिला देंगे। ये वचन सुनकर भवानी (पार्वतीजी) ने विशेष हँसकर कहा ॥४॥

विशेष—(१) 'अति सुन्दर सुचि ' बैकुंठ निवासी।'—विष्णु बड़े ही रूपवान् हैं। उनमें पंच मुख, जटा धारण, पन्द्रह नेत्र आदि की तरह कुरूपता नहीं है। 'सुचि'—पवित्र हैं, शिवजी की तरह चिता-भस्म, मुंडमाल, सर्प एवं बाघम्बर आदि नहीं रखते। 'सुखद'—ये जगत् का पालन करते हैं, इनके दर्शनों से ही सुख होता है, शिवजी की तरह भयंकर नहीं हैं और न संहार ही करते हैं। 'सुसीला'—सब का योग्य आदर करते हैं, ऐसे नहीं हैं जैसे शिवजी ने दक्ष का अनादर किया है। प्रत्युत ऐसे शीलवान् हैं कि भृगु के लात मारने पर भी उनका सत्कार ही किया। 'दूषन-रहित'—निर्लज्जता आदि दूषणों से रहित हैं। 'पुर बैकुंठ निवासी'—इनका पुर अत्यंत सुंदर है और घर-बार भी है, शिवजी की तरह 'अगेह' नहीं हैं। 'श्रीपति'—लक्ष्मी के पति हैं, शिवजी की तरह सहज एकाकी नहीं हैं। यद्यपि श्री का प्रधान अर्थ लक्ष्मी है, तथापि यहाँ पार्वती की रुचि बढ़ाने का प्रसंग है, इसमें सपत्नी-द्वेष रुचिघातक होगा। अतः, शोभा अर्थ लेकर शिवजी की कुवेषता के विपर्यय में संगत कहा जाता है।

'मिलाउब आनी'—तुम्हारे इतने उग्र तप पर भी शिवजी न मिले और हम विना श्रम ही वैसे सुन्दर वर को यहाँ लाकर मिला देंगे। 'बिहँसि'—यह यहाँ निरादर के भाव से है।

पूर्व शिवजी मे नौ अवगुण कहे थे, उन्हीं के विपर्यय में यहाँ विष्णु में नौ गुण कहे हैं। यहाँ क्रमशः शिवजी के अवगुण और उनके जोड़ के विष्णु के गुण साथ ही दिखाते हैं—

१—सहज उदासी—सुशील,	४—कुवेष—अति सुंदर,	७—अगेह—वैकुण्ठनिवासी,
२—निर्गुण—गुणराशि,	५—कपाली—अति शुचि,	८—दिगंबर—सुखद,
३—निर्लज्ज—यशस्वी,	६—अकुल—श्रीपति,	९—व्याली—दूषण-रहित।

अंकों की सीमा नव है, इस तरह एक को अवगुणों की और दूसरे को गुणों की सीमा कहा है। श्रीपार्वतीजी ने भी ऐसा समझा और कहा है। यथा—"महादेव अवगुनभवन, बिष्णु सकल गुन-धाम ॥" (दो० ८०)।

यहाँ परीक्षा के लिये ही शिव में अवगुण शब्द कहे गये हैं, वास्तव में वे सब उनमें गुण ही हैं, यथा—"जौं बिवाह संकर सन होई। दोषउ गुन सम कह सब कोई ॥" (दो० ६८)।

सत्य कहेहु गिरिभव तनु एहा। हठ न छूट छूटइ बरु देहा ॥५॥
कनकउ पुनि पषान ते होई। जारेहु सहज न परिहर सोई ॥६॥
नारद-बचन न मैं परिहरऊँ। बसउ भवन उजरउ नहिं डरऊँ ॥७॥
गुरु के बचन प्रतीति न जेही। सपनेहु सुगम न सुख सिधि तेही ॥८॥

दोहा—महादेव अवगुन भवन, विष्णु सकल गुनधाम।
जेहि कर मन रम जाहि सन, तेहि तेही सन काम ॥८०॥

शब्दार्थ—भव = उत्पन्न। कनकउ = सोना भी। पषान = पाषाण = पत्थर। सहज = स्वभाव (यहाँ रंग एवं कठोरता से तात्पर्य है)। बसउ = बसे। उजरउ = उजड़े।

अर्थ—आपने सत्य ही कहा है कि (मेरी) यह देह पर्वत (जड़) से उत्पन्न है, (अतः, इसका) हठ न छूटेगा, चाहे देह भले ही छूट जाय ॥१॥ सोना भी तो पत्थर से ही (उत्पन्न) होता है, वह भी अपना स्वभाव (रंग एवं काठिन्य) तपाये जाने पर भी नहीं छोड़ता ॥२॥ (इसी तरह) श्रीनारदजी का उपदेश मैं नहीं छोड़ूँगी, घर बसे—चाहे उजड़े, मैं इसके लिये नहीं डरती ॥३॥ जिसको गुरु के वचनों पर विश्वास नहीं है, उसको स्वप्न में भी सुख एवं सिद्धि सुलभ नहीं ॥४॥ शिवजी अवगुणों के घर और विष्णुजी समस्त गुणों के स्थान (हा) हों, परन्तु जिसका मन जिसमें रम जाता है, उसको उसी से प्रयोजन रहता है ॥८०॥

विशेष—(१) 'सत्य कहेहु' ...'—पूर्व सप्तर्षियों ने कहा था—'गिरि-संभव तव देह', उसी का उत्तर है अर्थात् कारण के अनुसार कार्य होता है, अतः, 'गिरि-भव' होने से मेरा हृदय भी कड़ा है, वह 'टस से मस' नहीं होने का।

(२) 'कनकउ पुनि ...'—यथा—"कनकहिं बान चढइ जिमि दाहे। तिमि प्रीतम-पद नेम निबाहे॥" (अ॰ दो॰ २०४)।

(३) 'गुरु के बचन ...'—ऋषियों के वचन थे—'नारद कर उपदेस सुनि कहहु बसेउ किसु गेह।' 'तेहि के बचन मानि बिस्वासा।' यहाँ उनके उत्तर हैं। विश्वास का कारण कहती हैं कि वे मेरे गुरु हैं। अतः, उनके वचन किसी तरह नहीं छोड़ूँगी, (गुरु में ऐसा ही विश्वास चाहिये)।

(४) जेहि कर मन रम ...' यथा—"सोउ काह कवि कहहिं जाहि जोइ भावइ।" (पार्वती मं॰ ७२)। तथा—"गुन अवगुन जानत सब कोई। जो जेहि भाव नीक तेहि सोई॥" (दो॰ ५)। कवि कालिदास का 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' (रघुवंश, सर्ग ६) तो प्रसिद्ध है ही।

जौं तुम्ह मिलतेहु प्रथम मुनीसा। सुनतिउँ सिख तुम्हारि धरि सीसा ॥१॥
अब मैं जनम संभु-हित हारा। को गुन-दूषन करइ बिचारा ॥२॥
जौं तुम्हरे हठ हृदय बिसेषी। रहि न जाइ बिनु किये बरेषी ॥३॥
तौ कौतुकिअन्ह आलस नाहीं। बर कन्या अनेक जग माहीं ॥४॥

अर्थ—(यदि ऋषि लोग कहें कि तुम एक के वचन पर दृढ़ रहकर हम सात का अपमान क्यों करती हो ? तो उसका उत्तर उमाजी देती हैं) हे मुनीश्वरो ! यदि आपलोग पहले मिले होते तो आप ही के उपदेश शिर पर चढ़ाकर सुनती ॥१॥ अब तो मैं अपना जन्म शिवजी के लिये हार चुकी, (फिर) गुणों और दोषों का विचार कौन करे ? ॥२॥ जो आपके हृदय में बहुत ही हठ है और बिना बरेषी (विवाह की ठहरौनी—घटकैनी) किये नहीं रहा जाता हो ॥३॥ तो कौतुकियों को आलस तो होता ही नहीं और जगत् में अनेक वर और कन्याएँ हैं, (वहाँ अपनी साध पुरा लें) ॥४॥

विशेष—(१) 'धरि मीसा'—सादर सुनना, यह मुहावरा है।

(२) 'जनम संभु-हित हारा'—प्रेम-रूप जुए में मैं अपने आपको हार गई, इसपर मेरा अधिकार नहीं रहा। यह कुल-कन्या का धर्म नहीं कि मन एक में लगाकर फिर उसका गुणागुण विचारे और गुण सुनकर दूसरे में लगावे।

(३) 'कौतुकियन्ह आलस नाहीं'—खेलाड़ी लोगों को आलस हो तो वे खेल में व्यर्थ काम क्यों करें ? आपलोग तो खेल करने आये हैं, नहीं तो घर की तरफ़ से नरेखी नहीं की जाती। आप जो विष्णु की ओर से कन्या ढूँढने निकले हों तो अन्यत्र बहुत घर हैं।

जनम कोटि लगि रगरि हमारी। बरउँ संभु नतु रहउँ कुँआरी ॥५॥
तजउँ न नारद कर उपदेसू। आप कहहिं सत बार महेसू ॥६॥
मैं पा परउँ कहइ जगदंबा। तुम्ह गृह गवनहु भयेउ बिलंबा ॥७॥
देखि प्रेम बोले मुनि ज्ञानी। जय जय जगदंबिके भवानी ॥८॥

अर्थ—(यदि आप कहें कि अच्छा, यह जन्म गया, तो गया, अगले जन्म के लिये हम अभी से कह रखते हैं। मैं तो यहाँ तक कहती हूँ कि यदि इस जन्म में शिवजी न मिलें, तब भी आशा न रखिये, क्योंकि) करोड़ जन्मों तक मेरी यही रगड़ रहेगी कि ब्याहूँगी तो शिवजी को ही, अन्यथा कुँआरी ही रहूँगी ॥५॥ मैं नारदजी के उपदेश नहीं छोड़ने की, (चाहे) स्वयं शिवजी ही सैकड़ों बार (क्यों न) कहें ॥६॥ जगन्माता (पार्वतीजी) कहती हैं कि मैं आपके पाँवों पड़ती हूँ, आप घर जायँ, विलम्ब हुआ ॥७॥ उमाजी का प्रेम देखकर ज्ञानी मुनि बोले, हे जगन्माता ! हे भवानी ! आपकी जय हो, जय हो ॥८॥

विशेष—(१) 'आप कहहिं सत बार महेसू।'—यद्यपि शिवजी इष्ट हैं तथापि आचार्य का पद इष्ट से भी अधिक माना जाता है। यथा—"तुम्हते अधिक गुरुहिं जिय जानी।" (अ० दो० १२८)। तात्पर्य यह कि कहीं-कहीं इष्ट ही सिद्धि के समय विघ्न करते हैं, जैसे परीक्षार्थ शिवजी का ही आना शिवपुराण, कुमारसम्भव तथा पार्वती-मंगल में कहा है। अतः, गुरु के वचन पर दृढ़ रहना चाहिये, फिर अभी तो बिना पाणि-ग्रहण हुए वर का आज्ञा देने का अधिकार भी उतना नहीं है।

(२) 'मैं पा परउँ ···'—यहाँ 'जगदम्बा' कहा है, क्योंकि मुनियों पर भी वात्सल्य है, इष्ट-निन्दा पर भी क्रोध न करके विनती ही करती हैं। यह मुहावरा है—"भाई ! हम तुम्हारे पाँवों पड़ते हैं, अपने घर जाओ, बहुत हो चुका।" वैसे ही हैरान होने पर यहाँ उमा ने भी कहा है।

(३) 'देखि प्रेम बोले···'—'ज्ञानी'—क्योंकि यहाँ 'जगदम्बा' और 'भवानी' कहकर फिर 'माया' और 'भगवान' कहते हैं। इस तरह माधुर्य को ऐश्वर्य से मिलाते हैं। 'जय जय'—उमाजी को परीक्षा में ठीक पाया। अब, मुनि लोग आनन्द के उद्गार से ऐसा कहने लगे।

पूर्व "पारवती पहिं जाइ तुम्ह, प्रेम - परीछा लेहु।" (दो० ७७) से उपक्रम हुआ। यहाँ—'देखि प्रेम बोले मुनि···' पर उपसंहार है। इतना प्रेम परीक्षा का प्रसंग है।

दोहा—तुम्ह माया भगवान सिव, सकल - जगत - पितु - मातु।
नाइ चरन सिर मुनि चले, पुनि पुनि हरषत गातु ॥८१॥

अर्थ—आप माया हैं, शिवजी भगवान् हैं, (आप दोनों) समस्त जगत् के माता पिता हैं। बारबार चरणों में माथ नवाकर मुनि लोग चले, हर्ष से उनके शरीर बारबार पुलकायमान होते हैं।

विशेष—सप्तर्षि प्रथम आये, तब उमा को प्रणाम नहीं किया, क्योंकि राजपुत्री मानकर उनकी परीक्षा लेना चाहते थे। इसीसे 'सैलकुमारी' ही कहा था, तब राजपुत्री को प्रणाम अयोग्य होता। अब उनको माया अर्थात् आद्याशक्ति कहा, तब प्रणाम भी किया। पहले ही यदि माता मानकर प्रणाम करते तो परीक्षा अनुचित होती।

मन, वचन, कर्म तीनों से स्तुति की—'जय जय' से वचन, 'नाइ सिर' से कर्म, 'हरषित गात' से मन द्योतित हुआ ; क्योंकि हर्ष मन का धर्म है, उसके कारण देह पुलकित हो जाती है।

श्रीपार्वती-प्रेम-परीक्षा-प्रकरण समाप्त

जाइ मुनिन्ह हिमवंत पठाये। करि विनती गिरिजहि गृह ल्याये ॥१॥
बहुरि सप्तरिषि सिव पहिं जाई। कथा उमा कै सकल सुनाई ॥२॥
भये मगन सिव सुनत सनेहा। हरषि सप्तरिषि गवने गेहा ॥३॥
मन थिर करि तब संभु सुजाना। लगे करन रघुनायक - ध्याना ॥४॥

अर्थ—वहाँ से जाकर मुनियों ने हिमाचल को (गिरिजा के पास) भेजा। वे विनती करके गिरिजा को घर ले आये ॥१॥ फिर सप्त ऋषियों ने शिवजी के पास आकर उमाजी की सारी कथा कही ॥२॥ शिवजी पार्वतीजी का स्नेह सुनते ही प्रेम में मग्न हो गये और सप्तऋषि प्रसन्न होकर अपने आश्रम को गये ॥३। तब अपने मन को स्थिर करके सुजान शिवजी श्रीरघुनाथजी का ध्यान करने लगे ॥४॥

विशेष—'बहुरि'—जब श्रीपार्वतीजी घर आ गईं, तब, क्योंकि शिवजी की आज्ञा थी कि—'गिरिहिं प्रेरि पठयेहु भवन' (दो० ७७)।

'मन थिर करि ···'—श्रीपार्वतीजी का प्रेम समाचार सुनकर शिवजी आनन्द में मग्न हो गये। फिर वहाँ से मन हटा (स्थिर) करके श्रीरामजी के स्मरण में लगे, यही 'सुजानता' है, यथा—"रामहि भजहिं ते चतुर नर।" (आ० दो० ६)।

तारक असुर भयेउ तेहि काला। भुजप्रताप बल तेज बिसाला ॥५॥
तेहि सब लोक लोकपति जीते। भये देव सुख - संपति - रीते ॥६॥
अजर अमर सो जीति न जाई। हारे सुर करि बिबिध लराई ॥७॥
तब बिरंचि सन जाइ पुकारे। देखे बिधि सब देव दुखारे ॥८॥

शब्दार्थ—प्रताप = बिना सामना हुए ही शत्रु डर जाय, वह प्रताप है। तेज = सामने शत्रु दब जाय, वह तेज है। बिसाला = अधिक।

अर्थ—उसी समय तारक नामक दैत्य हुआ, जिसकी भुजाओं का प्रताप, बल और तेज बहुत अधिक था ॥५॥ उसने सब लोकों और लोकपालों को जीत लिया। देवता लोग सुख और सम्पत्ति से

खाली हो गये ॥६॥ वह अजर-अमर था, इसी से जीता नहीं जा सकता था, देवता लोग नाना प्रकार की लड़ाइयाँ करके हार गये ॥७॥ तब देवता लोगों ने ब्रह्माजी के पास जाकर गुहार लगाई। ब्रह्माजी ने सब देवों को दुखी देखा ॥८॥

विशेष—'तारक असुर'''' मधुवंशी वज्रांग दैत्य ने बड़ा उग्र तप किया। ब्रह्माजी ने उसे वर दिया कि तुम्हारे तारक नामक महा बलवान् पुत्र होगा। सहस्र वर्ष बीतने पर तारक पैदा हुआ। इसने भी उग्र तप किया, जिससे सुरासुर को भयभीत देखकर ब्रह्माजी ने उससे इच्छित वर माँगने को कहा। उसने देवताओं को जीतने की इच्छा प्रकट करते हुए वर माँगा कि किसी भी महापराक्रमी एवं किसी भी अस्त्र-शस्त्र से मेरी मृत्यु न हो। इसपर ब्रह्माजी ने कहा कि ऐसा माँगना अयोग्य है। तुमको अपने वरदान में एक-न-एक अपवाद रखना ही होगा। तब उसने माया से मोहित होकर यह माँगा कि सात दिनों के शिशु को छोड़कर और किसी से मेरी मृत्यु न हो। 'एवमस्तु' कहकर ब्रह्मा चले गये। वह भी घर आया। ऐसा जानकर और दैत्य लोग उससे मिले और उसे अपना राजा बनाया। फिर उसने सब देवताओं को जीत लिया, यहाँ तक कि विष्णु का चक्र भी उसका कुछ नहीं कर सकता था। तब सब देवताओं ने ब्रह्मा से पुकार की। यह कथा मत्स्य-पुराण और कुमार-संभव में विस्तार से है।

दोहा—सब सन कहा बुझाइ बिधि, दनुजनिधन तब होइ।
संभु-सुक्र-संभूत सुत, येहि जीतइ रन सोइ ॥८२॥

अर्थ—श्री ब्रह्माजी ने सबसे समझाकर कहा कि इस दैत्य का नाश तब होगा, जब शिवजी के वीर्य से उत्पन्न पुत्र हो, वही इसे लड़ाई में जीतेगा ॥८२॥

विशेष—'कहा बुझाइ बिधि'—"ब्रह्माजी ने समझाया कि इसके तप से सृष्टि जली जाती थी, उसीको बचाने के लिये मैंने इसे ऐसा वर दिया था। सात दिनों के शिशु से इसने मृत्यु माँगी है, जो तेजस्वी के वीर्य से उत्पन्न हो। शिवजी के वीर्य में ऐसा तेज है, जिससे पुत्र होकर तारक का वध करेगा, वही तुम्हारा सेनापति भी होगा। यत्न करो, शिवजी की समाधि छूटे और वे पार्वतीजी को ग्रहण करें।" (कुमार-संभव)। यहाँ 'बिरंचि' और 'बिधि' कहा है, क्योंकि वे सृष्टि के रचयिता हैं। अतः पुकार सुनते हैं। विधि हैं। इससे सब विधान जानते हैं, विधान भी बतलाया कि शिवजी ऊर्ध्वरेता हैं, इनके वीर्य का पतन (रंभादि) पर-स्त्रियों से न हो सकेगा। अतः, विवाह होना चाहिये।

मोर कहा सुनि करहु उपाई। होइहि ईश्वर करिहि सहाई ॥१॥
सती जो तजी दच्छमख देहा। जनमी जाइ हिमाचल-गेहा ॥२॥
तेहि तप कीन्ह संभु पति लागी। सिव समाधि बैठे सब त्यागी ॥३॥
जदपि अहइ असमंजस भारी। तदपि बात एक सुनहु हमारी ॥४॥

अर्थ-मेरा कहा सुनकर उपाय करो, (कार्य) होगा, ईश्वर सहायता करेगा ॥१॥ सतीजी ने, जिन्होंने दक्ष के यज्ञ में देह त्यागी थी, जाकर हिमाचल के घर में जन्म लिया है ॥२॥ उन्होंने शिवजी को पति होने के लिये तप किया है, (इधर) शिवजी सब त्यागकर समाधि लगाये बैठे हैं ॥३॥ यद्यपि बड़ी दुविधा है, तो भी मेरी एक बात सुनो ॥४॥

विशेष—'तब आपन प्रभाव ···'— प्रश्न—इसे शिवजी से ही प्रयोजन था, सब संसार को क्यों सताया ?

उत्तर—इसने विचारा कि मेरी मृत्यु तो होगी ही, एक बार अपना प्रभाव तो जगत् को दिखा दूँ, नहीं तो लोग यही कहेंगे कि सामान्य था, इससे नष्ट हो गया। पुनः इसके विश्व-विजयी सिद्ध होने में शिवजी का भी महत्त्व होगा कि इन्होंने ऐसे को जीता।

(२) 'कोपेउ जबहि ······'— काम को 'बारिचर केतू' कहा है, क्योंकि इसकी ध्वजा में मछली का चिह्न है। काम मन से उत्पन्न होता है, अतः, मनसिज कहाता है। मन, काम और मीन तीनों चंचल होते हैं, इसीसे साहचर्य है।

'बारिचर केतू' और 'श्रुतिसेतू'—काम द्रव-रूप होने से जल है। उसकी बाढ़ यहाँ तक बढ़ी कि वेदों के पुल टूट गये। कितना ऊँचा जल चढ़ा ? यह 'बारिचरकेतू' से जनाया कि ध्वजा तक डूबी है, तभी मछली जीती रहती है। भला, पुल क्यों न टूट जायँ ? 'श्रुतिसेतू' अर्थात् वेदों की बाँधी हुई वर्णाश्रम आदि मर्यादाएँ। वही आगे कहते हैं—

(३) 'ब्रह्मचर्य व्रत संजम ·····'—ब्रह्मचर्य अर्थात् मन, वचन, कर्म से मैथुन त्याग करना। मैथुन के आठ प्रकार कहे गये हैं। यथा—"दर्शनं स्पर्शनं केलिः रहस्यं गुह्यभाषणम्। संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ॥ एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः।" इन आठों से बचना ब्रह्मचर्य व्रत है।

विवेक की सेना में ब्रह्मचर्य का नाम प्रथम कहा गया, क्योंकि काम के जीतने में यह प्रधान है और काम से युद्ध का प्रसंग ही है। संयम दो० ३६ चौ० १४ में कहा गया। 'धीरज'=धैर्य=कामादि के उद्वेग से न घबराना। धर्म, ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य, योग आदि मानस-प्रसंग दो० ३६ में आ गये हैं।

छंद—भागेउ बिबेक सहाय सहित सो सुभट संजुग-महि मुरे।
सदग्रंथ - पर्वत-कंदरन्हि महुँ जाइ तेहि अवसर दुरे॥
होनिहार का करतार को रखवार जग खरभर परा।
दुइ माथ केहि रतिनाथ जेहि कहुँ कोपि कर धनुसर धरा॥

दोहा—जे सजीव जग अचर चर, नारि पुरुष अस नाम।
ते निज निज मरजाद तजि, भये सकल बस काम ॥८४॥

शब्दार्थ—संजुग-महि = रण-भूमि। मुरे = लौट पड़े, पीठ दी। दुरे = छिपे। खरभर = खलबली।

अर्थ—विवेक अपने सहायकों के साथ भाग खड़ा हुआ। उसके योद्धा लोगों ने रणभूमि में पीठ दे दी और उस अवसर पर वे सब सद्ग्रंथ रूपी पर्वत की कंदराओं में जा छिपे॥ क्या होनेवाला है ? हे ब्रह्मा ! हमारा रक्षक कौन है ? इस प्रकार जगत् भर में खलबली मच गई। ऐसा कौन दो सिरों वाला है जिसके लिये रति के नाथ कामदेव ने कोप कर धनुष-बाण धारण किया है ? जितने चर-अचर जीव हैं, जिनका 'पुरुष' और 'स्त्री' ऐसा नाम है, वे सब अपनी-अपनी मर्यादा छोड़कर काम के वश हो गये ॥८४॥

विशेष—इस काम की चढ़ाई के प्रसंग में यह छंद चार बार आया है। इसका भाव यह है कि इसने अपने एक-एक चरण से एक-एक को अर्थात् चारो चतुष्टय को जीता है, १—तप, योग, ज्ञान, वैराग्य, २—देव, मनुष्य, तिर्यक्, स्थावर। ३—चारो वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) ४—चारो आश्रम (ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, संन्यास)।

'सद्ग्रंथ पर्वत''''''—सद्ग्रंथ पर्वत हैं। यथा—"पावन पर्वत वेद पुराना।" (उ० दो० ११६); उनके अध्याय-श्लोक आदि विभाग ही कंदराएँ हैं। उनमें विवेक आदि लिखे मात्र रह गये, अब किसी व्यक्ति में दिखाई नहीं देते।

'दुइ माथ को''''—एक माथ वाले जीव-मात्र को तो काम ने प्रभाव से जीत लिया, मानों एक-एक सिर कट गये। अब जिसके दो सिर होंगे, उसका एक अभी भले ही बचा हो, जिसका गर्व-नाश करने के लिये काम ने कुपित होकर धनुष-बाण उठाया है। (ये लोग नहीं जानते कि दो नहीं, वहाँ पाँच सिरों वाला है, जिसके लिये काम ने धनुष-बाण धारण किया है)।

सबके हृदय मदन अभिलाखा। लता निहारि नवहिं तरुसाखा ॥१॥
नदी उमगि अंबुधि कहँ धाई। संगम करहिं तलाव तलाई ॥२॥
जहँ असि दसा जड़न्ह कै बरनी। को कहि सकइ सचेतन्ह करनी ॥३॥
पसु पच्छी नभ-जल-थल-चारी। भये कामबस समय बिसारी ॥४॥
मदन-अंध व्याकुल सब लोका। निसि दिन नहिं अवलोकहिं कोका ॥५॥

अर्थ—सब के हृदय में काम की इच्छा हुई। लताओं को देखकर वृक्षों की शाखाएँ झुकने लगीं ॥१॥ नदियाँ उमड़-उमड़कर समुद्र की ओर दौड़ीं, तालाब और तलाई आपस में संगम (मिलन) करने लगे ॥२॥ जहाँ जड़ों की यह दशा कही गई, वहाँ भला चैतन्य जीवों की करनी कौन कह सकता है ? ॥३॥ आकाश, जल और स्थल पर चलनेवाले पशु-पक्षी (अपने संयोग का) समय भुलाकर काम के वश हो गये ॥४॥ तीनो लोक (एवं सब लोग) काम से अंधे होकर व्याकुल हो गये, चकवे-चकई को रात-दिन तक नहीं दिखाई देता ॥५॥

विशेष—(१) 'सब के हृदय मदन ''''—ऊपर 'चर-अचर' कह आये। अब उन्हें कुछ व्यष्टि (विस्तार) रूप में गिनाते हैं। यहाँ से तीन अर्द्धालियों में प्रथम अचर कहते हैं। फिर चर (चैतन्य) जीवों को कहेंगे।

'लता निहारि''''' में पुरुष-वर्ग को और 'नदी-उमगि' में स्त्री-वर्ग की प्रबलता हुई। पुनः 'संगम करहिं''''' में दोनों वर्गों में तुल्य प्रबलता है अर्थात् सब पर काम का प्रभाव बराबर पड़ा। 'को कहि सकइ''''—क्योंकि घृणित एवं लज्जाजनक बात होने से अकथ्य है।

(२) 'लता निहारि'—इसपर शंका होती है कि जड़ों में नेत्र नहीं होते, फिर 'निहारना' क्यों कहा ? उत्तर भी दिया जाता है कि वर्त्तमान विज्ञान (साइंस) से भी वृक्षों का क्रोध करना, खाना, पीना, मारना आदि सिद्ध हैं। कहावत भी है—'खरबूजा खरबूजे को देखकर रंग पकड़ता है' तथा—"इहाँ कुम्हड़-बतिया कोउ नाहीं। जे तरजनी देखि मरि जाहीं॥" (दो० २०२)।

विशेष—'समाधि बैठे'—पूर्व कहा गया है—"लगे करन रघुनायक-ध्याना।" (दो० ८१), उसी ध्यान में समाधि लग गई जो यहाँ के वचन से सूचित होता है।

'असमंजस भारी'—न जाने समाधि कब छूटे? यदि छुड़ाई जाय तो छूटना कठिन है, फिर छुड़ानेवाले की खैर नहीं, इत्यादि।

पठवहु काम जाइ सिव पाहीं। करइ छोभ संकर-मनमाहीं ॥५॥
तब हम जाइ सिवहि सिर नाई। करवाउब बिबाहु बरियाई ॥६॥
येहि बिधि भलेहि देवहित होई। मत अति नीक कहइ सब कोई ॥७॥
अस्तुति सुरन्ह कीन्हि अति हेतू। प्रगटेउ बिषम बान झखकेतू ॥८॥

दोहा—सुरन्ह कहीं निज बिपति सब, सुनि मन कीन्ह बिचार।
संभु-बिरोध न कुसल मोहि, बिहँसि कहेउ अस मार ॥८३॥

शब्दार्थ—भलेहि = भले ही = भली भाँति। हेतू = कारण तथा प्रेम से। झखकेतू = काम।

अर्थ—काम को भेजो कि वह जाकर शिवजी के मन में क्षोभ उत्पन्न करे ॥५॥ तब हम सब शिवजी के पास जाकर, प्रणाम करके बलात् (जबरन्) विवाह करवायेंगे ॥६॥ इस प्रकार भले ही देवताओं का हित होगा। सबने कहा कि यह मत बहुत अच्छा है ॥७॥ देवताओं ने अत्यन्त प्रेम से (वा अत्यन्त कारण पड़ने से) स्तुति की तो मीनध्वज पचबाण धारी (काम) प्रकट हुआ ॥८। देवताओं ने अपनी सारी विपत्ति कही, उसने सुनकर मन में विचार किया, (फिर) विशेष हँसकर कामदेव ने ऐसा कहा कि यद्यपि शिवजी के वैर से मेरा कल्याण नहीं ॥८३॥

विशेष—'बिषम बान'—बिषम = (यहाँ) पाँच, काम के बाण प्राय फूल के ही पाये जाते हैं, यथा—"काम कुसुम धनु सायक लीन्हे।" (दो० २५९), "ते रतिनाथ सुमन सर मारे।" (अ० दो० २१)। ये पाँच हैं—कमल, अशोक, आम, चंपक और मल्लिका (बेला)। तथा—"करना केतकि केवड़ा, कदम आम के बौर। ये पाँचों सर काम के, केसोदास न और॥" भी कहा है।

'बिहँसि'—हँसना देवताओं की स्वार्थ-साधकता पर उनके प्रति निरादर के भाव से है कि अपना कार्य हो, दूसरे का चाहे नाश ही क्यों न हो जाय। 'मार'—अर्थात् काम—आज सबको मारनेवाला भी मारा जायगा, इसी से 'मार' नाम कहा गया।

तदपि करब मैं काज तुम्हारा। श्रुति कह परम धरम उपकारा ॥१॥
पर-हित लागि तजइ जो देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही ॥२॥
अस कहि चलेउ सबहि सिरनाई। सुमन धनुष कर सहित सहाई ॥३॥
चलत मार अस हृदय बिचारा। सिव-बिरोध ध्रुव मरन हमारा ॥४॥

अर्थ—तो भी मैं तुम्हारा काम करूँगा, (क्योंकि) श्रुति कहती है कि उपकार करना परम धर्म है ॥१॥ पराये-हित के लिये जो शरीर छोड़ता है, संत लोग उसकी सदा प्रशंसा करते हैं ॥२॥ ऐसा कह वह (काम) और सबको प्रणाम कर फूलों का धनुष हाथ में लिये सहायकों सहित चला ॥३॥ चलते समय काम ने हृदय में ऐसा विचार किया कि शिवजी के विरोध से निश्चय मेरा मरण ही होगा ॥४॥

विशेष—'परम धरम उपकारा।'—यथा—"परहित सरिस धरम नहिं भाई। पर-पीड़ा सम नहिं अधमाई॥···निर्नय सकल पुरान वेद कर।" (उ० दो० ४०)। तथा—"अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्। परोपकारं पुण्याय पापाय परपीडनम्।" (पुराणसमुच्चय)।

'संतत संत प्रसंसहिं···'—क्योंकि संत स्वयं भी मन, वचन और कर्म से परोपकारी होते हैं। यथा—"पर उपकार वचन मन काया। संत सहज स्वभाव खगराया॥" (उ० दो० १२०)। संत मित-भाषी भी होते हैं, कवि आदि कुछ बढ़ाकर भी कहते हैं।

'सबहिं सिर नाई।'—यहाँ पर सब लोकपालों और देवताओं का राजा इन्द्र भी हैं। अतः, बड़ों को प्रणाम करके जाना शिष्टाचार है। सफलता के लिये भी बड़ों को प्रणाम करके चला। (इस देह से यह इसका अंतिम प्रणाम है)।

'सहित सहाई'—वन, उपवन, वसन्त, भ्रमर, पक्षी आदि काम के सहायक हैं। यथा—"विरह-विकल बलहीन मोहिं, जानेसि निपट अकेल। सहित विपिन मधुकर खग, मदन कीन्ह बगमेल॥" "सेइ जेहि के एक परम बल नारी। तेहिते उबर सुभट सोइ भारी॥" (आ० दो० ३७) तक।

'सुमन धनुष कर'—काम का धनुष भी फूल का ही है। यथा—'धनुः पौष्पं···' (कालिदास)। यहाँ बाण नहीं कहा गया; क्योंकि पूर्व—"विषम बान झखकेतू।" में कह आये, दोनों जगहों पर दोनों बातें मिलाकर पढ़ना चाहिये। यह ग्रन्थकार की रीति है कि जो बात दो जगह कहनी होती है, उसका कुछ अंश एक जगह और कुछ दूसरी जगह कहते हैं। दोनों प्रसंग मिलाने से पूर्णता होती है।

कामदेव यहाँ मन,वचन, कर्म तीनों से परोपकार में लगा—"मन कीन्ह बिचार'—मन, 'चलेउ सबहि सिर नाई।'—कर्म, 'तदपि करबि मैं काज···"—वचन।

'ध्रुव मरन हमारा'—पूर्व अनुमान किया था—'संभु-बिरोध न कुसल मोहि।' अब निश्चय कर लिया कि मरण होगा ही। क्रमशः भय बढ़ता ही गया, यह शिवजी का प्रताप है।

> तब आपन प्रभाव विस्तारा। निजबस कीन्ह सकल संसारा॥५॥
> कोपेउ जबहिं बारि-चर-केतू। छन महँ मिटे सकल श्रुतिसेतू॥६॥
> ब्रह्मचर्य ब्रत संजम नाना। धीरज धरम ज्ञान बिज्ञाना॥७॥
> सदाचार जप जोग बिरागा। सभय बिबेक-कटक सब भागा॥८॥

अर्थ—तब उसने अपना प्रभाव फैलाया और समस्त संसार को अपने वश में कर लिया॥५॥ ज्यों ही कामदेव ने कोप किया, त्योंही क्षण-भर में सब वेद-मर्यादाएँ मिट गईं॥६॥ ब्रह्मचर्य, व्रत, नाना प्रकार के संयम, धैर्य, धर्म, ज्ञान, विज्ञान, सदाचार, जप, योग, विराग और विवेक की सारी सेना डरकर भाग चली॥७-८॥

(३) 'समय बिसारी'—जैसे कुत्ता-कुतिया कार्तिक में, गधा-गधी वैशाख में एवं चकवा-चकई दिन में ही संयोग करते हैं, इस समय सब बिना समय के ही कामवश हो गये।

(४) 'निसि दिन नहिं⋯'—कामोपभोग का समय रात है। इस समय ही काम ने अति प्रबल होकर शिवजी पर चढ़ाई की, पर चकवे-चकई की निराली रीति है कि ये दिन ही में संयोग करते हैं। इसलिये 'समय बिसारी' में इन्हें कहे हुए जीवों से भिन्न भी कहा। 'दिन' तो इनके उपयुक्त ही है, फिर भी न देखना कहा गया, क्योंकि इस तरह द्वंद्व (जोड़ा) बोलने का मुहावरा है। जैसे 'इन्हें पाप-पुण्य का विचार नहीं', इसमें तात्पर्य पाप ही से है तथा मैंने उसे बहुत-कुछ 'भला-बुरा' कहा, इसका भी तात्पर्य 'बुरा' से ही है, वैसे चक्रवाक के भी 'निसि' न देखने में ही तात्पर्य है।

'कोका'—सब-के-सब मानों कोक शास्त्र के रचयिता 'कोका' पंडित ही हो गये। ऐसे कामोपभोग में निपुण हो गये कि रात-दिन, समय-कुसमय नहीं सूझता, क्योंकि सब कामांध हैं। यह भाव भी शब्द-ध्वनि से निकलता है।

देव दनुज नर किन्नर ब्याला। प्रेत पिसाच भूत बेताला॥६॥
इन्ह कै दसा न कहेउँ बखानी। सदा काम के चेरे जानी॥७॥
सिद्ध बिरक्त महामुनि जोगी। तेपि कामबस भये बियोगी॥८॥

अर्थ—देवता, दैत्य, मनुष्य, किन्नर, सर्प, प्रेत, पिशाच, भूत और वेताल ॥६॥ इनको सदा ही काम के चेरे (चेले एवं चाकर) जानकर मैंने इनकी दशा को विस्तार से नहीं कहा॥७॥ जो सिद्ध, विरक्त, महामुनि और महायोगी हैं, वे भी काम-वश होकर वियोगी हो गये॥८॥

विशेष—(१) 'देव दनुज नर⋯'—मनुष्य मरकर प्रेत होते हैं। 'पिसाच-भूत-बेताल'—देवयोनि-विशेष हैं। पिशाच मांसाहारी, भूत भयंकर और वेताल ज्वलितमुख होते हैं।

(२) 'भये बियोगी'—वियोगी के यहाँ दो अर्थ हैं - विगत-योगी अर्थात् काम की प्रबलता में अष्टांग योग-वृत्ति-रहित हो गये। पुनः ये लोग प्रायः स्त्री-रहित ही रहते हैं। अतः, महाकामी की तरह विरही (वियोगी) देख पड़ते हैं। सबका ज्ञान-ध्यान चला गया।

छंद—भये कामबस जोगीस तापस पामरन्हि की को कहे।
देखहिं चराचर नारिमय जे ब्रह्ममय देखत रहे॥
अबला बिलोकहिं पुरुषमय जग पुरुष सब अबलामयं।
दुइ दंड भरि ब्रह्मांड भीतर कामकृत कौतुक अयं॥

सोरठा—धरी न काहू धीर, सबके मन मनसिज हरे।
जे राखे रघुबीर, ते उबरे तेहि काल महँ॥८५॥

शब्दार्थ—नारिमय=स्त्री-ही-स्त्री। ब्रह्ममय=ब्रह्म-ही-ब्रह्म (सब जगत् ब्रह्म ही है)। दंड=२४ मिनट का समय। मनसिज=काम। अयं=यह।

अर्थ—योगीश्वर और तपस्वी ही जब काम-वश हो गये, तब नीचों की (दशा) कौन कहे? जो चराचर (जगत्) को ब्रह्ममय देखते थे, वे उसे स्त्रीमय देखने लगे॥ स्त्रियाँ जगत् को पुरुषमय और पुरुष सब को स्त्री मय देखने लगे। ब्रह्मांड-भर के भीतर कामदेव ने दो दंडों (घड़ियों) तक यह कौतुक किया॥ किसी ने धैर्य धारण नहीं किया, क्योंकि सब के मन कामदेव ने हर लिये जिनको श्रीरघुनाथजी ने रक्खा (बचाया), वे ही उस समय में उबरे (बचे)॥८५॥

विशेष—'अबला बिलोकहिं···'—स्त्री देखती है कि मैं ही एक स्त्री हूँ और सब पुरुष हैं—सब से संयोग हो तो संतोष हो। यही दशा पुरुषों को भी जगत् के प्रति है।

'दुइ दंड भरि···कृत···'—कामदेव ने दो दंडों में ही ब्रह्मांड-भर में अपना कौतुक रचकर विस्तार कर दिया, ब्रह्मांड का कोई भाग शेष न रहा।

'जे राखे रघुबीर, ते उबरे···'—रक्षा के प्रसंग में रामजी को 'रघुबीर' कहा है, क्योंकि वीर ही रक्षा करता है। पूर्व विवेक का सहाय-सहित भागना कहा है। उसके सहायकों में जप, संयम आदि कर्म हैं। अतएव कर्म और ज्ञान का भागना कहा। उपासना की रक्षा अपनी वीरता से रघुबीर ने की, क्योंकि अमानी भक्त भगवान् के अबोध शिशु के समान होते हैं। अतः, वे उनकी रक्षा करते हैं। यथा—"सीम कि चाँपि सकइ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥" (दो० १२५) तथा—"तिनकी न काम सकै चापि छाँह। तुलसी जे बसे रघुबीर-बाँह॥" (गी० अ० ४६)। रघुबीर के रक्षा करने का रहस्य नारद के प्रति (अ० दो० ४२-४३ में) कहा गया है।

उभय घरी अस कौतुक भयेऊ। जब लगि काम संभु पहिं गयेऊ॥१॥
सिवहिं बिलोकि ससंकेउ मारू। भयेउ जथाथित सब संसारू॥२॥
भये तुरत जग जीव सुखारे। जिमि मद उतरि गये मतवारे॥३॥

अर्थ—जबतक काम शिवजी के पास गया तबतक दो दंडों तक ऐसा कौतुक होता रहा॥१॥ शिवजी को देखकर कामदेव डर गया, (तब) सब जगत् ज्यों-का-त्यों स्थिर हो गया॥२॥ तुरंत ही संसार के सब जीव सुखी हो गये, जैसे मद के उतर जाने से मतवाले (सुखी होते हैं)॥३॥

विशेष—(१) 'उभय घरी अस··' पूर्व 'अस कहि चलेउ···' (दो० ८३) में काम का चलना कहा गया, इसी में दो दंडों में तो कौतुक का विस्तार किया। वह विस्तृत कौतुक दो दंडो तक और बराबर सर्वत्र एक प्रकार होता रहा। प्रथम के दो दंडों के बीच रचना-क्रम में कहीं-कहीं व्यतिक्रम भी हुआ, क्योंकि ब्रह्मांड-भर में फैलने में ऐसा होना स्वाभाविक ही है। पीछे के दो दंड मिलकर कुल चार दंड कौतुक हुआ। तब कामदेव शिवजी के पास पहुँचा।

(२) 'ससंकेउ मारू'—यथा—"स्मरस्तथाभूतमयुग्मनेत्रं पश्यन्नदूरान्मनसाप्यधृष्यम्। नालक्षयत् साध्वस सन्नहस्तः स्रस्तं शरं चापमपि स्वहस्तात्॥" (कुमार-संभव ३।५१) अर्थात् शिवजी पर जैसे ही काम की दृष्टि पड़ी, वह भय से शिथिल हो गया, उसे यह भी सुध न रही कि उसके हाथों से धनुष-बाण भय से गिर पड़े हैं। शंका हुई कि ये तो दुराधर्ष हैं, कैसे सामना करूँ?

(३) 'जिमि मद उतरि गये'''—मतवालों के मन, वचन और कर्म की सँभाल नहीं रहती, यथा—"बातुल भूत-बिबस मतवारे। ते नहि बोलहि बचन बिचारे॥" (दो० ११४)। फिर नशा उतर जाने पर सावधानता आ ही जाती है वैसे काम का नशा चढ़ने पर भी बुद्धि हर जाती है। जैसे हाथी मदांध होने पर व्याकुल रहता है, मद निकल जाने पर शांत हो जाता है, वैसे काम का नशा भी उतरने पर शांति आ जाती है।

रुद्रहिं देखि मदन भय माना। दुराधर्ष दुर्गम भगवाना॥४॥
फिरत लाज कछु कहि नहिं जाई। मरन ठानि मन रचेसि उपाई॥५॥
प्रगटेसि तुरत रुचिर रितुराजा। कुसुमित नव तरुराजि बिराजा॥६॥
बन उपबन बापिका तड़ागा। परम सुभग सब दिसा बिभागा॥७॥
जहँ तहँ जनु उमगत अनुरागा। देखि मुयेहु मन मनसिज जागा॥८॥

शब्दार्थ—दुराधर्ष=जिसका दमन करना कठिन हो। दुर्गम=जहाँ जाना कठिन हो, कठिन, विकट। राजि=पंक्ति, कतार। उपबन=नजरबाग। अनुरागा=काम की लहर।

अर्थ—दुराधर्ष, दुर्गम और भगवान् रुद्र को देखकर कामदेव भयभीत हो गया॥४॥ फिरने (लौटने) में लज्जा लगती है, कुछ कहा नहीं जाता, अपना मरना मन में निश्चय जानकर उपाय रचने लगा॥५॥ तुरंत ही सुन्दर वसन्त को प्रकट किया, नवीन वृक्षों की कतारें वृक्षों के फूलने से सुशोभित हो गईं॥६॥ वन, उपवन, बावली, तालाब और सब दिशाओं के विभाग परम सुन्दर लगने लगे॥७॥ जहाँ देखो वहाँ ही मानों अनुराग उमड़ रहा है, जिसे देखकर मरे हुए मन में भी काम जाग उठा॥८॥

विशेष—(१) 'रुद्रहि देखि'—रुद्र शिवजी का ही एक रूप है, इस रूप से वे प्रलय करते हैं। इसी रूप से कामदेव को भस्म किया। यह बड़ा भयंकर रूप है। 'मदन'—क्योंकि इसका मद नहीं रह गया।

(२) फिरत लाज'''—क्योंकि कामदेव ने देवताओं के सामने कहा था—"तदपि करब मैं काज तुम्हारा। श्रुति कह परम धरम उपकारा॥"—परहित लागि तजइ जो देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही॥" (दो० ८३)। लौटने पर लोग हँसेंगे कि झूठी ही डींग हाँकी थी।

(३) 'मुयेहु मन'''—यहाँ यदि मरे हुओं के मन का अर्थ करें, तो 'देखि' से विरोध पड़ता है, क्योंकि मरा हुआ देख नहीं सकता। अतः, 'मरे हुए मन' का अर्थ संगत है, अर्थात् जो नपुंसक हैं एवं जिन्होंने शम-दमादि साधनों से मन को निश्चेष्ट कर मार रक्खा है, उन्हीं का मन मरा हुआ होता है। जैसे पारा जब मारा (फूँका) जाता है, तब उसकी चंचलता दूर हो जाती है, वैसे इनका मन मरा है। इसपर यदि कहा जाय कि—"सिद्ध बिरक्त महा मुनि जोगी।'''" में तो ऐसे लोग आ ही गये, तो उत्तर यह है, यहाँ ये शिवजी के समीपी 'मुये' मनवाले सिद्ध आदि दूसरे हैं। यथा—"सिद्ध तपोधन जोगिजन, सुर किन्नर मुनिबृंद। बसहिं तहाँ सुकृती सकल, सेवहिं सिव सुखकंद॥" (दो० १०५); पूर्व मर्यादा में (यहाँ से भिन्न) योगी आदि कहे गये हैं। अथवा मरे हुओं का भी देखना आदि—यहाँ असंभव को संभव करना है, यह काम का प्रताप है।

छंद—जागइ मनोभव मुयेहु मन बन-सुभगता न परइ कही ।
सीतल सुगंध सुमंद मारुत मदन-अनल-सखा सही ॥
बिकसे सरन्हि बहु कंज गुंजत पुंज मंजुल मधुकरा ।
कलहंस पिक सुक सरस रव करि गान नाचहिं अपछरा ॥

दोहा—सकल कला करि कोटि बिधि, हारेउ सेन समेत ।
चली न अचल समाधि सिव, कोपेउ हृदयनिकेत ॥८६॥

अर्थ—मुये मन (वा मरे हुओं के मन) में भी काम जागने (उद्दीप्त होने) लगा । वन की सुन्दरता नहीं कही जाती । शीतल, सुगंधित और सुन्दर मंद वायु, जो कामरूपी अग्नि का सच्चा सखा (सहायं ख्यातीति सखा = सहायक) है, चल रहा है ॥ तालाबों में बहुत-से कमल खिल उठे, सुन्दर भ्रमरों का समूह गुंजार कर रहा है । कलहंस, कोयल और तोते रसीली ध्वनि करते हैं और अप्सराएँ गान करके नाचती हैं ॥ कामदेव करोड़ों प्रकार से अपनी सब कलाओं (उपायों) को करके सेना-सहित हार गया, परन्तु शिवजी की अचल समाधि न डिगी, तब वह मनोज (काम) कुपित हुआ ॥८६॥

विशेष—'मदन-अनल-सखा सही ।'—वायु अग्नि को उद्दीप्त करता है, इससे वह अग्नि का सखा है । इसी तरह त्रिविध वायु कामाग्नि को भी उद्दीप्त करता है, यथा—"चली सुहावनि त्रिबिध बयारी । काम-कृसानु बढ़ावनि हारी ॥" (दो० १२५) । इसी से वह काम का सखा है । जो आपत्काल में सहायक होता है, वह सच्चा सखा कहाता है । यथा—"धीरज धर्म मित्र अरु नारी । आपतकाल परखियहि चारी ॥" (आ० दो० ४) । कहा भी है—"विपति कसौटी जे कसे, तेई साँचे मीत ।" इस समय काम घबराया हुआ है, वायु इस आपत्ति में उसका सहायक हुआ । अतः, 'सच्चा सखा' है ।

'कलहंस'—यह हंसों की एक जाति है जिनका स्वर सुन्दर होता है ।

'कोपेउ हृदयनिकेत'—हृदय ही काम का घर है, इसीसे वह मनोज कहाता है । शिवजी की समाधि अचल है । अतः, काम वहाँ जाने का मार्ग ढूँढ़ता है, इसी लिये कोप किया है ।

देखि रसाल-बिटपबर-साखा । तेहि पर चढ़ेउ मदन मन माखा ॥१॥
सुमनचाप निज सर संधाने । अति रिसि ताकि श्रवन लगि ताने ॥२॥
छाड़े बिषम बिसिख उर लागे । छूटि समाधि संभु तब जागे ॥३॥

शब्दार्थ—रसाल = आम । माखा (मक्ष) = क्रोधित हुआ, यथा—"माखे लखन कुटिल भइ भौंहें ।" (दो० २५१) । संधाना = प्रत्यंचा पर बाण चढ़ाया । विषम = तीक्ष्ण (एवं पाँच) ।

अर्थ—मन से क्रुद्ध होकर कामदेव आम वृक्ष की एक श्रेष्ठ शाखा देखकर उसपर चढ़ा ॥१॥ और अपने फूल के धनुष पर अपने (पंच) बाणों का संधान किया । फिर बड़े क्रोध से लक्ष्य कर और कान तक धनुष खींचकर तीक्ष्ण बाण छोड़े । वे (शिवजी के) हृदय में लगे, तब समाधि छूट गई और शिवजी जागे ॥२-३॥

विशेष—'देखि रसाल बिटप''' आम का पेड़ निकट और निशाने के योग्य था। यह काम का रथ भी कहा जाता है तथा रस का आलय (घर) है और काम भी रसरूप है। अतः, उसपर चढ़ा। यद्यपि संस्कृत में 'विटप' शाखा को कहते हैं और 'विटपी' वृक्ष को; तथापि भाषा में विटप पेड़ का ही पर्यायी माना जाता है।

'छूटि समाधि'—शिवजी की इस समाधि में विघ्न हुआ, क्योंकि श्रीरामजी ने आज्ञा दी थी - "जाइ बिबाहहु सैलजहि"—"अब उर राखेहु जो हम कहेऊ।" (दो० ७६)। इन्होंने आज्ञा शिरोधार्य करके फिर समाधि लगा ली थी। इधर पार्वतीजी का एवं देवताओं का दुःख शीघ्र मिटाना है।

भयेउ ईस - मन छोभ बिसेखी। नयन उघारि सकल दिसि देखी ॥४॥
सौरभ - पल्लव मदन बिलोका। भयेउ कोप कंपेउ त्रैलोका ॥५॥
तब सिव तीसर नयन उघारा। चितवत काम भयेउ जरि छारा ॥६॥

शब्दार्थ—सौरभ = आम।

अर्थ—श्रीशिवजी के मन में विशेष क्षोभ (उद्वेग) हुआ, (तब) उन्होंने आँखें खोलकर सब दिशाओं में देखा ॥४॥ आम के पल्लवों में (छिपे हुए) काम को देखा तो बड़ा कोप हुआ जिससे तीनों लोक काँप उठे ॥५॥ तब शिवजी ने तीसरा नेत्र खोला, उससे देखते ही कामदेव जलकर राख हो गया। ॥६॥

विशेष—'ईस मन' इतने समर्थ शिवजी के भी मन में विशेष क्षोभ हुआ, यह काम की बड़ाई है। 'तीसर नयन उघारा'—शिवजी के प्रत्येक सिर में तीन नेत्र हैं, वे सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि के नाम से कहे जाते हैं। यथा—"भारती बदन, बिष अदन सिव ससि-पतंग पावक नयन।" (क० उ० १५२)। प्रथम दो नेत्रों (सूर्य-चन्द्रमा) से देखा था, तब काम को आम के पल्लव में पाया। फिर कुपित होकर तीसरा अग्नि-नेत्र खोला, उससे काम भस्म हो गया, क्योंकि जलाने का काम निष्ठुर अग्नि का है। यथा— "निठुर निहारिये उघारि डीठि भाल की।" (क० उ० १६१)।

हाहाकार भयेउ जग भारी। डरपे सुर भये असुर सुखारी ॥७॥
समुझि काम सुख सोचहिं भोगी। भये अकंटक साधक जोगी ॥८॥

अर्थ—संसार में बड़ा हाहाकार मच गया। देवता डर गये और दैत्य लोग प्रसन्न हुए ॥७॥ भोगी (विषयी) लोग काम-सुख का स्मरण करके चिन्ता कर रहे हैं और साधक-योगी निष्कंटक हो गये ॥८॥

विशेष—'डरपे सुर भये असुर'''—देवता लोग डरे कि जब काम भस्म ही हो गया, तब जो— 'संभु-सुक्र-संभूत सुत, येहि जीतै रन सोइ' वाला ब्रह्मा का वरदान है। वह सत्य कैसे होगा? अब तो शिवजी के वीर्य से पुत्र उत्पन्न होना असंभव हो गया। वैसे पुत्र के बिना तारकासुर मर नहीं सकता, अब तो दैत्य लोग और भी दुःख देंगे। देवताओं के डरने का यह भी कारण हो सकता है कि हम ही लोगों ने काम को भेजा था। अतः, शिवजी हमें भी दंड न दें।

असुरों को हर्ष हुआ कि अब हमलोग नाश से बचे, यह अच्छा हुआ।

'भये अकंटक'''—साधकों एवं योगियों के साधन-ध्यान में काम चंचलता लाता था, अब ये लोग निष्कंटक होकर प्रसन्न हैं, क्योंकि सब विकारों का मूल ही नष्ट हो गया।

छंद—जोगी अकंटक भये पतिगति सुनति रति मुरछित भई ।
रोदति बदति बहु भाँति करुना करति संकर पहिं गई ॥
अति प्रेम करि बिनती बिबिध बिधि जोरि कर सन्मुख रही ।
प्रभु आसुतोष कृपाल सिव अबला निरखि बोले सही ॥

दोहा—अब ते रति तव नाथ कर, होइहि नाम अनंग ।
बिनु बपु ब्यापिहि सबहि पुनि, सुनु निज मिलन-प्रसंग ॥८७॥

अर्थ—योगी निष्कंटक हो गये, पति (काम) की दशा सुनकर रति मूर्च्छित हो गई । वह रोती, विलाप करती एवं बहुत प्रकार करुणा करती हुई, शिवजी के पास गई ॥ बड़े प्रेम से नाना प्रकार की स्तुति करके हाथ जोड़कर सम्मुख खड़ी रह गई । समर्थ, शीघ्र प्रसन्न होनेवाले, कृपालु शिवजी ने अबला (दीन स्त्री) को देखकर सत्य वचन कहा (वा बोले ही तो सही) ॥ हे रति ! अब से तेरे स्वामी का नाम अनंग होगा और वह विना शरीर ही के सब में व्याप्त रहेगा । (यदि तू कहे कि मुझे तो उससे सुख न होगा, उसपर कहते हैं कि) फिर तू अपने (पति से) मिलने का प्रसंग (हाल) भी सुन ले ॥८७॥

विशेष—'रोदति बदति···'—स्त्रियाँ मृत पति को देखकर छाती पीटकर रोती हैं, साथ ही उसके गुण, तेज, प्रताप आदि भी कहते हुए विलाप करती हैं । यही 'बदति' से कहा गया । पुनः आँसू गिराना करुणा करना है । यथा—"पति-सिर देखत मंदोदरी ।" से—"सभय दिसिप नित नावहिं माथा ॥" (लं० दो १०१) तक । ऐसा ही रति का रोना विस्तार से कुमारसंभव सर्ग ४ में है । उसमें काम की विलासिता का वर्णन भी विशेष है ।

'अति प्रेम करि···'—इसमें 'प्रेम' से मन, 'करि बिनती' से वचन और 'जोरि कर' से कर्म दिखाया अर्थात् इसने मन, वचन, कर्म से स्तुति की, इससे शिवजी शीघ्र प्रसन्न हुए ।

'प्रभु आसुतोष कृपाल सिव'—प्रभु अर्थात् आप समर्थ हैं, मरे हुए का जिलाना असंभव है, उसे भी संभव कर सकते हैं । 'आसुतोष'—अर्थात् कोई आपके कितने भी अपराध करे, फिर दीन होकर प्रार्थना करे तो आप शीघ्र प्रसन्न होनेवाले हैं । आपका क्रोध शीघ्र शांत हो जाता है, यह उत्तम श्रेणी का है । प्रीति और विरोध के तीन भेद दोहावली में कहे हैं । यथा—"उत्तम मध्यम नीच गति, पाहन सिकता पानि । प्रीति परिच्छा तिहुन को, बैर व्यतिक्रम जानि ॥" (३५२) । 'कृपाल'—इसपर कृपा भी करेंगे । 'सिव'—कल्याण-स्वरूप हैं, देवताओं का कल्याण कैसे होगा ? काम के विना सृष्टि कैसे चलेगी ? इत्यादि का प्रबन्ध भी करेंगे ।

'अबला निरखि'—स्त्री का बल पति ही है, उसके मरने पर अब यह रति दीन हो गई है । अतः, यथार्थ अबला (बल-हीन) है, इससे दया करने के योग्य है ।

'बिनु बपु ब्यापिहि ···'—कोप से प्रसाद में अधिकता हुई, क्योंकि पहले काम एकदेशीय एवं परिमित था ; अब वह सर्वत्र व्याप्त रहनेवाला तथा सर्वदेशीय बन गया । पुनः, रति के लिये उसके शरीर का भी वर देते हैं ।

दोहा—कहा हमार न सुनेहु तब, नारद के उपदेस।
अब भा झूठ तुम्हार पन, जारेउ काम महेस ॥८९॥

अर्थ—तब देवताओं ने नगाड़े बजाये और फूल बरसाकर 'जय जय सुरसाईं' कहने लगे ॥६॥ उचित समय जानकर सप्तऋषि आये। श्रीब्रह्माजी ने उन्हें तुरंत ही हिमाचल राज के घर भेज दिया ॥७॥ वे पहले वहाँ गये, जहाँ श्रीपार्वतीजी थीं और छल से सने हुए वचन बोले ॥८॥ हमारा कहना तुमने नहीं सुना, उस समय नारदजी के उपदेश (पर मुग्ध थीं), लो ! अब तो तुम्हारा प्रण झूठा हुआ न ? (क्योंकि) शिवजी ने काम को तो भस्म कर दिया ॥८९॥

विशेष—'सुरसाईं'—आप देवताओं के स्वामी हैं, तभी तो सबका मनोरथ पूरा किया।

'अवसर जानि'—क्योंकि अभी सब देवता एकत्र हैं, यहीं पर लग्न आदि की व्यवस्था भी सबके सामने हो जाय, अवसर पर काम होना उत्तम है। यथा—"अवसर कौड़ी जो चुकै, बहुरि दिये का लाख। दुइज न चंदा देखिये, उदय कहा भरि पाख ॥" (दोहावली ३७४)। इसीसे ब्रह्माजी ने भी तुरंत ही सप्तर्षियों को भेजा ताकि देवताओं को धैर्य हो।

'प्रथम गये जहँ ......'—सप्तर्षियों के प्रथम वहाँ जाने का कारण यह है कि पहले परीक्षा के समय उमाजी तप कर रही थीं, अब भोग स्थान में हैं। देखें, वहाँ कैसी वृत्ति है ! पुनः यह भी भाव है कि इसी बहाने शिवजी के विषय में उनसे कुछ सुनना भी चाहते हैं।

'बचन छल-सानी।'—वचन-मात्र में ही छल है, भीतर से प्रेम है।

'अब भा झूठ तुम्हार पन'—तुम्हारा प्रण था—"बरउँ संभु न तु रहउँ कुमारी।" (दो० ८०)। यह अब नहीं सिद्ध हो सकता, क्योंकि शिवजी को ब्याह करना होता तो काम को क्यों जलाते ? अब या तो तुम कुमारी ही रहोगी या दूसरे से ब्याह करोगी।

सुनि बोलीं मुसुकाइ भवानी। उचित कहेहु मुनिवर बिज्ञानी ॥१॥
तुम्हरे जान काम अब जारा। अब लगि संभु रहे सबिकारा ॥२॥
हमरे जान सदासिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी ॥३॥

शब्दार्थ—सबिकारा=विकार-सहित। कामादि छः विकार हैं, यहाँ काम से तात्पर्य है। अनवद्य=अनिन्द्य, निर्दोष। अकाम=निष्काम एवं विषय भोग-वासना-रहित। अभोग=स्त्री आदि अष्टांग रूप भोग की इच्छा से रहित [भोग—"सुगंधं वनिता वस्त्रं गीतं ताम्बूलभोजनम्। भूषणं वाहनं चेति भोगाष्टकमुदीरितम् ॥" तथा—"स्रक चंदन बनितादिक भोगा।" (अ० दो० ११६)]।

अर्थ—यह सुनकर पार्वतीजी मुसुकाकर बोलीं—हे श्रेष्ठ विज्ञानी मुनियो ! तुमलोगों ने यथार्थ ही कहा है ॥१॥ तुम्हारी समझ में शिवजी ने अब काम को जलाया है और अब तक विकारी (कामी) रहे ॥२॥ हमारी समझ में तो सदाशिव सदा से योगी तथा अजन्मा, अनिन्द्य, निष्काम और भोग-विलास से रहित हैं ॥३॥

विशेष—(१) 'मुसुकाइ'—मुसुकाना इस अभिप्राय से है कि अभी परीक्षा से तृप्ति नहीं हुई ? और कुछ सुनना चाहते हैं क्या ?

'उचित कहेहु······'—यहाँ व्यंग्य कथन है। अतः, विपर्यय अर्थ होगा कि आप लोग कहाते हैं विज्ञानी, पर अज्ञानियों की तरह अनुचित कहते हैं।

(२) 'सदासिव जोगी'—यथा—"नाम वामदेव दाहिनो सदा असंग रंग अर्ध अंग अंगना अनंग को महनु है।" (क० उ० १६०)।

जौं मैं सिव सेये अस जानी। प्रीति समेत करम मन बानी ॥४॥
तौ हमार पन सुनहु मुनीसा। करिहहिं सत्य कृपानिधि ईसा ॥५॥

अर्थ—जो मैंने शिवजी को ऐसा (उपर्युक्त प्रकार का) जानकर प्रीतिपूर्वक मन, वचन और कर्म से उनकी सेवा की है ॥४॥ तो हे मुनीश्वरो ! सुनिये, वे कृपानिधान ईश्वर हमारे प्रण को सच्चा करेंगे ॥५॥

विशेष—'प्रीति समेत करम ···· '-प्रीति, यथा—"नित नव चरन उपज अनुरागा।" (दो० ७३);, मन, यथा—"बिसरी देह तबहि मन लागा॥" (दो० ७३);—"उपजेउ सिवपदकमल-सनेहू। मिलन कठिन मन भा संदेहू॥" (दो० ६७), वचन, यथा—"बरउँ संभु न तु रहउँ कुमारी।"······से—"आप कहहि सत बार महेसू॥" (दो० ८०) तक और कर्म, यथा—"संवत सहस मूल फल खाये।" (दो० ७४)।

यहाँ तक—'अब भा झूठ तुम्हार पन' का उत्तर हुआ, आगे इसी का पिष्ट-पेषण है।

तुम्ह जो कहा हर जारेउ मारा। सोइ अति बड़ अबिबेक तुम्हारा ॥६॥
तात अनल कर सहज सुभाऊ। हिम तेहि निकट जाइ नहिं काऊ ॥७॥
गये समीप सो अवसि नसाई। असि मन्मथ महेस कै नाई ॥८॥

दोहा—हिय हरषे मुनि बचन सुनि, देखि प्रीति बिस्वास।
चले भवानिहिं नाइ सिर, गये हिमाचल पास ॥९०॥

अर्थ—तुमने जो कहा कि शिवजी ने काम को जला दिया, यह तुम्हारा बहुत बड़ा अविचार है ॥६॥ हे तात ! अग्नि का तो यह सहज स्वभाव है कि पाला उसके पास कभी नहीं जाता ॥७॥ यदि समीप जाय तो अवश्य ही इस प्रकार नष्ट होता है, जैसे कामदेव शिवजी के पास जाने से (जल मरा) ॥८॥ सप्तर्षि ये वचन सुनकर हृदय से हर्षित हुए और भवानी की प्रीति और विश्वास देख उन्हें सिर नवाकर चले एवं हिमाचल के पास पहुँचे ॥९०॥

विशेष—(१) 'असि ··· नाई।' ऐसे ही—जैसे।

(२) 'सोइ अति बड़ अबिबेक···' ईश्वर किसी का हित-अनहित नहीं करता, यथा—"जीव करम बस दुख सुख भागी।" (अ० दो० ११) तथा "विश्वद्रोह-रत यह खल कामी। निज अघ गयेउ कुमारग-गामी॥" (लं० दो० १०२)।

जब जदुबंस कृष्ण अवतारा। होइहि हरन महा महिभारा ॥१॥
कृष्णतनय होइहि पति तोरा। बचन अन्यथा होइ न मोरा ॥२॥
रति गवनी सुनि संकर-बानी। कथा अपर अब कहउँ बखानी ॥३॥

अर्थ—जब पृथिवी का बड़ा भारी भार उतारने के लिये यदुवंश में श्रीकृष्ण का अवतार होगा ॥१॥ तब उनका पुत्र (प्रद्युम्न) तेरा पति होगा, मेरा वचन अन्यथा नहीं होगा ॥२॥ शिवजी की वाणी सुनकर रति चली गई। अब आगे की कथा बखान कर कहता हूँ ॥३॥

विशेष—'जब जदुबंस…'—अर्थात् काम का भस्म होना द्वापर से पहले त्रेतायुग में हुआ था।
'होइहि पति तोरा।'—तब वह सदेह होकर तुझे पति-सुख देगा।

मदन-दहन-प्रकरण समाप्त

देवन्ह समाचार सब पाये। ब्रह्मादिक बैकुंठ सिधाये ॥४॥
सब सुर बिष्णु बिरंचि समेता। गये जहाँ सिव कृपानिकेता ॥५॥
पृथक-पृथक तिन्ह कीन्हि प्रसंसा। भये प्रसन्न चंद्रअवतंसा ॥६॥

अर्थ—देवताओं ने सब समाचार पाये, (तब) ब्रह्मा आदि देवता वैकुंठ को चले ॥४॥ (वहाँ से फिर) विष्णु और ब्रह्मा-समेत सब देवता, जहाँ कृपा के धाम शिवजी थे, वहाँ गये ॥५॥ उन सब ने पृथक्-पृथक् (शिवजी की) स्तुति की, (तब) चन्द्रभूषण शिवजी प्रसन्न हुए ॥६॥

विशेष—'कृपानिकेता'—अभी ही रति पर कृपा की है। फिर ब्रह्मादिक पर भी करेंगे, क्योंकि इन्होंने काम को भेजकर विघ्न किया, तब भी रुष्ट न होकर कृपा ही करेंगे।

'चंद्रअवतंसा'—चन्द्रमा क्षीण-दीन था, भूषण-रूप में धारण करके उसको बड़ाई दी, वैसे देवता लोग भी 'सुखसंपति रीते' हो गये हैं। उन्हें आश्रय देकर सुखी करेंगे, फिर देवताओं को निर्विघ्न पूजा होने लगेगी।

बोले कृपासिंधु बृषकेतू। कहहु अमर आये केहि हेतू ॥७॥
कह बिधि तुम्ह प्रभु अंतरजामी। तदपि भगति-बस बिनवउँ स्वामी ॥८॥

दोहा—सकल सुरन्ह के हृदय अस, संकर परम उछाह।
निज नयनन्हि देखा चहहिं, नाथ तुम्हार बिबाह ॥८८॥

अर्थ—कृपा के समुद्र, धर्म के ध्वजा-रूप (शिवजी) बोले कि हे देवताओ!, कहो, किस लिये आये हो? ॥७॥ ब्रह्माजी ने कहा कि हे प्रभो! आप तो अंतर्यामी हैं, तो भी हे स्वामिन्! भक्ति-वश

आपसे विनती करता हूँ ॥८॥ हे शंकर (कल्याणकर्त्ता)! सब देवताओं के हृदय में इसका बड़ा उत्साह है। हे नाथ! ये लोग अपनी आँखों से आपका विवाह देखना चाहते हैं ॥८८॥

विशेष—'बोले कृपासिंधु···' प्रश्न—यहाँ शिवजी ने ब्रह्मा-विष्णु को भी प्रणाम क्यों नहीं किया?

उत्तर—संसार के व्यापार चलाने के लिये एक ही ब्रह्म के तीन रूप हैं, इनका परस्पर तुल्य व्यवहार रहता है, जिसके द्वारा कार्य रहता है, उसके पास शेष दो जाते हैं और स्तुति-प्रणाम आदि से बड़ाई देते हैं। यहाँ ब्रह्मादिक से प्रथम अपराध भी हुआ था, शिवजी प्रसन्न हो गये और तुरंत ही आगमन का कारण पूछ बैठे। आगे ब्रह्माजी पिता-रूप से समधी भी बनेंगे और विष्णु भगवान् से सखाभाव के हास-विलास भी होंगे। यथा—"मन-ही-मन महेस मुसुकाहीं। हरि के ब्यंग्य बचन नहिं जाहीं।।" (दो० ६१)।

यह उत्सव देखिय भरि लोचन। सोइ कछु करहु मदन-मद-मोचन ॥१॥
काम जारि रति कहुँ बर दीन्हा। कृपासिंधु यह अति भल कीन्हा ॥२॥
सासति करि पुनि करहिं पसाऊ। नाथ प्रभुन्ह कर सहज सुभाऊ ॥३॥
पारबती तप कीन्ह अपारा। करहु तासु अब अंगीकारा ॥४॥
सुनि बिधि बिनय समुझि प्रभुबानी। ऐसेइ होउ कहा सुख मानी ॥५॥

अर्थ—हे कामदेव के मद का नाश करनेवाले शिवजी! ऐसा कुछ कीजिये जिससे यह उत्सव आँखें भरकर देखें ॥१॥ हे कृपासिंधु! काम को जलाकर रति को वरदान दिया, यह आपने बहुत ही अच्छा किया ॥२॥ हे नाथ! समर्थ स्वामियों का यह सहज स्वभाव ही है कि दंड देकर फिर (उसपर) प्रसाद (कृपा) किया करते हैं ॥३॥ श्रीपार्वतीजी ने अपार तप किया है, अब उन्हें अंगीकार किया जाय ॥४॥ ब्रह्माजी की प्रार्थना सुन और प्रभु (श्रीरामजी) की वाणी का स्मरण करके तथा सुख मानकर (शिवजी ने) कहा कि ऐसा ही होगा ॥५॥

विशेष—'यह उत्सव देखिय···'—शीघ्र विवाह हो, तब तो लोग जी-भरके देख लें अन्यथा यदि कहीं तारकासुर ने कैद कर लिया अथवा कोई कराल दंड देकर दुखी कर दिया तो यह लालसा रह ही जायगी।

'मदन मद-मोचन'—आपने तो काम को जला ही दिया है, विवाह कुछ अपनी तृप्ति के लिये नहीं, वरन् हमलोगों के सुख के लिये करें, जिससे हमलोगों की विपत्ति दूर होगी।

'सासति करि पुनि···'—यह अर्द्धाली दीप-देहली न्याय से ऊपर नीचे की अर्द्धालियों के साथ है। काम को 'सासति' दी, फिर रति के वरदान द्वारा उसपर प्रसन्नता भी की, ऐसे ही सती को अवज्ञा आदि कारणों से त्याग-रूप दंड दिया और अब उन्होंने पार्वती-रूप से आपके ही लिये अपार तप किया है। अतः, उसी प्रभुत्व-स्वभाव से इन्हें भी अंगीकार कीजिये।

'प्रभु-बानी'—"जाइ बिबाहहु सैलजहिं।" (दो० ७६)

तब देवन्ह दुंदुभी बजाईं। बरषि सुमन जय-जय सुरसाईं ॥६॥
अवसर जानि सप्तरिषि आये। तुरतहिं बिधि गिरिभवन पठाये ॥७॥
प्रथम गये जहँ रहीं भवानी। बोले मधुर बचन छलसानी ॥८॥

(३) 'तात अनल कर'''—अग्नि के पास हिम नहीं रहने पाता, यह नियम है। इसी तरह शिवजी में काम-विकार नहीं रहता। ढिठाई से काम वहाँ गया तो अग्निनेत्र के खुलते ही भस्म हुआ, यह उस नेत्र का स्वभाव ही है। 'तात !' सम्मान के लिये है, क्योंकि पूर्व अविवेकी कहे गये हैं।

'नाइ सिर'—यहाँ भी परीक्षा के पश्चात् ही प्रणाम किया। दो० ८१ देखिये।

द्वितीय बार का प्रेम-परीक्षा-प्रकरण समाप्त

सब प्रसंग गिरिपतिहि सुनावा। मदन-दहन सुनि अति दुख पावा ॥१॥
बहुरि कहेउ रति कर बरदाना। सुनि हिमवंत बहुत सुख माना ॥२॥
हृदय बिचारि संभु - प्रभुताई। सादर मुनिबर लिये बोलाई ॥३॥
सुदिन सुनखत सुघरी सोचाई। बेगि बेदबिधि लगन धराई ॥४॥
पत्री सप्तरिषिन्ह सोइ दीन्ही। गहि पद बिनय हिमाचल कीन्ही ॥५॥

अर्थ—(ऋषियों ने) सारा समाचार हिमाचल को सुनाया। कामदेव का जलना सुनकर उन्हें अत्यन्त दुःख हुआ ॥ १ ॥ फिर ऋषियों ने रति का वरदान पाना कहा। यह सुनकर हिमाचल बहुत सुखी हुए ॥ २ ॥ हृदय में शिवजी की प्रभुता को विचारकर आदरसहित श्रेष्ठ मुनियों को बुला लिया ॥ ३ ॥ शुभ दिन, शुभ नक्षत्र और शुभ घड़ी शोधवाकर शीघ्र ही वेद-विधान से लगन धराई ॥ ४ ॥ हिमाचल ने सप्त-ऋषियों को वह लग्न-पत्रिका दी और उनके चरण पकड़कर उनकी विनती की ॥ ५ ॥

विशेष—(१) 'सब प्रसंग'—तारकासुर से तंग होकर देवताओं का ब्रह्माजी के पास जाना, फिर काम का शिवजी के पास भेजा जाना और उसका भस्म होना।

'दुख पावा'—अब तो शिवजी से विवाह करना ही व्यर्थ है, क्योंकि कन्या को पति-सुख न मिलेगा और न मुझे नाती का। कन्या के महान् तप का श्रम व्यर्थ ही हुआ, इत्यादि।

'बहुत सुख माना'—इसीका हेतु आगे कहते हैं।

(२) 'प्रभुताई'—वही जो प्रथम कही गई। यथा—"सासति करि पुनि करहिं पसाऊ। नाथ प्रभुन्ह कर सहज सुभाऊ॥" (दो० ८८)।

'सादर मुनिवर ''' '—ये मुनिश्रेष्ठ वे ही हैं, जो वहीं समीप में रहते हैं, यथा—"जहँ तहँ मुनिन्ह सुआश्रम कीन्हे। उचित बास हिमभूधर दीन्हे॥" (दो० ६५)। "वेदसिरा मुनि'''" (दो० ७३)।

(३) 'सुदिन सुनखत ''' '—शुभ दिन आदि पञ्चाङ्ग से निश्चित करके लगन लिखाई जाती है, यही वर के पिता के पास भेजी जाती है। 'वेगि'—शिवजी फिर कहीं समाधि न लगा लें और देवताओं की रुचि भी वैसी ही है।

(४) 'बिनय'—यह विनय सप्तर्षियों के द्वारा श्रीब्रह्माजी से किये है कि आपने अपना सम्बन्ध देकर मुझे बड़ाई दी, अन्यथा मैं तो किसी योग्य न था, इत्यादि।

जाइ बिधिहिं तिन्ह दीन्हि सो पाती। बाँचत प्रीति न हृदय समाती ॥६॥

लगन बाँचि अज सबहि सुनाई । हरषे मुनि सब सुर-समुदाई ॥७॥
सुमनवृष्टि नभ बाजन बाजे । मंगल सकल दसहुँ दिसि साजे ॥८॥

दोहा— लगे सँवारन सकल सुर, बाहन बिबिध बिमान ।
होहिं सगुन मंगल सुभद, करहिं अपछरा गान ॥९१॥

शब्दार्थ—पाती = चिट्ठी (लग्नपत्रिका)। बाहन = सवारी = ऐरावत, हंस, गरुड़, भैंसा आदि। सुभद = शुभदायक, इसका पाठांतर 'सुभग' = सुंदर भी है। बिमान = वायुयान।

अर्थ—उन्होंने जाकर वह लग्नपत्रिका श्रीब्रह्माजी को दी, बाँचने में उनके हृदय की प्रीति उमड़ी आती है ॥६॥ लग्न-पत्रिका पढ़कर ब्रह्माजी ने सबको सुना दी, (सुनकर) मुनि लोग और देवताओं के समूह प्रसन्न हुए ॥७॥ आकाश से फूलों की वृष्टि होने लगी और बाजे बजने लगे। दसो दिशाओं में सब मंगल (द्रव्य) सजाये गये ॥८॥ सब देवता भाँति-भाँति की सवारियाँ सजाने लगे। शुभदायक मंगल शकुन होने लगे और अप्सराएँ गान करने लगीं ॥९१॥

विशेष—'बाँचत प्रीति ''लगन बाँचि '''—प्रीति के उमड़ने के कारण ये हैं कि अब देवताओं का दुःख शीघ्र दूर होगा, ब्रह्मवाणी का दिया हुआ वर पूरा होगा और स्वयं समधी बनेंगे। पुनः पत्रिका की रचना भी सुंदर है। दोबारा बाँचने का कारण यह है कि प्रथम स्वयं पढ़कर समझ लिया, तब सबको सुनाने के लिये बाँचा।

'मंगल सकल दसहुँ दिसि साजे'—यथा—"मंगल मुदित सुमित्रा साजे ॥ हरद दूब दधि पल्लव फूला। पान पूगफल मंगल मूला ॥"···से—"कनक थार भरि मंगलन्हि, कमल करन्हि लिये मात ॥" (दो० ३४५-३४६) तक।

'होहिं सगुन मंगल सुभद'—यथा—"चारा चाष बाम दिसि लेई। ··" से—"जनु सब साँचे होन हित, भये सगुन एक बार ।" (दो० ३०२-३०३) तक।

सिवहि संभुगन करहिं सिंगारा। जटामुकुट अहिमौर सँवारा ॥१॥
कुंडल कंकन पहिरे ब्याला। तनु बिभूति पट केहरिछाला ॥२॥
ससि ललाट सुंदर सिर गंगा। नयन तीनि उपबीत भुजंगा ॥३॥
गरल कंठ उर नर-सिर-माला। असिव बेष सिवधाम कृपाला ॥४॥
कर त्रिसूल अरु डमरु बिराजा। चले बसह चढ़ि बाजहिं बाजा ॥५॥

अर्थ—शिवजी के गण शिवजी का शृंगार करते हैं। जटाओं का मुकुट (बनाकर) उसपर सर्पों का मौर रचा ॥१॥ शिवजी ने सर्प ही के कुंडल और कंकण पहने, शरीर में भस्म, बाघंबर वस्त्र, ॥२॥ सुंदर मस्तक पर चन्द्रमा और सुन्दर सिर पर गंगाजी, तीन नेत्र और सर्पों का जनेऊ है ॥३॥ कंठ में विष और छाती पर मनुष्यों की खोपड़ियों की माला धारण किये हुए हैं। (इस प्रकार के) अमंगल वेष में भी वे

कल्याण के धाम और कृपालु हैं ॥४॥ हाथ में त्रिशूल और डमरू शोभित हैं, बैल (नन्दीश्वर) पर सवार होकर चले हैं। बाजे बजते जाते हैं ॥५॥

विशेष—'सिवहि संभुगन करहिं सिंगारा।'—भाज विशेष सजाते हैं, क्योंकि दुलहा बनाना है। रंग-बिरंग सर्पों का मौर बनाया, जिनमें विविध रंगों की मणियों की-सी चमक है। सर्प की पूँछ और शिर मिलाकर कुंडल बना और सर्प ही कंकणाकार करके कर में लपेटे गये। उबटन की जगह पर विभूति है, जामे की जगह पीला बाघंबर है। डिठौने की जगह तीसरा (अग्नि) नेत्र (कजरार) ललाट पर है, दधि-अक्षत के तिलक की जगह चन्द्रमा है। तीन सूत्रों की तरह तीन सर्पों से जनेऊ बनाया। तलवार या लोहे की कोई चीज दुलहे के पास रक्षार्थ रहती है, वैसे यहाँ त्रिशूल और डमरू है। वर के गले में मुक्ता-मणियों का हार रहता है, वैसे यहाँ मुंडमाला है। दुलहे को शुद्धि के लिये स्नान होता है, वैसे यहाँ स्वयं गंगाजी ही शिर पर हैं जो परम पवित्र हैं।

'असिव वेष सिवधाम कृपाला।'—यथा—"साज अमंगल मंगलरासी।" (दो० २५)। "वेष तो भिखारी को भयंकर रूप संकर, दयालु दीनबंधु दानि दारिद-दहनु है।" (क० उ० १६०)।

देखि सिवहिं सुरत्रिय मुसुकाहीं। बरलायक दुलहिनि जग नाहीं ॥६॥
बिष्णु बिरंचि आदि सुरब्राता। चढ़ि चढ़ि बाहन चले बराता ॥७॥
सुरसमाज सब भाँति अनूपा। नहिं बरात दूलह-अनुरूपा ॥८॥

दोहा—बिष्णु कहा अस बिहँसि तब, बोलि सकल दिसिराज।
बिलग-बिलग होइ चलहु सब, निज निज सहित समाज ॥९२॥

शब्दार्थ—ब्राता = समूह, समाज। अनुरूपा = योग्य। दिसिराज = चार दिशाएँ और चार उपदिशाएँ हैं, उनके स्वामी। पूर्व के इन्द्र (कहीं-कहीं काल), अग्निकोण के अग्नि, दक्षिण के यम, नैर्ऋत्य के निर्ऋति, पश्चिम के वरुण, वायव्य के वायु, उत्तर के कुबेर और ईशान के ईशान (शिवजी)। यथा—"रवि ससि पवन वरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी॥" (दो० १८२)।

अर्थ—शिवजी को देखकर देवताओं की स्त्रियाँ मुसकाती हैं (और आपस में कहती हैं कि) इस वर के योग्य दुलहिन तो संसार-भर में नहीं है ॥६॥ विष्णु-ब्रह्मा आदि देवताओं के समाज अपनी-अपनी सवारियों पर चढ़कर बारात में चले ॥७॥ देव-समाज तो सब प्रकार उपमा-रहित (सुंदर) है, पर बारात दुलहे के योग्य नहीं है ॥८॥ तब विष्णु भगवान् ने सब लोकपालों को बुलाकर हँसते हुए कहा कि सब अपने-अपने समाज समेत अलग-अलग होकर चलें ॥९२॥

विशेष—'बर लायक···'—पार्वतीजी परम सुंदरी हैं और दुलहा भयावन है, यह अयोग्यता है—यही मुसुकाने का कारण है अथवा चिद्रूपा पार्वती के अतिरिक्त इनके योग्य जगत् में दुलहिन नहीं है।

'बिष्णु बिरंचि आदि ···' वर्णन क्रम से सूचित हुआ कि आगे विष्णु भगवान् पार्षदों के साथ हैं, फिर ब्रह्माजी और इनके पीछे देव-समाज हैं।

'नहिं बरात दूलह-अनुरूपा'—सर्पादिक भूषणों से दुलहा ऐसी अनुपम बरात के योग्य नहीं है।

'विष्णु कहा हँसि···' हँसकर कहना व्यंग्य है, वही आगे कहेंगे—"हरि के व्यंग्य वचन नहिं जाहीं।" अतः, यहाँ व्यंग्योक्ति से हास्य रस है। व्यंग्य में अभिप्राय उलटकर कहा जाता है, वही ऊपर कहते हैं—दुलहे के अनुरूप बरात नहीं है, अभिप्राय यह कि बरात के योग्य दुलहा नहीं है। व्यंग्य के और कई भाव हैं—(क) शिवगणों ने शृंगार किया है, उनकी भी लालसा दुलहे के साथ रहने की है, वह भी पूरी होगी, क्योंकि देवताओं के बीच उन्हें अपने विषय में हास-विलास आदि में संकोच होगा। (ख) जब तक शिवगण साथ न रहेंगे, तबतक शिवजी की बरात न जान पड़ेगी, इत्यादि।

> बर-अनुहारि बरात न भाई। हँसी करइहहु पर-पुर जाई ॥१॥
> बिष्णु-बचन सुनि सुर मुसुकाने। निज-निज सेन सहित बिलगाने ॥२॥
> मन-ही-मन महेस मुसुकाहीं। हरि के ब्यंग्य बचन नहिं जाहीं ॥३॥
> अति प्रिय बचन सुनत प्रिय केरे। भृंगिहि प्रेरि सकल गन टेरे ॥४॥
> सिव-अनुसासन सुनि सब आये। प्रभु-पदजलज सीस तिन्ह नाये ॥५॥
> नाना बाहन नाना बेषा। बिहँसे सिव समाज निज देखा ॥६॥

अर्थ—हे भाइयो, वर के योग्य तो बरात नहीं है, क्या पराये गाँव में जाकर हँसी कराते जाइयेगा? ॥१॥ विष्णु भगवान् के वचन सुनकर देवता लोग मुसकाये और अपनी-अपनी सेना-समेत अलग हो गये ॥२॥ शिवजी मन-ही-मन मुसकाते हैं कि (देखो तो) हरि के व्यंग्य वचन नहीं जाते, (*हरि का अभ्यास-सा पड़ गया है, वे व्यंग्य बोलना नहीं छोड़ते*) ॥३॥ अपने प्रिय के अतिप्रिय वचन सुनते ही भृङ्गीगण को कहकर (अपने) सब गणों को बुलवाया ॥४॥ शिवजी की आज्ञा सुनकर वे सब आये और स्वामी के चरण-कमलों में शिर झुका दिये ॥५॥ (वे शिवगण) अनेक प्रकार की सवारियों और अनेक प्रकार के वेषोंवाले हैं, ऐसे अपने समाज को देखकर शिवजी बहुत हँसे ॥६॥

विशेष—'हँसी करइहहु···'—यहाँ कहते हैं कि क्या आपलोग अपनी हँसी कराइयेगा? पर व्यंग्य का तात्पर्य यह है कि वर की हँसी होगी, क्योंकि बरात अनुपम और वर कुरूप है।

'मन-ही-मन महेस···'—मन ही में मुसकाते हैं, क्योंकि यहाँ सभ्य समाज है। अतः, वर का प्रकट हँसना अयोग्य है। 'व्यंग्य वचन नहिं जाहीं।'—देवता अलग होकर चले, तब भी हरि भगवान् बार-बार व्यंग्य कहते ही जाते हैं। इनका सख्य भाव है। अतः, हँसना आत्मनिष्ठ उत्तम हास्य है।

'अति प्रिय वचन सुनत···' हरि हमारे प्रिय (सखा) हैं। अतः, उनके व्यंग्य का अभिप्राय पूर्ण करना चाहिये। 'भृंगी'—शिवजी का एक पार्षद या गण है, इसके द्वारा कहलाया। इसीसे आगे आज्ञा सुनकर गणों का आना कहा है। भृङ्गी का अर्थ बिगुल नहीं है।

'बिहँसे सिव···'—यहाँ जोर से हँसे, क्योंकि अपना ही समाज है—वह भी भूत-पिशाचों (असभ्यों) का। यह विष्णु भगवान् की व्यंग्योक्ति का उत्तर है कि अब तो वर के 'अनुहारि' बरात हो गई? अब तो 'पर-पुर' में हँसी न होगी?

> कोउ मुखहीन बिपुल मुख काहू। बिनु पद कर कोउ बहु-पद-बाहू ॥७॥
> बिपुलनयन कोउ नयनबिहीना। हृष्टपुष्ट कोउ अति तनुखीना ॥८॥

छंद—तनुखीन कोउ अति पीन पावन कोउ अपावन गति धरे।
भूषन कराल कपाल कर सब सद्य सोनित तनु भरे॥
खर-स्वान-सुअर-सृगाल-मुख गन बेष अगनित को गनै।
बहु जिनिस प्रेत पिसाच जोगि जमात बरनत नहिं बनै॥

सोरठा—नाचहिं गावहिं गीत, परम तरंगी भूत सब।
देखत अति बिपरीत, बोलहिं बचन बिचित्र बिधि ॥९३॥

शब्दार्थ—बिपुल=बहुत। हृष्टपुष्ट=मोटा-ताजा। पीन=मोटा। खीन (क्षीण)=दुबला। गति धरे=दशा धारण किये। जिनिस=भाँति। सद्य=ताजा। तरंगी=लहरी, भाँति-भाँति के स्वाँग करनेवाले। जमात=समाज। पावन गति=त्रिपुण्ड्र लगाये, रुद्राक्ष पहने, स्वच्छ वस्त्रादि धारण किये हुए।

अर्थ—(शिव समाज में) कोई बिना मुख का है तो किसी के बहुत-से मुख हैं, कोई बिना हाथ-पैर का है तो किसी के बहुत-से हाथ-पैर हैं ॥७॥ कोई बहुत नेत्रोंवाले तो कोई नेत्रहीन, कोई मोटे वाले तो कोई बहुत ही दुबले ॥८॥ कोई बहुत दुबले, कोई बहुत मोटे, कोई पवित्र और कोई अपवित्र दशा धारण किये हुए हैं। भयंकर भूषण (पहने) हाथ में खोपड़ी लिये हैं, सब के शरीरों में ताजा खून लिपा है॥ इनके मुख गधे, कुत्ते, शूकर और सियार के-से हैं। (याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) गण अगणित वेषोंवाले हैं, उनको कौन गिन सकता है? बहुत भाँति के प्रेतों, पिशाचों और योगिनियों की जमातें (समूह) हैं, उनका वर्णन नहीं हो सकता॥ सब भूत परम तरंगी हैं। अतः, नाचते और गीत गाते हैं, देखने में बहुत ही बेढंगे हैं और विचित्र प्रकार के वचन बोलते हैं ॥९३॥

विशेष—'बोलहिं बचन बिचित्र बिधि'—भाँति-भाँति की बोलियाँ बोलते हैं अर्थात् कभी बकरे की, कभी उल्लू की, कभी भेड़िये की। ऐसी अनेक प्रकार की बोलियों को विचित्र कहा है। यथा—"नाचहिं नाना रंग, तरंग बढ़ावहिं। अज, उलूक, वृकनाद गीत गन गावहिं॥" (पार्वती-मंगल १०४) इत्यादि।

जस दूलह तसि बनी बराता। कौतुक बिबिध होहिं मग जाता ॥१॥

अर्थ—(श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) जैसा दूलह है वैसी ही बारात बन गई। यों मार्ग में जाते हुए तरह-तरह के तमाशे होते हैं।

शिव बारात-वर्णन-प्रसंग समाप्त

इहाँ हिमाचल रचेउ बिताना। अति बिचित्र नहिं जाइ बखाना ॥२॥
सैल सकल जहँ लगि जग माहीं। लघु बिसाल नहिं बरनि सिराहीं ॥३॥
बन सागर सब नदीं तलावा। हिमगिरि सब कहुँ नेवत पठावा ॥४॥

कामरूप सुंदर तनु-धारी। सहित समाज सहित बर नारी ॥५॥
गये सकल तुहिनाचल-गेहा। गावहिं मंगल सहित सनेहा ॥६॥

अर्थ—यहाँ (कन्या-पक्ष में) हिमाचल ने बड़ा ही विचित्र मंडप रचा, जिसका वर्णन नहीं हो सकता ॥२॥ संसार में जहाँ तक छोटे-बड़े सब पर्वत हैं, जो वर्णन करने से चुक (समाप्त हो) नहीं सकते ॥३॥ (उनको) और सब वनों, समुद्रों, नदियों और तालावों को हिमाचल ने नेवता भेजा ॥४॥ ये सब स्वेच्छानुसार रूप धरनेवाले, सुन्दर शरीर धारण कर अपने समाज और श्रेष्ठ स्त्रियों के साथ ॥५॥ हिमाचल के घर गये और स्नेह-पूर्वक मंगल गाने लगे ॥६॥

विशेष—'अति बिचित्र नहिं जाइ बखाना'—श्रीगोस्वामीजी जिस वस्तु के वर्णन के लिये जहाँ प्रधान स्थान देखते हैं, वहीं कहते हैं, दूसरी जगह वहीं के शब्द-संकेत से सूचित कर देते हैं। मंडप की विचित्र रचना जनकपुर में अति विस्तृत रूप में कही गई है, वहीं का 'अति विचित्र' विशेषण यहाँ भी दिया है। अतः, वैसा ही जानना चाहिये, यथा—"रचहु बिचित्र बितान बनाई।"...से—"जाइ न बरनि बिचित्र बिताना॥" (दो० २८६–८८ तक)।

'कामरूप सुंदर तनु धारी।'—गिरि वन आदि के अधिष्ठातृ देवता लोग स्वेच्छा से सुन्दर रूप धरकर चले। ये लोग जब जैसा रूप चाहें, धर सकते हैं। यथा—"गिरि, बन, सरित, सिन्धु, सर... धरि-धरि सुंदर बेष चले हरषित हिये। कँचन चीर उपहार हार मनि गन लिये॥" (पार्वतीमंगल ४४–४५)।

प्रथमहिं गिरि बहु गृह सँवराये। जथाजोग जहँ तहँ सब छाये ॥७॥
पुर-सोभा अवलोकि सुहाई। लागइ लघु बिरंचि-निपुनाई ॥८॥

अर्थ—हिमाचल ने प्रथम ही से बहुत-से घर सजवाये थे। जो जिसके योग्य था वह उसमें जा बसा। ७॥ नगर की सुहावनी शोभा देखकर ब्रह्मा की निपुणता तुच्छ लगती थी ॥८॥

विशेष—छाये=कुछ अधिक कालतक रहेंगे, यह गर्भित है, यथा—"चित्रकूट रघुनंदन छाये।" (अ० दो० १३३)=डेरा डाल दिया।

छंद—लघु लागि बिधि कै निपुनता अवलोकि पुरसोभा सही।
बन बाग कूप तड़ाग सरिता सुभग सब सक को कही ॥
मंगल बिपुल तोरन पताका केतु गृह-गृह सोहहीं।
बनिता पुरुष सुंदर चतुर छबि देखि मुनि-मन मोहहीं ॥

दोहा—जगदंबा जहँ अवतरी, सो पुर बरनि कि जाइ।
रिद्धि सिद्धि संपत्ति सुख, नित नूतन अधिकाइ ॥९४॥

शब्दार्थ—तोरन=बन्दनवार। पताका=झंडी, फरहरा। केतु=ध्वजा। रिद्धि (ऋद्धि)=भोजन आदि की सामग्री। सिद्धि=अणिमादि सिद्धियाँ, तथा—रिद्धि-सिद्धि=समृद्धि और सफलता।

अर्थ—पुर की शोभा को देखकर सत्य ही ब्रह्मा की निपुणाई (रचना) तुच्छ जान पड़ती है। वन, बाग, कुएँ, तालाब और नदियाँ सब सुन्दर हैं, उनका वर्णन कौन कर सकता है? ॥ सर्वत्र मंगल, बहुत-से बन्दनवार, झंडियाँ और ध्वजाएँ घर-घर शोभा दे रही हैं। स्त्री-पुरुष सुन्दर और चतुर हैं, जिनकी छवि देखकर मुनियों के भी मन मुग्ध हो जाते हैं॥ जहाँ पर जगदंबा ने ही अवतार लिया है, उस नगर का वर्णन कैसे किया जा सकता है? ऋद्धि-सिद्धि-सम्पत्ति और सुख नित्य नये बढ़ते ही जाते हैं॥९४॥

नगर निकट बरात सुनि आई। पुर खरभर सोभा अधिकाई॥१॥
करि बनाव सजि बाहन नाना। चले लेन सादर अगवाना॥२॥
हिय हरषे सुर-सेन निहारी। हरिहिं देखि अति भये सुखारी॥३॥
सिव-समाज जब देखन लागे। बिडरि चले बाहन सब भागे॥४॥
धरि धीरज तहँ रहे सयाने। बालक सब लै जीव पराने॥५॥
गये भवन पूछहिं पितु माता। कहहिं बचन भयकंपित गाता॥६॥

शब्दार्थ—खरभर=खलबली, धूमधाम, दौड़-धूप। बनाव=सजावट। अगवाना=अभ्यर्थना, सम्मान के लिये आगे बढ़कर लेना। बिडरि=भड़ककर, बहुत डरकर। सयाने=समझदार, जो शिवजी के अमंगल रूप में भी मंगल-राशि भाव को जानते हैं।

अर्थ—बारात को नगर के निकट आई सुनकर पुर में धूमधाम होने से उसकी शोभा और भी बढ़ गई॥१॥ लोग अपना-अपना शृंगार कर और अपनी अपनी नाना प्रकार की सवारियों को सजाकर आदर-पूर्वक अगवानी लेने को चले॥२॥ देवताओं की सेना (समाज) को देखकर हृदय से प्रसन्न हुए और विष्णु भगवान् को देखकर तो बहुत ही सुखी हुए॥३॥ जब शिवजी का समाज देखने लगे, तब सब वाहन भड़क-भड़क कर भागे, (यहाँ वाहन घोड़े आदि का ही भागना कहा है, वाहनों के कारण उनके सवार भी न रह सके, परन्तु और अगवानी के लोग रहे, वे बारात लेकर लौटेंगे, वे ही सयाने कहे गये हैं)॥४॥ सयाने लोग धैर्य धरकर रहे, और सब बालक लोग तो प्राण लेकर भागे॥५॥ घर जाने पर उनके पिता-माता पूछते हैं तो भय के मारे काँपते हुए शरीर से वे वचन बोलते (उत्तर देते) हैं॥६॥

विशेष—यहाँ पर सयानों में शांत रस, देवताओं में हास्य रस और बालकों में भयानक रस है।

'पूछहिं पितु माता'—पिता घर के बाहर द्वार पर रहने के कारण प्रथम मिले और माता भीतर थी, उसी क्रम से मिलना और पूछना लिखा है।

कहिय काह कहि जाइ न बाता। जम कर धारि किधौं बरियाता॥७॥
बर बौराह बसह असवारा। ब्याल कपाल बिभूषन छारा॥८॥

छंद—तनु छार ब्याल कपाल भूषन नगन जटिल भयंकरा।
सँग भूत प्रेत पिसाच जोगिनि बिकटमुख रजनीचरा॥
जो जियत रहिहि बरात देखत पुन्य बड़ तेहि कर सही।
देखिहि सो उमाबिवाह घर-घर बात असि लरिकन्ह कही॥

दोहा—समुझि महेस-समाज सब, जननि जनक मुसुकाहिं।
बाल बुझाये बिबिध बिधि, निडर होहु डर नाहिं॥९५॥

लै अगवान बरातहि आये। दिये सबहिं जनवास सुहाये॥१॥

शब्दार्थ—धारि = लूट-मार के लिये धाई हुई सेना। बरियाता = बारात। बौराह = पागल। बसह = बैल, नंदी। छारा = राख, भस्म। जनवास = बारात के ठहरने का स्थान।

अर्थ—क्या कहें, (डर से) वचन भी नहीं कहा जाता है—"यह यमराज की सेना है या बारात ?॥७॥ दुलहा पागल है, बैल पर सवार है, सर्पों तथा मनुष्यों की खोपड़ियों की माला और राख—ये ही उसके विभूषण हैं॥८॥ देह में राख पुती है। सर्प और मुंडमाल ही भूषण है, नंगा, जटाधारी और भयंकर है। उसके साथ में भूत, प्रेत, पिशाच, योगिनियाँ और राक्षस हैं॥ जो इस बारात के देखने से जीता बच जायगा सचमुच उसका बड़ा पुण्य समझा जायगा और वही उमा का विवाह भी देखेगा।" घर-घर लड़कों ने ऐसी बात कही। शिवजी का सब समाज समझकर माता-पिता हँस रहे हैं। फिर उन्होंने बालकों को बहुत प्रकार से समझाया कि निडर हो जाओ— डर की कोई बात नहीं है॥९५॥ अगवानी लोग बारात को लेकर आये और सबको ठहरने के लिये सुन्दर जनवास दिये॥१॥

विशेष—'बर बौराह'—वेष देखकर पागल कहा, अथवा किसी-किसी के मत से शिवजी नंदी पर पूँछ की ओर मुख किये बैठे थे, इससे बौराहा कहा।

'नगन'—पूर्व कहा गया कि—"तनु बिभूति पट केहरिछाला।" (दो० ९१); अर्थात् बाघम्बर वस्त्र है, फिर यहाँ नंगा क्यों कहा ? इसका उत्तर ऐसा जान पड़ता है कि शिवजी ऊपर से ही बाघम्बर ओढ़े हुए थे, लँगोटी की तरह कुछ नहीं पहना था। बालक छोटे हैं, नीचे खड़े हैं। शिवजी नंदीश्वर पर (ऊपर) हैं, इसलिये बालकों को नंगे देख पड़े।

मैना सुभ आरती सँवारी। संग सुमंगल गावहिं नारी॥२॥
कंचनथार सोह बर पानी। परिछन चलीं हरहिं हरषानी॥३॥
बिकट बेष रुद्रहिं जब देखा। अबलन्ह उर भय भयेउ बिसेखा॥४॥
भागि भवन पैठीं अति त्रासा। गये महेस जहाँ जनवासा॥५॥

शब्दार्थ—सुमंगल=मंगलाचार के गीत। परिछन (परि-अर्चन)=यह एक रीति है कि स्त्रियाँ वर के पास आकर उसे दही और अक्षत का टीका लगाती हैं, आरती उतारती हैं और उसके ऊपर मूसल बट्टा आदि घुमाती हैं। विकट=भयंकर। पैठीं=घुस गईं।

अर्थ—मैनाजी ने मंगल-आरती सजाई और सुमंगल गाती हुई स्त्रियों के साथ उनके दाहिने हाथ में मंगल-द्रव्य से पूर्ण सुवर्ण का थार शोभा दे रहा है। (इस प्रकार) हर्षपूर्वक शिवजी का परिछन करने चलीं ॥२-३॥ जब भयंकर वेषवाले रुद्र (शिवजी) को देखा, तब स्त्रियों के हृदय में बहुत भय उत्पन्न हुआ ॥४॥ अत्यन्त डर के कारण वे भागकर घर में पैठ गईं, (तब) शिवजी वहाँ गये, जहाँ जनवासा था ॥५॥ –

विशेष—'अबलन्ह उर भय···'—डरे तो पुरुष भी, क्योंकि—"धरि धीरज तहँ रहे सयाने।' कहा गया है, पर स्त्रियाँ स्वाभाविक भीरु होती हैं। अतः, इन्हें विशेष भय हुआ। पुनः भय तो शिव-समाज देखकर ही हुआ, फिर जब शिवजी को देखा और आरती देखकर उनके भूषण रूपवाले सर्प जीभ लपलपाने लगे तब तो वे बहुत ही डर गईं।

यहाँ प्रसंगानुसार शिवजी के हर, रुद्र और महेश तीन नाम कहे गये हैं। प्रथम शिवजी के उपलक्ष्य में मैनाजी का मनोरथ था कि गिरिजा को पाणिग्रहण करके इसका क्लेश हरेंगे। फिर इससे देवताओं का दुःख-हरण होगा, इसलिये 'हर' नाम कहा गया। फिर विकट वेष की भयंकरता के साथ 'रुद्र' भयानक शिव रूप) भी उपयुक्त है, फिर जब परिछन होने पर (अपमानित होने पर भी) उन स्त्रियों पर यह समझकर दया-दृष्टि रक्खी कि ये भीरु होती ही हैं, हमारा विकट-वेष देखकर डर गईं, क्योंकि हमारे ऐश्वर्य-भाव को नहीं जानतीं इससे जाकर जनवासा में ठहरे। कोई और सामान्य वर होता तो अपमान समझकर बारात-समेत लौट जाता। इस कारण महेश (महान्-ईश) अर्थात् परम समर्थ कहा जाना भी बहुत ठीक है।

मैना हृदय भयेउ दुख भारी। लीन्ही बोलि गिरीसकुमारी ॥६॥
अधिक सनेह गोद बैठारी। स्याम सरोज नयन भरे बारी ॥७॥
जेहि बिधि तुम्हहिं रूप अस दीन्हा। तेहि जड़ बर बाउर कस कीन्हा ॥८॥

अर्थ—मैनाजी के हृदय में बड़ा भारी दुःख हुआ, उन्होंने पार्वतीजी को बुला लिया ॥६॥ अधिक स्नेह (के कारण) गोद में बिठा लिया और उनके नील कमल के समान नेत्रों में जल भर आया ॥७॥ (और वे बोलीं कि) जिस ब्रह्मा ने तुम्हें ऐसा सुन्दर रूप दिया, उस मूर्ख ने तुम्हारे वर को बावला क्यों बना दिया ? ॥८॥

विशेष—(१) 'मैना हृदय···' 'भारी'—दुःख तो और स्त्रियों को भी हुआ, पर मैनाजी को भारी है।

'लीन्ही बोलि···'—वात्सल्य के कारण करुणा हो गई, इसलिये बुला लिया; क्योंकि गोद में लेकर विलाप करेंगी। साथ ही उनके प्रति अपनी सहानुभूति (हमदर्दी) जनावेंगी। इससे दुःख और भय कुछ कम होंगे, यथा—"कहेहू ते कछु दुख घटि होई।" (सु॰ दो॰ १५)। यह भी कहा जाता है कि कहीं गिरिराज बाहर-ही-बाहर ब्याह न दें, इसलिये बुला लिया। 'गिरीसकुमारी'—पर्वत गंभीर होते हैं, ये (पार्वतीजी) पर्वतराज की कन्या हैं, इनमें भी बड़ी गंभीरता है। अतः, माता के विलाप से भी इनका धैर्य न छूटेगा, प्रत्युत माता को ही समझाकर धैर्य देंगी।

(२) 'श्याम सरोज नयन'''—मैनाजी ने सोलहो शृंगार किये हैं। अतः, नेत्रों में काजल अथवा सुरमा लगा है, इसलिये नेत्र श्याम कमल के समान कहे गये।

(३) 'जेहि विधि'''—पार्वतीजी को रूप और तदनुसार ही गुण, बुद्धि, धैर्य आदि विधिवत् देने के सम्बंध से रचयिता को 'विधि' कहा। पुनः इनके वर को अयोग्य समझकर उन ब्रह्मा को जड़ कहा, क्योंकि उन्होंने यह काम मूर्खों का-सा किया है कि ऐसी सुंदरी दुलहिन के लिये ऐसा कुरूप वर दिया! यहाँ विह्वलता में ब्रह्मा को 'जड़' कहा गया। अतः, दोष नहीं है। यथा—"अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी। इनको बिलग न मानिये बोलहिं न बिचारी॥" (वि॰ ३४)।

छंद—कस कीन्ह वर बौराह बिधि जेहि तुम्हहिं सुंदरता दई।
जो फल चहिय सुरतरुहिं सो बरबस बबूरहिं लागई॥
तुम्ह सहित गिरि ते गिरउँ पावक जरउँ जलनिधि महँ परउँ।
घर जाउ अपजस होउ जग जीवत बिवाह न हौं करउँ॥

दोहा—भईं बिकल अबला सकल, दुखित देखि गिरिनारि।
करि बिलाप रोदति बदति, सुता-सनेह सँभारि॥९६॥

शब्दार्थ—घर जाउ = घर बिगड़ जाय, लुट जाय, (शिवगण क्रुद्ध होकर लूट लें)। अपजस = अपकीर्ति (यह कि बारात बुलवाकर विवाह न किया)। हौं = मैं। बिलाप = बिलख-बिलखकर रोना।

अर्थ—जिस विधि ने तुमको सुन्दरता दी, उसने तुम्हारे दुलहे को बावला क्यों बनाया? जो फल कल्पवृक्ष में लगना चाहिये, वह बलात् बबूल में लग रहा है॥ मैं तुम्हारे साथ पहाड़ से गिर पड़ूँ, आग में जल जाऊँ, समुद्र में जा पड़ूँ (डूब मरूँ)। घर चाहे बिगड़ जाय और जगत् में अपयश भले ही हो, पर मैं जीते-जी यह ब्याह नहीं होने दूँगी॥ हिमाचल की स्त्री को दुःखित देखकर सब स्त्रियाँ विकल हो गईं। बेटी के स्नेह को स्मरण करके बिलख-बिलखकर रोती और कहती थीं॥९६॥

विशेष—(१) 'जो फल चहिय'''—यहाँ मैनाजी का भाव यह है कि उमा का विवाह तो अति सुन्दर विष्णु भगवान् से योग्य होता, पर महा कुवेष शिवजी से होने को है, यह बड़ा अयोग्य है। सुरतरु—विष्णु; बबूल—शिव; फल—पार्वती (परम सुंदरी); तप कराके ब्याह कराना—बरबस फल लगाना है।

(२) 'तुम्ह सहित गिरि ते गिरउँ'''—प्रथम गिरि से गिरना कहा, फिर सोचने लगीं कि हिमाचल दया करके यदि मृत्यु न होने दें तो अग्नि में जल मरूँगी। अग्नि भी देवता हैं, उस पक्ष के हैं। यदि न जलावें, तो समुद्र में डूब मरूँगी। पुनः यों भी भाव कहा जाता है कि अंत में शरीर की तीन ही गतियाँ कही गई हैं, यथा—"कृमि-भस्म-बिट-परिनाम तनु'''" (वि॰ १३६) अर्थात् पहाड़ से गिरने से मिट्टी में पड़कर कृमि हो जाऊँगी, अथवा अग्नि में जलकर भस्म होऊँगी और नहीं तो समुद्र में पड़ने पर जलचरों के खाने से *बिट तो हूँगी ही।*

शंका—मैनाजी ने प्रथम ही शिवजी का रूप ऐसा सुना था, फिर इतना डरीं क्यों ?

समाधान—स्त्री-स्वभाव अत्यन्त भीरु होने के कारण एवं पहले के सुने हुए से भी अत्यंत भीषण वेष देखकर विह्वल हो गईं। अतः, वे वचन भूल गये हैं। पुन. इस लीला से पार्वतीजी की महिमा प्रकट होगी। अतः, हरि-इच्छा से ऐसी घटना हुई है।

नारद कर मैं काह बिगारा। भवन मोर जिन्ह बसत उजारा ॥१॥
अस उपदेस उमहिं जिन्ह दीन्हा। बौरे बरहिं लागि तप कीन्हा ॥२॥
साँचेहु उन्हके मोह न माया। उदासीन धन धाम न जाया ॥३॥
पर-घर-घालक लाज न भीरा। बाँझ कि जान प्रसव कै पीरा ॥४॥

शब्दार्थ—माया = कृपा, (माया दंभे कृपायां च)। जाया = वह ब्याही स्त्री जो बच्चा जन चुकी हो। घालक = नाशक। भीरा = भय। प्रसव = बच्चा जनना। मोह = प्रेम।

अर्थ—(कि) नारद का मैंने क्या बिगाड़ा है कि उन्होंने मेरा बसता हुआ घर उजाड़ डाला ॥१॥ जिन्होंने उमा को ऐसा उपदेश दिया कि उसने बावले वर के लिये तप किया ॥२॥ सत्य ही उनके कृपा और प्रेम नहीं है, उदासीन (रुक्ष-वृत्ति) हैं, न उनके धन है, न घर और न स्त्री ही है ॥३॥ दूसरे के घर के उजाड़नेवाले हैं, न उनके लज्जा ही है और न भय। भला, बाँझ स्त्री प्रसव की पीड़ा को क्या जाने ? ॥४॥

विशेष—'भवन मोर जिन्ह···'—इसमें घर उजाड़ना कहकर उसका विवरण अगली तीन अर्द्धालियों में कहा है।

'बौरे बरहिं लागि···'—ऐसा वर मुफ्त भी मिलता तो न ब्याहती, फिर उसके लिये तप करवाया कि जिससे उनका अभिप्राय पक्का हो जाय। यही 'बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी' में कहा गया था। 'पर घर घालक'—"चित्रकेतु कर घर उन घाला।···" आदि पूर्वोक्त सप्तर्षियों के वचन स्मरण हो रहे हैं, जो परीक्षार्थ कहे गये थे। 'बाँझ कि जान···' अपने स्त्री और कन्या होती और ऐसा वर मिलता, तब जान पड़ता कि माता पिता को ऐसी बातों से कितना दुःख होता है। 'लाज न भीरा'—दक्ष ने शाप भी दिया, तब भी घर घालने की आदत नहीं छोड़ी।

जननिहिं बिकल बिलोकि भवानी। बोलीं जुत बिबेक मृदु बानी ॥५॥
अस बिचारि सोचहि मति माता। सो न टरइ जो रचइ बिधाता ॥६॥
करम लिखा जौं बाउर नाहू। तौ कत दोष लगाइय काहू ॥७॥
तुम्ह सन मिटहिं कि बिधि के अंका। मातु ब्यर्थ जनि लेहु कलंका ॥८॥

अर्थ—माता को विकल देखकर भवानी (पार्वतीजी) विवेक-सहित कोमल वाणी बोलीं ॥५॥ हे माता ! ऐसा विचार कर सोच न करो कि जो विधाता लिखता है, वह नहीं टल सकता ॥६॥ हमारे कर्म (प्रारब्ध) में जो बावला ही पति लिखा है, तो फिर क्यों किसी को दोष लगाया जाय ? ॥७॥ क्या तुमसे विधाता के लिखे हुए अंक मिट सकते हैं ? अर्थात् नहीं मिट सकते, (तो फिर) हे माता ! वृथा कलंक मत लो ॥८॥

विशेष—(१) 'जननिहिं बिकल···'—'भवानी' अर्थात् यद्यपि माता आदि व्याकुल हैं और शिवजी में सबकी अप्रीति है तो भी इनकी निष्ठा अटल है, अपनेको भव-पत्नी ही मानती हैं। पुन ये लीला-मात्र मे मैना की बेटी हैं, पर अपनेको—'सदा संभु अरधंग निवासिनि' जानती हैं, नहीं तो लड़की माँ को उपदेश क्योंकर करती ?

'बोलीं जुत···'—इनके समझाने का कारण यह है कि सब सखियाँ व्याकुल हैं। अत, समझा नहीं सकतीं। जैसे दो० २४५ में श्रीसुनयनाजी को इनकी चतुर सखी ने समझाया है, अत, माता के दु ख मिटाने के लिये उमाजी को स्वय समझाना पड़ा। दूसरा यह भी कारण है कि जब मैनाजी श्रीनारदजी को अनुचित कहने लगीं, तब उमा के लिये बोलना आवश्यक हुआ, क्योंकि गुरु-निन्दा सुनना पाप है, इस मर्यादा रक्षा के लिये बोलीं।

(२) 'सो न टरइ जो···'—यहाँ गिरिजाजी पूर्वकथित नारद के वचनों का ही स्मरण कराती हैं, जो उन्होंने हस्त रेखा देखकर कहे थे। उन्होंने तो हमारे कर्मानुसार ब्रह्मा का लिखा कहा है तो किसी का क्या दोष ? यथा—"करम लिखा जो बाउर नाहू।"—"जोगी जटिल अकाम मन, नगन अमगल बेष। अस स्वामी यहि कहँ मिलिहि, परी हस्त असि रेख॥" (दो० ६७)।

(३) 'तुम्ह सन मिटिहि कि···'—"कह मुनीस हिमवत सुनु, जो बिधि लिखा लिलार। देव दनुज नर नाग मुनि, कोउ न मेटनिहार॥' (दो० ६८)। तब तुमसे कैसे मिटेगा ?

'व्यर्थ जनि लेहु कलंक'—जब मेरे कर्म ही का दोष है, इसमें न तो मुनि का दोष और न विधाता का ही दोष है, तब फिर व्यर्थ किसी को दोष लगाने से क्या लाभ ? तथा गिरि से गिरने आदि में लोग तुम्हीं को दोष देंगे। जब विधि के लिखे के अनुसार ब्याह होगा ही, तब रोने से भी कलंक ही है, लोग कहेंगे कि बहुत रो पीटकर क्या कर लिया ? इत्यादि।

छंद—जनि लेहु मातु कलंक करुना परिहरहु अवसर नहीं।
दुख सुख जो लिखा लिलार हमरे जाब जहँ पाउब तहीं॥
सुनि उमा-बचन बिनीत कोमल सकल अबला सोचहीं।
बहु भाँति बिधिहि लगाइ दूषन नयन बारि बिमोचहीं॥

दोहा—तेहि अवसर नारद सहित, अरु रिषिसप्त समेत।
समाचार सुनि तुहिनगिरि, गवने तुरत निकेत॥९७॥

शब्दार्थ—करुना (करुणा)=मन का वह धर्म जो आश्रित के दु ख पर विकलता लाकर उस दु ख के मिटाने के लिये उद्यत करता है, पर यहाँ पर इसका अर्थ 'शोक प्रकट करना' है। बिनीत=नम्र। तुहिन=हिम। निकेत=घर।

अर्थ—हे माता ! कलंक मत लो, करुणा छोड़ो, इसका समय नहीं है। दु ख और सुख जो हमारे लिलार में लिखा है, वह तो जहाँ ही जाऊँगी, वहीं मिलेगा॥ उमाजी के नम्र और कोमल वचन सुनकर

सब स्त्रियाँ सोचती हैं और बहुत प्रकार से विधाता को ही दूषण लगा-लगाकर आँखों से आँसू गिरा रही हैं ॥ यह समाचार सुनकर तुरन्त उसी समय हिमाचल-राज श्रीनारद के साथ और सप्त ऋषियों को भी साथ लिये हुए घर में गये ॥९७॥

विशेष—'सकल अबला सोचहीं'—उमा के विनम्र और कोमल वचनों का प्रभाव पड़ा। अब नारद का दोष देना सब ने छोड़ दिया, क्योंकि आगे—'बिधिहिं लगाइ···' कहा है। सोचती हैं कि ऐसी सयानी कन्या को अयोग्य वर मिला। विधि ने ऐसी अविधि क्यों की ? अतः, उसपर बहुत भाँति से दोष लगाने लगीं, यथा—"बिधि करतब उलटे सब अहहीं।"···से—"तेहि इरषा बन आनि दुराये॥" (अ० दो० ११९) तक, आदि।

'तेहि अवसर नारद सहित ···'—इसमें 'सहित' और 'समेत' दोनों एक ही अर्थ के हैं और एक साथ आये हैं। इससे जनाया कि केवल नारदजी से काम न चलेगा। अतः, सप्तर्षियों को भी साथ ले गये। इनका ले जाना अति आवश्यक दिखाने के लिये एक 'समेत' पद अधिक दे दिया।

श्रीनारदजी को तो स्त्रियाँ दोष देती ही थीं और इनके विरुद्ध में परीक्षार्थ कहे हुए सप्तर्षियों के वचनों को रखती थीं। अतः, नारदजी के समझाने के साथ साथ ये भी रहेंगे और उसमें अपनी सम्मति देते रहेंगे, तब मैना आदि को प्रतीति होगी।

यह भी कहा जाता है कि नारद सहित जाते थे, सप्तर्षि भी आ गये, तब इन्हें भी आवश्यक जानकर साथ ले लिया। यह घटना-क्रम दिखाने के लिये वैसा ही लिख दिया।

तब नारद सबही समुझावा। पूरब - कथा - प्रसंग सुनावा ॥१॥
मैना सत्य सुनहु मम बानी। जगदंबा तव सुता भवानी ॥२॥
अजा अनादि सक्ति अबिनासिनि। सदा संभु-अरधंग-निवासिनि ॥३॥
जग - संभव - पालन - लय कारिनि। निज इच्छा लीला-बपु-धारिनि ॥४॥

शब्दार्थ—अजा=कर्म-वश जन्म-रहित। अबिनासिनि=नाश रहित, मोहादि से आत्म रूप नहीं भूलतीं—सदा एकरस स्वरूप-स्मृति रहती है। बपु=शरीर।

अर्थ—तब नारदजी ने सभी को समझाया और (उमा के) पूर्व-जन्म की कथा का प्रसंग सुनाया ॥१॥ हे मैना ! मेरी सत्य वाणी सुनो। तुम्हारी बेटी जगत् की माता और भवानी (शिवपत्नी) हैं ॥२॥ ये अजन्मा, अनादिशक्ति और अविनाशिनी हैं तथा सदा शिवजी के आधे अंग में निवास करनेवाली हैं ॥३॥ जगत् की उत्पत्ति, पालन और लय करनेवाली हैं और अपनी इच्छा से शरीर धारण करनेवाली हैं ॥४॥

विशेष—श्रीनारदजी ने ही समझाया, क्योंकि इनकी पूर्वोक्त बातों पर मैना को संदेह था। अब दूसरे के समझाने से प्रबोध होता तो इनकी लघुता होती। पुनः पूर्व में हिमाचल ने इनको त्रिकालज्ञ कहा था, उस समय इन्होंने वर्तमान और भविष्य को ही कहा था। भूतकाल का महत्त्व ऐश्वर्यमय होने से नहीं कहा गया था। अब उसकी पूर्ति करेंगे। इस ऐश्वर्य को सुनकर सब को संतोष हो जायगा और विधाता को भी दोष देना छूट जायगा।

'सदा संभु-अरधंग'''—शिवजी से इनका कभी वियोग नहीं है—ये लीला-मात्र से पृथक् देख पड़ती हैं, तब यहाँ जन्म होना आदि प्रत्यक्ष बातों का क्या रहस्य है? इसपर आगे कहते हैं कि 'निज इच्छा लीला''' अर्थात् जब चाहती हैं, स्वेच्छा से जन्म लेती हैं। यथा—"जनमी जाइ हिमाचल-गेहा।" (दो० ८२)। कभी इस तरह इनका जन्म और हुआ है? इसका उत्तर आगे कहते हैं—

जनमी प्रथम दच्छगृह जाई। नाम सती सुंदर तनु पाई ॥५॥
तहँउ सती संकरहिं बिबाही। कथा प्रसिद्ध सकल जग माहीं ॥६॥
एक बार आवत सिव-संगा। देखेउ रघुकुल-कमल-पतंगा ॥७॥
भयेउ मोह सिव कहा न कीन्हा। भ्रमबस बेष सीय कर लीन्हा ॥८॥

अर्थ—प्रथम (इन्होंने) दक्ष के घर में जाकर जन्म लिया। वहाँ इनका नाम सती था और सुन्दर शरीर पाया था ॥५॥ वहाँ भी सतीजी शिवजी से ब्याही गई थीं, यह कथा सब जगत् में प्रसिद्ध है ॥६॥ एक बार शिवजी के संग (कैलाश को) आते हुए, (इन्होंने) रघुवंश-रूपी कमल के (विकाशक) सूर्य-रूप (श्रीरामजी) को देखा ॥७॥ तब इनको मोह हुआ। फिर शिवजी का कहा भी नहीं माना और भ्रम के वश श्रीसीताजी का वेष बना लिया था ॥८॥

विशेष—'कथा प्रसिद्ध''''''—"सती-जन्म और उनका दक्ष-यज्ञ में शरीर त्यागना, वीरभद्र-द्वारा यज्ञ-विध्वंस और पार्वती-जन्म"—ये कथाएँ श्रीमद्भागवत (स्कंध ४ अ० २-६), मत्स्यपुराण, शिवपुराण, कालिकापुराण आदि में विस्तार से हैं। संक्षेपतः इस ग्रंथ में भी पहले (दो० ६० से ६५ तक) कह ही आये हैं।

"सती-मोह, उनका सीता-रूप-धारण, श्रीराम-परीक्षा, सती-त्याग"—ये कथाएँ शिव-पुराण (सती-खंड अ० २५-२६) में हैं। इस ग्रंथ में ये सब कथाएँ दो० ४६–५६ में हैं।

छंद—सिय-बेष सती जो कीन्ह तेहि अपराध संकर परिहरी।
हरबिरह जाइ बहोरि पितु के जज्ञ जोगानल जरी ॥
अब जनमि तुम्हरे भवन निज पति लागि दारुन तप किया।
अस जानि संसय तजहु गिरिजा सर्बदा संकरप्रिया ॥

दोहा—सुनि नारद के बचन तब, सब कर मिटा बिषाद।
छन महँ ब्यापेउ सकल पुर, घर-घर यह संबाद ॥६८॥

अर्थ—सतीजी ने जो सीताजी का वेष धारण किया, उसी अपराध से श्रीशिवजी ने इनका त्याग किया। शिवजी के विरह (दुःख) में फिर ये पिता के यज्ञ में जाकर योगाग्नि में जल गईं॥ अब तुम्हारे घर में जन्म लेकर अपने पति के लिये (इन्होंने) बड़ा कठिन तप किया है। ऐसा जानकर संदेह छोड़

दो। गिरिजाजी तो सदा ही शिवजी की प्रिया (प्रिय-पत्नी) हैं ॥ तब नारदजी के वचन सुनकर सबका विषाद (शोक) मिट गया और क्षण-भर में सम्पूर्ण नगर में घर-घर यह संवादात्मक कथा फैल गई ॥९८॥

विशेष—मैना मोह-निवारण की यह कथा शिव-पुराण (पार्वती खंड अ० ४४) में है।

तब मैना हिमवंत अनंदे। पुनि पुनि पारवतीपद बंदे ॥१॥
नारि पुरुष सिसु जुवा सयाने। नगर लोग सब अति हरषाने ॥२॥
लगे होन पुर मंगल गाना। सजे सबहि हाटकघट नाना ॥३॥
भाँति अनेक भई जेवनारा। सूपसास्त्र जस कछु व्यवहारा ॥४॥
सो जेवनार कि जाइ बखानी। बसहिं भवन जेहि मातु भवानी ॥५॥

अर्थ—तब मैना और हिमवान् आनंद में मग्न हो गये और बार-बार पार्वतीजी के चरणों की वंदना करने लगे ॥१॥ स्त्री, पुरुष, बालक, जवान और सयाने (वृद्ध) - नगर के सभी लोग अति हर्षित हुए ॥२॥ नगर में मंगल-गान होने लगे, सभी ने सोने के अनेक कलश सजाये ॥३॥ पाक शास्त्र में जैसी कुछ रीति थी, तदनुसार अनेक प्रकार की रसोई हुई ॥४॥ जिस घर में माता भवानी ही रहती हैं, वहाँ की रसोई का वर्णन क्या हो ? ॥५॥

विशेष—यहाँ आनंदित होने में मैना का नाम प्रथम है, और सब लोगों में 'नारि' प्रथम कही गई है, क्योंकि इनकी व्याकुलता अधिक थी। नारदजी ने मैना के प्रति संबोधन करके कहा भी है, इससे आनंदित होनेवालों में भी प्रथम इन्हीं का नाम लिया।

'भाँति अनेक भई······'—चर्व्य (चबाकर खाने योग्य पदार्थ), चोष्य (चूसे जाने योग्य पदार्थ), लेह्य (चाटे जाने योग्य पदार्थ) और पेय (पीने योग्य पदार्थ)—ये चार प्रकार के भोजन के भेद हैं। यह महाराज नल-रचित 'पाकशास्त्र' में प्रमाण है। कोई-कोई भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य—भोजन के ये ही चार भेद मानते हैं। प्रत्येक में षट् रस (छः रस) के व्यंजन होते हैं—खट्टा, मीठा, चरपरा, कड़ुवा, खार (नमकीन) और कषाय (जैसे आँवला) यथा—"चारि भाँति भोजन बिधि गाई। एक-एक बिधि बरनि न जाई ॥ छरस रुचिर बिंजन बहु जाती। एक-एक रस अगनित भाँती" (दो० ३२८)।

'सूपशास्त्र'—(सूप=दाल) रसोई में दाल का उत्तम बनना मुख्य है। अतः, पाक-शास्त्र को सूप-शास्त्र कहते हैं।

'लगे होन मंगल ······'—प्रथम मंगल गान होते थे। यथा—"संग सुमंगल गावहिं नारी।" (दो० ९५); पर शिवजी का भयंकर वेष देखने पर स्त्रियों के डरने से वे बंद हो गये थे। अब फिर होने लगे। प्रथम 'सिसु' वर्ग का डरना कहा था; अतः, यहाँ इन्हें भी 'हरषाने' कहा।

सादर बोले सकल बराती। बिष्णु बिरंचि देव सब जाती ॥६॥
बिबिधि पाँति बैठी जेवनारा। लागे परुसन निपुन सुआरा ॥७॥
नारिबृंद सुर जेंवत जानी। लगीं देन गारी मृदु बानी ॥८॥

शब्दार्थ—देव सब जाती=आठ दिग्पाल, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, उनचास मरुत्, यक्ष, गंधर्व, किन्नर इत्यादि देवताओं की जातियाँ (भेद) हैं।

अर्थ—सब बरातियों को—विष्णु-ब्रह्मा और सब जातियों के देवताओं को आदर-पूर्वक (गिरिराज ने) बुलवा लिया ॥६॥ भोजन करनेवाले विविध (तरह-तरह की कई) पंक्तियों में बैठे, (तब) चतुर सुआर (रसोइये) परसने लगे ॥७॥ देवताओं को भोजन करते जानकर स्त्रियाँ कोमल वाणी (डहकन गीतों) में गाली देने लगीं ॥८॥

विशेष—'विविध पाँति……' क्योंकि देवताओं की कई जातियाँ हैं। 'सब देव अलग-अलग बैठे हैं। 'निपुन सुआरा'—चतुराई से परसनेवाले हैं, भोजन इधर-उधर नहीं गिरने पाता, नम्रतापूर्वक प्रिय वचन कहकर परसते हैं। यथा—"सूपोदन सुरभी सरपि, सुंदर स्वादु पुनीत। छनमहँ सब कहँ परुसिगे, चतुर सुआर बिनीत॥" (दो० ३२८)।

श्रीसीताराम-विवाह में प्रथम विवाह हुआ, तब जेवनार और यहाँ प्रथम भोजन तब विवाह कहा गया है। इसके कारण—(क) श्रीरामजी मनुष्यावतार में हैं। अतः, भूलोक की रीति कही गई है और शिव-विवाह में देवलोक की रीति है। (ख) श्रीरामविवाह में एक जाति के लोग हैं। निमिवंश और रघुवंश एक वंश की दो शाखाएँ हैं। अतः, खाने में संदेह नहीं था, देवताओं में विविध जातियाँ हैं। संभव था कि विवाह हो जाने पर, उनका प्रयोजन निकल जाने पर, इधर-उधर चल दें, इसलिये गिरिराज ने प्रथम ही भोजन करा दिया।

छंद—गारी मधुर सुर देहिं सुंदरि व्यंग्य वचन सुनावहीं।
भोजन करहिं सुर अति बिलंब बिनोद सुनि सचु पावहीं॥
जेंवत जो बढ़्यौ अनंद सो मुख कोटिहू न परै कह्यौ।
अँचवाइ दीन्हे पान गवने बास जहँ जाको रह्यौ॥

दोहा—बहुरि मुनिन्ह हिमवंत कहँ, लगन सुनाई आइ।
समय बिलोकि बिवाह कर, पठये देव बोलाइ॥६६॥

शब्दार्थ—सुर (स्वर)=आवाज। बिनोद=हास-विलास। सचु=सुख।

अर्थ—सुन्दरी (स्त्रियाँ) मीठे स्वर से गाली देती (गाती) और व्यंग्य वचन सुनाती हैं। देवता विनोद सुनकर आनन्दित होते हैं; (इसी लिये) भोजन करने में बड़ी देर लगा देते हैं॥ भोजन के समय जो आनन्द बढ़ा, वह करोड़ों मुखों से भी नहीं कहा जा सकता। हाथ-मुख धुलवाकर पान दिये गये, (तब) जिनका जहाँ निवास स्थल था, वे वहाँ गये॥ फिर मुनियों ने आकर हिमाचल को लग्न-घड़ी सुनाई। उन्होंने विवाह का समय जानकर देवताओं को बुला भेजा॥९९॥

विशेष—'गारी मधुर सुर देहिं…' ये प्रेम की गालियाँ हैं और विवाह के अवसर की हैं। इनसे देवता लोग विनोद मानते हैं। यथा—"अमिय गारि गार्‌यो गरल, गारि कीन्ह करतार। प्रेम बैर की जननि जुग, जानहिं बुध न गँवार॥" (दोहावली ३२८)।

'व्यंग्य'—शिवजी के तो माँ-बाप का पता ही नहीं है। ब्रह्माजी समधी हैं। अतः, इनकी स्त्री सरस्वती से गिरिराज का सम्बन्ध लगाकर गाली देती हैं, इत्यादि।

बोलि सकल सुर सादर लीन्हे। सबहिं जथोचित आसन दीन्हे ॥१॥
बेदी बेदबिधान सँवारी। सुभग सुमंगल गावहिं नारी ॥२॥
सिंहासन अति दिब्य सुहावा। जाइ न बरनि बिरंचि बनावा ॥३॥
बैठे सिव बिप्रन्ह सिर नाई। हृदय सुमिरि निज प्रभु रघुराई ॥४॥

अर्थ—(हिमालय ने) सब देवताओं को आदरपूर्वक बुलवा लिया और सभी को बैठने के लिये यथायोग्य आसन दिये ॥१॥ वेदोक्त रीति से वेदिका सँवारी (रची) गई। स्त्रियाँ सुंदर मंगल गीत गाने लगीं ॥२॥ (वेदी पर) अत्यन्त दिव्य सिंहासन शोभित है जो ब्रह्मा का (अपने हाथ से) बनाया हुआ है, (इसी से) इसका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥३॥ हृदय में अपने इष्टदेव श्रीरघुनाथजी का स्मरण करके और ब्राह्मणों को शिर नवाकर शिवजी (सिंहासन पर) बैठे ॥४॥

विशेष—'जाइ न बरनि बिरंचि बनावा।'— पूर्व में कहा गया है—"पुर-सोभा अवलोकि सुहाई। लागइ लघु बिरंचि निपुनाई॥" (दो० ९४)। इसके अनुसार यहाँ ऐसा अर्थ करना चाहिये कि और सृष्टि ब्रह्मा संकल्प से रचते हैं, वह लघु लगती है, पर इसे अपने हाथों से बनाया है। अतः, विशेष है। इसी से—'जाइ न बरनि' कहा है। इसी तरह अन्यत्र भी कहा गया है। यथा—"जनु बिरंचि निज हाथ सँवारे।...मन भावहिं मुख बरनि न जाहीं।" (दो० ३१०); इत्यादि। जहाँ भी ब्रह्मा के हाथ से रचना कहा है, वहाँ अवर्ण्य भी कहा है।

'बैठे सिव बिप्रन्ह...'—विवाह करानेवाले ब्राह्मण लोग सम्मुख थे। सदाचार एवं लोकरीति के अनुसार उन्हें प्रणाम किया, मंगल कार्य में इष्टदेव का स्मरण करना भी योग्य ही है। हृदय में ही स्मरण किया, क्योंकि मानसिक स्मरण श्रेष्ठ है।

बहुरि मुनीसन्ह उमा बोलाई। करि सिंगार सखी लै आई ॥५॥
देखत रूप सकल सुर मोहे। बरनइ छबि अस जग कबि को है ॥६॥
जगदंबिका जानि भवभामा। सुरन्ह मनहि मन कीन्ह प्रनामा ॥७॥
सुंदरता-मरजाद भवानी। जाइ न कोटिहु बदन बखानी ॥८॥

अर्थ—फिर मुनीश्वरों ने उमा को बुलाया। सखियाँ शृंगार करके उनको वहाँ ले आईं ॥५॥ (उमा का) रूप देखते ही समस्त देवता मुग्ध हो गये, (फिर भला) ऐसा कवि कौन है, जो उस छवि का वर्णन करे ? ॥ ६ ॥ जगत् की माता और भव-पत्नी जानकर देवताओं ने उमा को मन-ही-मन प्रणाम किया ॥७॥ भवानी सुन्दरता की सीमा हैं ; (अतः) करोड़ों मुखों से भी कहने में नहीं आ सकतीं ॥८॥

विशेष—'देखत रूप सकल सुर मोहे।...' यहाँ 'मोहे' का अर्थ 'लुभा गये', 'रीझ गये' है। यथा—"देखि रूप मोहे नर नारी।" (दो० २१०); तथा—"चार्यो दल दूलह चारु बने। मोहे सुर औरन कौन गने॥" (केशव) अर्थात् अत्यंत शोभा है।

'बरनइ छबि ···'—अमित होने से छबि का वर्णन कवि के सामर्थ्य से बाहर है। यह भी कहा जाता है कि महाकवि कालिदास ने उमा के नख-शिख का वर्णन किया था। फल यह मिला कि कुष्ट हो गया, फिर बहुत प्रार्थना करने पर रघुवंश बनाने की आज्ञा हुई, उसके बनाने पर रोगमुक्त हुए। यहाँ उसी पर लक्ष्य है।

छंद—कोटिहु बदन नहिं बनइ बरनत जग-जननि-सोभा महा।
सकुचहिं कहत श्रुति सेष सारद मंदमति तुलसी कहा॥
छबिखानि मातु भवानि गवनी मध्य मंडप सिव जहाँ।
अवलोकि सकहि न सकुच पति-पद-कमल मनमधुकर तहाँ॥

दोहा—मुनि-अनुसासन गनपतिहिं, पूजेउ संभु-भवानि।
कोउ सुनि संसय करइ जनि, सुर अनादि जिय जानि॥१००॥

अर्थ—जगन्माता श्रीपार्वतीजी की महान् शोभा करोड़ों मुखों से भी कहते नहीं बनती। वेद, शेष और शारदा भी कहते हुए सकुचाते हैं तो तुच्छ बुद्धिवाला तुलसीदास क्या कहेगा? छबि की खान माता भवानी मंडप के मध्य में जहाँ शिवजी थे, वहाँ गईं। लाज (के कारण) से पति के चरण-कमलों को देख नहीं सकती थीं, पर मनरूपी भ्रमर वहीं था। मुनि की आज्ञा से शिव-पार्वतीजी ने गणेशजी की पूजा की। देवता अनादि होते हैं, ऐसा जी में जानकर तथा सुनकर कोई संदेह न करे॥१००॥

विशेष—'सकुचहिं कहत ···'—श्रुति से भूलोक, शेष से पाताल और शारदा से ब्रह्मलोक के प्रधान वक्ता सूचित किये। जब तीनों लोकों के प्रधान वक्ता नहीं कह सकते तब और कोई क्या कहेगा? क्योंकि महा शोभा है। 'जगजननि'—कुछ कहा भी चाहें तो जगन्माता की शोभा (सौन्दर्य) का वर्णन करने का पुत्ररूप कवियों को अधिकार भी नहीं है। पुनः जगत् मात्र की जननी हैं, तो शोभा को भी पैदा करनेवाली हैं, फिर प्राकृत उपमाओं द्वारा उमा का वर्णन कैसे हो?

'सकुच पति-पद ···'—लोक लज्जा के कारण उमाजी जनाती-बराती के बीच में पति-पद-कमल कैसे देखें? क्योंकि दुलहिन बनी हैं!

'सुर अनादि ···'—जैसे सूर्य और चन्द्रमा भगवान् के मन और नेत्र से आदि में ही हुए, फिर भी कारण-विशेष से कश्यप और समुद्र के भी पुत्र-रूप में प्रकट हुए, वैसे ही सभी देवता अनादि हैं और वेद की मंत्रमयी मूर्त्ति भी अनादि है ही, इसी से गणेशजी भी अनादि हैं।

जसि बिबाह कै बिधि श्रुति गाई। महामुनिन्ह सो सब करवाई॥१॥
गहि गिरीस कुस कन्या पानी। भवहि समरपी जानि भवानी॥२॥
पानिग्रहन जब कीन्ह महेसा। हिय हरषे तब सकल सुरेसा॥३॥
बेदमंत्र मुनिवर उच्चरहीं। जय जय जय संकर सुर करहीं॥४॥

अर्थ—वेदों में जिस प्रकार विवाह की विधि कही हुई है, वह सब महामुनियों ने करवाई ॥१। गिरिराज हिमाचल ने हाथ में कुश, कन्या का हाथ और जल लेकर, कन्या को भवानी (भव-पत्नी) जानकर भव (शिवजी) को समर्पित कर दिया ॥२॥ जब महादेव ने पाणिग्रहण कर लिया, तब सभी सुरेश (लोक-पाल) हृदय में प्रसन्न हुए ॥३॥ श्रेष्ठ मुनि लोग वेदमंत्र (स्वस्ति-वचन आदि) का उच्चारण कर रहे हैं; देवता "जय जय जय शंकर" (की ध्वनि) करने लगे ॥४॥

विशेष—'गहि गिरीस कुस···'—इसमें 'पानी' शब्द अंत में देकर उसका 'गिरीस' 'कुश' और 'कन्या' तीनों के साथ होना सूचित किया है। पुनः 'पानी' शब्द श्लेषार्थक भी है, इसके अर्थ 'हाथ' और 'जल' दोनों हैं।

'समरपी जानि भवानी'—यहाँ कन्यादान करना नहीं है, क्योंकि गिरीश इनकी महिमा जान चुके हैं। अतः, भवानी अर्थात् भव-पत्नी जानकर भव की वस्तु भव को समर्पित किया है कि ये तो आपकी सदा अर्द्धांगनिवासिनी हैं ही, हमारे यहाँ कुछ काल आकर धरोहर की तरह रहीं; अब मैं आपकी वस्तु आपको सौंपता हूँ।

'हिय हरषे तब···'—पाणि-ग्रहण होने पर तारकासुर के वध का निश्चय हो गया इससे देवताओं को पूर्ण हर्ष हुआ। इससे प्रथम गिरिजा के सती-शरीर से हुए अपराध, एवं अपने द्वारा काम भेज कर की हुई अवज्ञा और शिवजी के प्रबल वैराग्य के कारण संदेह था।

'जय जय जय···'—यहाँ 'जय' शब्द में आदर की वीप्सा है। यथा—"आदर अचरज आदि हित, एक शब्द बहु बार। ताही वीप्सा कहत हैं, जे सुबुद्धि भंडार॥" (अलंकार मं०)। यह भी भाव लिया जाता है कि तीन बार मन, वचन, कर्म से एवं शिवजी की कालत्रय की जय के लिये कहा तथा तीन बहुवचन है। अतः, अनंत बार जय की भी सूचना दी।

बाजहिं बाजन बिबिध बिधाना। सुमनबृष्टि नभ भइ बिधि नाना॥५॥
हर गिरिजा कर भयेउ बिबाहू। सकल भुवन भरि रहा उछाहू॥६॥
दासी दास तुरग रथ नागा। धेनु बसन मनि बस्तु बिभागा॥७॥
अन्न कनक-भाजन भरि जाना। दाइज दीन्ह न जाइ बखाना॥८॥

अर्थ—तरह-तरह से बाजे बजने लगे, आकाश से नाना प्रकार के फूलों की वर्षा होने लगी ॥५॥ शिव-पार्वती का विवाह हुआ, सब भुवनों (लोकों) में भरपूर उत्साह छा गया ॥६॥ दासी, दास, घोड़े, रथ, हाथी, गायें, वस्त्र और मणि आदि बहुत प्रकार की चीजें ॥७॥ अन्न और सुवर्ण के पात्र—रथों में भर-भरकर इतने पदार्थ दहेज में दिये कि उनका वर्णन नहीं हो सकता ॥८॥

विशेष—(१) 'बाजहिं बाजन···' यथा—"झाँझि मृदंग संख सहनाई। भेरि ढोल दुंदुभी सुहाई॥ बाजहिं बहु बाजने सुहाये।" (दो० ३१२)। 'बृष्टि'—मघा की सी झड़ी।

(२) 'हर गिरिजा···'—हर देवताओं के दुःख हरनेवाले और गिरिजा परोपकारिणी हैं। यथा—"संत बिटप सरिता गिरि-धरनी। परहित हेतु सबन्हि की करनी॥" (उ० दो० १२४)।

यहाँ सेन्दुर-दान, कोहबर एवं भाँवरी आदि रीतियाँ नहीं हुईं। इससे जान पड़ता है कि देव-लोक में ये रीतियाँ नहीं होतीं। पाणि-ग्रहण मात्र ही होता है।

(३) 'दासी दास तुरग रथ नागा।'''—ये दासी वे हैं जो गिरिजा के शुचि सेवक हैं। यथा—"दासी दास दिये बहुतेरे। सुचि सेवक जे प्रिय सिय केरे॥" (दो० ३३८) तथा—"दाइज बसन मनि धेनु धन हय गय सुसेवक सेवकी। दीन्हीं मुदित गिरिराज जे गिरिजहि पियारी पेव की॥" (पार्वतीमंगल १४७)। 'रथ' को 'तुरग' और 'नागा' के बीच में देने से यह भी भाव है कि घोड़े और हाथी जुते रथ दिये और अलग से हाथी-घोड़े भी दिये।

छंद—दाइज दियो बहु भाँति पुनि कर जोरि हिमभूधर कह्यौ।
का देउँ पूरनकाम संकर चरनपंकज गहि रह्यौ॥
सिव कृपासागर ससुर कर संतोष सब भाँतिहि कियो।
पुनि गहे पद - पाथोज मैना प्रेमपरिपूरन हियो॥

दोहा—नाथ उमा मम प्रान सम, गृहकिंकरी करेहु।
छमेहु सकल अपराध अब, होइ प्रसन्न बर देहु॥१०१॥

शब्दार्थ—भूधर = पर्वत। पूरनकाम (पूर्णकाम) = सदा तृप्त एवं औरों की भी कामना पूर्ण करनेवाले। पाथोज = कमल। प्रानसम = प्राणों के समान (प्रिय)। 'सम' का पाठांतर 'प्रिय' भी है।

अर्थ—हिमाचल ने बहुत प्रकार के दहेज दिये, फिर हाथ जोड़कर कहा कि हे शंकर! आप तो पूर्णकाम हैं। मैं आपको क्या देने के योग्य हूँ? और चरणकमलों को पकड़कर रह गये॥ कृपा के समुद्र शिवजी ने सब तरह से श्वशुर को सन्तुष्ट किया। फिर मैनाजी ने (शिवजी के) चरण-कमल पकड़ लिये, उनका हृदय प्रेम से परिपूर्ण है॥ (वे बोलीं) हे नाथ! उमा मुझे प्राणों के समान (प्रिय) है, इसे अपने गृह की टहलनी बनाइयेगा और अब उसके सब अपराधों को क्षमा कीजियेगा, प्रसन्न होकर यही वर (मुझे) दीजिये॥१०१॥

विशेष—'कर जोरि हिम'''—देने के साथ विनय करने की रीति है अन्यथा अभिमान पाया जाता है।

'गृहकिंकरी करेहु'''—पूर्व 'अकुल अगेह' सुन चुकी हैं। अतः, कहती हैं, अब इससे घर की ही सेवा कराइयेगा अर्थात् घर बनाकर रहियेगा। भाव—पूर्व में सती को अकेली बाहर न छोड़ते तो उसकी यह दशा न होती। अतः, यह मर्यादा से बाहर न जाने पावे।

'छमेहु सकल अपराध''' अपराधों के लिये सती को माफी नहीं दी, पर अब इसके अपराधों को क्षमा कीजियेगा, यह मुझे वर मिले। 'सकल' में यह भी ध्वनि है कि अब सती-शरीर के भी इसके अपराध और जो मैं आपका परिछन न करके भाग गई थी, वह अपराध भी क्षमा कीजियेगा; इत्यादि।

मैनाजी ने मन, वचन, कर्म से विनय की—'प्रेम परिपूरन हियो' से मन, 'गहे पद' से कर्म और 'नाथ उमा मम''' आदि से वचन से विनय जानना चाहिये।

बहु बिधि संभु सासु समुझाई। गवनी भवन चरन सिर नाई ॥१॥
जननी उमा बोलि तब लीन्ही। लै उछंग सुंदर सिख दीन्ही ॥२॥
करेहु सदा संकर-पद-पूजा। नारिधरम पतिदेव न दूजा ॥३॥
बचन कहत भरे लोचन बारी। बहुरि लाइ उर लीन्हि कुमारी ॥४॥
कत बिधि सृजीं नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं ॥५॥

अर्थ—शिवजी ने सास को बहुत तरह से समझाया, (तब) वे चरणों में माथा नवाकर घर को गईं ॥१॥ तब माता ने उमा को बुला लिया और उछंग (उत्संग=गोद) में लेकर सुन्दर शिक्षा दी ॥२॥ (कि) शिवजी के चरणों की सदा पूजा करना, (क्योंकि) स्त्रियों के धर्म में पति ही देवता है, दूसरा नहीं ॥३॥ यह वचन कहते हुए नेत्रों में जल भर आया, तब कन्या को फिर हृदय से लगा लिया ॥४॥ (और कहने लगीं) विधाता ने जगत् में स्त्री को क्यों बनाया ? पराधीन को तो स्वप्न में भी सुख नहीं मिलता ॥५॥

विशेष—(१) 'बहु बिधि संभु···'—हम इस (उमा) पर कभी अप्रसन्न न होंगे, आप जो डर गई थीं और परिछन न कर सकीं, वह तो हमारे उस वेष के कारण था, इसमें आपका कोई दोष नहीं, वह वेष भी हम भगवान् की आज्ञा से असुरों को मोहने के लिये बनाये रहते हैं। आपके बड़े भाग्य हैं कि सब देवताओं ने आकर दर्शन दिये और भोजन किया, इत्यादि।

(२) 'नारि धरम पतिदेव··' यथा—"एकै धर्म एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पति-पद प्रेमा ॥" (आ० दो० ४) अर्थात् स्त्री का पूज्य देवता पति ही है, दूसरा नहीं।

(३) 'लाइ उर लीन्हि'—वचन कहते हुए, वात्सल्य से करुणा उमड़ पड़ी। अतः, फिर हृदय में लगा लिया। भाव यह कि तनु से तो जाती हो, पर इस हृदय से न जाना।

(४) 'पराधीन सपनेहु···'—स्त्रियाँ बाल-अवस्था में पिता के, युवावस्था में पति के और वृद्धावस्था में पुत्र के अधीन रहती हैं, क्योंकि इनका स्वतंत्र रहना हानिकर है। यथा—"पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने। पुत्रस्तु स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥" (विदुरनीति)। तथा—"जिमि स्वतंत्र भये बिगरहिं नारी।" (कि० दो० १५)। पराधीन व्यक्ति मरे हुए की तरह कहे गये हैं, यथा—"ये पराधीनतां यातास्ते वै जीवन्तके मृताः।" (हितोपदेश)।

भइ अति प्रेमबिकल महतारी। धीरज कीन्ह कुसमय बिचारी ॥६॥
पुनि-पुनि मिलति परति गहि चरना। परम प्रेम कछु जाइ न बरना ॥७॥
सब नारिन्ह मिलि भेंटि भवानी। जाइ जननि-उर पुनि लपटानी ॥८॥

छंद—जननिहिं बहुरि मिलि चलीं उचित असीस सब काहू दईं।
फिरि फिरि बिलोकति मातुतनु तब सखी लै सिव पहिं गईं ॥

जाचक सकल संतोषि संकर उमा-सहित भवन चले।
सब अमर हरषे सुमन बरषि निसान नभ बाजे भले॥

दोहा—चले संग हिमवंत तब, पहुँचावन अति हेतु।
बिबिध भाँति परितोष करि, बिदा कीन्ह बृषकेतु॥१०२॥

शब्दार्थ—कुसमय=इस समय करुणा करने से कन्या और भी दुखी होगी, बिदाई का समय है। भेंटि=हृदय से लगाकर मिलना भेंटना है। संतोषि=उन्हें फिर किसी पदार्थ की इच्छा नहीं रही।

अर्थ—माता अत्यंत प्रेम से व्याकुल हो गईं, फिर कुसमय समझकर धैर्य धारण किया॥६॥ बार-बार मिलती हैं और चरणों को पकड़कर उनपर गिर पड़ती हैं, परम प्रेम है। अतः, कुछ कहा नहीं जा सकता॥७॥ भवानी सब स्त्रियों से मिल-भेंटकर, फिर माता के हृदय से जा लिपटीं॥८॥ माता से फिर मिलकर चलीं, सब किसी ने इन्हें यथायोग्य असीस दी। वे फिर-फिरकर माता की ओर देखती थीं कि सखियाँ उनको शिवजी के पास ले गईं॥ सब याचकों को संतुष्ट करके शिवजी उमा के साथ अपने घर (कैलाश) को चले। सब देवता फूल बरसाकर प्रसन्न हुए और आकाश में भली भाँति नगाड़े बजाये॥ तब हिमाचल, अत्यन्त प्रेम से पहुँचाने के लिये साथ चले। वृषकेतु (शिवजी) ने बहुत तरह से परितोष करके उनको विदा किया॥१०२॥

विशेष—'मिलति परति गहि चरना'—(माताजी) माधुर्य भाव में वात्सल्य के कारण मिलती हैं और (पुत्री के) ऐश्वर्य की स्मृति होते ही चरणों पर पड़ती हैं।

'फिरि फिरि बिलोकति···'—यह लोक रीति है कि विदा होते समय कन्या पीछे लौट-लौटकर देखती है, अन्यथा लोग कहने लगते हैं कि यह तो मानों पति को पहले से ही पहचानती थी!

'जाचक सकल···'—यहाँ दायज में जो मिले थे उन्हें वहीं पर याचकों को दे डाला।

'बिदा कीन्ह बृषकेतु'—आप धर्म की ध्वजा हैं, श्वशुर के प्रति जिस प्रकार उचित व्यवहार है, उस प्रकार से उन्हें संतुष्ट किया, क्योंकि यह भी धर्म है।

तुरत भवन आये गिरिराई। सकल सैल सर लिये बोलाई॥१॥
आदर दान बिनय बहु माना। सब कर बिदा कीन्ह हिमवाना॥२॥
जबहिं संभु कैलासहिं आये। सुर सब निज-निज लोक सिधाये॥३॥

अर्थ—हिमवान तुरत ही घर लौट आये, और सब (स्वेच्छा रूपधारी) पर्वतों और तालाबों को बुला लिया॥१॥ बहुत आदर, दान, विनय और सम्मान के साथ हिमाचल ने सबकी विदाई की॥२॥ (यहाँ) शिवजी जब कैलाश पहुँचे, तब सब देवता अपने-अपने लोकों को चले गये॥३॥

विशेष—(१) 'सकल सैल सर लिये···'—पूर्व दो० ९३ में कहा है—"सैल सकल जहँ लगि जग माहीं। लघु बिसाल नहिं बरनि सिराहीं॥ बन सागर सब नदी तलावा हिमगिरि सब कहँ नेवत पठावा॥" इस प्रकार बहुत को नेवता देकर बुलाना कहा है और यहाँ विदाई के समय 'सैल-सर' दो ही कहे गये। यह काव्य-चमत्कार है कि पूर्व नेवता के समय आदि में 'सैल' और अंत में 'तलावा' कहे गये हैं, उन्हीं दो को कहकर प्रत्याहार (आदि-अन्त को कहकर बीच के सबको कह देने की रीति) से सबको सूचित किया।

(२) 'आदर दान विनय बहु माना।'—जिनकी लड़कियाँ हिमवान् के यहाँ ब्याही हैं, वे यहाँ से द्रव्य आदि नहीं ले सकते, उनका आदर किया। ब्राह्मणों और छोटों को दान, मुनियों से विनय और जो मान्य हैं, जिनके यहाँ अपने घर की कन्याएँ ब्याही हैं, उनका मान किया, इन भेदों से सबकी विदाई की।

हिमाचल ने नेवता देकर बुलवाया था। अतः, इनका विदा करना भी कहा गया है। शिवजी के यहाँ देवगण स्वयं आये थे, वैसे उनका स्वयं जाना भी कहा गया।

जगत - मातुपितु संभु - भवानी।। तेहिं सिंगार न कहउँ बखानी ॥४॥
करहिं विविध बिधि भोग-बिलासा। गनन्ह समेत बसहिं कैलासा ॥५॥
हर-गिरिजा - बिहार नित नयेऊ। येहि बिधि बिपुल काल चलि गयेऊ॥६॥
तब जनमेउ षटबदन कुमारा। तारक असुर समर जेहिं मारा ॥७॥
आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। षण्मुख-जनम सकल जग जाना ॥८॥

शब्दार्थ—सिंगार = शृंगार = दंपती की नख-शिख-शोभा और भोग चेष्टा का उद्दीपक वर्णन। भोग-बिलासा = आमोद-प्रमोद, रति-क्रीड़ा। विहार = रति-क्रीड़ा, सभोग, टहलना आदि। बिपुल = बहुत, देवताओं के सौ वर्षों तक। यथा—"दृष्ट्वा च भगवान्देवीं मैथुनायोपचक्रमे। तस्य संक्रीडमानस्य महादेवस्य धीमतः। शितिकण्ठस्य देवस्य दिव्यं वर्षशतं गतम् ॥" (वाल्मी० बा० स० ३६।६)।

अर्थ—श्रीशिव-पार्वतीजी जगत् के पिता-माता हैं, इस कारण उनका शृंगार बखान कर नहीं कहता ॥४॥ वे अनेक प्रकार से भोग विलास करते हैं और गणों के सहित कैलाश पर बसते हैं ॥५॥ शिव-पार्वतीजी के विहार नित्य नये थे, इस प्रकार बहुत समय (दिव्य सौ वर्ष) बीत गये ॥६॥ तब षट्-वदन (स्वामिकार्तिक) कुमार का जन्म हुआ, जिन्होंने युद्ध में तारकासुर को मारा ॥७॥ शास्त्रों, वेदों और पुराणों में षडानन का जन्म प्रसिद्ध है और उसे सारा संसार जानता है ॥८॥

विशेष—'षण्मुख जनम सकल जग जाना'—श्रीमद्वाल्मीकीय, बा० सर्ग ३६–३७ में इनकी कथा है। इनका जन्म होने पर कृत्तिका ने इनका पालन किया, इससे शिवजी के पुत्र का नाम कार्तिकेय पड़ा। कृत्तिका में छः तारायें थीं। अतः, बालक ने छः मुख धारण कर छओं का दूध पिया, तब से षडानन नाम हुआ। गंगाजी और अग्नि के धारण करने से ये गांगेय, अग्निभू तथा स्कंद भी कहे जाते हैं। इन्द्र की सेना के सेनापति होकर इन्होंने तारकासुर से युद्ध करके उसे मारा है, इसीसे सेनानी भी कहे गये। इनकी कथायें महाभारत, शिवपुराण, ब्रह्मवैवर्त (गणेशखंड), स्कंदपुराण और मत्स्यपुराण (अ० १४८–१६०) में भी हैं।

छंद—जग जान षण्मुख जनम करम प्रताप पुरुषारथ महा।
तेहि हेतु मैं वृषकेतु-सुत कर चरित संछेपहिं कहा ॥
यह उमा-संभु-बिबाह जे नर-नारि कहहिं जे गावहीं।
कल्यान काज बिबाह मंगल सर्वदा सुख पावहीं ॥

दोहा—चरितसिंधु गिरिजारमन, बेद न पावहिं पार ।
बरनइ तुलसीदास किमि, अति मतिमंद गँवार ॥१०३॥

अर्थ—षडानन के जन्म, कर्म, प्रताप और महापुरुषार्थ को संसार जानता है। इस कारण मैंने धर्मध्वज (शिवजी) के पुत्र का चरित थोड़े ही में कहा है ॥ जो स्त्री-पुरुष इस उमा-शंभु के विवाह (की कथा) को कहेंगे या गावेंगे वे कल्याण-कार्य और विवाह-मंगल में सदा ही सुख पावेंगे। श्रीउमा-रमण शिवजी के चरित-समुद्र का पार वेद भी नहीं पाते, तो अत्यन्त मंदबुद्धि और गँवार मैं तुलसीदास उसका वर्णन कैसे कर सकता हूँ ? ॥१०३॥

विशेष—(१) 'जग जान षन्मुख जनम···'—षडानन कार्त्तिक के कर्म, प्रताप और पुरुषार्थ तारकासुर के वध-चरित से ही स्पष्ट हैं। 'वृषकेतु सुत'—तारक-वध से फिर धर्म का प्रचार हुआ। अतः, यह नाम साभिप्राय है।

(२) 'कल्यान काज···'—जो धन, धाम आदि कल्याण के लक्ष्य से गावेगा, उसका कल्याण होगा। जो विवाह आदि मंगल कार्य के निमित्त गावेगा, उसे उसमें मंगल होगा और जो निष्काम गावेंगे, उन्हें सदा सुख मिलेगा। यहाँ इस प्रसंग की फलश्रुति कही गई है।

इस विवाह-प्रसंग में दो० ९२ से यहाँ तक प्रत्येक दोहे के साथ छन्द दिया गया है। अतः, कुल ११ छन्द हैं। रुद्र भी ११ हैं। भाव यह कि इस प्रसंग को छन्दों की रुद्री से भूषित कर परम मांगलिक बना दिया है, इसी लक्ष्य से फलश्रुति भी दी गई है।

(३) 'चरितसिंधु···'—अपार होने से सिंधु कहा। सिंधु अपार होते हैं; इससे 'वेद न पावहिं पार' कहा, तो मैं कैसे कह सकता हूँ ?

शिव-महिम्नस्तोत्र के—'असित गिरि समं···' इस प्रसिद्ध श्लोक में यह अपारता स्पष्ट है।

संभुचरित सुनि सरस सुहावा। भरद्वाज मुनि अति सुख पावा ॥१॥

अर्थ—श्रीशिवजी का सुहावन, सरस (रसीला एवं नवों रस पूर्ण) चरित सुनकर श्री भरद्वाज मुनि ने अत्यन्त सुख पाया।

विशेष—शंभु-चरित का उपक्रम—"सुनहु संभु कर चरित सुहावा।" (दो० ७४) पर है और यहाँ—"संभुचरित सुनि सरस सुहावा।" पर उपसंहार हुआ है।

'सरस'—शंभुचरित नवों रसों से पूर्ण है। यथा—
शृंगार—"छबिखानि मातु भवानि···" (दो० ९९)।
हास्य—"देखि सिवहिं सुरतिय मुसुकाहीं। बरलायक दुलहिनि जग नाहीं॥" (दो० ९१)।
करुणा—"रोदति बदति बहु भाँति करुना करति संकर पहिं गईं।" (दो० ८९)
रौद्र—"भयेउ कोप कंपेउ त्रय लोका।" (दो० ८६)।
वीर—"छाड़े बिषम बिसिष उर लागे।" (दो० ८६)।
भयानक—"अवढन्द उर भय भयेउ बिसेखा।" (दो० ९५)।
बीभत्स—"भूषन कराल कपाल कर सब सद्य सोनित तनुभरे।" (दो० ९२)।

अद्भुत—"अजा अनादि सक्ति अविनासिनि।"···से—"नाम सती···" (दो० ६७) तक।
शान्त—"मन थिर करि तब संभु सुजाना। लगे करन रघुनायक-ध्याना॥" (दो० ८१)।
भक्ति के पंच-रस भी इसमें आ गये हैं जिनमें शृंगार और शांत के लक्षण ऊपर कहे गये।
वात्सल्य—"लै उछंग सुंदर सिख दीन्हीं।···" (दो० १०१)
सख्य—"अति प्रिय बचन सुनत प्रिय केरे।" (दो० ९२)।
दास्य—"सिव-अनुसासन सुनि सब आये।" (दो० ९२)।
'अति सुख पावा'—श्रेष्ठ वक्ताओं की कथा से ऐसा ही सुख होता है, यथा—"हरि-चरित्र मानस तुम्ह गावा। सुनि मैं नाथ अमित सुख पावा॥" (उ० दो० ५२); इत्यादि।

उमा-शंभु-विवाह-प्रकरण समाप्त

कैलास-प्रकरण

बहु लालसा कथा पर बाढ़ी। नयनन्हि नीर रोमावलि ठाढ़ी॥२॥
प्रेम-बिबस मुख आव न बानी। दसा देखि हरषे मुनि ज्ञानी॥३॥

अर्थ—कथा सुनने पर भरद्वाज मुनि की लालसा बहुत बढ़ी, आँखों में आँसू भर आये और रोमावली खड़ी हो गई॥२॥ (ऐसे) प्रेम के विवश हो गये कि मुख से बात नहीं निकलती, यह दशा देखकर ज्ञानी मुनि याज्ञवल्क्यजी प्रसन्न हुए॥३॥

विशेष—(१) 'बहु लालसा···'—ऊपर कहा गया है कि—"भरद्वाज मुनि अति सुख पावा।" क्योंकि कथा सरस और सुहावनी थी और मुनि की कथन शैली भी उत्तम थी, इसीसे और कथा सुनने के लिये भी अति लालसा बढ़ी।

(२) 'दसा देखि हरषे·······'—याज्ञवल्क्य मुनि सरस ज्ञानी हैं, अतः, प्रेम की दशा देखकर प्रसन्न हुए। ज्ञान की शोभा यही है, यथा—"सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू।" (अ० दो० २७७)।

श्रीभरद्वाजजी के मन, वचन और कर्म तीनों कथा-प्रेम में निमग्न हुए—

'अति सुख पावा' और—'बहुत लालसा ·····'—से मन, 'नयनन्हि नीर रोमावलि ठाढ़ी।' से तनु एवं कर्म और—'प्रेम-बिबस मुख आव न बानी।' से वचन स्पष्ट है।

'आव न बानी'—कृतज्ञता प्रकट करने की उत्कट इच्छा है, पर वाणी ही प्रेम में गद्‌गद हो गई।

अहो धन्य तव जनम मुनीसा। तुम्हहिं प्रान सम प्रिय गौरीसा॥४॥
सिव-पद-कमल जिन्हहिं रति नाहीं। रामहिं ते सपनेहुँ न सुहाहीं॥५॥
बिनु छल बिस्वनाथ-पद-नेहू। रामभगत कर लच्छन एहू॥६॥

अर्थ—(याज्ञवल्क्यजी बोले कि) अहो! मुनीश्वर! तुम्हारा जन्म धन्य है, (क्योंकि) तुम्हें गौरी-पति (श्रीशिवजी) प्राणों के तुल्य प्रिय हैं॥४॥ श्रीशिवजी के चरण कमलों में जिनकी प्रीति नहीं है, वे श्रीरामजी को स्वप्न में भी नहीं सुहाते॥५॥ संसार के स्वामी श्रीशिवजी के चरणों में निष्कपट प्रेम होना—श्रीराम-भक्त का यही लक्षण है॥६॥

विशेष—(१) 'अहो धन्य……'—प्रथम याज्ञवल्क्यजी इनकी राम-भक्ति कह चुके हैं। यथा—"राम-भगत तुम्ह मन क्रम बानी।" (दो० ४६); परन्तु भागवत-निष्ठा नहीं देखी थी। इसके विना केवल भगवद्भक्त दंभी कहे गये हैं। यथा—"अर्चयित्वा तु गोविन्दं तदीयान्नार्चयन्ति ये। न ते रामप्रसादस्य भाजनो दाम्भिका जनाः।" (आर्ष वाक्य) तथा—"आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्। तस्मात्परतरं देवि तदीयाराधनं स्मृतम्॥" (वाराह पु०)। शिवजी परम भागवत हैं। यथा—"निम्नगानां यथा गंगा देवानामच्युतो यथा। वैष्णवानां यथा शंभुः पुराणानामिदं तथा॥" (श्रीमद्भागवत १२।१३।१६)। यहाँ, भरद्वाजजी की भागवत-निष्ठा भी देखी तब प्रशंसा करने लगे।

(२) 'सिव-पद-कमल……' यथा—"सिव-द्रोही मम दास कहावा। सो नर सपनेहु मोहिं न पावा॥" (लं० दो० २)।

(३) 'बिनु छल बिस्व ……'—किसी कामना से सेवा करते हुए उपासक कहाना छल है, क्योंकि उसका इष्ट तो अपना स्वार्थ ही है, यथा—"स्वारथ छल फल चारि बिहाई।" (अ० दो० ३००); अर्थात् चार फलों तक का स्वार्थ छल ही है, इसीलिये कहा है कि—"स्वामि-धरम स्वारथहिं बिरोधू।" (अ० दो० २६२)। अतः, 'बिनु छल'=निस्स्वार्थ=निष्काम, यथा—"होइ अकाम जो छल तजि सेइहि। भगति मोरि तेहि संकर देइहि॥" (लं० दो० ३)।

सिव-सम को रघुपति-ब्रत-धारी। बिनु अघ तजी सती असि नारी॥७॥
पन करि रघुपतिभगति देखाई। को सिव सम रामहिं प्रिय भाई॥८॥

अर्थ—शिवजी के समान रघुपति (-भक्ति का) व्रत धारण करनेवाला कौन है (जिन्होंने) विना पाप के ही सती ऐसी स्त्री को त्याग दिया? ॥७॥ प्रतिज्ञा करके श्रीरघुनाथजी की भक्ति दिखा दी है। हे भाई! शिवजी के समान श्रीरामजी का प्यारा कौन है? ॥८॥

विशेष—(१) 'बिनु अघ तजी सती……'—शिवजी ने श्रीराम-भक्ति का उज्ज्वल स्वरूप दिखाने के लिये ही सती का त्याग किया है। यथा—"जौं अब करउँ सती सन प्रीती। मिटइ भगति-पथ होइ अनीती॥" (दो० ५५) तथा—"पन करि रघुपति-भगति देखाई।" यहाँ भी कहा है। यहाँ भक्ति-व्रत की रक्षा के लिये शिवजी के त्याग की प्रशंसा कर रहे हैं। अतः, 'बिनु अघ' का निष्पाप ही अर्थ है, क्योंकि पाप-कर्म से तो सभी त्याग करते हैं, जैसे परम सुन्दरी अहल्या को भी पाप कर्म पर गौतम ने त्याग दिया तो उनकी कुछ प्रशंसा नहीं है।

शंका—"मैं जो कीन्ह रघुपति-अपमाना। पुनि पति-बचन मृषा करि जाना॥" (दो० ५८); "प्रगट न कहेउ मोर अपराधा।"…"निज अघ समुझि न कछु कहि जाई। (दो० ५७); "सिव-वेष सती जो कीन्ह तेहि अपराध संकर परिहरी॥" (दो० ६८); इत्यादि से तो सतीजी के पाप पाये जाते हैं, फिर वे 'बिनु अघ' कैसे सिद्ध होंगी?

समाधान—जो कर्म पाप के उद्देश्य से किया जाता है, वही उसका पाप कहावा है, यथा—"यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥" (गीता १७।३)। सतीजी ने प्रभु को जानने के लिये ही परीक्षार्थ सीता-रूप धारण किया था; न कि पाप-बुद्धि से। कहा भी है—"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥ प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।" (उ० दो० ८८)

अर्थात् प्रभु को जाने विना प्रतीति नहीं होती, विना प्रतीति के प्रीति नहीं और उसके विना भक्ति दृढ़ नहीं होती। भक्ति-दृढ़ता में गोपियों का काममोहित होकर प्रेम करना भी उत्तम ही माना गया है। यथा—"काममोहित गोपिकन्ह पर कृपा अतुलित कीन्ह। जगत पिता बिरंचि जिन्ह के चरन को रज लीन्ह ॥" (वि० २१४)। यज्ञ में वैदिक-विधान कर्त्ता प्रधान पंडित ब्रह्मा बनाया जाता है, यज्ञ पूर्णता के पीछे फिर उसे ब्रह्मा नहीं कहते। श्रीराम-कृष्ण के लीलानुकरण में आज दिन भी लड़के श्रीराम-कृष्ण के रूप बनते हैं, फिर भी वे नित्य के लिये उस भाव में नहीं माने जाते, अन्यथा उनके माता-पिता उन्हें दंड दें, तो लोक-वेद से उन्हें दोष लगे, वैसे ही भगवत्-सम्मुखता के लिये सती का सीता-रूप धारण करना पाप नहीं है। यह स्मृतिकार याज्ञवल्क्यजी की सम्मति है। इसे सामान्य धर्म की दृष्टि कहते हैं। इसी दृष्टि से कहा गया है कि—"परम पुनीत न जाइ तजि" (दो० ५६) एवं यहाँ भी—'सती असि नारी' कहा है।

श्रीशिवजी की दृष्टि विशेष धर्म पर है, इसी से साथ ही वे यह भी कहते हैं—'किये प्रेम बड़ पाप' (दो० ५६)। जैसे गीता अ० १।३६ में अर्जुन ने आततायी के मारने में भी पाप माना है, यद्यपि मनुस्मृति (८।३५०-५१) में आततायी के वध पर पाप न होना ही कहा है। इसका भी यही समाधान होता है कि स्मार्त्त धर्म सामान्य है, उसकी अपेक्षा भागवत धर्म विशेष है, अत: वह बलवान् है, इसमें तो 'जो तोकूँ काँटा बुवै, ताहि बोइ तू फूल' कहा गया है, और सामान्य धर्म में 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' कहा जाता है।

भागवत धर्म की गति बड़ी सूक्ष्म है। शिवजी ने सीता का रूप धारण करने से सतीजी में मातृ-बुद्धि कर ली थी। असली माता की अपेक्षा वह विशेष होती है जिसमें मातृबुद्धि मानी जाती है जैसे, लक्ष्मणजी सुमित्राजी की गोद में भी बैठ सकते थे, पर सीताजी में उन्होंने मातृ-भाव माना था, अतः चरण-मात्र ही देख सकते थे। इसी विशेष धर्म की दृष्टि से शिवजी ने सती में पत्नीत्व भाव का त्याग किया था। सती का सीता रूप धारण करना उच भागवत धर्म की दृष्टि से अपराध है। इसी दृष्टि को लेकर उपर्युक्त शंका में कही हुई बातें हैं। शिवजी ने राम-भक्ति को अमल एवं परम शुद्ध रखने का मत दिखाया है। यदि कहा जाय कि पति से झूठ बोलना तो पाप हुआ ही है तो इसे शिवजी ने राम माया का छल माना है। यथा—"बहुरि राम मायहि सिर नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा ॥" (दो० ५५)।

दोहा—प्रथमहिं मैं कहि सिवचरित, बूझा मरम तुम्हार।
सुचि सेवक तुम्ह राम के, रहित समस्त बिकार ॥१०४॥

अर्थ—मैंने पहले शिवजी का चरित कहकर तुम्हारा भेद समझ लिया कि तुम श्रीरामजी के सम्पूर्ण दोषों से रहित पवित्र सेवक हो।

विशेष—'सुचि सेवक ···' श्रीरामजी और शिवजी में भेद-बुद्धि रखना विकार है। शिवजी के चरित में भी तुम्हें श्रीरामचरित की तरह प्रेम है, क्योंकि रामचरित के प्रश्न पर मैंने शिवचरित कहा, पर तुमने टोका भी नहीं कि दूसरा क्यों कहते हैं? यह कहाँ का राग अलाप रहे हैं? इसीसे तुम श्रीरामजी के शुचि सेवक हो। शिवजी परम भागवत हैं, इनका द्रोही श्रीरामप्रिय नहीं हो सकता।

मैं जाना तुम्हार गुन-सीला। कहउँ सुनहु अब रघुपति-लीला ॥१॥
सुनु मुनि आजु समागम तोरें। कहि न जाइ जस सुख मन मोरें ॥२॥

अर्थ—मैंने तुम्हारा गुण और शील जान लिया; अब मैं श्रीरघुनाथजी का चरित्र कहता हूँ, सुनो ॥१॥ हे मुनि! सुनो, आज तुम्हारे समागम (सत्संग) से जैसा आनन्द मेरे मन में हुआ, वह कहा नहीं जा सकता ॥२॥

विशेष—(१) 'मैं जाना तुम्हार…'—उत्तम वक्ताओं की रीति है कि वे अधिकारी पाकर सब कथा कहते हैं। श्रोता के लक्षण—"श्रोता सुमति सुसील सुचि, कथारसिक हरिदास। पाइ उमा अति गोप्यमपि, सज्जन करहिं प्रकास ॥" (उ० दो० ६९)। इसमें 'सुमति, सुशील, शुचि, कथारसिक और हरिदास' होना—ये पाँच लक्षण कहे गये हैं। इन (भरद्वाजजी) में पाँचो की जाँच कर चुके। अब कथा कहेंगे। क्रमशः उदाहरण—"चतुराई तुम्हारि मैं जानी।" (दो० ४६); इसमें 'सुमति' जान ली। "मैं जाना तुम्हार गुन-सीला।" "सुचि सेवक तुम्ह राम के।" "बहु लालसा कथा पर बाढ़ी।" "रामभगत तुम्ह मन क्रम बानी।" (दो० ४६)। 'अब'—प्रथम श्रीराम-चरित का प्रारंभ किया, यथा—"कहउँ राम कै कथा सुहाई।" (दो० ४६) और कहने लगे शिव-चरित, इसीसे—'अब रघुपति-लीला' सुनो, ऐसा कहा।

(२) 'सुनु मुनि आजु समागम…'—'आजु' अर्थात्—"भरद्वाज राखे पद टेकी।" (दो० ४४) से यहाँ तक का सम्पूर्ण शिवचरित एक ही दिन में कहा गया। 'समागम' से 'सुख' होता है, यथा—"संत-मिलन सम सुख जग नाहीं।" (उ० दो० १२०)।

रामचरित अति अमित मुनीसा। कहि न सकहिं सतकोटि अहीसा ॥३॥
तदपि जथाश्रुत कहउँ बखानी। सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी ॥४॥

अर्थ—हे मुनीश्वर! रामचरित अत्यन्त अपरिमित है, सौ करोड़ शेष भी उसे नहीं कह सकते ॥३॥ तो भी जैसा मैंने सुना है, वह वाणी के स्वामी धनुषधारी प्रभु श्रीरामजी का स्मरण करके बखान (विस्तार) कर कहता हूँ ॥४॥

विशेष—(१) 'रामचरित अति अमित…' यथा—"जल-सीकर महिरज गनि जाहीं। रघुपति-चरित न बरनि सिराहीं ॥" (उ० दो० ५१)।

(२) 'तदपि जथाश्रुत…'—यही श्रेष्ठ वक्ताओं की रीति है कि वे पूर्व वक्ताओं से सुनी हुई ही कथा कहते हैं। यथा—"मैं पुनि निज गुरु सन सुनी।" (दो० ३०)—गोस्वामीजी; "तदपि जथाश्रुत जसि मति मोरी।" (दो० ११२)—शिवजी; "संतन्ह सन जस कछु सुनेउँ, तुम्हहि सुनायेउँ सोइ।" (उ० दो० ९२)—भुशुंडीजी। ऐसे ही यहाँ पर याज्ञवल्क्यजी भी 'जथाश्रुत…' कह रहे हैं अर्थात् इस ग्रंथ के चारों वक्ताओं की एक रीति है।

(३) 'सुमिरि गिरापति…'—वाणी के अधिष्ठाता और प्रभु (प्रेरक) श्रीरामजी ही हैं। वाणी के 'वैखरी', 'मध्यमा', 'पश्यन्ति' और 'परा' ये चार भेद हैं। परा वाणी से श्रीरामतत्त्व-कथन होता है, वह तुरीयावस्था के साथ रहती है, जिसके स्वामी अंतर्यामी-रूप से श्रीरामजी ही हैं। इसी से श्रीरामजी

को 'वागीश' भी कहा है। यथा—"विमल वागीस बैकुंठस्वामी।" (वि० ५५); "वरद वनदाभ वागीस···" (वि० ५६)। 'गिरापति' के साथ 'प्रभु' भी कहा है कि यथार्थ यश-कथन में वे वाणी को प्रवृत्त करें और तत्संबंधी विघ्नों को धनुषबाण से रोकें, क्योंकि सबके प्रभु हैं, अतएव सब पर शासन कर सकेंगे।

सारद दारुनारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी ॥५॥
जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कवि-उर-अजिर नचावहिं बानी ॥६॥
प्रनवउँ सोइ कृपाल रघुनाथा। बरनउँ बिसद तासु गुनगाथा ॥७॥

अर्थ—सरस्वतीजी दारुनारि (कठपुतली) के समान हैं और अंतर्यामी स्वामी श्रीरामजी सूत्रधर हैं ॥५॥ (वे प्रभु) अपना जन जानकर जिस कवि पर कृपा करते हैं, उसके हृदय रूपी अजिर (आँगन) में वाणी को नचाते हैं ॥६॥ उन्हीं कृपालु रघुनाथजी को प्रणाम करता हूँ और उनके उज्ज्वल गुणों की कथा कहता हूँ ॥७॥

विशेष—यहाँ कठपुतली का सांग रूपक है—परदे के भीतर बैठा हुआ, सूत्र-धर सूत्र के सहारे कठपुतली को आँगन में नचाता है, वैसे यहाँ शारदा कठपुतली, स्वामी राम अंतर्यामी सूत्रधर, कवि-उर—आँगन, क्रमशः उपमेय और उपमान हैं। 'सम' वाचक और 'नचावहिं' धर्म है। अतः, पूर्णोपमा है। कृपा-सूत्र, यथा—"कृपा डोरि बंसी पद अंकुस···" (वि० १०२)। कठपुतली का स्वामी नचानेवाला उसका स्वामी है, वैसे वाणी के नचानेवाले स्वामी श्रीरामजी हैं।

परम रम्य गिरिबर कैलासू। सदा जहाँ सिव-उमा-निवासू ॥८॥

दोहा—सिद्ध तपोधन जोगिजन, सुर किन्नर मुनिबृंद।
बसहिं तहाँ सुकृती सकल, सेवहिं सिव सुखकंद ॥१०५॥

शब्दार्थ—रम्य=रमणीक। तपोधन=तपस्वी, तप ही जिनका धन हो। सुखकंद=आनंद के मेघ या आनंद के मूल।

अर्थ—परम रमणीक, पर्वतों में श्रेष्ठ कैलाश है, जहाँ सदा शिव-पार्वतीजी का निवास है ॥८॥ सिद्ध, तपस्वी, योगी लोग, देवता, किन्नर और मुनियों के वृंद आदि सब पुण्यात्मा वहाँ बसते और आनंद-कंद शिवजी की सेवा करते हैं ॥१०५॥

विशेष—(१) 'परम रम्य ···', हिमालय पर के और भी पर्वत-शिखर रमणीय हैं, पर कैलाश परम रमणीय है, इसी से वहाँ सदाशिव उमा रहते हैं या वहाँ सदा उमा-शिव रहते हैं, इससे वह परम रमणीय है अर्थात् स्थान और स्थानी दोनों श्रेष्ठ हैं।

(२) 'सिद्ध तपोधन···'—इसमें 'वृंद' पद अंत में होने से सिद्ध आदि सब के साथ है। 'सुखकंद'—अर्थात् सभी पर सुख की वर्षा करते हैं, यथा—"सुकृत मेघ बरषहिं सुखबारी।" (म० दो० १)। 'कंद' का मूल अर्थ लेने का भाव यह कि शंकरजी सुख-रूपी वृक्ष की जड़ हैं, इनकी सेवा के बिना सुख स्थिर नहीं रह सकता, यथा—"जिमि सुख लहइ न संकरद्रोही।" (कि० दो० १६)

हरि-हर-विमुख धरमरति नाहीं। ते नर तहँ सपनेहुँ नहिं जाहीं ॥१॥
तेहि गिरि पर बट बिटप बिसाला। नित नूतन सुंदर सब काला ॥२॥
त्रिविध समीर सुसीतलि छाया। सिव-बिश्राम-बिटप श्रुति गाया ॥३॥

शब्दार्थ—विमुख=प्रतिकूल। विटप=वृक्ष। नित नूतन=सदा ही हरा भरा। सुसीतल=अनुकूल, ठंढा। विश्राम=श्रम-निवृत्ति का स्थान, या कालक्षेप का स्थान, संतों का विश्राम कथा में होता है, यथा—"सुनत श्रवन पाइय बिश्रामा।" (दो० ३४); तथा—"येहि बिधि कहत राम-गुन-ग्रामा। पावा अनिर्वाच्य बिश्रामा॥" (सुं० दो ७)। भोजनोपरांत दोपहर में लोगों के विश्राम का समय है, तब भी संतों में कथा ही से विश्राम होता है। यथा—"करि भोजन मुनिबर बिज्ञानी। लगे कहन कछु कथा पुरानी॥" (दो० २३६) अर्थात् इस वट के नीचे कथा हुआ करती है। इसी से अति सुख भी होता है।

अर्थ—जो हरि-हर से प्रतिकूल हैं, जिनकी धर्म में प्रीति नहीं है, वे मनुष्य वहाँ स्वप्न मे भी नहीं जाते ॥१॥ उस पर्वत पर एक बड़ा भारी बरगद का पेड़ है, जो सब समय हरा-भरा और सुन्दर बना रहता है ॥२॥ शीतल, मंद और सुगंधित वायु के साथ अनुकूल ठंढी छाया वहाँ रहती है, वेदों ने उसे शिवजी के विश्राम का वृक्ष कहा है ॥३॥

विशेष—'हरिहर-बिमुख'—हरि के विमुख हर को प्रिय नहीं लगते, वैसे हर के विमुख हरि को नहीं भाते। यथा—"संकर-प्रिय मम द्रोही, सिव-द्रोही मम दास। ते नर करहिं कलप भरि, घोर नरक महँ बास॥" (लं० दो० २)

'धरम रति नाहीं।'—क्योंकि यह सुख-स्थल है और सुख का साधन धर्म है, यथा—"सुख चाहहिं मूढ न धर्मरता।" (उ० दो० १०१)।

शिवजी एवं इनके नित्य परिकर तो वहाँ के सदा निवासी हैं। यथा—"सदा जहाँ सिव-उमा निवासू।" (दो० १०४), और दूसरे 'सुकृती सकल' (दो० १०५) हैं, वे ही यहाँ 'धरम-रत' कहे गये हैं, वे सुकृति-भोग पर्यन्त रहते हैं, पुण्यक्षीण होने पर इन्हें फिर मर्त्यलोक मे आना पड़ता है। धर्महीन तो वहाँ जा ही नहीं सकते।

'नित नूतन सुंदर सब काला'—वे सब कैलाशवासी प्राकृत विकार से रहित हैं। 'बिसाला' और 'श्रुति गाया' से यह वट अनादि काल का जाना गया, क्योंकि वेद अनादि हैं। 'त्रिविध समीर' वहाँ स्वतः चलता है।

एक बार तेहि तर प्रभु गयेऊ। तरु बिलोकि उर अति सुख भयेऊ ॥४॥
निज कर डासि नागरिपु-छाला। बैठे सहजहिं संभु कृपाला ॥५॥

शब्दार्थ—डासि=बिछाकर। नाग=हाथी। नाग रिपु छाला=बाघंबर। सहजहिं=स्वाभाविक (कथा एवं समाधि के लिये नहीं)।

अर्थ—एक समय उसके नीचे प्रभु (शिवजी) गये, वृक्ष को देखकर हृदय में बहुत ही सुखी हुए ॥४॥ अपने हाथ से बाघंबर बिछाकर स्वाभाविक ही कृपालु शिवजी वहाँ बैठ गये ॥५॥

विशेष—(१) 'एक बार तेहि ...'—प्रायः और दिन भी जाते थे, वैसे यह एक बार (समय) की बात है। 'अति सुख'—क्योंकि स्थान और विटप आदि रमणीय हैं, यथा—"परम रम्य आराम यह,

जो रामहिं सुख देत ॥" (दो० २१७); वट सुखदायी होता ही है। यथा—"तिन्ह तरुवरन्ह मध्य बट सोहा। मंजु बिसाल देखि मनमोहा ॥" (अ०दो० २३६)। "बट तर गयेउ हृदय हरषाना।" (उ० दो० १२)। शिवजी को वट वृक्ष बहुत ही प्रिय है, यथा—"प्राकृतहुँ बट बूट बसत पुरारि हैं।" (क० उ० १४०)।

(२) 'निज कर डासि'''—आप तपस्वी-रूप में रहते हैं, इससे सेवकों की अपेक्षा नहीं रखते, क्योंकि—'स्वयं दासास्तपस्विनः' (चण्डकौशिक) कहा गया है। यहाँ आचार्य के लक्षण भी दिखाये कि वक्ता को ऐसा ही निरभिमान एवं निरपेक्ष होना चाहिये, तभी जिज्ञासुओं पर उसका प्रभाव पड़ता है।

जिस प्रकार श्रीगोस्वामीजी ने श्रीरामनवमी को श्रीअयोध्याजी में और याज्ञवल्क्यजी ने फाल्गुन वदि द्वितीया को प्रयाग में कथा का प्रारंभ किया, वैसे यहाँ शिवजी ने ग्रीष्म के ज्येष्ठ महीने में कैलाश पर कथा का प्रारंभ किया है, घटना से ऐसा अनुमान है।

कुंद - इंदु - दर - गौर - सरीरा । भुज प्रलंब परिधन मुनिचीरा ॥६॥
तरुन-अरुन-अंबुज-सम चरना । नखदुति भगत-हृदय-तम-हरना ॥७॥
भुजग-भूति-भूषन त्रिपुरारी । आनन सरद-चंद-छवि-हारी ॥८॥

दोहा—जटामुकुट सुरसरित सिर, लोचननलिन बिसाल।
नीलकंठ लावन्यनिधि, सोह बालबिधु भाल ॥१०६॥

शब्दार्थ—कुंद-इंदु = इसके शब्दार्थ एवं भाव भी मं० सो० ४ में आ गये हैं। दर = शंख। भुजप्रलंब = आजानुबाहु, घुटनों तक लटकनेवाली भुजाएँ। सामुद्रिक शास्त्र के मत से ऐसा लक्षणवाला व्यक्ति जगद्वंद्य होता है। परिधन = कपड़ा, कपड़ा पहनना या कटि के नीचे पहनने के वस्त्र धोती आदि। नलिन = कमल। लावन्यनिधि = सुन्दरता का खजाना या समुद्र। बालबिधु = शुक्ल द्वितीया का चन्द्रमा।

अर्थ—(शिवजी का) शरीर कुंदफूल, चन्द्रमा और शंख के समान गोरा है, भुजाएँ बड़ी लंबी हैं, और मुनियों के (वल्कल) वस्त्र पहने हुए हैं ॥६॥ चरण नवीन प्रफुल्ल लाल कमल के समान हैं, नखों की ज्योति भक्तों के हृदय के अंधकार को नष्ट करनेवाली है ॥७॥ साँप और चिता-भस्म उनके भूषण हैं। वे त्रिपुर दैत्य के शत्रु हैं। उनका मुख शरद ऋतु के पूर्ण चन्द्रमा की छवि को हरता है ॥८॥ शिर पर जटाओं का मुकुट और गंगाजी (विराजमान) हैं, कमल की तरह बड़े-बड़े नेत्र हैं, कंठ नीला है। वे सुन्दरता के समुद्र हैं और उनके माथे पर द्वितीया का चन्द्रमा शोभित है ॥ १०६ ॥

विशेष—(१) 'कुंद-इंदु-दर'''—शिवजी की देह कुंद पुष्प के समान उज्ज्वल, सुगन्धित और कोमल है और चन्द्रमा के समान शीतल, प्रकाशयुक्त तथा आह्लादरूप है। (अमृत के समान वचन हैं)। शंख के समान सचिक्कन, सुडौल है। कंठ त्रिरेखायुक्त है।

कुंद पृथिवी पर, 'इन्दु' आकाश में और शंख समुद्र में होता है। इससे पाताल लिया जायगा। इन तीनों उपमानों से शिवजी तीनों लोकों की सुंदरता की सीमा हैं तथा इनकी सुंदरता स्थल, नभ और जल तीनों स्थानों में व्याप्त सर्वोपरि है।

(२) 'भुज प्रलंब'''—ऐसे विरक्त हैं, भोजपत्र ही वस्त्र रखते हैं; फिर भी दान देने के लिये भुजा बढ़ाये रहते हैं।

(३) 'तरुन अरुन...'—यहाँ पूर्णोपमा है—'चरन' उपमेय, 'अंबुज' उपमान 'सम' वाचक, और 'अरुन' धर्म है।

(४) 'नख दुति...' शिवजी में सद्गुरु के लक्षण हैं। यथा—"श्रीगुरु-पद-नख मनिगन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥ दलन मोहतम सो सुप्रकासू। बड़े भाग उर आवइ जासू॥" (दो० १); तथा—"वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।" (मं० श्लोक)।

'दुति' शब्द स्त्रीलिंग है, इसके योग से क्रिया 'हरनी' चाहिये, पर 'हरना' है, यह 'चरना' के योग से है।

(५) 'भुजग-भूति-भूषन...'—शेषजी भक्त हैं, अतः, शिवजी उनके सम्बन्धी सर्पों को लपेटे रहते हैं। विभूति को सांसारिक व्यवहार से उदासीनताद्योतक जानकर ग्रहण किये हुए हैं। त्रिपुर-वध से जैसे तीनो लोक सुखी हुए, वैसे भक्तों के स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनो शरीररूप पुरों के विकार का नाश कर उनको सुखी करते हैं।

(६) 'आनन सरद चंद...'—चन्द्रमा तापहारक है और अमृतमय किरणों से रोग दूर करता है, शिवजी अपनी चंद्रकिरण समान वाणी से उपदेश-द्वारा अत्यन्त अज्ञानरूपी अंधकार का नाश करते हैं और उसीसे विषयाग्नि सम्बन्धी तीनो तापों को हर लेते हैं।

(७) 'जटामुकुट सुरसरित सिर...'—शिर पर श्रीगंगाजी को धारण करते हैं, क्योंकि शिवजी सदा ही सत्य बोलते हैं। उनके बड़े-बड़े नेत्र श्रोताओं के आनंदवर्द्धक हैं, कृपा-रस भरे हैं।

(८) 'नीलकंठ लावन्यनिधि...'—'नीलकंठ'—दयालुता का द्योतक है। यथा—"जरत सकल सुरबृंद, बिषम गरल जेहि पान किय।" (कि० मं०); 'बालबिधु भाल'—चन्द्रमा को दीन जानकर ग्रहण करके उसे बड़ाई दी, फिर उसका त्याग नहीं किया। बराबर धारण किये रहते हैं।

'लावन्यनिधि'—शिवजी शोभा के समुद्र हैं। समुद्र से १४ रत्न प्रकट हुए, वैसे इस शोभा-वर्णन में कई रत्न आये हैं—'नीलकंठ'—विष, 'बालबिधु'—चन्द्रमा, 'दर'—शंख, 'नखदुति...' में कौस्तुभमणि, (ऊपर टि० ४ देखिये), 'पार्वती'-लक्ष्मी (रूपा), नाम कल्पतरु ('प्रनत कलपतरु नाम' दो० १००); 'कथा'—कामधेनु ('राम कथा सुरधेनु सम' दो० ११३); वचन—अमृत ('हरषि सुधासम गिरा उचारी।' दो० १११)। ये आठ रत्न योग्य जानकर गृहीत हुए हैं।

बैठे सोह कामरिपु कैसे। धरे सरीर सांतरस जैसे॥१॥
पारबती भल अवसर जानी। गईं संभु पहिं मातु भवानी॥२॥
जानि प्रिया आदर अति कीन्हा। बाम भाग आसन हर दीन्हा॥३॥

अर्थ—कामदेव के शत्रु शिवजी बैठे हुए कैसे सोह रहे हैं जैसे शांतरस ही शरीर धारण किये हुए हो॥१॥ अच्छा अवसर जानकर जगन्माता भवानी श्रीपार्वतीजी शिवजी के पास गईं॥२॥ प्यारी पत्नी जानकर शिवजी ने उनका अत्यन्त आदर किया और अपनी बाईं ओर बैठने के लिये आसन दिया॥३॥

विशेष—(१) 'बैठे सोह कामरिपु...'—शिवजी के ध्यान-वर्णन का उपक्रम—"बैठे सहजहिं संभु कृपाला।" (दो० १०५) पर है; यहाँ उपसंहार हुआ। बीचमें "कुंद इंदु दर गौर..." से "बालबिधु भाल।" तक उज्ज्वल उपमाओं से उज्ज्वल स्वरूप का वर्णन हुआ, तब 'कामरिपु' कहकर शांतरस का (उज्ज्वल) स्वरूप कहा, क्योंकि जबतक काम-विकार से रहित न हो, शान्तरस नहीं रह सकता।

'सांतरस'—यहाँ मन का वैराग्य-युक्त होना स्थायी, रामतत्त्व का ज्ञान अनुभाव, वट उद्दीपन और उमा विभाव है जो रस का आधार बन रही है, करुणा संचारी है। इस रस के स्वामी रामरूप विष्णु (ब्रह्म) हैं, जिनकी कथा शिवजी कहेंगे और प्रमाणिवरूप में उन्हें अपना स्वामी बतलायेंगे।

(२) 'पारबती भल···'—'पार्वती' अर्थात् पर्वत परोपकारी होते हैं, उनकी कन्या होने से ये भी परोपकार करेंगी। इन्हीं के द्वारा कवितारूपा नदी निकलेगी, जो रामराज्याभिषेकरूपी समुद्र में जा मिलेगी। कहा भी है, यथा—"वाल्मीकि-गिरिसंभूता रामसागरगामिनी।" नदियाँ प्राय. पर्वत से ही निकलती हैं और समुद्र की ओर जाती हैं।

'मातु'—पुत्र रूप जीवों का कल्याण चाहती हैं। 'भवानी'—भव (शिवजी) कल्याण रूप हैं, वे पत्नीभाव से इनका आदर कर कल्याण करेंगे। 'भल अवसर' यहाँ एकान्त है और शिवजी प्रसन्न बैठे हैं, अपना भ्रम कहने में लाज या डर नहीं है। यथा—"कहत सो मोहि लागत भय लाजा।" (दो० ४७); अवसर पर कार्य करना उत्तम है; यथा—"समरथ कोउ न राम सों, तीय-हरन अपराधु। समयहिं साधे काज सब, समय सराहहिं साधु॥" (दोहावली १४८), "अवसर कौड़ी जो चुकै, बहुरि दिये का लाख।" (दोहावली २४४)। उदाहरण—"देखि सुअवसर प्रभु पहिं, आये संभु सुजान॥" (लं० दो० ११४)।

(३) 'जानि प्रिया आदर···'—'हर'—क्योंकि इसी जगह पर प्रथम सती-शरीर में मातृ-भाव मानकर आपने इनका पत्नीत्व का आसन हरण कर लिया था। यथा—"सन्मुख संकर आसन दीन्हा।" (दो० ५५); वह आसन आज पुन. प्राप्त हुआ। 'जानि प्रिया'—पूर्व माता मान चुके थे, अब इस पार्वती-शरीर में प्रिया जानकर बाईं ओर आसन दे रहे हैं। 'आदर अति'—वाम भाग में पास आसन देना ही आदर है, प्रसन्नता पूर्वक प्रिय वचन कहते हुए बैठाया, यह अति आदर दिया। यथा—"अति आदर समीप बैठारी। बोले बिहँसि कृपाल खरारी।" (सुं० दो० ३०)।

सम्बन्ध—इसी वट के नीचे पार्वतीजी का सती-शरीर में सम्मुख आसन देने से अपमान हुआ था। अब आदर हुआ तो पूर्व प्रसंग चित्त में आ गया। अतः कहते हैं—

बैठीं सिवसमीप हरषाई। पूरब-जनम-कथा चित आई॥४॥
पति-हिय-हेतु अधिक अनुमानी। बिहँसि उमा बोलीं प्रिय बानी॥५॥
कथा जो सकल-लोक-हितकारी। सोइ पूछन चह सैलकुमारी॥६॥

अर्थ—(पार्वतीजी) हर्षित होकर शिवजी के पास बैठ गईं। तब अपने पिछले जन्म की कथा चित्त में आ गई॥ ४॥ पति (शिवजी) के हृदय में अपने पर अधिक हेतु (प्रेम) समझकर, पार्वतीजी हँसकर प्रिय वचन बोलीं॥५॥ (श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) जो कथा सब लोकों का हित करनेवाली है, वही कथा आज हिमाचल की पुत्री (पार्वतीजी) पूछना चाहती हैं॥६॥

विशेष—'बिहँसि उमा···' अत्यन्त प्रसन्नता के कारण आनंद उमड़ पड़ा। अतः, हँसकर बोलीं। 'कथा जो सकल···' 'लोक-हितकारी' के सम्बन्ध से 'सैलकुमारी' कहा, ऊपर चौ० २ देखिये तथा आगे कहेंगे—"धन्य-धन्य गिरिराजकुमारी। तुम्ह समान नहिं कोउ उपकारी॥" (दो० १११)। जैसे गंगा आदि नदियाँ पहाड़ से प्रकट होकर प्रवाह-रूप से संसार का हित करती हैं; वैसे कथा भी शैल-कुमारी द्वारा प्रकट होकर जगत् का हित करेगी। यथा—"पूछेहु रघुपति-कथा-प्रसंगा। सकल लोक जग-पावनि गंगा॥" (दो० १११)।

बिश्वनाथ मम नाथ पुरारी। त्रिभुवन महिमा बिदित तुम्हारी ॥७॥
चर अरु अचर नाग नर देवा। सकल करहिं पद-पंकज-सेवा ॥८॥

दोहा—प्रभु समरथ सर्बज्ञ सिव, सकल-कला-गुन-धाम।
जोग-ज्ञान-बैराग्य-निधि, प्रनतकलपतरु नाम ॥१०७॥

अर्थ—हे विश्वनाथ ! मेरे स्वामी ! त्रिपुरारी ! आपकी महिमा तीनों लोकों में प्रसिद्ध है ॥७॥ चर (चेतन जीव) और अचर (जड़ जीव), नाग, मनुष्य और देवता—सभी आपके चरण-कमलों की सेवा करते हैं ॥८॥ हे प्रभो ! आप समर्थ, सर्वज्ञ, कल्याणरूप, सब कलाओं और गुणों के स्थान हैं। योग, ज्ञान और वैराग्य के समुद्र हैं। आपका नाम शरणागतों के लिये कल्पवृक्ष है ॥१०७॥

विशेष—(१) 'विश्वनाथ मम नाथ ···' 'सकल-लोक-हितकारी' कथा पूछनी है, इसलिये विश्वनाथ कहा। साथ ही 'मम नाथ' पृथक् भी कहा, जगत् की अपेक्षा अपने पर विशेष कृपा चाहती हैं। यथा - "हरहु नाथ मम मतिभ्रम भारी।" आगे कहना है। जगत् के स्वामी जगत् की अपेक्षा अपने जन पर विशेषता रखते हैं, यथा—"जगपालक बिसेषि जनत्राता॥" (दो० १६)। 'पुरारी' होने के सम्बन्ध से त्रिभुवन में आपकी महिमा प्रसिद्ध है और इसीसे चराचर आदि आपकी सेवा करते हैं।

(२) 'चर अरु अचर···' अचर की सेवा, यथा—"सब तरु फरे राम-हित लागी।" (लं० दो० ४); "किये जाहिं छाया जलद, सुखद बहइ बर बात।" (अ० दो० २१६) तथा—"खेलिबे को खग मृग तरु किंकर होइ रावरो राम हौं रहि हौं।" (वि० २११)। पुनः सेवा करने का हेतु आगे—'प्रभु समरथ···' आदि से भी कहा है। जो 'प्रनत'—शरणागत हैं, उनके लिये तो आपका नाम ही कल्पतरु है।

यहाँ शिवजी के नाम, रूप, लीला और धाम महिमा के साथ कहे गये हैं—"प्रनत कलपतरु नाम।" में नाम; "कुंदइंदु ··" से "धरे सरीर सांतरस जैसे।" (दो० १०५-६) तक रूप; "यह उमा-संभु-बिवाह जे" ····से—"चरितसिंधु गिरिजारमन" (दो० १०३) तक लीला; और—"परम रम्य गिरि-बर कैलासू।"······से—"सिवबिश्राम बिटप श्रुति गाया।" (दो० १०५) तक धाम।

(४) पूर्व दो० १०४ चौ० १ पर श्रोता के लक्षण कहे गये हैं, यहाँ वक्ता के लक्षण भी सूचित किये। यथा—'जटामुकुट···' से विरक्त होना, 'सकल-कला-गुन-धाम' से ६४ कलाओं और सम्पूर्ण गुणों के पूर्ण ज्ञाता (शास्त्रज्ञ) होना, "सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा।" (दो० ५०) से वैष्णव होना, 'वंदे ब्रह्मकुल···' (भा० मं० श्लोक) से ब्राह्मण होना, 'कामरिपु' से निष्काम और 'सांतरस जैसे' से धैर्यवान् होना—आदि वक्ता के लक्षण हैं।

सम्बन्ध—पार्वतीजी उत्तम वक्ता के सम्पूर्ण लक्षण कहकर आगे प्रश्न करती हैं—

जौं मो पर प्रसन्न सुखरासी। जानिय सत्य मोहि निज दासी ॥१॥
तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। कहि रघुनाथ-कथा बिधि नाना ॥२॥
जासु भवन सुरतरु-तर होई। सह कि दरिद्रजनित दुख सोई ॥३॥
ससिभूषन अस हृदय बिचारी। हरहु नाथ मम मतिभ्रम भारी ॥४॥

अर्थ--हे सुख के राशि ! जो आप मुझपर प्रसन्न हैं और मुझे अपनी सच्ची दासी समझते हैं ॥१॥ तो हे प्रभो ! अनेक प्रकार से श्री रघुनाथजी की कथा कहकर मेरा अज्ञान हरिये ॥२॥ जिसका घर कल्प-वृक्ष के नीचे हो, वह क्यों दरिद्रता से उत्पन्न दुःख सहे ? ॥३॥ हे चन्द्रभूषण ! हे नाथ ! ऐसा हृदय में विचार कर, मेरी बुद्धि के भारी भ्रम को हरिये ॥४॥

विशेष—(१) 'जौं मोपर प्रसन्न ···'—'सुखरासी' ये विशेषण शिवजी के उपर्युक्त गुणों के अनुसार हैं, जो--'प्रभु समरथ···' आदि में कहे गये हैं। पुनः पार्वतीजी ने यहाँ सुखराशि कहकर तुरंत ही कल्पतरु कहा और उपदेश-द्वारा सुख चाहेंगी, वही भाव आगे के वचन से भी सिद्ध होता है। यथा--"नाथ कृपा अब गयेउ बिषादा। सुखी भइउँ प्रभु-चरन-प्रसादा ॥" (दो० ११६)।

(२) 'जानिय सत्य मोहि···'--इसमें 'सत्य' विशेषण दासी के साथ है, क्योंकि आगे इसे ही पुष्ट किया है। यथा—"दासी मन क्रम बचन तुम्हारी ॥" (दो० १०६)। पूर्व में जो कहा गया कि—"जानि प्रिया आदर अति कीन्हा।" उससे यहाँ अपने को 'दासी' और शिवजी को 'सुखरासी' कहा।

(३) 'कहि रघुनाथ-कथा···' अर्थात् अज्ञान-निवृत्ति वेदान्त से भी होती है, पर मेरा भ्रम सगुण ब्रह्म श्री रघुनाथजी के प्रति है, अतएव उनकी कथा ही से समाधान कीजिये। ऐसे ही भरद्वाजजी और गरुड़जी ने भी कहा है, दो० ४६ और उ० दो० ६३ देखिये। 'बिधि नाना'– क्योंकि-'मति भ्रम भारी' कहा है, एक-दो विधियों में न मिटेगा। नाम, रूप, लीला, धाम आदि का महत्त्व विस्तार करके कहियेगा, तब मेरा भारी भ्रम दूर होगा।

(४) 'जासु भवन सुरतरु तर··· ···'—यहाँ शिवजी सुरतरु (कल्पवृक्ष) हैं, उनके पास एवं आश्रित रहना, 'सुरतरु' के नीचे रहना है अपना मोह दारिद्र्य है। यथा—"मोह दरिद्र निकट नहिं आवा।" (उ० दो० १२०)। (उ० दो० ११६); दारिद्र्य दुःख रूप ही है, यथा—"नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।" (उ० दो० १२०)।

(५) 'ससिभूषन अस··· ·'—चन्द्रमा को भूषण बनाया। अतः, प्रकृति का मेल होना युक्त ही है। चन्द्रमा शरदातप—शरद ऋतु की गर्मी हरता है जो असह्य और दुःखद होती है। आपका मुख ही चन्द्रमा है और वचन किरण हैं। उनसे मोह-रूप 'भारी भ्रम' का नाश होता है। मोह ही भारी ताप है। यथा—"ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी ॥" (दो० ११६)।

सम्बन्ध—आगे अपने भ्रम के स्वरूप को दार्शनिक रीति से क्रमशः विषय, पूर्वपक्ष और संशय के रूप में प्रकट करती हैं। प्रथम 'विषय' कहती हैं—

प्रभु जे मुनि परमारथवादी। कहहिं राम कहँ ब्रह्म अनादी ॥५॥
सेष सारदा बेद पुराना। सकल करहिं रघुपति-गुन गाना ॥६॥
तुम्ह पुनि राम-राम दिन-राती। सादर जपहु अनंग-अराती ॥७॥
राम सो अवध-नृपति-सुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई ॥८॥

दोहा—जौं नृपतनय तो ब्रह्म किमि, नारिबिरह मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमति बुद्धि अति मोरि ॥१०८॥

जौं अनीह व्यापक बिभु कोऊ। कहहु बुझाइ नाथ मोहि सोऊ ॥१॥

शब्दार्थ—परमारथवादी=ब्रह्मज्ञानी। अनंग-अराती=काम के शत्रु शिवजी। बिभु=समर्थ।

अर्थ—हे प्रभो! जो परमार्थवादी मुनि लोग हैं, वे श्रीरामजी को अनादि ब्रह्म कहते हैं ॥५॥ शेष, शारदा, वेद और पुराण (आदि) सभी श्रीरघुनाथजी के गुणों का गान करते हैं ॥६॥ फिर (यही नहीं प्रत्युत) हे शिवजी! आप भी आदर-पूर्वक रात-दिन राम-राम जपते हैं ॥७॥ वे राम (जो) अवध-नरेश के पुत्र हैं, वे ही हैं या अजन्मा, निर्गुण और अलख गतिवाले कोई दूसरे राम हैं? ॥८॥ जो राज-पुत्र हैं, तो ब्रह्म कैसे? और स्त्री के विरह में उनकी बुद्धि बावली क्यों हुई? उनके चरित देखकर और महिमा सुनकर मेरी बुद्धि में अत्यन्त भ्रम हो रहा है ॥१०८॥ जो अनीह, व्यापक और समर्थ कोई दूसरा (राम) हो, तो हे नाथ! मुझे वह भी समझाकर कहिये ॥१॥

विशेष—(१) श्रीपार्वतीजी यहाँ से प्रश्न का विषय क्रमशः रूप लीला, नाम और धाम के महत्त्व से कहती हैं कि परमार्थवादी मुनि राम (ब्रह्म) के 'रूप' को अनादि कहते हैं। ये मुनि ध्यान वाले हैं और ध्यान रूप का होता है। शेष आदि गुण गाते हैं, गुण ही 'लीला' हैं। आप 'राम-नाम' जपते हैं, यह 'नाम' का प्रश्न है। 'राम सो अवध-नृपति सुत'—इसमें 'धाम' का महत्त्व गर्भित है।

पार्वतीजी एक-से-एक श्रेष्ठ प्रमाण देती गईं, मुनियों से शेष-शारदा आदि श्रेष्ठ हैं और उनसे शिवजी, क्योंकि वेद आदि भी शिवजी के गुण गाते हैं।

(२) 'तुम्ह पुनि ⋯ '—और कहें तो कहें, पर आप भी, जो—'प्रभु समरथ सर्वज्ञ⋯' हैं, दिन-रात (विराम-रहित) उनके नाम जपते हैं। 'अनंगअराती'— आपको काम से अत्यन्त घृणा है, तब तो उसे जला डाला, फिर उन्हें कामी की तरह महाविरही अवस्था में देखकर भी आपकी प्रीति कम न हुई, प्रत्युत बढ़ती ही गई तो उन्हें अवश्य ही परात्पर जानना चाहिये। पुनः आप कामना जीते हुए हैं, तभी दिन-रात एक रस राम-राम जपते रहते हैं।

पूर्व कहा गया कि—"पूरब जनम कथा चित आई।" (दो० १०६)। पूर्व में श्रीशिवजी ने इसी क्रम से और ऐसे ही तीन प्रकार के प्रमाणों से इन्हें श्रीरामपरत्व कहा था, उन्हीं को यहाँ गिरिजाजी ने प्रश्न के विषय-रूप में कहा है। यथा—"जासु कथा कुंभजरिषि गाई"⋯⋯से—"मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।" (दो० ५०) तक—ये ही 'परमार्थवादी मुनि' हुए। "कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं।" (दो० ५०); इसमें शेष-वेद आदि आ गये। "सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा।" (दो० ५०)—यहाँ शिवजी स्वयं हुए।

(३) 'राम सो अवध ⋯ '—उपर्युक्त महत्त्व को अवध-नरेश के पुत्र में कहकर प्रश्न के विषय को पूरा किया। 'सोई'—जिन्हें वन में पहले देखा था, वही हैं क्या? अब इसके उत्तरार्द्ध से पूर्व पक्ष के रूप में उक्त 'विषय' का खंडन करती हैं—

(४) 'की अज अगुन⋯⋯'—इनमें 'अज-अगुन' के भाव पूर्व आ चुके हैं। 'अलख गति'—जिसकी गति नेत्र, मन, बुद्धि आदि से परे हो।

(५) 'जौं नृपतनय तो⋯⋯ '—ब्रह्म 'अज' हैं और ये तो नृप के तनय हैं, अतः, जन्म वाले हैं। ब्रह्म 'निर्गुण' है अर्थात् अखिल ब्रह्मांड से निर्लिप्त है और ये तो स्त्री ही के विरह में पागल हो रहे थे। ब्रह्म 'अलख गति' है और इनका तो 'देखि चरित' अर्थात् प्रत्यक्ष चरित्र देखा गया है। यथा—"देखा प्रगट बिरह-दुख ताके।" (दो० ४८)।

(६) 'देखि चरित महिमा सुनत ' '—अब यहाँ से 'संशय' करती हैं कि चरित देखा कुछ और; पुनः महिमा उनकी सुनती हूँ परात्पर ब्रह्म की। यह सुनना पूर्व जन्म का है, जिसे ऊपर वि० २) के दो० ५० में शिवजी का कहा हुआ लिखा गया है। इससे बुद्धि में अत्यन्त भ्रम होता है।

(७) 'जौं अनीह ···· '—ऊपर पार्वतीजी ने कहा है—"तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। कहि रघुनाथ-कथा बिधि नाना॥" इससे निश्चय होता है कि ये श्रीरामजी को सगुण ही जानकर उनसे लीला का होना तो मानती हैं, पर निर्गुण ब्रह्म में नहीं मानतीं, इसीसे इसे समझाकर कहने को कहती हैं। यहाँ तक 'संशय' किया।

सारांश—'प्रभु जे मुनि·······'से—'राम सो अवध-नृपति-सुत सोई।' तक 'विषय'; 'की अज अगुन'····· से—'देखि चरित'—तक 'पूर्व पक्ष' और 'देखि चरित महिमा सुनत'···· ' से—'कहहु बुझाइ नाथ मोहि सोऊ॥—तक 'संशय' कहा गया। इन तीन के पीछे 'सिद्धान्त' होना चाहिये, वह वक्ता शिवजी की ओर से होगा।

किन्तु, प्रश्न करने में जो इन्होंने निर्गुण से भिन्न सगुण को माना। इतना ही नहीं, प्रत्युत उन्हें प्राकृत नर एवं विरही आदि कहा, यह इष्ट का अपकर्ष परम उपासक शिवजी को पसन्द नहीं आया। इसे ही आगे कहेंगे—"एक बात नहिं मोहि सुहानी।"····· से—"तिन्ह कर कहा करिय नहिं काना॥" (दो० ११३-११४) तक। अतः, शिवजी का रुख बदल गया, क्रोध के चिन्ह आ गये, यह देखकर गिरिजाजी आगे प्रार्थना करती हैं—

> अज्ञ जानि रिस उर जनि धरहू। जेहि बिधि मोह मिटइ सोइ करहू॥२॥
> मैं बन दीखि रामप्रभुताई। अति-भय-बिकल न तुम्हहिं सुनाई॥३॥
> तदपि मलिनमन बोध न आवा। सो फल भली भाँति हम पावा॥४॥
> अजहूँ कछु संसय मन मोरे। करहु कृपा बिनवउँ कर जोरे॥५॥

अर्थ—मुझे अबोध जानकर हृदय में क्रोध न लाइये। जिस प्रकार मेरा अज्ञान दूर हो, वही कीजिये॥२॥ मैंने वन में श्रीरामजी की प्रभुता देखी थी, अत्यन्त भय से व्याकुल (होने के कारण) उसे आपको नहीं सुनाया॥३॥ तो भी मेरे मलिन मन को बोध नहीं हुआ। उसका फल मैंने अच्छी तरह से पा लिया॥४॥ अब भी मेरे मन में कुछ संदेह है। आप मुझपर कृपा करें। मैं हाथ जोड़कर विनती करती हूँ॥५॥

विशेष—(१) 'अज्ञ जानि····' अज्ञ अर्थात् अनजान क्षम्य है। यथा—"छमहु चूक अनजानत केरी।" (दो० २८१); "अनुचित बहुत कहेउँ अज्ञाता। छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता॥" (दो० २८४)।

(२) 'मैं बन दीख···'—प्रभुता देखने का प्रसंग—"निज प्रभाव कछु प्रगटि जनावा।" से—"कछु न दीख तहँ दच्छकुमारी॥" (दो० ५३–५४) तक है। भय से व्याकुल होने का प्रसंग—"सती सभीत महेस पहिं, चली···" (दो० ५३) से "सोइ रघुबर···देखि सती अति भईं सभीता॥···भयबस सिव सन कीन्ह दुराऊ॥" (दो० ५४–५५) तक है।

(३) 'तदपि मलिन मन बोध···'—यहाँ सती-शरीर में मन की मलिनता माया से थी। यथा—"निज माया-बल हृदय बखानी।" (दो० ५२), "बहुरि राम-मायहिं सिर नावा। प्रेरि सतिहिं जेहि झूठ

कहावा ।।" (दो० ५५); पुनः—"माया-बस न रहा मन बोधा।" (दो० १३५);—इसमें नारदजी के मन का मलिन होना है।

वहाँ साक्षात् दर्शन पर भी मन मलिन ही रह गया, क्योंकि भगवान् ने अपनी माया के द्वारा इन पात्रों से लीला के कुछ अंगों को बनाना चाहा। अतः, वैसे ही संयोग होते गये। यथा—"त्वदाश्रितानां जगदुद्भवस्थितिप्रणाशसंसारविमोचनादयः। भवन्ति लीलाविधयश्च वैदिकास्त्वदीय गंभीरमनोऽनुसारिणः ॥" (आलवंदार)। 'सो फल···' यथा—"सो फल मोहिं बिधाता दीन्हा। जो कछु उचित रहा ···" (दो० ५८)।

(४) 'अजहूँ कछु संसय ···'—पूर्व सती-शरीर में अपार संशय था। यथा—"अस संसय मन भयेउ अपारा।" (दो० ५०); इसी से त्रिभुवन गुरु शिवजी के समझाने से भी नहीं गया। यथा—"भोरेहु कहे न संसय जाहीं।" (दो० ५१); फिर श्रीरामजी की प्रभुता देखने पर निश्चय हो गया कि ये सर्वज्ञ हैं और त्रिदेवों के भी इष्ट हैं, किन्तु इतना रह गया था कि निर्गुण-सगुण दो ब्रह्म हैं। सगुण के अवतार आदि होते हैं, निर्गुण के नहीं। इसपर शिवजी की चेष्टा बदली देखकर यह भी चित्त में आ गया कि ये दाशरथी राम ही ब्रह्म (निर्गुण) हैं। अब मुख्य संशय इतना ही रह गया कि निर्गुण ब्रह्म किस प्रकार सगुण होता है ? शेष बातें इसी के आनुषंगिक हैं। इसी को 'कछु संसय' कहकर कृपा चाहती हैं। शिवजी कृपा करेंगे तो यह भी दूर होगा। यथा—"तुम्ह कृपाल सब संसय हरेऊ। राम-स्वरूप जानि मोहिं परेऊ ॥" (दो० ११६)।

प्रभु तब मोहिं बहु भाँति प्रबोधा। नाथ सो समुझि करहु जनि क्रोधा ॥६॥
तब कर अस बिमोह अब नाहीं। रामकथा पर रुचि मन माहीं ॥७॥
कहहु पुनीत राम-गुन-गाथा। भुजगराजभूषन सुरनाथा ॥८॥

दोहा—बंदउँ पद धरि धरनि सिर, बिनय करउँ कर जोरि।
बरनहु रघुबर-बिसद-जस, श्रुतिसिद्धान्त निचोरि ॥१०६॥

अर्थ—हे प्रभो ! उस समय आपने मुझे बहुत प्रकार से समझाया था, (फिर भी नहीं समझ पड़ा) उसका स्मरण कर क्रोध न कीजिये ॥६॥ उस समय के समान विशेष मोह अब नहीं है, (क्योंकि) श्री रामकथा पर मन में चाह है ॥७॥ हे सर्पराज-भूषण ! हे सुरनाथ ! श्रीरामजी के पवित्र गुणों की कथा कहिये ॥८॥ पृथिवी पर सिर रखकर चरणों की वंदना और हाथ जोड़कर विनती करती हूँ कि वेदों का सिद्धान्त निचोड़कर श्रीरघुनाथजी का उज्ज्वल यश वर्णन कीजिये ॥१०६॥

विशेष—(१) 'प्रभु तब मोहिं···'—प्रबोध करने का प्रसंग—"जासु कथा कुंभज रिषि गाई।" ···से—"लाग न उर उपदेस, जदपि कहेउ सिव बार बहु।" (दो० ५०–५१) तक। 'करहु जनि क्रोधा'—ऊपर अज्ञता के लिये क्षमा माँग चुकी हैं। अब ऐसा इसलिये कहती हैं कि इन प्रश्नों में इष्ट का अपकर्ष-कथन हो गया है अथवा अब यह क्षमा तो सती-शरीर में उपदेश न समझने के कारण माँगती हैं कि अब उसे जी में लाकर क्रोध न कीजिये।

(२) 'रामकथा पर रुचि···'—बार-बार कथा के लिये प्रार्थना करना रुचि प्रकट करता है। यथा—"कहि रघुनाथ कथा विधि नाना।" (दो० १००)। आगे पास ही कहती हैं—"कहहु पुनीत राम-गुन-

गाथा।'''बरनहु रघुबर बिसद जस,''''' इत्यादि। क्योंकि इसी से मोह की निवृत्ति होती है। यथा—"बिनु सतसंग न हरिकथा, तेहि बिनु मोह न भाग॥" (उ० दो० ६१)।

(३) 'कहहु पुनीत''' यथा—"पावन गंग तरंग माल से।" (दो० ३१), पुनः—"मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनइ जो कथा श्रवन मन लाई॥" (उ० दो० १२५)।

(४) 'सुजगराजभूपन'''—शेषजी भारी वक्ता हैं, क्योंकि इन्होंने वात्स्यायन ऋषि से रामजी की कथा कही है। पद्मपुराण के पातालखंड में इसका प्रमाण है। वे भी आपके भूषण हैं, अर्थात् अंग-भूत हैं और देवता लोग सत्त्व प्रधान विबुध (विशेष बुद्धिमान्) होते हैं। आप उनके भी स्वामी हैं। अतः, आप सर्वश्रेष्ठ वक्ता हैं।

(५) 'बंदउँ पद धरि'''—पृथिवी पर शिर रखना वन्दना की सीमा और हाथ जोड़कर विनय करना विनय की पराकाष्ठा है। 'बिसद रघुबर-जस'—ही वेदों का सिद्धान्त है। यथा -"बँदउँ चारिउ वेद, बरनत रघुबर बिसद जस॥" (दो० १४), यह वेदों ने स्वयं भी कहा है। यथा—"हम तव सगुन जस नित गावहीं।" (उ० दो० १२)।

जदपि जोपिता नहिं अधिकारी। दासी मन क्रम बचन तुम्हारी॥१॥
गूढ़उ तत्त्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं॥२॥
अति आरति पूछउँ सुरराया। रघुपतिकथा कहहु करि दाया॥३॥

शब्दार्थ—जोपिता = स्त्री। अधिकारी = योग्य पात्र। आरत अधिकारी = भगवत्प्राप्ति के वास्ते जिन्हें आर्तता आतुरता हो। आरति = आतुर होकर, दुःखित होकर।

अर्थ—यद्यपि स्त्रियाँ (श्रीराम-कथा की) अधिकारिणी नहीं हैं, फिर भी मन, कर्म और वचन से मैं आपकी दासी हूँ॥१॥ साधु लोग जहाँ आर्त, अधिकारी पाते हैं, वहाँ गूढ़ तत्त्व को भी नहीं छिपाते॥२॥ हे सुरराज! मैं अत्यंत आतुर होकर पूछ रही हूँ, अतः मुझपर दया करके श्रीरघुनाथजी की कथा कहिये॥३॥

विशेष—(१) ऊपर श्रीराम कथा को 'श्रुतिसिद्धान्त' कह आईं। इसीसे यहाँ स्त्री को अनधिकारिणी कहती हैं, क्योंकि स्त्री और शूद्र को वेद में अधिकार नहीं माना जाता। यहाँ अधिकारी होने के तीन प्रकार कहे गये—(क) जो मन, कर्म और वचन से सेवक हो, (ख) जो कथा के लिये आतुर (आर्त) हो और (ग) जिसपर वक्ता की दया हो जावे।

गिरिजाजी में ये तीनों अधिकार प्राप्त हैं,-(क) ये तो पतिव्रताशिरोमणि हैं। यथा—"पति देवता सुतीय महँ, मातु प्रथम तव रेख।" (दो० २३५)। (ख) कथा के लिये इतनी आतुर हैं कि बारंबार पूछ रही हैं। ऊपर—'रामकथा पर रुचि''' पर लिखा गया। (ग) जो हैं एवं अत्यंत कठिन तप करके यहाँ प्राप्त हुई हैं। अतः, दया की भी पात्री हैं।

शिवजी अनधिकारी से श्रीराम-यश नहीं कहते। यथा—"यह न कहिय सठ ही हठसीलहि।'''" से—"सुरपति-सरिस होइ नृप जबहूँ॥" (उ० दो० १२०) तक एवं—"कही संभु अधिकारी पाई।" (दो० ७०)।

(२) 'सुरराया'—सामान्य देवता भी आर्त की विनती सुनकर उसपर दया करते और दुःख मिटाते हैं। आप तो महादेव एवं देवताओं के राजा हैं। अतः, मेरा दुःख अवश्य मिटाइये।

प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन - बपु - धारी ॥४॥
पुनि प्रभु कहहु राम-अवतारा। बालचरित पुनि कहहु उदारा ॥५॥
कहहु जथा जानकी बिवाही। राज तजा सो दूषन काही ॥६॥

अर्थ—पहले वह कारण विचार कर कहिये, (जिससे) निर्गुण ब्रह्म सगुण शरीर धारण करता है ॥४॥ फिर हे प्रभो! श्रीरामजी का अवतार कहिये और फिर उदार बाल-चरित कहिये ॥५॥ जिस तरह श्रीजानकीजी ब्याही गईं, वह कहिये। (फिर रामजी ने) राज्य छोड़ा, वह किस दोष से? ॥६॥

विशेष—(१) 'प्रथम सो कारन ' पार्वतीजी का पहले तो यही मत था कि निर्गुण ब्रह्म सगुण होता ही नहीं। यथा—"सो कि देह धरि होइ नर" (दो० ५०); किन्तु अब इतना ही रह गया है, कि निर्गुण ब्रह्म किस कारण से सगुण होता है? उपर्युक्त दो० १०८ (चौ० ४) भी देखिये। शिवजी इसका समाधान—"सगुनहिं अगुनहि नहिं कछु भेदा।" (दो० ११५) से करेंगे।

'बपु धारी'—वह ब्रह्म प्राकृत मनुष्य की देह की तरह पंच तत्त्व का शरीर धारण करता है, या उसका शरीर किसी और प्रकार का होता है। आगे फिर कहेंगी, यथा—"राम ब्रह्म चिन्मय अबिनासी। सर्वरहित सब उर पुर बासी॥ नाथ धरेउ नर-तनु केहि हेतू। मोहिं समुझाइ कहहु बृषकेतू॥" (दो० ११९); इसीलिये 'बिचारी' कहा है कि स्वयं विचार कर और मुझे समझाकर कहिये।

(२) 'पुनि प्रभु कहहु '—इस प्रश्न में अवतार पूछा है कि ब्रह्म ने कैसे अवतार लिया—गर्भ से उत्पन्न हुआ अथवा साक्षात् प्रकट हो गया? किन्तु जब शिवजी ने यह अच्छी तरह समझा दिया कि सगुण-निर्गुण दोनों ये ही हैं और इनमें हर्ष-विषाद आदि नहीं हैं, तब गिरिजा को विश्वास हो गया। यथा—"राम ब्रह्म चिन्मय अविनासी। सर्वरहित सब उर पुर बासी॥" (दो० ११९), फिर 'अवतार' की जगह पर अवतार का हेतु पूछा। यथा—"नाथ धरेउ नर-तनु केहि हेतू।" (दो० ११९); और इसका उत्तर प्रसंग—"हरि-अवतार हेतु जेहि होई।" ··से—"यह सब रुचिर चरित मैं भाषा।" (दो० १२० से १८०) तक कहा गया। फिर आगे परात्पर ब्रह्म का मुख्य अवतार कहा गया है।

'बाल-चरित पुनि कहहु उदारा।'—यहाँ बाल-चरित को उदार कहा है। उदार का अर्थ सरल और पात्रापात्र विचार-रहित दान-शील है। यहाँ चरित के साहचर्य में उदार शब्द आया है, अतः, शीलवान् एवं ऊँचे दिल का भी अर्थ होगा। सरल, यथा—"बालचरित अति सरल सुहाये।" (दो० २०३); दानशील, यथा—"जिमि उदार-गृह जाचक भीरा।" (अ० दो० ३८)। शीलवान्, यथा—"मन भावत बर माँगउँ स्वामी। तुम उदार उर अंतर्यामी॥ ··" से—"सुनु बायस तैं सहज सयाना।" ·· (उ० दो० ८३–८४); यहाँ कौए का भी आदर किया और उसे परम श्रेष्ठ वर दिया।

बाल-चरित का प्रसग—भुशुंडीजी ने मूल रामायण कही है, उसमें शिशु-चरित और बाल-चरित ऋषि के आगमन तक माना गया है। यथा—"तब सिसु-चरित कहेसि मन लाई॥ बाल-चरित कहि बिबिध बिधि, मन महँ परम उछाह। रिषि-आगमन कहेसि पुनि, श्रीरघुबीर-बिबाह॥" (उ० दो० ६४)। शिशु-चरित, यथा—"कीजै सिसु-लीला अति प्रियसीला"···से—"येहि बिधि सिसु-बिनोद प्रभु कीन्हा।" (दो० १९९ से १११) तक, बाल-चरित, यथा—"बाल-चरित कर गान"। · से—"यह सब चरित कहा मैं गाई।" (दो० २०० से २०५) तक। श्रीपार्वतीजी ने शिशु-चरित को भी बाल-चरित में ही माना है।

(३) 'कहहु जथा जानकी …'—मूलरामायण में 'ऋषि-आगमन' और 'श्रीरघुवीर-विवाह' दो प्रसंग हैं, पर यहाँ ऋषि-आगमन विवाह-चरित में ही लिया गया है, क्योंकि विवाह का कारण ऋषि-आगमन ही है। विश्वामित्रजी ने कहा भी है—"इन्ह कहँ अति कल्यान" (दो० २००); इसमें—"कल्यान काज बिबाह मंगल…" (दो० १०३) गर्भित है। तथा—"कौसिक मिस सीय स्वयंवर गायो।" (गी० बा० १३); "अस रावरो, लाभ ढोटनिहूँ," (गी० बा० ४८)। पुन—"अथ राजा दशरथस्तेषां दार-क्रियां प्रति॥ चिन्तयामास धर्मात्मा अभ्यागच्छन्महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः।" (वाल्मी० बा० स० १८।२७-३१); अर्थात् राजा समाज में श्रीराम आदि के विवाह की चिन्ता में थे कि विश्वामित्र आ गये।

अत, विवाह प्रसंग—"आगिलि कथा सुनहु मन लाई॥" (दो० २०५) से बालकांड के अन्त तक है।

(४) 'राज तजा सो दूषन काही।'—इससे जान पड़ता है कि राज्य छोड़ने की लीला आपने किसी दूषण को देखकर की है। वह यह कि जब राज्य-ग्रहण के लिये चक्रवर्तीजी की आज्ञा श्रीवशिष्ठजी ने सुनाई, तभी आपको उस दूषण का लक्ष्य हुआ और स्पष्ट कहा गया। यथा—"गुरु सिख देइ राय पहिं गयेऊ। राम हृदय अस बिसमय भयेऊ।"…से—"बिमल बंस यह अनुचित एकू। बन्धु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥" (अ० दो० ६) तक अर्थात् श्रीभरत शत्रुघ्नजी के न रहने से अकेले राजा होना नहीं चाहा, इसीसे तदनुसार कारण हो गये। यहाँ पाँचवाँ प्रश्न है। इसका उत्तर सम्पूर्ण अयोध्याकांड में दिया गया है, क्योंकि कांड के पूर्वार्द्ध में राज्य छोड़कर जाना है और उत्तरार्द्ध में श्रीचित्रकूट में श्रीभरतजी से प्रार्थित होने पर भी त्यागना ही है।

बन बसि कीन्हे चरित अपारा। कहहु नाथ जिमि रावन मारा॥७॥
राज बैठि कीन्हीं बहु लीला। सकल कहहु संकर सुखसीला॥८॥

दोहा—बहुरि कहहु करुनायतन, कीन्ह जो अचरज राम।
प्रजासहित रघुबंस-मनि, किमि गवने निज धाम॥११०॥

शब्दार्थ—सुखसीला = सुख (देने) में प्रवृत्त (तत्पर)। करुनायतन = करुणा के स्थान। अचरज = आश्चर्य। निजधाम = श्री साकेत लोक, जहाँ से आकर रामजी ने मनु शतरूपा को दर्शन एवं वरदान दिये थे।

अर्थ—हे नाथ! वन में रहकर अपार (बहुत) चरित किये और जिस तरह रावण को मारा, यह कहिये॥७॥ हे कल्याण करनेवाले! हे सुख देने में तत्पर! राज्य पर बैठकर बहुत-सी लीलायें कीं, उन सब को कहिये॥८॥ फिर हे करुणा के स्थान! वह आश्चर्य की बात भी कहिये, जो श्रीरामजी ने की है कि वे रघुवंशशिरोमणि श्री रामजी प्रजा-सहित अपने धाम को कैसे गये?॥११०॥

विशेष—(१) 'बन बसि कीन्हे चरित अपारा'—वन के चरित को 'अपारा' कहा है, क्योंकि सतीजी इसी में परीक्षा के लिये रामजी के पास गई थीं। अपार महिमा देखी और घबरा गईं। पुन 'बन बसि' से आरण्य, किष्किंधा और सुन्दरकांडों के सम्पूर्ण चरितों से तात्पर्य है, इसी से 'अपार' कहा है, क्योंकि भुशुंडीजी द्वारा कथित मूल रामायण के अनुसार इसमें—"सुरपतिसुत-करनी।"…से—"सागर-निग्रह-कथा सुनाई॥" (उ० दो० ६६ ।९) तक ४० चरितों का वर्णन है।

(२) 'जिमि रावन मारा।'—'जिमि'=जिस तरह, इससे सेतु बाँधना, अंगद का दौत्य और सम्पूर्ण सेना के साथ रावण का नाश होना; अर्थात् सम्पूर्ण लंका कांड का ग्रहण होगा।

(३) 'राज बैठि कीन्हीं बहु लीला।'—यह प्रसंग उत्तर कांड के आदि से—"अस कहि मुनि बसिष्ठ गृह आये।" (उ० दो० ११) तक है।

(४) 'सकल कहहु संकर सुखसीला।'—'सुखसीला' विशेषण 'लीला' और 'शंकर' दोनों के साथ है, क्योंकि श्रीरामजी की राज्य-लीला से पुरवासियों को बहुत सुख मिला। यथा—"रघुपति-चरित देखि पुरवासी। पुनि-पुनि कहहिं धन्य सुखरासी॥" (उ० दो० १२) से लेकर—"अवधपुरी बासीन्ह कर, सुख संपदा समाज। सहस सेष नहिं कहि सकहिं, जहँ नृप राम बिराज॥" (उ० दो० २६) तक सुख देना कहा गया है।

गिरिजाजी वही सुख शंकरजी के द्वारा वह चरित सुनने से प्राप्त किया चाहती हैं। यथा—"भरत, राम, रिपुदवन, लखन के चरित-सरित अन्हवैया। तुलसी तब के से अजहुँ जानिबे रघुबरनगर-बसैया॥" (गी० बा० ६)। इसीलिये उन्हें 'सुखशीला' कहती हैं।

(५) 'बहुरि कहहु करुनायतन ··'—'करुनायतन' क्योंकि परधाम यात्रा रुचि-विरुद्ध है, उसे कहलाने के लिये 'करुनायतन' कहकर प्रार्थना की। 'अचरज'—सदेह और प्रजा-समेत परधाम-जाना इसी अवतार में हुआ, यह बड़ा आश्चर्य है।

इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट रूप में तो नहीं ही है। हाँ, गुप्त रीति से जना दिया है। विरस जानकर कोमल चित्त से नहीं कहा गया। उपासकों का भाव हो है कि श्रीरामजी नित्य श्री अवध में विहार करते हैं। गुप्त रीति के उत्तर में उपासना-भाव भी रहा और उत्तर भी हो गया। नित्य अवध (साकेत) और लीला-विभूति की अयोध्या एक ही हैं, जिसका जो भाव यहाँ पर जिस प्रकार रहता है, वही वहाँ साकेत में भी उसी प्रकार रहता है एवं वैसा ही विहार-स्थल रहता है। अत, यहाँ से वहाँ जाना लिखना अनावश्यक जानकर प्रकट में नहीं लिखा गया।

इस प्रश्न का उत्तर गुप्त रीति से—"हनूमान भरतादिक भ्राता। संग लिये सेवक सुखदाता॥ पुनि कृपाल पुर बाहर गये।"···से—"गये जहाँ सीतल अमराई॥" (उ० दो० ५१) तक है। यहाँ 'पुर बाहर' जाने में परधाम-यात्रा सूचित की है, क्योंकि फिर लौटकर महल में आना नहीं लिखा। 'संग लिये सेवक' में 'सेवक' से प्रजागण ध्वनित है। यथा—"सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नात येहि ओर निबाहू॥" (अ० दो० २३)। तथा 'सेवक' से सुग्रीव आदि भी आ गये। 'गये जहाँ सीतल अमराई।' से साकेत-लोक सूचित किया है।

पुनि प्रभु कहहु सो तत्त्व बखानी। जेहि बिज्ञान मगन मुनि ज्ञानी॥१॥
भगति ज्ञान बिज्ञान बिरागा। पुनि सब बरनहु सहित बिभागा॥२॥
औरउ रामरहस्य अनेका। कहहु नाथ अति बिमल बिबेका॥३॥
जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई। सोउ दयाल राखहु जनि गोई॥४॥
तुम्ह त्रिभुवनगुरु बेद बखाना। आन जीव पामर का जाना॥५॥

अर्थ—फिर हे प्रभो ! वह तत्त्व बखान कर कहिये, जिसके विशेष ज्ञान से ज्ञानी मुनि उसमें लीन रहते हैं ॥१॥ फिर भक्ति, ज्ञान, विज्ञान और वैराग्य के वर्णन, प्रत्येक के विभाग-सहित, अलग-अलग कीजिये ॥२॥ हे नाथ ! और भी जो श्रीरामजी के गुप्त चरित हैं, उन्हें कहिये, (क्योंकि) आपका ज्ञान अत्यन्त निर्मल है ॥३॥ हे प्रभो ! जो मैंने नहीं भी पूछा हो, हे दयालो ! वह भी छिपाकर न रखियेगा ॥४॥ आप तीनो लोकों के गुरु हैं, ऐसा वेद कहते हैं, दूसरे नीच प्राणी क्या जानें ? ॥५॥

विशेष (१) श्रीरामजी के अवतार-प्रसंग से परधाम-यात्रा तक के प्रश्नों में सम्पूर्ण रामायण कहकर, आगे के प्रश्न 'तत्त्व···' से 'जो प्रभु मैं पूछा नहिं···' आदि ऊपर से उत्तर देने के विचार से किये गये हैं ; पर वक्ता शिवजी ने इन सबके उत्तर चरित के साथ ही दिये हैं, क्योंकि ये सब बातें रामायण में ही हैं। जिज्ञासु अज्ञ होता है और वक्ता सर्वज्ञ; वही यहाँ चरितार्थ किया है।

(२) 'तत्त्व' का अर्थ ब्रह्म है। यथा—'तत्त्वं ब्रह्मणि याथार्थ्ये'—ऐसा कोश में कहा है।

उदाहरण—"वेदतत्त्व नृप तव सुत चारी।" (दो० १८७); "जोगिन्ह परम तत्त्वमय भासा।" (दो० २४१)।

'भगति'—दोहा ३६ चौ० १३ में देखिये।

'ज्ञान'—"ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं ॥" (आ० दो० १४); पुनः—"प्रभुहिं जानि मन हरष कपीसा ॥ उपजा ज्ञान बचन तब बोला।"···से—"सुनि बिराग-संजुत कपिबानी।" (कि० दो० ६); एवं—"तारा बिकल देखि रघुराया। दीन्ह ज्ञान हरि लीन्ही माया ॥"···से—"उपजा ज्ञान चरन तब लागी।" (कि० दो० १०) तक। कैवल्यपरक ज्ञान—उ० दो० ११६-११८ में विस्तार से कहा गया है।

'विज्ञान'—ब्रह्म में लीन। यथा—"दुर्लभ ब्रह्मलीन बिज्ञानी।" (उ० दो० ५४); "ब्रह्मानंद सदा लयलीना।" (उ० दो० ३१)। कैवल्य परक विज्ञान, यथा—"तब बिज्ञाननिरूपिनी, बुद्धि बिसद घृत पाइ।"···से—"तेजरासि बिज्ञानमय ॥" (उ० दो० ११७) तक है।

'बिरागा'—"कहिय तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी ॥" (आ० दो० १४)। "निज-निज करम-निरत श्रुति-रीती ॥···यहि कर फल मन बिषय-बिरागा।" (आ० दो० १५), इत्यादि।

'सहित बिभागा'—जैसे भक्ति नवधा, प्रेमा, परा आदि भागों में विभक्त है, वैसे ज्ञान की सात भूमिकाएँ इत्यादि रीतियों से प्रत्येक में विभाग होते हैं।

(३) 'औरउ राम-रहस्य ······'—पूर्व जो कहे गये, वे भी रहस्य ही हैं। जैसे उपर्युक्त ज्ञान के विषय में कहा है, यथा—"यह रहस्य रघुनाथ कर, बेगि न जाने कोइ।" (उ० दो० ११६)। इनसे भी और जो अनेक गुप्त रहस्य हैं, जो विमल विवेक से ही जाने जाते हैं, उनके लिये यहाँ प्रश्न है। शिवजी 'अति बिमल बिबेका' हैं, यथा—"को बरनै मुख एक, तुलसी महिमा संत की। जिन्हके बिमल बिबेक, सेष महेस न कहि सकहिं ॥" (वैराग्यसंदीपिनी १४)। और लोग सिद्धांजन लगाकर गुप्त वस्तु देखते हैं, गुरु-भक्त लोग गुरु-पद-रज लगाकर गुप्त चरित देखते हैं, पर शिवजी तो स्वाभाविक ही अति विमल विवेक वाले हैं, अतः, उपाय बिना ही सब गुप्त रहस्य देखते हैं।

वे अपार रहस्य जो श्रीरामजी के ही हों और जहाँ तक आपको प्रत्यक्ष हों, सब कहिये। रहस्यों के कुछ उदाहरण—"मास दिवस कर दिवस भा, मरम न जानइ कोइ।······यह रहस्य काहू नहिं जाना।" (दो० १९५); "निज-निज रुख रामहिं सब देखा। कोउ न जान कछु मरम बिसेखा ॥" (दो० २४१); "लछिमनहूँ यह मरम न जाना। जो कछु चरित रचा भगवाना ॥" (आ० दो० २४) इत्यादि।

(४) 'सोउ दयाल''''' अर्थात् कोई भी बात छिपाइये नहीं। यहाँ प्रश्न से अलग की भी बातें जानना चाहती हैं, इसलिये 'दयाल' कहती हैं। ऐसी बातों के उदाहरण—"औरउ एक कहउँ निज चोरी।''''''से—"यह सुभ चरित जान पै सोई। कृपा राम कै जापर होई॥" (दो० १६५) तक; "उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना॥" (आ० दो० ३८); इत्यादि।

उमा के प्रश्नों का उपक्रम—"रघुपति-कथा कहहु करि दाया।" से हुआ और यहाँ के—"सोउ दयाल''''''" पर उपसंहार हुआ। इस प्रसंग को दया से ही सम्पुटित किया है। भाव यह कि इन सब के उत्तर दया से ही दीजिये, यह प्रार्थना है।

उमा-प्रश्न-प्रसंग समाप्त

प्रश्नोत्तर-प्रसंग-प्रारंभ

प्रश्न उमा कै सहज सुहाई। छल-बिहीन सुनि सिव मन भाई॥६॥
हर-हिय रामचरित सब आये। प्रेम पुलक लोचन जल छाये॥७॥
श्रीरघुनाथ-रूप उर आवा। परमानंद अमित सुख पावा॥८॥

अर्थ—श्रीपार्वतीजी के सहज सुन्दर और छलरहित प्रश्न सुनकर शिवजी के मन को पसंद आये॥६॥ शिवजी के हृदय में सब श्रीरामचरित आ गये, प्रेम से रोमांच हो आया और आँखों में आँसू छा गये॥७॥ श्रीरघुनाथजी का रूप हृदय में आ गया और उन्हें परमानंद का अमित सुख मिला॥८॥

विशेष—(१) 'प्रश्न उमा के'''—प्रश्न शब्द यद्यपि पुँल्लिंग है, तथापि ग्रंथकार ने जहाँ-तहाँ स्त्रीलिंग में इसका प्रयोग किया है। यथा—"उमा प्रश्न तव सहज सुहाई।' (दो० ११३)। 'छलबिहीन'— प्रश्न चार प्रकार के होते हैं—उत्तम प्रश्न छल-रहित होते हैं, जो जिज्ञासु के द्वारा अज्ञात बातों की जानकारी के लिये गुरु से किये जाते हैं, जिससे भ्रम दूर हो और फिर समझकर उसका मनन करे; यथा—"एक बार प्रभु सुख-आसीना। लछिमन बचन कहे छलहीना॥" (आ० दो० १३)। मध्यम वह है, जिसमें प्रश्नकर्त्ता अपनी विद्वत्ता भी प्रकट करते हैं कि जिससे वक्ता एवं तटस्थ लोग भी जान जायँ कि ये भी कुछ ज्ञाता हैं। निकृष्ट वह है, जो वक्ता की परीक्षा के लिये किया जाता है। अधम वह है जो सत्संग में विघ्न डालने के उद्देश्य से किया जाय। इन चारों में गिरिजाजी का प्रश्न उत्तम श्रेणी का है; क्योंकि यह केवल अपना संदेह मिटाने के लिये किया गया है। यथा—"तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना॥" (दो० १०७); "जेहि बिधि मोह मिटइ सो करहू।"—"करहु कृपा बिनवउँ करजोरे॥" (दो० १०८)। 'सहज सुहाई'— क्योंकि इसमें बार-बार नाथ! प्रभु! आदि प्रिय संबोधन आये हैं।

(२) 'हर-हिय रामचरित'''—जैसे-जैसे श्रीपार्वतीजी के प्रश्न होते गये, वैसे-वैसे उनके उत्तर रूप में चरित स्मृति-पथ में आते गये। जैसे किसी पंसारी के पास ग्राहक जो-जो वस्तुएँ माँगता जाता है, उसे उनका स्मरण होता जाता है कि अमुक-अमुक प्रकार की चीजें अमुक-अमुक जगह रक्खी हैं। यथा— "सुनि तव प्रश्न सप्रेम सुहाई। बहुत जनम कै सुधि मोहिं आई।" (उ० दो ६४); यह काकभुशुंडीजी ने कहा है। 'प्रेम पुलक'''—चरित स्मरण से प्रेम होता ही है। यथा—"रघुबर-भगति प्रेम-परिमिति सी।" (दो० ३०); अर्थात् यह कथा प्रेम की पराकाष्ठा-रूपा है।

(३) 'श्री रघुनाथ रूप उर आवा।'—आगे-'बरदउँ बालरूप ...' कहा गया है। अत, यहाँ भी उसी रूप का ध्यान जानना चाहिये। प्रथम चरित से प्रेम होता है, तब रूप का ध्यान होता है, यथा—"वारि बिलोचन बाँचत पाँती। पुलक गात आई भरि छाती। रामलखन उर कर बर चीठी।" (दो० २८६)।

'परमानंद अमित सुख' श्रीरामजी के दर्शनों से परमानद होता ही है। यथा—"जहिं जहाँ जहँ बंधु दोउ, तहँ तहँ परमानद।" (दो० २२३); पुन—"जेहि सुख लागि पुरारि, अशिव वेषकृत शिव सुखद। अवधपुरी-नरनारि, तेहि सुख महँ संतत मगन॥ सोई सुख लवलेस, जिन्ह बारक सपनेहु लहेउ। ते नहिं गनहिं खगेस, ब्रह्म सुखहिं सज्जन सुमति॥" (उ० दो० ८८)। इन्हीं वचनों के अनुसार यहाँ कहा गया है।

दोहा—मगन ध्यानरस दंड जुग, पुनि मन बाहेर कीन्ह।
रघुपतिचरित महेस तब, हरषित बरनइ लीन्ह ॥१११॥

शब्दार्थ—ध्यानरस=ध्यान का आनद, यथा—"जाग न ध्यानजनित सुख पावा।" (आ० दो० ९)।

अर्थ—श्री शिवजी ध्यान के आनन्द में दो दंड तक डूबे रहे, फिर उन्होंने मन को बाहर किया, और वे हर्ष सहित श्री रघुनाथजी के चरित्रों का वर्णन करने लगे॥

'मन बाहेर कीन्ह'—यहाँ 'कीन्ह' शब्द से मन का बलात् बाहर करना जान पड़ता है। इसका कारण यह है कि पार्वतीजी ने उत्कंठा-पूर्वक प्रश्न किया है। अब यदि अचानक समाधि लग गई तो वे बैठी ही रह जायँगी। इस कथा से जगत् का हित होगा। पुन कथा में ध्यान के आनन्द से अधिक आनद है, यथा—"मम गुनग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ, परानंदसंदोह॥" (उ० दो० ४६)। इसके अधिकारियों ने इसको ऐसा ही माना है, यथा—"जीवनमुक्त ब्रह्मपर, चरित सुनहिं तजि ध्यान।" (उ० दो० ४२)। इष्ट का ध्यान करके कार्य का आरंभ करना भक्तों का नियम भी है जिससे कर्त्तव्य कार्य में सफलता हो।

'हरषित बरनइ लीन्ह'—श्रीरामचरित-वर्णन में वक्ता को हर्ष-सहित प्रवृत्त होना चाहिये। यही इस ग्रंथ के चारों वक्ताओं ने दिखाया है। यथा—"भयेउ हृदय आनद उछाहू।" "चली सुभग कविता सरिता सी।" (दो० ३८),—श्री गोस्वामीजी, "सुनु मुनि आजु समागम तोरे। कहि न जाइ जस सुख मन मोरे॥...तदपि यथाश्रुत कहउँ बखानी।" (दो० १०४)—याज्ञवल्क्यजी, "करि प्रनाम रामहि त्रिपुरारी। हरषि सुधा सम गिरा उचारी॥" (दो० १११)—शिवजी तथा—"भयेउ तासु मन परम उछाहा। लाग कहइ रघुपति-गुन गाहा॥" (उ० दो० ६३)—भुशुंडीजी।

झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने॥१॥
जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपनभ्रम जाई॥२॥

अर्थ—जिसको बिना जाने झूठा भी सत्य-सा जान पड़ता है, जैसे बिना पहचाने रस्सी में साँप का भ्रम होता है॥१॥ जिनके जानने से संसार 'हेराय' (खो) जाता है, जैसे जागने पर स्वप्न का भ्रम जाता रहता है॥२॥

विशेष—यहाँ 'जाहि' और 'जेहि' से श्रीरामजी और 'झूठउ' और 'जग' से नानात्व रूपवाला जगत् कहा गया है। ऐसे ही सर्प-रूप नानात्व जगत् और रस्सी रूप श्री रामजी हैं। श्री रामजी का

जानना जागना है, जानने पर सम्पूर्ण जगत् का बोध श्री रामजी के शरीर-रूप में हो जाता है, तब उस (जगत्) के प्रेरक-नियामक श्री रामजी जाने जाते हैं और जगत् की भ्रमात्मक नानात्व सत्ता नहीं रह जाती, यही जगत् का 'हेराय' (खो) जाना है। जैसे स्वप्न की मनःकल्पित सृष्टि जागने पर नहीं रह जाती, वैसे जगत् का नानात्व रूप भी मन से कल्पित है, यथा—"जौं निज मन परिहरै बिकारा। तौ कत द्वैत-जनित संसृति दुख संसय सोक अपारा॥ सत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हें बरियाई। त्यागब गहब उपेक्षनीय अहि हाटक तृन की नाईं॥" (वि० ११४) अर्थात् जगत् श्री रामजी का शरीर है, यथा—"जगत्सर्वं शरीरं ते।" (वाल्मी०, युद्ध० सर्ग ११०, श्लो० २७)। ऐसा ज्ञान होने पर फिर कोई शत्रु-मित्र आदि नहीं रह जाते; क्योंकि श्री रामजी सर्वेश हैं। अतः, अपने शरीर रूप व्यष्टि जगत् के प्रति दूसरे सब अंगों से (प्रत्येक के कर्म के अनुसार) यथायोग्य ही बर्ताव कर रहे हैं अर्थात् शत्रु-मित्र आदि सबके प्रेरक वे ही हैं, हमारे कर्मानुसार सुख-दुःख आदि दे रहे हैं। तब जगत् का नानात्व रूप उनका ज्ञान-पूर्वक विलास ही सिद्ध होता है। यथा—"तुलसिदास प्रभु चिद्विलास जग बूझत बूझत बूझै॥" (वि० १२४)। अतः, हित करनेवाले माता, पिता आदि को मित्र और अनहित करनेवालों को शत्रु आदि की भावना मन की भ्रमात्मक कल्पना है। यही नानात्व दृष्टि 'सुत-बित-देह-गेह-स्नेह' रूप जगत् के नाम से प्रसिद्ध है। इस नानात्व जगत् का दश-दिगात्मक रूप—"जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥ सब कै ममता ताग बटोरी।···" (सुं० दो० ४७) है।

इसमें 'रस्सी' और 'सर्प' के दृष्टान्त का स्पष्टीकरण पूर्व मंगला० के—'रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः' में किया गया है। इसकी चराचररूपता आगे—'रजत सीप महँ···' (दो० ११७) में दृष्टान्तों के आधार से कही जायगी।

बंदउँ बालरूप सोइ रामू। सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू॥३॥
मंगलभवन अमंगलहारी। द्रवउ सो दसरथ-अजिर बिहारी॥४॥
करि प्रनाम रामहिं त्रिपुरारी। हरषि सुधासम गिरा उचारी॥५॥

शब्दार्थ—सब सिधि = सब २१ सिद्धियाँ हैं, उनमें अणिमादि आठ के नाम भी पूर्व दो० २१ चौ० ५ में कहे गये हैं तथा—सब मनोरथों की सिद्धि। जिसु (यस्य) = जिसका। अजिर = आँगन।

अर्थ—मैं उन्हीं बालक-रूप श्रीरामजी की वन्दना करता हूँ, जिनके नाम जपने से सब सिद्धियाँ (सब प्रकार के मनोरथों की सिद्धियाँ) सहज ही में प्राप्त हो जाती हैं॥ ॥ मंगल के घर, अमंगल के हरनेवाले और श्रीदशरथ महाराज के आँगन में विहार करनेवाले वे (बालरूप श्रीरामजी) कृपा करें॥४॥ त्रिपुरारि श्रीशिवजी श्रीरामजी को प्रणाम करके हर्ष से अमृत के समान वचन बोले॥५॥

विशेष—(१) 'बंदउँ बालरूप सोइ रामू।'—'सोइ' अर्थात् जिनके विशेषण ऊपर दो चौपाइयों में कहे गये हैं एवं ऊपर दोहे में जिनका ध्यान किया था, तथा—"श्रीरघुनाथ-रूप उर आवा।" (दो० ११०) भी कहा गया था, उसे यहाँ खोला कि वह यही बालरूप था। शिवजी की स्थायी स्थिति शांत रस में रहती है, इससे यह बालरूप उनका इष्ट है। अतः, लोमशजी को भी चरित देने के साथ (संभवतः) यही ध्यान बतलाया है और लोमशजी ने काकभुशुंडीजी को भी यही बतला दिया है। यथा—"बालक-रूप राम कर ध्याना। कहेउ मोहिं गुरु कृपानिधाना॥" (उ० दो० ११२); "इष्टदेव मम बालक रामा।" (उ० दो० ७४)।

यहाँ बिना किसी उद्दीपन आदि कारणों के हृदय से स्वतः बालरूप का उद्गार हुआ है। इसी कारण यह रूप शिवजी का सहज एवं एकान्त ध्येय समझा जाता है। यों तो ये जगद्गुरु हैं। यथा—"तुम्ह त्रिभुवन-गुर वेद बखाना।" (दो० ११०)। अतः, सभी रसों के भोक्ता हैं, इसी से बाल, विवाह, वन एवं राज्याभिषेक आदि सभी अवस्थाओं की रूप-माधुरी में इनका निमग्न होना कहा गया है।

(२) 'सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू।'—बालरूप के साथ नाम-द्वारा सर्व-सिद्धियाँ कहने का तात्पर्य यह है कि जप मंत्र की अर्थ-भावना के साथ होता है। यथा—"तज्जपस्तदर्थभावनम्।" (योगसूत्र)। नाम का अर्थ रूप है और नाम के शब्दार्थ में कथित गुण रूप के ही होते हैं। अतः, रूप के ध्यान के साथ उसके नामार्थ के अन्तर्गत गुणों को उसमें विचारते हुए जप करना चाहिये। श्रीरामनाम का अर्थ श्रीवशिष्ठजी ने कहा है। यथा—"जो आनंदसिंधु सुखरासी। सीकर ते त्रयलोक सुपासी॥ सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोकदायक बिश्रामा॥" (दो० १९६) अर्थात् रामजी में जीवों को आनंदित करने की अपरिमित शक्ति है। फिर बहुत बार नाम जपते हुए भी जीव सुखी क्यों नहीं होते? इसका कारण यह है कि श्रीरामजी में जो सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता गुण हैं, ये दोनों बद्ध जीवों के लिये बाधक हैं। सर्वज्ञता तो इनके पापों की चुगुली करती है, तदनुसार सर्वशक्तिमत्ता उन्हें दंड देने में प्रवृत्त रखती है। अतः, पूर्वकृत पापों एवं जप के साथ-साथ के भी हुए अपराधों से ही जीव मुक्त नहीं हो पाते। जिस समय इन दोनों की प्रवृत्ति न हो, वही अवसर जीवों के कल्याण का है। यह बाल-रूप में सहज ही है, क्योंकि बालक भोला भाला होता है और उसमें शक्ति भी नहीं रहती, क्योंकि दूसरा गोद में ले अथवा अंगुल पकड़ाकर चलावे, तब वह चलता है। अतः, इस अवस्था के ध्यान से साधक के चित्त में स्थित श्रीरामजी में उक्त दो गुण नहीं आते, इसीसे शीघ्र ही सर्व सिद्धियाँ होती हैं।

बालरूप के अतिरिक्त किशोर-रूप का ध्यान श्रीसीताजी के साथ रहता है। श्रीजानकीजी कृपामयी हैं। अतः, श्रीरामजी की चित्तवृत्ति उनके अनुसार कृपामय रहती है, तब उस कृपा के उदय में भी जीवों के दोष नहीं रह जाते; क्योंकि 'कृपू सामर्थ्ये' धातु से 'कृपा' शब्द बनता है। भगवान् जब अपने सामर्थ्य पर ध्यान देते हैं, तब यह आता है कि मेरी शक्ति के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता और जीव जो माया-वश होकर दुखी हैं, यह हमारी ही असावधानी है। हम सँभालते तो ऐसे दुखी ये क्यों होते? अतः, 'श्रीसीता-राम' नाम जपने से भी सर्व सिद्धियाँ सुलभ होती हैं।

(३) 'मंगलभवन अमंगलहारी।'''—श्रीरामजी का ध्यान मंगलमय है। कहा भी है—"*मंगलं भगवान् विष्णुः मंगलं गरुडध्वजः। मंगलं पुंडरीकाक्षो मंगलायतनो हरिः॥*" यहाँ श्रीशिवजी ने नाम, रूप, लीला और धाम—चारों से मंगल किया है, यथा—रूप—'बंदउँ बालरूप'''; नाम—'जपत जिसु नामू।'; धाम—'दसरथ अजिर'; लीला—'बिहारी'। चारों का मंगलकारी होना पूर्व—"मंगल भवन अमंगलहारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी॥" दो० ६ के विशेष में लिखा गया है।

श्रीगोस्वामीजी ने भी ऐसा ही मंगल कथा के प्रारंभ में किया है। यथा—"नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ।'''सुमिरि सो नाम राम-गुन-गाथा। करउँ" (दो० १०) अर्थात् नाम और रूप दोनों ही तुल्य 'मंगलभवन अमंगलहारी' हैं।

माधुर्य में यह भी भाव है कि प्रभु ने बाल-स्वरूप से प्रकट होकर दशरथजी के वंश लोप रूप अमंगल को हर लिया, फिर चारों भाइयों के क्रमशः जन्म, छठी, बारहीं आदि उत्सवों से मंगल-ही-मंगल भर दिया, क्योंकि एक-एक उत्सव तीन-तीन दिनों तक होता था, यथा—"ज्यों आजु कालिहु परहुँ जागन होहिंगे नेवते दिये॥" (गी० बा० ५)।

(४) 'दसरथ-अजिर-बिहारी ।'—बाल-रूप आँगन में ही विहरते हैं, वैसे मेरे हृदय-रूप आँगन में भी विहरें, यह भाव है। यथा—"अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी मन-मंदिर मैं बिहरैं ॥" (क० बा० १)। 'सो'—वही, जिनका—'झूठउ सत्य'''जेहि जाने''' से निर्गुण रूप और—'बंदउँ बाल-रूप'—'मंगलभवन''' से सगुण रूप कहा गया। यहाँ 'सोइ' और 'सो' शब्द से निर्गुण-सगुण की एकता मंगल में भी की है, क्योंकि पार्वतीजी से यही एकता कहनी है।

(५) 'करि प्रनाम रामहिं '''—त्रिपुर को मारकर तीनो लोकों को सुखी किया, वैसे इस कथा से तीन लोक सुखी होंगे। 'सुधासम'—इस कथा से श्रोतागण मृत्यु धर्म से निवृत्त होंगे।

शिवजी ने मन, कर्म और वचन तीनों से वंदना की है, यथा—"श्रीरघुनाथ-रूप उर आवा।"—मन, 'करि प्रनाम'—कर्म और आगे—"रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नायेउ माथ॥" (दो० ११६) में वचन से भी है।

धन्य धन्य गिरिराज-कुमारी। तुम्ह समान नहिं कोउ उपकारी ॥६॥
पूँछेहु रघुपति - कथा - प्रसंगा। सकल - लोक - जगपावनि गंगा ॥७॥
तुम्ह रघुबीर - चरन - अनुरागी। कीन्हिहु प्रश्न जगतहित लागी ॥८॥

अर्थ—हे गिरिराजकुमारी! धन्य हो! धन्य हो!! तुम्हारे समान कोई भी उपकारी नहीं है ॥६॥ तुमने श्रीरघुनाथजी की कथा का प्रसंग पूछा है, जो समस्त लोकों के लिये जगत्-पावनी गंगा के समान है ॥७॥ तुम रघुनाथजी के चरणों की अनुरागिणी हो, तुमने जगत् के कल्याण के लिये ही ये प्रश्न किये हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'धन्य-धन्य गिरि '''' दो बार धन्य अधिक आदरार्थ में कहा है। अतः, आदर की वीप्सा (अलंकार-विशेष) है। 'गिरिराजकुमारी' परोपकार के सम्बन्ध से कहा गया है, क्योंकि गिरि (पर्वत) परोपकारी होते हैं। गिरिजा के 'सहज सुहाई' प्रश्न से प्रसन्न होकर शिवजी ने उन्हें 'धन्य धन्य' कहा है। यथा—"धन्य धन्य तव मति उरगारी। प्रश्न तुम्हारि मोहि अति प्यारी॥" (उ० दो० ६४)। परोपकार का रूप आगे कहते हैं—

(२) 'पूछेहु रघुपति-कथा '''—प्रसंग का अर्थ चर्चा या वार्ता है। श्रीपार्वतीजी ने प्रथम कथा पूछी थी—'रघुपति कथा कहहु करि दाया।' और फिर उसमें एक-एक प्रसंग पृथक् पृथक् पूछा, वैसे जोड़ में यहाँ भी 'कथा' और 'प्रसंग' दोनों कहे गये।

'सकल लोक जग '''—जैसे भगीरथ महाराज के द्वारा गंगाजी आईं, उनसे उनके पूर्वज तो तरे ही, साथ ही, तीनों लोकों का भी हित हुआ। गंगा की एक-एक धारा तीनों लोकों में गई, इसी तरह तुम्हारे प्रश्न रूप भगीरथ के द्वारा कथा-रूपा गंगा भी सब लोकों का हित करेगी।

(३) 'तुम्ह रघुबीर चरन '''—भरद्वाज जी के प्रश्न प्रसंग में कहा गया था कि उत्तम वक्ताओं की रीति है कि वे प्रथम श्रोता का आदर करते हैं जिससे वह घबरा न जाय और उसके अनौचित्य को युक्ति से कह भी देते हैं कि ऐसा सब कोई न कहने लगें। (इन श्रोताओं ने तो अनुचित बातें पूर्वपक्ष के रूप में कथा कहलाने के लिये कही हैं) यहाँ शिवजी ने गिरिजाजी के हृदय के शुद्ध भाव की सराहना की है। ये —

श्रीराम-चरण की अनुरागिणी न होतीं तो श्रीरामजी इनकी प्रशंसा क्यों करते और इनको ग्रहण करने के लिये शिवजी से निहोरा क्यों करते ? (दो० ७६ देखिये ।)

'जगत-हित लागी'—संत स्वयं श्रीरामानुरागी होते हैं, वैसे दूसरों को भी करना चाहते हैं। यथा- "जग-हित निरुपधि साधु लोग से ।" (दो० ३१ '; शिवजी पार्वतीजी को रामानुरागिणी जानते हुए भी कथा कहेंगे। यथा—"सुनु सीता तव नाम, सुमिरि नारि पतिव्रत करहि। तोहिं प्रानप्रिय राम, कहेउँ कथा संसारहित ॥" (आ० दो० ७५)।

दोहा—रामकृपा ते पारवति, सपनेहु तव मन माहिं ।
सोक मोह संदेह भ्रम, मम विचार कछु नाहिं ॥११२॥

तदपि असंका कीन्हिहु सोई । कहत सुनत सब कर हित होई ॥१॥

अर्थ—हे पार्वतीजी ! श्रीरामकृपा के कारण हमारे विचार से तो तुम्हारे मन में शोक, मोह, संदेह और भ्रम, स्वप्न में भी कुछ नहीं है ॥११२॥ तो भी तुमने वह अ-शंका (बनावटी शंका = पूर्वपक्ष) की है कि जिसके कहने-सुनने से सबका हित हो ॥१॥

विशेष—(१) 'राम कृपा ते '—श्रीपार्वतीजी पर श्रीराम-कृपा है, तभी इनके लिये रामजी शिवजी के यहाँ प्रकट हुए और इनकी प्रशंसा की। (दो० ७१ देखिये)। शोक-अज्ञान के कारण भव में पड़ने की चिंता, संदेह, मोह, भ्रम के भाव दो० ३८ चौ० ४ में कहे गये हैं। यहाँ संदेह आदि को पार्वतीजी ने अपने में होना प्रश्नों के साथ स्वयं कहा है, यहाँ उन्हींका निराकरण है।

(२) 'तदपि असंका''''—'असंका' का अर्थ झूठी शंका = बनावटी शंका है जैसे दार्शनिक लोग पूर्व पक्ष किया करते हैं। बनावटी शंका वह है, जिसे ऊपर (दो० १०८में) पूर्वपक्ष के रूप में कहा है।

(३) 'कहत सुनत सबकर''' अर्थात् इसके कहने और सुनने का अधिकार सबको है—वह किसी भी वर्ण का क्यों न हो, सभी का हित होता है, केवल शुद्ध निष्ठा चाहिये। हित, यथा—"सुनत श्रवन छूटहिं भव-पासा॥'''उपजइ प्रीति राम-पद-कंजा। मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई॥" (उ० दो० १२५)।

शंका—यहाँ शिवजी कहते हैं कि मेरे विचार में मोह आदि तुम्हारे मन में नहीं हैं और आगे कहेंगे—"तजु संसय'''भ्रम-तम रबिकर बचन मम।" (दो० ११५)। "तदपि मोह-बस कहेहु भवानी।" (दो० ११४)। फिर पार्वतीजी भी जगह-जगह पर "मिटा मोह' 'संसय हरेउ' 'गयेउ बिषादा" (दो० ११६)। फिर याज्ञवल्क्यजी भी कहेंगे—"सुनि सिव के भ्रम-भंजन बचना।'''दारुन असंभावना बीती" (दो० ११८)। ऐसा क्यों ?

समाधान—श्रीशिवजी और याज्ञवल्क्यजी ने इनके पूर्व पक्ष के अंशों को लेकर कहा है कि जिनमें ये मोह आदि वास्तविक रूप में होंगे, वे इन वचनों से छूट जायँगे। इस तरह इस प्रसंग के महत्त्व को कहा है। श्रीपार्वतीजी ने जिस भाव से अज्ञान बनकर पूर्व पक्ष किया है उसका अंत तक निर्वाह किया है और इस तरह श्रोताओं के लिये प्रसंगों का महत्त्व और वक्ताओं के प्रति कृतज्ञता वर्णन की रीति बतलाई है।

सम्बन्ध—यहाँ जो 'कहत सुनत सब कर हित होई' कहा, उसी की पुष्टि के लिये आगे कहते हैं—

जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं काना। श्रवनरंध्र अहि-भवन समाना ॥२॥
नयनन्हि संतदरस नहिं देखा। लोचन मोरपंख कर लेखा ॥३॥
ते सिर कटुतुंबरि समतूला। जे न नमत हरि-गुरु-पद-मूला ॥४॥
जिन्ह हरिभगति हृदय नहिं आनी। जीवत सव-समान तेइ प्रानी ॥५॥

शब्दार्थ—श्रवनरंध्र (श्रवणरंध्र)=कानों के छेद। समतूला=तुल्य, सदृश। पदमूला=चरणों के तलवे। लेखा=गिनती या रेखाएँ। सव (शव)=मुर्दा।

अर्थ—जिन कानों ने हरिकथा नहीं सुनी, उनके कान के छिद्र साँप के बिल के समान हैं ॥२॥ जिन नेत्रों ने संतों के दर्शन नहीं किये, वे मोर के पंख से (बने हुए) लोचनों (नेत्रों की आकृति) की गिनती में हैं अर्थात् व्यर्थ हैं ॥३॥ वे शिर कड़ुवी तुंबी (लौकी) के सदृश हैं जो भगवान् और गुरु के चरणों पर नहीं झुकते ॥४॥ जो हरिभक्ति को हृदय में नहीं लाये, वे प्राणी जीते हुए मुर्दे के समान हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'जिन्ह हरिकथा...'—'हरि'—'रामाख्यमीशं हरिम्' के प्रमाण से हरि=रामजी हैं; उनकी कथा अथवा भगवान् के सब रूपों की कथा से भी तात्पर्य है। 'अहिभवन' (उन कानों में) विषैले सर्पों के समान विषय-वार्ता ही पैठती है। विष तो एक ही बार मारता है, विषय से बार-बार जन्म-मरण होते हैं। सर्प के बिल में दूसरा जीव नहीं जाता, वैसे इन कानों में रामकथा नहीं सुहाती।

(२) 'नयनन्हि संत दरस...'—'दरस' का प्रयोग स्वरूप (द्रष्टव्य) के अर्थ में हुआ है। यथा—"भरत-दरस देखत खुलेउ...(अ० दो० २११); "देखहिं दरस नारि-नर धाई।" (अ० दो० १०८); तथा-"जिय सुख पायो ल्यायो दरस दिखाइये।" (भक्तमाल टी० प्रियादास क० २८२) अर्थात् ऐसी प्राचीन भाषा थी।

'लोचन मोरपंख...'—वे नेत्र मोरपंख की नेत्राकार चंद्रिका की तरह चाहे कितने ही सुंदर हों, पर व्यर्थ ही हैं, नाममात्र के हैं।

(३) 'ते सिर कटु...'—'समतूल' गहोरा (चित्रकूट के जांगल) देश की बोली है जो बराबर के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यथा— "कहहिं सीय समतूल।" (दो० २४७)। 'पदमूल'—चरण का तलवा, जिसकी धूल शिर पर रक्खी जाती है, चरणामृत लिया जाता है और चरण-चिह्न का ध्यान भी किया जाता है। इन सब महत्त्वों के स्मरणपूर्वक नमस्कार करना चाहिये अर्थात् जो गुरु-गोविन्द को प्रणाम नहीं करते, उनके सिर व्यर्थ हैं।

(४) 'जीवत सव समान...'—उनका जीवन व्यर्थ है, क्योंकि उनके जीवन से कुछ मनुष्योचित लाभ न हुआ। मुर्दे के छूने से लोग अशुद्ध होते हैं, फिर स्नान-दान से शुद्धि होती है, वैसे हरि-भक्ति से हीनों को अपवित्र समझना चाहिये। वे मुर्दे की तरह घृणा के पात्र हैं। अन्यत्र भी—"विष्णुबिमुख श्रुति-संत-विरोधी।...जीवत सव-सम चौदह प्रानी॥" (लं० दो० ३०)।

सारांश—प्रथम हरि-कथा का न सुनना कहा गया। कथा सन्तों से प्राप्त होती है। यथा—"बिनु सतसंग न हरि-कथा।" (उ० दो० ६१)। इसलिये फिर संत-दर्शनों का न होना कहा गया। सन्त दर्शन

भी हों, पर अहंकार-वश उनके प्रणामादि न करने से भी कुछ फल नहीं होता, इसलिये फिर प्रणाम न करना कहा गया। इस प्रकार सत्संग के फल-रूप हरि-भक्ति से वंचित रह गये। यथा—"बिनु सत-संग न हरिकथा, तेहि बिनु मोह न भाग। मोह गये बिनु राम-पद, होइ न दृढ़ अनुराग ॥" (उ० दो० ६१); फलतः, मृतकतुल्य कहे गये।

इन तथा अगली दो चौपाइयों के भी अर्थ और भाव श्रीमद्भागवत में भी हैं। यथा—"बिलेबतोरुक्रमविक्रमान्ये न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य। जिह्वाऽसती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगाय-गाथा ॥ बर्हायिते ते नयने नराणां लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये ॥ जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणुं न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु ॥ तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः। न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः ॥" (स्कं० २, अ० ३, श्लो० २०-२४)।

जो नहिं करइ राम गुन गाना। जीह सो दादुर-जीह-समाना ॥६॥
कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती। सुनि हरिचरित न जो हरषाती ॥७॥
गिरिजा सुनहु राम कै लीला। सुरहित दनुजबिमोहनसीला ॥८॥

दोहा—रामकथा सुरधेनु-सम, सेवत सब-सुख-दानि।
सतसमाज सुरलोक सब, को न सुनइ अस जानि ॥११३॥

शब्दार्थ—निठुर (निष्ठुर) = दया-हीन, क्रूर। सीला (शील) = प्रवृत्त, तत्पर; यहाँ यह विमोहन का विशेषण है, अतः यही अर्थ है। बिमोहनसील = विशेष मोहित करनेवाली।

अर्थ—जो जिह्वा श्रीरामजी के गुणों का गान नहीं करती, वह मेढक की जीभ के समान है। ॥६॥ वह छाती वज्र के समान कठोर और निर्दय है, जो हरि-चरित सुनकर भी हर्षित नहीं होती ॥७॥ हे गिरिजे! सुनो, श्रीरामजी की लीला देवताओं का हित करने और दैत्यों को विशेष मोहित करनेवाली है ॥८॥ श्रीराम-कथा कामधेनु के समान है जो सेवा करने से सब सुखों को देनेवाली है। संतों का समाज सम्पूर्ण देवलोक (के समान) है, ऐसा जानकर उसे कौन न सुनेगा? ॥११३॥

विशेष—(१) 'दादुर-जीह···'—मेढक के जिह्वा होती ही नहीं। इसकी कथा यों है कि एक समय अग्निदेव रुष्ट होकर पाताल को चले गये। इनकी गर्मी से मेढक ऊपर निकल आये। इधर देव गण अग्नि की खोज में थे, मेढक से पता पा गये। तब अग्निदेव ने रुष्ट होकर मेढक को शाप दिया कि तुम्हारे जिह्वा न रहे। इसपर अन्य देवताओं ने उसे आशीर्वाद दिया कि तुम गर्मी से मर भी जाओगे तो पावस के प्रथम जल से सजीव हो जाया करोगे। यथा—"असि बर्षा दादुर मोर, भये पीन पावस प्रथम।" (अ० दो० १५१)।

(२) 'कुलिस कठोर निठुर···'—वे बड़े निर्दय हैं, अपने आत्मा का नाश करने में भी दया नहीं रखते। यथा—"ते जड़ जीव निजातम घाती। जिन्हहिं न रघुपति-कथा सुहाती ॥" (उ० दो० ५२); चाहिये तो ऐसा, यथा—"कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं।" (दो० ३०)।

(३) 'गिरिजा सुनहु राम···'—सुर से यहाँ दैवी संपत्ति और दनुज से आसुरी संपत्ति वाले

कहे गये हैं। यथा—"द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।" (गीता १६।६)। हरिभक्त लोग दैवी और हरि-विमुख आसुरी संपत्ति वाले कहाते हैं।

श्रीरामजी की लीला एक ही वस्तु है; पर अधिकारियों के भेद से गुण में भेद होता है, जैसे स्वाती का जल एक ही वस्तु है, पर पात्रों के भेद से उसके गुण भिन्न होते हैं—सीप में पड़ने से मोती होता है और केले से कपूर इत्यादि; प्रसिद्ध है। इसी तरह श्रीरामजी की लीला दैवी (सात्त्विक) प्रकृति वालों को भक्ति, वैराग्य आदि प्राप्त कराती है और राजस-तामस वृत्ति रूपी आसुरी प्रकृति वालों के हृदय में मोह की वृद्धि करती है कि वे ईश्वर को प्राकृत मनुष्य ही कहने लगते हैं। यथा—"उमा राम-गुन गूढ़, पंडित मुनि पावहिं बिरति। पावहिं मोह बिमूढ़, जे हरि-बिमुख न धर्म-रति॥" (आ० दो० १); "असि रघुपति लीला उरगारी। दनुजबिमोहनि जनसुखकारी॥" (उ० दो० ७१)। जैसे श्रीकृष्ण भगवान् का विराट् रूप देखकर अर्जुन शरणापन्न हुए और उसीको दुर्योधन ने नट का खेल माना। यहाँ शिवजी उमा को सावधान करते हैं कि देखना, पूर्व की तरह फिर न मोहित हो जाना—मोहारोपण आसुरी प्रकृतिवालों का काम है।

(४) 'रामकथा सुरधेनु···'—कामधेनु देवलोक में प्राप्त है जो देवताओं द्वारा पूजित होकर उन्हें अर्थ, धर्म, काम देती है। विचरनेवाली है, अतः, सर्वत्र प्राप्त रहती है। ऐसे ही कथा संत-समाज में प्रवृत्त रहती है, संतों में पूजित होकर उन्हें चारों फल देती है। संत-समाज विचरनेवाला है, उनके साथ कथा भी विचरती है। 'सब सुखदानि'—सब को और सब सुख देती है। 'सुरलोक सब'—स्वर्ग अनेक कहे जाते हैं—स्वः महः जनः तपः और सत्य लोक—ये सब देवलोक ही हैं। 'रामकथा सुरधेनु'—अन्यत्र भी कहा है—"रामकथा कलि-कामद गाई।" (दो० ३०)।

रामकथा सुंदर करतारी। संसयबिहग उड़ावनिहारी॥१॥
रामकथा कलि-बिटप कुठारी। सादर सुनु गिरिराजकुमारी॥२॥

अर्थ—श्रीराम-कथा सुन्दर हाथ की ताली के समान है। अतः, संशय रूपी पक्षी को उड़ानेवाली है॥१॥ श्रीरामकथा कलि-रूपी वृक्ष के लिये कुल्हाड़ी के समान है, हे गिरिराजकुमारी! इसे आदर के साथ सुनो॥२॥

विशेष—(१) 'रामकथा सुंदर···'—'करतारी' का भाव यह कि ऊपर सुरलोक की तरह सत्संग में कथा की स्थिति कही गई। सत्संग यद्यपि भूमि पर ही है, तथापि संतों की प्राप्ति दुर्लभ है। यथा—"सतसंगति दुर्लभ संसारा।" (उ० दो० १२२)। इसलिये दूसरी उपमा करताली की दी कि हाथ सबके होते हैं, वैसे रामायण भी घर-घर में प्राप्त हो सकती है। सभी अपने-अपने समाज में कह-सुन सकते हैं। इस तरह श्रोता और वक्ता दो हाथ हैं। प्रश्नोत्तर होना एवं कहना-सुनना ताली बजाना है, इससे संशय निवृत्त हो जाते हैं। ऊपर रामायण को कामधेनु कह आये, अतएव इसमें संशय-निवृत्ति की कामना से लगे रहने पर यह धीरे-धीरे अपना ज्ञान कराकर संशय मिटा देती है।

(२) 'रामकथा कलिबिटप···'—कलि के अर्थ कलह, पाप और कलियुग हैं। ऊपर संशय-रूपी पक्षी का उड़ाना कहा गया, किन्तु जबतक वृक्ष बना रहता है, पक्षी फिर भी आ बैठते हैं, वैसे यहाँ कलि (पाप) को वृक्ष कहते हैं; क्योंकि इसी के आधार से संशय रहते हैं। यथा—"तदपि मलिन मन बोध न आवा।" (दो० १०८)। इस पाप रूपी वृक्ष को ही कथा काट डालती है, यथा—"मन क्रम बचन जनित

अघ जाई। सुनइ जो कथा श्रवन मन लाई॥" (उ० दो० १२५)। यहाँ कथा—कुल्हाड़ी, वक्ता—काटनेवाला, वचन—प्रहार (चोट) और कलि—विटप है।

'सादर सुनु गिरि···'—उपर्युक्त संशय-निवृत्त एवं पाप-नाश तभी होते हैं जब कथा श्रद्धापूर्वक और मन, बुद्धि, चित्त लगाकर सुनी जाय, यही सादर सुनना है। यथा—"सुनहु तात मति मन चित लाई।" (आ० दो० १४); श्री गोस्वामीजी—"कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई।" (दो० ३४); श्री याज्ञवल्क्यजी—"भरद्वाज सादर सुनहु।" (दो० १२४)। वैसे यहाँ शिवजी ने भी कहा है; क्योंकि—"सदा सुनहिं सादर नर-नारी। तेइ सुरबर मानस अधिकारी॥" (दो० ३७)।

इस कथा-माहात्म कथन का उपक्रम—"धन्य-धन्य गिरिराजकुमारी।" पर हुआ था और यहाँ—"सादर सुनु गिरिराजकुमारी।" पर उपसंहार हुआ।

राम-नाम-गुन-चरित सुहाये। जनम करम अगनित श्रुति गाये॥३॥
जथा अनंत राम भगवाना। तथा कथा कीरति गुन नाना॥४॥
तदपि जथाश्रुत जसि मति मोरी। कहिहउँ देखि प्रीति अति तोरी॥५॥

अर्थ—(यद्यपि) श्री रामजी के सुन्दर नाम, गुण चरित, जन्म और कर्म (सब) को वेदों ने अगणित कहा है॥३॥ (क्योंकि) जिस प्रकार भगवान् श्री रामजी अनन्त हैं, उसी प्रकार उनकी कथा, कीर्ति और नाना गुण (भी अनंत) हैं॥४॥ तोभी तुम्हारी अत्यंत प्रीति देखकर; जैसा मैंने सुना है और जैसी मेरी बुद्धि है, (वैसा) कहूँगा॥५॥

विशेष—(१) 'राम-नाम गुन···'—नाम आदि पाँचो कथा में हैं, अगणित होने से अकथ्य हैं। उपसंहार में भी कहा है—"रामचरित सत कोटि अपारा। श्रुति सारदा न बरनइ पारा॥" (उ० दो० ५१)

(२) 'जथा अनंत राम···'—उपसंहार में भी कहा है—"राम अनंत अनंत गुनानी। जनम करम अनंत नामानी॥" (उ० दो० ५१); यहाँ उपर्युक्त पाँचो को भी अनंत रूप में उपमित (उपमा से युक्त) किया।

(३) 'तदपि जथाश्रुत···'—उत्तम वक्ताओं की रीति है कि वे पूर्वजों से सुनी हुई ही कथा कहते हैं। प्रमाण पूर्व दो० १०४ चौ० ४ में लिखे गये। यहाँ 'जस मति' भी लगा है। इसका भाव यह है, कि सुना तो अधिक भी है, पर मेरी बुद्धि जैसा कुछ धारण रह सकी, वैसा कहूँगा, ऐसे ही और वक्ताओं ने भी कहा है। यथा—गोस्वामीजी—"करइ मनोहर मति-अनुसारी।" (दो० ३५); याज्ञवल्क्यजी—"कहउँ सो मति-अनुहारि अब,···" (दो० ४७); भुशुंडीजी—"निज मति सरिस नाथ मैं गाई।" (उ० दो० ९०); वैसे ही शिवजी ने यहाँ कहा और उपसंहार में भी कहा है—"मैं सब कही मोरि मति जथा।" (उ० दो० ५१)।

श्री पार्वतीजी ने इन्हें—'प्रभु समरथ सर्बज्ञ···' आदि कहकर प्रश्न किया था, उसपर भी कहते हैं कि हम ऐसे होते हुए भी इन नाम आदि अनंत का वर्णन यथार्थ नहीं कर सकते। हाँ, यथामति कहता हूँ। यथा—"निज निज मति मुनि हरि-गुन गावहिं। निगम सेष सिव पार न पावहिं॥" (उ० दो० ९०)।

(४) 'कहिहउँ देखि प्रीति ···'—श्रीपार्वतीजी ने प्रश्न के पूर्व अपने श्रवण-अधिकार के विषय में तीन बातें कही थीं कि 'मैं मन-वचन-कर्म से आपकी दासी हूँ'; 'अति आरति पूछउँ' 'कहहु करि दाया'। इनमें शिवजी ने 'अति आरति' को यहाँ ग्रहण किया। उसी को अतिप्रीति कहा है। उपसंहार में भी शिवजी ने कहा है—"तव मन प्रीति देखि अधिकाई। तो मैं रघुपति-कथा सुनाई॥" (उ० दो० १२७)।

उमा प्रश्न तव सहज सुहाई। सुखद संत-संमत मोहि भाई ॥६॥
एक बात नहिं मोहिं सोहानी। जदपि मोहबस कहेहु भवानी ॥७॥
तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना ॥८॥

दोहा—कहहिं सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जे मोह - पिसाच।
पाषंडी हरि - पद - बिमुख, जानहिं झूठ न साँच ॥११४॥

शब्दार्थ—सहज सुहाई = स्वाभाविक ही सुंदर। संतसंमत = मूढ़ बनकर पूछना जिससे श्रीरामयश कहा जाय। भाई = अच्छी लगी।

अर्थ—हे उमा! तुम्हारे प्रश्न स्वाभाविक ही सुन्दर, सुख देनेवाले और संत-सम्मत हैं, (अतएव) मुझे अच्छे लगे ॥६॥ (परन्तु) मुझे (उनमें) एक बात अच्छी नहीं लगी—यद्यपि हे भवानी! तुमने मोहवश (बनकर) कहा है ॥७॥ तुमने तो यह कहा कि—'वे राम कोई और हैं जिन्हें वेद गाते हैं और मुनि जिनका ध्यान धरते हैं?' ८॥ ऐसा तो अधम लोग कहते-सुनते हैं, जो मोह-रूपी पिशाच से ग्रस्त हैं, पाखंडी हैं, हरिपद-विमुख हैं तथा झूठ और सत्य कुछ भी नहीं जानते ॥११४॥

विशेष—(१) 'एक बात नहिं मोहिं···'—शिवजी ने प्रथम इनके प्रश्नों की सराहना की। फिर उनमें एक बात निकाल आक्षेप करते हैं। इसका कारण यह है कि गिरिजा को मोह नहीं है। इन्होंने मोहवश के समान बनकर प्रश्न (पूर्वपक्ष) किया है। उत्तर में शिवजी ऐसा समाधान करें, जिससे जगत् के मोहवश जीवों का कल्याण हो, परन्तु यह अंतरंग भाव शिवजी ही जानते हैं। सर्वसाधारण लोगों को तो श्रीरामजी की निंदा का मार्ग मिल जायगा। इसलिये उसपर ऐसा कहनेवालों के लिये वाग्दंड दे रहे हैं।

(२) 'तुम्ह जो कहा राम '—श्रीपार्वतीजी ने पूर्व दो १०७ के—'प्रभु जे मुनि'...से—'अनंग-अराती।' तक श्रीराम परत्व के लिये तीन प्रमाण दिये—१—परमार्थवादी मुनियों का, २—शेष-शारदा-वेद-पुराण आदि का, ३—शिवजी का। उनमें प्रथम दो को तो यहाँ शिवजी ने वैसा ही दोहराया है, पर अपना नाम नहीं लिया। इसका भाव यह कि इन दाशरथी रामके अतिरिक्त जहाँ दूसरा राम प्रतिपादन होता हो, वहाँ मेरा नाम भी नहीं रहेगा। सहमत होना तो दूर है।

(३) 'कहहिं सुनहिं अस ·····'—अधम = पापात्मा, पुण्य-रहित। अतः, 'अधम नर' से कर्म-कांड-रहित, 'ग्रसे जे मोह-पिसाच' से ज्ञान कांड-रहित और 'हरि-पद-बिमुख' से उपासना-कांड-रहित होना जनाया; अर्थात् वे कांडत्रयहीन हैं। अतः, 'भव-साँसति' से नहीं छूट सकते। 'मोह' को पिशाच कहने का भाव यह कि जिन्हें भूत-पिशाच लगते हैं वे बावले से हो जाते हैं। यथा—"बातुल भूत-बिबस मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे॥ जिन्ह कृत महामोह-मद पाना।·······" (दो० ११४) तथा—"लागेउ तोहि पिसाच जिमि, काल कहावत मोर।" (अ० दो० ३५)।

अज्ञ अकोबिद अंध अभागी। काई-बिषय मुकुर-मन लागी ॥१॥
लंपट कपटी कुटिल बिसेषी। सपनेहु संतसभा नहिं देखी ॥२॥
कहहिं ते बेद - असंमत बानी। जिन्ह के सूझ लाभ नहिं हानी ॥३॥

मुकुर मलिन अरु नयन-विहीना । रामरूप देखहिं किमि दीना ॥४॥

शब्दार्थ—अकोविद = जो पंडित नहीं, मूर्ख । काई = मैल, मुर्चा, जंग । मुकुर = दर्पण । लंपट = व्यभिचारी । असमत = विरुद्ध । दीना = बेचारे ।

अर्थ—जो अज्ञानी, अकोविद, अंध और भाग्यहीन हैं, जिनके मन-रूपी दर्पण में विषय रूपी मुर्चा (जंग) लगा है ॥१॥ जो विशेष कर व्यभिचारी, कपटी और कुटिल हैं, जिन्होंने स्वप्न में भी संत समाज को नहीं देखा ॥२॥ जिन्हें हानि लाभ की सूझ (समझ) नहीं है, वे ही वेद-विरुद्ध वचन कहते हैं ॥३॥ दर्पण मैला है और वे नेत्ररहित हैं, इससे वे बेचारे श्रीराम-रूप को कैसे देखें ? ॥४॥

विशेष—(१) 'अज्ञ अकोविद अंध····'—इसका सम्बन्ध चौथी चौपाई—'मुकुर मलिन····' से है । 'अज्ञ' हैं अर्थात् ज्ञान विराग रूप नेत्र हीन हैं । यथा—"ज्ञान विराग नयन उरगारी।" (उ० दो० ११९) । यही 'मन मुकुर' की मलिनता है । 'अकोविद' हैं, अर्थात् शास्त्र रूपी नेत्र से हीन हैं । यथा—"सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यंध एव सः ।" (हितोपदेश) । यही नयन-विहीनता है, इन दोनों प्रकार के नेत्रों से हीन होने से 'अंध' कहे गये और इसीसे अभागी' हैं । दर्पण-रूपी मन में विषय-रूपी काई लिपटी है अर्थात् मन विषयी हो रहा है, तब राम-रूप कैसे देख पड़े ? यथा—"राम प्रेम पथ पेखिये, दिये विषय तन पीठि । तुलसी केंचुलि परिहरे, होति साँपहू डीठि ॥" (दो० ८२) । मुकुर की उत्प्रेक्षा से मन के समक्ष में ही श्रीरामजी का होना जनाया । यथा—"दूरि न सो हितू हेरु हिय ही है ।" (वि० ११५); "परिहरि हृदय कमल रघुनाथहिं ·····" (वि० २१४) । इस मुकुर-मलिनता का उपाय भी कहा गया है । यथा—"श्रीगुरु-चरन-सरोज-रज, निज मन मुकुर सुधारि ।" (अ० मं०), एवं—"गुरु-पद-रज मृदु मंजुल अंजन । ·· · तेहि करि बिमल बिवेक बिलोचन ।" (बा० १) ।

(२) 'लंपट कपटी कुटिल ·····'व्यभिचारी हैं, इसीसे कपटमय व्यवहार रहता है और बाहरी आचरण में कुटिलता रहती है, यही इसे स्वप्न में भी दिखाई देती है, क्योंकि मनुष्य-जैसा व्यवहार जाग्रत में करता है, तदनुसार ही इसे स्वप्न में दिखाई पड़ता है । इसीसे यह स्वप्न में भी संत सभा नहीं देख पाता । संत-सभा देखना कहने का कारण यह है कि संत-सभा के संग से सुधर जाता । यथा—"काक होहिं पिक बकउ मराला ।" (दो० २), तथा—"सठ सुधरहिं सतसंगति पाई" (दो० २) किन्तु संत-संग हो कैसे ? वैसे लोग ऊपर 'अभागी' कहे गये और सत्संग तो बड़े भाग्य से प्राप्त होता है । यथा—"बड़े भाग्य पाइय सत्संगा ।" (उ० दो० १२), क्योंकि—"संत संगति दुर्लभ संसारा ।" (उ० दो० १२२) ।

(३) 'कहहिं ते बेद-असंमत······'—वेद विरुद्ध वाणी यही है, जिसे श्रीपार्वतीजी ने दो० १०८ में पूर्व पक्ष रूप में कहा है ।

(४) 'लाभ नहिं हानी'—लाभ श्रीराम भक्ति है, यथा—"लाभ कि रघुपति-भगति अकुंठा ।" (लं० दो० २५), "लाभ कि किछु हरि-भगति समाना ।" (उ० दो० १११) और हानि, यथा—"हानि कि जग येहि सम कछु भाई । भजिय न रामहिं नर-तनु पाई ॥" (उ० दो० १११), तथा—"लाभ राम सुमिरन बड़ो, बड़ी बिसारे हानि ।" (दोहावली २१) ।

(५) 'राम रूप देखहिं किमि दीना ।'—उपर्युक्त उभय नेत्र ही श्रीराम रूप देखने के साधन हैं, उनसे हीन होना ही दीनता है, अतएव दया के पात्र हैं । यह दीनता माया-वश होने से है, यही आगे कहते हैं—

जिन्ह के अगुन न सगुन विवेका। जलपहिं कलपित बचन अनेका ॥५॥
हरि-माया-बस जगत भ्रमाहीं। तिन्हहिं कहत कछु अघटित नाहीं ॥६॥

शब्दार्थ—जलपहिं = बकते हैं, डींग हाँकते हैं। कलपित = मन-गढ़ंत, शास्त्र-विरुद्ध। अघटित = अयोग्य, अनुचित।

अर्थ—जिनके निर्गुण-सगुण का विवेक नहीं है, वे अनेक मन-गढ़ंत बातें बकते हैं ॥५॥ भगवान् की माया के वश में पड़कर संसार में भ्रमते हैं, उनके लिये तो कुछ भी कह डालना अनुचित नहीं ॥६॥

विशेष—(१) जिन्ह के अगुन न'''''—निर्गुण-सगुण के स्वरूप और उनके विवेक दो० २२ की चौ० १ और ४ में लिखे गये। उनके स्वरूप के विरुद्ध कहना जल्पना है। निर्गुण का प्रकट होना दो० २२ चौ० ८ में नाम-द्वारा लिखा गया है। सगुण का, यथा—"प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी।" (दो० १८४); तथा—"नेम प्रेम संकर कर देखा।'''''प्रगटे राम'''''" (दो० ७५)।

(२) 'हरि-माया-बस जगत''''''—भगवान की माया। यथा—"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया" (गीता ७।१४)। श्रीगोस्वामीजी के मत से यहाँ अविद्या माया से तात्पर्य है। यथा—"एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥" (आ० दो० १४)। ऐसा ही भुशुंडीजी ने भी कहा है। यथा—"मायाबस मतिमंद"'''से—"ते किमि जानहिं रघुपतिहिं, मूढ़ परे तम-कूप॥" (उ० दो० ७२) तक।

बातुल भूत-बिबस मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे ॥७॥
जिन्ह कृत महा-मोह-मद-पाना। तिन्ह कर कहा करिय नहिं काना ॥८॥

दो०—अस निज हृदय बिचारि, तजु संसय भजु रामपद।
सुनु गिरिराज-कुमारि, भ्रम-तम-रबि-कर बचन मम ॥११५॥

शब्दार्थ—बातुल = बावला, उन्मत्त। मद = मदिरा। मतवारे = जो नशे से पागल हों।

अर्थ—जो उन्मत्त हैं, भूतों के विशेष वश और नशे से पागल हैं, वे विचार कर वचन नहीं बोलते ॥७॥ जिन्होंने महामोह रूपी मदिरा का पान किया है, उनके कथन पर कान नहीं देना चाहिये ॥८॥ ऐसा अपने हृदय में विचार कर संदेह छोड़ो और श्रीरामजी के चरणों का भजन (सेवन) करो, हे पार्वती! भ्रम रूपी अंधकार के नाश करनेवाले सूर्य की किरणों के समान मेरे वचन सुनो ॥११५॥

विशेष—(१) 'बातुल भूत...'—'बातुल' का स्वरूप—"लंपट कपटी'''" में कहा गया, क्योंकि लंपट व्यभिचारी कामी को कहते हैं, काम वात रूप है, यथा—"काम बात कफ लोभ '''" (उ० दो० १२०); वात-वश = सन्निपात-ग्रस्त लोग बावले होकर बकते हैं और 'भूत-बिबस' का स्वरूप—"ग्रसे जे मोह पिसाच।" में हो गया, क्योंकि भूत और पिशाच एक ही हैं। रहे 'मतवारे', इनकी नशेबाजी अगली चौपाई से कहते हैं—

(२) 'जिन्ह कृत महा मोह...'—सामान्य मदिरा पीनेवाले भी नशेबाज की बातों का ठिकाना नहीं

रहता और इन्होंने तो महामोह रूपी भारी मद का पान किया है। अतः, इनकी बातों का क्या ठिकाना ?

यह प्रसंग—'ग्रसे जे मोह-पिसाच।' से उठाया और यहाँ—'महामोह मदपाना' पर समाप्त किया। इसमें पाँच बार अनुचित कथन कहा गया—१—"कहहिं सुनहिं अस अधम नर।" २—"कहहिं ते बेद-असंमत बानी।" ३—"जल्पहिं कलपित बचन अनेका।" ४—"ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे।" ५—"तिन्ह कर कहा करिय नहिं काना।" यह अंत में कहा गया। अत, इसका भाव यह है कि इस प्रकार के इन पाँचो का कहना नहीं मानना चाहिये।

(३') 'करिय नहिं काना।'—यह कथन वर्तमान काल के रूप में पार्वतीजी के प्रति है और शिवजी ने यह कथा त्रेता युग में कही है, क्योंकि—"जब जदुबंस कृष्ण-अवतारा। होइहि " (दो० ८७) से स्पष्ट है कि मदन दहन त्रेता में हुआ और फिर पार्वतीजी के ब्याह होने पर कथा प्रारम्भ हुई है। उस समय तो उपर्युक्त अधम, लंपट, कपटी आदि नहीं थे। यथा—"ऐसे अधम मनुज खल, कृतजुग त्रेता नाहिं।" (उ० दो० ४०) तब शिवजी ने 'करिय' क्यों कहा? इसका उत्तर यह है कि शिवजी तो निश्चित रूप में जानते हैं कि पार्वतीजी में शोक, मोह, संदेह, भ्रम, नहीं हैं, जो दो० ११२ में कहे गये। गिरिजाजी ने संसार के उपकार के लिये प्रश्न किया है, तदनुसार भविष्य जगत् के लिये शिवजी कह रहे हैं।

(४) 'अस निज हृदय ···'– निज हृदय अर्थात् उपर्युक्त विरुद्ध बातें आसुरी संपत्ति वालों की हैं और तुम 'गिरिराजकुमारि' हो। अत, दैवी प्रकृति की हो। फिर तुम्हें तो इन संशयात्मक बातों से अलग ही रहना चाहिये। अत., 'तजु संसय' कहा। पुन जब तक संशय रहता है, श्रीराम भजन नहीं होता। यथा—"अस बिचारि तजि संसय, रामहि भजहिं प्रबीन।" (उ० दो० ११२)। 'भ्रमतम'—क्योंकि गिरिजाजी ने कहा था—"भ्रमति बुद्धि अति मोरि।" (दो० १०८)। 'रविकर बचन'—ज्ञान सूर्य है, और ज्ञान के वचन किरणें हैं। यथा—"जासु ज्ञान-रवि भव-निसि नासा। बचन किरन मुनिकमल बिकासा॥" (अ० दो० २०५)। तथा—"सदगुरु मिले जाहिं जिमि, संसय भ्रम समुदाय।" (कि० दो० १९)।

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥१॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत-प्रेम-बस सगुन सो होई॥२॥
जो गुनरहित सगुन सोइ कैसे। जल हिमउपल बिलग नहिं जैसे॥३॥

अर्थ—सगुण और निर्गुण में कुछ भेद (अंतर) नहीं है। मुनि, पुराण, पंडित और वेद (सभी) ऐसा कहते हैं॥१॥ जो निर्गुण, रूपरहित अलक्ष्य और अजन्मा है, वही भक्त के प्रेमवश होकर सगुण होता है॥२॥ जो गुणरहित है– वही सगुण है, कैसे ? जैसे, जल और ओले में भेद नहीं है॥३॥

विशेष—(१) 'सगुनहि अगुनहि·· '—श्री पार्वतीजी का पहला प्रश्न है कि—"प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपुधारी॥" (दो० १०९)। यहाँ से उसी का उत्तर हो रहा है कि सगुण और निर्गुण दो पदार्थ नहीं हैं—एक ही है, इनमें कुछ भी भेद नहीं है। यह मैं ही नहीं कहता, किन्तु—"गावहिं मुनि ·" अर्थात् वे सब ऐसा ही गाते हैं अर्थात् मेरा मत इन सब के सिद्धान्त के अनुसार ही है। आगे भी कहेंगे—"तदपि संत मुनि बेद पुराना। जस कछु कहहिं स्वमति अनुमाना॥ तस मैं सुमुखि सुनावउँ तोही।···" (दो० ११०)

(२) 'अगुन अरूप अलख अज···'—श्री पार्वतीजी ने प्रथम—"की अज अगुन अलख गति

कोई ॥" (दो० १०७) कहकर निर्गुण को सगुण से अन्य परब्रह्म सूचित किया था, उसका उत्तर इस चौपाई में दिया कि जो गुण, रूप, लक्ष्य, और जन्म से रहित है वही भक्तों के प्रेमवश होकर सगुण अर्थात् गुण-सहित, रूप-सहित, लक्ष्य-सहित और जन्म धारी होता है। यथा—"तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहिं आन निहोरे॥" (सुं० दो० ४७)। "अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी॥" (दो० ५१); "कृपासिंधु जन-हित तनु धरहीं।" (दो० १२१); "राम भगत-हित नर-तनु-धारी। सहि संकट किय साधु सुखारी॥" (दो० २२)।

(३) 'जो गुन-रहित सगुन'''—जो गुणरहित है वही सगुण है। यही समझाने के लिये जल और ओले की एकतत्त्वता का दृष्टान्त देते हैं। बर्फ (ओला) देखने में कठोर और अत्यंत ठंढी ज्ञात पड़ती है, जल से भिन्न-सी जान पड़ती है, पर उसमें दूसरी वस्तु नहीं है—जल ही है, केवल घनीभूत होने से शीतत्व अधिक हो जाता है। ऐसे निर्गुण का ही गुण प्रकट होने से सगुण कहाता है (उपाधि-भेद से नहीं)। सगुण भी चिदानंदमय ही है —"चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥" (अ० दो० १२६); "सुद्ध सच्चिदानंदमय, कंद भानुकुलकेतु।" (अ० दो० ८७)।

जल के परमाणुओं में स्वाभाविक शीतलत्व रहता है क्योंकि जल गर्म भी रहे, तो उसके पीने से प्यास शांत होती है, (प्यास अग्नि-प्रकृतिक है), वैसे ही परमात्मा के व्यापक (निर्गुण) रूप में भी जीवों के प्रति उदारता, दयालुता आदि गुण रहते हैं। वे गुण निस्सीम होने से संकुचित ज्ञान वाले जीवों को नहीं देख पड़ते ; जैसे अत्यंत प्रकाश के कारण सूर्य का रूप देखने में चकाचौंध आ जाती है।

जैसे मनुष्य के शरीर की उत्पत्ति मलिन जल की एक बूँद से होती है। पहले उस बूँद में बुद्धि, श्रवण, नेत्र, शीश, हाथ, पाँव, रसना आदि कुछ न थे, केवल श्वेत जल ही था, व्यापक रूप भगवान् ने ही इतने आश्चर्यजनक पदार्थ पैदा किये हैं, यह उनमें कितना चातुर्य एवं जीवों पर दया है ! किसी बादशाह से करोड़ों रुपये देकर नेत्र माँगा जाय, तो न देगा, पर उदारशिरोमणि ने वह चींटी पर्यंत को दिया है ! एक पुरजे (आँख, कान आदि किसी) के बिगड़ जाने पर यदि कोई वैद्य अच्छा करता है तो लोग उसके हाथ बेदाम बिक जाते हैं और जिसने इन यंत्रों को ही बनाया एवं बिना मूल्य दिया, उसके उपकार भूले हुए हैं ! यथा—"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।" (गीता ७।२५)। कृपालु श्रीगोस्वामीजी ने भी दिखाया है, यथा "कोटिहुँ मुख कहि जाहिं न प्रभु के एक-एक उपकार।" (वि० १०२)। *जल के परमाणुओं में शीतत्व की तरह ये सब गुण श्रीरामजी में नित्य और निस्सीम हैं। जैसे वह (जल)* अमुक अमुक कारणों से हिमोपल बनकर प्रत्यक्ष होता एवं अधिक शीतत्व का परिचय देता है, वैसे भगवान् भी अमुक-अमुक हेतु बनाकर भक्तों के प्रेमवश सगुण होते हैं और अपने गुणों एवं रूपों को प्रकट करते हैं। भगवान् में गुण तो असंख्य हैं, पर जीवों के उद्धार के लिये जिन-जिन गुणों का प्रयोजन रहता है, क्रमशः उन्हीं-उन्हीं गुणों को व्यक्त करते हुए, शोभा पाते हैं। जैसे भगवान् ने अहल्या के उद्धार में अकारण कृपालुता, विश्वामित्रजी की यज्ञ-रक्षा में दया, वीर्य आदि गुण दिखाये। यथा—"फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भये जैसा॥" (कि० दो० १६)।

निर्गुण-सगुण की एकता गीता में भी कही गई है, यथा—"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्त-मूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥" (९।४)। अर्थ—मुझ अव्यक्त मूर्त्ति (सच्चिदानन्द घन परमात्मा) से यह सब जगत् व्याप्त है, (मैं सर्वत्र व्यापक हूँ) सब भूत (प्राणी) मेरे में स्थित हैं, (किन्तु) मैं उनमें स्थित नहीं हूँ।

भावार्थ—पूर्वोक्त घड़े और आम के दृष्टान्त से आम व्याप्य और घड़ा व्यापक है। घड़े में आम

की तरह व्यापक ईश्वर में जगत् स्थित है, किन्तु वह (व्यापक) जगत् में, आम में घड़े की तरह, स्थित नहीं है अर्थात् जगत् से निर्लिप्त है। भगवान् के आधार के बिना जगत् नहीं रह सकता, यही उनमें इसकी स्थिति है, परन्तु भगवान् का जगत् से कोई प्रयोजन नहीं है, यही उनका निर्लिप्तत्व एवं निर्गुणत्व है। यथा—"नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।" (गीता ३।२२)। 'अव्यक्तमूर्त्तिना' शब्द से जनाया कि यह ऐश्वर्य कोई नहीं जान पाता, क्योंकि अपरिमित है और जीवों की बुद्धि परिमित। अर्जुन ने कहा भी है—"आप स्वयं अपने को जानते हैं और कोई नहीं (आपको जान सकता)। अत, मुझ से कहिये जैसे आप सब लोकों में व्याप्त हैं।" (गीता १०।१५-१६)। तब प्रथम भगवान् ने नियामकत्व से व्यापकता कही, फिर दिव्य चक्षु देकर अपनी देह ही में सब जगत् दिखाया। ऐसे ही भुशुंडीजी को भी उदर में ही करोड़ों ब्रह्मांडों का होना दिखाया है। यही सर्व जगत् का अपने में स्थित रखना है। वे भगवान् अपनी देह की तरह सब जगत् का पालन-पोषण करते हैं, यही सगुणत्व है। फिर समय पर सबका प्रलय भी कर देते हैं, यह निर्लिप्तत्व है—यही उनका जगत् में न स्थित रहना निर्गुणत्व है।

व्यापक-रूप परमात्मा में सब गुण अव्यक्त भाव में नित्य रहते हैं, पर उन्हें न जानने से उनके हृदय में रहते हुए भी जीव दुखी रहते हैं। मनु-शतरूपा ने वेदों से जानकर उनके गुणों एवं रूप की भावना से तप किया तो उनके प्रेमवश भगवान् ने रूप एवं गुण प्रकट किये, देख भी पड़े और जन्म भी धारण किया। यही—"अगुन अरूप अलख अज जोई। ·· " का भाव है। अब लीला रूप से प्रकट किये हुए गुणों की भावना से भक्त लोग सहज में सुखी होते हैं, क्योंकि भगवान् के समक्ष भक्त जैसी भावना करते हैं, उनके प्रति वे वैसे ही प्राप्त होते हैं। यथा—"तुलसी प्रभु-सुभाव सुरतरु सों ज्यों दर्पन मुख कांति।" (वि० २११), तथा—"उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूप-कल्पना।" (श्रीरामतापनीय उ०)। तथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११)

अतः, निर्गुण-सगुण में कोई भेद नहीं है, तत्त्वत. दोनों एक ही हैं—अव्यक्त-व्यक्त भाव में दोनों की स्थिति है। जैसे उपर्युक्त गीता ९।४ में निर्गुण को अव्यक्त-मूर्त्ति कहा है, वैसे ही श्री गोस्वामीजी ने भी कहा है—"कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव। अव्यक्त जेहि श्रुति गाव॥" (लं० दो० ११२); "व्यक्तमव्यक्तगत-भेद विष्णो।" (वि० ५४)। पूर्वोक्त दो० २२ चौ० १-४ भी देखिये।

जासु नाम भ्रम-तिमिर-पतंगा। तेहि किमि कहिय बिमोह-प्रसंगा॥४॥
राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह-निसा-लवलेसा॥५॥
सहज प्रकासरूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यानबिहाना॥६॥

शब्दार्थ—तिमिर = अँधेरा। पतंगा = सूर्य। प्रसंगा = चर्चा। लवलेसा = थोड़ा भी।

अर्थ—जिसका नाम भ्रम-रूपी अँधेरे के (नाश के लिये) सूर्य के समान है, उसके विषय में मोह की चर्चा कैसे की जाय? ॥४॥ श्री रामजी सच्चिदानंद विग्रह रूपी सूर्य हैं, वहाँ मोह-रूपी रात (का अस्तित्व) कुछ भी नहीं है॥५॥ वे भगवान् (षडैश्वर्यपूर्ण) और स्वाभाविक प्रकाशरूप हैं, इसीसे वहाँ विज्ञान रूपी सबेरा (प्रातः) नहीं होता॥६॥

विशेष—(१) 'जासु नाम भ्रम···' श्री पार्वतीजी ने—'नारि बिरह मति भोरि।' कहा था, उसका उत्तर शिवजी देते हैं कि जिनके नाम के द्वारा ही भ्रमनाश हो जाता है, उनमें भ्रम होना तो बहुत

असंभव है। यथा—"हरिविषयक अस मोह विहंगा॥ सपनेहुँ नहिं अज्ञान प्रसंगा॥" (उ० दो० ७१); प्रमाण—"सेवक सुमिरत नाम सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोह-दल जीती॥" (दो० २४)।

(२) 'राम सच्चिदानंद दिनेसा।' जैसे सूर्य का उदय बतलाना नहीं पड़ता, वैसे श्रीरामजी का परब्रह्म होना उनके चरित से स्वतः प्रकट हो जाता है। परशुराम का गर्व जिनके देखते ही चला गया, रावण को काँख में दाबनेवाले बालि को जिन्होंने एक शर से मारा, इत्यादि उनके चरित्र ब्रह्मतत्त्व को स्पष्ट जनाते हैं। 'नहिं तहँ मोह निसा…' यथा—"इहाँ मोह कर कारन नाहीं। रवि-सन्मुख तम कबहुँ कि जाहीं॥" (उ० दो० ७१)। जैसे सूर्य ने कभी रात देखी ही नहीं, वैसे श्रीरामजी में कभी अज्ञान हुआ ही नहीं।

प्रथम नाम को, फिर रूप को भी, पतंग (सूर्य) कहा, क्योंकि नाम के अभ्यास से रूप का साक्षात्कार होता है, दोनों अभेद भी हैं। यथा—"न भिन्नो नामनामिनोः॥" (पद्मपुराण में शिव-वाक्य)।

(३) 'सहज प्रकास रूप…'—भगवान स्वाभाविक प्रकाश-स्वरूप हैं, अर्थात् जैसे सूर्य का प्रकाश भगवान् की सत्ता से है; यथा—"यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥" (गीता १५।१२); तथा—"सूर्यमंडलमध्यस्थं रामं सीतासमन्वितम्॥" (सनत्कुमार सं०); वैसे श्रीरामजी की प्रकाशस्वरूपता दूसरे से नहीं है, प्रत्युत वे ही सूर्य आदि के प्रकाशक हैं। यथा—"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥" (कठ० ५।१५)।

'नहिं तहँ पुनि बिज्ञान…'—पूर्व कह आये हैं कि—"तेहि किमि कहिय बिमोह-प्रसंगा।" और—"नहिं तहँ मोह-निसा लवलेसा।' अर्थात् उनमें 'अज्ञान' नहीं है। अब उनमें विज्ञान के होने का भी निषेध करते हैं, क्योंकि रात रहने पर ही सवेरा होता है, जब उनमें अज्ञान रूपी रात कभी हुई ही नहीं, तब सवेरा होना कैसे कहें, वे तो नित्य सहज प्रकाशरूप ही हैं। 'पुनि' का भाव यह कि जीव प्रथम ज्ञान-स्वरूपता से अज्ञानवश होता है, तो फिर वह विज्ञान-रूपी प्रभात भी प्राप्त करता है, श्रीरामजी में इस प्रकार पुनर्विज्ञान की आवश्यकता नहीं है।

हरष बिषाद ज्ञान अज्ञाना। जीव-धरम अहमिति अभिमाना॥७॥
राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥८॥

दोहा—पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि, प्रगट परावरनाथ।
रघुकुल-मनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नायेउ माथ॥११६॥

शब्दार्थ—अहमिति—(अहं + इति = मैं यह हूँ) = यथार्थ स्थिति, सत्स्वरूपता। अभिमान = अहंकार, जैसे मैं ब्राह्मण, मैं विद्वान्, मैं धनी आदि वृत्तियों से नाना-स्थिति, असत्स्वरूपता। परेस (पर + ईश)—परात्पर। पुराना (पुराण) = सनातन। पुरुष = पुराणपुरुष। प्रसिद्ध = विख्यात, (वेद से) प्रकर्ष रूप से सिद्ध। प्रकासनिधि = वह जहाँ से सबको प्रकाश मिलता है। प्रगट = प्रत्यक्ष, जिसे सब देखते हैं। परावर = (पर + अवर) पर = त्रिपाद्विभूति (नित्यधाम साकेत); अवर = एकपाद विभूति (अखिल ब्रह्मांड)। परावरनाथ = समस्त विभूतियों के स्वामी।

अर्थ—हर्ष-शोक, ज्ञान-अज्ञान, सद्रूपता और असद्रूपता—ये (बद्ध) जीव के धर्म हैं॥७॥ श्रीरामजी ब्रह्म, व्यापक, परमानंदरूप, परात्पर ईश्वर और सनातन हैं—यह सारा संसार जानता है॥८॥ वे पुराण-पुरुष

हैं, प्रसिद्ध हैं, प्रकाश के कोष हैं, दोनों विभूतियों के स्वामी हैं और जो रघुकुलमणि-रूप से प्रकट हुए हैं, वे ही हमारे स्वामी हैं—ऐसा कहकर शिवजी ने माथा नवाया ॥११६॥

विशेष—(१) 'हरष विषाद...'—यहाँ बद्ध जीव के लक्षण कहे गये हैं, और "ईश्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी ॥" (उ० दो० ११६) में शुद्ध जीव के लक्षण हैं। उसमें 'चेतन' से 'चित्', 'अमल' से सत् और 'सहज सुखरासी' से 'आनंद'-स्वरूपता कही गई है, वही जीव जब माया-वश होता है, तब आनंद के पर्यायी हर्ष के साथ विषाद, चित् के पर्यायी ज्ञान के साथ अज्ञान और सद्रूपता के साथ असद्रूपता भी उसमें आ जाती है अर्थात् ये द्वन्द्व जीवों में होते हैं, जैसे ज्ञानी जीव लोमश और सनकादि में क्रोध का आना कहा गया है, क्रोध अज्ञान का कार्य है। श्रीरामजी इन द्वन्द्वों से परे हैं। वे ब्रह्म हैं, लक्षण आगे कथित हैं।

(२) 'राम ब्रह्म व्यापक···'—पार्वतीजी ने समझा था—"ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर···" (दो० ५०); उनके समझाने के लिये शिवजी श्रीरामजी ही को उन लक्षणोंवाला व्यापक ब्रह्म कहते हैं।

(३) 'पुरुष प्रसिद्ध···'—जिन्हें वेदान्ती 'व्यापकब्रह्म', सांख्यवादी 'पुराणपुरुष' और योगी 'प्रकाशनिधि' कहते हैं, वे ही उभय विभूतियों के स्वामी हैं, पर (भक्त-प्रेम वश) रघुकुलमणि रूप में प्रकट हुए अर्थात् उभय विभूतियों के स्वामी होते हुए भी भक्तों के हितार्थ एक देश-विशेष अयोध्या के रघुकुल में प्रकट हुए। परात्परत्व के सब विशेषण प्रथम कहकर विशेष्य रूप 'रघुकुलमणि' कहा। यथा—"यत्परं यद्गुणातीतं यज्ज्योतिरमलं शिवम्। तदेव परमं तत्त्वं कैवल्यपदकारणम्॥ श्री रामेति ···" (श्री सनत्कुमार सं०-रामस्तवराज)। इसमें भी 'परं' आदि सब विशेषण परात्परत्व के कहकर तब 'श्री राम'—यह विशेष्य पद कहा गया है। तथा—"यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनः।" यह हनुमन्नाटक का श्लोक प्रसिद्ध है। 'रघुकुलमनि' शब्द दाशरथी रामजी का ही बोधक है, इसलिये यहीं निर्भ्रान्त विशेष्य पद दिया।

'परावरनाथ' - यथा—"पादोऽस्य विश्वा-भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।" (पुरुषसूक्त) अर्थात् ब्रह्म की पाद (चतुर्थांश) विभूति में सम्पूर्ण ब्रह्मांड है और शेष त्रिपाद (तीन-चौथाई) विभूति में उसका नित्य धाम है।

निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी ॥१॥
जथा गगन घनपटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी ॥२॥
चितव जो लोचन अंगुलि लाये। प्रगट जुगल ससि तेहि के भाये ॥३॥

अर्थ—अज्ञानी मूर्ख लोग अपना भ्रम तो समझते नहीं, (उल्टे) प्रभु (श्रीरामजी) के विषय में मोह का आरोपण करते हैं ॥१॥ जैसे आकाश में मेघों का पटल (परदा) देखकर कुविचारी लोग कहते हैं कि सूर्य ढँक गया ॥२॥ जो कोई आँख में अंगुली लगाये हुए चन्द्रमा को देखे तो उसकी समझ में दो चन्द्रमा प्रकट हुए जान पड़ते हैं ॥३॥

विशेष—(१) 'जथा गगन घन···'—उपर्युक्त चौपाई का भाव समझाने के लिये यह चौपाई उपमान-रूप में कही गई है। निर्विकार श्रीरामजी आकाशवत् हैं, घन-पटल मोह और कुविचारी अज्ञानी मूर्ख हैं। सूर्य का ढँक जाना श्रीरामजी का मोहित होना है।

वास्तव में मेघ का परदा अज्ञानी मूर्ख-रूप कुविचारियों पर रहता है न कि सूर्य पर; इसी तरह अज्ञानियों की बुद्धि में ही भ्रम है, जिससे वे यह नहीं समझ पाते कि श्रीरामजी जो श्रीजानकीजी को खोज रहे हैं, वह तो नर-नाट्य करते हैं। शिवजी तो जानते ही हैं कि गिरिजाजी ने सती-शरीर में श्रीराम-प्रभाव देखने में जान ही लिया है कि श्रीजानकी जी और श्रीरामजी का नित्य संयोग है, अतः अन्य अज्ञानियों के लिये कहते हैं। पहले भी कह चुके हैं—"कीन्हिहु प्रश्न जगत-हित लागी।" (दो० १११)

(२) 'चितव जो लोचन······'—इसमें चन्द्रमा-रूप श्रीसीतारामजी हैं. आँखों में अँगुली लगाकर देखना भ्रमात्मक बुद्धि से देखना है। दो चंद्रमा देखना श्रीसीताजी और श्रीरामजी को पृथक्-पृथक् देखना है कि वे लंका में पड़ी हैं और ये विरही होकर खोजते हैं। वास्तव में रामजी श्रीनारद-वचन पूरा करने का नाट्य कर रहे हैं, यथा—"कबहूँ जोग बियोग न जाके देखा प्रगट बिरह-दुख ताके ॥" (दो० ४८)।

इन चौपाइयों के जोड़ की चौपाइयाँ उ० दो० ७२ में—'नयन-दोष जाकहँ···' से—'नहिं अज्ञान प्रसंगा।' तक हैं।

उमा रामबिषयक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा ॥४॥

अर्थ—हे उमा ! श्रीरामजी के विषय (सम्बन्ध) का मोह ऐसा जानो, जैसे आकाश में अंधकार, धुआँ और धूल—ये सब शोभा देते हैं।

विशेष—ऊपर देखनेवालों का भ्रम कहा था। अब यहाँ दिखाते हैं कि जिन बातों को देखकर भ्रम होता है, वास्तव में वे श्रीरामजी में किस प्रकार रहती हैं?—

भुशुंडीजी को बाल-चरित में, सतीजी को वन-लीला (सीता-विरह) में और गरुड़जी को रण-लीला में मोह हुआ है। ये ही तीनो मोह क्रमशः 'तम', 'धूम' और 'धूल' कहे गये हैं। जैसे तम, धूम और धूल आकाश में देखनेवालों को देख पड़ते हैं, पर आकाश इन सब विकारों से परे है। तम आदि दर्शकों की ही दृष्टि में हैं, वैसे उपर्युक्त तीनो लीलाओं के विकार से श्रीरामजी परे हैं, चरित्र तो बाहरी स्वांग मात्र हैं। यथा—"बाहिज चिंता कीन्हि बिसेषी।" (आ० दो० २६)। जैसे तम, धूम, धूल आकाश में कारण पाकर होते हैं, वैसे श्रीरामजी में तीनो लीलाएँ कारण से हुई हैं। तम, धूम और धूल का कारण क्रम से कुहरा, अग्नि और पवन है, वैसे बाल-लीला का कारण मनु-शतरूपा का वरदान, सीता-विरह (वन-लीला) का कारण नारदजी का शाप और रण-(बंधन)-लीला का कारण युद्ध की शोभा दिखानी है। कुहरे आदि कारणों का अभाव होने से तम आदि कार्य नहीं रह जाते, वैसे उक्त तीनो लीलाओं की पूर्ति पर श्रीरामजी में भ्रम के दृश्य नहीं देख पड़ते। आकाश की तरह श्रीरामजी सदा इन कार्यों और कारणों से परे हैं, यथा—"सुद्ध सच्चिदानंदमय, कंद भानुकुलकेतु। चरित करत नर अनुहरत, संसृति-सागर-सेतु ॥" (अ० दो० ८७)।

'सोहा'—स्वांग (लीला) की शोभा यही है कि यदि वह वेष के अनुकूल हो, तो सब वाह-वाह करते हैं। यथा—"नर-तनु धरेहु"··· से—"तुम्ह जो कहहु करहु सब साँचा। जस काछिय तस चाहिय नाचा ॥" (अ० दो० १२६); तथा—"जथा अनेक वेष धरि, नृत्य करइ नट कोइ। सोइ-सोइ भाव देखावइ, आपुन होइ न सोइ ॥" (उ० दो० ७२)।

बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक ते एक सचेता ॥५॥

सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई ॥६॥
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ज्ञान - गुन - धामू ॥७॥

शब्दार्थ—करन (काया)=इन्द्रियाँ। प्रकास्य-प्रकाशक = प्रकाशित होनेवाला और प्रकाश करनेवाला। जैसे दीपक से कोई वस्तु देखा जाय, तो दीपक प्रकाशक और वह वस्तु प्रकाश्य कहावेगी। दीपक हटने से वह वस्तु (दृष्टि में) न रह जायगी। वैसे श्रीरामजी दीपक, इनकी सत्ता प्रकाश और वस्तु-रूप जगत् प्रकाश्य है।

अर्थ—विषय, इन्द्रिय, इन्द्रियों के देवता और जीव—सब एक-से-एक चेतन (स्फूर्त्त) होते हैं ॥५॥ जो सभी के परम प्रकाशक हैं, अर्थात् जिनसे सबका अस्तित्व है, वे ही अनादि (ब्रह्म) अयोध्या के स्वामी श्रीरामजी हैं ॥६॥ (अतः) जगत् प्रकाश्य है और इसके प्रकाशक श्रीरामजी हैं जो माया के अधिष्ठाता और ज्ञान-गुण के स्थान हैं ७॥

विशेष—(१) 'विषय करन ···'- ऊपर ब्रह्म को प्रकाशनिधि कहा था, उसकी प्रकाशकता यहाँ दिखाते हैं कि विषय इन्द्रियों से, इन्द्रियाँ देवताओं से और देवता जीव से सचेत हैं अर्थात् इन्द्रियों के बिना उनके विषयों की, देवताओं के बिना इन्द्रियों की और जीव के बिना देवताओं की सत्ता नहीं रह सकती। अतः, विषयों के प्रकाशक इन्द्रियगण, इन्द्रियों के प्रकाशक देवता और देवताओं के प्रकाशक जीव हैं, क्योंकि शरीर के जीव-रहित होने पर देवतागण इन्द्रियों को सचेत नहीं कर सकते। ऐसे ही देवता अपना वास हटा लें तो इन्द्रियाँ बेकार हो जायँ, और चक्षु आदि इन्द्रियों के बिना रूप आदि विषयों का अनुभव नहीं हो। यथा—"इन्द्रिय द्वार झरोखा नाना। तहँ-तहँ सुर बैठे करि थाना ॥ आवत देखहिं विषय-बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी ॥" (उ० दो० ११७)।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध, विषय हैं, क्रमशः श्रवण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका इनकी ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और दिशा, पवन, सूर्य, वरुण और अश्विनीकुमार देवता हैं। बोलना-खाना, ग्रहण करना, चलना, प्रस्राव और मल त्याग (विसर्ग) करना—ये विषय हैं, क्रमशः वाक्-मुख, हाथ, पैर, लिंग और गुदा, इनकी कर्मेन्द्रियाँ हैं और अग्नि, इन्द्र, यज्ञविष्णु (वामन), दक्ष और यम देवता हैं। 'मन' भी इन्द्रिय है, इसका विषय 'लगा रहना' और देवता 'चन्द्रमा' है। अहंकार, बुद्धि और चित्त अन्तःकरण हैं, इनके देवता क्रमशः शिव, ब्रह्मा और विष्णु और अहंता (अहंभाव) होना, निर्णय करना तथा धारणा विषय हैं।

(२) 'सबकर परम··'—उपर्युक्त (जीव, देव और इन्द्रियाँ) क्रमशः एक दूसरे के प्रकाशक हैं, पर श्रीरामजी सबके परम प्रकाशक हैं। सब एक-एक के प्रकाशक हैं, श्रीराम सबके हैं। अतः, इन्हें 'परम' कहा है। 'अनादि'- श्रीरामजी का आदि कोई नहीं है; ये त्रेतायुग से ही अवधपति नहीं हुए, किन्तु अनादि काल से हैं, श्रीरामजी का नित्यधाम साकेत भी अयोध्या ही है। (दो०१४ चौ० ३ देखिये) 'अनादि' से निर्गुणत्व का बोध होता, इसलिये 'अवधपति सोई' कहा गया।

(३) 'मायाधीस ज्ञान···'—रामजी जगत् ही के प्रकाशक नहीं हैं, किंतु जगत् की रचनेवाली माया के भी अधिष्ठाता हैं। यथा—"सो दासी रघुबीर कै" (दो० ७१)। इसपर शंका होती है कि माया के साहचर्य से उसके अज्ञान और अवगुण भी रामजी में होंगे, इसके निवारण के लिये— ज्ञान गुन धामू' कहा गया। ज्ञान—यथा—"ज्ञान अखंड एक सीताबर।" (उ० दो० ७७); गुण, यथा—"गुनसागर नागर··" (दो० २४०)।

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया ॥८॥

दोहा—रजत सीप महँ भास जिमि, जथा भानुकर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकइ कोउ टारि ॥११७॥

येहि बिधि जग हरिआश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई ॥ १ ॥
जौं सपने सिर काटइ कोई। बिनु जागे न दूरि दुख होई ॥ २ ॥

शब्दार्थ—रजत = चाँदी। भास (आभास) = झलक वा मिथ्या ज्ञान। मृषा = झूठा।

अर्थ—जिसकी सत्यता से जड़-माया मोह की सहायता से सत्य-सी जान पड़ती है ।।८।। जैसे सीप में चाँदी और सूर्य-किरणों में जल का आभास होता है; यद्यपि यह बात तीनों कालों में असत्य है, तथापि इस भ्रम को कोई हटा नहीं सकता अर्थात् भ्रम होता ही है ॥११७॥ इस प्रकार जगत् भगवान् के आश्रित रहता है, यद्यपि (भ्रम-रूप नानात्व जगत्) झूठा है, तथापि दुःख देता ही है ॥१॥ जैसे, यदि कोई स्वप्न में शिर काटे तो बिना जागे उसका दुःख दूर नहीं होता ॥२॥

विशेष- (१) यहाँ से शिवजी माया का वर्णन करते हैं। इसका स्वरूप एवं भेद आदि आ० दो० १४ में कहे गये हैं। वहाँ माया के दो भेद कहे गये हैं—एक विद्या और दूसरी अविद्या। विद्या दृष्टि से भगवान् के शरीर रूप में जानी हुई प्रकृति को 'विद्यामाया' और इससे उलटी (अविद्या) दृष्टि से वह जैसी जानी जाती है उसे 'अविद्यामाया' कहा है जो वास्तविक प्रकृति का पूर्व पक्ष है। यहाँ दोनों का पृथक्-पृथक् वर्णन-प्रसंग प्रारंभ कर प्रथम अविद्या कहते हैं, क्योंकि ऐसा ही नियम है, यथा—"ज्ञान कहइ अज्ञान बिनु, तम बिनु कहइ प्रकास। निर्गुन कहइ जो सगुन बिनु, सो गुरु तुलसी दास ॥" (दोहावली २५१)।

(२) अविद्यामाया भ्रम-रूपा है, यथा—"एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भव-कूपा ॥" (आ० दो० १४)। इसकी दुष्टता, यथा—"देखी माया सब बिधि गाढ़ी।" (दो० २०१); "तव बिषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे। भव-पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल-कर्म गुननि भरे ॥" (उ० दो० १२)। यह भ्रम से उत्पन्न होकर दुःख देती है, किस प्रकार? यही आगे कहा जाता है—

(३) 'जासु सत्यता······'—'जासु' अर्थात् उपर्युक्त सर्वप्रकाशक एवं मायाधीश श्रीरामजी हैं और उनकी सत्ता से जड़-माया सत्य-सी भासती (जान पड़ती) है। 'मोह सहाया'—अर्थात् सबको नहीं, वरन् जो मोह के वशीभूत प्राणी हैं, उन्हींको सत्य भासती है। मोह ही को अज्ञान एवं अविवेक भी कहते हैं। यथा—"जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहिं।" (अ० दो० १५१) अर्थात् देह को ही अपना रूप मानकर उसीके पालने पोसने में लगी हुई अवस्था को मोह कहते हैं। अतः, दसों इन्द्रियों का अभिमान ही मोह है। यथा—"मोह दसमौलि····· "(वि० ५८ ; अर्थात् दसों इन्द्रियों के भोक्ता होने से मोह की 'दशमुखता' है।

(४) प्रथम 'जासु सत्यता ते··' से माया कहकर उसके लिये ही—'रजत सीप···' में दृष्टांत दिया, पुनः उसी को—'येहि बिधि जग··' में जगत् कहा अर्थात् इस माया का भ्रमात्मक रूप ही जगत् है। जगत्—यथा—"सुत-वित्त-देह-गेह-नेह (स्नेह) इति जगत्" अर्थात् देह और तत्संबंधी सुत आदि (माता, पिता, भाई, स्त्री आदि) का स्नेह, एवं गेह और तत्संबंधी वित्त (पदार्थ मात्र जैसे भोजन, वस्त्र) आदि का स्नेह—यही जगत् है। देह से सुत आदि और गेह से वित्त (धन) आदि आ ही जाते हैं, यथा—"देह

जीव जोग के सखा मृषा टाँचनि टाँचो ।" (वि० २७७)। अतः, श्रीगोस्वामी जी ने 'देह-गेह-नेह' ही को जगत् कहा है, यथा—"जिव जब तें हरि तें बिलगान्यो। तबतें देह गेह निज जान्यो। मायाबस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम ते नाना दुख पायो ॥" (वि० १३६)। इसमें 'देह गेह-नेह' ही को 'मायावश' होने और फिर उसी को 'भ्रम' कहकर उसका कार्य 'नाना दुख पाना' भी कहा है। इसमें 'बिलगाने' का अर्थ यही है कि जीव हरि का शरीर था, इसने उनसे अपनी सत्ता पृथक् मानी। तथा—"जागु-जागु जीव जड़ जोहै जग जामिनी। देह-गेह-नेह जानु जैसे घन दामिनी ॥" (वि० ७४)। इसमें भी 'जग जामिनी' कहकर फिर उसे ही 'देह गेह-नेह' कहा, यथा "सुत-वित नारि भवन ममता निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी।" (वि० १४०)। इसमें स्नेह ही को ममता कहा है। "येहि जग जामिनि जागहिं जोगी।" (अ० दो० ९१)। ऐसा ही—"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥" (गीता २।६९) का भी तात्पर्य है। इसी 'देह-गेह-नेह' रूप जगत् को दार्शनिक लोग 'नानात्व रूप जगत्' कहते हैं।

(५) इस देह-गेह-नेह रूप जगत् में देह और तत्संबंधी नर, पशु आदि में सम्पूर्ण चर जगत् तथा गेह और तत्संबंधी वित्त अर्थात् फल, फूल, जौ, चना, घृत आदि में सारा अचर जगत् आ जाता है, यही इसकी 'चराचररूपता' है। तथा—"जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥ सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँधि बरि डोरी॥" (सुं० दो० ४७)। इसमें जो जननी आदि दस प्रकार की ममताएँ कही गईं, ये ही दश-दिशारूप हैं।

(६) इन सब उद्धरणों से स्पष्ट हुआ कि देह-गेह आदि को एक श्रीरामजी का शरीर न मानकर भ्रम से व्यष्टि रूप में पृथक्-पृथक् सत्तावान् मानना तथा उस-उसके किये उपकार के अनुसार ऋणी होकर आसक्ति में नाना दुःख पाना अविद्या से कल्पित नानात्व रूप जगत् है। यही भ्रम 'रजत सीप······', ये दृष्टान्त से कहा गया है।

देह-गेह-नेह के गेह-स्नेह को 'सीप-रजत' और देह स्नेह को 'भानुकर बारि' के समान मिथ्या कहा है। यहाँ दृष्टान्त में 'सीप रजत' और भानुकर बारि' हैं और दार्ष्टान्त (दृष्टान्त देकर समझाये हुए) में अचर-चर जगत् रूप श्रीरामजी हैं। चन्द्रमा की किरणें पड़ने पर खुली हुई सीपी में रजत (चाँदी) की और सूर्य की किरणें पड़ने पर बालू के मैदान में जल की भ्रान्ति होती है। श्रीरामजी सूर्य-चन्द्रमा, सत्ता रविचन्द्र-किरण और जड़-माया बालू एवं सीपी है तथा 'मोह सहाया' (मोह के वशीभूत) जीव के बुद्धि और मन हैं। चर-अचर जगत् के रूप स्पष्ट करने के लिये क्रमशः दो-दो दृष्टान्त हैं, अब दोनों को पृथक्-पृथक् दिखाते हैं।

(७) अचर जगत्—पदार्थों में स्वादादि सुख समझकर उनमें स्नेह करना अचर जगत् है, यही सीप में रजत समझना है। वस्तुतः मन का देवता चन्द्रमा है, वह जब स्वादादि की सुधा रूप किरणें फैलाता है, तब पदार्थों से सुख होता है; अन्यथा अजीर्ण में भोजनादि से स्वाद का सुख नहीं होता। उधर पदार्थों में स्वादादि सत्ताएँ भी श्रीरामजी की हैं, यथा—"रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।···" (गीता ७।८)। चन्द्रमा भी भगवान् का शरीर है। यथा—"मन ससि चित्त महान।" (लं० दो० १५); तथा—"यस्य चन्द्रस्तारकं शरीरम्।" (वृहदा० ३।७।११)। अत, श्रीरामजी चन्द्रमा के भी प्रवर्त्तक हैं। अब स्पष्ट हुआ कि मन तो प्रकृति के अंश से उत्पन्न जड़ है। उससे चन्द्रमा के द्वारा श्रीरामजी ही जीव के लिये पदार्थों के प्रति स्वाद आदि की इच्छा करवाते हैं और स्वयं जड़ पदार्थों में

भी स्वादादि रूप से सुख देते हैं। श्रीरामजी की सत्ता के बिना मन और पदार्थ जड़ ही हैं, उनके द्वारा सुख नहीं प्राप्त किया जा सकता, इसीसे माया को जड़ (जड़-माया) कहा है।

(८) जैसे देही (जीव) अपनी देह का पालन-पोषण करता है, वैसे श्रीरामजी भी जीवों का पालन करते हैं, क्योंकि जीव उनके शरीर हैं, यथा—"यस्यात्मा शरीरम्।" (बृ० ३।७।१२, मा०प० ५।७।२२)। अतः, उनका पोसा हुआ शरीर उनके (सेवा के) लिये रहना चाहिये, यथा -"देह धरे कर यह फल भाई। भजिय राम सब काम बिहाई॥" (कि० दो० २२)। इससे इन्द्रियाँ कामादि विकारों से बचेंगी। यथा—"ऊसर बरषे तृन नहिं जामा। जिमि हरिजन-हिय उपज न कामा॥" (कि० दो० १४)। तब उनमें सत्य रूप चाँदी के भूषण धारण करने के समान शोभा प्राप्त होगी। यथा—"करुना-सिन्धु भक्त-चिन्तामनि सोभा सेवतहूँ।" (वि० ८१)। यह तो हुई सत्य, चाँदी और उससे स्वार्थ सधना एवं अचर जगत् के प्रति विवेक दृष्टि। पुनः इसके विरुद्ध अविवेक (भ्रम) दृष्टि की कल्पित चाँदी (सीप-रजत) दिखाते हैं—

(६) अविद्या (अविवेक दृष्टि) से जीव मन आदि इन्द्रियों का अभिमानी हुआ और उनके द्वारा क्षुधा आदि के द्वारा स्वादकारक (भोक्ता) स्वयं बना। पदार्थों के द्वारा विषय भोगने में स्वादादि सुख पदार्थों के ही समझे। अतः, नाना वस्तुओं मे आसक्त होकर बद्ध हुआ। विषय के पदार्थ देने-दिलानेवालों में राग (प्रेम) और हरण करनेवालों में द्वेष होने लगा। यथा—"*इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।*" (गीता ३।३४); और इसीसे कामादि विकार हुए, यथा—"संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।" (गीता २।६२); इत्यादि से मलिनता एवं अशोभा हुई। जैसे सीप मे चाँदी नहीं रहती, इससे भूषण धारण करने का शोभा रूप स्वार्थ नहीं सधता, वैसे जड़ पदार्थों में स्वादादि सुख देने की शक्ति है ही नहीं जिससे सुख रूप स्वार्थ सधे। इसीसे इन विषयों के भोगने से तृप्ति नहीं होती।

अतएव, जब तक जीव अचर जगत् को श्रीरामजी का शरीर न मानकर, भ्रम से पृथक् देखता हुआ, उसके नानात्वरूप में स्नेहबद्ध है, तब तक तीनो कालों में इसका दुःख अनिवार्य है।

(१०) चर जगत्—ऊपर जो देह और तत्सम्बन्धी कुटुम्ब एवं पशु आदि में स्नेह करना 'भानु कर बारि' के समान मिथ्या कहा गया, उसी का विस्तार किया जाता है। यथा—"देह जीव जोग के सखा मृषा टाँचनि टाँचो।" (वि० १०७) अर्थात् देह-सम्बन्धी नातों का बन्धन झूठा है। यथा—"तृषित निरखि रविकर भव बारी। फिरिहहिं मृग जिमि जीव दुखारी॥" (बा० दो० ४२) अर्थात् संसार में जीव मृगवत् मोहित रहते हैं। मृग नेत्र से मोहित होकर बालू के मैदान में सूर्य-किरणों को जल की लहर के समान देखता है और हृदय से भी उन्हें जल मानकर दौड़ता है। यहाँ बालू (रेत) का मैदान *समष्टि में चर जगत् है, इसके व्यष्टिरूप में सिकता के समान अनन्त नाते हैं। यथा*—"ज्यों सर्करा मिलै सिकता महँ बल ते न कोउ बिलगावै। अति रसज्ञ सूछम पिपीलिका बिनु प्रयास ही पावै॥" (वि० १६८)। इस पद में प्रेमाभक्ति का प्रसंग है कि सिकता (बालू) रूप माता-पिता आदि सम्बन्धियों में श्रीरामजी के वात्सल्य आदि गुण शर्करा (चीनी) होकर मिले हुए हैं, चींटी के समान मुमुक्षु-प्रेमी उन उन रूपों से किये हुए उपकारों के गुणों का स्मरण करते हुए प्रेम करे। श्रीरामजी सूर्य, उनके वात्सल्य, करुणा आदि गुण किरणें और नाते सिकता-रूप हैं। मृग सूर्य और उसकी किरणों को नहीं जानता केवल रेत के आश्रय से किरणों को जल-रूप देखता है; वैसे जीव नेत्र और बुद्धि से मोहित होकर माता-पिता आदि से ही वात्सल्य-करुणा आदि गुणों का होना मान लेते हैं और प्रीति पूर्वक उन-उनके किये उपकारों के अनुसार व्यवहार करते हुए सुख की आशा मे आयु बिता देते हैं तथा मृग की तरह तीनो तापों से तपते हुए-तृष्णा रूप प्यास से व्याकुल रहते हैं एवं काल-वश होकर भी वासनानुसार उन्हीं के कुत्ता-बिल्ली आदि

होते हैं, पर मृग को जल प्राप्ति के समान जीव को अपने स्वरूप के अनुसार सुख नहीं मिलता, इसीसे स्थिरता नहीं आती। यथा—"निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा।" (उ० दो० ८९)। तृष्णा के साथ मरकर चौरासी लाख योनियों में जाना मृग के मरने के समान है। जब तक यह भ्रम नहीं मिटता, भव-दुःख तीनो कालों में अनिवार्य है।

(११) अब विवेक-दृष्टि से उसी भानुकर-आदि से सच्चा जल और उससे प्यास का बुझना भी दिखाते हैं। वस्तुतः, सूर्य उन्हीं किरणों के द्वारा सिकतामय पृथिवी का जल शोषण करके फिर मेघ-द्वारा सच्चा जल बरसाता है। यथा—"आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥" (मनु०)। वह जल यदि मृग को मिले तो उसकी प्यास निस्संदेह निवृत्त हो जाय। सूर्य भी श्रीरामजी के नेत्ररूप शरीर हैं; यथा—"नयन दिवाकर···" (लं० दो० १४)। ऐसे ही शास्त्र-दृष्टि का समष्टि ज्ञान-रूप सूर्य नाना वाक्य रूप किरणों द्वारा सिकता-रूप चर जगत् के वात्सल्यादि गुण एवं रक्षकत्वादि कार्य रूप जल का शोषण करे, यथा—"पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।" (गीता ९। १७); "जासों सब नातो फुरै तासों न करी पहिचान॥" (वि० १९०) अर्थात् इन नाना रूपों से उपकार श्रीरामजी ने ही किये हैं, इस सुख का देना उनसे मानना मानों जल का आकाश में जाना है और श्रीरामजी में ही एकत्र होना मेघ बनना है। यथा—"येहि जग में जहँ लगि यहि तन की प्रीति प्रतीति सगाई। ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहिं सिमिटि यक ठाईं॥" (वि० १०३)। अतः, संसार भर के नातों से छिटकी हुई प्रीति सिमटकर श्रीरामजी में ही एकत्र होगी। इससे भक्ति दृढ़ होगी, यही प्रेम-भक्ति जल होगी। यथा—"प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ कि जाई॥" (उ० दो० ४८)। इस जल से हृदय की मल रूप तृष्णा आदि प्यास निवृत्त होगी और परमानंद की प्राप्ति होगी। यथा—"मम गुन ग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ, परानंदसंदोह॥" (उ० दो० ४६)। तात्पर्य यह कि जबतक जीव अपने एवं सम्पूर्ण चर जगत् को श्रीरामजी का शरीर न मानकर भ्रम से अलग-अलग सत्तावान् मानता है, तब ही तक मृगतृष्णा में पड़ा है, यह भ्रम यद्यपि तीनो कालों में मिथ्या है, तथापि इसको कोई हटा नहीं सकता।

(१२) 'येहि बिधि जग हरि···'—उपर्युक्त दो दृष्टान्तों के अनुसार जगत् हरि के आश्रित रहता है। उपक्रम में—'जासु सत्यता···' कहा था, उसे ही उपसंहार में 'हरि-आश्रित' कहा। इससे सत्ता का ही अर्थ आश्रित रहना है। यथा—"मत्स्थानि सर्वभूतानि···" (गी० ९।४)। यही—"भ्रम न सकइ कोउ टारि" का कारण है, क्योंकि यद्यपि असत्य है, पर दुःख दे रहा है, यह क्यों? इसे ही दृष्टान्त के द्वारा समझाते हैं—

(१३) 'जौ सपने सिर···'—'स्वप्न'—उपर्युक्त दोहे के दोनो दृष्टान्तों में मन और बुद्धि के मोहवश होने से भ्रम की सत्यता कही गई, उसका कारण यह है कि—"मोह निसा सब सोवनिहारा। देखिय सपन अनेक प्रकारा॥" (अ० दो० ९२)। जाग्रत अवस्था की देखी-सुनी वस्तुओं का स्वल्पनिद्रा में सूक्ष्म-शरीर से अनुभव होना स्वप्न है। सूक्ष्म शरीर, यथा—"पंचप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम्। अपंचीकृतभूतोत्थं सूक्ष्मांगं भोगसाधकम्॥" (जिज्ञासापंचक) अर्थात् ५ प्राण, १० इन्द्रियाँ और मन तथा बुद्धि—इन १७ तत्त्वों से सूक्ष्म शरीर होता है। इनमें मन और बुद्धि प्रधान हैं। अतः, इस स्वल्पनिद्रा में मन और बुद्धि की निर्मलता से पूर्वकृत कर्मों के अनुसार जो—"जोग बियोग भोग भल मंदा॥ हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥" (अ० दो० ९२)—इन सब की प्रतीति होना स्वप्नवत् अविद्यामाया का व्यापार है। ऐसे स्वप्न मोह-निशा में होते हैं। मूर्च्छा आदि अवस्थाओं की तरह अर्थपरक 'मुह्-वैचित्ये' धातु के अनुसार मोह शब्द है अर्थात् जब श्रीरामजी के शरीर रूप अपने स्वरूप एवं जगत् की स्मृति

नहीं रहती, तब इस निशा में उपर्युक्त स्वप्न-व्यापार सत्यवत् होते हैं। सब पुरुषसंज्ञक (पुरुषार्थनिष्ठ) जीव समष्टि में श्रीरामजी का शरीर हैं, तब श्रीरामजी पुरुषोत्तम होने से उत्तमाङ्ग (शिर) रूप हुए, यथा—"द्वाविमौ पुरुषौ लोके'''अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥" (गीता १५। १६-१८); उन्हें अपने सबसे पृथक् समझना शिर कटना है। यथा—"आपनो हित रावरे सों जो पै सूझै। तौ कत तनु पर अछत सीस सुधि क्यों कबंध ज्यों जूझै॥" (वि० २३८) अर्थात् जगत् की नानात्व सत्ता को श्रीरामजी से भिन्न मानना अपना सिर कटना है।

(१४) 'बिनु जागे न दूरि '''—'दुख' यथा—"जिव जबते हरि ते बिलगान्यो।'''तेहि भ्रम ते नाना दुख पायो।'''भव सूल सोक अनेक जेहि तेहि पंथ तू हठि-हठि चल्यो। बहु जोनि जन्म जरा बिपति मतिमंद हरि जान्यो नहीं।" (वि० १३६)।

सम्बन्ध—यहाँ तक के इस भ्रमात्मक अविद्या माया के प्रमाण पूर्व मं० श्लोक ६ के वि० (३ ग) ('रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः' के प्रसंग) में लिखे गये। पूर्व पक्ष में अविद्या माया का स्वरूप कहा गया। आगे इसका उत्तर पक्ष पास ही करते हैं जिसमें विद्यामाया का वर्णन सिद्धान्त रूप में किया गया है; क्योंकि पूर्व पक्ष के पास ही सिद्धान्त भी कहा जाता है। यही जागने का उपाय है।

> जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई ॥ ३ ॥
> आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमानि निगम अस गावा ॥४॥
> बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना ॥५॥
> आननरहित सकल-रस-भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी ॥ ६ ॥
> तनु बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेखा ॥ ७ ॥
> असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी ॥ ८ ॥

अर्थ—जिनकी कृपा से ऐसा भ्रम मिट जाता है, हे गिरिजे! वे ही कृपालु श्रीरघुनाथ जी हैं ॥३॥ जिनका आदि और अंत किसी ने न (जान) पाया, वेद (अनादि हैं वे) भी बुद्धि की अटकल से ऐसा गाते हैं ॥४॥ कि वह (ब्रह्म) बिना पैर के चलता है और बिना कान के सुनता है एवं बिना हाथ ही के नाना प्रकार के कर्म करता है ॥५॥ वह मुख से रहित है, पर सब रसों को भोगता है, बिना वाणी के ही बड़ा योग्य वक्ता है ॥६॥ बिना शरीर के स्पर्श करता है और बिना आँख के ही देखता है, नाक के बिना ही सम्पूर्ण गंध को ग्रहण करता (सूँघता) है ॥७॥ इस प्रकार से उसकी करणी सब भाँति अलौकिक है, जिसकी महिमा कही नहीं जा सकती ॥८॥

विशेष—'जासु कृपा अस'''—ऊपर 'बिनु जागे न दूरि दुख होई' कहा है और यहाँ कृपा से दुःख मिटना कहते हैं। भाव यह कि सपनाते हुए को दूसरा कोई जगा दे, तभी उसका स्वप्नजन्य दुःख दूर होता है, वैसे श्रीरामजी इन दुखी जीवों को अपनी निष्कारण कृपा से जगाते हैं, तब इनकी जड़ बुद्धि चैतन्य होकर सर्व जगत् को श्री रामशरीर-रूप में जानती है। अहल्या-उद्धार का प्रसंग इसका चरितार्थ है। यथा—"सहस सिला ते अति जड़मति भई है। कासों कहौं कौने गति पाहनहिं दई है॥" (वि० २४३); तथा—"जानकीस की कृपा जगावती सुजान जीव जागु '''" (वि० ७४)। कृपा का कार्य—"मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्॥" (गीता ११।४७) अर्थात् जब भगवान् प्रसन्न होते हैं, तब सब

जगत् अपने शरीर (विराट् रूप) में दिखाते हैं। शरीर से किये हुए कार्य शरीरी के होते हैं। अतएव जगत् (के ऋणत्रयाधिकारियों) से किये गये उपकार श्रीरामजी के हैं। इस ज्ञान से साधक जीव तीनों ऋणों का भय छोड़ जगत् संबंध से पृथक् होकर और जगत् रूप से किये हुए उपकार-सम्बन्धी गुणों का स्मरण करके भगवान् में प्रीति करता है। यथा—"जानिय तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा ॥ होइ बिबेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ-चरन-अनुरागा ॥" (अ० दो० ९२)।

इस प्रकार वह जगत् के नातों को श्रीराम-रूप मानता हुआ माता-पितादि की यथोचित सेवा को ही श्रीरामोपासना बना लेता है।

यही (विराट् रूप का ज्ञान ही) विद्यामाया का अंग है, यथा—"*रघुपति प्रेरित ब्यापी माया ॥ सो माया न दुखद मोहिं काहीं ।*''' '' इसे ही आगे यहीं पर "हरिसेवकहिं न ब्याप अविद्या। प्रभु-प्रेरित तेहि ब्यापइ बिद्या ॥" (उ० दो० ७८) से विद्यामाया कहा है, क्योंकि जैसे यहाँ 'रघुपतिप्रेरित' और 'प्रभुप्रेरित' कहा है; वैसे ही—"*एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु-प्रेरित नहिं निज बल ताके ॥*" (आ० दो० १४)। विद्या-माया के इस प्रकट वर्णन में भी कहा गया है। इसी विद्या-माया से—"उदर माँझ''' '' से—"राम उदर देखेउँ जग नाना।" तक देखना कहकर "तहँ पुनि देखेउँ राम सुजाना। मायापति कृपाल भगवाना ॥" पर दृश्य का उपसंहार है। इससे आगे भी "देखि कृपाल बिकल मोहि, बिहँसे तब रघुबीर। बिहँसत ही मुख बाहेर, आयेउँ सुनु मतिधीर ॥" (उ० दो० ८२)। यहाँ बार-बार कृपालु एवं मायापति कहने से उपर्युक्त "जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई।" का ही चरितार्थ है। ऐसा ही कौशल्याजी का विराट् दर्शन जानना चाहिये। यह विद्या वेदों से भी परे है, यथा—"नाहं वेदैन तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥" (गीता ११।५३)। *इसी विद्यामाया का स्वरूप* आगे विराट्-रूप वर्णन के द्वारा शिवजी कहते हैं—

(२) 'आदि अंत कोउ'''—यहाँ बहुत तरह से लोग अर्थ किया करते हैं। अतः, प्रथम निर्णय करके तब भाव कहेंगे—यहाँ प्रथम ही उपक्रम में आदि-अंत-राहित्य (अभाव) कहा है, यह विराट् वर्णन की भूमिका है। यथा—"भ्रमत मोहिं कल्पांत अनेका। बीते मनहुँ कल्प सत एका ॥" (उ० दो० ८१), 'मति अनुमान निगम' से भी—यथा—"बिस्वरूप रघुबंसमनि,'''लोक कल्पना बेद कर, अंग अंग प्रति जासु ॥" (लं० दो० १४) यही कहा है। यह कल्पना और अनुमान एक ही है। अतः, वेद का 'अनुमान' भी विराट्-परक है।

इस वर्णन के अन्त (उपसंहार) में—'*महिमा जासु जाइ* ''' *से भी*—'*अजानता महिमानं* तवेदम्।' (गीता ११।४१) के अनुसार विराट्-प्रसंग है। पुन—"जेहि इमि गावहिं बेद बुध,'''" यह भी उपसंहार में कहा है। बुध, पंडित और विदुष पर्यायी शब्द हैं। विदुषों का ध्येय विराट् ही कहा है। यथा—"बिदुषन्ह प्रभु बिराटमय दीसा।" (दो० २४१) और यह प्रसंग ज्यों-का-त्यों वेद में भी विराट् प्रकरण में ही है, यथा—"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।" '''"अपाणि पादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥" (श्वे० ३।१४-१९)। अत, मानस में यहाँ विराट्-परक ही अर्थ चाहिये।

(३) 'बिनु पद चलइ'''महिमा जासु जाइ नहिं बरनी।'—बृहदा० ३।७।३ के "यस्य पृथिवी शरीरम् '''" से २३ वें मंत्र तक जल, अग्नि, वायु, आकाश आदि सम्पूर्ण जगत् को भगवान् का शरीर कहा है। शरीर से हुए कार्य शरीरी के कहे जाते हैं, वही यहाँ क्रम से कहे गये हैं। क्रम, यथा—"महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।" (गीता १३।५) अर्थात्—अव्यक्त (प्रकृति), बुद्धि, अहंकार,

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी—यह अष्टधा प्रकृति है, इसे ही भगवान् के शरीर-रूप में कहते हैं कि प्रकृति विना पैर के चलती है, क्योंकि मरने पर जीवात्मा सङ्कल्पानुसार अन्य शरीरों में प्रकृति के द्वारा ही जाता है। बुद्धि विना कान के ही सुनती है। यथा—"मति अनुमानि निगम अस गावा" ऊपर कहा है। वेद श्रुति (सुनी हुई बात) कहा जाता है। बुद्धि के देवता ब्रह्मा ही वेद के विस्तार-कर्त्ता हैं। त्रिधा (सत्त्व-रज-तम) अहंकार विना हाथ के ही अनेक कर्म करता है, जैसे सात्त्विक अहंकार (चित्त) इन्द्रियों को रचना करता है। राजस अहंकार उभय का अनुग्राहक है और तामस अहंकार से शब्द तन्मात्रादि की सृष्टि होती है। आकाश विना मुख के ही भक्षण करता है, क्योंकि सब उसी में समा जाते हैं और जल जिह्वा-विना ही सर्व (षट्) रस धारण करता है तथा व्योम विना वाणी के ही वक्ता है, क्योंकि उससे सहज ही शब्द होता है। [आकाश के साहाय्य में मुख और वाक् दो कर्मेन्द्रियाँ हैं। अतः, दोनों कही गई हैं और जल को क्रम-भंग करके यहाँ कहने का कारण यह है कि मुख में ही रसना है, उसी से वाणी और षड्रस ग्रहण दोनों कार्य होते हैं तथा जल मेघ द्वारा आकाश से गरज-गरजकर बरसाया जाता है। अतः, इससे व्योम शब्द का भी साहचर्य है। पुनः वेद अपौरुषेय (विना पुरुष की वाणी से कहा गया) है; पर प्रभु की निजी वाणी है। यथा—"मारुत श्वास निगम निज बानी।" (ल० दो० १४)] पवन विना शरीर का है, पर उसका स्पर्श सब को होता है। अग्नि विना नेत्र के देखता है और उसके प्रकाश में सब कोई देखते हैं। पृथिवी नासिका इन्द्रिय के विना ही सर्व गंध धारण करती है। यथा—"बिनु महि गंध कि पावइ कोई।" (उ० दो० ८९)।

यहाँ तक क्रम से आठो प्रकृतियाँ कही गईं, इन शरीरांगों से ब्रह्म (भगवान्) की 'करनी' अलौकिक है, क्योंकि लोक में विना इन्द्रियों के उसके कार्य नहीं देखे जाते। यह उसकी अपार महिमा है।

दोहा—जेहि इमि गावहिं वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथसुत भगतहित, कोसलपति भगवान ॥११८॥

अर्थ—जिसे इस प्रकार से वेद और पंडित लोग गाते हैं तथा मुनि जिसका ध्यान धरते हैं, वे ही श्रीदशरथजी के पुत्र भक्तों के हित करनेवाले अयोध्या के स्वामी भगवान् हैं ॥११८॥

विशेष—(१) यह दोहा विराट्-वर्णन का उपसंहार है। इसका भाव यह कि विराट् रूप में जगत ही भगवान् का शरीर है। वे अयोध्या के एक व्यक्तिविशेष के पुत्र हुए, यह क्यों? इसका उत्तर 'भगत-हित' से दिया गया है कि भक्तों के हित के लिये लीला करनी है। यथा—"सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जनहित तनु धरहीं॥" (बा० दो० १११)। अर्थात् भगवान् में असंख्य गुण हैं, पर लीला में वही-वही गुण क्रमशः दिखाते हैं, जिनसे भक्तों का उद्धार हो, यथा—"यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके। तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥" (गीता २।४६)। 'कोसलपति भगवान'—का भाव यह कि यहाँ के परिमित स्थल में परिमित रूप में भी आप षडैश्वर्य युक्त हैं। षडैश्वर्य के उदाहरण—

ऐश्वर्य—"राम-राज नभगेस सुनु, सचराचर जग माहिं। काल कर्म सुभाव गुन, कृत दुख काहुहि नाहिं॥" (उ० दो० २१)।

धर्म—"चारिहु चरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं॥" (उ० दो० २८)।

यश—"हम तव सगुन जस नित गावहीं।" (उ० दो० १२); यह वेद स्तुति है।

श्री—"रमानाथ जहँ राजा,"'अनिमादिक सुख संपदा, रही अवधपुर छाय।" (उ० दो० २१)।
ज्ञान—"धर्म तड़ाग ज्ञान विज्ञाना। ये पंकज विकसे विधि नाना।।" (उ० दो० ३०)।
वैराग्य—"सुख संतोष विराग विवेका। बिगत सोक ये कोक अनेका।।" (उ० दो० ३०)।

(२) श्री रामजी प्रथम श्री दशरथजी के पुत्र हुए, तब इन्होंने लीला करके भक्तों का कल्याण किया और अयोध्या के पति होकर षडैश्वर्य भी दिखाये कि मुझे जानकर भक्त लोग प्रीति-पूर्वक मेरा भजन करें। यथा—"यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्। स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥" (गीता १५।१९)। 'भगवान' पद का प्रयोग प्रायः भक्तों के हितार्थ ही होता है। यथा—"व्यापक विश्वरूप भगवाना।" सो केवल भगतन हित लागी।" (दो० १२); "भगतबछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना।।" (बा० दो० १९५); "भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनुभूप।।" (उ० दो० ७२)।

(३) विद्यामाया, यथा—"एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभुप्रेरित नहिं निज बल ताके।।" (आ० दो० १४) अर्थात् एक (विद्या) जिसके वश में गुण हैं, वह जगत् की रचना करती है, पर प्रभु की प्रेरणा से ही करती है, उसके अपना बल नहीं है। यथा—"लवनिमेष महँ भुवननिकाया। रचइ जासु अनुसासन माया।।" (दो० २२७)। 'गुन बस'—वह त्रिगुणात्मिका है—'प्रभुप्रेरित नहिं निज बल ताके।' यथा—"मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।।" (गीता ९।१०); अर्थात् जैसे कोई अपने जड़ हाथ-पैरों से प्रेरणा-द्वारा कार्य करे, वैसे भगवान् भी अपनी शरीररूपिणी प्रकृति द्वारा जगत्-रचना का कार्य करते हैं। अतएव भगवान् के शरीर-रूप में प्रकृति को जानना विद्यादृष्टि रूपा विद्यामाया है, यही सिद्धान्तरूपा माया है जो जीवों के अविद्यामाया से उत्पन्न भ्रम छुड़ाने के लिये है। यह स्वरूप से अनित्य और प्रवाह से नित्य है, यथा—"पल्लवत फूलत नवल नित संसारबिटप नमामहे।" (उ० दो० १२); इसमें 'नवल नित' से प्रवाहतः नित्य संसार भगवान् के शरीर-रूप में कहा गया है।

जगत् को पृथक्-पृथक् सत्तावान् (नानात्व रूप में) देखना अविद्या है और उसे श्रीरामजी के शरीर-रूप में देखते हुए, अपने को भी उनके शरीर-रूप में ही, किन्तु और जीवों से भिन्न देखना विद्या है। इससे जगत् के द्वारा किये हुए उपकारों को श्रीरामजी के किये उपकार जानकर प्रीतिपूर्वक भजन होता है। यथा—"सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत।।" (कि० दो० ३)। मंगल श्लोक ६ भी देखिये।

इस विराट्-रूप-वर्णन में 'मति अनुमानि निगम अस गावा।' उपक्रम है और 'जेहि इमि गावहिं वेद बुध' उपसंहार है।

कासी मरत जंतु अवलोकी। जासु नामबल करउँ बिसोकी॥ १॥
सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुबर सब उर अन्तरजामी॥ २॥

अर्थ—जिनके नाम के बल से मैं काशी में मरते हुए जन्तु (जन्म लेनेवाले जीव मात्र) को देखकर विशोक (मुक्त) करता हूँ॥१॥ वे ही हमारे स्वामी (इष्टदेव) हैं और चराचर (जगत्) के स्वामी हैं, उनका नाम रघुवर है। वे सबके हृदय की जाननेवाले हैं॥२॥

विशेष—(१) 'कासी मरत जंतु'''—यथा—"महामंत्र जोइ जपत महेसू।'''" (दो० १८) देखिये, तथा—"जासु नाम बल संकर कासी। देत सबहि सम गति अबिनासी।।" (कि० दो० १)।

(२) 'सोइ प्रभु मोर'''—केवल औरों को ही मुक्ति देने के लिये उपदेश नहीं देता, वरन्

मैं भी इष्ट माने हुए उन्हीं को जपता हूँ। वे ही चराचर के स्वामी और अंतर्यामी अर्थात् परात्पर ब्रह्म हैं।

श्रीगिरिजाजी ने मुनि, वेद और शिवजी—इन तीनों की सिद्धान्त-एकता में ही ब्रह्म का निश्चय माना है, यथा—"प्रभु जे मुनि परमारथबादी।" "सेष सारदा बेद पुराना।···" "तुम्ह पुनि राम-राम दिन-राती।···" (दो० १०७); उन्हीं तीनों के प्रमाणों से यहाँ शिवजी ने समाधान किया है। यथा—"जाहि धरहिं मुनि ध्यान।" "जेहि इमि गावहि बेद···" "सोइ प्रभु मोर।"

बिबसहु जासु नाम नर कहहीं। जनम अनेक रचित अघ दहहीं ॥ ३ ॥
सादर सुमिरन जे नर करहीं। भववारिधि गोपद इव तरहीं ॥ ४ ॥

अर्थ—विवश होने पर भी जिन (ईश्वर) का नाम मनुष्य कहते हैं, तो उनके अनेक जन्मों के बटोरे हुए पाप जल जाते हैं ॥३॥ और जो मनुष्य आदरपूर्वक स्मरण करते हैं, वे तो भवसागर को गाय के खुर की तरह तर जाते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'बिबसहु जासु नाम···'—विवश, जैसे यवन, अजामिल आदि ने यमदूतों के भय से पुत्र के बदले तथा शूकर का धक्का लगने पर किसी प्रकार 'राम' शब्द मुख से निकाला। 'दहहीं' यथा—"जासु नाम पावक अघतूला।" (अ० दो० २४७) अर्थात् जैसे अग्नि रूई को तुरत भस्म कर देता है, वैसे ही रामजी का नाम पापों को जला डालता है।

(२) 'सादर सुमिरन जे...'—इससे जाना गया कि पूर्व के 'बिबसहु' वाले अनादरवाले हैं। अनादर और सादर का भाव, यथा—"आँधरो अधम जड़ जाजरो जरा जवन सूकर के सावक ढका ढकेल्यो मगमैं। गिर्यो हिये हहरि 'हराम हो हराम हन्यो' हाय हाय करत परी गो काल फँग मैं॥ तुलसी बिसोक ह्वै तिलोकपति लोक गयो, नाम के प्रताप बात बिदित है जग मैं। सोइ राम नाम जो सनेह सों जपत जन ताकी महिमा मोपै कही क्यों जाति अगमैं॥" (क० उ० ७६)। इसमें प्रथम के तीन चरणों में विवश एवं निरादर-पूर्वक स्मरण और चौथे चरण में सादर का उदाहरण है।

यहाँ तक नामपरत्व की चार अर्द्धालियों में प्रथम दो में श्रवण का और पिछली दो में कथन का माहात्म्य बराबर रूप में कहा गया है। 'विशोक होना' और 'भव सागर तरना' एक ही हैं।

ऊपर "जेहि जाने जग जाइ हेराई।" (दो० १११) में ज्ञान-दृष्टि कही गई है और यहाँ—"भव बारिधि गोपद इव..." से भक्तों की दृष्टि कही, क्योंकि सादर स्मरण भक्त ही करते हैं। प्रीति-पूर्वक स्मरण करना सादर है। ऊपर का कवित्त देखिये अर्थात् जानने मात्र में तो जगत् श्रीरामजी का शरीर होने से उन्हीं में हेराय (लीन हो) जाता है। फिर "मैं सेवक, सचराचर, रूप स्वामि भगवंत" (कि० दो० ३) की दृष्टि से भजन करते समय प्रारब्ध-क्षय पर्यंत जगत् का अल्प संसर्ग रहता है, वह भी भजन के साथ आनंद-पूर्वक समाप्त होने से गाय के खुर के समान ही कहा जाता है।

राम सो परमातमा भवानी। तहँ भ्रम अति अबिहित तव बानी ॥५॥
अस संसय आनत उर माहीं। ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं ॥ ६ ॥

अर्थ—हे भवानी ! वे ही परमात्मा श्रीरामजी हैं, उनके विषय में तुम्हारे भ्रम के वचन अत्यन्त अयोग्य हैं ॥५॥ ऐसा संदेह हृदय में लाते ही ज्ञान-वैराग्यादि सब गुण चले जाते हैं ॥६॥

विशेष—(१) राम सो परमात्मा'''—ऊपर 'राम ब्रह्म व्यापक...' में ज्ञान-दृष्टि, 'कोसलपति भगवान' में भक्ति-दृष्टि और यहाँ 'सो परमातमा' में योग-दृष्टि है, क्योंकि ईश्वर को ज्ञानी 'ब्रह्म', भक्त 'भगवान्' और योगी 'परमात्मा' कहते हैं।

(२) 'अस संसय आनत '—श्रीरामजी का निश्चय होने पर ही उनके लिये सबका त्याग होने से वैराग्य होता है और फिर ज्ञान होता है। श्रीरामजी ही ज्ञान-वैराग्य के स्थान हैं। यथा—"ज्ञान बिराग सकल गुन अयना।" (दो० २०५)। उनमें संदेह होने से ये गुण कैसे रह सकते हैं? ध्वनि से यह शिवजी का शाप सिद्ध होता है।

यहाँ तक "अजहूँ कछु संसय मन मोरे।" (दो० १०८) के उत्तर में श्रीरामजी का परात्परत्व दाशरथी (दशरथकुमार) स्वरूप में ही कहा गया।

सुनि सिव के भ्रमभंजन बचना। मिटि गइ सब कुतर्क कै रचना ॥ ७ ॥
भइ रघुपति-पद-प्रीति-प्रतीती। दारुन असंभावना बीती ॥ ८ ॥

दोहा—पुनि पुनि प्रभु-पद-कमल गहि, जोरि पंकरुहपानि।
बोलीं गिरिजा बचन बर, मनहुँ प्रेमरस सानि ॥११९॥

शब्दार्थ—रचना = गढ़न्त, स्थिति। दारुन = अति कठिन, भयंकर। असंभावना—(संभावना = कल्पना-अनुमान, अ उपसर्ग यहाँ दूषित अर्थ में आया है, जैसे—अभागा, अकाल)= दूषित कल्पना (यह कि परब्रह्म का नर-देह धारण करना असंभव है, अतः नर ही मानना), इसमें उनका अनादर है। यथा—"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानंतो मम भूतमहेश्वरम् ॥" (गीता० ९।११)।

अर्थ—श्री शिवजी के भ्रमनाशक वचन सुनकर (उमा की) सब कुतर्कों की स्थितियाँ मिट गईं ॥७॥ श्री रघुनाथजी के चरणों में उनकी प्रतीति और प्रीति हुई तथा अति कठिन अनुचित कल्पना भी दूर हो गई। ॥८॥ बारंबार प्रभु (शिवजी) के चरण-कमलों को पकड़कर और अपने कर-कमलों को जोड़कर श्री पार्वतीजी श्रेष्ठ वचन, मानों प्रेमरस में सानकर, बोलीं ॥११९॥

विशेष—(१) 'सुनि सिव के भ्रम''''''—शिवजी ने पूर्व ही प्रतिज्ञा (उपक्रम) की थी—"भ्रम तम रबिकर बचन मम।" (दो० ११५), उसी का यहाँ तक चरितार्थ (उपसंहार) हुआ। 'कुतर्क कै रचना'—यथा—"सो कि देह धरि होइ नर" (दो० ५०); "जौं नृपतनय तो ब्रह्म किमि" (दो० १०८)। पूर्व इन्हें अपार संशय हुआ। यथा—"अस संसय मन भयेउ अपारा।" (दो० ५०) इसीसे बहुत कुतर्कों की रचना (सृष्टि) भी हुई, क्योंकि संशय कारण और कुतर्क कार्य है। यथा—"संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता। दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता ॥" (उ० दो० ९३) अर्थात् सर्प काटने पर विष चढ़ने से लहरें आती हैं, वैसे संशय होने पर कुतर्कणाएँ होती हैं। ऊपर चौपाई में संशय रूप कारण और इसमें उसके कार्य निवृत्त हुए।

(२) 'भइ रघुपति पद ···'—संशय निवृत्त हुआ और श्रीरामजी का स्वरूप जान पड़ा। यथा—"राम सरूप जानि मोहि परेऊ।" आगे ही कहती हैं। यही प्रतीति और प्रीति का कारण है। यथा—"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥" (उ० दो० ८८)। 'दारुन असंभावना बीती'—प्रतीति होने से असंभावना की और प्रीति होने से दारुण असंभावना की निवृत्ति स्पष्ट हुई। प्रतीति से भावना और प्रीति से संभावना हुई। ऐसे ही कुतर्क की रचना मिटने में असंभावना का मिटना है। ब्रह्म में नरबुद्धि लाकर जो उसका अनादर होता है, उस भ्रम के मिटने में दारुण असम्भावना की निवृत्ति हुई।

(३) 'पुनि पुनि प्रभुपद ···'—बार-बार चरण पकड़ना कृतज्ञता में है। यथा—"मो पहिं होइ न प्रतिउपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा।" (उ० दो० ११४)—यह गरुड़जी ने कहा है। बारबार चरण पकड़ना प्रेम की अधिकता से भी है। यथा—"पुनि-पुनि मिलति परति गहि चरना। परम प्रेम कछु जाइ न बरना॥" (दो० १०१)।

उमाजी की प्रीति मन, वचन और कर्म से शिवजी में प्रकट हुई, यथा—"प्रेमरस सानि"—मन, "बोलीं"—वचन और 'पद गहि' एवं 'जोरि पानि' से कर्म स्पष्ट है।

'गिरिजा'—क्योंकि गिरि (पहाड़) की तरह प्रीति अचल हो गई।

ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥ १॥
तुम्ह कृपाल सब संसय हरेऊ। रामसरूप जानि मोहि परेऊ॥ २॥
नाथ कृपा अब गयेउ बिषादा। सुखी भइउँ प्रभु-चरन-प्रसादा॥ ३॥

शब्दार्थ—सरदातप = शरद ऋतु के चित्रानक्षत्र में स्थित सूर्य का घोर ताप जिससे मृग काले पड़ जाते हैं।

अर्थ—चन्द्रमा की किरणों के समान आपके वचनों को सुनकर मेरा (भारी) मोह रूपी भारी शरदातप मिट गया॥१॥ हे कृपालो! आपने सब संदेह हर लिये, मुझे श्रीरामजी का स्वरूप (यथार्थ) समझ पड़ा॥२॥ हे नाथ! आपकी कृपा से अब दुःख निवृत्त हुआ और हे प्रभो! आपके चरणों की प्रसन्नता से मैं सुखी हुई॥३॥

विशेष—(१) 'ससिकर सम···'—पूर्व में कहा था—"आनन सरदचंद-छबिहारी॥" (दो० १०५) एवं "ससिभूषन अस हृदय बिचारी। हरहु नाथ मम मति-भ्रम भारी॥" (दो० १०७)। अतः, यहाँ वचनों को 'ससिकर' कहा, इसमें मुख चन्द्रमा और वचन किरणें हैं। कथा-पूर्त्ति पर भी कहेंगी, यथा—"नाथ! तवानन ससि स्रवत, कथा सुधा रघुबीर।" (उ० दो० ५२)।

पूर्व शिवजी ने इन्हीं वचनों को रवि-किरण कहा था, यथा—"भ्रमतम रबिकर बचन मम।" (दो० ११५) और यहाँ गिरिजाजी ने 'ससिकर सम' कहा। भाव यह—(क) भ्रम को तम कहा, इस सम्बन्ध से वचन को 'रविकर' कहा और यहाँ मोह को 'सरदातप' कहा, अतः, वचन को 'ससिकर' कहा। अंधकार रात का और ताप दिन का विकार है अर्थात् रात दिन के दुःख दूर हुए। (ख) शिवजी ने इनके भ्रम की निवृत्ति के लिये ही उक्त वचन कहे। श्रीपार्वती ने भ्रम-निवृत्ति के साथ आह्लाद का भी अनुभव किया, इसीसे 'ससिकर सम' कहा। चन्द्रमा की किरणें अंधकार को दूर करती हुई आह्लादकारक भी होती हैं। पार्वतीजी ये ही दोनों गुण क्रमशः आगे की दो अर्द्धालियों से प्रकट करती हैं, यथा—"तुम्ह कृपाल सब संसय हरेऊ। ···" यह अंधकार का दूर होना है और—"नाथ कृपा अब सुखी भइउँ ···" यह आह्लाद पाना है।

(२) 'तुम्ह कृपाल सब संसय'''—श्रीपार्वतीजी ने प्रथम संशय-हरण ही के लिये कृपा करने की प्रार्थना की थी। यथा—"अजहूँ कछु संसय मन मोरे। करहु कृपा बिनवउँ कर जोरे॥" (दो० १०८)। उसीका फलितार्थ स्वरूप यहाँ कहा है। संशय के रहते हुए श्रीराम-स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता और न विषाद ही दूर होता है। यथा—"प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा॥ उपजा ज्ञान बचन तब बोला।''' मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा॥" (कि० दो० ६) अर्थात् सुग्रीवजी ने परीक्षा द्वारा संशय-निवृत्त किया, तब राम-स्वरूप में प्रतीति और प्रीति हुई तथा उनका विषाद दूर हुआ। वैसे ही यहाँ भी—'नाथ कृपा ''''' से कहा है।

अब मोहि आपनि किंकरि जानी। जदपि सहज जड़ नारि अयानी॥ ४॥
प्रथम जो मैं पूछा सोइ कहहू। जौं मो पर प्रसन्न प्रभु अहहू॥ ५॥

अर्थ—यद्यपि मैं स्वाभाविक ही जड़ (नासमझ) हूँ, फिर भी स्त्री और ज्ञानहीन हूँ तो भी मुझे अपनी दासी जानकर अब॥४॥ हे प्रभो! यदि मुझपर आप प्रसन्न हैं तो मैंने जो पहले पूछा है, वही कहिये॥५॥

विशेष—(१) 'अब मोहि आपनि...'—प्रथम ही श्रीपार्वतीजी ने दासी होने से कथा-श्रवण में अपना अधिकार कहा था। यथा—"जदपि जोषिता नहिं अधिकारी। दासी मन क्रम बचन तुम्हारी॥" (दो० १०६)। वही हेतु यहाँ भी है। फिर श्रीमैनाजी ने भी वर माँगा था—"नाथ उमा मम प्रान-प्रिय, गृह-किंकरी करेहु। छमहु सकल अपराध अब, होइ प्रसन्न बर देहु॥" (दो० १०१), उसी का स्मरण कराते हुए 'किंकरी' कहा। अपने में नीच अनुसंधान की दृष्टि से 'जड़, अयानी' कहा कि मैं जड़ पर्वत से उत्पन्न हूँ, तो सहज जड़ होना युक्त ही है और स्त्री होने से अज्ञानी होना भी योग्य ही है, यह कथन शिवजी के कहे हुए—"अज्ञ अकोबिद अंध..." (दो० ११४) आदि वचनों पर है।

(२) 'प्रथम जो मैं पूछा...'—जो पूर्व में प्रश्न कहा गया—"प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपुधारी॥" (दो० १०६); उसी का स्मरण कराती हैं। 'जौं मो पर प्रसन्न...' प्रसन्नता का अनुमान शिवजी के इन वचनों पर है कि—"धन्य धन्य गिरिराजकुमारी।'''राम कृपा ते पारवति, सपनेहु .." (दो० ११२)।

राम ब्रह्म चिन्मय अबिनासी। सर्बरहित सब-उर-पुर-बासी॥ ६॥
नाथ धरेउ नरतनु केहि हेतू। मोहि समुझाइ कहहु बृषकेतू॥ ७॥

अर्थ—श्रीरामजी ब्रह्म हैं, वे ज्ञानमय, अविनाशी, सबसे निर्लेप और सबके हृदय-रूपी पुर में रहनेवाले हैं॥६॥ हे नाथ! उन्होंने नर-शरीर किस लिये धारण किया? हे वृषकेतु (शिवजी)! (यह) मुझे समझाकर कहिये॥७॥

विशेष—(१) 'राम ब्रह्म चिन्मय'''—जो ज्ञानमय स्वरूप हैं, वे स्थूल शरीर धारी क्यों होंगे? ब्रह्म अर्थात् बृहत् हैं, यथा—"अखंडमंडलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।" वह एक देशीय और एक छोटी-सी देह क्यों धारण करेंगे? जो अविनाशी हैं, वे नाशवान् प्राकृत देहधारी कैसे होंगे? जो सर्वरहित

हैं, वे किसी के मित्र, शत्रु आदि क्यों होंगे? जो सबके हृदय के वासी हैं, वे एक के घर में आकर क्यों बसेंगे?

(२) 'नाथ धरेउ नर-तनु ···'—उपर्युक्त गुणविशिष्ट का नर-तन (पांचभौतिक शरीर) धरना बड़ा भारी आश्चर्य है, यह मेरी समझ में नहीं आता। अतः, मुझे समझाकर कहिये। 'वृषकेतू' आप धर्मध्वज हैं, मैं आपकी दासी हूँ, जड़-अज्ञ आदि हूँ, मेरा अज्ञान दूर करना आपका धर्म है।

'समुझाइ कहहु'—इसीसे शिवजी चार कल्पों के हेतु लेकर समझावेंगे। उनमें तीन कल्पों में तो विष्णु-नारायण का चतुर्भुज से नराकार द्विभुज-रूप धारण करना और उससे प्राकृत नरवत् लीला करना तथा एक कल्प में अपने अनन्य भक्त मनु-शतरूपा के वरदान की पूर्ति के हेतु एवं भानुप्रताप के रावण होने पर उससे संसार के उद्धार के लिये अपने नित्य द्विभुज किशोर-विग्रह में ही प्राकृत मनुष्य के समान शिशु, बाल, पौगंड आदि अवस्थाओं की लीला एवं और भी अनेक नर-नाट्य करना नर-शरीर धरने का तात्पर्य होगा।

उमाबचन सुनि परम बिनीता। रामकथा पर प्रीति पुनीता ॥ ८ ॥

दोहा—हिय हरषे कामारि तब, संकर सहज सुजान।
बहु बिधि उमहिं प्रसंसि पुनि, बोले कृपानिधान ॥

अर्थ—तब श्रीपार्वतीजी के परम नम्र वचन सुनकर और श्रीराम-कथा में उनकी पवित्र प्रीति देखकर ॥८॥ काम के शत्रु, स्वाभाविक सुजान शिवजी हृदय में प्रसन्न हुए और बहुत तरह से उमा की प्रशंसा करके वे कृपानिधान फिर बोले ॥

विशेष—(१) 'उमा बचन सुनि ··'—'परम बिनीता' यथा—"अब मोहिं आपनि किंकरि जानी। जदपि सहज जड़ नारि अयानी ॥" एवं और भी नाथ! प्रभु! आदि सम्बोधन नम्रतासूचक हैं। 'प्रीति पुनीता'—निःस्वार्थ भाव से कथा सुनने के लिये ही प्रश्न किये हैं, साथ ही जगत् के उपकार पर भी दृष्टि है। इसीलिये प्रीति को पवित्र कहा है। यथा—"सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई ॥" (अ० दो० ३००) एवं—"भाइहि भाइहि परम समीती। सकल दोष छल-बरजित प्रीती ॥" (दो० १५२)। उमा के प्रश्नों में अपनी विद्वत्ता दिखानी आदि दोष नहीं हैं, इससे भी प्रीति 'पुनीत' है।

(२) 'हिय हरषे कामारि ··'—छलहीन एवं पवित्र प्रीति-युक्त वचनों से हर्ष होता ही है। यथा—"सबके बचन प्रेम-रस साने। सुनि रघुनाथ हृदय हरषाने।" (उ० दो० ४६)। ऐसे ही यहाँ भी गिरिजा के वचन हैं, यथा—"बोलीं गिरिजा बचन बर, मनहुँ प्रेम रस सानि ॥" (दो० ११६)। यहाँ शिवजी के विशेषण साभिप्राय हैं। 'कामारि'—हर्ष पार्वतीजी के रूप पर मोहवश नहीं है, किन्तु 'राम कथा पर प्रीति पुनीता' देखकर ही है। वक्ता को ऐसा ही निष्काम भी होना चाहिये। 'संकर'—उमा के भ्रम दूर करके उनके द्वारा जगत् का कल्याण करते हैं। 'सहज सुजान'—श्रोता के हृदय के मर्म को सहज ही जान लेनेवाले हैं। यथा—"राम सुजान जानि जन जी की।" (अ० दो० ३०१)। इसीसे गिरिजाजी के भी हार्दिक प्रेम को जान लिया। यथा—"अंतर प्रेम तासु पहिचाना। मुनि-दुर्लभ-गति दीन्ह सुजाना ॥" (आ० दो०

२६)। 'कृपानिधान'—क्योंकि अपने मानस का परम रहस्य कृपा करके, सुनाते हैं। यथा—"संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा ॥" (दो० ३१)।

(३) 'बहु बिधि उमहि प्रससि'''' पूर्व—"धन्य धन्य गिरिराजकुमारी ''"—से—"राम-कृपा ते पारबति'' " (दो० ११२) तक में कह आये। उसी के अनुसार 'बहु बिधि' वाली प्रशंसा समझ लेनी चाहिये। यहाँ उसे न दुहराकर संकेत कर दिया। यह काव्य का चमत्कार है। 'पुनि' शब्द को दीप-देहली रूप में लेने से यह प्रशंसा भी स्वयं आ जाती है।

सोरठा—सुनु सुभ कथा भवानि, रामचरितमानस बिमल।
कहा भुसुंडि बखानि, सुना बिहगनायक गरुड़॥
सो संवाद उदार, जेहि बिधि भा आगे कहब।
सुनहु राम-अवतार, चरित परम सुन्दर अनघ॥
हरिगुन नाम अपार, कथारूप अगनित अमित।
मैं निज मति अनुसार, कहउँ उमा-सादर सुनहु॥१२०॥

शब्दार्थ—उदार=बड़ा, श्रेष्ठ, दानशील। अनघ=निष्पाप एवं पापनाशक।

अर्थ—हे भवानी! निर्मल रामचरितमानस की मांगलिक कथा सुनो, जिसे श्री काकभुशुंडीजी ने विस्तार-पूर्वक कहा है और पक्षियों के स्वामी गरुडजी ने सुना है। वह उदार (भुसुंडि-गरुड़) संवाद जिस प्रकार हुआ, वह मैं आगे कहूँगा। अभी श्रीरामजी के परम सुन्दर, निष्पाप एवं पाप-नाशक अवतार और चरित सुनो। भगवान् के गुण, नाम, कथा और रूप—सभी अपार, अगणित और अमित हैं; मैं अपनी बुद्धि के अनुसार कहूँगा, हे उमा! आदर के साथ सुनो ॥१२०॥

विशेष—(१) 'सुनु सुभ कथा ''—शुभ अर्थात् मंगल, यथा—"रामकथा जग मंगलकरनी।" (दो० ३) तथा—"सुनि सुभ कथा उमा हरषानी।" (उ० दो० ५१); "यह सुभ संभु उमा-संवादा।" (उ० दो० १२१)। 'बिमल'—यथा—"बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा॥" (दो० ३५); "बिमल कथा हरि-पद-दायिनी। भगति होइ सुनि अनपायिनी॥ (उ० दो० ५१)।

(२) 'सो संवाद उदार '—वह संवाद-प्रसंग बड़ा है, उसके कहने में तुम्हारा प्रश्न पड़ा ही रह जायगा। अतः, उसे आगे (उ० दो० ५२) से कहूँगा। पुनः उदार का अर्थ देश, काल, पात्र न देखकर याचक मात्र को तृप्त करना है, वैसे इस संवाद में भक्ति का पक्ष है जो ऊँच-नीच—सभी का उद्धार करनेवाली है।

(३) 'सुनहु राम-अवतार हरि-गुन नाम'' '—पूर्व में शिवजी ने प्रतिज्ञा की थी—"राम नाम गुन चरित सुहाये। जनम करम अगनित श्रुति गाये॥ ''तदपि जथाश्रुत जसि मति मोरी। कहिहउँ देखि प्रीति अति तोरी॥" (दो० ११३)। फिर श्रीराम रूप-विषयक सगुण निर्गुण प्रसंग कहने लग गये, उसे पूरा करके फिर यही प्रसंग ग्रहण करके कहते हैं। यहाँ के 'अपार', 'अगनित', 'अमित', 'जथाश्रुत', 'सादर' आदि शब्दों के भाव एवं उदाहरण भी वहीं देखिये।

कैलाश-प्रकरण समाप्त

अवतार-हेतु-प्रकरण

सुनु गिरिजा हरिचरित सुहाये। विपुल विसद निगमागम गाये ॥ १ ॥
हरि - अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाइ न सोई ॥ २ ॥

शब्दार्थ—इदमित्थं (इदम् = यह, इत्थम् = ऐसे = यों) = यह ऐसा (ही) है।

अर्थ—हे गिरिजे ! सुनो, हरि के चरित सुंदर हैं, बहुत हैं, उज्ज्वल हैं और वेद-शास्त्रों द्वारा गाये हुए हैं ॥१॥ हरि का अवतार जिस कारण से होता है, वह 'यह ऐसा ही है' (इस प्रकार) नहीं कहा जा सकता ॥२॥

विशेष—(१) 'सुनु गिरिजा…' सुनने में गिरि की तरह अचल—सावधान रहना। 'हरि-चरित'—क्योंकि चार कल्पों के चरित एक साथ रहेंगे, उनमें प्रथम विष्णु-नारायण के ही अवतार के हेतु कहेंगे। तब साकेत विहारी श्रीरामजी के अवतार के हेतु कहेंगे। 'हरि' शब्द से सबके भाव आ गये।

(२) 'हरि-अवतार हेतु जेहि…' कोई भी मुनि एवं आचार्य निश्चय-पूर्वक यह नहीं कह सकते कि अमुक अवतार का अमुक ही कारण है। एक ही अवतार के भी अनेक हेतु होते हैं। जैसे साकेतविहारी के ही अवतार में प्रथम श्रीजानकीजी की प्रार्थना हेतु है। यह भगवद्गुणदर्पण में कहा है। फिर मनु-शतरूपा का वरदान और भानुप्रताप-रूपी रावण का उद्धार एवं विप्र-धेनु-सुर-संत-रक्षा आदि कई हेतु हैं।

यहाँ से—"नाथ धरेउ नर-तनु केहि हेतू॥" (उपर्युक्त) का उत्तर चल रहा है। यद्यपि श्रीपार्वतीजी ने साकेतविहारी को ही वन में देखा और परीक्षा में उसी रूप में नित्यत्व भी देखा था। अतः, उनका उस नित्यरूप में बाल-पौगंडादि अवस्थाएँ एवं प्राकृत नर नाट्य ही पूछने का अभिप्राय 'नर-तनु धरेउ' कहने में है, तथापि शिवजी और प्रकार के भी अवतारों के हेतु कहेंगे जिससे अन्य अवतारों की बात सुनकर फिर भ्रम न हो जाय कि यह ऐसा क्यों ? मैंने तो ऐसा ही सुना था।

राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहि सयानी ॥ ३ ॥
तदपि संत मुनि वेद पुराना। जस कछु कहहिं स्वमति-अनुमाना ॥४॥
तस मैं सुमुखि सुनावउँ तोही। समुझि परइ जस कारन मोही ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—अतर्क्य = तर्क-शास्त्र से न सिद्ध होने योग्य, यथा—"मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी ॥" (दो० ३४०); तथा—"यतो वाचो निवर्तन्ते ॥ अप्राप्य मनसा सह ॥" (तैत्तिरीय २।४)। अनुमान = अटकल, अंदाज।

अर्थ—श्रीरामजी बुद्धि, मन और वाणी—तीनों से अतर्क्य हैं; हे सयानी ! सुनो, ऐसा हमारा मत है ॥३॥ तो भी जैसा कुछ सन्त, मुनि, वेद और पुराण अपनी-अपनी बुद्धि की अटकल से कहते हैं ॥४॥ (और) जैसा कुछ कारण मुझे समझ पड़ता है, हे सुमुखि ! मैं तुमको वैसा ही सुनाता हूँ ॥५॥

विशेष—(१) 'राम अतर्क्य…' सयाने लोग थोड़े ही इशारे से बहुत-कुछ समझ लेते हैं। इससे तुम समझ लो कि श्रीरामजी की तरह उनके जन्म, कर्म आदि सभी अतर्क्य ही हैं। यथा—"वेद

वचन मुनि मन अगम" (अ० दो० १२६) अर्थात् वेद के वचन और मुनियों के मन उत्कृष्ट हैं। रामजी इन दोनों से भी अगम्य हैं, ऐसा स्पष्ट कहा गया है।

(२) 'स्वमति अनुमाना'—यथा—"सब जानत प्रभु-प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई॥" (दो० १३); "निज निज मति मुनि हरि-गुन गावहिं। निगम सेष सिव पार न पावहिं॥" (उ० दो० ९०)।

(३) 'तस मैं सुमुखि ···' 'तस' शब्द दीपदेहली रूप में है। अत, अर्थ होगा कि संत-मुनि आदि का और मेरा अपना (शिवजी का) मत भी। शिवजी का अपना पृथक् मत—जैसे भानुप्रताप की कथा जहाँ कही गई है, वहाँ शिव-उमा के सवाद रूप में ही प्राय पाई जाती है अथवा सत-मुनि-वेद पुराण तो बहुत कहते हैं, पर उनमें जितना मेरी बुद्धि में आ सका, उसके अनुसार कहता हूँ, यह कार्पण्य भी है।

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥ ६॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥ ७॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जनपीरा॥ ८॥

दोहा—असुर मारि थापहिं सुरन्ह, राखहिं निज श्रुति-सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस, रामजनम कर हेतु॥१२१॥

अर्थ—जब-जब धर्म की हानि होती है, नीच (पापी) अभिमानी असुर बढ़ते हैं॥६॥ वे ऐसी अनीति करते हैं कि जो कही नहीं जा सकती। ब्राह्मण, गाय, देवता और पृथिवी सीदते (दुःख पाते) हैं॥७॥ तब-तब वे कृपासागर प्रभु तरह-तरह के शरीर धरकर सज्जनों की पीड़ा हरते हैं॥८॥ असुरों को मारकर देवताओं को स्थापित करते, अपने वेदों की मर्यादा रखते और जगत् में अपना उज्ज्वल यश फैलाते हैं—ये (कार्य) श्रीराम-जन्म के कारण हैं॥१२१॥

विशेष—(१) 'जब जब होइ···' यथा—"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानम-धर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥ परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥ जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥" (गीता ४।७-९) तथा—"इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति। तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरि-संक्षयम्॥" (मार्कण्डेयपुराण, सप्तशती, अ० ११), इत्यादि सब प्रसग विशेष मिलते हैं।

(२) धर्म की हानि का कारण असुरों की बाढ़ है, वे अनीति करते हैं। यथा—"बरनि न जाइ अनीति, घोर निसाचर जो करहिं। हिंसा पर अति प्रीति, तिन्ह के पापहिं कवन मिति॥" (दो० १८३)। 'सीदहिं बिप्र ···' यथा—"जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं॥" (दो० १८३)। "देवन्ह तके मेरु गिरि-खोहा।" (दो० १८१), "अतिसय देखि धरम कै हानी। परम सभीत धरा अकुलानी॥" (दो० १८३), इत्यादि।

(३) 'तब तब प्रभु ···'—'बिबिध सरीरा'—यथा—"मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपु धरी। जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो॥" (लं० दो० १०९)। जब जैसा काम पड़ा, वैसा ही शरीर धारण किया, विविध शरीर धरने में 'प्रभु' कहा, क्योंकि यह प्रभुता का कार्य है और पीड़ाहरण में कृपानिधि कहा, क्योंकि यह दया का काम है।

(४) 'जग विस्तारहिं विसद जस''' यथा—"यस्यामलं नृपसदस्सुयशोऽधुनापि गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम्। तन्नाकपालवसुपालकिरीटजुष्टपादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये ॥" (श्रीमद्भागवत, स्कं० ९, अ० ११, श्लोक २१) तथा—"जिन्हके जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रवि सीतल लागे ॥" (दो० २११)। और बातें सब अवतारों में प्रायः तुल्य रहती हैं, पर विशद यश विस्तार करना श्री रामजी ही में सर्वोपरि है, क्योंकि आप मर्यादापुरुषोत्तम हैं। यथा—"मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणे ''''" (श्रीमद्भागवत)।

सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जनहित तनु धरहीं ॥ १ ॥
रामजनम के हेतु अनेका। परम बिचित्र एक ते एका ॥ २ ॥
जनम एक दुइ कहउँ बखानी। सावधान सुनु सुमति भवानी ॥ ३ ॥

अर्थ—वही यश गाकर भक्तलोग संसार-सागर तरते हैं, (अतः) वे कृपा के समुद्र अपने भक्तों के लिये शरीर धारण करते हैं ॥१॥ श्रीरामजी के जन्म के अनेक कारण हैं, जो एक-से एक परम विचित्र हैं ॥२॥ दो-एक जन्म बखान कर कहता हूँ, हे सुंदर बुद्धिवाली भवानी! सावधान होकर सुनो ॥३॥

विशेष—(१) 'सोइ जस गाइ भगत '''—यहाँ तरने में भक्त मुख्य होते हैं। इससे ये ही कहे गये, और जो कोई यश गावेंगे, वे भी तरेंगे। यथा—"करिहउँ चरित भगत सुख दाता॥ जेहि सुनि सादर नर बड़ भागी। भव तरिहहिं ममता मद त्यागी॥" (दो० १५१)।

(२) 'जनम एक दुइ कहउँ'''—श्री पार्वतीजी को सती-शरीर में शंका हुई थी—"विष्णु जो सुर-हित नरतनुधारी। सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी॥ खोजइ सो कि अग्य इव नारी।" (दो० ५०)। इसी से शिवजी प्रथम विष्णु भगवान् के दो जन्म और क्षीरशायी भगवान् का एक जन्म कहेंगे। इन तीन कल्पों के तीन हेतु कहकर विश्राम देते हुए चौथे में श्रीराम-जन्म के हेतु कहेंगे, जिसके लिये गिरिजाजी के मुख्य प्रश्न हैं। 'सावधान'—क्योंकि उमा ने कहा था—"मोहिं समुझाइ कहहु ''"। अतः, कहते हैं कि चित्त लगाकर विचारती हुई सुनो। 'सुमति'—संक्षेप ही में कहूँगा तो भी सुंदर मति से समझ लो, यथा—"ताते मैं अति अलप बखाने। थोरे महुँ जानिहहिं सयाने॥" (दो० ११)।

उपर्युक्त विष्णु से त्रिदेव-गत विष्णु ही समझना चाहिये, क्योंकि उनके लिये 'जथा त्रिपुरारी' कहा गया है। ये भी श्री रामजी का अवतार लेते हैं—यथा—"भार्गवोऽयं पुरा भूत्वा त्वांचक्रे नाम ते विधिः। विष्णुर्दाशरथिर्भूत्वा त्वीकरोत्यधुना पुनः॥ संकर्षणस्ततश्चाहं स्वीकरिष्यामि शाश्वतम्। एकमेव त्रिधायातं सृष्टिस्थित्यंतहेतवे॥" (स्कन्दपुराण, निर्वाणखंड, श्रीरामगीता, महादेवजी की उक्ति *)

द्वारपाल हरि के प्रिय दोऊ। जय अरु बिजय जान सब कोऊ ॥ ४ ॥
बिप्रस्राप तें दूनउँ भाई। तामस असुर देह तिन्ह पाई ॥ ५ ॥
कनककसिपु अरु हाटकलोचन। जगतबिदित सुरपति-मद-मोचन ॥ ६ ॥
बिजई समर बीर बिख्याता। धरि बराहबपु एक निपाता ॥ ७ ॥
होइ नरहरि दूसर पुनि मारा। जन प्रहलाद-सुजस बिस्तारा ॥ ८ ॥

* इन दो श्लोकों की विस्तृत व्याख्या श्रीरामस्तवराज भाष्य (पृ० ५६-५९) देखिये।

शब्दार्थ—तामस=तमोगुण सम्बंधी। कनककसिपु=हिरण्यकशिपु। हाटकलोचन=हिरण्याक्ष। विजई (विजयी)=जय पानेवाले। बपु=देह। बराह (बाराह)=शूकर। निपाता=नाश किया। नरहरि=नृसिंह भगवान्। जन=भक्त।

अर्थ—भगवान् विष्णु के प्रिय द्वारपाल (ड्योढ़ीदार) जय और विजय दोनों हैं। इन्हें सब कोई जानते हैं॥४॥ दोनों भाइयों ने विप्र (सनकादिक) के शाप से तामसी असुर शरीर पाया॥५॥ वे हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष के नामों से जगत् में प्रसिद्ध हुए, जो इन्द्र के गर्व को छुड़ानेवाले थे॥६॥ लड़ाई में विजयी और वीरों में प्रसिद्ध हुए। (तब) वाराह-शरीर धारण कर (हरि ने) एक (हिरण्याक्ष) को मारा॥७॥ फिर नृसिंह होकर दूसरे (हिरण्यकशिपु) को मारा और प्रह्लाद भक्त का सुयश फैलाया॥८॥

विशेष—(१) 'द्वारपाल हरि के प्रिय ..'—यह कथा श्रीमद्भागवत स्कंध ३ अ० १५—१६ में विस्तार से है। ब्रह्माजी ने इन्द्रादि से कही है—सनकादिक इच्छानुसार घूमते हुए योगमाया के बल से एक बार वैकुंठ धाम को गये। आनंदपूर्वक हरि के दर्शनों के लिये उनके भवन की छः ड्योढ़ियाँ लाँघ गये। सातवीं कक्षा पर जय-विजय द्वारपाल थे। समदृष्टि के कारण ऋषियों ने इनसे न पूछकर ही जाना चाहा, (इन्हें नग्न देख और बालक जान हँसते हुए) दोनों द्वारपालों ने बेत अड़ाकर रोका। इसपर ऋषियों को (हरिप्रेरणा से) क्रोध हुआ और इन्हें शाप दिया—"तुम रजोगुण एवं तमोगुण रहित भगवान् के निकट के योग्य नहीं हो; अतः, अपनी भेद दृष्टि के कारण काम-क्रोध-लोभात्मक योनियों में जाकर जन्म लो। इस घोर शाप पर ये दोनों दीन होकर प्रार्थना करने लगे कि चाहे हम नीचातिनीच योनि में ही क्यों न जन्में, पर मुझे हरि-स्मरण बना रहे। ठीक उसी समय लक्ष्मीजी के साथ भगवान वहीं पर आ गये। मुनि दर्शन पाकर स्तुति करने लगे। फिर भगवान् ने गूढ़ वचनों से मुनियों का आश्वासन किया और कहा कि ये दोनों मेरे पार्षद हैं और आप भक्त हैं। आपने जो दंड इन्हें दिया है, उसे मैं अंगीकार करता हूँ। आप ऐसी कृपा करें कि ये शीघ्र मेरे निकट फिर चले आवें। ऋषिलोग भगवान् के अभिप्राय को न समझ सके और बोले कि यदि हमने व्यर्थ शाप दिया हो तो आप हमें दंड दें। भगवान् ने कहा—"आपका दोष नहीं, शाप मेरी इच्छा से हुआ है।" मुनियों के चले जाने पर भगवान् ने अपने प्रिय पार्षदों से कहा—"तुम मत डरो, मैं शाप को मिटा सकता हूँ, पर मेरी इच्छा ऐसी नहीं है, क्योंकि यह शाप मेरी इच्छा से हुआ है। मुझमें वैर-भाव से मन लगा शापमुक्त होकर थोड़े ही काल में तुम मेरे लोक में आ जाओगे।"

जय-विजय को यह शाप क्यों हुआ? इसपर कहा जाता है कि एक बार भगवान् ने योग-निद्रा में तत्पर होते समय इनको आज्ञा दी कि कोई भीतर न आने पावे। श्रीलक्ष्मीजी आईं, इन्होंने इनको भी रोका। यह न विचारा कि उनके लिये मनाई नहीं हो सकती। श्रीलक्ष्मीजी ने उस समय कहा कि इसका फल तुम्हें मिलेगा।

(२) 'कनककसिपु अरु···'—ग्रंथकार प्रायः बड़े छोटे भाई को क्रम से लिखकर सूचित करते हैं; यथा—"नाम राम लछिमन दोउ भाई।" (कि० दो० १); "नाथ बालि अरु मैं दोउ भाई।" (कि० दो० ५)। अत, यहाँ हिरण्यकशिपु को बड़ा और हिरण्याक्ष को छोटा जनाया। ये दोनों भाई यमज (जोड़वाँ) हुए। हिरण्याक्ष प्रथम और हिरण्यकशिपु पीछे हुआ, पर वीर्य की स्थिति के अनुसार पिछला ही बड़ा कहाता है।

(३) 'धरि बराह-बपु···'—भाग० स्कं ३, अ० १३, १८ और १९ में यह कथा विस्तार से है। यहाँ संक्षेप में दी जाती है—सृष्टि के आदि में ब्रह्माजी से मनु-शतरूपा हुए। उन्हें ब्रह्माजी ने धर्म से प्रजा पालन की आज्ञा दी, तब मनु ने कहा कि हमारे और प्रजा के लिये स्थान बतलाइये। पृथिवी तो महाजल में

डूबी हुई है। ब्रह्माजी चिंता करने लगे कि सहसा उनकी नासिका से एक अंगुष्ठ-प्रमाण का शूकर निकल पड़ा। वह उनके देखते-देखते पल-मात्र में पर्वताकार होकर गरजने लगा। ब्रह्माजी और उनके पुत्र मरीचि आदि चकित हुए। फिर निश्चय किया कि यज्ञपुरुष ने मेरी चिन्ता हरने के लिये अवतार लिया है; फिर उनकी स्तुति की। तब वाराह भगवान् प्रलय के महाजल में प्रवेश करके डूबी हुई पृथिवी को अपने दाँत पर उठाये हुए रसातल से निकले।

समाचार पा हिरण्याक्ष ने सामने आकर रोका और अनेक कटु वचन कहे, परन्तु भगवान् ने उनपर ध्यान न देकर उसके देखते-देखते पृथ्वी को जल पर स्थित कर और उसमें अपनी आधारशक्ति देकर तब व्यंग्य वचन कहते हुए दैत्य का सामना किया। दैत्य ने गदा-त्रिशूल आदि से घोर युद्ध किया; फिर अपने माया-बल से छिपकर भी लड़ता रहा। भगवान् भी गदा और सुदर्शन चक्र से प्रहार करते रहे, अन्त में लीलापूर्वक उसको ऐसा तमाचा जड़ दिया कि उसका प्राणान्त ही हो गया!

(४) 'होइ नरहरि दूसर ...'—इसकी कथा सूक्ष्म रूप से दो० २७ में भी है और अत्यंत प्रसिद्ध है। ऊपर कहा गया—'जग बिस्तारहिं बिसद जस' और यहाँ—'जन प्रहलाद-सुजस बिस्तारा।' कहते हैं। भाव यह कि भगवान् जैसे अपने यश का विस्तार करते हैं, वैसे अपने भक्तों का भी, क्योंकि दोनों से जगत् का कल्याण होता है। जनों का यश इस तरह फैलाते हैं कि जैसे श्रीभरतजी परम प्रिय भक्त हैं, फिर भी १४ वर्षों का वियोग देकर एवं वैसा हेतु रचकर उनका प्रेम, त्याग एवं निष्ठा प्रकट की, जिससे उनका यश फैला और जगत् को उपदेश हुआ। श्रीजानकीजी का महत्त्व प्रकट करने के लिये अग्नि परीक्षा कराई। ऐसे ही श्रीप्रह्लादजी का सुयश फैलाने के लिये उनके विरोधी के वध में विलंब लगाया, पीछे संताप करते हुए अपना वात्सल्य प्रकट किया है। यथा—"क्वेदं वपुः क च वयः सुकुमारमेतत्क्वैताः प्रमत्तकृत-दारुणयातनास्ते। आलोकितं विषममेतदभूतपूर्वं क्षन्तव्यमंग यदि मागमने विलंबम्॥" अर्थात् नृसिंह भगवान् प्रह्लाद को गोद में लेकर कहते हैं कि इस प्रकार का विषम कांड? कहाँ तो तुम्हारी शिशु-अवस्था तथा सुकुमार शरीर और कहाँ इस प्रमत्त दैत्य की की हुई दारुण यातनाएँ? हे वत्स! यह देखते हुए भी मुझे आने में विलम्ब हुआ, इसे क्षमा करो।

'प्रहलाद-सुजस'—यथा—"प्रेम बदौं प्रहलादहिं को जिन्ह पाहन ते परमेस्वर काढ़े।" (क० उ०१२७)।

दोहा—भये निसाचर जाइ तेइ, महाबीर बलवान।
कुंभकरन रावन सुभट, सुरबिजई जग जान॥१२२॥

मुकुत न भये हते भगवाना। तीनि जनम द्विजबचन प्रमाना॥ १॥

अर्थ—वे ही महावीर बलवान् कुम्भकर्ण-रावण (नामक) राक्षस हुए जो बड़े ही योद्धा और देवताओं को जीतनेवाले हुए, उन्हें जगत् जानता है॥१२२॥ भगवान् से मारे जाने पर भी मुक्त न हुए, क्योंकि ब्राह्मणों के वचन का प्रमाण तीन जन्मों के लिये था॥१॥ (प्रमाण=सीमा, अवधि, पर्यन्त)।

विशेष—(१) 'भये निसाचर ...' वे दोनों सत्ययुग में दैत्य, त्रेता में निशाचर और द्वापर में आसुरी प्रकृति के क्षत्रिय हुए। क्रमशः विकारावस्था कम होती आई। अंत में मुक्त हुए। 'निसाचर' शब्द से त्रेता युग में कुम्भकरण-रावण का होना जनाया। पूर्वार्द्ध में कारण कहकर उत्तरार्द्ध में कार्य कहा। वे महावीर हैं, इसी से सुभट कहे गये; बलवान् हैं, इसी से सुरविजयी हुए और इन्हीं बातों से उनकी प्रसिद्धि जगत् में हुई।

तीनों अवस्थाओं में वे जगत् प्रसिद्ध ही हुए, यथा—"जय अरु विजय जान सब कोऊ।" "जगत विदित सुरपतिमदमोचन।" और यहाँ—"सुरजिजई जग जान।" इसमें 'सुर' से इन्द्रादि समस्त देवता का अर्थ है।

(२) यहाँ शिवजी ने दो ही जन्म कहे, तीसरा नहीं, क्योंकि इन्हें श्रीराम-जन्म के हेतु पर्यंत ही कहने का प्रयोजन है। आगे की बात अगली अर्द्धाली से जना दी है।

(३) 'मुकुत न भये हते ...'—भगवान् के हाथ से मरने पर मुक्ति होती है, पर उनकी न हुई। उसका कारण यहाँ कहा। ब्रह्म शाप तीन बार जन्म लेने के लिये था। भगवान् ब्रह्मण्य देव हैं, अतएव ब्राह्मणों के वचन रखते हैं। भक्तों पर भी वात्सल्य है। तभी तो उनके उद्धार के लिये आपने चार बार जन्म लिया—वाराह, नृसिंह, श्रीराम और श्रीकृष्ण। भगवान् ने कृष्ण-रूप से द्वापर में उन दोनों के शिशुपाल और दन्तवक्र होने पर वध कर उनको मुक्त किया।

शंका—जय विजय भगवान् के प्रिय पार्षद थे, फिर शाप से उनकी रक्षा क्यों न की?

समाधान—(क) जगत् के सभी व्यापार किसी कारण पर ही होते हैं, वैसे उनके भी कारण लिखे गये। भगवान् अपने प्रिय भक्तों के सूक्ष्म पाप भी शुद्ध कर लेते हैं। जय विजय भगवान् के पार्षद हैं। अत, उनकी प्रकृति भी स्वामी के अनुकूल चाहिये। भगवान् तो ब्रह्मण्यदेव हैं और वे ब्राह्मणों का अनादर करनेवाले हुए। स्वामी के इष्ट का अपमान भारी पाप है। भगवान् ने उनके प्रियत्व से उनकी अपेक्षा एक जन्म अधिक भी लिया और उन्हें शुद्ध किया।

(ख) भगवान् वैदिक विधि स्थापन के लिये एवं अपनी लीला विधि में प्रिय भक्तों को भी माया-वश करके उनके साथ क्रीड़ा करते हैं, जैसे श्रीनारदजी को मोहवश किया।

(४) 'द्विज बचन'—पूज्य कवि ने बार-बार इन्हें 'विप्र, द्विज' आदि शब्दों ही से सूचित किया है। यद्यपि ये लोग ब्रह्मज्ञानी मुनि हैं, तो भी इन्हें ऋषि, मुनि, ज्ञानी आदि नहीं कहे, क्योंकि ब्राह्मण हो जहाँ-तहाँ क्रोध करके विशेष शाप दिया करते हैं। श्रीमद्भागवत में भी इनके पास आने पर भगवान् ने इनके लिये 'ब्रह्मदेव' 'ब्राह्मण' आदि शब्दों का ही प्रयोग किया है, तथा श्रीनारदजी ने भी युधिष्ठिर से ऐसा ही कहा है। यथा—"पार्षदप्रवरौ विष्णोर्विप्रशापात्पदाच्च्युतौ ॥" (भाग० स्कंध ७ अ० १।३२)।

एक बार तिन्ह के हित लागी। धरेउ सरीर भगत-अनुरागी ॥ २ ॥
कश्यप अदिति तहाँ पितु माता। दसरथ कौसल्या बिख्याता ॥ ३ ॥
एक कलप येहि बिधि अवतारा। चरित पवित्र किये संसारा ॥ ४ ॥

अर्थ—एक बार भक्तों के अनुरागी भगवान् ने उनके हित के लिये शरीर (नराकार द्विभुज शरीर श्रीरामरूप) धारण किया ॥२॥ वहाँ (उस अवतार में) कश्यप और अदिति माता पिता हुए, जो दशरथ कौशल्या नाम से प्रसिद्ध हुए ॥३॥ एक कल्प में इस प्रकार अवतार लेकर अपने चरित्रों से संसार को पवित्र किया ॥४॥

विशेष—(१) 'एक बार तिन्ह के ...'—यद्यपि उपर्युक्त ब्रह्म शाप के सम्बन्ध से एक ही कल्प में चार बार आपने शरीर धारण किया, तथापि यहाँ एक बार कहा है, क्योंकि स्वामी ने श्रीरामजी के

ही अवतार-विषय में प्रश्न किया, वह एक बार ही रावण-कुंभकर्ण के वध के लिये हुआ। 'हितलागी'— रावण-कुंभकर्ण के शरीर छुड़ाकर शिशुपाल-दंतवक्र के कर दिये।

(२) 'कश्यप अदिति तहाँ...'—भाव यह कि और भी दशरथ-कौशल्या होते हैं, जैसे मनु-शतरूपा की कथा आगे आवेगी। आगे दो० १८६ चौ० ३ भी देखिये।

एक कलप सुर देखि दुखारे। समर जलंधर सन सब हारे॥ ५॥
संभु कीन्ह संग्राम अपारा। दनुज महाबल मरइ न मारा॥ ६॥
परम सती असुराधिपनारी। तेहि बल ताहि न जितहिं पुरारी॥ ७॥

दोहा—छल करि टारेउ तासु व्रत, प्रभु सुरकारज कीन्ह।
जब तेहि जानेउ मरम तब, स्राप कोप करि दीन्ह॥१२३॥

अर्थ—एक कल्प में जब सब देवता जलंधर दैत्य से संग्राम करके हार गये, (श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) तब उन्हें दुखी देखकर ॥५॥ शिवजी ने घोर संग्राम किया, पर वह दैत्य महाबली था, मारे न मरता था ॥६॥ उस दैत्यराज की स्त्री (वृन्दा) बड़ी पतिव्रता थी, उसी के बल से त्रिपुर दैत्य के नाशक (शिवजी) भी उस दैत्य को नहीं जीत पाते थे ॥७॥ प्रभु ने छल करके उस स्त्री का पातिव्रत्य छुड़ाया और देवताओं का कार्य किया, जब उसने यह भेद जाना, तब कोप करके शाप दिया ॥१२३॥

विशेष—(१) 'एक कलप सुर...'—'जलंधर'—यह शिवजी के कोपाग्नि से समुद्र में उत्पन्न हुआ था। पैदा होते ही बड़े जोर से रोने लगा, जिससे देवता व्याकुल हो गये। ब्रह्माजी के पूछने पर समुद्र ने इसे अपना पुत्र कहकर उन्हें दे दिया। ब्रह्माजी ने ज्यों ही इसे गोद में लिया कि इसने उनकी दाढ़ी बड़े जोर से खींची। इससे उनके आँसू निकल पड़े; इसीसे ब्रह्माजी ने इसका नाम 'जलंधर' रक्खा। इसने इन्द्रादिक से अमरावती छीन ली। इन्द्र के पक्ष से शिवजी ने इससे बड़ा घोर संग्राम किया, पर जीत न हुई, क्योंकि इसकी स्त्री वृन्दा परम सती थी। वह कालनेमि की कन्या थी। शिवजी पातिव्रत्य-प्रभाव की मर्यादारक्षा करते हुए लड़ रहे थे। वृन्दा ने पति के प्राण बचाने के लिये ब्रह्माजी की पूजा प्रारम्भ की। तब शिवजी ने भगवान् का स्मरण करके सहायता चाही। भगवान् यती-रूप से वृन्दा के घर के पास विचरने लगे। वृन्दा ने पूजा छोड़कर पति का हाल पूछा। यती ने कहा कि वह तो मर गया। वृन्दा ने कहा कि मेरा पातिव्रत्य बना है तो वह कैसे मर सकता है? यती ने आकाश की ओर दृष्टि की तो दो बन्दर जलंधर के शरीर को विदीर्ण करते हुए देख पड़े। थोड़ी ही देर में शरीर के टुकड़े वृन्दा के समीप आ गिरे तब वह रोने लगी। यती ने कहा कि इसके अंगों को तू जोड़ दे, तेरे पातिव्रत्य धर्म से यह जी उठेगा। उसने वैसा ही किया। उस विग्रह में भगवान् ने प्रवेश किया और जलंधर बन गये। कारण, जलंधर भी युद्ध-काल में ही माया से शिव-रूप बनकर पार्वतीजी को मोहने के लिये कैलाश गया था। पर पार्वतीजी के तेज और कोप से वह वहाँ से भाग आया। इसीका बदला भगवान् ने जलंधर बनकर लिया। उस विग्रह के स्पर्श करने से वृंदा का पातिव्रत्य भंग हुआ, तभी इधर शिवजी ने जलंधर को मारा। वृन्दा को यह बात मालूम हो गई। तब उसने कोप करके शाप दिया कि मेरा पति (जलंधर) ही रावण होकर तुम्हारी स्त्री हरेगा। यह कथा पद्मपुराण में है।

भगवान् ने यह कहकर उसे संतुष्ट किया कि मुझे ही पति-भाव से वरण करने के लिये तुमने पूर्व जन्म में तपस्या की थी।

पुराणांतर में कल्प-भेद की कथा यों भी है कि वृन्दा ने भगवान् को पत्थर होने का शाप दिया जिससे भगवान् शालग्राम-रूप हुए। फिर वृंदा अपनी चिता से तुलसी-रूपा होकर प्रकट हुई। छल करके भगवान् ने वशीभूत होकर उसे सिर पर धारण करने का व्रत लिया। यथा—"अजहुँ तुलसिका हरिहिं प्रिय।" (आ० दो० ५)।

(२) 'न जितहि पुरारी'—त्रिपुरासुर का ही नाश कर दिया, तो यह कुछ बहुत न था; किन्तु पातिव्रत्य धर्म की मर्यादा बचाने के लिये नहीं जीतते थे। इसमें पातिव्रत्य-प्रभाव और इधर मर्यादा की रक्षा—दोनों दिखाये गये।

'तेहि बल'—यथा—"यस्य पत्नी भवेत्साध्वी पतिव्रतपरायणा। स जयी सर्वलोकेषु स सुखी स धनी पुमान्॥ कंपते सर्वतेजांसि दृष्ट्वा पातिव्रतं महः। भर्त्ता तस्याः सुखं भुंक्ते रममाणः पतिव्रताम्॥" इत्यादि प्रसिद्ध हैं। जलंधर के विषय में तो उसकी परम सती स्त्री का धर्म-बल कहा गया, वैसा शिवजी के विषय में भी परम सती गिरिजा का धर्म-बल नहीं कहा गया, क्योंकि शिवजी स्वयं सहज समर्थ हैं, उनका सामर्थ्य स्त्री के सतीत्व धर्म से (कृत्रिम) नहीं है। "संभु सहज समरथ भगवाना।" (दो० ५९)।

(३) 'छल करि टारेउ···'—छल का दोष न लगा, क्योंकि आप 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं। यथा—"समरथ कहँ नहिं दोष गोसाईं। रवि पावक सुरसरि की नाईं॥" (दो० ६८)। पुनः परोपकार के लिये भी छल का दोष नहीं लगता। यहाँ भी प्रभु ने 'सुर-कार्य' के लिये छल किया है। तीसरा कारण यह है कि भगवान् ने छल के बदले छल किया है। ऊपर नं० १ देखें।

'जब तेहि जानेउ···'—भगवान् का मर्म उनकी कृपा ही से कोई जानता है—अन्यथा नहीं। यथा—"तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनन्दन। जानहिं भगत···" (अ० दो० १२६); "लछिमनहू यह मरम न जाना।" (आ० दो० २३); "तेहि कौतुक कर मरम न काहू। जाना अनुज न मातु-पिताहू॥" (ब० दो० ७८)। प्रभु को वैसी लीला करनी थी, इसलिये जना दिया। यथा—"मम इच्छा कह दीनदयाला।" (दो० १३०)। इसी से आगे पास ही आपको—'कौतुक निधि' कहा है। 'कोप करि'—क्योंकि शाप क्रोध के अनुसार ही लगता है। यथा—"बेप बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा। तिन्हहिं सराप दीन्ह अति गाढ़ा॥" (दो० १३४); "बोले बिप्र सकोप तब···जाइ निसाचर होहु···" (दो० १७२)।

तासु स्राप हरि कीन्ह प्रमाना। कौतुकनिधि कृपाल भगवाना॥ १॥
तहाँ जलंधर रावन भयेऊ। रन हति राम परम पद दयेऊ॥ २॥
एक जनम कर कारन येहा। जेहि लगि राम धरी नरदेहा॥ ३॥
प्रति अवतार कथा प्रभु केरी। सुनु मुनि बरनी कबिन्ह घनेरी॥ ४॥

अर्थ—हरि (भगवान्) ने उसके शाप को प्रमाणित (सत्य) किया, (क्योंकि वे) कौतुक के स्थान, कृपालु और परेश्वर्यपूर्ण हैं॥१॥ वहाँ जलंधर रावण हुआ और श्रीरामजी ने उसे रण में मारकर परम-पद (नित्य धाम) दिया॥२॥ एक जन्म का यह कारण है जिसके लिये श्रीरामजी ने नर शरीर धारण

किया है ॥३॥ याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि हे मुनि! सुनो, प्रभु के प्रत्येक अवतार की अनेक कथाएँ हैं और कवियों ने उनका वर्णन किया है ॥४॥

विशेष—(१) 'तासु स्राप हरि ······' जैसे शिवजी पातिव्रत्य धर्म की मर्यादा की रक्षा के लिये उसे नहीं मार सकते थे, वैसे यहाँ हरि ने भी उसके शाप को मान लिया जिससे पातिव्रत्य धर्म की महिमा रहे। अन्यथा हरि के स्मरण मात्र से शाप नहीं लगता, तो हरि को शाप कैसे लगेगा? यथा—"सुमिरत हरिहिं स्राप-गति बाधी।" (दो० १२४)। जैसे श्रीमद्वाल्मीकीय ७० में कथा है कि भृगुजी ने भगवान् (हरि) को शाप दिया, उन्होंने अंगीकार नहीं किया, तब भृगु ने विचारा कि यदि मेरा शाप सत्य न हुआ तो ऋषित्व न रहेगा। इसलिये बड़ा तप कर भगवान् को प्रसन्न करके वर माँगा कि मेरा शाप आप अंगीकार करें। तथा—"मृषा होउ मम स्राप कृपाला। मम इच्छा कह दीनदयाला॥" (दो० १३७); इसमें भी नारदजी का ऋषित्व रखने के लिये भगवान् ने 'मम इच्छा' कहकर शाप ग्रहण करने की दया की है। ऊपर दोहे में 'प्रभु' कहा है। 'प्रभु'—भाव यह है कि शाप को अन्यथा करने में भी समर्थ हैं।

(२) 'कौतुकनिधि कृपाल भगवाना'—यहाँ शाप ग्रहण में तीन हेतु दिखाये, १—आप कौतुक-प्रिय हैं, कौतुकार्थ ग्रहण किया, अतः, इसमें आपको दुःख नहीं हुआ। २—कृपालु हैं, वृंदा पर कृपा की कि उसका शाप सत्य किया, जिससे उसे संतोष हो गया। ३—भगवान् हैं, षडैश्वर्य से उत्पत्ति-पालन-संहार रूप महान् कौतुक के करनेवाले हैं, फिर यह तो बहुत थोड़ा कौतुक है, इसमें आपको किंचित् भी श्रम न होगा।

(३) 'तहाँ जलंधर रावन ······'—जय-विजय, रुद्रगण और भानुप्रताप, अरिमर्दन—ये तीन कल्पों के प्रसंगों में दो-दो कहे गये, तो वहाँ-वहाँ रावण-कुंभकर्ण भी दो-दो कहे गये हैं। यहाँ एक जलंधर का ही रावण होना कहा है, अतः, एक ही का वध होना भी कहा गया है। पद्मपुराण का प्रमाण देते हुए रामायणजी के टीकाकार वैजनाथजी और पंजाबीजी कहते हैं कि जलंधर का एक मित्र था, वही कुंभकर्ण हुआ था।

'घनेरी'—यहाँ तक दो जन्मों के हेतु कहे, उनमें 'एक बार तिन्ह के हित लागी।' पुनः 'एक जनम कर कारन येहा···' 'एक कलप सुर देखि दुखारे।' आदि—एक-एक ही कहा है, एक के बाद दूसरा, तीसरा आदि नहीं कहे। इसका भाव यह कि अवतारों में आगे-पीछे होने के क्रम का कोई नियम नहीं है। गिनती न देकर घनेरी अर्थात् (अगणित) जनाया। इसी से अंत में स्पष्ट 'घनेरी' कथाएँ कहीं।

वैकुंठवासी विष्णु भगवान् के रामावतार का हेतु-प्रकरण समाप्त

क्षीर-शायी श्रीमन्नारायण का रामावतार

तदन्तर्गत

नारद-मोह-प्रकरण

नारद स्राप दीन्ह एक बारा। कलप एक तेहि लगि अवतारा॥ ५॥
गिरिजा चकित भईं सुनि बानी। नारद बिष्णुभगत मुनि ग्यानी॥ ६॥

कारन कवन स्राप मुनि दीन्हा। का अपराध रमापति कीन्हा ॥ ७ ॥
यह प्रसंग मोहि कहहु पुरारी। मुनिमन मोह आचरज भारी ॥ ८ ॥

अर्थ—एक बार श्रीनारदजी ने शाप दिया, इस कारण एक कल्प में अवतार हुआ ॥५॥ यह वचन सुनकर श्रीपार्वतीजी चकित हुईं कि नारदजी तो विष्णु-भक्त और ज्ञानी मुनि हैं ॥६॥ उन्होंने किस कारण शाप दिया? लक्ष्मीपति भगवान् ने क्या अपराध किया? ॥७॥ हे त्रिपुरारि! यह प्रसंग मुझसे कहिये। मुनि के मन में मोह होना भारी आश्चर्य की बात है ॥८॥

विशेष—(१) 'गिरिजा चकित भईं'''—प्रथम सनकादिक ज्ञानी के प्रति आश्चर्य न हुआ था, क्योंकि वहाँ विप्र-शाप ही कहा था, सनकादिक के नाम नहीं कहे। यों तो विप्र शाप दिया ही करते हैं और वहाँ जय-विजय का भी कुछ दोष था ही। यह भी हो सकता है कि पार्वतीजी वह कथा जानती रही हों। श्रीनारदजी गिरिजा के गुरु हैं, उनके विषय की बात सुनकर चकित हुईं कि उनमें शाप के कारण क्रोध आदि कैसे हो सकते हैं?

(२) 'नारद विष्णुभगत'''—भाव ज्ञानी और भक्त दोनों में मोह का होना आश्चर्य ही है। यथा—"भये ज्ञान बरु मिटइ न मोहू।" (अ० दो० १६८); "मोह दरिद्र निकट नहिं आवा।" (उ० दो० ११९) अर्थात् भक्ति-चिंतामणि के पास मोह नहीं आ सकता। भक्त अपने स्वामी को ही शाप दे, यह असंभव-सा है।

(३) 'कारन कवन स्राप'''—शाप कारण के बिना नहीं होता। शाप का कारण क्रोध है, क्रोध में अपराध ही कारण है। अभीष्ट-हानि से क्रोध होता है। भगवान् तो भक्तवत्सल और बड़े ही शीलवान् हैं, इसी से रमा (लक्ष्मीजी) ने सब देव छोड़कर उन्हें ही वरण किया है। यथा—"अब जानी मैं श्री-चतुराई। भजी तुम्हहिं सब देव बिहाई॥ जेहि समान अतिसय नहिं कोई। ताकर सील कस न अस होई॥" (आ० दो० ५)। उन 'रमापति' ने ही क्या अपराध किया? 'मुनि' तो शांत होते हैं, उन्हें क्रोध कैसे हुआ?

(४) 'यह प्रसंग कहहु'—शिवजी इतना ही कहकर समाप्त करना चाहते थे, पर गिरिजाजी की प्रेरणा से अब इसे कुछ विस्तार से कहेंगे।

दोहा—बोले बिहँसि महेस तब, ज्ञानी मूढ़ न कोइ।
जेहि जस रघुपति करहिं जब, सो तस तेहि छन होइ॥

सो०—कहउँ राम-गुन-गाथ, भरद्वाज सादर सुनहु।
भवभंजन रघुनाथ, भजु तुलसी तजि मान मद ॥१२४॥

अर्थ—तब शिवजी हँसकर बोले कि न तो कोई ज्ञानी है और न मूर्ख, श्रीरघुनाथजी जब जिसको जैसा कर देते हैं, वह उसी क्षण में वैसा हो जाता है॥ श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि हे भरद्वाज! मैं श्रीरामजी के गुणों की कथा कहता हूँ, आदरपूर्वक सुनो। श्रीगोस्वामीजी कहते हैं कि हे तुलसी! (हे मन!) मान और मद को छोड़कर भव के नाश करनेवाले श्रीरघुनाथजी का भजन करो ॥१२४॥

विशेष—(१) 'बोले बिहँसि···'—हँसने के भाव— क) हम और ब्रह्मा भी मायावश नाच चुके हैं, इन्हें नारद ही पर आश्चर्य है। (ख) अपनी बात भूल गईं कि क्या क्या दशा हुई थी। अभी भी छाया नहीं मिटती। (ग) अभी तो शाप ही की बात सुनी है, सब कौतुक सुनेंगी, तो और भी कौतूहल होगा।

(२) 'ज्ञानी मूढ़ न कोइ'—श्रीरघुनाथजी जब जिसे जैसा चाहें, कर सकते हैं, यथा—"बंध मोच्छ प्रद सर्बपर, मायाप्रेरक सीव।" (आ० दो० १५); "मसकहिं करइ बिरंचि प्रभु, अजहिं मसक ते हीन।" (उ० दो० १२२)। जैसे ध्रुव अबोध शिशु थे, उन्हें क्षण-भर में ज्ञान की सीमा बना दिया। श्रीनारदजी व्यास वाल्मीकि आदि के भी गुरु हैं, उन्हें क्षण-भर में मूढ़ बना दिया। यथा—"माया-बिबस भये मुनि मूढ़ा।" (दो० १३२)।

जीव की निष्ठा एवं श्रद्धा देखकर भगवान् उसे ज्ञान की उच्च दशातक प्राप्त करा देते हैं, असावधानी से जो कहीं उसे ज्ञान का अभिमान हो आया, तो वे भक्तवत्सल प्रभु उसे शुद्ध करने के लिये माया की प्रेरणा करते हैं जिससे अभिमान टूटने का उपाय हो जाता है। यथा—"सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन-अभिमान न राखहिं काऊ॥ ···" से— "मातु चिराव कठिन की नाईं॥" (उ०दो० ७४) तक; यही 'राम-गुन-गाथ' है, जिसे शिवजी, याज्ञवल्क्यजी और श्रीगोस्वामीजी ने उपदेश-रूप में ग्रहण किया है। 'तजि मान मद'—मान और मद भजन के बाधक हैं, इसलिये इनका छोड़ना कहते हैं। यथा—"जिमि बुध तजहिं मोह मद माना।" (कि० दो० १७); इन मान-मद से कैसी दुर्दशा होती है, यह आगे इसी प्रसंग में दिखावेंगे।

'भरद्वाज सादर सुनहु'—भरद्वाजजी के गुरु श्रीवाल्मीकिजी और उनके गुरु श्रीनारदजी हैं। अतः, कहते हैं कि अपने दादा-गुरु की कथा को मन-मति-चित्त लगाकर सुनो।

हिम-गिरि-गुहा एक अति पावनि। बह समीप सुरसरी सुहावनि॥ १॥
आश्रम परम पुनीत सुहावा। देखि देवरिषि मन अति भावा॥ २॥
निरखि सैल सरि बिपिनबिभागा। भयेउ रमा-पति-पद-अनुरागा॥ ३॥
सुमिरत हरिहिं स्रापगति बाधी। सहज बिमल मन लागि समाधी॥ ४॥

शब्दार्थ—गुहा = गुफा। देवरिषि = देवर्षि श्रीनारदजी। बिभागा = अलग-अलग अंश। गति बाधी = शाप की राह रुक गई अर्थात् शाप की दशा नष्ट हो गई।

अर्थ—हिमालय पर्वत में एक बड़ी ही पवित्र गुफा थी, जिसके समीप ही में सुहावनी गंगाजी बह रही थीं॥१॥ आश्रम (स्थान) परम पवित्र और सुहावन था। देखकर देवर्षि श्रीनारदजी के मन को वह बहुत ही प्रिय लगा॥२॥ पहाड़, तालाब और वन के पृथक्-पृथक् अंशों को देखकर लक्ष्मीपति भगवान् के चरणों में अनुराग हुआ॥३॥ भगवान् का स्मरण करते ही शाप की गति नष्ट हो गई। नारदजी का मन स्वाभाविक ही निर्मल है, अतएव समाधि लग गई॥४॥

विशेष—(१) 'आश्रम परम···'—'परम पुनीत' होने से 'भावा' और 'सुहावा' भी है। अतः, 'अति भावा' कहा है। पुनः यहाँ 'सुरसरी' हैं और ये 'देव-रिषि' हैं, तो अच्छा लगेगा ही। यथा—"भरद्वाज आश्रम अति पावन। परम रम्य मुनिबर मनभावन॥" (दो० ४४); तथा—"सुचि सुंदर आश्रम निरखि, हरषे राजिवनैन।" (अ० दो० १२४)।

(२) 'हिमगिरिगुहा···'—हिमालय पवित्र स्थल है, उसमें गुफा और भी पवित्र है; फिर श्री गंगा-तट पर होने से 'अति पावनि' कही गई है।

(३) 'निरखि सैल सरि···'—श्रीगंगाजी का जल रमापति का पादोदक है, उसे देखकर उनके पद में अनुराग हुआ। चरणोदक की महिमा से चरण की महिमा का उद्दीपन हुआ, वे भक्ति के अनुराग से रूप में मगन हो गये। यथा—"रघुबर-बरन बिलोकि बर, बारि समेत समाज। होत मगन वारिधि बिरह···" (अ० दो० ११०); "देखत स्यामल धवल हलोरे। पुलक सरीर भरत कर जोरे॥" (अ० दो० २०१)। शुद्ध वायु के लिये शैल, तप के लिये घोर वन एवं भोजन के लिये फल-मूल भी वन से प्राप्त होते हैं। 'सरि' से जल का सुपास आदि अन्य सुविधाएँ हैं ही, अतः भजन के लिये उपयुक्त स्थल है।

(४) 'सुमिरत हरिहिं स्रापगति···'—हरि के स्मरण-प्रभाव से शाप का प्रभाव नष्ट हो गया, जो दक्ष ने दिया था कि तुम एक स्थल पर दो घड़ियों से अधिक न ठहर सकोगे, तुम्हारा समय तीनों लोकों में घूमते ही बीतेगा। वह शाप नष्ट हो गया; अतः, बहुत काल तक ठहर गये। समाधि में मन की मलिनता बाधक है। यथा—"मन मलिन बिषय संग लागे।" (वि० ८२)' श्रीनारदजी का मन जन्म से ही निर्मल है। अतः, समाधि लग गई।

भगवान् का निष्काम भजन करने में तत्संबंधी बाधाएँ नष्ट हो जाती हैं, यह दिखाया।

मुनिगति देखि सुरेस डेराना। कामहिं बोलि कीन्ह सनमाना॥५॥
सहित सहाय जाहु मम हेतू। चलेउ हरषि हिय जलचर-केतू॥६॥

अर्थ—मुनि की यह उत्तम दशा देखकर इन्द्र डर गया। कामदेव को बुलाकर उसका बड़ा सत्कार किया॥५॥ (फिर कहा कि) हमारे लिये तुम अपने सहायकों के सहित जाओ। (यह सुनकर) मकरध्वज कामदेव हृदय में हर्षित होकर चला॥६॥

विशेष—(१) 'मुनिगति···'—इन्द्र शाप की गति का रुकना एवं समाधिस्थ होना देखकर डरा कि अब मेरा लोक प्राप्त करना इनके लिये कुछ कठिन नहीं है।

'कीन्ह सनमाना।'—अपने स्वार्थ साधने में, विशेष कर शत्रु पर चढ़ाई के समय, सेवकों के सम्मान की रीति है, यथा—"देखि सुभट सब लायक जाने। लेइ लेइ नाम सकल सनमाने॥ भाइहु लावहु धोख जनि, आजु काज बड़ मोहि।" (अ० दो० १९१)।

(२) 'सहित सहाय'—मुनि का प्रभाव भारी देखकर इन्द्र बहुत डरा है, इससे अकेले कामदेव से कार्य होना न समझकर सहाय सहित भेज रहा है।

(३) 'हरषि हिय जलचरकेतू।'—ध्वजा कहने से रथ पर चढ़कर चलना जनाया। हर्ष के साथ चला, क्योंकि उसे अभिमान है कि नारदजी का जीतना कौन बात है? अभी कृतकार्य होकर लौटता हूँ तो स्वामी के यहाँ अधिक महत्त्व पाऊँगा। स्वामि-कार्य में हर्ष चाहिये ही। शूर भी है, अतः युद्ध का उत्साह है। पूर्वोक्त—"कोपेउ जबहिं बारिचरकेतू।" (दो० ८४) के भाव भी देखिये।

सुनासीर मन महँ अति त्रासा। चहत देवरिषि मम पुर बासा॥७॥
जे कामी लोलुप जग माहीं। कुटिल काक इव सबहिं डेराहीं॥८॥

दोहा—सूख हाड़ लै भाग सठ, स्वान निरखि मृगराज ।
छीनि लेइ जनि जानि जड़ तिमि सुरपतिहिं न लाज ॥१२५॥

शब्दार्थ—सुनासीर = इन्द्र ।

अर्थ—इन्द्र के मन में अत्यन्त डर है कि देवर्षि नारदजी हमारे पुर में बसना (दखल करना) चाहते हैं ॥७॥ जगत् में जो कामी और लोभी लोग हैं, वे कुटिल कौए की तरह सभी से डरते हैं ॥८॥ जैसे मूर्ख कुत्ता सिंह को देख सूखी हड्डी लेकर भागे और मूर्ख यह समझे कि कहीं सिंह उसे छीन न ले, वैसे ही इन्द्र को लाज नहीं लगती ॥१२५॥

विशेष—(१) 'चहत देवरिषि.....'पहले तो तप करके देवर्षि हुए, अब देवराज होना चाहते हैं। 'अति त्रासा'—क्योंकि काम के भेजने पर भी शान्ति न हुई।

(२) 'जे कामी लोलुप . . '—डर का कारण उसकी कुटिलता है, इससे कुटिल कौए की नाईं कहा। यथा—"काकसमान पाकरिपु-रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती ॥" (अ० दो० ३०१)।

(३) 'सूख हाड़ लै भाग...'—कुत्ता सूखी हड्डी को चूसता है तो उसके ही तालू से रक्त निकलता है, जिसे चूसकर वह सतोष मानता है, वैसे ही सौ यज्ञों के फल से भोग रूप इन्द्रासन मिलता है। सुकृत की सीमा तक ही भोग रहता है। अपने ही पुण्य का फल भोगना होता है। पुण्य चीण हो जाने पर फिर नीचे आना होता है। श्वान को हड्डी का मोह व्यर्थ है, वैसे इन्द्र को इन्द्रासन का। इसी से कहा है—"सरिस स्वान मघवान जुवानू।" (अ० दो० ३०१)।

यहाँ नारदजी सिंह रूप हैं, ससार-सुख त्यागे हुए, एक मन-रूपी मतवाले हाथी के मारनेवाले हैं, वे सूखी हड्डी रूपी इन्द्रासन क्यों चाहेंगे ? यथा—"लखि गयंद भजि चलत लखि, स्वान सुखाने हाड़। गज गुन मोल अहार बल, महिमा जान कि राढ़ ॥" (दोहावली ३८०)। जैसे सिंह दूसरे का मारा हुआ शिकार भी नहीं ग्रहण करता, तो सूखी हड्डी क्यों लेगा ? वैसे नारदजी ब्रह्मलोक के ऐश्वर्य के भी विरागी हैं तो उसकी अपेक्षा बहुत अल्प स्वर्ग के सुख की कब इच्छा करेंगे ? इन्द्र के इतना भी विचार नहीं है, इसीसे वह 'सठ' और 'जड' कहा गया।

तेहि आश्रमहिं मदन जब गयेऊ। निज माया बसंत निरमयेऊ ॥१॥
कुसुमित बिबिध बिटप बहुरंगा। कूजहिं कोकिल गुंजहिं भृंगा ॥२॥
चली सुहावनी त्रिविध बयारी। कामकृसानु बढ़ावनिहारी ॥३॥
रंभादिक सुरनारि नवीना। सकल असमसर-कला-प्रबीना ॥४॥
करहिं गान बहु तान-तरंगा। बहु बिधि क्रीड़हिं पानि-पतंगा ॥५॥
देखि सहाय मदन हरषाना। कीन्हेसि पुनि प्रपंच बिधि नाना ॥६॥

शब्दार्थ—बयारी = हवा। सुरनारी = अप्सराएँ। असमसर = विषम-बाण, कामदेव। असम-सर-कला = काम कला, हाव भाव-कटाक्ष एवं नृत्य-गान आदि। तान-तरंगा = लय की लहर। क्रीड़हिं = केलि अर्थात् कल्लोल करती हैं। पानि-पतंगा = एक प्रकार का नृत्य जो हाथ चमकाकर किया जाता है या गेंद की क्रीड़ा। प्रपंच = माया।

अर्थ—जब कामदेव उस आश्रम में गया, तब उसने अपनी माया से वसन्त ऋतु का निर्माण किया ॥१॥ नाना प्रकार के वृक्ष बहुत रंगों के फूलों से खिल उठे, कोकिलाएँ कूज (कू-कू कर) रही हैं, भौंरे गुंजार कर रहे हैं ॥२॥ कामाग्नि को प्रचंड करनेवाली सुहावनी (शीतल, मंद, सुगंध) तीनों प्रकार की हवा चलने लगी ॥३॥ रंभा आदि नव-यौवना अप्सराएँ, जो कामदेव की सब कलाओं में निपुण हैं ॥४॥ बहुत लयदारी के साथ गा रही हैं और बहुत तरह की पाणि-पतग आदि क्रीड़ाएँ कर रही हैं ॥५॥ कामदेव अपने सहायकों को देखकर प्रसन्न हुआ, फिर अनेकों प्रकार के प्रपंच (माया) रचे ॥६॥

विशेष—(१) 'तेहि आश्रमहिं मदन'''—इन्द्र ने सहाय सहित जाने की आज्ञा दी थी, उसीका वर्णन यहाँ से पाँच अर्द्धालियों में है। इसके उपक्रम में 'मदन' और उपसंहार में भी 'देखि सहाय मदन' कहा है। भाव यह कि जाता तो मद के साथ है, पर लौटेगा मदरहित होकर। 'वसन्त' इसके सहायकों में आदि है।

(२) 'कुसुमित विविध''''' '—विविध वृक्षों में रंग-विरंग के फूल खिले हैं, उनकी सुगंध रक्त में गर्मी उत्पन्न करती है, जिससे काम उत्पन्न होता है। कोकिलाओं के कूजने से ध्यान में विक्षेप (बाधा) होता है, यथा—"कुहू-कुहू कोकिल धुनि करहीं। सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं॥" (आ० दो० ३६)।

(३) 'चली सुहावनि त्रिविध''''''—यहाँ गंगा तट होने से शीतल, फूलों से सुगंधित और वन में रुक-रुककर चलने से मंद-मंद वायु सुहावना (अनुकूल) चल रहा है, जैसे वायु अग्नि को भड़काता है, वैसे यह कामाग्नि को। 'वायु' पुंल्लिंग न कहकर 'बयारी' स्त्रीलिंग कहा गया है, क्योंकि जैसे स्त्री का स्पर्श कामोद्दीपक है, वैसे इस बयारि का भी। यथा—"सीतल सुगंध सुमंद मारुत मदनअनल-सखा सही।" (दो० ८६)।

(४) 'रंभादिक सुर-नारि '' '—रंभा अप्सरा को आदि में दिया, क्योंकि यह क्षीर-सागर से प्रकट होनेवाले १४ रत्नों में है, एवं 'आदि' से मेनका, उर्वशी प्रभृति अप्सराओं की स्थिति भी जनाई। 'नवीना'—ये सदा नवयौवना ही बनी रहती हैं।

(५) 'करहिं गान बहु...'—स्त्री कामदेव के लिये परम बल है। यथा—"येहि के एक परम बलनारी। तेहि ते उबर सुभट सोइ भारी॥" (आ० दो० ३८), इनमें भी देवांगनाएँ और फिर वे हाव-भाव के साथ गान आदि करती हों तो कहना ही क्या है? यथा—"सुरसुंदरी करहिं कलगाना। सुनत श्रवन छूटहिं मुनि ध्याना॥" (दो० ९०)। गान-सहित अप्सराओं को अंत में कहा, क्योंकि ये उसके बल की पराकाष्ठा हैं। 'तान-तरंगा'-यथा—"बहु भाँति तान-तरंग सुनि गंधर्व किन्नर लाजहीं॥" (गी० ड० १८)। काम की सेना का विशेष वर्णन—'सहित बिपिन मधुकर खग'.. से—'सुभट सोइ भारी॥' (आ० दो० ३७) तक है।

काम-कला कछु मुनिहिं न ब्यापी। निज भय डरेउ मनोभव पापी॥ ७॥
सीम कि चाँपि सकइ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥ ८॥

दोहा—सहित सहाय सभीत अति, मानि हारि मन मैन।
गहेसि जाइ मुनिचरन तब, कहि सुठि आरत बैन॥१२६॥

अर्थ— कामदेव की कोई भी कला मुनि पर कुछ असर न कर सकी, (तब) वह पापी मनोज (काम) अपने ही भय से डर गया ॥७॥ लक्ष्मी के पति भगवान् ही जिसके बड़े रक्षक हों उसकी सीमा (मर्यादा=हद) कौन दबा सकता है ?॥८॥ सहायकों के सहित कामदेव मन में हार मानकर बहुत भयभीत हुआ, तब जाकर अत्यन्त आर्त वचन कहते हुए मुनि के चरणों को पकड़ लिया ॥१२६॥

विशेष—(१) 'कामकला कछु'''—पहले काम ने सहायकों-द्वारा उपाय किया, फिर बहुत तरह की माया की, तब क्रोध में आकर धनुष चढ़ाकर बाण भी चलाया। यथा—"सकल कला करि कोटि विधि, हारेउ सेन समेत।'''कोपेउ हृदयनिकेत'''छाड़ेउ विषम विसिष उर लागे।" (दो० ८६)।

(२) 'निज भय डरेउ'''—श्रीनारदजी ने प्रतिकारात्मक दृष्टि नहीं की, तब भी स्वयं डरा, क्योंकि—"पर-द्रोही की होइ निसंका।" (उ० दो० १११)। 'पापी'— शिवजी की समाधि छुड़ाने में पापी नहीं कहा गया, क्योंकि वहाँ इसका कार्य सर्व-सम्मत से था, श्रीरामजी से भी शिवजी ने ब्याह की आज्ञा पाई थी, फिर भी समाधि लगा बैठे। ब्रह्माजी एवं सर्व देवताओं ने तीनो लोकों के हित के लिये काम को भेजा था। इसने भी कहा था कि—"परहित लागि तजइ जो देही। संतत संत प्रसंसहि तेही॥" (दो० ८३)। इस शुद्ध विचार से गया था, अतः पापी नहीं कहा गया। यहाँ तो स्वार्थी इन्द्र के मत में आकर ऐसा अन्याय किया, इसीसे इन्द्र काक-स्वान कहा गया और यह पापी।

(३) 'सीम की चाँपि'''—काम की प्रवृत्ति मन से होती है। मन को वश में करना ही भूमि को दखल करना है, उस मन के किंचित् अंश को दबाना सींव (हद, मेड़) दबाना है। यथा—"तात तीनि अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ। मुनि बिज्ञानधाम मन, करहिं निमिष महँ छोभ॥" (आ० दो० ३८)। 'रमापति'—क्योंकि पूर्व कहा गया कि—"भयेउ रमापति-पद-अनुरागा।" (दो० १२४)। भाव यह कि वे जैसे रमा की रक्षा करते हैं, वैसे भक्त की भी करते हैं। यथा—"तिनकी न काम सकै चापि छाँह। तुलसी जे बसै रघुबीर-बाँह॥" (गी० अ० ४१)।

(४) 'सहित सहाय सभीत अति'''—इसने प्रथम सहायकों द्वारा अन्याय किया, फिर स्वयं भी किया, इसलिये सबके सहित डरा और शरणागत हो रहा है। मन, वचन और कर्म से शरण में आया। 'मानि हारि मन' में मन, 'कहि आरत बैन'—में वचन और 'गहेसि ''चरन' में कर्म की शरणागति है।

भयेउ न नारद-मन कछु रोषा। कहि प्रिय बचन काम परितोषा॥१॥
नाइ चरन सिर आयसु पाई। गयेउ मदन तब सहित सहाई॥२॥
मुनि-सुसीलता आपनि करनी। सुरपति-सभा जाइ सब बरनी॥३॥
सुनि सबके मन अचरज आवा। मुनिहिं प्रसंसि हरिहिं सिर नावा॥४॥

अर्थ—श्रीनारदजी के मन में कुछ भी क्रोध न हुआ, (प्रत्युत) उन्होंने प्रिय वचन कहकर कामदेव को सन्तुष्ट किया॥ १॥ तब मुनि के चरणों में माथा नवाकर और उनकी आज्ञा पाकर कामदेव सहायकों के सहित चला गया॥ २॥ देवराज इन्द्र की सभा में उसने मुनि की सुशीलता और अपनी 'करनी' (करतूत) का वर्णन किया॥ ३॥ सुनकर सबके मन में आश्चर्य हुआ, (इसपर सबने) मुनि की बड़ाई करके भगवान् को शिर नवाया॥ ४॥

विशेष—(१) 'भयेउ न नारद मन'''—रंभा आदि की कलाएँ न व्यापने में काम पर जय हुई थी और यहाँ क्रोध पर हुई। 'प्रिय बचन'—यह कि तुम्हारा दोष नहीं है, तुमने तो इन्द्र की प्रेरणा से ऐसा

किया है, इत्यादि तथा 'प्रिय' जो कामदेव को प्रिय लगे। ऊपर कहा गया कि कामदेव ने मुनि की मन, वचन कर्म से शरणागति की। यहाँ श्रीनारदजी ने भी उसे मन, वचन, कर्म से संतुष्ट किया। यथा—'नारद मन', 'कहि प्रिय वचन' 'परितोपा' (इसमें पीठ पर हाथ फेरना आदि कर्म होंगे ही)।

शंका—मुनि की समाधि का उपराम नहीं कहा गया, फिर ये परितोप आदि कार्य कैसे हुए?

समाधान—समाधि दो प्रकार की होती है—(१) संप्रज्ञात, जिसमें निर्लिप्त भाव से व्यवहार-दृष्टि रहते हुए भी ध्येय का रूप प्रत्यक्ष रहता है। यथा—"मन तहँ जहँ रघुवर वैदेही। बिनु मन तनु-सुधि-बुधि कहु केही॥" (अ० दो० २७४)। (२) असंप्रज्ञात, यथा—"जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं॥" (कि० दो० १०); इसे जड़ समाधि भी कहते हैं। यहाँ मुनि की समाधि संप्रज्ञात थी। अतः, ऐसा होना युक्त है।

(२) 'नाइ चरन सिर'''—प्रथम अभिमान सहित जीतने के लिये आया था, तब प्रणाम नहीं किया था। फिर हारने पर शरणापन्न होने में प्रणाम किया। अब विदाई का प्रणाम है, यह शिष्टाचार है। 'गयेउ मदन तब सहित सहाई।' यह उपसंहार है, इसका उपक्रम 'सहित सहाइ जाहु मम हेतू' है।

(३) 'मुनि-सुशीलता आपनि '''—यद्यपि पहले इसने 'करनी' ही की थी, तथापि मुनि का सौशील्य इसके हृदय में ऐसा विध गया है कि प्रथम वही कहा। अपराध पर क्रोध न करना शील है, उसपर प्रिय वचन कहकर परितोप करना सु-शील है, उसका भाव सुशीलता है।

'सब बरनी'—यद्यपि 'करनी' का परिणाम इसकी न्यूनता है, तथापि उसे भी न छिपाया, क्योंकि देवता सत्य-भाषी होते हैं। पुनः मुनि के शील से उनमें प्रीति हो गई, इससे अपनी न्यूनता में उनका प्रभाव होना विचारकर विस्तार से कहा। 'सभा' में कही बात और भी प्रामाणिक होती है।

(४) 'मुनि ''अचरज आवा।' यथा—"नारि-नयन-सर जाहि न लागा। घोर-क्रोध-तम-निसि जो जागा॥ लोभ-पास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥" (कि० दो० २०)। 'हरिहिं सिर नावा'—काम क्रोध से बचना असंभव-सा है, ये भगवान् की ही कृपा से बचे, ऐसे भक्तवत्सल भगवान् को प्रणाम है, इत्यादि से भक्त और उनके प्रभु को धन्य माना।

तब नारद गवने सिव पाहीं। जिता काम अहमिति मन माहीं॥५॥
मारचरित संकरहिं सुनाये। अतिप्रिय जानि महेस सिखाये॥६॥
बार बार बिनवउँ मुनि तोही। जिमि यह कथा सुनायेहु मोही॥७॥
तिमि जनि हरिहिं सुनावेहु कबहूँ। चलेहु प्रसंग दुरायेहु तबहूँ॥८॥

शब्दार्थ—अहमिति (अहं + इति) = अहंकार। मार = काम। दुरायेहु = छिपा लेना, टाल देना।

अर्थ—तब नारदजी शिवजी के पास गये, 'मैंने काम को जीता है'—ऐसा अहंकार मन में है॥५॥ शिवजी को काम का चरित सुनाया, (इनको) अपना अतिप्रिय जानकर महादेवजी ने सिखाया॥६॥ कि हे मुनि! मैं बार-बार आपसे विनती करता हूँ कि जैसे यह कथा आपने मुझे सुनाई॥७॥ वैसे भगवान् को कभी न सुनाना। प्रत्युत प्रसंग (चर्चा) चलने पर भी, छिपाना (प्रकट न करना, किन्तु टाल दे जाना।)॥८॥

विशेष—(१) 'तब नारद गवने सिव···'—स्वर्ग में तो कामदेव ने कहा ही है। कैलाश में भी जना दें, इस अभिप्राय से चले। शिवजी कामारि हैं तो मैंने भी काम जीता है, अब मैं भी कामारि हो गया, उनके तुल्य हुआ तो चलकर उनसे मिलूँ। इस अभिमान से गये। 'अहमिति'—(मैं ऐसा !) अर्थात् शिवजी को तो काम के जीतने पर क्रोध हो ही गया, तब काम को भस्म किया। मेरी समाधि भी निर्विघ्न निबही, क्रोध भी न हुआ। विष्णु ने भी क्रोध को ही जीता है—भृगु-परीक्षा में, पर काम-जित् नहीं कहे जा सकते। पर मैंने दोनों को जीता तो मेरे बराबर तीनो लोकों में अब कोई नहीं है, ऐसा मन में है।

इन्होंने काम-क्रोध को जीता तो उन्हींका भाई अहंकार दोनों का बदला ले रहा है।

(२) 'मारचरित संकरहिं···'—यहाँ शिवजी को प्रणाम भी न किया, तुरंत मार-चरित सुनाने लगे कि जिससे शिवजी ही मुझे बड़ा जानकर अधिक मानें, क्योंकि इसमें मेरी काम-क्रोध दोनो पर विजय है। जीव भगवान् का शरीर-रूप नियाम्य एवं परतंत्र है, अहंकार होने से उल्टी वृत्ति हो जाती है, यह जनाने के लिये महाकवि ने काम के 'मार' नाम को ही चुना। श्रीनारदजी सदा रामचरित गाते थे, यथा—"गावत रामचरित मृदुबानी। प्रेम सहित बहु भाँति बखानी॥" (आ॰ दो॰ ४०); "बार बार नारद मुनि आवहिं। चरित पुनीत राम के गावहिं॥" (उ॰ दो॰ ४१); इत्यादि। अब वृत्ति उल्टी होने से मार-चरित ही रुचता है। राम का उल्टा 'मार' है। कहा भी है—"जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम। तुलसी कबहुँ कि होत हैं, रवि रजनी यक ठाम॥" (तुलसीसतसई)।

शंका—काम को शिवजी ने जला डाला, फिर नारदजी के साथ का उसका बर्ताव कैसे हुआ ?

समाधान—यथा—"कलप-भेद हरि-चरित सुहाये। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाये॥" (दो॰ ३३)।

(३) 'अति प्रिय जानि महेस···'—श्रीनारदजी परम भागवत एवं श्रीरामनाम के जापक हैं और निष्काम एवं परम विरक्त हैं। शिवजी में भी ये सब गुण हैं, इस सजातित्व से प्रियत्व है। यथा—"नारद जानेउ नाम-प्रतापू। जग प्रिय हरि हरि हर प्रिय आपू॥" (दो॰ २५)। शिवजी जानते हैं कि श्रीरामजी को अभिमान नहीं भाता। यथा—"होइहिं कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवइ चह कृपा-निधाना॥"।(उ॰ दो॰ ६१); वही (गरुड़ की-सी) दशा इनकी न हो। अतः, सिखाया।

(४) 'बिनवउँ मुनि तोही।'—विनय-युक्त वचन श्रोता की धारणा में आता है, इसलिये विनती-पूर्वक कहते हैं। यथा—"औरउ एक गुपुत मत, सबहिं कहउँ कर जोरि।" (उ॰ दो॰ ४५); "बिनती करउँ जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥" (सुं॰ दो॰ २१)। अति प्रियत्व से उनके कल्याण के लिये शिवजी विनय भी करते हैं—यद्यपि स्वयं बड़े हैं।

(५) 'चलेहु प्रसंग···' यहाँ तो आपने ही चर्चा छेड़ी, पर वहाँ दूसरा भी छेड़े, तब भी न कहना, छिपा लेना।

दोहा—संभु दीन्ह उपदेस हित, नहिं नारदहिं सोहान।
भरद्वाज कौतुक सुनहु, हरिइच्छा बलवान॥१२७॥

राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करइ अन्यथा अस नहिं कोई॥१॥
संभुबचन मुनि मन नहिं भाये। तब बिरंचि के लोक सिधाये॥२॥

अर्थ—(श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) शिवजी ने तो हित की शिक्षा दी, पर वह नारदजी को अच्छी न लगी। हे भरद्वाज ! हरि की इच्छा बलवती है, उसका तमाशा सुनो ॥१२७॥ श्रीरामजी जो करना चाहते हैं, वही होता है, उसे और ढंग से कर दे, ऐसा कोई नहीं है ॥१॥ शिवजी के वचन नारद मुनि के मन में अच्छे न जँचे, तब वे ब्रह्मलोक को चल दिये ॥२॥

विशेष—(१) 'नहिं नारदहिं सोहान'—मति उल्टी होने के कारण नारदजी ने उल्टा ही समझा कि शिवजी ईर्ष्या से मना करते हैं, जिससे हम हो काम-विजयी प्रसिद्ध रहें, दूसरा न प्रसिद्ध हो पावे। 'हरि-इच्छा बलवान।'—अन्यत्र हरि-इच्छा से भावी का भी अर्थ होता है, यथा—"हरि-इच्छा भावी बलवाना।" (दो० ५५) जो पूर्व कर्मानुसार होती है, पर यहाँ लीला के लिये ही हरि-इच्छा है, हरि अपनी लीला का विधान रचना चाहते हैं। अतः, वैसी ही मति कर दी है। यथा—"त्वदाश्रितानां जगदुद्भवस्थितिप्रणाशसंसारविमोचनादयः। भवंति लीलाविधयश्च वैदिकास्त्वदीय गंभीरमनोनुसारिणः॥" (आलवंदार स्तोत्र), इसी 'हरि-इच्छा' को आगे—'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई।' से और 'बलवान' को—'करइ अन्यथा अस नहिं कोई।' से स्पष्ट किया।

इस हरि-इच्छा का बीज प्रथम ही शिवजी ने बो दिया है—"जेहि जस रघुपति करहिं जब, सो तस तेहि छन होइ॥" (दो० १२४)। यहाँ नारदजी प्रथम ज्ञानियों के सिरमौर बनाये गये, अब मूर्खों के सिरमौर बनेंगे।

(२) 'संभु-बचन मुनि····'—शिवजी के कल्याणकारक वचन अच्छे न लगे, तब उठकर अपने घर चल दिये। ये ब्रह्माजी के पुत्र हैं और ब्रह्मलोक में रहते हैं। ब्रह्माजी से न कहेंगे, क्योंकि काम का चरित पिता से कहना अयोग्य है। वहाँ रहने से औरों से कहेंगे तो कानोंकान ब्रह्माजी भी सुन ही लेंगे। तब क्षीरसिंधु को जायँगे।

एक बार करतल बर बीना। गावत हरिगुन-गान प्रबीना ॥३॥
छीरसिंधु गवने मुनिनाथा। जहँ बस श्रीनिवास श्रुतिमाथा ॥४॥
हरपि मिलेउ उठि रमानिकेता। बैठे आसन रिषिहिं समेता ॥५॥

शब्दार्थ—बीना (वीणा) = एक प्रसिद्ध बाजा। श्रीनिवास = जिनमें श्री का निवास है, लक्ष्मीपति। श्रुतिमाथा = वेदों के मुख्य प्रतिपाद्य। रमानिकेता = रमापति, श्रीमन्नारायण।

अर्थ—एक बार हाथ में श्रेष्ठ वीणा लिये हुए, गान (विद्या) में निपुण, हरि गुण गाते हुए ॥३॥ मुनिनाथ नारदजी क्षीरसागर को गये, जहाँ वेदों के मुख्य प्रतिपाद्य लक्ष्मीपति (श्रीमन्नारायण) रहते हैं ॥४॥ रमापति भगवान् हर्षपूर्वक उठकर उनसे मिले और ऋषि (नारद) सहित आसन पर बैठे ॥५॥

विशेष—(१) 'छीरसिंधु गवने····'—इस कल्प में क्षीर-सागरशायी ये राम होने का प्रसंग है। 'श्रुतिमाथा', यथा—"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः····" (गीता १५।१५)।

(२) 'हरपि मिलेउ उठि····'—जैसे भक्त को भगवान् के दर्शनों से आनन्द होता है वैसे ही भगवान् भी भक्त को देखकर सुखी होते हैं। हर्ष-सहित एवं उठकर मिलना शिष्टाचार भी है। 'उठि'—क्योंकि यहाँ आप 'क्षीरसागर शयन' ही रहते हैं।

हर्ष का यह भी हेतु कहा जाता है कि हर्ष से एवं उठकर मिलने से उनका और भी बढ़ेगा, तब शिवजी के वचन बिलकुल भूल जायँगे। इससे लीला का अंग बनेगा और हमें कौतुक एवं करने को मिलेगा।

(३) 'बैठे आसन'—भगवान् ने अपने आसन पर बराबर बैठाया, यह अति सत्कार। इससे नारदजी का अहंकार और भी बढ़ा कि हम त्रिदेवों से भी अधिक हैं, क्योंकि काम-क्रोध जीता है। इसीसे भगवान् ऐसा मानते हैं, अहंकार में सेवक-धर्म भूल गये, इसीसे स्वामी के और बराबर बैठे। प्रणाम भी न किया, क्योंकि अपनेको उनसे श्रेष्ठ मानते हैं।

बोले बिहँसि चराचरराया। बहुते दिनन्ह कीन्हि मुनि दाया ॥६॥
कामचरित नारद सब भाखे। जद्यपि प्रथम बरजि सिव राखे ॥७॥
अति प्रचंड रघुपति कै माया। जेहि न मोह अस को जग जाया ॥८॥

अर्थ—चराचर के स्वामी भगवान् हँसकर बोले कि हे मुनि ! (इस बार) बहुत दिनों पर की ॥६॥ यद्यपि श्रीशिवजी ने प्रथम ही बरज (मनाकर) रक्खा था, तथापि नारदजी ने कामदेव का चरित कह सुनाया ॥७॥ श्रीरघुनाथजी की माया अत्यंत प्रचंड है, ऐसा कौन जगत् में पैदा हुआ जिसे वह नहीं मोह सकती हो ? ॥८॥

विशेष—(१) 'बोले बिहँसि ···'- हँसकर क्यों बोले ?—(क) आपका स्वभाव है कि प्रसन्नमुख रहते एवं हँसकर बोलते हैं। (ख) हास आपकी माया है, यथा—"माया हास बाहु पाला।" (लं॰ दो॰ १४); हँसे कि माया डाली। विश्वामित्र ऐश्वर्य कहने लगे तो आप मुसकुरा तुरत मोहित होकर माधुर्य कहने लगे, देखिये दो० २१५–१६ एवं कौशल्याजी ने ऐश्वर्य कहना किया कि मुसकुरा दिये, बस, माधुर्य माँग लिया, दो० १९१–९२ देखिये। वैसे यहाँ हँसकर बोले मोहित होकर नारदजी भीतर की बातें सब कह दें। (ग) अपनी माया की प्रबलता पर हँसे ; यथा "निज माया-बल हृदय बखानी। बोले बिहँसि राम मृदु बानी॥" (दो॰ ५२); कि इसने सब ज्ञानोपदेष्टा नारदजी को भी ऐसा मोहित किया !

(२) 'बहुते दिनन्ह···'—अर्थात् पहले शीघ्र-शीघ्र आते थे, पर अब की बहुत बेर लगा शिवजी ने कहा था—'चलेहु प्रसंग···', वह प्रसंग चलाना यही है। अब नारद अवश्य ही सब कि ऐसे-ऐसे कारणों से देर हुई।

(३) 'अति प्रचंड रघुपति···' यथा—"हरि-माया कर अमित प्रभावा। बिपुल बार जेहि मोहि नचावा॥" (उ॰ दो॰ ५१)। यह ब्रह्माजी का वचन है।

(४) 'जेहि न मोह अस को···' यथा—"सुर-नाग लोक महिमंडलहु, को जो मोह कीन्हो जय न कह तुलसिदास सो ऊबरै, जेहि राख राम राजिवनयन॥" (क॰ उ॰ ११०)।

(५) देव-माया चंड, त्रिदेव-माया प्रचंड और रघुपति-माया अति प्रचंड है।

दोहा—रूख बदन करि बचन मृदु, बोले श्रीभगवान।
तुम्हरे सुमिरन ते मिटहिं, मोह मार मद मान ॥१२८॥

अर्थ—(श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) शिवजी ने तो हित की शिक्षा दी, पर वह नारदजी को अच्छी न लगी। हे भरद्वाज ! हरि की इच्छा बलवती है, उसका तमाशा सुनो ॥१२७॥ श्रीरामजी जो करना चाहते हैं, वही होता है, उसे और ढंग से कर दे, ऐसा कोई नहीं है ॥१॥ शिवजी के वचन नारद मुनि के मन में अच्छे न जँचे, तब वे ब्रह्मलोक को चल दिये ॥२॥

विशेष—(१) 'नहिं नारदहिं सोहान'—मति उल्टी होने के कारण नारदजी ने उल्टा ही समझा कि शिवजी ईर्ष्या से मना करते हैं, जिससे हम ही काम-विजयी प्रसिद्ध रहें, दूसरा न प्रसिद्ध हो पावे। 'हरि-इच्छा बलवान।'—अन्यत्र हरि-इच्छा से भावी का भी अर्थ होता है, यथा—"हरि-इच्छा भावी बलवाना।" (दो० ५५) जो पूर्व कर्मानुसार होती है, पर यहाँ लीला के लिये ही हरि-इच्छा है, हरि अपनी लीला का विधान रचना चाहते हैं। अतः, वैसी ही मति कर दी है। यथा—"त्वदाश्रितानां जगदुद्भवस्थितिप्रणाशसंसारविमोचनादयः। भवंति लीलाविधयश्च वैदिकास्त्वदीय गंभीरमनोनुसारिणः॥" (आलवंदार स्तोत्र); इसी 'हरि-इच्छा' को आगे—'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई।' से और 'बलवान' को—'करइ अन्यथा अस नहिं कोई।' से स्पष्ट किया।

इस हरि-इच्छा का बीज प्रथम ही शिवजी ने बो दिया है—"जेहि जस रघुपति करहिं जब, सो तस तेहि छन होइ॥" (दो० १२४)। यहाँ नारदजी प्रथम ज्ञानियों के सिरमौर बनाये गये, अब मूर्खों के सिरमौर बनेंगे।

(२) 'संभु-बचन मुनि'''—शिवजी के कल्याणकारक वचन अच्छे न लगे, तब उठकर अपने घर चल दिये। ये ब्रह्माजी के पुत्र हैं और ब्रह्मलोक में रहते हैं। ब्रह्माजी से न कहेंगे, क्योंकि काम का चरित पिता से कहना अयोग्य है। वहाँ रहने से औरों से कहेंगे तो कानोंकान ब्रह्माजी भी सुन ही लेंगे। तब क्षीरसिंधु भी जायँगे।

एक बार करतल बर बीना। गावत हरिगुन-गान प्रबीना॥३॥
छीरसिंधु गवने मुनिनाथा। जहँ बस श्रीनिवास श्रुतिमाथा॥४॥
हरषि मिलेउ उठि रमानिकेता। बैठे आसन रिषिहिं समेता॥५॥

शब्दार्थ—बीना (वीणा)=एक प्रसिद्ध बाजा। श्रीनिवास=जिनमें श्री का निवास है, लक्ष्मीपति। श्रुतिमाथा=वेदों के मुख्य प्रतिपाद्य। रमानिकेता=रमापति, श्रीमन्नारायण।

अर्थ—एक बार हाथ में श्रेष्ठ वीणा लिये हुए, गान (विद्या) में निपुण, हरि-गुण गाते हुए॥३॥ मुनिनाथ नारदजी क्षीरसागर को गये, जहाँ वेदों के मुख्य प्रतिपाद्य लक्ष्मीपति (श्रीमन्नारायण) रहते हैं॥४॥ रमापति भगवान् हर्षपूर्वक उठकर उनसे मिले और ऋषि (नारद) सहित आसन पर बैठे॥५॥

विशेष—(१) 'छीरसिंधु गवने'''—इस कल्प में क्षीर-सागरशायी के राम होने का प्रसंग है। 'श्रुतिमाथा', यथा—"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'''" (गीता १५।१५)।

(२) 'हरषि मिलेउ उठि'''—जैसे भक्त को भगवान् के दर्शनों से आनन्द होता है वैसे ही भगवान् भी भक्त को देखकर सुखी होते हैं। हर्ष-सहित एवं उठकर मिलना शिष्टाचार भी है। 'उठि'—क्योंकि यहाँ आप 'क्षीरसागर सयन' ही रहते हैं।

हर्ष का यह भी हेतु कहा जाता है कि हर्ष से एवं उठकर मिलने से उनका और भी अभिमान बढ़ेगा, तब शिवजी के वचन बिलकुल भूल जायँगे। इससे लीला का अंग बनेगा और हमें कौतुक देखने एवं करने को मिलेगा।

(३) 'बैठे आसन'—भगवान् ने अपने आसन पर बराबर बैठाया, यह अति सत्कार किया। इससे नारदजी का अहंकार और भी बढ़ा कि हम त्रिदेवों से भी अधिक हैं, क्योंकि काम-क्रोध दोनो को जीता है। इसीसे भगवान् ऐसा मानते हैं, अहंकार में सेवक-धर्म भूल गये, इसीसे स्वामी के आसन पर और बराबर बैठे। प्रणाम भी न किया, क्योंकि अपनेको उनसे श्रेष्ठ मानते हैं।

बोले बिहँसि चराचरराया। बहुते दिनन्ह कीन्हि मुनि दाया ॥६॥
कामचरित नारद सब भाखे। जद्यपि प्रथम बरजि सिव राखे ॥७॥
अति प्रचंड रघुपति कै माया। जेहि न मोह अस को जग जाया ॥८॥

अर्थ—चराचर के स्वामी भगवान् हँसकर बोले कि हे मुनि ! (इस बार) बहुत दिनों पर कृपा की ॥६॥ यद्यपि श्रीशिवजी ने प्रथम ही बरज (मनाकर) रक्खा था, तथापि नारदजी ने कामदेव का सारा चरित कह सुनाया ॥७॥ श्रीरघुनाथजी की माया अत्यंत प्रचंड है, ऐसा कौन जगत् में पैदा हुआ है, जिसे वह नहीं मोह सकती हो ? ॥८॥

विशेष—(१) 'बोले बिहँसि'—हँसकर क्यों बोले ?—(क) आपका स्वभाव है कि सदा प्रसन्नमुख रहते एवं हँसकर बोलते हैं। (ख) हास आपकी माया है, यथा—"माया हास बाहु दिग-पाला।" ,(लं० दो० १४); हँसे कि माया डाली। विश्वामित्र ऐश्वर्य कहने लगे तो आप मुसकुरा दिये, तुरत मोहित होकर माधुर्य कहने लगे, देखिये दो० २१५-१६ एवं कौशल्याजी ने ऐश्वर्य कहना प्रारम्भ किया कि मुसकुरा दिये, बस, माधुर्य माँग लिया, दो० १९१-९२ देखिये। वैसे यहाँ हँसकर बोले कि मोहित होकर नारदजी भीतर की बातें सब कह दें। (ग) अपनी माया की प्रबलता पर हँसे; यथा—"निज माया-बल हृदय बखानी। बोले बिहँसि राम मृदु बानी ॥" (दो० ५२); कि इसने सब के ज्ञानोपदेष्टा नारदजी को भी ऐसा मोहित किया !

(२) 'बहुते दिनन्ह···'—अर्थात् पहले शीघ्र-शीघ्र आते थे, पर अब की बहुत देर लगा दी। शिवजी ने कहा था—'चलेहु प्रसंग···', वह प्रसंग चलाना यही है। अब नारद अवश्य ही सब कहेंगे कि ऐसे-ऐसे कारणों से देर हुई।

(३) 'अति प्रचंड रघुपति···' यथा—"हरि-माया कर अमित प्रभावा। बिपुल बार जेहि मोहि नचावा ॥" (उ० दो० ५९)। यह ब्रह्माजी का वचन है।

(४) 'जेहि न मोह अस को···' यथा—"सुर-नाग लोक महिमंडलहु, को जो मोह कीन्हो जय न ? कह तुलसिदास सो ऊबरै, जेहि राख राम राजिवनयन ॥" (क० उ० ११०)।

(५) देव-माया चंड, त्रिदेव-माया प्रचंड और रघुपति-माया अति प्रचंड है।

दोहा—रूख बदन करि बचन मृदु, बोले श्रीभगवान।
तुम्हरे सुमिरन ते मिटहिं, मोह मार मद मान ॥१२८॥

अर्थ—(श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) शिवजी ने तो हित की शिक्षा दी, पर वह नारदजी को अच्छी न लगी। हे भरद्वाज ! हरि की इच्छा बलवती है, उसका तमाशा सुनो ॥१२७॥ श्रीरामजी जो करना चाहते हैं, वही होता है, उसे और ढंग से कर दे, ऐसा कोई नहीं है ॥१॥ शिवजी के वचन नारद मुनि के मन में अच्छे न जँचे, तब वे ब्रह्मलोक को चल दिये ॥२॥

विशेष—(१) 'नहिं नारदहिं सोहान'—मति उलटी होने के कारण नारदजी ने उलटा ही समझा कि शिवजी ईर्ष्या से मना करते हैं, जिससे हम हो काम-विजयी प्रसिद्ध रहें, दूसरा न प्रसिद्ध हो पावे। 'हरि-इच्छा बलवान।'—अन्यत्र हरि-इच्छा से भावी का भी अर्थ होता है, यथा—"हरि-इच्छा भावी बलवाना।" (दो० ५५) जो पूर्व कर्मानुसार होती है, पर यहाँ लीला के लिये ही हरि-इच्छा है, हरि अपनी लीला का विधान रचना चाहते हैं। अतः, वैसी ही मति कर दी है। यथा—"त्वदाश्रितानां जगदुद्भवस्थितिप्रणाशसंसारविमोचनादयः। भवंति लीलाविधयश्च वैदिकास्त्वदीय गंभीरमनोनुसारिणः॥" (आलवंदार स्तोत्र); इसी 'हरि-इच्छा' को आगे—'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई।' से और 'बलवान' को—'करइ अन्यथा अस नहि कोई।' से स्पष्ट किया।

इस हरि-इच्छा का बीज प्रथम ही शिवजी ने बो दिया है—"जेहि जस रघुपति करहिं जब, सो तस तेहि छन होइ॥" (दो० १२४)। यहाँ नारदजी प्रथम ज्ञानियों के सिरमौर बनाये गये, अब मूर्खों के सिरमौर बनेंगे।

(२) 'संभु-बचन मुनि···'—शिवजी के कल्याणकारक वचन अच्छे न लगे, तब उठकर अपने घर चल दिये। ये ब्रह्माजी के पुत्र हैं और ब्रह्मलोक में रहते हैं। ब्रह्माजी से न कहेंगे, क्योंकि काम का चरित पिता से कहना अयोग्य है। वहाँ रहने से औरों से कहेंगे तो कानोंकान ब्रह्माजी भी सुन ही लेंगे। तब क्षीरसिंधु भी जायँगे।

एक बार करतल बर बीना। गावत हरिगुन-गान प्रबीना॥३॥
छीरसिंधु गवने मुनिनाथा। जहँ बस श्रीनिवास श्रुतिमाथा॥४॥
हरषि मिलेउ उठि रमानिकेता। बैठे आसन रिषिहिं समेता॥५॥

शब्दार्थ—बीना (वीणा) = एक प्रसिद्ध बाजा। श्रीनिवास = जिनमें श्री का निवास है, लक्ष्मीपति। श्रुतिमाथा = वेदों के मुख्य प्रतिपाद्य। रमानिकेता = रमापति, श्रीमन्नारायण।

अर्थ—एक बार हाथ में श्रेष्ठ वीणा लिये हुए, गान (विद्या) में निपुण, हरि-गुण गाते हुए॥३॥ मुनिनाथ नारदजी क्षीरसागर को गये, जहाँ वेदों के मुख्य प्रतिपाद्य लक्ष्मीपति (श्रीमन्नारायण) रहते हैं॥४॥ रमापति भगवान् हर्षपूर्वक उठकर उनसे मिले और ऋषि (नारद) सहित आसन पर बैठे॥५॥

विशेष—(१) 'छीरसिंधु गवने···'—इस कल्प में क्षीर-सागरशायी के राम होने का प्रसंग है। 'श्रुतिमाथा', यथा—"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः···" (गीता १५।१५)।

(२) 'हरषि मिलेउ उठि···'—जैसे भक्त को भगवान् के दर्शनों से आनन्द होता है वैसे ही भगवान् भी भक्त को देखकर सुखी होते हैं। हर्ष-सहित एवं उठकर मिलना शिष्टाचार भी है। 'उठि'—क्योंकि यहाँ आप 'क्षीरसागर सयन' ही रहते हैं।

सकल सोकदायक अभिमाना ॥ तातें करहिं कृपानिधि दूरी ।"...से—"तिमि रघुपति निज दास कर, हरहिं मान हित लागि ।" (उ० दो० ७४) तक। यह अहंकार भारी वृक्ष है, पर अभी-अभी अंकुरित हुआ है। अतः, उखाड़ डालना सुगम है, इसीसे कहते हैं—

(२) 'बेगि सो मैं ...'—शीघ्र ही उखाड़ डालने में थोड़े ही कष्ट से भयंकर बाधा से मुनि बच जायँगे। यदि यह संदेह हो कि ये भी पराई वृद्धि नहीं देख सकते, इसलिये आगे कहते हैं,—'प्रन हमार सेवक हितकारी' है। अतः, करुणावश ऐसा करते हैं, ईर्ष्या से नहीं।

(३) 'मुनि कर हित मम कौतुक...'—मुनि का हित होगा, संसृति से बचेंगे, साथ ही हमारा कौतुक होगा, क्योंकि मुनि शाप देंगे, उसी को निमित्त बनाकर हम कौतुक करेंगे। यथा—"लगे करन सिसु-कौतुक तेई।" (उ० दो० ८७)। पूर्व कहा गया था—"भरद्वाज कौतुक सुनहु" (दो० १२७); उसका भाव यहाँ खुला कि कौतुक भगवान् का है—नारद का नहीं। इस कौतुक का आरंभ यहाँ से हो रहा है। इसीलिये अपनी माया को प्रेरित करेंगे—

तब नारद हरिपद सिर नाई। चले हृदय अहमिति अधिकाई ॥७॥
श्रीपति निज माया तब प्रेरी। सुनहु कठिन करनी तेहि केरी ॥८॥

दोहा—बिरचेउ मग महँ नगर तेहि, सत जोजन बिस्तार।
श्री-निवास-पुर ते अधिक, रचना बिबिध प्रकार ॥१२९॥

शब्दार्थ—प्रेरी = नियुक्त किया। जोजन (योजन) = ४ कोस। श्री-निवास-पुर = वैकुंठ या क्षीरसिंधु।

अर्थ—तब नारदजी भगवान् के चरणों में शिर नवाकर चले, उनके हृदय में अहंकार और अधिक हो रहा है ॥७॥ लक्ष्मीपति भगवान् ने तब अपनी माया को प्रेरित किया, उसकी कठिन करतूत सुनो ॥८॥ उसने रास्ते में चार सौ कोसों के लंबे-चौड़े नगर की विशेष रचना की, जिसकी अनेक प्रकार की रचनाएँ (बनावटें) वैकुंठलोक से भी अधिक थीं ॥१२९॥

विशेष—(१) 'हरि-पद सिरनाई।'—शिवजी ने इनका सत्कार विशेष नहीं किया, प्रत्युत शिक्षा देने लगे थे। यहाँ भगवान् उठकर मिले और बराबर बैठाया, यह विशेष आदर हुआ, यथा—"आगे होइ जेहि सुरपति लेई। अरध सिंहासन आसन देई ॥" (अ० दो० ९०)। इसी से चलते समय यहाँ प्रणाम किया, यह भी अहंकार से है अथवा यही प्रणाम आगे के कल्याण का कारण भी है, यथा—"मंगलमूल प्रनाम जासु जग मूल अमंगल के खनै।" (गी० सु० ४०) तथा—"त्वदंघ्रिमुद्दिश्य कदापि केनचिद्यथा तथा वापि सकृत् कृतोऽञ्जलिः। तथैवमुष्णात्यशुभान्यशेषतः शुभानि पुष्णाति न जातु हीयते ॥" (आलवंदार स्तोत्र)।

(२) 'चले हृदय अहमिति...'—प्रथम चले थे, तब कहा था—"जिता काम अहमिति मनमाहीं।" और अब यहाँ—'चले...' से अधिकता कहते हैं, क्योंकि प्रथम अहंकार का बीजमात्र पड़ा था, शिवजी के मना करने से दबा पड़ा था। यहाँ भगवान ने उन्हीं बातों की प्रशंसा की, और आदर किया। इससे अंकुर प्रकट होकर बढ़ चला। मन में सोचते हैं कि ठीक शिवजी ने स्पर्द्धा से ही रोका था, भगवान् तो सुनकर प्रसन्न ही हुए।

सुनु मुनि मोह होइ मन ताके। ज्ञान बिराग हृदय नहिं जाके ॥१॥
ब्रह्मचर्ज-ब्रत-रत मतिधीरा। तुम्हहि कि करइ मनोभव पीरा ॥२॥

अर्थ—श्रीभगवान् रूखा (-उदासीन) मुख करके कोमल वचन बोले कि आपका स्मरण करने से (औरों के) मोह, काम, मद और अभिमान मिट जाते हैं, (तो ये कामादि आपको कैसे व्याप सकते हैं?) ॥१२८॥ हे मुनि! सुनिये, मोह तो उसके मन में होता है जिसके हृदय में ज्ञान-विराग नहीं रहते ॥१॥ आप तो ब्रह्मचर्यव्रत में तत्पर रहते हैं और धीरबुद्धि हैं, (तो भला) आपको कामदेव कैसे पीड़ित कर सकता है? ॥२॥

विशेष—(१) 'रूख बदन करि'''—प्रथम भगवान् ने स्नेह का बर्ताव किया था, जिससे मुनि का अहंकार बढ़ता गया। स्नेह तैलवत् स्निग्ध (चिकनी) वस्तु है। चिकनी वस्तु राख-बेसन आदि रूखी वस्तुओं से मिटती है। वैसे नारद के हित करने को किंचित् काल के लिये भगवान् स्नेह हटाकर रूखे बन रहे हैं। यथा—"जिमि सिसु-तनु ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥" (उ० दो० ७४)। रूखे वदन से सूचित कर दिया कि यह बात हमें प्रिय नहीं लगी। 'बचन मृदु'—आप सदा मृदु वचन ही बोलते हैं, पर आज तो यह भी ध्यान है कि नारद को इस व्यंग्य वचन से दुःख न हो। 'श्रीभगवान'—नारदजी का मन इस प्रकार मोहित होने योग्य न था, पर आप श्रीभगवान् हैं। जैसा चाहें—करें। इन्हें कौतुक का साज सजाना है।

(२) 'ज्ञान बिराग हृदय'''—ज्ञान राजा और वैराग्य उसका मंत्री है। यथा—"सचिव बिराग बिवेक नरेसू।" (अ० दो० २३७); इसका विरोधी मोह राजा है, अहंकार भाई और कामादि सुभट हैं। यथा—"मोह दसमौलि तद्भ्रात अहँकार''" (वि०५८)। दो विरोधी राजा साथ नहीं रह सकते। व्यंग्य का आशय यह है कि आपके हृदय में अब मोह आया है। अतः, विवेक गया।

नारद कहेउ सहित अभिमाना। कृपा तुम्हारि सकल भगवाना ॥३॥
करुनानिधि मन दीख बिचारी। उर अंकुरेउ गर्ब-तरु भारी ॥४॥
बेगि सो मैं डारिहउँ उखारी। पन हमार सेवक-हितकारी ॥५॥
मुनि कर हित मम कौतुक होई। अवसि उपाय करबि मैं सोई ॥६॥

अर्थ—नारदजी ने अभिमान के साथ कहा कि हे भगवान्! यह सब आपकी कृपा है ॥३॥ करुणानिधान भगवान् ने मन में विचार कर देखा कि इनके हृदय में गर्व-रूपी भारी वृक्ष का अंकुर जमा है ॥४॥ उसे मैं शीघ्र ही उखाड़ डालूँगा क्योंकि मेरा प्रण सेवक के हित करने का है ॥५॥ अवश्य मैं वही उपाय करूँगा, जिससे मुनि का हित और मेरा खेल होगा ॥६॥

विशेष—(१) 'करुनानिधि मन'''— सेवक का दुःख देखकर स्वामी का विकल हो जाना एवं उसके दुःख का नाश करके सुख सजना, यह करुणा गुण है। यथा—"करुनामय रघुबीर गोसाईं। बेगि पाइयहिं पीर पराई॥" (अ० दो० ८४)। इसी करुणा में आविष्ट होकर आप नारदजी का हित विचार रहे हैं। श्रीनारदजी को इस समय अहंकार हो गया है, यह भव का मूल है। यथा—"सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन-अभिमान न राखहिं काऊ॥ संसृतिमूल सूलप्रद नाना।

'सीलनिधि'—शील गुण अन्य गुणों की अपेक्षा अधिक मोहक है, यह उसका खजाना ही है।

(२) 'सत सुरेस सम ······'—प्रथम इन्हें एक इन्द्र का वैभव नहीं मोह सका, इसलिये यहाँ सैकड़ों गुणा अधिक रचा गया। 'सत' शब्द यहाँ अनंतवाची है, क्योंकि पूर्व वैकुंठ से अधिक रचना कही जा चुकी है। भोग-विलास में इन्द्र प्रधान है। यथा—"भोगेन मघवानिव।" (वा० मूलरामायण) एवं—"सुना-सीर सत सरिस सो, संतत करइ बिलास।" (लं० दो० १२); इसलिये इन्द्र की उपमा दी गई।

(३) 'बिस्वमोहिनी तासु···'—इतना रचने पर भी संदेह है कि मोहित हों या नहीं, इसलिये माया स्वयं मोहिनी-रूप धरकर राजकुमारी बनी। पूर्व रंभा आदि के गुणों से मोहित नहीं हुए थे; अतः, यह विलक्षण गुणों की खान भी बनी। रूप में श्रीजी को नीचा दिखानेवाली है और इसमें गुण ऐसे हैं कि जो इसे वरे, वह अमर, शत्रुजित् एवं चराचर-सेव्य हो, यह आगे कहा जायगा।

(४) 'सोइ हरि-माया······'—हरि की माया है, इसीसे अंत में इसने हरि ही को ब्याहा।

(५) 'सोभा तासु कि जाइ·······'—यह विद्यामाया है। यथा—"हरिसेवकहिं न ब्याप अबिद्या। प्रभु-प्रेरित तेहि ब्यापइ बिद्या॥" (उ० दो० ७८); पुनः 'गुनखानी' एवं 'प्रेरी' से भी स्पष्ट है। यथा—"एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥" (आ० दो० १४); अतः, निःसीम गुणों एवं अतुलित शोभा के कारण अकथ्य है।

करइ स्वयंबर सो नृपबाला। आये तहँ अगनित महिपाला॥६॥
मुनि कौतुकी नगर तेहि गयेऊ। पुरबासिन्ह सब पूछत भयेऊ॥७॥
सुनि सब चरित भूपगृह आये। करि पूजा नृप मुनि बैठाये॥८॥

दोहा—आनि देखाई नारदहिं, भूपति राजकुमारि।
कहहु नाथ गुन दोष सब, येहि के हृदय बिचारि॥१३०॥

अर्थ—वही नृप-बाला (राजकुमारी) अपना स्वयंवर कर रही है, (इसीसे) असंख्य राजा वहाँ आये हैं॥६॥ कौतुक-प्रिय मुनि उस कौतुकी नगर में गये और पुरवासियों से सब हाल पूछे॥७॥ (नारदजी) सब समाचार सुनकर राजमहल में आये। राजा ने पूजा करके मुनि को बैठाया॥८॥ राजा ने राजकुमारी को लाकर नारदजी को दिखाया (और कहा) कि हे नाथ! इसके सम्पूर्ण गुण-दोषों को हृदय में विचारकर कहिये॥१३०॥

विशेष—(१) 'मुनि कौतुकी ······'—भाँति-भाँति के खेलों एवं विनोद में दिल बहलाने का इनका स्वभाव है। स्वयंवर के लिये आये हुए राजा लोग पुर के बाहर जहाँ-तहाँ छावनियाँ डाले पड़े हैं। यथा—"पुर बाहेर सर सरित समीपा। उतरे जहँ-तहँ बिपुल महीपा॥" (दो० २१४); ये ही सब देखकर पुरजनों से पूछा कि यह कैसी भीड़ है? इत्यादि।

(२) 'करइ स्वयंबर······'—यह धर्म-रीति का विवाह है, इससे रचा। माया ने सोचा कि मुनि और प्रकार से अधर्म मानकर मुझे ग्रहण न करेंगे। यदि दूसरे की विवाहिता जानेंगे, तब भी इधर न ताकेंगे। स्वयंवर के लिये रूप की आवश्यकता होगी, हरि से माँगेंगे, इत्यादि।

(३) 'श्रीपति निजमाया'''—यहाँ 'श्रीपति' विशेषण के साथ निज माया कहने से श्री से भिन्न 'निज माया' को प्रकट किया। यथा—"नहिं तहँ रमा न राजकुमारी।" (दो० १३७)।

श्रीनारदजी पर इन्द्र की माया नहीं लगी थी, क्योंकि हरि-भक्तों पर औरों की माया नहीं लगती। यथा—"बिधि-हरि-हर-माया बड़ि भारी। सोउ न भरत-मति सकइ निहारी॥" (अ० दो० २९५); किसी वैदिक विधि की स्थापना एवं अपनी लीला-विधि के लिये श्रीरामजी अपने भक्तों पर अपनी ही माया को प्रेरित करते हैं। यथा—"बहुरि राममायहिं सिर नावा। प्रेरि सतिहिं जेहि झूठ कहावा॥" (दो० ५५)। इसका प्रमाण भी पूर्व दो० १२७ के वि० १ में दिया गया है।

'कठिन करनी'—क्योंकि इससे उस काल में नारदजी बड़ा दुःख समझेंगे। यथा—"देइहउँ स्राप कि मरिहउँ जाई। जगत मोरि उपहास कराई॥" (दो० १३५) और "संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥" (अ० दो० ९४) अर्थात् मरने से भी अधिक दुःख मानेंगे।

(४) 'बिरचेउ मग महँ''''''' चार सौ कोसों का विस्तार इसलिये रचा कि प्रायः विरक्त संत प्रसाद पाने (भोजन करने) पर बस्ती से अलग होकर जाते हैं, इसलिये इतना बड़ा रचा कि कहाँ तक दूर से होकर जायँगे? 'श्रीनिवास''''''' जहाँ साक्षात् श्रीजी ही निवास करती हैं, वहाँ की शोभा का क्या कहना? क्योंकि श्रीजी की कृपा-दृष्टि मात्र से लोकपालों का ऐश्वर्य होता है। वैकुंठ से अधिक रचा, क्योंकि वैकुंठ में श्रीनारदजी बराबर जाया ही करते हैं, कभी मोहित नहीं होते हैं, अतः, उससे अधिक चाहिये।

श्रीनारदजी वन, काम, कोकिल आदि की शोभा पर मोहित नहीं हुए थे, इसलिये अब की इतना ऐश्वर्य भर दिया कि नगर देखकर मोहेंगे। यथा—"नारदादि''''''देखि नगर बिराग बिसरावहिं।" (उ० दो० २९)। किसी-किसी का अनुमान है कि यह नगर जम्बू द्वीप ही में रचा गया, जब मुनि क्षीरसागर से जम्बूद्वीप को आये। कोई-कोई कहते हैं,कि यह स्थान आजकल काश्मीर में है। शीलनिधि की राजधानी 'श्रीनगर' में थी।

बसहिं नगर सुंदर नर-नारी। जनु बहु मनसिज-रति तनुधारी॥१॥
तेहि पुर बसइ सीलनिधि राजा। अगनित हय गय सेन समाजा॥२॥
सत सुरेस सम बिभव-बिलासा। रूप तेज बल नीति-निवासा॥३॥
बिस्वमोहिनी तासु कुमारी। श्री बिमोह जिसु रूप निहारी॥४॥
सोइ हरि-माया सब-गुन-खानी। सोभा तासु कि जाइ बखानी॥५॥

अर्थ—उस रमणीक नगर में सुन्दर स्त्री-पुरुष बसते हैं, मानों बहुत-से काम और रति ही शरीर धारण किये हुए हों॥१॥ उस पुर में शीलनिधि नामक राजा रहता है। उसके अनगिनत घोड़े, हाथी, सेना और समाज हैं॥२॥ उसका वैभव-विलास सौ इन्द्रों के बराबर था, वह (स्वयं) रूप, तेज, बल और नीति का स्थान ही था॥३॥ उसकी कुमारी (लड़की) विश्वमोहिनी (नाम की) थी, जिसका रूप देखकर लक्ष्मीजी भी मोहित हो जायँ॥४॥ वही सब गुणों की खान हरि-माया थी, उसकी शोभा क्या कही जा सकती थी?॥५॥

विशेष—(१) 'बसहिं नगर''''''—इसमें 'सुंदर' शब्द दीपदेहली है। पूर्व नारद को एक काम नहीं मोह सका था, अब माया-नगर में काम ही-काम सशक्ति बसाये गये, पर नारदजी इनपर न मोहेंगे, यह उनके वैराग्य की महिमा है। प्रजा से अधिक रूप-गुण राजा में हैं। अतः, आगे कहते हैं—

(४) 'उर राखे'—अमरत्व, अजित्व और ब्रह्मांड-सैन्यत्व इन तीनो बातों को हृदय में ही रक्खा कि दूसरा कोई न जानने पावे।

(५) 'सोच मन माहीं'—शोच कन्या के प्राप्त करने के लिये है। यथा—"एकउ जुगुति न मन ठहरानी। सोचत भरतहि रैनि बिहानी॥" (अ० दो० १५२)।

करउँ जाइ सोइ जतन बिचारी। जेहि प्रकार मोहि बरइ कुमारी ॥७॥
जप तप कछु न होइ येहि काला। हे बिधि मिलइ कवन बिधि बाला ॥८॥

दोहा—येहि अवसर चाहिय परम, सोभा रूप बिसाल।
जो बिलोकि रीझइ कुँअरि, तब मेलइ जयमाल ॥१३१॥

हरि सन माँगउँ सुंदरताई। होइहि जात गहरु अति भाई ॥१॥
मोरे हित हरि सम नहिं कोऊ। येहि अवसर सहाय सोइ होऊ ॥२॥

अर्थ—जाकर वही उपाय विचार कर करूँ, जिससे वह कन्या मुझे ब्याहे ॥७॥ जप, तप—कुछ उस (स्वयंवर के) समय नहीं हो सकता (समय नहीं है और चित्त भी चंचल है)। हे विधाता! किस प्रकार (वह) कन्या मिले ॥८॥ इस समय परम शोभा और विशाल रूप चाहिये, जिसे देखकर राजकुमारी रीझ जाय, तब वह जयमाल पहनावेगी ॥१३१॥ (हाँ, एक बात हो सकती है, कि) हरि (भगवान्) से सुन्दरता माँगूँ, परन्तु अरे भाई! मुझे वहाँ जाने में भी तो देर लगेगी ॥१॥ हरि के समान मेरा कोई भी हितू नहीं है। वे ही इस अवसर पर सहायक हों ॥२॥

विशेष—(१) 'करउँ जाइ सोइ....' पूर्व में कह आये—'जो येहि बरइ' अर्थात् बलपूर्वक ब्याहे। अथवा 'बरइ कन्या जाही' अर्थात् रूपवान् हो। बल और रूप—दो तरह से कन्या मिल सकती है, पर ये दोनो ही मुझमें नहीं हैं, अतएव विचारकर यत्न करूँ।

(२) 'जप तप कछु न ...'—अब स्वयंवर उपस्थित है, उक्त दो उपायों के लिये यदि जप-तप करूँ तो समय नहीं है, स्वयंवर में उस समय सब के बीच में यह कैसे होगा? अतः, हे विधि! आप ही कोई विधान बताइये, क्योंकि आप सब के विधाता हैं।

(३) 'येहि अवसर चाहिय....'—विधि ने सुन लिया, उपाय सुझा दिया कि विशाल रूप हो और उसमें परम शोभा हो। बस, इसी पर रीझेगी। रूप=शरीर का चढ़ाव-उतार, यथायोग्य गढ़न। शोभा=सुन्दरता। स्वयंवर में जो राजा आये हैं, उनमें रूप और शोभा है और मुझमें परम शोभा एवं विशाल रूप होना चाहिये। तभी तो वह सब को छोड़ मुझे ब्याहेगी। 'मेलइ जयमाल' अर्थात् जयमाल-स्वयंवर है।

(४) 'हरि सन माँगउँ....'—नारदजी साधु हैं, इससे बल की कामना न की, क्योंकि लड़कर लेना इन्हें अभीष्ट नहीं है। रूप देखने से मोहित होकर मिल जाय, यही उपाय चित्त में आया।

(५) 'होइहि जात गहरु....' 'भाई'! मन के प्रति संबोधन है। 'जाने में देर होगी'—इसपर शंका हो सकती है कि ये तो अव्याहत गति हैं। यथा—"गति सर्वत्र तुम्हारि" (दो० ६६)। तुरंत सर्वत्र जा सकते हैं। पुनः योगबल से तुरंत जा सकते थे। इसका समाधान यह है कि मुनि मायावश हैं। यथा—

(३) 'आनि देखाई नारदहिं······'—माया ने प्रथम नगर, पुरवासी, तब राजा को रचा और फिर स्वयं राजकुमारी बनी, उसी क्रम से नारदजी का देखना भी है।

(४) राजा ने हिमालय की भाँति कन्या से प्रणाम नहीं कराया और न कन्या ने ही किया, क्योंकि इस कन्या के द्वारा मुनि की दुर्दशा होनी है। जिसे प्रणाम करे, फिर उसकी दुर्दशा करना योग्य नहीं।

(५) पार्वतीजी के हाथ देखने के प्रसंग में—"कहहु सुता के दोष-गुन" (दो० ६६) कहा गया है और यहाँ 'गुन-दोष' कहा गया है। इसका भाव यह कि वहाँ जो प्रथम दोष कहे गये, वे गुण ही हुए। यथा—"दोषउ गुन सम कह सब कोई।" (दो० ६८); और इस माया में अभी जो नारदजी गुण समझेंगे, वे दोष ही होंगे। इसलिये प्रथम गुण कहकर फिर दोष कहे गये। यथा—"सुनहु तात माया कृत, गुन अरु दोष अनेक। गुन यह उभय न देखियहिं, देखिय सो अबिबेक॥" (उ० दो० ४१)।

देखि रूप मुनि बिरति बिसारी। बड़ी बार लगि रहे निहारी॥१॥
लच्छन तासु बिलोकि भुलाने। हृदय हरष नहिं प्रगट बखाने॥२॥
जो येहि बरइ अमर सोइ होई। समरभूमि तेहि जीत न कोई॥३॥
सेवहिं सकल चराचर ताही। बरइ सीलनिधि कन्या जाही॥४॥
लच्छन सब बिचारि उर राखे। कछुक बनाइ भूप सन भाखे॥५॥
सुता सुलच्छन कहि नृप पाहीं। नारद चले सोच मन माहीं॥६॥

अर्थ—(राजकुमारी के) रूप को देखकर मुनि अपना वैराग्य भूल गये। उसे बड़ी देर तक देखते ही रह गये॥१॥ उसके लक्षण देखकर भ्रम में पड़ गये। हृदय में हर्ष हुआ, प्रकट में नहीं कहा॥२॥ (हृदय में विचारते हैं कि) जो इसे ब्याहेगा, वह अमर हो जायगा, उसे रणभूमि में कोई जीत न सकेगा॥३॥ जिसे शीलनिधि की लड़की ब्याहेगी, सब चर-अचर जीव उसकी सेवा करेंगे। ॥४॥ सब लक्षण विचार कर हृदय में रख लिये, और कुछ और ही बनाकर राजा से कहा॥५॥ "लड़की सुलक्षणा है"—राजा से ऐसा कहकर नारदजी चल दिये, उनके मन में शोच है॥६॥

विशेष—(१) 'देखि रूप मुनि बिरति ···'—मुनि कन्या का हाथ पकड़कर लक्षण देखने लगे, दृष्टि उसके रूप पर लग गई। राजा ने समझा कि मुनि विचार रहे हैं, पर मुनि का मन रूप में आसक्त हो गया। अतः, विराग चला गया।

(२) 'लच्छन तासु बिलोकि···'—यहाँ बुद्धि से लक्षणों का विपरीत अर्थ समझा। इसमें ज्ञान भी चला गया। मोह हृदय में छा गया। भगवान् ने कहा था—"सुनु मुनि मोह होइ मन ताके। ज्ञान बिराग हृदय नहिं जाके॥" (दो० १२८)। यह चरितार्थ हुआ, प्रथम वैराग्य गया, तब ज्ञान, क्योंकि ज्ञान का कारण वैराग्य है। यथा—"ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।" (उ० दो० ८६)। अतः, प्रथम कारण गया, तब कार्य का जाना योग्य ही है।

(३) 'जो येहि बरइ ···'—इसका यथार्थ अर्थ तो यह था कि जो इसे ब्याहेगा, वह अमर है, अजित है और चराचरसेव्य है। पर मुनि उलटा ही समझ गये कि जो इससे ब्याहा जायगा—जिसे शीलनिधि की कन्या ब्याहेगी, उसमें उक्त तीनों गुण आ जायँगे। यही भुलाना है।

(५) 'जेहि बिधि नाथ होइ हित मोरा।'—यह अर्द्धाली भगवान् की इच्छा के अनुकूल उनकी ही प्रेरणा से कही गई। यथा—"प्रन हमार सेवक हितकारी।" (दो० १२८), नहीं तो नारदजी का काम इसके बिना भी चल गया था। अब तो दास का हित जिसमें होगा, वही प्रभु करेंगे। 'बेगि' नारदजी अति आतुर हैं, इसलिये 'बेगि' चाहते हैं, आगे इस प्रकरण में सर्वत्र शीघ्रता ही रहेगी।

निज मायाबल देखि बिसाला। हिय हँसि बोले दीनदयाला ॥८॥

दोहा—जेहि बिधि होइहि परम हित, नारद सुनहु तुम्हार।
सोइ हम करब न आन कछु, बचन न मृषा हमार ॥१३२॥

कुपथ माँग रुजव्याकुल रोगी। बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी ॥१॥
येहि बिधि हित तुम्हार मैं ठयेऊ। कहि अस अंतरहित प्रभु भयेऊ ॥२॥

शब्दार्थ—कुपथ = कुपथ्य। रुज = रोग। ठयऊ (ठानेऊ) = ठाना है। अंतरहित = अंतर्द्धान।

अर्थ—अपनी माया का बहुत बड़ा बल देख मन में हँसकर दीनदयालु भगवान् बोले ॥८॥ हे नारद ! सुनो, जिस प्रकार तुम्हारा अत्यंत भला होगा, वही मैं करूँगा और कुछ नहीं, यह मेरा वचन झूठा नहीं होगा ॥१३२॥ हे योगी मुनि ! सुनो, जैसे रोग से व्याकुल रोगी कुपथ्य माँगे तो वैद्य उसे नहीं देता ॥१॥ इसी प्रकार मैंने तुम्हारा हित ठाना है, ऐसा कहकर प्रभु अंतर्द्धान हो गये ॥२॥

विशेष—(१) 'निज मायाबल·····'—माया जब कोई भारी कौतुक दिखाती है तब उसकी बड़ाई करते हैं। यथा—"निज माया बल हृदय बखानी।" (दो० ५२)। इसने कामजित् नारद को निर्लज्ज बना दिया। पूर्व कहा था—"सुनहु कठिन करनी तेहि केरी।" (दो० १२८), उसी को यहाँ 'बल बिसाला' से कहा। 'हिय हँसि'—क्योंकि प्रकट हँसने से नारदजी को दुःख होगा और लीला में बाधा होगी।

(२) 'जेहि बिधि होइहि ··'— नारद ने कहा—'हित मोरा होइ', उसपर भगवान् कहते हैं कि हित ही नहीं, किन्तु मैं तुम्हारा परम हित करूँगा। इस विवाह से नारद का अहित है, इसलिये न होने देंगे, इसे आ० दो० ४२—४४ में भगवान् ने विस्तार से कहा है। यहाँ की दृष्टि से इस चरित्र में क्षणिक निष्ठुरता तो भगवान् में आती है, पर परिणाम की दृष्टि से इसमें परम दया है। इसलिये यहाँ 'कृपाला', 'दीनदयाला' आदि विशेषण बार-बार कहे गये हैं।

(३) 'कुपथ माँग रुज...'— मुनि एवं योगी के लिये स्त्री कुपथ्य है। काम-वासना की प्रबलता रोग की व्याकुलता है। हम वैद्य रूप हैं, कुपथ्य न देंगे। यह भी सूचित करते हैं कि प्रथम आपने ही योग की समाधि में इसे कुपथ्य मानकर त्यागा था और क्रोध जीतकर मुनिपना निबाहा था।

(४) 'अंतरहित प्रभु भयेऊ'—मुनि शीघ्र शीघ्र सब काम चाहते हैं, इसलिये तुरत अंतर्द्धान हो गये वा यह इसलिये भी कि लीला के लिये इतना ही ठीक है, मुनि और न कुछ कहने पावें।

मायाबिबस भये मुनि मूढ़ा। समुझी नहिं हरिगिरा निगूढ़ा ॥३॥
गवने तुरत तहाँ रिषिराई। जहाँ स्वयंबरभूमि बनाई ॥४॥

"मायाबिबस भये मुनि मूढ़ा।" (दो० १३२)। इससे मन की अव्याहत गति भूले हुए हैं और चित्त चंचल होने से योग में भी विलंब ही होगा।

(६) 'मोरे हित हरि सम नहिं'''—श्रीनारदजी हरि के अनन्य हैं और हरि के समान उनका अपना हितू दूसरा नहीं है। रूप भी हरि के तुल्य सुंदर और किसी का नहीं है। समय पड़ने पर सच्चा हितैषी ही सहायक होता है। हरि ही सबके सच्चे हितू हैं। यथा—"तुलसी प्रभु साँचो हितू तू हिये कि आँखिन हेर।" (वि० १९०)।

भक्त कारणवश अर्थार्थी भी होते हैं तो अपने प्रभु ही से माँगते हैं, यह शिक्षा भी है।

बहु बिधि बिनय कीन्हि तेहि काला। प्रगटेउ प्रभु कौतुकी कृपाला॥३॥
प्रभु बिलोकि मुनिनयन जुड़ाने। होइहि काज हिये हरषाने॥४॥
अति आरति कहि कथा सुनाई। करहु कृपा करि होहु सहाई॥५॥
आपन रूप देहु प्रभु मोही। आन भाँति नहिं पावउँ ओही॥६॥
जेहि बिधि नाथ होइ हित मोरा। करहु सो बेगि दास मैं तोरा॥७॥

अर्थ—उस समय नारदजी ने बहुत प्रकार से विनती की, तब कौतुकी कृपालु प्रभु प्रकट हुए॥३॥ प्रभु को देखकर मुनि के नेत्र ठंढे हुए और वे हृदय में हर्षित हुए कि कार्य होगा॥४॥ बहुत आर्त्त (कातर) होकर उन्होंने सारी कथा कह सुनाई और प्रार्थना की कि कृपा कीजिये, कृपा करके सहायक बनिये॥५॥ हे प्रभो! मुझे अपना रूप दीजिये, क्योंकि अन्य प्रकार से उसे न पाऊँगा॥६॥ हे नाथ! जिस प्रकार मेरा हित हो, वह (विधि) शीघ्र कीजिये, मैं आपका दास हूँ॥७॥

विशेष—(१) 'बहु बिधि बिनय'''—'तेहि काला' दीप देहली है। 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं, तभी तो सर्वत्र पहुँच जाते हैं एवं प्रकट हो सकते हैं। पूर्व कहा था कि—"मुनिकर हित मम कौतुक होई।" इससे 'कौतुकी' और मुनि का हित चाहते हैं, इससे 'कृपाला' कहा।

(२) 'प्रभु बिलोकि मुनि'''—प्रभु का रूप देखकर मुनि के नेत्र ठंढे हुए। अतः, समझा कि यही रूप यदि मुझे मिलेगा, तो इसे देखकर राजकुमारी के नेत्र भी ठंढे हो जायँगे और वह मुझे ही जयमाला पहनावेगी, इसी से हर्ष हुआ। 'काज' बुँदेलखंड एवं रीवाँ आदि प्रदेशों में विवाह के अर्थ में कहा जाता है। अतः, विवाह होगा, ऐसा समझकर हर्ष हुआ।

(३) 'अति आरति कहि'''—प्रथम मुनि ने भगवान् से काम-क्रोध का जीतना कहा था, उन्हीं से अब स्त्री के लिये पूर्ण कामी की तरह प्रार्थना कर रहे हैं, लज्जा नहीं लगती, क्योंकि इस समय अत्यन्त आर्त्त हैं। यथा—"अति आरत अति स्वारथी'''बोलहिं न बिचारी।" (वि० ३४); तथा—"रहत न आरत के चित चेतू।" (अ० दो० २९८)।

(४) 'पावउँ ओही'—प्रथम विश्वमोहिनी को बाला, कुमारी, कन्या आदि संज्ञा से कहते थे, भगवान् के प्रकट होने से पूर्ण विश्वास हो गया कि वह मेरी दुलहिन हो चुकी, संदेह नहीं। अपनी दुलहिन का नाम नहीं लिया जाता। वह 'ओही' संज्ञा से कही जाती है, वैसे कहते हैं। यहाँ स्त्री के लिये आर्त्त होने में काम से और 'पावउँ ओही' में लोभ से पराजय हुई, आगे क्रोध से भी होगी।

(२) 'रहे तहाँ दुइ'''—रुद्र-गण को भी लीला में सम्मिलित करना है, ये इसलिये वे भेद समझ सके। 'परम कौतुकी'—नारदजी कौतुकी हैं। यथा—"मुनि कौतुकी नगर तेहि गयऊ।" (दो० १२९); ये उनका भी कौतुक देखते हैं। अतः, परम कौतुकी हैं।

जान पड़ता है कि जब नारदजी कैलाश से चले, इनका रुख देखकर ये दोनों कौतुकार्थ, अलक्ष्य रूप से साथ हो लिये कि देखें, ये क्या क्या करते हैं ? शिवजी से आज्ञा नहीं ली थी।

> जेहि समाज बैठे मुनि जाई। हृदय रूप-अहमिति अधिकाई ॥१॥
> तहँ बैठे महेसगन दोऊ। बिप्रबेष गति लखइ न कोऊ ॥२॥
> करहिं कूट नारदहिं सुनाई। नीकि दीन्हि हरि सुंदरताई ॥३॥
> रीझिहि राजकुँअरि छबि देखी। इनहिं बरिहि हरि जानि बिसेषी ॥४॥

अर्थ—जिस समाज में आकर मुनि बैठे थे और उनके हृदय मे अपने रूप का बड़ा अभिमान था ।।१।। वहीं पर शिवजी के दोनो गण ब्राह्मण-वेष में बैठे थे, उनकी गति (चाल—माया) कोई जान नहीं सकता था ।।२।। वे नारदजी को सुना-सुनाकर कूट (व्यंग्य) वचन कहते थे—"हरि ने अच्छी सुन्दरता दी है ।।३।। इनकी छवि देखकर राजकुमारी रीझ ही जायगी, इन्हें विशेषकर 'हरि' जानकर 'वरेगी'।" ।।४।।

विशेष—(१) 'जेहि समाज बैठे'''तहँ बैठे '''—यहाँ 'जेहि समाज' के साथ 'तहँ' का अर्थ 'तेहि समाज' है अर्थात् ये दोनो नारदजी के समाज मे मिल गये कि जिससे लोग इन्हें नारद के शिष्य एवं साथी जान रंगभूमि में बैठने दें, तब कौतुक देखने को मिले। और, इसीलिये विप्र-वेष भी बना रक्खा है। साथ बैठे रहने से कूट करने का भी अच्छा अवसर मिला।

(२) 'करहिं कूट नारदहिं'''—नारदजी के समझनेवाले अर्थ ऊपर हैं। उनमें 'हरि' का अर्थ 'नारायण' और 'बरिहि' का ब्याहेगी—है। पर वे कूट कर रहे हैं—एक कहता है कि हरि ने इन्हें अच्छे प्रकार से बंदर का रूप दिया है। तब दूसरा कहता है कि जी हाँ इनकी ऐसी छवि है कि राजकुमारी रीझ ही तो उठेगी—भाव खीझ उठेगी-कुढ़ेगी। इन्हें बन्दर जानकर विशेष जल उठेगी। हरि का अर्थ 'नारायण और 'बंदर' एवं 'बरिहि' का 'ब्याहेगी' और 'जलेगी' है।

> मुनिहि मोह मन हाथ पराये। हँसहिं संभुगन अति सचु पाये ॥५॥
> जदपि सुनहिं मुनि अटपटि बानी। समुझि न परइ बुद्धि भ्रम-सानी ॥६॥
> काहु न लखा सो चरित बिसेखा। सो सरूप नृपकन्या देखा ॥७॥
> मर्कटबदन भयंकर देही। देखत हृदय क्रोध भा तेही ॥८॥

शब्दार्थ—सचु = आनन्द, यथा—"बिनोद सुनि सचु पावहीं।" (दो० ११)। अटपटि = उल्टे-सीधे। देही = शरीरवाला या देह = शरीर, यथा—"चौथन मारि बिदारेसि देही।" (आ० दो० २८)।

अर्थ—मुनि को मोह है, उनका मन दूसरे (विश्वमोहिनी) के हाथ मे है, शिवजी के गण बहुत ही प्रसन्न होकर हँस रहे हैं ।।५।। (हँसना गुप्त रूप से है कि नारद के अतिरिक्त और कोई न जाने) यद्यपि मुनि

निज-निज आसन बैठे राजा। बहु-बनाव करि सहित समाजा ॥५॥
मुनिमन हरष रूप अति मोरे। मोहि तजि आनहिं बरिहि न भोरे ॥६॥

अर्थ— माया के विशेष वश होने से मुनि मूढ़ हो गये, इससे वे भगवान् की 'निगूढ़' (जो गूढ़ नहीं=स्पष्ट) वाणी को (भी) नहीं समझ सके ॥३॥ ऋषिराज नारदजी तुरन्त ही वहाँ गये, जहाँ स्वयंवर की (रंग) भूमि बनाई गई थी ॥४॥ राजा लोग बहुत बनाव (शृंगार) किये हुए समाज के सहित अपने-अपने आसन पर बैठे हुए हैं ॥५॥ मुनि के मन में हर्ष है कि रूप तो मेरा ही अत्यन्त अधिक है। अतः, मुझे छोड़कर (वह कन्या) दूसरे को भूल से भी न वरण करेगी ॥६॥

विशेष—(१) 'माया-बिबस'''—माया के वश तो संसार ही है, पर मुनि विशेष वश हुए हैं, क्योंकि माया ने देखा कि भगवान् भक्त से यथार्थ ही कहेंगे। यदि नारद विशेष मूढ़ न हो जायँगे तो उनके समझ लेने पर मेरा सारा उपाय ही व्यर्थ जायगा, अतः, नारद को यही समझ पड़ता है कि मेरा परम हित विश्वमोहनी के ब्याह में ही है, यही भगवान् कह रहे हैं।

(२) 'गवने तुरत तहाँ '''—प्रभु के अंतर्द्धान होते ही नारद का विष्णु-रूप हो गया, ऐसा देखकर वे तुरन्त रंगभूमि ही को गये, ऐसा जान पड़ता है। 'रिषिराई'—नारदजी व्यास-वाल्मीकि आदि के गुरु हैं। माया ने इनकी भी यह दशा की, फिर और किस गिनती में है? नारदजी भरद्वाजजी के दादा गुरु और गरुड़जी के उपदेष्टा हैं। अतः, इनके वक्ता लोग भी इन्हें लक्ष्य कराते हैं कि देखो।

(३) 'मुनि-मन हरष रूप'''—श्रीनारदजी ने औरों की अपेक्षा अपना अति (अधिक) रूप देखा, इससे मन में हर्ष है कि रूप तो सब को है, पर मुझको 'अति' है।

मुनिहित कारन कृपानिधाना। दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना ॥७॥
सो चरित्र लखि काहु न पावा। नारद जानि सबहिं सिर नावा ॥८॥

दोहा—रहे तहाँ दुइ रुद्रगन, ते जानहिं सब भेउ।
बिप्रबेष देखत फिरहिं, परम कौतुकी तेउ ॥१३३॥

अर्थ—कृपानिधान भगवान् ने मुनि के हित के लिये ऐसा बुरा रूप उन्हें दिया कि जो कहा नहीं जा सकता ॥७॥ इस चरित्र को और कोई नहीं लख पाया, नारद जानकर सभी ने उनको प्रणाम किया ॥८॥ वहाँ पर दो रुद्र गण भी थे, जो सब भेउ (भेद) जानते थे। ब्राह्मण-वेष से वे दोनो देखते-फिरते थे तथा परम कौतुकी भी थे।

विशेष—(१) 'दीन्ह कुरूप' 'सो चरित्र'—समाज के लोगों की दृष्टि में नारदजी अपने ही रूप में हैं। अपने जानने में वे विष्णु-रूप हैं, इसीसे उन्हें हर्ष है—'रूप अति मोरे।' हर गण और विश्व-मोहिनी की दृष्टि में हरिरूप अर्थात् वानर-रूप है। अतः, इसे 'चरित्र' कहा। सब के प्रणाम करने पर नारदजी ने यही माना कि मुझे विष्णु मानकर लोग प्रणाम कर रहे हैं। 'कृपानिधाना'—क्योंकि नारद की लोक-मर्यादा भी बचाई और ऋषित्व की मर्यादा भी रक्खी। 'बखाना'—कहा भी नहीं जाता, तब देखने की कौन कहे?

विशेष—(१) 'सखी संग लै'''—वंदी जन के समान एक स्वयंवरा सखी होती है, जो सब राजाओं के वृत्तान्त जानती है। प्रत्येक राजा के सामने जाने पर उसका परिचय कहती हुई वह स्वयंवरा कन्या के साथ रहती है। महाकवि कालिदास कृत रघुवंश में कथित इन्दुमती-स्वयंवर में सुनन्दा भी ऐसी ही सखी थी।

प्रथम रूप देखकर मुनि का वैराग्य भूला था, लक्षण देखकर ज्ञान गया था, यहाँ उसने चाल से इनके हृदय को भी आकर्षित कर लिया कि उसी की ओर को उचकते हैं। 'सरोज' दीप-देहली है, क्योंकि लक्ष्मीजी क्षीरसागर से निकलीं तब उनके हाथों में भी कमल ही की जयमाला कही गई है। 'देखत फिरइ' क्योंकि विश्वमोहिनी के मन का कोई नहीं है। अतः, रंगभूमि में सब राजाओं को देखती-फिरती है।

(२) 'पुनि पुनि मुनि'''—मुनि ने समझा कि उसने अभी मुझे देखा ही नहीं, इससे उचकते एवं अकुलाते हैं कि किस प्रकार वह मुझे देख ले। 'हरगन मुसुकाहीं'—अब कूद एवं हँसना रुक गया, क्योंकि बड़े राजा की कन्या है, स्वयंवर में उसके आने पर मर्यादा से सारा काम होने लगा।

धरि नृपतनु तहँ गयेउ कृपाला। कुँअरि हरषि मेलेउ जयमाला ॥३॥
दुलहिनि लै गे लच्छिनिवासा। नृपसमाज सब भयेउ निरासा ॥४॥
मुनि अति बिकल मोहमति नाँठी। मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी ॥५॥

अर्थ—कृपालु हरि राजा का शरीर धरकर वहाँ गये। राजकुमारी ने हर्ष-पूर्वक जयमाला पहना दी ॥३॥ लक्ष्मीनाथ भगवान् दुलहिन को ले गये। यह देखकर सब राज-मंडली निराश हो गई ॥४॥ मोह से मुनि की बुद्धि नष्ट हो गई, इससे वे अति व्याकुल हो गये। मानों अपनी गाँठ से छूटकर कहीं मणि गिर गई हो ॥५॥

विशेष—(१) 'धरि नृप-तनु तहँ'''—भगवान् राजा का शरीर धारण कर क्यों गये ? इसके कारण ये हैं—(क) समाज के अनुकूल वेष चाहिये, यहाँ राजाओं का स्वयंवर था, इसलिये वैसा ही बने। यथा—"देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आये रनधीरा ॥" (दो० २५०)। (ख) यदि भगवान् चतुर्भुज रूप से आते और कन्या को लेकर चलते, तो नारदजी वहीं पर लड़ने लगते। (ग) नृप-तनु होने का शाप लेना है। 'कृपाला'—क्योंकि नारदजी का दुःख शीघ्र मिटाना चाहते हैं।

(२) 'दुलहिन लै गे''—अभी तक उसे बाला, कुँअरि आदि कहते थे, ब्याह हो जाने से 'दुलहिन' कहा। इसी से वे अपनी दुलहिन ले गये। कवि के शब्द रखने की सावधानी प्रशंसनीय है। 'लच्छि-निवासा'—यह विश्वमोहिनी भी एक तरह की लक्ष्मी ही है और भगवान् ही में उसका भी निवास है, तब दूसरे की दुलहिन यह कैसे हो सकती है ?

(३) 'मुनि अति बिकल'''—सब राजा निराश हुए और मुनि अति विकल हुए, क्योंकि औरों को आशा थी, वे निराश हुए। मुनि तो उसको अपनी स्त्री मान चुके थे। यथा—"आन भाँति नहिं पावउँ ओही।" पर कहा गया। स्वयंवर में इन्हें निश्चय था कि वह मुझे ही वरेगी। यथा—"मुनि मन हरष रूप अति मोरे। मोहिं तजि आनहिं बरिहि न भोरे ॥" (दो० १३२)। अतएव यह इनकी गाँठ की मणि थी। मणि बहुमूल्य होती है, वैसी वह अमूल्य लक्षणों वाली थी। यथा—"जो येहि बरइ अमर '''"। अपनी गाँठ की मणि गिर जाने से अत्यन्त विकलता होती है, वैसी दशा मुनि की हुई। मुनि को अपने

उलटे-सीधे वचन सुन रहे हैं, तब भी वे वचन उन्हें समझ नहीं पड़ते, क्योंकि बुद्धि भ्रम में सनी हुई है ॥६॥ उस विशेष चरित को और किसी ने नहीं देखा, उस स्वरूप को राजकन्या ने देखा ॥७॥ बन्दर का-सा मुख और भयंकर शरीरवाला रूप देखते ही उसके हृदय में क्रोध हुआ ॥८॥

विशेष—(१) 'मुनिहि मोह मन'''—मुनि ने जब से विश्वमोहिनी को देखा है, मन उसी में लग गया, तत्सम्बन्धी ही संकल्प-विकल्प हो रहे हैं। इसी से इनकी बुद्धि में भ्रम हो गया, यथा—"इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते। तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥" (गीता २।६७) इसीसे हर गणों की कूट की अटपट वाणी इन्हें समझ नहीं पड़ती। 'हँसहिं'—इनकी कामातुर दशा देखकर और प्रथम काम जीतने के अभिमान पर हँसते हैं।

(२) 'काहु न लखा सो'''—पूर्व कहा था—"सो चरित्र लखि काहु न पावा।" (दो० १३३); उसी में यहाँ इतनी विशेषता दिखाई कि नृपकन्या ने देखा और जो—'दीन्ह कुरूप' कहा था, उसे आगे—'मर्कट बदन' से खोलते हैं।

(३) 'मर्कट बदन भयंकर'''—भयंकर देह देखकर भय न हुआ, प्रत्युत क्रोध क्यों हुआ?

समाधान—(क) साथ में सखियाँ हैं और समाज है, इससे भय न हुआ। क्रोध होने का कारण यह कि नारदजी रंगभूमि के द्वार के पास ही बैठे हैं, जिससे वह प्रथम मुझे देख ले, नहीं तो प्रथम ही किसी को जयमाल न डाल दे। इसीसे उसकी दृष्टि प्रथम इन्हीं पर पड़ी, प्रवेश में प्रथम ही बन्दर का देखना अशुभ है, यह जानकर क्रोध हुआ। (ख) प्रथम की भाँति अबकी भी कुमारी को घूर-घूरकर देखने लगे, सभा में ऐसी निर्लज्जता पर उसे क्रोध हो गया। (ग) भगवान् के इस चरित को सहसा माया ने भी न जाना कि ये नारद हैं। अतः, क्रोध हुआ कि मैंने तो नारद को मोहने के लिये सारा ठाट रचा। यह अमंगल रूप बन्दर कहाँ से आ गया है? (घ) वह वेष ही ऐसा था जिससे क्रोध हो, इसी से नारदजी को स्वयं भी देखकर क्रोध ही हुआ। यथा— "बेष बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा।" (दो० १३७)।

भगवान् अपनी लीला का प्रबंध कर रहे हैं, वेष देखकर तदनुसार ही शाप होगा। वानरों से सहायता लेनी है, उन्हें भयंकर होना ही चाहिये, जिससे राक्षसों को भय हो। आगे नराकार द्विभुज भूप-वेष से स्वयं भी आवेंगे कि जिससे वैसा ही रूप धरने का शाप मिले।

दोहा—सखी संग लै कुँअरि तब, चलि जनु राजमराल।
देखत फिरइ महीप सब, करसरोज जयमाल ॥१३४॥

जेहि दिसि बैठे नारद फूली। सो दिसि तेहि न बिलोकी भूली ॥१॥
पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं। देखि दसा हरगन मुसुकाहीं ॥२॥

शब्दार्थ—उकसहिं=उचकते अर्थात् ऊपर को उठते हैं एवं जगह से उठकर आगे बढ़ते हैं।

अर्थ—तब राजकुमारी सखियों को साथ लिये हुए, राजहंसिनी की तरह चली, वह कमलवत् हाथों में कमल की जयमाला लिये हुए सब राजाओं को देखती-फिरती है ॥१३४॥ जिस ओर नारदजी (दर्प से) फूले हुए बैठे हैं, उस ओर उसने भूल कर भी न देखा ॥१॥ मुनि फिर-फिर उचकते हैं और अकुलाते हैं, उनकी दशा देखकर हर-गण मुसकुराते हैं ॥२॥

की हँसी करना बड़ा पाप है। 'बहुरि हँसेहु मुनि कोउ'—किसी भी साधु-ब्राह्मण की हँसी करना खेल नहीं है—ऐसा ही फल मिलेगा।

पुनि जल दीख रूप निज पावा। तदपि हृदय संतोष न आवा ॥१॥
फरकत अधर कोप मन माहीं। सपदि चले कमलापति पाहीं ॥२॥
देइहउँ साप कि मरिहउँ जाई। जगत मोरि उपहास कराई ॥३॥
बीचहिं पंथ मिले दनुजारी। संग रमा सोइ राजकुमारी ॥४॥
बोले मधुर वचन सुरसाईं। मुनि कहँ चले बिकल की नाईं ॥५॥

अर्थ—फिर जल में देखा तो अपना (नारद) रूप मिला, तब भी उनके हृदय में संतोष नहीं हुआ ॥१॥ होंठ फड़कते हैं, मन में क्रोध है, तुरत ही कमलापति भगवान् के पास चले ॥२॥ (मन में सोचते जाते हैं कि) शाप दूँगा या मर जाऊँगा, (क्योंकि) जगत्‌भर में मेरी हँसी कराई है ॥३॥ दैत्यों के शत्रु भगवान् बीच राह में ही मिल गये, साथ में लक्ष्मीजी और वही राजकुमारी थीं ॥४॥ देवताओं के स्वामी भगवान् मधुर वचन बोले—"हे मुनि! विकल-से बने आप कहाँ जा रहे हैं" ? ॥५॥

विशेष—(१) 'पुनि जल दीख'''—पहले हर गणों को भागते देख जल्दी में ठीक से नहीं देखा था, अब उन्हें शाप देकर स्थिर हुए, तब अच्छी तरह देखना चाहा। 'संतोष न'''—क्योंकि जब काम बनाना था, तब तो वन्दर का-सा मुख दिया था, अब पूर्ववत् हुआ तो क्या ? अथवा अपना स्वरूप पाकर शांत हो जाना चाहिये, पर अभी तो लीला के कई अंग शेष हैं। अतः, हरि-इच्छा से शान्त न हुए।

(२) 'फरकत अधर कोप'''—"क्रोध के परुष बचन बल" (आ० दो० ३८)। अतः, कटुवचन एवं शाप के वचन कहने के लिये ओष्ठ फड़क रहे हैं। यथा—"माखे लखन कुटिल भइ भौंहें। रदपट फरकत नयन रिसौहें॥" (दो० २५१)।

(३) 'देइहउँ साप कि मरिहउँ'''—अच्छे मनुष्य का मान-भंग होने पर या तो वह मर ही जाता है, अथवा लज्जा से दूर देश चला जाता है ; क्योंकि—"सभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥" (अ० दो० ९४) तथा—"संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।" (गीता २।३४) दो सदिग्ध वचन कहने का प्रयोजन यह है कि भगवान् यदि शाप न लें तो उनपर कोई वश नहीं, क्योंकि वे समर्थ हैं, इसलिये कहते हैं कि अब तो अपकीर्त्ति से बचने का उपाय मर मिटना ही है।

(४) 'बीचहिं पंथ मिले'''—मुनि तो क्षीरसागर को जा ही रहे थे, पर भगवान् बीच ही में मिल गये कि वहाँ जाते-जाते कहीं क्रोध कम हो जाय अथवा वह सात्त्विक स्थल है, इससे भी क्रोध कम हो जायगा तो लीला के लिये उपयुक्त शाप न होगा, इसलिये बीच ही में मिल गये। 'दनुजारी'—क्योंकि हर-गणों को निशाचर (दनुज) होने का शाप मिल चुका है, उनके उद्धार के लिये उनके 'अरि' होने का शाप लेना है। पुनः नारद का क्रोधरूपी आसुरी विकार भी नष्ट करना है।

(५) 'संग रमा सोइ राजकुमारी।'—मुनि 'कमलापति' के पास चले, इसलिये कमला (लक्ष्मी) को भी साथ लिये हुए हैं, और उस राजकुमारी को भी ; मुनि जिससे जान जायँ कि ये ही राजा बनकर गये थे और छल करके राजकुमारी को ब्याह लाये हैं, अभी लिये चले जा रहे हैं। ईर्ष्या बढ़ाने को

अति रूप का अति दर्प था एवं उसकी प्राप्ति का अति निश्चय था, इसीसे अति विकल हुए। पुनः प्रथम जब वह सामने होकर निकल गई थी, तब विकल हुए थे—'चकसहिं' 'मकुलाही' से स्पष्ट है, पर आशा थी कि फिर इधर आवेगी। अब तो एकदम गई। इससे 'अति विकल' हुए। यहाँ नृप-समाज का जाना नहीं कहा गया, क्योंकि सारा खेल मायामय था और प्रयोजन नारदजी ही से था। यहाँ पर कई कौतुकी एकत्र हुए—जैसे, प्रभु कौतुकी—"प्रकटे प्रभु कौतुकी कृपाला।" मुनि और नगर कौतुकी—"मुनि कौतुकी नगर तेहि गयेऊ।" इसमें 'कौतुकी' दीप-देहली है। रुद्रगण कौतुकी—"परम कौतुकी तेउ।" और, माया तो कौतुक के लिये है ही, इससे खूब कौतुक बना !

तब हरगन बोले मुसुकाई। निज मुख मुकुर बिलोकहु जाई ॥६॥
अस कहि दोउ भागे भय भारी। बदन दीख मुनि बारि निहारी ॥७॥
बेष बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा। तिन्हहिं सराप दीन्ह अति गाढ़ा ॥८॥

दोहा—होहु निसाचर जाइ तुम्ह, कपटी पापी दोउ।
हँसेहु हमहिं सो लेहु फल, बहुरि हँसेहु मुनि कोउ ॥१३५॥

अर्थ—तब हरगण मुसकुराकर बोले कि अपना मुँह तो जाकर दर्पण में देखिये ॥६॥ ऐसा कहकर दोनो भारी डर से भागे। मुनि ने जल में झाँककर अपना मुँह देखा ॥७॥ वेष देखकर अत्यन्त क्रोध बढ़ा, तब उन्हें बहुत ही घोर शाप दिया ॥८॥ कि तुम (दोनों) कपटी पापी हो, अतः, जाकर दोनो (कपटी-पापी) निशाचर हो, हमारी हँसी उड़ाई है तो उसका फल लो, (इतने में तृप्ति न हो तो) फिर किसी मुनि को हँसना ॥१३५॥

विशेष—(१) 'तब हरगन बोले''''''—इस अर्द्धाली के बिना लीला का कोई अंग ही नहीं बनता, क्योंकि बिना वेष देखे क्रोध नहीं होता और न शाप ही देते तथा नारदजी को पराजय क्रोध से कैसे होती ? सारा कौतुक यहीं समाप्त हो जाता। अतः, भगवान् की प्रेरणा से हरगण-द्वारा यह उक्ति कही गई।

'निज मुख''''—अयोग्यता-सूचक मुहावरा है कि अपना मुँह तो देखो, उसे ब्याहने के योग्य था ? 'जाई'—जहाँ दर्पण मिले, वहाँ जाकर देखो। यह भी भाव है कि जब तक मुनि दर्पण खोजेंगे, हमलोग भाग जायँगे।

(२) 'दोउ भागे'''बदन दीख'''—इसलिये भागे कि हमने कूट किया है, मुख देखने पर क्रोध कर शाप देंगे। इनको भागते देख मुनि को और सदेह हुआ। पास ही कमंडल में जल था, शीघ्रता से उसी में मुख देखा कि हरगण भाग न जायँ। मुनि शास्त्रज्ञ होते हुए भी मोहवश होने से मूढ़ हो रहे हैं ! जल में मुख देखना निषिद्ध है।

(३) 'होहु निसाचर जाइ तुम्ह''''''—'जाइ' तुरंत राक्षस होने का शाप नहीं था, यथा—"सपदि होहि पच्छी चंडाला।" (उ० दो० ११२) किन्तु आयु बीतने पर दूसरे जन्म में होंगे।

'कपटी'—क्योंकि ये जानते थे कि हरि ने कुरूप दिया है तो भी नहीं बतलाया, यही कपट है। पापी'—"हँसत देखि नखसिख रिसि ब्यापी। राम तोर भ्राता बड़ पापी ॥" (दो० २७१) अर्थात् किसी

(४) 'असुर सुरा बिष'''—असुर शत्रु हैं, उन्हें मदिरा पिलाई। शिवजी मित्र एवं भक्त हैं, उन्हें विष पिलाया। हमें भक्त हैं, तब भी न छोड़ा अर्थात् तुम किसी को नहीं छोड़ते। 'आप रमा मनि चारु' से स्वार्थ-साधकता, 'बिष संकरहिं' से ईर्ष्या और 'असुर सुरा' से कपट-व्यवहार और मुझसे स्नेही बन कर कहा कुछ, किया कुछ, यह कुटिलता है।

परम स्वतंत्र न सिर पर कोई। भावइ मनहिं करहु तुम्ह सोई ॥१॥
भलेहि मंद मंदहि भल करहू। बिसमय हरष न हिय कछु धरहू ॥२॥
डहँकि डहँकि परिचेहु सब काहू। अति असंक मन सदा उछाहू ॥३॥
करम सुभासुभ तुम्हहिं न बाधा। अब लगि तुम्हहिं न काहू साधा ॥४॥

शब्दार्थ—डहँकि=ठगकर। साधा=ठीक किया। परिचेहु=परच गये, परचना=चसका पड़ना।

अर्थ—तुम परम स्वतंत्र हो, तुम्हारे शिर पर कोई नहीं है, इससे जो मन में आता है, वही करते हो ॥१॥ भले को बुरा और बुरे को भला करते हो, विस्मय (आश्चर्य वा भय) और हर्ष कुछ भी मन में नहीं लाते ॥२॥ सब किसी को ठग-ठग कर परच गये हो, अत्यन्त निडर हो, मन में सदा उत्साह रहता है ॥३॥ शुभ-अशुभ कर्मों की बाधा तुम्हें नहीं होती, अभी तक किसी ने तुम्हें ठीक नहीं किया ॥४॥

विशेष—(१) 'भलेहि मंद मंदहि भल'''—हम भक्त भले थे, उसको जगत् में मंद कर दिखाया। अजामिल आदि मंद थे, उनका भला किया, यही 'परम स्वतंत्रता' अर्थात् उच्छृंखलपनी है।

(२) अति असंक मन'''—सब को ठगते-ठगते चसका पड़ गया है, इन्हीं बातों के लिये मन में सदा उत्साह रहता है अर्थात् नारदजी के बकते हुए भी भगवान् मुसकुरा रहे हैं।

(३) 'करम सुभासुभ तुम्हहि न बाधा।'—ब्रह्मा सबके कर्मों के फल देते हैं—यथा-"कठिन करम-गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फलदाता॥" (अ० दो० २८१)। वे भी तुम्हें फल नहीं दे सकते। यथा —"न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा॥" (गीता ४।१४)। 'न काहू साधा'—निर्लिप्तता से कर्म-फल नहीं होता, पर जिनकी हानि करते हो, उनसे तो दंड मिलना चाहिये था, परन्तु अभी तक तुम्हें किसी ने ठीक नहीं किया। जैसे शिवजी रहे, उन्हें बहका ही डाला, ब्रह्मा के हाथ कर्म की रस्सी है उससे अलग ही हो, देवता-दैत्यों को लड़ाया ही करते हो, तब फिर बचा कौन जो तुम्हें साधे?

इसी प्रकार ब्रह्माजी को वनवासी-स्त्रियों ने भी कहा है, यथा—"निपट निरंकुस निठुर निसंकू।" (अ० दो० ११८)—ये तीनो दोष क्रमशः यहाँ की चौ० १,२, ३ में कहे गये हैं। वहाँ की स्त्रियों ने विषाद में और नारदजी ने क्रोधवश होने पर ऐसा कहा है, क्योंकि क्रोध अज्ञानमूलक है। यथा—"घोर क्रोध तम निसि'''" (कि० दो० २०)।

भले भवन अब बायन दीन्हा। पावहुगे फल आपन कीन्हा ॥५॥
बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा। सोइ तनु धरहु स्राप मम येहा ॥६॥
कपि-आकृति तुम्ह कीन्हि हमारी। करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी ॥७॥
मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी। नारि-बिरह तुम्ह होब दुखारी ॥८॥

भी लक्ष्मीजी को साथ लिया है, इससे मुनि का क्रोध और भी बढ़ेगा कि इनके तो एक स्त्री थी ही, तब भी हमसे कपट किया।

(६) 'बोले मधुर बचन सुरसाईं'।'—देवता सत्त्वगुणी होते हैं, ये उनके स्वामी हैं। अतः, मधुर वचन बोले वा शापद्वारा आगे निशाचर-वध कर देवताओं का हित करेंगे, इसलिये भी 'सुरसाईं' कहे गये। जो वचन कहे हैं, उन्हें मधुर रूप में कहना भी 'जले पर लोन' लगाना है, ये वचन ईर्ष्यावर्द्धक हैं।

सुनत बचन उपजा अति क्रोधा। मायाबस न रहा मन बोधा ॥६॥
परसंपदा सकहु नहिं देखी। तुम्हरे इरिषा कपट बिसेखी ॥७॥
मथत सिंधु रुद्रहि बौरायहु। सुरन्ह प्रेरि बिषपान करायहु ॥८॥

दोहा—असुर सुरा बिष संकरहिं, आप रमा मनि चारु।
स्वारथसाधक कुटिल तुम्ह, सदा कपटव्यवहारु ॥१३६॥

शब्दार्थ—बोधा = ज्ञान, समझ। बौरायेहु = बावला बनाया, बेवकूफ बनाया।

अर्थ—वचन सुनते ही अत्यन्त क्रोध उत्पन्न हुआ, माया के वश होने से मन में ज्ञान न रहा ॥६॥ (बोले कि) तुम पराई सम्पत्ति (ऐश्वर्य) नहीं देख सकते, तुम्हारे (हृदय में) ईर्ष्या और कपट बहुत है ॥७॥ तुमने समुद्र मथते समय शिवजी को बौरा (पागल) बना दिया और देवताओं को प्रेरित करके (तुम्हीं ने) उनको विष पिलाया ॥८॥ दैत्यों को मदिरा, शंकर को विष (दिया) और अपने आप सुन्दरी लक्ष्मी और कौस्तुभमणि (लीं), तुम स्वार्थ के साधनेवाले एवं कुटिल हो, तुम्हारा सदा से कपट-व्यवहार है ॥१३६॥

विशेष—(१) 'सुनत बचन उपजा ...'—यहाँ मार्ग ही में मिलना, रमा और राजकुमारी को लेना, ईर्ष्याजनक मधुर वचन बोलना—ये सब अति क्रोध के कारण हुए। सर्वस्व-हरण करने पर और जगत् में उपहास कराने पर मधुर वचन ही व्यंग्य-रूप से दाहक होते हैं। यथा—"सीतल सिख दाहक भइ कैसे। चकइहि सरद-चंद निसि जैसे ॥" (अ॰ दो॰ ६३)। 'उपजा अति क्रोधा' क्रोध तो प्रथम ही बढ़ा था। यथा—"वेष बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा।" पर उसमें से हर गणों को शाप देने में खर्च हो गया था। अतः, भगवान् के मधुर वचन आदि से बढ़ गया, तब फिर 'अति' हुआ। 'मायाबस '—बोध न रहने से क्रोध हुआ और क्रोध से कटु वचन निकल रहे हैं।

(२) 'पर-संपदा सकहु नहिं...'—विश्वमोहिनी को मुनि ने अपना ही स्त्रीरत्न मान लिया था। उसी को यहाँ 'पर-संपदा' कहा है। 'तुम्हरे इरिषा' '—ये दो विशेष हैं। और तो असंख्य अवगुण हैं ही। पराई सम्पत्ति न देख सकना ईर्ष्या है और उसे छिपकर ले लेना 'कपट' है। ध्वनि से 'खल' जनाया, यथा—"खलन्ह हृदय अति ताप बिसेखी। जरहिं सदा पर-संपति देखी ॥" (उ॰ दो॰ ३८)।

(३) 'मथत सिंधु रुद्रहिं...'—शिवजी तो भोलेभाले हैं, देवताओं से कहलाकर और उन्हें अपनी बातों से धकमा देकर (आप देवों में ज्येष्ठ हैं। अब, प्रथम निकली हुई वस्तु—विष लो, ऐसा कहकर) विष पिलवाया। ये भाग्य से जीते रह गये। इसमें अपनी स्वार्थ-बुद्धि से काम करना कपट है और विष पिलाना ईर्ष्या है कि जिससे वे पागल हो जायँ, तो हम रमा और मणि ले सकें।

"निज मायाबल देखि बिसाला" (दो० १३१) उपक्रम है और यहाँ "निज माया कै प्रबलता" उपसंहार है।

जब हरि माया दूरि निवारी। नहिं तहँ रमा न राजकुमारी ॥१॥
तब मुनि अति सभीत हरिचरना। गहे पाहि प्रनतारतिहरना ॥२॥
मृषा होउ मम स्राप कृपाला। मम इच्छा कह दीनदयाला ॥३॥

शब्दार्थ—निवारी = हटा दी। पाहि = रक्षा करो। मृषा = झूठा, व्यर्थ।

अर्थ—जब भगवान् ने माया को दूर हटा दिया, तब वहाँ न तो रमा रह गईं और न वह राजकुमारी ही रही ॥१॥ तब अत्यन्त भयभीत होकर मुनि ने भगवान् के चरण पकड़ लिये और बोले—हे शरणागतों के आर्त्तिहरण! मेरी रक्षा कीजिये ॥२॥ हे कृपालो! मेरा शाप व्यर्थ हो जाय। दीनदयालु भगवान् बोले कि मेरी ऐसी ही इच्छा है ॥३॥

विशेष—(१) 'जब हरि माया ···' ऊपर माया खींचने से 'कृपानिधि' कहा था, यहाँ 'हरि' भी कहा, क्योंकि भगवान् कृपा से ही माया एवं उससे उत्पन्न दुःख हरण करते हैं। यथा—"अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटै राम करहु जौं दाया॥" (कि० दो० २०); "छूट न राम-कृपा बिनु" (उ० दो० ७१)। नारदजी के दुःख हरने से 'हरि' कहे गये।

(२) 'नहिं तहँ रमा न···' जब भगवान् कृपा करके अज्ञान दूर करते हैं, जीव रमाजी को भगवान् से अभिन्न तत्त्व-रूप में और विद्यामाया को उनकी कृपात्मक इच्छा रूप में पाता है। अतः, ये दोनो उनसे भिन्न नहीं रह जातीं।

(३) 'तब मुनि अति सभीत···' 'अति सभीत' से मन, 'चरना गहे' से कर्म और 'पाहि प्रनतारति-हरना' से वचन की शरणागति हुई।

(४) 'मृषा होउ मम स्राप कृपाला।'—शाप को झूठा करने की शक्ति मुझमें नहीं है। अतः, कृपा करके आप उसे मिथ्या (व्यर्थ) कर दें, जैसे भृगु के शाप को प्रथम अस्वीकार कर दिया था जो पहले लिखा गया है। पुनः शाप के प्रति भी प्रभु विनती ही करते हैं, इसपर भी 'कृपाला' कहा है।

(५) 'मम इच्छा कह दीनदयाला।'—शाप व्यर्थ होने से नारदजी का ऋषित्व न रहेगा। इस-लिये भक्त-हितकारी प्रभु उसे मिथ्या न करेंगे। यद्यपि नारदजी इष्ट के अपराध से दीन हैं, तथापि भगवान् की उनपर पूर्ण दया है। साथ ही हर-गणों की दीनता पर भी दृष्टि है। विना इस शाप की स्वीकृति के उनका उद्धार भी न होगा। और—"नारद-बचन अन्यथा नाहीं।" (दो० ७०) इसपर दृष्टि तो है ही।

मैं दुर्बचन कहे बहुतेरे। कह मुनि पाप मिटिहिं किमि मेरे ॥४॥
जपहु जाइ संकर-सत-नामा। होइहि हृदय तुरत बिश्रामा ॥५॥
कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरे। असि परतीति तजहु जनि भोरे ॥६॥
जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी ॥७॥
अस उर धरि महि बिचरहु जाई। अब न तुम्हहिं माया नियराई ॥८॥

दोहा—स्राप सीस धरि हराप हिय, प्रभु वहु बिनती कीन्हि ।
निज माया कै प्रबलता, करपि कृपानिधि लीन्हि ॥१३७॥

शब्दार्थ—जवनि = जो । आकृति = रूप, मुख । अपकार = अहित । करपि लीन्ह = खींच लिया । बायन = विवाहादि में पड़ोसी को भेंट में दी गई वस्तु, फिर उसमें भी उसका वैसा ही बदला मिलता है ।

अर्थ—अब अच्छे घर तुमने बायन दिया है । अतः, अपने किये का फल पाओगे ॥५॥ जो देह धरकर (तुमने) मुझे ठगा है, वही देह धरो, यह मेरा शाप है ॥६॥ तुमने मेरा मुख एवं रूप बन्दर का सा बना दिया था । अतः, तुम्हारी सहायता बन्दर ही करेंगे ॥७॥ तुमने हमारा भारी अनहित किया है । अतः, तुम भी स्त्री के विरह में दुखी होगे ॥८॥ प्रभु ने हृदय से हर्षित होकर शाप को शिरोधार्य किया और नारद से बहुत विनती की, फिर कृपानिधान प्रभु ने अपनी माया की प्रबलता को खींच लिया ॥१३७॥

विशेष—(१) 'भले भवन अब···'—तुमने अभी तक गरीबों के ही घर बायन दिये थे, इससे वे लोग न लौटा सके । हम अमीर हैं । अतः, यथायोग्य बदला देंगे । विवाह के सम्बन्ध में हमें कुरूपता आदि बायन दिये हैं, उनके फल भी लो । हम भी तुम्हारे विवाह ही के उपलक्ष्य में देते हैं जैसे-जैसे तुमने दिये, वैसे-वैसे हम लौटाते हैं ।

(२) 'बंचेहु मोहि जवनि···'—'नृप-तनु' से भगवान् ने इनकी स्त्री को ब्याहा है—वही तनु धरने का शाप देते हैं । नर-तनु कर्म के अधीन होते हैं, दुःख सुख के भागी होते हैं, वैसा ही हो । यथा—"राम भगत-हित नर-तनु धारी । सहि संकट किय साधु सुखारी ॥" (दो० २४) अर्थात् भगवान् लीला-रूप में दुःख-सुख भोगते से प्रतीत होते हैं । भाव यह कि तुम्हें कर्म-बाधा नहीं थी, सो हम देते हैं । ईश्वर से मनुष्य बनाते हैं ।

(३) 'करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी ।'—ईश्वर की कोई सहायता करे और वह भी बन्दर ! यह बड़ी हीनता है । यथा—"सुनत बचन बिहँसा दससीसा । जौं असि मति सहाय कृत कीसा ॥" (सुं० दो० ५५) ; "सठ साखामृग जोरि सहाई । बाँधा सिंधु इहइ प्रभुताई ॥" (लं० दो० २७) ।

(४) 'मम अपकार···भारी ।'—स्त्री-हरण करना भारी अपकार है । छः प्रकार के आततायि-कर्मों में यह एक भारी कर्म है, इसीसे मुनि उसका नाम भी नहीं लेते । उत्तरार्द्ध के बायन से ही जनाते हैं । भाव, जैसे स्त्री-विरह में हम दुखी हैं, वैसे ही दुखी होगे ।

भगवान् ने प्रथम इन्हें बन्दर बनाया है, पीछे नृप तनु धरा है, पर मुनि ने पीछे बन्दरों के सहायक होने और प्रथम नृप तनु धारण करने को कहा । स्त्री-विरह प्रथम से होगा । तब वानर सहायक होंगे, इसमें भी क्रम-भंग है, क्योंकि नारदजी क्रोध-वश हैं । अतः, सँभाल नहीं है । इन तीनों (६–७–८) अर्द्धालियों के पूर्वार्द्ध में बायन देना और उत्तरार्द्ध में बदला कहा गया है ।

(५) 'स्राप सीस धरि···'—आप भक्तों को बड़ा मानते हैं । अतः, उनके शाप-वचनों को भी शिरोधार्य किया । यथा—"आज्ञा सिर पर नाथ तुम्हारी ।" (दो० ७६) । मुनि को बहुत क्रोध है, उसे शान्त करने के लिये बहुत विनती की । प्रथम तो क्रोध बढ़ाते थे, पर अब लीला के सब अंग बन गये । अतः, शान्त करते हैं । 'हरषि'—क्योंकि लीला का साज बन गया । प्रसन्न रहना ही आपका स्वभाव सी है । 'कृपानिधि'—क्योंकि कृपाकर नारदजी की दुःखद माया खींची ।

अर्थ—तब बहुत तरह से मुनि को समझाकर प्रभु अंतर्द्धान हो गये। श्रीनारदजी श्रीराम-गुण गान करते हुए ब्रह्मलोक को चले।

विशेष—'बहु विधि'—जैसा ऊपर कहा गया, शाप होने पर यदि तुरंत ही भगवान् चल देते, तो नारदजी को दुर्वचन आदि का पश्चात्ताप बना ही रहता, इसलिये समझाकर गये।

भगवान् ने पृथिवी पर विचरने की आज्ञा दी। ये प्रथम सत्त्वप्रधान ब्रह्मलोक को गये, फिर रजोगुणी मृत्युलोक में और तब तमोगुणी पाताल में भी जायँगे, पृथ्वी भिन्न-भिन्न प्रकार से सब लोकों में है।

'करत राम-गुन-गान'—प्रथम जैसे किया करते थे, यथा—"एक बार करतल बर बीना। गावत हरि-गुन-गान प्रबीना॥" (दो० १२७)। फिर माया के वश होने से छूट गया था, अब मायामुक्त होने पर फिर 'राम-गुन-गान' होने लगा। कहा है—"राम दूरि माया बढ़ति, घटति जानि मन माँह। भूरि होति रवि दूरि लखि, सिर पर पगतर छाँह॥" (दोहावली ६६)। अतएव माया से बचने के लिये निरंतर भजन में निरत रहना चाहिये।

> हरगन मुनिहिं जात पथ देखी। बिगत मोह मन हरष बिसेखी॥१॥
> अति सभीत नारद पहिं आये। गहि पद आरत बचन सुनाये॥२॥
> हरगन हम न बिप्र मुनिराया। बड़ अपराध कीन्ह फल पाया॥३॥
> साप अनुग्रह करहु कृपाला। बोले नारद दीनदयाला॥४॥

शब्दार्थ—अनुग्रह = अनिष्ट-निवारण। साप-अनुग्रह = शाप से उत्पन्न अनिष्ट निवारण।

अर्थ—शिवजी के गणों ने मुनि को मोह-रहित और विशेष प्रसन्न मन राह में जाते देखकर॥१॥ अत्यन्त डरे हुए नारदजी के पास आये और उनके चरण पकड़कर दीन वचन बोले॥२॥ हे मुनिराज! हम शिवजी के गण हैं, ब्राह्मण नहीं हैं; हमने बड़ा भारी अपराध किया और उसका फल पाया॥३॥ हे कृपालो! शाप के अनिष्ट-निवारण की कृपा कीजिये, तब दीनदयालु नारदजी बोले॥४॥

विशेष—(१) 'हरगन मुनिहि जात···'—हर-गण अनुग्रह के लिये मुनि की राह देखते थे, अतः देखा, प्रथम मुनि को मोह-विषाद-सहित देखा था, अब—'बिगत मोह मन हरष' देखा। विशेष हर्ष राम-गुण-गान से है।

(२) 'अति सभीत···'—हँसी करने पर भय था। यथा—"अस कहि दोउ भागे भय भारी।" (दो० १३४)। फिर शाप हुआ, तब से 'अति सभीत' हैं। 'अति सभीत' से मन, 'गहि पद' से कर्म, 'आरत बचन सुनाये' से वचन, तीनों से शरणापन्न हुए। 'आरत बचन', यथा—"प्रनतपाल रघुबंस-मनि, त्राहि त्राहि अब मोहिं। आरत गिरा सुनत प्रभु, अभय करैगो तोहिं॥" (लं० दो० २०)।

(३) 'हरगन हम···'—संत निश्छल वचन से प्रसन्न होते हैं, इसलिये अपना परिचय दिया। भगवान् ने शिवजी में नारदजी की निष्ठा कराई है, इसलिये उनके सम्बन्ध से अनुग्रह चाहते हैं। नारदजी को जैसे भगवान् को शाप देने का शोच था, वैसे विप्रों के शाप देने का भी होगा, उसके निवारण के लिये भी कहा कि हम ब्राह्मण नहीं हैं।

(४) 'साप-अनुग्रह करहु कृपाला'—प्रथम क्रोध से शाप दिया गया है, अब कृपादृष्टि के अनुसार अनुग्रह कीजिये, तब वह दुःखरूप से सुखरूप हो जायगा। 'दीनदयाला'—श्रीनारदजी सदा से ही दीनों

अर्थ—मुनि ने (फिर) कहा कि मैंने बहुत दुर्वचन कहे हैं, मेरे पाप कैसे मिटेंगे ? ॥४॥ भगवान् ने कहा कि जाकर 'शंकर-शतनाम' जपो, उससे हृदय शीघ्र शांत हो जायगा ॥५॥ शिवजी के समान कोई मुझे प्रिय नहीं है, ऐसा विश्वास भूलकर भी न छोड़ना ॥६॥ जिसपर त्रिपुरारि शिवजी कृपा नहीं करते, हे मुनि ! वह मेरी भक्ति नहीं पाता ॥७॥ ऐसा हृदय में धारण करके पृथिवी पर जाकर विचरो, अब माया तुम्हारे निकट न आवेगी ॥८॥

विशेष—(१) 'कह मुनि पाप मिटिहिं'''' पाप के प्रायश्चित्त के लिये शंकर-शत-नाम जप रूप उपाय कहते हैं। इसमें 'मम इच्छा' नहीं कहा, क्योंकि पाप कर्म जीव अपनी प्रवृत्ति से ही करता है, उसमें हरि-इच्छा नहीं रहती। यथा—"तुलसी सुखी जो राम सों, दुखी सो निज करतूति।" (दोहावली ८८)। 'दुर्वचन' का प्रसंग—"सुनत बचन उपजा अति क्रोधा।"'''''' से—"पावहुगे फल आपन कीन्हा।" (दो० १३५-१३६) तक है।

(२) 'जपहु जाइ संकर''''—जैसे विष्णु सहस्रनाम एवं गोपाल सहस्रनाम हैं, वैसे ही शंकर-शतक भी है। शिवजी ने पार्वतीजी से कहा है। यथा—"इति ते कथितं देवि मम नाम शतोत्तमम्।''''" (लिंगार्चन तंत्र)। इसे जपना कहा, क्योंकि भागवतापराध भागवत भजन से ही छूटता है, जैसे दुर्वासा मुनि को अंत में अंबरीष की ही शरण में जाना पड़ा। इन्होंने शिवजी की उत्तम शिक्षा में ईर्ष्या एवं स्पर्धा की भावना की थी, यही इनसे भागवतापराध हुआ है। भगवान् ने अपने प्रति कहे हुए पाप को तो पाप गिना ही नहीं, क्योंकि—"निज अपराध रिसाहिं न काऊ॥ जो अपराध भगत कर करई। राम-रोष-पावक सो जरई॥" (अ० दो० २१७)। यह श्रीरामजी का स्वभाव है। 'तुरत बिश्रामा' अर्थात् भागवत भजन का फल बहुत शीघ्र ही मिलता है।

(३) 'कोउ नहिं सिव-समान प्रिय'''' भाव यह कि शिवजी हमारे प्रिय हैं, तुमने उनका उपदेश न मानकर भूल की है, वह हमें अप्रिय लगा।

(४) 'जेहि पर कृपा न'''' शिवजी कृपा करते हैं, तब भक्ति मिलती है और तब उससे हमारी अनुकूलता रहती है, उससे माया डरती रहती है। यथा—"भगतिहि सानुकूल रघुराया।''''" से—"तेहि बिलोकि माया सकुचाई।" (उ० दो० ११५) तक।

(५) 'अस उर धरि महि''''– संत परोपकार के लिये जगत् में विचरते हैं। यथा—"जड़ जीवन्ह को करइ सचेता। जग माहीं बिचरत यहि हेता॥" (वैराग्य सं० १)। स्वयं भी इसी में सुखी रहते हैं। यथा- "सब संत सुखी बिचरंति मही।" (उ० दो० १४); अर्थात् इस संवादात्मक बात का भी उपदेश करो। 'बिचरहु जाई' से यह भी सूचित किया कि विप्र (दक्ष) का शाप भी अन्यथा करने की बुद्धि न करो, क्योंकि दक्ष का ऐसा ही शाप है।

(६) 'अब न तुम्हहिं माया''''—भाव, शंकर की अनुकूलता से मेरी भक्ति रहेगी, उसके भय से माया निकट न आवेगी।

श्रीनारदजी को मोह तीन कारणों से हुआ—१ विप्र-शाप मिथ्या करना। २ शिव-अपमान। ३ शेषशय्या पर बैठना। प्रथम दो के प्रतिफल पा लिये, तीसरे के लिये भगवान् ने क्षमा की, विनती भी की और सदा के लिये माया से निर्भय कर दिया।

दोहा—बहु बिधि मुनिहिं प्रबोधि प्रभु, तब भये अंतरधान।
सत्यलोक नारद चले, करत राम-गुन-गान ॥१३८॥

शब्दार्थ—विचित्र = रंग-बिरंग के, आश्चर्यजनक। घनेरे = बहुत।

अर्थ—इस प्रकार हरि के जन्म और कर्म सुन्दर, सुखदायक, विचित्र और बहुत हैं ॥१॥ कल्प-कल्प (हर एक कल्प) में (जब-जब) प्रभु अवतार लेते हैं और अनेक प्रकार के सुन्दर चरित करते हैं ॥२॥ तब-तब परम पवित्र काव्य-रचना करके मुनीश्वरों ने कथा गाई है ॥३॥ तरह-तरह के प्रसंग अनुपम कहे गये हैं, उन्हें सुनकर बुद्धिमान् लोग आश्चर्य नहीं करते ॥४॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि ···'—ऊपर दोहे में कहा है—'लीन्ह मनुज-अवतार'—यह जन्म है और—'सुररंजन ···भुविभार'—यह कर्म है। चरित स्वयं 'सुंदर' हैं, और दूसरों के लिये 'सुखद' भी। 'विचित्र'—तरह-तरह के आश्चर्यजनक हैं, एवं वात्सल्य, सख्य, शृंगार आदि रसों के चरित्र किये हैं। 'घनेरे', यथा—"जल-सीकर महि-रज गनि जाहीं। रघुपति-चरित न बरनि सिराहीं॥" (उ० दो० ५१)।

(२) 'कलप कलप प्रति ···' इसमें उपर्युक्त जन्म-कर्म का ही विवरण है।

(३) 'तब-तब कथा मुनीसन्ह ···'—पूर्व कहा था—"नाना भाँति अवतार कथा प्रभु केरी। सुनु मुनि बरनी कबिन्ह घनेरी॥" (दो० १२२)। यहाँ 'कबिन्ह' को स्पष्ट किया कि मुनीश्वर ही कवि हुए।

(४) 'बिबिध प्रसंग अनूप ···'—यहाँ 'बिबिध प्रसंग' में और पूर्व 'कथा अलौकिक' में आश्चर्य करने से रोका है, यथा—"कथा अलौकिक सुनहिं जे ज्ञानी। नहिं आचरज करहिं अस जानी॥" (दो० ३२)। इसमें के 'ज्ञानी' और यहाँ के 'सयाने' एक ही हैं।

हरि अनंत हरिकथा अनंता। कहहिं सुनहिं बहु बिधि सब संता ॥५॥
रामचंद्र के चरित सुहाये। कलप कोटि लगि जाहिं न गाये ॥६॥
यह प्रसंग मैं कहा भवानी। हरिमाया मोहहि मुनि ज्ञानी ॥७॥
प्रभु कौतुकी प्रनत-हित-कारी। सेवत सुलभ सकल दुखहारी ॥८॥

सोरठा—सुर नर मुनि कोउ नाहिं, जेहि न मोह माया प्रबल।
अस बिचारि मन माहिं, भजिय महा-माया-पतिहिं ॥१४०॥

अर्थ—भगवान् अनंत हैं और उनकी कथा भी अंतरहित है, जिसे सब संत बहुत तरह से कहते सुनते हैं ॥५॥ श्रीरामचन्द्रजी के सुहावने चरित करोड़ों कल्पों तक भी नहीं गाये जा सकते ॥६॥ हे भवानी! मैंने यह प्रसंग कहा कि ज्ञानी मुनि भी हरि-माया में मोहित होते हैं ॥७॥ भगवान् कौतुकी एवं शरणागत का हित करनेवाले हैं, सेवा करने में सुलभ और सब दुःख हरनेवाले हैं ॥८॥ देवता, मनुष्य और मुनि—इनमें कोई भी ऐसा नहीं है, जिसे बलवती माया मोह न ले, मन में ऐसा समझकर महामाया के स्वामी (श्रीरामजी) का भजन करो ॥१४०॥

विशेष—(१) 'यह प्रसंग...प्रभु कौतुकी...'—यहाँ प्रसंग का सारांश कहा गया है कि ज्ञानी मुनि भी हरिमाया में मोहित होते हैं। भगवान् लीला की इच्छा से कौतुक करते और शरणागतों के दुःख दूर करते हैं। 'सेवत सुलभ' यथा—"सकृत प्रनाम किये अपनाये।" (अ० दो० २९८)। 'सकल दुख-हारी'—यथा—"सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति पाप ताप माया।" (वि० १३८)।

पर दया करते आये हैं। यथा—"नारद देखा विकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता॥" (आ० दो० १)। ऐसा ही संत स्वभाव होता है। यथा—"कोमल चित दीनन पर दाया।" (उ० दो० ३७)।

निसिचर जाइ होहु तुम्ह दोऊ। बैभव बिपुल तेज बल होऊ ॥५॥
भुजबल बिस्व जितब तुम्ह जहिया। धरिहहिं बिष्णु मनुज-तनु तहिया ॥६॥
समर मरन हरि हाथ तुम्हारा। होइहहु मुकुत न पुनि संसारा ॥७॥
चले जुगल मुनिपद सिर नाई। भये निसाचर कालहिं पाई ॥८॥

दोहा—एक कलप येहि हेतु प्रभु, लीन्ह मनुज-अवतार।
सुररंजन सज्जनसुखद, हरि भंजन-भुवि-भार ॥१३६॥

शब्दार्थ—बैभव = ऐश्वर्य। जहिया = जब। तहिया = तब। कालहि पाई = मरने पर।

अर्थ—तुम दोनों जाकर निशाचर बनो। तुम्हारे ऐश्वर्य, तेज और बल बहुत बड़े होंगे ॥५॥ जब तुम अपनी भुजाओं के बल से संसार भर को जीत लोगे, तब विष्णु भगवान् मनुष्य-शरीर धारण करेंगे ॥६॥ तुम्हारा मरण संग्राम में भगवान् के हाथों होगा, इससे मुक्त हो जाओगे, फिर तुम्हें संसार (का जन्म-मरण) न होगा ॥७॥ दोनो (हर-गण) मुनि के चरणों में सिर नवाकर चले गये और काल पाकर निशाचर हुए ॥८॥ देवताओं को आनन्द और सज्जनों को सुख देनेवाले एवं पृथिवी का भार हरनेवाले प्रभु ने एक कल्प में इस कारण मनुष्य अवतार लिया ॥१३६॥

विशेष—(१) 'निसिचर जाइ···'—'जाइ' अर्थात् शरीर छूटने पर जो आगे—'कालहिं पाई' से स्पष्ट है। 'बैभव बिपुल···' यहाँ तीन ही बातें दीं। राजाओं के पाँच अंग होते हैं, यथा—"सब सुरेस सम बिभव-बिलासा। रूप तेज बल नीति-निवासा॥" (दो० १२१)। इनमें रूप और नीति दो पदार्थ नहीं दिये, क्योंकि राक्षसों में ये दो नहीं होते। शाप तो रहा ही, पर उसे सुख-रूप कर दिया कि ऐश्वर्य, बल और तेज से पूर्ण हों और जिससे भगवान् ही के हाथों मारे जाने से मुक्त हो जायँ।

(२) 'भुजबल बिस्व···' यथा—"भुजबल बिस्व बस्य करि, राखेसि कोउ न सुतंत्र।" (दो० १८२)। श्रीनारदजी की दीनदयालुता ऐसी है कि एक प्रणाम में संसार-भर का राजा एवं विश्व विजयी बना दिया। यह लोक बनाया और 'होइहौ मुकुत···' से परलोक भी बनाया। 'चले जुगल'—इनका चलना कहा, नारदजी का नहीं, क्योंकि उनका चलना पूर्व ही कह चुके हैं, वे थोड़ा रुके, फिर चल दिये।

नारद-मोह एवं क्षीरशायी अवतार-प्रकरण समाप्त

येहि बिधि जनम करम हरि केरे। सुंदर सुखद बिचित्र घनेरे ॥१॥
कलप-कलप प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना बिधि करहीं ॥२॥
तब तब कथा मुनीसन्ह गाई। परम पुनीत प्रबंध बनाई ॥३॥
बिबिध प्रसंग अनूप बखाने। करहिं न सुनि आचरज सयाने ॥४॥

(३) 'जो प्रभु बिपिन···'—'फिरत' से सीताजी का खोजना और 'मुनि-बेष' से राज्य त्याग जनाया।

(४) 'अवलोकि···रहिहु बौरानी'—मोह-रूपी पिशाच लगने से पागल-सी हो गई थीं।

अजहुँ न छाया मिटति तुम्हारी। तासु चरित सुनु भ्रम-रुज हारी ॥५॥
लीला कीन्हि जो तेहि अवतारा। सो सब कहिहउँ मति-अनुसारा ॥६॥
भरद्वाज सुनि संकर-बानी। सकुचि सप्रेम उमा मुसुकानी ॥७॥
लगे बहुरि बरनइ बृषकेतू। सो अवतार भयेउ जेहि हेतू ॥८॥

दोहा—सो मैं तुम्ह सन कहउँ सब, सुनु मुनीस मन लाइ।
रामकथा कलि-मल-हरनि, मंगल-करनि सुहाइ ॥१४१॥

अर्थ—अब भी उसकी छाया नहीं मिटती। उन्हीं रामजी के भ्रम-रूपी रोग के हरनेवाले चरितों को सुनो ॥५॥ उस अवतार में जो लीलाएँ की गई हैं, उन सबको मैं अपनी बुद्धि के अनुसार कहूँगा ॥६॥ याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि हे भरद्वाज ! शंकरजी के वचन सुनकर उमाजी सकुचकर प्रेम से मुसकुराने लगीं ॥७॥ फिर वह अवतार जिस लिये हुआ, उस कारण का वर्णन धर्मध्वज शिवजी करने लगे ॥८॥ उन सबको मैं तुमसे कहता हूँ, हे मुनीश्वर ! मन लगाकर सुनो। राम-कथा कलि के पापों को हरनेवाली, मंगल करनेवाली और सुहावनी है ॥१४१॥

विशेष—(१) 'अजहुँ न छाया मिटति ···'—अब भ्रम की छाया-मात्र (सामान्य) रह गई है। यथा—"तव कर अस बिमोह अब नाहीं।" (दो० १०८); जो—"राम ब्रह्म चिन्मय···धरयो नरतनु केहि हेतू।" (दो० ११०) पर कहा गया कि वे चिन्मय, अविनाशी आदि हैं। उन्होंने किन कारणों से इन गुणों के विरुद्ध मानव-शरीर धारण किया ? वही यहाँ के—'अज अगुन अरूपा ···' से जनाया है।

(२) 'तासु चरित सुनु ···'—पूर्व—"जासु चरित अवलोकि···" से भ्रम होना और यहाँ के "तासु चरित सुनु···" से भ्रम का छूटना कहा; अर्थात् चरित देखकर सती, गरुड़ आदि को भी भ्रम हुआ और वह भ्रम उसी चरित के सांगोपांग सुनने से दूर भी हुआ। पूर्व पार्वतीजी ने कहा था,—"देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमति बुद्धि अति मोरि।" (दो० १०८); उसी के लक्ष्य से यहाँ 'भ्रम रुज हारी' कहा गया है।

(३) 'सकुचि सप्रेम उमा ···'—'रहिहु बौरानी' 'अजहुँ न छाया मिटति ···' के प्रति सकुच एवं मुसुकाकर उसका अंगीकार करना व्यक्त किया तथा—"तासु चरित सुनु···" से प्रेम हुआ।

(४) 'लगे बहुरि बरनइ ···' 'बृषकेतू' अर्थात् धर्म पर दृष्टि किये हुए सत्य ही कहेंगे। 'सो अवतार' यहाँ का 'सो' पूर्वोक्त—"जो प्रभु बिपिन फिरत ···" के 'जो' के प्रति है। पूर्वोक्त—"नाथ धरेउ नर-तनु केहि हेतू।" (दो० १११) का उत्तर यहाँ के—'लगे बहुरि · ' से चला।

(५) 'सो मैं तुम्ह सन · '—'मन लाय'—यह प्रसंग परम गुह्य है। अतः, मन लगाकर सुनने से ही धारण होगा। लाभ भी कहते हैं कि 'राम-कथा' स्वयं उपासना-रूपा है, साथ ही 'मंगलकरनि'—

(२) 'सुर नर मुनि...'—सुर नर मुनि—ये ज्ञानवान् होते हैं, जब ये ही मोहित हो जाते हैं, तब और कौन है जो न मोहा जा सके ? जो माया के पति का सेवक होगा, उसपर माया का वश न चलेगा।

यहाँ शिवजी, याज्ञवल्क्यजी और गोस्वामीजी ने भी प्रसंग की इति लगाई है—

शिवजी— { उपक्रम—"यह प्रसंग मोहिं कहहु पुरारी। मुनि-मन मोह आचरज भारी॥" (दो० १२२)।
उपसंहार—"यह प्रसंग मैं कहा भवानी। हरि-माया मोहहिं मुनि ज्ञानी॥" (उपर्युक्त)।

याज्ञवल्क्य— { उपक्रम—"कहउँ राम-गुन-गाथ" (दो० १२४); "भरद्वाज कौतुक सुनहु" (दो० ११०)।
उपसंहार—"रामचंद्र के चरित सुहाये।" "प्रभु कौतुकी..." (उपर्युक्त)।

गोस्वामीजी— { उपक्रम—"भजु तुलसी तजि मान-मद" (दो० ११७)।
उपसंहार—"भजिय महामायापतिहिं।" (उपर्युक्त)

श्रीरामावतारों के त्रिविध भेद समाप्त

मनु-शतरूपा-प्रकरण

अपर हेतु सुनु सैलकुमारी। कहउँ विचित्र कथा बिस्तारी॥१॥
जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भयेउ कोसलपुर-भूपा॥२॥
जो प्रभु बिपिन फिरत तुम्ह देखा। बंधु-समेत धरे मुनिबेखा॥३॥
जासु चरित अवलोकि भवानी। सतीसरीर रहिहु बौरानी॥४॥

अर्थ—हे शैलकुमारी (पार्वतीजी), अब और कारण सुनो, यह विचित्र कथा मैं विस्तारपूर्वक कहता हूँ॥१॥ जिस कारण से अजन्मा, गुणातीत, अरूप, ब्रह्म, अवधपुरी के राजा हुए॥२॥ जिन प्रभु श्रीरामजी को भाई-सहित मुनि-वेष धारण किये हुए और वन में फिरते हुए तुमने देखा था॥३॥ हे भवानी ! सती-शरीर में जिनके चरित्र देखकर तुम बावली (सी) हो रही थी॥४॥

विशेष—(१) 'अपर हेतु सुनु...'—'सैलकुमारी'—क्योंकि परोपकार के लिये प्रश्न किया। 'विचित्र'—पूर्वोक्त तीन कल्पों की भी कथाएँ विचित्र थीं। यथा—"राम-जनम के हेतु अनेका। परम विचित्र एक ते एका॥" (दो० १२१);—उपक्रम और—"येहि विधि जनम करम हरिकेरे। सुंदर सुखद विचित्र घनेरे॥" (दो० १३९);—उपसंहार है। अतः, इस कथा को भी विचित्र कहा, पर इसे विस्तार पूर्वक कहने की प्रतिज्ञा करते हैं।

(२) 'जेहि कारन अज अगुन...'—अवतार के विषय में पार्वतीजी के दो पक्ष थे—एक तो विष्णु भगवान् का अवतार लेना वे मानती थीं, पर उनकी लीला में संदेह था कि वे अज्ञ की तरह स्त्री कैसे खोजेंगे ? और दूसरा—"की अज अगुन अलख गति कोई।" के विषय में प्रथम अवतार मानती ही न थीं, फिर कैलाश-प्रकरण सुनकर मान गईं, तब उनके अवतार के हेतु के लिये प्रश्न किये। उनमें विष्णु एवं क्षीरशायी भगवान् के चतुर्भुज से द्विभुज राम-रूप होने के तीन जन्मों के हेतु कह आये कि वे अमुक अमुक के शापवश हुए। शाप-निर्वाह के लिये अज्ञ की तरह विरही होकर स्त्री खोजने आदि की उनकी लीलाएँ हैं और जो अज, अगुण, अरूप, परात्पर ब्रह्म नित्य द्विभुज श्रीसीतापति श्रीमनु-शतरूपा के प्रेमवश प्रकट होकर 'कोसलपुरभूप' हुए उनका जन्म-वृत्तान्त कहने का यहाँ संकल्प किया।

प्रशंसा ध्रुव ऐसे पुत्र के द्वारा की। यथा—"सो कुल धन्य उमा सुनु, जगतपूज्य सुपुनीत। श्री रघुवीर परायन, जेहि नर उपज बिनीत॥" (उ० दो० १२७)। ध्रुवजी की कथा पूर्व दो० ७९ में लिखी गई है।

(२) 'लघु सुत नाम प्रियव्रत···' प्रियव्रत के ही वंश में ऋषभ भगवान् ने अवतार लिया। ये स्वयं बड़े वैराग्यवान्, विज्ञानी और भगवद्भक्त हुए। श्रीनारदजी की सेवा और उनकी कृपा से इन्हें सहज ही परमार्थतत्त्व का ज्ञान हो गया। ब्रह्मा, मनु आदि बड़ों की आज्ञा मानकर एवं भगवान् की इच्छा से इन्हें निवृत्ति-मार्ग से फिर प्रवृत्ति में आना पड़ा। ये चक्रवर्ती राजा हुए। सातो द्वीपों और सातो समुद्रों के विभाग इन्होंने ही किये हैं। इनकी विस्तृत कथा श्रीमद्भागवत स्कंध ५. अ० १ में है। 'बेद पुरान प्रसंसत ताही' से इनके आचरणों को पिता के आचरणों के तुल्य जनाया।

(३) 'देवहूति पुनि···'—प्रियव्रत के पीछे देवहूति का नाम देकर इसे उनसे छोटी बताया, कन्याएँ तीन हुईं, परन्तु यहाँ एक का नाम दिया गया, जिसके पुत्र भगवान् हुए। 'प्रिय नारी' से पतिव्रता जनाया। यथा—"पारवती सम पतिप्रिय होहू।" (बा० दो० ११७)।

(४) 'आदिदेव प्रभु···'—'आदिदेव' से सृष्टि के कर्त्ता, 'प्रभु' से समर्थ रक्षक और 'दीनदयाला' से पालक जनाया। कपिल भगवान् ने कृपा करके इनके गर्भ में रहना स्वीकार किया।

सांख्यसास्त्र जिन्ह प्रगट बखाना। तत्त्वबिचार-निपुन भगवाना॥७॥
तेहि मनु राज कीन्ह बहु काला। प्रभुआयसु बहु बिधि प्रतिपाला॥८॥

दोहा—होइ न बिषय-बिराग, भवन बसत भा चौथपन।
हृदय बहुत दुख लाग, जनम गयेउ हरिभगति बिनु॥१४२॥

शब्दार्थ—प्रतिपाला = माना, पालन किया। चौथपन = वृद्धावस्था।

अर्थ—जिन्होंने (कपिल ने) सांख्य शास्त्र का प्रकट बखान किया, वे भगवान् तत्त्वविचार में बड़े निपुण थे॥७॥ उन (स्वायंभुव) मनु ने बहुत काल तक राज्य किया और बहुत प्रकार से प्रभु की आज्ञा का पालन किया॥८॥ घर में रहते हुए चौथापन हो आया, पर विषयों से वैराग्य न हुआ, (अतएव) हृदय में बहुत दुःख हुआ कि हरिभक्ति के बिना व्यर्थ ही जन्म बीत गया॥१४२॥

विशेष—(१) 'सांख्य सास्त्र जिन्ह···' 'प्रगट' अर्थात् वेद भी भगवान् के ही श्वास से हुए हैं, उनमें सब कुछ है, पर भगवान् स्वयं प्रकट होकर आचार्य-रूप से सांख्य का वर्णन कर गये हैं; अपने मुख से माता के प्रति प्रत्यक्ष कहा, जो उत्तरार्द्ध में कहते हैं—

'तत्त्वबिचार-निपुन···'—प्रथम सांख्य शास्त्र ग्रंथ कहा, अब उसका वर्ण्य विषय कहते हैं कि उसमें तत्त्व-विचार का वर्णन है। सांख्य शास्त्र में दो ही तत्त्व प्रधान माने गये हैं—प्रकृति और पुरुष। यह छः शास्त्रों में एक है।

(२) 'तेहि मनु राज कीन्ह···'—मनु ने जो बहुत काल तक राज्य किया, वह राज्य के लोभ से नहीं, किंतु प्रभु की आज्ञा के पालन की दृष्टि से किया। प्रभु की आज्ञा वेद है, उसके अनुसार राज्य किया। 'बहुबिधि' अर्थात् वेद की एक-एक विधि को कई-कई प्रकार से किया और संसार को सिखाया।

मंगलमय मोक्ष करनेवाली अर्थात् ज्ञान-फलरूपा है, यथा—"ज्ञान मोच्छप्रद वेद बखाना।" (आ० दो० १५)। 'कलिमलहरनि'—पाप नाश करने से कर्म-फलरूपा है। 'मुनीस'—याज्ञवल्क्यजी ने प्रथम ही कहा था कि मैं—'उमा-संभु-संवाद' सम्पूर्ण कहूँगा। अतः, दोनों संवाद एक ही हैं।

स्वायंभू मनु अरु सतरूपा। जिन्ह तें भै नरसृष्टि अनूपा ॥१॥
दंपति-धरम आचरन नीका। अजहुँ गाव श्रुति जिन्हकै लीका ॥२॥

अर्थ—(आदि मन्वन्तर में) स्वायंभुव मनु और शतरूपाजी (हुए थे) जिनसे मनुष्य-सृष्टि हुई (मनुष्य उत्पन्न हुए)॥ १ ॥ (वे) दोनों स्त्री-पुरुष उत्तम धर्माचरणवाले थे, जिनकी मर्यादा अब भी वेद गाते हैं॥ २ ॥

विशेष—(१) 'स्वायंभुव मनु अरु···'—स्वयंभू ब्रह्मा का नाम है, उनसे उत्पन्न होने से इनका नाम स्वायंभुव हुआ। भाग० (स्कं० ३, अ० १२, श्लोक० ५२–५३) में कहा गया है कि ब्रह्मा प्रथम मानसी सृष्टि करते थे। सृष्टि वृद्धि न होने से चिन्तित हुए और दैव की शरण गये, त्यों ही उनका शरीर दो खंडों में विभक्त हो गया। उनमें से एक से पुरुष हुआ और दूसरे से स्त्री उत्पन्न हुई। इनसे सृष्टि की वृद्धि हुई। पुरुष को स्वायंभुव मनु और स्त्री को शतरूपा कहते हैं। ब्रह्मा के एक दिन (कल्प) में १४ मनु भोग करते हैं। एक-एक मनु ७२ चतुर्युगियों के लगभग रहते हैं। यहाँ आदि के स्वायंभुव मनु का प्रसंग है। आगे इन्हें 'मनु' नाम से ही कहेंगे।

'नर-सृष्टि अनूपा' यथा—"नर-तनु सम नहिं कवनिउँ देही। जीव चराचर जाचत जेही॥" (उ० दो० १२०)।

(२) 'दंपति धरम आचरन···'—ये मनु उत्तम धर्माचरण में प्रथम हैं। ब्रह्माजी से वेद प्रकट हुए और मनु भी। वेदों के धर्म मनु करते हैं। ये जो आचरण करते हैं, वेदों में मिलते हैं; इसीसे वेदों का गाना कहा गया। इनकी स्मृति धर्माचरण में मुख्य मानी जाती है।

नृप उत्तानपाद सुत तासू। ध्रुव हरिभगत भयेउ सुत जासू ॥३॥
लघुसुत नाम प्रियव्रत ताही। बेद पुरान प्रसंसहिं जाही ॥४॥
देवहूति पुनि तासु कुमारी। जो मुनि कर्दम कै प्रिय नारी ॥५॥
आदिदेव प्रभु दीनदयाला। जठर धरेउ जेहि कपिल कृपाला ॥६॥

अर्थ—उनके पुत्र राजा उत्तानपाद हुए, जिनके पुत्र हरिभक्त ध्रुवजी हुए थे ॥३॥ उन (मनु) के छोटे पुत्र का नाम प्रियव्रत था, जिनकी प्रशंसा वेद-पुराण करते हैं॥ ४ ॥ पुनः देवहूति उनकी कन्या थी जो कर्दम मुनि की प्रिय स्त्री हुई। ५॥ जिसने अपने जठर (गर्भ) में आदिदेव, प्रभु, दीनदयालु और कृपालु कपिल भगवान का धारण किया ॥६॥

विशेष—(१) 'नृप उत्तानपाद···'—मनु का धर्माचरण कहकर अब दिखाते हैं कि उत्तम धर्माचरण से ऐसी-ऐसी सन्तानें होती हैं जिनके लोक परलोक दोनों बने हैं उत्तानपाद का प्रथम नाम देकर ज्येष्ठ पुत्र बनाया, ज्येष्ठ राज्याधिकारी होता है। अतः, 'नृप' कहकर उनकी बड़ाई की। पुनः उनकी

(२) 'तीरथ बर नैमिष ···'—यह स्थान नैमिषारण्य (नीमसार) नाम से अवध-प्रान्त के सीतापुर जिले में है। इसकी दो प्रकार की कथाएँ प्रसिद्ध हैं। (१)—वाराह पुराण में लिखा है कि इस स्थान पर गौरमुख नामक मुनि ने निमिष भर में ही असुरों की बड़ी भारी सेना भस्म कर दी थी। इसीसे यह स्थल नैमिषारण्य कहाया। (२)—देवीभागवत में इसकी कथा इस प्रकार है कि ऋषि लोग कलिकाल के भय से बहुत घबराये। तब ब्रह्माजी ने उन्हें एक मनोमय चक्र दिया और कहा कि इस चक्र के पीछे-पीछे चले जाओ। जहाँ इसकी नेमि (चक्र-चक्रपरिधि) टूट-फूट जाय, उसे अत्यन्त पवित्र स्थल समझना। वहाँ कलि का भय न रहेगा। यहीं पर सौति मुनि ने शौनकादि ऋषियों से महाभारत और पुराणों की कथाएँ कही हैं। 'साधक सिधिदाता'—साधक लोग सिद्धि पाते हैं, इसलिये वहाँ जाते हैं और सिद्धि पाकर भी रहते हैं।

(३) 'बसहिं तहाँ मुनि ······'—जगत् के जीव तीन प्रकार के होते हैं, यथा—"बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥" (अ० दो० २७६)। इनमें यहाँ साधक और सिद्ध दो का बसना कहा गया, विषयी का नहीं। 'हिय हरषि'—कार्य-सिद्धि का शकुन है।

(४) 'ज्ञान भगति जनु······'—मनु स्त्री के साथ सम्पूर्ण पृथिवी का राज्य छोड़कर नंगे पैरों जा रहे हैं, वैराग्य एवं साधन में मतिधीर हैं। अतएव सोहते हैं। भक्ति और ज्ञान भगवान् की प्राप्ति के साधन हैं, ये दोनों भी भगवान् ही की प्राप्ति के लिये जा रहे हैं; अतः, उपमा योग्य है।

पहुँचे जाइ धेनु-मति-तीरा। हरषि नहाने निरमल नीरा॥ ५॥
आये मिलन सिद्ध मुनि ज्ञानी। धरमधुरंधर नृपरिषि जानी॥ ६॥
जहँ-जहँ तीरथ रहे सुहाये। मुनिन्ह सकल सादर करवाये॥ ७॥
कृससरीर मुनिपट परिधाना। संतसमाज नित सुनहिं पुराना॥ ८॥

दोहा—द्वादस अच्छर मंत्र पुनि, जपहिं सहित अनुराग।
बासुदेव - पद - पंकरुह, दंपति - मन अति लाग॥१४३॥

अर्थ—धेनुमती (गोमती) नदी के किनारे जा पहुँचे और निर्मल जल में हर्षपूर्वक स्नान किया॥५॥ धर्मधुरंधर राजर्षि जानकर सिद्ध, मुनि और ज्ञानी उनसे मिलने आये॥६॥ जहाँ-जहाँ सुन्दर तीर्थ थे, वे सब मुनियों ने आदर के साथ करा दिये॥७॥ दुर्बल शरीर मनु मुनियों के वस्त्र (वल्कल कौपीन आदि) पहने संतों के समाज में नित्य पुराण सुनते॥८॥ पुनः अनुराग-सहित द्वादशाक्षर मंत्र जपते हैं। वासुदेव भगवान् के चरण-कमलों में राजा-रानी का मन बहुत ही लग गया॥१४३॥

विशेष—(१) 'हरषि नहाने निरमल नीरा।'—माहात्म्य सुनने से हर्ष हुआ, तब स्नान किया, यही विधि है। यथा—"पुनि प्रभु आइ त्रिबेनी, हरषित मज्जन कीन्ह।" (लं० दो० ११९); 'निरमल नीरा'—अर्थात् निर्मल शरद् ऋतु आ गई थी।

(२) 'आये मिलन सिद्ध ······'—क्योंकि मनु बड़े धर्मात्मा, वैराग्यवान् और हरि-अनुरागी हैं, राज्य छोड़कर वानप्रस्थ भी ले लिया है, गुणों का आदर करना ही चाहिये।

(३) 'होइ न विषय बिराग'''—इनका वैराग्य समय के अनुसार ही जाग्रत हुआ, यथा—"संत कहहिं असि नीति दसानन। चौथेपन जाइहि नृप कानन॥" (लं॰ दो॰ ६)। इनमें विषयों से और घर से वैराग्य-उदय होना संसार की शिक्षा के लिये है, क्योंकि इनका विषयों में आसक्त होना नहीं कहा जा सकता। इनके कुल में प्रियव्रत, ध्रुव आदि हुए, उन्होंने भी अपने आचरण से यही दिखाया है कि घर में रहते हुए विषयों से वैराग्य होना कठिन है। श्रीमद्भागवत स्कंध ५, अ॰ १ में प्रियव्रत का कथन है—अहो! राज्यभोग में पड़कर मैं परमार्थ-मार्ग से भ्रष्ट हो गया। इन्द्रियों ने मुझे अविद्या-रचित विषम विषयों के गड्ढे में गिरा दिया। मेरा जन्म ही वृथा बीता जाता है। बस, अब विषयभोगों का त्याग करना चाहिये। ऐसा ही विचार यहाँ मनु का भी जानना चाहिये।

मनु का प्रथम धर्म-पालन करना कहा गया, तब विषयों से वैराग्य होना बताया और फिर भक्ति की लालसा कही। यथा—"प्रथमहिं बिप्रचरन अति प्रीती। निज-निज धर्म निरत श्रुति-रीती॥ येहि कर फल मन बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥" (आ॰ दो॰ १५)। मनु के धर्म निष्काम हुए थे, तभी परिणाम में वैराग्य हुआ, वैराग्य के लिये पश्चात्ताप होना त्याग की पहली अवस्था है।

बरबस राज सुतहिं तब दीन्हा। नारि-समेत गवन बन कीन्हा॥१॥
तीरथबर नैमिष बिख्याता। अति पुनीत साधक-सिधि-दाता॥२॥
बसहिं तहाँ मुनि-सिद्ध-समाजा। तहँ हिय हरषि चलेउ मनु राजा॥३॥
पंथ जात सोहहिं मतिधीरा। ज्ञान भगति जनु धरे सरीरा॥४॥

अर्थ—तब (मनु ने) बरबस (हठपूर्वक) पुत्र को राज्य दिया और स्त्री-सहित वन को चले॥१॥ अत्यन्त पवित्र, साधकों को सिद्धि का देनेवाला, तीर्थों में श्रेष्ठ नैमिषारण्य प्रसिद्ध है॥२॥ वहाँ मुनियों और सिद्धों का समाज निवास करता है, वहीं को प्रसन्न मन होकर राजा मनु चले॥३॥ धीरबुद्धि राजा-रानी मार्ग में जाते हुए यों सोहते हैं, मानों ज्ञान और भक्ति शरीर धारण किये हुए जा रहे हैं॥४॥

विशेष—(१) 'बरबस राज सुतहिं'''—श्रीमद्भागवत से जान पड़ता है कि उत्तानपाद और उनकी सन्तान राज्य करते थे और यह भी विस्तार से कहा गया है कि मनु ने प्रियव्रत को बरबस राज्य देना चाहा। वे नहीं लेते थे, फिर ब्रह्माजी के बहुत समझाने पर राज्य ग्रहण किया। तब मनु तप के लिये गये। इसका तात्पर्य यह जान पड़ता है कि मनु को मन्वंतर भोग करना होता है, पर उनकी संतानों को नहीं। उन्होंने अपने रहते हुए पृथिवी का राज्य उत्तानपाद को दे दिया था, फिर ध्रुव आदि भोगते थे। प्रियव्रत नारदजी से ज्ञान पाकर निवृत्ति मार्ग पर आरूढ़ थे। मन्वंतर-समाप्ति के पूर्व ही जब उत्तानपाद के वंश में कोई न रहा, तब मनु ने प्रियव्रत को बरबस राज्य दिया और स्वयं वन गये अथवा कल्प-भेद की दृष्टि से बरबस राज्य देना ज्येष्ठ पुत्र के विषय में भी ले सकते हैं। बरबस देने से राज्य लेने में पुत्र की पितृ-भक्ति दिखाई और 'नारि-समेत' से रानी का पातिव्रत्य कहा। पतिव्रता स्त्री के साथ वन जाने का विधान है। यथा—"पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा॥" (मनु॰)।

ऊपर कहा था कि 'होइ न बिषय बिराग'—अतः, 'बरबस राज सुतहिं नृप दीन्हा' 'भवन बसत' अतः, 'गवन बन कीन्हा' और—'हृदय बहुत दुख लाग' 'जन्म गयो हरि भगति बिनु' अतएव—"बासुदेव-पद पंकरुह, दंपति मन अति लाग।" आगे है।

(१) 'तीरथ वर नैमिष ...'—यह स्थान नैमिषारण्य (नीमसार) नाम से अवध-प्रान्त के सीतापुर ज़िले में है। इसकी दो प्रकार की कथाएँ प्रसिद्ध हैं। (१)—वाराह पुराण में लिखा है कि इस स्थान पर गौरमुख नामक मुनि ने निमिष भर में ही असुरों की बड़ी भारी सेना भस्म कर दी थी। इसीसे यह स्थल नैमिषारण्य कहाया। (२)—देवीभागवत में इसकी कथा इस प्रकार है कि ऋषि लोग कलिकाल के भय से बहुत घबराये। तब ब्रह्माजी ने उन्हें एक मनोमय चक्र दिया और कहा कि इस चक्र के पीछे-पीछे चले जाओ। जहाँ इसकी नेमि (चक्कर-चक्रपरिधि) टूट-फूट जाय, उसे अत्यन्त पवित्र स्थल समझना। वहाँ कलि का भय न रहेगा। यहीं पर सौति मुनि ने शौनकादि ऋषियों से महाभारत और पुराणों की कथाएँ कही हैं। 'साधक सिधिदाता'—साधक लोग सिद्धि पाते हैं, इसलिये वहाँ जाते हैं और सिद्धि पाकर भी रहते हैं।

(३) 'बसहिं तहाँ मुनि ......'—जगत् के जीव तीन प्रकार के होते हैं, यथा—"बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिविध जीव जग बेद बखाने॥" (अ० दो० २७६)। इनमें यहाँ साधक और सिद्ध दो का बसना कहा गया, विषयी का नहीं। 'हिय हरषि'—कार्य-सिद्धि का शकुन है।

(४) 'ज्ञान भगति जनु......'—मनु स्त्री के साथ सम्पूर्ण पृथिवी का राज्य छोड़कर नंगे पैरों जा रहे हैं, वैराग्य एवं साधन में मतिधीर हैं। अतएव सोहते हैं। भक्ति और ज्ञान भगवान् की प्राप्ति के साधन हैं, ये दोनों भी भगवान् ही की प्राप्ति के लिये जा रहे हैं; अतः, उपमा योग्य है।

पहुँचे जाइ धेनु-मति-तीरा। हरषि नहाने निरमल नीरा॥ ५॥
आये मिलन सिद्ध मुनि ज्ञानी। धरमधुरंधर नृपरिषि जानी॥ ६॥
जहँ-जहँ तीरथ रहे सुहाये। मुनिन्ह सकल सादर करवाये॥ ७॥
कृससरीर मुनिपट परिधाना। संतसमाज नित सुनहिं पुराना॥ ८॥

दोहा—द्वादस अच्छर मंत्र पुनि, जपहिं सहित अनुराग।
वासुदेव - पद - पंकरुह, दंपति - मन अति लाग॥१४३॥

अर्थ—धेनुमती (गोमती) नदी के किनारे जा पहुँचे और निर्मल जल में हर्षपूर्वक स्नान किया॥५॥ धर्मधुरंधर राजर्षि जानकर सिद्ध, मुनि और ज्ञानी उनसे मिलने आये॥६॥ जहाँ-जहाँ सुन्दर तीर्थ थे, वे सब मुनियों ने आदर के साथ करा दिये॥७॥ दुर्बल शरीर मनु मुनियों के वस्त्र (वल्कल कौपीन आदि) पहने संतों के समाज में नित्य पुराण सुनते॥८॥ पुनः अनुराग-सहित द्वादशाक्षर मंत्र जपते हैं। वासुदेव भगवान् के चरण-कमलों मे राजा-रानी का मन बहुत ही लग गया॥१४३॥

विशेष—(१) 'हरषि नहाने निरमल नीरा।'—माहात्म्य सुनने से हर्ष हुआ, तब स्नान किया, यही विधि है। यथा—"पुनि प्रभु आइ त्रिवेनी, हरषित मज्जन कीन्ह।" (लं० दो० ११९); 'निरमल नीरा'—अर्थात् निर्मल शरद् ऋतु आ गई थी।

(२) 'आये मिलन सिद्ध ......'—क्योंकि मनु बड़े धर्मात्मा, वैराग्यवान् और हरि-अनुरागी हैं, राज्य छोड़कर वानप्रस्थ भी ले लिया है, गुणों का आदर करना ही चाहिये।

(३) 'जहँ-जहँ तीरथ·······'—इस क्षेत्र के तीर्थ मिश्रिख, पंचप्रयाग आदि हैं।

(४) 'कृस सरीर······'—तीर्थ-वास, नीरस (फलाहार आदि) भोजन, वल्कल वस्त्र आदि से शरीर दुबला हो गया। प्रथम तीर्थ दर्शन किये, फिर संतों से पुराण आदि की कथाएँ सुनीं।

(५) 'द्वादस अच्छर मंत्र पुनि ····'—'सहित अनुराग' क्योंकि—"मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किये जोग तप ग्यान बिरागा॥" (उ० दो० ६१)। मंत्र-जप के साथ उसके देवता का ध्यान भी करना चाहिये। यथा—"तज्जपस्तदर्थभावनम्" (योगसूत्र); तथा—"मंत्रोऽयं वाचको रामो वाच्य' स्याद्योग एतयोः। फलदश्चैव सर्वेषां साधकानां न संशयः॥" (श्रीरामतापनीय उ०)। यहाँ द्वादशाक्षर मंत्र जपा गया है और उसके इष्ट देवता को वासुदेव संज्ञा दी गई है। अंत में श्रीसीतारामजी प्रकट हुए। यह नियम है कि जिस देवता का मंत्र-द्वारा आराधन होता है, वही प्रकट होता है। अत', वासुदेव श्रीरामजी को ही कहा है, और इसका अर्थ भी अंत में खोल दिया है कि—"बिस्वबास प्रगटे भगवाना।" (दो० १४५)। ये विश्व में बसनेवाले सीता-राम-रूप में ही प्रत्यक्ष हुए हैं। यथा—"सब के उर अंतर बसहु······" (अ० दो० २५७); "अन्तरजामी रामसिय" (अ० दो० २५६) तथा—"नमोऽस्तु वासुदेवाय ज्योतिषां पतये नमः। नमोऽस्तु रामदेवाय जगदानंदरूपिणे॥" (सनत्कुमार सं०); अर्थात् वासुदेव श्रीरामजी का ही विशेषण है। पुनः—"सर्वे वसन्ति वै यस्मिन् सर्वेऽस्मिन्वसते च य'। तमाहुर्वासुदेवञ्च योगिनस्तत्त्वदर्शिनः॥" (महारामायण); अर्थात् जिसमें सब बसते हैं और जो सब में बसता है, वही वासुदेव है। अत', श्रीरामजी ही वासुदेव हैं।

द्वादशाक्षर मंत्र में दो मत हैं —(क) "ॐनमो भगवते वासुदेवाय" यही द्वादशाक्षर मंत्र श्रीनारदजी ने ध्रुव को दिया था। ध्रुव राज्य-कामना से निकले थे। श्रीनारदजी ने इन्हें वहाँ चतुर्भुज रूप का ध्यान बताया था। वही स्वरूप प्रकट हुआ और उन्हें वर दिया।

वासुदेव मंत्र चतुर्व्यूह गत वासुदेव और परवासुदेव दोनों का वाचक है। श्रीनारदपंचरात्र में परवासुदेव की मूर्त्ति का ध्यान यह लिखा है, यथा—"मरीचिमंडले संस्थं बाणाद्यायुधलांछितम्। द्विहस्तमेकवक्त्रं च रूपमाद्यमिदं हरेः॥" अर्थात् तेजोमंडल में स्थित बाण आदि आयुधों से चिह्नित, द्विभुज, एक मुख—यही हरि का आदि रूप है। मनु-शतरूपा ने पर-वासुदेव रूप का ध्यान-सहित निष्काम आराधन किया, दर्शन-मात्र चाहते थे। अतः, पर-स्वरूप ही युगल विग्रह से सामने आये।

(ख) द्वादशाक्षर युगल मंत्र है, इसमें छः अक्षरों का श्रीराम मंत्र और छः अक्षरों का श्रीसीता-मंत्र है। इन दोनों मंत्रों का जप एकसाथ किया जाता है। इसी मंत्र के साथ ही सीतारामजी प्रकट हुए, यथा—"राम बाम दिसि सीता सोई।" (दो० १४७)। इसपर दो० १८ का विशेष भी देखिये।

करहिं अहार साक फल कंदा। सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा॥ १॥
पुनि हरि-हेतु करन तप लागे। बारि-अधार मूल फल त्यागे॥ २॥
उर अभिलाष निरंतर होई। देखिय नयन परम प्रभु सोई॥ ३॥

अर्थ—(मनु) शाक (साग), फल, कंद (मूल) खाते और सच्चिदानंद ब्रह्म का स्मरण करते हैं॥१॥ हरि के लिये फिर तप करने लगे। मूल फल भी छोड़कर जल मात्र के आधार पर रहने लगे॥२॥ हृदय में निरंतर यही लालसा हुआ करती थी कि हम उन्हीं परम प्रभु को आँखों से देखें॥३॥

विशेष—(१) 'करहिं अहार साक···'—जब से तीर्थ में बसे, तब से फलाहार पर रहते थे। प्रथम कंद-मूल-फल, तब साग चाहिये, क्योंकि जैसे अन्न की अपेक्षा मूल-फल नीरस है, वैसे मूल-फल की अपेक्षा साग, परन्तु यहाँ कोई नियम नहीं है। जब जो कुछ मिल गया, खा लिया। श्रीपार्वतीजी अत्यन्त सुकुमारी एवं बालिका थीं, यथा—"अति सुकुमारि न तनु तप जोगू।" (दो० ७३)। अतः, उनका आहार क्रम से है और उनका आहार सहित तप भी कठिन तप है। इसी से उनके आहार सहित तप की संख्या दी गई है और मनु ने निराहार रहकर तपस्या की, क्योंकि इनका निराहार तप ही भारी तप है। इसीसे श्रीपार्वतीजी के निराहार तप की और मनु के आहार-सहित तप की संख्या नहीं दी।

(२) 'पुनि हरि-हेतु करन तप···' यहाँ 'पुनि' शब्द तप एवं आहार बदलने के साथ है। 'हरि' शब्द का तात्पर्य—'रामाख्यमीशं हरिम्' (मं० श्लोक ६) से है, वे ही सच्चिदानन्द ब्रह्म हैं, यथा—"राम सच्चिदानंद दिनेसा।" (दो० ११५)।

(३) 'उर अभिलाष···'—उन परम प्रभु का अनुभव प्रायः मुनि लोग ध्यान-द्वारा ही करते थे, मनु को नेत्रों से देखने की अभिलाष होने लगी। इसका इन्हें दृढ़ विश्वास है। वही आगे कहते हैं—

अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथबादी ॥४॥
नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा ॥५॥
संभु बिरंचि बिष्णु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना ॥६॥
ऐसेउ प्रभु सेवकबस अहई। भगत-हेतु लीला तनु गहई ॥७॥
जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा ॥८॥

अर्थ—जो निर्गुण, अखंड (अविच्छिन्न), अंत और आदि (मरण और जन्म) रहित हैं, जिनका चिन्तन परमार्थवेत्ता (तत्त्ववेत्ता) किया करते हैं ॥४॥ जिनका निरूपण वेद 'नेति नेति' कहकर करते हैं, जो स्वयं आनन्दरूप, उपाधि (माया) और उपमा-रहित हैं ॥५॥ जिनके अंश से अनेक शिव, ब्रह्मा और विष्णु भगवान् उत्पन्न होते हैं ॥६॥ ऐसे प्रभु (समर्थ) भी सेवक के वश हैं और भक्तों के लिये अपने शरीर में लीला को ग्रहण करते हैं ॥७॥ जो वेद यह वचन सत्य ही कहते हैं तो हमारी अभिलाषा (अवश्य) पूरी होगी ॥८॥

विशेष—(१) 'अगुन अखंड अनंत···' यथा—"गुनातीत सचराचर स्वामी। राम ··" (आ० दो० ३८); "उमा एक अखंड रघुराई।" (लं० दो० ६०); "राम अनंत अनत गुन ··" (दो० ३३); "आदि अंत कोउ जासु न पावा।" (दो० ११७); "प्रभु जे मुनि परमारथबादी। कहहिं राम कहँ ब्रह्म अनादी ॥" (दो० १०८)।

(२) 'नेति नेति जेहि बेद···' यथा—"निगम नेति सिव अंत न पावा।" (दो० २०१); दो० १२ भी देखिये। "जो आनंदसिंधु सुखरासी।" (दो० १६६); "नरबधि निरुपम प्रभु जगदीसा।" (उ० दो० ११)।

(३) 'संभु बिरंचि बिष्णु···'—'नाना' शब्द अनेक ब्रह्मांडों के अनेक त्रिदेवों के लिये आया है। यथा—"लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिष्णु सिव मनु दिसित्राता ॥" (उ० दो० ८०)।

(४) 'ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई ।'—जिनके अंश से त्रिदेव उपजते हैं वे भक्तों के लिये अपने शरीर में बाल, पौगंड आदि लीलाओं का ग्रहण करते हैं अर्थात् स्वयं उपजते-से दीखते हैं। यह भक्तों पर ममता है, यथा—"इच्छामय नर-बेष सँवारे। होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे ॥" (दो० १५१)।

(५) 'जौ यह बचन सत्य श्रुति भाषा ।'—वेद के प्रमाण, यथा—"भद्रो भद्रया सचमान आगात् स्वसारञ्जारोऽभ्येति पश्चात्। सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन्रुशद्भिर्वर्णैरभिराममस्थात् ॥" (सामवेद सं० उ० १५।२।१।३)। इस मंत्र में श्रीरामजी की लीला कही गई है जो भाष्य में विस्तार से दिखाई गई है।

अपने नित्य शरीर में लीला-ग्रहण के प्रमाण श्रीरामतापनीय उपनिषत्पूर्वार्द्ध ७-१० मंत्रों में विस्तार से दिये गये हैं, वहाँ परात्पर ब्रह्म साकेताधीश श्रीरामजी के प्रति पंचधा कल्पनाएँ कही गई हैं—रूप, वर्ण, वाहन, शक्ति, सेना। ये पाँच कल्पनाएँ भाष्य मे विस्तार से हैं, वहीं देखना चाहिये।

(६) 'तौ हमारि पूजिहि अभिलाषा ।'—वेद भगवान् के वचन हैं। अत, सत्य हैं, ऐसे विश्वास से अवश्य फल होता है। 'अगुन अखंड'… से—'लीला तनु गहई' तक की बातें हृदय की ही हैं—किसी से संवाद-रूप में नहीं हैं।

न्याय के अनुसार प्रमाण के चार भेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। यहाँ चारो आये हैं। यथा—'अगुन अखंड …' में 'चितहि' से अनुमान, 'निरूपा' से उपमान, वेद शब्द रूप है, वह नेति नेति कहता है। अतः, उसमें नहीं आता। 'लीलातनु गहई' यह प्रत्यक्ष है।

दोहा—येहि बिधि बीते बरष षट, सहस बारि-आहार।
संबत सप्त सहस्र पुनि, रहे समीर-अधार ॥१४४॥

बरस सहस दस त्यागेउ सोऊ। ठाढ़े रहे एक पग दोऊ ॥१॥

अर्थ—इस प्रकार जल का आहार करते हुए छः हजार वर्ष बीत गये, फिर सात हजार वर्ष वायु के आधार पर (हवा पीकर) रहे ॥१४४॥ दस हजार वर्ष इसको भी छोड़े रहे, दोनो (मनु और शतरूपा) एक पैर से खड़े रहे ॥१॥

विशेष—यहाँ तक इनके तप की चार कोटियाँ क्रमशः अधिक कठिन होती गईं, जैसे (१) प्रथम तीर्थ में आने पर फल मूल-शाक आदि के आधार पर अन्न त्यागकर रहते थे। उसकी वर्ष-संख्या नहीं दी गई थी, क्योंकि यह उनके लिये कोई कठिन बात न थी। (२) फिर फलाहार त्यागकर केवल जलाहार पर ही छ सहस्र वर्षों तक रहे। (३) तब जल भी त्यागकर केवल वायु के ही आधार पर सात सहस्र वर्षों तक रहे। (४) इतने पर भी मनोरथ-सिद्धि न देखकर निराहार एक पैर पर खड़े रहकर तप करने लगे। इसमें कुछ आहार तो था ही नहीं कि जिसे छोड़कर दूसरा ग्रहण करते; इससे लगातार दस सहस्र वर्षों तक इसी नियम में रह गये। निष्ठा यही थी कि प्रभु के दर्शनों पर नियम समाप्त होगा। भगवान् की प्राप्ति में कोई नियमित साधन एवं समय नहीं है, वे जब चाहें, कृपा करके ही प्राप्त होते हैं। अत', चौथी कोटि नियमहीन थी।

विधि-हरि-हर तप देखि अपारा । मनु-समीप आये बहु बारा ॥२॥
माँगहु बर बहु भाँति लोभाये । परम धीर नहिं चलहिं चलाये ॥३॥
अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा । तदपि मनाक मनहि नहि पीरा ॥४॥

शब्दार्थ—अपारा = जिसका पार नहीं, बहुत बड़ा । अस्थि = हड्डी । मनाक (मनाक्) = किंचित्, थोड़ा ।

अर्थ—उनका बहुत बड़ा तप देख कर ब्रह्मा, विष्णु और महेश मनु के पास बहुत बार आये ॥२॥ बहुत प्रकार से लालच दिया कि वर माँगो, पर वे परम धीर हैं । अतः, डिगाने से न डिगे ॥३॥ शरीर में हड्डी मात्र रह गई, तो भी उनके मन में कुछ भी पीड़ा नहीं हुई ॥४॥

विशेष—(१) 'मनु समीप आये बहु बारा ।'—आकाशवाणी ही से संतुष्ट नहीं किया; किन्तु समीप आये, क्योंकि इनका मनोरथ परम प्रभु के दर्शनार्थ है, यथा—"उर अभिलाष निरंतर होई । देखिय···" इसीलिये तीनों बार-बार आये कि हम परम प्रभु के अंश हैं । तीनों के दर्शनों से यदि इन्हें अंश-अंशी में अभेद दृष्टि से संतोष हो जाय तो परम प्रभु को क्यों आना पड़े ? 'बहु बारा'—एक बार छः सहस्र वर्षों के अनुष्ठान पर, फिर सप्त सहस्र वर्षों पर और फिर दश सहस्र पर भी आये । 'बहु भाँति लोभाये'—अपने-अपने लोकों की प्राप्ति का लोभ दिखाया । पर ये अपनी अनन्यता में परम धीर (दृढ़) थे, इससे न डिगे । 'चलहिं चलाये'—और देवता अपने साधक की स्वयं परीक्षा लेते हैं, परम प्रभु की साधना में त्रिदेव ही आये और सब प्रकार से हार गये ।

(२) 'अस्थि मात्र होइ···'—पूर्व ही से शरीर कृश होने लगा था, यथा—"कृस सरीर मुनि-पट···" कहा गया । अब हड्डी मात्र रह गई । फिर कुछ भी पीड़ा क्यों न हुई ? इसका कारण पूर्व ही कहा गया है कि—"बासुदेव-पद-पंकरुह, दंपति मन अति लाग ।" (दो० १४३) अर्थात् इनका मन भगवान् में प्रीतिपूर्वक लगा है, फिर दुःख का अनुभव कौन करे ? यथा—"मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही । बिनु मन तनु दुख सुख सुधि केही ॥" (अ० दो० २०४); "बचन काय मन मम गति जाही । सपनेहुँ बूझिय बिपति कि ताही ॥" (सुं० दो० ३१) ।

प्रभु सर्वज्ञ दास निज जानी । गति अनन्य तापस नृप रानी ॥५॥
माँगु माँगु बर भइ नभबानी । परम गँभीर कृपामृत-सानी ॥६॥
मृतक-जियावनि गिरा सुहाई । श्रवनरंध्र होइ उर जब आई ॥७॥
हृष्टपुष्ट तन भये सुहाये । मानहुँ अबहिं भवन ते आये ॥८॥

दोहा—श्रवन-सुधा-सम बचन सुनि, पुलक प्रफुल्लित गात ।
बोले मनु करि दंडवत, प्रेम न हृदय समात ॥१४५॥

अर्थ—सब जाननेवाले प्रभु ने तपस्वी राजा रानी की अनन्य गति देखकर उनको अपना (अनन्य) दास जाना ॥५॥ परम गम्भीर कृपा-रूपी अमृत में सनी हुई आकाशवाणी हुई कि 'वर माँगो, वर माँगो' ॥६॥ मरे हुए को जिलानेवाली सुहावनी वाणी जब कानों के छेदों में होकर हृदय में आई ॥७॥

दंपति-बचन परम प्रिय लागे। मृदुल बिनीत प्रेम-रस-पागे ॥७॥
भगतबछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना ॥८॥

दोहा—नीलसरोरुह नीलमनि, नील-नीरधर-स्याम।
लाजहिं तनुसोभा निरखि, कोटि-कोटि सत काम ॥१४६॥

शब्दार्थ—दंपति=स्त्री-पुरुष। पागे=सने हुए, ओतप्रोत। भगत बछल=भक्तवत्सल। आश्रित के दोषों का भोक्ता होना वात्सल्य गुण है। गाय जैसे नवजात बछड़े को प्यार करती है और उसके घृणित विकारों को जीभ से साफ करती है, वैसे प्यार करना और दोष हरना वात्सल्य है।

अर्थ—दंपती (मनु शतरूपा) के वचन परम प्रिय लगे, (क्योंकि) वे कोमल, नम्र और प्रेम-रस में सने हुए थे ॥७॥ भक्तवत्सल, कृपानिधान, संसार-भर में बसनेवाले एवं जगत् में व्यापक, भगवान् प्रभु प्रकट हुए ॥८॥ नील कमल, नील मणि और नीले मेघों के समान श्याम वर्ण शरीर की शोभा देखकर करोड़ों-अरबों कामदेव लज्जित होते हैं ॥१४६॥

विशेष—(१) 'दंपति-बचन ···'—पूर्व केवल मनु का बोलना कहा गया है। यथा—"बोले मनु करि दंडवत" और यहाँ उसे दंपती (मनु-शतरूपा)—दोनो—का वचन कहते हैं, यह विरोध क्यों ?

समाधान—मनु शब्द पुंलिङ्ग और स्त्रीलिंग दोनो है, यह "मनोरौवा" इस सूत्र से स्त्रीलिंग भी सिद्ध होता है। अतः, राजा-रानी दोनो का बोध हुआ। बोलने में मनु ही थे, अर्द्धांगिभाव से रानी भी उसमें सहमत थीं।

(२) 'मृदुल बिनीत···'—कोमल वचन प्रिय होते हैं, विनीत भी होने से अति प्रिय और प्रेम-रस-पगे होने से परम प्रिय लगे। ऊपर दोहे में कहा गया—'प्रेम न हृदय समात'। ऐसे प्रेममय हृदय से वचन निकले हैं, इसीसे चक्त गुण का आना योग्य ही है। श्रीरामजी को केवल प्रेम प्यारा है। यथा—"रामहिं केवल प्रेम पियारा" (अ० दो ११६); इसीसे वे प्रकट हो गये। यथा—"प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।" (दो०१८५)।

(३) 'भगतबछल प्रभु ···'—प्रभु भक्तवत्सल हैं, समर्थ भी हैं, अर्थात् भक्त के लिये सब कुछ करने में समर्थ हैं। 'कृपानिधान' हैं, इसीसे प्रकट होते हैं। यथा—"भये प्रगट कृपाला " (दो० १९१)। 'बिस्वबास' यथा—"देस काल दिसि बिदिसहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥" (दो० १८४)। अतः, आपको कहीं से आना नहीं पड़ा, वहीं प्रकट हो गये, भक्त-हित सम्बन्ध से 'भगवाना' कहे गये हैं। यथा—"भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप॥" (उ० दो० ७२)।

(४) 'नीलसरोरुह नीलमनि···'—यहाँ शरीर की श्यामता के लिये तीन उपमाएँ दी गई हैं। जीव तीन स्थानों के होते हैं, यथा—"जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना॥" (दो० ३)। यहाँ कमल जल में, मणि स्थल में और मेघ आकाश में रहते हैं, अतएव श्यामता में तीन विशेषण दिये गये।

शरीर के भिन्न-भिन्न धर्मों के लिये तीन उपमाएँ दीं। तीनो में १६ धर्म हैं। इनसे परम प्रभु के षोडश शोभामय गुण दिखाये हैं। कमल के छः धर्म हैं—सुंदरता, कोमलता, सुकुमारता, सुगन्धता, मनोहरता

और मकरन्द। वैसे प्रभु का शरीर सर्वांग सुठौर, कोमल, सुकुमार, सुगंधयुक्त, मनोहर और माधुर्य रस युक्त है। मणि के आठ धर्म हैं–उज्ज्वल, स्वच्छ, आवरण-रहित, शुद्ध, अपवित्र न होनेवाला, सुषमा, एक रस दीप्ति, आव। प्रभु का शरीर—तमोगुणादि रहित, निरंजन, निर्मल एकरस, तन मन शुद्ध, शोभा, नवयौवन, तेज और लावण्ययुक्त है। मेघ में दो गुण हैं—गंभीर श्याम, बिजली-युक्त। वैसे प्रभु—गंभीर श्याम शरीर और पीतपट-युक्त हैं।

(५) 'लाजहिं तनु सोभा निरखि···' अर्थात् जैसा शरीर में रंग और शोभा है, वैसे प्राकृत उपमाओं में यथार्थ नहीं आते, उपमाओं को अल्प अंश में ही जानना चाहिये। यथा—"नील कमल मनि जलद की उपमा कहे लघु मति होति॥" (गी० बा० ११)। तथा—"श्याम सरीर सुभाय सुहावन। सोभा कोटि मनोज लजावन॥" (दो० १२६)। कई उपमाएँ देते हुए समता न पाकर अंत में—'लाजहिं···' से शरीर को अनुपम जनाया, यहाँ समष्टि में शरीर-शोभा कही, अब पृथक्-पृथक् अंग की शोभा कहते हैं—

सरद-मयंक-बदन छबिसींवा। चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवा॥१॥
अधर अरुन रद सुंदर नासा। बिधु-कर-निकर-बिनिंदक हासा॥२॥
नव-अंबुज अंबक-छबि नीकी। चितवनि ललित भावती जी की॥३॥
भृकुटि मनोज-चाप-छबि-हारी। तिलक ललाटपटल दुतिकारी॥४॥

शब्दार्थ—मयंक = चन्द्रमा। कपोल = गाल। चिबुक = ठोढ़ी। ग्रीवा = कंठ, गरदन। अधर = ओंठ। रद = दाँत। बिधु = चन्द्रमा। कर = किरण। निकर = समूह। अंबुज = कमल। अंबक = आँख। ललित = सुन्दर = स्नेह-भरी। भावती = सुहानेवाली। पटल = तह या समूह।

अर्थ—उनका मुख शरदपूनो के चन्द्रमा के समान छवि की सीमा है, गाल और ठोढ़ी सुन्दर हैं और गला शंख के समान है॥१॥ ओष्ठ लाल, दाँत और नासिका सुन्दर हैं, हँसी चन्द्रमा की किरण-समूह को विशेष करके नीचा दिखानेवाली है॥२॥ नेत्रों की छवि नये खिले हुए कमल के समान सुन्दर हैं और स्नेह-भरी चितवनि हृदय को भानेवाली है॥३॥ भौंहें कामदेव के धनुष की छवि को हरनेवाली हैं, ललाट-पटल पर तिलक प्रदीप्त हो रहा है॥४॥

विशेष—(१) 'सरद-मयंक···' यहाँ शरद् मात्र में शरत्पूनो से तात्पर्य है। यथा—"सरद सर्वरी-नाथ-मुख···" (अ० दो० ११६)। 'सींवा' समुद्र को भी कहा जाता है, इस वर्णन का उपसंहार भी समुद्र ही पर हुआ है। यथा—"छबिसमुद्र हरिरूप बिलोकी।" इससे सर्वांग में अगाध सौन्दर्य जनाया। जिस अंग की अल्पांश में भी उपमा पाते हैं, तो कहते हैं, अन्यथा निरुपम जनाते हुए उनकी उपमा नहीं देते, जैसे यहाँ कपोल, चिबुक छोड़ दिये हैं। 'दर ग्रीवा' शंख के समान त्रिरेखायुक्त चढ़ा-उतार गला।

(२) 'अधर अरुन रद······ हासा।' हँसी के साथ ही अधर की ललाई और दाँतों की चमक भी सोहती है। अतः, साथ कथित हैं। यथा—"मनहुँ सोन सरसिज महँ कुलिसन्द तड़ित सहित किय बासा (गी० उ० १२)। चन्द्रमा की किरणें आह्लादमयी होती हैं, वैसे आपकी हँसी हार्दिक आनंद का प्रकाश करनेवाली है। यथा—"हृदय अनुग्रह-इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥" (दो० १२७) अर्थात् आपका आनद-पूर्ण हास भक्तों के अनुग्रह के लिये होता है। इससे जनों का ताप दूर होता है। यथा—"जिय की जरनि हरत हँसि हेरत।" (अ० दो० २३८)।

(ग) आगे इसे 'दंपतिवचन' कहेंगे। अतः, मनु की तरफ से 'सुरतरु' और शतरूपा की ओर से 'सुरधेनु' कहे गये हैं।

(२) 'बिधि-हरि-हर-बंदित'...'—पूर्व त्रिदेवों का अंश से उपजना कहा था, अब यहाँ दिखाते हैं कि वे आप ही के चरण-रेणु की वंदना से अधिकार एवं उसमें सफलता पाते हैं। यथा—"देखे सिव बिधि बिष्णु अनेका।...बंदत चरन करत प्रभु-सेवा ॥" (दो० ५४); "हरिहिं हरिता बिधिहि बिधिता सिवहि सिवता जो दई। सोई जानकीपति..." (वि० १३५)।

(३) 'सेवत सुलभ सकल...' यथा—"सकृत प्रनाम किये अपनाये।" (अ० दो० २९८); "तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो। तौ भजु राम काम सब पूरन करहिं " (वि० १६२)।

(४) 'अनाथहित' यथा—"नाथ तू अनाथ को" (वि० ७९); "अनाथ पर कर प्रीति जो सो एक राम"—(उ० दो० १३०)।

जो सरूप बस सिव मन माहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं ॥४॥
जो भुसुंडि-मन-मानस-हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा ॥५॥
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति-मोचन ॥६॥

अर्थ—जो स्वरूप शिवजी के मन में बसता है, जिसके लिये मुनि लोग यत्न करते हैं ॥४॥ जो काकभुशुंडीजी के मन रूप मानस-सर का हंस है, जो सगुण और निर्गुण दोनों है और जिसकी वेद प्रशंसा करते हैं ॥५॥ हे शरणागतों की विपत्ति छुड़ानेवाले! कृपा कीजिये कि हम उस रूप को आँखें भरकर देखें ॥६॥

विशेष—(१) 'जो सरूप बस सिव...निगम प्रसंसा'—शिवजी भगवान् हैं, राम-भक्ति के आचार्य हैं, योग ज्ञान-वैराग्य के निधि हैं। मुनि वाल्मीकि, व्यास आदि भी सर्वज्ञ हैं और भुशुंडीजी के आश्रम के आस-पास योजन तक माया नहीं व्यापती। ये लोग परात्पर रूप ही के नैष्ठिक होंगे और वेद भगवान् की वाणी एवं परम सत्य है, वह भी परात्पर को ही सगुण-निर्गुण कहेगा और प्रशंसा करेगा। हम वही रूप देखें।

(२) वेद कांडत्रय रूप से प्रशंसा करता है। उसीके अनुसार शिवजी ज्ञानी, मुनि याज्ञवल्क्य आदि कर्मकांडी और भुशुंडीजी उपासक होकर उसका साक्षात्कार भी कर चुके हैं। वही निश्चित तत्त्व रूप परम प्रभु है, यह मनु का अभिप्राय है।

'मुनि जतन' यथा—"करि ज्ञान ध्यान बिराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं।" (आ० दो० ३१)।

(३) मनु ने केवल परम प्रभु की उपासना की है और उसके लिये उपर्युक्त प्रमाण दिये हैं, अब जो स्वरूप इनके समक्ष में आवेगा, वही परात्पर तत्त्व निर्विवाद रूप से सिद्ध है।

(४) 'देखहिं हम सो रूप...' शिव आदि समर्थ हैं, पर हम तो आपकी कृपा से ही दर्शन चाहते हैं। कृपा प्रणत पर होती है, हम प्रणत हैं, और दर्शनों के लिये आर्त हैं, दर्शन देकर यह दु:ख दूर कीजिये। शिवादि मन में ध्यान से देखते हैं और हम प्रत्यक्ष दर्शन चाहते हैं। अतः, यह कृपा ही से होगा।

तब उनके शरीर हट्टे-कट्टे (मोटेताजे) हो गये, मानों अभी-अभी घर से चले आ रहे हैं ॥८॥ कानों से अमृत के समान वचन सुनते ही शरीर पुलकावली से खिल गया, प्रेम हृदय में नहीं समाता, मनु दंडवत् प्रणाम करके बोले ॥१४५॥

विशेष—(१) 'प्रभु सर्वज्ञ दास……' त्रिदेव तप देखते थे, परम प्रभु ने अपनी सर्वज्ञता से इनके अंतःकरण का अनन्यता-सहित प्रेम देखा और अपना दास जाना। यथा—"एक बानि करुना-निधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की॥" (अ० दो० ३); "तिन्हते पुनि मोहिं प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥" (उ० दो० ८५)। प्रभु ने जान लिया कि अब ये बिना दर्शन दिये प्राण ही त्याग देंगे, तब आकाशवाणी की।

(२) 'माँगु माँगु बर ……'– यहाँ शंका की जाती है कि भगवान् सर्वज्ञ हैं। अतः, जानते ही हैं कि मनु दर्शन चाहते हैं। फिर माँगने को क्यों कहा? इसका समाधान है—प्रभु का यह नियम है कि भक्त के मुख से कहलाकर आशा पूर्ण करते हैं। जैसे षट् शरणागति में 'गोप्तृत्ववरण' नामक एक शरणागति है जिसका अर्थ यह है कि रक्षा के लिये प्रभु का वरण करे (प्रार्थना-पूर्वक कहे) ; यह भी कहा जाता है कि एकदम सम्मुख आने से अत्यन्त हर्ष से प्राण-त्याग की संभावना थी। अतः, प्रथम आकाशवाणी द्वारा थोड़ा सुख दिया, जिससे शरीर हृष्ट-पुष्ट हो गया। इससे परब्रह्म होने का विश्वास भी हुआ और अब दर्शनों का लाभ भी पूर्ण रीति से प्राप्त कर सकेंगे। इनके वर माँगने से यह भी निश्चय होगा कि ये किस रूप के दर्शन चाहते हैं? 'माँगु माँगु' में आदरार्थ 'वीप्सा' अलंकार है। 'परम गँभीर' यथा—"भाई सो करत बात कौसिकहि सकुचात बोल घनघोर से बोलत थोर-थोर हैं।" (गी० बा० ७१)।

(३) 'श्रवन सुधा …'—इसमें 'बोले' वचन, 'करि दंडवत' कर्म और 'प्रेम न…' में मन का भाव दिखाया। परम प्रभु ने इनका शरीर पूर्ववत् कर दिया, जो इनके लिये तप से सुखाया गया था। फिर भोग-त्याग के बदले स्वर्ग का भोग भी दे देंगे। स्वयं तो केवल कृपा से प्राप्त होंगे। क्योंकि आप साधन-साध्य नहीं हैं; परिमित पदार्थ ही परिमित साधन से प्राप्त होता है, परम प्रभु नहीं। यथा—"नास्त्यकृतः कृतेन।" (मुंडक १।२।१२)।

सुनु सेवक-सुरतरु सुरधेनू। बिधि-हरि-हर-बंदित-पद-रेनू ॥ १ ॥
सेवत सुलभ सकल-सुख-दायक। प्रनतपाल सचराचर-नायक ॥ २ ॥
जौं अनाथहित हमपर नेहू। तौ प्रसन्न होइ यह बर देहू ॥ ३ ॥

अर्थ—हे सेवकों के कल्पवृक्ष और कामधेनु! सुनिये, आपके चरण-रज की वंदना ब्रह्मा, विष्णु और महेश करते हैं ॥१॥ सेवा करते ही सुलभ होनेवाले, सब सुखों के देनेवाले, शरणागत के रक्षक, चर और अचर सहित (जगत्) के स्वामी ॥२॥ और हे अनाथों के हित करनेवाले! जो आपका हमपर स्नेह है तो प्रसन्न होकर यह वर दीजिये ॥३॥

विशेष—(१) 'सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनु।'—ये दो उपमाएँ दी गई हैं, इनके भाव—(क) प्रथम कल्पवृक्ष कहा, फिर विचारा कि वृक्ष तो जड़ होता है, वहाँ तक पहुँचने की योग्यता चाहिये, यह हम दोनों में नहीं है। अतः, कामधेनु भी कहा। भाव यह कि आप दोनों प्रकार से इच्छापूरक हैं।

(ख) आकाशवाणी में 'माँगु-माँगु' के दो बार कहे जाने से परम प्रभु का शक्ति-सहित दो रूपों में होना समझ पड़ा, इसलिये प्रभु को कल्पवृक्ष और शक्ति को कामधेनु कहा।

(ग) आगे इसे 'दंपतिवचन' कहेंगे। अतः, मनु की तरफ से 'सुरतरु' और शतरूपा की ओर से 'सुरधेनु' कहे गये हैं।

(२) 'बिधि-हरि-हर-बंदित'''—पूर्व त्रिदेवों का अंश से उपजना कहा था, अब यहाँ दिखाते हैं कि वे आप ही के चरण-रेणु की वंदना से अधिकार एवं उसमें सफलता पाते हैं। यथा—"देखे सिव बिधि बिष्णु अनेका।'''बंदत चरन करत प्रभु-सेवा॥" (दो० ५४); "हरिहिं हरिता बिधिहिं बिधिता सिवहि सिवता जो दई। सोई जानकीपति'''" (वि० १३५)।

(३) 'सेवत सुलभ सकल''' यथा—"सकृत प्रनाम किये अपनाये।" (अ० दो० २९८); "तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जौ चाहसि मन मेरो। तौ भजु राम काम सब पूरन करहिं " (वि० १६२)।

(४) 'अनाथहित' यथा—"नाथ तू अनाथ को" (वि० ७९); "अनाथ पर कर प्रीति जो सो एक राम"—(उ० दो० १३०)।

जो सरूप बस सिव मन माहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं॥४॥
जो भुसुंडि-मन-मानस-हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा॥५॥
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति-मोचन॥६॥

अर्थ—जो स्वरूप शिवजी के मन में बसता है, जिसके लिये मुनि लोग यत्न करते हैं॥४॥ जो काकभुशुंडीजी के मन रूप मानस-सर का हंस है, जो सगुण और निर्गुण दोनों है और जिसकी वेद प्रशंसा करते हैं॥५॥ *हे शरणागतों की विपत्ति छुड़ानेवाले! कृपा कीजिये कि हम उस रूप को आँखें भरकर देखें॥६॥*

विशेष—(१) 'जो सरूप बस सिव'''निगम प्रसंसा'—शिवजी भगवान् हैं, राम-भक्ति के आचार्य हैं, योग-ज्ञान-वैराग्य के निधि हैं। मुनि वाल्मीकि, व्यास आदि भी सर्वज्ञ हैं और भुशुंडीजी के आश्रम के आस-पास योजन तक माया नहीं व्यापती। ये लोग परात्पर रूप ही के नैष्ठिक होंगे और वेद भगवान् की वाणी एवं परम सत्य है, वह भी परात्पर को ही सगुण-निर्गुण कहेगा और प्रशंसा करेगा। हम वही रूप देखें।

(२) वेद कांडत्रय रूप में प्रशंसा करता है। उसीके अनुसार शिवजी ज्ञानी, मुनि याज्ञवल्क्य आदि कर्मकांडी और भुशुंडीजी उपासक होकर उसका साक्षात्कार भी कर चुके हैं। वही निश्चित तत्त्व रूप परम प्रभु है, यह मनु का अभिप्राय है।

'मुनि जतन' यथा—"करि ज्ञान ध्यान बिराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं।" (आ० दो० ३१)।

(३) मनु ने केवल परम प्रभु की उपासना की है और उसके लिये उपर्युक्त प्रमाण दिये हैं, अब जो स्वरूप इनके समक्ष में आवेगा, वही परात्पर तत्त्व निर्विवाद रूप से सिद्ध है।

(४) 'देखहिं हम सो रूप''' शिव आदि समर्थ हैं, पर हम तो आपकी कृपा से ही दर्शन चाहते हैं। कृपा प्रणत पर होती है, हम प्रणत हैं, और दर्शनों के लिये आर्त हैं, दर्शन देकर यह दुःख दूर कीजिये। शिवादि मन में ध्यान से देखते हैं और हम प्रत्यक्ष दर्शन चाहते हैं। अतः, यह कृपा ही से होगा।

दंपति-बचन परम प्रिय लागे। मृदुल बिनीत प्रेम-रस-पागे ॥७॥
भगतबछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना ॥८॥

दोहा—नीलसरोरुह नीलमनि, नील-नीरधर-स्याम।
लाजहिं तनुसोभा निरखि, कोटि-कोटि सत काम ॥१४६॥

शब्दार्थ—दंपति=स्त्री-पुरुष। पागे=सने हुए, ओतप्रोत। भगत-बछल=भक्तवत्सल। आश्रित के दोषों का भोक्ता होना वात्सल्य गुण है। गाय जैसे नवजात बछड़े को प्यार करती है और उसके घृणित विकारों को जीभ से साफ करती है, वैसे प्यार करना और दोष हरना वात्सल्य है।

अर्थ—दंपती (मनु शतरूपा) के वचन परम प्रिय लगे, (क्योंकि) वे कोमल, नम्र और प्रेम-रस में सने हुए थे ॥७॥ भक्तवत्सल, कृपानिधान, संसार-भर में बसनेवाले एवं जगत् में व्यापक, भगवान् प्रभु प्रकट हुए ॥८॥ नील कमल, नील मणि और नीले मेघों के समान श्याम वर्ण शरीर की शोभा देखकर करोड़ों-अर्बों कामदेव लज्जित होते हैं ॥१४६॥

विशेष—(१) 'दंपति-बचन ...'—पूर्व केवल मनु का बोलना कहा गया है। यथा—"बोले मनु करि दंडवत" और यहाँ उसे दंपती (मनु-शतरूपा)—दोनों—का वचन कहते हैं, यह विरोध क्यों?

समाधान—मनु शब्द पुंल्लिंग और स्त्रीलिंग दोनो है, यह "मनोरौवा" इस सूत्र से स्त्रीलिंग भी सिद्ध होता है। अतः, राजा-रानी दोनो का बोध हुआ। बोलने में मनु ही थे, अर्द्धांगिभाव से रानी भी उसमें सहमत थीं।

(२) 'मृदुल बिनीत...'—कोमल वचन प्रिय होते हैं, विनीत भी होने से अति प्रिय और प्रेम-रस-पगे होने से परम प्रिय लगे। ऊपर दोहे में कहा गया—'प्रेम न हृदय समात'। ऐसे प्रेममय हृदय से वचन निकले हैं, इसीसे उक्त गुण का आना योग्य ही है। श्रीरामजी को केवल प्रेम प्यारा है। यथा—"रामहि केवल प्रेम पियारा" (अ० दो ११६); इसीसे वे प्रकट हो गये। यथा—"प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।" (दो०१८४)।

(३) 'भगतबछल प्रभु ...'—प्रभु भक्तवत्सल हैं, समर्थ भी हैं, अर्थात् भक्त के लिये सब कुछ करने में समर्थ हैं। 'कृपानिधान' हैं, इसीसे प्रकट होते हैं। यथा—"भये प्रगट कृपाला" (दो० १९१)। 'बिस्वबास' यथा—"देस काल दिसि बिदिसहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥" (दो० १८४)। अतः, आपको कहीं से आना नहीं पड़ा, वहीं प्रकट हो गये, भक्त-हित सम्बन्ध से 'भगवाना' कहे गये हैं। यथा—"भगत हेतु भगवान् प्रभु, राम धरेउ तनु भूप॥" (उ० दो० ७२ ।

(४) 'नीलसरोरुह नीलमनि...'—यहाँ शरीर की श्यामता के लिये तीन उपमाएँ दी गई हैं। जीव तीन स्थानों के होते हैं, यथा—"जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना॥" (दो० १)। यहाँ कमल जल में, मणि स्थल में और मेघ आकाश में रहते हैं, अतएव श्यामता में तीन विशेषण दिये गये।

शरीर के भिन्न-भिन्न धर्मों के लिये तीन उपमाएँ दीं। तीनो में १६ धर्म हैं। इनसे परम प्रभु के षोडश शोभामय गुण दिखाये हैं। कमल के छः धर्म हैं-सुंदरता, कोमलता, सुकुमारता, सुगन्धता, मनोहरता

और मकरन्द। वैसे प्रभु का शरीर सर्वांग सुठौर, कोमल, सुकुमार, सुगंधयुक्त, मनोहर और माधुर्य रस युक्त है। मणि के आठ धर्म हैं-उज्ज्वल, स्वच्छ, आवरण-रहित, शुद्ध, अपवित्र न होनेवाला, सुषमा, एक रस दीप्ति, आब। प्रभु का शरीर—तमोगुणादि रहित, निरंजन, निर्मल एकरस, तन मन शुद्ध, शोभा, नवयौवन, तेज और लावण्ययुक्त है। मेघ में दो गुण हैं—गंभीर श्याम, बिजली-युक्त। वैसे प्रभु—गंभीर श्याम शरीर और पीतपट-युक्त हैं।

(४) 'लाजहिं तनु सोभा निरखि···' अर्थात् जैसा शरीर में रंग और शोभा है, वैसे प्राकृत उपमाओं में यथार्थ नहीं आते, उपमाओं को अल्प अंश में ही जानना चाहिये। यथा—"नील कमल मनि जलद की उपमा कहे लघु मति होति॥" (गी० बा० ११)। तथा—"श्याम सरीर सुभाय सुहावन। सोभा कोटि मनोज लजावन॥" (दो० ३२६)। कई उपमाएँ देते हुए समता न पाकर अंत में—'लाजहिं···' से शरीर को अनुपम जनाया, यहाँ समष्टि में शरीर-शोभा कही, अब पृथक्-पृथक् अंग की शोभा कहते हैं—

सरद-मयंक-बदन छबिसींवा। चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवा॥१॥
अधर अरुन रद सुंदर नासा। बिधु-कर-निकर-बिनिंदक हासा॥२॥
नव-अंबुज अंबक-छबि नीकी। चितवनि ललित भावती जी की॥३॥
भृकुटि मनोज-चाप-छबि-हारी। तिलक ललाटपटल दुतिकारी॥४॥

शब्दार्थ—मयंक=चन्द्रमा। कपोल=गाल। चिबुक=ठोढ़ी। ग्रीवा=कंठ, गरदन। अधर=ओठ। रद=दाँत। बिधु=चन्द्रमा। कर=किरण। निकर=समूह। अंबुज=कमल। अंबक=आँख। ललित=सुन्दर=स्नेह-भरी। भावती=सुहानेवाली। पटल=तह या समूह।

अर्थ—उनका मुख शरदपूनो के चन्द्रमा के समान छवि की सीमा है, गाल और ठोढ़ी सुन्दर हैं और गला शंख के समान है॥१॥ ओष्ठ लाल, दाँत और नासिका सुन्दर है, हँसी चन्द्रमा की किरण-समूह को विशेष करके नीचा दिखानेवाली है॥२॥ नेत्रों की छवि नये खिले हुए कमल के समान सुन्दर है और स्नेह-भरी चितवनि हृदय को भानेवाली है॥३॥ भौंहें कामदेव के धनुष की छवि को हरनेवाली हैं, ललाट-पटल पर तिलक प्रदीप्त हो रहा है॥४॥

विशेष—(१) 'सरद-मयंक···' यहाँ शरद् मात्र में शरत्पूनो से तात्पर्य है। यथा—"सरद सर्बरी-नाथ-मुख···" (अ० दो० ११६)। 'सींवा' समुद्र को भी कहा जाता है, इस वर्णन का उपसंहार भी समुद्र ही पर हुआ है। यथा—"छबिसमुद्र हरिरूप बिलोकी।" इससे सर्वांग में अगाध सौन्दर्य जनाया। जिस अंग की अल्पांश में भी उपमा पाते हैं, तो कहते हैं, अन्यथा निरुपम जनाते हुए उनकी उपमा नहीं देते, जैसे यहाँ कपोल, चिबुक छोड़ दिये हैं। 'दर ग्रीवा' शंख के समान त्रिरेखायुक्त चढ़ा-उतार गला।

(२) 'अधर अरुन रद······ हासा।' हँसी के साथ ही अधर की ललाई और दाँतों की चमक भी सोहती है। अतः साथ कथित हैं। यथा—"मनहुँ सोन सरसिज महँ कुलिसन्ह तड़ित सहित किय बासा (गी० उ० १२)। चन्द्रमा की किरणें आह्लादमयी होती हैं, वैसे आपकी हँसी हार्दिक आनंद का प्रकाश करनेवाली है। यथा—"हृदय अनुग्रह-इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥" (दो० १२०) अर्थात् आपका आनंद-पूर्ण हास भक्तों के अनुग्रह के लिये होता है। इससे जनों का ताप दूर होता है। यथा—"जिय की जरनि हरत हँसि हेरत।" (अ० दो० २३८)।

(३) 'नव-अंबुज अंबक···चितवनि ' नवीन पूरे खिले हुए कमल के समान नेत्र दीर्घ और लाल डोरे पड़े हुए कृपा रस से पूर्ण हैं। यथा—"रुचिर पलक लोचन जुग तारक, श्याम, अरुन सित कोये।" (गी० उ० ११); 'चितवनि' यथा—"चितवनि चारु मारमनहरनी। भावति हृदय जात नहिं बरनी॥" (दो० २३२)। 'ललित' यथा—"चितवनि भगत कृपाल" (गी० उ० २१)।

(४) 'भृकुटि मनोज चाप''''' सामान्य धनुष में वैसी सुंदरता नहीं होती, इसलिये काम के चाप की उपमा दी। भौंहें धनुष के समान टेढ़ी होती हैं।

(५) 'तिलक ललाटपटल''''' यहाँ 'पटल' का अर्थ तह=पर्त (मस्तक का तल) और साथ ही (श्लेषार्थ से) पटला = बिजली भी ले सकते हैं। यथा — "अलप तड़ित जुग रेख इंदु महँ रहि तजि चंचलताई।" (वि० ६२), "भृकुटि भाल बिसाल राजत रुचिर कुंकुम रेख। भ्रमर द्वै रवि किरन लाये करन जनु उनमेख॥" (गी० उ० ३); "भाल बिसाल बिकट भृकुटी बिच तिलक-रेख रुचि राजै। मनहुँ मदन तम तकि मरकत धनु जुगल कनक सर साजै॥" (गी० उ० १२)।

यहाँ कवि ने मनु के वात्सल्य-भावानुसार छवि का वर्णन मुख से उठाया है, क्योंकि माता-पिता की दृष्टि पुत्र के मुख पर विशेष रहती है। यथा—"जननिन्ह सादर बदन निहारे।" (दो० ३५७); "निरखि बदन कहि भूप-रजाई॥" (अ० दो० ३८)।

कुंडल मकर मुकुट सिर भ्राजा। कुटिल केस जनु मधुपसमाजा॥५॥
उर श्रीवत्स रुचिर बनमाला। पदिकहार भूषन मनिजाला॥६॥
केहरिकंधर चारु जनेऊ। बाहुबिभूषन सुंदर तेऊ॥७॥
करि-कर-सरिस सुभग भुजदंडा। कटि निषंग कर सर कोदंडा॥८॥

शब्दार्थ—मकर=मछली, मगर। भ्राजा=शोभित है। जाला=समूह। केहरि=सिंह। कंधर=कंधा। करिकर=हाथी की सूँड़। निषंग=तरकश। कोदंड=धनुष। कटि=कमर।

अर्थ—मकराकृत कुंडल (कानों में) और मुकुट शिर पर शोभित है, टेढ़े (घुँघराले) बाल मानों भ्रमरों के समाज हैं॥५॥ हृदय पर श्रीवत्स चिन्ह एवं सुन्दर वनमाला और पदिक (हीरे) का हार तथा मणि-समूह के भूषण पहने हुए हैं॥६॥ सिंह के समान (ऊँचे) कंधे हैं, जनेऊ सुन्दर एवं भुजाओं के भूषण भी सुन्दर हैं॥७॥ हाथी की सूँड़ के समान सुन्दर भुजदंड हैं, कमर में तरकश और हाथों में धनुष-बाण हैं॥८॥

विशेष—(१) 'कुंडल मकर मुकुट···'—छोटी मछली या मगर का मुँह और पूँछ मिलाने से जैसा आकार होता है, वैसा गोलाकार कुंडल मकराकृत कहाता है। 'मुकुट'—सतखंडा है। केश काले, टेढ़े, चिकने और समूह (सघन) हैं, यथा—"चिक्कन कच कुंचित गभुआरे।" (दो० १९८)। इसलिये भौंरों के समाज की उपमा दी गई है।

(२) 'उर श्रीवत्स रुचिर'''—श्रीवत्स=छाती पर पीताभ रोमावली का गुच्छा जो दक्षिणावर्त (भौंरी के रूप में) है। यह श्रीजानकीजी का प्रतिरूप कहा जाता है, श्रीरामजी सदा भक्ति आदि का दान दिया करते हैं, इसलिये श्रीजानकीजी श्रीवत्सरूप से सदैव दक्षिणांक में रहती हैं। यथा—"श्रीवत्स-कौस्तुभोरस्कम्" (सनत्कु० स० रामस्तवराज १५) अर्थात्-"महापुरुषत्वद्योतको वक्षोवर्त्ति पीतरोमात्मकचिन्ह

विशेष: श्रीवत्सशब्देनोच्यते ॥" (हरिदासकृत भाष्य)। 'बनमाला' = तुलसी, कुंद, मंदार, पारिजात और कमल—इन पाँच पुष्पों की माला; यह गले से चरणों तक लंबी होती है, यथा—"सुंदर पट-पीत बिसद, भ्राजत बनमाल उरसि, तुलसिका-प्रसून-रचित बिबिध बिधि बनाई ॥" (गी० उ० ३); इसमें तुलसिका और प्रसून ऐसा अर्थ करना चाहिये, तब उक्त चारों फूल और तुलसी की नई मंजरी भी आ जाती है।

(३) 'पदिकहार भूषन···'—'पदिक हार' = नवरत्न चौकी, धुकधुकी, जो हार के बीच में वक्षःस्थल पर रहती है। 'भूषन मनिजाला'—मणियों और छोटे मोतियों का पँचलरी हार जो पदिक के नीचे शोभित है, फिर भूषणों एवं मणियों का चार अंगुल चौड़ा जाल उर पर विराजमान है।

(४) '···चारु जनेऊ। बाहु बिभूषन···'—पीत रंग का चमकता हुआ यज्ञोपवीत है, यथा—"पीत जनेउ महाछबि देई।" (दो० ३२६)। विभूषणों के प्रति 'तेऊ' बहुवचन कहकर बहुत भूषण जनाये, यथा—"भुज बिसाल भूषन जुत भूरी।" (दो० १९८)।

(५) 'करि-कर-सरिस···'—हाथी की सूँड़ चढ़ाव-उतार, सुडौल और बलिष्ठ होती है, वैसी ही भुजाएँ हैं, किन्तु सुभग अधिक हैं। यथा—"काम-कलभ कर भुज बलसींवा।" (दो० २३२)। यहाँ पुरुष की भुजा का प्रसंग है। अतः, कड़ी होने से 'भुजदंड' कहा है, स्त्री की भुजाएँ कोमल (नाजुक) होती हैं, इसीसे वहाँ 'भुजबल्ली' कहते हैं। यथा—"चालति न भुजबल्ली" (दो० १२०)। 'कर सर कोदंडा'—क्रम से लिखकर दाहिने हाथ में बाण और बायें में धनुष जनाया है।

दोहा—तड़ितबिनिंदक पीतपट, उदर रेख बर तीनि।
नाभि मनोहर लेति जनु, जमुन-भँवर-छबि छीनि ॥१४७॥

पदराजीव बरनि नहिं जाहीं। मुनिमन-मधुप बसहिं जिन्ह माहीं ॥१॥

अर्थ—बिजली को विशेष रूप से नीचा दिखानेवाला पीताम्बर है, पेट पर श्रेष्ठ तीन रेखाएँ (त्रिवली) हैं। मन को हरनेवाली नाभी मानों यमुनाजी की भँवरों की छवि को छीन लेती है ॥१४७॥ जिनमें मुनियों के मन रूपी भौंरे बसते हैं—ऐसे चरण-कमलों का वर्णन नहीं हो सकता ॥१॥

विशेष—(१) 'तड़ितबिनिंदक पीतपट···' यहाँ सर्वांग में पीत ही वस्त्र है, क्योंकि पट के साथ कोई अंग-विशेष नहीं कहा। अतः, धोती, कमर में फेंटा और उपरना सब आ गये। पेट पर त्रिवली रेखाओं का होना सौंदर्य एवं सुलक्षण है, यथा—"नाभी सर त्रिबली निसेनिका रोमराजि सैंवार छबि छावति। उर मुकुता मनि माल मनोहर मनहुँ हंस अवली उड़ि आवति ॥" (गी० उ० १७)। श्यामता के लिये यमुना की भँवर की उपमा दी है, यथा—"उतरि नहाये जमुन-जल, जो सरीर सम स्याम।" (अ० दो० १०९)

(२) 'पदराजीव बरनि नहिं···'—वर्णन न हो सकने का कारण यह है कि इन चरणों में जो २४–२४ चिन्ह हैं, उनसे अवतार सूचित होते हैं, अतएव उनका महत्त्व अप्रमेय है। हाँ, कुछ सरसता गुण कहते हैं कि लाल कमल के समान कोमलता मात्र तो कुछ मिलती है, पर गुण में बहुत भेद है। कमल में भ्रमर रहते हैं, वे श्याम रंग के और विषय रस के लोभी हैं और इनके भ्रमर मुनियों के मन हैं, जो सात्त्विक होने से श्वेत, विषय-रस-रहित और परमार्थरत हैं और सदा प्रेम-रस का पान करते हैं। यथा—"तवामृतस्यन्दिनि

पादपंकजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति। स्थितेऽरविन्दे मकरंदनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरसं समीहते॥" (आलवंदारस्तोत्र)।

वामभाग सोभति अनुकूला। आदिसक्ति छबिनिधि जगमूला॥२॥
जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥३॥
भृकुटिबिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥४॥

अर्थ—बायें भाग में आदिशक्ति, छवि की राशि और जगत् की मूल कारण-रूपा (पति के) अनुकूल सोहती हैं॥२॥ जिनके अंश से गुणों की खान अगणित लक्ष्मी, पार्वती और सरस्वती उत्पन्न होती हैं॥३॥ जिनके भौंह फेरने ही मात्र से जगत् उत्पन्न होता है, वही श्रीसीताजी श्रीरामजी की बाईं ओर स्थित हैं॥४॥

विशेष—(१) 'बामभाग···'—यहाँ 'भाग' शब्द का भाव यह है कि ये अर्द्धांगिनी (आधा अंगरूपा) हैं, दोनो मिलकर अखंड पूर्ण ब्रह्म हैं, देखने मात्र में दो हैं, पर वस्तुतः एक ही हैं, देखिये दोहा १८। श्रीजानकीजी का ऐश्वर्य मात्र कहते हैं—नख शिख नहीं, क्योंकि वे जगत्-जननी हैं, अतः अधिकार नहीं। कहना भी चाहें तो कह नहीं सकते, यथा—"जगतजननि अतुलित छबि भारी।" (दो० २४७); तो भी अधिकारियों के लिये 'छबिनिधि' और 'अनुकूला' से दिखला दिया है कि श्रीरामजी के अनुसार ही शोभा-सौंदर्य इनका भी है, वे छबिसमुद्र हैं तो ये भी छबिनिधि हैं, उनसे त्रिदेव भगवान् होते हैं तो इनसे उनकी गुणखान शक्तियाँ। 'अनुकूला' का अर्थ पति की आज्ञानुकूला भी है, यथा—"पति-अनुकूल सदा रह सीता।"···से "सोइ कर श्री सेवाबिधि जानइ॥" (उ० दो० २४)।

'आदिसक्ति'—सब शक्तियाँ श्रीजानकीजी की कला-अंश विभूति हैं, मूल प्रकृति महामाया है, यह श्रीजानकीजी का महत् अंश है। अंश-अंशी भाव से श्रीसीताजी को 'जगमूला' भी कहा है, यथा—"जानक्यंशादिसम्भूताऽनेकब्रह्मांडकारणम्। सा मूलप्रकृतिर्ज्ञेया महामायास्वरूपिणी॥" (महारामायण)।

(२) 'जासु अंस उपजहिं गुन···'—प्रथम जिन्हें आदिशक्ति कहा था, उन्हीं को यहाँ प्रकट किया और 'जगमूला' को आगे—'भृकुटि बिलास···' से जनाया है।

(३) दक्षिण भाग में श्रीरामजी के प्रत्येक अंग के शोभा-वर्णन से माधुर्य कहा और वाम भाग में श्रीसीताजी का ऐश्वर्य बतलाया। फिर 'अनुकूला' शब्द से दोनो की बातें दोनो में जनाईं। इस तरह दोनों के माधुर्य-ऐश्वर्य आ गये।

श्रीरामजी का ऐश्वर्य पूर्व ही दो० १४३ की ४-६ चौ० में—कहा था। ठीक वैसा ही ऐश्वर्य यहाँ श्रीसीताजी का भी जनाया और यह भी ध्वनित किया कि 'राम' और 'सीता'—यही इनके सनातन नाम हैं।

छबिसमुद्र हरिरूप बिलोकी। एकटक रहे नयनपट रोकी॥५॥
चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु-सतरूपा॥६॥
हरषबिबस तनुदसा भुलानी। परे दंड इव गहि पद पानी॥७॥

शब्दार्थ—एकटक = टकटकी लगाये। पानी (पाणि) = हाथ। तृप्ति = संतोष।

अर्थ—शोभा के समुद्र भगवान् का रूप देखकर मनु-शतरूपा आँखों की पलकें रोके हुए टकटकी लगाये रह गये ॥५॥ उस अनुपम रूप को आदर-पूर्वक देख रहे हैं, वे दर्शनों से तृप्ति नहीं मानते ॥६॥ विशेष हर्षवश होने से शरीर की सुधि भूल गई और दंड की तरह हाथों से चरण पकड़कर पड़ गये ॥७॥

विशेष—(१) 'सरद मयंक बदन छबिसींवा।' उपक्रम है और यहाँ—'छबिसमुद्र हरिरूप ···' पर उपसंहार है। दोनो सरकार का ध्यान कहकर तब छवि-वर्णन की इति लगाई, इससे सूचित किया कि दोनो एक ही हैं। 'एकटक रहे' अर्थात् पलक मात्र का भी विक्षेप नहीं सह सकते थे। 'हरिरूप'—हरि ही के लिये वन आये—"जनम गयो हरि-भगति बिनु।" (दो० १४२) और हरि ही के लिये तप किया--"पुनि हरि-हेतु करन तप लागे।" (दो० १४३), अत' वे ही 'हरि' यहाँ प्राप्त हैं।

(२) 'चितवहिं सादर रूप···'—यथा—"पियत नयनपुट रूप पियूखा। मुदित सुअसन पाइ जिमि भूखा॥" (अ० दो० ११०)। 'अनूपा', यथा—"निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै।" (उ० दो० ९२)। 'तृप्ति न मानहिं'--यह प्रभु का माधुर्य गुण है। यथा—"देखे तृप्ति न मानिये, सो माधुरी बखानि।" ये तो हजारों वर्षों के प्यासे हैं, छवि-समुद्र पा गये, तब भी तृप्ति नहीं मानते।

(३) 'हरप बिबस तनु · ·'—रूप देखकर अत्यंत हर्ष हुआ, देह-दशा की स्मृति भी न रही और दंडाकार चरणों पर पड़ गये। यहाँ 'दंड इव' कहा है। सुतीक्ष्ण मुनि और श्रीभरतजी के प्रति 'लकुट इव' (आ० दो० ९), 'लकुट की नाईं' (अ० दो० २४०) कहा गया है, क्योंकि वे लोग तितिक्षा एवं विरह से दुर्बल शरीर के थे। अत', लकुट के समान कहे गये। लकुट पतली छड़ी को कहते हैं। मनु-शतरूपा हृष्ट-पुष्ट हो गये हैं, इससे दंड की तरह कहे गये। दंड मोटा होता है। यह शब्द-प्रयोग की सावधानी है।

सिर परसे प्रभु निज-कर कंजा। तुरत उठाये करुनापुंजा ॥८॥

दोहा—बोले कृपानिधान पुनि, अति प्रसन्न मोहि जानि।

माँगहु बर जोइ भाव मन, महादानि अनुमानि ॥१४८॥

सुनि प्रभुबचन जोरि जुग पानी। धरि धीरज बोले मृदु बानी ॥१॥

नाथ देखि पदकमल तुम्हारे। अब पूरे सब काम हमारे ॥२॥

शब्दार्थ—परसे=स्पर्श किया। करुना (करुणा)=मन का वह विकार जो आश्रित एवं पराया दुःख दूर करने के लिये प्रबल प्रेरणा करे। पुंज=राशि, समूह। पूरे=पूर्ण हुए।

अर्थ—करुणा की राशि प्रभु ने अपने कर-कमल से उनका सिर स्पर्श किया और तुरत उन्हें उठा लिया ॥८॥ वे कृपानिधान फिर बोले कि मुझे अत्यन्त प्रसन्न जानकर और महान् दानी विचार कर जो मन में भावे, वही वर माँग लो ॥१४८॥ प्रभु के वचन सुनकर (वे) दोनो हाथ जोड़कर और धैर्य धारण कर कोमल वाणी बोले ॥ १ ॥ हे नाथ ! आपके चरण-कमलों को देखकर अब हमारी सब कामनाएँ पूरी हो गईं ॥२॥

विशेष—(१) 'सिर परसे प्रभु · ·'-इस ग्रंथ में श्रीभरतजी, श्रीहनुमान्‌जी और श्रीविभीषणजी आदि के दंडवत् करने पर प्रभु ने उन्हें उठाकर हृदय में लगाया है। यहाँ वैसा वर्ताव नहीं हुआ,

क्योंकि अभी दंपती का प्रभु में कोई निश्चित भाव नहीं है। राजा रानी दोनो ने बराबर तप एवं आराधन किया है। इससे दोनो के सिरों पर हाथ फेरे और उठाया—हृदय से नहीं लगाया, क्योंकि यदि अकेले राजा को छाती से लगाते और रानी को नहीं तो रानी का अपमान होता। रानी को हृदय में नहीं लगा सकते, क्योंकि पराई स्त्री के प्रति यह अयोग्य है, अतएव केवल उठाना ही कहा। यह ग्रंथकार की सावधानी है। यह भी भाव है कि यहाँ प्रभु का वात्सल्य दंपती में है, अवध में दंपती का उनमें होगा; क्योंकि प्रभु पुत्र-रूप में रहेंगे। 'तुरत उठाये करुनापुंजा'—यदि सेवक स्वयं उठ पड़े तो उसके प्रेम की न्यूनता और देर में उठाने से स्वामी में निष्ठुरता आती है। फिर यहाँ तो स्वामी करुणापुंज हैं। अत:, तुरत उठाया। यथा—"करुनामय रघुबीर गोसाईं। बेगि पाइयहि पीर पराई॥" (अ० दो० ८४)।

(२) 'बोले कृपानिधान पुनि...'—मनुजी ने जो वर माँगा, उसे देकर अब अपनी ओर से और देने को कहते हैं; इसलिये 'कृपानिधान' कहा। पूर्व—"तौ प्रसन्न होइ..." कहा था, यह तो प्रसन्न होकर दे दिया, प्रभु अंतर्यामी हैं। अत:, जानते हैं कि इनके हृदय में—"एक लालसा बड़ि उर माहीं।" है, उसके लिये 'अति प्रसन्न' और 'महादानि' कह रहे हैं कि जिससे उन्हें वह लालसा कहने में सकोच न हो। प्रभु मनु की उस लालसा पर भी अति प्रसन्न हुए। इतने पर भी मनु को संशय रहेगा ही। आगे कहेंगे—"तथा हृदय मम संसय होई।" क्योंकि वह लालसा ही ऐसी है—जगत् पिता को पुत्र-रूप में माँगना।

'महादानि'—ब्रह्मा आदि दानी हैं। अत, वे कुछ छुड़ाकर वर देते हैं, जैसे रावण के विषय में—"बानर मनुज जाति दुइ बारे।" (दो० १७६) कहला लिया, तब वर दिया; पर आप तो 'महादानि' हैं। अतः, अपने आप तक को दे डालेंगे।

(३) 'सुनि प्रभु-बचन जोरि...'—अब की मनु ने हाथ जोड़े, क्योंकि ये हृदय में समझ रहे हैं कि हम बहुत बड़ा वर माँगेंगे तो ऐसा करें जिससे मिल जाय, यथा—"माँगउँ दूसर बर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी॥" (अ० दो० १८)। पूर्व कहा था—"हरष-बिबस तनु-दसा भुलानी।" अत, यहाँ धीरज धरना कहा। यह पूर्वापर सँभाल ग्रंथ-भर में है।

(४) 'मन पूरे सब काम...'—क्योंकि मनुजी चारो फल एवं सब कुछ श्रीरामजी ही को जानते हैं, यथा—"मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी।" (अ० दो० ७१)।

एक लालसा बड़ि उर माहीं। सुगम अगम कहि जाति सो नाहीं॥३॥
तुम्हहिं देत अति सुगम गोसाईं। अगम लाग मोहिं निज कृपनाईं॥४॥
जथा दरिद्र बिबुधतरु पाई। बहु संपति माँगत सकुचाई॥५॥
तासु प्रभाव जान नहिं सोई। तथा हृदय मम संसय होई॥६॥
सो तुम्ह जानहु अंतरजामी। पुरवहु मोर मनोरथ स्वामी॥७॥

अर्थ—मेरे मन में एक बहुत बड़ी लालसा है, वह सुगम और अगम दोनो है—इसी से कही नहीं जाती॥३॥ हे गोसाईं! आपको देने में बहुत ही सुगम है, पर मुझे अपनी ही कृपणता से अगम (अति कठिन) जान पड़ती है॥४॥ जैसे कोई दरिद्र कल्पवृक्ष को पाकर भी बहुत सपत्ति माँगने से सकोच (हिचक) करता है॥५॥ (क्योंकि) वह उसके प्रभाव को नहीं जानता, वैसे ही मेरे हृदय में सदेह होता है॥६॥ आप अंतर्यामी हैं। अत:, उसे जानते हैं। हे स्वामिन्! मेरे मनोरथ को पूरा कीजिये॥७॥

विशेष—(१) 'एक लालसा बड़ि····'—प्रथम लालसा दर्शन-मात्र की थी—"उर अभिलाष निरंतर होई। देखिय नयन····" "देखहि हम सो रूप····"। पर इतने ही से तृप्ति न हुई। अब चाहते हैं कि जिससे सदा ही दर्शन होते रहें। यह काम इस प्रकार होगा कि आप हमारे पुत्र होंगे तो उस भाव में मेरी प्रीति अत्यंत होगी, यथा—"सुत की प्रीति ···" (वि० २६८); और पुत्र कभी पिता से उऋण नहीं हो सकता। अतः, ये सदैव हमें सुलभ रहेंगे, इसलिये इस लालसा को बड़ी बतलाया।

(२) 'तुम्हहिं देत अति ··' प्रथम सुगम-अगम कहा था, उसी को स्पष्ट किया कि अपनी ही कृपणता से अगम लगता है, यथा—"अपडर डरेउँ न सोच समूले" (अ० दो० २६६)। दानी को सुगम है और आप महादानी हैं। अत., अति सुगम है।

(३) 'जथा दरिद्र बिबुधतरु····'—उपर्युक्त कृपणता को दृष्टान्त से दिखाते हैं कि दरिद्र को कल्पवृक्ष का मिलना ही कठिन है। दैव-योग से मिल भी जाय, तो बहुत धन माँगने में उसका साहस नहीं पड़ता, क्योंकि वह अपनेको उतने धन का पात्र नहीं समझता। इसी से संदेह करता है—मिले या न मिले—यद्यपि कल्पवृक्ष देने में पूर्ण समर्थ है।

यहाँ 'निज कृपनाई' में मनु की कार्पण्य शरणागति भी है। जीव कितने भी जप-तप करे, पर परिमित शक्ति से किया हुआ साधन अपरिमित ब्रह्म के समक्ष वास्तव में कुछ भी नहीं है। अतः, यथाशक्ति साधन करते हुए भी दीनता परम आवश्यक है, इसी से प्रभु रीझते हैं।

(४) 'सो तुम्ह जानहु अंतरजामी।····'—प्रथम 'गोसाईं' कहा, फिर यहाँ अंतर्यामी भी कह रहे हैं। भाव यह कि आप ही इन्द्रियों के स्वामी और उर-प्रेरक हैं और 'सुरतरु' जड़ है, वह दरिद्र के हृदय को नहीं जानता। अतः, उससे माँगना पड़ता है। आप मेरे हृदय को जानकर वर देने की कृपा करें। आप स्वामी हैं, मैं दास हूँ, इस नाते मेरा मनोरथ पूर्ण करना आपका धर्म है। गोसाईं—अर्थात् आप इन्द्रियों के स्वामी हैं; अत. वाक् इन्द्रिय से आप ही कहलावें, तो भले ही कहा जा सके। 'गो' इन्द्रियों का एक नाम है, यथा—"गो इन्द्रिय दिक वाक जल, स्वर्ग सुदृष्टि अनद। गो भू गो सुर गो किरण, और वज्र गोविंद॥" (नंददासकृत नाममाला)।

सकुच बिहाइ माँगु नृप मोही। मोरे नहिं अदेय कछु तोही॥८॥

दोहा—दानिसिरोमनि कृपानिधि, नाथ कहउँ सतिभाउ।
चाहउँ तुम्हहि समान सुत, प्रभु सन कवन दुराउ॥१४६॥

अर्थ—(श्रीरामजी ने कहा) हे राजन्! सकोच छोड़कर मुझसे माँगो, मेरे पास तुम्हारे लिये न देने योग्य (जो मैं तुम्हें न दे सकूँ) कोई भी पदार्थ नहीं है॥८॥ (मनु ने कहा) हे दानियों में शिरोमणि! हे कृपानिधि! हे नाथ! मैं अपना (हार्दिक) सच्चा भाव कहता हूँ, प्रभु से क्या छिपाना? मैं आपके समान पुत्र चाहता हूँ॥१४६॥

विशेष—(१) 'सकुच बिहाइ ···'—मनु ने कहा था कि 'बहु संपति माँगत सकुचाई।' उसी के प्रति प्रभु ने 'सकुच बिहाइ' और 'मोरे नहिं अदेय ··' कहा है। यथा—"जन कहँ नहिं अदेय कछु मोरे।" (आ० दो० ४१)। मनु ने प्रभु को 'सुरतरु सुरधेनु' कहा था, इसी से फिर भी प्रभु 'माँगु' कहते हैं, क्योंकि

कल्पतरु से माँगा जाता है। अब देने को मैं स्वयं आतुर हूँ तो क्या संकोच ? 'मोही' अर्थात् मुझसे और मुझको ही—मनु ने कहा था—"हो तुम्ह जानहु अंतरजामी। पुरवहु मोर मनोरथ स्वामी॥" इसका उत्तर 'मोही' शब्द से ध्वनित किया कि तुम मुझको ही चाहते हो, वही हम देते हैं। अत, मुझसे मुझ ही को माँग लो। यह श्लेषार्थ हुआ।

(२) प्रभु ने कहा भी—'सकुचि बिहाइ माँगु', पर मनु को संकोच रहा ही। अतः, आप ही पुत्र हों, यह न कह सके, क्योंकि अखिल ब्रह्माण्ड के पिता-माता को पुत्र होने के लिये कहने में बड़ी ही धृष्टता है, यथा—"प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई।"···"तुम्ह ब्रह्मादि जनक जगस्वामी।" (दो० १४९)। अत, उनके समान पुत्र माँगा। 'समान' शब्द में एक और भी रहस्यात्मक बात है—सभ्यता युक्त परीक्षा, क्योंकि परात्परत्व के विषय में यह श्रुति है—"न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।" (श्वेता० ६।८) अर्थात् उसके समान और उससे अधिक कोई नहीं है। तथा—"न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः" (गीता ११।४३) और "जेहि समान अतिसय नहिं कोई।" (आ० दो० ५)। अत, यदि प्रभु कहेंगे कि हमारे समान अमुक है, तो समझ जायँगे कि ये परतम प्रभु नहीं हैं, कोई और परतम है।

देखि प्रीति सुनि बचन अमोले। एवमस्तु करुनानिधि बोले॥१॥
आप सरिस खोजउँ कहँ जाई। नृप तव तनय होब मैं आई॥२॥
सतरूपहिं बिलोकि कर जोरे। देवि माँगु बरु जो रुचि तोरे॥३॥

अर्थ—राजा की प्रीति देखकर और उनके अमूल्य वचन सुनकर करुणानिधान प्रभु बोले कि ऐसा ही हो॥१॥ हे राजन् ! मैं अपने समान और कहाँ जाकर खोजूँ, मैं ही आकर तुम्हारा पुत्र हूँगा॥२॥ शतरूपाजी को हाथ जोड़े हुए देखकर कहा कि हे देवि ! तुम्हारी जो रुचि हो, वह वर माँग लो॥३॥

विशेष—(१) 'देखि प्रीति सुनि ···'—अंत करण की प्रीति देखी और ऊपर के अमूल्य वचन सुने, तब 'एवमस्तु' बोले, क्योंकि प्रीति ही से श्रीरामजी मिलते हैं, यथा—"मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा।" (उ० दो० ६१)। वचनों में अमूल्यता यह है कि इसका दाम चुकता हो ही नहीं सकता। पुत्र के वात्सल्य से निर्हेतु सेवा अत्यन्त परिश्रम से प्रेम-पूर्वक होगी, जिसका प्रत्युपकार पुत्र कर ही नहीं सकता, यथा—"निज कर खाल खैंचि या तनु ते जौ पितु पग पानहीं करावौं। होउँ न उऋन पिता दसरथ ते कैसे ताके बचन मेटि पति पावौं॥" (गी० अ० ७१)।

(२) 'आपु सरिस खोजउँ कहँ ···'—मेरे समान दूसरा नहीं है, ऐसा कहने में आत्मश्लाघा (आत्म-प्रशंसा) रूप दोष होता, क्योंकि श्रेष्ठ लोग अपने मुख से अपनी प्रशंसा नहीं करते। इसलिये ऐसा कहा कि कहाँ जाकर खोजूँ ? अच्छा, मैं ही पुत्र हूँगा, इससे तुम्हारी इच्छा पूरी हो जायगी। भाव यह कि सर्वत्र मेरी ही विभूति है, उसमें मेरे समान दूसरा है ही नहीं, फिर उससे भिन्न और कुछ नहीं है, जहाँ जाकर खोजा जाय। 'आई' अर्थात् अन्य जीवों की तरह गर्भ से एवं कर्म-वश होकर नहीं, किंतु स्वेच्छा से एवं 'निज इच्छा निर्मित तनु' से आकर प्रकट हूँगा।

(३) 'सतरूपहिं बिलोकि ······'—पूर्व दर्शनों की अभिलाषा में दंपती एकमत थे, यथा—"दंपति-बचन परम प्रिय लागे।" इससे वहाँ रानी से पृथक् माँगने को नहीं कहा और यहाँ प्रथम ही श्रीरामजी का वचन राजा के प्रति है—'माँगु नृप मोही', फिर इसमें रानी को अत्यन्त ढिठाई के कारण कुछ कहने

की रुचि भी है, इसलिये हृदय की जानकर प्रभु ने इनसे पृथक् माँगने को कहा। हाथ जोड़े खड़ी रहने में कुछ रुचि प्रकट होती है।

शंका—इस प्रसंग में श्रीसीताजी प्रकट हुई हैं, पर इनका कुछ बोलना क्यों नहीं है ?

समाधान—(क) दोनो तत्त्वतः अभिन्न हैं, यथा—"गिरा अरथ जल बीचि सम,···" (दो० १८), पर कहा गया। पुनः लोक-व्यवहार में पुरुष ही का प्राधान्य देखा भी जाता है, इस दृष्टि से श्रीरामजी के कथन में इनका भी आ गया। (ख) जब राजा ने पुत्र होने का वर माँग लिया तब श्रीसीताजी पुत्रवधू के नाते सकुच से न बोलीं। (ग) यहाँ पुत्र की चाह है। अतः, पुत्र होनेवाले ही बोले, क्योंकि—"दसरथ-सुकृत राम धरे देही।" (दो० ३०१); सीताजी के बोलने का प्रयोजन ही नहीं था। ये तो श्रीजनक महाराज की सुकृति-मूर्त्ति हैं; यथा—"जनक सुकृत मूरति वैदेही।" (दो० ३०१)। अतः, इनके द्वारा वरण किये जाने पर वहाँ बोलेंगी और वर देंगी। यह भुवनेश्वर-संहिता में कथा है। श्रीदशरथजी को श्रीरामजी के द्वारा श्रीजानकीजी प्राप्त हुईं और श्रीजनकजी को श्रीजानकीजी के द्वारा श्रीरामजी मिले; इससे दोनो ही दोनो सरकार के वात्सल्य रस के पूर्ण भोक्ता हुए।

शंका—तो फिर श्रीजानकीजी यहाँ प्रकट क्यों हुईं ?

समाधान - इनका परम प्रभु से नित्य संयोग है, जैसे सतीजी ने परीक्षा में सीताजी को लीलार्थ हरी जाने पर भी साथ ही पाया है—"सोइ रघुबर सोइ लछिमन सीता।" (दो० ५४); यथा—"कबहूँ जोग बियोग न जाके।" (दो० ७८), इससे साथ ही प्रकट हुई; क्योंकि दोनो मिलकर अखंड ब्रह्म हैं और मनु ने अखंड ब्रह्म की ही आराधना की है।

जो बर नाथ चतुर नृप माँगा। सोइ कृपाल मोहि अति प्रिय लागा ॥४॥
प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई। जदपि भगतहित तुम्हहि सुहाई ॥५॥
तुम्ह ब्रह्मादिजनक जगस्वामी। ब्रह्म सकल-उर-अंतरजामी ॥६॥
अस समुझत मन संसय होई। कहा जो प्रभु प्रमान पुनि सोई ॥७॥

अर्थ—हे नाथ! जो वर चतुर राजा ने माँगा है, हे कृपालु! वही मुझे अत्यंत प्रिय लगा ॥४॥ परन्तु हे प्रभो! (इसमें) अत्यन्त ढिठाई हो रही है—यद्यपि भक्तों के हित के लिये आपको (यह भी) सुहाता है ॥५॥ आप ब्रह्मा आदि के पिता, जगत् भर के स्वामी और सबके हृदय की जाननेवाले ब्रह्म हैं ॥६॥ ऐसा समझकर मन में संदेह होता है, फिर भी जो प्रभु ने कहा, वही प्रमाण (सत्य) है ॥७॥

विशेष—(१) 'जो बर नाथ चतुर नृप······'—'चतुर' के भाव ये हैं कि जिन्हें शिव आदि ध्यान में पाते हैं, उन्हें हमारी आँखों के सामने प्रकट कर दिया। फिर दूसरा भी भाव है कि आगे के लिये भी माँग लिया कि पुत्र होने पर जन्म-भर देखते ही रहेंगे। पुनः इस वात्सल्य रस के भीतर सब रस आ जायँगे, जैसे बाल-लीला में हास्य, विवाह में शृंगार आदि।

(२) 'सोइ कृपालु मोहि अति प्रिय लागा।'—'सोइ' अर्थात् जो राजा ने माँगा है, वही मेरे लिये भी हो कि आप मेरा ही मातृत्व ग्रहण करें। ऐसा न माँगने से सम्भव था कि राजाओं के और भी रानियाँ होती हैं, किसी दूसरी के पुत्र हों। 'मोहिं अति प्रिय' का भाव यह कि इसमें प्रथम राजा से

अर्थ—चरणों में प्रणाम करके मनु ने फिर कहा कि हे प्रभो! मेरी एक और प्रार्थना है ॥४॥ कि मेरी पुत्र-सम्बन्धी ही प्रीति आपके चरणों में हो—चाहे कोई मुझे बड़ा मूढ़ ही क्यों न कहे? ॥५॥ जैसे विना मणि के सर्प और विना जल के मछली होती है, वैसे ही मेरा जीवन आपके अधीन रहे ॥६॥ ऐसा वर माँगकर राजा चरण पकड़े रह गये, करुणासागर प्रभु ने कहा कि ऐसा ही हो ॥७॥

विशेष—(१) 'मोहि बड़ मूढ़ कहइ किन कोऊ।'—जो ईश्वर को न जाने, वह मूढ़ है। यथा—"ते किमि जानहिं रघुपतिहिं, मूढ़ परे तमकूप।" (उ० दो० ७३), और जो ईश्वर को पाकर भी उनमें ईश्वर का भाव न रक्खे, वह बड़ा मूढ़ है।

रानी ने पुत्र तो पाया ही और अनन्य भक्ति भी माँग ली। राजा ने सोचा कि मैं भी वैसा वर माँग लूँ कि जिससे मेरी प्रीति सदा बनी रहे, अत फिर वर माँगा। यह भी कहा जाता है कि राजा ने समझा कि रानी ने व्यंग्य से 'चतुर नृप' कहा है, उन्हें मेरा केवल माधुर्य भाव का वर अच्छा नहीं लगा, इसीसे उन्होंने दूसरा भी वर माँगा कि मैं अपनी ही धारणा में दृढ़ क्यों न रहूँ? अत, राजा ने इसी को दृढ़ किया कि हम पुत्र ही समझे हुए रहें। इसपर पूर्वोक्त—"बंदउँ अवधभुआल ···" (दो० १६) भी देखिये।

'पद-रति' यथा···"अस कहि गे निश्रामगृह, रामचरन चित लाइ॥" (दो० ३५५)।

यहाँ यह उपदेश है कि कोई निन्दा भी क्यों न करे, पर उसपर कान न देकर अपनी भावना में दृढ़ और निष्ठा में अचल रहना चाहिये।

(२) 'मनि बिनु फनि जिमि ··' राजा ने 'सुत बिषयक' प्रीति माँगी, अब उसका प्रकार माँगते हैं कि जैसे मणि के विना सर्प व्याकुलता के साथ जीता है, वैसे हम आपके विना व्याकुल होकर जियें। पुन' जैसे जल के विना मछली मर ही जाती है, वैसे मैं आपके विना न जी सकूँ। यह वर श्रीरामजी की इच्छा से लीला के लिये माँगा गया, क्योंकि प्रथम बार मिथिला जाने में वियोग होगा, तब फणि-मणि की दशा रहेगी। यथा—"सुत हिय लाइ दुसह दुख मेटे। मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे॥" (दो० ३००), दूसरी बार वियोग चौदह वर्षों की वन-यात्रा में होगा, उसमें 'जल बिनु मीन' की दशा होगी कि प्राण छोड़ देंगे। मछली स्वत' जल से अलग होना नहीं चाहती, वैसे राजा स्वेच्छा से वन जाने की आज्ञा न देंगे, कैकेयी रूपी मल्लाहिन पृथक् करेगी।

मछली मरने पर भी जल की प्रीति निबाहती है। यथा—"मीन काटि जल धोइये, खाये अधिक पियास। रहिमन प्रीति सराहिये, मुयेहु मीत की आस॥" राजा दशरथ ने ठीक ऐसा ही किया कि वियोग मे प्राण छोड़कर स्वर्ग में बैठे हुए श्रीरामजी में वैसा ही स्नेह रक्खे रहे। जब लंका विजय पर आये, तब स्वयं कहा है—"न मे स्वर्गो बहुमत सम्मानश्च सुरर्षभै। त्वया राम विहीनस्य सत्य प्रतिशृणोमि ते॥" यह वाल्मीकीय (यु० स० ११९, श्लो० १९) में स्पष्ट है। फिर श्रीरामजी के द्वारा दृढ़ ज्ञान प्राप्त कर नित्य धाम गये।

राजा ने तीन बार वर माँगे हैं और तीनो बार श्रीरामजी ने कृपा-पूर्वक ही दिये हैं-१—"भगतबछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे " २—"एवमस्तु करुनानिधि बोले।" ३—"एवमस्तु करुनानिधि कहेऊ।" अर्थात् इनपर आदि से अंत तक एकरस कृपा रही।

अब तुम्ह मम अनुसासन मानी। बसहु जाइ सुरपति - रजधानी ॥८॥

सोरठा—तहँ करि भोग बिसाल, तात गये कछु काल पुनि।
होइहहु अवध-भुआल, तब मैं होब तुम्हार सुत ॥१५१॥

अर्थ--अब तुम मेरी आज्ञा मानकर इन्द्र की राजधानी (स्वर्ग) में जाकर बसो ॥८॥ वहाँ बृहत् भोग करके हे तात ! कुछ काल बीतने पर तुम अवध के राजा होगे, तब मैं तुम्हारा पुत्र होऊँगा ॥१५१॥

विशेष—(१) 'अब तुम मम'''—राजा को अब विषय-सुख भोग की इच्छा नहीं है, इसीलिये प्रभु कहते हैं कि हमारी आज्ञा से ग्रहण करो। प्रभु इनसे तप का फल भोग कराना चाहते हैं। तप का फल देकर अपनी प्राप्ति तो कृपा से ही करेंगे। राजा को वियोग असह्य समझकर प्रभु ने कहा कि 'कछु काल' में ही तुम बहुत भोग-विलास कर लोगे। इन्द्रपुरी के भोग के पीछे अवध का राज्य दिया, क्योंकि यहाँ का ऐश्वर्य स्वर्ग से अधिक है। यथा—"अवधराज सुरराज सिहाई।" (अ० दो० ३२३)। अर्थात् प्रभु जिसपर कृपा करते हैं, उसे उत्तरोत्तर अधिक सुख देते हैं।

(२) 'तात'—जैसे रानी को 'मातु' कहकर माता माना, वैसे यहाँ भी राजा को 'तात' कहकर अभी से 'पिता' मान लिया।

शंका—इन्द्रलोक ही क्यों भेजा ?

समाधान—तप का फल स्वर्ग-भोग ही है। अतः वहीं भेजे गये। भोग की अवधि भी इन्द्रपुरी ही है। यथा—"भोगेन मघवानिव" (वाल्मीकि मू०)।

इच्छामय नरबेष सँवारे। होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे ॥१॥
अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहउँ चरित भगत-सुख-दाता ॥२॥
जे सुनि सादर नर बड़भागी। भव तरिहहिं ममता मद त्यागी ॥३॥
आदिसक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया ॥४॥

अर्थ—अपनी इच्छा से नर-रूप बनाये हुए तुम्हारे घर में प्रकट होऊँगा ॥१॥ हे तात ! अंशों के सहित देह-धारण कर भक्तों के सुख देनेवाले चरित करूँगा ॥२॥ जिसे आदर से सुनकर बड़भागी मनुष्य ममता-मद छोड़ संसार से तर जायँगे ॥३॥ जिसने जगत् को पैदा किया है, वह आदिशक्ति मेरी यह माया भी अवतार लेगी ॥४॥

विशेष—(१) 'इच्छामय नर-बेष ''''''—अर्थात् वह शरीर पांचभौतिक एवं कर्मपरिणाम न होगा, किंतु इच्छामय होगा, यथा—"निज-इच्छा-निर्मित-तनु, माया गुन गोपार ॥" (दो० १९२) अर्थात् देही-देह विभाग-रहित शुद्ध सच्चिदानंद विग्रह रहेगा।

प्रश्न—नर-बेष तो अभी भी है, फिर 'सँवारे' क्यों कहा ?

उत्तर—नर-देह में बाल, पौगंड, कौमार आदि अवस्थाएँ होती हैं, वैसे मैं अपने दिव्य विग्रह में ये सब लीलाएँ दिखाऊँगा, अवस्थाओं के अनुरूप ही कर्म, वचन आदि बर्ताव होंगे। ये सब बातें इच्छानुसार होंगी, यही इच्छामय नर-देह सँवारना है। यही प्रथम—'भगत हेतु लीलातनु गहई।' में भी कहा गया था, वह यहाँ स्पष्ट हुआ।

(२) 'अंसन्ह सहित देह धरि '''' '—अंश दो प्रकार के होते हैं—एक महत् अंश और दूसरा विभूति अंश। जैसे गंगा आदि नदियों की धारा से स्रोत पृथक् निकल चले, पर धारा से मिला रहे—वह महत् अंश है। जो गंगाजल घट आदि में भरकर अलग किया गया हो, वह विभूति-अंश है। भरत आदि

अधिक सुख प्राप्त करने एवं सेवा का अवसर मुझे ही रहेगा। हमारी तो नित्य गोद ही में रहोगे और पिता से अधिक गौरव माता का रहता है, यथा—"पितुर्दशगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते।" (मनु.), तथा—"तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता।" (अ० दो० ५५)।

(३) 'प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई।......'—हमलोगों की तरफ से तो ऐसा माँगना अत्यंत ढिठाई है ही, परन्तु आप भक्त-हितैषी हैं। अतः, गुण मानकर प्रसन्न होते हैं। यथा—"सो मैं सब बिधि कीन्हि ढिठाई। प्रभु मानी सनेह सेवकाई॥" (अ० दो० २१७)।

(४) 'तुम्ह ब्रह्मादिजनक......'—उपर्युक्त ढिठाई को यहाँ प्रकट करती हैं कि जो जगत् के पिता ब्रह्मादि के भी पिता हैं, उनको पुत्र बनाना एवं पुत्र रूप से सेवा कराना, 'ब्रह्म' अर्थात् चराचर में व्यापक को परिमित रूप में छोटा बनाना और 'अंतरजामी' को अज्ञानी नरवत् होने को कहना अत्यंत ढिठाई है, यही इन्होंने कौशल्या रूप में भी कहा है—"अस्तुति करि न जाइ भय माना। जगतपिता मैं सुत करि जाना॥" (दो० २०१)।

जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं॥८॥

दोहा—सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति, सोइ निज-चरन-सनेहु।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु, हमहिं कृपा करि देहु॥१५०॥

अर्थ—हे नाथ! जो आपके निज (अनन्य) भक्त हैं, वे जो सुख पाते और जो गति लाभ करते हैं॥८॥ हे प्रभु! वही सुख, वही गति, वही भक्ति, वही अपने चरणों का अनुराग, वही विवेक और वही रहनि (आचरण) हमें भी कृपा करके दीजिये॥१५०॥

विशेष—(१) 'जे निज भगत नाथ तव.......'—'निज भगत' के लक्षण पूर्व दो० १४४ चौ० ५ में भी कहे गये हैं। अपने भक्त (निज जन) सुतीक्ष्णजी भी कहे गये हैं, यथा—"देखि दसा निजजन मन भाये।" (अ० दो० ९); वहीं पर और उन्हीं में यहाँ के माँगे हुए सब लक्षण भी हैं—सुख, यथा—"जाग न ध्यान जनित सुख पावा।" गति "....करत मनोरथ आतुर धावा।" भगति—"अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई।" चरन सनेहु—"परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी। प्रेममगन मुनिबर बड़ भागी॥" विवेक—"देखि कृपानिधि मुनि-चतुराई।" रहनि—"मन क्रम बचन राम-पद-सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक॥"

वर मिलने पर कौशल्या शरीर में ये छओ बातें प्राप्त हुईं—

सुख—"येहि सुख ते सतकोटि गुन, पावहिं मातु अनंद।" (दो० ३५०); गति, (गति = गमन)—"देखि मातु आतुर उठि धाई।" (अ० दो० ८०) "ताहि धरे जननी उठि धावा।" (दो० २०१); भगति—"सो अस प्रेम भगति बस, कौसल्या के गोद॥" (दो० १९८), 'चरन-सनेहु'—"तनु पुलकित मुख बचन न आवा। नयन मूँदि चरनन्हि सिर नावा॥" (दो० २०१), विवेक—"ब्रह्मांडनिकाया निर्मित माया रोम-रोम प्रति बेद कहै।" (दो० १९१); 'रहनि'—प्रेम-मगन कौसल्या, निसि दिन जात न जान। सुत-सनेह-बस माता, बाल-चरित कर गान॥" (दो० २००)।

यहाँ 'सोइ' शब्द बार-बार देकर दृढ़ता दिखाई गई है कि संत-मत के अतिरिक्त एक भी बात नहीं चाहिये और यह भी कि अन्य प्रकार के सामान्य भक्तों एवं ब्रह्मज्ञानियों की नहीं। 'कृपा करि देहु' अर्थात् मैं इसने की पात्री नहीं हूँ, अपनी कृपा से ही दीजिये।

सुनि मृदु गूढ़ रुचिर बच-रचना। कृपासिंधु बोले मृदु बचना ॥१॥
जो कछु रुचि तुम्हरे मन माहीं। मैं सो दीन्ह सब संसय नाहीं ॥२॥
मातु बिबेक अलौकिक तोरे। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरे ॥३॥

अर्थ—कोमल, गूढ़ और सुन्दर वचनों की रचना सुनकर कृपासिंधु भगवान् कोमल वचन बोले ॥१॥ तुम्हारे मन में जो कुछ इच्छा है, उन सबको मैंने दिया, इसमें संदेह नहीं ॥२॥ हे माता ! मेरी अनुग्रह (दया) से तुम्हारा अलौकिक विवेक कभी नहीं मिटेगा ॥३॥

विशेष—(१) 'सुनि मृदु गूढ़ ···'—"जो बर नाथ चतुर नृप माँगा।···"—मृदु, "प्रभु परंतु सुठि ··" से—"प्रमान पुनि सोई॥" तक गूढ़ और—"जे निज भगत ··" से—"कृपा करि देहु।" तक रुचिर है। 'कृपासिंधु'—शतरूपाजी ने कहा था—"हमहि कृपा करि देहु"; अतएव देने पर प्रभु को कृपासिंधु कहा। मनु के प्रति भी—"एवमस्तु करुनानिधि बोले" कहा गया है। अत, दोनों पर बराबर कृपा दिखाई है।

(२) 'मैं सो दीन्ह सब संसय नाहीं।'—राजा को वर मिलने में संशय था—"तथा हृदय मम संसय होई।" अत, उन्हें समझाना पड़ा था। रानी ने बहुत वर माँगे हैं, ये भी संशय न करें, इसलिये प्रथम ही संशय मिटा दिया।

(३) 'मातु बिबेक अलौकिक ···'—रानी ने छः वस्तुएँ माँगी हैं, उनमें विवेक भी एक है। उसमें अलौकिकता आप अपनी ओर से देते हैं। लौकिक विवेक वह है जो शम-दम आदि साधनों से प्राप्त होता है, उसमें विघ्न भी होते हैं। यथा—"मुनि बिज्ञानधाम मन, करहिं निमिष महँ छोभ॥" (आ० दो० ३८); अल्पज्ञ जीव के किंचित् चूकने से कामादि धर दबाते हैं अर्थात् लौकिक ज्ञान एकरस नहीं रहता। श्रीरामजी का ज्ञान नित्य एकरस है, यथा—"ज्ञान अखंड एक सीताबर" (उ० दो० ७७)। अतः, यह अलौकिक है, यही अपने अनुग्रह से देंगे। 'अनुग्रह मोरे' में यह भी ध्वनि है कि मैं अपनी लीला के लिये चाहूँगा, तो कुछ काल के लिये मिट भी जायगा, यथा—"माता पुनि बोली सो मति डोली।" ·· से—"अब जनि कबहूँ ब्यापइ, प्रभु मोहिं माया तोरि॥" (दो० १९१-२०२) तक। किसी दूसरे विघ्न से नहीं मिटेगा।

विवेक को पुष्ट करने का कारण यह है कि लीला के लिये इसका प्रयोजन होगा। वन-यात्रा के वियोग में जीवित रखना है। पुनः यह भी कहा जाता है कि इन्होंने एक साथ ही सब वर विवेक से माँगे हैं। अत, विवेक पर प्रभु प्रसन्न हुए हैं, इसीसे इसे अचल किया। यह विवेक इनका औरों से विलक्षण है, इसीसे अलौकिक कहा है।

'मातु'—रानी ने संदेह किया था कि जगत्-भर के पिता हमारे पुत्र कैसे होंगे ? वह यहीं पर मिटा दिया कि अवतार तो समय पर होगा, पर मैंने अभी से माता मान लिया।

बंदि चरन मनु कहेउ बहोरी। और एक बिनती प्रभु मोरी ॥४॥
सुत-बिषयक तव पद रति होऊ। मोहि बड़ मूढ़ कहइ किन कोऊ ॥५॥
मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहि अधीना ॥६॥
अस बर माँगि चरन गहि रहेऊ। एवमस्तु करुनानिधि कहेऊ ॥७॥

पार्षद महत् अंश हैं और राम-रूप ही हैं। यहाँ तीन विशेष महत् अंशों के लिये कहते हैं कि धारक, पालक और संहारक अंशों से तीनो भाई अवतीर्ण होंगे। यह भी सूचित किया कि अंशों के भी 'तात' (पिता) तुम्हीं होगे।

(३) 'जेहि सुनि सादर नर ……' अर्थात् भाग्यवान् ही सुनते हैं, अभागे नहीं, यथा—"तेहि सर निकट न जाहिं अभागा।" (दो० १७); ममता और मद भव (जन्ममरण) के कारण हैं। अत, इनका त्याग कहकर भव तरना कहा है।

(४) 'आदिसक्ति जेहि ··· सोउ अवतरिहि ···'—प्रणव रूप होने से ब्रह्म को भी वेदान्त-सूत्र में 'प्रकृति' शब्द कहा गया है, उसी तरह यहाँ श्रीसीताजी के लिये भी 'माया' कहा गया है, यथा—"श्रीराम सान्निध्यवशाज्जगदानंददायिनी। ·· प्रणवत्वात्प्रकृतिरिति वदति ब्रह्मवादिनः॥" (श्रीरामतापनीय उ०)।

श्रीसीताजी त्रिगुणात्मिक माया नहीं हैं, क्योंकि वह जड़ है और ये चिद्रूपा हैं यथा—"हेमाभया द्विभुजया सर्वालंकारयाचिता। श्लिष्टः कमलधारिण्या पुष्टः कोशलजात्मजः॥" (श्रीरामपूर्वतापनीय), पुन. कृपागुण प्राधान्य से भी माया कहा है—यथा—"माया दंभे कृपायाञ्च", तदनुसार कहा है—"कृपा-रूपिणि कल्याणि रामप्रेयसि जानकि। कारुण्यपूर्णनयने कृपादृष्ट्यावलोकय।" श्रीगोस्वामीजी ने इन्हें श्रीरामजी से अभिन्न तत्त्व कहा है—"गिरा अरथ जल बीचि सम ···" (दो० १८) की व्याख्या भी देखिये। इस प्रसंग में भी ऊपर कहा गया है कि श्रीराम सीता दोनो मिलकर पूर्ण ब्रह्म हैं। 'सोउ अवतरिहि'—अपने लिये तो 'होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे।' कहा है, पर इन्हें 'अवतरिहि' मात्र ही कहा, क्योंकि ये जगत् में अन्यत्र अवतीर्ण होंगी, उनके यहाँ (अवध में) नहीं।

पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा। सत्य सत्य प्रन सत्य हमारा॥५॥
पुनि पुनि अस कहि कृपानिधाना। अंतरधान भये भगवाना॥६॥

अर्थ—मैं तुम्हारी अभिलाषा पूरी करूँगा, हमारा प्रण सत्य है, सत्य है, सत्य है॥५॥ कृपानिधान भगवान् फिर-फिर ऐसा कहकर अन्तर्द्धान हो गये॥६॥

विशेष—(१) 'पुरउब मैं अभिलाष···' राजा ने कहा था—'पुरवहु मोर मनोरथ स्वामी', उसका उत्तर यहाँ है। सत्य तीन बार कहा, क्योंकि प्रतिज्ञा की रीति है कि वह तिवाचा (तीन बार) कही जाती है। यह भी कहा जाता है कि अपने, अपने अंशों के और शक्ति के अवतार के लिये तीन बार कहा।

(२) 'पुनि पुनि अस कहि ··' फिर-फिर ऐसा कहने का कारण 'कृपानिधाना' से जनाया कि इनपर बड़ी कृपा है, इसलिये बारबार प्रतिज्ञा की। भक्त के हेतु कृपा होने से इस प्रसंग को 'कृपानिधाना' और 'भगवाना' से सम्पुटित किया। यथा—"भगतबछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना॥" (दो० १४५); उपक्रम है और यहाँ—"पुनि पुनि अस कहि कृपानिधाना। अंतरधान भये भगवाना॥" पर उपसंहार है। अर्थात् कृपा से ही प्रकट हुए और कृपा ही से मनु को सन्तुष्ट करके अन्तर्द्धान हुए—कृपा एकरस रही।

दंपति घर धरि भगति कृपाला। तेहि आश्रम निवसे कछु काला॥७॥
समय पाइ तनु तजि अनयासा। जाइ कीन्ह अमरावति-बासा॥८॥

दोहा—यह इतिहास पुनीत अति, उमहिं कहा वृषकेतु।
भरद्वाज सुनु अपर पुनि, रामजनम कर हेतु ॥१५२॥

अर्थ—स्त्री-पुरुष (मनु-शतरूपा) दोनों ने कृपालु प्रभु की भक्ति हृदय में धारणकर उसी आश्रम में कुछ काल निवास किया ॥७॥ फिर समय पाकर बिना परिश्रम शरीर-त्याग कर इन्द्र-लोक में जा बसे ॥८॥ (याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) हे भरद्वाज ! धर्मध्वज शिवजी ने यह अत्यन्त पवित्र इतिहास उमाजी से कहा। अब और भी श्रीराम-जन्म के कारण सुनो।

विशेष—(१) 'नृपति उर धरि'''—भक्ति की प्राप्ति से अन्य साधनों का क्लेश छूट जाता है, यथा—"जिमि हरि-भगति पाइ श्रम, तजहिं आश्रमी चारि॥" (कि० दो० १६); इसीसे मनु-शतरूपा ने अब अखंड, अगुण आदि का ज्ञान एव तप आदि कर्म छोड़ दिये, क्योंकि फलरूपा भक्ति प्राप्त हो गई। यथा—"तीर्थाटन साधन समुदाई।"'''से-'सब कर फल हरि-भगति भवानी॥" (उ० दो० १२५) तक। ये मनोरथ सिद्ध होने पर भी घर नहीं आये। अतः, वैराग्य अंत तक एकरस रहा।

(२) 'समय पाइ तनु '''—मृत्यु का नियत काल पाकर देह छोड़ी। 'अनयासा'—और लोगों को जन्मते-मरते दुःसह दुःख होता है। यथा—"जनमत मरत दुसह दुख होई।" (उ० दो० १०८) वैसा दुःख जीवन्मुक्त भक्तों को नहीं होता। यथा—"जोइ तनु धरउँ तजउँ पुनि, अनायास हरिजान। जिमि नूतन पट पहिरै, नर परिहरै पुरान॥" (उ० दो० १०९)।

यह श्रीरामावतार-प्रसंग यहीं रखकर बीच में रावणावतार-प्रसंग कहेंगे, फिर आगे इसे ही—"अब सो सुनहु जो बीचहिं राखा॥" (दो० १८०) पर मिलावेंगे।

(३) 'यह इतिहास'''—'पुनीत अति' से माहात्म्य कहा, यथा—"मन-क्रम-वचन जनित अघ-जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई॥" (उ० दो०१२५)। पुनः इसमें शाप-दंड आदि की व्यवस्था नहीं है अनन्य भक्ति से अवतार-प्रसंग है। अतः, अति पुनीत है। "लगे बहुरि बरनइ वृषकेतू।"—(दो० १४०) पर उपक्रम है और यहाँ—"उमहिं कहा वृषकेतु,'-पर उपसंहार है।

(४) 'अपर पुनि'—अर्थात् दूसरा फिर, भाव साकेतविहारी परतम प्रभु के अवतार में एक हेतु मनु-शतरूपाजी हुए। दूसरा हेतु भी है, उसे अब कहता हूँ।

मनु-शतरूपा-प्रकरण समाप्त

भानु-प्रताप-प्रकरण

सुनु मुनि कथा पुनीत पुरानी। जो गिरिजा प्रति संभु बखानी ॥१॥
बिस्वबिदित एक कैकय देसू। सत्यकेतु तहँ बसइ नरेसू ॥२॥
धरमधुरंधर नीतिनिधाना। तेज - प्रताप - सील बलवाना ॥३॥

अर्थ—हे मुनि ! यह पवित्र और पुरानी कथा सुनो, जिसे शिवजी ने पार्वतीजी से कहा था ॥१॥ जगत् में प्रसिद्ध एक कैकय देश है, वहाँ सत्यकेतु राजा रहता था ॥२॥ वह धर्मधुरन्धर, नीति का खजाना, तेजस्वी, प्रतापी, सुशील और बलवान् था ॥३॥

विशेष—(१) 'कथा पुनीत पुरानी'—'पुनीत'—इसके पढ़ने-सुनने से पाप नष्ट होते हैं। 'पुरानी' यह इतनी प्राचीन है कि पुराणों में भी प्रायः नहीं सुनी जाती, यह आदिकल्प की है। इसे शिवजी ही जानते हैं। यथा—"हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना ॥" (दो० १८४); ऐसे यह कथा भी वे ही जानते हैं। आजकल बहुत-से प्राचीन ग्रंथ नष्ट भी हो गये हैं। उन्हीं में कहीं यह कथा रही होगी।

'गिरिजा प्रति संभु'—इस कथा को महादेव-पार्वतीजी कहते-सुनते हैं। अतः, शिष्टपरिगृहीत है, तो सबके योग्य है। इस कथा को कल्याणमूलक और संसार का उपकार करनेवाली सूचित करते हुए, शंभु और गिरिजा के नाम दिये हैं।

(२) 'बिस्वबिदित एक'''। 'बिस्वबिदित' कहकर देश की श्रेष्ठता कही, यथा—"जग-बिख्यात नाम तेहि लंका।" (दो० १७७) और 'सत्यकेतु' नाम से देश के स्वामी का महत्त्व बतलाया अर्थात् जिसकी सत्य की पताका फहराती है। अतः, धर्म की पूर्णता है, यथा—"धर्म न दूसर सत्य समाना।" (अ० दो० ९४); "सत्यमूल सब सुकृत सुहाये।" (अ० दो० २७)।

'कैकय देसू'—बहुतों के मत से यह अब कश्मीर राज्य में है जो 'कक्का' कहलाता है।

(३) 'धरमधुरंधर नीति'''—उपर्युक्त सत्यकेतु नाम के अनुसार धर्मधुरन्धर होना योग्य ही है। ऊपर 'नरेसू' कहकर यहाँ 'नीतिनिधान' भी कहा, क्योंकि—"राज कि रहइ नीति बिनु जाने।" (उ० दो० ११२)। पुन धर्मधुरन्धर शब्द से चारों चरण युक्त धर्म से पूर्ण कहे, यथा—"चारिउ चरन धरम जग माहीं। पूरि रहा'''" (उ० दो० २०)। सत्य, शौच, दया और दान ये चारो चरण धर्म के हैं।

(४) 'तेज-प्रताप सील बल-थाना।'—ये चारो गुण चार लोकपालों के हैं। वे राजा में एक ही स्थान पर होते हैं, जैसे अग्नि के समान तेजस्वी, सूर्य की भाँति प्रतापी, चन्द्रमा के समान शीलवान् और पवन के समान बलवान् हैं। यथा—"'''प्रताप दिनेस से सोम से सील'''" (क० उ० ४३); "पवनतनय बल पवन-समाना।" (कि० दो० २९)। "तेज कृसानु'''" (दो० ३)।

तेहि के भये जुगल सुत बीरा। सब-गुन-धाम महा-रनधीरा ॥४॥
राजधनी जो जेठ सुत आही। नाम प्रतापभानु अस ताही ॥५॥
अपर सुतहि अरिमर्दन नामा। भुजबल अतुल अचल संग्रामा ॥६॥
भाइहि भाइहि परम समीती। सकल-दोष-छल-बरजित प्रीती ॥७॥

शब्दार्थ—जुगल (युगल)=दो। राजधनी=राज्य का अधिकारी। अचल = न हटनेवाला, पर्वत-तुल्य। समीती=सुन्दर मित्रता, बड़ा मेल। अतुल=निःसीम। बरजित (वर्जित)=रहित।

अर्थ—उसके दो वीर पुत्र उत्पन्न हुए, जो सब गुणों के धाम और महा रणधीर थे ॥४॥ राज्य का अधिकारी जो बड़ा पुत्र था, उसका प्रताप भानु (भानुप्रताप) ऐसा नाम था ॥५॥ दूसरे पुत्र का अरिमर्दन नाम था, उसकी भुजाओं में निःसीम बल था और वह लड़ाई में तो पर्वत के समान अचल था ॥६॥ भाई-भाई में बड़ा ही मेल एवं समस्त दोषों और छलों से रहित प्रीति थी ॥७॥

विशेष—(१) 'तेहि के भये जुगल'''—प्रथम पिता के गुण कहकर अब संतान के कहते हैं कि पिता की तरह इसमें भी राजा के सब गुण हैं। यह अधिकता है—भानुप्रताप महारणधीर है, क्योंकि अपने बाहुबल से चक्रवर्ती भी हो जायगा।

(२) 'नाम प्रतापभानु अस'''भुज-बल अतुल अचल'''—भानुप्रताप में प्रताप सूर्य के समान है, अर्थात् सूर्यवत् प्रतापी है और अरिमर्दन भुजबल में अतुल है। ये ही दोनो जब रावण-कुम्भकर्ण होंगे, तब दोनो के गुण प्रकट होंगे। रावण में प्रताप, यथा—"कर जोरे सुर दिसिप विनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥ देखि प्रताप'''" (सुं० दो० ११) और कुम्भकरण में बल—जैसे श्रीहनूमान्‌जी को रावण ने घूँसा मारा, पर वे भूमि में नहीं गिरे थे—"जानु टेकि कपि भूमि न गिरा।" (लं० दो० ८३); और कुम्भकर्ण के मारने पर—"घुर्मित भूतल पर्यो तुरंता।" (लं० दो० ७१) कहा गया है।

(३) 'भाइहि भाइहि परम'''' मित्रता के दोष, यथा—"जे न मित्र दुख होहिं दुखारी।'''" से—"जाकर चित अहि-गति सम भाई॥" (कि० दो० ७) तक; छल अर्थात् कपट, हृदय में स्वार्थसाधकता और ऊपर से सद्भाव दिखाना कपट है, इससे प्रीति नहीं रहती, यथा—"जल पय-सरिस बिकाय, देखहु प्रीति कि रीति भलि। बिलग होइ रस जाइ, कपट खटाई परत पुनि।" (दो० ५७)।

जेठे सुतहि राज नृप दीन्हा। हरि-हित आप गवन बन कीन्हा॥८॥

दोहा—जब प्रतापरबि भयेउ नृप, फिरी दोहाई देस।
प्रजा पाल अति बेद-बिधि, कतहुँ नहीं अघलेस॥१५३॥

शब्दार्थ—प्रतापरबि = प्रतापभानु। दोहाई (द्वि + आह्वा) = दोहरी पुकार, डंके के साथ राजा के अधिकार की घोषणा, यथा—"नगर फिरी रघुबीर-दोहाई।" (सुं० दो० १०)।

अर्थ—राजा ने बड़े पुत्र को राज्य दिया और आप हरि (भजन) के लिये वन को चले गये॥८॥ जब भानुप्रताप राजा हुआ और उसकी दुहाई देश में फिरी, तब वह सम्यक् प्रकार वेद की रीति से प्रजा का पालन अच्छी तरह करने लगा, लेश-मात्र भी पाप कहीं नहीं रहा॥१५३॥

विशेष—(१) 'जेठे सुतहिं''' ज्येष्ठ पुत्र को राज्य देना और चौथेपन में वन जाना धार्मिक नीति है; यथा—"मैं बड़ छोट बिचारि जिय, करत रहेउँ नृप-नीति।" (अ० दो० ३१)। "संत कहहिं असि नीति दसानन। चौथेपन जाइहि नृप कानन॥" (लं० दो० ६)।

(२) 'अति बेद-बिधि'—इसमें 'अति' दीपदेहली है, वेद-विधि के साथ 'अति' का भाव यह कि वेद-विधि से तो सत्यकेतु भी प्रजा पालते थे, यह उनसे भी अधिक हुआ।

'नहीं अघलेस'—अर्थात हिंसा, जुआ, चोरी, व्यभिचार आदि पाप-कर्म नहीं रह गये। यथा—"न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः। नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥" (छान्दोग्य उ० ५।११।५) यह कैकय देश के राजा अश्वपति ने उद्दालक आदि ऋषियों से कहा है।

नृप-हितकारक सचिव सयाना। नाम धरमरुचि सुक समाना॥१॥
सचिव सयान बंधु बलबीरा। आप प्रतापपुंज रनधीरा॥२॥

सेन संग चतुरंग अपारा। अमित सुभट सब समर जुझारा ॥३॥

शब्दार्थ—सुक (शुक्र) = शुक्राचार्य। सेन चतुरंग = रथ, हाथी, घुड़सवार और पैदल—ये चारों मिलकर चतुरंगिणी सेना कहाते हैं। जुझारा = जूझनेवाले बाँके वीर। बलबीरा = बलवान् और वीर एवं शूर-वीर वा बलवीर = बल में श्रेष्ठ; जैसे—दानवीर, कर्मवीर आदि।

अर्थ—धर्मरुचि नाम का मंत्री था, जो शुक्राचार्य के समान चतुर और राजा का हित करनेवाला था ॥१॥ मंत्री चतुर, भाई शूरवीर और आप (स्वयं राजा) बड़ा ही प्रतापी और रणधीर था ॥२॥ साथ में अगणित चतुरंगिणी सेना थी, जिसमें अगणित योद्धा थे, जो सब-के-सब युद्ध में बाँके लड़ाके थे ॥३॥

विशेष—(१) 'नृप हितकारक सचिव ···'—मंत्री राजा का हितैषी हो और राजनीति एवं धर्म-नीति आदि का ज्ञाता हो तो उत्तम है, वे ही गुण इसमें थे।

'सुक समाना'—जैसे शुक्राचार्य ने अपना निरादर सहकर भी अपने राजा बलि का हित किया, वैसे यह था। शुक्रप्रणीत 'शुक्रनीति' राजनीति का प्रसिद्ध ग्रंथ है।

श्रीशुक्राचार्य देवता एवं सर्वज्ञ हैं, पर दैत्यों के आचार्य हैं और उनके पक्ष में रहते हैं। राजा बलि जब यज्ञ करते थे, वामन भगवान् ने देवताओं के हित के लिये आकर उन (बलि) से अपने पैरों की नाप से तीन पग पृथिवी माँगी। राजा बलि ने देना स्वीकार कर लिया। सर्वज्ञ दैत्य-गुरु शुक्र ने भगवान् का उद्देश्य जानकर बलि को दान करने से रोका और बहुत नीति समझाई। उसमें यह भी कहा कि अपनी जीविका-रक्षा के लिये तुम अब भी 'नहीं' कर सकते हो। बलि ने न सुना, तब शुक्र ने डाँटा और शाप का भी भय दिखाया। बलि को न मानते देखकर शुक्र जलपात्र में प्रवेश कर गये कि संकल्प के लिये जल ही न गिरे। परिणाम यह हुआ कि उनकी एक आँख फोड़ दी गई। इस तरह अपमान सहकर भी राजा का हित चाहा।

(२) 'सेन संग चतुरंग···'—चतुरंगिणी सेना—अक्षौहिणी में चतुरंगिणी सेना के चार अंगों से पृथक् पाँचवें में सुभट गिने जाते हैं। इसी से यहाँ 'अमित सुभट···' अलग कहे गये। अक्षौहिणी में २१८७० हाथी, इतने ही रथ, इनके तिगुने घोड़े और पँचगुने पैदल—कुल २१८७०० होते हैं। बड़ी अक्षौहिणी की संख्या यों है—यथा—"अयुतञ्चनागास्त्रिगुणी रथानि लक्षं च योद्धाः दशलक्ष वाजिनः। पदातेश्च संख्या षट्त्रिंशकोट्य् अक्षौहिणीं ता मुनयो वदन्ति ॥"

यहाँ 'अपार' शब्द से बहुत अक्षौहिणी और 'अमित' से असंख्य सुभट कहे।

सेन बिलोकि राउ हरषाना। अरु बाजे गहगहे निसाना ॥४॥
बिजय - हेतु कटकई बनाई। सुदिन साधि नृप चलेउ बजाई ॥५॥
जहँ तहँ परी अनेक लराईं। जीते सकल भूप बरिआई ॥६॥
सप्त दीप भुजबल बस कीन्हे। लै लै दंड छाड़ि नृप दीन्हे ॥७॥

शब्दार्थ—गहगहे = धमाधम। निसान = डंका। कटकई = सेना। साधि = शोधकर। बजाई = डंका बजाकर। दंड = कर, वह धन जो अपराधी से अपराध के कारण लिया जाय। सप्तदीप (सप्त द्वीप) = जंबू, प्लक्ष, शाल्मली, कुश, क्रौंच, शाक और पुष्कर—ये सातों क्रमशः एक से दूसरे दूने हैं। ये राजा प्रियव्रत के द्वारा विभक्त हुए हैं।

अर्थ—सेना को देखकर राजा हर्षित हुआ और धमाधम नगाड़े बजने लगे ॥४॥ राजा दिग्विजय के लिये सेना सजाकर, शुभ दिन (मुहूर्त्त) साधकर और डंका बजाकर चला ॥५॥ जहाँ-तहाँ अनेक लड़ाइयाँ हुईं। सब राजाओं को उसने बलपूर्वक जीत लिया ॥६॥ सातो द्वीपों को अपनी भुजाओं के बल से वश कर लिया और दंड ले-लेकर राजाओं को छोड़ दिया ॥७॥

विशेष—(१) 'सेन बिलोकि···'—सेना को अनुकूल देखकर हर्ष हुआ। हर्ष यात्रा के उपलक्ष्य में होना कार्य-सिद्धि का सूचक है। दिग्विजय के लिये डंका बजाने की प्रथा थी। यथा—"मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्वबिजय कहँ कीन्ही॥" (दो॰ २२१)।

(२) 'कटकई बनाई'—पूर्व—'सेन संग चतुरंग···' कहा गया था, वह नगर की सेना थी। यहाँ 'कटकई बनाई' का अर्थ युद्ध के लिये व्यूह रचकर चलने का है।

(३) 'जहँ तहँ परी···'—सर्वत्र लड़ना नहीं पड़ा, कोई-कोई राजा लड़े, कितने यों ही आकर अधीन हो गये, कुछ भाग गये। 'बरिआई'—सम्मुख लड़कर जीता, कपट-युद्ध से नहीं।

(४) 'सप्त दीप भुजबल···'—शंका—इन सातो द्वीपों के बीच-बीच में बड़े-बड़े समुद्र पड़ते हैं, यह राजा कैसे पार गया? क्योंकि श्रीरामजी ने तो एक समुद्र पार करने के लिये सेतु बाँधा था।

समाधान—(क) प्रतापी को सभी राह दे देते हैं, इसीसे श्रीरामजी ने प्रथम राह माँगी थी, फिर सागर ने कहा भी है, यथा—"प्रभु-प्रताप मैं जाब सुखाई। उतरिहि कटक ··" (सुं॰ दो॰ ५८)। (ख) उस समय भारत उन्नति पर था। अतः, पुष्पक विमान की तरह और विमान रहे होंगे। उस एक ही विमान (पुष्पक) पर श्रीरामजी सेना-समेत लंका से लौट आये थे।

सकल-अवनि - मंडल तेहि काला। एक प्रतापभानु महिपाला ॥८॥

दोहा—स्वबस बिस्व करि बाहुबल, निज पुर कीन्ह प्रबेस।
अरथ - धरम-कामादि-सुख, सेवइ समय नरेस ॥१५४॥

अर्थ—उस समय समस्त पृथिवी-मंडल में एक भानु-प्रताप ही राजा था ॥८॥ जगत्-भर को अपनी भुजाओं के बल से अपने वश में करके उसने अपने नगर में प्रवेश किया। वह राजा अर्थ, धर्म और काम आदि सुखों को (युक्त) समय-समय पर सेवन करता था ॥ १५४ ॥

विशेष—(१) 'तेहि काला'—इसके पूर्वज मांडलिक राजा न थे। इसने ही अपने प्रताप से यह पद प्राप्त किया था। श्रीरामजी के कुल में प्रथम से ही चक्रवर्त्ती होते आये हैं, इसलिये उनके वर्णन में 'तेहि काला' नहीं कहा गया है। यथा—"भूमि सप्त सागरमेखला। एक भूप रघुपति कोसला॥" (उ॰ दो॰ २१)।

(२) 'अरथ धरम कामादि···'—प्रातःकाल से पूजा पाठ आदि धर्म के सेवन का समय, फिर राज्य कार्य के द्वारा धन लाभ में अर्थ-सेवन और शयन का समय काम-सुख सेवनका है। वह राजा सत्संग के द्वारा मोक्ष-सुख का सेवन भी करता था। यथा—"तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला एक अंग। तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग॥" (सुं॰ दो॰ ४)।

भूप प्रतापभानु बल पाई। कामधेनु भइ भूमि सुहाई ॥१॥
सब-दुख-बरजित प्रजा सुखारी। धरमसील सुंदर नर-नारी ॥२॥
सचिव धरमरुचि हरि-पद-प्रीती। नृप-हित-हेतु सिखव नित नीती ॥३॥
गुरु सुर संत पितर महिदेवा। करइ सदा नृप सबकै सेवा ॥४॥

अर्थ—राजा भानुप्रताप का बल पाकर पृथिवी सुन्दर कामधेनु (सर्व मनोरथदात्री) हो गई ॥ १ ॥ प्रजा सब दुःखों से रहित और सुखी रहती थी। स्त्री-पुरुष सुन्दर और धर्मात्मा थे ॥ २ ॥ धर्मरुचि (नामक) मंत्री का हरि-चरणों में प्रेम था, राजा के हित के लिये वह सदा नीति सिखाया करता था ॥ ३ ॥ गुरु, देवता, सन्त, पितृदेव और ब्राह्मण—वह राजा इन सब की सदैव सेवा करता था ॥ ४ ॥

विशेष—(१) 'कामधेनु भइ भूमि ···'—धर्मात्मा राजा के प्रभाव और प्रयत्न से पृथिवी इच्छानुसार अन्न उपजाती थी, उसीसे धर्म और काम की सिद्धि भी होती थी। यथा—"धरनि-धेनु चारितु चरत, प्रजा सुबच्छ पेन्हाइ। हाथ कछू नहिं लागि है, किये गोड़ की गाइ ॥" (दोहावली ५१२) अर्थात् राजा का उत्तम धर्माचरण चारा और प्रजा बछड़ा है। पृथिवीरूप धेनु चरकर पन्हाती है तो अर्थ आदि दूध देती है।

(२) 'सब दुख बरजित···' —'दुख' यथा—"करहिं पाप पावहिं दुख, भय रुज सोक बियोग।" (उ० दो० १००); अर्थात् भय, रोग, शोक और वियोग आदि दुःख हैं तथा—"नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।" (उ० दो० १२०)। सब धर्मशील होने से सुखी हैं। यथा—"सुख चाहहिं मूढ़ न धर्मरता।" (उ० दो० १०१)।

यहाँ 'कामधेनु भइ भूमि' से अर्थ, 'धर्मशील' से धर्म और 'सुंदर नर-नारी' से काम का सेवन राजा की तरह प्रजा का भी जनाया। प्रसिद्ध ही है—"यथा राजा तथा प्रजा:"।

(३) 'सचिव धरमरुचि हरि···'—मंत्री में इसी जन्म से भक्ति का बीज पड़ा है, वही आगे विभीषण शरीर में बढ़ेगा, क्योंकि भक्ति बीज का नाश नहीं होता। यथा—"न मे भक्तः प्रणश्यति।" (गी० ९।३१) तथा—"तातें नास न होइ दास कर।" (उ० दो० ७८)। पूर्व कहा था—'नृप-हितकारक सचिव सयाना।' उसीका यहाँ चरितार्थ किया कि वह मंत्री राजा के हित के लिये नित्य ही नीति सिखाता था, क्योंकि "राज कि रहइ नीति बिनु जाने।" (उ० दो० ११२)।

(४) 'गुरु सुर संत पितर···'—ये पाँचो पंचदेवता की तरह प्रायः एक साथ कहे जाते हैं, यथा—"द्विज, देव, गुरु, हरि, संत बिन संसार पार न पावई।" (वि० १३६)। यहाँ 'पितर' की जगह 'हरि' है, क्योंकि 'पितृरूपी जनार्दनः' कहा ही जाता है। इन पाँचो का एक साथ ही पृथक्-पृथक् महत्त्वसहित वर्णन भी कि० दो० १६ के "जिमि सुख लहइ न संकरद्रोही।" से "सद्गुरु मिले···" तक है। यहाँ 'सुर' की जगह 'संकर' कहे गये हैं, क्योंकि ये देव ही नहीं, महादेव हैं।

भूप-धरम जे बेद बखाने। सकल करइ सादर सुख माने ॥५॥
दिन प्रति देइ बिबिध बिधि दाना। सुनइ सास्त्रबर बेद पुराना ॥६॥
नाना बापी कूप तड़ागा। सुमनबाटिका सुंदर बागा ॥७॥
बिप्रभवन सुरभवन सुहाये। सब तीरथन्ह बिचित्र बनाये ॥८॥

शब्दार्थ—बापी = बावली, वह कुँआ जिसमें नीचे जल तक जाने को सीढ़ियाँ बनी होती हैं।

अर्थ—राजाओं के धर्म जो वेद में कहे हुए हैं, उन सबको आदरपूर्वक और सुख मानकर करता था ॥ ५ ॥ प्रत्येक दिन अनेक प्रकार के दान देता था और उत्तम शास्त्र एवं वेद-पुराण का श्रवण करता था ॥ ६ ॥ सब तीर्थों में अनेक बावलियाँ, कुँए, तालाब, सुन्दर फुलवारियाँ और बाग, ब्राह्मणों के घर और देवताओं के सुहावने मंदिर विचित्र-विचित्र बनवाये ॥ ७-८ ॥

विशेष—(१) 'भूप-धरम···'—प्रजा-पालन और देश-रक्षा आदि राजाओं के धर्म हैं जो वेद एवं उसके उपबृंहण (विस्तार) रूप महाभारत के शांतिपर्व में कहे गये हैं। पुनः यथा—"मुखिया मुख सों चाहिये, खान-पान को एक। पालइ पोसइ सकल अँग, तुलसी सहित विवेक ॥ राजधरम सरबस इतनोई। जिमि मन माँह मनोरथ गोई ॥" (अ० दो० ३१५)।

(२) 'दिन प्रति देइ···'—अन्यत्र प्रायः पर्व एवं उत्सव आदि अवसरों पर ही दान दिये जाते हैं, पर वह नित्य ही देता था। 'बिबिध बिधि' यथा—"गज रथ तुरग हेम गो हीरा। दीन्हे नृप नाना बिधि चीरा ॥ (दो० १९५)।

(३) 'सुनइ सास्त्र बर···'—'बर' अर्थात् राजस और सात्त्विक शास्त्र-पुराण ही सुनता था, तामस नहीं। प्रातःकाल वेद, मध्यान्ह में पुराण और संध्या-समय धर्मशास्त्र सुनने का समय है अथवा यथावकाश ही सुनता था।

(४) 'बिप्रभवन सुरभवन···' अर्थात् देव-मंदिर के साथ ही नित्य पूजा होने के लिये ब्राह्मण का भी घर बनवा देते थे। इसलिये दोनो को एक साथ लिखा है।

दोहा—जहँ लगि कहे पुरान श्रुति, एक एक सब जाग।
बार सहस्र सहस्र नृप, किये सहित अनुराग ॥१५५॥

हृदय न कछु फल-अनुसंधाना। भूप बिबेकी परम सुजाना ॥१॥
करइ जे धरम करम मन बानी। बासुदेव अरपित नृप ज्ञानी ॥२॥

शब्दार्थ—अनुसंधान = चेष्टा, इच्छा। अर्पित = आदरपूर्वक दिया हुआ। ज्ञानी = शास्त्रज्ञानी।

अर्थ—जहाँ तक वेद-पुराणों में यज्ञ कहे गये हैं, उन सबमें प्रत्येक को हजार-हजार बार राजा ने अनुरागपूर्वक किया ॥ १५५ ॥ राजा बड़ा विवेकी (विचारवान्) और चतुर था, (अतः) वह हृदय में कुछ भी फल की चेष्टा नहीं करता ॥ १ ॥ जो-जो धर्म मन, वचन और कर्म से करता था, उसे वह ज्ञानी राजा मन-वचन-कर्म से वासुदेव भगवान् को अर्पित कर देता था।

विशेष—यहाँ—'करम मन बानी' दीपदेहली है। राजा शास्त्रज्ञानी था। अतः, कर्म, मन और वचन से सुकृत को भगवान् में अर्पित करता था। यथा—"हरिहिं समर्पे बिनु सतकरमा।··· श्रम फल किये···" (उ० दो० २०); अन्यथा सकाम कर्म बंधन-रूप होता है। 'न कछु फल अनुसंधाना' अर्थात् निष्काम करता था। यथा—"एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च। कर्तव्यानीति······" (गीता १८।६)।

चढ़ि बर बाजि बार एक राजा। मृगया कर सब साजि समाजा ॥३॥

विंध्याचल गँभीर बन गयेऊ। मृग पुनीत बहु मारत भयेऊ ॥४॥
फिरत बिपिन नृप दीख बराहू। जनु बन दुरेउ ससिहि ग्रसि राहू ॥५॥
बड़ बिधु नहिं समात मुख माहीं। मनहुँ क्रोधबस उगिलत नाहीं ॥६॥

शब्दार्थ—मृगया = शिकार, अहेर। बराह = शूकर। दुरेउ = छिपा है। समाज = सामान।

अर्थ—एक बार राजा शिकार के सब सामान सजाकर और अच्छे घोड़े पर चढ़कर ॥३॥ विन्ध्याचल के सघन वन में गया और बहुत से पवित्र मृग मारे ॥४॥ राजा ने वन में फिरते हुए एक शूकर को देखा (वह ऐसा था) कि मानों चन्द्रमा को ग्रसकर राहु वन में आ छिपा है ॥५॥ चन्द्रमा बड़ा है, मुँह में नहीं समाता, मानों क्रोधवश वह उसे उगलता भी नहीं ॥६॥

विशेष—(१) 'बरबाजि'—तेज चालवाला एवं शिकार के अनुकूल रंगवाला हरा अथवा नीला घोड़ा जो वृक्षों के झुरमुट में छिप सके। 'पुनीत मृग'—वे मृग जो शास्त्र से मृगया के लिये ग्रहण करने योग्य माने गये हैं। मृग (मृ = वन, ग = गमन) = जंगली जानवर।

(२) 'फिरत बिपिन ··'—यह कालकेतु है। कपट से शूकर होकर फिर रहा है, जिससे राजा उसे देखे और पीछा करे। जैसे, मारीच मृग बनकर श्रीसीताजी के आसपास फिरने लगा था।

(३) 'बड़ बिधु नहिं ··'—यहाँ शूकर उपमेय और राहु उपमान हैं जो दोनों काले हैं। दसन (दाँत) उपमेय और चन्द्रमा उपमान—दोनों श्वेत रंग और गोलाकार हैं। काले रंग के मुख से गोलाकार बाहर तक निकले और चमकते हुए दिखाई पड़ना उत्प्रेक्षा का विषय है। 'क्रोधबस'—क्षीरसागर से अमृत निकला, भगवान् देवताओं को बाँट रहे थे, उनमें राहु भी आ बैठा था। चन्द्रमा और सूर्य ने इशारे से छल बतला दिया, जिससे उसका सिर भगवान् ने काट डाला, वह उस वैर से क्रोध करता है।

जैसे राहु और केतु दोनों सहवर्गी थे, वैसे इस शूकर (कालकेतु) का सहवर्गी कपटी मुनि है। वह केतुरूप है। केतु के उदय से राजा का नाश होता है, वैसे उसके देखने से भानुप्रताप का होगा।

कोल-कराल-दसन-छबि गाई। तनु बिसाल पीवर अधिकाई ॥७॥
घुरघुरात हय-आरव पाये। चकित बिलोकत कान उठाये ॥८॥

दोहा—नील महीधर-सिखर सम, देखि बिसाल बराह।
चपरि चलेउ हय सुटुकि-नृप, हाँकि न होइ निबाह ॥१५६॥

शब्दार्थ—दसन = दाँत। पीवर = मोटा, स्थूल। कोल = शूकर। घुरघुराना = शूकर का शब्द करना। हय = घोड़ा। आरव = आहट। महीधर = पहाड़। सिखर = चोटी। चपरि = चपलता से। सुटुकि = चाबुक लगाकर। निबाह = बचाव।

अर्थ—यह छवि शूकर के भयंकर दाँतों की कही गई है, उसका शरीर बहुत ऊँचा एवं चौड़ा था और मोटाई अधिक थी ॥७॥ घोड़े की आहट पाकर शूकर घुरघुराता हुआ कान उठाये चौकन्ना हो (इधर-उधर) देख रहा था ॥८॥ नीलगिरि के शिखर के समान भारी शूकर को देखकर राजा घोड़े को चाबुक लगाकर चपलता से हाँक चला (सरपट छोड़ा) कि जिससे शूकर का बचाव न हो सके ॥१५६॥

आवत देखि अधिक रव बाजी । चलेउ बराह मरुतगति भाजी ॥१॥
तुरत कीन्ह नृप सरसंधाना । महि मिलि गयेउ बिलोकत बाना ॥२॥
तकि तकि तीर महीस चलावा । करि छल सुअर सरीर बचावा ॥३॥
प्रगटत दुरत जाइ मृग भागा । रिसबस भूप चलेउ सँग लागा ॥४॥

शब्दार्थ—बाजी = घोड़ा । रव = शब्द । संधाना = चढ़ाया । भाजी = भागकर ।

अर्थ—बड़ी आवाज के साथ (तेजी से) घोड़े को आता देखकर शूकर वायु की चाल से भाग चला ॥१॥ राजा ने तुरत बाण को धनुष पर चढ़ाया, उस बाण को देखकर वह पृथिवी में दुबक गया ॥२॥ राजा ने ताक-ताककर तीर चलाये, शूकर छल करके शरीर बचाता गया ॥३॥ कभी प्रकट होता और कभी छिप जाता, इस प्रकार वह मृग (वन-पशु) भागता फिरता था और राजा क्रोध के मारे उसके पीछे लगा चला जाता था ॥४॥

विशेष—(१) 'तुरत कीन्ह ···'—घोड़े पर से तलवार-भाले आदि के द्वारा शिकार किया जाता है, उसका घात न पाकर तुरत ही बाण चढ़ाया । बाण चलाने में दोनों हाथों से काम पड़ता है, इस प्रकार सवारी में राजा की निपुणता दिखाई ।

(२) 'तकि तकि तीर···'—यहाँ राजा ने सीधे चलनेवाले बाणों से ही काम लिया । पशु समझकर बाण-विद्या के अभिमंत्रित बाणों का प्रयोग नहीं किया, अन्यथा नहीं बच सकता; पशु आदि अनभिज्ञों पर अभिमंत्रित बाण न चलाना युद्धनीति है ।

(३) 'करि छल···'—प्रकट होना, छिप जाना, तिरछा हो जाना छल है । छल करके इसे कपटी-मुनि के समीप तक ले जाना है ।

(४) 'रिसबस'—शिकार की कामना-हानि होते देख राजा को क्रोध हुआ, उससे फिर मोह होता है वह भी कपटी मुनि के यहाँ होगा । यथा—"कामात्क्रोधोऽभिजायते । क्रोधाद्भवति सम्मोहः···" (गीता २।६२-६३)।

गयेउ दूरि घन गहन बराहू । जहँ नाहिंन गज-बाजि-निबाहू ॥५॥
अति अकेल बन बिपुल कलेसू । तदपि न मृगमग तजइ नरेसू ॥६॥
कोल बिलोकि भूप बड़ धीरा । भागि पैठ गिरिगुहा गँभीरा ॥७॥
अगम देखि नृप अति पछिताई । फिरेउ महाबन परेउ भुलाई ॥८॥

दोहा—खेद-खिन्न छुद्धित तृषित, राजा बाजिसमेत ।
खोजत ब्याकुल सरित सर, जल बिनु भयेउ अचेत ॥१५७॥

शब्दार्थ—गहन = वन का गुप्त स्थान । पैठ = घुस गया । खेद = ग्लानि । खिन्न = दीन ।

अर्थ—शूकर दूर घने सघन वन के गुप्त स्थान में चला गया, जहाँ हाथी-घोड़े का निर्वाह नहीं हो सकता ॥५॥ यद्यपि राजा एकदम अकेला है और वन में बहुत क्लेश भी है, तो भी वह शिकार

का पीछा नहीं छोड़ता ॥५॥ शूकर ने देखा कि राजा बड़ा धीर है, तब वह भागकर पर्वत की एक बड़ी गंभीर (गहरी) गुफा में जा घुसा ॥७॥ उसमें अपना जाना दुर्गम देख राजा बहुत पछताकर फिरा, तो उस घोर वन में मार्ग भूल गया ॥८॥ ग्लानि से दीन चित्त और भूखा-प्यासा राजा घोड़े के साथ व्याकुल होकर नदी-तालाब खोजते हुए जल के विना बेसुध हो गया ॥१५७॥

विशेष—'नरेसू'—राजा प्रायः हठी होते हैं, इससे पीछा नहीं छोड़ता।

'बड़ धीरा'—इतनी दूर तक पीछा न छोड़ा। अतः, मार ही न डाले!

'अति पछिताई'—नाहक यहाँ आये, इतना परिश्रम हुआ। शिकार भी न मिला, अब जल के विना प्राणों पर आ बीती, इत्यादि।

'खेद-खिन्न······'—ऊपर-'परेउ भुलाई' कहा, उस भूलने का कारण यहाँ कहते हैं कि राजा का चित्त उदास है और घोड़ा भी शिकार निकल जाने से उदास हुआ तथा भूख-प्यास एवं थकावट तो दोनों को थी ही, फिर संध्या का समय भी हो आया था। इन कारणों से राजा बेसुध होकर दिशा-भ्रम से मार्ग भूल गया, वहीं आस-पास में घूम-फिरकर रह गया, यथा—"लागि तृषा अतिसय अकुलाने। मिलइ न जल घन गहन भुलाने ॥" (कि॰ दो॰ २४)।

फिरत विपिन आश्रम एक देखा। तहँ बस नृपति कपट-मुनि-बेखा ॥१॥
जासु देस नृप लीन्ह छुड़ाई। समर सेन तजि गयेउ पराई ॥२॥
समय प्रतापभानु कर जानी। आपन अति असमय अनुमानी ॥३॥
गयेउ न गृह मन बहुत गलानी। मिला न राजहि नृप अभिमानी ॥४॥
रिस उर मारि रंक जिमि राजा। बिपिन बसइ तापस के साजा ॥५॥

शब्दार्थ—कपट = बनावटी। आश्रम = साधु का स्थान। समय = बढ़ती के दिन, भाग्य।

अर्थ—वन में फिरते हुए (राजा को) एक आश्रम देख पड़ा। जहाँ एक राजा कपट से मुनि-वेष बनाये रहता था ॥१॥ जिसका देश राजा भानु-प्रताप ने छीन लिया था, (क्योंकि) वह लड़ाई में सेना छोड़कर भाग गया था ॥२॥ भानुप्रताप का सुसमय और अपना अत्यंत असमय (दुर्दिन) समझकर ॥३॥ उसके मन में बहुत ग्लानि हुई, इससे घर लौटकर नहीं गया। वह अभिमानी राजा था, अतः, इस भानु-प्रताप से मिलाप (संधि) भी नहीं किया ॥४॥ वह राजा दरिद्र की तरह हृदय में क्रोध मारकर तपस्वी के साज (वेष) से वन में बसता था ॥५॥

विशेष—(१) यहाँ क्रम से कारण कहे गये। कपट से मुनि वेष का कारण—उसका देश छिन जाना, देश छीनने का कारण उसका भाग जाना और अभिमान से न मिलना है। राजा का प्रताप ऐसा है कि वह साधुवेषधारी राजा ७० योजन पर, घोर वन में फिर भी वेष बदलकर भयभीत रहता है कि कहीं भानु-प्रताप जान पावेगा, तो मार ही डालेगा, क्योंकि ऐसी ही नीति है। यथा—"रिपु रिन रंच न राखब काउ।" (अ॰ दो॰ २२८), "रिपु रुज पावक पाप, प्रभु अहि गनिय न छोट करि।" (आ॰ दो॰ २१)।

(२) 'मिला न राजहि······'—साम, दाम, दंड, भेद—ये चार नीति के भेद हैं। जब राजा अपने को कमजोर देखे, तब 'दाम' नीति से द्रव्य देकर, शर्त आदि मानकर, प्रतिपक्षी से मेल कर ले, पर इसने ऐसा नहीं किया, क्योंकि अभिमानी था।

(३) 'रिस उर मारि······'—जैसे कोई कंगाल एवं भिक्षुक अपमान सहते हुए प्रतिकार में असमर्थ होने से क्रोध को मन में ही दबा लेता है, वैसे इस कपटी राजा की दशा थी।

तासु समीप गवन नृप कीन्हा। यह प्रतापरवि तेहिं तब चीन्हा ॥६॥
राउ तृषित नहिं सो पहिचाना। देखि सुबेष महामुनि जाना ॥७॥
उतरि तुरग तें कीन्ह प्रनामा। परम चतुर न कहेउ निज नामा ॥८॥

दोहा—भूपति तृषित बिलोकि तेहिं, सरबर दीन्ह देखाइ।
मज्जन पान समेत-हय, कीन्ह नृपति हरषाइ ॥१५८॥

अर्थ—जब राजा उसके समीप गया, तब उसने पहचान लिया कि यह भानु-प्रताप है ॥६॥ राजा प्यासा था, (इसी विकलता से) उसे नहीं पहचाना। प्रत्युत सुन्दर वेष देखकर महामुनि मान लिया ॥७॥ और घोड़े से उतरकर प्रणाम किया (परंतु) बड़ा चतुर था, इससे अपना नाम नहीं बतलाया ॥८॥ राजा को प्यासा देखकर उसने सरोवर दिखला दिया। राजा ने हर्षित होकर घोड़े के साथ स्नान और जलपान किया ॥१५८॥

विशेष—(१) 'उतरि तुरंग तें······'—धर्म-शास्त्र की विधि है कि देवमंदिर, तीर्थ एवं संत आदि बड़ों को देख सवारी से उतरकर और हथियार धरकर प्रणाम करना चाहिये। कपटी-मुनि को महामुनि समझकर राजा ने वही किया, परन्तु प्रणाम करते समय अपना नाम भी कहना चाहिये। यह रीति है; यथा—"मारुतसुत मैं कपि हनुमाना। नाम मोर सुनु···" (उ० दो० १); "पितु समेत कहि-कहि निज नामा। लगे करन सब दंड प्रनामा॥" (दो० २६८); इसने नाम न कहा, यह परम चतुरता है, यही आगे दो० १६३ में कपटी-मुनि कहेगा।

(२) 'भूपति तृषित बिलोकि तेहिं···'—चेष्टा से ही जान लिया कि राजा प्यासा है। स्नान-पान से थकावट दूर होती है और प्रसन्नता भी होती है, यथा—"मज्जन कीन्ह पंथ-श्रम गयेऊ। सुचि जल पियत मुदित मन भयेऊ॥" (अ० दो० ८९); "मज्जन कीन्ह परम सुख पावा।" (का० दो० ४०)। वे ही गुण यहाँ भी हुए जिन्हें 'हरषाइ' और आगे-'गै श्रम ···' में कहा है।

गै श्रम सकल सुखी नृप भयेऊ। निज आश्रम तापस लै गयेऊ ॥१॥
आसन दीन्ह अस्त रवि जानी। पुनि तापस बोलेउ मृदु बानी ॥२॥
को तुम्ह कस बन फिरहु अकेले। सुंदर जुवा जीव परहेले ॥३॥
चक्रवर्ति के लच्छन तोरे। देखत दया लागि अति मोरे ॥४॥

शब्दार्थ—आसन दीन्ह = सत्कार के लिये कुछ वस्तु बैठने को दी। परहेलना (सं० प्रहेलन)= निरादर करना।

अर्थ—सारी थकावट दूर हुई और राजा सुखी हुआ, तब वह तपस्वी उसे अपने आश्रम पर ले गया ॥१॥ सूर्यास्त का समय जानकर बैठने को आसन दिया, फिर वह तपस्वी कोमल वचन बोला ॥२॥ तुम कौन हो ? वन में अकेले कैसे फिर रहे हो ? तुम्हारी सुन्दर युवा अवस्था है, फिर भी तुम अपने जीव

(प्राणों) की परवा नहीं करते अर्थात् प्राणों का निरादर करते हो ? ।।३।। तुममें चक्रवर्ति राजाओं के लक्षण देखकर मुझे बड़ी दया लगती है ।।४।।

विशेष—(१) 'निज आश्रम तापस लै गयेऊ।' अर्थात् सरोवर दिखाने के लिये साथ ही गया, फिर अपने आश्रम पर लिवा लाया।

(२) 'आसन दीन्ह ''''''—आसन देने पर भी राजा नहीं बैठा, क्योंकि उसकी इच्छा तुरत चले जाने की थी। अतः, बातें छेड़ दीं। कपटी मुनि ने सोचा कि मीठी-मीठी बातों में फँसाकर कुछ देर रोकने पर अँधेरा हो जायगा तो राजा अवश्य ही रुक जायगा, इस प्रकार कपट से दावँ लेना है।

(३) 'को तुम्ह'''''' '—प्रश्न का प्रयोजन यह है कि यदि राजा स्वयं इधर आ निकला हो, तब तो रोकना ठीक नहीं और यदि काल-केतु भटकाकर लाया हो तो इसे रोकना और अपनी सिद्धई आदि की बातें करनी ठीक होंगी, तदनुसार वह कर सकेगा।

(४) 'चक्रवर्ति के ''''''—उपर्युक्त 'सुन्दर युवा ''' ' का कारण कहता है कि तुम्हारे लक्षण चक्रवर्ती के हैं, ऐसे राजा को अकेले ऐसे घोर वन में फिरना योग्य नहीं है। न जाने, कब क्या विघ्न आ पड़े ? राजा की भलाई में प्रजा की भलाई है। अत., मुझे अति दया लगी।

नाम प्रतापभानु अवनीसा। तासु सचिव मैं सुनहु मुनीसा ।।५।।
फिरत अहेरे परेउँ भुलाई। बड़े भाग देखेउँ पद आई ।।६।।
हम कहँ दुरलभ दरस तुम्हारा। जानत हौं कछु भल होनिहारा ।।७।।
कह मुनि तात भयेउ अँधियारा। जोजन सत्तरि नगर तुम्हारा ।।८।।

दोहा—निसा घोर गंभीर बन, पंथ न सुनहु सुजान।
बसहु आज अस जानि तुम्ह, जायेहु होत बिहान ।।
तुलसी जसि भवितव्यता, तैसी मिलइ सहाइ।
आपुन आवइ ताहि पहिं, ताहि तहाँ लै जाइ ।।१५९।।

अर्थ—(राजा ने कहा) हे मुनीश ! सुनिये। एक भानु-प्रताप नाम का राजा है, मैं उसका मंत्री हूँ ।।५।। शिकार में फिरते हुए भूल पड़ा हूँ। बड़े भाग्य से आकर चरणों के दर्शन किये ।।६।। मेरे लिये आपके दर्शन दुर्लभ हैं, समझता हूँ कि कुछ भला होनेवाला है ।।७।। मुनि ने कहा कि हे तात ! अँधेरा हो गया और तुम्हारा नगर यहाँ से सत्तर योजन (५६० मील) पर है ।।८।। हे सुजान ! सुनो, रात भयंकर अँधेरी है, वन सघन है, रास्ता नहीं है, ऐसा जानकर आज यहीं रहो, सवेरा होते ही चल देना ।। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि जैसी भवितव्यता (हरि-इच्छा-रूपी प्रारब्ध) होती है, वैसी ही सहायता मिल जाती है। या तो वह (भवितव्यता) आप ही (स्वयं) उसके पास आती है या उसीको वहाँ ले जाती है ।।१५९।।

विशेष—(१) 'नाम प्रतापभानु'''—यह 'को तुम्ह' का उत्तर है। राजा ने समझा कि ये कोई भारी दैवज्ञ मुनि हैं, इसी से मुझे चक्रवर्ती जान लिया। अतः, युक्ति से उत्तर देना चाहिये कि राजाओं के जहाँ-तहाँ अनेक शत्रु होते हैं, इसलिये नाम छिपाने की नीति भी रहे और उत्तर भी हो जाय। फिर 'मंत्री' कहा। इससे जान पड़ता है कि मंत्री में भी राज-लक्षण होते हैं।

(२) 'फिरत अहेरे परेउँ भुलाई '''—यह 'कस बन फिरहु अकेले' का उत्तर है। इससे कपटी-मुनि ने जान लिया कि इसे कालकेतु ही यहाँ लाया है। अतः, अब ठहराने का उपाय रचेगा। 'बड़े भाग'—बहुत प्रयास से खोजने पर साधु मिलें तो भाग्य है और अनायास मिल जायँ तो बड़ा भाग्य है। यथा—"बड़े भाग पाइय सतसंगा।" (उ० दो० ३२)। मुनि के—'देखत दया लागि''' इस कथन के जोड़ में—'बड़े भाग देखेउँ''' कहा है।

(३) 'हम कहँ दुरलभ दरस'''—हमलोग विषयों में लिप्त हैं और आप विशुद्ध संत हैं, ऐसे संत दैवयोग से ही मिलते हैं, यथा—"संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥" (उ० दो० ६८)।

(४) 'निसा घोर'''—इससे कृष्णपक्ष की घोर अँधेरी रात अर्थात् अमावस्या जनाई। इसमें तांत्रिक छल के प्रयोग भी किये जाते हैं। इसे यह योग भी मिल गया।

(५) 'तुलसी जसि भवितव्यता '''—यहाँ 'भवितव्यता' को हरि-इच्छा ही जानना चाहिये। शिव-संहिता के अनुसार श्रीरामजी के प्रतापी और बलवीर्य नामक दो सखा ही श्रीरामजी की आज्ञा से भानु-प्रताप और अरिमर्दन हुए हैं। अतः, वे भगवान् युद्धरूप कौतुक के लिये ऐसे संयोग स्वयं रचते हैं। ये दोनों सखा अगले जन्म में राक्षस होने पर पूरे वैर से युद्ध करेंगे।

बुद्धिमान् होकर राजा क्यों ठगा गया ? इसका समाधान याज्ञवल्क्य ने किया, क्योंकि यह प्रसंग कर्मघाट का है। उसीको गोस्वामीजी कहते हैं कि जैसी भावी होती है वैसे उसके सहायक (साधन) मिलते हैं, अर्थात् संयोग बनते जाते हैं। 'आपुन' अवधी मुहावरा है, इसका अर्थ 'स्वयं' होता है। यथा—"आपुन चलेउ गदा कर लीन्हीं।" (दो० १८१), "ऊपर आपुन हेठ भट'''" (लं० दो० ४१)। 'आपुन आवइ' अर्थात् भावी स्वयं 'ताहि पहिं' अर्थात् जिसपर भावी होनेवाली है, आती है। जैसे भानुप्रताप के पास कालकेतु भावी-प्रेरित शूकर बनकर पहुँच गया। अथवा 'ताहि' जिसपर भावी होनेवाली है, उसको, 'तहाँ' भावी-प्रेरित बाधा के स्थान पर, ले जाती है, जैसे वह भानुप्रताप को ही कपटी मुनि के पास ले गई।

भलेहि नाथ आयसु धरि सीसा। बाँधि तुरग तरु बैठ महीसा॥१॥
नृप बहु भाँति प्रसंसेउ ताही। चरन बंदि निज भाग्य सराही॥२॥
पुनि बोलेउ मृदुगिरा सुहाई। जानि पिता प्रभु करउँ ढिठाई॥३॥
मोहि मुनीस सुत सेवक जानी। नाथ नाम निज कहहु बखानी॥४॥

अर्थ—'बहुत अच्छा, नाथ !' राजा ऐसा कह आज्ञा शिर पर रख (मान) कर और घोड़े को पेड़ में बाँधकर आ बैठा॥१॥ राजा ने उसकी बहुत तरह से प्रशंसा की तथा उसके चरणों की वंदना कर उसके संबंध से अपना भाग्य सराहा॥२॥ फिर सुहावने कोमल वचन बोला कि हे प्रभो ! आपको पिता जानकर

मैं ढिठाई करता हूँ ॥३॥ हे मुनीश्वर ! मुझे अपना पुत्र और सेवक जानकर हे नाथ ! अपना नाम बखान कर कहिये ॥४॥

विशेष—(१) 'बाँधि तुरग'''—अभी तक राजा घोड़े को बागडोर थामे खड़ा था कि अभी चल देंगे, पर कपटी-मुनि ने बातों-बातों में लगाकर अँधेरा कर दिया और ठहरा लिया।

(२) 'बहु भाँति प्रसंसेउ'''' राजा ने कपटी मुनि को श्रेष्ठ साधु मानकर—शास्त्रोक्त साधु-लक्षणों को कहकर—उनके अनुसार इसकी सराहना की। यथा—"बिधि हरिहर कबि कोबिद बानी। कहत साधु-महिमा सकुचानी॥" (दो० २); आप ऐसे महान् हैं कि आपकी चरण-वंदना देवता भी करते हैं, मेरे भाग्य का क्या कहना है कि इन चरणों के दर्शन हुए ?

(३) 'मृदुगिरा सुहाई', 'जानि पिता'''—कोमल वाणी तो तापस ने भी कही थी, पर उसके वचन छलसंयुक्त होने से 'सुहावने' न थे, राजा के वचन निश्छल हैं। अतः, 'सुहावने' हैं। मुनि ने राजा को 'तात भयो अँधियारा' में 'तात' कहा था। मुनि के संबंध में तात का अर्थ पुत्र ही लिया जायगा। अतः, राजा ने उसे 'पिता' कहा। महात्मा एवं स्वामी से ढिठाई अयोग्य है और बालक पिता से ढिठाई कर सकता है, इसलिये भी 'पिता' कहा।

(४) 'मोहि मुनीस सुत सेवक जानी।'''—पुत्र पर प्रीति स्वतः होती है, यदि पुत्र सेवक भी हो तो और अत्यन्त प्रीति होती है, इसलिये दोनों कहे। नाम का बखान कर कहना यह कि जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा आदि के जो नाम हों, उन्हें विस्तार से कहिये।

तेहि न जान नृप नृपहिं सो जाना। भूप सुहृद सो कपटसयाना॥५॥
बैरी पुनि छत्री पुनि राजा। छल बल कीन्ह चहइ निज काजा॥६॥
समुझि राजसुख दुखित अराती। अवाँ अनल इव सुलगइ छाती॥७॥
सरल बचन नृप के सुनि काना। बैर सँभारि हृदय हरषाना॥८॥

दोहा—कपट बोरि बानी मृदुल, बोलेउ जुगुति-समेत।
नाम हमार भिखारि अब, निर्धन रहित-निकेत॥१६०॥

शब्दार्थ—सुहृद=शुद्ध हृदयवाला। अराति=शत्रु। सुलगइ=जलती है, धधकती है।

अर्थ—राजा ने उसे नहीं पहचाना, पर उसने राजा को पहचान लिया था। राजा का हृदय शुद्ध है, पर वह कपट में निपुण है॥५॥ एक तो वह शत्रु, फिर जाति का क्षत्रिय, उसपर भी राजा है। अतः, छल-बल से अपना कार्य करना चाहता है॥६॥ वह शत्रु अपने (पूर्व के) राज्य-सुख को समझकर दुखी है, उसकी छाती कुम्हार की भट्ठी की आग की तरह (भीतर-ही-भीतर) भभक रही है॥७॥ राजा के सीधे वचन कानों से सुनकर और अपने बैर का स्मरण करके वह हृदय में हर्षित हुआ॥८॥ कपट रूपी जल में डुबाकर युक्ति-युक्त कोमल वाणी बोला कि अब तो हमारा नाम भिखारी है, हम धन-धाम-रहित हैं॥१६०॥

विशेष—(१) 'तेहि न जान'''—प्रथम कहा गया था—"राउ तृषित नहिं सो पहिचाना। देखि सुबेष महामुनि जाना॥" (दो० १५०); पर अब राजा सुस्थिर एवं सुखी है और उसके सामने ही बैठा है, फिर पहचान क्यों नहीं लिया ? इसका उत्तर यही है कि राजा सुहृद=सरल स्वभाव होने से उसके कपट को

नहीं भाँप सका, यथा—"सरल सुसील धरमरत राऊ। सो किमि जानइ तीय-सुभाऊ॥" (अ० दो० १६१); यथा—"नाथ सुहृद सुठि सरल चित,..." (अ० दो० २३७)। अर्थात् सुहृद अपने समान सबको शुद्ध ही जानता है।

(२) 'वैरी पुनि छत्री पुनि राजा।...'—वैरी सदा अपने शत्रु पर आघात करना चाहता है, यथा—"रिपु रिन रंच न राखब काऊ।" (अ० दो० २२८); "रिपु पर कृपा परम कदराई।" (आ० दो० १८)। क्षत्रिय जाति क्रोधी एवं बलवान् भी होती है और बदला लेती है। यथा—"तदपि कठिन दसकंठ सुनु, छत्रि-जाति कर रोष।" (लं० दो० २३)। राजा स्वार्थी होते हैं, जैसे बने, काम निकालते हैं, अभिमानी होने से एक देश में दो नहीं रह सकते। यहाँ यह तीन गुणों से तीनो बातें चाहता है—वैरी—छल, क्षत्रिय—बल और राजा—निज काज।

(३) 'समुझि राज-सुख...'—अर्थात् राज्य-सुख का छीनना वैर का कारण है। 'अवाँ इव' यथा—"तपइ अवाँ इव उर अधिकाई।" (दो० ५७)। प्रथम बल से राज्य नहीं बचा सका, अब छल से लेगा।

'बैर सँभारि...'—यथा—"सत्रु सयानो सलिल ज्यों, राख सीस रिपु नाव। बूड़त लखि पग डगत लखि, चपरि चहूँदिसि धाव॥" (दोहावली ५१०)। यहाँ 'बैर सँभारि' में क्षत्रिय का स्वरूप दिखाया।

(४) 'कपट बोरि बानी...'—यहाँ कपटमय वचनों से अपना कार्य साधने में राजा का स्वरूप दिखाया। इस तरह की बातों से वह राजा का भेद लेना चाहता है कि उसने मुझे—'मुनीस सुत सेवक जानी' हृदय से कहा है या नहीं। राजा समझता है कि ये प्रथम बहुत ऐश्वर्यवान् थे, अब सब त्याग बैठे हैं, अतएव बड़े महात्मा हैं। इसीसे नाम आदि नहीं बतलाये, क्योंकि—'सदा रहहिं अपनपौ दुराये।' 'अब' शब्द में इसकी युक्ति है कि यदि कहीं राजा जान ले, तब तो कह दूँगा, मैंने तो सत्य ही कहा है कि आपने राज्य ले लिया तो यहाँ भिखारी बनकर निर्वाह करता हूँ और यदि न जान पाया, तो आगे मुझे अपने को ब्रह्मा का पुत्र होना और तपोधन इत्यादि कहना है, अब तो मैं सब त्यागे बैठा हूँ। अतः, विरक्ति सिद्ध होगी।

कह नृप जे बिज्ञाननिधाना। तुम्ह सारिखे गलित अभिमाना॥१॥
सदा रहहिं अपनपौ दुराये। सब बिधि कुसल कुबेष बनाये॥२॥
तेहि ते कहहिं संत श्रुति टेरे। परम अकिंचन प्रिय हरि केरे॥३॥
तुम्ह सम अधन भिखारि अगेहा। होत बिरंचि सिवहिं संदेहा॥४॥
जोसि सोसि तव चरन नमामी। मो पर कृपा करिय अब स्वामी॥५॥

शब्दार्थ—गलित अभिमान = निरभिमान। अपनपौ = आत्मगौरव एवं अपने रूप को। अकिंचन = जिन्हें भगवान् के अतिरिक्त और कुछ भी चाह नहीं। अधन = निर्धन। अगेह = गृहरहित।

अर्थ—राजा ने कहा कि जो आपके समान विज्ञान के स्थान और निरभिमान होते हैं॥१॥ वे सदा अपनी प्रतिष्ठा को छिपाये रहते हैं, (क्योंकि) वे बुरा वेष बनाये रहने में सब प्रकार कुशल मानते हैं॥२॥ इसीसे संत और वेद पुकार कर कहते हैं, कि परम अकिंचन ही भगवान् के प्यारे हैं॥३॥ आपके समान निर्धन भिखारियों और गृहहीनों से ब्रह्मा-शिव को भी संदेह होता है॥४॥ आप जो हैं सो हैं मैं आपके चरणों को नमस्कार करता हूँ, स्वामिन्! आप मुझपर कृपा कीजिये॥५॥

(योऽसि सोऽसि = यः असि, सः असि = जो हैं, सो हैं अर्थात् जो भी हों, वही सही)

विशेष—(१) 'जे बिग्यानिधाना। ···'—विज्ञानी शरीर के द्वारा होनेवाले गुणों को प्रकृति के गुण समझते हैं, इससे उनका अभिमानी न होना सहज है।

(२) 'सब बिधि कुसल कुबेष ···'—कुवेष देखने से उन्हें गँवार समझकर कोई पास नहीं आवेगा। नहीं तो कोई बेटा, कोई धन, कोई विजय आदि की इच्छा से घेरे रहेंगे, इससे भजन में बाधा होगी।

(३) 'होत बिरंचि सिवहिं संदेहा।'—कुवेष-अकिंचन आदि भगवान् को प्रिय हैं, इनसे ब्रह्मा शिव को संदेह होता है कि इनको देने के योग्य हमारे पास कुछ नहीं है, क्या दें ? क्योंकि ये दोनों तप आदि कर्मों के फल देनेवाले हैं। यथा—"मैं ब्रह्मा मिलि तेहि बर दीन्हा।" (दो॰ १७६)। पुन यह भी भाव है कि कहीं वे हमारे ही लोक लेने की इच्छा न करें।

(४) 'मो पर कृपा करिय ···'—राजा ने सुत-सेवक बनकर नाम पूछा। इसने नहीं बताया। किन्तु, उदासीनता की बातों में टाल दिया। इसपर राजा ने समझा कि मुनि को अपना परिचय देना अभीष्ट नहीं है, अतएव प्रार्थना करता है कि आप कोई भी हों, पर मुझपर कृपा करें, मुझे सुत-सेवक मानें।

सहज प्रीति भूपति कै देखी। आप बिषय बिस्वास बिसेखी ॥६॥
सब प्रकार राजहिं अपनाई। बोलेउ अधिक सनेह जनाई ॥७॥
सुनु सतिभाव कहउँ महिपाला। इहाँ बसत बीते बहु काला ॥८॥
दोहा—अब लगि मोहिं न मिलेउ कोउ, मैं न जनावउँ काहु।
लोकमान्यता अनल-सम, कर तप-कानन दाहु ॥
सो॰—तुलसी देखि सुबेखु, भूलहिं मूढ़ न चतुर नर।
सुंदर केकिहि पेखु, बचन सुधासम असन अहि ॥१६१॥

शब्दार्थ—सहज = स्वाभाविक। आप बिषय = अपने ऊपर। अपनाई = अनुकूल करके। केकिहि = मोर को। पेखु = देखो। असन = भोजन।

अर्थ—अपने ऊपर राजा की स्वाभाविक प्रीति और अधिक विश्वास देखकर ॥६॥ और सब तरह से राजा को अपने अनुकूल करके अधिक स्नेह प्रकट करता हुआ बोला ॥७॥ हे राजन् ! सुनो, मैं सत्यभाव से कहता हूँ, यहाँ बसते हुए मुझे बहुत समय बीत गया ॥८॥ अब तक कोई मुझे न मिला और मैं अपनेको किसी के प्रति जनाता भी नहीं, क्योंकि लोक-बड़ाई तप रूपी वन को अग्नि के समान भस्म कर देती है ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि सुन्दर वेष देखकर मूर्ख ही नहीं, प्रत्युत चतुर मनुष्य भी धोखा खा जाते हैं। देखिये, मोर देखने में सुन्दर होता है और उसके वचन अमृत के समान होते हैं, परन्तु भोजन उसका सर्प है ॥१६१॥

विशेष—(१) 'सहज प्रीति ·· सब प्रकार···'—कपटी मुनि ने राजा की प्रीति-प्रतीति देखने के लिये युक्ति के वचन कहे थे, वह देख लिया। जब विशेष विश्वास पाया, तब सब भाँति अधीन करके अब पूर्व की अपेक्षा अधिक स्नेह जताते हुए बोला।

(२) 'सुनु सतिभाउ···' भाव अब नहीं छिपायेंगे। अतः, आगे जो कुछ कहेंगे, सत्य ही कहेंगे। 'महिपाला'—राजा ने अपनेको मंत्री कहा था, पर इसने महिपाल कहा, इससे अपनी सर्वज्ञता जनाई। इसीपर आगे कहेगा—'गुरु-प्रसाद सब जानिय···'। जब राजा को अपने अधीन जान लिया कि जो कहूँगा, वही मान लेगा; तब 'सतिभाउ' कहकर सिद्धई दिखाने लगा। 'बहु काला'—यह भी युक्ति का वचन है, राजा तो बहुकालीन महात्मा समझेगा और यह थोड़े ही समय से राज्य छिन जाने पर यहाँ आया है। 'बहुकाल' में दस-बीस दिन और बहुत कल्प—सभी का समावेश हो जाता है।

(३) 'अब लगि मोहि न···'—संतों के पास कोई आकर सिद्धई देखता है तो वह दूसरे से कहता है। ऐसे ही कानोंकान ख्याति हो जाती है, अथवा स्वयं भिक्षाटन के बहाने चेताने निकले, तो अपने वचन-कर्म से अपनी सिद्धई प्रकट करते हैं। कपटी मुनि अपने में इन दोनों रीतियों का निषेध करता है, इसका कारण उत्तरार्द्ध में कहा। 'लोकमान्यता अनल ···'—दावानल सम्पूर्ण वन में फैलकर उसे भस्म कर देता है, ऐसे ही लोक-बड़ाई संसार में फैलकर तप का नाश कर देती है। जैसे विश्वामित्र की बहुत तपस्या को त्रिशंकु ने, कुछ अप्सराओं ने और कुछ विप्र-पुत्र ने लूटा।

(४) 'तुलसी देखि सुबेषु ··'—राजा को प्रथम तापस वेष देखकर धोखा हुआ और यहाँ उसके स्नेहमय (सुधासम) वचनों पर भूला, इसी का समाधान ग्रंथकार करते हैं कि जैसे मोर देखने में सुन्दर होता है, उसकी बोली (वर्षा में दूर से) सुहावनी होती है, इससे आपाततः लोग मोहित हो जाते हैं। वैसे ही साधु-वेष और उसके स्नेहमय वचनों से चतुर भी धोखे में पड़ जाते हैं, यथा—"बचन बेष क्यों जानिये, मन मलीन नर नारि। सूपनखा मृग पूतना, दसमुख प्रमुख बिचारि॥" (दोहावली ४०८) अर्थात् वचन-वेष से हृदय को परखना अति कठिन है।

हाँ, जैसे मोर की संगति करने से उसके स्वभाव का पता लग जाता है कि वह हिंसक एवं घोर सर्पों को पचानेवाला है, वैसे ही वेषधारी कपटी साधु का संग कुछ काल करने से उसकी हार्दिक वृत्ति छिप नहीं सकेगी। यथा—"कपट सार-सूची सहस, बाँधि बचन पर वास। किय दुराव चहै चातुरी, सो सठ तुलसी दास॥" (दोहावली ४१०) अर्थात् इसने जब राजा को 'महिपाला' कहा, तभी शंका करनी थी कि यह कोई भेदी न हो। मैंने तो इसे मंत्री ही कहा था। पुनः कुछ काल सहवास करके हार्दिक स्थिति भी जान सकता था, पर यहाँ राजा भावी-वश एकाएक प्रीति-प्रतीति करके अधीन हो गया, जिससे परीक्षा-वृत्ति ही न उठ सकी। अतः, चतुर होते हुए भी भूल गया। (जो समदृष्टि से वेषमात्र के उपासक हैं उन्हें परीक्षा की अपेक्षा ही नहीं है। अतः, उन्हें भूल कहना अयोग्य है।)

यहाँ कपटी मुनि मोर है जो भानुप्रताप के वंशरूप अहिकुल का नाशक होगा, यह भी ध्वनित है।

तातें गुपुत रहउँ जग माहीं। हरि तजि किमपि प्रयोजन नाहीं॥१॥
प्रभु जानत सब बिनहि जनाये। कहहु कवन सिधि लोक रिझाये॥२॥
तुम्ह सुचि सुमति परम प्रिय मोरे। प्रीति प्रतीति मोहि पर तोरे॥३॥
अब जौं तात दुरावउँ तोही। दारुन दोष घटइ अति मोही॥४॥

शब्दार्थ—किमपि=कुछ भी। घटइ=लगेगा। रिझाये=प्रसन्न करने से।

अर्थ—इसीसे मैं जगत् में गुप्त रहता हूँ और भगवान् को छोड़कर अन्य कुछ भी प्रयोजन नहीं रखता॥१॥ प्रभु तो बिना जनाये ही जानते हैं, कहो तो भला, लोक को रिझाने से क्या सिद्धि होगी?॥२॥

(३) 'तप ते अगम न कछु···'—भाव यह कि त्रिदेव ही नहीं, कोई भी संसार का ही व्यक्ति क्यों न हो, तप से त्रिदेवों का काम अकेला ही कर सकता है। जैसे, स्कंदपुराण के अनुसार राजा दिवोदास ने तप करके अकेले ही त्रिदेवों के पद लेने की चेष्टा की थी। पर पीछे उसके नास्तिक हो जाने पर सिद्धि नहीं मिली। इस प्रकार कपटी मुनि ने युक्ति से अपने को त्रिदेवों के तुल्य जनाया। तब राजा को निश्चय हो गया कि ये चिरकालीन महात्मा हैं।

भयेउ नृपहिं सुनि अति अनुरागा। कथा पुरातन कहइ सो लागा ॥४॥
करम धरम इतिहास अनेका। करइ निरूपन बिरति बिबेका ॥५॥
उद्भव - पालन - प्रलय कहानी। कहेसि अमित आचरज बखानी ॥६॥

अर्थ—यह सुनकर राजा को अत्यन्त अनुराग हुआ, तब वह पुरानी कथाएँ कहने लगा ॥४॥ कर्म, धर्म और तत्सम्बन्धी अनेक इतिहास कहे, उन्हीं के साथ ज्ञान-वैराग्य का भी निरूपण करता था ॥५॥ उत्पत्ति, पालन और संहार की अनेक प्रकार की बहुत आश्चर्ययुक्त आख्यायिकाएँ कह सुनाईं ॥६॥

विशेष—(१) 'अति अनुरागा। कथा···'—श्रोता का अनुराग देखकर कथा कहने लगा। यथा—"लागी सुनइ श्रवन मन लाई। आदिहुँ ते सब कथा सुनाई॥" (सुं० दो० १२)। 'पुरातन'—अपनी उत्पत्ति आदिकल्प में कही है। वही पुरानी कथाओं के वर्णन से सिद्ध करता है कि ये सब घटनाएँ हमारी आँखों के सामने हुई हैं; अतः, मैं जानता हूँ, वही कहता हूँ।

(२) 'करम धरम इतिहास···'—कर्म की गति बड़ी सूक्ष्म है। यथा—"किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।···"से—"गहना कर्मणो गतिः॥" (गीता ४।१६–१७) तक। कर्म-गति ब्रह्मा ही जानते हैं। यथा—"कठिन करम-गति जान बिधाता॥" (अ० दो० २८१)। धर्म, यथा—"खोजत कतहुँ मिलइ नहिं धूरी। करइ क्रोध जिमि धर्महिं दूरी॥" (कि० दो० १४) अर्थात् धर्म रजःकणों की तरह अनन्त एवं सूक्ष्म है। इन्हीं कर्म-धर्म के उदाहरण-रूप में अनेक इतिहास कहे कि अमुक कल्प में अमुक व्यक्ति ने अमुक कर्म किया और अमुक फल पाया। वैराग्य और ज्ञान का स्वरूप निरूपण किया। (देखिये आ० दो० १४।) इतिहासों में इनके भी साधकों एवं सिद्धों के उदाहरण कहे।

(३) 'उद्भव-पालन-प्रलय कहानी।······'—सर्वप्रेरक नर-शब्द वाच्य श्रीरामजी को सृष्टि की इच्छा हुई तब उन्होंने जल उत्पन्न करके उसमें चतुर्भुज-रूप से शयन किया। अतः, नारायण नाम पड़ा। उनकी नाभी से कमल हुआ, उससे ब्रह्मा हुए, तब उन्होंने त्रिगुणात्मक संसार रचा। विष्णु नाना अवतार लेकर रक्षा करते हैं एवं प्रेरक-रूप से चराचर जगत् का पालन अन्योन्य सम्बन्ध से करते हैं और शिवजी संहार (प्रलय) करते हैं। कभी-कभी शेषजी और सूर्य भगवान् से भी प्रलय-व्यापार होते हैं, इत्यादि।

'कहेसि अमित आचरज···'—आश्चर्य यह कि कभी-कभी तीनों काम एक ही करते हैं। यथा—"उद्भव पालन प्रलय समीहा" (लं० दो० १७), यह विराट् के प्रसग में कहा है। कभी ब्रह्मा ही तीनों काम करते हैं। यथा—"जो सृजि पालइ हरइ बहोरी।" (अ० दो० २८१) और भी जहाँ-तहाँ विराट्-प्रसंग में कही हुई आश्चर्य की बातें कहीं।

सुनि महीप तापसबस भयेऊ। आपन नाम कहन तब लयेऊ ॥७॥
कह तापस नृप जानउँ तोही। कीन्हेहु कपट लाग भल मोही ॥८॥

दोहा—सुनु महीस असि नीति, जहँ तहँ नाम न कहहिं नृप ।
मोहि तोहि पर अति प्रीति, सोइ चतुरता बिचारि तव ॥१६३॥

अर्थ—(ये सब) सुनकर राजा तपस्वी के वश में हो गया और अपना नाम कहने पर हुआ ॥७॥ तब वह (तापस) बोला कि हे राजन् ! मैं तुम्हें जानता हूँ । तुमने कपट किया, वह मुझे अच्छा लगा ॥८॥ राजन् ! सुनो, ऐसी नीति है कि राजा अपना नाम जहाँ-तहाँ न कहा करे । वही तुम्हारी चतुरता समझकर तुमपर मेरी अत्यन्त प्रीति है ॥१६३॥

विशेष—'नाम कहन तब लयेऊ'—कहने को हुआ, पर कहने न पाया । बीच में ही तापस ने इसकी बात काटकर सर्वज्ञता दिखाने के लिये स्वयं कहने लगा ।

'कीन्हेहु कपट लाग भल······'—कपट किसी को भला नहीं लगता, क्योंकि वह प्रीति-प्रतीति का नाशक है । यथा—"जल पय सरिस बिकाय, देखहु प्रीति कि रीति भलि । बिलग होइ रस जाइ, कपट खटाई परत पुनि ॥" (दो० ५७) । पर तापस को अच्छा लगा । इसका कारण आगे दोहे में कहा है कि यह तो कपट नहीं, नीति की निपुणता है; यथा—"परम चतुर न कहेउ निज नामा ॥" (दो० १५०) । इसी "परम चतुरता' पर तो तुमपर मेरी 'अति प्रीति' है ।

नाम तुम्हार प्रतापदिनेसा । सत्यकेतु तव पिता नरेसा ॥१॥
गुरुप्रसाद सब जानिय राजा । कहिय न आपन जानि अकाजा ॥२॥
देखि तात तव सहज सुधाई । प्रीति प्रतीति नीतिनिपुनाई ॥३॥
उपजि परी ममता मन मोरे । कहउँ कथा निज पूछे तोरे ॥४॥
अब प्रसन्न मैं संसय नाहीं । माँगु जो भूप भाव मन माहीं ॥५॥

अर्थ—तुम्हारा नाम भानुप्रताप है, राजा सत्यकेतु तुम्हारे पिता थे ॥१॥ हे राजन् ! गुरु की प्रसन्नता (कृपा) से मैं सब जानता हूँ, पर अपनी हानि समझकर नहीं कहता ॥२॥ हे तात ! तुम्हारी स्वाभाविक सिधाई, प्रीति, प्रतीति एवं नीति में निपुणता देखकर ॥३॥ मेरे मन में ममत्व उत्पन्न हो गया है; अतः, तुम्हारे पूछने से अपनी कथा कहता हूँ ॥४॥ अब मैं प्रसन्न हूँ, इसमें संदेह नहीं । राजन् ! जो मन में भावे, माँग लो ॥५॥

विशेष—(१) 'नाम तुम्हार'' ···'—प्रथम राजा का नाम कहा, तब पिता का भी अर्थात् तुम्हीं को नहीं, तुम्हारे कुल भर को जानता हूँ, इस तरह अपनी सर्वज्ञता प्रकट की । यह भी भाव है कि दंडवत् करते समय राजा को अपने पिता-समेत नाम लेना था, उसकी पूर्ति कर दी ।

(२) 'गुरुप्रसाद सब जानिय···'—प्रथम इसने अपने में तपोबल होना युक्ति से कहा था, अब गुरु-प्रसाद भी कहा, तात्पर्य यह कि साधन के साथ-साथ गुरुकृपा भी चाहिये । क्योंकि—"बिनु गुरु होइ कि ज्ञान (उ० दो० ८९) । यह भाव भी ध्वनित करता है कि हमें गुरु करोगे तो हमारी कृपा से तुम भी ऐसा ही सिद्ध हो जाओगे ।

तुम पवित्र और सुन्दर बुद्धिवाले हो, (अतएव मुझे परम-प्रिय हो) मुझपर तुम्हारा प्रेम और विश्वास है ॥३॥ (इससे) हे तात ! यदि अब मैं तुमसे छिपाऊँ तो मुझे बड़ा कठिन दोष लगेगा ॥४॥

विशेष—(१) 'ताते गुपुत···'—'ताते' को प्रथम कहा कि—'लोकमान्यता अनल ···'। राजा ने कहा था—'परम अकिंचन प्रिय···' उसीको तापस ने कहा—'हरि तजि किमपि···'।

(२) 'प्रभु जानत सब···'—प्रभु अर्थात् समर्थ हैं, बिना जनाये ही जानते हैं। अतः, सर्वज्ञ हैं; अर्थात् वे स्वयं मन को जानकर मनोरथ-पूर्ति करने में समर्थ हैं। फिर अल्पज्ञ एवं स्वार्थी जगत् को रिझाने में क्या रक्खा है ?

(३) 'तुम्ह सुचि सुमति···'—उपर्युक्त दो अर्द्धालियों से राजा कुछ उदास हो गया कि तब हमसे भी क्यों बतावेंगे। इसपर तापस कहता है कि 'तुम्ह सुचि ··' अब जौं तात···' अर्थात् तुमसे छिपा नहीं सकता, इसीसे कहूँगा। पूर्वार्द्ध में 'सुचि-सुमति' और उत्तरार्द्ध में—'प्रीति प्रतीति' क्रमशः साधन-साध्य हैं; अर्थात् हृदय शुचि होने से प्रीति और सुंदर मति के द्वारा हमें यथार्थ जानने से प्रतीति है।

(४) 'दारुन दोष घटइ···'—अपने में प्रीति करनेवाले से छिपाव रखना बड़ा पाप है और मैं तो साधु हूँ। मैं यदि ऐसे से छिपाव करूँ तो मुझे अत्यन्त भारी पाप लगेगा।

जिमि-जिमि तापस कथइ उदासा। तिमि-तिमि नृपहिं उपज बिस्वासा ॥५॥
देखा स्वबस करम-मन-बानी। तब बोला तापस बकध्यानी ॥६॥
नाम हमार एकतनु भाई। सुनि नृप बोलेउ पुनि सिर नाई ॥७॥
कहहु नाम कर अरथ बखानी। मोहि सेवक अति आपन जानी ॥८॥

दोहा—आदि सृष्टि उपजी जबहिं, तब उत्पति भइ मोरि।
नाम एकतनु हेतु तेहि, देह न धरी बहोरि ॥१६२॥

अर्थ—जैसे-जैसे तपस्वी उदासीनता की बातें कहता था, वैसे-वैसे राजा को उसपर विश्वास (अधिक) उत्पन्न होता था ॥५॥ कर्म, मन और वचन से (राजा को) अपने वश में देख लिया, तब वह बक-ध्यानी (दंभी) तपस्वी बोला ॥६॥ हे भाई ! हमारा नाम 'एकतनु' है। यह सुनकर राजा फिर प्रणाम करके बोला ॥७॥ कि मुझे अपना अत्यन्त (अनुगत) सेवक जानकर (एकतनु) नाम का अर्थ बखान कर कहिये ॥८॥ (वह बोला कि) सबसे पहले जब सृष्टि उत्पन्न हुई तभी मेरी उत्पत्ति हुई, एकतनु नाम उसी कारण से पड़ा कि फिर (दूसरा) देह-धारण नहीं किया ॥१६२॥

विशेष—(१) 'कथइ उदासा'—इसकी उदासीनता कथनमात्र है, फिर भी भावी-वश राजा को अंध-विश्वास होता जाता है।

(२) 'देखा स्वबस करम मन बानी।'—कर्म से, यथा—"जोसि सोसि तव चरन नमामी।" मन से, यथा—"सहज प्रीति भूपति कै देखी।" प्रीति मन का धर्म है। वचन से, यथा –"कह नृप जे बिज्ञाननिधाना।"—से—"होत बिरंचि सिवहि संदेहा॥" (दो० १६०) तक।

'बकध्यानी'—जैसे बक ऊपर से सीधा बनकर ध्यान लगाये हुए रहता है, पर भीतर से उसे मछली खाने की ताक रहती है, वैसे ही यह ऊपर के वेष-मात्र से साधु बना है, पर भीतर से राजा के नाश का प्रयत्न कर रहा है, यथा—"जेहि रिपु छय सोइ रचेन्हि उपाऊ।" (दो० १६१)।

(३) 'नाम हमार एकतनु''''''—इस नाम-कथन में 'भाई' संबोधन से ध्वनित होता है कि हम तुम भाई अर्थात् एक वर्ग के हैं अर्थात् तुम राजा हो, हम भी राजा ही हैं। इसने बहुत प्रार्थना करवा कर तो नाम मात्र कहा। राजा ने बखानकर कहने की प्रार्थना की थी कि जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा (जो मन में आवे)—चार प्रकार के नाम होते हैं, सब कहिये, जिससे पूरा परिचय हो जाय। 'एकतनु' नाम से राजा को संदेह होगा ही कि एकतनु तो सभी के होते हैं, यह कैसा नाम? अतः, फिर प्रार्थना करेगा तो इसका अर्थ कहूँगा, वही हुआ।

(४) 'आदि सृष्टि उपजी''''—इस नाम के अर्थ में भी तापस की युक्ति है। राजा तो समझेगा कि प्रथम कल्प में जब प्रथम सृष्टि हुई, तभी मैं पैदा हुआ। तब से अभी तक कितनी ही बार उत्पत्ति-प्रलय हो गये, पर मेरी वही देह बनी हुई है। पर यथार्थ यह है कि मेरे माता-पिता से जो आदि सृष्टि हुई; अर्थात् प्रथम संतान हुई, वही मैं हूँ, अर्थात् मैं ज्येष्ठ पुत्र हूँ। 'एकतनु भाई' का यह भी भाव है कि मैं अकेला भाई हूँ, जब से पैदा हुआ, अभी तक जीता ही हूँ। अतः, दूसरी बार देह धारण नहीं करना पड़ा। 'आदिसृष्टि' ब्रह्म-पुराण के अनुसार ब्रह्मा ने चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को सूर्योदय के समय पहले-पहल सृष्टि की रचना की; यथा—"चैत्रे मासे जगद्ब्रह्मा ससर्ज प्रथमेऽहनि। शुक्लपक्षे समग्रन्तु तथा सूर्योदये सति॥ प्रवर्त्तयामास तदा कालस्य गणनामपि॥"

जनि आचरज करहु मन माहीं। सुत तप ते दुरलभ कछु नाहीं॥१॥
तपबल ते जग सृजइ बिधाता। तपबल बिष्णु भये परित्राता॥२॥
तपबल संभु करहिं संहारा। तप ते अगम न कछु संसारा॥३॥

शब्दार्थ—सृजइ = रचता है। परित्राता = रक्षक एवं पालन-कर्त्ता। संहारा = प्रलय। अगम = अप्राप्य।

अर्थ—हे पुत्र! मन में आश्चर्य मत करो, तप से कुछ भी दुर्लभ नहीं है॥१॥ तप के बल से ही ब्रह्मा जगत् को उत्पन्न करते हैं; तप-बल से विष्णु भगवान् पालनकर्त्ता हुए॥२॥ और तपस्या के ही बल से शिवजी संहार करते हैं- तप से संसार में कुछ भी अप्राप्य नहीं है॥३॥

विशेष—(१) 'जनि आचरज''''''—उपर्युक्त बात पर राजा के मन में संदेह हुआ कि यह तो असंभव बात है, उसीको चेष्टा से जानकर समाधान करता है, कि—'जनि आचरज''''''। प्रमाण—यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्। सर्वं तु तपसा साध्यं तपोहि दुरतिक्रमः॥" (मनु सं०); तथा—"तपबल रचइ प्रपंच बिधाता।''''' से—"तप आधार सब सृष्टि भवानी॥" (दो० ७१) तक।

'सुत'—राजा ने कई बार उससे 'सुत-सेवक' मानने को कहा और पिता कहा है। अतः, इसने भी 'सुत' कहा। भाव यह कि मैंने तुम्हें 'सुत' मान लिया। दूसरा यह भी भाव है कि इस नाते से ही गुप्त बातें भी कहता हूँ। आगे अपनी श्रेष्ठता की पुष्टि में परम श्रेष्ठ त्रिदेवों का प्रमाण भी देता है—

(२) तप करके त्रिदेवों के सृष्टि आदि करने का प्रमाण दिया गया है। ये ईश्वर हैं, संकल्प-मात्र से उत्पत्ति-पालन और प्रलय करते हैं, इन्हें तप नहीं करना पड़ता। अतः, इनके विषय में तप का अर्थ विचार है, क्योंकि—'तप-आलोचने' धातु से 'तपस्' शब्द ही बनता है।

'कहिय न आपन जानि'''—सर्वज्ञता की ख्याति से व्यवहार में फँस जाऊँगा, इससे भगवद्भजन छूट जायगा और तप नष्ट हो जायगा। यथा—'लोकमान्यता अनल सम''' '।

(३) 'सहज सुधाई'—यथा—"सरल बचन नृप के सुनि काना।" (दो० १५१)। शेष प्रीति-प्रतीति आदि अभी ऊपर कही गई हैं।

(४) 'उपजि परी ममता मन मोरे।'''संत निर्मम होते हैं, वैसे मैं भी निर्मम था, पर तुम्हारे उपर्युक्त गुणों के कारण मुझसे न रहा गया, ममता उपज ही पड़ी। ममता अर्थात् मदीयत्व रूप स्नेह, यह माता-पिता में पुत्र के प्रति होता है अर्थात् तुममें मेरा पुत्रभाव हार्दिक वृत्ति से है। तापस ने अपनी कथा कहने में दो हेतु कहे—'ममता' और 'पूछे तोरे' अर्थात् दो में एक भी न होना तो न कहता।

(५) 'माँगु जो भूप भाव मन माहीं।'—'संसय नाहीं' प्रथम जबतक तुमने कपट किया था, तबतक पूर्ण प्रसन्नता में संशय था, पर अब तुम निष्कपट हो गये, अतः, अब संशय नहीं। 'भूप'—भूमंडल के सातो द्वीपों के राजा तो तुम हुई हो। और लोकों का जो ऐश्वर्य चाहो, माँग लो। अच्छी तरह स्ववश में करके अब नाश का उपाय करता है।

सुनि सुबचन भूपति हरषाना। गहि पद बिनय कीन्हि बिधि नाना॥६॥
कृपासिंधु मुनि दरसन तोरे। चारि पदारथ करतल मोरे॥७॥
प्रभुहिं तथापि प्रसन्न बिलोकी। माँगि अगम बर होउँ असोकी॥८॥

दोहा—जरा-मरन-दुखरहित तनु, समर जितइ जनि कोउ।
एकछत्र रिपुहीन महि, राज कलप सत होउ॥१६४॥

अर्थ—राजा सुंदर वचन सुनकर प्रसन्न हुआ और तपस्वी के चरणों को पकड़कर बहुत प्रकार से विनती की॥६॥ हे कृपासागर मुनि! आपके दर्शनों से चार पदार्थ (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) मेरी हथेली पर हैं॥७॥ तो भी प्रभु को प्रसन्न देख दुर्लभ वर माँगकर (क्यों न) शोकरहित हो जाऊँ॥८॥ बुढ़ाई और मृत्यु के दुःखों से रहित शरीर हो, संग्राम में कोई जीत न सके, पृथ्वी पर कोई शत्रु न रहे और सौ कल्पों तक एकच्छत्र राज्य हो॥१६४॥

विशेष—(१) 'सुनि सुबचन भूपति'''– राजा मन, वचन, कर्म से शरणागत हुआ। 'हरषाना' मन, 'गहि पद' कर्म, 'बिनय कीन्हि' वचन है।

(२) 'चारि पदारथ करतल'''—चारो पदार्थ मुझे प्रथम ही प्राप्त थे, यथा—"अरथ धरम कामादि सुख'''" (दो० १५४)। यहाँ इतनी विशेषता हुई कि अब हथेली पर हो गये, चाहे जिसको भी दे दूँ। यह आपके दर्शनों का महत्त्व है।

(३) 'प्रभुहिं अगम बर'''—भाव यह कि आप अगम (अप्राप्य) वर भी देने में समर्थ हैं।

(४) 'जरा-मरन-दुखरहित'''''—राजा को विश्वास है कि तपस्वीजी आदि कल्प से अभी तक 'एकतनु' से ही बने हैं तो हमें भी कर सकेंगे, शेष बातें तो इनके लिये सुगम हैं ही।

(५) 'कलप'''''—कल्प ब्रह्मा का एक दिन कहाता है जिसमें चौदह मन्वन्तर होते हैं। कल्प तीस हैं—(१) श्वेत वाराह, (२) नीललोहित, (३) वामदेव, (४) गाथान्तर, (५) रौरव, (६)

प्राण, (७) बृहत्कल्प, (८) कन्दर्प, (९) सत्य, (१०) ईशान, (११) ध्यान, (१२) सारस्वत, (१३) उदान, (१४) गारुड़, (१५) कौर्म (ब्रह्मा की पूर्णिमा), (१६) नारसिंह, (१७) समाधि, (१८) आग्नेय, (१९) विष्णुज, (२०) सौर, (२१) सौम, (२२) पावन, (२३) भावन, (२४) सप्तमाली, (२५) वैकुंठ, (२६) आर्चिष, (२७) वल्मी, (२८) वैराज, (२९) गौरी और (३०) पितृकल्प (ब्रह्मा की अमावस्या)। इन तीस कल्पों का ब्रह्मा का एक महीना होता है और बारह महीनों का एक वर्ष। ऐसे सौ वर्षों की आयु ब्रह्मा भोगते हैं। अभी ब्रह्मा के पचास वर्ष बीत चुके हैं। ५१ वें वर्ष में श्वेत वाराह कल्प चल रहा है। (विश्वकोष)

कह तापस नृप ऐसेइ होऊ। कारन एक कठिन सुनु सोऊ ॥१॥
कालउ तुअ पद नाइहि सीसा। एक बिप्रकुल छाड़ि महीसा ॥२॥
तपबल बिप्र सदा बरिआरा। तिन्ह के कोप न कोउ रखवारा ॥३॥
जौ बिप्रन्ह बस करहु नरेसा। तौ तुअ बस बिधि बिष्णु महेसा ॥४॥

अर्थ—तपस्वी ने कहा कि हे राजन्! ऐसा ही हो, किन्तु इसमें एक कठिन कारण है, वह भी सुन लो ॥१॥ हे राजन्! एक ब्राह्मण-कुल को छोड़कर काल भी तुम्हारे चरणों पर मस्तक झुकावेगा ॥२॥ (क्योंकि) तपस्या के बल से ब्राह्मण सदा प्रबल रहते हैं। (अतः,) उनके कोप से कोई रक्षक नहीं है ॥३॥ हे राजन्! जो ब्राह्मणों को वश कर लो, तो तुम्हारे वश विधि, हरि और हर भी हो जायँ ॥४॥

विशेष—'कालउ तुअ पद...'—जब काल ही अधीन रहेगा तब मरण आदि के दुःख हो ही नहीं सकेंगे। इसमें जो एक कारण कहा, उसमें पूर्वोक्त अपने कथनानुसार तपोबल ही दिखाया था। विप्रों के वश होने से सहज ही में देवता और त्रिदेव भी वश हो जायँगे, यथा—"मन क्रम बचन कपट तजि, जो कर भूसुर-सेव। मोहि समेत बिरंचि सिव, बस ताके सब देव॥" (आ० दो० ३३)। फिर यहाँ तापस ने विप्र-वश करने का महत्त्व तो कहा, पर उपाय नहीं कहा, क्योंकि आगे इसे कहना है कि इस युक्ति को गुप्त रखना। यदि अभी स्वयं बतला दे, तो आगे राजा कह सकेगा कि आपने तो मुझे यों ही कह दिया, तो मैं क्यों न कहूँ? अतः, राजा के आग्रह पर कहेगा।

चल न ब्रह्मकुल सन बरिआई। सत्य कहउँ दोउ भुजा उठाई ॥५॥
बिप्रस्राप बिनु सुनु महिपाला। तोर नास नहिं कवनेहुँ काला ॥६॥
हरषेउ राउ बचन सुनि तासू। नाथ न होइ मोर अब नासू ॥७॥
तव प्रसाद प्रभु कृपानिधाना। मो कहँ सर्बकाल कल्याना ॥८॥

अर्थ—दोनों भुजाएँ उठाकर सत्य कहता हूँ कि विप्रकुल से प्रबलता नहीं चलती ॥५॥ हे राजन्! सुनो, ब्राह्मणों के शाप के बिना तुम्हारा नाश किसी भी समय में नहीं है ॥६॥ उसके वचन सुनकर राजा प्रसन्न हुआ (और कहा कि) हे नाथ! अब मेरा नाश न होगा ॥७॥ हे कृपानिधान! आपकी प्रसन्नता से मेरा कल्याण सब समय में है ॥८॥

विशेष—(१) 'चल न ब्रह्मकुल...' अर्थात् तुम्हारी बरिआई (बल-प्रयोग) राजकुल पर चली है, यथा—"जीते सकल भूप बरिआई।" (दो० १५३), वैसी विप्रकुल पर नहीं चलेगी। 'दोउ भुजा उठाई'

यह शपथ की रीति है, यथा—"पन बिदेह कर कहहिं हम, भुजा उठाइ बिसाल॥" (दो० २४१)। यथा—"भुज उठाइ पन कीन्ह।" (आ० दो० ९)। पर इसने दोनों भुजाएँ उठाकर अपनी प्रतिज्ञा को अधिक सत्य दिखाया कि मैं अगम वर भी अवश्य सत्य कर सकता हूँ। इसकी यह प्रतिज्ञा भवदेव से सत्य ही निकलेगी। राजा के कुल-भर का नाश विप्रशाप ही से होगा। इसे अपने मित्र कालकेतु के कर्मों का विश्वास है। यह बार-बार नाश की ध्वनि से स्पष्ट है।

(२) 'हरषेउ राउ······ सर्वकाल कल्याना।'—राजा को इच्छित वर मिलने से हर्ष हुआ। फिर विप्र-वश-द्वारा सर्वकाल के कल्याण का भी उपाय है, वह भी तापस की प्रसन्नता एवं कृपा-द्वारा हो जायगा। यह अधिक मिला। अन्यथा काल ही को अपने वश में कर लेने से राजा शरीर से तो अमर रहता, पर उसका राज्य-सुख सौ कल्पों ही तक रहता।

दोहा—एवमस्तु कहि कपट मुनि, बोला कुटिल बहोरि।
मिलब हमार भुलाब निज, कहहु त हमहिं न खोरि॥१६५॥

तातें मैं तोहि बरजउँ राजा। कहे कथा तव परम अकाजा॥ १॥
छठे श्रवन यह परत कहानी। नास तुम्हार सत्य मम बानी॥ २॥
यह प्रगटे अथवा द्विजस्रापा। नास तोर सुनु भानुप्रतापा॥ ३॥
आन उपाय निधन तव नाहीं। जौं हरि हर कोपहिं मन माहीं॥ ४॥

शब्दार्थ—एवमस्तु=ऐसा ही हो। कहहु त=कहोगे तो। बरजउँ=मना करता हूँ।

अर्थ—'ऐसा ही हो', कहकर वह कुटिल कपटी मुनि फिर बोला कि हमारा मिलना और वन में अपना भटकना यदि कहीं कहोगे तो हमारा दोष नहीं॥१६५॥ इसीसे हम तुम्हें मना करते हैं कि हे राजन्! इस प्रसंग के कहने से तुम्हारी बड़ी हानि होगी॥१॥ छठे कान में इस कहानी (प्रसंग) के पड़ते ही तुम्हारा नाश होगा, यह हमारी वाणी सत्य है॥२॥ हे भानुप्रताप! सुनो, इस बात के प्रकट होने या विप्रशाप से तुम्हारा नाश होगा॥३॥ यदि विष्णु और शिव भी मन में कोप करें तो और उपायों से तुम्हारा नाश न होगा॥४॥

विशेष—(१) 'मिलब हमार······हमहिं न खोरि।' ऊपर से तो कहता है कि हमने गुप्त बात बतला दी, छिपाव नहीं किया; यथा—'दारुन दोष घटइ अति मोही।' तुम किसी से कहोगे तो तुम्हारा नाश होगा, तब हमें दोष न देना। वास्तव में वह भीतर से शंकित है कि कहीं इसके सुजान मंत्री लोग जान पावेंगे तो हमारा भंडा फूटेगा; फिर हमारा ही नाश होगा। इसलिये युक्ति से मना करता है।

(२) 'परम अकाजा'—अभी-अभी जो बड़ा वर माँगा है, वह व्यर्थ हो जायगा।

(३) 'छठे श्रवन ······'—इस समय यह कहानी हमारे-तुम्हारे (२+२) चार कानों में ही है, जहाँ तीसरे मनुष्य के कानों में अर्थात् छठे कान में पड़ेगी, तभी नाश होगा। अतः, किसी से भी न कहना। 'सत्य मम बानी' अर्थात् यह मेरा शाप समझो। अतः, ध्रुव सत्य है। यह इसके मन का डर है। 'छठे श्रवन' के श्लेषार्थ-द्वारा यह वाणी यथार्थ ही सत्य होगी, क्योंकि तीसरा कालकेतु है। उसके सुनते ही नाश का कार्य प्रारंभ हो जायगा।

(४) 'यह प्रगटे'—मन के डर से इसे विप्रशाप से भी अधिक दिखाते हुए प्रथम कहा।

(५) 'आन उपाय······'—यहाँ विप्रशाप को हरि-हर कोप से भी अधिक कहा। यथा—"इंद्र-कुलिस मम सूल बिसाला। कालदंड हरिचक्र कराला॥ जो इन्ह कर मारा नहिं मरई। बिप्रद्रोह-पावक सो जरई॥" (उ० दो० १०८)। यहाँ हरि और हर दोही कहे गये, पर ब्रह्मा नहीं, क्योंकि उनका अपने उपजाये हुए जीवों पर कोप करके नाश करना नहीं देखा गया।

सत्य नाथ पद गहि नृप भाखा। द्विज-गुरु-कोप कहहु को राखा॥५॥
राखइ गुरु जौं कोप बिधाता। गुरुबिरोध नहिं कोउ जग त्राता॥६॥
जौं न चलब हम कहे तुम्हारे। होउ नास नहिं सोच हमारे॥७॥
एकहि डर डरपत मन मोरा। प्रभु महिदेव-स्राप अति घोरा॥८॥

दोहा—होहिं बिप्र बस कवन बिधि, कहहु कृपा करि सोउ।
तुम्ह तजि दीनदयाल निज, हितू न देखउँ कोउ॥१६६॥

अर्थ—मुनि के चरणों को पकड़कर राजा ने कहा कि हे नाथ! (आपका कथन) सत्य है, कहिये तो भला, ब्राह्मण और गुरु के कोप से किसने रक्षा की है?॥५॥ जो विधाता कोप करें तो गुरु रक्षा कर सकते हैं, पर गुरु से विरोध करने पर जगत में कोई रक्षक नहीं है॥६॥ जो मैं आपके कहने पर न चलूँगा तो नाश हो जाय, मेरे हृदय में इसकी चिन्ता नहीं॥७॥ (परन्तु) प्रभो! एक ही डर से मेरा मन डरता है कि ब्राह्मणों का शाप बड़ा कठिन होता है॥८॥ ब्राह्मण किस प्रकार वश में हों, वह भी कृपा करके कहिये। हे दीनदयालु! आपको छोड़कर मैं किसी को भी अपना हितैषी नहीं देखता॥१६६॥

विशेष—(१) 'सत्य नाथ पद गहि···'—तपस्वी ने 'सत्य मम बानी' कहा था, उसीको प्रमाणित करते हुए, राजा ने भी 'सत्य नाथ' कहा। पुनः, उसने कहा था—"आन उपाय निधन तव नाहीं।" अतः, 'पद गहि' से कृतज्ञता दिखाई। उपर्युक्त दो० १६३ चौ० ६ भी देखिये।

(२) 'राखइ गुरु जौं कोप···' जैसे काकभुशुंडीजी को शिवजी के कोप से उनके गुरु ने बचाया है, उ० दो० १०६-१०६ देखिये। गुरु-विरोध से जगत् भर में कोई रक्षक नहीं हो सकता। जैसे राजा त्रिशंकु ने गुरु वशिष्ठ से विरुद्ध होकर रक्षा चाही—उसे कोई बचा न सका। विश्वामित्र प्रस्तुत भी हुए तो परिणाम यह हुआ कि त्रिशंकु उलटा टँग गये!

(३) 'नहिं सोच हमारे'—तब तो अपने नाशक हम स्वयं होंगे, फिर शोच कैसा?

(४) 'एकहि डर···'—डर के कारण दो कहे गये—'यह प्रगटे अथवा द्विजस्रापा'—उनमें एक तो अपने अधीन है। मैं प्रकट न करूँगा और कुछ अनिष्ट न होगा। पर विप्र-शाप तो अपने वश की बात नहीं है, प्रत्युत हरिहर के कोप से भी भीषणतर है।

(५) 'होहिं बिप्र बस कवन···'—'कृपा करि सोउ'—कृपा करके अगम वर दिया तो उसी का अंगभूत यह (विप्र-वश का उपाय) भी कहिये। आप दीनों पर दयालु हैं और मैं दीन हूँ। 'हितू न देखउँ कोउ'—राजा तापस के वश हो गया है, इससे इसे वही हितैषी दिखता है, यथा—"तोहि सम हित न मोर संसारा। बहे जात कहँ भइसि अधारा॥" (अ० दो० २२)—यह मंथरा के वश होने पर कैकयी ने कहा है।

सुनु नृप बिबिध जतन जग माहीं । कष्टसाध्य पुनि होहिं कि नाहीं ॥१॥
अहइ एक अति सुगम उपाई । तहाँ परंतु एक कठिनाई ॥२॥
मम आधीन जुगुति नृप सोई । मोर जाब तव नगर न होई ॥३॥
आजु लगे अरु जब ते भयेऊँ । काहू के गृह ग्राम न गयेऊँ ॥४॥
जौं न जाउँ तव होइ अकाजू । बना आइ असमंजस आजू ॥५॥

अर्थ—हे राजन् ! सुनो, संसार में बहुत प्रकार के उपाय हैं, पर उनका करना कठिन है, फिर भी वे सिद्ध हों या न हों ॥१॥ हाँ, एक उपाय अत्यन्त सुगम है, परन्तु उसमें भी एक कठिनता है ॥२॥ हे राजा ! वह युक्ति मेरे अधीन है, परन्तु मेरा जाना तुम्हारे नगर में नहीं हो सकता ॥३॥ (क्योंकि) मैं जब से पैदा हुआ तब से आज तक किसी के घर या गाँव में नहीं गया ॥४॥ और, जो नहीं जाता हूँ तो तुम्हारा काम बिगड़ता है, आज यह बड़ा असमञ्जस (दुविधा, आगा-पीछा) आ पड़ा है ॥५॥

विशेष—(१) प्रथम तो अन्य उपायों को कष्ट-साध्य कहा और उनकी सिद्धि में भी दुविधा दिखाकर उनसे राजा की रुचि हटाई । फिर अपने इच्छित उपाय को अति सुगम कहकर उस ओर राजा की श्रद्धा बढ़ाई । '···परंतु एक कठिनाई' अर्थात् वह ऐसी कठिनाई है कि दूसरा कोई उसे न तो जानता है और न कर ही सकता है ।

(२) 'मम आधीन···' 'आजु लगे···'—मेरे बिना यह युक्ति हो ही नहीं सकती । किसी के घर की कौन कहे, मैं किसी गाँव होकर भी नहीं निकला । प्रथम 'मम आधीन' कहा, तब राजा चलने को प्रार्थना करता, पर साथ ही इसने अपनी विरक्ति एवं दुर्लभता दिखाने के लिये—'आजु लगे···' भी कहा, तब राजा उदास हो गया कि ऐसा ऊँचा नियम ये मेरे लिये क्योंकर छोड़ेंगे ? अतः, फिर कहा कि—'जौं न जाउँ ···' अर्थात् दोनों ओर चित्त खिंचता है । 'बना आइ' अर्थात् मैं तुम्हें बुलाने तो गया नहीं था । अतः, दैवात् आ पड़ा । भीतरी आशय यह कि चलूँगा अवश्य, किंचित् प्रार्थना भी तो करो ।

सुनि महीस बोलेउ मृदु बानी । नाथ निगम असि नीति बखानी ॥६॥
बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं । गिरि निज सिरन्हि सदा तृन धरहीं ॥७॥
जलधि अगाध मौलि बह फेनू । संतत धरनि धरत सिर रेनू ॥८॥

दोहा—अस कहि गहे नरेस पद, स्वामी होहु कृपाल ।
मोहि लागि दुख सहिय प्रभु, सज्जन दीनदयाल ॥१६७॥

अर्थ—यह सुनकर राजा ने कोमल वाणी से कहा—हे नाथ ! वेदों ने ऐसी नीति कही है ॥६॥ (कि) बड़े लोग छोटों पर स्नेह किया करते हैं, पर्वत अपने शिरों (शिखरों) पर सदा तृणों को धारण किये रहते हैं ॥७॥ अथाह समुद्र के मस्तक (ऊपरी भाग) पर सदा फेन बहा करता है और पृथिवी धूलि-कणों को सदा सिर पर धारण किये रहती है ॥८॥ ऐसा कहकर राजा ने पाँव पकड़ लिये और कहा कि हे स्वामी ! कृपा कीजिये, हे प्रभो ! हे सज्जन ! हे दीनदयालु ! मेरे लिये दुःख उठाइये ॥१६७॥

विशेष—(१) 'निगम असि नीति'''—वैदिक नीति का प्रमाण दिया, क्योंकि इसे संत भी मानते हैं। अतः, मेरी प्रार्थना स्वीकृत होगी। राजनीति नहीं कही, क्योंकि उसे संत सर्वात्मना—पूरा-पूरा नहीं भी मानते हैं, फिर उससे इसकी अभीष्ट हानि भी होती, यथा—"प्रीति विरोध समान सन, करिय नीति असि आहि।" (लं० दो० २३)। इस नीति से मुनि नहीं जा सकते थे।

(२) 'बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं।'—इसपर तीन दृष्टान्त दिये गये—पर्वत, समुद्र और पृथ्वी। संसार में ये तीन ही बड़े हैं। पहाड़ ऊँचे एवं ऊपर के हैं, सागर अगाध और नीचे का है, पृथिवी चौड़ी और मध्य की है। पर्वत और पृथिवी के साथ सदा और संतत पद दिया गया, समुद्र के साथ नहीं, क्योंकि उसमें फेन सदा नहीं रहता।

(३) 'अस कहि गहे नरेस पद'''—उपर्युक्त दृष्टान्तों से यह न पाया जाय कि यह भी हमारे सिर चढ़ना चाहता है; इसलिये राजा ने पैर पकड़े कि मैं चरणों का ही अधिकारी हूँ और आप स्वामी हैं। 'दुख' नियम छूटने का; 'प्रभु' अर्थात् हमारे कार्य में आप समर्थ हैं; 'सज्जन' अर्थात् सद्भाव से मेरी ओर देखें, 'दीनदयाल' हैं, अतः, मुझ दीन पर दया करें।

जानि नृपहिं आपन आधीना। बोला तापस कपटप्रवीना ॥५॥
सत्य कहउँ भूपति सुनु तोही। जग नाहिंन दुरलभ कछु मोही ॥६॥
अवसि काज मैं करिहउँ तोरा। मन क्रम बचन भगत तैं मोरा ॥७॥
जोग-जुगुति-तप-मंत्र प्रभाऊ। फलइ तबहिं जब करिय दुराऊ ॥८॥

अर्थ—राजा को अपने अधीन में जानकर वह कपट में निपुण तापस बोला ॥१॥ हे राजन्! सुनो, मैं तुमसे सत्य कहता हूँ कि मुझे जगत् में कुछ भी दुर्लभ नहीं है ॥२॥ मैं तुम्हारा काम अवश्य करूँगा, (क्योंकि) तुम मन, कर्म और वचन तीनों से मेरे भक्त हो ॥३॥ योग, युक्ति, तप और मंत्र के प्रभाव तभी फलते हैं, जब वे छिपाकर किये जाते हैं ॥४॥

विशेष—'मन-क्रम-बचन भगत तैं'''—देखिये दो० १६३ चौ० ६ वि० १।

'जोग-जुगुति-तप-मंत्र-प्रभाऊ।'—उपर्युक्त दो० १६५ में जो—'मिलब हमार''' से गुप्त रखने को कहा था, उसे यहाँ प्रकट किया कि ये चारो गुप्त रखने ही से फलते हैं, यथा—"विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः। उपांशुस्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥" (मनुः)। यहाँ 'जुगुति' से तात्पर्य है, यथा—"मम आधीन जुगुति नृप सोई।" (दो० १६१)।

जौ नरेस मैं करउँ रसोई। तुम्ह परसहु मोहि जान न कोई ॥५॥
अन्न सो जोइ जोइ भोजन करई। सोइ सोइ तव आयसु अनुसरई ॥६॥
पुनि तिन्हके गृह जेंवइ जोऊ। तव बस होइ भूप सुनु सोऊ ॥७॥
जाइ उपाइ रचहु नृप येहू। संवत भरि संकलप करेहू ॥८॥

शब्दार्थ—अनुसरई = अनुसरण करेगा, अनुकूल रहेगा। संवत = एक वर्ष। अन्न = भोजन।

अर्थ—हे राजन्! जो मैं रसोई करूँ, तुम परसो और मुझे कोई न जान पावे ॥५॥ तो उस अन्न को जो-जो खायँगे, वही-वही तुम्हारी आज्ञा के अनुकूल चलेंगे ॥६॥ फिर इनके घर जो भोजन करेंगे, हे राजन् सुनो, वे भी तुम्हारे वश हो जायँगे ॥७॥ हे राजन्! जाकर यही उपाय करो। एक वर्ष (नित्य-भोज) का संकल्प (प्रतिज्ञा) करना ॥८॥

विशेष—'संबत भरि संकलप'''—क्योंकि ब्राह्मणों को वर्षाशन दिया जाता है वा भावीवश ऐसा कहा गया, क्योंकि इसी के अनुसार संवत-भर में नाश का शाप होगा।

दोहा—नित नूतन द्विज सहस सत, बरेहु सहित परिवार।
मैं तुम्हरे संकलप लगि, दिनहिं करब जेवनार ॥१६८॥

ऐहि विधि भूप कष्ट अति थोरे। होइहहिं सकल बिप्र बस तोरे ॥१॥
करिहहिं बिप्र होम मख सेवा। तेहि प्रसंग सहजहिं बस देवा ॥२॥

शब्दार्थ—नितनूतन = नित्य नवीन। बरेहु = नेवता देना। मख = यज्ञ। जेवनार = भोजन।

अर्थ—नित्य नवीन परिवार-सहित एक लाख ब्राह्मणों को नेवता देना। मैं तुम्हारे संकल्प (एक वर्ष) पर्यन्त बराबर दिन ही में भोजन (तैयार) कर दिया करूँगा ॥ १६८ ॥ हे राजन्! इस प्रकार बहुत-ही थोड़े कष्ट में सब ब्राह्मण तुम्हारे वशवर्ती हो जायँगे ॥ १ ॥ ब्राह्मण होम, यज्ञ और सेवा-पूजा करेंगे, उसके संबंध से देवता सहज ही वश हो जायँगे ॥ २ ॥

विशेष—'बरेहु सहित परिवार'—क्योंकि राजा का परिवार-सहित नाश कराना है। 'संकलप लगि'—अर्थात् इतनी रसोई नित्य कैसे तैयार हो जाया करेगी? इसकी चिन्ता नहीं, मैं तप के बल से शीघ्र तैयार कर दिया करूँगा। 'कष्ट अति थोरे'—अर्थात् तुम्हारे पास धन की तो कमी है ही नहीं, रसोई करनी मुझे ही है। तुम्हें परसना भर है; वह शक्ति भी मैं दूँगा।

और एक तोहि कहउँ लखाऊ। मैं ऐहि बेष न आउब काऊ ॥३॥
तुम्हरे उपरोहित कहुँ राया। हरि आनब मैं करि निज माया ॥४॥
तपबल तेहि करि आपु समाना। रखिहउँ इहाँ बरष-परमाना ॥५॥
मैं धरि तासु बेष सुनु राजा। सब बिधि तोर सँवारब काजा ॥६॥

शब्दार्थ—लखाऊ = लक्ष्य, पहचान। परमाना = परिमाण, पर्यन्त।

अर्थ—तुमको एक और पहचान कहता हूँ, मैं इस वेष से कभी न आऊँगा ॥ ३ ॥ हे राजन्! मैं तुम्हारे पुरोहित को अपनी माया से हर लाऊँगा ॥ ४ ॥ और तप के बल से उसे अपने समान बनाकर यहाँ एक वर्ष पर्यन्त रक्खूँगा ॥ ५ ॥ हे राजन्! सुनो, मैं उसका वेष धरकर सब प्रकार से तुम्हारा कार्य सिद्ध करूँगा ॥ ६ ॥

विशेष—'लखाऊ'—जो तुम्हीं लख सकोगे। 'तुम्हरे उपरोहित कहँ'''—भाव यह कि वह मेरी जगह पर मेरे रूप में रहेगा, जिससे मेरे दर्शनों के लिये अंतरिक्ष से आनेवाले देवताओं और दिव्य ऋषियों को संदेह न हो कि मैं कहीं चला गया। इस प्रकार अपना प्रभाव जना रहा है। उसका आन्तरिक भाव यह भी है कि कहीं कपट खुल जाय और राजा यहाँ आवे तो मुझे अपना पुरोहित जानकर मार न डाले। अथवा पुरोहित रहेगा, तो इसकी रक्षा करेगा, अतः उसके हरण का प्रबंध कर रहा है। 'निबाहब काजा'—विघ्नों से रक्षा करता हुआ कार्य पूरा करूँगा।

गइ निसि बहुत सयन अब कीजे। मोहि तोहि भूप भेंट दिन तीजे ॥७॥
मैं तपबल तोहि तुरग समेता। पहुँचइहउँ सोवतहि निकेता ॥८॥

दोहा—मैं आउब सोइ बेष धरि, पहिचानेउ तब मोहि।
जब एकांत बुलाइ सब, कथा सुनावउँ तोहि ॥१६६॥

सयन कीन्ह नृप आयसु मानी। आसन जाइ बैठ छल ज्ञानी ॥१॥
श्रमित भूप निद्रा अति आई। सो किमि सोव सोच अधिकाई ॥२॥

अर्थ—हे राजन्! बहुत रात बीत गई, अब सोओ, मुझसे तुमसे अब तीसरे दिन भेंट होगी ॥७॥ मैं तप के बल से तुम्हें घोड़े के साथ सोते-ही-सोते घर पहुँचा दूँगा ॥८॥ मैं वही (पुरोहित का) वेष धरकर आऊँगा। जब तुमको एकान्त में बुलाकर सब कथा सुनाऊँ, तब मुझे जान लेना ॥१६६॥ राजा ने आज्ञा मानकर शयन किया और वह छल में निपुण (वा छल से सना हुआ ज्ञानी) अपने आसन पर जा बैठा ॥१॥ राजा थका हुआ था इससे उसे बड़ी नींद आई और वह (छल ज्ञानी) कैसे सोवे? उसे तो बहुत शोच है ॥२॥

विशेष—(१) 'सयन अब कीजै'—आधी रात बीत गई। फिर कालकेतु के आने का समय भी जाना और कपटी मुनि यह भी जानता है कि राजा के सामने कालकेतु नहीं आवेगा। पुनः इससे अलग होकर उससे बिना सब कहे मेरे समस्त वचन झूठे पड़ेंगे। इसलिये राजा को सोने की आज्ञा दी। राजा भी इसकी बातों में मुग्ध था, इसी से नींद भी न आई, कहने से सोया। 'दिन तीजै' अर्थात् दो दिनों के बाद तीसरे दिन। फिर ब्राह्मणों को नेवता दिया जायगा। समय पर मैं पहुँच जाऊँगा। अधिक समय के अंतर को राजा नहीं सह सकता, ये ही तीन दिन उसे युग के समान बीतेंगे, यथा—"जुग सम नृपहिं गयो दिन तीनी।" (दो० १७१)।

(२) 'पहिचानेउ तब'''—इसने सोचा कि कहीं मेरे धोखे से पुरोहित से यह कुछ कह न दे, इसलिये पहचान बतलाता है, जिससे मुनि के पहचानने में भ्रम न हो।

(३) 'सयन कीन्ह नृप'''—एक तो महात्मा; फिर अपने परम हितकारी; अत, आज्ञा मानकर सोया, अन्यथा रुचि तो मुनि की बातों में ही थी। यह उसी शाला में सो रहा। साधु का आसन अलग था, इसलिये वह अपनी एकान्त जगह में गया, क्योंकि वहाँ कालकेतु से समागम का अवसर मिलेगा। कपट के सब विधान बड़ी सावधानी से निबाहे, इसलिये 'छल-ज्ञानी' कहा गया है।

(४) 'सो किमि सोव'''—इसे शोच बढ़ता जाता है कि अभी तक कालकेतु नहीं आया, इसके

बिना मैं झूठा बनूँगा। फिर वो राजा जीता न छोड़ेगा। पुन: राज्य के सर्वस्व नाश के लिये भी शोच है, यथा—"परिहरि सोच रहहु तुम्ह सोई। बिनु औषध बियाधि बिधि खोई॥" (दो० १००)

> कालकेतु निसिचर तहँ आया। जेहि सूकर होइ नृपहिं भुलावा॥३॥
> परम मित्र तापस-नृप केरा। जानइ सो अति कपट घनेरा॥४॥
> तेहि के सत सुत अरु दस भाई। खल अति अजय देव-दुखदाई॥५॥
> प्रथमहिं भूप समर सब मारे। बिप्र संत सुर देखि दुखारे॥६॥

अर्थ—कालकेतु निशाचर वहाँ आया, जिसने शूकर बनकर राजा को भुलाया था॥३॥ वह तपस्वी राजा का परम मित्र (दिली दोस्त) था और अत्यन्त 'घनेरे' कपट जानता था॥४॥ उसके सौ पुत्र और दस भाई बड़े खल, बड़े दुर्जय और देवताओं को दुःख देनेवाले थे॥५॥ ब्राह्मणों, सन्तों और देवताओं को दुखी देखकर पहले ही राजा ने उन सब को युद्ध में मारा था॥६॥

विशेष—(१) 'कालकेतु निसिचर तहँ ...'—प्रथम यह शूकर रूप में गुप्त था, इसी से ग्रंथकार ने भी इसे प्रकट नहीं किया था। अब यह राक्षस रूप से आया, प्रकट हुआ तो ग्रंथकार ने भी प्रकट कह दिया।

(२) 'तापस नृप केरा'—कालकेतु की दृष्टि में तो यह नृप है, तापस बना है, इसलिये 'तापस नृप' कहा। भानुप्रताप मुनि, तपस्वी समझते थे, इससे अभी तक मुनि आदि ही कहते थे। पुनः यहाँ पर इस समय दो राजा हैं, पृथकता के लिये भी तापस कहा है।

(३) 'सो अति कपट घनेरा'—'घनेरा कपट' तो तापस नृप भी जानता था, पर यह 'अति घनेरा' जानता है, क्योंकि राक्षस अति मायावी होते ही हैं। घनेरा=अनगिनत।

(४) 'खल अति अजय ...'—इन्द्रादि देवता अजय हैं इन्हें भी जीता था। इसी से 'अति अजय' थे, उनकी सम्पत्ति भी छीनी थी, इसी से खल भी कहे गये। यथा—"खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा परसंपति देखी॥" (उ० दो० ३८)।

> तेहि खल पाछिल बैर सँभारा। तापस नृप मिलि मंत्र बिचारा॥७॥
> जेहि रिपुछय सोइ रचेन्हि उपाऊ। भावीबस न जान कछु राऊ॥८॥

> दोहा—रिपु तेजसी अकेल अपि, लघु करि गनिय न ताहु।
> अजहुँ देत दुख रवि-ससिहिं, सिर-अवसेषित राहु॥१७०॥

अर्थ—उसी दुष्ट (कालकेतु) ने पिछले वैर का स्मरण किया और तपस्वी राजा से मिलकर सलाह की॥७॥ जिससे शत्रु का नाश हो, वही उपाय रचा, राजा भावी-वश कुछ नहीं जान सका॥८॥ तेजस्वी शत्रु अकेला भी हो, तो भी उसे छोटा नहीं समझना चाहिये। (देखिये) जिसका शिर मात्र ही अवशिष्ट (बच) रहा है, वह राहु अब भी सूर्य-चन्द्रमा को दुःख देता है॥१७०॥

विशेष—(१) 'तेहि खल'''—यहाँ विश्वासघात एवं छल के कारण फिर खल कहा गया। 'सोइ रचेन्हि उपाऊ'—उपाय वही जो पूर्व ठीक किया है—"आइ उपाय रचहु नृप येहू।"

(२) 'रिपु तेजसी ' '—यह दोहा दोनों ओर लगता है, जैसे भानुप्रताप को चाहता था कि वह तेजस्वी शत्रु इस तापस नृप को तुच्छ जानकर नहीं छोड़ता। शिर-मात्र की तरह यह अपने सेना-रूप शरीर से अलग हो गया, तब भी राहु की तरह भानु-प्रताप और अरिमर्दन को सूर्य-चन्द्रमा की तरह ग्रसेगा। पुन तापस नृप और कालकेतु का विचार है कि यह राजा; सो रहा है, चाहें तो मार डालें, पर है तेजस्वी। यद्यपि अकेला भी है, तो भी इसे छोटा नहीं मानना चाहिये, कहीं जग पड़ा तो हम दोनों को जीता न छोड़ेगा। इस अर्थ में सेना-रूप शरीर से पृथक् राजा राहु और तापस नृप तथा कालकेतु सूर्य और चन्द्रमा हैं। नीति भी है—"रिपु रिन रंच न राखब काऊ।" (अ० दो० १२८)

तापस नृप निज सखहि निहारी। हरषि मिलेउ उठि भयेउ सुखारी ॥१॥
मित्रहिं कहि सब कथा सुनाई। जातुधान बोला सुख पाई ॥२॥
अब साधेउँ रिपु सुनहु नरेसा। जौ तुम्ह कीन्ह मोर उपदेसा ॥३॥
परिहरि सोच रहहु तुम्ह सोई। बिनु औषध बिआधि बिधि खोई ॥४॥
कुलसमेत रिपुमूल बहाई। चौथे दिवस मिलब मैं आई ॥५॥

शब्दार्थ—सखहिं = मित्र को। साधेउँ = ठीक कर लिया, वश में कर लिया। बिआधि = व्याधि।

अर्थ—तपस्वी राजा अपने मित्र को देख हर्षित हो उठकर मिला और सुखी हुआ ॥१॥ मित्र को सारी कथा कह सुनाई, तब वह राक्षस सुखी होकर बोला ॥२॥ हे राजन्! सुनो, जो तुमने मेरे उपदेश के अनुकूल किया तो अब मैंने शत्रु को साध लिया ॥३॥ अब तुम शोच छोड़कर सो रहो, ब्रह्मा ने बिना दवा के ही रोग का नाश कर दिया है ॥४॥ वंश सहित शत्रु की जड़ (उखाड़) बहाकर चौथे दिन मैं तुमसे आ मिलूँगा ॥५॥

विशेष—तापस राजा शोच मे था, सखा को देखते ही सुखी हो गया, क्योंकि मनोरथ-सिद्धि की आशा हुई। कथा सुनकर सुखी होने में 'जातुधान' कहा गया, क्योंकि दूसरे के नाश से राक्षस ही को सुख होता है। 'जो तुम्ह कीन्ह मोर उपदेसा' अर्थात् इस राक्षस ने पहले ही सब कपट की बातें कपटी मुनि को सिखा रक्खी थीं कि किसी दिन जो मैं राजा को भटकाकर लाऊँ तो तुम इस प्रकार करना।

तापस नृपहि बहुत परितोषी। चला महाकपटी अति रोषी ॥६॥
भानुप्रतापहि बाजि समेता। पहुँचायेसि छन माँझ निकेता ॥७॥
नृपहि नारि पहिं सयन कराई। हयगृह बाँधेसि बाजि बनाई ॥८॥

दोहा—राजा के उपरोहितहिं, हरि लै गयेउ बहोरि।
लै राखेसि गिरि-खोह महँ, माया करि मति भोरि ॥१७१॥

अर्थ—तपस्वी राजा को बहुत तरह से सन्तुष्ट करके वह महाकपटी अत्यंत क्रोध करके चला ॥६॥ छोटे

के साथ भानुप्रताप को क्षण-भर ही में घर पहुँचा दिया ॥७॥ राजा को उसकी रानी के पास लिटाकर घोड़े को अच्छी तरह घुड़सार में बाँध दिया ॥८॥ फिर राजा के पुरोहित को हर ले गया और अपनी माया से उसकी बुद्धि भोरी (भ्रमित) करके पर्वत की कन्दरा में ला रक्खा ॥१७१॥

विशेष—(१) 'महाकपटी…'—आगे वैसा कर्म करेगा। 'अति रोषी'—पिछले वैर के स्मरण से अत्यन्त क्रोध है। 'बाजि बनाई'—'बनाई' अर्थात् घुड़सार में जीन उतारकर और अगाड़ी-पिछाड़ी बाँधकर।

(२) 'राजा के उपरोहितहिं…'—भाव यह कि अन्य तपस्वी ब्राह्मणों पर इसकी माया नहीं लगती, यह राजधान्य (जो साधु के लिये निषिद्ध है) से पला है, इससे निस्तेज हो रहा है। अतः, हरा गया। इसके प्रति दो उपाय किये—एक तो बुद्धि 'भोरी' कर दी, दूसरे कंदरा में रख आया। अभिप्राय यह कि यदि यों ही कंदरा में रखने से पीछे वह चिल्ला उठे। यह जानकर कोई राजा को पता दे, तब तो पोल खुल जाय, इससे बुद्धि भी 'भोरी' कर दी कि चुप पड़ा रहेगा। पुनः बुद्धि ठीक रहने से संभव था कि जप, तप एवं मंत्र-द्वारा कहीं राजा के पास पहुँच जाता तो भी भंडा फूटता।

आप बिरंचि उपरोहित-रूपा। परेउ जाइ तेहि सेज अनूपा ॥१॥
जागेउ नृप अनभये बिहाना। देखि भवन अति अचरज माना ॥२॥
मुनिमहिमा मन महँ अनुमानी। उठेउ गवहिं जेहि जान न रानी ॥३॥
कानन गयेउ बाजि चढ़ि तेही। पुर नरनारि न जानेउ केही ॥४॥
गये जाम जुग भूपति आवा। घर घर उत्सव बाज बधावा ॥५॥

शब्दार्थ—सेज=ईंगली की शय्या, पलँग। अनभये=बिना हुए। गवहिं=चुप के से। तेही=उसी। जाम जुग (याम युग)=दोपहर। बधावा=आनंद-उत्सव के गान, बाजा।

अर्थ—स्वयं पुरोहित का रूप बनाकर उसकी अनुपम शय्या पर जा पड़ा (लेटा) ॥१॥ राजा सवेरा होने से प्रथम ही जगा और घर को देखकर बड़ा आश्चर्य माना ॥२॥ मुनि की महिमा मन में विचार कर चुप के से उठा जिससे रानी न जान पावे ॥३॥ और उसी घोड़े पर चढ़कर उसी वन को गया। पुर के स्त्री-पुरुष—किसीने नहीं जाना ॥४॥ दोपहर बीतने पर राजा आया, (यह जानकर) घर-घर उत्सव होने लगे और बधाइयाँ बजने लगीं ॥५॥

विशेष—(१) 'परेउ जाइ तेहि सेज अनूपा।'—अर्थात् पुरोहित की शय्या पर लेट रहा, पर घरवालों ने नहीं जाना कि यह दूसरा है। 'सेज' शब्द शय्या का अपभ्रंश है। 'अनूपा' अर्थात् जान पड़ता है कि वह सेज राजा से दान में मिली थी ; इसीसे अनुपम थी।

(२) 'अति अचरज…मुनि महिमा…'—प्रथम उसके वचनों पर आश्चर्य था। अब जो प्रत्यक्ष देखा कि मैं महल में हूँ तो अति आश्चर्य हुआ। फिर इसे मुनि की महिमा मानकर समाधान कर लिया। 'उठेउ गवहिं…'—किसी ने जाना नहीं। 'राजा कैसे आ गया ?' इस बात को छिपाने के लिये वह चुप के से उठा, अन्यथा जागेगी तो रानी मर्म जानने के लिये हठ करेगी। यह भी मालूम होता है कि रानी और पहरेदारों को भी निशाचर ने मोहित कर दिया था। इसीसे किसी ने नहीं जाना।

(३) 'गये जाम जुग…'—दोपहर के बाद आया। नहीं तो लोग अवश्य पूछते कि रात कहाँ ठहरे थे ? और, अब तो जानेंगे कि कहीं बहुत दूर निकल गये, तभी तो दोपहर में आये हैं।

'घर-घर उत्सव'''—लोग राजा का पता पाये बिना दुखी थे। अब यथार्थ बजने लगा।

उपरोहितहिं देख जब राजा। चकित बिलोकि सुमिरि सोइ काजा ॥६॥
जुगसम नृपहिं गये दिन तीनी। कपटी मुनिपद रहि मति लीनी ॥७॥
समय जानि उपरोहित आवा। नृपहिं मते सब कहि समुझावा ॥८॥

दोहा—नृप हरषेउ पहिचानि गुरु, भ्रमबस रहा न चेत।
बरे तुरत सतसहस बर, बिप्र कुटुंबसमेत ॥१७२॥

शब्दार्थ—चकित = चौकन्ना, आश्चर्य-युक्त। लीनी = निमग्न, लगी हुई। मते = निश्चित बातें।

अर्थ—जब राजा ने पुरोहित को देखा, तब अपने उसी कार्य का स्मरण कर चकित हो देखने लगा ॥६॥ राजा को तीन दिन युग के समान बीते, क्योंकि उसकी बुद्धि कपटी मुनि के चरणों में लीन थी ॥७॥ समय जानकर पुरोहित आया और राजा को (पूर्व की) निश्चित बातें कह समझाईं ॥८॥ गुरु को पहचानकर राजा हर्षित हुआ। भ्रम के वश उसे चेत (ज्ञान) न रहा। उसने तुरत एक लाख उत्तम ब्राह्मणों को परिवार के साथ नेवता भेज दिया ॥१७२॥

विशेष—(१) 'उपरोहितहिं देख''''''—राजा के घर उत्सव कराने को पुरोहित आया; तब देखकर चकित हुआ।

(२) 'जुग सम नृपहिं''''''—(क) प्रथम राजा की मति परमेश्वर में लीन रही, उनकी कृपा से धर्म पूर्ण रहा और प्रताप उदित रहा। जब से कपटी राजा के पद में मति लीन हुई, तब प्रथम दिन सत्ययुग के समान ही रहा। कुछ अंश कपट का आया, तब सत्य गया। धर्म का एक पाँव नाश होने से दूसरा दिन त्रेता के समान बीता, तब शौच भी गया। दो चरण जाने से तीसरा दिन द्वापर के तुल्य बीता, फिर क्रमशः दया भी गई। तब चौथा दिन कलियुग के समान आने से एक चरण दान-मात्र रह गया है। यह युग राक्षस-रूप है। अत:, इसमें राक्षस कपट रूप से दान में विघ्न उपस्थित कर नाश कर डालेगा। तब पूर्ण धर्म का नाश होगा। (ख) कपटी मुनि में अत्यंत प्रीति के कारण दर्शनों के लिये व्याकुलता में तीन दिन युग के समान बीते कि कब मुनि मिलें ?

(३) 'नृप हरषेउ पहिचानि गुरु''''''—राजा इस भ्रम में पड़ गया कि ये चिरकालीन महात्मा हैं, तब तो मुझे तपोबल से सोते ही घर पहुँचा दिया और ठीक-ठीक पुरोहित बन गये। इसीसे कुछ विचार नहीं किया कि एक लक्ष ब्राह्मणों को नित्य प्रति नेवता भेजना और भोजन कराना तथा इससे देवता-ब्राह्मणों को वश करना संभव है या नहीं। 'बरे तुरत'—कालकेतु ही माया के बल से निमंत्रण भी तुरत दे आया। 'बरबिप्र'—कुलीन वेदपाठी ब्राह्मण।

उपरोहित जेवनार बनाई। छ रस चारि बिधि जसि श्रुति गाई ॥१॥
मायामय तेहि कीन्हि रसोई। बिंजन बहु गनि सकइ न कोई ॥२॥
बिबिध मृगन्ह करि आमिष राँधा। तेहि महँ बिप्रमांस खल साँधा ॥३॥
भोजन कहँ सब बिप्र बोलाये। पद पखारि सादर बैठाये ॥४॥

शब्दार्थ—बिंजन (व्यंजन) = तरकारी, अचार आदि। राँधा = पकाया। आमिष = माँस। साँधा = मिलाया। छ रस (षट् रस) = खट्टा, मीठा, तीता, कषाय, नमकीन और कड़ुआ।

अर्थ—पुरोहित ने षट् रस और चारो प्रकार के भोजन बनाये, जैसा श्रुति (सूपशास्त्र) में कहा है ॥१॥ उसने मायामय रसोई की, व्यंजन बहुत थे, उन्हें कोई गिन नहीं सकता था ॥२॥ तरह-तरह के पशुओं के मांस पकाये, इनमें उस दुष्ट ने *ब्राह्मण का मांस भी मिला दिया* ॥३॥ सब ब्राह्मणों को भोजन के लिये बुलाया और चरण धोकर उनको आदर के साथ बैठाया ॥४॥

विशेष—'मायामय तेहि कीन्ह'''—अकेले इसने लाखों ब्राह्मणों की रसोई कैसे बनाई? इसका उत्तर है कि इसने बाजीगर के खेल के समान रसोई बनाई। वे व्यंजन देखने-मात्र में बहुत थे, पर थे झूठे ही। 'विविध मृगन्ह कर''''''—कहा जाता है कि आजकल केकय देश में मांसाहारी ब्राह्मण भी बहुत हैं। संभवतः उस समय भी रहे हों। वैष्णवों की रसोई अलग रही हो; पर इसमें यह शंका है कि मांसाहारी 'बर बिप्र' नहीं कहे जा सकते, क्योंकि ब्राह्मण धर्म सात्त्विक है और मांसाहार राजस। यहाँ प्रथम ही ग्रंथकार ने 'मायामय' कहकर बता दिया है कि सब विचित्र ही हैं। पदार्थ ऐसे दिखते हैं कि उन्हें कोई जान नहीं सकता कि क्या हैं। पीछे राजा देखने गया, तो कुछ रह ही नहीं गया था, क्योंकि मायावी के अदृश्य होते ही उसकी माया से दिखनेवाले पदार्थ भी कुछ नहीं रह गये। जब प्रथम बनाता था, तब भी परदे के भीतर ही, क्योंकि माया ओट में ही की जाती है। राजा के परसने के साथ ही आकाशवाणी से उसने कहा कि सब रसोई ब्राह्मण के मांस से हुई, जिससे शीघ्र ही ब्रह्मशाप हो जाय। अतः, इसने विप्रों को कुपित कराने के लिये ही ऐसा किया। राजा भी नहीं लख सका कि ये पदार्थ क्या है और न विप्रों ने ही जाना, क्योंकि सब विचित्र ही थे, जब आकाशवाणी से कहा गया कि विप्र-मांस है, तब तुरंत सबने विश्वास मान लिया अर्थात् देखने से नहीं जान सके थे। इससे स्पष्ट है कि कोई भी ब्राह्मण मांसाहारी न थे, सब सात्त्विक एवं श्रेष्ठ थे; इसीसे उनका शाप भी लगा; अन्यथा रावणादि भी *ब्राह्मण ही थे, इनका शाप कहीं क्यों नहीं लगा था?*

प्रश्न—तब—"विविध मृगन्ह''''''" में 'राँधा' और 'साँधा' क्रियाएँ क्यों हैं?

उत्तर—राक्षसी माया उसकी प्रकृति के अनुसार है, उसने माया से विविध मृगों के मांस और *विप्रमांस मिलाकर बनाये थे, पर ऐसे विचित्र थे कि कहने से मांस की प्रतीति हो भी सके।*

परसन जबहिं लाग महिपाला। भइ अकासबानी तेहि काला ॥५॥
बिप्रबृंद उठि-उठि गृह जाहू। है बड़ि हानि अन्न जनि खाहू ॥६॥
भयेउ रसोई भूसुर-माँसू। सब द्विज उठे मानि बिस्वासू ॥७॥
भूप बिकल मति मोह-भुलानी। भावी-बस न आव मुख बानी ॥८॥

अर्थ—जैसे ही राजा परसने लगा, वैसे ही उसी समय आकाशवाणी हुई ॥५॥ कि हे ब्राह्मणो! उठकर घर जाओ, अन्न मत खाओ, इसमें बड़ी हानि है ॥६॥ यह रसोई ब्राह्मणों के मांस से हुई है। सब ब्राह्मण विश्वास मानकर उठ गये ॥७॥ राजा व्याकुल है, उसकी बुद्धि मोह से भूली हुई है, होनहार-वश, उसके मुख से वचन तक न निकला ॥८॥

विशेष—(१) 'भइ अकासबानी तेहि काला'—यह आकाशवाणी देव-वाणी नहीं है, किंतु

उसी कालकेतु ही के अदृश्य होकर कहे हुए वचन हैं। 'तेहि काला' से 'उस कालकेतु की' यह ध्वनित भी है। तुरत शाप दिलाने के लिये कहा ,है, क्योंकि आगे की शुद्ध आकाशवाणी को 'बर गिरा अकासा' कहा है।

(२) 'है बड़ि हानि'—अन्य जीवों के मांस-भक्षण में हानि और विप्र-मांस भक्षण में बड़ी हानि है, क्योंकि और मांसों का प्रायश्चित्त भी है और विप्र-मांस का नहीं। तुरत कोप उत्पन्न करने के लिये केवल विप्र-मांस ही कहा गया।

(३) 'भावी-बस न आव मुख बानी।'—राजा के शरीर, मन और वचन तीनों को भावी ने ही प्रेरित किया। यथा—"तुलसी जसि भवितव्यता,...... ताहि तहाँ ले जाय।" (दो० १५६)। इसमें शरीर के ले जाने में, "भावी-बस न जान कछु राऊ।" (दो० १६६); इसमें मन में, क्योंकि जानना मन से होता है और 'न आव मुख बानी' में वचन में, भावी की प्रेरणा है, नहीं तो पैरों पर गिरकर हाल कह देता, तो कुछ न होता।

दोहा—बोले विप्र सकोप तब, नहिं कछु कीन्ह विचार।
जाइ निसाचर होहु नृप, मूढ़ सहित परिवार ॥१७३॥

छत्रबंधु तैं विप्र बोलाई। घालै लिये सहित समुदाई ॥१॥
ईश्वर राखा धरम हमारा। जइहसि तैं समेत परिवारा ॥२॥
संवत मध्य नास तव होऊ। जलदाता न रहिहि कुल कोऊ ॥३॥

अर्थ—तब ब्राह्मण कोप करके बोले, क्योंकि उन्होंने कुछ विचार नहीं किया—अरे मूर्ख राजन्! तू परिवार के साथ जाकर राक्षस हो ॥१७३॥ अरे छत्र-बंधु (क्षत्रियाधम)! तूने सब ब्राह्मणों को समुदाय (परिवार एवं समाज) के साथ नष्ट करने के लिये बुलाया था ॥१॥ ईश्वर ने ही हमारा धर्म रक्खा; फलतः तू ही परिवार-सहित नष्ट होगा ॥२॥ *एक वर्ष के भीतर तेरा नाश होगा, तेरे कुल में कोई जल देनेवाला भी न रहेगा* ॥३॥

विशेष—(१) 'बोले विप्र सकोप तब...' जब राजा कुछ न बोला तब; क्योंकि—'मौनं सम्मति-लक्षणम्' कहा जाता है। विप्र-मांस राक्षस ही खाते हैं, इसलिये राक्षस होने का शाप दिया कि जो तू हमें खिलाना चाहता था, वही तू खायेगा! इतनों का धर्म लेने चाहता था; अतः, भारी क्रोध किया और तुरत शाप दिया। 'सकोप' अर्थात् कोप से बोलने में विचार न रहा, इसलिये ये सब राक्षस होकर फिर इन्हीं ब्राह्मणों के वंश (विप्रों) को तो खायेंगे!

(२) 'ईश्वर राखा धरम...'—तूने तो नाश ही करना चाहा था, पर ईश्वर सब के धर्म के रक्षक हैं; अतः, हमारा धर्म भी बचाया।

(३) 'संवत मध्य नास...'—क्योंकि संवत् भर नित्य ब्राह्मणों को खिलाने का संकल्प था, यथा—"संवत भरि संकलप करेहू।" (दो० १६७)। ब्राह्मणों ने समझा कि इसने किसी राक्षसी तांत्रिक क्रिया से स्वयं अजर-अमर बनना चाहा था। अतः, संवत ही भर में नाश का शाप दिया। 'जलदाता न रहिहि...'

अर्थात् तुम्हारी सद्गति का उपायकर्त्ता भी कोई न रहे; क्योंकि हम भी वंश समेत धर्म-भ्रष्ट होने से असद्गति को ही प्राप्त होते, वैसा ही फल तुम लो।

नृप सुनि स्राप बिकल अति त्रासा। भइ बहोरि बर गिरा अकासा ॥४॥
बिप्रहु स्राप बिचारि न दीन्हा। नहिं अपराध भूप कछु कीन्हा ॥५॥
चकित बिप्र सब सुनि नभबानी। भूप गयेउ जहँ भोजनखानी ॥६॥
तहँ न असन नहिं बिप्र सुआरा। फिरेउ राउ मन सोच अपारा ॥७॥
सब प्रसंग महिसुरन्ह सुनाई। त्रसित परेउ अवनी अकुलाई ॥८॥

अर्थ—शाप सुनकर राजा अत्यंत डरा और अत्यंत व्याकुल हो गया, तब फिर श्रेष्ठ आकाशवाणी हुई ॥४॥ "हे ब्राह्मणो! तुमने भी विचारकर शाप नहीं दिया। राजा ने कुछ अपराध नहीं किया था ॥५॥ सब ब्राह्मण आकाशवाणी सुनकर चकित हो गये और राजा वहाँ (रसोईघर में) गया, जहाँ भोजन के पदार्थ रक्खे थे ॥६॥ वहाँ न तो भोजन ही *था* और न रसोइया *ब्राह्मण ही;* तब राजा मन में अत्यन्त चिन्तित होकर लौटा ॥७॥ और सारा वृत्तान्त ब्राह्मणों को सुनाया, फिर बड़ा ही व्याकुल और सभीत हो पृथिवी पर गिर पड़ा ॥८॥

विशेष—(१) 'अति त्रासा'—क्योंकि विप्रशाप अति घोर है—एक तो सकुटुम्ब नाश हो—वह भी अल्पकाल में ही; और राक्षस-योनि मिले, उसपर भी जलदाता न रहे। आकाशवाणी से दोषी भी बना। 'अति' शब्द दीप-देहली है।

'बहोरि बर गिरा अकासा'—अर्थात् पूर्व की आकाशवाणी श्रेष्ठ न थी, उसमें निरपराध राजा दोषी ठहराया गया था। अतः, जन्म-भर उसे ग्लानि रहती। यह श्रेष्ठ देववाणी है। अतः, राजा को परितुष्ट करेगी। 'बहोरि'—शाप की व्याकुलता पर। 'बिप्रहु'—राजा ने तो भ्रम-वश कुछ सफाई न दी, पर तुमको तो ध्यान से जान लेना था कि कैसा दोष है और किसका है?

(२) 'चकित बिप्र सब···'—ब्राह्मण चकित हैं कि जब राजा दोषी नहीं तब अभी तक कहा क्यों नहीं था! राजा की प्रतीति अभी भी कपटी मुनि में है कि वे मेरी रक्षा करने में समर्थ हैं। इससे वह कहानी कही, क्योंकि उसने कहने से मना किया था और गुरु के पास ही गया। जब वहाँ उसे न पाया तब अपार शोच हुआ अर्थात् शाप-जन्य दुःख-सागर से पार जाने में असमर्थ हो गया।

(३) 'सब प्रसंग महिसुरन्ह···'—आदि से सब हाल कहते हुए जब विप्रशाप पर आया, तब इसकी भीषणता पर डरकर रक्षा पाने के लिये ब्राह्मणों के सामने गिर पड़ा।

दोहा—भूपति भावी मिटइ नहिं, जदपि न दूषन तोर।
किये अन्यथा होइ नहिं, बिप्रस्राप अति घोर ॥१७४॥

अस कहि सब महिदेव सिधाये। समाचार पुरलोगन्ह पाये ॥१॥
सोचहिं दूषन दैवहिं देहीं। बिरचत हंस काग किय जेहीं ॥२॥

शब्दार्थ—सिधाये=गये। किये=उपाय करने से। अन्यथा=और प्रकार या झूठा।

अर्थ—(ब्राह्मण बोले) हे राजन्! यद्यपि तुम्हारा दोष नहीं है, तथापि भावी नहीं मिटती। विप्रशाप अत्यन्त घोर है—उपाय करने से और प्रकार नहीं हो सकता ॥१७४॥ ऐसा कहकर सब ब्राह्मण चले गये, पुरवासियों ने यह समाचार पाया ॥१॥ तो वे चिन्ता करते हुए ब्रह्मा को दोष देते हैं कि जिन्होंने हंस बनाते हुए कौआ कर डाला ॥२॥

विशेष—'किये अन्यथा होइ नहिं'—ब्राह्मणों ने राजा को निर्दोष जानकर शापानुग्रह के लिये ध्यान धरकर प्रयत्न किया, पर वे कुछ पता ही न पा सके, क्योंकि यह परात्पर का गुह्यतम चरित है, उनकी इच्छा से ही सब बातें हुईं, उनकी गंभीर मनोवृत्ति का थाह किसे मिल सकता है? फिर ब्राह्मण लोग अनुग्रह कैसे करें? अतः, निरुपाय होकर रह गये। पूर्व कहा गया कि राजा दोनों भाई पूर्व के श्रीरामजी के सखा हैं, उनकी रण-क्रीड़ा की इच्छा से प्रकट हुए हैं। इनपर अनुग्रह-निग्रह श्रीरामजी ही कर सकते हैं। यथा—"त्वदाश्रितानां जगदुद्भवस्थितिप्रणाशसंसारविमोचनादयः। भवन्ति लीलाविधयश्च वैदिकास्त्वदीय गंभीर मनोनुसारिणः ॥" (आलवंदारस्तोत्र)।

'महिदेव सिधाये'—प्रथम की ही आकाशवाणी पर उठे थे—"तब द्विज उठे मानि बिस्वासू।" अब चल दिये। इन्हीं से जहाँ-तहाँ वृत्तांत पहुँच गया।

'दूषन दैवहिं देहीं'—क्योंकि दैवयोग से ही सब बातें हुईं, राजा को देववाणी ने ही निर्दोष किया। ब्राह्मणों ने पहले विचार नहीं किया, इससे दोषी हुए। पर अनुग्रह के लिये प्रयत्न कर असफल होने पर वे भी निर्दोष ही हैं। 'बिरचत हंस काग किय'—नाना प्रकार के शुभ कर्मों से राजा हंस के समान हो रहा था, उनसे देवता होता, किन्तु राक्षस-रूप कौआ किया गया, यथा—"लिखत सुधाकर गा लिखि राहू।" (अ० दो० ५४); "सुधा देखाइ दीन्ह बिष जेहीं।" (अ० दो० ४८)।

उपरोहितहिं भवन पहुँचाई। असुर तापसहिं खबरि जनाई ॥३॥
तेहि खल जहँ तहँ पत्र पठाये। सजि सजि सेन भूप सब धाये ॥४॥
घेरेन्हि नगर निसान बजाई। बिबिध भाँति नित होइ लराई ॥५॥
जूझे सकल सुभट करि करनी। बंधुसमेत परेउ नृप धरनी ॥६॥

अर्थ—पुरोहित को घर पहुँचाकर उस असुर (कालकेतु) ने तापस (नृप) को खबर दी ॥३॥ उस दुष्ट ने जहाँ-तहाँ पत्र भेजे। सब राजा सेना सजा-सजाकर दौड़ पड़े ॥४॥ और नगाड़े बजाकर नगर को घेर लिया। नित्य नाना प्रकार से लड़ाई होने लगी ॥५॥ सब योद्धा अपनी (वीर) 'करनी' करके जूझ गये और भाई के साथ राजा (वीर करनी करके) पृथ्वी पर गिरा ॥६॥

विशेष—'उपरोहितहिं भवन···'—कालकेतु विप्रों का शाप देखकर डरा हुआ था। अतः, पुरोहित को उसके घर पहुँचा दिया कि इसके भाई लोग मुझे भी न शाप दे डालें।

'तेहि खल'—प्रसंगतः तापस ने; पुनः शब्दध्वनि से कालकेतु ने भी पत्र भेजने-भिजवाने का काम किया। यथा—"तेहि खल पाछिल बैर ··" (दो० १६६) अर्थात् तापस राजा ने पत्र लिखे और कालकेतु ने राक्षसी माया से शीघ्र ही सर्वत्र पहुँचाये। 'जहँ-तहँ'—जिन्हें राजा भानुप्रताप ने जीता था, यथा—"जीते सकल भूप बरियाई।" (दो० १५३)। 'सब धाये'—वे राजा सब भी भानुप्रताप को जीतना

चाहते थे। 'विविध भाँति'—तरह-तरह की व्यूह-रचनाओं और दिव्यास्त्रों द्वारा लड़ाई होती थी। 'करि करनी'—दीपदेहली है। इन सुभटों एवं भाई समेत राजा ने पहले करणी करके विश्व-विजय की थी, वही करणी करके सब जूझ मरे अर्थात् पीछे पाँव न दिये, पर क्या करें? शाप से नाश होना ही था।

सत्य-केतु-कुल कोउ नहिं बाँचा। बिप्र-स्राप किमि होइ असाँचा ॥७॥
रिपु जिति सब नृप नगर बसाई। निज पुर गवने जय जस पाई ॥८॥

दोहा—भरद्वाज सुनु जाहि जब, होइ बिधाता बाम।
धूरि मेरु सम, जनक जम, ताहि ब्याल सम दाम ॥१७५॥

अर्थ—सत्यकेतु के कुल में कोई नहीं बचा। भला, ब्राह्मणों का शाप झूठा कैसे हो सकता है? ॥७॥ शत्रु को जीत, सब राजा नगर बसा तथा जय और यश पाकर अपने-अपने नगर को गये ॥८॥ (याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) हे भरद्वाज! सुनो, जब ब्रह्मा जिसके वाम (टेढ़े) होते हैं; तब उसके लिये धूलि सुमेरु पर्वत के समान, पिता यमराज के समान और माला सर्प के तुल्य हो जाते हैं ॥१७५॥

विशेष—'बिप्र-स्राप किमि होइ···'—ब्राह्मण के द्रोह से कुल का नाश होता है, यथा—"जिमि द्विज-द्रोह किये कुल नासा।" (कि० दो० १५); तब शाप कैसे झूठा हो!

'नृप नगर बसाई'—लड़ाई के कारण नगर उजड़ गया था, अतः, सब राजाओं ने आपस में समझौता करके उस नगर को सुस्थिर करके बसाया। 'जय जस पाई'—क्योंकि पूर्व के छीने हुए राज्य मिलने से यश और शत्रु जीतने से जय मिली।

'धूरि मेरु सम जनक ···'—राजा पर बीती हुई तीन बातों को दृष्टान्त से समझाते हैं कि कालकेतु के दस भाई और सौ पुत्र मारे गये। वह अकेला भागकर बचा। अतः, धूल की तरह था, उसीने पर्वत के समान होकर राजा को कुचला। कपटी मुनि को राजा ने पिता के समान माना था, वह यम के तुल्य हो गया और ब्राह्मण रत्नमाला के समान थे, राजा इनकी सार-सँभार करता और इस कार्य में शोभा मानता था। इन्होंने ही सर्प बनकर डँसा।

उपक्रम—(क) "भरद्वाज सुनु अपर पुनि······" (ख) "सत्यकेतु तहँ बसइ नरेसू।" (दो० १५२)।
उपसंहार—(क) "भरद्वाज सुनु जाहि जब···" (ख) "सत्यकेतु-कुल कोउ नहिं बाँचा॥"

रावणादि जन्म-प्रकरण

काल पाइ मुनि सुनु सोइ राजा। भयेउ निसाचर सहित समाजा ॥१॥
दस सिर ताहि बीस भुजदंडा। रावन नाम बीर बरिबंडा ॥२॥
भूपअनुज अरिमर्दन नामा। भयेउ सो कुंभकरन बलधामा ॥३॥
सचिव जो रहा धरमरुचि जासू। भयेउ बिमात्र बंधु लघु तासू ॥४॥
नाम बिभीषन जेहि जग जाना। बिष्णुभगत बिज्ञाननिधाना ॥५॥

अर्थ—हे मुनि ! सुनो । समय पाकर वही राजा समाज के साथ राक्षस हुआ ॥१॥ उसके दस सिर और बीस भुजाएँ थीं, उसका नाम रावण था । वह बरिबंड (बलवंत एवं उद्दंड) वीर था ॥२॥ राजा (प्रतापभानु) के अरिमर्दन नाम का भाई था जो बल का धाम था, वह कुंभकर्ण हुआ ॥३॥ धर्म में जिसकी रुचि थी, अतः धर्मरुचि नाम था, वह मंत्री उसका सौतेला छोटा भाई हुआ ॥४॥ जिसका नाम विभीषण था और जिसे संसार जानता है कि वह हरिभक्त और विज्ञान का कोष था ॥५॥

विशेष—(१) 'सुनि मुनु'—भरद्वाज मुनि के प्रति संबोधन यहाँ से आगे नहीं पाया जाता, क्योंकि इनका प्रश्न प्रधानतया श्रीराम-तत्त्व के विषय में था, वह यहाँ तक हो गया । आगे के रामगुण गूढ़ में वे ऐसे निमग्न हुए कि उनकी शंकित चेष्टा न पाकर वक्ता को संबोधन की आवश्यकता ही न पड़ी, क्योंकि—"ते श्रोता बकता सम सीला । समदरसी जानहिं हरि-लीला ।" (दो० ११) ।

(२) 'दस सिर ताहि बीस ···'—पुलस्त्य ऋषि ब्रह्मा के मानसिक पुत्र हैं । उनके पुत्र विश्रवामुनि हैं । कुवेर ने विश्रवा की सेवा के लिये तीन चतुर सुंदरी निशाचर कन्याएँ (पुष्पोत्कटा, मालिनी और राका) दीं । इन्होंने सेवा करके मुनि को रिझा लिया । मुनि का वरदान पाकर पुष्पोत्कटा से रावण-कुंभकर्ण, मालिनी से विभीषण और राका से खर-दूषण-त्रिशिरा और शूर्पणखा कन्या हुए—(महाभारत, वनपर्व, अ० २७४-७५) पैदा होते ही रावण के दश सिर थे । इसीसे इनका नाम 'दशग्रीव' था । पीछे जब कैलाश को उठा लिया और फिर शिवजी के दबा देने से बहुत समय तक रोया, तब शिवजी ने 'रावण' नाम रक्खा और यह भी कहा कि तू जगत को रुलानेवाला होगा । इससे भी रावण नाम से ख्यात है—(वाल्मी० उ०)

रावण के दस शिर होने के कारण—कहा जाता है कि (क) इसकी माँ को पुत्र का वरदान देकर मुनि दस मास तक किसी अनुष्ठान में लगे रह गये, तब तक वह खड़ी रही और उसके दस रजोधर्म हो गये । इस कारण मुनि ने उसे दस शिरों का एक ही पुत्र दिया । (ख) यह मोह (शरीराभिमान) का स्वरूप है । उसमें दसो इन्द्रियाँ इसके दसो मुख हैं । यथा —"मोह दसमौलि···" (वि० ५८) ।

(३) 'सचिव जो रहा धरमरुचि जासू'—मंत्री धर्मरुचि में नाम के अनुसार गुण भी था । यथा— "सचिव धरम रुचि हरिपद प्रीती ।" (दो० १५४) । भक्ति का संस्कार दूसरे जन्म में भी गया । यथा— "विष्णुभगत विज्ञाननिधाना ।" कहा है । 'जगजाना'—विभीषणजी द्वादश महाभागवतों में हैं और भगवान् के पार्षद भी हैं तथा रामायण में तो प्रसिद्ध हो हैं । यहाँ प्रथम राजा, उसके भाई और मंत्री का राक्षस-योनि में जन्म कहकर तीनो के नाम रावण, कुंभकर्ण और विभीषण कहे और तीनो के गुण भी उसी क्रम से 'बीर बरिबंडा', 'बलधामा' और 'विष्णुभगत विज्ञाननिधाना ।' बतलाये ।

रहे जे सुत सेवक नृप केरे । भये निसाचर घोर घनेरे ॥६॥
कामरूप खल जिनिस अनेका । कुटिल भयंकर बिगतबिबेका ॥७॥
कृपारहित हिंसक सब पापी । बरनि न जाहिं बिस्व-परितापी ॥८॥

दोहा—उपजे जदपि पुलस्त्यकुल, पावन अमल अनूप ।
तदपि महीसुर-स्राप-बस, भये सकल अघ-रूप ॥१७६॥

शब्दार्थ—जिनिस = प्रकार, जाति । बिगत = रहित । परितापी = दुःख देनेवाले ।

अर्थ—राजा के जो पुत्र और सेवक थे, वे सब अत्यन्त घोर राक्षस हुए ॥६॥ वे सब इच्छारूपधारी दुष्ट, अनेक प्रकार एवं जातियों के, कुटिल, भयंकर, विवेकरहित, निर्दय, हिंसा करनेवाले, पापी और जगत् भर को दुःख देनेवाले हुए जो कहने में नहीं आ सकते ॥७-८॥ यद्यपि पुलस्त्य मुनि के पवित्र, निर्मल और अनुपम कुल में पैदा हुए थे, तथापि ब्राह्मणों के शाप-वश वे सब पाप-रूप हो गये ॥१७६॥

विशेष—(१) 'रहे जे सुत सेवक···' शाप तो था कि -"जइहसि तैं समेत परिवारा।" फिर सेवक क्यों राक्षस हुए? उत्तर यह है कि यंत्रराज-पूजन में विभीषण, अंगद, हनुमान् आदि सेवक होते हुए भी रामजी के परिवार माने गये हैं, वैसे राजा के मंत्री और सेवक भी उसके परिवार ही हैं।

(२) 'कृपारहित हिंसक···'—कृपारहित हैं, इसीसे हिंसक हैं और हिंसक होने से पापी हैं तथा इसीसे वर्णन के योग्य नहीं हैं। यथा—"येहि लागि तुलसीदास इन्हकी कथा कछु एक है कही। रघुबीर-सर-तीरथ···" (सुं० दो० २)। बहुत होने से भी अवर्णनीय हैं।

(३) 'उपजे जदपि पुलस्त्य-कुल···'—कुल का प्रभाव संतान पर पड़ता है, पर विप्रशाप ऐसा प्रबल है कि ये कुल के विरुद्ध पाप-रूप हुए। अतः, कुल के प्रभाव से ब्राह्मणत्व का प्रभाव श्रेष्ठ है।

कीन्ह बिबिध तप तीनिहुँ भाई। परम उग्र नहिं बरनि सो जाई ॥१॥
गयेउ निकट तप देखि बिधाता। माँगहु बर प्रसन्न मैं ताता ॥२॥
करि बिनती पद गहि दससीसा। बोलेउ बचन सुनहु जगदीसा ॥३॥
हम काहू के मरहिं न मारे। बानर मनुज जाति दुइ बारे ॥४॥
एवमस्तु तुम्ह बड़ तप कीन्हा। मैं ब्रह्मा मिलि तेहि बर दीन्हा ॥५॥

अर्थ—तीनों भाइयों ने अनेक प्रकार से अत्यन्त कठिन तप किये, जो कहे नहीं जा सकते ॥१॥ तप देखकर ब्रह्माजी समीप गये और कहा कि हे तात! मैं प्रसन्न हूँ, वर माँगो ॥२॥ दशग्रीव ने चरण पकड़ विनय करके ये वचन कहे—हे जगदीश्वर! सुनिये ॥३॥ हम वानर और मनुष्य दो जातियों को बारे अर्थात् छोड़कर किसी के मारे न मरें ॥४॥ शिवजी कहते हैं कि मैंने और ब्रह्मा ने मिलकर उसे वर दिया कि ऐसा ही हो, क्योंकि तुमने बड़ा तप किया है।

विशेष—(१) 'कीन्ह बिबिध तप तीनिहुँ भाई'—तीनों ने तीन तरह के तप किये—"रावण ने दस हजार वर्षों तक निराहार तपस्या की, प्रत्येक हजार वर्ष पर वह अपना एक-एक सिर अग्नि में हवन कर देता, दसवें सिर के हवन के समय ब्रह्माजी आये। कुंभकर्ण गर्मी में पंचाग्नि-सेवन करता, वर्षा में मेघ-जल से भींगता और जाड़े में जल में रहता था। इस तरह दस हजार वर्ष बीते। विभीषणजी ने एक पैर पर खड़े रहकर पाँच हजार वर्ष बिताये, फिर पाँच हजार वर्ष तक सूर्य की आराधना की। मस्तक और बाहु ऊपर उठाकर स्वाध्याय करते रहे।" (वा० उ० स० १०)। यही 'परम उग्र' तप है। अन्य तपस्वियों का तप उग्र था, इनका परम 'उग्र' क्योंकि राक्षस-शरीर अधिक सहिष्णु होते हैं।

(२) 'करि बिनती पद गहि'—इस तरह प्रसन्न करके भारी वर चाहता है।

(३) 'हम काहू के··· बानर मनुज···'—ब्रह्मा और शिवजी की प्रेरणा से उसने ऐसा कहा, यथा—"रावन कुंभकरन बर माँगत सिव बिरंचि बाचा छले।" (गी० सुं० ४१)। नहीं तो उसका काम अर्द्धाली के पूर्वार्द्ध

से ही चल जाता। वाल्मीकीय में लिखा है कि इसने पहले अमर होनाही माँगा। उसे न मिलता देखकर 'वानर-मनुज' दो को 'वराय' कर माँगा, वहाँ यह भी ठीक मिल जाता है। वानर, शब्द गोपुच्छ भालु आदि का भी उपलक्षक है।

शंका—यह वानर से तो मरा नहीं, कहा है—"नर के कर आपन बध बाँची।" (लं० दो० २८), अर्थात् जानता भी था कि मनुष्य से मृत्यु है। फिर वानरों को क्यों मिलगाया ?

समाधान— वानर और मनुष्य—दो को तृणवत् तुच्छ मानकर छाँट दिया, यथा—"तृणभूता हि ते मन्ये प्राणिनो मानुषादय'।" (वाल्मी० उ० १०)। ये तो मेरे आहार हैं। इनसे अभयत्व माँगने में हँसी होगी। नर के हाथ मृत्यु को तो इसने झूठा ही माना था। हाँ, उसके शब्दों में वर की सार्थकता यों है कि 'इम' शब्द बहुवचन है। अत', वह नर से और राक्षस लोग वानरों से मरे। पुनः शंका—यह भी तो लिखा है कि—"*रावन मरन मनुज-कर जाँचा।*" (दो० ४८); *इसमें मनुज के हाथ मृत्यु माँगनी कही है* और ऊपर तृणवत् मानकर छाँटना कहा है, फिर दोनों का ऐक्य कैसे हो ?

समाधान—प्राकृत मनुष्य को तो तृणवत् ही मानता था, इस 'मनुज' शब्द का अर्थ मनु के तप से जायमान (उत्पन्न) होनेवाले अर्थात् परात्पर मनुष्याकार साकेतविहारी श्रीरामजी के हाथ से ही मरूँ, यह उसका अभिप्राय है, क्योंकि यह प्रतापी नाम का रामसखा है और साकेत से अवतीर्ण है। अतः, वैसा वर माँगा। इस ग्रंथ में समग्र चरित साकेतविहारी श्रीरामजी और प्रतापभानु—रावण के हैं।

शंका—ब्रह्माजी का आना तो स्पष्ट है, वर देने में शिवजी कहाँ से आ कूदे ?

समाधान—शिवजी का भी आना 'विधाता' शब्द में हो जाता है, क्योंकि पुराणों में सृष्टि-विधान करना शिवजी का भी पाया जाता है। अथवा शिवजी मूर्तिरूप से वहीं थे, उन्हीं के समक्ष में तो वह शिर काटता था। यथा—"हुने अनल महँ बार बहु, हरषि साखि गौरीस।" (लं० दो० २८)। ब्रह्माजी के आने पर शिवजी भी प्रकट हो गये।

पुनि प्रभु कुंभकरन पहिं गयेऊ। तेहि बिलोकि मन बिसमय भयेऊ ॥६॥
जौं येहि खल नित करब अहारू। होइहि सब उजारि संसारू ॥७॥
सारद प्रेरि तासु मति फेरी। माँगेसि नींद मास षट केरी ॥८॥

दोहा—गये बिभीषन पास पुनि, कहेउ पुत्र बर माँग।
तेहि माँगेउ भगवंत-पद-कमल अमल अनुराग ॥१७७॥

तिन्हहिं देइ बर ब्रह्म सिधाये। हरषित ते अपने गृह आये ॥१॥

अर्थ— फिर प्रभु ब्रह्माजी कुंभकर्ण के पास गये, उसे देखकर मन में आश्चर्य हुआ ॥६॥ कि जो यह दुष्ट नित्य भोजन करेगा तो सारा संसार उजड़ जायगा ॥७॥ सरस्वती को प्रेरित करके उसकी बुद्धि फेर दी (तब) उसने छः महीने की नींद माँग ली ॥८॥ फिर विभीषणजी के पास गये और कहा कि पुत्र ! वर माँगो। उन्होंने भगवान् के चरण-कमलों में शुद्ध अनुराग माँगा ॥१७७॥ उन सबको वर देकर ब्रह्माजी चले गये और वे सब प्रसन्न होकर अपने घर आये ॥१॥

विशेष (१)—'पुनि प्रभु'—शिवजी कहते हैं, इसे ब्रह्माजी ने ही वर दिया।

'तेहि बिलोकि मन ''' जो येहि खल······'—इसका पर्वताकार विशाल रूप देखकर आश्चर्य हुआ। यह खल है, किसी जीव को न छोड़ेगा; यथा—"कहुँ महिष मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं।" (सुं० दो० ३)।

(२) 'सारद प्रेरि तासु······'—पैदा होते ही इसने हजार प्राणियों को खा डाला। इन्द्र ने वज्र चलाया, उसे भी सह लिया और उन्हीं के ऐरावत का दाँत उखाड़कर ऐसा मारा कि वे भगे। (फिर यम ने दंड मारा। यह उसे निगल ही गया!) इसने सात अप्सराओं, दस देव-दूतों और बहुत ऋषियों को खा डाला था। जब ब्रह्माजी वर देने आये, तब देवताओं ने ब्रह्मा से सब वृत्तान्त कहे। इससे उन्होंने सरस्वती-द्वारा इसकी वाणी फेर दी, तब 'छः महीने जगें और एक दिन सोवें' की जगह उल्टा माँग लिया या इन्द्र (होने) की जगह निद्र (निद्रा) माँगा।

रावण को तात और विभीषण को पुत्र कहा और इसे कुछ नहीं, क्योंकि इसके पास आने से ब्रह्मा स्वयं विस्मित हो गये थे!

(३) 'पुत्र बर माँग'—पुत्र अर्थात् जो पितरों को 'पुं' नाम के नरक से 'त्र' अर्थात् तारे। यह भक्त है, भक्ति माँगेगा, जिससे पितृगण भी तर जाते हैं। अतः, पुत्र कहा।

मयतनुजा मंदोदरि नामा। परम सुंदरी नारि ललामा ॥२॥
सोइ मय दीन्हि रावनहिं आनी। होइहि जातुधान-पति जानी ॥३॥
हरषित भयेउ नारि भलि पाई। पुनि दोउ बंधु बिआहेसि जाई ॥४॥

शब्दार्थ—तनुजा = कन्या। ललामा = रत्न, श्रेष्ठ। जातुधान = निशाचर। जानी = (जाया) स्त्री।

अर्थ—मय (दानव) के मंदोदरी नाम की कन्या थी, वह परम सुन्दरी और स्त्रियों में रत्न थी ॥२॥ उसे मय ने ले आकर रावण को यह जानकर दिया कि यह निशाचरपति की रानी बनेगी ॥३॥ (रावण) सुन्दर स्त्री पाकर हर्षित हुआ। फिर जाकर दोनों भाइयों का विवाह किया ॥४॥

विशेष—'मय'—यह दैत्य दिति से उत्पन्न (कश्यप) का पुत्र था। यह बड़ा मायावी और शिल्पी था। हेमा अप्सरा से इसके दो पुत्र—मायावी और दुंदुभी हुए और यह मंदोदरी कन्या हुई। यह पंचकन्याओं में है। यथा, पंचकन्या—'अहल्या, द्रौपदी, कुन्ती, तारा और मन्दोदरी।'

'सोइ मय दीन्हि ''''होइहि जातुधानपति''' '—वाल्मी० उ० अ० १२ में लिखा है, मय जान भी गया था कि यह पिता विश्रवा से शापित एवं क्रूर स्वभाव है, पर इस डर और लोभ से भी कन्या दिया कि कन्या-रत्न पाकर क्रोध न करेगा। देने से इसका मान्य होऊँगा और यह निशाचरों का राजा होगा, क्योंकि भारी वर पा चुका है। 'बिआहेसि जाई'—इसका ब्याह तो घर बैठे हो गया। दोनों भाइयों का विवाह बारात सजकर उनकी ससुरालों में जाकर हुआ। वैरोचन की लड़की की लड़की (दौहित्री) वज्रज्वाला कुंभकर्ण की और शैलूष गंधर्वराज की कन्या सरमा विभीषण को स्त्री हुई।" (वाल्मी० उ० स० १२)।

गिरि त्रिकूट एक सिंधु मँझारी। बिधिनिर्मित दुर्गम अति भारी ॥५॥
सोइ मयदानव बहुरि सँवारा। कनकरचित मनिभवन अपारा ॥६॥

भोगावति जसि अहिकुलबासा। अमरावति जसि सक्रनिवासा ॥७॥
तिन्ह तें अधिक रम्य अति बंका। जगबिख्यात नाम तेहि लंका ॥८॥

दोहा--खाईं सिंधु गँभीर अति, चारिहु दिसि फिरि आव।
कनककोट मनिखचित दृढ़, बरनि न जाइ बनाव ॥
हरिप्रेरित जेहि कलप जोइ, जातुधानपति होइ।
सूर प्रतापी अतुल बल, दलसमेत बस सोइ ॥१७८॥

शब्दार्थ—त्रिकूट=तीन शिखरोंवाला पर्वत—इसका एक शिखर सुन्दर नाम का था, जिसपर अशोक-वाटिका थी, दूसरा सुबेल था। यह युद्ध का मैदान था। मध्य का शिखर नीलवर्ण था। उसका नाम निकुंभिला था, जिसपर ३० योजन चौड़ी और १०० योजन लंबी लंका नगरी बसी थी। मँझारी=बीच में। निर्मित=रचा हुआ। दुर्गम=जिसमें दुःख से किसी की पहुँच हो। बंका=टेढ़ा, सुन्दर।

अर्थ—समुद्र के बीच में ब्रह्मा का रचा हुआ, अत्यंत भारी और दुर्गम त्रिकूट पर्वत था ॥५॥ उसीको मय दानव ने फिर से सजाया, उसमें मणि-जटित सोने के अनगिनत महल थे ॥६॥ जैसी नागकुल के रहने की भोगावती पुरी और इन्द्र का निवासस्थल अमरावती है ॥७॥ उनसे भी यह अधिक सुंदर और अत्यन्त बाँका (टेढ़ा) था। उसका संसार-प्रसिद्ध नाम लंका था ॥८॥ जिसके चारों ओर बड़े गहरे समुद्र की खाई फिरी हुई थी। मणि-जटित सोने का दृढ़ किला था, जिसकी बनावट कही नहीं जा सकती ॥ भगवान् की प्रेरणा से जिस कल्प में जो शूर-वीर, प्रतापी, अतुलित बली निशाचरपति होता है, वही सेना समेत उसमें बसता है ॥१७८॥

विशेष—'दुर्गम अति भारी'—यथा—"देवदानवयक्षाणां गंधर्वोरगरक्षसाम्। अप्रधृष्यां पुरीं लंकां रावणेन सुरक्षिताम् ॥" (वाल्मी॰ यु॰ स॰ १४); "शकुनैरपि दुष्प्राप्ये।" (वाल्मी॰ उ॰ स॰ ५।२४)। भोगावती पाताल में और अमरावती स्वर्ग में है।

'बस सोइ'—कहा जाता है कि त्रिकूट पर्वत हड्डी पर है। अतः, देवता उसपर नहीं रहते। यह भी कहा जाता है कि एक बार बल-परीक्षा के लिये गरुड़ और पवनदेव में सुमेरु पर विवाद हुआ। वायु के प्रचंड झोंके से सुमेरु का एक शिखर—जिसका नाम त्रिकूट था—टूटकर समुद्र में आ गिरा। उसीपर असुरों के लिये लंका-नगरी का निर्माण हुआ था।

रहे तहाँ निसिचर भट भारे। ते सब सुरन्ह समर संहारे ॥१॥
अब तहँ रहहिं सक्र के प्रेरे। रच्छक कोटि जच्छपति केरे ॥२॥
दसमुख कतहुँ खबरि असि पाई। सेन साजि गढ़ घेरेसि जाई ॥३॥
देखि बिकट भट बड़ि कटकाई। जच्छ जीव लै गये पराई ॥४॥

अर्थ—वहाँ भारी-भारी निशाचर योद्धा रहते थे, उन सबको देवताओं ने युद्ध में मार डाला ॥१॥

अब वहाँ इन्द्र की प्रेरणा से कुबेर के एक करोड़ रक्षक रहते हैं ॥२॥ कहीं दशानन (रावण) ने यह खबर पाई तो सेना सजाकर उसने किले (लंका) को जा घेरा ॥३॥ बड़े विकट योद्धा और भारी सेना देखकर यक्ष अपने प्राण लेकर भाग गये ॥४॥

विशेष—'रहे तहाँ निसिचर भट···'—पहले इसमें सुकेश के पुत्र माल्यवान्, सुमाली और माली रहते थे। विष्णु भगवान् ने देवताओं की रक्षा करते हुए उन्हें परास्त किया था। (वा० उ०)। 'अब तहँ रहहिं···'—फिर पिता की आज्ञा से कुबेर उसमें रहने लगे थे, जिनके मालिक इन्द्र हैं। 'दसमुख कतहुँ खबरि···'—वाल्मीकीय उ० स० ११ में कथा है कि रावण के वर पाने पर उसके नाना माल्यवान् और मामा प्रहस्त आदि ने उक्त समाचार कहा है।

फिरि सब नगर दसानन देखा। गयेउ सोच सुख भयेउ बिसेखा ॥५॥
सुंदर सहज अगम अनुमानी। कीन्हि तहाँ रावन रजधानी ॥६॥
जेहि जस जोग बाँटि गृह दीन्हें। सुखी सकल रजनीचर कीन्हें ॥७॥
एक बार कुबेर पर धावा। पुष्पकजान जीति लै आवा ॥८॥

दोहा—कौतुक ही कैलास पुनि, लीन्हसि जाइ उठाइ।
मनहुँ तौलि निज बाहुबल, चला बहुत सुख पाइ ॥१७९॥

अर्थ—रावण ने घूम-फिरकर सारा नगर देखा, तब चिन्ता मिट गई और वह विशेष सुखी हुआ ॥५॥ स्वाभाविक सुंदर और अगम विचार कर यहाँ रावण ने अपनी राजधानी बनाई ॥६॥ जिसके योग्य जो मकान थे, वैसे उनमें बाँट दिये और सब निशाचरों को सुखी किया ॥७॥ (रावण ने) एक समय कुबेर पर धावा किया और उनका पुष्पक विमान जीत लाया ॥८॥ फिर उसने खेल ही में जाकर कैलाश पर्वत को उठा लिया, मानों अपनी भुजाओं के बल को तौलकर बहुत प्रसन्न होता हुआ चला ॥१७९॥

विशेष—'अगम अनुमानी'—उपर्युक्त दुर्गमता आदि से अगम्य समझा। इसपर विश्वास था, तभी तो श्री रामजी के द्वारा पुल बँधना सुनते ही घबराकर दशों मुखों से एक साथ ही बोल उठा। लं० दो० ५ देखिये।

'जेहि जसजोग'—श्रीविभीषणजी ने अपने योग्य घर पाया था, यथा—"भवन एक पुनि दीख ···" (सुं० दो० ५)।

'एक बार कुबेर पर···' कुबेरजी विश्रवा मुनि के पुत्र हैं। तपोबल से ये चौथे लोकपाल हुए। ये इन्द्र की नवो निधियों के स्वामी, यक्षों के राजा और उत्तर दिशा के अधिष्ठातृ देवता तथा धन-मात्र के स्वामी माने जाते हैं। इनकी राजधानी अलकापुरी है। ये बड़े तेजस्वी हैं। इनके एक आँख, तीन पैर और आठ दाँत हैं। 'पुष्पकयान'—यह विमान कुबेर का है। वाल्मी० उत्तर० सर्ग २।१९ के अनुसार ब्रह्मा ने इन्हें दिया है। वाल्मी० सुं० स० ७-८-९ में इसका विशद वर्णन है। यह विमान सुंदर बहुमूल्य मणियों और तपे हुए सोने से बना था। यह मनोगामी और आकाश में उड़नेवाला था। हजारों आकाशचारी राक्षस (ड्राइवर) इस विमान को चलाते थे। इसमें अच्छे अच्छे बैठने और सोने के स्थान बने थे। जालीदार खिड़कियाँ बनी थीं। इसमें गाने बजाने के भी सामान थे। इसपर चढ़ने के लिये सोने की सीढ़ियाँ बनी थीं और डंडे लगे

थे। चंदन की सुगंधि से यह विमान गमगमा रहा था। यह विमान अच्छे विशाल भवन में रक्खा रहता था। ब्रह्माजी ने कुबेर से कहा था कि इसी विमान से तुम्हें देवत्व प्राप्त होगा। इसका रंग हंस की भाँति उज्ज्वल था, पर रत्नों की प्रभा से यह उगते हुए सूर्य के समान लाल देख पड़ता था।

'कौतुक ही कैलास'···—पुष्पक जीतने पर उसपर चढ़कर रावण कैलाश होकर जाना चाहता था, नंदीश्वर ने इसे वहाँ रोका। इसपर इसने क्रुद्ध होकर कैलाश पर्वत को ही उठा लिया। तब इसे विश्वास हो गया कि मेरी भुजाओं में अतुल बल है—मेरा सामना कोई नहीं कर सकता, यथा—"निज भुजबल अति अतुल कहाँ क्यों कदुंक लौं कैलास उठायो।" (गी० लं० ३)

सुख संपति सुत सेन सहाई। जय प्रताप बल बुद्धि बड़ाई ॥१॥
नित नूतन सब बाढ़त जाई। जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई ॥२॥
अतिबल कुंभकरन अस भ्राता। जेहि कहँ नहि प्रतिभट जगजाता ॥३॥
करइ पान सोवइ षट मासा। जागत होइ तिहूँ पुर त्रासा ॥४॥
जौं दिन प्रति अहार कर सोई। बिस्व बेगि सब चौपट होई ॥५॥
समरधीर नहि जाइ बखाना। तेहि सम अमित बीर बलवाना ॥६॥
बारिदनाद जेठ सुत तासू। भट महँ प्रथम लीक जग जासू ॥७॥
जेहि न होइ रन सनमुख कोई। सुरपुर नितहि परावन होई ॥८॥

दोहा—कुमुख, अकंपन, कुलिसरद, धूमकेतु, अतिकाय।
एक एक जग जीति सक, ऐसे सुभट निकाय ॥१८०॥

शब्दार्थ—प्रतिलाभ = लाभ के साथ। प्रतिभट = जोड़ का योद्धा। जाता = जन्मा। तिहूँ पुर = तीनों लोक। चौपट = नष्ट। बारिदनाद = मेघनाद। लीक = गणना, रेखा। परावन = भगदड़। कुमुख = दुर्मुख।

अर्थ—सुख, संपत्ति, पुत्र, सेना, सहायक, विजय, प्रताप, बल, बुद्धि और बड़ाई ॥१॥ ये सब नित्य नये बढ़ते जाते हैं—जैसे लाभ के साथ-साथ अधिक लोभ बढ़ता है ॥२॥ उसका भाई अत्यन्त बली कुंभकर्ण ऐसा था कि जगत् में उसके जोड़ का योद्धा नहीं पैदा हुआ ॥३॥ वह मदिरा पीता और छः महीने सोता था, उसके जागते ही तीनों लोक भयभीत हो जाते थे ॥४॥ जो वह प्रत्येक दिन भोजन करता तो संसार शीघ्र ही नष्ट हो जाता ॥५॥ संग्राम में ऐसा धीर था कि वर्णन नहीं हो सकता; (लंका में) उसके समान बलवान् वीर अनगिनत थे ॥६॥ मेघनाद उस (रावण) का ज्येष्ठ पुत्र था, योद्धाओं में जिसकी गणना प्रथम थी ॥७॥ जिसके सामने लड़ाई में कोई खड़ा नहीं होता था, देवलोक में तो सदा भगदड़ ही मची रहती थी ॥८॥ दुर्मुख, अकंपन, वज्रदन्त, धूमकेतु, अतिकाय—ऐसे ऐसे झुंड-के-झुंड योद्धा थे जिनमें से एक-एक (प्रत्येक) अकेला ही संसार को जीत सकता था ॥१८०॥

विशेष—(१) 'सुख संपति···जिमि प्रतिलाभ··'—सुख सम्पत्ति आदि जैसे-जैसे उसे प्राप्त होती जाती थीं, वैसे-वैसे उसे अधिक की चाह होती थी। नित्य प्रति उन्हीं के बढ़ाने में लगा रहता था; जैसे लोभी

धन के बढ़ाने में संतुष्ट नहीं होता। निन्यानबे का फेर प्रसिद्ध है। यथा—"कादत बढ़हिं बीस समुदाई। जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई॥" (लं० दो० १०१)। लोभ के बढ़ने से अधर्म बढ़ता है, वैसे रावण का वश बढ़ने से होगा।

(२) 'अतिबल कुंभकरन…' यह ऐसा बली था कि वानरों की सेना में अकेला आ पैठा—माया-छल से युद्ध नहीं किया और न पीछे पाँव दिये। रावण को इसके बल का बड़ा गर्व था। यथा—"कुंभकरन अस बंधु मम, सुत प्रसिद्ध सक्रारि।" (लं० दो० २७)। जब रावण सबसे हतारा हुआ, तब व्याकुल होकर इसे ही जगवाया। यथा—"व्याकुल कुंभकरन पहिं आवा। बिबिध जतन करि ताहि जगावा॥" (लं० दो० ६१)।

(३) 'करइ पान' यथा—"महिष खाइ करि मदिरा पाना।" (लं० दो० ६३)।

'बिहुँ पुर त्रासा'—अर्थात् न जाने किधर झुक पड़े तो साफ ही कर दे।

'समरधीर' यथा—"कोटि कोटि गिरिसिखर प्रहारा। करहिं भालु कपि एक एक बारा॥ मुर्‌यो न मन तनु टर्‌यो न टार्‌यो। जिमि गज अर्क फलन्हि को मार्‌यो॥" (लं० दो० ६४)

(४) 'तेहि सम अमित बीर…'—पूर्व कहा—'नहिं प्रतिभट जगजावा' और यहाँ उसके समान अमित वीर कहते हैं, यह विरोध क्यों? उत्तर यह है कि जगत् में अन्यत्र उसके समान न थे, लंका में तो थे ही। लड़ाई बाहरवालों से होती है, घर में नहीं।

(५) 'बारिदनाद जेठ…'—यह जन्मते ही मेघ के समान गर्जा था, इसीसे मेघनाद नाम हुआ।

'भट महँ प्रथम लीक'—वाल्मी० उ० में अगस्त्यजी ने श्रीरामजी से कहा है कि जब आपने मेघनाद ही को जीत लिया तब रावण-वध बड़ी बात नहीं। मेघनाद प्रबल पराक्रमी और महामायावी था। इसे केवल वरदान-ही-वरदान मिले थे, शाप नहीं मिला था। यह न पहुँच जाता तो इन्द्र रावण को जीत लेते। इन्द्र को इसने जीता और इन्द्रजित् नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह काम का रूप भी कहा जाता है। यथा—"पाकारिजित काम…" (वि० ५८)। यह उस रूप में भी भटों में मुख्य है—"मारि के मार थप्यो जग में जाकी प्रथम रेख भटमाहीं।" (वि० ४)।

(६) 'एक एक जग जीति सक…'—शंका—जब एक-एक राक्षस जगत् को जीत सकता था, तब वे सब वानरों के हाथ कैसे मारे गये?

समाधान—निशाचर लोग जगत् को जीत सकते थे और वानर-भालु तो जगत् को तृण के समान गिनते एवं लड़ने में बली थे—यथा—"द्विविद मयंद नील नल,…ये कपि सब सुग्रीव समाना। इन्ह सम कोटिन्ह गनइ को नाना॥ रामकृपा अतुलित बल तिन्हहीं। तृन समान त्रैलोकहि गिनहीं॥" (सुं० दो० ५४)।

कामरूप जानहिं सब माया। सपनेहुँ जिनके धरम न दाया॥१॥
दसमुख बैठ सभा एक बारा। देखि अमित आपन परिवारा॥२॥
सुतसमूह जन परिजन नाती। गनइ को पार निसाचर-जाती॥३॥
सेन बिलोकि सहज अभिमानी। बोला बचन क्रोध मद-मानी॥४॥

अर्थ—सब इच्छारूपधारी थे (जब जो रूप चाहें, बना लें) और सब (राक्षसी) माया जानते थे।

स्वप्न में भी जिनके (हृदय में) धर्म और दया न थी ॥१॥ रावण एक बार अपनी सभा में बैठा और अपने अनगिनत परिवारों को देखा ॥२॥ पुत्र, सेवक, कुटुंबी और नाती वृंद-के-वृंद थे, उन निशाचर जातियों को गिनकर कौन पार पा सकता ? ॥३॥ सेना को देखकर स्वाभाविक ही घमंडी रावण क्रोध और मद-भरे वचन कहने लगा ॥४॥

विशेष—'गनइ को पार निसाचर-जाती ।'—वाल्मीकीय उ० स० ४ में कथा है कि विद्युत्केश की स्त्री सालकटङ्कटा (संध्या की कन्या) ने गर्भ प्रसव करके मार्ग के पास छोड़ दिया था। वह रोता था, उधर से शिव-पार्वतीजी जा रहे थे। शिशु को पड़ा और रोता देखकर पार्वतीजी के दया हो आई; तब महादेव ने उस शिशु की उम्र उसकी माता के बराबर कर दी और उसे अमर बना दिया। उसे एक आकाशगामी विमान भी दिया। उसका नाम सुकेश हुआ जो माल्यवान् आदि का पिता था। उसी समय महादेवजी ने राक्षस और राक्षसी मात्र के लिये वर दिया कि वह शीघ्र ही गर्भधारण करे, शीघ्र ही प्रसव करे और नवजात बालक शीघ्र ही अपनी माता की अवस्था का हो जाय। इस प्रकार की वृद्धि में फिर इन्हें कौन गिन सकता है ?

सुनहु सकल रजनीचर जूथा । हमरे बैरी बिबुधबरूथा ॥५॥
ते सनमुख नहिं करहिं लराई । देखि सबल रिपु जाहिं पराई ॥६॥
तिन्हकर मरन एक बिधि होई । कहउँ बुझाइ सुनहु अब सोई ॥७॥
द्विजभोजन मख होम सराधा । सब कै जाइ करहु तुम्ह बाधा ॥८॥

दोहा—छुधाछीन बलहीन सुर, सहजहिं मिलिहहिं आइ ।
तब मारिहउँ कि छाड़िहउँ, भली भाँति अपनाइ ॥१८१॥

अर्थ—हे राक्षसो ! सुनो, देव-समूह हमारे शत्रु हैं ॥५॥ वे सामने लड़ाई नहीं करते, शत्रु को प्रबल देखकर भाग जाते हैं ॥६॥ उनका मरण एक ही तरह से हो सकता है, मैं उसे अब समझाकर कहता हूँ, सुनो ॥७॥ ब्राह्मण-भोजन, यज्ञ, हवन, श्राद्ध—तुमलोग जाकर इन सबमें बाधा पहुँचाओ ॥८॥ भूख से दुबले, निर्बल होकर देवता सहज में ही आ मिलेंगे, तब उनको या तो मार डालूँगा अथवा भली भाँति अधीन करके छोड़ दूँगा ॥१८१॥

मेघनाद कहँ पुनि हँकरावा । दीन्ही सिख बल बैर बढ़ावा ॥ १ ॥
जे सुर समरधीर बलवाना । जिन्हके लरिबे कर अभिमाना ॥ २ ॥
तिन्हहिं जीति रन आनेसु बाँधी । उठि सुत पितु-अनुसासन काँधी ॥ ३ ॥
येहि बिधि सबहीं आज्ञा दीन्ही । आपुन चलेउ गदा कर लीन्ही ॥ ४ ॥
चलत दसानन डोलत अवनी । गर्जत गर्भ स्रवहिं सुररवनी ॥ ५ ॥
रावन आवत सुनेउ सकोहा । देवन्ह तके मेरु-गिरि-खोहा ॥ ६ ॥

दिगपालन्ह के लोक सुहाये। सूने सकल दसानन पाये॥७॥
पुनि पुनि सिंहनाद करि भारी। देइ देवतन्ह गारि प्रचारी॥८॥

शब्दार्थ—हँकराया = बुलवाया। काँधी = कंधे या सिर पर रक्खा, स्वीकार किया। स्रवहिं = गिर जाते हैं। सुररवनी = देवताओं की स्त्रियाँ। सकोहा = क्रोध युक्त। तके = ढूँढ़े, जा छिपे। नाद = गर्जन।

अर्थ—फिर मेघनाद को बुलवाया, उसे शिक्षा देकर उसके बल और देवताओं के प्रति वैर को उत्तेजित किया॥ १॥ जो देवता युद्ध में धीर और बलवान् हैं, जिन्हें लड़ने का अभिमान है॥ २॥ उन्हें लड़ाई में जीतकर बाँध लाना। पुत्र ने उठकर पिता की आज्ञा को शिरोधार्य किया॥३॥ इसी तरह सभी को आज्ञा दी और स्वयं गदा लेकर चला॥४॥ रावण के चलने से पृथिवी हिलती है और उसके गर्जने से देव-स्त्रियों के गर्भ गिर जाते हैं॥५॥ रावण को क्रोध-युक्त आता हुआ सुनकर देवतागण सुमेरु पर्वत की कंदराएँ ढूँढ़ने लगे (उनमें जा छिपे)॥६॥ लोकपालों के सब सुन्दर लोकों को रावण ने खाली पाया॥७॥ बार-बार सिंह की तरह भारी गर्जन करके देवताओं को ललकार-ललकारकर गाली देता था॥८॥

विशेष—(१) '*दीन्ही सिख बल बैर बढ़ावा*।'—*प्रथम युद्ध-नीति की शिक्षा दी। साम, दाम, भेद* और दंड—ये नीति के चारो भेद समझाये। व्यूहरचना और उनके तोड़ने के उपाय बतलाये। पुनः यह भी कहा कि शत्रु को छोटा न जाने और न छोड़े; नहीं तो कभी वह शत्रु के द्वारा स्वयं नष्ट हो सकता है।

'बैर बढ़ावा'—सुर और असुर का वैर सदा से है। देवता छली होते हैं। छल से ही अमृत पीकर अमर हो गये। फिर लंका प्राचीन काल से हमीलोगों की थी; घात पाकर देवताओं ने ही छीन लिया था, इत्यादि।

(२) 'चलत दसानन डोलत अवनी'—इसने कैलाश पर्वत को गेंद की तरह उठा लिया तो इसके चलने से पृथिवी का डोलना भी संभव है। यथा—"जासु चलत डोल इमि धरनी। चढ़त मत्त गज जिमि लघुतरनी॥" (लं॰ दो॰ २४); पुनः यथा—"परम सभीत धरा अकुलानी॥ गिरि सरि सिंधु भार नहिं मोही। जस मोहिं गरुअ एक परद्रोही॥" (दो॰ १८१)।

'गर्जत'''सुररवनी'—इसका प्रतिफल भी राक्षसों को हनुमानजी के द्वारा मिला है। यथा—"चलत महा धुनि गर्जेसि भारी। गर्भ स्रवहिं सुनि निसिचरनारी॥" (सुं॰ दो॰ २७)

रन-मद-मत्त फिरइ जग धावा। प्रतिभट खोजत कतहुँ न पावा॥ ९॥
रबि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिनि कालजम सब अधिकारी॥१०॥
किन्नर सिद्ध मनुज सुर नागा। हठि सबही के पंथहि लागा॥११॥
ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनुधारी। दस-मुख-बसवर्त्ती नरनारी॥१२॥
आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहिं आइ नित चरन बिनीता॥१३॥

दोहा—भुजबल बिस्व बस्य करि, राखेसि कोउ न सुतंत्र।
मंडलीकमनि रावन, राज करइ निज मंत्र॥

देव - जच्छ - गंधर्व - नर, किन्नर - नाग - कुमारि ।
जीति बरीं निज बाहु-बल, बहु सुंदर बर नारि ॥१८२॥

शब्दार्थ—धनधारी = कुबेर । अधिकारी = जिन्हें लोक-शासन का अधिकार है, लोकपाल । मंडलीकमनि = सार्वभौम सम्राट् ।

अर्थ—लड़ाई के मद में मतवाला वह संसार-भर में दौड़ा फिरता था, पर अपने जोड़ का योद्धा कहीं नहीं पाता था ॥९॥ सूर्य, चन्द्रमा, पवन, वरुण, कुबेर, अग्नि, काल, यमराज—इन सब लोकाधिकारियों और किन्नर, सिद्ध, मनुष्य, देवता और नाग—सभी के पीछे हठपूर्वक पड़ गया ॥१०-११॥ ब्रह्मा की सृष्टि में जहाँ तक देहधारी स्त्री-पुरुष थे, वे सब रावण के आज्ञाकारी (वश) थे ॥१२॥ सब डर के मारे उसकी आज्ञा का पालन करते थे और नित्य विनीत भाव से आकर उसके चरणों में प्रणाम करते थे ॥१३॥ अपनी भुजाओं के बल से जगत्-भर को वश में करके किसी को भी स्वतंत्र नहीं रहने दिया । सार्वभौम सम्राट रावण अपनी मति (इच्छा—नियम) के अनुसार राज्य करता था ॥ देवता, यक्ष, गंधर्व, मनुष्य, किन्नर और नाग की कन्याओं को एवं और भी बहुत श्रेष्ठ सुन्दरी स्त्रियों को अपने बाहु-बल से जीतकर ब्याह लिया ॥१८२॥

विशेष—(१) 'रवि ससि पवन···'—ये आठो लोकपाल हैं । अन्यत्र काल की जगह इन्द्र का नाम मिलता है ।

(२) 'पंथहि लागा'—अर्थात् कोई अपने अधिकार के अनुसार व्यापार नहीं कर पाता था ।

(३) 'ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि···'—शंका—अवधेश, मिथिलेश, बालि, सहस्रार्जुन और बलि तो रावण के वशवर्त्ती न थे, फिर यहाँ रावण को विश्वविजयी कैसे कहा गया ?

समाधान—(क) जब सृष्टि के रचयिता ब्रह्मा और संहारकर्त्ता शिवजी भी उसके वश में थे एवं सब लोकपाल हाथ जोड़े खड़े रहते थे तब बीच के इने-गिने वशवर्त्ती न भी पाये जाँय तो क्या ? इनलोगों ने उसे वश भी तो नहीं किया । यथा—"वेद पढ़ैं बिधि संभु सभीत पुजावन रावन सो नित आवैं । दानव देव दयावने दीन दुखी दिन दूरिहि ते सिर नावैं ।" (क० उ० २); "कर जोरे सुर दिसिप बिनीता । भृकुटि बिलोकत सकल सभीता ।" (सु० दो० ११) । देवताओं की अपेक्षा मनुष्य-वानर युद्ध में बहुत तुच्छ हैं, इसीसे तो रावण ने वर माँगने में इन्हें छोड़ दिया था, यथा—"अवज्ञाताः पुरा तेन वरदाने हि मानवाः ।" (वाल्मी० बा० स० १६।६) । (ख) साहित्य की रीति है कि जिस समय जिसका उत्कर्ष कहा जाता है, उसके साथ ही अपकर्ष नहीं कहा जाता । इसका दो-चार जगहों का जो थोड़ा अपकर्ष है, वह अंगद-रावण-संवाद में कह देंगे । वाल्मीकीय उ० में भी श्रीरामजी के पूछने पर अगस्त्यजी ने अपकर्ष की रावण की बातें अलग कही हैं । सामान्य रीति से तो यह विश्व-विजयी था ही । 'मंडलीक'—१२ राजाओं के ऊपर कहाता है, 'मनि' से उनका भी स्वामी अर्थात् जगत्-सम्राट् ही अर्थ होगा ।

इंद्रजीत सन जो कछु कहेऊ । सो सब जनु पहिलेहि करि रहेऊ ॥१॥
प्रथमहिं जिन कहँ आयसु दीन्हा । तिन्हकर चरित सुनहु जो कीन्हा ॥२॥
देखत भीमरूप सब पापी । निसिचर-निकर देव-परितापी ॥३॥

करहिं उपद्रव असुर - निकाया। नानारूप धरहिं करि माया ॥४॥
जेहि बिधि होइ धरम निर्मूला। सो सब करहिं बेद-प्रतिकूला ॥५॥
जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाँव पुर आगि लगावहिं ॥६॥
सुभ आचरन कतहुँ नहिं होई। देव बिप्र गुरु मान न कोई ॥७॥
नहिं हरिभगति जज्ञ तप ज्ञाना। सपनेहुँ सुनिय न बेद पुराना ॥८॥

अर्थ—मेघनाद से जो कुछ कहा गया, उन सबको मानों उसने पहले ही से कर रक्खा था ॥१॥ जिन्हें सबसे पहले आज्ञा दी थी, उन्होंने जो चरित किये, उन्हें सुनो ॥२॥ देवताओं को दुःख देनेवाले निशाचर वृन्द देखने में भयंकर और पापी थे ॥३॥ वे असुर-समूह उपद्रव करते थे और माया से अनेक रूप धारण करते थे ॥४॥ जिस प्रकार से धर्म निर्मूल हो जावे, वे ही सब वेद विरुद्ध उपाय करते थे ॥५॥ जिस-जिस देश में गायों और ब्राह्मणों को पाते थे, उस-उस नगर, गाँव और पुर में आग लगा देते थे ॥६॥ शुभ आचरण (विप्र-भोजन, यज्ञ, दान आदि) कहीं भी नहीं होते थे। देवताओं, ब्राह्मणों और गुरुओं को कोई नहीं मानता था ॥७॥ स्वप्न में भी हरिभक्ति, यज्ञ, तप, ज्ञान नहीं होते और न वेद-पुराण ही सुनने में आते थे ॥८॥

विशेष—(१) 'इन्द्रजीत सन जो…'—मेघनाद को जैसे ही आज्ञा मिली, वह इतना शीघ्र इन्द्र को जीत लाया कि मानों उसने प्रथम ही से जीत रक्खा था। लाकर दिखा दिया, इसीसे यहीं पर उसका 'इन्द्रजित्' नाम दिया गया।

(२) 'नगर गाँव पुर'—गाँव से बड़ा पुर होता है और उससे बड़ा नगर। एक भी ब्राह्मण या गाय के छिपा होने का संदेह हो तो छोटे-बड़े नगर-गाँव आदि नहीं बचने देते, सबमें आग लगा देते थे।

छंद—जप जोग बिरागा तप मखभागा श्रवन सुनइ दससीसा।
आपुन उठि धावइ रहइ न पावइ धरि सब घालइ खीसा ॥
अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धरम सुनिय नहिं काना।
तेहि बहु बिधि त्रासइ देस निकासइ जो कह बेद पुराना ॥

सोरठा—बरनि न जाइ अनीति, घोर निसाचर जो करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति, तिन्हके पापहि कवन मिति ॥१८३॥

बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लंपट पर - धन पर - दारा ॥१॥
मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा ॥२॥
जिन्हके यह आचरन भवानी। ते जानहु निसिचर सम प्रानी ॥३॥

शब्दार्थ—घालै सीसा = नष्ट कर डालता, यथा—"छेदि के बल घालेहि धन सीसा।" (सु० दो० २०)।

अर्थ—जप, योग, वैराग्य, तप, यज्ञ में देवताओं का भाग (जैसे ही) रावण कानों से सुन पाता। (वैसे ही वह) स्वयं उठ दौड़ता, कुछ भी न रहने पाता, सबको नष्ट कर डालता था॥ ऐसा भ्रष्ट आचरण संसार में हो गया कि धर्म तो कानों से सुनने में नहीं आता था। जो कोई वेद-पुराण कहता, उसे बहुत प्रकार से डरवाता और देश से निकाल देता था॥ घोर निशाचरगण जो अन्याय करते थे उनका वर्णन नहीं हो सकता। हिंसा पर जिनकी अत्यन्त प्रीति है, उनके पापों की कौन सीमा?॥१८३॥ बहुत दुष्ट, चोर और जुआरी बढ़े, जो पराये धन और पराई स्त्रियों के कामुक रहते हैं॥१॥ माता, पिता और देवता किसी को नहीं मानते और साधुओं से सेवा करवाते हैं॥२॥ हे भवानी! जिनके ऐसे आचरण हैं उन सब प्राणियों को निशाचर ही के समान समझो॥३॥

विशेष—'छंद'—यह चौपइया छंद है, इसके प्रत्येक चरण में ३०-३० मात्राएँ होती हैं तथा १०, ८, १२ वीं मात्राओं पर विराम होता है। यथा—'भये प्रगट कृपाला दीनदयाला '" (दो० १९१)।

'हिंसा', यथा—"पर-पीड़ा सम नहिं अधमाई।" (उ० दो० ४०)।

'ते जानहु निसिचर सम प्रानी।'—उपर्युक्त आचरण उन निशाचरों के स्वाभाविक थे, पर अन्य किसी भी जाति या देश के प्राणी ऐसे आचरण करें, तो वे भी निशाचरों के समान ही हैं।

अतिसय देखि धरम कै ग्लानी। परम सभीत धरा अकुलानी॥४॥
गिरि सरि सिंधु भार नहिं मोही। जस मोहि गरुअ एक परद्रोही॥५॥
सकल धरम देखइ बिपरीता। कहि न सकइ रावन-भय-भीता॥६॥
धेनु-रूप धरि हृदय बिचारी। गई तहाँ जहँ सुर-मुनि-झारी॥७॥
निज-संताप सुनायेसि रोई। काहू ते कछु काज न होई॥८॥

छंद—सुर मुनि गंधर्बा मिलि करि सर्बा गे बिरंचि के लोका।
सँग गो-तनु-धारी भूमि बिचारी परम बिकल भय सोका॥
ब्रह्मा सब जाना मन अनुमाना मोर कछू न बसाई।
जाकरि तैं दासी सो अबिनासी हमरेउ तोर सहाई॥

सोरठा—धरनि धरहि मन धीर, कह बिरंचि हरिपद सुमिरु।
जानत जन की पीर, प्रभु भंजिहि दारुन बिपति॥१८४॥

शब्दार्थ—ग्लानी = खेद, खिन्नता। धरा = पृथिवी। झारी = सब। पीर = पीड़ा, दुःख।

अर्थ—धर्म की अत्यन्त खिन्नता देखकर पृथिवी परम भयभीत और व्याकुल हो गई॥४॥ (हृदय में विचारने लगी कि) मुझे पर्वत, नदी और समुद्र का वैसा भारी बोझ नहीं लगता, जैसा एक परद्रोही

भारी लगता है ॥ ५ ॥ वह सब धर्म उल्टे देख रही है, पर रावण के डर से डरी हुई कुछ कह नहीं सकती ॥६॥ हृदय में विचार कर, गाय का रूप धरकर, वहाँ गई, जहाँ सब देवता और मुनि थे ॥७॥ अपना दुखड़ा रोकर सुनाया, पर किसी से कुछ काम न हुआ ॥८॥ सुर, मुनि और गंधर्व—सब मिलकर ब्रह्मलोक को गये। भय और शोक से परम व्याकुल बेचारी पृथिवी भी गाय का रूप धारण किये साथ थी ॥ ब्रह्माजी सब जान गये और मन में विचार कर कहा कि इसमें मेरा कुछ वश नहीं चलेगा। जिसकी तू दासी है, वह अविनाशी है, वही हमारा और तुम्हारा सहायक है। फिर ब्रह्माजी ने कहा कि हे पृथिवी! मन में धैर्य धारण करो और भगवान् के चरणों का स्मरण करो, वे प्रभु अपने दासों की पीड़ा को जानते हैं, अतः, इस कठिन विपत्ति को दूर करेंगे ॥१८४॥

विशेष—(१) 'धरा अकुलानी'—क्योंकि पापियों का बोझ धारण करने में असमर्थ है। अतः, 'धरा' नाम दिया। 'धेनु रूप'—गाय दीनता-द्योतक और सभी की दया का पात्र है। 'गई तहाँ'—सुमेरु पर्वत पर गई, क्योंकि वहीं सब छिपे थे, यथा—"देवन्ह तके मेरु-गिरि-खोहा।" (दो० १८१)

'गे बिरंचि के लोका'- क्योंकि सृष्टि ब्रह्मा ही की रची हुई है और रावण को वर भी इन्होंने दिये हैं, उसी से भय है और धर्म हानि का शोक है। वे कुछ प्रबंध करेंगे ही। 'मोर कछू न बसाई' वर तो देही चुके, अब मेरा भी कुछ वश नहीं, नित्य उसके यहाँ वेद सुनाने के लिये जाना पड़ता है। 'हमरेउ तोर सहाई'—हमारी भी पराधीनता छुड़ावेंगे और मेरे वरदान की रक्षा करते हुए, तेरी भी रक्षा करेंगे।

'सो अविनासी'—भाव यह कि किसी भी नाशवान् व्यक्ति के द्वारा वह न मरेगा, प्रभु अविनाशी हैं, वे ही नर-शरीर धारण कर मारेंगे, तब हम सबके दुःख दूर होंगे।

(२) 'धरनि धरहि मन …'—पृथिवी परम व्याकुल थी, अतः धीर धरने को कहा और हरि-स्मरण भी करने के लिये उपदेश दिया, क्योंकि भय-शोक के हरनेवाले हरि ही हैं, यथा—"कह कपि हृदय धीर धरु माता। सुमिरु राम सेवक-सुखदाता॥" (सु० दो० १४), अर्थात् धीर धरना और हरि-स्मरण ये ही दुःख नाश के उपाय हैं। दुःख हरने के संबंध से 'हरि' और विपत्ति-भंजन के सम्बन्ध से 'प्रभु' अर्थात् समर्थ विशेषण उपयुक्त हैं।

बैठे सुर सब करहिं बिचारा। कहँ पाइय प्रभु करिय पुकारा ॥१॥
पुर बैकुंठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई ॥२॥
जाके हृदय भगति जसि प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहि रीती ॥३॥
तेहि समाज गिरिजा मैं रहेऊँ। अवसर पाइ बचन एक कहेऊँ ॥४॥
हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना ॥५॥
देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं ॥६॥
अग-जग-मय सबरहित बिरागी। प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी ॥७॥
मोर बचन सबके मन माना। साधु साधु करि ब्रह्म बखाना ॥८॥

शब्दार्थ—पुकारा = दुःख सुनावें। दिसि-बिदिसहु = चार दिशाएँ और चार विदिशाएँ तथा ऊपर और नीचा—

ये सब मिलाकर दस दिशाएँ होती हैं। अग = स्थावर। जग = जंगम। विरागी = ममता-रहित। साधु साधु (अव्यय) = ठीक है-ठीक है, धन्य-धन्य।

अर्थ—सब देवता बैठे हुए विचार करते हैं कि प्रभु को कहाँ पावें और कहाँ पुकार करें ?॥१॥ कोई तो वैकुंठ जाने को कहता है और कोई कहता है कि वही प्रभु क्षीरसागर में बसते हैं॥२॥ जिसके हृदय में जैसी भक्ति और प्रीति है, प्रभु उसी प्रकार से उसके लिये सदा वहीं प्रकट हो जाते हैं॥३॥ हे गिरिजे ! उस समाज में मैं भी था, अवसर पाकर मैंने भी एक बात कही॥४॥ कि भगवान् सब जगह एक समान व्याप्त हैं, वे प्रेम से प्रकट होते हैं, यह मैं जानता हूँ॥५॥ कहिये तो, वह कौन देश, काल, दिशा और विदिशा है, जहाँ प्रभु न हों ?॥६॥ वे स्थावर-जंगम-मय हैं और सबसे पृथक् एवं रागरहित हैं, वे प्रभु प्रेम से ऐसे प्रकट हो जाते हैं, जैसे (लकड़ी से) अग्नि॥७॥ मेरा वचन सबके मन में ठीक जँचा और ब्रह्माजी ने साधु-साधु कहकर प्रशंसा की॥८॥

विशेष—'बैठे सुर सब करहिं''''—जय-विजय को शाप वैकुंठ में हुआ था और वृन्दा ने भी वैकुंठाधीश को ही शाप दिया था, इन प्रमाणों से कितनों का मत था कि वैकुंठ से ही अवतार होगा। श्रीनारदजी का शाप क्षीरशायी भगवान को हुआ है, इससे कुछ लोग कहने लगे कि वहीं से अवतार होगा। पर ब्रह्माजी मन-ही-मन विचार रहे हैं। ये जानते हैं कि अबकी बार उक्त स्थलों से अवतार न होगा, क्योंकि इनकी आयु बहुत बड़ी है, एक कल्प ही इनका दिन है, यथा—"सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः। रात्रिं युगसहस्रान्ताम्..." (गीता ८।१७)। और—"कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं।" (दो० १३९); अतः, ब्रह्मा ने बहुत अवतार देखे हैं, इनके एक दिन में ही देवताओं के कई जन्म हो जाते हैं। ब्रह्माजी के हार्दिक भाव को शिवजी जानते हैं, यथा—"कह विधि प्रभु तुम्ह अंतरजामी।" (दो ८७); अतः, शिवजी ने अवसर पाकर कहा, क्योंकि अवसर का वचन सार्थक होता है। यथा—"रानि राय सन अवसर पाई। ...कहब समुझाई॥" (अ० दो० २८९)। "अवसर जानि सप्तरिषि आये।" (दो० ८८); वैसे यहाँ जब देवताओं का यथार्थ मत न हुआ, तब अवसर पर शिवजी ने कहा। "हरि व्यापक...जिमि आगी" अर्थात् वे चराचर के स्वामी प्रभु सर्वत्र प्राप्त होते हैं, यथा—"सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुवर सब उर अंतरजामी॥" (दो० ११८)। 'प्रेम ते प्रगट होहिं'—यथा—"जोई सुमिरे तेहि को तहँ ठाढ़े।" (क० उ० १२७) "जहँ न होहु तहँ देहु कहि।" (अ० दो० १२७)। 'जिमि आगी'—लकड़ी में अग्नि सर्वत्र व्याप्त रहता है, पर जहाँ रगड़ की विशेषता होती है, वहीं वह प्रकट होता है। यहाँ लक्षण से परात्पर श्रीरामजी का परिचय दे दिया, केवल नाम नहीं कहा, यथा—"अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत-प्रेम-बस सगुन सो होई॥" (दो० ११५)। इस बात को ब्रह्माजी ही यथार्थ जान गये, अतः, साधु-साधु कहा। 'मोर बचन सबके मन माना।'—अर्थात् उक्त दोनों मतवालों को भी स्वीकार हुआ; क्योंकि विष्णु-नारायण भी तो व्यापक हैं ही, अतः, जिस रूप का आविर्भाव होना होगा, वही होगा। यही कारण है कि आगे स्तुति में और तदनुसार आकाशवाणी में एवं प्रगट होने पर सूतिकागृह में भी उक्त दोनों मतों के लिये संतोषप्रद बातें हुई हैं और इस परम गुह्य अवतार के चरित में सबको अपने ही इष्ट का बोध हुआ है।

दोहा—सुनि बिरंचि मन हरप तनु, पुलक नयन बह नीर।

अस्तुति करत जोरि कर, सावधान मतिधीर॥१८५॥

छंद—जय जय सुरनायक जन-सुखदायक प्रनतपाल भगवंता।
गो-द्विज-हितकारी जय असुरारी सिंधु-सुता-प्रिय-कंता॥
पालन सुर धरनी अद्भुत करनी मरम न जानइ कोई।
जो सहज कृपाला दीनदयाला करउ अनुग्रह सोई॥

अर्थ—मेरे वचन सुनकर ब्रह्माजी के मन में हर्ष हुआ, शरीर पुलकित हो गया और नेत्रों से आँसू बहने लगे। सावधानता-सहित वे धीरबुद्धि ब्रह्माजी हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे ॥१८५॥ हे देवताओं के स्वामी! भक्तों को सुख देनेवाले! शरणपाल भगवान्! आपकी जय हो, जय हो। हे गायों और ब्राह्मणों के हित करनेवाले! असुरों के शत्रु! श्रीलक्ष्मीजी के प्रिय स्वामी! आपकी जय हो॥ जो देवताओं और पृथिवी के पालन करने के लिये आश्चर्य कर्म करनेवाले हैं, जिनका भेद कोई नहीं जानता। जो स्वाभाविक कृपालु एवं दीनदयालु हैं, वे ही हम सबपर कृपा करें॥

विशेष—'सुनि बिरंचि...'—शिवजी ने कहा था—'प्रेम तें प्रगट होहिं...' इसलिये प्रथम ब्रह्माजी में प्रेम की दशा आई। परम भक्त शिवजी के वचन सुनकर प्रेम उमड़ आया। ब्रह्माजी ने ही रावण को वर दिये हैं और यहाँ सब में ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ होने से सब के मुखिया हैं। कवि ने दोहे के तीसरे चरण में एक मात्रा कम करके ब्रह्माजी की प्रेम-विह्वलता प्रकट कर दी है। 'मन हरष' से मन, 'स्तुति करत' से वचन और 'जोरि कर' से कर्म सूचित किया है, यथा—"भलो मानि है रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइ है।" (वि० १३५)। 'जय जय सुरनायक...'—जय शब्द तीन बार कहकर इसे अनन्त बार जनाया, क्योंकि तीन बहुवचन है, आदरार्थ वीप्सा भी है और प्रेमातिशय्य एवं विह्वलता का सूचक भी। आप 'सुरनायक' हैं, अतः, देवताओं के संकट हरें। 'जनसुखदायक' हैं, अतः, साधु, एवं ऋषि-मुनियों को अवतार से सुख दें। 'प्रनतपाल'—हम सब शरणागत हैं, रक्षा कीजिये। 'भगवंता'—आप षडैश्वर्य-पूर्ण हैं, आपके ऐश्वर्य-रूप जगत् को रावण से हानि पहुँच रही है। आप 'गोद्विज हितकारी' हैं और गो—ब्राह्मणों को रावण से दुःख है। 'असुरारी'—असुरों का नाश करना आप कैसे भूल रहे हैं? 'सिंधु सुता ..'—लक्ष्मी के पिता तीर्थपति समुद्र भी नीच रावण के संसर्ग से दुखी हैं। पुनः लक्ष्मीजी के ऐश्वर्य स्वरूप द्रव्य आदि का भी रावण के द्वारा असद्व्यय (बुरे कामों में व्यय) हो रहा है, अतः, वे भी दुखी हैं। 'अद्भुत करनी'—अखिल ब्रह्मांडमचक्र काल भी आपका भृकुटि विलास है, आप देव-पृथिवी के पालन के लिये मीन, कमठ, शूकर आदि बने, यह आश्चर्य ही है। आप—'सहज कृपाला' हैं, तब कृपा में देर क्यों? हमलोग दीन हैं, तो आपको दयालु होना ही चाहिये।

जय जय अबिनासी सब-घट-बासी ब्यापक परमानंदा।
अबिगत गोतीतं चरित पुनीतं मायारहित मुकुंदा॥
जेहि लागि बिरागी अति अनुरागी बिगत मोह मुनिबृंदा।
निसिबासर ध्यावहिं गुनगन गावहिं जयति सच्चिदानंदा॥

शब्दार्थ—अविगत=जो जाना न जाय, अज्ञेय। मुकुंद=विष्णु, मुक्तिदाता।

अर्थ—हे अविनाशी, घट-घट में वास करनेवाले, सबके व्यापक, परम आनंदरूप, अज्ञेय, इन्द्रियों से परे, पवित्रचरित, मायारहित, मुक्तिदाता विष्णु! आपकी जय हो, जय हो॥ जिसके लिये वैराग्यवान् मुनि-समूह मोहरहित होकर अत्यन्त अनुराग-पूर्वक रात-दिन ध्यान करते और जिनके गुण समूह गाते हैं, उन सच्चिदानंद भगवान् की जय!

जेहि सृष्टि उपाई त्रिबिध बनाई संग सहाय न दूजा।
सो करउ अघारी चिंत हमारी जानिय भगति न पूजा॥
जो भव-भय-भंजन मुनि-मन-रंजन गंजन बिपतिबरूथा।
मन बच क्रम बानी छाड़ि सयानी सरन सकल-सुर-जूथा॥

शब्दार्थ—उपाई=पैदा की। त्रिबिध=तीन प्रकार की। चिंत=चिंतवन, स्मरण।

अर्थ—जिन्होंने सृष्टि उत्पन्न कर उसे तीन प्रकार से बनाया। इस काम में दूसरा संगी एवं सहायक नहीं है। वे पापनाशक हमारी सुधि लें, हम भजन पूजन कुछ नहीं जानते॥ जो जन्म-मरण-रूप भय के नाशक, मुनियों के मन को आनंद देनेवाले और विपत्ति-जाल के नाशक हैं, हम सब देव-समूह चातुरी की बानि (प्रकृति) छोड़कर मन, वचन और कर्म से उनकी शरण में हैं॥

विशेष—(१) 'त्रिबिध बनाई'—जगत् की रचना में तीन कारण हैं—उपादान, निमित्त और सहकारी। जैसे घट बनने में मृत्तिका उपादान, कुम्हार निमित्त और दंड, चक्र, सूत आदि सहकारी कारण हैं। वेदान्त मत से जगत् के ऐसे ही तीनों कारण ईश्वर ही हैं। सूक्ष्म-चित्-अचित्-विशिष्ट ब्रह्म 'उपादान' कारण है। यथा—"तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय।" (छां० ६।२।३) अर्थात् उस (ईश्वर) ने बहुभवन्—बहुत होने का संकल्प किया। इसमें संकल्पकर्तृत्व से 'निमित्त' कारण भी वही हुआ तथा उत्पत्ति आदि के साधक कारण ज्ञान शक्ति आदि छओ ऐश्वर्य भी ब्रह्म ही में रहते हैं। इससे 'सहकारी' कारण भी वे ही हैं। 'संग सहाय न दूजा'—अर्थात् उपर्युक्त तीनो कारणत्व ब्रह्म में ही हैं, यथा—"सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।" (छां० ६।२।१)। इस वेद-वाक्य में एक सत्-रूप की स्थिति कही है, एक और अद्वितीय शब्द से उपादान और निमित्त भी उसीको कहा है।

सम्यक् प्रकार से आधार जानकर हमलोग आपकी ही शरण में प्राप्त हैं। 'बानी' का अर्थ आदत, स्वभाव या प्रकृति करना चाहिये, अन्यथा पुनरुक्ति होगी, यथा—"एक बानि करुनानिधान की।" (अ० दो० ६)। 'जानिय भगति न······' अर्थात् हमलोग उपाय में असमर्थ हैं। शरणागति मात्र का भरोसा है।

(२) 'मन बच क्रम बानी···'—जब तक मन-वचन-कर्म की चातुरी रहती है, तब तक श्रीराम-कृपा नहीं होती। यथा—"मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥" (दो० १६६); पुनः बालि के प्रसंग में भी—"परा बिकल महि" में शरीर का, "हृदय प्रीति मुख ·····" में मन का और "स्वामी सन, चल न चातुरी मोरि।" में वचन का अभिमान दूर हुआ, तो उसपर भी तुरंत कृपा हुई। यथा—"बालि-सीस परसा निज पानी। अचल करउँ तनु···बालि कहा सुनु कृपानिधाना॥" (कि० दो० ६)।

सारद श्रुति सेषा रिषय असेषा जा कहँ कोउ नहिं जाना।
जेहि दीन पियारे बेद पुकारे द्रवउ सो श्रीभगवाना॥
भव-बारिधि-मंदर सब बिधि सुंदर गुनमंदिर सुखपुंजा।
मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पदकंजा॥

दोहा—जानि सभय सुर भूमि सुनि, बचन समेत सनेह।
गगनगिरा गंभीर भइ, हरनि सोक संदेह॥१८६॥

अर्थ—सरस्वती, वेद, शेष और सम्पूर्ण ऋषि लोग—जिनको कोई नहीं जानते। जिन्हें दीन प्रिय हैं, ऐसा वेद पुकारकर कहते हैं, वे श्रीभगवान् कृपा करें॥ हे भवसागर के (मथन के लिये) मन्दराचल (रूप)! हे सब प्रकार से सुन्दर, गुणों के धाम और सुखराशि! हे नाथ! मुनि, सिद्ध और सब देवता परम भयभीत होकर आपके चरणारविन्दों में प्रणाम करते हैं॥ देवताओं और पृथिवी को भयभीत जानकर और प्रेम-युक्त वचन सुनकर शोक और संदेह हरनेवाली गंभीर आकाशवाणी हुई॥१८६॥

विशेष—(१) 'सारद श्रुति सेषा ···' यथा—"त्वं हि लोकगतिर्देव न त्वां केचित्प्रजानते।" (वाल्मीकीय उ० ११०।१०), "स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।" (गीता १०।१५)।

(२) 'दीन पियारे'—दो० १८ भी देखिये।

(३) 'भव-बारिधि-मंदर' अर्थात् मुमुक्षु के हृदय सिंधु के मथन में आप मंदर हैं, दैवी-आसुरी सम्पत्तियाँ मथनेवाली हैं, ११ इन्द्रियाँ और ३ अंतःकरण शुद्ध होकर १४ रत्न रूप से प्रकट होते हैं। 'परम भयातुर··· नमत'—"जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ···" (सुं० दो० ४४), इत्यादि रीति से अपनाइये।

स्तुति के चार छन्दों में क्रमशः कर्म, ज्ञान, भक्ति और प्रपत्ति (शरणागति) गर्भित हैं। पुनः प्रथम में क्षीरशायी, दूसरे-तीसरे में वैकुंठनाथ और चौथे छंद में साकेतविहारी के गुण-माहात्म्य का प्रत्यक्षीकरण है। विष्णु भगवान् और श्रीमन्नारायण का परात्पर श्रीरामजी से अंश-अंशी भेद होते हुए भी तत्त्वतः गुणतः अभेद है, इसीसे श्रीराम-स्तुति में भी इन दो रूपों के गुण मिश्रित हैं।

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुम्हहिं लागि धरिहउँ नरबेसा॥१॥
अंसन्ह सहित मनुज-अवतारा। लेहउँ दिनकर-बंस-उदारा॥२॥
कस्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन्ह कहुँ मैं पूरब बर दीन्हा॥३॥
ते दसरथ कौसल्या रूपा। कोसलपुरीं प्रगट नरभूपा॥४॥
तिन्हके गृह अवतरिहउँ जाई। रघुकुल तिलक सो चारिउ भाई॥५॥
नारद-बचन सत्य सब करिहउँ। परम सक्तिसमेत अवतरिहउँ॥६॥

हरिहउँ सकल भूमि - गरुआई। निर्भय होहु देव - समुदाई ॥७॥

शब्दार्थ—सुरेसा = देवों के स्वामी, ब्रह्मा आदि। अंसन्ह सहित = देखिये दो० १५१ चौ० २। उदारा = श्रेष्ठ, अत्यंत दानशील। परम सक्ति = आदिशक्ति (श्रीसीताजी)।

अर्थ—हे मुनियो, सिद्धो और सुरेशो! मत डरो, तुम्हारे लिये मैं मानव-शरीर धरूँगा ॥१॥ श्रेष्ठ सूर्यवंश में अंशों के साथ मैं मनुष्य का अवतार लूँगा ॥२॥ कश्यप और अदिति ने बड़ा भारी तप किया था, मैंने उन्हें प्रथम ही वर दिया है ॥३॥ वे दशरथ-कौशल्या-रूप से श्रीअयोध्यापुरी में राजा होकर प्रकट हुए हैं ॥४॥ रघुकुल में शिरोमणि हम चारो भाई उनके घर आकर अवतार लेंगे ॥५॥ श्रीनारदजी के सब वचन सत्य करूँगा, अपनी परम (आदि) शक्ति के साथ अवतार लूँगा ॥६॥ और पृथिवी के सब भार हरूँगा, हे देव-समूह! तुम सब निडर हो जाओ ॥७॥

विशेष—'मुनि सिद्ध···'—आकाशवाणी में मुनि और सिद्ध को प्रथम कहा, क्योंकि वे जितेन्द्रिय होते हैं। 'दिनकर-बंस उदारा।'—ब्रह्माजी ने रावण-वध मनुष्य के हाथ कहा है, उसे मारने के लिये साकेत-विहारी प्राकृत मनुष्य की तरह अवतीर्ण होंगे। सूर्य-वंशी तेजस्वी और श्रेष्ठ होते आये हैं। अतः, इसमें भगवान छिप सकेंगे और उदारता आदि गुणभी इसमें ही घटित होंगे—"मंगन लहहिं न जिन्हके नाहीं।" (दो० २३०)।

इस ग्रंथ में अशेषकारणपर श्रीरामजी का चरित है। इसी चरित में पार्वतीजी को मोह हुआ था। फिर उन्हीं के प्रश्नोत्तर-रूप में सम्पूर्ण कथा कही गई है। परन्तु अवतार-हेतु में तीन कल्पों के हेतु और लिखे गये, उनकी पूर्ति करके इस चौथे कल्प की कथा को मनुशतरूपा के प्रसंग से प्रारंभ किया। फिर इसी कल्प में भानुप्रताप के रावण होने का प्रसंग भी कहा और उसी के उत्पात से ब्रह्मादि ने स्तुति की, इसपर यह आकाशवाणी हुई।

परन्तु, स्तुति करनेवालों में तीन मत रखनेवाले लोग थे। ब्रह्माजी सबकी ओर से स्तुति में नियुक्त थे। अतएव, सबके भाव लेकर स्तुति की। तदनुसार सबको संतोष देने के लिये आकाशवाणी हुई। (क) प्रथम की दो अर्द्धालियों में प्रस्तुत कल्प का प्रसंग है, क्योंकि प्रतापभानु-रावण से डरे हुए लोगों को निर्भय करना है। मनु-प्रसंग में—'इच्छामय नरबेष सँवारे' कहा गया था वही यहाँ 'नरबेषा' कहा। पुनः—'अंसन्ह सहित देह धरि ताता' भी यहाँ वैसे ही कहा है। 'मनुज-अवतारा' से मनु से जायमान होनेवाला सूचित किया है। (ख)—'कश्यप अदिति···' से—'चारिउ भाई॥' तक जलंधर और जय विजयवाले का प्रसंग है, क्योंकि इन दो के लिये अवतार वैकुंठ से कहा गया है और इनके संबंध में ही—'कश्यप अदिति तहाँ पितु माता।' भी कहा गया था, वैसे ही यहाँ भी कहा गया है। (ग)—'नारद-वचन सत्य···' यह क्षीरशायी के अवतारवाले कल्प का सूचक है। इस प्रकार की आकाशवाणी से तीनों प्रकार के लोगों को संतोष हुआ। इसीसे तीन बार 'अवतार' लेने के पृथक्-पृथक् शब्द भी कहे गये हैं। क्षीरशायी के कल्प में दशरथ-कौशल्या का भेद नहीं है, कश्यप-अदिति ही होते हैं, यह वैकुंठवासी के साथ कहकर जना दिया। आगे प्रकट होने के प्रसंग में भी यहाँ का-सा रहस्य रहेगा। शेष चरित सब कल्पों के एक से ही होते हैं, जैसे वृन्दा का शाप केवल वैकुंठाधीश को पाषाण (शालग्राम) होने का हुआ, परन्तु स्वरूपाभेद होने के कारण सभी विग्रह शालग्राम हुए, उनके पृथक्-पृथक् लक्षण पद्मपुराण आदि में कहे गये हैं। वैसे नारदशाप भी सब कल्प के अवतारों में ग्रहण होता है, उसीको यहाँ कहा गया है, क्योंकि उसी के अनुसार ब्रह्मा देवताओं को वानर-शरीर धरने को कहेंगे। अन्यथा नारद-वचन निकाल दें तो अन्य कल्पों में लीला ही नहीं रह जायगी। परम प्रभु ने मनु-शतरूपा से कहा था कि—"तात गये

सारद श्रुति सेषा रिषय असेषा जा कहुँ कोउ नहिं जाना ।
जेहि दीन पियारे बेद पुकारे द्रवउ सो श्रीभगवाना ॥
भव-बारिधि-मंदर सब बिधि सुंदर गुनमंदिर सुखपुंजा ।
मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पदकंजा ॥

दोहा—जानि सभय सुर भूमि सुनि, बचन समेत सनेह ।
गगनगिरा गंभीर भइ, हरनि सोक संदेह ॥१८६॥

अर्थ—सरस्वती, वेद, शेष और सम्पूर्ण ऋषि लोग—जिनको कोई नहीं जानते। जिन्हें दीन प्रिय हैं, ऐसा वेद पुकारकर कहते हैं, वे श्रीभगवान् कृपा करें॥ हे भवसागर के (मथन के लिये) मन्दराचल (रूप)! हे सब प्रकार से सुन्दर, गुणों के धाम और सुखराशि! हे नाथ! मुनि, सिद्ध और सब देवता परम भयभीत होकर आपके चरणारविन्दों में प्रणाम करते हैं॥ देवताओं और पृथिवी को भयभीत जानकर और प्रेम-युक्त वचन सुनकर शोक और संदेह हरनेवाली गंभीर आकाशवाणी हुई॥१८६॥

विशेष—(१) 'सारद श्रुति सेषा ······' यथा—"त्वं हि लोकगतिर्देव न त्वां केचित्प्रजानते।" (वाल्मीकीय रू० ११०।१०); "स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।" (गीता १०।१५)।

(२) 'दीन पियारे'—दो० १८ भी देखिये।

(३) 'भव-बारिधि-मंदर' अर्थात् मुमुक्षु के हृदय-सिंधु के मंथन में आप मंदर हैं; दैवी-आसुरी सम्पत्तियाँ मथनेवाली हैं, ११ इन्द्रियाँ और ३ अंतःकरण शुद्ध होकर १४ रत्न रूप से प्रकट होते हैं। 'परम भयातुर··· नमत'—"जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ······" (सुं० दो० ४४); इत्यादि रीति से अपनाइये।

स्तुति के चार छन्दों में क्रमशः कर्म, ज्ञान, भक्ति और प्रपत्ति (शरणागति) गर्भित हैं। पुनः प्रथम में क्षीरशायी, दूसरे-तीसरे में वैकुंठनाथ और चौथे छंद में साकेतविहारी के गुण-माहात्म्य का प्रत्यक्षीकरण है। विष्णु भगवान और श्रीमन्नारायण का परात्पर श्रीरामजी से अंश-अंशी भेद होते हुए भी तत्त्वतः गुणतः अभेद है, इसीसे श्रीराम-स्तुति में भी इन दो रूपों के गुण मिश्रित हैं।

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुम्हहिं लागि धरिहउँ नरबेसा ॥१॥
अंसन्ह सहित मनुज-अवतारा। लेहउँ दिनकर-बंस-उदारा ॥२॥
कस्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन्ह कहुँ मैं पूरब बर दीन्हा ॥३॥
ते दसरथ कौसल्या रूपा। कोसलपुरीं प्रगट नरभूपा ॥४॥
तिन्हके गृह अवतरिहउँ जाई। रघुकुल-तिलक सो चारिउ भाई ॥५॥
नारद-बचन सत्य सब करिहउँ। परम सक्तिसमेत अवतरिहउँ ॥६॥

हरिहउँ सकल भूमि - गरुआई। निर्भय होहु देव - समुदाई ॥७॥

शब्दार्थ—सुरेसा = देवों के स्वामी, ब्रह्मा आदि। अंसन्ह सहित = देखिये दो० १५१ चौ० २। उदारा = श्रेष्ठ, अत्यंत दानशील। परम सक्ति = आदिशक्ति (श्रीसीताजी)।

अर्थ—हे मुनियो, सिद्धो और सुरेशो! मत डरो, तुम्हारे लिये मैं मानव-शरीर धरूँगा ॥१॥ श्रेष्ठ सूर्यवंश में अंशों के साथ मैं मनुष्य का अवतार लूँगा ॥२॥ कश्यप और अदिति ने बड़ा भारी तप किया था, मैंने उन्हें प्रथम ही वर दिया है ॥३॥ वे दशरथ-कौशल्या-रूप से श्रीअयोध्यापुरी में राजा होकर प्रकट हुए हैं ॥४॥ रघुकुल में शिरोमणि हम चारो भाई उनके घर जाकर अवतार लेंगे ॥५॥ श्रीनारदजी के सब वचन सत्य करूँगा, अपनी परम (आदि) शक्ति के साथ अवतार लूँगा ॥६॥ और पृथिवी के सब भार हरूँगा, हे देव-समूह! तुम सब निडर हो जाओ ॥७॥

विशेष—'मुनि सिद्ध...'—आकाशवाणी में मुनि और सिद्ध को प्रथम कहा, क्योंकि वे जितेन्द्रिय होते हैं। 'दिनकर-बंस उदारा।'—ब्रह्माजी ने रावण-वध मनुष्य के हाथ कहा है, उसे मारने के लिये साकेत-विहारी प्राकृत मनुष्य की तरह अवतीर्ण होंगे। सूर्य-वंशी तेजस्वी और श्रेष्ठ होते आये हैं। अतः, इसमें भगवान छिप सकेंगे और उदारता आदि गुणभी इसमें ही घटित होंगे—"मंगन लहहिं न जिन्हके नाहीं।" (दो० २२०)।

इस ग्रंथ में अशेषकारणपर श्रीरामजी का चरित है। इसी चरित में पार्वतीजी को मोह हुआ था। फिर उन्हीं के प्रश्नोत्तर-रूप में सम्पूर्ण कथा कही गई है। परन्तु अवतार-हेतु में तीन कल्पों के हेतु और लिखे गये, उनकी पूर्ति करके इस चौथे कल्प की कथा को मनुशतरूपा के प्रसंग से प्रारंभ किया। फिर इसी कल्प में भानु-प्रताप के रावण होने का प्रसग भी कहा और उसी के उत्पात से ब्रह्मादि ने स्तुति की, इसपर यह आकाशवाणी हुई।

परन्तु, स्तुति करनेवालों में तीन मत रखनेवाले लोग थे। ब्रह्माजी सबकी ओर से स्तुति में नियुक्त थे। अतएव, सबके भाव लेकर स्तुति की। तदनुसार सबको संतोष देने के लिये आकाशवाणी हुई। (क) प्रथम की दो अर्द्धालियों में प्रस्तुत कल्प का प्रसंग है, क्योंकि प्रतापभानु-रावण से डरे हुए लोगों को निर्भय करना है। मनु-प्रसंग में—'इच्छामय नरवेष सँवारे' कहा गया था वही यहाँ 'नरवेषा' कहा। पुनः—'अंसन्ह सहित देह धरि ताता' भी यहाँ वैसे ही कहा है। 'मनुज-अवतारा' से मनु से जायमान होनेवाला सूचित किया है। (ख)—'कश्यप अदिति...' से—'चारिउ भाई ॥' तक जलंधर और जय विजयवाले का प्रसंग है, क्योंकि इन दो के लिये अवतार वैकुंठ से कहा गया है और इनके संबंध में ही—'कश्यप अदिति तहाँ पितु माता।' भी कहा गया था, वैसे ही यहाँ भी कहा गया है। (ग)—'नारद-बचन सत्य...' यह क्षीरशायी के अवतारवाले कल्प का सूचक है। इस प्रकार की आकाशवाणी से तीनों प्रकार के लोगों को संतोष हुआ। इसीसे तीन बार 'अवतार' लेने के पृथक्-पृथक् शब्द भी कहे गये हैं। क्षीरशायी के कल्प में दशरथ-कौशल्या का भेद नहीं है, कश्यप-अदिति ही होते हैं, यह वैकुंठवासी के साथ कहकर बता दिया। आगे प्रकट होने के प्रसंग में भी यहाँ का-सा रहस्य रहेगा। शेष चरित सब कल्पों के एक से ही होते हैं, जैसे वृन्दा का शाप केवल वैकुंठाधीश को पाषाण (शालग्राम) होने का हुआ, परन्तु स्वरूपाभेद होने के कारण सभी विग्रह शालग्राम हुए, उनके पृथक्-पृथक् लक्षण पद्मपुराण आदि में कहे गये हैं। वैसे नारदशाप भी सब कल्प के अवतारों में ग्रहण होता है, उसीको यहाँ कहा गया है, क्योंकि उसी के अनुसार ब्रह्मा देवताओं को वानर-शरीर धरने को कहेंगे। अन्यथा नारद-बचन निकाल दें तो अन्य कल्पों में लीला ही नहीं रह जायगी। परम प्रभु ने मनु-शतरूपा से कहा था कि—"तात, गये

कछु काल पुनि, होइहहु अवध भुआल, तब मैं होब तुम्हार सुत ॥" तो वे दूसरे कल्प का वियोग कैसे सह सकेंगे ? अतएव यह अवतार मनु संबंध का ही है। यह वाणी 'गंभीर' अर्थात् गूढ़ आशय युक्त है। अतः, सबको संतोष हुआ।

शंका—यहाँ के—'नारदवचन…' और—"मोर स्राप करि अंगीकारा …" (बा॰ दो॰ ४०) तथा—"पुनि नारद कर मोह अपारा।" (उ॰ दो॰ ६२), को लेकर कोई सारी कथा ही नारद-शाप-कल्प की कहते हैं।

समाधान—ऊपर के दो वचनों के उत्तर तो ऊपर आ ही गये। तीसरा भुशुंडीजी का कथन गरुड़जी के प्रश्न पर है। गरुड़ के प्रश्न वहाँ नहीं कहे गये, क्योंकि वे पार्वतीजी के प्रश्नों में ही आ गये हैं—"सुनु सुभ कथा भवानि, कहा भुसुंडि बखानि, सुना विहगनायक गरुड ॥" (दो॰ १२०) अर्थात् इन्हीं प्रश्नों के उत्तर वहाँ कहे गये हैं, वही मैं (वहाँ सुनकर) तुमसे कहता हूँ। अतः, जैसे यहाँ अवतारहेतु के प्रसंग में नारदमोह के प्रति गिरिजा ने प्रश्न किया तो शिवजी ने विस्तार से कहा, वैसे वहाँ गरुड़जी ने भी प्रश्न किया है, तब भुशुंडीजी ने कहा है।

गगन ब्रह्मबानी सुनि काना। तुरत फिरे सुर हृदय जुड़ाना ॥८॥
तब ब्रह्मा धरनिहिं समुझावा। अभय भई भरोस जिय आवा ॥९॥

दोहा—निज लोकहिं बिरंचि गे, देवन्ह इहइ सिखाइ।
बानरतनु धरि-धरि महि, हरिपद सेवहु जाइ ॥१८७॥

अर्थ—आकाश से हुई ब्रह्मवाणी को कानों से सुनकर देवताओं के हृदय शीतल हुए और वे शीघ्र ही लौटे ॥८॥ तब ब्रह्माजी ने पृथिवी को समझाया, वह निडर हुई और उसके जी को भरोसा हुआ ॥९॥ देवताओं को यही शिक्षा देकर ब्रह्माजी अपने लोक को चले गये कि 'वानर-शरीर धर-धर कर तुम पृथिवी पर जाओ और भगवान् के चरणों की सेवा करो' ॥१८७॥

विशेष—'तब ब्रह्मा धरनिहि समुझावा।'—क्योंकि वह भय-शोक से परम विकल थी। अतः ब्रह्मवाणी नहीं समझ सकी थी। इसे फिर से ब्रह्माजी ने कहकर समझाया। 'निज लोकहिं बिरंचि …'—साक्षात् देवता पृथिवी पर पैर नहीं रखते, इसलिये वानर-शरीर धरकर पृथिवी पर रहना कहा। रावण ने वरदान में भी नर-वानरों को छोड़ दिया था और नारद वचन में—'करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी।' कहा है। अतः, वानर-शरीर धरना कहा।

प्रश्न—पूर्व लिखा गया कि भूमि सुर, मुनि आदि के पास सुमेरु पर्वत पर गई, वहाँ से सब मिलकर ब्रह्मा के लोक को गये। वहाँ से अन्यत्र जाना नहीं कहा गया, फिर यहाँ 'निज लोकहिं' में ब्रह्मा का जाना कैसे कहा गया है ?

उत्तर—(क) श्रीमद्भागवत के मत से ब्रह्मा का एक स्थान सुमेरु पर्वत के शिरोभाग पर भी है, वहाँ सभा-स्थान है। देवता लोग वहीं पुकार किया करते हैं। यहीं सब भी गये थे। सभा-विसर्जन करके ब्रह्मा अपने सत्यलोक को गये। (ख) रावण के वरदाता ब्रह्मा और शिवजी दोनों हैं, यथा—"मैं ब्रह्मा मिलि तेहि बर दीन्हा।" (दो॰ १७६)। ब्रह्मलोक तक सबके जाने का प्रमाण स्पष्ट है, ब्रह्माजी ने अपनी असमर्थता प्रकट की, यथा—"मोर कछू न बसाई।" (दो॰ १८६)। तब शिवजी के यहाँ जाना

चाहिये, वहाँ भी कार्य न हो तो वैकुंठ एवं क्षीरसागर जाने की रीति है। यहाँ ब्रह्माजी के यहाँ से जाना नहीं कहा गया, पर जहाँ सबकी बैठक होकर विचार होने लगा है वहाँ शिवजी कहते हैं—"तेहि समाज गिरिजा मैं रहेऊँ।" फिर विसर्जन पर भी शिवजी का कहीं जाना नहीं कहा गया और न पहले कहीं से एवं किसी के साथ उनका आना ही कहा गया था। शिवजी ब्रह्माजी के तुल्य, किन्तु कहीं विशेष भी, माने जाते हैं; फिर उनके आने-जाने का उल्लेख न हो, यह भी असंभव है। इसका तात्पर्य यह है कि शिवजी स्वयं कथा कहते हैं। अतः, ब्रह्मादिक का अपने लोक में आना कहने में इष्ट-कथा के साथ अपनी महत्ता-सूचक घटना है। अतः, आत्मश्लाघा विचार कर नहीं कहा, प्रसंग से घटनास्थल का परिचय दिया कि वह बैठक कैलाश पर हुई। यह काव्य का एक गुण भी है। शिवजी के यहाँ प्रथम देवताओं ने अपने विचार प्रकट किये, फिर शिवजी ने अत्यन्त नम्रतापूर्वक अपने विचार से निर्णय किया। उस रीति से कार्य हो गया, तब—'निज लोकहिं बिरंचि गे' और—'गये देव सब निज निजधामा।' शिवजी वहीं रह गये।

गये देव सब निज निज धामा। भूमिसहित मन कहँ बिश्रामा ॥१॥
जो कछु आयसु ब्रह्मा दीन्हा। हरषे देव बिलंब न कीन्हा ॥२॥
बनचर-देह धरी छिति माहीं। अतुलित बल प्रताप तिन्ह पाहीं ॥३॥
गिरि-तरु-नख-आयुध सब बीरा। हरिमारग चितवहिं मति धीरा ॥४॥
गिरि कानन जहँ तहँ भरि पूरी। रहे निज निज अनीक रचि रूरी ॥५॥
यह सब रुचिर चरित मैं भाखा। अब सो सुनहु जो बीचहिं राखा ॥६॥

अर्थ—सब देवता अपने-अपने स्थान को गये, पृथिवी के साथ सबके मन को विश्राम हुआ ॥१॥ जो कुछ आज्ञा ब्रह्माजी ने दी थी, उसमें देवता हर्षित हुए और देर न की ॥२॥ उन्होंने पृथिवी पर वानर-देह धारण किया। उनमें बल और प्रताप अपरिमित था ॥३॥ सब वीर हैं; पर्वत, वृक्ष, और नख ही उनके हथियार हैं। वे धीरबुद्धि भगवान् का मार्ग देख रहे हैं ॥४॥ अपनी-अपनी उत्तम सेना बनाकर जहाँ-तहाँ पर्वतों और वनों में भरे पड़े हैं ॥५॥ मैंने ये सब सुन्दर चरित कहे, अब उसे सुनो जिसे बीच में रख छोड़ा था ॥६॥

विशेष—(१) 'मन कहँ बिश्रामा'—आकाशवाणी के उपक्रम में कहा था—'हरनि सोक संदेह'। शोक और संदेह मन में होता है, यहाँ 'मन कहँ बिश्रामा' कहकर शोक-सन्देह की निवृत्ति दिखाई। 'भूमि सहित' क्योंकि इस उद्योग में भूमि मुख्य है। 'हरषे देव बिलंब न कीन्हा'—वानर-देह निषिद्ध है, उसमें दुःख मानना और विलंब करना था, पर नहीं किया, क्योंकि—(क) 'हरिपद सेवहु जाइ' कहा गया है, यथा—"सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जोइ तनु पाइ भजिय रघुबीरा ॥" (उ० दो० ९५); "जेहि सरीर रति राम सों, सोइ आदरहिं सुजान।" (दोहावली १४१); "अधम सरीर राम जिन्ह पाये।" (दो० १७)। (ख) शोक-निवृत्ति का साधन है और रावण से बदला भी लिया जा सकेगा।

साक्षात् देवता अपने-अपने लोकों में रहे, उनके अंश वानर हुए, पर उनके बल प्रताप उनके अंश रूपों में पूर्ण हैं। यथा—"पवनतनय-बल पवन-समाना।" (कि० दो० २९)। 'हरि-मारग चितवहिं' युद्ध के उत्साह से भरे हुए चाहते हैं कि कब प्रभु आवें और युद्ध हो? 'निज निज अनीक' देव-शरीर के मुखिया ने यहाँ भी मुखिया होकर अपने अनुयायियों की सेना सजाई है।

कछु काल पुनि, होइहहु अवध भुआल, तब मैं होब तुम्हार सुत ॥" तो वे दूसरे कल्प का वियोग कैसे सह सकेंगे ? अतएव यह अवतार मनु संबंध का ही है। यह वाणी 'गंभीर' अर्थात् गूढ़ आशय युक्त है। अतः, सबको संतोष हुआ।

शंका—यहाँ के—'नारदबचन···' और—"मोर स्राप करि अंगीकारा···" (बा॰ दो॰ १०) तथा—"पुनि नारद कर मोह अपारा।" (उ॰ दो॰ ६३); को लेकर कोई सारी कथा ही नारद-शाप-कल्प की कहते हैं।

समाधान—ऊपर के दो वचनों के उत्तर तो ऊपर आ ही गये। तीसरा भुशुंडीजी का कथन गरुड़जी के प्रश्न पर है। गरुड़ के प्रश्न वहाँ नहीं कहे गये, क्योंकि वे पार्वतीजी के प्रश्नों में ही आ गये हैं—"सुनु सुभ कथा भवानि, कहा भुसुंडि बखानि, सुना बिहगनायक गरुड़॥" (दो॰ १२०) अर्थात् इन्हीं प्रश्नों के उत्तर वहाँ कहे गये हैं, वही मैं (वहाँ सुनकर) तुमसे कहता हूँ। अतः, जैसे यहाँ अवतार-हेतु के प्रसंग में नारदमोह के प्रति गिरिजा ने प्रश्न किया तो शिवजी ने विस्तार से कहा, वैसे वहाँ गरुड़जी ने भी प्रश्न किया है, तब भुशुंडीजी ने कहा है।

गगन ब्रह्मबानी सुनि काना। तुरत फिरे सुर हृदय जुड़ाना ॥८॥
तब ब्रह्मा धरनिहिं समुझावा। अभय भई भरोस जिय आवा ॥९॥

दोहा—निज लोकहिं बिरंचि गे, देवन्ह इहइ सिखाइ।
बानरतनु धरि-धरि महि, हरिपद सेवहु जाइ ॥१८७॥

अर्थ—आकाश से हुई ब्रह्मवाणी को कानों से सुनकर देवताओं के हृदय शीतल हुए और वे शीघ्र ही लौटे ॥८॥ तब ब्रह्माजी ने पृथिवी को समझाया, वह निडर हुई और उसके जी को भरोसा हुआ ॥९॥ देवताओं को यही शिक्षा देकर ब्रह्माजी अपने लोक को चले गये कि 'वानर-शरीर धर-धर कर तुम पृथिवी पर जाओ और भगवान् के चरणों की सेवा करो' ॥१८७॥

विशेष—'तब ब्रह्मा धरनिहिं समुझावा।'—क्योंकि यह भय-शोक से परम विकल थी। अतः, ब्रह्मवाणी नहीं समझ सकी थी। इसे फिर से ब्रह्माजी ने कहकर समझाया। 'निज लोकहिं बिरंचि···'—साक्षात् देवता पृथिवी पर पैर नहीं रखते, इसलिये वानर-शरीर धरकर पृथिवी पर रहना कहा। रावण ने वरदान में भी नर-वानरों को छोड़ दिया था और नारद वचन में—'करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी।' कहा है। अतः, वानर-शरीर धरना कहा।

प्रश्न—पूर्व लिखा गया कि भूमि सुर, मुनि आदि के पास सुमेरु पर्वत पर गई, वहाँ से सब मिलकर ब्रह्मा के लोक को गये। वहाँ से अन्यत्र जाना नहीं कहा गया, फिर यहाँ 'निज लोकहिं' में ब्रह्मा का जाना कैसे कहा गया है ?

उत्तर—(क) श्रीमद्भागवत के मत से ब्रह्मा का एक स्थान सुमेरु पर्वत के शिरोभाग पर भी है, वहाँ सभा-स्थान है। देवता लोग वहीं पुकार किया करते हैं। वहीं अब की भी गये थे। सभा-विसर्जन करके ब्रह्मा अपने सत्यलोक को गये। (ख) रावण के वरदाता ब्रह्मा और शिवजी दोनों हैं, यथा—"मैं ब्रह्मा मिलि तेहि बर दीन्हा।" (दो॰ १७९)। ब्रह्मलोक तक सबके जाने का प्रमाण स्पष्ट है, ब्रह्माजी ने अपनी असमर्थता प्रकट की, यथा—"मोर कछू न बसाई।" (दो॰ १८१)। तब शिवजी के यहाँ जाना

चाहिये, वहाँ भी कार्य न हो तो वैकुंठ एवं क्षीरसागर जाने की रीति है। यहाँ ब्रह्माजी के यहाँ से जाना नहीं कहा गया, पर जहाँ सबकी बैठक होकर विचार होने लगा है वहाँ शिवजी कहते हैं—"तेहि समाज गिरिजा मैं रहेऊँ।" फिर विसर्जन पर भी शिवजी का कहीं जाना नहीं कहा गया और न पहले कहीं से एवं किसी के साथ उनका आना ही कहा गया था। शिवजी ब्रह्माजी के तुल्य, किन्तु कहीं विशेष भी, माने जाते हैं; फिर उनके आने-जाने का उल्लेख न हो, यह भी असंभव है। इसका तात्पर्य यह है कि शिवजी स्वयं कथा कहते हैं। अतः, ब्रह्मादिक का अपने लोक में आना कहने में इष्ट-कथा के साथ अपनी महत्ता-सूचक घटना है। अतः, आत्मश्लाघा विचार कर नहीं कहा, प्रसंग से घटनास्थल का परिचय दिया कि वह बैठक कैलाश पर हुई। यह काव्य का एक गुण भी है। शिवजी के यहाँ प्रथम देवताओं ने अपने विचार प्रकट किये, फिर शिवजी ने अत्यन्त नम्रतापूर्वक अपने विचार से निर्णय किया। उस रीति से कार्य हो गया, तब—'निज लोकहिं बिरंचि गे' और—'गये देव सब निज निजधामा।' शिवजी वहीं रह गये।

गये देव सब निज निज धामा। भूमिसहित मन कहँ बिश्रामा॥१॥
जो कछु आयसु ब्रह्मा दीन्हा। हरषे देव बिलंब न कीन्हा॥२॥
बनचर-देह धरी छिति माहीं। अतुलित बल प्रताप तिन्ह पाहीं॥३॥
गिरि-तरु-नख-आयुध सब बीरा। हरिमारग चितवहिं मति धीरा॥४॥
गिरि कानन जहँ तहँ भरि पूरी। रहे निज निज अनीक रचि रूरी॥५॥
यह सब रुचिर चरित मैं भाखा। अब सो सुनहु जो बीचहिं राखा॥६॥

अर्थ—सब देवता अपने-अपने स्थान को गये, पृथिवी के साथ सबके मन को विश्राम हुआ॥१॥ जो कुछ आज्ञा ब्रह्माजी ने दी थी, उसमें देवता हर्षित हुए और देर न की॥२॥ उन्होंने पृथिवी पर वानर-देह धारण किया। उनमें बल और प्रताप अपरिमित था॥३॥ सब वीर हैं; पर्वत, वृक्ष, और नख ही उनके हथियार हैं। वे धीरबुद्धि भगवान् का मार्ग देख रहे हैं॥४॥ अपनी-अपनी उत्तम सेना बनाकर जहाँ-तहाँ पर्वतों और वनों में भरे पड़े हैं॥५॥ मैंने ये सब सुन्दर चरित कहे, अब उसे सुनो जिसे बीच में रख छोड़ा था॥६॥

विशेष—(१) 'मन कहँ बिश्रामा'—आकाशवाणी के उपक्रम में कहा था—'हरनि सोक संदेह'। शोक और संदेह मन में होता है, यहाँ 'मन कहँ बिश्रामा' कहकर शोक-संदेह की निवृत्ति दिखाई। 'भूमि सहित' क्योंकि इस उद्योग में भूमि मुख्य है। 'हरषे देव बिलंब न कीन्हा'—वानर-देह निषिद्ध है, उसमें दुःख मानना और विलंब करना था, पर नहीं किया, क्योंकि—(क) 'हरिपद सेवहु जाइ' कहा गया है, यथा—"सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जोइ तनु पाइ भजिय रघुबीरा॥" (उ० दो० ९५); "जेहि सरीर रति राम सों, सोइ आदरहिं सुजान।" (दोहावली १४१); "अधम सरीर राम जिन्ह पाये।" (दो० १०)। (ख) शोक-निवृत्ति का साधन है और रावण से बदला भी लिया जा सकेगा।

साक्षात् देवता अपने-अपने लोकों में रहे, उनके अंश वानर हुए, पर उनके बल प्रताप उनके अंश रूपों में पूर्ण हैं। यथा—"पवनतनय-बल पवन-समाना।" (कि० दो० २९)। 'हरि-मारग चितवहिं' युद्ध के उत्साह में भरे हुए चाहते हैं कि कब प्रभु आवें और युद्ध हो? 'निज निज अनीक' देव-शरीर के मुखिया ने यहाँ भी मुखिया होकर अपने अनुयायियों की सेना सजाई है।

(२) 'यह सब रुचिर चरित मैं भाखा।' यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"सुनु गिरिजा हरि-चरित सुहाये।" (दो० १२०) में है। इतने में 'अवतार-हेतु प्रकरण' कहा गया और गिरिजा के—"प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपुधारी॥" (दो० १०९) इस प्रश्न का उत्तर हुआ।

'अब सो सुनहु जो बीचहिं राखा'—पूर्व मनु-शतरूपा के प्रति परम प्रभु का अवतार लेने का वर देना और—"तहँ करि भोग बिसाल···" से आश्वासन करना कहकर, यह प्रसंग वहीं छोड़, बीच का रावण-अवतार-प्रसंग कहने लग गये थे। उसे कहकर फिर पूर्व के छोड़े हुए प्रसंग को उठाते हैं।

अवतार-हेतु-प्रकरण समाप्त हुआ।

अवतार और बालचरित

अवधपुरी रघुकुल - मनि - राऊ। बेद - बिदित तेहि दसरथ नाऊँ ॥७॥
धरम-धुरंधर गुननिधि ग्यानी। हृदय भगति मति सारँगपानी ॥८॥

दोहा—कौसल्यादि नारि प्रिय, सब आचरन पुनीत।
पति अनुकूल प्रेम दृढ़, हरि-पद-कमल बिनीत ॥१८८॥

अर्थ—श्रीअवधपुरी में रघुकुल में श्रेष्ठ दशरथ नाम के राजा हुए, जो वेद में प्रसिद्ध हैं॥७॥ वे धर्म-धुरंधर, गुणों के खजाना और ज्ञानी थे, उनके हृदय में शार्ङ्गपाणि श्रीरामजी की भक्ति थी और उनकी बुद्धि उन्हीं में लगी रहती थी॥८॥ उनकी कौशल्या आदि सब प्यारी स्त्रियों के आचरण पवित्र थे। वे पति की आज्ञाकारिणी थीं और पति में दृढ़ प्रेम करती थीं। वे भगवान् के चरण कमलों में (भी) विनम्र भाव से दृढ़ प्रेम रखती थीं॥१८८॥

विशेष—(१) 'बेद-बिदित'—यथा—"चत्वारिंशद्दशरथस्य शोणाः सहस्रस्याग्रे श्रेणीं नयन्ति।" (ऋ. २।१।११)। भूत, भविष्य और वर्तमान सब वेदों में बीजरूप से रहते हैं। पुनः अथर्व वेद की श्रीरामतापनीय उपनिषद् में भी दशरथजी प्रसिद्ध हैं।

'धरम धुरंधर' से कर्म, 'ज्ञानी' से ज्ञान और 'भक्ति' से उपासना कहकर तब बुद्धि का श्रीरामजी में लगाना कहा, यथा—"सब साधन को एक फल, जेहि जान्यो सोइ जान। ज्यों-त्यों मन-मंदिर बसहिं, राम धरे धनुबान॥" (दोहावली १०) अर्थात् मनु शरीर का भक्ति-संस्कार बना रहा। 'सारँगपानी' यथा—"सुमिरत श्रीसारंग पानि छन में सब सोच गयो" (गी० बा० ४५)।

'कौसल्यादि नारि···'—राजा दशरथ के ७०० रानियाँ हैं, यथा—"पाँ-लागन दुलहियन्ह सिखावति सरिस सासु सत-साता।" (गी० बा० १०८)। इनमें कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी मुख्य हैं। इनमें भी कौशल्याजी प्रथम विवाहिता होने से मुख्य हैं, इसीसे इन्हें आदि कहा है। 'हरिपद'—पूर्व शतरूपा-रूप में, जिनका आराधन किया था, यथा—"पुनि हरि-हेतु करन तप लागे।" (दो० १४४)। 'आचरन पुनीत' यथा—"तुम्ह गुरु-बिप्र-धेनु-सुर-सेवी, तसि पुनीत कौसल्या देवी॥" (दो० २९४)।

एक बार भूपति मन माहीं। भइ गलानि मोरें सुत नाहीं ॥१॥
गुरगृह गये तुरत महिपाला। चरन लागि करि बिनय बिसाला ॥२॥

निज दुख सुख सब गुरुहिं सुनायेउ । कहि बसिष्ठ बहु बिधि समुझायेउ ॥३॥
धरहु धीर होइहहिं सुत चारी । त्रिभुवन-बिदित भगत - भयहारी ॥४॥

अर्थ—एक बार राजा के मन में ग्लानि हुई कि मेरे पुत्र नहीं है ॥१॥ वे राजा तुरत गुरुजी के घर गये और चरणों में प्रणाम करके बहुत स्तुति की ॥२॥ पुनः अपना सारा दुःख और सुख गुरुजी को कह सुनाया, तब वसिष्ठजी ने बहुत तरह कहकर समझाया। ३॥ कि धैर्य धरो, तुम्हारे चार पुत्र होंगे, जो तीनों लोकों में प्रसिद्ध और भक्तों के भय हरनेवाले होंगे ॥४॥

विशेष—(१) 'एक बार भूपति···'—राजा का चौथापन आ पहुँचा, इससे ग्लानि हुई कि पुत्र होने का समय बीत चला। पुत्र के बिना वंश-परंपरा जा रही है, नरकों से उद्धार कौन करेगा ? फिर अब मुझे वन जाकर भगवद्भजन करना चाहिये, राज्य किसे दूँ ? यदि यों ही चल दूँ तो प्रजा के दुखी होने से राजा को नरक होता है, इत्यादि।

(२) 'गुरु-गृह गये तुरत···'—एकाएक तीव्र ग्लानि हो उठी, क्योंकि परम प्रभु के प्रादुर्भाव का समय आ पहुँचा, इसी से शीघ्र ही 'गुरु-गृह' गये। 'बिनय बिसाला' यथा—"भानु बंस भये भूप घनेरे। ··"से—"असि असीसि राउरि जग जाना ॥" (अ० दो० २५४) तक अर्थात् जब कभी कुछ भी अशुभ रघुवंशियों पर आ पड़ा, आपही के आशीर्वाद से कल्याण हुआ है, मेरा भी मनोरथ पूर्ण कीजिये।

(३) 'निज दुख सुख···'— दुःख पुत्र के न होने का, सुख यह कि अयोध्या का यह ऐश्वर्य जो आपकी कृपा से प्राप्त है, उसे पुत्र के बिना कौन ग्रहण करेगा ? व्यर्थ ही जायगा। 'बहुबिधि' समझाना आगे की अर्द्धाली में कहते हैं।

(४) 'धरहु धीर···'—तुम्हें एक ही पुत्र के लाले पड़े हैं, चार होंगे, वे भी—'त्रिभुवनबिदित'—नागों को सुखी करने से पाताल में, देवताओं को सुखी करने से स्वर्ग में और धनुर्भंग आदि से इस लोक में प्रसिद्ध होंगे। यथा—"दसमुख-बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिनके जस अमर नाग नर सुमुखि स नाहैं। (गी० ड० १३)। 'भगत-भयहारी'—भक्तों के भयहारी भगवान् हैं, वे ही प्रकट होंगे और शृंगी ऋषि के बुलाने एवं यज्ञ-विधि को भी कहकर समझाया। 'सुत चारी' से पूर्व जन्म का भी स्मरण कराया, यथा—"अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहउँ चरित भगत-सुखदाता ॥" (दो० १५१)।

शृंगी रिषिहिं बसिष्ठ बोलावा । पुत्रकाम सुभ जग्य करावा ॥५॥
भगतिसहित मुनि आहुति दीन्हे । प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हे ॥६॥
जो बसिष्ठ कछु हृदय बिचारा । सकल काज भा सिद्ध तुम्हारा ॥७॥
यह हबि बाँटि देहु नृप जाई । जथाजोग जेहि भाग बनाई ॥८॥

दोहा—तब अदृश्य भये पावक, सकल सभहिं समुझाइ ।
परमानंदमगन नृप, हरष न हृदय समाइ ॥१८९॥

अर्थ— वसिष्ठजी ने शृंगी ऋषि को बुलवाया और पुत्र की कामना से शुभ यज्ञ करवाया ॥५॥ मुनि ने भक्ति-सहित आहुतियाँ दीं, तब अग्निदेव हाथ में पायस लिये हुए प्रकट हुए ॥६॥ (और बोले) हे राजन् ! जो कुछ वसिष्ठजी ने हृदय में विचारा है, वह तुम्हारा सारा कार्य सिद्ध हुआ ॥७॥ यह हविष्यान्न ले जाकर जो जिस योग्य हो, उसमें वैसा भाग बनाकर बाँट दो ॥८॥ तब अग्निदेव सब सभा को समझाकर अदृश्य (अंतर्द्धान) हो गये। राजा परमानंद में मग्न हो गये, हृदय में हर्ष नहीं समाता ॥१८६॥

विशेष—(१) शृंगी ऋषि—इनके पिता का नाम विभांडक था और पितामह का नाम काश्यप। ये वन ही में पालित हुए और शरीर तथा मन से ब्रह्मचर्यनिष्ठ थे। श्री गंगा-तट पर रहते थे। एक समय अंग देश में अवर्षण हुआ। वहाँ के राजा रोमपाद ने ऋषियों से इसका उपाय पूछा; तब उन्होंने कहा कि शृंगी ऋषि यहाँ आवें, तो वर्षा होगी। बहुत सोच-विचार कर युक्ति से लाने के लिये वहाँ वेश्याएँ भेजी गईं। वे शृंगी ऋषि के आश्रम के समीप ही ठहरीं। संयोग से ऋषि वहाँ आये। इनका सुन्दर रूप देखकर उन्हें स्नेह हो आया। बातचीत कर उन्हें अपने आश्रम पर ले गये, मूल-फल देकर सत्कार किया। फिर ऋषि को भी उन वेश्याओं ने बुलाया और मोदक आदि मिष्टान्न फल कहकर दिये और यह भी कहा कि हमारे यहाँ ऐसे ही फल होते हैं। आप हमारे यहाँ चलें। शृंगी ऋषि साथ ही नौका पर चढ़कर चल दिये। इनके आते ही वर्षा हुई, राजा रोमपाद ने इनका पूजन किया और वर माँगा कि वे छल से लाये जाने पर क्रोध न करें। पुनः अपनी कन्या शान्ता इनको दी। (वाल्मी० बा० स० ६-१०)। हरिवंश के अनुसार रोमपाद ही का नाम दशरथ भी था। अयोध्या के महाराज दशरथ से नाम-साम्य के कारण इनकी बड़ी मैत्री थी। शान्ता पर दोनों राजाओं का पितृतुल्य वात्सल्य था।

(२) 'बसिष्ठ बोलावा'—श्री मद्वाल्मीकीय बा० स० ११ में राजा दशरथ का स्वयं बुलाने के लिये जाना लिखा है और कहीं अपने बंधु-वर्ग को भेजकर बुलवाना कहा गया है, कल्प-भेद से सभी ठीक हैं। यहाँ गोस्वामीजी ने सब के मतों की रक्षा करते हुए, वसिष्ठजी का बुलवाना कहा है। गुरुजी ने जिसे उचित समझा, भेजकर बुलवा लिया।

शृंगी ऋषि इस यज्ञ के विधान में परम निपुण थे, अतः उन्हीं से यह यज्ञ कराया गया। वाल्मी० बा० स० ९-१०-११ में प्राचीन कथा भी सुमंत्र जी ने कही थी कि शृंगी ऋषि के द्वारा ही यज्ञ होगा और उससे आपके पुत्र होंगे। इसी के व्याज से राजा को अपनी मानी हुई कन्या और दामाद के दर्शन भी हुए। यह यज्ञ श्री सरयूजी के पार मनोरमा क्षेत्र में हुआ था। वसंतारंभ (चैत्र) से होने लगा, साल-भर होता रहा।

शंका—साल-भर यज्ञ हुआ, फिर रावण ने विघ्न क्यों नहीं किया ?

समाधान—श्री रामजी की इच्छानुसार ही जगत् की वृत्ति हो जाती है। जैसे श्री कृष्ण-जन्म पर पहरेदार सो गये, द्वार खुल गये, यमुना सूखकर घट गई, इत्यादि, वैसे इस यज्ञ में महर्षि वसिष्ठ एवं शृंगी ऋषि रक्षक थे। भारी-भारी ऋषियों से रावण डरता ही था। फिर इस यज्ञ में शिव-ब्रह्मा भी आये थे और रघुवंशी राजाओं का प्रभाव भी कई बार रावण देख चुका था। इत्यादि कारणों से रावण इधर नहीं आ सका था।

(३) 'प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हे।'—श्रीगोस्वामीजी ने स्वयं अग्निदेव का प्रगट होना कहा है। वाल्मी० बा० स० १६।११-१५ में जो ब्रह्माजी के यहाँ से पुरुष आकर प्रकट हुआ, उसके लक्षण कहे गये हैं। उसने कहा है कि यह पायस देवताओं ने बनाया है, इससे पुत्र होगा।

(३) 'जो बसिष्ठ कछु हृदय'''—यह विचार अग्निदेव ने गुप्त ही कहा, क्योंकि प्रथम ही वसिष्ठजी ने राजा से—'बहु बिधि समझावा' में कह रक्खा था कि यज्ञ में अग्निदेव पायस लेकर प्रकट होंगे। इसमें से आधा कौशल्याजी को, चौथाई कैकेयीजी को और चौथाई के दो भाग करके और उन्हीं कैकेयी के हाथों से सुमित्राजी को दिलाना।

(४) 'सकल सभहि समुझाइ'—राजा तो अग्नि का कहना वसिष्ठजी के द्वारा प्रथम से ही जानते थे, पर सभावाले सुनकर चकित हुए, तब वही बात अग्निदेव ने सभा को भी समझा दी कि इससे चार पुत्र होंगे, इत्यादि। 'परमानंदमगन नृप'- क्योंकि अग्निदेव और गुरुजी के वचन एक ही हुए और मनोरथ की सिद्धि हुई।

तबहिं राय प्रिय नारि बोलाईं। कौसल्यादि तहाँ चलि आईं।१॥
अर्द्धभाग कौसल्यहिं दीन्हा। उभय भाग आधे कर कीन्हा ॥२॥
कैकेई कहँ नृप सो दयेऊ। रहेउ सो उभय भाग पुनि भयेऊ ॥३॥
कौसल्या कैकई हाथ धरि। दीन्ह सुमित्रहि मन प्रसन्न करि ॥४॥

अर्थ—राजा ने उसी समय अपनी प्यारी स्त्रियों को बुलाया। कौशल्या आदि रानियाँ वहाँ चली आईं ॥१॥ (पायस का) आधा भाग कौशल्याजी को दिया, (शेष) आधे के दो भाग किये ॥२॥ राजा ने वह (इसमें का एक भाग) कैकेयीजी को दिया, जो बच रहा, उसके फिर दो भाग हुए ॥३॥ कौशल्याजी और कैकयीजी के हाथों पर रखकर मन प्रसन्न करके दोनो भाग सुमित्राजी को दिये ॥४॥

विशेष—'तहाँ चलि आईं'—अर्थात् समीप यज्ञशाला में ही तीनो रानियाँ थीं। अतः, चलकर आ गईं। 'मन प्रसन्न करि'—सुमित्राजी का मन प्रसन्न करके।

पायस-भाग-रहस्य—वसिष्ठजी ने विज्ञान-दृष्टि से निश्चित करके राजा को समझा रक्खा था, वैसा ही राजा ने किया। कौशल्याजी सबसे बड़ी हैं, इनका पुत्र राज्याधिकारी होगा, इसलिये प्रथम आधा इन्हें दिया, क्योंकि इनसे साक्षात् परम प्रभु अवतार लेंगे। शेष में तीन भाग होंगे, क्योंकि तीनो भाई श्रीरामजी के शेष (सेवक) और श्रीरामजी शेषी (सेव्य) होंगे। फिर चतुर्थ भाग कैकेयीजी को दिया गया; उससे भरतजी होंगे। इसपर व्यावहारिक दृष्टि से सुमित्राजी ने अपना अपमान समझा, क्योंकि कैकेयीजी उनसे छोटी हैं, इनसे पहले उन्हें क्यों दिया गया? तब राजा ने शेष चतुर्थ अंश के दो भाग करके कौशल्याजी और कैकेयीजी के हाथों पर धर दिया। राजा का अभिप्राय जानकर इन दोनों ने सुमित्राजी का मन प्रसन्नकर (समझा बुझाकर, कि लो, तुम्हारे दो पुत्र होंगे, इस तरह प्रसन्न कर) दिया। इस तरह राजा की ओर से लक्ष्मण-शत्रुघ्न का गर्भाधान कौशल्या और कैकेयी में ही हुआ, इसी से लक्ष्मणजी रामानुज और शत्रुघ्न भरतानुज भी कहे गये हैं और—"मिलहिं न जगत सहोदर भ्राता॥" (लं० दो० ६०) की भी संगति होती है।

येहि बिधि गर्भसहित सब नारी। भईं हृदय हरषित सुख भारी ॥५॥
जा दिन ते हरि गर्भहि आये। सकल लोक सुख संपति छाये ॥६॥
मंदिर महँ सब राजहिं रानी। सोभा सील तेज की खानी ॥७॥

सुखजुत कछुक काल चलि गयेऊ । जेहि प्रभु प्रगट सो अवसर भयेऊ ॥८॥

दोहा—जोग लगन ग्रह बार तिथि, सकल भये अनुकूल ।
चर अरु अचर हरषजुत, रामजनम सुखमूल ॥१९०॥

अर्थ—इस प्रकार सब स्त्रियाँ गर्भवती हुईं और भारी सुख के (आगम) से हृदय में हर्षित हुईं ॥५॥ जिस दिन से हरि गर्भ में आये, सब लोक सुख और सम्पत्ति से भर गये ॥६॥ महल में सब रानियाँ सुशोभित हो रही हैं (मानों) शोभा, शील और तेज की खान हैं ॥७॥ इस तरह सुखपूर्वक कुछ समय चला गया और वह अवसर आया, जिसमें प्रभु प्रकट होते हैं ॥८॥ योग, लग्न, ग्रह, दिन और तिथि—सभी अनुकूल हुए; जड़ और चेतन प्रसन्न हैं, (क्योंकि) श्रीरामजी का जन्म सुख का मूल(कारण) ही है ॥१९०॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि'—अर्थात् पिंड-विधि से, रज-वीर्य से नहीं । 'भई' शब्द दीपदेहली है ।

(२) 'हरि गर्भहिं आये ।'—भगवान् अजन्मा हैं, उनका गर्भ में आना कैसा ? पुनः जन्म-समय में भी भगवान प्रथम किशोर अवस्था से प्रकट हुए; फिर माता की प्रार्थना से बालकरूप हुए । इसलिये यहाँ 'हरि' शब्द का अर्थ वायु लिया जाता है । यथा—"वैश्वानरेऽयथ हरिर्दिवाकरसमीरयो इति हेम." अर्थात् भगवान् की इच्छा पर पवनदेव उदर में गर्भाधान की प्रतीति माता आदि को कराते हैं । यथा—"तस्मादष्टमोगर्भो वायुपूर्णो बभूवह ॥" (ब्रह्मवैवर्त; कृष्णजन्म खंड) ; अर्थात् देवकी का आठवाँ गर्भ वायु से पूर्ण हुआ ।

(३) 'सोभा सील तेज की खानी ।'—तीनों रानियों में तीनों गुण पूर्ण हैं, किंतु एक-एक गुण का प्राधान्य भी भावी पुत्रों के अनुसार कहा जाता है कि क्रमशः इन तीन गुण रूप रत्नों की खान कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा हैं ; क्योंकि उनके गर्भों में शोभाधाम श्रीरामजी, शीलमय भरत और तेजोनिधान लक्ष्मण शत्रुघ्न हैं ।

(४) 'सुख-जुत कछुक काल…'—गर्भ बारह मास रहा, पर उतने समय को 'कछु काल' कहा है ; क्योंकि 'सुख जुत'—सुख के दिन जाते नहीं जान पड़ते ।

(५) 'जोग लगन ग्रह …'—यहाँ (योग) आदि पाँच ही नाम देकर पञ्चांग की सभी उत्तम विधियों का अनुकूल होना सूचित किया । 'जोग' योग फलित ज्योतिष के अनुसार विष्कंभ आदि २७ माने जाते हैं, उनमें श्रीराम जन्म पर 'सुकर्मा' योग था । 'लगन' लग्न भी मेष आदि बारह हैं । उनमें कर्क लग्न था । 'ग्रह' नव हैं—सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु । इनमें प्रभु के जन्म पर—मेष का सूर्य, मकर का मंगल, तुला का शनि, कर्क का बृहस्पति और मीन का शुक्र—ये पाँच परम उच्च ग्रहों का योग हुआ, यह मंडलेश्वर योग है ।

'बार'—मंगलवार था । यथा—"नौमी भौमबार मधुमासा । अवधपुरी यह चरित प्रकासा ॥ जेहि दिन राम-जनम श्रुति गावहिं ।" (दो० ३४) । इसके अर्थ में पूर्व लिखा गया, वहाँ भी देखिये । तथा—"नखत जोग ग्रह लगन भले दिन मंगल मोदनिधान ।" (गीता० बा० २) । इसमें युक्ति से मंगल दिन भी कहा गया । जन्म-दिन कोई सोम और कोई बुध भी मानते हैं । सब मतों की रक्षा करते हुए ग्रंथकार ने इस प्रकार जनाया है । 'तिथि'—पक्षों के अनुसार तिथियाँ दो प्रकार की होती हैं—कृष्णा और शुक्ला । इनके भी पाँच भेद हैं—नंदा (१-६-११), भद्रा (२-७-१२), जया (३-८-१३), रिक्ता (४-९-१४) और पूर्णा

(४-१०-१४-३०)। नौमी रिक्ता है। यहाँ नवमी तिथि थी। चैत्र शुक्ला ९, पुनर्वसु नक्षत्र और मेष का सूर्य— ये तीनों कभी एकत्र नहीं होते। यहाँ इस योग ने पड़कर प्रभु का अघटित घटन सामर्थ्य दिखाया है।

पुनः, यथा—"मंगलमय प्रभु-जन्म समय में अति उत्तम दस योग परे। अपने अपने नाम सदृश फल दसो जनावत खरे खरे॥ रितुपति-रितु, पुनि आदि मास-मधु, शुक्ल पक्ष नित धर्म भरे। अंक अवधि नौमी, ससि-वासर, नखत-पुनर्वसु, प्रकृति-चरे॥ योग-सुकर्म, समय मध्ये दिन, रवि प्रताप जहँ अति पसरे। जयदाता अभिजित मुहूर्त वर, परम उच्च ग्रह पाँच ढरे॥ नवमि-पुनर्वसु-परस उच्च रवि, कबहुँ न तीनिउँ संग अरे। यहि ते देवरूप फलु लखिये, गाइ गाइ गुन पतित तरे॥" (रामसुधा), अर्थात् ऋतुराज और आदि मास के योग से रामजी ब्रह्मांडों के राजा और आदिपुरुष हैं। इनके उभय पक्ष (निर्गुण-सगुण एवं मातृ-पितृ) स्वच्छ हैं। अंकों की सीमा नव है, वैसे ये सबसे परे हैं। चन्द्र आह्लादकारक है, वैसे ये सबको सुखी करनेवाले हैं। (इन्होंने चंद्रवार में जन्म माना है)। रामजी सुग्रीवादि को फिर राज्य देंगे। चर (विचरणशील) प्रकृति से विश्वामित्र आदि को सुखी करेंगे। दुष्टों को दंड देकर सुकर्म का प्रचार करेंगे। मध्यान्ह के सूर्यवत् रामजी का प्रबल प्रताप संसार में प्रसरित होगा। अभिजित् के अनुसार विजयी होंगे, शेष के भाव ऊपर आगये, यह काष्ठजिह्वा स्वामी (देव) का विचार है। वाल्मीकिजी ने भी लिखा है—"ततश्च द्वादशे मासे चैत्रे नावमिके तिथौ। नक्षत्रेऽदिति दैवत्ये स्वोच्चसंस्थेषु पञ्चसु॥ ग्रहेषु कर्कटे लग्ने वाक्पताविन्दुना सह॥" (वाल्मी०, १।१८-६)।

'अचर हरषजुत'—अर्थात् पाँचो तत्त्व विकसित हैं यही आगे कहते हैं—"मध्य दिवस अति सीत न घामा"—इसमें घाम से तेज (अग्नि) तत्त्व, "सीतल मंद सुरभि बहु बाऊ।"—वायु, "बन कुसुमित गिरि गन मनियारा।"—पृथिवी, "सरिता मृत धारा"—जल, "गगन बिमल संकुल सुर"—आकाश। इस प्रकार पाँचो तत्त्वों की सेवा भी सूचित की।

नौमी तिथि मधुमास पुनीता। सुकल पच्छ अभिजित हरिप्रीता॥१॥
मध्य दिवस अति सीत न घामा। पावन काल लोकबिश्रामा॥२॥
सीतल मंद सुरभि बह बाऊ। हरषित सुर संतन्ह मन चाऊ॥३॥
बन कुसुमित गिरिगन मनियारा। स्रवहिं सकल सरितामृतधारा॥४॥

शब्दार्थ—मधु = चैत। अभिजित = विजयी, इस नक्षत्र में तीन तारे सिंघाड़े के आकार में मिले होते हैं, यह मुहूर्त ठीक मध्याह्न में आता है। सुरभि = सुगंधित। बाउ = वायु। मनियारा = मणियों की खान से युक्त। यथा—"प्रगटी सुंदर सैल पर, मनि आकर बहु भाँति॥" (दो० ६५)।

अर्थ—नवमी तिथि, पवित्र चैत्र का महीना, शुक्लपक्ष, भगवान् का प्यारा अभिजित् नक्षत्र॥१॥ दिन के मध्य (दोपहर) में, जब न बहुत जाड़ा था और न घाम ही, लोगों को विश्राम देनेवाला पवित्र समय था॥२॥ ठंढी, धीमी और सुगंधित हवा चल रही थी। देवता आनंदित थे और संतों के मन में उत्साह था॥३॥ वन फूले हुए थे, पहाड़ों की श्रेणियाँ मणियों की खानों से सुशोभित थीं और सब नदियाँ अमृत की धारा बहा रही थीं॥४॥

विशेष—'मधु मास पुनीता'—मेष के सूर्य का संबंध लेकर पुनीत कहा है।

'अभिजित हरिप्रीता'—यह श्रीरामजी को प्रिय है, क्योंकि वे सदा इसी मुहूर्त में प्रकट होते हैं।

'सतन्ह मन पाऊ'—क्योंकि जो शिव आदि के ध्यान में ही आते हैं, उनके दर्शन होंगे।
'गिरिगन मनियागर' से लोगों को धन का सुख और 'सरितामृत धारा' से अमृतोपम जल का सुख है।

सो अवसर बिरंचि जब जाना। चले सकल सुर साजि बिमाना ॥५॥
गगन बिमल संकुल सुरजूथा। गावहिं गुन गंधर्ब - बरूथा ॥६॥
बरषहिं सुमन सुअंजलि साजी। गहगह गगन दुंदुभी बाजी ॥७॥
अस्तुति करहिं नाग मुनि देवा। बहु बिधि लावहिं निज-निज-सेवा ॥८॥

दोहा—सुर-समूह बिनती करि, पहुँचे निज निज धाम।
जगनिवास प्रभु प्रगटे, अखिल लोक-बिश्राम ॥१९१॥

शब्दार्थ—संकुल = भरा हुआ, परिपूर्ण। बरूथ = झुंड, समाज। अखिल = निःशेष, समस्त।

अर्थ—जब ब्रह्माजी ने यह अवसर जाना, तब वे और समस्त देवता विमान साजकर चले ॥५॥ निर्मल आकाश देव-वृन्दों से भर गया, गंधर्वों के समूह गुण गाते और सुन्दर अंजलि में (फूलों को) सजकर फूल बरसाते थे। आकाश में धमाधम नगाड़े बज रहे थे ॥६-७॥ नाग, मुनि और देवता स्तुति करते और बहुत प्रकार से अपनी-अपनी सेवा लगाते थे ॥८॥ देव वृन्द स्तुति करके अपने-अपने लोक में जा पहुँचे, सब लोकों को विश्राम देनेवाले, संसार भर में व्यापक प्रभु प्रकट हुए ॥१९१॥

विशेष—(१) 'गगन बिमल'—आकाश धूल और मेघ आदि से रहित होने के कारण निर्मल है। 'सुअंजलि साजी'—फूलों को अंजुलियों में भर-भरकर बरसाते हैं और मंगलसमय में हर्ष प्रकट करते हुए सेवा करते हैं।

(२) 'अस्तुति करहिं'''—नाग (पातालवासी), मुनि (मर्त्यलोक-वासी) और देवता (स्वर्ग-वासी) गर्भ-स्तुति करते हैं। यह रीति है कि स्तुति होने पर प्रभु प्रकट होते हैं। इसीलिये अवसर जानकर ब्रह्मा आये हैं। 'बहु बिधि'—फूल बरसाकर, नाच, गाकर और स्तुति आदि करके सेवा करते हैं।

(३) 'पहुँचे निज निज धाम'—देवता लोग स्तुति करके चले गये, क्योंकि शीघ्र ही विभव त्याग कर (विमान आदि छोड़कर) भिखारी बनकर अयोध्या में आयेंगे, निछावर लेंगे। यथा—"राम निछावरि लेन को हठि होत भिखारी।" (गी० बा० ६)। उत्सव में शामिल होंगे। देवता भूमि में पैर नहीं देते। पुनः देवताओं को अपने-अपने रूप में आने से श्रीरामजी का ऐश्वर्य प्रकट होगा, तब ब्रह्मा का वरदान झूठा होगा, यथा—"प्रभु बिधि-बचन कीन्ह चह साँचा।" (दो० ४८)।

शङ्का—आगे—"देखि महोत्सव सुर मुनि नागा। चले भवन बरनत निज भागा॥" (दो० १९५); कहा है। बीच में फिर देवताओं का आना नहीं कहा गया और यहाँ चले ही गये तो वे देवता कौन हैं?

समाधान—विशेष ऐश्वर्यवान् देवता चले गये, भिखारी बनकर आवेंगे, सामान्य रह गये। वे ऊपर से ही गुप्त भाव में उत्सव देखेंगे और पीछे जायँगे; क्योंकि प्रथम आने में 'सकल सुर' कहे गये हैं और यहाँ 'सुर-समूह' मात्र का जाना कहा गया है।

'जगनिवास'—से मनु-प्रसंग के—"बिस्वबास प्रगटे भगवाना॥" का स्मरण कराया है।

छंद—भये प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या-हितकारी।
हरषित महतारी मुनि-मन-हारी अद्‌भुतरूप विचारी॥
लोचनअभिरामा तनुघनश्यामा निज आयुध भुज चारी।
भूषन बनमाला नयन बिसाला सोभासिंधु खरारी॥

अर्थ—कृपा के स्थान, कौशल्याजी के हित करनेवाले, दीनदयालु प्रभु प्रकट हुए। मुनियों के मन को हरनेवाले आश्चर्य रूप को विचारकर माता हर्षित हैं॥ आँखों को आनंददाता, मेघ के समान श्याम शरीरवाले, अपने आयुध भुजाओं में धारण किये (वा चारो भुजाओं में अपने आयुध लिये हुए) हैं। भूषण और वनमाल (पहने), बड़े-बड़े नेत्रों वाले, शोभा के समुद्र खरारि हैं॥

विशेष—(१) 'भये प्रगट···'—यहाँ रामजी प्रकट होने के सम्बन्ध से कृपालु कहे गये, यथा—"कृपासिंधुजन-हित तनु धरहीं।" (दो० १११)। ब्रह्मा की स्तुति से अखिल लोक को दीन जानकर प्रभु ने दया करके अवतार लिया है। अतः, 'दीनदयाला' कहे गये। 'कौसल्याहितकारी'—क्योंकि सूतिका-गृह में प्रकट होकर यह दर्शन देना केवल कौशल्याजी को है।

'विचारी'—पूर्व तन में कौशल्याजी को अलौकिक विवेक प्राप्त है, उसी से विचार का उदय हुआ है, जिससे अद्भुत रूप विचार करके परात्पर की स्तुति की है।

(२) 'लोचन अभिरामा' सबके नेत्रों को सुख देनेवाले श्रीरामजी; यथा—"चले लोक-लोचन-सुखदाता।" (दो० २१८); अन्यथा नेत्र-वर्णन मानने से 'नयन बिसाला' में पुनरुक्ति होगी।

'तनुघन श्यामा' के साथ 'लोचन अभिरामा' कहकर सूचित किया कि इसी श्यामता का कणमात्र श्याम पुतली नेत्रों में है, जिससे प्रकाश होता है। वे लोचन अपनी निधि को पाकर सुखी होते हैं; यथा—"कोटि भानु जो ऊगवें, तऊ उँजारु न होइ। नेकु श्याम की श्यामता, जो दृग परो न होइ॥" (बिहारी); दर्शनानंद नेत्रों से होता है। मेघ चलकर प्राप्त होते हैं, वैसे प्रभु स्वयं प्राप्त हुए।

'निज आयुध भुजचारी।'—पूर्व ब्रह्म-स्तुति और आकाशवाणी में कहा गया था कि वैकुंठाधीश और क्षीरशायी भगवान् के अवतारभूत श्रीरामरूप की निष्ठावाले भी सम्मिलित हैं। अतः, उनके संबंध की स्तुति भी की गई और उसी प्रकार आकाशवाणी से भी कहा गया; वैसे ही यहाँ भी ग्रंथकार ने श्लेषा-लंकार से 'भुज चारी' शब्द ही में दोनो पक्षों का अर्थ जनाया है। पूर्वोक्त तीन कल्पों में कश्यप-अदिति दशरथ कौशल्या होते हैं, उनके यहाँ जब-जब वैकुंठवासी एवं क्षीरशायी भगवान् प्रकट होते हैं, तब-तब प्रथम चतुर्भुज रूप से शंख, चक्र, गदा, पद्म - अपने इन आयुधों को लिये हुए दर्शन देते हैं। माता की स्तुति से और कहने से शिशु रूप होते हैं। पुनः, जब इस कल्प के मनु-शतरूपा दशरथ-कौशल्या होते हैं, तब आप अपने नित्य किशोर द्विभुज रूप से अपने आयुध धनुष-बाण धारण किये हुए प्रकट होते हैं। इस पक्ष में 'चारी' शब्द का अर्थ 'प्राप्त'='धारण किया है' होगा; क्योंकि 'चारी' शब्द "चर-गति भक्षणयोः" धातु से निष्पन्न होता है। गति का अर्थ प्राप्ति भी होता है। शतरूपा-शरीर में द्विभुज रूप में अनन्यता थी, वही देखा गया है। अब यदि चतुर्भुज रूप से आते, तो माता सुतीक्ष्ण की तरह व्याकुल हो उठतीं। अतः, इनके पक्ष में ऐसा ही अर्थ युक्त होगा।

(३) 'सोभासिंधु खरारी'—इसमें भी 'खरारी' शब्द श्लिष्ट है। "खर नाम का एक राक्षस पूर्व देवासुर-संग्राम में भगवान् विष्णु के हाथों मारा गया था, इससे विष्णु का नाम 'खरारि' पड़ा।" (हरिवंश) अथवा यह भी कहा जाता है कि चतुर्भुज भगवान् के सम्बन्ध में 'खरारी' का अर्थ 'खलारी' अर्थात् खलों के शत्रु होगा। व्याकरण में 'र' और 'ल' का अभेद भी होता है, यथा—"मिलु जर जारि करइ सोइ छारा।" (च० दो० १६) "सरिता नस जारा।" (लं० दो० १४)। इनमें 'जल' और 'जाला' के अर्थ हैं। द्विभुज राम-रूप के सम्बन्ध में खर के शत्रु का अर्थ होता है। शोभातिशय्य दिखाने के लिये भविष्य की बात को लेकर भी कवि लोग वर्णन करते हैं, इसे भाविक अलंकार कहते हैं। खर शत्रु होते हुए भी रामजी की शोभा से मोहित हो गया, यथा—"प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी।…" से—"बध लायक नहिं पुरुष अनूपा॥" (आ० दो० १८) तक या यों भी कहा जाता है कि कौशल्याजी को प्रभु-कृपा से अलौकिक विवेक प्राप्त है, इस दृष्टि से वे पूर्व के अवतारों के चरित जानती हैं। अतः, खर के मोहित होने को भी जानती हैं।

कह दुइ कर जोरी अस्तुति तोरी केहि बिधि करउँ अनंता।
मायागुन - ज्ञानातीत अमाना बेद पुरान भनंता॥
करुना-सुख-सागर सब-गुन-आगर जेहि गावहिं श्रुति संता।
सो मम हित लागी जनअनुरागी भयेउ प्रगट श्रीकंता॥
ब्रह्मांडनिकाया निर्मितमाया रोम रोम प्रति बेद कहै।
मम उर सो बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै॥
उपजा जब ज्ञाना प्रभु मुसुकाना चरित बहुत बिधि कीन्ह चहै।
कहि कथा सुहाई मातु बुझाई जेहि प्रकार सुत प्रेम लहै॥

शब्दार्थ—अमाना = परिमाण-रहित। भनंता = कहते हैं। श्रीकंता = श्रीसीताकांत, लक्ष्मीकांत।

अर्थ—(माता) दोनों हाथ जोड़कर बोलीं कि हे अनन्त! मैं आपकी स्तुति किस प्रकार करूँ? वेद-पुराण आपको माया, गुण और ज्ञान से परे एवं परिमाण-रहित कहते हैं॥ वेद और संत जिनको करुणा और सुख के समुद्र एवं सब गुणों के धाम कहते हैं। वे ही (आप) भक्तों पर प्रेम करनेवाले 'श्रीकंत' मेरे हित के लिये प्रकट हुए हैं॥ वेद कहते हैं कि माया के रचे हुए ब्रह्माण्डों के समूह आपके एक-एक रोम (कूप) में हैं; वही (आप) मेरे गर्भ में रहे, यह हँसी की बात है—इसे सुनकर धीरों की बुद्धि भी ठिकाने न रहेगी॥ जब ज्ञान उत्पन्न हुआ, तब प्रभु मुसकुराये, (क्योंकि) वे बहुत प्रकार के चरित किया चाहते हैं। माता को सुहावनी कथा कहकर समझाया कि जिस प्रकार उसे पुत्र का प्रेम प्राप्त हो॥

विशेष—(१) 'कह दुइ कर…माया गुन…' इन दो चरणों में निर्गुण रूप का ऐश्वर्य कहा है और —'करुना… सो मम…' इनमें सगुण रूप-वर्णित है। 'श्री' लक्ष्मी और सीताजी का भी बोधक है। अगस्त्यसंहिता में 'श्री' को सीता-मंत्र का बीज ही कहा है। श्रीगोस्वामीजी ने तो बहुत जगह श्रीसीताजी को 'श्री' कहा है। अतः, उपर्युक्त रीति से 'श्रीकंत' से चतुर्भुज और द्विभुज दोनों रूपों का अर्थ है।

'सो मम उरवासी'···'—अर्थात् जो सुनेगा, वही कहेगा कि ऐसा अपरिमित ब्रह्म कैसे कौशल्या के पेट में रहा होगा ? उनका पेट कितना बड़ा रहा होगा ? इत्यादि ज्ञानी लोग विश्वास न करेंगे, किंतु हँसी में उड़ा देंगे। वह भी जन-अनुरागी आपने अपनी कृपा से कर दिखाया। 'धीर मति थिर न रहे' यथा—"ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत बेद॥" (दो० ५०)।

(२) 'उपजा जब ज्ञाना प्रभु मुसुकाना।'—पूर्व से प्राप्त अलौकिक ज्ञान उपज पड़ा अर्थात् बढ़ चला, तब प्रभु अर्थात् समर्थ, जो ज्ञानी को अज्ञानी और अज्ञानी को ज्ञानी करने में समर्थ हैं, वे मुसकुराये; अर्थात् हास के द्वारा इन्हें माया-मोहित किया, यथा—"माया हास···" (लं० दो० १४)। इनका ज्ञान पलट दिया, उसका कारण कहते हैं कि बहुत तरह के चरित आप करना चाहते हैं, इससे माता को वात्सल्य का सुख देंगे, वह कथा-द्वारा समझाते हैं—

'कहि कथा सुहाई'—अर्थात् तुमने पूर्व जन्म में तप करके अमुक-अमुक वर माँगे हैं, इसीसे मैं पुत्र होकर तुम्हें वात्सल्य सुख देने को प्रकट हुआ हूँ, यह सुख प्राप्त करो।

यहाँ प्रभु ने माता पर माया डाली है, आगे दो० २०० पर रंग-पूजा प्रसंग से उसे हरेंगे, वहाँ फिर विराट् रूप दिखाकर ज्ञान देंगे। यद्यपि इनका यह उपजा हुआ ज्ञान पूर्व के वर से था, तो भी सामान्य दृष्टि से स्वकीय ज्ञान ही था। जीव का ज्ञान परिमित होता है, उससे अपरिमित ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता। या तो प्रभु स्वयं ज्ञान करावें, अथवा कृपा-द्वारा सद्गुरु प्राप्त कराकर करावें, तभी वह ज्ञान यथार्थ होता है। इस मर्यादा की रक्षा के लिये भी अभी इनका ज्ञान आवृत करते (छिपा देते) हैं। आगे स्वयं कृपा करके विराट् रूप से प्रबोध करके देंगे। दो० १५० चौ० ३ भी देखिये।

माता पुनि बोली सो मति डोली तजहु तात यह रूपा।
कीजे सिसुलीला अति-प्रिय-सीला यह सुख परम अनूपा॥
सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुरभूपा।
यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भवकूपा॥

दोहा—बिप्र-धेनु-सुर-संत-हित, लीन्ह मनुज-अवतार।
निज-इच्छा-निर्मित-तनु, माया - गुन-गो-पार॥१९२॥

शब्दार्थ—डोली = फिर गई, डिग गई। सील (शील) = चरित, यथा—"शुचौ तु चरिते शीलमित्यमरः"

अर्थ—माता की वह बुद्धि फिर गई, तब वह फिर बोली कि हे तात! यह रूप छोड़िये और अत्यंत प्रियचरित शिशु-लीला कीजिये, (क्योंकि) इसका सुख बहुत ही अनुपम है॥ यह वचन सुनकर सुजान और देवताओं के स्वामी प्रभु बालक-रूप होकर रोने लगे। इस चरित को जो गाते हैं, वे भगवत्-पद को प्राप्त होते हैं, फिर संसार-रूपी कुँए में नहीं पड़ते॥ ब्राह्मणों, गायों, देवताओं और संतों के लिये (प्रभु ने) मनुष्य-अवतार लिया। भगवान् का तन (शरीर) माया के गुणों और इन्द्रियों से परे अपनी इच्छा से निर्माण किया हुआ है॥१९२॥

विशेष—(१) 'सिसु-लीला अति-प्रिय-सीला' यथा—"बालचरित अति सरल सुहाये। सारद सेष सम्भु श्रुति गाये॥ जिन्ह कर मन इन्हसन नहिं राता। ते जन बंचित किये बिधाता॥" (दो० २०३)। गीतावली बा० पद ७-८-६ भी देखिये। 'परम अनूपा'—"तुलसिदास ऐसो सुख रघुपति पै काहू तो पायो न बिये।" (गी० बा० ७)।

'होइ बालक सुरभूपा'—षोडश वर्ष के नित्य किशोर रूप से बालक बन गये। सामान्य देवता भी रूप बदल सकते हैं, आप तो उनके भूप हैं, देवताओं के शरीर दिव्य होते हैं, वैसे आपका शिशुरूप भी दिव्य ही है।

(२) 'सुजाना'—क्योंकि प्रभु ने माता के हृदय का पुत्र विषयक भाव जान लिया और रोने लगे। यथा—"अंतर-प्रेम तासु पहिचाना। मुनि-दुर्लभ गति दीन्ह सुजाना॥" (आ० दो० ३१), तथा—"स्वामि सुजान जानि सबही की। रुचि लालसा रहनि जन की की॥" (अ० दो० ३१३)।

(३) 'बिप्र धेनु सुर ···'—ब्राह्मण धर्म के संस्थापक हैं। गाय के दूध, घी, दही आदि से यज्ञ, पूजन आदि होते हैं, वह बछड़े से जगत् का हित करती है। देवता पूजा लेकर जगत् की रक्षा करते हैं और संत परोपकारी होते हैं। ये सब रावण से दुखी हुए, अत, इनके हित के लिये अवतार लिया। 'धेनु' से यहाँ धेनु-रूपधारी भूमि का भी तात्पर्य है, क्योंकि वह तो अवतार-हेतु में मुख्य ही है। पूर्व मनु-शतरूपा के प्रति वचन दिया था—"इच्छामय नर-देह सँवारे। होइहउँ प्रकट निकेत तुम्हारे॥" (दो० १५१)। उसी की पूर्त्ति यहाँ—'निज इच्छा ···' से की।

शङ्का—सामान्य लोगों के घर में भी प्रसवकाल में और स्त्रियाँ रहती हैं, पर यहाँ यह संवाद किसी ने नहीं जाना। 'सिसुरुदन' पर सब आईं, यह क्यों ?

समाधान—भगवान् की लीला परम रहस्यात्मक है। जिसको भगवान् ही जनावें, वही जाने। वे विलक्षण संयोग से कोई भी कार्य कर लेते हैं, जैसे श्रीकृष्ण-जन्म पर पहरेवाले सो गये, फाटक खुल गये, इत्यादि।

सुनि सिसुरुदन परम प्रिय बानी। संभ्रम चलि आईं सब रानी॥१॥
हरषित जहँ तहँ धाईं दासी। आनँदमगन सकल पुरबासी॥२॥
दसरथ पुत्र-जन्म सुनि काना। मानहुँ ब्रह्मानंद समाना॥३॥
परम प्रेम मन पुलक सरीरा। चाहत उठन करत मति धीरा॥४॥
जा कर नाम सुनत सुभ होई। मोरे गृह आवा प्रभु सोई॥५॥
परमानंद पूरि मन राजा। कहा बोलाइ बजावहु बाजा॥६॥

शब्दार्थ—संभ्रम = आतुरता से, उत्कंठा-पूर्वक, यथा—"सहित सभा संभ्रम उठे, रविकुल कमल-दिनेस।" (अ० दो० २७४)।

अर्थ—बच्चे के रोने की परम प्यारी वाणी सुनकर सब रानियाँ आतुरता से वहाँ चली आईं॥१॥ दासियाँ प्रसन्न होकर जहाँ-तहाँ दौड़ पड़ीं, सभी पुरवासी आनंद में निमग्न हैं॥२॥ श्रीदशरथ महाराज पुत्र का जन्म कानों से सुनकर मानों ब्रह्मानंद में समा गये॥३॥ मन में परम प्रेम है, शरीर पुलक से पूर्ण है,

बुद्धि को धीर करके उठना चाहते हैं ॥४॥ जिनका नाम सुनते ही कल्याण होता है, वे ही प्रभु मेरे घर आये हैं ॥५॥ राजा ने मन में परमानंद से पूर्ण होकर (बाजे वालों को) बुलवाकर बाजा बजाने को कहा ॥६॥

विशेष—(१) 'सुनि···चलि आई'—रामजी के रुदन का शब्द परम गंभीर है। अतः, मधुर मेघ-गर्जन की तरह सबको निकट ही सुन पड़ा। यथा—"बोल.घनघोर से बोलत थोर थोर हैं।" (गी० बा० ७१)। पूर्वोक्त 'रोदन ठाना' का प्रसंग यहाँ मिलाया।

(२) 'जहँ तहँ धाईं दासी'— आवश्यक व्यवहारियों को बुलाने के लिये दासियाँ दौड़ीं। राजा आदि प्रमुख लोगों को यह समाचार प्रथम सुनाने से पुरस्कार पावेंगी। यथा—"प्रथम जाइ जिन्ह बचन सुनाये। भूषन बसन भूरि तिन्ह पाये॥" (अ० दो० ७)। 'आनँदमगन'—अभिदेव के वचनों से आशा थी, आज उसकी पूर्णता से आनन्द की पूर्णता हुई।

(३) 'मानहुँ ब्रह्मानंद ···'—श्रीरामजी ब्रह्म ही हैं। अतः, उनके जन्म का समाचार ब्रह्मानंद-रूप ही है; पर राजा का उनमें पुत्र-भाव है। अतः, उत्प्रेक्षा की दृष्टि से कहा है। ब्रह्मानंद में देह की सुध-बुध नहीं रह जाती, वैसे ही आनंद से राजा की दशा हो गई, सब अंग शिथिल पड़ गये। 'करत मति धीरा'—प्रथम मति आनंद से अधीर हो गई थी, अब दर्शनों के लिये धीरज देते हैं। 'जाकर नाम सुनत सुभ होई'—जिनके नाम सुनाकर काशी में शिवजी जंतु मात्र को भी मुक्ति देते हैं, वे ही मेरे घर साक्षात् आये हैं। यहाँ 'सुभ' से मुक्ति का तात्पर्य है।

गुरु बसिष्ठ कहँ गयेउ हँकारा। आये द्विजन्ह सहित नृप-द्वारा ॥७॥
अनुपम बालक देखिन्ह जाई। रूपरासि गुन कहि न सिराई ॥८॥

दोहा—नंदीमुख सराध करि, जातकरम सब कीन्ह।
हाटक धेनु बसन मनि, नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह ॥१६३॥

अर्थ—गुरु वसिष्ठजी को बुलावा गया, वे ब्राह्मणों के साथ राजा के द्वार पर आये ॥७॥ जाकर (ऐसे) बालक को देखा, जिसकी उपमा नहीं है, जो रूप की राशि है और जिसके गुण कहने से चुक नहीं सकते ॥८॥ (तब) राजा ने नान्दीमुख श्राद्ध करके जात-कर्म संस्कार के सब विधान किये और ब्राह्मणों को सोना, गायें, वस्त्र और मणियाँ दीं ॥१६३॥

विशेष—(१) 'आये द्विजन्ह सहित'—ब्राह्मण मंगलरूप हैं और इन्हें ही आगे नान्दीमुख श्राद्ध आदि में दान देना होगा। 'देखिन्ह जाई'—बाणभट्ट की कादम्बरी में भी लिखा गया है कि पुत्र-जन्म होने पर सूतिका-गृह में राजा तारापीड़ गुरु और मंत्री के साथ शिशु को देखने गये थे। यहाँ यह देखना ऐश्वर्य-दृष्टि से भी है।

'रूपरासि' यथा—"रूपरासि बिरची बिरंचि मनो, सिला लवनि रति-काम लही री।" (गी० ब० १०४)

'गुन कहि न सिराई'—गुण का तात्पर्य यहाँ लक्षण से है, यथा—"कहहु सुता के दोष गुन"; "सब लच्छन सम्पन्न कुमारी।" (दो० ६६)। यहाँ गुण ही को लक्षण कहा है।

(२) 'नंदीमुख सराध करि···'—जीवों की सद्गति के लिये दस कर्म शास्त्रविहित हैं—गर्भाधान, सीमन्तक, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, यज्ञोपवीत, विवाह और मृतककर्म।

इनमें विवाह पर्यन्त के आदि में आभ्युदयिक नांदी मुख श्राद्ध का अधिकार है। यह श्राद्ध मांगलिक है। जन्म पर जातकर्म होता है; अतः, उसके प्रथम यह श्राद्ध करना चाहिये। इसमें पिता को पूर्व मुख बिठाकर, वेदिका पर दूब बिछाकर और चौरीठा (चावल का चूर्ण), बेर का फल, तिल, दधि, हल्दी मिलाकर इनके नौ पिंड दिलाये जाते हैं। इससे पितर तृप्त होते हैं। फिर दक्षिणा दी जाती है। 'नान्दीमुख' का अर्थ है वह श्राद्ध जो वृद्धि के लिये किया जाय—'नान्दी वृद्ध्यर्थं मुखं यस्य'। इसके ग्रहण करने को पितृगण नाँद की तरह मुख फैलाये रहते हैं, इससे भी नाँदीमुख कहा जाता है। 'जातकर्म'—घृत और मधु मिलाकर पिता सोने के पात्र से बालक की जीभ में लगाता है। फिर कुश और जल से मंत्र-सहित बालक का प्रोक्षण (सेचन) करके उसके दाहिने कान में आचार्य तीन बार आठो कंडिकाएँ (यजुर्वेद के मंत्र) सुनाते हैं। पंच विप्र (बालक के चारों ओर चार और बीच में एक ब्राह्मण) आकर बालक के सन्मस्थल (देश), बालक और माता को अभिमंत्रित करते हैं। फिर माता अपना दाहिना स्तन धोकर नाल और बालक पर डालती है। विधिवत् घट और अग्नि स्थापन कर और गणेश आदि को पूज कर पीपल, सरसों, घृत से सात आहुतियाँ दी जाती हैं। फिर शिव-मंत्र से सूत्र बाँधकर छुरे का पूजन करके नाल काटा जाता है। (इन दोनों कर्मों का विधिवत् वर्णन वैजनाथ-टीका में है)। 'हाटक धेनु······दीन्ह'—नाल काटने के प्रथम ही दान दिया गया, क्योंकि पीछे सूतक होने पर दान का निषेध है। इसके प्रथम दान का बड़ा फल है।

ध्वज पताक तोरन पुर छावा। कहि न जाइ जेहि भाँति बनावा ॥१॥
सुमन-वृष्टि अकास ते होई। ब्रह्मानंद-मगन सब लोई ॥२॥
बृंद बृंद मिलि चलीं लोगाईं। सहज सिँगार किये उठि धाईं ॥३॥
कनक-कलस मंगल भरि थारा। गावत पैठहिं भूप-दुआरा ॥४॥
करि आरती निछावरि करहीं। बार बार सिसु-चरनन्हि परहीं ॥५॥

अर्थ—नगर में ध्वजाएँ, पताकाएँ और बंदनवार छा गये ; जैसी सजावट है, कहा नहीं जा सकता ॥१॥ आकाश से फूलों की वर्षा हो रही है, सब लोग ब्रह्मानंद में मग्न हैं ॥२॥ स्त्रियाँ झुंड-की-झुंड मिलकर चलीं, वे साधारण ही शृंगार किये हुए उठ दौड़ीं ॥३॥ सोने के कलशों और थालों में मंगल भर-भरकर गाती हुई राजा के द्वार में प्रवेश करती हैं ॥४॥ आरती करके न्योछावर करती हैं और बार-बार बच्चे के चरणों पर पड़ती हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'ध्वज पताक' यथा—"कदलि ताल बर ध्वजा पताका।" (बा० दो० ३०) अर्थात् ध्वजा चिन्ह-युक्त है और पाँच हाथ लम्बी होती है। पताका (झंडी) सात हाथ ऊँची होती है।

(२) 'बृंद बृंद मिलि चलीं······'—अपनी-अपनी टोली बाँधकर चलीं।

'सहज सिँगार······'—जो पिछड़ गईं, वे जैसे शृंगार किये बैठी थीं, वैसे ही उठ दौड़ीं कि जिससे भीड़ होने के प्रथम भीतर पहुँच जायँ, यथा—"जे जैसेहि तैसेहि उठि धावहिं।" (उ० दो० २)।

(३) 'कनक कलस मंगल······'—कलश में श्रीसरयू का जल भरा था। वह आम के पल्लव, यव एवं दीपक से सज्जित था और थाल में दल-फल आदि सजे थे, यथा—"दधि दुर्बा रोचन फल फूला। नव तुलसी दल मंगल मूला॥ भरि-भरि हेम थार भामिनी। गावत चलीं सिंधुरगामिनी॥" (उ० दो० २)।

(४) 'बार बार सिसु-चरनन्हि परहीं'—अग्निदेव ने सभा को समझाया था। सभावालों ने अपने-अपने

घरों में कहा, उस ऐश्वर्य-दृष्टि से देव-भाव लेकर चरणों में पड़ती हैं। पुनः ये सब नित्य परिकर हैं, प्रभु की आज्ञा से लीला के लिये अवतरित हैं, यथा—"हम सब सेवक अति बड़ भागी।······निज इच्छा प्रभु अवतरइ,···—सगुन उपासक संग तहँ, रहहिं······" (कि॰ दो॰ २६)। अतः, जैसे विप्र-वेष में भी श्रीहनूमानजी का शिर झुक गया, यथा—"माथ नाइ······" (कि॰ दो॰ १); वैसे यहाँ इनमें भी प्रणाम की वृत्ति हो आई।

मागध सूत बंदिगन गायक। पावन गुन गावहिं रघुनायक ॥६॥
सरबस दान दीन्ह सब काहू। जेहि पावा राखा नहि ताहू ॥७॥
मृग-मद-चंदन कुंकुम-कीचा। मची सकल बीथिन्ह बिच बीचा ॥८॥

दोहा—गृह गृह बाज बधाव सुभ, प्रगटे सुषमाकंद।
हरषवंत सब जहँ तहँ, नगर नारि-नर-बृंद ॥१९४॥

शब्दार्थ—मागध—ये राग-ताल में कीर्त्ति गाते हैं। सूत = पौराणिक, श्लोकों में यश वर्णन करनेवाले। वन्दी = भाट जो कवित्तों में विरद कहते हैं। गायक = कत्थक, भाँड़ आदि। सुषमा = अत्यंत शोभा। कंद = मूल, मेघ।

अर्थ—मागध, सूत, भाट और गवैये लोग रघुकुल के स्वामी दशरथ महाराज के पवित्र गुणों का गान करते हैं ॥६॥ सब किसी ने सर्वस्व दान दिया, जिसने पाया, उसने भी न रक्खा ॥७॥ कस्तूरी, चन्दन, कुंकुम (केसर) का कीचड़ सभी गलियों के बीच-बीच में फैल गया ॥८॥ घर-घर मंगल बधाइयाँ बज रही हैं, (क्योंकि) परम शोभा के कंद (श्रीरामजी) प्रकट हुए हैं, नगर के स्त्री-पुरुषों के समूह, जहाँ देखो वहाँ ही, आनंदित हैं ॥१९४॥

विशेष—(१) 'सरबस दान दीन्ह सब काहू।······' (क) यहाँ तीन प्रकार के दान कहे गये हैं, (१) राजदान—"हाटक धेनु बसन मनि, नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह ॥" (दो॰ १९३); (२) पुरवासियों का दान—"सरबस दान ···· " इसमें 'सब काहू' से पुरवासी लिये गये। (३) याचक दान—"जो पावा राखा नहिं ताहू ॥" इसमें 'जो पावा' से याचक लिये गये। (ख) सबने अपना सर्वस्व दान में लुटा दिया। जिन्होंने पाया, उन्होंने भी लुटा दिया कि जो चाहे ले, सब रत्न नगर भर में बिखरे पड़े हैं, यथा— "बगरे नगर निछावरि मनि गन जनु जुवारि जव धान।" (गी॰ बा॰ २)। अंत में धन कहाँ गया? यह प्रश्न ही व्यर्थ है अर्थात् दान की इति नहीं है। (ग) कोई-कोई बड़ी लंबी दौड़ लगाते हैं कि यहाँ सभी ने लुटाया और भिखारी बनकर देवता लेते गये, यथा—"राम निछावरि लेन को हठि होत भिखारी। बहुरि देत तेहि देखिये मानहु धनधारी।" (गी॰ बा॰ ६), "भुवन चारि दस भूधर भारी। सुकृत मेघ बरषहिं सुख वारी ॥" इसमें देवों का प्रसंग है। उन देवता लोगों ने एक को कोटि गुने करके वर्षा की, यथा—"रिधि सिधि संपति नदी सुहाई। उमँगि अवध अंबुधि कहँ आई ॥" (अ॰ दो॰१)।

(२) 'सरबस दान' यथा—"उमँगि चल्यो आनंद लोक तिहूँ देत सबन्हि मंदिर रितये। तुलसिदास पुनि भरेइ देखियत, रामकृपा चितवनि चितये ॥" (गी॰ बा॰ २), "पुरबासिन्ह प्रिय नाथ हेतु निज-निज संपदा लुटाई।" (गी॰ बा॰ १)।

(३) मृगमद चंदन'''—कस्तूरी, केसर, चन्दन आदि मिला अरगजा बनाकर महोत्सव में परस्पर छिड़कते हैं और गलियों में सींचते हैं, यथा—"बीथी सकल सुगंध सिंचाई।" (उ० दो० ८); "कुंकुम अगर अरगजा छिरकहिं भरहिं गुलाल अबीर।" (गी० बा० २)।

'सुषमाकंद' क्योंकि ऊपर—"ध्वज पताक'''" से—"बिषमीषा॥" तक सबकी परम शोभा कही गई है। इसकी वर्षा करनेवाले (मेघ) श्रीरामजी ही हैं, और मूल (कंद) कारण भी इनका प्रकट होना ही है।

'नारि बृंद' को प्रथम कहा गया है, क्योंकि शिशु के पास इनका प्रवेश प्रथम है।

कैकयसुता सुमित्रा दोऊ। सुंदर सुत जनमत भइँ ओऊ॥१॥
वह सुख संपति समय समाजा। कहि न सकइ सारद अहिराजा॥२॥

अर्थ—कैकेयी और सुमित्रा—इन दोनों ने भी सुन्दर पुत्र उत्पन्न किये॥१॥ उस सुख, संपत्ति, समय और समाज को सरस्वती और शेष भी नहीं कह सकते॥२॥

विशेष—'दोऊ'—यह शब्द दीपदेहली है अर्थात् सुमित्रा ने दो पुत्र उत्पन्न किये—लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजी। शत्रुघ्नजी के लिये गोस्वामीजी ने अन्यत्र स्पष्ट सुमित्रा का पुत्र कहा है। यथा—"जयति जय शत्रु करिकेसरी शत्रुहन सर्वांग सुंदर सुमित्रासुवन'''लक्ष्मणानुज" (वि० ४०), "सुमिरि सुमित्रा-नाम जग, जे तिय लेहिं सनेम। सुअन लखन रिपुदमन से, पावहिं पतिपद-प्रेम" (रामाज्ञा) 'सुंदर सुत जनमत भइँ ओऊ।'—श्रीगोस्वामीजी का प्रधान मत तो यही जान पड़ता है कि चारों भाई एक ही दिन प्रकट हुए, यथा—"जनमे एक संग सब भाई।" (बा० दो० ६); तथा—"पूत सपूत कौसिला जायो'''जात-कर्म करि पूजि पितर सुर दिये महिदेवन्ह दान। तेहि अवसर सुत तीनि प्रगट भये मंगलमुद कल्यान॥" (गी० बा० २); "आजु महा मंगल कोसलपुर सुनि नृप के सुत चारि भये।" (गी० बा० ३)। पुनः मतभेद एवं कल्पभेद की दृष्टि से दो प्रकार और भी कहे हैं, यथा—"दिन दूसरे भूपभामिनि दोउ भईं सुमंगलखानी।" (गी० बा० ४); इसमें दशमी को तीन पुत्रों का होना कहा है। "ज्यों आजु कालिहुँ परहुँ जागन होहिंगे नेवते दिये।" (गी० बा० ६); इसमें दशमी को भरत और एकादशी को लक्ष्मण-शत्रुघ्न का जन्म सिद्ध होता है, उसीके अनुसार तीन दिनों तक लगातार छठी हुई। वाल्मीकिजी ने भी श्रीराम-जन्म के दूसरे दिन भोर को भरतजी का और तीसरे दिन दोपहर को लक्ष्मण-शत्रुघ्न का जन्म माना है। यथा—"भरतो नाम कैकेय्यां जज्ञे सत्यपराक्रमः। अथ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्राजनयत्सुतौ॥'''पुष्ये जातस्तु भरतो मीनलग्ने प्रसन्नधीः। सार्पे जातौ तु सौमित्री कुलीरेऽभ्युदिते रवौ॥" (सर्ग १८ श्लोक १२-१५)।

'वह सुख संपति समय समाजा।'—चौथेपन में एक भी पुत्र होता तो बहुत सुख होता और यहाँ तो एक साथ ही चार हुए, फिर सुख आदि का क्या कहना है? यथा—"जो सुख सिंधु सकृत सीकर ते सिव बिरंचि प्रभुताई। सोइ सुख अवध उमँगि रह्यो दसदिसि कौन जतन कहौं गाई॥" (गी० बा० १); "अष्टसिद्धि नवनिद्धि भूति सब भूपति भवन कमाहिं। समय समाज राज दसरथ को लोकप सकल सिहाहिं॥" (गी० बा० २)।

अवधपुरी सोहइ एहि भाँती। प्रभुहि मिलन आई जनु राती॥३॥
देखि भानु जनु मन-सकुचानी। तदपि बनी संध्या अनुमानी॥४॥
अगरधूप बहु जनु अँधियारी। उड़इ अबीर मनहुँ अरुनारी॥५॥

मंदिर-मनि-समूह जनु तारा। नृप-गृह-कलस सो इंदु उदारा ॥६॥
भवन-बेद-धुनि अति मृदु बानी। जनु खग-मुखर-समय जनु सानी ॥७॥

शब्दार्थ—अगर = एक सुगंधित लकड़ी, जिसके साथ लाख, चंदन, गूगल आदि मिलकर धूप बनता है।

अर्थ—अवधपुरी इस तरह शोभती है मानों प्रभु से मिलने के लिये रात्रि आई है ॥३॥ सूर्य को देखकर मानों मन में सकुच गई, तो भी विचार करके संध्या बनकर यहाँ रह गई ॥४॥ अगर के बहुत-से धूप का धुआँ मानों संध्या का अँधेरा है, जो अबीर उड़ रहा है, वही उसकी ललाई है ॥५॥ राजमहल की मणियों के समूह मानों तारागण हैं, राजभवन का कलश ही उदार चन्द्रमा है ॥६॥ राजभवन में अत्यन्त कोमलवाणी से जो वेदध्वनि हो रही है, वही मानों समय से मिली हुई (समयानुसार) चिड़ियों की चहचहाट है ॥७॥

विशेष—'अवधपुरी'''जनु राती'—अवधपुरी की शोभा का वर्णन करते हुए, कवि बालरूप श्रीरामजी से अयोध्या के रात्रिरूप में मिलने का रूपक बाँधते हैं। दोपहर के समय में ही अगर-धूप, अबीर, महल में जड़ी हुई मणियाँ, महल के शिखर का कलश और वेदध्वनि आदि की शोभा उत्प्रेक्षा के विषय हैं। सुर-नर-नाग आदि की उत्सुकता देखकर अवधपुरी भी रात्रिरूप होकर मिलने चली, पर वहाँ भानुकुल-भानु को देखकर सकुच गई कि ये तो नित्य हमारी ही गोद में रहनेवाले हैं, जैसे दोपहर के सूर्य के समक्ष रात्रि सकुच जाय। फिर विचारकर बालसूर्य रूप श्रीरामजी के संयोग से संध्या बन गई। (यहाँ प्रातः संध्या समझना चाहिये)। रात्रि जीवों को विश्राम देनेवाली है, वैसे अयोध्यापुरी भी सब जीवों की विश्रामस्थली है, इसलिये तो रात्रि का रूपक बाँधा है। पर रात्रि में सुषुप्त्यवस्था होती है और अयोध्या नित्य जाग्रत अवस्था में रहती है, इसमें लोग श्रीरामजी का सम्यक् प्रकार से ध्यान धरते हैं। अतः, संध्या का रूपक बाँधा। वेद-ध्वनि का सायं-संध्या में अनध्याय रहता है और आगे 'पतंग भुलाना' का भी रूपक बाँधना है, इससे यहाँ प्रातः संध्या ही युक्त है, श्रीअयोध्या का अभ्युदय काल भी है।

प्रश्न—रात्रि क्यों मिलने आई, सकुचकर भी रही ही और संध्या-रूप से मिली, तो इसे क्या मिला?

उत्तर—प्रभु ने जन्म-संबंध से दिन को कृतार्थ किया, तो रात्रि सोचती है कि मुझे भी विवाह के समय ग्रहणकर कृतार्थ करें, इसे यह अभीष्ट मिला भी, यथा—"पुरी बिराजति राजति रजनी।" (दो० ३५७)। 'बहु अँधियारी' यथा—"धूप धूम नभ मेचक भयेऊ।" (दो० ३१६)। 'मंदिर मनि समूह'''—अरुणोदय में छोटे तारे नहीं दिखते—बड़े ही दिखते हैं। वैसे यहाँ 'मनि-समूह' अर्थात् बड़ी-बड़ी मणियाँ कही गई हैं, छोटी मुक्ताएँ नहीं। राजमहल के कलश को 'उदार' चंद्रमा कहा। जो अपना सर्वस्व देने को उद्यत हो, वह उदार है, वैसे ही प्रातःकालिक चन्द्रमा सूर्य को सर्वस्व देता है। उदार श्रेष्ठ का भी वाचक है। अतः, पूर्णिमा के चन्द्रमा का अर्थ है—यद्यपि पूर्णिमा नहीं है। 'जनु खग मुखर'''—प्रातःकालीन पक्षियों की आनंद-पूर्ण ध्वनि सुहावनी लगती है, भले ही उसका कुछ अर्थ न हो। वैसे ही वेद की ऋचाएँ अर्थ न जाननेवालों को भी प्रिय लगती है, यथा—"लगे पढ़न रच्छा रिचा ऋषिराज बिराजे।" (गी० बा० ६)।

कौतुक देखि पतंग भुलाना। एक मास तेइ जात न जाना ॥८॥

दोहा—मासदिवस कर दिवस भा, मरम न जानइ कोइ।
रथसमेत रबि थाकेउ, निसा कवनि बिधि होइ ॥१९५॥

शब्दार्थ—पतंग = सूर्य। थाकेउ = ठहर गये, यह 'स्था = तिष्ठ' धातु से बना है और बंगला भाषा का शब्द है।

अर्थ—यह कौतुक देखकर सूर्य भी भूल गया। एक महीने का बीत जाना उसे न जान पड़ा ॥८॥ महीने-दिन (३० दिनों) का एक दिन हो गया, इस भेद को कोई नहीं जानता, सूर्य अपने रथ समेत ठहर गया; (तो फिर) रात किस प्रकार होती ? ॥१९५॥

विशेष—'रथसमेत'—अर्थात् रथी (सूर्य), सातो घोड़े और अरुण सारथी—सभी आनंद में डूब गये, किसी को भी चेत होता, तब तो रथ चलता।

'मास दिवस कर दिवस भा' "(क) श्रीरामजन्म पर मेष का सूर्य, पुनर्वसु और शुक्ला नवमी—ये तीनों योग पड़े थे, यह सर्वसम्मत है। सामान्य दृष्टि से यह असंभव है, क्योंकि आज अमावस्या को सूर्य-चन्द्रमा एक राशि पर रहते हैं। मेष के सूर्य के सम्बन्ध से अमावस्या को अश्विनी चाहिये, अश्विनी से पुनर्वसु सातवाँ नक्षत्र है। यह शुक्ला नवमी को नहीं पड़ सकता, किन्तु उस दिन मघा नक्षत्र पड़ेगा, जब अमावस्या को पूर्वभाद्र पद हो, तब नवमी को पुनर्वसु पड़े, पर इसमें अमावस्या के पूर्वभाद्र पद से मेष का सूर्य नहीं हो सकता था। हो सकता है कि श्रीरामजी के जन्म के समय में ग्रहों का संपात कुछ और भाँति का रहा हो और उस हिसाब से उस समय इसकी संगति लग जाती हो। कालक्रम से ग्रह-संपात में तो परिवर्त्तन होता ही रहता है।

'मरम न जानइ कोइ'—इस असामञ्जस्य को सामञ्जस्य कर देने के मर्म को कोई न जान पाया। वही जान सकता है जिसे भगवान् स्वयं जना दें। श्रीगोस्वामीजी ने प्रथम 'सकल भये अनुकूल' ही कहकर छोड़ दिया था कि सर्व शक्तिमान् परमात्मा के लिये यह करना युक्त ही है। जन्म होते ही पहले सूतिका-गृह से आनन्द उमड़ा। पहले उसने राजा को डुबाया, फिर नगर को और इस प्रकार सारे संसार को आप्लावित करता हुआ सौरमंडल पर्यन्त को डुबा दिया जिससे इस रहस्य को कोई नहीं जान सका। यह आनन्द भी उस आनन्दसिन्धु का 'सीकर' मात्र है। दो० १९६ की ५-६ चौ० देखिये।

(ख) सूर्य के रुक जाने का हाल जानना असंभव है, इसीसे 'मरम न जानइ कोइ' कहा गया है। 'पतग' अर्थात् 'पतन् सन् गच्छतीति पतग' वह गिरने वा अस्त होने के लिये चलता है। आनन्द में वह अपना अस्त होना ही भूल गया। साथ ही सारा ब्रह्माण्ड आनन्द में डूब रहा, किसी को कुछ मर्म नहीं जान पड़ा।

यह रहस्य काहू नहिं जाना। दिनमनि चले करत गुनगाना ॥१॥
देखि महोत्सव सुर मुनि नागा। चले भवन बरनत निज भागा ॥२॥
औरउ एक कहउँ निज चोरी। सुनु गिरिजा अति दृढ़ मति तोरी ॥३॥
काकभुसुंडि संग हम दोऊ। मनुजरूप जानइ नहिं कोऊ ॥४॥
परमानंद प्रेम - सुख - फूले। बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले ॥५॥
यह सुभ चरित जान पै सोई। कृपा राम कै जापर होई ॥६॥

शब्दार्थ—रहस्य = गुप्तचरित, गुप्त-भेद। दिनमनि = सूर्य। बीथिन्ह = गलियों में।

अर्थ—यह गुप्त चरित किसी ने नहीं जाना, सूर्य गुणगान करते हुए चले ॥१॥ देवता, मुनि और

नाग लोग महोत्सव देखकर अपना भाग्य सराहते हुए अपने-अपने लोकों को गये ॥२॥ हे गिरिजे! तुम्हारी बुद्धि अत्यन्त दृढ़ है, इससे मैं एक और भी अपनी चोरी (गुप्त रहस्य) तुमसे कहता हूँ, सुनो ॥३॥ काकभुशुंडीजी और मैं—दोनों साथ-साथ मनुष्य-रूप से, जिसमें कोई न जाने ॥४॥ परमानन्द प्रेम के सुख में फूले, गलियों में निमग्न मन से अपनपौ भूले हुए फिरते थे ॥५॥ यह माङ्गलिक चरित वही जान सकता है, जिसपर श्रीरामजी की कृपा हो ॥६॥

विशेष—(१) 'औरउ एक कहउँ'''—पहले सूर्य की 'निज चोरी' कही। समय सूर्य का ही अंग है, उसकी चोरी उन्होंने की और उत्सव में सम्मिलित हुए, वे श्रीरामजी के माधुर्य में पुरुषा हैं। जब उन्होंने चोरी का मार्ग खोल दिया, तब मैंने भी चोरी की। 'निज' अर्थात् अपने रूप की चोरी की कि छिप कर नर-वेष से गया। चोरी अर्थात् छिपाई हुई बात, जिसे अभी तक मैंने गुप्त रक्खा था। गिरिजा ने कहा था, कि—"जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई। सोउ दयालु राखेउ जनि गोई॥" (दो० ११०); उसका यह एक उत्तर है।

'सुनु गिरिजा'''—गिरि अचल होते हैं, वैसे ही तुम्हारी बुद्धि दृढ़ता में अचल है, यह मुझे विश्वास है, क्योंकि तुमने श्रीरामचरित के जानने में पूर्वजन्म से महान् प्रयास किया है तो प्राप्त करके अनधिकारी से नहीं कहोगी, उसमें भी गुप्त रहस्य को तो और भी गुप्त रक्खोगी।

(२) 'काकभुसुंडि संग हम'''—काकभुशुंडीजी ने शिवजी से ही चरित पाया है, इससे वे शिष्य हैं, शिष्य-भाव से साथ रहते भी हैं, यथा—'बूढ़ो बड़ो प्रमानिक ब्राह्मन संकर नाम सुहायो। सँग सिसु सिष्य'' " (गी० बा० १२)। अर्थात् शिवजी वृद्ध ब्राह्मण और भुशुंडीजी शिशु चेला-रूप से अयोध्या में आते हैं। दोनों ही बालरूप के नैष्ठिक हैं। किन्तु यहाँ काकभुशुंडीजी का नाम प्रथम देकर उन्हें प्रधानता दी है, क्योंकि जब-जब श्रीरामावतार होता है, वे यहाँ आते हैं और शिशु-लीला तक बराबर रहते हैं, यथा—"जन्म-महोत्सव देखउँ जाई। बरष पाँच तहँ रहउँ लुभाई॥" (उ० दो० ७४)। अतः, चरित के और गलियों के भेदी हैं, उनके साथ रहने से उत्सव का आनन्द अधिक मिलता था। पुनः शिवजी ने यह भी कहा है कि मैंने काकभुशुंडीजी से सुनकर यह कथा कही है, यथा—"उमा कहेउँ सब कथा सुहाई। जो भुसुंडि खगपतिहि सुनाई॥" (उ० दो० ५१)। अतः, उन्हें सम्मान दिया, यह शिवजी की साधुता है, यथा—"सबहि मानप्रद आप अमानी।" (उ० दो० ३७)।

'मनुज रूप जानइ नहिं कोऊ।'—मनुष्य-रूप धरे हुए हैं कि कोई जाने नहीं कि शिवजी हैं, नहीं तो श्रीरामजी का ऐश्वर्य खुल जाने से ब्रह्मा का वचन झूठा होगा। यथा—"गुपुत रूप अवतरेउ प्रभु, गये जान सब कोइ।" रावन मरन मनुज कर जाँचा। प्रभु बिधि-बचन कीन्ह चह साँचा॥" (दो० ४८) मनुष्य रूप से सूतिका-गृह तक पहुँचने की भी आशा है और समाज के अनुकूल रूप से ही उसका यथार्थ आनन्द मिलता है।

(३) 'मोधिन्ह फिरहिं'''—मन का स्वभाव चपल है, वह प्रेम के कारण विस्मृत हो गया, इधर-उधर का ज्ञान भी नहीं रह गया। जिधर पाया, उधर ही घूम पड़े, गलियों में सर्वत्र पुरवासिनी स्त्रियाँ और राजमहल की भी दासियाँ परस्पर शिशु के गुण का अनुकथन (बातचीत) करती हैं, उसके सुनने का आनन्द मिलता है।

तेहि अवसर जो जेहि बिधि आवा। दीन्ह भूप जो जेहि मन भावा॥७॥
गज रथ तुरग हेम गो हीरा। दीन्हे नृप नाना बिधि चीरा॥८॥

दोहा—मन संतोष सबन्हि के, जहँ तहँ देहिं असीस।
सकल तनय चिरजीवहु, तुलसीदास के ईस ॥१६६॥

अर्थ—उस समय जो जिस प्रकार आया, जो जिसके मन में रुचा, राजा ने उसे वही दिया ॥७॥ हाथी, रथ, घोड़े, सोना, गाय, हीरा और अनेक प्रकार के वस्त्र राजा ने दिये ॥८॥ सबके मन में संतोष है, जो जहाँ हैं, वहीं आशीष देते हैं कि तुलसीदासजी के स्वामी सब (चारो) पुत्र चिरजीव हों अर्थात् बहुत काल जियें ॥१६६॥

विशेष—(१) 'जो जेहि विधि आया'—जैसे देवता याचक बनकर, वेद भाट बनकर, इत्यादि। 'गज रथ तुरग हेम गो हीरा'—इसमें 'रथ' को 'गज' और 'तुरग' के बीच में लिखकर सूचित किया कि गजरथ और अश्वरथ—हाथी-घोड़े जुते हुए दिये। पृथक् भी हाथी-घोड़े दिये। इसी तरह 'हेम' और 'हीरा' के बीच में 'गो' शब्द देकर गायों को अलंकृत करके देना सूचित किया। यथा—"सब विधि सकल अलंकृत कीन्हीं। मुदित महिप महिदेवन्ह दीन्हीं॥" (दो० ३३०)। और सोना, हीरा पृथक्-पृथक् भी दिये गये।

(२) 'मन संतोष सबन्हि के···'—सबको मनोवांछित मिला; इससे संतोष हुआ, अतः, आशीष बहुत प्रकार से देते हैं, यथा—"असही दुसही मरहु मनहिं मन बैरिन्ह बढ़हु बिषाद। नृप-सुत चारि चारु चिरजीवहु संकर-गौरि-प्रसाद॥" (गी० बा० १)।

'तुलसिदास के ईस'—(क) सबको सब कुछ मिला, कवि भी अपने लिये कुछ माँगते हैं। वह यह कि आपके चारो पुत्र मुझे अपना दास बना लें। सबके साथ स्वयं भी आशीर्वाद देते हैं।

(ख) इस समय के याचकों एवं पुरवासियों के मुख से भविष्यकालीन दासत्व का निश्चय करा लेना साहित्य-रीति से 'भाविक' अलंकार है।

कछुक दिवस बीते येहि भाँती। जात न जानिय दिन अरु राती ॥१॥
नामकरन कर अवसर जानी। भूप बोलि पठये मुनि ज्ञानी ॥२॥
करि पूजा भूपति अस भाखा। धरिय नाम जो मुनि गुनि राखा ॥३॥
इन्हके नाम अनेक अनूपा। मैं नृप कहब स्वमति अनुरूपा ॥४॥

अर्थ—कुछ दिन इस तरह बीत गये, दिन-रात जाते न जान पड़े ॥१॥ नामकरण का अवसर (दिन) जानकर राजा ने ज्ञानी मुनि (वसिष्ठजी) को बुला भेजा ॥२॥ उनकी पूजा करके राजा ने ऐसा कहा—हे मुनि! जो नाम आपने विचार रक्खे हैं, उन्हें ही धरिये ॥३॥ (वसिष्ठजी ने कहा) हे राजन्! इनके नाम बहुत और अनुपम हैं, मैं अपनी बुद्धि के अनुसार कहूँगा ॥४॥

विशेष—(१) 'कछुक दिवस बीते···'—आनंदोत्सव में ११ दिन बीत गये, क्योंकि नामकरण बारहवें दिन होता है। नामकरण के विधान गी० बा० ६ में विस्तार से कहे गये हैं। यह पाँचवाँ संस्कार है। सुख के दिन पल के समान बीत जाते हैं। अतः, जान न पड़े।

(२) 'मुनि ज्ञानी'—और संस्कारों में इतने विचार की आवश्यकता नहीं, पर इसमें ज्योतिष का ज्ञान चाहिये और यहाँ तो श्रीरामजी का यथार्थ स्वरूप जानकर तदनुसार ही नाम रखना है, इसलिये 'ज्ञानी'

कहा है। 'मुनि राखा'— क्योंकि विचार का काम शीघ्रता में ठीक नहीं होता। अतः, मुनि ने प्रथम ही विचार रक्खा है, उन्हें तो जाना हुआ था ही कि अमुक दिन नामकरण होगा।

(३) 'इन्ह के नाम अनेक'''—अर्थात् ऐश्वर्य की दृष्टि से जगत् ही श्रीरामजी का शरीर है, तो सब चराचर की संज्ञाएँ आपही के नाम हैं, यथा—"सर्ववाच्यस्य वाचकः" (रा० पू० ता० १।१२); तथा—"विश्वरूपस्य ते राम विश्वे शब्दाहि वाचकाः।" यह स्मृति है। फिर भी श्रीरामनाम आपके साक्षात् सच्चिदानंद-स्वरूप का वाचक है, उसे ही गुरुजी अपनी बुद्धि के अनुसार कहेंगे।

जो आनंदसिंधु सुखरासी। सीकर ते त्रैलोक सुपासी ॥५॥
सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा ॥६॥
बिश्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई ॥७॥
जाके सुमिरन ते रिपु-नासा। नाम सत्रुहन बेद प्रकासा ॥८॥

दोहा—लच्छनधाम रामप्रिय, सकल - जगत - आधार।
गुरु बसिष्ठ तेहि राखा, लछिमन नाम उदार ॥१९७॥

शब्दार्थ—सीकर (शीकर)=बूँद का कणमात्र। सुपासी=सुखी। अखिल=निःशेष, सम्पूर्ण। भरन (भरण)=पालन। पोषन (पोषण)—बढ़ाना, पालन करके बढ़ाना एवं पुष्ट करना।

अर्थ—जो आनन्द के समुद्र और सुख की राशि हैं, जिसके कण-मात्र से तीनों लोक सुखी होते हैं ॥५॥ उन सुखस्थान का 'राम' ऐसा नाम है जो सम्पूर्ण लोकों को विश्राम देनेवाले हैं ॥६॥ जो जगत्-भर का पालन-पोषण करते हैं, उनका 'भरत' ऐसा नाम होगा ॥७॥ जिनके स्मरण से शत्रु का नाश होता है, उनका नाम 'शत्रुहन (शत्रुघ्न)' वेदों में विदित है ॥८॥ जो सुलक्षणों के स्थान श्रीरामजी के प्यारे और सारे जगत् के आधार-भूत हैं, उनका गुरु वसिष्ठ ने 'लक्ष्मण'—यह श्रेष्ठ नाम रक्खा ॥१९७॥

विशेष—(१) 'आनंदसिंधु'—जैसे जल का अधिष्ठान समुद्र है, वैसे ही भगवान् आनंद के अधिष्ठान हैं, यथा—"सुभ को सुभ मोद मोद को राम नाम सुनायो॥ आलवाल कल कौसिला दल बरन सोहायो। कंद सकल आनंद को जनु अंकुरि आयो॥" (गी० बा० ६); "आनँदसिंधु मध्य तव वासा।" (वि० १३६); "सत-चेतन-घन-आनँद रासी। (दो० २२)।

'सीकर ते त्रयलोक'''—"जो सुख सिंधु सकृत सीकर ते सिव बिरंचि प्रभुताई॥" (गी० बा० १)।

यहाँ सुखवाचक शब्द तीन बार आये हैं। ये तीन प्रकार के अधिकारियों की दृष्टि से कहे जाते हैं, जैसे ज्ञानी आनंद के प्यासे रहते हैं उनके लिये रामजी आनंद के समुद्र हैं। राशि दाने की ढेरी को कहते हैं, वैसे कर्मकांडी के लिये विविध सुखों की राशि हैं। उपासक प्रभु के सुखमय धाम की प्राप्ति चाहते हैं, यथा—"सुख्य रुचि होति बसिबे को पुर रावरे।" (वि० २१०)। पुनः वे भगवान् के विग्रह (देह) को ही सुख का स्थान मानते हैं, उनके लिये 'सुखधाम' है।

चारों भाइयों के नाम जगत् के हितसूचक हैं, यथा—'अखिल-लोकदायक बिश्रामा' 'बिश्वभरन पोषन कर' 'सुमिरन ते रिपु-नासा' और 'सकल जगत आधार' इन चारों विशेषणों से स्पष्ट हैं।

नामों के क्रम—नामकरण ऐश्वर्य-दृष्टि से हुआ है, इसीलिये उपक्रम में ही वसिष्ठजी को 'मुनि ज्ञानी' कहा है और उपसंहार में 'वेदतत्त्व'। वेद की मांडूक्योपनिषद् में ॐकार की व्याख्या करते हुए, अ, उ, म् और अर्द्धमात्रा में चार अवस्थाएँ और उनके प्रकाशक आत्मा का नाम कहा है, वैसे श्रीरामतापनीय उ० में भी अ, उ, म् और अर्द्धमात्रा में क्रमशः लक्ष्मण, शत्रुघ्न, भरत और श्रीरामजी की व्याख्या की गई है, यथा—"अकाराक्षरसम्भूतः सौमित्रिर्विश्वभावनः। उकाराक्षरसंभूतः शत्रुघ्नस्तैजसात्मकः॥ प्राज्ञात्माकस्तु भरतो मकराक्षरसम्भवः। अर्द्धमात्रात्मको रामो ब्रह्मानंदैकविग्रहः॥" (रा० उ० ता० ३।१-२)।

श्रीवसिष्ठजी ने उपनिषद् की रीति से नामकरण किया है। भेद केवल इतना ही है कि इन्होंने पूर्ण ब्रह्म से प्रारंभ किया है, अंशों से नहीं। यहाँ ऐश्वर्य का प्रसंग है। अतः, माधुर्य की छोटाई-बड़ाई के विचार का प्रयोजन नहीं है। लक्ष्मणजी से पहले शत्रुघ्नजी का नामकरण होना इसी दृष्टि से है।

धरे नाम गुरु हृदय. बिचारी। बेदतत्त्व नृप तव सुत चारी॥१॥
मुनिधन जन-सरबस सिव-प्राना। बाल-केलि-रस तेहिं सुख माना॥२॥
बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम-चरन-रति मानी॥३॥
भरत सत्रुहन दूनउ भाई। प्रभुसेवक जसि प्रीति बड़ाई॥४॥
स्याम गौर सुंदर दोउ जोरी। निरखहिं छबि जननी तृन तोरी॥५॥

शब्दार्थ—बेदतत्व=प्रणव, ॐकार, वेद के सर्वस्व। बारे=बालपन। मानी=माननेवाले। रति मानी=प्रीति माननेवाले। तृन तोरी=तृण तोड़ना—मुहावरा है; सुन्दर वस्तु को देखकर दृष्टि-दोष बचाने के लिये तृण तोड़ा जाता है कि नजर तृण ही पर पड़े, यथा—"सुंदर तन सिसु-बसन-बिभूषन नखसिख निरखि निरैया। दलि तृन, प्रान निछावरि करि-करि लेइहैं मातु बलैया।" (गी० बा० १)।

अर्थ—गुरुजी ने हृदय में विचार कर नामकरण किया (नाम रक्खा)। (और कहा)—राजन्! तुम्हारे चारों पुत्र वेद के तत्त्व हैं॥१॥ जो मुनियों के धन, भक्तों के सर्वस्व और शिवजी के प्राण हैं, उन्होंने बाल क्रीड़ा के रस में सुख मान लिया है॥२॥ बालपन ही से अपना हितैषी और स्वामी जानकर लक्ष्मणजी ने श्रीरामजी के चरणों में प्रीति मानी है (या प्रीति के मानी अर्थात् दृढ़प्रतिज्ञ हुए हैं)॥३॥ भरत-शत्रुघ्न दोनों भाइयों ने स्वामी-सेवक की सी प्रीति बढ़ाई अर्थात् भरत में स्वामित्व और शत्रुघ्न में दासत्व प्रीति, एक दूसरे के प्रति अनुदिन बढ़ने लगी॥४॥ दोनों श्याम-गौर जोड़ियाँ सुन्दर हैं, माताएँ उनकी छवि को तृण तोड़-तोड़कर देखती हैं॥५॥

विशेष—(१) 'धरे नाम गुरु...'-यह उपसंहार है, इसका उपक्रम-'धरिय नाम जो मुनि गुनि...' में है। 'बेदतत्त्व नृप...'—यह पार्वतीजी के—"पुनि प्रभु कहहु सो तत्त्व बखानी। जेहिं बिज्ञान मगन मुनि ग्यानी॥" (दो० ११०) इस प्रश्न का उत्तर है। वेदतत्त्व के प्रमाण ऊपर नामकरण में हैं। 'मुनि धन जन सरबस...'—यहाँ तीन के लिये उत्तरोत्तर अधिक प्रेमबोधक विशेषण दिये गये हैं—धन से सर्वस्व और उससे प्राण अधिक हैं, यथा—"माँगहु भूमि धेनु धन कोसा। सरबस देउँ आजु सहरोसा॥ देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं॥" (दो० २०७); अर्थात् मुनि से जन (भक्त) और जन से शिवजी का प्रेम अधिक है, शिवजी से भी अधिक अवधवासियों का प्रेम है, जिनके लिये आप

बाल-केलि कर रहे हैं, यथा—"प्रानहुँ ते प्रिय लागहिं, सबकहँ राम कृपाल ॥" (दो० २०४); "जेहि सुख लागि पुरारि, असुभ बेष कृत सिव सुखद। अवधपुरी नरनारि, तेहि सुख महँ संतत मगन॥" (उ० दो० ८८)।

(२) 'मुनि धन', यथा—"लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।" (उ० दो० १३१); "जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई।" (लं० दो० १०१); अर्थात् मुनिलोग नित्य प्रेम धन बढ़ाते हैं, मृत्यु के समय भी श्रीराम रूपी धन में ही चित्त रहता है। 'जन-सरबस' यथा—"जहँ लगि जगत सनेह सगाई।...मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी।" (अ० दो० ७१); "स्वामि सखा पितु मातु गुरु, जिन्ह के सब तुम्ह तात।" (अ० दो० १३०); "त्वमेव सर्वं मम देवदेव" (पांडवगीता)। क० उ० ३६ और ११० भी देखिये।

(३) 'बारेहि ते निज हित...भरत सत्रुहन'—पूर्व कहा गया था—"कौसल्या कैकई हाथ धरि। दीन्ह सुमित्रहि..." (दो० १८९); उसका अभिप्राय यहाँ खुला कि कौशल्याजी के हाथ से दिये हुए पायस से लक्ष्मणजी हुए, अतः, वे कौशल्या-पुत्र के प्रीति-पूर्वक अनुगामी हुए और कैकयीजी के हाथ के पायस-सम्बन्ध से शत्रुघ्नजी उनके पुत्र भरतजी के सप्रेम अनुगामी हुए। इन दोनों जोड़ियों की यह प्रीति जन्म-भर एकरस निबही, यह चरित में प्रसिद्ध है।

(४) 'स्याम गौर सुंदर ...'—श्रीराम-लक्ष्मण श्याम-गौर की एक जोड़ी, वैसे ही भरत-शत्रुघ्न की दूसरी जोड़ी। पुन, श्रीराम-भरत श्याम की एक जोड़ी और लक्ष्मण-शत्रुघ्न गौर की दूसरी जोड़ी हैं।

चारिउ सील-रूप-गुन-धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा॥६॥
हृदय अनुग्रह-इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥७॥
कबहुँ उछंग कबहुँ बर पलना। मातु दुलारइ कहि प्रिय ललना॥८॥

दोहा—ब्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुन बिगत-बिनोद।
सो अज प्रेम-भगति-बस, कौसल्या के गोद॥१९८॥

शब्दार्थ—सील (शील) = सद्वृत्ति और संकोच; सद्वृत्ति, यथा—"हीनैर्दीनैर्मलीनैश्च बीभत्सैः कुत्सितैरपि। महतोऽच्छिद्र संश्लेषं सौशील्यं विदुरीश्वराः॥" (श्रीभगवद्गुणदर्पण); उदाहरण—"प्रभु तरु तर कपि डार पर, ते किय आपु समान॥ तुलसी कहूँ न राम से, साहिब सीलनिधान॥" (दो० २९); संकोच का स्वभाव, यथा—"सील सराहि सभा सब सोची। कहुँ न राम सम स्वामि सँकोची॥" (अ० दो० ३१२)। रूप = शरीर की उत्तम रचना और वर्ण, सौन्दर्य, यथा—"रूपसंहननं लक्ष्मीं सौकुमार्यं सुवेषताम्। ददृशुर्विस्मिताकारा रामस्य वनवासिनः॥" (वाल्मी० आ० स० १।१३)। पलना = (सं० पल्यंक) खटोले के आकार का झूला, देखिये गी० बा० १२। दुलारहिं = लाड़-प्यार की वे चेष्टाएँ जो बच्चों को प्रसन्न करने के लिये प्रेम से की जाती हैं। ललना = बच्चों के प्यार का नाम। यथा—"ललन लोने लैरुआ बलि मैया।" (गी० बा० १७)।

अर्थ—चारो भाई शील, रूप और गुणों के धाम हैं, तो भी सुख के समुद्र श्रीरामजी अधिक हैं॥६॥ हृदय में कृपारूपी चन्द्रमा प्रकाशित है, मनोहर हँसी (चन्द्र) किरणों को सूचित करती है॥७॥ कभी गोद में, कभी उत्तम पालने में माताएँ प्यारे-लालन (आदि नाम) कह-कहकर उनका दुलार करती हैं॥८॥ जो ब्रह्म व्यापक, निर्दोष एवं मायामुक्त, तीनों गुणों से परे, क्रीड़ारहित और अजन्मा है, वही प्रेम एवं भक्ति (वा प्रेमाभक्ति) के वश कौशल्याजी के गोद में है॥१९८॥

विशेष—(१) 'चारित सील रूप गुन···' यथा—"यद्यपि बुधि, बय, रूप, सील, गुन समै चारु चारयो भाई। तदपि लोक-लोचन-चकोर-ससि राम-भगत-सुखदाई ॥" (गी० बा० १२)। इस पूरे पद में श्रीरामजी के गुणों का सुन्दर वर्णन है।

(२) 'अनुग्रह इंदु···हासा' यथा— "कृपा सों हेरत हँसि तुलसी की ओर हैं।" (गी० बा० ७१)। इस हास से भव-ताप हरते हैं, यथा—"जिय की जरनि हरत हँसि हेरत।" (अ० दो० २३८)।

(३) 'कबहुँ बर पलना'—इसमें सूक्ष्म रीति से दोलारोहण-उत्सव, जनाया है, इसका विस्तार गी० बा० १५, १९ और २० वें पदों में है। इस उत्सव में पालने पर शृंगार करके बच्चे को लिटाकर गाते हैं।

(४) 'व्यापक ब्रह्म निरंजन···'—इस दोहे में 'सूर्यावलोकन (सूर्य-दर्शन कराने का) उत्सव' सूचित किया गया है। कौशल्याजी बच्चे को शृंगार करके गोद में लेकर बाहर आँगन में निकलती हैं। अब सब के देखने में आये। इसी से आगे सर्वांग माधुरी कहते हुए गोद का ध्यान दिखाया है।

'ब्रह्म' अर्थात् बृहत् से छोटे हुए। 'व्यापक' हैं, वे ही एक जगह कौशल्या की गोद में हैं। 'निरंजन' माया से निर्लिप्त हैं, वे ही मायिक (माया से निर्मित) भूमि पर लीला करते हैं। 'निर्गुण' हैं, फिर भी गुण धारण किया है। 'विगत विनोद' हैं, फिर भी बालक्रीड़ा करते हैं। 'अज' हैं, फिर भी जन्म लिया। क्यों ?

दशरथ-कौशल्याजी ने पूर्व मनु-शतरूपा-शरीर में प्रेम एवं अनन्य भक्ति से ब्रह्म को वश में कर लिया है, उन्हींके कारण भगवान् ये लीलाएँ करते हैं। यथा—"देखि प्रीति सुनि बचन अमोले। एवमस्तु करुनानिधि बोले॥ · नृप तव तनय होब मैं आई।" (दो० १५१); "दंपति उर धरि भगति कृपाला।" (दो० १५१)। · यहाँ अति माधुर्य लीला जानकर ग्रंथकार ने ऐश्वर्य भी कहा कि जिससे किसीको मोह न हो।

काम-कोटि-छबि स्याम सरीरा। नील-कंज बारिद-गंभीरा ॥१॥
अरुन-चरन-पंकज-नखजोती। कमलदलन्हि बैठे जनु मोती ॥२॥
रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहे। नूपुर-धुनि सुनि मुनिमन मोहे ॥३॥
कटि-किंकिनी उदर त्रय रेखा। नाभि गँभीर जान जिहिं देखा ॥४॥

अर्थ—नीलकमल और गंभीर (घने) मेघों के समान श्याम शरीर में करोड़ों कामदेवों की छवि (प्रभा-शोभा) है ॥१॥ लाल लाल चरणकमलों के नखों की ज्योति (द्युति) ऐसी है, मानों कमल के दलों पर मोती बैठे हैं ॥२॥ वज्र, ध्वजा और अंकुश के चिन्ह सोहते हैं, नूपुर (पैंजनी) के शब्द सुनकर मुनियों के मन मोहित हो जाते हैं ॥३॥ कमर में किंकिणी (करधनी), पेट पर त्रिवली (रेखा) और नाभि गहरी है, जिन्होंने (इस छवि को) देखा है, वे ही जानते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'काम कोटि छबि स्याम ···'—यहाँ श्यामता के लिये कमल और मेघ—दो ही की उपमा दी। मनु के प्रसंग में उपमा के लिये 'मनि' शब्द भी कहा था, क्योंकि वहाँ किशोर अवस्था से प्रभु प्रकट हुए थे। यहाँ शिशु-रूप में अत्यन्त कोमल हैं। मणि को कठोर एवं पुष्ट जानकर उससे उपमा नहीं दी। ब्रह्मांड-भर को सौन्दर्य से मोहने के लिये एक काम ही बहुत है और यहाँ करोड़ों कामों की छवि एकत्र है, तो कौन नहीं मोहेगा ?

(२) 'नख जोती···जनु मोती'—नखों में ललाई झलक रही है। उसे उत्प्रेक्षा से लक्ष्य

कराया कि मानों कमल के दलों पर मोती बैठे हों। कमल दल पर मोती रुक नहीं सकते; इसीसे बैठे हुए मोती कहे गये हैं। मोती अपने स्वच्छ वर्ण को छोड़कर कमल की ललाई ग्रहण करते हैं, वैसे तलवों की ललाई नखों में आ गई है। (तद्गुण अलंकार)

(३) 'रेख कुलिस ध्वज···'— श्रीरामजी के चरणों में ४८ (प्रत्येक चरण में २४+२४) चिन्ह कहे गये हैं, उनमें विशेष प्रयोजनीय चार ही चिन्हों को ग्रंथकार ने जहाँ-तहाँ कहा है। इन चार में भी यहाँ 'कमल' चिन्ह नहीं कहा। इनका महत्त्व ; यथा—"अंकुस मन गज बस कारी।" (वि० ६१) ; तथा—"मन ही मतंग मतवारो हाथ आवै नाहिं, ताके लिये अंकुश लै धारयो हिये ध्याइये। ऐसे ही कुलिश पाप पर्वत के फोरिबे को, भक्ति-निधि जोरिबे को कंज मन लाइये।" "छिनं में सभीत होत कलि की कुचाल देखि ध्वजा सों विशेष जानो अभय को विश्वास है।" (भक्तमाल टीका—भक्ति रस बोधनी)।

'मुनि-मन मोहै'—मुनियों के मन प्राकृत विषयों में मुग्ध नहीं होते। अतः, ये शब्द अप्राकृत हैं।

(४) 'कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा।—'त्रयरेखा' दो० १४७ देखिये। 'जान जिन्ह देखा'—यहाँ ब्रह्माजी पर लक्ष्य है। "भगवान् ने सृष्टि की इच्छा से जल पैदा किया, उसमें वे चतुर्भुज-रूप से शयन करने लगे। उनकी नाभी से कमल हुआ, उससे ब्रह्माजी हुए। ब्रह्माजी ने इधर-उधर कुछ न देखकर कमल के आधार का पता लगाने के लिये कमल-नाल में प्रवेश किया। सौ वर्षों तक प्रयास किया, पर पता न लगा; तब समाधिस्थ हो गये। सौ वर्षों के बाद भगवान् के दर्शन हुए" (भाग० स्कं० ३ अ० ८) अर्थात् उस गहराई का पता ब्रह्माजी भी नहीं पा सके तो और कौन पा सकता है?

> भुज बिसाल भूषनजुत भूरी। हिय हरिनख सोभा अति रूरी ॥५॥
> उर मनिहार पदिक की सोभा। बिप्रचरन देखत मन लोभा ॥६॥
> कंबु कंठ अति चिबुक सुहाई। आनन अमित-मदन-छबि छाई ॥७॥
> दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे। नासा तिलक को बरनइ पारे ॥८॥

शब्दार्थ—हरिनख=बघनखा ; यथा—"कंठा कंठ बघनहा नीके।" (गी० बा० २८) ; यह बच्चों को पहनाया जाता है कि वे डरें नहीं और वीर भी हों। भूरी=बहुत। रूरी=निराली, सुन्दर। पारे=पार पा सके।

अर्थ—लंबी भुजाएँ (घुटनों तक लंबी=आजानुबाहु) बहुत आभूषणों से युक्त हैं, हृदय पर बघनहे की शोभा अत्यन्त निराली है ॥५॥ छाती पर पदिक-सहित मणियों का हार सुशोभित है और भृगुपद देखते ही मन लुभा जाता है ॥६॥ कंठ शंख के समान (चढ़ा-उतार त्रिरेखायुक्त) और ठोढ़ी बहुत ही सुहावनी है, मुख पर तो असंख्य कामदेवों की छवि छा रही है ॥७॥ दो (ऊपर-नीचे) दाँत, लाल ओष्ट, नासिका और तिलक का वर्णन करने में कौन पार पा सकता है? ॥८॥

विशेष—(१) 'बिप्र-चरन देखत मन लोभा।'— यह भगवान् की क्षमाशीलता और हृदय की कोमलता का सूचक है, यथा—"उर बिसाल भृगु-चरन चारु अति सूचत कोमलताई।" (वि० ६२)। श्रीमद्भागवत स्कंध १०, अ० ८९ में कथा है कि एक समय सरस्वती नदी के तट पर उपस्थित ऋषियों में विचार होने लगा कि त्रिदेवों में श्रेष्ठ कौन हैं? सबने ब्रह्माजी के पुत्र महर्षि भृगु को परीक्षा के लिये भेजा। वे प्रथम ब्रह्मलोक गये, परीक्षा के लिये पिता को प्रणाम-स्तुति कुछ न किया, इसपर ब्रह्मा को क्रोध आ गया। फिर मुनि कैलाश गये। शिवजी भाई से मिलने के लिये प्रेम से उठे, तब इन्होंने कहा कि तुम कुमार्गगामी हो, मैं तुमसे नहीं मिलना चाहता। ऐसे तिरस्कार पर शिवजी को अत्यंत क्रोध हुआ, उनपर त्रिशूल उठाया। श्रीउमाजी

ने उनको शान्त किया। तब मुनि वैकुंठ पहुँचे, भगवान् को लक्ष्मीजी की गोद में शिर रक्खे हुए शयन करते देख उनकी छाती में एक लात मारी। भगवान् शीघ्र उठ मुनि को प्रणाम कर मृदु वाणी से अपराध क्षमा कराने लगे और मुनि के चरण सहलाने लगे। पुनः कहा कि आपके कोमल चरणों में मेरी कठोर छाती से चोट लग गई होगी। इन तीर्थों को भी पवित्र करनेवाले चरणों का चरणामृत दीजिये, मैं इस चरण-चिन्ह को सदा भूषण के समान धारण करूँगा। मुनि का हृदय प्रेम से भर आया, आँसू चलने लगे; कंठ गद्‌गद होने से कुछ कह न सके। मुनि ने लौटकर ऋषि-समाज में हाल कहा और निश्चित करके सब उन्हीं सत्त्व रूप का भजन करने लगे।

'मन लोभा'—भगवान् की भक्तवत्सलता और क्षमाशीलता पर मन मुग्ध होता है।

शंका—मनु-शतरूपा प्रसंग में श्रीरामजी का भृगुपद चिन्ह नहीं कहा गया, फिर उन्हीं के लीला-विग्रह में यहाँ क्यों आया?

समाधान—(क) पूर्व कहा गया कि भगवान् श्रीरामजी से विष्णु-नारायण का तत्त्वतः एवं गुणतः अभेद है। अवतार गुण प्रकट करने के लिये होते हैं। अत', विष्णु भगवान् के संबंध के गुण भी श्रीरामजी ने अपने में दिखाये, जैसे वृन्दा का शाप विष्णु भगवान् को ही हुआ था, पर श्रीराम, नृसिंह आदि सभी रूपों ने शालग्राम होना स्वीकार किया है। (ख) मिथिला प्रान्त के नगाही के परमहंस १०८ श्रीस्वामी रामशरणजी महाराज कहते थे कि श्रीगोस्वामीजी का मानस उनके और ग्रंथों से निराला है। उसमें तीन ही जगह विप्र-चरण की चर्चा है। १– यहाँ, २—'उर धरासुर-पद लस्यो' (लं० दो० ८६); ३—'विप्रपादाब्ज-चिन्हम्' (उ० मं०)। तीनों जगह भृगु का नाम नहीं है। अत', यह विप्रचरण श्रीवसिष्ठजी का चरण-चिन्ह है। गी० बा० १२ वें पद के अनुसार झड़वाने के पीछे कौशल्याजी ने प्रार्थना की कि बच्चे के वक्ष स्थल पर आप अपना चरण रख दें जिससे यह कभी डरे एवं चौंके नहीं। गुरुजी ने वैसा ही किया, वही चिन्ह है। श्रीपरमहंसजी श्रीरामजी की रूपनिष्ठा की अनन्यता में प्रसिद्ध थे।

(२) 'आनन अमित मदन-छवि ··'—ऊपर सर्वांग के लिये 'कोटिकाम' की उपमा दी थी, मुख की शोभा अन्य अंगों से अधिक देखकर 'अमित' विशेषण दिया। 'तिलक' आदि दो० १४६ में देखिये।

सुंदर श्रवन सुचारु कपोला। अति प्रिय मधुर तोतरे बोला ॥९॥
चिक्कन कच कुंचित गभुआरे। बहु प्रकार रचि मातु सँवारे ॥१०॥
पीत झँगुलिया तनु पहिराई। जानु-पानि बिचरनि मोहि भाई ॥११॥
रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा। सो जानइ सपनेहुँ जेहि देखा ॥१२॥

दोहा—सुखसंदोह मोहपर, ज्ञान - गिरा - गोतीत।
दंपति परम प्रेमबस, कर सिसुचरित पुनीत ॥१९९॥

शब्दार्थ—गभुआरे = गर्भवाले (बाल) जो जन्म से ही रक्खे हैं। झँगुलिया = अंगा, ढीला कुरता (बच्चों का)। जानु पानि = बकैयाँ, हाथ और घुटने के बल से। संदोह = समूह, झुण्ड।

अर्थ—सुन्दर कान और अत्यन्त सुन्दर गाल हैं, मीठी और तोतली बोली सुनने में अति प्रिय लगती है ॥९॥ चिकने और घुँघराले गभुआरे बालों को माता ने बहुत तरह रचकर सँवारा है ॥१०॥ पीली झँगुली

देह पर पहनाई हुई है, उनका घुटने के बल चलना मुझे बड़ा प्यारा लगता है ॥११॥ रूप का वर्णन तो वेद और शेष भी नहीं कर सकते। इसे वही जान सकता है जिसने स्वप्न में भी देखा हो ॥१२॥ सुख के समूह (आनन्दराशि), मोह से परे, ज्ञान-वाणी और इन्द्रियों से परे श्रीरामजी राजा-रानी के अत्यन्त श्रेष्ठ प्रेम के वश होकर पवित्र बाल-चरित कर रहे हैं ॥१६६॥

विशेष—(१) 'बहु प्रकार रचि···'—ऐंछकर—झाड़कर सँवारना, गूँथना और मढ़ना—आदि प्रकार से माता ने सँवारा है।

(२) 'जानुपानि बिचरनि'—इसमें सूक्ष्म रूप से 'भूमि-उपवेशन' (पृथ्वी पर बिठाने का) उत्सव कहते हैं कि सर्वांग शृंगार-सहित जरतार रेशमी पीत रंग की झँगुली श्याम शरीर में पहनाकर प्रथम-प्रथम भूमि पर आँगन में माता ने बिठाया। रामजी घुटनों के बल चलने लगे।

(३) 'दंपति परम···'—पूर्व 'कौसल्या की गोद' कहा था, अब आँगन में 'जानुपानि' कहा। तब पिता भी गोद में लेने लगे। अतः, यहाँ 'दंपति परम प्रेम-बस' कहा गया है।

येहि बिधि राम जगत-पितु-माता। कोसलपुर-बासिन्ह सुखदाता ॥१॥
जिन्ह रघुनाथ - चरन - रति मानी। तिन्ह की यह गति प्रगट भवानी ॥२॥
रघुपति-बिमुख जतन कर कोरी। कवन सकइ भव-बंधन छोरी ॥३॥
जीव चराचर बस कै राखे। सो माया प्रभु सों भय भाखे ॥४॥
भृकुटि - बिलास नचावइ ताही। अस प्रभु छाड़ि भजिय कहु काही ॥५॥
मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई ॥६॥

शब्दार्थ—कोरी = करोड़ों या व्यर्थ। भय भाखे = बोलते डरती है। बिमुख = प्रतिकूल।

अर्थ—इस प्रकार जगत् के माता-पिता श्रीरामजी अवधपुरवासियों के सुख देनेवाले हैं ॥१॥ हे भवानी! जिन्होंने श्रीरामजी के चरणों की प्रेम-प्रतिज्ञा मानी है, उनकी यह दशा प्रसिद्ध है ॥२॥ श्रीरघुनाथजी से प्रतिकूल होकर करोड़ों उपाय करें, उनका भव-बंधन कौन छुड़ा सकता है? ॥३॥ जिस माया ने चराचर जीवों को वश में कर रक्खा है, वह भी प्रभु से बोलते डरती है ॥४॥ जो प्रभु उस (माया) को भौंह के इशारे से नचाते हैं, उन ऐसे प्रभु को छोड़कर कहो तो (भला), किसका भजन किया जाय? ॥५॥ मन, कर्म और वचन से चतुराई (चालाकी) छोड़कर भजन करते ही श्रीरघुनाथजी कृपा करेंगे ॥६॥

विशेष—(१) 'तिन्ह की यह गति प्रगट···'—पूर्व में मनु-शतरूपा ने अनन्य प्रेम की प्रतिज्ञा का निर्वाह किया है। उसका फल प्रभु उन्हें दे रहे हैं, यह प्रत्यक्ष है। ऐसे ही अवधपुरवासियों ने भी प्रेम-प्रण निबाहा है। अतः, उन्हें भी प्रत्यक्ष सुख दे रहे हैं। 'रघुपति' 'रघुराई' आदि माधुर्य नामों से सगुण रूप के ही प्रेम का उक्त फल जनाया है।

(२) 'येहि बिधि राम···कोसलपुर···'—रामजी प्रथम गोद में थे, तब केवल माता के आँगन में आने और 'जानुपानि' चलने में दंपती के और अब विचरने लगे तो पुरवासियों के भी सुखदाता कहे गये। क्रम से होते से 'येहि बिधि' कहा गया है।

(२) 'रघुपति-बिमुख जतन···'—अर्थात् बिना श्रीरामजी की भक्ति के मुक्ति नहीं हो सकती, यथा— "बिना भक्तिञ्च मुक्तिश्च भुजमुत्थाय चोच्यते। यूयं धन्या महाभागा येषां प्रीतिस्तु राघवे॥" (सत्योपाख्यान); "रघुपति-भगति बिना सुख नाहीं॥···" से—"बिनु-हरि-भजन न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल॥" (उ० दो० १२२) तक नौ असंभव दृष्टान्तों से 'अपेल' (अटल) सिद्धान्त किया गया है।

(३) 'भृकुटि-बिलास नचावइ' यथा—"सोइ प्रभु भ्रूबिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥" (उ० दो० ७१) अर्थात् चराचर को नचानेवाली माया प्रभु से डरती है तो उनके भजन से वह बाधा न कर सकेगी। यथा—"माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। · भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥···तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥" (उ० दो० ११५)।

(४) 'मन क्रम बचन छाड़ि···'—'चतुराई' अर्थात् उपायाभिमान। जब जीव सब प्रकार से अभिमान छोड़कर श्रीरामजी को ही एकमात्र उपाय बनाता है, तब वे कृपा करते हैं, यथा—"जिन्ह के हीं हित सब प्रकार चित नाहि न और उपाउ। तिनहिं लागि धरि देह करौं सब, डरौं न सुजस नसाउ॥" (गी० सुं० ४५); पर मन अपनी आदत नहीं छोड़ता, यथा—"नाम गरीबनेवाज को, राज देत जन जानि। तुलसी मन परिहरत नहिं, घुरबिनियों की बानि॥" (दोहावली १६); पूर्वोक्त—"मन बच क्रम बानी छाड़ि सयानी···" (दो० १८५) का विशेष भी देखिये।

येहि बिधि सिसुबिनोद प्रभु कीन्हा। सकल नगरबासिन्ह सुख दीन्हा॥७॥
लै उछंग कबहुँक हलरावै। कबहुँ पालने घालि झुलावै॥८॥

दोहा—प्रेममगन कौसल्या, निसि दिन जात न जान।
सुत-सनेह बस माता, बालचरित कर गान॥२००॥

अर्थ—इस तरह प्रभु ने बाल क्रीड़ा की और सब नगरवासियों को सुख दिया॥७॥ (माता) कभी गोद में लेकर हिलाती डोलाती हैं और कभी पालने में लिटाकर झुलाती हैं॥८॥ प्रेम में डूबी हुई कौशल्याजी रात-दिन को बीतते नहीं जानतीं। पुत्र के स्नेह-वश माता उनके बालचरित का गान किया करती हैं॥२००॥

विशेष—माता का बालचरित गाना गीतावली में देखने योग्य है, यथा—"होइहौ लाल कबहि बड़े बलि मैया।···" (बा० ८); "छोटी-छोटी गोड़ियाँ···चुटकी बजावति नचावति कौसिल्या माता, बालकेलि गावति···" (बा० ३०); "सुभग सेज सोभित···बाल-केलि गावति हलरावति···" (बा० ७); इत्यादि।

एक बार जननी अन्हवाये। करि सिंगार पलना पौढ़ाये॥१॥
निज - कुल - इष्टदेव भगवाना। पूजा - हेतु कीन्ह अस्नाना॥२॥
करि पूजा नैवेद्य चढ़ावा। आप गई जहँ पाक बनावा॥३॥
बहुरि मातु तहँवा चलि आई। भोजन करत देखि सुत जाई॥४॥

शब्दार्थ—नैवेद्य = वे भोजन आदि पदार्थ जो देवता को निवेदित किये जाने के लिये हों। पाक = पक्वान्न, रसोई।

अर्थ—एक बार माता ने बच्चे को नहलाकर शृंगार करके पालने पर लिटा दिया ॥१॥ फिर अपने कुल के इष्टदेव (भगवान् श्रीरंगजी) की पूजा के लिये स्नान किया ॥२॥ पूजा करके नैवेद्य चढ़ाया, तब जहाँ पक्वान्न बनाया गया था, वहाँ अर्थात् रसोईघर में गईं ॥३॥ और फिर माता वहीं (रंगजी के मंदिर में) चली आई तो वहाँ जाकर पुत्र को भोजन करते देखा ॥४॥

विशेष—यहाँ ग्रंथकार सूक्ष्म रीति से अन्नप्राशन-उत्सव कहते हैं कि उस दिन बच्चे को प्रथम-प्रथम अन्न चटाने का शुभ दिन था। अतः, माता ने उबटकर नहलाया और बालोचित वस्त्र-भूषणादि पहना शृंगार करके लिटा दिया। शिशु रामजी सो गये।

(१) 'निजकुल इष्टदेव'''—रघुकुल के कुलदेवता श्रीरङ्गजी हैं। 'भगवाना' अर्थात् इस कुल के और देवी-देवता इष्ट नहीं हैं, भगवान् विष्णु ही हैं। अतः, यह कुल वैष्णव है। यथा—"किंचान्यद्वक्तुमिच्छामि राक्षसेन्द्र महाबल। आराधय जगन्नाथमिक्ष्वाकुकुलदैवतम्॥ आराधनीयमनिशं देवैरपि सवासवैः। तथेति प्रतिजग्राह रामवाक्यं विभीषणः॥" (वाल्मी० उ० स० १०८।२७-२८) अर्थात् श्रीरामजी ने परधाम प्रस्थान के समय विभीषणजी से कहा कि तुम देवताओं के सहित इन्द्रादि से पूज्य इक्ष्वाकुकुल के कुलदेवता इन जगन्नाथ की सदा आराधना करो। रंगक्षेत्र-माहात्म्य में विस्तृत कथा है कि जब भगवान् ने ब्रह्माजी को सृष्टि रचने की आज्ञा दी, तब उन्होंने संसार से निर्लिप्त रहने के लिये आधार माँगा कि मुझे अपने कारण-रूप भगवान् का ध्यान रहे, तब भगवान् ने आराधन की विधि कही। वही 'पञ्चरात्र' नाम से प्रसिद्ध हुआ। फिर प्रणवाकार (ॐ के आकार का) विमान दिया, उसी में भगवान् का अर्चाविग्रह भी विराजमान था। रङ्ग नाम उस विमान का है। जब राजा इक्ष्वाकु ने मनु से पंचरात्र पढ़ा, तब उन्हें इसका पता लगा और आराधना करने की लालसा हुई, फिर वे तप करके ब्रह्माजी को प्रसन्न कर उसे माँग लाये। श्रीरामजी के समय तक उनकी पूजा होती आई। जब अयोध्या के प्राणिमात्र परमधाम जाने लगे, तब श्रीरामजी ने विभीषणजी को सौंप दिया और कहा कि इन्हें मार्ग में कहीं रखना नहीं, अन्यथा फिर न उठेंगे। विभीषणजी कावेरी-तट पर चन्द्र-पुष्करणी क्षेत्र में पहुँचे तो दैवयोग से उन्हें लघुशंका लगी, तब उन्होंने विमान भूमि पर रख दिया। फिर विमान वहाँ से न उठा। कहा जाता है कि आजतक भी गुप्तरूप से विभीषणजी वहाँ पूजन करने आते हैं!

'पूजा-हेतु कीन्ह'''—देव-पूजा के लिये पुनः स्नान किया। विचारा कि अपने कुलदेवता को पूजन करके भोग लगाकर तब बच्चे को प्रसाद खिलावें। यहाँ माता को वात्सल्य में ऐश्वर्य की सर्वथा विस्मृति हो गई है। इसीसे बच्चे को छूकर पूजा के लिये स्नान करती हैं। इसी अज्ञान को दूर करने के लिये आगे भगवान् विराट् रूप दिखावेंगे।

(२) 'करि पूजा नैवेद्य'''—षोडशोपचार विधि से पूजन करके पक्वान्न का थाल श्रीरंगजी के आगे रखकर उन्हें निवेदित किया। नैवेद्य चढ़ाना अर्थात् भोग लगाना—यह मुहावरा है। 'गई जहँ पाक''' अर्थात् यह देखने के लिये वहाँ गईं कि कोई वस्तु छूट तो नहीं गई है।

'भोजन करत देखि'''—आज अन्नप्राशन है और यह पक्वान्न शिशु के खिलाने के उद्देश्य से बना है, इसीसे प्रभु स्वयं आकर खाने लगे।

गइ जननी सिसु पहिं भयभीता। देखा बाल तहाँ पुनि सूता ॥५॥

बहुरि आइ देखा सुत सोई। हृदय कंप मन धीर न होई ॥६॥
इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा। मतिभ्रम मोर कि आन बिसेखा ॥७॥
देखि राम जननी अकुलानी। प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी ॥८॥

दोहा—देखरावा मातहि निज, अदभुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे, कोटि कोटि ब्रह्मंड ॥२०१॥

अर्थ—फिर डरी हुई माता बच्चे के पास गई तो बालक को वहाँ सोता हुआ देखा ॥५॥ फिर मंदिर में आकर देखा, तो वही पुत्र (यहाँ भी था)। हृदय काँपने लगा, मन में धैर्य नहीं होता ॥६॥ (माता सोचती है कि) यहाँ और वहाँ दो बालक देखती हूँ, मेरी बुद्धि भ्रमित है या और कोई विशेष (खास) कारण है ? ॥७॥ प्रभु श्रीरामजी माता को व्याकुल देखकर मधुर मुसकान से हँसे ॥८॥ माता को अपना आश्चर्यमय अखंड रूप दिखलाया जिसके रोम-रोम में करोड़ों ब्रह्माड लगे हुए थे ॥२०१॥

विशेष—(१) 'भयभीता'—बालक को यहाँ किसने और कैसे लाकर बिठा दिया ?

'आन बिसेषा'—अन्य किसी देवता अथवा श्रीरंगजी ने ही तो यह प्रत्यक्ष भोजन के लिये बालक का रूप बना लिया हो या और कोई बात है !

(२) 'इहाँ-उहाँ'—जहाँ एक ही समय एक सम्बन्धी दो बातें दो जगहों में होती हैं, वहाँ ऐसा प्रयोग प्रायः होता है। यथा—"उहाँ राम रजनी अवसेषा। जागे'''" और—"इहाँ भरत सब सहित सहाये। मंदाकिनी पुनीत नहाये ॥" (अ० दो० ३२५-३१२)। 'इहाँ'—शब्द से भोजन करनेवाले रूप के पास कौशल्या का रहना और विचार करना है, क्योंकि बालक के सोते हुए में सदेह नहीं है, वे तो ज्यों-का-त्यों सोते हैं। अत, उसे 'तहाँ' कहा है।

(३) 'प्रभु हँसि दीन्ह'' '—कौशल्याजी के हृदय में भय स्थायी था। प्रभु ने हास्यरस से उसे शान्त कर दिया, जब विस्मयमात्र स्थायी रह गया, तब अपना यथार्थ अद्भुत रूप दिखाया। यह मंद मुसकान माता के भय हरण के लिये है। यथा—"जिय की जरनि हरत हँसि हेरत।" (अ० दो० २३८)। यहाँ हँसने के साथ 'प्रभु' कहा, क्योंकि हँसकर माया द्वारा अपनी प्रभुता दिखावेंगे। यथा—"माया हास ''" (लं० दो० १४)। मद मुसकान में ही हँसे, क्योंकि मुख के भीतर विराट् रूप दिखाना नहीं है। यहाँ रोमकूपों में ही अणु की भाँति कोटि-कोटि ब्रह्माड दिखावेंगे, क्योंकि कौशल्याजी ने जन्म-समय की स्तुति में 'रोम रोम प्रति' ही अमित ब्रह्मांडों का होना कहा है। यहाँ प्रभु उसीको दृढ़ करेंगे।

(४) 'देखरावा मातहि निज ' '—यहाँ 'दिखावा' न कहकर 'देखरावा' यह प्रेरणार्थक क्रिया दी गई है, क्योंकि जिस रूप से आप सोये हुए हैं, वह-शैशव से क्रमश नित्यप्रति बढ़ता है। उस रूप से पौगंड आदि होते हुए कुमार और किशोर होंगे। उसी रूप से ब्रह्माजी के वरदान के अनुसार मनुष्यत्व दिखावेंगे। अत', उसमें विराट् नहीं दिखाया। किंतु अपने दूसरे बालरूप से दिखाया, जिसीसे भोजन करते हैं, इसलिये प्रेरणार्थक क्रिया है।

यहाँ विराट् रूप दिखाने का प्रयोजन पूर्व 'कहि कथा सुहाई' (दो० १९१) के प्रसंग में कहा गया। यहाँ उसका अवसर है, क्योंकि माता आपके बालचरित-गान में अत्यन्त निमग्न रहकर ऐश्वर्य सर्वथा भूल गई हैं। वहाँ तो पूर्व जन्म में त्रिदेवों की ओर ताका भी नहीं, वे वर देने को आ-आकर लौट

गये, इनकी वृत्ति परम प्रभु में ही लगी थी, जिनके अंश से कोटि-कोटि त्रिदेव कोटि ब्रह्मांडों में होते हैं। जब वे ही आप पुत्र-रूप से घर में आये हैं, तब आपसे भिन्न इष्टदेव मानकर उनका प्रसाद आपको खिलाना चाहती हैं। अतः, पूर्व का माँगा हुआ अलौकिक विवेक इन्हें देना चाहिये, जिसे जन्म-स्तुति के समय माया-द्वारा हरण किया था।

'रोम रोम प्रति लागे'—यहाँ ब्रह्मांड रोमों में बाहर लटके हुए हैं—ऐसा अर्थ नहीं है; क्योंकि भगवान् के शरीर से भिन्न कुछ है ही नहीं। यथा—"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।" (यजु० ईश० १)। अतः, रोम-रोम प्रति का अर्थ रोम-रोम के छिद्रों में होगा। रोमकूप कहते हैं जो त्वचा के भीतर होते हैं, उन्हीं से पसीना निकलता है। भुशुंडीजी, यशोदाजी और अर्जुन को भी शरीर के भीतर ही ब्रह्मांड दिखाया है।

अगनित रविससि सिवचतुरानन। बहु गिरिसरित सिंधु महि कानन॥१॥
काल करम गुन ज्ञान सुभाऊ। सोउ देखा जो सुना न काऊ॥२॥
देखी माया सब विधि गाढ़ी। अति सभीत जोरे कर ठाढ़ी॥३॥
देखा जीव नचावइ जाही। देखी भगति जो छोरइ ताही॥४॥
तनु पुलकित मुख बचन न आवा। नयन मूँदि चरनन्हि सिर नावा॥५॥

शब्दार्थ—गाढ़ी = प्रबला, यथा—"मम माया दुरत्यया" (गीता ७।१४); अर्थात् उल्लंघन करने के अयोग्य।

अर्थ—असंख्य सूर्य, चन्द्रमा, शिव, चतुर्मुख ब्रह्मा, बहुत-से पहाड़, नदी, समुद्र, पृथिवी, वन ॥१॥ काल, कर्म, गुण, ज्ञान, स्वभाव तथा और भी (पदार्थ) देखे, जिन्हें कभी सुना भी न था ॥२॥ सब प्रकार प्रबल माया को देखा जो अत्यंत डरी हुई हाथ जोड़े खड़ी है ॥३॥ जीव को देखा, जिसे (माया) नचाती है और भक्ति देखी, जो उस (जीव) को छुड़ा देती है ॥४॥ शरीर पुलकायमान हो गया, मुख से वचन न आया, नेत्रों का बंद करके चरणों में शिर नवाया ॥५॥

विशेष—(१) 'बहु गिरि सरित ···'—पहाड़ से नदियाँ निकलकर समुद्र को जाती हैं। समुद्र पर पृथिवी है और उसपर वन—इसी क्रम से सब लिखे गये हैं।

(२) 'काल करम ···'—उपर्युक्त 'बहु' विशेषण यहाँ के 'सुभाऊ' पर्यन्त का है। अतः, इन काल आदि के भी बहुत रूप देखे गये।

(३) 'गाढ़ी'—अर्थात् बड़े कठिन बंधन वाली है और सेना-सहित है, यथा—"माया-कटक प्रचंड।" (उ० दो० ७१)। 'अति सभीत ······' का भाव यह कि पास ही इसका अपराध भक्ति प्रकट कर रही है कि इसने बहुत काल तक जीव को बाँध रक्खा है और—"भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥" (उ० दो० ११५) कहा ही है। भाव यह कि भजन करने से माया की कराला जान पड़ती है तो जीव दीन होकर रक्षा चाहता है और भगवान् माया पर शासन कर इसे मुक्त करते हैं, यथा—"चित्रकूट गये हौं लखी कलि की कुचालि सब, अब अपडरनि डर्‌यो हौं। माथ नाइ नाथ सों कहौं हाथ जोरि खर्‌यो हौं॥" (वि० २६६)।

(४) 'देखी भगति ···'—भक्ति के देखते ही कौशल्याजी की आँखें खुल गईं। भूले हुए ऐश्वर्य को जान गईं। प्रभाव-स्मरण होने से पुलक हो आया। स्तुति करना चाहती थीं, पर गद्‌गद कंठ होने से मुँह

से बात नहीं निकलती। साथ ही विराट् रूप पर दृष्टि होने से भयानक रस भी है। अतः, आँखें मूँद कर चरणों में प्रणाम किया।

बिसमयवंति देखि महतारी। भये बहुरि सिसुरूप खरारी ॥६॥
अस्तुति करि न जाइ भय माना। जगतपिता मैं सुत करि जाना ॥७॥
हरि जननी बहुबिधि समुझाई। यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई ॥८॥

दोहा—बार बार कौसल्या, बिनय करइ कर जोरि।
अब जनि कबहूँ ब्यापइ, प्रभु मोहि माया तोरि ॥२०२॥

शब्दार्थ—बिसमयवंति = आश्चर्ययुक्त। ब्यापइ = असर करे, सतावे।

अर्थ—माता को आश्चर्य-युक्त देखकर खर के शत्रु श्रीरामजी फिर बालक-रूप हो गये ॥६॥ स्तुति करते नहीं बनता, क्योंकि डर गई है कि मैंने जगत् के पिता को पुत्र करके मान लिया था ॥७॥ दुःख हरनेवाले भगवान् श्रीरामजी ने माता को बहुत तरह समझाया। (और कहा) हे माता! सुनो यह (रहस्य) कहीं न कहना ॥८॥ कौशल्याजी हाथ जोड़कर बार-बार विनय करती हैं कि हे प्रभो! मुझे आपकी माया अब कभी भी न सतावे ॥२०२॥

विशेष—(१) 'बिसमयवंति देखि…'—प्रभु का रूप विभाव, गद्गद वचन अनुभाव, रोमांच-स्तंभ संचारी, विस्मय स्थायी से पूर्ण अद्भुत रस आ गया। तब प्रभु फिर शिशु-रूप हो गये, अर्थात् प्रथम विराट् रूप हो गये थे। 'खरारी'—खर राक्षस के मारने के समय भी आपने अपने रूप से कौतुक किया था, यहाँ भी आश्चर्य-रूप दिखाया। अतः, 'खरारी' कहा। यहाँ श्रीरामजी ने ईश्वरत्व दिखाया है, देवता और उनके विशेषण अनादि होते हैं, यथा—"कोउ सुनि संसय करइ जनि, सुर अनादि जिय जानि॥" (दो॰ १००)।

(२) 'हरि जननी बहु बिधि… '—समझाकर विस्मय हरने से 'हरि' कहा है। समझाया यह कि तुमने पूर्व ही हमसे वर माँगा था कि हमें आपका विवेक बना रहे। इस समय तुम हमारे स्वरूप को भूल गई थीं और हमसे भिन्न रंगजी को इष्टदेव मानकर उन्हें भोग लगाना और हमें वह प्रसाद खिलाना चाहती थीं। तुम्हारे इष्टदेव तो हम ही हैं, यथा—"देखिय नयन परम प्रभु सोई ॥"…से—"पेखेउँ प्रभु सेवक बस अहई। भगत-हेतु लीलातनु गहई ॥" (दो॰ १४२) तक। वे ही हम हैं जो तुम्हारे प्रेम-वश वात्सल्य माधुर्य सुख देने के लिये बाल-क्रीड़ा कर रहे हैं। 'जननी' को ही दिखाया, पिता को नहीं, क्योंकि उन्होंने केवल माधुर्य उपासना ही माँगी थी, यथा—"सुतबिषयक तव पद-रति होऊ।" (दो॰ १५०)।

(३) 'अब जनि कबहूँ ब्यापइ…'—प्रभु ने माता से कहा था कि इस रहस्य की चर्चा न करना, वैसे ही माता भी कहती हैं कि आपकी माया अब कभी मुझे न सतावे। यह माता ने वरदान माँगा और पाया है। इसपर व्यंग्योक्ति भी है। माता का कहना है कि आप मेरी न मानेंगे, तो मैं सर्वत्र कह दूँगी कि मेरा बेटा बड़ा मायावी है!

बालचरित हरि बहु बिधि कीन्हा। अति अनंद दासन्ह कहँ दीन्हा ॥१॥

कछुक काल बीते सब भाई। बड़े भये परिजन-सुखदाई ॥२॥
चूड़ाकरन कीन्ह गुरु जाई। बिप्रन्ह पुनि दछिना बहु पाई ॥३॥
परम मनोहर चरित अपारा। करत फिरत चारिउ सुकुमारा ॥४॥

अर्थ—भगवान् ने बहुत तरह के बाल-चरित किये और दासों को बहुत ही आनंद दिया ॥१॥ कुछ समय बीतने पर चारो भाई बड़े होकर कुटुम्बियों को भी सुख देनेवाले हुए ॥२॥ गुरुजी ने जाकर चूड़ाकरण संस्कार किया, ब्राह्मणों ने फिर भी बहुत दक्षिणा पाई ॥३॥ चारो सुकुमार राजकुमार अत्यंत मनोहर अनगिनत चरित करते फिरते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'बालचरित हरि बहु बिधि कीन्हा।'—'बहु बिधि' यथा—"रोवनि, धोवनि, अनखानि अनरसनि, डिठि मुठि निठुर नसाइ हौं। हँसनि, खेलनि, किलकनि, आनंदनि भूपति-भवन बसाइ हौं ॥" (गी० बा० १८)। ये सब चरित समय-समय पर किये गये।

(२) 'कछुक काल बीते सब भाई'''—अब आँगन में विचरने भी लगे, अतः, 'परिजन-सुखदाई' भी कहे गये हैं। इसके पूर्व रनिवास को ही सुख देते थे, अब परिजन आदि भी गोद में खेलाते हैं।

(३) 'चूड़ाकरन कीन्ह'''—(चूड़ा अर्थात् शिखा) चूड़ाकरण अर्थात् चोटी रखना। यह दस संस्कारों में एक है। यह जन्म से तीसरे या पाँचवें वर्ष में होता है। इसमें गर्भ के बाल प्रथम-प्रथम मुड़वाये जाते हैं और चोटी रक्खी जाती है। कोई-कोई कहते हैं कि चक्रवर्तीकुमार के सिर पर छुरा लगाने का निषेध है, पर यह बात नहीं है। अभिषेक होने पर उक्त निषेध की बात है। यह तो एक संस्कार है। 'जाई' अर्थात् घर से बाहर किसी देवस्थान एवं तीर्थ में जाकर यह संस्कार हुआ। 'पुनि'—नामकरण में दक्षिणा का वर्णन नहीं है, वहाँ का भी वर्णन यहाँ के 'पुनि' से जना दिया कि एक बार पाई थी, फिर भी अथवा, 'पुनि' शब्द 'तदनन्तर' के अर्थ में भी कहा जाता है, यह बुंदेलखंडी मुहावरा है, यथा—"मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई।" (अ० दो० ५८)। "मैं पुनि गयेउँ बंधु-सँग लागा ॥" (कि० दो० ५) इत्यादि।

मन-क्रम-बचन-अगोचर जोई। दसरथ-अजिर बिचर प्रभु सोई ॥५॥
भोजन करत बोल जब राजा। नहिं आवत तजि बाल-समाजा ॥६॥
कौसल्या जब बोलन जाई। ठुमुकि ठुमुकि प्रभु चलहिं पराई ॥७॥
निगम नेति सिव अंत न पावा। ताहि धरइ जननी हठि धावा ॥८॥
धूसरि धूरि भरे तनु आये। भूपति बिहँसि गोद बैठाये ॥९॥

दोहा—भोजन करत चपल चित, इत उत अवसर पाइ।
भाजि चले किलकत मुख, दधि-ओदन लपटाइ ॥२०३॥

शब्दार्थ—अगोचर = अविषय, जिसका अनुभव मन आदि इन्द्रियों से न हो सके। ठुमुकि = थोड़ी-थोड़ी दूर पर पैर पटकते हुए चलना, फुदक फुदककर शीघ्रता से चलना। पराई = भागकर। धूसर = धूल लपेटे हुए, यथा—"बाल-

विभूषन बसन बर, धूरि धूसरित अंग।" (दोहावली ११०); अर्थात् धूसर-धूरि का अर्थ-(शरीर में) धूल लपेटे। विचर = चलते फिरते हैं। ओदन = भात। बोलत = बुलाने, यथा—"बोलि विप्र गुरु ज्ञाति।" (दो० ३५१)।

अर्थ—जो प्रभु मन, कर्म और वचन के अविषय हैं, वे ही दशरथजी के आँगन में विचर रहे हैं ॥७॥ भोजन करते समय जब राजा बुलाते हैं, तब बाल-सखाओं का समाज छोड़कर नहीं आते ॥६॥ जब कौशल्याजी बुलाने जाती हैं, तब प्रभु ठुमुक-ठुमुककर भाग चलते हैं ॥७॥ जिन्हें वेद नेति-नेति कहते हैं और शिवजी ने जिनका अंत नहीं पाया उन्हीं को माता हठपूर्वक पकड़ने के लिये दौड़ती है ॥८॥ (रामजी) शरीर में धूल भरे हुए आये, राजा ने हँस कर गोद में बिठा लिया ॥९॥ भोजन करते हैं, पर चित्त चंचल है, इधर-उधर से अवसर पाकर किलकारी (हर्षध्वनि) करते हुए मुख में दही-भात लपटाकर (फिर) भाग चले ॥२०३॥

विशेष—(१) 'मन क्रम वचन···' यथा—"वेद-वचन मुनि-मन अगम,···" (बा० दो० १११); "यतो वाचो निवर्तन्ते॥ अप्राप्य मनसा सह॥" (तैत्तिरीय २।४); वे ही प्रत्यक्ष 'दसरथअजिरबिहारी' हो रहे हैं, क्योंकि 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं। अतः, अघटित घटना कर दिखाई। 'बिचर' शब्द में सब क्रीड़ाएँ आ जाती हैं। 'अजिर' अर्थात् उपर्युक्त 'परम मनोहर चरित···' भी अभी आँगन में ही होते हैं।

(२) 'कौसल्या जब बोलन···'—वात्सल्य में भी उपासना का निर्वाह स्वतः होता जाता है। राजा श्री-रामजी को खिला लेते हैं तब स्वयं खाते हैं, इसीसे तब तक बैठे रहते हैं। अतः, सतीशिरोमणि कौशल्या-जी पति का रुख जानकर बुलाने जाती हैं। 'ठुमुकि ठुमुकि···'—जब तक माता दूर रहती है तब तक ठुमुक-ठुमुक चलते हैं, निकट देखते हैं तब भाग चलते हैं। तब माता भी हठ करके दौड़ती है कि देखें कहाँ तक भागोगे!

(३) 'सिव अंत न पावा'—शिवजी का अंत ब्रह्मा आदि ने नहीं पाया, यथा—"जोतिर्लिंग-कथा सुनि जाको अंत पाये बिनु आये बिधि हरि हारि सोई हाल भई है॥" (गी० बा० ८४); वे शिवजी भी श्री-रामजी की महिमा का अंत नहीं पाते, यथा—"जथा अनंत राम भगवाना।" (दो० ११२); शिवजी का इष्ट यह बालरूप ही है, यथा—"बंदउँ बाल-रूप सोइ रामू।···द्रवहु सो दसरथ-अजिर-बिहारी॥" (दो० १११); क्योंकि शिवजी ने सहज उद्गार से वहाँ यह मंगलाचरण किया है।

(४) 'इत उत'—इधर-उधर चपलता से देखते रहते हैं, इधर पिता-माता पर दृष्टि है और उधर बाल-समाज की ओर भी चित्त है कि अवसर मिले तो भाग चलें। प्रायः राजा के जल पीने के समय ऐसा अवसर मिलता है। बाल-स्वभाव से दही-भात में रुचि अधिक है, वही खाया है, मुख में लपटा है, बिना मुख धोये ही अवसर पाने से भाग चले। 'किलकारी' अवसर पाने की प्रसन्नता से है, पुनः बाल-समाज के सुनाने के लिये भी है कि हम आ गये। 'दधि ओदन लपटाय' यह भुशुंडीजी के लिये भी है, यथा—"जूठनि परइ अजिर महँ, सोइ उठाइ करि खाउँ।" (उ० दो० ७५)।

बालचरित अति सरल सुहाये। सारद सेष संभु श्रुति गाये ॥१॥
जिन्ह कर मन इन्ह सन नहिं राता। ते जन बंचित किये बिधाता ॥२॥
भये कुमार जबहिं सब भ्राता। दीन्ह जनेऊ गुरु-पितु-माता ॥३॥
गुरुगृह गये पढ़न रघुराई। अलप काल बिद्या सब आई ॥४॥
जाकी सहज स्वास श्रुति चारी। सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी ॥५॥

शब्दार्थ—कुमार = ५ वर्ष तक शिशु, फिर १० वर्ष तक कुमार, तंत्र-मत से ११ वर्ष तक को कुमार कहते हैं।

अर्थ—(रामजी के) बाल-चरित अत्यन्त सीधे और सुहावने हैं, इन्हें सरस्वती, शेष, शिव और वेदों ने गाया है ॥१॥ जिनका मन इनसे नहीं पगा, उनलोगों को ब्रह्मा ने मानों ठग लिया है ॥२॥ ज्यों ही सब भाई कुमार-अवस्था के हो चुके त्यों ही गुरु, पिता और माता ने जनेऊ दिया, अर्थात् यज्ञोपवीत संस्कार किया ॥३॥ रघुराज श्रीरामजी (भाइयों के साथ) गुरुजी के घर विद्या पढ़ने गये, थोड़े ही समय में सब विद्याएँ आ गईं ॥४॥ चारो वेद जिनके स्वाभाविक श्वास हैं वे भगवान् पढ़ते हैं—यह बड़ा भारी आश्चर्य है ! ॥५॥

विशेष—(१) 'अति सरल' अर्थात् कुटिलतादि दोषों से रहित, सीधे; यथा—"कबहूँ ससि माँगत आरि करैं···" (क० बा० ४)—इस पूरे छन्द में सरलता के चरित हैं। 'सुहाये' यथा—"पग नूपुर औ पहुँची कर कंजनि···"।(क० बा० २); "राम-लखन इक ओर भरत रिपुदवन लाल···" (गी० बा० ३३)।

(२) ते जन बंचित···' अर्थात् मनुष्य-शरीर का विधान परमार्थ-प्राप्ति के लिये है। विधाता ने नर-शरीर तो दिया, पर उसकी सफलता के योग्य बुद्धि न दी, भक्ति रूप पारसमणि (स्पर्शमणि) के अधिकारी को विषय-रूपी काँच-किरच देकर ठग लिया, यथा—"जेहि देह सनेह न रावरे सो असि देह धराय कै जाय जियै (क० उ० ३८)।

(३) 'भये कुमार'··'दीन्ह जनेऊ'···'—कुमार हो चुकने पर अर्थात् ११ वें वर्ष में, क्योंकि ८ वें में ब्राह्मण के लिये, ११ वें में क्षत्रिय के लिये १२ वें में वैश्य के लिये सामान्य रूप से यज्ञोपवीत का विधान है। स्मृतियों में उपनयन-काल के संबंध में मतभेद भी है। 'दीन्ह' क्योंकि जनेऊ हाथ में पकड़कर पहनाते हैं, इसमें विधानकर्त्ता गुरु मुख्य हैं। अतः, गुरु को प्रथम कहा है।

(४) 'गुरु-गृह गये'···'—ब्रह्मचर्य आश्रम की रीति से गुरुजी के यहाँ उतने दिन रहे। 'अलपकाल' बहुत थोड़े दिनों में ही, कोई कोई ८ दिन ही कहते हैं। 'विद्या सब'-चौदहो विद्याएँ—चारो वेद, छः वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष), मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण। —(विश्वकोष)। इनके अतिरिक्त पशु-पक्षी आदि की विद्याएँ भी 'सब' शब्द में आ गईं। 'जाकी सहज श्वास श्रुति···' उपर्युक्त अल्पकाल में विद्या आने का समाधान यहाँ किया कि इनका पढ़ना तो नर-नाट्यमात्र है, क्योंकि विद्या के मूलरूप वेद इनके श्वासरूप हैं, यथा—"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः···" (बृह० २।४।१०); अर्थात् चारों वेद आदि उस महान् सत्य ब्रह्म के श्वासमात्र हैं।

बिद्या - बिनय - निपुन गुनसीला। खेलहिं खेल सकल नृपलीला ॥६॥
करतल बान धनुष अति सोहा। देखत रूप चराचर मोहा ॥७॥
जिन्ह बीथिन्ह बिहरहिं सब भाई। थकित होहिं सब लोग लोगाई ॥८॥

दोहा—कोसल पुरबासी नर, नारि बृद्ध अरु बाल।
प्रानहुँ ते प्रिय लागत, सब कहँ राम कृपाल ॥२०४॥

शब्दार्थ—बिनय = नम्रता। थकित = मोहित एवं शिथिल। लोगाई = स्त्रियाँ।

अर्थ—विद्या, नम्रता, गुण और शील में निपुण हैं, सब राज्य-सम्बन्धी खेल ही खेलते हैं ॥६॥

हाथों में धनुष-बाण अत्यन्त शोभा दे रहे हैं, रूप देखकर स्थावर जंगम सभी जीव मोहित हो जाते हैं ॥७॥ जिन मार्गों से सब भाई विहरते हुए निकलते हैं, वहाँ के सब स्त्री-पुरुष स्नेह से शिथिल एवं मोहित हो जाते हैं ॥८॥ अवधपुर-वासी पुरुष, स्त्री, बूढ़े और बालक—सभी को कृपालु श्रीरामजी प्राणों से अधिक प्रिय लगते हैं ॥२०४॥

विशेष—(१) 'विद्या-विनय निपुन ···'—विद्या पाकर नम्रता का होना उत्तम गुण है, यथा—"जथा नवहिं बुध विद्या पाये।" (कि० दो० १४), और, गुणों के साथ शील होने से उनकी शोभा है। शील-निपुणता, यथा—"सीलसिंधु सुनि गुर-आगमनू।" ·· से—"चले सबेगि राम तेहि काला।" (अ०दो०२४१) तक। "सील सराहि सभा सब सोची।" (अ० दो० ३१२)। "तुलसी कहूँ न राम से, साहिब सीलनिधान।" (दो० ४३)। "बिनय-सील करुना-गुन-सागर।" (दो० २०१)। 'नृपलीला'—यह आगे कहते हैं। "करतल बान·" यथा—"पद कंजन मंजु बनी पनहीं धनुही सर पंकज पानि लिये। लरिका सँग खेलत डोलत हैं सरजू तट चौहट हाट हिये॥···" (क० बा० ४)। सरयू-तट आदि को ही आगे 'बीथिन्ह' कहते हैं।

(२) 'थकित होहिं सब···' यथा—"थके नयन रघुपति-छबि देखे। पलकन्हिहूँ परिहरी निमेषे॥ अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरद-ससिहि जनु चितव चकोरी॥" (दो० २३१), देखि तुलसीदास प्रभु-छबि रहे सब पल रोकि। थकित निकर चकोर मानहुँ सरद इंदु बिलोकि॥" (गी० बा० ३८)। 'वृद्ध अरु बाल' कहकर नर-नारियों की मध्य की अवस्थाओं को भी जना दिया।

बंधु सखा सँग लेहिं बोलाई। बन मृगया नित खेलहिं जाई॥१॥
पावन मृग मारहिं जिय जानी। दिन प्रति नृपहिं देखावहिं आनी॥२॥
जे मृग रामबान के मारे। ते तनु तजि सुरलोक सिधारे॥३॥
अनुज सखा सँग भोजन करहीं। मातु पिता आज्ञा अनुसरहीं॥४॥
जेहि बिधि सुखी होहिं पुरलोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा॥५॥

शब्दार्थ—मृगया = शिकार, आखेट (अहेर)। संजोगा = उपाय। मृग = जंगली जानवर।

अर्थ—भाइयों और सखाओं को बुलाकर साथ लेते हैं और नित्य वन में शिकार खेलने जाते हैं ॥१॥ जी से जानकर पवित्र मृगों को मारते हैं और प्रत्येक दिन लाकर राजा को दिखाते हैं॥ २॥ जो मृग (जानवर) रामजी के बाणों से मारे गये, वे शरीर छोड़कर देवलोक को गये॥ ३॥ भाइयों और सखाओं के साथ भोजन करते हैं, माता-पिता की आज्ञा का पालन करते हैं॥ ४॥ जिस तरह पुर के लोग सुखी हों, दयासागर श्रीरामजी वही संयोग कर देते हैं॥ ५॥

विशेष—(१) 'लेहिं बोलाई'—यहाँ श्रीरामजी ने स्वामित्व गुण दिखाया है, क्योंकि आप सबमें बड़े हैं। ऊपर—'नृप-लीला' कही गई, वही यहाँ भी है। आप इस कार्य में सबसे प्रथम उद्यत रहते हैं।

'बन मृगया···' यथा—"हम छत्री मृगया बन करहीं। तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं (आ० दो० १८), तथा—"कदाहं पुनरागम्य सरय्वाः पुष्पिते वने। मृगयां पर्यटिष्यामि मात्रा पित्रा च संगतः॥" (वाल्मी० अ० ४९।१४) अर्थात् श्रीसरयूतट के वनों में शिकार खेलने जाते थे। तथा—"सरजूबर तीरहिं तीर फिरैं रघुबीर सखा अरु बीर सबै।" (क० बा० ७)।

(२) 'पावन मृग मारहिं···'—जो पुण्यात्मा जीव किसी शाप एवं वर के कारण मृग-योनि को प्राप्त हैं और शापानुग्रह के अनुसार प्रभु के हाथों से मुक्त होने की बाट जोह रहे हैं, उन्हें हृदय से जानकर मारते हैं और राजा दशरथ को लाकर दिखाते हैं कि पिता प्रसन्न हों और उन्हें यह ज्ञान हो जाय कि कुमार के बाणों का लक्ष्य ठीक होने लगा है, क्योंकि आगे विश्वामित्र के साथ जाना है। 'प्रतिदिन'--कभी निशाना नहीं चूकता।

(३) 'जे मृग राम-बान···'--'सुरलोक' शब्द से स्वर्ग और साकेत दोनो अर्थ संगत हैं। सुर के अर्थ देवता और दिव्य पार्षद दोनो हैं। यथा—"तदस्त्रं तस्य वीरस्य स्वर्गमार्गप्रभावनम्। रामबाणासनक्षिप्तमावहत्परमांगतिम्॥" (वाल्मी० कि० १७ ८)। मृग, यथा--"प्रगटत दुरत जाइ मृग भागा।" (दो० १५६); इसमें मृग शूकर को कहा है अर्थात् शूकर, गैंडा, व्याघ्र, रोजा आदि मृग कहाते हैं, इसीसे इनका राजा सिंह मृगपति कहाता है। यहाँ श्रीरामजी लाकर राजा को दिखाते थे, अतः बड़े-बड़े जानवरों का ही शिकार करते थे—"तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं।" ऊपर कहा गया है। यथा—"बन बेहड़ गिरि कंदर-खोहा। सब हमार प्रभु पग-पग जोहा। जहँ तहँ तुम्हहि अहेर खेलाउब।" (अ० दो० १३५) अर्थात् वन के बीहड़स्थलों और कंदर-खोहों में सिंह आदि हिंसक ही मृग रहते हैं, उन्हींका शिकार करते थे। सिंह आदि हिंसक जीवों को राजनीति में मारने की आज्ञा है, यह गुण भी दिखाते हैं, अन्यथा रामजी को शिकार का व्यसन नहीं था—"नात्यर्थमभिकाङ्क्षामि मृगयां सरयूवने। रतिर्ह्येषातुला लोके राजर्षिगणसंमता।" (वाल्मी. अ. ४९।१५) साथ ही वन पुण्यात्मा जीवों का उद्धार भी करते हैं, जो गंधर्व आदि मृगयोनि में प्राप्त हैं, जैसे सत्योपाख्यान अ० ४१ में विल्व गंधर्व का अरना भैंसा होना और फिर श्रीरामजी के बाणों से मुक्त होना कहा है। गंधर्व आदि स्वर्ग में जाते हैं और कोई साकेत जाते हैं। अतः, यहाँ क्षात्र-धर्म के साथ अहिंसा-धर्म भी है, क्योंकि जो सदय हृदय से आत्मा का उद्धार करने के लिये निग्रह है, वह वास्तव में अनुग्रह ही है। भारी-भारी मृगों का शिकार कर अपनी शूरता दिखाकर पिता को सुख देते हैं।

(४) 'अनुज सखा सँग भोजन करहीं।'--यद्यपि चक्रवर्ती-राज्य के उत्तराधिकारी हैं, फिर भी अपने में कुछ विशेषता न ग्रहण करके भोजन प्रसाद भी छोटे भाइयों और सखाओं को संग ही लेकर करते हैं, यहाँ आपके सौभ्रातृ और सौहार्द गुण हैं। शिकार-प्रसंग के साथ यह अर्द्धाली होने से यह भी कहा जाता है कि घर से विविध पक्वान्न साथ जाया करते हैं और वन में भी अनुज-सखाओं की गोष्ठी में भोजन होता है। सखाओं के साथ भोजन करना नीति भी है, ऐसे सखा एवं सेवक कभी विरोधी नहीं होते।

(५) 'करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा।'--सुख का संयोग रचने से कृपानिधि कहा।

बेद पुरान सुनहिं मन लाई। आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई॥६॥
प्रातकाल उठिकै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥७॥
आयसु माँगि करहिं पुरकाजा। देखि चरित हरषइ मन राजा॥८॥

दोहा—ब्यापक अकल अनीह अज, निर्गुन नाम न रूप।
भगत-हेतु नाना बिधि, करत चरित्र अनूप॥२०५॥

शब्दार्थ—अकल = अवयव-रहित, अखंड, सर्वांगपूर्ण। अनीह = इच्छारहित।

अर्थ—मन लगाकर वेद-पुराण सुनते हैं और आप भाइयों को समझाकर कहते हैं ॥६॥ रघुनाथजी प्रातःकाल उठकर माता, पिता और गुरु को प्रणाम करते हैं ॥७॥ और उनसे आज्ञा माँगकर नगर का काम करते हैं, (उनके) चरित देखकर राजा मन में प्रसन्न होते हैं ॥८॥ जो व्यापक, अकल, अनीह, अजन्मा, निर्गुण और नाम-रूप रहित है, वही भक्तों के लिये तरह-तरह के अनुपम चरित्र करता है ॥२०५॥

विशेष—(१) 'बेद पुरान'—वेद चार हैं। पुराण अठारह हैं; यथा—"म द्वयं भ द्वयं चैव ब्र त्रयं व चतुष्टयम्। अ ना प लि ग कू स्कानि पुराणानि पृथक् पृथक् ॥" अर्थात् दो मकार—मत्स्य और मार्कण्डेय; दो भकार—भविष्य और भागवत; तीन ब्र—ब्रह्म, ब्रह्मवैवर्त और ब्रह्मांड; चार व—विष्णु, वायु, वामन और वाराह; अ—अग्नि; ना—नारद; प—पद्म; लिं—लिंग, ग—गरुड़; कू—कूर्म और स्क—स्कंद।

(२) 'आपु कहहिं अनुजन्ह'''—छोटे भाइयों पर वात्सल्य है। अतः, प्रेम से सिखाने की वृत्ति स्वतः रहती है। अनुज लोग भी श्रीमुख-वाणी सुनना चाहते हैं। अतः, प्रश्न भी करते हैं।

(३) 'मातु पिता गुरु नावहिं माथा।'—अभी माता के भवन में सोते हैं। अतः, प्रथम जागकर माता को, तब पिता को और बाहर जाने पर गुरु को प्रणाम करते हैं, वैसे ही क्रम से लिखा गया।

(४) 'भगत-हेतु नाना बिधि''''''' अर्थात् वेद-पुराण सुनकर गुरु को, भोजन करने में माता को, पुरकाज (राजकाज) से राजा को और विविध संयोगों से प्रजा को सुख देते हैं, क्योंकि ये सब भक्त हैं। यहाँ भी माधुर्य के साथ ऐश्वर्य कहा। व्यापक आदि विशेषणों के भाव पहले आ चुके हैं।

यहाँ तक—"बालचरित पुनि कहहु उदारा।" (दो० १०१) का उत्तर पूरा हुआ।

अवतार और बाल-चरित-प्रकरण समाप्त

विश्वामित्र-आगमन एवं यज्ञ-रक्षा

यह सब चरित कहा मैं गाई। आगिलि कथा सुनहु मन लाई ॥१॥
बिस्वामित्र महामुनि ग्यानी। बसहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी ॥२॥
जहँ जप जग्य जोग मुनि करहीं। अति मारीच सुबाहुहि डरहीं ॥३॥
देखत जग्य निसाचर धावहिं। करहिं उपद्रव मुनि दुख पावहिं ॥४॥

अर्थ—ये सब चरित मैंने गाकर कहे, अब आगे की कथा मन लगाकर सुनो ॥१॥ महामुनि और ज्ञानी विश्वामित्रजी वन में शुभ आश्रम जानकर रहते थे ॥२॥ जहाँ मुनि जप, यज्ञ और योग करते थे, मारीच-सुबाहु से अत्यन्त डरा करते थे ॥३॥ यज्ञ देखते ही निशाचर दौड़ पड़ते और उपद्रव करते थे, जिससे मुनि दुःख पाते थे ॥४॥

विशेष—(१) 'आगिलि कथा सुनहु मन लाई।'—पूर्व बाल-चरित समाप्त किये, अब किशोर-अवस्था

के चरित कहेंगे। इस समय श्रीरामजी का १५ वाँ वर्ष चल रहा है, यथा—"ऊनषोडशवर्षो मे रामो राजीवलोचनः।" (वाल्मी॰ बा॰ २०।२)। पार्वतीजी के चौथे प्रश्न—"कहहु तथा जानकी बिआही।" (दो॰ १०६) का उत्तर यहीं से चला। यहाँ अपना गाना और श्रोता का मन लगाना सम्पूर्ण चरित में कहा गया है, अर्थात् मैंने यहाँ तक जैसे गाया, वैसे अगली कथा भी गाऊँगा और तुमने जैसे अभी तक मन लगाकर सुना, वैसे अगली कथा भी सुनो। इसी प्रकार—"सौंपे भूपति रिषिहि ··" (दो॰ २०८)। इसमें प्रणाम और आशीर्वाद दोनों पक्षों में लिया जाता है।

(२) 'बिस्वामित्र महा मुनि ग्यानी ·····'—प्रजापति के पुत्र कुश, कुश के पुत्र कुशनाभ, कुशनाभ के पुत्र गाधि और गाधि के पुत्र महातेजस्वी विश्वामित्रजी हुए। गाधिराजा की कन्या सत्यवती ऋचीक ऋषि से ब्याही गई थी। उसकी सेवा पर रीझकर ऋषि ने उसे वर माँगने को कहा। उसने माँगा कि मेरे भाई और पुत्र दोनों हों। ऋषि ने एक ब्रह्म मंत्र से और दूसरा क्षात्र मंत्र से मंत्रित करके पृथक् पृथक् चरु पकाकर दिया और कहा कि एक तुम खा लो और दूसरा अपनी माँ को दो। उसने माँ के सामने रखकर चरु का गुण कह दिया। पीछे माता ने सोचा कि ऋषि ने अपनी पत्नी के लिये अवश्य ही श्रेष्ठ चरु बनाया होगा। अतः, उसका भाग आप खा लिया और अपना भाग कन्या को दे दिया। रानी के पुत्र विश्वामित्र हुए जो चरु के प्रभाव एवं तप से क्षत्रिय होते हुए भी ब्रह्मत्व को प्राप्त हुए। सत्यवती के जमदग्नि हुए जो ब्राह्मण होते हुए भी क्षात्र-प्रकृति के हुए। फिर सत्यवती की प्रार्थना पर ऋषि के अनुग्रह से जमदग्नि का क्षत्रियत्व उनके पुत्र परशुराम में उग्र रूप से आया। पीछे यही सत्यवती कौशिकी नदी के रूप में बहने लगी। (श्रीमद्भा॰ ९।१५)। विश्वामित्रजी जिस प्रकार करणी करके ब्रह्मर्षि, महामुनि और ज्ञानी हुए, यह आगे—"मुनि-मन-अगम गाधिसुत करनी। मुदित बसिष्ठ बिपुल बिधि बरनी॥" (दो॰ ३५८) पर कहा जायगा। यहाँ केवल उत्पत्ति-प्रसंग थोड़े में कहा गया। 'महा मुनि'—क्योंकि क्षत्रिय-शरीर से तप करके ब्रह्मर्षि हो गये और वेदों के ऋषि हुए। 'ग्यानी'—क्योंकि अपने आश्रम ही से प्रभु का प्रादुर्भाव जान लिया।

'बसहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी।'—विश्वामित्रजी वन में बसते थे, क्योंकि महान् विरक्त थे। 'सुभ-आश्रम जानी'—मुनि ने प्रथम ही से जान लिया था कि यह सिद्धाश्रम सिद्धपीठ है। क्योंकि पहले वामन भगवान् भी यहाँ कार्य सिद्ध कर चुके थे। अतः यहाँ साधन की सिद्धि शीघ्र होगी, वही हुआ भी। श्रीरामजी ने विघ्नों का नाश करके इनका यज्ञ सिद्ध किया। यथा—"सिद्धाश्रममिदं सत्यं कृतं वीर महायशः।" (वाल्मी॰ बा॰ स॰ ३०)। आजकल यह सिद्धाश्रम बक्सर नाम से बिहार में प्रसिद्ध है जो गंगातट पर है।

(३) 'जहँ जप जग्य जोग मुनि करहीं।'—जप से उपासना, यज्ञ से कर्म और योग से ज्ञान जनाया अर्थात्, मुनि यथावकाश कांडत्रय (कर्म, ज्ञान, उपासना) में तत्पर रहते थे। 'जहँ' अर्थात् उस सिद्धाश्रम पर। 'अति मारीच ·····'—अर्थात् और राक्षसों से भी डरते थे, पर मारीच-सुबाहु से अत्यंत डरते थे। इनसे डरने का कारण आगे कहते हैं।

(४) 'देखत जग्य निसाचर···'—अर्थात् जप-योग के समय सामान्य डर रहता था, पर यज्ञ का धुआँ दूर से देखकर राक्षस तुरत दौड़ते थे। इससे यज्ञ में 'अति डर' होता था। 'दुख पावहिं'—अर्थात् दुःख सहते हैं, पर प्रतिकार नहीं करते, क्योंकि शाप देने में क्रोध करना होता है। क्रोध से पाप होता है; यथा—"सापे पाप नये निदरत खल······" (गी॰ बा॰ ४५)। यह यज्ञ ही ऐसा है कि इसमें शाप नहीं देना चाहिये। यथा—"न च मे क्रोधमुत्स्रष्टुं बुद्धिर्भवति पार्थिव ॥ तथा भूताहि सा चर्या न शापस्तत्रमुच्यते।" (वाल्मी॰ १।१९।७-८)। 'उपद्रव'—"राक्षस वेदी पर मांस फेंकते और रुधिर की वृष्टि कर देते हैं।" (वाल्मी॰ १।१९।६)।

गाधितनय-मन चिंता ब्यापी । हरि बिनु मरहिं न निसिचर पापी ॥५॥
तब मुनिवर मन कीन्ह बिचारा । प्रभु अवतरेउ हरन महिभारा ॥६॥
येहू मिस देखउँ पद जाई । करि बिनती आनउँ दोउ भाई ॥७॥
ज्ञान-बिराग - सकल - गुन - अयना । सो प्रभु मैं देखब भरि नयना ॥८॥

दोहा—बहु बिधि करत मनोरथ, जात लागि नहिं बार ।
करि मज्जन सरजूजल, गये भूप दरबार ॥२०६॥

शब्दार्थ—मिस = बहाना । ब्यापी = विशेष उत्पन्न हुई, फैल गई । अयन = घर । बार = देर । दरबार = द्वार ।

अर्थ—गाधिपुत्र विश्वामित्र के मन में विशेष चिन्ता हुई कि बिना भगवान् के पापी निशाचर नहीं मरेंगे ॥५॥ तब मुनिश्रेष्ठ ने मन में विचार किया कि पृथिवी का भार हरनेवाले प्रभु ने अवतार लिया है ॥६॥ इस बहाने भी जाकर उनके चरणों के दर्शन करूँ और प्रार्थना करके दोनों भाइयों को ले आऊँ ॥७॥ जो प्रभु ज्ञान, वैराग्य और सब गुणों के स्थान हैं, उनको मैं आँखें भरकर देखूँगा ॥८॥ बहुत प्रकार से मनोरथ करते हुए जाने में देर न लगी । सरयू-जल में स्नान करके राजा के द्वार पर गये ॥२०६॥

विशेष—(१) 'गाधितनय मन ...'—चिन्ता राजाओं को होती है, मुनियों को नहीं; इसलिये पिता (राजा गाधि)-सम्बन्धी नाम दिया गया । यह भी भाव है कि मुनि राजा के पुत्र हैं और युद्ध-विद्या में कुशल भी हैं । फिर भी स्वयं मारने का उद्योग नहीं किया, क्योंकि ज्ञानी हैं, जानते हैं—"हरि बनु मरिहिं न निसिचर पापी ।" व्यर्थ ही युद्ध के उद्योग से कष्ट से पाये हुए ब्रह्मर्षि पद की हानि होगी ।

(२) 'तब मुनिवर मन कीन्ह बिचारा ...'—यहाँ विचार करने में 'मुनिवर' कहा गया, क्योंकि मुनि विचारवान् होते ही हैं । जैसे प्रभु का अवतार जाना, वैसे उपयुक्त समय भी जान लिया कि अब श्रीरामजी की शस्त्रास्त्रकुशलता का भी परिचय राजा को हो गया और साथ ही श्रीरामजी के लीला-कार्य प्रारंभ का समय भी जान लिया, क्योंकि मुनि त्रिकालज्ञ हैं । सत्योपाख्यान (अ० ५३) में यह भी लिखा है कि विश्वामित्रजी को स्वप्न में शिवजी ने कहा है ; तब वे अयोध्या आये ।

(३) 'येहू मिस देखउँ पद'...'ये ज्ञानी हैं; अतएव जानते हैं कि प्रभु सब साधनों के फल हैं । यथा—"बिनु प्रयास सब साधन को फल प्रभु पाये (गी० अ० २) । उनको प्राप्त कर उनसे यज्ञरूप साधन की रक्षा कराना अयोग्य है । अतः, अपनी दृष्टि से वे चरण-दर्शन ही को जाते हैं । यज्ञ का तो केवल बहाना है । तो फिर प्रभु से यज्ञ-रक्षा क्यों करावेंगे ? इसका उत्तर यह है कि प्रभु का अवतार ही 'हरन महिभारा' और 'धर्म संस्थापनार्थ' है । अत , यह उनकी लीला का कार्य है । पुनः यह भी कहा जाता है कि यज्ञ-रक्षा के बहाने उनका ऐश्वर्य भी नहीं खुलेगा ।

'करि बिनती आनउँ ' '—राजा दशरथ ने बड़े सुकृत से प्रभु को प्राप्त किया है । देना कठिन है, पर उन्हें विनती से प्रसन्न करके माँग लाऊँगा । यथा—"राजन रामलषन जो दीजै । जस रावरो, लाभ ढोटनिहूँ मुनि सनाथ सब कीजै ॥" (गी० बा० ४८) ; "सादर समाचार नृप बूझिहैं हौं सब कथा सुनइहौं । तुलसी है कृतकृत्य आश्रमहिं रामलषन लै आइहौं ॥" (गी० बा० ४९) ।

(४) 'ज्ञान बिराग-सकल-गुन अयना ।'...'—ज्ञान से हमारे हृदय की जानेंगे और विराग से माया-

पिता एवं गृह-सुख का सम्बन्ध छोड़कर हमारे साथ होंगे। 'सकल गुन' में कृपा, दया, युद्ध-विद्या आदि भी हैं अर्थात् हमारे ऊपर कृपा करेंगे। रण-कुशलता से राक्षसों का भय न करेंगे।

(४) 'बहु बिधि करत मनोरथ ··'—प्रभु सम्बंधी मनोरथ होने से प्रेमोद्गार के साथ जाने में माग नहीं जान पड़ा। अतः, 'जात लागि नहिं बार' कहा गया है। यथा—"करत मनोरथ जात पुलकि, प्रगटत आनंद नयो। तुलसी प्रभु-अनुराग उमँगि मग मंगलमूल भयो॥" (गी० बा० ४५); मनोरथ, यथा—"आजु सकल सुकृत फल पाइहौं। सुख की सींव, अवधि आनँद की, अवध विलोकिहौं पाइहौं॥ सुतन्हि सहित दसरथहिं देखिहौं, प्रेम पुलकि उर लाइहौं। रामचंद-मुखचंद-सुधा-छवि नयन चकोरन्हि प्याइहौं॥ सादर समाचार···" (गी० बा० ४६)।

'करि मज्जन सरजू-जल, गये भूप दरबार।'—प्रथम नित्य क्रिया से निवृत्त होकर ही कहीं जाने की नीति है वा तीर्थ के भाव से प्रथम स्नान करके तब श्रीअवध में भीतर चले। 'दर-बार' का अर्थ वह द्वार जहाँ स्वतः जाने में वारण अर्थात् रुकावट हो। दर (फा०)=द्वार, वारना (क्रि० अ०)—मना करना, अर्थात् जहाँ डेवढ़ी लगती है, बिना आज्ञा लिये कोई नहीं जाने पाता। यथा—"एक प्रविसहिं एक निर्गमहिं, भीर भूप दरबार।" (अ० दो० २३); यथा—"गयेउ सभा दरबार तब, सुमिरि राम-पद-कंज" तुरत निसाचर एक पठावा। समाचार रावनहिं जनावा। सुनत बिहँसि बोला दससीसा। आनहु बोलि कहाँ कर कीसा॥" (लं० दो० १८)। यहाँ भी आज्ञा लेकर भीतर जाना दरबार पर कहा गया है।

इस दोहे के तीसरे चरण में एक मात्रा कम है ; अतएव अन्तिम 'जल' शब्द के 'ल' को विकल्प से दीर्घ पढ़ना चाहिये। ऐसा नियम है; यथा—"पादान्तस्थो गुरुः विकल्पेन" (श्रुतबोध)।

मुनि-आगमन सुना जब राजा। मिलन गयेउ लै बिप्रसमाजा॥१॥
करि दंडवत मुनिहिं सनमानी। निज आसन बैठारेन्हि आनी॥२॥
चरन पखारि कीन्हि अति पूजा। मो सम आजु धन्य नहिं दूजा॥३॥
बिबिध भाँति भोजन करवावा। मुनिवर हृदय हरष अति पावा॥४॥

अर्थ—जब राजा दशरथ ने मुनि का आना सुना तब विप्र-समाज को साथ लेकर मिलने गये॥१॥ दंडवत्-प्रणाम करके मुनि का सम्मान करते हुए अपने आसन पर उन्हें ला बैठाया॥२॥ (उनके) चरण धोकर उनकी सम्यक् प्रकार से पूजा की और कहा कि मेरे समान भाग्यवान् आज दूसरा नहीं है॥३॥ उन्हें तरह-तरह के भोजन करवाये। मुनि-श्रेष्ठ हृदय में बड़े हर्षित हुए॥४॥

विशेष—(१) 'लै बिप्र समाजा'—विश्वामित्रजी ब्रह्मर्षि हैं। अतः, उनकी अगवानी विप्र-समाज को साथ लेकर की, क्योंकि सजातीय वृन्द देखकर उन्हें हर्ष होगा।

(२) 'करि दंडवत मुनिहिं···'—दंडवत् प्रणाम किया, अर्घ्य-पाँवड़े देते हुए लाये, फिर राज-सिंहासन पर बैठाया, यह सम्मान किया। 'निज आसन' देकर यह भी जनाया कि यह राज्य आप ही का है। 'अति पूजा'—षोड़शोपचार की एक-एक विधि प्रेम एवं विस्तार से की; क्योंकि मुनि ने स्वयं कृपा करके दर्शन दिये हैं, इससे अपना बड़ा भाग्य समझा। 'मो सम आजु धन्य···'—यह सम्मान करने की बड़े लोगों की रीति है। यह भी ध्वनित होता है कि मुनि अभी तक किसी दूसरे राजा के द्वार पर नहीं गये थे; यथा—"देखि मुनि ! रावरे पद आज। भयो प्रथम गनती में अब ते हौं जहँ लौं साधु-समाज।" (गी० बा० ४७)।

(३) 'हरप अति पावा'—विप्र-समाज को साथ लेकर उनकी अगवानी की, सम्मान और अति पूजा की, आगमन पर अपना भाग्य सराहा, षट्रस भोजन करवाया। राजा के इन सब कृत्यों से मुनि को आशा हुई कि यहाँ मेरा मनोरथ भी सिद्ध होगा, अतएव अत्यंत हर्ष हुआ।

पुनि चरननिन्ह मेले सुत चारी। राम देखि मुनि देह बिसारी ॥५॥
भये मगन देखत मुख सोभा। जनु चकोर पूरनससि लोभा ॥६॥
तब मन हरषि बचन कह राऊ। मुनि अस कृपा न कीन्हिहु काऊ ॥७॥
केहि कारन आगमन तुम्हारा। कहहु सो करत न लावउँ बारा ॥८॥

अर्थ—फिर चारो पुत्रों को मुनि के चरणों पर डाला (प्रणाम कराया)। श्रीरामजी को देखकर मुनि शरीर की सुधि भूल गये ॥५॥ (रामजी के) मुख की शोभा देखते ही वे ऐसे निमग्न हुए; मानों पूर्णचन्द्र को देखकर चकोर लुभा गया हो ॥६॥ तब राजा मन में प्रसन्न होकर वचन बोले कि हे मुनि! ऐसी कृपा तो आपने कभी न की थी ॥७॥ किस कारण आपका आगमन हुआ? कहिये, उसके (पूर्ण) करने में देर न करूँगा ॥८॥

विशेष—'भये मगन···'—स्नेह की मग्नता से देह-सुधि को भूलना—इससे प्रकट हो गया कि मुनि आशीर्वाद तक देना भूल गये—टकटकी लगाकर देखते ही रह गये। मुख पर दृष्टि रह जाना वात्सल्य भाव का सूचक है। यथा—"जननिन्ह सादर बदन निहारे।" (दो० ३५७)। 'तब मन हरषि'···'—अपने पुत्रों पर मुनि की कृपादृष्टि एवं प्रसन्नता और स्नेह देखकर राजा को हर्ष हुआ।

असुरसमूह सतावहिं मोही। मैं जाचन आयेउँ नृप तोही ॥९॥
अनुज-समेत देहु रघुनाथा। निसिचर-बध मैं होब सनाथा ॥१०॥

दोहा—देहु भूप मन हरषित, तजहु मोह अज्ञान।
धरम सुजस प्रभु तुम्ह कहँ, इन कहँ अति कल्यान ॥२०७॥

अर्थ—हे राजन्! मुझे राक्षस वृन्द दुःख देते हैं, इसलिये मैं तुमसे माँगने आया हूँ ॥९॥ छोटे भाई (लक्ष्मण) के साथ रघुनाथ श्रीरामजी को दीजिये, निशिचरों का वध होने से मैं सनाथ हूँगा ॥१०॥ हे राजन्! प्रसन्न मन से दीजिये; मोह और अज्ञान छोड़िये, हे प्रभो! आपको धर्म और सुयश होगा और इनका अत्यन्त कल्याण होगा ॥२०७॥

विशेष—(१) 'मोही' और 'तोही'—अर्थात् मेरे समान याचक आपको दूसरा न मिला होगा और न आपके समान कोई दूसरा दानी है कि जिसके यहाँ मैं याचक बनता।

(२) 'अनुज-समेत देहु···'—अनुज तो भरत भी यहाँ साथ ही हैं, पर पायस के भाग के अनुसार कौशल्याजी के हाथ से दिये हुए भाग से लक्ष्मणजी रामानुज-रूप में मुख्य कहे जाते हैं, यथा—"रामअनुज जग जान" (अ० दो० १२१); तथा शत्रुघ्नजी 'भरतानुज' कहाते हैं, यथा—"सानुज निदरि

निपातउँ…" (अ० दो० २११)। पुनः पृथ्वी का भार उतारने के लिये लक्ष्मणजी का अवतार ही है—"सेष सहस्रसीस जग-कारन। जो अवतरेउ भूमि-भयटारन॥" (दो० १६)। अतः, इन्हीं को साथ माँगा।

'होब सनाथा'—अभी मुझे अनाथ (रक्षकहीन) समझकर ये असुर बराबर सताया करते हैं। जब इनका वध होगा, तब रावण के शेष अनुचर समझ जायँगे कि मुनि के कोई समर्थ नाथ हैं। अतः, फिर नहीं सतावेंगे।

(३) 'देहु भूप मन…'—श्रीराम-लक्ष्मण का माँगना सुनते ही राजा की चेष्टा धृत-हीन हो गई, इसलिये मुनि 'नाहीं' करने के पूर्व ही सावधान करते हैं कि हे राजन्! हर्ष-पूर्वक ही दान देना चाहिये, यथा—"देव…तुलसी जिन्हहिं न पुलक तनु, ते जग जीवत जाय॥" (दोहावली ४२)।

'तजहु मोह अज्ञान'—मोह प्राकृत पुत्र भाव के प्रीति-रूप ममत्व को कहते हैं और इन पुत्रों का ऐश्वर्य न जानना अज्ञान है; यथा—"हरपत हौ साँचे सनेह बस सुत-प्रभाव बिनु जाने। बूझिय बाम-देव अरु कुलगुरु, तुम्ह पुनि परम सयाने॥ रिपु रन दलि, मख राखि, कुसल अति, अलप दिनन्हि घर ऐहैं। तुलसिदास रघुबंसतिलक की, कविकुल कीरति गैहैं॥" (गी० बा० ४८)।

(४) 'धरम सुजस प्रभु तुम्ह कहँ'—मुनियों की रक्षा, यज्ञ-रक्षा आदि से धर्म की प्राप्ति होगी, क्योंकि इससे धर्म का प्रचार और देवों का उपकार होगा। पुत्रों के बाहु-बल से राक्षस वध होने और प्रजा के सुखी होने से तथा याचक की तृप्ति से आपका सुयश बढ़ेगा। 'इन्ह कहँ अति कल्यान'—पास ही उपस्थित चारों कुमारों की ओर इशारा करके कहते हैं कि दो जो साथ जायँगे, उनका तो ब्याह होगा ही, शेष दो का भी विवाह हो जायगा, यथा—"कल्यान काज विवाह मंगल…" (दो० १०२)।

वाल्मी० बा० १८।३७–३९ से स्पष्ट है कि राजा पुरोहित और मंत्रियों के साथ पुत्रों के विवाह के लिये चिंतित थे, उसी समय विश्वामित्रजी आये। इससे 'अति कल्यान' से विवाह का ही अर्थ है, यथा—"कौसिक मिस सीय-स्वयंवर गायो।" (गी० बा० १४)। इसमें धनुर्भंग से तीनों लोकों में इनका यश फैलेगा, तुम्हें किसी के ब्याह की चिंता नहीं करनी पड़ेगी।

सुनि राजा अति अप्रिय बानी। हृदय कंप मुखदुति कुम्हिलानी॥१॥
चौथेपन पायेउँ सुत चारी। बिप्र बचन नहिं कहेहु बिचारी॥२॥
माँगहु भूमि धेनु धन कोसा। सरबस देउँ आजु सहरोसा॥३॥
देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं॥४॥
सब सुत प्रिय मोहि प्रान कि नाईं। राम देत नहिं बनइ गुसाईं॥५॥
कहँ निसिचर अति घोर कठोरा। कहँ सुंदर सुत परम किसोरा॥६॥

अर्थ—मुनि की अत्यन्त अप्रिय वाणी सुनकर राजा का हृदय काँप उठा और मुख की कान्ति फीकी पड़ गई॥१॥ (वे बोले) हे विप्र! आपने विचारकर वचन नहीं कहे। मैंने चौथेपन में चार पुत्र पाये हैं॥२॥ भूमि, गाय, धन, खजाना—जो माँगिये, मैं हर्ष एवं उत्साहके साथ आज सब कुछ दे डालूँगा॥३॥ देह और प्राण से अधिक प्यारी कोई वस्तु नहीं होती, वह भी मैं पलक-मात्र में दे दूँगा॥४॥ (यों तो) सब पुत्र मुझे प्राणों की तरह प्रिय हैं, पर हे गोस्वामी! राम को तो देते ही नहीं बनता॥५॥ कहाँ वे बड़े भयंकर कठोर राक्षस और कहाँ परम किशोर अवस्था के ये सुन्दर बालक!॥६॥

विशेष—(१) 'अति अप्रिय बानी'—प्रथम का वचन—'अनुज समेत देहु···' अप्रिय लगा, क्योंकि प्राण-प्रिय पुत्रों का वियोग होता। फिर—'निसिचर बध···' तो 'अति अप्रिय' लगा।

प्रथम राजा मन, वचन और कर्म से प्रसन्न थे, यथा—"तब मन हरषि बचन कह राऊ। केहि कारन आगमन तुम्हारा। कहहु सो करत न लावउँ बारा॥" (दो० १०६)। अब तीनों से मलिन पड़ गये, यथा—"हृदय कंप"—मन, "मुख दुति कुम्हिलानी"—कर्म और —"राम देत नहिं बनइ गोसाईं॥" वचन। राजा दान में वीर हैं, पर यह श्रीराम-प्रेम की महिमा है, यथा—"मोह मगन मति नहि बिदेह की। महिमा सिय रघुबर सनेह की॥" (अ० दो० २८५)। परम प्रिय एवं अति कोमल पुत्रों का वियोग और उनका घोर राक्षसों से सामना होना हृदय में छा गया, धर्म-सुयशवाले वचनों के गूढ़ आशय पर वृत्ति जाने ही नहीं पाई।

(२) 'चौथेपन पायेउँ सुत···'—तरुणावस्था होती तो और पुत्रों की भी आशा रहती। अतः, चौथेपन में उत्पन्न संतान का अति प्रिय होना सहज ही है। उस समय राजा साठ हजार वर्षों के हो चले थे। यथा—"षष्टि वर्ष सहस्राणि जातस्य मम कौशिक। कृच्छ्रेणोत्पादितश्चायं न रामं नेतुमर्हसि।" (वाल्मी० बा० २०।११)

'बिप्र बचन नहिं···'—विप्र वेदवेत्ता होते हैं। यथा—"वेदपाठी भवेद्विप्रः" (मनु०); आप तो वेद के ऋषि ही हैं। अतः, विचार कर बात कहनी चाहिये। आपने यह न सोचा कि चौथेपन में उत्पन्न संतान का वियोग पिता को कैसे सहन होगा और न यही विचारा कि बालक अत्यन्त सुकुमार हैं। तब देने की प्रतिज्ञा क्यों की? इसपर आगे कहते हैं कि—'माँगहु भूमि···'—राजा के लिये भूमि मुख्य है, उसे प्रथम कहा; अर्थात् ये सब चीजें माँगने की हैं, इन्हें माँगिये। मुनि ने कहा था—"मैं जाँचन आयेउँ···' इसपर आप कहते हैं कि 'माँगहु···'।

(३) 'सरबस देउँ आजु सहरोसा'—'आजु' अर्थात् सर्वस्व देने की सदा श्रद्धा नहीं रहती, इसलिये 'आजु' कहते हैं, क्योंकि बड़े भाग्य से आप ऐसे याचक मिले हैं। 'सहरोसा' शब्द सहर्षा का विकृत रूप है; अर्थात् हर्ष या उत्साह-पूर्वक, यथा—"सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा।" (बा० दो० १२); छंदानुरोध से 'हरषा' का हरोषा, हरोसा किया गया है। अथवा 'रोष' का अर्थ जोश भी होता है, यथा—"बंदउँ खल जस सेष सरोषा।" (दो० ३), तथा—"बिगत जलद नभ नील खड्ग यह रोस बढ़ावत।" (हरिश्चन्द्र); इससे 'सहरोसा' का अर्थ उत्साह-पूर्वक ही होगा।

(४) 'देह प्रान तें प्रिय···'—प्रथम भूमि आदि प्रिय पदार्थ कहे, अब देह-प्राण रूप परम प्रिय पदार्थ देने को कहा, यथा—"सब के देह परम प्रिय स्वामी।" (सुं० दो० २१)। देह-प्राण देने में कष्ट एवं कठिनता होती है, पर मैं उन्हें पलक भर में ही दे सकता हूँ। देह-प्राण देने का आशय यह है कि बालक अति सुकुमार हैं, उनके बदले में चलकर युद्ध में देह-प्राण दूँगा, क्योंकि युद्ध में ये ही काम आते हैं। वाल्मीकीय में राजा ने जब जाना कि उन राक्षसों का मालिक रावण है, तब कहा कि उससे तो देवता भी नहीं जीत सकते, हम मनुष्यों का क्या सामर्थ्य है (बा० स० २०)? पर, यहाँ यह भाव उत्तम रूप में आया कि हम न भी जीतें, तो भी देह-प्राण देने को तैयार हैं।

(५) 'सब सुत प्रिय मोहि···'—अर्थात् भरत आदि को भी नहीं माँगे, उत्तरार्द्ध में श्रीरामजी को पृथक् करके कहा, क्योंकि मुनि ने प्रधान रूप से उन्हीं को माँगा है—"अनुज समेत देहु रघुनाथा।···"। 'राम देत नहिं बनइ'—क्योंकि ये ज्येष्ठ पुत्र हैं जो पिता का अधिक प्यारा होता है। पुनः पूर्व मनु के वरदान के अनुसार—'जीवन राम-दरस आधीना।' भी कारण है। यथा—"चतुर्णामात्मजानां हि प्रीतिः परमिका मम॥ ज्येष्ठे धर्मप्रधाने च न रामं नेतुमर्हसि।" (वाल्मी० बा० २०।१२) यहाँ श्रीरामजी को प्राणों से भी

अधिक प्रिय कहा, यथा—"प्रान ते अधिक राम प्रिय मोरे।" (अ० दो० ३१)। क्योंकि ये प्राणों के भी प्राण अर्थात् प्रकाशक हैं, यथा—"प्रान प्रान के जीव के, जिय सुख के सुख राम।" (अ० दो० २९०)।

(६) 'कहँ निसिचर अति घोर'···'—अर्थात् वे राक्षस अति घोर, ये अति सुंदर; वे अति कठोर, ये 'मृदु परम किसोर'—इस अयोग्यता को भी आपने नहीं विचारा! यह तो पृथिवी और आकाश का-सा अंतर है!

सुनि नृपगिरा प्रेम-रस सानी। हृदय हरष माना मुनि ज्ञानी ॥७॥
तव वसिष्ठ बहु विधि समुझावा। नृपसंदेह नास कहँ पावा ॥८॥
अति आदर दोउ तनय बोलाये। हृदय लाइ बहु भाँति सिखाये ॥९॥
मेरे प्राननाथ सुत दोऊ। तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ ॥१०॥

दोहा—सौंपे भूप रिषिहिं सुत, बहु विधि देइ असीस।
जननी-भवन गये प्रभु, चले नाइ पद सीस ॥

अर्थ—प्रेम-रस में सनी हुई राजा की वाणी सुनकर ज्ञानी मुनि विश्वामित्र ने हृदय में हर्ष माना ॥७॥ तव वसिष्ठजी ने राजा को बहुत तरह से समझाया, (उससे) राजा का संदेह नाश हुआ ॥८॥ और अत्यंत आदर से दोनों पुत्रों को बुलाकर हृदय से लगाया और बहुत प्रकार से सिखाया ॥९॥ हे नाथ! ये दोनो ही पुत्र मेरे प्राण हैं, हे मुनि! आप ही इनके पिता हैं और कोई नहीं ॥१०॥ राजा ने बहुत तरह से आशीष देकर ऋषि को पुत्र सौंप दिये। तब प्रभु माता के महल में गये और (उनके) चरणों में माथा नवाकर चल दिये ॥२०८॥

विशेष—(१) 'हृदय हरष माना'···'—मुनि कोरे ज्ञानी ही नहीं हैं, प्रेमी भी हैं। अतः, प्रेम-रस में सानी हुई वाणी से हर्ष ही माना, क्योंकि प्रेम से ज्ञान की शोभा है यथा—"सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू।" (अ० दो० २७६)। हृदय में ही हर्ष माना; अर्थात् ऊपर से रुखाई भी दिखाई; अन्यथा उनके कार्य में बाधा होती। इसमें वाल्मी० बा० स० २०–२१ में कहा हुआ रोष भी जना दिया। पुनः मुनि ज्ञानी हैं, इसीसे राजा के सप्रेम वचनों पर हृदय से उमड़े हुए प्रेम को हृदय में ही छिपा रक्खा; अन्यथा कार्य बिगड़ता।

(२) 'तव वसिष्ठ बहु विधि ···'—वसिष्ठजी ने अलग एकान्त में ले जाकर राजा को समझाया, क्योंकि आगे दोनों पुत्रों को विश्वामित्रजी के पास से बुलाना कहा गया है। 'अति आदर दोउ···' श्रीरामजी विश्वामित्रजी के पास थे। अतः, वहाँ पर नहीं समझाया, क्योंकि समझाने में श्रीरामजी का ऐश्वर्य भी कहना है जिसे सवपर प्रकट करना अनुचित होता। पुत्र (शिष्य) और सेवक आदि छोटों की प्रशंसा उनके सामने करने की रीति नहीं है। यथा—"प्रत्यक्षे गुरवः स्तुत्याः परोक्षे सेवकाः सुताः॥" (गरुडपुराण)

'बहु विधि'—(क) आप इक्ष्वाकुवंश में परम धर्मात्मा हैं। प्रतिज्ञा-भ्रष्ट होने से सब धर्म नष्ट हो जाते हैं। अत., आप धर्म न छोड़ें। श्रीरामजी रण के योग्य हों चाहे अयोग्य; जब महातेजस्वी विश्वामित्र रक्षक हैं तब भय न करें। साथ ही विश्वामित्र का महत्त्व भी खूब बतलाया और कहा कि ये आपके पुत्रों का विशेष कल्याण करेंगे, इत्यादि—(वाल्मी० बा० स० २१)। (ख) श्रीरामजी का ऐश्वर्य भी कहा, यथा—"गुरु वसिष्ठ समझाय कह्यो तब, हिय हरषाने जाने सेषसयन।" (गी० बा० ४१)।

समझाने के कारण—(क) विश्वामित्र बड़े क्रुद्ध हुए, पृथिवी हिलने लगी, तब अवसर देखकर

गुरुजी ने स्वयं समझाया। (ख) विश्वामित्रजी ने ही कहा था—"डरपत हौ साँचे सनेह बस सुत-प्रभाव बिनु जाने। बूझिय वामदेव अरु कुलगुरु तुम्ह पुनि परम सयाने॥" (गी० बा० ४८), राजा ने पूछा तो गुरुजी ने श्रीरामजी का ऐश्वर्य कहकर समझाया। (ग) राजा को प्रेम में विह्वल देखकर गुरुजी ने स्वयं समझाया, यथा—"ठगि से रहे नृप सुनि मुनिवर के बयन। कहि न सकत कछु ''गुरु वसिष्ठ समझाय कह्यो तब ''" (गी० बा० ४८)। 'बहु बिधि' में बहुत प्रकार के कारणों से एवं बहुत प्रकार से समझाने की मतभेद एवं कल्पभेद से जो विभिन्न रीतियाँ हैं, इसमें सब आ गईं। 'अति आदर दोउ ''—आदर से तो सदा ही बुलाते थे। आज वियोग जानकर और तुरत ही ऐश्वर्य जानने पर 'अति आदर' से बुलाया। 'हृदय लाइ'—यद्यपि ऐश्वर्य सुना था, तथापि रामजी के सम्मुख आने पर मुख देखते ही वात्सल्य ने ऐश्वर्य को भुला दिया। इससे हृदय लगाया और शिक्षा देने लगे कि इन्हें (विश्वामित्रजी को) ही गुरु पिता-माता जानकर इनकी सेवा करना और आज्ञा मानना। गुरु-सेवा का महत्त्व भी कहा, यथा—"जे गुरु चरन-रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल विभव बस करहीं॥" (अ० दो० २), इत्यादि बहुत तरह सिखाना है।

(३) 'मेरे प्राननाथ ''—ये दोनों मेरे प्राण हैं, यथा—"सुत हिय लाइ दुसह दुख मेटे। मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे॥" (दो० २०७)। अत, इनकी रक्षा से मेरे प्राणों की रक्षा होगी। 'तुम्ह मुनि पिता'—यहाँ अपना पितृत्व मुनि में स्थापित किया। प्राण-रूप पुत्रों के वियोग में राजा कैसे जीते रहे? यह दोहा १६ में लिखा गया है।

(४) 'सौंपे भूप रिषिहिं सुत ''—मुनि को पिता बना चुके, तब अब श्रीरामजी उनके ही हैं। अत, उनकी वस्तु उन्हें देने को सौंपना कहा। 'जननी-भवन '—माता के यहाँ गये और माथा नवाकर तुरंत चल दिये, क्योंकि मुनि के साथ जाने एव पिता के वचन पालने में श्रद्धा है। 'बहु बिधि देइ असीस' और 'नाइ पद सीस' दोनों को दोनों ही जगह लगाना चाहिये। यह काव्य-गुण एव ग्रंथकार की रीति है। पहले भी इसपर लिखा गया है।

शंका—पिता तो वियोग समझकर इतने विह्वल हुए, पर माता ने कुछ न कहा?

समाधान—माता को आगमी (ज्योतिषी) द्वारा जाना हुआ था कि कौशिक के द्वारा ब्याह होगा। यह गी० बा० १४ में कहा है। इन्हें अलौकिक विवेक प्राप्त है और यह अन्न प्राशन के समय ऐश्वर्य देखने से दृढ भी हो गया है, किंतु फिर भी कुछ ही दिनों के पीछे वात्सल्य से चिंतित होंगी, यथा—"मेरे बालक कैसे धौं मग निबहैंगे।' रिषि नृप सीस ठगौरी सी डारी।''" (गी० बा० १७—१८) इन पदों में विस्तार से कहा है।

सोरठा—पुरुषसिंह दोउ बीर, हरषि चले मुनि-भय-हरन।
कृपासिंधु मतिधीर, अखिल-बिस्व कारन करन ॥२०८॥

अर्थ—पुरुषों में सिंह-रूप, कृपा के समुद्र, धीर बुद्धि और निःशेष जगत् के कारण और करण दोनों वीर मुनि के भय हरने के लिये हर्ष के साथ चले।

विशेष—(१) 'पुरुषसिंह दोउ बीर'''—सिंह निर्भय अकेला ही हाथियों का नाश करता है, वैसे बिना सेना के ही ये दोनों वीर घोर निशाचरों का नाश करेंगे। सेना आदि के न लेने के कई कारण कहे जाते हैं। (क) इन राक्षसों को किसी मुनि का शाप था कि तुमलोग रथरहित बालक के द्वारा निरादर-

पूर्वक मारे जाओगे। (ख) यह भी संभव था कि भारी सेना आदि देखकर वे लड़ने न आते तो भी मुनि का भय बना ही रहता। (ग) श्रीरामजी का लीला-विधान ऐसा ही था—यह तो प्रधान ही है। ये 'बीर' हैं, अतः, हर्ष-पूर्वक युद्ध के लिये चले और सेना तथा सहायक भी न लिये। मुनि के भय-हरण के लिये जाते हैं। अतः, 'कृपासिंधु' कहे गये। माता-पिता एवं गृह के सुख के त्याग में उत्साह बना है। अतः, 'मतिधीर' कहे गये।

(२) 'अखिल बिस्व कारन करन'—श्रीरामजी सम्पूर्ण जगत् के परम कारण हैं। यथा—"वन्देऽहं तमशेषकारणपरम्…" (.मं० श्लोक) और लक्ष्मणजी जगत्मात्र के करण हैं, क्योंकि जीवमात्र के नियामक एवं प्रतिनिधि हैं और संपूर्ण जीव जगत् के करण हैं। 'करण' का अर्थ यह है कि जिसके द्वारा कर्त्ता क्रिया को सिद्ध करता है। व्याकरण में यह एक कारक है, वैसे जीव के द्वारा ही भगवान् जगत् का व्यापार धारण करते हैं। यथा—"प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥" (गी० ७।५); तथा—"निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।" (गीता ११।३३)। अतः, पृथ्वी का भार उतारने में दोनों का प्रयोजन है।

'बीर'—वीरता पाँच प्रकार की है। यहाँ श्रीरामजी में इसके पाँचो भेद कहे गये हैं। यथा—"त्यागवीरो दयावीरो विद्यावीरो विचक्षणः। पराक्रममहावीरो धर्मवीरश्च शाश्वतः॥ पञ्चवीराः समाख्याता राम एव स पंचधा। रघुवीर इति ख्यातः सर्ववीरोपलक्षणः॥" (श्रीभगवद्गुणदर्पण)। यहाँ 'पुरुषसिंह' में पराक्रम-वीरता, 'हरषि चले मुनि-भय-हरन' में धर्मवीरता, 'कृपासिंधु' में दयावीरता, 'मतिधीर' में त्याग-वीरता और 'अखिल विश्व कारन करन' में ऐश्वर्य दृष्टि से विद्यावीरता है। माधुर्य की युद्धविद्यावीरता आगे प्रकट होगी कि एक बाण से ताटका को, बिना फर के बाण से मारीच को और अग्निबाण से सुबाहु को मारेंगे। लक्ष्मणजी अकेले ही सारी सेना को मार डालेंगे।

अरुन नयन उर बाहु बिसाला। नीलजलद तनु स्याम तमाला॥१॥
कटि पट पीत कसे बर भाथा। रुचिर-चाप-सायक दुहुँ हाथा॥२॥
स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। बिस्वामित्र महानिधि पाई॥३॥
प्रभु ब्रह्मन्यदेव मैं जाना। मोहि निति पिता तजेउ भगवाना॥४॥

शब्दार्थ—*ब्रह्मन्यदेव = ब्राह्मण ही जिनके देवता हैं, ब्राह्मणों पर श्रद्धा रखनेवाले।*

अर्थ—(रामजी के) नेत्र लाल, छाती और भुजाएँ लंबी-चौड़ी और शरीर नील मेघ और श्याम तमाल वृक्ष की तरह श्याम है॥१॥ कमर में पीताम्बर है जिसमें तरकश कसे हुए हैं और दोनों हाथों में सुन्दर धनुष और बाण हैं॥२॥ दोनो भाई सुन्दर हैं—एक साँवले और दूसरे गोरे, (मानों) विश्वामित्र ने बड़ी निधि पाई है॥३॥ (मुनि सोचते हैं,) मैंने जान लिया कि प्रभु ब्रह्मण्यदेव हैं, (क्योंकि) भगवान् ने मेरे लिये पिता का त्याग किया॥४॥

विशेष—(१) 'अरुन नयन उर…'—नेत्र की अरुणता से लेकर कमर तक ही का वर्णन है, अतः, यह ध्यान वीर रस का है। यथा—"लछिमन चले क्रुद्ध होइ, बान सरासन हाथ॥ छतज नयन उर बाहु बिसाला। हिमगिरि निभ तनु कछु एक काला॥" (लं० दो० ५२)। मेघ और वृक्ष दोनो परोपकारी हैं; श्रीरामजी भी परोपकार के लिये चले हैं। अतः, उपमाएँ युक्त हैं। यह ध्यान प्रपन्नों (शरणागतों) को सुखद और खलों को दुःखद है। यथा—"भुज प्रलंब कंजारुन लोचन। स्यामल गात प्रनत-भयमोचन॥" (सुं० दो० ४४)।

श्रीरामजी भी मुनियों को सुख और खलों को दंड देने चले हैं। जलद की उपमा में दोनों युक्त हैं। यथा—"बरषि बिस्व हरषित करत, हरत ताप अघ प्यास। तुलसी दोष न जलद को, जो जल जरइ जवास॥" (दोहावली ३७८)। यहाँ पर यह वीर रस का ध्यान प्रथम दिग्विजय-यात्रा के लक्ष्य से है, क्योंकि इसमें निशाचर-वध, धनुर्भंग और परशुराम-पराजय से रामजी की दिग्विजय होगी।

(२) 'कटि पट पीत'···'—पीताम्बर भी वीर रस का ही साज है। यथा—"पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः।" (भाग० दशम स्कं०)। 'वरमाथा'—अर्थात् तूण अक्षय्य है, इसमें से चाहे जितने ही बाण निकलें, किंतु यह भरा ही रहता है। 'रुचिर'—सुंदर एवं सफल। यथा—"करतल चाप रुचिर सर साँधा।" (अ० दो० २९); "जो मृग राम-बान के मारे। ते तनु तजि सुरलोक सिधारे॥" (दो० २०७)।

(३) 'स्याम गौर ···'– ऊपर 'दोउ बीर' से वर्णन प्रारंभ करके बीच में केवल श्रीरामजी का ध्यान कहा और साथ में लक्ष्मणजी भी हैं, यहाँ स्याम-गौर कहकर केवल-वर्णमात्र में भेद दिखाया। शेष वे ही बातें श्रीलक्ष्मणजी में भी हैं।

'महानिधि पाई'—निधि राजा के यहाँ से प्राप्त होती है, वैसे ये दोनों भाई भी राजा के यहाँ से प्राप्त हुए हैं। निधियाँ दो प्रकार की होती हैं—एक नील और दूसरी शंख वर्ण की; वैसे ही स्याम-गौर दोनों भाई हैं। 'महानिधि' अर्थात् असंख्य धन। 'पाई' अर्थात् पाया हुआ धन थोड़े काल तक रहता है, वैसे ये दोनों भाई फिर अयोध्या ही में आ जायँगे। निधि नव हैं "महापद्मश्च पद्मश्च शंखो मकरकच्छपौ। मुकुंदकुंदनीलश्च खर्वश्च निधयो नव॥"।

(४) 'प्रभु ब्रह्मन्यदेव ·····' ब्राह्मणों पर श्रद्धा रखते हैं और राक्षस-वध में प्रभु अर्थात् समर्थ हैं और भगवान् हैं। अतः, मेरी हार्दिक गति जान ली और भक्त जानकर रक्षार्थ पैदल आ रहे हैं—यद्यपि षडैश्वर्य पूर्ण हैं। अतः, मुझसे कोई प्रयोजन नहीं है। भगवान्, यथा—"उत्पत्तिं प्रलयं चैव जीवानामगतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥" 'मैं जाना'—यह इनका स्वकीय ज्ञान है। अत, इसे प्रभु माधुर्य लीला से आवृत कर देंगे, फिर आगे ताटका-वध से स्वयं अपनेको जनावेंगे, वही यथार्थ ज्ञान होगा। पूर्वोक्त "कहि कथा सुहाई" (दो० १११) का विशेष भी देखिये।

चले जात मुनि दीन्हि देखाई। सुनि ताड़का क्रोध करि धाई॥५॥
एकहि बान प्रान हरि लीन्हा। दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा॥६॥
तब रिषि निज नाथहिं जिय चीन्ही। बिद्यानिधि कहँ बिद्या दीन्ही॥७॥
जाते लागि न छुधा पिपासा। अतुलित बल तनु-तेज प्रकासा॥८॥

दोहा—आयुध सर्व समर्पि कै, प्रभु निज आश्रम आनि।
कंद मूल फल भोजन, दीन्ह भगत-हित जानि॥२०६॥

अर्थ—मार्ग में जाते हुए मुनि ने (ताटका को) दिखा दिया, (मुनि के वचन) सुनकर ताटका क्रोध करके दौड़ी॥५॥ श्रीरामजी ने एक ही बाण से उसके प्राण हर लिये और दीन जानकर उसे 'निज पद' दिया॥६॥ तब ऋषि ने अपने स्वामी को हृदय से जाना और विद्यासागर को विद्या दी॥७॥

जिससे भूख-प्यास न लगे और शरीर मे निःसीम बल और तेज का प्रकाश हो ॥८॥ सब अस्त्र-शस्त्र समर्पण करके प्रभु को अपने आश्रम में ला उन्हें भक्त-हितकारी जानकर कंद-मूल-फल भोजन के लिये दिये ॥२०९॥

विशेष—(१) 'चले जात मुनि······'—वाल्मी० बा० स० २४-२६ में कथा है कि मुनि ने जाते हुए उस वन और ताटका का इतिहास कहा, तब श्रीरामजी ने धनुष का टंकार किया। ताटका शब्द सुनकर इधर को दौड़ी, श्रीरामजी स्त्री जानकर कुछ ढीले पड़े थे, उसका वेग बढ़ता देखकर मुनि ने हुंकार करके उसे डाँटा। इसे सुनकर वह और क्रुद्ध होकर दौड़ी। मुनि ने यहाँ ताटका-वन को एवं टंकार सुनकर आई हुई ताटका को दिखाया है और वह मुनि का हुंकार शब्द सुनकर अधिक क्रुद्ध हुई, तथा धूल आदि की वर्षा की, यह 'सुनि' का अर्थ है।

'दीन्हि देखाई' के पीछे 'सुनि' का यह भी भाव है कि मुनि के दिखाने पर रामजी ने उसे स्त्री जानकर उसपर अस्त्र प्रयोग करना अयोग्य समझा। इसपर मुनि ने समझाया कि इस तरह की दुष्टा स्त्री के वध में दोष नहीं। इन बातों को निकट होने से ताटका ने भी सुना। अतः, क्रोध करके दौड़ी।

स्त्री अवध्य है; फिर क्यों मारा ? इसका समाधान गुरु की आज्ञा का पालन है, यथा—"गुरु-पितु-मातु-स्वामि-हित-बानी।······उचित कि अनुचित किये बिचारू। धरम जाइ सिर पातक भारू॥" (अ० दो० १७६)। मुनि ने ही ऐसी आज्ञा क्यों दी ? इसका समाधान वाल्मी० बा० स० २५, श्लो १७–२२ में है कि प्रजा की रक्षा के लिये ऐसी दुष्टा के मारने में दोष नहीं।

शंका—यहाँ प्रथम स्त्री-वध से ही असुरनाश का श्रीगणेश हुआ, वैसे श्रीकृष्णावतार में भी पूतना-वध से ही प्रारंभ है, यह क्यों ?

समाधान—नाम-वंदना में ताड़का को दुराशा-रूप कहा है, यथा—"सहित दोष दुख दास दुरासा।" (दो० २४) और दुराशा के प्रथम नाश होने से शेष आसुरी संपत्ति का नाश होता है। अतः, दोनों अवतारों में प्रथम स्त्री ही से सामना हुआ। आसुरी सम्पत्ति के नाश के लिये ही अवतार होते हैं।

(२) 'एकहि बान प्रान ······'—निशाचरों को अपना पराक्रम दिखाने और मुनि का भय शीघ्र मिटाने एवं उनकी आज्ञा पालने के लिये शीघ्र ही मार डाला।

'दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा।'—यह प्रथम यक्षिणी थी। अगस्त्यजी के शाप से राक्षसी हुई थी। शापित होने और अबला एवं विधवा होने से दीन हो थी। 'निज पद'—परधाम साकेत को गई। यथा—"खल मनुजाद द्विजामिष-भोगी। पावहिं गति जो जाँचत जोगी॥ ··देहिं परम गति···" (लं० दो० ४४)।

(३) 'तब रिषि निज ···'—प्रथम मुनि ने अपने आश्रम ही से प्रभु को जान लिया था, फिर अभी ऊपर 'मैं जाना' कह आये, यहाँ फिर जी से 'चीन्हना' कहते हैं। इसका भाव यह कि जब दशरथजी ने अपना पितृत्व इन्हें दिया, यथा—"तुम्ह मुनि पिता······" तब वात्सल्य अधिक हुआ। इधर श्रीरामजी ने भी साथ में आते समय अति माधुर्यलीला से इन्हें मोहित करके इनका स्वकीय ज्ञान आवृत कर दिया था। यथा—"पैठत सरनि सिलन चढ़ि चितवत खग मृग बन रुचिराई। सादर सभय सप्रेम पुलकि मुनि पुनि-पुनि लेत बुलाई॥" (गी० बा० ५०); "खेलत चलत करत मग कौतुक बिलमत सरित सरोवर तीर। ·····" (गी० बा० ५१); इत्यादि। फिर अब उन्हें अपने कर्त्तव्य से जनाया; तब जी से पहचाना (चीन्हा)। पूर्वोक्त—"कहि कथा सुहाई" (दो० २११) का विशेष भी देखिये।

'बिद्यानिधि कहुँ बिद्या दीन्ही ।'—'निधि' खजाना। रामजी सम्पूर्ण प्राणियों में प्राप्त-विद्याओं के निधान हैं; इन्हीं से सबको विद्याएँ प्राप्त होती हैं। जैसे समुद्र का ही जल अंजलि में लेकर समुद्र को दे, वैसे विश्वामित्रजी ने अपनेमें विद्यमान विद्याओं को इनकी निधि में समर्पित किया। यथा—"बिद्या दई जानि बिद्यानिधि बिद्यहु लही बड़ाई।" (गी० बा० ५१)। इन विद्याओं के नाम दो हैं—बला और अतिबला।

(३) 'जाते लागि न ······' यथा—"क्षुत्पिपासे न ते राम भविष्येते नरोत्तम। बलामतिबलां चैव पठतस्तव राघव ॥" "न बाह्वोः सदृशो वीर्ये पृथिव्यामस्ति कश्चन ।" "विद्ये तेजःसमन्विते ॥" (वाल्मी० बा० स० २२)।

(४) 'आयुध सर्ब समर्पि कै ·····'—इन आयुधों के नाम—"दण्डं चक्रं महद्दिव्यं···" से—तान्यस्त्राणि तदा विप्रो राघवाय न्यवेदयत् ॥" (वाल्मी० बा० २७।४-२३) तक हैं।

माधुर्य का भाव यह है कि इनके पिता ने सौंपा है, कहीं कंद-मूलाहार एवं भूख-प्यास से दुबले न हो जायँ। अतः, विद्याएँ दीं। निशाचरों से कई दिनों तक लड़ना होगा, अतएव अस्त्रों और शस्त्रों के मंत्र दिये।

ऐश्वर्य के भाव—(क) जीव जिस समय सर्व-शरीरी ब्रह्म को यथार्थ जानता है, तब विद्या आदि प्रकाश एवं साधनादि बल उसीके निश्चित होते हैं, क्योंकि जीव ब्रह्म का शरीर है, शरीर के गुण शरीरी के ही हैं। (ख) मुनि में ब्राह्मणत्व का अहंकार था—"प्रभु ब्रह्मण्यदेव मैं जाना। मोहि निति ···· " (उपर्युक्त)। उसे विद्या समर्पण द्वारा निवृत्त किया, क्योंकि विद्या ही ब्राह्मण का धन है और क्षत्रिय-अवस्था में तप द्वारा अस्त्रों को प्राप्त किया था, उस क्षत्रिय-बल को भी अर्पित करके वह अहंकार भी दूर किया। इस प्रकार सर्वस्व-सहित आत्म-समर्पण किया तब भगवान् इनके सर्वोपाय रूप हुए और इनकी रक्षा की।

'कंद मूल फल भोजन, दीन्ह भगत······'—जब क्षुधा न लगने की विद्या ही दी तब भोजन क्यों दिया? फिर जब ऋद्धि-सिद्धि इनके अधीन हैं तब कन्द आदि ही क्यों दिये? इसका समाधान 'भगत-हित जानि' कहकर किया कि भक्तों के यहाँ जो कुछ आहार होता है, उसीको भगवान् भी प्रेम-पूर्वक अंगीकार करते हैं। मुनि देखते हैं कि हमारे हित के लिये नंगे पैर सवारी के बिना हमारी तरह सभी आचरण कर रहे हैं, तो भोजन भी यही करेंगे। भक्त बिना भगवान् को भोजन कराये स्वयं कैसे करे? इसलिये भोजन भी दिया।

प्रात कहा मुनि सन रघुराई। निर्भय जज्ञ करहु तुम्ह जाई ॥१॥
होम करन लागे मुनि झारी। आपु रहे मख की रखवारी ॥२॥
सुनि मारीच निसाचर क्रोही। लै सहाय धावा मुनिद्रोही ॥३॥
बिनु फर बान राम तेहि मारा। सत जोजन गा सागर पारा ॥४॥
पावकसर सुबाहु पुनि मारा। अनुज निसाचर-कटक सँहारा ॥५॥

शब्दार्थ—झारी=सब, समूह। फर (फल)=अनी, बाण का अग्र भाग अर्थात् नोक।

अर्थ—सबेरे श्रीरघुनाथजी ने कहा कि आप जाकर बेखटके यज्ञ करें ॥१॥ सब-के-सब मुनि होम करने

लगे और आप (रामजी) यज्ञ की रक्षा में रहे ॥२॥ (होम के स्वाहा शब्द एवं समाचार) सुनकर मुनियों के द्रोही, क्रोधी निशाचर मारीच ने सेना लेकर धावा किया ॥३॥ श्रीरामजी ने बिना फल वाले बाण से उसे मारा, जिससे वह सौ योजनवाले समुद्र के पार जा गिरा ॥४॥ फिर अग्निबाण से सुबाहु को मारा और भाई लक्ष्मणजी ने कुल निशाचर-सेना का नाश किया ॥५॥

विशेष—(१) 'प्रात कहा मुनि सन······'—श्रीरामजी मुनि के सब कृत्य का समय जानते हैं, यथा—"समय जानि गुरु-आयसु पाई। लेन प्रसून चले······" (दो० २२६); वैसे यहाँ भी यज्ञ का समय जान गये और कहा। 'निर्भय'—क्योंकि मुनि को भय है—"अति मारीच सुबाहुहि डरहीं।" (दो० २०५)। 'जाई' अर्थात् जाकर यज्ञ करने के लिये कहा, क्योंकि आश्रम से यज्ञशाला पृथक् है।

(२) 'होम करन लागे ·····'—यज्ञ करने को गये, वहाँ उसके अन्य सामान्य विधान करके होम करने लगे। मुख्य होने से होम ही कहा गया। 'लागे'—क्योंकि यह यज्ञ छः दिनों तक हुआ है, यथा—"षष्ठेऽहनि तथा गते" (वाल्मी० बा० ३०।७)। 'झारी'—अर्थात् प्रथम समर्थ मुनि ही यज्ञ करते थे। इस समय श्रीरामजी का बल पाकर सब-के-सब एक साथ ही करने लगे।

'आप रहे मख ·····'—छः दिन-रात एकदम बिना सोये हुए दोनों भाई यज्ञ-रक्षा करते रहे, यथा—"राजपुत्रौ यशस्विनौ। अनिद्रं षडहोरात्रं तपोवनमरक्षताम्॥" (वाल्मी० बा० ३०।५)।

(३) 'सुनि मारीच ·····'—प्रथम कहा गया था—"देखत जज्ञ निसाचर धावहिं।" क्योंकि मुनि लोग छिपे-छिपे यज्ञ करते थे, तब राक्षस धुआँ देखकर दौड़ते थे और अब एक साथ ही स्वाहा की गूँज हो गई, वही सुनकर दौड़े। 'क्रोही' अर्थात् क्रुद्ध होकर दौड़े। 'लै सहाय'—क्योंकि ताटका का वध एक ही बाण से हुआ। अतः, शत्रु को प्रबल जानकर सेना के साथ पूर्ण उत्साह से दौड़ पड़े। आकाश-मार्ग से आये, यथा—"आवार्य गगनं मेघो यथा प्रावृषि दृश्यते।" (वाल्मी० बा० स० ३०); तथा—"बेधे बरगद से बनाय बान-बान हैं।" (हनु० बाहुक ११)।

(४) 'सत जोजन गा···'—अर्थात् लंका में ही एक भाग में जा गिरा। यथा—"जो नाँघइ सत जोजन सागर।" (कि० दो० २८); अतः, शत-योजनवाले सागर के पार गया, इससे आगे लीला का काम लेना है। अतः, जीवित रखने के लिये बिना फल के बाण से मारा। बिना फल के बाण से मारने में कारण के बिना कार्य हुआ। अतः, विभावना अलंकार है। यहाँ सर्वज्ञता दिखाई। शंका—जब लंका में ही जा गिरा तब उसने रावण से क्यों नहीं कहा ? समाधान—श्रीरामजी ने बिना फल के बाण में मानवास्त्र योजित कर दिया था, जिससे वह मोहित होकर भ्रमित-चित्त से भयभीत हो सब ओर श्रीराम-लक्ष्मण ही को देखता था। इससे वन में तपस्वी बनकर पड़ा रहा। रावण के पास जाने की बुद्धि ही न हुई। यथा—"भइ मम कीट भृंग की नाई। जहँ तहँ मैं देखउँ दोउ भाई॥" (आ० दो० २४)। मारीच की कथा वाल्मी० बा० स० ३० में भी देखिये। ताटका आदि की कथाएँ दो० २३ चौ० ४-५ में देखिये।

मारि असुर द्विज-निर्भय-कारी। अस्तुति करहिं देव-मुनि-झारी ॥६॥
तहँ पुनि कछुक दिवस रघुराया। रहे कीन्हि बिप्रन्ह पर दाया ॥७॥
भगत-हेतु बहु कथा पुराना। कहे बिप्र जद्यपि प्रभु जाना ॥८॥

अर्थ—राक्षसों को मारकर ब्राह्मणों को निर्भय किया, सब-के-सब देव-मुनि स्तुति कर रहे हैं ॥६॥

फिर वहाँ और कुछ दिन श्रीरघुनाथजी रहे और रहकर ब्राह्मणों पर दया की ॥७॥ भक्ति के लिये मुनि ने बहुत-सी प्राचीन कथाएँ कहीं—यद्यपि प्रभु इन्हें जानते थे ॥८॥

विशेष—(१) 'देव-मुनि'—मुनि लोग निर्भय हुए और देवताओं के यज्ञ-भाग की रक्षा हुई, इससे स्तुति करते हैं। यहाँ देव प्रथम लिखे गये, क्योंकि बहुत वर्षों पर इन्हें भाग मिला है। अतः, तृप्त होते ही प्रभु की स्तुति करने लगे। मुनि लोग श्रीरामजी की भुजा पूजने लग गये थे। यथा—"जे पूजी कौसिक-मख रिपयन्हि" (गी॰ ४॰ १३)। इसके पीछे स्तुति की, क्योंकि पूजा के पीछे स्तुति होती है।

(२) 'तहँ पुनि कछुक दिवस'''—यहाँ कोई ३, कोई ५ और कोई ७ दिन कहते हैं, सबके मतों की रक्षा है। 'बिप्रन्ह पर दाया'—दया यह कि ब्राह्मण लोग कुछ दिन और भी दर्शनानंद चाहते थे, इससे उनपर दया करके रहे, नहीं तो पिता की आज्ञा भर का कार्य हो चुका। चाहते तो श्रीअवध लौट आते। नीति से यह भी हेतु है कि कहीं मारीच के पक्ष का कोई बदला लेने आ जाय तो फिर मुनि दुःख पावें।

(३) 'भगति हेतु बहु कथा'''—कथा-प्रसंग में प्रीति होना भक्ति है। यथा—"दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।" (आ॰ दो॰ ३४)। कथा-द्वारा अपनी भक्ति करते थे, कुछ प्रभु के उपदेश देने के लिये नहीं, क्योंकि वे तो सब जानते ही हैं और मुनि प्रभु के ऐश्वर्य से अभिज्ञ हैं ही। 'बहु कथा'—क्योंकि त्रिकाल कथा होती थी—सवेरे से दोपहर तक—"बेद-पुरान बसिष्ट बखानहिं। सुनहिं राम जद्यपि सब जानहिं॥" (उ॰ दो॰ २५); मध्याह्न से संध्या तक—"करि भोजन मुनिवर बिग्यानी। लगे कहन कछु कथा पुरानी॥" (दो॰ २२६); संध्या से आधी रात तक—"कहत कथा इतिहास पुरानी। रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी॥" (दो॰ २२५)।

यज्ञ-रक्षा-प्रकरण समाप्त

अहल्योद्धार-प्रकरण

तब मुनि सादर कहा बुझाई। चरित एक प्रभु देखिअ जाई॥९॥
धनुष-जग्य सुनि रघुकुल-नाथा। हरषि चले मुनिबर के साथा॥१०॥
आश्रम एक दीख मग माहीं। खग मृग जीव जंतु तहँ नाहीं॥११॥
पूछा मुनिहिं सिला प्रभु देखी। सकल कथा मुनि कही बिसेषी॥१२॥

दोहा—गौतमनारी स्रापबस, उपल-देह धरि धीर।
चरन-कमल-रज चाहती, कृपा करहु रघुबीर॥२१०॥

अर्थ—तब मुनि ने आदरपूर्वक समझाकर कहा कि प्रभो ! चलकर एक चरित देखिये ॥९॥ रघुकुल के स्वामी श्रीरामजी धनुष-यज्ञ सुनकर मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र के साथ हर्ष से चले ॥१०॥ मार्ग में एक आश्रम देखा, वहाँ पक्षी, पशु, जीव-जन्तु कुछ भी न था ॥११॥ एक शिला (पत्थर) देखकर प्रभु श्रीरामजी ने मुनि से पूछा तो उन्होंने सारी कथा विस्तार से कही ॥१२॥ गौतम की स्त्री शाप के कारण पत्थर की देह धरकर (शाप-अनुग्रह के अनुसार आपके भरोसे) धैर्य धारण किये हुए, आपके चरण-कमल की धूल चाहती है। हे रघुवीर ! इसपर कृपा कीजिये ॥२१०॥

विशेष—(१) 'तब मुनि सादर···'—इस समय श्रीरामजी ने प्रातःकाल नित्य-नियम से निवृत्त होकर मुनि को प्रणाम किया और पूछा कि अब मुझे क्या आज्ञा है, तब मुनि ने धनुष एवं धनुष-यज्ञ की प्रशंसा की जिससे वे वहाँ भी चलने के लिये उत्साह-पूर्वक उद्यत हों। फिर कहा कि यह चरित आपके देखने योग्य है। 'प्रभु'—अर्थात् वहाँ समर्थ ही का काम है। मुनि ने राजा दशरथजी से कहा था—"इन्ह कहँ अति कल्यान।" अब उसी के लिये ले जा रहे हैं। सत्योपाख्यान अ० ५४ में लिखा है कि निशाचर-वध के पश्चात् ही राजा जनक का निमन्त्रण मुनि को आया था। अतः, मुनि ने वहाँ चलने की आज्ञा दी।

(२) 'धनुष-जग्य सुनि···'—मुनि ने धनुष की महिमा कही; इससे रामजी हर्ष के साथ चले, क्योंकि वहाँ वीरों का काम है और ये वीर रघुवंशियों में शिरोमणि हैं, यथा—"रघुबंसिन्ह महँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहइ न कोई।···बिद्यमान रघुकुलमनि जानी॥" (दो० २५२)। हर्ष से चलना प्रयोजन-सिद्धि का शकुन भी है, यथा—"होइहि काज मोहि हर्ष बिसेषी।" (सुं० दो० १)। 'रघुकुलनाथा'—चक्रवर्ती-कुमार किसी राजा के यहाँ स्वयं नहीं जा सकते, पर यहाँ तो मुनिवर के साथ हैं . अतः, हर्ष से चले।

(३) 'आश्रम एक दीख मग माहीं'—यह आश्रम सिद्धाश्रम से पूर्व अहिरौली ग्राम में गंगातट पर है। गंगा उतरने पर जनकपुर मिलता है। वाल्मीकीय के अनुसार यह आश्रम तिरहुत में कमतौल (दरभंगा) स्टेशन के पास अहियारी गाँव में है। इसमें कल्पभेद समझना चाहिये। यह आश्रम मार्ग के पास वन में था, वन के वासी खग-मृग मुख्य हैं, जब वे न देख पड़े, तब सूक्ष्म 'जीव-जन्तु' को खोजा। जीव-जन्तु का अर्थ कीड़ा-मकोड़ा भी होता है। जब ये भी न दिखाई पड़े, तब मुनि से पूछा कि यह वन निर्जन क्यों है ? और, यह शिला कैसी है ?

(४) 'सकल कथा मुनि कही बिसेषी।'—मुनि ने प्रथम वन के निर्जन होने का कारण कहा कि—एक समय ब्रह्माजी ने दूषण-रहित परम सुंदरी कन्या उत्पन्न की। उसका नाम अहल्या रक्खा। यह गोतम मुनि से ब्याही गई थी। एक समय स्नान के लिये मुनि के बाहर जाने पर इन्द्र मुनि का वेष बनाकर आया और अहल्या का पातिव्रत्य भंग किया। अहल्या ने चलते समय इन्द्र से प्रार्थना की कि मेरी और अपनी रक्षा मुनि से कीजियेगा। जल्दी में आश्रम से निकलते समय इन्द्र अपना वेष धारण करना भूल गया था। उधर मुनि आ गये। अपने (गोतम) रूप से दूसरे को देखकर उससे मुनि ने पूछा कि तू कौन है और मेरा रूप क्यों बनाया ? इन्द्र ने डरकर सब कुछ कह दिया। मुनि ने उसे शाप दिया और फिर आश्रम में आकर अहल्या को भी शाप दिया कि तूने जानकर अधर्म किया है। अत., पाषाण होकर रह। तेरे समीप कोई प्राणी न रहेगा, वायुमात्र ही तेरा आहार रहेगा। फिर अनुग्रह किया कि श्रीरामजी के चरण-स्पर्श से तेरा उद्धार होगा। ऐसा कहकर गौतम मुनि हिमवान् के शिखर पर जाकर रहने लगे।

(४) 'कृपा करहु रघुबीर'—यहाँ दयावीरता की ओर लक्ष्य कर मुनि उसके उद्धार के लिये कहते हैं।

छंद—परसत पदपावन सोकनसावन प्रगट भई तपपुंज सही।
देखत रघुनायक जन सुखदायक सनमुख होइ कर जोरि रही॥
अति प्रेम-अधीरा पुलक सरीरा मुख नहिं आवइ बचन कही।
अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी जुगल नयन जलधार बही॥

अर्थ—पवित्र और शोक के नाश करनेवाले चरणों का स्पर्श होते ही ठीक तपःपुंज (तपोमूर्ति या

तेजःपूर्ण) अहल्या प्रकट हुई। भक्तों को सुख देनेवाले रघुकुल के स्वामी श्रीरामजी को (सामने) देखकर सामने ही हाथ जोड़े खड़ी रह गई॥ अत्यन्त प्रेम से विह्वल हो गई, शरीर पुलकित हो गया, मुख से वचन नहीं निकलते। वह अत्यन्त भाग्यशालिनी है। अतः, श्रीरामजी के चरणों में लग गई, उसके दोनों नेत्रों से आँसुओं की धारा बह रही है।

विशेष—'छंद'—यह त्रिभंगी (मात्रिक) छन्द है। इसका प्रत्येक चरण ३२ मात्राओं का होता है। १०,८,८,६ मात्राओं पर विश्राम होते हैं और अंतिम वर्ण गुरु होता है।

(१) 'परसत पद पावन ,सोकनसावन'—पावन गुण से उसके पाप नष्ट हुए और 'सोकनसावन' से पति-वियोग एवं शाप-से उत्पन्न शोक दूर हुआ। यथा—"प्रबल पाप पतिसाप दुसह दव दारुन जरनि जरी। कृपा सुधा सींची बिबुधबेलि ज्यों फिरि सुख-फरनि फरी॥" (गी० बा० ५५)। पाप कारण और शोक कार्य है, यथा—"करहिं पाप पावहिं दुख, भय रुज सोक वियोग।" (उ० दो० १००)। अतः, एक गुण से कारण और दूसरे से कार्य भी निवृत्त किया।

'तपपुंज सही'—अहल्या ने शाप से पूर्व गौतम के साथ तप किया था, यथा—"स चात्र तप आतिष्ठदहल्या सहितः पुरा। वर्षपूगान्यनेकानि···" (वाल्मी० १।४८।१९)। अतः, अहल्या तपोधन-पूर्ण तेजोमयी थी। शाप होने से निस्तेज पाषाण हो गई थी। शाप-निवृत्त होने पर ठीक पूर्ववत् तेजःपुंज रूप से प्रकट हुई। 'सही' शब्द पूर्व की रूपतुल्यता के प्रति है। यथा—"स्वंवपुर्धारयिष्यसि" (वाल्मी० १।४८।३२) अर्थात् शाप मुक्त होने से अपने पूर्व रूप को पावेगी। तथा—"सिला छोर छुवत अहल्या भई दिव्य देह गुन पेखे पारस के पंकरुह पाय के॥" (गी० बा० ६५); "राम-पद-पदुम पराग परी। रिषितिय त्यागि तुरत पाहन-तन छबिमय देह धरी॥" (गी० बा० ५५), "परत पद पंकज रिषिरवनी। भई है प्रगट मानो दिव्य देह धरि जनु त्रिभुवन छवि छवनी॥" (गी० बा० ५६)। अतः, तपपुंज=प्रकाशमय, यथा—"बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा।" (उ० दो० ८९)।

(२) 'सन्मुख होइ···' यथा—"निगम-अगम मूरति महेस-मति जुवति बराय बरी। सोइ मूरति भइ जानि नयन-पथ इकटक ते न टरी॥" (गी० बा० ५५)।

(३) 'अति प्रेम अधीरा···'—चरण-स्पर्श से शापमुक्त होने पर प्रेम और प्रत्यक्ष दर्शनों के कारण अति प्रेम से अधीर हो गई, इसी से उसने प्रणाम नहीं किया, क्योंकि देह की सुधि ही न रही। 'अति प्रेम' से मन, 'पुलक सरीरा' से तन, 'नहिं आवइ बचन कही' से वचन की अधीरता प्रकट है।

(४) 'अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी···'—जप-तप आदि सुकृतवाले भागी, श्रीराम-चरणों में अनुरागवाले बड़भागी और जिसपर स्वतः श्रीरामजी कृपा करें, वह 'अतिसय बड़भागी' है। यथा—"जे गुरुपद-अंबुज अनुरागी। ते लोकहु बेदहु बड़ भागी॥ राउर जापर अस अनुरागू। को कहि सकइ भरत कर भागू॥" (अ० दो० २५८)। श्रीरामचरणों के अनुरागी को मानो कांडों में बड़भागी कहा है—"ते पद परासत भागभाजन जनक जय जय सब कहैं।" (दो० ३२४); "नाथ कुसल पद पंकज पेखे। भयउँ भाग-भाजन जन लेखे॥" (अ० दो० ८०); "भूरि भागभाजन भयो,···जो तुम्हरे मन छाड़ि छल, कीन्ह रामपद ठाउँ॥" (अ० दो० ७४), "परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी। प्रेम-मगन मुनिवर बड़भागी॥" (आ० दो० ९); "सोइ गुनग्य सोई बड़भागी। जो रघुबीर-चरन-अनुरागी॥" (कि० दो० २२); "अहोभाग मम अमित अति, रामकृपा सुखपुंज। देखेउँ नयन बिरंचि सिव, सेव्य जुगल पद कंज॥" (सुं० दो० ४७); "बड़भागी अंगद हनुमाना। चरन-कमल चापत बिधि नाना॥" (लं० दो० १०); "अहह धन्य लछिमन बड़भागी। रामपदारबिंद-अनुरागी॥" (उ० दो० १)।

धीरज मन कीन्हा प्रभु कहँ चीन्हा रघुपतिकृपा भगति पाई ।
अति निर्मल बानी अस्तुति ठानी ज्ञानगम्य जय रघुराई ॥
मैं नारि अपावन प्रभु जगपावन रावनरिपु जन-सुखदाई ।
राजीवबिलोचन भव-भय-मोचन पाहि पाहि सरनहिं आई ॥

अर्थ—मन में धैर्य धारण कर प्रभु को पहचाना । रघुनाथजी की कृपा से भक्ति पाई । अत्यन्त निर्मल वाणी से स्तुति करने लगी—ज्ञान से गम्य (जानने योग्य) रघुनाथजी ! आपकी जय हो ॥ मैं अपवित्र स्त्री हूँ और हे प्रभो ! आप जगत् को पावन करनेवाले, रावण के शत्रु और अपने भक्तों को सुख देनेवाले हैं । हे लाल कमल के समान नेत्रोंवाले ! हे संसार के भय को छुड़ानेवाले ! मैं शरण मे प्राप्त हूँ, मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये ॥

विशेष—'धीरज मन कीन्हा'''—जब श्रीरामजी ने कृपा की और भक्ति दी, तब इसे धैर्य हुआ और प्रभु को पहचाना, तब चरण पकड़ लिये । अतः, वक्ता लोग इसका भाग्य सराहने लगे । धैर्य होने से उपर्युक्त मन, तन और वचन की अधीरता निवृत्त हुई, यथा—'धीरज मन कीन्हा'—मन, 'चरनन्हि लागी'—तन (कर्म), 'अस्तुति ठानी'—वचन । 'प्रभु कहँ चीन्हा'—पहले राजकुमार समझ रही थी । धैर्य होने से गौतम के वचन स्मरण हुए तब प्रभु समझा । विश्वामित्र की कृपा से चरण स्पर्श हुआ क्योंकि उन्होंने कथा कही थी । और श्री रामजी की कृपा से भक्ति मिली । कृपासाध्य भक्ति श्रेष्ठ है ।

(२) 'अति निर्मल बानी'''—चरण-स्पर्श से निर्मल और भक्ति पाने से अति निर्मल हृदय के अनुसार वाणी 'अति निर्मल' भी हो गई । यथा—"प्रेम-भगति-जल बिनु रघुराई । अभिअंतर-मल कबहुँ कि जाई ॥" (उ० दो० ४८) । 'ठानी'—देर तक की । यथा—"रोदन ठाना" (दो० १६१) । 'ज्ञान गम्य'—आप ज्ञान से जाने जाते हैं और मैं अज्ञ हूँ । यथा—"नारि सहज जड़ अज्ञ" (दो० ५७) अर्थात् आपकी कृपा से ही मुझे आपका ज्ञान हुआ । यथा—"तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनंदन । जानहिं भगत'''" (अ० दो० १२६) । प्रभु के ज्ञान के साथ ही इसे त्रिकाल का भी ज्ञान हुआ, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान होने पर कुछ जानना शेष नहीं रह जाता, क्योंकि जीव और माया उनके ही शरीर हैं ।

(३) 'मैं नारि अपावन'''—आप जगत् भर को पावन करने में समर्थ हैं । अतः, मुझे भी पावन कर लिया । रावण को मारकर भक्तों को सुख देंगे । भविष्य की बात प्रथम कहने में यहाँ भाविक अलंकार है । इसे त्रिकाल का ज्ञान हो गया, इससे कहा ।

(४) 'राजीवबिलोचन भव'''—राजीवलोचन विशेषण प्रायः रक्षा के प्रसंग में ही आता है । यथा—"राजिवनयन धरे धनुसायक । भगत-बिपति-भंजन सुखदायक ॥" (दो० १७) ।

'सरनहिं आई' अर्थात् शरण में प्राप्त हूँ, क्योंकि प्रपत्ति में विश्वास आना मुख्य है । अतः, 'आई' कहा ।

मुनि स्राप जो दीन्हा अति भल कीन्हा परम अनुग्रह मैं माना ।
देखेउँ भरि लोचन हरि भवमोचन इहइ लाभ संकर जाना ॥

विनती प्रभु मोरी मैं मतिभोरी नाथ न माँगउँ बर आना।
पद-कमल-परागा-रस अनुरागा मम मन मधुप करइ पाना ॥

अर्थ—मुनि ने जो शाप दिया, वह बहुत ही अच्छा किया। मैं उसे अत्यन्त दया मानती हूँ कि मैंने संसार के छुड़ानेवाले भगवान को आँखें भरकर देखा। इसीको शिवजी भी लाभ समझते हैं॥ हे प्रभो! मैं बुद्धि की भोरी (भोंड़ी) हूँ। हे नाथ! मैं और कोई वर नहीं माँगती, मेरी यही प्रार्थना है कि आपके चरण-कमल के रज के अनुराग-रूपी रस को मेरा मनरूपी भौंरा पिया करे॥

विशेष—(१) 'मुनि स्राप जो ···'—जिस किसी भी उपाय एवं संयोग से भगवान् के दर्शन हों, वही परम लाभ एवं परम अनुग्रह है। यथा—"लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरे दरस आस सब पूजी॥" (अ० दो० १०६), "बालि परमहित जासु प्रसादा। मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा॥" (कि० दो० ६), "रामहिं चितव सुरेस सुजाना। गौतम-स्राप परमहित माना॥" (दो० ३१६)। इसीसे मैंने शाप देने को अति भला करना और तत्सम्बन्धी क्रोध को अनुग्रह मान लिया एवं तत्सम्बन्धी अनुग्रह करने को परम अनुग्रह मान लिया।

(२) 'हरि भवमोचन'—पूर्व कृपा-दृष्टि से भक्ति देकर भव-भय छुड़ाने में 'राजीव' ' कहा था और यहाँ आपने दर्शनों से भव छूटना कहा, इसे कल्याणकर लाभ कहा। साथ ही शिवजी का उदाहरण भी दिया। यथा—"निगम आगम मूरति " (गी० बा० ५१) अर्थात् शिवजी बराबर ध्यान ही किया करते हैं, क्योंकि यही उनका परम लाभ है।

(३) 'बिनती प्रभु मोरी ···' 'मोरी' अर्थात् अभी तक तो आप गौतम के अनुग्रह एवं गुरु की आज्ञा के अनुसार किया, अब मेरी प्रार्थना सुनिये। मैं मति की भोरी होने से शास्त्रों के मत मतान्तरों को नहीं जानती, इससे 'आना' अर्थात् दूसरा वर नहीं माँग सकती, किन्तु जो स्वयं कृपा करके आपने दिया है—"रघुपति-कृपा भगति पाई।" बस, वही दृढ़ कर दीजिये, वह इस तरह—

(४) 'पद कमल परागा ···'—जैसे भ्रमर पराग में लोटता है और रस पीता है तथा उसी को परम लाभ मानता है, वैसे मेरा मन आपके पद-कमल में अनुराग-पूर्वक लुभाया रहे, यथा—"राम-चरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥" (दो० १६), तथा—"तवामृतस्यन्दिनि पादपङ्कजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति। स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरसं समीहते॥" (आलवन्दार स्तोत्र)।

जेहि पद सुरसरिता परमपुनीता प्रगट भई सिव सीस धरी।
सोई पदपंकज जेहि पूजत अज मम सिर धरेउ कृपाल हरी॥
येहि भाँति सिधारी गौतमनारी बार-बार हरि-चरन परी।
जो अति मन भावा सो बरु पावा गइ पतिलोक अनंद भरी॥

दोहा—अस प्रभु दीनबंधु हरि, कारनरहित कृपाल।
तुलसिदास सठ तेहि भजु, छाड़ि कपट जंजाल॥२११॥

अर्थ—जिस चरण से परम पवित्र गंगाजी प्रकट हुईं और शिवजी ने उन्हें शिर पर धारण किया। जिसे ब्रह्माजी पूजते हैं वही चरण कमल कृपालु भगवान् ने मेरे शिर पर रक्खा॥ इस प्रकार बार-बार भगवान् के चरणों पर पड़कर और जो मन को बहुत भाया था वही वर पाकर, गौतम की स्त्री चली और आनन्द में भरी हुई अपने पति के लोक को गई॥ समर्थ श्रीरामजी ऐसे दीनों के सहायक, दुःख हरनेवाले और बिना कारण ही कृपा करनेवाले हैं। हे शठ तुलसीदास! कपट और जंजाल छोड़कर उन्हीं का भजन कर॥२११॥

विशेष—(१) 'जेहि पद सुरसरिता'''—जब भगवान् ने वामन-रूप से अवतार लिया और बलि से तीन पैर भूमि दान में लेते हुए, उसके नापने के लिये विशाल रूप हुए तब अपना दूसरा चरण सत्यलोक की सीमा तक पहुँचा दिया। वहाँ ब्रह्माजी ने चरण धोकर उसे कमंडल में रख लिया और चरण की पूजा की। वही परम पुनीत जल आकाशगंगा हुआ। फिर आराधना से ब्रह्माजी-द्वारा भगीरथ को प्राप्त हुआ। भगीरथ के तप से प्रसन्न होकर शिवजी ने गंगाजी को अपनी जटा में धारण किया। गंगाजल की पवित्रता शास्त्र से तो प्रसिद्ध ही है। यह प्रत्यक्ष भी है कि उसमें कीड़े नहीं पड़ते और विज्ञान से सिद्ध है कि *गंगाजल पड़ने से अनेक भयंकर रोगों के कीटाणु भी नष्ट हो जाते हैं।*

ब्रह्माजी और शिवजी ने धोवन को ही पाया और मैं तो साक्षात् चरण ही पा गई, इस परम उपकार की कृतज्ञता प्रकट करते हुए, अहल्या बार-बार चरणों पर पड़ी।

'बर पावा'—गुरुजी पास खड़े हैं, इससे रामजी ने आत्मश्लाघा बचाने के लिये 'एवमस्तु' नहीं कहा, पर मन से वर दे दिया। उसीको वक्ता लोगों ने औरों को जना दिया। 'अनद-भरी'—शाप से मुक्त हुई, अविरल भक्ति पाई, पति की प्राप्ति हुई—आदि आनन्द की बातों को हृदय में भरे हुई है। 'गइ पति-लोक' —"गौतम मुनि हिमवान् पर तप करते थे। वहीं से यहाँ का हाल जानकर आये और अहल्या के विधिवत् पूजन करने के साथ स्वयं भी श्रीरामजी की विधिवत् पूजा की। अहल्या को पाकर सुखी हुए। फिर उसके साथ विधिपूर्वक तप करने चले गये।" (वाल्मी॰ १।४६।१८–२१), यथा—"गौतम सिधारे गृह गौनो सो लिवाइ कै।" (क॰ अ॰ ६); "राम के प्रसाद गुरु गौतम खसम भये'''" (गी॰ बा॰ ६५)। "तुलसी है विसोक पति-लोकहिं प्रभु गुन गनत गई।" (गी॰ बा॰ ५७)।

(२) 'अस प्रभु दीनबंधु ''''''—अहल्या को पति और पुत्र सभी ने त्याग दिया था। रामजी ने ऐसी दीना के शोक का हरण किया और उत्तम आचरण से रहित व्यभिचारिणी पर स्वयं जाकर कृपा की। अतः, 'कारन रहित-कृपाल' कहा है। यथा—"और भूप परखि सुलाखि तौलि ताइ लेत, लसम के खसम तुही पै दसरत्थ के।" (क॰ उ॰ २४)। "कारुनीक बिनु कारन ही हरि, हरहु सकल भव भीर।" (वि॰ १४४)।

(३) 'तुलसिदास सठ''''—श्रीगोस्वामीजी अपने को धिक्कारते हुए औरों को शिक्षा देते हैं। इसी को पूर्व कहा था—"आरति बिनय दीनता मोरी। लघुता ललित सुबारि न थोरी॥" (दो॰ ४२)।

'कपट' भीतर का दुराव। 'जञ्जाल' बाहर का प्रपच, यथा—"गृह-कारज नाना जंजाला। तेइ अति दुर्गम सैल बिसाला॥" (दो॰ ३७)। 'सठ' अर्थात् जड़। भाव यह कि क्या तू पत्थर से भी अधिक जड़ है? देख, शिला दिव्यरूपा हो गई, क्या तेरा सुधार न होगा? तू भी क्यों नहीं शुद्ध हृदय से एवं सब बाहरी आडम्बर छोड़-छाड़कर भजन करता है?

अहल्योद्धार-प्रकरण समाप्त

श्रीमिथिला-यात्रा-प्रकरण

चले राम लछिमन मुनि संगा। गये जहाँ जगपावनि गंगा ॥१॥
गाधिसूनु सब कथा सुनाई। जेहि प्रकार सुरसरि महि आई ॥२॥
तब प्रभु रिषिन्ह समेत नहाये। बिबिध दान महिदेवन्ह पाये ॥३॥
हरषि चले मुनि-बृंद-सहाया। बेगि बिदेहनगर नियराया ॥४॥

अर्थ—श्रीराम-लक्ष्मणजी मुनि के साथ चले और जहाँ जगत् को पवित्र करनेवाली गंगाजी है, वहाँ गये ॥१॥ राजा गाधि के पुत्र विश्वामित्रजी ने वह सारी कथा कह सुनाई कि जिस तरह देवनदी गंगाजी पृथिवी पर आई ॥२॥ तब प्रभु श्रीरामजी ने ऋषियों के साथ स्नान किया। ब्राह्मणों ने तरह-तरह के दान पाये ॥३॥ मुनि-समूह के सहायक श्रीरामजी हर्षित होकर चले और शीघ्र ही जनकनगर के पास पहुँचे ॥४॥

विशेष—(१) 'चले राम लछिमन...'—सिद्धाश्रम से चलने पर अहल्या के उद्धार के लिये रुकना पड़ा था। अतः, फिर चलना कहा गया। क्रम भी यही है—आगे मुनि हैं, उनके पीछे श्रीरामजी तब लक्ष्मणजी।

शंका—जहाँ-जहाँ चलना कहा गया है, वहाँ-वहाँ हर्ष भी कहा गया है, यथा—"हरषि चले मुनि-भय-हरन।" (दो० २०८); "हरषि चले मुनिवर के साथा।" (दो० २०९); तथा यहीं पर आगे भी—"हरषि चले मुनिबृंद ..."कहा है। पर, यहाँ ही 'हर्ष' शब्द नहीं है, यह क्यों ?

समाधान—भगवान् का यह अवतार मर्यादा-पुरुषोत्तम का है और अहल्या ब्राह्मणी है, उसे पैर से छूना पड़ा, जो क्षत्रिय राजकुमार के लिये अनुचित है। अतः, माधुर्य दृष्टि से ग्लानि है, इसीसे हर्ष नहीं लिखा गया। यथा—"सिला साप संताप बिगत भइ परसत पावन पाउ। दई सुगति सो न हेरि हरष हिय, चरन छुये पछिताउ ॥" (वि० १००)। गंगाजी जगत्पावनी हैं। अतः, इनको भी पावन (चिन्तारहित) करेंगी, इसलिये गंगा-स्नान के लिये 'मुनि संगा' अर्थात् मुनि लिवा गये। माहात्म्य सुनकर-स्नान-दान से शुद्ध होंगे, तब तुरत ही हर्ष से चलेंगे। यथा—"हरषि चले मुनिबृंद सहाया" (उपर्युक्त)। यह माधुर्य का भाव है।

(२)'गाधिसूनु सब कथा...'—मुनि नित्य ही भक्ति के लिये स्वयं कथा सुनाया करते थे, पर आज प्रभु के पूछने पर सुनाई। 'गाधिसूनु' कहने का भाव यह कि वाल्मी० १।३२-३४ में लिखा है—मुनि के साथ श्रीरामजी शोण (सोन) नदी के किनारे रात्रि में रहे तो श्रीरामजी के पूछने पर मुनि ने अपने कुल का पूरा वृत्तान्त कहा है। तब पीछे स० ३५ से गंगाजी की कथा प्रारंभ की है। वैसे यहाँ 'गाधिसूनु' शब्द से ध्वनित है कि मुनि ने अपने वंश की कथा सुनाई, तब गंगाजी की कथा कही जो 'जेहि प्रकार...' से स्पष्ट है। क्योंकि अन्यत्र कथा कहने में मुनि को मुनि, विप्र, ऋषि आदि कहते थे। यथा—"बूझत प्रभु सुरसरि-प्रसंग, कहि निज-कुल-कथा सुनाई। गाधिसुवन..." (गी० बा० ५१)।

'जेहि प्रकार सुरसरि महि आई।'—भाव यह कि गंगाजी देव-नदी हैं, तब पृथ्वी पर क्यों कर आई ? कथा—"इक्ष्वाकु-वंश में राजा सगर हुए। इनके दो रानियाँ थीं—केशिनी और सुमति। केशिनी के पुत्र असमंजस हुए और उनके पुत्र अंशुमान्। सुमति के साठ हजार पुत्र हुए। प्रजा को पीड़ा पहुँचाने के कारण असमंजस को राजा सगर ने निकाल दिया। राजा सगर ने अश्वमेध यज्ञ के लिये घोड़ा छोड़ा।

इन्द्र ने घोड़ा चुराकर कपिल मुनि के आश्रम में बाँध दिया। सगर ने साठ हजार पुत्रों को घोड़ा खोजने के लिये भेजा। उन्होंने खोजते-खोजते पाताल में कपिल मुनि के समीप घोड़े को बँधा देखा। मुनि ध्यान में थे। इनलोगों ने 'चोर-चोर' कहकर हल्ला किया। मुनि की आँखें कोलाहल से खुल गईं। अपमान के कारण मुनि के क्रोध से वे सब भस्म हो गये। फिर सगर ने अंशुमान् को भेजा। इन्होंने वहाँ आकर गरुड़ से हाल जाना। गरुड़ ने ही कहा कि ये गंगाजी के द्वारा उद्धार पावेंगे। इसका उपाय करना। घोड़ा लेकर अंशुमान् आये और सगर से सारा हाल बतलाया। सगर के बाद अंशुमान राजा हुए। अंशुमान पुत्र दलीप को राज्य दे गंगा लाने के लिये ३२००० वर्ष तक तप कर स्वर्ग गये। राजा दिलीप को पितरों के तारने की चिंता बनी ही रही। वे भी कृतकार्य न हो सके। फिर उनके पुत्र भगीरथ ने बिना पुत्र हुए ही मंत्रियों को राज्य सौंपकर तप करना प्रारंभ किया। १००० वर्ष बीतने पर ब्रह्मा आये और वर देना चाहा। इन्होंने गंगाजी को माँगा और पुत्र भी। ब्रह्मा ने वर देकर कहा कि गंगा का धारण करने के लिये शिवजी को प्रसन्न करो। एक वर्ष के कठिन तप से शिवजी प्रसन्न हुए और गंगाजी के आने पर उनका वेग धारण किया। फिर शिवजी ने धारा छोड़ी तो आगे-आगे रथ पर भगीरथ चले, पीछे-पीछे गंगाजी चलीं। सगर-पुत्रों की राख पर पहुँचीं। इनसे उन सब का उद्धार हुआ॥" (वाल्मी० १।३५-४२)। पृथ्वी पर यह नदी गंगोत्तरी से निकलती है। मंदाकिनी, अलकनंदा आदि से मिलती हुई, हरद्वार के पास पथरीले मैदान में उतरती है। फिर प्रयाग, काशी, कलकत्ता होती हुई गंगा-सागर में समुद्र में मिलती है।

(३) 'तब प्रभु रिषिन्ह समेत···'–'तब' अर्थात् माहात्म्य सुनकर स्नान किया, क्योंकि इससे प्रीति और श्रद्धा होती है, सब मनोरथ सफल होता है और सुनने से विधि भी मालूम हो जाती है।

'रिषिन्ह समेत'—अर्थात् सब कृत्य ऋषियों के साथ ही करते हैं। यथा—"हरषि चले मुनिवर के साथा।" "उतरे तहँ मुनि-बृंद समेता।" "रिषय संग रघुबंसमनि, करि भोजन बिश्राम।" "पुनि मुनि-बृंद समेत कृपाला। देखन चले···" इत्यादि। वैसे यहाँ साथ ही स्नान किया और 'बिबिध दान' भी स्वयं दिये एवं ऋषियों से भी दिलवाये। यथा—"पुनि प्रभु आइ त्रिबेनी, हरषित मज्जन कीन्ह। कपिन्ह सहित बिप्रन्ह कहँ, दान बिबिध बिधि दीन्ह॥" (लं० दो० १२०)। जब वानरों से दान दिलाये, तब मुनियों से क्यों नहीं दिलाते? हाँ, इतना भेद है कि वहाँ वानरों के साथ 'दीन्ह' कहा गया है, क्योंकि पुष्पक विमान रत्नों से भरा था और यहाँ 'पाये' शब्द है अर्थात् संकल्प कर दिया गया और कह दिया गया कि अयोध्याजी में जाकर लें। प्रसिद्ध श्रीमानों एवं राजाओं की रीति भी यही है। यह भी कहा जाता है कि पिताजी की जगह विश्वामित्र हैं, सिद्धियाँ उनकी दासी हैं तो दान के लिये क्या कमी है? विविध= गाय, स्वर्ण, रत्न, वस्त्र आदि के दान।

(४) 'बेगि बिदेहनगर···'—मार्ग में दो जगह ठहरना पड़ा था—एक जगह अहल्या-उद्धार में और दूसरी जगह गंगा-तट पर। गंगा-माहात्म्य आदि कथाओं के सुनने से रास्ता चलना नहीं जान पड़ा। शीघ्र ही मिथिला के निकट आ गये। अथवा उस समय की चाल से मिथिला निकट ही थी।

पुररम्यता राम जब देखी। हरषे अनुज-समेत बिसेखी॥५॥
बापी कूप सरित सर नाना। सलिल सुधासम मनिसोपाना॥६॥
गुंजत मंजु मत्त रस भृंगा। कूजत कल बहुबरन बिहंगा॥७॥
बरन-बरन बिकसे बनजाता। त्रिबिध समीर सदा सुखदाता॥८॥

दोहा—सुमन-वाटिका बाग बन, बिपुल बिहंगनिवास।
फूलत फलत सुपल्लवत, सोहत पुर चहुँ पास ॥२१२॥

अर्थ—श्रीरामजी ने जब जनकपुर की शोभा देखी, तब भाई के साथ बड़े प्रसन्न हुए ॥५॥ अनेक बावलियाँ, कुँए, नदियाँ और तालाब हैं, जिनमें अमृत के समान जल और मणियों की सीढ़ियाँ हैं ॥६॥ पुष्प-रस पीकर भौंरे मतवाले होकर गुंजार कर रहे हैं। बहुत रंग बिरंग के पक्षी सुंदर शब्द कर रहे हैं ॥७॥ रंग-बिरंग के कमल खिले हुए हैं। शीतल, मंद, सुगंध—तीन प्रकार का पवन बहकर सदा सुख देता है ॥८॥ फुलवाड़ी, बाग और वन हैं जिनमें बहुत-से पक्षी रहते हैं। वे फूलते-फलते और सुन्दर पत्तों से लदे हुए नगर के चारों ओर सुशोभित हैं ॥२१२॥

विशेष—(१) 'पुर-रम्यता राम'''—श्रीरामजी के आनन्दित होने से रम्यता (शोभा) सराहनीय है। यथा—"परम रम्य आराम यह, जो रामहिं सुख देत॥" (दो० २२७)। यहाँ 'हरषे' में मुनिवृंद को साथ नहीं कहा, क्योंकि राजसी पदार्थ देखने का सम्बन्ध है और मुनि लोग सात्त्विक होते हैं। इन्हें श्रीराम-सम्बन्धी एवं सात्त्विक वस्तुओं से ही प्रसन्नता होती है। जैसे लंका में श्री हनुमान्‌जी को "रामायुध अंकित गृह'''"—आदि ही से हर्ष हुआ। राजकुमारों को राजसी पदार्थ से हर्ष होना योग्य है। प्रथम—"धनुष-जज्ञ सुनि'' हरषि चले''' '' (दो० २०६)। अर्थात् वहाँ मुनि से पुर का वर्णन सुनकर हर्ष हुआ था। यहाँ आकर उससे कहीं अधिक देखा। अत, विशेष हर्ष हुआ। जब बाहर की यह शोभा है तो भीतर की तो अपूर्व ही होगी, इससे आगे भीतर नगर देखने की लालसा होगी और देखने जायँगे भी।

(२) 'बापी कूप'' '—सीढ़ियाँ सब में हैं—बावली में नीचे उतरने की, कुँए की जगत पर चढ़ने की और नदी-तालाबों में घाट की।

'गुंजत मंजु मत्त'''—यहाँ भौंरे और पक्षी जल-सम्बन्धी हैं।

'त्रिविध समीर सदा '''—क्योंकि यहाँ सदा वसंत ऋतु लुभाई हुई रहती है। इसीसे सदा सुख देना कहा है। पुन यहाँ पाँचों विषय प्राप्त रहते हैं—'गुंजत कल '''—शब्द, जो कान का विषय है, 'त्रिविध समीर'' '—इसमें त्वचा का स्पर्श और नासिका का गंध—दोनों विषय हैं।

'सलिल सुधासम'—रस, जो जिह्वा का विषय है। कमल आदि के रंग-बिरंग की सुंदरता में नेत्र का रूप विषय है। इसीसे 'सदा सुखदाता' कहा गया है।

(३) 'सुमन-वाटिका बाग बन,'''—वृक्षों में दल, फल, फूल तीन सम्पत्तियाँ होती हैं। यहाँ तीनों की पूर्णता है—फुलवाड़ी में फूल की, बाग में फल की और वन में पल्लव की शोभा है। यथासंख्य अलंकार है। पुर के भीतर की ओर से प्रथम चारों तरफ एक आवृत्ति फुलवाड़ी की, फिर बाग की और तब वन की है। वाटिका आदि से पुर की शोभा है और पुर से इनकी शोभा है अर्थात् शोभा अन्योन्य सापेक्ष्य है।

'बिपुल बिहंग'—ये पक्षी स्थल के हैं—पूर्व जल के कहे गये थे। भौंरे यहाँ नहीं कहे गये, क्योंकि जो जल के प्रसंग में कहे गये हैं, वे ही स्थल के भी हैं—एक ही जाति के भ्रमर सर्वत्र होते हैं।

बनइ न बरनत नगर निकाई। जहाँ जाइ मन तहँइ लोभाई ॥१॥
चारु बजार बिचित्र अँबारी। मनिमय बिधि जनु स्वकर सँवारी ॥२॥
धनिक बनिक बर धनद समाना। बैठे सकल बस्तु लै नाना ॥३॥

चौहट सुंदर गली सुहाई। संतत रहहिं सुगंध सिंचाई ॥४॥
मंगलमय मंदिर सब केरे। चित्रित जनु रतिनाथ चितेरे ॥५॥

शब्दार्थ—अँवारी = दोनों तरफ की दूकानों की पंक्ति या छज्जा। चौहट—चौक। चित्रित = चित्र कढ़े हुए। चितेरा = चित्रकार, चित्र बनानेवाला। निकाई = सुंदरता।

अर्थ—नगर की सुंदरता तो कहते नहीं बनती, (क्योंकि) मन जहाँ जाता है, वहीं लुभा जाता है ॥१॥ सुन्दर बाजार हैं, मणिजटित (एवं मणि सज्जित) विचित्र अंवारी है, मानों ब्रह्मा ने अपने हाथों से रचकर बनाई है ॥२॥ (श्रेष्ठ) कुवेर के समान अनेक श्रेष्ठ धनाढ्य बनिये सभी तरह की (बेचने की) वस्तुएँ लेकर (दूकानों में) बैठे हैं ॥३॥ सुन्दर चौकें और सुहावनी गलियाँ सदा सुगंध (अरगजा आदि) से सींची हुई रहती हैं ॥४॥ सब के घर मंगलमय हैं, उनमें चित्र कढ़े हुए हैं—मानों कामदेव-रूपी चित्रकार के बनाये हुए हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'बनइ न बरनत'''—बाहर के वन आदि कहे हैं, किन्तु नगर की सुन्दरता कहते नहीं बनती, क्योंकि मन की अधीनता में वाक् आदि इन्द्रियों के कार्य होते हैं। वही मन लुभा जाता है तो कैसे कहा जाय ? मन सावधान हो, तब न कहते बने ! यथा—"सावधान मन करि पुनि संकर। लागे कहन कथा अति सुंदर ॥" (सुं० दो० १२)। आगे कहते जो हैं ? इसका समाधान यह है कि वह तो कुछ अंशों का दिग्दर्शन मात्र है।

यह वर्णन वक्ताओं का है, क्योंकि आगे जब नगर देखने के लिये राजकुमार प्रवेश करेंगे, तब वहाँ के संवाद कहे जायँगे। नगर-वर्णन का अवसर नहीं मिलेगा। इसलिये यहाँ ही वर्णन करते हैं। अभी राजकुमारों ने नगर की बाहरी ही शोभा देखी है। किनारे से जाकर बागीचे में ठहरेंगे। जब जनकजी स्वयं आकर आदर से लिवा जायँगे, तब नगर में प्रवेश करना उचित होगा। यदि कहा जाय कि भीतर होकर ही गये हैं, तभी नगर-वर्णन हुआ है, तो संभव नहीं; क्योंकि आगे अपरिचित कुमारों के प्रवेश करने से तो कोलाहल मच जायगा और यहाँ विश्वामित्र के साथ जाते, तो क्या यों ही चुपचाप चले जाते ? अतः, यह वर्णन कवि एवं वक्ताओं का है।

(२) 'चारु बजार विचित्र'''—'विचित्र'—रंग-बिरंग की मणियाँ जड़ी हैं वा दूकानों में दोनों ओर रंग रंग के मणिमय पदार्थ रक्खे हुए हैं। इससे अंवारियाँ विचित्र हैं।

'बिधि जनु'''—ब्रह्मा मन के संकल्प से सृष्टि करते हैं। जिस वस्तु को वे हाथ से सँवारकर बनावेंगे, उसमें अवश्य ही उत्तमता होगी।

(३) 'धनिक बनिक बर'''—'बर' शब्द दीपदेहली है। धनिक वणिक् का ही विशेषण है, यहाँ हाट है, इसमें बनिये ही रहते हैं। वे नाना प्रकार की वस्तुएँ ले लेकर बैठे हैं। कोई वस्तु ऐसी नहीं जो वहाँ न मिले। यद्यपि वे श्रेष्ठ कुवेर के समान हैं, तथापि वर्णधर्म-निष्ठ होने से व्यवसाय करते हैं।

(४) 'सुगध सिंचाई'—इसीका स्मारक अभी तक जनकपुर में 'अरगजा-कुंड' है।

(५) 'मंगलमय मंदिर सब केरे।'''—नीच से ऊँच तक सभी के मंदिर मंगलमय हैं, यथा—"बंदनवार पताका केतू। सबन्हि बनाये मंगल हेतू॥" (उ० दो० ८)। धनुष-यज्ञ के अवसर पर नगर सजाया गया है। पुनः घरों में मणिमय मंगल चित्र स्वतः बने हुए भी हैं, यथा—"सुरप्रतिमा खंभन्हि गढ़ि काढ़ी। मंगलद्रव्य लिये सब ठाढ़ी॥" (दो० २८९)। 'रतिनाथ चितेरे'—कामदेव शृंगार,

रस का प्रमुख नायक है, वह रचेगा तो अवश्य ही रचना में अत्यन्त सुन्दरता होगी। यहाँ तक मंदिर आदि कहे, अब उनमें रहनेवालों को कहते हैं—

पुर-नर-नारि सुभग सुचि संता। धरमसील ग्यानी गुनवंता॥६॥
अति अनूप जहँ जनक-निवासू। विथकहिं विबुध बिलोकि बिलासू॥७॥
होत चकित चित कोट बिलोकी। सकल-भुवन-सोभा जनु रोकी॥८॥

दोहा—धवलधाम मनि पुरट पट, सुघटित नाना भाँति।
सियनिवास सुंदर सदन, सोभा किमि कहि जाति॥२१३॥

शब्दार्थ—बिथकहिं=विशेष दंग रह जाते हैं। धवल=श्वेत (स्फटिक मणि आदि के)। पुरट=सोना। पट=किवाड़। सुघटित=सुन्दर रीति से गढ़े हुए।

अर्थ—नगर के स्त्री-पुरुष सुन्दर, पवित्र, संत स्वभाव, धर्मात्मा, विचारवान् और गुणवान् हैं॥६॥ जहाँ जनक महाराज का अत्यन्त अनुपम रहने का स्थान है, वहाँ के ऐश्वर्य को देखकर देवता भी विशेष दंग रह जाते हैं॥७॥ किले को देखकर चित्त चकित हो जाता है, उसने मानों सब लोकों की शोभा को रोक रक्खा है॥८॥ श्वेत महल में मणि-जटित स्वर्ण के किवाड़ लगे हैं, जो अनेक प्रकार की सुन्दर रीतियों से गढ़े हुए हैं। जहाँ श्रीसीताजी का निवास है, उस सुंदर महल की शोभा कैसे कही जा सकती है?॥२१३॥

विशेष—(१) 'पुरनर-नारि···'—'सुभग'—शरीर से सुन्दर हैं। 'सुचि' पवित्र आचरण है। 'संता'—साधु स्वभाववाले हैं। 'ग्यानी'—देश काल-वस्तु के जानकार और परमार्थ के भी ज्ञाता हैं। 'धर्मसील' वर्णाश्रम धर्म में नैष्ठिक हैं। 'धर्मसील'—कर्म, 'संत'—उपासना, 'ग्यानी'—ज्ञान; अर्थात् कांडत्रयनिष्ठ हैं।

(२) 'अति अनूप जहँ जनक···'—पूर्व-कथित भवन अनूप थे। प्रजा के घर देखकर थकित होते थे। यह राज-भवन है। अत, विशेष थकित होते हैं।

(३) 'होत चकित चित कोट···'—यहाँ राजा का किला नगर से पृथक् है और किले के भीतर राज-भवन है। राज-भवन के चारों तरफ जो मणिमय कोट है, उसे देखकर चित्त चकित हो जाता है। मानों यहाँ सब भुवनों की शोभा को बटोरकर दुर्ग-रूपी सीमा से रोक रक्खा है। भाव—किले के भीतर की रचना विलक्षण शोभामय है, इस विलक्षणता का कारण अगले दोहे में कहते हैं।

(४) 'धवल धाम मनि··'—श्रीजानकीजी अभी बालिका हैं। अत, रनिवास से पृथक् इनका महल नहीं हो सकता; अन्यथा माता पिता के वात्सल्य में त्रुटि आवेगी। यहाँ समष्टि में राज-महल की शोभा कही जा रही है। श्रीसीताजी के साक्षात् निवास से इस राज-सदन में विशेष महत्ता है, यथा—"सोभा दसरथ-भवन कै, को कवि बरनइ पार। जहाँ सकल सुर सीसमनि, राम लीन्ह अवतार॥" (दो० २९७), "बसइ नगर जेहि लच्छि करि, कपट नारि बर बेष। तेहि पुर कै सोभा कहत, सकुचहिं सारद सेष॥" (दो० २८९)। प्रथम पुर के चारों ओर के वन आदि की, फिर पुर की, तब जनक-सदन की शोभा उत्तरोत्तर अधिक कही गई है।

सुभग द्वार सब कुलिस कपाटा। भूप भीर नट मागध भाटा॥१॥

बनी बिसाल बाजि - गज-साला। हय-गय-रथ-संकुल सब काला ॥२॥
सूर सचिव सेनप बहुतेरे। नृपगृहसरिस सदन सब केरे ॥३॥

शब्दार्थ—कुलिस = वज्र (हीरा)। कपाट = किवाड़। सेनप = सेनापति। संकुल = परिपूर्ण। नट = कथक आदि। मागध = कीर्ति गानेवाली एक जाति। भाट = प्रताप कहनेवाले बंदी।

अर्थ—सब द्वार सुंदर हैं, सब में हीरे के किवाड़ लगे हैं। (द्वारों पर) राजाओं, नटों, मागधों और भाटों की भीड़ लगी रहती है ॥१॥ घोड़ों और हाथियों के रहने के स्थान बड़े विस्तृत (लंबे, चौड़े एवं ऊँचे) बने हैं, जो सब समय में घोड़ों, हाथियों और रथों से परिपूर्ण रहते हैं ॥२॥ शूर, वीर, मंत्री और सेनापति बहुत-से हैं, इन सब के महल भी राज-भवन के तुल्य हैं ॥३॥

विशेष—(१) 'सुभग द्वार सब ···'—यह राज-द्वार का वर्णन है। देश-देश के राजा लोग श्रीविदेह-राज के दर्शनों के लिये आते हैं और भेंट देते हैं, वही 'भूप-भीर' है। ये राजा लोग द्वार पर एकत्र हैं, यथा—"पितु-वैभव बिलास मैं दीठा। नृप-मनि-मुकुट-मिलित पदपीठा ॥" (अ० दो० ६७)।

(२) 'बनी बिसाल बाजि···'—हथिसार विशाल इसलिये हैं कि बड़े-बड़े पर्वताकार हाथी भी उनमें बँधे रहें। वे घर भी ठसाठस भरे रहते हैं। अतः, हाथियों की अधिकता जनाई। उत्तरार्द्ध में 'रथ' भी कहे हैं अर्थात् अश्वरथ, गज-रथ आदि हैं, जो घोड़ों और हाथियों के समीप रहते हैं। यहाँ हाथी, घोड़े और रथ तीन कहे गये। आगे—'सूर सचिव सेनप।···' भी कहकर चतुरंगिणी सेना सूचित की। 'सेनप' बहुत हैं तो उनकी सेनाएँ भी असंख्य होंगी। इससे पैदल भी आ गये। 'सूर' से योद्धा कहे गये हैं। जो इन चारों के अतिरिक्त हैं। 'सचिव' शूरों और सेनापतियों के बीच में रहते हैं, इसीसे कवि ने उन्हें दोनों के बीच में लिखा है। यह राजा की नीतिनिपुणता है, क्योंकि राजा के सात अंगों मे मंत्री मुख्य है। उसके सुरक्षित एवं साथ रहने से गया हुआ राज्य भी आ जाता है, जैसे सुग्रीव और विभीषण के मन्त्री साथ थे तो उनका गया हुआ राज्य भी प्राप्त हो गया।

(३) 'नृप-गृह सरिस सदन ···'—इससे भृत्यों पर राजा की प्रीति जानी गई कि मंत्री आदि को इतना ऐश्वर्य दे रक्खा है जिससे उनके महल भी राजा के महल के तुल्य हैं। अतः, स्वामी के कार्य को अपनेपन के साथ करते हैं। यहाँ तक राज-कोट का वर्णन हुआ।

पुर बाहेर - सर - सरित समीपा। उतरे जहँ - तहँ बिपुल महीपा ॥४॥
देखि अनूप एक अँवराई। सब सुपास सब भाँति सुहाई ॥५॥
कौसिक कहेउ मोर मन माना। इहाँ रहिय रघुबीर सुजाना ॥६॥
भलेहि नाथ कहि कृपानिकेता। उतरे तहँ मुनि बृंद - समेता ॥७॥

अर्थ—नगर के बाहर नदी और तालाबों के समीप जहाँ तहाँ बहुत-से राजा उतरे हुए हैं ॥४॥ एक अनुपम आम का बाग देखकर, जहाँ सब प्रकार की सुविधा थी और जो सब तरह से सुंदर था ॥५॥ श्री विश्वामित्रजी ने कहा कि हे सुजान रघुवीर ! मेरे मन मे तो मान लिया है कि यहाँ रहा जाय ॥६॥ कृपा के स्थान श्रीरामजी ने कहा—"हे नाथ ! बहुत अच्छा" और वहीं मुनि-समूह के साथ उतरे (ठहर गये) ॥७॥

विशेष—(१) प्रथम बाहर से रचना कहते हुए भीतर तक पहुँच गये, अब फिर पुर से बाहर की

वास करते हैं। बाहर के वर्णन में ही पूर्व कहा था कि—"वापी कूप सरित सर नाना" (दो० २११)। यहाँ 'सर सरित समीपा' में दो ही नाम दिये, क्योंकि द्वीप-द्वीप के राजगण आये हैं, उनका निर्वाह वापी-कूप से न होगा। अतः, सर-सरित ही के समीप ठहरे हैं, यथा—"छोनी में के छोनीपति छाजै जिन्हें छत्र छाया, छोनी छोनी छाये छिति आये निमिराज के॥" (क० बा० ८)।

(२) 'देखि अनूप एक'''—आम की छाया सब ऋतुओं में अनुकूल रहती है। यह साधु-समाज के और राजकुमारों के लिये भी अनुकूल है अर्थात् फल-फूल, स्नान, ध्यान, जल और एकान्त—सभी सुभीते हैं।

(३) 'कौसिक कहेउ मोर '''—मुनि का राज-सम्बन्धी नाम दिया गया, क्योंकि उनका ध्यान विशेष कर राजकुमारों की प्रतिष्ठा पर है कि जब तक राजा जनक स्वयं आकर न लिवा जायँ, तब तक पुर के भीतर इनका जाना योग्य नहीं है। यही लक्ष्य जताने के लिये श्रीरामजी को भी 'रघुबीर सुजान' कहा है कि आप चक्रवर्त्तिकुमार हैं, सुजानता से विचारें कि ठीक है न ?

(४) 'भलेहि नाथ कहि कृपानिकेता'—मुनि को नाथ कहा और उनकी बात को प्रामाणिक माना। इससे उनपर भी कृपा है। मुनि-वृन्द थके-प्यासे हैं, यहाँ शीघ्र विश्राम पावेंगे, इससे उतरे। अतः, उन सब पर कृपा है, इससे 'कृपानिकेत' कहा है, यथा—"येहि बिधि जाइ कृपानिधि, उतरे सागर-तीर। जहँ-तहँ लागे खान फल, भालु बिपुल कपि बीर॥" (सुं० दो० ३५)।

'उतरे तहँ मुनि वृन्द समेता'—उतरने में श्रीरामजी को प्रधानता दी गई है, क्योंकि उनकी ही मर्यादा से यहाँ उतरा गया है, नहीं तो मुनि मात्र होते तो सीधे राज-दरबार में चले जाते, जैसे राजा दशरथ के यहाँ गये थे।

विश्वामित्र महामुनि आये। समाचार मिथिलापति पाये॥८॥

दोहा—संग सचिव सुचि भूरिभट, भूसुर बर गुरु ज्ञाति।
चले मिलन मुनिनायकहिं, मुदित राउ येहि भाँति॥२१४॥

कीन्ह प्रनाम चरन धरि माथा। दीन्हि असीस मुदित मुनिनाथा॥१॥
बिप्रबृंद सब सादर बंदे। जानि भाग्य बड राउ अनंदे॥२॥
कुसल प्रस्न कहि बारहिं बारा। बिस्वामित्र नृपहिं बैठारा॥३॥

अर्थ—'महामुनि विश्वामित्रजी आये हैं'—यह समाचार मिथिला-नरेश (जनकजी) को मिला॥८॥ (तब) राजा जनक ने मंत्रियों, बहुत से निश्छल योद्धाओं, श्रेष्ठ ब्राह्मणों और ज्ञाति (जाति) के गुरु (वृद्ध) लोगों एवं गुरु शतानन्दजी को साथ लिया। इस प्रकार प्रसन्न मन से वे मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र से मिलने चले॥२१४॥ (मुनि के) चरणों पर शिर रखकर प्रणाम किया, मुनि नाथ विश्वामित्रजी ने प्रसन्नता-पूर्वक असीस दी॥१॥ फिर सब ब्राह्मण समाज को आदर के साथ प्रणाम किया और अपना बड़ा भाग्य जानकर राजा आनन्दित हुए॥२॥ बारंबार कुशल-प्रश्न करके विश्वामित्रजी ने राजा को बैठाया॥३॥

विशेष—(१) 'महामुनि' और 'मिथिलापति'—बड़े से मिलने के लिये बड़े का समाचार लेते हुए सावधान रहना और जाना योग्य ही है। जनकजी मिथिला भर के पति हैं, सबके समाचार लेते रहते

हैं। यहाँ तो मुनि समीप हो आ गये हैं; फिर क्यों न जानें। दूतों ने राजकुमारों का भी साथ में होना कहा है। अतः, तदनुसार मिलने चलेंगे। वसिष्ठजी के शाप से निमि का शरीर छूट गया। ऋषियों ने उनका शरीर मथकर 'मिथि' नामक पुत्र उत्पन्न किया जिन्होंने मिथिला नगरी बसाई। तब से इस वंश की तीन उपाधियाँ हुईं—१—'मिथिलेश'; क्योंकि इस गद्दी के पूर्वज राजा मथने से हुए। २—'जनक'; क्योंकि मिथि पिता (जनक) मात्र से उत्पन्न हुए। प्रजा का पितृवत् पालन करने से भी 'जनक' नाम से प्रसिद्ध हुए। ३—'विदेह'; क्योंकि मिथि स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न नहीं हुए। अथवा योगक्रिया में देह-सुधि से रहित रहते हैं। इस गद्दी के सभी राजा ज्ञानी, योगी एवं भक्त होते आये हैं।

'मिथिला'—वृहद्विष्णुपुराण में मिथिला की सीमा यों निर्द्धारित की गई है। यथा—"कौशिकीन्तु समारभ्य गण्डकीमधिगम्य वै। योजनानि चतुर्विंशद्व्यायामः परिकीर्त्तितः॥ गङ्गाप्रवाहमारभ्य यावद्धैमवतं वनम्। विस्तारः षोड़शः प्रोक्तो देशस्य कुलनन्दन॥ मिथिलानाम नगरी तत्रास्ते लोकविश्रुता॥" अर्थात् कौशिकी से लेकर गण्डकी तक पूर्वी-पश्चिमी लम्बाई २४ योजन (९६ कोस) और गंगा की धारा से हिमालय के वन तक उत्तर-दक्खिन में चौड़ाई १६ योजन (६४ कोस) है। मिथिला की रामायणकालीन राजधानी जनकपुर धाम है। यह इस समय नेपाल राज्य में है। यह सीतामढ़ी से लगभग दस-बारह कोस पूरब है। उस समय के राजा "जनक का नाम सीरध्वज और उनके छोटे भाई का नाम कुशध्वज था। महाराज जनक ने सांकाश्यनगरी के राजा सुधन्वा को जीतकर वहाँ का राज्य कुशध्वज को दे दिया था।

(२) 'संग सचिव सुचि'...'—साथ का समाज साभिप्राय है। प्रतिज्ञा के कारण बहुत-से राजा विरोधी हो गये थे, उनसे साल-भर युद्ध हुआ था। (वाल्मी० १।६६।२१-२३)। वे बाहर पाकर छिपे हुए कहीं आक्रमण न कर दें। अतः, सलाह के लिये मंत्री और रक्षा के लिये 'भूरि भट' साथ हैं। उधर गुरु विश्वामित्र और विप्र-मंडली हैं, तो इधर से भी गुरु शतानन्दजी और 'भूसुर बर' हैं। उधर राजकुमार हैं तो इधर जाति-वर्ग भी हैं। 'मुदित' शब्द पृथक् कहा, क्योंकि यह होना अत्यावश्यक है, कहा है—"चारि मिले चौंसठि खिले, बीस रहे कर जोरि। सज्जन सों सज्जन मिले, पुलके सात करोरि॥" अर्थात् मिलने में दोनों तरफ की चार आँखें सम्मुख हों, ३२+३२=६४ दाँत प्रसन्नता की हँसी से खिल जायँ, हाथ जोड़ने में १०+१०=२० अंगुलियाँ रहें और ३½+३½=७ कोटि रोयें पुलक से खड़े हो जायँ!

(३) 'कीन्ह प्रनाम चरन ...'—राजा ने चरण पर माथ धरकर प्रणाम किया तो मुनि ने मुदित होकर असीस दी। उपर्युक्त 'मुदित' के अनुरूप इधर भी मुदित शब्द है। विप्र-वृन्द के प्रणाम में 'सादर' शब्द से वैसे ही चरण पर माथा धरकर प्रणाम करना जनाया, जिससे फिर वही शब्द नहीं दिया जाय। विप्र वृन्द को समष्टि में ही प्रणाम किया और अपने को बड़भागी माना। यथा—"भूसुर भीर देखि सब रानी। सादर उठीं भाग बड़ जानी॥" (दो० ३५१)। ब्राह्मणों का आशीर्वाद देना नहीं कहा गया, पर राजा के आनंदित होने से पाया गया कि सब ने पृथक् पृथक् आशीर्वाद दिया। असीस मुनि के अनुरूप होने से पृथक् नहीं लिखी गई। थोड़े शब्दों से बहुत आशय दिखाना कविता का चमत्कार है।

(४) 'कुसल प्रश्न कहि ...'—कुशल के प्रश्न बार-बार हुए, तदनुसार उत्तर भी बार-बार कहे गये। बार-बार धर्म, राज्य, सन्तान आदि के विषय में कुशल पूछी वा इनकी और इनके गुरु, मुनि आदि की कुशल पूछी, यथा—"पप्रच्छ कुशलं राज्ञो यज्ञस्य च निरामयम्। स तांश्चाथ मुनीन्पृष्ट्वा सोपाध्याय

पुरोधस ॥" (वाल्मी० ।५०।६)। 'बारहिं बारा' दीपदेहली न्याय से बैठाने में भी है। बारबार मुनि के बैठाने से राजा बैठे। आसन न दिया, क्योंकि राजा विवेकी एवं ब्रह्मण्यदेव हैं। अत, महामुनि के समक्ष आसन पर नहीं बैठेंगे। ब्राह्मणों से प्रणाम हो जाने पर कुशल पूछने लगे, अन्यथा उनका अनादर होता।

तेहि अवसर आये दोउ भाई। गये रहे देखन फुलवाई ॥४॥
स्याम गौर मृदु बयस किसोरा। लोचन-सुखद बिस्व-चित - चोरा ॥५॥
उठे सकल जब रघुपति आये। बिस्वामित्र निकट बैठाये ॥६॥
भये सब सुखी देखि दोउ भ्राता। बारि बिलोचन पुलकित गाता ॥७॥
मूरति मधुर मनोहर देखी। भयेउ बिदेह बिदेह बिसेखी ॥८॥

शब्दार्थ—बयस = अवस्था। किसोर = १६ वर्ष के भीतर की अवस्था। मधुर = मनोरंजक, लावण्य-युक्त।

अर्थ—उस अवसर पर दोनों भाई आये, वे फुलवाड़ी देखने गये थे ॥४॥ उनमें एक श्याम—दूसरे गौर थे, वे कोमल शरीर और किशोर अवस्था वाले, आँखों के सुखदायक और विश्व के चित्त को चुराने वाले थे ॥५॥ जब श्रीरघुनाथजी आये, तब सभी उठकर खड़े हो गये। श्रीविश्वामित्रजी ने उन्हें अपने पास में बैठा लिया ॥६॥ दोनों भाइयों को देखकर सब सुखी हुए, सब के नेत्रों में प्रेम के आँसू भर आये और शरीर पुलकित हो गये ॥७॥ मधुर मनोहर मूर्त्ति को देखकर विदेह राजा विशेष रूप से विदेह (देह-सुधि से रहित) हो गये ॥८॥

विशेष—(१) 'तेहि अवसर आये दोउ'''—जब दोनों समाज बैठ गये, तब अवसर जानकर रामजी और लक्ष्मणजी आये। देर होती तो कोई प्रसंग छिड़ जाने से आने पर उसमें विघ्न होता। प्राय. वे अपनी मर्यादा के अनुसार अवसर पर ही आया करते हैं। यथा—"कहि मृदुबचन ' बैठारे नरनारि। " राजकुँवर तेहि अवसर आये।" (दो० २४०)। वैसे यहाँ भी फुलवाड़ी देखना सामान्य कारण है। राजा के आने पर अवस्था में छोटे होने के कारण इन्हें उठना चाहिये और उठने से चक्रवर्त्ती के कुल की अप्रतिष्ठा का भय है। अत, मुनि ने फुलवाड़ी देखने के व्याज से प्रथम ही इन्हें वहाँ से हटा दिया था कि सब के बैठने पर इनके आने से सब खड़े होंगे। इनके कुल की मर्यादा रहेगी। फुलवाड़ी देखने का भी प्रयोजन था, क्योंकि ये गुरुजी के लिये दल-फूल लाने की सेवा का नियम किये हुए हैं।

(२) 'लोचन सुखद बिस्व ''—लोचन को सुखदायक हैं। अत, दृष्टि पड़ते ही चित्त लुभा जाता है। पूर्वोक्त "लोचन अभिरामा" (दो० १६१) भी देखिये। यहाँ सब के चित्त चुराये, आगे भी ऐसा ही करेंगे। यथा—"राजत राज-समाज महँ, कोसल राजकिसोर। सुंदर स्यामल गौर तनु, बिस्वबिलोचन चोर॥" (दो० २४१)। नेत्रों के देखते हुए सुख देकर चित्त को चुरा लेते हैं, यथा—"चन्द्रकान्त्वानन राममतीवप्रियदर्शनम्॥ रूपौदार्यगुणैः पुंसां दृष्टिचित्तापहारिणम्।" (वाल्मी० २।३।२८ २९)। ये विलक्षण चोर हैं कि परम गुप्तस्थल हृदय है, उसे ही हर लेते हैं। फिर भी प्रियदर्शन होने के कारण इन्हें दंड न देकर लोग सर्वस्व ही अर्पित करते हैं!

(३) 'उठे सकल जब ' '—इनका किंचित् ही प्रताप दूत अंगद को प्राप्त था, तो उनके सामने शत्रु की सभा उठ गई, यथा—"प्रभु प्रताप उर सहज असंका।" (लं० दो० १०), "उठे सभासद कपि कहँ

देखी।" (सं० दो० १८); फिर स्वयं इन्हें देखकर सब क्यों न उठें? यहाँ इनका तेज एवं प्रताप गुण प्रकट हुआ। सबने उठकर इनका सम्मान किया और गुरुजी ने वात्सल्य से निकट बैठाकर प्यार प्रकट किया।

(४) 'मूरति मधुर मनोहर देखी। भयेउ विदेह···'—पूर्वोक्त—'लोचन सुखद···' का चरितार्थ यहाँ है—'मधुर' से नेत्रों को सरस और लावण्ययुक्त जनाया; यही 'लोचनसुखद' का भाव है और 'मनोहर' से मन एवं चित्त हरनेवाले हैं। इसी से विदेह विशेष विदेह हो गये अर्थात् प्रथम देह से चित्तवृत्ति सर्वथा हटाये हुए ब्रह्मानंद में लीन रहने से विदेह थे। अब इनके दर्शनों से परमानंद की प्राप्ति हुई जिससे उस ब्रह्मानंद-वृत्ति को भी चित्त ने त्याग दिया और इनमें अनुराग-सहित लग गया। यथा—"इन्हहिं बिलोकत अति " आगे कहते हैं। इससे विशेष 'विदेह' कहे गये। यथा—"भये बिदेह बिदेह नेह-बस देह-दसा बिसराये। पुलक गात न समात हरष हिय, सलिल सुलोचन छाये॥" (गी० बा० ६३)। "देखे रामलखन निमेषँ बिथकित भईं प्रानहुँ ते प्यारे लागे बिनु पहिचाने हैं। ब्रह्मानंद हृदय दरस-सुख लोयनन्हि अनुभये उभय सरस राम जाने हैं॥" (गी० बा० ५६)। "अवलोकि रामहि अनुभवत मनु ब्रह्म-सुख सौगुन दिये।" (जानकी-मंगल ४५)।

यह भी भाव है कि इनके साथ के लोग सामान्य विदेह हुए और ये विशेष विदेह हो गये, यथा—"तुलसिदास प्रभु देखि लोग सब जनक-समान भये।" (गी० बा० ६१); तथा—"सुख के निधान पाये, हिय के पिधान लाये, ठग के से लाडू खाये, प्रेम मधु छाके हैं। स्वारथ-रहित परमारथी कहावत हैं, भे सनेह-बिबस बिदेहता बिबाके हैं॥" (गी० बा० ६२)।

दोहा—प्रेममगन मन जानि नृप, करि बिबेक धरि धीर।
बोलेउ मुनिपद नाइ सिर, गदगद गिरा गँभीर॥२१५॥

कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनि-कुल-तिलक कि नृपकुल-पालक॥१॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥२॥
सहज बिरागरूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंदचकोरा॥३॥
ताते प्रभु पूछउँ सतिभाऊ। कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ॥४॥
इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहिं मन त्यागा॥५॥

शब्दार्थ—गदगद=प्रेम-विह्वल दशा के वचन। गँभीर=गूढ़ आशययुक्त, गहरी। तिलक=सिरमौर। उभय=दो। थकित=मोहित। बरबस=बलात्, बरजोरी।

अर्थ—मन को प्रेम में डूबा हुआ जानकर राजा विवेक से धैर्य धारण किये रहे और मुनि के चरणों में शिर नवाकर गंभीर (गूढ़ आशय युक्त) और गद्गद वाणी बोले॥२१५॥ हे नाथ! कहिये, ये दोनों सुन्दर बालक मुनिकुल के सिरमौर हैं वा राजाओं के कुल के पालनेवाले हैं?॥१॥ क्या जिस ब्रह्म को वेद नेति कहकर गाते हैं, वही दो वेष (रूप) धरकर आया है?॥२॥ (क्योंकि) मेरा मन, जो स्वाभाविक वैराग्य रूप है, इस तरह मोहित हो रहा है, जैसे चन्द्रमा को देखकर चकोर॥३॥ इसीलिये हे प्रभो! मैं आपसे सत्य भाव से पूछता हूँ, हे नाथ! कहिये, छिपाव न कीजिये॥४॥ इन्हें देखते ही मेरा मन इनमें अत्यन्त अनुरागपूर्वक लग गया और उसने बरजोरी ब्रह्म-सुख को छोड़ दिया है॥५॥

विशेष—(१) 'प्रेम-मगन मन ''''''—राजा के मन, वचन, कर्म तीनों अनुरक्त हैं। 'प्रेम मगन मन'—मन, 'नाइ सिर'—कर्म, 'गदगद गिरा'—वचन। विवेक-द्वारा बुद्धि से तीनों को सावधान करके जिज्ञासा-द्वारा विशेष निश्चय करना चाहते हैं।

(२) 'कहहु नाथ सुंदर दोउ''''''—सुन्दरता-द्वारा ही राजा का मन हरा गया है। अतः, इसे प्रथम कहा। मुनि के साथ हैं और (संभवत) फुलवाड़ी देखने गये थे, इससे धनुष-बाण साथ में नहीं हैं। इससे प्रथम 'मुनि-कुल-तिलक' कहा। फिर राजलक्षण ही नहीं, किंतु चक्रवर्त्ती के लक्षण इनके अंगों में जानकर 'नृप-कुलपालक' का अनुमान किया। इनका अप्रमेय तेज देखकर दोनों कुलों की श्रेष्ठता कही कि मुनि-कुल के होंगे, तो तप से तेज होना संभव है, यथा—"बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा।" (उ० दो० ८९)। राजा में लोकपालों का तेज रहता है, इससे तेजस्वी होंगे। राजकुमार हैं, तो मुनि के पूर्व के राजकुल के कोई संबंधी होंगे। इससे राज-कुल का प्रश्न किया। यही प्रश्न—"ये कौन कहाँ से आये।" (गी० बा० ६६) पद में विस्तार से है। कोई-कोई यहाँ 'मुनिकुलतिलक' से 'नर-नारायण' और 'नृपकुल-पालक' से ब्रह्मांडपालक नृप विष्णु का अर्थ लेकर और आगे के ब्रह्म को मिलाकर तीन प्रश्न क्रमशः हनूमान्‌जी की तरह लगाते हैं जैसा कि० दो० १ में है।

(३) 'ब्रह्म जो निगम नेति ''''''—परम ज्ञानी श्रीजनकजी का भी मत है कि निर्गुण ब्रह्म शरीर धरता है। यथा—"जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भयो कोसलपुर भूपा॥" (दो० १२०); "निर्गुन ब्रह्म सगुन भये जैसा।" (कि० दो० १६)। 'उभय बेष'—यहाँ ब्रह्म ही का दो वेष धारण करना कहते हैं। आगे पारस्परिक स्नेह देखकर ब्रह्म और जीव निश्चय करेंगे। यदि मुनि कहें कि अभी तो मुनि एवं राजा की दृष्टि थी। अब ब्रह्म कैसे कहते हो ? तो उसपर कहते हैं—

(४) 'सहज बिराग रूप मन ''''''—अर्थात् मेरा मन जन्म ही से प्राकृत विषयों से निर्लिप्त है। यथा—"मुनि गन गुरु धुर धीर जनक से। ज्ञान-अनल मन कसे कनक-से॥ जे बिरंचि निरलेप उपाये। पदुम पत्र जिमि जग जल जाये॥" (अ० दो० ३११)। यदि साधन से प्राप्त वैराग्य होता तो उसका च्युत होना भी संभव था। ऐसा बिराग-रूप मन भी इनमें थकित हो रहा है। जैसे चकोर चन्द्रमा के गुण नाम आदि से परिचित नहीं रहता, क्योंकि वह जड़ पक्षी है, फिर भी चन्द्रमा पर देह की सुधि भूले हुए टकटकी लगाये रहता है। मेरे मन की यही दशा हो रही है।

(५) 'ताते प्रभु पूछउँ'''—'ताते'—इस साश्चर्य घटना तथा अपने आप न निश्चय कर सकने पर हार्दिक सत्य भाव से (याद दृष्टि से नहीं) अपने जानने के लिये पूछ रहा हूँ। छिपाइये नहीं। छिपाना संभव है, क्योंकि श्रीरामजी को अपना ऐश्वर्य प्रकट करना अच्छा नहीं लगता, इसी से मुनि लोग भी उनके निकट उनका ऐश्वर्य गुप्त ही रखते हैं। यथा—"सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई।" (वि० १६४) "गुपुत रूप अवतरेउ प्रभु।" (दो० ४८)।

(६) 'इन्हहि बिलोकत अति''''''। मन प्रथम ब्रह्म में अनुरागी था और ब्रह्मानंद भोगता था, उसीने बलात् उसे छोड़ दिया, अर्थात् मेरे बहुत यत्न करने पर भी उसमें नहीं ठहर सका। इनको देखते ही इनमें अति-अनुरागपूर्वक लग गया और उस ब्रह्मानंद की अपेक्षा अति सुख प्राप्त कर रहा है। यह रहस्य खोलकर कहिये।

कह मुनि बिहँसि कहेहु नृप नीका। बचन तुम्हार न होइ अलीका॥६॥
ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी। मन मुसुकाहिं राम सुनि बानी॥७॥

रघुकुल-मनि दसरथ के जाये। मम हित लागि नरेस पठाये ॥८॥

दोहा—राम लखन दोउ बंधु वर, रूप-सील-बल-धाम।
मख राखेउ सब साखि जग, जिते असुर संग्राम ॥२१६॥

शब्दार्थ—मलीक = मिथ्या, मर्यादारहित। प्रानी (प्राणी) = देहधारी जीव। साखि = साक्षी।

अर्थ—मुनि ने हँसकर कहा कि राजन्! आपने अच्छा कहा, आपका वचन मिथ्या नहीं हो सकता ॥६॥ जगत् में जहाँ तक देहधारी जीव हैं, उन सभी को ये प्रिय हैं—मुनि के वचनों को सुनकर श्रीरामजी मन में मुसुकाते हैं—॥७॥ ये रघुकुलमणि दशरथ महाराज के पुत्र हैं, इन्हें राजा ने मेरे हित के लिये भेजा है ॥८॥ राम लक्ष्मण नाम हैं, दोनों श्रेष्ठ भाई रूप, शील और बल के स्थान हैं। सारा संसार साक्षी है कि इन्होंने राक्षसों को लड़ाई में जीतकर मेरे यज्ञ की रक्षा की है ॥२१६॥

विशेष—(१) 'कह मुनि बिहँसि ···'—हँसकर मुनि ने प्रसन्नता जनाई, क्योंकि जिसे मुनि प्रथम जानकर भी माधुर्य में भूल गये थे, फिर उनके जनाने से जाना, उसे राजा ने जान लिया। अतः, राजा बड़े चतुर हैं। मुनि ने अच्छा ही कहा है—'तुम्हारा (ब्रह्म ज्ञानी का) वचन यथार्थ ही होता है'। इस तरह प्रथम राजा के वचन को प्रामाणिक किया। फिर स्वयं भी जनाते हैं।

(२) 'ये प्रिय सबहि जहाँ ···'—ये अर्थात् रामजी प्राणिमात्र को प्रिय हैं, क्योंकि ये प्राणों के भी प्राण हैं, यथा—"यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा" (बृह० ३।७।१), "येन प्राणः प्रणीयते"—श्रुतिः। ब्रह्म सच्चिदानन्द-स्वरूप है। वह सत्, चित्, आनन्द रूप क्रमशः स्थिर, कान्ति और प्रिय—इन तीन गुणों से जाना जाता है। यहाँ 'प्रिय' से जनाया, इसीको आगे जनकजी स्पष्ट करेंगे—"आनँदहू के आनँद-दाता।" श्रुति भी है—"एषोऽस्य परमानंद एतस्यैवानंदस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति॥" तथा—"आनन्दो ब्रह्मेति व्याजानात्" (तै० ३।६।१), "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।" (तै० २।१); "रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परंब्रह्माभिधीयते॥" (रा० पू० ता० १।६) अर्थात् इन दोनों ज्ञानियों का संवाद श्रुतियों के अनुकूल ही है। पुनः, यथा—"सुद्ध सच्चिदानंदमय, कंद भानु-कुल-केतु।" (अ० दो० ८७); इत्यादि, श्रीगोस्वामीजी ने सर्वत्र कहा है। 'मन मुसुकाहिं राम ···'—मन की मुसकान मुखचन्द्र की झलक से जानो। मुसकाने के हेतु—(क) जिसमें लोग लड़का ही जानें। (ख) आपकी हँसी माया है, अतः मुसकाकर मुनि पर माया डाली और मति फेरी कि वे ऐश्वर्य न प्रकट करें, अन्यथा—"रावन मरन मनुज कर ··" (दो० ४८), इत्यादि में बाधा होगी, वही हुआ। मुनि तुरंत ही व्यवहार-दृष्टि से कहने लगे। (ग) मुसकाये कि हम कितना भी छिपाते हैं, तब भी प्रेमी भक्त लोग जान ही लेते हैं। यथा—"सुनि मुनि-बचन प्रेम-रस साने। सकुचि राम मन महँ मुसुकाने॥" (अ० दो० १२७)। मन ही में मुसकाये, क्योंकि प्रकट मुसकाने से आत्मश्लाघा रूप दोष होता—"निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।" (आ० दो० ४५)।

(३) 'रघुकुलमनि दसरथ···'—राजा ने मुनि-कुल अथवा नृपकुल का संदेह किया था, उसमें नृपकुल की जगह 'रघुकुलमनि···' कहा। और जो मुनि के साथ होने से मुनि-कुल का संदेह था। उसके विषय में 'मम हित लागि' कहकर समझाया। 'लागि'—अर्थात् यहीं तक के लिये इनके पिता ने भेजा था, यहाँ तो हम अपनी ओर से लिवा लाये हैं। इस तरह सारी कृतज्ञता का भार राजा पर धर दिया जिससे राजा ने चरणों के दर्शनों से भाग्य सराहकर कृतज्ञता प्रकट की है। यथा—"मुनि तव चरन देखि कह राऊ।"

इस माधुर्य कथन से चरित-द्वारा भी ब्रह्म का ही परिचय दिया, क्योंकि इस तरह राजा जान लेंगे, यथा- "येह सब जागवलिक कहि राखा।" (बा० दो० २८४)। 'रघुकुलमनि दसरथ के जाये।' से अवतार कहा, यथा—"ते दसरथ कौसिल्या रूपा। कोसल पुरी प्रगट नरभूपा॥ तिन्ह के गृह अवतरिहउँ जाई। रघुकुल-तिलक सुचारिउ भाई॥" (दो० १८१)। 'राम लखन दोउ बंधु' से नाम और रूप, 'मखहित लागि' से लीला और 'रघुकुलमनि' से धाम श्रीअवध भी जनाया। 'बंधुवर' अर्थात् दोनों ज्येष्ठ ज्येष्ठ भाई हैं भरत-शत्रुघ्न (क्रमिक दोनों से) एक एक से छोटे भी हैं।

(३) 'रूप-सील-बल-धाम'''साखि जग'''—रूप प्रथम कहा, क्योंकि उसका पूर्ण प्रभाव अभी ही राजा पर पड़ा है। प्रथम देखने पर मुनि स्वयं भी ऐसे ही हो गये थे। 'सील' हमारा शील रखने के लिये माता-पिता, सुखमय गृह आदि छोड़े हुए साथ पैदल फिर रहे हैं। 'बलधाम' ऐसे हैं कि असुरों को संग्राम करके जीत चुके हैं। ये अत्यन्त सुकुमार हैं और राक्षस महान क्रूर-कठोर हैं। उन्हें जीतने में संदेह हो सकता है, इसलिये जगत्-भर का साक्ष्य (गवाही) दिया; अर्थात् मैंने इनके उत्कर्ष के लिये नहीं कहा।

मुनि तव चरन देखि कह राऊ। कहि न सकउँ निज पुन्यप्रभाऊ॥१॥
सुंदर स्याम गौर दोउ भ्राता। आनँदहू के आनँददाता॥२॥
इन्ह कै प्रीति परस्पर पावनि। कहि न जाइ मनभाव सुहावनि॥३॥
सुनहु नाथ कह मुदित बिदेहू। ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू॥४॥

अर्थ—राजा ने कहा कि हे मुनि! आपके चरणों को देखकर मैं अपने पुण्यों के प्रभाव को नहीं कह सकता॥१॥ ये श्याम-गौर दोनों भाई सुन्दर हैं, आनन्द को भी आनन्द देनेवाले हैं॥२॥ इनकी आपस की प्रीति पवित्र और सुहावनी है, कही नहीं जा सकती, मन को भाती है॥३॥ राजा जनक ने प्रसन्न मन होकर कहा—हे नाथ! सुनिये, इनका स्वाभाविक स्नेह ब्रह्म-जीव की तरह है॥४॥

विशेष—(१) 'मुनि तव चरन देखि''—एक तो पुण्यपुंज से संत मिलते हैं, फिर आप ऐसे संत हैं कि जो साक्षात् ईश्वर को लेकर ही आये। अतः, हमारे पुण्य अकथ्य हैं। इस प्रकार मुनि की प्रशंसा की। 'कहि न सकउँ'—से प्रतिज्ञा पूरी होने की भी आशा गर्भित है, जो अभी कहने की नहीं है।

(२) 'सुंदर स्याम गौर'' '—पुण्य के प्रभाव से आनन्द मिलता है। अतः, प्रथम उसे कहकर तब आनन्द की प्राप्ति जताई। इनकी सुन्दरता से आनन्द को भी आनन्द मिला। भाव, ब्रह्म आनन्द-रूप है, यथा—"*आनन्दो ब्रह्मेति व्याजानात्*॥" (तै० ३।६।१); "आनंदसिंधु मध्य तव बासा।" (वि० १३६)। उसमें तन्मय होकर मैं ब्रह्मानन्द का भोक्ता था। अतः, आनन्द-रूप था, मुझे भी इन्होंने उससे विशेष आनन्द दिया। यथा—"सुंदरता कहँ सुंदर करई।" (दो० २३१)। राजा राजकुमारों की सुंदरता पर मुग्ध हैं। अतः, यही सराहते हैं।

(३) 'इन्ह कै प्रीति परस्पर'''—ऊपर की सुन्दरता कहकर अब भीतर की प्रीति कहते हैं। 'पावनि' यथा—"प्रीति पुनीत भरत कै देखी।" (दो० २३०); "उपजी प्रीति पुनीत।" (दो० २२१); छल-रहित प्रीति पुनीत है और भाई-भाई में स्वभावतः होती है, यथा—"भाइहि भाइहि परम समीती। सकल दोष छलबरजित प्रीती॥" (दो० १५२), "नाथ बालि अरु मैं दोउ भाई। प्रीति रही कछु बरनि न जाई॥" (कि० दो० ५) तथा—"उपमा राम लखन की प्रीति की क्यों दीजै खीरनीरै।" (गी० लं० १५)।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि राजा ने देखने मात्र से अंतरंग प्रीति को कैसे जाना? भाई-भाई में तो कहीं-कहीं कपट-प्रीति भी होती है। इसका उत्तर 'कहि न जाइ मन भाव' में गर्भित है; अर्थात् जैसे अनुभव-द्वारा ब्रह्म का निश्चय किया है वैसे ही अनुभव से प्रीति एवं ब्रह्म-जीव का नाता भी जाना, अनुभव मन में होता है, इसी को 'मनभाव' से कहते हैं। अनुभव की बात अकथ्य भी होती है, यथा—"उर अनुभवति न कहि सक सोऊ।" (दो० २४१)। यही 'कहि न जाइ' से सूचित किया है।

(४) 'सुनहु नाथ कह मुदित ···'—मुदित के साथ विदेह पद से जनाया कि आनंद में देह सुधि भूल गई है। 'ब्रह्म-जीव इव' यथा—"राम लखन सम प्रिय तुलसी के ॥···ब्रह्म जीव इव सहज सँघाती ॥" (दो० १९) में भी राम के क्रमशः अर्थ में ब्रह्म-जीव का प्रसग है।

पुनि पुनि प्रभुहि चितव नरनाहू। पुलक गात उर अधिक उछाहू ॥५॥
मुनिहिं प्रसंसि नाइ पद सीसू। चलेउ लिवाइ नगर अवनीसू ॥६॥
सुंदर सदन सुखद सब काला। तहाँ बास लै दीन्ह भुआला ॥७॥
करि पूजा सब बिधि सेवकाई। गयेउ राउ गृह बिदा कराई ॥८॥

दोहा—रिषय संग रघुबंस-मनि, करि भोजन बिश्राम।
बैठे प्रभु - भ्राता सहित, दिवस रहा भरि जाम ॥२१७॥

अर्थ—राजा बार-बार प्रभु को देखते हैं, शरीर में पुलकावली होती है और हृदय में बहुत उत्साह हो रहा है ॥५॥ मुनि की प्रशंसा कर और उनके चरणों में शिर नवाकर राजा उन्हें नगर को लिवा ले चले ॥६॥ एक सुंदर घर जो सब काल में सुखदायक था, वहाँ ले जाकर राजा ने इनको ठहराया ॥७॥ सब तरह से मुनि की पूजा और सेवा करके राजा विदा माँगकर घर गये ॥८॥ रघुकुल में शिरोमणि श्रीरामजी ऋषियों के साथ भोजन और विश्राम करके भाई के साथ बैठे, तब पहर भर दिन रह गया था ॥२१७॥

विशेष—(१) 'पुनि-पुनि प्रभुहि ··'—बार-बार देखकर राजा इनमें प्रभुता (सामर्थ्य) का भी अनुभव करते हैं, यथा—"सुचि सुजान नृप कहहिं हमहिं अस सूझइ। तेज प्रताप रूप जहँ तहँ बल बूझइ ॥" (जानकीमंगल ६६); इसी से यह निश्चय करते हैं कि ये धनुष भी तोड़ेंगे तब सीता इन्हें और उर्मिला लक्ष्मण को ब्याह देंगे—इसीका अति उत्साह और पुलक हो रहा है।

(२) 'मुनिहि प्रसंसि नाइ···'—प्रश्न का यथार्थ उत्तर मिला। अतः, कृतज्ञता के लिये प्रशंसा और प्रणाम किया। पुन मुनि विरक्त वनवासी हैं, घर में रहने के लिये भी प्रार्थना एवं प्रणाम आदि हैं। स्वीकृति होने पर लिवा ले चले। नगर को क्यों लिवा ले गये?—(क) वहाँ सब प्रकार की सेवा का सुपास रहेगा, क्योंकि और राजा लोग तैयारी से आये हैं और ये चक्रवर्त्ति कुमार हैं, पर मुनि की सेवा मे हैं, यहाँ विरक्तों के बीच में वहाँ से कितने भी प्रबंध करेंगे, तो भी कुछ त्रुटि ही रहेगी। (ख) राजकुमार इक्ष्वाकुवंश की गद्दी के हैं और निमि-वंश भी वहीं की शाखा है, इस अपनपौ से भी किले के भीतर रक्खेंगे। (ग) राजा को नित्य प्रति बाहर आने में विशेष प्रबंध करना पड़ता, इसलिये भी भीतर लिवा ले गये।

(३) 'सुंदर सदन सुखद···'—देखने में सुंदर है और उसमें सब ऋतुओं का सुपास भी है, क्योंकि कार्तिक में मुनि यहाँ आये हैं, इस शरत् ऋतु में गर्मी, वर्षा और जाड़ा—तीनों रहते हैं। एक ऋतु

के अनुकूल गृह देने से उतने ही काल रहने की रुचि समझी जाती। 'लै दीन्ह'—साथ में ले जाकर, दिखाकर और उनकी रुचि जानकर वैसा भवन दिया। 'सुंदर सदन'—इस घर का नाम भी कहा जाता है।

(४) 'करि पूजा सब बिधि ·' 'सब बिधि' दीपदेहली है। पूजा षोडशोपचार से की और 'सेवकाई' से सेवक, वस्तु, वस्त्र और भोजन आदि का प्रबंध सूचित है। 'बिदा कराई'—यह शिष्टाचार है। यह भी गर्भित है कि राजा मुनि के अधीन हैं।

(५) 'रिषय संग रघुबंसमनि ··'—ऋषियों को साथ लेकर भोजन करने से रघुवंशमणि कहा, क्योंकि बड़े लोग समाज के साथ ही भोजन करते हैं। भोजन करके विश्राम करना आयुर्वेद की आज्ञा है। भोजन के पीछे भी कथा होती थी, पर आज नहीं हुई, क्योंकि रामजी को नगर देखने जाना है। अथवा भोजन में श्रीरामजी की प्रधानता है। अतः, आज श्रीजनकजी के राजमहल में ही भोजन हुआ है, सत्योपाख्यान में ऐसा लिखा भी है। इससे पकान्न आदि के भोजन से विश्राम करना आवश्यक था, इससे भी कथा नहीं हुई। 'भरि जाम'—राजा की सेवा में सावधानी भी देखी गई कि आज ही मुनि आये, राजा उनसे मिले, संवाद हुआ, नवीन वासा दिया, भोजन कराया, फिर विश्राम करने पर भी एक पहर दिन रह गया जो घूमने फिरने एवं नगर देखने का उपयुक्त समय है।

यहाँ चार शास्त्रों के मत दिखाये—'रिषय' बहुवचन है (व्याकरण); 'करि भोजन विश्राम'—(वैद्यक), 'बैठे प्रभु भ्राता सहित'—(नीति) और 'दिवस रहा भरि जाम' (ज्योतिष शास्त्र)।

लखन - हृदय लालसा बिसेखी। जाइ जनकपुर आइय देखी ॥१॥
प्रभुभय बहुरि मुनिहिं सकुचाहीं। प्रगट न कहहिं मनहिं मुसुकाहीं ॥२॥
राम अनुज-मन की गति जानी। भगतबछलता हिय हुलसानी ॥३॥
परम बिनीत सकुचि मुसुकाई। बोले गुरु - अनुसासन पाई ॥४॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी के हृदय में बड़ी लालसा है कि जाकर जनकपुर देख आवें ॥१॥ प्रभु का डर है और मुनि से संकोच करते हैं, इससे प्रकट नहीं कहते, किंतु मन ही में मुसुका रहे हैं ॥२॥ श्रीरामजी ने भाई के मन की दशा जान ली, उनके हृदय में भक्तवत्सलता उमड़ आई ॥३॥ गुरुजी की आज्ञा पाकर बहुत नम्रता और संकोच के साथ मुसकुराकर बोले ॥४॥

विशेष—(१) 'लखन-हृदय लालसा बिसेषी'—लालसा आपको भी है, पर लक्ष्मण के हृदय में विशेष है, क्योंकि बाहर की रचना देखकर दोनों भाई विशेष हर्षित थे। यथा -"पुर-रम्यता राम जब देखी। हरषे अनुज समेत बिसेखी॥" (दो॰ २११), इससे भीतर नगर की भी रचना देखने की लालसा हुई। 'बिसेखी' अर्थात् उत्कृष्ट इच्छा हो पड़ी जिसकी चेष्टा नेत्र आदि में झलक आई, क्योंकि आगे— राम अनुज-मन की गति जानी' कहा है। मन अणुस्वरूप है, उसकी गति वाह्य चेष्टाओं (आकार, संकेत, गति, चेष्टा, भाषण) से ही जानी जाती है। यथा—"आकारैरिंगितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च। नेत्रवक्त्रविकाराभ्यां लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः॥"—नीतिसार (गरुड़पुराण)। नगर-दर्शन संकोच की बात है, लक्ष्मण बालक हैं, उनमें लालसा होना योग्य है।

(२) 'प्रभु-भय बहुरि·· '—प्रभु श्रीरामजी का भय छोटे भाई में होना योग्य ही है, यथा—"कहि न सकत रघुबीर-डर" (दो॰ १५१), "लखन राम-डर बोलि न सकहीं॥" (दो॰ २११)। मुनि बड़े हैं।

अतः, उनका संकोच होना भी युक्त है कि चपलता से रुष्ट होंगे। यह संकोच नगर-दर्शन के अन्त तक रहा है। यथा—"सभय सप्रेम विनीत अति, सकुच सहित दोउ भाइ।" (दो० २२५)। लक्ष्मणजी की दृष्टि में प्रभु मुख्य हैं, यथा—"गुरु पितु मातु न जानउँ काऊ।'''मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी।" (अ० दो० ७१)। अतः, 'प्रभु-भय' प्रथम कहा है। श्रीलक्ष्मणजी जीवमात्र के आदर्श आचार्य हैं, उनकी तरह सबको प्रभु का भय सदा रहना चाहिये। यथा—"सुत की प्रीति प्रतीति मीत की नृप ज्यों डर डरि है।" (वि० २६८)।

(३) 'राम अनुज-मन की'''—मन की गति जानने के सम्बन्ध से 'राम' कहा गया है, क्योंकि जीवों के मन की गति ईश्वर ही जानेगा। यथा—"स्वामि सुजान जान सबही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की॥" (अ० दो० ३१३)। मुनि ने नहीं जाना, क्योंकि वे जीव हैं। जीव ध्यान-द्वारा ही आंशिक सर्वज्ञ होता है, यह सर्वज्ञता भी ईश्वर-सापेक्ष्य है। 'भगतबछलता'''—तुरन्त जन्मे हुए बछड़े में गाय का जो प्रेम होता है, उसको वात्सल्य गुण कहते हैं। श्रीरामजी का भक्त लक्ष्मणजी के प्रति इस समय यही गुण उमड़ पड़ा। अतः, उनका मनोरथ पूर्ण करना चाहते हैं। पुन. 'राम' शब्द के अनुरोध से प्रेमी भक्त जनकपुरवासियों पर भी वत्सलता गर्भित है। वे कर्म-रूप रस्सी में बँधे हैं, प्रभु के दर्शन रूप दूध के अभिलाषी हैं, उन्हें भी तृप्त करना है, क्योंकि आगे मुनि ने कहा है,—"करहु सफल सब के नयन" और श्रीरामजी के चलते समय भी यही कहा गया है; यथा—"चले लोक-लोचन-सुख-दाता।" (दो० २१८)।

(४) 'परम बिनीत सकुचि '''—'परम' शब्द 'बिनीत' और 'सकुचि' दोनों के साथ है। श्रीरामजी के तीन प्रकार के संकेतों से भी मुनि उनके हृदय की गति नहीं जान सके, तब श्रीरामजी ने आज्ञा पाकर वचन-द्वारा प्रकट किया था तीनों संकेत इसलिये ही हैं कि मुनि समझ जायँ कि ये कुछ कहना चाहते हैं। इसीके अनुसार मुनि ने कहा है कि क्या कुछ कहोगे? तब आपने कहा है। 'परम' का भाव यह भी है कि सामान्यतया तो ये तीनों गुण आपमें सदा ही रहते हैं, पर आज ऐसी आज्ञा माँगनी है, जिसमें कुछ चपलता एवं स्वतंत्रता मानी जा सकती है। अत', 'परम' विशेषण से यह दोष दूर किया।

नाथ लखन पुर देखन चहहीं। प्रभु-सँकोच-डर प्रगट न कहहीं॥५॥
जौ राउर आयसु मैं पावउँ। नगर देखाइ तुरत लै आवउँ॥६॥
सुनि मुनीस कह बचन सप्रीती। कस न राम तुम्ह राखहु नीती॥७॥
धरम - सेतु - पालक तुम्ह ताता। प्रेमबिबस सेवक - सुख-दाता॥८॥

दोहा—जाइ देखि आवहु नगर, सुखनिधान दोउ भाइ।
करहु सुफल सबके नयन, सुंदर बदन देखाइ॥२१८॥

अर्थ—हे नाथ! लक्ष्मणजी नगर देखना चाहते हैं, प्रभु (आप) के संकोच और डर से प्रकट नहीं कहते॥५॥ जो मैं आपकी आज्ञा पाऊँ, तो इनको नगर दिखलाकर शीघ्र ले आऊँ॥६॥ यह सुनकर मुनीश्वर विश्वामित्रजी ने प्रेम-पूर्वक वचन कहा कि हे राम! तुम क्यों न नीति की रक्षा करोगे?॥७॥ हे तात! तुम धर्म की मर्यादा (सेतु) के पालन करनेवाले हो और सेवकों के प्रेम के विशेष वश होकर

उनको सुख देते हो ॥८॥ सुख के निधान दोनों भाई जाकर नगर देख आओ और अपने सुन्दर मुख-कमल दिखाकर सब के नेत्र सफल करो ॥२१८॥

विशेष—(१) 'प्रभु-सँकोच डर''' '''—प्रथम लक्ष्मणजी में श्रीरामजी का डर और मुनि का संकोच कहा गया, पर यहाँ श्रीरामजी ने वे दोनों बातें मुनि ही में कहीं, अन्यथा वैसा कहने में मुनि की बराबरी का दोष आता। प्रथम प्रभु-भय प्रधान और मुनि का संकोच गौण कहा गया था, पर यहाँ श्रीरामजी की अनुकूलता से लक्ष्मण का डर गौण हो गया। मुनि का संकोच प्रधान रह गया।

(२) 'जौ राउर आयसु मैं ''''''—यदि लक्ष्मण अकेले के लिये कहते तो संभव था कि मुनि बालक जानकर रोक देते। अतः, अपने लिये भी आज्ञा माँगी। दिन थोड़ा है और नगर बड़ा, कहीं बहुत विलंब न हो जाय, इसलिये 'तुरत' कहा है जिससे मुनि को आज्ञा देते ही बनेगा।

(३) 'सुनि मुनीस कह बचन''''''—कुछ काल का वियोग स्मरण कर मुनि प्रीति से भर गये, तथा वात्सल्य गुण से इनकी इच्छा-पूर्त्ति के लिये प्रीति है। प्रीति के संबंध से 'मुनीस' कहे गये, यथा—"सोह न राम-प्रेम बिनु ज्ञानू।" अ० दो० २७६)। 'नीती'—नम्रता, संकोच और मुसकान—यह नीति है। गुरु-जन के समक्ष में यही चाहिये।

(४) 'धरम-सेतु-पालक तुम्ह'''—बड़ों की आज्ञा के अनुसार कार्य करना धर्म है। यथा—"सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा॥" (दो० ७६)। यह श्रीरामजी का आचरण लोक-शिक्षा के लिये है। प्रथम वेद-शास्त्र द्वारा धर्म-मर्यादा-स्थापन रूप पुल बाँधा गया था, वह अधर्मियों ने अनाचार से छिन्न-भिन्न कर दिया। आप उक्त धर्माचरण को चरित-द्वारा दृढ़ कर रहे हैं, यही सेतु-रक्षा है। यथा—"मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं।" (श्रीमद्भागवत) ; "चारित्रेण च को युक्तः।" (वाल्मी० सू०)।

'प्रेम-बिबस सेवक''''''—प्रेम के विशेष वश होकर सेवक श्रीलक्ष्मण एवं नगर-वासी लोगों को आप सुख देनेवाले हैं।

(५) 'जाइ देखि आवहु नगर''''''—श्रीरामजी ने केवल साथ जाने को कहा था। मुनि दोनों भाइयों को देखने के लिये कहते हैं, क्योंकि मुनि की ऐसी आज्ञा न होने से संभव था कि श्रीरामजी इधर-उधर कुछ नहीं देखते। 'सुख-निधान' दीपदेहली है। मुनि ने प्रथम ही कहा था—"इन्ह कहँ अति कल्यान।" (दो० २०७)। अतः, भाव है कि तुम दोनों का ब्याह इस नगर में होगा तो तुम्हारे लिये यह नगर सुख का निधान होगा और तुम दोनों भी नगर के लिये सुख के निधान होगे। 'करहु सुफल'''—यथा—"होइहहिं सुफल आजु मम लोचन। निरखि बदन-पंकज भवमोचन॥" (आ० दो० ६); "निज प्रभु-बदन निहारि-निहारी। लोचन सुफल करउँ उरगारी॥" (उ० दो० ७७); "निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहीं।" (सुं० दो० २६)। 'देखि' और 'देखाइ' अर्थात् स्वयं रुचि से देखना और दर्शकों की रुचि के अनुसार भी देखना। भाव—जो पुष्प-वृष्टि आदि संकेत से आपके मुख-कमल की झाँकी चाहें उनकी ओर भी अवश्य देखना, तभी उनके भी नेत्र सफल होंगे।

मुनि के 'सप्रीति' वचन यहाँ चरितार्थ हैं। यथा—'जाइ देखि आवहु नगर'; इसमें कहना था कि—'जाइ नगर देखि आवहु' पर ऐसा न कहकर 'नगर' शब्द अंत में और 'आवहु' प्रथम ही कह दिया, अर्थात् हम भी देर तक वियोग न सह सकेंगे, शीघ्र आना। इसीसे 'जाइ' इस वियोग-सूचक शब्द के साथ ही 'आवहु' संयोग का शब्द कहा गया है। 'सुख-निधान' अर्थात् हमारे भी सुख के निधान तुम्हीं दोनों भाई हो। अतः, विशेष विलंब में दुःख होगा।

प्रथम 'देखि आवहु' माधुर्य में कहा, फिर ऐश्वर्य-दृष्टि से देखा कि इनकी माया से ब्रह्मांड रचना हुआ करती है तो यह क्या अपूर्व वस्तु है, जो देखेंगे ? अतः,—'करहु सुफल ······' भी कहा।

मुनि-पद-कमल बंदि दोउ भ्राता। चले लोक-लोचन-सुख-दाता ॥१॥
बालक-बृंद देखि अति सोभा। लगे संग लोचन मन लोभा ॥२॥
पीतबसन परिकर कटि भाथा। चारु चाप सर सोहत हाथा ॥३॥
तनु अनुहरत सुचंदन खोरी। स्यामल गौर मनोहर जोरी ॥४॥

शब्दार्थ—लोक=लोग ; यथा—"लोकस्तु भुवने जने।" अनुहरत=अनुकूल। खोरी (खौर)=मस्तक आदि पर चन्दन का लेपन करके उसपर अँगुली या कंघी से खरोंचकर चिह्न बनाना। परिकर=(परि=चारों ओर, कर=किये) लपेटे हुए।

अर्थ—लोगों के नेत्रों को सुख देनेवाले दोनो भाई मुनि के चरण-कमलों को प्रणाम करके चले ॥१॥ इनकी अत्यन्त शोभा देखकर बालकगण के नेत्र और मन लुभा गये, इससे वे साथ लग पड़े ॥२॥ (दोनो भाई) पीतांबर पहने और कमर में भी लपेटे हैं, जिसमें तरकश बँधा है। सुन्दर धनुष-बाण हाथों में शोभित हैं ॥३॥ शरीर के (रंग के) अनुकूल सुन्दर चन्दन की खौर (सुशोभित) है, ऐसी साँवली-गोरी जोड़ी मन को हरनेवाली है ॥४॥

विशेष—(१) 'चले लोकलोचन······'—पूर्व कहा गया कि यहाँ का नगर किले से बाहर है। राजकुमार किले के भीतर ही राजमहल में ठहरे हुए हैं। वहाँ बिना आज्ञा के साधारण लोग नहीं जाने पाते। इन्हें दर्शन देकर सुख देने को चले। जब बाहर निकले, तब बालकगण साथ लगे।

(२) 'देखि अति सोभा'—इस नगर के लोग स्वयं रूप-निधान थे। यथा—"नगर नारि नर रूप निधाना।···जिन्हहिं देखि सब सुर सुरनारी। भये नखत जनु बिधु उँजियारी॥" (दो० २१३)। पर ये दोनों भाई अत्यन्त सुन्दर थे, इससे वे भी इन्हें देखते ही लुभा गये। यथा—"रामहिं देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहि सँग लागे॥" (अ० दो० ११२)। प्रथम नेत्र लुभाये, तदनुसार मन भी लुभाया। कहा है— "मन सों अपर महीप नहि, दृग सो नहीं दिवान। दृग दिवान जेहि आदरयो, मन तेहि हाथ बिकान॥"

(३) 'पीतबसन परिकर······'—पीत वस्त्र धारण वीर बाना है। यथा—"पीतांबरधरःस्रग्वी-साक्षान्मन्मथमन्मथः।" (श्रीमद्भाग०)। अर्थात् पीत फेंटा बाँधकर काम को जीता है, वैसे यहाँ भी शृंगारवीरता का काम है, सबके हृदय रूप किले में प्रवेश करके मन को हरण करना है। इसीलिये कटि से वर्णन प्रारंभ किया है। वीर-रस का वर्णन कटि से; शृंगार का शिर से और शांत, दास, करुणा का वर्णन चरण से प्रारंभ होता है।

'चारु चाप सर······'—धनुष-बाण भी आपके परम सुन्दर शृंगार के अंग हैं।

(४) 'तनु अनुहरत सुचंदन···'—सु-चन्दन अर्थात् अच्छा चन्दन, केशर, कस्तूरी, कपूर आदि मिलाया हुआ। श्रीरामजी के श्याम शरीर पर पीत रंग और लक्ष्मणजी के गौर शरीर पर लाल रंग के अंगराग की खौर अनुकूल होती है अथवा पीत और श्याम रंग की कही जाती है। ग्रंथकार ने 'अनुहरत' से सब मतों की रक्षा कर दी है।

केहरिकंधर बाहु बिसाला। उर अति रुचिर नाग मनि-माला ॥५॥

उनको सुख देते हो ॥८॥ सुख के निधान दोनों भाई जाकर नगर देख आओ और अपने सुन्दर मुख-कमल दिखाकर सब के नेत्र सफल करो ॥२१८॥

विशेष—(१) 'प्रभु-सँकोच डर'''' '''—प्रथम लक्ष्मणजी में श्रीरामजी का डर और मुनि का संकोच कहा गया, पर यहाँ श्रीरामजी ने वे दोनों बातें मुनि ही में कहीं, अन्यथा वैसा कहने में मुनि की बराबरी का दोष आता। प्रथम प्रभु-भय प्रधान और मुनि का संकोच गौण कहा गया था, पर यहाँ श्रीरामजी की अनुकूलता से लक्ष्मण का डर गौण हो गया। मुनि का संकोच प्रधान रह गया।

(२) 'जौ राउर आयसु मैं ''''''—यदि लक्ष्मण अकेले के लिये कहते तो संभव था कि मुनि बालक जानकर रोक देते। अतः, अपने लिये भी आज्ञा माँगी। दिन थोड़ा है और नगर बड़ा, कहीं बहुत विलंब न हो जाय, इसलिये 'तुरत' कहा है जिससे मुनि को आज्ञा देते ही बनेगा।

(३) 'मुनि मुनीस कह बचन'''''''—कुछ काल का वियोग स्मरण कर मुनि प्रीति से भर गये, तथा वात्सल्य गुण से इनकी इच्छा-पूर्त्ति के लिये प्रीति है। प्रीति के संबंध से 'मुनीस' कहे गये, यथा—"सोह न राम-प्रेम बिनु ज्ञानू।" अ० दो० २७६)। 'नीती'—नम्रता, संकोच और मुसकान—यह नीति है। गुरु-जन के समक्ष में यही चाहिये।

(४) 'धरम-सेतु-पालक तुम्ह'''—बड़ों की आज्ञा के अनुसार कार्य करना धर्म है। यथा—"सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा॥" (दो० ७६)। यह श्रीरामजी का आचरण लोक-शिक्षा के लिये है। प्रथम वेद-शास्त्र द्वारा धर्म मर्यादा-स्थापन रूप पुल बाँधा गया था, वह अधर्मियों ने अनाचार से छिन्न-भिन्न कर दिया। आप उक्त धर्माचरण को चरित-द्वारा दृढ़ कर रहे हैं, यही सेतु-रक्षा है। यथा—"मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं।" (श्रीमद्भागवत) ; "चारित्रेण च को युक्तः।" (वाल्मी० सू०)।

'प्रेम-बिबस सेवक''''''—प्रेम के विशेष वश होकर सेवक श्रीलक्ष्मण एवं नगर-वासी लोगों को आप सुख देनेवाले हैं।

(४) 'जाइ देखि आवहु नगर''''''—श्रीरामजी ने केवल साथ जाने को कहा था। मुनि दोनों भाइयों को देखने के लिये कहते हैं, क्योंकि मुनि की ऐसी आज्ञा न होने से संभव था कि श्रीरामजी इधर-उधर कुछ नहीं देखते। 'सुख-निधान' दीपदेहली है। मुनि ने प्रथम ही कहा था—"इन्ह कहँ अति कल्यान।" (दो० २०७)। अतः, भाव है कि तुम दोनों का ब्याह इस नगर में होगा तो तुम्हारे लिये यह नगर सुख का निधान होगा और तुम दोनों भी नगर के लिये सुख के निधान होगे। 'करहु सुफल '''—यथा—"होइहहि सुफल आजु मम लोचन। निरखि बदन-पंकज भवमोचन॥" (आ० दो० ९), "निज प्रभु बदन निहारि-निहारी। लोचन सुफल करउँ उरगारी॥" (उ० दो० ७५); "निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहीं।" (कि० दो० २६)। 'देखि' और 'देखाइ' अर्थात् स्वय रुचि से देखना और दर्शकों की रुचि के अनुसार भी देखना। भाव—जो पुष्प-वृष्टि आदि संकेत से आपके मुख कमल की झाँकी चाहें उनकी ओर भी अवश्य देखना, तभी उनके भी नेत्र सफल होंगे।

मुनि के 'सप्रीति' वचन यहाँ चरितार्थ हैं। यथा—'जाइ देखि आवहु नगर', इसमें कहना था कि—'जाइ नगर देखि आवहु' पर ऐसा न कहकर 'नगर' शब्द अंत में और 'आवहु' प्रथम ही कह दिया, अर्थात् हम भी देर तक वियोग न सह सकेंगे, शीघ्र आना। इसीसे 'जाइ' इस वियोग-सूचक शब्द के साथ ही 'आवहु' संयोग का शब्द कहा गया है। 'सुख-निधान' अर्थात् हमारे भी सुख के निधान तुम्हीं दोनों भाई हो। अतः, विशेष विलंब में दुःख होगा।

प्रथम 'देखि आवहु' माधुर्य में कहा, फिर ऐश्वर्य-दृष्टि से देखा कि इनकी माया से ब्रह्मांड-रचना हुआ करती है तो यह क्या अपूर्व वस्तु है, जो देखेंगे ? अतः,—'करहु सुफल······' भी कहा।

मुनि-पद-कमल बंदि दोउ भ्राता। चले लोक-लोचन-सुख - दाता ॥१॥
बालक-बृंद देखि अति सोभा। लगे संग लोचन मन लोभा ॥२॥
पीतबसन परिकर कटि भाथा। चारु चाप सर सोहत हाथा ॥३॥
तनु अनुहरत सुचंदन खोरी। स्यामल गौर मनोहर जोरी ॥४॥

शब्दार्थ—लोक=लोग ; यथा–"लोकस्तु भुवने जने।" अनुहरत=अनुकूल। खोरी (खौर)=मस्तक आदि पर चन्दन का लेपन करके उसपर अँगुली या कंघी से खींचकर चिह्न बनाना। परिकर=(परि=चारों ओर, कर=किये) लपेटे हुए।

अर्थ—लोगों के नेत्रों को सुख देनेवाले दोनो भाई मुनि के चरण-कमलों को प्रणाम करके चले ॥१॥ इनकी अत्यन्त शोभा देखकर बालकगण के नेत्र और मन लुभा गये, इससे वे साथ लग पड़े ॥२॥ (दोनो भाई) पीतांबर पहने और कमर में भी लपेटे हैं, जिसमें तरकश बँधा है। सुन्दर धनुष-बाण हाथों में शोभित हैं ॥३॥ शरीर के (रंग के) अनुकूल सुन्दर चन्दन की खौर (सुशोभित) है, ऐसी साँवली-गोरी जोड़ी मन को हरनेवाली है ॥४॥

विशेष—(१) 'चले लोकलोचन······'—पूर्व कहा गया कि यहाँ का नगर किले से बाहर है। राजकुमार किले के भीतर ही राजमहल में ठहरे हुए हैं। वहाँ बिना आज्ञा के साधारण लोग नहीं जाने पाते। उन्हें दर्शन देकर सुख देने को चले। जब बाहर निकले, तब बालकगण साथ लगे।

(२) 'देखि अति सोभा'—इस नगर के लोग स्वयं रूप-निधान थे। यथा—"नगर नारि नर रूप निधाना।···तिन्हहिं देखि सब सुर सुरनारी। भये नखत जनु बिधु उँजियारी॥" (दो० ३१३)। पर ये दोनों भाई अत्यन्त सुन्दर थे, इससे वे भी इन्हें देखते ही लुभा गये। यथा–"रामहिं देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहिं सँग लागे॥" (अ० दो० ११३)। प्रथम नेत्र लुभाये, तदनुसार मन भी लुभाया। कहा है—"मन सों अपर महीप नहिं, दृग सो नहीं दिवान। दृग दिवान जेहि आदर्यो, मन तेहि हाथ बिकान॥"

(३) 'पीतबसन परिकर······'—पीत वस्त्र धारण वीर बाना है। यथा—"पीतांबरधरःस्रग्वी-साक्षान्मन्मथमन्मथः।" (श्रीमद्भाग०)। अर्थात् पीत फेंटा बाँधकर काम को जीता है, वैसे यहाँ भी शृंगारवीरता का काम है, सबके हृदय रूप किले में प्रवेश करके मन को हरण करना है। इसीलिये कटि से वर्णन प्रारंभ किया है। वीर-रस का वर्णन कटि से; शृंगार का शिर से और शांत, दास, करुणा का वर्णन चरण से प्रारंभ होता है।

'चारु चाप सर······'—धनुष-बाण भी आपके परम सुन्दर शृंगार के अंग हैं।

(४) 'तनु अनुहरत सुचंदन···'—सु-चन्दन अर्थात् अच्छा चन्दन, केशर, कस्तूरी, कपूर आदि मिलाया हुआ। श्रीरामजी के श्याम शरीर पर पीत रंग और लक्ष्मणजी के गौर शरीर पर लाल रंग के अंगराग की खौर अनुकूल होती है अथवा पीत और श्याम रंग की कही जाती है। ग्रंथकार ने 'अनुहरत' से सब मतों की रक्षा कर दी है।

केहरिकंधर बाहु बिसाला। उर अति रुचिर नाग-मनि-माला ॥५॥

सुभग सोन सरसीरुह-लोचन। बदन मयंक ताप-त्रय-मोचन ॥६॥
कानन्हि कनकफूल छवि देहीं। चितवत चितहिं चोरि जनु लेहीं ॥७॥
चितवनि चारु भृकुटि बर बाँकी। तिलक-रेख-सोभा जनु चाँकी ॥८॥

दोहा—रुचिर चौतनी सुभग सिर, मेचक कुंचित केस।
नख-सिख-सुंदर बंधु दोउ, सोभा सकल सुदेस ॥२१९॥

शब्दार्थ—कंधर=गरदन। सोन (शोण)=लाल। कनकफूल=फूल के आकार के कुंडल जो लौंग के समान होते हैं। बाँकी=टेढ़ी। चाँकी (चक=चाकी=बिजली का पर्यायी है)=बिजली या चक्रांकित की हुई, अन्न की राशि पर चाकना, चक्रांकित करना कि इसमें से निकालने पर जान पड़े। यथा—"तुलसी तिलोक की समृद्धि सौंज सम्पदा सकेलि चाकि राखी रासि जाँगर जहान भो।" (क०)। चौतनी=बच्चों की टोपी जिसमें चार बंद लगे रहते हैं, चौगसी। मेचक=श्याम।

अर्थ—सिंह के समान उन्नत कंधा, भुजाएँ लंबी और छाती पर अत्यन्त सुन्दर गजमुक्ता की माला है ॥५॥ सुन्दर लाल कमल के समान नेत्र हैं, मुखचन्द्र तीनों तापों को छुड़ानेवाला है ॥६॥ कानों में कनकफूल ऐसी शोभा दे रहे हैं कि देखते ही मानों चित्त को चुरा लेते हैं ॥७॥ उनकी चितवनि सुंदर (सौम्य, तिरछी कटाक्षादि रहित, जो स्थैर्य गुण की मुद्रा है), भौंहें श्रेष्ठ (बड़ी) टेढ़ी हैं, तिलक की रेखाएँ ऐसी हैं कि मानों शोभा (रूपराशि) पर छाप लगा दी गई है ॥८॥ सुन्दर सिर पर चौतनी टोपी दे रक्खी है, काले घुँघराले बाल हैं। दोनों भाई नख से शिखा पर्यन्त (सर्वांग) सुन्दर हैं, सब शोभा, जहाँ जैसी चाहिये, वैसी है ॥२१९॥

विशेष—(१) 'केहरिकंधर बाहु···'—इसमें जनु आदि वाचक शब्द न देकर सिंह-रूप ही जनाया (रूपकालंकार), सिंह के हाथ (आगे के पाँव) विशाल होते हैं, वैसे यहाँ भी बाहु बिशाल हैं।

'नागमनिमाला'—नाग के अर्थ हाथी, सर्प और पर्वत तीनों होते हैं। अतः, तीनों प्रकार की मणियों की मालाएँ पहने हुए हैं। यथा—"*मनि-मानिक-मुकुता-छवि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥*"

(२) 'सुभग सोन सरसीरुह···'—नेत्र लाल कमल (रतनार) कहे गये, क्योंकि इनसे दर्शकों को *मोहेंगे। कहा भी है—"अमी हलाहल मद भरे, स्वेत स्याम रतनार। जियत मरत झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत यक बार॥*" (रसलीन)। इसमें यथासंख्यालंकार से लाल नेत्र से मोहना कहा गया है। 'तापत्रय'—धनुष-प्रतिज्ञा रूपी दैहिक ताप, खल-नृपों द्वारा (जो धनुभंग पर लड़ने को थे) भौतिक ताप और परशुराम (अचानक आये एवं देवरूप—एक अवतार हैं) द्वारा दैविक ताप दूर करेंगे।

(३) 'कानन्हि कनकफूल······'—कानन वन का और कनक धतूरे का भी नाम है। अतः, वन में धतूरे का नशा यात्री को देकर उसका धन हरा जाता है, वैसे यहाँ श्रवण वन, कनकफूल धतूरे का फूल, छवि उसका विष, 'देहीं' अर्थात् देते हैं वो चित्त रूपी वित्त (धन) को हर लेते हैं, यथा—"एक नयन-मग छवि उर आनी। होहि सिथिल तनु मन बर मानी॥" (बा० दो० १११)। 'चोरि जनु लेहीं' यथा—"हेरत हृदय हरत, नहिं फेरत चारु बिलोचन कोने। तुलसी प्रभु किधौं प्रभु को प्रेम पढ़े प्रगट कपट बिनु टोने॥" (गी० बा० २१)।

(४) 'तिलक रेख सोभा जनु चाँकी।'—(क) तिलक की दो रेखाएँ पीत रंग की हैं, बीच की श्री

लाल रंग की है। श्री का अर्थ शोभा भी होता है, शोभा का भी रंग लाल है। अतः, बीच की श्री शोभा हुई, यह बगल की दोनों रेखाओं से घिरी है। यही चाकना है, राशि के चारों ओर गोबर आदि से निशान रूप में घेरा करना भी चाकना है कि उसमें से कोई कुछ ले न सके; अर्थात् समस्त शोभा यहीं चाक चढ़ी (घेरी गई) है, अब कहीं जा नहीं सकती। (ख) शोभा की सीलमुहर है, पेटेन्ट है, अब दूसरे की ऐसी शोभा हो ही नहीं सकती। यदि कोई नकल करे, तो वह नाजायज है। (ग) तिलक की दोनों रेखाओं की शोभा बिजली की कांति की तरह है, यथा—"···तिलक कहउँ समुझाई। अलप तड़ित जुगरेख इंदु महँ रहि तजि चंचलताई॥" (वि० ६२)।

(४) 'रुचिर चौतनी सुभग···'—कटि से शिर तक का वर्णन किया, शेष अंग 'नख-सिख सुंदर' से बना दिये। वीर-रस की मर्यादा से कटि के नीचे का वर्णन नहीं किया; फिर भी 'सोभा सकल सुदेस' से जना दिया। अन्यत्र तो कहा ही है।

यह भी कहा जाता है कि अन्यत्र प्राकृत शरीरों की शोभा एकरस नहीं रहती, उसमें कभी अकाल पड़ता है और श्रीरामजी दोनों भाई दिव्य-विग्रह हैं, यहाँ सदा एकरस शोभा रहती है, यही शोभा का 'सुदेस' है।

देखन नगर भूपसुत आये। समाचार पुरबासिन्ह पाये॥१॥
धाये धाम काम सब त्यागी। मनहुँ रंक निधि लूटन लागी॥२॥
निरखि सहज सुंदर दोउ भाई। होहिं सुखी लोचन-फल पाई॥३॥

अर्थ—(जब) पुरवासियों को यह समाचार मिला कि राजकुमार नगर देखने आये हैं॥१॥ (तब) सब घर और घर के कार्य (सब) छोड़कर (ऐसे) दौड़े, मानों दरिद्र खजाना लूटने के लिये दौड़े हैं॥२॥ वे स्वाभाविक ही सुंदर दोनो भाइयों को देख नेत्रों का फल पाकर सुखी होते हैं॥३॥

विशेष—(१) 'समाचार पुरबासिन्ह पाये'—प्रथम जब श्रीजनकजी मिलने आये थे, उनसे मुनि से संवाद हुआ था, वह संपूर्ण वृत्तान्त उनके मंत्री, ब्राह्मण आदि से घर-घर पहुँच गया था। सभी राजकुमारों के दर्शनों के इच्छुक थे, पर वहाँ किले पर पहरा था कि एकान्तवासी महात्मा आये हैं, बिना उनकी आज्ञा के वहाँ कोई न जाय। जैसे राजकुमार बाहर निकले, बालक गण साथ हो लिये, कुछ ने दौड़-दौड़कर अपने-अपने घरों में जनाया; कानोंकान सर्वत्र समाचार फैल गया।

(२) 'धाये धाम काम सब ·····'—घर का छोड़ना यह कि उसकी फिक्र न रही। खुला फाटक था, तो वैसे ही छोड़कर चल दिया। 'काम सब'—जिस तरह श्रीमद्भागवत स्कंध १० अ० २९ में कहा गया है कि जो गोपी दूध दुह रही थी, वह दुहना छोड़कर चल पड़ी, जिसने दूध आग पर चढ़ाया था, वैसे ही छोड़कर चल दी। जो आँख मेंकाजल लगा रही थी, एक में अंजन लगा और एक वैसी ही छोड़कर चल खड़ी हुई, इत्यादि; वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये। भेद इतना ही है कि वहाँ भगवान् ने बाँसुरी-द्वारा गोपी-मात्र को आकर्षित किया था; इससे उनके पति आदि रोकनेवाले थे, पर यहाँ तो सभी दर्शनों के लिये उत्सुक हैं, सभी दौड़े जा रहे हैं, कौन किसे रोके? दृष्टान्त-द्वारा कवि लक्ष्य कराते हैं कि जैसे भारी खजाने की लूट सुनकर कँगले दौड़ते हैं और एक दूसरे को पीछे ढकेलते हुए पीछे की ओर नहीं देखते; वैसे इन सब की दृष्टि घर की ओर नहीं है। यथा—"परिहरि राम लखन बैदेही। जेहि घर भाव

धाम बिधि तेही ॥" (अ० दो० २०१) । यथा—"जरउ सो संपति सदन सुख, सुहृद मातु-पितु भाइ। सनमुख होत जो रामपद, करइ न सहस सहाइ ॥" (अ० दो० १८५) । 'निधि'—यह निधि वह है, जिसके लिये मनु शतरूपा ने २३ हजार वर्ष कठिन तप किया, तब उन्हें मिली। विश्वामित्रजी भी महान् तपःप्रभाव से दूसरे ब्रह्मा हो गये। वे भी इस निधि के लिये याचक बने, तब मिली। यथा—"बिश्वामित्र महानिधि पाई।" (दो० २०८)। वही निधि ये पुरवासी लूट में पा रहे हैं। 'सबहुँ'—लीला-अनुरोध से प्रत्यक्ष सम्बंध अभी न होने से ये लोग कँगलों की तरह दौड़ रहे हैं। वास्तव में यह 'निधि' श्रीजानकीजी की है। यथा—"हरषे जनु निज निधि पहिचाने।" (दो० २११) और ये लोग श्रीजानकीजी के परिकर हैं, तब इनकी भी ये 'निज निधि' ही हैं।

(३) 'निरखि सहज सुंदर दोउ भाई।''''''—दोनों भाइयों की सुन्दरता भूषण-वस्त्र आदि से नहीं है, किंतु स्वाभाविक ही है; जैसे भूषण-वस्त्र रहित वनवासी-स्वरूप की शोभा कही गई है, यथा—"रूपसंहननं लक्ष्मीं सौकुमार्यं सुवेषताम्। ददृशुर्विस्मिताकारा रामस्य वनवासिनः॥" (वाल्मी० ३।१।१४)।

'होहिं सुखी लोचन फल पाई। —गुरुजी ने कहा था—'सुख-निधान' वही यहाँ 'होहिं सुखी' में चरितार्थ हुआ और 'करहु सुफल' के अनुसार ही यहाँ 'लोचन फल पाई' भी कहा गया है।

जुवती भवन झरोखन्हि लागी। निरखहिं रामरूप अनुरागी ॥४॥
कहहिं परस्पर बचन सप्रीती। सखि इन्ह कोटि-काम-छबि जीती ॥५॥
सुर नर असुर नाग मुनि माहीं। सोभा असि कहुँ सुनियति नाहीं ॥६॥

अर्थ—युवती स्त्रियाँ घर के झरोखों से लगी हुई श्रीरामजी के रूप को देख रही हैं ॥४॥ आपस में एक दूसरी से प्रीतिपूर्वक बातें कर रही हैं कि हे सखी ! इन्होंने करोड़ों कामदेवों की छवि को जीत लिया है ॥५॥ देवताओं, मनुष्यों, दैत्यों, नागों, और मुनियों में कहीं भी ऐसी शोभा सुनने में नहीं आती ॥६॥

विशेष—(१) 'जुवती भवन''''''—पूर्व कहा गया था—"धाये धाम काम सब त्यागी।" इनमें ये युवतियाँ नहीं हैं। ये लज्जा के कारण बाहर नहीं जा सकीं, किंतु घरों के जँगलों में आ लगीं और अनुरागपूर्वक राम-रूप देखने लगीं। स्त्रियों को शृंगार प्रिय होता है, शृंगार का रंग श्याम है, श्रीरामजी भी श्याम हैं। अतः, ये इन्हें ही देखती हैं। अनुराग की स्थिति ही ऐसी है कि जिसमें यह होता है, वही सर्वत्र दीखता है। यथा—"व्यापकता जो प्रीति की, ज्यौं सुठि बसन सुरंग। दृगन द्वार दरसै पटक, सो अनुराग अभंग ॥" यथा—"सरग नरक अपबरग समाना। जहँ-तहँ दीख धरे धनु बाना ॥" (अ० दो० १३०)।

(२) 'कहहिं परस्पर बचन''''''—प्रथम अनुराग-पूर्वक देखना कहा गया, अब तदनुसार वचन कहना भी प्रीतिपूर्वक ही है, अर्थात् देखते हुए प्रशंसा करती हैं। कहना मात्र कहा है। सब प्रेम में भरी हैं। इन्हें यह ज्ञान नहीं है कि कौन सुनता है और मैं किससे कहती हूँ ? यहाँ तक समष्टि में 'कहना' कहा गया।

'सखि इन्ह कोटि''''''—यहाँ सीताजी की पुरवासिनी अष्ट सखियों का संवाद प्रारंभ होता है—करोड़ों कामों की छवियों को इन्होंने जीत लिया है। भाव, छवि रूप धन के गर्व से करोड़ों कामदेवों ने रामजी का सामना किया, तो भी वे इनके समक्ष में लज्जित हो गये, यथा—"स्याम सरीर सुभाय सुहावन।

सोभा कोटि मनोज-लजावन।" (दो० २१६) वा यह भी कहा जाता है, करोड़ों कामों की छवि को जीत कर ले लिया है। काम का सब छवि-रूप धन यहीं ही आ गया है।

(३) 'सुर नर असुर नाग ''''''—'सुर' से स्वर्ग, 'नर-मुनि' से मर्त्य लोक और 'असुर-नाग' से पाताल लोक जनाया। इन तीनो लोकों में ऐसी शोभा नहीं सुनी जाती। शोभा नेत्र का विषय है, पर यहाँ उसका सुना जाना कहा गया है, क्योंकि ये सब कुलाङ्गनाएँ हैं, बाहर नहीं निकलतीं। फिर तीनो लोक घूमकर कैसे देख सकती हैं? इन्होंने पुराणों की सुनी हुई बात कही है। यह ग्रंथकार की सँभाल है।

राक्षसी शूर्पणखा ने कहा—"मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं।" (आ० दो० १६)। इससे श्रीरामजी ने तुरंत ही जान लिया कि यह कुलटा एवं राक्षसी है, क्योंकि कुलटा ही पुरुषों को देखती फिरती है और राक्षसी ही तीनों लोक भ्रमण कर सकती है। पात्र के अनुकूल शब्द-योजना इन्हीं महाकवि के बाँटे पड़ी है!

बिष्णु चारिभुज बिधि मुखचारी। बिकट बेष मुखपंच पुरारी॥७॥
अपर देव अस कोउ न आही। यह छबि सखी पटतरिय जाही॥८॥

दोहा—बयकिसोर सुषमासदन, स्यामगौर सुखधाम।
अंग-अंग पर वारियहि, कोटि-कोटि सत काम॥२२०॥

शब्दार्थ—विकट = भयंकर। पटतर = तुल्यता, समता। वारना = निछावर करना।

अर्थ—विष्णु भगवान् चार भुजाओं वाले, ब्रह्माजी चार मुखों वाले और त्रिपुर दैत्य के शत्रु शिवजी पाँच मुखों तथा विकट वेष वाले हैं॥७॥ हे सखी! और देवताओं में ऐसा कोई नहीं है, जिससे इस छवि की समता (उपमा) दी जाय॥८॥ किशोर-अवस्था, सुषमा के घर, श्याम और गौर (वर्ण)—दोनों सुख के स्थान हैं। इनके अंग अंग पर करोड़ों-अरबों कामदेवों को निछावर कर देना योग्य है॥२२०॥

विशेष—तीनों लोकों के प्रधान-प्रधान सुन्दर पुरुषों को गिनाती हैं। विष्णु भगवान् मुख्य हैं। अतः, प्रथम कहे गये, इनकी सुन्दरता प्रसिद्ध है। यथा—"अति सुंदर सुचि सुखद सुसीला।" (दो० ७१)। ये क्षीर-सागर-निवासी हैं, सागर नीचे (पाताल) है। शिवजी की सुन्दरता—"कुन्द-इन्दु दर गौर सुन्दरम्।" (उ० म०), "नीलकंठ लावन्यनिधि" (दो० १०६), इनका लोक कैलास पृथिवी पर है। ब्रह्माजी संसार भर के रचयिता हैं। अतः, स्वयं भी सुन्दर हैं। इनका ब्रह्मलोक ऊपर है। देवताओं में काम से बढ़कर सुन्दर और कोई नहीं है।

ये सब सुन्दर होते हुए भी योग्य नहीं हैं, क्योंकि शरीर के प्रमाण से एक अंगुली भी अधिक होती है अथवा नाक-कान कोई अंग भारी होता है, तो शोभा जाती रहती है। यहाँ तो चार भुजाएँ, चार मुख और पाँच शिर हैं। शिवजी तो भयंकर वेष हैं ही (देखिये दो० ९१, ९४,)। फिर भी त्रिपुर के वध के समय क्रुद्ध होने पर मुख जैसा लाल हो गया था, वैसा रहता है, यह 'पुरारी' से ध्वनित है। देवताओं में काम ही से अधिक सुन्दर कोई नहीं है, और मनुष्य तो और भी न्यून हैं। अतः, इनके नाम नहीं गिनाये। काम में यहाँ कोई दूषण प्रकट नहीं कहा गया, पर 'अंग-अंग' की ध्वनि से जना दिया है कि इनके अंग अंग में सुन्दरता है और उसका अंग ही जल गया है, इसीसे 'अनंग' कहाता है, यथा—"रति अति दुखित अतनु पति जानी।" (दो० २२१)।

सखियों द्वारा इस छवि वर्णन का उपक्रम—"सखि इन्ह कोटि काम-छवि जीती।" से हुआ और—*"कोटि-कोटि सत काम।" पर यहाँ उपसंहार है अर्थात् कोटि काम-छवि जीतने से प्रारम्भ* करके अन्त में करोड़ों-अरबों कामों के निछावर करने पर समाप्त किया गया। और लोगों के विषय में दोनों भाइयों की सुखनिधानता का चरितार्थ होना ऊपर कहा गया था। यहाँ युवतियों के विषय में भी केवल रामरूप में सुख-निधानता चरितार्थ हुई।

कहहु सखी अस को तनुधारी। जो न मोह यह रूप निहारी ॥१॥
कोउ सप्रेम बोली मृदु बानी। जो मैं सुना सो सुनहु सयानी ॥२॥
ये दोऊ दसरथ के ढोटा। बाल-मरालन्हि के कल जोटा ॥३॥
मुनि-कौसिक-मख के रखवारे। जिन्ह रन अजिर निसाचर मारे ॥४॥

अर्थ—हे सखी! कहो तो भला, ऐसा कौन देह-धारी होगा, जो यह रूप देखकर मोहित न हो जाय॥१॥ कोई (दूसरी सखी) प्रेमपूर्वक कोमल वाणी में बोली कि हे सयानी! जो मैंने सुना है, वह भी सुनो॥२॥ ये दोनों दशरथजी के ढोटा (पुत्र) हैं, बालहंसों के से सुन्दर जोटे (जोड़े) हैं॥३॥ विश्वामित्र मुनि के यज्ञ के रक्षक हैं, जिन्होंने लड़ाई के आँगन (मैदान) में राक्षसों को मारा है॥४॥

विशेष—(१) 'कहहु सखी अस को···'—इस सखी ने केवल सुन्दरता कही, पूर्ण शोभा देखकर अन्त में—'अस को तनु···' कहती हुई रह गई। 'जो न मोह अस रूप···' यथा—"करतल बान धनुष अति सोहा। देखत रूप चराचर मोहा॥" (दो० २०२) अर्थात् चेतन की कौन कहे, जड़ भी मोहित हो जाते हैं।

(२) 'कोउ सप्रेम बोली मृदु···'—दोनों भाइयों की शोभा देखते हुए हृदय में प्रेम उमड़ आया। अतः, यह राजकुमारों की जाति, ऐश्वर्य, नाम आदि का परिचय देगी। प्रथम सखी की तरह यह भी सुनी हुई ही कहती है। 'सयानी'—इसका कथन समझना सयानों का ही काम है।

(३) 'ये दोऊ दसरथ के ढोटा···'—पिता का नाम, जाति क्षत्रिय और चक्रवर्त्ती के पुत्र आदि परिचय और ऐश्वर्य कहे गये। 'बाल-मरालन्हि के···'—इसमें सुन्दरता के साथ बाल-क्रीड़ा भी सूचित की। 'रन-अजिर'—जैसे लड़के आँगन में खेलते हैं, उसी अवस्था में उसी प्रकार लीला-पूर्वक राक्षसों को मारा है। यहाँ तक दोनों भाइयों का साथ साथ वर्णन किया, अब आगे पृथक्-पृथक् लक्षण कहती हैं—

स्यामगात कल कंजबिलोचन। जो मारीच-सुभुज-मद-मोचन ॥५॥
कौसल्यासुत सो सुखखानी। नाम राम धनुसायकपानी ॥६॥
गौर किसोर बेष बर काछे। कर सर चाप राम के पाछे ॥७॥
लछिमन नाम राम लघु-भ्राता। सुनु सखि तासु सुमित्रा माता ॥८॥

दोहा—बिप्रकाज करि बंधु दोउ, मग मुनिबधू उधारि।
आये देखन चापमख, सुनि हरषीं सब नारि ॥२२१॥

शब्दार्थ—सुभुज=सुबाहु । काछे=बनाये, साजे, धारण किये । चापमख=धनुष-यज्ञ ।

अर्थ—जिनका शरीर श्याम और नेत्र सुन्दर कमल के समान हैं। जो मारीच और सुबाहु के गर्व को छुड़ानेवाले और सुख की खान हैं, वे कौशल्याजी के पुत्र हैं। ये धनुष-बाण हाथों में लिये हुए हैं और उनका नाम 'राम' है ॥५-६॥ जो गौर वर्ण, किशोर अवस्था वाले, सुन्दर वेष बनाये हुए और हाथों में धनुष-बाण लिये रामजी के पीछे हैं ॥७॥ वे रामजी के छोटे भाई हैं, उनका नाम 'लक्ष्मण' है। हे सखी! सुनो, उनकी माता सुमित्रा हैं ॥८॥ दोनों भाई विप्र विश्वामित्रजी का कार्य करके राह में गौतम मुनि की स्त्री का उद्धार कर धनुष-यज्ञ देखने आये हैं।—यह सुनकर सब स्त्रियाँ हर्षित हुईं ॥२२१॥

विशेष—इनमें 'कल कंज बिलोचन' और 'सुखखानि' श्रीरामजी के विशेषण श्रीलक्ष्मणजी में और श्रीलक्ष्मणजी के 'किसोर' और 'वेषवर काछे' विशेषण श्रीरामजी में लगा लेने चाहिये। माताओं के नाम इसने कैसे जाने? (क) अवधेश महाराज चक्रवर्त्ती थे। अत, इनको प्रधान रानियों के नाम प्रसिद्ध थे। यह भी संभव है कि मिथिलेश महाराज के मंत्री आदि ने मुनि के द्वारा सम्बन्ध भी जान लिया हो, उनसे इसने सुना हो। (ख) कहा जाता है कि जनकपुरी की कोई तमोलिन अवध में ब्याही हुई थी। वह चक्रवर्त्तीजी के यहाँ पान देने जाती थी। उस समय वह मिथिला में ही आई हुई थी, उसीसे इसने सुना था, वही कहा। (विजय-दोहावली)।

'बिप्र-काज करि ···'—'बिप्र काज'—में वीर्य (वीरता) गुण है, क्योंकि थोड़ी ही अवस्था मे संग्राम करके भयकर राक्षसों को मारा है। 'मुनिबधू उधारि'—में प्रताप गुण है, क्योंकि चरण की धूलि मात्र से उसका उद्धार हुआ। इन दोनों गुणों से धनुष तोड़ने का विश्वास हुआ। इससे सब स्त्रियाँ हर्षित हुईं, क्योंकि धनुष के उठाने एव तोड़ने में प्रथम वीरता चाहिये। फिर यह शिवजी का धनुष है, विष्णु भगवान् के क्रोध से जड़ हुआ है। अत, वैसा प्रताप भी चाहिये, तब वह टूट सकता है। वही बात अहल्योद्धार मे है, क्योंकि वह भी गौतम मुनि के क्रोध से शापित एव जड़ थी, उसका जड़त्व खडन किया तो धनुष के जड़त्व का भी खडन करेंगे, ऐसी प्रतीति हुई। यथा—"परसि जासु पद-पकज-धूरी। तरी अहल्या कृत अघभूरी॥ सो कि रहिहि बिनु सिव-धनु तोरे। यह प्रतीति परिहरिय न भोरे॥ तासु बचन सुनि सब हरषानी। ···" (दो० २२१)। वैसे यहाँ भी हर्षित हुईं।

देखि रामछवि कोउ एक कहई। जोग जानकिहिं यह बर अहई ॥१॥
जो सखि इन्हहि देख नरनाहू। पन परिहरि हठि करइ बिबाहू ॥२॥
कोउ कह ये भूपति पहिचाने। मुनिसमेत सादर सनमाने ॥३॥
सखि परंतु पन राउ न तजई। बिधिबस हठि अबिबेकहि भजई ॥४॥

अर्थ—श्रीरामजी की छवि देखकर कोई एक (तीसरी) सखी कहती है कि ये वर जानकीजी के योग्य हैं ॥१॥ हे सखी! जो राजा इन्हें देख पावें तो हठपूर्वक प्रतिज्ञा छोड़कर विवाह कर दें ॥२॥ कोई (चौथी) सखी कहती है कि राजा ने इन्हें पहचान लिया है और मुनि के साथ इनका आदरपूर्वक सम्मान किया है ॥३॥ पर हे सखी! राजा प्रतिज्ञा नहीं छोड़ते, विधि के वश वे हठ कर, अविवेक का ही सेवन करते हैं अर्थात् अविवेक ही ग्रहण किये हुए हैं, (क्योंकि इन्हें जानकर भी प्रण नहीं छोड़ा) ॥४॥

विशेष—(१) 'देखि राम-छवि'''—दूसरी सखी के जिस वचन पर सब प्रसन्न हुई थीं उसी को यह पुष्ट करती है। यह छवि के मेल से योग्यता का निर्णय करती है। यथा—'जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी अरु रामहिं ऐसो रूप दियो री॥ तुलसिदास तेहि चतुर बिधाता निज कर यह संजोग सियो री॥" (गी० बा० ७७)। पुनः 'जोग' से दूसरी सखी के कथन में पर, कुल आदि की भी योग्यता अनुकूल कहती है।

(२) 'जो सखि इन्हहिं'''—इस सखी को यह नहीं मालूम है कि जनकजी मिल चुके और राज-सदन में ही लाकर ठहराया है। (ये अष्ट सखियाँ नगर की रहनेवाली हैं, परन्तु श्रीकिशोरीजी की सखियों में हैं।) 'नरनाहु' अर्थात् राजा स्वार्थी होते हैं, स्वार्थ के लिये प्रतिज्ञा का त्याग भी कर सकते हैं। 'पन परिहरि हठि''' 'हठि' शब्द दीप-देहली है; अर्थात् मंत्रियों के रोकने पर भी हठ करके प्रतिज्ञा तोड़ देंगे और हठ करके विवाह भी करेंगे, किसी के रोके नहीं मानेंगे।

(३) 'सखि परंतु पन राउ'''—तीसरी सखी के कथन का खंडन यह चौथी सखी करती है कि यों तो राजा बड़े चतुर हैं, पर वे इस समय विधि के वश हो रहे हैं। यथा—"भूप-सयानप सकल सिरानी। सखि बिधि-गति कछु जात न जानी॥" (दो० २५५)।

'राउ'—राजा लोग प्रण (बात) का हठ करते हैं। यथा—"नृप न सोह बिनु बाद नाक बिनु भूषन।" (जानकी-मंगल ७४)।

(४) 'बिधि-बस हठि अबिबेकहिं भजई।'—विवेक से हानि-लाभ का विचार होता है, वह राजा का नहीं रह गया। यथा—"अहह तात दारुन हठ ठानी। समुझत नहिं कछु लाभ न हानी॥" (दो० २५७); 'अविवेक' यथा—"जनक मन की रीति जानि बिरहित प्रीति ऐसियो मूरति देखे रह्यो पहिलो बिचारु। तुलसी नृपहिं ऐसो कहि न बुझावै कोऊ पन और कुँवर दोऊ प्रेम की तुला धौं तारु॥" (गी० बा० ८०); अर्थात् प्रेमान्ध दृष्टि से ही राजा अविवेकी कहे जा रहे हैं—वह भी विधि की ओट लेकर!

कोउ कह जौं भल अहइ बिधाता। सब कहँ सुनिय उचित-फल-दाता॥५॥
तौ जानकिहिं मिलिहिं बरु एहू। नाहिंन आलि इहाँ संदेहू॥६॥
जौं बिधिबस अस बनइ सँजोगू। तौ कृतकृत्य होहिं सब लोगू॥७॥
सखि हमरे आरति अति ताते। कबहुँक ए आवहिं एहि नाते॥८॥

दोहा—नाहिं त हम कहँ सुनहु सखि, इन्हकर दरसन दूरि।
यह संघट तब होइ जब, पुन्य पुराकृत भूरि॥२२२॥

शब्दार्थ—कृतकृत्य = कृतार्थ, परितुष्ट। आरति = बड़ी उत्कट लालसा या आर्ति, दुःख। संघट = संयोग। पुराकृत = पूर्व जन्म का किया हुआ। भूरि = बहुत।

अर्थ—कोई (पाँचवीं) सखी कहती है जो विधाता अच्छे हैं और सुने जाते हैं कि सबको उचित फल देनेवाले हैं॥५॥ तो जानकीजी को यही वर मिलेगा, हे सखी! इसमें संदेह नहीं है॥६॥ जो दैवयोग से ऐसा संयोग बन जाय तो हम सब लोग कृतार्थ हो जायँ॥७॥ हे सखी! हमारे हृदय में बड़ी लालसा हो रही है, इससे ये कभी तो इस नाते से आयेंगे॥८॥ नहीं तो (यदि यह नाता न हुआ, तो) हे सखी!

सुनो, हम सबको इनके दर्शन दुर्लभ हैं। यह संयोग तभी हो सकता है; जब पूर्व के कई जन्मों के किये हुए बहुत पुण्य एकत्र हों ॥२२२॥

विशेष—(१) 'कोउ कह जौं भल···'—उचित फलदाता के सम्बन्ध से विधाता (विधानकर्त्ता) कहा; क्योंकि इससे भला योग विधाता को नहीं मिल सकता।

(२) 'नाहिं न आलि इहाँ···'—'आलि'—क्योंकि ये सब भ्रमरी की तरह श्रीराम-मुख-कमल के छवि-रस को पान करती हुई, प्रीति-पूर्वक वचन-रूप गुंजार कर रही हैं। 'इहाँ'—अर्थात् राजा के प्रण त्याग में संदेह है, पर विधाता के विषय में नहीं।

(३) 'सखि हमरे अति आरति···'—हमारे हृदय में बड़ी लालसा है, इससे प्रतीति होती है कि कभी भी तो ये इस नाते से आवेंगे; क्योंकि विधाता का नियम है कि जिसमें जिसकी सच्ची लालसा (चाह) रहती है, वह उसे मिलता है। यथा—"जाकर जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलत न कछु संदेहू॥" (दो० २५८); "निगम अगम साहिब सुगम, राम साँचिली चाह। अंबु असन अवलोकियत, सुलभ सबै जग माँह॥" (दोहावली ८०)।

(४) 'यह संघट तब होइ जब, पुन्य···' यथा—"हम सब सकल सुकृत के रासी। भये जग जनमि जनकपुर-बासी॥ जिन्ह जानकी-राम-छवि देखी। को सुकृती हम सरिस बिसेखी॥" (दो० ३०१)।

बोली अपर कहेहु सखि नीका। येहि बिवाह अति हित सबही का॥१॥
कोउ कह संकर-चाप कठोरा। ये स्यामल मृदुगात किसोरा॥२॥
सब असमंजस अहइ सयानी। यह सुनि अपर कहइ मृदु बानी॥३॥
सखि इन्ह कहँ कोउ कोउ अस कहहीं। बड़ प्रभाव देखत लघु अहहीं॥४॥
परसि जासु पद-पंकज-धूरी। तरी अहल्या कृत-अघ-भूरी॥५॥
सो कि रहिहिं बिनु सिवधनु तोरे। यह प्रतीति परिहरिय न भोरे॥६॥

शब्दार्थ—असमंजस (असामञ्जस्य) = दुविधा, अड़चन। कृत अघभूरी = बहुत पाप की हुई, घोर पापिनी।

अर्थ—और (छठी) सखी ने कहा, हे सखी! तुमने अच्छी बात कही। इस विवाह से सभी का अत्यन्त हित है॥१॥ कोई (सातवीं सखी) कहती है कि शिवजी का धनुष कठोर है, और ये साँवले (राजकुमार) कोमल शरीरवाले और किशोरावस्था के हैं॥२॥ हे सयानी! सब प्रकार असामञ्जस्य ही-असामञ्जस्य है। यह सुनकर और (आठवीं) सखी ने कोमल वाणी में कहा॥३॥ हे सखी! इनके विषय में कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि ये बड़े प्रभाववाले हैं, देखने ही में-छोटे हैं॥४॥ जिनके चरण-कमल की धूल (रज) को छूकर वह अहल्या तर गई, जिसने बहुत घोर पाप किये थे॥५॥ वे क्या शिवजी के धनुष को बिना तोड़े रहेंगे? यह विश्वास भूलकर भी न छोड़ो॥६॥

विशेष—(१) 'येहि बिबाह अति हित···'—औरों के विवाह में अपने सगे-सम्बंधी लोगों का ही हित होता है, पर इस विवाह में सुर-मुनि, विप्र आदि सभी का हित है। पुनः 'अति हित', यथा—"कहहिं परस्पर कोकिलबयनी। येहि बिबाह बड़ लाभ सुनयनी॥ बड़े भाग बिधि ''बारहि बार सनेह बस···बिबिध भाँति···तब-तब राम···" (दो० ३०९-१०)।

(२) 'सब असमंजस'''' कई अड़चनें हैं—जयमाल में पिता का प्रण बाधक है, प्रण की पूर्ति में शिवजी का कठोर चाप बाधक है और उसके तोड़ने में इनकी कोमलता बाधक है। 'संकर-चाप'—जब विष्णु के हुंकार से जड़ हो गया, तब शिवजी से भी नहीं लचा। फिर भला ये परम कोमलशरीर किशोरावस्था के बालक उसे कैसे तोड़ेंगे? हे सयानी! विचारो। यथा—"कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ श्यामल मृदु गात किसोरा॥ बिधि केहि भाँति धरउँ उर धीरा। सिरस सुमन कन बेधिय हीरा॥" (दो० १५७)।

'मृदु बानी'—क्योंकि कोमलवाणी से दिया हुआ उपदेश प्रभाव डालता है, यह सबको प्रबोध कर देगी।

(३) 'कोउ-कोउ अस'''बड़ प्रभाउ'''—इनका प्रभाव जानना दुर्लभ है। अतः, कोई-कोई ही जानते हैं और वे ही कहते हैं; अर्थात् जो कोई श्रेष्ठ लोग राजा के साथ गये थे और मुनि तथा विदेह का संवाद-प्रसंग सुना था वे ऐसा कहते हैं। उन्होंने—"मख राखेउ सब साखि जग, जिते असुर संग्राम।" (दो० २१६) यह भी सुना है, पर यह वीरता का सामान्य प्रभाव है, बड़े प्रभाव को आगे कहती है—

(४) 'परसि जासु'''कृत अघभूरी।'—अहल्या पतिवंचकता (पति को धोखा देने) से घोर पापिनी थी, यथा—"पतिबंचक पर-पति रति करई। रौरव नरक कलप सत परई॥ छन सुख लागि जनम सत कोटी। दुख न समुझ तेहि सम को खोटी॥" (आ० दो० ४)। वह भी चरण-रज से तर गई।

(५) 'यह प्रतीति परिहरिय न भोरे।'—जैसे दूसरी सखी के वचनों से प्रतीति हुई और उसपर हर्ष भी हुआ था, वह थोड़ी ही देर में छूट गई, वैसे यह प्रतीति भूलकर भी न त्यागना। आगे पाँचवीं की संशयात्मक बातों को भी पुष्ट करती है—

जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहि स्यामल बर रचेउ बिचारी॥७॥
तासु बचन सुनि सब हरषानी। ऐसेइ होउ कहहिं मृदु बानी॥८॥

दोहा—हिय हरषहिं बरषहिं सुमन, सुमुखि-सुलोचनि-बृंद।
जाहिं जहाँ जहँ बंधु दोउ, तहँ तहँ परमानंद॥२२३॥

अर्थ—जिस ब्रह्मा ने सीताजी को सँवारकर बनाया है, उसी ने विचारकर श्यामल वर भी रचा है ॥७॥ इसके वचन सुनकर सब प्रसन्न हुईं और कोमल वाणी में कहने लगीं कि ऐसा ही हो ॥८॥ सुंदर मुखों और सुन्दर नेत्रोंवाली स्त्रियों के झुंड हृदय में आनंदित होते और फूल बरसा रहे हैं। जहाँ-जहाँ दोनो भाई जाते हैं, वहीं-वहीं परम आनंद होता है ॥२२३॥

विशेष—(१) 'जेहि बिरंचि'''तेहि'''—भाव यह कि जो बड़े श्रम से रचा जाता है, वह व्यर्थ नहीं किया जाता। यदि श्रीसीताजी को साँवला वर न मिला तो फिर उनका बनाया जाना ही व्यर्थ हो जायगा। अतः, चतुर विधाता चूकनेवाला नहीं है। ऊपर दो० २२१ चौ० १ का विशेष भी देखिये।

(२) 'तासु बचन सुनि'''—'सब' अर्थात् चौथी और पाँचवीं के संशय दूर हुए और सातवीं के 'असमंजस' का भी सामञ्जस्य हो गया। इससे सभी हर्षित हुईं। 'ऐसेइ होउ'—सातवीं ने भी कहा कि मेरा वचन असत्य हो, तेरा ही वचन सत्य हो।

अष्ट सखियों के संवाद पर दार्शनिक दृष्टि—श्रीजानकीजी से श्रीरामजी का विवाह हो जाय, इसपर सब विचार करने लगीं। अतः, यही विषय वाक्य है। इसमें पहली सखी ने श्रीरामजी की लोकोत्तर सुन्दरता कहते हुए,—"बस को तनुधारी। जो न मोह···" से सब को इनकी ओर आकर्षित किया। फिर दूसरी ने परिचय, योग्यता और राजा की प्रण-पूर्ति का सामर्थ्य भी इनमें लक्षित किया। तीसरी ने—'जोग जानकिहि यह बर अहई।' से विषय को प्रस्तुत कर दिया कि राजा के देखने मात्र की देर है—विवाह अवश्य होगा।

चौथी सखी ने राजा का प्रण न छोड़ना कहकर संशय किया कि उन्होंने विधिवश होकर प्रण का हठ कर रक्खा है। इस अविवेक का क्या उपाय है? पाँचवीं सखी ने विधि की ही शरण में उपाय निकाला, परन्तु इसने 'जौं विधि-बस···' 'नाहि त हम···' आदि वाक्यों से विधि की अनुकूलता में भी संशय ही रक्खा। पाँचवीं का विचारा हुआ उपाय—"हमरे अति आरति···" था कि उत्कृष्ट लालसा को ब्रह्मा पूरी करते हैं, उसी में सब को नियुक्त करने के लिये छठी सखी ने—'अति हित सबही का' कहा कि जिससे सभी की वैसी ही चाह हो, तो ब्रह्मा पूरी करें। अतः, ये तीनों 'संशय' में ही रह गईं।

सातवीं सखी ने शंकर-चाप की असाधारण कठोरता दिखाकर सब को असामञ्जस्य में डाल दिया कि जो शिवजी से भी न लचा, उसे ये कैसे तोड़ सकेंगे? अतः, इनसे विवाह न हो सकेगा। यह 'पूर्व पक्ष' हुआ॥

आठवीं सखी ने श्रीरामजी में धनुष तोड़ने का सामर्थ्य 'बड़ प्रभाव' से दिखाया और ब्रह्मा की अनुकूलता का भी पुष्ट प्रमाण देकर 'सिद्धान्त' कर दिया। फिर इस सिद्धान्त को सब ने मुक्तकंठ से सहर्ष स्वीकार किया—'ऐसेइ होउ'। अतः, अभीष्ट विषय निश्चित कर हृदय से हर्ष के साथ फूल बरसाने लगीं।

(३) 'हिय हरषहिं बरषहिं···'—दिग्दर्शन की रीति से एक जगह का आनन्द ग्रंथकार ने कहा। फिर कहते हैं कि जहाँ-जहाँ दोनो भाई जाते हैं, वहाँ-वहाँ ऐसा ही आनन्द होता है। यथा—"गाँव-गाँव अस होइ अनंदू। देखि भानु-कुल-कैरव-चंदू॥" (अ० दो० १२१)। श्रीरामजी के यश-वर्णन के संबंध से स्त्रियों को 'सुमुखि' और दर्शन-संबन्ध से 'सुलोचनि' कहा है।

(४) 'बरषहिं सुमन···'—राजकुमारों के स्वागत में भीतर से हर्ष प्रकट करती हैं और बाहर से फूल बरसाती हैं। सुंदर मुखों से इनके यश वर्णन करती हैं और सुन्दर नेत्रों से दर्शन करती हैं।

फूल बरसाने के और भी भाव कहे जाते हैं—(क) पुष्प-वृष्टि करके मार्ग को इनके कोमल चरणों के अनुसार कोमल बनाती हैं। (ख) पुष्पवृष्टि मंगल का अंग है। यथा—"सुरन्ह सुमंगल अवसर जाना। बरषहिं सुमन···" (दो० ३११) अतः, इनका मंगल बना रही हैं। (ग) श्रीरामजी बालकों के साथ सीधे चले जा रहे हैं, उनके ऊपर फूल बरसाने से ऊपर की ओर दृष्टि करेंगे तो वे कटाक्ष-युक्त वदन के दर्शन करेंगी। (घ) ये पुष्पवृष्टि-द्वारा क्रिया-चातुरी से संकेत कर रही हैं कि कल पुष्प-वाटिका में आइयेगा। शिर से लेकर फूल गिराती हैं कि हमारी स्वामिनी श्रीजानकीजी भी वहाँ आवेंगी। श्रेष्ठ फूल गुलाब एवं कमल बरसा कर सूचित करती हैं कि इनके खिलने के समय (प्रातःकाल) आना। इन फूलों के स्थल तालाब एवं उनके तट हैं, वहीं आकर रहना। फूल देवता को चढ़ते हैं, वे लोग देवी-पूजन को आवेंगी, आप भी देवी के मंदिर के पास फूल लेने के बहाने से आइयेगा। (ङ) 'सु+मन' अपने-अपने सुन्दर मन को निछावर करती हैं।

पुर पूरब दिसि गे दोउ भाई। जहँ धनु-मख-हित भूमि बनाई॥१॥
अति बिस्तार चारु गच ढारी। बिमल बेदिका रुचिर सँवारी॥२॥

चहुँ दिसि कंचनमंच बिसाला। रचे जहाँ बैठहिं महिपाला ॥३॥
तेहि पाछे समीप चहुँ पासा। अपर मंच-मंडली बिलासा ॥४॥

शब्दार्थ—भूमि बनाई = रंगभूमि, उत्सव के लिये सजाई हुई भूमि। गच = पक्का फर्श जो चूने और सुरखी के मेल से रंग-बिरंग का बना हुआ रहता है, यथा—"जातरूप-मनि-रचित अटारी। नाना रंग रुचिर गच ढारी॥" (उ० दो० २६); काँच का फर्श। ढारी = ढली हुई। गच ढारी = ढालुवाँ गच, यथा—"महि बहु रंग रचित गच काँचा।" (उ० दो० २६)। वेदिका = वेदी। मंच = मचान।

अर्थ—दोनो भाई नगर के पूर्व ओर गये, जहाँ धनुष-यज्ञ के लिये भूमि बनाई गई थी ॥१॥ बहुत लंबी-चौड़ी सुंदर पक्की गच ढालुवाँ बनाई गई थी, उसपर निर्मल सुंदर वेदी सँवारी गई थी ॥२॥ चारों ओर सोने के बड़े-बड़े मचान रचे (सुंदर बने) हुए थे, जहाँ राजा लोग बैठें ॥३॥ उनके पीछे निकट ही चारों ओर और भी मंच (उन प्रत्येक राजाओं की अपनी) मंडली के लोगों के बिलास (बैठने) के लिये हैं अर्थात् आगे राजा रहते हैं, उनके पीछे छत्र-चँवरबरदार आदि, बगल में मंत्री आदि एवं उनके विभव-विलास का समाज रहता है ॥४॥

कछुक ऊँचि सब भाँति सुहाई। बैठहिं नगर लोग जहँ जाई ॥५॥
तिन्ह के निकट बिसाल सुहाये। धवलधाम बहुबरन बनाये ॥६॥
जहँ बैठे देखहिं सब नारी। जथाजोग निज कुल-अनुहारी ॥७॥
पुर-बालक कहि कहि मृदुबचना। सादर प्रभुहिं देखावहिं रचना ॥८॥

दोहा—सब सिसु येहि मिस प्रेमबस, परसि मनोहर गात।
तनु पुलकहिं अति हरष हिय, देखि देखि दोउ भ्रात ॥२२४॥

अर्थ—जो कुछ ऊँचाई पर था और सब प्रकार सुंदर था, जहाँ नगर के लोग जाकर बैठें ॥५॥ उनके पास बहुत लंबे-चौड़े सुंदर श्वेत घर रंग बिरंग के बनाये गये थे ॥६॥ जहाँ बैठकर सब स्त्रियाँ अपने कुल के अनुसार यथायोग्य रीति से देखें ॥७॥ पुर के बालक कोमल वचन कह-कहकर आदरपूर्वक प्रभु को रचना दिखाते हैं ॥८॥ सब बच्चे इस बहाने प्रेम के वश हो (इनके) मनोहर शरीर को छू-छूकर शरीर में पुलकते (रोमांचित होते) हैं और दोनों भाइयों को देख-देखकर उनके हृदय में अत्यन्त हर्ष होता है ॥२२४॥

विशेष—वेदी के चारों ओर प्रथम आवृत्ति राजाओं के मचानों की है, दूसरी आवृत्ति उनकी मंडली-विलास की है, तीसरी आवृत्ति पुरजनों के बैठकों की है और चौथी आवृत्ति स्त्रियों के लिये है। इसमें चौमहला मचान बने हैं जहाँ ऊपर ब्राह्मणी, फिर क्षत्राणी इत्यादि क्रम से बैठें।

'सब सिसु येहि मिस'…—रचना दिखाने के बहाने हाथ पकड़कर कहते हैं, यह वस्तु तो देखिये। यहाँ कुछ श्रीराम-रहस्य भी है। सब बच्चे रचना दिखाते हैं, सब मनोहर शरीर स्पर्श करते हैं और सभी अपनी-अपनी रुचि से अपनी ओर बुला लेते हैं। यह आगे कहते हैं। अतः, भगवान् अनेक रूप होकर सबकी रुचि पूर्ण करते हैं, यथा—"अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथाजोग मिले सबहि कृपाला॥" (उ० दो० ५); "अस कपि एक न सेना माहीं। राम-कुसल जेहि पूछा नाहीं॥" (कि० दो० २१)।

यद्यपि ये सब प्रेमवश हैं, तो भी भगवान् में अमित तेज देखकर स्पर्श नहीं कर सकते। दिखाने के बहाने स्पर्श करते हैं। यह भी सूचित किया कि प्रभु का स्पर्श कर्मकांडी, ज्ञानी आदि नहीं कर सकते, यह सौभाग्य प्रेमी ही को है। यथा–"रामहि केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जाननिहारा॥" (अ०दो०१३६)

प्रभु का शरीर दिव्य एवं सच्चिदानन्दमय है। अतः स्पर्श होते ही आनन्द भर जाता है तो पुलक आदि लक्षण भी हो आते हैं, यथा–"परसत पद पावन'''अति प्रेम अधीरा पुलक सरीरा'''" (दो० २१०)। "हरषि बंधु दोउ हृदय लगाये। पुलक अंग-अंबक जल छाये॥" (दो० ३०१); "लागे पखारन पाय पंकज प्रेम तनु पुलकावली।" (दो० ३२२)। वैसे यहाँ बालकों को भी पुलकावली कही गई है। यहाँ बालकों के मन, वचन, कर्म तीनों श्रीरामजी में लगे हैं—'अति हरष हियँ'—मन, 'कहि कहि मृदु बचना'—वचन, और 'परसि मनोहर गात'—कर्म।

सिसु सब राम प्रेमबस जाने। प्रीतिसमेत निकेत बखाने॥१॥
निज निज रुचि सब लेहिं बोलाई। सहित सनेह जाहिं दोउ भाई॥२॥
राम देखावहिं अनुजहिं रचना। कहि मृदु मधुर मनोहर बचना॥३॥
लवनिमेष महँ भुवन-निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया॥४॥
भगति-हेतु सोइ दीनदयाला। चितवत चकित धनुष-मख-साला॥५॥

अर्थ—श्रीरामजी ने सब बालकों को प्रेम के वश जानकर प्रीतिपूर्वक निकेत (रंगभूमि के स्थानों) की प्रशंसा की॥१॥ अपनी-अपनी रुचि के अनुसार सब दोनों भाइयों को बुला लेते हैं और वे प्रेमपूर्वक जाते हैं॥२॥ कोमल, मीठे, और मनोहर वचन कहकर श्रीरामजी भाई को (रंगभूमि की) रचना दिखाते हैं॥३॥ जिनकी आज्ञा से लव-निमेष (निमेष=पल। लव=निमेष का साठवाँ भाग) में माया समस्त लोकों को बना डालती है॥४॥ वे ही दीनदयालु भक्ति के कारण धनुष-यज्ञ-शाला को चकित होकर देख रहे हैं॥५॥

विशेष—(१) 'निज निज रुचि''' *अर्थात् श्रीरामजी प्रेमियों की रुचि रखते हैं, यथा—"राम* सदा सेवक-रुचि राखी।" (अ० दो० २१८)। 'दोउ भाई'—दोनों भाइयों का रहस्य कह रहे हैं कि सब शिशु दोनों भाइयों को भिन्न-भिन्न स्थानों पर ले जाते हैं। ये प्रत्येक के साथ जाते हैं। यथा—"जो जेहि भाय रहा अभिलाखी। तेहि-तेहि कै तसि-तसि रुख राखी॥" (अ० दो० २४२)।

(२) 'राम देखावहि अनुजहिं '''—रामजी ने गुरुजी से कहा था कि—'नगर देखाइ''' उसी को चरितार्थ कर रहे हैं। यह रचना बालकों ने दिखाई है। अतः, उनके संतोष एवं स्नेह-वृद्धि के लिये उनका चमत्कार भाई को दिखाते और प्रशंसा करते हैं। मृदु-मधुर भाषण करना तो इनका स्वभाव ही है।

(३) 'लव निमेष महँ'''—जहाँ-जहाँ विशेष माधुर्य देखते हैं, वहाँ-वहाँ ग्रंथकार ऐश्वर्य भी कह ही देते हैं जिससे किसी को मोह न हो। यथा—"व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुन बिगत बिनोद। सो अज प्रेम-भगति-बस, कौसल्या के गोद॥" (दो० १९८)। वैसे यहाँ भी ऐश्वर्य कहा है।

(४) 'भगति हेतु'—भक्ति की महिमा दिखाने के लिये ऐसे चरित करते हैं जिससे लोग जान लें कि भगवान् भक्ति के अधीन हैं, भक्त की रुचि के पोषक हैं।

कौतुक देखि चले गुरु पाहीं। जानि बिलंब त्रास मन माहीं ॥६॥
जासु त्रास डर कहुँ डर होई। भजनप्रभाव देखावत सोई ॥७॥
कहि बातें मृदु मधुर सुहाईं। किये बिदा बालक बरियाईं ॥८॥

दोहा—सभय सप्रेम बिनीत अति, सकुच सहित दोउ भाइ।
गुरु-पद-पंकज नाइ सिर, बैठे आयसु पाइ ॥२२५॥

अर्थ—(भगवान्) तमाशा देखकर गुरुजी के पास चले, देर जानकर मन में डर है ॥६॥ जिनके डर से मूर्त्तिमान् डर को भी डर होता है, वे ही प्रभु भजन का प्रभाव दिखा रहे हैं ॥७॥ कोमल, मीठी और सुहावनी बातें कहकर बालकों को बलात् बिदा कर दिया ॥८॥ अत्यन्त भय, प्रेम, नम्रता और संकोच के साथ दोनो भाई गुरु के चरण-कमलों में शिर झुका आज्ञा पाकर बैठ गये ॥२२५॥

विशेष—(१) 'कौतुक देखि'—जब तक कौतुक देखने में मन लगा था, समय नहीं जान पड़ा था, अब विलंब जानकर डरे कि कहीं मुनि पूछ न बैठें कि इतनी देर क्यों लगाई ? यह माधुर्य है।

(२) 'जासु त्रास डर कहुँ डर...'—बस, यहाँ फिर ऐश्वर्य कहने लगे। 'डर कहुँ डर'—सबको काल से डर होता है, वह काल भी भगवान् से डरता है। यथा—"ऊमरि तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥ * ते फलभच्छक कठिन कराला। तव डर डरत सदा सोउ काला॥" (आ०दो०१२)।

'भजन-प्रभाव देखावत सोई'—अर्थात् वे ही भगवान् भजन करनेवाले को पुत्र, शिष्य आदि बनकर सुख देते हैं, उसके अधीन रहते हैं, उससे डरते हैं। यथा—"अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।" (श्रीमद्भागवत)।

(३) 'कहि बातें मृदु मधुर...'—बालक लोग साथ ही आकर डेरा देखना चाहते थे जिससे बराबर दर्शन हों, परन्तु मुनियों के यहाँ भीड़ भड़क्का ठीक नहीं, इसलिये उन बालकों को बलात् विदा कर दिया। यथा—"किये धरम-उपदेस घनेरे। लोग प्रेम-बस फिरं न फेरे॥ सील सनेह छाड़ि नहिं जाई।" (अ० दो० ८१)। यहाँ बालकों का शील-स्नेह निबाहने के लिये 'मृदु मधुर सुहाई' बातें कहीं कि आपलोगों के माता-पिता राह देखते होंगे, देर होने से चिन्तित होंगे। इससे अब जाइये, हम फिर मिलेंगे, इत्यादि। मिलने का वादा 'सुहावना' है।

(४) 'सभय सप्रेम बिनीत '—देर होने में भय है। गुरु के प्रणाम सम्बन्ध से प्रेम है। यथा—"रामहिं सुमिरत रन भिरत, देत परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहि न पुलक तनु, ते जग जीवत जाय॥" (दोहावली ४२)। 'बिनीत'—क्योंकि रामजी धर्मसेतु के रक्षक हैं। 'सकुच' आदि में भी था और यहाँ अंत में भी है, क्योंकि पृथक् होकर खेल देखने गये थे, जिससे प्रौढ़ता नहीं समझी जाय।

निसिप्रबेस मुनि आयसु दीन्हा। सब ही संध्याबंदन कीन्हा ॥१॥
कहत कथा इतिहास पुरानी। रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी ॥२॥
मुनिबर सयन कीन्हि तब जाई। लगे चरन चाँपन दोउ भाई ॥३॥

जिन्ह के चरनसरोरुह लागी । करत बिबिध जप जोग बिरागी ॥४॥
तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते । गुरु-पद-कमल पलोटत प्रीते ॥५॥

शब्दार्थ—प्रवेस (प्रवेश)=आगमन । चाँपना=दबाना, पलोटना । संध्या-वंदन=आर्यों का एक विशिष्ट कर्म जो नित्य प्रातः, मध्याह्न और संध्या समय होता है ।

अर्थ—रात आने के समय मुनि ने आज्ञा दी, तो सभी ने संध्या-वन्दन किया ॥१॥ इतिहास की पुरानी कथाएँ कहते हुए सुन्दर दो पहर रात बीत गई ॥२॥ तब मुनि-श्रेष्ठ विश्वामित्र ने जाकर शयन किया और दोनों भाई उनके चरण दबाने लगे ॥३॥ जिनके चरण-कमलों के लिये वैराग्यवान् लोग तरह-तरह के जप-योग करते हैं ॥४॥ वे ही दोनों भाई मानों प्रेम से जीते हुए प्रीतिपूर्वक गुरु के चरणकमलों को दबा रहे हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'आयसु दीन्हा'—क्योंकि धर्म के लिये शासन करना गुरु का धर्म है। 'सब ही' मुनिगण और राजकुमार आदि सभी ने संध्या-वंदन कर लिया, क्योंकि शीघ्र ही कथा में उपस्थित होना है ।

(२) 'कहत कथा इतिहास'''—ऐसी पुरानी और अनूठी कथा कहने लगे, जिसमें प्रेम से आधी रात बीत गई। कथा सुनते हुए बीतनेवाली रात्रि को 'रुचिर' कहा है; क्योंकि जो समय भगवान् की कथा-वार्त्ता में बीते, वही सुन्दर है। इस तरह कथा का माहात्म्य कहा। यह भी कहा जाता है कि फुलवारी के संकेत के अनुसार प्रातःकाल की अभिलाषा है, उसमें कथा से आधी रात तो सुन्दर रीति से बीती, अब शेष उद्वेग से कटेगी ।

विश्वामित्रजी चिरकालीन ऋषि हैं। अतः, प्राचीन ही कथाएँ प्रायः कहा करते हैं—"भगति हेतु बहु कथा पुराना ।···" (दो० २०१); "कौसिक कहि-कहि कथा पुरानी । समुझाई सब सभा सुबानी ॥" (अ० दो० २७०)। देश के अनुरोध से कोई-कोई यहाँ पर राजा निमि और वसिष्ठ मुनि की कथा का होना कहते हैं ।

(३) 'मुनिबर सयन कीन्ह'''—'जाई' अर्थात् कथा के स्थल से शयनागार पृथक् है ।

(४) 'करत बिबिध जप जोग ''—वैराग्यवान् भी जप-योग आदि करते रहते हैं, फिर भी उनमें से किसी विरले ही को भगवान् मिलते हैं, वे भगवान् भी प्रेम से अनायास वश हो जाते हैं। मुनि का प्रेम—"कौसिक-रूप पयोनिधि पावन । प्रेम बारि अवगाह सुहावन ॥ राम-रूप राकेस निहारी । बढ़त बीचि पुलकावलि भारी ॥" (दो० २६१); "दीन्हि असीस बिप्र बहु भाँती । चले न प्रीति-रीति कहि जाती ॥" (दो० ३५१)। इसी प्रेम से वशीभूत होकर भगवान् मुनि के पैर दबा रहे हैं !

श्रीजनकपुर में आज पहली रात है। अतः, रात्रि-चर्या का वर्णन कर दिया। इसी प्रकार नित्य समझना चाहिये। जैसे उत्तर कांड में श्रीसीताजी की चर्या एक जगह कह दी तो नित्य की समझी जाती है। यह भी कहा जाता है कि आज की चर्या इसलिये कह रहे हैं कि कल श्रीकिशोरीजी के प्रेम में विह्वल रहेंगे, तब इस चर्या में अंतर पड़ेगा, जिससे वह भेद जाना जाय।

बार बार मुनि आज्ञा दीन्ही । रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही ॥६॥
चाँपत चरन लखन उर लाये । सभय सप्रेम परम सचुपाये ॥७॥
पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता । पौढ़े धरि उर पद-जलजाता ॥८॥

दोहा—उठे लखन निसिबिगत सुनि, अरुनसिखा-धुनि कान।
गुरु ते पहिले हि जगतपति, जागे राम सुजान ॥२२६॥

अर्थ—मुनि ने कई बार आज्ञा दी, तब रघुनाथजी ने जाकर शयन किया ॥६॥ श्रीलक्ष्मणजी राम चरणों को हृदय से लगाये हुए डर और प्रेम से आनन्द-पूर्वक दबा रहे हैं ॥७॥ प्रभु श्रीरामजी ने बार-बार कहा, हे तात ! सोओ। तब हृदय में चरण-कमल रखकर लेट गये ॥८॥ रात बीतने पर मुर्गे (कुक्कुट) के शब्द कानों से सुनकर लक्ष्मणजी उठे, जगत् के स्वामी सुजान श्रीरामजी गुरुजी से पहले ही जाग गये ॥२२६॥

विशेष—(१) 'बार बार मुनि''''—श्रीरामजी बार बार कहने पर शयन करने के लिये गये, क्योंकि सेवा, भोजन और दान में गुरुजन की आज्ञा नहीं माननी चाहिये—"सेवा भोजन दान में, आज्ञा-भंग न दोष। पुनि पुनि गुरुजन रोकहीं, तऊ न कीजे तोष॥" यह कहावत है, इसीसे बिना आज्ञा लिये ही चरण दाबते और बार-बार कहने पर भी नहीं छोड़ते थे। एक बार ही कहने पर सेवा छोड़ देने से सेवक की अश्रद्धा समझी जाती है और यदि स्वामी बार-बार आज्ञा न दे तो उसमें कठोरता पाई जाती है। यहाँ दोनों में उत्तमता है। 'रघुबर जाइ'''—श्रीरामजी ही को शयन की आज्ञा दी, लक्ष्मणजी को नहीं, क्योंकि वे श्रीरामजी के भी सेवक हैं। गुरुजी उन्हें सोने की आज्ञा देते, तो उनका सेवक-धर्म भंग होता और शयन नहीं करते तो गुरु की आज्ञा टलती। 'जाइ'—क्योंकि गुरु के सामने सोना निषेध है।

(२) 'चाँपत चरन लखन'''''—अति प्रिय होने से चरण हृदय में लगाये हैं। 'सभय'—कहीं मेरे हाथ कड़े न पड़ें, जिससे सरकार की निद्रा भंग हो जाय, एवं कहीं मेरे हाथ चरणों में न गड़ जायँ वा सोने की आज्ञा शीघ्र ही न दे दें। 'सप्रेम'—अति दुर्लभ वस्तु चरण-सेवा है। यथा—"सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन-सेवकाई।" (ल० दो० २१), उसकी प्राप्ति से उसमें प्रेम है। श्रेष्ठ सेव्य बड़े भाई जानकर भी प्रेम है। 'परम सचुपाये'—समग्र सेवा का अधिकार यहाँ मुझ अकेले ही को आज प्राप्त है, इससे आनंद है घर में और भाई भी बँटा लेते थे। यथा—"सेवहिं सानुकूल सब भाई।" (उ० दो० २४)। पुन चरण-सेवा का महत्त्व इनकी दृष्टि में अत्यन्त अधिक है, इसीसे उसकी प्राप्ति में अति आनंद है।

(३) 'पौढे उर धरि पद'''''—चरणकमल हैं तो लक्ष्मणजी का हृदय सरोवर है। इस तरह जाग्रत के समान ही स्वप्न की भी वृत्ति रहती है। 'पौढे'—इन्हें 'पौढे' मात्र लिखा है, वैसे ही आगे 'उठे लखन' कहा है अर्थात् ये सर्वत्र श्रीरामजी की सेवा में बड़े सावधान रहते हैं। यथा—"सयन कीन्ह रघुबंसमनि, पाय पलोटत भाइ॥" "उठे लखन प्रभु सोवत जानी। '' जागन लगे बैठि बीरासन॥" (अ० दो० ८९), "प्रभु पाछे लछिमन बीरासन। कटि निषंग कर बान सरासन॥" (लं० दो० १०)। यहाँ तो श्रीरामजी मुनि की सेवा में हैं, वे सो रहे हैं, कहीं मुनि को कोई काम पड़े, उसे मैं कर दूँगा, तो श्रीरामजी को सेवा-विक्षेप (बाधा) का दुःख न होगा। यह भी भाव है। ग्रंथकार ने कहीं भी बाहर श्रीरामजी के साथ में इनका सोना नहीं लिखा।

(४) 'उठे लखन निसि '''—यहाँ से दोनों भाइयों की दिन की चर्या कहते हैं। जिस क्रम से सोना कहा गया, उसके व्यतिक्रम से जागना कहते हैं। सबसे पीछे लक्ष्मणजी लेटे थे, पहले ही उठे। तब श्रीरामजी जागे, पीछे मुनि, क्योंकि धर्म की ऐसी ही मर्यादा है। यथा—"होतान्तवस्त्रेषः

स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ। उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत्॥" (मनुः)—अर्थात् ..गुरुओं से पीछे सोवे और पहले जागे। इसीसे यहाँ श्रीरामजी को 'सुजान' और 'जगतपति' कहा है। 'सुजान' यथा—"नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥" (अ० दो० २५४)। 'जगतपति' हैं, इसीलिये जगत् को धर्म-मर्यादा का उपदेश कर रहे हैं। यथा—"मर्त्यावतारस्त्विह-मर्त्यशिक्षणं······" (श्रीमद्भाग०); तथा—"नीच ज्यों टहल करैं, रुख राखे अनुसरैं, कौसिक से कोही बस किये दुहुँ भाई हैं॥" (गी० बा० ६६)। धर्म से ही जगत् का पालन होता है—"धर्माद्धारयते प्रजाः" कहा है। यथा—"बरनाश्रम निज-निज धरम निरत···चलहिं सदा पावहिं सुख, नहिं भय सोक न रोग॥" (उ० दो० २०)।

'जागे राम' के साथ 'जगतपति' से ऐश्वर्य पक्ष का यह भी भाव है कि ईश्वर की जागृति से जगत् की रक्षा होती है, और उसके सोने से जगत् सो जाता है। 'अरुनसिखा' अर्थात् यह ग्राम्य पक्षी है और इस देश में नियमित समय पर बोलता है। अतः, इसके शब्द से ब्राह्म मुहूर्त्त में उठना जनाया। अभी तक वन में रहते थे, आज नगर में हैं। अतः, ग्राम्य-पक्षी लिखा है।

पुष्प-वाटिका-प्रकरण

सकल सौच करि जाइ नहाये। नित्य निबाहि मुनिहि सिर नाये॥१॥
समय जानि गुरु-आयसु पाई। लेन प्रसून चले दोउ भाई॥२॥
भूप-बाग बर देखेउ जाई। जहँ बसंतरितु रही लोभाई॥३॥
लागे बिटप मनोहर नाना। बरन बरन बर बेलिबिताना॥४॥
नव पल्लव फल सुमन सुहाये। निज संपति सुररूख लजाये॥५॥

शब्दार्थ—सकल सौच=वे कृत्य जो प्रातःकाल उठकर सबसे पहले किये जाते हैं—हाथ-मुँह धोना, स्नान आदि। श्रीरामजी के विषय में ग्राम्य धर्म नहीं लेना चाहिये, क्योंकि इनका शरीर चिदानंदमय है, यथा—"चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥" (अ० दो० १२६)। जाइ=नदी आदि में जाकर। नित्य निबाहि=संध्या-अग्निहोत्र आदि नित्य-कर्म करके। बितान=फैलाव, चँदोवा। संपति=धन, ऐश्वर्य। सुररूख=कल्पवृक्ष।

अर्थ—सब शौच-क्रिया करके जाकर स्नान किया और नित्य-कर्म करके मुनि को प्रणाम किया॥१॥ समय जानकर गुरु की आज्ञा पा दोनों भाई फूल लेने को चले॥२॥ राजा के श्रेष्ठ बाग को जाकर देखा, जहाँ वसन्त ऋतु लुभाकर रह गई है॥३॥ तरह-तरह के मनोहर (सुंदर) वृक्ष लगे हुए हैं, रंग-विरंग की श्रेष्ठ बेलों के चँदोवे बने हुए हैं॥४॥ नवीन पल्लव, फल और फूल शोभा दे रहे हैं, (इन वृक्षों ने) अपनी (तीनों) संपत्तियों से कल्पवृक्ष को भी लज्जित कर दिया है॥५॥

विशेष—(१) 'समय जानि'—आगे 'लेन प्रसून' भी कहा है। अतः, दल-फूल लाने का पर्व गुरुजी की पूजा का समय जानकर। 'गुरु-आयसु पाई'—स्वयं गुरुजी से आज्ञा प्राप्त की, गुरुजी को आज्ञा नहीं देनी पड़ी, यह उत्तम सेवक-धर्म है। 'समय जानि'—इसे श्लिष्ट मानकर और भी भाव कहे जाते हैं—(क) इस श्रेष्ठ बगीचे के फाटक खुलने का निश्चित समय जानकर। (ख) सरकार के गुप्त-प्रकट

चरित अपने अवसर पर ही होते हैं। अतः, पुष्पवाटिका के इस चरित का समय जानकर। (ग) समय=संकेत, (विश्वकोष, पृ० ५२२) तथा—"समयः शपथाचारः सिद्धान्तेषु ···। क्रियाकारे च निर्देशे संकेते कालभाषयोः ॥" (मेदिनी)। जैसे प्रथम लक्ष्मणजी की लालसा जानकर गुरु से आज्ञा ले नगर-दर्शन को गये थे, वैसे यहाँ पूर्व दो० २२३ में कहे हुए संकेत को एवं उसके नियत समय को जानकर फूल के व्याज से गुरु की आज्ञा प्राप्त कर के चले।

(२) 'भूप-बाग बर······'—राजा जनक के और सब बागों से यह श्रेष्ठ है। राजा जनक योग-विभूति के भी राजा हैं, यथा—"जोगी-जागमलिक प्रसाद सिद्धि लही है।" (गी० बा० ८५); "भूमि भोग करत अनुभवत जोग-सुख।" (गी० बा० ८६)। अतः, राजा के योग-बल से इसमें त्रिपाद-विभूति का प्रवेश हो रहा है। अतः, 'बर' कहा है। अथवा राजा की आराधना से श्रीजानकीजी के साथ ही साकेत के बाग आदि भी प्रादुर्भूत हुए हैं।

'जहँ बसंत रितु······'—वसन्त शब्द पुँल्लिंग है, पर ऋतु शब्द स्त्रीलिंग है, उसके योग से 'रही लुभाई' क्रिया स्त्रीलिंग दी गई है। यों तो ('ऋतु' शब्दरहित) 'बसंत' को गोस्वामीजी ने पुँल्लिंग ही लिखा है; यथा—"देखहु तात बसंत सुहावा।" (आ० दो० ३१)। यह भी भाव है कि यहाँ श्रीकिशोरीजी आया करती हैं। अतः, वसन्त भी सखी-भाव से स्त्री-वेष धारण करके रह गया जिससे यहाँ रहने पावे और सखी-समाज के साथ आनंद-भागी बने।

'रही लुभाई'—इस बाग की शोभा अलौकिक है। देखते ही वसंत लुभाकर स्त्री-वेष भी धारण करके रह गया अर्थात् यहाँ सदा वसन्त की शोभा रहती है। यद्यपि अभी शरद ऋतु है, तो भी इसमें वसंत से कहीं अधिक शोभा है। वसंत-शोभा आ० दो० ३६-४० देखिये।

(३) 'लागे बिटप मनोहर···'—इसमें 'नाना' दीपदेहली है। बेलें जब वृक्षों पर फैलती हैं तब वितान की तरह तन जाती हैं। यहाँ 'नाना' बिटप के साथ नाना बरन के चँदोवे के आकार बने हैं, जैसे चम्पा पर विष्णुक्रान्ता, चाँदनी पर इश्कपेंच, आम्र आदि पर कुंदलता और तमाल पर हेमयूथिका, इत्यादि। यहाँ शृंगार रस का प्राधान्य है, शृंगार के उत्कर्ष पर नायिका नायक पर प्रबल रहती है, वैसे ही यहाँ बेलि-रूपा नायिकाएँ बिटप रूपी नायकों पर लिपट गई हैं। 'बर' विशेषण दिया गया है, क्योंकि इनके नीचे दिव्य चरित होनेवाले हैं।

(४) 'नव पल्लव फल-सुमन···'—'नव' विशेषण तीनों का है। यों तो प्रत्येक वृक्ष में तीनों (पल्लव, फल, फूल) सुंदर हैं। पर उपवनों में पल्लवों, बागों में फलों और वाटिकाओं (फुलवारियों) में फूलों की प्रधानता रहती है। इस तरह बाग में तीनों का होना सूचित किया। यथा—"सुमन-वाटिका बाग बन,···फूलत फलत सुपल्लवत, सोहत पुर चहुँपास॥" (दो० २१२)। इसमें यथासंख्य अलंकार से क्रमशः तीनों के तीनों ऐश्वर्य कहे गये हैं। वैसे ही यहाँ भी तीनों हैं।

'भूप बाग बर'—बाग, 'परम रम्य आराम'—उपवन, यथा—"आराम उपवन कृत्रिम इत्यमरः" और—"करत प्रकास फिरति फुलवाई।"—फुलवारी है।

'निज संपति सुररूख लजाये।'—वृक्ष त्रय-संपत्ति भी कहे जाते हैं अर्थात् पत्ते, फूल और फल ही इनकी तीन सम्पत्तियाँ हैं। इन सम्पत्तियों से इन्होंने कल्पतरु को लज्जित कर दिया है। ग्रंथकार शब्द-ध्वनि से यह भी जना रहे हैं, रूख का अर्थ सूखा भी होता है। अतः इनकी त्रयसम्पत्ति की शोभा के सामने कल्पवृक्ष सूखे काठ की तरह नीरस है, क्योंकि इनके नीचे आज परम रसीला रहस्य होनेवाला है, जो ध्यान

करनेवालों को चारों फलों से कहीं अधिक फल देता है। 'लजाये' अर्थात् इसी से कल्पतरु भाग कर स्वर्ग में जा छिपा।

श्रीरामजी और श्रीजानकीजी के श्रीअवध और मिथिलाजी में प्रादुर्भाव के साथ ही त्रिपाद-विभूति साकेत के वन-बागादि भी प्रादुर्भूत होते हैं। अतः इनके आगे कल्पवृक्ष आदि का लज्जित होना स्वाभाविक ही है।

चातक कोकिल कीर चकोरा। कूजत बिहग नटत कल मोरा ॥६॥
मध्य बाग सर सोह सुहावा। मनिसोपान बिचित्र बनावा ॥७॥
बिमल सलिल सरसिज बहुरंगा। जलखग कूजत गुंजत भृंगा ॥८॥

दोहा—बाग तड़ाग बिलोकि प्रभु, हरषे बंधुसमेत।
परम रम्य आराम यह, जो रामहिं सुख देत ॥२२७॥

चहुँ दिसि चितइ पूछि मालीगन। लगे लेन दल फूल मुदित मन ॥१॥

अर्थ—चातक, कोयल, तोते और चकोर आदि पक्षी बोल रहे हैं और सुन्दर मोर नाच रहे हैं ॥६॥ बाग के बीच में सुहावना तालाब शोभा दे रहा है। उसकी सीढ़ियाँ मणियों की हैं, उनकी रचना विचित्र है ॥७॥ जल निर्मल है, बहुत रंगों के कमल हैं, जलपक्षी कूजते हैं और भौंरे गुंजार कर रहे हैं ॥८॥ बाग और तालाब को देखकर प्रभु भाई के साथ प्रसन्न हुए। यह बाग (उपवन) परम रमणीक है, जो श्रीरामजी को सुख देता है ॥२२७॥ (श्रीरामजी) चारों ओर देखकर और मालियों से पूछकर प्रसन्न मन से दल-फूल लेने लगे ॥१॥

विशेष—(१) 'चातक कोकिल कीर चकोरा।''''—वन-बाग आदि की शोभा के वर्णन में इन पक्षियों का भी वर्णन होता है। यथा—"चक चकोर चातक सुक पिक गन। कूजत मंजु मराल मुदित मन॥ अलिगन गावत नाचत मोरा। जनु सुराज मंगल चहुँ ओरा॥" (अ० दो० २३५)। इनमें यहाँ पाँच ही पक्षियों के नाम कहे गये हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि और पक्षी यहाँ हैं ही नहीं। हैं तो बहुत—"बिपुल बिहंगनिवास" (दो० ११२) पूर्व कहा गया है, पर यहाँ शृंगार रस कहेंगे, उसमें प्रथम उद्दीपन विभाव कह रहे हैं। ये पाँचो पक्षी रसग्राही हैं। अतः, इन्हें शृंगार का उद्दीपक समझकर लिखा है। साथ ही बाग, सर, कमल, जल, पक्षी और भ्रमर आदि के वर्णन से उद्दीपित शृंगार रस हुआ। वही कहते हैं—"जो रामहि सुख देत।"

कोयल-कीर वसन्त में, मोर वर्षा में, चातक वर्षा और शरद् में तथा चकोर शरद् ऋतु में आनन्द माननेवाले हैं। इनमें यह शरद् का समय ही है, वसन्त लुभाकर ही रह गया है। रही वर्षा, वह इस तरह है—पुराने वृक्षों के हरे-श्याम सघन पत्ते काली घटा, श्वेत पुष्पों के गुच्छे बगलों की पाँत, पीले पुष्प-समूह बिजली, लाल-पीले और हरे पुष्पों की कतार इन्द्रधनुष, लता-कुंजों में पवन के प्रवेश से शब्दों का होना मेघ-गर्जन और पुष्परस का टपकना जलवृष्टि की भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं, इससे मोर भी आनंदित होकर नाचते हैं।

पूर्व कहा गया—'भूप बाग बर' उसका अर्थ श्रेष्ठ राज-बाग भी होता है; अर्थात् यह बाग

अन्य मार्गों का श्रेष्ठ--राजा है। राजा के साज भी यहाँ हैं, जैसे विटप ही भट हैं; कदली-ताल ध्वजा-पताका हैं, बेलें वितान (शामियाने) हैं, फूल नानारंग चीर; हाथी, घोड़े और नाव के साज पत्ती हैं। प्रमाण—"विटप बिसाल लता अरुझानो ।'''" से—"चतुरंगिनी सेन सँग लीन्हे ।" (आ० दो० ३७) तक देखिये ।

यह भी कहा जाता है कि पाँच प्रकार के भक्त ही यहाँ पक्षि-वेष में अपने भावों को प्रकट कर रहे हैं--अर्थार्थी—चातक, जिज्ञासु—कोकिल, ज्ञानी—कीर, आर्त—चकोर और प्रेमी-मोर हैं, यथा--"खेलिबे को खग मृग तरु किंकर है रावरो राम हौं रहिहौं ।" (वि० २११) ।

(२) 'मध्य बाग सर सोह'''—यहाँ 'बाग-सर' और 'सोह सुहावा' एक साथ एवं क्रम से लिखकर इनका अन्योन्य सापेक्षत्व दिखाया, क्योंकि बाग बिना सर के और सर बिना बाग के नहीं शोभित होते। सर स्वयं 'सुहावा' है, बाग के साहचर्य से अधिक सोहता है।

'मनि सोपान बिचित्र बनावा'—रंग-बिरंग की मणियों की सीढ़ियाँ और उनमें बेल-बूटा आदि बने हैं, जैसे कि श्वेत मणि का थाला, नील मणि की डालें, हरित मणि के पत्ते, पीत मणि के फूल और लाल मणि के फल बने हैं—यह विचित्रता है। पुनः सीढ़ियों पर वृक्ष-लता, पुष्प आदि और जल का आभास पड़ता है। जल में भी लता-वृक्षों और सीढ़ियों के आभास पड़ते हैं, अतः जल में स्थल और स्थल में जल की प्रतीति विचित्रता है। यथा—"जल जुत बिमल सलिल झलकत नभ बन प्रतिबिंब तरंग। मानहुँ जगरचना बिचित्र बिलसति बिराट अंग-अंग ।।" (गी० अ०) ।

(३) 'बहुरंगा'—यह कमल, जलपक्षी और भृंग में भी लग सकता है। अतः, कमल बहुत रंगों के हैं। पक्षी भी बहुत रंगों के हैं। यहाँ 'जल-खग' कहकर उपर्युक्त चातक आदि को स्थल के पक्षी सूचित किया। भ्रमर जल और स्थल दोनों जगहों के एक ही होते हैं। इससे ये स्थल के पक्षियों के साथ नहीं लिखे गये। भ्रमर जिस रंग के कमल की धूल में लोटता है, उसी रंग का हो जाता है। अतः, ये भी बहुत रंगों के हैं।

(४) 'परम रम्य आराम यह, जो रामहिं सुख देत ।'—श्रीरामजी स्वयं आनंद-सिंधु, सुख-राशि एवं सुखधाम (दो० १९६) हैं, उनको भी सुख दे रहा है, इसीसे 'परम रम्य' कहा गया है। 'हरषे'—भूतकाल, 'सुख देत'—वर्तमान और आगे यहीं पर सीताजी की शोभा देखकर सुख पावेंगे। अतः, श्रीरामजी को निरंतर सुखदायक है, यह जनाया है।

(५) 'चहुँ दिसि चितइ पूछि'''—प्रथम चारों ओर देखा कि कहाँ-कहाँ किस-किस प्रकार के अच्छे-अच्छे फूल हैं। फिर मालीगण से पूछा, क्योंकि बिना पूछे फल फूल भी लेने का शास्त्र में निषेध है, पुनः पूछकर लेना नीति का पालन एवं सभ्यता भी है।

यहाँ पूछना एवं चारों ओर देखना फाटक के पास ही है, मालीगण फाटक के बाहर से चारों ओर के प्रबंध करते हैं। भीतर उनकी स्त्रियाँ ही रहती हैं, क्योंकि इस वाटिका में श्रीसीताजी आती हैं। रामजी मालियों के एक मुखिया से पूछने लगे। इनके रूप को देखकर बहुत-से आ गये, अतः मालीगण से पूछना कहा गया है।

शृंगार-दृष्टि से यह भी अर्थ किया जाता है कि मा-आली-गण अर्थात् लक्ष्मी के तुल्य सखीगण, जो वाटिका के प्रबंध में नियुक्त हैं, उनसे पूछा।

'लगे लेन दल फूल'''—प्रसन्न मन से दल-फूल लेने लगे, क्योंकि यहाँ उत्तम पुष्प हैं; अतः, गुरुजी प्रसन्न होंगे। 'दल' प्रथम कहा गया, क्योंकि पूजा में यह मुख्य है। दल से यहाँ तुलसी-दल ग्राह्य है। कोई चाहें तो और पत्ते का भी अर्थ ले सकते हैं। ग्रंथकार ने सब मतों की रक्षा करते हुए

'दल' मात्र ही लिखा है। कोई-कोई शंका करते हैं कि फूल स्नान से पहले ही उतारा जाता है, यहाँ श्रीरामजी स्नान के पीछे क्यों गये ? समाधान यह है कि अपनी पूजा के विषय में यह बात है। यहाँ तो गुरुजी के लिये फूल लेने आये हैं। फिर 'दल' भी उतारना है, यह तो स्नान करके ही उतारना चाहिये। अन्यथा दोष लगता है। यथा--"अस्नात्वा तुलसीं छित्त्वा यः पूजां कुरुते नरः। सोऽपराधी भवेन्नित्यं तत्सर्वं निष्फलं भवेत्।" (पुरोहितदर्पण)। यहाँ 'दल' शब्द प्रथम देकर मुख्य कहा गया है, अतः शंका नहीं है।

शृंगार-दृष्टि—लक्ष्मी के तुल्य सखीगण से संकेत के अनुसार पूछा, तब जाना कि अभी श्रीकिशोरीजी की अवाई होगी, तब प्रसन्न मन से दल-फूल लेने लगे। 'लगे' शब्द विलम्ब-सूचक है, जिससे तब तक वे आ जायँ। 'मुदित मन' अर्थात् पहले आते नहीं देखा तो कुछ विमन हो गये थे, जब आना सुना तो मुदित हो गये।

सम्बंध—दोनों भाइयों की कथा यहाँ तक कहकर तथा इन्हें दल-फूल लेने में लगाकर दूसरा प्रसंग कहते हैं—

तेहि अवसर सीता तहँ आई। गिरिजापूजन जननि पठाई ॥२॥
संग सखी सब सुभग सयानी। गावहिं गीत मनोहर बानी ॥३॥
सरसमीप गिरिजागृह सोहा। बरनि न जाइ देखि मन मोहा ॥४॥
मज्जन करि सर सखिन्ह समेता। गई मुदितमन गौरिनिकेता ॥५॥
पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा। निज अनुरूप सुभग बर माँगा ॥६॥

अर्थ—उसी समय श्रीसीताजी वहाँ आईं, माता ने उनको गिरिजाजी की पूजा करने के लिये भेजा था ॥२॥ साथ की सब सखियाँ सुन्दरी और सयानी हैं, वे मनोहर वाणी से गीत गा रही हैं ॥३॥ तालाब के पास गिरिजाजी का मंदिर शोभित है; उसका वर्णन नहीं हो सकता, देखकर मन मुग्ध हो जाता है ॥४॥ (सीताजी) सखियों के सहित तालाब में स्नान करके प्रसन्न मन से गौरीजी के मंदिर में गईं ॥५॥ बड़े अनुराग से पूजा की और अपने योग्य सुंदर वर माँगा ॥६॥

विशेष—(१) 'तेहि अवसर सीता ...'—यहाँ 'सीता' यह मुख्य नाम दिया गया, क्योंकि एक तो चरित-सम्बंध में प्रथम यही नाम आया है, फिर जानकी आदि और नामों में उर्मिला आदि का भी भ्रम होता। यह भाव भी ध्वनित है कि किशोरीजी पिता की प्रतिज्ञा से संतप्त हैं। यहाँ के रहस्य एवं गिरिजाजी के आशीर्वाद से शीतल होंगी तथा पूर्व के संकेत से अनुराग-पूर्वक आये हुए राजकुमार को दर्शन देकर शीतल करेंगी।

'तेहि अवसर'—जिस समय श्रीरामजी फूल उतारने आये, उसी समय श्रीजानकीजी भी विधि के संयोग से गिरिजा-पूजन के लिये आ गईं। यथा—"सखिन सहित तेहि औसर बिधि के सँयोग गिरिजाजू पूजिबे को जानकीजी आई हैं।" (गी० बा० ६१); पुनः जैसे श्रीरामजी संकेत के अनुसार आये, वैसे इधर से श्रीजानकीजी भी आईं।

'गिरिजा पूजन जननि ...'—माता ने इसलिये भेजा कि कल प्रतिज्ञा का अंतिम दिन है। अतः, भगवती का पूजन करके अपने अनुरूप वर माँग आओ। यही आगे हुआ भी—"निज अनुरूप सुभग बर माँगा।" कहा है। जिस कन्या के विवाह में कठिनता होती है, उससे देवी का पूजन कराने की रीति थी, फिर इसमें तो शिवजी का ही धनुष था। अतः, शिव-पत्नी की कृपा से बहुत कुछ आशा थी।

आगे कहा है—"पुनि आउब येहि बिरियाँ काली।" इससे यह भी निश्चित होता है कि इसी

समय प्रायः आया करती थीं। उधर गुरु की आज्ञा से और इधर माता की आज्ञा से आना समान है। उधर संग 'अनुज' और इधर संग 'सखी' हैं।

शंका—इस समय तो भवानी का सती नाम था, क्योंकि रामजी के इसी अवतार के अगले वन-चरित में भ्रम होना है, फिर गिरिजा नाम क्यों दिया गया?

समाधान—गोस्वामीजी ने प्रथम ही लिख दिया है कि—"कोउ सुनि संसय करइ जनि, सुर अनादि जिय जानि।" (दो० १००); श्रीजानकीजी कुँआरी हैं। अतः, देवी के 'गिरिजा, गौरि' नाम दिये जाते हैं, जब श्रीरामजी को हृदय में बसाकर आवेंगी, तब 'भवानी' 'अर्थात् भव-पत्नी नाम देंगे।

(२) 'संग सखी सब सुभग ···'—साथ में सखियाँ ही हैं। अत, वाटिका किले के भीतर ही है, नहीं तो संग में सुभट कहते, क्योंकि इस समय देश-देश के राजा यहाँ पड़े हैं। सब सखियाँ 'सुभग' अर्थात् शरीर से सुन्दरी हैं। 'सयानी' अर्थात् बुद्धि से चतुर हैं। अतः, भीतर-बाहर की शोभा से पूर्ण हैं, यथा—"चतुर सखी सुंदर सकल, सादर चलीं लिवाय।" (दो० २४६), "संग सखी सुंदर चतुर, गावहिं मंगलचार।" (दो० २६३)।

'गावहिं गीत मनोहर बानी।'—गिरिजा पूजन के अनुकूल गीत गा रही हैं। 'मनोहर' शब्द को दीपदेहली रूप में लें तो यह भी अर्थ होगा कि ऐसे मनोहर गीत गाती हैं कि जिसमें वाणी (सरस्वती) का भी मन हर जाय। सरस्वती गाने में प्रसिद्ध हैं—"गावहिं जनु बहु बेष भारती।" (दो० ३४४)

(३) 'सर समीप गिरिजा-गृह सोहा।······'—प्रायः जलाशयों के समीप मंदिर भी रहते हैं। यथा—"तीर-तीर देवन्ह के मंदिर।" (उ० दो० २८); "दीख जाइ उपवन बर, सर बिगसित बहु कंज। मंदिर एक रुचिर तहँ, बैठि नारि तप-पुंज॥" (कि० दो० २४)। वैसे यहाँ भी सर के पास गिरिजा-मंदिर है। प्रायः प्राचीन काल के उपवनों में दो भाग होते थे। दोनों के बीच में तालाब होते थे। वैसे ही इस बाग में भी था। जिस 'बाग-तड़ाग' का प्रथम वर्णन हो आया, वह एक भाग का सर है और यह दूसरे भाग का। इसमें तट पर गिरिजा-मंदिर भी है, जिसका वर्णन यहाँ किया गया, पर सर की शोभा नहीं कही, क्योंकि पूर्व बाग-तड़ाग-वर्णन में जो शोभा कही गई, वही यहाँ भी है। उपवन के दोनों सर प्रायः एक समान ही होते हैं। वर्तमान काल में भी गिरिजा-सर और बाग-तड़ाग—ये दो सर प्रायः दो सौ गज के अंतर पर हैं। ये जनकपुर के पास प्रसिद्ध हैं। आगे भी—"एक सखी सिय-संग बिहाई। गई रही देखन फुलवाई॥" "चली अग्र करि प्रिय सखि सोई।" "कंकन किंकिनि नूपुर-धुनि सुनि।" कहा है, जिससे उस सर का कुछ दूर होना जान पड़ता है।

यदि किसी तरह एक ही सर माना भी जाय तो जहाँ राजकुमार हैं, वहाँ पर-पुरुष के समीप में सखियों के साथ श्रीजानकीजी का स्नान किया जाना भी ठीक नहीं जान पड़ता।

'बरनि न जाइ देखि मन मोहा'—मन मोहित ही हो जाता तो उसके बिना वाणी कुछ कह ही नहीं सकती। यहाँ का वर्णन वक्ताओं की ओर से है। याज्ञवल्क्यजी वहाँ के राजा जनक के गुरु ही थे। यथा—"यथाः स्वय कुलगुरुः किल याज्ञवल्क्यः······।" (प्रसन्न १।११); भुशुंडीजी और शिवजी ने देखा ही है। रहे गोस्वामीजी, इन्हें गुरुकृपा से सूझा है, यथा—"सूझहिं राम-चरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥" (दो० १)।

(४) 'मज्जन करि सर······'—सखियों के साथ पूजन के लिये मंदिर में भी जायँगी, इसलिये साथ ही सब ने स्नान किया। स्नान के दस गुणों में मन का प्रसन्न होना भी एक है। देवी के पूजन के उत्साह से भी प्रसन्नता है और 'मुदित मन' से मंदिर में जाना शकुन भी है, मनोरथ पूरा होगा।

(५) 'पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा।······'—पूजन की सामग्री में प्रेम ही मुख्य है, यथा—"मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा।" (उ० दो० ६१)। अतः, नित्य ही प्रेम से पूजा करती थीं, पर आज माता ने 'निज अनुरूप बर माँगना' भी कहा है और प्रतिज्ञा का अंतिम दिन भी है। इसलिये अधिक अनुराग से पूजन किया गया।

'बर माँगा'—वर मन-ही-मन माँगा गया, क्योंकि साथ में सखियाँ हैं, आगे भी—"मोर मनोरथ जानहु नीके।" कहा है। गिरिजा ने अभी वर दिया नहीं, क्योंकि उन्हें नारद-वचन भी सत्य कर दिखाना है। आगे जब श्रीरामजी में इनका मन रँग जायगा और फिर स्तुति करने आवेंगी, तब गिरिजाजी वर देंगी—"नारद-बचन सदा सुचि साँचा। सोइ बर मिलिहि···।" (दो० २३५)।

एक सखी सिय-संग बिहाई। गई रही देखन फुलवाई ॥७॥
तेहि दोउ बंधु बिलोके जाई। प्रेमबिबस सीता पहिं आई ॥८॥

दोहा—तासु दसा देखी सखिन्ह, पुलक गात जल नैन।
कहु कारन निज हरष कर, पूछहिं सब मृदु बैन ॥२२८॥

अर्थ—एक सखी श्रीसीताजी का साथ छोड़कर फुलवारी देखने गई थी ॥७॥ उसने जाकर दोनों भाइयों को देखा, प्रेम के विशेष वश (विह्वल) होकर सीताजी के पास आई ॥८॥ सखियों ने उसकी दशा देखी कि शरीर पुलकित हो गया है और नेत्रों में जल भरा है। सब कोमल वाणी से पूछती हैं कि अपने हर्ष का कारण कहो ॥२२८॥

विशेष—(१) 'एक सखी सिय संग··'—श्रीगोस्वामीजी ने किसी सखी का नाम नहीं दिया; इससे कोई उस सखी का नाम 'गिरिजा' बतलाते हैं और कोई 'सुशीला।' यथा—"वैदेही वाटिका नित्यमगमत्सन्निरीक्षितुम्। नियुक्ता सीतया तत्र सुशीला शीलभूषिणी॥" (अगस्त्य सं० अ० ३८); किन्तु 'एक सखी' का अर्थ है मुख्य सखी, श्रीजानकीजी की सखियों में श्रीचन्द्रकलाजी मुख्य एवं महायूथेश्वरी हैं। अतः, इनका होना विशेष संगत है, क्योंकि आगे इन्हीं को—"चली अग्र करि प्रिय सखि सोई।" कहा भी है।

'गई रही देखन फुलवाई।'—पूर्व सखियों को 'सयानी' कहा गया था। यहाँ उनका सयानपन दिखाते हैं। वह स्नान साथ में करके श्रीसीताजी को मंदिर में पहुँचा स्वयं फुलवारी देखने गई कि जिधर फूल-फल आदि की शोभा विशेष हो, उसी तरफ राजकिशोरीजी को दिखाने ले चलूँ अथवा सयानी है। नारद-वचन का स्मरण कर फुलवारी में देखने गई। उन्होंने कह रक्खा था कि श्रीसीताजी के भावी पति के दर्शन पुष्प-वाटिका में होंगे। अब प्रतिज्ञा का एक ही दिन रहा है। संभवतः कहीं आये हों। आगे के दोहे में स्पष्ट है।

(२) 'प्रेम-बिबस सीता पहिं आई।'—यद्यपि विह्वल हो गई थी, फिर भी वह परम सयानी है। अतः धैर्य धरकर किसी तरह श्रीसीताजी तक पहुँच ही गई। इसलिये कि वे अपूर्व कुमार हैं, इनके दर्शन स्वामिनीजी को करावें, ये विशेष कर उन्हींके दृष्टिगोचर होने योग्य हैं।

(३) 'तासु दसा देखी सखिन्ह···'—यहाँ पर हर्ष की पहचान में केवल 'पुलक गात' और

'जल नैन' कहे गये हैं। ये दोनों प्रायः दुःख में ही होते हैं—सुख में कहीं-कहीं। यथा—"सकल सखी गिरिजा गिरि मैना। पुलक सरीर भरे जल नैना॥" (दो॰ ६७)। इसमें दोनों ही लक्षण गिरिजा में हर्ष के और सब में दुःख के कहे गये हैं। यहाँ इन सखियों ने हर्ष ही के लक्षण कैसे जाने? इसका उत्तर यह है कि दुःख में करुणा रस की प्रधानता से आँसू उष्ण और पुलक में त्वचा सिकुड़ी हुई रहती है एवं विषाद के भी चिह्न होते हैं। हर्ष में अद्भुत रस की प्रधानता से आँसू शीतल, पुलक में त्वचा का फूलना और नेत्र एवं मुख में विकास आदि हर्ष के चिह्न भी होते हैं। इन लक्षणों से जाना कि यह शृंगार रस के अंतर्गत अद्भुत रस की विह्वलता है।

'पूछहिं सब मृदु बैन' विह्वल होने से उसकी बोलती भी बंद है। अतः, एक के पूछने पर न बोली तो क्रमशः सब ने पूछा। 'मृदु'—क्योंकि (क) उसके मन का भेद लेना है। (ख) उसकी दशा देखकर सब प्रेम में भर गईं। अतः, वचन मृदु हो गये हैं। (ग) वह नवीं दशा को पहुँच गई है, कठोर वचनों से हृदय पर आघात पहुँचाने से दसवीं दशा को न प्राप्त हो जाय! (घ) श्रीसीताजी समीप ही गौरी के ध्यान में हैं, विघ्न न हो वा वे कहीं इसे देखकर स्वयं विह्वल न हो जायँ!

देखन बाग कुँअर दुइ आये। बयकिसोर सब भाँति सुहाये॥१॥
स्याम गौर किमि कहउँ बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥२॥
सुनि हरषीं सब सखी सयानी। सियहिय अति उतकंठा जानी॥३॥

अर्थ—दो कुँवर बाग देखने आये हैं, उनकी अवस्था किशोर है और वे सब प्रकार सुहावने हैं॥१॥ एक श्याम और दूसरे गोरे हैं, मैं उनका बखान कैसे करूँ? क्योंकि वाणी बिना नेत्र की है (अर्थात् उसने देखा नहीं कि वैसा ही कह दे) और नेत्र बिना वाणी के हैं (नहीं तो जैसा देखा है, कह देते)॥२॥ यह सुनकर और श्रीसीताजी के हृदय की अत्यन्त उत्कंठा (लालसा) जानकर सभी सयानी सखियाँ हर्षित हुईं॥३॥

विशेष—(१) 'देखन बाग कुँअर …'—इसने बाग में फिरते हुए देखा था। अतः, 'देखन बाग' कहा। फूल उतारना नहीं कहा; क्योंकि सयानी है, अतः समझा कि ऐसा कहने से किशोरीजी दोनों कुमारों को माली के लड़के समझेंगी तो उत्कंठित न होंगी। अतः, उत्कंठा बढ़ाने के लिये 'देखन बाग' मात्र कहा। 'कुँअर' शब्द राजकुमारों के लिये प्रयुक्त होता है। ये बाग-वाटिका देखने जाते ही हैं, यथा—"गये रहे देखन फुलवाई।" (दो॰ २१७)। "सुंदर उपवन देखन गये।" (उ॰ दो॰ ३१)।

'बय किसोर सब भाँति…'—जब तक राजकुमारों को राजगद्दी न मिले तब तक कुँवर कहे जाते हैं। संभवतः अधिक अवस्था के हों, तो देखने में संकोच होगा। अतः, देखने के योग्य 'बय किसोर' भी कहा। पुनः 'सब भाँति सुहाये' से सम्पूर्ण उत्तम राज-लक्षणों से सम्पन्न कहा। यथा—"सदैव प्रियदर्शनः॥ स च सर्व गुणोपेतः कौसल्यानंदवर्द्धनः।" (वाल्मी॰ १।१।१६-१७)। शुभ रीति से श्रीसीताजी के योग्य कहा, क्योंकि वे भी—"सर्वलक्षणसम्पन्ना" (वाल्मी॰ १।१।२७) हैं।

(२) 'गिरा अनयन …'—जो आँख से देखा जाता है, वह वाणी से भी कहा जाता है, यदि वाणी के अपने नेत्र हों, तब भी यही कहा जायगा। फिर ऐसा क्यों कहा गया? इसका उत्तर यह है कि श्रीरामजी के रूप-गुण अकथ्य हैं, यथा—"राम सरूप तुम्हार, बचन अगोचर …" (अ॰ दो॰ १२६)। अतः, उसके न कहने की एक युक्ति है कि यदि मैं कुछ अंश भी कहने लगूँगी और उधर राजकुमार चले गये तो सारा

प्रयास ही व्यर्थ हो जायगा। अतः, रंग और अवस्था मात्र कह दी, शेष 'सब भाँति सुहाये' और 'गिरा अनयन'''' से समाप्त कर दिया। भाव यह कि वे साक्षात् देखने ही के योग्य हैं। उत्कंठा बढ़ाने की यह उत्तम रीति है, यथा—"प्रभु शोभा सुख जानइ नयना। किमि कहि सकहिं तिन्हहिं नहि बयना॥" (उ० दो० ८७)। "या पश्यति न सा ब्रूते या ब्रूते सा न पश्यति।" (देवीभागवत) तथा—"नैनन को नहि बैन बैन को नैन नहीं हैं॥" (नंददासकृत–रासपंचाध्यायी)।

(३) 'सुनि हरषीं सब सखी''''—सब हर्षित हुईं, क्योंकि सब ने लालसा से पूछा था—'पूछहि सब मृदु बैन'। सखी की उत्तम युक्ति और श्रीसीता के हृदय की उत्कंठा को जानने से हर्ष हुआ। इसीसे सब 'सयानी' कही गई हैं। आगे भी सयानपना करती हैं। वे आपस में ही राजकुमार की चर्चा करती हैं। जानती हैं कि राजकिशोरीजी से कहने में उन्हें संकोच होगा। 'सिय-हिय अति उत्कंठा'—उत्कंठा तो सब को है, पर श्रीराजकिशोरीजी को अत्यंत है।

एक कहइ नृपसुत तेइ आली। सुने जे मुनि-सँग आये काली॥४॥
जिन्ह निज रूपमोहनी डारी। कीन्हे स्वबस नगर-नर-नारी॥५॥
बरनत छबि जहँ तहँ सब लोगू। अवसि देखियहि देखन जोगू॥६॥

शब्दार्थ—आली = सखी। काली = कल। मोहनी डाली = जादू डाला। स्वबस = अपने वश।

अर्थ—एक सखी कहने लगी कि हे सखी! ये वे ही राजकुमार हैं, सुना है कि जो मुनि के साथ कल आये हैं॥४॥ जिन्होंने अपने रूप की मोहिनी डालकर नगर के स्त्री-पुरुषों को अपने वश में कर लिया है॥५॥ जहाँ-तहाँ सभी लोग उनकी छवि का वर्णन करते हैं, उन्हें अवश्य चलकर देखना चाहिये, क्योंकि वे देखने ही योग्य हैं॥६॥

विशेष—(१) 'नृपसुत''' मुनिसँग''''—राजपुत्र कहकर गौरव प्रकट किया। 'मुनि-सँग' से शांतरसयुक्त एवं सदाचारी सूचित करती है। साथ ही मुनि के यज्ञ की रक्षा एवं अहल्या-उद्धार के प्रसंग के स्मरण से बली और प्रतापी भी कहा तथा परम तेजस्वी एवं त्रिकालज्ञ महर्षि का सहायक होना भी जनाया, जिससे धनुर्भंग की भी सम्भावना समझी जाय। यथा"—तीनि काल कर ज्ञान कौसिकहिं कर तल। सो कि स्वयंबर आनिहि बालक बिनु बल।" (जानकीमंगल)

(२) 'जिन्ह निज रूपमोहनी''''—वशीकरण मंत्र द्वारा मोहिनी डाली जाती है। यहाँ रूप ही मंत्र है, दर्शन देना मोहिनी डालना है। 'नगर नरनारी' बड़े (नागर) चतुर होते हैं, शीघ्र नहीं मोहते, फिर भी इन कुमारों ने सब को वश में कर लिया। अतः, मोहने में बड़े समर्थ हैं। 'स्वबस'—सब के मन इन्हीं में लग गये, जैसे इस सखी की दशा हुई, वैसी ही दशा बहुतों की हुई। 'नरनारी' मात्र को वश किया अर्थात् जिन्हें देखना उचित है और जिन्हें नहीं, सभी ने देखा और मुग्ध हुए।

(३) 'बरनत छबि जहँ तहँ''''—जहाँ देखो, वहीं लोग उनकी ही छवि का वर्णन करते हैं। श्लिष्ट रीति से 'जहँ तहँ' के कई भाव हैं—(क) जहाँ जिस अंग पर जिसकी दृष्टि पड़ी, वह वहीं की (उसी अंग की) छवि देखता रह गया, उसीको कहता भी है, अर्थात् सर्वांग की छवि तो कोई कह ही नहीं सकता। (ख) जहाँ उनकी छवि कोई कहता है, वहीं सब लोग एकत्र हो जाते हैं। (ग) पतिव्रताओं को पर-पुरुष की छवि नहीं कहनी चाहिये, वे भी कहती हैं। (घ) सब छवि ही कहते रह जाते हैं, शील आदि गुण कहने का अवसर ही नहीं मिलता।

'अवसि देखिअहिं देखन जोगू।'—यहाँ तक सुनी हुई बातें कहीं। अब देखने की सम्मति भी देती है कि वे देखने योग्य हैं, और यहाँ देखने का योग (अवसर) भी है कि हमारे ही बाग में हैं। उनके साथ भी प्रौढ़ अवस्था का कोई नहीं है। पुन: नगर के सभी ने देखा है, तो हमलोगों को भी देखना योग्य है। 'जोगू' अर्थात् नारदजी की भविष्यवाणी भी इनमें घट रही है। अतः, देखना योग्य है।

तासु बचन अति सियहि सोहाने। दरस लागि लोचन अकुलाने॥७॥
चलीं अग्र करि प्रिय सखि सोई। प्रीति पुरातन लखइ न कोई॥८॥

दोहा—सुमिरि सीय नारद-बचन, उपजी प्रीति पुनीत।
चकित बिलोकति सकल दिसि, जनु सिसुमृगी सभीत॥२२९॥

अर्थ—उसके वचन श्रीसीताजी को अत्यन्त प्रिय लगे, दर्शनों के लिये नेत्र व्याकुल हो गये॥७॥ उसी प्रिय सखी को आगे करके चलीं, उनकी पुरानी प्रीति कोई लक्ष्य नहीं कर पाता॥८॥ श्रीनारदजी के वचनों के स्मरण से पवित्र प्रीति उत्पन्न हुई, चकित होकर वे सब दिशाओं में इस तरह देखती हैं, जैसे डरी हुई बच्ची हरिणी इधर-उधर देखे॥२२९॥

विशेष—(१) 'तासु बचन अति सियहि…'—यों तो इस चतुर सखी की बात सब को पसंद आई, पर किशोरीजी को अधिक जँची; क्योंकि इन्हें अत्यन्त उत्कंठा थी। 'तासु'—क्योंकि औरों ने शोभा आदि ही कही थीं, पर देखने को नहीं कहा था। इसने वैसा योग लगा दिया। 'लोचन अकुलाने'—कि कहीं चले न जायँ। आगे—'जनु सिसु मृगी सभीत' से भी यही डर है कि चले तो नहीं गये। कानों और मन को प्रशंसा सुनने से सुख हुआ, पर नेत्र देखने के लिये अकुला रहे हैं। जब सखी ने योग निश्चय कर दिया, तब दर्शनों के लिये नेत्र विकल हो गये। इसके पूर्व मर्यादा में बँधे थे।

(२) 'चली अग्र करि प्रिय…'—'सोई'—जो पहले देख आई है, उसी को। 'प्रिय'—जो सेवक अतिशय भानेवाले पदार्थ का स्वयं न भोग कर प्रभु ही को अर्पित करता है, वह स्वामी का प्रिय होता है और वही अग्रगण्य भी होता है। यह सखी स्वामी से मिलानेवाली है। अतः, प्रिय है। सखी को आगे इसलिये भी कर लिया कि किशोरीजी की पुरानी प्रीति और अत्यन्त उत्सुकता को कोई लख न सके, किन्तु यह समझे कि सखी ही लिवाये जा रही है। 'प्रीति पुरातन'—इन युगल सरकार का संयोग नित्य है। लीला के अनुरोध से नर-नाट्य में क्षणकालीन ही वियोग है। अतः, पुरानी प्रीति उमड़ पड़ी है। साकेत के रंग-महल में एक साथ विराजते थे, वही 'पुरातन प्रीति' है।

(३) 'सुमिरि सीय नारद-बचन…'—लोक दृष्टि से धनुष के बिना टूटे किसी में प्रीति का होना 'अपुनीत' है। इससे परकीयत्व दोष आता है। उसी के निराकरण के लिये यहाँ नारदजी के वचन कहते हैं कि जैसे नारदजी के वचन थे, उन्हीं के अनुकूल प्रीति उत्पन्न हुई, अतएव 'पुनीत' है। इससे जान पड़ता है कि पहले ही कभी नारदजी ने कह रक्खा था कि पुष्पवाटिका में पति के प्रथम दर्शन होंगे, पीछे ब्याह होगा। इसके मिलान से जब श्रीसीताजी को निश्चय हो गया, तब प्रीति उपजी। अतः, पुनीत है। इस नवीन प्रीति को सब ने लख लिया जो 'चकित बिलोकति' से प्रकट है।

नारदजी के वचन क्या थे हैं, यह अनुमान पर निर्भर है। कोई कहते हैं कि मुनि ने यही गिरिजा-

पूजन के समय आकर सखियों के सामने ही किशोरीजी के प्रणाम करने पर कहा था और कोई राजमहल में राजा-रानी के समक्ष में कहा जाना कहते हैं। श्रीसीताजी का नामकरण भी नारदजी ने ही किया है।

(४) 'चकित बिलोकति सकल'''—'चकित'—क्योंकि शंका है कि राजकिशोर चले गये क्या ? यह प्रीति सखियाँ न लख लें। पुनः यद्यपि हृदय में नारद-वचन से उपपति की शंका नहीं है, तथापि पिता का प्रण अभी शेष है। अतः, लोक-लाज की शंका से भी चकित हैं कि कोई देखता तो नहीं। 'सकल दिसि'—सखियों से छिपाने के लिये राजकिशोर की दिशाओं से भिन्न दिशाओं की ओर भी देखती हैं। 'जनु सिसु मृगी सभीत'—डरी हुई मृगछौनी की चारों ओर 'चितवनि' की तरह श्रीसीताजी की दृष्टि विलक्षण सौन्दर्य से भरी और भोरी है। मृग-छौनी को बाधक जीवों और बधिकों का भय रहता है; वैसे ही इन्हें पिता के प्रण का, माता का, सखियों के लखने का और राजकिशोरों की छटा में फँस जाने का है। इससे चौंक-चौंक कर देखती हैं।

शिक्षा भी है कि उपासना को ऐसा ही गुप्त रखना चाहिये कि भेदी ही चाहें तो जान सकें।

कंकन - किंकिनि - नूपुर-धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि ॥१॥

मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्वबिजय कहँ कीन्ही ॥२॥

अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा। सियमुख-ससि भये नयन चकोरा ॥३॥

भये बिलोचन चारु अचंचल। मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल ॥४॥

शब्दार्थ—गुनि = विचार कर। मनसा = इच्छा। सन = से। अचंचल = स्थिर। दृगंचल = पलक।

अर्थ—कंकण, किंकिणी और नूपुर के शब्द सुनकर श्रीरामजी हृदय में विचार करके श्रीलक्ष्मणजी से कहते हैं ॥१॥ (हे लक्ष्मण ! यह ध्वनि तो ऐसी हो रही है कि) मानों कामदेव ने संसार को जीतने की इच्छा करके डंका बजाया है ॥२॥ ऐसा कहकर फिर उसी ओर देखने लगे (तब) सीताजी के मुखचन्द्र पर श्रीरामजी के नेत्र चकोर की भाँति लग गये ॥३॥ सुन्दर नेत्र ऐसे स्थिर (एकटक) हो गये कि मानों राजा निमि ने सकुचकर पलकों (पर के निवास) को छोड़ दिया ॥४॥

विशेष—(१) 'कंकन-किंकिनि-नूपुर-धुनि'''—इन तीन भूषणों में शब्द होता है, हाथ हिलने पर कंकण, कटि हिलने पर किंकिणी और पग उठाकर रखने पर नूपुरों का शब्द गंभीर होता है। यथा—"कंकन किंकिनि नूपुर बाजहिं। चाल बिलोकि कामगज लाजहिं ॥" (दो० ३१७)। इन शब्दों को सुनते ही हृदय क्षुब्ध हुआ। आगे ऊपरी लक्षणों से भी दशा प्रकट हो जायगी। प्रभु शुद्धहृदय हैं। अतः, लक्ष्मणजी से कहते हैं। यह काम-कला लक्ष्मणजी पर प्रभाव नहीं डाल सकी; क्योंकि इनका अवतार ही काम को जीतने के लिये है। मेघनाद काम-रूप है, यथा—"पाकारिजित काम विश्रामहारी।" (वि० ५८)। उसको ये मारनेवाले हैं। इस विषय में लक्ष्मणजी की प्रशंसा अन्यत्र भी की है। यथा—"देखि गयेउ भ्राता सहित, तासु दूत सुनि बात। डेरा कीन्हेउ मनहुँ तब, कटक हटकि मन-जात ॥" (आ० दो० ३७)।

लोक-मर्यादा की दृष्टि से छोटे भाई के प्रति अपने हृदय की अचानक दशा और उसकी सफाई

देना आवश्यक है, अन्यथा उनपर बुरा प्रभाव पड़ सकता है कि किसी भी पर-स्त्री पर दृष्टि डालने में दोष नहीं है। हमारे बड़े यदि ऐसा करते हैं तो हमारे लिये क्या दोष ?

(२) 'मानहुँ मदन दुंदुभी……'—रामजी अपने हृदय को मर्यादा की सीमा समझते थे, पर आज उक्त ध्वनि से रस का उद्दीपन समझकर स्वयं उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानों कामदेव आज विश्व-विजय का संकल्प करके चला है और उक्त ध्वनि-रूप में डंका बजाया है। "आपनीती जगबीती" कहावत है। यहाँ विश्व से तात्पर्य अपने पर है कि काम मानों हमें जीतना चाहता है। काम का परम बल स्त्री ही है, यथा—"जेहि के एक परम बल नारी। तेहि ते उवर सुभट सोइ भारी॥" (आ० दो० ३७)। कंकण आदि ताल-स्वर से मानों काम के नगाड़े बजते हैं। यथा—"मंजीर नूपुर कलित कंकन ताल गति पर बाजहीं॥" (दो० ३२१)। डंके के तीन शब्द होते हैं—'कुड़क-कुड़क धुम'। इनमें कंकण और किंकिणी के शब्द मधुर हैं, नूपुर का शब्द धुम है।

काम आज श्रीकिशोरीजी का बल पाकर परम प्रबल है। अत', वह तीनो लोकों में अजेय है।

ऐश्वर्य-दृष्टि से रामजी ही विश्व रूप हैं। यथा—"विश्वरूप रघुबंसमनि" (लं० दो० १४)। अतः, आप प्रथम ही हृदय से हार रहे हैं।

(३) 'अस कहि फिरि चितये ……'—यहाँ श्रीकिशोरी का मुख एकरस है। अतः, चंद्रमा के समान कहा है और इधर श्रीरामजी में सात्विक भाव हो आया। अतः, चकोर की तरह आसक्त हो गये और एकटक देखते रह गये। यथा—"भये मगन देखत मुख-सोभा। जनु चकोर पूरन ससि लोभा॥" (दो० २०६)। 'तेहि ओरा'—जिधर से ध्वनि सुनी थी। 'सियमुख ससि…… नयन चकोरा'—इसमें सांगरूपक अलंकार है।

श्रीरामजी के मन, वचन, कर्म तीनों में क्षोभ हुआ—'हृदय गुनि'—मन, 'अस कहि फिरि चितये'—कर्म और—'कहत लखन सन…'—वचन।

(४) 'भये बिलोचन चारु……'—अचंचल (स्थिर, एकटक) होने पर नेत्रों की शोभा नहीं रहती, पर श्रीरामजी के नेत्र अब भी चारु अर्थात् सुन्दर हैं। टकटकी की उत्प्रेक्षा करते हैं, मानों निमि चले गये। पुनः जिन्होंने अपनी छवि से नगर-भर के नर-नारियों को मोह लिया था, वे ही श्रीसीताजी की छवि से कैसे मुग्ध हो गये ? कोई विशेष कारण होगा, वह कारण उत्प्रेक्षा के रूप में कहते हैं कि निमि ही चले गये तो निमेष कैसे हो ?

निमि—राजा इक्ष्वाकु की बारहवीं पीढ़ी में निमि राजा हुए। गौतम मुनि के आश्रम के पास वैजयन्त नाम नगर में रहते थे। इन्होंने पुरोहित वसिष्ठजी को यज्ञ के लिये वरण किया। वसिष्ठजी ने कहा कि मैं इन्द्र के यहाँ यज्ञ में वरण किया जा चुका हूँ, वहाँ से आकर तुम्हारा यज्ञ कराऊँगा। वसिष्ठजी के चले जाने पर महाराज निमि गौतम को पुरोहित बनाकर यज्ञ करने लगे। पाँच हजार वर्षों तक निमि ने यज्ञ किया। इन्द्र का यज्ञ समाप्त होने पर वसिष्ठजी आये और अपने स्थान पर गौतम को देखकर उन्हें बड़ा क्रोध हुआ। थोड़ी देर निमि से मिलने की प्रतीक्षा की, पर उस समय निमि गाढ़ी नींद में सो रहे थे। वसिष्ठजी ने शाप दिया कि तुमने हमारा अपमान किया। अत', तुम्हारा यह शरीर न रहे। जागने पर निमि ने भी उन्हें शाप दिया कि तुम्हारा भी यह शरीर न रहे। दोनों के शाप सत्य हो हुए। दोनो ही देहरहित हो गये। प्रथम वसिष्ठ ने ब्रह्माजी से दूसरा शरीर माँगा (यह कथा दो० ७ चौ० ३ में दी गई है)। इधर निमि की यज्ञ-समाप्ति पर महर्षि भृगु और देवता लोगों ने प्रसन्न होकर इन्हें सचेतन बनाना

चाहा, पर निमि की चेतना बोली कि मैं सब प्राणियों के नेत्रों पर रहना चाहती हूँ। देवताओं ने मान लिया। तब से निमि सबकी पलकों पर वायु-रूप से रहने लगे। इसीसे पलकों का नाम निमेष हुआ। पुनः इनका शरीर मथा गया, उससे जो पुरुष हुआ उसका नाम मिथि, विदेह एवं जनक हुआ। तब से उस नगर का नाम मिथिला हुआ। उस गद्दी के राजा मिथिलेश, जनक और विदेह कहाने लगे। (वाल्मी० ॥५५)। फिर इस वंश के पुरोहित गौतम मुनि ही हुए। उनके बाद उनके पुत्र शतानंदजी हुए। तभी से यह वंश रघुकुल से पृथक् हुआ और गोत्र भी दूसरा हुआ, इसीसे श्रीरामजी और श्रीसीताजी का व्याह हुआ।

राजा निमि ने यहाँ अपने कुल की कन्या से दृष्टि का सम्बंध जानकर लज्जा से हट जाना ठीक समझा, क्योंकि अपनी संतानों का शृंगार-कौतूहल देखना मना है। श्रीरामजी का शरीर चिदानंदमय है। इनकी पलकों पर निमि का वास नहीं है, यहाँ केवल एकटक नेत्र के लिये उत्प्रेक्षा-मात्र है।

देखि सीयसोभा सुख पावा। हृदय सराहत बचन न आवा ॥५॥
जनु बिरंचि सब निज निपुनाई। बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि देखाई ॥६॥
सुंदरता कहँ सुंदर करई। छबिगृह दीपसिखा जनु बरई ॥७॥
सब उपमा कबि रहे जुठारी। केहि पटतरउँ बिदेह-कुमारी ॥८॥

दोहा—सियसोभा हिय बरनि प्रभु, आपनि दसा बिचारि।
बोले सुचि मन अनुज सन, बचन समय अनुहारि ॥२३०॥

अर्थ—श्रीरामजी ने श्रीसीताजी की शोभा देखकर सुख पाया। वे हृदय में सराहते हैं, मुख से वचन नहीं निकलते ॥५॥ मानों ब्रह्माजी ने अपनी सारी कारीगरी से रचकर संसार के सामने प्रत्यक्ष करके दिखाया है ॥६॥ (यह श्रीसीताजी की शोभा) मूर्तिमान् सुन्दरता को भी सुन्दर करती है, मानों छवि रूपी मंदिर में दीपक की लौ जलती हो ॥७॥ कवि लोगों ने सब उपमाओं को जूठी कर डाला है, इससे विदेहकुमारी श्रीजानकीजी को किससे पटतर (उपमा) दूँ? ॥८॥ हृदय में श्रीसीताजी की शोभा कहकर और अपनी दशा विचार कर प्रभु पवित्र मन से समयानुसार वचन भाई लक्ष्मण से बोले ॥२३०॥

विशेष—(१) 'देखि सीय-सोभा सुख······'—वे जिस सुख की खोज में थे, वह पा गये। ऐसे मुग्ध हो गये कि हृदय में ही सराहते हैं, बोलती बंद हो गई, तब वह सुख दूसरा कैसे कहे? यथा—"उर अनुभवति न कहि सक सोऊ। कवन प्रकार कहइ कबि कोऊ॥" (दो० २११)। शृंगार-रस की दृष्टि से यह भी अर्थ है कि शोभा-रूपी बाण ('सर') से हृदय ('आहत') घायल हो गया, इससे बोलती बंद हो गई।

(२) 'जनु बिरंचि सब निज······'—श्रीजानकीजी स्वयं प्रकट हुई हैं, ब्रह्माजी की बनाई हुई नहीं हैं, यहाँ केवल सौंदर्य-कथन के लिये उत्प्रेक्षा-मात्र है। यथा—"जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहि स्यामल बर रचेउ बिचारी॥" (दो० २२२)। उत्प्रेक्षा यथार्थ नहीं होती। 'बिरचि बिस्व कहँ ··· ···' यथा—"सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन, यथाप्रदेशं विनिवेशितेन। सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकाथसौन्दर्य-दिदृक्षयेव॥" (कुमारसंभव—सर्ग १)।

(३) सुंदरता कहँ सुंदर ''' '—यहाँ सखियाँ छवि गृह हैं, उनके मध्य में किशोरीजी दीप-शिखा की तरह उन सबको भी प्रकाशित करती हैं। वे सभी सुन्दरता की मूर्ति हैं, तो भी आपके प्रकाश से अधिक सुशोभित हो रहो हैं यथा—"सोहति बनिता बृंद महँ, सहज सुहावनि सीय। छवि ललनागन मध्य जनु, सुषमा तिय कमनीय॥" (दो० १२२), "सखिन्ह मध्य सिय सोहति कैसे। छवि गन मध्य महा छवि जैसे॥" (दो० २१२)। इसी प्रकार महाकवि कालिदास ने भी इन्दुमती को उपमा दीप शिखा से दी है—"संचारिणी दीपशिखेव रात्रि" (रघुवंश)।

(४) 'सब उपमा कवि रहे ' '—कवियों ने प्राय सब उपमाओं को प्राकृत, अतएव तुच्छ नारियों में लगा-लगाकर जूठी कर दिया। यथा चदवरदाई ने 'रासो' में सयुक्ता के वर्णन में तथा जायसी ने 'पद्मावत' में पद्मिनी के वर्णन में कोई उपमा उठा नहीं रक्खो। अत, वे उपमाएँ विदेह-कुमारी (अयोनिजा) के योग्य नहीं रहीं। यथा—"उपमा सकल मोहिं लघु लागी। प्राकृत नारि अग अनुरागी॥" (दो० २४६)। जब उन उपमाओं से समता के योग्य नहीं कहने लगे, तब बड़ा नाम 'बिदेह-कुमारी' कहा और जहाँ वर्णन करना कहा—'सिय-सोभा हिय बरनि ''। वहाँ 'सिय' यह छोटा-सा मधुर नाम दिया। भाव यह कि मैंने इनकी किंचित् शोभा की छटा का दिग्दर्शन कराया है। शब्दों का उचित प्रयोग प्रशसनीय है।

(५) 'सिय-सोभा हिय बरनि '''-इस शोभा वर्णन का उपक्रम-"हृदय सराहत बचन न आवा।" से हुआ और यहाँ—"सिय सोभा हिय बरनि" पर उपसंहार है। इसके भीतर—"जनु बिरचि सब ' " से " बिदेहकुमारी।" तक का वर्णन शोभामय रत्न है। उपक्रम नीचे का डब्बा है। वह छोटा होता है, वैसे यह चौपाई भी छोटी है। ऊपर का डब्बा (ढकना) बडा होता है, वैसे ही उपसंहार का दोहा भी बड़ा है। इस तरह यह रत्न डब्बे में रक्खा गया है।

'प्रभु'—क्योंकि अपने हृदय पर अब भी अधिकार है, इसीसे मीमांसा कर रहे हैं। 'आपनि दसा बिचारि'—वर्णन तो हृदय में ही हुआ, पर स्वरभग, स्वेद, स्तम, कप, रोमाच, विवर्णता, अश्रुपात और प्रलय (मूर्च्छा) सात्त्विकानुभाव की आठो दशाएँ देह में प्रकट होने लगी हैं। प्रभु अपनी इस दशा का विचार करके बोले, क्योंकि आप पवित्र मनवाले हैं। शुचि अर्थात् छलरहित मन, यथा—"राम कहा सब कौसिक पाहीं। सरल सुभाय छुआ छल नाहीं॥" (दो० २११)। 'सुचि मन' की व्याख्या आगे—'रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। ' से करेंगे। 'समय अनुहारी'—इस समय श्रीजानकीजी पास में हैं। अत, उन्हा के विषय की वार्ता समय के अनुसार है। 'आपनि दसा बिचारि' में श्रीरामजी की धर्म-परायणता और सदाचार की दृढता गर्भित है। आगे दशा को प्रकट करते हैं—

तात जनक-तनया यह सोई। धनुषजग्य जेहि कारन होई॥१॥
पूजन गौरि सखीं लै आई। करत प्रकास फिरइ फुलवाई॥२॥
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा॥३॥
सो सबु कारन जान बिधाता। फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता॥४॥

अर्थ—हे तात! यह वही जनकजी की कन्या है, जिसके लिये धनुष-यज्ञ हो रहा है॥१॥ गौरी पूजने के लिये इसे सखियाँ ले आई हैं। (यही) फुलवारी को प्रकाशित करती हुई घूम रही है॥२॥ जिसकी अलौकिक (अनूठी) शोभा को देखकर मेरा स्वाभाविक पवित्र मन क्षोभित (चलायमान) हो गया॥३॥ इन सब कारणों को तो विधाता जाने, पर हे भाई! सुनो, मेरे शुभदायक दाहिने अग फड़कते हैं॥४॥

विशेष—(१) 'तात जनकतनया यह···'—'सोई'—परिचित की तरह कह रहे हैं। इसपर रामचंद्रिका में केशव कवि का कथन घटित होता है। उन्होंने कहा है कि विश्वामित्र के निमंत्रण-पत्र के साथ श्रीजानकीजी के सहित यज्ञशाला का चित्र भी था। श्रीरामजी लक्ष्मणजी को उसीका स्मरण करा रहे हैं अथवा अलौकिक शोभा ही इन्हें अयोनिजा होने का अभिज्ञान करा रही है। इतना तो प्रसिद्ध ही था कि कन्या अयोनिजा और लोकोत्तर सुन्दरी है।

यह श्रीरामजी का कथन सदाचार और मर्यादा की दृष्टि से कैसा उत्तम है! इस समय श्रीसीताजी लोकोत्तर सुन्दरी होती हुई भी एक बाह्य वस्तु, सुन्दर चित्र एवं पुष्प आदि की तरह हैं, श्रीरामजी के पवित्र हृदय में उनकी शोभा का ही आभास प्रकट है, प्रेम-जनित भाव अप्रकट ही है।

'धनुषजज्ञ जेहि कारन ···' अर्थात् इनकी प्राप्ति में धनुर्भंग ही मात्र साधन है।

(२) 'पूजन गौरि सखी लै आई'—राजकुमारी बालिका हैं; अतएव सखियों का ले आना कहा तथा इससे मर्यादा और गौरव भी जनाया। 'प्रकास'—पूर्व दीपशिखा की उपमा दी थी, उसी के अनुरूप यहाँ प्रकाश करना कहा गया।

(३) 'जासु बिलोकि अलौकिक···'—इस कन्या में लोकोत्तर शोभा है। लौकिक स्त्री में मेरा मन, जो स्वाभाविक पवित्र है, क्षुब्ध नहीं हो पाता, अर्थात् इनकी प्राप्ति की इच्छा हुई। 'मोर मन'—यहाँ खड़े लक्ष्मणजी भी हैं, पर मन रामजी का ही क्षुब्ध हुआ है। इससे भी कुछ अनादिकालीन आत्मिक संबंध मालूम होता है।

(४) 'सो सब कारन जान बिधाता!'—प्रत्येक घटना किन्हीं कारणों से होती है, उनमें कर्म मुख्य है। फिर इसी के अनुरूप काल और स्वभाव भी होते हैं, इन सबकी व्यवस्था ब्रह्मा ही जानते हैं, यथा—"कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फलदाता॥" (अ० दो० २८१) अर्थात् मेरे मन के क्षुब्ध होने के और सब कारण ब्रह्मा जानें। एक कारण तो इसकी अलौकिक शोभा ही मुझे प्रत्यक्ष है। 'सुभद अंग फरकहिं'—से प्रकृति भी कुछ दाहिने कंधे, भुजा आदि के फड़कने से मानों वाम अंग को भूषित होने की सूचना देती है। (श्रीरामजी का तन प्राकृत नहीं है, यह कथन माधुर्य-लीला-रूप में है) फड़कने का भाव यह है कि दोनों अंग बराबर हैं तो एक को भारी लाभ जानकर दूसरा तड़फड़ाता है।

रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मन कुपंथ पग धरइ न काऊ॥५॥
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहु परनारि न हेरी॥६॥
जिन्ह कै लहहिं न रिपु रन पीठी। नहिं लावहिं परतिय मन डीठी॥७॥
मंगन लहहिं न जिन्ह कै नाहीं। ते नरबर थोरे जग माहीं॥८॥

दोहा—करत बतकही अनुज सन, मन सियरूप लुभान।
मुख - सरोज - मकरंद-छबि, करइ मधुप इव पान॥२३१॥

अर्थ—रघुवंशियों का जन्म ही से यह स्वभाव होता है कि उनका मन कभी भी बुरे मार्ग पर पैर नहीं रखता (या वे मन से भी कभी बुरे मार्ग पर पाँव नहीं देते)।५॥ मेरा तो अपने मन पर अत्यन्त

विश्वास है कि उसने स्वप्न में भी कभी पराई स्त्री को नहीं देखा ॥६॥ लड़ाई में शत्रु लोग जिनकी पीठ नहीं पाते, अर्थात् सम्मुख लड़ते हैं, भागते नहीं और जो परस्त्री पर मन और दृष्टि नहीं लगाते अर्थात् धीर होते हैं ॥७॥ जिनके यहाँ माँगनेवाले कभी 'नाहीं' नहीं पाते अर्थात् खाली हाथ नहीं लौटते, ऐसे श्रेष्ठ पुरुष जगत् में थोड़े हैं ॥८॥ छोटे भाई से वार्ता कर रहे हैं, (पर) मन सीताजी के रूप में लुभाया हुआ है। वह मुख-कमल के छवि रूप मकरंद (रस) को भौंरे की तरह पी रहा है ॥२३१॥

विशेष—(१) 'रघुबंसिन्ह कर···'—यहाँ 'रघुबंसिन्ह' से लक्षणा-द्वारा केवल अपने कुल—रघु से लेकर श्रीरामजी तक—का तात्पर्य है। मन के पैर नहीं होते, उसका चलायमान होना ही चलना है। परस्त्री पर दृष्टि देना कुपंथ है। 'काऊ'=कभी भी, जन्म से लेकर मरण-पर्यन्त भी।

(२) 'मोहि अतिसय प्रतीति ··'। भाव यह कि और तो जाग्रत में ही सावधान रहते हैं, पर मेरी अपने मन पर अत्यंत प्रतीति है कि उसने स्वप्न में भी पर-स्त्री की ओर नहीं देखा। यथा—"न रामः परदारान्स चक्षुर्भ्यामपि पश्यति ॥" (वाल्मी० २।७२।४८); तथा—"कुतोऽभिलषणं स्त्रीणां परेषां धर्मनाशनम्। तव नास्ति मनुष्येन्द्र न चाभूत्ते कदाचन ॥ मनसापि तथा राम न चैतद्विद्यते क्वचित्। स्वदारनिरतश्चैव नित्यमेव नृपात्मज ॥" (वाल्मी० ३।९।५-६)। (इस रीति से श्रीजानकीजी को अपनी ही शक्ति जनाया।) नहीं तो मेरा मन और नेत्र उधर न जाते। अपना उत्कर्ष कहना अनुचित है, पर यहाँ वंश के प्रभाव से कहा है।

पूर्व कहा गया कि लक्ष्मण से अपने हृदय की सफाई देना भी माधुर्य दृष्टि से आवश्यक है, उसी दृष्टि में यह आत्म-प्रशंसा भी है कि जिससे अनुयायियों को सच्चरित्रता का ज्ञान हो। यह भी सत्य है, कि आत्मज्ञान, स्वत्वाभिमान और इन्द्रियदमन मनुष्य को महान् शक्तिशाली बना देते हैं।

(३) 'नहिं लावहिं परतिय मन डीठी'—प्रथम दृष्टि जाती है, तब मन भी जाता है, यथा—"जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा ॥" कहा गया है।

'ते नरबर थोरे जग माहीं'- ग्राम, नगर, देश आदि की कौन कहे; ऐसे मनुष्य जगत्-भर में भी थोड़े ही होंगे।

'जिन्ह के···डीठी'—यथा—"सर्वदा सर्वदोऽसीति मिथ्या संस्तूयते जनैः। नारयो लेभिरे पृष्ठं न वक्षः परयोषितः ॥" (भोजप्रबंध)।

यहाँ तीनों वर्णों के धर्म भी कहे गये हैं—'जिन्ह कै लहहिं न रिपु···' में क्षात्र धर्म, कि वे शत्रु के प्रति क्रोध करें, पीठ न दें। 'नहिं लावहिं परतिय मन डीठी।' में ब्राह्मण धर्म कि इन्हें इन्द्रियजित् (कामजित्) होना चाहिये। 'मंगन लहहिं न···' में वैश्य धर्म, इनके लिये लोभ जीतना प्रधान है, यथा—"सोचिय बैस कृपिन धनवानू।" (अ० दो० १७२)। ये तीनों बातें सब में चाहिये, पर उक्त रीति से एक-एक गुण उनमें प्रधान रहेगा। यहाँ वक्ता श्रीरामजी क्षत्रिय हैं। इसलिये क्षात्र धर्म को प्रथम कहा है। पुनः—'नहिं लावहिं परतिय मन डीठी' का यहाँ मुख्य प्रसंग है, इसलिये मध्य में लिखकर इसे भी प्रधानता दी। ये तीनों गुण दुर्लभ हैं, यथा—"नारि-नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा ॥ लोभ-पास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया ॥ यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ-कोई ॥" (कि० दो० २०)।

यहाँ रण में पीठ न देने में कर्म, पर-स्त्री से बचाव में मन और दान में 'नाहीं' न करने में वचन की श्रेष्ठता कही गई। पुनः रण में पीठ न देने का साधन पर-स्त्री से बचना है और उसका साधन दान-शीलता आदि पुण्य हैं जिनसे मन पवित्र रहकर कुमार्ग से बचता है।

(४) 'करत बतकही अनुज'''—यह उपसंहार है। इसका उपक्रम—"बोले सुचि मन अनुज सन'''" पर है। यहाँ भी—'करत बतकही'—वचन, 'मन सिय-रूप लुभान'—मन और 'मुख-सरोज मकरंद'' पान' कर्म है। 'मन सिय-रूप लुभान'—पूर्व कहा गया—"सिय-मुख ससि भये नयन चकोरा।" चकोर चन्द्रमा में लुभाया रहता है, यथा—"जनु चकोर पूरन ससि लोभा।" (दो० २०६) वैसे श्रीरामजी का मन लुभाया हुआ है। यह रात का दृष्टान्त हुआ। पुनः उत्तरार्द्ध में दिन का दृष्टान्त कहते हैं। कमल दिन में खिला रहता है। अर्थात् श्रीरामजी का मन श्रीजानकीजी में भौंरे और चकोर की भाँति दिन-रात लुभाया रहता है।

भ्रमर मकरंद-पान के समय चुप रहता है, फिर कमल के आस-पास गूँजता है; वैसे ही श्रीरामजी श्रीसीताजी की मुख-छवि को निहारते हैं, तब मौन हो जाते हैं, फिर लक्ष्मणजी से बातें करने लगते हैं।

श्रीरामजी ने प्रथम अधर देखने में तर्क किया, जब सब कारणों पर दृष्टि दी, और शुभ अंगों के फड़कने से उनमें स्वकीयत्व का निश्चय हुआ, तब निःशंक मुख-छवि देखने लगे।

यहाँ श्रीरामजी की पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के सुख प्रकट हुए, यथा—'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।'—श्रवण का; 'सियमुख ससि भये नयन चकोरा।' नेत्र का; 'बोले सुचि मन'—जिह्वा का—इन तीन के सुख प्रकट में कहे गये, शेष दो स्पर्श और गंध के सुख इस दोहे के—'मधुप इव पान' से गुप्त रीति से कहे गये; क्योंकि भौंरा कमल को स्पर्श करता है और उसकी सुगंधि भी सूँघता है। अतः, त्वचा और नासा के सुख भी आ गये। वे दोनों अभी स्थूल रूप में अयोग्य हैं।

श्रीरामजी श्रीलक्ष्मणजी से वार्ता करते हैं, पर वे बोले ही नहीं, क्योंकि बड़े भाई में इनके प्रेम, सहानुभूति और सम्मान के भाव हैं। इसीसे उनके विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहा। बड़े भाई पर इनका पूर्ण विश्वास है। प्रभु की बातें सुनते भर हैं, पर इनकी तो प्रभु के बराबर दृष्टि भी नहीं पड़ती। यह छोटे भाई का शील अपूर्व है! 'बतकही' पर पूर्वोक्त दो० ८ चौ० २ भी देखिये।

चितवति चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गये नृपकिसोर मन चिंता ॥१॥
जहँ बिलोक मृग-सावक-नैनी। जनु तहँ बरिस कमल-सित-श्रेनी ॥२॥
लता-ओट तब सखिन्ह लखाये। स्यामल गौर किसोर सुहाये ॥३॥
देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने ॥४॥
थके नयन रघुपति-छबि देखे। पलकन्हिहू परिहरीं निमेखे ॥५॥

शब्दार्थ—मृग-सावक = हिरन का बच्चा। बरिस = वर्षा होती है। सित = श्वेत। श्रेनी (श्रेणी) = पंक्ति। लखाये = इशारे से दिखाया। निमेखे = पलक पड़ना, पलक मारना।

अर्थ—श्रीसीताजी चारों दिशाओं में चौकन्नी होकर देखती हैं, राजकिशोर कहाँ चले गये? यह मन में चिन्ता है ॥१॥ बाल-मृग-नयनी श्रीसीताजी जहाँ देखती हैं, वहीं मानों श्वेत कमलों की पंक्ति बरस जाती है ॥२॥ तब सखियों ने सुहावने श्याम-गौर किशोर अवस्थावाले कुमारों को लता की ओट में दिखलाया ॥३॥ उनके ललचाये हुए नेत्र रूप को देखकर प्रसन्न हुए (वा नेत्र ललचाये और प्रसन्न हुए) मानों उन्होंने अपनी निधि (खजाना) को पहचान लिया ॥४॥ रघुनाथजी की छवि देखकर नेत्र थक गये (स्थगित रह गये) और पलकों ने भी निमेष मारना छोड़ दिया अर्थात् टकटकी लग गई!

विशेष—(१) 'चितवत चकित चहूँ...'—श्रीसीताजी का प्रसंग प्रथम—"चकित बिलोकति सकल दिसि, जनु सिसु मृगी सभीत ॥" (दो० २२९) पर छोड़ा था, वहीं से मिलाकर फिर उसे उठाते हैं। अतः,—'चितवति चकित...' कहा है। पूर्व कहा था—'सकल दिसि', वही यहाँ 'चहूँ दिसि' कहकर स्पष्ट कर दिया। वहाँ 'सिसु मृगी' कहा था, यहाँ—'मृग-सावक-नयनी' कहा। वहाँ 'सभीत' कहा था, यहाँ 'चिंता' से सूचित किया। चिंता यही है कि राजकिशोर चले तो नहीं गये। पाठान्तर 'मनचीता' भी है, इसका अर्थ होगा कि जिन्हें मन ने चुन लिया था, वरण किया था जो—'उपजी प्रीति पुनीत' पर कहा गया था। 'नृपकिसोर' कहकर स्वाधीनता एवं चंचलता सूचित की, क्योंकि राजपुत्र स्वतंत्र होते हैं और किशोर अवस्था में चंचलता रहती है। अतः, चले तो नहीं गये।

(२) 'जहँ बिलोक मृगसावक...'—श्रीसीताजी की 'चितवनि' स्वच्छ है, इसलिये श्वेत कमलों की श्रेणी का बरसना कहा गया है। जिधर ये देखती हैं, उधर ही सखियों का समूह देखने लगता है, इस तरह कमल-श्रेणी का बरसना युक्त है। विद्यापति भी कहते हैं—"जहँ-जहँ नयन प्रकासे। तहँ-तहँ कमल बिकासे।" (पदावली)

शंका—नेत्रों की सुन्दरता, श्यामता और अरुणता में कही जाती है, यहाँ श्वेत रंग में किसलिये कही गई ?

समाधान—(क) श्वेत नेत्र अमृतमय प्रीति-भाव में, श्याम नेत्र विषमय वैर-भाव में और लाल नेत्र मदमय मध्यस्थ भाव में मोहकता के लिये कहे जाते हैं। यथा—"अमी हलाहल मद भरे, श्वेत श्याम रतनार। जियत मरत झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत यक बार ॥"—(रसलीन)। इस दोहे में तीनों गुणों की दृष्टि से तीन प्रकार की 'चितवनि' कही गई है। यहाँ श्रीजानकीजी की 'चितवनि' सात्त्विक और प्रीतिमय है, इसलिये उसका रंग श्वेत कहा है। (ख) श्रीसीताजी की 'चितवनि' पवित्र, और निर्मल है। अतः, श्वेत कमल की उपमा दी गई है। बरसना इससे कहा है कि दार्शनिक दृष्टि से ज्योति भी परमाणुओं का ही समूह है। ऐसा महर्षि कणाद ने अपने वैशेषिक दर्शन में निरूपित किया है। चकित 'चितवनि' है। अत', लगातार दृष्टि हो रही है। नेत्र रूप सरोवर से निकले हुए विमल 'चितवनि' रूपी श्वेत कमलों की पंक्ति बरस जाती है। कवि की यह कल्पना विलक्षण है! (ग) राजकिशोरीजी अभी स्नान करके सखियों समेत पूजा में थीं, इससे सात्त्विक ही शृंगार किया है, जिससे नेत्र में काजल नहीं है। कजरारे नेत्रों की उपमा श्याम सरोज (नीलकमल) से दी जाती है। यथा—"रूप-रासि जेहि ओर सुभाय निहारइ। नील-कमल-सर-श्रेनि मयन जनु डारइ ॥" (जानकीमंगल ४२)। (घ) शृंगार-रस की दृष्टि में श्वेत नेत्र खटकेंगे अवश्य, पर इनका भी इसमें ही गौरव है। इस तरह कि यहाँ शोभा-समर का भी प्रसंग है। नेत्रों की दृष्टि ही बाण-वृष्टि है, कजरारे नेत्रों की दृष्टि अनी-सहित बाण है और बिना शृंगार के नेत्रों की दृष्टि बिना फरके (थोथे) बाण हैं। राजकिशोरीजी ने प्रतिपक्षी पर दया करके थोथे ही तीर चलाये हैं। वे इसीसे कैद कर लिये गये, यथा—"चली राखि उर श्यामल मूरति ॥" (दो० २३४); तो फिर पैने बाणों की आवश्यकता ही नहीं रही। यथा—"गुड़ सों जो मरे ताहि माहुर न दीजिये"—कहावत प्रसिद्ध है।

(३) 'लता-ओट तब सखिन्ह...'—सब सखियों की एक साथ ही दृष्टि पड़ी। अत', सब ने एक साथ ही इशारे से दिखाया कि ये—'स्यामल गौर...' हैं। जो विशेषण पूर्व देखनेवाली सखी ने कहे थे, वे ही यहाँ भी कहके लखाये गये—"बय किसोर सब भाँति सुहाये। स्याम गौर..." (दो० २२८)। 'लता ओट'—'ओट' शब्द तीन जगह आया है, १—'लता ओट...' (यहाँ)। २—"प्रभु देखहिं तरु ओट

लुकाई।" (आ० दो० ६)—यह सुतीक्ष्ण मुनि के यहाँ है। ३—"बिटप-ओट देखहिं रघुराई।" (कि० दो० ७); —यह सुग्रीव-वालि के युद्ध-प्रसंग में है। इनमें १—में शृंगार रस का प्रसंग है। अतः, 'लता' स्त्रीवाचक नाम है, क्योंकि इस रस में स्त्री की प्रधानता है २—में शांत रस का प्रसंग है, इसलिये 'तरु' नाम है, तरु अर्थात् तारनेवाला—शांत रस का नाम है। ३—में वीर रस का प्रसंग है, इसलिये 'बिटप' नाम है। यह पुरुषवाचक है, क्योंकि वीरत्व पुरुषों में होता है। रस के अनुकूल शब्दों का प्रयोग सराहनीय है। 'लखाये'—इशारे से ही, क्योंकि राजकिशोर पास ही हैं।

(४) 'देखि रूप लोचन ललचाने' ।'''—(क) जब तक रूप नहीं देख पड़ता तब तक उसके लिये लालच रहता है; यथा—"पितु दरसन लालच मन माहीं।" (दो० २०१); पर देखने पर ललचाना कैसा ? अतः, अवरेव से अर्थ होगा—'ललचाने लोचन रूप देखि हरषे' अर्थात् जो नेत्र पूर्व से ललचे थे, यथा—"दरस लागि लोचन अकुलाने।" (दो० २२८); वे रूप देखकर हर्षित हुए। (ख) रूप को देखकर नेत्र ललचे, भाव यह कि जितना देखा, उतना सुना न था, पुनः रामजी का रूप ही ऐसा है कि जितना ही देखो, चाह बढ़ती ही रहती है—तृप्ति नहीं होती, यथा—"चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सत-रूपा॥" (दो० १४७)। उनकी तो इतनी लालसा बढ़ी कि सदा के लिये देखने का लालच हुआ, तब पुत्र-रूप होने का वर माँगा कि जिससे सदा देखा ही करें।

'जनु निज निधि पहिचाने'—श्याम विग्रह सबके नेत्रों की निधि ही हैं, इन्हीं की श्यामता का अल्पांश पुतली-रूप से नेत्रों में प्राप्त है, जिससे प्रकाश होता है। अतएव रामजी लोचनों की 'निज निधि' हैं। 'जनु'—श्रीकिशोरीजी का रूप भी चिदानन्दमय ही है, श्रीरामरूप से अभिन्न तत्त्व है। लीलानुरोध से औरों की तरह कहते हुए 'जनु' कहा गया है। वास्तव में श्रीजानकीजी से क्षणमात्र भी श्रीरामजी का पार्थक्य (भिन्नता) नहीं है।

यह भी भाव है कि यह रूप श्रीजानकीजी की 'निज निधि' कहा गया। इनकी ही कृपा से यह रूप किसी को भी प्राप्त होता है। अगस्त्य-संहिता के 'जानकीस्तवराज' में कहा है कि शिवजी ने रामरूप-प्राप्ति के लिये तप करके वर माँगा तो श्रीरामजी ने कहा कि यदि मेरा रूप चाहते हैं तो श्रीजानकीजी को प्रसन्न करके उनसे भी माँगो, तभी पाओगे, वैसा ही करके शिवजी ने पाया। 'पहिचाने'—इससे पूर्व का परिचय सिद्ध होता है। संभवतः नारदजी ने लक्षण भी कहे होंगे।

(५) 'थके नयन रघुपति-छबि'''—'थके' शब्द 'स्थग' धातु से है जिसका अर्थ है ठग जाना, यात्री का जब सर्वस्व हर जाता है तब वह भौचक्का-सा खड़ा रह जाता है, यहाँ दृष्टि ही ठगी गई अथवा थके अर्थात् छवि पर ठहर गये। बँगला भाषा मे 'थाकना' ठहरने को कहते हैं वा स्थगित हो गये अर्थात् छवि पर रुक गये या छवि-समुद्र की विस्तृत शोभा में थक गये, इससे टकटकी लग गई।

'पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेखे'—इसी तरह उधर भी—"मनहुँ सकुचि निमि तजेउ दृगंचल।" कहा गया है।

अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरदससिहि जनु चितव चकोरी॥६॥
लोचन-मग रामहिं उर आनी। दीन्हे पलककपाट सयानी॥७॥
जब सिय सखिन्ह प्रेमबस जानी। कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी॥८॥

दोहा—लता-भवन ते प्रगट भे, तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग बिमलबिधु, जलद-पटल बिलगाइ ॥२३२॥

अर्थ—अधिक-स्नेह के कारण देह की सुधि नहीं रह गई, जैसे शरद् ऋतु के चन्द्रमा को चकोरी निहार रही हो ॥६॥ नेत्रों के मार्ग से श्रीरामजी को हृदय में लाकर उन सयानी सीताजी ने पलक रूपी किवाड़ लगा दिये ॥७॥ जब सीताजी को सखियों ने प्रेमवश जाना, तब वे मन में बहुत सकुचीं, पर कुछ कह नहीं सकतीं ॥८॥ उसी समय दोनों भाई लताओं के कुंज से प्रकट हो गये, मानों दो निर्मल चन्द्रमा मेघ-समूह को अलग (चीर) कर निकले हैं ॥२३२॥

विशेष—(१) 'अधिक सनेह देह भइ···'—स्नेह तो प्रथम सुनने पर ही था, अब देखने से अधिक हो गया। 'देह भइ भोरी'—मन से देह की सुधि नहीं रह गई, नेत्र अचल हो गये। चकोरी को भी देह की सँभाल नहीं रहती। लता की ओट में श्रीरामजी के होने से इधर से पूर्ण रूप से निःसंकोच दृष्टि पड़ी और तृप्ति भी हुई, इसलिये इधर के देखने में शरद्-चंद्र का देखना और स्वयं चकोरी बनना कहा गया है। शरद्-चंद्र में चकोरी पूर्ण रूप से तृप्त हो जाती है। उधर श्रीराम-पक्ष में सामान्य चंद्र का देखना और नेत्रों का ही चकोर होना कहा गया था, यथा—"सिय-मुख ससि भये नयन चकोरा।" इसी से उस एक बार मात्र के देखने में पूर्ण तृप्ति नहीं हो पाई थी, तभी तो—'मुख सरोज मकरंद छबि, करइ मधुप इव पान।' में फिर भी देखना कहा है।

एक को चकोर और दूसरे को चकोरी कहकर परस्पर अनन्यता सूचित की है; यथा—"अनन्या राघवेणाहं भास्करेण यथा प्रभा॥" (वाल्मी० ५।२१।१५); "मनस्वी तद्गतमनास्तस्या हृदि समर्पितः। प्रिया तु सीता रामस्य दाराः पितृकृता इति॥ (वाल्मी० १।७७।२६)। तथा—"प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई।" (आ० दो० ६६); "तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥" (सुं० दो० १४)।

(२) 'लोचन-मग रामहिं···'—अप्रकट रामरूप को शास्त्र से जानकर बुद्धि-द्वारा हृदय में लाया जाता है। यहाँ श्रीरामजी प्रत्यक्ष हैं। अतः, आँखों की राह से लाना कहा गया। प्रथम 'चितवनि को' कमल की श्रेणी कहा था। अतः, कमल के पाँवड़े देकर आदर सहित हृदय में लाईं।

श्रीरामजी बड़े कोमल हैं, नेत्र भी वैसे ही कोमल हैं। अतः, योग्य मार्ग से लाईं। उत्तम वस्तु यत्न से रक्खी जाती है, वैसे इन्हें हृदयस्थल में रक्खा, फिर नेत्र रूप कपाट बंद कर लिये। आँखें बंद कर लीं कि सखियाँ हमारी विशेष आसक्ति न जानें। वे यही जानें कि गौरीजी का ध्यान कर रही हैं। यही सयानपन है। पर, सखियाँ भी तो सयानी ही हैं, वे जान ही लेंगी। पुनः उधर साथ लक्ष्मण हैं और इधर सखियाँ। अतः, प्रत्यक्ष में शृंगार की पूर्णता का अभाव है, अतएव एकान्तस्थल हृदय में ले जाकर पल्ला बंद कर लिया।

(३) 'जब सिय सखिन्ह प्रेमबस···'—सखियों ने लख लिया कि श्रीकिशोरीजी प्रेमवश हो गईं। अब इन्हें कुछ कहकर सावधान करना चाहिये, पर कुछ नहीं कह सकीं कि इनके मन में संकोच होगा। अन्त में उन्हें संकोच होगा ही—"सकुचि सीय तब नयन उघारे।"—आगे कहा है। पुनः राजकुमार समीप ही हैं, इससे भी कहने में संकोच है। सखियाँ सकुचा गईं, क्योंकि दर्शन कराकर प्रेमवश करने का उत्तरदायित्व इन्हींपर है। देर होने का डर, ध्यान छोड़ाने का डर एवं असमय में स्नेह लगने की अनीति का डर है, फिर सामने श्रीराजकिशोरजी हैं, दर्शनों का अवसर है, दर्शन न होने से भी पछतावा होगा, इत्यादि कई कारणों से सकुचा गई हैं।

(४) 'लता-भवन ते प्रगट भये······'—पूर्व 'लता ओट' कहा था, अब 'लता भवन' कहते हैं। इससे सूचित किया कि लता का निकुंज बना था। पुनः परस्पर स्वीकार-भाव जानकर कवि ने गार्हस्थ्य-सम्बंध जनाते हुए, कुंज न कहकर 'भवन' कहा है। 'तेहि अवसर'—श्रीराजकुमार अवसर-ज्ञान में बड़े प्रवीण हैं, इधर श्रीराजकुमारीजी प्रेमवश हैं, आँखें मुँदी हैं। तब श्रीरामजी सामने आये। इसमें—"प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।" (दो० १८४),—इस नियम का निर्वाह किया। पुनः माधुर्य में सामना होने पर चार आँखों के होने की धृष्टता भी न होने पावे। इस प्रसंग में आँखें चार होने की बात नहीं है। यह कवि की सँभाल है।

'निकसे जनु जुग बिमल······'—चन्द्रमा में दोष भी हैं, ये निर्दोष हैं। दो भाई हैं। अतः, दो चन्द्रमा कहे गये। यद्यपि उपमान रूप चन्द्रमा एक होता है, और उपमेय दो कहे गये, तो भी विरोध नहीं है। यहाँ कवि का प्रयोजन अपनी कल्पना से पाठकों का ध्यान मेघ-समूह को फाड़कर दो चन्द्रमाओं के निकलने के दृश्य की ओर ले जाना है। उत्प्रेक्षा अलंकार में ऐसा होता ही है।

'जलद-पटल बिलगाइ'—इस लता-भवन से निकलने का मार्ग दूर से था और श्रीरामजी प्रेमाधीन हैं, इससे शीघ्रता-पूर्वक लताओं को फाड़कर प्रकट हो गये। इससे भी शीघ्र निकलना था कि श्रीजानकीजी कहीं और दिशा में न चली जायँ तो फिर ऐसा अवसर सम्भवतः नहीं मिलेगा। 'बिमल बिधु' के साहचर्य से 'जलद-पटल' भी शरद् ऋतु के हैं, उन श्वेत मेघों की तरह श्वेत रंग की पुष्पित लताओं का वह कुंज था।

सोभासींव सुभग दोउ बीरा। नील-पीत-जलजाभ-सरीरा ॥१॥
मोरपंख सिर सोहत नीके। गुच्छ बीच बिच कुसुमकली के ॥२॥
भाल तिलक श्रमबिंदु सुहाये। श्रवन सुभग भूषन छबि छाये ॥३॥
बिकट भृकुटि कच घूँघरवारे। नवसरोज लोचन रतनारे ॥४॥

शब्दार्थ—जलजाभ = कमल की आभा (कान्ति)। कुसुम = फूल। घूँघरवारे = घुँघराले। रतनारे = लाल।

अर्थ—दोनों वीर (राजकुमार) शोभा की सीमा हैं, सुन्दर ऐश्वर्यवान् हैं। नीले-पीले कमल की कान्ति के समान कोमलता एवं कान्तियुक्त शरीर वाले हैं ॥१॥ शिर पर मोरपंखी टोपी बहुत अच्छी सुशोभित है, जिसके बीच-बीच में पुष्प-कली के गुच्छे बने हुए हैं ॥२॥ माथे पर तिलक और पसीने की बूँदें शोभित हैं, कानों में सुन्दर भूषणों की छवि छाई हुई है ॥३॥ भौंहें टेढ़ी, बाल घुँघराले और नवीन लाल कमल के समान लाल नेत्र हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'सोभासींव सुभग······'—शोभा की सीमा हैं, सुभग से यदि सुन्दरता का ही अर्थ लें तो पुनरुक्ति होगी। अतः, सुष्ठु-भग अर्थात् ऐश्वर्यवान् हैं, यह अर्थ लेना होगा। इस सुभग का सम्बध 'दोउ बीरा' से है अर्थात् वीरता के ऐश्वर्य तेज-प्रताप आदि से युक्त हैं। वीर कठोर होते हैं। अतः, आगे कमल के समान कोमल कान्तियुक्त कहा। उसमें तेज-प्रताप आदि को कान्ति में लेते हुए भी शरीर को कमल के समान कोमल कहा है।

(२) 'मोरपंख सिर सोहत······'—'मोरपंख' अर्थात् मोरपखी टोपी, जो आगे-पीछे कम चौड़ी, बीच में अधिक चौड़ी और लंबी होती है, यथा—"भोर फूल बीनबे को गये फुलवाई हैं। सीसनि टिपारे······" (गी० बा० ६१)। 'टिपारा' (हिंदी—तीन + फारसी—पारः = टुकड़ा) = तीन भागों

की, मुकुट के आकार की एक टोपी, ऐसा हिंदी-शब्द-सागर में प्रमाण है। यही टोपी उपर्युक्त मोरपख में घटित होती है। इस मोर-पंखी टोपी का वर्णन अन्यत्र भी, है। यथा—"सिरनि सिखंड सुमन दल मंडन बाल सुभाय बनाये।" (गी० बा० ५४); इसमें 'सिखंड' से मोरपंख कहा है।

नगर-दर्शन में भी टोपी (चौतनी) कही गई है—"रुचिर चौतनी सुभग सिर।" (दो० २११); यहाँ लाल चमकदार टोपी, यहाँ मोरपंखी हरे रंग की टोपी और आगे धनुष-यज्ञ में—"पीत चौतनी सिरनि सुहाई।......" (दो० २४२) अर्थात् पीत रंग की चौतनी है जो उपर्युक्त 'टिपारे' के अर्थ में मुकुट के आकार की कही गई है। यथा—"राजिवनयन निधुनदन टिपारे सिर ..." (गी० बा० ७१); यहाँ राजाओं के समाज में मुकुटाकार 'कमरखी ताज' ही अर्थ ठीक है। अतः, तीनों जगह शिर पर टोपी एवं ताज वर्णित है। यहाँ जो कोई मोर का पक्ष धारण करना कहते हैं, अथवा 'काकपक्ष' पाठ मानकर अर्थ करते हैं, उसमें शिर का नंगा होना पाया जाता है, और यहाँ तो आगे 'कच घूँघरवारे' से केश का वर्णन है ही। उसमें 'काकपक्ष' का भाव आ जाता है और मोर-पक्ष-धारण श्रीराम रूप में कहीं नहीं पाया जाता।

'गुच्छ बीच बिच कुसुम ....'—रेशम और सुनहले रुपहले तार आदि की कलियाँ टोपी पर कढ़ी हुई हैं, यथा—"कुसुम-कली बिच बीच बनाई।" (दो० २११)।

(३) 'भाल तिलक श्रमबिंदु .....'—तिलक वर्णन पूर्व—"तिलक-रेख सोभा जनु चाँकी।" (दो० २१८) में हो गया है। 'श्रमबिंदु'—लता चीरकर निकलना पड़ा, प्रथम से भी फूल उतारने में कुछ श्रम था ही, इससे पसीने की बूँदें मोती की तरह झलकने से सुहावनी लगती हैं। 'सुहाये' का यह भी भाव है, कि श्रम की सफलता हुई जिससे राजकिशोरीजी के दर्शन हुए। 'श्रवन सुभग भूषन ....'—कानों के भूषण पूर्व—"कानन्ह कनकफूल छवि देहीं।" (दो० २१८) में कहे गये। 'छवि छाये'—अर्थात् छवि से परिपूर्ण हैं।

'बिकट भृकुटि' यथा—"मुकुर निरखि मुख राम भ्रू, गनत गुनहि दै दोष। तुलसी से सठ सेवकन्हि, लखि जनि परइ सदोष॥" (दोहावली १८७) अर्थात् श्रीरामजी की भौंहें कान तक लंबी और बहुत अर्थात् धनुष के समान टेढ़ी हैं, जितनी टेढ़ी औरों की कोख में होती हैं, यह शुभ लक्षण है। 'नव सरोज लोचन ..' ऊपर लाल रंग के नेत्र मोहक कहे गये हैं। दो० २३१ चौ० २ का विशेष देखिये। तदनुसार इन नेत्रों के दर्शनों से सखियाँ मोहित होंगी—'बिसरा सखिन्ह अपान।' कहा है। पुनः 'नव' अर्थात् झुके हुए (नीचे को), क्योंकि सामने श्रीजानकीजी और उनकी सखियाँ हैं। अतः, मर्यादानुसार प्रभु नीचे दृष्टि किये हुए हैं। शृंगार-रस की दृष्टि से यह भी भाव है कि 'सिय-मुख ससि' के सामने पड़ने से नेत्र कमल नय (झुक) पड़ेंगे ही!

चारु चिबुक नासिका कपोला। हासबिलास लेत मन मोला॥५॥
मुखछबि कहि न जाइ मोहि पाहीं। जो बिलोकि बहु काम लजाहीं॥६॥
उर मनिमाल कंबु-कल ग्रीवा। काम-कलभ-कर भुज बलसींवा॥७॥
सुमनसमेत बाम कर दोना। साँवर कुँअर सखी सुठि लोना॥८॥

दोहा—केहरिकटि पट पीत धर, सुषमा-सील-निधान।
देखि भानु-कुल-भूषनहिं, बिसरा सखिन्ह अपान॥२३३॥

शब्दार्थ—बिलास = क्रीड़ा। कलभ = हाथी का बच्चा। कर = सूँड़, हाथ। लोना = लावण्ययुक्त, सुंदर। सुषमा = परम शोभा। सील = सद्वृत्ति। अपान = अपनपौ।

अर्थ—चिबुक (ठोढ़ी), नाक और कपोल सुन्दर हैं। मुसकान की क्रीड़ा तो मन को मोल लिये लेती है॥ ५॥ मुख की छवि मुझसे नहीं कही जाती, जिसे देखकर बहुत कामदेव लज्जित होते हैं॥ ६॥ छाती पर मणियों की माला है, शंख के समान सुन्दर गला है, कामदेवरूपी सुन्दर हाथी के बच्चे की सूँड़ के समान भुजाएँ हैं, वे बल की सीमा हैं॥ ७॥ बायें हाथों में फूलों से भरा दोना है। हे सखी! साँवले कुमार तो अत्यन्त सलोने (सुंदर) हैं॥ ८॥ सिंह की सी (पतली) कमर, पीताम्बर धारण किये हुए शोभा और शील के स्थान सूर्यकुल के भूषण को देखकर सखियों का अपनपौ (आत्मसुधि) भूल गया॥ २३३॥

विशेष—(१) 'लेत मन मोला'—उनकी मुसकान की ओर दृष्टि जाते ही मन उन्हींके अधीन हो जाता है, तब और इन्द्रियों के व्यापार बंद हो जाते हैं, सुध बुध नहीं रहती।

(२) 'बहु काम लजाहीं'—बहुत काम एक साथ एकत्र करने से भी योग्य नहीं ठहरते।

(३) 'उर मनिमाल'—पूर्व—"उर अति रुचिर नाग-मनिमाला।" (दो० २१८) कहा गया था, इसलिये यहाँ मणिमात्र ही लिखकर उसीका संकेत किया है; अर्थात् वैसे ही यहाँ भी गजमुक्ता, सर्पमणि और माणिक्य की मालाएँ समझनी चाहिये। 'कबुकल ग्रीवा' गरदन चढ़ाव उतार तीन रेखायुक्त है। यथा—"रेखैं रुचिर कंबुकल ग्रीवा। जनु त्रिभुवन सुषमा की सींवा॥" (दो० १४२)। 'काम कलभ कर ···'—भुजाएँ हाथी के बच्चे की सूँड़ की तरह चढ़ाव-उतार और बलपूर्ण हैं, हाथी में सुंदरता नहीं होती। इसलिये काम को हाथी होना कहा है।

(४) 'सुमन समेत बाम ···'—श्रीमिथिलेश महाराज की फुलवारी के सुन्दर पुष्पों से पूर्ण दोना बायें हाथ को भूषित करता है, यथा—"दोना बाम करनि सलोने मे सवाई है।" (गी० बा० ६१), पूर्व—'सोभासींव सुभग ··' से यहाँ तक सखी का सखी से ही कहना है। यहीं 'सखी' सम्बोधन प्रकट किया गया है। यह सखियों की चातुरी है। किशोरीजी ने अपना भाव छिपाने के लिये आँखों को मूँद लिया है, सखियाँ जान गई हैं, पर संकोच से कह नहीं सकीं। तब उनका ध्यान छुड़ाने के लिये कुमारों का छवि-वर्णन करने लगीं कि अब सामने हमलोग यह छवि प्रत्यक्ष देख रही हैं, आप भी आँखें खोलकर देखें। सफलता न होने पर अंत में एक सखी हाथ पकड़कर ध्यान छुड़ावेगी। साथ ही यह भी चातुरी है कि जैसे श्रीरामजी ने किशोरीजी को समीप देखकर लक्ष्मणजी से 'समय अनुहारि' उन्हीं की शोभा का वर्णन किया था, वैसे ये सखियाँ भी कुमारों को समीप आये देख उन्हीं की शोभा का वर्णन परस्पर कर रही हैं।

(५) 'केहरि-कटि पट पीत ·····'—यहाँ का शोभा वर्णन शृंगार-रस से उठाया गया, यथा—"मोरपख सिर ···"। शृंगार रस में शिर से वर्णन प्रारंभ होता है और 'केहरि कटि' तक ही कहा अर्थात् वीररस पर विश्राम किया गया। पीतांबर भी इसीके अनुकूल कहा है। केसरिया बाना वीरों का है। 'सुषमा सील ···'—सुखमा (परम शोभा) की महत्ता शील-गुण से बढ़ जाती है, यथा—"सोभा सील ज्ञान गुन मंदिर" (वि० ८५)। इसलिये 'सुषमा' के पीछे 'सील' भी कहा।

'भानुकुल भूषनहिं'—सूर्यवंशी पर-स्त्री की ओर मन और दृष्टि नहीं देते। यथा—"नहिं लावहिं परतिय मन डीठी।" (दो० २३०), सखियाँ श्रीरामजी की शोभा पर मुग्ध हैं, पर आप उनकी ओर दृष्टि नहीं देते, ऐसा उत्तम स्वभाव रघुवंशियों का है, इसीसे वे महा तेजस्वी होते हैं। ये तो उनमें भूषण हैं। 'बिसरा सखिन्ह अपान'—प्रथम लता ओट से देखा था, तब भली भाँति देखने में नहीं आये थे। अब सामने खड़े हैं, इससे सर्वांग की शोभा भली भाँति देखने से मुग्ध हो गईं। यथा—"जाइ समीप राम-छबि देखी।

रहि जनु कुँअरि चित्र अवरेखी ॥" (दो० २६३)। यहाँ इन सबकी टकटकी लग गई, इससे देह की सुध नहीं रह गई। यथा—"छवि-समुद्र हरि-रूप बिलोकी। एकटक रहे नयन पट रोकी ॥ चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा ॥ हरष-बिबस तनु-दसा भुलानी।" (दो० १४७)। ये सखियाँ श्रीकिशोरी को सावधान करने का प्रयत्न कर रही थीं, पर स्वयं बेसुध हो गईं।

धरि धीरजु एक आलि सयानी। सीता सन बोली गहि पानी ॥१॥
बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूपकिसोर देखि किन लेहू ॥२॥
सकुचि सीय तब नयन उघारे। सनमुख दोउ रघुसिंह निहारे ॥३॥
नखसिख देखि राम कै सोभा। सुमिरि पितापनु मनु अति छोभा ॥४॥

अर्थ—एक चतुर सखी धैर्य धारण कर और (सीताजी का) हाथ पकड़कर सीताजी से बोली ॥१॥ गौरीजी का ध्यान फिर कर लेना, अभी राजकिशोर को क्यों नहीं देख लेतीं ? ॥२॥ तब श्रीसीताजी ने सकुचकर आँखें खोलीं, (तो) रघुकुल के दोनों सिंहों को सामने देखा ॥३॥ नख से शिखा तक श्रीरामजी की शोभा देखकर और फिर पिता की प्रतिज्ञा का स्मरण कर मन बहुत ही क्षुब्ध हुआ ॥४॥

विशेष—(१) 'धरि धीरज एक ·····'—'एक'=प्रधान, मुख्य। यह वही सखी है जो प्रथम देख आई थी, दोबारा देखकर मोही थी, इसीसे इसे पहले चेत हुआ। यह सब में मुख्य है, इससे समयानुसार कार्यक्रम पर ध्यान है। इसीसे इसने शीघ्र धैर्य धारण किया। 'सीता'—क्योंकि इस समय ध्यान से शीतलता को प्राप्त हैं। 'गहि पानी'—क्योंकि इस समय संकेत नहीं कर सकती, क्योंकि किशोरीजी आँखें मूँदे हुई हैं। यथा—"दीन्हें पलक कपाट सयानी।" कहा है। बोलने का अवसर नहीं है, क्योंकि राजकुमार सामने खड़े हैं, मर्यादा की दृष्टि से धृष्टता होगी। हाथ पकड़कर प्रकट कहने में भी सयानपन ही है कि संकोच से किशोरीजी आँखें नहीं खोल रही हैं। हम स्वयं कहेंगी, तब संकोच छोड़ देंगी। यह प्रथम 'प्रिय सखि' कही गई है। अतः, इसने ही यहाँ हाथ पकड़ने की ढिठाई का साहस किया।

(२) 'बहुरि गौरि कर ध्यान ·····'—गौरीजी के ध्यान का तुम्हें कुछ अभ्यास-सा पड़ गया है, वह तो अपने वश की बात है। जब चाहो, कर सकती हो, पर ये भूपकिशोर हैं। अतः, स्वतन्त्र एवं चपल भी होंगे, कहीं चल दिये, तो फिर ऐसा अवसर नहीं मिलेगा। इसलिये गौरीजी का ध्यान फिर कभी कर लेना। यद्यपि सखी इनके हार्दिक भाव को जानती है, तथापि गौरीजी के ध्यान का आरोपण कर इनका संकोच छुड़ाना चाहती है।

'भूपकिसोर देखि ·····'—देखने को कहती है कि कहीं धनुष किसी से न टूटा, तो जयमाल स्वयंवर ही होगा। ये राजकिशोर हैं और तुम राजकिशोरी हो। अतः, देखना योग्य है। इस समय देखे रहने पर फिर स्वयंवर में चूक न होगी।

(३) 'सकुचि सीय तब नयन ·····'—सकुचकर आँखें खोलीं, क्योंकि जो बात छिपाये हुई थीं, वह प्रकट हो गई, सखी ने उसे जान लिया या संकुचित अध खुली ही आँखें खोलीं कि कहीं सखी हँसी न करती हो। हम आँखें खोल दें, तो कहेगी कि देखो, ठीक-ठीक तुम गौरीजी का ध्यान नहीं करती थीं, तभी तो तुरत आँखें खोल दीं। तुम्हारे मन में तो ये ही बसे थे, गौरीजी के ध्यान का बहाना मात्र था। अतः, अध-खुली आँखों से जब जान लेंगी कि ठीक ही राजकुमार सामने हैं, तब पूरी आँखें खोल देंगी, नहीं तो फिर वह

कर लेंगी या इससे भी संकुचित आँखें खोलीं कि राजकुमार से बराबर दृष्टि न मिले। जब रामजी ने लक्ष्मणजी की ओर दृष्टि कर ली, तब जानकीजी ने पूरी दृष्टि से देखा।

'दोउ रघुसिंह'—समष्टि में श्रीरामजी का वीर स्वरूप देख पड़ा, क्योंकि धनुष की प्रतिज्ञा के लिये वीरता की आवश्यकता है। ये प्रथम ध्यान के विषय थे, आँखें खोलने पर सम्मुख देखने में आये, जैसे पिंजड़े में बंद सिंह खुलते ही सामने आ जाय।

(४) 'नखसिख देखि राम कै····'—यहाँ नख से प्रारंभ कर शिखा पर्यंत देखना कहा गया है, क्योंकि कुल-प्रसूता कन्या की सुशीलता-भरी दृष्टि नीचे से ही उठती है। प्रथम समष्टि में वीरता देखने में आई थी, पर जब अंग-अंग की शोभा देखी गई, तब कहीं भी धनुष के योग्य कठोरता न मिली। शोभा की सीमा सुकुमारता है। वह अंग-अंग में पूर्ण है, फिर ये धनुष कैसे तोड़ेंगे? यह स्मरण आते ही मन अत्यंत क्षुब्ध हो जाता है। *यथा*—"निरखि-निरखि रघुबीर-छबि, बाढ़इ प्रीति न थोरि॥ जानि कठिन सिव-चाप बिसूरति।" (दो० २३४) तथा—"नीके निरखि नयन भरि सोभा। पितु पन सुमिरि बहुरि मन छोभा॥" (दो० २५७)। इसीसे श्रीजानकीजी के चित्त में स्थिरता नहीं आती, वे अंग-अंग में धनुर्भंग की योग्यता खोजती हैं और श्रीरामजी को अपने बल का पूर्ण विश्वास है कि मैं अवश्य धनुर्भंग करके ब्याह लूँगा। इससे वे इनकी मुख शोभा पर ठहर गये हैं।

प्रथम अचानक दृष्टि दोनों 'रघुसिंह' पर पड़ी कि दोनों सामने खड़े हैं, पर श्रीजी ने श्रीरामजी का ही नखशिख शृंगार देखा, क्योंकि इनका मन नारद के वचनानुसार प्रथम ही से श्रीरामजी को वरण कर चुका था। पुनः अभी-अभी सखियों ने भी कहा है—"स्यामल कुँअर सखी सुठि लोना।" इस तरह *प्रथम* ही से धर्म को सँभाल है।

परबस सखिन्ह लखी जब सीता। भये गहरु सब कहहिं सभीता॥५॥
पुनि आउब येहि बिरियाँ काली। अस कहि मन बिहँसी एक आली॥६॥
गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी। भयेउ बिलंब मातु भय मानी॥७॥
धरि बड़ि धीर राम उर आने। फिरी अपनपौ पितुबस जाने॥८॥

शब्दार्थ—गहरु=विलंब। बिरियाँ=समय। अपनपौ=अपनापन, आपा।

अर्थ—जब सखियों ने सीताजी को पराधीन देखा, तब सभी डरी हुई कहने लगीं कि 'देर हुई॥५॥ कल इसी समय फिर आवेंगी'—ऐसा कहकर एक सखी मन में मुसकाई॥ ६॥ गूढ़ वचनों को सुनकर सीताजी सकुच गई, देर हो गई; इससे माता का भय मानने लगीं॥ ७॥ बड़ा धैर्य धारण कर श्रीरामजी को हृदय में ले आईं और पिता के वश अपने आपको जानकर लौट पड़ीं॥ ८॥

विशेष—(१) 'परबस सखिन्ह लखी····'—श्रीसीताजी श्रीरामजी के रूप में आसक्त होकर उनके वश में हैं। यह सखियों ने जान लिया कि किशोरीजी की घर चलने की इच्छा नहीं है। तब प्रकट रूप में उनका रुचि-भंग समझ भय से चलने को नहीं कह सकीं। बड़ी देर हुई—ऐसा कहकर जनाया कि अवश्य चलना चाहिये। 'सभीता'—कोई यहाँ आकर देखे और माता को कह दे कि ये लोग पूजा नहीं करतीं, किंतु कुमारी को लेकर राजकुमारों को देख रही हैं तो हमलोग अपमानित होंगी, फिर साथ नहीं आने पावेंगी। अतः, सब कहती हैं—'भयो गहरु'—बहुत दिन चढ़ गया—आज बड़ी देर हुई।

(२) 'पुनि आउब येहि बिरियाँ काली ।'—इसे ही आगे स्वयं ग्रंथकार 'गूढ़ गिरा' कह रहे हैं। अतः, इसमें गूढ़ता क्या-क्या है; वे सब शब्दों में ही हैं—(क) सखियाँ आपस में कहती हैं कि हमलोग इसी समय कल फिर आवेंगी। चलो आज चलें, यह आशय है। इससे राजकुमारी और राजकुमार भी समझ जायँगे कि आज चलना चाहिये, फिर तो कल मिलेंगे ही। 'चलना' वियोगसूचक शब्द है, इसे 'आना' इस संयोग के शब्द से ढँक कर कहती हैं। यह अभिप्राय इसमें गूढ़ है। मन में ही विहँसती हैं कि भाव समझकर लज्जा हो, जिससे लौट चलें और प्रकट में हँसने का उन्हें संकोच भी न हो। (ख) राजपुत्रों के प्रति भी इस कथन का अर्थ लग सकता है कि कल इसी समय फिर आइयेगा। भाव—हमलोग भी आज की भाँति आवेंगी, तो फिर ऐसे ही दर्शन होंगे। किंतु, आज चलना चाहिये। (ग) गुप्त रीति से भय भी प्रकट करती हैं, परस्पर कहती हैं कि क्या कल फिर आने पाओगी? अर्थात् आज देर होती है, कल माताजी न आने देंगी। (घ) राजपुत्रों से भी जनाती हैं कि आज देर से जाओगे, तो क्या कल इस समय फिर आने पाओगे? भाव, गुरुजी न आने देंगे। अतः, आज इतना ही प्रेम-नेम बस है। यहाँ गूढ़ोक्ति अलंकार है।

'मन बिहँसी'—से राजकुमारी और उधर राजकुमारों को कुछ लज्जा के हेतु भी प्रकट करती हैं, क्योंकि अत्यन्त प्रेम पर लज्जा ही अंकुश है। इससे संकोच होगा, तब चलेंगे।

(३) 'भयो बिलंब मातु भय ···'—माता विलंब होने से अप्रसन्न होंगी, यह भय मन में लाईं और सखियों के गूढ़ वचनों को समझकर एवं उनके हँसने से संकोच भी हुआ।

(४) 'धरि बड़ि धीर राम-उर आने'—सीताजी बड़े प्रेम से विशेष वश हो गई थीं, अतः, बड़ा धैर्य धरना पड़ा, तब लौटने की वृत्ति हुई। 'अपनपौ पितुबस···' जब बड़े-बड़े वीर्यवान् राजा लोग धनुष न तोड़ सके, तो इनसे भी कैसे टूटेगा? अतः, अब तो हम पिता के अधीन हैं, वे चाहें तो इनसे ब्याह दें, पर मेरा कोई चारा नहीं। ऐसा समझकर फिरीं। लौटने में तीन कारण कहे गये—सखियों का संकोच, माता का भय और अपने को पिता के अधीन मानना—यह धर्म का भय। 'राम उर आने'—हृदय में इसलिये लाईं कि प्रकट दर्शन छूटते हैं, तब ध्यान से ही देखेंगी। पुनः इन्हीं के लिये आगे भवानी से भी प्रार्थना करेंगी।

श्रीरामजी ने अपनी दशा को समझकर स्वयं विचार किया है और उसका विस्तृत वर्णन किया है, क्योंकि पुरुषों में मस्तिष्क प्रधान होता है, विचार एवं वक्तृत्व का मस्तिष्क से ही सम्बन्ध है। श्रीकिशोरीजी की निमग्नता पीछे देर में हुई और देर तक रही, सखियों के चेताने एवं भय की ठोकर देने से दशा का ज्ञान हुआ। इनकी ओर से वर्णन एवं विचार सखियों ने ही किया, क्योंकि स्त्री में हृदय की वृत्ति प्रधान होती है, जिससे प्रीति का बोध होता है। उसकी प्रबलता में मस्तिष्क-सम्बन्धी बातें दब जाती हैं।

दोहा—देखन मिस मृग बिहँग तरु, फिरइ बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर-छबि, बाढ़इ प्रीति न थोरि ॥२३४॥

जानि कठिन सिवचाप बिसूरति। चली राखि उर स्यामलमूरति ॥१॥

शब्दार्थ—बिसूरति = खेद करती, चिंता = (सोच) करती। (सं०-विसूरण = शोक)—शब्दसागर।

अर्थ—मृग (हिरन एवं पशु), पक्षी और वृक्ष देखने के बहाने बार-बार लौट-लौट पड़ती हैं। रघुवीर श्रीरामजी की छवि देखकर कुछ थोड़ी प्रीति नहीं बढ़ती, अर्थात् बहुत अधिक बढ़ती है ॥२३४॥ शिवजी के धनुष को कठिन जानकर सोचती हुई अपने हृदय में साँवली मूर्ति को रखकर (सीताजी) चलीं ॥१॥

विशेष—(१) 'देखन मिस मृग …'—'मृग', 'विहँग' और 'तरु'—ये सामान्य शब्द हैं। ये सब भाँति-भाँति के हैं, इनके बहाने बार-बार किशोरीजी पीछे फिर-फिरकर देखती हैं कि सखियाँ यही जानें कि मृग आदि को ही देखती हैं। अनेक बार फिरकर देखना जनाया। तीन ही नाम देकर यह भी जनाया कि इनकी प्रीति मन, वचन और कर्म से है।

यद्यपि आप उपर्युक्त कारणों से फिरती हैं, तथापि मन नहीं मानता। अतः, उसके संतोष के लिये, फिर-फिरकर देख लेती हैं, देखने से तृप्ति नहीं होती, उस रूप में ऐसी ही माधुरी है। यह क्रियाविदग्धा का उदाहरण है। पूर्वानुराग पोषित होकर पुनीत प्रेम को स्थायी करेगा।

'देखन' और 'निरखि' में भेद है। देखना स्थूल दृष्टि और निरखना सूक्ष्म दृष्टि है। देखने में नख-शिख की शोभा से सुकुमारता का निश्चय करके अधीर हो गई थीं, तब पिता पर छोड़ निराश होकर चलीं। उस अधीरता को दूर करने के लिये इनकी वीरता का स्मरण करके फिर-फिरकर उसका तथ्य विचारती हैं कि मुनि के यज्ञ की रक्षा एवं अहल्या का उद्धार तो इन्हीं ने किया है। अतः, वीर एवं प्रतापी हैं, तो धनुष भी तोड़ेंगे—इसमें आश्चर्य ही क्या ? इस निरीक्षण पर प्रीति बढ़ चलती है। प्रथम—"सुमिरि सीय नारद-बचन, उपजी प्रीति पुनीत।" (दो० १२९) कहा ही था। अब यह प्रीति बढ़ चली।

(२) 'जानि कठिन सिव-चाप…'—कई बार मूर्त्ति को हृदय में रक्खा; फिर शिवजी के धनुष की कठोरता ने उसे निकाल दिया। यथा—"लोचन-मग रामहिं उर आनी।" वैसे ही—"सुमिरि पिता-पन मन अति छोभा।" में न रह गई; फिर—"धरि बड़ धीर राम उर आने", फिर वैसे ही—"जानि कठिन सिव-चाप बिसूरति" में मूर्त्ति ध्यान में नहीं रह पाई। अब फिर तीसरी बार—"चली राखि उर स्यामल मूरति।" से मूर्त्ति का हृदय में रखना कहा गया है। 'बिसूरति' यथा—"समुझि कठिन पन आपन लाग बिसूरन।" (जानकी मं०); "…जानि बिसूरति। कहँ कठिन सिव-धनुष कहाँ मृदु मूरति ?॥" (जानकी मं०)। यहाँ 'बिसूरति' का अर्थ सोचना है। यह दीप-देहली है; अतः, पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध दोनों के साथ है। दो बार शिव-चाप की कठोरता ने मूर्त्ति को हृदय से निकाल दिया। अतः, अबकी उसे हृदय में रखकर सोचती हुई उसकी स्थिति के लिये दैव-बल प्राप्त करने चलीं। मूर्त्ति को बार-बार हृदय में लाने का हेतु नारदजी का वचन है। अतः, दोष नहीं है। तीसरी बार देवी के वर से इसका निश्चय हो जायगा, तब मुदित मन होकर महल में जायँगी।

प्रभु जब जात जानकी जानी। सुख-सनेह-सोभा-गुनखानी॥२॥
परम-प्रेम-मय मृदु मसि कीन्ही। चारु चित्त भीती लिखि लीन्ही॥३॥

अर्थ—सुख, स्नेह, शोभा और गुणों की खान जानकीजी को जब प्रभु ने जाते हुए जाना॥२॥ तब परम प्रेममयी कोमल स्याही बनाकर (उससे) उनकी मूर्त्ति को अपनी सुंदर चित्तरूपी दीवार पर अंकित कर लिया॥३॥

विशेष—(१) 'प्रभु जब जात…'—'प्रभु' शब्द सामर्थ्य का सूचक है; अर्थात् आपने अपने सामर्थ्य का निश्चय करके इन्हें हृदय में बसाया है कि हम धनुष तोड़कर इन्हें अवश्य ब्याहेंगे। इसमें संदेह नहीं। श्रीसीताजी के आगमन पर भी 'प्रभु' विशेषण है, वहाँ अपने मन के ऊपर प्रभुता रखने के लिये और यहाँ श्रीसीताजी के वरण करने का सामर्थ्य जनाने में है।

'जब… जानी'—पूर्व—'मुखसरोज मकरंद छबि, करत मधुप इव पान।' कहा गया है, अब यहाँ

के प्रसंग से जान पड़ा कि कैसे आसक्त हो गये थे कि श्रीकिशोरीजी लौट पड़ीं और फिर-फिरकर देखती हैं, तब आपने जाने का निश्चय किया और हृदय में इनका चित्र लिखा। श्रीसीताजी की सुन्दरता के विषय में कहा था—"छवि-गृह दीपसिखा जनु बरई।" उसका प्रभाव यहाँ चरितार्थ भी हुआ कि जैसे दीप-शिखा में मृग मोहित हो जाता है; फिर ज्यों-ज्यों दीप-शिखा दूर होती जाती है, त्यों-त्यों मृग में सावधानता आती जाती है, वैसी ही दशा यहाँ श्रीरामजी की भी हुई। यथा—"रूपदीपिका निहारि मृग मृगी नर नारि बिथके बिलोचन निमेषैं बिसराय कै॥ (गी० बा० ८२)।

उदाहरण—'सुख', यथा—"देखि सीय-सोभा सुख पावा"। 'सनेह'—"अधिक सनेह देह भइ भोरी।" 'सोभा'—"सुंदरता कहँ सुंदर करई।" 'गुन'—"गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी।" एवं 'मृग', 'बिहँग' और 'तरु' के देखने के बहाने फिर-फिरकर देखना भी गुण ही है। इन गुणों का स्मरण अब हो रहा है, क्योंकि संग छूटने पर ही गुणों की स्मृति होती है।

(२) 'परम प्रेममय मृदु'''—राजकिशोरीजी अत्यन्त कोमलांगी हैं और सोने की तरह गोरी हैं; इसलिये उनका चित्र उतारने की सब वस्तुएँ अनुकूल ही प्रस्तुत कीं। 'चारु चित्त' रूपी दीवार अत्यन्त कोमल है, पराकाष्ठा का प्रेम स्वतः कोमल होता है, फिर भी उसे और कोमल करके उसकी स्याही बनाई। स्याही काली होती है, पर किशोरीजी गोरी (स्वर्ण-वर्ण) हैं। प्रेम भी स्वर्णवर्ण का कहा गया है, इसीलिये 'मय' कहा है। मयट् प्रत्यय यहाँ स्वार्थ में है, यथा, लवण क्षारमय होता है, वैसे मसि भी परम प्रेममय है। इस मसि के बने हुए चित्र में भी वैसी ही कोमलता और रंग आवेगा, जैसा श्रीसीताजी के विग्रह में है। किसको लिख लिया? यह ऊपर की अर्द्धाली के 'जब जात जानकी''' से लेना होगा। 'जब' का 'तब' से नित्य सम्बन्ध है। अतः, 'जानकी' शब्द कर्मकारक होकर 'लिखि लीन्ही' क्रिया में घटित है।

श्रीरामजी ने हृदय में लिख लिया, क्योंकि लिखी हुई बात पक्की होती है, भूलती नहीं। इससे इन्हें संदेह न होगा। श्रीजानकीजी ने हृदय में रख लिया है—"चली राखि उर स्यामल मूरति।" रक्खी हुई वस्तु भूल भी जाती है, वैसे धनुर्भंग के समय प्रेम की विह्वलता में श्रीजानकीजी इनकी मूर्त्ति में वीरता भूल जायँगी, तब जिस-तिस को मनाने लगेंगी। यथा—"तब रामहि बिलोकि बैदेही। सभय हृदय बिन-वति जेहि तेही॥''' से—"प्रभु-तनु चितइ प्रेम पन ठाना॥" (दो० २५६–२५८); तक श्रीरामजी का सीता-चरण में पूर्ण विश्वास है। अतः, लिख लिया। श्रीजानकीजी को आशामात्र है। अतः, अभी 'रखना' मात्र कहते हैं। श्रीरामजी ने चित्र-दर्शन और श्रीजानकीजी ने ध्यान-दर्शन ग्रहण किया।

गई भवानी-भवन बहोरी। बंदि चरन बोली कर जोरी॥४॥
जय-जय गिरि-बर-राज-किसोरी। जय महेस-मुख-चंद-चकोरी॥५॥
जय गज-बदन-षडानन-माता। जगतजननि दामिनि-दुति-गाता॥६॥
नहिं तव आदि अंत अवसाना। अमित प्रभाव बेद नहिं जाना॥७॥
भव-भव-बिभव-पराभव-कारिनि। बिस्वबिमोहिनि स्वबस-बिहारिनि॥८॥

अर्थ—(सीताजी) फिर से भवानी के मंदिर में गईं और चरणों की वंदना करके हाथ जोड़कर बोलीं ॥४॥ हे गिरिवर-राजकिशोरी! आपकी जय हो! जय हो! हे महादेवजी के मुख रूपी चन्द्रमा की चकोरी! आपकी जय हो! ॥५॥ हे गणेश और स्वामि कार्तिक की माता! जगदम्बे! बिजली की तरह कान्ति

युक्तशरीर वाली! आपकी जय हो! ॥६॥ आपके आदि और अंत का विराम (समाप्ति) नहीं है, आपका प्रभाव अपार है, उसे वेद भी नहीं जानते ॥७॥ आप संसार का उत्पन्न, पालन और संहार करनेवाली हैं। संसार को विशेष मोहनेवाली और स्वतंत्र रूप से विहार करनेवाली हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'गई भवानी-भवन ···'—'बहोरी' अर्थात् एक बार पहले ही पूजा कर चुकी हैं, अब फिर गईं, क्योंकि आते और जाते समय भी वन्दना करनी चाहिये। भीतरी अभिप्राय यह भी है कि जो मूर्त्ति हृदय में बसा आई हैं, वर माँग कर उसी को पुष्ट करें। चरण की वंदना करनी और हाथ जोड़ना प्रार्थना की उत्तम रीति है, यथा—"भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै।" (वि० १३५)। 'बोली'—साभिप्राय विशेषणों से अपना प्रयोजन जनाती हुई स्तुति करती हैं, यही रीति है। अतः, यहाँ गिरिजाजी के विशेषणों में परिकर अलंकार है।

(२) 'जय जय गिरिवर राज···'—यद्यपि गौरीजी का वर्तमान में सती-शरीर था, तथापि देवता के रूप-गुण इत्यादि अनादि होते हैं। इस नियम से श्रीजानकीजी ने गिरिजाजी का ही पूजन किया है। पूर्व दो० २२७ की चौ० ४ भी देखिये। गिरिजाजी से नाता भी है। श्रीजानकीजी भूमि की पुत्री हैं, और वे पहाड़ की। भू और भूधर में अपनापन है। गिरि परोपकारी होते हैं, यथा—"संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्हि कै करनी॥" (उ० दो० १२४)। गिरिजाजी परोपकारी की कन्या हैं। अतः, मेरा भी उपकार करेंगी। गिरि-राज के यहाँ जन्म लेकर आपने अपने प्रतिकूल पति को भी अनुकूल कर लिया। मेरे पिता के प्रण को इन श्यामल वर के अनुकूल करके इनकी प्राप्ति का सुख मुझे दीजिये। 'महेस-मुखचंद-चकोरी।'—आप महान्-ईश अर्थात् परम समर्थ की सानुकूला पत्नी हैं, पति के द्वारा सामर्थ्य दिलाकर धनुष तोड़ाने का प्रबंध कर दीजिये। चकोरी चन्द्रमा में अनन्य होती है, वैसे ही आप अनन्य पतिव्रता हैं। मुझे भी वही धर्म प्राप्त कराइये कि इन्हीं श्यामल वर से ब्याह हो।

(३) 'जय गजबदन षडानन माता'—गणेशजी सिद्धिसदन, विघ्नहर्ता और मंगलदाता हैं; स्वामि कार्तिक महान् प्रतापी हैं। तारकासुर को मारकर देवताओं को बसाया है। वैसे ही मेरी भी मनोरथ-सिद्धि हो। शिवधनुष रूपी तारकासुर को श्रीरामजी द्वारा नष्ट कर मुझे अपने मनोरथ स्थान में बसावें। पुनः जैसे आपके दो प्रबल प्रतापी पुत्र हैं, वैसे मेरे भी हों; यह भाव भी गर्भित है जो—"राम कामतरु पाइ बेलि ज्यों बौंड़ी बनाय माँग कोखि पोषि तोषि फैलि फूलि फरि कै। रहोगी···" (गी० बा० ७१) इस गिरिजा की असीस से सिद्ध है।

'जगतजननि दामिनि दुति गाता।'—अब नाता भी दिखाती हैं कि आप जगत् की माता हैं, मैं भी जगत् में हूँ। इससे मेरी भी माता हैं। अतः, रक्षा कीजिये, यथा—"जिमि बालकहिं राख महतारी।" (आ० दो० ४३)। [कार्य-सिद्धि के लिये कोई नाता अवश्य चाहिये, यथा—"तोहिं मोहिं नाते अनेक मानिये जो भावै।" (वि० ७९ ;)] अँधेरे में मार्ग नहीं सूझता, बिजली की चमक से देख पड़ता है, वैसे ही धनुष अंधकार है। यथा—"टारि न सकहिं चाप तम भारी।" (दो० २३८); जिससे मुझे भविष्य नहीं देख पड़ता, उसीसे पिता को भी हानि-लाभ कुछ नहीं सूझता, यथा—"समुझत नहिं कछु लाभ न हानी।" (दो० २५७)। आप अपने प्रभाव से वह अंधकार मिटा दीजिये अथवा मेरे पिता का प्रण-सम्बन्धी अज्ञान-अंधकार दूर कीजिये।

(४) 'नहिं तव आदि अंत अवसाना।'—'आदि'—आपका जो दक्ष एवं गिरिराज के यहाँ जन्म और यज्ञ में शरीर-त्याग कहा जाता है, वह लीला-मात्र है। वास्तव में आप अनादि काल

से हैं और कब तक रहेंगी, इसका भी पता नहीं, यथा—"अजा अनादि सक्ति अविनासिनि ॥'''निज इच्छा लीला बपु धारिनि ॥" (दो० ६०)।

(४) 'भव-भव विभव''' विस्व विमोहनि'''–'भव' = संसार। 'भव' = उत्पत्ति। 'स्ववस विहारिनि'—काल, कर्म की पराधीनता आपको नहीं है,—चाहें तो आप भाल के कुअंक भी मिटा सकती हैं। 'विश्व-विमोहनि' हैं, मेरे पिता को मोहित कर प्रतिज्ञा ही हटा दीजिये कि यों ही मुझे अभीष्ट वर से ब्याह दें।

'जय जय गिरिवर''' में पिता-पक्ष की श्रेष्ठता, 'महेस मुख-चंद ''' में पति-पक्ष की श्रेष्ठता और 'जय गज-बदन''' में पुत्र-पक्ष की श्रेष्ठता कही गई। पुनः—'दामिनि-दुतिगाता।' तक माधुर्य और फिर—'स्ववस विहारिनि' तक ऐश्वर्य कहा गया।

दोहा—पतिदेवता सुतीय महँ, मातु प्रथम तव रेख।
महिमा अमित न सकहिं कहि, सहस सारदा सेख ॥२३५॥

सेवत तोहि सुलभ फल चारी। बरदायिनी पुरारि - पियारी ॥१॥
देवि पूजि पदकमल तुम्हारे। सुर नर मुनि सब होहिं सुखारे ॥२॥
मोर मनोरथ जानहु नीके। बसहु सदा उरपुर सबही के ॥३॥
कीन्हेउ प्रगट न कारन तेही। अस कहि चरन गहे बैदेही ॥४॥

शब्दार्थ—पति-देवता = पति ही जिसका देवता (इष्टदेव) हो, पतिव्रता स्त्री। रेख = गणना।

अर्थ—हे माता! सुन्दर पतिव्रता स्त्रियों में आपकी ही प्रथम गणना है, आपकी महिमा निःसीम है, हजारों सरस्वती और शेष भी उसे नहीं कह सकते ॥२३५॥ हे वर देनेवाली! हे त्रिपुर के शत्रु शिवजी की प्यारी! आपकी सेवा करने से चारों फल सहजही में प्राप्त हो जाते हैं ॥१॥ हे देवि! आपके चरण-कमलों को पूजकर देवता, मनुष्य और मुनि सभी सुखी होते हैं ॥२॥ मेरे मनोरथ को आप भली भाँति जानती हैं, (क्योंकि) सभी के हृदय रूपी पुर में सदा बसती हैं ॥३॥ इसी कारण से मैंने उसे प्रकट नहीं किया—ऐसा कहकर वैदेही श्रीजानकीजी ने चरण पकड़ लिये ॥४॥

विशेष—(१) 'पतिदेवता सुतीय'''—पतिव्रता होने से ही 'सुतीय' हैं। 'प्रथम रेख' अर्थात् यह मार्ग पहले से आपने ही स्थापित किया है। इसलिये आप इस धर्म की आचार्या हैं, दूसरों के लिये भी आचरण करके आपने दिखा दिया। अतएव मुझे भी इस मार्ग पर आरूढ़ कर दीजिये। इस धर्म के सम्बन्ध से भी आपकी महिमा अमित है। शेष पाताल के हैं और शारदा ब्रह्मलोक की, बीच में इनसे बढ़कर कोई है ही नहीं। अतः, दो ही कहे गये। पूर्व—'अमित प्रभाव बेद नहिं जाना।' कहा गया। यहाँ 'प्रभाव' से निर्गुण ऐश्वर्य कहा गया, इसीसे उसे न जान सकना कहा; क्योंकि वह जानने मात्र का विषय है। यथा—"जाहि न जानत बेद।" (दो० ५०)। महिमा माधुर्य-सम्बन्धी है, यह कहने की वस्तु है। अतः, यहाँ इसे अकथ्य कहा।

यहाँ अकथ्य महिमा पातिव्रत्य धर्म सम्बंध की है। यह धर्म ऐसा श्रेष्ठ है कि इससे अधम से अधम स्त्री भी परम गति को पा जाती है, जो योगियों को दुर्लभ है। यथा—"नारि-धर्म कछु ब्याज बखानी।'''" से—"अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय ॥" (आ० दो० ४-५) तक। शंका—प्राकृत पति की उपासना

से स्त्री परमगति कैसे पा सकती है ? समाधान—वह पति को परमेश्वर-रूप ही मानकर उपासना करती है, उसकी भावना के अनुसार सिद्धि होती है, विश्वास के लिये शास्त्र हैं। जैसे एक प्राकृत देहधारी पंडित वैदिक यज्ञ में ब्रह्मा बनाया जाता है, यह वैदिक विधि है, वैसे ही पतिव्रता अधम से अधम पति को भी परमेश्वर बना लेती है और उसके साथ स्वयं भी तर जाती है। जलधर और वृंदा की कथा इसका प्रमाण है।

(२) 'सेवत तोहि सुलभ ……' आपही की सेवा से चारों फल सुगमता से मिलते हैं। वे औरों की सेवा से अगम हैं। 'बरदायिनी'—आपसे बराबर सब को वर मिलता आया है, अंतर्भाव यह भी है कि मैंने प्रथम पूजा के समय 'निज अनुरूप सुभग बर माँगा।' है, वह मिलना चाहिये, क्योंकि उस समय 'एवमस्तु' नहीं कहा गया था। 'पुरारिपियारी'—पिनाक धनुष ही से त्रिपुर का वध किया गया है। यथा—"घोर कठोर पुरारि-सरासन नाम प्रसिद्ध पिनाकु।" (गी० बा० ८७); "सोइ पुरारि-कोदंड कठोरा।" (दो०२१६)। आप शिवजी की प्यारी हैं। आपके कहने से वे इसे प्रेरणा करके हलका कर सकते हैं। पुन पूर्व—'महेस मुखचंद…' में इनकी प्रीति शिवजी में कही गई थी, क्योंकि चन्द्रमा में चकोरी की एकांगी प्रीति होती है। यहाँ 'पुरारिपियारी' से पति शिवजी की भी इनमें प्रीति कहकर अन्योन्य प्रेम सूचित किया गया।

(३) 'देवि पूजि पद-कमल…'–यहाँ फल के अधिकारी तीन ही कहे गये, सुर अर्थ के–"आये देव-सदा स्वारथी।" (लं० दो० १०१)। नर कामना के "मनकामना सिद्धि नर पावा।" (उ० दो० १२८) और मुनि मोक्ष के—"ताते मुनि हरि-लीन न भयऊ।" (आ० दो० ८) अधिकारी हैं अर्थात् मुनि प्राय. लीन ही होना चाहते हैं। ऊपर–'सेवत तोहि सुलभ फल चारी।' कहा था। उसमें एक फल 'धर्म' का अधिकारी नहीं कहा, वही अपने लिये बचा रक्खा है कि मेरे धर्म को रक्षा हो। जिनको हृदय में बसा आई हूँ, वे ही वर मिलें, तभी मुझे धर्मफल की प्राप्ति हो सकेगी।

(४ 'मोर मनोरथ जानहु नीके …'–आप अंतर्यामिनी रूप से सदा हृदय में बसती हैं। अतः, मेरे हृदय की कामना और उसके प्रकट न कहने का संकोच जानती हैं, यथा—"अंतर्यामिनि भवभामिनि स्वामिनि सों हौं कही चहौं बात मातु अंत तौं हौं लरिकै॥" (गी० बा० ७०)। 'बसहु सदा'-सगुण रूप का सदा हृदयमें बसना दुर्लभ है, पर अंतर्यामी तो वहाँ बसा ही रहता है।

(५) 'कीन्हेउँ प्रगट न कारन …'–जब आप जानती ही है, तब मैं क्यों कहूँ? ऐसा कह चरण पकड़कर देह की सुधि से रहित हो गईं। यथा—"अस बर माँगि चरन गहि रहेऊ।" (दो० १५०)। पूर्व–'बंदि चरन बोली करजोरी।' उपक्रम है और यहाँ–'अस कहि चरन गहे' उपसहार।

इस उपक्रम और उपसंहार के बीच में प्रार्थना की रीती दिखाई गई कि प्रथम कुल की प्रशंसा, फिर स्वरूप की बड़ाई और तब उदारता कहकर वर माँगने से मनोरथ की सिद्धि होती है तथा आदि-अंत में प्रणाम भी करना चाहिये।

> **बिनय - प्रेम - बस भई भवानी। खसी माल मूरति मुसुकानी ॥५॥**
> **सादर सिय प्रसाद सिर धरेऊ। बोली गौरि हरष हिय भरेऊ ॥६॥**
> **सुनु सिय सत्य असीस हमारी। पूजिहि मनकामना तुम्हारी ॥७॥**
> **नारदवचन सदा सुचि साँचा। सो बर-मिलिहि जाहि मन राँचा ॥८॥**

अर्थ—भवानी श्रीगिरिजाजी विनय और प्रेम के वश हो गईं। माला खिसक पड़ी और मूर्त्ति मुसुकाई ॥५॥ श्रीसीताजी ने आदरपूर्वक प्रसाद शिर पर धारण किया (पहन लिया)। गौरीजी का हृदय आनंद से भर गया और वे बोलीं ॥६॥ हे सीताजी ! सुनो, हमारी असीस सत्य है, तुम्हारे मन की कामना पूरी होगी ॥७॥ श्री नारदजी के वचन सदा पवित्र और सत्य हैं। जिसमें तुम्हारा मन रँग गया है, वही वर तुमको मिलेगा ॥८॥

विशेष—(१) 'बिनय-प्रेम-बस भई···'–'बिनय'–वचन, 'प्रेम'–मन, 'चरन गहे'–कर्म; सीताजी के इन तीनों से भवानी वश हो गईं।

विनय के शब्दों के भावों ने भवानी को वश कर दिया। जैसे—'गिरिबरराजकिसोरी' से गौरीजी को बालपन की सुधि आई कि पति की प्राप्ति केलिये हमें भी ऐसी ही आतुरता थी। इससे करुणा हुई। 'महेस-मुखचंद-चकोरी'–का भाव यह कि चकोरी की तरह हमारी एकांगी प्रीति थी, चन्द्रमा की तरह चन्द्रशेखर (शिवजी) उदासीन थे, उनके लिये हमने शरीर ही भस्म कर दिया, इससे और भी प्रेम उमड़ा। इसमें भाव यह है कि रघुपति परस्त्री से उदासीन हैं, और पिता का प्रण कठिन है, यदि वे न मिलें तो मैं (सीताजी) भी शरीर न रक्खूँगी। फिर माता का नाता कहकर दोनों चरण पकड़ लिये, यह कृत्य भी हृदयद्रावक है। 'बैदेही' शब्द हृदय की प्रेम-दशा को जना रहा है, इन कारणों से गिरिजाजी प्रेम-वश हो गईं। प्रसाद देने के विचार से माला खसका दी। यहाँ तक मूर्त्तिरूप में होने की मर्यादा का निर्वाह किया, क्योंकि मूर्त्ति पर से जो फूलमाला गिरकर अपनी ओर आवे, वह प्रसाद कही जाती है, इसी से आगे उस प्रसाद का शिरोधार्य करना कहा गया है ; यथा—"मूरति कृपालु मंजुमाल दै बोलत भई ···" (गी० बा० ७०); फिर अधिक प्रेमवश होने से गिरिजाजी की मूर्त्ति-रूपता की सँभार नहीं रह गई। वे मुसुकाकर बोलीं। प्रसाद देने के लिये माला कहाँ थी ? यह शंका नहीं उठती, क्योंकि प्रथम ही–"पूजा कीन्ह अधिक अनुरागा।' कहा है। उसी समय माला पहनाई गई थी ; क्योंकि पूजा में माला पहनाना मुख्य है।

यहाँ यह भी कहा जाता है कि गिरिजाजी जब वश में हो ही गई हैं, मुसुकाईं और बोली हैं तब चाहतीं तो आदर-पूर्वक ही माला-प्रसाद भी देतीं। मालाप्रसाद शिर में पहना देने की रीति है। यह गिरिजाजी ने नहीं किया, क्योंकि 'दूध का जला मट्ठा फूँककर पीता है' यह कहावत है। एक बार वे चूकी थीं। परीक्षा के लिये सीता-रूप बनाने पर त्यागी गईं। अब यहाँ सीताजी हृदय में श्रीरामजी को बसा आई हैं। इनके गले में माला डालने से कहीं यह श्रीरामजी में जयमाला न समझी जाय और भोलानाथ फिर वही बात न कर बैठें !

'मूरति मुसुकानी'–मुसकाने के भाव–(क) सीताजी विधिवत् पूजन करके वर माँगकर हमारी स्तुति कर रही हैं, हमारी प्रतिष्ठा बढ़ा रही हैं। अतः, गिरिजाजी हर्ष से मुसकुरा पड़ीं। (ख) हम इनका ऐश्वर्य जानती हैं। यथा—"जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी ॥" (दो० १४८)। इस माधुर्य में हम भूलने की नहीं। अतः, मुसुकाने में गूढ़ व्यंग्य है। यथा—"सुनि मुसुकाने सुनि प्रभु-बानी। पूछेहु नाथ मोहि का जानी ॥······ऊमरि तरु बिसाल तव माया।···तै तुम्ह सकल लोकपति साईं। पूछेहु मोहिं मनुज की नाईं॥" (आ० दो० १३)। (ग) नारद-वचन की परीक्षा भी मिल गई, फिर भी बाल-स्वभाव के कारण संतोष नहीं है। यद्यपि हम वर भी देंगी; तथापि ये धनुष टूटने तक बारबार घबरायेंगी।

(२) 'सादर सिय प्रसाद······'—भूमि में खिसक पड़ने से माला का आदर न रहा, क्योंकि मालाप्रसाद शिर में पहनाने की रीति है, पर मूर्त्ति के द्वारा मर्यादा से वैसा ही दिया गया। अतः, उसके प्रति

आदर देती हुई उस माला को लेकर माथे चढ़ाया और फिर गले में पहन लिया। प्रसाद को माथे चढ़ाने का नियम है। यथा—"सो प्रसाद मैं सिर धरि लेवा।" (अ० दो० १०१)।

'बोली गौरि हरष'……'—सीताजी की विधिवत् विनय से, प्रेम से, चरण पकड़ने से और फिर माला-प्रसाद शिरो-धार्य करने से गौरी का हृदय हर्ष से भर गया। जैसे श्रीजानकीजी ने मन, वचन और कर्म से प्रार्थना की थी, वैसे ही भवानी ने तीनों से वर भी दिया—'हरष हिय भरेऊ'–मन, 'बोली'—वचन और 'प्रसाद' दिया, यह कर्म है।

शंका—मूर्त्ति का हँसना अमंगल कहा जाता है, यह क्यों हुआ ?

समाधान—पाषाण-विग्रह में ठठाकर हँसना अमंगल कहा जाता है, पर यहाँ तो मुसकाना मात्र है। फिर यहाँ मूर्त्ति-रूप में देवी साक्षात् रूप में प्रकट हैं, बातें कर रही हैं, प्रसाद एवं आशीर्वाद देकर स्वयं मंगल जना रही हैं। यथा—"सुर प्रगटि पूजा लेहि देहिं असीस…… "(दो० १११)। अतः, यहाँ यह शंका नहीं है।

(३) 'सुनु सिय सत्य'……'—देवी की असीस सच्ची ही होती है, पर दृढ़ता के लिये 'सत्य' कहती हैं। फिर भी सीताजी बाल-स्वभाव से आगे धनुर्भंग के समय घबरा जायँगी। 'मनकामना'—श्रीकिशोरीजी ने कहा था—"मोर मनोरथ जानहु नीके" उसीको 'मनकामना' कहा है।

(४) 'नारद-वचन सदा सुचि'……'—श्रीकिशोरीजी श्रीरामजी की सुकुमारता और धनुष की कठोरता पर घबरा उठी हैं। नारदजी के वचनों पर प्रतीति नहीं रह गई, इसलिये गिरिजाजी उनका सदा सत्य होना कहती हैं। यथा—"बरु पावक प्रगटइ ससि माहीं। नारद-वचन अन्यथा नाहीं॥" (दो० ७०); ऊपर अपनी असीस को 'सत्य' कहा था, यहाँ 'नारद-वचन' को 'सदा सुचि साँचा' कहा। भाव यह कि मैं देवी हूँ और वे तो देवर्षि हैं। अत', उनके वचनों का गौरव अधिक है। वे गिरिजाजी के गुरु भी हैं। अत, उनके वचन श्रेष्ठ हैं ही। 'सदा' क्योंकि इन्हें परीक्षा मिल चुकी है। 'सुचि'—जैसे हिरण्यकशिपु को ब्रह्माजी ने वर दिया, वह सच्चा था, पर उसमें उसकी मृत्यु के कारण गुप्त थे। पर यहाँ नारद के वचनों में कोई कारण गुप्त नहीं है, वे शुद्ध सच्चे हैं।

'सो वर मिलिहि जाहि'……'—'नारद-वचन' के अनुसार ही श्रीकिशोरीजी का मन श्रीरामजी में रँगा है। दो० २२९ देखिये। उसीको लेकर गिरिजाजी असीस दे रही हैं। पूर्वार्द्ध में 'नारद-वचन' की महिमा कही, उत्तरार्द्ध में उसे प्रकट कर रही हैं अर्थात् नारदजी ने यही कहा था कि फुलवारी में जिससे तुम्हारा मन रँग जायगा, वही वर मिलेगा।

छंद—मन जाहि राँचेउ मिलिहि सो वर सहज सुंदर साँवरो।
करुनानिधान सुजान सील सनेह जानत रावरो॥
येहि भाँति गौरि-असीस सुनि सिय-सहित हिय हरषीं अली।
तुलसी भवानिहिं पूजि पुनि पुनि मुदित मन मंदिर चली॥

दोहा—जानि गौरि अनुकूल, सिय-हिय हरष न जाइ कहि।
मंजुल - मंगल - मूल, बाम अंग फरकन लगे॥२३६॥

अर्थ—जिसमें तुम्हारा मन रँग गया है, वही सहज (स्वाभाविक ही = बिना सजे-धजे) सुंदर, श्यामल पति तुम्हें मिलेगा। वे करुणानिधान और सुजान हैं, तुम्हारे शील और स्नेह को जानते हैं॥ इस प्रकार श्रीगौरीजी की असीस सुनकर श्रीसीताजी के साथ सब सखियाँ हर्षित हुईं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि वे बार-बार भवानी की पूजा करके प्रसन्न मन से घर को चलीं॥ गौरीजी को अपने अनुकूल जानकर श्रीसीताजी के हृदय को जो हर्ष हुआ, वह कहा नहीं जा सकता। (उनके) सुन्दर मंगल के कारण (सूचक) बायें अंग फड़कने लगे॥२३६॥

विशेष—(१) 'मन जाहि राँचेउ······'—श्रीकिशोरीजी ने स्तुति में इनमें अन्तर्यामित्व भाव प्रकट किया था, उसी का यहाँ चरितार्थ है। 'मोर मनोरथ जानहु नीके' के उत्तर में 'पूजिहि मनकामना' कहा। पर मन-कामना खुली नहीं थी, अतः—'मिलिहि सो वर' कहा अर्थात् जो इन्होंने—'निज अनुरूप सुभग वर माँगा।' था; पर इसमें भी वर का स्पष्टीकरण नहीं हुआ, इसलिये 'सहज सुंदर साँवरो' कहा।

यहाँ वर देना तीन बार कहा गया—(क) 'पूजिहि मनकामना तुम्हारी।' (ख) 'सो वर मिलिहि···' (ग) 'मन जाहि राचेउ मिलिहि···'। गिरिजाजी ने अपने वचनों की दृढ़ता के लिये तीन बार कहा है। यथा—"पुनि पुनि अस कहि कृपानिधाना।···सत्य सत्य पन सत्य हमारा॥" (दो० १५१)।

(२) 'करुनानिधान सुजान······'—'सुजान' हैं, इससे शील-स्नेह जान लेंगे। यथा—"स्वामि सुजान जान सब ही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की॥" (अ० दो० ३१२)। शील और स्नेह-गुण श्रीजानकीजी में विशेष रूप से हैं, इसीसे माता सुनयना ने भी कहा है—"तुलसी सुसील सनेह लखि निज किंकरी करि मानबी।" (दो० ३३६)। इन गुणों पर करुणा अवश्य होती है। रामजी करुणा के निधान भी हैं। गिरिजाजी इन दो गुणों का परिचय पा चुकी हैं। यथा—"मन महँ रामहि सुमिरि सयानी।" (दो० ५८); तब सुजान श्रीरामजी ने जान लिया और शीघ्र ही वैसा संयोग कर दिया। पुनः शिवजी से इनका सम्बन्ध कराने में भगवान् का करुणा-गुण भी प्रकट हुआ था। यथा—"अति पुनीत गिरिजा के करनी। बिस्तर सहित कृपानिधि बरनी॥······जाइ बिबाहहु सैलजहि·····" (दो० ७६)।

'सिय सहित हिय···'—यहाँ श्रीसीताजी के भीतर हर्ष अधिक है, पर ये संकोच के कारण छिपाये हुई हैं, क्योंकि इन्हें तो पहले भी गुप्त रूप से 'मन-कामना पूजिहि' के वर में ही उत्तर मिल गया था। पर यहाँ वर के लक्षण आदि प्रकट कहे गये, उन्हें सखियों ने भी सुना, इससे इन सबको प्रकट में विशेष हर्ष हुआ। अतः, हर्ष में सखियाँ ही प्रधान हैं।

(३) 'तुलसी भवानिहि पूजि···'—'पुनि-पुनि'—श्रीकिशोरीजी कृतज्ञता प्रकट करते हुए उत्साह-पूर्वक बार-बार गिरिजाजी की पूजा करती हैं, यथा—"प्रेम बिबस पुनि पुनि पद लागी।" (दो० २३५)। मन-भाया वर मिला है। इसलिये अत्यंत प्रेम है, बार-बार पूजा करती हैं। "गईं मुदित मन गौरिनिकेता।" में उपक्रम है और—"मुदित मन मंदिर चली।" पर उपसंहार। उपक्रम में पूजा के उत्साह में मुदित थीं और यहाँ वर पाने से 'मुदित मन' हैं। 'तुलसी'—वर पाने के लिये 'तुलसी' भी मानसिक रूप से पूजन में सम्मिलित हो गये कि ये ही श्याम सुन्दर मेरे भी पति हों। साथ ही वर पाने से ये भी मुदितमन हैं।

(४) 'जानि गौरि अनुकूल···'—मंदिर के भीतर थीं, तब सखियों का हर्ष प्रधान था। यहाँ मार्ग में श्रीजानकीजी का हर्ष प्रधान है जो सर्वथा अकथ्य है, उसको प्रकट करने के लिये एक सोरठा पृथक ही लिखा गया। हर्ष के कारण भी इसीमें कहे गये हैं—गौरी का अनुकूल होना और मांगलिक वाम अंगों के फड़कना आदि हैं।

फुलवारी में श्रीसीताजी का आना पीछे कहा गया था, इसीसे इनका जाना पहले कहा गया। पुनः राजकुमारों का आना पहले हुआ था तो उनका जाना भी पीछे हुआ। अतः, तुल्य वर्णन है।

हृदय सराहत सीय - लोनाई। गुरुसमीप गवने दोउ भाई ॥१॥
राम कहा सब कौसिक पाहीं। सरल सुभाव छुआ छल नाहीं ॥२॥
सुमन पाइ मुनि पूजा कीन्ही। पुनि असीस दुहुँ भाइन्ह दीन्ही ॥३॥
सुफल मनोरथ होहिं तुम्हारे। राम लखन सुनि भये सुखारे ॥४॥

अर्थ—दोनों भाई गुरुजी के समीप चले। (श्रीरामजी) हृदय में सीताजी की सुन्दरता सराहते जाते हैं ॥ १ ॥ श्रीरामजी ने श्रीविश्वामित्रजी से सारा हाल कह दिया (क्योंकि आप) सरल स्वभाव हैं, छल छू भी नहीं गया है ॥२॥ फूल पाकर मुनि ने पूजा की, फिर दोनों भाइयों को आशीर्वाद दिया —॥३ ॥ 'तुम्हारे मनोरथ सुफल हों'— यह सुनकर श्रीराम-लक्ष्मण सुखी हुए ॥ ४ ॥

विशेष—(१) पूर्व श्रीकिशोरीजी का 'मंदिर' जाना कहा; क्योंकि उनका मंदिर है, यथा—"सिय-निवास सुंदर सदन" (दो० २१३)। अब यहाँ से श्रीरामजी का प्रसंग कहते हैं। ये यहाँ गुरुजी के समीप से आये थे अतः, वहीं को लौटना भी कहा। प्रथम—"लेन प्रसून चले दोउ भाई।" कहा था, उसीके जोड़ में यहाँ दोनों भाइयों का लौटना भी कहा गया। अन्यथा यह समझा जाता कि एक किसी कार्य से वहीं रह गये होंगे।

मानस मुखबंध में ग्रंथकार ने कहा है—"जे गावहिं यह चरित सँभारे। ते येहि ताल चतुर रखवारे॥" (दो० ३७) अर्थात् ग्रंथ का पूर्वापर प्रसंग देखकर अर्थ करना चाहिये। यहाँ आपाततः अक्षरार्थ लेने से 'हृदय सराहत' के कर्त्ता 'दोउ भाई' होते हैं, पर यह अयोग्य है। पूर्व में सराहना केवल श्रीरामजी की ही कही गई है। इसलिये चौपाई का अर्थ अवरेब से करना चाहिये। अन्वय करने में "गुरु समीप गवने दोउ भाई।" पहले पढ़कर तब -"हृदय सराहत सीय लुनाई" कहना चाहिये, तो आगे "राम कहा सब .." से सम्बंध भी मिल जाता है, क्योंकि निश्छल हार्दिक भाव से प्रेरित होकर आपने गुरुजी को सारा समाचार कह सुनाया।

(२) 'राम कहा सब कौसिक...'—सरल स्वभाव का अर्थ यहाँ खोला गया है कि जो भीतर हो, उसे ज्यों-का-त्यों कहना ही सरलता है। विशेष करके गुरु से तो दुराव करना मना है, यथा—"होइ न बिमल बिबेक उर, गुरु सन किये दुराव॥" (दो० ४५)। 'छुआ छल नाहीं'—जैसे किसी काल-कर्म की प्रबलता से संतों के मन में छल आ भी जाता है, यही छू जाना है, तो वे उसे विचार-द्वारा हटा देते हैं। पर श्रीरामजी के हृदय में छल का स्फुरण ही नहीं होता, क्योंकि आप सत्यव्रत हैं।

(३) 'पुनि असीस दुहुँ...'—जब श्री रामजी ने सारा समाचार कह सुनाया तब गुरुजी ने उसी समय असीस क्यों नहीं दी, प्रत्युत पूजा करके दी ? इसका उत्तर यह है कि धर्मशास्त्र से फूल लिये हुए प्रणाम और आशीर्वाद दोनों का देना मना है, अन्यथा वे फूल फिर देवता के योग्य नहीं रहते। यथा—"पुष्पहस्ते वारिहस्ते तैलाभ्यंगे जले स्थिते। आशीर्नमस्कारौ चोभौ नरकगामिनी॥" (कूर्मार्णव)। इसलिये मुनि ने फूल लेकर पूजा करके तब असीस दी और फूल लिये हुए थे, इसलिये राजकुमारों ने प्रणाम भी नहीं किया, अन्यथा फूल व्यर्थ होते। यह धर्मशास्त्र की सँभाल एवं लोक-शिक्षा भी है।

(४) 'सुफल मनोरथ होहिं...'—यहाँ आशीर्वाद दोनों भाइयों को दिया गया, पर मनोरथ श्री रामजी ने ही प्रगट किया था, तुलसी और पुष्प लाने में लक्ष्मणजी भी साथ थे, उन्हें अपना मनोरथ नहीं है, किन्तु श्रीरामजी की मनोरथ सिद्धि ही उनका मनोरथ है। 'मनोरथ होहिं' यह बहुवचन है श्रीरामजी के मनोरथ चारो भाइयों का साथ ही व्याह होने के लिये हैं। यथा—"जनमें एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई ॥ करनबेध उपबीत..." (अ० दो० १)। अत, आशीर्वाद के वचन वैसे ही कहे गये। नहीं तो यही कह देते, कि तुम्हें वह कन्या मिले।

करि भोजन मुनिबर बिज्ञानी। लगे कहन कछु कथा पुरानी ॥५॥
बिगत दिवस गुरु आयसु पाई। संध्या करन चले दोउ भाई ॥६॥
प्राचीदिसि ससि उयेउ सुहावा। सिय-मुख-सरिस देखि सुख पावा ॥७॥
बहुरि, बिचार कीन्ह मन माहीं। सीय-बदन - सम हिमकर नाहीं ॥८॥

दोहा—जनम सिंधु पुनि बंधु बिष, दिन मलीन सकलंक।
सिय-मुख समता पाव किमि, चंद बापुरो रंक ॥२३७॥

अर्थ—विज्ञानी मुनि-श्रेष्ठ विश्वामित्रजी भोजन करके कुछ पुरानी कथाएँ कहने लगे ॥५॥ दिन बीतने पर मुनि की आज्ञा पाकर दोनों भाई संध्या करने चले ॥६॥ पूर्व दिशा में सुहावना चन्द्रमा उदित हुआ। श्रीजानकीजी के मुख के समान देखकर सुख पाया ॥७॥ फिर मन में विचार किया कि श्रीजानकीजी के मुख के समान चन्द्रमा नहीं है ॥८॥ समुद्र से तो इसका जन्म है और विष इसका भाई है, दिन में मलीन रहता है और कलंकी है। बेचारा (शोभा का) दरिद्र चन्द्रमा सीताजी के मुख की बराबरी कैसे पा सकता है? ॥२३७॥

विशेष—(१)'करि भोजन मुनि···'—जहाँ भोजन में श्रीरामजी की प्रधानता है, वहाँ भोजन करके विश्राम करना कहा है। यथा—"रिषय संग रघुबंसमनि, करि भोजन बिश्राम।" (दो० २१०)। जहाँ मुनि की प्रधानता है, वहाँ भोजन करके कथा में बैठना कहा है, क्योंकि मुनियों का कालक्षेप कथा में ही हुआ करता है। यह भी कहा जाता है कि आज राजकुमार का चित्त चंचल है, इसलिये मुनि कथा सुनाने लगे, जिससे उनका मन बहले।

(२) 'बिगत दिवस गुरु···'—कोई बड़ी रोचक कथा थी जो दोपहर से संध्या पर्यंत हुई। फिर भी किसी की उठने की इच्छा नहीं हुई। मुनि की आज्ञा से संध्या करने चले। 'चले' अर्थात् गाँव से बाहर नदी, तालाब आदि पवित्र स्थान पर जाना सूचित किया।

(३) 'प्राची दिसि ससि उयेउ···'—पूर्व दिशा की ओर संध्या करने गये, इससे सामने चन्द्रमा देखने में आया। इधर दिन बीता और उधर चंद्रोदय हुआ, इससे पूर्णिमा का चन्द्रमा जनाया और इसीसे 'सुहावा' भी कहा। श्रीजानकीजी का मुख देखकर सुख पाया था, यथा—"देखि सीयसोभा सुख पावा।" (दो० २११); वैसे ही सुख यहाँ भी मिला। यहाँ 'स्मरण' अलंकार है।

संध्या करने चले, पर कर न सके, क्योंकि चित्त व्यग्र था, इसी से 'संध्या की' ऐसा नहीं लिखा गया। पुनः सायंकाल की संध्या पश्चिम मुख बैठकर की जाती है, पर आपका पूर्व मुख बैठना

पाया जाता है, तभी तो सामने पूरब में चन्द्रमा देख रहे हैं। नित्य गुरु-सेवा करके सोया करते थे, आज केवल प्रणाम-मात्र करना लिखा है। यथा—"करि मुनि-चरन-सरोज प्रनामा।" (दो० २३७)। पूर्व शयन करना कहा गया था। यथा—"रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही।" (दो० २२५)। आज केवल विश्राम करना ही लिखा है, यथा—"आयसु पाइ कीन्ह बिश्रामा।" (दो० २३७) अर्थात् नींद भी नहीं पड़ी। इन सब का कारण ग्रंथकार ने स्पष्ट भी कहा है, यथा—"हरषीं सहेली, भयो भावतो गावतीं गीत, गवनी भवन तुलसीस-हियो हरिकै॥" (गी० बा० ७०)। इसीसे संध्या में श्रीकिशोरीजी का ही ध्यान और उन्हीं की शोभा-वर्णन रूपी स्तुति भी हुई।

किसी-किसी का यह भी मत है कि विधिवत् संध्या करके तब चन्द्रमा की शोभा का वर्णन करने लगे। ग्रंथकार सूक्ष्म रीति से ही सब जना देते हैं। यथा—"रघुबर संध्या करन सिधाये" (अ० दो० ८८); वहाँ भी संध्या अवश्य की गई है, पर कहा नहीं गया है। इसी प्रकार अन्य दिनों की भाँति आज भी गुरु-सेवा करके ही शयन में आये होंगे। पूर्व में नित्यचर्या कह दी गई है।

(४) 'बहुरि बिचार कीन्ह मन ···'—एकाएक दृष्टि पड़ने पर चंद्रमा की शोभा मात्र में सीताजी के मुख को समता पाकर सुखी हुए, पर विरही को चन्द्रमा दाहक होता है। इससे कुछ ही देर में दाहकत्व होने से उसमें दोष देख पड़े, तब विचार करने पर बहुत दोष देखने (समझने) में आये। वही कहते हैं—'हिमकर'—अर्थात् अत्यन्त शीत करनेवाला है, पाला वर्षा कर सबको जड़ कर देता है। यहाँ प्रतीप अलंकार का चौथा भेद है। पर, 'सिय-मुख समता पाव किमि ···' में प्रतीप का तीसरा ही भेद समझना चाहिये।

(५) 'जनम सिंधु पुनि···'—जन्म-स्थान, संग, शरीर और स्वभाव—इन चार से उत्तमता एवं निकृष्टता जानी जाती है। चन्द्रमा का जन्मस्थान समुद्र-जड़ है। संग विष का है, क्योंकि मंथन के समय हालाहल विष समुद्र से ही प्रथम निकला था, पीछे चन्द्रमा भी निकला। अतः, विष इसका बड़ा भाई है। इसके यह उसका अनुयायी (दाहक) होगा ही। दिन में मलीन रहता है और गुरु-पत्नी-गमन से कलंकी है एवं शरीर रोग-ग्रस्त है। आगे—"घटइ बढ़इ बिरहिनि दुखदाई। ··" आदि में स्वभाव की भी निकृष्टता कही है। इसकी चारो प्रकार की निकृष्टता कही गई। असंबंधातिशयोक्ति अलंकार है।

घटइ बढ़इ बिरहिनि-दुखदाई। ग्रसइ राहु निज संधिहि पाई॥१॥
कोक-सोकप्रद पंकजद्रोही। अवगुन बहुत चंद्रमा तोही॥२॥
बैदेही-मुख पटतर दीन्हें। होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हे॥३॥
सिय-मुख-छबि बिधुब्याज बखानी। गुरु पहिं चले निसा बड़ि जानी॥४॥
करि मुनि-चरन-सरोज प्रनामा। आयसु पाइ कीन्ह बिश्रामा॥५॥

अर्थ—यह घटता-बढ़ता और वियोगियों को दुःख दिया करता है, अपनी संधि पाकर राहु इसे ग्रस लेता है॥१॥ चकवे-चकवई को शोक देनेवाला और कमल का द्रोही है। हे चन्द्रमा! तुममें बहुत अवगुण हैं॥२॥ विदेहकुमारी श्री सीताजी के मुख से उपमा देना—यह अनुचित कर्म है। इसके करने से बड़ा दोष होगा॥३॥ चन्द्रमा के बहाने श्री सीताजी के मुख की छवि का वर्णन कर और रात बहुत गई जानकर गुरु के पास चले॥४॥ मुनिके चरण-कमलों में प्रणाम कर, आज्ञा पा, विश्राम किया॥५॥

विशेष—(१) 'घटइ बढ़इ बिरहिनि···'—घटना प्रत्यक्ष दोषरूप है। बढ़ने पर भी प्रथम तो विरहियों

को दुःख देता रहता है। फिर पूर्ण होनेपर 'संधि' अर्थात् अवसर पाकर, पूर्णिमा और प्रतिपदा के योग में राहु इसे ग्रसता है। अतः, बढ़ना भी दोष-रूप ही है।

जीव तीन स्थलों के होते हैं, यथा—"जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना॥" (दो० १)। तीनों को चन्द्रमा दुःखदायी है। यह सिद्ध करने के लिये तीनों के एक-एक उदाहरण देते हैं— 'बिरहिनि'-स्थलचर, 'कोक'-नभचर और 'कमल'-जलचर। उदाहरण-"पावकमय ससि स्रवत न आगी। मानहुँ मोहि जानि हतभागी॥" (सुं० दो० ११); "ससि-कर छुवत विकल जिमि कोकू।" (अ० दो० २८); "सियरे वचन सूखि गये कैसे। परसत तुहिन तामरस जैसे॥" (अ० दो० ७०)।

(२) 'अवगुन बहुत चंद्रमा तोही।'-अभी तक कहते रहे। अवगुण बहुत हैं। कबतक कहेंगे? अतः, छोड़ दिया। श्रीसीता जी के पटतर में इसे अवगुणनिधि कहकर उन्हें गुण-निधि जनाया। 'होइ दोष बड़'-इसमें 'बड़' दीप-देहली है। इस तरह मानों कवियों को मना करते हैं कि वे श्रीकिशोरीजी का पटतर इससे न दें।

(३) 'प्रिय-मुख-छवि बिधु…',-यहाँ बखान करना मन-ही-मन हुआ, क्योंकि प्रथम ही कह दिया गया है, यथा-"बहुरि बिचार कीन्ह मन माहीं।" यहाँ से यहाँ तक बखान करना है। 'निसा बड़ि जानी'-बहुत रात बीत गई, शयन का समय हो गया (आधी रात बीत गई); क्योंकि पहुँचकर तुरंत आसन पर जाकर लेटना कहा गया है।

इस पुष्प-वाटिका-प्रसंग में श्रीरामजी और श्रीसीताजी के दो पक्ष समान कहे गये हैं—

श्रीरामजी	श्रीजानकीजी
१—आइ नहाये	मज्जन करि सर
२—समय जानि	तेहि अवसर
३—गुरु-आयसु पाई	जननि पठाई
४—लेन प्रसून	गिरिजा-पूजन
५—संग अनुज	संग सखी
६—लगे लेन दल फूल मुदित मन	गई मुदित मन
७—अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा	लता-ओट तब सखिन्ह लखाये
८—सिय-मुख ससि भये नयन चकोरा	सरद ससिहि जनु चितव चकोरी
९—भये बिलोचन चारु अचंचल	थके नयन रघुपति छबि देखे
१०—मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल	पलकन्हिहूँ परिहरी निमेषे
११—देखि सीय-सोभा सुख पावा	देखि रूप लोचन ललचाने
१२—हृदय सराहत बचन न आवा	अधिक सनेह देह भइ भोरी
१३—सिय सोभा हिय बरनि प्रभु—	लोचन-मग रामहि उर आनी—
१४—आपनि दसा बिचारि	दीन्हे पलक कपाट सयानी
१५—सहज पुनीत मोर मन छोभा	सुमिरि पिता-पन मन अति छोभा
१६—फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता	बाम अंग फरकन लगे
१७—चाह चित्त भीती लिखि लीन्ही	चली राखि उर स्यामल मूरति
१८—गुरु समीप गवने दोउ भाई	गई भवानी-भवन बहोरी

१९—राम कहा सब कौसिक पाहीं सरल सुभाव छुआ छल नाहीं।	मोर मनोरथ जानहु नीके बसहु सदा उर-पुर सब ही के ॥ कीन्हेउँ प्रगट न कारन तेही।
२०—सुमन पाइ मुनि पूजा कीन्ही	बिनय-प्रेम-बस भई भवानी
२१—पुनि असीस दुहुँ भाइन्ह दीन्ही	सुनु सिय सत्य असीस हमारी
२२—सुफल मनोरथ होहिं तुम्हारे	सो बर मिलिहि जाहि मन राँचा
२३—राम लखन सुनि भये सुखारे	सिय-हिय हरष न जाइ कहि

यह पुष्पवाटिका-प्रसंग प्रसन्नराघव नाटक के द्वितीय अंक में वर्णित है। उसके कतिपय अंश यहाँ के प्रसंगों से मिलते हैं।

पुष्प-वाटिका-प्रकरण समाप्त

धनुष-यज्ञ-प्रकरण

बिगतनिसा रघुनायक जागे। बंधु बिलोकि कहन अस लागे ॥६॥
उयेउ अरुन अवलोकहु ताता। पंकज-लोक-कोक-सुख-दाता ॥७॥
बोले लखन जोरि जुग पानी। प्रभु-प्रभाव-सूचक मृदु बानी ॥८॥

अर्थ—रात बीतने पर रघुनाथजी जागे। भाई को देखकर ऐसा कहने लगे ॥६॥ हे तात ! कमल, लोक और चक्रवाक को सुख देनेवाला अरुण-उदय हुआ, देखो ॥७॥ लक्ष्मणजी हाथ जोड़कर प्रभु के प्रभाव को सूचित करनेवाले कोमल वचन बोले ॥८॥

विशेष—(१) 'बंधु बिलोकि'—अर्थात् लक्ष्मणजी प्रथम ही उठकर पास बैठे थे।

(२) 'उयेउ अरुन अवलोकहु'''—प्रातः काल के सूर्य के दर्शन करने को शास्त्र में आज्ञा है। अतः, लक्ष्मणजी से देखने को कहते हैं। यह भी जान पड़ता है कि विरह में आँखें नहीं लगीं। प्रातःकाल की प्रतीक्षा करते थे। तीन दंड रात रहने पर पूर्व दिशा में कुछ ललाई आ जाती है, उसे ही अरुणोदय कहते हैं। यथा—"पञ्चपञ्च उषाकालः सप्तपञ्चारुणोदयः। अष्टपञ्च भवेत्प्रातः शेषः सूर्योदयो मतः।" (कृत्यशिरोमणि)। पूर्व चन्द्रमा का तीनों स्थलों के जीवों के लिये दुःखदायी होना कहा था, उन्हीं तीनों के लिये सूर्य का सुखदायी होना कहते हैं, कमल जलचर, कोक नभचर और लोक अर्थात् मनुष्य स्थलचर; मनुष्यों में विशेष कर विरही लोगों से तात्पर्य है। श्रीरामजी स्वयं विरही हैं। अतः, चन्द्रमा तप्त, दुःखदायी और सूर्य सुखद लगता है।

(३) 'बोले लखन'—यहाँ श्रीरामजी के हृदय की व्यग्रता का लक्ष्य करके सांत्वना देते हुए लक्ष्मणजी उनका प्रभाव कहेंगे, जिससे यह सिद्ध होगा कि धनुष प्रभु ही तोड़ेंगे। इससे प्रभु को प्रसन्नता होगी। प्रभु के हृद्गत भाव लक्ष्य करने के सम्बन्ध से 'लखन' कहा गया है। 'जोरि जुग पानी'—यह शिष्टाचार है। पुनः यह भी भाव है कि आपके (श्रीरामजी के) विषय में वेद भी नेति-नेति कहते हैं, मेरे (लक्ष्मणजी के) कहने के दोषों और चपलता को क्षमा कीजियेगा।

दोहा—अरुनोदय सकुचे कुमुद, उडुगन-जोति मलीन।
जिमि तुम्हार आगमन सुनि, भये नृपति बलहीन ॥२३८॥

नृप सब नखत करहिं उजियारी। टारि न सकहिं चापतम भारी ॥१॥
कमल कोक मधुकर खग नाना। हरषे सकल निसा-अवसाना ॥२॥
ऐसेहि प्रभु सब भगत तुम्हारे। होइहहिं टूटे धनुष सुखारे ॥३॥

अर्थ—अरुणोदय होते ही कुमुद (कुईं) संकुचित हो गये, तारागण प्रकाशहीन हो गये। वैसे आपका आगमन सुनकर राजा लोग बलहीन हो गये हैं ॥२३८॥ सब राजा रूपी नक्षत्र उजाला करते हैं, पर धनुष रूपी भारी अंधकार को नहीं हटा सकते ॥१॥ रात के अंत होने से अनेक कमल, चकवाक, भ्रमर और पक्षी—सभी हर्षित हुए ॥२॥ इसी प्रकार, हे प्रभो! आपके सब भक्त धनुष टूटने पर सुखी होंगे ॥३॥

विशेष—(१) 'अरुनोदय सकुचे···'—इसमें दो उपमेयों के लिये एक उपमान नृपति कहा है। यथा—"सकुचे सकल भुआल, जनु बिलोकि रवि कुमुदगन।" (दो० २४९); पुनः—"श्रीहत भये भूप धनु टूटे। जैसे दिवस दीपछवि छूटे॥" (दो० २६२); अर्थात् कुमुद के द्वारा राजाओं की प्रतापहीनता और उडुगण के द्वारा तेजोहीनता कही गई। ये दोनों गुण एक-एक प्रकार के बल हैं।

(२) 'टारि न सकहिं···'—सब तारागण मिलकर भी अंधकार का निवारण नहीं कर सकते, वैसे सब राजगण एक साथ भी लगकर भारी धनुष नहीं हटा सकेंगे।

(३) 'कमल कोक मधुकर ··ऐसेहि···'—कमल आदि रात के रहते चिन्तित रहते हैं, सूर्य के उदय पर सुखी होते हैं। वैसे यहाँ श्रीजानकीजी कमल की तरह प्रभु के प्रताप रूप सूर्य के उदय के आश्रित हैं, अन्यथा वे सम्पुटित ही रह जायँगी। उनके माता-पिता चकवे-चकई की तरह चिंतित हैं। श्रीजानकीजी की सखियाँ भ्रमरों की तरह हैं, इन्हें श्रीजानकी के ही सुख में सुख है। जैसे कमल के विकास में भ्रमरों को सुख होता है। 'नाना खग' की तरह जनकपुर के रहनेवाले हैं। ये सब धनुष टूटने ही पर सुखी होंगे। उपमाओं में कहीं-कहीं लिंग-विरोध भी हो तो ग्रहण करना चाहिये—यदि धर्म मिलते हों, जैसे—"सरसइ ब्रह्म बिचार···" (दो० १)। यहाँ ज्ञानी, आदि चार प्रकार के भक्तों को धनुर्भंग के निमित्त दुःख का प्रसंग नहीं है और उपर्युक्त लोगों में दुःख और सुख पूर्णतया घटित हैं। दुःख के उदाहरण ऊपर कह आये हैं। सुख के उदाहरण—"सीय-सुखहिं बरनिय केहि भाँती।" (दो० २६२)। सखियाँ इनके साथ ही सुखी हैं—"सखिन्ह सहित हरषीं सब रानी।" "जनक लहेउ सुख सोच बिहाई।" (दो० २६२), "मुदित कहहिं जहँ-तहँ नर-नारी। भंजेउ राम संभुधनु भारी॥" (दो० २६१)।

उयेउ भानु बिनु श्रम तम नासा। दुरे नखत जग तेज प्रकासा ॥४॥
रबि निज-उदय-ब्याज रघुराया। प्रभु-प्रताप सब नृपन्ह दिखाया ॥५॥
तव भुज-बल-महिमा उदघाटी। प्रगटी धनु-बिघटन-परिपाटी ॥६॥
बंधुबचन सुनि प्रभु मुसकाने। होइ सुचि सहज पुनीत नहाने ॥७॥

नित्यक्रिया करि गुरु पहिं आये। चरनसरोज सुभग सिर नाये ॥८॥

शब्दार्थ—बिघटन = तोड़ने को। परिपाटी = रीति, परंपरा, प्रणाली। उदघाटी = उदयाचल की घाटी, खोलना।

अर्थ—सूर्य के उदय से बिना श्रम के अँधेरा मिट गया, नक्षत्र छिप गये और जगत् में तेज का प्रकाश हुआ ॥४॥ हे रघुनाथजी ! सूर्य ने अपने उदय के बहाने से प्रभु (आप) का प्रताप सब राजाओं को दिखाया है ॥५॥ आपकी भुजाओं के बल की महिमा को खोलकर दिखाने के लिये धनुष तोड़ने की यह परंपरा प्रकट हुई है अथवा आपकी भुजाओं के बल की महिमा उदयाचल की घाटी है जहाँ से धनुप तोड़ने की परिपाटी-द्वारा उपर्युक्त प्रताप-रूपी सूर्य प्रकट होता है; क्योंकि उदयाचल की घाटी में आने से ही सूर्य को संसार जानने लगता है ॥६॥ भाई के वचन सुनकर प्रभु मुसुकाये, जो स्वाभाविक ही पवित्र हैं। वे शौच आदि से निवृत्त होकर नहाये ॥७॥ नित्य कर्म करके गुरु के पास आये और उनके चरण-कमलों में सुन्दर शिर झुकाया ॥८॥

विशेष—(१) 'रवि निज-उदय······प्रभु-प्रताप ···'—श्रीरामजी का प्रताप सूर्य है, यथा—"जब ते राम-प्रताप खगेसा। उदित भयो अति प्रबल दिनेसा ॥" (उ० दो० ३०)। राजा लोग उडुगण (तारे) हैं, यथा—"देखियत भूप भोर के से उडुगन गरत गरीब गलानि हैं।" (गी० बा० ७८)। यहाँ सूर्य ने दिखाया है कि जैसे भारी अंधकार तारागण से नहीं हट सका था, वह हमारे उदय से बिना श्रम ही मिट गया, वैसे सब राजा लोग श्रम से भी धनुप नहीं हटा सकेंगे और हमारे कुल के भूषण श्रीरामजी ही उसे तोड़ेंगे। राजाओं को तारागण कहा, क्योंकि वे बहुत हैं। यद्यपि चन्द्रमा भी सूर्य के सामने निस्तेज हो जाता है, तथापि यहाँ नहीं कहा, क्योंकि वह एक ही है और कुछ अंशों में अंधकार हरता भी है, पर ये राजा अनेक हैं और धनुप को तिल भर भी नहीं हटा सकेंगे। पुनः आगे श्रीरामजी को चन्द्रमा भी कहना है, यथा—"राज समाज बिराजत रूरे। उडुगन महँ जनु जुग बिधु पूरे ॥"

(२) 'बंधु वचन सुनि प्रभु ······'—'मुसकाने'—बड़ों के मुख से अपनी प्रशंसा सुनकर सकोच से मन में ही मुसकाते हैं। यथा—"सुनि मुनि-बचन प्रेम रस साने। सकुचि राम मन महँ मुसकाने ॥" (अ० दो० १२७); लक्ष्मणजी छोटे हैं। अतः, संकोच नहीं है और प्रकट में मुसकुराये। 'प्रभु'—क्योंकि राजाओं का स्वभाव होता है कि प्रशंसा सुन मुसकाकर प्रशंसक का मन रखते हैं।

'बंधु बिलोकि कहन अस लागे।'—उपक्रम है, और 'बंधु-बचन सुनि ······'—उपसंहार।

(३) 'नित्यक्रिया करि···',—नित्य नियम करके गुरु को प्रणाम करना चाहिये। इससे नित्य-कर्म की भूलचूक भी पूर्ण हो जाती है। प्रभु सब को शिक्षा देते हैं, क्योंकि वे मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं। इससे यह भी स्पष्ट है कि अपना नित्य-नियम गुरुजनों के सामने से अलग करना चाहिये। 'सुभग सिर' प्रभु अपने आचरण से उपदेश देते हैं कि वे ही शिर सुभग हैं, जो हरि और गुरु को प्रणाम करें, यथा—"ते सिर कटुतुम्बरि समतूला। जे न नमत हरि-गुरु पदमूला ॥" (दो० ११३)।

सतानंद तब जनक बोलाये। कौसिक मुनि पहिं तुरत पठाये ॥ ९ ॥
जनकबिनय तिन्ह आइ सुनाई। हरषे बोलि लिये दोउ भाई ॥१०॥

दोहा—सतानंद-पद बंदि प्रभु, बैठे गुरु पहिं जाइ।
चलहु तात मुनि कहेउ तब, पठवा जनक बोलाइ ॥२३६॥

अर्थ—तब श्रीजनकजी ने श्रीशतानंदजी को बुलवाया और शीघ्र ही विश्वामित्रजी के पास भेजा ॥९॥ उन्होंने आकर राजा जनक की प्रार्थना सुनाई। मुनि प्रसन्न हुए और उन्होंने दोनों भाइयों को बुला लिया ॥१०॥ श्रीशतानंद जी के चरणों को प्रणाम करके प्रभु गुरुजी के पास जा बैठे। तब मुनि ने कहा—हे तात! चलो, राजा जनक ने बुला भेजा है ॥२३९॥

विशेष—(१) 'सतानंद तब···'—विश्वामित्र महा मुनि हैं, उनके सम्मान के लिये अपने गुरु को भेजा और सबसे प्रथम। अन्य राजाओं के यहाँ मंत्रियों को भेजा। मुनि महात्मा हैं, इससे भी इनके यहाँ महात्मा ही को भेजा। 'तुरत'-जिससे भीड़ न होने पावे, मुनि आ जायँ और वे प्रथम ही सम्मान-सहित बैठा दिये जायँ। राजा ने अपनी ओर से यह उचित किया। पर मुनि पीछे जायँगे, यह इन्हें उचित है, क्योंकि बड़े लोग सभा में पीछे आते हैं।

(२) 'बोलि लिये'—श्रीरामजी नित्य-क्रिया करके गुरुजी को प्रणाम कर मुनि-मंडली को प्रणाम करते थे, इससे पास ही थे, अतः मुनि ने बुला लिया। यह साधुओं में नियम है कि नित्य-नियम करके गुरु को प्रणाम कर फिर पास के सब लोगों को प्रणाम करना चाहिये।

(३) 'मुनि कहेउ तब'—जब श्रीरामजी शतानंदजी की वंदना करके आसन पर बैठ गये, तब मुनि ने कहा; अन्यथा ज्यों-के-त्यों खड़े ही रह जाते, इससे मुनि का प्रेम जाना गया।

यहाँ शतानंदजी की वंदना की। प्रथम जब ये जनकजी के साथ मिलने आये थे, तब नहीं की थी, क्योंकि परिचित न थे और सब ब्राह्मणों के साथ ये भी खड़े हुए थे, फिर कैसे जानते?

सीय-स्वयंबर देखिय जाई। ईस काहि धौं देइ बड़ाई ॥१॥
लखन कहा जसभाजन सोई। नाथ कृपा तव जापर होई ॥२॥
हरषे मुनि सब सुनि बरबानी। दीन्हि असीस सबहिं सुख मानी ॥३॥
पुनि मुनि-बृंद-समेत कृपाला। देखन चले धनुष-मखसाला ॥४॥

अर्थ—चलकर श्रीसीताजी का स्वयंवर देखिये। देखें, ईश्वर किसे बड़ाई देते हैं? ॥ १ ॥ श्रीलक्ष्मणजी ने कहा, हे नाथ! यश का पात्र वही होगा, जिसपर आपकी कृपा होगी ॥ २ ॥ इस श्रेष्ठ वाणी को सुनकर सब मुनि प्रसन्न हुए और सुख मानकर सभीने आशीर्वाद दिया ॥ ३ ॥ फिर कृपालु श्रीरामजी मुनि-समूह के साथ धनुष-यज्ञशाला देखने चले ॥४॥

विशेष—(१) 'सीय स्वयंबर देखिय···'—श्रीसीताजी का स्वयंवर चार प्रकार से कहा गया है—(क) वर-कन्या की इच्छानुसार, यथा—"चली राखि उर स्यामल मूरति।" और—"चाह चित्त भीती लिखि लीन्ही।" (ख) प्रतिज्ञानुसार—"टूटत ही धनु भयेउ बिबाहू।" (ग) जयमाल-स्वयंवर—"सिय जयमाल राम-उर मेली।" (घ) कुल-रीति के अनुसार—"तदपि जाइ तुम्ह करहु अब, जथा बंस-व्यवहार। कुँअरि कुँअर कल भाँवरि देहीं।" 'ईस' अर्थात् ईश्वर, महादेव, यथा—"नमकि ताहि ये तोरिहिं कहब महेस।" (बरवा १।१४)। ऐसा कोई-कोई कहते हैं कि धनुष श्रीशिवजी का है, वे चाहे जिसे बड़ाई दें। वस्तुतः यहाँ ईश्वर से परमात्मा का तात्पर्य है। विष्णु भगवान् के द्वारा जड़ हो जाने पर शिवजी स्वयं इसे नहीं लचा सके थे तो वे दूसरे से कैसे तोड़ा सकते हैं? 'धौं'—यह दुविधावाचक अव्यय है। मुनि त्रिकालज्ञ होते हुए भी दुविधा कहते हैं, क्योंकि ईश्वर की गति को कोई भी सर्वथा जानने में असमर्थ

है। जितने अंश में वह स्वयं बनाता है, वह भी ध्यान-द्वारा जाना जाता है। पुनः दैवयोग से भी ऐसा कहा गया, जिससे यात्रा में पूर्व ही मुनियों का आशीर्वाद भी हो गया।

मानस-मुखबंध में कहा है—"सीय-स्वयंवर कथा सुहाई। सरित सुहावनि सो छवि छाई॥" (दो० ४०)। वह प्रसंग यहीं से प्रारंभ है और—"रघुबर-उर जयमाल" (दो० २६४) पर समाप्त है। उससे आगे—"घोर धार भृगुनाथ रिसानी।" का प्रसंग है।

(२) 'हरषे मुनि सब सुनि···'—लक्ष्मणजी की वाणी में श्रेष्ठता यह है कि मुनि ने दुविधा कही थी, इन्होंने मुनि का प्रभाव आगे करके निश्चय कर लिया, क्योंकि मुनि दूसरे ब्रह्मा हैं। यथा—"रहै रघुनाथ की निकाई नीकी नीके नाथ हाथ सों विहारे करतूति जाकी नई है।" (गी० बा० ८४)। यह भी श्रेष्ठता है कि यदि कहते कि आपकी कृपा से श्रीरामजी धनुष तोड़ेंगे तो इनमें गुरुजी से अधिक सर्वज्ञता पाई जाती, यह भी सँभाल है। यह वाणी सबको रुचिकर, गूढ़ आशय युक्त और स्नेह-वर्द्धक है कि हमारे ईश तो आप ही हैं। इससे मुनि स्वयं हर्षित नहीं हुए, क्योंकि इसमें उनकी प्रशंसा है और अन्य मुनियों के गुरु की लक्ष्मणजी के द्वारा प्रतीति और प्रशंसा है। इससे वे सब प्रसन्न हुए और आह्लादपूर्वक आशीर्वाद भी दिया—'तुम्हीं दोनों भाई यश के पात्र बनो।'

(३) 'पुनि मुनि वृंद-समेत···'—'पुनि' अर्थात् आशीर्वाद पाने के पीछे वा एक बार नगर-दर्शन के समय देख चुके हैं। अब दोबारा आ रहे हैं। अतः, 'पुनि' कहा है। 'कृपाला'—क्योंकि धनुर्भंग से बहुतों पर कृपा होगी। चलने में श्रीरामजी की प्रधानता है; क्योंकि राजाओं का स्वयंवर है। वहाँ राजाओं की ही प्रधानता चाहिये। पुनः यहाँ शृंगार और वीर-रस का प्रसंग है, इससे भी वीर और सुन्दर राजकुमारों की प्रधानता है।

रंगभूमि आये दोउ भाई। असि सुधि सब पुरबासिन्ह पाई॥५॥
चले सकल गृहकाज बिसारी। बाल जुबान जरठ नर नारी॥६॥
देखी जनक भीर भइ भारी। सुचि सेवक सब लिये हँकारी॥७॥
तुरत सकल लोगन्ह पहिं जाहू। आसन उचित देहु सब काहू॥८॥

दोहा—कहि मृदु बचन बिनीत तिन्ह, बैठारे नर-नारि।
उत्तम मध्यम नीच लघु, निज निज थल अनुहारि॥२४०॥

अर्थ—दोनों भाई रंगभूमि में आये, ऐसी खबर सब पुर-वासियों ने पाई॥५॥ बालक, युवा, बूढ़े, स्त्री-पुरुष सब घर के कार्य भुलाकर चल दिये॥६॥ राजा जनक ने देखा कि भारी भीड़ हो गई, तब सब पवित्र सेवकों को बुलवा लिया॥७॥ (और कहा कि) शीघ्र ही सब लोगों के पास जाओ और सब किसी को यथायोग्य आसन पर बैठाओ॥८॥ उन्होंने कोमल और नम्र वचन कहकर उत्तम, मध्यम, नीच और लघु (छोटे)—सभी स्त्री-पुरुषों को उनके योग्य स्थानों पर बैठाया॥२४०॥

विशेष—(१) 'रंगभूमि आये दोउ··'—यहाँ शृंगार-रस प्रधान है। अतः, संग में भी मुनि का नाम नहीं कहा।

'चले सकल गृह'...'—'चले'—क्योंकि यहाँ वृद्ध भी साथ हैं। अतः, धीरे-धीरे चल रहे हैं। नगर-दर्शन के समय—"धाये धाम काम सब त्यागी।" कहा है, वहाँ वृद्धों का साथ नहीं है 'चले' अर्थात् शरीर से त्याग दिया। 'बिसारी' अर्थात् मन से त्यागा। इस तरह दोनों प्रकार से गृह-कार्य छोड़कर चले हैं। चलने की रीति भी सूचित की है कि 'बाल' और 'जरठ' के बीच में 'जुवान' शब्द है। अतः, युवा पुरुष एक हाथ से बच्चों और दूसरे से बूढ़ों को थामे हुए चलते हैं, ऐसे ही युवती स्त्रियाँ भी एक ओर लड़कियों और दूसरी ओर बुढ़ियों को सँभाले चल रही हैं।

(२) 'सुचि सेवक सब लिये'...'—'सुचि' यथा—"अस बिचारि सुचि सेवक बोले। जे सपनेहुँ निज धरम न डोले॥" (अ० दो० १८५); अर्थात् जो स्वामी के आज्ञा-पालन-रूप स्वधर्म में दृढ़ नैष्ठिक हैं, ऐसे नहीं हैं कि कुछ घूस लेकर अथवा अपने लगाववाले को ऊँचे बैठा दें। 'सुचि' में सच्चरित्र, सदाचारी, चतुर एवं विश्वास पात्र—सभी गुणवाले आ सकते हैं।

(३) 'तुरत सकल लोगन्ह'...'—क्योंकि यदि पहले अनुचित जगह पर बैठ जायँगे तो उठाना भी अनुचित ही होगा।

(४) कहि मृदु बचन...'—मन से शुचि, वचन से मृदु और तन से विनीत हैं अर्थात् हाथ जोड़कर मृदुवाणी से उचित सम्बोधन के साथ हार्दिक प्रीतिपूर्वक यथायोग्य बैठाया।

राजकुँअर तेहि अवसर आये। मनहुँ मनोहरता तनु छाये॥१॥
गुनसागर नागर बर बीरा। सुंदर स्यामल-गौर-सरीरा॥२॥
राज-समाज बिराजत रूरे। उडुगन महँ जनु जुग बिधु पूरे॥३॥

शब्दार्थ—रूरे (सं० रूढ़ = प्रशस्त) = सुंदर, सबसे श्रेष्ठ, विलक्षण, प्रकाशवान्।

अर्थ—राजकुमार उसी अवसर पर आये, मानों मनोहरता से शरीर व्याप्त है॥१॥ गुणों के समुद्र चतुर और श्रेष्ठ वीर हैं, सुन्दर श्याम और गोरे शरीर धारी हैं॥२॥ राज-सभा में सबसे श्रेष्ठ शोभायमान हैं, मानों तारागणों के बीच में दो पूर्ण चन्द्रमा विराजमान हों॥३॥

विशेष—(१) 'तेहि अवसर'—सम्पूर्ण सभा के बैठ जाने पर, बड़े लोगों के आने का यही अवसर है कि सभा भर के लोग जानें कि अमुक आये और राजा की ओर से उनका कैसा स्वागत हुआ; आदि। ये अवसर के जानने में बड़े निपुण हैं, यथा—"तेहि अवसर आये दोउ भाई।" (दो० ११४)। शोभा-वर्णन का प्रसंग है। अतः, 'राजकुँअर' नाम दिया। 'आये' और 'छाये' बहुवचन हैं; अतः, दोनों भाइयों के लिये हैं। औरों के शरीर वस्त्राभूषणों से भरे हैं; अर्थात् वे सजने-धजने से सुन्दर हैं और ये राजकुमार सहज ही सुंदर हैं, अंग-अंग में मनोहरतापूर्ण है। यथा—"निरखि सहज सुंदर दोउ भाई। होहि सुखी लोचनफल पाई॥" (दो० २११) अर्थात् नेत्र तृप्त होने से मन भी हर जाता है।

(२) 'गुन-सागर नागर बरबीरा'—ये तीनो गुण यहीं पर आगे प्रकट होंगे, यथा—"जिन्ह के रही भावना जैसी।"...से—"तेहि तस देखेउ कोसलराऊ॥" तक में गुणसागरता है, वचनों से परशुराम को पराजित करने में नागरता है। यथा—"जयति वचन-रचना अति नागर।" (दो० २८४); और धनुष तोड़ने में लोकोत्तर वीरता है अथवा गुण-सागर से कृपा, दया आदि सात्त्विक गुण और नागर से व्यावहारिक चातुर्य भी जनाया। यथा—"गुणैर्विरुरुचे रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः॥" (वाल्मी० २।१।१२)। पुनः 'बर बीरा' कहने से कठोरता का संदेह होता। अतः—'सुंदर स्यामल...'

कहा। यह भी जनाया कि दोनों में वर्ण-मात्र का भेद है—एक श्याम और दूसरे गौर, पर और सब गुणों में दोनों ही समान हैं।

(३) 'उडुगन महँ जनु जुग बिधु पूरे।'—यहाँ अभी धनुष रूपी 'तम' को (अर्थात् अँधेरी) रात बनी है। अतः, चन्द्रमा कहा; क्योंकि रात में चन्द्रमा के साथ तारा-गण शोभा पाते हैं, वैसे अभी राजा लोग भी सोहते हैं। आगे जब धनुष टूटने का समय आवेगा, तब रामजी को 'बाल पतंग' कहेंगे—"उदित उदय गिरि मंच···" (दो० २५४)। उस समय राजा लोग हारकर अत्यन्त फीके पड़ जायँगे। यथा—"देखियत भूपभोर के से उडुगन गरत गरीब गलानि हैं।" (गी० बा० ७८)। पूर्व—'रवि निज उदय व्याज···' पर तो उदय की बात कही गई है, उसका कार्य तो आगे धनुर्भंग ही पर है। अतः, अभी चन्द्रमा ही कहना योग्य है।

जिन्हके रही भावना जैसी। प्रभुमूरति देखी तिन्ह तैसी ॥४॥
देखहिं भूप महा रनधीरा। मनहुँ बीररस धरे सरीरा ॥५॥
डरे कुटिल नृप प्रभुहिं निहारी। मनहुँ भयानक मूरति भारी ॥६॥
रहे असुर छल छोनिप-बेखा। तिन्ह प्रभु प्रकट कालसम देखा ॥७॥
पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नरभूषन लोचन-सुख-दाई ॥८॥

दोहा—नारि बिलोकहिं हरषि हिय, निज निज रुचि अनुरूप।
जनु सोहत सिंगार धरि, मूरति परम अनूप ॥२४१॥

अर्थ—जिनके (हृदय में) जैसी भावना थी, उन्होंने प्रभु की वैसी ही मूर्त्ति देखी ॥४॥ राजा लोग इन्हें महारणधीर देखते हैं, मानों वीर-रस ने ही शरीर धारण किया है ॥५॥ कुटिल राजा प्रभु को देख कर डर गये, मानों बहुत भारी भयावनी मूर्त्ति है ॥६॥ जो असुर (दैत्य) लोग छल से राजा के वेष में थे, उन्होंने प्रभु को प्रत्यक्ष काल के समान देखा ॥७॥ पुरवासियों ने दोनों भाइयों को मनुष्यों में भूषण रूप और आँखों को सुख देनेवाले देखा ॥८॥ स्त्रियाँ हृदय में हर्षित होकर अपनी-अपनी रुचि के अनुसार प्रभु को देखती हैं, मानों परम अनुपम मूर्त्ति धारण करके श्रृंगार रस सोहता है ॥२४१॥

विशेष—(१) 'जिन्हके रही भावना···'—'यादृशी भावना यस्य' अर्थात् भगवान् लोगों के ध्यान के अनुसार दीखते हैं। यथा—"तुलसी प्रभु-सुभाव सुरतरु सम ज्यों दर्पन मुखकान्ति।" (वि० २३३) तथा—"मणिर्यथा विभागेन नीलपीतादिभिर्युता। रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात्तथाच्युतः ॥" यह स्मृति है। इसी का प्रसंग यहाँ चरितार्थ है। सामान्यतया श्रीरामजी राजकुमार-रूप में ही हैं, उसीमें अनेक प्रकार देख पड़े।

(२) 'देखहिं भूप महा रनधीरा···'—मंच के क्रम से राजा लोग आगे हैं, ये सब धनुष तोड़ने आये हैं। अतः, वीर और रणधीर हैं। यथा—"बिपुल बीर आये रनधीरा।" (दो० २५०)। इसलिये प्रभु इन्हें वीर और रणधीर के रूप में देख पड़े। यहाँ वीर-रस का ध्यान है और वीर-रस प्रधान है, इसलिये इसीसे वर्णन आरम्भ हुआ। आगत राजाओं को निश्चय हो रहा है कि ये ही धनुष तोड़ेंगे। इसी से आगे शीघ्र ही उठाने को दौड़ेंगे कि प्रथम ही हम तोड़ डालें।

(३) 'डरे कुटिल नृप'''—रामजी कुटिल राजाओं को भयंकर रूप में देख पड़े, यथा—"अपभय कुटिल महीप डेराने। जहँ-तहँ कायर गवँहि पराने॥" (दो० २८०)। ईश्वर-इच्छा में बँधे हैं, नहीं तो भाग जाते। 'प्रभुहिं'—ये लोग स्वयं भी प्रभुता वाले हैं, यथा—"लेहु छुड़ाइ सीय कह कोऊ।" (दो० २४५); परन्तु श्रीरामजी तो इनसे भी 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं। 'भारी'—छोटा रूप भयानक भी हो तो विशेष भय नहीं होता। अतः, भारी देख पड़े। यहाँ भयानक रस है।

(४) 'रहे असुर छल'''—कपट वेष में देवता और असुर दोनों हैं। यथा—"देव दनुज धरि मनुज-सरीरा।" (दो० २५०)। उनमें जो असुर थे, उन्हें काल-रूप देख पड़े। 'प्रगट' अर्थात् काल मूर्त्तिमान् नहीं है, पर उन्हें प्रत्यक्ष देख पड़ा। यहाँ रौद्र रस है। (यहाँ तक प्रथम मंच के राजा लोग हुए)।

(५) 'पुरबासिन्ह देखे '''—पुरवासियों का भाव शृंगार रस का ही है, यह नगर-दर्शन में कहा गया है। यथा—"जिन्ह निज रूप-मोहनी डारी। कीन्हे स्वबस नगर-नर-नारी" (दो० २१८)। उसी को यहाँ—'नर-भूषन-लोचन सुखदाई।' कहकर जनाया है। यहाँ शृंगार रस की कली है, अगले दोहे में उसका विकास है।

(६) 'नारि बिलोकहिं हरषि'''—इन नारियों का श्रीजानकीजी से जैसा नाता है, उन्हीं के अनुसार ये अपना नाता जोड़ती हैं। सबके जी में यही है कि ये श्रीजानकीजी के पति हों।

इनमें मुग्धा (वह नायिका जिसमें संकोच का भाव अधिक हो) शृंगार मूर्त्ति, मध्या (वह नायिका जिसमें संकोच और काम दोनो समान हों।) परम शृंगार-मूर्त्ति और प्रौढ़ा (वह नायिका जिसमें संकोच कम हो।) परम अनूप शृंगार-मूर्त्ति देखती हैं।

बिदुषन्ह प्रभु बिराटमय दीसा। बहु-मुख-कर पग-लोचन-सीसा ॥१॥
जनक जाति अवलोकहिं कैसे। सजन सगे प्रिय लागहिं जैसे ॥२॥
सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु-सम प्रीति न जाइ बखानी ॥३॥
जोगिन्ह परम तत्त्वमय भासा। सांत-सुद्ध-सम सहज प्रकासा ॥४॥
हरिभगतन्ह देखे दोउ भ्राता। इष्टदेव इव सब सुखदाता ॥५॥

अर्थ—पंडितों ने प्रभु को विराट् रूप में देखा, जिसमें मुख, हाथ, पैर, नेत्र और शिर बहुत थे ॥ १ ॥ राजा जनक के जाति-वर्ग (कुटुम्बी) प्रभु को किस भाव से देखते हैं, जैसे सगे सजन (प्रियतम या स्व-जन) प्रिय लगते हैं ॥२॥ जनकजी के साथ रानियाँ उन्हें बालक के समान देखती हैं, इनकी प्रीति कही नहीं जा सकती ॥३॥ योगियों को शान्त, शुद्ध, सम (एकरस), स्वत. प्रकाशरूप और परम तत्त्वमय अनुभूत हुए ॥४॥ हरिभक्तों ने दोनो भाइयों को सर्व सुख देनेवाले इष्टदेव के समान देखा ॥५॥

विशेष—(१) 'बिदुषन्ह प्रभु बिराटमय ' '—विदुष (पंडित) वेदों के ज्ञाता होते हैं। वेदों में प्रभु का विराट् रूप कहा गया है। यथा—"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। सभूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥" सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।'''" (श्वे० ३।१४-१५)। इस

शिर-मुख आदि के वर्णन में क्रम नहीं है, क्योंकि मुख, कर, पग कहकर फिर नेत्र और शिर कहा है, इसका कारण ऊपर के श्रुति-प्रमाण में स्पष्ट है कि जब सभी तरफ आँख-पग आदि हैं, तब क्रम कहाँ? पग में भी नेत्र-शिर होंगे। यही वीभत्स रस है।

(२) 'जनक जाति अवलोकहिं···'–'सजन सगे' अर्थात् सगे सम्बन्धी नातेदार जैसे प्रिय लगें। इसमें हास्य-रस एवं सख्य-रस है।

(३) 'सहित बिदेह बिलोकहिं रानी।···'—शिशु पर माता का विशेष वात्सल्य रहता है, इसलिये यहाँ रानियों की प्रधानता कही गई है। 'सिसु-सम' अर्थात् बालक के समान, अतः जामाता की प्रीति है। यहाँ करुणा और वात्सल्य-रस है। बच्चे के प्रति माँ-बाप में तरह-तरह के प्यार के भाव जाग्रत होते हैं, इसी से 'नहिं जाइ बखानी' कहा है।

जनक-जाति से राजा-रानी की और उनसे श्री जानकीजी की अधिक प्रीति है, वैसे क्रमशः अधिक शब्द रक्खे गये हैं, यथा—'प्रिय लागहिं' 'प्रीति न जाइ बखानी' और 'सो सनेह सुख नहिं कथनीया'।

(४) 'जोगिन्ह परम तत्त्वमय भासा'—और रसों में देखना कहा गया है। यहाँ 'भासा' पद है, क्योंकि परम तत्त्व का अनुभव होता है, वह देखने की वस्तु नहीं है। यथा—"ब्रह्म-सुखहिं अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा॥" (दो० २१)। शांत—"बैठे सोह कामरिपु कैसे। धरे सरीर सांत रस जैसे॥" (दो० १०६) शुद्ध अर्थात् विकाररहित। सम=भेद-रहित। सहज प्रकाश, यथा—"सहज प्रकासरूप भगवाना।" (दो० ११५)। यहाँ शान्त रस है।

(५) 'हरिभगतन्ह देखे···'—भक्तों के प्रसंग में दोनों भाइयों का देखना कहा है, क्योंकि भक्त लोग परिकर-सहित भगवान् का ध्यान करते हैं। हरि शब्द विष्णु, श्रीकृष्ण, श्रीराम आदि सब रूपों का बोधक है। अतः, सब रूपों के भक्त इन दोनों भाइयों को अपने ही इष्ट के रूप में देखते हैं। इससे जनाया कि सब हरिरूप एक ही हैं और सब भक्तों के इष्ट हम ही हैं। 'इव' अपने ही इष्टदेव की तरह; यहाँ जो जिस रूप के उपासक हैं, उन्हें अपने ही इष्टदेव के रूप में देख पड़े। अतः, अद्भुत रस है। पुनः भक्त एवं उनके सुख देने के सम्बंध से दास-रस भी है। यहाँ तक १२ प्रकार के रस कहे गये हैं। वर्त्तमान काल के साहित्यिक कवि साहित्य के नौ रसों के साथ सख्य, वात्सल्य और दास्य रसों का भी वर्णन करते हैं जो पहले शृंगार के ही अन्तर्गत माने जाते थे। ('रसकलस' देखिये)

रामहिं चितव भाव जेहि सीया। सो सनेह सुख नहिं कथनीया॥६॥
उर अनुभवति न कहि सक सोऊ। कवन प्रकार कहइ कवि कोऊ॥७॥
जेहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ। तेहि तस देखेउ कोसलराऊ॥८॥

दोहा—राजत राजसमाज महँ, कोसल-राज-किसोर।
सुंदर-स्यामल-गौर-तनु, बिस्व-बिलोचन-चोर॥२४२॥

अर्थ—श्रीसीताजी जिस भाव से श्रीरामजी को देखती हैं, वह स्नेह-सुख अकथ्य है॥६॥ वे (उस स्नेह-सुख का) हृदय में ही अनुभव कर रही हैं, पर स्वयं भी नहीं कह सकतीं; फिर कोई

भी कवि किस प्रकार कह सकेगा ? ॥७॥ जिस प्रकार से जिसके हृदय में जैसा भाव था, उसने कोशल-राय श्रीरामजी को वैसा ही देखा ॥८॥ सुंदर श्याम और गौर शरीरवाले, किशोर अवस्थावाले और संसार भर के नेत्रों के चुरानेवाले कोशलपुर के राजा के पुत्र राजसभा में विराजमान हैं ॥२४२॥

विशेष—(१) 'रामहिं चितव भाव जेहि सीया।...'—सपरिवार राजा जनक के वर्णन के साथ ही श्रीजानकीजी को कहना था, पर बीच में योगियों और हरिभक्तों को क्यों कहा ? इसका उत्तर यह है कि यहाँ सब रसों की झाँकी कही जा रही है, उनमें श्रीजानकीजी पृथक् हैं। इनका भाव अकथ्य है, कोई एक स्थिति अवश्य है, पर वे हृदय में ही उसका अनुभव कर रही हैं। बिना जनाये कवि नहीं कह सकते अर्थात् यह इन्हींके भोगने योग्य है—कहने के योग्य नहीं। कवि जो कुछ अक्षर और अर्थ पावें, तो उसका विस्तार करें। इसलिये इन्हें सब के पीछे कहा है। पुनः यह भी भाव है कि राजा जनक योगी और हरिभक्त भी हैं। अतः, योगी और हरिभक्त जनकजी को अपने परिवार के समान प्रिय हैं, इसलिये ये दोनों बीच में रक्खे गये हैं। यहाँ एक ही को भिन्न-भिन्न रूपों से देखने में उल्लेख अलंकार का पहला भेद है।

(२) 'जेहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ ...'—भगवान् को जो जैसे भजता है, उसे वे वैसे ही मिलते हैं। यथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११)। इसके उपक्रम में कहा है—'जिन्हके रही भावना जैसी। प्रभु-मूरति ...'। वहाँ 'भावना' के सम्बन्ध से 'मूरति' स्त्रीलिंग कथित है और यहाँ उपसंहार के—'जेहि बिधि...' में 'भाऊ' के सम्बन्ध से 'कोसलराऊ' पुँल्लिंग का प्रयोग हुआ है। उपक्रम में ऐश्वर्य कहते हुए 'प्रभु' पद दिया, फिर उसे ही माधुर्य में मिलाते हुए उपसंहार में 'कोसलराऊ' कहा है। श्रीमद्भागवत में भी बलरामजी के साथ श्रीकृष्ण के कंस की सभा में जाने पर वहाँ के लोगों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार ही इन्हें देखा है। यथा—"मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः। मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां, वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्ग गतः साग्रजः ॥" (१०।४३।१७)।

यहाँ श्रीजानकीजी अभी नहीं आईं, पर उनका देखना प्रसंग के योग में प्रथम ही कह दिया है, जब आयेंगी, तब उनका यह दृश्य होगा।

(३) 'राजत राजसमाज महँ...'—इसका उपक्रम—"राज समाज बिराजत रूरे।" (दो० २४०) में है और यहाँ—"राजत राज-समाज महँ" पर उपसंहार है। पुन—"सुंदर श्यामल गौर सरीरा" (दो० २४०); उपक्रम है और यहाँ—"सुंदर स्यामल गौर तनु" उपसंहार है। उपक्रम में कहा गया है—"राजकुँअर तेहि अवसर आये।" (दो० २४०)। यहाँ उपसंहार में बतलाया कि वे राजकुँअर—"कोसलराजकिसोर" हैं।

'बिस्वबिलोचन चोर'—यहाँ चोर-विद्या का उत्कृष्ट रूप वर्णित है। चोर की भारी बड़ाई तभी है जब वह आँख का काजल चुरा ले। ये उससे भी बढ़कर हैं कि संसार की आँखों को ही चुरा लेते हैं। चोर रात में भी छिपकर और राजकर्मचारियों से डरता हुआ चोरी करता है और ये राज-समाज में ही दिन दहाड़े निडर रूप से विश्व (संसार) की आँखों को ही चुरा लेते हैं, जिससे देखकर चोर पकड़ा जाता है। अब कौन देखे और कैसे पकड़े ?

पूर्वोक्त—"लोचनसुखद बिस्वचितचोरा" (दो० २१७) भी देखिये। यह भी भाव है कि आँखों का स्वरूप श्याम और गौर (श्वेत) है, ये दोनों कुमार भी श्याम-गौर हैं। विशेष ज्योति सामान्य को खींच लेती है। अतः, सब की दृष्टि इनकी ओर खिंच गई। पूर्व यह भी कहा गया कि इनकी श्यामता का किंचित् अंश ही नेत्रों में पुतली के रूप से प्रकाशक है।

सहज मनोहर मूरति दोऊ। कोटि-काम-उपमा लघु सोऊ ॥१॥
सरद-चंद-निंदक मुख नीके। नीरज नयन भावते जी के ॥२॥
चितवनि चारु मार-मन-हरनी। भावति हृदय जाति नहिं बरनी ॥३॥
कल कपोल श्रुतिकुंडल लोला। चिबुक अधर सुंदर मृदु बोला ॥४॥

अर्थ—दोनों मूर्त्तियाँ स्वाभाविक ही (बिना सजेधजे) मनोहर हैं। (इनसे) करोड़ों कामदेवों की उपमा दी जाय, तो वह भी तुच्छ होगी ॥१॥ मुख शरद् ऋतु के चन्द्रमा की अच्छी तरह निन्दा करने वाले हैं और कमल के समान नेत्र जी को भानेवाले हैं ॥२॥ सुन्दर चितवनि काम के मन को हरनेवाली है जो हृदय को भाती (सुहाती) है, पर उसका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥३॥ सुन्दर कपोल और कानों पर कुंडल हिल रहे हैं। ठोढ़ी और ओठ सुन्दर हैं, बोली सुन्दर और कोमल है ॥४॥

विशेष—(१) 'सहज मनोहर मूरति''''''—सब राजा सज-धजकर आये हैं, ये दोनों कुँवर साधारण ही आये हैं। दो० २४० चौ० १ भी देखिये।

(२) 'सरद-चंद-निंदक मुख''''''—'नीके' शब्द दीप-देहली है। 'सरद' और 'निंदक'—इन दोनो शब्दों का क्रमान्वय 'नीरज' के साथ भी होना चाहिये। इस चन्द्रमा में यह निकाई (सौष्ठव) है कि मुखचन्द्र ने नेत्र-कमल को प्रफुल्ल रूप से अपने में बसा रक्खा है। इससे भी इसने शरद्-चन्द्र को लज्जित किया है। मुख-चंद्र में भी विकसित रहने से नेत्र-कमल ने शरत्कालीन कमल को पराजित कर दिया है। उपमाओं के निन्दित होने पर कवि के भाव ही रह जाते हैं।

(३) 'चितवनि चारु मार-मन''''''—काम सब के मन को हर लेता है; राजकिशोर चारु अर्थात् सीधी (तिरछी नहीं) चितवन से ही काम के भी मन को हर लेते हैं। प्रथम नेत्रों की चोरी कही थी, अब मन का चुराना भी कहा; क्योंकि जहाँ नेत्र हर जाता है, वहाँ मन भी बिक जाता है। यथा—"लगे संग लोचन मन लोभा।" (दो० २१८)।

'भावति हृदय जाति''''—जब हृदय ही हरा गया (आसक्त हो गया) तब कैसे कहा जाय ?

(४) 'सुंदर मृदु बोला'—यथा—"भाई सों करत बात कौसिकहिं सकुचात बोल घन-घोर से बोलत थोर-थोर हैं। सन्मुख सबहिं बिलोकत सबहि नीके कृपा सों हेरत हँसि तुलसी की ओर हैं॥" (गी० बा० ७१); अर्थात् विश्वामित्र के दोनों ओर दोनों कुमार बैठे हैं। मुनि के संकोच से थोड़ा-थोड़ा बोलते हैं, बोलने में कभी थोड़ी हँसी भी आ जाती है, उसीको आगे कहते हैं—'कुमुदबंधु-कर निंदक हासा।' तथा—"हृदय अनुग्रह-इंदु प्रकासा। सूचति किरन मनोहर हासा॥" (दो० ११७)।

कुमुद-बंधु-कर-निंदक हासा। भृकुटी बिकट मनोहर नासा ॥५॥
भाल बिसाल तिलक झलकाहीं। कच बिलोकि अलि-अवलि लजाहीं ॥६॥
पीत चौतनी सिरन्ह सुहाई। कुसुम-कली बिच बीच बनाई ॥७॥
रेखैं रुचिर कंबु कलग्रीवा। जनु त्रिभुवन सुषमा की सींवा ॥८॥

दोहा—कुंजर-मनि-कंठा कलित, उरन्हि तुलसिका-माल।
वृषभकंध केहरिठवनि, बलनिधि बाहु बिसाल ॥२४३॥

अर्थ—हँसी चन्द्र-किरण की निन्दा करनेवाली है। भौहें टेढ़ी और नाक सुंदर है ॥५॥ ऊँचे चौड़े ललाट पर तिलक झलक रहे हैं। केशों को देखकर भ्रमरों की पंक्तियाँ लज्जित होती हैं ॥६॥ शिरों पर पीली चौगनी टोपियाँ शोभित हैं जिनके बीच-बीच में फूलों की कलियाँ बनाई (काढ़ी) हुई हैं ॥७॥ शंख के समान सुन्दर गले में सुन्दर (तीन) रेखाएँ हैं, मानों तीनों लोकों की परम शोभा की हद है ॥८॥ गजमुक्ताओं का कलित (सुन्दर वा विचित्र रीति से गाँथा हुआ) कंठा (गले में), और हृदय पर तुलसी (के दल और मंजरी) की माला है। बैलों के से (ऊँचे, चौड़े एवं पुष्ट) कंधे, सिंह की सी ठवनि (अकड़=मुद्रा) और बल के निधान लम्बी भुजाएँ (आजानुबाहु) हैं ॥२४३॥

विशेष—(१) 'मनोहर नासा'—क्योंकि नाक अश्विनीकुमार का रूप है। यथा—"जासु घ्रान अश्विनीकुमारा।" (लं० दो० १५) और अश्विनीकुमार बड़े सुन्दर हैं। यथा—"अश्विनाविव रूपेण।" (वाल्मी० १।५०।१८)।

(२) 'कच बिलोकि अलि''''''—राजकुमारों के शिरों के बाल कंधे तक लटके हुए हैं। बाल-समूह हैं। इसलिये भ्रमरों की पंक्ति की उपमा दी, इससे बालों की श्यामता और चमक जनाई है।

(३) 'पीत चौतनी'—चौतनी टोपी के आकार का ताज है, क्योंकि उसमें कुसुम-कली के समान लाल रंग का कसीदा भी कहा गया है। यहाँ राजाओं के बीच में चक्रवर्ति-कुमार के शिरों पर टोपी मात्र की शोभा नहीं है।

(४) 'रेखें रुचिर कंबु कल''''''—शंख में तीन रेखाएँ होती हैं। उसीको उत्तरार्द्ध के दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं कि तीनों लोकों की परम शोभा एक-एक रेखा के भीतर पड़ी है अर्थात् इससे अधिक शोभा तीनों लोकों में नहीं है। यहाँ आगे कंठ के भूषण भी कहते हैं।

(५) 'कुंजर-मनि-कंठा''''''—कंठा राजचिह्न है और तुलसी की माला ऋषि के शिष्य होने के चिह्न हैं। इन्हीं चिह्नों से राजा जनक ने दो प्रकार के प्रश्न किये थे। यथा—"मुनि-कुल-तिलक कि नृप-कुल-पालक।" (दो० २१५)। इसमें वर्तमान में मुनि के निकट होने से मुनि-कुल की कल्पना प्रथम हुई। 'केहरि ठवनि' यथा—"ठाढ़ भये उठि सहज सुहाये। ठवनि जुवा मृगराज लजाये॥" (दो० २५१) अर्थात् सिंह की अकड़ निःशंकता को सूचित करती है। 'बलनिधि बाहु''''''—'निधि' समुद्र का भी वाचक है। आगे इन्हीं बाहुओं को सागर कहेंगे, यथा—"संकर-चाप जहाज, सागर रघुबर-बाहु-बल। बूड़ सो सकल समाज''''''" (दो० २६१)। अतः, अभी से वैसा ही रूपक बाँध रहे हैं।

कटि तूनीर पीतपट बाँधे। कर सर धनुष बाम बर काँधे ॥१॥
पीत-जज्ञ-उपबीत सुहाये। नखसिख मंजु महा छबि छाये ॥२॥
देखि लोग सब भये सुखारे। एकटक लोचन चलत न तारे ॥३॥
हरषे जनक देखि दोउ भाई। मुनि-पद-कमल गहे तब जाई ॥४॥
करि बिनती निज कथा सुनाई। रंग-अवनि सब मुनिहि देखाई ॥५॥

अर्थ—कमर में तरकश हैं, उन्हें पीतांबर में बाँध रक्खा है। (दाहिने) हाथ में बाण और श्रेष्ठ बाँयें कंधे पर धनुष है ॥१॥ पीले यज्ञोपवीत सुहावने लगते हैं। नख से चोटी तक सब अंग सुन्दर हैं, उनपर महा छवि छाई हुई है ॥२॥ देखकर सब लोग सुखी हुए, उनके नेत्र एकटक-से लग गये, तारे (आँखों की पुतलियाँ) नहीं चलते, अचल हो रहे हैं ॥३॥ राजा जनक दोनों भाइयों को देखकर प्रसन्न हुए। तब उन्होंने मुनि के चरण-कमलों को जा पकड़ा ॥४॥ स्तुति करके अपनी कथा सुनाई और सारी रंग-भूमि मुनि को दिखाई ॥५॥

विशेष—(१) 'कटि तूनीर पीतपट······'—पूर्व कहा गया था—"पीत बसन परिकर कटि भाथा।" (दो० २१८) ; और यहाँ—"कटि तूनीर······" अर्थात् वहाँ पीतपट को पहले और तरकश को पीछे लिखा था। यहाँ उसका उल्टा है। इसका कारण यह है कि वहाँ नगर-दर्शन के समय का शृंगार था। अतः, तरकश पीतांबर में ढके हुए थे, इससे प्रथम 'पीत बसन' ही कहा गया। यहाँ राज-समाज है। अतः, वीरों में वीर-बाना धारण किये हुए हैं, इससे तरकश ऊपर दिखाई देते हैं। सब साज पीत ही हैं। पीत पट, पीत चौतनी, पीत यज्ञोपवीत आदि से वीर का केसरिया बाना सूचित है। इसीसे कटि तक ही वर्णन हुआ। शेष अंगों की शोभा 'नख-सिख मंजु···' कहकर जना दी, जिससे यह न समझा जाय कि और अंग सुन्दर नहीं हैं।

(२) 'देखि लोग सब भये सुखारे।'—शंका—पूर्व कहा गया कि श्रीरामजी किसी को काल-रूप और किसी को भयानक-रूप में देख पड़े और यहाँ सबका सुखी होना कहा गया। यह क्यों ?

समाधान—"सहज मनोहर मूरति दोऊ।" (दो० २४२) से यहाँ तक का जिनका ध्यान है, उन्हीं सब लोगों का सुखी होना जानना चाहिये, सारी रंगभूमि का नहीं।

(३) 'नख-सिख मंजु······'—यह उपसंहार है और इसका उपक्रम—"मनहुँ मनोहरता तनु छाये।" (दो० २४०) में है।

(४) 'हरषे जनक देखि······'—'देखि'—राजा जनक ने इनके अलौकिक तेज-प्रताप-रूप देखकर जाना कि ये बल से भी पूर्ण हैं। अतः, हमारा प्रण पूरा होगा। यथा—"तेज प्रताप रूप जहँ तहँ बल बूझइ॥" (जानकी मं० ६६)। इसीसे आनंदित हुए। मुनि की कृपा से ही इनके दर्शन हुए हैं। अतः, कृतज्ञता से मुनि के चरण पकड़ लिये। पुनः मुनि और ब्राह्मण को देखकर प्रणाम करना धर्म-नीति तो है ही।

(५) 'निज कथा सुनाई'—वाल्मीकीय बा० स० ६६ में इसी प्रसंग पर राजा जनक ने विश्वामित्रजी से कहा है कि राजा निमि के ज्येष्ठ पुत्र देवरात हुए। उन्हीं को यह धनुष थाती-रूप में मिला था। दक्ष-यज्ञ-नाश के समय महादेव ने इस धनुष को चढ़ाया था। यज्ञ-नाश के पीछे अपने भाग-हरण के कारण इसी से देवताओं के भी शिर काटने चाहे, तब देवताओं ने प्रसन्न किया। फिर प्रसन्न होकर शिवजी ने राजा देवरात को यह धनुष दे दिया। मैं (जनक) एक समय हल से खेत खोद रहा था। हल की नोक (सीता) से टकराकर एक कन्या निकली। इसी से वह 'सीता' नाम से प्रसिद्ध हुई। इस अयोनिजा कन्या का शुल्क (वर-पक्ष से कन्या-पक्ष को मिलनेवाला द्रव्य) मैंने पराक्रम रक्खा है। अनेक राजाओं ने इस कन्या को माँगा, पर किसी ने उक्त धनुष को नहीं चढ़ाया; अतः मैंने नहीं दिया। अंत में उन्होंने क्रोध से लड़कर कन्या को छीन लेना चाहा। एक वर्ष तक युद्ध हुआ। तब मैंने देवताओं से सहायता लेकर सबको परास्त किया।

फिर सर्ग ७५ में परशुरामजी ने भी इस पिनाक धनुष की कथा श्रीरामजी से कही है कि विश्वकर्मा के बनाये हुए दो धनुष थे। एक तो यह था जिससे महादेवजी ने त्रिपुर का नाश किया था और जिसे आपने तोड़

दाला। दूसरा यह धनुष है, जो मेरे पास है। इसे भी कोई झुका नहीं सकता। देवताओं ने इसे विष्णु को दिया था। यह भी उक्त शिव-धनुष के समान है। एक समय शिव और विष्णु की पराक्रम-परीक्षा के लिये देवताओं ने ब्रह्माजी से कहा। उन्होंने (नारद-द्वारा) दोनों में विरोध करवाकर लड़ा दिया। तब शिव-विष्णु में रोमांचकारी युद्ध हुआ। शिवजी का महापराक्रमी धनुष ढीला पड़ गया और विष्णु भगवान् के हुंकार से शिवजी स्तंभित हो गये। तब देवता, ऋषि आदि ने आकर दोनों को शांत करने की चेष्टा की। दोनों शांत होकर अपने-अपने स्थान को गये '।" सब ने विष्णु को अधिक माना। फिर शिवजी ने क्रुद्ध होकर वह धनुष (पिनाक) उक्त देवरात राजा को दे दिया और दूसरा धनुष विष्णु ने भृगु के पुत्र ऋचीक को दिया, फिर उनके पुत्र जमदग्नि के पास रहा ;'''उनसे मुझे (परशुराम) को मिला।

श्रीगोस्वामीजी भी यही कहते हैं। यथा—"सोइ पुरारि-कोदंड कठोरा।" (दो० २४१) "मयन-महन, पुर-दहन-गहन जानि, आनि कै सबै को सार धनुष गढ़ायो है। जनक सदस जेते भले भले भूमिपाल किये बलहीन बल आपनो बढ़ायो है॥ कुलिस कठोर कूर्म-पीठ ते कठिन अति'''" (क० बा० १०) अर्थात् पिनाक धनुष त्रिपुर दैत्य के वध के लिये निर्मित हुआ था। (वाल्मीकीय में देवताओं का बनवाना और गोस्वामीजी के उक्त वचन से शिवजी का ही बनवाना मात्र थोड़ा भेद है। यह कल्प-भेद से हो सकता है।)

यह भी कथा है कि त्रिपुर को मारकर शिवजी ने यह धनुष मिथिला में रख दिया था। एक समय खेल-ही-खेल में श्रीजानकीजी ने सखियों के सामने धनुष को उठा लिया। यह सुनकर मैं (जनक) ने धनुष भंग की प्रतिज्ञा की। सत्योपाख्यान में यह भी कहा है कि श्रीसीताजी के विवाह की चिंता से जनकजी कुश बिछाकर उसपर सोये। तब शिवजी ने स्वप्न में कहा कि तुम मेरे जिस धनुष की पूजा करते हो, उसे तोड़ने की प्रतिज्ञा करो। जो तोड़े, उसी को कन्या विवाह दो। यह भी सुना जाता है कि शिवजी ने यह भी कहा है, जो इस धनुष को तोड़ेगा वही परात्पर ब्रह्म है। तभी विश्वामित्र आदि ज्ञानी मुनि निमंत्रण देकर बुलाये गये थे कि सब के सामने ब्रह्म का निर्णय हो जाय, अन्यथा कन्या के स्वयंवर में मुनियों की क्या आवश्यकता थी ? यथा—"जेहि कर कमल कठोर संभु-धनु भंजि जनक संसय मेट्यो।" (वि० १२८)।

इसमें ब्रह्मविषयक ही संशय विशेष संगत है, क्योंकि इसके पूर्व ब्रह्म में जो संशय था वह धनुष टूटने से निवृत्त हुआ और ज्ञानी लोग जनकजी के ही पास संशय मिटाने आते भी थे।

जहँ जहँ जाहिं कुअँरबर दोऊ। तहँ तहँ चकित चितव सब कोऊ॥६॥
निज निज रुख रामहिं सब देखा। कोउ न जान कछु मरम बिसेखा॥७॥
भलि रचना मुनि नृप सन कहेऊ। राजा मुदित महा सुख लहेऊ॥८॥

दोहा—सब मंचन्ह ते मंच एक, सुंदर बिसद बिसाल।
मुनिसमेत दोउ बंधु तहँ, बैठारे महिपाल॥२४४॥

अर्थ—जहाँ-जहाँ दोनों सुन्दर श्रेष्ठ कुमार जाते हैं, वहाँ-वहाँ सभी लोग चकित हो कर देखने लगते हैं॥६॥ सबने अपनी अपनी रुचि के अनुसार एवं अपनी ही ओर मुख किये हुए रामचन्द्रजी को

देखा, कोई भी कुछ विशेष (खास) भेद नहीं जान पाया ॥७॥ मुनि विश्वामित्रजी ने राजा जनक से कहा कि बहुत अच्छी रचना (बनी) है; (यह सुनकर) राजा मुदित हुए, उनको महान् सुख प्राप्त हुआ ॥८॥ सब मंचों में से एक मंच अधिक सुन्दर, उज्ज्वल और ऊँचा-चौड़ा था, राजा जनकजी ने मुनि के साथ इन दोनों भाइयों को उसपर बैठाया ॥२४४॥

विशेष—(१) 'तहँ तहँ चकित चितव···'—जब दूर थे, तब—'एकटक लोचन चलत न तारे' कहा गया और जब समीप आ जाते हैं तब लोगों को शोभा अच्छी तरह देखने में आती है। फिर वे चकित हो जाते हैं, यथा—"जाइ समीप राम-छबि देखी। रहि जनु कुँअरि चित्र अवरेखी॥" (दो० २६६)।

(२) 'निज निज रुख रामहिं'···—'रुख' (फा०) का अर्थ चेहरा, मुख, और एवं रुचि भी होता है, यथा—"पति-रुख लखि आयसु अनुसरहू।" (दो० ११३)। 'मरम विसेषा'—सबको रामजी अपने सामने ही देख पड़े, पीठ किसी की ओर नहीं है, यह विशेष भेद कोई नहीं जान सका कि इस समय रामजी ने "सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्" (श्वे० ३।१६) की लीला भी की है। एक दूसरे की बात तक नहीं पूछते कि लोग पागल कहेंगे।

(३) 'भलि रचना मुनि··· ··'।—सब देख चुके तब मुनि ने 'भलि' कहा कि जिससे सम्पूर्ण रचना की प्रशंसा हो, जाय, बीच में जिसके प्रति बोलते, उसीकी बड़ाई और शेष की न्यूनता समझी जाती। 'मुदित महा सुख'—मुदित से भीतरी आनंद और महा सुख से बाहरी आनंद की चेष्टा—पुलक आदि जनाई। मुनि ने राजा त्रिशंकु के लिये दूसरा स्वर्ग ही रच दिया, तो जब इन्होंने इस रचना की प्रशंसा की, तब अवश्य हमारा श्रम सफल हुआ। इनकी प्रसन्नता से प्रतिज्ञा-पूर्त्ति की भी आशा हुई, क्योंकि ये त्रिकालज्ञ एवं महान समर्थ हैं।

(४) 'सब मंचन्ह ते मंच···'—सब से ऊँचे बैठाने के कई कारण हैं—(क) ये चक्रवर्त्ति-कुमार हैं। इनके (निमि) वंश की मूल गद्दी के हैं। (ख) ये 'मुनि समेत' हैं। (ग) मुनि इनके सहायक हैं तो निश्चय इनसे प्रतिज्ञा पूरी होगी। यथा—"तीनि काल कर ज्ञान कौसिकहिं करतल। सो कि स्वयंवर आनहिं बालक बिनु बल॥" (जानकीमंगल ८९)। (संभवतः) यह सिंहासन विजयी राजा के लिये बना था। मुनि के गौरव से प्रथम ही रामजी को उसपर बैठाया। 'मुनि समेत'—मुनि को गौण कहा है, क्योंकि यहाँ राजकुमार की ही प्रधानता है। दो० २३९ चौ० ४ भी देखिये। औरों को शुचि सेवकों एवं मंत्री आदि ने बैठाया; इन्हें स्वयं 'महिपाल' ने। यह अधिक आदर हुआ। बैठने का प्रकार—"भूपति किसोर दुहुँ ओर बीच मुनिराउ, देखिबे को दाउँ, देखो देखिबो बिहाइ कै। उदय-सैल सोहैं सुंदर कुँवर जोहैं मानों भानु भोर भूरि किरन छिपाइ कै॥" (गी०बा० ८२)।

प्रभुहिं देखि सब नृप हिय हारे। जनु राकेस उदय भये तारे ॥१॥
असि प्रतीति सब के मन माहीं। राम चाप तोरब सक नाहीं ॥२॥
बिनु भंजेहु भवधनुष बिसाला। मेलिहि सीय राम-उर माला ॥३॥
अस बिचारि गवनहु घर भाई। जस प्रताप बल तेज गँवाई ॥४॥

शब्दार्थ—राकेस = पूर्ण चन्द्रमा। सक (शक फा०) = संदेह। भव = शिवजी।

अर्थ—प्रभु श्री रामजी को देख कर सब राजा हृदय से हार गये, जैसे पूर्ण चन्द्रमा के उदय होने पर तारे (प्रकाशहीन = फीके) हो जाते हैं ॥१॥ सब के मन में ऐसा विश्वास है कि श्री रामजी धनुष तोड़ेंगे, इसमें संदेह नहीं ॥२॥ शिवजी के भारी धनुष के बिना तोड़े भी श्रीसीताजी श्रीरामजी के गले में जयमाला पहनावेंगी ॥३॥ ऐसा विचारकर हे भाइयो ! यश, प्रताप, बल और तेज को गँवा कर अपने-अपने घर चल दो ॥४॥

विशेष—(१) 'प्रभुहिं देखि सब...'—यहाँ पूर्व के—"देखहिं भूप महा रनधीरा ।" (दो० २४०) से प्रसंग मिलाते हैं। वहाँ जो 'देखहिं भूप···' कहा था, उसका फल यहाँ कहते हैं कि वे हृदय से हार गये। पुनः वहाँ—"उडुगन महँ जनु जुग बिधु पूरे।" कहा था, उसे ही यहाँ –"जनु राकेस उदय भये तारे।" से उपसंहार किया ।

(२) 'असि प्रतीति सबके···'—ऊपर 'जनु राकेस···' कहा गया है, उससे इनका तेज देखकर विश्वास हुआ। यथा—"तेजवंत लघु गनिय न रानी।" से—"सखी-बचन सुनि भइ परतीती।" (दो० २५५-५६) तक। 'सबके'—यह राजाओं के लिये ही है, जो हृदय से हारे हुए कहे गये हैं। सुनयना आदि को रामजी के प्रति संदेह होगा, फिर प्रतीति भी होगी। 'सक नाहीं'—तेजस्वी होने से बल भी जाना; इससे धनुष तोड़ने का निश्चय हुआ।

(३) 'बिनु भंजेहु भव···'—ऊपर जहाँ श्री रामजी का धनुष तोड़ना कहा, वहाँ बहुत छोटे 'चाप' शब्द का प्रयोग है; अर्थात् अल्प है, इससे टूट जायगा। पुनः जब 'बिनुभंजेहु···' कहा, तब बड़ा नाम-'भव धनुप बिसाला' कह दिया कि यह शिवजी का धनुष बड़ा भारी है, सम्भवतः न टूटे। यह शब्द-प्रयोग की सँभाल है।

(४) 'जस प्रताप बल तेज गँवाई।'—इस समय श्रीरामजी के ही यश आदि प्रधान हैं। यह निश्चय राजाओं ने ऊपर 'प्रभुहिं देखि ' में ही किया। 'प्रभुहिं' में सामर्थ्य (बल), 'हिय हारे' में प्रताप, 'जनु राकेस' में तेज और यश के भाव हैं। इनके आगे हमलोगों के यश-प्रताप आदि नहीं रह गये। भाव यह है कि यहाँ धनुर्भंग करके यश आदि बढ़ाने आये थे, वे रहे-सहे भाम भी इनके आगे नहीं रहे।

अथवा यह भी भाव हो सकता है कि अभी चल देने से यश आदि बने हैं, धनुष के टूटने पर 'गँवाई' अर्थात् चले जायँगे, अभी तो कहने के लिये है भी कि जब श्री रामजी ने धनुष तोड़ा तब हम तो थे ही नहीं। यथा—"बल प्रताप बीरता बड़ाई। नाक पिनाकहि संग सिधाई ॥" (दो० २६५)। ये वचन रजोगुणी मध्यम राजाओं के हैं।

बिहँसे अपर भूप सुनि बानी। जे अबिबेक अंध अभिमानी ॥५॥
तोरेहु धनुप ब्याह अवगाहा। बिनु तोरे को कुँअरि बिवाहा ॥६॥
एक बार कालहु किन होऊ। सियहित समर जितब हम सोऊ ॥७॥
यह सुनि अपर महिप मुसुकाने। धरमसील हरिभगत सयाने ॥८॥

सोरठा—सिय बिबाहब राम, गरब दूरि करि नृपन्ह के।
जीति को सक संग्राम, दसरथ के रनबाँकुरे ॥२४५॥

अर्थ—दूसरे राजा, जो अज्ञान से अंधे और अभिमानी थे, इन वचनों को सुनकर विशेष हँसे ॥५॥ (और) बोले कि धनुष तोड़ने पर भी विवाह का थाह (पता) नहीं अर्थात् वह दूर है, फिर भला बिना उसे तोड़े कौन राजकुमारी को ब्याह सकता है ? ॥६॥ काल भी क्यों न हो, सीता के लिये एक बार उसे भी हम संग्राम में जीत लेंगे ॥७॥ यह सुनकर दूसरे धर्मात्मा, हरिभक्त और चतुर राजा मुसकुराने लगे ॥८॥ (इन) राजाओं के गर्व दूर करके श्रीरामजी सीताजी को ब्याहेंगे। महाराज दशरथजी के रण में बाँके (विकट) पुत्रों को युद्ध में कौन जीत सकता है ? ॥२४५॥

विशेष—(१) 'जो अविवेक अंध···'—ऊपर—'जनु राकेस उदय···' कहा गया है, वे इन्हें नहीं देख पड़े। अतः, 'अंध' हैं। पुनः—'अस बिचारि गवनहु···' पर विचार न किया, इससे 'अविवेकी' हैं। आगे अभिमान के वचन कहते हैं, अतः 'अभिमानी' हैं। विवेकहीन होने से अंधे कहे गये और इसीसे आगे अभिमान के वचन भी कहेंगे। 'बिहँसे'—हँसकर मध्यम राजाओं के वचनों का निरादर किया। 'अपर भूप'—ये तमोगुणी अधम राजा हैं।

(२) 'तोरेहु धनुष···'—भाव—धनुष टूटने पर भी बड़ा गहरा युद्ध-रूप समुद्र उमड़ पड़ेगा, जिसके पार जाना तो दूर है, इन्हें उसका थाह भी न मिलेगा। अतः, ब्याह दूर समझो।

(३) 'एक बार कालहु···'—'कालहु' का लक्ष्यार्थ काल के समान बलवान् पर है। काल से अधिक बली तो कोई है ही नहीं। हम ऐसे बली का भी सामना करेंगे। 'एक बार'—का भाव यह कि दूसरी-तीसरी बार चाहे वही हमें जीते, पर पहले तो हम जीतेंगे ही। 'समर जितब'—ये धनुष तोड़कर ब्याह नहीं करेंगे, क्योंकि उसे सम्भवतः न तोड़ सकें, और 'राम चाप तोरब···' की दृष्टि से धनुष चाहे रामजी ही तोड़ें, पर इन राजाओं को लड़ाई का अभिमान है।

(४) 'यह सुनि अपर···'—ये सत्त्वगुणी उत्तम राजा हैं, उपर्युक्त तमोगुणियों पर तिरस्कार की दृष्टि से मुसकुराये। 'धर्मसील' से कर्मकांडी, 'हरि-भगत' से उपासक और 'सयाने' से ज्ञानी होना सूचित किया अर्थात् ये कांडत्रय-निष्ठ हैं।

(५) 'सीय बिबाहबि राम···'—उपर्युक्त—'को कुँअरि बिवाहा' का उत्तर—'सीय बिबाहबि राम' है। 'समर जितब हम' का उत्तर—'जीति को सक···' है। 'दसरथ के'—राजा दशरथ भी समर में एक ही थे, यथा—"सुरपति-बसइ बाँह-बल जाके।" (अ॰ दो॰ २१) ये उनके महापराक्रमी पुत्र हैं, यथा—"जिते असुर संग्राम" (दो॰ २१६)। यह विरद विख्यात है, ये स्वयं भी 'रण बाँकुरे' अर्थात् बाँके लड़ाके हैं, यथा—"सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहिं समर को जीतनिहारा॥" (अ॰ दो॰ १८८)। राजा दशरथ ने शनैश्चर को भी रण में पराजित किया है, यह कथा पद्म-पुराण में प्रसिद्ध है; वहीं पर शनि-स्तोत्र भी है।

व्यर्थ मरहु जनि गाल बजाई। मनमोदकन्हि कि भूख बुताई ॥१॥
सिख हमारि सुनि परम पुनीता। जगदंबा जानहु जिय सीता ॥२॥
जगतपिता रघुपतिहि बिचारी। भरि लोचन छबि लेहु निहारी ॥३॥
सुंदर सुखद सकल गुनरासी। ये दोउ बंधु संभु-उर-बासी ॥४॥

शब्दार्थ—गाल बजाना = व्यर्थ बातें करना। बुताई = बुझेगी। मोदक = लड्डू।

अर्थ—व्यर्थ ही गाल बजाकर मत मरो, क्या मन के लड्डू खाने से भूख बुझेगी ? ॥१॥ हमारी परम

पवित्र शिक्षा सुनकर सीताजी को हृदय से जगत् की माता समझो ॥२॥ और श्रीरघुनाथजी को जगत् के पिता विचार आँखें भरकर उनकी छवि को देख लो ॥३॥ सुंदर, सुख देनेवाले और सब गुणों की राशि ये दोनों भाई शिवजी के हृदय में रहनेवाले हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'व्यर्थ मरहु जनि···'—भाव, बहुत बकोगे तो संग्राम छिड़ जायगा और मारे जाओगे, बातों के शूर व्यर्थ ही प्राण गँवाते हैं। 'मन मोदकन्हि'—राजकुमारी की प्राप्ति की इच्छा करना मन के लड्डू खाना है। 'भूख बुताना' सीताजी की प्राप्ति है। तमोगुणी राजाओं के मन, वचन और कर्म—तीनों दूषित हैं, यथा—'जीति को सक संग्राम···' से इनके कर्म की निन्दा, 'मरहु जनि गाल बजाई' से वचन की निंदा और—'मनमोदक···' से मन की निन्दा हुई।

(२) 'सिख हमारि सुनि···'—भाव यह कि रजोगुणी राजाओं की शिक्षा भी 'पुनीत' थी, पर हमारी तो 'परम पुनीत' है। उन्होंने मर्यादा रहते हुए घर लौटना कहा था और हम यहीं बैठे हुए जन्म-फल पाने का उपाय कह रहे हैं। पुनः इससे श्रीसीतारामजी में प्रीति होगी।

(३) 'लेहु निहारी'—मध्यम राजाओं ने भाग चलने को कहा था, उन्हें ये कहते हैं कि जाते कहाँ हो, दैवयोग से ये मिल गये हैं, इनकी छवि देखकर जन्म सफल कर लो। श्रीसीताजी के विषय में जानहु' और श्रीरामजी में 'निहारी' कहा है। भाव यह कि तुम सीताजी को निहारने के भी अधिकारी नहीं हो। पुनः 'जानहु' और 'बिचारी' से यह भी सूचित किया है कि ये देखने में तो लड़की-लड़के-से हैं, पर विचारने से जगत् के माता-पिता हैं।

(४) 'सुंदर सुखद सकल···'—सुंदर, सुखद और सकल-गुण-राशि होने से ही दोनों भाई शिवजी के हृदय में बसते हैं। शिवजी वर माँगकर बसाते हैं, यथा—"अनुज जानकी सहित निरंतर। बसहु राम नृप मम उर अंतर॥" (लं० दो० ११४)। उपासक लोग परिकर-समेत प्रभु का ध्यान करते हैं, यथा—"अर्चयित्वा तु गोविन्दं तदीयान्नार्चयन्ति ये। न ते रामप्रसादस्य भाजना दांभिका जनाः॥" यह स्मृति है। बहुत जगह शंकर-हृदय में श्रीरामजी का ही बसना कहा है—"जय महेस-मन-मानस-हंसा।" (दो० २८४), "संकर सोइ मूरति उर राखी।" (दो० ७६) इत्यादि; इनमें प्रधानता से श्रीरामजी ही का नाम कहा गया है।

शंकर के ध्येय में संदेह होने पर सतीजी ने श्रीरामजी का ऐश्वर्य देखा है तो वहाँ भी उपक्रम में—"आगे राम सहित श्रीभ्राता।" और उपसंहार में भी—"सोइ रघुबर सोइ लछिमन सीता॥" (दो० ५३-५४) कहा है। अतः, शिवजी सदा ही तीनों का ध्यान धरते हैं।

सुधासमुद्र समीप बिहाई। मृगजल निरखि मरहु कत धाई ॥५॥
करहु जाइ जा कहँ जोइ भावा। हम तौ आजु जनमफल पावा ॥६॥
अस कहि भले भूप अनुरागे। रूप अनूप बिलोकन लागे ॥७॥
देखहिं सुर नभ चढ़े बिमाना। बरषहिं सुमन करहिं कल गाना ॥८॥

दोहा—जानि सुअवसर सीय तब, पठई जनक बोलाइ।
चतुर सखीं सुंदर सकल, सादर चलीं लिवाइ ॥२४६॥

अर्थ—अमृत का समुद्र पास में छोड़, तुम मृगतृष्णा के जल को देखकर क्यों दौड़ते मरते हो ? ॥५॥ जिसको जो रुचे, वही जाकर करो, हम तो आज जन्म लेने के फल पा गये ॥६॥ ऐसा कहकर भले राजा लोग अनुराग में निमग्न होकर अनुपम रूप देखने लगे ॥७॥ देवता गण आकाश में विमानों पर चढ़े हुए देखते और सुन्दर गान करते हुए फूल बरसा रहे थे ॥८॥ शुभ अवसर जानकर राजा जनकजी ने सीताजी को बुलवा भेजा, सब सुन्दर और चतुर सखियाँ उनको आदर-पूर्वक लिवा ले चलीं ॥२४६॥

विशेष—(१) 'सुधासमुद्र समीप······'—दोनों भाई अमृतमय समुद्र हैं, यथा—"ये जाने बिनु···न तरु सुधासागर परिहरि कत···" (गी० बा० ११); यही मानकर इन्हें शिवजी ने हृदय में बसाया है, यथा—"सुंदर सुखद सकल······" कहा गया। 'मृगजल निरखि ······'—पूर्व मन-मोदक का भोजन कहा गया, वैसा ही यहाँ जल भी कहा है। सुधासमुद्र समीप है अर्थात् इनके दर्शनों एवं भजन के द्वारा मृत्यु-रूप संसार से बचना सुलभ है और धनुष तोड़ना एवं श्रीसीताजी का प्राप्त करना तृष्णामात्र है, केवल मनोरथ की दौड़ लगाकर मरना भर है। 'धाई' अर्थात् तुम्हारे लिये बहुत दूर है। पास में अमृत-सिंधु छोड़कर मृग-जल के पीछे दौड़ना मूर्खता है। अतः, इन्हें मूर्ख कहा।

इन राजाओं को पूर्व कांडत्रयनिष्ठ कहा है, वैसे ही उपदेश भी इन्होंने दिये हैं। श्रीसीता-रामजी को माता-पिता जानने में 'धर्म' (कर्म), नेत्र-भर छवि देखने में उपासना और—'ये दोउ बंधु संभु-उर वासी।'—'मृगजल निरखि······' में ज्ञान के भाव हैं।

(२) 'करहु जाइ जा कहँ······'—कोई तो—'अस विचारि गवनहु घर···' वाले और कोई—'सिय हित समर ······' वाले हैं, वे अपनी भावना चाहे छोड़ें या न छोड़ें। 'करहु जाइ'—अर्थात् उन्होंने—'अविवेक अंध अभिमानी।' होने से नहीं माना, क्योंकि अभिमानी किसी की शिक्षा नहीं सुनते, यथा—"*मूढ़ तोहिं अतिसय अभिमाना। नारि-सिखावन करसि न काना॥*" (*कि० दो० ८*)।

'हम तौ आजु ······'—अर्थात् राम-लक्ष्मण के दर्शनों से ही जन्म की सफलता है, यथा—"धन्य विहँग मृग कानन चारी। सफल जनम भये तुम्हहिं निहारी॥" (अ० दो० १३५); तथा—"मुहूर्तमपि राम त्वां येऽनुपश्यन्ति केचन। पाविताः स्वर्गभूताश्च पूज्यास्ते त्रिदिवेश्वरैः॥" (वाल्मी० ७।८३।१०)।

(३) 'अस कहि भले भूप······'—ये दूसरे के ही उपदेष्टा नहीं हैं, प्रत्युत उपदेश के अनुसार चलते भी हैं। अतः, अनुराग-पूर्वक देखने लगे। देखते तो दुष्ट राजा भी हैं, पर वे दुर्भाव से देखते हैं।

(४) 'देखहिं सुर नभ······' कुछ देवता भूमि पर राज-रूप बनकर भी आये हैं, यथा—"देव दनुज धरि मनुज-सरीरा। बिपुल बीर आये······" (दो० २५०); वे छल से नर-रूप में हैं, पर ये देवता अपने ही रूप से आकाश में हैं और श्रीसीतारामजी के आगमन पर सुमंगलद्योतक पुष्प-वर्षा कर रहे हैं। यह एक ही चौपाई दीप-देहली रूप से श्रीरामजी के आगमन के अनन्तर और श्रीजानकीजी के आगमन के पूर्व देकर दोनों पर पुष्प-वृष्टि का भाव सूचित किया, यथा—"सुरन्ह सुमंगल अवसर जाना। बरषहिं सुमन बजाइ निसाना॥" (दो० ३१३)।—यद्यपि श्रीसीताजी के आने के अन्त में भी इसका वर्णन है।

(५) 'जानि सुअवसर सीय······'—सारी सभा स्थिर हो गई, मंगलमय पुष्प-वृष्टि हो रही है और देवताओं का मंगल-गान हो रहा है। शुभ लग्न भी आ गई है, इत्यादि सुअवसर है; पुनः बिना राजकुमारी के आये कोई राजा धनुष उठाने को नहीं उठेगा। अतः, राजकुमारी को बुलवाया। 'चतुर सखी'—सभी सखियाँ चतुर हैं, इसीसे मुहूर्त्त जाने हुए तैयार थीं, तुरंत लिवा ले चलीं। उनमें दो-एक

ऐसी भी थीं, जो सब राजाओं के नाम, गुण, कुल आदि से भी परिचित थीं। शेष और सब बातों में चतुर थीं। 'आदर' अर्थात् पालकी पर चढ़ाकर छत्र-चँवर आदि से सजे हुए साथ में गान करती हुई चलीं, यथा—"राजा की रजाइ पाइ सचिव सहेली धाइ, सतानंद ल्याये सिय सिबिका चढ़ाइ के।" (गी० बा० ८१)।

सियसोभा नहिं जाइ बखानी। जगदंबिका रूप - गुन - खानी ॥१॥
उपमा सकल मोहि लघु लागी। प्राकृत - नारि - अंग अनुरागी ॥२॥
सिय बरनिय तेइ उपमा देई। कुकवि कहाइ अजस को लेई ॥३॥

अर्थ—रूप और गुणों की खान जगन्माता श्रीसीताजी की शोभा का वर्णन नहीं किया जा सकता ॥१॥ सब उपमाएँ मुझे तुच्छ जँचीं, क्योंकि वे प्राकृत-स्त्रियों के अंग में अनुराग पूर्वक लगी हुई हैं ॥२॥ उन्हीं उपमाओं को देते हुए श्रीसीताजी का वर्णन करने से 'कुकवि' कहाकर कौन अपयश ले ? ॥३॥

विशेष—(१) 'सिय-सोभा नहिं······'—श्रीरामजी के आगमन पर शोभा कही गई, वैसे ही श्रीजानकीजी की भी शोभा कहना चाहते हैं, पर वह नहीं कही जा सकती। न कह सकने के कारण अगले पूरे दोहे में कहते हैं। 'जगदंबिका' अर्थात् जगत् मात्र की माता हैं, माता की शोभा पुत्र कैसे कहे ? यथा—"जगत-मातु-पितु संभु-भवानी। तेहि सिंगार न कहउँ बखानी॥" (दो० १०१)। यदि कोई हठधर्म से कहने का प्रयास भी करे तो नहीं कह सकेगा; क्योंकि 'रूप-गुन-खानी' हैं; यथा—"कोटिहु बदन नहिं बनइ बरनत जगजननि सोभा महा।" (दो० १००) इसपर यदि कहा जाय कि अच्छी उपमाओं द्वारा ही लक्ष्य कराइये, उसपर कहते हैं—

(२) 'उपमा सकल मोहि लघु······'—सरस्वती (वाणी) उपमा रूपी द्रव्य से आदि शक्ति की पूजा करना चाहती हैं, पर सब उपमाएँ साधारण स्त्रियों में लगकर उनकी जूठी हो चुकीं, उन्हें विदेहकुमारी के लिये कैसे दें ? यथा—"सब उपमा कवि रहे जुठारी। केहि पटतरउँ बिदेहकुमारी॥" (दो० २२१)।

'मोहि'—अन्य कवियों ने भले ही यथार्थ मानकर उन उपमाओं से सीताजी का वर्णन किया हो, पर मुझे तो वे तुच्छ जान पड़ीं। 'सकल' सब-की-सब उपमाएँ किसी-न-किसी ग्रंथ में प्राकृत नारियों में लगी हुई पाई जाती हैं।

'प्राकृत-नारि-अंग अनुरागी।'—अर्थात् प्राकृत नारियों में वे उपमाएँ अनुराग-पूर्वक लगी हैं, क्योंकि प्राकृत नारियों के अंग उपमेय हैं, वे उपमाओं से लघु हैं। अतः, वहाँ उपमाएँ बड़ाई पाती हैं, इसीसे प्रसन्न रहती हैं, पर किशोरीजी में लगाने पर वे संकुचित हो जाती हैं, इनके दिव्य तन के समक्ष उनकी रही-सही शोभा भी संकुचित होने पर नहीं रह जाती। यथा—"भुजनि भुजग, सरोज नयननि्ह, बदन बिधु जित्यो लरनि। रहे कुहरनि सरनि नभ उपमा अपर दुरीं डरनि॥" (गी० बा० २४)।

(३) 'कुकवि कहाइ अजस को लेई।'—कवि तीन प्रकार के होते हैं—कवि, कुकवि और सुकवि। जो प्राकृत लोगों के गुणों का वर्णन करें, वे कवि हैं, यथा—"सब उपमा कवि रहे जुठारी।" जो प्राकृत उपमाओं को श्रीजानकीजी में लगावें, वे कुकवि हैं—"कुकवि कहाइ अजस को लेई॥" और जो प्राकृत उपमाओं को अप्राकृत में न लगावें वे ही सुकवि हैं, इस तरह श्रीगोस्वामीजी सुकवि हैं। यश के लिये काव्य किया जाता है, जिसमें उल्टा अपयश हो, वह क्यों करें ? अपयश का कारण पाप है, यथा—

"बिनु अघ अजस कि पावइ कोई।" (उ० दो० १११); चन्द्रमा आदि प्राकृत उपमाओं को सीताजी में लगाना पाप है, यथा—"वैदेही-मुख पटतर दीन्हे। होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हे॥" (दो० २४७)।

जौ पटतरिय तीय सम सीया। जग असि जुवति कहाँ कमनीया ॥४॥
गिरा मुखर तनु अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी ॥५॥
विष बारुनी बंधु प्रिय जेही। कहिय रमा-सम किमि वैदेही ॥६॥

अर्थ—यदि श्रीसीताजी की समता में स्त्री की उपमा दी जाय तो जगत् में ऐसी सुन्दरी स्त्री है कहाँ? ॥४॥ सरस्वती बहुत बोलनेवाली (बक्की) हैं, पार्वती आधे अंग की हैं और रति अपने पति (काम) को विना शरीर के जानकर अत्यन्त दुःखित है ॥५॥ विष और मदिरा जिनके प्यारे भाई हैं, उन लक्ष्मीजी के समान जानकीजी को कैसे कहूँ ? ॥६॥

विशेष—(१) 'जौ पटतरिय तीय'''—प्राकृत नारियाँ उपमाओं से ही लघु थीं, यहाँ उपमाएँ भी लघु लगीं। अब जगत् के तीनों लोकों की दिव्य तनवाली श्रेष्ठ स्त्रियों को तुलना के लिये मिलान करते हैं—

'गिरा मुखर तनु अरध'''—बहुत बोलना स्त्रियों में भारी दोष है। श्रीजानकीजी गंभीर स्वभाव की हैं, यह स्वभाव-भेद है। पार्वतीजी आधे तन की ही सुन्दरी हैं, आधे तन में अमंगल वेषधारी शिवजी हैं। रति का पति कामदेव शरीर-रहित है, इससे वह अति दुःखित रहती है। पार्वतीजी आधे तन से दुःखित और रति अति दुःखित रहती हैं। श्रीजानकीजी सदा प्रसन्न रहती हैं, यह गुण में भेद है। लक्ष्मीजी सागर से प्रकट हुई। अतः, नैहर के सम्बन्धी अश्व आदि भी उनके परिवार हैं, पर विष-वारुणी प्रिय बंधु हैं; जिनका फल नरक है; अर्थात् विष खाकर मरे, तो अकाल मृत्यु होती है। वारुणी (मदिरा) पीने से लोग मतवाला होकर प्रमाद से पाप करते हैं; पर श्रीसीताजी की कृपा-दृष्टि से भगवत्-प्राप्ति होती है। अतः, लक्ष्मी की उपमा में क्रिया-विरोध है। इसलिये ये उपमाएँ अयुक्त हैं। प्रतीप अलंकार का तीसरा भेद है।

यहाँ त्रिदेवों की शक्तियों के बीच में रति कही गई है, क्योंकि भवानी और रति में दुःख की समानता है; अर्थात् एक के पति विना शृंगार के हैं, पुनः सर्पादि लपेटने से और भी दूषित हैं, और दूसरी के पति के अंग ही नहीं, तो शृंगार किसमें हो ? दुःख की क्रिया में समानता है, इसलिये साथ कहा है। जैसे—"सोचिय बटु" ''से—"बैखानस सोइ'''" तक (अ० दो० १७१–१७२) में बटु, गृही, बैखानस और यति के वर्णन में क्रम-भंग करके गृही और यति को साथ कहा है, क्योंकि उनमें कर्म के त्याग और ग्रहण में समता है कि एक कर्म-मार्ग छोड़ने में दूषित है और दूसरा सकाम कर्म के लिये प्रपंच-रत होने में दूषित है। पुनः यह भी कारण है कि यहाँ क्रमशः अधिक दोष कहते हैं; गिरा का मुख ही भर बिगड़ा है, भवानी का आधा तन नष्ट है, रति के पति के तन ही नहीं। अतः, अत्यन्त दुःखी होने से और भी मलिन रहती है। लक्ष्मी में तो कई दोष आ पड़े हैं, इससे वे बिलकुल ही हीन हैं।

नगर-दर्शन के प्रसंग में श्रीरामजी की शोभा कहने में काम और त्रिदेव को न्यून कहा था वैसे यहाँ उनकी शक्तियों को कहा। पुनः जैसे वहाँ—"अपर देव अस कोउ न आही।" कहा था, वैसे यहाँ भी—"जग असि जुवति कहाँ कमनीया।" कहा है। अतः, दोनों जगह समान वर्णन किया है।

सम्बन्ध—पूर्व-कथित उपमाएँ दोषों के कारण अयुक्त हो गईं, तो नवीन उपमा बनाते हैं—

जौं छबि-सुधा-पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छप सोई ॥७॥
सोभा रजु मंदर सिंगारू। मथइ पानि-पंकज निज मारू ॥८॥

दोहा—येहि बिधि उपजइ लच्छि जब, सुंदरता - सुख - मूल।
तदपि सकोच-समेत कवि, कहहिं सीय समतूल ॥२४७॥

शब्दार्थ—छबि=लावण्य, शोभा, कान्ति।

अर्थ—जो छबि-रूपी अमृत का समुद्र होवे और कच्छप भगवान् वे ही रहें, पर वे परम सुंदर हों ॥७॥ शोभा रस्सी हो, शृंगार ही मंदराचल हो और कामदेव अपने ही कर-कमलों से मथे ॥८॥ इस तरह जब सुन्दरता और सुख की जड़ लक्ष्मी प्रकट हो, तो भी कवि संकोच के साथ ही कहेंगे कि वह श्रीसीताजी के समान है ॥२४७॥

विशेष—(१) 'जौं छबि सुधापयोनिधि···'—यों तो लक्ष्मी ही श्रेष्ठ मानी जाती हैं, पर उनके सम्बन्धी दोष बहुत हैं, इसलिये उनके कुरूपमय अंशों को दूर करके उत्तम सामग्री से लक्ष्मी बनाते हैं कि उस समुद्र में तो दूध ही था, यहाँ छबि-रूप अमृत हो। दूध में अवगुण भी होते हैं, अमृत में गुण ही। 'जौं'—ऐसा तो होता नहीं, पर यदि दैव-योग से हो जाय। 'परम रूपमय···'—कच्छप भगवान् के अवतार हैं। अतः, वे ही रहें, पर प्रथम रूपमय ही थे, अब परम रूपमय हो जायँ। वहाँ वासुकी नाग रस्सी रूप में थे, जो विषैले थे, पर यहाँ शोभा ही रस्सी हो। वहाँ मंदराचल मथानी-रूप में था, पर्वत में सुन्दरता कहाँ? और, यहाँ शृंगार रस ही मंदर बने। वहाँ देवता और दैत्य मथनेवाले थे, जिनमें दैत्य तो भयानक थे, यहाँ देवताओं से कहीं अधिक सुन्दर कामदेव है, वही अपने ही दोनों हाथों से मथे।

(२) 'येहि बिधि उपजइ लच्छि···'—इस प्रकार से जो लक्ष्मी होंगी, वे सुन्दरता और सुख की जड़ ही होंगी। दूसरा भाव यह भी है, लक्ष्मी जो उपजी थीं, वे असुंदर एवं दुःख-मूलक थीं, क्योंकि उसके प्रकट होने की सामग्रियाँ सुन्दर न थीं और बड़े कष्ट से मंथन पर प्रकट हुई थीं। यहाँ सब सामग्रियाँ सुन्दर हैं और सुख-पूर्वक उत्पन्न हुई है। अतः, ये लक्ष्मी सुन्दरतापूर्ण एवं सुखमूलक हैं।

'तदपि सकोच समेत···'—जब ऐसी अद्भुत उपमा मिल गई तब फिर संकोच किस बात का रहा? इसका उत्तर यह है कि उत्पत्ति दो कारणों से होती है—निमित्त और उपादान। जैसे घड़े की उत्पत्ति में मृत्तिका उपादान और कुम्हार निमित्त कारण है। कार्य की उत्तमता कारण पर निर्भर रहती है। यहाँ निमित्त कारण कामदेव है, जो प्राकृतिक सृष्टि का एक अति अल्पांश है। उसमें इतनी योग्यता कहाँ कि श्रीसीताजी के तुल्य लक्ष्मी निकाले? यथा—"उपजहिं जासु अंस गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी ॥" (दो० १४८); । यह उसकी कल्पना से भी बाहर है; इसलिये उक्त प्रकार की लक्ष्मी से भी उपमा देने में कवि को संकोच ही रहा। इसमें संभावना और प्रतीप अलंकार हैं।

चलीं संग लै सखी सयानी। गावति गीत मनोहर बानी ॥१॥
सोह नवल तनु सुंदर सारी। जगतजननि अतुलित छबि भारी ॥२॥
भूषन सकल सुदेस सुहाये। अंग-अंग रचि सखिन्ह बनाये ॥३॥

रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर नारी ॥४॥
हरषि सुरन्ह दुंदुभी बजाई। बरषि प्रसून अपछरा गाई ॥५॥

शब्दार्थ—सुदेस=यथायोग्य अंगों में। पगु धारी=चरण रक्खे। मोहे=मुग्ध हो गये, एकटक देखते रह गये; प्रेमवात्सल्य से देह की सुधि न रही, यथा—"सोंपेहु उनके मोह न माया।" (दो० ६६)। नवल=सुंदर, नवीन।

अर्थ—मन को हरनेवाली वाणी से सुंदर मनोहर गीत गाती हुई सयानी सखियाँ (श्रीसीताजी को) साथ लेकर चलीं ॥१॥ सुंदर शरीर पर सुंदर साड़ी शोभित है। वे जगत् की माता हैं, उनकी भारी छवि उपमा-रहित है ॥२॥ सब भूषण यथायोग्य अंगों में शोभा दे रहे हैं, (जिन्हें) सखियों ने अंग-अंग में रचकर सजा दिया है ॥३॥ जब श्रीसीताजी ने रंगभूमि में चरण रक्खे तब स्त्री-पुरुष रूप देखकर मुग्ध हो गये ॥४॥ देवताओं ने प्रसन्न होकर नगाड़े बजाये, फूल बरसाये और अप्सराएँ फूल बरसाकर गाने लगीं ॥५॥

विशेष—(१) 'चलीं संग लै···'—इसमें 'मनोहर' शब्द दीपदेहली है। यथा—"संग सखी सब सुभग सयानी। गावहिं गीत मनोहर बानी॥" (दो० २२७)। यह चौपाई फुलवारी-प्रसंग की है, इसमें श्रीजानकीजी की प्रधानता है, क्योंकि वहाँ माताजी ने श्रीजानकीजी को ही गिरिजा-पूजन के लिये भेजा था, सखियाँ साथ में थीं। यहाँ राजा एवं गुरु की आज्ञा से सखियाँ ले आई हैं, सभा में होने से यहाँ श्रीसीताजी को संकोच भी है, इसलिये सखियाँ ही प्रधान हैं। 'सयानी'—स्वयंवर की सभी रीतियों के जाननेवाली हैं।

(२) 'सोह नवल तनु सुंदर···'—सुन्दर दिव्य तनु के साहचर्य से साड़ी भी अत्यन्त सुहावनी हो गई है। 'जगत-जननि'—यहाँ शृंगार रस प्रधान है, पर उसके साथ शांत रस को भी लेकर ऐश्वर्य कहते हैं कि सीताजी जगत्-भर की माता हैं। अतः, शृंगार कैसे कहा जाय ? हाँ, इतना ही कहा जा सकता है कि इनकी भारी छवि तुलना के योग्य नहीं है। इस तरह समष्टि में शोभा कह भी दी और नख-शिख वर्णन के दोष से भी बच गये। आगे भूषण भी कहते हैं। अतः, भूषण-वस्त्र एवं छवि कहकर सब कह दिये। इस तरह भक्ति, कविता और शृंगार—सभी का निर्वाह किया।

(३) 'भूषन सकल सुदेस···' यथा—"सासुन्ह सादर जानकिहि, मज्जन तुरत कराइ। दिव्य बसन बर भूषन, अँग-अँग सजे बनाइ॥" (उ० दो० ११); इसी तरह यहाँ सखियों ने प्रीति-पूर्वक रच-रच कर गहने सजाये हैं।

(४) 'देखि रूप मोहे नरनारी।'—यहाँ 'मोहे' का अर्थ कामासक्ति नहीं है; किंतु सुन्दर वस्तु पर लुभा जाना है, एकटक देखना मुग्ध होना है, यथा—"राजा की रजाइ पाइ सचिव सहेली धाइ सतानंद ल्याए सिय सिबिका चढ़ाइ कै। रूपदीपिका निहारि मृग मृगी नरनारि थिकके बिलोचन निमेषैं बिसराइ कै॥" (गी० बा० ८२)। यहाँ नर-नारियों का वात्सल्य भाव-सहित रूप पर मोहित होने का प्रसंग है, यथा—"देखत रूप सकल सुर मोहे।" (दो० ६६)। "रमा समेत रमापति मोहे।" (दो० ३१६। उत्तरकांड की चौ०—"मोह न नारि नारि के रूपा।" (दो० ११५) में कामासक्ति का प्रसंग है।

(५) 'हरषि सुरन्ह दुंदुभी बजाई।'—ऊपर जनकपुर के नर-नारियों का मोहित होना कहकर अब देवताओं का भी वैसे आनन्द में मग्न होना कहते हैं। श्रीरामजी के आगमन पर देवताओं का फूल बरसाना और गाना कहा गया, यथा—"बरषहिं सुमन करहिं कल गाना।" (दो० २४५); वैसे ही यहाँ उनकी स्त्रियों का फूल बरसाना और गाना कहा गया। देवताओं का नगाड़ा बजाना यहाँ अधिक है। इस

तरह देवगणों ने युगल सरकार की सेवा की और मंगल शकुन भी जनाये, यथा—"सुर हरषत बरषत फूल बार-बार सिद्धि मुनि कहत सगुन सुभघरी है ॥" (गी० बा० ८०)।

पानिसरोज सोह जयमाला। अवचट चितये सकल भुआला ॥६॥
सीय चकित चित रामहि चाहा। भये मोहबस सब नरनाहा ॥७॥
मुनिसमीप देखे दोउ भाई। लगे ललकि लोचन निधि पाई ॥८॥

दोहा—गुरुजन-लाज समाज बड़, देखि सीय सकुचानि।
लागि बिलोकन सखिन्ह तनु, रघुबीरहिं उर आनि ॥२४८॥

अर्थ—(सीताजी के) कर-कमल में जयमाला शोभा दे रही है, उन्होंने अचानक दृष्टि से सब राजाओं की ओर देखा ॥ ६ ॥ सीताजी चकित चित्त होकर श्रीरामजी को ही देखने लगीं, तब सब राजा मोह के वश हो गये ॥ ७ ॥ दोनो भाइयों को मुनि के समीप में देखा, तब नेत्र अपना खजाना पाकर ललककर (लालच-पूर्वक) वहाँ जा लगे ॥ ८ ॥ गुरुजनों और बड़े समाज को देखकर (उनकी लज्जा से) श्रीसीताजी सकुचा गईं और श्रीरघुवीर को हृदय में लाकर सखियों की ओर देखने लगीं ॥२४८॥

विशेष—(१) 'पानिसरोज सोह·····'—हाथ कमल के समान सुंदर हैं, वैसी ही माला भी सुंदर है, यथा—"कर-सरोज जयमाल सुहाई। विश्वविजय सोभा जेहि छाई ॥" (दो० २६३) अर्थात् इसमें विश्वविजय की शोभा है।

जयमाल में मतभेद है। कहीं कमल की, कहीं स्वर्ण की, कहीं दूब की और कहीं महुए की माला कही गई है। इसलिये ग्रंथकार ने सब मतों की रक्षा के लिये स्पष्ट नाम न देकर गुप्त रीति से कमल को ही जनाया है। यथा—"जयमाला जानकी जलज कर लई है। सुमन सुमंगल सगुन की बनाइ मंजु मानहुँ मदन माली आपु निरमई है ॥······पिय हिय सोहत सो भई है। मानस ते निकसि बिसाल सु तमाल पर मानहुँ मराल पाँति बैठी बनि गई है ॥" (गी० बा० ८८)। इसमें 'जलज कर' श्लेषार्थक है, इसका अर्थ 'कमल का' और 'हस्त कमल' दोनों है तथा हंस की उपमा से श्वेत कमल लक्षित है। इसे ही आगे स्पष्ट कहते हैं कि मंगलशकुन-सूचक फूलों की बनी है। अन्यत्र चौपाइयों में भी 'सरोज' एवं इसके पर्यायी शब्द इसी तरह दीपदेहली रूप में रक्खे गये हैं। यथा—"कर सरोज जयमाल······"ऊपर आया है एवं मूल में भी—'पानिसरोज सोह जयमाला।' है तथा—"सीताजू रघुनाथ के, अमल कमल की माल। पहिराई जनु सबनि के, हृदयावलि भूपाल ॥" (केशवकृत रामचन्द्रिका)। "तर्यांसदेश-उशतीं नवकंज मालां माद्यन्मधुव्रतवरूथगिरोपघुष्टाम् ॥ तस्थौ निधाय निकटे तदुरः स्वधाम सव्रीडहासविकसन्नयनेन याता ॥" (भाग० स्कंध ८ अ० ८ श्लोक २४); अर्थात् लक्ष्मीजी जब क्षीरसमुद्र से प्रकट हुईं, तब श्वेत कमल की माला हाथ में लिये थीं। तथा—"लसत ललित कर कमल माल पहिरावत। कामफंद जनु चंदहि बनज फँदावत ॥" (जानकीमंगल ११२)।

'अवचट चितये ·····'—'अवचट' अर्थात् इच्छा-रहित दृष्टि से, उन्हें श्रीरामजी के देखने की चाह है, इसलिये राजाओं में देखने के लिये उधर दृष्टि डाली। उस श्रेणी में न पाकर चकित हो गईं कि वे क्या आये ही नहीं ? क्योंकि सुन चुकी हैं कि वे मुनि के संग में हैं। मुनि लोग विरक्त होते हैं। यहाँ राजसमाज समझकर कदाचित् न आये हों।

(२) 'रामहिं चाहा'—'चाहा' का अर्थ देखना है। यथा—"सुचित चरज-चाही।" (दो० २८); अर्थात् वे उस राज-समाज में श्रीराम ही को खोज रही हैं, इसीसे किसी राजा की ओर दृष्टि न रुकी।

'भये मोह-बस सब''''''—यहाँ इन राजाओं का मोहना पूर्वोक्त—'देखि रूप मोहे नर-नारी।' से पृथक् रीति का है, इनका मोहित होना प्राकृत शृंगार-दृष्टि से है।

(३) 'मुनि-समीप देखे दोउ भाई।''''''—नेत्र चकित थे। अतः, ललककर लगे। यथा—"देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने॥" (दो० २३१); इसमें फुलवारी का प्रसंग था, वहाँ बहुत काल पर प्रथम दर्शन हुए थे। अतः, 'निजनिधि' कहा गया था। यहाँ उसके एक ही दिन बाद फिर देखती हैं, अतः, 'निधि' ही कहा है।

(४) 'गुरुजन लाज समाज बड़''' '''—फुलवारी में कहा गया है—'सरद ससिहि जनु चितव चकोरी।' क्योंकि वहाँ एकान्त था। यहाँ थोड़ा ही देखने में सकुच गईं, क्योंकि एक तो बड़ा समाज है, फिर भी गुरुजन समीप हैं, इससे भारी लाज का स्थल है।

'सिय' शब्द शीतलता पाने पर कहा है और 'रघुबीर' शब्द वीरता देख पड़ने में है।

राम-रूप अरु सिय-छवि देखी। नर-नारिन्ह परिहरीं निमेखी॥१॥
सोचहिं सकल कहत सकुचाहीं। बिधि सन बिनय करहिं मन माहीं॥२॥
हरु बिधि बेगि जनक जड़ताई। मति हमारि असि देहि सुहाई॥३॥
बिनु बिचार पन तजि नरनाहू। सीय राम कर करइ बिबाहू॥४॥
जग भल कहिहि भाव सब काहू। हठ कीन्हे अंतहु उर दाहू॥५॥

अर्थ—श्रीरामजी का रूप और जानकीजी की छवि देखकर स्त्री पुरुषों ने पलक मारना छोड़ दिया॥१॥ सभी मन में सोचते हैं, पर कहने में सकुचाते हैं, मन में ब्रह्माजी से विनती करते हैं॥२॥ हे विधाता! जनकजी की मूर्खता को शीघ्र हर लीजिये और हमारी ऐसी सुन्दर बुद्धि उन्हें दीजिये॥३॥ जिससे बिना विचारे ही प्रतिज्ञा को छोड़कर राजा सीताजी का विवाह रामजी से कर दें॥४॥ संसार इसे भला कहेगा, क्योंकि सब किसी को यह बात रुचती है। हठ करने से अंत में भी छाती जलेगी॥५॥

विशेष—(१) 'राम-रूप अरु सिय-छवि ''''''—श्रीरामजी के विषय में रूप का देखना कहा गया, रूप में नख शिख की आकृति, रंग, वस्त्र, आभूषण—सभी आ जाते हैं, क्योंकि इन्हें पूर्ण रूप से देखने का सबको अधिकार है। श्रीजानकीजी की छवि का देखना है, छवि में समष्टि सौंदर्य, कान्ति और छटा के ही भाव रहते हैं, क्योंकि इनके विषय में इतना ही अधिकार है। 'रूप' पुँल्लिंग है और 'छवि' स्त्री-लिंग। दोनों शब्दों को यथास्थान ही रक्खा है। यह श्री गोस्वामीजी की विलक्षण सँभाल है।

(२) 'बिधि सन बिनय करहिं''''''—ब्रह्माजी से ही विनती करते हैं, क्योंकि संसार का विधान इन्हीं के हाथ है, वैसे ही यहाँ वर-कन्या का संयोग मिलाना ब्रह्मा ही का काम है; यथा—"जौं बिधि-बस अस बनइ संजोगू।" (दो० २२१), "जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी अरु रामहि ऐसो रूप दियो री। तुलसिदास सोइ चतुर बिधाता निजकर यह सजोग सियो री॥" (गी० बा० ७७)। 'मन माहीं' क्योंकि प्रजा राजा को जड़ कहे, यह अयोग्य है, सुननेवाले क्या कहेंगे? इसलिये मन ही में विनय करते हैं, कहने में संकोच है।

ये लोग मन, वचन, कर्म—तीनों से श्रीरामजी में लगे हैं—'परिहरीं निमेखीं'—कर्म, 'कहत सकुचाहीं'—वचन और 'मन माहीं'—मन की वृत्ति है।

(२) 'हरु विधि वेगि जनक······'—'वेगि'—क्योंकि अभी प्रतिज्ञा नहीं सुनाई गई, सुना देने पर फिर प्रतिज्ञा को छोड़ना अनुचित होगा वा किसी ने धनुष तोड़ दिया, तब भी कुछ न हो सकेगा, फिर तो उसे ही कन्या देनी पड़ेगी।

(३) 'बिनु बिचार पन तजि ·····'—विचार करने पर प्रतिज्ञा को छोड़ना नहीं हो सकेगा। यथा—"सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ।" (दो० २५१); तथा—"नृप न सोह बिनु बचन नाक बिनु भूषन।" (जानकीमंगल ७४)। 'नरनाहू'—राजाओं को अपना स्वार्थ और लाभ देखना चाहिये। यथा—"अहह तात दारुन हठ ठानी। समुझत नहिं कछु लाभ न हानी॥" (दो० २५७)। लाभ प्रण छोड़कर सीताजी का श्रीराम से ब्याह करने में है।

(४) 'जग भल कहिहि ······'—यदि कोई कहे कि प्रण छोड़ने में अपयश होगा तो उसपर कहते हैं कि सबको तो यही रुच रहा है तो अपयश कौन देगा? यदि प्रण का हठ करेंगे तो जैसे अभी छाती जलती है कि इनको न देखा था, नहीं तो ऐसा प्रण न करते; यथा—"ये जाने बिनु जनक जानियत पन करि भूप हँकारे। न तरु सुधासागर परिहरि कत कूप खनावत खारे॥" (गी० बा० ९१)। पुनः आगे यदि किसी अयोग्य से धनुष टूटा अथवा नहीं ही टूटा तो फिर हृदय में जलन होगी।

येहि लालसा मगन सब लोगू। बर साँवरो जानकी जोगू॥६॥
तब बंदीजन जनक बोलाये। बिरदावली कहत चलि आये॥७॥
कह नृप जाइ कहहु पन मोरा। चले भाट हिय हरष न थोरा॥८॥

दोहा—बोले बंदी बचनवर, सुनहु सकल महिपाल।
पन बिदेह कर कहहिं हम, भुजा उठाइ बिसाल॥२४९॥

अर्थ—इसी लालसा में सब लोग मग्न हैं कि जानकीजी के योग्य वर साँवला कुमार है॥६॥ तब ... जनक ने भाटों को बुलवाया, वे वंश की कीर्त्ति कहते हुए चले आये॥७॥ राजा ने (भाटों से) कहा कि तुम जाकर मेरा प्रण सबसे कहो। (यह सुनकर) भाट चले, उनके हृदय में बहुत हर्ष है (वा थोड़ा भी हर्ष नहीं है)॥८॥ भाट लोग श्रेष्ठ वचन बोले कि हे सब राजा लोगो! सुनिये, श्रीविदेहजी की प्रतिज्ञा को हम हाथ ऊँचा उठाकर कहते हैं॥२४९॥

विशेष—(१) 'येहि लालसा मगन सब···'—इस लालसा का प्रसंग—'सोचहिं सकल······' से यहाँ तक कहा गया, इसका विशद वर्णन—'रंगभूमि भोर ही आइकै' (गी० बा० ९८) में है।

(२) 'तब बंदीजन जनक···'—'तब' का 'जब' से नित्य सम्बन्ध है, यह पहले ही कहा गया है, यथा—"रंगभूमि जब सिय पगु धारी।" वहीं यह प्रसंग छोड़कर कवि सबकी दशा कहने लगे थे, फिर वहीं से उठाया। 'बंदीजन' अर्थात् वंश की कीर्त्ति कहनेवाले, उन्हें ही आगे—'बिरदावली कहत···' से सूचित किया है। यथा—"बंस-प्रसंसक बिरद सुनावहिं।" (दो० ३१५), "मागध बंदी गुन गन गरना।" (बा० दो० १०)। 'बोलाये' और 'चलि आये' से जान पड़ता है कि राजा समाज के एक तरफ और बंदी दूसरी तरफ थे।

विरदावली कहते हुए आये कि जिससे राजा जनक के कुल की उत्तमता सबको मालूम हो जाय। भाट लोग समय पर स्वयं आते हैं, पर आज बुलाना पड़ा, क्योंकि ये लोग भी उपर्युक्त—'लालसा मगन सब लोगू।' में थे, अतः, प्रण कहने की इच्छा न थी।

(३) 'कह नृप जाइ कहहु···'—'जाइ' अर्थात् राजा समाज से दूर पर थे। 'हरप न थोरा'—स्वामी की आज्ञा के पालन में बहुत हर्ष होना उत्तम सेवकों का धर्म ही है। पुनः यह भी भाव है, इस कार्य में इन्हें कुछ भी हर्ष नहीं है, क्योंकि ये उपयुक्त लालसावालों में हैं।

(४) 'बोले बंदी बचनवर···'—'बर' अर्थात् वचन श्रेष्ठ रोचक और राजाओं के आमर्ष बढ़ाने वाले हैं, वीरों को सुनकर हर्ष होगा। 'महिपाल' अर्थात् यह प्रण मुख्य करके राजाओं के लिये है, इसी· लिये 'देव-दनुज' भी राजा बन-बनकर आये हैं। 'पन बिदेह कर'—राजा विदेह (ज्ञानी) हैं, उनका प्रण विचार-पूर्वक है। अतः, यह अन्यथा नहीं होगा, यथा—"बज्ररेख गजदसन जनकपन···" (गी० बा० ८०); अर्थात् वज्र-रेखा की तरह अमिट है और हाथी के दाँत की तरह है जो लौटकर मुँह में पुनः आनेवाला नहीं होता; अर्थात् वचन निकला सो निकला। पुनः यह भी भाव है कि यह सबकी देह की सुध-बुध खोनेवाला प्रण है। 'बिदेह-कर', भाटों का अंतर्भाव यह भी है कि देही ऐसा प्रण नहीं करेगा। जिसे देह ही पर ममता नहीं है वह कन्या पर कहाँ से ममत्व रक्खेगा ? देही होते तो प्रण छोड़कर 'सीय-राम' का ब्याह ही करते !

'भुजा उठाइ बिसाल'—भुजा उठाकर प्रण कहने की रीति है, यथा—"भुज उठाइ पन कीन्ह।" (आ० दो० ९); "सत्य कहउँ दोउ भुजा उठाई।" (दो० १६४)। भुजा उठाना इसलिये होता है कि उस ओर सबकी दृष्टि और मन आ जाय। 'बिसाल' शब्द दीपदेहली है; अर्थात् ऊँची भुजाएँ देख लीजिये, पुनः प्रण भी विशाल है, सामान्य नहीं है। अंतर्ध्वनि यह भी है कि जो विशाल भुज (भारी पराक्रमी) हों, वे ही उठें—यह नहीं कि भारी लाभ सुनकर सभी दौड़ पड़ें।

नृप-भुज-बल बिधु सिवधनु राहू। गरुअ कठोर बिदित सब काहू ॥१॥
रावन बान महाभट भारे। देखि सरासन गवहिं सिधारे ॥२॥
सोइ पुरारि-कोदंड कठोरा। राजसमाज आजु जोइ तोरा ॥३॥
त्रिभुवन - जय - समेत बैदेही। बिनहिं बिचार बरइ हठि तेही ॥४॥

अर्थ—राजाओं के बाहुबल रूपी चन्द्रमा के लिये शिवजी का धनुष राहु है। गरुअ (अधिक वजन का) और कठोर है, यह सबको विदित है ॥१॥ रावण तथा बाणासुर जैसे भारी महाभट भी धनुष को देखकर गँव (चुपके) से चले गये ॥२॥ उसी कठोर शिवजी के धनुष को आज राजाओं के समाज में जो तोड़ेगा ॥३॥ उससे विना किसी विचार के तीनों लोकों की जय के साथ विदेह-नन्दिनी जानकीजी हठ-पूर्वक ब्याही जायँगी ॥४॥

विशेष—(१) 'नृप-भुजबल बिधु···'—भाव यह कि तुम सब राजाओं के भी बल को ग्रस लेगा। 'बिदित सब काहू'—हम भय दिखाने के लिये नहीं कहते, किन्तु सब किसी को ज्ञात है, आगे पुष्ट करते हैं।

(२) 'रावन बान'—इनके नाम देकर जनाया कि एक कैलाश उठानेवाला और दूसरा सुमेरु उठानेवाला था। दोनों हार मानकर गये, छूने का भी साहस न पड़ा। 'गवहिं'—चुपके से एवं बहाना बनाकर।

रावण ने कहा कि हमारे गुरु का धनुष है, हम कैसे तोड़ें? और बाणासुर ने कहा कि जानकीजी माता हैं— ऐसा कहकर दोनों चल दिये।

सत्योपाख्यान अ० ३ में कहा है कि वह धनुष सभा के राजाओं में किसी को अजगर-रूप, किसी को सिंह-रूप और किसी को शिव-रूप से देख पड़ा। कोई उसके पास जाते ही अंधा हो गया। बाणासुर को शिवरूप देख पड़ा, इत्यादि, लोग डर-डरकर आसनों पर जा बैठे। बाणासुर चल दिया। प्रसन्न राघव नाटक के प्रथम अंक में भी रंगभूमि में रावण और बाणासुर का संवाद-प्रसंग वर्णित है।

(३) 'सोइ पुरारि कोदंड ···'—इसी धनुष से त्रिपुरासुर मारा गया था। अतः, अत्यंत कठोर है। 'राज-समाज'—यहाँ तीनों लोकों के लोग राजा के रूप में हैं, यथा—"देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आये रनधीरा॥" (दो० २५०); जो तोड़ेगा, उसकी जीत सबपर समझी जायगी, वही आगे—'त्रिभुवन-जय-समेत···' से स्पष्ट करते हैं। 'आजु' अर्थात् आज ही भर के लिये प्रतिज्ञा है। 'जेहि' अर्थात् चाहे जो कोई हो, यथा—"धनु तोरै सोइ वरै जानकी राउ होइ की रौंक।" (गी० बा० ८०)।

(४) 'त्रिभुवन-जय-समेत ···'—'जय' क्षत्रियों को विशेष प्रिय होती है। अत, इसे प्रथम कहकर तब कहा कि वैदेही अर्थात् अयोनिजा दिव्य लक्षणा कन्या मिलेगी। 'बिनहिं बिचार'—यहाँ घर, वर, कुल कुछ नहीं देखा जायगा, यथा—"जौ घर बर कुल होइ अनूपा। करिय बिवाह सुता अनुरूपा॥" (दो० ७०)। जनकजी के प्रण का वर्णन इसी प्रकार हनुमन्नाटक में भी है। यथा—"शृणुत जनककल्पा क्षत्रियाः शुल्कमेते। दशवदनभुजानां कुण्ठिता यत्र शक्तिः॥ नमयति धनुरैशं यस्तदारोपणेन। त्रिभुवनजयलक्ष्मीर्जानकी तस्य दाराः॥" (१।१८)

सुनि पन सकल भूप अभिलाखे। भट मानी अतिसय मन माखे॥५॥
परिकर बाँधि उठे अकुलाई। चले इष्टदेवन्ह सिर नाई॥६॥
तमकि ताकि तकि सिवधनु धरहीं। उठइ न कोटि भाँति बल करहीं॥७॥
जिन्हके कछु बिचार मन माहीं। चाप-समीप महीप न जाहीं॥८॥

दोहा—तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप, उठइ न चलहिं लजाइ।
मनहुँ पाइ भट-बाहु-बल, अधिक अधिक गरुआइ॥२५०॥

अर्थ—प्रतिज्ञा सुनकर सब राजाओं को अभिलाषा हुई; अभिमानी योद्धा मन में बहुत ही अप्रसन्न (कुपित) हुए॥५॥ कमर में फेंटा बाँधकर तथा अकुलाकर उठ खड़े हुए और अपने-अपने इष्टदेवों को प्रणाम करके चले॥६॥ वे क्रुद्ध होकर शिवजी के धनुष को ताकते हैं, फिर (उठाने एवं पकड़ने की घात) तककर उसे पकड़ते हैं। करोड़ों प्रकार से बल लगाते हैं पर वह नहीं उठता॥७॥ जिनके मन में कुछ विचार है, वे राजा लोग तो धनुष के समीप ही नहीं जाते॥८॥ मूर्ख राजा लोग क्रुद्ध होकर धनुष को पकड़ते हैं, पर वह नहीं उठता, तब लज्जित होकर चल देते हैं, मानों धनुष योद्धाओं की भुजाओं का बल पाकर अधिक-अधिक गरू (भारी) होता जाता है॥२५०॥

विशेष—(१) 'सुनि पन सकल भूप···'—अभिलाषा सबको हुई, क्योंकि बड़ा भारी लाभ था, यथा—"ईसहि ईरि मनोहरि विजय बड़ि, कीरति अति कमनीय।" (दो० २५१)। 'भटमानी अतिसय···'—

सामान्य भट 'मारे' (अप्रसन्न हुए), विशेष भट 'अति मारे' (अति अप्रसन्न हुए) और ज्ञानी भट 'अतिसय मन मारे'।

(२) 'परिकर बाँधि उठे······'—यहाँ इनकी व्याकुलता की दशा प्रकट है कि बैठे-बैठे ही फेंटा बाँधने लगे थे जिससे भाटों की बात पूरी होते ही हम दौड़कर झट उठा लें। इसलिये बाँधना प्रथम कहा है, तब उठना कहा। अकुलाकर उठ दौड़े, आगे - पीछे छोटे-बड़े का विचार न रहा। 'इष्ट देवन्ह सिर नाई', पर—(क) इष्टदेवों ने इनकी मूर्खता देखकर रहा-सहा बल भी खींच लिया कि ये जगज्जननी पर कुदृष्टि से जा रहे हैं। हम भी दोष भागी होंगे। (ख) महादेवजी का धनुष तोड़ना चाहते हैं। सामान्य देवताओं को मनाकर चले, तो कैसे टूटे ? जैसे कोई सागर तरने के लिये तालाब की पूजा करे तो व्यर्थ ही है। (ग) इनके इष्टदेवों ने ही लज्जा से शिर नीचा कर लिया कि हमारी भी लघुता हुई।

(३) 'कोटि भाँति बल करहीं'— प्रथम धनुष का एक कोना पकड़ा, हिलाया-डुलाया, फिर एक कोना पकड़कर उठाया, एक हाथ से—फिर दोनों हाथों से उठाया, पुनः भूमि में पैर अड़ाकर उठाया इत्यादि, तो भी 'उठइ न' अर्थात् नहीं उठा। यथा—"डगइ न संभु-सरासन कैसे। कामी बचन सती मन जैसे॥"

(४) 'जिन्हके कछु विचार······'पूर्व कहा गया है कि—'सुनि पन सकल भूप अभिलाखे।' उसकी यहाँ सँभाल है कि जो उपर्युक्त सात्त्विक राजा हैं, वे तो पूर्ण विचारवाले हैं और जो राजस कहे गये थे, वे 'कछु' विचारवाले हैं, वे भी समीप नहीं जाते हैं। वे जानते हैं कि अमुक-अमुक से नहीं उठा, तो हमसे भी न उठेगा, जाने से हँसी होगी। फिर शिवजी का धनुष है, तोड़ने के प्रयास में भी भलाई नहीं है। पुनः सीता अयोनिजा हैं, इनपर और भाव लाना भी योग्य नहीं है, इत्यादि। इससे यह भी जाना गया कि जो उठाने को गये, उनके कुछ भी विचार नहीं है, वे तमोगुणी हैं, इसीसे मूढ़ कहे गये हैं।

(५) 'तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप······'—पहले भी 'तमकि ताकि-तकि···' कहा गया था। बीच में और राजाओं की बात कहने लगे, अब फिर वहीं से उठाने का प्रसंग लेते हैं। इससे फिर भी—'तमकि धरहिं······' कहा गया है। अथवा एक बार बल करके थककर बैठ गये थे, सुस्ताकर फिर रोस से धरते हैं। यथा—"झपटहि करि बल बिपुल उपाई। पद न टरइ बैठहि सिर नाई॥ पुनि उठि झपटहिं सुर-आराती।" (लं० दो० ३३)। यहाँ विशेषोक्ति अलंकार है।

'अधिक अधिक गरुआइ'—जैसे-जैसे भारी-भारी भट उठाते जाते हैं, न उठने से धनुष की प्रशंसा होती है कि वाह ऐसे भट से भी न उठा !

भूप सहस दस एकहि बारा। लगे उठावन टरइ न टारा॥१॥
डगइ न संभु-सरासन कैसे। कामी - बचन सती-मन जैसे॥२॥
सब नृप भये जोग उपहासी। जैसे बिनु बिराग संन्यासी॥३॥
कीरति बिजय बीरता भारी। चले चाप - कर बरबस हारी॥४॥
श्रीहत भये हारि हिय राजा। बैठे निज निज जाइ समाजा॥५॥

अर्थ—दस हजार राजा एक ही बार (धनुष को) उठाने गये, पर वह टाले न टला ॥१॥ शिवजी का धनुष किस तरह नहीं डोलता, जैसे कामी पुरुष के (प्रलोभनात्मक) वचनों से सती स्त्री का मन (नहीं चलायमान होता) ॥२॥ सब राजा हँसी के योग्य हो गये, जैसे बिना वैराग्य के संन्यासी होते हैं ॥३॥ भारी कीर्त्ति, विजय और वीरता को वे धनुष के हाथों बरबस गँवाकर चल दिये ॥४॥ सब राजा हृदय से हारकर कान्तिहीन हो गये और अपने-अपने समाज में जा बैठे ॥५॥

विशेष—(१) 'भूप सहस दस एकहि बारा।···'—जब पृथक्-पृथक् राजाओं से न उठा तब सबने एक साथ मिलकर उठाने का प्रयत्न किया कि किसी तरह जनकजी की प्रतिज्ञा तो निबह जाय। पीछे जयमाल-स्वयंवर अथवा आपस में युद्ध करके जो श्रेष्ठ होगा, कन्या को ब्याहेगा। धनुष के न उठने से तो सबकी नाक कटती है। यह सम्मत भी दैवयोग से हुआ, इससे श्रीरामजी की बड़ाई होगी जो दस हजार राजाओं से न उठा, उसे अकेले श्रीरामजी ने तोड़ डाला। जैसे सब वानरों के उपाय से मेघनाद न मरा तो उसके मारने से लक्ष्मणजी की प्रशंसा हुई।

शंका—धनुष का प्रमाण साढ़े तीन हाथ का है, उसमें दस हजार राजा कैसे लगे ?

समाधान—यह कोई विशेष नियम नहीं कि धनुष ३½ हाथ ही का हो। ब्रह्मवैवर्त-पुराण श्रीकृष्ण-जन्म-खंड में लिखा है कि उस धनुष का प्रमाण एक हजार हाथ लंबा और दस हाथ चौड़ा था जिसे श्रीकृष्ण भगवान् ने कंस के यहाँ तोड़ा है। इस धनुष के विषय में सत्योपाख्यान का प्रमाण ऊपर कहा गया कि यह दिव्य था। अतः, अनेक रूपों से देख पड़ता था। वही बात गोस्वामीजी ने भी सूचित की है। यथा—"दाहिनो दियो पिनाक सहमि भयो मनाक महा ब्याल बिकल बिलोकि जनु जरी है॥" (गी॰ बा॰ ८०); "सियहिं बिलोकि तकेउ धनु कैसे। चितव गरुड़ लघु ब्यालहिं जैसे।" (दो॰ २५८); अतः, जैसे धनुष को अनेक रूपों से देख पड़ने एवं सिकुड़ने की शक्ति थी, वैसे उसमें बढ़ने की भी शक्ति थी। जैसे-जैसे राजाओं में हाथ लगते गये—वह अधिक-अधिक बढ़ता गया। यह बात ऊपर के दोहे में ध्वनित है—"मनहुँ पाइ भट बाहुबल, अधिक-अधिक गरुआइ॥" इसमें बाहु के साथ अधिक-अधिक होना और बल के साथ उत्तरोत्तर गरुआना (भारी होना) कहा है। यह यथासंख्यालंकार से संगत है। ऐसे ही सुंदरकांड में श्रीहनूमान्जी की पूँछ बढ़ने की भी बात है—"बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला।" (दो॰ २४)।

यहाँ जो 'एकहिं बारा' से एक दिन का अर्थ करते हैं वह ठीक नहीं, क्योंकि इसी एक ही दिन में तो सभा का जुड़ना, प्रण सुनाना और राजाओं का लगना, फिर पीछे श्रीरामजी का तोड़ना आदि सब कार्य हुए। उनके लिये एक दिन कहाँ से बचा ? पुनः 'दस' से दशानन और 'सहस' से सहस्रबाहु अर्थ लेना भी ठीक नहीं, क्योंकि वे दोनों उठाने में लगे नहीं थे, उनके लिये तो 'गवनहिं सिधारे' 'रावन बान छुवा नहिं चापा' कहा है। अतः, उपर्युक्त ही अर्थ ठीक है।

(२) 'डगइ न संभु-सरासन···'—सती (पतिव्रता) स्त्री का मन एक अपने पति ही में अनुरक्त रहता है, हजारों कामी लोगों के वचनों से उसका सत नहीं डिगता, वैसे यह धनुष भी दिव्य है, इसमें भी सत धर्म है, यथा—"पारवती-मन सरिस अचल धनु···" (जानकी मं॰ १०४); यह श्रीरामजी से ही अनुरक्त है; अतः उन्हीं से टूटेगा। यथा—"जेहि पिनाक बिनु नाक किये जग, सबहिं बिषाद बढ़ायो। सोइ प्रभु कर परसत टूट्यो जनु हुतो पुरारि पढ़ायो॥" (गी॰ बा॰ ८१)। और— "नेदं धनुश्चलति किंचिदपीन्दु-मौलेः। कामातुरस्य वचसामिव सन्निधानैरभ्यर्थितः प्रकृतिचारुमन सतीनाम्॥" (प्रसन्नराघव १।५६)।

(३) 'जैसे बिनु बिराग संन्यासी।'—यहाँ निवृत्ति का और ऊपर 'कामी बचन···' से प्रवृत्ति का—ये दो दृष्टान्त दिये गये। ऐसे ही अंगदपैज पर भी दो ही दृष्टान्त हैं, यथा—"पुरुष कुजोगी जिमि उर-

गारी। मोह-विटप नहिं सकहिं उपारी ॥" "कोटि विघ्न ते संत कर, मन जिमि नीति न त्याग।" (लं॰ दो॰ ३४); क्योंकि दोनों जगह प्रतिज्ञा एक ही तरह है। वैराग्य के बिना संन्यासी मुँह पर हँसी करने योग्य हो जाता है कि वैराग्य नहीं था तो घर क्यों छोड़ा, वैसे ये लोग भी बल के बिना हँसने योग्य हुए। बल और विराग समान हैं, यथा—"जब उर बल विराग अधिकाई।" (उ॰ दो॰ १२१)।

(४) 'कीरति बिजय बीरता···'—वीरता से विजय और उससे कीर्त्ति होती है, इसलिये तीनों साथ ही कही हैं। 'भारी'—क्योंकि धनुष भी भारी है, यथा—"भंजेउ राम संभु-धनु भारी।" (दो॰ २६१)। 'चाप कर बरबस'—'बरबस' क्योंकि साधु राजाओं ने मना भी किया था। पूर्व कहा गया था—'जस प्रताप बल तेज गँवाई।' उसका यहाँ चरितार्थ हुआ। 'तेज' को आगे 'श्रीहत भये···' से कहते हैं।

पूर्व कहा गया था—"उठइ न चलइ लजाइ" (दो॰ २५०); उनका बैठना वहाँ नहीं कहा गया था। यहाँ भी—'चले चाप ' ' कहते हैं; दोनों का आगे साथ ही बैठना कहते हैं—'बैठे निज निज···'। क्योंकि प्रथमवाले वहीं पास में खड़े देखते रहे कि देखें, इनसे टूटता है या नहीं। जब किसी से न टूटा तब समाज में जाकर बैठे, क्योंकि अब कोई किसी को हँसनेवाला नहीं रह गया।

(५) 'श्रीहत भये हारि ··' यथा—"नमित सीस सोचहिं सलज्ज सब श्रीहत भये सरीर।" (गी॰ बा॰ ८७); चाप तोड़कर कीर्त्ति आदि बढ़ाने आये थे। अपनी मूढ़ता के कारण गँवा बैठे। वही सोचते हैं; यथा—"पश्य पश्य सुभटैः स्फुटभावं भक्तिरेव गमिता न तु शक्तिः। अञ्जलिर्विरचिता न तु मुष्टिर्मौलिरेव नमिता न तु चापः ॥" (प्रसन्न॰ १।२१)

नृपन्ह बिलोकि जनक अकुलाने। बोले बचन रोष जनु साने ॥६॥
दीप-दीप के भूपति नाना। आये सुनि हम जो पन ठाना ॥७॥
देव दनुज धरि मनुज-सरीरा। बिपुल बीर आये रनधीरा ॥८॥

दोहा—कुँअरि मनोहरि बिजय बड़ि, कीरति अति कमनीय।
पावनिहार बिरंचि जनु, रचेउ न धनुदमनीय ॥२५१॥

अर्थ—राजाओं को देखकर राजा जनक व्याकुल हो गये और ऐसे वचन बोले जो मानों क्रोध में सने हुए थे ॥६॥ जो हमने प्रतिज्ञा की थी, उसे सुनकर द्वीप-द्वीप के अनेकों राजा आये ॥७॥ मनुष्य शरीर धरकर देवता और दैत्य भी आये; और भी बहुत-से वीर रणधीर आये ॥८॥ मनोहर कन्या, बड़ी विजय और अत्यन्त सुंदर कीर्त्ति को प्राप्त करनेवाले और धनुष तोड़नेवाले को मानों ब्रह्मा ने रचा ही नहीं ॥२५१॥

विशेष—(१) 'नृपन्ह बिलोकि जनक ···'—जनक महाराज पूर्ण ज्ञानी हैं, इनकी दृष्टि में अज्ञान नहीं और बिना अज्ञान के द्वैत नहीं होता। पुनः द्वैत के बिना क्रोध नहीं हो सकता। यथा—"क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान।" (उ॰ दो॰ १११); इसीलिये यहाँ 'रोष जनु साने' लिखा है, रोष (क्रोध) है नहीं, यह उनकी व्यावहारिक युक्ति है। प्रथम भाटों के अमर्षवाले वचनों पर मानी भट अत्यंत फड़क उठे थे, कदाचित् अब भी कोई छिपे हों तो वे भी फड़क उठेंगे, वैसा ही हुआ भी—'माखे लखन ··'। जनक महाराज के वचन उत्तेजित करनेवाले हैं। यथा—"अनुहुंकुरुते घ घनध्वनिं नहि गोमायुरुतानि च केसरी।" (शिशुपालवध) अर्थात् सिंह मेघ के ही गर्जन पर गर्जता है—गीदड़ों के बोलने पर नहीं; वैसे लक्ष्मणजी ने भाटों के वचनों पर ध्यान नहीं दिया था, राजा जनक की ही बातों से क्रुद्ध हुए।

(२) 'दीप-दीप के भूपति···'—अर्थात् प्रत्येक द्वीप से बहुत-बहुत राजा प्रतिज्ञा सुनकर आये हैं। अत, सब वीर ही हैं। कुछ यह नहीं कि निमंत्रण से विवश होकर आये हों। यथा—"सप्त दीप नवखंड भूमि के भूपति वृंद जुरे। बड़ो लाभ कन्या कीरति को जहँ तहँ महिप मुरे ॥" (गी० बा० ८०)।

(३) 'देव दनुज धरि मनुज-सरीरा '—देव से स्वर्ग, दनुज से पाताल और द्वीप द्वीप से मर्त्यलोक के विपुल वीर बताये। 'धरि मनुज-सरीरा'—क्योंकि यहाँ मनुष्यों का समाज है। अत, इसी वेप में आना योग्य है, यथा—"धरि नृप-तनु तहँ गयेउ कृपाला।" (दो० १२४); इसमें क्षीर-शायी भगवान् भी राज-समाज में राज वेप से ही गये थे, तथा—"तब कछु काल मराल-तनु, धरि तहँ कीन्ह निवास।" (उ० दो० ५७)। यहाँ पक्षि-समाज में शिवजी पक्षी ही बनकर रहे।

(३) 'कुँअरि मनोहरि बिजय बड़ि···'—कुँअरि को मनोहर कहा, उससे अधिक बड़ी विजय, फिर उससे भी अधिक अत्यन्त सुन्दर कीर्त्ति कहकर उत्तरोत्तर अधिक लाभ दिखाया। यहाँ तीन वस्तुओं के लिये तीन विशेषण दिये गये हैं। उनमें हेर फेर करने से साहित्यिक दोष होगा। यदि कहा जाय कि अपनी कन्या का शृंगार राजा ने कैसे कहा? तो समाधान यह कि राजा ने अकुलाकर रोष में सने हुए वचन कहे हैं, ऐसी दशा में लोक-लाज नहीं रहती, यथा—"सोक बिकल दोउ राज समाजा। रहा न ज्ञान न धीरज लाजा ॥" (अ० दो० २७५)। इसमें विजय को बड़ी और कीर्ति को अत्यन्त सुन्दर कहा है, इसमें रावण-वाणासुर से भी जीतने की कीर्त्ति होगी। वह सदा संसार में अचल रहेगी। 'जनु'—ब्रह्मा की गति पर जीव की पहुँच नहीं है। अत, निश्चय नहीं रक्खा। सरस्वती ने राजा की वाणी से यह भी यथार्थ ही कहलाया, जो तोड़ेगा, वह ब्रह्मा की सृष्टि का नहीं है, यथा—"आपु प्रगट भये बिधि न बनाये।" (बा० दो० ११६)।

कहहु काहि यह लाभ न भावा। काहु न संकरचाप चढ़ावा ॥१॥
रहउ चढ़ाउब तोरब भाई। तिल भरि भूमि न सके छुड़ाई ॥२॥
अब जनि कोउ माखइ भट मानी। बीर - बिहीन मही मैं जानी ॥३॥
तजहु आस निज निज गृह जाहू। लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू ॥४॥
सुकृत जाइ जौ पन परिहरऊँ। कुँअरि कुँआरि रहउ का करऊँ ॥५॥
जौ जनतेउँ बिनु भट भुवि भाई। तौ पन करि होतेउँ न हँसाई ॥६॥

अर्थ— कहिये तो, यह लाभ किसे नहीं रुचा? परन्तु किसी ने भी शिवजी का धनुष नहीं चढाया ॥१॥ अरे भाई! चढ़ाना, तोड़ना तो (दूर) रहा, कोई उसे भूमि से तिल भर भूमि तो नहीं छुड़ा सका ॥२॥ अब कोई अभिमानी वीर 'माख' न करे (क्रोध न करे, डींग न हाँके)। मैंने जान लिया कि पृथिवी वीरों से रहित है ॥३॥ (सीता की) आशा छोड़िये, अपने-अपने घर जाते जाइये, ब्रह्मा ने वैदेही का ब्याह लिखा ही नहीं ॥४॥ (यदि कोई कहे, कि किसी से न टूटा, तो प्रण ही छोड़ दो, इसपर कहते हैं कि) यदि मैं प्रतिज्ञा छोड़ दूँ, तो सुकृत (पुण्य) नष्ट हो जायगा। अतः, मैं क्या कर सकता हूँ? भले ही कन्या कुँआरी रह जाय ॥५॥ भाइयो! यदि मैं जानता कि पृथिवी योद्धाओं से रहित है तो प्रतिज्ञा करके हँसी के योग्य नहीं होता अर्थात् हँसी का पात्र नहीं बनता ॥ ॥

विशेष—(१) 'यह लाभ न भावा'—हाथी, घोड़ा द्रव्य आदि ऐश्वर्य तो सबके पास हैं। पर यह लाभ नहीं है, क्योंकि—"सुनि पन सकल भूप अभिलाषे।" कहा ही है।

'सकर-चाप'—अर्थात् यह चाप तोड़नेवाले के लिये शं (कल्याण) कर (करनेवाला) था।

(२) 'रहा चढ़ाउब तोरब ···'—अर्थात् पूर्वोक्त—'राज-समाज आजु जेहि तोरा' में 'तोरा' का अर्थ चढ़ाकर तोड़ना था, वह यहाँ स्पष्ट हुआ। यह भी भाव है कि तोड़ना उत्तम, चढ़ाना मध्यम और तिल भर भूमि से छुड़ा देना निकृष्ट बल का कार्य था।

(३) 'अब जनि कोउ माखइ···'—यह पूर्वोक्त—'भटमानी अतिसय मन माखे।' के प्रति कहा गया है कि पूर्व वंदियों के कहने पर फड़के सो फड़के, पर अब नहीं फड़कना। 'मही'—पूर्व तीनों लोकों के वीरों और रणधीरों का आना कहा था, यहाँ पृथिवी ही को कहते हैं, क्योंकि तीनों लोकों के वीर अभी यहीं पर—पृथिवी ही में हैं।

शंका—राजा जनक श्रीरामजी का प्रभाव भी सुन चुके हैं, फिर एका-एक ऐसे वचन क्यों कह दिये—'वीर-बिहीन मही मैं जानी ?'

समाधान—राजा जनक एक तो व्याकुलता एवं परिताप में ये वचन कह रहे हैं, यथा—"मेटहु तात जनक-परितापा।" (दो० २५४), दूसरे इस समय श्रीरामजी में उनकी शिशु-दृष्टि है, यथा—"सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु-सम प्रीति न जाइ बखानी॥" (दो० २४१)। अतः, इनमें वीर-दृष्टि रही ही नहीं। पुनः दैव-योग से भी ये वचन निकले हैं, क्योंकि श्रीरामजी चुप बैठे ही रह गये, इन्होंने भाटों के कथन पर दृष्टि ही न दी; इन्हें वैसे ही आमर्ष के वचनों से जाग्रत् करना है, यथा—"तेहि समाज रघुराज के मृगराज जगाई।" (गी० बा० १०१)। हनुमन्नाटक में भी ऐसा ही कहा है—"आद्वीपात्परतोऽप्यमी नृपतयः सर्वे समभ्यागताः। कन्यायाः कलधौतकोमलरुचेः कीर्तेश्च लाभः परः। नाकृष्टं न च टङ्कितं न नमितं नोत्थापितं स्थानतः। केनापीदमहो महद्धनुरिदं निर्वीरमुर्वीतलम्॥" (१।१०)।

(४) 'तजहु आस निज···'—राजाओं को आशा थी कि अब जयमाल-स्वयंवर होगा। उसका दृढ़ निराकरण करते हैं कि प्रण-पूर्ति के विना ब्रह्मा ने ब्याह लिखा ही नहीं।

(५) 'सुकृत जाइ जौं ···'—यदि कोई कहे कि कन्या को विना ब्याहे रखना भी तो अयोग्य है, उसपर अपनी विवशता दिखाते हैं कि कन्या सुकृत से ही प्राप्त हुई है, प्रतिज्ञा छोड़ते ही सुकृत का नाश हो जायगा। यथा—"प्रतिश्रुत्य करिष्येति उक्तं वाक्यमकुर्वतः। इष्टापूर्तवधो भूयात्तस्माद्रामं विसर्जय॥" (वाल्मी० १।२१।८); "सत्यमूल सब सुकृत सुहाये।" (अ० दो० २७); जैसे सुकृत बचने का उपाय प्रण का नहीं छोड़ना है, वैसे यदि कन्या के ब्याह का दूसरा उपाय होता तो करते, पर है नहीं तो क्या करें ? जिस सुकृत ने ऐसी कन्या दी है, उसका निरादर तो उचित नहीं, यथा—"तुम्ह सम सुवन सुकृत जेहि दीन्हे। उचित न तासु निरादर कीन्हे॥" (अ० दो० ४२)।

(६) 'होतेउँ न हँसाई'—लोग हँसेंगे कि राजा जनक ज्ञानी होते हुए भी मूर्ख ही देखने में आये कि विचार कर प्रण नहीं किया जिससे कन्या कुँआरी ही रह गई, इत्यादि।

जनक - बचन सुनि सब नरनारी। देखि जानकिहि भये दुखारी॥७॥

माखे लखन कुटिल भइ भौंहैं। रदपट फरकत नयन रिसौहैं॥८॥

दोहा—कहि न सकत रघुबीर-डर, लगे बचन जनु बान।

नाइ राम-पद-कमल सिर, बोले गिरा प्रमान॥२५२॥

शब्दार्थ—गिरा प्रमान = प्रामाणिक वचन।

अर्थ—श्रीजनकजी के वचन सुनकर सभी स्त्री-पुरुष श्रीजानकीजी को देखकर दुखी हुए ॥७॥ लक्ष्मणजी क्रुद्ध हुए, उनकी भौंहें टेढ़ी हो गईं, होंठ फड़कने लगे, नेत्र क्रोध-युक्त (लाल) हो गये ॥८॥ श्रीरघुवीर के डर से कह नहीं सकते, पर वचन बाणों की तरह लगे, श्रीरामजी के चरण-कमलों में शिर झुकाकर प्रामाणिक वचन कहने लगे ॥२५२॥

विशेष—(१) 'जनक-बचन सुनि······'—नर-नारी धनुष न टूटने से प्रसन्न थे कि अब जब जयमाल-स्वयंवर होगा, तब श्रीजानकीजी अवश्य ही श्रीरामजी को जयमाला पहनावेंगी। यथा—"बिनु भंजेहु भव-धनुष बिसाला। मेलिहि सीय राम-उर माला॥" (दो॰ २४४); पर जब राजा ने नाहीं कर दी, तब ये लोग दुखी हुए।

(२) 'माखे लखन······'—भाटों के वचन पर इन्हें क्रोध नहीं हुआ था, पर तुच्छ राजा घबरा उठे थे। अब स्वय राजा ने कहा—'बीरबिहीन मही···' तब इन्हें क्रोध हो आया; क्योंकि इस वचन में श्रीरामजी का भी अपमान है—वे भी यहाँ बैठे हैं। इनके अपमान पर लक्ष्मणजी पिता तक को कठोर वचन कह डालेंगे, परशुराम को भी बहुत कुछ कहेंगे; भरत-शत्रुघ्न के प्रति भी कुछ उठा नहीं रक्खेंगे, फिर वे यहाँ इतनी बड़ी सभा में इष्ट के अपमान पर चुप कैसे रह सकते थे?

(३) 'कहि न सकत ·····'—यद्यपि श्रीरामजी से डरते हैं कि महाज्ञानी राजा के प्रति कठोर कहने से ये अप्रसन्न होंगे, तथापि क्षमा के लिये प्रणाम करके बोले। पुन, कार्यारंभ में इष्ट को प्रणाम करना ही चाहिये।

'बचन जनु बान'—विषम बाण लगने पर हाहाकार किये बिना रहा ही नहीं जाता, वैसे ही रघुवीर के डर से बोलना अयोग्य होते हुए भी बिना बोले नहीं रहा गया।

'गिरा प्रमान'—अर्थात् जनकजी के वचन अप्रामाणिक थे। इससे ये योग्य वचन बोले कि जिसमें स्वामी का सम्मान हो और अपने सामर्थ्य से बाहर भी न हों।

रघुबंसिन्ह महँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहइ न कोई॥१॥
कही जनक जसि अनुचित बानी। बिद्यमान रघुकुल-मनि जानी॥२॥
सुनहु भानु-कुल-पंकज-भानू। कहउँ सुभाव न कछु अभिमानू॥३॥
जौ तुम्हारि अनुसासन पावउँ। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावउँ॥४॥
काँचे घट जिमि डारउँ फोरी। सकउँ मेरु मूलक जिमि तोरी॥५॥
तव प्रताप-महिमा भगवाना। का बापुरो पिनाक पुराना॥६॥

अर्थ—रघुवंशियों में से कोई भी जहाँ रहता है, उस समाज में ऐसा कोई नहीं कहता ॥१॥ जैसे अनुचित वचन जनकजी ने, रघुकुल में शिरोमणि (आप) को उपस्थित जानते हुए भी, कहे हैं ॥२॥ हे सूर्य-कुल-रूपी कमल के सूर्य! सुनिये, मैं स्वभाव ही कहता हूँ, कुछ अभिमान की बात नहीं कह रहा हूँ ॥३॥ जो मैं आपकी आज्ञा पाऊँ तो गेंद की तरह ब्रह्माड को उठा लूँ ॥४॥ और उसे कच्चे घड़े की तरह फोड़ डालूँ। सुमेरु पर्वत को मूली की तरह तोड़ सकता हूँ ॥५॥ हे भगवन्! ये सब आपके प्रताप की महिमा है, इसके सामने बेचारा पुराना शिव-धनुष क्या है? ॥६॥

विशेष—(१) 'रघुबंसिन्ह महँ जहँ'…'—'कोउ'—कोई भी इस कुल का हो, यह समाज भर की मर्यादा रखता है, उसके होते हुए, अनजान में भी ऐसा कोई नहीं कह सकता। इन्होंने रघुकुल के शिरोमणि को जानते हुए ऐसा कह डाला।

(२) 'सुनहु भानु-कुल-पंकज'……'—श्रीजनकजी के जानने में श्रीरामजी को 'मनि' कहा, अपनी परिभाषा में 'भानु' विशेषण कहा ; अर्थात् जनकजी ने आपका तेज कम माना; क्योंकि मणि में प्रकाश अल्प होता है और मैं आपके सूर्यवत् प्रताप को जानता हूँ।

'न कछु अभिमानू'—मैं केवल आपके प्रताप की महिमा कहता हूँ, इसमें मेरा अभिमान कुछ भी नहीं है। यह सफाई इसलिये देते हैं कि श्रीरामजी को जन का अभिमान नहीं सुहाता। यथा—"सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन-अभिमान न राखहि काऊ॥" (उ० दो० ७१)।

(३) 'जौं तुम्हारि अनुसासन '…'—'जौं' यह दुविधा वचन है ; अर्थात् ऐसी आज्ञा मिल नहीं सकती, क्योंकि अभी प्रलय का अवसर नहीं है। 'तुम्हारि'…'—क्योंकि ब्रह्मांड के मालिक आप हैं, बिना आपकी आज्ञा से मैं कैसे कुछ कर सकता हूँ ?

(४) 'काँचे घट जिमि डारउँ फोरी।'…'—धनुष के विषय में उठाना और तोड़ना कहा गया था, इसलिये यहाँ ब्रह्मांड ही को गेंद के समान उठाना और उसे ही दोनों हाथों की हथेली से दबाकर फोड़ना कहा। पटककर फोड़ना नहीं कहते, क्योंकि जब ब्रह्मांड ही उठा लेंगे, तब तो शून्य ही रह जायगा; फिर पटकेंगे किसपर ?

'सकउँ मेरु मूलक इव तोरी।—ब्रह्मांड में तो सुमेरु भी आ ही गया, पर उसे पृथक् भी कहते हैं, क्योंकि जनकजी ने तीन भेद कहे थे—चढ़ाना, तोड़ना और तिल भर भूमि से छुड़ाना। प्रतिज्ञा में 'गरुअ-कठोर' कहा गया था। उसकी पूर्ति में कहते हैं कि धनुष से बहुत अधिक भारी ब्रह्मांड है, हम उसे ही उठा लेंगे, तिल भर हटाना क्या ? चढ़ाने और तोड़ने के प्रति कठोर सुमेरु को कहते हैं—"का बापुरो पिनाक मेलि गुन मंदर मेरु नवावौं।" (गी० बा० ८७) अर्थात् सुमेरु में रौदा चढ़ाकर मूली की तरह उसे तोड़ सकता हूँ !

(५) 'तव प्रताप महिमा भगवाना'……'—'भगवाना'—अर्थात् आप षडैश्वर्य पूर्ण हैं, उससे स्वाभाविक ही सृष्टि, पालन एवं प्रलय करते हैं, आपके प्रताप के आगे यह पुराना (देवरात जनक के समय से रक्खे हुए) पिनाक का तोड़ना तो कुछ है ही नहीं।

ब्रह्मांड को—'डारउँ फोरी'—उत्तम बल, 'मंदर मेरु नवावौं'—मध्यम बल, 'ब्रह्मांड उठावउँ'—निकृष्ट बल और—'का बापुरो पिनाक पुराना' (इसका तोड़ना) महा निकृष्ट बल की बात है। अंत में—'तव प्रताप महिमा'…' कहकर उपर्युक्त सब बातों का होना इसीसे जनाया।

नाथ जानि अस आयसु होऊ। कौतुकु करउँ बिलोकिय सोऊ॥७॥
कमलनाल जिमि चाप चढ़ावउँ। जोजन सत प्रमान लै धावउँ॥८॥

दोहा—तोरउँ छत्रकदंड जिमि, तव प्रताप-बल नाथ।
जौं न करउँ प्रभु-पद-सपथ, कर न धरउँ धनु-भाथ॥२५३॥

शब्दार्थ—छत्रकदंड = कठछत्र, भुइँफोड़, कुकुरमुत्ता, यह वर्षा में स्वयं भूमि से छत्ते की तरह निकलता है। प्रमान = परिमाण, पर्यन्त।

अर्थ—हे नाथ! ऐसा जानकर आज्ञा हो तो कुछ खेल करूँ, वह भी देखिये ॥७॥ धनुष को कमल की डंडी की तरह चढ़ा दूँ और सौ योजन पर्यंत लिये हुए दौड़ जाऊँ ॥८॥ हे नाथ! आपके बल और प्रताप से उसे मैं कुकुरमुत्ते की तरह तोड़ डालूँ। जो ऐसा न करूँ, तो हे प्रभो! आपके चरणों की सौगंद करता हूँ कि धनुष और तरकश हाथ में न लूँ अर्थात् न छुऊँ।

विशेष—(१) 'नाथ जानि अस''''''—ऐसा जानकर कि आपके प्रताप से मैं सब कुछ कर सकता हूँ। 'आयसु होऊ'—प्रथम आज्ञा माँगने में 'जौं' कहा था, क्योंकि उसकी आशा न थी। यहाँ तो धनुष तोड़ने ही को रक्खा है। अतः, आशा है। पर आज्ञा का रुख न पाकर कहते हैं कि 'कौतुक करउँ' अर्थात् इसमें मुझे श्रम न होगा। फिर आप राजा हैं। राजा लोग कौतुक देखना चाहते हैं; अतः, मैं करूँ और आप देखें। 'कौतुक'—का यह भी भाव है कि मैं कौतुक के लिये धनुष उठाऊँ—तोड़ूँगा, प्रतिज्ञा के नियम से व्याह के लिये नहीं, क्योंकि उसका फल तो मेरे लिये पाप है। यथा—"ततरु'' चढ़ाइ चाप'' फल पापमई है।" (गी० बा० ८३) अर्थात् योग्य बड़े भाई के रहते हुए छोटे का प्रथम विवाह होना स्मृतियों में दूषित है।

(२) 'कमल-नाल जिमि''''—विना श्रम ही चढ़ा लूँ। 'सत' शब्द अनंतवाची है। यह वचन 'तिल भरि भूमि'''' के प्रति कहा गया है। यथा—"देखो निज किंकर को कौतुक क्यों कोदंड उठावौं। लै धावौं भंजउँ मृनाल ज्यों तव प्रभु-अनुग कहावौं॥" (गी० बा० ८०)।

(३) 'तोरउँ छत्रकदंड जिमि''''—पूर्व सुमेरु को मूली की तरह तोड़ना कहा था। पिनाक को पुराना कहा है। अतः, इसे उसकी अपेक्षा बहुत ही तुच्छ दिखाते हुए, छत्रकदंड की तरह तोड़ना कहते हैं, क्योंकि वह छूते ही टूटता है। पूर्व—'तव प्रताप महिमा ''' कहा था। वैसे यहाँ भी—'तव प्रताप-बल' कहा। अन्यथा समझा जाता कि इसे ये अपने पुरुषार्थ ही से कर लेंगे। भाव, मैं किसी योग्य नहीं, आपका प्रताप ही चाहे जो करावे।

'जौं न करउँ प्रभुपद''''—यहाँ प्रभु-पद की शपथ के साथ 'धनु-भाथ' न छूने की शपथ है और मेघनाद वध के समय—'तौ रघुपति-सेवक न कहावउँ' कहा है, क्योंकि वहाँ सेवा का कार्य था, प्रभु ने स्वयं करने को कहा था। यहाँ क्षात्रधर्म का कार्य है। अतः, धनुष-तरकश के न छूने की शपथ की है। 'कर न धरउँ' किसी वस्तु पर हाथ रखना छूने के अर्थ में भी होता है, वह अर्थ यहाँ है। केवल 'धरउँ' से भी काम चल जाता, पर यहाँ यह भी दिखाना है कि जिस कर से उपर्युक्त कार्य करना कहा है, उसकी क्रीड़ा एवं शोभा धनुष-बाण के सम्बन्ध से है, वह इनसे रहित रहेगा। तरकश के साथ बाण आ ही गये। ऐसा ही महानाटक में भी है—"देव श्रीरघुनाथ किं बहुतया दासोऽस्मि ते लक्ष्मणो, मेर्वादीनपि भूधरान गणये जीर्णः पिनाकः कियन्। तन्मामादिश पश्य पश्य च बलं भृत्यस्य यत्कौतुकं, प्रोद्धर्तुं प्रतिनामितुं प्रचलितुं नेतुं निहन्तुं क्षमः॥" (हनु० १।११)

लखन सकोप बचन जब बोले। डगमगानि महि दिग्गज डोले॥१॥

सकल लोक सब भूप डेराने। सियहिय हरष जनक सकुचाने॥२॥

गुरु रघुपति सब मुनि मन माहीं। मुदित भये पुनि पुनि पुलकाहीं॥३॥

सैनहि रघुपति लखन निवारे। प्रेमसमेत निकट बैठारे ॥४॥

अर्थ—जब लक्ष्मणजी क्रोध से वचन बोले, तब पृथिवी हिल गई और दिशाओं के हाथी डोलने लगे अर्थात् अचल न रह सके ॥१॥ सभी लोग और सब राजा डरे। सीताजी के हृदय में हर्ष हुआ और जनकजी सकुचा गये ॥२॥ गुरु विश्वामित्रजी, रघुनाथजी और सब मुनि मन में प्रसन्न हो गये और फिर-फिर पुलकायमान हुए ॥३॥ श्रीरघुनाथजी ने संकेत से लक्ष्मणजी को मना किया और प्रेमपूर्वक अपने पास बैठा लिया ॥४॥

विशेष—(१) 'लखन सकोप बचन···'—लक्ष्मणजी के वचन प्रमाणित करने के लिये—'डग-मगानि महि···' की घटना हुई। अन्यथा राजा लोग इनकी डींग ही समझते। इसी से इसके पीछे सब लोगों और सब राजाओं का डरना कहा गया। सामान्य लोगों की अपेक्षा राजा लोग धीर होते हैं। अतः, सब लोगों से पीछे उनका डरना कहा गया।

'सकोप वचन'—जब तक भौंहें टेढ़ी हुईं, नेत्र लाल हुए एवं ओष्ठ फड़कते रहे, तब तक पृथिवी आदि नहीं डोले, जब वचन सुने कि ये तो ब्रह्मांड ही तोड़ने फोड़ने पर तुले हैं, तब काँपने लगे कि हमारा ही नाश करेंगे। 'माखे लखन'—मन, 'रदपट फरकत'—कर्म, 'बचन बोले'—वचन, अर्थात् मन, वचन, कर्म से लक्ष्मणजी कुपित हुए।

(२) 'गुरु रघुपति सब···'—मन में ही प्रसन्न हुए, क्योंकि जनकजी सकुचा गये हैं, प्रकट हँसने एवं लक्ष्मण को बधाई देने में वे बहुत ही लज्जित होते। समझ-समझकर बार-बार पुलकते हैं कि हैं तो बालक, पर कैसे उत्तम वचन कहे हैं कि अपनी वीरता श्रीराम-कृपा से ही कही और राजा जनक के प्रति अपमान के वचन भी नहीं कहे। निर्भीक एवं श्रीरामप्रतापप्रदर्शक वचन हैं। इससे गुरुजी और मुनियों को हर्ष हुआ। उत्साह एवं आशावर्द्धक होने से श्रीजानकीजी को हर्ष हुआ। राजा जनक सकुचा गये; क्योंकि मुनि से श्रीरामजी का बल एवं कीर्त्ति सुन चुके थे। फिर भी माधुर्य में भूले हुए थे।

(३) 'सैनहिं रघुपति लखन ···'—संकेत से ही मना किया, प्रकट कहते कि बैठ जाओ तो उनका निरादर होता। कुटिल राजा लोग यह न समझें कि अब दोनों भाइयों में भी धनुष तोड़ने का झगड़ा होगा, इसलिये संकेत से बैठाकर सूचित किया कि ये मेरे अधीन हैं। 'निकट बैठारे'—लक्ष्मणजी प्रथम मुनि की बाईं ओर बैठे थे। समाज-भर को सुनाने के लिये खड़े होकर बोले थे, अब श्रीरामजी ने अपनी बगल में बैठा लिया। इससे अधिक स्नेह एवं आदर जनाया। यथा—"अति आदर समीप बैठारी।" (लं॰ दो॰ २०); "कर गहि परम निकट बैठावा।" (सुं॰ दो॰ ३२)।

विश्वामित्र समय सुभ जानी। बोले अति सनेहमय बानी ॥५॥
उठहु राम भंजहु भवचापा। मेटहु तात जनकपरितापा ॥६॥
सुनि गुरुवचन चरन सिर नावा। हरष-बिषाद न कछु उर आवा ॥७॥
ठाढ़ भये उठि सहज सुभाये। ठवनि जुवा मृगराज लजाये ॥८॥

दोहा—उदित उदयगिरि-मंच पर, रघुबर बालपतंग।
बिकसे संतसरोज सब, हरषे लोचनभृंग ॥२५४॥

अर्थ—विश्वामित्रजी शुभ अवसर जानकर अत्यन्त स्नेहमयी वाणी से बोले ॥५॥ हे राम ! उठो, शिवजी के धनुष को तोड़ डालो, हे तात ! जनकजी का संताप मिटा दो ॥६॥ गुरुजी के वचन सुनकर (रामजी ने) चरणों में शिर नवाया, उनके मन में कुछ हर्ष या शोक नहीं आया ॥७॥ साधारण स्वभाव से उठ खड़े हुए उनकी ठवनि (शरीर की अकड़) से युवा सिंह लज्जित होते हैं ॥८॥ मंच-रूपी उदयाचल पर रघुवर-रूपी बाल सूर्य उदित हुए। सब संत-रूपी कमल प्रफुल्लित हुए, और (सबके) नेत्ररूपी भौंरे प्रसन्न हुए ॥२५४॥

विशेष—(१) 'विश्वामित्र समय···'—धनुष टूटने के योग्य शुभ मुहूर्त जानकर, तथा यह अवसर भी है, क्योंकि अब कोई राजा नहीं कह सकता कि श्रीरामजी ने तोड़ ही डाला, नहीं तो हम तोड़ते। अब तोड़ने से श्रीरामजी तीनों लोकों के विजयी होंगे, इत्यादि शुभ योग जानकर, अत्यन्त स्नेह से कहा। इसी से धनुर्भंग पर प्रथम इन्हें ही सर्वाधिक प्रेम एवं सुख होगा।

(२) 'उठहु राम भंजहु भव···'—राजा लोग—'त्रिभुवन-जय समेत वैदेही।' के लोभ से उठे थे। लोभ अप्राप्त पदार्थ में होता है। श्रीरामजी पूर्णकाम हैं, पुनः श्रीसीताजी तो इन्हीं की आदिशक्ति हैं, इसीलिये इन्हें भक्त जनक का परिताप मिटाना कहा ; क्योंकि प्रभु भक्त के दुःख को दूर करते हैं। 'भव-चापा'—यह ईश्वर शिव का धनुष है, कुछ मनुष्य का नहीं है कि आपकी लघुता हो। यदि यह कहा जाय कि शिवजी भी भक्त हैं, उनका धनुष क्यों तोड़ें तो इसपर कहते हैं—'जनक-परितापा' अर्थात् शिवजी ने जनकजी को दे ही दिया है, उसके टूटने ही से जनकजी का दुःख मिटेगा।

(३) 'हरष-बिषाद न कछु'·····'—हर्ष-विषाद आदि बद्ध जीव के धर्म हैं, यथा—"हरष बिषाद ग्यान अग्याना। जीव-धरम अहमिति अभिमाना ॥" (दो॰ ११५)। श्रीरामजी इनसे रहित हैं, यथा—बिसमय-हरष-रहित रघुराऊ।" (अ॰ दो॰ ११); पुनः हानि-लाभ से विषाद-हर्ष होता है, इसे भी श्रीरामजी नहीं मानते, यथा—"का छति लाभ जून धनु तोरे।" (दो॰ २७१)। सब राजा बड़ा लाभ सुनकर अकुला उठे थे, पीछे न टूटने पर उन्हें विषाद भी हुआ था। इससे रामजी का 'सहज स्वभाव' से खड़ा होना कहते हैं। इसपर राजा जनक को शोच हुआ, यथा—"सोचत जनक पोच पेंच परि गई है।···" (गी॰ बा॰ ८१)।

(४) 'बिकसे संत-सरोज'·····'—बाल-सूर्य के उदय से कमल और भ्रमर दोनों को सुख होता है। 'सब' शब्द दीप-देहली है। सब संत कमल-रूप हैं, वे प्रफुल्लित हो गये। जब त्रिकालज्ञ संत प्रफुल्लित हो रहे हैं, पृथिवी आदि के डोलने पर भी विश्वास है कि अब लक्ष्मणजी के वचन से ऐसा हुआ तब रामजी अवश्य ही धनुष तोड़ेंगे। ऐसा विचार कर सब लोगों के नेत्र-रूपी भौंरे प्रसन्न हुए। नेत्र का विषय रूप है, उसको देखता पर वह आनंदित होता है, यथा—"राम-रूप अरु सिय-छबि देखी। नर-नारिन्ह परिहरीं निमेषी ॥" (दो॰ २४८); "पुर-बासिन्ह देखे दोउ भाई। नर-भूषन-लोचन सुखदाई ॥" (दो॰ २२०); सरोज और भृंग भिन्न-भिन्न हैं। अतः, अंग-अंगी नहीं हो सकते कि दोनों बातें संतों में ही लगें। यदि कहो कि भ्रमर को सूर्य देखकर हर्ष नहीं होता तो इसका समाधान है—भ्रमर को सूर्य-उदय पर कमलों के खिलने से रस प्राप्त होता है, तब वे प्रसन्न होते हैं। वैसे ही यहाँ श्रीरामजी के खड़े होने पर संत प्रफुल्लित हुए और श्रीरामजी के धनुष तोड़ने का विश्वास हुआ, तब उनके रूप के दर्शनों से अधिक रस प्राप्त हुआ—अपने उचित नाते से प्रीति-पूर्वक देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए।

नृपन्ह केरि आसा निसि नासी। बचन नखतअवली न प्रकासी ॥१॥

मानी महिप कुमुद सकुचाने। कपटी भूप उलूक लुकाने ॥२॥
भये बिसोक कोक मुनि देवा। बरिसहिं सुमन जनावहिं सेवा ॥३॥
गुरुपद बंदि सहित अनुरागा। राम मुनिन्ह सन आयसु माँगा ॥४॥
सहजहि चले सकल-जग-स्वामी। मत्त - मंजु - बर - कुंजर - गामी ॥५॥

अर्थ—राजाओं की आशा-रूपी रात्रि नष्ट हो गई, उनके वचन-रूपी नक्षत्र-समूह का प्रकाश नहीं रह गया ॥१॥ अभिमानी राजा रूप कुमुद (कुईं) संकुचित हो गये, कपटी राजा रूपी उल्लू छिप गये ॥२॥ मुनि और देवता-रूपी चकवे शोकरहित हुए। वे फूलों की वर्षा करके अपनी सेवा प्रकट कर रहे हैं ॥३॥ अनुराग-पूर्वक गुरुजी के चरणों की वंदना करके श्रीरामजी ने मुनियों से आज्ञा माँगी ॥४॥ सम्पूर्ण जगत् के स्वामी श्रीरामजी सुन्दर मतवाले श्रेष्ठ हाथी के समान चाल से स्वाभाविक रूप में ही चले ॥५॥

विशेष—यहाँ अभ्युदय दिखाना है, इसलिये प्रातःकालीन सूर्य का रूपक बाँधा है, जहाँ अगाधता कहनी होती है, वहाँ सागर का और जहाँ दुःखद भाव कहना होता है, वहाँ सायंकाल का रूपक बाँधते हैं—यह ग्रंथकार का नियम-सा है।

(१) 'नृपन्ह केरि आसा निसि···'—सूर्य-रूपी श्रीरामजी के उदय से जयमाल-स्वयंवर की आशा-रूपी रात नष्ट हुई, यथा—"बिनु रवि राति न जाइ।" (उ० दो० ७८)। यहाँ सूर्य का सांग-रूपक बाँधा गया है, क्योंकि धर्म की समानता है और वाचक का लोप है।

(२) 'गुरु-पद बंदि सहित······'—गुरुजी ने 'अति-सनेह मय बानी' से आज्ञा दी थी, अतएव श्रीरामजी ने अनुराग से आज्ञा माँगी। बड़ों से आज्ञा लेनी नीति है। आप नीति के पोषक हैं।

(३) 'सहजहिं चले सकल जग ·····'—सब राजा कुछ-कुछ भूमि के स्वामी थे, पुनः जीव होने से अल्प दृष्टि वाले थे, इससे बड़ा लाभ सुन अकुलाकर दौड़ पड़े थे। श्रीरामजी सम्पूर्ण जगत् के स्वामी हैं, सब इन्हीं के हैं। अतः, घबराये नहीं, हाथी की तरह धीर-गंभीर चाल से चले। आगे भी इसी के अनुकूल कहना है, यथा—"तीनि लोक महँ जे भट मानी।·····तहाँ राम रघुबंसमनि, सुनिय महा महिपाल। भंजेउ चाप प्रयास बिनु, जिमि गज पंकज-नाल॥" (दो० २९१)।

चलत राम सब पुर - नर-नारी। पुलक - पूरि - तनु भये सुखारी ॥६॥
बंदि पितर सब सुकृत सँभारे। जौ कछु पुन्य - प्रभाव हमारे ॥७॥
तौ सिवधनु मृनाल की नाईं। तोरहु राम गनेस गोसाईं ॥८॥

दोहा—रामहिं प्रेम समेत लखि, सखिन्ह समीप बोलाइ।
सीता-मातु सनेहबस, बचन कहइ बिलखाइ ॥२५५॥

अर्थ—श्रीरामजी को चलते हुए देखकर नगर के स्त्री-पुरुष पुलकावली से पूर्ण हुए और सब सुखी हुए ॥६॥ पितरों और देवों की वंदना कर और अपने सब पुण्यों का स्मरण करते हुए कहते हैं कि जो हमारे

पुण्यों का कुछ भी प्रभाव हो ॥७॥ तो हे गणेश गोसाईं ! श्रीरामजी शिवजी के धनुष को कमल की डाँड़ी की नाईं तोड़ डालें ॥८॥ श्रीरामजी को प्रेम-सहित देखकर सखियों को पास बुला सीताजी की माता (सुनयनाजी) स्नेह-वश बिलखती हुई (दुःख-सहित) ये वचन कहती हैं ॥२५५॥

विशेष—(१) 'चलत राम सब······'—पूर्व लोगों के नेत्र भौंरों के समान रूप पर प्रसन्न हुए थे, अब चाल पर सुखी हैं। पुनः पूर्व कहा गया—"जनक-बचन सुनि पुर-नर-नारी। देखि जानकिहिं भये दुखारी ॥" (दो० २५१); अब वे सब सुखी हुए।

(२) 'जौं कछु पुन्य प्रभाव······'—'जौं' यह संदिग्ध शब्द देकर जनाया कि कर्म की गति बड़ी सूक्ष्म है, इसे विधाता ही यथार्थ जानते हैं, जीव नहीं जानते, यथा—"कठिन करम-गति जान बिधाता।" (अ० दो० २८१); "गहना कर्मणो गतिः।" (गीता ४।१७)। यदि कुछ भी पुण्य हो तो वह श्रीरामजी को इस कार्य के लिये प्राप्त हो। इसमें पुरवासियों का सौहार्द्र है।

गणेशजी से कहते हैं, क्योंकि पुण्य कार्य में इनका प्रथम पूजन होता है। अतः, ये साक्षी हैं, पुनः विघ्ननाशक और सिद्धियों के दाता भी हैं। 'गोसाईं'—अर्थात् अंतःकरण और बाह्य वृत्तियों के ये स्वामी हैं। अतः, हमारे हृदय के भाव को भी जानते हैं। यदि सत्य है तो वैसा ही हो।

(३) 'सीता-मातु सनेह बस ······'—पुरवासियों का प्रेम दिखाकर अब रनिवास का स्नेह दिखाते हैं। 'सीतामातु'—जनकजी के रानियाँ तो बहुत हैं, यथा—"रानिन्ह कर दारुन दुख दावा।" (दो० २५१); "रानिन्ह सहित सोचबस सीया।" (दो० २११); पर यहाँ मुख्य पटरानी श्रीसुनयनाजी को कहते हैं, जिन्होंने श्रीसीताजी को अपनी पुत्री माना है, यथा—"जनकपाटमहिषी जग जानी। सीय-मातु किमि जाइ बखानी ॥" (दो० ३२३)। हरिवंश के अनुसार पितृकन्या होने से ये दिव्य नारी हैं। श्रीरामजी में इनका शुद्ध वात्सल्य भाव है, यथा—"सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाइ बखानी ॥" (दो० २४१); श्रीसुनयनाजी अधिक स्नेह-वश हैं। अतः, चिन्ता है कि ये बालक अत्यन्त कोमल हैं, धनुष को कैसे तोड़ेंगे ? कहीं हाथों में मोच न आ जाय !

सखि सब कौतुक देखनिहारे। जेउ कहावत हितू हमारे ॥१॥
कोउ न बुझाइ कहइ नृप पाहीं। ये बालक असि हठ भलि नाहीं ॥२॥
रावन बान छुआ नहिं चापा। हारे सकल भूप करि दापा ॥३॥
सो धनु राजकुँअर-कर देहीं। बालमराल कि मंदर लेहीं ॥४॥
भूपसयानप सकल सिरानी। सखि बिधिगति कछु जाति न जानी ॥५॥

अर्थ—हे सखियो ! जो हमारे हितैषी कहलाते हैं, वे सब भी तमाशा ही देखनेवाले हैं ॥१॥ कोई भी राजा से समझाकर नहीं कहता कि ये बालक हैं, इनके साथ ऐसा हठ करना ठीक नहीं है ॥२॥ रावण और बाणासुर ने तो धनुष को छुआ तक नहीं और सभी राजा घमंड करके हार बैठे ॥३॥ वही धनुष अब राजकुमार के हाथों में दे रहे हैं, क्या बच्चा हंस मंदराचल उठा सकता है ? ॥४॥ राजा की सभी चतुराई समाप्त हो गई, हे सखी ! विधाता की गति कुछ समझ में नहीं आती ॥५॥

विशेष—(१) 'सखि सब कौतुक······'—राजा तो विधिवश होने से समझते ही नहीं हैं। यथा—"बिधिबस हठि अबिबेकहिं भजई।" (दो० २११); पर हितैषियों को समझाना चाहिये। यथा—

"कोउ समुझाइ कहै किन भूपहिं बड़े भाग आये इत ये री। कुलिस कठोर कहाँ संकरधनु मृदु मूरति किसोर कित ये री ॥" (गी० बा० ७६); "जनक मन की रीति जानि बिरहित प्रीति, ऐसिओ मूरति देखे रह्यो पहिलो बिचारु। तुलसी नृपहिं ऐसो कहि न बुझावै कोऊ, पन औ कुँअर दोऊ प्रेम की तुला धौं वारु ॥" (गी० बा० ८०)। रानी का विचार है कि इन्हें सीधे ब्याह करने ही में चतुराई है, अभी इन्होंने हाथ भी नहीं लगाया है। अत, बिना शर्त के ही ब्याह हो सकता है।

(२) 'ये बालक असि हठ···'—और राजा लोग योद्धा थे। अत', उनसे हठ योग्य था, पर ये तो बालक एवं परम सुकुमार हैं। 'असि हठ·····'—इनके साथ तो दूसरा हठ भला है। यथा—"पन परिहरि हठि करइ बिबाहू।" (दो० २२१)। यहाँ 'नृप पाहीं' की जगह 'गुरु पाहीं' भी पाठ है कि गुरुजी ने ही श्रीरामजी को आज्ञा दी है। अतः, उनसे ही कहने को कहती हैं। किन्तु पूर्वापर के प्रसंग से 'नृप पाहीं' पाठ अधिक संगत है, गुरुजी ने राजा के ही परिताप-निवारण के लिये आज्ञा दी है। गीतावली के उपर्युक्त प्रमाणों से भी समझाना राजा ही के लिये है। गुरुजी ने प्रथम ही कहा है, वे कुछ हठ नहीं कर रहे हैं।

(३) 'रावन बान छुआ···'—रावण और बाणासुर उस समय के प्रसिद्ध वीर थे, इसलिये प्रथम कहे गये। 'सकल भूप'—पृथक् पृथक्, फिर सब मिलकर भी लगे, पर हार ही गये। 'करि चापा'—'तमकि धरहिं धनु मूढ़ ···' 'परिकर बाँधि उठे अकुलाई।' 'हारे' यथा—"श्रीहत भये हारि हिय राजा।" छुआ नहिं'—छुए भी नहीं, डरकर बहाना करके चल दिये। यथा—"<u>गँवहिं</u> सिधारे।"। (दो० २४१)

(४) 'बालमराल कि मंदर लेहीं।'—बाल हंस चाक और सुकुमारता में प्रसिद्ध है, यहाँ सुकुमारता पर कहा गया है, यथा—"मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला। मंदर मेरु कि लेहिं मराला ॥" (अ० दो० ७१); अर्थात् जैसे सुमेरु को समस्त देवता-असुर भी नहीं सँभाल सके थे, वैसे इस धनुष को भी सब उठाकर हार गये, उसे ये हंस के बच्चे के समान सुकुमार रामजी कैसे उठा सकते हैं ?

बोली चतुर सखी मृदु बानी। तेजवंत लघु गनिय न रानी ॥६॥
कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा। सोखेउ सुजस सकल संसारा ॥७॥
रविमंडल देखत लघु लागा। उदय तासु त्रिभुवन-तम भागा ॥८॥

दोहा—मंत्र परम लघु जासु बस, बिधि हरि हर सुर सर्व।
महामत्त - गजराज कहँ, बस कर अंकुस खर्व ॥२५६॥

काम कुसुम - धनु-सायक लीन्हे। सकलभुवन अपने बस कीन्हे ॥१॥
देवि तजिय संसय अस जानी। भंजब धनुष राम सुनु रानी ॥२॥
सखीवचन सुनि भइ परतीती। मिटा बिषाद बढ़ी अति प्रीती ॥३॥

अर्थ—एक चतुर सखी कोमल वाणी से बोली कि हे रानी! तेजस्वी पुरुष को छोटा नहीं समझना चाहिये ॥६॥ (देखिये) कहाँ अगस्त्यजी (अत्यन्त छोटे) और कहाँ अपार समुद्र ? फिर

भी उसे सोख लिया, यह सुयश समस्त संसार में फैला हुआ है ॥७॥ सूर्य का मंडल देखने ही में छोटा लगता है, परन्तु उसके उदय से तीनों भुवनों (भूः, भुवः, स्वः) का अंधकार दूर होता है ॥८॥ मंत्र अत्यन्त छोटा होता है, जिसके वश में ब्रह्मा, विष्णु, महेश एवं सभी देवता हैं। छोटा-सा अंकुश मदमतवाले गजराज को वश में कर लेता है ॥२५६॥ कामदेव ने फूल के ही धनुष-बाण लिये हुए सब लोकों को अपने वश में कर लिया ॥१॥ हे देवि! ऐसा जानकर संदेह छोड़िये। हे रानी! सुनिये, श्रीरामजी धनुष तोड़ेंगे ॥ २ ॥ सखी के वचन सुनकर विश्वास हुआ, दुःख मिटा और अत्यन्त प्रीति बढ़ गई ॥३॥

विशेष—(१) 'बोली चतुर सखी···'—सखी चतुर है। अतः, सब संदेह निवृत्त कर देगी और इसीसे 'मृदु बानी' कहा है, क्योंकि प्रिय वाणी से उपदेश लगता है। रानी ने राजा एवं मंत्रियों को दोष दिया था—उसका खंडन नहीं करती, इसलिये कि प्रथम ही उनकी बात काट देने से कहीं अप्रसन्न हो जायँ तो फिर और उपदेश नहीं सुनेंगी। अतः, वह प्रथम तेजस्वी की महिमा कहते हुए फिर पृथक्-पृथक् भी दृष्टान्तों द्वारा श्रीरामजी के प्रभुता-सम्बन्धी गुणों को दिखाकर प्रबोध करती है। 'तेजवंत' दूसरे को पराजित करने का सामर्थ्य रखनेवाले।

(२) 'कहँ कुंभज कहँ सिंधु···'—घड़े से पैदा होनेवाले समुद्र को सोख लें। यह उनका प्रताप है, यथा—"कलसजोनि जिय जानेउ नाम-प्रताप। कौतुक सागर सोख्यो करि जिय जाप ॥" (बरवा रा० ५५)। इसकी कथा ऐसी है कि एक समय एक टिटिहरी (चिड़िया) के अंडे समुद्र अपनी लहर में बहा ले गया। उसने चोंचों से समुद्र का जल उलीचना शुरू किया। दैवात् अगस्त्य ऋषि यहाँ आ गये, यह कौतुक देखकर उन्होंने पूछा। उसने वृत्तान्त कह सुनाया और यह भी कहा कि मैं जन्म-जन्म समुद्र ही सुखाऊँगी। अगस्त्यजी को दया आ गई। वे वहीं पूजा करने बैठे कि एकाएक लहर आई और उनकी पूजन-सामग्री भी बह गई, तब तो वे कुपित हुए और 'रामाय, रामभद्राय, रामचन्द्राय' कहकर तीन चुल्लुओं में सारा समुद्र पी गये। यह सुयश हुआ, फिर उसे ज्यों-का-त्यों भर दिया यह और भी सुयश फैला, यथा—"रोक्यो विंधि सोख्यो सिंधु घटजहूँ नाम-बल हार्यो हिय खारो भयो भूसुर-डरनि ॥" (वि० १७०)।

इस दृष्टान्त से श्रीरामजी का प्रताप दिखाया, यथा—"देखियत भूप भोर के से उडुगन गरत गरीब गलानि हैं। तेज प्रताप बढ़त कुँअरन्ह को जदपि सकोची बानि हैं ॥" (गी० बा० ७८) अर्थात् यद्यपि धनुष रूप सागर में सभी राजा डूब गये तो भी ये प्रताप से उसे सोख लेंगे।

(३) 'रविमंडल देखत लघु;···'—सूर्य के छोटे-से मंडल में इतना अप्रमेय तेज है कि जिससे विना श्रम ही सम्पूर्ण अंधकार का नाश हो जाता है; यथा—"यन्मध्यगतो भगवांस्तपतांपतिस्तपन आतपेन त्रिलोकीं प्रतपत्यवभासयत्यात्मभासा।······" (श्रीमद्भा० ५।२१।३)। इस प्रकार सूर्य भू (पृथ्वी), भुवः (अन्तरिक्ष) और स्व. (द्यु) लोकों के प्रकाशक कहे गये हैं। पाताल में सूर्य की गति नहीं मानी जाती, वहाँ मणियों का प्रकाश रहता है। वैसे रामजी देखने में छोटे हैं, पर अपने तेज से धनुष-रूप अंधकार का नाश कर देंगे। यथा—"टारि न सकहिं चाप तम भारी।" (दो० २१८); "कोउ कह तेज प्रताप पुंज चितये नहिं जात भिया रे। छुवत सरासन सलभ जरैंगो ये दिनकर-बंस-दियारे।" (गी० बा० ८१); यहाँ तेज गुण कहा।

(४) 'मंत्र परम लघु···'—मंत्र से यहाँ ॐ का अर्थ है और इसके अ, उ, म, त्रिदेव के वाचक हैं। वह तीनों का वशकारक है और भी यह जिस देवता के मंत्र के साथ लगता है उसमें भी वशीकरण शक्ति देता है अत', यह सब देवताओं का भी वशकारक है। मंत्र बुद्धि के द्वारा अर्थ के अनुसंधान के साथ जप करने से

सफल होता है, इस तरह यहाँ श्रीरामजी में बुद्धि का महत्त्व कहा गया। यदि कहा जाय कि बुद्धि-द्वारा चैतन्य प्राणी होते हैं, यह धनुष तो जड़ है। ऐसा नहीं है। धनुष में भी चेतनता है। पूर्व कहा गया कि यह घट-बढ़ सकता है। यथा—"होहि हरुअ रघुपतिहिं निहारी।" (दो० १५०)।

'महामत्त गजराज कहँ'''—चौथा दृष्टान्त अंकुश का देती है कि यह महामदवाले हाथी को वश कर लेता है। वह कठोर और नोकीला होता है, उसमें यह गुण है। ऐसे श्रीरामजी गुणों से चाप को अधीन कर लेंगे।

(५) 'काम कुसुम धनु सायक लीन्हे।'''—कामदेव अत्यंत सुकुमार है। वह फूल ही के धनुष-बाण भी धारण करता है, तो भी उसमें अप्रमेय बल है, जिससे उसने चौदहों भुवनों को वश में कर रक्खा है; यथा—"येहि के एक परम बल नारी। तेहि ते उबर सुभट सोइ भारी॥" (आ० दो० ३७); इसमें नारी के द्वारा काम का बल कहा है। वैसे श्रीरामजी यद्यपि अत्यन्त सुकुमार और सुन्दर हैं, तथापि उनमें अप्रमेय बल है, यथा—"सुचि सुजान नृप कहहिं हमहिं अस सूझइ। तेज प्रताप रूप जहँ तहँ बल बूझइ॥" (जा० मं० ६६); बलगुण अन्त में कहा गया, क्योंकि धनुष तोड़ने में यही प्रधान है, यथा—"तव भुज-बल महिमा उदघाटी। प्रगटी धनुविघटन परिपाटी॥" (दो० २८८)। "वय किसोर बरजोर बाहुबल मेरु मेलि गुन तानि हैं। अवसि राम राजीवविलोचन संभुसरासन भानि हैं॥" (गी० बा० ७८)।

रानी ने कहा था कि—'बालमराल कि मंदर लेहीं।' अर्थात् ये छोटे और अत्यंत सुकुमार हैं, अतः, धनुष कैसे तोड़ सकते हैं? इसपर चतुर सखी ने तेजस्वी के आकार की छोटाई पर चार दृष्टांत देते हुए श्रीरामजी में प्रताप, तेज, बुद्धि और गुण दिखाये। फिर सुकुमारता पर काम का दृष्टान्त देकर *अप्रमेय बल दिखाया, तब रानी को प्रतीति हुई, क्योंकि ये पाँचो ऐश्वर्य जिसमें हों, वह सारा कार्य करने में* समर्थ होता है। जैसे भ्रम से रावण ने श्रीरामजी में इन पाँचों का न होना मानकर निन्दा की है। यथा—"बल प्रताप बुधि तेज न ताके॥ अगुन अमान जानि तेहि'''" (लं० दो० ३०); अर्थात् ये पाँचो होते तो वे समर्थ कहाते, यह रावण का अभिप्राय है। यहाँ पाँचो गुण प्रकट करने के लिये पाँच दृष्टान्त दिये गये। इन पाँचों में किसी को किंचित् भी श्रम नहीं हुआ, ऐसे ही श्रीरामजी को धनुष तोड़ने में कुछ भी श्रम न होगा।

(६) 'देवि तजिय संसय अस जानी।''' 'देवि' अर्थात् आप स्वयं दिव्य ज्ञानवाली हैं, यथा—"को बिवेकनिधि-बल्लभहिं, तुम्हहिं सकइ उपदेसि॥" (अ० दो० १८३); अतः, मैं आपको क्या समझाऊँ? 'अस'''—अर्थात् मैंने लक्ष्यमात्र कहा, आप स्वयं विस्तार से जानकर संशय छोड़ें।

(७) 'सखी-बचन सुनि भइ''''—श्रीरामजी का ऐश्वर्य जान पड़ा, इससे प्रतीति और प्रीति हुई। संशय दूर होने से विषाद मिटा। यथा—"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥" (उ० दो० ८८); "तुम्ह कृपालु सब संसय हरेऊ। रामसरूप जानि मोहि परेऊ॥ नाथ-कृपा अब गयेउ बिषादा।" (दो० ११९)। 'अति प्रीती'—प्रीति तो प्रथम से ही थी, अब अत्यंत बढ़ चली कि हमारा जामाता त्रैलोक्य-विजयी एवं यशस्वी होकर विवाह करेगा।

तब रामहिं बिलोकि बैदेही। सभय हृदय बिनवति जेहि तेही॥४॥
मन-ही-मन मनाव अकुलानी। होहु प्रसन्न महेस-भवानी॥५॥
करहु सुफल आपनि सेवकाई। करि हित हरहु चापगरुआई॥६॥
गननायक बरदायक देवा। आजु लगे कीन्हिउँ तव सेवा॥७॥

बार बार बिनती सुनि मोरी। करहु चापगरुता अति थोरी ॥८॥

दोहा—देखि देखि रघुबीर-तनु, सुर मनाव धरि धीर।
भरे बिलोचन प्रेमजल, पुलकावली सरीर ॥२५७॥

अर्थ—तब (चलते समय) श्रीरामजी को देखकर श्रीजानकीजी भय से हृदय में जिस तिस की प्रार्थना करने लगीं ॥४॥ व्याकुल होकर मन ही-मन मना रही हैं कि हे महेश-भवानी! प्रसन्न हूजिये ॥५॥ अपनी सेवा सफल कीजिये, हमपर हित (प्रेम) करके धनुष के भारीपन को हर लीजिये ॥६॥ हे गणों के नायक गणेशजी! हे वर देनेवाले! हे देव! मैंने आजतक आपकी सेवा की है ॥७॥ मेरी बार-बार प्रार्थना सुनकर धनुष की गरुआई (भारीपन) बहुत कम कर दीजिये ॥८॥ रघुबीर की ओर देख-देखकर और धैर्य धरकर देवताओं को मनाती हैं, नेत्रों में प्रेम के आँसू भरे हैं, शरीर में पुलकावली भरी है ॥२५७॥

विशेष—(१) 'तन रामहिं बिलोकि…'—'तब'—जब श्रीरामजी मंच से उतरकर चले—"चलत राम सब पुर नरनारी…"। तभी पुरवासीगण, सुनयनाजी और श्रीजानकीजी की पृथक्-पृथक् भावनाएँ हुईं, पर प्रथकार तो एक ही हैं, अतः वे क्रमशः कह रहे हैं। प्रथम से दूसरे में और उससे भी तीसरे प्रसंग में प्रेम अधिक है। अतः, उत्तरोत्तर अधिक कहा। श्रीरामजी को देखकर किशोरीजी का 'वैदेही' नाम सार्थक हो गया, इनकी देह की सुधि नहीं रह गई। अतः, भयभीत होकर जो देवता स्मरण आते हैं, उन्हींकी प्रार्थना करने लग जाती हैं।

(२) 'मन-ही-मन मनाव… …'—इस समय विह्वलता में सीताजी गिरिजाजी का वरदान भूल गई हैं। श्रीरामजी की सुकुमारता पर घबरा गईं, इसी से जिस-तिसको मना रही हैं। सकोचवश सखियों से भी नहीं कहतीं, नहीं तो उपर्युक्त चतुर सखी की तरह कोई प्रबोध कर देती। अतः, इनका दुःख धनुर्भंग पर ही मिटेगा। 'करहु सुफल…'—अर्थात् आपकी सेवा निष्फल नहीं होती।

(३) 'गननायक बरदायक…' 'गणनायक' अर्थात् आप गणों के नायक हैं, अतः, समर्थ हैं। 'वरदायक' अर्थात् उदार हैं। 'देवा' अर्थात् दिव्य ज्ञानपूर्ण हैं, अतः, मेरे हृदय के भावों को जानकर तथा उदारता से देने में प्रवृत्त होकर सामर्थ्य से मुझे कृतार्थ करें। 'कीन्ही तव सेवा'—सेवा ही की है—अभी तक कुछ माँगा नहीं।

(४) 'करहु चाप-गरुता अति थोरी।'—'गरुआई'=गुरुता तो 'महेस भवानी' से दूर करा चुकीं, अब गणेशजी से उसे 'अति थोरी' करवाती हैं। यह भी भाव है कि लक्ष्मणजी ने दो प्रकार कहा था—'कमल नाल जिमि चाप चढावउँ' और—'तोरउँ छत्रकदंड जिमि'। उसी में से पहले को पुरवासियों ने माँगा, यथा—"हौ सिव धनु मृनाल की नाईं। तोरहु राम गनेस गोसाईं॥" और शेष दूसरा ये चाह रही हैं कि छत्रकदंड की तरह छूते ही तोड़ डालें।

(५) 'देखि देखि रघुबीर-तनु……'—एक बार देखती हैं, फिर सकुच जाती हैं। जब धनुष की स्मृति आती है, तब श्रीरामजी की धीरता भूल जाती हैं। अधीर हो जाती हैं। फिर धीर धरकर देवता मनाने लगती हैं। अथवा बिना देखे कल नहीं पड़ती, इससे बार-बार देखती हैं, यथा—"देखन मिस मृग बिहँग तरु, फिरइ बहोरि-बहोरि।" (दो० २३४)। यहाँ के 'सुर' से यदि 'सूर=सूर्य' का अर्थ लें, तो पचदेव की प्रार्थना-पूर्ति हो जाती है, जो एक सनातन रीति है। सूर का अर्थ सूर्य, यथा—"तुलसी सूधे सूर ससि, समय बिड़ंबित राहु।" (दोहावली ११०), "कैधौं कोटि सत सूर हैं।" (क० सु० ४), ऊपर महेश,

भवानी और गणेशजी आ गये और आगे—"तो भगवान् सकल उर-बासी।" से विष्णु भी आ जाते हैं। यहाँ आँसू और पुलकावली प्रेम के हैं।

नीके निरखि नयन भरि सोभा। पितुपन सुमिरि बहुरि मन छोभा ॥१॥
अहह तात दारुनि हठ ठानी। समुझत नहिं कछु लाभ न हानी ॥२॥
सचिव सभय सिख देइ न कोई। बुधसमाज बड़ अनुचित होई ॥३॥
कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा ॥४॥
बिधि केहि भाँति धरउँ उर धीरा। सिरस-सुमन-कन बेधिय हीरा ॥५॥

अर्थ—अच्छी तरह आँखें भरकर श्रीरामजी की शोभा देखी, पिता की प्रतिज्ञा को स्मरण कर फिर मन क्षुब्ध हो गया ॥१॥ (सोचती हुई कहती हैं) अहह (दुःख की बात है कि)! हे तात! आपने कठिन हठ कर लिया है; कुछ लाभ-हानि का विचार नहीं करते ॥२॥ सब मंत्री डरे हुए हैं; कोई शिक्षा नहीं देता। बुद्धिमानों के समाज में यह बड़ा अनुचित हो रहा है ॥३॥ कहाँ तो धनुष वज्र से भी बढ़कर कठोर और कहाँ ये श्यामल, कोमल शरीर और किशोर अवस्थावाले! ॥४॥ हे विधाता! मैं किस तरह हृदय में धैर्य धरूँ? क्या सिरस के फूल का कण हीरे को छेद सकता है? (वा सिरस के फूल के कण से हीरा छेदा जाता है?) ॥५॥

विशेष—(१) 'नीके निरखि नयन······' यथा—"नखसिख देखि राम कै सोभा। सुमिरि पिता-पन मन अति छोभा॥" (दो० २२२); यहाँ धैर्य धारण करके भली भाँति शोभा देख पाई हैं। इतना ही भेद है, अच्छी तरह देखने ही पर सुकुमारता अधिक जान पड़ी, तभी क्षुब्ध हुईं।

(२) 'अहह तात दारुन हठ······'—'तात' शब्द श्लिष्ट मानने से पिता के अतिरिक्त संताप देनेवाले कठिन हठ ठानने का भी अर्थ होता है। 'अहह' शब्द अगली अर्द्धाली के साथ भी है। 'बुध समाज' एक दो नहीं, प्रत्युत बुद्धिमानों का समाज ही है, फिर भी सामान्य नहीं, किन्तु बड़ा अनुचित हो रहा है, यह बड़े खेद की बात है!

(३) 'कहँ धनु कुलिसहुँ चाहि······'—'चाहि' [अव्यय सं० चैव=और भी]= अपेक्षाकृत (अधिक)। बँगला भाषा में भी इसका प्रयोग होता है। यथा—"एर चाहे ए भालो" कहा जाता है। अन्यत्र भी—"कुलिसहुँ चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहुँ चाहि।" (उ० दो० १९); "मरन नीक तेहि जीवन चाही।" (अ० दो० २०)। कुलिश (वज्र) इन्द्र के हाथ में रहता है, श्रीरामजी मृदु सुकुमार भूमि में हैं। अतः, कुलिश आकाश में, श्रीरामजी भूमि में—दोनों में पृथ्वी-आकाश का-सा अंतर है। धनुष की कठोरता के लिये उपमा मिली, पर श्रीरामजी की सुकुमारता के लिये नहीं मिली। श्रीसुनयनाजी ने—'कर देहीं' कहा था। ये धनुष का स्पर्श भी नहीं चाहतीं। इतनी मृदुता चित्त में आ गई है!

(४) 'बिधि केहि भाँति धरउँ······'—धनुष को ऊपर वज्र से भी कठोर कहा था, वही यहाँ हीरा कहकर भी जनाया। यहाँ हीरे के साथ सिरस के फूल के कण को ग्रहण किया, क्योंकि इससे अधिक सुकुमारता अन्य वस्तुओं में नहीं पाई जाती। यथा—"कमठपृष्ठ कठोरमिदं धनुर्मधुरमूर्त्तिरसौ रघुनंदनः। कथमधिज्यमनेन विधीयतामहह तात पणस्तव दारुणः॥" (श्रीहनुमन्नाटक १।१)।

सकल सभा कै मति भइ भोरी। अब मोहि संभु-चाप गति तोरी ॥६॥

निज जड़ता लोगन्ह पर डारी। होहि हरुअ रघुपतिहि निहारी ॥७॥
अति परिताप सीय-मन माहीं। लव-निमेष जुग सय सम जाहीं ॥८॥

दोहा—प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि, राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज - मीन - जुग, जनु बिधुमंडल डोल ॥२५८॥

अर्थ—सम्पूर्ण सभा की बुद्धि भोली (बावली) हो गई है, हे शिवजी के धनुष ! अब मुझे तुम्हारी ही शरण (अंतिम उपाय) है ॥६॥ श्रीरघुनाथजी को देखते हुए अपनी जड़ता लोगों पर डालकर हलके हो जाओ ॥७॥ श्रीसीताजी के मन में अत्यंत परिताप है, उनके निमेष (पल) का एक लव (साठवाँ भाग) भी सौ युगों के समान बीतता है ॥८॥ प्रभु को देखकर फिर पृथिवी की ओर देखती हैं, इसमें उनके चंचल नेत्र इस तरह शोभते हैं, मानों काम की दो मछलियाँ चन्द्र-मंडल पर हिंडोले में झूल रही हों ! ॥२५८॥

विशेष—(१) 'अब मोहि संभुचाप गति तोरी।'—क्रम से—'पिता', 'मंत्री', 'बुध समाज' फिर 'सकल सभा' को कहा कि सबकी मति ठीक नहीं, एक प्रकार से उन सबकी शरण गईं, पर कहीं सहारा न मिला, तब शंभु-चाप की शरण में आईं, व्याकुलता की हद है !

(२) 'निज जड़ता लोगन्ह पर···'—धनुष से कहती हैं कि तुम जड़ हो, वह जड़ता निकाल दो और हलके हो जाओ। जड़ता रखने का स्थान भी कहती हैं कि लोगों पर डाल दो। वह इस तरह कि सारी सभा की बुद्धि भोरी हो रही है, उसी में जड़ता डाल दो कि वह जड़वत् हो जाए, वह समझ ही न पावे कि धनुष हलका हो गया। इस तरह तुम्हारी (धनुष की) और श्रीरामजी की—दोनों की मर्यादा रह जायगी। कितने हलके हो जायँ ? इसपर भी कहती हैं—'रघुपतिहि निहारी' अर्थात् इनकी सुकुमारता को देखकर तदनुसार ही हलके हो जाओ।

(३) 'अति परिताप सीय···'—यहाँ अत्यन्त परिताप है, अतः, पहले भी सामान्य ताप सिद्ध होता है। उसकी ऊपर दो दशाएँ कही गईं—एक तो—'सुर मनाव धरि धीर' और दूसरी—'पितु पन सुमिरि बहुरि मन छोभा।' तीसरी यह 'अति परिताप' की दशा है। अतः, प्रथम में निमेष सौ युगों के समान बीतता था। दूसरी में दो लव सौ युगों के समान बीते और एक इस तीसरी दशा में तो एक ही लव सौ युगों के समान बीतता है !

(४) 'प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि···'—श्रीरामजी मंच से उतरकर नीचे धनुष की ओर आ रहे हैं। श्रीजानकीजी की दृष्टि एक बार श्री रामजी की ओर जाती है, फिर पृथिवी पर आती है। शिर के बिना हिले दृष्टि मात्र की यह क्रिया हिंडोले पर झूलने के समान है। चपल नेत्र की उपमा मछली से दी जाती है। यहाँ 'मनसिज मीन' से नेत्र की शोभा और 'राजत लोल' से नेत्र के व्यापार की शोभा कही गई। 'बिधु-मंडल' से मुख की शोभा कही है। 'प्रभुहि चितइ'—श्रीरामजी की कीर्त्ति, नारद-वचन, पार्वतीजी का वरदान आदि से प्रभुता पाई जाती है। उपर्युक्त 'अति परिताप' पर यहाँ फिर प्रभुता की स्मृति ने कुछ धैर्य दिया। फिर संकोच से नीचे दृष्टि हो जाती है। 'खेलत' का अर्थ कल्लोल ठीक नहीं, क्योंकि किशोरीजी चिन्तित हैं, अतः, हिलना-डोलना अर्थ लेकर झूलना ही ठीक है। प्रथम ही कहा गया है—'भरे बिलोचन प्रेम जल'; अतः मछली के लिये हिंडोल में जल भी है ही। प्रेम और लज्जा झुलानेवाले हैं। इसमें उत्प्रेक्षा अलंकार है।

प्रभु की ओर देखकर फिर भूमि की ओर दृष्टि जाने के भाव—(क) रंगभूमि गचढारी है, उसपर श्रीरामजी का प्रतबिंब देख पड़ता है। (ख) प्रभु से कहती हैं कि मैं आपको प्रभु (स्वामी) मान चुकी, यदि आप न मिले तो मैं इसी भूमि में समा जाऊँगी। माता पृथिवी से भी कहती हैं कि अभी तक धनुष को पकड़े थीं—'तिल भरि भूमि न सकेउ छुड़ाई।' अब इन प्रभु के लिये उसे छोड़ दीजिये। संकेत से जनाती हैं कि मैं इन्हें ही वरण कर चुकी। दूसरे को नहीं कर सकती, अन्यथा मुझे जगह दीजिये। (ग) प्रभु से कहती हैं— गिरिजाजी ने कहा है कि वे (आप) शील स्नेह-जानते हैं, फिर भी हमपर आपकी करुणा नहीं हो रही है, देर होने से मैं पृथिवी में समा जाऊँगी। इत्यादि।

गिरा अलिनि मुखपंकज रोकी। प्रगट न लाजनिसा अवलोकी ॥१॥
लोचनजलु रह लोचनकोना। जैसे परम कृपन कर सोना ॥२॥
सकुची व्याकुलता बड़ि जानी। धरि धीरज प्रतीति उर आनी ॥३॥
तन मन बचन मोर पन साँचा। रघुपति-पद-सरोज चित राँचा ॥४॥
तौ भगवान सकल - उर - बासी। करिहहिं मोहि रघुबर कै दासी ॥५॥

अर्थ—(श्रीकिशोरीजी के) मुखकमल ने वाणी-रूपी भ्रमरी को रोक लिया, लज्जारूपी रात को देखकर वह प्रकट नहीं होती ॥१॥ आँखों का जल आँखों के ही कोने में रह गया, जैसे बड़े कंजूस का सोना (घर के कोने में ही गड़ा रह जाता है) ॥२॥ वे अपनी बड़ी व्याकुलता जानकर सकुच गईं और धैर्य धरकर हृदय में विश्वास लाईं ॥३॥ जो शरीर (कर्म), मन और वचन से मेरा प्रण सच्चा है और श्रीरघुनाथजी के चरण-कमलों में मेरा चित्त रँगा हुआ है ॥४॥ तो सबके हृदय में बसनेवाले भगवान् मुझे रघुकुल में श्रेष्ठ श्रीरामजी की दासी करेंगे ॥५॥

विशेष—(१) 'गिरा अलिनि···'—भ्रमरी कमल के सम्पुटित होने के साथ रात को उसमें बंद हो जाती है, चाहे तो काटकर निकल जावे, पर प्रेम से रात की मर्यादा रखती है। यथा—"दारुभेदनिपुणोऽपि षडंघ्रिः निष्क्रियो भवति पंकजकोशे।" (सुभाषित॰) वैसे श्रीजानकी की वाणी मुख-कमल में बंद है, लज्जारूपी रात की मर्यादा की रक्षा के लिये बाहर नहीं निकलती। कुछ कहें तो भीतर दु:ख कम हो, यथा—"कहेहू तें कछु दुख घटि होई।" (सु॰ दो॰ १४); पर लाज से नहीं कहतीं। यहाँ अभेद रूपक है।

(२) 'लोचन जल रह लोचन···'—पूर्व कहा था—"भरे बिलोचन प्रेम जल" (दो॰ २५७); वही लोचन-जल यहाँ कहा जा रहा है, लज्जा के कारण उसे न गिरने देती हैं और न पोछती ही हैं, उसे नेत्रों के गोलक में ही कोने में छिपा रक्खा है, कि कोई देख न सके। जैसे—बड़ा कंजूस सोने को बड़ी युक्ति से रक्खे, वह न तो स्वयं खर्च करे और न किसी को जनावे। सोना भाग्यवान् के ही यहाँ रहता है, वैसे ही प्रेम के आँसू भी भाग्यवान् ही के होते हैं। इसमें दृष्टान्त अलंकार है।

(३) 'सकुची व्याकुलता बड़ि···'—संकोच आदि से ही चला, यथा—"मन-ही-मन मनाव ···" (आदि में) "प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि" मध्य में और यहाँ अंत में भी बना है। यहाँ व्याकुलता छिपाने के लिये सकोच है। 'धरि धीरज प्रतीति···'—प्रथम भी धैर्य धरना कहा है, यथा—"सुर मनाव धरि धीर", पर वह सुकृत और देवताओं के आधार से था, इससे पूर्णदृढ़ता नहीं हुई थी, यहाँ प्रेम के प्रण से धैर्य होगा तो निश्चलता आ जायगी।

(४) 'पद-सरोज चित राँचा।'—चित्त भ्रमर-रूप हुआ—"लुबुध मधुप इव तजइ न पासू।" (दो॰ १६)।

(५) 'तो भगवान सकल···'—'सकल उरबासी' से विष्णु-रूप सूचित किया। यथा—"विशप्रवेशने धातोर्विष्णुरिति विधीयते।" (महारामायण); विष्णु को कहकर उपर्युक्त पंचदेवों की प्रार्थना की भी पूर्ति की। यह विष्णु-रूप भी श्रीरामजी का ही रूप है, यथा—"ततस्त्वमसि दुर्धर्षोतस्माद्भावात्सनातनात्। रक्षां विधास्यन्भूतानां विष्णुत्वमुपजग्मिवान्॥" (वाल्मी० ७।१०४।१)। इस रूप से आप रक्षा का विधान करते हैं, इसलिये श्रीजानकी ने माधुर्य-लीला में उसी रूप से रक्षा की चाहना की है।

जेहि कें जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥६॥
प्रभुतन चितइ प्रेमप्रन ठाना। कृपानिधान राम सब जाना॥७॥
सियहिं बिलोकि तकेउ धनु कैसे। चितव गरुड़ लघुब्यालहि जैसे॥८॥

दोहा—लखन लखेउ रघुबंसमनि, ताकेउ हर-कोदंड।
पुलकि गात बोले बचन, चरन चापि ब्रह्मंड॥२५९॥

दिसि-कुंजरहु कमठ अहि कोला। धरहु धरनि धरि धीर न डोला॥१॥
राम चहहिं संकरधनु तोरा। होहु सजग सुनि आयसु मोरा॥२॥

अर्थ—जिसका जिसपर सच्चा स्नेह होता है, वह उसे मिलता है, इसमें कुछ संदेह नहीं॥ ६॥ प्रभु की ओर देखकर प्रेम का प्रण दृढ़ किया, कृपा-निधान श्रीरामजी ने सब-कुछ जान लिया॥ ७॥ सीताजी को देखकर श्रीरामजी ने धनुष को कैसे ताका (देखा)? जैसे छोटे साँप को गरुड़ देखें॥ ८॥ लक्ष्मणजी ने लक्ष्य किया कि रघुकुल-मणि श्रीरामजी ने शिवजी के धनुष को देखा है, तब ब्रह्मांड को अपने चरणों से दबाकर और शरीर से पुलकित होकर वचन बोले॥ २५९॥ हे दिग्गजो! हे कच्छप! हे शेष! हे वाराह! धैर्य रखकर के पृथिवी को धारण करो कि डोलने न पावे॥ १॥ श्रीरामजी शिवजी के धनुष को तोड़ना चाहते हैं, हमारी आज्ञा सुनकर सब सावधान हो जाओ॥ २॥

विशेष—(१) 'जेहि कें जेहि पर सत्य···'—उपर्युक्त 'सकल उरबासी' का कार्य कहती हैं, कि वे भगवान साक्षी-रूप से हृदय को देखते रहते हैं, जिसके हृदय में जिसके लिये सच्चा स्नेह होता है, वही उसे जन्मान्तर में भी प्राप्त कराते हैं, यथा—"निगम अगम साहिब सुगम, राम साँचिली चाह। अंबु असन अवलोकियत, सुलभ सबै जग माहँ॥" (दोहावली ८०) अर्थात् जल और भोजन के लिये सबको सच्ची चाह रहती है, उसे उन भगवान् ने सब के लिये सुलभ किया है, ऐसे ही प्रभु के लिये भी सच्ची प्यास हो, तो वे भी मिल जाते हैं। यथा—"रामहिं केवल प्रेम पियारा।" (अ० दो० १३६)।

(२) 'कृपानिधान राम सब जाना।'—पूर्व गिरिजाजी ने कहा था—"करुनानिधान सुजान सील सनेह जानत रावरो।" (दो० २३६); वह यहाँ चरितार्थ हुआ, कृपा से इनके स्नेह को जाना, हृदय की जानी। अतः, 'राम' नाम दिया गया।

(३) 'सियहिं बिलोकि···'—यथा—"पेखि पुरुषारथ परखि पन प्रेम नेम, सिय हिय की बिसेषि बड़ी खरभरी है। ताहि नो दियो पिनाक सहमि भयो मनाक, महा ब्याल बिकल बिलोकि मानों जरी है॥" (गी० बा० ९०), भाव यह कि जो सीताजी ने मेरे लिये देह-त्याग का भी निश्चय किया है तो मैं इस धनुष को अभी तोड़ता हूँ।

श्रीरामजी के इस एक बार के ही देखने में श्रीजानकीजी को आश्वासन है और लक्ष्मणजी को भी संकेत है, जिससे वे सबको आगे सजग करते हैं। छोटा सर्प गरुड़ के देखने से सिकुड़ जाता है, वैसे ही चाप भी डरकर छोटा हो गया जिससे श्रीजानकीजी को भी सूक्ष्म देख पड़े, क्योंकि वे उसे बहुत कठिन जान रही थीं। यह भी जनाया कि सिकुड़े हुए सर्प को भी गरुड़ नहीं छोड़ता, वैसे मैं इसे नहीं छोड़ूँगा।

(४) 'लखन लखेउ'''—वीरों को वीरता ही भाती है, इसी से पुलक से इनका हर्ष प्रकट हो गया, यथा—"अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा। यह मत लछिमन के मन भावा॥" (सुं॰ दो॰ ५७)। संच ही पर से चरणों से ब्रह्मांड को कैसे दबाया ? इसका उत्तर यह है, कि इनको चरण से संकेत-मात्र करना है, इनके संकल्प मात्र से सब विधान होते हैं। जैसे मंत्र-जप का प्रभाव मन से ही देवताओं तक पहुँच जाता है, इसी तरह इनकी आज्ञा सर्वत्र पहुँच गई। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि ये शेष आदि सब के नियंता हैं।

(५) 'धरहु धरनि धरि धीर'''—यहाँ एक तो धैर्य धरना, पुनः पृथिवी का धरना—दोनों कहते हैं। 'धरनि'—सबको धारण करती है, उसके हिलने से सभी का नाश होगा।

'दिसिकुंजरहु'—बहुवचन कहकर सब दिग्गजों को सूचित किया। दिग्गज आठ हैं—ऐरावत, पुंडरीक, वामन, कुमुद, अञ्जन, पुष्पदन्त, सार्वभौम और सुप्रतीक (विश्वकोष)। अनुरूप भाव, यथा— "पृथ्वि स्थिरा भव भुजङ्गम धारयैनां, त्वं कूर्मराज तदिदं द्वितयं दधीथाः॥ दिक्कुंजराः कुरुत तत्त्रितये दिधीर्षां, रामः करोति हरकार्मुकमाततज्यम्॥" (हनुमन्नाटक १।२१)।

इस कृत्य से डींग हाँकनेवाले अभिमानी राजाओं पर भी आतंक पहुँचा कि लड़ाई के भरोसे न रहना। यहाँ ब्रह्मांड तक को हिलाने-डुलानेवाले वीर हैं।

चाप - समीप राम जब आये। नरनारिन्ह सुर सुकृत मनाये॥३॥
सब कर संसय अरु अज्ञानू। मंद महीपन्ह कर अभिमानू॥४॥
भृगुपति केरि गरब-गरुआई। सुर-मुनि-बरन्ह केरि कदराई॥५॥
सिय करि सोच जनक-पछितावा। रानिन्ह कर दारुन-दुख-दावा॥६॥
संभुचाप बड़ बोहित पाई। चढ़े जाइ सब संग बनाई॥७॥
राम-बाहु - बल - सिंधु अपारू। चहत पार नहिं कोउ कनहारू॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी जब धनुष के पास आये, स्त्री-पुरुषों ने देवताओं को मनाया और पुण्यों का स्मरण किया॥३॥ सबका संदेह और अज्ञान, मूर्ख राजाओं का अभिमान॥४॥ परशुराम के गर्व की गुरुता, देवताओं और श्रेष्ठ मुनियों का कायरपना॥५॥ श्रीसीताजी की चिंता, श्रीजनकजी का पछतावा (पश्चाताप), रानियों का कठिन दुःख रूपी दावानल॥६॥ वे सब समाज बनाकर, शिव-धनुष रूपी बड़े जहाज को पाकर जा चढ़े॥७॥ श्रीरामजी की भुजाओं का बल अपार समुद्र है। सब उसके पार जाना चाहते हैं, पर कोई कर्णधार (माँझी) नहीं दीखता॥८॥

विशेष—(१) 'चाप-समीप राम जब'''—पूर्व कहा गया—"सहजहिं चले सकल जग-स्वामी।" कवि यह प्रसंग छोड़कर सबकी दशा कहने लगे थे। अब यहाँ लिखते हैं कि श्रीरामजी चाप के पास आ गये।

(२) 'सब कर संसय अरु'''—संशय और अज्ञान तो सभी को है, अज्ञान-वश सभी को संदेह है, शेष बातों में एक-एक ही उक्त व्यक्तियों में हैं। मूर्ख राजाओं को घमंड है कि हमसे न टूटा तो इस बालक से क्या टूटेगा! या यह भी अभिमान है कि मुझसे न टूटा, और भी तो किसी से नहीं टूटा, तो क्या हम किसी से कम हैं ? यह अभिमान धनुष के साथ टूटेगा।

(३) 'भृगुपति केरि गरब गरुआई'—परशुरामजी के गर्व था कि जब तक शिवधनुष बना है, तब तक हमारी अव्याहत गति और क्षत्रियों का संहार करनेवाली दिव्य शक्ति बनी है। उनका यह गर्व बहुत पहले से सवार था। धनुर्भंग की प्रतिज्ञा पर भी इन्हें निश्चय नहीं था कि कोई तोड़ सकेगा। टूटने की आवाज पर ही दौड़ पड़े कि कोई मुझसे अधिक बलवान् हो चुका। यह प्रसंग और शेष संशय आदि सात साथियों को ग्रंथकार ने ला बैठाया है कि ये सब पार जाना चाहते हैं। यहाँ राम-बाहु-बल अपार अथाह सिंधु है, यथा—"सठ चाहत रघुपति-बल देखा ॥ जिमि पिपीलिका सागर थाहा।" (ग्रा० दो० १); "अमित अमल बल जल परिपूरन।" (गी० ३० १६); तथा—"पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।" (श्वे० ६।८)। शिवधनुष को भारी जहाज जानकर उसपर चढ़े हैं, इन सबको विश्वास है, कि हम पार हो जायँगे; पर माँझी कोई नहीं दीखता, जो इस सागर से पार ले जाय अर्थात् अब चाप को टूटने से बचा सके। शिवजी इसके प्रथम कर्णधार रूप से रक्षक थे, तब विष्णु के समर में ही न बचा सके, यह जड़ हो गया था, तो अब राम बाहु-बल से क्या बचावेंगे ? परशुराम भी आकर क्या कर लेंगे ? इस जहाज का डूबना आगे दो० २६१ पर कहेंगे। श्रीरामजी के बाहु-बल की अगाधता का यह विलक्षण रूपक है।

दोहा—राम बिलोके लोग सब, चित्र लिखे-से देखि।
चितई सीय कृपायतन, जानी बिकल बिसेखि ॥२६०॥

देखी बिपुल बिकल बैदेही। निमिष बिहात कलपसम तेही ॥१॥
तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा। मुये करइ का सुधा-तड़ागा ॥२॥
का बरषा सब कृषी सुखाने। समय चुके पुनि का पछिताने ॥३॥
अस जिय जानि जानकी देखी। प्रभु पुलके लखि प्रीति बिसेखी ॥४॥

अर्थ—श्रीरामजी ने सब लोगों को देखा कि वे लिखे हुए चित्र (तसवीर) की तरह देख रहे हैं। फिर उन कृपा के धाम ने श्रीसीताजी को देखा तो उन्हें बहुत व्याकुल जाना ॥२६०॥ वैदेही श्रीजानकीजी को बहुत तरह से व्याकुल देखा कि एक निमिष उन्हें कल्प के समान बीतता है ॥१॥ जो किसी प्यासे का शरीर जल के बिना छूट जाय, तो मरने पर अमृत का तालाब भी क्या करेगा ? ॥२॥ सब खेती ही सूख गई, तब वर्षा होने से क्या ? समय पर चूकने से फिर पछताने से क्या ? ॥३॥ ऐसा मन में जानकर श्रीजानकीजी की ओर देखा और उनकी विशेष प्रीति देखकर प्रभु पुलकित हो गये ॥४॥

विशेष—(१) "तृषित बारि बिनु जो'''सुधा तड़ागा।" श्रीरामजी ने जब श्रीजानकीजी को अत्यन्त विकल देखा, तब विचार किया कि प्यासा यदि जल के बिना शरीर त्याग दे, तो फिर उसके अमृत का तालाब भी प्राप्त होना किस काम का ? यहाँ प्यासी श्रीजानकीजी हैं, इन्हें श्रीरामजी के

हाथ से धनुष टूटने की आशा रूप प्यास है, यथा—"आस पियास मनोमल हारी।" (दो० ४१), धनुष टूटने का तुरत जल है, अमृत के तड़ाग श्रीरामजी हैं, यथा—"जगतपिता रघुपतिहिं विचारी। भरि लोचन छवि लेहु निहारी॥'''सुधासमुद्र समीप विहाई।" (दो० २५५)। यदि थोड़ा विलंब होने से श्रीजानकीजी शरीर त्याग दें, तो पीछे धनुष तोड़कर उन्हें श्रीरामजी के प्राप्त ही हो जाने से क्या लाभ ?

स्मरण रहे कि अमृत का गुण अमर करना है—कुछ मरे हुए को जिलाना नहीं है, यथा—"सुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीच।" (दो० ५); अर्थात् जीवित आदमी अमृत पी ले तो अमर हो जाय और विष खा ले तो मर जाय। यदि अमृत पी ले और अमर हो जाय, फिर पीछे विष उसे मार न सकेगा और जो विष पीकर मर जाय, तो अमृत जिला न सकेगा। दोनों अपने-अपने गुणों में प्रशंसनीय हैं। जो मर गया, और उसका आत्मा कर्मानुसार अन्यत्र प्राप्त हो चुका, तो फिर अमृत में यह शक्ति नहीं कि वह उसे ला सके अथवा दूसरा आत्मा ही तैयार कर सके। यह गूढ़ोत्तर(चित्रोत्तर) अलंकार है।

यदि प्रश्न हो कि—"सुधा बरषि कपि भालु जियाये।" (लं० दो० ११३) क्यों कहा है तो उत्तर यह है कि वे वानर-भालु 'सुर-अंसिक' (देवताओं के अंश से) थे, वहाँ रघुपति की इच्छा से जी गये। फिर इन्द्र से क्यों अमृत बरसाने को कहा ? उत्तर यह है कि इन्द्र को बड़ाई देनी थी; उसने सेवा चाही थी। यथा—"प्रभु सक त्रिभुवन मारि जियाई। केवल सक्रहि दीन्हि बड़ाई॥" (लं० दो० ११३)। अतः, वहाँ वानर-भालुओं का जीना रघुपति की इच्छा से हुआ। नहीं तो राक्षसों पर भी तो अमृत-वर्षा हुई, पर उन्हें जिलाने की इच्छा श्रीरामजी की नहीं थी। इससे वे नहीं जिये।

(२) 'का बरषा सब''''''' कृषि (खेती) श्रीजानकीजी की माता और उनकी सखियाँ हैं। धनुष टूटने पर कहा है, यथा—"सखिन्ह सहित हरषीं सब रानी। सूखत धान परा जनु पानी॥" (दो० २६१); इन्हें श्रीजानकीजी का ब्याह देखने की अभिलाषा है, यदि धनुष टूटने में देर होने से श्रीजानकीजी का अमंगल हो जाय तो अभिलाषा जाती रहेगी, यही सुखाना है, फिर यदि धनुभंग रूपी वर्षा हो, तो किस काम की ? पुनः श्रीजानकीजी को देर होने से कहीं अमंगल हो ही गया तो फिर समय चूक कर मेरा पछताना व्यर्थ होगा। इसलिये धनुष तोड़ने में शीघ्रता होनी चाहिये। महाकवि विद्यापति भी कहते हैं—"अंकुर तपन ताप जदि जारब कि करब बारिद मेहे।" (पदावली)

(३) 'अस जिय जानि जानकी''''''—'जानकी देखी' अर्थात् उनकी जान की नौबत आ गई है। 'लखि प्रीति बिसेषी'—श्रीजानकी ने श्रीरामजी को इस प्रसंग में सात बार देखा है और श्रीरामजी का उन्हें चार ही बार देखना लिखा है। अतः, उनकी प्रीति विशेष है।

युगल सरकारों की प्रीति और दृष्टि का मिलान

श्रीजानकीजी	श्रीरामजी
१—देखि-देखि रघुबीर-तनु''''''(दो० २५७)।	१—सियहिं बिलोकि तकेउ धनु।
२—नीके निरखि नयन भरि सोभा („)।	२—चितई सीय कृपायतन।
३—प्रभुहिं चितइ-पुनि''''''(दो० २५८)।	३—देखी बिपुल बिकल बैदेही।
४—प्रभु-तनु चितइ '' (दो० २५८)।	४—अस जिय जानि जानकी देखी
५—मुनि-समीप देखे दोउ भाई। (दो० २४७)	
६—देखि सीय सकुचान। (दो० २४८)	
७—तब रामहिं बिलोकि बैदेही। (दो० २५६)	
पुलकावली सरीर (दो० २५७)।	प्रभु पुलके लखि प्रीति'''

गुरहिं प्रनाम मनहिं मन कीन्हा। अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा ॥५॥
दमकेउ दामिनि जिमि जब लयेऊ। पुनि धनु नभ-मंडल-सम भयेऊ ॥६॥
लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा देख सब ठाढ़े ॥७॥
तेहि छन राम मध्य धनु तोरा। भरेउ भुवन धुनि घोर कठोरा ॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी ने मन-ही-मन गुरुजी को प्रणाम किया और अत्यन्त शीघ्रता से धनुष को उठा लिया ॥५॥ जब (उठा) लिया, तब वह बिजली की तरह चमका, फिर धनुष आकाश-मंडल के समान हो गया ॥६॥ उसे लेते (उठाते), चढ़ाते (प्रत्यंचा चढ़ाते) और दृढ़ रीति से कान तक प्रत्यंचा (डोर) को खींचते, कोई लक्ष्य नहीं कर पाया (कि कब एवं कैसे उठाया, चढ़ाया और जोर से खींचा)। सबने देखा कि खींचे खड़े हैं ॥७॥ उसी क्षण के भीतर श्रीरामजी ने धनुष को बीच से तोड़ दिया। संसार में (धनुष टूटने का) घोर-कठोर शब्द भर गया ॥८॥

विशेष—(१) 'गुरहिं प्रनाम मनहिं······'—यहाँ मन ही में प्रणाम किया, क्योंकि प्रकट करने में पाया जाता है कि साहस खो चुके हैं। अतः, गुरु से सहायता चाहते हैं। पुनः यहाँ मन से, पूर्व—"सुनि गुरु-बचन चरन सिर नावा।" (दो० २५३) में कर्म से और—"गुरु-पद-बंदि सहित अनुरागा। राम-मुनिन्ह सन आयसु माँगा ॥" (दो० २५४) में वचन से, इस प्रकार तीन बार प्रणाम किया। 'अति लाघव उठाइ'—बड़ी फुर्ती से उठा लिया। तेजी से काम करना वीरता है।

(२) 'दमकेउ दामिनि जिमि ······'—'जिमि' शब्द के बिना संदेह होता कि मेघ की बिजली ही चमकी है। लेने के समय बिजली-सी चमकी; चढ़ाने का कार्य—'नभ-मंडल सम' से सूचित किया कि श्रीरामजी शिर के ऊपर गोलाकार रौदा चढ़ा हुआ धनुष लिये हुए हैं।

(३) 'लेत चढ़ावत खैंचत ····'—लेना (पकड़कर उठाना), चढ़ाना (रौदा चढाना) और दृढ रूप से खींचना जिससे प्रत्यंचा कान तक चला जाय, इन कर्मों की तेजी। कोई लक्ष्य नहीं कर पाया कि कैसे क्या किया ? सब यही देखते थे कि श्रीरामजी धनुष हाथ में लिये खड़े हैं। इसमें 'गाढ़े' शब्द क्रिया-विशेषण है जो 'खींचत' क्रिया के साथ है।

(४) 'तेहि छन राम मध्य ····'—जैसे लेने का कार्य बिजली-सी चमकना और चढाने का 'नभ-मंडल सम' होना है, वैसे ही यहाँ 'गाढ़े खैंचत' का कार्य दिखाया कि बीचोबीच धनुष को तोड़ डाला। 'मध्य धनु'—इधर-उधर से तोड़ने से लोग कहते कि बगल पतला था, इससे तोड़ सके; बीच का भाग नहीं तोड़ पाते। धनुष पुराना था, इससे खींचने के साथ ही टूट गया।

यहाँ 'कृषी', 'बरषा', 'दामिनी का दमकना', 'नभ-मंडल सम धनुष', हैं और 'श्यामघन' उपमान की जगह श्रीरामजी घनश्याम हैं ही तथा आगे चातकी की तृप्ति एवं सूखते धान में पानी पड़ना भी कहा है। अत', वर्षा का पूरा प्रसग लक्षित किया है।

छंद—भरे भुवन घोर कठोर रव रबिबाजि तजि मारग चले।
चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरम कलमले ॥

सुर असुर मुनि कर कान दीन्हे सकल बिकल बिचारहीं।
कोदंड खंडेउ राम तुलसी जयति बचन उचारहीं॥

सोरठा—संकरचाप जहाज, सागर रघुबर - बाहु - बल।
बूड़ सो सकल समाज, चढ़ा जो प्रथमहिं मोहबस ॥२६१॥

अर्थ—घोर (भयावन) और कठोर (कड़ा) शब्द लोकों में भर गया (गूँज उठा)। सूर्य के घोड़े अपना मार्ग छोड़कर चलने लगे। दिग्गज चिघाड़ने लगे। पृथिवी हिलने लगी। शेष, वाराह और कच्छप कुलबुला उठे॥ देवता, दैत्य और मुनि सब कान में हाथ दिये व्याकुल होकर विचार रहे हैं, (जान पड़ता है) कि श्रीरामजी ने धनुष तोड़ा है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि (ऐसा समझकर) सब-के-सब श्रीरामजी की जय जय का उच्चारण करते हैं॥ शिवजी का धनुष जहाज है, श्रीरघुनाथजी की भुजाओं का बल समुद्र है, वह सारा समाज (धनुष रूपी जहाज के टूटते ही) डूब गया, जो पहले ही मोह के वश उसपर जा चढ़ा था।

विशेष— 'घोर कठोर'—क्योंकि आवाज ऊपर सूर्य तक और नीचे कच्छप तक पहुँची। आगे-'बिकल बिचारहीं' तक इस घोरता एवं कठोरता का ही प्रभाव है। 'घोर' से मन और कठोर से कान पर प्रभाव पड़ा। 'बिचारहीं'—कि ऐसा शब्द वज्रपात होने, पृथिवी डोलने एवं पहाड़ गिरने से भी नहीं हो सकता, पीछे चित्त में आया कि श्रीरामजी शिव-चाप तोड़नेवाले थे, वही टूटा है। तब सभी जय-जयकार करने लगे। राक्षस भय से व्याकुल हो 'जय-जय' के उच्चारण में सम्मिलित हुए। 'सुर, असुर, मुनि' से क्रमशः स्वर्ग, पाताल और भूलोक जनाये।

'सकल समाज'—वे ही हैं, जो—"चढ़े जाइ सब संग बनाई।" (दो० २५१) पर कहे गये थे। धनुष के टूटने के शब्द से क्षुब्ध जगत् का चित्र हनुमन्नाटक में यों खींचा गया है—"त्रुट्यद्भीमधनुः कठोरनिनदस्त्राकरोद्विस्मयं। त्रस्यद्वाजिरवेरमार्गगमनं शंभोः शिरःकम्पनम्॥ दिग्दन्तिस्खलनं कुलाद्रिचलनं सप्तार्णवोन्मेलनं। वैदेहीमदनं मदान्धदमनं त्रैलोक्यसंमोहनम्॥" (१।२९)। अभेद रूपक है।

प्रभु दोउ चापखंड महि डारे। देखि लोग सब भये सुखारे॥१॥
कौसिक - रूप - पयोनिधि पावन। प्रेमबारि अवगाह सुहावन॥२॥
रामरूप - राकेस निहारी। बढ़त बीचि पुलकावलि भारी॥३॥
बाजे नभ गहगहे निसाना। देवबधू नाचहिं करि गाना॥४॥
ब्रह्मादिक सुर सिद्ध मुनीसा। प्रभुहि प्रसंसहिं देहिं असीसा॥५॥
बरिसहिं सुमन रंग बहु माला। गावहिं किन्नर गीत रसाला॥६॥

अर्थ—प्रभु ने धनुष के दोनों टुकड़े पृथिवी पर डाल दिये, देखकर सब लोग सुखी हुए॥१॥ श्रीरामरूप पूर्णचन्द्र को देखकर अथाह सुन्दर प्रेम-जल से भरे हुए विश्वामित्र रूपी पवित्र समुद्र में भारी

पुलकावली रूपी लहरें बढ़ने लगीं ॥२-३॥ आकाश में धमाधम नगाड़े बजने लगे, अप्सराएँ गा गाकर नाचने लगीं ॥४॥ ब्रह्मा आदि देवता, सिद्ध और मुनीश्वर प्रभु की प्रशंसा करते और आशीष देते थे ॥५॥ बहुत रंगों के फूल और फूलों की मालाएँ बरसा रहे थे, किन्नर रसीले गीत गा रहे थे ॥६॥

विशेष—(१) 'प्रभु दोउ चाप-खंड ···'—हल्ला कुछ कम पड़ा, तब धनुष के टुकड़े फेंके कि जिससे सब कोई देख लें, नहीं तो कुटिल राजा लोग कहते कि माया से तोड़ा होगा—पुरुषार्थ से नहीं। 'लोग सब'—पहले तो चकाचौंध हो गये थे, क्षणिक घबराहट शांत हुई तो देखकर सुखी हुए। ये रंगभूमि के ही लोग हैं।

(२) 'कौसिक-रूप पयोनिधि···'—विश्वामित्रजी महर्षि हैं, इनका हर्ष-विषाद से कोई सम्बन्ध नहीं, पर इन्हें भी धनुष टूटने पर भारी हर्ष हुआ। हर्ष की अगाधता के लिये समुद्र का रूपक बाँधा है, प्रेम सम्बन्ध से 'पावन' कहा है। ऊपर के 'लोग सब' में ये भी आ जाते, पर श्रीरामजी के इस कार्य का गौरव दिखाने के लिये पृथक् कहे गये। इन्हें इतना अधिक हर्ष इसलिये हुआ कि इनकी आज्ञा पूरी हुई।

(३) 'बरिसहिं सुमन रंग'' '—इनलोगों ने प्रथम ही से मालाएँ भी रंग-बिरंग की बना रक्खी थीं कि धनुष टूटने पर बरसावेंगे। 'गीत रसाला'—इनके गान उपर्युक्त देवनारियों के गानों से भी अधिक सरस हैं।

रही भुवन भरि जय जय बानी। धनुष-भंग-धुनि जात न जानी ॥७॥
मुदित कहहिं जहँ तहँ नर नारी। भंजेउ राम संभुधनु भारी ॥८॥

दोहा—बंदी मागध सूतगन, बिरद बदहिं मतिधीर।
करहिं निछावरि लोग सब, हय गय धन मनि चीर ॥२६२॥

अर्थ—जय जयकार की वाणी (चौदहों) भुवनों में छा गई, धनुष के टूटने की ध्वनि को जाते किसी ने नहीं जाना ॥७॥ प्रसन्न होकर जहाँ तहाँ स्त्री पुरुष कह रहे हैं कि श्रीरामजी ने भारी शिवजी के धनुष को तोड़ डाला ॥८॥ भाट, मागध और सूत लोग धीर-बुद्धि से विरद (यश) कहने लगे। सब लोग घोड़े, हाथी, मणि, धन और वस्त्र निछावर कर रहे हैं ॥२६२॥

विशेष—(१) 'रही भुवनभरि···'—धनुष-भंग की ध्वनि थी ही कि जय-जय ध्वनि प्रारंभ हो गई और यह इतनी अधिक हुई कि धनुर्भंग की ध्वनि का मिटना किसी को जान ही नहीं पड़ा, अर्थात् जय-जय ध्वनि ने उस ध्वनि को दबा दिया और फिर यह बड़ी देर तक रही, क्योंकि जैसे जैसे लोग सावधान होते जाते थे, वैसे-वैसे जय-जय कहते जाते थे।

प्रथम आकाश के देवता, सिद्ध, मुनि आदि सावधान हुए, पीछे भूमिवाले, क्योंकि इनके निकट ही धनुष टूटा था। 'जहँ तहँ नरनारी'—ये लोग वे ही हैं, जो मचों पर बैठे थे, जिनके विषय में ऊपर कहा गया था—"नर नारिन्ह परिहरी निमेखी।" "नर नारिन्ह सुर सुकृत मनाये।"

(२) 'बंदी मागध सूत ···'—'मतिधीर'—सावधानी से शुद्ध उच्चारण करते हैं, भाट कवित्तों में, मागध पदों में और सूत श्लोकों में बिरदावली कह रहे हैं।

झाँझि मृदंग संख सहनाई। भेरि ढोल दुंदुभी सुहाई ॥१॥
बाजहिं बहु बाजने सुहाये। जहँ-तहँ जुवतिन्ह मंगल गाये ॥२॥
सखिन्ह सहित हरषीं सब रानी। सूखत धान परा जनु पानी ॥३॥
जनक लहेउ सुख सोच बिहाई। पैरत थके थाह जनु पाई ॥४॥
श्रीहत भये भूप धनु टूटे। जैसे दिवस दीपछवि छूटे ॥५॥

अर्थ—झाँझ, मृदंग, शंख, शहनाई, बड़े ढोल (डके), ढोल और सुहावने नगाड़े ॥१॥ आदि बहुत-से सुहावने बाजे बज रहे हैं, जहाँ-तहाँ स्त्रियों ने मंगल गान किये ॥२॥ सखियों के साथ सब रानियाँ हर्षित हुईं, मानों सूखते हुए धान पर पानी (बरसकर भरपूर) पड़ा हो ॥३॥ श्रीजनकजी ने शोच त्याग कर सुख प्राप्त किया, मानों तैरते हुए थकने पर थाह पा गये ॥४॥ धनुष के टूटने पर राजा लोग ऐसे शोभा-हीन हो गये, जैसे दिन में दीपक की छवि जाती रहती है ॥५॥

विशेष—(१) 'दुंदुभी सुहाई'—लड़ाई में नगाड़े आदि घोर शब्द से बजाये जाते हैं। यथा—"पनव निसान घोर रव बाजहिं। प्रलय समय के घन जनु गाजहिं ॥" (लं० दो० ७८); पर यहाँ ब्याह के अनुकूल सुहावने ढंग से बज रहे हैं। पुनः बाजे एक दूसरे से मिले हुए भी सुहावने बजते हैं। पहले आकाश के बाद्य और नृत्य कहे गये, तब पीछे यहाँ के बाजे बजे, क्योंकि यहाँ लोगों में सावधानता पीछे हुई। यहाँ पहले गान हुआ—इसे आगे कहेंगे।

(२) 'सखिन्ह सहित हरषीं सब ' '—यहाँ प्रथम रानियों का सुख कहते हैं कि सूखते हुए धान में कहीं भरपूर जल हो जाय, तो जैसे वह लहलहा उठे, वैसे इन्हें परम आह्लाद हुआ।

(३) 'जनक लहेउ सुख सोच'''—बुद्धि से विचार करना तैरना है—"तौ पन करि होतेउँ न हँसाई।" यहाँ से थकने लगे। "कुँअरि कुँआरि रहउ का करऊँ।" यहाँ बहुत ही थक गये। बहुत शोच में पड़ गये कि अब तो प्रण गया, यही प्राणों पर आ बनता है। श्रीरामजी के हाथ धनुष का टूटना, थाह पाना है; यहाँ सुख का अनुमान बताया गया है कि जनकजी को वैसा सुख हुआ जैसा डूबते हुए को थाह पा जाने से होता है।

(४) 'श्रीहत भये भूप'''—इनकी शोभा चली गई। यथा—"नमित सीस सोचहिं सलज्ज सब श्रीहत भये सरीर।" (गो० बा० ८७)। पूर्व भी इनका श्रीहत होना कहा गया था—'श्रीहत भये हारि हिय राजा।' पर वहाँ कोई दृष्टान्त नहीं दिया गया था, क्योंकि चाप-रूप भारी अंधकार बना था। अतः, इनकी कुछ-कुछ कान्ति अवशिष्ट थी। अब धनुष टूटने पर वे नितान्त श्रीहीन हो गये। अतः, इसे 'दीप छवि छूटे' से सूचित किया। श्रीरामजी के प्रताप-रूपी सूर्य का उदय हुआ, धनुप-रूप अंधकार का नाश हुआ और दीपक रूप राजा लोगों का प्रताप नहीं रह गया।

सीयसुखहिं बरनिय केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जल स्वाती ॥६॥
रामहि लखन बिलोकत कैसे। ससिहिं चकोर-किसोरक जैसे ॥७॥
सतानंद तब आयसु दीन्हा। सीता गमन राम पहिं कीन्हा ॥८॥

दोहा—संग सखी सुंदर चतुर, गावहिं मंगलचार।
गवनी बाल-मराल-गति, सुषमा अंग अपार ॥२६३॥

अर्थ—श्रीसीताजी के सुख का वर्णन किस तरह किया जाय—जैसे चातकी स्वाती का जल पाकर (सुखी होती है।) ॥६॥ श्रीरामजी को लक्ष्मणजी किस प्रकार देखते हैं, जैसे चन्द्रमा को चकोर का बच्चा देखे ॥७॥ तब शतानंदजी ने आज्ञा दी, श्रीसीताजी ने श्रीरामजी के समीप गमन किया ॥८॥ साथ में सुन्दर चतुर सखियाँ मंगलाचार के गीत गा रही हैं। श्रीसीताजी बाल-हंसिनी की चाल से चलीं, उनके अंगों पर अपार शोभा है ॥२६३॥

विशेष—(१) 'सीयसुखहिं बरनिय ···'—प्रथम चातुर्मास की वर्षा होती है, पर चातकी स्वाती ही की प्रतीक्षा में रहती है। वैसे चारों दिशाओं के राजा लोग धनुष तोड़ने में लगे थे, पर सीताजी की दृष्टि उनपर नहीं गई। चातकी की पुकार स्वाती ही के लिये रहती है वैसे श्रीजानकीजी की भी पुकार—"मन ही मन मनाव अकुलानी।" ··से—"प्रभु तन चितइ प्रेम पन ठाना॥" तक श्रीरामजी के लिये है। जब धनुष तोड़कर श्रीरामजी स्वाती के जल की तरह प्राप्त हुए, तब वे चातकी की तरह सुखी हुईं।

(२) 'रामहिं लखन बिलोकत ···'—चकोर का बच्चा अग्नि-भक्षण करता है। अत, उसके हृदय में गर्मी बनी रहती है, वह चन्द्रमा के दर्शनों से शीतल होकर सुखी होता है। वैसे श्रीजनकजी के वचनों से लक्ष्मणजी के हृदय में क्रोध रूपी उष्णता थी, यथा—"माखे लखन···" कहा गया है, जब श्रीरामजी ने धनुष तोड़ दिया तब वह गर्मी दूर हुई और दर्शनों से शान्ति प्राप्त कर रहे हैं। श्रीजानकीजी को चातकी और इन्हें चकोर का बच्चा कहा, क्योंकि दोनों ही श्रीराम में अनन्य हैं। यहाँ दृष्टान्त अलंकार है।

(३) 'सतानंद तब आयसु दीन्हा ···'—प्रतिज्ञा-स्वयंवर के लिये उधर के गुरुजी ने आज्ञा दी थी—"उठहु राम भंजहु भव-चापा।" (दो॰ २५३), और जयमाल-स्वयंवर के लिये पुरोहितजी की आज्ञा हुई, क्योंकि विवाह का विधान पुरोहित के अधीन है।

(४) 'संग सखी सुंदर···'—इसके पूर्वार्द्ध में सखियों की और उत्तरार्द्ध में श्रीजानकीजी की शोभा कही गई। सखियाँ सुन्दरी हैं और उनकी शोभा का पार है, श्रीजानकीजी अति सुन्दरी हैं और इनकी शोभा अपार है। आगे चौपाई में दोनों को साथ कहते हैं।

सखिन्ह मध्य सिय सोहति कैसे। छबि-गन-मध्य महाछबि जैसे ॥१॥
कर-सरोज जयमाल सुहाई। बिस्व-बिजय सोभा जेहि छाई ॥२॥
तनु सकोच मन परम उछाहू। गूढ़ प्रेम लखि परइ न काहू ॥३॥
जाइ समीप राम-छबि देखी। रहि जनु कुँअरि चित्र अवरेखी ॥४॥
चतुर सखी लखि कहा बुझाई। पहिरावहु जयमाल सुहाई ॥५॥

अर्थ—सखियों के बीच में श्रीसीताजी कैसे सुशोभित हैं, जैसे छबि-समूह के बीच में महाछबि हो ॥१॥ कर कमल में (कमल की) सुहावनी जयमाला शोभा दे रही है, मानों उसपर विश्व-विजय की शोभा

छाई हुई है ॥२॥ शरीर में संकोच है, पर मन में परम उत्साह है। गुप्त प्रेम है, वह किसी को जान नहीं पड़ता ॥३॥ पास में जाकर श्रीरामजी की छवि को देखकर राजकुमारी सीताजी लिखी हुई तसवीर की तरह अचल रह गईं ॥४॥ देखकर चतुर सखी ने समझाकर कहा कि सुन्दर जयमाला पहनाओ ॥५॥

विशेष—(१) 'सखिन्ह मध्य सिय···'—जैसे छवि-समूह के बीच में महा छवि सोहे, वैसी शोभा है। यहाँ अन्योन्य शोभा सापेक्ष्य है अर्थात् सखियों से श्रीजानकीजी की शोभा है और इनसे इन सबकी, यथा—"सुंदरता कहँ सुंदर करई। छवि-गृह दीपसिखा जनु बरई॥" (दो० २३१)। यहाँ भी दृष्टान्त अलंकार है।

(२) 'कर-सरोज जयमाल···'—इसमें 'सरोज' दीपदेहली है, 'विश्व-विजय' अर्थात् इसमें धनुष से हारे हुए सुर, नर, नाग-असुर आदि तीनों लोकों के वीरों पर विजय है।

(३) 'जाइ समीप राम···'—पुष्पवाटिका में दूर से देखा था, तब चकोरी की तरह होना कहा गया था, यहाँ समीप से देखा तो अधिक निमग्नता होने से चित्र की तरह खड़ी रह गईं।

सुनत जुगल कर माल उठाई। प्रेमबिबस पहिराइ न जाई ॥६॥
सोहत जनु जुग जलज सनाला। ससिहि सभीत देत जयमाला ॥७॥
गावहिं छवि अवलोकि सहेली। सिय जयमाल राम-उर मेली ॥८॥

सोरठा—रघुबर-उर जयमाल, देखि देव बरिसहिं सुमन।
सकुचे सकल भुआल, जनु बिलोकि रबि कुमुदगन ॥२६४॥

अर्थ—(चतुर सखी के वचन) सुनकर (सीताजी ने) दोनों हाथों से जयमाला उठाई, पर प्रेम के विवश हैं, इससे पहनाई नहीं जाती ॥६॥ (दोनों हाथ) कैसे सोहते हैं, मानों डंडी के साथ दो कमल डरे हुए चन्द्रमा को जयमाल दे रहे हों ॥७॥ सखियाँ छवि देखकर गा रही हैं। श्रीसीताजी ने श्रीरामजी के गले में जयमाला पहनाई ॥८॥ श्रीरघुनाथजी के हृदय पर जयमाल देखकर देवता लोग फूल बरसा रहे हैं और सब राजा लोग ऐसे सकुच गये, मानों सूर्य को देखकर कुमुद-समूह ॥२६४॥

विशेष—(१) 'प्रेमबिबस पहिराइ···'—यहाँ प्रेम की स्तंभ-दशा है, क्योंकि पूर्व ही—'चित्र अव-रेखी' कहा गया है। 'प्रेम' पर यह भी भाव कहा जाता है कि किशोरीजी छोटी हैं और श्रीरामजी १५ वर्ष के, अतः, ऊँचे होने से सिर तक हाथ नहीं पहुँच सकता। वे खड़ी हैं कि शिर झुकावें तो हम माला डाल दें, पर श्रीरामजी संकोच से शिर नहीं झुकाते।

(२) 'सोहत जनु जुग···'—यहाँ हाथ कमल हैं। बाहु-दंड नाल हैं। जयमाल रहने से हाथ संकुचित हैं, यही सभीत होना है। श्रीरामजी का मुख चन्द्रमा है। चन्द्रमा के समक्ष में कमल संकुचित होता ही है। उत्प्रेक्षा अलंकार है।

(३) 'गावहिं छवि अवलोकि···'—सखियाँ विचारती हैं कि इस दशा में यदि फिर से कहा जाय तो इन्हें संकोच होगा। इससे जयमाला पहनाने के ही गीत गाने लगीं। श्रीजानकीजी ने सावधान होकर जयमाला पहना दी।

(४) 'सकुचे सकल भुआल···'—पूर्व कहा गया था—"अरुनोदय सकुचे कुमुद···" (दो० २३८);

वहाँ अरुणोदय पर सकुचना कहा गया और यहाँ देखकर, क्योंकि वहाँ श्रीरामजी के आगमन की बात थी और यहाँ तो प्रभाव ही प्रकट हो गया है।

पुर अरु ब्योम बाजने बाजे। खल भये मलिन साधु सब राजे ॥१॥
सुर किन्नर नर नाग मुनीसा। जय जय जय कहि देहिं असीसा ॥२॥
नाचहिं गावहिं 'बिबुधबधूटी। बार-बार कुसुमांजलि छूटी ॥३॥
जहँ-तहँ बिप्र बेदधुनि करहीं। बंदी बिरदावलि उच्चरहीं ॥४॥
महि पाताल नाक जस ब्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा ॥५॥

अर्थ—नगर और आकाश में बाजे बज रहे हैं, दुष्ट लोग उदास हो गये, सब साधु (स्वभाव के) लोग प्रसन्न हुए ॥१॥ देवता, किन्नर, मनुष्य, नागदेव, मुनीश्वर 'जय हो ! जय हो ! जय हो !'—ऐसा कहकर आशीष देते हैं ॥२॥ देवताओं की स्त्रियाँ नाचती-गाती हैं, बारंबार हाथों की अंजलियों से फूल छूट रहे हैं ॥३॥ जहाँ-तहाँ ब्राह्मण लोग वेद-ध्वनि कर रहे हैं। भाट वंश का यश वर्णन करते हैं ॥४॥ पृथिवी, पाताल और आकाश में यश समा गया कि श्रीरामजी ने धनुष को तोड़ा और श्रीसीताजी को ब्याहा ॥५॥

विशेष—(१) 'पुर अरु ब्योम···'—जब धनुष टूटा था, तब आकाशवाले पहले सावधान हुए थे। इससे प्रथम ही बाजे बजाये और गीत गाये। यहाँ पुरवासियों ने पहले बाजे बजाये। अतः, 'पुर' शब्द प्रथम है, क्योंकि ये लोग पास में हैं, जयमाल का पड़ना पहले इन्होंने ही देखा है। इसी से देवता फूल ही बरसाने में लगे हैं कि ये लोग पहले ही बाजे बजाने लगे, तब पीछे देवता लोगों ने भी बजाये।

(२) 'जय जय जय कहि···' यहाँ आदर की वीप्सा है। धनुष-भंग पर 'प्रभुहि प्रसंसहिं देहि असीसा।' कहा गया था, क्योंकि वहाँ सब से न टूटनेवाले धनुष के तोड़ने की प्रशंसा भी करनी थी, यहाँ जयकार और आशीष का ही प्रयोजन है।

(३) 'नाचहि गावहिं बिबुध···'—'बिबुध' अर्थात् विशेष-बुद्धिमानों की स्त्रियाँ हैं। अत', नाच-गान विद्या में निपुण हैं। 'बार-बार' अर्थात् नाच की गति एवं गान के साथ पुष्प-वर्षा होती है।

'जहँ-तहँ बिप्र···'—कुलरीति के ब्याह में भाँवरी के समय एकत्र होकर वेदध्वनि करेंगे। यहाँ कोई वैसी रीति नहीं है, तो भी जयमाल पड़ना भी एक तरह का ब्याह ही है। अत, जो जहाँ है वहाँ ही अपने-अपने वेदों की ऋचाओं से आशीष दे रहे हैं, यथा—"निज-निज वेद की सप्रेम जोग छेम-मई मुदित असीस बिप्र बिदुषन दई है॥" (गी० बा० ९९)। 'बंदी' के साथ उपर्युक्त रीति से मागध-सूत को भी समझना चाहिये।

(५) 'महि पाताल नाक···'—यहाँ तीनों लोकों के लोग आये हैं और धनुर्भंग के शब्द ने भी तीनों लोकों में यश फैला दिया।

करहिं आरती पुर-नर-नारी। देहिं निछावरि बित्त बिसारी ॥६॥
सोहति सीय राम कै जोरी। छबि-सिंगार मनहुँ इक ठोरी ॥७॥
सखी कहहिं प्रभुपद गहु सीता। करति न चरनपरस अति भीता ॥८॥

दोहा—गौतम-तिय-गति-सुरति करि, नहिं परसति पग पानि ।
मन बिहँसे रघुबंस-मनि, प्रीति अलौकिक जानि ॥२६५॥

अर्थ—नगर के स्त्री-पुरुष आरती करते हैं, धन को भुलाकर (धन की स्थिति से कहीं अधिक) निछावर करते हैं ॥६॥ श्रीसीतारामजी की जोड़ी ऐसी सुशोभित हो रही है मानों छवि और शृंगार एकत्र हो गये हों ॥७॥ सखियाँ कहती हैं कि हे सीते ! प्रभु के चरणों को छुओ, पर वे अत्यंत भय के कारण चरण-स्पर्श नहीं करतीं ॥८॥ गौतम मुनि की स्त्री अहल्या की गति का स्मरण करके वे हाथों से चरणों को स्पर्श नहीं करतीं, इस अलौकिक प्रीति को देखकर रघुवंशमणि श्रीरामजी मन में हँसे ॥२६५॥

विशेष—(१) 'करहिं आरती पुर-नर···'—धनुर्भंग पर भी निछावर हुई थी। यथा—"करहिं निछावर लोग सब, हय गय धन मनि चीर।" पर वहाँ आरती नहीं की गई, क्योंकि लोगों ने सोचा होगा कि जोड़ी एकत्र हो तो आरती की जाय। 'बित्त बिसारी'—हानि-लाभ की स्मृति नहीं रह गई, हैसियत से अधिक लुटा देते हैं।

(२) 'छबि-सिंगार'—स्वर्ण वर्ण छविवाली श्रीजानकीजी और श्यामवर्ण शृंगार रूप श्रीरामजी हैं। छवि = कान्ति, दीप्ति और श्यामता एकत्र होने पर अद्भुत छटा हो रही है। कहा है—'जा तन की झाईं परे, श्याम हरित दुति होइ।' (बिहारी)।

(३) 'गौतम-तिय-गति-सुरति···'—गौतम की स्त्री श्रीरामजी के चरण-स्पर्श होते ही अपने पति-लोक को चली गई, उसी दशा का स्मरण करके श्रीजानकीजी श्रीरामजी के चरणों का स्पर्श नहीं करतीं कि स्पर्श करने से हमारा भी इन चरणों से वैसा ही वियोग हो जायगा। इस अलौकिक (छिपी हुई) प्रीति पर श्रीरामजी मन में बिहँसे। (चरण स्पर्श कराकर सखियाँ लिवा ले जायँगी, इससे ही यह मिस करके विलंब किया जा रहा है)।

यहाँ जो यह भाव कहा जाता है कि अंगुलियों के भूषणों की मणियाँ नारी बनकर अनेक सौतें हो जायँगी, यह भय है। जैसा कहा है—"···दिव्योत्थिता जानकी। आगम्याशु ससंभ्रमं बहुतरां भक्तिं दधाना पुनस्तत्पादौ मणिकंकणोज्ज्वलकरा नैव स्पृशत्यद्भुतम्॥ अहल्यावच्चरणस्पर्शमात्रेण कंकणमणयोऽपि योषितो मा भूवन्निति भावः॥" (हनु० १४।५७)। यह ठीक नहीं है, क्योंकि भूषण बचाकर अंगुली के अग्र भाग मात्र से भी स्पर्श कर सकती थीं। पुनः उसमें प्रीति भी नहीं पाई जाती जो—'प्रीति अलौकिक जानि' से कही गई है।

तब सिय देखि भूप अभिलाखे। कूर कपूत मूढ़ मन माखे ॥१॥
उठि उठि पहिरि सनाह अभागे। जहँ तहँ गाल बजावन लागे ॥२॥
लेहु छड़ाइ सीय कह कोऊ। धरि बाँधहु नृपबालक दोऊ ॥३॥
तोरे धनुष चाँड़ नहिं सरई। जीवत हमहिं कुँअरि को बरई ॥४॥
जौं बिदेहु कछु करइ सहाई। जीतहु समर सहित दोउ भाई ॥५॥

शब्दार्थ—सनाह = कवच। चाँड़ = स्वार्थ, यथा—"हित पुनीत सब स्वारथहि, अरि असुद्ध बिनु चाँड़।" (दोहावली ३३०)। इसमें स्वार्थ को जगह 'चाँड़' कहा गया है।

अर्थ—तब सीताजी को देखकर राजा ललचा गये, वे क्रूर, कपूत और मूर्ख मन में क्रोधित हुए ॥१॥ वे अभागे उठ-उठकर कवच पहन जहाँ-तहाँ गाल बजाने लगे ॥२॥ कोई सीता को छीन लो और दोनों राजकुमारों को पकड़कर बाँध लो ॥३॥ धनुष के तोड़ने से स्वार्थ नहीं सधेगा, हमारे जीते-जी राजकुमारी को कौन ब्याह सकता है ? ॥४॥ यदि राजा जनक कुछ सहायता करें तो संग्राम करके दोनों भाइयों के साथ उन्हें भी जीत लो ॥५॥

विशेष—(१) 'तब सिय देखि भूप···'—पहले भी इनलोगों ने श्रीसीताजी को देखकर अभिलाषा की थी, तब इनको प्रशंसा ही हुई। यथा—"सुनि पन सकल भूप अभिलाखे। भटमानी अतिसय मन माखे॥" (दो० २४९); 'मानी' प्रशंसा-रूप में है, क्योंकि वहाँ इन्हें पराक्रम का अभिमान था, इससे क्रोध होना युक्त था। अब वे पराक्रमहीन सिद्ध हो चुके, पुनः अधर्म की दृष्टि से श्रीजानकीजी को चाहते हैं। अतः, 'क्रूर' और बाप-दादों के भी नाम डुबाये, इससे 'कुपूत' हुए। पुनः साधु राजाओं के समझाने से भी नहीं समझा और लक्ष्मणजी के कोप से पृथिवी आदि का काँपना देखा, फिर भी नहीं समझ पड़ा, अतः 'मूढ़' कहे गये।

(२) 'उठि उठि पहिरि सनाह···'—कवच पहनकर लड़ाई के लिये तैयार हो रहे हैं। श्रीराम-विमुख होने से 'अभागे' कहे गये, यथा—"ते नर नरक रूप जीवत जग भव-भंजन-पद-विमुख अभागी॥" (वि० १४०); ये मन, वचन, कर्म—तीनों से राम-विमुख हैं—'मन माखे'—मन, 'पहिरि सनाह'—कर्म और 'गाल बजावन लागे'—वचन है। यथा—"लाव तोरि, साजि साज राजा राढ़ रोषे हैं। कहा भो चाप चढ़ाये, ब्याह हैहै बड़े खाये, बोलैं खोलैं सेल असि चमकत चोखे हैं॥" (गी० बा० ९२)।

(३) 'लेहु छड़ाइ सीय · ·'—ये बालक ही तो हैं। अतः, कोई भी छुड़ा ले। 'नृप-बालक' हैं। अतः, शत्रु-रूप में फिर इन्हें छोड़ना नहीं चाहिये, पकड़कर बाँध लो, यथा—"कोउ कह जियत धरहु दोउ भाई। धरि मारहु तिय लेहु छड़ाई॥" (आ० दो० १०); ऊपर कहा था—'गाल बजावन लागे' यहाँ उसका चरितार्थ है कि—'कोई छीन तो लो' यह व्यर्थ जल्पना है। हृदय से तो भय है, ऊपर से व्यर्थ बकते हैं। 'सीय कह' अर्थात् सीय कहँ=सीय को, ठीक है। 'कह' को क्रिया मानकर 'कहना' अर्थ करना उतना संगत नहीं होता।

(४) 'जौ बिदेह कछु करइ···'—'जौ' अर्थात् हम सबको देखकर वे खड़े न होंगे। यदि हों तो उन्हें भी युद्ध करके जीत लो। 'नृप-बालक दोऊ' को तो पकड़कर बाँध लो, क्योंकि वे बालक ही हैं। हाँ, विदेह के सेना-सुभट हैं तो उन्हें समर करके जीत लो।

साधु भूप बोले सुनि बानी। राज-समाजहि लाज लजानी ॥६॥
बल प्रताप बीरता बड़ाई। नाक पिनाकहि संग सिधाई ॥७॥
सोइ सूरता कि अब कहुँ पाई। असि बुधि तौ बिधि मुँह मसि लाई ॥८॥

दोहा—देखहु रामहि नयन भरि, तजि इरिषा मद कोहु।
लखन-रोष-पावक प्रबल, जानि सलभ जनि होहु ॥२६६॥

अर्थ—इनके वचन सुनकर साधु राजा बोले कि इस राज-समाज में तो लज्जा भी लजा गई ॥६॥

तुम्हारे बल, प्रताप, वीरता और बड़ाई की जो नाक (इज्जत) थी, वह पिनाक (धनुष) के साथ ही चली गई ॥७॥ वही शूरता है, कि अब कहीं से और पा गये ? ऐसी बुद्धि है तभी तो ब्रह्मा ने तुम्हारे मुख में स्याही लगा दी ॥८॥ ईर्ष्या, मद और क्रोध छोड़कर श्रीरामजी को आँखें भरकर देख लो, लक्ष्मणजी के क्रोध-रूपी प्रबल अग्नि में जानकर भी पतंगे मत हो ॥२६६॥

विशेष—(१) 'साधु भूप बोले'''—इनके वचन सुनकर शीलवान् साधु राजाओं ने शिर नीचा कर लिया, यही समष्टि की मूर्तिमती लज्जा का लजाना है। अतः, ये महान् निर्लज्ज हैं।

(२) 'नाक पिनाकहि संग'''—पिनाक इनसे न उठा, अतः इनकी नाक उसने ले ली, फिर जिसने पिनाक को तोड़ा, उसने इनकी नाक के साथ पिनाक का भी नाश किया, यथा—"जेहि पिनाक बिनु नाक किये नृप सबहिं बिषाद बढ़ायो।" (गी० बा० ११)। अर्थात् पिनाक टूटने के साथ तुमलोगों की भी नाक कट गई। सहोक्ति अलंकार है।

(३) 'बिधि मुँह मसि लाई'—विधाता विधिवत् ही विधान करते हैं, तुम्हारी ऐसी क्रूर एवं तुच्छ बुद्धि देखकर ही तो ब्रह्मा ने तुम्हें धनुष में नियुक्त कर हराया और फिर उसे श्रीरामजी से तोड़वाकर तुम्हारे मुँह पर कालिख पोत दी है !

(४) 'तजि इरषा मद कोहु'—'ईर्षा'—श्रीरामजी की सीता-प्राप्ति देखकर डाह होना—"जीवत हमहिं कुँअरि को बरई।" 'मद'—बल का है, जिससे समर करने को कहते हैं। 'कोहु'—'मन माखे' कहा ही है। इन तीनों के छोड़ने ही से श्रीराम-रूप समझ पड़ेगा। 'लखन-रोष-पावक प्रबल'''—'जानि'—किंचित् कोप पर ब्रह्मांड डोल गया, यह प्रत्यक्ष देख चुके हो। पतंगे स्वयं अग्नि में गिरकर मरते हैं, अग्नि का कुछ नहीं बिगड़ता, वैसे तुम स्वयं मर मिटोगे, उनका कुछ नहीं बिगड़ेगा और न वे तुम्हें मारना ही चाहते हैं। लक्ष्मणजी का क्रोध दीपक नहीं कहा गया, क्योंकि बहुत पतंगों के साथ गिरने से दीपक बुझ जाता है। अग्नि में जितने ही पतंगे पड़ते हैं, वह नहीं बुझता, प्रत्युत बढ़ता है; वैसे ये सब-के-सब साथ ही लड़ेंगे, सब भी तुरत मारे जायँगे, लक्ष्मणजी का उत्साह नहीं घटेगा।

'कोहु' की जगह 'मोहु' भी पाठांतर है, मोह पाठ से आगे के प्रसंग से षट्-विकार की पूर्ति भी होती है।

बैनतेयबलि जिमि चह कागू। जिमि ससु चहइ नाग-अरि-भागू ॥१॥
जिमि चह कुसल अकारन कोही। सब संपदा चहइ सिवद्रोही ॥२॥
लोभी लोलुप कीरति चहई। अकलंकता कि कामी लहई ॥३॥
हरि-पद-बिमुख परमगति चाहा। तस तुम्हार लालच नरनाहा ॥४॥

शब्दार्थ—बैनतेय = विनता के पुत्र, गरुड़। सस = खरहा। बलि = भाग, भेंट।

अर्थ—जैसे गरुड़ का भाग कौआ चाहे और हाथी के शत्रु सिंह का भाग खरहा चाहे ॥१॥ बिना कारण के क्रोध करनेवाला अपनी कुशल चाहे और शिवजी का द्रोही सब सम्पत्तियाँ चाहे ॥२॥ लोभी-लोलुप कीर्ति चाहे ; अरे, क्या कामी मनुष्य निष्कलंकता पा सकता है ? ॥३॥ जैसे भगवान् के चरणों से विमुख परमगति (मोक्ष) चाहे, हे राजाओ ! तुम्हारा लालच वैसा ही है ॥४॥

विशेष—(१) 'बैनतेय बलि जिमि'''—यहाँ गरुड़ और सिंह श्रीरामजी हैं। कौए और खरहे क्रूर राजा लोग हैं। बलि एवं भाग श्रीजानकीजी हैं। साथ ही दो उपमाओं से दो प्रकार के भाव कहे गये

है। 'बलि' देवताओं के लिये होती है, देनेवाला देता है। श्रीजनकजी ने बलि की योग्यता-परीक्षा के लिये प्रतिज्ञा रक्खी, उसे श्रीरामजी ने पूरा किया। अतः, वह बलि इनके ही लिये है। जनकजी काक-रूप अन्य राजाओं को बलि नहीं देंगे—भले ही वे काँव काँव किया करें! यह 'जौ बिदेह कछु करइ सहाई' के प्रति है। वे कामी होने से कौए के समान हैं, यथा—"कामी काक बलाक बिचारे।" (दो० ३०)। सिंह अपने भाग (हक) की रक्षा सामर्थ्य से स्वयं कर सकता है, खरहा उसका भाग चाहे तो उसका चाहना व्यर्थ होगा, वैसे श्रीरामजी स्वयं सिंह-रूप हैं यथा—"पुरुषसिंह बन खेलन आये।" (बा० दो० २१), इनसे खरहे रूप राजा लोग नहीं छीन सकते, यह—'लेहु छड़ाइ सीय कह कोऊ।' के प्रति है।

(२) 'लोभी लोलुप कीरति चहई'''—लोभ में प्राप्त वस्तु की रक्षा करना चाहता है और उसके खो जाने के डर का भाव भी रहता है, यथा—"लोभिहि प्रिय जिमि दाम।" (उ० दो० १३१) और लोलुप में प्राप्ति के लिये चंचलता का भाव रहता है, यथा—"लालुप भ्रम गृहपसु ज्यों जहँ-तहँ सिर पदत्रान बजै।" (वि० ८२); तथा—"चंचल चरन लोभ लगि लोलुप द्वार-द्वार जग बागे।" (वि० १७०)। यहाँ क्रूर राजाओं को सीताजी की अभिलाषा है और साथ ही युद्ध करने के लिये भी चपल हैं, इसलिये एक साथ ही दोनों बातें संगत हैं। इनमें लोभ और लोभवश चंचलता भी है।

(३) 'तस तुम्हार लालच'''—'तस' के लिये 'जस' का भाव—"बैनतेय बलि'''से—"परम गति चाहा॥" तक है। अर्थात् तुमलोग न तो सीताजी को ब्याह की रीति से ही पाओगे और न लड़कर ही तुम्हारी कुशलत होगी, सब संपदा जायगी। कीर्ति भी गई, कलंकी बने और हरि श्रीरामजी से विरोध करने से परम गति भी गई, यह ध्वनित है। यों तो इनके अनौचित्य पर ही पुष्टि के लिये कई दृष्टान्त दिये गये हैं।

कोलाहल सुनि सीय सकानी। सखीं लिवाइ गईं जहँ रानी॥५॥
राम सुभाय चले गुरु पाहीं। सियसनेहु बरनत मन माहीं॥६॥
रानिन्ह सहित सोचबस सीया। अब धौं बिधिहि काह करनीया॥७॥
भूप-बचन सुनि इत उत तकहीं। लखन राम डर बोलि न सकहीं॥८॥

दोहा—अरुन नयन भृकुटी कुटिल, चितवत नृपन्ह सकोप।
मनहुँ मत्त गजगन निरखि, सिंहकिसोरहि चोप॥२६७॥

शब्दार्थ—करनीया = करने की इच्छा। चोप = उत्साह, चाव। इत-उत = इधर श्रीरामजी की ओर और उधर राजाओं की ओर भी।

अर्थ—कोलाहल (हल्ला) सुनकर सीताजी डर गईं, सखियाँ उन्हें वहाँ लिवा ले गईं, जहाँ रानियाँ थीं॥५॥ श्रीरामजी स्वाभाविक ही गुरु के पास चले, श्रीसीताजी के स्नेह का मन-ही-मन वर्णन करते जाते हैं॥६॥ रानियों के साथ श्रीसीताजी शोच के वश हैं कि ब्रह्मा को अब न जाने क्या करने की इच्छा है?॥७॥ राजाओं के वचन सुनकर लक्ष्मणजी इधर-उधर देखते हैं, श्रीरामजी के डर से कुछ बोल नहीं सकते॥८॥ आँखें लाल हैं, भौंहें टेढ़ी हो गईं, राजाओं को क्रोध से देख रहे हैं, मानों मतवाले हाथियों के झुंड को देखकर सिंह के नौजवान बच्चे को उत्साह हो आया हो॥२६७॥

विशेष—(१) 'सोच सकानी'—यह सोचकर कि कहीं राजा लोग मुझे न छू लें। अतः, यहाँ ठहरना ठीक नहीं। यह जानकर सखियाँ तुरंत लिवा ले गईं। पहले आने के समय— 'गवनी बाल मरालगति' कहा। पर अब की वैसा अवसर न देखकर शीघ्र ले गईं।

(२) 'राम सुभाय चले ···'—'सुभाय' अर्थात् अहंकार-रहित, जैसे पूर्व आये थे, यथा—"सहजहि चले सकल जगस्वामी। मत्त मंजु बर कुंजरगामी॥" (दो० २५४); 'सिय-सनेह ···'—अब प्रिया-प्रियतम का भाव हो गया, इससे स्नेह को सराहते हैं। पूर्व फुलवारी में केवल सुन्दरता मात्र सराही थी, यथा—"हृदय सराहत सीय लुनाई।" क्योंकि धनुर्भंग शेष था।

(३) 'रानिन्ह सहित ···'—इसमें श्रीसीताजी का शोच प्रधान और रानियों का गौण है।

(४) 'चितवत नृपन्ह ···'—इन्हें तुच्छ जानकर दृष्टि मात्र से धमकी देते हैं, क्योंकि मारने में शोभा नहीं। यथा—"कंपहिं भूप बिलोकत जाके। जिमि गज हरिकिसोर के ताके॥" (दो० २९३) तथा "कुँवर चढ़ाई भौंहें अब को बिलोकै सौंहें जहाँ-तहाँ भे अचेत खेत के से धोखे हैं। देखे नर नारी कहैं, साग खाइ जाये माइ, बाँह पीन पाँवरनि पीना खाइ पोखे हैं॥" (गी० बा० ९१)

परशुराम-पराजय

खरभर देखि बिकल पुरनारी। सब मिलि देहिं महीपन्ह गारी॥१॥
तेहि अवसर सुनि सिव धनु-भंगा। आयेउ भृगुकुल-कमल-पतंगा॥२॥
देखि महीप सकल सकुचाने। बाज झपट जनु लवा लुकाने॥३॥

अर्थ—खलबली देखकर जनकपुर की स्त्रियाँ व्याकुल हो गईं और सब मिलकर राजाओं को गालियाँ देने लगीं॥१॥ उसी समय शिवजी के धनुष का टूटना सुनकर भृगुकुल रूपी कमल के (विकसानेवाले) सूर्य-रूप परशुरामजी आये॥२॥ सब राजा उन्हें देखकर ऐसे सकुचा गये, मानों बाज के झपटने से लवा छिप जायँ॥३॥

विशेष (१) 'खरभर देखि सकल ·····'—श्रीजानकीजी ने राजाओं का कोलाहल सुना—'कोलाहल सुनि सीय सकानी।' कहा है, क्योंकि पर-पुरुषों की ओर नहीं देखतीं। पुर की सामान्य स्त्रियों में उतना परदा नहीं है। अतः, उनका देखना कहा गया है। सब मिलकर गालियाँ देने लगीं, अर्थात् कोई किसी को मना नहीं करती, क्योंकि इसमें सभी सहमत हैं। गाली, यथा—"देखे नर-नारी कहैं साग खाइ जाये माइ, बाहु पीन पाँवरनि पीना खाइ पोखे हैं।" (गी० बा० ९१)। रनिवास का गाली देना नहीं कहा गया, क्योंकि बड़े लोग गाली नहीं देते, यथा—"गारी देत न पावहु सोभा।" (दो० २७१)।

(२) 'तेहि अवसर सुनि सिव ·· ···'—जिस समय सब राजा लोगों ने खलबली मचा रक्खी है, उसी अवसर पर परशुराम का आना उत्तम हुआ। उन्हें देखते ही राजा लोग दुबक गये। फिर परशुराम दोनों भाइयों से वचनों ही में हार मानकर गये। श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी सर्वजेता परशुराम के हारने से ही संसार-भर के विजयी हुए और वह भी बिना युद्ध के तथा सबके समक्ष! ऐसा उत्तम अवसर अन्य रामायणों में परशुराम-आगमन का नहीं है। वहाँ इनका आना एक तो धनुष टूटने के महीनों पीछे है और वह भी मार्ग के सुनसान जंगल में। 'सुनि' शब्द सुनने से धनुष का टूटना जानकर। जहाँ महीनों बाद आना है, वहाँ किसी से सुनकर आना है। साहित्यिक दृष्टि से यह भी कहा जाता है कि

यहाँ वीर रस चरित्र के साथ ही यह—'घोर धार भृगुनाथ रिसानी' भी निवृत्त करके आगे आनंदमय माधुर्य चरित्र ही बालकांड-भर में एक रस ले चलेंगे। हनुमन्नाटक में भी धनुष टूटने का शब्द सुनकर ही परशुरामजी का आना लिखा है—"जामदग्न्यस्त्र्यम्बकस्य धनुःकोलाहलामर्षमूर्छितः प्रलयमारुतो-द्भूतकल्पान्तानलवत्प्रदीप्तरोषानलः ॥" (१।२८)।

'भृगु-कुल-कमल पतंगा'—भृगुजी ने विष्णु भगवान् को लात मारी थी, ये भी उन्हीं के वंशज हैं, फिर किसी से क्यों डरें ? ये अनुचित वचनों के ही प्रहार करेंगे। यह भी भाव है कि अब इनका कुल-सम्बन्धी ही नाम रह जायगा—वीरता एवं ईश्वरांश जानेवाला है।

श्रीरामजी का उदय बाल पतंग रूप से प्रथम ही—'उदित उदय गिरि मंच पर······' कहा गया। परशुराम को 'पतंग' मात्र कहा गया। 'पतन्सन्गच्छतीति पतंगः' अर्थात् जो गिरने के लिये चले, इससे इन्हें दोपहर का सूर्य बनाया। ये अभी तपते हुए आते हैं फिर बातों-बात में गिरते हुए अस्त हो जायँगे। श्रीरामजी को बाल-पतंग कहकर उनका अभ्युदय बनाया। ब्रह्मांड में एक साथ दो सूर्य नहीं रहते। अतः, इनका तेज भी श्रीरामजी में ही लीन हो जायगा।

(३) 'देखि महीप सकल सकुचाने।'—इन राजाओं का गर्व दूर करने ही के लिये दैवयोग से परशुरामजी आ गये। ये लोग अस्त्र-शस्त्र, कवच आदि फेंककर गाय बन बैठे। 'लुकाने' अर्थात् मचानों के नीचे जा छिपे। 'झपट' अर्थात् परशुरामजी बड़े वेग से आये हैं, इन्होंने पृथिवी कश्यपजी को दान कर दिया, तब से महेन्द्र पर्वत पर रहते हैं, वहीं से मनोवेग से इसलिये आये हैं कि ऐसा कौन वीर पैदा हुआ जिसने पिनाक को तोड़ा है ?

गौर सरीर भूति भलि भ्राजा। भाल बिसाल त्रिपुंड बिराजा ॥४॥
सीस जटा ससिबदनु सुहावा। रिसिबस कछुक अरुन होइ आवा ॥५॥
भृकुटी कुटिल नयन रिस राते। सहजहुँ चितवत मनहुँ रिसाते ॥६॥
बृषभ-कंध उर बाहु बिसाला। चारु जनेउ माल मृगछाला ॥७॥
कटि मुनिबसन तून दुइ बाँधे। धनु सर कर कुठार कल काँधे ॥८॥

दोहा—सांत बेष करनी कठिन, बरनि न जाइ सरूप।
धरि मुनितनु जनु बीररस, आयेउ जहँ सब भूप ॥२६८॥

अर्थ—गोरे शरीर पर विभूति अच्छी खिल रही है, ऊँचे और चौड़े ललाट पर त्रिपुण्ड्र विराजमान है ॥४॥ शिर पर जटा है, सुहावना मुखचन्द्र क्रोधवश कुछ लाल हो आया है ॥५॥ भौंहें टेढ़ी और आँखें क्रोध से लाल हैं, स्वाभाविक ही देखते हैं तो जान पड़ता है कि क्रोध से भरे हैं ॥६॥ बैल के से ऊँचे कंधे, छाती चौड़ी और भुजाएँ लम्बी हैं। सुन्दर जनेऊ, माला और मृगछाला पहने हुए हैं ॥७॥ कमर में मुनिवस्त्र और उसी में दो तरकश बाँधे हुए हैं, धनुष-बाण हाथ में और सुन्दर कुठार सुन्दर कंधे पर है ॥८॥ वेष तो शान्त है, पर कर्तव्य कठिन है, स्वरूप का वर्णन नहीं हो सकता। मानों वीररस ही मुनि का शरीर धरकर वहाँ जहाँ सब राजा हैं, आया है ॥२६८॥

विशेष—(१) 'त्रिपुंड'—शैवों की तरह भस्म की तीन आड़ी रेखाओं का तिलक। राते=लाल।

(२) 'तून दुइ बाँधे'—ये अर्जुन की तरह दोनों हाथों से बाण चलाना जानते थे जिस कारण उनका नाम ही 'सव्य-साची' पड़ गया था। इसलिये ये दोनों कंधों के पृष्ठ-भाग में एक-एक तरकश रखते थे, जिस हाथ से बाण चलाते थे, उसके दूसरी ओर के तरकश से बाण लेते थे।

(३) 'सांत-बेष करनी कठिन···'—शांतवेष के साज—'गौर शरीर' 'विभूति' त्रिपुण्ड्र आदि उज्ज्वल-ही-उज्ज्वल हैं, शीश पर जटा, मुनि-वस्त्र—ये सब अनुकूल हैं।

'करनी कठिन'—२१ बार पृथिवी को क्षत्रियों से रहित किया, इनके कर्म ऐसे कठोर हैं, आगे स्वयं कहेंगे। वेष के विरुद्ध कर्म हैं, इसीसे स्वरूप वर्णन करने के योग्य नहीं है।

'धरि मुनि-तनु जनु बीररस···'—वीरों की सभा है। अतः, वीर-रस मुनि-वेष से आया, क्योंकि यों तो वीर वीर के चरणों पर नहीं गिरते, पर आज सभी दंड-प्रणाम करेंगे, इसलिये भी मानो वह मुनि-वेष में आया। यहाँ शांत और वीर कहा, आगे 'वेष कराला' से रौद्र रस भी मिला देंगे और वेष तथा कर्म के विचित्र मेल के कारण अद्भुत रस होने से भी वर्णन नहीं हो सकता।

देखत भृगुपति - बेष कराला। उठे सकल भयबिकल भुआला ॥१॥
पितु समेत कहि निज निज नामा। लगे करन सब दंडप्रनामा ॥२॥
जेहि सुभाय चितवहिं हित जानी। सो जानइ जनु आइ खुटानी ॥३॥

शब्दार्थ—आइ = आयु, जिंदगी। खुटानी = समाप्त हो गई।

अर्थ—परशुरामजी का कराल वेष देखकर सभी राजा भय से व्याकुल होकर उठ पड़े ॥१॥ पिता के साथ अपना-अपना नाम कहकर सब दंडवत् प्रणाम करने लगे ॥२॥ वे स्वाभाविक ही अपना हित जानकर जिसे देखते हैं, वह यही समझता है कि अब हमारी आयु ही बीत गई ! ॥३॥

विशेष—(१) 'उठे सकल भय-बिकल···'—पहले दुबककर बैठ गये थे, अब भय से व्याकुल होकर उठ पड़े, क्योंकि न उठने से भी गर्वीले समझे जाते।

(२) 'पितु समेत कहि···'—प्रणाम की रीति है। पर यहाँ यह भी भाव है जिससे परशुरामजी जान जायँ कि यह अमुक का पुत्र है, जिसे मैंने दीन जानकर छोड़ दिया था। अतः, दया का पात्र होने से क्षमा के योग्य है।

(३) 'हित जानी'—कि मैंने इसके पिता पर दया की थी। अतः, यह भी दया का ही पात्र है।

'सो जानइ जनु···'—क्योंकि—'सहजहुँ चितवत मनहुँ रिसाते।' कहा ही है।

जनक बहोरि आइ सिर नावा। सीय बोलाइ प्रनाम करावा ॥४॥
आसिष दीन्हि सखी हरषानी। निज समाज लै गईं सयानी ॥५॥
बिस्वामित्र मिले पुनि आई। पद - सरोज मेले दोउ भाई ॥६॥

राम लखन दसरथ के ढोटा। दीन्हि असीस देखि भल जोटा॥७॥
रामहि चितइ रहे थकि लोचन। रूप अपार मार-मद-मोचन॥८॥

दोहा—बहुरि बिलोकि बिदेह सन, कहहु काह अति भीर।
पूछत जानि अजान जिमि, ब्यापेउ कोप सरीर॥२६९॥

अर्थ—फिर राजा जनक ने आकर शिर नवाया और श्रीसीताजी को बुलाकर प्रणाम कराया॥४॥ परशुरामजी ने आशीर्वाद दिया, सखियाँ प्रसन्न हुईं और फिर वे सयानी इन्हें अपने समाज में ले गईं॥५॥ फिर विश्वामित्रजी आकर मिले और दोनों भाइयों को चरण-कमलों मे डाला (प्रणाम कराया)॥६॥ ये राम-लक्ष्मण दशरथजी के पुत्र हैं, भली जोड़ी देखकर असीस दी॥७॥ श्रीरामजी के कामदेव का मद छुड़ानेवाले अपार रूप को देखकर नेत्र स्थगित हो रहे (टकटकी लगाकर देखते रह गये)॥८॥ फिर देखकर, जानते हुए भी अनजान की तरह विदेह राजा से पूछते हैं कि कहो, यह बड़ी भारी भीड़ कैसी है? (कहते-ही-कहते) शरीर में क्रोध व्याप्त हो गया॥२६९॥

विशेष—(१) 'जनक बहोरि आइ···'—सब राजाओं ने भय से साष्टांग दंडवत् किया, पर जनकजी ने केवल शिर नवाया। इससे जाना गया कि इन्हें भय नहीं है, क्योंकि ये ज्ञानी हैं। यथा—"आनंद ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।" (तैत्ति॰ २।९); श्रीसीताजी को भी प्रणाम कराया कि आशीर्वाद मिल जाय। सखियाँ प्रसन्न हुईं, क्योंकि सीताजी को सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद मिला, ऐसा जान पड़ता है; इससे इनका और श्रीरामजी का भी कल्याण हुआ। वे सखियाँ 'सयानी' हैं। अतः, तुरंत सीताजी को महल में लिवा ले गईं कि कहीं धनुष टूटा देखकर कुछ और न कह दें। यहाँ प्रथम आशीर्वाद दिया, इसीसे विश्वामित्रजी ने भी दोनों भाइयों को प्रणाम कराकर आशीर्वाद दिलाया है।

(२) 'बिस्वामित्र मिले···'—यद्यपि परशुरामजी विश्वामित्रजी की बहिन के पौत्र हैं, तो भी अभिमान वश उनके पास प्रणाम करने नहीं गये। दोनों कुमारों को आशीर्वाद दिलाना है। अतः, वे स्वयं आये और मिले।

(३) 'दीन्हि असीस देखि भल जोटा।'—राज्य-सम्बन्ध पर असीस नहीं दी, किन्तु सुंदर जोड़ी देखकर ही दी। 'रूप अपार मार···'—इसमें 'अपार' शब्द दीप-देहली है। यथा—"सील सुधा के अगार, सुषमा के पारावार पावत न पर पार पैरि पैरि थाके हैं।" (गी॰ बा॰ ६२)।

(४) 'बहुरि बिलोकि बिदेह···'—आने के समय भी परशुरामजी की आँखें लाल थीं, मगर रामजी के देखने से कुछ ठंढे पड़ गये थे, फिर जब विदेह की ओर दृष्टि पड़ी, तब वही धनुर्भंग की बात चित्त में आ गई। इससे फिर कोप हुआ, किंतु अबकी शरीर भर में क्रोध व्याप गया—सर्वांग लाल हो गया।

परशुरामजी धनुर्भंग की बात जानते हैं—एक तो टूटने का शब्द ही पहुँचा, फिर सभी सुर-सिद्ध-मुनियों ने कहा ही है, यथा—"कोदंड खंडेउ राम तुलसी जयति···" (दो॰ २६१)। वाल्मी॰ बा॰ स॰ ७५ में कहा है, ("···भेदनं धनुषस्तथा। तच्छ्रुत्वाहमनुप्राप्तः।") कि ये वृत्तान्त सुनकर आये हैं। पर यहाँ अनजान की भाँति पूछते हैं—जनकजी का दोष उनके मुख से कहलाना चाहते हैं।

समाचार कहि जनक सुनाये। जेहि कारन महीप सब आये ॥१॥
सुनत बचन फिरि अनत निहारे। देखे चापखंड महि डारे ॥२॥
अति रिस बोले बचन कठोरा। कहु जड़ जनक धनुष केइ तोरा ॥३॥
बेगि देखाउ मूढ़ न त आजू। उलटउँ महि जहँ लहि तव राजू ॥४॥

शब्दार्थ—लहि = लगि, पर्यन्त, तक। अनत = दूसरी ओर।

अर्थ—जिस कारण सब राजा लोग आये हुए थे; राजा जनक ने सारा समाचार कह सुनाया ॥१॥ समाचार सुन परशुरामजी ने फिरकर दूसरी ओर दृष्टि डाली, तो धनुष के टुकड़े पृथिवी पर पड़े हुए देखे ॥२॥ अत्यन्त क्रोध से कठोर वचन बोले—रे जड़ जनक! बतलाओ, धनुष किसने तोड़ा? ॥३॥ अरे मूढ़! (वा उस मूढ़ को) शीघ्र दिखाओ नहीं तो आज ही जहाँ तक तुम्हारा राज्य है, वहाँ तक की पृथिवी उलट दूँगा ॥४॥

विशेष—(१) 'कहु जड़ जनक धनुष केइ'''—राजा जनक ने समाचार कहने में धनुष का टूटना और तोड़नेवाले का नाम—दोनो छिपा रक्खे थे, तभी तो परशुरामजी ने फिरकर देखा, तब धनुष को टूटा देखकर तोड़नेवाले का नाम पूछने लगे। 'अति रिस'—प्रथम ही शरीरभर में कोप व्याप्त था, अब अत्यन्त हो गया, क्योंकि आँखों से धनुष के टुकड़ों को देखा। क्रोध से कठोर वचन निकलते ही हैं, यथा—"क्रोध के परुष बचन बल" (आ० दो० ३८); इसी से ज्ञानी राजा को 'जड़ मूढ़' कह दिया।

(२) 'बेगि देखाउ मूढ़ न त'''—'बेगि'—जिसमें तोड़नेवाला भागने न पावे। 'देखाउ'—अर्थात् नाम मात्र परिचय पाने से उसे खोजना पड़ेगा और तब तक वह कहीं छिप जायगा।

'उलटउँ महि'''—राज्यभर की भूमि उलटने की धमकी इसलिये है कि यह राजा धर्मात्मा है, प्रजा का नाश नहीं सह सकेगा, क्योंकि—"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥" (अ० दो० ७०); इससे तुरंत दोषी को सामने खड़ा कर देगा, अन्यथा राज्यभर के उलटने में वह भी जहाँ होगा, दबकर मर ही जायगा!

पृथिवी का उलटना इस प्रकार है, जैसे भूकंप आदि में किसी भूखंड के घर और सब जीव भीतर धँस जाते हैं—कहीं-कहीं जल भी ऊपर आ जाता है, जिससे पूर्व के नगर का नाम-निशान भी नहीं रह जाता।

अति डर उतर देत नृप नाहीं। कुटिल भूप हरषे मन माहीं ॥५॥
सुर मुनि नाग नगर-नर नारी। सोचहिं सकल त्रास उर भारी ॥६॥
मन पछिताति सीयमहतारी। बिधि अब सवरी बात बिगारी ॥७॥
भृगुपति कर सुभाव सुनि सीता। अरधनिमेष कलपसम बीता ॥८॥

दोहा—सभय बिलोके लोग सब, जानि जानकी भीरु।
हृदय न हरष बिषाद कछु, बोले श्रीरघुबीरु ॥२७०॥

राम लखन दसरथ के ढोटा। दीन्हि असीस, देखि भल जोटा ॥७॥
रामहि चितइ रहे थकि लोचन। रूप अपार मार - मद - मोचन ॥८॥

दोहा—बहुरि बिलोकि बिदेह सन, कहहु काह अति भीर।
पूछत जानि अजान जिमि, ब्यापेउ कोप सरीर ॥२६९॥

अर्थ—फिर राजा जनक ने आकर शिर नवाया और श्रीसीताजी को बुलाकर प्रणाम कराया ॥४॥ परशुरामजी ने आशीर्वाद दिया, सखियाँ प्रसन्न हुईं और फिर वे सयानी इन्हें अपने समाज में ले गईं ॥५॥ फिर विश्वामित्रजी आकर मिले और दोनों भाइयों को चरण-कमलों में डाला (प्रणाम कराया) ॥६॥ ये राम-लक्ष्मण दशरथजी के पुत्र हैं, भली जोड़ी देखकर असीस दी ॥७॥ श्रीरामजी के कामदेव का मद छुड़ानेवाले अपार रूप को देखकर नेत्र स्थगित हो रहे (टकटकी लगाकर देखते रह गये) ॥ ८ ॥ फिर देखकर, जानते हुए भी अनजान की तरह विदेह राजा से पूछते हैं कि कहो, यह बड़ी भारी भीड़ कैसी है? (कहते-ही-कहते) शरीर में क्रोध व्याप्त हो गया ॥ २६६ ॥

विशेष—(१) 'जनक बहोरि आइ…'—सब राजाओं ने भय से साष्टांग दंडवत् किया, पर जनकजी ने केवल शिर नवाया। इससे जाना गया कि इन्हें भय नहीं है, क्योंकि ये ज्ञानी हैं। यथा—"आनंदं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।" (तैत्ति० २।६); श्रीसीताजी को भी प्रणाम कराया कि आशीर्वाद मिल जाय। सखियाँ प्रसन्न हुईं, क्योंकि सीताजी को सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद मिला, ऐसा जान पड़ता है; इससे इनका और श्रीरामजी का भी कल्याण हुआ। वे सखियाँ 'सयानी' हैं। अतः, तुरंत सीताजी को महल में लिवा ले गईं कि कहीं धनुष टूटा देखकर कुछ और न कह दें। यहाँ प्रथम आशीर्वाद दिया, इसीसे विश्वामित्रजी ने भी दोनों भाइयों को प्रणाम कराकर आशीर्वाद दिलाया है।

(२) 'बिस्वामित्र मिले…'—यद्यपि परशुरामजी विश्वामित्रजी की बहिन के पौत्र हैं, तो भी अभिमान वश उनके पास प्रणाम करने नहीं गये। दोनों कुमारों को आशीर्वाद दिलाना है। अतः, वे स्वयं आये और मिले।

(३) 'दीन्हि असीस देखि भल जोटा।'—राज्य-सम्बन्ध पर असीस नहीं दी, किन्तु सुंदर जोड़ी देखकर ही दी। 'रूप अपार मार…'—इसमें 'अपार' शब्द दीप-देहली है। यथा—"सील सुधा के अगार, सुषमा के पारावार पावत न पर पार पैरि पैरि थाके हैं।" (गी० बा० ६२)।

(४) 'बहुरि बिलोकि बिदेह…'—आने के समय भी परशुरामजी की आँखें लाल थीं, मगर रामजी के देखने से कुछ ठंढे पड़ गये थे, फिर जब विदेह की ओर दृष्टि पड़ी, तब वही धनुर्भंग की बात चित्त में आ गई। इससे फिर कोप हुआ, किंतु अबकी शरीर भर में क्रोध व्याप गया—सर्वांग लाल हो गया।

परशुरामजी धनुर्भंग की बात जानते हैं—एक तो टूटने का शब्द ही पहुँचा, फिर सभी सुर-सिद्ध-मुनियों ने कहा ही है, यथा—"कोदंड खंडेउ राम तुलसी जयति…", (दो० २६१)। वाल्मी० बा० स० ७५ में कहा है, ("…भेदनं धनुषस्तथा। तच्छ्रुत्वाहमनुप्राप्तः।") कि ये वृत्तान्त सुनकर आये हैं। पर यहाँ अनजान की भाँति पूछते हैं—जनकजी का दोष उनके मुख से कहलाना चाहते हैं।

समाचार कहि जनक सुनाये। जेहि कारन महीप सब आये ॥१॥
सुनत बचन फिरि अनत निहारे। देखे चापखंड महि डारे ॥२॥
अति रिस बोले बचन कठोरा। कहु जड़ जनक धनुष केइ तोरा ॥३॥
बेगि देखाउ मूढ़ नत आजू। उलटउँ महि जहँ लहि तव राजू ॥४॥

शब्दार्थ—लहि=लगि, पर्यन्त, तक। अनत=दूसरी ओर।

अर्थ—जिस कारण सब राजा लोग आये हुए थे; राजा जनक ने सारा समाचार कह सुनाया ॥१॥ समाचार सुन परशुरामजी ने फिरकर दूसरी ओर दृष्टि डाली, तो धनुष के टुकड़े पृथिवी पर पड़े हुए देखे ॥२॥ अत्यन्त क्रोध से कठोर वचन बोले—रे जड़ जनक! बतलाओ, धनुष किसने तोड़ा? ॥३॥ अरे मूढ़! (वा उस मूढ़ को) शीघ्र दिखाओ नहीं तो आज ही जहाँ तक तुम्हारा राज्य है, वहाँ तक की पृथिवी उलट दूँगा ॥४॥

विशेष—(१) 'कहु जड़ जनक धनुष केइ'''—राजा जनक ने समाचार कहने में धनुष का टूटना और तोड़नेवाले का नाम—दोनो छिपा रक्खे थे, तभी तो परशुरामजी ने फिरकर देखा, तब धनुष को टूटा देखकर तोड़नेवाले का नाम पूछने लगे। 'अति रिस'—प्रथम ही शरीरभर में कोप व्याप्त था, अब अत्यन्त हो गया, क्योंकि आँखों से धनुष के टुकड़ों को देखा। क्रोध से कठोर वचन निकलते ही हैं, यथा—"क्रोध के परुष बचन बल" (आ० दो० ३८); इसी से ज्ञानी राजा को 'जड़ मूढ़' कह दिया।

(२) 'बेगि देखाउ मूढ़ नत'''—'बेगि'—जिसमें तोड़नेवाला भागने न पावे। 'देखाउ'—अर्थात् नाम मात्र परिचय पाने से उसे खोजना पड़ेगा और तब तक वह कहीं छिप जायगा।

'उलटउँ महि'''—राज्यभर की भूमि उलटने की धमकी इसलिये है कि यह राजा धर्मात्मा है, प्रजा का नाश नहीं सह सकेगा, क्योंकि—"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥" (अ० दो० ७०); इससे तुरंत दोषी को सामने खड़ा कर देगा, अन्यथा राज्यभर के उलटने में वह भी जहाँ होगा, दबकर मर ही जायगा!

पृथिवी का उलटना इस प्रकार है, जैसे भूकंप आदि में किसी भूखंड के घर और सब जीव भीतर धँस जाते हैं—कहीं-कहीं जल भी ऊपर आ जाता है, जिससे पूर्व के नगर का नाम-निशान भी नहीं रह जाता।

अति डर उतर देत नृप नाहीं। कुटिल भूप हरषे मन माहीं ॥५॥
सुर मुनि नाग नगर-नर नारी। सोचहिं सकल त्रास उर भारी ॥६॥
मन पछिताति सीयमहतारी। बिधि अब सँवरी बात बिगारी ॥७॥
भृगुपति कर सुभाव सुनि सीता। अरधनिमेष कलपसम बीता ॥८॥

दोहा—सभय बिलोके लोग सब, जानि जानकी भीरु।
हृदय न हरष बिषाद कछु, बोले श्रीरघुबीरु ॥२७०॥

अर्थ—अत्यन्त डर के कारण राजा (जनक) उत्तर नहीं देते। कुटिल राजा मन में प्रसन्न हुए ॥५॥ देवता, मुनि, नाग और नगर के स्त्री-पुरुष सभी चिन्ता कर रहे हैं, सब के हृदय में भारी डर है ॥६॥ श्रीसीताजी की माता मन में पछता रही हैं कि ब्रह्मा ने अब सारी बनी-बनाई बात बिगाड़ दी ॥७॥ भृगुपति परशुरामजी का स्वभाव सुनकर श्रीसीताजी को आधा निमेष कल्प के समान बीता ॥८॥ श्रीरघुवीर (श्रीरामजी) ने सब लोगों को डरा हुआ देखा और श्रीजानकीजी को डरी हुई जाना, तब बोले—उनके हृदय में कुछ भी हर्ष या विषाद नहीं है ॥२७०॥

विशेष—(१) 'अति डर उतर देत''''''डर' राज्य-भर पलटने का; 'अति डर'—कि श्रीरामजी के प्राणों पर न आ बीते। राजा विचारते हैं कि भले ही राज्य-भर उलट जाय, उससे हम नरक भले ही जायँ, पर श्रीरामजी का नाम नहीं बतायेंगे। कुटिल राजा प्रसन्न हुए क्योंकि वे श्रीरामजी और जनकजी से अपने को तिरस्कृत मानते थे, जिससे अपना मरण समझते थे। अब यह देख-सुनकर प्रसन्न हैं कि भले बिना श्रम के ही बदला चुक जायगा। 'मन माहीं'—ऊपर से प्रसन्न होने में डरते हैं कि कहीं परशुरामजी यह न समझें कि हमारे तो गुरु शिवजी का धनुष टूटा और ये हँसते हैं।

(२) 'सुर मुनि नाग नगर''''''—इनलोगों ने धनुष टूटने पर आशीर्वाद दिया है। अतः, डरते हैं कि वह व्यर्थ न हो जाय, यथा—"ब्रह्मादिक सुर सिद्ध मुनीसा। प्रभुहिं प्रसंसहिं देहिं असीसा।" (दो० २६१); "सुर किन्नर नर नाग मुनीसा। जय जय जय कहि देहिं असीसा॥" (दो० २६४); सब की प्रीति श्रीरामजी में है, इससे डरते हैं।

(३) 'बिधि अब सवरी बात बिगारी।'—पहले राजाओं की खलबली पर रानी सुनयना के संदिग्ध वचन थे—"अब धौं बिधिहिं काह करनीया।" (दो० २६६); क्योंकि राजाओं का और श्रीरामजी का बल देख चुकी थीं। अतः, संदेह था कि राजा लोग श्रीरामजी को जीत सकें या नहीं, पर अब तो लोक-विजयी परशुरामजी से सामना है, इनको तो श्रीरामजी नहीं ही जीत सकते। अतः, निश्चय ही सारी बात बिगड़ गई। इस तरह पछता रही हैं।

(४) 'अरध निमेष कलप''''''—आधा ही निमेष (पल) बीतने पाया था कि इन्हें डरी जानकर श्रीरामजी ने तुरंत उत्तर दिया। इनके निर्भीक उत्तर से उन्हें कुछ संतोष हो गया।

(५) 'सभय बिलोके लोग''''''श्रीरघुबीर'—श्रीरामजी सब आश्रितों के अभयदाता हैं, यथा—"अभयं सर्व-भूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम।" (वाल्मी० ६।१८।३३); तथा—"जो सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रान की नाई॥" (सुं० दो० ४३)। आश्रित को अभय देना वीर ही का काम है। ये सबके दुःख दूर करेंगे और परशुरामजी का भी गर्व हरेंगे। 'श्री' अब इन्हीं में रहेगी, परशुराम की श्री गई वा परशुराम के आगे सब राजाओं की श्री नहीं रह गई थी; पर श्रीरामजी निर्भीक हैं। अतः, श्री (शोभा) से पूर्ण हैं। 'हृदय न हरष बिषाद कछु'—इनका ऐसा सहज स्वभाव ही है, यथा—"बिसमय हरष रहित रघुराऊ।" (अ० दो० ११); यहाँ तो न धनुष तोड़ने का हर्ष है और न परशुराम की धमकी पर विषाद।

नाथ संभु - धनु - भंजनिहारा। होइहि कोउ एक दास तुम्हारा॥१॥
आयसु काह कहिय किन मोही। सुनि रिसाइ बोले मुनि कोही॥२॥
सेवक सो जो करइ सेवकाई। अरिकरनी करि करिय लराई॥३॥

सुनहु राम जेइ सिव-धनु तोरा। सहसबाहु-सम सो रिपु मोरा ॥४॥
सो बिलगाउ बिहाइ समाजा। नत मारे जइहहिं सब राजा ॥५॥

अर्थ—हे नाथ ! शिवजी के धनुष का तोड़नेवाला कोई एक आपका दास ही होगा ॥१॥ क्या आज्ञा है ? मुझसे क्यों नहीं कहते ? यह सुनकर क्रोधी मुनि रुष्ट होकर बोले ॥ २ ॥ सेवक वह है, जो सेवा करे ; पर जो शत्रु का काम करे, उससे तो लड़ाई करनी चाहिये ॥ ३ ॥ हे राम ! सुनो, जिसने शिवजी का धनुष तोड़ा है, वह सहस्रबाहु के समान ही मेरा शत्रु है ॥४॥ वह समाज छोड़कर अलग हो आवे ; नहीं तो सब राजा मारे जायँगे ॥५॥

विशेष—(१) 'नाथ संभु-धनु ……'—श्रीरामजी के वचनों का उपक्रम यहीं से है, उपसंहार—पर—"सुनि मृदु गूढ़वचन रघुबर के।" कहा जायगा। वह मृदुता एवं गूढ़ता यहीं से है, 'नाथ !' यह मृदुता की हद है। 'कोउ एक दास' यह गूढ़ है और मृदु भी। ऊपर से दास कहना मृदु है और 'एक दास' अर्थात् मुख्य दास, जिसने पद-प्रहार भी सहकर सेवा की और परीक्षा में पूर्ण उतरा, वही है, यह गूढ़ है। 'तुम्हारा' भृगुवंशी एवं ब्राह्मणमात्र का दास अर्थात् ब्रह्मण्यदेव ही होगा ; यथा—"नमो ब्रह्मण्यदेवाय महापुरुषाय" (श्रीमद्भा० ५।१६।३)। पुनः 'संभु-धनु-भंजनिहारा' को अभिमान चाहिये कि त्रिलोकविजयी धनुष को तोड़ा है, पर वह अपने को दास कह रहा है, इससे भी उसका ईश्वर होना सिद्ध है, क्योंकि जीव में ऐसे भारी कार्य का अभिमान रहेगा ही, यथा—"हरष बिषाद ज्ञान अज्ञाना। जीव-धरम अहमिति अभिमाना॥" (दो० ११५); पर परशुरामजी क्रोधवश हैं, इससे समझ न सके। उन्होंने यही समझा कि इनसे भला वह कब टूट सकेगा ? ये तो तोड़नेवाले की तरफ से निहोरा कर रहे हैं !

प्रश्न—श्रीरामजी ने सीधे क्यों नहीं कह दिया कि मैंने धनुष तोड़ा है ?

उत्तर—मुनि लड़ाई करने के लिये प्रस्तुत हैं और ब्राह्मण हैं, सीधे कहने से लड़ने लगेंगे। फलतः ब्रह्म-हत्या होगी। इससे अच्छा है कि इन्हें बातों से ही परास्त कर दें। अतः, श्रीरामजी ने वचन-चातुर्य से ही जीतना उचित समझा, यथा—"जो मधु मरै न मारिये, माहुर देइ सो काउ। जग जिति हारे परसुधर, हारि जिते रघुराउ॥" (दोहावली ४३३)। यही भाव परशुरामजी ने स्वयं स्तुति में कहा है, यथा—"जयति वचन-रचना-अति नागर।" (दो० २८४)।

(२) 'आयसु काह कहिय किन ……'—पहले दास कहा था, तदनुसार आज्ञा-रूप सेवा माँग रहे हैं, यथा—"आज्ञा सम न सुसाहिब-सेवा।" (अ० दो० ३००)। 'किन मोही' अर्थात् मुझको क्यों नहीं कहते ? जनकजी ने क्या बिगाड़ा है जो उन्हें 'जड़' 'मूढ़' कहते हैं ? 'सुनि रिसाइ बोले मुनि कोही।' आदि में ही 'कोही' कहते हैं, यह क्रोध अंत तक रहेगा। इसीसे तो इस प्रसंग को—"घोर धार भृगुनाथ रिसानी।" (दो० ४०) कहा है।

(३) 'सेवक सो जो'……'—धनुष तोड़ना शत्रु का काम है, सेवा नहीं। अतः, यह काम करनेवाला शत्रु है, उससे लड़ाई करनी चाहिये। वह सेवक बनकर नहीं बच सकता।

(४) 'सुनहु राम जेहि ……'—सहस्रबाहु ने हमारे पिता को मारा था, इससे वह पितृ-द्रोही था, जिसने हमारे गुरु शिवजी का धनुष तोड़ा है, वह गुरु का द्रोही है। अतः, दोनों तुल्य शत्रु हैं। जैसे मैंने सहस्रबाहु को मारा है, वैसे ही इसे भी मारूँगा। ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण के गणेश-खंड में लिखा है कि सहस्रार्जुन को मारने ही के लिये परशुरामजी ने शिवजी से विद्या पढ़ी थी और फरसा पाया। वहीं पार्वतीजी ने उन्हें शैवदीक्षा भी दी थी।

(५) 'सो बिलगाउ बिहाइ'''—परशुरामजी ने देखा, जनकजी ने बतलाया नहीं कि मेरे बतलाने से वह मारा जायगा और मुझे पाप लगेगा। श्रीरामजी भी उसकी ओर से निहोरा कर रहे हैं, ये भी नहीं बतलाते। इससे सब राजाओं को मारे जाने की धमकी देते हैं कि वे ही लोग बतला दें। नहीं तो जैसे एक सहस्रबाहु के कारण सभी क्षत्रिय मारे गये थे, वैसे फिर भी मारे जायँगे। यह भी अर्थ है कि वह स्वयं अलग हो अथवा समाज ही उसे छोड़कर अलग हो जाय (जिससे वह स्वतः जाना जायगा कि यही है)।

सुनि मुनिबचन लखन मुसुकाने। बोले परसुधरहिं अपमाने ॥६॥
बहु धनुहीं तोरी लरिकाईं। कबहुँ न असि रिस कीन्ह गोसाईं ॥७॥
येहि धनु पर ममता केहि हेतू। सुनि रिसाइ कह भृगुकुलकेतू ॥८॥

दोहा—रे नृपबालक कालबस, बोलत तोहि न सँभार।
धनुही सम त्रिपुरारि-धनु, बिदित सकल संसार ॥२७१॥

शब्दार्थ—परसुधरहिं = फरसाधारी, फरसे के अभिमानी परशुराम को। अपमाने = निरादर करते हुए।

अर्थ—मुनि के वचन सुनकर लक्ष्मणजी मुसकाये और परशुरामजी का अपमान करते हुए बोले ॥६॥ हे गोसाईं! लड़कपन में हमने बहुत-सी धनुहियाँ तोड़ डालीं, पर आपने कभी भी ऐसा क्रोध नहीं किया ॥७॥ इस धनुष पर किस कारण से ममत्व है? ये वचन सुनकर भृगुकुल के ध्वजा-रूप परशुरामजी कुपित होकर बोले ॥८॥ अरे राजपुत्र! तू कालवश है, इससे बोलने में तुझे सँभाल (विचार) नहीं है, क्या त्रिपुरासुर के शत्रु शिवजी का धनुष धनुही के समान है जो सारे जगत् में प्रसिद्ध है? ॥२७१॥

विशेष—(१) 'सुनि मुनि-बचन लखन'''—'मुसकाने'—लक्ष्मणजी निरादरार्थ हँसे—ये मुनि हैं और वचन क्रोध से भरे बोल रहे हैं, कि वह शत्रु है, उसके कारण सब राजा मारे जायँगे। इन्हें तो शांत रहना चाहिये, पर ये फरसे के अभिमानी हैं। मुनि के तो कोई शत्रु नहीं होते, पर इनके बहुत हैं। अतः, ये मूर्ख हैं या चाहे जितने शस्त्र धारण करें, पर हैं तो ब्राह्मण ही न!

'बोले परसुधरहि अपमाने।'—अपमान का कारण मुख्य तो इनका फरसा धारण करना है, फिर इन्होंने श्रीरामजी की प्रार्थना (आप नाथ हैं, मैं दास हूँ) का कुछ विचार नहीं किया। प्रत्युत उन्हें मारने की धमकी देकर अपमान किया। लक्ष्मणजी अपने प्रभु का अपमान नहीं सह सकते। अतः, अपमान-द्वारा ही प्रतिकार करते हैं, क्योंकि ब्राह्मण का अपमान करना ही मारने के समान है। 'परसु-धर' नाम से फरसा धारण-रूपी वीरता का ही अपमान सूचित किया—ब्राह्मणत्व का नहीं।

(२) 'बहु धनुहीं तोरी लरिकाईं। कबहुँ न'''—भाव यह कि मैंने बालपन में खेल में बहुत-सी धनुहियाँ तोड़ डाली हैं, वैसे ही खेल-ही-खेल में इसे भी तोड़ डाला, यथा—"छोटे छोटे छोहरा छबीले रघुबंसिन के करत कलोलें यूथ निज निज जोरि जोरि। ए हो भृगुनाथ चलो अवध हमारे साथ देखो वहँ कैसे चहुँ खेलत हैं कोरि कोरि॥ 'रसिकबिहारी' ऐसी अमित कमानें सदा आनि गहि तानें एक एकन ते छोरि छोरि। कोऊ झकझोरें कोऊ पकरि मरोरें यों ही जोरि जोरि नितहिं बहावें बाल तोरि तोरि॥" (रामरसायन)।

परशुरामजी को धनुष के भंग करने पर क्रोध है, क्योंकि उसका बड़ा गौरव मानते हैं; उसीको लक्ष्मणजी धनुहिया मानकर खेल में तोड़ना कहते हैं, इससे वह अति लघु एवं तुच्छ सिद्ध होता है, यही परशुरामजी का अपमान है। 'कबहुँ न'—हमने बहुत बार तोड़े होंगे तब कभी आप नहीं गये थे, आज क्यों क्रोध करके दौड़े आये ?

इसपर लोग बहुत-सी कथाएँ लाकर लगाते हैं कि शिवजी ने दिव्यास्त्र संग्रह किया था, परशुराम रखवाले थे, लक्ष्मणजी ने बचपन में उन्हें तोड़ा है। दूसरी कथा-दिग्विजय करके परशुरामजी ने बहुत-से धनुष रक्खे थे। शेषजी बालक बनकर पृथिवी माता के साथ उनसे अभय वर माँगकर रहते थे। एक दिन सबको तोड़ डाला, तब परशुरामजी क्षमा से नहीं बोले, इत्यादि। इनमें दोष है कि जब वे दिव्यास्त्र थे, तब यहाँ लक्ष्मणजी ने धनुही कहकर उन्हें तुच्छ क्यों कहा है ? पुनः जो उनकी क्षमा की सुधि करानी है, यह तो स्तुति है, अपमान के वचन नहीं। ये सब बातें एक एकबार की हैं और यहाँ 'कबहुँ न' से पाया जाता है कि हम रोज-रोज तोड़ते थे, पर आप वहाँ नहीं गये।

(३) 'येहि धनु पर ममता केहि हेतू।'—यह धनुष शिवजी का है, वे जनकजी के पूर्वजों को सौंप गये थे—अब जनकजी इसे चाहे तोड़वावें—चाहे रक्खें, इसके लिये आप क्यों दौड़े आये ? इसपर आपका कौन-सा अधिकार है, यथा—"रावरी पिनाक में सरीकता कहा रही।" (क० बा० १६); तथा—"जो पहिले ही पिनाक जनक को गयो सौंपि जिय जानि हैं।" (गी० बा० ७८)। लड़कपन में जो बहुत धनुहियों को तोड़ा है उस समय आप नहीं बोले थे, क्योंकि उनपर आपका कोई अधिकार न था, वैसे ही इसपर भी तो आपका बोलने का कोई अधिकार नहीं है।

'सुनि रिसाइ कह भृगुकुलकेतू'—प्रथम जब—'कबहुँ न असि रिस कीन्ह' कहा है, तब 'गोसाईं' संबोधन है और जब क्रोध करना कहा तब 'भृगुकुलकेतू' कहा कि महाक्रोधी के कुल के ध्वजा-रूप हैं, फिर क्रोध क्यों न करें ? भृगु ने भगवान् को ही लात मारी, ये उसी कुल के न हैं, तब क्यों न ऐसा क्रोध करें ?

(४) 'रे नृप-बालक काल-बस···'—लक्ष्मणजी ने दो प्रश्न किये थे। १—हमने बहुत धनुहियाँ तोड़ी हैं, तब क्रोध नहीं किया, अब क्यों करते हैं ? २—इस धनुष पर इतनी ममता क्यों है; अर्थात् आपका क्या अधिकार है ? इनमें पहले प्रश्न को लेकर कहते हैं कि जिस धनुष से त्रिपुरासुर मारा गया और जो बड़े यत्न से बना एवं संसार में प्रसिद्ध है उसे तू धनुहियों के समान कहता है ? अतः, तेरे बोलने में सँभार नहीं है, 'तोहि न···' अर्थात् तेरा भाई सँभालकर बोलता है, पर तुझे ही सँभाल नहीं है। इसीसे तू काल-वश है, क्योंकि प्रतिष्ठित पिनाक को 'धनुही सम' कहना दुर्वचन है—"सुनि दुर्वचन काल-बस जाना।" (लं० दो० ८१); इसी पर अपना क्रोध प्रकट किया। दूसरे प्रश्न का उत्तर नहीं दे सके। प्रथम प्रश्न का जो उत्तर दिया है, आगे लक्ष्मणजी उसका भी खंडन करते हैं।

लखन कहा हँसि हमरे जाना। सुनहु देव सब धनुष समाना ॥१॥
का छति लाभ जून धनु तोरे। देखा राम नयेन के भोरे ॥२॥
छुअत टूट रघुपतिहु न दोषू। मुनि बिनु काज करिय कत रोषू ॥३॥

शब्दार्थ—जाना = जानते, समझ में। छति (क्षति) = हानि। जून = (जीर्ण) = पुराना, जून गुजराती भाषा का शब्द है। नयेन = नये ही। भोरे = धोखे से।

अर्थ—लक्ष्मणजी ने हँसकर कहा कि हे देव (भूदेव) ! सुनिये, हमारे जानते तो सब धनुष एक समान ही हैं ॥१॥ पुराने धनुष के तोड़ने में क्या हानि लाभ ? श्रीरामजी ने तो उसे नये ही के धोखे से देखा था ॥२॥ वह छूते ही टूट गया, अतः, रघुनाथजी का भी तो कुछ दोष नहीं है, हे मुनि ! बिना प्रयोजन आप क्यों क्रोध करते हैं ॥३॥

विशेष—(१) 'लखन कहा हँसि···'—हँसे इसलिये कि धनुष तोड़ डाला गया, फिर भी उसकी प्रशंसा करते हैं, उसे तुच्छ कहने पर रुष्ट होते हैं, ठीक उत्तर नहीं दे सकते तो उसे कोप से पूरा करते हैं, ऐसे नासमझ हैं ये ! 'हमरे जाना'—हमसे न टूटता तो हम उसे बड़ा मानते, आप भले ही उसकी प्रशंसा करें, पर हमारी दृष्टि में तो सभी धनुष एक-से हैं।

(२) 'का छति लाभ जून···'—श्रीजनकजी ने उसे हीरा-मणि आदि से भूषित कर रक्खा था, श्रीरामजी ने समझा कि विदेहराज ने कोई नवीन कठोर धनुष रखकर प्रतिज्ञा की है, इसी धोखे से उन्होंने उसपर दृष्टि डाली, नहीं तो उसे देखते भी नहीं।

(३) 'छुअत टूट रघुपतिहु न दोषू।'—वह तो 'जून'-पुराना था। इससे छूते ही टूट गया अर्थात् श्रीरामजी ने उसे तोड़ा थोड़े ही, वह तो पुराना होने से सड़ा था, छूते ही आप-से-आप टूट गया। इसमें श्रीरामजी का कुछ दोष नहीं। सड़ा होने से उसके टूटने से कोई हानि नहीं और पुराना था, छूते ही टूटा, अतः. श्रीरामजी को तोड़ने का (श्रेय-रूपी) लाभ भी नहीं है।

'मुनि बिनु काज करिय···'—जिसमें कुछ हानि-लाभ नहीं; उस विषय पर क्रोध करना व्यर्थ ही है, इस तरह परशुरामजी को अकारण क्रोधित सूचित किया। यहाँ यदि लक्ष्मणजी कहते कि विदेहराज की प्रतिज्ञा-पूर्ति के लिये तोड़ा गया तो मुनि उन्हींसे जा भिड़ते और यदि कहते कि श्रीरामजी ने वीरता से तोड़ा तो उन्हींकी ओर झुकते। अतः, ऐसे वचन कहे कि मुनि ही का दोष सिद्ध हो और वे कुछ न कह पावें। लक्ष्मणजी परशुरामजी के क्रोध रूपी घोर धारा को फेर रहे हैं; देखिये—"घोर धार भृगुनाथ रिसानी।···"

बोले चितइ परसु की ओरा। रे सठ सुनेहि सुभाव न मोरा ॥४॥
बालक बोलि बधउँ नहिं तोही। केवल मुनि जड़ जानहि मोही ॥५॥
बाल ब्रह्मचारी अति कोही। बिस्वबिदित छत्रिय - कुलद्रोही ॥६॥
भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्ही। बिपुल बार महिदेवन्ह दीन्ही ॥७॥
सहसबाहु - भुज - छेदनिहारा। परसु बिलोकु महीप - कुमारा ॥८॥

दोहा—मातुपितहि जनि सोचबस, करसि महीप - किसोर।
गरभन्ह के अरभकदलन, परसु मोर अति घोर ॥२७२॥

शब्दार्थ—बोलि = समझकर, ठहराकर, यह बँधला आया है, यथा—'बालक बोले आमि छेदे विद्युम्'। गरभन = गर्भों। अरभक (सं॰ अर्भक) = बालक, छोटा, अल्प। छेदनिहारा = काटनेवाला।

अर्थ—(परशुरामजी) फरसे की ओर देखकर बोले—अरे शठ, तूने मेरा स्वभाव नहीं सुना ? ॥४॥ मैं तो तुझे बालक जानकर नहीं मारता और मूर्ख ! तू मुझे कोरा मुनि ही समझता है ॥५॥ मैं बालब्रह्मचारी

और अत्यन्त क्रोधी हूँ। पुनः क्षत्रिय-कुल का द्रोही हूँ—यह संसार जानता है ॥६॥ अपनी भुजाओं के बल से मैंने पृथिवी को राजाओं से रहित किया और बहुत बार उसे ब्राह्मणों को दे दिया ॥७॥ हे राजकुमार ! सहस्रबाहु की भुजाओं का काटनेवाला मेरा यह फरसा देख ले ॥८॥ हे राजपुत्र ! अपने माता-पिता को शोक के वश मत कर, मेरा फरसा अत्यन्त घोर (कठिन एवं भयंकर) है, यह गर्भों के भी बच्चों का नाश करनेवाला है ॥२७२॥

विशेष—(१) 'बोले चितइ परसु'''—फरसे की ओर दृष्टि करके कहते हैं कि इसे देख ले, यदि सहने का सामर्थ्य हो तो बोल, इसी से तुझे भी काटूँगा। क्या तुझे इसका भय नहीं है ? 'रे सठ सुनेहि सुभाव न मोरा।'—सुना होता, तो ऐसा निःशंक नहीं बकता, यथा—"कीधौं श्रवन सुनेहि नहिं मोही। देखउँ अति असंक सठ तोही ॥" (सुं० दो० २०)। इसमें भी 'सठ' कहा है।

(२) 'बालक बोलि बधउँ नहिं'''—बालक का वध करना पाप है, यथा—"जे अघ तिय बालक बध कीन्हे ;" (अ० दो० १६६); इसी से मैं तुझे नहीं मारता। पर मूर्ख ! तू मुझे कोरा मुनि ही समझता है कि मारेंगे नहीं। इस धोखे में मत रहना। मैं वीर भी हूँ, कोरा मुनि नहीं हूँ। मेरे शाप और आशीष ही का बल नहीं, किंतु शरीर से भी समर्थ हूँ, आगे अपेक्षित वीरता कहते हैं।

(३) 'बालब्रह्मचारी अति'''—बालब्रह्मचारी से काम का जीतना कहा, जिसकी गणना वीरों में प्रथम है, यथा—"मारिके मार थप्यो जग में जाकी प्रथम रेख भट माहीं।" (वि० ४); बालब्रह्मचारी तो नपुंसक भी कहे जा सकते हैं, इसपर आगे पुरुषार्थ कहते हैं कि अत्यन्त क्रोध से संसार भर के वीर क्षत्रियों का नाश किया है। सारा संसार साक्षी है।

ब्रह्मचारी को दयालु होना चाहिये, पर उसकी विरुद्ध वृत्ति में बड़ाई मान रहे हैं, यह स्वभाव स्वयं सुना रहे हैं कि जिससे लक्ष्मणजी डरें। यथा—"आजन्मब्रह्मचारी पृथुलभुजशिलास्तम्भ-विभ्राजमान घाज्यात-श्रेणिसंघातवरितवसुमतीचक्रजैत्रप्रशस्तिः" (हनु० १।२१)।

(४) 'भुजबल भूमि भूप बिनु'''—एक बार बड़ी सेना लेकर राजा सहस्रार्जुन जमदग्नि ऋषि के आश्रम में गया। ऋषि ने कामधेनु के द्वारा बड़ा सत्कार किया, तब उसने वह गाय माँगी, न देने पर ऋषि को मारकर गाय को ले गया। परशुरामजी आये, माता रेणुका को विलाप करते देखकर वृत्तान्त पूछा और सहस्रार्जुन पर दौड़ पड़े। युद्ध करके उसे मार डाला। फिर उसी के सम्बन्ध से सम्पूर्ण पृथिवी को क्षत्रियों से रहित किया, बचे-बचाये क्षत्रियों के बढ़ने पर फिर-फिर बहुत बार पृथिवी भर के क्षत्रियों को मारा। कहा जाता है कि २१ बार इनकी माता ने छाती पीटी थी। अतः, उतनी ही बार क्षत्रियों का नाश किया। आगे दो० २७५ चौ० २ भी देखिये।

'भुजबल' अर्थात् शाप से नहीं, किन्तु वीरता से मारा। 'बिपुल बार'—जब-जब क्षत्रिय बढ़ते गये, तब-तब खोज-खोजकर मारा। 'महिदेवन्ह दीन्ही'—कुछ भूमि के लोभ से ऐसा नहीं किया; किन्तु भूमि ब्राह्मणों को दे दी। जब-जब क्षत्रिय बढ़ते थे, और ब्राह्मणों से भूमि छीन लेते थे तब-तब हम क्षत्रियों को मार-कर ब्राह्मणों को भूमि देते थे। 'महिदेवन्ह' अर्थात् एक किसी विप्र को चक्रवर्त्ती नहीं बनाते थे, किंतु सभी में भूमि बाँट देते थे। यदि समझें कि निर्बल क्षत्रियों को ही मारा होगा, इसपर आगे कहते हैं—

(५) 'सहसबाहु भुज'''—सहस्रबाहु को दत्तात्रेय भगवान् के वर से हजार भुजाएँ, सर्वत्र इच्छानुसार जानेवाला अजेय स्वर्ण का रथ, जगत्प्रसिद्ध मनुष्य से मृत्यु, नीति-पूर्वक राज्य करना और यह सिद्धि जिससे घर-बैठे प्रजा के मन की जान ले तथा पृथिवी भर का राज्य—ये सब मिले थे। (ब्रह्मवैवर्त्त, गणेश खंड)। ऐसे को इसी फरसे से मारा है। उसके तो हजार भुजाएँ थीं, तेरे तो दो ही हैं।

यह फरसा देख ले, सहने का ताव हो, तो बोल। 'महीपकुमारा'—अभी तो तू कुमार ही है, कुछ काल राज-सुख तो भोग ले, अभी ही क्यों मरना चाहता है ?

(६) 'मातु पितहिं जनि···'—माता का स्नेह बच्चे पर अधिक होता है। अतः, उसे पहले कहा, अर्थात् तेरे माता-पिता ने तुझे चौथेपन में पाया है, इससे तू इनका अत्यन्त प्रिय है, प्राण-नाश कर उन्हें क्यों दुःख देगा ? यहाँ धर्म निष्ठता दिखाई, किंतु देखा कि इससे तो और ढोंठ होगा। अतः, क्रूरपना कहते हैं—'गरभन्ह के अरभक···' अर्थात् यह भी मत समझना कि बालक जानकर नहीं मारेंगे ; किंतु यह फरसा गर्भगत बालक को भी नहीं छोड़ता, यथा—"गर्भ स्रवहिं अवनिपरवनि, सुनि कुठार-गति घोर।" (दो० २७१); (इसी से रनिवास में इनकी चर्चा नहीं होती थी) तू तो कुछ बड़ा हो गया, फिर सामने खड़ा है।

बिहँसि लखन बोले मृदुबानी। अहो मुनीस महा भटमानी ॥१॥
पुनि पुनि मोहि देखाव कुठारू। चहत उड़ावन फूँकि पहारू ॥२॥
इहाँ कुम्हड़बतिया कोउ नाहीं। जे तरजनी देखि मरि जाहीं ॥३॥
देखि कुठार सरासन बाना। मैं कछु कहा सहित अभिमाना ॥४॥

शब्दार्थ—तरजनी (तर्जनी)=अंगूठे के पास की अंगुली, जिससे लोग दूसरे को धमकाते हैं।

अर्थ—लक्ष्मणजी हँसकर कोमल वचन बोले—अहो ! मुनीश्वर ! आपतो बड़े ही अभिमानी योद्धा हैं ॥१॥ मुझे बार-बार कुल्हड़िया दिखाते हैं, (मानों) फूँककर पहाड़ उड़ाना चाहते हैं ! ॥२॥ यहाँ कोई कुम्हड़े की बतिया नहीं है जो तर्जनी देखते ही मर जाय ॥३॥ कुल्हाड़ और धनुषबाण देखकर ही मैंने अभिमान के साथ कुछ कहा है ॥४॥

विशेष—(१) 'बिहँसि लखन बोले···'—परशुरामजी जैसे-जैसे अपने गुण कहते हैं, वैसे-वैसे अधिक दोष प्रकट होते जाते हैं, जिससे लक्ष्मणजी की हँसी क्रमशः अधिक होती है, यथा—"सुनि मुनि बचन लखन मुसुकाने।" मुसकाना थोड़ा हँसना है। फिर—"लखन कहा हँसि हमरे जाना।" हँसने में मुसकान से अधिकता है। पुनः यहाँ 'बिहँसि' कहा है, यह विशेष हँसी का सूचक है कि वाह, अपने मुख से अपना गुण कहने में आपको लाज नहीं लगती !

'अहो मुनीस महा भट···'—जो मुनि होते हैं, वे भट नहीं होते और भट मुनि नहीं होते, क्योंकि मुनियों में शान्ति, समता, सुहृत आदि और वीरों में वैर, क्रोध, हिंसा आदि गुण हैं, आप दोनों के अभिमानी हैं। अतः, 'अहो' अर्थात् आश्चर्यरूप हैं। यहाँ व्याजस्तुति अलंकार है।

(२) 'पुनि पुनि मोहि देखाव···'—तीन बार कुठार दिखाया—'बोले चितइ परसु की ओरा।' 'परसु बिलोकु महीप कुमारा।' 'परसु मोर अति घोर', अतः, 'पुनि-पुनि' कहा गया। 'चहत उड़ावन फूँकि···'—फूँकने से मच्छड़ उड़ते हैं अर्थात् आप वीर बनते तथा हमें मच्छड़ समझते हैं और चाहते हैं कि बातों की धमकी से ही डरा दें, जैसे फूँककर मच्छड़ उड़ाये जाते हैं। आपका फरसा फूँक के वायु के समान है और मैं सुमेरु पर्वत के समान हूँ—उससे नहीं उड़ सकता।

(३) 'इहाँ कुम्हड़बतिया कोउ···'—कुम्हड़े की छोटी बतिया तर्जनी दिखाने से सड़ जाती है, वैसे ही और राजा लोग आपको देखकर दुबक गये थे। अतः, वे कुम्हड़े की बई के समान हैं। यथा—

"सरुष भरजि तरजिये तरजनी कुम्हलैहै कुम्हड़े की जई है।" (वि० १३१); पर मैं परिपक्व कुम्हड़ा हूँ। अतः, नहीं डरने का। 'कोउ नाहीं' से अपने और श्रीरामजी की ओर संकेत है।

(४) 'देखि कुठार सरासन'''—मुनि के समक्ष अभिमान की बात नहीं कहनी चाहिये, पर मैंने कुठार आदि वीर बाने को देखकर ही कुछ कहा है।

भृगुसुत समुझि जनेउ बिलोकी। जो कछु कहहु सहउँ रिस रोकी ॥५॥
सुर महिसुर हरिजन अरु गाई। हमरे कुल इन्हपर न सुराई ॥६॥
बधे पाप अपकीरति हारे। मारतहू पा परिय तुम्हारे ॥७॥
कोटि-कुलिस-सम बचन तुम्हारा। व्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा ॥८॥

दोहा—जो बिलोकि अनुचित कहेउँ, छमहु महामुनि धीर।
सुनि सरोष भृगुबंस-मनि, बोले गिरा गँभीर ॥२७३॥

शब्दार्थ—भृगुसुत = भृगुकुल, यहाँ सुत शब्द लक्षणा से कुल का वाचक है, अन्यत्र 'भृगुकुल' पाठांतर है।

अर्थ—जो कुछ आपने कहा है, उसे मैं आपको भृगुवंशी समझकर और जनेऊ देखकर क्रोध को रोके सहता जाता हूँ ॥५॥ देवता, ब्राह्मण, हरिभक्त और गाय—इनपर हमारे कुल में शूरता नहीं जनाई जाती ॥६॥ (इन सबके) मारने पर पाप और हारने पर अपयश (होता है, इसलिये) आप मारें तो भी हमलोग आपके चरणों पर ही पड़ेंगे ॥७॥ आपका वचन ही करोड़ों वज्रों के समान है, आप व्यर्थ ही धनुष-बाण और कुठार धारण करते हैं ॥८॥ जिन्हें देखकर मैंने अनुचित कहा है; उसे हे धीर महामुनि! क्षमा कीजिये; यह सुनकर भृगुकुलशिरोमणि परशुरामजी क्रोध में भरी हुई गंभीर वाणी बोले ॥२७३॥

विशेष—(१) 'भृगुसुत समुझि'''—यहाँ श्रीलक्ष्मणजी परशुरामजी के लिये दो विशेषण देते हैं—एक भृगुवंशी होना और दूसरे जनेऊ धारण से ब्राह्मण होना। इन दो कारणों से क्रोध रोककर सहना पड़ता है, क्योंकि ब्राह्मण अवध्य हैं। यथा—"अवध्यो ब्राह्मणो गावः स्त्रियो बालाश्च ज्ञातयः। येषां चान्नानि भुंजीय ये चास्य शरणं गताः॥" प्रसिद्ध है। ब्राह्मण के वध से पाप होता है, कहीं आपका वध न हो जाय, इसलिये सहते हैं। भृगुजी ने लात मारी तो भी विष्णु भगवान् ने प्रतिकार न करके उसका सहन ही कर लिया। विष्णु तो ब्रह्मांड भर के राजा हैं, उन्हीं के नियम से हम भी प्रतिकार में समर्थ होते हुए भी सहते जाते हैं। 'जनेउ बिलोकी'—जनेऊ चिन्हमात्र से ही आप ब्राह्मण जान पड़ते हैं, शेष बातें तो प्रतिकूल ही हैं; यथा—"द्विज चिह्न जनेऊ……"(उ० दो० १००)। यह भी भाव है कि आप कुल्हड़िया दिखाते हैं, पर हम उसे नहीं देखते, नहीं तो आपका वध ही करना पड़े, प्रत्युत हम जनेऊ पर ही दृष्टि देते हैं, और इसीसे ब्रह्महत्या से डरते हैं। क्रोध रोकने का कारण आगे प्रकट कहते हैं—

(२) 'सुर महिसुर हरिजन अरु गाई।'''—'सुराई' अर्थात् शूरपना, अपकार का प्रतिकार करना। यथा—"असि रिस होति दसौ मुख तोरौं।" (लं० दो० ३२); अर्थात् शूरता करते तो आपका शिर काट फेंकते, पर यह हमारे कुल का धर्म नहीं है। यथा—"निहन्तुं हन्त गोविप्रान्न शूरा रघुवंशजाः" (हनु० ।।३१)। इसका भी कारण कहते हैं—

(३) 'बधे पाप अपकीरति···'—शूर को शूर मारे तो पाप नहीं होता, पर आप तो शूर हैं नहीं, ब्राह्मण हैं, इससे पाप होगा और हारने पर अपयश होगा कि एक भिक्षुक से हार गये। भाव यह कि लड़ने पर या तो आपको मार डालें, अथवा पाप से बचना चाहें तो हार ही मान लें, परन्तु हारने से संसार हँसेगा कि लड़ने गये और क्षत्रिय होकर भिक्षुक से हार गये। अतः, मैं प्रथम ही से आपके पाँवों पड़ता हूँ कि आप पूज्य हैं, वध्य नहीं।

(४) 'कोटि-कुलिस-सम बचन···'—यदि आप अपने ब्राह्मणत्व पर रहें तो आपका एक ही वचन करोड़ वज्रों से अधिक काम कर सकता है। यथा—"इंद्र-कुलिस मम सूल बिसाला। कालदंड हरि-चक्र कराला॥ जो इन्हकर मारा नहिं मरई। बिप्र-द्रोह पावक सो जरई॥" (उ० दो० १०८)। अतः, आप हथियार छोड़ दें, व्यर्थ इन्हें क्यों लटका रक्खा है, आपके शाप ही का भारी प्रभाव है।

(५) 'जो बिलोकि अनुचित···'—कुठार आदि हथियारों को ही देखकर हमने अनुचित कहा है। यहाँ इनके वीरतापूर्ण कथन का निरादर है, महामुनि भाव को लेकर क्षमा है। 'धीर' से क्रोध होना अनुचित सूचित करते हैं। 'महामुनि धीर' पर व्यंग्योक्ति समझकर मुनि क्रुद्ध होकर बोले। 'भृगुबंस-मनि'—जब प्रथम आये, तब—'भृगुकुल कमल पतंगा' कहे गये थे, लक्ष्मण की बातों से घटते-घटते अब मणि के समान ही रह गये। यथा—"भृगुपति सुनि सुनि निर्भय बानी। रिस तनु जरइ होइ बल हानी॥" (दो० २७७)। 'भृगुबंसमनि' से यह भी जनाया कि यह कुल ही क्रोधी है, फिर ये क्यों न क्रोध करें?

कौसिक सुनहु मंद यह बालक। कुटिल कालबस निज-कुल-घालक ॥१॥
भानु - बंस - राकेस - कलंकू। निपट निरंकुस अबुध असंकू ॥२॥
कालकवल होइहि छन माहीं। कहउँ पुकारि खोरि मोहि नाहीं ॥३॥
तुम्ह हटकहु जौ चहहु उबारा। कहि प्रताप बल रोष हमारा ॥४॥

शब्दार्थ—घालक = नाश करनेवाला। निपट = नितांत। निरंकुस = उच्छृंखल। कवल = ग्रास। खोरि = दोष।

अर्थ—हे विश्वामित्र! सुनो, यह बालक मंद (नीच), कुटिल (टेढ़ा), काल के वश और अपने वंश का नाश करनेवाला है ॥१॥ सूर्यवंश-रूपी पूर्ण चन्द्र में कलंक, नितान्त उच्छृंखल, बुद्धिहीन और निडर है ॥२॥ क्षण-भर में काल (के मुख) का कौर (ग्रास) हो जायगा, मैं पुकारकर कहे देता हूँ, (फिर) मेरा दोष नहीं (देना) ॥३॥ जो तुम इसे बचाना चाहते हो तो मेरा प्रताप, बल और रोष कहकर (समझाकर एवं डराकर) इसे रोको ॥४॥

विशेष—(१) 'कौसिक सुनहु मंद···'—विश्वामित्रजी से कहते हैं, क्योंकि—(क) इन्होंने लाकर प्रणाम कराया है, इससे इनका कहना मानेगा। (ख) कुशवंशियों के मारते समय अपने वंश के बतलाकर इन्होंने बहुतों को मुझसे बचाया है। अतः, इसे भी यदि वैसे ही बचाना चाहते हैं, तो अभी से मना करें, नहीं तो क्रोध आने पर मारते समय फिर हम न सुनेंगे। (ग) ये दशरथ जी से माँगकर लाये हैं तब यदि यह मारा गया तो इन्हें कलंक लगेगा। अतः, ये इसे अवश्य चुप करेंगे।

यहाँ पूर्वोक्त—"घोर धार भृगुनाथ रिसानी" (दो० ४०) का मुख दूसरी ओर फिरा।

'कुटिल कालबस···'—'कुटिल'—है, क्योंकि स्वयं, जो कल का बच्चा है और बनता है, और

हमको, जिसने कितनी बार संसार भर के वीर क्षत्रियों को मारा है, व्यर्थ कहता है। कुल के साथ अपने को ब्राह्मणपूजक कहता है और मेरा शिर भी काटने को तैयार है। इसीसे 'काल-वश' होने योग्य है। इसे मारकर फिर इसके कुल का भी नाश करूँगा। अतः,—'निज कुलघालक' है। परशुरामजी की दृष्टि सूर्य कुल पर है, जैसे लक्ष्मणजी की दृष्टि—'भृगुसुत समुझि ···' पर कही गई है; उसी के जोड़ में यह वचन है।

(२) 'कहि प्रताप बल रोष हमारा।'—भाव, यह कहकर मत मना करो कि ये बड़े बूढ़े ब्राह्मण हैं, जाने दो, अब न कुछ कहो। किन्तु हमारा प्रताप आदि कहकर, डराकर मना करो। प्रताप—"गर्भ स्रवहिं अवनिपरवनि, सुनि कुठार-गति घोर॥" (दो० २७२); बल—"सहसबाहु-भुज-छेदनिहारा।" (दो० २७१); रोष—"बालब्रह्मचारी अति कोही। बिस्व-बिदित क्षत्रियकुल-द्रोही।" (दो० २७१); इत्यादि। ये सब स्वयं भी कहते हैं, पर समझते हैं कि कौशिक के कहने से विश्वास मानकर लक्ष्मणजी डर जायँगे।

लखन कहेउ मुनि सुजस तुम्हारा। तुम्हहिं अछत को बरनइ पारा॥५॥
अपने मुँह तुम्ह आपनि करनी। बार अनेक भाँति बहु बरनी॥६॥
नहि संतोष तौ पुनि कछु कहहू। जनि रिस रोकि दुसह दुख सहहू॥७॥
बीरब्रती तुम्ह धीर अछोभा। गारी देत न पावहु सोभा॥८॥

दोहा—सूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहिं आप।
बिद्यमान रन पाइ रिपु, कायर कथहिं प्रताप॥२७४॥

शब्दार्थ—पारा = सकता है (बँगला भाषा)। बीरब्रती = वीरवृत्ति, वीरों का बाना धारण करनेवाले।

अर्थ—लक्ष्मणजी ने कहा—हे मुनि! आपके रहते हुए आपका सुयश दूसरा कौन वर्णन कर सकता है?॥५॥ आपने अपने मुँह से अपनी करनी अनेक प्रकार से बहुत बार कही है॥६॥ यदि संतोष न हुआ हो तो फिर कुछ कहिये, क्रोध रोककर कठिन दुःख मत सहिये॥७॥ आप वीरवृत्ति हैं, धीर और क्षोभरहित हैं, गाली देते हुए (आप) शोभा नहीं पाते॥८॥ शूर-वीर लड़ाई में करनी करते हैं, कहकर अपने को नहीं जनाते, युद्ध में शत्रु को सम्मुख पाकर कायर ही अपना प्रताप कथन करते हैं वा डींग हाँका करते हैं॥२७४॥

विशेष—(१) 'लखन कहेउ मुनि सुजस······'—आपका सुयश जितना आप जानते हैं, उतना दूसरा नहीं जान सकता, इससे आप ही वर्णन करते जाइये, कौशिकजी को भजन करने दीजिये।

(२) 'अपने मुँह तुम्ह आपनि······'—अपने मुख से अपनी बड़ाई करना निर्लज्जता है, यथा—"लाजवंत तव सहज सुभाऊ। निज मुख निज गुन कहसि न काऊ॥" (लं० दो० २८)।

(३) 'जनि रिस रोकि दुसह······'—कह डालेंगे तो दुःख कुछ कम होगा, यथा—"कहेहू ते कछु दुख घटि होई।" (सुं० दो० १४)।

(४) 'बीरब्रती तुम धीर अछोभा ······'—आप ब्राह्मणत्व को नीचे करके वीरवृत्ति में अपना

गौरव मानते हैं, प्रथम इस वृत्ति में धीरता एवं क्षोभहीनता भी थी, पर गाली बकने से उसकी शोभा चली गई, क्योंकि वीरवृत्तिवाले गाली नहीं बकते। यथा—"आजु करउँ खल काल हवाले।"""सुनि दुर्बचन"" जनि जल्पना करि सुजस नासहि"'एक करहिं कहत न बागहीं॥" (लं० दो० ९०); अर्थात् आपने ब्राह्मणत्व की अवहेलना कर दी और गाली बकने से वीरत्व भी गँवा दिया। यह मुनि के—"भानुबंस राकेस-कलंकू।"'''से—"अबुध असंकू॥" तक के प्रति कहा गया है।

(५) 'सूर समर करनी······'—यह मुनि के—'कालकवल होइहि···' का उत्तर है कि शत्रु के सम्मुख रहते हुए कर्तव्य नहीं करके प्रताप कथन करना कायरता है। यथा—"न वै शूराः विकत्थन्ते दर्शयन्त्येव पौरुषम्।" (श्रीमद्भागवत)। यहाँ समासोक्ति अलंकार है।

तुम्ह तौ काल हाँक जनु लावा। बार-बार मोहि लागि बोलावा॥१॥
सुनत लखन के बचन कठोरा। परसु सुधारि धरेउ कर घोरा॥२॥
अब जनि देइ दोष मोहि लोगू। कटुबादी बालक बधजोगू॥३॥
बाल बिलोकि बहुत मैं बाँचा। अब यह मरनिहार भा साँचा॥४॥

अर्थ—आप तो काल को मानों हाँक लाये हैं और बार-बार उसे मेरे लिये बुलाते हैं॥१॥ लक्ष्मणजी के कठोर वचन सुनते ही (परशुराम ने) घोर फरसे को सुधार कर हाथ में लिया (और कहा)॥२॥ लोग अब मुझे दोष न दें, कड़ुवा बोलनेवाला बालक वध करने के योग्य है॥३॥ बालक समझकर मैंने बहुत बचाया, अब यह सत्य ही मरनेवाला हो गया॥४॥

विशेष—(१) 'तुम्ह तौ काल हाँक······'—हाँक लाना पशुओं के लिये कहा जाता है; अर्थात् काल-रूपी पशु को चरने के लिये हमें चारा मानकर बुलाते हैं, पर बार-बार के बुलाने पर भी वह नहीं आता, सम्भवतः उसे भूख ही नहीं है अथवा वह स्वयं डरता है कि मैं ही न उसे खा जाऊँ, यथा—"तुम्ह कृतांतभच्छक सुरत्राता।" (लं० दो० ८१)।

(२) 'सुनत लखन के बचन······'—लक्ष्मणजी अब की हँसकर भी नहीं बोले थे और कायर भी कह डाला था, इससे परशुरामजी बहुत रुष्ट हुए। फरसा काँधे पर था, उसे हाथ में लिया, इसीसे मारना चाहते हैं, क्योंकि यह 'अति घोर' है और इसीसे सब क्षत्रियों को मारा था। लक्ष्मणजी भी क्षत्रिय-कुमार ही हैं।

(३) 'अब जनि देइ दोष······'—पूर्व कहा था—'कहउँ पुकारि खोरि मोहि नाहीं।' अब फिर भी कहते हैं—'अब जनि······' यह कहकर लोक से निर्दोष हुए। 'कटुबादी बालक······' यह कहकर वेद से भी निर्दोष बने।

(४) 'मरनिहार भा साँचा'—अभी तक तो मैं धमकाता ही था, पर बचाना चाहता था, अब नहीं छोड़ूँगा।

कौसिक कहा छमिय अपराधू। बाल-दोष-गुन गनहिं न साधू॥५॥
खर कुठार मैं अकरुन कोही। आगे अपराधी गुरुद्रोही॥६॥

उतर देत छाड़उँ बिनु मारे। केवल कौसिक सील तुम्हारे ॥७॥
नत येहि काटि कुठार कठोरे। गुरुहिं उरिन होतेउँ श्रम थोरे ॥८॥

दोहा—गाधि-सूनु कह हृदय हँसि, मुनिहि हरियरइ सूझ।
अयमय खाँड़ न ऊखमय, अजहुँ न बूझ अबूझ ॥२७५॥

शब्दार्थ—अकरुन = अकरुण = निर्दय, पाठा—'अकरन' भी है, उसका अर्थ बिना कारण है। सील (शील) संकोच। अय (अयस्) = लोहा। हरियरइ = हरा-ही-हरा। खाँड़ = तलवार, खड्ग।

अर्थ—विश्वामित्रजी ने कहा—अपराध क्षमा कीजिये, बालकों के दोषों और गुणों को साधु नहीं गिनते ॥५॥ (परशुरामजी ने कहा—) मेरा कुठार तीक्ष्ण है और मैं निर्दय एवं क्रोधी हूँ, पुनः अपराधी गुरु का द्रोही सामने है। ॥६॥ हे कौशिक ! केवल आपके संकोच से उत्तर देते हुए भी बिना मारे इसे छोड़ता हूँ, ॥७॥ नहीं तो इसे कठोर कुठार से काटकर थोड़े ही परिश्रम में गुरु से उऋण (ऋण-रहित) हो जाता ॥८॥ विश्वामित्रजी ने हृदय में हँसकर कहा कि मुनि को हरा-ही-हरा सूझ रहा है। यह लोहे का बना खाँड़ है, कुछ ऊख के रस का नहीं है। अब भी इन्हें नहीं समझ पड़ता—ऐसे बेसमझ हैं ये ॥२७५॥

विशेष—(१) 'कौसिक कहा छमिय'''—परशुरामजी ने कौशिक से निहोरा किया था, वे लक्ष्मणजी का कोई अपराध तो देखते नहीं कि डाटें, यदि परशुरामजी के दोष कहें तो वे और चिढ़ेंगे कि बालक को तो समझाते नहीं, उल्टे हमारा ही दोष कहते हैं, अतएव मुनि ने कहा कि आप साधु हैं, क्यों न बचावें ? जैसे अभी तक बचा आये, वैसे और भी क्षमा करें, क्योंकि बालकों के दोष-गुण साधु लोग नहीं देखते। यहाँ 'दोष-गुन' मुहावरा है, तात्पर्य दोष का ही है, जैसे किसी से कोई दोष हो जाता है तो लोग प्रायः कहते हैं कि इसके 'गुण-दोष' का विचार नहीं है। यथा—"निसि दिन नहिं अवलोकहिं कोका।" (दो॰ ८१); इसी प्रकार द्वन्द्व-कथन को प्रायः रीति है।

अथवा 'दोष-गुन' का यथाश्रुत अर्थ लें, तो गुण न गिनने को इससे कहा है कि बालक के गुण अज्ञात दशा के और प्राकृतिक हैं। अतएव ये उसके नहीं कहा सकते। यह साधुओं की दृष्टि है। और लोग तो बालक के गुण को गुण मानते ही हैं।

(२) 'आगे अपराधी गुरुद्रोही।'—इसमें के 'अपराधी' के—'उत्तर देत''' में और—'गुरुद्रोही' के—"नत येहि काटि'''" में फल का चरितार्थ है।

(३) 'नत येहि काटि कुठार'''ऊपर—'कटुबादी बालक' को 'बधजोगू' कहा, उसी को यहाँ कहते हैं कि जैसे यह कठोर बोलता है, वैसे ही कठोर कुठार से वध करने के योग्य है। 'नत'—आपके संकोचवशात् हम गुरु के ऋणी रह गये हैं।

(४) 'गाधिसूनु कह हृदय'''—मुनि शांत एवं गंभीर होते हैं, हँसना राजसगुण है, उसके सम्बन्ध से इनका राज-सम्बन्धी नाम कहा गया।

'मुनिहि हरियरइ सूझ'—श्रावण के अंधे को हरा-ही-हरा सूझता है, यह लोकोक्ति है। यथा—"मोहिं तो सावन के अंधेहि ज्यों सूझत रंग हरो।" (वि॰ २२६), वैसे ही परशुरामजी ने बहुत बार पृथिवी को क्षत्रिय-रहित किया, सहस्रबाहु ऐसे वीर को मारा, वही गर्व मन में भरा है कि ये भी तो वैसे ही

क्षत्रिय हैं। यह नहीं देखते कि सब क्षत्रिय तो लवा की तरह दुबक गये और ये इतने निर्भीक होकर उत्तर दे रहे हैं, कैसे तेजस्वी हैं! जिस पिनाक को देखकर रावण-बाणासुर हार गये, उसे इन्होंने तोड़ डाला, इत्यादि से बूझ (समझ) लेना रहा, पर नहीं समझा। इसीपर विश्वामित्रजी हृदय में हँसते हैं कि मुनि बड़े अबूझ (मूर्ख) हैं और लोग कहते हैं--'अयमय खाँड़ न ऊखमय'—अर्थात् यह ऊख के रस की बनी हुई मिसरी नहीं है कि घोलकर पी जाओ, यह तो लोहे का खाँड़ है। पेट फाड़कर निकल जायगा अर्थात् प्राकृत क्षत्रियों में और इनमें ऊख के खाँड़ और लोहे के खाँड़ का-सा अंतर है। खाँड़ तलवार को भी कहते हैं, अर्थात् ऊख के रस से बने खाँड़ को चूसकर खा जानेवाला, कहीं लोहमय खाँड़ मुँह में धरे, तो जो हालत होगी, वही परशुराम की आ बनी है।

परशुरामजी ब्राह्मण हैं, मधुरप्रिय हैं, अतएव यहाँ मिठाई की उपमा से 'अबूझ' कहा, ऐसे ही 'अबूझपन' का प्रसंग राक्षसों में आया है, वहाँ मांस की उपमा राक्षसों के अनुकूल है, यथा—"जिमि अरुनोपल-निकर निहारी। धावहिं खल सठ माँस-अहारी॥ चोंच-भंग दुख तिन्हहिं न सूझा। तिमि धाये मनुजाद अबूझा॥" (लं० दो० ३९)।

कहेउ लखन मुनि सील तुम्हारा। को नहि जान बिदित संसारा ॥१॥
मातहि-पितहि उरिन भये नीके। गुरु-रिन रहा सोच बड़ जी के ॥२॥
सो जनु हमरेहि माथे काढ़ा। दिन चलि गयेउ ब्याज बड़ बाढ़ा ॥३॥
अब आनिय ब्यवहरिया बोली। तुरत देउँ मैं थैली खोली ॥४॥

शब्दार्थ—हमरेहि माथे=हमारे ही मत्थे पर। काढ़ा=ऋण लिया। बोली=बुलाकर। ब्यवहरिया=व्यवहार (कर्ज) देनेवाला, महाजन। चलि गयो=बीत गये।

अर्थ—लक्ष्मणजी ने कहा कि हे मुनि! आपका शील कौन नहीं जानता है अर्थात् वह जगत्-प्रसिद्ध है ॥१॥ माता और पिता से अच्छी तरह उऋण हो गये, गुरु का ऋण रह गया है, (उसके लिये) मन में बड़ी चिन्ता है ॥२॥ वह (ऋण) मानों हमारे ही मत्थे काढ़ा है, बहुत दिन बीत गये। अत, ब्याज भी बहुत बढ़ गया है ॥३॥ अब महाजन (शिवजी) को बुला लाइये, मैं शीघ्र ही थैली खोलकर दे दूँ अर्थात् ऋण चुका दूँ ॥४॥

विशेष—(१) 'कहेउ लखन मुनि सील ...'—यहाँ 'सील' शब्द में इसका वाच्यार्थ छोड़कर व्यंग्यार्थ से इसके विपरीत दुश्शील का भाव है। यह परशुरामजी के—"उतर देत छाड़उँ बिनु मारे। केवल कौसिक सील तुम्हारे॥" के उत्तर में है।

(२) 'मातहि-पितहि उरिन भये नीके।' कथा—महाभारत (शांति पर्व) में कहा है कि जमदग्नि ऋषि का विवाह प्रसेनजित् राजा की कन्या रेणुका से हुआ था। उनसे पाँच पुत्र हुए, पाँचवें परशुराम थे। फिर वन-पर्व में लिखा है कि एक दिन रेणुका नदी में स्नान के लिये गई थी। वहाँ उसने राजा चित्ररथ को अपनी स्त्री के साथ जल-क्रीड़ा करते देखा। इससे उसका मन विचलित हो गया। जमदग्नि उसकी दशा पर कुपित हुए और अपने चारों पुत्रों को एक-एक करके रेणुका के वध की आज्ञा दी, पर स्नेह-वश किसी से ऐसा न हो सका। इतने में परशुराम आये। इन्होंने आज्ञा पाते ही माता का शिर काट डाला। इसपर प्रसन्न होकर जमदग्निजी ने वर माँगने को कहा, तब परशुरामजी ने कहा कि पहले मेरी माता को जिला दीजिये और दूसरा वर यह दीजिये कि मैं परमायु प्राप्त करूँ तथा युद्ध में मेरे सामने कोई न ठहर सके। जमदग्नि ने 'एवमस्तु' कहा।

एक समय सहस्रार्जुन जमदग्नि ऋषि के आश्रम पर आया। रेणुका के अतिरिक्त वहाँ कोई न था, उसने मुनि के आश्रम के वृक्षादि उजाड़ डाले और होम-धेनु का बछड़ा लेकर चल दिया। परशुरामजी ने आकर सुना, तब दौड़ पड़े और सहस्रबाहु की भुजाओं को भाले से काट डाला। उसके कुटुम्बियों एवं साथियों ने एक दिन आकर बदले में जमदग्नि का शिर बाणों से काट डाला। परशुरामजी ने आकर सुना तो बहुत विलाप किया, फिर सम्पूर्ण क्षत्रियों के नाश की प्रतिज्ञा की और शस्त्र लेकर सहस्रार्जुन के पुत्र-पौत्र आदि का वध करके सम्पूर्ण क्षत्रिय-वंश का संहार किया। ब्राह्मण-समाज में इस कर्म की निन्दा सुनकर दया से खिन्न चित्त हो तप करने चले गये।'''परशुरामजी ने फिर सुना कि क्षत्रिय-राजा बहुत प्रतापी हो गये, तो अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण करके दौड़े और सब क्षत्रियों का नाश किया। गर्भवती स्त्रियों ने जैसे-तैसे गर्भ-रक्षा की। फिर परशुरामजी ने अश्वमेध यज्ञ किया, उसमें सब भूमि कश्यप को दान में दे दी। कश्यपजी ने क्षत्रिय-वंश की रक्षा के लिये इनसे कहा कि सब पृथिवी हमारी हो गई। अब आप महेन्द्राचल पर्वत पर रहें। समुद्र की भी सम्मति से आप वहीं रहने लगे। अव्याहत गति से दिन में कहीं भी चले जाते थे, पर रात में अपने स्थल पर ही रहते। पूर्वोक्त दो० २७१ की चौ० ७ के विशेष से कथा में कुछ भेद है। वह कल्पभेद से जानना चाहिये।

यहाँ आयुर्बल ही ऋण है, माता को प्रथम कहा, क्योंकि माता को पहले मारा था। माता की आयु प्रथम समाप्त कर उनसे उऋण हुए, पिता से ज़ोर न चला, तब सहस्रबाहु के वंशजों से मरवा कर उनसे उऋण हुए (क्योंकि इन्हीं के कर्त्तव्य के बदले में तो पिता मारे गये।) अब रहे गुरु शिवजी, इनसे उऋण होने का सामर्थ्य आपमें नहीं है। अतः, हमारे मत्थे काढ़ा है। 'माथे काढ़ा'—का भाव यह कि कोई गरीब जब महाजन से कर्ज नहीं पाता, तब किसी दूसरे धनी को जामिन करके कर्जा पाता कि यदि वह कर्ज न दे सके, तो जामिनदार को देना पड़े। वही बात यहाँ है। शिवजी गुरु हैं, वे अविनाशी हैं, अतः, मर नहीं सकते। फिर उनसे कैसे उऋण हों? इसकी चिन्ता है, फिर बहुत काल बीत गये, ब्याज भी बहुत बढ़ गया अर्थात् शिवजी बहुत दिनों से जीते ही रह गये। 'नीके' व्यंग्य है अर्थात् दु:शीलतापूर्वक शिर काट-काटकर उऋण हुए।

'अब आनिय ब्यवहरिया'''—अभी तक देने का योग न था। अब हम देने को तैयार हैं, हम तो जामिन ठहरे। आपको कैसे दें? महाजन को ही बुला लाइये। उन्हीं (शिवजी) को हम तुरंत थैली खोलकर गिन दें; अर्थात् तरकश-रूपी थैली से बाण रूपी द्रव्य गिन दें। उन्हें मारकर मूल चुका दें और उन्हीं की शिक्षा से बढ़े हुए ब्याजरूप आप हैं, अत., आपको भी मारने से ब्याज चुक जायगा। 'तुरत'—पिता से उऋण होने में कुछ देर हुई थी, इसमें तुरंत ही काम समाप्त हो जायगा।

सुनि कटु बचन कुठार सुधारा। हाय हाय सब सभा पुकारा ॥५॥
भृगुबर परसु देखावहु मोही। बिप्र बिचारि बचउँ नृप-द्रोही ॥६॥
मिले न कबहुँ सुभट रन-गाढ़े। द्विज देवता घरहि के बाढ़े ॥७॥
अनुचित कहि सब लोग पुकारे। रघुपति सैनहि लखन निवारे ॥८॥

शब्दार्थ—बचउँ = बचाता हूँ। गाढ़े = कठिन। भृगुबर = भृगुश्रेष्ठ, परशुराम।

अर्थ—कड़ुवे वचन सुनकर परशुरामजी ने फरसा सुधारा, (तब) सारी सभा हाहा करके पुकार उठी ॥५॥ लक्ष्मणजी बोले—हे परशुराम! आप मुझे फरसा दिखाते हैं, हे नृपद्रोही! मैं

ब्राह्मण जानकर आपको बचाता हूँ ॥६॥ कभी आपको रण में कठिन योद्धा से भेंट नहीं हुई। हे ब्राह्मण-देव ! अभी तक आप घर ही के बढ़े हैं ॥७॥ 'अनुचित है'—'अनुचित है' ऐसा कहकर सब लोग पुकार उठे, तब श्रीरामजी ने संकेत से लक्ष्मणजी को रोका ॥८॥

विशेष—(१) 'सब सभा'—कुटिल राजाओं को छोड़कर और सब उपस्थित लोग ।

(२) 'बिप्र बिचारि बचउँ …'—आप नृप-द्रोही हैं। अतः, मार डालने योग्य हैं, पर ब्राह्मण जान कर मैं आपके प्राण बचाता हूँ।

(३) 'मिले न कबहुँ सुभट …'—अर्थात् पृथिवी के राजा लोग भट थे, सहस्रबाहु सुभट था, पर गाढ़े सुभट से आज ही पाला पड़ा है। हे ब्राह्मण देवता ! आप अभी तक घर ही के बढ़े हैं अर्थात् माता के शिर काटने में शूर हैं, बाहर के किसी मर्द से पाला नहीं पड़ा वा 'देवता' शब्द पुजाने में प्रयुक्त होता है अर्थात् आप अभी तक घर-घर पुजते रहे, संग्राम से पाला नहीं पड़ा था।

(४) 'सैनहिं लखन निवारे'—आगे मुनि का कोप अग्नि, लक्ष्मण के उत्तर आहुति और श्रीरामजी के वचन जल कहे जायँगे। प्रथम आहुति रोककर जल डालना चाहिये, तब अग्नि शांत होता है। वैसे ही लक्ष्मणजी को मना किया, इससे सभा के भाव भी रक्खे। संकेत से बैठाकर लक्ष्मणजी का आदर भी जनाया कि वत्स ! अच्छी सेवा की।

दोहा—लखन-उतर आहुति सरिस, भृगुबर-कोप कृसानु ।
बढ़त देखि जल-सम बचन, बोले रघुकुल - भानु ॥२७६॥

नाथ करहु बालक पर छोहू । सूध दूधमुख करिय न कोहू ॥१॥
जौं पै प्रभुप्रभाव कछु जाना । तौ कि बराबरि करत अयाना ॥२॥
जौं लरिका कछु अचगरि करहीं । गुरु पितु मातु मोद मन भरहीं ॥३॥
करिय कृपा सिसु सेवक जानी । तुम्ह सम सील धीर मुनि ज्ञानी ॥४॥

शब्दार्थ—सूध = सीधा। दूध मुख = दूध पीनेवाला छोटा शिशु, जिसका माता का दूध पीना भी नहीं छूटा हो। अयाना = अज्ञान, भोला-भाला। अचगरि = अयोग्य कार्य, नटखटपन।

अर्थ—लक्ष्मणजी का उत्तर आहुति (होम द्रव्य) के और भृगु श्रेष्ठ परशुराम का कोप अग्नि के समान है, उसे बढ़ता हुआ देखकर रघुकुल के भानु (सूर्य) श्रीरामजी जल के समान (शीतल करनेवाले) वचन बोले ॥२७६॥ हे नाथ ! बालक पर दया कीजिये, यह सीधा है, दूधमुख है। अतः, इसपर क्रोध न कीजिये ॥१॥ यह अज्ञानी जो आपका कुछ भी प्रभाव जाने हुए रहता तो क्या आपकी बराबरी करता ? ॥२॥ यदि लड़के कुछ नटखटपन करते हैं, तो गुरु, पिता, माता मन में आनंदित होते हैं ॥३॥ शिशु और सेवक जानकर कृपा कीजिये। आप तो समदृष्टि वाले, धीर, मुनि और ज्ञानी हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'लखन-उतर आहुति……'—इसमें 'रघुकुल-भानु' शब्द ब्राह्मण के कोपाग्नि से कुल की रक्षा के सम्बन्ध में पड़ा है, क्योंकि—"दहइ कोटिकुल भूसुर-रोषू।" (अ० दो० १२५), "त्रिमि

द्विज-द्रोह किये कुल-नासा।" (कि० दो० १५)। यहाँ रामजी विप्र-कोप की शान्ति का उपाय कर रहे हैं। पुनः आगे 'जल सम बचन' के लिये भी 'भानु' शब्द है, क्योंकि सूर्य से ही वृष्टि होती है। यह तद्रूप रूपक अलंकार है।

(२) 'नाथ करहु बालक पर'''—यह बालक है, आप माता-पिता के तुल्य हैं। मुनि ने लक्ष्मणजी को 'कुटिल' और 'कटुवादी' कहा है; उसपर श्रीरामजी कहते हैं कि नहीं, यह नितान्त सीधा और दूध-मुहा (मधुरभाषी) है, जब तक बालक दूध पीता है, हृदय से सीधा और काम-क्रोध से रहित रहता है। ऊपर ही से चंचलता दिखती है। तब ऐसे वचन क्यों कहे ? यह आगे कहते हैं—

(३) 'जो पै प्रभु-प्रभाव'''—'कछु' अर्थात् किंचित् भी नहीं जानता, इसी से 'अयाना' कहा है। केवल वेष देखकर ही ऐसा कहा है। श्रीरामजी तो—"बिप्र-बंस कै असि प्रभुताई।" (दो० २८३)। का प्रभाव कह रहे हैं, पर मुनि अपने—'चाप स्रुवासर आहुति''''''' के प्रभाव पर प्रसन्न होंगे। यह उत्तर के शब्दों में विलक्षणता है। यद्यपि लक्ष्मणजी किशोर हैं, तथापि 'अयाना' के सम्बन्ध से 'दूधमुख' कहे गये, क्योंकि बालक बुद्धिहीन कहे जाते हैं। यथा—"अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मंत्रदः॥" (मनु०)। इसमें आपका प्रभाव जानने की बुद्धि नहीं है। यदि मुनि कहें कि अवस्था के अनुरोध से इसे कुछ तो दंड होना ही चाहिये, उसपर कहते हैं—

(४) 'जौ लरिका कछु''''''—'जौ' से जनाया कि लक्ष्मण का कोई दोष नहीं है, दोष होने पर भी आपको मोद (प्रसन्नता) चाहिये। यहाँ 'लरिका' तथा ऊपर 'नाथ' और 'बालक' भी कहा गया है, आगे 'सिसु' भी कहते हैं अर्थात् आप 'गुरु-पितु-मातु' तुल्य हैं, और यह 'लरिका', बालक और शिशु के समान है। यहाँ लक्ष्मण में प्रीति कराना है। इसमें शिष्य के अतिरिक्त यदि पुत्र-भाव भी हो तो अधिक प्रीति होती है, फिर भी पुत्र एवं शिष्य यदि सेवक भी हुआ, तो उसपर अत्यन्त प्रीति होती है। यथा—"डिम्भस्य दुर्विलसितानि मुदे गुरूणाम्।" (हनुमन्नाटक १।३८)। इसीलिये आगे प्रथम 'सिसु' तब सेवक कहा है।

(५) 'तुम्ह सम सील धीर'''''''—आप समता में प्रवृत्त रहनेवाले हैं ; अतः, आपमें कोप और तद्विकार रूपी गाली नहीं चाहिये। 'धीर' हैं ; अतः, उद्वेग नहीं चाहिये। 'ज्ञानी' हैं ; अतः, वैर-बुद्धि नहीं चाहिये, यथा—"निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं बिरोध।" (उ० दो० ११२)।

राम-बचन सुनि कछुक जुड़ाने। कहि कछु लखन बहुरि मुसकाने॥५॥
हँसत देखि नखसिख रिस ब्यापी। राम तोर भ्राता बड़ पापी॥६॥
गौर सरीर स्याम मन माहीं। कालकूट-मुख पय-मुख नाहीं॥७॥
सहज टेढ़ अनुहरइ न तोही। नीच मीच-सम देख न मोही॥८॥

शब्दार्थ—अनुहरइ न = अनुकूल आचरण नहीं करता। जुड़ाने = ठंढे हुए, क्रोध शांत हुआ। पयमुख = दूधमुख।

अर्थ—श्रीरामजी के वचन सुनकर परशुरामजी कुछ ठंढे हुए थे कि लक्ष्मणजी कुछ कहकर फिर मुसकुराये॥५॥ उन्हें हँसते देखकर (परशुरामजी को) नख से शिख तक क्रोध समा गया (और बोले) राम ! तुम्हारा भाई बड़ा पापी है॥६॥ शरीर से तो गोरा है, (पर) मन में (का) काला है। यह विष-

मुख है—दूध-मुख नहीं ॥७॥ स्वाभाविक ही टेढ़ा है, तुम्हारे अनुकूल आचरणवाला नहीं है। यह नीच मुझे मृत्यु के समान नहीं देखता ॥८॥

विशेष—(१) 'राम-बचन सुनि कछुक ......'—श्रीरामजी ने इनकी प्रशंसा तो बहुत की, पर ये कुछ ही ठंडे हुए, क्योंकि अत्यंत संतप्त थे। पुनः इन्हें बीच बीच में प्रभु ने 'मुनि ज्ञानी' आदि ही कहा है, वीरता या महत्त्व स्पष्ट शब्दों में नहीं कहा। 'कहि कछु लखन '' ''क्या कहा ? स्पष्ट नहीं कहा गया, ध्वनि से जान पड़ता है कि जब श्रीरामजी ने—'करिय कृपा सिसु ''तुम्ह सम सील''......' कहा, तब लक्ष्मणजी ने व्यंग्य किया कि क्या खूब ! अच्छे 'समसील ' आदि हैं। इनकी आकृति ही बतला रही है वा वाह ! हमें तो अच्छे 'गुरु पितु मातु' मिले, जिनके कुल की रीति है कि गुरु पिता माता को मारकर उनसे उऋण होते हैं ! इन्हें तो तीन को मारना पड़ा, हमको तो इन एक ही के मारने से तीनों से उऋण होना है। बड़े भाग्य की बात है !

(२) 'राम तोर भ्राता बड़ पापी।'—'बड़ पापी', जो ब्राह्मण को हँसे, वह पापी है, यथा—"होहु निसाचर जाइ तुम्ह, कपटी पापी दोउ। हँसेहु हमहिं सो लेहु फल, बहुरि हँसेहु मुनि कोउ॥" (दो० १५१)। 'बड़' का भाव यह कि अपनी बातों में तो कूट करता ही है, तुम्हारी सीधी बातों को लेकर भी कूट में डाल देता है।

(३) 'गौर सरीर स्याम मन'''—तुम धर्मात्मा हो, यह पापी और यह ऊपर से तो गोरा है पर भीतर का काला है। तुम कहते हो कि यह दूध मुख है, पर है महाविष-मुख, इसीसे इसके वचन, हँसी आदि सब विषैले होते हैं।

(४) 'सहज टेढ़ अनुहरइ न '''—यह सहज (जन्म ही से) टेढ़ है, 'नहीं तो तुम्हारे संग से सुधर जाता; पर तुम्हारी अनुकूलता इसमें कुछ भी नहीं है—तुम नम्र होकर हाथ जोड़ते हो और यह मुझे कायर बनाता है। तुम मन के स्वच्छ और तन के श्याम हो। यह तन का उज्ज्वल और मन का काला है, तुम ऊँच, यह नीच, तुम मुझसे डरते हो, यह नहीं डरता।

दोहा—लखन कहेउ हँसि सुनहु मुनि, क्रोध पाप कर मूल।
जेहि बस जन अनुचित करहिं, होहिं बिस्वप्रतिकूल ॥२७७॥

मैं तुम्हार अनुचर मुनिराया। परिहरि कोप करिय अब दाया ॥१॥
टूट चाप नहिं जुरिहि रिसाने। बैठिय होइहि पाय पिराने ॥२॥
जौ अति प्रिय तौ करिय उपाई। जोरिय कोउ बड़ गुनी बोलाई ॥३॥

शब्दार्थ—अनुचर = अनुगामी, सेवक, पीछे चलनेवाला।

अर्थ—लक्ष्मणजी ने हँसकर कहा—हे मुनि ! सुनिये, क्रोध पाप की जड़ है, जिसके वश होकर लोग अनुचित कर्म करते हैं और संसार के प्रतिकूल होते हैं ॥२७७॥ हे मुनिराज ! मैं आपका अनुगामी हूँ, अब कोप छोड़कर दया कीजिये ॥१॥ टूटा हुआ धनुष क्रोध करने से नहीं जुड़ेगा। अब, बैठ जाइये,

पैर दुख गये होंगे ॥२॥ जो (धनुष) बहुत ही प्यारा हो तो उपाय कीजिये, किसी बड़े भारी गुणी को बुलवाकर जुड़वा लीजिये ॥३॥

विशेष—(१) 'लखन कहेउ हँसि···'—हँसना व्यंग्योक्ति के साथ है। मुनि ने इन्हें 'बड़ पापी' कहा था। उसीके उत्तर में कहते हैं कि पाप की जड़ क्रोध है, वह तो आपके सिर पर सवार है, तब बड़े पापी हम हुए या आप ? 'होंहि बिस्व-प्रतिकूल'—क्रोध-वश होकर ही आपने संसार भरके राजाओं को मारा, सबके प्रतिकूल हुए, क्योंकि राजाओं से संसार भर के धर्म की रक्षा होती है। सबके प्रतिकूल होना बड़ा पाप है, यथा—"बिस्व-द्रोह कृत अघ जेहि लागा।" (लं० दो० ३८)।

(२) 'मैं तुम्हार अनुचर···'—मैं आपकी ही वाणी के अनुसार कटु कहता हूँ। आप यदि क्रोध छोड़कर दया करें तो मैं भी वैसा ही हो जाऊँ। आप मुनिराज हैं, तदनुसार आपमें दया चाहिये, वही कीजिये। कोप करना खल का स्वभाव है, यथा—"खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी।" (उ० दो० ३८); संत-स्वभाव—"कोमल चित दीनन्ह पर दाया।" (उ० दो० ३७) है।

(३) 'टूट चाप नहिं जुरिहि···'—कहीं रिसाने से भी काम होता है, यथा—"भय देखाइ लेइ आवहु" (कि० दो० १८); पर क्रोध से धनुष नहीं जुड़ने का।

(४) 'बड़ गुनी बोलाई'—क्योंकि यह चाप दधीचि की हड्डी का है, वह भी पुरानी हो गई। पुरानी हड्डी सामान्य डाक्टर-वैद्य से नहीं जुड़ती। अतः, इसमें बड़े भारी गुणी का काम है कि जिससे इसमें जोड़ भी न मालूम हो।

बोलत लखनहिं जनक डेराहीं। मष्ट करहु अनुचित भल नाहीं ॥४॥
थर थर काँपहिं पुर नर-नारी। छोट कुमार खोट बड़ भारी ॥५॥
भृगुपति सुनि सुनि निरभय बानी। रिस तनु जरइ होइ बलहानी ॥६॥
बोले रामहिं देइ निहोरा। बचउँ बिचारि बंधु लघु तोरा ॥७॥
मन मलीन तनु सुंदर कैसे। बिष-रस-भरा कनकघट जैसे ॥८॥

दोहा—सुनि लछिमन बिहँसे बहुरि, नयन तरेरे राम।
गुरु-समीप गवने सकुचि, परिहरि बानी बाम ॥२७८॥

शब्दार्थ—मष्ट = चुप ; यथा—"ते सब हँसे मष्ट करि रहहू।" (सुं० दो० ३६)। निहोरा = कृतज्ञता। नयन तरेरे = आँखों के संकेत से डाँटा। बाम = टेढ़ी।

अर्थ—लक्ष्मणजी के बोलने से राजा जनक डर रहे हैं, (अतः, बोल उठे कि) चुप रहो, अनुचित (बोलना) अच्छा नहीं ॥४॥ नगर के स्त्री-पुरुष थर थर काँपते हैं (और मन में कहते हैं कि) छोटा कुमार बड़ा भारी खोटा है ॥५॥ निर्भय वचन सुन-सुनकर परशुरामजी का शरीर जल रहा है (उसी से) बल घटता जाता है ॥६॥ श्रीरामजी पर कृतज्ञता जताते हुए बोले—तुम्हारा छोटा भाई समझकर मैं इसे बचाता हूँ ॥७॥ यह मन का मलिन और शरीर से सुन्दर कैसे है, जैसे विष-रस से भरा हुआ सोने का

घड़ा हो।॥८॥ यह सुनकर लक्ष्मणजी फिर हँसे, (तब) श्रीरामजी ने आँखों के संकेत से डाँटा। इसपर वे सकुचकर टेढ़ी वाणी छोड़ गुरुजी के पास चले गये ॥२७८॥

विशेष—(१) 'जनक डेराहीं'—जनकजी माधुर्य में भूल गये, इससे डरते हैं कि लक्ष्मणजी न बोलें, केवल श्रीरामजी ही बोलें तो मुनि शान्त हो जायँ। जब जनकजी डरे तब पुरवासी अत्यंत डरे। वे थरथर काँपने लगे। उन्होंने स्नेहमयी दृष्टि से—'खोट अति भारी' कहा है, यह मुहावरा है।

(२) 'मन मलीन तनु ···'—पहले मुख ही में विष कहा था—'कालकूट, मुख'। अब कहते हैं कि इसके शरीर भर में (रग-रग में) विष-ही विष भरा है, जो ऊपर की सुंदरता में छिपा है। दृष्टान्त अलंकार है।

(३) 'गुरु समीप···परिहरि बानी···'—लक्ष्मणजी कुछ और कहने ही के लिये हँसे थे। वह टेढ़ी वाणी छोड़कर गुरु के पास गये, क्योंकि प्रभु को अप्रसन्न देखा। अत, रक्षक गुरु ही हैं—"राखइ गुरु जौ कोप बिधाता।" (दो० १६५)।

पूर्वोक्त 'घोर धार भृगुनाथ रिसानी' की धारा शिथिल पड़ती जाती है। प्रथम कौशिक की ओर फिरी थी, अब श्रीरामजी की ओर लौटी, फिर जनकजी की ओर फिरेगी। मुनि कभी बालक जानकर छोड़ने का बहाना करते हैं। श्रीरामजी ने तो कहा था कि 'सिसु-सेवक' जानकर इसपर कृपा कीजिये। पर मुनि कहते हैं कि तुम्हारा छोटा भाई जानकर छोड़ता हूँ। वास्तव में मुनि का हाथ ही नहीं उठता। यथा—"बहइ न हाथ दहइ रिस छाती···" आगे कहा ही है।

अतिबिनीत मृदु सीतल बानी। बोले राम जोरि जुगपानी ॥१॥
सुनहु नाथ तुम्ह सहज सुजाना। बालक बचन करिय नहिं काना ॥२॥
बररै बालक एक सुभाऊ। इन्हहिं न संत बिदूषहिं काऊ ॥३॥
तेहिं नाहीं कछु काज बिगारा। अपराधी मैं नाथ तुम्हारा ॥४॥
कृपा कोप बध बंध गोसाईं। मो पर करिय दास की नाईं ॥५॥
कहिय बेगि जेहि बिधि रिस जाई। मुनिनायक सोइ करउँ उपाई ॥६॥

शब्दार्थ—बररै = बौराहा, पागल (बर्रैया अर्थ ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ अज्ञता के लिये दृष्टान्त है, बालक भी अज्ञान होते हैं, जिसमें लक्ष्मण निर्दोष सिद्ध हों)। बिदूषहिं = दोष लगाते।

अर्थ—श्रीरामजी ने दोनों हाथ जोड़कर अत्यन्त नम्र, कोमल और शीतल वचन कहा ॥१॥ हे नाथ! सुनिये, आप स्वाभाविक ही सुजान हैं, बालक के वचनों पर कान न दीजिये ॥२॥ बौराहे और अबोध बच्चे का एक-सा स्वभाव हुआ करता है, इनमें संत कभी भी दोष नहीं लगाते ॥३॥ उस (लक्ष्मण) ने कुछ आपका कार्य भी नहीं बिगाड़ा, हे नाथ! आपका अपराधी तो मैं हूँ ॥४॥ हे गोसाईं! कृपा, कोप, वध, बंधन (जो इच्छा हो) मुझपर दास की तरह (मुझे दास जानकर) कीजिये ॥५॥ हे मुनिनायक! जिस प्रकार आपका क्रोध दूर हो, वह शीघ्र कहिये, मैं वही उपाय करूँ ॥६॥

विशेष—(१) 'बररै बालक एक सुभाऊ। ···'—बौराहे और अबोध बच्चे कुछ दोष कर डालते हैं तो उसे पंडित लोग दोष नहीं मानते, क्योंकि जानते हैं कि इनकी चेतना ठीक नहीं है; इसीसे कानून में

भी पागल और नाबालिग को अपराध से माफी मिलती है। ततैया में बुद्धि का विकाश नहीं होता, अतः, नासमझी में उसका दृष्टान्त मनुष्य के लिये अयुक्त है।

जब साधनों (विद्या-अध्ययन आदि) के द्वारा पंडित होनेवाले लोग भी दोष नहीं देते तो आप तो सहज सुजान हैं, कैसे दोष देते हैं ! यदि कहिये कि अनुचित वचन क्षमा कर देंगे, पर धनुर्भंग तो असह्य है; तो उसपर कहते हैं कि—'तेहि नाहीं कछु ···'।

(२) 'कृपा कोप बध बंध···'—'गोसाईं' आप इन्द्रियजित् शुद्ध ब्राह्मण के रूप में स्वामी हैं और मैं ब्राह्मण-सेवक हूँ। अतः, आपका भी सेवक हूँ, इस नाते के अनुकूल कृपा आदि जो जैसा उचित समझें,करें। 'कृपा' को आदि में कहकर उसे प्रधान रक्खा, क्योंकि दास पर कृपा ही की जाती है, बध और बंधन भी कृपा ही की दृष्टि से सुधारने के रूप में किये जाते हैं, न कि वैर-दृष्टि से। तात्पर्य यह कि चोर बनकर पुनः वैर-दृष्टि से उक्त 'बध-बंध' आदि मे एक भी मुझे स्वीकार नहीं है। आप 'मुनिनायक' हैं। अतः, आपकी सब प्रकार की आज्ञाएँ शिरोधार्य हैं, मुनि के रूप से शीघ्र आज्ञा दीजिये।

कह मुनि राम जाइ रिस कैसे। अजहुँ अनुज तव चितव अनैसे ॥७॥
येहि के कंठ कुठार न दीन्हा। तौ मैं काह कोप करि कीन्हा ॥८॥

दोहा—गर्भ स्रवहिं अवनिप-रवनि, सुनि कुठार-गति घोर।
परसु अछत देखउँ जियत, बैरी भूपकिसोर ॥२७९॥

बहइ न हाथ दहइ रिस छाती। भा कुठार कुंठित नृप-घाती ॥१॥
भयेउ बाम बिधि फिरेउ सुभाऊ। मोरे हृदय कृपा कसि काऊ ॥२॥
आजु दैव दुख दुसह सहावा। सुनि सौमित्रि बिहँसि सिर नावा ॥३॥

शब्दार्थ—अनैसे = बुरी दृष्टि से, शत्रु-दृष्टि से। अवनिपरवनि = राजाओं की स्त्रियाँ। बहइ = चलता।

अर्थ—मुनि ने कहा कि हे राम ! क्रोध कैसे दूर हो ? अभी भी तो तुम्हारा भाई बुरी दृष्टि (क्रोध-भरी दृष्टि) से देख रहा है ॥७॥ (अतः) इसके गले पर कुठार नहीं दिया तो मैंने क्रोध करके ही क्या किया ? ॥८॥ मेरे (जिस) कुठार की कठिन करनी सुनकर रानियों के गर्भ गिर जाते हैं, उसके रहते हुए भी मैं वैरी राजपुत्र को जीता-जागता देख रहा हूँ ॥२७९॥ (क्या करूँ ?) हाथ नहीं चलता, क्रोध से छाती जली जाती है, राजाओं का मारनेवाला फरसा आज कुंठित (भोथरा) हो गया ॥१॥ बिधाता टेढ़े हो गये (इससे) मेरा स्वभाव बदल गया, (नहीं तो भला) मेरे हृदय में कभी भी कृपा कैसी ? ॥२॥ आज दैव ने कठिन दुःख सहाया, यह सुनकर लक्ष्मणजी ने फिर शिर नवाया ॥३॥

विशेष—(१) 'अजहुँ अनुज तव···'—पहले कुछ कठोर वचन कहने को था, तुम्हारे डाँटने से रुक गया, पर वह कसर 'अनैसी' चितवन से निकाल रहा है !

(२) 'येहि के कंठ कुठार···'—श्रीरामजी ने कोप करके बध-बंधन दो बातें करने को कहा, उस-

पर मुनि कहते हैं कि इसका वध न करने से मेरा कोप ही व्यर्थ हो गया। सामान्य कोप का फल बाँधना और अतिकोप का फल वध है, मुनि का अतिकोप ही है; क्योंकि बाँधने का तो ये नाम ही नहीं लेते।

(३) 'बहइ न हाथ दहइ रिस ...'—ऊपर कहा कि कुठार की घोर गति असह्य है, फिर क्यों नहीं मारते? इसपर कहते हैं कि हाथ ही नहीं चलता और इसीसे क्रोध नहीं निकलता, छाती जलती है। न जाने राजाओं को काटते-काटते कुठार कुंठित हो गया या ब्रह्मा ही टेढ़े हुए, जिससे मेरा स्वभाव ही बदल गया। इस कारण अथवा शत्रु पर कृपा करने से कायर बना। यथा—"रिपु पर कृपा परम कदराई।" (अ० दो० १८)।

(४) 'आजु दैव दुख ...'—अभी तक कभी राजाओं पर कृपा नहीं की थी, पर आज ही दैवात् कृपा करके दुःसह दुःख उठाना पड़ा। 'मुनि सौमित्रि बहुरि ...'—'सौमित्रि' अर्थात् ये सुमित्राजी के पुत्र सुष्ठुमित्र भाववाले हैं। अतः, परशुराम पर भी कोप नहीं है, इसीसे विहँस कर ऊपर से प्रतिउत्तर करते हैं। विहँसने का भाव यह है कि जहाँ कोप है, वहाँ कृपा नहीं रहती। आप साथ ही दोनों के अधिष्ठान हैं कि रिस से छाती जलती है और कृपा के मारे भी दुःख सहना कहते हैं। कृपा से तो हृदय शीतल होता है, पर आपके यहाँ उल्टा ही होता है। वाह! आप धन्य हैं, इसी पर—'सिर नवावा' अर्थात् आप वंदना करने योग्य हैं। सिर नवाना कुछ कहने का भी उपक्रम है।

> बाउ कृपा मूरति अनुकूला। बोलत बचन झरत जनु फूला ॥४॥
> जौ पै कृपा जरहिं मुनि गाता। क्रोध भये तनु राखु बिधाता ॥५॥
> देखु जनक हठि बालक एहू। कीन्ह चहत जड़ जमपुर गेहू ॥६॥
> बेगि करहु किन आँखिन्ह ओटा। देखत छोट खोट नृप - ढोटा ॥७॥
> बिहँसे लखन कहा मुनि पाहीं। मूँदे आँखि कतहुँ कोउ नाहीं ॥८॥

अर्थ—आपकी कृपा रूपी वाउ (वायु) आपकी मूर्ति के अनुकूल है, वचन बोलते हैं, मानों फूल झड़ रहे हों ॥४॥ हे मुनि! जो कृपा करने से आपका शरीर जलता है तो क्रोध होने पर उस शरीर को विधाता ही रक्खें ॥५॥ जनक! देख, यह बालक हठ करके यमपुरी (नरक) में अपना घर बनाना चाहता है ॥६॥ इसे शीघ्र ही क्यों नहीं आँखों के ओट कर देते हो? यह राजपुत्र देखने में छोटा है, पर है खोटा ॥७॥ लक्ष्मणजी हँसे और मुनि से बोले कि आँखें मूँद लेने से कहीं भी कोई नहीं रह जाता अर्थात् अपनी ही आँखें मूँद लेना सुगम है, वही क्यों नहीं करते? ॥८॥

विशेष—(१) 'बाउ कृपा मूरति अनुकूला'—भाव, जैसे आप सौम्यमूर्ति हैं, वैसी कृपा भी होनी ही चाहिये और तदनुसार मृदु वचन निकलते हैं, मानों फूल झड़ते हैं, यह व्यंग्य कथन है। तात्पर्य यह कि आप जैसे कराल मूर्ति हैं वैसे ही उसमें कोप रूपी पवन भरा है और तदनुसार ही वचन मानों अंगारे झड़ रहे हैं। मुनि ने कहा ही है—"मोरे हृदय कृपा कसि काऊ।"

(२) 'जौ पै कृपा जरहिं मुनि...'—कृपा तो शीतल करनेवाली जल रूप है, यथा—"कृपा बारिधर राम खरारी।" (लं० दो० ११), अर्थात् जल से जो आपका शरीर जलता है, तो अग्नि-रूप क्रोध से ब्रह्मा ही शरीर बचाते होंगे, क्योंकि—"हानि लाभ जीवन मरन, जस अपजस बिधि हाथ॥" (अ० दो० १७१)।

(३) 'देखु जनक हठि···'—कौशिक से कहा था, पर वे मुनि ही को समझाकर रह गये, फिर श्रीरामजी के डाँटने से थोड़ी देर चुप रहे, पर फिर लक्ष्मणजी बोलने लगे। मुनि से उत्तर देते नहीं बनता। इसीसे चाहते हैं कि यह सामने से हट जाय तो मैं मनमानी कह लूँ। अतः, अब जनकजी से कहते हैं, क्योंकि इन्होंने प्रथम कहा था—'मष्ट करहु अनुचित भल नाहीं।' इसी के आधार पर कहते हैं कि यदि इस लड़के का उबार चाहो तो इसे यहाँ से हटा दो, नहीं तो यह अभी यमपुरी जायगा, तुम्हें पाप होगा। विश्वामित्रजी को हटकना ही कहा था, क्योंकि उनके तो वह साथ ही में है इससे अलग करना न कहा। जनकजी से दूर करने को कहते हैं, क्योंकि इनकी रंगभूमि है, इन्हें अधिकार है, चाहें तो हटा दें।

प्रथम ही कहा गया—'होइ बल हानी'—वही हो रहा है, जैसे-जैसे तेज घटता जाता है वैसे-वैसे एक-एक का निहोरा करते हैं। 'हठि'—क्योंकि इसे धृष्टता से प्रयोजन नहीं, धनुष तो श्रीरामजी ने तोड़ा है। 'जमपुर-नेहू'—अर्थात् बहुत काल तक नरक में रहेगा। नरक तो पाप से होता है, इनका भी पाप पूर्व कह आये हैं—"राम तोर भ्राता बड़ पापी।" 'बड़ पापी' है, अतः बहुत काल तक नरक में रहेगा। वहाँ पाप कहा था, यहाँ उसका फल कहा।

(४) 'बिहँसे लखन कहा ·····'—हँसे कि अभी तो कहा था कि हाथ ही नहीं उठता और अब यमपुर पहुँचाने को कहते हैं, इन्हें बात की सँभाल भी नहीं है। 'मूँदे आँखि ····' अर्थात् यह तो अपने वश की बात है, फिर जनकजी से निहोरा करने की क्या आवश्यकता ?

'मुनि पाहीं' की जगह 'मन माहीं' भी पाठांतर है, जिसका भाव यह कहा जाता है कि यहाँ जनकजी के अपमान के संकोच से मन में ही कहा, क्योंकि उनसे निहोरा किया गया है। पर आगे परशुरामजी रुष्ट होकर श्रीरामजी से कह रहे हैं—"बंधु कहइ कटु संमत तोरे।" ; इससे जान पड़ता है कि उन्हें कुछ उत्तर दिया गया है। अतः, 'मुनि पाहीं' पाठ ही संगत है और प्राचीन तो है ही।

दोहा—परसुराम तब राम प्रति, बोले उर अति क्रोध।
संभु-सरासन तोरि सठ, करसि हमार प्रबोध ॥२८०॥

बंधु कहइ कटु संमत तोरे। तू छल बिनय करसि कर जोरे ॥१॥
करु परितोष मोर संग्रामा। नाहिंत छाड़ु कहाउब रामा ॥२॥
छल तजि करहि समर सिवद्रोही। बंधुसहित न त मारउँ तोही ॥३॥

अर्थ—हृदय में अत्यन्त क्रुद्ध होकर परशुरामजी ने तब श्रीरामजी से कहा—रे शठ! शिवजी का धनुष तोड़कर हमें ज्ञान सिखाता है! ॥२८०॥ तेरी ही सम्मति से तेरा भाई कठोर वचन बोलता है और तू छल से हाथ जोड़कर विनती करता है ॥१॥ संग्राम करके मेरा संतोष कर, नहीं तो 'राम' कहलाना छोड़ दे ॥२॥ हे शिवद्रोही! छल छोड़कर युद्ध कर, नहीं तो भाई के साथ तुझे मार डालूँगा ॥३॥

विशेष—(१) 'तब राम प्रति, बोले ····'—मुनि ने देख लिया कि कौशिक और जनकजी से बालक नहीं डरता और श्रीरामजी के नेत्र के संकेत से डर जाता है, ये मना करते तो वह नहीं बोलता; इसीसे अब इन्हीं पर उबल पड़े।

(२) 'बंधुसहित न त मारउँ······'—कटुवादी और छली दोनों ही मारने योग्य होते हैं। अतः, दोनों को मारूँगा। हाँ, बचने का उपाय यही है कि वाक्चातुरी रूपी छल छोड़कर हमें युद्ध में सन्तुष्ट कर, अन्यथा 'राम' नाम कहाना छोड़ दे, क्योंकि यह नाम शूर को ही शोभा देता है। यदि तुममें शूरता नहीं है, तो मेरा-सा नाम क्यों रख लिया है! 'विश्वद्रोही'—क्योंकि शिवजी का धनुष तोड़कर उनकी कीर्ति मिटाई है, उसी दोष से मैं तुझे मारूँगा।

> भृगुपति बकहिं कुठार उठाये। मन मुसुकाहिं राम सिर नाये ॥४॥
> गुनहु लखन कर हमपर रोषू। कतहुँ सुधाइहु ते बड़ दोषू ॥५॥
> टेढ़ जानि बंदइ सब काहू। बक्र चंद्रमहि ग्रसइ न राहू ॥६॥
> राम कहेउ रिस तजिय मुनीसा। कर कुठार आगे यह सीसा ॥७॥
> जेहि रिस जाइ करिय सोइ स्वामी। मोहि जानिय आपन अनुगामी ॥८॥

अर्थ—परशुरामजी फरसा उठाये बक रहे हैं और श्रीरामजी शिर नीचा किये हुए, मन-ही-मन मुसकुराते हैं ॥४॥ गुनाह (अपराध) लक्ष्मणजी का और क्रोध हमपर! कहीं-कहीं सीधेपन में भी बड़ा दोष होता है ॥५॥ टेढ़ा जानकर सभी (चन्द्रमा को) प्रणाम (वन्दना) करते हैं, टेढ़े चन्द्रमा को राहु भी नहीं ग्रसता ॥६॥ श्रीरामजी ने कहा कि हे मुनीश्वर! क्रोध को छोड़िये; आपके हाथ में फरसा है और सामने यह मेरा शिर ॥७॥ हे स्वामी! जैसे क्रोध जाय, वही कीजिये और मुझे अपना दास समझिये ॥८॥

विशेष—(१) 'भृगुपति बकहिं'—जब श्रीरामजी को शठ तथा छल विनयी कहा और मारने की धमकी दी, तब ग्रंथकार से नहीं सहा गया, इन्होंने परशुराम के कथन को 'बकहिं' कहकर असत्य भाषण—डींग हाँकना कह ही डाला।

(२) 'गुनहु लखन कर ·····'—यह बात प्रत्यक्ष नहीं कही है, क्योंकि आगे लक्ष्मणजी को निर्दोष कहेंगे। लक्ष्मणजी का प्रति-उत्तर करना मात्र दोष है; वह भी परशुरामजी की दृष्टि के अनुसार है, क्योंकि उनके रोष करने पर ही विवेचना हो रही है कि वे लक्ष्मण का गुनाह मानते हैं, तो उनपर ही रोष करके निपटा लेना था, पर उधर से दृष्टि फेर ली और सीधा जानकर हमपर विजय चाहते हैं। 'कतहुँ सुधाइहु ते······'—सीधापन सर्वत्र अच्छा ही है, पर कहीं-कहीं बड़ा दोष भी है, ऐसे ही कहीं-कहीं टेढ़ेपन में बड़ा गुण भी है।—'लखन' का नाम ही लख न है। अतः, उनके गुनाह पर लक्ष्य नहीं करते, इससे परिकरांकुर अलंकार है।

(३) 'टेढ़ जानि बंदइ······'—द्वितीया का चन्द्रमा टेढ़ा होता है, तो जगत् उसकी वंदना करता है, यह टेढ़ाई का गुण है और पूर्णमासी का चन्द्रमा सीधा होता है, वह राहु द्वारा ग्रसा जाता है, ये दोनों बातें कभी कभी ही होती हैं। यहाँ दृष्टान्त अलंकार है।

शंका—यहाँ तो परशुरामजी लक्ष्मणजी की वंदना तो नहीं करते!

समाधान—यहाँ श्रीरामजी ने अपनी अत्यन्त सिधाई पर ही दोष कहा और उसीकी अपेक्षा टेढ़ाई को गुण भी कहा है।

(४) 'कर कुठार आगे······' यथा—"अयं कंठः कुठारस्ते कुरु राम यथोचितम् ॥" (हनु० १।३६); इसमें गुप्त भाव यह भी है कि युद्ध क्या माँगते हैं ? सामने तो मैं खड़ा ही हूँ। 'मोहि जानिय आपन···' अर्थात् ब्राह्मण वृत्ति से ही जो कीजिये, शत्रु दृष्टि से नहीं, इसमें गूढ़ आशय है कि मैं ब्रह्मण्यदेव हूँ। अतः, आपका अनुगामी हूँ।

दोहा—प्रभु सेवकहि समर कस, तजहु बिप्रबर रोष।
वेष बिलोके कहेसि कछु, बालकहू नहिं दोष ॥२८१॥

देखि कुठार - बान - धनु - धारी। भइ लरिकहि रिस बीर बिचारी ॥१॥
नाम जान पै तुम्हहिं न चीन्हा। बंस-सुभाय उतर तेइ दीन्हा ॥२॥
जौं तुम्ह अवतेहु मुनि की नाईं। पदरज सिर सिसु धरत गोसाईं ॥३॥
छमहु चूक अनजानत केरी। चहिय बिप्रबर कृपा घनेरी ॥४॥

अर्थ—स्वामी और सेवक में लड़ाई कैसी ? अतः, हे विप्र-श्रेष्ठ ! क्रोध को त्याग दीजिये, बालक का भी दोष नहीं है, उसने तो वेष देखकर ही कुछ कहा है ॥२८१॥ कुठार और धनुष-बाण-धारी देखकर वीर समझा, इससे लड़के को क्रोध हो आया ॥१॥ नाम तो जानता था, पर आपको पहचाना नहीं, वंश के स्वभाव के अनुसार उसने उत्तर दिया ॥२॥ जो आप मुनि की तरह (अर्थात् धनुष-बाण और फरसा उतारकर कोपीन आदि मुनि वस्त्र-धारण किये हुए ही) आते, तो हे गोस्वामी ! यह बच्चा तो आपके चरणों की धूलि को शिर पर धारण करता (संभावना अलंकार है) ॥३॥ अतः, बिना जाननेवाले की चूक को क्षमा कीजिये, ब्राह्मण के हृदय में तो विशेष कृपा चाहिये ॥४॥

विशेष—(१) 'नाम जान पै तुम्हहिं न···'—यहाँ पहचानने का तात्पर्य ब्राह्मणत्व के महत्त्वपरक से है, यथा—"जो पै प्रभु-प्रभाव कछु जाना। तौ कि बराबरि करत अयाना ॥" (दो० २७९)।

(२) 'छमहु चूक अनजानत केरी'—अनजान की चूक क्षम्य है, यथा—"अनुचित बहुत कहेउँ अज्ञाता। छमहु छमा-मंदिर दोउ भ्राता ॥" (दो० २८४)।

छमहिं तुम्हहिं सरबरि कसि नाथा। कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा ॥५॥
राम मात्र लघु नाम हमारा। परसु - सहित बड़ नाम तुम्हारा ॥६॥
देव एक गुन धनुष हमारे। नव गुन परम पुनीत तुम्हारे ॥७॥
सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे। छमहु बिप्र अपराध हमारे ॥८॥

दोहा—बार बार मुनि बिप्रबर, कहा राम सन राम।
बोले भृगुपति सरुष हसि, तहूँ बंधु सम बाम ॥२८२॥

अर्थ—हे नाथ! हमसे आपसे बराबरी कैसी? कहिये न, कहाँ तो चरण और कहाँ शिर? ॥५॥ हमारा तो 'राम' मात्र छोटा-सा नाम है और आपका नाम 'परसु' सहित होने से ('परशुराम') बड़ा है॥६॥ हे ब्राह्मण देव! हमारे तो एक ही गुण धनुष है और आपके परम पवित्र नौ गुण हैं॥७॥ हम सब प्रकार से आपसे हारे हैं, हे विप्र! हमारे अपराधों को क्षमा कीजिये॥८॥ श्रीरामजी ने परशुरामजी से बार-बार 'मुनि' और 'विप्रवर' कहा (वीरत्व एक बार भी न कहा), तब परशुरामजी सक्रोध होकर बोले कि तू भी भाई के समान टेढ़ा हसि (है) ॥२८२॥

विशेष (१)—'कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा।'—आप शिर-रूप और मैं चरण-रूप, आप उत्तमांग-रूप ऊँचे और मैं अधमांग-रूप नीचे—ये विनीत वचन हैं। गूढ़त्व यह कि आप शिर के देवता हैं और मैं चरण का हूँ, ब्राह्मण जब त्यागी होते हैं, तब इनके शिर पूजे जाते हैं और भगवान् के चरण पूजे जाते हैं, इससे अपना ऐश्वर्य भी सूचित किया।

(२) 'देव एक गुन धनुष'''—'गुन' शब्द के दो अर्थ हैं—एक गुण और दूसरा सूत्र एवं प्रत्यञ्चा। इनके भाव—(क) हमारे पास एक ही गुण है—धनुष धारण करना, यह पुनीत है, क्योंकि इससे गो, विप्र, प्रजा आदि को रक्षा होती है और आपके नौ गुण हैं—"शमो दमस्तपः शौचं क्षांतिरार्जवमेव च। ज्ञान विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥" (गीता १८।४२); ये परम पुनीत हैं। 'हमारे' गुण हमें चाहिये और 'तुम्हारे' गुण तुम्हें—यह भाव गर्भित है। (ख) धनुष में प्रत्यञ्चा-रूप एक ही सूत्र होता है, वह अपुनीत है, क्योंकि उससे दूसरे पर प्रहार होता है। अतः, हिंसात्मक है। आपके यज्ञसूत्र (यज्ञोपवीत) में नौ सूत्र परम पुनीत होते हैं, जिनसे जप-तप आदि विशेष प्रभावान्वित होते हैं और पवित्र ब्रह्म कर्म का अधिकार होता है। यज्ञोपवीत के नौ सूत्रों में क्रमशः नौ देवता कहे गये हैं, यथा—"ॐकारः प्रथमे सूत्रे द्वितीयेऽग्निः प्रकीर्त्तितः। तृतीये कश्यपश्चैव चतुर्थे सोम एव च॥ पंचमे पितृदेवाश्च षष्ठे चैव प्रजापतिः। सप्तमे वासुदेवः स्यादष्टमे रविरेवच॥ नवमे सर्वदेवास्तु'''"—इत्यादि। (ग) एक अंक से नीचा और नौ से ऊँचा कोई अंक नहीं है। (घ) गुप्तार्थ यह भी कहा जाता है कि एक गुण (प्रत्यञ्चा) वाले शार्ङ्ग धनुष को हमारे (लिये) देव (दो) और तुम्हारे परम पुनीत नौ गुण (हैं) उन्हें लो। आगे इसी वाक्य के गूढ़ार्थ को समझकर मुनि शार्ङ्ग धनुष देंगे और स्तुति में नौ बार जय शब्द कहेंगे, जिनमें नवो गुणों को स्वीकृति का भाव है। तथा—"भो ब्रह्मन् भवता समं न घटते संग्रामवार्तापि नो सर्वे हीनबला वयं बलवतां यूयं स्थिता मूर्द्धनि॥ यस्मादेक गुणं शरासनमिदं सुव्यक्तमुर्वीभुजामस्माकं भवतो यतो नवगुणं यज्ञोपवीतं बलम्॥" (हनु० १।४०)।

(३) 'राम मात्र'''—में रूपक (तद्रूप) अलंकार है।

निपटहिं द्विज करि जानहि मोही। मैं जस बिप्र सुनावउँ तोही॥१॥
चाप स्रुवा सर आहुति जानू। कोप मोर अति घोर कृसानू॥२॥
समिधि सेन चतुरंग सुहाई। महामहीप भये पसु आई॥३॥
मैं येहि परसु काटि बलि दीन्हे। समरजज्ञ जप कोटिक कीन्हे॥४॥
मोर प्रभाव बिदित नहिं तोरे। बोलसि निदरि बिप्र के भोरे॥५॥
भंजेउ चाप दाप बड़ बाढ़ा। अहमिति मनहुँ जीति जग ठाढ़ा॥६॥

शब्दार्थ—निपटहि=कोरा, नितान्त। स्रुवा=यह आम आदि की लकड़ी से बना चमचे के समान होता है, जिससे यज्ञ में आहुति दी जाती है। समिधि=हवन में जलने की लकड़ी। दाप=घमंड।

अर्थ—तू मुझे कोरा ब्राह्मण ही समझता है। मैं जैसा विप्र हूँ, तुझे सुनाता हूँ ॥१॥ धनुष को स्रुवा, बाण को आहुति (हवन द्रव्य) और मेरे अत्यंत घोर कोप को अत्यंत घोर अग्नि जानो ॥२॥ चतुरंगिणी सेना सुन्दर लकड़ी है, बड़े-बड़े राजा आकर उस यज्ञ के बलि-पशु हुए ॥३॥ मैंने इसी (काटने की मुद्रा दिखाते हुए) फरसे से काट-काटकर बलिदान दिये, इस तरह के करोड़ों युद्ध-यज्ञ मैंने संसार में किये हैं ॥४॥ मेरा प्रभाव तुझे मालूम नहीं है? (जो सामान्य) ब्राह्मण के धोखे से मेरा निरादर करता हुआ बोलता जाता है ॥५॥ 'चाप' को तोड़ा है, इसी का बड़ा घमंड बढ़ गया है कि (अब) 'मैं ही हूँ'—ऐसा अहंकार किये हुए, मानों जगत् को जीतकर खड़ा है ॥६॥

विशेष—(१) 'निपटहि द्विज'''—जैसा तुम कहते हो, मैं वैसा ब्राह्मण नहीं हूँ, सामान्य ब्राह्मण, यथा—"एकाहारेण संतुष्टः षट्कर्मनिरतः सदा। ऋतुकालाभिगामी च स विप्रो द्विज उच्यते॥" परशुरामजी इनमें गिने जाने में अपना निरादर मानते हैं, वही आगे—'बोलसि निदरि विप्र के भोरे।' कहा है। आगे अपने-क्षत्रिय-कर्म कर्तृत्व को यज्ञ के रूपक में कहते हुए अपना महत्त्व दिखाते हैं। यहाँ समर-यज्ञ का सांग रूपक है।

(२) 'भंजेउ चाप'''—यहाँ 'पिनाक' 'त्रिपुरारि-धनु' आदि महत्त्वसूचक विशेषण धनुष के लिये नहीं दिये, 'चाप' मात्र ही कहा, नहीं तो श्रीरामजी का गौरव पाया जाता और परशुरामजी को श्रीरामजी का व्यर्थ अभिमानी होना दिखाना है।

राम कहा मुनि कहहु बिचारी। रिस अति बड़ि लघु चूक हमारी ॥७॥
छुवतहि टूट पिनाक पुराना। मैं केहि हेतु करउँ अभिमाना ॥८॥

दोहा—जौ हम निदरहिं बिप्र बदि, सत्य सुनहु भृगुनाथ।
तौ अस को जग सुभट जेहि, भयबस नावहिं माथ ॥२८३॥

देव दनुज भूपति भट नाना। समबल अधिक होउ बलवाना ॥१॥
जौ रन हमहिं प्रचारइ कोऊ। लरहिं सुखेन काल किन होऊ ॥२॥
छत्रिय-तनु धरि समर सकाना। कुलकलंक तेहि पामर आना ॥३॥
कहउँ सुभाव न कुलहि प्रसंसी। कालहु डरहिं न रन रघुबंसी ॥४॥
बिप्रबंस कै असि प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहिं डेराई ॥५॥

शब्दार्थ—बदि=कहकर। सुखेन=सुख-पूर्वक। सकाना=डरा।

अर्थ—श्रीरामजी ने कहा कि हे मुनि! विचार कर कहिये, आपका क्रोध अत्यन्त बड़ा है और हमारी चूक थोड़ी है ॥७॥ पुराना धनुष छूने ही टूट गया, हम किस कारण अभिमान करें? ॥८॥ जो हम

सत्य ही ब्राह्मण कहकर आपका अपमान करते तो हे भृगुनाथ! सत्य ही सुनिये, ऐसा संसार में कौन सुभट है, जिसे हम भयवश शिर झुकायें? ॥२८३॥ देवता, दैत्य, राजा, अनेक योद्धा, चाहे वे समान बलवाले हों-चाहे अधिक बलवान् ॥१॥ जो कोई हमें रण में ललकारे वो चाहे काल ही क्यों न हो? हम उससे सुख-पूर्वक लड़ेंगे ॥२॥ क्षत्रिय शरीर धारण कर जो लड़ाई में डरा, तो उसे कुल में कलंक और नीच जानना चाहिये ॥३॥ हम (वंश का) स्वभाव कहते हैं—कुछ कुल की प्रशंसा के रूप में नहीं कहते, रघुवंशी युद्ध में काल से भी नहीं डरते ॥४॥ ब्राह्मण-वंश की ऐसी प्रभुताई (महत्ता) है, जो आपसे डरे, वह (सबसे) भय-रहित हो जाता है (वा, जो सबसे अभय है, वह भी तुम से डरता है) ॥५॥

विशेष—(१) 'छुवतहि टूट पिनाक······' अर्थात् इसपर मेरा अभिमान और आपका कोप दोनों व्यर्थ हैं।

(२) 'जौं हम निदरहिं······'—हमने तो मुनि, विप्रवर आदि विशेषण आदर के लिये कहे हैं, आप अपना स्वरूप भूले हुए हैं। अतः, निरादर मानते हैं।

(३) 'देव दनुज भूपति'—से क्रमशः स्वर्ग, पाताल और मर्त्य लोक के योद्धाओं को बताया। 'नाना' अर्थात् चाहे एक-एक हों या बहुत मिलकर।

'सम बल अधिक होउ'—श्रीरामजी के बराबर और अधिक तो कोई है ही नहीं, यथा—"न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" (श्वे० ६।८), पर यहाँ नर-नाट्य की रीति से शिष्टता है कि अपनी बड़ाई स्वयं न की।

(४) 'लरहिं सुखेन काल किन होऊ।'—'सुखेन'—क्योंकि हर्ष के साथ ही युद्ध करना क्षात्र-धर्म है, यथा—"रामहिं सुमिरत रन भिरत, देत परत गुरु-पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तनु, ते जग जीवत जाय॥" (दोहावली ४२)। यद्यपि श्रीरामजी से रण में कोई जीत नहीं सकता, यथा—"सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहिं समर न जीतनिहारा॥" तो भी यही कहते हैं कि हम सुख पूर्वक लड़ेंगे; यह भी शिष्टता है।

(५) 'छत्रिय-तनु धरि··· ·'—यहाँ क्षत्रिय वर्ण का अधर्म कहा है, इसके विरुद्ध क्षात्र धर्म है।

(६) 'कालहु डरहिं न··· ···'—रघुवंशी की ओर से अपनी भी बड़ाई दिखाई कि काल से अधिक कोई नहीं, उससे भी हम नहीं डरते। यदि मुनि कहें कि हमसे क्यों डरते एवं हाथ जोड़ते हो? उसपर कहते हैं—'बिप्र बंस कै असि······'—

सुनि मृदु गूढ़ बचन रघुपति के। उघरे पटल परसुधर-मति के ॥६॥
राम रमापति कर धनु लेहू। खैंचहु मिटइ मोर संदेहू ॥७॥
देत चाप आपुहिं चलि गयेऊ। परसुराम मन बिसमय भयेऊ ॥८॥

दोहा—जाना राम - प्रभाव तब, पुलक प्रफुल्लित गात।
जोरि पानि बोले बचन, हृदय न प्रेम अमात ॥२८४॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी के मृदु और गूढ़ वचन सुनकर फरसा धारण करनेवाले (परशुराम) की बुद्धि के परदे खुल गये ॥६॥ हे राम ! विष्णु भगवान् का धनुष लीजिये और खींचिये, जिससे मेरा संदेह मिटे ॥७॥ देने के साथ ही वह धनुष स्वयं ही चला गया तब परशुरामजी के मन में बड़ा आश्चर्य हुआ ॥८॥ तब परशुरामजी ने श्रीरामजी का प्रभाव जाना, उनका शरीर पुलक कर प्रफुल्लित हो गया। हाथ जोड़कर वचन बोले; प्रेम हृदय में नहीं समाता (अर्थात् रोमांच-प्रेमाश्रु द्वारा उमड़ा आता है) ॥२८४॥

विशेष—(१) 'सुनि मृदु गूढ़ बचन······'—श्रीरामजी मृदु तो सदा ही बोलते हैं, पर परशुरामजी का क्रोध शान्त करना है, इससे और कोमल करके बोले हैं। मृदु, यथा—"हमहि तुम्हहिं सरबरि कसि"······से—"छमहु बिप्र अपराध हमारे।" (दो० २८१) तक; गूढ़—"जौं हम निदरहिं बिप्र बदि" ·· से—"अभय होइ जो तुम्हहिं डेराई॥" तक है, क्योंकि इनमें बहुत आशय भरे हैं, इन्हीं से श्रीरामजी अपना स्वरूप जनाया चाहते हैं। "बिप्र-बंस कै असि प्रभुताई।···" यह अन्तिम वाक्य है। प्रारंभ में कहा था—"होइहि कोउ यक दास तुम्हारा।" उसीको यहाँ स्पष्ट किया कि जो अभय है; यथा—"जासु त्रास डर कहँ डर होई।" (दो० ११४); वह भी आप से डरता है, इस तरह अपना ऐश्वर्य जनाया, यथा—"भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः॥" (कठ० २।३।३)।

'असि प्रभुताई'—पर कहा जाता है कि रामजी ने 'भृगुलता' भी दिखाई है, जिससे बोध हुआ; पर यहाँ 'सुनि' से सुनकर ही पटल या परदे का दूर होना कहा गया है—देखकर नहीं। हाँ, यह आशय वचनों से भी तो निकल आता है कि इन परशुराम के वंश के आदिपुरुष भृगु से अभय-रूप विष्णु भगवान् भी डरे थे, पद-प्रहार भी सहन कर लिया। ऐसा गौरव ब्राह्मणत्व में है। उसी प्रकार मैंने आपके दुर्वचन सहे हैं। 'उघरे पटल···'—उघरे बहुवचन है। अतः, कई परदे उनकी बुद्धि पर थे, वे ही हटे हैं और आगे कहा है, यथा—"जय मद-मोह-कोह-भ्रम हारी।" मद अपने बल का, मोह श्रीरामपरत्व न जानने का, कोह (क्रोध) धनुर्भंग और लक्ष्मणजी के विवाद का और भ्रम श्रीरामजी को प्राकृत राजपुत्र होने का था, इत्यादि समस्त परदे हट गये। तब समझ पड़ा कि ये ईश्वर हैं, पर प्रत्यक्ष से भी निर्णय करने के लिये आगे कहते हैं—

उपक्रम में—'बोले परसुधरहिं अपमाने।' और उपसंहार में भी—'परसुधर-मति के' कहा गया है अर्थात् फरसा धारण के ही कारण प्रमाद की-सी लीला थी, वह बुद्धि हट गई। अतः, शस्त्र श्रीरामजी को सौंपते हैं।

(२) 'राम रमापति कर······'—विष्णु भगवान् का शार्ङ्ग धनुष और किसी से नहीं चढ़ता था, यह परशुरामजी को ज्ञात था कि जब इसे कोई चढ़ावेगा तब हमारे अवतार-प्रभाव का अंत होगा। अतः, संदेह-निवारण के लिये चढ़ाने को देते हैं।

(३) 'देत चाप आपुहि चलि···'—(क) देते समय धनुष स्वयं श्रीरामजी के हाथों में चला गया; इससे जनाया कि मैं इन्हीं का हूँ। (ख) परशुरामजी का वैष्णव तेज आप ही से चला गया, यथा—"ज्याघोषमकरोद्वीरो वीरस्यैवाग्रतस्तथा। ततः परशुरामस्य देहान्निष्क्रम्य वैष्णवम्। पश्यतां सर्वदेवानां तेजो राममुखे विशन्॥" (नृसिंहपुराण); अर्थात् इनका वैष्णव तेज चला गया, कोरे मुनि रह गये, क्योंकि इनका आवेशावतार था। (ग) चाप देने के साथ परशुरामजी स्वयं खिंचे चले गये।

'परसुराम मन बिसमय भयेऊ।'—उपर्युक्त तीनों प्रकार के कार्य आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले हैं। श्रीमद्-वाल्मीकीय में लिखा है कि श्रीरामजी ने परशुराम से धनुष लेकर उसपर तुरंत रोदा चढ़ाते हुए कहा कि यह वैष्णवास्त्र निष्फल न होगा। आप हमारे गुरु विश्वामित्र के सम्बन्धी हैं, अतः, वध न करेंगे। हाँ, आपकी

अव्याहत गति अथवा तपःप्रभाव से अर्जित लोकों का इस बाण से नाश करेंगे। इसपर परशुरामजी की अनुमति से यह बाण छोड़कर इनके लोकों का नाश किया, बाण चढ़ाते ही इनका तेज नष्ट हो गया, यथा— "निर्वीर्यो जामदग्न्योऽसौ रामोराममुदैक्षत ॥ तेजोभिर्गतवीर्यत्वाज्जामदग्न्यो जडीकृतः।" (वा० स० ७६-११-१२); तथा—"नाक मे पिनाकमिस बामता बिलोकि राम रोक्यो परलोक लोक भारी भ्रम भानि कै ॥" (क० लं० २६); अतः, उपर्युक्त तीन में मध्य का ही भेद प्रधान है।

(४) 'जाना राम-प्रभाव तब, पुलक···'—यहाँ परशुरामजी को हारने से ग्लानि नहीं हुई, प्रत्युत आनन्द हुआ, उसका कारण राम-प्रभाव का जानना है। यथा—"अक्षय्यं मधुहन्तारं जानामि त्वां सुरेश्वरम्। धनुषोऽस्य परामर्शात्···न चेयं तव काकुत्स्थ व्रीडा भवितुमर्हति। त्वया त्रैलोक्यनाथेन यदहं विमुखीकृतः ॥" (वाल्मी० १।७६।१७-१९); अर्थात् मनुष्यादि जीववर्ग से हारते तो लज्जा की बात थी।

जय रघुबंस-बनज-बन-भानू। गहन-दनुज-कुल-दहन कृसानू ॥१॥
जय सुर-बिप्र-धेनु-हितकारी। जय मद-मोह-कोह-भ्रम-हारी ॥२॥
बिनय-सील-करुना-गुन-सागर। जयति बचनरचना अतिनागर ॥३॥
सेवक-सुखद सुभग सब अंगा। जय सरीर-छबि कोटि अनंगा ॥४॥
करउँ काह मुख एक प्रसंसा। जय महेस-मन-मानस-हंसा ॥५॥
अनुचित बहुत कहेउँ अज्ञाता। छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता ॥६॥
कहि जय जय जय रघुकुल-केतू। भृगुपति गये बनहिं, तप हेतू ॥७॥

अर्थ—हे रघुवंश-रूपी कमल-वन के सूर्य ! हे दैत्यकुल-रूपी सघन वन को जलानेवाले अग्नि ! आपकी जय हो ! ॥१॥ हे देवता, ब्राह्मण और गाय के हित करनेवाले! आप की जय ! हे मद-मोह-क्रोध और भ्रम के हरनेवाले ! आप की जय हो ॥२॥ हे नम्रता, शील और करुणा आदि गुणों के सागर ! वचन-रचना में अत्यन्त चतुर ! आप की जय ॥३॥ हे सेवकों को सुख देनेवाले ! सब अंगों से सुन्दर ! करोड़ों कामदेवों की छवि युक्त शरीरवाले ! आपकी जय ॥४॥ मैं एक मुख से आपकी क्या प्रशंसा करूँ ? हे शिवजी के मन रूपी मानस-सरोवर के हंस ! आपकी जय ॥५॥ मैंने अनजान में बहुत अयोग्य वचन कहे, हे क्षमा के मन्दिर दोनों भाइयो ! क्षमा कीजिये ॥६॥ हे रघुकुल के ध्वजा-रूप ! आपकी जय हो, जय हो, जय हो— ऐसा कहकर भृगुनाथ परशुरामजी तपस्या करने के लिये वन को चले गये ॥७॥

विशेष—(१) 'जय रघुबंस-बनज-बन-भानू।'—श्रीरामजी ने कहा था—'कालहु डरहिं न रन रघुबंसी' तदनुसार यहाँ 'जयमान' होना कहा। कमल-वन को प्रफुल्ल करनेवाले सूर्य प्रातःकाल के होते हैं, इस तरह श्रीरामजी का अभ्युदय कहा। आदि में ही परशुरामजी को—'भृगुकुलकमलपतंगा' कहा है। इस तरह उनका अस्त होना जनाया, यह प्रथम ही कहा गया। पूर्वार्द्ध में रघुवंश में अवतार कहा ; फिर उत्तरार्द्ध में उसकी लीला कही गई। पुनः उससे प्रयोजन-रूप सुर-विप्र-धेनु का हित होना कहा गया। 'जय रघुबंस···' में 'श्लेष अलंकार' है।

(२) 'जय मद-मोह-कोह···'—इसमें अपने हृदय के चारों परदों का दूर होना कहा है।

(३) 'बिनय सील करुना···'—'बिनय' यथा—"हमहिं तुम्हहिं सरबरि कसि"···से—"छमहु बिप्र अपराध हमारे ॥" (दो० २८१) तक; यों तो आदि से अंत तक प्रार्थना ही है। 'सील'—मुनि ने शठ

आदि कटु वचनों का प्रयोग किया था, पर उत्तर में भगवान् ने प्रार्थना ही की है। 'करुना'—समर्थ होते हुए भी कोई दंड नहीं दिया, प्रत्युत दया ही की।

(४) 'सेवक सुखद सुभग ...'—ऊपर दनुज-नाश रूपी लीला से सुर-विप्र आदि का सुखी होना कहा गया; पर सेवक तो आपके सुन्दर रूप से ही सुखी होते हैं; यथा—"रूप बिंदु जल होहिं सुखारी।" (अ० दो० ११७); अतः, आपके सब अंग सुन्दर हैं।

(५) 'जय महेस-मन मानस-हंसा।' यथा—"सुंदर सुखद सकल गुनरासी। ये दोउ बंधु संभु-उर-बासी॥" (दो० २४५)।

(६) 'अनुचित बहुत कहेउँ ...'—श्रीरामजी ने प्रथम ही कहा था—"छमहु चूक अनजानत केरी" (दो० २८१); उसी नियम को लेकर यहाँ परशुरामजी भी क्षमा कराते हैं। 'दोउ भ्राता'—दोनों भाइयों को ये बहुत अनुचित वचन कहे थे और वे क्षमा करते आये, इससे 'क्षमा के मंदिर' कहते हैं। अब इन्हें चेत हुआ, तब अपनी ओर से क्षमा माँगते हैं।

(७) 'कहि जय जय जय ...'—यहाँ तीन बार जय कहकर मन, वचन, कर्म से प्रार्थना सूचित की अथवा भूत, भविष्य और वर्तमान का जयमान होना कहा। यहाँ तक नौ बार जय शब्द इस स्तुति प्रसंग में आया है, क्योंकि गिनती नौ ही तक है। इस तरह अनंत बार जय सूचित की। नौ का पहाड़ा जोड़ने पर सदा एक रस रहता है; अर्थात् दूने-तिगुने आदि में एकाई-दहाई जोड़ने पर नौ ही रहता है। अतः, नौ संख्या का परिणाम नहीं है, इस तरह श्रीरामजी को नित्य एकरस स्थित कहा, यथा—"तुम चहुँ जुग रस एक राम ..." (वि० २६१); तथा—"वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥" (श्वेता० ३।९); वा, 'नव गुन परम पुनीत' के ग्रहण के प्रति कृतज्ञता-रूप में भी नौ बार जय-जयकार किया।

(८) 'भृगुपति गये बनहिं तप हेतू।'—ऊपर इनके तप से अर्जित लोकों का नाश होना श्रीरामजी के बाण के प्रभाव से कहा गया; उनके पुनः बनाने के लिये तप करने चले गये वा नव गुणों में 'तप' भी है, उसपर आरूढ़ होकर चले गये।

परशुराम-गर्व-हरण—इसका अधिकांश 'प्रसन्नराघव' और 'हनुमन्नाटक' से मिलता है। इसके कुछ भाव पूर्वोक्त—"तेहि अवसर सुनि सिव धनु भंगा।" (दो० २६७) पर भी कहे गये हैं।

इस प्रसंग के चरित्र-चित्रण पर प्रायः अप्रगल्भता रूप दोष लगाया जाता है, यह भ्रम है। आलोचकों को विचारना चाहिये कि—"बहइ न हाथ दहइ रिस छाती। भा कुठार कुंठित नृपघाती॥" (दो० २७५); से निश्चित होता है कि परशुरामजी की प्रतिकार की इच्छा थी, पर तदनुसार क्रिया करने में वे असमर्थ थे। उनकी शक्ति के ह्रास का कारण यह है—श्रीरामजी ही के तेज ने परशुरामजी में प्राप्त होकर आसुरी प्रकृति के क्षत्रियों का संहार किया था, उसका ह्रास इसी रीति से क्रोध के द्वारा क्रमशः होता था, उसीके अनुसार श्रीलक्ष्मणजी के वचनों की प्रवृत्ति थी। नहीं तो ब्राह्मण के अपमान के सम्बन्ध में वे स्वयं कहते हैं कि—"हमरे कुल इन्ह पर न सुराई।" पुनः—"जो तुम्ह अवतेहु मुनि की नाईं। पद रज सिर सिसु धरत गोसाईं॥" इत्यादि। परशुरामजी को मुनि, विप्र आदि ही बार-बार कहते थे। उसका भी रहस्य यही था कि वीरता के कार्य हमारे तेज से हुए हैं, यथा—"तेजस्तेजस्विनामहम्।" (गीता १०।३६); अन्त में धनुष-ग्रहण के साथ ही अवशिष्ट तेज भी ले लिया। परशुराम ऋषि मात्र रह गये और श्रीरामजी का परत्व भी जान गये। अतः, कृतकृत्य होकर अपने सहज कर्म रूप तपस्या के लिये गये। भगवान् की लीला का रहस्य गंभीर है। वे ही कृपा करें तो कुछ समझ में आ सके।

अपभय कुटिल महीप डेराने। जहँ तहँ कायर गवहिं पराने॥८॥

दोहा—देवन्ह दीन्ही दुंदुभी, प्रभु पर बरषहिं फूल।
हरषे पुर-नर-नारि सब, मिटी मोहमय सूल ॥२८५॥

अर्थ—कुटिल राजा लोग अपने व्यर्थ भय (जो श्रीरामजी से लड़ने को तैयार थे, श्रीरामजी बदला नहीं लेते, पर वे स्वयं बिना कारण ही डरे, इस भय) से डरे और वे कायर चुपके से जहाँ-तहाँ भाग गये ॥८॥ देवताओं ने नगाड़े बजाये और प्रभु पर फूल बरसने लगे। नगर के सब स्त्री-पुरुष प्रसन्न हुए और उनका मोहमय शूल (दुःख) मिट गया।

विशेष—(१) 'अपभय'''जहँ तहँ कायर'''—जब से परशुरामजी आये, ये लोग खड़े ही थे, इसी अवसर में जिधर-तिधर भागने का दाँव (घात) मिल गया और अपने-अपने आसनों पर जाने के बहाने चुपके से निकल भागे।

(२) 'देवन्ह दीन्ही दुंदुभी'''—धनुर्भंग पर देवताओं ने प्रथम नगाड़े बजाये और जयमाल में पुरवासियों ने पहले ही बाजे बजाये। अबकी फिर देवताओं के प्रथम बजाने की बारी है। इस तरह दोनों ओर उत्साह प्रकट किया गया। 'प्रभु पर'—क्योंकि यहाँ परशुरामजी की पराजय होने एवं शार्ङ्ग धनुष के ग्रहण से श्रीरामजी की प्रभुता प्रकट हुई, इसे देखकर देवता फूल बरसाने लगे।

अति गहगहे बाजने बाजे। सबहिं मनोहर मंगल साजे ॥१॥
जूथ जूथ मिलि सुमुखि सुनयनी। करहिं गान कल कोकिलबयनी ॥२॥
सुखु बिदेह कर बरनि न जाई। जनम दरिद्र मनहुँ निधि पाई ॥३॥
बिगत त्रास भइ सीय सुखारी। जनु बिधु-उदय चकोरकुमारी ॥४॥

अर्थ—अत्यंत धमाधम बाजे बजने लगे, सभी ने सुन्दर मंगल सजाया ॥१॥ सुन्दर मुखों और नेत्रोंवाली, कोयल की तरह मधुर बोलनेवाली स्त्रियाँ झुंड-की-झुंड मिलकर गान करने लगीं ॥२॥ विदेह राजा का सुख-वर्णन नहीं हो सकता, मानों जन्म का दरिद्र (भारी) खजाना पा गया हो ॥३॥ श्रीसीताजी का डर दूर हुआ और वे सुखी हुईं, जैसे चन्द्रमा के उदय से चकोर-कुमारी (सुखी हो) ॥४॥

विशेष—(१) 'अति गहगहे'''—धनुष टूटने पर—"बाजे नभ गहगहे निसाना।" कहा गया, जयमाल पर—"पुर अरु ब्योम बाजने बाजे।" और यहाँ—"अति गहगहे'''" कहा अर्थात् जैसे-जैसे आनन्द बढ़ता गया, बाजों की मात्रा भी बढ़ती गई।

(३) 'सुत्त बिदेह कर'''—विदेह महाराज भी परशुरामजी के आने पर माधुर्य-दृष्टि के कारण (गये थे—"अति डर उतर देत नृप नाहीं।" यह दरिद्र होना है, अब मानों राजाना पा गये।

(४) 'जनु बिधु-उदय चकोरकुमारी।'—दोपहर के सूर्य से तप्त चकोर-कुमारी चन्द्रोदय से सुखी होती है। वैसे सीताजी प्रथम—'भृगु कुल कमल पतंग' से दुखी हुई थीं, अब शीतल हो रही हैं।

परशुराम-पराजय-प्रकरण समाप्त

श्री सियरघवीर-विवाह

जनक कीन्ह कौसिकहि प्रनामा। प्रभुप्रसाद धनु भंजेउ रामा॥५॥
मोहि कृतकृत्य कीन्ह दुहुँ भाई। अब जो उचित सो कहिय गोसाईं॥६॥
कह मुनि सुनु नरनाथ प्रबीना। रहा बिवाहु चाप-आधीना॥७॥
टूटत ही धनु भयेउ बिवाहू। सुर नर नाग बिदित सब काहू॥८॥

दोहा—तदपि जाइ तुम्ह करहु अब, जथा-बंस-ब्यवहार।
बूझि बिप्र कुलबृद्ध गुरु, बेदबिदित आचार॥२८६॥

दूत अवधपुर पठवहु जाई। आनहिं नृप दसरथहि बोलाई॥१॥

अर्थ—जनकजी ने विश्वामित्रजी को प्रणाम किया, (और कहा कि) हे प्रभो! आपके अनुग्रह से श्रीरामजी ने धनुष तोड़ा॥५॥ दोनों भाइयों ने मुझे कृतार्थ किया, अब जो (कार्य) उचित हो, वह कहिये॥६॥ मुनि ने कहा—हे चतुर राजन्! सुनिये, विवाह धनुष के अधीन था॥७॥ (यद्यपि) धनुष टूटते ही विवाह हो गया, (यह) देवता, मनुष्य, नागदेव (क्रमशः स्वर्ग, भूमि और पाताल-वासियों) सब किसी को विदित हो गया॥८॥ तो भी अब आप जाकर जैसी कुल की रीति हो, उसे ब्राह्मणों, कुल के बूढ़ों और गुरु से पूछकर जो वेदों की प्रसिद्ध प्रथा है, वह कीजिये॥२८६॥ अवध नगर को दूत भेजिये, वे जाकर राजा दशरथ को बुला लावें॥१॥

विशेष—(१) 'प्रभुप्रसाद धनु'''—यद्यपि राजा जनक ने श्रीरामजी का पुरुषार्थ प्रत्यक्ष देखा है, फिर भी यहाँ मुनि का गौरव और श्रीरामजी में वात्सल्य दृष्टि से लाघव कहा, यही नीति है। मुनि को प्रणाम करना कृतज्ञता की दृष्टि से है।

(२) 'दुहुँ भाई'—लक्ष्मणजी ने ही इनकी व्याकुलता पर श्रीरामजी के उठने का संयोग लगाया और परशुराम-पराजय में भी उनके सहायक रहे, इत्यादि से दोनों भाइयों को कहा।

(३) 'तदपि जाइ तुम्ह'''—'तदपि' अर्थात् वंश व्यवहार भी परम आवश्यक है। विप्र और गुरु वेद-रीति और कुल-वृद्ध लोग कुल-रीति एवं लोक-रीति बतलावेंगे।

दोहा—देवन्ह दीन्ही दुंदुभी, प्रभु पर बरषहिं फूल।
हरषे पुर-नर-नारि सब, मिटी मोहमय सूल ॥२८५॥

अर्थ—कुटिल राजा लोग अपने व्यर्थ भय (जो श्रीरामजी से लड़ने को तैयार थे, श्रीरामजी बदला नहीं लेते, पर वे स्वयं बिना कारण ही डरे, इस भय) से डरे और वे कायर चुपके से जहाँ-तहाँ भाग गये ॥८॥ देवताओं ने नगाड़े बजाये और प्रभु पर फूल बरसने लगे। नगर के सब स्त्री-पुरुष प्रसन्न हुए और उनका मोहमय शूल (दुःख) मिट गया।

विशेष—(१) 'अपभय···जहँ तहँ कायर···'—जब से परशुरामजी आये, ये लोग खड़े ही थे, इसी अवसर में जिधर-तिधर भागने का गौंव (घात) मिल गया और अपने-अपने आसनों पर जाने के बहाने चुपके से निकल भागे।

(२) 'देवन्ह दीन्ही दुंदुभी···'—धनुर्भंग पर देवताओं ने प्रथम नगाड़े बजाये और जयमाल में पुरवासियों ने पहले ही बाजे बजाये। अबकी फिर देवताओं के प्रथम बजाने की बारी है। इस तरह दोनों ओर उत्साह प्रकट किया गया। 'प्रभु पर'—क्योंकि यहाँ परशुरामजी की पराजय होने एवं शार्ङ्ग धनुष के ग्रहण से श्रीरामजी की प्रभुता प्रकट हुई, इसे देखकर देवता फूल बरसाने लगे।

अति गहगहे बाजने बाजे। सबहिं मनोहर मंगल साजे ॥१॥
जूथ जूथ मिलि सुमुखि सुनयनी। करहिं गान कल कोकिलबयनी ॥२॥
सुख बिदेह कर बरनि न जाई। जनम दरिद्र मनहुँ निधि पाई ॥३॥
बिगत त्रास भइ सीय सुखारी। जनु बिधु-उदय चकोरकुमारी ॥४॥

अर्थ—अत्यंत धमाधम बाजे बजने लगे, सभी ने सुन्दर मंगल सजाया ॥१॥ सुन्दर मुखों और नेत्रोंवाली, कोयल की तरह मधुर बोलनेवाली स्त्रियाँ झुंड-की-झुंड मिलकर गान करने लगीं ॥२॥ विदेह राजा का सुख-वर्णन नहीं हो सकता, मानों जन्म का दरिद्र (भारी) खजाना पा गया हो ॥३॥ श्रीसीताजी का डर दूर हुआ और वे सुखी हुईं, जैसे चन्द्रमा के उदय से चकोर-कुमारी (सुखी हो) ॥४॥

विशेष—(१) 'अति गहगहे···'—धनुष टूटने पर—"बाजे नभ गहगहे निसाना।" कहा गया, जयमाल पर—"पुर अरु ब्योम बाजने बाजे।" और यहाँ—"अति गहगहे···" कहा अर्थात् जैसे-जैसे आनन्द बढ़ता गया, बाजों की मात्रा भी बढ़ती गई।

(२) 'जूथ जूथ मिलि···'—श्रीराम-यश-गान के सम्बन्ध से 'सुमुखि' और उनके दर्शनों के सम्बन्ध से 'सुनयनी' कहा गया है। यहाँ 'सुनयनी' में सुनयनाजी और 'सुमुखि' में उनकी सखियों को भी श्लिष्ट रीति से ले लेना चाहिये, क्योंकि धनुष टूटने पर श्रीजानकीजी, श्रीसुनयनाजी और विदेह महाराज का सुखी होना कहा गया, फिर परशुरामजी के आने पर श्रीसुनयनाजी का दुखी होना भी कहा गया। यथा—"सखिन्ह सहित हरषीं अति रानी।" पुनः—"रानिन्ह सहित सोच-बस सीया।" अतः, परशुरामजी के जाने पर उनका भी सुखी होना स्वाभाविक है। 'जूथ जूथ'—अपनी-अपनी अवस्था और जाति से मिलकर।

(३) 'सुख विदेह कर'''—विदेह महाराज भी परशुरामजी के आने पर माधुर्य-दृष्टि के कारण डर गये थे—"अति डर उतर देत नृप नाहीं।" यह दरिद्र होना है, अब मानों खजाना पा गये।

(४) 'जनु बिधु-उदय चकोरकुमारी।'—दोपहर के सूर्य से तप्त चकोर-कुमारी चन्द्रोदय से सुखी होती है। वैसे सीताजी प्रथम—'भृगु कुल कमल पतंग' से दुखी हुई थीं, अब शीतल हो रही हैं।

परशुराम-पराजय-प्रकरण समाप्त

श्री सियरघवीर-विवाह

जनक कीन्ह कौसिकहि प्रनामा। प्रभुप्रसाद धनु भंजेउ रामा ॥५॥
मोहि कृतकृत्य कीन्ह दुहुँ भाई। अब जो उचित सो कहिय गोसाई ॥६॥
कह मुनि सुनु नरनाथ प्रबीना। रहा बिवाहु चाप - आधीना ॥७॥
टूटत ही धनु भयेउ बिवाहू। सुर नर नाग बिदित सब काहू ॥८॥

दोहा—तदपि जाइ तुम्ह करहु अब, जथा-बंस-ब्यवहार।
बूझि बिप्र कुलबृद्ध गुरु, बेदबिदित आचार ॥२८६॥

दूत अवधपुर पठवहु जाई। आनहिं नृप दसरथहि बोलाई ॥१॥

अर्थ—जनकजी ने विश्वामित्रजी को प्रणाम किया, (और कहा कि) हे प्रभो ! आपके अनुग्रह से श्रीरामजी ने धनुष तोड़ा ॥५॥ दोनों भाइयों ने मुझे कृतार्थ किया, अब जो (कार्य) उचित हो, वह कहिये ॥६॥ मुनि ने कहा—हे चतुर राजन् ! सुनिये, विवाह धनुष के अधीन था ॥७॥ (यद्यपि) धनुष टूटते ही विवाह हो गया, (यह) देवता, मनुष्य, नागदेव (क्रमशः स्वर्ग, भूमि और पाताल-वासियों) सब किसी को विदित हो गया ॥८॥ तो भी अब आप जाकर जैसी कुल की रीति हो, उसे ब्राह्मणों, कुल के बूढ़ों और गुरु से पूछकर जो वेदों की प्रसिद्ध प्रथा है, वह कीजिये ॥२८६॥ अवध नगर को दूत भेजिये, वे जाकर राजा दशरथ को बुला लावें ॥१॥

विशेष—(१) 'प्रभुप्रसाद धनु'''—यद्यपि राजा जनक ने श्रीरामजी का पुरुषार्थ प्रत्यक्ष देखा है, फिर भी यहाँ मुनि का गौरव और श्रीरामजी में वात्सल्य दृष्टि से लाघव कहा, यही नीति है। मुनि को प्रणाम करना कृतज्ञता की दृष्टि से है।

(२) 'दुहुँ भाई'—लक्ष्मणजी ने ही इनकी व्याकुलता पर श्रीरामजी के उठने का संयोग लगाया और परशुराम-पराजय में भी उनके सहायक रहे, इत्यादि से दोनों भाइयों को कहा।

(३) 'तदपि जाइ तुम्ह'''—'तदपि' अर्थात् वंश व्यवहार भी परम आवश्यक है। विप्र और गुरु वेद-रीति और कुल-वृद्ध लोग कुल-रीति एवं लोक-रीति बतलावेंगे।

(४) 'दूत अवध पुर पठवहु'''—'जाई' शब्द दीपदेहली 'भी है। ऊपर भी 'जाइ' पद आया है, वहाँ रंगभूमि से घर जाने के लिये है और यहाँ फिर देने का भाव यह कि घर जाकर तब वहाँ दूत भेजिये, और वे जाकर लिवा लावें। ऐसा कहने का प्रयोजन यह है कि मुनि की आज्ञा के बिना चक्रवर्ती महाराज को बुलाने में इन्हें संकोच होगा, यथा—"अपराध छमिबो बोलि पठये बहुत हौं ढीठ्यो कई।" (दो० १२६); पुनः मुनि ने विचारा कि यदि चक्रवर्तीजी न बुलाये जायँगे, तो एक तो वे इस महान् सुख से वंचित रह जायँगे, दूसरे यहाँ दोनों तरफ का व्यय जनकजी के ही द्वारा होगा—मानों दरिद्र का सा लड़का व्याहा जायगा और शोभा भी नहीं होगी। पुनः अवधवासियों को भी बारात में बुलाकर सुख दें। मुनि त्रिकालज्ञ हैं, यह भी जानते हैं कि भरत-शत्रुघ्न का भी व्याह यहीं होगा।

वाल्मी० १।११८।५०-५२ में कहा है कि श्रीरामजी के धनुष तोड़ने पर श्रीजनकजी ने कुश-जल लेकर कन्यादान करना चाहा, तब श्रीरामजी ने पिता का अभिप्राय बिना जाने दान लेना स्वीकार नहीं किया, तब राजा जनक ने चक्रवर्तीजी के बुलाने का आयोजन किया। यह भाव भी 'अब जो उचित सो कहिय गोसाईं।' के कारण (साधन) रूप में लिया जा सकता है।

मुदित राउ कहि भलेहि कृपाला। पठये दूत बोलि तेहि काला ॥२॥
बहुरि महाजन सकल बोलाये। आइ सबन्हि सादर सिर नाये ॥३॥
हाट बाट मंदिर सुरबासा। नगर सँवारहु चारिहु पासा ॥४॥
हरषि चले निज निज गृह आये। पुनि परिचारक बोलि पठाये ॥५॥

शब्दार्थ—महाजन = श्रेष्ठ पुरवासी, रईस लोग। हाट = बाजार। बाट = मार्ग। पासा = तरफ, ओर।

अर्थ—राजा ने प्रसन्न होकर कहा, हे कृपालो! बहुत अच्छा। उसी समय दूतों को (श्री अवध) बुलाकर भेज दिया॥ २॥ फिर सब महाजनों को बुलाया, सबने आकर आदर से प्रणाम किया॥ ३॥ (राजा ने उनसे कहा कि) बाजार, मार्ग, मंदिर—जिनमें देवताओं का वास है, और चारों तरफ नगर सजाओ॥४॥ (वे महाजन लोग) प्रसन्न हो अपने अपने घर आये। फिर (राजा ने) परिचारकों (टहलुओं) को बुला भेजा॥५॥

विशेष—(१) 'मुदित राउ कहि'''—राजा प्रसन्न हुए, क्योंकि इनके हृदय में भी लालसा थी, पर चक्रवर्ती को कैसे बुलावें? यह अड़चन थी, वह मुनि की आज्ञा हो जाने से मिट गई। 'कृपाला'—क्योंकि पुराना टूटा हुआ सम्बन्ध मिला रहे हैं, पुनः स्वयं कृपा करके कहा, मुझे कहना भी न पड़ा।

(२) 'पठये दूत बोलि तेहि काला।'—मुनि ने कहा था कि घर जाकर दूत भेजो, पर राजा ऐसे आनन्दित हुए कि वह आज्ञा भूल गये और उसी समय वहीं पर दूत बुलाकर श्री अवध भेजा। वहीं से भेजने का यह भी भाव है कि जिससे मुनि की ही आज्ञा से दूतों का जाना और राजा दशरथ का बुलाया जाना हो तो उत्तम होगा।

(३) 'बहुरि महाजन सकल'''—'बहुरि' अर्थात् मुनि की आज्ञा का पालन प्रथम किया, तब बारात की अगवानी के सजाव में लगे। बहुरि का अर्थ और फिर तत्पश्चात् है। सभी आये और सादर सिर नवाये, क्योंकि सभी स्वामिभक्त हैं और राजा भी उनका स्नेह से पालन करते हैं।

(४) 'हाट बाट मंदिर सुरबासा।'—नगर तो सदैव सुसज्जित ही रहता है, यथा—"बनइ न बरनत नगर-निकाई। जहाँ जाइ मन तहँइ लोभाई॥" (दो० २१२); पर यहाँ प्रीति की रीति से—"चंदन बार पताका केतू। सबन्हि बनाये मंगल हेतू॥" (उ० दो० ८) की तरह सजायेंगे। यथा "जद्यपि अवध सदैव···तदपि प्रीति कै रीति··" (दो० २९५)।

यहाँ धर्मात्मा राजा का राज्य है, अतः देव-मंदिर कहे गये हैं, ऐसे ही श्री अवध में भी हैं—"तीर तीर देवन्ह के मंदिर।" (उ० दो० २८); पर लंका में नहीं कहे गये, क्योंकि वहाँ तो देवता हाथ जोड़े खड़े रहते थे, उनकी पूजा कैसी? ऐसे ही राम-राज्य में ब्राह्मणों का अभिषेक करना लिखा है—"प्रथम तिलक वसिष्ठ मुनि···" (उ० दो० ११); और सुग्रीव के राज्य-समय में भी—"लछिमन तुरत बोलाये, पुरजन विप्र-समाज।" (कि० दो० ११); पर विभीषण की राजगद्दी में नहीं कहा गया, क्योंकि विप्र और नर को तो राक्षस खा जाते थे, यथा—"खल मनुजाद द्विजामिष-भोगी।" (लं० दो० ४४)। अतः, ब्राह्मण वहाँ थे ही नहीं।

(५) 'हरषि चले निज निज···'—ये महाजन लोग हाट-बाट आदि सँवारने के उत्साह से हर्षित होकर अपने-अपने घर गये। तब राजा ने वितान रचनेवालों को बुलवाया।

रचहु बिचित्र बितान बनाई। सिर धरि बचन चले सचु पाई॥६॥
पठये बोलि गुनी तिन्ह नाना। जे बितान-बिधि-कुसल सुजाना॥७॥
बिधिहि बंदि तिन्ह कीन्ह अरंभा। बिरचे कनककदलि के खंभा॥८॥

दोहा—हरितमनिन्ह के पत्र फल, पदुमराग के फूल।
रचना देखि बिचित्र अति, मन बिरंचि कर भूल॥२८७॥

शब्दार्थ—सचु = आनंद। पदुमराग = माणिक्य, लाल रत्न। भूल = धोखे में पड़ना, चकित होना।

अर्थ—(और कहा कि) विचित्र मंडप तैयार कराओ, वे सब आज्ञा शिरोधार्य करके आनन्द पाकर चले॥६॥ उन्होंने अनेक गुणियों (कारीगरों) को बुला भेजा, जो वितान की रचना में निपुण और सुजान थे॥७॥ उन्होंने ब्रह्माजी की वंदना करके काम प्रारम्भ किया और सोने के केले के खंभे बनाये॥८॥ हरी मणियों के पत्ते और फल एवं पद्मराग के फूल (ऐसे) बनाये कि अत्यन्त विचित्र रचना को देखकर ब्रह्माजी का भी मन भूल में पड़ जाय अर्थात् वे चकित हो जायँ॥२८७॥

विशेष—(१) 'सिर धरि बचन चले सचु पाई।'—ये उत्तम सेवक हैं। अतः, सुखी हुए, क्योंकि स्वामी की आज्ञा का पालन करना सेवक का सौभाग्य है, यथा—"आज्ञा सम न सुसाहिब-सेवा।" (अ० दो० ३००); "प्रभु-मुख-कमल बिलोकत रहहीं। कबहुँ कृपालु हमहिं कछु कहहीं॥" (उ० दो० २४)। 'चले' अर्थात् परिचालक बहुत हैं, इसलिये कि एक-एक का एक एक काम सौंप दिया जाय और शीघ्र हो।

(२) 'जे बितान-बिधि-कुसल सुजाना।'—'कुसल' कृति में अर्थात् रचना करने में और 'सुजान' यह बात जानने में कि कौन रचना कहाँ अनुकूल पड़ती है। ये दोनों बातों में दक्ष हैं।

(३) 'बिधिहि बंदि तिन्ह·····' ब्रह्माजी जगत् रचना के आचार्य हैं और जगत् में ही यह रचना होगी। अतः, उनकी वंदना से प्रारंभ किया।

शंका—ब्रह्माजी शाप से अपूज्य हैं, इनकी वंदना क्यों की गई ?

समाधान—यह निषेध ब्रह्माजी की स्वतंत्र पूजा के लिये है, कुछ नमस्कार तो निषिद्ध नहीं है, यहाँ तो वंदना ही की गई है। यह भी पाया जाता है कि उस समय ब्रह्माजी की पूजा भी होती थी, यथा—"आजगाम ततो ब्रह्मा लोककर्त्ता स्वयं प्रभुः।'''पूजयामास तं देवं पाद्यार्घ्यासनवन्दनैः। प्रणम्य विधिवच्चैनं'''" (वाल्मी० १।२।२३–२५)। अतः, सम्भवतः शाप की बात उससे पीछे की होगी। 'बिरचे कनक कदलि के खंभा।'—केले मांगलिक हैं और मंडप इन्हीं के आश्रित रहेगा। अतः, इन्हें प्रथम रचा, केले के खंभों का रंग स्वर्ण के रंग का होता है। अतः, सोने ही के केले बनाये, जिससे महीनों तक एक रंग शोभा और चमक-दमक भी रहे।

(४) 'हरितमनिन्ह के पत्र''''''—इसमें पहले फल कहकर तब फूल कहे गये, क्योंकि केले के घौद में फल और फूल साथ ही बढ़ते हैं और फल हरे एवं फूल लाल होते भी हैं। 'भव बिरंचि कर भूल'—यह बात आगे चरितार्थ है—"बिधिहि भयो आचरज बिसेखी। निज करनी कछु कतहुँ न देखी॥" (दो० ३१२)। जब जगत् के रचयिता भूल गये, तब औरों की क्या कहना है ? आगे ७ ही अर्द्धालियों पर दोहा है। अतः, यहाँ शोभा में मुग्ध होकर कवि भी भूले हैं, नहीं तो प्रायः सर्वत्र आठ से कम अर्द्धालियाँ नहीं रखते, ऐसे ही किन्हीं कारणों से दो-एक जगह और भी भूले हैं।

> बेनु हरित मनिमय सब कीन्हे। सरल सपरब परहिं नहिं चीन्हे॥१॥
> कनककलित अहिबेलि बनाई। लखि नहिं परइ सपरन सुहाई॥२॥
> तेहि के रचि पचि बंध बनाये। बिच-बिच मुकुता दाम सुहाये॥३॥
> मानिक मरकत कुलिस पिरोजा। चीरि कोरि पचि रचे सरोजा॥४॥

शब्दार्थ—बेनु (वेणु) = बाँस। सरल = सीधे। सपरब (सपर्व) = गाँठ के साथ। अहिबेलि = नाग बेलि, पान की लता। कलित = (सं० कलन) = बनाई हुई, सुंदर। बंध = बंधन। दाम = माला, झालर। रचि-पचि = कारीगरी से सजाकर, पचि (पच्ची, सं० पचित) = धातु निर्मित पदार्थ पर अन्य धातु के पत्तर का जड़ाव। कोरि = कोरकर, खोद-खोदकर। मरकत = पन्ना, गहरे हरे रंग का रत्न। पिरोजा = (फारोजा) = हरापन लिये हुए नीले रंग का रत्न।

अर्थ—सब बाँस हरी-हरी मणियों के सीधे और गाँठदार ऐसे बनाये गये, जो पहचाने नहीं जा सकते (कि कृत्रिम हैं)॥१॥ सोने से रच-रचकर सुंदर पान की लताएँ बनाईं, जो सुन्दर पत्तों के साथ होने से पहचानी नहीं जा सकतीं॥२॥ उसी (नागबेलि) के रचकर पच्चीकारी करके बन्धन बनाये, जिनके बीच बीच में मुक्ता की झालरें शोभा दे रही हैं॥३॥ माणिक्य, मरकत, हीरे और फीरोजा को चीरकर खोद करके कमल रचे॥४॥

विशेष—(१) 'बेनु हरित मनिमय''' '—सब बाँस हरे ही बनाये गये, क्योंकि मंडप हरे बाँसों के ही बनते हैं और हरे ही मांगलिक माने जाते हैं, पीले-सूखे नहीं लगाये जाते। ये बाँस हरित-मणियों के हैं। अतः, बहुत काल तक रहने पर भी एक रंग हरे एवं दीप्तिमान रहेंगे। और वस्तुओं—केला आदि में नाना प्रकार की भी मणियाँ लगी हैं। 'सरल'—क्योंकि बाँस के सीधे होने में ही शोभा है। 'सपरब'—बाँस गाँठ के साथ सुन्दर होते हैं, अन्यथा लाठी के समान होने से नहीं सुहाते। 'बेनु हरित''' ' में 'मीलित अलंकार' है।

(२) 'कनककलित अहिवेलि··· ···' सोने के केले के खंभ बन चुके, उनपर सोने की ही पान की लता चढ़ाई। पान की शोभा पुराने होने से है और पुराने पान पीले हो जाते हैं। अतः, सोने के ही पान बनाये। 'सोहाई'—क्योंकि इन्हीं से सुंदर माँड़व छायेंगे।

(३) 'तेहि के रचि पचि बंध ···'—बिना बंधन के बाँस ठिकाने पर नहीं रहते। अतः, पान की बेलि ही की पच्चीकारी करके पतले चमकीले बंधन भी बनाये। बंधनों के दो-दो फेरे और दो-दो गाँठें बनी हैं, जिनके बीच-बीच में मुक्ताओं की मालाएँ एवं झालरें सजाई गई हैं। ये बाँस-केले आदि की तरह कृत्रिम नहीं हैं, किंतु सचमुच हैं। इसीसे इनको 'लखि नहिं परइ' एवं 'परहिं नहिं चीन्हे' आदि नहीं कहे।

(४) 'मानिक मरकत कुलिस पिरोजा।······'—इस ग्रंथ में कमल चार रंगों के (नील, पीत, श्वेत, रक्त) कहे गये हैं। उन्हीं का चार प्रकार के रत्नों से बनना कहा गया है। यथा—"बालचरित चहुँ बंधु के, बनज बिपुल बहु रंग।" (दो० ४०)। यह भी कहा जाता है कि पिरोजा से कमल पुष्प के ऊपर की पँखुरियाँ बनीं, क्योंकि यह हरा-नीला होता है और माणिक्य से लाल, मरकत से नील और हीरे से श्वेत रंग के कमल बनाये गये। पीत रंग के कमल अन्य देशों में होते हैं, इससे यहाँ नहीं बनाये, यथा—"छंद सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहु रंग कमल कुल सोहा॥" (दो० ३६)। यहाँ पान ही की लताओं में कमल खिलाये, क्योंकि कमल पुष्प तो मांगलिक हैं, पर पुरइन की गणना मंगल द्रव्यों में नहीं है। अतः, इसकी चर्चा ही न की, क्योंकि यहाँ मंगल का प्रसंग है, यह युक्ति भी नहीं लख पड़ती कि पान में कमल कैसे खिले।

किये भृंग बहुरंग बिहंगा। गुंजहिं कूजहिं पवन-प्रसंगा॥५॥
सुर-प्रतिमा खंभन्हि गढ़ि काढ़ीं। मंगल-द्रव्य लिये सब ठाढ़ीं॥६॥
चौकें भाँति अनेक पुराईं। सिंधुर-मनिमय सहज सुहाईं॥७॥

दोहा—सौरभपल्लव सुभग सुठि, किये नीलमनि कोरि।
हेमबौर मरकत घवरि, लसत पाटमय डोरि॥२८८॥

शब्दार्थ—प्रसंगा = सहारे से। काढ़ीं = निकालीं। पुराईं = पूरी गईं, बनाईं। घवरि = घौद, गुच्छे।

अर्थ—भौंरे और बहुत रंग के पक्षी बनाये, जो वायु के सहारे से गुंजार करते और चहचहाते हैं॥५॥ खंभों में देवताओं की मूर्त्तियाँ गढ़कर निकाली गई हैं, वे सब मंगल पदार्थ लिये हुए खड़ी हैं॥६॥ अनेक तरह की चौकें पुराई गईं, जो गजमुक्तामय (मुक्ताचूर्ण की बनी हुई) और स्वाभाविक ही सुन्दर हैं॥७॥ नीलम को खोदकर अत्यन्त सुन्दर आम के पल्लव बनाये, सोने की बौर (मंजरी), पन्ने के घौदे, रेशम के डोर में बँधे हुए, शोभा दे रहे हैं॥२८८॥

विशेष—'किये भृंग बहु···'—ऊपर कमल कहे गये, तो साथ ही भ्रमर और हंस आदि पक्षी भी चाहिये ही। इन भ्रमरों और पक्षियों की रचना भी उपर्युक्त कमल के रत्नों की ही जाननी चाहिये, जैसे—"तेहि के रचि पचि बंध बनाये।" में नियम कहा गया। ये सब ऐसे विलक्षण बने हैं कि

कुंजी आदि की भी आवश्यकता नहीं, केवल वायु लगने ही से कूजते—गूँजते हैं, जिससे कृत्रिम नहीं जान पड़ते।

(२) 'सुर-प्रतिमा खंभन्हि''''—केला स्वयं मांगलिक है, उसमें ही मङ्गलमय देवताओं की मूर्त्तियाँ भी बनाईं। वे मंगल द्रव्य—'दधि दूर्वा रोचन फल फूला।' आदि थालों में सजे हुए लिये खड़ी हैं, ये मंगल द्रव्य भी मणियों के बने हुए कृत्रिम ही हैं, सचमुच होते तो विवाह तक सूख जाते। किंतु ये भी कृत्रिम नहीं जान पड़ते। 'ठाढ़ीं'—यह कारीगरों की सुजानता है, क्योंकि बैठी हुई होने से श्रीरामजी के आगमन पर उठ नहीं सकेंगे तो इनका धर्म जायगा और लोग भी जान लेंगे कि ये कृत्रिम हैं।

(३) 'चौकें भाँति अनेक''''—गज-मुक्ता श्वेत होती है, अतः, उसीसे चौक पूरी गई, यह सब मणियों से श्रेष्ठ भी होती है। 'भाँति अनेक'—चौकें बहुत प्रकार से पूरी गई हैं, पर हैं सब गजमुक्ता ही की। यथा—"चौकें चारु सुमित्रा पूरीं। मनिमय बिबिध भाँति अति रूरी॥" (अ० दो० ●)।

(४) 'सौरभपल्लव सुभग सुठि''''—यहाँ आम का सौरभ नाम दिया गया है, यह आम की सी सुगंध-युक्त भी है, क्योंकि 'सुरभि' का अर्थ सुगंध है। 'घवरि'—घौदे मरकत मणि हैं, मरकत यहाँ पन्ना है, क्योंकि यह हरा होता है और फलों का गुच्छा भी हरा ही चाहिये। 'किये' सब वस्तुओं के साथ है।

ऐसी आश्चर्य-रचना उस समय की कारीगरी के उत्कर्ष का उदाहरण है। यह भी कहा जाता है कि ऐसी विलक्षण रचना-वर्णन का श्रेय और किसी कवि को नहीं मिला।

रचे रुचिर बर बंदनिवारे। मनहुँ मनोभव फंद सँवारे॥१॥
मंगल - कलस अनेक बनाये। ध्वज-पताक पट चँवर सुहाये॥२॥
दीप मनोहर मनिमय नाना। जाइ न बरनि बिचित्र बिताना॥३॥
जेहि मंडप दुलहिनि बैदेही। सो बरनइ अस मति कबि केही॥४॥
दूलह राम रूप - गुन - सागर। सो बितान तिहुँ लोक उजागर॥५॥

अर्थ—सुन्दर श्रेष्ठ वन्दनवार बनाये गये, मानों कामदेव ने फंदे (जाल) सजाये हैं॥१॥ बहुत-से मंगल-कलश और सुंदर ध्वजा, पताका, पाटाम्बर और चँवर बनाये॥२॥ उसमें अनेकों सुन्दर मणियों के ही दीपक हैं, उस विचित्र वितान का वर्णन नहीं किया जा सकता॥३॥ जिस मंडप में विदेहनंदिनी श्रीजानकीजी दुलहिन रूप से हैं, उसका वर्णन करे, ऐसी किस कवि की बुद्धि है?॥४॥ जिस मंडप में रूप और गुणों के समुद्र श्रीरामजी दूलह बनकर बैठेंगे, वह तो तीनों लोकों से ऊपर प्रकाशित होनेवाला है॥५॥

विशेष—(१) 'मनहुँ मनोभव फंद''''—यहाँ शोभा का प्रसंग है, शोभा से सब वशीभूत होते हैं, वैसे फंदा भी फँसाने के ही लिये होता है। यहाँ 'मनोभव' अर्थात् काम मन से होता है, मन ही को फँसाता है, यहाँ यह निर्लिप्त मुनियों के भी मन को फँसा लेगा, यथा—"*मंडप बिलोकि बिचित्र रचना रुचिरता मुनि मन हरे।*" (दो० ११०)।

(२) 'मंगल-कलस अनेक''''—कलश चाहे जिस धातु के हों, उनपर गणेश आदि देवताओं की स्थापना होती है और अक्षत, पल्लव, दीपक रक्खे जाते हैं, वे 'मंगल-कलश' कहाते हैं। वे प्रत्येक

चौक में रक्खे जाते हैं। 'चौकें भाँति अनेक···' कहा गया, अतः, अनेक कलश भी होने ही चाहिये। 'मंगल' शब्द ध्वज-पताक आदि के साथ भी है। साथ ही 'दीप मनोहर मनिमय···' भी कहा गया, क्योंकि प्रत्येक कलश पर एक-एक दीप चाहिये। इनके अतिरिक्त मंडप के चारों ओर भी दीपावली है।

(३) 'बरनि न जाइ बिचित्र···'—यहाँ जो कुछ वर्णन हुआ, वह अमुक वस्तु से अमुक अंग बना, इतना ही कहा गया। यों तो मंडप की शोभा का विस्तार अकथ्य है। 'रचहु बिचित्र बितान बनाई।' पर उपक्रम है और यहाँ 'बरनि न जाइ बिचित्र बिताना।' पर उपसंहार।

(४) 'जेहिं मंडप दुलहिनि···'—'बैदेही' विदेह की पुण्य-मूर्त्ति अयोनिजा हैं, अतः, इनका मंडप भी अप्राकृत है, फिर उसे प्राकृत उपमादि सामग्री द्वारा कोई कवि कैसे कह सकता है? 'अस मति कवि केही'—श्रीजानकीजी के मंडप का कुछ वर्णन उनकी ही दी हुई बुद्धि से ग्रंथकार ने किया है; यथा—"जनकसुता···जासु कृपा निर्मल मति पावउँ॥" (दो० १८)। अन्य कवियों को ऐसी मति नहीं मिली, इसीसे वे इतना नहीं कह सके। कन्या के पिता के यहाँ कन्या की ही प्रधानता होती है, इसलिये दुलहिनि का मंडप प्रथम कहा गया।

(५) 'दूलह राम रूप-गुन सागर।···'—रूप और गुण से ही ख्याति होती है। श्रीरामजी दोनों के सागर हैं, इनके सम्बन्ध से मंडप की ऐसी शोभा क्यों न हो? 'उजागर' (उत्=ऊपर, जागर=प्रकाशमान्) अर्थात् यह वितान तीनों लोकों के ऊपर दीप्तिमान् है।

यहाँ दूलह-दुलहिनि के वर्णन से मंडप का पूरा स्वरूप वर्णन हुआ, क्योंकि ये ही उनके अधिष्ठातृ-देवता हैं। इनके विराजने पर मंडपों की शोभा पूर्ण होगी।

जनक-भवन कै सोभा जैसी। गृह-गृह प्रति पुर देखिय तैसी॥६॥
जेहि तिरहुति तेहि समय निहारी। तेहि लघु लाग भुवन दसचारी॥७॥
जो संपदा नीच-गृह सोहा। सो बिलोकि सुरनायक मोहा॥८॥

दोहा—बसइ नगर जेहि लच्छि करि, कपट नारि बर बेष।
तेहि पुर कै सोभा कहत, सकुचहिं सारद सेष॥२८९॥

अर्थ—जैसी शोभा राजा जनक के महल की है, वैसी ही नगर के प्रत्येक घर में देख पड़ती है॥६॥ जिसने उस समय तिरहुत (मिथिला) को देखा, उसे चौदहों भुवन तुच्छ लगे॥७॥ जो ऐश्वर्य नीच (जाति) के घर शोभित है, उसे देखकर इन्द्र भी मोहित हो जाते हैं॥८॥ जिस नगर में लक्ष्मीजी कपट से सुन्दर स्त्री का वेष धारण करके बसती हैं, उस नगर की शोभा कहते हुए शारदा और शेष सकुचाते हैं॥२८९॥

विशेष—(१) 'जनक-भवन कै···'—राजा जनक ने पूर्व महाजनों को—'हाट बाट मंदिर··· नगर सवारहु···' की जो आज्ञा दी थी, वही कार्य यहाँ कहते हैं। पूर्व यह भी कहा गया है—"सूर सचिव सेनप बहुतेरे। नृप-गृह सरिस सदन सब केरे॥" (दो० २१३); अब यहाँ उनका सजाव भी राजभवन के तुल्य कहा है। श्रीजनक-महल में दूलह-दुलहिन के मंडप कहे गये, वैसे सबके भी घरों में हैं, वे भी सफल होंगे; क्योंकि अन्य रामायणों में लिखा है कि जितने कुमार श्रीअवधपुर

से गये थे, उनका भी विवाह जनकपुर में ही हुआ है। वह भी—'गृह-गृह प्रति ' में ध्वनित है। 'भुवन दस चारी'—ऊपर के सात लोक (भूः, भुवः, स्वः, मह, जन, तप, सत्य,) और नीचे के सात लोक (तल, अतल, वितल, सुतल, तलातल, धरातल और पाताल)।

(२) 'सो बिलोकि सुरनायक मोहा'—नीच भंगी आदि की सम्पत्ति देखकर इन्द्र का मोहना आश्चर्य सा है, उसपर दोहे में समाधान करते हैं—

(३) 'बसइ नगर जेहि···'—श्रीजानकीजी के अंश से अगणित लक्ष्मीजी होती हैं। अतः, अंशोऽंश अभेद से श्रीजानकीजी को भी लक्ष्मी कहा कि वे अपना ऐश्वर्य छिपाने के लिये स्वयं कपट से स्त्री का सुन्दर वेष धारण करके यहाँ बसती हैं। 'करि' से कर्मवश जन्म का निषेध कहा गया। श्रीजानकीजी की दृष्टिमात्र से लोकपाल होते हैं, यथा—"लोकप होहिं बिलोकत तोरे। तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरे॥" (अ० दो० १०३); तो उनके साक्षात्-निवास के संसर्ग से शोभा-सम्पदा का क्या कहना ?

यह भी कहा जाता है कि श्रीसीताराम का विवाह देखने के लिये यहाँ लक्ष्मीजी कपट से सुन्दर स्त्री का वेष धारण करके बसती हैं जो आगे कहा जायगा, यथा—"सची सारदा रमा भवानी। जे सुरतिय सुचि सहज सयानी॥ कपट नारि बर बेष बनाई। मिली सकल रनिवासहिं आई॥" (दो० ३१७); उन्हीं को लेकर यहाँ नगर का महत्त्व कहा गया है।

'सकुचहिं सारद सेष'—शारदा से सबसे ऊपर का ब्रह्मलोक और शेष से पाताल लोक नीचे का कहा गया। मर्त्यलोक में इनसे श्रेष्ठ वक्ता है ही नहीं। कहने की लालसा होती है, पर शोभा का अल्पांश भी कहते नहीं बनेगा। अतः, वे सब सकुच जाते हैं।

पहुँचे दूत राम-पुर पावन। हरषे नगर बिलोकि सुहावन॥१॥
भूपद्वार तिन्ह खबरि जनाई। दसरथ नृप सुनि लिये बोलाई॥२॥
करि प्रनाम तिन्ह पाती दीन्ही। मुदित महीप आप उठि लीन्ही॥३॥
बारि बिलोचन बाँचत पाती। पुलक गात आई भरि छाती॥४॥
राम लखन उर कर बर चीठी। रहि गये कहत न खाटी मीठी॥५॥

शब्दार्थ—पाती = पत्रिका। खाटी मीठी = बुरी-भली, अप्रिय-प्रिय।

अर्थ—दूत श्रीरामजी के पवित्र नगर में पहुँचे, शोभायमान नगर देखकर प्रसन्न हुए॥१॥ उन दूतों ने राजा के द्वार (दरबार) पर से राजा दशरथ को सूचना दी। उन्होंने सुनकर बुला लिया॥२॥ उन दूतों ने प्रणाम करके पत्रिका दी, आनन्द मन से राजा ने स्वयं उठ कर उसे लिया॥३॥ पत्रिका पढ़ते ही दोनों आँखों में आँसू भर आये, शरीर पुलकित हो गया और छाती (कलेजा) भर आई॥४॥ श्रीराम-लक्ष्मण हृदय में हैं और हाथ में श्रेष्ठ चिट्ठी, वे (उसे हाथ में लिये) स्तम्भ रह गये, बुरा-भला कुछ नहीं कहते॥५॥

विशेष—(१) 'पहुँचे दूत राम-पुर पावन।'—'रामपुर' कहा गया है, क्योंकि (क) दूत लोग श्रीरामजी से परिचित हैं, उनके पास से आ रहे हैं, उनकी दृष्टि से यहाँ ग्रंथकार रामपुर कह रहे हैं। (ख) जैसे श्रीजनकपुर की शोभा-वर्णन के अंत में—'बसइ नगर जेहि लच्छि···' कहा है, अर्थात्

यहाँ का शोभाधिक्य श्रीजानकीजी के सम्बन्ध से है, वैसे यहाँ 'राम-पुर' कहकर शोभा के हेतु श्रीरामजी को जनाया। 'पावन' पुर का विशेषण है, यथा—"बंदउँ अवधपुरी अति पावनि।" (दो० १५); "पावनि पुरी रुचिर यह देसा।" (उ० दो० ३)। श्रीराम-पुर होने से तीर्थ-रूप है। अतः, पावन है और राजधानी के सम्बन्ध से नगर है, वह सुहावन है। तीर्थ पवित्र होते हैं, पर यह नियम नहीं है कि वहाँ सुंदरता भी हो ही। यहाँ दोनों हैं। पूर्वार्द्ध में शांत रस की शोभा और उत्तरार्द्ध में शृंगार रस की पूर्णता कही गई है। 'हरषे नगर बिलोकि'''—ये जनकपुर के रहनेवाले हैं, वहाँ की रचना पर—'मन बिरंचि कर भूल' 'जो बिलोकि सुरनायक मोहा।' कहा गया है। वैसी अयोध्या की भी शोभा देखी। अतः, हर्ष हुआ कि योग्य सम्बन्ध होगा। श्रीअवध की शोभा पर भी ब्रह्माजी और इन्द्रादिक का मोहना कहा गया है, यथा—"देखत अवध को आनंद'''।" (गी० उ० २१)।

(२) 'भूपद्वार तिन्ह'''—राजा ने द्वारपालों से सुना और तुरत बुलाया, जैसे श्रीराम-लक्ष्मण का सदेश जाना कि शीघ्र बुलाया और द्वारपालों ने लौटकर कहा, तुरन्त ही दूत लोग राजा के पास आये। वैसी ही शीघ्रता कवि ने भी की कि एक ही अर्द्धाली में सब कह दिया।

(३) 'करि प्रनाम तिन्ह पाती'''—अपना नाम-ग्राम आदि प्रथम ही द्वार पालों से कहला भेजे थे, इससे यहाँ केवल प्रणाम करके पाती देना (पत्रिका) ही कहा गया। गीतावली में श्रीशतानन्दजी का आना लिखा है, पर यहाँ के—'करि प्रनाम' से उसका निराकरण है।

'मुदित महीप आप '''—अत्यन्त वात्सल्य में श्रीराम-प्रेम वश इतना विलंब नहीं सह सके कि मंत्री लेकर वाचें एवं पहुँचावें, प्रत्युत स्वयं उठकर लिया। यह भी कहा जाता है कि राजा जनक योगिराज भी हैं। अतः, उन्हें आदर देने को उनका भेजा हुआ पत्र स्वयं ही उठकर लिया।

(४) 'बारि बिलोचन बाँचत'''—यहाँ राजा के प्रेम की उत्कृष्ट दशा प्रकट हुई। यथा—"तासु दसा देखी सखिन्ह, पुलक गात जल नैन।" (दो० २२८); छाती भर आई अर्थात् कंठ गद्गद हो गया, प्रेम से विह्वल हो गये। अतः, वचन नहीं कह सकते। सभा के लोग राजा की दशा पर बुरे-भले, दोनों की तर्कणा करते हैं, पर राजा कुछ कह न सके। खट्टा-मीठा बुरे-भले के लिये मुहावरा है। श्रीराम-लक्ष्मण के समाचार पढ़ते ही उनका ध्यान हृदय में आ गया, राजा ज्यों-के-त्यों स्तब्ध रह गये।

(५) 'बर चीठी'—क्योंकि इसमें श्रीराम-लक्ष्मण का यश है। अतः, श्रीरामजी से भी अधिक है. यथा—"प्रभु ते प्रभु-चरित पियारे।" (गी० बा० ४४)।

'खाटी मीठी'—पर कहा जाता है कि ताटका-वध, यज्ञ-रक्षा, अहल्या-उद्धार, धनुर्भंग, परशुराम पराजय और विवाह—ये ही खट्टी मीठी बातें हैं। यहाँ प्रत्येक में प्रथम अप्रिय, फिर प्रिय, बातें हैं—जैसे ताटका खान दौड़ी—यह खट्टी, उसे एक ही बाण में मारा—यह मीठी, यज्ञ-रक्षा में मारीच आदि से युद्ध हुआ—यह खट्टी, उन्हें मारकर सुयश पाया—यह मीठी, अहल्या को निर्जन वन में पत्थर बनी देखा—यह खट्टी, उसका उद्धार किया—यह मीठी, धनुष की कठोरता का वर्णन एवं रावण आदि का उससे हारना—यह खट्टी, उसे क्षण भर में तोड़ चढ़ाया—यह मीठी, परशुराम क्रोध-पूर्ण आये—यह खट्टी, शस्त्र देकर प्रणाम करके गये—यह मीठी। आप बरात सजकर आवें - यह मीठी !!

पुनि धरि धीर पत्रिका बाँची। हरषी सभा बात सुनि साँची ॥६॥
खेलत रहे तहाँ सुधि पाई। आये भरत सहित हित भाई ॥७॥
पूछत अति सनेह सकुचाई। तात कहाँ ते पाती आई ॥८॥

दोहा—कुसल प्रानप्रिय बंधु दोउ, अहहिं कहहु केहि देस।
सुनि सनेह-साने बचन, बाँची बहुरि नरेस ॥२९०॥

अर्थ—फिर धैर्य धरकर चिट्ठी पढ़ी, सारी सभा सच्ची बात सुनकर प्रसन्न हुई॥६॥ जहाँ खेल रहे थे वहीं श्रीभरतजी ने खबर पाई तो वे मित्रों और भाई शत्रुघ्न के साथ (दौड़े) आये॥७॥ अत्यन्त प्रेमपूर्वक सकुचते हुए पूछते हैं कि हे तात! यह पत्रिका कहाँ से आई है?॥८॥ कहिये तो प्राणप्रिय दोनों भाई कुशल से तो हैं? और किस देश में हैं? इन प्रेम में सने हुए वचनों को सुनकर राजा ने पत्रिका को फिर से पढ़ा।२९०।

विशेष—(१) 'हरषी सभा बात सुनि साँची।'—इससे जान पड़ता है कि पहले भी कुछ उड़ती हुई खबर मिलती थी, पर आज लिखित प्रामाणिक समाचार आये, इससे सभा भर को हर्ष हुआ।

(२) 'आये भरत सहित हित भाई।'—'हित' का अर्थ सखा है, सखाओं के साथ खेल रहे थे, यथा—"नहिं आवहिं तजि बाल-समाजा।" (दो० २०२); वे सब सखा भी श्रीरामजी के प्रेमी हैं। अतः, श्रीभरतजी के साथ सब हो लिये और खेल छोड़कर दौड़े आये।

(३) 'पूछत अति सनेह सकुचाई।'—श्रीभरतजी का स्वभाव संकोचयुक्त है, यथा—"महूँ सनेह-सँकोच-बस, सनमुख कहे न बैन।" (अ० दो० २६०); "तब मुनि बोले भरत सन, सब सँकोच तजि तात।" (अ० दो० २५१); किन्तु यहाँ स्नेह की अधिकता ने संकोच को जीत लिया कि बिना पूछे नहीं रहा गया। प्रश्न का उत्तर तो इतने ही में हो जाता कि जनकपुर से पाती आई है, वहीं पर कुशल से दोनों भाई हैं, पर इनका स्नेह देखकर राजा ने विचारा कि बिना पूरा सुने संतोष न होगा। अतः, फिर से पढ़ सुनाया।

'प्रान-प्रिय'—प्राणों से प्रिय और कुछ भी नहीं है, यथा—"देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।" (दो० २०७); श्रीराम-लक्ष्मण भरतजी को प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं।

सुनि पाती पुलके दोउ भ्राता। अधिक सनेह समात न गाता॥१॥
प्रीति पुनीत भरत कै देखी। सकल सभा सुख लहेउ बिसेखी॥२॥
तब नृप दूत निकट बैठारे। मधुर मनोहर बचन उचारे॥३॥
भैया कहहु कुसल दोउ बारे। तुम नीके निज नयन निहारे॥४॥
स्यामल गौर धरे धनु-भाथा। बय किसोर कौसिक मुनि साथा॥५॥
पहिचानहु तुम्ह कहहु सुभाऊ। प्रेमबिबस पुनि पुनि कह राऊ॥६॥
जा दिन ते मुनि गये लिवाई। तब ते आजु साँचि सुधि पाई॥७॥
कहहु बिदेह कवन बिधि जाने। सुनि प्रिय बचन दूत मुसुकाने॥८॥

दोहा—सुनहु महीपति-मुकुटमनि, तुम्ह सम धन्य न कोउ।
राम-लखन जिन्हके तनय, बिस्वबिभूषन दोउ ॥२९१॥

शब्दार्थ—भैया = प्रिय संबोधन है, यह यहाँ ज्येष्ठ पुत्र और ज्येष्ठ भाई को कहा जाता है। बारे = बच्चे।

अर्थ—पत्रिका को सुनकर दोनों भाई पुलकित हुए, स्नेह इतना बढ़ा कि शरीर में नहीं समाता ॥१॥ श्रीभरतजी की पवित्र प्रीति देखकर सब सभा को विशेष सुख प्राप्त हुआ ॥२॥ तब राजा ने दूतों को पास में बैठाया और उनसे मीठे और मन को हरनेवाले (सुंदर) वचन बोले ॥३॥ भैया ! कहो, दोनों बच्चे कुशल तो हैं ? तुमने अपने नेत्रों से उन्हें 'नीके' (अच्छी तरह और सकुशल) देखा है ? ॥४॥ एक श्याम वर्ण और दूसरे गोरे हैं, धनुष और तरकश धारण किये रहते हैं, किशोर अवस्था है और विश्वामित्र मुनि के साथ हैं ॥५॥ जो तुम पहचानते हो तो उनका स्वभाव कहो। प्रेम के विशेष वश में होने से राजा फिर-फिर (ऐसे ही) पूछते हैं ॥६॥ जिस दिन से मुनि उनको लिवा ले गये, तब से आज ही सच्चा समाचार मिला ॥७॥ कहो तो, विदेह राजा ने उन्हें कैसे जाना ? ऐसे प्यार-भरे वचनों को सुनकर दूत मुसकाये ॥८॥ (और बोले) हे राजाओं के मुकुट मणि ! सुनिये, आपके समान कोई धन्य नहीं है कि संसार-भर के विभूषण (रूप) श्रीराम-लक्ष्मण दोनों जिनके पुत्र हैं ॥२९१॥

विशेष—(१) 'सुनि पाती पुलके दोउ···'—इनका स्नेह राजा के समान ही है, *यथा*—"बारि बिलोचन बाँचत पाती। पुलक गात आई भरि छाती ॥" (दो० २८९)। 'समात न गाता'—अर्थात् रोमांच और प्रेमाश्रुओं के द्वारा मानों निकला पड़ता है। सभा का प्रेम इनसे कम है तभी तो—'हरषी सभा' मात्र कहा गया।

(२) 'प्रीति पुनीत भरत कै···'—इनकी प्रीति मन, वचन और कर्म से पवित्र है—'पूछत अति सनेह सकुचाई।' स्नेह और संकोच मन का धर्म है। 'सनेह साने वचन' यह वचन में प्रीति है। 'अधिक सनेह समात न गाता।' में शरीर एवं कर्म में भी प्रीति है। 'पुनीत'—क्योंकि स्वार्थ-रहित है, *यथा*—"परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे ॥" (अ० दो० २८८)। 'देखी'—पहले कानों से ही सुनते थे, आज आँखों से भी देख लिया कि सत्य ही भरत में श्रीरामजी के प्रति गूढ़ स्नेह है, *यथा*—"गूढ़ सनेह भरत मन माहीं।" (अ० दो० २८२)। 'सकल सभा सुख···' प्रथम 'हरषी सभा' कहा गया था, अब सबको भरत का भायप देखकर विशेष सुख हुआ कि भ्रातृस्नेह हो तो ऐसा !

(३) 'तब नृप दूत निकट···'—निकट बैठाना आदर है, *यथा*—"*अति आदर समीप बैठारी।*" (लं० दो० १०)। 'मधुर'—सुनने में। 'मनोहर'—समझने में।

(४) 'भैया कहहु कुसल···'—इस अर्द्धाली के मूल ही में जो रस है, वह अर्थ में नहीं आ सकता। इतने बड़े चक्रवर्त्ती महाराज होकर दूतों को 'भैया' कहते हैं, क्योंकि इन्होंने श्रीरामजी का समाचार लाकर दिया है, *यथा*—"जे जन कहहिं कुसल हम देखे। ते प्रिय राम-लखन-सम लेखे ॥" (अ० दो० २२६); "जो कहिहै फिरे राम लखन घर करि मुनि-मख रखवारी। सो तुलसी प्रिय मोहिं लागिहै ज्यों सुभाय सुत चारी ॥" (गी० बा० ९८)। अतः, राजा ने दूतों के लिये श्रीरामतुल्य प्रिय मानकर वही संबोधन कहा जो ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामजी को (भैया) कहते थे। 'नीके' शब्द श्लिष्ट है—'दोउ बारे' के साथ 'कुशलता' के और 'निहारे' के साथ 'अच्छी तरह' के अर्थ में है। 'तुम्ह नीके' का यह भी भाव है कि हमसे तो तुम्हीं नीके (अच्छे) हो, क्योंकि उन्हें अपने नेत्रों से देखा है।

(५) 'स्यामल गौर धरे ···'—राजा विचारते हैं कि राम-लक्ष्मण तो सादे वेष में होंगे, बहुत राजकुमारों में इनलोगों ने उन्हें पहचाना हो या नहीं; इसलिये प्रथम ही उनकी हुलिया (रूप-रंग और आकार-प्रकार) कहते हैं। अंत में कौशिक मुनि के साथ कहा, क्योंकि वे महामुनि हैं, अतः प्रसिद्ध रहे होंगे।

(६) 'तब ते आजु साँचि सुधि···'—महाराज चाहते तो नित्य दूतों से समाचार लिया करते, पर राजा ने तो अपना पितृत्व मुनि में स्थापित कर दिया था, यथा—"तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ।" (दो० २०७); उसका निर्वाह करते हुए सुधि तक नहीं लेते। यह मुनि पर दृढ़ विश्वास एवं निर्भरता है।

(७) 'कहहु बिदेह कवन बिधि···'—'विदेह' पद में व्यंग्य भी है कि वे तो ज्ञानी हैं, अतः, देह की भी सुधि नहीं रखते, तो राम-लक्ष्मण को कैसे जाना ? यह चिट्ठी में नहीं लिखा था, इसलिये जानने का प्रकार मुखाग्र सुना चाहते हैं। 'दूत मुसुकाने'—क्योंकि इन्होंने दोनों भाइयों का तेज-प्रताप और वीरता देखी है और इधर वात्सल्य-वश उनका अत्यन्त लाघव सुनते हैं। अथवा 'प्रिय वचन' से विदेह शब्द के व्यंग्यार्थ पर भी मुसकुराये।

'बिश्वबिभूषन'—वे दोनों भाई जगत् भर को सुशोभित करनेवाले हैं।

पूछन जोग न तनय तुम्हारे। पुरुषसिंह तिहुँ पुर उजियारे ॥१॥
जिन्हके जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रबि सीतल लागे ॥२॥
तिन्ह कहँ कहिय नाथ किमि चीन्हे। देखिय रबि कि दीप कर लीन्हे ॥३॥
सीयस्वयंबर भूप अनेका। सिमिटे सुभट एक ते एका ॥४॥
संभुसरासन काहु न टारा। हारे सकल बीर बरियारा ॥५॥
तीनि लोक महँ जे भट मानी। सबकै सकति संभुधनु भानी ॥६॥
सकइ उठाइ सरासुर मेरू। सोउ हिय हारि गयेउ करि फेरू ॥७॥
जेहि कौतुक सिवसैल उठावा। सोउ तेहि सभा पराभव पावा ॥८॥

दोहा—तहाँ राम रघुबंसमनि, सुनिय महा महिपाल।
भंजेउ चाप प्रयास बिनु, जिमि गज पंकजनाल ॥२९२॥

सके, सभी बली वीर हार गये ॥५॥ तीनों लोकों में जो-जो अभिमानी योद्धा थे, उन सबकी शक्ति को शिवजी के धनुष ने तोड़ डाला ॥६॥ जो बाणासुर सुमेरु पर्वत को उठा सकता था वह भी हृदय से हारकर परिक्रमा (या युक्ति—बहाना) करके चला गया ॥७॥ जिसने खेल ही-खेल में कैलाश को उठा लिया, उसने भी उस सभा में हार मानी ॥८॥ वहाँ (उस सभा में) हे महाराजाधिराज ! सुनिये, रघुकुल शिरोमणि श्रीरामजी ने धनुष को बिना श्रम के तोड़ डाला, जैसे हाथी कमल की दण्डी को (तोड़ता है) ॥२६२॥

विशेष—(१) 'पूछन जोग न तनय · '—इस तरह के प्रश्नों से वे पूछने के योग्य नहीं हैं, क्योंकि वे सिंह के तुल्य हैं, सिंह के समान सामर्थ्यमान् और प्रतापी हैं, सिंह जिधर जा निकलता है उधर स्वयं हल्ला हो जाता है। सब जान जाते हैं, उसके प्रताप से सब दब जाते हैं। ऐसे ये आपके कुमार अपने यश-प्रताप रूप उजाले से तीनों लोकों को प्रकाशित करनेवाले हैं। आपके पुत्रों ने अपने सामर्थ्य संबंधी तेज-प्रताप से तीनों लोकों में उजाला कर दिया। इसी की व्याख्या अगली अर्द्धाली में है।

(२) 'जिन्हके जस प्रताप के····'—यहाँ यथासंख्यालंकार से यश को चन्द्रमा और प्रताप को सूर्य की उपमा है, यथा—"नव बिधु बिमल तात जस तोरा।" (अ॰ दो॰ २०८); "जब ते राम-प्रताप खगेसा। उदित भये अति प्रबल दिनेसा॥" (उ॰ दो॰ ३०); "काम से रूप प्रताप दिनेस से ··" (क॰ उ॰ ४३); इनके यश के आगे चन्द्रमा फीके और प्रताप के सामने सूर्य ठंढे लगते हैं तो और कौन है जो समता कर सके ? यहाँ प्रतीप अलंकार है।

यहाँ बाहु-बल के अभिमानी राजा लोग चन्द्रमा-रूप थे—"नृप भुज-बल बिधु सिव-धनु राहू।" (दो॰ २४६), वे सब मलिन पड़ गये—"श्रीहत भये भूप धनु टूटे।" (दो॰ २६२), और सूर्यवत् प्रतापी परशुरामजी आये—"आये भृगुकुल कमल पतंगा।" (दो॰ २६७), वे प्रथम तपते हुए आये, फिर ठंढे होकर गये—"छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता।" (दो॰ २८४)।

(३) 'तिन्ह कहँ कहिय नाथ ····'—छिपी हुई वस्तु दीपक से देखी जाती है, चन्द्रमा और सूर्य की तरह जिनका यश और प्रताप है उनके पहचानने के लिये विदेह को अपने ज्ञान-दीपक की आवश्यकता नहीं पड़ी। यह—'कहहु बिदेह कवन · ' के प्रति है, या, राजा ने कहा था—'पहिचानहु तुम्ह कहहु सुभाऊ।' तदनुसार उनके कहे हुए उपाय—"स्यामल गौर धरे धनु भाथा। बयकिसोर कौसिक मुनि साथा॥" आदि दीपक तुल्य हैं।

(४) 'सीय-स्वयंबर भूप···'—एक-से-एक अधिक बलवाले सुभट चारों ओर से एक ही दिन जुट आये, सबके आने का कारण सीय-स्वयंवर था। यथा—"दीप दीप के भूपति नाना। आये सुनि हम-जो पन ठाना॥ देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आये रनधीरा॥" (दो॰ २५०)। 'एक ते एका'—एक उठा, उसके हारने पर उससे अधिक बलवाला उठा, इस क्रम से एवं सबका साथ उठना भी ले सकते हैं।

(५) 'संभु सरासन काहु न टारा'—'टारा' यथा—"तिल भरि भूमि न सकेउ छुड़ाई।" (दो॰ २५१), 'हारे सकल बीर ·' यथा—"भूप सहस दस एकहि बारा। लगे उठावन टरइ न टारा॥" (दो॰ २५०)। 'हारे', यथा—"कीरति बिजय बीरता भारी। चले चाप कर बरबस हारी॥" (दो॰ २५०)।

'तीनि लोक महँ जे ·· ··'—ये शिव-धनुष तोड़ने को अभिमान करके चले, पर शिव-धनुष ने ही इनकी शक्ति तोड़ डाली।

(६) 'सकइ उठाइ सरासुर····· '—'सकइ' मेरुको उठाया नहीं, पर उठा सकता है। उपर्युक्त—

'सहस घोर' में भट, 'भट मानी' में सुभट और ये बाणासुर-रावण महाभट हैं, यथा—"रावन बान महाभट भारे।" (दो० २५१)।

(८) 'तहाँ राम रघुबंस मनि···'—दोनों भाई रघुवंश मणि हैं, उनमें 'राम' कहकर तोड़ने वाले को स्पष्ट किया। उपक्रम में—'सुनहु महीपति मुकुटमनि' कहा, उपसंहार में—'सुनिय महामहिपाल' कहा है। उपक्रम और उपसंहार में चक्रवर्तीजी की बड़ाई के कारण साथ ही लिखे हैं—'राम लखन जिन्हके तनय' 'राम रघुबंसमनि···भंजेउ चाप'। 'प्रयास बिनु'—अर्थात् और राजा लोग श्रम करके भी कुछ न कर सके, इन्होंने बिना श्रम ही तोड़ा—"छुअतहिं टूट पिनाक" (दो० २८२); 'जिमि गज पंकज नाल' यथा—"तौ सिव-धनु मृनाल की नाईं। तोरहु राम गनेस गोसाईं॥" (दो० २५४); ये जनकपुर-वासियों के वचन हैं। ये दूत भी उन्हीं में से हैं। अतः, वही भाव कह रहे हैं।

सुनि सरोष भृगुनायक आये। बहुत भाँति तिन्ह आँखि देखाये॥१॥
देखि रामबल निज धनु दीन्हा। करि बहु बिनय गवन बन कीन्हा॥२॥
राजन राम अतुल बल जैसे। तेजनिधान लखन पुनि तैसे॥३॥
कंपहिं भूप बिलोकत जाके। जिमि गज हरिकिसोर के ताके॥४॥
देव देखि तव बालक दोऊ। अब न आँखि तर आवत कोऊ॥५॥

अर्थ—(धनुर्भंग) सुनकर क्रोध-भरे परशुरामजी आये और उन्होंने बहुत तरह से आँख दिखाई॥१॥ श्रीरामजी का बल देखकर अपना धनुष दिया और बहुत विनय करके वन को चले गये॥२॥ हे राजन्! जैसे श्रीरामजी अतुलित बली हैं, वैसे ही तेजो निधान फिर लक्ष्मणजी भी हैं॥३॥ जिनके देखते ही (दृष्टि मात्र से) राजा लोग काँपते हैं, जैसे सिंह के नवयुवक बच्चे के ताकने पर हाथी काँपे॥४॥ हे देव (नरदेव)! आपके दोनों पुत्रों को देखकर अब कोई आँखों के तले (सामने) नहीं आता॥५॥

विशेष—(१) 'सुनि सरोष भृगुनायक···'—'सुनि' यथा—"तेहि अवसर सुनि सिवधनु भंगा। आये···" (दो० २६७)। 'सरोष' के साथ 'भृगुनायक' देकर जनाया कि जैसे भृगु क्रुद्ध होकर विष्णु भगवान् को मारने गये थे, वैसे ये भी आये। 'बहुत भाँति तिन्ह···' यथा—"बोले चितइ परसु की ओरा।" (दो० २७२); फिर स्वयं वीरता कही, कौशिक से भी कहा—"कहि प्रताप बल रोष हमारा।" (दो० २७७); फिर फरसे की घोरता बतलाई—"परसु मोर अति घोर।" (दो० २७२), पुनः—"चाप-स्रुवा···" से—"समर यज्ञ जग···" (दो० २८३) तक; इत्यादि कहे, यथा—"काल कराल नृपालन के धनु-भंग सुने फरसा लिये धाये। "महा रिसि ते पुनि आँखि देखाये॥" (क० बा० ११); अर्थात् बहुत तरह से डरवाना चाहा।

(२) 'देखि राम-बल निज धनु···'—पहले अपने बल का मद था, अब वह क्रमशः क्रोध द्वारा घट गया, यथा—"रिस तन जरइ होइ बल हानी।" (दो० २७७); तब श्रीरामजी का बल उन्हें देख पड़ा, तब रमापति का शार्ङ्ग धनुष चढ़ाने को देकर संदेह मिटाना चाहा—"देव चाप आपुहि चलि गयेऊ।" पर बल का निश्चय हो गया, तो वही शार्ङ्ग-धनुष श्रीरामजी को दे डाला। इस तरह अपना धनुष (हथियार) शत्रु को देना अपनी पूर्णतया हार को स्वीकार करना है।

(३) 'राजन राम अतुल बल ···'—दूतों ने धनुष तोड़ने से श्रीरामजी का अतुल बल देखा, यथा—"तव भुज-बल-महिमा उद्‌घाटी। प्रगटी धनु विघटन परिपाटी॥" (दो० २३८); लक्ष्मणजी का तेज देखा, यथा—"कुँवर चढ़ाई भौंहैं अब को बिलोकै सौंहैं जहाँ-तहाँ भे अचेत खेत के से धोरे हैं।" (गी० बा० ९१)। यही आगे—'कंपहि भूप···' से कहते हैं। पुनः जैसे अतुलबल राम हैं, वैसे तेजोनिधान लक्ष्मणजी भी हैं, इस तरह बल और तेज दोनों भाइयों में कहा, यथा—"सुनु पति जिन्हहिं मिला सुग्रीवा। ते दोउ बंधु तेज बल सींवा॥" (कि० दो० ९)।

'जिमि गज हरिकिसोर··· '—यथा—"अरुन नयन भृकुटी कुटिल, चितवत नृपन्ह सकोप। मनहुँ मत्त गजगन निरखि, सिंह-किसोरहिं चोप॥" (दो० २६७)। किशोर अवस्था के सिंह में उत्साह अधिक होता है, उपमेय लक्ष्मणजी भी किशोर ही हैं।

(४) 'देव देखि तव बालक दोऊ····· '—ऐसे पुत्रों के सम्बन्ध से आप देव-रूप हैं, जब से आपके पुत्रों को देखा है, तब से आँखों के सामने पृथिवी भर में और वीर देख ही नहीं पड़ता। प्रथम राजकुमारों को सूर्य-रूप कह आये—"देखिय रबि कि दीप कर लीन्हे।" जो सूर्य को देखता है, उसे और नहीं दिखाई देता। यह—'तुम्ह नीके निज नयन निहारे।' का उत्तर है।

दूत-बचन-रचना प्रिय लागी। प्रेम प्रताप-बीर-रस-पागी॥६॥
सभासमेत राउ अनुरागे। दूतन्ह देन निछावरि लागे॥७॥
कहि अनीति ते मूँदहिं काना। धरम बिचारि सबहिं सुख माना॥८॥

दोहा—तब उठि भूप बसिष्ठ कहँ, दीन्हि पत्रिका जाइ।
कथा सुनाई गुरुहि सब, सादर दूत बोलाइ॥२९३॥

अर्थ—दूतों के प्रेम, प्रताप और वीर रस मे पगे हुए वचनों की रचना प्रिय लगी॥६॥ सभा के साथ राजा अनुराग-पूर्ण हुए और दूतों को न्योछावर देने लगे॥७॥ तब उन्होंने 'यह अनीति है'—यह कहकर (हाथों से) कान बन्द कर लिया, धर्म विचारकर सभी ने सुख माना॥८॥ तब राजा ने उठकर वशिष्ठजी के पास जा उनको पत्रिका दी और आदर-पूर्वक दूतों को बुलाकर गुरुजी को सारी कथा सादर सुनाई॥२९३॥

विशेष—(१) 'दूत-बचन-रचना···'—महाराज ने मधुर मनोहर वचन कहे थे, उत्तर में दूतों ने भी प्रेम, प्रताप और वीर रस में पगे हुए वचन कहे हैं, इन वचनों में—"सुनहु महीपति मुकुटमनि।" से—"पुरुष सिंह तिहुँ पुर उँजियारे॥" तक विशेष प्रेम रस के पगे, "जिनके जस प्रताप के आगे।" से—"देखिय रबि कि दीप कर लीन्हे॥" तक प्रताप रस के पगे, और "सीय स्वयंवर भूप अनेका।" से—"अब न आँखितर आवत कोऊ॥" तक वीर रस के पगे वचन हैं। यों तो समष्टि में सभी वचन प्रेम आदि रसों से पगे हैं 'वचन रचना'—युक्ति-पूर्वक क्रमशः लचीले शब्दों से सभ्यता के साथ कहना।

'दूतन्ह देन निछावरि लागे।'—दूतों ने बहुत-सी मंगलमयी प्रिय बातें एक साथ ही सुनाईं, जिन एक-एक बातों पर न्योछावर करना योग्य था। जैसे धनुष टूटने पर जनकपुर-वासियों ने किया है, यथा—

"करहिं निछावरि लोग सब, हय गय धन मनि चीर।" (दो० २९१)। पुन "प्रथम जाइ जिन्ह बचन सुनाये। भूषन बसन भूरि तिन्ह पाये।" (अ० दो० ७), इन लोगों के समक्ष तो ये सब बातें मानों अभी ही हुई हैं। अत, सभी अनुराग-युक्त हुए और न्योछावर देने लगे।

(२) 'कहि अनीति ते'''—ये दूत लोग राजा जनक के मंत्री-वर्ग हैं, यथा—"कौशिकस्तु नयेत्याह राजा चाभाष्य मंत्रिणः। अयोध्यां प्रेषयामास" (वाल्मी० १।६९।२०); इससे ये राजा के सखा के तुल्य हैं, जैसे सुमंत्र मंत्री को राजा दशरथ सखा कहते थे। अतः, ये दूत श्रीजानकीजी को कन्या के समान मानते हैं। कन्या की ससुराल के ग्राम का लोग जल तक नहीं पीते, यह भारतवर्ष के धार्मिकों का नियम है, फिर ये लोग द्रव्य कैसे लें? अत', कान मूँदते हैं कि लेने की बात तो दूर है, हमलोग कानों से भी सुनना नहीं चाहते, क्योंकि यह हमारे धर्म के विरुद्ध है।

'तब उठि भूप '''—गुरुजी सभा में न थे, प्रेम के मारे राजा स्वय अकेले ही गुरुजी के पास चले गये। 'उठि'—क्योंकि दूतों से चिट्ठी लेकर बैठ गये थे। 'सादर' दीपदेहली रूप से कथा सुनाने और दूत बुलाने में भी है। दूतों को इससे बुलाया, कि सब बातें उनके सामने की हैं, पुन वे उसे प्रेम, प्रताप और वीर रस से मिलाकर कहेंगे, यही सादर सुनाना है। दूतों को सादर बुलाना श्रीराम सदेश लाने के सम्बन्ध से है। राजा ने गुरु से स्वय नहीं कहा, क्योंकि बड़ों के सामने पुत्रों का यश कहना अनुचित है।

सुनि बोले गुरु अति सुख पाई। पुन्य पुरुष कहँ महि सुख छाई ॥१॥
जिमि सरिता सागर महुँ जाहीं। जद्यपि ताहि कामना नाहीं ॥२॥
तिमि सुख संपति बिनहिं बोलाये। धरमसील पहिं जाहि सुभाये ॥३॥
तुम्ह गुरु-बिप्र-धेनु-सुर-सेवी। तसि पुनीत कौसल्या देवी ॥४॥
सुकृती तुम्ह समान जग माहीं। भयेउ न है कोउ होनेउ नाहीं ॥५॥
तुम्ह ते अधिक पुन्य बड़ काके। राजन राम-सरिस सुत जाके ॥६॥
बीर बिनीत धरम-ब्रत-धारी। गुनसागर बर बालक चारी ॥७॥
तुम्ह कहँ सर्बकाल कल्याना। सजहु बरात बजाइ निसाना ॥८॥

दोहा—चलहु बेगि सुनि गुरुबचन, भलेहि नाथ सिर नाइ।
भूपति गवने भवन तब, दूतन्ह बास देवाइ ॥२९४॥

अर्थ—(कथा) सुनकर गुरु अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले कि पुण्यात्मा पुरुषों के लिये पृथिवी सुख से छाई हुई रहती है ॥१॥ जैसे नदियाँ (स्वय) समुद्र में जाती हैं, यद्यपि उसे इनकी कामना नहीं रहती ॥२॥ वैसे ही सुख-सम्पत्ति बिना बुलाये स्वाभाविक ही धर्मात्मा के पास जाती हैं ॥३॥ जैसे आप गुरु, ब्राह्मणों, गायों और देवताओं की सेवा करनेवाले हैं, वैसी ही कौशल्या देवी भी पवित्र हैं ॥४॥ ससार में आपके समान सुकृती न कोई हुआ, न है और न होने ही वाला है ॥५॥ हे राजन्! आपसे अधिक बड़ा

पुण्य किसका है कि जिनके राम के समान पुत्र हैं ॥ ६ ॥ आपके वीर, विशेष नम्र और धर्म के व्रत धारण करनेवाले, गुणों के समुद्र श्रेष्ठ चार बालक हैं ॥७॥ आपको सभी (भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों) कालों में कल्याण है, डंका बजाकर बरात सजिये ।८॥ शीघ्र चलिये, (यह) गुरुजी के वचन सुनकर, शिर नवा 'नाथ ! बहुत अच्छा' ऐसा कह और दूतों के ठहरने का प्रबंध करके राजा महल में गये ॥२९४॥

विशेष—(१) 'सुनि बोले गुरु अति'''—पत्रिका देखी और दूतों से संवाद भी सुना, इससे इन्हें अति सुख हुआ, जैसे पूर्व राजा का सुख होना कहा गया। 'अति' न होने से सब सभा के समान ही इनका सुख भी समझा जाता। 'छाई'—सर्वत्र सुख-ही-सुख है।

(२) 'जिमि सरिता'''तिमि सुख'''' यथा—"भुवन चारिदस भूधर भारी। सुकृत मेघ बरषहिं सुख बारी ॥ रिधि सिधि संपति नदी सुहाई। उमँगि अवध-अंबुधि कहँ आई ॥" (अ० दो० १); 'जद्यपि ताहि कामना नाहीं।" .यथा—"आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।" (गीता २।७०)। भाव यह भी है, कामनावालों को संपत्ति प्रायः नहीं मिलती, यथा—"दिये पीठ पाछे लगे, सनमुख होत पराय। तुलसी संपति छाँह ज्यों, लखि दिन बैठ गँवाय ॥" (दोहावली २५७)।

(३) 'बिनहिं बुलाये' अर्थात् अभीष्ट-सिद्धि तो होती है, न चाहने पर भी सुख-साज हो जाते हैं।

(४) 'तुम्ह गुरु-बिप्र-धेनु ''''''—ऊपर सुकृत का फल कहा अब सुकृत का स्वरूप कहते हैं, साथ ही कौशल्याजी को भी कहते हैं, क्योंकि उपर्युक्त फल दोनों के सुकृत के फल हैं, पहले सुकृत किया था, फल पाकर पूर्व स्वभावानुसार फिर भी सुकृत ही करते हैं।

(५) 'तुम्हते अधिक पुन्य'''''''—प्रथम कह चुके कि तीनों काल में आपके समान सुकृती नहीं है, अब उसका प्रमाण देते हैं कि—'राम सरिस सुत जाके'। फल देखकर सुकृत का अनुमान किया जाता है, परब्रह्म परमात्मा रामजी स्वयं पुत्र होकर फल रूप में प्राप्त हुए, यथा—"दसरथ सुकृत राम धरे देही।" (दो० ३०१); अन्यत्र भी कहा है, यथा—"दसरथ गुन गन बरनि न जाहीं। अधिक कहाँ जेहि सम जग नाहीं ॥ जासु सनेह सकोच बस, राम प्रगट भये आय।" (अ० दो० २०१); इसपर संदेह होता, कि केवल श्रीराम ही सुकृत के फल होंगे। अतः, आगे चारों भाइयों को कहते हैं—

(६) 'बीर बिनीत धरम ब्रतधारी।''''''''—धनुष तोड़ना वीरता है, परशुराम के कठोर वचन सहना विनीत भाव और मुनि के यज्ञ की रक्षा आदि धर्म के कार्य हैं, गुण, यथा—"गुन सागर नागर बर बीरा।" (दो० २४०); तथा—"चारिउ सील रूप गुन धामा।" (दो० १९०); पुनः भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न की वीरता क्रमशः हनुमान्जी को बिना फर के बाण से गिराने, मेघनाद वध और लवणासुर के वध से प्रसिद्ध है, तथा—"भरतहिं धरम धुरंधर जानी।" (अ० दो० २५८)। ग्रंथ में शेष सब बातें सब भाइयों की बहुत हैं।

(७) 'तुम्ह कहँ सर्बकाल'''''''—ईश्वर ने ही जिनके अधीन होकर पुत्रत्व स्वीकार किया है, उनके कल्याण में प्रतिकूल भी काल आदि अनुकूल हो जायँगे, यथा—"माया जीव काल के करम के सुभाय के करैया राम बेद कहैं साँची मन गुनिये।" (हनु० बाहुक ४४)। इससे जान पड़ता है कि ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि से अगहन मास ज्येष्ठ पुत्र के विवाह के लिये निन्दित है, राजा के हृदय में यह खटका था, उसपर गुरुजी ने ऐसा कहा।

(८) 'चलहु बेगि सुनि''''''—'बेगि'—क्योंकि सभी अवधवासी दोनों भाइयों के दर्शनों के लिये उत्सुक हैं, यथा—"सबके उर निर्भर हरष, पूरित पुलक सरीर। कबहिं देखिबे नयन भरि, राम

लखन दोउ बीर (दो० ३००)। पुनः दूत लोगों ने भी शीघ्रता की प्रार्थना की थी। 'दूतन्ह'—क्योंकि कई दूत आये थे।

राजा सब रनिवास बोलाई। जनकपत्रिका बाँचि सुनाई ॥१॥
सुनि सँदेस सकल हरखानी। अपर कथा सब भूप बखानी ॥२॥
प्रेमप्रफुल्लित राजहिं रानी। मनहुँ सिखिनि सुनि बारिदबानी ॥३॥

शब्दार्थ—रनिवास = रानियों के रहने के महल, पर यहाँ सब रानियों से तात्पर्य है, यथा—"आयो जनक राज रनिवासू।" (अ० दो० २८०); "मन सोगवत रह नृप रनिवासू।" (दो० ३५१)।

अर्थ—राजा ने सब रनिवास को बुला श्रीजनकजी की चिट्ठी बाँचकर सुनाई ॥१॥ समाचार सुनकर सब प्रसन्न हुई, (फिर) और कथा (जो दूतों के मुखाग्र सुनी थी) राजा ने कही ॥२॥ रानियाँ प्रेम से खिली हुई (प्रसन्नचित्त) ऐसी शोभित हो रही हैं, मानों मोरनी मेघों के शब्द सुनकर (सुखी हो) ॥३॥

विशेष—(१) 'राजा सब रनिवास बोलाई।'—सबको बुला लिया, तब बाँचा, नहीं तो पीछे आनेवाली के लिये, फिर से पढ़ना पड़ता। 'जनक पत्रिका'—क्योंकि इसमें जनकजी की बड़ी प्रार्थना है, वह मुखाग्र कहने से यथार्थ नहीं बनती। अत, उसे बाँच कर सुनाया। 'सकल'—सब आ गई थीं, पुन सबके हृदय में श्रीराम लक्ष्मण पर स्नेह है। अत, हर्षित हुईं। 'अपर कथा'—'सीय स्वयंबर भूप अनेका।' से—'त्रिमि गज हरि ...' तक।

'प्रेम प्रफुल्लित' यथा—"बारि बिलोचन बाँचत पाती। पुलक गात आई भरि छाती॥" (दो० २८६), अर्थात् राजा के समान ही इनका भी प्रेम है।

'मनहु सिखिन...'—जैसे ग्रीष्म से तप्त मोरनी मेघों के शब्द सुन और पावस के जल को पाकर शीतल होती है वैसे ये रानियाँ श्रीराम-लक्ष्मण के वियोग रूपी ग्रीष्म की तपी हुई थीं। राजा के मधुर गंभीर स्वर से भाषण रूप मेघ गर्जन सुनकर और श्रीराम सुयश रूपी जल पाकर शीतल एवं प्रफुल्ल हुईं। 'बारिद' अर्थात् जो बारि (जल) दे। यथा—"बरषहिं राम सुजस बर बारी।" (दो० ३५); राजा का भाषण मेघ-गर्जन के समान होता भी था, यथा—"दुन्दुभिस्वरकल्पेन गम्भीरेणानुनादिना। स्वरेण महता राजा जीमूत इव नादयन्॥" (वाल्मी० २।२।२)।

मुदित असीस देहिं गुरुनारी। अति - आनंद - मगन महतारी ॥४॥
लेहिं परसपर अति प्रिय पाती। हृदय लगाइ जुड़ावहिं छाती ॥५॥
राम - लखन कै कीरति करनी। बारहिं बार भूपबर बरनी ॥६॥
मुनिप्रसाद कहि द्वार सिधाये। रानिन्ह तब महिदेव बोलाये ॥७॥
दिये दान आनंद - समेता। चले बिप्रबर आसिष देता ॥८॥

अर्थ—गुरु-नारियाँ प्रसन्न मन से आशीर्वाद दे रही हैं, माताएँ अत्यन्त आनन्द में डूब गई हैं ॥४॥ उस अत्यन्त प्रिय पत्रिका को एक-दूसरी से ले लेकर हृदय से लगाकर छाती ठंढी करती हैं ॥५॥ श्रेष्ठ राजा ने श्रीराम-लक्ष्मण की कीर्त्ति और करणी का वर्णन बारंबार किया ॥६॥ 'सब मुनि की अनुग्रह से हुआ' ऐसा कहकर द्वार पर गये, तब रानियों ने ब्राह्मणों को बुलाया ॥७॥ और आनन्द सहित दान दिया, वे ब्राह्मण श्रेष्ठ आशीष देते हुए चले ॥८॥

विशेष—(१) 'मुदित असीस देहिं ···'—'देहिं' बहुवचन के योग से गुरु नारी शब्द बहुत गुरु पत्नियों का बोधक है, इससे गुरु वशिष्ठ की स्त्री अरुंधतीजी के अतिरिक्त और भी गुरु वर्ग (ब्राह्मणों एवं कुल वृद्धों) की स्त्रियों को भी जनाया है, वा, आदरार्थ भी बहुवचन का प्रयोग होता है, गुरु-नारी का आशीर्वाद अमोघ है। अत, माताओं को 'अति आनन्द' हुआ। समाचार से आनन्द और आशीष से अति आनन्द हुआ।

(२) 'लेहिं परस्पर अति···'—दोनों पुत्र अत्यन्त प्रिय हैं, यथा—"सब सुत प्रिय मोहिं प्रान कि नाईं।" (दो० २०७); इस पत्र में उनका चरित है। अतः, यह भी 'अति प्रिय' है। प्रिय के सम्बन्ध की वस्तु भी वैसी ही प्रिय होती है, यथा—"राम सखा सुनि स्यंदन त्यागा। चले उतरि उमँगत अनुरागा॥··· भरत लीन्ह उर लाय।" (अ० दो० १९३); "कनक बिंदु दुइ चारिक देखे। राखे सीस सीय सम लेखे॥" (अ० दो० १९८); "हरषहि निरखि राम पद अंका।" ···"रज सिर धरि हिय नयनन्हि लावहिं। रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥" (अ० दो० १९७)।

'राम लखन कै कीरति ···'—मुनि-मख-रक्षा, अहल्योद्धार, धनुर्भंग, परशुराम पराजय, ब्रह्मांड को पैर से दबाना, परशुराम को निरुत्तर करना इत्यादि करनी हैं, इनसे जो यश हुआ वही कीर्ति है, यथा—"मुनितियतरी लगत पग धूरी। कीरति रही भुवन भरि पूरी॥" (दो० ३५६), "महि पाताल नाक जस ब्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा॥" (दो० २६४)। 'बारहिं बार'—रानियों से प्रथम बार कहा, फिर उनका स्नेह देखकर दोबारा कहा, पुनः गुरु-नारियों के आशीर्वाद पर कहा, इत्यादि प्रेम के कारण बार-बार कहते हैं। 'भूप बर'—श्रीराम प्रेम के सम्बन्ध से 'बर' विशेषण है।

'मुनि प्रसाद···'—हमारे पुत्र तो मृदु, सुकुमार बालक हैं? वे क्या कर सकते हैं, ये सब बातें मुनि की कृपा से उनके द्वारा हुई हैं। ऐसे ही श्रीजनकजी ने भी कहा है—"प्रभु प्रसाद धनु भंजेउ रामा।" (दो० २८५); तथा—"सकल अमानुष करम तुम्हारे। केवल कौसिक कृपा सुधारे॥" (दो० ३५६), ये कौशल्याजी के वचन हैं। यही माधुर्य की प्रबलता है जो ऐश्वर्य को दबा देती है। 'रानिन्ह'—सब रानियों ने अपने-अपने महलों में पृथक्-पृथक् दान दिये।

'दिये दान आनंद···'—दान आनन्द-सहित-ही देना चाहिये, यथा—"रामहि सुमिरत रनभिरत, देत परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तन, ते जग जीवत जाय॥" (दोहावली ४२)। 'बिप्र बर' अर्थात् वेदपाठी ब्राह्मण, यथा—"तिन्ह चढ़ि चले बिप्र-बर-बृन्दा। जनु तनु धरे सकल-श्रुति छंदा॥" (दो० २९९)।

सोरठा—जाचक लिये हँकारि, दीन्हि निछावरि कोटि बिधि।
चिरजीवहु सुत चारि, चक्रबर्ति दसरत्थ के ॥२९५॥

कहत चले पहिरे पट नाना। हरषि हने गहगहे निसाना ॥१॥
समाचार सब लोगन्ह पाये। लागे घर घर होन बधाये ॥२॥
भुवन चारि दस भरा उछाहू। जनक-सुता-रघुबीर-बिवाहू ॥३॥

शब्दार्थ—कोटि = करोड़, पर यहाँ बहुत के अर्थ में है, यथा—"कहि कहि कोटिक कथा प्रसंगा।" (अ० दो० ८१)।

अर्थ—भिक्षा माँगनेवालों को बुला लिया और उन्हें बहुत प्रकार की न्योछावरें दीं। वे नाना प्रकार के वस्त्र पहने हुए, ऐसा कहते हुए चले कि चक्रवर्ती दशरथ महाराज के चारों पुत्र चिरंजीव (दीर्घायु) हों प्रसन्नतापूर्वक धमाधम नगाड़े बजे ॥२९५-१॥ सब लोगों ने समाचार पाया और घर-घर बधावे होने लगे ॥२॥ चौदहों भुवनों में उत्साह भर गया कि श्रीजानकीजी और रघुवीर श्रीरामजी का ब्याह है (अतः, हमलोग देखने चलेंगे, सब इस उत्साह में निमग्न हैं) ॥३॥

विशेष—'जाचक लिये हँकारि···'—प्रथम ब्राह्मणों को दान कहा गया, यहाँ याचकों को न्योछावर, क्योंकि वे दान लेने के अधिकारी हैं और ये न्योछावर के। याचक भी प्रत्येक उत्सव के द्वारा पाते-पाते धनाढ्य हो गये हैं, यथा—"याचक जन भये दानी।" (गी० बा० ४), "जाचक जहँ तहँ करहिं कबार।" (गी० बा० २)। इससे न्योछावर के लिये बुलाना पड़ता है, नहीं तो ये तो बिना बुलाये ही आनेवाले हैं। अथवा ये रानियाँ घर से बाहर नहीं जा सकतीं, इसलिये भीतर बुलाना कहा गया। 'कोटि बिधि' यथा—"करहिं निछावरि मनिगन चीरा।" (दो० ३४०)। 'सुत चारि'—क्योंकि चारों पुत्रों की न्योछावर पृथक्-पृथक् दी गई है। 'चक्रवर्ति दसरत्थ के'—भाव यह कि इसी तरह पुत्र भी चक्रवर्ति-पद का राज्य भोगें। बहुत अधिक धन पाने से भी ऐश्वर्य सूचक 'चक्रवर्त्ति' नाम कहते हैं।

'कहत चले'—पूर्व भी कहा गया—'चले बिप्र बर आसिष देता।' अर्थात् अत्यंत हर्ष से गली-गली आशीष देते जाते हैं। 'पहिरे पट नाना'—पाने के साथ ही वस्त्र पहन लिये, जिससे देनेवाले को हर्ष हो।

(२) 'हरषि हने गहगहे ···' प्रथम ही गुरुजी ने कहा था कि—"सजहु बरात बजाइ निसाना।" (दो० २९३), तदनुसार बाजे बजाये गये कि जिसमें तैयारी जानकर बरात सजे। याचकों और ब्राह्मणों के द्वारा खबर गली-गली हो गई, पुनः डंके के द्वारा भी दूर तक सूचना हो गई।

(३) 'लागे घर-घर होन बधाये।'—महाराज में अपनपौ एवं श्रीराम प्रेम के कारण महाराज के उत्सव को लोग अपना ही उत्सव मानते हैं। अतः, घर-घर बधावे होने लगे, यथा—"वारहिं मुकुता रतन राज महिषी पुर सुमुखि समान।" (गी० बा० २)।

(४) 'भुवन चारि दस भरा उछाहू।'—प्रथम 'चारि' कहकर 'दस' कहा गया; अर्थात् उत्साह प्रथम थोड़ी जगह से उठा फिर क्रमशः अधिक व्याप्त हो गया। प्रथम राजा को, तदनन्तर सभा को, गुरु को रनिवास को, नगर को, अन्त में पुनः चौदहों भुवन में फैल गया। यह भी भाव है कि जब यहाँ घर-घर बधावे होने लगे, तब चौदहो भुवनों के लोग भी वैसा ही उत्साह मनाने लगे, इन्हें खबर कैसे मिली? यह उत्तरार्द्ध से स्पष्ट है कि—'जनक सुता-रघुबीर बिवाहू' अर्थात् जनक-प्रतिज्ञा पूर्ति में श्रीरामजी ने वीरता की है, उससे यश फैल गया—"महि पाताल नाक जसु ब्यापा। राम बरी सिय भजेउ चापा॥" (दो० २६४)। यह भी कहा जाता है कि आनन्द के समुद्र श्रीसीतारामजी मिथिला में हैं, प्रथम वहीं उत्साह हुआ, वहाँ से एक हलक (लहर) पत्रिका द्वारा अयोध्या पहुँची, उसने क्रमशः राजा, सभा, गुरु, रनिवास, नगर और चौदहो भुवनों को भर दिया, फिर लौटती लहर की तरह सबको घसीटते हुए मिथिला समुद्र ही में डाल दिया, क्योंकि सभी वहाँ आये

सुनि सुभ कथा लोग अनुरागे। मग गृह गली सँवारन लागे ॥४॥
जद्यपि अवध सदैव सुहावनि। रामपुरी मंगलमय पावनि ॥५॥
तदपि प्रीति कै रीति सुहाई। मंगलरचना रची बनाई ॥६॥
ध्वज पताक पट चामर चारू। छावा परम विचित्र बजारू ॥७॥
कनककलस तोरन मनिजाला। हरद दूब दधि अच्छत माला ॥८॥

दोहा—मंगलमय निज-निज-भवन, लोगन्ह रचे बनाइ।
बीथी सींची चतुरसम, चौके चारु पुराइ ॥२९६॥

शब्दार्थ—चतुरसम (चतुस्सम) = एक गंध द्रव्य, जिसमें कस्तूरी, चन्दन, कुंकुम और कपूर मिले रहते हैं, इसे 'अरगजा' कहते हैं, यथा—"गली सकल अरगजा सिंचाई।" (दो० १९३), तथा—"मृग मद-चदन-कुंकुम कीचा। मची सकल बीथिन्ह बिच बीचा॥" (दो० १९३)।

अर्थ—मंगल समाचार सुनकर लोग प्रेम में मग्न हो गये, मार्ग, घर और गली सजाने लगे ॥४॥ यद्यपि अवध सदा ही सुहावन है, (क्योंकि यह) श्रीराम जी की मंगल मय पवित्र पुरी है ॥५॥ तो भी यह प्रीति की सुहावनी रीति है, इससे सजाकर मंगल रचना रची गई ॥६॥ सुन्दर ध्वजा, पताका, पाटाम्बर और चँवर से बाजार बहुत ही विचित्र छाया हुआ है ॥७॥ सोने के कलश, वन्दनवार, मणियों की झालरें, हल्दी, दूब, दही, अक्षत और मालाओं से ॥८॥ लोगों ने अपने अपने घरों को रचकर मंगल मय बनाया, गलियों को अरगजा से सींचा और सुन्दर चौकें पुराई ॥२९६॥

विशेष—(१) 'सुनि सुभ कथा···'—श्रीरामजी के मिथिला चरित्र ऐसे हैं कि लोगों को अनुराग हो ही जाता है, यथा—"सभा समेत राउ अनुरागे।" (दो० २९१)। 'गृह' से यहाँ देवालय लेना चाहिये। क्योंकि आगे—'निज निज भवन' कहेंगे।

'यद्यपि अवध··' तदपि···'—लोग 'सुहावन' को सुहावना करते हैं—"छावा परम विचित्र बजारू।" 'मंगल मय' को मागलीक करते हैं—"मगल रचना रची बनाई।" और 'पावन' को पावन करते हैं—"बीथी सींची चतुर··" यह क्यों? उत्तर में कहा गया है—"प्रीति कै रीति··।" 'तदपि' अर्थात् आवश्यकता नहीं रहने पर भी।

'हरद दूब दधि···'—यह सब सोने के थाल में सजे हैं, यथा—"दधि दुर्बा रोचन फल फूला। नव तुलसी दल मंगल मूला॥ भरि भरि हेम-थार भामिनी। गावत चलीं··" (अ० दो० २)।

'चौके चारु'—'चारु' से गजमुक्ताओं से पूरना बनाया, यथा—"चौकें भाँति अनेक पुराईं। सिंधुर मनि मय सहज सुहाईं॥" (दो० २८०)।

जहँ तहँ जूथ जूथ मिलि भामिनि। सजि नवसप्त सकल दुति-दामिनि ॥१॥
बिधुबदनी मृग-सावक-लोचनि। निज सरूप रति-मान-बिमोचनि ॥२॥

गावहिं मंगल मंजुल बानी। सुनि कलरव कलकंठि लजानी ॥३॥
भूप-भवन किमि जाइ बखाना। बिश्वबिमोहन रचेउ बिताना ॥४॥
मंगलद्रव्य मनोहर नाना। राजत बाजत बिपुल निसाना ॥५॥

अर्थ—जहाँ तहाँ, बिजली की-सी कान्तिवाली, चन्द्रवदनी, हरिणी के बच्चे की-सी आँखोंवाली, अपने स्वरूप से कामदेव की स्त्री रति के गर्व को छुड़ानेवाली, सब स्त्रियाँ सोलहो शृंगार किये हुए, झुंड-झुंड बनाकर मिलकर ॥१-२॥ सुन्दर वाणी से सुन्दर मंगल गान कर रही हैं, उनके सुन्दर स्वर को सुनकर कोकिलाएँ लजा गईं ॥३॥ राजमहल का बखान कैसे किया जाय? संसार भर को मोहित कर लेने वाला मंडप (मॉडव) निर्माण किया गया ॥४॥ अनेकों सुन्दर मंगल पदार्थ सुसज्जित हैं, बहुत से नगाड़े बज रहे हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'जहँ-तह जूथ···'—'जूथ' अर्थात् एक साथ चालीस-पचास मिलकर, 'नवसप्त' अर्थात् सोलहो शृंगार युक्त, इससे सौभाग्यवती जनाया। स्त्रियों के सोलह शृंगार; यथा—"अंग शुची मज्जन वसन, माँग महावर केश। तिलक भाल तिल चिबुक में, भूषण मेंहदी वेश ॥ मिस्सी काजल अरगजा, बीरी और सुगंध। पुष्पकली युत होय कर, तब नव सप्त प्रबंध ॥" (कवि-प्रिया)।

(२) 'बिधु बदनी मृग···'—चन्द्रमा में लाञ्छन (चिह्न) की तरह,इनके मुख चन्द्र में नेत्र हैं।

'गावहिं मंगल···'—ये मंगल प्रजाओं के घर-घर के हैं, राज भवन का आगे कहा गया है—

(३) 'भूप भवन किमि···'—जनकपुर में बितान रचना विस्तार से कह दी गई, वही रचनाएँ यहाँ भी हैं, यहाँ उसे—'बिश्वबिमोहन' से सूचित कर दिया। ऊपर पुरवासियों का कहा गया—'मंगलमय निज निज भवन ··' उसी समय यहाँ भी रचना हुई। जनकपुर में—"सुर प्रतिमा खंभन्हि गढ़ि काढ़ी। मंगल द्रव्य लिये सब ठाढ़ी ॥" कहा गया, वही यहाँ—"मंगल द्रव्य मनोहर नाना। राजत" से जनाया। 'बाजत'—अर्थात् बज रहे हैं, ऐसा कहा है, क्योंकि बजाना पूर्व ही कह चुके हैं—"हरषि हने गहगहे निसाना।"

कतहुँ बिरद बंदी उच्चरहीं। कतहुँ बेदधुनि भूसुर करहीं ॥६॥
गावहिं सुंदरि मंगलगीता। लेइ लेइ नाम राम अरु सीता ॥७॥
बहुत उछाहु भवन अति थोरा। मानहु उमगि चला चहुँ ओरा ॥८॥

दोहा—सोभा दसरथ भवन कइ, को कबि बरनइ पार।
जहाँ सकल सुर-सीस-मनि, राम लीन्ह अवतार ॥२९७॥

शब्दार्थ—मंगल-गीता = इस गीत में प्रथम देवता के पुरुष-स्त्री का नाम गाकर तब वर-दुलहिन का नाम ले-लेकर गान किया जाता है।

अर्थ—कहीं भाट बिरुदावली उच्चारण कर रहे हैं और कहीं ब्राह्मण वेद ध्वनि कर रहे हैं ॥६॥ सुन्दरी स्त्रियाँ राम और सीता का नाम ले लेकर मंगल गीत गा रही हैं ॥७॥ उत्साह बहुत है, पर घर

अत्यन्त छोटा है। (अतः,) मानों वह उत्साह चारों ओर उमड़कर निकल चला ॥८॥ जहाँ सब देवताओं के शिरोमणि श्रीरामजी ने अवतार लिया है। उस महाराज दशरथ के महल की शोभा का वर्णन करने में कौन कवि पार पा सकता है ? ॥२९७॥

विशेष—(१) 'राम अरु सीता'—यहाँ वर-पक्ष प्रधान होने से राम नाम प्रथम कहा गया।

(२) 'मानहुँ उमँगि चला चहुँ ओरा।'—महाराज के यहाँ मंगल आदि हुए, नगाड़े बजे, वे सर्वत्र गूँज उठे। यही उमड़ कर चारों ओर जाना है, फिर पुरवासियों के—"मंगलमय निज निज ···" पर वैसे उमड़कर चला, तो बाजार आदि को डुबाता हुआ चौदहों भुवनों को डुबा दिया।

(३) 'सोभा दसरथ-भवन···'– यहाँ भी श्रीराम-सम्बन्ध से ही शोभा का आधिक्य कहा गया है।

भूप भरत पुनि लिये बोलाई। हय गय स्यंदन साजहु जाई ॥१॥
चलहु बेगि रघुबीर - बराता। सुनत पुलक पूरे दोउ भ्राता ॥२॥
भरत सकल साहनी बोलाये। आयसु दीन्ह मुदित उठि धाये ॥३॥
रचि रुचि जीन तुरग तिन्ह साजे। बरन बरन बर बाजि बिराजे ॥४॥
सुभग सकल सुठि चंचल करनी। अय इव जरत धरत पग धरनी ॥५॥
नाना जाति न जाहिं बखाने। निदरि पवन जनु चहत उड़ाने ॥६॥
तिन्ह सब छयल भये असवारा। भरतसरिस बय राजकुमारा ॥७॥
सब सुंदर सब भूषनधारी। कर सर-चाप तून कटि भारी ॥८॥

दोहा—छरे छबीले छयल सब, सूर सुजान नवीन।
जुग पदचर असवार प्रति, जे असि-कला-प्रवीन ॥२९८॥

शब्दार्थ—साहनी = प्रबन्धक। छयल = बने-ठने। छरे = छँटे, चुने हुए। छबीले = छवियुक्त।

अर्थ—फिर राजा ने भरतजी को बुला लिया (और कहा कि) जाकर घोड़े, हाथी और रथ सजाओ ॥१॥ और शीघ्र रघुबीर श्रीरामजी की बरात में चलो, यह सुनते ही दोनों भाई पुलक से भर गये ॥२॥ भरतजी ने सब (हाथी, घोड़े, रथ के) प्रबन्धकों को बुलाकर आज्ञा दी, वे प्रसन्न मन से उठ दौड़े ॥३॥ उन्होंने रुचि (फबती हुई) जीनों (जो जीन जिस घोड़े के योग्य थी, उन जीनों) से रचकर घोड़ों को सजाया। रंग-बिरंग (वा, जाति-जाति) के उत्तम घोड़े शोभित हो रहे हैं ॥४॥ सभी अत्यन्त सुन्दर और अत्यन्त चंचल करणी (चाल) के हैं, पृथिवी पर ऐसे पैर धरते हैं, मानों जलते हुए लोहे पर रखते हों ॥५॥ वे अनेक जातियों के हैं, कहे नहीं जा सकते, मानों पवन का निरादर करके उड़ना चाहते हैं ॥६॥ उन सबपर भरतजी की समान अवस्थावाले बने-ठने राजकुमार सवार हुए ॥७॥ सभी सुन्दर और सब आभूषणों को पहने हुए, हाथों में धनुष-बाण और कमर में भारी तरकश धारण किये हुए हैं ॥८॥ सभी छैले छबीले, चुने हुए, शूरवीर, सुजान और नवीन अवस्था के हैं, प्रत्येक सवार के साथ दो-दो पैदल हैं, जो तलवार की कला में निपुण हैं ॥२९८॥

विशेष—'भूप भरत पुनि लिये ······'—राजा जब रनिवास में गये, तब से भरतजी का साथ छूटा है। इसीसे फिर बुलाना पड़ा। गुरुजी ने कहा था—'सजहु बरात···' उसीके अनुसार आज्ञा दे रहे हैं—'हय गय स्यंदन···' यहाँ चतुरंगिणी में तीन ही कहे गये, पैदल नहीं, क्योंकि वे तो बिगुल (डंका) होने पर स्वयं सजकर आ जायँगे।

(२) 'चलहु बेगि रघुबीर······'—गुरुजी ने कहा था—"चलहु बेगि।" (दो० २९४); वही सिलसिला आ रहा है। 'पुलक पूरे'—क्योंकि श्रीराम-दर्शन की लालसा है, यथा—"सब के उर निर्भर हरष, पूरित पुलक सरीर। कबहिं देखिबे नयन भरि, राम लखन दोउ बीर।" (दो० ३००)। प्रथम इन्हें यह भी शंका थी कि दो भाई बाहर ही हैं, शत्रुघ्नजी लड़के हैं, कहीं हमें श्रीअवध की रक्षा में न छोड़ जायँ। अतः, 'चलहु' सुनकर पुलकित हो गये। 'उठि धाये'—उपर्युक्त 'बेगि' के अनुसार है।

(३) 'तुरग' अर्थात् तेजी से गमनवाले। इसे ही—'निदरि पवन ···' से पुष्ट किया है। घोड़ों का साज आगे दो० ३१५ में श्रीरामजी की सवारी पर कहेंगे, इसीसे यहाँ थोड़े में कह दिया, वहीं से जानना चाहिये। 'बरन-बरन'—श्याम कर्ण, सब्जा, कुम्मैत, अबलक, खुरसाब, अरबी, ताजी, हंस आदि। 'नाना जाति···'—घोड़ों की जाति के भेद बहुत हैं, उनमें मुख्य भेद कुछ कहे गये भी हैं—'अयइव जरत धरत पग धरनी।'—थलचर, 'निदरि पवन जनु चहत उड़ाने।'—नभचर, 'जे जल चलहिं थलहिं की नाईं।'—जलचर, इत्यादि इन तीन भेदों में अनेक हैं।

(४) 'तिन्ह सब छयल भये ······'—ये सब किशोर अवस्था के हैं। 'भरत सरिस ····'—से जनाया कि भरतजी आगे हैं, क्योंकि महाराज ने इन्हें आज्ञा दी थी—'चलहु बेगि'; इसलिये ये पहले चले, जिससे सब शीघ्रता करें। समान अवस्थावालों के साथ होने से शोभा है।

'सब सुंदर सब भूषन ······'—इसके पूर्वार्द्ध शृंगार और उत्तरार्द्ध में वीर रस कहा गया है, जैसे कामदेव सुन्दर होता हुआ भी भटों में मुख्य है, यथा—"जाकी प्रथम रेख भट माहीं।" (वि० ४); (इसमें काम का प्रसंग है।) 'भूषन धारी' के साथ ही 'कर सर चाप' भी कहा गया, क्योंकि धनुष-बाण भी क्षत्रियों का भूषण है। 'तून कटि भारी'—क्योंकि सुन चुके हैं कि धनुर्भंग पर बहुत-से राजा अपना अपमान समझकर लड़ने पर सन्नद्ध थे, इसलिये ये लोग तैयारी से हैं। छैल आदि कोमल होते हैं। अत, वीरत्व भी कहा गया है।

(५) 'छरे छबीले छयल ···· '—उपर्युक्त गुण यहाँ एकत्र कहे हैं—'राजकुमारा' को 'छरे' 'सब सुन्दर' को 'छबीले' 'सब भूषण धारी' को 'छैल' 'कर सर चाप ···' को 'सूर सुजान'। सुजान का अर्थ यह कि बाण चलाने और दिव्यास्त्रों के मंत्र-भेदों के भी ज्ञाता हैं और 'भरत सरिस वय' को 'नवीन' से सूचित किया है।

'असि-कला प्रबीन'—घोड़ों और उनके सवारों की रक्षा के लिये तलवार में कुशल की आवश्यकता है जिससे वे दोनों बगल से सावधान रहा करें। 'असि' से अश्व का भी अर्थ लिया जाता है, अश्व में एक मात्रा बढ़ जाती, इसलिये 'असि' रक्खा गया है, यथा—"अंगद गद बिकटासि" (सु० दो० ५४), इसमें भी विकटाश्व की जगह बिकटासि है। इसका प्रयोजन यह कि दोनों बगल में दो रहेंगे, घोड़े भारी हैं, जहाँ कहीं राजकुमार उतरें वहाँ एक तो घोड़ा थामे और दूसरा कुमार की सेवा में रहे।

बाँधे बिरद बीर रन गाढ़े। निकसि भये पुर बाहेर ठाढ़े ॥१॥
फेरहिं चतुर तुरग गति नाना। हरषहिं सुनि सुनि पनव निसाना ॥२॥

रथ सारथिन्ह बिचित्र बनाये। ध्वज पताक मनि भूषन लाये ॥३॥
चँवर चारु किंकिनि धुनि करहीं। भानु-जान-सोभा अपहरहीं ॥४॥
सावकरन अगनित हय होते। ते तिन्ह रथन्ह सारथिन्ह जोते ॥५॥
सुंदर सकल अलंकृत सोहैं। जिन्हहिं बिलोकत मुनिमन मोहैं ॥६॥
जे जल चलहिं थलहि की नाईं। टाप न बूड़ बेग अधिकाई ॥७॥
अस्त्र सस्त्र सब साज बनाई। रथी सारथिन्ह लिये बोलाई ॥८॥

दोहा—चढ़ि चढ़ि रथ बाहेर नगर, लागी जुरन बरात।
होत सगुन सुंदर सबहि, जो जेहि कारज जात ॥२९९॥

शब्दार्थ—पनव=ढोल, छोटा नगाड़ा। अपहरहीं=हर रहे हैं, छीन लेते हैं। ध्वजा चिह्न-युक्त एवं केले की ऊँचाई का और पताका बिना चिह्न का ताल (ताड़) की ऊँचाई का होता है यथा—"कदलि ताल बर ध्वजा पताका।" (अ० दो० १०)। सावकरन (श्यामकर्ण) = वह घोड़ा जिसका सर्वांग श्वेत और कान काला होता है। होते= यज्ञ में हवन के योग्य। पहले अश्वमेध यज्ञ के हवन में श्यामकर्ण घोड़े ही लिये जाते थे।

अर्थ—कठिन संग्राम के वीरों का बाना धारण किये हुए सब नगर के बाहर निकल कर आ खड़े हुए ॥१॥ अपने-अपने चतुर घोड़ों को अनेक चालों से फिरा रहे हैं, ढोलों और नगाड़ों का शब्द सुन-सुनकर प्रसन्न होते हैं ॥२॥ ध्वजाओं, पताकाओं, मणियों और भूषणों को लगाकर सारथियों ने रथों को विचित्र बना दिया है ॥३॥ सुन्दर चँवर लगे हैं, घंटियाँ शब्द कर रही हैं, (ये रथ) सूर्य के रथ की शोभा को हर रहे हैं ॥४॥ सारथियों ने उन रथों में अगणित हवन के योग्य (दुर्लभ) श्यामकर्ण घोड़े जोते ॥५॥ जो सभी देखने में सुन्दर और अलंकारों से सुसज्जित सोह रहे हैं। जिन्हें देखते ही मुनियों के मन मोहित हो जाते हैं ॥६॥ जो जल में भी पृथिवी पर ही के समान चलते हैं, ऐसे अधिक वेग से चलनेवाले हैं कि टाप भी नहीं डूबने पाती ॥७॥ अस्त्र-शस्त्र और सब साज सजाकर सारथियों ने रथ की सवारियों को बुला लिया ॥८॥ रथों पर चढ़-चढ़कर बरात नगर के बाहर जुटने लगी। जो-जो भी जिन-जिन कामों को जाते हैं उन सभी को सुन्दर शकुन होते हैं ॥२९९॥

विशेष—(१) 'बाँधे बिरद बीर·····'—उपर्युक्त राजकुमारों का ही वर्णन हो रहा है। 'पुर-बाहर'—क्योंकि यहीं से सजकर बरात चलेगी। 'फेरहिं'—घोड़े चंचल हैं, आगे बढ़ना चाहते हैं, सवार लोग लगाम खींच-खींचकर रोकते हैं, फिराते हैं और तरह-तरह की चालों से नचाते हैं, उसी के अनुकूल 'पनव निसान' भी बज रहे हैं, अतः, आनन्दित होते हैं। यहाँ सुभटों को एकत्र देखकर मारू राग बजा दिया गया जिससे वे आनन्दित होते हैं, यथा—"मारू राग सुभट सुखदाई।" (लं० दो० ७); "बाजहिं ढोल निसान जुझाऊ। सुनि धुनि होइ भटन्ह मन चाऊ ॥" (लं० दो० ११)।

(२) 'किंकिनि धुनि करहीं···'—अभी घोड़े जोते नहीं गये, पर जब नाधने के लिये लोग रथ खींच-खींचकर लाते हैं, तब उनकी किंकिणियाँ बजती हैं। 'भानु-जान' अर्थात् सूर्य के रथ की तरह दीप्तिमान हैं। 'मुनिमन मोहैं'—मुनि वैराग्यवान होते हैं, जब उनका मन मोह जाता है, तब औरों की क्या बात ? पूर्व

राजकुमारों का शृंगार कहा गया, पर घोड़ों का नहीं और रथ के घोड़ों का शृंगार कहा गया, पर रथियों का नहीं। अतः, यहाँ के घोड़ों का शृंगार वहाँ के घोड़ों में और वहाँ के राजकुमारों का शृंगार यहाँ के रथियों में लगा लेना चाहिये। यह काव्य-कौशल है।

'जे जल चलहिं···'—पूर्व सवारी के घोड़ों को—'निदरि पवन जनु चहत उड़ाने।' कहा गया, पर यहाँ वे घोड़े नहीं हैं, वे यदि रथ में हों और लेकर उड़ें, तो रथ टँग जाय और सवार गिर पड़ें। अतः, यहाँ दरियाई घोड़े हैं कि नदी आदि में जल पर भी चले जायँ।

'अस्त्र सस्त्र सब साज···'—क्षत्रियों के अस्त्र-शस्त्र मुख्य हैं, अतः, उन्हें प्रथम कहा। ऊपर घोड़े के सवारों को बुलाना नहीं कहा गया, क्योंकि वे सवार के आने पर तुरंत कस दिये गये। पर रथ सजाने में देर लगती है, अतः, सजने पर सवारी बुलाये गये। जो यंत्र वा मंत्र द्वारा फेंका जा सके वह अस्त्र और इसके भिन्न शस्त्र हैं; यथा—बाण आदि अस्त्र और तलवार आदि शस्त्र हैं।

'चढ़ि चढ़ि रथ···'—जब तक चक्रवर्ती महाराज आ जायँगे, तब तक यहीं पर बारात जुटती आवेगी। पुरवासी लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल जिस अभीष्ट-पूर्ति के लिये जाते हैं, उसमें शकुन होते हैं और तदनुसार कार्य की सिद्धि होती है।

कलित करिबरन्हि परीं अँबारी। कहि न जाइ जेहि भाँति सँवारी ॥१॥
चले मत्त गज घंट बिराजी। मनहुँ सुभग सावन-घन-राजी ॥२॥
बाहन अपर अनेक बिधाना। सिबिका सुभग सुखासन जाना ॥३॥
तिन्ह चढ़ि चले बिप्र-बर-बृंदा। जनु तनु धरे सकल श्रुति-छंदा ॥४॥
मागध सूत बंदि गुनगायक। चले जान चढ़ि जो जेहि लायक ॥५॥
बेसर ऊँट बृषभ बहु जाती। चले बस्तु भरि अगनित भाँती ॥६॥
कोटिन्ह काँवरि चले कहारा। बिबिध बस्तु को बरनइ पारा ॥७॥
चले सकल - सेवक - समुदाई। निज निज साज-समाज बनाई ॥८॥

दोहा—सबके उर निर्भर हरष, पूरित पुलक सरीर।
कबहिं देखिबे नयन भरि, राम लखन दोउ-बीर ॥३००॥

शब्दार्थ—कलित=सुसज्जित। अँबारी=हाथी की पीठ पर रखने का हौदा, जिसके ऊपर एक छज्जेदार मंडप होता है, (अ० अमारी)। राजी=समूह, पंक्ति। सिबिका (शिबिका)=पालकी। सुखासन=सुखपाल (तामजाम) जो कुर्सी के आकार का होता है, जिसमें बाँस नीचे की ओर रहता है। जान=विमान, सवारी। बेसर=खच्चर। काँवरि=बहँगी। निर्भर=परिपूर्ण। पारा=सकता है।

अर्थ—सुसज्जित श्रेष्ठ हाथियों पर सुसज्जित अँबारियाँ पड़ी हैं। वे जिस तरह सजाई हुई हैं, कहते नहीं बनता ॥१॥ घंटों से सुशोभित मतवाले हाथी चले, मानों सुंदर श्रावण के मेघों की श्रेणियाँ हैं ॥२॥

सुन्दर पालकी, सुखपाल और विमान आदि और भी अनेक प्रकार की सवारियाँ हैं ॥३॥ उनपर चढ़कर श्रेष्ठ ब्राह्मण वृन्द चले, मानों सब वेदों के छन्द शरीर धारण किये बैठे हैं ॥४॥ मागध, सूत, भाट और गायक जो जिस योग्य हैं, वे वैसी ही सवारियों पर चढ़कर चले ॥५॥ बहुत जातियों के खच्चर, ऊँट और बैल अगणित प्रकार की वस्तुएँ लादकर चले ॥६॥ करोड़ों (अनगिनत) कहार काँवर भरकर चले, जिनमें तरह-तरह की वस्तुएँ हैं ; उनका वर्णन कौन कर सकता है ? ॥७॥ सब सेवक-समूह अपना-अपना साज-समाज बनाकर चले ॥८॥ सबके हृदय में हर्ष परिपूर्ण है, शरीर पुलकावली से पूर्ण है, (यही लालसा है कि) दोनों वीर राम-लक्ष्मण को आँखें भरकर कब देखेंगे ? ॥३००॥

विशेष—(१) 'कलित करिवरन्हि···'—पर्वताकार हाथियों पर वैसी अँबारियाँ हैं। 'मनहुँ सुभग सावन-घन ···'—श्रावण के मेघ काले होते हैं और प्रथम पावस के होने से चढ़ती अवस्था के होते हैं, वैसे हाथी काले और चढ़ती अवस्था के हैं, इसीसे 'मत्त' कहे गये हैं, यहाँ पूर्णोपमा अलंकार है।—हाथी रंग-विरंग के चित्रित किये गये हैं, वे ही इन्द्रधनुष हैं। जहाँ काली रह गई हैं, वे ही काली घटाएँ हैं। मोतियों की झालरें बगलों की पंक्तियाँ हैं। मणियों की चमक बिजली की दमक है, चलने में शब्द होना गर्जन है, मत्तगजों का मद झरना वर्षा है, दर्शकगण खेती हैं, वे हर्षित होते हैं, चक्रवर्ती महाराज किसान हैं। श्रावण की घटा सुभग (सुंदर—प्रिय) लगती है। वैसे ही यह साज-समाज प्रिय एवं सुंदर है।

महाराज ने भरतजी को···'हय गय स्यंदन साजहु जाई' कहा था, उन्हीं तीन का विस्तार से वर्णन किया गया। अन्य सवारियों को 'बाहन अपर अनेक बिधाना।' मात्र कहकर समाप्त कर दिया। सर्वत्र सवारियों को कहकर सवारों का चढ़ना कहा है, वैसे यहाँ भी कहते हैं—

'तिन्ह चढ़ि चले बिप्र···'—ब्राह्मणों की शोभा वेद-पठन से है, वही यहाँ कहते हैं—'जनु तनु धरे सकल ···' अर्थात् एक-एक ब्राह्मण को सम्पूर्ण वेद कंठस्थ है वे सब-के-सब मानों वेद की मूर्त्ति हो रहे हैं। इनके नाम—"वसिष्ठो वामदेवश्च जाबालिरथ कश्यपः। मार्कण्डेयस्तु दीर्घायुर्ऋषिः कात्यायनस्तथा॥ एते द्विजाः प्रयान्त्वग्रे ···" (वाल्मी॰ १।६६।४-५)। ये ब्राह्मण आगे बारात में थे।

(२) 'बेसर ऊँट···कोटिन्ह काँवरि ···'—इन्हें अभी मालूम नहीं है कि राजा जनक ने नदियों में पुल बनवा दिये हैं, नहीं तो बैलगाड़ियों पर ही सब सामान ले चलते ! लौटती समय प्रायः गाड़ियों पर ही आवेगा, यथा—"कनक बसन मनि भरि भरि जाना।" (दो॰ ३३२)। यह जनकजी ने भेजा है।

'सबके उर निर्भर···'—हर्ष से भीतर की और पुलक से बाहर की दशा कही गई। कान समाचार सुनकर तृप्त हुए, पर आँखें दर्शनों के लिये व्याकुल हैं। 'बीर'—क्योंकि वहाँ इन दोनों वीरों ने वीरों के बीच में भारी-भारी वीरता के काम किये हैं। वही दृश्य सबके चित्त में है।

गरजहिं गज घंटाधुनि घोरा। रथरव बाजिहिंस चहुँ ओरा ॥१॥
निदरि घनहिं घुम्मरहिं निसाना। निज पराइ कछु सुनिय न काना ॥२॥
महा भीर भूपति के द्वारे। रज होइ जाइ पखान पवारे ॥३॥
चढ़ी अटारिन्ह देखहिं नारी। लिये आरती मंगलथारी ॥४॥
गावहिं गीत मनोहर नाना। अति आनंद न जाइ बखाना ॥५॥

तब सुमंत्र दुइ स्यंदन साजी। जोते रवि-हय-निंदक बाजी ॥६॥
दोउ रथ रुचिर भूप पहिं आने। नहिं सारद पहिं जाहिं बखाने ॥७॥
राजसमाज एक रथ साजा। दूसर तेज-पुंज अति भ्राजा ॥८॥

दोहा—तेहि रथ रुचिर वसिष्ठ कहँ, हरषि चढ़ाइ नरेस।
आप चढ़ेउ स्यंदन सुमिरि, हर गुरु गौरि गनेस ॥३०१॥

शब्दार्थ—हींस=हिनहिनाहट। घुमरहिं=ऊँचे शब्द से बजते हैं। पँवारे=फेंके, चलाये।

अर्थ—हाथी गरजते हैं, घंटों का घोर शब्द होता है, रथों का शोर और घोड़ों की हिनहिनाहट चारों ओर हो रही है ॥१॥ बादलों का निरादर करते हुए नगाड़े ऊँचे शब्द से बजते हैं, अपना-पराया कुछ भी कानों से नहीं सुन पड़ता ॥२॥ राजा के द्वार पर बड़ी भारी भीड़ है। यदि पत्थर भी फेंका जाय तो वह भी चूर्ण होकर धूल हो जाय ॥३॥ स्त्रियाँ अटारियों पर चढ़ी हुई थालियों में मंगल आरती लिये देख रही हैं ॥४॥ वे अनेक मनोहर गीत गा रही हैं, अत्यन्त आनन्द है, वह कहा नहीं जा सकता ॥५॥ तब सुमंत्रजी ने दो रथ सजाकर उनमें सूर्य के घोड़ों को लज्जित करनेवाले घोड़े जोते ॥६॥ दोनों सुन्दर रथों को राजा के पास लाये, सरस्वती से भी उनका वर्णन नहीं हो सकता ॥७॥ एक रथ राजसी सामग्री से सजाया हुआ है और दूसरा (जो) तेज-पुंज अत्यंत शोभायमान है—॥८॥ उस सुन्दर रथ पर हर्षपूर्वक राजा ने वसिष्ठजी को चढ़ाकर; (फिर) हर, गुरु, गौरी और गणेशजी का स्मरणकर आप भी रथ पर चढ़े ॥३०१॥

विशेष—(१) 'गरजहिं गज ···'—ऊपर भरतजी की सवारी का वर्णन हुआ, इससे वहाँ घोड़ों को प्रथम कहा गया, क्योंकि घोड़े चंचल होते हैं, वैसे लड़के भी चंचल होते हैं। अब यहाँ से महाराज की सवारी का वर्णन होता है, अतः, प्रथम हाथी कहे गये, क्योंकि महाराज और उनके साथी वृद्ध हैं, वैसे हाथी भी शान्त होते हैं।

(२) 'महाभीर भूपति के द्वारे।'—भरतजी के आगे जाने से उनके साथी तो बाहर निकल गये, चक्रवर्तीजी के साथवाले रह गये हैं, उनकी भीड़ द्वार पर है। जब महाराज चलेंगे तब ये लोग भी साथ चलेंगे। वक्ताओं का अनुमान है कि वहाँ यदि पत्थर फेंका जाय तो भीड़ में कुचलकर धूल हो जाय!

(३) 'चढ़ी अटारिन्ह देखहिं···'—उपर्युक्त महा भीड़ के साथ ही ये भी कही गई हैं।' अतः, अटारियों पर भी ऐसी ही भीड़ है। मंगल के लिये थाल में सजी हुई आरती के अर्थ में 'लिये' शब्द आया है, दूलह बरात में होता, तो आरती करतीं', क्योंकि दूल्हे की आरती उतारी जाती है।

'गावहिं गीत ··अति आनद···'—आनंद ही का वर्णन नहीं हो सकता, यहाँ तो 'अति' है, क्योंकि द्वार पर और अटारियों पर भी है, फिर भी वर्णन करने का कारण मन है, वह गान द्वारा हरा गया है।

(४) 'तब सुमंत्र दुइ ···'—'तब' अर्थात् जब उपर्युक्त सारथियों ने रथ सजाये हैं, तभी सुमंत्र ने भी दोनों रथ सजाये हैं, (सुमंत्रजी महाराज के मंत्री और सारथी भी हैं)। 'साजी' अर्थात् जैसे ऊपर रथ के साज कहे गये, वैसे ही उनका भी साज जानना चाहिये। 'रवि हय निंदक बाजी'—पूर्व श्यामकर्ण घोड़े रथों में कहे गये, पृथिवी में वे ही श्रेष्ठ जाति के हैं, उन पूर्व के घोड़ों से अधिकता दिखाने के लिये सूर्य के घोड़ों की उपमा देकर उनसे भी अधिक कहा।

'दोउ रथ'''नहिं सारद'''—पूर्व सारथियों ने रथियों को ही बुलाया था, जिससे उन्हें कुछ चलना भी पड़ा था, पर यहाँ राजा के पास ही लाये, यह विशेषता है। पूर्व—'भानु-जान सोभा अपहरहीं।' कहकर वर्णन किया था। यहाँ शारदा से भी अवर्ण्य कहकर अत्यंत विशेषता कही।

(४) 'राज समाज एक रथ'''—इसमें उपर्युक्त-'अस्त्र सस्त्र सब साज सजाई।' की तरह सामग्री है, इसमें और भी चँवर, छत्र, सूर्यमुखी आदि हैं। 'दूसर तेज पुंज'''—यह सात्त्विक सामग्री—होम आदि सामग्री, पुस्तक, मुनि-वस्त्र, पूजा के सामान आदि हैं, इसमें ब्रह्मतेज प्रकट है, अतः, 'अति भ्राजा' कहा गया है।

'तेहि रथ रुचिर'''—'हरषि चढ़ाइ'-यात्रा में हर्ष होना मंगल है पुनः गुरुसेवा में हर्ष चाहिये ही। यहाँ राजा ने गुरुजी को अपने हाथ से चढ़ाया। 'सुमिरि हर गुरु गौरि गनेस'-यहाँ पंचदेवों में तीन तो स्पष्ट हैं, शेष सूर्य और विष्णु को भी गुरु शब्द से सूचित किया है। क्योंकि अज्ञान तम नाशक होने से गुरु भी सूर्य रूप हैं—"जासु वचन रविकर निकर" (मं० सो०); पुनः-'गुरुर्विष्णु.' भी कहा जाता है। 'हर', और 'गौरि' को एक साथ रखना कहा है, क्योंकि ये दो अपृथक् रूप हैं, पर 'गुरु'पद बीच में दिया गया है क्योंकि 'हर' को विश्वास रूप और 'गौरि' को श्रद्धारूपा कहा गया है "भवानीशंकरौ वंदे श्रद्धा-विश्वासरूपिणौ।" (मं० श्लोक); गुरुश्रद्धा और विश्वास दोनों के करानेवाले हैं, अतः, बीच में देकर इन्हें दोनों के साधक बनाया। पुनः गकार की वर्णमैत्री भी मिल गई।

सहित बसिष्ठ सोह नृप कैसे। सुर-गुरु-संग पुरंदर जैसे ॥१॥
करि कुलरीति वेदविधि राऊ। देखि सबहि सब भाँति बनाऊ ॥२॥
सुमिरि राम गुरुआयसु पाई। चले महीपति संख बजाई ॥३॥
हरषे बिबुध बिलोकि बराता। बरषहिं सुमन सुमंगल-दाता ॥४॥
भयेउ कोलाहल हय गय गाजे। ब्योम बरात बाजने बाजे ॥५॥
सुर नर नारि सुमंगल गाई। सरस राग बाजहिं सहनाई ॥६॥
घंट-घंटि-धुनि बरनि न जाहीं। सरव करहिं पाइक फहराहीं ॥७॥
करहिं बिदूषक कौतुक नाना। हासकुसल कलगान सुजाना ॥८॥

दोहा—तुरग नचावहिं कुअँर बर, अकनि मृदंग निसान।
नागर नट चितवहिं चकित, डगहिं न ताल-बँधान ॥३०२॥

शब्दार्थ—पुरंदर=इन्द्र। ब्योम=आकाश। अकनि (आकर्ण्य)=सुनकर। डगहिं=चूकते। ताल=नाचने गाने में उसके मध्यवर्ती काल और क्रिया का परिमाण, ताल के 'सम' का नाम 'बँधान' है; यथा—"उघटहिं छंद प्रबंध गीत पद राग तान बँधान।" (गी० बा० १)।

अर्थ—वसिष्ठजी के साथ राजा दशरथ कैसे शोभित हो रहे हैं, जैसे देवताओं के गुरु बृहस्पतिजी के साथ इन्द्र हों ॥१॥ राजा ने कुल की रीति और वेद विधान करके और सब को सब तरह से बने ठने

देखकर ॥२॥ श्रीरामजी का स्मरण कर गुरु की आज्ञा पा पृथिवीपति महाराज दशरथ शङ्ख बजाकर चले ॥३॥ देवता लोग बरात देखकर प्रसन्न हुए, सुंदर मंगल देनेवाले फूलों को बरसाते हैं ॥४॥ हाथी-घोड़े चिंघाड़ने लगे, इससे बड़ा कोलाहल (हल्ला) मच गया, आकाश और बरात में बाजे बजने लगे ॥५॥ देवताओं और मनुष्यों की स्त्रियाँ (आकाश और भूमि पर) सुन्दर मंगल गा रही हैं, रसीले राग में शहनाई (रौशनचौकी) बज रही है ॥६॥ घंटों और घंटियों की ध्वनि का वर्णन नहीं किया जा सकता। पायक (पैदल सिपाही) लोग तरह-तरह के सरों (श्रम या कसरत के खेल) दिखाते जाते हैं, उनके हाथों में फरहरे उड़ रहे हैं ॥७॥ विदूषक (मसखरे) लोग बहुत तरह से तमाशे करते हैं, वे मसखरी में निपुण और सुन्दर गान में चतुर हैं ॥८॥ सुन्दर राजकुमार मृदंग और नगाड़ों (के ताल गति को) को सुनकर घोड़ों को उनके अनुसार नचाते हैं। चतुर नट चकित होकर देख रहे हैं कि घोड़े ताल के सम नहीं चूकते ॥३०२॥

विशेष—(१) 'सुर गुरु संग पुरंदर जैसे'—इन्द्र की उपमा ऐश्वर्य सम्बन्ध से है। 'कुलरीति' और वेद-विधि रथ ही पर कर लो। अतः, सामान्य ही थीं। 'सुरगुरु संग...'में दृष्टांत अलंकार है।

(२) 'सुमिरि राम गुरु···'—श्रीरामजी का वात्सल्य भाव से स्मरण होते ही उतावली से गुरु की आज्ञा लेकर चले। ऐश्वर्य भाव से भी यात्रा में राम-स्मरण युक्त है। यथा—"अब कहिगे बिश्राम गृह, राम-चरन चित लाइ।" (दो० ३५५), शंख-मांगलीक है, अतः, उसे बजाकर चले। 'हरषे बिबुध···'—'बिबुध' - क्योंकि विशेष बुद्धिमानो का काम किया कि बारात के प्रस्थान पर फूलों की वर्षा की।

(३) 'भयेउ कोलाहल···'—कुलरीति आदि होने के कारण हल्ला बन्द हो गया था, फिर कोलाहल हुआ, जैसे पहले—'निज पराइ कछु सुनिय न काना।' कहा गया था। कोलाहल के कारण भी साथ ही कहते हैं कि हाथी, घोड़े गरजते हैं; बाजे बजते हैं और मंगल गान हो रहे हैं।

'सुर नर नारि सुमंगल···'— आकाश में देवताओं की स्त्रियाँ और भूमि पर नरों की स्त्रियाँ सुमंगल गा रही हैं, ये अटारियों पर की स्त्रियाँ नहीं हैं। बारात को पहुँचानेवाली नगर की स्त्रियाँ हैं।

(४) 'सरस राग बाजहिं···'– शहनाइयों का स्वर ऊँचा होता है, पर यहाँ वे मंगल गान से मिलकर रसीले रागों में बज रही हैं।

'सरव करहिं पायक फहराहीं।'—'सरव' का अर्थ 'श्रम' के अनुसार कसरत होता है; पूर्व में 'सरों' पटेबाजी आदि को भी कहते हैं। 'फहराहीं'—'पायक'-शब्द दीप-देहली से 'फहराहीं' के साथ में भी होकर 'फरहरा-पताका' के अर्थ में भी होगा, इस तरह झंडियों का फहराना अर्थ होगा।

'कल गान सुजाना'—गान में स्वर भी अच्छा है और वे उनके ताल-मात्रा आदि के ज्ञान में सुजान हैं।

(५) 'तुरग नचावहिं कुँअर···'—पूर्व कहा था—'फेरहिं चतुर तुरग गति नाना।' वहीं से प्रसंग मिलाया और यह भी जनाया कि अब महाराज वहाँ तक पहुँच गये जहाँ भरतजी हैं। इसी से घोड़े नचाये जाते हैं।

बनइ न बरनत बनी बराता। होहिं सगुन सुंदर सुभदाता ॥१॥
चारा चाषु बाम दिसि लेई। मनहुँ सकल मंगल कहि देई ॥२॥
दाहिन काग सुखेत सुहावा। नकुल-दरस सब काहूँ पावा ॥३॥
सानुकूल बह त्रिबिध बयारी। सघट सबाल आव बर नारी ॥४॥

लोवा फिरि फिरि दरस देखावा। सुरभी सनमुख सिसुहि पियावा ॥५॥
मृगमाला फिरि दाहिनि आई। मंगलगन जनु दीन्हि देखाई ॥६॥
छेमकरी कह छेम बिसेखी। स्यामा बाम सुतरु पर देखी ॥७॥
सनमुख आयेउ दधि अरु मीना। कर पुस्तक दुइ बिप्र प्रबीना ॥८॥

दोहा—मंगलमय कल्यानमय, अभिमत - फल - दातार।
जनु सब साँचे होन हित, भये सगुन एक बार ॥३०३॥

शब्दार्थ—बनी = सजी। चापु = नीलकंठ। छेमकरी = एक चील, जिसका मुख श्वेत और सर्वांग लाल होता है, यह 'खेम-खेम' बोलती है। स्यामा = एक प्रसिद्ध काला पक्षी, इसके पैरमात्र पीले होते हैं, इसका स्वर मधुर और कोमल होता है। लोवा = लोमड़ी। सुखेत = अच्छे खेत में।

अर्थ—बारात ऐसी सजी है कि उसका वर्णन नहीं करते बनता; शुभदायक सुंदर शकुन हो रहे हैं ॥१॥ नीलकंठ बाईं ओर चारा ले रहा है; मानों सब मंगलों को कहे देता है ॥२॥ दाहिनी ओर कौआ अच्छे खेत में सोह रहा है, न्योले के दर्शन सब किसी ने पाये ॥३॥ तीनों प्रकार की (शीतल, मंद, सुगंधित) हवा सानुकूल चल रही है। सुन्दर स्त्री घड़ा और बालक के साथ आ रही है ॥४॥ लोमड़ी पीछे घूम-घूम कर अपने दर्शन देती है। सामने खड़ी हुई गाय अपने बछड़े को दूध पिलाती है ॥५॥ हिरनों के झुण्ड बाईं ओर से घूमकर दाहिनी ओर आये, मानों मंगल-समूह दिखाई पड़े ॥६॥ क्षेमकरी विशेष कल्याण कह रही है और श्यामा पक्षी बाईं ओर सुन्दर वृक्ष पर देख पड़ी ॥७॥ दही, मछली और हाथ में पुस्तक लिये हुए दो विद्वान् ब्राह्मण सामने आये ॥८॥ मङ्गलमय, कल्याणमय और वांछित फल देनेवाले सब शकुन मानों सत्य होने के लिये एकबार ही प्रकट हुए ॥३०३॥

विशेष—(१) 'बनइ न बरनत···'—इसके पूर्वार्द्ध में बारात-वर्णन का उपसंहार किया। इसका उपक्रम—"चलहु बेगि रघुबीर बराता।" (दो० २९७) पर है। आगे शकुन कहते हैं—'सुंदर सुभदाता'—सुन्दर अपने शरीर से और औरों को शुभदायक हैं। 'चापु ··कहि देई' अर्थात् कुछ बोलता भी है। इसका 'बाम दिसि' रहना ही शकुन है। 'दाहिन काग सुखेत ··'—यह दाहिनी ही ओर और अन्नयुक्त एवं हरे-भरे खेत में हो तभी शकुन है। 'नकुल' के विषय में दिशा नहीं लिखा, अतः, सब ओर से शुभ ही है। 'दरस सब काहू पावा'—नेवला प्रायः मनुष्यों को देखकर भागता है, पर उस समय निडर होकर विचर रहा था कि सब कोई देख लें। 'सानुकूल बह त्रिबिध···'—यात्रा में पीछे की ओर से वायु का चलना शकुन है और इसके विरुद्ध (सामने से आना) अपशकुन है वह तो मानों रोकता है। 'सघट सबाल···'—'आव' अर्थात् स्त्री का सामने से आना शकुन है, वह 'वर' अर्थात् सधवा (सौभाग्यवती) हो। इसके विरुद्ध अर्थात् विधवा एवं पीछे से आती हुई तथा खाली घड़ा लिये एवं बाँझ का आना अपशकुन है। एक ही अर्द्धाली में स्त्री और वायु को कहना था, इसलिये वायु को स्त्रीलिंग के रूप में 'बयारि' कहा। पुनः एक का पीछे से दूसरी का आगे से आना शुभ है इसलिये भी साथ वर्णन किया गया।

(२) 'लोवा फिरि···'—यह आगे को चलती हुई घूम-घूमकर पीछे देखती जाय, मानों अपने दर्शन सबको दिखा रही है, तभी शकुन है। इसका खड़ी रह जाना अथवा एकदम भागना भी अपशकुन

है। 'दरस' का अर्थ स्वरूप का है, यथा—"भरत दरस देखत खुलेउ, मग लोगन्ह कर भाग।" (अ० दो० २१)। 'सुरभी...'—गाय सामने खड़ी बच्चे को दूध पिलाती हो, तभी शकुन है। 'मृगमाला फिरि...'—मृग वन्यपशुमात्र को कहते हैं, पर यहाँ 'माला' शब्द भी साथ देकर हिरनों को ही सूचित किया, क्योंकि ये झुंड-के-झुंड साथ चलते हैं। मृगों का झुंड बाईं ओर घूमकर सम्मुख होकर दाहिनी ओर आवे तब शकुन है। 'मंगल गन' का भाव यह कि आपलोग अभी एक विवाह के लिये जा रहे हो, वहाँ चार होंगे। अन्य रामायणों के अनुसार श्रीअवध के और भी कुमारों के ब्याह वहाँ होंगे।

'छेमकरी कह छेम...'—'कह' अर्थात् वह बोलती भी है। 'बिसेषी' अर्थात् यह भारी शकुन है। 'सुतरु' जैसे आम, पीपल, वट आदि, इसका वर्णन—"कुंकुम रंग सुअंग जितो मुख चंद सों चंद सों होड़ परी है। बोलत बोल समृद्धि चुवै अवलोकत सोच बिषाद हरी है॥ गौरी कि गंग बिहंगिनि बेष कि मंजुल मूरति मोद भरी है। पेखि सप्रेम पयान समय सब सोचबिमोचन छेमकरी है॥" (क० उ० १८०)। तंत्रसार में इसके नमस्कार का श्लोक लिखा है—"कुंकुमारुणसर्वांगि! कुंदेन्दुधवलानने। मत्स्यमांसप्रिये देवि, क्षेमंकरि नमोऽस्तु ते॥"

'सनमुख आयो दधि.......'—एक ही व्यक्ति दोनों लिये हो, मछली जीवित ही जल के साथ हो, सामने से अपनी ओर को आता हो। 'बिप्र प्रबीना'—अर्थात् शास्त्र चर्चा करते हुए वे भी सामने से अपनी ओर को आते हों।

'मंगलमय कल्यानमय.......'—ऊपर 'मंगल' एवं 'सुभ दाता' शब्द तीन ही जगह आये हैं। अतः, यहाँ उपर्युक्त सब के लिये—'मंगलमय...' कहा गया है। यह भी सूचित किया कि जितने गिनाये गये, उतने ही नहीं हुए, किंतु जितने मंगलमय आदि हैं, वे सब हुए। 'मंगलमय' से मंगल करनेवाले और 'कल्यानमय' से उनको निर्विघ्न निबाहनेवाले हैं। यह भी भाव है कि वे मंगलमय—कल्याणमय अभिमत फल देनेवाले हैं। ये सब एक साथ ही क्यों हो पड़े? इसका समाधान उत्तरार्द्ध से करते हैं—'जनु सब साँचे .....' अर्थात् शकुनों ने सोचा कि श्रीरामजी साक्षात् ब्रह्म हैं, इनके संबंध का मंगल तो स्वतः होगा ही, यदि आज हमलोग आकर प्रकट होंगे तो भविष्य में लोग हमें शकुनों में मानकर पूजेंगे कि इन्हींके द्वारा श्रीरामजी के मंगल हुए हैं और उनका मनोरथ सिद्ध हुआ। इनके द्वारा हमारे भी मनोरथ सिद्ध होंगे। शकुन, यथा—"भेरी मृदंग मृदु मर्दल शंख वीणा वेद ध्वनिर्मधुर मंगल गीत घोषाः। पुत्रान्विता च युवती सुरभी सवत्सा धौताम्बरश्च रजकोभिमुखाः प्रशस्ताः॥" (रत्नमाला)।

> मंगल सगुन सुगम सब ताके। सगुन ब्रह्म सुंदर सुत जाके ॥१॥
> राम-सरिस बर दुलहिनि सीता। समधी दसरथ जनक पुनीता ॥२॥
> सुनि अस ब्याह सगुन सब नाचे। अब कीन्हे बिरंचि हम साँचे ॥३॥
> येहि बिधि कीन्ह बरात पयाना। हय गय गाजहिं हने निसाना ॥४॥

अर्थ—जिसके सगुण ब्रह्म ही सुन्दर पुत्र हैं उसके लिये सभी मंगल शकुन सुलभ हैं॥१॥ श्रीराम-जैसे वर और श्रीसीताजी-सी दुलहिनि तथा दशरथजी और जनकजी-से पवित्र समधी हैं॥२॥ ऐसा ब्याह सुनकर सब शकुन नाचने लगे कि अब ब्रह्मा ने हमें सच्चा किया॥३॥ इस प्रकार बरात ने प्रस्थान किया, घोड़े हाथी गर्जते हैं और डंकों पर चोट पड़ रही है॥४॥

विशेष—(१) 'मंगल सगुन सुगम·····'—जहाँ पर साक्षात् सगुण ब्रह्म ही पुत्र रूप में हैं, वहाँ एक साथ ही सब शकुनों का होना सुगम ही है, न होता तो आश्चर्य था।

'राम सरिस वर दुलहिनि सीता।·····'—का भाव यह कि—"जिन्ह कर नाम लेत जग माहीं। सकल अमंगलमूल नसाहीं॥ करतल होहिं पदारथ चारी। तेइ सिय राम ····" (दो॰ ३१४); जब वे ही वर-दुलहिनि हैं, तो मंगल-शकुन क्यों न सुगम हों? 'पुनीता'—क्योंकि दोनों ने बड़े पुण्य से दोनों को पुत्र-पुत्री-रूप में प्राप्त किया है, एक भी श्रेष्ठ योग के कारण मंगल होते हैं, यहाँ तो कई योग उत्तम ही उत्तम हैं, फिर क्यों न हों?

(२) 'सगुन सब नाचे·····'—आनंदित मन से बारातियों के समस्त नाच उठे, अर्थात् बिखरकर इनके दर्शनों से अपनेको कृतार्थ कर रहे हैं। भला हुआ कि ब्रह्मा ने ऐसे ब्याह का संयोग कर दिया। हमलोग आज से सच्चे गिने जायँगे। सब एक बार ही प्रकट हुए, वास्तव में शकुन अपना ही मंगल कर रहे हैं।

'येहि बिधि कीन्ह······'—महाराजा की सवारी निकली, तब सब चले, शकुन होते जाते हैं।

आवत जानि भानु-कुल-केतू। सरितन्हि जनक बँधाये सेतू॥५॥
बीच बीच बर बास बनाये। सुरपुर-सरिस संपदा छाये॥६॥
असन सयन बर बसन सुहाये। पावहिं सब निज-निज मन भाये॥७॥
नित नूतन सुख लखि अनुकूले। सकल बरातिन्ह मंदिर भूले॥८॥

दोहा—आवत जानि बरात बर, सुनि गहगहे निसान।
सजि गज रथ पदचर तुरग, लेन चले अगवान॥३०४॥

शब्दार्थ—सेतु=पुल। सयन=शय्या, यथा—"सयन-सयन-सय-सम सुखदाई।" (अ० दो० १३६)।

अर्थ—सूर्यवंश के ध्वजा रूप राजा दशरथ को आते हुए जानकर राजा जनक ने नदियों में पुल बँधा दिये॥५॥ बीच-बीच में ठहरने के लिये श्रेष्ठ निवास स्थान बनाये, जिनमें देव लोक के समान ऐश्वर्य छा दिये (भर दिये)॥६॥ अपने-अपने मनोऽनुकूल सुहावने उत्तम भोजन, शय्या और वस्त्र सब कोई पाने लगे॥७॥ अपने अनुकूल नित्य नया सुख देखकर सब बराती घर को भूल गये॥८॥ घमाघम नगाड़ों के शब्द सुन और इससे श्रेष्ठ बरात को आती हुई जानकर (कन्या पक्षवाले) हाथी, रथ, पैदल और घोड़े सजाकर अगवानी लेने चले॥३०४॥

विशेष—(१) 'आवत जानि भानु ····'—जो दूत पत्रिका लेकर श्रीअवध गये थे, उनमें से कुछ ने शीघ्र ही लौटकर समाचार दिया तथा सूर्यवत् प्रतापी राजा का आगमन सबको विदित हो गया, जैसे सूर्य का उदय स्वयं सब जान जाते हैं। पुन॰ इनकी बरात के योग्य बड़े-बड़े पुल बनाये। 'जनक बँधाये सेतू'—श्रीजनकजी ने अपने विभव से ही पुल बँधवाया एवं पड़ाव का प्रबंध किया है, सिद्धियों एवं देव-बल से नहीं, नहीं तो वैसा लिखा जाता; यथा—"सिधि सब सिय-आयसु अकनि।" (दो॰ ३०६); "सुनि रिधि सिधि अनिमादिक आई।" (अ॰ दो॰ २१२)।

(२) 'निज निज मन भाये।'—मुनि, विप्र, एवं क्षत्रियगण अपने-अपने अनुकूल ही पाते हैं।

'नित नूतन सुख ·····'—जो सुख आज है, उससे भिन्न ही भिन्न पदार्थ दूसरे दिन मिलते थे। जो अनुकूलता अपने ही घर में हो सकती है, वह सर्वत्र मिलती गई।

(३) 'सुनि गहगहे निसान'—कोई-कोई इसे राजा जनक की तरफ का बजाया जाना भी अर्थ करते हैं कि सुनकर अगवानी का सजाव हो। पर 'गहे-गहे' का 'बजाना' अर्थ नहीं है, किंतु 'घमाघम' एव घने का है। यथा—"अरु बाजे गहगहे निसाना।" (दो० १५३), यहाँ गहगहे के साथ 'बाजे' पृथक् दिया गया है।

कनककलस भरि कोपर थारा। भाजन ललित अनेक प्रकारा ॥१॥
भरे सुधासम सब पकवाने। भाँति भाँति नहिं जाहि बखाने ॥२॥
फल अनेक बर बस्तु सुहाई। हरषि भेंट हित भूप पठाई ॥३॥
भूषन बसन महामनि नाना। खग मृग हय गय बहुबिधि जाना ॥४॥
मंगल सगुन सुगंध सुहाये। बहुत भाँति महिपाल पठाये ॥५॥
दधि चिउरा उपहार अपारा। भरि भरि काँवरि चले कहारा ॥६॥
अगवानन्ह जब दीखि बराता। उर आनंद पुलक भर गाता ॥७॥
देखि बनाव सहित अगवाना। मुदित बरातिन्ह हने निसाना ॥८॥

दोहा—हरषि परसपर मिलन हित, कछुक चले बगमेल।
जनु आनंदसमुद्र दुइ, मिलत बिहाइ सुबेल ॥३०५॥

शब्दार्थ—कोपर = बड़ा थाल, परात, सरलता से उठाने के लिये जिसमें कुंडा लगा रहता है। भाजन = पात्र, बर्तन। पकवान = पक्वान्न, घी में पके हुए खाने के पदार्थ। महामणि = बहुमूल्यमणि, उपहार = भेंट। सुबेला = समुद्र का सुन्दर किनारा, मर्यादा।

अर्थ—सुन्दर सोने के कलश जल भरे हुए, कोपर, थाल और अनेकों प्रकार के सुन्दर बर्तन, सब भाँति-भाँति के अमृत समान पकान्नों से भरे हुए, जिनके वर्णन नहीं किये जा सकते ॥ १-२॥ अनेकों प्रकार के उत्तम फल और उत्तम-उत्तम सुहावनी वस्तुएँ राजा जनक ने प्रसन्नता पूर्वक भेंट के लिये भेजीं ॥३॥ नाना प्रकार के भूषण, वस्त्र और महामणि, बहुत प्रकार के पक्षी, मृग, घोड़े, हाथी और रथ एवं सवारियाँ तथा बहुत तरह के सुन्दर मंगल सगुन के पदार्थ, सुगंध (अतर, गुलाब आदि) राजा ने भेजे ॥४-५॥ दही, चिउरा तथा और भी अनगिनत उपहार की वस्तुएँ काँवरों में भर-भरकर कहार ले चले ॥६॥ जब अगवानियों ने बरात देखी, तब उनके हृदय आनन्द से और शरीर पुलक से भर गये ॥७॥ (उधर) अगवानियों को सजे धजे देख बरातियों ने प्रसन्न होकर नगाड़े बजाये ॥८॥ प्रसन्न होकर एक-दूसरे से मिलने के लिये दोनों ओर से कुछ-कुछ बागें ढीली करके उन्हें मिलाये हुए चलकर आ मिले, मानों आनन्द के दो समुद्र मर्यादा छोड़कर मिल रहे हैं ॥३०५॥

विशेष—(१) 'कनककलस भरि····'—इन सुवर्ण-कलशों में मंगल जल भरा है। अत, 'भरि' कहा है।

'भरे सुधासम'''—मार्ग में—'सुरपुर सरिस संपदा छाये।' कहा गया है, सुरपुर में अमृत होता है, उसकी जगह यहाँ 'सुधा सम' कहा गया है; अर्थात् मार्ग से यहाँ कम नहीं है। 'भाँति-भाँति' यथा—"चारि भाँति भोजन बिधि गाई। एक-एक बिधि बरनि न जाई॥" (दो० ३२८)। 'फल अनेक'—तरह-तरह के स्वादिष्ट फल। 'बर बस्तु' और भी उत्तम-उत्तम जो योग्य थीं। 'हरषि भेंट'''—राजा ने सब पदार्थ स्वयं देखे, तब योग्य जानकर प्रसन्न हुए और भेजे। 'खग'—शुक, सारिका, मयूर, कोकिल, चकोर आदि। 'मृग'—चीता, गैंड़ा, रोजा, हिरन, चिकरा, स्याह आदि। 'मंगल'—हल्दी में रँगा हुआ चावल आदि।

(२) 'हरषि परसपर'''कछुक चले बगमेल'—जब बरात कन्या-पक्ष के द्वार के पास पहुँचती है, तब इधर से भी अगवानी के लिये लोग चलते हैं। समीप पहुँचने पर कुछ रुककर दोनों ओर से लोग कुछ कुछ आगे बढ़ते हैं। अगवानी लोग समधी के पास पहुँचकर उन्हें भेंट आदि से सत्कार कर साथ लेकर चलते हैं, यह रीति है। वही बात यहाँ बरती गई। दोनों ओर के लोग पास पहुँच रुक-रुक कर घोड़ों की बागें ढीली कीं और बढ़कर मिल गये। यहाँ दोनों तरफ के समाज हर्षित हैं, अतः आनन्द के समुद्र हैं। बीच का चलना मर्यादा है। आगे के घोड़-सवारों की श्रेणियाँ लहर हैं, उनका बढ़-बढ़कर मिलना, लहरों का लहरों से मिलना है। 'बगमेल' का अर्थ—"दूसरे के घोड़े के साथ बाग मिलाये चलना, पाँत बाँधकर चलना, बराबर-बराबर चलना" (शब्दसागर); यथा—"आइ गये बगमेल, धरहु''" (अ० दो० १८)। 'वेला' का अर्थ समुद्र का किनारा होता है, 'सु' उपसर्ग सुन्दर के अर्थ में है। दोनों तरफ के सवार प्रथम रुक गये, यही मर्यादा बँध गई, मिलने की आतुरी में बढ़े, मानों मर्यादा छोड़ी।

बरषि सुमन सुरसुंदरि गावहिं। मुदित देव दुंदुभी बजावहिं॥१॥
बस्तु सकल राखी नृप आगे। बिनय कीन्हि तिन्ह अति अनुरागे॥२॥
प्रेम-समेत राय सब लीन्हा। भइ बकसीस जाचकन्हि दीन्हा॥३॥
करि पूजा मान्यता बड़ाई। जनवासे कहँ चले लेवाई॥४॥
बसन बिचित्र पाँवड़े परहीं। देखि धनद धनमद परिहरहीं॥५॥
अति सुंदर दीन्हेउ जनवासा। जहँ सब कहँ सब भाँति सुपासा॥६॥

अर्थ—देवताओं की स्त्रियाँ फूल बरसा कर गा रही हैं, आनन्दित होकर देवता लोग नगाड़े बजाते हैं॥१॥ उन अगवानियों ने सब वस्तुएँ राजा दशरथ के सामने रख दीं, और अत्यन्त अनुराग-पूर्वक स्तुति की॥२॥ राजा ने प्रेम-सहित सब ले लीं, बख्शीशें हुईं, याचकों को दी गईं॥३॥ पूजा, सम्मान और बड़ाई करके जनवासों को लिवा ले चले॥४॥ तरह तरह के विचित्र वस्त्र पाँवड़े में पड़ रहे हैं, जिन्हें देखकर कुबेर अपने धन का अभिमान छोड़ देते हैं॥५॥ सबको अत्यन्त सुन्दर जनवासा दिया गया, जहाँ सबको सब तरह की सुविधाएँ हैं॥६॥

विशेष—(१) 'बरषि सुमन सुर'''''—बरात के प्रस्थान के समय—"सुरनर नारि सुमंगल गाई।" कहा गया था, यहाँ केवल 'सुरसुंदरि' हैं, क्योंकि अगवानियों के साथ नर-नारियों के आने की रीति नहीं है और वहाँ तो स्त्रियाँ बरात पहुँचाने की रीति में थीं। मिलने पर दोनों ओर के बाजे बजे, तब देवता लोगों ने भी नगाड़े बजाये।

'विनय कीन्ह तिन्ह ······'—भेंट रखकर प्रार्थना की, अन्यथा अभिमान समझा जाता। अनुराग पूर्वक होने से विनय सच्चे भाव की समझी गई, अत राजा ने भी प्रेमपूर्वक ग्रहण किया। 'करि पूजा मान्यता बड़ाई'—पूजा कुछ पुष्प आदि वस्तुओं के द्वारा की जाती है, 'मान्यता' अपने से ऊँचा समझने के भाव को कहते हैं। बड़ाई प्रशंसा के वचनों को कहते हैं।

(२) 'वसन विचित्र पाँवड़े ···'—'परहीं' अर्थात् जो वस्त्र पाँवड़े मे बिछाये जाते हैं, वे वहीं पड़े ही रहते हैं, यह नहीं कि उन्हें ही उठाकर आगे बिछावें। यह देखकर कुवेर अपने धन का मद छोड़ देते हैं, विचारते हैं कि जैसे-जैसे महुमूल्य वस्त्र पाँवड़े में पड़ रहे हैं, वैसे हमारे यहाँ खजाने में भी न मिलेंगे। पुन आगे न जाने कितना दहेज आदि में दिया जायगा, इससे देने का मद भी नहीं रह गया। धनद का अर्थ है, जो धनवान् होते हुए धन दे भी। इस तरह के दोनों मद छूट जाते हैं।

'अति सुन्दर दीन्हेउ ··'—सुन्दर निवास स्थान तो मार्ग ही में दिया था—"असन सयन बर बसन सुहाये। पावहिं सब निज ··" (दो० ३०१), यहाँ जनवासा' उससे भी अधिक सुन्दर है।

जानी सिय बरात पुर आई। कछु निज महिमा प्रगटि जनाई ॥७॥
हृदय सुमिरि सब सिद्धि बोलाई। भूप - पहुनई करन पठाई ॥७॥

दोहा—**सिधि सब सिय आयसु अकनि, गई जहाँ जनवास।**
लिये संपदा सकल सुख, सुरपुर - भोग - बिलास ॥३०६॥

निज निज बास बिलोकि बराती। सुरसुख सकल सुलभ सब भाँती ॥१॥
बिभवभेद कछु कोउ न जाना। सकल जनक कर करहिं बखाना ॥२॥
सियमहिमा रघुनायक जानी। हरपे हृदय हेतु पहिचानी ॥३॥

अर्थ—श्री जानकीजी ने जाना कि बरात नगर में आ गई, तब उन्होंने कुछ अपनी महिमा प्रकट कर दिखाई ॥७॥ हृदय में स्मरण कर सब सिद्धियों को बुलाकर राजा की पहुनई करने को भेजा ॥८॥ श्रीसीताजी की आज्ञा सुनकर सब सिद्धियाँ सब सम्पदा, सुख और देवलोक के भोग विलास (की सामग्री) लिये हुए, जहाँ जनवासा था, वहाँ गई ॥३०६॥ बराती लोगों ने अपने अपने वासस्थल देख, देवताओं के सब सुख सब तरह सुलभ पाये ॥१॥ ऐश्वर्य का भेद कुछ भी किसी ने न जाना, सभी जनकजी की बड़ाई कर रहे थे ॥२॥ श्रीजानकीजी की महिमा को श्रीरघुनाथजी ने जाना और उनके हृदय की प्रीति जानकर प्रसन्न हुए ॥३॥

विशेष—(१) 'कछु निज महिमा ···'—ऐसी ही पहुनई भरद्वाजजी ने भरतजी की की है, पर वहाँ उन्हें उसके लिये शोच हुआ और बड़ी महिमा प्रकट की। पर यहाँ कुछ ही महिमा में काम चल गया, क्योंकि मुनि जीव हैं और ये ईश्वरी हैं, इनकी महिमा अपरिमित है। वहाँ मुनि को मन्त्र द्वारा आवाहन करना पड़ा है—"सुनि रिधि सिधि अनिमादिक आई।" (अ० दो० २१२), पर यहाँ स्मरण करते ही आ गई और हाथ जोड़े आज्ञा चाहने लगीं। यह ईश्वर जीव का भेद जनाया। 'प्रगटि जनाई'—श्रीरामजी को ही जनाया, अतः वे ही जान गये। अन्यथा सभी जानते। 'पठाई'—क्योंकि जब तक सम्बन्ध न होगा, चक्रवर्तीजी भीतर न आयेंगे, अत सिद्धियों को जनवासे में ही भेजा।

(२) 'लिये संपदा सकल सुख, सुरपुर भोग ···'–यहाँ सब पदार्थ सुरपुर ही के हैं, इसी से 'सरिस' आदि वाचक पद नहीं दिये गये। यथा—"सुधा सरिस नहिं जाहिं बखाने।" (दो॰ ३२८), "भरे सुधा-सम सब पकवाने।" (दो॰ ३०४); इन सब में जनक जी की विभूति है।

(३) 'निज निज बास बिलोकि···'—प्रथम वासस्थान सबकी रुचि के अनुकूल दिये, तब देव-लोक की भोग-विभूति दी। 'बिभव भेद'···'—जनाती बराती किसीने भी न जाना, क्योंकि राजा जनकजी ने मंत्रियों से प्रबंध के लिये आज्ञा दी थी ही, सब यही कहते हैं कि ऐसा आश्चर्य विभव तो देवलोक ही में सुनते थे, पर यहाँ देखते हैं; क्यों न हो, राजा जनक योगीश्वर हैं, जो कर दिखावें, वही थोड़ा।

(४) 'हरषे हृदय हेतु पहिचानी।'—'हेतु' का अर्थ प्रीति और कारण दो होते हैं, दोनों दो प्रकार के भावों में सार्थक हैं। (क) हमपर इतना प्रेम है कि हमारी बरात भर की पहुनई कर रही हैं। (ख) हमने धनुर्भंग एवं नगर-दर्शन आदि से मिथिला वासियों को सुख दिया है, इसी कारण से ये हमारे अवध-वासियों को दिव्य-सुख दे रही हैं।

पितुआगमन सुनत दोउ भाई। हृदय न अति आनंद अमाई ॥४॥
सकुचन्ह कहि न सकत गुरु पाहीं। पितु - दरसन - लालच मन माहीं ॥५॥
बिस्वामित्र बिनय बड़ि देखी। उपजा उर संतोष बिसेखी ॥६॥
हरषि बंधु दोउ हृदय लगाये। पुलक अंग अंबक जल छाये ॥७॥
चले जहाँ दसरथ जनवासे। मनहुँ सरोवर तकेउ पियासे। ८॥

दोहा—भूप बिलोके जबहिं मुनि, आवत सुतन्ह समेत।
उठे हरषि सुखसिंधु महँ, चले थाह - सी लेत ॥३०७॥

अर्थ—पिता का आगमन (आना) सुनते ही दोनों भाइयों को अत्यन्त आनंद हुआ, जो हृदय में नहीं अँटता ॥४॥ संकोच-वश गुरुजी से कह नहीं सकते, पर पिताजी के दर्शनों का लालच मन में है ॥५॥ बड़ी नम्रता देखकर विश्वामित्रजी के हृदय में विशेष संतोष उत्पन्न हुआ ॥६॥ उन्होंने हर्षपूर्वक दोनों भाइयों को हृदय में लगाया, शरीर पुलकित हो गया, नेत्रों में प्रेम के आँसू भर आये ॥७॥ जहाँ जनवासे में दशरथ महाराज हैं, वहाँ को चले, मानों तालाब ही प्यासे को ताक कर उसके पास जाय ॥८॥ राजा ने ज्योंही देखा कि मुनि पुत्रों के साथ आ रहे हैं वे आनंदित होकर उठ पड़े और सुख-समुद्र में थाह लेते हुए की तरह चले ॥३०७॥

विशेष—(१) 'हृदय न अति आनंद अमाई।'—यह आनन्द मुख द्वारा आज्ञा माँगने के रूप में निकलना ही चाहता है, पर संकोच है कि मुनि यह न समझें कि हमसे पिता को अधिक समझते हैं, लज्जा-रूप में भी संकोच है कि अपनी बरात देखने की लालसा है, अतः लज्जा से भी नहीं कहते, यथा—"गिरा, अलिनि···प्रगट न लाज निसा अवलोकी ॥" (दो॰ २५८)।

(२) 'बिनय बड़ि···'—'देखी' अर्थात् मुख की चेष्टा और नम्रता द्वारा लख लिया। 'बिनय बड़ि' के योग से संतोष 'बिसेखी' उपजा—यह समझकर कि हमें पिता से भी अधिक मानते हैं।

'पुलक अंग'—दोनों भाइयों के आनंदमय शरीर हैं, अतः स्पर्श होते ही आनन्द भर आता है, इसीसे पुलक आदि होते हैं, यथा—"सम सिसु येहि मिसु प्रेम बस, परसि मनोहर गात। तनु पुलकहि अति हरष हिय, देखि देखि दोउ भ्रात॥" (दो० २२४); प्रेम के कारण नेत्रों में आँसू आ गये हैं, हृदय लगाना वात्सल्य भाव में स्वाभाविक है।

(३) 'मनहुँ सरोवर तकेउ पियासे।'—(क) प्यासा सरोवर के पास जाता है, यह कहावत है, पर यहाँ सरोवर ने ही प्यासे को ताका है, श्रीराम-लक्ष्मण सरोवर हैं, श्रीचक्रवर्त्तीजी और अवधवासी प्यासे हैं—"सबके उर निर्भर हरष, पूरित पुलक सरीर। कबहिं देखिबे नयन भरि, राम-लखन दोउ बीर॥" (दो० ३००)। (ख) मानों प्यासे ने तालाब देखा—इसमें पिता का अंग सरोवर, रूप-दर्शन जल और प्यासे दोनों भाई हैं—"पितु दरसन लालच मन माहीं।" (उपर्युक्त); पर '(क)' में विशेषता है।

'उठेउ हरषि सुख सिंधु महँ, चले थाह सी लेत।'—पुत्रों के समेत मुनि को आते देख हर्षित होकर उठे, क्योंकि महात्माओं को आगे चलकर लेना चाहिये, पर इनके हृदय में प्रेम और आनंद का समुद्र उमड़ा, जिससे चलने की शक्ति न रह गई, यथा—"मोद-प्रमोद बिबस सब माता। चलहिं न चरन सिथिल भये गाता॥" (दो० ३४५); इससे छड़ी के सहारे रुक-रुककर चलने लगे, जैसे अगाध जल में लोग पैर सँभालकर धरते हैं, फिर थोड़ा रुककर दूसरी डेग (कदम) रखते हैं। तथा—"सिथिल अंग पग मग डगि डोलहिं।" (अ० दो० २१४)।

मुनिहि दंडवत कीन्ह महीसा। बार-बार पदरज धरि सीसा॥१॥
कौसिक राउ लिये उर लाई। कहि असीस पूछी कुसलाई॥२॥
पुनि दंडवत करत दोउ भाई। देखि नृपति उर सुख न समाई॥३॥
सुत हिय लाइ दुसह दुख मेटे। मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे॥४॥

अर्थ—राजा ने मुनि को दण्डवत् प्रणाम किया और बार-बार उनके चरण को धूलि शिर पर रक्खी॥१॥ कौशिक मुनि ने राजा को (उठाकर) हृदय से लगा लिया और आशिष देकर कुशल पूछी॥२॥ फिर दोनों भाइयों को दंडवत् प्रणाम करते देखकर राजा के हृदय में सुख नहीं समाता॥३॥ पुत्रों को हृदय से लगाकर असह्य दुःख को मिटाया, मानों मरे हुए शरीर को प्राण मिल गये॥४॥

विशेष—(१) 'बार बार पद-रज धरि सीसा।'—इन रजःकणों का प्रभाव—"जे गुरु-चरन-रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल बिभव बस करहीं॥"; "सबु पायेउँ रज पावनि पूजे॥" (अ० दो० २)। राजा मानों ऐसा कहते हुए बार-बार रज शिर पर रखते हैं।

(२) 'कौसिक राउ······'—राजा से मिलने में कौशिक नाम दिया गया, यह राज्य-सम्बन्धी नाम है, क्योंकि अभी तक राजा दशरथ का श्रीराम-विषयक पितृत्व इनमें था, मानों राजा रूप थे, अब वह राजा दशरथ को मिलने के द्वारा सौंप रहे हैं। राजा के—'पद रज धरि सीसा' के प्रति 'लिये उर लाई' और 'दंडवत' के प्रति 'कहि असीस' है। 'पूछी कुसलाई' अपनी ओर से है।

'पुनि दंडवत करत दोउ भाई।'—प्रायः श्रीरामजी का शिर नवाना ही लिखा है, यथा—"प्रात काल उठि के रघुनाथा। मातु-पिता गुरु नावहिं माथा॥" (दो० २०४), पर आज साष्टांग पड़ रहे हैं, क्योंकि बहुत दिनों पर मिलने से अधिक प्रेम है, पुनः संतों में रहकर दंडवत् की रीति भी सीखी है।

पिता के दर्शनों के लिये दोनों भाइयों को कहा गया—'हृदय न अति आनंद समाई।' वैसे यहाँ—'देखि नृपति उर सुख न समाई।' कहा है; अर्थात् भगवान् भक्तों से भाव में बढ़े रहते हैं—"ये यथा मां···" (गीता ४।११)।

(२) 'मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे'—पुत्रों को मुनि के प्रति सौंपते समय राजा ने कहा था कि—"मेरे प्राननाथ सुत दोऊ।" (दो० २००); प्राण-रूप पुत्रों के वियोग में अभी तक राजा मृतक तुल्य रहे, मरने में दुःसह दुःख होता है—"जनमत मरत दुसह दुख होई।" (उ० दो० १०८); अतः, अभी तक राजा को दुःसह दुःख था, वह पुत्रों के मिलने से मिट गया, प्राणों का मुख्य स्थल हृदय है। अतः, पुत्रों को हृदय में ही लगाया, देखिये दो० १६ भी।

पुनि बसिष्ठपद सिर तिन्ह नाये। प्रेममुदित मुनिबर उर लाये ॥५॥
बिप्रबृंद बंदे दुहुँ भाई। मनभावती असीसैं पाई ॥६॥
भरत सहानुज कीन्ह प्रनामा। लिये उठाइ लाइ उर रामा ॥७॥
हरषे लखन देखि दोउ भ्राता। मिले प्रेम - परिपूरित गाता ॥८॥

दोहा—पुरजन परिजन जातिजन, जाचक मंत्री मीत।
मिले जथाबिधि सबहि प्रभु, परम कृपाल बिनीत ॥३०८॥

अर्थ—फिर उन्होंने वसिष्ठजी के चरणों में शिर नवाया, प्रेम और आनन्द के साथ मुनिश्रेष्ठ ने उन्हें हृदय से लगा लिया ॥५॥ दोनों भाइयों ने विप्र-मंडली की वंदना की और मनभाई असीस पाई ॥६॥ श्रीभरतजी ने भाई के साथ प्रणाम किया, श्रीरामजी ने उठाकर हृदय से लगाया ॥७॥ श्रीलक्ष्मणजी दोनों भाइयों को देखकर हर्षित हुए और प्रेमपूर्ण शरीर से मिले ॥८॥ परम कृपालु, विनीत प्रभु श्रीरामजी पुरवासियों, कुटुम्बियों, जाति के लोगों (रघुवंशियों), याचकों, मंत्रियों और मित्रों—सभी से जिससे जैसी रीति योग्य थी, मिले ॥३०८॥

विशेष—(१) 'वसिष्ठ-पद सिर तिन्ह नाये ··बिप्रबृंद बंदे'—पिता का प्रेम सबसे ऊँचा है, तब कुल-गुरु का और फिर विप्रों का। वैसे प्रणाम में भी क्रमशः दंडवत्, शिर नवाना और वंदना, क्रमशः न्यून है। 'मन भावती'; यथा—"सुफल मनोरथ होहिं तुम्हारे।" (दो० २२९)।

(२) 'लाइ उर रामा'—दोनों भाइयों को एक साथ ही उठाकर हृदय में लाये, अन्यथा एक को पीछे उठाने पर उसके प्रति प्रेम का अभाव होता, इसलिये 'रामा' कहा गया कि ये तो जगत् भर को साथ ही रमा सकते हैं।

(३) 'हरषे लखन···मिले···'—जिस समय श्रीराम-लक्ष्मणजी ने पिता को प्रणाम किया, उसी समय श्रीभरत दोनों भाइयों ने विश्वामित्रजी को प्रणाम किया और शत्रुघ्नजी का लक्ष्मणजी को प्रणाम करना 'मिले' शब्द में आ जाता है। विस्तार भय से संकेत में जनाया।

'पुरजन परिजन ···'—इनसे यथाविधि मिलने में 'प्रभु, परम कृपालु, विनीत' ये तीन विशेषण हैं। अतः, बड़ों से नम्रता पूर्वक मिले, छोटों पर कृपा की, बराबरवालों से अंकमाल देकर 'मिले'। 'प्रभु' पद

देकर शीघ्रता ही में सभी से एक साथ मिलने का समाधान किया कि यहाँ पर प्रभुता से काम लिया है, यथा—"सानुज मिलि पल महँ सब काहू। कीन्हि दूरि दुख दारुन दाहू॥" (दो० १११); "छन महँ सबहिं मिले भगवाना" (उ० दो० ५)।

रामहिं - देखि बरात जुड़ानी। प्रीति कि रीति न जाति बखानी॥१॥
नृप - समीप सोहहिं सुत चारी। जनु धन धरमादिक तनुधारी॥२॥
सुतन्ह समेत दसरथहि देखी। मुदित नगर-नर-नारि बिसेखी॥३॥
सुमन बरषि सुर हनहिं निसाना। नाकनटी नाचहिं करि गाना॥४॥
सतानंद अरु बिप्र सचिवगन। मागध सूत बिदुष बंदीजन॥५॥
सहित बरात राउ सनमाना। आयसु माँगि फिरे अगवाना॥६॥
प्रथम बरात लगन ते आई। ताते पुर प्रमोद अधिकाई॥७॥
ब्रह्मानंद लोग सब लहहीं। बढ़हु दिवस निसि बिधि सन कहहीं॥८॥

दोहा—राम सीय सोभा - अवधि, सुकृत - अवधि दोउ राज।
जहँ तहँ पुरजन कहहिं अस, मिलि नर - नारि - समाज॥३०९॥

अर्थ—श्रीरामजी को देखकर बराती (हृदय से) शीतल हुए, उनकी प्रीति की रीति तो बखानी नहीं जा सकती॥१॥ राजा के पास चारो पुत्र ऐसे शोभायमान हो रहे हैं मानों धन-धर्म आदि (चारो फल) शरीर धारण किये हुए हैं॥२॥ पुत्रों के साथ राजा दशरथ को देखकर नगर के स्त्री-पुरुष विशेष आनंदित हैं॥३॥ फूल बरसाकर देवता लोग नगाड़े बजाते हैं, अप्सराएँ गा-गाकर नाच रही हैं॥४॥ श्रीशतानन्दजी, ब्राह्मणों, मंत्रियों, मागधों, सूतों, पंडितों और बंदी-जनों ने बरात के साथ राजा का सम्मान किया, फिर आज्ञा माँगकर ये अगवानी लोग लौटे॥५-६॥ बरात लग्न से पहले आ गई है, इससे नगर में आह्लाद बढ़ता जा रहा है॥७॥ सबलोग ब्रह्मानन्द प्राप्त करते हैं और ब्रह्माजी से कहते हैं (प्रार्थना करते हैं) कि दिन रात बढ़ जायँ॥८॥ श्रीराम-सीता शोभा की सीमा हैं और दोनों राजा पुण्य की सीमा। जहाँ-तहाँ पुरवासी स्त्री-पुरुषों के समाज मिल मिलकर ऐसा कहते हैं॥३०९॥

विशेष—(१) 'रामहिं देखि बरात जुड़ानी'—बरात के नेत्र दर्शनों के लिये व्याकुल एवं संतप्त थे; यथा—"कबहिं देखिबे नयन भरि, राम-लखन दोउ बीर॥" (दो० ३००); "बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माँह सरीरा॥" (सुं० दो० ३०); वे नेत्र शीतल हुए, यथा—"कबहुँ नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि स्याम मृदुगाता॥" (सुं० दो० १४), यहाँ उपर्युक्त—'मनहुँ सरोवर तकेउ पियासे।' अर्थ (क) चरितार्थ हुआ।

'प्रीति कि रीति न जाइ···'—(क) मिलने एवं बातचीत में जो प्रेम के भाव प्रकट होते हैं, वे अकथ्य हैं। (ख) बरातियों को सुरपुर के भोग-विलास प्राप्त हुए तो भी उनके हृदय श्रीराम के बिना संतप्त ही थे, अब दर्शन पाकर शीतल हुए, यही तो प्रीति की रीति निराली है और इसीसे अकथ्य है। देखे ही—

"सब विधि सब पुर-लोग सुखारी। रामचंद्र मुख-चंद निहारी॥" (अ० दो० १) में भी कहा है कि सब सुख रहते हुए भी श्रीरामदर्शनों से ही सुखी हैं।

(२) 'नृप-समीप सोहहिं सुत ...'—'नृप'—क्योंकि राजाओं के यहाँ ही अर्थ-धर्मादि की शोभा होती है, विरक्तों के यहाँ ये हों भी तो शोभा नहीं पाते। राजा दशरथ को धन-धर्मादिक सहज में ही प्राप्त थे, तो अब शोभा कैसे कहते। अतः, अर्थादि का 'तनुधारी' होना कहा। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष रूप क्रमशः शत्रुघ्न, लक्ष्मण, भरत और श्रीरामजी हैं। आगे—"कियन्ह सहित फल चारि" (दो० ३२५) पर भी देखिये। यों तो ये चार फलों के भी फल हैं, पर यहाँ उपमा मात्र है।

(३) 'सुतन्ह सहित दसरथहिं ......'—पुत्रों से श्रीचक्रवर्त्तीजी की और पिता से शोभा पुत्रों की है। जैसे ऐश्वर्यवान् महाराज हैं, वैसे सर्वगुणसम्पन्न परम सुन्दर उनके चारो पुत्र हैं। यह देखकर नर-नारियों को विशेष आनन्द हुआ। विशेष हर्ष का यह भी हेतु हो सकता है कि इन्हीं चार पुत्रों के अनुरूप राजा जनक के चार कन्याएँ भी हैं।

'नाकनटी नाचहिं ......'—प्रायः राजा-रईसों के ब्याह में वेश्याएँ नृत्य के लिये आती हैं, पर यहाँ उनकी जगह आकाश (सुरलोक) की अप्सराएँ कही गई हैं, इससे वेश्या-नृत्य की प्रथा को दूषित जनाया।

(४) 'सतानंद...सहित बरात ......'—अगवानियों में इतने लोग विशेष करके सम्मान करने के लिये गये। अपने गुरुओं से राजा एवं बरात का सम्मान किया, क्योंकि बरातियों के साथ ही सम्मान करने से राजा प्रसन्न होंगे। राजा जनक अभी नहीं आये, क्योंकि बिना 'सामध' हुए ये चक्रवर्त्तीजी से अभी नहीं मिलेंगे, यह रीति है। 'आयसु माँगि ......'—यह शिष्टाचार है।

(५) 'प्रथम बरात लगन ते...... '—अगहन शु० ५ को ब्याह का मुहूर्त है और बरात कार्त्तिक कृष्ण पक्ष ही में आ गई। अतः, लगभग सवा महीने पहले ही आई। इससे प्रकर्ष मोद है कि नाना प्रकार के उत्सव-आनन्द होंगे। 'ब्रह्मानन्द लोग सब......'—चारों भाई सच्चिदानन्द-विग्रह हैं। अतः इनके दर्शनों से सबको ब्रह्मानन्द मिल रहा है। पहले विदेह महाराज ही ब्रह्मानन्द-भोगी थे। 'बढ़हु दिवस निसि'—गिनती में तो दिन-रात बढ़ नहीं सकते। हाँ, इन्हीं दिन-रात को बढ़ाना चाहते हैं, इसके लिये 'विधि' से कहते हैं, क्योंकि वे विधान कर्त्ता हैं, पुनः इनके दिन रात सबसे बड़े होते हैं। यथा—"सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः। रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥" (गीता ८।१७)। अतः, अपने दिन-रात की तरह इन दिन-रातों को कर दें, यह प्रीति की दशा है। इनका भाव यह है कि ऐसा ही सदा देखते रहें। यथा—"प्रेम मगन माँगत महेस सो देखत ही रहिये नित ये री।" (गी० बा० ७६)।

(६) 'राम सीय सोभा-अवधि......'—इसी दोहे की व्याख्या आगे के दो दोहों में है—'पुरजन कहहिं अस ......'—यहाँ उपक्रम है। आगे—"येहि विधि सकल मनोरथ करहीं।" (दो० ३११) पर उपसंहार है।

जनक - सुकृत - मूरति बैदेही। दसरथसुकृत राम धरे देही॥१॥
इन्ह सम काहु न सिव अवराधे। काहु न इन्ह समान फल लाधे॥२॥
इन्ह सम कोउ न भयेउ जग माहीं। है नहिं कतहूँ होनेउ नाहीं॥३॥
हम सब सकल सुकृत कै रासी। भये जग जनमि जनकपुर-बासी॥४॥

जिन्ह जानकी - राम - छबि देखी । को सुकृती हम सरिस बिसेखी ॥५॥
पुनि देखब रघुबीर - बिवाहू । लेब भली बिधि लोचन लाहू ॥६॥

शब्दार्थ—अवराधे = आराधना की, पूजा की । लाधे = लब्ध किये, प्राप्त किये, पाये ।

अर्थ—श्रीजनकजी के पुण्यों की मूर्त्ति श्रीजानकीजी हैं और श्रीदशरथजी के पुण्य देह धरे हुए श्रीरामजी हैं ॥१॥ इनके समान किसी ने भी शिवजी की आराधना नहीं की और न इनके समान किसी ने फल ही पाये हैं ॥२॥ इनके समान कोई भी कहीं जगत् में न हुआ, न है और न होनेवाला ही है ॥३॥ हम सब सभी पुण्यों की राशि हैं कि जगत् में जन्म लेकर जनकपुर के वासी हुए ॥४॥ जिन्होंने श्रीजानकीजी और श्रीरामजी की छवि देखी; ऐसे हमलोगों के समान विशेष पुण्यात्मा कौन है ? ॥५॥ (यही नहीं, किन्तु अभी) श्रीरघुबीर का व्याह भी देखेंगे और भली भाँति नेत्रों के लाभ लेंगे ॥६॥

विशेष—(१) 'जनक-सुकृत-मूरति ···'—ऊपर दोहे में 'सुकृत अवधि दोउ राज' कहा गया, फल-द्वारा दोनों राजाओं के सुकृत का स्वरूप कहते हैं । ये 'सुकृत-अवधि' इससे हैं कि इनके ही सुकृत ने मूर्ति-मान होकर दर्शन द्वारा हमसब को भी सुकृती बना दिया । आगे शिवजी की आराधना को इनके 'सुकृत-अवधि' होने का साधन कहा कि इसी साधन से इन्हें श्रीसीतारामजी मिले हैं ।

(२) 'को सुकृती हम सरिस···'—'हम' और 'जिन्ह' बहुवचनों से सभी जनकपुरवासी आ गये । 'भये जग जनमि' से भूतकाल, 'जिन्ह जानकी-राम छवि देखी ।' से वर्त्तमान और 'पुनि देखब रघुबीर-बिवाहू ।' से भविष्य के लिये भी अपने को धन्य कहा ।

कहहिं परसपर कोकिलबयनी । येहि बिवाह बड़ लाभ सुनयनी ॥७॥
बड़े भाग बिधि बात बनाई । नयनअतिथि होइहहिं दोउ भाई ॥८॥

दोहा—बारहिं बार सनेहबस, जनक बोलाउब सीय ।
लेन आइहहिं बंधु दोउ, कोटि - काम - कमनीय ॥३१०॥

बिबिधि भाँति होइहि पहुनाई । प्रिय न काहि अस सासुर माई ॥१॥
तब तब राम - लखनहि निहारी । होइहहिं सब पुरलोग सुखारी ॥२॥

अर्थ—कोकिला के समान मधुर प्रिय बोलनेवाली स्त्रियाँ आपस में कहती हैं कि हे सुंदर नेत्रोंवाली ! इस विवाह में बड़े लाभ हैं, हमारे बड़े भाग्य हैं । विधाता ने बात सँवार दी कि दोनों भाई नेत्रों के पाहुन होंगे ॥७-८॥ प्रेम के वश बार बार श्रीजनकजी श्रीसीताजी को बुलावेंगे, करोड़ों कामदेवों से भी अधिक सुन्दर दोनों भाइ लेने (लिवा जाने को) आया करेंगे ॥३१०॥ अनेक प्रकार से पहुनई होगी । हे माई ! ऐसी ससुराल किसे प्रिय नहीं लगेगी ? ॥१॥ तब-तब श्रीराम लक्ष्मणजी को देखकर सब पुरवासी सुखी होंगे ॥२॥

विशेष—(१) 'कहहिं परसपर कोकिल···'—ऊपर पुरुषों के वचन थे । यहाँ से स्त्रियों के वचन हैं । श्रीराम-यश-सम्बन्धी वाणी की 'कोकिलबयनी' कहकर सराहना की और 'विवाह' देखने के योग से

'सुनयनी' विशेषण है। 'बड़े लाभ' के योग में 'बड़े भाग' कहा है, पूर्व अपने को—'को सुकृती हम सरिस' कहा गया है। सुकृत के अनुसार भाग्य ब्रह्मा बनाते हैं, यथा—"कठिन करम-गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फलदाता॥" (अ० दो० २८१) इससे 'बिधि बात बनाई' कहा गया है। यदि कहा जाय कि विवाह हो जाने पर तो श्रीजानकीजी भी चली जायँगी, तब किन्हीं के भी दर्शन न होंगे। उसपर कहती हैं—'बारहिं बार···' 'कोटि काम कमनीय'—यह विशेषण इन्होंने अपनी दृष्टि से दिया है, क्योंकि स्त्रियों को शृंगार अत्यन्त प्रिय है। यथा—"नारि बिलोकहिं हरषि हिय, निज निज रुचि अनुरूप। जनु सोहत शृंगार धरि, मूरति परम अनूप॥" (दो० २४१)।

(२) 'बिबिध भाँति होइहिं···'—यह भी नहीं कि आकर दो-चार दिनों ही में चले जायँ, किन्तु तरह-तरह की पहुनइयों में १०-१५ दिन तो महाराज के ही महलों में लगेंगे, फिर उनके भाइयों, मंत्रियों एवं कोषाध्यक्ष आदि के यहाँ भी तीन-तीन दिन पहुनई होगी, फिर तो कई महीने रहेंगे। क्योंकि—'प्रिय न काहि···' अन्यत्र से चाहे जी ऊब भी जाय, पर ऐसी ससुराल भला किसे न प्रिय होगी? यथा—"असारे खलु संसारे सारं श्वशुरमन्दिरम्। हिमालये हरः शेते हरिः शेते पयोनिधौ॥" (भोज-प्रबन्ध)।

सखि जस राम लखन कर जोटा। तैसेइ भूप संग दुइ ढोटा॥३॥
स्याम गौर सब अंग सुहाये। ते सब कहहिं देखि जे आये॥४॥
कहा एक मैं आजु निहारे। जनु बिरंचि निज हाथ सँवारे॥५॥
भरत राम ही की अनुहारी। सहसा लखि न सकहिं नर-नारी॥६॥
लखन सत्रुसूदन एकरूपा। नख सिख ते सब अंग अनूपा॥७॥
मन भावहिं मुख बरनि न जाहीं। उपमा कहँ त्रिभुवन कोउ नाहीं॥८॥

अर्थ—हे सखी! जैसी श्रीराम-लक्ष्मण की जोड़ी है, वैसे ही राजा के साथ दो पुत्र और हैं॥३॥ एक श्याम हैं और दूसरे गौर, सभी अंगों से सुन्दर हैं—जो लोग देख आये हैं, वे सभी ऐसा कहते हैं॥४॥ एक ने कहा कि मैंने आज ही उन्हें देखा है, मानों ब्रह्मा ने अपने हाथों से सँवारकर बनाया है॥५॥ भरतजी श्रीरामजी की ही तरह हैं, एका-एक कोई स्त्री-पुरुष पहचान नहीं सकते॥६॥ लक्ष्मण शत्रुघ्न एक-रूप हैं, नख से शिखा पर्यन्त सभी अंग उपमारहित हैं॥७॥ मन ही-मन भाते हैं, मुख से वर्णन किये नहीं जा सकते, तीनों लोकों में उनकी उपमा के योग्य कोई नहीं है॥८॥

विशेष—'कहा एक मैं आजु···'—तू कल की, वह भी सुनी हुई, कहती है और मैंने तो आज ही प्रत्यक्ष देखा है। उन्हें ब्रह्मा ने स्वयं हाथों से सँवारकर रचा है। इस तरह शोभा को अत्यन्त कहा।

'भरत रामही की···लखन सत्रु···' यथा—"कहहिं सप्रेम एक एक पाहीं। राम लखन सखि होहिं कि नाहीं॥ बय बपु बरन रूप सोइ आली। सील सनेह सरिस सम चाली॥" (अ० दो० २२१)। एक जगह 'अनुहारी' और दूसरी जगह 'एकरूपा' कहकर दोनों का एक ही अर्थ जनाया।

'मन भावहिं मुख···'—तीनों लोकों की उपमा योग्य न पाकर वक्ता के मन का भाव ही रह गया। पहले—'नख सिख ते सब अंग अनूपा।' कहा था, तब इसी लोक की उपमाएँ समझी गई थीं।

छंद—उपमा न कोउ कह दास तुलसी कतहुँ कविकोविद कहैं।
बल - विनय - विद्या - सील - सोभा - सिंधु इन्ह-से एइ अहैं।
पुर-नारि सकल पसारि अंचल बिधिहि बचन सुनावहीं।
व्याहियहु चारिउ भाइ येहि पुर हम सुमंगल गावहीं॥

सोरठा—कहहिं परसपर नारि, बारिबिलोचन पुलक तनु।
सखि सब करब पुरारि, पुन्य-पयोनिधि भूप दोउ ॥३११॥

येहि विधि सकल मनोरथ करहीं। आनँद उमगि-उमगि उर भरहीं ॥१॥

अर्थ—श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि इनकी उपमा के योग्य कहीं कोई नहीं है। कवि और पंडित लोग कहते हैं कि बल, विनय, विद्या, शील और शोभा के समुद्र इनकी तरह ये ही हैं॥ सब जनकपुर की स्त्रियाँ अंचल फैलाकर ब्रह्माजी को ये वचन सुनाती हैं कि—चारों भाई इसी पुर में व्याहे जायँ और हम सुन्दर मंगल गान करें॥ नेत्रों में जल भरे और शरीर से पुलकित होकर स्त्रियाँ आपस में कहती हैं कि हे सखि! त्रिपुरारि शिवजी सब मनोरथ पूरा करेंगे, (क्योंकि) दोनों राजा पुण्य के समुद्र हैं॥३११॥ इस तरह सब (स्त्रियाँ) मनोरथ कर रही हैं और उत्साह-पूर्वक उमँग-उमँग कर आनन्द से हृदय को भर रही हैं॥१॥

विशेष—(१) 'बल, विनय, विद्या, सील, सोभासिंधु ···'—ये पाँच गुण पुर-नारियों ने देखे हैं; इससे इन्हीं को कहती हैं, अन्यथा गुण तो भगवान् में अनन्त हैं। 'बल' धनुष तोड़ने में, 'विद्या' यथा—"अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा। लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा ··" (दो॰ २६०), विनय और शील परशुराम-संवाद में देखे हैं; यथा—"विनय सील करुना गुनसागर।" (दो॰ २८५); और शोभा-समुद्र का होना तो नगर-दर्शन ही से सर्वत्र प्रसिद्ध हो गया। "इन्ह-से एइ" में अनन्वय अलंकार है।

(२) 'पसारि अंचल'—यह देवता एवं बड़े से याचना की मुद्रा है, इसमें दीनता, विनय और अत्यन्त अभिलाषा के भाव रहते हैं, यथा—"चरन नाइ सिर अंचल रोपा।" (लं॰ दो॰ ५); "हिंडोल-साज बिलोकि सब अंचल पसारि पसारि। लागीं असीसन राम सीतहिं ··" (गी॰ उ॰ १८)।

'बिधिहि बचन सुनावहीं'—प्रथम धनुर्भंग के पहले भी ब्रह्मा से विनय करती थीं, किन्तु उस समय भय से मन ही में कहती थीं—"बिधि सन बिनय करहिं मन माहीं।" (दो॰ २४८); यहाँ भय नहीं है। अब, प्रकट में सुनाते हैं। 'येहि पुर' अर्थात् नगर भर में चाहे कहीं हो, पर हम सुमंगल गावें, यही लालसा है कि चारों के सुमंगल गाने को मिले।

(३) 'सखि सब करब पुरारि ···'—शिवजी ने त्रिपुरासुर को मारकर तीनों लोकों को सुखी किया, वैसे ही हमें भी सुखी करेंगे। शिवजी की प्रसन्नता के साधन भी पूर्व कहे गये—"इन्ह सम काहु न सिव अवराधे।" अतएव—'सब करब पुरारि' कहा, अर्थात् नगर-भर में ब्याहे जाने की बात क्या कहती हो? महाराज के ही यहाँ चारों ब्याह होंगे, क्योंकि इसके योग्य 'पुन्यपयोनिधि, ये ही हैं, इसीसे सब प्रकार पूर्ण हैं।

जे नृप सीय-स्वयंवर आये। देखि बंधु सब तिन्ह सुख पाये ॥२॥
कहत रामजस बिसद बिसाला। निज-निज भवन गये महिपाला ॥३॥
गये बीति कछु दिन येहि भाँती। प्रमुदित पुरजन सकल बराती ॥४॥
मंगलमूल लगन दिन आवा। हिमरितु अगहनमास सुहावा ॥५॥
ग्रह तिथि नखत जोग बर बारू। लगन सोधि बिधि कीन्ह बिचारू ॥६॥
पठइ दीन्हि नारद सन सोई। गनी जनक के गनकन्ह जोई ॥७॥
सुनी सकल लोगन्ह यह बाता। कहहिं जोतिषी आहि बिधाता ॥८॥

दोहा—धेनु-धूरि-बेला बिमल, सकल-सुमंगल-मूल।
बिप्रन्ह कहेउ बिदेह सन, जानि सगुन अनुकूल ॥३१२॥

अर्थ—जो राजा सीता-स्वयंवर में आये थे, वे सब भाइयों को देखकर सुखी हुए ॥२॥ श्रीरामजी का विशाल (विस्तृत) निर्मल यश कहते हुए राजा लोग अपने अपने घर गये ॥३॥ कुछ दिन इस तरह बीत गये, सभी पुरवासी और बराती आनन्दित हैं ॥४॥ सम्पूर्ण मंगलों का मूल लग्न का दिन आ गया, हेमन्त-ऋतु में सुहावना अगहन का महीना ॥५॥ और श्रेष्ठ ग्रह, तिथि, नक्षत्र, योग, दिन और लग्न शोधकर ब्रह्माजी ने विचार किया ॥६॥ उसी को नारदजी के हाथ से उन्होंने भेज दिया, जिसे राजा जनक के ज्योतिषियों ने प्रथम ही विचार रक्खा था ॥७॥ (जब) सब लोगों ने यह बात सुनी, तब कहने लगे—ज्योतिषी विधाता (ही) हैं ॥८॥ निर्मल और सब सुन्दर मङ्गलों की जड़ गोधूलि समय को अनुकूल सगुन जानकर ब्राह्मणों ने विदेह (जनक) जी से कहा ॥३१२॥

विशेष—(१) 'कहत राम-जस बिसद बिसाला।'—'बिसद' यथा—"जिन्ह के जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रबि सीतल लागे ॥" (दो० २९१)। 'बिसाला' यथा—"महि पाताल नाक जस ब्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा ॥" (दो० २६४)।

(२) 'गये बीति कछु दिन'—सवा महीना बीत गया, पर कुछ ही दिन कहे गये, क्योंकि सुख के दिन जाते नहीं जान पड़ते, यथा—"सुख समेत संबत दुइ साता। पल सम होहिं न जनियहि जाता ॥" (अ० दो० २८१)।

(३) 'मगल मूल लगन……'—अगहन सब महीनों में श्रेष्ठ एवं भगवान् की विभूति है, यथा—"मासानां मार्गशीर्षोऽहं…" (गीता० १०।३५) इसीसे इसे 'मंगलमूल' और 'सुहावा' कहा गया। यह भी भाव है कि इस महीने में ब्याह-संयोग से जगत्-भर का मंगल होगा, जो रावण द्वारा उठ गया है। कहा भी है—"मंगलेषु विवाहेषु कन्यासंवरणेषु च। दश मासाः प्रशस्यन्ते चैत्र पौष-विवर्जिताः ॥"

'धेनु धूरि-बेला'……'—सूर्यास्त से दो घड़ी पूर्व ही से जब गायें वन से चरकर लौटती हैं, उस समय उनके पग से जो धूल उड़कर आकाश में छा जाती है, उसी में सूर्य-किरण पड़ती है, उस समय

को गोधूलि वेला (समय) कहते हैं, यह समय निर्मल है, क्योंकि जब कोई शुभ लग्न ठीक न बने, तब भी इसमें कार्य करना शुभ माना जाता है। दिन आदि स्थूल हैं, इन्हें मङ्गल मूल कहा और वेला उससे सूक्ष्म है, इसे 'सकल सुमंगल मूल' कहा है।

उपरोहितहि कहेउ नरनाहा। अब बिलंब कर कारन काहा ॥१॥
सतानंद तब सचिव बोलाये। मंगल सकल साजि सब ल्याये ॥२॥
संख निसान पनव बहु बाजे। मंगलकलस सगुन सुभ साजे ॥३॥
सुभग सुआसिनि गावहिं गीता। करहिं बेदधुनि बिप्र पुनीता ॥४॥
लेन चले सादर येहि भाँती। गये जहाँ जनवास बराती ॥५॥
कोसलपति कर देखि समाजू। अति लघु लाग तिन्हहिं सुरराजू ॥६॥
भयेउ समय अब धारिय पाऊ। यह सुनि परा निसानन्हि घाऊ ॥७॥
गुरहि पूछि करि कुलबिधि राजा। चले संग मुनि-साधु-समाजा ॥८॥

दोहा—भाग्यबिभव अवधेस कर, देखि देव ब्रह्मादि।
लगे सराहन सहसमुख, जानि जनम निज बादि ॥३१३॥

शब्दार्थ—समाजू=साज, सभा, शोभा के वैभव इत्यादि सभी अंग इसमें आ जाते हैं।

अर्थ—राजा ने पुरोहित (शतानंदजी) से कहा कि अब देर होने का क्या कारण है? ॥१॥ तब शतानंदजी ने मंत्रियों को बुलाया, वे सब मंगल सजाकर ले आये ॥२॥ बहुत-से शंख, नगाड़े और ढोल बजने लगे, मंगल कलश और शुभ शकुन (दधि, दूर्वा, रोचन, फल, फूल आदि) सजाये गये ॥३॥ सुन्दर सौभाग्यवती स्त्रियाँ गीत गा रही हैं और पवित्राचरणवाले विप्र पवित्र वेद-ध्वनि कर रहे हैं ॥४॥ इस प्रकार आदर-पूर्वक (बरात को) लाने के लिये चले, जहाँ जनवासे में बराती थे, वहाँ गये ॥५॥ अयोध्यापति राजा दशरथ का समाज (ऐश्वर्य) देखकर इन्हें देवराज इन्द्र और उसका राज ऐश्वर्य अत्यन्त तुच्छ जँचा ॥६॥ (उन्होंने आकर बिनती की कि) अब समय हो गया। अतः, पधारिये (चलिये), यह सुनकर नगाड़ों पर चोट पड़ी ॥७॥ गुरु से पूछकर और कुलविधि करके राजा दशरथ मुनियों और साधुओं के समाज के साथ चले ॥८॥ ब्रह्मा आदि देवता अवधेशजी के भाग्य और ऐश्वर्य को देखकर (इनके समक्ष में) अपना जन्म व्यर्थ मान हजारों मुखों से उनकी प्रशंसा करने लगे ॥३१३॥

विशेष—(१) 'सादर येहि भाँती'—'मंगल सकल···' से 'बिप्र पुनीता' तक आदर के विधान हैं। 'परा निसानन्हि घाऊ'—सुनते ही बजानेवालों ने स्वतः (बिना आज्ञा ही) बजाया।

(२) 'चले संग मुनि साधु समाजा...'—राजा के राजसी अंग सेना, परिजन आदि को नहीं लिखा, क्योंकि इनका होना तो स्वाभाविक है। अतः, हैं ही, जो बिना लिखे नहीं समझे जा सकते, उन मांगलिक मुनि-साधु-समाज को कहा गया। यह भी रीति है कि अवधेशजी के साथ मुनि-साधु-समाज सदा ही रहते हैं।

(३) 'लगे सराहन सहस मुख····'—यहाँ बहुत-से देवता एक साथ सराहते हैं। अतः, 'सहस-मुख' कहा गया। वा, एक ही मुख से अत्यन्त उत्साह पूर्वक सराहते हैं, मानों हजार मुखों से कह रहे हैं, यथा—"सहस बदन बरनइ पर दोषा।" (दो० ४) के अर्थ में कहा गया है। 'जानि जनम निज बादि'—राजा दशरथ को यह सुख पूर्व कृत अनन्य भक्ति से प्राप्त है, देवता लोग उसी की सराहना करते हुए कहते हैं और इसके बिना अपना जन्म व्यर्थ समझते हैं, यथा—"परिजन सहित राउ-रानिन्ह कियो मज्जन प्रेम प्रयाग। तुलसी फल ताके चारो मनि मरकत पंकज राग॥" (गी० बा० २६); "हम देवता परम अधिकारी। स्वारथ रत तव भगति बिसारी॥ भव-प्रवाह संतत हम परे।" (लं० दो० १०८); राजा दशरथ का विभव अप्राकृत है, यथा—"नाकेस-दुर्लभ भोग लोग करैं न मन बिषयन्हि हरे।" (गी० उ० ११)।

सुरन्ह सुमंगल अवसर जाना। बरषहिं सुमन बजाइ निसाना॥१॥
सिव ब्रह्मादिक बिबुधबरूथा। चढ़े बिमानन्हि नाना जूथा॥२॥
प्रेम - पुलक - तनु हृदय उछाहू। चले बिलोकन रामबियाहू॥३॥
देखि जनकपुर सुर अनुरागे। निज निज लोक सबहि लघु लागे॥४॥
चितवहि चकित बिचित्र बिताना। रचना सकल अलौकिक नाना॥५॥
नगर - नारि - नर रूपनिधाना। सुघर सुधरम सुसील सुजाना॥६॥
तिन्हहि देखि सब सुर सुरनारी। भये नखत जनु बिधु उजिआरी॥७॥
बिधिहि भयेउ आचरज बिसेखी। निज करनी कछु कतहुँ न देखी॥८॥

शब्दार्थ—अलौकिक = लोकोत्तर, अद्भुत, अप्राकृत। सुघर = सुडौल। सुधरम आदि में 'सु' उपसर्ग अच्छा, श्रेष्ठ, सुन्दर आदि के अर्थ में है। करनी = करतूत, कारीगरी।

अर्थ—देवता सुन्दर मंगल का अवसर जानकर नगाड़े बजा बजाकर फूल बरसाते हैं॥१॥ शिव-ब्रह्मा आदि देवताओं के वृन्द नाना प्रकार की टोलियाँ बनाकर विमानों में चढ़े॥२॥ और प्रेम से पुलकित शरीर एवं हृदय में उत्साह के साथ श्रीरामजी का ब्याह देखने चले॥३॥ जनकपुर को देखकर देवता लोग अनुराग-सहित हो गये और उन्हें अपने-अपने लोक तुच्छ लगे॥४॥ वे विचित्र मँडवा को आश्चर्य-युक्त होकर देख रहे हैं—नाना प्रकार की जितनी रचना है, वह सब अलौकिक है॥५॥ नगर के स्त्री-पुरुष रूप के निधान हैं, इनके सब अंग सुडौल हैं, वे सुन्दर धर्मात्मा, सुशील और सुजान हैं॥६॥ उन्हें देखकर सब देवता और देवांगनाएँ ऐसे फीके जँचते हैं, मानों चन्द्रमा के प्रकाश में तारागण॥७॥ ब्रह्मा को विशेष आश्चर्य हुआ, (क्योंकि) उन्होंने अपनी 'करनी' कुछ भी कहीं नहीं देखी॥८॥

विशेष—(१) 'सुमंगल अवसर जाना।'—उपर्युक्त सुमंगल मूल वेला है, विवाह के लिये यात्रा है, स्त्रियाँ मंगल गा रही हैं, वेद-ध्वनि हो रही है। अतः, हमें भी मांगलिक पुष्प-वर्षा करनी चाहिये।

(२) 'सिव ब्रह्मादिक बिबुध···'—शिवजी को प्रथम कहा, क्योंकि आगे ये ही सबको समझायेंगे। 'बरूथा' बिबुध के साथ है और 'जूथ' बिमानों के साथ। विमान कई प्रकार के होते हैं, उनमें एक-एक भाँति के एक साथ एक टोली में हैं।

'नगर नारि नर रूप'''—पहले समष्टि में रूप-निधान से सुंदरता कही, फिर शरीर की गढ़न 'सुघर' से सराही। तब गुणों का वर्णन किया कि सब धर्मात्मा, सुशील एवं व्यवहार में चतुर हैं। 'नारि' को प्रथम कहा है, क्योंकि वे सुंदरता में पुरुषों से अधिक हैं।

(३) 'तिन्हहिं देखि सब सुर'''—पहले कहा गया कि जनकपुर को देखकर देवताओं को अपने-अपने लोक लघु लगे। अब यहाँ कहते हैं कि यहाँ के स्त्री-पुरुष के आगे 'सुर सुरनारी' अपने-अपने रूप में भी फीके पड़ गये, चन्द्रमा की उपमा से रूप के अतिरिक्त शील आदि में भी फीका होना जनाया, क्योंकि चन्द्रमा रूपवान् और शीलवान् भी है, यथा—"सोम से शील ··" (क० दो० ४३); चन्द्रमा धर्मात्मा भी है, क्योंकि इसने राजसूय यज्ञ किया है। इस प्रकार यहाँ स्थान और स्थानी दोनों हार गये।

'बिधिहि भयो आचरज'''—जैसे देवताओं के रूप और स्थान के गर्व जाते रहे, वैसे ही ब्रह्माजी को सृष्टि-रचना के गर्व का जाना भी कहते हैं। ब्रह्मा की सृष्टि प्राकृत है। अतः, उसमें गुण के साथ अवगुण भी रहते हैं, यथा—"बिधि प्रपंच गुन अवगुन साना।" (दो० ५); पर यहाँ की सारी रचना त्रिपाद-विभूति साकेत की है। अतः, दिव्य है, इसमें अवगुण कुछ है ही नहीं। इससे ब्रह्मा चकित हुए कि क्या बात है ? कोई दूसरा ब्रह्मा तो नहीं हो गया ?

दोहा—सिव समुझाये देव सब, जनि आचरज भुलाहु।
हृदय बिचारहु धीर धरि, सिय-रघुबीर-बिवाहु ॥३१४॥

जिन्ह कर नाम लेत जग माहीं। सकल - अमंगल - मूल नसाहीं ॥१॥
करतल होहिं पदारथ चारी। तेइ सिय-राम कहेउ कामारी ॥२॥
येहि बिधि संभु सुरन्ह समुझावा। पुनि आगे बरबसह चलावा ॥३॥

अर्थ—शिवजी ने सब देवताओं को समझाया कि आश्चर्य में मत भूलो। हृदय में धैर्य धरकर विचार करो कि यह श्रीसीतारामजी का ब्याह है ॥३१४॥—"जिनका नाम लेते ही जगत् में समस्त अमंगल के कारण ही नष्ट हो जाते हैं ॥१॥ तथा चारों पदार्थ अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष करतल (अनायास प्राप्त) होते हैं, ये वही सीतारामजी हैं" ॥२॥ इस प्रकार शिवजी ने सब देवताओं को समझाया, फिर अपने श्रेष्ठ बैल (नंदी) को आगे चलाया ॥३॥

विशेष—(१) 'जिन्हकर नाम लेत'''—अमंगल के मूल काल, कर्म आदि हैं, इन्हीं के द्वारा जीव नाना क्लेशों के भाजन हो रहे हैं, यथा—"आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥ फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल करम सुभाव गुन घेरा।" (उ० दो० ४४); ये चारों नाम की चर्चा से भी दब जाते हैं, यथा—"काल, करम, गुन, सुभाव सबके सीस तपत। राम-नाम-महिमा की चरचा चले चपत॥" (वि० १३०); 'करतल होहिं पदारथ चारी'—करतल होना प्राप्त होना एवं किसी को चाहे तो दे सकना भी अर्थ होता है, श्रीरामनाम के द्वारा चारों फलों की अप्रमेय प्राप्ति एवं साधक का दूसरों के बीच भी लुटाना पूर्व ही दो० १८ की चौ० ३–७ में सप्रमाण लिखा गया; नामवंदना-प्रकरण देखिये।

'तेइ सिय-राम कहेउ कामारी।'—सब विकारों का मूल काम है, ये उसे जीते हुए हैं, इसी से इन्हें

मोह नहीं है, प्रत्युत औरों को भी समझाया कि ये वही सीतारामजी हैं, अर्थात् त्रिपाद-विभूति के स्वामी हैं और इन्हीं का विवाह है। अतः, वैवाहिक सब पदार्थ त्रिपाद विभूति के हैं, इनके आश्चर्य में मत भूलो, नहीं तो इन्हीं में उलझे रह जाओगे, तब पीछे पछताना होगा कि ब्याह नहीं देख पाये।

(२) 'येहि विधि संभु सुरन्ह ···'—मोह तो प्रधान रूप से ब्रह्मा को था, पर देवताओं को समझाया, क्योंकि ब्रह्माजी सबसे बड़े हैं और पितामह कहे जाते हैं। स्पष्ट कहने से वे संकुचित हो जाते। अतः, देवताओं के उपदेश में उन्हें भी बोध हो गया। 'येहि विधि' अर्थात् नाम-प्रताप के द्वारा, उपासना रीति से शीघ्र समझा दिया। 'संभु'—क्योंकि आप स्वयं कल्याण-रूप हैं। अतः सबका कल्याण किया। 'पुनि आगे बर···'—समझाने के लिये ठहर गये थे, फिर आगे को बढ़े, क्योंकि बहुत-कुछ देखना है।

देवन्ह देखे दसरथ जाता। महामोद मन पुलकित गाता ॥४॥
साधु-समाज संग महिदेवा। जनु तनु धरे करहिं सुख सेवा ॥५॥
सोहत साथ सुभग सुत चारी। जनु अपबरग सकल तनुधारी ॥६॥
मरकत-कनक-बरन बर जोरी। देखि सुरन्ह भइ प्रीति न थोरी ॥७॥
पुनि रामहिं बिलोकि हिय हरषे। नृपहि सराहि सुमन तिन्ह बरषे ॥८॥

दोहा—रामरूप नख-सिख-सुभग, बारहिं बार निहारि।
पुलक गात लोचन सजल, उमासमेत पुरारि ॥३१५॥

शब्दार्थ—अपबर्ग = मोक्ष—यह सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य और सायुज्य—प्रकार का है।

अर्थ—देवताओं ने देखा कि दशरथजी मन में महामुदित और शरीर से पुलकित जा रहे हैं ॥४॥ साथ में साधु-समाज और विप्र-समाज (सुशोभित) हैं मानों शरीर धारण किये हुए (सब प्रकार के) सुख सेवा कर रहे हैं ॥५॥ और साथ में सुंदर चारों पुत्र ऐसे शोभा दे रहे हैं, मानों सभी मोक्ष शरीर धरकर शोभित हैं ॥६॥ मरकत मणि और स्वर्ण के रंग की जोड़ियों को देखकर देवताओं को कुछ थोड़ी प्रीति नहीं हुई; अर्थात् बहुत प्रीति हुई ॥७॥ फिर वे श्रीरामजी को देखकर हृदय में हर्षित हुए और राजा की सराहना करके उन्होंने फूलों की वर्षा की ॥८॥ श्रीरामजी के नख से शिखा तक सुंदर रूप को बार-बार देखकर पार्वतीजी सहित शिवजी का शरीर पुलकित हो गया और नेत्रों में प्रेम के आँसू भर आये ॥३१५॥

विशेष—(१) 'देवन्ह देखे दसरथ···'—शिवजी के उपदेश का प्रभाव पड़ा, देवता लोग इधर-उधर से दृष्टि बटोरकर बरात देखने लगे। राजा दशरथ को बड़ा आनंद है, क्योंकि साथ में साधु-समाज एवं सुंदर पुत्र हैं। जनवासा दूर है, इससे सब सवारी पर हैं, जहाँ से पैदल चलेंगे वहाँ से पाँवड़े पड़ेंगे।

(२) 'जनु तनु धरे करहिं सुख सेवा।'—'सुख' यथा—"अरथ धरम-कामादि-सुख, सेवइ समय नरेस॥" (दो० १५४); सुख अनेकों चिन्ता एवं कष्टों से बचे हुए प्रिय अनुभूति को कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है, एक नित्य, जो परमात्मा के साथ में मुक्तावस्था में प्राप्त होता है, दूसरा अन्य, जो सुत-वित्त आदि की प्राप्ति एवं आरोग्यता—भोग आदि से होता है। यहाँ राजा को साधु-समाज से नित्य सुख

और विप्र-समाज से जन्य सुख की अनुभूति है, यथा—"संत संग अपबरग कर" (उ० दो० ३३), और विप्र लोग धर्म-कर्म द्वारा लौकिक सुखों के दाता हैं, यथा—"सुख चाहहिं मूढ़ न धर्मरता।" (उ० दो० १०१)। ऊपर राजा को महामोद कहा था, उसे ही यहाँ उपमा द्वारा स्पष्ट किया। 'सेवा'—करना आनन्दित करने के अर्थ में उपमान में है, वैसे ही उपमेय में भी साधु विप्र से राजा आनन्दित हैं। ये उभय प्रकार के सुख तो राजा को सहज में प्राप्त हैं, इसीसे 'तनुधरे' से आज विशेषता दिखाई।

'सोहत साथ "जनु अपबरग'''—पूर्व—'नृप समीप''' जनु धन धरमादिक'' कहा गया था; क्योंकि नृप की धन-धर्म आदि से शोभा होती है। यहाँ साधु समाज के संग से राजा को अपवर्ग के अधिकारी दिखाकर तब 'तनुधारी अपवर्ग' की प्राप्ति कही और आज की विशेषता दिखाई, क्योंकि नित्य साधु-समाज-सेवन से सामान्य अपवर्ग तो इन्हें सहज ही है। प्रथम साधु-ब्राह्मणों का संग कहकर तब मोक्ष की प्राप्ति की उत्प्रेक्षा की गई, क्योंकि साधु-ब्राह्मणों के संग से मोक्ष मिलता है।

यहाँ श्रीरामजी मानों सायुज्य हैं, उनके तुल्य रूप से भरतजी सारूप्य, प्रभु के पार्श्ववर्ती होने से लक्ष्मणजी सामीप्य और भरतजी के निकटवर्ती होने से शत्रुघ्नजी सालोक्य हैं।

(३) 'मरकत कनक बरन '''—श्रीरामजी और भरतजी श्याम वर्ण मरकत मणि के समान और श्रीलक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजी गौर वर्ण स्वर्ण के समान हैं। श्याम-गौर की दो, अथवा श्याम-श्याम और गौर-गौर की दो जोड़ियाँ हैं।

'पुनि रामहिं बिलोकि'''—जोड़ी देखकर फिर श्रीराम ही को देखने लगे, क्योंकि—"चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुख सागर रामा॥" (दो० १९७)। 'नृपहिं सराहि'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—'भाग्य बिभव अवधेस कर'''लगे सराहन सहसमुख''' है। उपक्रम में स्वार्थ की सराहना है और यहाँ उपसंहार में परमार्थ की; अर्थात् इनके समान स्वार्थ और परमार्थ और किसी ने नहीं पाये। पुनः—'सुमन बिन्ह बरषे' यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"बरषहिं सुमन" (दो० ३१३) है। देवताओं के मन, वचन कर्म तीनों लगे हैं—'हरषे'—मन, 'सराहि'—वचन और 'बरषे'—कर्म है।

(४) 'रामरूप नखसिख'''—शिवजी का बार-बार निहारना कहकर और देवताओं से अधिक प्रेम होना जनाया। यथा—"दरसन तृपिति न आजु लगि, प्रेम पियासे नैन।" (अ० दो० २६०), यह रूप ही ऐसा है कि बार-बार देखे बिना तृप्ति ही नहीं होती, यथा—"तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा॥" (दो० १४७)। 'पुरारि'—क्योंकि आज श्रीरामरूप के दर्शनों से जो सुख मिल रहा है, वह त्रिपुरासुर को विजय के सुख से कहीं अधिक है, यथा—"मानहुँ समर सूर जय पाई॥ जेहि सुख ते सत कोटि गुन, पावहिं मातु अनंद। भाइन्ह सहित बियाहि घर, आये रघुकुलचंद॥" (दो० ३५०)। देवताओं के लिये 'देखि सुरन्ह' कहा गया है और शिवजी का नख शिख रूप को 'बारहि बार' निहारना कहा गया। अतः, शिवजी का सुख भी अधिक है।

केकि-कंठ-दुति स्यामल अंगा। तड़ितबिनिंदक बसन सुरंगा॥१॥
ब्याहबिभूषन बिबिध बनाये। मंगलमय सब भाँति सुहाये॥२॥
सरद-बिमल-बिधु-बदन सुहावन। नयन नवल-राजीव-लजावन॥३॥
सकल अलौकिक सुंदरताई। कहि न जाइ मनही मन भाई॥४॥

बंधु मनोहर सोहहिं संगा। जात नचावत चपल तुरंगा ॥५॥
राजकुँअर बरबाजि देखावहिं। बंस-प्रसंसक बिरद सुनावहिं ॥६॥
जेहि तुरंग पर राम बिराजे। गति बिलोकि खगनायक लाजे ॥७॥
कहि न जाइ सब भाँति सुहावा। बाजिबेष जनु काम बनावा ॥८॥

अर्थ—मोर के कंठ की कान्ति के समान श्याम अंग है, बिजली की भी विशेष निन्दा करनेवाले सुन्दर (पीत) रंग के वस्त्र (पहने) हैं ॥१॥ मंगलमय और सब प्रकार से शोभायमान अनेकों प्रकार के विवाह के भूषण अंग-अंग में सजाये हुए हैं ॥२॥ शोभायमान मुख शरद् ऋतु के निर्मल चन्द्रमा को और नेत्र नवीन खिले हुए लाल कमल को लज्जित करनेवाले हैं ॥३॥ सब सुन्दरता अलौकिक है, कही नहीं जा सकती, किंतु मन ही-मन अच्छी लगती है ॥४॥ साथ में मनोहर भाई शोभित हैं, जो चंचल घोड़ों को नचाते हुए जा रहे हैं ॥५॥ राजकुमार अपने श्रेष्ठ घोड़ों को दिखा रहे हैं, वंश की प्रशंसा करनेवाले विरुदावली सुना रहे हैं ॥६॥ *जिस घोड़े पर श्रीरामजी विराजमान हैं उसकी चाल देखकर गरुड़जी लज्जित हो गये* ॥७॥ सब प्रकार सुन्दर है, कहा नहीं जाता, मानों कामदेव ने घोड़े का वेष बनाया है ॥८॥

विशेष—(१) 'केकि कंठ दुति···'—यह शिवजी के ध्यान के अनुसार वर्णन है। देवताओं की दृष्टि में 'मरकत मणि' और 'कनक वर्ण' की उपमा दी गई थी, क्योंकि उनकी दृष्टि में द्रव्य बसा था, इसीसे वे माँड़व के देखने में मोहे थे और शिवजी विरक्त हैं, यथा—"वैराग्याम्बुजभास्करं···" (आ० मं०); अतः, वन के मोर के कंठ की उपमा दी गई। मोर श्याम मेघ का प्रेमी है, वैसे शिवजी इन श्याम विग्रह के प्रेमी हैं।

'बंधु मनोहर···'—जो शृङ्गार श्रीरामजी का है, वही भाइयों का भी है।
'चंचलता' के योग से 'तुरंग' कहा गया; अर्थात् जो तेजी से गमन करे।
'बर बाजि देखावहिं'—अपने-अपने घोड़ों के हुनर (गुण) दिखा रहे हैं।

(२) 'कहि न जाइ सब भाँति···'—'सब भाँति' यह आगे कहा है—'बय, बल, रूप, गुन, गति' इन सब प्रकारों में सुहावना ही है। अतएव 'कहि न जाइ' पर काम के 'बाजि बेष' द्वारा कुछ दिग्दर्शन कराते हैं। सवार के लिये भी ऐसा ही कह आये—"सकल अलौकिक सुंदरताई। कहि न जाय मन ही मन भाई॥" यहाँ उत्प्रेक्षा न मिली थी, अतः नहीं कहा।

और राजकुमार लोग घोड़ों को विधिवत् नचाते हैं, पर श्रीरामजी का घोड़ा स्वयं उत्तम गति से चलता है, पुनः ये सबमें बड़े हैं और विवाह समय के अनुसार इनमें गंभीरता है।

छंद—जनु बाजिबेष बनाइ मनसिज रामहित अति सोहई।
आपने बय बल रूप गुन गति सकल भुवन बिमोहई।
जगमगत जीन जराव जोति सुमोति मनि-मानिक लगे।
किंकिनि ललाम लगाम ललित बिलोकि सुरनर मुनि ठगे॥

दोहा—प्रभु मनसहिं लयलीन मन, चलत बाजि छबि पाव।
भूषित उडुगन तड़ित घन, जनु बर बरहि नचाव ॥३१६॥

अर्थ—मानों कामदेव श्रीरामजी के लिये घोड़े का वेष बनाकर अत्यन्त शोभित हो रहा है। अपनी अवस्था, बल, रूप, गुण और चाल से सभी लोकों को विशेष मोहित करता है॥ सुन्दर मोती, मणि और माणिक्य लगी हुई जड़ाऊ जीन की ज्योति जगमगा रही है। रमणीय किंकिणी और सुन्दर लगाम देखकर देवता, मनुष्य और मुनि ठगे से रह गये॥ प्रभु श्रीरामजी के मन में अपने मन को लवलीन किये चलते हुए घोड़ा ऐसी छवि पा रहा है मानों कोई बादल बिजली और तारागणों से भूषित (अर्थात् युक्त) किसी सुन्दर मोर को नचा रहा हो॥३१६॥

विशेष—(१) 'रामहित अति सोहई'—कामदेव ने सोचा कि हम अब अत्यंत सोहेंगे तभी अत्यन्त सुन्दर गर्वीला जानकर श्रीरामजी हमें स्वीकार करेंगे, नहीं तो घोड़े तो वहाँ अनन्त हैं और वे सभी सोहते हैं। काम सोहता पहले भी था, पर आज श्रीरामजी के लिये घोड़ा बना है। अतः, 'अति सोहई' कहा गया है। कामदेव के पाँच बाण हैं, जिनसे वह सबको मोहता है, वैसे उसके अश्वरूप में भी वय, बल, रूप, गुण और गति ये पाँच गुण हैं, इन्हीं से वह 'सकल भुवन' को मोहता है। अब', उसके ये ही पाँचो बाण हैं। आज श्रीरामजी सवार-रूप से सहायक मिल गये, इससे विशेष मोहित करता है। 'सकल भुवन' में शिवजी आदि भी आ गये। कामदेव श्रीरामजी की शोभा-वृद्धि के लिये घोड़ा बनकर आया, इसीसे प्रभु के प्रभाव से उसे यह श्रेय मिला। 'किंकिनि ललाम "बिलोकि सुर"' अर्थात् किंकिणी आदि भी मोहने में सहायक हैं।

'भूषित उडुगन तड़ित"'—मेघ योजन भर पर रहता है, तब भी उसके सम्बन्ध से मोर नाचता है और यदि मेघ मोर की पीठ पर ही आ बैठे तब तो वह अत्यन्त आह्लादपूर्वक नाचेगा। वैसे यहाँ श्रेष्ठ घोड़े की उपमान समझकर 'बरहि' (बरही) को भी 'बर' (श्रेष्ठ) कहा गया है। यहाँ श्रीरामजी मेघ हैं, यथा—"लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा" (दो० १११); मणि-मुक्ताओं की जड़ें तारागण हैं, यथा—"मदिर मनि समूह जनु तारा।" (दो० ११४); पीताम्बर तड़ित है, यथा—"तड़ित बिनिंदक बसन सुरंगा।" (दो० ३१५), और श्रेष्ठ घोड़ा श्रेष्ठ बरही (मोर) है, यथा—"मोर चकोर कीर बरबाजी।" (आ० दो० ३७)।

जेहिं बर बाजि राम असवारा। तेहि सारदउ न बरनइ पारा॥१॥
संकर राम-रूप-अनुरागे। नयन पंचदस अति प्रिय लागे॥२॥
हरि हितसहित राम जब जोहे। रमासमेत रमापति मोहे॥३॥
निरखि रामछबि बिधि हरषाने। आठै नयन जानि पछिताने॥४॥
सुर-सेनप-उर बहुत उछाहू। बिधि ते डेवढ़ सुलोचन-लाहू॥५॥
रामहिं चितव सुरेस सुजाना। गौतमस्राप परम हित माना॥६॥
देव सकल सुरपतिहि सिहाहीं। आजु पुरंदर-सम कोउ नाहीं॥७॥
मुदित देवगन रामहिं देखी। नृपसमाज दुहुँ हरष बिसेषी॥८॥

शब्दार्थ—सिहाहीं = अभिलाषा के साथ प्रशंसा करते हैं, अन्यत्र ईर्ष्या स्पर्द्धा, डाह भी अर्थ होता है।

अर्थ—जिस श्रेष्ठ घोड़े पर श्रीरामजी सवार हैं, उसका वर्णन सरस्वती भी नहीं कर सकती ॥१॥ शङ्करजी श्रीरामरूप पर आसक्त (अनुरक्त) हुए, (उस समय) उन्हें अपने पन्द्रहों नेत्र अत्यन्त प्रिय लगे ॥२॥ विष्णु भगवान् ने प्रेम से जब श्रीरामजी को देखा, तब वे लक्ष्मी के पति लक्ष्मी के साथ भी मोहित हो गये ॥३॥ श्रीरामजी की छवि देखकर ब्रह्माजी हर्षित हुए, (पर) आठ ही नेत्र जानकर पछताये (कि और न हुए) ॥४॥ स्वामि-कार्तिक के हृदय में अधिक उत्साह है कि (हम) ब्रह्मा से डेवढ़े नेत्रों का लाभ उठा रहे हैं ॥५॥ सुजान इन्द्र श्रीरामजी को देखकर गौतम मुनि के शाप को परम हितकर माना ॥६॥ सभी देवता सुरराज इन्द्र को सिहाते हैं कि आज इन्द्र के समान (धन्य) दूसरा नहीं है ॥७॥ देव-समाज श्रीरामजी को देखकर आनन्दित है और दोनों राज-समाजों में बड़ा हर्ष है ॥८॥

विशेष—(१) 'जेहि बर बाजि राम···'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"जेहि तुरंग पर राम बिराजे।" है। 'जेहि' अर्थात् 'बर बाजि' तो सभी राजकुमारों के घोड़े हैं—"बरन बरन बर बाजि बिराजे" (दो० २६७); "राजकुअँर बर बाजि देखावहि।" (दो० ३१५); पर जिसपर श्रीरामजी विराजे हैं। वह विलक्षण है, इसीसे उसे शारदा भी नहीं कह पाती। शारदा वक्तृत्व में श्रेष्ठ है, यथा— "सुक से मुनि, सारद से बकता···" (क० उ० ३१)।

(२) 'संकर राम-रूप अनुरागे···'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"राम-रूप नख सिख···" है। इनका सदा दो ही नेत्रों से काम चलता था, पन्द्रहो आज ही काम आये, जिनसे प्रिय प्रभु के दर्शन का विशेष आनन्द मिला। (अग्नि नेत्र से काम को भस्म किया था, तब क्रोध था और यहाँ अनुराग दृष्टि है। अतः, शंका नहीं।) शिवजी देव-समाज में मुख्य प्रेमी हैं और इनका सबके आगे होना पूर्व कहा भी गया था। अतः, इनका वर्णन प्रथम हुआ। नख से शिखा पर्यन्त देखना कहा गया। अतः, इनका दास-भाव है। 'अनुरागे' अर्थात् इनकी सर्वात्मना चित्त-वृत्ति लगी है।

(३) 'हरि हित सहित राम···'—इसमें कोई-कोई 'हरि' का अर्थ घोड़ा करते हैं, वह ठीक नहीं, क्योंकि 'संकर' 'बिधि' 'सुरेश' एवं 'देव गन' को घोड़े सहित देखना न कहकर राम-रूप ही देखना कहा गया है—'राम-रूप अनुरागे' 'निरखि राम-छवि', 'रामहिं चितव', 'रामहिं देखी' इत्यादि वाक्य इसी प्रसंग में कहे गये हैं, तो विष्णु भगवान् पर क्या केवल राम रूप का असर नहीं पड़ा कि उन्हें घोड़े-सहित देखने पर मोह हुआ ? इस अर्थ में श्रीराम-छवि का अपकर्ष है।

फिर यदि कहा जाय कि तब तो 'रमापति' शब्द से पुनरुक्ति होगी। उसका समाधान यह है— 'रमापति' शब्द हरि के विशेषण रूप में विलक्षणता दिखाने के लिये है कि रमाजी स्वयं रम्य रूपा हैं, उन्होंने जिन्हें पति बनाया (जयमाल देकर चुना) वे अवश्य ही परम सुन्दर हैं। रम्यरूपा लक्ष्मीजी के सहित रमणीयता के पति परम रम्यरूप विष्णु भगवान् भी मोहित हो गये। 'हित सहित' अर्थात् प्रेम-पूर्वक अपने अंशी को देखा, यथा—"उपजहिं जासु अंस ते नाना। विष्णु···" (दो० १४४); केवल 'हरि' पद में अति व्याप्ति भी थी, वह 'रमापति' कहने से निवृत्त हुई। अन्य कल्पों के विष्णु के ही अवतार-प्रसंग में इस समय के अनूठे दूलह-वेष में मोहना अर्थ होगा।

(४) 'बिधि हरषाने'— शिव—विष्णु तो शक्ति-सहित कहे गये, ब्रह्मा नहीं, क्योंकि इनकी शक्ति तो घोड़े के वर्णन में लगी हैं—'तेहि सारदउ न बरनइ पारा।' (उपर्युक्त), यहाँ शिवजी का दास्य, विष्णु का सख्य और ब्रह्मा का वात्सल्य भाव है।

(५) 'सुर-सेनप उर···'—इन्हें देव-सेनापति होने की अपेक्षा यहाँ अधिक सुख है, क्योंकि सब देवताओं के पितामह से बेवढ़े नेत्र हैं (इनके छ मुख और बारह नेत्र हैं) !

(६) 'सुरेस सुजाना···गौतम स्राप···'—अहल्या के सम्बन्ध में गौतम मुनि ने इन्द्र को शाप दिया था कि तेरे शरीर में सहस्रों भग हो जायँ, फिर प्रार्थना पर अनुग्रह किया कि तुम जब श्रीरामजी का दूलह वेष देखोगे, तब ये ही भग नेत्र हो जायँगे। इन्द्र ने कृतज्ञता-पूर्वक उसी चरित का स्मरण किया है इसी से वे 'सुजान' कहे गये, यथा—"हरषि राम भेटे हनुमाना। अति कृतज्ञ प्रभु परम सुजाना॥" (लं० दो० ६०)। *'परम हित माना'—क्योंकि उसीसे श्रीराम-दर्शन का अत्यन्त आनन्द मिला, यथा—* "बालि परम हित जासु प्रसादा। मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा॥" (कि० दो० ६), अर्थात् शत्रु परम हित और उसका कोप प्रसाद है, यदि उससे श्रीरामजी की प्राप्ति हो।

'मुदित देवगन··'—यहाँ तक देवताओं का श्रीराम दर्शनानन्द कहा गया।

छंद—अति हरष राजसमाज दुहुँ दिसि दुंदुभी बाजहिं घनी।
बरषहिं सुमन सुर हरषि कहि जय जयति जय रघुकुल-मनी॥
येहि भाँति जानि बरात आवत बाजने बहु बाजहीं।
रानी सुआसिनि बोलि परिछन हेतु मंगल साजहीं॥

दोहा—सजि आरती अनेक बिधि, मंगल सकल सँवारि।
चलीं मुदित परिछन करन, गजगामिनि बर नारि॥३१७॥

अर्थ—दोनों तरफ के राज-समाज में अत्यन्त हर्ष है, घने (बहुत) नगाड़े बज रहे हैं। प्रसन्न होकर और 'रघुकुलमणि की जय हो, जय हो, जय हो' ऐसा कहकर देवता लोग फूल बरसाते हैं॥ इस प्रकार बरात को आते हुए जानकर बहुत बाजे बजने लगे। रानी सौभाग्यवती स्त्रियों को बुलाकर परिछन के लिये मंगल सजाने लगीं॥ अनेक तरह से आरती सजकर और सम्पूर्ण मंगलों को सजाकर, गजगामिनी श्रेष्ठ स्त्रियाँ आनन्द पूर्वक परिछन करने को चलीं॥३१७॥

विशेष—(१) 'अति हरष राज···'—दोनों राज-समाज समीप से श्रीराम-छवि देखते हैं। अत, इन्हें अत्यन्त हर्ष है, यथा—"जाइ समीप राम-छवि देखी। रहि जनु कुँअरि चित्र अवरेखी॥" (दो० २६४)।

'बाजने बहु बाजहीं'—यहाँ सब प्रकार के सब बाजे बजे, इसीसे बहुत कहे गये हैं।

(२) 'सजि आरती अनेक···'—आरती कई प्रकार की, अर्थात् ५, ७, १०, १४ आदि बत्तियों की, पुष्पों की एवं कर्पूर आदि की होती है और परिछन का थाल भी खूब सजाया जाता है। अत, 'अनेक बिधि' दीपदेहली रूप में लिया जायगा। बहुत-सी सामें हैं, उन सबका निराले ढंग से सजाना ठीक ही है। 'मंगल सकल' यथा—"दधि दूर्बा रोचन फल फूला। नव तुलसी दल मंगल मूला॥ भरि भरि हेम थार···"(ब० दो० ७)। 'गजगामिनि' से युवा अवस्था का और 'बर' से सौभाग्यवती का होना सूचित किया।

बिधुबदनी सब सब मृगलोचनि। सब निज तनु-छबि रति-मद-मोचनि ॥१॥
पहिरे बरन बरन बर चीरा। सकल बिभूषन सजे सरीरा ॥२॥
सकल सुमंगल अंग बनाये। करहिं गान कलकंठि लजाये ॥३॥
कंकन किंकिनि नूपुर बाजहिं। चाल बिलोकि काम गज लाजहिं ॥४॥
बाजहिं बाजन बिबिध प्रकारा। नभ अरु नगर सुमंगल चारा ॥५॥

अर्थ—सभी चन्द्रवदनी और मृगलोचनी हैं एवं सभी अपने शरीर की छवि से कामदेव की स्त्री रति के गर्व को छुड़ानेवाली हैं ॥१॥ सभी रंग-बिरंग के श्रेष्ठ वस्त्र पहने हुए हैं और सब भूषण शरीर में सज रक्खे हैं ॥२॥ सभी सुन्दर मंगलों से अंगों का सजाव किये हुए कोकिलाओं को भी लजाती हुई (सुन्दर स्वर से) गा रही हैं ॥३॥ कंकण, किंकिणियाँ और नूपुर बज रहे हैं, चाल को देखकर कामदेव-रूपी हाथी लज्जित होते हैं ॥४॥ तरह-तरह के बाजे बज रहे हैं, आकाश और नगर (दोनों) में सुन्दर मंगलाचार हो रहे हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'बर चीरा' से सोलहो शृंगार करना जनाया, क्योंकि वस्त्र उनमें आदि है। 'सकल बिभूषन' से बारहों आभूषण आ गये—नूपुर, किंकिणी, चूड़ी, अँगूठी, कंकण, बिजायठ, हार, कंठश्री, बेसरि, बिरिया, टीका और शीशफूल—ये क्रमशः द्वादश आभूषण हैं। बारहो आभूषणों से सधवा होना जनाया।

'सकल सुमंगल ···'—यावक, अरगजा, सिंदूर, रोरी, कज्जल आदि मांगलिक द्रव्य हैं, इन्हें अंगों में लगाया है।

(२) 'कंकन किंकिनि नूपुर बाजहिं···'—ये भूषण चाल के साथ बजते हैं, अतः, साथ ही चाल का भी वर्णन किया है। 'चाल बिलोकि काम···'—इनके सभी व्यवहार कामरूप उपमानों को लज्जित करने वाले हैं, जैसे—'चाल बिलोकि काम-गज लाजहिं।' 'करहिं गान कलकंठि लजाये।' और—'कलगान सुनि...काम-कोकिल लाजहीं।' (दो० ३२२); 'सब निज तनु छबि रति-मद-मोचनि' इत्यादि।

(३) 'सुमंगल चारा'—कदली के पत्ते झलना, माला पहनाना, चावल छिड़कना, फूल बरसाना, खील बरसाना आदि मंगल-सूचक आचरण हैं।

सची सारदा रमा भवानी। जे सुरतिय सुचि सहज सयानी ॥६॥
कपट-नारि-बर-बेष बनाई। मिलीं सकल रनिवासहिं जाई ॥७॥
करहिं गान कल मंगल बानी। हरष बिबस सब काहु न जानी ॥८॥

छंद—को जान केहि आनंद बस सब ब्रह्म बर परिछन चलीं।
कल गान मधुर निसान बरषहिं सुमन सुर सोभा भलीं ॥
आनंदकंद बिलोकि दूलह सकल हिय हरषित भई।
अंभोज-अंबक-अंबु उमगि सुअंग पुलकावलि छई ॥

दोहा—जो सुख भा सिय-मातु-मन, देखि राम-बर बेष।
सो न सकहिं कहि कलप सत, सहस सारदा सेष ॥३१८॥

नयन नीर हटि मंगल जानी। परिछन करहिं मुदित मन रानी ॥१॥
बेदबिहित अरु कुल-आचारू। कीन्ह भली बिधि सब ब्यवहारू ॥२॥

शब्दार्थ—कपट बेष=बनावटी वेष, वास्तविकता छिपाये हुए कि कोई जान न सके। हटि=रोककर। आचारू=रीति। बेदबिहित=वेद से विधान किया हुआ-गौरी (गणेश-भूमि की पूजा आदि)।

अर्थ—इन्द्राणी, सरस्वती, लक्ष्मी, पार्वती (आदि) देवताओं की स्त्रियाँ, जो स्वाभाविक पवित्र और निपुण हैं ॥६॥ वे सब सुन्दर स्त्रियों का बनावटी श्रेष्ठ वेष बना रनिवास में जा मिलीं ॥७॥ मनोहर वाणी से सुन्दर मंगल गान करने लगीं, सब हर्ष के विशेष वश हैं, इससे किसीने नहीं जाना ॥८॥ कौन किसे जाने ? सभी तो आनंदवश हैं, ब्रह्म दुलहे का परिछन करने चली जा रही हैं। सुन्दर गान हो रहा है, (तदनुसार ही) मधुर नगाड़े बजते हैं। देवता लोग फूल बरसा रहे हैं, अनूठी शोभा है। आनंद-कंद दुलहे को देखकर सभी हृदय में हर्षित हुईं। कमल के समान नेत्रों में जल उमड़ आया और सुंदर अंगों में पुलकावली छा गई॥ श्रीरामजी का दूलह-वेष देखकर श्रीसीताजी की माता के मन में जो सुख हुआ, उसको लाखों शारदाएँ और शेष लाखों कल्प तक भी नहीं कह सकते ॥३१८॥ मंगल अवसर जानकर नेत्रों के जल को रोक प्रसन्न मन से रानी परिछन कर रही हैं ॥१॥ वेद-विधान के अनुसार और कुल की रीति से सभी व्यवहार भली प्रकार किये गये ॥२॥

विशेष-(१) 'सची सारदा रमा···'—शची आगे जाकर मिलीं, इससे इन्हें प्रथम कहा है। 'सहज' दीपदेहली है। *'सुचि सहज सयानी' कहकर कपट से रूप धरने का दोष निराकृत किया कि इन्होंने पवित्र* भाव से अपना ऐश्वर्य छिपाने और पुर नारियों के साथ निकट से दिव्य आनंद लेने के लिये निपुणता से वेष बदला है। पुनः 'सुरतिय' से अप्सराएँ भी कही जाती हैं। इसलिये 'सुचि' से *विवाहिताओं* को जनाया और 'सहज अपावनि नारि' (आ० दो० ५) में कथित दोष भी दूर किया। 'सहज सयानी'-से—"सहज जड़ नारि अयानी" (दो० ११६) का दोष भी हटाया।

(२) 'कपट नारि बर बेष···'—वेष बनावटी है, पर श्रेष्ठ है; इसी से इनको न पहचानकर भी उमा-रमा *आदि कान्ता इनका सम्मान किया गया। अस्तु, न पहचाना, तो भी पूछताछ तो करनी थी,* इसका समाधान करते हैं कि—'को जान केहि आनंद-बस···'—अर्थात् आनंद में मुग्ध होने से अपनी ही सुधि भुला गईं, तो दूसरी को कौन पूछता ? 'आनंदकंद' आनंद के मूल, जिनसे सभी आनंद पाते हैं, यथा—"जो आनंद-सिंधु सुखरासी। सीकर ते त्रयलोक सुपासी॥ सो सुखधाम राम..." (दो० १९६), "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।" (बृह० ४।३।३२), "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।" (तैत्ति० ३।६)।

(३) 'जो सुख भा सियमातु···'—इन्हें एक तो रामजी का वर-वेष देखकर सुख है, दूसरे यह कि हमारी पुत्री को ऐसा उत्तम वर मिला। 'सत-सहस' अर्थात् लाख, यह दीपदेहली है। 'परिछन करहिं मुदित मन रानी' यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"चलीं मुदित परिछन करन" (दो० ३१७) पर है।

पंच सबद धुनि मंगल गाना। पट पाँवड़े परहिं बिधि नाना ॥३॥
करि आरती अरघ तिन्ह दीन्हा। राम गवन मंडप तब कीन्हा ॥४॥

दसरथ सहित समाज बिराजे। बिभव बिलोकि लोकपति लाजे ॥५॥
समय-समय सुर बरषहिं फूला। सांति पढ़हिं महिसुर अनुकूला ॥६॥
नभ अरु नगर कोलाहल होई। आपन पर कछु सुनइ न कोई ॥७॥
येहि बिधि राम मंडपहिं आये। अरघ देइ आसन बैठाये ॥८॥

छंद—बैठारि आसन आरती करि निरखि बर सुख पावहीं।
मनि बसन भूषन भूरि वारहिं नारि मंगल गावहीं।
ब्रह्मादि सुरबर बिप्रबेष बनाइ कौतुक देखहीं।
अवलोकि रघुकुल-कमल-रवि-छवि सुफल जीवन लेखहीं ॥

दोहा—नाऊ बारी भाट नट, राम - निछावरि पाइ।
मुदित असीसहिं नाइ सिर, हरष न हृदय समाइ ॥३१९॥

शब्दार्थ—पंच सबद (पंच शब्द)=पाँच प्रकार के मंगलसूचक बाजे—तंत्री, ताल, झाँझ, नगाड़ा और तुरही (सं० तूर)। या पाँच प्रकार की शब्द-ध्वनियाँ, यथा—"जय-धुनि बंदी-बेद-धुनि, मंगल गान निसान।" (दो० ३१४)। अरघ (अर्घ्य)=षोडशोपचार पूजा की एक विधि; जल, दूध, कुशाग्र, दही, सरसों, तंदुल और यव को मिलाकर देवता को अर्पण करना अथवा सामने जल गिराना।

अर्थ—पंच शब्दों की ध्वनि और मंगल-गान हो रहा है, नाना प्रकार के वस्त्र पाँवड़े पड़ रहे हैं ॥३॥ उन रानियों ने आरती करके अर्घ्य दिया, तब श्रीरामजी मंडप में गये ॥४॥ श्रीदशरथजी समाज के साथ विराजमान हुए। उनके ऐश्वर्य को देखकर लोकपाल लज्जित होते हैं ॥५॥ देवता समय-समय पर फूल बरसाते हैं और ब्राह्मण (समय के) अनुकूल शान्ति-पाठ करते हैं ॥६॥ आकाश और नगर में कोलाहल मच रहा है। अपना-पराया कोई कुछ नहीं सुनता ॥७॥ इस प्रकार श्रीरामजी मंडप में आये, उन्हें अर्घ्य देकर आसन पर बैठाया ॥८॥ स्त्रियाँ आसन पर बैठा, आरती उतार, वर को देखकर सुख पा रही हैं। मणि-वस्त्र-भूषण-समूह निछावर करतीं और मंगल गा रही हैं। ब्रह्मा आदि श्रेष्ठ देवता ब्राह्मण-वेष बनाकर कौतुक देख रहे हैं। रघुकुल-रूपी कमल के (प्रफुल्लित करनेवाले) सूर्यरूप श्रीरामजी की छवि देखकर अपने जीवन को सफल मान रहे हैं॥ नाई, बारी, भाट और नट श्रीरामजी की न्योछावर पाकर माथा नवा प्रसन्न हो आशीर्वाद देते हैं, उनके हृदय में हर्ष नहीं समाता ॥३१९॥

विशेष—(१) 'पट पाँवड़े परहिं···'—यहाँ तक के विधान घोड़े पर ही हुए थे। 'पाँवड़े', देखिये दोहा ३०५ चौ० ५ भी। 'राम गवन मंडप···'—अभी चक्रवर्तीजी मंडप में नहीं गये, क्योंकि सामध की रीति अभी शेष है।

(२) 'समय-समय सुर···'—जब दूलह-दुलहिन मंडप में आते हैं तब शांति-पाठ पढ़ा जाता है; वही समय है। वेद के मंत्र विघ्न-शांति के लिये पढ़े जाते हैं, यथा—"ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः।···" (तैत्ति० १।१।१); "ॐ सहनाववतु। सहनौ भुनक्तु···" (तैत्ति० २।१।१) इत्यादि।

(३) 'मनि बसन भूषन···'—यहाँ मणि और भूषण के बीच में वस्त्र रखकर इन वस्त्रों की बहुमूल्यता सूचित की। 'ब्रह्मादि सुर बर बिप्र···'—जैसे शची आदि के लिये 'सुचि सहज सयानी' कहा गया था, वैसे यहाँ भी 'वर' विशेषण है। 'कौतुक देखहीं'—ये लोग वेद-पाठ नहीं करते, क्योंकि इनकी वाक्पटुता पर ध्यान धरके ऋषि लोग लाज लेंगे, अतः केवल कौतुक देखते हैं। 'सुफल जीवन लेखहीं'—अर्थात् श्रीरामदर्शनों के बिना देव-शरीर भी व्यर्थ ही है।

(४) 'नाऊ बारी भाट···'—नाई का विशेष नेग होता है, अतः उसका नाम प्रथम आया। 'राम-निछावरि पाइ···हरष न हृदय समाइ'—'राम-निछावरि' पाने के लिये देवता भी भिखारी बनते हैं, यथा—"भूमिदेव देव ·· राम निछावरि लेन को हठि होत भिखारी।" (गी० बा० ६)। वही न्योछावर हमें मिलती है, अत हर्ष है। 'हरष न हृदय समाइ'—मन, 'असीसहिं'—वचन, 'नाइ सिर'—कर्म, अर्थात् ये लोग मन, वचन, कर्म से प्रसन्न हैं।

मिले जनक दसरथ अति प्रीती। करि बैदिक लौकिक सब रीती ॥१॥
मिलत महा दोउ राज बिराजे। उपमा खोजि खोजि कबि लाजे ॥२॥
लही न कतहुँ हारि हिय मानी। इन्ह सम एइ उपमा उर आनी ॥३॥
सामध देखि देव अनुरागे। सुमन बरषि जस गावन लागे ॥४॥
जग बिरंचि उपजावा जब ते। देखे सुने ब्याह बहु तब ते ॥५॥
सकल भाँति सम साज समाजू। सम समधी देखे हम आजू ॥६॥
देवगिरा सुनि सुंदर साँची। प्रीति अलौकिक दुहुँ दिसि माँची ॥७॥
देत पाँवड़े अरघ सुहाये। सादर जनक मंडपहिं ल्याये ॥८॥

शब्दार्थ—सामध = समधियों का मिलाप, वर और कन्या के पिता परस्पर समधी कहाते हैं। माँची=फैल गई।

अर्थ—राजा जनक और राजा दशरथ वैदिक और लौकिक रीतियों करके अत्यन्त प्रीति-पूर्वक मिले ॥१॥ दोनों महाराज मिलते हुए अत्यन्त शोभित हुए; (इनके लिये) कवि लोग उपमा खोज खोजकर लजा गये ॥२॥ कहीं भी उपमा न मिली, तब हृदय में हार मानी और मन में निश्चय किया कि इनके समान ये ही उपमान हैं ॥३॥ इन समधियों का मिलाप देखकर देवता लोग अनुरक्त हो गये और फूल बरसाकर यश गाने लगे ॥४॥ जब से ब्रह्मा ने जगत् (या जगत् में हमें) उत्पन्न किया, तब से हमने बहुत-से ब्याह देखे और सुने हैं ॥५॥ पर सब प्रकार से साज और समाज एक समान और बराबर के समधी हमने आज ही देखे ॥६॥ देवताओं की यह सुंदर और सच्ची वाणी सुनकर दोनों ओर अलौकिक प्रीति फैल गई ॥७॥ सुन्दर पाँवड़े और अर्घ्य देते हुए श्रीजनकजी श्रीदशरथजी को आदर के साथ मंडप में ले आये ॥८॥

विशेष—(१) 'मिले जनक दसरथ···'—श्रीजनकजी प्रथम आकर मिले, अत प्रथम कहे गये। 'अति प्रीति' को 'लौकिक वैदिक' रीति से प्रथम कहा, क्योंकि सब विधान हो, पर प्रीति न हो, तो मिलने की शोभा नहीं है। कहा भी है—"चारि मिले चौंसठि खिले, बीस रहे कर जोरि। हरिजन सों हरिजन मिले, पुलके सात करोरि ॥" यहाँ भेंट रखना, इत्र-चंदन आदि लगाना, कंधे-से-कंधे मिलाकर मिलना एवं वेद विधान भी हुए, पर प्रीति मुख्य है। यहाँ 'अति प्रीति' के योग से 'बिराजे' पद है, अर्थात् विशेष शोभित

हुए। 'लाजे'—प्रयत्न पर भी सफलता न पाकर लज्जित हुए, फिर भी कवि-स्वभाव से 'इन्द्र सम एइ उपमा' कहकर संतोष किया। यह अनन्वयोपमा अलंकार है।

(२) 'जग बिरंचि'''—जगत् के उत्पन्न होने के साथ ही अधिकार-सहित देवता भी उत्पन्न हुए, व्याह में सर्वत्र इनका आवाहन होता ही है। अतः, 'देखे' कहा है और जिनका आवाहन नहीं होता, उन्होंने इनसे सुना है। अतः, उनके लिये 'सुने' कहा है।

(३) 'सकल भाँति सम'''—एक के यहाँ ब्रह्म और दूसरे के यहाँ उन्हीं की आदि-शक्ति (अर्द्धांगिनी) का आविर्भाव हुआ, दोनों तत्त्वतः एक एवं तुल्य हैं, यथा—"गिरा अरथ जल बीचि'''" (दो० १८), पुनः घर, पुत्र, कन्या, वरपक्ष, कन्यापक्ष, विभव, कुल आदि में भी दोनों तुल्य हैं। 'देव-गिरा सुनि'''—यह वाणी सुनने में प्रिय है। अतः, सुन्दर कहा। देवता सत्य ही बोलते हैं, अन्यथा देवत्व से च्युत हो जायँ। साँची का यह भी भाव है कि प्रशंसा-रूप में बढ़ाकर यह वाणी नहीं कही गई। वाणी की शोभा सत्य और प्रिय होने में है—"कहहि सत्य प्रिय बचन बिचारी॥" (अ० दो० १२१)।

(४) 'देत पाँवड़े'''—श्रीरामजी को रानियाँ ले गईं और महाराज को श्रीजनकजी ले आये।

छंद—मंडप बिलोकि बिचित्र रचना रुचिरता मुनि-मन हरे।
निज पानि जनक सुजान सब कहँ आनि सिंहासन धरे॥
कुल-इष्ट-सरिस बसिष्ठ पूजे बिनय करि आसिष लही।
कौसिकहिं पूजत परम प्रीति कि रीति तौ न परइ कही॥

दोहा—बामदेव आदिक रिषय, पूजे मुदित महीस।
दिये दिव्य आसन सबहिं, सब सन लही असीस॥३२०॥

अर्थ—मंडप की विचित्र रचना और सुन्दरता देखकर मुनियों के मन हर गये। सुजान (निपुण) राजा जनक ने अपने हाथों से ला-लाकर सबके लिये सिंहासन रक्खे॥ अपने कुल-देवता के समान वसिष्ठजी की पूजा की और विनती करके उनसे आशीर्वाद पाया। विश्वामित्रजी को अत्यन्त प्रीति से पूजते हैं, उस (परम प्रीति) की रीति तो कहते नहीं बनती॥ (फिर) आनन्द-पूर्वक राजा ने वाम-देव आदिक ऋषियों की पूजा की, सबको दिव्य आसन दिये और सबसे असीस पाई॥३२०॥

विशेष—'निज पानि जनक'''—'धरे' क्रिया भूतकाल की है। अत, सिंहासन प्रथम ही से रक्खे थे, नौकरों से लेकर अपने हाथों से सजाकर यथायोग्य रक्खे, इसीसे 'सुजान' कहा गया है। सुजानता यह भी है कि कन्या-पक्ष न्यून होता है, इस दृष्टि से भी आपने सत्कारार्थ सेवक-भाव ग्रहण किया है। अभी एक-एक ला-लाकर रखने में तो लग्न ही बीत जाता। प्रथम पृथक्-पृथक् सत्कार किया; फिर देर होने के भय से वामदेव आदि की समष्टि में ही पूजा की।

'मुनि-मन हरे'—मुनि विषय-रस से रूखे होते हैं, जब इनका ही मन हर जाता है, तब औरों का क्या कहना?

'कुल-इष्ट सरिस बसिष्ठ ...'—ये रघुकुल के गुरु एवं इष्ट हैं, यथा—"तुम्ह सुरतरु रघुबंस के देव अभिमत माँगे।" (गो० बा० १२) ; इस कुल से समधी (तुल्य-बुद्धि) का नाता हो गया। अत', हमारे भी इष्ट हैं, इस विचार से कुल इष्ट के समान पूजा की। 'विनय करि ...'—निमि-कुल के भी प्रथम के पुरोहित वशिष्ठजी ही थे, राजा निमि के साथ परस्पर शाप से पार्थक्य हुआ था, तब से निमि-कुल के गौतमजी एवं उनके पुत्र शतानन्दजी पुरोहित हुए। आज बहुत विनती से प्रसन्न कर राजा जनक ने वशिष्ठ जी से आशीर्वाद प्राप्त किया। 'कौसिकहि पूजत परम प्रीति ....'—क्योंकि इस सम्बन्ध के मुख्य कारण ये ही हैं।

बहुरि कीन्ह कोसलपति पूजा। जानि ईस सम भाव न दूजा ॥१॥
कीन्हि जोरि कर विनय बड़ाई। कहि निज भाग्य विभव बहुताई ॥२॥
पूजे भूपति सकल बराती। समधी सम सादर सब भाँती ॥३॥
आसन उचित दिये सब काहू। कहउँ काह मुख एक उछाहू ॥४॥
सकल बरात जनक सनमानी। दान मान विनती बर बानी ॥५॥
विधि हरिहर दिसिपति दिनराऊ। जे जानहिं रघुबीर - प्रभाऊ ॥६॥
कपट - बिप्र - बर - बेष बनाये। कौतुक देखहिं अति सचु पाये ॥७॥
पूजे, जनक देवसम जाने। दिये सुआसन बिनु पहिचाने ॥८॥

अर्थ—फिर अयोध्या के पति श्रीदशरथ महाराज की पूजा 'ईश' के समान जानकर की, दूसरे भाव से नहीं ॥१॥ हाथ जोड़कर अपने भाग्य-वैभव को बहुलता कहकर उनकी प्रार्थना और बड़ाई की ॥२॥ राजा ने समधी के समान ही आदर के साथ सब बरातियों की सब प्रकार पूजा की ॥३॥ सब किसी को यथा-योग्य आसन दिये, उस उत्साह को एक मुख से क्या कहूँ? ॥४॥ राजा जनक ने सारी बरात का दान, मान, विनती और सुन्दर वाणी से सम्मान किया ॥५॥ ब्रह्मा, विष्णु, महेश, लोकपाल और सूर्य, जो श्रीरघुनाथजी का प्रभाव जानते हैं ॥६॥ वे बनावटी श्रेष्ठ ब्राह्मण का वेष बनाकर उत्सव देखते हैं और अत्यन्त सुख पाते हैं ॥७॥ राजा जनक ने देव-तुल्य जानकर उनका पूजन किया और बिना जाने भी उन्हें सुन्दर आसन दिये ॥८॥

विशेष—'जानि ईस सम'—श्रीवसिष्ठजी को इष्ट (भगवान्) के समान माना और राजा दशरथ उनके शिष्य एवं सेवक हैं, अत, इन्हें शिवजी के समान माना, क्योंकि शिवजी भी भगवान् (श्रीरामजी) के सेवक हैं। 'भाव न दूजा' अर्थात् दूसरा तुल्यता का भाव (समधी-भाव) नहीं आने देते। 'जोरि कर बिनय ..'—इनमें शिवजी का सा भाव है। शिवजी हाथ जोड़ने से शीघ्र प्रसन्न होते हैं, यथा—"सकृत न देखि दीन करजोरे।" (वि० ६), अत', हाथ जोड़कर स्तुति की। 'आसन उचित ..'—पूजा में तो बरातियों को समधी के अंग मानकर समान रूप से सबका सत्कार किया। पर आसन में यथायोग्य का भाव है, यह व्यवहार-दृष्टि है, क्योंकि बरात में कई वर्णों के लोग हैं। 'दान मान बिनती बरबानी'—ब्राह्मणों को दान से, क्षत्रियों को विनती से, वैश्यों को मान से और शूद्रों को बर बानी अर्थात् प्रियवाणी से आश्वासन-द्वारा सम्मानित किया। यथा—"सनमानि सकल बरात आदर दान बिनय बड़ाइ कै।" (दो० ३३५)। 'बिधि हरिहर'—'दिसिपति' से पृथक् भी सूर्य को कहा, क्योंकि वे यद्यपि अष्ट लोक-

पालों में हैं, तो भी श्रीरामजी के कुल के पुरुषा हैं। 'जे जानहिं रघुबीर...'— वे जानते हैं कि श्रीरामजी परात्पर ब्रह्म हैं, और गुप्त रूप में नरनाट्य कर रहे हैं, इसलिये वे भी अपना ऐश्वर्य छिपाकर आनंद लूटने आये हैं, अन्यथा श्रीरामजी का ऐश्वर्य खुलना लीला के विरुद्ध होगा।

श्रीरामजी को कपट नहीं भाता—"मोहि कपट छल छिद्र न भावा।" (सुं० दो० ४४)। पर वे लोग कपट वेष से ही आये, क्योंकि उनका यह कपट किसी को ठगने के लिये नहीं है; किन्तु श्रीरामजी का ऐश्वर्य न खुले एवं अपना भी महत्त्व प्रकट न हो, इसपर श्रीरामजी भी प्रसन्न हैं। 'दिये सुआसन ..'—प्रथम 'सिंहासन' 'दिव्य आसन' और 'उचित आसन' कह आये, यहाँ 'सुआसन' कहकर राजा की सावधानता सूचित की। 'बिनु पहिचाने' भी 'सुआसन' दिये, क्योंकि किसी भी वेष में स्थित तेजस्वियों के तेज को अनुभवी लोग लख ही लेते हैं, यहाँ भी ज्ञानी राजा ने उन्हें देवतुल्य मानकर उनका सम्मान किया।

छंद—पहिचान को केहि जान सबहि अपान सुधि भोरी भई।
आनंदकंद बिलोकि दूलह उभय दिसि आनँदमई।
सुर लखे राम सुजान पूजे मानसिक आसन दये।
अवलोकि सील सुभाव प्रभु को बिबुध मन प्रमुदित भये॥

दोहा—रामचंद्र-मुख-चंद्र-छबि, लोचन चारु चकोर।
करत पान सादर सकल, प्रेम प्रमोद न थोर॥३२१॥

शब्दार्थ—अपान = अपनी। मानसिक = मन की कल्पना से बिना द्रव्य की पूजा।

अर्थ—कौन किसे पहचाने और जाने, सबको अपनी ही सुध भूल गई है। आनंदकंद दूलह को देख-कर दोनों ओर (के लोग) आनन्दमय हो रहे हैं॥ सुजान श्रीरामजी ने देवताओं को देखा तो उनकी मानसिक पूजा करके मानसिक आसन दिये। प्रभु का शील-स्वभाव देखकर देवता मन में आनन्दित हुए॥ श्रीरामजी के मुखरूपी चन्द्रमा की छवि को सभी के सुन्दर नेत्ररूपी सुन्दर चकोर आदर-सहित पान कर रहे हैं और प्रेम और प्रमोद कुछ थोड़ा नहीं है॥३२१॥

विशेष—(१) 'पहिचान को केहिजान ···'—ऊपर बिना पहचाने सु-आसन देना कहा गया, उस न पहचानने का कारण यहाँ कहा कि अपनी सुधि नहीं तो दूसरे को कौन पूछे? इसका भी कारण—'आनंद-कंद···' कहा गया। 'सुर लखे राम सुजान···'—मुनि लोग ध्यान-द्वारा देवताओं को जानते हैं, पर श्री-रामजी ने यों ही जान लिया, अतः ये 'सुजान' कहे गये। 'मानसिक' दीपदेहली है। प्रकट पूजन एवं आसन देने में सर्वज्ञता आदि से श्रीरामजी का ऐश्वर्य प्रकट होता और देवताओं का भी कपट खुल जाता, इसलिये मानसिक ही पूजा की और आसन भी दिये। आपने नर-नाट्य की मर्यादा से विप्र-वेष में देखकर उनकी पूजा की, अन्यथा स्वर्ग के देवता तो श्रीराम ही को पूजते हैं—"सुर प्रनाम करि बरिसहिं फूला।" (दो० ३२२)।

(२) 'अवलोकि सील सुभाव प्रभु को···'— इतने बड़े प्रभु होते हुए भी हम छोटों का आदर करते हैं,

यह शील-स्वभाव देखकर देवगण आनंदित हुए। 'विबुध'—प्रभु के दिये हुए मानसिक पूजन एवं सम्मान को जान लिया; अतः, वि-बुध = विशेष बुद्धिमान् कहे गये।

(६) 'रामचंद्र-मुख-चंद्र···'—'चारु' शब्द दीपदेहली है। छवि अमृत है, यथा—"जौं छवि सुधा-पयोनिधि···" (दो० २४१); लोचन श्रीराम-मुख-चन्द्र को देख रहे हैं, इसीसे 'चारु' हैं और उनके उपमान रूप चकोर भी 'चारु' कहे गये। 'प्रेम' मुखचन्द्र देखने में और 'प्रमोद' छवि के आनन्द-अनुभव से हैं। 'रामचंद्र' ही नाम कहा गया, क्योंकि चन्द्रवत् सबको सामने ही देख पड़ते हैं। अतः, सबके नेत्र कौतुक से हटकर चकोरवत् इन्हीं के प्रति लग गये हैं।

समय बिलोकि बसिष्ठ बोलाये। सादर सतानंद सुनि आये ॥१॥
बेगि कुअँरि अब आनहु जाई। चले मुदित मुनि आयसु पाई ॥२॥
रानी सुनि उपरोहित - बानी। प्रमुदित सखिन्ह समेत सयानी ॥३॥
बिप्रबधू कुलबृद्ध बोलाई। करि कुलरीति सुमंगल गाई ॥४॥
नारिबेष जे सुर - बर - बामा। सकल सुभाय सुंदरी स्यामा ॥५॥
तिन्हहिं देखि सुख पावहिं नारी। बिनु पहिचानि प्रान तें प्यारी ॥६॥
बार बार सनमानहिं रानी। उमा - रमा - सारद - सम जानी ॥७॥
सीय सँवारि समाज बनाई। मुदित मंडपहिं चलीं लिवाई ॥८॥

अर्थ—समय जानकर वसिष्ठजी ने शतानन्दजी को सादर बुलाया, वे सुनकर आदर-सहित आये ॥१॥ (वसिष्ठजी ने कहा कि) अब जाकर कन्या को शीघ्र लाइये, मुनि की आज्ञा पाकर वे प्रसन्न होकर चले ॥२॥ सयानी रानी पुरोहित के वचन सुनकर सखियों के साथ बड़ी प्रसन्न हुईं ॥३॥ ब्राह्मणियों और कुल की बूढ़ी स्त्रियों को बुलाकर सुंदर मंगल गाती हुई कुलरीति की ॥४॥ श्रेष्ठ देवताओं की श्रेष्ठ स्त्रियाँ जो (कपट) नारि-वेष में हैं, वे सब स्वाभाविक ही सुन्दरी और श्यामा (षोड़शवार्षिकी स्त्री) हैं ॥५॥ उन्हें देखकर स्त्रियाँ सुख पाती हैं, (अतः) बिना पहचानी होने पर भी वे प्राणों से प्यारी लगती हैं ॥६॥ रानीगण उन्हें उमा, रमा और शारदा के समान जानकर बार-बार सत्कार करती हैं ॥७॥ वे सब श्रीसीताजी का शृङ्गार करके और अपना समाज बनाकर आनन्दित मन से (सीताजी को) मंडप में लिवा ले चलीं ॥८॥

विशेष—'समय बिलोकि बसिष्ठ···'—वसिष्ठजी पुरोहित हैं। अतः, सावधानता से लग्न का समय जाना। शीघ्रता के लिये ही उधर के पुरोहित से कहा कि लग्न न बीत जाय, वे भी इसके ज्ञाता हैं। 'सयानी' क्योंकि लग्न के अनुसार प्रथम ही से सब प्रबंध कर रक्खे हैं।

'बिप्रबधू' गाने के लिये और 'कुल बृद्ध' कुल की रीति बतलाने के लिये बुलाई गईं।

'समाज बनाई'—अपना समाज ठीक करके अर्थात् श्रीजानकीजी के हाथ में सिंदूरदानी रखकर, अपने में यह ठीक करके कि कौन दाहिने, बायें एवं पीछे कौन द्रव्य लेकर रहेंगी···। जैसे, उधर देववृन्द कपट वेष में साथ हैं, वैसे इधर उनकी स्त्रियाँ नारि-वेष में हैं, दोनों ओर बराबर साज हैं।

छंद—चलि ल्याइ सीतहि सखी सादर सजि सुमंगल भामिनी।
नवसत्त साजे सुंदरी सब मत्त कुंजर-गामिनी॥
कलगान सुनि मुनि ध्यान त्यागहिं कामकोकिल लाजहीं।
मंजीर नूपुर कलित कंकन तालगति बर बाजहीं॥

दोहा—सोहति बनिताबृंद महँ, सहज सुहावनि सीय।
छबि-ललना-गन मध्य जनु, सुखमा तिय कमनीय॥३२२॥

शब्दार्थ—मंजीर=मधुर ध्वनि करनेवाला गहना (विश्वकोष), यहाँ यह कटि-किंकिणी का उपलक्षक है, नूपुर अर्थ लेने से पुनरुक्ति होगी, क्योंकि वह पृथक् कहा ही गया है। ललना=स्त्री। सुखमा=परम शोभा। कमनीय=कामना करने योग्य, सुंदर।

अर्थ—सुन्दर मंगल साज सजाकर स्त्रियाँ और सखियाँ सीताजी को आदर-सहित लिवा ले चलीं। सब सुन्दरी सोलहो शृङ्गार किये हुई हैं और सभी मतवाले हाथियों की-सी चाल चलनेवाली हैं॥ उनका मनोहर गान सुनकर मुनि लोग ध्यान छोड़ देते हैं और कामदेव-रूपी कोकिल लज्जित होते हैं। किंकिणी, नूपुर और सुन्दर कंकण ताल की गति पर उत्तम ध्वनि से बज रहे हैं॥ स्वाभाविक ही सुन्दरी सीताजी स्त्रियों के झुंड में ऐसी शोभित हो रही हैं, मानों छवि-रूपी स्त्री-समाज के बीच में कमनीय परमा-शोभा-रूपी स्त्री हो॥३२२॥

विशेष—'सजि सुमंगल···'—यथा—"सकल सुमंगल अंग बनाये।" (दो० ३१७) पर कहा गया तथा दधि, दूर्वा आदि भी थालों में मंगल के लिये सजाये हैं। 'नव सत्त साजे' से सौभाग्यवती और 'मत्त कुंजरगामिनी' से युवती एवं धीमी चालवाली जनाया है। 'कल गान सुनि···' यथा—"कुहू-कुहू कोकिल धुनि करहीं। सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं॥" (आ० दो० ३९); और यहाँ तो 'काम-कोकिल लाजहीं' कहा गया है। 'लाजहीं' बहुवचन है; अर्थात् कामदेव ने बहुत कोकिलाओं का रूप बनाकर स्वर मिलाना चाहा, फिर भी उसे लजाना ही पड़ा। 'सोहति बनिता-वृन्द ···'—ऊपर जिन्हें भामिनी और 'श्यामा' कहा था, उन्हें ही यहाँ 'बनिता' शब्द से कहा। 'सहज सुहावनि'—वनिता-वृन्द के साहचर्य से सीताजी की शोभा नहीं है; किन्तु स्वाभाविक है, प्रत्युत इनकी ही छटा से वनिता-वृंद शोभित हैं, यही उपमा से जनाते हैं—'छवि ललनागन···'—पूर्व कह चुके हैं कि "उपमा सकल मोहिं लघु लागी।" (दो० २४९); इसलिये नई उपमा रचते हैं कि मूर्तिमती होकर 'छवि' बहुत-से सुन्दर स्त्री-रूप बने, उनके बीच में जैसे परम शोभा हो, वैसी शोभा हो रही है। यथा—"सखिन्ह मध्य सिय सोहइ कैसे। छबिगन मध्य महा छबि जैसे॥" (दो० २६४), तथा—"सुंदरता कहँ सुंदर करई। छबि-गृह दीप-सिखा जनु बरई॥" (दो० २३०)।

सिय-सुंदरता बरनि न जाई। लघु मति बहुत मनोहरताई॥१॥
आवत दीखि बरातिन्ह सीता। रूपरासि सब भाँति पुनीता॥२॥

सबहि मनहि मन किये प्रनामा। देखि राम भये पूरनकामा ॥३॥
हरषे दसरथ सुतन्ह समेता। कहि न जाइ उर आनँद जेता ॥४॥
सुर प्रनाम करि बरिसहिं फूला। मुनि - असीस - धुनि मंगलमूला ॥५॥
गान - निसान - कोलाहल भारी। प्रेम - प्रमोद - मगन नर - नारी ॥६॥
येहि बिधि सीय मंडपहिं आई। प्रमुदित सांति पढ़हिं मुनिराई ॥७॥

अर्थ—श्रीसीताजी की सुन्दरता का वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि बुद्धि तो छोटी है और सुन्दरता बहुत है ॥१॥ रूप की राशि और सब प्रकार से पवित्र श्रीसीताजी को बरातियों ने आते हुए देखा ॥२॥ सभी ने उनको मन-ही-मन प्रणाम किया और श्रीरामजी को देख कर पूर्ण काम हो गये ॥३॥ पुत्रों के साथ श्रीदशरथजी हर्षित हुए, उनके हृदय में जितना आनन्द है, वह कहा नहीं जा सकता ॥४॥ देवता प्रणाम करके फूल बरसा रहे हैं, मंगल-मूल मुनियों की आशिष की ध्वनि हो रही है ॥५॥ गान और नगाड़ों का भारी हल्ला है, स्त्री-पुरुष प्रेम और उत्कृष्ट आनन्द में मग्न हैं ॥६॥ इस तरह श्रीसीताजी मंडप में आईं, मुनिराज प्रकर्ष आनन्द सहित शान्ति पाठ कर रहे हैं ॥७॥

विशेष—(१) 'सबहि मनहि मन···'–'सीताजी रूप-राशि' हैं। अतः, सबके मन खिंच गये। 'सब भाँति पुनीता' हैं; अर्थात् तन, मन, वचन से पवित्र भाव वाली हैं। अतः, प्रभाव देख सबको प्रणाम करने की बुद्धि हो आई, किन्तु कन्या को प्रणाम करना लोकरीति के विरुद्ध है। अतः, मन ही-मन किया। पुनः श्रीरामजी को देख (छवि जोड़ मिलाकर) पूर्ण-काम हो गये, क्योंकि इन्हें कामना थी कि श्रीरामजी के योग्य दुलहिन होती, वह पूरी हुई।

(२) 'सुर प्रनाम करि···'—देवता लोग आकाश में अपने विमानों पर हैं। अतः, ऐश्वर्य दृष्टि से उनका प्रकट प्रणाम करना कहा गया, क्योंकि वे तो इन्हें आदिशक्ति जानते ही हैं। भरत आदि भाई आनन्द में मग्न हैं—'कहि न जाइ उर आनंद जेता।' अतः, इनका प्रणाम करना नहीं है।

(३) 'येहि बिधि सीय मंडपहिं···'–यह उपसंहार है, इसका उपक्रम–"मुदित मंडपहिं चलीं लेवाई।" (दो० ३२१) है। 'प्रमुदित सांति···'–'मुनिराई' अर्थात् वसिष्ठ-विश्वामित्र आदि तो शांति-पाठ कर रहे हैं और सामान्य मुनि लोग आशिष की ध्वनि कर रहे हैं—"मुनि असीस धुनि मंगल-मूला।" ऊपर कहा है।

श्रीसीतारामजी के मंडप-प्रवेश का मिलान

श्री सीताजी	श्रीरामजी
१. "सीय सँवारि···मुदित मंडपहि चलीं लिवाई॥"	"राम गवन मंडप तब कीन्हा।"
२. "चलि ल्याइ सीतहि ··सजि सुमंगल भामिनी॥"	"सकल सुमंगल अंग बनाये॥"
३ "कल गान सुनि ··काम-कोकिल लाजहीं॥"	"करहिं गान कल-कंठि लजाये॥"
४ "मंजीर नूपुर कलित कंकन···बाजहीं॥"	"कंकन किंकिनि नूपुर बाजहिं॥"
५. "सोहति बनिता-बृंद महँ।"	"बंधु मनोहर सोहहिं संगा॥"
६ "सुर प्रनाम करि बरिसहिं फूला॥"	"समय-समय सुर बरिसहिं फूला॥"
७. "गान निसान कोलाहल भारी॥"	"नभ अरु नगर कोलाहल होई।"
८. "प्रमुदित सांति पढ़हिं मुनिराई॥"	"सांति पढ़हिं महिसुर अनुकूला॥"
९. "येहि बिधि सीय मंडपहिं आई।"	"येहि बिधि राम मंडपहिं आये।"

तेहि अवसर कर बिधि ब्यवहारू। दुहुँ कुलगुरु सब कीन्ह अचारू ॥८॥

छंद—आचार करि गुरु गौरि गनपति मुदित बिप्र पुजावहीं।
सुर प्रगटि पूजा लेहिं देहिं असीस अति सुख पावहीं।
मधुपर्क मंगलद्रव्य जो जेहि समय मुनि मन महुँ चहैं।
भरे कनककोपर कलस सो तब लियेहि परिचारक रहैं॥
कुलरीति प्रीतिसमेत रवि कहि देत सब सादर किये।
येहि भाँति देव पुजाइ सीतहि सुभग सिंहासन दिये।
सिय-राम-अवलोकनि परसपर प्रेम काहु न लखि परै।
मन - बुद्धि - बरबानी - अगोचर प्रगट कवि कैसे करै॥

दोहा—होम-समय तनु धरि अनल, अति सुख आहुति लेहिं।
बिप्रबेष धरि बेद सब, कहि बिबाह - बिधि देहिं ॥३२३॥

शब्दार्थ—बिधि = कार्यक्रम। ब्यवहारू = रीति। अचारू = रीति-रस्म।

अर्थ—उस समय के जो कार्य-क्रम की रीतियाँ थीं, उनको दोनों कुल गुरुओं (वसिष्ठजी-शतानंदजी) ने किया ॥८॥ गुरुजी ने कुलाचार कराया, ब्राह्मण लोग प्रसन्नतापूर्वक गौरी और गणेश का पूजन करा रहे हैं। देवता प्रकट होकर पूजा लेते, आशिष देते और अत्यन्त सुख पा रहे हैं॥ मधुपर्क (दही, घी, मधु, जल और चीनी मिलित पदार्थ) आदि जिस मंगल पदार्थ को जिस समय मुनि चाहते हैं, उसे उसी समय सोने के परातों और कलशों में भरे लिये हुए सेवक लोग खड़े रहते हैं॥ सब कुल रीतियों को प्रीति के साथ सूर्य भगवान् बता देते हैं, वे सब आदर-पूर्वक की गईं। इस प्रकार देवताओं की पूजा कराके श्रीसीताजी को सुन्दर सिंहासन दिया गया॥ श्रीसीतारामजी का आपस का देखना और प्रेम किसी को लख नहीं पड़ता। (क्योंकि) वह मन, बुद्धि और श्रेष्ठ वाणी से परे है, तो कवि उसे कैसे प्रकट करे?॥ हवन के समय अग्नि शरीर धारण करके अत्यन्त सुख से आहुति लेते हैं और सब वेद ब्राह्मण-वेष धरकर विवाह की विधि बतला देते हैं॥३२३॥

विशेष - (१) 'सुर प्रगटि पूजा लेहिं···'—श्रीसीतारामजी के हाथ से पूजा लेने के लिये प्रकट होने में 'सुख' और आशिष देने में 'अति सुख' होता है। 'परिचारक रहैं'—मुनि लोग भी बहुत हैं, उन प्रत्येक के सामने बहुत-से सेवक सब वस्तुएँ ठीक किये हुए खड़े रहते हैं, कहना नहीं पड़ता कि दे देते हैं। 'कुल-रीति प्रीति समेत रवि···'—सूर्य इस कुल के पुरुषा हैं, वे सब कुल-रीतियाँ यथार्थ जानते हैं। अतः, समय-समय पर कह देते हैं, और कुलवृद्धों के बतलाने की आवश्यकता नहीं पड़ती, यथा—"बूझि बिप्र कुलवृद्ध गुरु···" (दो० २८६)।

'मंगल द्रव्य'—जैसे ओषधि, चन्दन, कुश, तीर्थ-जल, दूब इत्यादि। यहाँ देवताओं के प्रकट होने में ऐश्वर्य प्रकट होने की शंका नहीं है। क्योंकि इसमें लोग वसिष्ठ आदि ऋषियों की बड़ाई समझते हैं, कि उनके द्वारा शुद्ध-शुद्ध उच्चरित मंत्र का प्रभाव है।

'सिय राम अवलोकनि···'—पूर्व कहा गया—"गुरु जन लाज समाज बड़, देखि सीय सकुचानि।" (दो० २४८); पर यहाँ पिता और गुरुओं के सामने बैठे एक-दूसरे को देख रहे हैं, क्योंकि विवाह पद्धति में ऐसी विधि है, कि वर और दुलहिन एक दूसरे को देखें। वही रीति यहाँ हुई। ऋषियों की आज्ञा से देखते हैं, पर इनके आपस में जो प्रेम है, कि परस्पर अवलोकन में महान् सुख पाते हैं, उसे कोई नहीं लख पाता। यथा—"राम दीख जब सीय, सीय रघुनायक। दोउ तन तकि-तकि मयन सुधारत सायक॥" (जानकी मं० ६४)।

'बर बानी अगोचर'—यहाँ सब से श्रेष्ठ वाणी वेद का अर्थ है—"बेद बचन मुनि मन अगम।" (अ० दो० १२६)।

'होम समय तनु···'—अग्नि की ज्वाला का उठ-उठ कर आहुति लेना शकुन है, क्योंकि इसमें अग्नि-देव की प्रसन्नता प्रकट होती है और यहाँ तो अत्यन्त प्रसन्नता से मूर्तिमान् होकर आहुति ले रहे हैं। 'विप्र वेष धरि वेद···'—यद्यपि वेदों के ऋषि ही विश्वामित्र और वशिष्ठ आदि हैं, तो त्रुटि नहीं रह सकती, फिर भी वेद लोग विप्र-वेष से जो विधि कहते हैं उससे वे अपनी सेवा प्रकट करते हैं, जैसे कि राजगद्दी के समय वंदी वेष में आवेंगे। और, देवता लोग भी तो अपनी सेवा जना रहे हैं। यथा—"अस्तुति करहिं नाग मुनि देवा। बहुबिधि लावहिं निज निज सेवा॥" (दो० १६०); "समय-समय सुर बरिसहिं फूला।" (दो० ३१८)।

जनक-पाट-महिषी जग जानी। सीय-मातु किमि जाइ बखानी॥१॥
सुजसु सुकृत सुख सुंदरताई। सब समेटि बिधि रची बनाई॥२॥
समय जानि मुनिबरन्ह बोलाई। सुनत सुआसिनि सादर ल्याई॥३॥
जनक-बाम-दिसि सोह सुनयना। हिमगिरि संग बनी जनु मयना॥४॥

शब्दार्थ—पाट महिषी=प्रधान रानी, जो राजा के साथ सिंहासन पर बैठ सकती हो। सुआसिनि=उसी नगर की विवाहिता कन्या, सौभाग्यवती स्त्री। (सं० सुवासिनी)

अर्थ—श्रीजनकजी की जगत्-प्रसिद्ध प्रधान रानी, श्रीसीताजी की माता कैसे बखानी जा सकती हैं ? ॥१॥ ब्रह्माजी ने सब सुयश, पुण्य, सुख और सुन्दरता समेटकर इन्हें बनाकर रचा है ॥२॥ समय जानकर मुनिवरों ने इन्हें बुलाया, सुनते ही सुआसिनें इन्हें आदर-पूर्वक ले आईं ॥३॥ श्रीजनकजी की 'वाम दिशि' सुनयनाजी शोभित हो रही हैं, मानों हिमाचलराज के साथ मैनाजी हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'जनक पाट महिषी···'—जनकजी के और भी बहुत रानियाँ हैं, यथा—"आयउ जनकराज रनिवासू।" (अ० दो० २८०)। उनमें ये मुख्या एवं पटरानी हैं, जगत्-भर में इन्हीं की ख्याति है। ये विवेक में भी जनकजी के तुल्य हैं—"को विवेक निधि बल्लभहिं तुम्हहिं···" (अ० दो० २८१), 'सीय मातु···' श्रीसीताजी की माता होने की महिमा तो अकथ्य है।

(२) 'सुजस सुकृत सुख···'—'सुजस'-रूपा होने से जगत् में ख्याति है, 'सुकृत'-रूपा होने से श्रीसीताजी की माता हुई, यथा—"जनक सुकृत मूरति बैदेही।" (दो० ३०१), सुकृत की ही अगाधता से सुख और सुंदरता भी है, यथा—"सुख चाहहिं मूढ़ न धर्मरता।" (उ० दो० १०१); "चारिउ चरन धरम जग माहीं। पूरि रहा···सब सुंदर सब बिरुज सरीरा।" (उ० दो० २०)। उत्तमता की पहचान चार तरह से होती है—जन्म, संग, शरीर और स्वभाव से। सुयश, सुकृत आदि से विधि ने बनाकर रचा है, इससे जन्म; 'जनक पाट-महिषी···' इससे संग; 'सुख सुन्दरताई' से शरीर और 'सीय मातु···' से स्वभाव की उत्तमता कही गई है। यथा—"रावरो सुभाव रामजन्म ही से जानियत···" (क० उ० ४)। संतान की योग्यता से माता-पिता की महिमा होती है। यथा—"महिमा अवधि राम पितु माता।" (दो० १५)।

इन गुणों से श्रीसुनयनाजी में कन्यादान की योग्यता कही गई है।

'समय जानि···सुनत···'—अब कन्यादान का समय आया, तब बुलाई गईं। 'सुनत' शब्द से सूचित किया कि वे भी तैयार बैठी थीं। अतः, सुनते ही ले आईं।

(३) 'जनक बाम दिसि सोह···'—विशेष प्रचलित प्रथा है कि कन्यादान के समय पत्नी दाहिने बैठती है और किसी-किसी स्मृतिकार के मत से बाईं ओर ही बैठने का विधान है। यहाँ 'बाम दिसि' शब्द से दोनों मतों की रक्षा हो जाती है—(क) 'बाम' शिवजी का नाम है, उनकी दिशा ईशान है, विवाह में वर पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठता है और कन्या के माता-पिता पच्छिम-मुख रहते हैं। इस तरह सुनयनाजी ईशान में पड़ती हैं। वा, इसमें सुनयना (एवं मयना) जी का वर्णन है, अतः उनका प्राधान्य है। तब जनकजी के बाम दिशि में होने से सुनयना उनके दाहिने पड़ती हैं, इसमें सुनयना अंगी और राजा अंग हुए। वा, अभी बैठक-मात्र कहा गया है, कन्यादान के समय दाहिने बैठ जायँगी। (ख) ग्रंथकार को दाहिने लिखना होता तो स्पष्ट लिखते। अतः, बाईं ओर बैठने का उपर्युक्त एकमत इन्हें इष्ट था, ऐसा भी जान पड़ता है।

'बनी जनु मयना'—जगज्जननी भवानी की माता होने से मयनाजी की शोभा थी, वैसे ही जगज्जननी श्रीसीताजी की माता होने से यहाँ इनकी भी शोभा है।

कनककलस मनिकोपर रूरे। सुचि-सुगंध-मंगल-जल-पूरे ॥५॥
निज कर मुदित राय अरु रानी। धरे राम के आगे आनी ॥६॥
पढ़हिं बेद मुनि मंगलबानी। गगन सुमन झरि अवसर जानी ॥७॥
बर बिलोकि दंपति अनुरागे। पाय पुनीत पखारन लागे ॥८॥

अर्थ—पवित्र, सुगंधित और मांगलिक जल से भरे हुए सोने के सुन्दर कलश और मणियों के रूरे (श्रेष्ठ) कोपर राजा-रानी ने प्रसन्नता-पूर्वक अपने हाथों से लाकर श्रीरामजी के आगे रक्खे ॥५-६॥ मुनि मंगल वाणी से (स्वर के साथ गाते हुए) वेद पढ़ रहे हैं, अवसर जानकर आकाश से फूलों की झड़ी होने लगी ॥७॥ दूलह को देखकर राजा-रानी अनुरक्त हो गये और पवित्र चरणों को धोने लगे ॥८॥

विशेष—(१) 'कनककलस मनि···'—'मनिकोपर रूरे' से दो कोपर जनाये, क्योंकि यह बहु-वचन है। यथा—"राज समाज बिराजत रूरे। उडुगन महँ जनु जुग बिधु पूरे॥" (दो० २४०)। दो पात्र इसलिये लाये हैं कि श्रीजानकीजी अपना चरण श्रीराम-पद-प्रक्षालन जल में न धुलावेंगी। यथा—"प्रभु

पद रेख बीच बिच सीता। धरति चरन मग चलति सभीता॥" (अ॰ दो॰ १२२)। सुनयनाजी ने इनके रुख से यह भाव जान लिया। यथा—"लखि रुख रानि जनायेउ राऊ।" (अ॰ दो॰ २८६)। 'सुचि सुगंध'''—'शुचि'—तीर्थ जल है, 'सुगंध'-इतर आदि मिश्रित है, 'मंगल'-चन्दन, हल्दी आदि मिश्रित है। 'धरे राम के आगे आनी।' इससे जनाया कि प्रथम श्रीरामजी की पूजा होगी।

'पढ़हि वेद'' गगन सुमन'''—यहाँ जब गा-गाकर वेद पाठ होने लगा तो मंत्रों से पद-प्रक्षालन का अवसर जान आकाश से सुनकर देवता लोग समय जान फूल बरसाने लगे।

(२) 'बर बिलोकि दंपति'''—स्त्री-पुरुष एक साथ धो रहे हैं, इससे 'दंपति' कहा है। शृङ्गार-युक्त साँवली छटा ही अनुराग का कारण है। अतः 'बर बिलोकि' कहा है। 'लागे' अर्थात् धीरे-धीरे इन चरणों की शोभा एवं महत्त्व को विचारते हुए धो रहे हैं। 'पुनीत' और आगे 'पाय-पंकज' भी कहते हैं, क्योंकि इनकी दृष्टि में चरणों की पवित्रता और शोभा दोनों हैं, वही आगे कहेंगे। केवट के चरण धोने में 'चरन-सरोज पखारन लागा' मात्र कहा है, क्योंकि वह इनकी तरह माहात्म्य का ज्ञाता नहीं था। पुनः उसके धोने में 'सुर सकल सिहाहीं' कहा गया है, क्योंकि वह इनके धोने का अधिकारी नहीं था, केवल सप्रेम गँवारी आडम्बर से धो लिया और यहाँ तो ये लोग परम सुकृती हैं, अतएव अधिकारी भी हैं और कन्यादान करके चरण धोते हैं, इसलिये यहाँ देवताओं का फूल बरसाना ही कहा गया है। यथा-"गगन सुमन झरि अवसर जानी।"

छंद—लागे पखारन पाय-पंकज प्रेम तन पुलकावली।
नभ नगर गान-निसान जय धुनि उमगि जनु चहुँ दिसि चली।
जे पद-सरोज मनोज-अरि-उर-सर सदैव बिराजहीं।
जे सकृत सुमिरत बिमलता मन सकल कलिमल भाजहीं॥
जे परसि मुनि-बनिता लही गति रही जो पातकमई।
मकरंद जिन्ह को संभुसिर सुचिता अवधि सुर बरनई।
करि मधुप मुनि मन जोगिजन जे सेइ अभिमत गति लहैं।
ते पद पखारत भाग्यभाजन जनक जय जय सब कहैं॥

अर्थ—चरण-कमलों को धोने लगे, प्रेम से शरीर में पुलकावली हो रही है। आकाश और नगर में गान, नगाड़ों की ध्वनि और जय ध्वनि मानों चारों दिशाओं में उमड़ चली। जो पद-कमल शिवजी के हृदय-रूपी तालाब में सदा ही विराजते हैं। जिनका एक बार भी स्मरण करने से हृदय में निर्मलता आ जाती है और सब पाप दूर हो जाते हैं॥ जिनका स्पर्श करके मुनि की स्त्री अहल्या ने उत्तम गति पाई, जो पापमयी थी। जिनका मकरंद (रस=चरणामृत, गंगाजी) शिवजी के शिर पर है, जिसे देवता लोग पवित्रता की सीमा कहते हैं॥ मुनि और योगी लोग अपने मन को भौंरा बनाकर जिन चरणकमलों का सेवन कर मनोवांछित गति पाते हैं। उन चरणों को भाग्य के पात्र जनकजी धोते हैं और सब लोग जय-जय कह रहे हैं॥

विशेष—(१) 'जे पद-सरोज मनोज···'—चरण कमलरूप हैं। अतः, शिवजी के हृदय-रूपी तालाब में रहते हैं। 'सदैव' अर्थात् सती वियोग-रूपी राग में भी संपुटित न हुए। इसका कारण 'मनोज-अरि' से जनाया कि इन्हों ने काम को जीता है, यथा—"जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम।" शिवजी ने सदा हृदय में इन्हें क्यों बसाया है ? इसका कारण कहते हैं— .

(२) 'जे सकृत सुमिरत विमलता···' अर्थात् एक बार के स्मरण से भी मन, वचन, कर्म के सब पाप छूट जाते हैं। फिर आगे अहल्या का उदाहरण भी दिया है। 'रही जो पातकमई' यथा—"तरी अहल्या कृत अघ भूरी।" (दो० २२२); 'मकरंद जिन्ह को संभु सिर···' अर्थात् चरण-कमल को हृदय में और मकरंद-रूप उसका धोवन शिर पर, इसीसे भीतर-बाहर पवित्र रहते हैं। कमल और मकरंद कहकर उनके भोक्ता भ्रमर भी कहते हैं—'करि मधुप मुनि मन···'—'अभिमत गति' अर्थात् चाहे जो गति लें। मुक्ति के कई भेद होते हैं, वे सब प्रकार की मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं। 'मकरंद···संभु सिर' से मज्जन और 'करि मधुप मुनि मन' से पान सूचित किया। यथा—"मज्जनपान पाप हर एका।" (दो० १४)।

'ते पद पखारत भाग···'—जिसे शिवजी ध्यान ही में पाते हैं, उसे जनकजी प्रत्यक्ष धो रहे हैं, अतएव ये भाग्य-भाजन हैं। 'भाग्य भाजन' पर—"अतिसय बड़ भागी" (दो० ३१०) देखिये।

बर कुअँरि करतल जोरि साखोच्चार दोउ कुलगुरु करैं।
भयो पानिगहन विलोकि बिधि सुर मनुज मुनि आनंद भरैं।
सुखमूल दूलह देखि दंपति पुलक तनु हुलस्यो हिये।
करि लोक-वेद-बिधान कन्यादान नृपभूषन किये॥
हिमवंत जिमि गिरिजा महेसहि हरिहि श्री सागर दई।
तिमि जनक रामहिं सिय समरपी बिस्व कल कीरति नई।
क्यों करइ बिनय बिदेह कियो बिदेह मूरति साँवरी।
करि होम बिधिवत गाँठि जोरी होन लागी भाँवरी॥

दोहा—जय धुनि बंदी बेद धुनि, मंगलगान निसान।
सुनि हरषहिं बरषहिं बिबुध, सुरतरु सुमन सुजान॥३२४॥

शब्दार्थ—साखोचार = विवाह के समय उभय पक्ष की वंशावली का कथन। पाणिग्रहण = विवाह की एक रीति, जिसमें कन्या का पिता उसका हाथ वर के हाथ में देता है।

अर्थ—वर और कन्या की हथेलियों को मिलाकर दोनों कुल-गुरु शाखोच्चार करने लगे। पाणिग्रहण हुआ, यह देखकर ब्रह्मा (आदि) देवता, मनुष्य और मुनि आनंद से भर गये। सुख के मूल दूलह को देखकर दोनों स्त्री-पुरुष (राजा-रानी) का शरीर पुलकित हो गया और हृदय में आनन्द का उल्लास हुआ।

राज-शिरोमणि श्रीजनकजी ने लोक और वेद की विधि करके कन्यादान किया॥ जैसे हिमाचलराज ने शिवजी को पार्वतीजी और सागर ने हरि-भगवान् को लक्ष्मीजी दीं वैसे ही जनकजी ने श्रीरामजी को सीताजी का समर्पण किया, जिससे संसार में सुंदर नवीन कीर्ति हुई॥ विदेहजी विनती कैसे करें, उस साँवली मूर्त्ति ने तो उन्हें विदेह (देहाध्यास-रहित) ही कर दिया। विधिपूर्वक हवन करके गँठ-बंधन किया गया और भाँवरी होने लगी॥ जय-ध्वनि, वंदी-ध्वनि, वेद-ध्वनि, मंगल-गान और नगाड़ों की ध्वनि सुनकर चतुर देवता लोग प्रसन्न होते हैं और कल्पवृक्ष के फूलों को बरसा रहे हैं॥३२४॥

विशेष—'साखोचार दोउ कुलगुरु करैं'—वाल्मी० १।७०।१९-४५ में वसिष्ठजी ने राजा दशरथ के वंश का उच्चारण किया है, किन्तु जनकजी ने वा० १।७१।१-२० में अपनी ओर से स्वयं कहा है। श्रीगोस्वामीजी के कल्प में उधर भी कुलगुरु ने ही कहा है। 'भयो पानि गहन' यथा—"अब्रवीज्जनको राजा कौसल्यानंदवर्धनम्। इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी तव॥ प्रतीच्छ चैनां भद्रं ते पाणिं गृह्णीष्व पाणिना। पतिव्रता महाभागा छायेवानुगता सदा॥ इत्युक्त्वा प्राक्षिपद्राजा मंत्र-पूतं जलं तदा।" (वाल्मी० १।७३।२६-२८) इसमें 'कन्यादान' का भी अर्थ खुल गया है। 'नृप-भूषन'—क्योंकि चक्रवर्त्ती को भी इन्होंने दान दिया, यथा—"प्रतिग्रहो दातृवशः श्रुतमेतन्मयापुरा।" (वाल्मी० १।६९।१४)। इसमें चक्रवर्त्तीजी ने स्वयं जनकजी को दाता और अपने को प्रतिग्रहीता स्वीकार किया है।

'हिमवंत जिमि गिरिजा···'—हिमाचलजी ने श्रीनारदजी से जाना कि—"गिरिजा सर्वदा संकर-प्रिया।" (दो० ६८); तब—"भवहिं समर्पी जानि भवानी।" (दो० १००); अर्थात् शिवजी की शक्ति जानकर उन्हें उनकी वस्तु समर्पण किया। वैसे ही क्षीरसागर-मंथन से लक्ष्मीजी प्रकट हुईं, सागर ने भी हरि भगवान् को शक्ति जानकर उन्हें समर्पण किया। वैसे ही यहाँ श्रीजनकजी ने भी श्रीसीताजी के धनुष उठाने (हटाने) से और श्रीरामजी के उसे तोड़ने से इन्हें उनकी ही शक्ति जाना। अतः, उनकी वस्तु उन्हें ही समर्पण किया; अर्थात् दातृत्व के अहंकारी बनकर नहीं। श्रीजनकजी की इससे संसार में सुंदर नवीन कीर्ति हुई कि अखिल ब्रह्मांड के स्वामी को भी इन्होंने दान दिया और उन्होंने लिया। इसे राजा जनक आगे विश्वामित्रजी से स्वयं कहेंगे—"जो सुख सुजस लोकपति चहहीं। करत मनोरथ सकुचत अहहीं॥ सो सुख सुजस सुलभ मोहिं स्वामी। सब सिधि तव दरसन अनुगामी॥" (दो० ३९२)। हिमाचल तुषारमय श्वेतवर्ण एवं क्षीरसागर भी श्वेतवर्ण हैं, वैसे जनकजी भी ज्ञानी हैं, अतः सत्त्वगुण-प्राधान्य से वर्णसाम्य भी है।

उपासकों के दो भेद हैं, एक मत से श्रीजानकीजी श्रीअवध आईं और आजन्म वहीं रहीं; उसके लिये गिरिजाजी की उपमा है। क्योंकि गिरिजाजी फिर कैलास ही पर रहीं। दूसरे मत से श्रीजानकी के सम्बन्ध से श्रीरामजी भी (अप्रकट रीति से) नित्य जनकपुर में रह गये, उसके लिये 'श्री' की उपमा है क्योंकि श्रीजी के सम्बन्ध से भगवान नारायण का भी क्षीर-सागर में ही वास है।

'करौं कवन विनय···'—विनय करना था कि ये तो आप ही की शक्ति हैं, हमें केवल यश हुआ। आपने हमें कृतार्थ किया, इत्यादि, पर प्रेम-विह्वलता में न कह सके। 'गँठि जोरी' अर्थात् श्रीरामजी का पीताम्बर और श्रीजानकीजी की चूनरी के छोर बाँधे गये। इसे गँठि-बंधन कहा जाता है। 'बिधिवत्'—विवाह-पद्धति के अनुसार।

'जय-धुनि बंदी···'—इसमें कल्पतरु के फूल बरसाने से देवताओं को 'बिबुध' (विशेष बुद्धिमान) और 'सुजान' कहा गया है, क्योंकि इस मुख्य अवसर के लिये ही इन्होंने इन पुष्पों को बचा रक्खा था और उन्हें समय पर बरसाया।

कुअँर कुअँरि कल भाँवरि देहीं। नयनलाभ सब सादर लेहीं ॥१॥
जाइ न बरनि मनोहर जोरी। जो उपमा कछु कहउँ सो थोरी ॥२॥
राम सीय सुन्दर प्रतिछाहीं। जगमगाति मनि खंभन्ह माहीं ॥३॥
मनहुँ मदन रति धरि बहु रूपा। देखत रामबिवाह अनूपा ॥४॥
दरसलालसा सकुच न थोरी। प्रगटत दुरत बहोरि बहोरी ॥५॥
भये मगन सब देखनिहारे। जनक समान अपान बिसारे ॥६॥
प्रमुदित मुनिन्ह भाँवरी फेरी। नेगसहित सब रीति निबेरी ॥७॥

शब्दार्थ—प्रतिछाहीं = परछाईं। नेग = नियमित पुरस्कार। निबेरी = निपटाई, चुकाई। कल = सुन्दर।

अर्थ—सुन्दर वर और कन्या सुन्दर भाँवरें फेर रहे हैं, सब लोग आदर-पूर्वक नेत्रों का लाभ ले रहे हैं ॥१॥ मनोहर जोड़ी का वर्णन नहीं हो सकता, जो कुछ भी उपमा कहूँ, वह थोड़ी ही है ॥२॥ श्रीसीतारामजी की सुन्दर परछाईं मणि के खंभों में झलक रही है ॥३॥ मानों कामदेव और रति बहुत-से रूप धारण करके अनुपम श्रीरामजी का विवाह देख रहे हैं ॥४॥ दर्शन की लालसा और संकोच (दोनों) थोड़े नहीं हैं; अर्थात् बहुत हैं। (अतः) बार-बार प्रकट होते हैं और छिपते हैं ॥५॥ सब देखनेवाले (आनन्द में) मग्न हो गये, राजा जनक के समान सभी अपनापन भूल गये ॥६॥ मुनियों ने आनन्द-सहित भाँवरी फिराई और सब रीति नेग-सहित निपटाई ॥७॥

विशेष—'राम सीय सुन्दर'''मनहुँ मदन रति'''—साक्षात् श्रीसीतारामजी के लिये उपमा न मिली, तो उनकी परछाईं के विषय में उत्प्रेक्षा करते हैं कि कामदेव रति के सहित इनकी परछाईं के सदृश भी नहीं है। कामदेव और रति को श्रीराम-ब्याह देखने की लालसा हुई इसलिये वे बहुत रूपों से आये, पर सम्मुख होते ही सकुच कर छिप जाते हैं। सकुच यह है, कि कोई देखेगा, तो इनके समक्ष में हमें तुच्छ जान कर हँसेगा। इसलिये लालसा से तो प्रकट होते हैं, और सकुच से छिप जाते हैं। भाँवरी फिरते समय जोड़ी जब एक खंभे के सामने से दूसरे पर पहुँचती है, तो परछाँहीं पीछेवाले खंभे से हट कर आगे वाले पर चली जाती है, उसी पर यह उत्प्रेक्षा है। एक सीध में भी कई खंभे हैं। अत., बहुत रूप देख पड़ते हैं।

'प्रमुदित मुनिन्ह भाँवरी फेरी'''—उपक्रम में—'कुअँर कुँअरि कल भावरि देहीं' कहा था, और यहाँ भाँवरी होने का उपसंहार है। उपक्रम में 'कल' शब्द है, उसका गिनना भी अर्थ होता है; अर्थात् भाँवरें गिन कर पड़ती हैं, उपसंहार तक में सात अर्द्धालियाँ हैं, इससे सात भाँवरें पड़ना सूचित किया। 'प्रमुदित' और 'नेग सहित' कहने का भाव यह है कि अंतिम भाँवरी पर पुरोहित भाँवरी को रोक देते हैं, अपना नेग लेकर तब पूरी होने देते हैं। वही हुआ। नेग चुकाया गया, तब प्रसन्नता-पूर्वक भाँवरी पूरी हुई।

राम सीय-सिर सेंदुर देहीं। सोभा कहि न जाति बिधि केहीं ॥ ८ ॥
अरुन पराग जलज भरि नीके। ससिहि भूषअहि लोभ अमी के ॥ ९ ॥
बहुरि बसिष्ठ दीन्हि अनुसासन। बर दुलहिनि बैठे एक आसन ॥१०॥

छंद—बैठे बरासन राम जानकि मुदित मन दसरथ भये।
तनु पुलक पुनि पुनि देखि अपने सुकृत-सुरतरु-फल नये॥
भरि भुवन रहा उछाह रामबिबाह भा सबही कहा।
केहि भाँति बरनि सिरात रसना एक येह मंगल महा॥
तब जनक पाइ बसिष्ठ आयसु ब्याह-साज सँवारि कै।
मांडवी श्रुतकीरति उर्मिला कुअँरि लईं हँकारि कै॥
कुस - केतु - कन्या प्रथम जो गुन-सील-सुख-सोभा-मई।
सब-रीति-प्रीति-समेत करि सो ब्याहि नृप भरतहि दई॥
जानकी-लघु-भगिनी सकल सुंदरि-सिरोमनि जानि कै।
सो तनय दीन्ही ब्याहि लखनहि सकल बिधि सनमानि कै॥
जेहि नाम श्रुतिकीरति सुलोचनि सुमुखि सब गुनआगरी।
सो दई रिपुसूदनहि भूपति रूप - सील - उजागरी॥

अर्थ—श्रीरामजी श्रीसीताजी के शिर में सिन्दूर देते हैं। वह शोभा किसी तरह भी नहीं कही जा सकती॥८॥ (मानों) कमल भली प्रकार से लाल रज को (अपने में) भर कर अमृत के लोभ से चन्द्रमा को भूषित कर रहा है॥९॥ फिर वसिष्ठजी ने आज्ञा दी, तो वर और दुलहिन एक आसन पर बैठे॥१०॥ श्रीरामजानकीजी श्रेष्ठ आसन पर बैठ गये, राजा दशरथ मन में आनन्दित हुए। अपने पुण्य रूपी कल्पवृक्ष में नये फल देखकर उनका शरीर बार-बार पुलकित हो रहा है॥ चौदहो भुवनों में उत्साह भर गया, श्रीरामजी का विवाह हुआ, ऐसा सभी ने कहा। एक ही जिह्वा है और यह मंगल महान् है तो वह किस प्रकार उसके वर्णन करने से समाप्त हो सके। तब वसिष्ठजी की आज्ञा पाकर और ब्याह का साज सजाकर राजा जनक ने मांडवी, श्रुतिकीर्ति और उर्मिला (इन) कुमारियों को बुला लिया॥ पहले राजा कुशध्वज (राजा जनक के छोटे भाई) की बड़ी कन्या जो गुण, शील, सुख और शोभा-रूपा ही थी, प्रीति-पूर्वक सब रीति करके राजा ने भरतजी को ब्याह दिया॥ जानकीजी की छोटी बहन (उर्मिलाजी) जो सब सुन्दरियों में शिरोमणि हैं ऐसा जानकर उस तनया (कन्या) को सब प्रकार सम्मान-सहित लक्ष्मणजी को ब्याह दिया। जिसका नाम श्रुति-कीर्ति है, जो सुलोचनी, सुमुखी और सब गुणों की आगरी (खान) एवं रूप शील में प्रसिद्ध है, उसे राजा ने शत्रुघ्नजी को ब्याह दिया।

विशेष—( ) 'अरुन पराग जलज भरि नीके...'—पहले तो कहा था कि शोभा किसी प्रकार नहीं कही जाती; अर्थात् बुद्धि की युक्ति एवं अनुभव आदि से भी अकथ्य है, पर अब कवि-स्वभाव से कुछ

लक्ष्य कराते हैं। सिंदूर पाँचो अंगुलियों से चुटकी में लेकर दिया जाता है। श्रीजानकी के मुखचन्द्र के ललाट भाग के ऊपरी भाग—माँग में सिंदूर दिया जाता है। इसकी उत्प्रेक्षा करते हैं कि श्रीरामजी की हथेली कमल और बाहु उसकी नाल है, सिंदूर अरुण-पराग है। श्रीजानकीजी का मुख चन्द्रमा है, चन्द्रमा के सामने कमल आने से संपुटित हो ही जाता है, चुटकी में सिंदूर लेने से वही दशा हस्त-कमल की है। चन्द्रमा का कमल से वैर है, वह शीत से कमल को जला देता है, जिससे कमल की मृत्यु हो जाती है। अतः, वह प्रीति एवं कृपा-दृष्टि-रूपी अमृत के लोभ से चन्द्रमा को भूषित करता है कि जिससे वह उसे न जलावे। कृपा-दृष्टि, यथा—"अमिय विलोकनि करि कृपा मुनिवर जब जोये।" (गी० बा० ११)। उपमेय में अमृत का लोभ यह है कि सिंदूर सोहाग का चिह्न है, स्त्री का सोहाग अचल होना पुरुष का अमरत्व है। यही अमृत का गुण है।

'भूपअहि' क्रिया है, इसका अर्थ भूषित करता है। कोई-कोई 'भूप + अहि' का पदच्छेद करके सर्प का कमल द्वारा चन्द्रमा को भूषित करना अर्थ करते हैं, पर उसमें श्रीरामजी की हथेली कमल और भुजा सर्प-रूप होती हैं, प्रथम-प्रथम प्रिया-मुख चन्द्र के स्पर्श में सर्प की उपमा योग्य नहीं, विवाह मंगल का समय है। पुनः भुजा को सर्प और हथेली को कमल, यह भिन्न-भिन्न उपमाने एक हाथ के लिये भी युक्त नहीं हैं।

(२) 'सुकृत सुरतरु फल नये'—कल्पवृक्ष में अर्थ, धर्म, काम रूप फल ही होते हैं, वैसे अभी तक सभी सुकृती को उपर्युक्त अर्थ, धर्म, काम ही प्राप्त हुए। हमारे ही सुकृत-रूप कल्पवृक्ष में श्रीसीतारामजी पुत्र-पतोहू रूप फल लगे हैं। अतः, ये नवीन फल हैं।

'भरि भुवन रहा उछाह', यथा—"भुवन चारि दस भरा उछाहू। जनक सुता रघुवीर बिवाहू॥" (दो० ३१५)। 'सबही कहा'—यह भी रीति है कि सब कोई कहें कि अमुक का ब्याह हुआ।

'केहि भाँति बरनि सिरात······' यथा—"प्रभु बिबाह जस भयउ उछाहू। सकहिं न बरनि गिरा अहिनाहू॥" (दो० ३६०)।

(३) 'तब जनक पाइ बसिष्ठ···'—वाल्मी० बा० स० ७२ के अनुसार श्रीविश्वामित्र और वसिष्ठजी ने सम्मत करके और तीन कन्याओं के लिये राजा जनक से कहा कि एक और कन्या आपकी उर्मिला है और दो आपके भाई कुशध्वज की कन्याएँ हैं। उन्हें हम इन तीन कुमारों के लिये ब्याह देना चाहते हैं। इसपर जनकजी दोनों भाई बड़े प्रसन्न हुए। पुरातन आर्य सभ्यता का ऐसा ही ऊँचा आदर्श था कि यद्यपि स्त्री-पुरुष में पुरुष की प्रधानता मानी जाती थी, फिर भी स्त्रियों की गौरव मर्यादा के रक्षार्थ कन्याओं की मँगनी होती थी और तब विवाह होता था। यह प्रथा अब भी दक्षिण में प्रचलित है। यहाँ 'जानकी लघु भगिनी' से उर्मिलाजी को कहा है, क्योंकि वे श्रीजनकजी की निजी कन्या हैं। 'भूपति' और 'नृप' संज्ञा से कुशध्वज महाराज को सूचित किया है। उपर्युक्त 'नृप भूषन' और 'जनक' संज्ञा से विदेह राजा शीरध्वजजी कहे गये हैं। श्रीजानकीजी को कहा था कि—"सिय सुंदरता बरनि न जाई।" (दो० ३२२); वैसे ही उनकी लघु भगिनी भी हैं—"सुंदरि सिरोमनि जानि कै" कहा है। वैसे ही मांडवीजी—'गुन सील सुख सोभा मई' और उनकी लघु भगिनी—'सुलोचनि सुमुखि सब गुन आगरी—रूप-सील उजागरी' कही गई हैं। इनमें भी गुण में समता है। श्रीसीताजी और मांडवीजी गोरी और शेष दो श्याम-वर्ण की हैं।

अनुरूप बर दुलहिनि परसपर लखि सकुचि हिय हरषहीं।
सब मुदित सुंदरता सराहहिं सुमन सुरगन बरषहीं॥

सुंदरी सुंदर बरन्ह सह सब एक मंडप राजहीं।
जनु जीव-उर चारिउ अवस्था बिभुन सहित बिराजहीं॥

दोहा—मुदित अवधपति सकल सुत, बधुन्ह समेत निहारि।
जनु पाये महिपाल मनि, क्रियन्ह सहित फल चारि॥३२५॥

अर्थ—(चारो) दुलह-दुलहिनें आपस में अपने-अपने अनुकूल जोड़ी देखकर सकुच कर हृदय में हर्षित हैं। सब लोग आनंद-पूर्वक सुन्दरता की बड़ाई करते हैं, देवता लोग फूल बरसाते हैं॥ सब सुन्दरियाँ सुन्दर दुलहों के सहित एक ही मंडप में ऐसी शोभित होती हैं, मानों जीव के हृदय में चारो अवस्थाएँ अपने विभुओं (स्वामियों) के सहित विराजती हैं॥ सब पुत्रों को बहुओं के साथ देखकर अवधेश श्रीदशरथजी ऐसे आनंदित हुए। मानो राज-शिरोमणि महाराज ने क्रियाओं के सहित चारो फल पाये हैं॥३२५॥

विशेष—(१) 'अनुरूप बर दुलहिनि······'—श्रीरामजी और श्रीभरतजी श्याम हैं, इनकी दुलहिनें श्रीसीताजी और श्रीमांडवीजी गोरी हैं। श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी गोरे हैं, इनकी दुलहिनें श्रीउर्मिलाजी और श्रीश्रुतिकीर्तिजी श्याम हैं। अतः, चारो जोड़ी एक दूसरे के अनुकूल हैं; अर्थात् श्याम-गौर की जोड़ी विशेष शोभित हैं। अवस्था, रूप एवं गुणों में भी वर-दुलहिन एक-दूसरे के योग्य हैं।

'सुंदरी सुंदर बरन्ह सह······'—सुंदरी दुलहिनों की शोभा वर्णन उत्प्रेक्षा का विषय है। इनकी शोभा सुन्दर वरों के साथ होने से है, जैसे कि चारों अवस्थाओं की शोभा विभुओं के साथ में होती है। 'एक मंडप'—एक मंडप में एक ही वर-दुलहिन रहते हैं, वैसे ही जीव के उर में भी एक समय में एक ही अवस्था और उसके विभु रहते हैं, पर यहाँ चारो एक साथ कही गई हैं।

परमार्थ पक्ष में अवस्थाएँ क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय ये चार हैं। ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। जाग्रत् अवस्था २४ तत्त्वों से युक्त रहती है—१० इन्द्रियाँ, ५ तत्त्व, ५ विषय और मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त। इस अवस्था में जीवात्मा की संज्ञा विश्व होती है; अर्थात् जीवात्मा का विश्व के सत्त्वांश से सम्बन्ध रहता है। विश्व-निष्ठ होने से इसकी विश्व संज्ञा होती है, यथा—"यो यच्छ्रद्धः स एव सः।" (गीता १७।३)। इस अवस्था का विभु विराट् है। विराट् के संयुक्त (विराट् के ज्ञानसहित) यह अवस्था निर्विकार रहती है, क्योंकि जगत् को भगवान् के शरीर में देखने से राग-द्वेष का अवसर नहीं आता। यही इसकी शोभा है। यथा—"मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।" (कि॰ दो॰ ३); "निज प्रभु मय देखहिं जगत्, केहि सन करहिं बिरोध।" (उ॰ दो॰ ११२)।

स्वप्न अवस्था १७ तत्त्वों से युक्त रहती है। ५ प्राण, मन, बुद्धि और १० इन्द्रियाँ ये—१७ तत्त्व हैं। मन की तैजस संज्ञा है। इस अवस्था में राजस अहंकार (मन) की प्रधानता रहती है। अतः, इस अवस्था में प्राप्त जीवात्मा की तैजस संज्ञा होती है। इस अवस्था के विभु हिरण्यगर्भ (ब्रह्माजी) हैं। कर्म के अनुसार मन की प्रवृत्ति है, उस के यथार्थ ज्ञाता एवं नियामक ब्रह्माजी हैं। अतः, इनके संयुक्त (ज्ञानसहित) यह अवस्था निर्विकार रहती है, यही इसकी शोभा है।

सुषुप्ति अवस्था तमोगुण प्रधान है, इसके विभु ईश्वर (शिवजी) हैं, इनके परिज्ञान सहित यह अवस्था निर्विकार रहती है, क्योंकि शिवजी जगत् के तामसांश (भूत, प्रेत, सर्प, बिच्छू आदि का संग

एवं भाँग, धतूर, आदि के सेवन) सहित भी निर्विकार रहते हैं। इनको विकार स्पर्श नहीं कर पाता, प्रत्युत ये आनंद रूप रहते हैं, इस अवस्था में जीवात्मा की संज्ञा प्राज्ञ होती है, क्योंकि घोर निद्रा में प्रज्ञा (बुद्धि) का कार्य सुख-दुःख का ज्ञातृत्व यह त्याग करता है। यह प्राज्ञ जीव शिवजी की सी दृष्टि से जगत् को तमोगुणमय देखता हुआ, उससे निर्लिप्त रहता है। जैसे लोगों को घोर निद्रा में जगत् का भान नहीं रहता। यही इस अवस्था की शोभा है।

तुरीयावस्था ज्ञानमय आनंदरूपा है, इसका विभु अंतर्यामी ब्रह्म है, यह अवस्था अंतर्यामी के सहित परम शोभा-रूपा।

जीवन्मुक्तों के हृदय में तुरीयावस्था के प्राधान्य में तीनों अवस्थाएँ वर्त्तती हैं, वैसे यहाँ श्रीजानकीजी के प्राधान्य में तीनो कुमारियाँ हैं। यहाँ मंडप जीव है उसका भीतरी अवकाश हृदय है, चारो कुमारियाँ चारो अवस्थाएँ और वर उनके विभु हैं। 'जनु' वाचक है और 'राजहीं' 'बिराजहीं' धर्म है। यहाँ शोभायमान होना रूप धर्म-मात्र से उत्प्रेक्षा का प्रयोजन है। यदि कहा जाय कि मंडप जड़ है और जीव चेतन है यह उपमान—उपमेय में धर्म-विरोध है तो यह विरोध नहीं, क्योंकि उपमा में सर्वांश नहीं देखा जाता। जैसे—"गये जहाँ रावन ससि राहू।" (बा० दो० २७) इसमें चंद्रमा की उपमा रावण को और राहु दैत्य की उपमा श्रीरामजी को दी गई है। अन्यत्र प्रायः चन्द्रमा की उपमा श्रीरामजी को दी जाती है और राहु दैत्य की उपमा रावण जैसे असुरों को। यहाँ कवि ने उपमा के धर्म से ही प्रयोजन रक्खा है। ऐसे ही—"जाहिं सनेह सुरा सब छाके।" (अ० दो० २२१); इसमें भी रामस्नेह की उपमा मदिरा से दी गई है, इत्यादि। श्रीरामोत्तरतापनीयोपनिषद् में चारो भाई चारो अवस्थाओं के *नियामक* कहे भी गये हैं। नाम-करण प्रसंग देखिये।

'मुदित अवधपति ·····' प्रथम कहा गया है—"बैठे बरासन राम जानकि मुदित मन दशरथ भये।" (उपर्युक्त); वहाँ केवल एक पुत्र को वधू समेत देखा था और यहाँ चारो को देख रहे हैं, इससे फिर भी 'मुदित मन' होना कहा गया, क्योंकि चारो पुत्र समान प्रिय हैं। चारो पुत्र उपमेय हैं और चारो फल उपमान हैं, क्योंकि पुत्र और फल पुँल्लिंग हैं। वधूगण उपमेय और क्रियाएँ उपमान हैं, ये दोनों स्त्रीलिंग हैं। अर्थ-धर्म आदि की अपेक्षा राजाओं को हुआ करती है, अतः 'अवधपति' और 'महिपाल मनि' कहा गया है। राजाओं को क्रियाओं के सहित फलों की प्राप्ति में आनंद होता ही है।

सेवा, श्रद्धा, तपस्या और भक्ति क्रमशः अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की क्रियाएँ हैं, वैसे ही क्रमशः, श्रुतिकीर्ति, उर्मिला, मांडवी और सीताजी भी शत्रुघ्न, लक्ष्मण, भरत और श्रीरामजी की बहुएँ हैं। यहाँ कुमारों को अंगी और कुमारियों को अंग कहा गया है। क्रियाओं के सहित होने से फल अक्षय रहते हैं। यह सामान्यतया चार फल-प्राप्ति की अपेक्षा यहाँ विशेषता है।

जसि रघुबीर - ब्याह - बिधि बरनी। सकल कुअँर ब्याहे तेहि करनी ॥१॥
कहि न जाइ कछु दाइज भूरी। रहा कनकमनि मंडप पूरी ॥२॥
कंबल बसन बिचित्र पटोरे। भाँति भाँति बहुमोल न थोरे ॥३॥
गज रथ तुरग दास अरु दासी। धेनु अलंकृत कामदुहा - सी ॥४॥
बस्तु अनेक करिय किमि लेखा। कहि न जाइ जानहिं जिन्ह देखा ॥५॥
लोकपाल अवलोकि सिहाने। लीन्ह अवधपति सब सुख माने ॥६॥

दीन्ह जाचकन्हि जो जेहि भावा। उबरा सो जनवासेहि आवा ॥७॥
तब कर जोरि जनक मृदुबानी। बोले सब बरात सनमानी ॥८॥

अर्थ—जैसी विधि श्रीरामजी के ब्याह की कही गई, उसी करणी (रीति) से सब कुँवर ब्याहे गये ॥१॥ दहेज की अधिकता कुछ कही नहीं जा सकती, मंडप सोने और मणियों से भर गया ॥२॥ तरह-तरह के बहुत-से कम्बल (ऊनी वस्त्र), विचित्र वस्त्र (सूती) और विचित्र पाटाम्बर (रेशमी वस्त्र) जो थोड़े दाम के न थे ॥३॥ हाथी, रथ, घोड़े, दास और दासीगण, भूषित कामधेनु-सरीखी गायें ॥४॥ ऐसी अनेक वस्तुएँ थीं, उनकी गणना कैसे की जाय। वे कही नहीं जा सकतीं। जिन्होंने देखा है, वे ही जानें ॥५॥ लोकपाल लोग देखकर सिहाने लगे, अवधनरेश ने सभी को सुख मानकर लिया ॥६॥ जिन याचकों को जो रुचा, वही उन्हें दिया गया, जो बच रहा, वह जनवासे में आया ॥७॥ तब राजा जनक हाथ जोड़कर सब बरात का सम्मान करके मीठी कोमल वाणी बोले ॥८॥

विशेष—'ब्याहे तेहि करनी'—तीनों भाइयों का ब्याह ऊपर कहा गया, शेष रीतियाँ भी यहाँ कह दीं। 'रहा कनक मनि···'—पूर्व कहा गया था—"मरकत कनक बरन बर जोरी" वैसे ही मंडप में भी मरकत मणि और स्वर्ण-वर्ण की ही जोड़ियाँ हैं, तदनुसार इन्हीं द्रव्यों के विशेष दहेज दिये गये। 'गजरथ तुरग···अलंकृत···'—इनमें 'अलंकृत' शब्द अंत में होने से गज आदि सभी के साथ है। पुनः 'गज' और 'तुरग' के बीच में 'रथ' होने से गजरथ और तुरगरथ दोनों प्रकार के रथ भी सूचित किये हैं। 'कहि न जाइ जानहिं···'—अर्थात् देखनेवाले जानकर भी नहीं कह सकते। 'लीन्ह अवधपति···' अर्थात्—"अवध-राज सुर राज सिहाहीं। दसरथ धन लखि धनद लजाहीं ॥" (अ० दो० ३२४), ऐसे पुर के राजा होते हुए भी जनकजी के सम्मानार्थ उनके दिये हुए सब पदार्थ सुखमान कर लिये, यद्यपि आपके यहाँ कोई कमी नहीं है। 'दीन्ह जाचकन्हि···'—उधर राजा जनक की देने में उदारता है, वैसे ही इधर निष्पृहता है कि सामान्य आज्ञा देते हैं कि जिसे जो रुचे वह ले लेवे। सबके तृप्त हो जाने पर भी बच रहा। 'तब करजोरि···'—देने के पीछे यदि प्रार्थना न की जाय तो दाता में अहंकार पाया जाता है, इसलिये विनय करते हैं।

छंद—सनमानि सकल बरात आदर दान विनय बड़ाइ कै।
प्रमुदित महा मुनिवृन्द बंदे पूजि प्रेम लड़ाइ कै ॥
सिर नाइ देव मनाइ सब सन कहत कर संपुट किये।
सुर साधु चाहत भाव सिंधु कि तोष जलअंजलि दिये ॥
कर जोरि जनक बहोरि बंधुसमेत कोसलराय सों।
बोले मनोहर बयन सानि सनेह सील सुभाय सों ॥
संबंध राजन रावरे हम बड़े अब सब विधि भये।
येहि राज साज समेत सेवक जानिबे बिनु गथ लये ॥

ये दारिका परिचारिका करि पालिबी करुनामई।
अपराध छमिबो बोलि पठये बहुत हौं ढीठ्यो कई॥
पुनि भानु-कुल-भूषन सकल-सनमान-निधि समधी किये।
कहि जाति नहिं बिनती परसपर प्रेम परिपूरन हिये॥
बृंदारकागन सुमन बरिसहिं राउ जनवासेहि चले।
दुंदुभी जयधुनि बेदधुनि नभ नगर कौतूहल भले॥
तब सखी मंगलगान करत मुनीस-आयसु पाइ कै।
दूलह दुलहिनिन्ह सहित सुंदरि चलीं कोहबर ल्याइ कै॥
दोहा—पुनि पुनि रामहिं चितव सिय, सकुचति मन सकुचै न।
हरत मनोहर - मीन - छवि, प्रेम पियासे नैन॥३२६॥

शब्दार्थ—प्रेम सहाइ कै=लाड़ (दुलार) प्रेम-सहित। कर संपुट किये=हाथ जोड़े हुए। बृंदारकागन=देवगण। कौतूहल=कौतुक, तमाशा। कोहबर=ब्याह में कुछ कुलरीतियों के किये जाने का घर, जहाँ वर-कन्या के क्रीड़ा-कौतुक होते हैं, (कौतुक-घर)।

अर्थ—आदर, दान, विनती और बड़ाई करके सब बरात का सम्मान कर बड़े ही आनन्द-सहित महा मुनियों के समूह की लाड़-प्रेम-सहित पूजा करके वन्दना की॥ प्रणाम-पूर्वक देवताओं को मनाकर हाथ जोड़े हुए सबसे कहते हैं कि देवता और साधु तो भाव चाहते हैं, क्या एक अंजलि जल देने से समुद्र को संतोष हो सकता है?॥ फिर भाई-समेत राजा जनक हाथ जोड़कर कोशल-राज दशरथजी से स्वाभाविक शील और स्नेह से सने हुए सुन्दर वचनों से बोले॥ हे राजन्! आपके सम्बन्ध से अब हम सब प्रकार से बड़े हुए। इस राज-साज-समेत हमको बिना मूल्य का लिया हुआ सेवक समझिये॥ हे करुणामय! इन लड़कियों को सेवकिनी मानकर करुणा-दृष्टि से पालन कीजियेगा। मेरा अपराध क्षमा कीजिये, जो मैंने बुला भेजा—यह बड़ी ढिठाई की है॥ फिर सूर्य-कुल-भूषण श्रीदशरथजी ने समधी को सम्मान का भंडार कर दिया। उनकी आपस की प्रार्थना कही नहीं जाती, दोनों के हृदय प्रेम से परिपूर्ण हैं॥ राजा जनवासे को चले, देवतागण फूल बरसाते हैं। नगाड़े की ध्वनि, जय-ध्वनि और वेद-ध्वनि हो रही है—आकाश और नगर दोनों में अच्छे कौतुक हो रहे हैं॥ तब मुनीश्वर की आज्ञा पाकर सुन्दर सखियाँ मंगलगान करती हुई दुलहिनों के सहित दुलहों को लिवा लेकर कोहबर को चलीं॥ श्रीसीताजी बार-बार श्रीरामजी को देखती हैं, (फिर) सकुच जाती हैं, पर मन नहीं सकुचता। प्रेम के प्यासे नेत्र सुन्दर मछली की छवि को हरते हैं॥३२६॥

विशेष—'सिंधु कि तोष जल अंजलि दिये'—समुद्र तीर्थ-पति होने से देवता है, उसकी पूजा में हम यदि अर्घ्य के लिये तीन अंजलि देते हैं, तो उसे हमारी पूजा के भाव से तो 'तोष' अवश्य होता

है, पर जल की मात्रा से संतोष नहीं होता, क्योंकि वह तो स्वयं जल का भंडार है। वैसे ही धन एवं प्रतिष्ठा के तो आप स्वयं सागर हैं, मैं जो कुछ दे रहा हूँ, यह अंजुली भर जल के समान है, इस रूप में मैं केवल अपना सद्भाव प्रकट कर रहा हूँ। समुद्र-देव की तरह आप मेरे भक्ति-भाव को ही ग्रहण कर प्रसन्न होंगे। कहा भी है—"अपांनिधिं वारिभिरर्चयन्ति दीपेन सूर्यं प्रतिबोधयन्ति। ताभ्यां तयोः किं परिपूर्णताऽस्ति भक्त्यैव तुष्यन्ति महानुभावाः॥"

'ढीठ्यो' पद भाववाचक कर्मकारक है, 'ढीठ्यो कई' अर्थात् ढिठाई की है।

'सनमान निधि समधी कियो'—'समधी' अर्थात् यद्यपि जनकजी ने अपनेमें सेवक-भाव ही कहा है, तथापि ये अपने तुल्य ही का भाव रखते हुए सम्मान करते हैं, इतना आदर किया कि उन्हें सम्मान का समुद्र ही बना दिया, इस तरह कि आप दान के दाता हैं, हम तो प्रतिग्रहीता हैं, दाता की बड़ाई को प्रति-ग्रहीता कहाँ पहुँच सकता है? यह नम्रता आपकी साधु-भाव से है, इत्यादि।

'पुनि पुनि रामहिं'''—प्रेम के कारण दर्शनों की प्यास है, पर देखने में सखियों का संकोच है, जब वे मंगल-गान में लगती हैं, तब श्रीरामजी को बार-बार देखती हैं, जैसे मछली जल की प्यासी ही रहती है। पर सखियों के संकोच से फिर दृष्टि हटाकर नीचे कर लेती हैं, अवसर पाकर फिर देखती हैं, जैसे मछली जल के लिये उछलकर उसमें पड़ती है।

स्याम सरीर सुभाय सुहावन। सोभा कोटि-मनोज-लजावन॥१॥
जावकजुत पदकमल सुहाये। मुनि-मन-मधुप रहत जिन्ह छाये॥२॥
पीत पुनीत मनोहर धोती। हरति बाल-रबि-दामिनि-जोती॥३॥
कल किंकिनि कटिसूत्र मनोहर। बाहु बिसाल बिभूषन सुन्दर॥४॥
पीत जनेउ महाछबि देई। करमुद्रिका चोरि चित लेई॥५॥
सोहत ब्याहसाज सब साजे। उर आयत उर-भूषन राजे॥६॥
पियर उपरना काँखा सोती। दुहुँ आँचरन्हि लगे मनि मोती॥७॥
नयन कमल कल कुंडल काना। बदन सकल सौंदर्यनिधाना॥८॥
सुंदर भृकुटि मनोहर नासा। भाल तिलक रुचिरता निवासा॥९॥
सोहत मौर मनोहर माथे। मंगलमय मुकुतामनि गाथे॥१०॥

शब्दार्थ—जावक (यावक)=महावर। काँखा सोती=जनेऊ की तरह दुपट्टा डालने का ढंग।

अर्थ—(श्रीरामजी का) साँवला शरीर स्वाभाविक ही शोभायमान है, उसकी शोभा करोड़ों कामदेवों को लजानेवाली है॥१॥ महावर के साथ (लगे हुए) चरण कमल शोभा दे रहे हैं, जिनमें मुनियों के मन रूपी भौंरे छाये रहते हैं॥२॥ पवित्र मनोहर पीली धोती प्रातःकाल के सूर्य और बिजली की ज्योति को हर लेती है॥३॥ सुन्दर किंकिणी और कटि-सूत्र (सूत की करधनी) मन को हरनेवाले हैं, सुन्दर लंबी (आजानु) बाहुओं में विभूषण पहने हुए हैं॥४॥ पीला जनेऊ बड़ी ही छवि दे रहा है, हाथ की अँगूठी चित्त को चुराये लेती है॥५॥ (श्रीरामजी) सब ब्याह के साज सजे हुए सोह रहे हैं, चौड़ी छाती है, उसपर

उर-भूषण सुशोभित हैं ॥६॥ पीला दुपट्टा काँखा सोती पड़ा हुआ है, उसके दोनों छोरों (किनारों) पर मणि और मोती लगे हुए हैं ॥७॥ सुन्दर कमल के समान नेत्र हैं, कानों में सुन्दर कुंडल हैं और मुख तो सब सुन्दरता का भंडार ही है ॥८॥ भौंहें सुन्दर और नासिका मनोहर है, ललाट पर तिलक सुन्दरता का निवास (केन्द्र) है ॥९॥ मस्तक पर मनोहर, मंगलमय मुक्ता-मणियों से गुथा हुआ, सुन्दर मौर सोह रहा है ॥१०॥

विशेष—'जावकजुत पदकमल···'—चरण तो लाल कमल की तरह स्वाभाविक ही सुन्दर है, यावक से रंग-विशेषता नहीं है, पर यह विवाह के मंगल का अंग है, पुनः इसमें भाँति-भाँति की चित्रकारी रचना है, इससे विशेष शोभा हो रही है। 'मुनि मन मधुप' से माहात्म्य कहा है।

'पीत पुनीत मनोहर धोती···'—पीताम्बर रेशमी है, इससे 'पुनीत' कहा गया।

'बाल-रबि-दामिनि···'—कुछ ललाई लिये हुए पीत रंग है, उसपर दृष्टि नहीं ठहरती, इसलिये सूर्य की उपमा और चमचमाहट से बिजली की उपमा है। 'उरभूषण'—वनमाला, वैजयन्ती-माला, मणि-मुक्तामाला और धुकधुकी आदि। 'मंगलमय'—मंगल कार्य में लगवाले मणि-मुक्ता आदि सुमंगल माने जाते हैं। 'सौंदर्य निधान।'—अर्थात् विश्व-भर में प्रसरित सुन्दरता का भंडार यही है, सुन्दरता यहीं से सबको प्राप्त है।

छंद—गाथे महामनि मौर मंजुल अंग सब चित चोरहीं।
पुरनारि सुरसुंदरी बरहि बिलोकि सब तृन तोरहीं॥
मनि बसन भूषन वारि आरति करहिं मंगल गावहीं।
सुर सुमन बरिसहिं सूत मागध बंदि सुजस सुनावहीं॥
कोहबरहि आने कुअँर कुअँरि सुआसिनिन्ह सुख पाइ कै।
अति प्रीति लौकिक रीति लागीं करन मंगल गाइ कै।
लहकौरि गौरि सिखाव रामहिं सीय सन सारद कहैं।
रनिवास हास-बिलास-रस-बस जनम को फल सब लहैं॥
निज-पानि-मनि महुं देखियति मूरति सुरूप-निधान की।
चालति न भुजबल्ली बिलोकनि-बिरह-भय-बस जानकी।
कौतुक बिनोद प्रमोद प्रेम न जाइ कहि जानहिं अली।
बर कुअँरि सुंदर सकल सखी लिवाइ जनवासहिं चली॥
तेहि समय सुनिय असीस जहँ तहँ नगर नभ आनँद महा।
चिरजिअहु जोरी चारु चारिउ मुदित मन सबही कहा।

जोगींद्र सिद्ध मुनीस देव बिलोकि प्रभु दुंदुभि हनी।
चले हरषि बरषि प्रसून निज-निज-लोक जय-जय-जय भनी॥

दोहा—सहित बधूटिन्ह कुअँर सब, तब आये पितु पास।
सोभा मंगल मोद भरि, उमगेउ जनु जनवास॥३२७॥

शब्दार्थ—तृन तोरहीं = बुरी दृष्टि बचाने का यह एक टोटका है—तिनका तोड़ना। लहकौरि = (लहुकौर या कौर खाना) यह एक विवाह की रीति है कि दूलह-दुलहिन एक-दूसरे के मुख में दही-बताशे आदि के कौर देते हैं। प्रति-मूरति = प्रतिबिंब। भुजबल्ली = भुजलता, नाज़ुक होने से स्त्रियों की भुजाएँ भुजबल्ली और मज़बूत पुरुषों की भुजाएँ भुजदंड कहाती हैं।

अर्थ—सुन्दर मौर में महामणि गुथे हुए हैं, सभी अंग चित्त को चुराये लेते हैं। पुर की स्त्रियाँ और देवताओं की स्त्रियाँ वर को देख-देखकर तिनका तोड़ती हैं। मणि, वस्त्र, आभूषण को निछावर करके आरती करती और मंगल गाती हैं। देवता फूल बरसाते हैं, सूत, मागध और भाट सुयश सुनाते हैं॥ सौभाग्यवती स्त्रियाँ सुख-पूर्वक कुमार और कुमारियों को कोहबर में लाईं और मंगल गा-गाकर अत्यन्त प्रीति-सहित लौकिक रीति करने लगीं। पार्वतीजी श्रीरामजी को लहकौरि सिखाती हैं और सरस्वतीजी श्रीसीताजी को (सिखाती हुई) कहती हैं। रनवास हास-विलास के आनंद में निमग्न है, सभी अपने जन्म लेने के फल पाती हैं॥ अपने हाथ के (भूषणों के) मणियों में स्वरूप-निधान श्रीरामजी का प्रति-बिंब देखकर श्रीजानकीजी दर्शनों के वियोग के भय-वश भुजवल्ली और चितवनि को नहीं हटातीं। कौतुक, हास-विलास-क्रीड़ा, प्रकर्ष, आनंद और प्रेम कहा नहीं जा सकता, सखियाँ ही जानती हैं। सब सुंदर दूलह-दुलहिनों को सखियाँ जनवासे को लिवा ले चलीं॥ उस समय नगर और आकाश में जहाँ देखो तहाँ ही आशीर्वाद सुना जाता है, महान् आनंद है। सभी आनंद-पूर्वक कहते हैं कि सुन्दर चारो जोड़ियाँ चिरजीवी हों। योगीश्वर, सिद्ध, मुनीश्वर और देवताओं ने प्रभु को देखकर नगाड़े बजाये और फूल बरसाकर जय, जय, कहते हुए अपने-अपने लोकों को हर्षपूर्वक चले॥ तब सब कुँवर बहुओं समेत पिता के पास आये। शोभा, मंगल और आनंद से भरकर जनवासा मानों उमड़ पड़ा॥३२७॥

विशेष—'गाथे महामनि मौर'''—सात खंड का मौर है, वह महामणियों के योग से झलकता है। नख से शिखा पर्यन्त सब अंगों की शोभा में चित्त हर जाता है। चित्त हरना यहाँ चरितार्थ भी है, यथा—'मनि बसन भूषन वारि'''—यहाँ प्रथम आरती करके निछावर करना चाहिये था, सो उल्टा कर गईं कि पहले ही निछावर करके आरती की।

'मनि' और 'भूषन' के बीच में 'बसन' शब्द देकर वस्त्रों का बहुमूल्य होना जनाया।

'सुर सुमन बरिसहिं'''—यह कोहबर-गृह-प्रवेश पर है। 'सुख पाइ कै'—क्योंकि वहाँ मन मानी हास-विलास करेंगी। 'लहकौरि गौरि'''रनिवास हास'''—पार्वतीजी श्रीरामजी को सिखाती हैं कि यह दधि-मिश्री दुलहिनि को खिलाओ, उनके संकोच करने पर अपने हाथ से उनका हाथ पकड़कर खिला देती हैं। इसी तरह शारदाजी श्रीसीताजी का हाथ पकड़कर श्रीरामजी को खिलाती हैं और हँसी करती हैं कि दुलहिन के जूठे में बड़ा स्वाद होता है, और खा लीजिये। पुनः थाल में भूषण डालकर जुआ खेलाती

हैं। जब किशोरीजी प्रथम उठा लेती हैं तब जानुवर्ग श्रीरामजी की माँ को गाली देकर हँसी करती हैं और जब श्रीरामजी प्रथम उठा लेते हैं तो किशोरीजी की फूफूवर्ग इन्हें भी वैसे ही हँसती हैं। वर की हो जूती चूनरी से छिपा देवता बनाकर उसे वर से पुजाने की चेष्टा करती हैं, उसमें भी तरह-तरह के हास विलास करती हैं। 'चालति न भुजबल्ली'''—श्रीजानकीजी सबके समक्ष में श्रीरामजी को प्रकट देखने में सकुचाती हैं, इसलिये अँगूठी के नगों में उनका प्रतिबिंब देखने लगती हैं, हाथ हटाने से दर्शन न होने पर विरह सतावेगा इस भय से वे भुजा नहीं हटातीं—यद्यपि कहा भी जाता है—इसपर इनकी भौजाईगण हँसी करती हैं। 'जोगीन्द्र' याज्ञवल्क्य आदि, 'सिद्ध'—कपिल आदि, 'मुनीश'—नारद आदि, 'देव'—इन्द्रादि। 'सहित बधूटिन्ह' सोभा मंगल ''—चारो दुलहों से जनवासा भरा हुआ था, आज चारो दुलहिनें भी आईं, तब वह उमंग चला, देवों का जय जय कहकर जाना, उमंग का प्रभाव है।

पुनि जेवनार भई बहु भाँती। पठये जनक बोलाइ बराती ॥१॥
परत पाँवड़े बसन अनूपा। सुतन्ह समेत गवन कियो भूपा ॥२॥
सादर सबके पाय पखारे। जथाजोग पीढ़न्ह बैठारे ॥३॥
धोये जनक अवधपति-चरना। सील सनेह जाइ नहिं बरना ॥४॥
बहुरि राम-पद-पंकज धोये। जे हर-हृदय-कमल महँ गोये ॥५॥
तीनिउ भाइ राम-सम जानी। धोये चरन जनक निज पानी ॥६॥
आसन उचित सबहि नृप दीन्हे। बोलि सूपकारी सब लीन्हे ॥७॥
सादर लगे परन पनवारे। कनक कील मनि पान सँवारे ॥८॥

शब्दार्थ—जेवनार = भोजन के पदार्थ। बहु भाँती = चारि भाँति और षट्‌रस के अनेक प्रकार। सूपकारी = रसोइया, सूप दाल को कहते हैं, भोजन के पदार्थों में दाल मुख्य है, इसलिये रसोइये को सूपकारी कहते हैं।

अर्थ—फिर बहुत प्रकार की रसोई बनी, जनकजी ने बरातियों को बुला भेजा ॥१॥ राजा दशरथ पुत्रों के साथ चले। अनुपम वस्त्रों के पाँवड़े पड़ते जाते हैं ॥२॥ (राजा जनक ने) आदर के साथ सबके चरण धोये और यथा योग्य पीढ़ों पर सबको बैठाया ॥३॥ उन्होंने राजा दशरथ के चरण धोये, उनका शील और स्नेह वर्णन नहीं किया जा सकता ॥४॥ फिर श्रीरामजी के चरण-कमलों को धोया, जिन्हें श्रीशिवजी अपने हृदय कमल में छिपा रखते हैं ॥५॥ तीनों भाइयों को श्रीरामजी के समान जानकर जनकजी ने अपने हाथों से उनके भी चरण धोये ॥६॥ *राजा ने सबको उचित आसन दिया। (फिर) सब रसोइयों* को बुला लिया ॥७॥ आदर से पत्तलें पड़ने लगीं, जो सोने की कीलों और मणियों के पत्तों से बनाई गई थीं ॥८॥

विशेष—(१) *'पठये जनक बोलाइ बराती'*—रसोई प्रातःकाल से प्रारंभ होकर दोपहर के प्रथम ही तैयार हो गई। इधर बराती भी नित्य कर्म से निवृत्त हुए तब जनकजी ने उनको बुला भेजा। भोजन के लिये बुलाने में बरातियों को प्रधान रक्खा, क्योंकि समधी दहेज पाने से वर दुलहिन पाने से और बराती उत्तम रीति से भोजन पाने प्रसन्न होते हैं।

(१) 'परत पाँवड़े बसन अनूपा'''—प्रथम कहा गया था—"देत पाँवड़े अरघ सुहाये।" (दो० ३११); अर्थात् वहाँ 'देत' और यहाँ 'परत' कहा गया है, क्योंकि वहाँ चौखट से मंडप तक चक्रवर्तीजी के लिये ही पाँवड़े देने थे। अतः, जनकजी ने अपने हाथों से दिये थे और यहाँ सब बराती भोजन के लिये पाटांबर आदि वस्त्र पहनकर पैदल चल रहे हैं, पाकशाला कुछ दूर है, पाँवड़े बहुत पड़ेंगे। अतः, सेवक लोगों के द्वारा पड़ रहे हैं, अतः, 'परत' कहा गया। राजा अकेले कहाँ तक देते? पुन. 'परत' का यह भी भाव है कि जो पाँवड़े पड़ते हैं वे फिर उठाकर दूसरी जगह नहीं बिछाये जाते, पड़े ही रहते हैं। यह भी भाव है कि पहले से ही यदि बिछे रहते तो पशु पक्षीगण बिगाड़ देते, अत. जैसे-जैसे बराती चलते हैं तुरत-तुरत पाँवड़े पड़ते जाते हैं। 'अनूपा' यथा—"बसन बिचित्र पाँवड़े परहीं। देखि धनद धन-मद परिहरहीं॥" (दो० ३०५)। 'भूपा'—राजा हैं, अतः इनके साथ पुत्रों के अतिरिक्त मंत्री, परिजन, साधु, ब्राह्मण आदि भी हैं। 'सादर सबके पाय पखारे'—'सादर'—सोने की चौकी पर मखमली गद्दे पड़े हैं, उनपर बिठाकर स्वर्ण-थाल में पद-प्रक्षालन कर अँगोछे से पोंछते हैं। यहाँ 'पखारे' शब्द से ब्राह्मणों के चरण धोये गये, क्योंकि 'पीढ़न बैठारे' में सादापन और सात्विकता है। आगे 'धोये' और 'आसन उचित' से क्षत्रियों के चरण धोना और विविध प्रकार के बहुमूल्य आसन आ जाते हैं। 'जथा जोग'—प्रथम मंडप की बैठक में कुछ क्रम कहे गये कि प्रथम वसिष्ठजी तब विश्वामित्रजी, फिर वामदेव आदि को उचित स्थल पर बिठाया।

(२) 'धोये जनक अवध'''—'पखारे' छोड़कर 'धोये' शब्द देकर यहाँ क्षत्रियों का प्रसंग अलग किया, और इनके चरण दूसरे थाल में धोये गये। 'अवधपति'—ये परम पवित्र चरण हैं, क्योंकि सर्व पापनाशिनीअयोध्या के पति हैं, यथा—"देखत पुरी अखिल अघ भागा।" (उ० दो० २८); इस महत्त्व पर चित्त दिये हुए चरण धोते हैं। 'सील सनेह'''—'शील' यह कि बराबर दृष्टि तक नहीं करते, यथा—"गुरु नृप भरत सभा अवलोकी। सकुचि राम फिरि अवनि बिलोकी॥ सील सराहि सभा सब सोची।" (अ० दो० ३१२) स्नेह के चिह्न प्रकट हैं।

(४) 'बहुरि राम ''हर हृदय-कमल'''—शिवजी कामारि हैं, उनका हृदय-कमल निर्विकार है, इन पवित्र चरणों ने भी वहीं रहना स्वीकार किया, शिवजी भी परम दुर्लभ मान कर इन्हें छिपा रखते हैं और कृपा करके अधिकारी को प्राप्त कराते हैं। 'आसन उचित'—ब्राह्मणों को 'जथा जोग पीढ़न' कहा था, वैसे क्षत्रियों को यहाँ कहा। इस तरह ब्राह्मणों की पंक्ति का अलग बैठना सूचित किया।

(५) 'सूपकारी सब'—जिससे सब तरह की वस्तुएँ परोसने में विलंब न हो। 'सादर लगे परन पनवारे'—धीरे से पत्तल डालते हैं कि शब्द न हो, सँभालकर फेरना 'सादर' है। यहाँ आदि मध्य और अंत में 'सादर' कहा गया है—'सादर सबके पाय पखारे।'—आदि, यहाँ मध्य, और आगे—'सादर सहित आचमन दीन्हा।'—अंत में है; अर्थात् बराबर एकरस आदर बना रहा। भोजन कराने में आदर ही मुख्य है। 'मनि पान' से यहाँ पन्ना मणि जानना चाहिये।

दोहा—सूपोदन सुरभी सरपि, सुंदर स्वाद पुनीत।
छन महँ सबके परसि गे, चतुर सुआर बिनीत॥३२८॥

पंच कवल करि जेवन लागे। गारि-गान सुनि अति अनुरागे॥१॥
भाँति अनेक परे पकवाने। सुधा-सरिस नहि जाहिं बखाने॥२॥
परसन लगे सुआर सुजाना। बिंजन बिबिध नाम को जाना॥३॥

शब्दार्थ—सूपोदन = दाल-भात। सुरभी = गाय, सुगंधित। सरपि = घी। सुआर = सूपकार = रसोइया। विनीत = विनययुक्त। पंच कवल = पाँच ग्रास अन्न जो स्मृति के अनुसार खाने के पूर्व कुत्ते, पतित, कोढ़ी, रोगी और कौए आदि के लिये अलग निकाल दिया जाता है, अग्रासन। भोजन के समय पंच प्राणों के उद्देश से भी पाँच कवल खाकर आचमन किया जाता है। जेवना = भोजन करना। बिंजन (व्यंजन) = पका हुआ भोजन।

अर्थ—चतुर और विनीत रसोइये सुन्दर स्वादिष्ट एवं पवित्र दाल, भात और गाय का सुगंधित बढ़िया घी क्षणमात्र में सबके आगे परस गये ॥३२८॥ पंच कवल (की विधि) करके सब खाने लगे, गालियों का गाना सुनकर अत्यंत अनुरक्त (प्रीति युक्त) हुए ॥१॥ अनेक प्रकार के अमृत के समान (स्वादिष्ट) पकवान पड़े (परोसे गये), वे बखाने नहीं जा सकते ॥२॥ चतुर रसोइये परसने लगे, अनेकों प्रकार के व्यंजन हैं, उनके नाम कौन जानता है ? ॥३॥

विशेष—'सूपोदन सुरभी सरपि···'—नाता मिलाने के लिये प्रथम दाल कही गई, फिर भात कहा गया, क्योंकि दोनों मिलाकर खाये जाते हैं और स्नेह-वृद्धि एवं तत्संबंधी कीर्ति-रूप सुगंध के लिये सुगंधित घी कहा गया। इस कच्ची रसोई के खाने से ही पक्का नाता माना जाता है। इस प्रथम दिन भात के ही रस्म का दिन था, यह भी जनाया। 'सुंदर स्वाद पुनीत'—जिस गाय को ब्याये हुए २० दिन हो गये हों और उसका बछड़ा भी जीवित हो, उसका घी पुनीत माना जाता है, वह देखने में सुंदर और खाने में स्वादिष्ट होता है। ये सब विशेषण 'सूपोदन' के साथ भी हैं। 'सूपोदन' भी देखने में सुन्दर, सुगंधित, स्वादिष्ट और पवित्र (शास्त्र से ग्राह्य) हैं, जैसे छिलके के साथ दाल देखने में सुन्दर नहीं होती और मसूर की दाल अपुनीत मानी जाती है, भुजिया चावल भी अपुनीत कहा जाता है और नवसूतिका एवं मृतवत्सा गाय का घी अपुनीत होता है। 'चतुर सुआर विनीत'—परसने में कहीं इधर-उधर न गिरे और न कम-बहुत पड़े। नम्रता-पूर्वक और शीघ्रता में परसा जाय, ये सब बातें सूचित कीं। 'सुधा सरिस'—अमृत की तरह स्वादिष्ट, मधुर और पौष्टिक बनाया।

चारि भाँति भोजन विधि गाई। एक एक विधि बरनि न जाई ॥४॥
छ रस रुचिर बिंजन बहु जाती। एक एक रस अगनित भाँती ॥५॥
जेंवत देहिं मधुर धुनि गारी। लै लै नाम पुरुष अरु नारी ॥६॥
समय सुहावनि गारि बिराजा। हँसत राउ सुनि सहित समाजा ॥७॥
येहि विधि सबही भोजन कीन्हा। आदरसहित आचमन दीन्हा ॥८॥

दोहा—देइ पान पूजे जनक, दशरथ सहित समाज।
जनवासहिं गवने मुदित, सकल-भूप सिरताज ॥३२९॥

शब्दार्थ—आचमन दीन्हा = हाथ-मुँह धोआये। सिरताज = शिरोमणि।

अर्थ—भोजन की विधि शास्त्रों में चार प्रकार की कही गई हैं, उनमें से एक-एक विधि का भी वर्णन नहीं हो सकता ॥४॥ छओ रसों के बहुत प्रकार के सुन्दर व्यंजन हैं, जिनमें एक-एक रस के अगणित प्रकार के पदार्थ हैं ॥५॥ भोजन करते समय पुरुषों और स्त्रियों के नाम ले-लेकर मधुर राग में गाली दे (गा-)

रही हैं ॥६॥ समय (के अनुसार) की गाली भी सुहावनी (रुचिकर) होने से सुशोभित है, उन्हें सुनकर राजा समाज के साथ हँसते हैं ॥७॥ इस प्रकार सभी ने भोजन किया, उन्हें आदर के साथ कुल्ली कराई गई ॥८॥ पान देकर राजा जनकजी ने समाज के साथ राजा दशरथ की पूजा की, सभी राजाओं के शिरताज श्रीचक्रवर्त्तीजी प्रसन्नता-पूर्वक जनवासे को चले ॥३२९॥

विशेष—(१) 'चारि भाँति..... छ रस रुचिर.......'—इन सबके अर्थ एवं भाव दो० ६८ में भी देखिये।

(२) 'जे यह देहि मधुर....... '—इसपर दो० ६६ छंद का अर्थ भी देखिये। प्रथम देवता-संबंधी मंगल गारी गाकर तब उसीके योग में श्रीमिथिला के पुरुषों के और योग्य नाते के अनुसार अवध की स्त्रियों से सम्बन्ध लगाकर गाली गाती हैं।

(३) 'हँसत राउ सुनि....... '—कहा जाता है कि स्त्रियाँ गाली गाते-गाते श्रीरामजी की छवि में मुग्ध होकर उल्टी गाली गा गईं—जनकजी के रनवास से अवधेश महाराज को लगाकर गाली गा गईं, इसपर सब हँस पड़े और चक्रवर्त्तीजी भी हँसे या गानेवाली स्त्रियाँ गाते-गाते रुक गईं, इसपर इधर हँस पड़े कि बस, इतनी ही जानती थीं ? अब चुक गईं, इत्यादि।

'देइ पान पूजे ..... '—पान देकर माला पहनाना, इत्र लगाना एवं चक्रवर्त्तीजी को भेंट चढ़ाना आदि पूजा शब्द से सब जना दिया। यथा—"अचइ पान सब काहू पाये। स्रग-सुगंध-भूषित छबि छाये॥" (दो० ३५४)।

नित नूतन मंगल पुर माहीं। निमिष सरिस दिन जामिनि जाहीं॥१॥
बड़े भोर भूपति-मनि जागे। जाचक गुनगन गावन लागे॥२॥
देखि कुअँर बर बधुन्ह समेता। किमि कहि जात मोद मन जेता॥३॥
प्रात-क्रिया करि गे गुरु पाहीं। महाप्रमोद प्रेम मन माहीं॥४॥
करि प्रनाम पूजा कर जोरी। बोले गिरा अमिअ जनु बोरी॥५॥
तुम्हरी कृपा सुनहु मुनिराजा। भयेउँ आजु मैं पूरनकाजा॥६॥
अब सब बिप्र बोलाइ गोसाईं। देहु धेनु सब भाँति बनाई॥७॥
सुनि गुरु करि महिपाल बड़ाई। पुनि पठये मुनिबृंद बोलाई॥८॥

दोहा—बामदेव अरु देवऋषि, बालमीकि जाबालि।
आये मुनिबर-निकर तब, कौसिकादि तपसालि॥३३०॥

शब्दार्थ—जामिनि (यामिनी) = रात। पूरनकाजा = पूर्णकाम, कृतकृत्य।

अर्थ—श्रीजनकपुर में नित्य नये मंगल होते हैं, दिन और रात पलक के समान बीतते जाते हैं ॥१॥ बड़े सवेरे राज-शिरोमणि दशरथजी जगे, याचक गुण-गाण गाने लगे ॥२॥ सुन्दर बहुओं के साथ सुन्दर कुमारों को देखकर जो सुख उनके मन में है, उसे कौन कह सकता है ? ॥३॥ प्रातःकाल की नित्य-क्रिया करके

गुरुजी के पास गये, मन में महान् आनंद और प्रेम है ॥४॥ प्रणाम और पूजा करके हाथ जोड़कर मानों अमृत में डुबाई हुई वाणी से बोले ॥५॥ हे मुनिराज ! सुनिये, आपकी कृपा से आज मैं पूर्णकाम हुआ ॥६॥ हे गोसाईं ! अब सब ब्राह्मणों को बुलाकर सब प्रकार से भूषित गायें दीजिये ॥७॥ यह सुनकर गुरुजी ने राजा की बड़ाई की और फिर ब्राह्मण-मंडली को बुला भेजा ॥८॥ वामदेव, देवर्षि नारद, वाल्मीकि, जाबालि और विश्वामित्र आदि तपस्वी श्रेष्ठ मुनियों के समूह आये ॥३३०॥

विशेष—'नित नूतन मंगल पुर माहीं'…—राजा के यहाँ की पहुनई कहकर कहते हैं कि वैसी ही नित्य नई पहुनाई पुरवासियों के यहाँ भी हुई, क्योंकि सभी राजा के प्रिय एवं तुल्य श्रीमान् हैं, यथा—"सूर सचिव सेनप बहुतेरे। नृप गृह सरिस सदन सब केरे॥" (दो० २१३)। 'बड़े भोर …' यथा—"पछिले पहर भूप नित जागा।" (अ० दो० ३७)। राजा की गुरु-भक्ति मन, वचन, कर्म से है—'प्रेम मन माहीं'—मन, 'प्रनाम करजोरी'—कर्म और 'बोले गिरा'…—वचन है। 'तुम्हरी कृपा'—क्योंकि गुरुजी के ही समझाने से विश्वामित्र के साथ पुत्रों को लगा दिया था। 'बेहु धेनु'—'धेनु' अर्थात् थोड़े दिनों की ब्याई गाय, यहाँ संख्या नहीं खोली, क्योंकि गुरुजी जानते हैं कि चार लाख गौ का संकल्प हो चुका है जो आगे—'चारि लच्छ बर'… पर खुलेगा। गोदान उत्तम ब्राह्मणों को देना चाहिये, कौन ब्राह्मण किस प्रकार की गाय के योग्य हैं, इसे गुरु ही जानते हैं, इसलिये उन्हें ही देने को कहा, तदनुसार 'गोसाईं' संबोधन भी ध्वनित कर रहा है कि गोदान में गायों के स्वामी आप ही हैं। 'सब बिप्र' से वेदपाठी एवं क्षमावान् आदि जानकर इन्हें सुपात्र भी बनाया। 'महिपाल बड़ाई'—'महिपाल' शब्द में बड़ाई के भाव भी आ गये कि आप जैसे पुण्यात्माओं से ही पृथिवी का पालन होता है। वसिष्ठजी धर्ममंत्री भी हैं, मंत्रियों को राजा की बड़ाई करके सम्मति देनी चाहिये, अतः बड़ाई करके बोले।

दंड प्रनाम सबहि नृप कीन्हे। पूजि सप्रेम बरासन दीन्हे ॥१॥
चारि लच्छ बर धेनु मँगाईं। काम-सुरभि-सम सील सुहाईं ॥२॥
सब बिधि सकल अलंकृत कीन्ही। मुदित महिप महिदेवन्ह दीन्ही ॥३॥
करत बिनय बहु बिधि नरनाहू। लहेउँ आजु जग जीवन-लाहू ॥४॥
पाइ असीस महीस अनंदा। लिये बोलि पुनि जाचक-बृंदा ॥५॥
कनक बसन मनि हय गय स्यंदन। दिये बूझि रुचि रबि-कुल-नंदन ॥६॥
चले पढ़त गावत गुन-गाथा। जय जय जय दिनकर-कुल नाथा ॥७॥
येहि बिधि राम-बिवाह-उछाहू। सकइ न बरनि सहसमुख जाहू ॥८॥

दोहा—बार बार कौसिक चरन, सीस नाइ कह राउ।
यह सब सुख मुनिराज तव, कृपा-कटाच्छ-प्रभाउ ॥३३१॥

शब्दार्थ—समसील=तुल्य स्वभाव। सब बिधि अलंकृत=सींग सोने से, खुर चाँदी से और पीठ ताँबे से मढ़ाई, काँसे की दोहनी, रेशमी झूलें पड़ी हुई। नंदन=आनंद देनेवाले।

अर्थ—राजा ने सभी को दण्डवत प्रणाम किया और प्रेम के साथ पूजा करके उनको बैठने के लिये उत्तम आसन दिया ॥१॥ चार लाख उत्तम गायें मँगाईं, जो कामधेनु के समान सुन्दर स्वभाववाली थीं ॥२॥ सबको सब प्रकार भूषणों से सजाया और प्रसन्नता पूर्वक राजा ने ब्राह्मणों को दिया ॥३॥ राजा बहुत प्रकार से विनती करते हैं कि जगत् में आज ही मैंने जीवन का लाभ पाया ॥४॥ आशिष पाकर राजा आनन्दित हुए, फिर उन्होंने याचकों को बुलवा लिया ॥५॥ उनसे बूझकर और रुचि जानकर सोना, वस्त्र, मणि, घोड़ा, हाथी और रथ सूर्यकुल नन्दन श्रीदशरथजी ने दिये ॥६॥ वे गुणगाथ पढ़ते और गाते हुए चले, सूर्यकुलनाथ की जय हो, जय हो, जय हो, ऐसा कहते जाते हैं ॥७॥ इस प्रकार श्रीरामजी के विवाह का उत्सव हुआ, जिसके हजार मुख हैं, वह भी उसका वर्णन नहीं कर सकता ॥८॥ विश्वामित्रजी के चरणों में बार बार शिर नवाकर राजा कहते हैं कि हे मुनिराज ! यह सब सुख आपकी कृपा-कटाक्ष के प्रभाव से हुआ ॥३३१॥

विशेष—(१) 'दंड प्रनाम सबहिं ···'—अभिमान छोड़कर दण्डाकार पड़ गये। 'मुदित ·· दीन्हीं'—क्योंकि दान हर्ष के साथ ही देना चाहिये। यथा—"रामहिं सुमिरत रन भिरत, देत परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तनु, ते जग जीवत जाय ॥" (दोहावली ४२)। 'मुदित महिप महिदेवन्ह ··'—राजा की प्रसन्नता पृथ्वी के पालने से होती है, वह कार्य पुण्य से होता है और ब्राह्मण पूजा ही पुण्य है। 'करत बिनय ··'—क्योंकि दान देकर विनय करना विधि है, इससे दान आदर पूर्वक होता है। चार कन्याएँ दान में ली गई हैं, उन एक-एक के प्रति एक एक लाख गायों के दान किये गये। दान तो कुमारों ने लिये हैं, पर प्रतिग्रह के प्रायश्चित रूप दान राजा ने किया, क्योंकि मुनि जानते हैं कि श्रीरामजी ब्रह्म हैं, श्रीसीताजी उन्हीं की शक्ति हैं, ऐसे ही उनके अंश भूत भाइयों की भी व्यवस्था है, उनकी शक्तियाँ उन्हें समर्पित हुई हैं—"रामहि सिय समरपी" (दो० ३२४), कहा भी गया है। राजा दशरथ की माधुर्य दृष्टि है, अतः दान उन्हीं से दिलवाया। दान लेने के अधिकारी ब्राह्मण हैं, उन्हें देकर तब याचकों को बुलाया।

(२) 'कनक बसन मनि ···'—'कनक' और 'मनि' के बीच मे 'बसन' शब्द देकर वस्त्रों को भी बहुमूल्य सूचित किया। 'रबि कुल नंदन'—इस कुल के लोग उदार और दान देने में ही आनद मानते हैं, यथा—"मगन लहहिं न जिन्ह के नाहीं।" (दो० ३३१)।

(३) 'चले पढ़त गावत ·····'—सूत आदि श्लोकों मे गुण गण पढ़ते और भाट कत्थक आदि गुण गाते हुए चले। ब्राह्मणों का आशीर्वाद देना ऊपर कहा गया, पर चलना नहीं कहा गया। यदि यहाँ उनका भी चलना लें तो उनका आशीर्वाद आदि के श्लोक पढ़ना भी ले सकते हैं। 'बार बार कौसिक चरन··· ··'—बार-बार प्रणाम से कृतज्ञता और प्रेम की अधिकता प्रकट हुई, यथा—भये परस्पर प्रेम बस, पुनि पुनि नावहिं सीस।" दो० १४१), "सोपहिं होइ न प्रति उपकारा। बदौं तव पद बारहिं बारा।" (उ० दो० १२९)।

जनक सनेह सील करतूती। नृप सब भाँति सराह बिभूती ॥१॥
दिन उठि बिदा अवधपति माँगा। राखहिं जनक सहित अनुरागा ॥२॥
नित नूतन आदर अधिकाई। दिन प्रति सहस भाँति पहुनाई ॥३॥
नित नव नगर अनंद उछाहू। दसरथ गवन सोहाइ न काहू ॥४॥

बहुत दिवस बीते एहि भाँती। जनु सनेह-रजु बँधे बराती ॥५॥
कौसिक सतानंद तब जाई। कहा बिदेह नृपहि समुझाई ॥६॥
अब दसरथ कहँ आयसु देहू। यद्यपि छाँड़ि न सकहु सनेहू ॥७॥
भलेहि नाथ कहि सचिव बोलाये। कहि जय जीव सीस तिन्ह नाये ॥८॥

दोहा—अवधनाथ चाहत चलन, भीतर करहु जनाउ।
भये प्रेमबस सचिव सुनि, बिप्र सभासद राउ ॥३३२॥

शब्दार्थ—विभूति = बहुतायत (शब्द-सागर)। दिनप्रति = प्रतिदिन। जय जीव = जय हो और जियो, यह अभिवादन है।

अर्थ—जनकजी के स्नेह, शील और करनी की सब प्रकार बहुतायत (अधिकता) की राजा सराहना करते हैं ॥१॥ प्रतिदिन उठकर अवध के महाराज बिदाई की आज्ञा मानते हैं और जनकजी उन्हें अनुराग-पूर्वक रोक रखते हैं ॥२॥ नित्य नया आदर बढ़ता जाता है, प्रत्येक दिन सहस्रों प्रकार की पहुनाई होती है ॥३॥ नगर में नित्य-नया आनंद-उत्सव रहता है, राजा दशरथ का जाना तो किसी को भी नहीं सुहाता ॥४॥ इस प्रकार बहुत दिन बीत गये, मानों बराती स्नेह-रूपी रस्सी से बँधे हुए हैं ॥५॥ तब विश्वामित्रजी और शतानंदजी ने जाकर राजा विदेह को समझाकर कहा ॥६॥ कि अब दशरथजी को आज्ञा दीजिये, यद्यपि स्नेह (के कारण आप) छोड़ नहीं सकते हो ॥७॥ राजा जनक ने—'हे नाथ! बहुत अच्छा' ऐसा कहकर मंत्रियों को बुलाया, 'जय जीव'—कहकर उन लोगों ने शिर नवाया ॥८॥ (जनकजी ने कहा) अवध नाथ चलना चाहते हैं, भीतर सूचना दो, यह सुनकर मंत्री ब्राह्मण, सभासद और राजा (स्वयं भी) प्रेम के वश हो गये ॥३३२॥

विशेष—(१) 'बिदा अवधपति माँगा'—अवध की रक्षा पर चित्त है, अवध आपको प्रिय है, उसका स्मरण कर बिदा माँगते हैं। 'सुहाइ न काहू'—प्रथम कहा गया—'देइ पान पूजे जनक' पुनः—'नित नूतन मंगल पुर माहीं।' फिर—'राखहिं जनक सहित अनुरागा।' पुनः—'नित नव नगर अनंद उछाहू।' कहा गया है; अर्थात् राजा-प्रजा किसी को भी अवधेश का जाना नहीं सुहाता। 'बहुत दिवस बीते येहि भाँती।' लग्न से—सवा महीना पूर्व ही बरात आई थी, वहाँ भी कहा गया—"गये बीति कछु दिन येहि भाँती। (दो० ३११); वहाँ 'कछु दिन' ही कहा था, क्योंकि तब लग्न की चाह थी और अब जाना चाहते हैं, इससे इधर के दो-तीन महीने 'बहुत दिवस' कहे जाते हैं, क्योंकि अब जाने पर चित्त है। 'जनु सनेह रजु '—स्नेह बड़ा दृढ़बंधन है, यथा—"बंधनानि खलु सन्ति बहूनि प्रेम-रज्जु दृढ़-बंधनमाहुः। दारु-भेद-निपुणोऽपि षडंघ्रिर्निष्क्रियो भवति पंकज-कोशे॥" अर्थात् भ्रमर यद्यपि काष्ठ छेदने में निपुण है, फिर भी जब कमल में रहा हुआ रात में बंद होने पर बँध जाता है तब कमल की कोमल पँखुरियों को भी नहीं काट पाता, क्योंकि कमल में स्नेह रहता है। अतः, स्नेह दृढ़बंधन है। यही दशा बरातियों की है, राजा जनक के स्नेह में बँध गये हैं। 'कौसिक सतानंद······'—विश्वामित्रजी ही श्रीराम-लक्ष्मण को लाये और बरात के भी बुलाने में मुख्य कारण हैं। अतः, इनका जनकजी पर दबाव है शतानंदजी को भी साथ लिया, क्योंकि वे उनके कुल-गुरु हैं, उनकी भी आज्ञा राजा को माननी होगी। अतः, ये ही आज्ञा दिलाने के लिये गये।

(२) 'कहा बिदेह नृपहिं···'—भाव जैसे आप देह-सुधि भूले रहते हैं, वैसे विदा करना एवं अवध-रक्षा का प्रबंध भी भूल गये। अब दोनों जगह के राज्य-प्रबंध की भी हानि है, अतएव विदा करने ही से बनेगा। फिर जब आप बुलावेंगे तो वे फिर भी आवेंगे, इत्यादि समझाकर कहा। 'भीतर करहु जनाउ'—क्योंकि भीतर विदाई की तैयारी की जायगी। 'भये प्रेम बस' अर्थात् प्रेम के कारण विह्वल हो गये, यथा—"सत्य गवन सुनि सब बिलखाने।" आगे कहा है।

पुरबासी सुनि चलिहि बराता। बूझत बिकल परसपर बाता ॥१॥
सत्य गवन सुनि सब बिलखाने। मनहुँ साँझ सरसिज सकुचाने ॥२॥
जहँ जहँ आवत बसे बराती। तहँ तहँ सिद्ध चला बहु भाँती ॥३॥
बिबिधि भाँति मेवा पकवाना। भोजनसाज न जाइ बखाना ॥४॥
भरि भरि बसह अपार कहारा। पठये जनक अनेक सुआरा ॥५॥
तुरग लाख रथ सहस पचीसा। सकल सँवारे नख अरु सीसा ॥६॥
मत्त सहस दस सिंधुर साजे। जिन्हहिं देखि दिसिकुंजर लाजे ॥७॥
कनकबसन मनि भरिभरि जाना। महिषी धेनु बस्तु बिधि नाना ॥८॥

दोहा—दाइज अमित न सकिय कहि, दीन्ह बिदेह बहोरि।
जो अवलोकत लोकपति, लोक-संपदा थोरि ॥३३३॥

सब समाज येहि भाँति बनाई। जनक अवधपुर दीन्ह पठाई ॥१॥

शब्दार्थ—बिलखाने = व्याकुल हुए, दुखी हुए। सिद्ध = सीधा, आटा-दाल आदि कच्चा अन्न।

अर्थ—यह सुनकर कि बरात चलेगी, पुरवासीगण विकल हो गये, एक दूसरे से पूछने लगे ॥१॥ 'सत्य ही जायँगे' यह सुनकर सब दुखी होकर उदास हो गये, मानों संध्याकाल में कमल संकुचित हो गये ॥२॥ आते समय बराती जहाँ-जहाँ निवास किये हुए थे, वहाँ-वहाँ के लिये बहुत प्रकार का सीधा भेजा गया ॥३॥ तरह-तरह के मेवे, पक्वान्न और भोजन की सामग्री जो कही नहीं जा सकती ॥४॥ अगणित बैलों और कहारों पर भर-भरकर पुनः राजा जनक ने अनेकों रसोइयों को भेजा ॥५॥ एक लाख घोड़े, पचीस हजार रथ, सब नख से शिखा तक सजाये हुए ॥६॥ दस हज़ार मतवाले हाथी साजे हुए, जिन्हें देखकर दिग्गज लज्जित होते थे ॥७॥ सोना, वस्त्र और मणि गाड़ियों एवं रथों में भर-भरकर, भैंसें, गायें और नाना प्रकार की चीजें ॥८॥ (इस तरह के) अमित दायज (दहेज) राजा जनक ने फिर से दिये, जो कहे नहीं जा सकते, जिन्हें देखकर लोकपालों के लोकों की सम्पदा थोड़ी जान पड़ती थी ॥३३३॥ राजा जनक ने इस प्रकार ठीक करके सब सामग्री को अवधपुर भेज दिया ॥१॥

विशेष—(१) 'सत्य गवन···'—राजा दशरथ का जाना तो नित्य ही सुनते थे, पर फिर सुन जाता था कि नहीं जाने पाये, पर आज का जाना सत्य ही निकला। 'बिलखाने'—नित्य नवीन पहुनाई

देख-देखकर प्रफुल्लित रहते थे, अब संध्या के कमल की भाँति संकुचित हो गये, उदासीनता आ गई। कमल को पुनः प्रातःकाल होने पर प्रफुल्ल होने की आशा रहती है, वैसे इन्हें भी नाते के सम्बन्ध से कुमारों के आने और दर्शनों से प्रफुल्लता की आशा है।

(२) 'तहँ-तहँ सिद्ध चला ···'—क्योंकि बनाया हुआ भोजन कई दिनों में बिगड़ जाता है। साथ में रसोइयों को भी भेजा, जिससे सर्वत्र ताजा भोजन मिले। सब मंजिलों पर एक साथ ही भेज दिया गया, क्योंकि बराती जाने में आतुर हैं, न जानें, किस-किस मंजिल पर जाकर ठहरें।

(३) 'दाइज अमित···बहोरि···'—'बहोरि' अर्थात् जितना प्रथम दिया था उतना ही फिर भी दिया, यथा—"कहि न जाइ कछु दाइज भूरी। ··लोक पाल अवलोकि सिहाने।" (दो० ३२५); वैसे ही यहाँ भी—"दाइज अमित न ··लोक पति लोक संपदा थोरि।" कहा गया है। 'अवधपुर दीन्ह पठाई।'—(क) यदि यहाँ देते तो चक्रवर्त्तीजी सब यहीं लुटा देते, जैसे पहले किया था—"दीन्ह जाच कन्ह ··" (दो० ३२५)। अतः, सीधे अवधपुर भेज दिया कि वहाँ के लोग भी जो बरात में नहीं आये हैं देखें कि दहेज में क्या मिला ? (ग) देकर फिर घर तक पहुँचा देना आदर दान है।

चलिहि बरात सुनत सब रानी। बिकल मीनगन जनु लघु पानी ॥२॥
पुनि पुनि सीय गोद करि लेहीं। देइ असीस सिखावन देहीं ॥३॥
होयेहु संतत पियहि पियारी। चिर अहिवात असीस हमारी ॥४॥
सास - ससुर - गुरु - सेवा करेहू। पति-रुख लखि आयसु अनुसरेहू ॥५॥
अति - सनेह - बस सखी सयानी। नारिधरम सिखवहिं मृदु बानी ॥६॥
सादर सकल कुअँरि समुझाई। रानिन्ह बार-बार उर लाई ॥७॥
बहुरि बहुरि भेटहिं महतारी। कहहिं बिरंचि रची कत नारी ॥८॥

दोहा—तेहि अवसर भाइन्ह सहित, राम भानु-कुल-केतु।
चले जनक - मंदिर मुदित, बिदा करावन हेतु ॥३३४॥

शब्दार्थ—चिर=दीर्घकाल। अहिवात=सौभाग्य। नारिधरम, यथा—"नारि धर्म पति देव न दूजा।" (दो० १०१); नारि धर्म शिव पुराण के पार्वतीजी के विदाई-प्रसंग में विस्तार से कहा गया है तथा आ० दो० ५ भी देखिये।

अर्थ—'बरात चलेगी' यह सुनते ही सब रानियाँ विकल हो गईं मानों मछलियाँ थोड़े जल में छटपटा रही हों ॥२॥ बार-बार श्रीजानकीजी को गोद में लेती हैं और आशिष देकर शिक्षा देती हैं ॥३॥ सदा पति को प्यारी हो, दीर्घ काल तक अहिवात हो, यह हमारी आशिष है ॥४॥ सास, ससुर और गुरु वर्ग की सेवा करना और पति का रुख देखकर उनकी आज्ञा के अनुसार चलना ॥५॥ सयानी सखियाँ अत्यन्त स्नेह-वश कोमल वाणी से स्त्री-धर्म सिखाती हैं ॥६॥ रानियों ने आदर के साथ सब कुमारियों को (नारि-धर्म) समझाकर बार - बार हृदय से लगाया ॥७॥ माताएँ फिर-फिर भेंटती और कहती हैं कि विधाता ने स्त्री को क्यों बनाया ? ॥८॥ उसी समय सूर्य-कुल के ध्वजा रूप श्रीरामजी भाइयों के साथ श्रीजनकजी के मंदिर में प्रसन्नता पूर्वक विदा कराने के लिये चले ॥३३४॥

विशेष—(१) 'बिकल मीन गन "'''—पुरजनों को कमल कहा था, रानियों को मीन कहा, क्योंकि सूर्य और कमल की अपेक्षा जल और मीन में प्रेम की अधिकता है, वैसे ही रानियों का प्रेम पुरजनों से अधिक है। 'लघु पानी'—अब और दर्शन विदाई पर्यन्त ही रह गये हैं।

(२) 'होयेहु संतत''''' चिर अहिवात'—'होयेहु संतत''' '' यह 'सिखावन' (शिक्षा) है और—'चिर अहिवात '' ' यह आशिष है। पूर्वार्द्ध साधन और उत्तरार्द्ध फल है, क्योंकि पतिव्रता होने से उसका पति किसी से मर नहीं सकता। पति का जीवन ही स्त्री का जीवन है—"जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिय नाथ पुरुष बिनु नारी ॥" (अ० दो० ६४)। अतः, कुँअरि को 'चिर' नहीं कहा।

(३) 'पति • रुख लखि आयसु ''''' बहुत-सी आज्ञाएँ ऐसी भी होती हैं, जिनका लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ से भिन्न होता है। अतः, पति का अभिप्राय-सहित वचन मानना। सब धर्म पति के रुख रखने में हैं। यह भी भाव है कि कहना न पड़े, रुख-मात्र से समझकर व्यवहार करना।

(४) 'अति-सनेह-बस''' ''—यद्यपि श्रीसीताजी सब जानती हैं, तथापि अत्यन्त स्नेह का स्वभाव ही है कि वह सिखाने में प्रवृत्त कर देता है। 'सयानी'—अवस्था एवं बुद्धि में श्रेष्ठ।

(५) 'सादर सकल कुअँरि'''रानिन्ह ''—'सकल कुअँरि' को बीच में कहा गया; अर्थात् सबों को प्रथम सखियों ने समझाया, फिर रानियों ने भी। 'रची कत नारी'—लड़कियाँ पराधीन रहती हैं, इस नियम से इन बालिकाओं को विदा करना पड़ता है, यथा—"कत बिधि सृजी नारि जगमाहीं। पराधीन सपनेहु सुख नाहीं ॥" (दो० १०१); या हमलोग नारि होने से पराधीन हैं, पुरुष होतीं तो जाकर देख भी आया करतीं, पर हमें तो विरह-दुःख सहना ही पड़ेगा।

'चले जनक-मंदिर मुदित''' '—यहाँ अवध जाने की उत्सुकता में मुदित हैं, अन्यथा अपवाद होता कि ससुराल प्रिय हो गई, छोड़ी नहीं जाती, यह लोक-दृष्टि का निर्वाह है।

चारिउ भाइ सुभाय सुहाये। नगर-नारि-नर देखन धाये ॥१॥
कोउ कह चलन चहतहहिं आजू। कीन्ह बिदेह बिदा कर साजू ॥२॥
लेहु नयन भरि रूप निहारी। प्रिय पाहुने भूप-सुत चारी ॥३॥
को जानइ केहि सुकृत सयानी। नयन अतिथि कीन्हे बिधि आनी ॥४॥
मरनसील जिमि पाव पियूखा। सुरतरु लहइ जनम कर भूखा ॥५॥
पाव नारकी हरिपद जैसे। इन्ह कर दरसन हम कहँ तैसे ॥६॥
निरखि राम-सोभा उर धरहू। निज मन-फनि-मूरति-मनि करहू ॥७॥
येहि बिधि सबहि नयन फल देता। गये कुअँर सब राजनिकेता ॥८॥

दोहा—रूपसिंधु सब बंधु लखि, हरषि उठी रनिवास।
करहिं निछावरि आरती, महा मुदित मन सास ॥३३५॥

शब्दार्थ—मरनसील = मरणधर्मा, मरनेवाला। नारकी = नरक में रहनेवाला या नरक के योग्य पापी।

अर्थ—स्वाभाविक सुन्दर चारों भाइयों के देखने के लिये नगर के स्त्री-पुरुष दौड़ पड़े ॥१॥ कोई

कहता है कि आज ही जाना चाहते हैं, विदेहजी ने विदा का सामान कर दिया है ॥२॥ प्यारे प्रिय पाहुन राजकुमारों के रूपों को आँखें भरकर देख लो ॥३॥ हे सयानी ! कौन जानता है कि किस पुण्य से विधाता ने इनको यहाँ लाकर हमारे नेत्रों के पाहुन बनाया है ॥ ४ ॥ जैसे मरनेवाला अमृत पावे जन्म का भूखा कल्पवृक्ष पावे और नरक में रहनेवाला जैसे हरिपद (भगवद्धाम) पा जाय—वैसे ही इनके दर्शन हमारे लिये हैं ॥५-६॥ श्रीरामजी की शोभा को देखकर हृदय में धर लो, अपने मन को सर्प और इनकी मूर्त्ति को मणि कर लो ॥७॥ इस तरह सबको नेत्रों का फल देते हुए सब राजकुमार राजमहल में गये ॥८॥ रूप के सागर सब भाइयों को देखकर रनिवास प्रसन्न हो उठा, सासें अत्यन्त आनंदित मन से न्योछावर करने और आरती उतारने लगीं ॥३३४॥

विशेष—(१) 'देखन धाये' यथा—"धाये धाम काम सब त्यागी।" (दो॰ २११)।

'कीन्ह बिदेह बिदा कर साजू'—कोई देही भला ऐसे पाहुनों को कैसे विदा करेगा ? जिसे देह ही में ममता नहीं है, उसे देह-सम्बन्धी नातों में कम प्रीति दृढ़ हो सकती है—यह व्यंग्य है।

(२) 'को जानै केहि सुकृत···'—इनके दर्शन सुकृत के फल हैं, यथा—"सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम-सिय दरसन पावा॥" (अ॰ दो॰ १०६)। सुकृत की व्यवस्था ब्रह्मा ही जानते हैं, यथा—"कठिन करम गति जान बिधाता।" (अ॰ दो॰ २८१); इसीसे कहा कि—'कीन्हे बिधि आनी' 'अतिथि'—इनके दर्शन अचानक प्राप्त हो गये।

(३) 'मरनसील जिमि पाव ···'—हमलोग मानस-रोग से मरनेवाले थे, इनके दर्शनों से अमृतवत् प्रेमाभक्ति प्राप्त हुई, जिससे अब पुनर्जन्म रूप मृत्यु से बचेंगे। यथा—"सुधा समुद्र समीप बिहाई।" (दो॰ २४५); "राम भगत अब अमिय अघाहू।" (अ॰ दो॰ २०८)।

'सुरतरु लहइ जनम···'—जब किसी से धनुष नहीं टूटा तब इन्हें उसकी भूख थी कि कुरूप से भी टूटता• तो उस कुअन्न से भी भूख मिट जाती, श्रीरामजी से टूटा तो मानों कल्पतरु द्वारा सुअन्न से भूख मिटी, परम सुन्दर चार विवाह हुए और सभी के सभी प्रकार के मनोरथ पूरे हुए, इन्हीं के विषय में इन लोगों ने कहा भी था—"जौं बिधि बस अस बनइ सँजोगू। तौ कृतकृत्य होहिं सब लोगू॥" (दो॰ २२२)। 'पाव नारका हरिपद···'—अभी तक हमलोग सांसारिक नातों में आसक्त रहने से नरक के पात्र थे, अब इनके दर्शनों से इनमें दृढ़ प्रीति हुई और सांसारिक आसक्ति छूट गई, यथा—"निरखि राम सोभा उर धरहू। निज मन फनि मूरति मनि करहू॥" आगे कहते हैं। इससे हरिपद की प्राप्ति होगी, यथा—"मद्भक्ता यान्ति मामपि।" (गीता ७।२३)।

(४) 'निरखि राम सोभा उर धरहू। निज मन···'पहले दर्शन कहकर यहाँ हृदय में धरने को कहा, फिर इनपर ध्यान रहना कहते हैं कि जैसे सर्प मणि के प्रकाश में सुखी रहता है और उसके बिना व्याकुल-बिहाल होकर जीता है, यथा—"मनि बिना फनि जिये ब्याकुल बिहाल रे।" (वि॰ ६७); वैसे ही हमलोग इनके दर्शन रूप प्रकाश में सुखी और वियोग में प्रेम से व्याकुल बिहाल होकर जीवन व्यतीत करें; अर्थात् क्षण-भर भी इनका विस्मरण न हो।

(५) 'रूपसिंधु सब बंधु···'—प्रथम रानियों को कहा गया था—"बिकल मीन गन जनु लघु पानी।" (दो॰ ३३३), यहाँ 'रूपसिंधु' पाकर प्रसन्न हो उठीं। 'हरषि उठीं'—हर्षित हुईं, यथा—"सकल सभा सुनि लै उठी।" (वि॰ २०६)। 'महा मुदित मन' होने ही से सँभाल न रही, इससे प्रथम ही निछावर करके तब आरती की, यह उल्टा कर गईं। आरती करके निछावर की जाती है। यथा—"करहिं आरती पुर नर-नारी। देहिं निछावरि बित्त बिसारी॥" (दो॰ ३४९)। 'रूपसिंधु यथा—"शील सुधा के अगार,

सुखमा के पारावार, पावत न पैरि पार पैरि पैरि थाके हैं।" (गी० वा० ६२); इस अगाध शोभा सिंधु में मानों हर्षित हुईं। यथा—"सुखी मीन जे नीर अगाधा।" (कि० दो० १६)। ऊपर इन्हें मीन कहा गया है।

देखि राम-छबि अति अनुरागीं। प्रेम-बिबस पुनि-पुनि पद लागीं ॥१॥
रही न लाज प्रीति उर छाई। सहज सनेह बरनि किमि जाई ॥२॥
भाइन्ह सहित उबटि अन्हवाये। छरस असन अति हेतु जेंवाये ॥३॥
बोले राम सुअवसरु जानी। सील सनेह-सकुचमय बानी ॥४॥
राउ अवधपुर चहत सिधाये। बिदा होन हम इहाँ पठाये ॥५॥
मातु मुदित मन आयसु देहू। बालक जानि करब नित नेहू ॥६॥
सुनत बचन बिलखेउ रनिवासू। बोलि न सकहिं प्रेम-बस सासू ॥७॥
हृदय लगाइ कुअँरि सब लीन्हीं। पतिन्ह सौंपि बिनती अति कीन्हीं ॥८॥

छंद—करि बिनय सिय रामहि समरपी जोरि कर पुनि पुनि कहै।
बलि जाउँ तात सुजान तुम कहँ बिदित गति सबकी अहै ॥
परिवार पुरजन मोहि राजहि प्रानप्रिय सिय जानबी।
तुलसी सुसील सनेह लखि निज किंकरी करि मानबी ॥

सो०—तुम्ह परिपूरन काम, जानसिरोमनि भाव-प्रिय।
जन-गुन-गाहक राम, दोष-दलन करुनायतन ॥३३६॥

अस कहि रही चरन गहि रानी। प्रेमपंक जनु गिरा समानी ॥१॥

अर्थ—श्रीरामजी की छवि देखकर अत्यन्त अनुरक्त हो गईं, प्रेम के विशेष वश होने से बार-बार चरणों में लगीं ॥१॥ लज्जा न रह गई, (क्योंकि) हृदय में प्रीति छा गई, वह स्वाभाविक स्नेह कैसे कहा जा सकता है? ॥२॥ इन्होंने भाइयों के साथ श्रीरामजी को उबटन लगाकर स्नान कराया और अत्यन्त प्रीति-पूर्वक षट्रस भोजन कराया ॥३॥ सुन्दर अवसर जानकर श्रीरामजी शील, स्नेह और संकोच के साथ वचन बोले ॥४॥ "राजा अवधपुर को चलना चाहते हैं, विदा होने के लिये हम सबको यहाँ भेजा है ॥५॥ हे माता! प्रसन्न मन से आज्ञा दीजिये, अपना बालक जानकर सदा स्नेह रखियेगा ॥६॥" इन वचनों को सुनकर रनवास दुःखी हुआ, सासें प्रेम-वश बोल नहीं सकतीं ॥७॥ इन्होंने सब कुमारियों को छाती से लगा लिया और पतियों को सौंपकर अत्यंत विनती की ॥८॥ विनती करके श्रीसीताजी को श्रीरामजी के हाथों समर्पित किया, हाथ जोड़कर फिर-फिर कहती हैं—हे तात! हे सुजान! मैं बलिहार जाती हूँ, तुम्हें सबकी

गति मालूम है। परिवार को, पुरजनों को, मुझको और राजा को सीता प्राणों से भी प्यारी जानो। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि इसकी सुशीलता और स्नेह को देखकर अपनी दासी करके मानना॥ हे श्रीरामजी! तुम सब प्रकार से पूर्णकाम हो, ज्ञानियों में शिरोमणि हो, तुम भाव-प्रिय हो, जनों (भक्तों) के गुण-ग्रहण करनेवाले, दोषों के नाश करनेवाले और करुणा के स्थान हो॥३३६॥ ऐसा कहकर रानी चरणों को पकड़कर रह गईं, मानों प्रेमरूपी कीचड़ में वाणी समा (फँस) गई हो॥१॥

विशेष—(१) 'रही न लाज प्रीति···'—ऊपर प्रेम के विवश होने पर दामाद के पैरों में लगना कहा गया, उसीका समाधान करते हैं कि सास को यह उचित नहीं है, पर क्या करें, प्रेम की व्याकुली में लज्जा नहीं रह जाती, क्योंकि प्रीति नदीरूपा है, उसमें लज्जा बह जाती है, यथा—"प्रभु पद प्रीति सरित सो बही।" (सुं० दो० ४८); "सोक बिकल दोउ राज समाजा। रहा न ज्ञान न धीरज लाजा (अ० दो० २७५)

(२) बोले राम सुअवसर जानी'—सासें जब उबटन, स्नान एवं भोजन करा चुकीं और सावधान होकर बैठीं, तब विदा की बात चलाई, यही सुन्दर अवसर है।

(३) 'सील सनेह सकुच मय बानी' यथा—'राउ अवधपुर ··' यह सीलमय वाणी है, क्योंकि पिता की ओट से विदा की बात कही। 'बिदा होन हम ··' यह सकुचमय है, क्योंकि यह नहीं कहा कि हमलोग विदा होने आये हैं और 'मातु मुदित ··' यह अर्द्धाली स्नेहमय वाणी की है। विदाई की बातों पर सासों में उदासीनता देखकर 'मुदित मन' से आयसु देना कहा।

(४) 'करि बिनय सिय···'—ऊपर चारो भाइयों से विनती करना कहा गया, आगे उसकी विशेष व्यवस्था श्रीरामजी से ही कहती हैं, क्योंकि ये सबमें बड़े हैं, फिर इनके ही उत्तर में सबके उत्तर आ जायँगे। 'सुसील सनेह लखि···'—भाव यह कि इसका शील और स्नेह तो ऐसा है कि आप इसे अत्यंत प्रियतमा मानेंगे। श्रीसीताजी के इन दो गुणों को ऐसा ही गिरिजाजी ने भी कहा है—"करुना निधान सुजानु सील-सनेह जानत रावरो।" (दो० २३६)। वा रानी अपने विषय के शील स्नेह को कह रही हैं कि हमारी और हमारे स्नेह की ओर देखकर···वा, आप अपने शील-स्नेह को देखकर इसके दोष क्षमा करके इसपर स्नेह रक्खोगे। 'किंकरी करि मानबी' दासी करके मानने को कहती हैं, क्योंकि श्रीमुख वचन है—"मोरे अधिक दास पर प्रीती।" (उ० दो० १५)।

(५) 'तुम्ह परिपूरन काम···'—भाव यह कि तुम कुछ हमारे ज्ञान एवं सीता के गुण आदि से प्रसन्न हो—यह बात नहीं है, क्योंकि तुम पूर्णकाम हो, हमारे ज्ञान से भी प्रसन्न नहीं हो, क्योंकि तुम ज्ञानियों में शिरोमणि हो मैं केवल इसी बल पर कहती हूँ कि आप भाव-प्रिय हो, अतः हमारे सद्भाव को ग्रहण करोगे और अपने जनों के गुणों को ग्रहण करते हो, अतः सीता के शील-स्नेह आदि गुणों को ग्रहण करोगे और उसके दोषों को क्षमा करते हुए उसपर करुणा रक्खोगे यथा—"देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुण साधु समाज बखाने॥" (अ० दो० २९८); "जन गुन अलप गिनत सुमेरु करि अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन॥ (वि० २०६)।

(६) प्रेम पंक जनु गिरा···'—पूर्व—'प्रेम बिबस पुनि पुनि पद लागी।' कहा गया, वहाँ बार-बार पद लगने की सावधानता थी, यहाँ वह भी नहीं रह गई, क्योंकि चरण पकड़े रह गईं। कंठ गद्‌गद हो गया, वाणी ही नहीं निकलती, मानों कीचड़ में फँस गई है।

सुनि सनेहसानी बर बानी। बहु बिधि राम सास सनमानी॥२॥
राम बिदा माँगत कर जोरी। कीन्ह प्रनाम बहोरि बहोरी॥३॥

पाइ असीस बहुरि सिर नाई। भाइन्ह सहित चले रघुराई ॥४॥
मंजु मधुर मूरति उर आनी। भईं सनेह-सिथिल सब रानी ॥५॥
पुनि धीरज धरि कुअँरि हँकारी। बार बार भेंटहिं महतारी ॥६॥
पहुँचावहिं फिरि मिलहिं बहोरी। बढ़ी परस्पर प्रीति न थोरी ॥७॥
पुनि पुनि मिलनि सखिन्ह बिलगाई। बाल बच्छ जिमि धेनु लवाई ॥८॥

अर्थ—स्नेह में सनी हुई श्रेष्ठ वाणी सुनकर श्रीरामजी ने सासों का बहुत तरह से सम्मान किया ॥२॥ श्रीरामजी ने हाथ जोड़कर विदा माँगी और बार-बार प्रणाम किया ॥३॥ आशीर्वाद पाकर फिर प्रणाम करके भाइयों के साथ श्रीरघुनाथजी चले ॥४॥ सब रानियाँ सुन्दर मधुर मूर्ति को हृदय में लाकर स्नेह से शिथिल हो गईं ॥५॥ फिर धैर्य धारण करके कुमारियों को बुलाकर माताएँ, बार-बार भेंटती (गले लगकर मिलती) हैं ॥६॥ कन्याओं को पहुँचाती हैं, वे लौटकर फिर से मिलती हैं, आपस में थोड़ी प्रीति नहीं है—अर्थात् दोनों ओर से बहुत प्रीति है ॥७॥ वे सखियों को अलग करके फिर-फिर मिलती हैं, जैसे नई जनमी हुई बछिया और नई ब्याई हुई गाय परस्पर मिलें ॥८॥

विशेष—(१) 'सुनि सनेह सानी बर बानी।'—यह उपर्युक्त-"बलिजाउँ···" से "करुनायतन" तक है। 'बहु बिधि राम सासु···'—प्रथम आश्वासन-पूर्वक सावधान किया और कहा कि आपकी सब आज्ञाएँ शिरोधार्य हैं, पुनः बार-बार प्रणाम आदि सम्मान के अंग हैं, अत्यन्त प्रेम से एवं चलने के लिये भी बार-बार प्रणाम करते हैं। आशिष पाकर फिर शिर नवाना आशिष के प्रति कृतज्ञता एवं उसे शिरोधार्य करने में है। 'मंजु मधुर मूरति···'—जैसे प्रवेश समय पुरवासियों को—'निरखि राम सोभा उर धरहू।···' कहा गया है, वैसे यहाँ रानियों ने चलते समय की छवि को हृदय में धारण किया। 'कुअँरि हँकारी'—क्योंकि स्नेह से सिथिल हो गई हैं, यथा—"चलहिं न चरन सिथिल भये गाता।" (दो० ३३५); अतः कुमारियों के निकट तक न जा सकीं। 'पहुँचावहिं फिरि···'—सखियाँ पहुँचाती हैं पर कुमारियाँ लौट लौटकर माताओं से मिलती हैं। 'परस्पर' अर्थात् इधर से माताएँ लौट-लौट कर मिलती हैं, उधर से वैसे ही कुमारियाँ भी मिलती हैं। इसीको अगली अर्द्धाली में स्पष्ट किया गया है।

VIDYA

दोहा—प्रेम-बिबस नरनारि सब, सखिन्ह सहित रनिवास।
मानहुँ कीन्ह बिदेहपुर, करुना-बिरह-निवास ॥३३७॥

सुक सारिका जानकी ज्याये। कनक-पिंजरन्हि राखि पढ़ाये ॥१॥
ब्याकुल कहहिं कहाँ बैदेही। सुनि धीरज परिहरइ न केही ॥२॥
भये बिकल खग मृग एहि भाँती। मनुज दसा कैसे कहि जाती ॥३॥

अर्थ—सब स्त्री-पुरुष और सखियों के साथ रनिवास प्रेम के विशेष वश है, मानों विदेह-पुर में करुणा और विरह ने डेरा डाल दिया है ॥३३७॥ जिन तोते मैनाओं को श्रीजानकीजी ने जिलाया (पाला) था और सोने के पिंजरों में रखकर पढ़ाया था ॥१॥ वे व्याकुल होकर कह रहे हैं कि वैदेही कहाँ हैं ? यह

सुनकर किसको धैर्य न छोड़ देगा ॥२॥ जब पक्षी और पशु इस प्रकार व्याकुल हुए तब मनुष्यों की दशा कैसे कही जा सकती है ? ॥३॥

विशेष—(१) 'प्रेम-बिबस नर-नारि···'—करुणा नारि रूप में और विरह नर-रूप में मानों मूर्त्तिमान हैं। 'निवास' अर्थात् आजन्म रहेंगे, तभी तो भक्ति पुष्ट होती है, यथा—"प्रीतम बिरह सो सनेह सरबस···" (गी० सुं० ७)। 'बिदेह पुर'—यह तो विरक्तों का पुर था, यहाँ करुणा और विरह नहीं होना चाहिये, पर श्रीजानकीजी के सम्बन्ध से करुणा-विरह का होना ज्ञान-वैराग्य की शोभा है, यथा—"सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू।" (अ० दो० २७९)।

(२) 'सुक सारिका जानकी···'—पढ़ाये गये हैं, इससे ये अपना विरह शब्दों द्वारा प्रकट कर रहे हैं और 'खग-मृग' केवल विकल हैं। विचारवान् लोग धैर्य धरते हैं, पर धैर्य ही उन्हें त्याग देता है तो ऐसे मनुष्यों की दशा कैसे कही जाय ? यथा—"जहँ असि दसा जड़न कै बरनी। को कहि सकइ सचेतन करनी॥" (दो० ८४); "जासु वियोग बिकल पसु ऐसे। प्रजा मातु पितु जीहहिं कैसे॥" (अ० दो० ९९); यद्यपि दास-दासी साथ में दिये गये, पर शुक-सारिका नहीं, क्योंकि ये यहाँ श्रीजानकीजी के नाम लेकर उन्हें पुकारती थीं और वहाँ ससुराल में ऐसा कहा जाना अनुचित है, वहाँ तो श्रीजानकीजी लाड़ली बहू आदि कही जायँगी।

बंधुसमेत जनक तब आये। प्रेम उमगि लोचन जल छाये ॥४॥
सीय बिलोकि धीरता भागी। रहे कहावत परम बिरागी ॥५॥
लीन्हि राय उर लाइ जानकी। मिटी महामरजाद ज्ञान की ॥६॥
समुझावत सब सचिव सयाने। कीन्ह बिचार अनवसर जाने ॥७॥
बारहिं बार सुता उर लाई। सजि सुंदर पालकी मँगाई ॥८॥

दोहा—प्रेम-बिबस परिवार सब, जानि सुलगन नरेस।
कुअँरि चढ़ाई पालकिन्ह, सुमिरे सिद्ध गनेस ॥३३८॥

अर्थ—तब भाई के साथ राजा जनक आये, प्रेम की उमंग से नेत्रों में जल छा गया ॥४॥ श्रीसीताजी को देखकर धैर्य भाग गया—(यद्यपि ये) परम वैराग्यवान् कहलाते थे ॥५॥ राजा ने श्रीजानकीजी को हृदय से लगा लिया, ज्ञान की महामर्यादा मिट गई ॥६॥ सब प्रवीण मंत्री समझाते हैं, (करुणा का) अवसर न जानकर विचार किया ॥७॥ और बार-बार पुत्री को हृदय से लगाकर सजी हुई सुन्दर पालकियाँ मँगाईं ॥८॥ सब परिवार प्रेम के विशेष वश है, ऐसा जानकर और सुन्दर लग्न समझ राजा ने सिद्ध गणेश का स्मरण करके कुमारियों को पालकियों पर चढ़ाया ॥३३८॥

विशेष—(१) 'बंधु समेत जनक···'—श्रीजनकजी बाहर ही बिदाई के विशेष प्रबंध में लगे हुए थे, जब कुमारियाँ द्वार तक आ गईं तब उन्हें दर्शन देने के लिये प्रेम की उमंग हुई। 'सिय बिलोकि धीरता···' औरों को धीरता ने त्याग दिया, पर इनकी धीरता तो भाग गई; ये अत्यंत विकल हुए। 'रहे कहावत···'—पहले कहाते थे, पर अब हैं नहीं।

(२) 'लीन्ह राय उर लाइ'''—विह्वलता में ज्ञान, वैराग्य और धैर्य नहीं रहते, मिथिलेशजी ज्ञान की पराकाष्ठा थे, यथा—"जासु ज्ञान रवि भव निसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा॥ तेहि कि मोह ममता नियराई। यह सियराम-सनेह बड़ाई॥" (अ० दो० २७१)। आज वे भी ज्ञान, वैराग्य और धैर्य से रहित होकर रो रहे हैं, इसीसे ज्ञान की 'महामर्यादा' का मिटना कहा गया। ऐसे ही श्रीचित्रकूट में भी कहा गया है—"लीन्हि लाइ उर जनक जानकी'''। मोह मगन मति नहिं बिदेह की। महिमा सिय रघुबर सनेह की॥" (अ० दो० २८५)।

(३) 'नरेस। कुँअरि चढ़ाई'''—परिवार के लोग विकल हैं, माता सुनयना को तो सुध ही नहीं है, अतः, राजा ने स्वयं कुमारियों को पालकी पर चढ़ाया। श्रीकौशल्याजी और श्रीजनकजी की विज्ञानावस्था और श्रीचक्रवर्तीजी और श्रीसुनयनाजी की माधुर्यवृत्ति रहती है।

बहु बिधि भूप सुता समुझाई। नारिधरम कुलरीति सिखाई॥१॥
दासी दास दिये बहुतेरे। सुचि सेवक जे प्रिय सिय केरे॥२॥
सीय चलत ब्याकुल पुरबासी। होहिं सगुन सुभ मंगलरासी॥३॥
भूसुर सचिव समेत समाजा। संग चले पहुँचावन राजा॥४॥
समय बिलोकि बाजने बाजे। रथ-गज-बाजि बरातिन्ह साजे॥५॥
दसरथ बिप्र बोलि सब लीन्हे। दान-मान परिपूरन कीन्हे॥६॥
चरन-सरोज-धूरि धरि सीसा। मुदित महीपति पाइ असीसा॥७॥
सुमिरि गजानन कीन्ह पयाना। मंगलमूल सगुन भये नाना॥८॥

दोहा—सुर प्रसून बरषहिं हरषि, करहिं अपछरा गान।
चले अवधपति अवधपुर, मुदित बजाइ निसान॥३३९॥

[stamp: AYODHYA ... BHA...]

अर्थ—राजा ने पुत्रियों को बहुत प्रकार से समझाया, स्त्रियों के धर्म और कुलरीति सिखाई॥१॥ बहुत-सी दासियाँ और दास दिये, जो श्रीसीताजी के प्रिय और पवित्र सेवक थे॥२॥ श्रीसीताजी के चलते समय पुरवासी व्याकुल हो गये, शुभ और मंगल के समूह शकुन हो रहे हैं॥३॥ ब्राह्मणों, मंत्रियों और समाज के साथ राजा साथ में पहुँचाने के लिये चले॥४॥ समय देखकर बाजे बजने लगे, बरातियों ने रथ, हाथी और घोड़े सजाये॥५॥ राजा दशरथजी ने सब ब्राह्मणों को बुला लिया और उन्हें दान, मान से परिपूर्ण कर दिया॥६॥ राजा ने उनके चरण-कमलों की रज को माथे चढ़ाया, उनकी आशिष पाकर प्रसन्न हुए॥७॥ गणेशजी का स्मरण करके प्रयान किया, (उस समय) अनेकों मंगल-मूल शकुन हुए॥८॥ देवता प्रसन्न होकर फूल बरसा रहे हैं। अप्सराएँ गा रही हैं। राजा दशरथ डंका बजाकर आनन्द के साथ अवधपुर को चले॥३३९॥

विशेष—(१) 'बहु बिधि भूप'''—कन्याओं को वियोग से कातर जानकर समझाया कि ससुराल ही कन्याओं का अपना घर है, फिर वहाँ के लोग शीलवान् हैं, कोई कष्ट न होगा। हम शीघ्र बुला लेंगे।

तुम चार बहनें साथ हो, अनुकूल दासी-दास भी साथ जाते हैं। तुम चक्रवर्ती महाराज की पुत्र-वधू हो, वहाँ सब प्रकार के पूर्ण सुख हैं। तुम्हारा भाई जब तब तुम्हें देखने को जाया करेगा, इत्यादि। 'नारिधरम कुलरीति'''—'नारि-धर्म' पातिव्रत्य धर्म,—'कुलरीति'—सुशीलता, उदारता, गुरुजनों का आदर करना आदि। 'होहिं सगुन'—पुरवासी लोग स्वयं व्याकुल हैं, मंगल कौन करे? अतः, स्वयं शकुन मंगल होते हैं।

(२) 'दान-मान परि'''—मान पूर्वक दान से पूर्ण किया, या दान से और जो दान न लेनेवाले हैं, उन्हें मान से पूर्ण किया। 'सुर प्रसून बरषहिं'''—पुष्प-वृष्टि भी मंगल है, 'मुदित'—प्रस्थान में हर्ष होना मंगल है, पुनः पुत्रों और पुत्र-वधुओं के साथ जाने से हर्ष है। फिर बहुत दिन हो गये, अवधपुरी छूटी थी, वहाँको आ रहे हैं, इससे भी हर्ष है। 'सुमिरि गजानन'''सगुन भये'—गणेशजी का स्मरण किया, इससे कामना-पूरक शकुन होने लगे।

नृप करि बिनय महाजन फेरे। सादर सकल माँगने टेरे ॥१॥
भूषन-बसन बाजि गज दीन्हे। प्रेम पोषि ठाढ़े सब कीन्हे ॥२॥
बार-बार बिरदावलि भाखी। फिरे सकल रामहिं उर राखी ॥३॥
बहुरि-बहुरि कोसलपति कहहीं। जनक प्रेमबस फिरै न चहहीं ॥४॥
पुनि कह भूपति बचन सुहाये। फिरिय महीस दूरि बड़ि आये ॥५॥
राउ बहोरि उतरि भये ठाढ़े। प्रेमप्रबाह बिलोचन बाढ़े ॥६॥
तब बिदेह बोले कर जोरी। बचन सनेह-सुधा जनु बोरी ॥७॥
करउँ कवन बिधि बिनय बनाई। महाराज मोहि दीन्हि बड़ाई ॥८॥

दोहा—कोसलपति समधी सजन, सनमाने सब भाँति।
मिलनि परसपर बिनय अति, प्रीति न हृदय समाति ॥३४०॥

शब्दार्थ—सजन=स्वजन।

अर्थ—राजा दशरथ ने प्रार्थना करके महाजनों को लौटाया और आदर-पूर्वक याचकों को बुलाया ॥१॥ सबको भूषण, वस्त्र, घोड़ा, हाथी दिये और प्रेमसे पोषण करके सबको खड़ा किया ॥२॥ वे सब बार-बार विरदावली वर्णन करके और श्रीरामजी को हृदय में रखकर लौटे ॥३॥ अवध-नरेश बार-बार लौटने को कहते हैं, पर जनकजी प्रेमवश फिरना नहीं चाहते ॥४॥ राजा ने फिर सुहावने वचन कहे—राजन्! बहुत दूर निकल आये, अब लौटिये ॥५॥ फिर राजा उतर कर खड़े हो गये, उनके दोनों नेत्रों में प्रेमाश्रु की धारा उमड़ चली ॥६॥ तब विदेहजी हाथ जोड़कर बोले, उनके वचन स्नेह-रूपी अमृत में मानों डुबाये हुए थे ॥७॥ मैं किस प्रकार बनाकर विनती करूँ? महाराज! आपने मुझे बड़ाई दी है ॥८॥ कोशलपति दशरथजी ने स्वजन समधी का सब प्रकार सम्मान किया, वह आपस का मिलना, अत्यन्त नम्रता और प्रीति हृदय में नहीं समाती ॥३४०॥

विशेष 'प्रेम-पोषि' अर्थात् प्रेम-युक्त वचन कहकर सब को खड़ा किया, क्योंकि वे लोग साथ नहीं छोड़ना चाहते थे। 'विनय बनाई'—अर्थात् आपके गुण-गण अनन्त हैं, यथा—"बिधि हरि हर सुरपति दिसि नाथा। बरनहिं सब दसरथ गुन गाथा॥" (अ० दो० १७१); "दसरथ गुन गन बरनि न जाहीं। अधिक कहा जेहि सम जग नाहीं॥" (अ० दो० २०८)। अतः, मैं कितना भी बनाकर (युक्ति से) कहना चाहूँ तो नहीं कह सकता। 'मोहि दीन्हि बड़ाई' आपने इतने बड़े-चक्रवर्ती होकर मुझे समधी-भाव से बड़ाई दी, जिससे हम आपके तुल्य कहायँगे। 'मिलनि परसपर बिनय'''—दोनों तरफ से दोनों बातें हैं, पर जनकजी में 'विनय' और चक्रवर्ती जी में 'मिलन' प्रधान है। 'न हृदय समाति' अर्थात् प्रीति अश्रु-रोमांच आदि के द्वारा प्रकट हो रही है।

मुनिमंडलिहि जनक सिर नावा। आसिरबाद सबहि सन पावा॥१॥
सादर पुनि भेंटे जामाता। रूप-सील-गुन निधि सब भ्राता॥२॥
जोरि पंकरुह-पानि सुहाये। बोले बचन प्रेम जनु जाये॥३॥
राम करउँ केहि भाँति प्रसंसा। मुनि-महेस-मन-मानस-हंसा॥४॥
करहिं जोग जोगी जेहि लागी। कोह मोह ममता मद त्यागी॥५॥
व्यापक ब्रह्म अलख अबिनासी। चिदानंद निरगुन गुनरासी॥६॥
मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥७॥
महिमा निगम नेति कहि कहई। जो तिहुँ काल एकरस अहई॥८॥

दोहा—नयनविषय मो कहँ भयेउ, सो समस्त-सुख-मूल।
सबइ लाभ जगजीव कहँ, भये ईस अनुकूल॥३४१॥

अर्थ—राजा जनक ने मुनि मंडली को प्रणाम किया और सभी से आशीर्वाद पाया॥१॥ फिर रूप, शील और गुणों के निधान सब भाई दामादों से आदर पूर्वक भेंटे (मिले)॥२॥ सुन्दर कर कमलों को जोड़कर मानों प्रेम से पैदा हुए वचन बोले॥३॥ हे राम! मैं किस प्रकार से आपकी प्रशंसा करूँ, आप तो मुनियों और महेशजी के मनरूपी मानससरोवर के हंस हैं॥४॥ जिसके लिये क्रोध, मोह, ममता और मद त्यागकर योगी लोग योग-साधन करते हैं॥५॥ जो ब्रह्म, व्यापक, अलक्ष्य, अविनाशी, चैतन्य, आनन्द-रूप, निर्गुण और गुणों की राशि है॥६॥ जिसको मन सहित वाणी नहीं जान सकती, सभी अनुमान करनेवाले जिसकी विवेचना नहीं कर सकते॥७॥ जिसकी महिमा का वर्णन वेद, 'न इति' ही कह-कहकर करता है। जो तीनों कालों (भूत, वर्त्तमान और भविष्य) में एक समान रहता है॥८॥ वही समस्त सुखों का मूल मेरे नेत्रों का विषय हुआ, ईश्वर के अनुकूल होने से जीव को संसार में सभी लाभ प्राप्त हो जाते हैं॥३४१॥

विशेष—(१) 'मुनि-महेश मन...'—मुनियों और महेश का मन निर्मल है, अतः, वहाँ आप सदा रहते हैं, जैसे हंस मानस सर में रहते हैं। 'कोह मोह ममता ..'—ये सब बड़े कष्ट से

छूटते हैं तब योगी लोगों की चित्त-वृत्तियों का निरोध होता है तो फिर ब्रह्म में प्रवृत्ति होती है। 'निर्गुन' अर्थात् मायिक गुणों से परे और 'गुनरासी' अर्थात् दिव्यगुणों की राशि।

(२) 'मन समेत जेहि···' यथा—"यतो वाचो निवर्त्तन्ते ॥ अप्राप्यमनसा सह ॥" (तैत्ति० २।४)। 'तरकि न सकहिं सकल···'—वह ब्रह्म अप्रमेय होने के कारण परिमित बुद्धि के अनुमान और तर्क में नहीं आ सकता। 'महिमा निगम नेति···'—वेद यद्यपि ब्रह्म-वाणी है तो भी आपकी अपरिमित महिमा को सम्पूर्ण करके कहने में असमर्थ हैं; अतः, 'न इति' अर्थात् 'यही नहीं', 'इतना ही नहीं' ऐसा कहकर, विवशता प्रकट करते हुए भी कहा करते हैं, क्योंकि यह उनकी भक्ति है, यथा—"हम तव सगुन जस नित गावहीं।" (उ० दो० १२)। 'जो तिहुँ काल एक रस अहई।' यथा—"तुम चहुँजुग रस एक राम···" (वि० २६६)। "वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" (श्वेता० ३।९)

(३) 'नयन विषय मोकहँ···'—'सो समस्त सुखमूल' यथा—"एतस्यैवानन्दस्याऽन्यानि भूतानि मात्रा-मुपजीवन्ति॥" (बृह० ४।३।३२) अर्थात् इसीके आनन्द की मात्रा से अन्य प्राणी जीते हैं। तथा- 'जो आनन्द-सिंधु सुख रासी। सीकरते त्रैलोक सुपासी॥" (दो० १९६) वही मेरे नेत्रों का विषय हुआ। भाव जो औरों के मन-बुद्धि का भी विषय यथार्थ में नहीं है, वह मुझे प्रत्यक्ष है, यह 'ईश' अर्थात् परम समर्थ ईश्वर की अनुकूलता का फल है, यथा—"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" (कठ० ।।२।२३)

(४) 'मानस हंसा'—उपमान, 'तरकि न सकहिं···'—अनुमान, 'निगम-कहई'—शब्द, 'नयन विषय' प्रत्यक्ष—इस प्रकार से यहाँ न्याय के चारो भेदों से श्रीरामतत्त्व विषयक स्तुति है।

सबहि भाँति मोहि दीन्हि बड़ाई। निज जन जानि लीन्ह अपनाई ॥१॥
होहिं सहस दस सारद सेखा। करहिं कलपकोटिक भरि लेखा ॥२॥
मोर भाग्य राउरि गुनगाथा। कहि न सिराहिं सुनहु रघुनाथा ॥३॥
मैं कछु कहउँ एक बल मोरे। तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरे ॥४॥
बार-बार माँगउँ कर जोरे। मन परिहरइ चरन जनि भोरे ॥५॥
सुनि बर बचन प्रेम जनु पोषे। पूरनकाम राम परितोषे ॥६॥
करि बर बिनय ससुर सनमाने। पितु कौसिक बसिष्ठ सम जाने ॥७॥
बिनती बहुरि भरत सन कीन्ही। मिलि सप्रेम पुनि आसिष दीन्ही ॥८॥

दोहा—मिले लखन रिपुसूदनहि, दीन्हि असीस महीस।
भये परसपर प्रेमबस, फिरि फिरि नावहिं सीस ॥३४२॥

बार-बार करि बिनय बड़ाई। रघुपति चले संग सब भाई ॥१॥

अर्थ—आपने मुझे सभी प्रकार से बड़ाई दी और अपना जन जानकर अपना लिया ॥१॥ यदि दसहजार भी शारदा-शेष हों और वे करोड़ों कल्पों तक लिखते रहें ॥२॥ तोभी, हे रघुनाथजी ! सुनिये, मेरा

भाग्य और आपके गुणों की कथा को कहकर पूरा नहीं कर सकते ॥३॥ मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह अपने इस एक बल पर कि आप अत्यन्त थोड़े स्नेह से प्रसन्न होते हैं ॥४॥ मैं बार-बार हाथ जोड़कर यह वर माँगता हूँ कि मेरा मन आपके चरणों को भूलकर भी न छोड़े ॥५॥ प्रेम से मानों पोसे हुए श्रेष्ठ वचनों को सुनकर पूर्णकाम श्रीरामजी संतुष्ट हुए ॥६॥ और श्रेष्ठ प्रार्थना करके ससुर का सम्मान किया, उनको पिता, विश्वामित्र और वसिष्ठजी के समान जाना ॥७॥ फिर श्रीभरतजी से प्रार्थना की, प्रेम-सहित भेंट कर फिर असीस दी ॥८॥ राजा जनक लक्ष्मण-शत्रुघ्नजी से मिले और असीस दी, आपस में प्रेमवश हो गये, अतः, फिर-फिर कर शिर नवाते हैं ॥३४२॥ बार-बार विनती और बड़ाई करके रघुनाथजी सब भाइयों को लिये हुए चले ॥१॥

विशेष—(१) 'तुम्ह रीझहु सनेहु सुठि थोड़े' यथा—"रामहिं केवल प्रेम पियारा।" (अ० दो० १३७)। 'सुनहु रघुनाथा'–'सुनहु' कहा, क्योंकि श्रीरामजी अपनी बड़ाई नहीं सुनते, यथा—"निजगुन श्रवण सुनत सकुचाहीं।" (अ० दो० ७५), यह सज्जनों का लक्षण है। 'एक बल मोरे' अर्थात् मुझे यह विश्वास है और मेरे पास यही एक वस्तु है भी। इसीकी पुष्टि के लिये आगे वर भी माँगते हैं कि मेरा मन चरणों से क्षण-भर भी पृथक् न हो, यही उत्तम स्नेह है। 'बार-बार माँगउँ'—बार-बार माँगते हैं, क्योंकि श्रीरामजी सब कुछ तो शीघ्र ही दे देते हैं, पर भक्ति बहुत रीझने पर, फिर भी बहुत माँगने पर देते हैं, क्योंकि यह अति दुर्लभ है, यथा—"प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही॥ भगति हीन गुन सब सुख कैसे। लवन बिना बहु व्यंजन जैसे॥" (उ० दो० ८४), 'मन परिहरइ चरन जनि'—अर्थात् इन चरणों में जनकजी का स्नेह है—"जाहि रामपद गूढ़ सनेहू।" (दो० १७) यहाँ उसकी अचलता माँगते हैं।

(२) 'करिबर बिनय ससुर...'—श्रीजनकजी को पिता के तुल्य माना, क्योंकि श्रीजानकीजी आपकी अर्द्धांगिनी हैं, ये उनके पिता हैं, तो श्रीरामजी के भी पिता-तुल्य हुए। विश्वामित्रजी के समान जाना, क्योंकि जैसे उन्होंने यज्ञ के सम्बन्ध से श्रीरामजी को प्राप्त किया, वैसे इन्होंने धनुषयज्ञ के द्वारा। वशिष्ठजी के समान जाना, क्योंकि जैसे वशिष्ठजी ने ज्ञान में अपना प्रेम गुप्त रक्खा, वैसे ही इन्होंने योग में—"जोग भोग महँ राखेउ गोई।" (दो० १७) "भूप बोलि पठये मुनि ज्ञानी।" (दो० ११६)।

(३) 'पूरन काम राम परितोषे'—श्रीजनकजी के वचनों का उपक्रम—'बोले बचन प्रेम जनु जाये।' से है और उपसंहार—'प्रेम जनु पोषे' है; अतः, प्रेममय वचनों से श्रीरामजी परितुष्ट हुए, क्योंकि आप प्रेम ही के भूखे हैं; अतः, 'परितोषे' कहा। परितोषे से उपर्युक्त वर का देना भी सूचित किया, माधुर्य-दृष्टि से प्रकट में वर नहीं दिया। 'पूरन काम'—यद्यपि श्रीरामजी और बातों से पूर्ण-काम हैं, तो भी प्रेम से भूखे की तरह परितुष्ट हुए।

'फिरि-फिरि नावहिं सीस'—यहाँ प्रथम तो लक्ष्मण-शत्रुघ्न से मिले और असीस दी, फिर अत्यन्त प्रेम-वश होने पर परस्पर यही व्यवहार बार-बार होने लगा; अर्थात् राजा बार-बार मिलते और असीस देते हैं और ये दोनों बार-बार प्रणाम करते हैं। यहाँ मिलना तीन रीतियों से हुआ—श्रीरामजी से हाथ जोड़कर विनती की और इन्होंने उत्तर में—'करि बर बिनय ससुर सनमाने' अर्थात् सम्मान ही किया, इनका प्रणाम करना नहीं कहा गया, अतः, इनसे पूर्ण ऐश्वर्य-दृष्टि से मिले। श्रीभरतजी से विनती की, फिर असीस भी दी, अतः, ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों रक्खे। श्रीलक्ष्मण-शत्रुघ्न में केवल माधुर्य मात्र है, इनसे विनती नहीं की।

चारो भाइयों के प्रसंग में प्रेम-पूर्ण रहा—श्रीरामजी की स्तुति में प्रेम-पूर्णता ऊपर कही गई। श्रीभरतजी में—'मिलि सप्रेम पुनि आसिष दीन्हीं।' श्रीलक्ष्मण-शत्रुघ्न में—'भये परसपर प्रेम बस।' कहा है।

(४) 'बार-बार करि बिनय'' '—जैसे श्रीरामजी ने 'बर बिनय' की है, वैसे इन तीन भाइयों ने भी विनय और बड़ाई की है।

जनक गहे कौसिकपद जाई। चरनरेनु सिर नयनन्हि लाई ॥२॥
सुनु मुनीसबर दरसन तोरे। अगम न कछु प्रतीति मन मोरे ॥३॥
जो सुख सुजस लोकपति चहहीं। करत मनोरथ सकुचत अहहीं ॥४॥
सो सुख सुजस सुलभ मोहि स्वामी। सब सिधि तव दरसन-अनुगामी ॥५॥
कीन्हि बिनय पुनि पुनि सिर नाई। फिरे महीस आसिषा पाई ॥६॥
चली बरात निसान बजाई। मुदित छोट बड़ सब समुदाई ॥७॥
रामहिं निरखि ग्राम - नर - नारी। पाइ नयनफल होहिं सुखारी ॥८॥

दोहा—बीच बीच बर बास करि, मगलोगन्ह सुख देत।
अवध समीप पुनीत दिन, पहुँची आइ जनेत ॥३४३॥

अर्थ—श्रीजनकजी ने जाकर श्रीविश्वामित्रजी के चरण पकड़े और उनके चरणों की धूल शिर और नेत्रों में लगाई ॥ २ ॥ हे मुनीश्वर! सुनिये, आपके श्रेष्ठ दर्शनों से कुछ भी दुर्लभ नहीं है, ऐसा मेरे मन में विश्वास है ॥ ३ ॥ जो सुख और सुयश लोकपाल चाहते हैं, पर मनोरथ करते हुए भी सकुचते हैं ॥ ४ ॥ हे स्वामिन्! वही सुख और सुयश मुझे सुगमता से प्राप्त हो गया, क्योंकि सब सिद्धियाँ आपके दर्शनों की अनुगामिनी (पीछे-पीछे चलनेवाली) हैं ॥ ५ ॥ इस तरह बार-बार प्रार्थना की और फिर-फिर प्रणाम कर आशीर्वाद पा राजा लौटे ॥६॥ बरात डंका बजाकर चली, छोटे और बड़े सभी समुदाय प्रसन्न हैं ॥ ७ ॥ (मार्ग में) ग्रामों के स्त्री-पुरुष श्रीरामजी को देखकर नेत्रों का फल पाकर सुखी होते हैं ॥ ८ ॥ बीच-बीच में श्रेष्ठ निवास करती हुई और मार्ग के लोगों को सुख देती हुई जनेत (बरात) अवधपुरी के समीप पवित्र दिन पर आ पहुँची ॥ ३४३ ॥

विशेष—(१) 'जो सुख सुजस लोक'-ब्रह्म रामजी हमारे दामाद हों, यह अलभ्य सुख है, पुनः वे हमारे हाथों से दान लें, यह सुयश भी परम दुर्लभ है, इसकी इन्द्र आदि देवता लालसा करते हुए भी सकुचते हैं। 'सुख' यथा "सुख बिदेहकर बरनि न जाई।" (दो० १८५), "सुख-मूल दूलह देखि दंपति पुलक तन हुलस्यो हियो।" (दो० ३२४), 'सुजस' यथा—"जिमि जनक रामहिं सिय समरपी बिस्व कलकीरति नई" (दो० ३२४) विश्वामित्रजी सबसे प्रथम आये थे और सबसे पीछे विदा हुए, क्योंकि ये ही इस आनन्द उत्सव के मूल हैं, यथा—" यह सब सुख मुनिराज तव कृपा कटाच्छ प्रसाव॥" (दो० ३३१) (२) 'चली बरात निसान …'-श्रीजनकजी आगे से मिलते

हुए पीछे लौटते आ रहे हैं, इससे बरात के चलने का क्रम भी सूचित किया है कि आगे चक्रवर्तीजी हैं, उनके साथ मुनिमंडली है, फिर भाइयों के साथ रामजी हैं, तब विश्वामित्रजी और उनके पीछे बरात है। 'छोट-बड़ सब समुदाई' में बराती, सेवक, वाहन सभी आ गये। (३) 'बीच बीच बर बास', यथा—"बीच बीच बरबास बनाये। सुरपुर सरिस" (दो० ३०३)।

हने निसान पनव बर बाजे। भेरि - संख - धुनि हय गय गाजे ॥१॥
झाँझि बिरव डिंडिमी सुहाई। सरस राग बाजहिं सहनाई ॥२॥
पुरजन आवत अकनि बराता। मुदित सकल पुलकावलि गाता ॥३॥
निज निज सुंदर सदन सँवारे। हाट बाट चौहट पुर द्वारे ॥४॥
गली सकल अरगजा सिंचाई। जहँ तहँ चौकें चारु पुराई ॥५॥
बना बजार न जाइ बखाना। तोरन केतु पताक बिताना ॥६॥
सफल पूगफल कदलि रसाला। रोपे बकुल कदंब तमाला ॥७॥
लगे सुभग तरु परसत धरनी। मनिमय आलबाल कल करनी ॥८॥

दोहा—बिबिध भाँति मंगलकलस, गृह-गृह रचे सँवारि।
सुर ब्रह्मादि सिहाहिं सब, रघुबर - पुरी निहारि ॥३४४॥

शब्दार्थ—भेरि = नगारा, तुरही; नफीरी। डिंडिमी = डुगडुगिया या डुग्गी नाम का बाजा। आलबाल = थाला।

अर्थ—नगाड़ों पर चोटें पड़ने लगीं; श्रेष्ठ ढोल बजने लगे, भेरी और शंख की ध्वनि हो रही है, हाथी, घोड़े गरज रहे हैं ॥१॥ झाँझ, वीणा और डुगडुगियाँ सोह रही हैं, रसीले राग में शहनाइयाँ बज रही हैं॥ २॥ बरात को आती हुई सुनकर पुरवासी आनन्दित हैं, सबके शरीर में पुलकावलि हो रही है॥३॥ उन्होंने अपने-अपने सुन्दर घरों, बाजारों, मार्गों, चौराहों और नगर के बाहरी फाटकों को सजाया॥४॥ सब गलियों को अरगजे से सिँचाया, जहाँ-तहाँ सुन्दर चौकें पुराई गईं॥५॥ बन्दनवार, ध्वजा, पताका और चन्दोवों से बाजार ऐसा सजा हुआ है कि वर्णन नहीं किया जा सकता॥ ६ ॥ फलदार सुपारी, केले, आम, मौलसिरी, कदम्ब और तमाल के वृक्ष लगाये गये ॥ ७॥ वे लगे हुए सुन्दर वृक्ष पृथिवी को (फलों के भार से झुके हुए) छू रहे हैं, उनके थाले मणिमय हैं जो सुन्दर कारीगरी से बने हैं ॥८॥ घर घर अनेकों प्रकार के मंगल कलश सजाकर रचे गये हैं, श्रीरघुवर श्रीरामजी की श्रेष्ठ पुरी को देखकर ब्रह्मा आदि देवता सिहाते हैं॥ ३४४॥

विशेष—(१) 'हने निसान पनव...'—पूर्व—"लागी जुरन बरात" से—"येहि बिधि कीन्हि बरात पयाना। हय गय गाजहिं हने निसाना॥" (दो० ३११-३०१); तक जो विधि कही गई, वैसे ही यहाँ से भी चली। 'झाँझि बिरव···'—प्रथम ऊँचे स्वर के बाजे कहे गये, यहाँ झाँझ आदि से मधुर ध्वनि के बाजे कहते हैं। शहनाई को अन्त में कहकर उसमें मिलकर इन झाँझ आदि का बजना जनाया। 'पुरजन आवत अकनि···'—इनका ही प्रसंग अगले दोहे तक है। 'गली सकल अरगजा···'—यथा

—"बीथी सींची चतुर सम, चौकें चारु पुराइ।" (दो० २९९)। 'सफल' अर्थात् जिधर से होकर बरात आवेगी, वही पथ नहीं, किन्तु सब गलियाँ सिंचाई गईं। 'सफल पूगफल'''—'लगे सुभग तरु'''—फले-फूले हुए बड़े-बड़े पेड़ तुरत नहीं लगते, पर यहाँ श्रीरामजी के प्रभाव से 'परसत धरनी' लग गये, मानों वहीं पूर्व ही से लगे हुए हैं। पहले 'सफल' कहा था, फिर इन्हें ही 'सुभग' कहकर जनाया कि फलों के अतिरिक्त ये फूलों और पल्लवों से भी सुहावने हैं। 'सफल' लगाये जिससे चारों जोड़ियाँ फूलें-फलें।

भूपभवन तेहि अवसर सोहा। रचना देखि मदनमन मोहा॥१॥
मंगल सगुन मनोहरताई। रिधि सिधि सुख संपदा सुहाई॥२॥
जनु उछाह सब सहज सुहाये। तनु धरि-धरि दसरथ-गृह आये॥३॥
देखन हेतु रामबैदेही। कहहु लालसा होहि न केही॥४॥
जूथ-जूथ मिलि चलीं सुआसिनि। निज छबि निदरहिं मदनबिलासिनि॥५॥
सकल सुमंगल सजे आरती। गावहिं जनु बहु बेष भारती॥६॥
भूपति-भवन कोलाहल होई। जाइ न बरनि समय सुख सोई॥७॥
कौसल्यादि राम-महतारी। प्रेमबिबस तन-दसा बिसारी॥८॥

दोहा—दिये दान बिप्रन्ह बिपुल, पूजि गनेस पुरारि।
प्रमुदित परम दरिद्र जनु, पाइ पदारथ चारि॥३४५॥

अर्थ—उस समय राजा का महल ऐसा सोह रहा है कि उसकी रचना देखकर कामदेव का मन मोहित हो जाता है॥१॥ मंगल, शकुन, मनोहरता, ऋद्धि, सिद्धि, सुख और सुहावनी सम्पदा॥२॥ मानों सभी सहज ही सुन्दर उत्साह शरीर धर-धरकर दशरथजी के घर आये हैं॥३॥ श्रीरामजी और वैदेही श्रीसीताजी के दर्शनों के लिये, कहिये तो भला, किसे लालसा न होगी?॥४॥ झुंड-झुंड मिलकर सौभाग्यवती स्त्रियाँ चलीं, वे अपनी छवि से कामदेव की विलासिनी (स्त्री) रति का निरादर कर रही हैं॥५॥ सभी समस्त मंगलों के साथ आरती सजे हुए गा रही हैं, मानों सरस्वती बहुत वेष धारण किये हुए (गा रही) हैं॥६॥ राजा के महल में कोलाहल हो रहा है, उस समय का सुख कहा नहीं जा सकता॥७॥ श्रीरामजी की कौशल्या आदि सब माताएँ प्रेम के विशेष वश होने से शरीर की सुधि भूल गईं॥८॥ गणेशजी और शिवजी की पूजा करके उन्होंने ब्राह्मणों को बहुत-से दान दिये, और वे परम आनन्दित हुईं, जैसे परम दरिद्र चारों पदार्थ पाकर॥३४५॥

विशेष—'भूपभवन तेहि'''—ऊपर 'रघुबर पुरी निहारि' ब्रह्मादि देवताओं का सिहाना कहा और यहाँ राजमहल की रचना पर काम का मोहना कहकर इसे श्रेष्ठ जनाया। पूर्व कहा गया था—"भूपभवन किमि जाइ बखाना। बिस्वबिमोहन रचेउ बिताना॥" (दो० २९९); यहाँ उसकी रचना पर विश्व-विजयी काम का भी मोहित होना कहकर विशेषता दिखाई, क्योंकि अब चारों दूलह दुलहिनों के साथ आकर विराजेंगे। 'बहु बेष भारती'—शुद्ध उच्चारण एवं मधुर स्वर के लिये सरस्वती की उपमा है।

'कोलाहल'—सुवासिनियों के गान और बाजों के शब्द से अपना पराया नहीं सुन पड़ता, अतएव को इन बातों से सुख हो रहा है। माताओं को परिछन में आगे चलना चाहिये, पर वे प्रेम के विशेष वश होने से देह-सुधि ही भूल गई हैं। 'परम दरिद्रजनु···'—परम दरिद्र दुःख की सीमा है, यथा—"नहि दरिद्र सम दुख जगमाहीं॥" (उ॰ दो॰ १२०); और वह अचानक एक साथ ही चारो फल पा जाय यह सुख की सीमा है।

मोद-प्रमोद-बिबस सब माता। चलहिं न चरन सिथिल भये गाता॥१॥
रामदरस-हित अति अनुरागीं। परिछन साज सजन सब लागीं॥२॥
बिबिध बिधान बाजने बाजे। मंगल मुदित सुमित्रा साजे॥३॥
हरद दूब दधि पल्लव फूला। पान पूगफल मंगलमूला॥४॥
अच्छत अंकुर रोचन लाजा। मंजुल मंजरि तुलसि बिराजा॥५॥
छुहे पुरटघट सहज सुहाये। मदन सकुन जनु नीड़ बनाये॥६॥
सगुन सुगंध न जाहिं बखानी। मंगल सकल सजहिं सब रानी॥७॥
रची आरती बहुत बिधाना। मुदित करहिं कल मंगल गाना॥८॥

दोहा—कनकथार भरि मंगलन्हि, कमल-करन्हि लिये मात।
चलीं मुदित परिछन करन, पुलकपल्लवित गात॥३४६॥

शब्दार्थ—अंकुर=जव, चना आदि के अंकुर मंगल माने जाते हैं। रोचन=एक पीले रंग का सुगंधित द्रव्य, जो गाय के हृदय के पास पित्त से निकलता है अष्टगंध में है पवित्र एवं मांगलिक है, यथा—"चिर रुचि तिलक गोरोचन को दियो है।" (गी॰ बा॰ १०), कहा जाता है कि गाय के कान में स्वाती नक्षत्र का जल-बिन्दु पड़ने से गोरोचन होता है। रोचन=रोरी (भी अर्थ है)।

अर्थ—सब माताएँ मोद-प्रमोद के विशेष वश हो गईं, उनके शरीर शिथिल हो गये; इससे चरण नहीं चलते॥१॥ श्रीरामजी के दर्शनों के लिये अत्यन्त अनुराग में भर गईं, सभी परिछन के साज सजने लगीं॥२॥ अनेक प्रकार के बाजे बजने लगे, सुमित्राजी ने आनन्द के साथ मंगल साज सजाये॥३॥ हल्दी, दूर्वादल, दही (गाय का) पल्लव (आम आदि के), फूल, पान, सुपारी आदि मंगल मूलक वस्तुएँ॥४॥ अक्षत (धोये चावल), अंकुर, गोरोचन, धान की खीलें और सुन्दर मंजरी युक्त तुलसी सुशोभित हैं॥५॥ छुहे (ऐपन से पोते और गोंठे) हुए सोने के कलश स्वाभाविक ही सुंदर हैं, मानों कामदेव (रूपी पक्षी) ने घोंसले बनाये हैं॥६॥ शकुन, सुगंध (गुलाब, केवड़ा, चन्दन, कपूर आदि) बखाने नहीं जा सकते, सब नारियाँ समस्त मंगल सजा रही हैं॥७॥ बहुत प्रकार की आरतियाँ रची हैं और आनंद सहित सुंदर मंगल गीत गा रही हैं॥८॥ सोने थाल मंगलों से भरकर माताएँ कमल के समान हाथों में लिये हुए आनंद पूर्वक परछन करने चलीं, उनके शरीर पुलक से फूले (रोयें खड़े) हुए हैं॥ ३४६॥

विशेष—(१) 'मोद-प्रमोद बिबस···'(क) पुत्रों के देखने को मोद (आनन्द) है और नई दुलहिनों के देखने के लिये प्रमोद (प्रकर्ष-आनन्द) है। (ख) अधिकता दिखाने को भी दोनों शब्द एक साथ आते हैं, यथा—"आनंद महँ आनंद अवध०" (गी० बा० २)।

(२) 'राम-दरस हित अति अनुरागीं' यथा—"सबके उर निर्भर हरष, पूरित पुलक सरीर कबहिं देखिबे नयन भरि, राम-लखन ··" (दो० ३००)।

(३) 'मंगल मुदित सुमित्रा साजे'—मंगल सजाने एवं चौक पूरने में श्रीसुमित्राजी प्रवीण थीं, इससे प्रायः जहाँ-तहाँ इन्हीं का नाम आता है, यथा—"चौकें चारु सुमित्रा पूरी।" (अ० दो० ७)।

(४) 'मदन सकुन जनु नीड़ बनाये'—सोने के घड़े ऐसे बने हैं कि (पेट बड़े मुँह छोटे) जिन्हें देखकर काम पक्षी बनकर उनमें इस डर से छिप बैठा है कि श्रीराम-जानकी की सुंदरता के आगे हम फीके पड़ जायँगे। पाठान्तर 'सकुचि' भी है, इसमें अर्थ होगा कि उन घड़ों में काम (पक्षी) सकुचकर छिपा बैठा है, हेतु उपर्युक्त ही है, परन्तु इसमें अध्याहार से पक्षी को लाना क्लिष्ट कल्पना हो गई। 'आरती बहुत बिधाना'—आरती मणियों और पुष्पों की, कपूर की, दीपबत्तियों की, इन बत्तीवाली में भी समबत्ती ४, ६, ८ की, दूसरी विषमबत्ती ३, ५, ७, इत्यादि की होती है तथा और भी बहुत-से विधान पाये जाते हैं।

धूपधूम नभ मेचक भयेऊ। सावन घनघमंड जनु ठयेऊ ॥१॥
सुरतरु-सुमन-माल सुर बरषहिं। मनहुँ बलाक अवलि मन करषहिं॥२॥
मंजुल मनिमय बंदनिवारे। मनहुँ पाकरिपु-चाप सँवारे ॥३॥
प्रगटहिं दुरहिं अटन्ह पर भामिनि। चारु चपल जनु दमकहिं दामिनि ॥४॥
दुंदुभिधुनि घनगरजनि घोरा। जाचक चातक दादुर मोरा ॥५॥
सुर सुगंध सुचि बरषहिं बारी। सुखी सकल ससि पुर-नर-नारी ॥६॥
समय जानि गुरु आयसु दीन्हा। पुर-प्रबेस रघुकुल-मनि कीन्हा ॥७॥
सुमिरि संभु गिरिजा गनराजा। मुदित महीपति सहित समाजा ॥८॥

दोहा—होहिं सगुन बरषहिं सुमन, सुर दुंदुभी बजाइ।
बिबुधबधू नाचहिं मुदित, मंजुल मंगल गाइ ॥३४७॥

शब्दार्थ—ठयेऊ (ठनेऊ)=ठहर गये, छा गये। घमंड=घुमड़कर। पाकरिपु=इन्द्र। ससि (सस्य)=खेती-बारी।

अर्थ—धूप के धुएँ से आकाश ऐसा काला हो गया कि मानों सावन के बादल घुमड़कर छा गये हैं ॥१॥ देवता लोग कल्पवृक्ष के फूलों की मालाएँ बरसा रहे हैं, वे मानों बगुलों की पाँत है, जो (शोभा से) मन को खींच लेती हैं ॥२॥ सुंदर मणियों से युक्त वन्दनवारें ऐसी जान पड़ती हैं कि मानों इन्द्र धनुष सजाये गये हैं ॥३॥ स्त्रियाँ अटारियों पर प्रकट होती और छिपती हैं, मानों सुन्दर चपल

बिजलियाँ दमक रही हैं ॥४॥ नगाड़ों की ध्वनि बादलों का घोर गर्जना है। चातक, मेढक और मोर भिक्षुक हैं ॥५॥ देवता पवित्र सुगंध की जल-वृष्टि कर रहे हैं, खेती रूपी नगर के सभी स्त्री-पुरुष सुखी हैं ॥ ६ ॥ समय (मुहूर्त्त) जानकर गुरु ने आज्ञा दी, तब रघुकुल-शिरोमणि दशरथजी ने पुर में प्रवेश किया ॥ ७ ॥ श्रीशिवजी, पार्वतीजी और गणेशजी का स्मरण करके राजा समाज के साथ आनन्दित हैं ॥ ८ ॥ शकुन हो रहे हैं, देवता नगाड़े बजाकर फूल बरसा रहे हैं, देवताओं की स्त्रियाँ आनंद पूर्वक सुन्दर मंगल गान गाकर नाच रही हैं ॥३४७॥

विशेष—(१) 'धूप-धूम नभ···'—यहाँ से वर्षा का पूरा रूपक बाँधते हैं, वर्षा में मेघ मुख्य हैं; अतः, प्रथम कहा श्रावण के मेघ काले होते भी हैं। 'बलाक अवलि' अर्थात् कल्प-वृक्ष के फूल श्वेत होते हैं, क्योंकि बगुले श्वेत होते और पंक्ति बाँधकर उड़ते हैं।

(२) 'मनहुँ पाक रिपु चाप ···'—इन्द्र-धनुष में सात रंग माने जाते हैं; अतः, इस उपमा से वन्दन-वारों को रंग-बिरंग की मणियों से युक्त होना सूचित किया। चाप शत्रु के लिये सवाँरा जाता है,इसलिये इन्द्र का 'पाकरिपु' (पाक नामक दैत्य के शत्रु) नाम दिया गया है। यथा—"जनु इन्द्र-धनुष अनेक की बर-वारि तुंग तमाल ही।" (छं० दो० ११) यहाँ रूपक में कहा गया है, पर इसका देखना और दिखाना निषेध है, इसीसे किष्किंधाकाड के वर्षा-वर्णन में नहीं कहा गया, क्योंकि वहाँ देखने और दिखाने का प्रसंग है।

(३) 'प्रगटहिं दुरहिं अटनि पर···'—स्त्रियाँ कोठों पर शीघ्रता से इधर-उधर आती जाती हैं, उनके कांति-युक्त गौर-अंग जंगलों से बिजली की चमक की तरह दिखाई देकर तुरत छिप जाते हैं, या वे जंगलों से झाँक-झाँक कर छिप जाती हैं।

'दुदुंभि धुनि घन गर्जनि···'—बिजली दमकने के साथ ही गर्जन भी कहते हैं। पर्वताकार हाथियों पर ऊटा पर नगाड़े बज रहे हैं, वे ही गर्जन हैं। जो याचक श्रीराम-रूप के अनन्य हैं, उन्हीं के विरुद कहते और निछावर चाहते हैं, वे चातक रूप हैं, जो जय जयकार करते हैं, वे मेढक हैं, और जो आनन्द से भरे नृत्य कर रहे हैं, वे मोर हैं। इनमें मागध, सूत, बंदी और नट सब आ जाते हैं।

(४) 'सुर-सुगंध सुचि ···'—देवता जल बरसाते हैं, यथा—"देव न बरषहिं धरनि पर"(उ०दो०१०१); वैसे यहाँ देवता लोग सुगंधों की वर्षा कर रहे हैं, मानो वर्षा हो रही है। वर्षा से खेती हरी-भरी होती है, वसे ही यहाँ पुर नर-नारी सुखी हैं।

(५) 'सुमिरि शंभु गिरिजा···'—श्रीअवध से बरात चलने के समय कहा गया है,—"आपु चढ़ेउ स्यंदन सुमिरि, हर गुरु गौरि गनेस।" (दो० ३०१) यहाँ पुनः प्रवेश में भी वही स्मरण विधि है, गुरु का स्मरण उनकी आज्ञा पाकर चलने में है। 'होहिं सगुन'—शकुन भी यात्रा समय में विस्तार से कहे गये हैं, उन्हें ही यहाँ भी जानिये।

मागध सूत बंदि नट नागर । गावहिं जसु तिहुँ लोक उजागर ॥१॥
जयधुनि बिमल बेद-बर-बानी । दस दिसि सुनिय सुमंगल सानी ॥२॥
बिपुल बाजने बाजन लागे । नभ सुर नगर लोग अनुरागे ॥३॥
बने बराती बरनि न जाहीं । महामुदित मन सुख न समाहीं ॥४॥

पुरबासिन्ह तब राय जोहारे। देखत रामहिं भये सुखारे ॥५॥
करहिं निछावरि मनिगन चीरा। बारि बिलोचन पुलक सरीरा ॥६॥
आरति करहिं मुदित पुरनारी। हरषहिं निरखि कुअँर बर चारी ॥७॥
सिबिका सुभग ओहार उघारी। देखि दुलहिनिन्ह होहिं सुखारी ॥८॥

दोहा—येहि बिधि सबही देत सुख, आये राजदुआर।
मुदित मातु परिछन करहिं, बधुन्ह समेत कुमार ॥३४८॥

अर्थ—मागध, सूत, वन्दी और चतुरनट दोनों लोकों में प्रसिद्ध यश गा रहे हैं ॥ १ ॥ जयध्वनि और निर्मल श्रेष्ठ वेद की ध्वनि सुन्दर मंगलों से सनी हुई दशों दिशाओं में सुनी जाती है ॥२॥ बहुत-से बाजे बजने लगे, आकाश में देवता और नगर के लोग प्रेम में मग्न हो गये ॥ ३ ॥ बराती ऐसे बने (सजे-धजे) हैं कि उनका वर्णन नहीं हो सकता, वे मन में बड़े आनंदित हैं, सुख हृदय में नहीं समाता ॥ ४ ॥ तब पुरवासियों ने राजा को शिर झुकाया, श्रीरामजी को देखते ही सुखी हुए ॥ ५ ॥ मणियाँ और वस्त्र न्योछावर कर रहे हैं, नेत्रों में जल है और शरीर पुलकित है ॥ ६ ॥ पुर की स्त्रियाँ आनन्दित मन से आरती कर रही हैं, चारों सुंदर कुमारों को देखकर प्रसन्न हो रही हैं ॥ ७ ॥ सुंदर पालकी के सुंदर परदे उठा-उठाकर दुलहिनों को देख प्रसन्न होती हैं ॥ ८ ॥ इस प्रकार सभी को सुख देते हुए राजकुमार बहुओं के साथ राजद्वार पर आये, माताएँ आनंद-पूर्वक उनका परिछन करने लगीं ॥ ३४८ ॥

विशेष—'जस तिहुँलोक उजागर'—श्रीरामजी का और श्रीचक्रवर्तीजी का यश, यथा—"महि पाताल नाक यश व्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा॥" (दो० २६४); "त्रिभुवन तीनिकाल जग माहीं। भूरि भाग दसरथ सम नाहीं॥" (अ० दो० १)। 'बिपुल बाजने'—पूर्व बाजों के नाम कहे गये हैं। 'करहिं आरती'···ऊपर पुरुषों का निछावर करना कहा और यहाँ स्त्रियों का आरती करना है। द्वार-द्वार पर स्त्रियाँ आरती सजे खड़ी हैं, राजा धीरे-धीरे आ रहे हैं; अतः, सर्वत्र आरती होती जाती है। 'मुदित मातु परिछन'—बाहर मार्ग में कुमार और बधुएँ भिन्न-भिन्न सवारियों पर आये, परन्तु राजद्वार के समीप आने पर एक साथ वर-दुलहिन सवार हुए, इसी से 'बधुन्ह समेत कुमार' का एकत्र परिछन लिखा है।

करहिं आरती बारहिं बारा। प्रेम प्रमोद कहइ को पारा ॥१॥
भूषन मनि पट नाना जाती। करहिं निछावरि अगनित भाँती ॥२॥
बधुन्ह समेत देखि सुत चारी। परमानंद-मगन महतारी ॥३॥
पुनि-पुनि सीयराम-छबि देखी। मुदित सुफल जग-जीवन लेखी ॥४॥
सखी सीयमुख पुनि-पुनि चाही। गान करहिं निज सुकृत सराही ॥५॥
बरषहिं सुमन छनहिं छन देवा। नाचहिं गावहिं लावहिं सेवा ॥६॥

देखि मनोहर चारिउ जोरी । सारद उपमा सकल ढँढोरी ।७॥
देत न बनहिं निपट लघु लागी । एकटक रहीं रूप अनुरागी ॥८॥

दोहा—निगमनीति कुलरीति करि, अरघ पाँवड़े देत ।
वधुन्ह सहित सुत परिछि सब, चलीं लिवाइ निकेत ॥३४९॥

अर्थ—बार-बार आरती करती हैं, उस प्रेम और प्रमोद को कौन कह सकता है ? ॥१॥ अगणित प्रकार से अनेक जातियों के भूषण, मणि और वस्त्र न्योछावर करती हैं ॥२॥ बहुओं के साथ चारो पुत्रों को देखकर माताएँ परम आनन्द में मग्न हैं ॥३॥ श्रीसीतारामजी की छवि को फिर-फिर देख अपने जीवन को संसार में सफल मानकर सुखी हैं ॥४॥ सखियाँ श्रीसीताजी के मुख को बार-बार देखकर अपने पुण्यों की सराहना करके गान कर रही हैं ॥५॥ क्षण क्षण पर देवता फूल बरसाते हैं और नाचते-गाते हुए अपनी सेवा पहुँचाते हैं ॥६॥ चारो मन हरनेवाली जोड़ियों को देखकर सरस्वती ने सब उपमाएँ खोज डालीं ॥७॥ पर कोई उपमा देते न बनी, सभी एकदम तुच्छ जान पड़ीं, (तब हारकर) इन्हीं के रूपों को एकटक अनुरागपूर्वक देखती रह गईं ॥८॥ वेद-विधान और कुलरीति करके अर्घ पाँवड़े देती हुई सब पुत्रों को बहुओं के साथ परिछन करके घर लिवा ले चलीं ॥३४९॥

विशेष—'करहिं आरती बारहिं...'—विविध-विधान की आरती रची गई हैं ; अत , करने में 'बारहिं बारा' कहा गया। परिछन की उत्सुकता में 'मोद-प्रमोद बिबस ' कहा गया था, यहाँ प्रत्यक्ष दर्शन होने पर अपार 'प्रेम-प्रमोद' हुआ। पुरवासियों को आनन्द हुआ, माताओं को 'परमानंद मगन' कहा गया। 'सीयराम-छबि' को 'पुनि पुनि' देखना कहकर इन्हें तीन जोड़ियों की अपेक्षा अधिक सुखसागर जनाया, यथा— चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा॥" (दो० १९७), पुन इस जोड़ी में श्रीसीताजी को उत्तमतर देखकर सखियाँ इनको फिर-फिर देखती हैं। अत ,—'सखी सीय मुख पुनि पुनि चाही।' कहा है। 'एकटक रहीं रूप '—जब कहीं उपमा योग्य न मिली, तब मुग्ध होकर इन्हीं को देखती रह गईं कि इनके समान बस ये ही हैं। 'अनुरागी'-प्रीतिपूर्वक देखती ही रह गईं। 'निगम नीति कुल रीति ···'—वसिष्ठजी ने वेद-रीति कराई और कुल-वृद्धों ने कुल रीतियाँ कराईं।

चारि सिंहासन सहज सुहाये । जनु मनोज निज हाथ बनाये ॥१॥
तिन्ह पर कुअँरि कुअँर बैठारे । सादर पाय पुनीत पखारे ॥२॥
धूप दीप नैवेद बेद - बिधि । पूजे बर - दुलहिनि मंगलनिधि ॥३॥
बारहिं बार आरती करहीं । ब्यजन चारु चामर सिर ढरहीं ॥४॥
बस्तु अनेक निछावरि होहीं । भरीं प्रमोद मातु सब सोहीं ॥५॥
पावा परमतत्त्व जनु जोगी । अमृत लहेउ जनु संतत रोगी ॥६॥

जनमरंक जनु पारस पावा। अंधहि लोचनलाभ सुहावा ॥७॥
मूकवदन जनु सारद छाई। मानहुँ समर सूर जय पाई ॥८॥

दोहा—येहि सुख ते सत-कोटि-गुन, पावहिं मातु अनंद।
भाइन्ह सहित बिआहि घर, आये रघुकुलचंद ॥
लोकरीति जननी करहिं, बर दुलहिन सकुचाहिं।
मोद बिनोद बिलोकि बड़, राम मनहिं मुसुकाहिं ॥३५०॥

अर्थ—सहज ही सुन्दर चार सिंहासन हैं, मानों कामदेव ने उन्हें अपने हाथों से बनाया है ॥१॥ उनपर कुमारों और कुमारियों को बैठाया और आदर-पूर्वक उनके पवित्र चरण धोये ॥२॥ वेद-रीति के अनुसार मंगल के निधान दूलहों और दुलहिनों की धूप-दीप-नैवेद्य आदि से पूजा की ॥३॥ बार-बार आरती कर रही हैं, सुन्दर पंखे और चँवर शिर पर डुलाये जा रहे हैं ॥४॥ अनेक वस्तुएँ निछावर हो रही हैं, परम आनंद में भरी हुई सब माताएँ सुशोभित हैं ॥५॥ मानों योगी ने परम-तत्त्व पाया, या, जन्म के रोगी को अमृत मिला ॥६॥ जन्म के दरिद्र ने पारस पाया, अंधे को सुन्दर नेत्रों का लाभ हुआ ॥७॥ गूँगे के मुख में (जिह्वा पर) सरस्वती आ बसी, अथवा मानों लड़ाई में शूरवीर ने जय पाई ॥८॥ इन सुखों से सौ करोड़ गुने सुख माताएँ पा रही हैं। रघुकुल के चन्द्र श्रीरामजी भाइयों के साथ ब्याह करके घर आये ॥ माताएँ लोक-रीति करती हैं और वर-दुलहिनें सकुचते हैं, इस बड़ी आनन्द-क्रीड़ा को देखकर श्रीरामजी मन ही में मुसकराते हैं ॥३५०॥

विशेष—(१) 'सहज सुहाये'—इनकी स्वाभाविक रचना ही सुंदर है, सजाने की आवश्यकता नहीं। "सादर पाय पुनीत..." से—"आरती करहीं॥" तक षोडशोपचार पूजा जनाई। 'सादर'—इन्हीं चरणों से परम पावनी गंगाजी भी प्रकट हुई हैं एवं अहल्या तरी है, इत्यादि महत्त्व-दृष्टि से माताएँ और भी प्रेम-पूर्वक धोती हैं। यहाँ देव-पूजन की रीति से आरती की गई। 'वेद-विधि' अर्थात् वेदोक्त मंत्रों के साथ पूजा की गई: 'मंगल-निधि'-मंगल के लिये मंगल-निधि की पूजा की गई। 'ब्यजन चारु...'— पंखे के संबंध से वैशाख मास सूचित किया, क्योंकि बरात कार्तिक में जनकपुर पहुँची, अगहन में ब्याह हुआ, पूस, माघ, फागुन पहुनाई में बीत गये, चैत में बिदाई होती ही नहीं; अतः वैशाख में सब लौट आये, इसीमें पंखों की आवश्यकता हुई। 'भरी प्रमोद मातु...' पूर्व कहा था—'प्रेम प्रमोद कहइ को पारा।' उसी दशा को एक रस दिखाते हुए भरी प्रमोद कहा है।

(२) 'पावा परम तत्त्व ..'—जबसे श्रीराम-लक्ष्मणजी विश्वामित्रजी के साथ गये, तबसे कौशल्या आदि माताएँ दुःखी रहती थीं, अब चारों भाई दुलहिनों के साथ आये, तो उस दुःख की निवृत्ति और इस सुख की प्राप्ति को ग्रन्थकार दृष्टान्तों से कहते हैं जैसे योगी लोग परम तत्त्व की प्राप्ति के लिये दुःख से चिन्तवन करते रहते हैं और उसकी प्राप्ति पर सुखी होते हैं, उसी तरह माताएँ श्रीरामजी के लिये सदा दुःख से चिन्तवन करती थीं; अतः, दुलहिनों के साथ श्रीराम आदि की प्राप्ति से इन्हें योगियों से सौ करोड़ गुने आनंद हुआ, क्योंकि श्रीरामजी परम तत्त्व रूप हैं, यथा—"जोगिन्ह

परम तत्त्व मय भासा।" (दो० २११)। 'अमृत लहेउ जनु ··'—दूसरी उपमा रोगी की दी, माताएँ पुत्र-मोह-रूप मानस-रोग (आधि) से रोगी की तरह दुःखी थीं, इन्हें खाना-पीना नहीं सुहाता था—"सरुज सरीर बादि बहु भोगा" (अ० दो० १७७) कहा ही है। जब अमृत-रूप श्रीराम आदि के दर्शन हुए, यथा—"द्रवा समुद्र समीप बिहाई। मृगजल निरखि मरहु कत धाई॥" (दो० २२५) तब वह दुःख निवृत्त हुआ और रोगी से सौ करोड़ गुने सुख की प्राप्ति हुई। 'जनम रंक जनु पारस पावा।'—यह तीसरी उपमा परम दरिद्र की है। दरिद्री द्रव्य-हीन होने से खाने-पहनने से दुःखी रहता है। उसे यदि पारस प्राप्त हो गया, तो खाने पहनने का पूर्ण सुख प्राप्त हो गया। उसी तरह माताओं को श्रीरामजी के विरह में खाना-पहनना नहीं सुहाता था, दरिद्र की-सी दशा में रहती थीं, क्योंकि वे जानती थीं कि ऋषि लोगों के साथ श्रीरामजी कंद-मूल आदि ही खाते होंगे। जब श्रीरामजी आकर प्राप्त हुए, तब सब सुख माताओं को पुनः प्राप्त हुआ, जैसे दरिद्र को पारस की प्राप्ति से हो। 'अंधहिं लोचन लाभ सुहावा'—यह चौथी उपमा है। माताएँ श्रीरामजी के वियोग में दुःखी बैठी रहती थीं, अंधे की तरह बुद्धि से कोई बात नहीं सूझती थी, अब नेत्र रूप श्रीरामजी प्राप्त हुए, तब सब सूझ हो गई, चलने फिरने लगीं। इन्हें उस अंधे से शत कोटि गुण सुख मिला। नेत्र रूप श्रीरामजी हैं; यथा—"निज कर नयन कादि चह दीखा।" (अ० दो० ४६)। 'मूक बदन जनु सारद छाई'—यह पाँचवीं उपमा है, श्रीराम-वियोग में माताएँ गुमसुम बैठी रहती थीं; किसी से बोलना नहीं सुहाता था, जब श्रीरामजी आ गये, तब उनसे बोलने लगीं और इससे जो सुख हुआ वह गूँगे को सरस्वती की प्राप्ति से शत-कोटि गुण है, यहाँ श्रीरामजी शारदा-रूप हैं, यथा—"सारद कोटि अमित चतुराई।" (उ० दो० ९१) 'मानहु समर सूर जय पाई'—यह छठी उपमा है। शूर-वीर प्रथम प्राण अर्पण करके समर करता है, संग्राम से विजय के साथ प्राण सुरक्षित पाकर अत्यन्त सुखी होता है। वैसे ही माताओं ने प्राण-रूप पुत्रों को ताड़का, मारीच आदि से संग्राम के लिये दिया था। इसीसे माताओं की उपमा शूर की है। इन्हें विजय-रूपा श्रीजानकीजी के साथ प्राण-रूप पुत्र सुरक्षित आकर प्राप्त हुए। इससे उस शूर से शतकोटि-गुण सुख माताओं को हुआ। इन छः प्रकार के भावों को दिखाने के लिये छः उपमाएँ दी गई हैं। अथवा आनन्द मात्र के आधिक्य दिखाने के लिये उसे कई प्रकार से पुष्ट किया।

(३) 'लोकरीति जननी करहिं'—श्रीरंगजी के मन्दिर में ले जाकर वहाँ गाँठ जोर वर-दुलहिनों को चौक पर बैठा, श्रीरंगजी एवं गौरी-गणेश आदि का पूजन कराया, लहकौर कराके थाल, में भूषण डालकर जुआ खेलाती हैं। भरत आदि की स्त्रियाँ जेठों के सामने सकुचाती हैं। इसी तरह भरत आदि भी बड़ों के बीच में वहाँ सकुचाते हैं। हार-जीत पर सखियाँ उभय पक्षों को गाली गाती हैं, इसपर भी उभय पक्ष सकुचते हैं। 'राम मनहिं मुसुकाहिं'—इसलिये कि जो योगियों को ध्यान में भी अगम है, उसे इन्होंने लोकरीति में बाँध रक्खा है। अथवा मन में यों भी मुसुकाना कहा जाता है कि ऐसे ही जनकपुर वासियों ने बड़ा मोद-विनोद किया, पीछे वियोग पर बिदाई-समय रोये, वैसे ही बारह वर्ष पीछे ये लोग भी वन यात्रा में दुःख भोगेंगे, यह लोक-लीला है।

देव पितर पूजे बिधि नीकी। पूजीं सकल बासना जी की॥१॥
सबहि बंदि माँगहिं बरदाना। भाइन्ह सहित राम-कल्याना॥२॥
अंतरहित सुर आसिष देहीं। मुदित मातु अंचल भरि लेहीं॥३॥
भूपति बोलि बराती लीन्हे। जान बसन मनि भूषन दीन्हे॥४॥

आयसु पाइ राखि उर रामहिं। मुदित गये सब निज-निज धामहिं ॥५॥
पुर-नर-नारि सकल पहिराये। घर-घर बाजन लगे बधाये ॥६॥
जाचक जन जाचहिं जोइ जोई। प्रमुदित राउ देहिं सोइ सोई ॥७॥
सेवक सकल बजनिआ नाना। पूरन किये दान सनमानाँ ॥८॥

दोहा—देहिं असीस जोहारि सब, गावहिं गुन-गुन-गाथ।
तब गुरु-भूसुर सहित गृह, गवन कीन्ह नरनाथ ॥३५१॥

अर्थ—मन की सब वासनाएँ (इच्छाएँ) पूरी हुईं, (अतः,) देवताओं और पितरों की उत्तम विधान से पूजा की ॥ १ ॥ (फिर) सबकी वंदना करके वरदान माँगती हैं कि भाइयों के साथ श्रीरामजी का कल्याण हो ॥ २ ॥ देवता अन्तर्हित (अदृश्य) रूप से असीस देते हैं, आनन्दपूर्वक माताएँ अंचल भर-भरकर लेती हैं ॥ ३ ॥ राजा ने बरातियों को बुला लिया, और उन्हें सवारियाँ, वस्त्र, रत्न और आभूषण दिये ॥ ४ ॥ आज्ञा पाकर और श्रीरामजी को हृदय में रखकर सब अपने-अपने घर आनन्द पूर्वक गये ॥ ५ ॥ नगर के सब स्त्री-पुरुषों को (वस्त्र) पहनाये, घर-घर बधाइयाँ बजने लगीं ॥६॥ भिक्षुक लोग जो-जो माँगते हैं, आनन्द पूर्वक राजा वही वही देते हैं ॥ ७ ॥ सभी सेवकों और अनेक बाजेवालों को दान और सम्मान से परिपूर्ण कर दिया ॥ ८ ॥ सब प्रणाम करके असीस देते हैं और गुणगणों की कथा गाते हैं, तब गुरु और ब्राह्मणों के साथ राजा ने घर में प्रवेश किया ॥ ३५१ ॥

विशेष (१)—'देव पितर पूजे'—विश्वामित्र के साथ श्रीराम-लक्ष्मण के जाते समय मनौतियाँ मानी गई थीं कि यज्ञ-रक्षा करके कुशलपूर्वक आवेंगे तब अमुक-अमुक विधान से पूजेंगी, वे सब अच्छी विधि से की गईं। 'भाइन्ह सहित राम ···'—क्योंकि श्रीरामजी के तुल्य ही सभी प्रिय हैं, पुनः, श्रीरामजी भी भाइयों के सुख में सुखी होते हैं, यथा—"जनमे एकसंग सब भाई" से "बड़ेहि अभिषेकू।" (अ० दो० ९) तक 'अन्तरहित सुर···'—देवता अदृश्य रूप में बोलते हैं, क्योंकि उनका मूर्त्तिरूप से बोलना अमङ्गल है। जहाँ प्रकट बोलना है, वहाँ प्राय, मन्त्रों द्वारा आवाहन पर है, अथवा प्रत्यक्ष होकर बोलना है। 'जान बसन मनि-भूषन दीन्हें।'—'जान' से यहाँ सब सवारियों का तात्पर्य है, यथा—"चले जान चढि जो जेहि लायक।" (दो० २९९), 'आयसु पाइ ' मुदित···'—इन्हें यान-वसन आदि के पाने से नहीं, किन्तु श्रीरामजी को हृदय में रखने में आनन्द हुआ।

(२) 'जाचक जन···प्रमुदित राउ···'—जैसे जैसे याचक लोग माँगते हैं, राजा को आनन्द बढ़ता जाता है, अतः, 'प्रमुदित' कहा है। 'सेवक ··दान सनमाना'—सेवक आदि के संबंध से दान का अर्थ देने मात्र का है, संकल्प पूर्वक दान नहीं।

जो बसिष्ठ अनुसासन दीन्ही। लोक - बेद - बिधि सादर कीन्ही ॥१॥
भूसुर- भीर देखि सब रानी। सादर उठीं भाग्य बड़ जानी ॥२॥

पाय पखारि सकल अन्हवाये। पूजि भली बिधि भूप जेंवाये ॥३॥
आदर दान प्रेम परिपोषे। देत असीस चले मन तोषे ॥४॥
बहु बिधि कीन्हि गाधि-सुत-पूजा। नाथ मोहि सम धन्य न दूजा ॥५॥
कीन्हि प्रसंसा भूपति भूरी। रानिन्ह सहित लीन्हि पगधूरी ॥६॥
भीतर भवन दीन्ह बर बासू। मन जोगवत रह नृप रनिवासू ॥७॥
पूजे गुर-पद-कमल बहोरी। कीन्हि बिनय उर प्रीति न थोरी ॥८॥

दोहा—बधुन्ह समेत कुमार सब, रानिन्ह सहित महीस।
पुनि पुनि बंदत गुरुचरन, देत असीस मुनीस ॥३५२॥

अर्थ—श्रीवसिष्ठजी ने जो आज्ञा दी, उस लोक और वेद विधि को आदर के साथ उन्होंने किया ॥१॥ ब्राह्मणों की भीड़ देख सब रानियाँ अपना बड़ा भाग्य जानकर आदर पूर्वक उठीं ॥२॥ चरण धोकर सबको स्नान करवाया, फिर अच्छी तरह से पूजन करके राजा ने उनको भोजन कराया ॥३॥ आदर, दान और प्रेम से पाले हुए वे मन से संतुष्ट होकर असीस देते हुए चले ॥४॥ गाधिपुत्र विश्वामित्रजी की पूजा बहुत विधान पूर्वक की, 'हे नाथ! मेरे समान धन्य दूसरा नहीं है' (इत्यादि रीतियों से) ॥५॥ राजा ने उनकी बहुत प्रशंसा की और रानियों के सहित उनके चरणों की धूलि को लिया (शिरोधार्य किया) ॥६॥ भीतर महल में उन्हें श्रेष्ठ निवासस्थान दिया, राजा और रनिवास उनके मन को जुगाते रहते हैं ॥७॥ फिर गुरु (वसिष्ठ) के चरण कमलों की पूजा और विनती की, उनके हृदय में थोड़ी प्रीति नहीं है, अर्थात् अत्यन्त प्रीति है ॥८॥ बहुओं के साथ चारो राजकुमार और सब रानियों के साथ राजा बार बार गुरुचरणों की वंदना करते हैं और मुनीश्वर आशीर्वाद देते हैं ॥३५२॥

विशेष—(१) 'जो बसिष्ठ अनुसासन ··'—अब यहाँ से भीतर के कृत्य कहते हैं।

(२) 'सादर उठीं भाग्य ··'—एक ही ब्राह्मण विश्वामित्र के आने से कितना मंगल हुआ, अब तो बहुत से एक साथ आये हैं। अतः, बड़ा भाग्य है, ऐसा जानकर उन सबके सत्कार के लिये सब उठीं। उठना आदर है, चरण धोकर स्नान करवाकर पीताम्बर पहनवाया, तब तक गुरु आज्ञा के कृत्य करके राजा आ गये, तब शेष कृत्य भोजन आदि राजा ने करवाये।

(३) 'गाधि सुत पूजा'—पूजा के समय इस महत्त्व पर दृष्टि थी कि ये राज-पुत्र से ब्रह्मर्षि हो गये, ऐसे तपस्वी हैं। 'मोहि सम धन्य न दूजा'—क्योंकि आपने पधारकर मेरे भवन को पवित्र किया और पुत्रों के बहुत तरह से कल्याण किये, इन्हीं उपकारों के प्रति एवं उनके महत्त्व के अनुसार भूरि प्रशंसा की। 'जोगवना'—यत्न पूर्वक सार सँभार करना।

(४) 'पूजे गुरु पद कमल ··'—राजा जनकजी ने वसिष्ठजी, विश्वामित्रजी और ब्राह्मणों की पूजा की थी, पर यहाँ उसका उलटा हुआ, क्योंकि प्रधान की पूजा पहले और पीछे भी होती है। दो जगहों में दोनों रीतियाँ दिखाई गई हैं।

'बधुन्ह समेत ··'—'पुनि-पुनि' से प्रेमाधिक्य और 'देत' से बहुत आशीर्वाद जनाये।

विनय कीन्हि उर अति अनुरागे। सुत संपदा राखि नृप आगे ॥१॥
नेग माँगि मुनिनायक लीन्हा। आसिरबाद बहुत बिधि दीन्हा ॥२॥
उर धरि रामहि सीयसमेता। हरषि कीन्ह गुरु गवन निकेता ॥३॥
बिप्रबधू सब भूप बोलाई। चैल चारु भूषन पहिराई ॥४॥
बहुरि बोलाइ सुआसिनि लीन्ही। रुचि बिचारि पहिरावनि दीन्ही ॥५॥
नेगी नेग जोग सब लेहीं। रुचि-अनुरूप भूपमनि देहीं ॥६॥
प्रिय पाहुने पूज्य जे जाने। भूपति भली भाँति सनमाने ॥७॥
देव देखि रघुबीर-बिबाहू। बरषि प्रसून प्रसंसि उछाहू ॥८॥

दोहा—चले निसान बजाइ सुर, निज निज पुर सुख पाइ।
कहत परसपर रामजस, प्रेम न हृदय समाइ ॥३५३॥

अर्थ—हृदय में अत्यन्त अनुराग के साथ पुत्रों और सम्पत्ति को आगे रखकर राजा ने विनती की ॥१॥ मुनि-श्रेष्ठ ने अपना नेग माँगकर ले लिया और बहुत तरह से आशीर्वाद दिया ॥२॥ सीताजी के साथ श्रीरामजी को हृदय में धरकर गुरु आनन्दित हो घर को चले ॥३॥ राजा ने सब ब्राह्मणियों को बुलवाया तथा सुन्दर वस्त्र और भूषण पहनवाये ॥४॥ फिर सुहागिनी स्त्रियों (गाँव की ब्याही हुई लड़कियों) को बुलवाया और उनकी रुचि समझकर उनके पहनने योग्य वस्त्र और आभूषण दिये ॥५॥ सब नेगी (नाई बारी आदि) अपनी इच्छा के अनुसार नेग लेते हैं, राज-शिरोमणि दशरथजी उनको रुचि के अनुकूल ही देते हैं ॥६॥ जिन प्यारे पाहुनों को पूजा के योग्य समझा, राजा ने उनका भली प्रकार सम्मान किया ॥७॥ देवता लोग रघुवीर श्रीरामजी का ब्याह देखकर और उत्सव की प्रशंसा करके फूल बरसाते हैं ॥८॥ देवता लोग आपस में रामयश कहते हुए नगाड़ा बजाकर सुख-पूर्वक अपने-अपने लोकों को चले, उनके हृदय में प्रेम नहीं समाता ॥३५३॥

विशेष—(१) 'रुचि बिचारि'—क्योंकि ये सब श्रीमान्-घरों की हैं, पूछने पर संकोच होगा; अतः, उनके योग्य विचार कर दिया। 'प्रिय पाहुने पूज्य'—कन्या-बहन आदि सुवासिनियों के पति। 'प्रेम न हृदय समाइ'—अश्रु आदि से प्रकट हो जाता है।

(२) 'विनय कीन्हि उर...'—ऊपर जो विनय की गई, वह पूजा के सम्बन्ध की है, और यह अर्पित वस्तुओं के ग्रहण करने के लिये है। 'नेग माँगि...'—जो इस अवसर पर पुरोहितों को मिलता है, उतना ही माँग लिया, क्योंकि ये 'मुनि नायक' हैं, इनकी कृपा-दृष्टि से दूसरे कुबेर के समान हो सकते हैं इन्हें क्या कमी है? इन्हें भी राजा के सर्वस्व देने एवं अपने त्याग एवं संतोष आदि पर हर्ष नहीं हुआ, किन्तु—'उर धरि रामहि सीय समेता।' पर ही हर्ष हुआ, राजा ने 'सुत-संपदा' सब दिये, पर इन्होंने पुत्र रामजी को ही भाव-मात्र से लिया।

सब बिधि सबहि समदि नरनाहू। रहा हृदय भरि पूरि उछाहू ॥१॥
जहँ रनिवास तहाँ पगु धारे। सहित बधूटिन्ह कुअँर निहारे ॥२॥
लिये गोद करि मोद समेता। को कहि सकइ भयेउ सुख जेता ॥३॥
बधू सप्रेम गोद बैठारी। बार बार हिय हरषि दुलारी ॥४॥
देखि समाज मुदित रनिवासू। सबके उर अनंद कियो बासू ॥५॥
कहेउ भूप जिमि भयेउ बिवाहू। सुनि सुनि हर्ष होत सब काहू ॥६॥
जनकराज - गुन सील बड़ाई। प्रीतिरीति सपदा सुहाई ॥७॥
बहु बिधि भूप भाट जिमि बरनी। रानी सब प्रमुदित सुनि करनी ॥८॥

दोहा—सुतन्ह समेत नहाइ नृप, बोलि बिप्र गुरु ज्ञाति ।
भोजन कीन्ह अनेक बिधि, घरी पंच गइ राति ॥३५४॥

शब्दार्थ—समदि (सम + बदि) = भली भाँति बश (राजी) करके, वा समदन = भेंट, नजर, (अ०) = प्रेम से मिलना।

अर्थ—सब प्रकार से सबको भली भाँति वश (राजी) करने पर हृदय उत्साह से भर रहा ॥१॥ जहाँ रनिवास था, वहाँ गये और बहुओं के साथ कुमारों को देखा ॥२॥ उन्हें आनन्द सहित गोद में ले लिया, इससे उन्हें जो सुख हुआ, उसे कौन कह सकता है ? ॥३॥ गोद में बैठाये हुए बहुओं को प्रेम सहित बार-बार आनन्दित हो दुलारा ॥४॥ यह समाज देखकर रनिवास आनन्दित है, सभी के हृदय में आनन्द ने निवास कर लिया है। ५॥ जिस तरह विवाह हुआ, वह सब राजा ने कहा। सुन सुनकर सबको हर्ष होता था ॥६॥ राजा दशरथ ने भाट की तरह जनक महाराज के गुण, शील, बड़ाई और सुंदर प्रीति, रीति, सम्पदा का बखान किया। उनकी करनी सुनकर सब रानियाँ प्रसन्न हुईं ॥७-८॥ पुत्रों के साथ स्नान करके राजा ने ब्राह्मण, गुरु और जाति-वर्ग को बुलाकर अनेक प्रकार के भोजन किये। इस प्रकार पाँच घड़ी रात बीत गई ॥३५४॥

विशेष— (१) 'जनक राज गुन सील ' '—'सील' यथा—"धोये जनक अवध पति चरना। सील सनेह जाइ नहिं बरना ॥" (दो० ३२६); 'बड़ाई' यथा—"समध राजन रावरे हम बड़े अब सब बिधि भये।" (दो० ३२७), 'प्रीति' यथा—"मिले जनक दशरथ अति प्रीती।" (दो० ३१६), 'रीति' यथा—"बहुरि कीन्हि कोसल पति पूजा।" (दो० ३२०); 'सपदा' यथा—"जो अवलोकत लोक पति लोक सम्पदा थारि।" (दो० ३३३), इत्यादि।

(२) 'प्रमुदित सुनि ..'—प्रथम तो जो बात इन्हें सुनने की लालसा थी, वह सब बिना पूछे ही राजा सुनाने लगे, तब हर्ष हुआ, अब राजा जनक के गुण, शील आदि के सुनने पर अत्यन्त हर्ष हुआ कि हमें ऐसे योग्य समधी मिले और कन्याओं में भी पिता के से शील आदि गुण होंगे, वा हमारे घर की शोभा बढ़ेगी। 'भाट जिमि' भाट की तरह कहने में थकते नहीं। उत्साह-पूर्वक कहते हैं। 'घरी पंच गइ

राति'—रात के पहले ही पहर में भोजन करना हराम है, सवा पहर तक निशि-भोजन है, फिर आसुर भोजन है। ऐसी भीड़ में भी समय का सँभाल है।

मंगलगान करहिं बर भामिनि। भइ सुखमूल मनोहर जामिनि ॥१॥
अँचइ पान सब काहू पाये। स्रग-सुगंध-भूषित छवि छाये ॥२॥
रामहि देखि रजायसु पाई। निज-निज-भवन चले सिर नाई ॥३॥
प्रेम प्रमोद बिनोद बड़ाई। समय समाज मनोहरताई ॥४॥
कहि न सकहिं सत सारद सेसू। बेद बिरंचि महेस गनेसू ॥५॥
सो मैं कहउँ कवन बिधि बरनी। भूमिनाग सिर धरइ कि धरनी ॥६॥
नृप सब भाँति सबहि सनमानी। कहि मृदु बचन बोलाई रानी ॥७॥
बधू लरिकिनी पर घर आईं। राखेहु नयन-पलक की नाईं ॥८॥

दोहा—लरिका श्रमित उनींद बस, सयन करावहु जाइ।
अस कहि गे बिश्रामगृह, रामचरन चित लाइ ॥३५५॥

अर्थ—श्रेष्ठ स्त्रियाँ मंगल गा रही हैं, वह मनोहर रात्रि सुख की मूल (उपजानेवाली) हुई ॥१॥ आचमन करके सभी ने पान पाये, माला और सुगंध (इत्र आदि) से भूषित होने से सभी पर शोभा छाई हुई है ॥२॥ श्रीरामजी को देखकर राजा को आज्ञा पा प्रणाम करके अपने-अपने घरों को चले ॥३॥ वह प्रेम, प्रमोद, क्रीड़ा, बड़ाई, समय, समाज और मनोहरता ॥४॥ सैकड़ों शारदा, शेष, वेद, ब्रह्मा, महेश और गणेश भी नहीं कह सकते ॥५॥ उसे मैं किस प्रकार वर्णन करके कहूँ? क्या केंचुवा (चारा-वाली) पृथिवी को शिर पर धारण कर सकता है? ॥६॥ राजा ने सभी का सब तरह सम्मान किया और कोमल वचन कहकर (रानियों) को बुलाया ॥७॥ "बच्ची बहुएँ दूसरे घर आई हैं, इन्हें नेत्र और पलक के समान रखना ॥८॥ लड़के थके हुए नींद के वश हैं, इन्हें जाकर सुलाओ"—ऐसा कह और श्रीरामजी के चरणों में चित्त लगाकर राजा विश्राम-स्थान (शयनागार) में गये ॥३५५॥

विशेष—(१) 'मंगलगान करहिं···'—ससुराल में भोजन के समय गाली गान होता है और अपने घर में मंगल गान होता है। 'भइ सुखमूल मनोहर जामिनि'—रात में दो अवगुण हैं, दोष और दुःख, यथा—"सहित दोष दुख दास दुरासा। दलइ नाम जिमि रवि निसि नासा।।" (दो० २४); तथा—"मिटहि दोष दुख भव रजनी के।" (दो० १), यहाँ इसे सुखमूल कहकर दुःख से रहित होना और 'मनोहर' कहकर अंधकार-रूप दोष से रहित होना जनाया, अर्थात् चाँदनी रात थी। 'चले सिर नाई'—ब्राह्मण आदि भी भोजन में थे, उनका राजा को प्रणाम करना अयोग्य है; अतः, यहाँ परस्पर का शिर नवना अर्थ है। प्रेम प्रमोद बिनोद...'—'प्रेम प्रमोद' यथा—"प्रेम प्रमोद कहइ को पारा।" (दो० ३४८)। 'बिनोद' यथा—"मोद-बिनोद बिलोकि बड़" (दो० ३५०), 'बड़ाई' यथा—"भाग्य बिभव अवधेस कर" (दो० ३१३); समय, ब्याह मंगल का। 'समाज' यथा—"कोसलपति कर देखि समाजू। अति ल—

लाग ·"– (दो० ३१२); यहाँ प्रेम आदि सात बातें कही गई, वैसे इनके वक्ता भी शारद आदि छ कहे गये हैं, एक और श्रीगोस्वामीजी को लेकर सात होते हैं। प्रेम आदि सात ही कहकर सातों समुद्रों की तरह इन्हें अगाध जनाया। 'सो मैं कहउँ···'—वे बहुमुख और ईश्वर कोटि हैं, मैं एक मुख और मनुष्य, फिर वे भी जब सैकड़ों-सैकड़ों असमर्थ हैं, तब एक मैं क्या कह सकता हूँ, इसी को शेष और केंचुए के दृष्टान्त से समझाया।

(२) 'नयन पलक की नाई'—जैसे पलकें नेत्रों की रक्षा करती हैं, वैसे रक्षा करना, यथा—"पलक बिलोचन गोलक जैसे।" (अ० दो० १४१)। लरिका श्रमित···राम चरन चित लाइ।' यहाँ माधुर्य और ऐश्वर्य दोनों हैं, यथा—'लरिका' और 'बधू लरिकिनी' माधुर्य दृष्टि से कहा है और 'राम चरन चित लाइ' ऐश्वर्य दृष्टि से है, क्योंकि पूर्व मनुरूप में आपने ऐसा ही वर माँगा था, यथा—"सुत बिषइक तव पद रति होऊ।" (दो० १५०)। इसमें 'सुत' भाव में माधुर्य और 'पदरति होऊ' में ऐश्वर्य है, वही यहाँ भी है। 'अस कहि गे ···'—ऐसा न कह जाते तो यहाँ चित्त लगा रहता, अतः, नींद न आती।

भूपबचन - सुनि सहज सुहाये। जटित कनकमनि पलँग डसाये ॥१॥
सुभग-सुरभि-पय-फेन समाना। कोमल कलित सुपेती नाना ॥२॥
उपबरहन बर बरनि न जाहीं। स्रग सुगंध मनिमंदिर माहीं ॥३॥
रतन दीप सुठि चारु चँदोवा। कहत न बनइ जान जेहि जोवा ॥४॥
सेज रुचिर रचि राम उठाये। प्रेमसमेत पलँग पौढ़ाये ॥५॥
आज्ञा पुनि पुनि भाइन्ह दीन्ही। निज-निज सेज सयन तिन्ह कीन्ही ॥६॥
देखि स्याम मृदु मंजुल गाता। कहहिं सप्रेम बचन सब माता ॥७॥
मारग जात भयावनि भारी। केहि बिधि तात ताड़का मारी ॥८॥

दोहा– घोर निसाचर बिकट भट, समर गनहिं नहिं काहु।
मारे सहित सहाय, किमि, खल मारीच सुबाहु ॥३५६॥

अर्थ—राजा के स्वाभाविक ही सुंदर वचन सुनकर, स्वर्ण-मणि जटित पलँग बिछाये ॥१॥ सुंदर गाय के दूध के फेन के समान कोमल, बढ़िया, सफेद तोशक बिछाया ॥२॥ और बहुत-से श्रेष्ठ तकिये हैं, जिनका वर्णन नहीं हो सकता। उस मणि मंदिर में माला, सुगंध ॥३॥ सुन्दर रत्न-दीप और चँदोवे हैं, वे कहते नहीं बनते, जिन्होंने देखे हैं, वे ही जानें ॥४॥ सुन्दर शय्या रचकर श्रीरामजी को उठाया और प्रेम-सहित पलँग पर सुलाया ॥५॥ श्रीरामजी ने बार-बार भाइयों को आज्ञा दी, तब उन्होंने अपनी-अपनी शय्या पर शयन किया ॥६॥ साँवले, कोमल, सुन्दर शरीर को देखकर सब माताएँ प्रेम-पूर्वक वचन कह रही हैं ॥७॥ हे तात! मार्ग में जाते हुए तुमने भारी भयानक ताड़का को किस तरह मारा? ॥८॥ दुष्ट मारीच सुबाहु और घोर निशाचरों को, जो बड़े ही विकट योद्धा थे और जो लड़ाई में किसी को कुछ नहीं गिनते थे, सहायकों के साथ कैसे मार डाला ॥३५६॥

विशेष—(१) 'नाना' शब्द अगली अर्द्धाली के 'रुचिरहन' के साथ है। 'मनिमंदिर' कहा है, अतः, 'रत्नदीप' कहा, क्योंकि रत्न में मणि से अधिक ज्योति होती है। 'सेज रुचिर' यथा—"यत्र चित्र-वितानानि पद्मरागासनानि च। पयःफेननिभाः शय्या मुक्तादामपरिच्छदाः॥" (श्रीमद्भागवत० स्कंध० ७ अ० ४); 'आज्ञा पुनि-पुनि…'—भाइयों को शयन के लिये बार-बार आज्ञा देते हैं, तब वे शयन के लिये सेवा छोड़कर गये, यह सेवा-धर्म की रीति जनाई। 'केहि बिधि तात…'—अर्थात् वे राक्षस, पर्वताकार, भयानक और कठोर थे, तुम मनुष्य, छोटे बालक, सुंदर और कोमल हो, अतः, कैसे मारा? 'गनइ नहिं काहु'—देव, दैत्य, नर, नागादि किसी को नहीं गिनते थे, यथा—"एक-एक जग-जोति सक" (दो० १८०)।

मुनिप्रसाद बलि तात तुम्हारी। ईस अनेक करवरैं टारी॥१॥
मख-रखवारी करि दुहुँ भाई। गुरुप्रसाद सब बिद्या पाई॥२॥
मुनितिय तरी लगत पग धूरी। कीरति रही भुवन भरि पूरी॥३॥
कमठपीठि पबिकूट कठोरा। नृप समाज महँ सिव धनु तोरा॥४॥
बिस्व बिजय जस जानकि पाई। आये भवन ब्याहि सब भाई॥५॥
सकल अमानुष करम तुम्हारे। केवल कौसिक कृपा सुधारे॥६॥
आज सुफल जग जनम हमारा। देखि तात बिधुबदन तुम्हारा॥७॥
जे दिन गये तुम्हहि बिनु देखे। ते बिरंचि जनि पारहि लेखे॥८॥

दोहा—राम प्रतोषी मातु सब, कहि बिनीत बर बैन।
सुमिरि संभु-गुरु-बिप्र-पद, किये नींदबस नैन॥३५७॥

शब्दार्थ—करवरैं = बाधाएँ। पबिकूट = वज्र समूह, वज्र और पर्वत।

अर्थ—हे तात! मैं तुम्हारी बलि जाऊँ, मुनि के प्रसाद (अनुग्रह) से ईश्वर ने तुम्हारी अनेकों बाधाएँ टालीं॥१॥ दोनों भाइयों ने यज्ञ की रक्षा करके गुरु की कृपा से सब विद्याएँ पाईं॥२॥ गौतम मुनि की स्त्री चरण की धूलि लगते ही तर गई, सब-लोकों में कीर्ति भरपूर फैल गई॥३॥ कच्छप भगवान् की पीठ और वज्र-समूह से भी कठोर शिव-धनुष को राज समाज में तोड़ा॥४॥ संसार-विजय, यश और जानकीजी को पाया और सब भाइयों को ब्याहकर घर आये॥५॥ तुम्हारे सभी कर्म अमानुष (मनुष्य से विलक्षण) हैं, केवल विश्वामित्र की कृपा ने सुधारा है॥६॥ हे तात! तुम्हारा चन्द्र बदन देखकर संसार में आज हमारा जन्म सफल हुआ॥७॥ जो दिन तुम्हारे दर्शन के बिना बीत गये, उन्हें ब्रह्मा (मेरी आयु को) गिनती में न कर सकें॥८॥ बहुत ही नम्र श्रेष्ठ वचन कहकर श्रीरामजी ने सब माताओं का संतोष किया और शिवजी, गुरुजी और विप्रों के चरणों का स्मरण करके नेत्रों को नींद के वश किया॥३५७॥

लाग ...''– (दो० ३१२); यहाँ प्रेम आदि सात बातें कही गईं, वैसे इनके वक्ता भी शारद आदि छः कहे गये हैं, एक और श्रीगोस्वामीजी को लेकर सात होते हैं। प्रेम आदि सात ही कहकर सातों समुद्रों की तरह इन्हें अगाध जनाया। 'सो मैं कहउँ...'—वे बहुमुख और ईश्वर कोटि हैं, मैं एक मुख और मनुष्य, फिर वे भी जब सैकड़ों-सैकड़ों असमर्थ हैं, तब एक मैं क्या कह सकता हूँ, इसी को शेष और केंचुए के दृष्टान्त से समझाया।

(२) 'नयन पलक की नाईं'—जैसे पलकें नेत्रों की रक्षा करती हैं, वैसे रक्षा करना, यथा—"पलक बिलोचन गोलक जैसे।" (अ० दो० १४१)। 'लरिका श्रमित...राम चरन चित लाइ।' यहाँ माधुर्य और ऐश्वर्य दोनों हैं, यथा—'लरिका' और 'बधू लरिकिनी' माधुर्य दृष्टि से कहा है और 'राम चरन चित लाइ' ऐश्वर्य दृष्टि से है, क्योंकि पूर्व मनुरूप में आपने ऐसा ही वर माँगा था, यथा—"सुत विषइक तव पद रति होऊ।" (दो० १५०)। इसमें 'सुत' भाव में माधुर्य और 'पदरति होऊ' में ऐश्वर्य है, वही यहाँ भी है। 'अस कहि गे ...'—ऐसा न कह जाते तो यहाँ चित्त लगा रहता; अतः, नींद न आती।

भूपबचन - सुनि सहज सुहाये। जटित कनकमनि पलँग डसाये ॥१॥
सुभग-सुरभि-पय-फेन समाना। कोमल कलित सुपेतीं नाना ॥२॥
उपबरहन बर बरनि न जाहीं। स्रग सुगंध मनिमंदिर माहीं ॥३॥
रतन दीप सुठि चारु चँदोवा। कहत न बनइ जान जेहि जोवा ॥४॥
सेज रुचिर रचि राम उठाये। प्रेमसमेत पलँग पौढ़ाये ॥५॥
आज्ञा पुनि पुनि भाइन्ह दीन्ही। निज-निज सेज सयन तिन्ह कीन्ही ॥६॥
देखि स्याम मृदु मंजुल गाता। कहहिं सप्रेम बचन सब माता ॥७॥
मारग जात भयावनि भारी। केहि बिधि तात ताड़का मारी ॥८॥

दोहा– घोर निसाचर बिकट भट, समर गनहिं नहिं काहु।
मारे सहित सहाय, किमि, खल मारीच सुबाहु ॥३५६॥

अर्थ—राजा के स्वाभाविक ही सुंदर वचन सुनकर, स्वर्ण-मणि जटित पलँग बिछाये ॥१॥ सुंदर गाय के दूध के फेन के समान कोमल, बढ़िया, सफेद तोशक बिछाया ॥२॥ और बहुत-से श्रेष्ठ तकिये हैं, जिनका वर्णन नहीं हो सकता। उस मणि-मंदिर में माला, सुगंध ॥३॥ सुन्दर रत्न-दीप और चँदोवे हैं, वे कहते नहीं बनते, जिन्होंने देखे हैं, वे ही जानें ॥४॥ सुन्दर शय्या रचकर श्रीरामजी को उठाया और प्रेम-सहित पलँग पर सुलाया ॥५॥ श्रीरामजी ने बार-बार भाइयों को आज्ञा दी, तब उन्होंने अपनी-अपनी शय्या पर शयन किया ॥६॥ साँवले, कोमल, सुन्दर शरीर को देखकर सब माताएँ प्रेम-पूर्वक वचन कह रही हैं ॥७॥ हे तात! मार्ग में जाते हुए तुमने भारी भयानक ताड़का को किस तरह मारा? ॥८॥ दुष्ट मारीच-सुबाहु और घोर निशाचरों को, जो बड़े ही विकट योद्धा थे और जो लड़ाई में किसी को कुछ नहीं गिनते थे, सहायकों के साथ कैसे मार डाला ॥३५६॥

विशेष—(१) 'नाना' शब्द अगली अर्द्धाली के 'उपवरहन' के साथ है। 'मनिमंदिर' कहा है, अतः, 'रत्नदीप' कहा, क्योंकि रत्न में मणि से अधिक ज्योति होती है। 'सेज रुचिर' यथा—"यत्र चित्रवितानानि पद्मरागासनानि च। पयःफेननिभाः शय्या मुक्तादामपरिच्छदाः ॥" (श्रीमद्भागवत० स्कंध० ७ अ० ४), 'आज्ञा पुनि-पुनि '—भाइयों को शयन के लिये बारम्बार आज्ञा देते हैं, तब वे शयन के लिये सेवा छोड़कर गये, यह सेवा-धर्म की रीति जनाई। 'केहि विधि तात ...'—अर्थात् वे राक्षस, पर्वताकार, भयानक और कठोर थे, तुम मनुष्य, छोटे बालक, सुंदर और कोमल हो, अतः, कैसे मारा? 'गनइ नहिं काहु'—देव, दैत्य, नर, नागादि किसी को नहीं गिनते थे, यथा—"एक एक जग-जीति सक" (दो० १८०)।

मुनिप्रसाद बलि तात तुम्हारी। ईस अनेक करवरैं टारी ॥१॥
मख-रखवारी करि दुहुँ भाई। गुरुप्रसाद सब बिद्या पाई ॥२॥
मुनितिय तरी लगत पग धूरी। कीरति रही भुवन भरि पूरी ॥३॥
कमठपीठि पबिकूट कठोरा। नृप समाज महँ सिव धनु तोरा ॥४॥
बिस्व बिजय जस जानकि पाई। आये भवन ब्याहि सब भाई ॥५॥
सकल अमानुष करम तुम्हारे। केवल कौसिक कृपा सुधारे ॥६॥
आज सुफल जग जनम हमारा। देखि तात बिधुबदन तुम्हारा ॥७॥
जे दिन गये तुम्हहि बिनु देखे। ते बिरंचि जनि पारहि लेखे ॥८॥

दोहा—राम प्रतोषी मातु सब, कहि बिनीत बर बैन।
सुमिरि संभु-गुरु-बिप्र-पद, किये नींदबस नैन ॥३५७॥

शब्दार्थ—करवरैं=बाधाएँ। पबिकूट=वज्र समूह, वज्र और पर्वत।

अर्थ—हे तात! मैं तुम्हारी बलि जाऊँ, मुनि के प्रसाद (अनुग्रह) से ईश्वर ने तुम्हारी अनेकों बाधाएँ टालीं ॥१॥ दोनों भाइयों ने यज्ञ की रक्षा करके गुरु की कृपा से सब विद्याएँ पाईं ॥२॥ गौतम मुनि की स्त्री चरण की धूलि लगते ही तर गई, सब लोकों में कीर्ति भरपूर फैल गई ॥३॥ कच्छप भगवान् की पीठ और वज्र समूह से भी कठोर शिव धनुष को राज समाज में तोड़ा ॥४॥ संसार-विजय, यश और जानकीजी को पाया और सब भाइयों को ब्याहकर घर आये ॥५॥ तुम्हारे सभी कर्म अमानुष (मनुष्य से विलक्षण) हैं, केवल विश्वामित्र की कृपा ने सुधारा है ॥६॥ हे तात! तुम्हारा चन्द्र वदन देखकर संसार में आज हमारा जन्म सफल हुआ ॥७॥ जो दिन तुम्हारे दर्शन के बिना बीत गये, उन्हें ब्रह्मा (मेरी आयु की) गिनती में न करें ॥८॥ बहुत ही नम्र श्रेष्ठ वचन कहकर श्रीरामजी ने सब माताओं का संतोष किया और शिवजी, गुरुजी और विप्रों के चरणों का स्मरण करके नेत्रों को नींद के वश किया ॥३५७॥

विशेष—(१) 'मुनि प्रसाद बलि...'—स्वयं उत्तर भी दे लेती हैं कि उक्त बातें मुनि की कृपा से हुईं। 'अनेक करबरें'—निशाचरों से युद्ध एवं परशुराम आक्रमण आदि। 'सब बिद्या'-बला, अतिबला आदि विद्याएँ जो पूर्व कही गईं। 'लगत पगधूरी'—ब्राह्मणी को चरण छुआने की बात पर रामजी को पछतावा होता है, इसलिये छुवाना न कहकर 'लगत' कहा है। 'कमठ पीठ पबिकूट'—से तीनों लोकों की कठोरता सूचित की, क्योंकि 'कमठ पीठ' से पाताल, 'पबि' से स्वर्ग और 'कूट' के पर्याय पर्वत से भूलोक की उपमा कही गई। 'कूट' का पर्वत अर्थ, यथा—"पन-पिनाक पबि मेरु ते गरुआ कठिनाई।" (गी० बा० १०१) अतः; यहाँ पर्वत से वज्र और उससे कमठ-पीठ अधिक कठोर कहा गया। कमठ-पीठ नहीं तो वज्र के समान, वह भी नहीं तो पर्वत-समान तो था ही। 'बिस्व बिजय जसु...'—धनुर्भंग में तीनों लोकों के वीर एकत्र थे, वह किसीसे न टूटा, तब इन्होंने तोड़ा, अतः; विश्व-विजय प्राप्त हुई। 'जस', यथा—"महि पाताल नाक जसु ब्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा॥" (दो० २६४) "भंजि सरासन संभु को जग जय कल कीरति, तिय तिय-मनि सिय पाई।" (गी० बा० १०१)

(२) 'सकल अमानुष करम...' यथा—"जेहि ताड़का सुबाहु हति, खंडेउ हर कोदंड। खर-दूषन-त्रिसिरा बधेउ, मनुज कि अस बरिबंड।" (आ० दो० २५)।

(३) 'आजु सुफल जग...'—श्रीराम-दर्शनों से ही, जन्म सफल होता है, यथा—"राम चरन बारिज जब देखउँ तब निज जनम सफल करि लेखउँ॥" (उ० दो० १०१)।

(४) 'जे दिन गये तुम्हहिं...'—इन्हें ब्रह्मा गिनती में न ले सकें, यह प्रार्थना ईश्वर से है जो ब्रह्मा का भी नियंता है। प्रारब्ध कर्मानुसार आयु का विधान ब्रह्मा करते हैं, यथा—"कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ-असुभ सकल फल दाता॥" (अ० दो० २८१) अर्थात् मेरे सफल जीवन में इस निष्फल जीवन को न मिलावें। माता की प्रार्थना केवल इन्हीं कुछ महीनों के लिये थी, पर श्रीरामजी ने अपने जन्म के प्रथम की बीती हुई आयु को भी ब्रह्मा के हिसाब से हटा दिया, क्योंकि माताएँ श्रीरामजी के पृथिवी पर प्रकट रहने की अवधि के समीप तक रहीं। यथा—"दसवर्षसहस्राणि वाजिमेधानथाकरोत्" "अथ दीर्घस्य कालस्य राममाता यशस्विनी। पुत्रपौत्रैः परिवृता कालधर्ममुपागमत॥ अन्वियाय सुमित्रा च कैकेयी च यशस्विनी। धर्मं कृत्वा बहुविधं त्रिदिवे पर्यवस्थिता॥" (वाल्मी० ७।१००। १—१६)। 'राम प्रतोषीं...कहि बिनीत...'—श्रीरामजी ने कहा, माता! ये सब कार्य गुरुओं की कृपा से, पिताजी के धर्म-बल से और आपलोगों के पातिव्रत्य धर्म की सहायता से हुए, हम तो निमित्त मात्र हैं, आपके सभी मनोरथ सफल ही होंगे। 'सुमिरि संभु गुर बिप्र पद, यह जगत् के लिये मर्यादा दिखाई, यथा—"मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः। कुतोऽन्यथा स्याद्रमतः स्व आत्मनः सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य॥" (श्रीमद्भागवत ५।१९।५)

नींदउ बदन सोह सुठि लोना। मनहुँ साँझ सरसीरुह सोना ॥१॥
घर घर करहिं जागरन नारीं। देहिं परसपर मंगल गारीं ॥२॥
पुरी बिराजति राजति रजनी। रानीं कहहिं बिलोकहु सजनी ॥३॥
सुंदरि बधुन्ह सासु लै सोईं। फनिकन्ह जनु सिरमनि उर गोईं ॥४॥
प्रात पुनीतकाल प्रभु जागे। अरुनचूड़ बर बोलन लागे ॥५॥

बंदि मागधन्हि गुनगन गाये। पुरजन द्वार जोहारन आये ॥६॥
बंदि विप्र सुर गुरु पितु माता। पाइ असीस मुदित सब भ्राता ॥७॥
जननिन्ह सादर बदन निहारे। भूपति-संग द्वार पगु धारे ॥८॥

दोहा—कीन्ह सौच सब सहज सुचि, सरित पुनीत नहाइ।
प्रातक्रिया करि तात पहिं, आये चारिउ भाइ ॥३५८॥

शब्दार्थ—जागरन = जागने की क्रिया। सोना (शोण) = लाल; शोणः कोकनदच्छविरित्यमरः, रक्तोत्पलं कोकनदमित्यमरः = अर्थात् लाल कमल।

अर्थ—नींद में भी अत्यन्त सलोना (सुन्दर) मुख सोह रहा है, मानों सायंकाल का लाल कमल ॥१॥ स्त्रियाँ घर-घर में जागरण कर रही हैं और एक दूसरी को मंगल गालियाँ देती हैं ॥२॥ रानियाँ कहती हैं कि हे सखी! देखो, (आज) रात्रि शोभित है और (उससे) पुरी भी विशेष शोभित है ॥३॥ सासें सुन्दर बहुओं को लेकर सोईं, मानों सर्पों ने शिर की मणि को हृदय में छिपा रक्खा हो ॥४॥ प्रातःकाल पवित्र समय (ब्राह्ममुहूर्त्त) में प्रभु जगे, मुरगे बोलने लगे ॥५॥ भाटों और मागधों ने गुण-गण का गान किया, पुरवासी द्वार पर प्रणाम करने आये ॥६॥ ब्राह्मण, गुरु, देवता, पिता और माता को प्रणाम कर असीस पा सब भाई आनन्दित हुए ॥७॥ माताओं ने आदर-पूर्वक मुख-कमल के दर्शन किये, तब वे राजा के साथ द्वार पर गये ॥८॥ स्वाभाविक ही पवित्र सब शौचादि क्रिया कर और पवित्र सरयू नदी में स्नान करके चारो भाई पिता के पास आये ॥३५८॥

विशेष (१) 'नींदउ बदन'''मनहुँ साँझ सरसी''' साँझ के समय कमल संकुचित हो जाता ही है, वैसे ही यहाँ लाल कमल (राजीव) के समान नेत्र अधमुँदे से हैं, ललाई की कुछ वैसी ही झलक है, जैसे हरे दलों के भीतर लाल दलों की लालिमा संकुचित लाल कमल में झलकती है। यहाँ वदन के मुख्यांश आँखों पर ही उत्प्रेक्षा है। यहाँ 'सोना' का अर्थ 'सो जाना' नहीं है। 'साँझ' कहने ही से सो जाना (संकुचित होना) आ गया।

(२) 'पुरी बिराजति राजति'''—ऊपर राज-महल की बातें कहकर अब नगर की व्यवस्था क हैं। आज जागरण की रीति है। राज-महल में तो दूलह-दुलहिनें श्रमित होकर आये हैं, सो रहे हैं; इसलिये यहाँ उनकी निद्रा-भंग के भय से केवल जागरण हो रहा है। रानियाँ बैठी हुई आपस में पुरी की शोभा कह रही हैं। पर नगर-भर में सजावट है, मंगल-गान हो रहे हैं, घर-घर में सर्वत्र चहल-पहल है, (सन्नाटा नहीं है)। चाँदनी रात है। रानियाँ कहती हैं—हे सजनी! देखो तो आज की रात्रि कैसी सुहावनी है जिससे सारी पुरी विशेष शोभायमान है।

(३) 'सुंदरि बधुन्ह सासु लै''' सुलाने के लिये सासें भी साथ में बहुओं को हृदय में लगाकर सोईं, जैसे सर्प सोते समय मणि को हृदय में छिपाये हुए पिंडी बाँधकर रहता है कि बीच में फणि रहे। इस तरह वह प्राण के समान मणि की रक्षा करता है, क्योंकि राजा ने भी कहा है—'राखेहु नयन पलक की नाईं'।'

(४) 'बंदि मागधन्हि'''—'प्रथम प्रभु जगे, तब मुरगे बोलने लगे, वह शब्द सुनकर समयानुसार बंदी, मागध आदि आकर गुण-गान करने लगे।

(५) 'बंदि बिप्र सुर गुरु···'—ब्राह्मणलोग दर्शन देने के लिये द्वार पर आते हैं; अतः, प्रथम ब्राह्मणों की, फिर गुरु की तब पिता-माता की वंदना की। वात्सल्य-रस की दृष्टि बच्चों के मुख पर ही रहती है, यथा—"निरखि बदन कहि भूप रजाई।" (अ० दो० ३८)। अतः, यहाँ भी—'बदन निहारे' कहा है।

भूप बिलोकि लिये उर लाई। बैठे हरषि रजायसु पाई ॥१॥
देखि राम सब सभा जुड़ानी। लोचन-लाभ-अवधि अनुमानी ॥२॥
पुनि बसिष्ठ मुनि कौसिक आये। सुभग आसनन्हि मुनि बैठाये ॥३॥
सुतन्ह समेत पूजि पद लागे। निरखि राम दोउ गुरु अनुरागे ॥४॥
कहहिं बसिष्ठ धरम इतिहासा। सुनहिं महीस सहित रनिवासा ॥५॥
मुनिमन-अगम गाधि-सुत-करनी। मुदित बसिष्ठ बिपुल बिधि बरनी ॥६॥
बोले बामदेव सब साँची। कीरति कलित लोक तिहुँ माँची ॥७॥
सुनि आनंद भयेउ सब काहू। राम-लषन-उर अधिक उछाहू ॥८॥

दोहा—मंगल मोद उछाह नित, जाहिं दिवस येहि भाँति।
उमगी अवध अनंद भरि, अधिक अधिक अधिकाति ॥३५९॥

अर्थ—राजा ने उन्हें देखकर हृदय से लगा लिया, आज्ञा पाकर हर्ष के साथ बैठे ॥१॥ श्रीरामजी को देख इनके दर्शनों को नेत्रों के लाभ की सीमा समझकर सम्पूर्ण सभा शीतल हुई, अर्थात् सबके तप्त हृदय शीतल हुए ॥२॥ फिर वसिष्ठ और विश्वामित्र मुनि आये, राजा ने मुनियों को सुन्दर आसनों पर बैठाया ॥३॥ और पुत्रों-समेत उनकी पूजा करके चरणों से लगे; अर्थात्, प्रणाम किया। श्रीरामजी को देखकर दोनों गुरु अनुरक्त हो गये ॥४॥ वसिष्ठजी धर्म के इतिहास कहते हैं, रनिवास के साथ राजा सुनते हैं ॥५॥ वसिष्ठजी ने आनंद के साथ गाधि राजा के पुत्र विश्वामित्रजी की करनी बहुत तरह से कही जो मुनियों के मन को भी अगम है ॥६॥ वामदेवजी ने कहा कि यह सब सत्य है, इनकी सुन्दर कीर्त्ति तीनों लोकों में फैली हुई है ॥७॥ सुनकर सब किसी को आनंद हुआ, श्रीराम-लक्ष्मण के हृदय में अधिक उत्साह हुआ ॥८॥ नित्य ही मंगल, मोद एवं उत्सव होते हैं, दिन इसी तरह व्यतीत होते हैं। अयोध्यापुरी आनंद से भरकर उमड़ पड़ी, उत्तरोत्तर अधिकाधिक होती जाती है ॥३५९॥

विशेष (१) 'पुनि बसिष्ठ मुनि···'—'पुनि श्रोता समाज एकत्र होने पर। 'धरम इतिहासा'—क्योंकि राजाओं को विशेष कर धर्म का ही प्रयोजन रहता है, प्रजा-पालन धर्म से ही होता है, धर्म, जैसे वर्णाश्रम और पातिव्रत आदि। 'सहित रनिवासा'—क्योंकि धर्माचरण में रानियाँ भी साथ रहती हैं।

(२) 'मुनि मन अगम गाधिसुत···'—जो करनी करने की कौन कहे और मुनियों को उन बातों के लिये मनोरथ भी नहीं हो सकता। 'करनी'—विश्वामित्र के अलौकिक कार्य। श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण बालकांड के सर्ग ५१-६४ तक शतानन्दजी ने राजा जनक से इस 'करनी' का वर्णन किया है। अन्य पुराणों (मार्कण्डेय और देवीभागवत) में भी विश्वामित्रजी की कथा आई है। ये कान्यकुब्ज के पुरुवंशी

महाराज गाधि के पुत्र हैं। इन्होंने तपस्या के द्वारा ब्रह्मर्षि-पद प्राप्त किया। क्षत्रिय शरीर में इनका नाम विश्वरथ था, ब्राह्मण होने पर विश्वामित्र नाम हुआ। ये वैदिक ऋषि हैं। सूर्यवंशी राजा त्रिशंकु गुरु वसिष्ठ के शाप से चांडाल हो गये थे। विश्वामित्रजी ने यज्ञ कराकर उन्हें सदेह स्वर्ग भेजा, क्योंकि पूर्व के भयानक अकाल में जब विश्वामित्रजी तप कर रहे थे, राजा त्रिशंकु ने उनके परिवार का पालन किया था। इन्द्र ने चांडाल जानकर त्रिशंकु को स्वर्ग से गिरा दिया। विश्वामित्रजी ने अपने तपोबल से त्रिशंकु को बीच ही में रोक लिया और उनके लिये दूसरे स्वर्ग की रचना करने लगे। देवताओं की प्रार्थना पर ही वे इस कर्म से निवृत्त हुए थे। त्रिशंकु के पुत्र राजा हरिश्चन्द्र हुए। वरुण देव के कोप से इन्हें जलोदर हो गया था, क्योंकि मनौती के अनुसार इन्होंने वरुणदेव को नर-बलि नहीं दी थी। विश्वामित्रजी ने वैदिक गाथा का गान कराकर वरुणदेव को प्रसन्न कर लिया और बिना बलि दिये ही राजा नीरोग हो गये।

(३) 'बोले बामदेव सब साँची।'—बहुत महत्त्व कथन से चापलूस एवं झूठा मानने की संभावना थी, इसलिये वामदेव ने 'साँची' कहकर सारी कथा का समर्थन किया और फिर उसे तीनों लोकों की प्रसिद्धि से पुष्ट किया।

(४) 'राम-लखन-उर अधिक उछाहू।'—क्योंकि इनके गुरु हैं। पुनः यह भी सुना था कि पूर्वावस्था में वसिष्ठजी और विश्वामित्रजी में विरोध था, तब सन्देह था कि दोनों की सेवा एकत्र से कैसे बनेगी? एक की सेवा से दूसरे के हृदय में भेद होगा। आज वसिष्ठजी ने अपने मुख से उनकी प्रशंसा की, तब वह सन्देह भी दूर हो गया।

(५) 'मंगल मोद उछाह नित…' जैसे माँडव सेराना, कुलदेव-पूजन आदि के उत्सव होते हैं।

सुदिन सोधि कल कंकन छोरे। मंगल मोद बिनोद न थोरे ॥ १ ॥
नित नव सुख सुर देखि सिहाहीं। अवध जनम जाचहिं बिधि पाहीं ॥ २ ॥
बिस्वामित्र चलन नित चहहीं। राम-सप्रेम-बिनय-बस रहहीं ॥ ३ ॥
दिन दिन सयगुन भूपति-भाऊ। देखि सराह महा - मुनि - राऊ ॥ ४ ॥
माँगत बिदा राउ अनुरागे। सुतन्ह समेत ठाढ़ भे आगे ॥ ५ ॥
नाथ सकल संपदा तुम्हारी। मैं सेवक समेत सुत नारी ॥ ६ ॥
करब सदा लरिकन्ह पर छोहू। दरसन देत रहब मुनि मोहू ॥ ७ ॥
अस कहि राउ सहित सुत रानी। परेउ चरन मुख आव न बानी ॥ ८ ॥
दीन्हि असीस बिप्र बहु भाँती। चले न प्रीति - रीति कहि जाती ॥ ९ ॥
राम सप्रेम संग सब भाई। आयसु पाइ फिरे पहुँचाई ॥१०॥

दोहा—रामरूप भूपतिभगति, ब्याह उछाह अनंद।
जात सराहत मनहिं मन, मुदित गाधि-कुल-चंद ॥३६०॥

अर्थ—शुभ दिन शोधकर सुन्दर कंकन खोले गये। मङ्गल, मोद-प्रमोद और विनोद थोड़े नहीं हुए॥ १॥ देवता नित्य नये सुख देखकर ललचाते हैं और ब्रह्माजी से श्रीअवध में जन्म होना माँगते हैं॥ २॥ विश्वामित्रजी नित्य ही चलना (विदा होना) चाहते हैं, पर श्रीरामजी के प्रेम सहित प्रार्थना वश होकर रह जाते हैं॥ ३॥ दिन-पर-दिन राजा का सौगुना प्रेम देखकर महामुनिराज सराहना करते हैं॥ ४॥ विदा माँगते समय राजा अनुराग से पूर्ण होकर पुत्रों के साथ आगे खड़े हो गये॥५॥ (और बोले कि) हे नाथ! यह सब सम्पदा आपकी है, स्त्री-पुत्रों के साथ मैं आपका सेवक हूँ॥ ६॥ सदा लड़कों पर कृपा करते रहियेगा और हे मुनि! मुझे भी दर्शन देते रहियेगा॥ ७॥ ऐसा कहकर राजा पुत्रों और रानियों के साथ चरणों पर पड़ गये, उनके मुख से वचन नहीं निकलते॥ ८॥ विप्र विश्वामित्रजी ने बहुत तरह से असीस दी और चले, प्रीति की रीति कही नहीं जाती॥ ९॥ सब भाइयों के साथ श्रीरामजी प्रेम पूर्वक पहुँचाकर आज्ञा पाकर लौटे॥ १०॥ श्रीरामजी के रूप, राजा की भक्ति, विवाह और उत्सव आनन्द को गाधि कुल के चन्द्र-रूप विश्वामित्रजी आनंदित होकर मन-ही-मन सराहते हुए चले जा रहे हैं॥ ३६०॥

विशेष—(१) 'सुदिन सोधि कल···'—कंकन खोलना भारी उत्सव है, इसका मुहूर्त कई दिनों के शोधने पर मिला। 'बिनोद'—स्त्रियाँ परस्पर जल छिड़कती हैं।

(२) 'विश्वामित्र चलन नित···'—शंका—श्रीराम-दर्शन और अवध का सुख छोड़कर मुनि वन को क्यों जाते हैं? समाधान—(क) व्यवहार की रीति से, जैसे सभी आये हुए लोग विदा हुए वैसे ये भी जाना चाहते हैं। (ख) जिस भजन से श्रीरामजी शिष्य होकर मिले, उसके आदर के लिये वन को जाते हैं, क्योंकि भजन वन में उत्तम होता है।

(३) 'लरिकन पर छोहू'—लड़के मुनि के शिष्य हैं; अतः, उनपर वात्सल्य से विशेष छोह रक्खेंगे और उस नाते से आकर दर्शन भी देंगे; अतः, अपनेको गौण में कहा। 'असीस बहुभाँती', क्योंकि प्रणाम करनेवाले राजा भी स्त्री-पुत्र आदि के साथ बहुत भाँति के हैं।

(४) 'रामरूप भूपतिभगति ···'—'रामरूप'—"रूप सिंधु सब बंधु" (दो० ३१५)। 'भूपति-भगति'—"दिन-दिन सय गुन भूपति भाऊ।" 'ब्याह-उछाह'—"प्रभु बिवाह जस भयेउ उछाहू। सकहिं न बरनि गिरा अहिनाहू॥" आगे कहा है। 'अनंद'—"बसे अनंद अवध सब तबते।" आगे कहा है। गाधि 'कुलचंद'—मुनि स्वयं भी राजा के पुत्र थे, वहाँ भी संत-सेवा एवं विवाह आदि उत्सव देखे थे, पर यहाँ तो इन्हें सब आश्चर्य ही देख पड़े।

बामदेव रघुकुल - गुरु ज्ञानी। बहुरि गाधिसुत कथा बखानी॥१॥
सुनि मुनि सुजस मनहिं मन राऊ। बरनत आपन पुन्यप्रभाऊ॥२॥
बहुरे लोग रजायसु भयेऊ। सुतन्ह समेत नृपति गृह गयेऊ॥३॥
जहँ तहँ रामब्याह सब गावा। सुजस पुनीत लोक तिहुँ छावा॥४॥
आये ब्याहि राम घर जब ते। बसै अनंद अवध सब तब ते॥५॥

अर्थ—वामदेवजी और रघुकुल के ज्ञानी गुरु वसिष्ठजी ने फिर भी विश्वामित्रजी की कथा बखान कर कही॥१॥ मुनि का सुयश सुनकर राजा मन-ही-मन अपने पुण्यों के प्रभाव का बखान करते हैं

॥२॥ आज्ञा हुई, और सभा के लोग अपने-अपने घरों को बहुरे अर्थात् लौटकर गये, पुत्रों के साथ राजा घर गये ॥३॥ जहाँ-तहाँ सभी लोग श्रीरामजी का ब्याह गा रहे हैं, पवित्र यश तीनों लोकों में छा गया ॥४॥ जब से श्रीरामजी ब्याह करके घर आये, तब से सभी आनन्द अवध में आ बसे ॥५॥

विशेष—(१) 'बहुरि गाधि-सुत कथा'''—पहले मुनि की कथा मुनि के सामने कही गई थी, उससे यह भी समझा जाता कि उनकी प्रसन्नता के लिये कही होगी ; इसलिये उनके परोक्ष में भी आनन्द के कारण फिर से उसका विस्तार किया, प्रथम कुछ संक्षेप में कहा था।

(२) 'बसे अनंद अवध सब तब ते'—जबसे विश्वामित्रजी श्रीराम लक्ष्मण को साथ ले गये थे, तबसे अवध के सब प्रकार के आनन्द उजड़ गये, वे फिर आ बसे। अथवा, इनके वियोग से लोग सब दुःखित थे, वे आनन्द से बसे। अथवा, आनन्द के मूल श्रीसीतारामजी हैं, दोनो के यहाँ पर आ जाने से सब तरह के आनन्द यहीं पर आ बसे।

प्रभुबिवाह जस भयेउ उछाहू। सकहिं न बरनि गिरा अहिनाहू ॥६॥
कबि - कुल - जीवन - पावन जानी। राम - सीय - जस मंगलखानी ॥७॥
तेहि ते मैं कछु कहा बखानी। करन पुनीत हेतु निज बानी ॥८॥

छंद—निज गिरा-पावनि-करन-कारन रामजस तुलसी कह्यो।
रघुबीर-चरित अपार बारिधि पार कबि कवने लह्यो ॥
उपबीत ब्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं।
बैदेहि-राम-प्रसाद ते जन सर्बदा सुख पावहीं ॥

सोरठा—सिय - रघुबीर - बिबाह, जे सप्रेम गावहिं सुनहिं।
तिन्ह कहँ सदा उछाह, मंगलायतन रामजस ॥३६१॥

इति श्रीमद्रामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने सुख-सम्पादनो नाम
॥ प्रथमः सोपानः समाप्तः ॥

अर्थ—प्रभु के ब्याह में जैसा उत्साह हुआ, उसे सरस्वती और शेष भी नहीं कह सकते ॥६॥ श्रीसीतारामजी के यश को कवि के परिवार का जीवन, पवित्र करनेवाला और मंगलों की खान जानकर मैंने अपनी वाणी पवित्र करने के लिये कुछ बखान कर कहा है। मुझ तुलसीदास ने अपनी वाणी पवित्र करने के लिये (ही) राम-यश कहा। (नहीं तो) श्रीरघुबीर-चरित अपार समुद्र है, किस कवि ने उसका पार पाया है ? जो लोग यज्ञोपवीत, ब्याह, उत्साह और मंगल को सुनकर आदर सहित गावेंगे। वे लोग श्रीसीतारामजी की प्रसन्नता से सदा सुख पावेंगे ॥ श्रीसिय-रघुबीर के विवाह को जो प्रेम के साथ गाते और सुनते हैं, उनको सदा उत्साह होता है, (क्योंकि) श्रीराम-यश मंगल का धाम ही है ॥३६१॥ समस्त कलि के पापों को नाश करनेवाले श्रीमद्रामचरितमानस में 'सुख-सम्पादन' नाम का पहला सोपान समाप्त हुआ ॥१॥

विशेष—(१) 'अपार वारिधि पार'''—श्रीराम-चरित अपार समुद्र है, इसका पार किसी ने नहीं पाया, तो मैं कैसे पाऊँगा। मैंने तो अपनी वाणी की पवित्रता के लिये कहा है, कुछ पार पाने के लिये नहीं। इसी तरह सातों सोपान मानो सातों समुद्र हैं।

(२) 'उपबीत ब्याह-उछाह मंगल...'—अब इस काण्ड की फलश्रुति कहते हैं। 'ब्याह-उछाह' तो बहुत विस्तार में कहा गया है, पर यज्ञोपवीत की एक ही अर्धाली है—"भये कुमार जबहिं सब भ्राता। दीन्ह जनेऊ गुरु पितु-माता॥" (दो० २०१); तो इसे क्या गावें? इसका उत्तर यह है कि विवाह के जो मातृका पूजा एवं होम आदि कृत्य होते हैं, वे ही सब यज्ञोपवीत में भी होते हैं। भेद यही है कि विवाह में भाँवरी और इसमें जनेऊ। 'उछाह', यथा—"प्रभुबिवाह जस भयेउ उछाहू॥" (उपर्युक्त); मंगल'—"प्रशस्ता चरणं नित्यमप्रशस्ता विवर्जनम्। एतद्धि मङ्गलं प्रोक्तं मुनयस्तत्त्वदर्शिभिः॥" (बृहस्पतिः)।

(३) 'बैदेहि-राम-प्रसाद''''—सुख सुकृत से मिलता है और वह परिमित है, पर यह यश-गानरूप सुकृत नित्य है; अतः, इसका फल रूप-सुख 'सर्वदा सुख' पाना कहा है। प्रसाद के विषय में पिता की अपेक्षा माता प्रधान है; अतः, वैदेहीजी को प्रथम कहा गया है, यथा—"कबहुंक अंब अवसर पाइ। मेरियो सुधि द्याइबी'''" (वि० ४१)।

(४) "सिय रघुबीर बिवाह...सदा उछाह..."—ब्याह से उछाह की वृद्धि होती है, यथा—"प्रभु-बिवाह जस भयेउ उछाहू॥" इसी से वक्ता श्रोता को उछाह (उत्साह) सदा होता है। पुनः; उत्साह से सुख होता है, इसी से आगे 'सुख-संपादन' सोपान का महत्त्व कहते हैं।

'इति श्रीरामचरितमानसे''—ग्रंथकार अपने कृत इस ग्रंथ के एक भाग रूप सोपान की इति लगाते हैं, चरित की नहीं; उसे तो ऊपर 'अपार बारिधि' कह आये हैं। 'कलि-कलुष विध्वंसने' यथा—"मनक्रम बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मनलाई॥" (उ० दो० ११५) इस सोपान में कहे हुए उपवीत-विवाह आदि कर्म एवं सुकृत हैं, इनका फल सुख है, स्पष्ट 'सर्वदा सुख पावहीं' कहा भी है; अतः, इस सोपान का नाम 'सुख संपादन' कहा गया है।

यहाँ तक पार्वतीजी के चार प्रश्नों के उत्तर आ गये। इस सोपान का प्रारम्भ भाषा में सोरठा छंद से हुआ था, उसी से समाप्त भी हुआ है।

अयोध्याकाण्ड (पूर्वार्द्ध)

अयोध्याकाण्ड (उत्तरार्द्ध)

विषय	पृष्ठ-संख्या

अरण्यकाण्ड

किष्किंधाकाण्ड

सङ्केत-सूची

अ०—अयोध्याकांड तथा अध्याय

आ०—अरण्यकांड

उ०—उत्तरकांड

क०—कवितावली रामायण

कि०—किष्किंधाकांड

गी०—गीतावली रामायण

गीता—श्रीमद्भगवद्गीता

चौ०—चौपाई

तै०+तैत्त०—तैत्तरीयोपनिषत्

दो०—दोहा

बा०—बालकांड

ब्र० सू०—ब्रह्मसूत्र (वेदान्त)

बृ०, बृह०—बृहदारण्यकोपनिषन्

का०, कठ०—कठोपनिषत्

छां०, छांदो०—छान्दोग्योपनिषत्

मु०, मुंड०—मुण्डकोपनिषत्

भाग०; श्रीमद्भाग०—श्रीमद्भागवत

वाल्मी०—श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण

श्वे०, श्वेता०—श्वेताश्वतरोपनिषत्

कौषी०—कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषत्

मं०—मङ्गल एवं मङ्गलाचरण

लं०—लङ्काकांड

सुं०—सुन्दरकांड

सो०—सोरठा

मनु०—मनुस्मृति

स०—सर्ग

वि०—विशेष
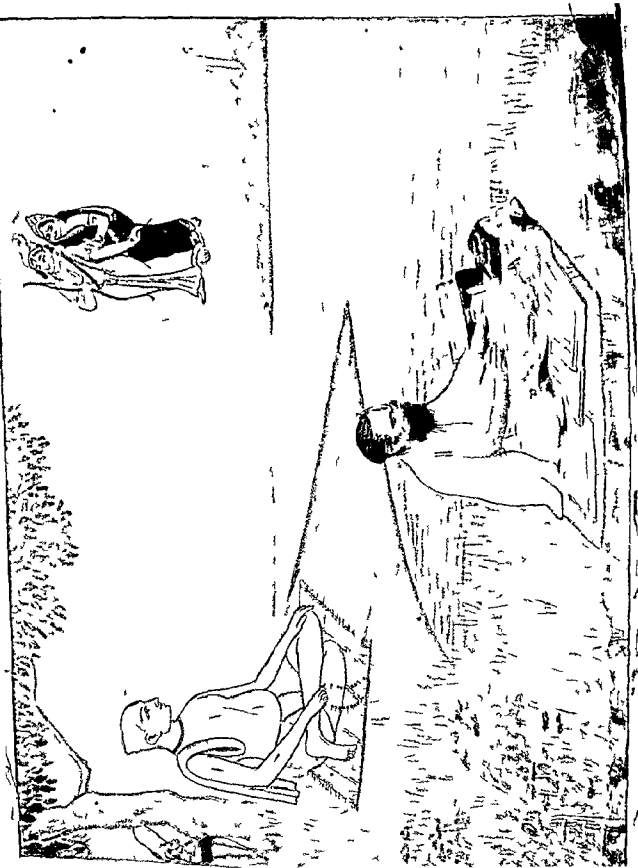
श्रीरामचरितमानस

(सिद्धान्त-तिलक समेत)

द्वितीय सोपान (अयोध्याकाण्ड)

वामाङ्के च विभाति भूधरसुता देवापगा मस्तके
भाले बालविधुर्गले च गरलं यस्योरसि व्यालराट् ।
सोऽयं भूतिविभूषणः सुरवरः सर्वाधिपः सर्वदा
शर्वः सर्वगतः शिवः शशिनिभः श्रीशङ्करः पातु माम् ॥१॥

शब्दार्थ—शर्वः—शृणाति सर्वाः प्रजा संहरति प्रलयं संहारयति वा भक्तानां पापानि अर्थात् जो प्रलय में सम्पूर्ण प्रजा का संहार करता है, अथवा भक्तों के पापों का संहार करता है। सर्वगतः=व्यापक, जो सबमें व्याप्त हो। निभः=तुल्य, समान वा प्रकाश प्रभा।

अन्वय—यस्याङ्के भूधरसुता, मस्तके देवापगा, भाले बालविधुः च गले गरल विभाति, यस्योरसि व्यालराट् (शोभते), सः अयं भूतिविभूषण सुरवर सर्वदा सर्वाधिपः शर्व. सर्वगतः शिवः शशिनिभः श्रीशङ्करः सर्वदा माम् पातु ॥

अर्थ—जिनकी बाईं गोद में श्रीपार्वतीजी, मस्तक पर गंगाजी, ललाट पर द्वितीया का चन्द्रमा और कंठ में हलाहल विष सुशोभित है, जिनके वक्षःस्थल पर सर्पराज सोहते हैं, ऐसे वे भस्म-विभूषित देवताओं में श्रेष्ठ, सर्वकाल में सबके स्वामी, सबके संहारकर्त्ता एवं भक्तों के पापों के नाशक, व्यापक, कल्याण-स्वरूप चन्द्रमा के समान कान्तिवाले श्रीशंकरजी सदा मेरी रक्षा करें ॥१॥

विशेष—इस कांड में बहुत-से सम-विषम तथा सुख-दुःखकर प्रसंग स्थान-स्थान पर आवेंगे, जो चित्त को अधीर करनेवाले हैं, जैसे राज्याभिषेक की तैयारी, फिर वनवास, राजा की प्रीति और कैकेयी की कठोरता इत्यादि प्रसंगों में अधीरता हो जाने से ग्रन्थकार को उनकी निर्विघ्न समाप्ति असम्भव-सी जान पड़ी, इनमें सावधानता के लिये शिवजी की वन्दना साभिप्राय विशेषणों से करते हैं। पर्वत जड़ है, उसकी पुत्री को गोद में रक्खा और देवता चेतन हैं, उनकी नदी (गंगाजी) को शिर पर शोभित किया, ये दोनों सम-विषम हैं। जटा-भस्म आदि से विरक्त-वेष सूचित है, साथ ही दो स्त्रियों को गोद में और शिर पर रक्खा है। 'चन्द्रमा' अमृतमय और 'गरल' मृत्युमय है अर्थात् एक शीतल और दूसरा गर्म है। 'विभूति-भूषण' से त्याग 'सुरवर' से ऐश्वर्य, 'सर्वगत' से अगुणत्व और 'शशिनिभ' से सगुणत्व इत्यादि सभी सम विषम साज एक साथ धारण किये हुए शिवजी सावधान रहते हैं। ऐसे समर्थ के मंगलाचरण से ग्रन्थकार अपने में वही शक्ति चाहते हैं; जिससे उक्त सम विषम के वर्णन में सावधानता रहे। 'शंकर' शब्द विशेष्य है, मुख्य नाम है, इसका अर्थ 'कल्याण करनेवाला' है, अर्थात् कवि निर्विघ्न चरित वर्णन में कल्याण मानते हैं।

'भूधरसुता' और 'देवापगा' दोनो शिवजी की शक्तियाँ हैं, यथा—"देहि रघुबीर पद प्रीति निर्भर मातु ! दास तुलसी त्रास हरणि भवभामिनी ।" (वि० १८), यहाँ गंगाजी का प्रसंग है। पार्वतीजी तो प्रसिद्ध ही हैं। इस तरह दोनो शक्तियों के साथ शिवजी की वंदना की गई है। इस श्लोक के आधे में शिवजी के आश्रितों का और आधे में शिवजी का वर्णन है, वैसे ही मानस के इस कांड के आधे में (१५६ दोहों में) श्रीराम-यश और आधे में (१५६ दोहों में) श्रीभरतजी के चरित हैं। इनके बीच के १४ दोहों में 'पितु क्रिया प्रसंग' है। इसके अनुसार ही मंगलाचरण है।

यह श्लोक 'शार्दूल-विक्रीडित' छन्द का है। इसके लक्षण बा० मं० श्लोक ६ में देखिये। इससे जनाया कि मेरी रक्षा में शिवजी श्रीरामजी की तरह रक्षा करने में समर्थ हैं। 'वामाङ्के' की जगह 'यस्यांके' भी पाठान्तर मिलता है, पर इसमें पुनरुक्ति संभावित होती है।

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः ।
मुखाम्बुज-श्रीरघुनन्दनस्य मे सदाऽस्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा ॥२॥

अन्वय—या अभिषेकतः प्रसन्नतां न गता, तथा वनवास-दुःखतः न मम्ले (मम्लौ), सा श्रीरघुनन्दनस्य मुखाम्बुजश्रीः मे सदा मंजुलमंगलप्रदा अस्तु ॥

अर्थ—जो राज्याभिषेक (की खुशी) से न तो प्रसन्नता को प्राप्त हुई, और न वनवास के दुःख से मलिन ही हुई ; वही रघुनन्दन श्रीरामजी के मुख-कमल की श्री (कान्ति) मुझको सदा सुन्दर मंगलों की देनेवाली हो।

विशेष—'यह श्लोक 'वंशस्थवृत्त' का है, इसके प्रत्येक चरण में १२-१२ अक्षर होते हैं, प्रत्येक चरण में क्रमशः 'ज, त, ज, र' गण रहते हैं। ग्रन्थकार प्रथम मानस के आचार्य-रूप शिवजी की वन्दना करके इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य श्रीरामजी का वस्तु निर्देशात्मक मंगलाचरण करते हैं।

इस कांड में राज्याभिषेक और वनवास दोनों का वर्णन है, इनमें पुरवासियों ने प्रथम अत्यन्त सुख और पीछे अत्यन्त दुःख माना, पर श्रीरामजी की ही मुख-कान्ति एकरस रही, अतः वही ध्यान ग्रन्थकार चाहते हैं कि इन दोनों सम-विषम के वर्णन में मुझे इस ध्यान से दृढ़ता रहेगी और उभय लीलाओं के वर्णन में उदासीनता न होगी, यह सामर्थ्य मुझे यथार्थ-रूप में उन्हीं से मिलेगा।

'मम्ले' की जगह 'मम्लौ' भी पाठांतर है, 'म्लै' धातु का प्रयोग प्रचलित व्याकरण में प्रायः परस्मैपदी में ही होता है, तदनुसार 'मम्लौ' चाहिये, इसीसे सम्भवतः पाठांतर किया गया हो। श्रीगोस्वामीजी ऋषि हैं, महर्षि वाल्मीकिजी के अवतार हैं, वाल्मीकिजी के बहुत-से आर्ष प्रयोगों की तरह इनका भी यह आर्ष प्रयोग है। इन्होंने इस धातु को आत्मनेपदी मानकर 'मम्ले' पाठ रक्खा है। अथवा यह भी हो सकता है कि लेखकों की भूल से 'मम्लौ' का 'मम्ले' हो गया हो।

नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं सीतासमारोपितवामभागम् ।
पाणौ महासायकचारुचापं नमामि रामं रघुवंशनाथम् ॥३॥

अर्थ—नील-कमल के समान श्याम और कोमल जिनके अंग हैं, श्रीसीताजी जिनके बायें भाग में विराजमान हैं और दोनो हाथों में अमोघ बाण और सुन्दर धनुष हैं; उन रघुकुल के स्वामी श्रीरामचन्द्रजी को मैं प्रणाम करता हूँ ॥३॥

विशेष—यह श्लोक 'उपजाति वृत्त' का है, इसके चारो चरण ११-११ वर्णों के होते हैं। इसमें शक्ति-सहित श्रीरामजी की वन्दना है, इसके प्रत्येक चरण में एक-एक लीला कहकर संक्षेप में सब लीलाएँ कह दी हैं।

'नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्ग'—इसमें बाल-रूप वर्णित है, क्योंकि कोमल अंग जन्म-समय पर रहता है, साथ ही बाल-लीला भी सूचित की।

'सीतासमारोपितवामभागम्' इसमें श्रीसीताजी का वाम भाग में विराजमान होना कहकर विवाह-लीला भी जना दी। यहाँ तक बाल-कांड हुआ।

'पाणौ महासायकचारुचापं'—इसमें वीर-रूप के संबंध की वन-लीला आ गई। अतः, अयोध्या-कांड से लंका-कांड तक के चरित्र आ गये।

'नमामि रामं रघुवंशनाथम्'—इसमें राज्यासीन-रूप के वर्णन से उत्तर-कांड के भी चरित आ गये। इस तरह सम्पूर्ण चरितों के साथ ध्यान है।

इस कांड के मंगलाचरण में तीन श्लोक दिये गये हैं, क्योंकि श्रीसीताजी, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी ये तीनों साथ-साथ वन को गये और बराबर साथ रहे हैं। आगे श्रीसीताजी का हरण होने पर आरण्य और किष्किंधा में दो-दो ही श्लोक रहेंगे। फिर सुन्दर से तीन देंगे, क्योंकि उसमें ही श्रीजानकी का पता लग जायगा। यह ग्रंथकार का उपासानात्मक गुह्य रहस्य है।

S N....

दोहा—श्रीगुरु - चरन - सरोजरज, निज मन मुकुर सुधारि।
बरनउँ रघुबर-बिमल-जस, जो दायक फल चारि॥

अर्थ—श्रीगुरुजी के चरण-कमलों की रज से अपने मन-रूपी दर्पण को स्वच्छ करके मैं रघुवर का निर्मल यश वर्णन करता हूँ, जो चारो (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) फलों का देनेवाला है॥

विशेष—(१) गुरुपद-रज की वंदना एक बार बाल-कांड के प्रारंभ में हो चुकी है, इस कांड में फेर की गई, आगे और किसी कांड में नहीं है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि इस कांड के 'का सुनाइ विधि काह सुनावा।' आदि के विषम-विषम चरित-चित्रण पर ग्रन्थकार के हृदय में बार-बार खलबली होती है कि कैसे पार लगेगा; इसलिये प्रथम श्रीशिवजो की वन्दना की, फिर श्रीरामजी की मुखश्री का लक्ष्यकर उनकी सशक्ति वन्दना की, इतने पर आगे के श्रीभरत-चरित की भी अगमता दृष्टिगोचर हुई। यथा—"पुर नर भरत प्रीति मैं गाई।" (अ० दो० १); अर्थात् इस कांड के पूर्वार्द्ध में पुरजनों के प्रेम के साथ श्रीरामचरित है और उत्तरार्द्ध में श्रीभरतचरित है; अतः, सम्पूर्ण कांड में भागवतचरित का ही प्राधान्य है। भागवतचरित अगम है और श्रीभरतजी भागवत-शिरोमणि हैं, इनका चरित तो बहुत ही अगम है, यथा—"धरमराज नय ब्रह्म विचारू।..." से "भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिं राम न सकहिं बखानी॥" (अ० दो० २८७-८८) तक अर्थात् जब श्रीरामजी भी नहीं वर्णन कर सकते, तब बेचारे कवि का साहस कैसे पड़े? इसलिये फिर से गुरु-चरण-रज की शरण ली, क्योंकि "जे गुरु चरन रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल बिभव बस करहीं॥" (अ० दो० २); इस बल से श्रीभरतचरित-वर्णन का भय भी वश में होगा; अर्थात् प्राप्त होगा। हुआ भी, क्योंकि इस कांड की रचना का सा सौंदर्य अन्य कांडों में नहीं आया। फल-श्रुति देखिये—"भरत चरित करि नेम, तुलसी जे सादर सुनहिं। सीयराम - पद - प्रेम, अवसि होइ

भव रस विरति ॥" अर्थात्—'सीय-राम-पद-प्रेम' साथ ही 'भव-रस-विरति' भी होगी, यह भी 'अवसि हो' अर्थात् अवश्य होगी ऐसा महत्त्व अन्य कांडों का नहीं है।

(२) 'रघुवर विमल-जस'—यहाँ रघुवर शब्द श्रीरामजी और श्रीभरतजी दोनो के लिये है क्योंकि उत्तरार्द्ध के चरित का भी मंगलाचरण तो यहाँ ही होना चाहिये। 'रघुवर' शब्द चारो भाइयों का भी वाचक है, यथा—"नामकरन रघुवरन्हि के नृप सुदिन सोधाये।" (गी० बा० ६); इसलिये यह व्यापक शब्द दिया गया है। श्रीरामचरित-वर्णन के लिये एकबार श्रीगुरु पद-रज से मन को निर्मल कर चुके हैं, यथा—"जन मन मंजु मुकुर मल हरनी।···तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनउँ राम चरित भवमोचन॥" (बा० दो० १); अब यहाँ श्रीरामयश की अपेक्षा गुरुतर श्रीभरतचरित के लिये 'मन मुकुर' को और भी साफ किया कि जिससे उसकी सूझ हो। भागवत सेवन का फल तत्काल ही प्राप्त होता है। इसलिये तुरत ही उसका फल देना भी कहा गया है—'जो दायक फल चारि'। यह भी भाव है कि यह फल का देना पूर्वार्द्ध के श्रीरामचरित परक है, क्योंकि उत्तरार्द्ध के भरत-चरित की फल-श्रुति अंत में कही गई है—"भरत चरित करि नेम, तुलसी जे सादर सुनहिं। सीयराम पद प्रेम ·" —पूर्वार्द्ध की फल-श्रुति आदि में ही कह दी गई।

'श्री गुरु'—'श्री' विशेषण गुरु-वंदना के प्रकरण में पूर्व भी दिया था—"श्रीगुरु पद नख" (बा० दो०१) वैसे यहाँ भी है। दूसरे यह 'श्री' का देनेवाला है—'सकल विभव बस करहीं' ऊपर कहा गया।

श्रीगोस्वामीजी के चरित के अनुसार ग्रंथकार के इस रामचरित-मानस के प्रथमाचार्य श्रीशिवजी हैं, दूसरे श्रीस्वामी नरहरिदासजी हैं, यहाँ प्रथम श्लोक में श्रीशिवजी की वंदना है, यथा—"वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकर रूपिणम्।" (बा० मं०); और यहाँ भाषा के प्रारंभ में श्रीस्वामी नरहरिदासजी की वंदना है।

यौवराज्याभिषेक-प्रकरण

जब ते राम ब्याहि घर आये। नित नव मंगल मोद बधाये ॥१॥

शब्दार्थ—मंगल = बाह्य आनन्द सम्बन्धी उत्सव। मोद = मानसिक आनन्द। बधाये = मंगल गान।

अर्थ—जबसे श्रीरामजी ब्याह करके घर आये, तबसे नित्य नये मंगल, आनन्द और उत्सव होते हैं ॥१॥

विशेष (१) मानस के रूपक में कहा गया है—"सप्त प्रबंध सुभग सोपाना।" (बा० दो० ११) तदनुसार घाट-रचना में नीचे की सीढ़ी को दबाकर दूसरी सीढ़ी बनाई जाती है। यहाँ प्रथम सोपान के चरित-प्रसंग से मिलाकर दूसरे के चरित्र की रचना, दूसरी सीढ़ी का बनाना है। बालकांड में—"आये ब्याहि राम घर जबते" (दो० ३६०); पर चरित-प्रसंग छूटा था, वहीं से और उन्हीं शब्दों को लेकर यहाँ से प्रारम्भ किया गया है—"जबते राम ब्याहि घर आय।" अतः, वहाँ से सम्बन्ध मिलाया और बीच का वर्णित-प्रसंग दबाव में चला गया।

इस कांड में प्रायः आठ-आठ चौपाइयों पर दोहे दिये गये हैं और २४-२४ दोहों के पीछे पचीसवें पर हरिगीतिका छंद और एक सोरठा दिया है। केवल एक स्थल पर अर्थात् १२५ वें दोहे को छोड़कर १२६ वें पर छंद और सोरठा दिया गया है, वह क्रम-भंग भी साभिप्राय है। वहाँ श्रीरामजी का श्रीवाल्मीकिजी से संवाद है, यथा—"तात वचन पुनि मात हित···।" यह श्रीरामजी का वचन है और "श्रुतिसेतु पालक राम तुम्ह···" यह श्रीवाल्मीकिजी का वचन है, केवल इसी छन्द में 'तुलसी' शब्द संभोग-सूचक नहीं है

विशेष—(१) 'भुवन चारि दस'''—राजा दशरथ परम सुकृती हैं, इनके पुण्याचरण एवं शासन से सारी प्रजा धर्माचरण में निरत है, इसी से सर्वत्र सुख पूर्ण है। इनकी राजधानी श्रीअवध तो मानों सुखका अधिष्ठान ही है। इनकी ऋद्धि-सिद्धि का थाह नहीं है। इसे ही रूपक द्वारा कवि विस्तार से कहते हैं। 'भूधर भारी' भुवन भारी हैं, तदनुसार भूधर भी भारी कहा; पुनः, इन्हीं से नदियों का निकलना कहेंगे, जो नदियाँ भारी पहाड़ से निकलती हैं, वे ही समुद्र तक जा पाती हैं।

'सुकृत मेघ बरषहि...'—श्रीचक्रवर्तीजी के सुकृत पुण्य मेघ-रूप हैं, वे ही चौदहो भुवनों में सुख बरसा रहे हैं; अतः,' इनके सुकृत भारी हैं, यथा—"सुकृती तुम्ह समान जग माहीं। है नहिं कतहूँ होनेऊ नाहीं ॥" (बा० दो० २११)

(२) 'रिधि-सिधि संपति ''—धर्ममय सम्पत्ति सुहाई होती है, अधर्ममय अर्थात् औरों को दुःख देकर बटोरी हुई संपत्ति भयावनी होती है, यथा—"पाप पहार प्रगट भइ सोई। भरी क्रोध जल जाइ न जोई ॥" (दो० ११)

'उमगि अवध अंबुधि'''—मेघ-द्वारा भारी वर्षा होने पर पृथिवी के गढ़े, तालाव आदि भर जाते हैं, पृथिवी भी प्रयोजन भर सोख लेती है, शेष जल उमड़कर नदियों-द्वारा वह चलता है और समुद्र में जा पहुँचता है। यद्यपि समुद्र पूर्ण रहता है, वैसे ही श्रीचक्रवर्त्तीजी को प्रजा से धन-संचय की कामना नहीं रहती। तथापि प्रजा प्रयोजन भर धन रखकर शेष सब स्वयं राजा को पहुँचाती है। इसी लिये 'आई' कहा गया है, यथा—"पुन्य पुरुष कहँ महि सुख छाई ॥ जिमि सरिता सागर महँ जाहीं। यद्यपि ताहि कामना नाहीं ॥ तिमि सुख संपति बिनहि बुलाये। धरम-सील पहिं जाहिं सुभाये ॥" (बा० दो० २९३)। 'आई' से यह भी भाव है कि समुद्र ही का जल अप्रकट रीति से मेघ बनकर सर्वत्र वृष्टि के रूप में प्राप्त होता है, फिर सबको तृप्तकर नदियों-द्वारा समुद्र ही में आ मिलता है, वैसे ही राजा के ही सुकृत से सर्वत्र सुख हुआ और यहाँ भी आया। यहाँ तक बाहर की आय का रूपक कहा, अब भीतर की बात कहते हैं—

(३) 'मनिगन पुर-नर-नारि''''''—समुद्र में रत्न होते हैं, उनमें वर्ण-भेद होता है, कितने दूषित भी होते हैं और कितने अमूल्य भी, क्योंकि समुद्र प्राकृत है और अयोध्या दिव्य है, यहाँ के स्त्री-पुरुष सभी श्रेष्ठ आचरणवाले, पवित्र और अमूल्य (प्रतिष्ठित) एवं सभी प्रकार से सुन्दर हैं। अयोध्या में पापाचरण का लेश भी नहीं है। इसीसे सभी 'सुजाति' ही कहे गये हैं। वाल्मी० १।५–७ में विस्तार से राजा दशरथ की दिव्य राज्य-श्री का वर्णन है। इस ग्रंथ में भी उ० दो० २०–२३ में दिव्य विभूति का वर्णन है।

(४) 'कहि न जाइ''''''जनु इतनिय''''''—उपर्युक्त ऋद्धि-सिद्धि आदि को यहाँ 'विभूती' पद से व्यक्त किया। जगत् के रचयिता ब्रह्माजी हैं, अतः, कवि कहते हैं कि बस, अब आगे ब्रह्मा की करतूत नहीं है। श्रीअवधजी की रचना में ही इति-श्री हो गई। इस रीति से विभूति को अकथनीय सूचित किया। यह वर्णन प्राकृत दृष्टि से है, यथार्थ में श्रीअवध में त्रिपाद विभूति का ऐश्वर्य है, इसमें ब्रह्मा की गति ही नहीं है, यथा—"देखत अवध को आनंद। हरषि बरषत सुमन दिन-दिन देवतनि को बृंद ॥ नगर रचना सिखन को बिधि तकत बहु बिधि बंद। निपट लागत अगम ज्यों जलचरन्हि गमन सुछंद ॥" (गी० उ० २१)।

सब बिधि सब पुरलोग सुखारी। रामचंद - मुख - चंद निहारी ॥६॥
मुदित मातु सब सखी सहेली। फलित बिलोकि मनोरथ-बेली ॥७॥
राम - रूप - गुन - सील - सुभाऊ। प्रमुदित होइ देखि सुनि राऊ ॥८॥

दोहा—सबके उर अभिलाष अस, कहहिं मनाइ महेस।
आप अछत जुवराज-पद, रामहिं देउ नरेस ॥१॥

शब्दार्थ—सखी = बराबरवाली, संगिनी। सहेली = अनुचरी, सेवा भाव के साथ संगिनी। अछत = रहते हुए। जुवराज-पद = भावी राज्याधिकार। देउ = दे दें, (जैसे होउ, करउ = हो, करे होता है।)

अर्थ—सब पुरवासी श्रीरामजी का चन्द्र-रूपी मुख देखकर सब तरह से सुखी हैं ॥६॥ सब माताएँ और उनकी सखियाँ तथा सहेलियाँ (अपनी) मनोरथ-रूपी बेलि (लता) को फली हुई देखकर आनंदित हैं ॥७॥ श्रीरामजी के रूप, गुण, शील और स्वभाव को देख-सुनकर राजा उत्कृष्ट आनंद को प्राप्त होते हैं ॥८॥ सबके हृदय में ऐसी अभिलाषा है, सब महादेवजी को मनाकर प्रार्थना करते हैं कि अपने रहते हुए राजा श्रीरामजी को युवराज-पद दे दें।

विशेष—(१) ऊपर विभूति (भोग्य) को कहकर अब उसके भोक्ताओं का वर्णन करते हैं। 'सब विधि सब''''''रामचन्द्र मुख चन्द्र निहारी।'—श्रीरामजी का मुख चन्द्रमा है, पुरजनों के साथ नगर समुद्र-रूप है। समुद्र नदियों के जल से नहीं बढ़ता, किन्तु पूर्ण चन्द्र देखकर बढ़ता है, वैसे ही नगर के लोग 'रिधि सिधि संपति' से सुखी नहीं हैं, किन्तु श्रीरामजी के मुख-चन्द्र-दर्शन से सुखी हैं, यथा—"राका ससि रघुपति पुर सिंधु देखि हरषान। बढेउ कोलाहल करत जनु, नारि तरंग समान॥" (उ० दो० ३)। 'मुख चंद्र' मात्र से यह संदेह रहता कि मुख ही भर आह्लाद-कारक है, शेष अंग नहीं, इसलिये 'राम' नाम के साथ भी 'चंद्र' शब्द दिया गया है कि आपका सर्वांग आह्लादमय है, क्योंकि 'चदि—आह्लादने' धातु से चंद्रमा शब्द बनता है, इसीसे चन्द्रमा आह्लाद-रूप है।

ऊपर पुर-नर-नारि 'मनिगन' कहे गये थे, यहाँ वे समुद्र कहे गये—यह विरोध नहीं है, क्योंकि वह रूपक वहीं अर्द्धाली ४ पर ही समाप्त हो गया। यह दूसरा रूपक है।

(२) 'मुदित मातु सब''''''—पुर-लोगों के सुख कहकर अब रनिवास और राजा के सुख कहते हैं। माताओं का मनोरथ है। अतः, स्त्री-वाचक 'बेलि' का रूपक लिखा है। बेलि किसी वृक्ष आदि के आश्रित होकर फूलती-फलती है, वैसे ही माताओं ने मनोरथ-पूर्ति के लिये बहुत-सी मनौतियाँ मानी थीं, यथा—"देव-पितर पूजे बिधि नीकी। पूजी सकल बासना जी की॥" (बा० दो० ३५०)। प्रथम आगमो-द्वारा माताओं ने सुन रक्खा था—"कौसिक मिस सीय स्वयंबर गायो।" (गी० बा० १४); पुनः विश्वामित्रजी ने भी कहा था—"इन्ह कहँ अति कल्यान" (बा० दो० २०७); तब से माताओं के मनोरथ होते थे कि पुत्रों के अनुरूप दुलहिने मिलें वे कामनाएँ पूरी हुईं। ये ही मनोरथ रूपी—लता में फल लगना है, यथा—"राम सीय-छवि देखि जुवति जन कहहिं परसपर बाता। अब जानेउँ साँचहू सुनहु, सखि कोबिद बड़ो बिधाता॥" (गी० बा० १०८); "उमँगि उमँगि आनंद बिलोकति बधुन्ह सहित सुतचारी।" (गी० बा० १०७)।

बहुओं के सहित पुत्रों को देखना ही फल लगना और मुदित होना राजा के प्रति भी कहा गया है, यथा—"बैठे बरासन राम जानकि मुदित मन दसरथ भये। तनु पुलक पुनि-पुनि देखि अपने सुकृत-सुरतरु फल नये॥'''मुदित अवध पति सकल सुत, बधुन्ह समेत निहारि। जनु पाये महिपाल मनि, क्रियन्ह सहित फल चारि॥" (बा० दो० ३२५)। राजा को यह आनंद जनकपुर में ही मिल चुका था, रानियों को यहाँ आने पर मिला। अतः, उनके लिये भी वही 'मुदित' शब्द दिया गया।

कोई-कोई 'फलित' की जगह 'फुलित' पाठ उत्तम मानते हैं। कारण यह कि बेलों में फूल लगना

और वृक्षों में फल लगना उत्तम है। पुनः फलना संतान होना है, वह इस कांड में नहीं कहा गया। इसका उत्तर यह है कि 'फलित' शब्द इस ग्रंथ भर में कहीं नहीं है। राजा के प्रति फल लगना और मुदित होना कहा गया था, वही सुख माताओं का ज्यों-का-त्यों दिखाना है। पुन: त्रेतायुग में कलियुग की तरह तुरंत ही ब्याह के पीछे संतान नहीं होती थी कि उनका मनोरथ अभी से किया जाय। राजा के साठ हजार वर्ष और श्रीरामजी आदि के दस हजार वर्ष बीतने पर सन्तानें हुई थीं। लताओं के फूलने पर थोड़े ही काल पीछे फल लगते हैं। अतः, मनोरथ रूपी बेलों में बहुओं का अनुकूल होना फूलना और सन्तान होना फलना, यह रूपक यहाँ नहीं है। 'फलित' ही पाठ समीचीन है।

(३) 'राम-रूप गुन-सील ···'—रानियों को 'मुदित' और राजा को 'प्रमुदित' कहा गया है, क्योंकि वे रूप एवं जोड़ी की शोभा पर दृष्टि रखती थीं और राजा गुण, शील, स्वभाव को भी देखते थे। पुन: तीनों भाइयों को रूप आदि से 'मुदित' और श्रीरामजी के रूप आदि पर 'प्रमुदित' होते थे, क्योंकि—"चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुख सागर रामा॥" (बा० दो० १९७); पुन: श्रीरामजी के गुण आदि से इनमें राज्याधिकार की योग्यता देखकर भी 'प्रमुदित' होते हैं, यथा—"राम सुजस सुनि अतिहि उछाहू।" (दो० १), आगे कहा है। इन रूप आदि का विस्तृत वर्णन वाल्मी० २।१।६ से २।२।४५ तक है।

पुरजनों को 'सुखारी' माताओं को 'मुदित' और राजा को 'प्रमुदित' कहकर उत्तरोत्तर अधिक सुखी होना दिखाया गया है।

(४) 'सबके उर अभिलाष····'—पहले सबके सुख पृथक्-पृथक् कहे गये, यहाँ इस मनोरथ में सब का एकमत कहते हैं। 'मनाइ महेस' अर्थात् वे महान् ईश (समर्थ) हैं, अतः, सब कुछ कर सकते हैं और थोड़े ही में प्रसन्न भी होते हैं, यथा—"औढर दानि द्रवत पुनि थोरे।" (वि० ७); 'जुवराज पद रामहि ···'—श्रीरामजी ही को युवराज पद चाहते हैं, क्योंकि—(क) श्रीरामजी के रूप, गुण आदि की अधिकता का प्रभाव इनपर भी है। (ख) ये सबके प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं—"प्रानहुँ ते प्रिय लागहिं, सब कहँ राम कृपाल॥" (बा० दो० २०४)। (ग) कुल रीति से भी इन्हें ही योग्य समझते हैं—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल-रीति सुहाई॥" (दो० १४); (घ) अभी यदि राजा इन्हें युवराज पद दे देंगे, तो फिर राजा के पीछे ये ही राजा होंगे, इसलिये 'आप अछत' भी कहा है।

'देउ नरेस' अर्थात् राजा के ही देने से मिलेगा, तो फिर महेश से क्यों मनाकर कहते हैं, राजा ही से क्यों नहीं कहते? इसका उत्तर यह है कि प्रजा को राजा से कहने में संकोच है। कहीं ऐसा कहने से राजा यह न समझें कि हमसे प्रजा को दुःख है, तब तो दूसरे को राजा बनाना चाहती है। यथा—"कथं तु मयि धर्मेण पृथिवीमनुशासति। भवन्तो द्रष्टुमिच्छन्ति युवराजं महाबलम्॥" (वाल्मी० २।२।१५), यद्यपि राजा का यह वचन परीक्षा के लिये है, तो भी इस तरह का संदेह होना युक्त है।

दूसरा उत्तर यह भी कहा जाता है कि दशरथ महाराज कैकय राज से प्रतिज्ञा-बद्ध थे कि कैकेयी के पुत्र को राज-पद दिया जायगा। प्रजा डरती है कि उसके विरुद्ध श्रीरामजी के लिये कहने से राजा हमें अधर्मी समझेंगे और भरत के प्रतिकूल मानेंगे। इससे सब हृदय में ही शिवजी से मनाते हैं कि वे राजा ही की मति ऐसी कर दें। परन्तु यह भाव इस ग्रंथ के विरुद्ध है, इसमें कहीं भी उस प्रतिज्ञा की चर्चा नहीं है। यदि प्रतिज्ञा रहती तो क्या मन्थरा और कैकेयी को इसका पता नहीं था? प्रत्युत इन्हें तो इससे बड़ा आश्रय मिलता, पर इन दोनों ने कहीं उस प्रतिज्ञा की चर्चा नहीं की, केवल दो वरदानों ही पर बल दिखाया है। जब इन दो को नहीं मालूम था तो प्रजा कैसे जान सकती थी?

एक समय सब सहित समाजा । राजसभा रघुराज बिराजा ॥१॥
सकल - सुकृत - मूरति नरनाहू । रामसुजस सुनि अतिहि उछाहू ॥२॥
नृप सब रहहिं कृपा अभिलाखे । लोकप करहिं प्रीति रुखराखे ॥३॥
तिभुवन तीनिकाल जगमाहीं । भूरि - भाग दसरथ-सम नाहीं ॥४॥
मंगलमूल राम सुत जासू । जो कछु कहिय थोर सब तासू ॥५॥

अर्थ—एक समय रघुकुल के राजा दशरथ महाराज अपने संपूर्ण समाज के साथ राज-सभा में बैठे थे ॥१॥ राजा समस्त पुण्यों की मूर्त्ति थे, उन्हें श्रीरामजी का सुयश सुनकर अत्यन्त ही उत्साह (आनंद) होता था ॥२॥ (उस समय) सब राजा इनकी कृपा के अभिलाषी रहते थे, लोकपाल-गण इनका रुख रखते हुए प्रीति करते थे, (क्योंकि इनकी संतान से उनकी रक्षा होगी यह वे लोग जानते थे) ॥३॥ तीनों लोकों में, भूत, भविष्य और वर्त्तमान काल में एवं जगत् भर में दशरथजी के समान अत्यन्त भाग्यवान् (दूसरा) नहीं ॥४॥ मंगल के मूल श्रीरामजी इनके पुत्र थे, अतः, इनके लिये जो कुछ कहा जाय, सब थोड़ा ही है ॥५॥

विशेष—(१) 'एक समय···'—जनकपुर से आने पर बारह वर्ष तक श्रीअवध में बसने के अनन्तर चैत महीने में जिस दिन पुनर्वसु के चन्द्रमा थे और उसके दूसरे दिन पुष्य पड़ता था, यथा—"स्व एव पुष्यो भविता श्वोऽभिषेच्यस्तु मे सुतः । रामो ··" (वाल्मी० २।४।२), "चैत्रः श्रीमानयं मासः पुण्यः पुष्पित काननः ।" (वाल्मी० २।३।४); चैत के शुक्लपक्ष में प्रायः सप्तमी से दशमी तक पुनर्वसु और पुष्य नक्षत्र पड़ते हैं। तथा—"उषित्वा द्वादश समा···तत्र त्रयोदशे वर्षे··· अभिषेचयितुं रामं ··।" (वाल्मी० ३।४७।४-५)।

'राज सभा रघुराज···'—इसमें विशेष रघुवंशी थे। सब 'राजते' थे, पर राजा विशेष राजते (सोहते) थे; राजा दशरथ के जीते जी रघुवंशियों की यह अंतिम सभा है।

(२) 'सकल सुकृत मूरति···'—राजा का जीवन सुकृतमय है और इनमें सब सुकृतों का फल-रूप उत्कृष्ट श्रीराम-स्नेह भी है, यथा—"सकल सुकृत फल राम सनेहू ।" (बा० दो० २१); इससे ये सुकृत की मूर्त्ति कहे गये। राजा सुकृत-मूर्त्ति होने ही से आनंदित थे, पर उन्हें श्रीराम-सुयश सुन-सुनकर अत्यन्त आनन्द होता था, क्योंकि यह राजा का अभीष्ट था कि मेरा पुत्र ऐसा यशस्वी हो और इन बातों से उसमें राज्याधिकार की योग्यता हो।

(३) 'नृप सब रहहिं कृपा···'—इससे राजा का आतंक लोकपालों पर भी दिखाया कि वे इनका रुख रखकर प्रीति करते थे; अर्थात् स्वतंत्र होते हुए भी राजा से दबते रहते थे। प्रीति बराबर में हो होती है। 'रुख राखे'—से राजा के प्रभाव से लोकपालों की अधीनता जनाई, यथा—"सुरपति बसइ बाँह बल जाके। नरपति सकल रहहिं रुख ताके ॥" (दो० २४); अर्थात् रुख रखकर प्रीति स्वामी में होती है। 'नृप सब' से भूलोक और 'लोकप करहिं···' से स्वर्ग लोक की अधीनता कही, पातालवासियों की नहीं कही, क्योंकि वे तामसी स्वभाव के हैं। अतः, वे न तो कृपा के अधिकारी हैं और न प्रीति के।

शंका—रावण ने सारे संसार को जीत रक्खा था, यथा—"भुजबल बिस्वबस्य करि" (बा० दो० १८२); तथा—"ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनु धारी। दसमुख बसवर्ती···" (बा० दो० १८१)। फिर उसके रहते हुए, राजा दशरथ का उपर्युक्त आतंक कैसे संभव है ?

समाधान—सब राजा लोग रावण से डरते थे, पर वे हृदय से उसके अधीन न थे, रावण जिन्हें नहीं जीत सका था, उनमें एक चक्रवर्ती दशरथजी भी थे। इससे भी राजाओं का इनकी कृपा

का अभिलाषी होना योग्य ही था। लोकपालों को तो यह मालूम ही था कि अब शीघ्र ही इनकी ही संतान से रावण का विनाश होगा, इससे वे प्रीति करते थे।

(४) 'तिभुवन तीनि काल जग माहीं।'—त्रिभुवन कहकर फिर जगत् भी कहा गया, क्योंकि तीन भुवनों से यहाँ—भूः (भूलोक) भुवः (पितृलोक) और स्वः (स्वर्ग=देवलोक) ही अभीष्ट हैं। प्रथम तीन भुवन कहकर फिर चौदहो भुवन सूचक जगत् भी कहा है कि कहीं भी इनके समान बड़भागी नहीं है। यथा—"दशरथ गुन गन बरनि न जाहीं। अधिक कहा जेहि सम जग नाहीं।" (दो० २०८)। प्रथम राजा को सुकृत की मूर्ति कहा, उससे अधिक अन्य राजाओं का इनके वशवर्त्ती होने में जनाया, उससे भी अधिक महत्त्व लोकपालों की अधीनता में सूचित किया, आगे इससे भी अधिकता कहते हैं कि—"मंगल मूल राम सुत ···" अर्थात् प्रभु ने भी वश होकर इनका पुत्रत्व स्वीकार किया तब इनके तुल्य बड़भागी कोई नहीं है।

'मंगल मूल राम···' यथा—"मंगल भवन अमंगल-हारी। द्रवहु सो दसरथ अजिर-बिहारी॥" (बा० दो० १११) अर्थात् परात्पर ब्रह्म का अवतार इन्हीं चक्रवर्त्ती के आँगन में हुआ है।

राय सुभाय मुकुर कर लीन्हा। बदन बिलोकि मुकुट सम कीन्हा॥६॥
श्रवन समीप भये सित केसा। मनहुँ जरठपन अस उपदेसा॥७॥
नृप जुवराज राम कहँ देहू। जीवन-जनम-लाहु किन लेहू॥८॥

दोहा—यह बिचार उर आनि नृप, सुदिन सुअवसर पाइ।
प्रेम पुलकि तनु मुदित मन, गुरहिं सुनायेउ जाइ॥२॥

शब्दार्थ—सुभाय=स्वाभाविक। सम=सीधा। कहँ=को। लाहु=लाभ। किन=क्यों नहीं।

अर्थ—राजा ने सहज ही हाथ में शीशा ले लिया और मुख देखकर मुकुट को सीधा किया॥६॥ (देखा कि) कानों के पास बाल सफेद हो गये हैं, मानों बुढ़ापा ऐसा उपदेश कर रहा है॥७॥ कि राजन्! रामजी को युवराज पद देकर अपने जीवन और जन्म का लाभ क्यों नहीं ले लेते?॥८॥ यह विचार हृदय में निश्चित करके राजा ने अच्छा दिन और अच्छा अवसर पा प्रेम से पुलकित शरीर हो, प्रसन्न मन से गुरुजी के पास जाकर सुनाया॥२॥

विशेष—(१) 'राय सुभाय मुकुर कर ···'—पूर्व कहा था—'एक समय सब सहित समाजा। राजसभा···' वह प्रसंग छोड़कर राजा का विभव कहने लगे, वहीं से फिर प्रसंग लिया। 'सुभाय' अर्थात् बिना किसी की प्रेरणा के, शीशा दृष्टि में पड़ा, तो उसे उठा लिया और देखने लगे। हो सकता है कि किसी ने मुकुट कुछ टेढ़ा देखा हो, तो शीशा रख दिया हो और उसपर दृष्टि पड़ने पर राजा ने उठाकर देखा हो। राजसभा में राजकार्य का समय है, यहाँ दर्पण देखने का समय नहीं, प्रभु की इच्छा से ऐसी प्रवृत्ति हुई, इसी से 'सुभाय' कहा गया।

(२) 'श्रवन समीप भये···'—कहा जाता है कि बुढ़ापे में प्रथम कान के पास के बाल सफेद होते हैं, यथा—"कृतान्तस्य दूती जरा कर्णमूले समागत्य वक्तीति लोकप्रवादः॥" ऐसा ही रघुवंश में भी कहा गया है—"तंकर्णमूलमागत्य रामे श्रीन्र्यस्यतामिति। कैकेयी शंकयेवाह पलितच्छद्मना जरा॥"

(सर्ग ११) इस श्लोक में 'जरा' का उपदेश करना और यहाँ 'जरठपन' का उपदेश करना कहा गया है 'नृप' और 'राय' के सम्बन्ध से 'जरठपन' इस पुँल्लिंग शब्द का प्रयोग उत्तम हुआ है; फिर सभा में इतने बड़े महाराज को स्त्री से उपदेश किया जाना भी ठीक नहीं होता, यहाँ 'जरा' स्त्रीलिंग न देने में मंमकार की विलक्षण सावधानता है। कान के पास ही गुप्त मंत्र दिया जाता है, यथा—"कह लंकेस मंत्र लगि काना ॥" (लं० दो० १०)। पुनः उपदेश देना जरठ का काम है, यथा—जाना जरठ जटायू एहा।··· कह सुनु रावण मोर सिखावा ॥" (आ० दो० २८) ; इसलिये यहाँ भी 'जरठपन' ने उपदेश दिया।

(३) 'नृप जुवराज राम···'—यही उपदेश है, 'देहू' और 'लेहू' से दोनों कामों को अपने अधीन जनाया। 'किन लेहू' अर्थात् आप ही ने ढील दे रक्खी है। यदि जीवन और जन्म की सफलता चाहते हैं तो अब विलम्ब न करें। केश देखकर राजा के हृदय में ये विचार आप-ही-आप व्यक्त हुए, इसे ही उपदेश मान लिया।

(४) 'यह विचार उर आनि···'—कोई नई बात सहसा प्रकट नहीं करनी चाहिये, इसलिये अभी इसे राजा ने हृदय ही में रक्खा। पुरवासियों ने भी ऐसा विचार हृदय में रक्खा है—"सबके उर अभिलाष अस" (दो० १) 'सुदिन'—श्रीरामजी के राज्याभिषेक के योग्य और 'सुअवसर'—गुरुजी के सावकाश का, अथवा उक्त दोनों ही कामों के लिये गुरुजी के पास जाने का विचार किया। श्रीगुरुजी से सम्मत करके कोई भी उत्तम कार्य करना इस कुल की रीति है। 'प्रेम पुलकि तनु ···'—प्रेम और मोद मन में है, पुलक तन में है और प्रेम से भरे हुए वचन भी कहने आये। इस तरह यहाँ राजा के मन, वचन और कर्म (तन) तीनों की प्रवृत्ति दिखाई गई।

'मुदित मन'—इस ग्रंथ में प्रायः सर्वत्र उत्तम कार्यारंभ में हर्ष तथा उत्साहसूचक शब्द 'मुदित' 'हरषि' आदि कहे गये हैं, यह कार्यारंभ में शकुन है।

कहइ भुआल सुनिय मुनिनायक। भये राम सब बिधि सब लायक ॥१॥
सेवक सचिव सकल पुरबासी। जे हमरे अरि मित्र उदासी ॥२॥
सबहि राम प्रिय जेहि बिधि मोही। प्रभु-असीस जनु तनु धरि सोही ॥३॥
बिप्र सहित परिवार गोसांई। करहिं छोह सब रउरेहि नांई ॥४॥

शब्दार्थ—उदासी = शत्रु-मित्र-भाव से रहित, विरक्त। सोही = सोह रही है।

अर्थ—राजा कहते हैं—हे मुनिराज! सुनिये, राम सब प्रकार से सब (कामों) में योग्य हो गये ॥१॥ सेवक, मंत्री एवं सभी पुरवासी और जो कोई भी हमारे शत्रु, मित्र एवं उदासीन हैं ॥२॥ रामजी सभी को वैसे ही प्रिय हैं, जैसे हमको। हे प्रभो! मानों आपकी आशिष ही शरीर धारण करके सोह रही है ॥३॥ हे गोसाई! सब ब्राह्मण सपरिवार आपके समान ही उनपर स्नेह करते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'कहइ भुआल···'—'मुनिनायक' यह विशेषण स्वार्थ-दृष्टि से भी यद्यपि स्वाभाविक है, तथापि वसिष्ठजी में यथार्थ ही है, क्योंकि ये ब्रह्मर्षि हैं और ब्रह्माजी के पुत्र हैं। विश्वामित्रजी ब्रह्माजी से ब्रह्मर्षि पद पाकर भी इनके मुख से कहलाने में गौरव समझते थे—"ब्रह्मपुत्रो वसिष्ठो मामेवं वदतु···" (वाल्मी० १।६५।१७)।

'भये राम सब बिधि···'—'भये' यह भूतकालिक क्रिया है; अर्थात् बहुत पहले ही से योग्य हो चुके हैं। श्रीजनकपुर-यात्रा के कार्यों से ही इनकी योग्यता प्रसिद्ध हो गई। परशुराम से साम और ताड़का, सुबाहु, मारीच आदि के वध से दंड-विधि की निपुणता प्रसिद्ध है। दान और भेद पूर्ण असमर्थ के लिये

नहीं हैं, आगे प्रसंगवशात् विभीषण आदि के प्रसंग में मर्यादा के साथ इन्हें भी दिखावेंगे। विवाह से अभी तक १२ वर्ष हो चुके। 'सब लायक'—राज्य के लिये जिन गुणों की आवश्यकता है, उनसे ये पूर्ण हैं, यथा—"संमतस्त्रिषु लोकेषु वसुधायाः क्षमागुणैः। बुद्ध्या बृहस्पते स्तुल्यो वीर्ये चापि शचीपतेः॥ तथा सर्व प्रजाकान्तैः प्रीति संजननैः पितुः। गुणैर्विरुरुचे रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः॥" (वाल्मी० २।१।३२-३३)।

(२) 'सेवक सचिव सकल···'—पहले अपना सम्मत कहकर तब सब मंत्री, प्रजा आदि की प्रसन्नता भी कहते हैं। इसका भाव यह कि जिसपर ये सब अनुकूल हों, वही राज्याधिकार के योग्य होता है। 'जे हमरे अरि मित्र उदासी।'—शत्रु आदि हमारे हैं, राम से तो सभी स्नेह करते हैं, यथा—"जासु सुभाय अरिहु अनुकूला।" (दो० ३१)। "ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी।" (बा० दो० २१५) राक्षस शत्रु हैं, इन्द्रादि देवता, मित्र और संत लोग उदासीन हैं।

(३) 'सबहिं राम प्रिय···' यथा—"कोसलपुरवासी नर, नारि वृद्ध अरु बाल। प्रानहुँ ते प्रिय लागत, सब कहँ राम कृपाल॥" (बा० दो० २०४)। 'प्रभु असीस जनु···'—हमारे भाग्य ऐसे कहाँ थे? यह तो आपके आशीर्वाद का फल है कि सर्व-प्रिय और सुयोग्य पुत्र हुए। असीस—"धरहु धीर होइहहिं सुत चारी। त्रिभुवन बिदित भगत भय हारी॥" (बा० दो० १८८)। आपकी असीस सर्व-प्रिय है, वैसे पुत्र भी हुए, मानों वे आशीर्वाद ही मूर्त्तिमान् हैं।

(४) 'बिप्र सहित परिवार···'—ब्राह्मणों को उपर्युक्त—'सेवक सचिव सकल पुरबासी' से पृथक कहा, क्योंकि गुरु और विप्र तो साक्षात् भगवान के रूप ही हैं, यथा—"मम मूरति महिदेवमयी है।" (वि० १३६)। "बंदउँ गुरु पद···कृपासिंधु नर रूप हरि।" (बा० मं०)। इस तरह गुरु-विप्र का भी स्नेह कहकर बड़ाई की, प्रत्यक्ष नहीं कहा।

ब्राह्मणों का स्नेह करना बहुत बड़ी बड़ाई है, यह क्योंकर प्राप्त हुई, इसका साधन आगे कहते हैं—

जे गुरु-चरन-रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल बिभव बस करहीं॥५॥
मोहि सम यहु अनुभयेउ न दूजे। सब पायेउँ रज पावनि पूजे॥६॥
अब अभिलाष एक मन मोरे। पूजिहि नाथ अनुग्रह तोरे॥७॥
मुनि प्रसन्न लखि सहज सनेहू। कहेउ नरेस रजायसु देहू॥८॥

दोहा—राजन राउर नाम जस, सब अभिमतदातार।
फल अनुगामी महिपमनि, मन-अभिलाष तुम्हार॥३॥

अर्थ—जो लोग गुरु-चरण की धूल को शिर पर धारण करते हैं, वे मानों सभी ऐश्वर्यों को अपने वश में कर लेते हैं॥५॥ इसका अनुभव मेरे समान और किसी ने नहीं किया, (मैंने जो कुछ पाया है वह) सब आपके पवित्र चरणों की धूल के पूजने ही से पाया है॥६॥ अब मेरे मन में एक ही अभिलाषा है, (यह भी) हे नाथ! आपके ही अनुग्रह से पूरी होगी॥७॥ राजा का स्वाभाविक स्नेह देखकर मुनि प्रसन्न हुए और बोले कि हे राजन्! आज्ञा दीजिये॥८॥ हे राजन्! आपके नाम और यश ही सब (वा, सब-के-सब) मनोरथों को देनेवाले हैं। हे महीपमणि! आपके मन की अभिलाषा (तो) फल की अनु-
···। है॥३॥

विशेष—(१) 'ते जनु सकल विभव···'—सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के लिये समस्त साधन हैं, वे सब विभव जब इस एक ही से वश में हो जाते हैं, तब यह एक ही धन सबसे श्रेष्ठ है; क्योंकि अन्य साधनों से प्राप्त ऐश्वर्य समय पर नष्ट भी हो जाते हैं, पर इससे—'बस करहीं' अर्थात् सदा अक्षय रूप में बना रहना बनाया। अतः, इस रज में वशीकरण शक्ति है, यथा—"किये तिलक गुन गन बस करनी।" (बा० दो० १)। यहाँ 'विभव' का प्रसंग है, अतः, यही कहा है।

(२) 'मोहि सम यहु अनुभयेउ···'—यहाँ अपनेको उदाहरण में रखकर उक्त वचनों को प्रमाणित करते हैं। अनुभयेउ=अनुभव किया। 'सब पायेउ'—ऐश्वर्य, क्षेम, राम ऐसे पुत्र एवं उनके योग्य बहुएँ इत्यादि। 'न दूजे' अर्थात् मेरे समान भाग्यवान् और नहीं है, यथा—"राउर जापर अस अनुरागू। को कहि सकइ भरत कर भागू॥" (दो० २५८)। तात्पर्य यह कि मेरे समान गुरु-कृपा-पात्र दूसरा शिष्य नहीं हुआ और न आप ऐसे कृपालु गुरु ही किसी को मिले हैं।

(३) 'अब अभिलाष एक···'—बस, यही एक वांछा और रह गई है, जिसके लिये श्रीचरणों को कष्ट देने आया हूँ। 'एक' से इसकी प्रधानता भी ध्वनित है, क्योंकि इसकी ही प्राप्ति पर राजा अपनेको कृतार्थ मानते हैं। यथा—"पुनि न सोच तनु रहउ कि जाऊ।" (दो० २)। इसके विपर्यय रूप में भी संसार का कार्य हुआ, पुनः सिद्धि पर ११ हजार वर्ष प्रजा सुखी होकर कृतार्थ रही। 'पूजिहि'—राजा का दृढ़ विश्वास है।

(४) 'मुनि प्रसन्न लखि···'—राजा ने बिना मुनि की प्रसन्नता पाये मनोरथ नहीं कहा। वे मुनि का रुख देख रहे हैं। मुनि प्रसन्न हुए, क्योंकि प्रेम एवं आनन्द की रोमांच आदि दशाएँ देखने में आईं। वे राजा के सहज स्नेह से प्रसन्न होकर बोले कि हे राजन्। जो कहिये, वही करें। 'नरेस' सम्बोधन के अनुसार 'नर' के संबंध से वसिष्ठजी इन्हें राजा मानकर 'आयसु' कहकर उनकी इच्छा पूरी करने के लिये प्रस्तुत हैं कि हमारे योग्य जो कार्य हो, कहिये। राजा ने गुरु को ईश्वरतुल्य माना, तो गुरु ने भी 'नरेस' कहकर नरमात्र पर शासक सिद्ध करते हुए, 'रजायसु' देना कहा है, जिसका अर्थ है—'राज-आयसु' अर्थात् राजा की आज्ञा। अतः, यही अर्थ ठीक है। पुनः अरबी के 'रजा' शब्द से बने हुए 'रजाय' और 'रजायस' शब्द भी पद्यों में कहे जाते हैं। यहाँ इसके दो अर्थ हैं—१. आज्ञा, २. मरजी, इच्छा। इसका दूसरा अर्थ लेने में उपर्युक्त अर्थ (गुरु होकर आज्ञा कैसे माँगी ?) की खटक मिट जाती है।

(५) 'राजन राउर नाम जस···'—वसिष्ठजी गुरु होते हुए राजा के मंत्री भी हैं, मंत्रियों के लिये नीति है कि राजा की प्रशंसा करके तब मंत्र कहें। इस नीति का पालन इस ग्रन्थ में वाल्मीकिजी, अगस्त्यजी, जाम्बवान्जी एवं हनुमान्जी आदि सभी ने किया है। तदनुसार वसिष्ठजी ने यहाँ कहा है कि आपके नाम लेने और यश-स्मरण से सब-के-सब मनोरथ पूरे होते हैं, फिर आपके लिये क्या कहना है ? आपकी अभिलाषा होने के पहले ही फल प्राप्त रहता है, यहाँ 'अत्यन्तातिशयोक्ति अलंकार' है। यह बात राजा में चरितार्थ भी है, जैसे इनकी पुत्र की अभिलाषा साठ हजार वर्ष पर हुई और अंधतापस का शाप इन्हें युवराज-अवस्था में ही हो चुका था 'कि तुम्हारी मृत्यु पुत्र के वियोग से होगी' जिसका आशय यह था कि पुत्र होगा, तब तो उससे वियोग की दशा आवेगी। राजा ने इस प्रशंसा को गुरु का अनुग्रह माना और निश्चय किया कि गुरुजी अनुकूल हैं। मुझे मनोरथ कहना चाहिये।

यहाँ 'अनुगामी' को 'अभिलाष' का ही विशेषण मानना चाहिये, क्योंकि जब राजा के नाम-यश में ही संसार के मनोरथ की पूर्ति का महत्त्व है, तब साक्षात् स्वरूप में कितनी विशेषता चाहिये, यह उपर्युक्त अर्थ में बनती है।

सब बिधि गुरु प्रसन्न जिय जानी। बोलेउ राउ रहसि मृदुबानी ॥१॥
नाथ राम करिअहिं जुबराजू। कहिय कृपा करि करिय समाजू ॥२॥
मोहि अछत यह होइ उछाहू। लहहिं लोग सब लोचन-लाहू ॥३॥
प्रभुप्रसाद सिव सबइ निबाहीं। यह लालसा एक मन माहीं ॥४॥
पुनि न सोच तनु रहउ कि जाऊ। जेहि न होइ पाछे पछिताऊ ॥५॥

शब्दार्थ—रहसि=(सं० रहस्) गुप्त भेद, क्रीड़ा। सुख, (क्रि० अ०—रहसना, रहस-ना)=आनन्दित होना, हर्षित होकर। समाज=सामग्री, तैयारी। रहउ=रहे।

अर्थ—अपने हृदय में सब प्रकार गुरुजी को प्रसन्न जान राजा हर्षित होकर कोमल वाणी बोले ॥१॥ हे नाथ! राम को युवराज बनाइये, कृपा करके कहिये कि तैयारी करो ॥२॥ मेरे जीते जी यह उत्सव हो जाय, जिससे सब लोग नेत्रों का लाभ उठावें ॥३॥ आपके अनुग्रह से शिवजी ने सभी कुछ निबाह दिया, यही एक लालसा मन में (रह गई) है ॥४॥ फिर मुझे चिन्ता नहीं, शरीर रहे—चाहे जाय, जिससे पीछे मुझे पछतावा न हो ॥५॥

विशेष—(१) 'सब बिधि गुरु प्रसन्न······'—गुरुजी मन, वचन, कर्म से प्रसन्न हैं—'मुनि प्रसन्न लखि······'—मन, रजायसु देहूँ (सो करूँ)'—कर्म और प्रशंसा की—यह वचन की प्रसन्नता है।

'बोलेउ राउ रहसि······'—'रहसि' शब्द का मूल रूप यदि 'रभस्' एवं 'रभसः' संस्कृत का लिया जाय, तब 'हर्ष से' अर्थ होगा, अथवा 'हरषि' के वर्ण-विपर्यय द्वारा 'रहसि' शब्द माने, तब भी 'हर्ष से' होगा। वर्ण-विपर्यय द्वारा बने हुए शब्द का होना यहाँ युक्त है। इस कांड में यह शब्द कई बार आया है और सर्वत्र परिणाम में हर्ष का विपर्यय ही हुआ है, यथा—"सुनि रहसेउ रनिवास।" (दो० ७); "रहसी चेरि घात भलि फाबी।" (दो० १६); "रहसी रानि राम रुख पाई।" (दो० ४१)। इन सब स्थलों पर मनोरथ-सिद्धि नहीं ही हुई।

(२) 'नाथ राम करिअहिं······'—'नाथ' अर्थात् स्वामी। आप स्वामी हैं, मैं आपकी आज्ञानुसार कार्य करनेवाला हूँ। राम को युवराज आप ही करें और मुझे आज्ञा दें। 'कृपा करि'—आपकी कृपा ही से सिद्ध होगा, यथा—"पूजिहि नाथ अनुग्रह तोरे।" (दो० २), 'करिय समाजू'—'समाजू' शब्द 'साँज' का पर्याय है इसका अर्थ है, सामग्री, साज-सामान, उपकरण, यथा—"कहेउ लेहु सब तिलक समाजू।" (दो० १८६)।

(३) 'मोहि अछत यह होइ···'—उपर्युक्त—'नाथ रामु करिअहिं······' का अर्थ इसमें स्पष्ट किया कि राजा गुरुजी के द्वारा युवराज दिया जाना पुष्ट करते हैं, नहीं तो कहते कि मैं जीते-जी उन्हें युवराज बना दूँ। यद्यपि यह कार्य राजा ही का है—जैसे आगे वसिष्ठजी कहेंगे—"भूप सजेउ अभिषेक समाजू। चाहत देन तुम्हहिं जुबराजू॥" (दो० ९); तथापि यह राजा की गुरु-भक्ति है कि वे गुरु को ही सब कार्य में प्रधान रखते हैं, यथा—"विदितं ते महाराज इक्ष्वाकु कुलदैवतम् ॥ वक्ता सर्वेषु कृत्येषु वसिष्ठो भगवानृषिः ॥" (वाल्मी० ११०।१६–१७)। पूर्व पुरवासियों ने शिवजी से प्रार्थना की थी, वह शिवजी ने पूरी की। अतः, उन्हीं शब्दों से कहा है। यथा—"आप अछत युवराज पद, रामहिं देउ नरेस॥" (दो० १); वही यहाँ—'मोहि अछत यह···लहहिं लोग सब···' है।

'मोहि अछत''''''—का तात्पर्य यह कि इस समय राजा को बहुत अशकुन हो रहे हैं, इसीसे वे शीघ्रता कर रहे हैं, यथा—"अपि चाद्याशुभान्राम स्वप्नान्पश्यामि राघव। सनिर्घाता दिवोल्काश्च पतन्ति हि महास्वनाः ॥ अवष्टब्धं च मे राम नक्षत्रं दारुणग्रहैः। आवेदयन्ति दैवज्ञाः सूर्याङ्गारकराहुभिः ॥ प्रायेण च निमित्तानामीदृशानां समुद्भवे। राजा हि मृत्युमाप्नोति घोरां चापदमृच्छति ॥" (वाल्मी० २।४।१७–१९); अर्थात् मैंने आज अशुभ स्वप्न देखा है, वज्रपात के साथ बड़े शब्द से उल्का को गिरते देखा है। मेरा जन्म-नक्षत्र सूर्य, मंगल और राहु, इन दारुण ग्रहों से आक्रान्त हो गया है—यह ज्योतिषियों ने बतलाया है। प्रायः ऐसे निमित्तों के उत्पन्न होने पर या तो राजा की मृत्यु होती है, अथवा और कोई भारी विपत्ति आती है। इसीसे राजा ने दूसरे ही दिन प्रातःकाल का मुहूर्त्त तिलक के लिये ठीक किया।

(४) 'प्रभु प्रसाद सिव''''''—गुरु की कृपा से ईश्वर की भी कृपा होती है, वैसे ही कहते हैं।

'यह लालसा एक''''''—यही 'एक' लालसा है, वह भी आपके अनुग्रह से पूर्ण होगी, यह पूर्व ही कह चुके हैं –'पूजिहि नाथ अनुग्रह तोरे।' इससे फिर नहीं कहा।

(५) 'पुनि न सोच तनु''''''—अर्थात् राम-राज्य होने पर शरीर जाय तो पछतावा नहीं होगा, अन्यथा रहेगा, यथा—"तोर कलंक मोर पछिताऊ। मुयेहु न मिटिहि न जाइहि काऊ॥" (दो० ३५)।

सुनि मुनि दसरथ-बचन सुहाये। मंगल-मोद-मूल मन भाये ॥६॥
सुनु नृप जासु बिमुख पछिताहीं। जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं ॥७॥
भयेउ तुम्हार तनय सोइ स्वामी। राम पुनीत-प्रेम-अनुगामी ॥८॥

दोहा—बेगि बिलंब न करिय नृप, साजिय सबइ समाज।
सुदिन सुमंगल तबहिं जब, राम होहिं जुवराज ॥४॥

अर्थ—दशरथजी के मंगल और आनंद के मूल सुहावने वचन सुनकर मुनि के मन को अच्छे लगे ॥६॥ हे राजन्! सुनिये, जिसके विमुख (होने से लोग) पछताते हैं और जिसके भजन के बिना (हृदय की) जलन नहीं जाती ॥७॥ वे ही स्वामी आपके पुत्र हुए हैं, श्रीरामजी पवित्र प्रेम के अनुगामी हैं ॥८॥ हे राजन्! विलंब न कीजिये, शीघ्र ही सब सामग्री सजाइये। सुदिन और सुमंगल तभी है, जब श्रीरामजी युवराज हों ॥४॥

विशेष—(१) 'सुनि मुनि दसरथ-बचन''' '''—वचन कोमल होने से 'सुहाये' हैं, इसके होने से मंगल होगा, इस उत्सव के स्मरण से मुनि के हृदय में आनंद भर गया, इससे 'मंगल मोद मूल' कहा।

(२) 'सुनु नृप जासु बिमुख''' ''' यथा—"मन पछितैहै अवसर बीते। दुर्लभ देह पाइ हरि पद भजु करम बचन अरु हीते।" (वि० १९८); जिससे जलन जाती है, वह श्रीराम-नाम का जप-रूप भजन है, यथा—"राम-नाम के जपे जाइ जिय की जरनि।" (वि० १८४)।

(३) 'भयेउ तुम्हार तनय''''''—आपके पवित्र प्रेम के कारण भगवान् आपके पुत्र होकर अनुगामी हुए हैं, यथा—"जासु सनेह सकोच बस, राम प्रगट भये आइ।" (दो० २०९); तथा—"तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरे" (बा० दो० १४१)। 'पुनीत प्रेम' इनके मनु-रूप की अनन्य भक्ति को कहा है, क्योंकि उसीसे भगवान् पुत्र हुए हैं।

इन वचनों के अनुसार ही श्रीरामजी से विमुख होने से कैकयी और मंथरा को पछताना पड़ेगा, यथा—"अवनि जमहि जाचति कैकेई। महि न बीच विधि मीच न देई॥" (दो० २५१), "गरइ गलानि कुटिल कैकेई।" (दो० २७२)।

(४) 'वेगि विलंब न करिय ····' राजा ने कहा था कि—'कहिय कृपा करि करिय समाजू।' उसपर गुरुजी कहते हैं कि—'वेगि विलंब न···' अर्थात् शीघ्रता कीजिये, क्योंकि राम-राज्याभिषेक देखने की लालसा इनकी भी तो है, यथा—"महाराज भलो काज विचार्यो बेगि विलंब न कीजै। विधि दाहिनो होइ तो सब मिलि जनम लाहु लुटि लीजै॥" (गी० अ० १), 'सुदिन सुमंगल तबहिं जब ·'—पहले श्रीरामजी का महत्त्व कह आये कि ये सबके स्वामी हैं, तो ग्रह आदि के भी स्वामी हैं। अतः, इनकी इच्छा के अनुकूल कार्य में कोई बाधक नहीं हो सकते। अतः, इनके विषय में सुदिन-सुमंगल-संग्रह की आवश्यकता ही क्या? ये जब ही युवराज हों, तभी सुदिन आदि अनुकूल रहेंगे, यथा—"जोग लगन ग्रह वार तिथि, सकल भये अनुकूल।" (बा० दो० १९०)।

यहाँ गुरुजी के वचन संदिग्ध निकल रहे हैं, वसिष्ठजी सर्वज्ञ हैं, पर ईश्वर के मर्म के जानने में नहीं, क्योंकि जीव हैं, जीव की सर्वज्ञता ईश्वर-सापेक्ष और परिमित होता है, अपरिमित और स्वतंत्र नहीं। जैसे नारदजी शीलनिधि की कन्या (देवी-माया) के मर्म को नहीं जान पाये और लक्ष्मणजी श्रीहनुमानजी की लंका दाह आदि लीलाओं को उनके आने के प्रथम ही जान लिया, गी० लं० १६ देखिये, पर माया सीता के मर्म को नहीं जाना। तथा—"विधि हरि संभु नचावनि हारे॥ तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा। और तुम्हहि को जाननिहारा॥ सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।" (दो० १२६); यह वाल्मीकिजी ने कहा है। गुरुजी यदि आगे की लीला का मर्म जानते तो श्रीदशरथजी जैसे—शुद्ध भक्त से कुछ नहीं छिपाते, आगे स्वयं भरतजी से कहा है—"सुनहु भरत भावी प्रबल, बिलखि कहेउ मुनिनाथ।" (दो० १७१)। हाँ, इस आगे की विषम घटना से कुछ सावधान हो गये, तभी आगे कहा है—"रायें राम रजाइ रुख, हम सब कर हित होइ।" (दो० २५४); श्रीरामजी की माया से प्रेरित गुरुजी के वचन ऐसे निकल रहे हैं कि जिससे उनका ऋषित्व भी बना रहे और अपनी लीला भी बने, क्योंकि ऋषियों के वचन अन्यथा हो जायँ तो उनका ऋषित्व नहीं रहता, इसीलिये नारदजी के शाप को भगवान् ने स्वीकार किया है।

यहाँ गुरुजी के वचनों में यह भाव भी गर्भित है कि अभी जो सुदिन आदि शोधे गये हैं, इसमें श्रीरामजी युवराज न होंगे। जब वे होंगे, तभी के सुदिन आदि जानिये।

मुदित महीपति मंदिर आये। सेवक सचिव सुमंत्र बोलाये॥१॥
कहि जयजीव सीस तिन्ह नाये। भूप सुमंगल बचन सुनाये॥२॥
प्रमुदित मोहि कहेउ गुरु आजू। रामहिं राय देहु जुवराजू॥३॥
जौं पाँचहि मत लागइ नीका। करहु हरषि हिय रामहिं टीका॥४॥

शब्दार्थ—जयजीव = जय हो और जियो, यह एक प्रकार का अभिवादन है। पाँचहिं = पंच, सर्वसाधारण, लोक, समाज आदि, वा, जिससे सलाह ली जाय। मत = सलाह।

अर्थ—राजा आनंद-पूर्वक घर आये और सेवकों से सुमंत्र आदि मन्त्रियों को बुलवाया॥१॥ उन्होंने 'जयजीव' कहकर राजा को प्रणाम किया, राजा ने सुन्दर मंगल के वचन सुनाये॥२॥ कि गुरुजी ने आज बहुत प्रसन्न होकर मुझसे कहा है कि राजन्! राम को युवराज-पद दो॥३॥ जो यह मत आप सब पंचों को अच्छा लगे तो हृदय से हर्ष-पूर्वक रामजी का तिलक करें॥४॥

विशेष—(१) 'मुदित महीपति मंदिर···'—राजा ने गुरुजी से आज्ञा माँगी थी कि—'कहिय कृपा करि करिय समाजू' वैसी ही आज्ञा मिली—'साजिय सबइ समाज' अतः मनोरथ-सिद्धि समझकर मुदित हैं। 'सेवक सचिव···'—यहाँ सलाह लेनी है। सेवकों से सलाह नहीं ली जाती। अतः, 'सेवकों से सचिव आदि को बुलवाया' यह अर्थ किया गया है। 'सुमंत' भी मंत्री ही हैं। किंतु सबमें प्रधान हैं, अतः इनका नाम पृथक् भी लिया गया।

'भूप सुमंगल बचन सुनाये'— रामजी के यौवराज्याभिषेक-सम्बन्धी वचन ही सुमंगल-वचन हैं, यथा—"सुदिन सुमंगल तबहिं जब, राम होहिं जुबराज।" (दो० ४); एवं—"सुदिन सुमंगल दायक सोई। तोर कहा फुर जेहि दिन होई॥" (दो० १४)।

(२) 'प्रमुदित मोहिं कहेउ गुरु···'—'प्रमुदित' यथा—"सब बिधि गुरु प्रसन्न जिय जानी।" (दो० ३); यद्यपि गुरुजी ने इनके विचार के अनुसार आज्ञा दी है, तथापि उत्तम कार्य में अहंभाव नहीं चाहिये और उन्हें गुरुओं की आज्ञा से करना चाहिये, यथा—"कौसल्या की जेठि दीन्ह अनुसासन। नहछू जाइ करावहु···गोद लिये कौसल्या बैठीं रामहि बर हो।" (रामलला नहछू १)। मंत्री लोग इस भाव को जान गये कि युवराज-पद देना राजा ही का कार्य है, बिना इनकी रुचि जाने गुरुजी ने नहीं कहा होगा, इसीसे उन्होंने कहा है—"जग मंगल भल काज बिचारा।" इसमें मंत्री लोग राजा का ही विचार कह रहे हैं।

(३) 'जौं पाँचहिं मत लागइ···'—राजा ने प्रथम स्वयं विचार करके निश्चय किया, फिर उसे गुरुजी से भी पूछा, अब मंत्रियों से परामर्श कर रहे हैं, यहाँ भी निर्णय करके तब सभा में प्रकाशित करेंगे—"राम राज अभिषेक हित, बेगि करहु सोइ सोइ।" (दो० ५); यह राजा की नीति-निपुणता है, कहा भी है—"यद्यपि नीति निपुन नर नाहू।" (दो० २६); गुरुजी की आज्ञा लेकर मंत्रियों से परामर्श का प्रयोजन यह है कि अभी यह विचार एक पक्ष का है, मध्यस्थ विचार दूसरा है, वह उत्तर-प्रतिउत्तर से मँजा होने से अधिक उज्ज्वल होता है, गुरु की आज्ञा सुनकर मंत्री लोग उसी के अनुरूप कुछ विशेषता का ही विचार करेंगे, यथा—"यद्यप्येषा मम प्रीतिर्हितमन्यद्विचिन्त्यताम्। अन्या मध्यस्थचिन्ता तु विमर्दाभ्यधिकोदया॥" (वाल्मी० २।२।१६), इसमें 'एषा' से युवराज देना अभीष्ट है।

मंत्री मुदित सुनत प्रिय बानी। अभिमत बिरव परेउ जनु पानी॥५॥
बिनती सचिव करहिं कर जोरी। जियहु जगतपति बरिस करोरी॥६॥
जगमंगल भल काज बिचारा। बेगिहि नाथ न लाइय बारा॥७॥
नृपहिं मोद सुनि सचिव सुभाखा। बढ़त बौंड़ जनु लही सुसाखा॥८॥

दोहा—कहेउ भूप मुनिराज कर, जोइ जोइ आयसु होइ।
राम राज-अभिषेक-हित, बेगि करहु सोइ सोइ॥५॥

शब्दार्थ—बिरव (सं० विरुह, वीरुध) = छोटा पौधा। बारा (सं० वार) = विलंब। बौंड़ = लता।

अर्थ—इस प्रिय वाणी को सुनते ही मंत्री आनन्दित हो गये, मानों मनोरथ-रूपी पौधे में पानी पड़ गया॥५॥ मंत्री लोग हाथ जोड़कर विनती करते हैं कि हे जगत्-पति! आप करोड़ों वर्ष जियें!॥६॥

आपने जगत्-भर के मंगल का अच्छा कार्य विचारा है, हे नाथ ! शीघ्र ही कीजिये, विलंब न लगाइये ॥७॥ मंत्रियों का सुन्दर भाषण सुनकर राजा को आनन्द हुआ, मानों लता बढ़ते समय सुन्दर शाखा (का आश्रय) पा गई ॥८॥ राजा ने कहा कि मुनिराज वसिष्ठजी की जो-जो आज्ञाएँ हों, राम-राज्याभिषेक के लिये उन सबको शीघ्र करो ॥९॥

विशेष—(१) 'मंत्री मुदित सुनत···'—पूर्व कहा गया—'सेवक सचिव सुमंत बोलाये' और यहाँ मुदित होना मंत्रियों का कहा गया, इससे सेवकों से मंत्रियों का बुलवाना ही अर्थ पुष्ट हुआ, जो वहाँ किया गया था। *'अभिमत बिरव परेउ···'—इन सबका अभिमत पूर्व कहा गया—"सबके उर अभिलाष अस···"* वही बिरवा उनके हृदय-स्थल पर प्रथम ही से लगाया हुआ था, पर वह सूख रहा था, राजा के अनुकूल वचन-रूपी जल से फिर लहलहा उठा और मारे हर्ष के राजा को आशीर्वाद और धन्यवाद देने लगे। 'परेउ जनु पानी'—'पानी पड़ना' वर्षा के जल पड़ने को कहते हैं और यह मनोरथ-भंग का मुहावरा भी है, यथा—'अमुक के मनोरथ पर पानी पड़ गया' वैसे ही यह चर्चा चलना ही विघ्न का कारण हुआ, नहीं तो अभी तक मनोरथ कर-करके आनंदित होते थे। यथा—"कनक सिंहासन सीय समेता। बैठहि राम होइ चित चेता॥" (दो० १०)।

(२) 'बिनती सचिव करहिं···'—'बिनती'—राजा ने इनसे सलाह पूछी थी, ये विनय-पूर्वक अपनी स्वीकृति हार्दिक प्रसन्नता, आशीर्वाद और धन्यवाद से प्रकट करते हैं। 'जियहु जगत पति···' आप करोड़ों वर्ष जियें यह दीर्घायु के लिये मुहावरा है, यथा—"जियहु सुखी सय लाख बरीसा।" (दो० १९५)। भाव यह कि बहुत आयु हो और मरने पर भी युग-युग यश जागता रहे, यशस्वी मनुष्य मरने पर भी जीता ही रहता है। यथा—"कीर्तिर्यस्य स जीवति।" प्रसिद्ध है।

'जगतपति' क्योंकि—'जगमंगल भल काज बिचारा।' है, जिससे जगत्-भर का पालन (विशेष रूप में) होगा। अथवा पुत्र के जगत् भर के राज्य करते हुए भी वह राज्य आपका ही है। 'बेगिहि'—गुरुजी ने 'बेगि बिलंब न करिय' कहा था, वैसे ही इन्होंने भी कहा।

'बिनती' शब्द से वाल्मी० २।२।२३ से ५४ तक का अभिप्राय जना दिया, अर्थात् जब श्रीरामजी को युवराज-पद देने में सभी एक साथ सहमत हो गये, तब राजा ने सबका अभिप्राय प्रकट करने के लिये ऊपर से रुष्ट होकर कहा कि क्या हमारे शासन में आपलोगों को कष्ट था कि दूसरे राजा के लिये तुरत स्वीकृति मिल गई ? इसपर सबने प्रार्थना-पूर्वक कहा कि आप लोकोत्तर गुणी हैं, किन्तु आपके पुत्र में तो बहुत ही कल्याणकारी गुण हैं, उन्हें हमलोग कहते हैं, आप सुनें। उन गुणों के सुनने पर राजा बहुत प्रसन्न हुए।

(३) 'नृपहि मोद सुनि···'—गुरुजी के वचन से यह लता बढ़ रही थी, अब मंत्रियों के वचन-रूप सुन्दर शाखा का सहारा भी मिल गया, अतः वृत्ति की अधिक आशा होने से प्रसन्नता हो रही है। मंत्रियों के अभिमत को 'बिरवा' और राजा के अभीष्ट-सुख को 'बौंड़' कहा गया, ये दोनों चौमासे भर रहते हैं, वैसे ही यह आनन्द भी थोड़े ही काल का है।

(४) 'बेगि करहु सोइ सोइ'—प्रथम गुरुजी ने 'बेगि बिलंब न करिय' कहा, तब मंत्रियों ने भी 'बेगिहि नाथ' कहा, वैसे ही यहाँ राजा भी कहते हैं—'बेगि करहु' यह क्यों ? इसपर करुणासिंधुजी ने लिखा है—ब्रह्माजी ने श्रीनारदजी के द्वारा श्रीरामजी के पास सँदेशा भेजा कि *अवतार कार्य का स्मरण* किया जाय, तब श्रीरामजी ने हँसकर कहा कि अब कुछ ही दिनों में देखिये; अतः, दैवी प्रेरणा से यह शीघ्रता सबके वचनों में हो रही है।

हरपि मुनीस कहेउ मृदुबानी । आनहु सकल सुतीरथ-पानी ॥१॥
औषध मूल फूल फल पाना । कहे नाम गनि मंगल नाना ॥२॥
चामर चरम बसन बहु भाँती । रोम पाट पट अगनित जाती ॥३॥
मनिगन मंगलबस्तु अनेका । जो जग जोग भूप-अभिषेका ॥४॥

शब्दार्थ—औषध = सर्वौषधि, यथा—"मुरा मांसी वचा कुष्ठं शैलेयं रजनीद्वयम् । शटीचम्पकमुस्तञ्च सर्वौषधिगणः स्मृतः ॥" (पुरोहित दर्पण) अर्थात् जटामसी, बच, कूट, शिलाजीत, हलदी, दारुहलदी, कचूर, चम्पा और मोथा । प्रत्येक शुभ कर्म में सर्वौषधि के जल से स्नान करने का विधान है । मूल = मोथी, मुरेठी (मुलहठी), शतावर आदि । फूल = गुलाब, चमेली, चम्पा आदि समयानुसार । फल = जायफल, इलायची आदि । पाना (पर्ण) = तुलसी, आम, पान आदि पत्ते । चामर = चँवर, मुरछल । रोम-पाट-पट = रोमपट, पाटपट और पट (ऊनी, रेशमी और सूती वस्त्र ।)

अर्थ—मुनि-श्रेष्ठ ने प्रसन्न होकर कोमल वाणी से कहा—सब श्रेष्ठ तीर्थों के जल लाओ ॥१॥ (नाना) ओषधि, मूल, फूल, फल, पत्र एवं पान आदि अनेक मंगल-पदार्थों के नाम गिनाकर बतलाये ॥२॥ चँवर, मृग आदि के चर्म, बहुत प्रकार के वस्त्र, अगणित जातियों (प्रकार) के ऊनी, रेशमी और सूती वस्त्र ॥३॥ अनेकों मांगलिक मणिगण, और भी बहुत प्रकार के मांगलिक पदार्थ (बतलाये), जो संसार में राज्याभिषेक के योग्य हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'हरपि मुनीस कहेउ···'—हर्ष-पूर्वक कार्यारंभ शकुन है, इसलिये मुनि हर्ष के साथ कोमल वाणी से कहते हैं, क्योंकि इस कार्य में इनकी हार्दिक प्रीति है । 'पानी'—सुतीर्थ के संबंध से 'जल' कहना चाहिये, पर 'पानी' कहा गया, क्योंकि यह अभिषेक में नहीं लगेगा, पानी ही (कूप) में डाला जायगा ।

(२) 'औषध मूल फूल···'—'नाना' सबके साथ है । 'चरम'—चर्म पर सातों द्वीपों का नक्शा बनाया जाता है, उसे सिंहासन पर रखकर और उसपर राजा को बैठाकर राज-तिलक किया जाता है । 'मनिगन मंगल···'—मोती, विद्रुम, पन्ना, पुखराज, फिरोजा आदि दोष-रहित, यथा—"मंगलमय मुकुता मनि गाये ।" (बा० दो० ३२९) ।

यहाँ के पदार्थ प्रयोजन के क्रम से कहे गये हैं, जैसे प्रथम तीर्थ जल से स्नान, फिर औषधि मय जल से स्नान तब तिलक की वस्तुएँ, मंगल पदार्थ, भूषण, वस्त्र आदि ।

बेदबिदित कहि सकल बिधाना । कहेउ रचहु पुर बिबिध बिताना ॥५॥
सफल रसाल पूँगफल केरा । रोपहु बीथिन्ह पुर चहुँ फेरा ॥६॥
रचहु मंजु मनि-चौकइं चारू । कहहु बनावन बेगि बजारू ॥७॥
पूजहु गनपति गुरु कुलदेवा । सब बिधि करहु भूमि-सुर-सेवा ॥८॥

दोहा—ध्वज पताक तोरन कलस, सजहु तुरग रथ नाग ।
सिर धरि मुनिबर बचन सब, निज निज काजहिं लाग ॥९॥

शब्दार्थ—रोपहु (आरोपय) = लगाओ। तोरन = १ बन्दनवार, २ बाहरी फाटक, जो राजा की सवारी आने के मार्ग में थोड़ी-थोड़ी दूर पर सजाये जाते हैं। यहाँ दोनों ही अर्थ हैं।

अर्थ—वेदों से प्रसिद्ध सब विधान कहकर, तब कहा कि नगर में अनेकों प्रकार के मंडपों की (चित्र-विचित्र) रचना करो ॥५॥ फलदार आम, सुपारी और केले के वृक्ष नगर के चारों ओर और गलियों में लगाओ ॥६॥ सुंदर मणियों से सुंदर चौकें पूरे, शीघ्र ही बाजार सजाने को कहो ॥७॥ गणेशजी, गुरु और कुल देवता की पूजा करो और सब प्रकार एवं सब विधानों से ब्राह्मणों की सेवा करो ॥८॥ ध्वजा, पताका, तोरण, कलश, घोड़े, रथ और हाथी सजाओ। मुनिराज वशिष्ठजी के वचनों को शिरोधार्य कर सब अपने-अपने कामों में लगे ॥९॥

विशेष—(१) 'वेदविदित कहि···'—ऊपर वेद-विधि कह चुके, अब यहाँ से लोक रीति कहते हैं, क्योंकि दोनों ही कहना है, यथा—"लोक-वेद-मत मंजुल कूला।" (बा० दो० ३८)।

'सफल रसाल पूग फल केरा'—मनोरथ की सफलता के उद्देश्य से सफल वृक्ष लगाये जाते हैं, यथा—"सफल पूग फल कदलि रसाला। रोपे बकुल कदंब तमाला।" (बा० दो० ३४४)।

(२) 'रचहु मंजु मनि-चौकइं चारू'—'चौकइं' (चौकें) बहुवचन है, क्योंकि ये बहुत प्रकार की और जगह-जगह पर पूरी जाती हैं, यथा—"चौकइं चारु सुमित्रा पूरी। मनिमय विविध भाँति अति रूरी॥" (दो० ७)। 'मंजु मनि' से सुंदर गजमुक्ता का अर्थ है, यथा—"गज मनि रचि बहु चौक पुराई।" (ब० दो० ८)। 'कहहु बनावन बेगि···'—बाजार पंचायती एवं बहुत बड़ा है। अतः, अपने-अपने द्वार पर सब सजा लें, ऐसा कहने को कहा गया और 'बेगि' भी कहा गया, क्योंकि समय थोड़ा है, प्रातःकाल ही मुहूर्त्त है।

(३) 'पूजहु गनपति गुरु···'—गणेशजी प्रथम पूज्य हैं और विघ्न विनाशक हैं। अतः, प्रथम ही कहा है। 'गुरु' वशिष्ठजी स्वयं हैं, एवं और भी गुरुवर्ग के लोग। 'कुल देवा'—श्रीरंगजी हैं, यथा—"आराधय जगन्नाथमिक्ष्वाकुकुलदैवतम्।" (वाल्मी० ७।१०८।२७)। देवता लोग परोक्ष हैं, अतएव 'पूजहु' कहा है और 'भूमि सुर' प्रत्यक्ष हैं। अतः, इनकी सेवा करना कहा गया है। 'सब बिधि'—भोजन, वस्त्राभूषण, दान, मान आदि से प्रसन्न करना, क्योंकि—"मंगल मूल विप्र परितोषू।" (दो० १२५)।

(४) 'निज-निज काजहिं···' यथा—"जो मुनीस जेहि आयसु दीन्हा।" आगे कहा है; अर्थात् सबको उनके अधिकार के योग्य आज्ञा दी गई थी।

जो मुनीस जेहि आयसु दीन्हा। सो तेहि काज प्रथम जनु कीन्हा ॥१॥
बिप्र साधु सुर पूजत राजा। करत रामहित मंगलकाजा ॥२॥
सुनत राम-अभिषेक सुहावा। बाज गहागह अवध बधावा ॥३॥

कह रहे हैं। 'करत राम हित···'—विप्र—साधु सुर की पूजा ही मंगल कार्य है, यथा—"मुद मंगल मय संत समाजू।" (बा० दो० १); "मंगल मूल विप्र परितोषू।" (दो० १२५)। यहाँतक बाहर का वर्णन है।

राम-सीय-तनु सगुन जनाये। फरकहिं मंगल अंग सुहाये ॥४॥
पुलकि सप्रेम परस्पर कहहीं। भरत-आगमन-सूचक अहहीं ॥५॥
भये बहुत दिन अति अवसेरी। सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी ॥६॥
भरत-सरिस प्रिय को जग माहीं। इहइ सगुनफल दूसर नाहीं ॥७॥
रामहिं बंधु-सोच दिन राती। अंडन्हि कमठ हृदय जेहि भाँती ॥८॥

दोहा—येहि अवसर मंगल परम, सुनि रहसेउ रनिवास।
सोभत लखि बिधु बढ़त जनु, बारिधि बीचिबिलास ॥७॥

शब्दार्थ—जनाये = प्रकट हुए, सूचना दी, यथा—"फरकि बाम अँग जनु कहि देही।" (सुं० दो० ३४)। अवसेरी = चिन्ता, प्रतीक्षा, विलंब। रहसेउ = हर्षित हुआ।

अर्थ—श्रीरामजी और श्रीसीताजी के शरीर शकुन को प्रकट कर रहे हैं, उनके शुभ अंग फड़क रहे हैं ॥४॥ पुलकित होकर प्रेम से वे आपस में कहते हैं कि ये शकुन भरत के आगमन के सूचक हैं ॥५॥ बहुत दिन होने से अत्यंत चिन्ता थी, इन शकुनों से विश्वास होता है कि प्यारे से मिलन होगा ॥६॥ भरत के समान जगत् में हमें कौन प्रिय है ? अतः, शकुन का फल यही है, दूसरा नहीं ॥७॥ श्रीरामजी को भाई की चिन्ता रातों दिन रहती है, जैसे कछुए के हृदय में अपने अंडों की हो ॥८॥ इस अवसर पर यह परम मंगल (—समाचार) सुनकर रनिवास हर्षित हुआ, जैसे चन्द्रमा को देखकर समुद्र की लहरों का विलास बढ़ता हुआ सोहता है ॥७॥

विशेष—(१) 'राम-सीय-तनु सगुन···'—श्रीरामजी का मंगल अंग दाहिना और श्रीसीताजी का बायाँ है, यथा—"फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता।" (बा० दो० २३०); "मंजुल मंगल मूल, बाम अंग फरकन लगे।" (बा० दो० २३६)। इन उभय पक्षों के शुभ अंग फड़कने से प्रिया-प्रियतम का मिलाप हुआ है। ऐसे ही—"प्रभु पयान जाना वैदेही। फरकि बाम अँग जनु कहि देही॥" (सुं० दो० ३४); तथा—"भरत नयन भुज दच्छिन, फरकत बारहिं बार।" (उ० दो० १); का फल भी प्रिय-मिलाप ही है। इससे निश्चय होता है कि शुभ अंगों के फड़कने का फल यही होता है, इसीसे आगे कहते हैं—'इहइ सगुन फल' है। 'दूसर नाहीं'—राज्य-तिलक प्राप्ति आदि नहीं।

शकुन श्रीसीताराम के शरीर में ही हुए और इन्हीं को जान पड़े, क्योंकि इसका फल इन्हीं को मिलना है, नगर के लोगों का मनोरथ भंग होगा। अतः, उन्हें शकुन नहीं देख पड़े।

(२) 'सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी' में अतिव्याप्ति (दोष) थी कि किस प्रिय से भेंट होगी ? इसे आगे अर्द्धाली से निवृत्त किया—'भरत सरिस प्रिय को···' यथा—"तुम्ह रघुपतिहि प्रानहुँ ते प्यारे ॥" (दो० १८८); "प्रान समान राम-प्रिय अहहू ॥" (दो० १८३)। "सुनहु भरत रघुबर मन माहीं।

प्रेमपात्र तुम्ह सम कोउ नाहीं ॥" (दो० २०७); "भरत सरिस को राम सनेही। जग जपु राम-राम जपु जेही ॥" (दो० २१७); इत्यादि कौशल्याजी, वसिष्ठजी, भरद्वाजजी और बृहस्पतिजी के वचन हैं।

(३) 'अंडन्हि कमठ हृदय······'—कछुआ अपने अंडों को पानी से बाहर बालू में रखता है और स्वयं जल में रहते हुए, स्मरण से ही उनका सेवन करता है—यथा—"कुटिल करम लै जाय मोहि जहँ-जहँ अपनी बरियाई। तहँ-तहँ जिनि छिन छोह छाड़िये कमठ अंड की नाई ॥" (वि० १०३)। इसी तरह श्रीरामजी श्रीअवध में रहते हैं और श्रीभरतजी ननिहाल (केकय देश) में रहते हैं, पर यहाँ से उन्हें क्षण भर को नहीं भूलते और कृपा से उनका पालन करते हैं। (यह माधुर्य-दृष्टि का प्रीति-पूर्वक भक्त पर स्नेह है, अन्यथा वे तो सबके अंतर्यामी ही हैं, उन्हीं के आधार पर संसार है।)

प्रीति के तीन भेद हैं—मर्कट, मार्जार और कमठ की तरह। मर्कट (बंदर) से मार्जार (बिल्ली) की प्रीति श्रेष्ठ और उससे भी श्रेष्ठ कमठ (कछुए) की प्रीति कही गई है। जैसे श्रीभरत का प्रेम उच्च कोटि का है, वैसे ही श्रीरामजी का स्मरण भी है।

(४) 'सोभत लखि बिधु बढ़त······'—समुद्र का जल नित्य दो बार चढ़ता-उतरता है, इसे ज्वार-भाटा कहते हैं। चन्द्रमा और सूर्य का आकर्षण ही इसका कारण है। अमावस्या और पूर्णिमा को दोनों की शक्तियाँ परस्पर अनुकूल रहती हैं, इसलिये इन तिथियों में ज्वार अधिक उठता है। पूर्णिमा को सूर्य और चन्द्रमा पृथिवी के आमने-सामने रहते हैं, इससे उस दिन आकर्षण-शक्ति विशेष होती है। सप्तमी और अष्टमी को दोनों शक्तियों के परस्पर प्रतिकूल होने से बहुत कम ज्वार उठता है। यहाँ एक साथ ही सब रनिवास का उत्साह विविध मनोरथों के साथ बढ़ना और शोभा देना उत्प्रेक्षा का विषय है। श्रीराम-राज्याभिषेक-सम्बन्धी परममंगल पूर्णचन्द्रमा है। सब रनिवास समुद्र और उनका विविध मनोरथ के साथ रहना (उत्साहित होना, हर्षना) विविध-तरंगों की वृद्धि का बिलास है। जैसे पूर्णिमा को समुद्र सोहता है, वैसे ही रनिवास सोहता है। पीछे कैकेयी राहु की तरह ग्रसेगी और वन-यात्रा-रूप कृष्ण पक्ष हो जायगा। यहाँ उपमा का इतना ही तात्पर्य है।

प्रथम जाइ जिन्ह बचन सुनाये। भूषन बसन भूरि तिन्ह पाये ॥१॥
प्रेम-पुलकि तनु मन अनुरागीं। मंगलकलस सजन सब लागीं ॥२॥
चौकइँ चारु सुमित्रा पूरी। मनिमय बिबिध भाँति अति रूरी ॥३॥

अर्थ—पहले जाकर जिन्होंने यह समाचार सुनाया, उन्होंने बहुत भूषण और वस्त्र पाये ॥१॥ (रानियों का) शरीर प्रेम से पुलकित है और उनके मन में अनुराग पूर्ण है, वे सब मंगल-कलश सजने लगीं ॥२॥ श्रीसुमित्राजी ने सुन्दर चौकें पूरीं, जो तरह-तरह की मणियों की और अत्यन्त सुन्दर थीं ॥३॥

विशेष—(१) 'प्रथम जाइ जिन्ह······भूषन बसन भूरि···'—रानियाँ बहुत हैं और समाचार सुनानेवाले भी 'जिन्ह' और 'तिन्ह' से बहुत कहे गये हैं। सबको श्रीरामजी समान प्रिय हैं। अतः, जिनके पास जिसने पहले पहुँचकर मंगल समाचार कहा, उसीने बहुत भूषण-वस्त्र पाये। रनिवास को ऊपर समुद्र कहा गया है, समुद्र तरंगों के द्वारा रत्नों को बाहर डाल देता है, यथा—"सागर निज मरजादा रहहीं। डारहिं रतन तटन्हि नर लहहीं ॥" (उ० दो० २२); इसी तरह रनिवास आनन्द और उत्साह के साथ भूषण-वस्त्र लुटा रहा है।

(२) 'मंगलकलस सजन सब लागीं।'—यह 'परम मंगल' है और समय थोड़ा है, और भी बहुत मंगल सजना है। सभी को उत्साह है, इससे 'सब' का लगना कहा है।

(३) 'चौकइँ चारु सुमित्रा·····'—चौकें आटा-अबीर और लाल चावल से भी पूरी जाती हैं, पर यहाँ 'मनिमय' कहा है अर्थात् रंग-बिरंग की मणियों के चूर्ण से पूरी गईं। 'अतिहरी'—क्योंकि ऐसी ही गुरुजी की आज्ञा है—'रचहु मंजु मनि चौकइं चारू।" (दो० ५)।

शंका—गुरुजी ने प्रथम—'रचहु मंजु मनि चौकइँ चारू।' कहकर तब 'कलस सजहु' कहा था, पर यहाँ पहले 'कलस' का ही सजना कहा गया, पीछे चौकें पूरना, यह क्यों ?

समाधान—श्रीसुमित्राजी मंगल-रचना में आचार्या एवं अग्रगण्या हैं, यथा—"मंगल मुदित सुमित्रा साजे।" (बा० दो० ३७५); वहाँ इन्हीं के प्रारंभ करने पर सब लगी थीं, वैसे ही कलश सजने से मंगल साज प्रारंभ हुआ तो सुमित्राजी ने प्रारंभ करवाया। फिर ये चौक पूरने में लगीं, क्योंकि इसकी रचना में इनसे निपुण कोई न थी और चौकों को विशेष विचित्र रचने को गुरुजी ने कहा है।

आनँद - मगन राममहतारी। दिये दान बहु बिप्र हँकारी ॥४॥
पूजीं ग्रामदेबि सुर नागा। कहेउ बहोरि देन बलिभागा ॥५॥
जेहि बिधि होइ राम-कल्यानू। देहु दया करि सो बरदानू ॥६॥
गावहिं मंगल कोकिलबयनी। बिधुबदनी मृग-सावक-नयनी ॥७॥

दोहा—राम-राज-अभिषेक सुनि, हिय हरषे नरनारि।
लगे सुमंगल सजन सब, बिधि अनुकूल बिचारि ॥८॥

शब्दार्थ—नागा = अष्टकुल नाग देव, ये मांगलिक समझे जाते हैं, इनके नाम—ऐरावत, अनन्त (शेष), पद्म, शंकु, अश्वकम्बल, वासुकि, कर्कोटक और तक्षक। मंगल कार्यों में इनके पूजन का विधान है। ग्रामदेवि = वह देवी-देवता जो ग्राम स्थापन के समय बाहर प्रायः पश्चिम ओर स्थापित किये जाते हैं। इस तरह का अयोध्याजी में 'छुटकी देवी' का स्थान है। बलि भागा = देवताओं के यज्ञ का भाग, नैवेद्य, यथा—"बैनतेय बलि जिमि चह कागू। जिमि सस चहइ नाग अरि भागू॥" (बा० दो० २६६); "बलि पूजा चाहै नहीं।" (वि० १०७)।

अर्थ—श्रीरामजी की माता कौसल्याजी आनंद में मग्न हैं, उन्होंने बहुत-से ब्राह्मणों को बुलाकर बहुत दान दिये ॥४॥ ग्राम-देवियों, देवताओं और नागों की पूजा की और फिर (कार्य सफलता पर) भी बलि-भाग देने को कहा ॥५॥ (पूजा करके वर माँगती हैं—) जिस तरह श्रीरामजी का कल्याण हो, दया करके वही वरदान दीजिये ॥६॥ कोकिला की-सी सरस माधुरी वाणीवाली, चन्द्रमुखी और हिरण के बच्चों की-सी आँखोंवाली स्त्रियाँ मंगल गा रही हैं ॥७॥ श्रीरामजी का राज्याभिषेक सुनकर (नगर के) स्त्री-पुरुष हृदय से हर्षित हुए। ब्रह्माजी को अपने अनुकूल समझकर सब सुन्दर मंगल सजाने लगे ॥८॥

विशेष—(१) 'आनंद मगन राम'······'—और माताओं को 'हरषेउ' कहा गया कि उन्हें हर्ष हुआ, कौसल्याजी तो श्रीरामजी की अपनी माँ हैं, अतएव आनंद में डूब ही गईं। इससे दान ही देना अच्छा समझा।

(२) 'पूजी ग्रामदेवि सुर नागा ।'—राजा 'विप्र साधु सुर' पूजते हैं और ये 'ग्रामदेवि···' आदि। स्त्रियाँ देवो की पूजा प्रायः करती ही हैं। 'ग्राम देवि' से भूलोक, 'सुर' से स्वर्ग और 'नागा' से पाताल लोक, इस तरह तीनों लोकों के देवताओं की पूजा की और मनौती मानी। यथा—"तत्र तां प्रवणामेव मातरं क्षौमवासिनीम् । वाग्यतां देवतागारे ददर्शायाचतीं श्रियम् ॥···प्राणायामेनपुरुषं ध्यायमाना जनार्दनम् ॥" (वाल्मी० २।४।३०-३३); अर्थात् अभिषेक की बात सुनकर श्रीरामजी ने माता को देखा कि वे देवालय में बैठी हुई रेशमी वस्त्र पहने मौन होकर प्रणाम करती हुई कल्याण की याचना कर रही हैं। ···जनार्दन पुरुष का प्राणायाम के द्वारा ध्यान कर रही हैं।

(३) 'जेहि विधि होइ···'—'कल्यानू' से यहाँ राज्य-श्री की प्राप्ति ही का तात्पर्य है, जैसे उपर्युक्त 'अयाचतीं श्रियम्' है, उसे ही वहीं पर आगे—"येयमिक्ष्वाकुराज्यश्रीः पुत्र त्वां संश्रयिष्यति ॥" (वाल्मी० २।४।४१) से स्पष्ट किया है।

बालकांड दो ३५० में कहा गया है—"देव पितर पूजे विधि नीकी ।···सबहिं बंदि माँगहि बरदाना। भाइन्ह सहित राम कल्याना ॥ अंतरहित सुर आसिष देहीं। मुदित मातु अंचल भरि लेहीं ॥" पर यहाँ आशीर्वाद नहीं मिल रहा है, क्योंकि इस समय देवता लोग अपने स्वार्थ के वश होकर प्रतिकूल हैं—"बिघन मनावहिं देव कुचाली ।" (दो० १०)। लीला के अनुरोध से श्रीरामजी की प्रेरणा तो प्रधान है ही, नहीं तो सर्वत्र सूचना पहुँच गई, पर श्रीरामजी को प्राणों से अधिक प्रिय माननेवाली कैकेयी माता के यहाँ प्रथम-प्रथम कुटिला मंथरा ही ने समाचार क्यों कहा।

(४) 'गावहिं मंगल कोकिल···'—पूर्व बा० दो० ३९५ में भी रानियों का मंगल सजना, पुनः—'मुदित करहिं कल मंगल गाना।' कहा गया था, यहाँ 'बिधु बदनी' भी कहा गया है, क्योंकि यहाँ देवी के मंडप में मुँह खोले बैठकर गा रही हैं।

(५) 'राम राज अभिषेक सुनि···' पूर्व—"सुनत राम अभिषेक सुहावा। बाज गहागह अवध बधावा ॥" (दो० ६) पर जो प्रसंग छोड़ा था, वहीं से पुनः मिलाते हैं। पूर्व इनलोगों ने—"सबके उर अभिलाष अस, कहहिं मनाइ महेश।" (दो० १); पर जो मनौती मानी थी, उसके लिये अब मुहूर्त भी निश्चित होना सुन रहे हैं, अतः विधाता को अपने अनुकूल समझते हैं। (पर वास्तव में विधाता इनके प्रतिकूल हैं)।

तब नरनाह बसिष्ठ बोलाये। रामधाम सिख देन पठाये ॥१॥
गुरु आगमन सुनत रघुनाथा। द्वार आइ पद नायेउ माथा ॥२॥
सादर अरघ देइ घर आने। सोरह भाँति पूजि सनमाने ॥३॥
गहे चरन सियसहित बहोरी। बोले राम कमल-कर जोरी ॥४॥

अर्थ—तब राजा ने वसिष्ठजी को बुलवाया और श्रीरामजी के महल में शिक्षा देने को भेजा ॥१॥ गुरुजी का आना सुनते ही रघुनाथजी ने द्वार पर आकर चरणों में शिर नवाया ॥२॥ आदरसहित अर्घ्य देकर उनको घर में लाये और सोलहो प्रकार से पूजन करके सम्मान किया ॥३॥ फिर श्रीसीताजी के साथ श्रीरामजी ने उनके चरण पकड़े (प्रणाम किया) और कमल समान हाथों को जोड़ कर बोले ॥४॥

विशेष—(१) 'तब नरनाह बसिष्ठ···'—वसिष्ठजी राजा के गुरु, मंत्री और पुरोहित भी हैं, गुरुत्व कार्य में वसिष्ठजी के पास राजा स्वयं जाते हैं। मंत्री के कार्य में मुनि ही नियत समयपर सभा में आते

हैं और पुरोहिती के काम में वे बुलाये जाते हैं, यथा—"गुरु वसिष्ट कहँ गयेउ हँकारा।" (बा० दो० १८२) "भूप बोलि पठये मुनि ज्ञानी॥" (बा० दो० १६६); वैसे ही यहाँ भी पुरोहिती का ही कार्य है, यथा—"पुरोहितं समाहूय वसिष्ठमिदमब्रवीत्॥" (वाल्मी० २।५।१)। 'तब' अर्थात् जब 'विप्र साधु सुर' के पूजन से निवृत्त हुए। 'नरनाह'—नरमात्र को बुला सकते हैं। 'रामधाम'—यह 'कनक भवन' है, इसका विस्तृत वर्णन वाल्मी० २। १५। ३०–४८ में है। 'सिख देन'—आज के उपयुक्त नियम की शिक्षा देने के लिये।

(२) 'गुरु आगमन सुनत'''—'रघुनाथा'—रघुकुल धर्मिष्ठ है, ये तो उस कुल में श्रेष्ठ हैं, फिर क्यों न ऐसा धर्माचरण करें। अतः, इन्होंने द्वार पर आकर प्रणाम किया, इसमें शील स्वभाव भी दिखाया, यथा—"सील सिंधु सुनि गुरु आगवनू। सिय समीप राखे रिपुदवनू॥ चले सवेग राम तेहि काला। धीर धरम धुर दीन दयाला॥'''दंड प्रनाम करन प्रभु लागे॥" (दो० २४१)।

(३) 'सादर अरघ देइ'''—'सादर'—"स्वयं हाथ पकड़कर रथ से उतारा।" (वाल्मी० २।५।७); और पट पाँवड़े देते हुए लिवा लाये। 'षोरह भाँति' यथा—"आसनं स्वागतं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम्॥ मधुपर्काचमनं स्नानं वस्त्राण्याभरणानि च। सुगंधं सुमनो धूपं दीपं नैवेद्य वन्दनम्॥" ये षोडशोपचार पूजा के भेद हैं।

(४) 'गहे चरन सिय सहित'''—'बहोरी' एक बार पहले द्वार पर प्रणाम कर चुके हैं, अब श्रीसीताजी के साथ प्रणाम किया। श्रीसीताजी रानी हैं, अतः बाहर नहीं जा सकीं, गुरुजी के आने पर पूजा की सामग्री में लगी थीं। पूजा हो जाने पर श्रीरामजी के साथ प्रणाम किया।

सेवक - सदन स्वामि - आगमनू। मंगलमूल अमंगल - दमनू॥५॥
तदपि उचित जन बोलि सप्रीती। पठइय काज नाथ असि नीती॥६॥
प्रभुता तजि प्रभु कीन्ह सनेहू। भयेउ पुनीत आजु यह गेहू॥७॥
आयसु होइ सो करउँ गोसांई। सेवक लहइ स्वामि - सेवकाई॥८॥

दोहा—सुनि सनेह-साने वचन, मुनि रघुवरहिं प्रसंस।
राम कस न तुम्ह कहहु अस, हंस-बंस अवतंस॥९॥

अर्थ—(यद्यपि) सेवक के घर स्वामी का आना मङ्गलों की जड़ और अमङ्गलों का नाशक है॥५॥ तो भी उचित तो यह था कि हे नाथ! सेवक को कार्य के लिये प्रीति पूर्वक बुला भेजते, ऐसी ही नीति है॥६॥ हे प्रभो! आपने अपनी प्रभुता छोड़कर मुझपर स्नेह किया, जिससे आज यह घर पवित्र हुआ॥७॥ हे गोसाईं! जो आज्ञा हो वह करूँ, (क्योंकि) सेवक स्वामी की सेवा से ही शोभा पाता है॥८॥ स्नेह में सने हुए वचनों को सुनकर वसिष्ठ मुनि रघुकुल में श्रेष्ठ श्रीरामजी की प्रशंसा करने लगे—हे राम! ऐसा तुम क्यों न कहो? तुम इस सूर्यवंश के भूषण हो॥९॥

विशेष—(१) 'तदपि उचित जन बोलि सप्रीती'—गुरु को अधिकार है कि वे शिष्य को डाँटकर भी बुलावें, पर गुरु जब प्रीति के साथ बुलावें तो उनकी बड़ी कृपा एवं प्रसन्नता है।

(२) 'प्रभुता तजि प्रभु···'—'प्रभुता', यथा—"बड़ बसिष्ठ समको जगमाहीं।" (दो० २४१); श्रीवसिष्ठजी माधुर्य दृष्टि से इनके पुरुषों (बाप-दादों) के भी गुरु हैं और ऐश्वर्य दृष्टि से अखिलेश्वर के गुरु हैं। आपने स्नेहवश अपनी प्रभुता को छोड़कर वात्सल्य भाव से शिष्य के घर पधारकर उसको पवित्र किया। 'आजु'—इस घर में आज प्रथम ही आये हैं। नीति तो यह है कि सेवक स्वामी के घर जाय, पर प्रेम में इस नियम को आपने त्याग दिया।

(३) 'हंस-बंस अवतंस'—सूर्यवंश सदा से विवेकी होता आया, तुम उस कुल के भूषण हो, ऐसे उत्तमाचरण एवं नम्रता तुम्हारे योग्य ही है। दोनों ओर के प्रेम और प्रशंसा के वर्त्ताव सराहनीय हैं।

बरनि राम-गुन - सील - सुभाऊ। बोले प्रेम पुलकि मुनिराऊ ॥१॥
भूप सजेउ अभिषेक - समाजू। चाहत देन तुम्हहि जुवराजू ॥२॥
राम करहु सब संयम आजू। जौं बिधि कुसल निबाहइ काजू ॥३॥

अर्थ—श्रीरामजी के गुण, शील और स्वभाव का वर्णन करके मुनिराज प्रेम से पुलकित होकर बोले ॥१॥ राजा ने तिलक का सामान सजाया है, वे तुमको युवराज-पद देना चाहते हैं ॥२॥ हे राम ! आज सब प्रकार का संयम (परहेज) करो, जो (जिससे) विधाता कुशलपूर्वक कार्य निबाह दे ॥३॥

विशेष—(१) 'भूप सजेउ अभिषेक···'—तिलक के लिये प्रस्ताव राजा ने ही किया है, गुरुजी ने अनुमोदन मात्र किया है; अतः, राजा का ही सजना कहा।

(२) 'राम करहु सब संजम आजू।'—'संयम'—गुरुजी ने मंत्र के द्वारा श्रीसीताजी के साथ श्रीरामजी को उपवास का संकल्प कराया। गुरुजी के जाने पर श्रीरामजी ने पत्नी के साथ स्नान करके विधिपूर्वक हवन किया, बचे हुए हवि का भोजन किया। कुश के बिछौने पर मौनी एवं पवित्र चित्त होकर पत्नी-सहित लेटे और पहर रात रहे उठे, इत्यादि। ऐसा वाल्मी० २।६।१-४ में लिखा है। 'आजू'—आज ही से संयम करो कल प्रात काल तो मुहूर्त्त ही है। 'जौं बिधि···' क्योंकि ऐसे कार्यों में प्रायः विघ्न हुआ ही करते हैं। यह गुरुजी ने वात्सल्य-वश ब्रह्मा से एक तरह से प्रार्थना की है। परन्तु भावी-वश वचन ऐसे निकले कि जिससे कार्य में संदेह प्रकट हो रहा है, क्योंकि श्रीरामजी की हार्दिक रुचि कुछ और ही है।

गुरु सिख देइ राय पहिं गयेऊ। राम-हृदय अस बिसमय भयेऊ ॥४॥
जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई ॥५॥
करनबेध उपबीत बिवाहा। संग संग सब भये उछाहा ॥६॥
बिमलबंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू ॥७॥
प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। हरउ भगत-मन कै कुटिलाई ॥८॥

दोहा—तेहि अवसर आये लखन, मगन प्रेम आनंद।
सनमाने प्रिय- बचन कहि, रघुकुल - कैरव - चंद ॥१०॥

शब्दार्थ—विसमय=आश्चर्य, इससे शंका और आश्चर्य दोनों ही मिले रहते हैं। केलि=खेल।

अर्थ—गुरुजी शिक्षा देकर राजा के पास गये, (इधर) श्रीरामजी के हृदय में ऐसा विस्मय हुआ ॥४॥ कि हम सब भाई एक साथ उत्पन्न हुए, भोजन करना, सोना, लड़कपन के खेल, कनछेदन, जनेउ और ब्याह सभी उत्सव साथ-साथ हुए ॥५-६॥ इस निर्मल (सूर्य) वंश में यह एक (बड़ी) अनुचित बात हो रही है कि भाई को छोड़कर (या, हटाकर) बड़े ही का तिलक होता है ॥७॥ प्रभु का प्रेम साथ यह सुन्दर पछतावा भक्तों के मन की कुटिलता को हरण करे ॥८॥ उसी समय प्रेम और आनन्द में मग्न लक्ष्मणजी आये, रघुकुल रूपी कुईं के प्रफुल्ल करनेवाले चन्द्रमा-रूप श्रीरामजी ने प्रिय-वचन कहकर उनका सम्मान किया ॥१०॥

विशेष—(१) 'जनमे एक संग सब ''संग-संग सब'''—और सब संस्कार तो साथ-साथ हुए, स्पष्ट हैं, जन्म के विषय में पायस के विभाग को लेना चाहिये, जिसे राजा ने एक साथ ही किया था।

(२) 'बिमल बंस यह अनुचित एकू।'—'एकू' अर्थात् अभी तक इस वंश में और कोई अनुचित कार्य नहीं हुआ, परन्तु यही 'एक' ऐसा बड़ा अनुचित है जिससे यह वंश कलंकित होगा कि एक भाई भरत को सूचना तक नहीं दी गई, जिससे लोकापवाद होगा कि भाई को बिहाइ (हटाकर) चुपके-से राज्य ले लिया, जिससे हमारी भी निन्दा होगी।

भाव यह कि चारो भाई रहते, हमें युवराज, भरतजी को सहायक, लक्ष्मणजी को कोषाध्यक्ष और शत्रुघ्न को सेनाध्यक्ष आदि के पद साथ ही दिये जाते तो अच्छा होता।

देखिये, भावी की चाल कि एकाएक राजा को श्वेत केश देखकर युवराज-पद देने की वृत्ति हुई। "साथ ही घोर अशकुन होने लगे, जिससे वे घबराकर अत्यन्त शीघ्रता के कारण भरतजी के मामा एवं भरत-शत्रुघ्न तथा जनकजी को न बुला सके। (यही अनर्थ का कारण हो गया), राजा ने सोचा कि ये लोग पीछे सुनकर प्रसन्न होंगे।" (वाल्मी० २।१।४१-४८)। इधर श्रीरामजी सोचने लगे कि ऐसे दूषित पद को हम न ग्रहण करेंगे। पार्वतीजी ने कहा था—"राज तजा सो दूषन काही।" (बा० दो० १०८); इसका उत्तर यही अर्द्धाली है—'बिमल बंस यह अनुचित एकू।''' श्रीरामजी अपनी लीला-विधान के अनुरूप सबकी प्रवृत्ति कर देते हैं, जैसे नारदजी को मोहवश किया और उनसे शाप लेकर लीला की। कहा भी है—"त्वदाश्रितानां ··" (आलवन्दार स्तोत्र)।

(३) 'प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। हरउ'''—प्रभु के इस प्रेम-पूर्वक पछताने को सुन्दर कहकर ग्रंथकार सराहना कर रहे हैं, साथ ही इसका फल भी कह रहे हैं कि यह भक्तों के मन की कुटिलता को हरेगी। वह इस प्रकार कि भगवान् का श्रीमुख वचन है—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११); यथा—"तुलसी प्रभु सुभाव सुरतरु सों ज्यों दर्पन मुख कांति।" (वि० २३३); "नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना। श्रियञ्चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥''''''साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयंत्वहम्। मदन्यत्तेन जानन्ति नाहं तेभ्योमनागपि॥" (श्रीमद्भा० ९।५।६४-६८); इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि भगवान् भक्तों के हृदय के अनुकूल ही उनके सम्मुख रहते हैं। भरतजी श्रीरामजी के बिना सब ऐश्वर्य सहित अपनेको व्यर्थ मानते हैं—"बादि मोरि सब बिनु रघुराई।" (दो० १७७); उसी तरह श्रीभरतजी के बिना श्रीरामजी इस राज्यश्री को व्यर्थ मानते हैं। भक्त भगवान् के साथ (अर्पण करके) ही कोई वस्तु ग्रहण करते हैं। वैसे भगवान् भी भक्तों के साथ ही कोई भी सुख ग्रहण करते हैं। यह अन्योन्य सापेक्ष्य है।

यह व्यवस्था इस 'पछितानि' से रह जाती है, अन्यथा भक्तों के मन में यह कुटिलता आती कि

(२) 'प्रभुता तजि प्रभु···'—'प्रभुता', यथा—"बड़ बसिष्ठ सम को जगमाहीं।" (दो० २४१); श्रीवसिष्ठजी माधुर्य दृष्टि से इनके पुरुषों (बाप-दादों) के भी गुरु हैं और ऐश्वर्य दृष्टि से अखिलेश्वर के गुरु हैं। आपने स्नेहवश अपनी प्रभुता को छोड़कर वात्सल्य भाव से शिष्य के घर पधारकर उसको पवित्र किया। 'आजु'—इस घर में आज प्रथम ही आये हैं। नीति तो यह है कि सेवक स्वामी के घर जाय, पर प्रेम में इस नियम को आपने त्याग दिया।

(३) 'हंस-बंस अवतंस'—सूर्यवंश सदा से विवेकी होता आया, तुम उस कुल के भूषण हो, ऐसे उत्तमाचरण एवं नम्रता तुम्हारे योग्य ही है। दोनों ओर के प्रेम और प्रशंसा के वर्त्ताव सराहनीय हैं।

बरनि राम-गुन - सील - सुभाऊ। बोले प्रेम पुलकि मुनिराऊ ॥१॥
भूप सजेउ अभिषेक - समाजू। चाहत देन तुम्हहिं जुवराजू ॥२॥
राम करहु सब संयम आजू। जौं बिधि कुसल निबाहइ काजू ॥३॥

अर्थ—श्रीरामजी के गुण, शील और स्वभाव का वर्णन करके मुनिराज प्रेम से पुलकित होकर बोले ॥१॥ राजा ने तिलक का सामान सजाया है, वे तुमको युवराज-पद देना चाहते हैं ॥२॥ हे राम! आज सब प्रकार का संयम (परहेज) करो, जो (जिससे) विधाता कुशलपूर्वक कार्य निबाह दे ॥३॥

विशेष—(१) 'भूप सजेउ अभिषेक···'—तिलक के लिये प्रस्ताव राजा ने ही किया है, गुरुजी ने अनुमोदन मात्र किया है; अतः, राजा का ही सजना कहा।

(२) 'राम करहु सब संजम आजू।'—'संयम'—गुरुजी ने मंत्र के द्वारा श्रीसीताजी के साथ श्रीरामजी को उपवास का संकल्प कराया। गुरुजी के जाने पर श्रीरामजी ने पत्नी के साथ स्नान करके विधिपूर्वक हवन किया, बचे हुए हवि का भोजन किया। 'कुश के बिछौने पर मौनी एवं पवित्र चित्त होकर पत्नी-सहित लेटे और पहर रात रहे उठे, इत्यादि। ऐसा वाल्मी० २।६।१–५ में लिखा है। 'आजू'—आज ही से संयम करो कल प्रातःकाल तो मुहूर्त्त ही है। 'जौं बिधि···' क्योंकि ऐसे कार्यों में प्रायः विघ्न हुआ ही करते हैं। यह गुरुजी ने वात्सल्य-वश श्रद्धा से एक तरह से प्रार्थना की है। परन्तु भावी-वश वचन ऐसे निकले कि जिससे कार्य में संदेह प्रकट हो रहा है, *क्योंकि श्रीरामजी की हार्दिक रुचि कुछ और ही है।*

गुरु सिख देइ राय पहिं गयेऊ। राम-हृदय अस बिसमय भयेऊ ॥४॥
जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई ॥५॥
करनबेध उपबीत बिबाहा। संग संग सब भये उछाहा ॥६॥
बिमलबंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहिं अभिषेकू ॥७॥
प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। हरउ भगत-मन कै कुटिलाई ॥८॥

दोहा—तेहि अवसर आये लखन, मगन प्रेम आनंद।
सनमाने प्रिय- बचन कहि, रघुकुल - कैरव - चंद ॥१०॥

शब्दार्थ—बिसमय=आश्चर्य, इसमें शंका और आश्चर्य दोनों ही मिले रहते हैं। केलि=खेल।

अर्थ—गुरुजी शिक्षा देकर राजा के पास गये, (इधर) श्रीरामजी के हृदय में ऐसा विस्मय हुआ ॥४॥ कि हम सब भाई एक साथ उत्पन्न हुए, भोजन करना, सोना, लड़कपन के खेल, कनछेदन, जनेऊ और ब्याह सभी उत्सव साथ-साथ हुए ॥५-६॥ इस निर्मल (सूर्य) वंश में यह एक (बड़ी) अनुचित बात हो रही है कि भाई को छोड़कर (या, हटाकर) बड़े ही का तिलक होता है ॥७॥ प्रभु का प्रेम साथ यह सुन्दर पछतावा भक्तों के मन की कुटिलता को हरण करे ॥८॥ उसी समय प्रेम और आनन्द में मग्न लक्ष्मणजी आये, रघुकुल रूपी कुईं के प्रफुल्ल करनेवाले चन्द्रमा-रूप श्रीरामजी ने प्रिय-वचन कहकर उनका सम्मान किया ॥१०॥

विशेष—(१) 'जनमे एक संग सब ''संग-संग सब'''—और सब संस्कार तो साथ-साथ हुए, स्पष्ट हैं, जन्म के विषय में पायस के विभाग को लेना चाहिये, जिसे राजा ने एक साथ ही किया था।

(२) 'बिमल बंस यह अनुचित एकू।'—'एकू' अर्थात् अभी तक इस वंश में और कोई अनुचित कार्य नहीं हुआ, परन्तु यही 'एक' ऐसा बड़ा अनुचित है जिससे यह वंश कलंकित होगा कि एक भाई भरत को सूचना तक नहीं दी गई, जिससे लोकापवाद होगा कि भाई को बिदाइ (हटाकर) चुपके-से राज्य ले लिया, जिससे हमारी भी निन्दा होगी।

भाव यह कि चारो भाई रहते, हमें युवराज, भरतजी को सहायक, लक्ष्मणजी को कोषाध्यक्ष और शत्रुघ्न को सेनाध्यक्ष आदि के पद साथ ही दिये जाते तो अच्छा होता।

देखिये, भावी की चाल कि एकाएक राजा को श्वेत केश देखकर युवराज-पद देने की वृत्ति हुई। "साथ ही घोर अशकुन होने लगे, जिससे वे घबराकर अत्यन्त शीघ्रता के कारण भरतजी के मामा एवं भरत-शत्रुघ्न तथा जनकजी को न बुला सके। (यही अनर्थ का कारण हो गया), राजा ने सोचा कि वे लोग पीछे सुनकर प्रसन्न होंगे।" (वाल्मी० २।१।४१-४८)। इधर श्रीरामजी सोचने लगे कि ऐसे दूषित पद को हम न ग्रहण करेंगे। पार्वतीजी ने कहा था—"राज तजा सो दूषन काही।" (बा० दो० १०८); इसका उत्तर यही अर्द्धाली है—'बिमल बंस यह अनुचित एकू।''' श्रीरामजी अपनी लीला-विधान के अनुरूप सबकी प्रवृत्ति कर देते हैं, जैसे नारदजी को मोहवश किया और उनसे शाप लेकर लीला की। कहा भी है—"त्वदाश्रितानां''" (आलवन्दार स्तोत्र)।

जब भरत ऐसे भक्त के साथ भी श्रीरामजी ने प्रीति का निर्वाह नहीं किया, उनसे छिपकर पिता को प्रसन्न कर अकेले राज्य ले लिया तब हमलोगों को कौन भरोसा है? कि वे प्रीति निवाहेंगे स्वामी को स्वार्थी समझना ही कुटिलता है।

श्रीरामजी ने सर्वत्र भक्तों के साथ उत्तम प्रीति का निर्वाह किया है, जैसे आपको प्रिया-वियोग का अत्यन्त दुःख था, पर पहले भक्त सुग्रीव का स्त्री-विरह छुड़ा, उसे सुखी करके तब पीछे अपने सुख का उपाय किया, ऐसे ही विभीषणजी को प्रथम राज्य-श्री देकर तब आपने श्रीसीताजी को बुलाया। और पीछे अपना राज्य ग्रहण किया।

यह भी भाव है कि भक्तों के मन में यदि कभी अपने भाई-बंधु के प्रति स्वार्थ-साधना रूप कुटिलता आ जायगी, यथा—"स्वारथ साधक कुटिल तुम्ह" (बा० दो० १३६); अर्थात् स्वार्थ-साधता ही कुटिलता है। तब वे अपने इष्ट के इस स्वभाव का स्मरण करेंगे तो वह कुटिलता दूर हो जायगी, क्योंकि भक्तों को स्वामी का-सा आचरण रखना चाहिये, यथा—"रामति रामभक्ताः" "कृष्णाति कृष्णभक्ताः" अर्थात् श्रीराम-कृष्ण के भक्त उनके से आचरणवाले होते हैं, ये व्याकरण में उदाहरण हैं।

(४) 'तेहि अवसर आये लखन ......'—यहाँ श्रीरामजी की दृष्टि कुल-व्यवहार सुधार पर है—'बिमल बंस यह अनुचित ...' अतएव 'रघुकुल कैरव चंद' कहा है, ऐसे ही कुल-सम्बन्धी व्यवस्था पर अन्यत्र भी कहा है—"राम कसन तुम्ह कहहु अस, हंस-बंस अवतंस।" (दो० ६); "सनमाने सब रबि कुल दीपा।" (दो० ३६५)। 'प्रिय बचन', यथा—"श्रीरामजी मुसकाते हुए श्रीलक्ष्मणजी से बोले—"लक्ष्मण! तुम मेरे साथ इस पृथिवी का शासन करो, तुम मेरे दूसरे अंतरात्मा हो, यह लक्ष्मी तुम्हें प्राप्त हुई है। लक्ष्मण! वांछित भोग और राज्य फल भोगो। मेरा यह जीवन और राज्य तुम्हारे लिये है।" (वाल्मी० २।४।४३–४४)।

बाजहिं बाजन बिबिध बिधाना। पुर-प्रमोद नहिं जाइ बखाना ॥१॥
भरत-आगमन सकल मनावहिं। आवहु बेगि नयन-फल पावहिं ॥२॥
हाट बाट घर गली अथाईं। कहहिं परस्पर लोग लोगाईं ॥३॥
कालि लगन भलि केतिक बारा। पूजिहि बिधि अभिलाष हमारा ॥४॥
कनक - सिंहासन सीयसमेता। बैठहिं राम होइ चित - चेता ॥५॥

शब्दार्थ—आवहु=यह विधि क्रिया का रूप है, पर इसमें इंगित बोधक क्रिया का अर्थ लिया जाता है, जैसे 'देहु'=दें। 'हरहु'=हरें, वैसे 'आवहु'=आवें, ऐसे प्रयोग प्रायः सर्वत्र हैं। लोगाईं=स्त्रियाँ। अथाईं=चबूतरा या बैठक; यथा—"गोप अथाइन्ह ते उठे..." (बिहारी-सतसई) केतिक बारा=कितनी देर है, वा किस समय है।

अर्थ—तरह-तरह के बाजे अनेकों प्रकार से बज रहे हैं, नगर के अत्यन्त आनन्द का वर्णन नहीं किया जा सकता ॥१॥ सभी भरतजी का आगमन मना रहे हैं कि शीघ्र आवें और नेत्रों का फल पावें ॥२॥ बाजार, मार्ग, घर, गली और अथाई में स्त्री-पुरुष एक दूसरे से (यही) कह रहे हैं ॥३॥ कि सुन्दर लग्न कल किस समय है? (वा, उसको कितनी देर है?) जिस समय विधाता हमारी अभिलाषा पूरी करेगा ॥४॥ जब सोने के सिंहासन पर सीताजी के साथ श्रीरामजी बैठेंगे और हमारा चित-चेता (मन भाई बात एवं चित्त का चाहा) होगा ॥५॥

विशेष—(१) 'बाजहि बाजन बिबिध'''—पुर जनों का प्रसंग—"राम-राज-अभिषेक सुनि, हिय हरषे नर-नारि। ''" (दो० ८) ; पर छोड़ा था, वहीं से यह प्रसंग मिलाया। 'बिबिध बिधाना'—'भेरि संख'''झाँझ बिरव डिंडिमी सुहाई। सरस राग बाजहिं सहनाई॥" (बा० दो० ३२२) ; तथा—"बिबिध बिधान बाजने बाजे।" (बा० दो० ३४५) ; भी देखिये।

(२) 'आवहु बेगि'''—क्योंकि रात ही भर में आ जाना चाहिये, पर वे कैकय देश में हैं, और बुलावा नहीं जा सका, तो दैवी गति से ही आवें तो आ सकते हैं, इसलिये सब देवताओं को मनाते हैं।

(३) 'कालि लगन भलि'''—यह लगन भली है, यथा—"कर्हि लगन सुद मंगल कारी॥ सुकृत सील सुख सीव सुहाई। जनम लाभ कइ अवधि अघाई॥" (दो० ५१)।

(४) 'कनक सिंहासन सीय'''—यही इनकी उपर्युक्त अभिलाषा है, सिंहासन राजा या देवताओं के बैठने का आसन या चौकी, इसके 'हत्थों' पर सिंह का आकार बना हुआ होता है। यह काठ, सोना, चाँदी, पीतल आदि का होता है, यहाँ का सुवर्ण और रत्नों का है, इसलिये 'कनक' विशेषण भी कहा गया है। इसी को रत्न-सिंहासन भी कहते हैं। उत्तरकांड में इसका विशेष वर्णन होगा, क्योंकि वहीं इसपर बैठेंगे भी, यहाँ तो बैठेंगे नहीं, इसलिये नाम मात्र कह दिया गया है।

राज-रस-भंग-प्रकरण

सकल कहहिं कब होइहि काली। बिघन मनावहिं देव कुचाली॥६॥
तिन्हहिं सुहाइ न अवध बधावा। चोरहिं चंदिनि राति न भावा॥७॥
सारद बोलि बिनय सुर करहीं। बारहिं बार पाय लै परहीं॥८॥

दोहा—बिपति हमारि बिलोकि बड़ि, मातु करिय सोइ आज।
राम जाहिं बन राज तजि, होइ सकल सुर-काज॥११॥

अर्थ—सभी (आपस में) कह रहे हैं कि (वह) कल कब होगा ? (और) कुचाली देवता विघ्न मना रहे हैं॥६॥ उन्हें अयोध्याजी का बधावा (उत्सव) नहीं अच्छा लग रहा है, जैसे चोर को चाँदनी रात अच्छी नहीं लगती॥७॥ सरस्वती को बुलाकर (आवाहन करके) देवता विनय करते हैं, बार-बार उसके पैरों पर पड़ते हैं॥८॥ (कहते हैं कि) हे माता! हमारी बड़ी विपत्ति देखकर आज वही कीजिये, जिससे श्रीरामजी राज्य छोड़कर वन को जायँ जिससे सब देवताओं का काम हो॥११॥

विशेष—(१) 'कब होइहि काली'—यथा—"तदायोध्यानिलयः सस्त्रीबालाकुलो जनः। रामाभिषेकमाकाङ्क्षन्नाकाङ्क्षन्नुदयं रवेः॥" (वाल्मी० २।५।१४); अर्थात् अयोध्यावासी अत्यंत उत्सुकता से अकुला गये हैं। रात का बीतना भारी हो रहा है।

'देव कुचाली'—सब तो उत्सव को चाह रहे हैं और ये देवता विघ्न। अपने स्वार्थ के लिये दूसरों के मंगल कार्य को नष्ट करके अमंगल चाहते हैं, अतः 'कुचाली' हैं।

(२) 'तिन्हहिं सोहाइ न ''चोरहिं चंदिनि'''—पूर्वार्द्ध वाक्य उपमेय और उत्तरार्द्ध उपमान रूप है। चाँदनी रात सबको भाती है, पर चोरों को नहीं भाती, क्योंकि उसमें वे पकड़े जाकर जेल में पड़ेंगे।

जब भरत ऐसे भक्त के साथ भी श्रीरामजी ने प्रीति का निर्वाह नहीं किया, उनसे छिपकर पिता को प्रसन्न कर अकेले राज्य ले लिया तब हमलोगों को कौन भरोसा है ? कि वे प्रीति निबाहेंगे स्वामी को स्वार्थी समझना ही कुटिलता है।

श्रीरामजी ने सर्वत्र भक्तों के साथ उत्तम प्रीति का निर्वाह किया है, जैसे आपको प्रिया-वियोग का अत्यन्त दु ख था, पर पहले भक्त सुग्रीव का स्त्री-विरह छुड़ा, उसे सुखी करके तब पीछे अपने सुख का उपाय किया, ऐसे ही विभीषणजी को प्रथम राज्य-श्री देकर तब आपने श्रीसीताजी को बुलाया। और पीछे अपना राज्य ग्रहण किया।

यह भी भाव है कि भक्तों के मन में यदि कभी अपने भाई-बंधु के प्रति स्वार्थ-साधना रूप कुटिलता आ जायगी, यथा—"स्वारथ साधक कुटिल तुम्ह" (बा० दो० १३६); अर्थात् स्वार्थ-साधता ही कुटिलता है। तब वे अपने इष्ट के इस स्वभाव का स्मरण करेंगे तो वह कुटिलता दूर हो जायगी, क्योंकि भक्तों को स्वामी का-सा आचरण रखना चाहिये, यथा—"*रामति रामभक्ता:*" "*कृष्णति कृष्णभक्ता:*" अर्थात् श्रीराम-कृष्ण के भक्त उनके से आचरणवाले होते हैं, ये व्याकरण में उदाहरण हैं।

(४) 'तेहि अवसर आये लखन ·· ··'—यहाँ श्रीरामजी की दृष्टि कुल-व्यवहार सुधार पर है—'बिमल बंस यह अनुचित ·· ·' अतएव 'रघुकुल कैरव चंद' कहा है, ऐसे ही कुल-सम्बन्धी व्यवस्था पर अन्यत्र भी कहा है—"राम कसन तुम्ह कहहु अस, हंस-बंस अवतंस।" (दो० ८); "सनमाने सब रबि कुल दीपा।" (दो० २६५)। 'प्रिय बचन', यथा—'श्रीरामजी मुसकाते हुए श्रीलक्ष्मणजी से बोले—"लक्ष्मण ! तुम मेरे साथ इस पृथिवी का शासन करो, तुम मेरे दूसरे अंतरात्मा हो, यह लक्ष्मी तुम्हें प्राप्त हुई है। लक्ष्मण ! वांछित भोग और राज्य फल भोगो। मेरा यह जीवन और राज्य तुम्हारे लिये है।" (वाल्मी० २।४।४३–४४)।

> बाजहिं बाजन बिबिध बिधाना। पुर-प्रमोद नहिं जाइ बखाना ॥१॥
> भरत-आगमन सकल मनावहिं। आवहु बेगि नयन-फल पावहिं ॥२॥
> हाट बाट घर गली अथाईं। कहहिं परस्पर लोग लोगाईं ॥३॥
> कालि लगन भलि केतिक बारा। पूजिहि बिधि अभिलाष हमारा ॥४॥
> कनक - सिंहासन सीयसमेता। बैठहिं राम होइ चित - चेता ॥५॥

शब्दार्थ—आवहु = यह विधि क्रिया का रूप है, पर इसमें इंगित बोधक क्रिया का अर्थ लिया जाता है, जैसे 'देउ' = दें। 'हरउ' = हरें, वैसे 'आवहु' = आवें, ऐसे प्रयोग प्रायः सर्वत्र हैं। लोगाईं = स्त्रियाँ। अथाईं = चबूतरा या बैठक; यथा—"गोप अथाइन्ह से उठे···" (बिहारी सतसई) केतिक बारा = कितनी देर है, वा किस समय है।

अर्थ—तरह-तरह के बाजे अनेकों प्रकार से बज रहे हैं, नगर के अत्यन्त आनन्द का वर्णन नहीं किया जा सकता ॥१॥ सभी भरतजी का आगमन मना रहे हैं कि शीघ्र आवें और नेत्रों का फल पावें ॥२॥ बाजार, मार्ग, घर, गली और अथाई में स्त्री-पुरुष एक दूसरे से (यही) कह रहे हैं ॥३॥ कि सुन्दर लग्न कल किस समय है ? (वा, उसको कितनी देर है ?) जिस समय विधाता हमारी अभिलाषा पूरी करेगा ॥४॥ जब सोने के सिंहासन पर सीताजी के साथ श्रीरामजी बैठेंगे और हमारा चित चेता (मन भाई बात एवं चित्त का चाहा) होगा ॥५॥

यहाँ राम-राज्याभिषेक का उत्सव सबको भाता है, पर देवताओं को नहीं, क्योंकि इससे श्रीरामजी राज्य के कार्य में लग जायँगे, ये लोग रावण के वंदीगृह में ही पड़े रहेंगे। चाँदनी रात स्वच्छ होती है, वैसे ही राम-राज यश की विरुद से उज्ज्वल है। यश की उपमा चन्द्रमा से दी जाती है।

(३) 'सारद बोलि बिनय···'—अपनेसे कुछ उपाय बनते न देखकर सरस्वती का आवाहन किया। पहले प्रार्थना की, पर उसका रुख न पाया, तब पाँव पकड़कर पड़ जाते हैं, उसे संकोच में लाने के लिये उपाय कर रहे हैं। 'पाँव लै पड़ना' मुहावरा है जो उपर्युक्त अर्थ में ही कहा जाता है।

(४) 'बिपति हमारि बिलोकि ···'—सरस्वती इनके स्वार्थ के लिये नगर-भर को विपत्ति देना नहीं चाहती, इसलिये उसे दिखाते हैं कि अवधवासियों से हमारी विपत्ति बड़ी है, क्योंकि वे लोग इस विपत्ति में अपने घर में तो रहेंगे और हमलोगों को तो कहीं ठिकाना नहीं मिल रहा है, यथा—"सुर पुर नितहिं परावन होई।" (बा० दो० १७८); रावण को बेगारी करनी पड़ती है—"दिगपालन्ह मैं नीर भरावा।" (लं० दो० २७); "लोकप जाके बंदीखाना।" (लं० दो० ८१)। 'सकल सुरकाज'—अयोध्यावासी थोड़े हैं और देवता हम लोग ३३ कोटि हैं। अतः, उनकी अपेक्षा हमारी विपत्ति बड़ी है। बड़ी के समक्ष में छोटी पर ध्यान न दो। 'राम जाहिं बन राज तजि'—एक तो राज्य त्याग करें, दूसरे वन को जायँ, तभी देव-कार्य होगा। 'मातु'—ब्रह्मा जगत् मात्र के पितामह हैं, शारदा उनकी पत्नी है। अतः, देवताओं की भी माता है। माता के जब बच्चे दोनों पाँव पकड़कर विनती करें और दुःख सुनावें, तब उसे दया एवं संकोच आ ही जाता है। 'आज'—क्योंकि रात ही भर में सब कुछ करना है। यथा—"होइ अकाज आज निसि बीते।" (दो० ११); सवेरे तिलक हो जाने पर कुछ न हो सकेगा।

सुनि सुरबिनय ठाढ़ि पछिताती। भइउँ सरोज-बिपिन-हिमराती ॥१॥
देखि देव पुनि कहहिं निहोरी। मातु तोहि नहिं थोरिउ खोरी ॥२॥
बिसमय - हरष - रहित रघुराऊ। तुम्ह जानहु सब राम - प्रभाऊ ॥३॥
जीव करमबस-सुख-दुख-भागी। जाइय अवध देवहित लागी ॥४॥

अर्थ—(सरस्वती) देवताओं की विनती सुनकर खड़ी पछता रही है, (कि हा!) मैं कमल-वन के लिये हिम (हेमन्त ऋतु की) रात हुई ॥१॥ यह देखकर देवता लोग फिर प्रार्थना पूर्वक कृतज्ञता दिखाते हुए कहते हैं कि माता! तुम्हें कुछ भी दोष नहीं लगेगा ॥२॥ (क्योंकि) श्रीरामजी तो दुःख-सुख से रहित हैं, ऐसी श्रीरामजी की सब महिमा को तो तुम (स्वयं) जानती हो ॥३॥ और जीव कर्म-वश दुःख-सुख के भोक्ता होते ही हैं। अतः, देव-हित के लिये अवध जाओ ॥४॥

विशेष—(१) 'ठाढ़ि पछताती'—देवता लोग स्वार्थ-वश अकुला उठे हैं। इससे आवाहन करके इसे आसन भी नहीं दिया और दुःख सुनाने लगे, वह खड़ी ही रह गई। पछता रही है कि मैं बेकार आई, अब न तो ऐसा निष्ठुर कार्य ही करते और न इन दुखियों को कोरा उत्तर ही देते बनता है।

'भइउँ सरोज बिपिन हिम राती।'—अवधपुर-वासी कमल वन हैं और वे श्रीरामरूप सूर्य के द्वारा प्रफुल्ल हैं। श्रीरामजी का दक्षिण दिशा के वन को जाना सूर्य का दक्षिणायन होना है। इससे पुरवासियों को विरह से जलाना पाला डालना है, ये सब हिमऋतु की रात्रि की उपमा के भाव हैं।

(२) 'देखि देव पुनि कहहिं···'—'देखि' सरस्वती को पश्चात्ताप करते देखकर देवों ने समझा कि

यह लौटना ही चाहती है। अतः, फिर से निहोरा प्रकट करते हुए कहने लगे कि हम सब आजन्म कृतज्ञ रहेंगे, फिर हे माता, इसमें तुम्हारी कुछ भी बुराई न होगी।

(२) 'बिसमय हरष रहित '—बिसमय (विषाद) और हर्ष आदि विकार अज्ञ जीव में होते हैं, श्रीरामजी तो ब्रह्म हैं, यथा—"हरष विषाद ज्ञान अज्ञाना। जीव-धरम अहमिति अभिमाना॥ राम ब्रह्म व्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥" (बा० दो० ११५), 'तुम्ह जानहु सब राम-प्रभाऊ'—श्रीरामजी के सब-प्रभाव को सरस्वती ही क्या, ब्रह्मादि देवता भी नहीं जान सकते, वेद भी नेति-नेति कहकर रह जाते हैं, यथा—"सारद सेष महेस बिधि, आगम निगम पुरान। नेति-नेति '''" (बा० दो० १२) और गीता १०। १२–१५ एवं—उ० दो० ६०–६१ भी देखिये। पर यहाँ देवता लोग स्वार्थांध होने से चाटु (चापलूसी) वचन स्तुति रूप में कह गये, सरस्वती को प्रशंसा आदि से अनुकूल करना है, श्रीरामजी के विषय में कहकर अब प्रजा के विषय में कहते हैं।

'जीव करम बस दुख'''—प्रकृति के गुणों से प्रकृति ही के परिणाम-रूप देह-द्वारा जीवों के कर्म होते हैं। पूर्व कर्मानुसार और वह भी ईश्वर की प्रेरणा से जीव इच्छा मात्र करता है, इसीसे कर्त्ता कहा भी जाता है। पर वह जीव अहंकार से मोहित होने से, अपनेको स्वतंत्र कर्त्ता मान लेता है, इसीसे दुःख-सुख का भागी होता है, यथा—"प्रकृते क्रियमाणानि'''" (गीता ३।२७); तथा—"कार्यकरण-कर्तृत्वे हेतु प्रकृतिरुच्यते। पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥" (गीता १३।२०); पुन.—"करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥" (दो० २१८) यथा—"काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सब भ्राता॥" (दो० ९१)। सुख दुःखों के अनुभव होने का कारण भी अज्ञान ही है, यथा—"सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दुहुँ सम धीर धरहि मन माहीं॥" (दो० १५१)। 'देव हित लागी'—हम सब देवता हैं और तुम देवी हो, इस सजातीय सम्बन्ध से भी हमारा ही हित करना आपका कर्त्तव्य है।

बारबार गहि चरन सँकोची। चली बिचारि बिबुध-मति पोची॥५॥
ऊँच निवास नीचि करतूती। देखि न सकहि पराइ बिभूती॥६॥
आगिल काज बिचारि बहोरी। करिहहिं चाह कुसल कबि मोरी॥७॥
हरषि हृदय दसरथपुर आई। जनु ग्रहदसा दुसह दुखदाई॥८॥

दोहा—नाम मंथरा मंदमति, चेरी कैकइ केरि।
अजस-पेटारी ताहि करि, गई गिरा मति फेरि॥१२॥

शब्दार्थ—सँकोची=सकोच में डाला। पोचि=नीच, ओछी। पेटारी (सं० पेटिका)=प्रायः बाँस की सँपाचियों के बने हुए सदूकनुमा ढक्कनयुक्त ढक्कनदार डब्बे। फेरि=पलटकर।

अर्थ—बार-बार चरण पकड़-पकड़कर उसे सकोच में डाल दिया। वह यह सोचकर चली कि देवताओं की बुद्धि ओछी है॥५॥ इनका निवास तो ऊँच (लोकों में) है, पर करनी नीच; ये दूसरे के ऐश्वर्य को नहीं देख सकते॥६॥ (परन्तु) फिर आगे का कार्य विचार कर कि चतुर कवि लोग मेरी चाह करेंगे॥७॥ वह हृदय से हर्षित हो दशरथजी के नगर में आई, मानों दुसह दुःख देनेवाली ग्रहदशा

आई हो ॥८॥ मंथरा नाम की मंद बुद्धि कैकेयी के एक दासी थी, सरस्वती उसे अपयश की पिटारी बनाकर और उसकी बुद्धि फेर कर चली गई ॥१२॥

विशेष— (१) 'बार-बार गहि चरन···'—बार-बार चरण पकड़ना अत्यन्त दीनता एवं शरणागति है, अतः वह संकोच में पड़ गई, क्योंकि—"सरनागत कहँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि। ते नर पामर पापमय, तिन्हहि बिलोकत हानि॥" (सुं० दो० ४३)। 'बिबुध मति पोची'—कहने को विबुध (विशेष-बुद्धिमान्) हैं, पर इनकी बुद्धि बड़ी ओछी है।

(२) 'ऊँच निवास नीच···'—देवता ऊँचे अर्थात् स्वर्ग में तो रहते हैं, पर मत्सर से भरे हैं, मत्सर आसुरी वृत्तिवाले असुरों (पातालवासियों) की प्रकृति का विकार है।

(३) 'आगिल काज बिचारि · ···'—प्रथम इसे भय था कि ऐसा करने से जगत् में मेरी पूजा-प्रतिष्ठा उठ जायगी; इससे देवताओं को बुरा-भला कहा, परन्तु विचार करने पर अनुभव हुआ कि श्रीरामजी के वन जाने से विस्तृत लीला होगी, उसे चतुर कवि लोग लिखना चाहेंगे, तब मेरा आवाहन करेंगे और मैं उनकी जिह्वा पर बैठकर श्रीराम-चरित्र कहूँगी, इससे जगत् में मेरा भी यश होगा, तब वह हर्ष पूर्वक चली।

(४) 'दसरथ पुर आई'—यह दशा दशरथजी और उनके पुर पर ही बीतेगी, इसलिये दशरथ पुर कहा, राम पुर न कहा, क्योंकि उसमें अनर्थ नहीं हो सकता। 'ग्रह दसा दुसह······'—सरस्वती मंगल रूपा है, किंतु आज क्रूर बनकर आई है, इसलिये उसे दुस्सह ग्रह दशा की उपमा दी गई। 'ग्रह दसा' किसी भी ग्रह की एवं किसी भी क्रूर ग्रह की दशा में लग सकती है, पर 'दुसह' कहने से शनि की साढ़े साती दशा से तात्पर्य है, आगे कहा भी है—"अवध साढ़ साती जनु बोली।" (दो० १६)।

'नाम मंथरा मंद मति······'—इसका नाम और मति दोनों ही मंद हैं। 'चेरी कैकइ केरि'—वह कैकेयीजी के पिता के घर से आई हुई दासी है। कैकेयी के साथ ही कैकय देश से आई थी और सदा कैकेयीजी के साथ ही रहती थी, यथा—"ज्ञाति दासी यतो जाता कैकेय्या सुसहोषिता।" (वाल्मी० २।७।१)। इस प्रकार की दासी का बर्ताव घर के लोगों के साथ कैसा रहता है, यह भारतवर्ष के गृहस्थों से छिपा नहीं है। इसका तो नाम ही मंथरा था, जिसका अर्थ है, मथने (बिलोने) वाली, उथल-पुथल मचानेवाली, मंद बुद्धि। फिर इसके लक्षण भी वैसे ही थे, यथा—"काने खोरे कूबरे, कुटिल कुचाली जानि। तिय बिसेषि पुनि चेरि······" (दो० १४); अपने नीच स्वभाव के कारण इसे कौशल्याजी से चिढ थी। अतः, सरस्वती ने इसे ही योग्य पात्र चुना, क्योंकि बुद्धि के योग्य ही माया भी लगती है, यथा—"भरत जनक मुनि जन सचिव, साधु सचेत बिहाइ। लागि देवमाया सबहिं, जथाजोग जन पाइ॥" (दो० ३०२)। अवध में यही एक कुजाति एवं कुबुद्धि थी और दूसरे देश की थी, इसीसे इसे ही अपयश की पिटारी बनाई। पिटारी का ऊपरी ढक्कन कूबर युक्त (उठा हुआ) होता है, वैसे यह भी कुब्जा (कूबरी) थी। पिटारी में स्त्रियाँ भूषण-वस्त्र रखती हैं, इसके पेट में सरस्वती ने अपयश के (देनेवाले) अवगुण भर दिये।

शंका—ऐसी कुरूपा को कैकेयीजी ने दासी क्यों बनाया था?

समाधान—रानियाँ प्रायः सुन्दरी दासी नहीं रखतीं, कि ऐसा न हो कभी सौत बन बैठे। कैकेयीजी की और भी दासियाँ कुरूपा थीं, यथा—"कैकय्या गृह · ''कुब्जा वामनिका युतम्।" (वाल्मी० २।१०।११-१२)। 'गई गिरा'—सरस्वती चली गई, क्योंकि वह अवध पर विपत्ति देख न सकती थी।

'चेरी कैकइ केरि' का यह भी भाव है कि "कैकेयी की माता ने अपने पति के मारने में कसर नहीं उठा रक्खी थी, इसीसे अंत में वह निकाली गई। माँ के गुण कैकेयी में भी होने ही चाहिये।" (वाल्मी० २।३५।१७-२८); [इसीसे सरस्वती ने दूसरा पात्र इसे ही चुना है—"गई गिरामति धूति।" (दो० २०६);] पुनः जैसी कैकेयी है, वैसी उसकी दासी को भी होनी ही चाहिये।

दीख मंथरा नगर बनावा। मंजुल मंगल बाज बधावा ॥१॥
पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू। रामतिलक सुनि भा उर दाहू ॥२॥
करइ बिचार कुबुद्धि कुजाती। होइ अकाज कवनि बिधि राती ॥३॥
देखि लागि मधु कुटिल किराती। जिमि गँव तकइ लेउँ केहि भाँती ॥४॥

अर्थ—मन्थरा ने देखा कि नगर सजाया हुआ है, सुन्दर मांगलिक बधावे बज रहे हैं ॥१॥ लोगों से पूछा कि क्या उत्सव है ? जब सुना कि रामजी का तिलक है, तब उसके हृदय में जलन हुई ॥२॥ वह दुर्बुद्धि कुजातिवाली विचार करने लगी कि किस उपाय से आज रात ही में कार्य हानि (विघ्न) हो ? ॥३॥ जैसे कोई कुटिला किरातिनी (भीलनी) मधु (शहद) का छत्ता लगा हुआ देखकर दावँ (घात) विचारे कि इसे किस तरह से ले लूँ ? ॥४॥

विशेष—(१) 'पूछेसि लोगन्ह'—लोग रचना कर रहे थे, उन्हीं से पूछा। यह स्त्री है, स्त्रियों से ही पूछती, पर स्त्रियाँ महलों के भीतर थीं। 'कुबुद्धि कुजाती'—एक तो यह स्वयं 'मंदमति' थी, फिर सरस्वती ने और भी मंद कर दिया। अयोध्या में यही एक कुजाती थी, और तो सब सुजाति थे, यथा—"मनिगन पुर-नरनारि सुजाती। सुचि अमोल सुन्दर···" (दो० १)

(२) 'देखि लागि मधु कुटिल······'—'कुटिल' दीप देहली है। 'मधु कुटिल' यह मधु सारंग मक्खियों का होता है। यह बड़ी सावधानी से रात में निकाला जाता है। 'कुटिल किराती'—किराती अवध में दो कही गई हैं—मथरा और कैकेयी। कैकयी सीधी किरातिनी है—"बिधि कैकई किरातिनि कीन्ही।" (दो० ८३), और मंथरा टेढ़ी किरातिनी है, क्योंकि कुबड़ी है।

यहाँ राजमहल छत्ता है, राम-राज्याभिषेक मधु (जो सब सुकृत रूप फूलों का रस है), पुरवासी लोग मधुमक्खियाँ हैं—"बिकल मनहुँ माखी मधु छीने।" (दो० ७५)। मंथरा कुटिल किरातिनी है (टेढ़ी अंग और तिरछी निगाह से घात ताकना अच्छा बनता है) 'गँव तकइ'—दावँ ताक रही है, इतने में दावँ चित्त में आ गई कि भरतजी ननिहाल में हैं। अतः, कहने को दाँव है। उन्हें बाहर भेजकर कौशल्या चुपके से अपने पुत्र को राज्य दिलाती हैं। सारंग मधु बड़े गँव से कम्बल ओढ़कर रात में निकाली जाती है, वैसे ही यह रात में कैकेयी रूप कम्बल की ओट से गुरु मन्त्री एवं पुरवासियों की आँखें बचाकर राम-राज्य रूपी मधु निकाल भरतजी को देने का प्रयत्न विचारती है।

भरतमातु पहिं गइ बिलखानी। का अनमनि हसि कह हँसि रानी ॥५॥
ऊतर देइ न लेइ उसासू। नारि-चरित करि ढारइ आँसू ॥६॥
हँसि कह रानि गाल बड़ तोरे। दीन्हि लखन सिख अस मन मोरे ॥७॥
तबहुँ न बोल चेरि बड़ि पापिनि। छाड़इ स्वास कारि जनु साँपिनि ॥८॥

दोहा—सभय रानि कह कहसि किन, कुसल राम महिपाल ।
लखन भरत रिपुदमन सुनि, भा कुबरी-उर साल ॥१३॥

शब्दार्थ—अनमनि (अन्यमनस्क)=उदास, दुःखी । हसि=है (तू)। ऊदास=ऊर्ध्व श्वास । गाल=बढ़बढ़ाने का स्वभाव । गाल बड़ तोरे=गर्व सहित बकवाद करने की आदत तेरी है । साल=दुःख ।

अर्थ—भरत की माता के पास मुँह लटकाये हुए गई । रानी ने हँसकर पूछा—क्यों दुःखी है ? ॥५॥ वह कुछ उत्तर नहीं देती, ऊर्ध्व साँस ले रही है और स्त्री-चरित्र करके आँसू बहा रही है ॥६॥ हँसकर रानी ने कहा कि तेरे बड़े गाल हैं, मेरे मन में ऐसा जान पड़ता है कि लक्ष्मण ने तुझे शिक्षा दी है (दंड दिया है) ॥७॥ इतने पर भी चेरी न बोली, क्योंकि वह बड़ी पापिनी है, ऐसी साँस छोड़ रही है, मानों काली सर्पिणी हो ॥८॥ रानी ने डरकर कहा, अरी, बोलती क्यों नहीं ? (अपने बिलखाने का कारण क्यों नहीं कहती ?) राम, राजा, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न कुशल से तो हैं ? (इन सबकी) कुशल क्यों नहीं कहती ? यह सुनकर कुबड़ी के हृदय में बड़ी पीड़ा हुई ॥१३॥

विशेष—(१) 'भरतमातु पहिं··· ··'—भरत की माता कहा है, क्योंकि अभी इसका हृदय भरत के हृदय की तरह शुद्ध है । 'बिलखानी' का ही अर्थ 'अनमनि' है, अर्थात् मन का और भाँति हो जाना । दुःख से मुँह बनाये हुए उदास रहना ।

(२) 'दीन्ह लखन सिख अस·······'—इसने कुछ अंड-बंड बका होगा, इसपर लक्ष्मण ने ठोंका-पीटा होगा, यह रानी का अनुमान है । वह जानती है कि मेरी दासी पर आँख उठानेवाला और कोई नहीं हो सकता । राम तो परम सुशील हैं । हाँ, लक्ष्मण किसी के अन्याय को नहीं सह सकते । अतः, उन्होंने दंड दिया होगा ।

(३) 'तबहुँ न बोल चेरि·······'—सर्पिणी मर्मस्थल देखकर डँसती है, वैसे ही यह सोचती है कि जब रानी को हमारी दशा से भय हो, तब मेरे वचनों का प्रभाव पड़ेगा, इसी से अभी नहीं बोलती, क्योंकि अभी तो रानी हँस रही है । अतः, मेरे वचन हँसी में उड़ा देगी । 'बड़ि पापिनि'—क्योंकि अपने अन्नदाता का ही नाश करेगी । 'छाड़इ स्वास कारि ···'—काले सर्प अधिक विषैले होते हैं, उनसे भी अधिक काली नागिन होती है । अभी लंबी साँस लेती हुई फुफकार रही है, रानी को डँसेगी । अपयश होना एवं विधवा होना उसका मरना है, यथा—"संभावित कहँ अपजस लाहू । मरन कोटि सम दारुन दाहू ॥" (दो० ९४) ।

नागिन की फुफकार से लोग डर जाते हैं, वैसे ही रानी भी भयभीत हो गई—'सभय रानि कह···' ।

(४) 'भा कुबरी उर-साल'—रानी तो उसकी दशा देखकर और उसके न बोलने पर डर गई कि कोई भारी दुर्घटना तो नहीं हो गई । अतः, प्रथम प्राणों से भी अधिक प्रिय श्रीरामजी का, तब पति का एवं और पुत्रों का कुशल पूछा, इससे उसे और भी पीड़ा हुई, क्योंकि जिनसे प्रतिकूल होकर यह आई है, रानी उन्हीं राम और राजा का कुशल प्रथम पूछ रही है ।

कत सिख देइ हमहिं कोउ माई । गाल करब केहि कर बल पाई ॥१॥
रामहिं छाँड़ि कुसल केहि आजू । जेहि जनेस देइ जुबराजू ॥२॥

भयेउ कौसिलहि विधि अति दाहिन। देखत गरब रहत उर नाहिन ॥३॥
देखहु कस न जाइ सब सोभा। जो अवलोकि मोर मन छोभा ॥४॥

अर्थ—(मंथरा ने कहा) हे माई! मुझे कोई क्यों शिक्षा देगा? मैं किसका-बल पाकर गाल करूँगी? ॥१॥ राम को छोड़कर आज और किसका कुशल है, जिन्हें राजा युवराज-पद दे रहे हैं॥२॥ (अब तो) कौशल्याजी को विधाता अत्यन्त दाहिने हो गये हैं जिसे देखते हुए गर्व उनके हृदय में नहीं समाता ॥३॥ (नगर की) सब शोभा क्यों नहीं जाकर देखती हो जिसे देखकर मेरा मन क्षुब्ध हो गया है? ॥४॥

विशेष—(१) 'कत सिख देइ हमहिं······'—'माई' का भाव यह कि आप माता की तरह हमारा पोषण एवं पक्ष करती थीं, तो मैं किसी को कुछ कह भी डालती थी, अब किसके बल पर गाल करूँगी? और क्यों मारी जाऊँगी? भाव यह कि अब तो तुम्हारा बल रह ही नहीं गया। तुम तो स्वयं दासी बनने जा रही हो, पर यह स्पष्ट नहीं कहती, क्योंकि रुख-अनुकूल नहीं पाती। अभी ईर्ष्या उपजाने का उपाय कर रही है,यह—'दीन्हि लखन सिख ····' का उत्तर है।

(२) 'रामहि छाँड़ि कुसल केहि ·····' यह—'कहसि किन, कुसल राम महिपाल' का विषैला उत्तर है। इसमें भरतजी का अकुशल गुप्त है।

(३) 'भयेउ कौसिलहि विधि अति······'—'अति दाहिन' अर्थात् विधाता दाहिने तो पूर्व से ही थे कि वे सबमें जेठी पटरानी थीं, फिर उनका पुत्र भी सब पुत्रों में बड़ा हुआ और अब तो उन्हीं के पुत्र का राज्याभिषेक भी हो रहा है। अतः, उनके विधाता 'अति दाहिन' हो गये। इससे उनका गर्व हृदय में नहीं समाता। 'देखत'—विधि के दाहिने होने का कार्यरूप-राज-तिलक की सजावट देखकर। अभी तक तुम्हें गर्व था—"गरबित भरत मातु बल पी के।" (दो० १७)। अब उनको गर्व हुआ और वह इतना अधिक है कि उनके हृदय में नहीं समाता।

प्रायः स्त्रियाँ सौत का उत्कर्ष नहीं सह सकतीं, उसपर भी सौत के गर्व को तो किसी तरह सह ही नहीं सकतीं। मंथरा ने द्वेष उपजाने में यही सामने रक्खा, इसी में सफल भी होगी—"अस कौसिला मोर भल ताका। तस फल उन्हहिं देउँ करि साका॥" (दो० २१)।

'मोर मन छोभा', यथा—"राम-तिलक सुनि भा उर दाहू।" (दो० १२)।

पूत बिदेस न सोच तुम्हारे। जानतिहहु बस नाह हमारे ॥५॥
नींद बहुत प्रिय सेज तुराई। लखहु न भूप-कपट-चतुराई ॥६॥
सुनि प्रिय बचन मलिन मन जानी। झुकी रानि अब रहु अरगानी ॥७॥
पुनि अस कबहुँ कहसि घर-फोरी। तब धरि जीभ कढ़ावउँ तोरी ॥८॥

दोहा—काने खोरे कूबरे, कुटिल कुचाली जानि।
तिय बिसेषि पुनि चेरि कहि, भरतमातु मुसुकानि ॥१४॥

शब्दार्थ—तुराई (तूल + आई) = रूई भरी वस्तु, तोशक, दुलाई। झुकी = क्रोध आने पर मतिद्वन्द्वी

की तरफ को झुकना, झुक पड़ना, क्रुद्ध होना, यह मुहावरा है। अरगानी=चुप, अलग, यथा—"अस कहि राम रहे अरगाई।" (दो० २५८), "तहँ सारी जननी अरगाई।" (आ० दो० ७१)। घर-फोरी=घर में फूट लगाने-वाली। खोरा=लँगड़ा, दोष-युक्त (खोटा)।

अर्थ—पुत्र (भरत) परदेश में है और तुम्हें कुछ चिन्ता नहीं। जानती हो कि पति (राजा) तो मेरे वश में हैं ही ॥५॥ तुम्हें पलँग और तोशक पर सोना बहुत प्रिय है, राजा की कपट-चातुरी को लक्ष्य नहीं करती हो ॥६॥ प्रिय वचन सुन उसे मलिन मनवाली जानकर रानी उसपर क्रुद्ध हुई (और बोली) बस, अब चुप रह ॥७॥ अरी घर-फोड़ी! फिर कभी ऐसा कहा, तो तेरी जीभ पकड़कर खिंचवा लूँगी ॥८॥ काने, लँगड़े और कुबड़े (स्वभावतः) कुटिल और कुचाली जाने जाते हैं, उनमें भी विशेषकर स्त्री और फिर चेरी!—इतना कहकर भरत की माता मुसकुराने लगीं ॥१४॥

विशेष—(१) 'पूत बिदेस न सोच……'—कौशल्याजी से ईर्ष्या का ढंग बाँधकर अब राजा मे कपट आरोपण करती हुई, भरत के प्रति वात्सल्य जगा रही है। भाव यह कि तुम्हारी सौत (कौशल्या) की सम्मति से राजा ने भरत को ननिहाल भेज दिया है—'पठये भरत भूप……' आगे कहेगी। भरत को हटा दिया कि न तो वह रहेगा, न कोई झगड़ा उठेगा। तुम्हें चिन्ता ही नहीं है, तब भरत बेचारे किसी ओर के न हुए। इस तरह ईर्ष्या और क्रोध को दृढ़ कर रही है। 'जानति हहु……'—तुम जानती भर हो कि राजा मेरे वश में हैं, पर बात ऐसी नहीं है, राजा तुम्हारी सौत के वश हैं—"रचि प्रपंच भूपहि अपनाई। राम-तिलक हित लगन धराई॥" (दो० १७)।

(२) 'नींद बहुत प्रिय सेज……'—बहुत सोना प्रमाद है, राजाओं को सावधान रहना चाहिये। यथा—"करसि पान सोवसि दिन-राती। सुधि नहिं तव सिर पर आराती॥" (आ० दो० २०)।

'लखहु न भूप-कपट……'—कपट बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाता है, पर तुम तो भोली-भाली ठहरी और राजा कपट में चतुर हैं, यथा—"मन मलीन मुँह मीठ नृप, राउर सरल सुभाउ।" (दो० १७)। अर्थात् राजा ऊपर से ही मीठी-मीठी बातें करते हैं, पर मन के मैले हैं, कपट से भरे हैं।

(३) 'सुनि प्रिय बचन……'—"रामहि छाड़ि कुसल" जेहि जनेस देइ जुवराजू॥" यह प्रिय वचन है, क्योंकि राम-तिलक तो ये चाहती ही थीं, यथा—"भामिनि भयेउ तोर मन भावा।" (दो० २६); "राम तिलक जौं साँचेहु काली। देउँ मागु मनभावत आली॥" (दो० १४)। घर फोड़ने के ढंग में कहा और उसका प्रबन्ध बाँधा, इससे 'मलिन मन' जाना।

(४) 'पुनि अस……तव धरि जीभ……'—'घर फोरी' सम्बोधन है, यथा—"धरेउ मोर घर-फोरी नाऊँ।" (दो० १६)। घर फोड़नेवाले की जीभ उखाड़ लेनी चाहिये, यह नीति भी जनाई।

(५) 'काने खोरे कूबडे……'—ये तीनों मन के कुटिल और तन से कुचाली होते हैं। 'मुसुकानि'—क्योंकि यह कूबड़ी, स्त्री और चेरी तीनों दोषों से युक्त है। 'तिय बिशेषि……'—पुरुष में ये दोष हों, तो वे कुटिल कुचाली होते हैं, स्त्री में हों तो और अधिक। वह स्त्री भी यदि चेरी हो, तब तो कहना ही क्या! 'भरत मातु'—क्योंकि अभी भरत के अनुकूल हृदयवाली हैं।

रानी का अंत में मुसकाना ही दासी के जाल में फँसने का कारण हुआ, नहीं तो इसी फटकार पर सारी लीला ही समाप्त हो जाती। यहाँ 'हँसा सो फँसा' यह कहावत सिद्ध हुई। देखिये, मय-सभा में द्रौपदी के हँस देने पर ही सारा महाभारत हुआ, वैसे ही इस 'मुसकानि' से ही सारी रामायण की रचना होगी।

प्रियबादिनि सिख दीन्हिउँ तोही। सपनेहु तो पर कोप न मोही ॥१॥
सुदिन सुमंगल-दायक सोई। तोर कहा फुर जेहि दिन होई ॥२॥
जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर-कुल-रीति सुहाई ॥३॥
राम-तिलक जौं साँचेहु काली। देउँ माँगु मन-भावत आली ॥४॥

अर्थ—हे प्रिय बोलनेवाली मंथरे ! मैंने तुझे शिक्षा दी है, मुझे स्वप्न में भी तेरे ऊपर क्रोध नहीं है ॥१॥ वही दिन सुंदर दिन और सुन्दर मंगलों का देनेवाला है, जिस दिन तेरा वचन (कि राजा राम को युवराज पद दे रहे हैं) सत्य होगा ॥२॥ बड़ा भाई स्वामी और छोटा भाई सेवक हो, यह इस सूर्य-वंश की सुहावनी रीति है ॥३॥ सत्य ही यदि श्रीरामजी का तिलक है, तो सखी ! तू मनभाया पदार्थ माँग ले, मैं दे दूँगी ॥४॥

विशेष—(१) 'प्रियबादिनि'—क्योंकि राम-तिलक-रूप प्रिय वचन सुनाया। 'सिख'—कि मालिक के घर में फूट नहीं डालनी चाहिये, इतने ही के लिये हमने डाँटा है और जो तूने प्रिय वचन सुनाया, उससे अब मैं तुमपर कभी भी कुपित नहीं होने की। 'फुर जेहि दिन होई' आगे भी—'जौं साँचेहु काली' कहती है, क्योंकि इन्हें विश्वास नहीं हो रहा है। ऐसी प्रसन्नता की बात होती तो राजा मुझसे पहले ही कहते, क्योंकि यही तो मेरा अभीष्ट था।

(२) 'जेठ स्वामि सेवक लघु···' यथा—"ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात् पित्र्यं धनमशेषतः। शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा॥" (मनुस्मृति अ० ९)। 'सुहाई' से यह भी सूचित किया कि—"जेहि पितु देइ सो पावइ टीका।" (दो० १७४) की रीति सामान्य है। इस कुल में 'सुहाई' ही रीति चली आ रही है। अतः, यह कुल दोष-रहित है।

(३) 'देउँ माँगु मन-भावत आली'—और माताओं ने प्रथम यह समाचार सुनानेवालों को बहुत-बहुत 'भूषन बसन' दिये थे। कौशल्याजी ने—'दिये दान बहु बिप्र हँकारी।' पर इनकी तरह किसी ने 'मनभावत' देने को नहीं कहा। क्यों न हो, इन्हें तो श्रीरामजी प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं—"प्रान ते अधिक राम प्रिय मोरे।" आगे कहती हैं। 'आली'—प्रिय संदेश देने के कारण दासी को 'सखी' का पद दिया।

कौसल्या-सम सब महतारी। रामहिं सहज सुभाय पियारी ॥५॥
मो पर करहिं सनेहु बिसेषी। मैं करि प्रीति-परीछा देखी ॥६॥
जौं बिधि जनम देइ करि छोहू। होहु राम-सिय पूत-पतोहू ॥७॥
प्राण ते अधिक राम प्रिय मोरे। तिन्हके तिलक छोभ कस तोरे ॥८॥

दोहा—भरत-सपथ तोहि सत्य कहु, परिहरि कपट दुराउ।
हरष समय बिसमय करसि, कारन मोहि सुनाउ ॥१५॥

अर्थ—राम को कौशल्याजी के ही समान सब माताएँ सहज स्वभाव से प्यारी हैं ॥५॥ मुझपर तो वे विशेष स्नेह करते हैं, मैंने परीक्षा करके उनकी प्रीति देख ली है ॥६॥ यदि विधाता कृपा करके जन्म दें, तो कृपा करके यह भी दें कि रामजी पुत्र और सीताजी पतोहू हों ॥७॥ मुझे श्रीरामजी प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं, फिर उनके तिलक से तुझे दुःख कैसे हो रहा है ॥८॥ तुझे भरतजी की शपथ है, कपट और छिपाव छोड़कर सत्य कह। हर्ष के समय तू खेद कर रही है, मुझे इसका कारण सुना ॥१५॥

विशेष—(१) 'कौसल्या-सम सब ···'—यह—'भयेउ कौसिलहिं बिधि अति दाहिन।' का उत्तर है।

'सहज सुभाव'—जन्म-काल से ही स्वाभाविक (बनावट नहीं)।

(२) 'मो पर करहिं सनेह बिसेखी', यथा—"मानी राम अधिक जननी ते। जननी गस न गही।" (गी० अ० १७); "कहैं मोहिं मैया, कहउँ मैं न, मैया भरत की, बलैया लेहौं भैया तेरी मैया कैकेई है॥ तुलसी सरल भाय रघुराय माय मानी, काय मन बानी हूँ, न जानी कै मतेई है॥" (क० अ० ३)।

शंका—श्रीरामजी की प्रीति तो परीक्षा करके देखी, सीताजी की कैसे जानी ?

समाधान—सीताजी पतिव्रता हैं, इससे पति के अनुसार ही वृत्तवाली जानकर, यथा—"लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई॥" (दो० २५१)। "सीय लखन रिपु दवन राम-रुख लखि सबकी निबही॥" (गी० अ० १७)।

(३) 'जौं बिधि जनम···'—भाव यह कि जन्म-जन्म इनका यह सुख मुझे बना रहे।

(४) 'तिन्हके तिलक छोभ कस तोरे'—तू मेरी दासी है, तो तुझे भी राम प्राणों से प्रिय होने चाहिये। उनका तिलक सुनकर हर्ष होना चाहिये था, पर क्षोभ हुआ, यह क्यों ? यही पूछने में रानी चूक गई, अन्यथा उसे उत्तर देने की कोई बात ही नहीं मिलती, यहीं कैकेयीजी में 'सुर-माया' का स्पर्श हुआ।

(५) 'भरत सपथ तोहि···'—यह (मंथरा) भरत के ननिहाल की है और उनका पक्ष भी लिये हुए है—'पूत बिदेस न सोच तुम्हारे।' अभी वह आई, इसीसे 'भरत सपथ' कहा कि जिससे सत्य कहे। यहाँ 'सुरमाया' का अंकुर समझना चाहिये जो मंथरा के वचन-रूपी जल से बढ़ेगा।

एकहि बार आस सब पूजी। अब कछु कहब जीभ करि दूजी॥१॥
फोरइ जोग कपार अभागा। भलेउ कहत दुख रउरेहिं लागा॥२॥
कहहिं झूठि फुरि बात बनाई। ते प्रिय तुम्हहिं करुइ मैं माई॥३॥
हमहुँ कहबि अब ठकुरसोहाती। नाहिं त मौन रहब दिन-राती॥४॥

अर्थ—(मंथरा बोली) एक ही बार (के कथन) में सारी आशा पूरी हो गई, अब तो दूसरी जीभ लगाकर कुछ कह सकूँगी ॥१॥ मेरा अभागा शिर फोड़ने ही योग्य है, जो भले के लिये भी कहते हुए तुमको दुःख लगा ॥२॥ जो झूठी-साँची बातें बनाकर कहते हैं, हे माई ! वे ही तुम्हें प्रिय हैं और मैं तो कड़वी हूँ ॥३॥ मैं भी अब से ठकुरसुहाती कहूँगी, और नहीं तो दिन-रात चुप ही रहा करूँगी ॥४॥

विशेष—(१) 'जीभ करि दूजी'—का भाव यह कि जैसी बात से जीभ कढ़वाने की आज्ञा हुई थी, वैसी ही बातें मुझे फिर कहनी हैं, तो एक जीभ तो निकाली ही जायगी, दूसरी बनवाकर रख लूँ तब तो कहने का साहस करूँ !

(२) 'फोरइ जोग कपार अभागा'— यह वस्तुतः कैकयी का ही अभाग कह रही है, पर उसको कैसे कहे ? इसलिये अपना ही अभाग कहती है कि अभागा कपाल तो तभी हो गया कि अब राम-तिलक सुना, अब मैं तुम्हें भी नहीं सुहाती, तब यह फोड़ने ही योग्य है। इसे रखकर क्या करूँगी (स्त्री-स्वभाव से दोनों हाथ शिर पर पटककर कहा है) अर्थात् मैंने तो तुम्हारे हित का वचन कहा, पर फल उलटा मिला। तुम्हारा दोष नहीं, मेरा ही अभाग्य है।

(३) 'कहहिं झूठि फुरि···'—जो झूठ को सत्य बनाकर कहते हैं, वे तुम्हें प्रिय हैं, पर मैं तो सत्य ही कहती हूँ, इसीसे कड़ुवी (अप्रिय) हूँ। झूठ-फुर = झूठ-सच—यह मुहावरा है।

(४) 'हमहुँ कहब अब ठकुरसोहाती'—'ठकुरसोहाती' अर्थात् उपर्युक्त झूठ-सच, मुँह देखी, खुशामदी। यथा—"कहहिं सचिव सब ठकुरसोहाती। नाथ न पूर आव येहि भाँती॥" (लं० दो० ८); भाव यह कि मैं भी अब तुम्हारी-सी कहूँगी, जिसमें भला देखूँगी, उसे कहूँगी और जिसमें बुरा देखूँगी, उसके विषय में सदा चुप लगाये रहूँगी, क्योंकि दिन-रात रहना तो तुम्हारे पास है। अनभल कहने से मौन रहूँगी, क्योंकि—"अनभल देखि न जाइ तुम्हारा···।" आगे कहा है। 'दिन-राती' में यह भी आशय है कि बस, यही आज का दिन और रात मौन रहूँगी, फिर तो राम-राज्य हो जाने पर न तुम्हारी ठकुराई रहेगी और न मुझे ठकुरसुहाती कहने की नौबत ही आवेगी।

इस तरह मंथरा ने अपनेको सत्यवादिनी सिद्ध करने एवं रानी को अपने पर प्रतीति उत्पन्न कराने के लिये विषाद प्रकट करते हुए अपना अभाग्य कथन किया। यह कैकेयी के 'सत्य कहु, परिहरि कपट दुराउ' का उत्तर है। कैसे ढंग से पुष्ट कर रही है ? नारि-चरित देखने योग्य है !

करि कुरूप बिधि परबस कीन्हा। बवा सो लुनिय लहिय जो दीन्हा ॥५॥
कोउ नृप होउ हमहिं का हानी। चेरि छाड़ि अब होब कि रानी ॥६॥
जारइ जोग सुभाव हमारा। अनभल देखि न जाइ तुम्हारा ॥७॥
ताते कछुक बात अनुसारी। छमिय देवि बड़ि चूक हमारी ॥८॥

दोहा—गूढ़ कपट-प्रिय बचन सुनि, तीय अधरबुधि रानि।
सुरमाया-बस बैरिनिहि, सुहृद जानि पतियानि ॥१६॥

शब्दार्थ—होब कि = इसमें 'कि' का अर्थ संस्कृत किम् का रूप मानें तो 'क्या' होता है और फारसी 'कि' का रूप मानें तो 'अथवा' 'या' होता है। अनुसारी = चलाई, छेड़ी, कही। अधरबुधि = अधर (नीच) बुद्धिवाली। पतियानि = विश्वास किया।

अर्थ—ब्रह्मा ने कुरूप बनाकर मुझे पराये के वश किया, जो बोया सो काटा, जो दिया सो पाया ॥५॥ कोई भी राजा हो, मेरी क्या हानि है ? हे रानी ! चेरी छोड़कर अब मैं और क्या होऊँगी ॥६॥ मेरा स्वभाव ही जलाने योग्य है कि तुम्हारा अहित मुझसे देखा नहीं जाता ॥७॥ इससे कुछ चर्चा चलाई। हे देवि ! मेरी बड़ी भूल हुई, क्षमा करो ॥८॥ स्त्री, नीच बुद्धि एवं देव माया वश होने के कारण, गूढ़, कपट भरे हुए एवं प्रिय वचनों को सुना और रानी ने वैरिणी मंथरा को सुहृद (हितैषिणी) जानकर उसपर विश्वास किया ॥१६॥

विशेष—(१) 'करि कुरूप विधि···'—एक तो विधाता ने मुझे टेढ़ी-कुबड़ी बनाया, फिर स्त्री और उसपर चेरी करके आप ऐसी स्वामिनी के वश किया जो हित कहने पर भी दंड देने को कहे। क्या करूँ? परवश होकर सुनना ही पड़ता है, सब अपने बुरे कर्मों का फल है। यह—'काने खोरे कूबरे, कुटिल···' का उत्तर है।

(२) 'कोउ नृप होउ···' यह—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर···" का उत्तर है। 'चेरि छाड़ि अब···'—चेरी से नीची और कौन पदवी है, जो मिलने पर मेरी हानि होगी। आप चाहे राम राजा हों, चाहे भरत, मैं तो चेरी ही रहूँगी। 'रानी' सम्बोधन से जनाती है कि राम के राजा होने पर क्या तुम रानी रहोगी? अर्थात् तुम रानी न रहोगी, किंतु चेरी होगी, तब हानि तुम्हारी ही होगी। दूसरा अर्थ यह भी होता है कि भरत भी राजा हों, तो क्या, मैं अब चेरी से रानी हूँगी? चेरीपने में ही आयु बीत चली। तब रामजी ही राजा हों, मेरी तो हानि नहीं है। हाँ, तुम्हारी हानि अवश्य है, जो रानी से चेरी बनोगी।

(३) 'जारइ जोग सुभाव···'—इससे सूचित करती है, तुम्हारा भारी अनहित होनेवाला है, जिसे मैं रोकना चाहती हूँ। स्वभाव को दोष देने का भाव यह कि जिसका अनहित हो, वह उसीमें हित मानता है, तो दूसरे को क्या पड़ी है जो उसके लिये बुरी-भली सुने? पर यह मेरा स्वभाव ही जलाने योग्य है। 'तातें'—उसी स्वभाव वश। 'कछुक बात'—भाव, अभी तो उसमें बहुत कहना है, तुम थोड़े ही में बिगड़ पड़ी। इससे भारी अनिष्ट का भय दिखाया। 'छमिय देवि···' क्षमा चाहकर सूचित करती है कि अब न कहूँगी और न आप पूछें, जो हो गया, हो गया। इस दोष को क्षमा करें। प्रतीति कराने का पूरा ढंग बना लिया।

(४) 'गूढ़ कपट प्रिय बचन···'—रानी ने कहा था कि 'सत्य कहु, परिहरि कपट दुराउ', उसीका उत्तर यहाँ तक दिया कि कपट को गुप्त कर अर्थात् वचनों में गुप्त करके कपट के वचनों को सत्य की तरह प्रिय बनाकर कहा। कपट की बातें कितनी भी छिपाकर कही जायँ, पर वे उघर जाती हैं, यथा—"कपट सार सूची सहस, बाँधि बचन परवास। कियो दुराव चहै चातुरी, सो सठ तुलसीदास॥" (दोहावली ३१०); तब कैकेयी ने क्यों न जाना? इसका कारण उसे—'तीय अधरबुधि' और 'सुरमाया बस' कहकर बतलाया है। 'सुरमाया' अर्थात् देवमाया वश। देवता ब्रह्माजी भी हैं, उनकी माया सरस्वती है, उसे आगे स्पष्ट भी कहा गया है, यथा—"गई गिरा मति धूति" (दो० २०६)। जान पड़ता है कि जब रानी ने कहा—'प्रानते अधिक राम प्रिय मोरे।' तब देवताओं ने फिर इसपर भी माया डालने का प्रबंध किया होगा। 'अधर बुधि' का अर्थ नीच बुद्धि है, इसीसे तो नीच के मत में पड़ी॥ यथा—"कोन कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मते चतुराई।" (दो० २१)।

सादर पुनि पुनि पूछति ओही। सबरी-गान मृगी जनु मोही॥१॥
तसि मति फिरी अहइ जसि भावी। रहसी चेरि घात जनु फाबी॥२॥
तुम्ह पूछहु मैं कहत डेराऊँ। धरेउ मोर घरफोरी नाऊँ॥३॥
सजि प्रतीति बहुबिधि गढ़ि-छोली। अवध - साढ़साती तब बोली॥४॥

शब्दार्थ—ओही = उससे। फाबी = (फबना अनुकूल होना) = अनुकूल हुई। सजि = सजाकर, जमाकर। गढ़ि छोली = सुडौल बनाकर, अपने अनुकूल बनाकर। साढ़साती = शनैश्चर की दु:खद दशा।

अर्थ—आदर पूर्वक फिर-फिर उससे पूछ रही है, मानों शबरी के गान पर हरिनी मोह गई हो ॥१॥ जैसी भावी है, वैसी ही बुद्धि भी फिर गई है। चेरी प्रसन्न हुई, मानों दाँव (गर) अनुकूल हुई ॥२॥ तुम पूछती हो और मैं कहते डरती हूँ, क्योंकि तुमने मेरा नाम 'घरफोड़ी' रक्खा है ॥३॥ बहुत प्रकार से अपने अनुकूल बनाकर, बहुत तरह से विश्वास जमाकर, तब अवध के लिये 'साढ़साती' दशा रूपिणी मंथरा बोली ॥४॥

विशेष—(१) 'सादर पुनि पुनि···'—कहाँ तो पहले भारी निरादर किया था—'झुकी रानि··· 'पुनि अस कबहुँ ···' और कहाँ अब इतना आदर से पुनः पुनः पूछ रही है, यही उसमें मोहना है। उसीको उत्तरार्द्ध में उपमा से कहते हैं—'सबरी गान···'—मृगी को फँसाने के लिये भीलनी हिरन के ही सींग को घिसकर उससे मीठे राग अलापती है। उस राग से मोहित होकर मृग पास में आकर खड़े हो जाते हैं। उन्हें यह सुध नहीं रह जाती कि यह हमें फँसा लेगी, पीछे भीलनी गुप्त रक्खे हुए फंदे से उन्हें फँसा लेती है। वैसे ही रानी मंथरा के 'गूढ़ कपट प्रिय वचन' सुनकर मोह गई है और फिर-फिर पूछ रही है। उसे यह ध्यान नहीं है कि इन वचनों में पड़ने से मुझे दुःख होगा। यथा—"अनृतर्वत् मा सान्त्वैः सान्त्वयन्तीस्म भाषसे। गीतशब्देन संरुध्य लुब्धो मृगमिवावधीः ॥" (वाल्मी० २।१२।७७)।

(२) 'तसि मति फिरी अहइ ···'—पहले निरादर किया था, फिर इतना आदर क्यों करने लगी ? इसीका समाधान करते हैं कि जैसी भावी है, वैसी ही बुद्धि फिर गई। यथा—"हरिइच्छा भावी बलवाना।" (बा० दो० ५५)। 'जनु फाबी'—बुद्धि तो भावी से फिरी, पर मंथरा ने यही जाना कि मेरी दाँव लग गई, मेरे फेरने से रानी की मति फिरी है, इसी सफलता पर उसे हर्ष हुआ।

(३) 'सजि प्रतीति बहु बिधि···'—मंथरा ने अपने वचनों की प्रतीति कैकेयी के हृदय में बहुत तरह से सज दी। प्रथम प्रतीति कुडौल थी, तभी रानी ने फटकारा था। उसे बुद्धि रूपी बसूले से—मेरा अभागा कपाल फोड़ने योग्य है कि भला कहने पर भी तुम्हें दुःख हुआ। कोई राजा हो, तो मेरी क्या हानि ? इत्यादि वचन रूपी छेनी से गढ़ छीलकर सुडौल किया। पुनः मेरा स्वभाव जलाने योग्य है कि तुम्हारा अनभल नहीं देखा जाता, इत्यादि वचनों से खरादकर साफ किया, पुनः 'छमबि देबि···' इस साधु भाव से रानी के उर में प्रतीति को सज दिया। 'अवध साढ़साती तब बोली।'—फलित ज्योतिष के अनुसार जन्मराशि, दूसरे स्थान और बारहवें स्थान में अर्थात् इन तीन राशियों में शनि-ग्रह की स्थिति साढ़े सात वर्षों तक रहती है, क्योंकि शनि प्रत्येक राशि को ढाई-ढाई वर्षों तक भोगते हैं। इस विपत्ति के काल को 'साढ़े साती' कहते हैं। शनैश्चर की दशा चढ़ते-उतरते में ६ महीने शांत रहती है। सात वर्ष दुस्सह दुःखदायी रहती है। ये ही, दोनों वरों के योग से (७+७=१४) वर्ष हुए। यह अवध को उजाड़ने पर है, यथा—"अवध उजारि कीन्ह कैकेई।" (दो० २८)। यह भी गुप्त ध्वनि है कि साढ़े सात ही दिनों पर राजा की मृत्यु होने से अयोध्या अनाथ होगी।

प्रिय सियराम कहा तुम्ह रानी। रामहिं तुम्ह प्रिय सो फुरि बानी ॥५॥
रहा प्रथम अब ते दिन बीते। समय फिरे रिपु होहिं पिरीते ॥६॥
भानु कमल-कुल - पोषनिहारा। बिनु जर जारि करइ सोइ छारा ॥७॥
जरि तुम्हारि चह सवति उखारी। रूँधहु करि उपाय बर बारी ॥८॥

दोहा—तुम्हहिं न सोच सोहागबल, निज बस जानहु राउ।
मन मलीन मुँह मीठ नृप, राउर सरल सुभाउ ॥१७॥

शब्दार्थ—फिरे=पलटने पर, बुरे होने पर। पिरीते=प्यारे, मित्र। सोहाग (सौभाग्य)=पति का स्नेह।

अर्थ—रानी! जो तुमने कहा कि सीताजी और रामजी मुझे प्रिय हैं, और रामजी को तुम प्रिय हो—यह वचन सत्य है ॥५॥ (परन्तु ऐसा) पहले था। वे दिन अब गये, समय पलटने पर मित्र भी शत्रु हो जाते हैं ॥६॥ (देखो) सूर्य कमल के कुल का पोषण करनेवाला है; पर बिना जल के वह उसीको जलाकर राख कर देता है ॥७॥ सौत (सपत्नी) तुम्हारी जड़ उखाड़ना चाहती है, उसे उपाय रूपी श्रेष्ठ बारी लगाकर रूँधो (रक्षा करो) ॥८॥ तुमको सौभाग्य (पति-स्नेह) के बल पर सोच नहीं है (क्योंकि) राजा को अपने वश में समझती हो। (पर) राजा मन के मैले और मुँह के मीठे हैं, और तुम्हारा स्वभाव सीधा है ॥१७॥

विशेष—(१) 'प्रिय सिय राम कहा ...'—रानी ने कहा था कि—'प्रानते अधिक राम प्रिय मोरे' और 'मो पर करहिं सनेह बिसेषी।' इन वचनों का समर्थन करते हुए युक्ति से फिर खंडन करेगी, अन्यथा एकबारगी खंडन से रानी चिढ़ जाती।

(२) 'रहा प्रथम अब ते दिन...'—पहले राम बच्चे थे, तब प्रीति करते थे, अब वे दिन गये। अब तो राजा हो रहे हैं तो राजनीति से काम लेंगे, जिसे कंटक समझेंगे, उसकी प्रीति दूर कर देंगे। जब अपने बुरे दिन आते हैं, तब प्रिय भी शत्रु हो जाते हैं। यथा—"कुदिना हितजन अनहित रे थिक जगत सुभाय।" (विद्यापति-पदावली)।

(३) 'भानु कमल कुल ...'—यह वचन—'यह दिनकर कुलरीति सुहाई।' का उत्तर है, यहाँ 'भानु' श्रीरामजी। कैकेयी, भरत और मंथरा कमलकुल तथा कैकेयी का सोहाग बल (पति स्नेह) जल है। जब श्रीरामजी युवराज होंगे तब राजा का स्नेह उनकी माता कौशल्याजी में होगा। तब ये ही रामजी तुम्हें क्रोधाग्नि से भस्म कर देंगे। जैसे सूर्य जलहीन कमल को किरणों से भस्मकरते हैं।

कैकेयीजी ने 'दिनकर कुल रीति' को 'सुहाई' कहा था, वही बात लेकर मंथरा इस कुल के पुरुषा सूर्य का ही दृष्टान्त देती है कि कमल सूर्य का परम मित्र है। यह सूर्य के उदय में प्रफुल्लित और अस्त में सम्पुटित होता है, अर्थात् सुख में सुखी और दुःख में दुखी होता है। तो भी बिना जल के कमल को सूर्य भस्म ही कर देते हैं, यह तो स्वयं पुरुषा की चाल है, तब भानुकुल भानु श्रीरामजी का व्यवहार समझ लो।

(४) 'जरि तुम्हारि चह...'—सब सौतें कौशल्याजी की सेवा करती हैं, केवल तुम्हीं पति-स्नेह-बल से नहीं करती हो। इससे कौशल्याजी को ईर्ष्या है। यथा—"राजहिं तुम्ह पर प्रेम बिसेषी। सवति सुभाव सकइ नहिं देखी ॥" (दो० १७)। तुम्हारा गर्वरूप वृक्ष पति स्नेह रूपी जड़ के आधार पर है, उसे तुम्हारी सौत उखाड़ना चाहती है। यथा-"गरबित भरत मातु बल पी के ॥" (दो० १७)। वे अपने पुत्र को राज्याधिकार दिलाकर राजा को अपने वश में कर लेंगी, तब राजा का स्नेह तुमपर नहीं रह जायगा, बस, तुम्हारी जड़ गई। उस समय तुम्हारा गर्व रूप वृक्ष नहीं रह जायगा, फिर दासी बन कर सौत की सेवा करनी पड़ेगी।

यदि अपने गर्व रूप वृक्ष की रक्षा चाहो, तो काँटेदार बारी (टट्टर) से इसे रूँधो अर्थात् घेर दो। भरतजी को युवराज और रामजी को वन देना, यही श्रेष्ठ बारी है, सौतें आप ही विपत्ति में [illegible]ँगी।

भरत युवराज की माता होने से राजा भी तुम्हारे ही अधीन रहेंगे तब सौतें तुम्हारी ही दासी बनकर सेवा करेंगी।

(५) 'तुम्हहिं न सोच सोहाग बल···'—तुम राजा को अपने वश जानती भर हो, पर वे मन के मैले (कपटी) हैं। अपने मन की एक बात भी तुम्हें नहीं बताते, केवल मुँह के मीठे हैं, ऊपर से चिकनी-चुपड़ी बातों से तुम्हें रिझाये रहते हैं। तुम सीधे स्वभाव की हो, इससे उनके कपट को नहीं लख पाती और उनके विश्वास में आ जाती हो।

चतुर गँभीर राम-महतारी। बीच पाइ निज बात सँवारी ॥१॥
पठये भरत भूप ननिऔरे। राम-मातु मत जानब रौरे ॥२॥
सेवहिं सकल सवति मोहि नीके। गरवित भरत-मातु बल पी के ॥३॥
साल तुम्हार कौसिलहि माई। कपट चतुर नहिं होइ जनाई ॥४॥

शब्दार्थ—बीच पाइ = अवसर पाकर। रउरे = आप। साल = कसक, दुःख, (सालना = दुःख देना।)

अर्थ—श्रीरामजी की माता कौशल्या चतुर और गंभीर हैं, अवसर पाकर उन्होंने अपनी बात सँवार ली ॥१॥ राजा ने (जो) भरत को ननिहाल भेजा है, इसमें तुम रामजी की माता कौशल्या का मत (सलाह) समझो ॥२॥ (कौशल्याजी के मन में है कि) सब सौतें अच्छी तरह मेरी सेवा करती हैं, पर केवल भरतजी की माता पति के बल पर गर्वित (अहंकार में भरी) रहती हैं ॥३॥ हे माई! इसीसे कौशल्या को तुम्हारी कसक है (तुम उन्हें खटक रही हो)। वे कपट में चतुर हैं, इससे खुल नहीं पड़तीं, अर्थात् उनकी सौतिया डाह वा कसक जान नहीं पड़ती ॥४॥

विशेष—(१) 'बीच पाइ निज बात ···'—रामजी की माता भीतर से चतुर हैं, कार्य का प्रबन्ध करती हैं, और ऊपर से गंभीर हैं, कोई लख नहीं पाता। देखो न, अवसर पाते ही अपना मतलब गाँठ लिया। बीच पाना आगे कहती हैं—

(२) 'पठये भरत भूप ननिऔरे ···'—यह मंथरा अपना पक्ष साधने के लिये झूठ कह रही है। भरतजी के मामा युधाजित ब्याह के समय ही उन्हें लेने को आये और उन्होंने चक्रवर्तीजी से बड़ा आग्रह किया, तब (कैकेयी की भी सम्मति से) राजा ने भेजा है, यथा—"बाल एव तु मातुल्यं भरतो नायितस्त्वया।" (वाल्मी० २।८।२८)। राजा का भरत-शत्रुघ्न पर पूर्ण प्रेम था। वाल्मी० २।१।४-५ देखिये।

(३) 'सेवहिं सकल सवति मोहि ···'—कौशल्या जेठी और पटरानी हैं, इससे सब सौतें धर्म समझकर उनकी सेवा करती हैं, कुबड़ी ईर्ष्या बढ़ाने के लिये नीचता दिखा रही है।

यहाँ तक मन्थरा ने क्रमशः श्रीरामजी, राजा और कौशल्याजी के प्रति कैकेयी का स्नेह दूर करने का प्रयास किया; क्योंकि तीनों से विरोध हुए बिना उसका पक्ष-पोषण नहीं हो सकता था। बार-बार 'राम मातु', 'राम महतारी' आदि से जनाती है कि जैसे रामजी हैं, वैसी ही उनकी माता भी। श्रीरामजी पर कैकेयीजी का अत्यन्त प्रेम है, इसलिये कपट-सम्बन्ध में बार-बार उन्हें दिखाती है।

राजहि तुम्ह पर प्रेम बिसेखी। सवति-सुभाव सकइ नहिं देखी ॥५॥
रचि प्रपंच भूपहि अपनाई। राम-तिलक हित लगन धराई ॥६॥

यह कुल उचित राम कहँ टीका। सबहिं सुहाइ मोहि सुठि नीका ॥७॥
आगिल बात समुझि डर मोही। देउ दैव फिरि सो फल ओही ॥८॥

दोहा—रचिपचि कोटिक कुटिलपन, कीन्हेसि कपट प्रबोध।
कहेसि कथा सत सवति कै, जेहि बिधि बाढ़ बिरोध ॥१८॥

शब्दार्थ—सुठि (सुष्ठु)=अत्यंत, बहुत ही। फिरि=फिर कर। ओही=उसी को। रचिपचि=गढ़कर बैठाकर। कोटिक=करोड़ों, बहुत-से। सत=सैकड़ों, बहुत। शत, कोटि एवं सहस्र शब्द अनन्तवाची हैं, बहुत के अर्थ में इनका प्रयोग होता है।

अर्थ—राजा का तुमपर बहुत प्रेम है, सौत के स्वभाव से कौशल्या उसे नहीं देख सकतीं ॥५॥ (इसलिये) आडंबर रचकर राजा को अपना करके उन्होंने श्रीरामजी के लिये तिलक का लग्न निश्चय कर लिया ॥६॥ इस कुल में श्रीरामजी को तिलक होना उचित है, यह सभी को रुचता है और मुझे भी बड़ा अच्छा लगता है ॥७॥ (परन्तु) आगे की बात विचारकर मुझे डर है, वह फल विधाता फिरकर उसी को दे ॥८॥ बहुत-सी कुटिलपन की बातें गढ़कर जमाकर उसने कैकेयी को कपट का प्रकर्ष बोध कराया अर्थात् समझाया-बुझाया और, सैकड़ों सौतों की कथाएँ कहीं, जिस तरह बैर बढ़े ॥१८॥

विशेष—(१) 'रचि प्रपंच भूपहि ……' भरत को अलग भेजवाकर रामजी से सेवा करवा कर उनमें राजा की प्रीति दृढ़ कराई, फिर धर्म का आडंबर बाँधा कि राम ज्येष्ठ हैं, कुल-रीति एवं धर्म-शास्त्र से इन्हें ही राज्य का अधिकार है। आप धर्मात्मा हैं। अतः, उचित कर्त्तव्य करें। भरत के आने पर पत्ता-पत्ती न हो जाय। अतः, चुपके से रामजी को युवराज पद दे दें।

भावीबस प्रतीति उर आई। पूछ रानि पुनि सपथ देवाई ॥१॥
का पूछहु तुम्ह अबहुँ न जाना। निज हित अनहित पसु पहिचाना ॥२॥
भयेउ पाख दिन सजत समाजू। तुम्ह पाई सुधि मोहि सन आजू ॥३॥
खाइय पहिरिय राज तुम्हारे। सत्य कहे नहिं दोष हमारे ॥४॥
जौं असत्य कछु कहब बनाई। तौ बिधि देइहि हमहिं सजाई ॥५॥

अर्थ—होनहार के वश कैकेयी के हृदय में (मंथरा पर) प्रतीति हुई, तब रानी फिर शपथ दिलाकर पूछने लगी ॥१॥ (मंथरा ने कहा) क्या पूछती हो? अहो! तुमने अब भी नहीं जाना? अपना भला-बुरा (मित्र और शत्रु) तो पशु भी पहचान लेते हैं ॥२॥ तिलक की सामग्री सजते पाख (पक्ष = १५) दिन हो गये, और तुमने आज मुझसे सूचना पाई ॥३॥ मैं तुम्हारे राज्य में खाती-पहनती हूँ, (इसलिये) मुझे सत्य कहने में दोष नहीं (लगेगा) ॥४॥ जो मैं कुछ झूठ बनाकर कहूँ तो विधाता मुझे दंड देंगे ॥५॥

विशेष—(१) 'भावीबस प्रतीति······'—प्रथम भावीवश मति का फिरना कहा गया—"तसि मति फिरी अहइ जसि भावी···।" अब उसीसे विश्वास भी होना कहा।

'पुनि सपथ'—वही 'भरत सपथ' जिसकी चर्चा पूर्व में एक बार कर आये हैं।

(२) 'का पूछहु तुम्ह······'—राजा के मन में कपट न होता और वे तुम्हारे हित होते तो इतनी बड़ी तैयारी भी तुमसे छिपा रखते! अर्थात् मैं ही तुम्हारी हितकारिणी हूँ।

(३) 'भयेउ पाख दिन······'—तैयारी तो आज ही से हो रही है, पर आग भड़काने के लिये १५ दिन कह रही है, यह झूठ है, या जितनी तैयारी उसने देखी है, वह उसकी समझ में १५ दिनों से कम में नहीं हो सकती। पाख का अर्थ दो भी हो सकता है, जैसे मुनि से सात का, वेद से चार का और रस से छः का बोध होता है, उसी प्रकार पाख (पक्ष) से भी दो का बोध होता है। पर यहाँ राजा पर एकदम क्रोध जगाने के विचार से एक पखवारा (१५ दिन) ही अर्थ है।

'मोहि सन आजू'—राजा यदि तुम्हारे सुहृद होते तो पहले ही तुमसे स्वयं कहते और १५ दिन हो गये, उन्होंने अभी तक नहीं कहा। कहें क्यों? उन्हें तो चुपके-से कार्य साधना था। मैं न कहती तो तिलक हो भी जाता, तब तुम जानती, फिर क्या कर लेती? इसी में हित-अनहित जान लो। यथा—"बैर प्रेम नहिं दुरइ दुराये।" ···हित-अनहित पसु पंछिउ जाना।······" (दो० ११३)।

(४) 'खाइय पहिरिय राज····· '—ये वचन—'भरत सपथ तोहिं···' एवं—'पुनि सपथ देवाई' के उत्तर में हैं। 'सत्य कहे नहि दोष···' अर्थात् सत्य कहने में भी दोष होता है। यथा—"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥" यह मनु का वाक्य प्रसिद्ध है। अर्थात् सत्य भी प्रिय बोलना चाहिये, अप्रिय हो तो न कहना चाहिये। इसमें कौशल्या का अहित है, पर मैं तो तुम्हारा खाती-पहनती हूँ, तुम्हारे राज्य में हूँ, इस सत्य से तुम्हारा हित होगा। यह मेरी स्वामि-भक्ति है; दोष नहीं। दूसरे की हानि हो, तो हो।

(५) 'जौं असत्य कछु···'—बहुत झूठ भी कह रही है। ब्रह्मा बुद्धि के देवता हैं, शत्रुघ्नजी के

द्वारा दंड देंगे। यथा—"हुमगि लात तकि कूबर मारा।""""लगे घसीटन धरि-धरि झोंटी॥" (दो० १६२)।

रामहि तिलक कालि जौं भयऊ। तुम्ह कहँ बिपति बीज बिधि बयऊ॥६॥
रेख खचाइ कहउँ बल भाखी। भामिनि भइहु दूध कइ माखी॥७॥
जौं सुतसहित करहु सेवकाई। तौ घर रहहु न आन उपाई॥८॥

दोहा—कद्रू बिनतहि दीन्ह दुख, तुम्हहिं कौसिला देब।
भरत बंदि-गृह सेइहहिं, लखन राम के नेब॥१९॥

शब्दार्थ—देब = देंगी। नेब = नायब, सहायक। सेइहहिं = भोगेंगे।

अर्थ—यदि कल श्रीरामजी को तिलक हो गया तो निश्चय है कि ब्रह्मा ने तुम्हारे लिये विपत्ति का बीज बो दिया॥६॥ मैं रेखा खींचकर बल-पूर्वक कहती हूँ कि हे भामिनि! तुम दूध की मक्खी हो जाओगी॥७॥ तब फिर यदि पुत्र सहित सेवा करोगी, तो घर में रह सकेगी, और उपाय से नहीं॥८॥ (जैसे) कद्रू ने विनता को दुःख दिया था, (वैसे ही) कौशल्या तुमको दुःख देंगी, भरतजी बंदीगृह में पड़े रहेंगे और लक्ष्मणजी रामजी के सहायक होंगे॥१९॥

विशेष—(१) 'रामहिं तिलक कालि जौं ······'—'जौं' यह संदिग्ध है, अर्थात् तिलक होने न पावेगी, मैंने उपाय सोच रक्खा है, कदाचित् हो जाय, तो···।

(२) 'रेख खचाइ कहउँ ··'—रेखा खींचकर, वा पत्थर की लीक, इत्यादि मुहावरा है, जिसका भाव है कि यह बात अमिट एवं अखंडनीय है—"पूछेउँ गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँची।" (दो० १०); भामिनि भइहु दूध की 'माखी'—'भामिनि' प्रायः मानवती स्त्री को कहते हैं। भाव यह कि अब तक तुम मानवती रही, अब मान गया, दूध की माखी हो जाओगी। जैसे उजले दूध में पड़ी हुई काली मक्खी दूर से देख पड़ती है और तुरत निकालकर फेंक दी जाती है, फेंकते हुए भी उसके कितने अंग-भंग हो जाते हैं, वैसे सब एक रंग हैं, राम-तिलक की तैयारी में लगे हैं, एक तुम्हीं भिन्न हो, तुम उसी तरह सब की दृष्टि में खटकोगी और उसी तरह निकालकर बाहर की जाओगी।

रात को दूध में पड़ी हुई जीती मक्खी पी जाने से वह विष हो जाती है, वैसे ही स्नेह-रूप दूध में रात को तुम्हारे प्रेम पान द्वारा राजा के प्राण जायँगे—यह सरस्वती की उक्ति गुप्त है।

(३) 'जौं सुत सहित करहु····· '—'जौं' अर्थात् तुमसे सेवा न हो सकेगी, यथा—"नैहर जनम भरब बरु जाई। जियत न करबि सवति सेवकाई॥" (दो० २०); भाव यह कि कौशल्याजी ने तुम्हें अपनी दासी बनाने के लिये ही यह राम-तिलक का प्रपंच रचा है, इसी के अनुकूल यह दृष्टान्त भी देती है।

(४) 'कद्रू बिनतहि दीन्ह दुख····· ' कद्रू-विनता की कथा—ये दोनों कश्यप ऋषि की स्त्रियों में से थीं। कद्रू नागों की और विनता गरुड़ और अरुण की माता थीं। दोनों में उच्चैःश्रवा घोड़े की पूँछ के रंग के विषय में वाद हुआ। कद्रू उसे काली कहती थी और विनता उजली। निदान, यह ठहरा कि जिसकी बात झूठी हो, वह दूसरी की दासी होकर रहे। परीक्षा के समय कद्रू के पुत्र नाग उस घोड़े की पूँछ में जाकर लिपट गये, जिससे वह काली देख पड़ी, इस छल से कद्रू ने विनता को दासी बनाया।

एक समय गरुड़ ने माता विनता से पूछा कि मैं नागों की आज्ञा मानने को क्यों बार-बार विवश किया जाता हूँ। माता ने छल से हराई जाने की बात कह दी। गरुड़ ने नागों से कहा कि अपनी माता को दासीत्व से छुड़ाने के बदले में मैं आप लोगों का कौन-सा काम कर दूँ? उन्होंने कहा, हमें अमृत ला दो। ये माता से आज्ञा ले और माता-पिता से आशिष पा अमृत लेने चले।······देवताओं से युद्ध कर उन्हें हरा अमृत लाकर माता को दासीत्व से छुड़ाया। इन्द्र ने गरुड़ से मित्रता कर ली और नागों के खा जाने का वर दिया। गरुड़ ने जैसे ही अमृत का घड़ा नागों के सामने रक्खा और माता को दासीत्व से छुड़ाया, त्यों ही इन्द्र वह घड़ा उठा ले गये। नागों को पीने को न मिला, नागों ने जैसे छल किया था वैसा ही फल पाया। यह कथा महाभारत आदि पर्व (अ० २०-२७) के अनुसार है।

इस दृष्टान्त से जनाया कि वहाँ तो गरुड़ समर्थ थे। अतः, उन्होंने माता को दासीत्व से छुड़ाया, पर यहाँ तो भरत प्रथम ही जेल में डाल दिये जायँगे। लक्ष्मण 'नायन' होंगे। वे यही सलाह देंगे कि शत्रु को कभी स्वतंत्र न रहने दो। उनके डर से कोई भरत के छुड़ाने की पैरवी भी नहीं कर सकेगा। तब तो तुम्हें आजन्म दासीत्व में ही रहना पड़ेगा।

कैकयसुता सुनत कटु बानी। कहि न सकइ कछु सहमि सुखानी ॥१॥
तनु पसेउ कदली जिमि काँपी। कुबरी दसन जीभ तब चाँपी ॥२॥
कहि कहि कोटिक कपट-कहानी। धीरजु धरहु प्रबोधिसि रानी ॥३॥
कीन्हिसि कठिन पढ़ाइ कुपाठू। फिरि न नवइ जिमि उकठि कुकाठू ॥४॥
फिरा करम प्रिय लागि कुचाली। बकिहि सराहइ मानि मराली ॥५॥

शब्दार्थ—सहमि = डरकर। पसेउ = पसीना। कुपाठ = बुरी बातें। 'पाठ पढ़ाना' मुहावरा है। उकठि कुकाठु = जो बबूल आदि कुत्सित वृक्ष खड़े-खड़े सूखकर ऐंठ जाय, वह काठ किसी तरह भी नहीं झुकाया जा सकता, उसे 'उकठा-कुकाठ' कहते हैं।

अर्थ—कैकेयीजी यह कड़वी वाणी सुनते ही डरकर सूख गईं, कुछ कह नहीं सकतीं ॥१॥ शरीर में पसीना हो आया और वे केले की तरह काँपने लगीं। तब कुबड़ी ने दाँतों तले जीभ दबाई ॥२॥ फिर उसने अनेकों कपट की कहानियाँ कह-कह कर रानी को प्रबोध किया और कहा कि धैर्य धरो ॥३॥ रानी को कुपाठ पढ़ाकर ऐसा कठिन कर दिया जैसे उकठा हुआ कुकाठ फिर नहीं झुकता ॥४॥ रानी का कर्म (भाग्य) फिर गया, इसी से इसे कुचाल (वा, कुचाली मंथरा) प्रिय लगी और यह उस बगुली को हंसिनी मानकर सराहने लगी ॥५॥

विशेष—(१) 'कैकय सुता सुनत कटु······'—जब तक कैकेयीजी की भरतजी के प्रति अनुकूल बुद्धि थी, तब तक ग्रंथकार उसे 'भरत मातु' कहते आये, अब वह मंथरा के अनुकूल हुई, मंथरा कैकय देश की है और अवधवासियों के प्रतिकूल है, इससे कैकय राज-सम्बन्धी नाम देने लगे। 'कटु बानी'—पुत्र के साथ तुम्हें कौशल्याजी की सेवा करनी होगी। कौशल्याजी दुःख देंगी, भरत बंदी गृह में डाले जायँगे, ये सब कटु वचन हैं और भयंकर; इसीसे रानी डरी।

(२) 'दसन जीभ तब चाँपी'—डर के मारे रानी पवन लगने से केले की तरह काँप उठी, पसीना चल पड़ा, इसपर मंथरा ने दाँतों तले जीभ दबाई, इसका भाव—अरे, क्या आश्चर्य हो

गया! मंथरा डर गई कि कहीं रानी रो उठे, तो लोग दौड़ पड़ें और मेरा भंडा फूटे, अथवा इसके प्राण ही न निकल जायँ। इस मुद्रा से कैकेयीजी को भी सावधान करती है कि अभी किसी तरह बात प्रकट होने से काम बिगड़ जायगा।

(३) 'कहि-कहि कोटिक···'—धैर्य धरने के लिये समझाया और उदाहरण के रूप में बहुत-सी कपट की कहानियाँ कहीं कि अमुक-अमुक ने धैर्य किया तब उनके काम बने और अमुक-अमुक अधीर हो गये, तब उनके काम बिगड़े। मैं सब काम सुधार लूँगी।

(४) 'कीन्हेसि कठिन पढ़ाइ···'—पाठ पढ़ाना' मुहावरा है, इसका अर्थ है कि अपने स्वार्थ के अनुकूल किसी को बहकाना। दृढ़ कर दिया कि जिससे राजा के समझाने से नम्र न हो और भेद न खोल दे, नहीं तो मेरे प्राण जायँगे। पुनः अभीष्ट भी सिद्ध न होगा। उकठा हुआ काष्ठ जल में भिगाने से तथा आँच दिखाने से भी नहीं झुकता, वैसे ही यह रानी राजा एवं सखियों की विनती एवं शिक्षा से न दया करेगी और न वसिष्ठ आदि के शापभय से ही नम्र होगी।

(५) 'फिरा करम प्रिय लागि···'—पहले बुद्धि फिरी—'बसि मति फिरी अहइ'···' अब 'करम फिरा' अर्थात् भाग्य भी फिरा, तभी कुचाल प्रिय लगी। 'फिरा करम' यह कर्म, 'प्रिय लागि कुचाली' यह मन और 'बकिहिं सराहइ' यह वचन है; अर्थात् रानी मन, वचन, कर्म इन तीनों से नष्ट हुई।

'मानि मराली'—वह हिंसा रत होने से बकी है, पर रानी उसे हंसिनी की तरह विवेकिनी कहकर सराहती है कि तू बड़ी सूक्ष्म-दर्शिनी है कि सबके कपट को भाँप लिया, इत्यादि।

सुनु मंथरा बात फुरि तोरी। दहिनि आँखि नित फरकइ मोरी ॥६॥
दिन प्रति देखहुँ राति कुसपने। कहउँ न तोहि मोहबस अपने ॥७॥
काह करउँ सखि सूध सुभाऊ। दाहिन बाम न जानउँ काऊ ॥८॥

दोहा—अपने चलत न आज लगि, अनभल काहुक कीन्ह।
केहि अघ एकहि बार मोहि, दैव दुसंह दुख दीन्ह ॥२०॥

अर्थ—(कैकेयी ने कहा) ऐ मन्थरा! सुन, तेरी बात सत्य है, मेरी दाहिनी आँख नित्य ही फड़कती है ॥६॥ मैं प्रत्येक दिन रात में कुत्सित स्वप्न देखती हूँ, पर अपने अज्ञानवश तुमसे नहीं कहती ॥७॥ हे सखी! मैं क्या करूँ? मेरा सीधा स्वभाव है, इसीसे मैंने कभी किसी को दाहिना बायाँ (हित-अहित) नहीं जाना ॥८॥ मैंने अपनी चलती में आज तक किसी का अहित नहीं किया, न जाने किस पाप से ब्रह्मा ने मुझे एक बार ही यह असह्य दुःख दिया ॥२०॥

विशेष—(१) 'कुसपने'—पति से रहित और पुत्र से विमुख होने के लिये कुत्सित स्वप्न सत्य-सत्य हो रहे हैं, और दाहिनी आँख भी फड़कती है, पर ये अज्ञान से उसका कारण राम तिलक मान रही हैं। स्त्री का दाहिना अंग फड़कना अशुभ है। 'मोहबस अपने' अर्थात् अपने अज्ञानवश, अज्ञान यह कि आँख बात आदि कारण से फड़कती होगी, स्वप्न झूठे होंगे। अतः, अमंगल की कल्पना क्यों करूँ?

(२) 'काह करउँ सखि सूध···'—मंथरा ने कहा था—'रावर सरल सुभाउ' और 'निज हित

अनहित पसु पहिचाना' उन्हीं बातों को प्रमाणित करती हुई कहती हैं कि मेरा सूधा स्वभाव है, मैं दाहिना-बायाँ (हित-अहित) किसी को न जाना, भाव, अपनी तरह सबको निष्कपट शुद्ध स्वभाव जानती रही।

(३) 'अपने चलत न आज...'—राजा इनके वश थे, इससे इनका पूर्ण अधिकार था, उस अपनी चलती को कह रही हैं। 'दुसह दुख'—सवति की अधीनता एवं उसकी सेवा करना।

नैहर जनम भरब बरु जाई। जियत न करबि सवति-सेवकाई ॥१॥
अरिबस दैव जियावत जाही। मरन नीक तेहि जीवन चाही ॥२॥
दीन बचन कह बहु बिधि रानी। सुनि कुबरी तिय-माया ठानी ॥३॥
अस कस कहहु मानि मन ऊना। सुख सोहाग तुम्ह कहँ दिन दूना ॥४॥
जेहि राउर अति अनभल ताका। सोइ पाइहि यह फल परिपाका ॥५॥

शब्दार्थ—भरब = बिताऊँगी, गँवाऊँगी। बरु = भले ही। ठानी = की, फैलाया। ऊना = न्यूनता, हीनता।

अर्थ—मैं नैहर में भले ही जाकर जन्म के दिन बिताऊँगी, पर जीते जी सौत की सेवकाई न करूँगी ॥१॥ विधाता जिसे शत्रु के वश करके जिलाता है, उसके जीने से बढ़कर मरना भला है (वा, उसे जीना न चाहिये) ॥२॥ रानी ने बहुत तरह के दीन वचन कहे, सुनकर कुबड़ी ने त्रिया-चरित्र फैलाया ॥३॥ (और बोली कि मन में हीनता मानकर ऐसा कैसे कहती हो ? तुम्हें सुख-सोहाग दिन-दूना होगा ॥४॥ जिसने आपका ऐसा अनभल सोचा है, वही इसका परिपक्व फल भोगेगा ॥५॥

विशेष—(१) 'नैहर जनम भरब...'—'भरब' अर्थात् जन्म का सुख रूप फल तो गया, अब केवल दिन काटना है, क्योंकि नैहर में ससुराल का-सा सुख एवं अधिकार कहाँ ? वहाँ तो भावज आदि वचन मारेंगी। यह—'जौ सुत सहित करहु सेवकाई।' का उत्तर है। 'जीवन चाही' अर्थात् जीवन से बढ़कर, यथा—"कहँ धनु कुलिसहुँ चाहि कठोरा।" (बा० दो० २५७); देखिये। यह अव्यय बँगला भाषा का है। इसका शुद्ध रूप 'चाहिया' है जिसका अर्थ है 'अपेक्षा' या 'बढ़कर।'

'तिय-माया ठानी'—त्रिया-चरित्र यह है कि स्त्रियाँ आँचल उठाकर शत्रु को शाप देती हुई कोशती (कोसती) हैं। वैसी ही मुद्रा करके आगे के वचन कहती है—

(२) 'अस कस कहहु...'—सीधा अर्थ कहा गया, उसपर सरस्वती की सत्य वाणी सिद्धि के लिये विविध प्रकार के अर्थ किये जाते हैं; पर उनकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह त्रिया-चरित्र अर्थात् स्त्रियों की माया है। अतः, सब वचन सरासर झूठ हैं। 'दिन-दूना' पर कहा जाता है कि दो दिन भी नहीं; अर्थात् बस, आज ही भर है, वा 'दिन' अर्थात् भोर होते-होते ही (सुख-सोहाग) दोनों न रहेंगे, इत्यादि अर्थ केवल वाग्विलास हैं।

(३) 'जेहि राउर अति...'—जो तुम्हारे लिये गढ़ा खोदा, वह स्वयं उसमें पड़ेगा। यथा—"जो-जो कूप खनै गो पर को सोइ पामर तेहि कूप परै" (वि० १३७)।

जब ते कुमत सुना मैं स्वामिनि। भूख न बासर नींद न जामिनि ॥६॥
पूछेउँ गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँची। भरत भुआल होहिं येहु साँची ॥७॥
भामिनि करहु त कहउँ उपाऊ। है तुम्हरी सेवा-बस राऊ ॥८॥

दोहा—परउँ कूप तुअ बचन पर, सकउँ पूत पति त्यागि।
कहसि मोर दुख देखि बड़, कस न करब हित लागि ॥२१॥

अर्थ—हे स्वामिनि ! जबसे मैंने यह कुमत सुना है, तबसे न दिन में भूख लगती है और न रात में नींद ही आती है ॥६॥ मैंने गुणियों (गणकों, ज्योतिषियों) से पूछा, तो उन्होंने दृढ़ता पूर्वक कहा कि भरत भुआल (राजा) होंगे, यह सत्य है ॥७॥ हे भामिनि ! आप कहें तो मैं उपाय कहूँ। राजा आपकी सेवा से आपके वश में हैं ॥८॥ (रानी ने कहा)—मैं तेरे कहने पर कुँए में गिर सकती हूँ और अपने पुत्र और पति को भी त्याग सकती हूँ। तू मेरा बड़ा दुःख देखकर कह रही है, (फिर भला) अपने हित के लिये उसे क्यों न करूँगी ॥२१॥

विशेष—(१) 'भूख न बासर नींद न···'—इसे सुने हुए अभी कुछ ही घड़ियाँ हुईं, तब ये सब वचन कैसे सत्य होंगे ? दिन के ही घंटे दो घंटे बीते हैं, यामिनी (रात) तो आई ही नहीं। त्रिया-चरित्र रूपी माया में सब बातें युक्त हैं। 'पूछेउँ गुनिन्ह ·'—अयोध्या में राम-विमुख ज्योतिषी कोई नहीं है और न यह कहीं पूछने ही गई, तिलक सुनते ही तो आग-बबूला होकर यहाँ दौड़ी आई। अतः, 'भरत भुआल' होना भी झूठा ही है। इसपर भी कहा जाता है कि 'भू' (पृथिवी) 'आल' (आलयवाले)= नंदिग्राम में भूमि खोदकर रहेंगे, यह सत्य है।

(२) 'परउँ कूप तुअ···'—ऊपर त्रिया-चरित्र से कौशल्या को शाप और कैकयी को आशिष दे चुकी, (इस तरह रानी को धैर्य दिया) अब आगे के लिये कर्तव्य कहती है, किन्तु पहले वचनबद्ध करा लेती है कि जिससे कहे हुए उपाय व्यर्थ न जायँ। प्रथम 'भामिनि' संबोधन से ध्वनित कर दिया है कि तुम मानवती हो, मान-लीला से ही काम बनेगा। रानी उसके लिये कहती है—'किसी के कहने से कुँए में गिरना' यह मुहावरा है, भाव यह कि प्राण तक दे सकती हूँ, रानी ने प्राण से कम पुत्र और उससे कम पति का प्रेम माना है, वैसे ही वे क्रमशः कह रही हैं। यद्यपि ये वचन कटिबद्ध होने के सूचक कहे गये हैं, पर कैकेयी में यथार्थ घटित होंगे। मंथरा के कहने पर कोप-भवन में जाना और अपयश होना, कुँए में गिरना और मरना है, पति और पुत्र ने भी आगे त्याग ही दिये हैं। यथा—"कैकेयि···केवलार्थपरां हित्वां त्यक्तधर्मोत्यजाम्यहम् ॥" (वाल्मी० २।१२।६-७)—यह राजा के त्यागने का प्रमाण है, तथा—"तब्यो···भरत महतारी।" (वि० १७४); "कैकई जब लौं जियत रही। तब लौं बात मातु सों मुँह भरि कबहुँ न भरत कही॥" (गी० उ० ३७)। यह पुत्र भरतजी के त्यागने का प्रमाण है।

कुबरी करि कबुली कैकेई। कपट-छुरी उर-पाहन टेई ॥१॥
लखइ न रानि निकट दुख कैसे। चरइ हरित तृन बलिपसु जैसे ॥२॥
सुनत बात मृदु अंत कठोरी। देति मनहु मधु माहुर घोरी ॥३॥

शब्दार्थ—करि = कसाइन, गोमरी—(वररुचि कोश); वा, करके। कबुली = कबूली हुई, मनौती मानी हुई बलि, राजी किया हुआ बलिपशु। टेई = तेज करती, पईंटती। बलिपसु = देवी को माना हुआ पशु।

अर्थ—कसाइन कुबड़ी मंथरा ने कैकयी को मनौती मानी हुई (बलि पशु) करके कपट-रूपी छूरी को हृदय-रूपी पत्थर पर तेज करती है ॥१॥ पर, रानी अपने निकट के (भावी) दुःख को इस तरह नहीं

देखती है कि जैसे बलि-पशु हरी घास चरता है (पर यह नहीं जानता कि अभी ही उसका बलिदान रूप में वध होगा) ॥२॥ उसकी बातें सुनने में तो कोमल हैं, पर वे कठोर परिणामवाली हैं, मानों वह शहद में विष को घोलकर इसे दे रही है ॥३॥

विशेष—'कुबरी करि कबुली···'—'करि' शब्द श्लेषार्थी है। 'कसाइन' अर्थ से 'कुबरी' का विशेषण है और दूसरा 'करके' यह क्रियात्मक अर्थ भी है। 'कबुली' के साथ 'बलिपसु' भी अध्याहार से आवेगा, आगे स्पष्ट भी लिखा है। 'कबुली' का भाव—'परउँ कूप···' इस दोहा के अर्थ में है। कपट-उपदेश छूरी है और हृदय में उसका विचार करना देखना है। यह कैकेयीजी को नहीं सूझता है कि इस उपदेश से यह मेरा नाश करेगी। भरत-राज के सुख का अनुभव हरी घास का चरना है, वह इसी में मग्न है। यहाँ पर आशा देवी है, यथा—"तुलसी अदभुत देवता, आसा देवी नाम। सेये सोक समरपई, बिमुख भये अभिराम ॥" (दोहावली २५८); बलिदान में मृत्यु होती है, वैसे इसे अपयश होगा, यही मृत्यु है, यथा—"संभावित कहँ अपयश लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू ॥" (दो० ९४); 'निकट'—देखने भर की देर है, कोप साज सजते ही बलि का कार्य प्रारम्भ हो जायगा। मंथरा का निष्ठुर हृदय पाषाण है। 'मधु माहुर'—कोमल वाणी 'मधु' और विषवत् उपदेश 'माहुर' है।

कहइ चेरि सुधि अहइ कि नाहीं। स्वामिनि कहिहु कथा मोहि पाहीं ॥४॥
दुइ बरदान भूप सन थाती। माँगहु आज जुड़ावहु छाती ॥५॥
सुतहि राज रामहिं बनवासू। देहु लेहु सब सवति हुलासू ॥६॥
भूपति राम-सपथ जब करई। तब माँगेहु जेहि बचन न टरई ॥७॥
होइ अकाज आज निसि बीते। बचन मोर प्रिय मानहु जीते ॥८॥

दोहा—बड़ कुघात करि पातकिनि, कहेसि कोप-गृह जाहु।
काज सँवारेहु सजग सब, सहसा जनि पतियाहु ॥२२॥

शब्दार्थ—थाती = धरोहर, अमानत। 'छाती जुड़ाना' मुहावरा है, चित्त प्रसन्न करने का। कोपगृह = कोप-भवन, जिसमें रानियाँ मान करने पर जा पड़ती हैं, यह शयनागार के पास रहता है, इसकी सजावट भी कोप प्रकट करने के योग्य ही होती है। सहसा = एकाएक। पतियाहु (सं० प्रत्ययन) = प्रतीति करो वा कर लेना।

अर्थ—चेरी मंथरा कहती है कि हे स्वामिनि ! आपको स्मरण है कि नहीं ? जो आपने एक कथा मुझसे कही थी ॥४॥ अपने धरोहरवाले दो वरदान राजा से आज माँग लो और अपनी छाती ठंढी करो ॥५॥ पुत्र को राज्य और राम को वनवास दो और सौतों का सब आनंदोल्लास ले लो ॥६॥ राजा जब रामजी को सौगंध कर लें तब वर माँगना, जिसमें वचन न टले ॥७॥ आज की रात बीत जाने से कार्य बिगड़ जायगा, मेरी बात प्राणों से भी प्रिय मानना ॥८॥ उस पापिनी मंथरा ने कैकेयी पर बुरी घात लगाकर उससे कहा कि कोप-भवन में जाओ, एकाएक (बिना राम-शपथ के) राजा पर विश्वास न कर लेना (अन्यथा वे इनकार कर देंगे) ॥२२॥

विशेष—(१) 'दुइ बरदान भूप'''—'थाती' प्रथम धरोहर को स्मरण कराना, तब माँगना। 'माँगहु आज'''—आज ही भर उसका मिलने का समय है, राम-तिलक हो जाने पर फिर न हो सकेगा। 'जुड़ावहु छाती'—क्योंकि—"कैकय सुता हृदय अति दाहू।" (दो० २१); दुइ बरदान—"दक्षिण दिशा के दंडक वन में वैजयन्त नाम का नगर है, जहाँ तिमि ध्वज (संवर) नाम का असुर रहता था, वह बड़ा वीर एवं मायावी था। देवताओं से पराजित न होकर इन्द्र से लड़ने को तैयार हुआ। इन्द्र ने राजा दशरथ से सहायता माँगी, वहाँ घोर युद्ध हुआ, राजा घायल हुए और बेहोश हो गये। उस समय सारथी बनकर तुम उनको रणभूमि से दूर ले गई (क्योंकि तुम साथ गई थी) और घायल पति की रक्षा की। उस समय प्रसन्न होकर राजा ने तुम्हें दो वर देने को कहा। तुमने कहा कि जब चाहूँगी, माँग लूँगी, महात्मा राजा ने भी तुम्हारी बात मान ली। हे देवि, यह तुम्हीं ने हमसे कहा था।" (वाल्मी० २।९।११-१८)।

(२) 'सुतहि राज रामहिं'''—पहले श्रीभरतजी के लिये राज्य माँगकर तब श्रीरामजी के लिये वनवास माँगना, नहीं तो श्री रामजी के वनवास की बात सुनते ही राजा मूर्च्छित हो जायँगे, तब दूसरा वर कौन देगा ? श्रीरामजी के वन जाने से सौतों का आनन्दोल्लास सब चला जायगा। पुनः श्रीरामजी के यहाँ रहने पर प्रजा बहुत उनके पक्ष में होकर भरत-राज में बाधक होगी, इसलिये उन्हें वन भेजने को कहा।

(३) 'भूपति राम-सपथ जब'''—'जब' अर्थात् वे राम-शपथ शीघ्र न करेंगे, क्योंकि राम उन्हें प्राण-प्रिय हैं, यथा—"तेहि पर राम-सपथ करि आई। सुकृत सनेह अवधि रघुराई॥" (दो० २७); इसमें 'करि आई' अर्थात् भावी वश मुख से कही गई, नहीं तो—"राम-सपथ मैं कीन्ह न काऊ।" (दो० २८२); 'तब माँगेहु'-शपथ किये बिना मौन ही रहना।

(४) 'होइ अकाज आज'' '—तुमको—'नींद बहुत प्रिय'' ' है, ऐसा न हो कि कहीं सो जाओ। 'बचन मोर प्रिय'''—प्रथम राम-तिलक के विषय में कहा था कि—'तोर कहा फुर जेहि दिन होई।' अर्थात् उस वचन के फुर होने में संदेह था, वैसा इस वचन को न समझना, किंतु प्राणों से भी अधिक प्रिय समझकर इसकी रक्षा करना; अर्थात् इसके अनुसार ही चलना। अथवा पूर्व की तरह मुझे 'घरफोरी' न मान लेना जिससे मेरे वचन व्यर्थ हो जायँगे।

(५) 'बड़ कुघात करि पातकिनि'''—पापिनी है, क्योंकि इसने अपने अन्नदाता पर ही बुरा घात किया है। कोप-भवन में जाने को कहा, जिससे राजा स्वयं वहाँ जायँ और प्रसन्न करने की चेष्टा करें, तब थाती का स्मरण कराना एवं वर माँगना ठीक होगा। 'सहसा जनि पतियाहु' क्योंकि राजा कपट में चतुर हैं, यथा-"लखहु न भूप कपट चतुराई।" (दो० १२)। अतएव कार्य की पूर्णता बिना शीघ्र विश्वास न कर लेना।

कुबरिहि रानि प्रानप्रिय जानी। बार बार बड़ि बुद्धि बखानी॥१॥
तोहि सम हित न मोर संसारा। बहे जात कइ भइसि अधारा॥२॥
जौं बिधि पुरब मनोरथ काली। करउँ तोहि चखपूतरि आली॥३॥
बहु बिधि चेरिहि आदरु देई। कोप-भवन गवनी कैकेई॥४॥

शब्दार्थ—चखपूतरि=आँख की पुतली, आँख की पुतली की तरह अति प्रिय मानकर रक्षा करना। यथा—"राखेहु नयन पलक की नाईं।" (बा० दो० ३५७); "नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई।" (दो० ५८)।

अर्थ—कुबड़ी मन्थरा को रानी ने प्राणप्रिय समझकर बार-बार उसकी बड़ी बुद्धि का बखान

किया ॥१॥ कि तेरे समान मेरा कोई भी हितैषी संसार में नहीं है, तू मुझ बही जाती हुई को अधार हुई ॥२॥ यदि विधाता कल मेरा मनोरथ पूरा करें, तो हे सखी ! मैं तुझे अपने आँख की पुतली करूँगी ॥३॥ (इस तरह) बहुत प्रकार से चेरी का आदर करके कैकेयी कोप-भवन को गई ॥४॥

विशेष—(१) 'तोहि सम हित न मोर···' यथा—"त्वमेव तु ममार्थेषु नित्ययुक्ता हितैषिणी ॥" (वाल्मी० २।९।२१)।

(२) 'बहे जात कइ भइसि अधारा'—सौतों के ईर्ष्या एवं कपट बर्ताव रूपी नदी में पड़कर मैं विपत्ति सागर को बही जाती थी, तूने ही हाथ पकड़ कर बचाया। बहते हुए को तृण का सहारा भी बहुत कहा जाता है, तू तो सम्यक् आधार हुई। कहा भी है—"तुलसी तृन जल कूल को, निरबल निपट निकाज। कै राखै, कै सँग चलै, बाँह गहे की लाज ॥" (दोहावली ५२२)। तृण की तरह तू भी यद्यपि कोई विशेष पदवाली न थी, पर तो भी तूने ही मुझे बचाया।

(३) 'करउँ तोहि चखपूतरि···'—मनोरथ तो बुरी तरह से पूरा हुआ, उसी तरह मंथरा चख-पूतरि भी बनाई गई। आँख की पुतली काली होती है, वैसे इसके मुख में कालिख लगा।

(४) 'बहु बिधि चेरिहि···'—आदर देना, यथा—"कैकेयी विस्मयं प्राप्य परं परमदर्शना" से "पादौ परिचरिष्यन्ति यथैव त्वं सदा मम ॥" (वाल्मी० २।९।२७—५१)। आदर देना कृतज्ञता रूप में है, यह भी हेतु है कि जिससे यह मंत्र अभी गुप्त रक्खे, जब तक कि कार्य-सिद्धि न हो। नीच के आदर करने का दुःखद फल होता है, वही इन्हें मिलेगा।

बिपति बीज बरषारितु चेरी। भुइँ भइ कुमति कैकइ केरी ॥५॥
पाइ कपट-जल अंकुर जामा। बर-दोउ दल दुख फल परिनामा ॥६॥
कोप-समाज साजि सब सोई। राज करत निज कुमति बिगोई ॥७॥
राउर नगर कोलाहल होई। यह कुचालि कछु जान न कोई ॥८॥

दोहा—प्रमुदित पुरनर-नारि सब, सजहिं सुमंगल चार।
एक प्रबिसहिं एक निर्गमहिं, भीर भूप दरबार ॥२३॥

शब्दार्थ—बिगोई = बिगड़ गई, नष्ट हुई। राउर (सं०—राजपुर) = अंतःपुर, राजमहल, रावल। यथा—"गे सुमंत्र तब राउर माँहीं।" (दो० ३७); यह बदपुर की बोली है। सुमंगल चार = ध्वजा, पताका, कलश, चौक मंगल गान, दधि-दूर्वादि सब मंगल साज। चार = रीति। निरगमहिं (निर्गमन) = बाहर निकलते हैं। दरबार = राजद्वार जहाँ ड्योढ़ी लगती है। देखिये बा० दो० २०६।

अर्थ—विपत्ति बीज है, दासी (मंथरा) वर्षा ऋतु है, कैकेयी की दुर्बुद्धि (उस बीज के उगने के लिये) भूमि हुई ॥५॥ कपट रूपी जल पाकर अंकुर जमा (उगा) है, दोनों वर उस अंकुर के दोनों दल हैं, परिणाम (अंत) में जो दुःख होनेवाला है, वही इसका फल है ॥६॥ कैकेयी कोप का सब साज सजकर (कोप-भवन में) लेट गई, राज्य करते हुए अपनी दुर्बुद्धि से स्वयं नष्ट हुई ॥७॥ राजमहल और नगर में (उत्सव का) कोलाहल मच रहा है, इस कुचाल को कोई कुछ भी नहीं जानता ॥८॥ प्रकर्ष आनंद पूर्वक नगर के

सब स्त्री-पुरुष सुन्दर मांगलिक साज सज रहे हैं, कोई भीतर जाते हैं और कोई बाहर आते हैं, राजद्वार पर बड़ी भीड़ है ॥२३॥

विशेष—'बिपति बीज···पाइ कपट···'—यहाँ वृक्ष का सांग रूपक है। यह विपत्ति-रूप बीज कैकेयी की दुर्बुद्धि रूपी भूमि में बोया गया। कुमति से विपत्ति होती ही है, यथा—"जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना।" (सुं० दो० ३६)। चेरी वर्षा ऋतु हुई, क्योंकि इसी के वचन रूपी बूँदों से कपट रूपी जल की वर्षा हुई। तब कैकेयी की कुमति-भूमि में वर-माँगने का मनोरथ रूपी अंकुर जमा, जमा तो; पर अभी कुमति रूपी भूमि में ही गुप्त है। इसीसे दिव्य-चक्षु कवि ने भी अंकुर का उपमेय नहीं खोला है। जब वचन द्वारा दोनों वर प्रकट कहेगी, तब वे दो दल रूप में देखे भी जायँगे। अतः, दोनों दल कहे गये। बीज और फल का एक ही तत्व होता है, वैसे ही यहाँ विपत्ति और दुःख भी एक पर्याय है। यह भी कहा जाता है कि जो विपत्ति प्रथम श्रवण के शाप द्वारा बीज रूप में पड़ी थी, वही बीज कर्म-प्रवर्त्तक ब्रह्मा की शक्ति के द्वारा बोया गया। उस शाप का परिणाम रूप फल दुःख मुख्यतया राजा पर पड़ा, फिर साथ ही उनका शरीर-रूप प्रजा-समूह भी पीड़ित हुआ।

(२) 'सोई' अर्थात् लेट गई, यथा—"भूमि-सयन पट मोट पुराना।" (दो० २४); पुनः आगे—"बिहँसि उठी मतिमंद" (दो० २६); भी कहा है। 'राज करत', यथा—"प्रिया प्रान सुत सरबस मोरे। परिजन प्रजा सकल बस तोरे॥" (दो० २५)।

(३) 'राउर नगर कोलाहल···'—नगर के आनन्द कोलाहल का प्रसंग—"सकल कहहिं कब होइहि काली।" (दो० १०) से छूटा था। बीच में सरस्वती का आना एवं मंथरा-कैकेयी-संवाद कहा गया। अब वही पूर्ववाला नगर का प्रसंग फिर कहते हैं कि सब उसी आनन्द में डूबे हैं 'जानन कोई' अर्थात् वसिष्ट, आदि ने भी न जाना, नहीं तो उपाय कर लेते।

(४) 'प्रमुदित पुर-नर···'—मुदित तो प्रथम ही थे, यथा—"सब बिधि सब पुर लोग सुखारी।" (दो० १)। अब राम-तिलक सुनकर प्रमुदित हैं। 'एक' अर्थात् ऐसी भीड़ है कि दो आदमी एक साथ नहीं आ जा सकते। एक-एक करके (अलग-अलग होकर) ही आते जाते हैं। यों भी अर्थ कहा जाता है कि दरबार में राजाओं की भीड़ है, जो एक-एक करके आते जाते हैं। "शीघ्रता के कारण कैकय-नरेश और जनक महाराज को न बुला सके थे, शेष सब पृथिवी के राजा लोगों को चक्रवर्तीजी ने बुलाया भी था।" (वाल्मी० २।१।४५-४७)। उन्हीं राजाओं की भीड़ है।

बाल-सखा सुनि हिय हरषाहीं। मिलि दस पाँच राम पहिं जाहीं ॥१॥
प्रभु आदरहिं प्रेम पहिचानी। पूछहिं कुसल खेम मृदु बानी ॥२॥
फिरहिं भवन प्रिय आयसु पाई। करत परस्पर राम-बड़ाई ॥३॥
को रघुबीर-सरिस संसारा। सील सनेह निबाहनिहारा ॥४॥

शब्दार्थ—दस पाँच = कई मिलकर, अकेले-दुकेले नहीं। कुसलखेम (कुशल क्षेम) = कुशल-मंगल, राजी-खुशी। कुशल और क्षेम का एक ही अर्थ है, पर दोनों साथ कहने का मुहावरा है।

अर्थ—(श्रीरामजी के) बाल-सखा (राज्याभिषेक) सुनकर हृदय में प्रसन्न होते हैं और दश-पाँच मिल-मिल कर श्रीरामजी के पास जाते हैं ॥१॥ प्रभु श्रीरामजी उनके प्रेम को पहचान कर उनका

आदर करते हैं और कोमल वाणी से उनका कुशलक्षेम पूछते हैं ॥२॥ प्रिय (श्रीरामजी) की आज्ञा पाकर घर को लौटते हैं, (मार्ग में वे) श्रीरामजी की बड़ाई एक दूसरे से करते हुए जाते हैं ॥३॥ कि श्रीरघुनाथजी के समान संसार में शील-स्नेह का निर्वाह करनेवाला कौन है ? ॥४॥

विशेष—(१) 'प्रभु आदरहिं प्रेम···'—आगे से उठकर लेना आदर है, यह कर्म है, प्रेम पहचानना मन से है। और कुशलक्षेम पूछना वचन से है। इस तरह मन, वचन, कर्म तीनों से आदर करना जनाया। 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं, पुनः प्रभुता भी पा रहे हैं, फिर भी किंचित् मद नहीं है, पूर्व की तरह शील-स्नेह का निर्वाह करते हैं, इसी गंभीरता को सराहते जाते हैं। यह गुण दुर्लभ है। यथा—"नहिं कोउ अस जनमा जग माहीं। प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं॥" (बा० दो० ५९)। 'प्रिय आयसु पाई'—सखा लोग स्वतः फिरना नहीं चाहते; पर श्रीरामजी अपनी ओर से बार-बार कहते हैं तब अपने प्रिय की आज्ञा पालन करते हुए फिरते हैं। इस तरह सखाओं का प्रेम दिखाया गया, यथा—"कहि बातें मृदु मधुर सुहाई। किये बिदा बालक बरिआई (बा० दो० २२४)। 'सील सनेह···'—शील नेत्रों का व्यवहार है। अतः, बाहर का धर्म हुआ और स्नेह अंतःकरण का धर्म है; अर्थात् भीतर-बाहर दोनों की सराहना करते हैं। इसी स्वभाव पर रीझकर वे आगे भक्ति माँगते हैं—

जेहि जेहि जोनि करम बस भ्रमहीं। तहँ तहँ ईसु देउ यह हमहीं ॥५॥
सेवक हम स्वामी सिय-नाहू। होउ नात यह ओर निबाहू ॥६॥
अस अभिलाष नगर सब काहू। कैकय-सुता-हृदय अति दाहू ॥७॥
को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मते चतुराई ॥८॥

दोहा—साँझ समय सानंद नृप, गयेउ कैकई-गेह।
गवन निठुरता निकट किय, जनु धरि देह सनेह ॥२४॥

शब्दार्थ—ओर = ओर-छोर, अंत तक। ईस = शिवजी, विधाता। मते = मत में पड़ने से।

अर्थ—हे ईश ! हम अपने कर्मवश जिस-जिस योनि में जन्म लें उस-उस योनि में हमको यही दीजिये ॥५॥ कि हम सेवक हों और सीतापति श्रीरामजी हमारे स्वामी हों, और इसी नाते में अंत तक निर्वाह हो जाय ॥६॥ सब किसी के हृदय में ऐसी अभिलाषा है, (परन्तु) कैकेयी के हृदय में अत्यन्त जलन हो रही है ॥७॥ कुसंगति में पड़कर कौन नहीं नष्ट होता ? नीच के मत में पड़ने से चतुरता नहीं रह जाती ॥८॥ संध्या समय राजा दशरथ आनंद-पूर्वक कैकेयी के महल में गये, मानों निष्ठुरता के समीप साक्षात् स्नेह देह धरकर गया ॥२४॥

विशेष—(१) 'जेहि जेहि जोनि ···'—'जेहि जोनि' से योनि का नियम नहीं, 'तहँ-तहँ' से स्थल का भी। अर्थात् चाहे किसी भी योनि में और कहीं भी कर्मवश जन्म हो। ये मुक्ति आदि नहीं चाहते, केवल भक्ति चाहते हैं। यथा—"अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुकुति निरादर भगति लुभाने॥" (उ० दो० ११८); तथा—"मो को अगम, सुगम तुम्ह को प्रभु ! तउ फल चारि न चहिहौं॥ खेलिबे को खग मृग तरु किंकर है रावरो राम हौं रहिहौं। यहि नाते नरकहुँ सचु पैहौं, या बिनु परम पदहुँ दुख दहिहौं॥" (वि० २३१)। 'ईस' अर्थात् शिवजी, क्योंकि ये राम-भक्ति के दाता हैं,

"संकर भजन बिना नर, भगति न पावै मोरि।" (उ० दो० ४५)। 'सिय नाहू' का भाव यह कि श्रीसीताजी का जैसे पति में अनन्य भाव है, वैसी ही सर्वात्मना अनन्यता मुझमें भी हो। यथा—"मन-क्रम बचन राम-पद-सेवक। सपनेहुँ आन भरोस न देवक॥" (आ० दो० १)। 'होउ नात'—क्योंकि—"मानउँ एक भगति कर नाता॥" (आ० दो० ३४) यह श्रीमुख वचन है। 'यहि ओर' का दूसरा भाव भी है कि जैसे श्रीरामजी निबाहते हैं, वैसे इस (मेरी) ओर से भी निबहे।

इन सखाओं की इस प्रार्थना से स्पष्ट है कि सख्य-भाव में भी सेवक-स्वामी का नाता और सेवा करना होता है। यथा—"लोकनाथस्य रामस्य सखा दासोऽस्मि राक्षस।" (वाल्मी ६।४०।१०)। यह सख्य भाववाले सुग्रीव का वचन रावण से है।

(२) 'कैकय-सुता-हृदय······'—'सब काहू' से पृथक् उत्तरार्द्ध में कैकेयी को कहा, अवधवासियों से पृथक् किया, उसका नाम भी कैकय देश सम्बन्धी दिया।

(३) 'को न कुसंगति पाइ······'—कैकेयी के पतन का कारण नीति की दृष्टि से कवि कहते हैं। यथा—"संत संत अपवर्ग कर, कामी भवकर पंथ।" (उ० दो० ३३)। सुसंग-कुसंग का प्रसंग विस्तार सहित बा० दो० १ से ७ तक में कहा गया है। यहाँ कैकेयीजी भी नीच की संगति एवं सलाह से नष्ट हुईं। इससे प्रथम ये बुद्धिमती थीं और श्रीरामजी को प्राण-समान प्रिय माननेवाली थीं। तब और कौन है, जो कुसंग से नष्ट न हो?

(४) 'साँझ समय सानंद ·····'—निष्ठुरता के पास जाने से स्नेह का नाश होता है, वैसे ही राजा का भी नाश होगा। क्योंकि निष्ठुरता तलवार की धार के समान है। यथा—"मूठि कुबुद्धि धार निठुराई।" (दो० ३०)।

राजा कैकेयी के महल में आज सन्ध्या समय को क्यों गये? उत्तर—श्रीराम-राज्याभिषेक का प्रिय संवाद स्वयं प्रथम इन्हीं से कहने के लिये आये। यथा—"प्रियार्हां प्रियमाख्यातुं विवेशान्तःपुरं वशी।" (वाल्मी० २।१०।१०); तथा—"भामिनि भयउ तोर मन भावा।···रामहि देउँ कालि जुबराजू।" (दो० २६) यह आगे इन्होंने कहा भी है। राजा ने समझा कि यह सुनकर रानी प्रसन्न होकर मान छोड़कर तुरत मिलेगी, क्योंकि राम-तिलक के लिये इसने कई बार कहा था। पुनः भावी के अनुसार प्रवृत्ति होना भी है ही। यथा—"आपुन आवइ ताहि पहिं, ताहि तहाँ लै जाइ॥" (बा० दो० १५६)। पुनः प्रायः नित्य ही इस समय यहीं पर भोजन-शयन होता था; इससे भी गये।

कोप-भवन सुनि सकुचेउ राऊ। भयबस अगहुड़ परइ न पाऊ॥१॥
सुरपति बसइ बाँह-बल जाके। नरपति सकल रहहिं रुख ताके॥२॥
सो सुनि तिय-रिस गयेउ सुखाई। देखहु काम - प्रताप - बड़ाई॥३॥
सूल कुलिस असि अँगवनिहारे। ते रतिनाथ सुमन सर मारे॥४॥

शब्दार्थ—अगहुड़ = अगाड़ी, आगे। अँगवनिहारे (अंग ग्रहण हारे) अंगीकार करनेवाले, सहनेवाले।

अर्थ—(रानी का) कोप-भवन (में होना) सुनकर राजा सकुच (सूख) गये, डर के मारे आगे उनका पैर ही नहीं पड़ता॥१॥ जिनके बाहु-बल के भरोसे इन्द्र (राक्षसों से निर्भय) बसते हैं, पृथिवी के सभी राजा लोग जिनका रुख देखते रहते हैं॥२॥ वे ही (राजा दशरथ) स्त्री का कोप (क्रोध)

सुनकर सूख गये। यह कामदेव के प्रताप की बड़ाई तो देखिये ? ॥३॥ कि जो शूल, वज्र और तलवार (के घाव) अपने शरीर पर लेने और सहनेवाले हैं, वे कामदेव के पुष्प-बाण से भी मारे गये ॥४॥

विशेष—(१) 'भय बस'—डर का कारण कवि आगे कहते हैं—'ते रति नाथ सुमन सर······' तथा—"तुलसी नृपति भवितव्यता बस काम-कौतुक लेखई।" (दो० २५); तथा—"समुद्धतवर्णी भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम्॥" (वाल्मी० २।१०।२२)। कामी को प्रिया के कोप का भय होता ही है। 'देखहु काम······'—यहाँ प्रत्यक्ष बीत रही है। अतः, सुनने एवं प्रमाण आदि से समझाने की आवश्यकता नहीं।

(२) 'सूल कुलिस असि···' राजा राक्षसों के युद्ध में इन शस्त्रों को सहनेवाले हैं, 'कुलिस' से वज्र के समान आयुधों से तात्पर्य है। वा, त्रिशूल के सहनेवाले जलंधर आदि, वज्र के सहनेवाले मेघनाद और विष्णु की तलवार को सहनेवाले रावण आदि भी इस कामबाण से मार गिराये गये हैं, एक ये (राजा दशरथ) ही नहीं कि आश्चर्य हो।

सभय नरेस प्रिया पहिं गयेऊ। देखि दसा दुख दारुन भयेऊ॥५॥
भूमि-सयन पट मोट पुराना। दिये डारि तनु भूषन नाना॥६॥
कुमितिहि कसि कुबेषता फाबी। अनअहिवात सूच जनु भाबी॥७॥
जाइ निकट नृप कह मृदु बानी। प्रानप्रिया केहि हेतु रिसानी॥८॥

अर्थ—डरते हुए राजा अपनी प्रिया कैकेयीजी के पास गये, उसकी दशा देखकर उन्हें भारी दुःख हुआ ॥५॥ (देखते हैं कि) भूमि पर लेटी हुई हैं, मोटा-पुराना वस्त्र पहने हैं, शरीर पर के नाना प्रकार के भूषण उतारकर डाल (बिथरा) दिये हैं॥ ६॥ दुर्बुद्धि कैकेयी का यह कुवेष धारण करना कैसा शोभ रहा है, मानों भावी इसके विधवापन की सूचना दे रही है ॥७॥ राजा उसके पास जाकर कोमलवाणी से बोले कि हे प्राण प्रिये ! किसलिये रिसाई हो ? ॥८॥

विशेष—(१) 'सभय नरेस···'—उपर्युक्त—'भयबस अगहुड़···' से प्रसंग मिलाया। प्रथम कोपभवन में जाना सुनकर भय था, अब दशा देखकर दारुण दुःख हुआ।

(२) 'दिये डारि तनु···'—क्रोध के मारे भूषण इधर-उधर फेंक दिये गये हैं। 'अनअहिवात' अर्थात् रानी विधवा की तरह पड़ी हैं, इस तरह विधवाओं का लक्षण भी जनाया।

(३) 'प्रान प्रिया केहि···'—रिसाने का कारण पति की प्रतिकूलता एवं कोई प्रयोजन की पूर्ति करना होता है, उसमें 'प्रानप्रिया' शब्द से अपनी अनुकूलता जनाई। पुनः प्रयोजन के लिये 'केहि हेतु' कहते हैं, इसपर भी आगे कहेंगे कि सर्वस्व तो तुम्हारे अधीन है।

...

छंद—केहि हेतु रानि रिसानि परसत पानि पतिहि निवारई।
मानहुँ सरोष भुअंग-भामिनि बिषम भाँति निहारई॥
दोउ बासना रसना दसन बर मरम ठाहर देखई।
तुलसी नृपति भवितव्यता-बस काम-कौतुक लेखई॥

सो०—बार बार कह राउ, सुमुखि सुलोचनि पिक-बचनि ।
कारन मोहि सुनाउ, गजगामिनि निज कोप कर ॥२५॥

शब्दार्थ—निवारई = निवारण करती है, झटक देती है, मना करती है कि हमें न छुओ। मरम ठाहर = मर्मस्थान, सुकुमार अंग जहाँ आघात लगने से अधिक पीड़ा होती है। लेखई = समझते हैं, मानते हैं, यथा—"मयऊँ एक मैं इन्द्र के लेखे।" (लं० दो० १५)।

अर्थ—हे रानी ! किसलिये रिसानी हो, (ऐसा कहते हुए राजा ने हाथ से स्पर्श किया) हाथ से छूते ही वह पति को (उनके हाथ को) झटककर रोकती है और ऐसे देखती है, मानों नागिनि क्रोध के साथ तीक्ष्ण दृष्टि से देख रही हो ॥ दोनों वासनाएँ जीभ हैं, दोनों वर दाँत हैं, वह काटने के लिये मर्मस्थल देख रही है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि राजा भावीवश होने से इसे (हाथ झटकने आदि को) कामदेव की क्रीड़ा ही समझ रहे हैं ॥ राजा बार-बार कह रहे हैं, हे सुमुखि ! हे सुलोचनि !! हे कोकिलवयनी !!! हे गजगामिनि !!! अपने क्रोध का कारण मुझे सुना ॥२५॥

विशेष—(१) 'निवारई। मानहु सरोष'…'—जैसे क्रुद्ध नागिनि छूते ही फुफकार मारकर काटने की चेष्टा करती और जीभ लपलपाती है। वैसे ही यह कुँझलाकर बोली, हमको न छुओ और न बोलो, पुनः हाथ झटक दिया, विषम तरह से देखना, जीभ लपलपाना है। दोनों वरों की वासनाएँ दो रसनाएँ हैं, और दोनों वर दाँत हैं, दाँतों में एक तालु के दाँत ही में विष रहता है, वैसे ही राम-वनवासे एक ही वर से राजा के प्राण जायँगे। नागिनि के और दाँतों से थोड़ा घाव हो जाता है, वैसे ही भरत राज्य से थोड़ा ही दुःख होगा। 'मरम ठाहर'—'भूपति राम-सपथ जब करई।' का अवसर है। 'काम कौतुक लेखई'—राजा ने मान-लीला का खेल समझा, पर यहाँ कुछ और ही है। भावीवश यथार्थ न जान पाया।

(२) 'सुमुखि सुलोचनि'…'—यहाँ रानी के लिये चार विशेषण दिये गये हैं कि तुम्हारा मुख सुन्दर है, नेत्र, बोली एवं चाल भी सुन्दर हैं; अर्थात् तुम पतिव्रता हो। अतः, तुम्हें चाहिये कि आगे चलकर सुन्दर मुख दिखाकर मधुर प्रिय वचन बोलो और सुन्दर अवलोकन से पति को प्रसन्न करो, यथा—"उठी न सलिल लिये प्रेम प्रमुदित हिये प्रिया न पुलकि प्रिय वचन कहे।" (गी० अ० १०); रानी नित्य इस रीति से वर्त्ताव करती थीं, पर आज एक वर्त्ताव भी नहीं किया। राजा इन्हीं बातों को कह रहे हैं कि इनके त्याग के कारण कहो।

पूर्व मंथरा को किरातिनि कहा गया और पुरवासियों को मधुमक्खी। राम-तिलक रूपी मधु के छीन जाने से वे सब दुखी हुए। मधु के पुनः होने से दूसरे छत्ते में मक्खियाँ फिर सुखी हो जाती हैं, वैसे ही १४ वर्ष पर राम-तिलक होने से वे सब फिर सुखी हो जायँगे। पर नागिन का डसा हुआ मर जाता है, वैसे ही यहाँ नागिनि रूपा कैकेयी के द्वारा राजा के प्राण ही जायँगे।

अनहित तोर प्रिया केहि कीन्हा। केहि दुइ सिर केहि जम चह लीन्हा ॥१॥
कहु केहि रंकहि करउँ नरेसू। कहु केहि नृपहि निकासउँ देसू ॥२॥
सकउँ तोर अरि अमरउ मारी। काह कीट बपुरे नर-नारी ॥३॥
जानसि मोर सुभाव बरोरू। मन तव आनन चंद चकोरू ॥४॥
प्रिया प्रान सुत सरबस मोरे। परिजन प्रजा सकल बस तोरे ॥५॥

अर्थ—हे प्रिये ! तेरा अहित किसने किया है ? किसके दो शिर हैं ? किसे यमराज लेना चाहते है ? ॥१॥ कहो, किस दरिद्र को राजा बना दूँ ? कहो, किस राजा को देश से बाहर निकाल दूँ ? ॥२॥ तेरा शत्रु अमर भी हो, तो उसे मार सकता हूँ, कीड़ों-मकोड़ों की तरह बेचारे स्त्री-पुरुष (मनुष्य) क्या हैं ? ॥३॥ हे वरोरु (श्रेष्ठ जंघोंवाली, सुन्दरी) ! तुम मेरा स्वभाव जानती हो कि मेरा मन तुम्हारे मुख रूपी चन्द्रमा का चकोर है ॥४॥ हे प्रिये ! प्राण, पुत्र, परिजन, प्रजा और जो कुछ मेरे हैं, वे सब तेरे वश में हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'अनहित तोर···'—कई बार पूछने पर भी कारण न कहा, क्योंकि वह तो राम-शपथ की प्रतीक्षा कर रही है, जैसा कि मंथरा ने सिखा रक्खा है, यथा—"भूपति राम सपथ जब करई। तब माँगेहु जेहि बचन न टरई ॥" (दो० २१); तब राजा ने अनुमान से कहा—'केहि दुइ सिर···' अर्थात् एक शिरवाला तो तुम्हारा अहित कर नहीं सकता, क्योंकि वह जानता है कि मैं उसका शिर तुरत काट लूँगा। हाँ, दो शिर हों, तो चाहे वह उतनी देर बच जाय, जब तक मैं उसका दूसरा शिर भी न काट लूँ। यथा—"हैं काके द्वै सीस ईस के जो हठि जन की सीम चरै।" (वि० १३७ ;) "दुइ माथ केहि रतिनाथ जेहि कहँ···" (बा० दो० ८४)।

'केहि जम चह लीन्हा'—अर्थात् उसकी मौत आ गई, यमराज का प्रतिकार नहीं हो सकता, वैसे ही वह एवं उसके पक्ष का कोई भी मुझसे प्रतिकार नहीं कर सकता, उसे अवश्य ही मार डालूँगा।

(२) 'सकउँ तोर अरि···'—तुम्हारा अहित करनेवाला अमर ही क्यों न हो, वा देवताओं में से भी कोई क्यों न हो, मैं उसे भी मार सकता हूँ, यथा—"जे रजनीचर बीर बिसाल कराल बिलोकत काल न खाये।···लूम लपेटि अकास निहारि कै हाँकि हठी हनुमान चलाये। सूखि गे गात चले नभ जात, परे भ्रम बात न भूतल आये॥" (क० लं० ३७)।

'कहु केहि रंकहि···' अर्थात् तुम्हारी रीझ और खीझ दोनों का पालन कर सकता हूँ।

पहले अहित करनेवाले का अनुमान करके दंड देना कहा, फिर प्रसन्नता-पूर्ति के लिये रंक को राजा करना। पुनः रीझ के प्रतिकार को कहते हैं, पर वह नहीं बोली, तब अपने पुरुषार्थ की दृढ़ता एवं सत्यता के लिये—'सकउँ तोर अरि ' अर्थात् अगम बात भी कर सकता हूँ।

'जानसि मोर सुभाव ' '—अब अपनी बात कहते हैं, सब मेरे वश में हैं, और मैं तुम्हारे मुखचन्द्र में अनन्य हूँ कौसल्या आदि नक्षत्रों में नहीं। मैं को कह आगे मम (मेरा) की बात कहते हैं—

'प्रिया प्रान सुत ' '—मुख्य प्राण, उससे कम पुत्र, फिर क्रमशः सर्वस्व, परिजन और प्रजा को कम बनाया कि ये सब तुम्हारे वश में हैं। यथा—"देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।" से "सब सुत-प्रिय मोहि प्रान कि नाईं।" तक (बा० दो० २०७)।

जौ कछु कहउँ कपट करि तोहीं। भामिनि राम-सपथ सत मोहीं ॥६॥
बिहँसि माँगु मनभावति बाता। भूषन सजहि मनोहर गाता ॥७॥
घरी कुघरी समुझि जिय देखू। बेगि प्रिया परिहरहि कुबेषू ॥८॥

दोहा—यह सुनि मन गुनि सपथ बड़ि, बिहँसि उठी मतिमंद।
भूषन सजति बिलोकि मृग, मनहुँ किरातिनि फंद ॥२६॥

अर्थ—जो मैं कुछ कपट करके कहता हूँ तो, हे भामिनि! मुझे रामजी की सौ शपथ है ॥६॥ हँसकर (प्रसन्नता से) मन को भानेवाली बात माँग लो और सुन्दर शरीर पर भूषण सजो ॥७॥ अपने हृदय में विचार कर घरी-कुघरी (अवसर-कुअवसर) तो देखो, हे प्रिये! कुवेष को शीघ्र त्याग करो ॥८॥ यह सुनकर और मन में इस शपथ को बहुत बड़ी समझकर मदबुद्धि कैकेयी हँसकर उठी और शरीर पर भूषन सजने लगी, मानों भीलनी मृग को देखकर फंदा सज रही हो ॥२६॥

विशेष—(१) 'जौं कछु कहउँ कपट······'—राजा बहुत कह गये, तब विचारे कि कहीं रानी इन्हें चाटु वचन ही न समझे, इसलिये पुष्टि के लिये शपथ करते हैं कि रामजी की सैकड़ों शपथ हैं; अर्थात् जो मैं झूठ कहता होऊँ, तो मुझे रामजी की सौ शपथ का पाप हो। और मेरे सुकृत स्नेह नाश हो जायँ, यथा—"तेहि पर राम सपथ करि आई। सुकृत सनेह अवधि रघुराई॥" (दो० २०); 'भामिनि' पद मानवती स्त्री का बोधक है, वह यहाँ यथार्थ है।

(२) 'बिहँसि माँगु···भूषन सजहि···'—वह रुष्ट है, अतः, राजा ने उसे सब कुछ अर्पण कर उसे राम-शपथ द्वारा पुष्ट किया, तब कहते हैं कि अब तो हँसकर माँगो। 'मनोहर गाता'—तुम्हारे शरीर तो यों ही मेरे मन को हरते हैं, फिर भी अपनी प्रसन्नता से भूषण सजो (पहनो)। प्रथम राजा ने 'सुमुखि' आदि चार विशेषणों से चार अंगों को ही सुन्दरता कही थी। अब सर्वांग की मनोहरता कहते हैं। इस तरह अपनी पूर्ण आसक्ति एवं दीनता दिखाई। 'मनभावति बाता' अर्थात् जो तुम सदा से चाहा करती थी, वही माँग लो, राजा जानते हैं कि यह राम-तिलक ही चाहती थी, उसी के लिये रूठी है, यथा—"भामिनि भयउ तोर मन भावा।···रामहि देउँ कालि जुबराजू॥" आगे कहते ही हैं। भावीवश राजा को धोखा हुआ, इसीसे राम-शपथ मुख से निकल आया और मन भाया माँगने को भी साथ ही कहा। इसी पर तो रानी कहेगी—"माँगेउँ जो कछु मोहि सुहाना।" (दो० ३१)।

(३) 'घरी कुघरी समुझि···'—राम-तिलक का शुभ अवसर है। अतः, यह शुभ घड़ी है, यह मंगल सजाने के योग्य है। इसमें क्रोध नहीं किया जाता, इसमें शृंगार सजो, क्रोध और कुवेष के लिये कुघड़ी होती है। राजा शुभ घड़ी की सूचना देते हुए कुवेष छुड़ाना चाहते हैं। इसीसे उन्होंने आगे कहा ही है—'भामिनि भयउ तोर···'। 'वेगि प्रिया परि हरहि कुवेषू।'—क्योंकि इससे मुझे दारुण दुःख हो रहा है, यथा—"देखि दसा दुःख दारुन भयऊ।" (दो० २४)।

(४) 'यह सुनि मन गुनि सपथ ····'—शपथ को 'बड़ि' कहा, क्योंकि मंथरा ने एक ही बार की राम-शपथ का बहुत महत्त्व समझाया था और यहाँ सौ बार की शपथ की गई। इस शपथ का महत्त्व वाल्मी० अ० स० ११ में उत्तम रीति से कहा है। ऐसी शपथ पर भी स्वामी का सद्भाव न मानकर उन्हें नाश करने चली, इससे 'मति मंद' कहा है। क्योंकि राजा ने सब कुछ तो दे ही दिया था और उसे शपथ से पुष्ट भी कर दिया, तो माँगने को रहा क्या? जो माँगेगी। 'बिहँसि उठी'—लेटी थी, हँसकर उठी, क्योंकि मन चाही बात हुई। 'बिहँसि माँगु' के अनुसार 'बिहँसि उठी'। 'भूषन सजति बिलोकि ···'—राजा मृग, कैकेयी किरातिनि और उसके भूषण फंद हैं, इन्हीं भूषणों के पहनने से राजा प्रसन्न होंगे, सभी वर देने के लिये वचनबद्ध होंगे, यहाँ फँसना होगा। स्त्री के भूषण पुरुष के लिये फाँसी हैं ही। कहा भी है—"वाक्मात्रेण तदा राजा कैकेय्या स्ववशं कृतः। प्रचस्कंद विनाशाय पाशं मृग इवात्मनः॥" (वाल्मी २।११।२२)। (प्रचस्कंद विनाशाय=अपने विनाश के लिये)।

पुनि कह राउ सुहृद जिय जानी। प्रेम पुलकि मृदु मंजुल बानी ॥१॥
भामिनि भयेउ तोर मन भावा। घर-घर नगर अनंद बधावा ॥२॥

रामहि देउँ कालि जुवराजू। सजहि सुलोचनि मंगल साजू ॥३॥
दलकि उठेउ सुनि हृदय कठोरू। जनु छुइ गयेउ पाक बरतोरू ॥४॥
ऐसिउ पीर बिहँसि तेहि गोई। चोर-नारि जिमि प्रगटि न रोई ॥५॥

शब्दार्थ—दलकि उठेउ = चौंक उठी, उद्विग्न हो उठी, दलकना = असह्य ठेस लगना। बरतोर = रगड़ आदि से शरीर का रोम (बाल) टूटने से प्रायः उस जगह फोड़ा हो जाता है, वही बलतोड़ है। यह छू जाने से पूर्व इसमें किंचित् ठेस लगने से असह्य दुःख होता है, वेदना होती है। गोई = छिपाई।

अर्थ—अपने हृदय में कैकेयी को सुहृद जानकर प्रेम से पुलकित हो सुन्दर कोमल वाणी से राजा पुनः बोले ॥१॥ हे भामिनि ! तुम्हारा मनभाया हुआ, नगर में घर-घर आनंद बधावे बज रहे हैं ॥२॥ राम को कल ही युवराज पद दे रहा हूँ, हे सुलोचनी ! मंगल साज सजो ॥३॥ यह सुनते ही उसका कठोर हृदय दलक उठा, मानों पका हुआ बलतोड़ छू गया हो ॥४॥ ऐसी भारी पीड़ा भी उसने हँसकर छिपा ली, जैसे 'चोर नारि' प्रत्यक्ष नहीं रोती ॥५॥

विशेष—(१) 'सुहृद जिय जानी'—राजा ने उसे जो-जो आज्ञा दी, वही-वही उसने किया, इन्होंने 'बिहँसि माँगु' कहा था, तब वह 'बिहँसि उठी' पुनः 'भूषन सजहि' कहा तब वह 'भूषन सजति...' इससे अपने अनुकूल जानकर राजा ने उसे सुहृद जाना। 'जिय जानी'—राजा ने जाना है, पर वह सुहृद भाव से नहीं हँसी है और न भूषण ही सजती है किंतु राजा को फँसाने के लिये यह कर रही है—'···बिलोकि मृग मनहुँ किरातिनि फंद' कहा ही है।

(२) 'भामिनि भयउ तोर·······'—राजा प्रसन्न होकर उसका मनभाया स्वयं कह रहे हैं, उसे 'मन भावत' माँगने को कहा था, उसने कहने में देरी की, तब अपने अनुमान से राजा स्वयं कह रहे हैं—'रामहि देउँ···' यही तो पहले सदा से वह चाहती थी। यथा—"राम-तिलक जौं साँचेहुँ काली। माँगु देउँ मन भावत आली ॥" (दो० १४); 'घर-घर नगर···' सब कोई सज रहे हैं, तुम्हारे तो प्रिय पुत्र का ही तिलक है।

(३) 'रामहि देउँ कालि··· सजहि·····'—राजा अपनी तरफ से उसे अत्यन्त प्रसन्नता की बात सुना रहे हैं कि बस, कल ही देता हूँ, विलंब नहीं है। अतः, आज तुम मंगल-साज सजो। प्रथम कहा था—"प्रमुदित पुरनर-नारि सब, सजहि सुमंगल चार।" (दो० २३); वैसे यहाँ रानी को सजने को कहते हैं। इससे 'सुमंगल चार' ही 'मंगल साज' है।

राजा ने पहले कहा था—'भूषन सजहि······' तब रानी भूषन सजने लगी थी, किन्तु अभी मंगल साज सजने को कहा, तब उसने न किया। इसपर राजा समझ जाते कि भूषण सजना इसका कपट से है, इसलिये बिहँसकर इस मर्म को छिपाया कि जिससे राजा समझें कि राम-राज्य को सुनकर प्रसन्न हुई है, पीछे मंगल भी सजेगी। उसीको आगे ग्रंथकार कहते हैं—

(४) 'दलकि उठेउ सुनि हृदय······'—उसका कठोर हृदय ही 'पाक बरतोर' है जो अभी थोड़ा ही समय का है, इससे कठोर है, बलतोड़ भी प्रथम कठोर ही होता है, पीछे पकने पर गुल-गुलाता है। दूसरे की हानि करनेवाले का हृदय निर्दयता से कठोर होता ही है। बलतोड़ में पीड़ा पहले भी रहती है, पर छू जाने पर असह्य पीड़ा होती है, जिससे मनुष्य काँप उठता है, वैसी ही पीड़ा हुई और वह काँप उठी, सामान्य पीड़ा तो पहले से ही थी। मंथरा ने कहा था—"रामहि तिलक कालि जौं भयऊ। तुम्ह कहँ बिपति बीज बिधि बयऊ ॥" (दो० १८); उसीको राजा ने सुनाया, जिससे असह्य पीड़ा हुई।

(५) 'ऐचित पीर बिहँसि तेहि गोई।'—असह्य पीड़ा में रोया जाता है, पर इसने मर्म छिपाने के लिये बिहँस दिया। अन्यथा राजा राम-तिलक की विरोधिनी जान जाते और वे सावधान हो जाते। हँसने से जाना कि राम-तिलक पर प्रसन्न हुई है।

'चोर नारि जिमि प्रगट न रोई'—यहाँ कैकेयी पति से ही हृदय की पीड़ा छिपा रही है। अतः, 'चोर नारि' का अर्थ यह है कि जो स्त्री चोरी करके परपति पर आसक्त होकर उससे सुख भोगना चाहती हो, परन्तु किसी कारणवश उसकी मृत्यु हो जाय, तो उस समाचार को सुनकर वह भीतर-ही-भीतर रोती है, क्योंकि प्रकट रोने से चोरी खुल जाय और वह अपने पति से दंड-भागिनी हो। वैसे ही कैकेयी अपने पति राजा दशरथ से चोरी करके राज्य-वैभव पर प्रेमासक्त होकर उसकी प्राप्ति से सुख उठाना चाहती है। जब राजा ने कहा—"रामहि देउँ कालि जुवराजू। सजहि सुलोचनि मंगल साजू॥" तब उक्त राज्य वैभव रूपी उपपति की मृत्यु जान उसे असह्य पीड़ा हुई, परन्तु पति राजा यदि इस पीड़ा को जान जायँ, तो इसका कपट खुल जाय और यह दंडनीय हो। अतएव बिहँसकर इसने उस भाव को छिपा लिया, जिससे राजा न जान सके। यथा—"लखहि न भूप कपट चतुराई।" आगे कहा ही है—

लखहि न भूप कपट चतुराई। कोटि-कुटिल-मनि गुरू पढ़ाई॥६॥
जद्यपि नीतिनिपुन नरनाहू। नारि-चरित जलनिधि अवगाहू॥७॥
कपट-सनेह बढ़ाइ बहोरी। बोली बिहँसि नयन मुँह मोरी॥८॥

दोहा—माँगु माँगु पै कहहु पिय, कबहुँ न देहु न लेहु।
देन कहेहु बरदान दुइ, तेउ पावत संदेहु॥२७॥

शब्दार्थ—नयन मुँह मोरी = नेत्रों से कटाक्ष करके मुख से भी नाज-नखरे के साथ मटक कर। कबहुँ न = कभी भी नहीं। यथा—"नाहिन राम राज के भूखे।" (दो० ४१); 'नाहिन' = नहीं ही। देहु न लेहु = देते लेते नहीं, यह मुहावरा है। इसका अर्थ 'देते नहीं' इतना ही होता है।

अर्थ—राजा उसकी कपट चातुरी को नहीं लख (लक्ष्य कर) पाते, क्योंकि वह करोड़ों कुटिलों की शिरोमणि (कुबड़ी ऐसी) गुरु की पढ़ाई हुई है॥६॥ यद्यपि राजा नीति में निपुण हैं, फिर भी स्त्री-चरित्र समुद्र की तरह अथाह है॥७॥ फिर कपट (झूठा) स्नेह बढ़ाकर नेत्र और मुँह मोड़कर (मटकाकर) हँसती हुई वह बोली॥८॥ हे प्रिय (प्रिय-स्वामिन्)! आप 'माँगु, माँगु' तो कहा ही करते हैं; पर कभी देते लेते नहीं। आपने दो वर देने को कहा था, उनके भी पाने में (मुझे) संदेह है॥२७॥

विशेष—(१) 'लखहि न भूप कपट ·····'—इसकी कपट चातुरी राजा भी नहीं लख पाते। क्यों? इसका उत्तर उत्तरार्द्ध में है कि यह ऐसे गुरु की पढ़ाई हुई है कि जो करोड़ों कुटिलों की शिरोमणि है, तन और मन दोनों से टेढ़ी है। पढ़ाया है—"काज सँवारेहु सजग होइ, सहसा जनि पतियाहु॥" (दो० २२)। यदि कहा जाय कि नीत-निपुण राजा से तो कपट नहीं छिप सकता तो इसपर आगे कहते हैं—

(२) 'जद्यपि नीतिनिपुन···'—नीतिज्ञ से कपट नहीं छिपता, पर यहाँ छिप रहा है। राम-तिलक सुनकर इसके भीतर पीड़ा हुई और ऊपर से हँस दिया, यही 'कपट चतुराई' है। इसे नीति की दृष्टि से

राजा लख सकते थे कि जिस-जिसने राम-तिलक सुना है, सब प्रसन्न होकर मंगल सजाने लगे हैं। यथा—"तेहि अवसर मंगल परम, सुनि रहसेउ रनिवास।" तब—"प्रेम पुलकि तन मन अनुरागी। मंगल साज सजन सब लागी॥" (दो० ७)। तथा—"राम राज अभिषेक सुनि, हिय हरषे नरनारि। लगे सुमंगल सजन सब, विधि अनुकूल बिचारि॥" (दो० ८) परन्तु कैकेयी ने राजा के कहने पर भी—"सजहि सुलोचनि मंगल साजू।" इसकी चर्चा न की और न इसपर राजा को धन्यवाद ही दिया। तब लख लेते कि इसका हृदय अवश्य मैला है, पर न लख सके, क्योंकि—'नारिचरित जलनिधि अवगाहू।' 'नारि चरित' वही उपर्युक्त 'कपट कुटिलाई' है और—'बोली बिहँसि नयन मुँह मोरी।' है कि जिससे मोहित होने से राजा चूक गये। यही नारि-चरित की अगाधता में डूब जाना है। श्रीभरतजी ने भी कहा है—"बिधिहुँ न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी॥ सरल सुसील धरम-रत राऊ। सो किमि जानइ तीय सुभाऊ॥" (दो० १६१)।

(३) 'कपट सनेह बढ़ाइ बहोरी'''—स्नेह ऊपर दिखाने भर को है कि जिससे राजा प्रसन्न होकर वर दे दें। 'कपट सनेह बढ़ाइ'— मन का धर्म है, 'बोली बिहँसि'—वचन का और 'नयन मुँह मोरी'—कर्म का कपट है। तीनों में कपट ही भरा है। 'बोली बिहँसि'—इस प्रसंग में इसका कई बार हँसना कहा गया है—"बिहँसि उठी मति मंद", "ऐसिउ पीर बिहँसि तेहि गोई", "बोली बिहँसि नयन मुँह मोरी।", "बात दृढ़ाइ कुमति हँसि बोली" इत्यादि हँस-हँसकर इसने राजा को मोह लिया और अपना प्रयोजन साध लिया॥

'तेउ पावत संदेहु'—ऐसा कहकर यह राजा से निस्संदेह होने के लिये उन्हें वचनबद्ध कराना चाहती है, भावीवश वैसा ही होगा। पुनः जो दो वर यह माँगेगी उसमें एक वर (राम-वनवास) का राजा ने खुशी से नहीं ही दिया, श्रीरामजी ने बलात् पूरा किया कि हठ करके चले गये। कैकेयी जानती है कि राजा का सुकृत-सुयश भले ही चला जाय, पर वे राम को वन जाने को न कहेंगे। यथा—"अजस होउ जग सुजस नसाऊ।''''' लोचन ओट राम जनि होहीं॥" (दो० ३४) यह राजा के वचन हैं। पुनः—"सुकृत सुजस परलोक नसाऊ। तुम्हहि जान बन कहिहि न काऊ॥" (दो० ७८)। ये कैकेयी के वचन हैं। अतः, संदेह करना उसके हृदय से युक्त भी है।

जानेउँ मरम राउ हँसि कहई। तुम्हहिं कोहाब परमप्रिय अहई॥१॥
थाती राखि न माँगिहु काऊ। बिसरि गयेउ मोहि भोर सुभाऊ॥२॥
झूठेहु हमहि दोष जनि देहू। दुइ कै चारि माँगि मकु लेहू॥३॥
रघुकुल-रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचन न जाई॥४॥

शब्दार्थ—कोहाब=रूठना। मकु=चाहे, भले ही। कै=के बदले में। बरु=चाहे, भले ही।

अर्थ—राजा हँसकर कहने लगे—मैंने तुम्हारा अभिप्राय समझा, तुम्हें रूठना (मान करना) अत्यन्त प्रिय है (रूठती हो कि जिससे हम मनावें)॥१॥ थाती रखकर तुमने कभी माँगा ही नहीं, भोला स्वभाव होने के कारण मैं भूल गया॥२॥ मुझे झूठा ही दोष न दो, चाहे दो के बदले में चार माँग लो। रघुकुल की रीति सदा से चली आती है कि प्राण भले ही चले जायँ, पर वचन नहीं टलता॥४॥

विशेष—(१) 'जानेउँ मरम राउ हँसि...'—राजा हँसे कि रानी ने क्रोध इतना किया था, पर

इसका कारण तो कुछ नहीं है। रक्खी हुई थाती तो जब चाहती यों ही माँग लेती। 'कोहाब परम प्रिय' से जनाया कि और भी बहुत बार इन्होंने मान किया था, राजा ने जाना कि अब की भी वैसा ही (क्रीड़ा का) मान है, नहीं तो दो के चार देने को न कहते।

(२) 'थाती राखि न···'—तुम्हें कोहाना (मान करना) परम प्रिय है, इसीसे नहीं माँगा कि माँग लेंगी, तो फिर किस बहाने से मान करेंगी। अन्यथा थाती किसी की भी कोई नहीं रोकता, मैं कैसे न देता ? 'मोहि भोर सुभाऊ'—मुझे भी भूल गया था, नहीं तो मैं ही स्मरण कराता। 'भोर सुभाऊ' का यह भी भाव है कि हम जानकर वचन का त्याग नहीं करते।

(३) 'झूठेहुँ हमहि दोष···'—रानी ने कहा था कि—"माँगु माँगु पै···" उसी पर कहते हैं कि न देने का दोष मुझपर झूठा ही आरोपण करती हो। तुमने थाती माँगी नहीं और हम भूल गये तो झूठा होने का दोष हममें नहीं लग सकता। अच्छा, लो, दो तो तुम्हारे ही हैं, दो और हम अपनी ओर से अपनी भूल के बदले में देते हैं, इस तरह चार ले लो। दोष देने से हमारे कुल में कलंक लगेगा।

(४) 'रघुकुल-रीति सदा···'—जबसे यह कुल उत्पन्न हुआ तबसे इसमें परंपरा से सत्य का आदर होता आया, अन्यत्र ऐसा असंभव है, पर इस कुल की रीति निबहती ही आई। भाव यह कि हम रघुवंशी हैं; अतः, वचन से न टलेंगे, 'प्रान जाहु बरु···'—वचन प्राणों से अधिक प्रिय है, देखिये, भावीवश राजा स्वयं अपनेको बाँधते जाते हैं, वचन से न हटने के कारण आगे कहते हैं—

नहिं असत्य सम पातक-पुंजा। गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा ॥५॥
सत्यमूल सब सुकृत सुहाये। बेद पुरान बिदित मनु गाये ॥६॥
तेहि पर राम-सपथ करि आई। सुकृत - सनेह - अवधि रघुराई ॥७॥
बात दृढ़ाइ कुमति हँसि बोली। कुमत कुबिहँग कुलह जनु खोली ॥८॥

दोहा—भूप-मनोरथ सुभग बन, सुख-सुबिहंग समाज।
भिल्लिनि जिमि छाड़न चहति, बचन भयंकर बाज ॥२८॥

शब्दार्थ—गुंजा=घुँघची। करिआई=कर पड़ा (क्योंकि तू और तरह प्रसन्न नहीं होती थी)। कुबिहँग= बाजपक्षी। कुलह (फा० कुलाह)=टोपी, बाज की आँख का ढकन। सुबिहंग=शुक-सारिका आदि।

अर्थ—झूठ के समान पापों का समूह भी नहीं, क्या करोड़ों घुँघचियाँ (मिलकर भी) पर्वत के समान हो सकती हैं ॥५॥ सत्य ही समस्त सुहावने पुण्यों की जड़ है, यह बात वेद-पुराणों में प्रसिद्ध है और मनुजी ने (मनुस्मृति में) भी कहा है ॥६॥ इतने पर भी मैं श्रीरामजी की शपथ कर पड़ा हूँ, जो रघुराई श्रीरामजी सुकृत और स्नेह की सीमा हैं ॥७॥ बात पक्की कराके दुर्बुद्धि कैकेयी हँसकर बोली, मानों कुमत-रूपी बाज की टोपी खोल दी ॥८॥ राजा का मनोरथ सुन्दर वन है, सुख सुन्दर पक्षियों का झुंड है, भीलनी रूपा कैकेयी अपना वचन रूपी भयङ्कर बाज छोड़ना चाहती है ॥२८॥

विशेष—(१) 'नहिं असत्य सम पातक······'—घुँघचियों की ढेरी पर्वत के समान नहीं हो सकती। अथवा, गुंजा रत्ती के तौल में बर्ता जाता है, वह सेर, पसेरी और मन के बराबर तो हो ही नहीं

सकता, फिर पहाड़ की बराबरी कैसे कर सकता है? सब पाप रत्ती-रत्ती भर है, तो असत्य पहाड़ के समान भारी है, इतना अन्तर है।

(२) 'सत्य मूल सब सुकृत सुहाये'—असत्य का स्वरूप कहकर अब सत्य को कहते हैं कि यह सब पुण्यों से बड़ा एवं सबकी जड़ है, जड़ के बिना वृक्ष नहीं रह सकता, वैसे ही सत्य के बिना सुकृत नहीं रह सकता, यथा—"सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ।" (बा० दो० २५१)।

सत्य परमात्मा का स्वरूप है, सत्ता-विद्यमानता, सर्वत्र उपस्थितिः, तस्य भावं सत्यम्; अर्थात् सर्वत्र व्यापक ब्रह्म ही सत्य रूप है, असत्य में आत्मा का हरण एवं हनन का दोष है। पुनः 'धृञ—धारणे,' धातु से धर्म शब्द बनता है, अर्थात् जिससे प्रजाओं का धारण हो, वह धर्म है, सत्य के बिना प्रजा नहीं रह सकती, राजा, एवं उसके कर्मचारी न्यायाधीश, पुलिस एवं साक्षी आदि सभी सत्य छोड़ दें, तो प्रजा न रह सके, क्योंकि सत्य के बिना कोई भी पारस्परिक व्यवहार ही नहीं चल सकता। इससे भी सत्य, धर्म एवं सुकृत का मूल कहाता है।

(३) 'तेहि पर राम सपथ······'—'करि आई' अर्थात् अचानक दैवात मुँह से निकल आई। जैसे असत्य और सत्य की बड़ाई की—"नहि असत्य सम पातक पुंजा।" "सत्य मूल सब सुकृत······" वैसे ही राम शपथ की भी बड़ाई करते हैं—"सुकृत सनेह अवधि···"—सब सुकृत का फल राम-स्नेह है—"सकल सुकृत फल राम सनेहू।" (बा० दो० २६)। स्नेह से श्रीरामजी प्राप्त होते हैं। अतः, वे इसके भी फलरूप हैं। जैसे नदियों की अवधि समुद्र है, वैसे ही सुकृत और स्नेह की अवधि श्रीरामजी हैं। यथा—"दसरथ सुकृत राम धरे देही।" (बा० दो० ३०१)। "परिजन सहित राय रानिन्ह कियो मज्जन प्रेम प्रयाग। तुलसी फल ताके चारयो मनि मरकत पंकज राग॥" (गी० बा० १६)। 'तेहि पर'—'रघुवंशी यों भी झूठ नहीं बोलते, फिर असत्य के भारी पाप का भय है, पुनः सुकृत मूल सत्य की रक्षा के लिये वेद-पुराण एवं मनु की आज्ञा है, उसपर भी राम-शपथ की गई, जो अन्तिम पुष्टि है।

(४) 'बात दृढ़ाइ कुमति हँसि···'—'बात दृढ़ाइ'—श्रीरामजी की शपथ कराना, बात का दृढ़ करना है, क्योंकि अब वचन टल नहीं सकता, यथा—"भूपति राम सपथ जब करई। तब माँगेहु जेहि बचन न टरई॥" (दो० २१), वह इसी घात में थी, इसीसे दुर्बुद्धि कही गई। 'हँसि बोली'—मन-मानी संयोग बना हुआ देखकर प्रसन्न होकर बोली, इसी पर उत्प्रेक्षा है कि वह हँसकर बोली, ओष्ठ खुला, मानों हिंसा के लिये बाज की कुलही खुली। कुमति कैकेयी-कुमत—"सुतहिं राज रामहि बनबासू। देहु लेहु सब सवति हुलासू॥" (दो० २१); यही कुविहग (बाज) है, दोहे में इसे ही 'बचन भयंकर बाज' कह कर स्पष्ट करेंगे। इनको कपट से छिपाये थी, अब प्रकट करेगी। शिकार के सम्मुख आने पर बाज की टोपी खोली जाती है, यहाँ राजा शिकार हैं, उनका राम-शपथ करके प्रतिज्ञा-बद्ध होना सम्मुख आना है। इन वचनों से जो दशा होगी, उसे दोहे में स्पष्ट करते हैं—

(५) 'भूप मनोरथ सुभग बन···'—'सुभग बन' कल्पवृक्ष का वन है, यथा—"मोर मनोरथ सुर तरु फूला।" (दो० २८); राम-तिलक का मनोरथ है। अतः, 'सुभग' है। इस मनोरथ में जो नाना प्रकार के सुख हैं (अर्थात् राम राज्य में अमुक-अमुक सुख होंगे) यही नाना प्रकार के शुक, सारिका, चातक, कोकिल आदि पक्षियों का समाज है। जैसे भीलनी नाना पक्षियों को लेने के लिये भयंकर बाज छोड़ती है, वैसे ही कैकेयी राजा के सुखों को लेने के लिये भयकर वचन छोड़ती है। बाज दो पक्ष युक्त होता है, वैसे इसके वचन में दो वर रूपी दो पक्ष हैं। कैकेयी वर माँग कर राजा के सुखों को लेगी।

सुनहु प्रानप्रिय भावत जी का। देहु एक बर भरतहि टीका ॥१॥
माँगउँ दूसर बर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी ॥२॥
तापस बेष बिसेषि उदासी। चौदह बरिस राम बनबासी ॥३॥

अर्थ—हे प्राण प्यारे ! सुनिये, मेरे जी को भानेवाला एक वर तो यह दीजिये कि भरतजी को राज्य-तिलक हो ॥१॥ दूसरा वर मैं हाथ जोड़कर माँगती हूँ, हे स्वामिन् ! मेरी अभिलाषा पूरी कीजिये ॥२॥ कि रामजी तपस्वी वेष में विशेष उदासीन रहते हुए, चौदह वर्ष तक वन में रहें ॥३॥

विशेष—(१) 'सुनहु प्रान प्रिय भावत···'—राजा ने कैकेयी को—'प्रानप्रिया केहि हेतु रिसानी।' कहा था, इसीसे उसने भी 'प्रान प्रिय' कहा। पुनः राजा ने कहा था—'बिहँसि माँगु मन भावति बाता।' इसी से उसने भी—'भावत जी का' कहा और विहँसकर बोलीं भी—'कुमति हँसि बोली' ऊपर कहा ही है। 'देहु एक बर भरतहिं टीका'—'एक' और 'दूसर' गिनती से माँग रही है, क्योंकि राजा ने चार माँगने को कहा था, तो दो पीछेवाले उन्होंने स्वयं बढ़ा दिये। अतः, वे निर्बल हैं। पहला—दूसरा तो उसके प्रथम की थाती हैं और सेवा से प्राप्त हैं। अतः, अपने ही दो वरों को गिनकर माँगती है। प्रथम भरतजी का राज माँगा, क्योंकि राम-वनवास सुनते ही तो राजा अचेत हो जायँगे, तो फिर भरत-राज्य नहीं ही मिलेगा। मंथरा ने इसी क्रम से कहा भी था, यथा—"सुतहि राज रामहि बन बासू।" (दो० २१)।

(२) 'माँगउँ दूसर बर कर जोरी।'—दूसरा वर कठिन है, इसलिये स्वार्थ-साधन के लिये हाथ जोड़ा और विशेष प्रार्थना की। पहले वर से धन लिया और इस दूसरे से तन (प्राण) लेना चाहती है, प्राण देना कठिन है, इसलिये विशेष प्रार्थना करती है। हाथ जोड़कर यह भी दिखाती है कि ये वे ही हाथ हैं, जिनसे सारथ्य कर्म करके मैंने देवासुर-संग्राम में आपके प्राण बचाये हैं, उनके बदले के दोनों वर देकर आप मेरे प्राण बचावें, क्योंकि—"होत प्रात मुनि-बेष धरि, जो न राम बन जाहिं। मोर मरन राउर अजस, नृप समुझिय मन माँहि ॥" (दो० ३३)।

(३) 'तापस वेष बिसेषि उदासी···'—पहले वर से योग (राज्य प्राप्ति) किया, अब उसके क्षेम का प्रबन्ध कर रही है कि रामजी विशेष उदासीन वृत्ति से १४ वर्ष वन में रहें। वह सोचती है कि केवल वनवास माँगने से काम न चलेगा। सब प्रजा उनके पक्ष में है, सब-के-सब वहीं जाकर रहेंगी, तो अवध उजाड़ हो जायगा और वन ही अवध हो जायगा। फिर भरतजी यहाँ किसे लेकर राज्य करेंगे ? इसलिये विशेष-उदासीन वृत्ति से रहने का वर माँगती है, क्योंकि भरद्वाज, वसिष्ठ आदि भी उदासीन एवं तपस्वी हैं, यथा—"सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं ॥" (दो० २०८); पर ये सब नगर में जाते हैं, शिष्यों एवं अन्य मुनियों के साथ भी रहते हैं और आवश्यक सामग्री भी सब रखते हैं, कैकेयी चाहती है कि ये विशेष उदासीन रहें, न विशेष लोगों में रहें और न किसी ग्राम-नगर में जायँ। यथा—'पिता वचन मैं नगर न आवउँ' (लं० दो० १०४)।

कैकेयी के हृदय में डर है कि राम यदि ग्राम-नगर में जायँगे, तो इनके बहुत-से मित्र हो जायँगे। उनसे वे कहीं भरत का अनिष्ट न करा दें। इसलिये एकान्त में और वन में रहें, किसी से प्रीति और विरोध के भाव मन में न लावें और राज्य-सुख की चेष्टा से भी रहित रहें। इस तरह १४ वर्ष तक रहने से राज्य की चाह न रह जायगी और कोई उनका साथी भी न रह जायगा। फल-मूलादि भोजन एवं कभी-कभी उनके भी न मिलने पर उपवास से निर्बल भी हो जायँगे, तो लड़ाई करने के योग्य न रहेंगे। और इधर

इतने दिनों में भरत का पूर्ण अधिकार प्रजा पर हो जायगा। प्रजा, मंत्री और अनुयायी राजा लोग अनुकूल हो जायँगे। भरत राज्य-कार्य में भी निपुण हो जायँगे। पुनः नीति-शास्त्र की दृष्टि से इतने दिनों के पीछे रामजी का पैत्रिक संपत्ति पर अधिकार भी न रह जायगा। यथा—"चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम्। रूढश्च कृतमूलश्च शेषं स्थास्यति ते सुतः॥···एवं प्रव्राजितश्चैव रामोऽरामो भविष्यति। भरतश्च गतामित्रस्तव राजा भविष्यति॥ येन कालेन रामश्च वनात्प्रत्यागमिष्यति। अन्तर्बहिश्च पुत्रस्ते कृतमूलो भविष्यति॥ संगृहीतमनुष्यश्च सुहृद्भिः साकमात्मवान्।" (वाल्मी० २।९।३१-३५); अर्थात् १४ वर्ष में भरतजी जम जायँगे, उनका प्रजा पर प्रभाव हो जायगा, आगे आनन्द से रहेंगे। रामजी प्रजा के अप्रिय हो जायँगे, उन्हें प्रजा भूल जायगी, शत्रु के न रहने पर भरतजी राजा हो जायँगे। फिर जब तक रामजी लौट कर आवेंगे, भीतर-बाहर भरतजी की जड़ जम जायगी। भरतजी भी आत्मवान् हैं, वे प्रजा को अपने पक्ष में मिला लेंगे, इत्यादि।

चौदह वर्ष ही के लिये वन क्यों माँगा ? इसपर और भी मत हैं—(क) कैकेयी सरस्वती की प्रेरणा से कह रही है, "गई गिरा मति धूति।" (दो० २०६); वह (सरस्वती) जानती है कि रावण-वध इतने ही काल में होगा तो अधिक के लिये क्यों कहलावे, उसे तो इतने ही के लिये पछतावा था—"मदहुँ सरोज बिपिन हिम राती।" (दो० ११); उसे अवधवासियों का दुःख असह्य था। (ख) मंथरा ने कहा था—"भयेउ पाख दिन सजत समाजू।" अर्थात् १५ वें दिन इसे खबर मिली थी। अतः, बीते हुए १४ दिन की चोरी से उत्सवानंद भोगने के बदले १४ वर्ष के लिये वन का दुःख देती है। (ग) जब राजा कैकेयी के पास गये, तब से १४ घड़ी अभिषेक का मुहूर्त शेष रहा, उन एक-एक घड़ी के बदले में एक-एक वर्ष के लिये वनवास दिया।

(४) 'मनोरथ मोरी'—यद्यपि मनोरथ पुँल्लिंग शब्द है, पर ग्रंथकार ने प्रायः प्रश्न और मनोरथ को स्त्रियों के सम्बन्ध में स्त्रीलिंग के रूप में ही कहा है, यथा—"प्रश्न उमा कइ सहज सुहाई।"(बा० दो० ११०) "फलित बिलोकि मनोरथ बेली।" (दो० १); पुनः कहीं-कहीं अनुप्रास के योग से एवं दीनतापरक होने से इसमें नाजुक भाव रखते हुए भी 'मनोरथ' को स्त्रीलिंग के रूप में कहा है, यथा—"मंजु मनोरथ मोरि।" (बा० दो० १२)।

सुनि मृदुबचन भूप-हिय सोकू। ससिकर छुअत बिकल जिमि कोकू॥४॥
गयेउ सहमि नहि कछु कहि आवा। जनु सचान बन झपटेउ लावा॥५॥
बिबरन भयेउ निपट नरपालू। दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू॥६॥

शब्दार्थ—सचान = बाज। लावा = बटेर। बिबरन = बदरंग, शरीर का रंग उड़ जाना।

अर्थ—राजा के हृदय में कोमल वचन सुनकर शोक हुआ, जैसे चन्द्र-किरण के स्पर्श से चकवा व्याकुल हो जाता है॥४॥ राजा डर गये, कुछ कहते न बना, मानों वन में बटेर पर बाज टूट पड़ा हो॥५॥ राजा बिल्कुल बदरंग (फीके) हो गये, मानों ताल (ताड़) के वृक्ष पर बिजली गिरी हो॥६॥

विशेष—(१) 'सुनि मृदु बचन भूप···'—कैकेयी ने राजा से दो वर माँगे हैं, उनसे राजा की क्या-क्या दशाएँ हुईं, उन्हीं को कवि तीन दृष्टान्तों से कहते हैं—'मृदु बचन' से प्रथम वर का वचन भरतजी के लिये तिलक लिया जायगा। क्योंकि भरतजी राजा को श्रीरामजी की तरह प्रिय हैं, यथा—"मोरे भरत राम दोउ आँखी। सत्य कहउँ···" (दो० ३०); अतः इनका तिलक सुनने में मृदु लगा, फिर उससे ही

हृदय में शोक हुआ, जैसे चन्द्रमा की किरणें चकवा को तन में शीतल लगती हैं, पर उनसे उसके हृदय मे शोक होता है, क्योंकि उसमें उसका चकवी से वियोग होता है और वह चकवी के साथ रहने में सुख मानता है, उसकी हानि का शोक होता है (रात मे चकवा-चकवी एक साथ नहीं रहते, यह उनका प्राकृतिक नियम है, चन्द्र किरण भी रात मे होती है)। वैसे ही राजा ने श्रीरामजी को राज्य देने मे सुख माना था—'सुख सुबिहँग समाज' ऊपर कहा गया। भरत का तिलक माँगने से उस सुख की हानि का शोक हुआ, अतः, राजा चकवा की तरह विकल हुए, प्रमाण—"भरतजी कि राउर पूत न हो ही। आनेहु मोल बेसाहि कि मोही ॥ जो सुनि सर अस लाग तुम्हारे।" (दो० २९)।

शंका—इसका खंडन तो राजा ने आगे किया है—"एकहि बात मोहिं दुःख लागा। बर दूसर असमंजस माँगा ॥" (दो० ३१); अर्थात् दूसरे वर से दुःख है।

समाधान—कैकेयी ने सब दुःख का कारण भरत राज्य के वर को ही कहा है, उसका खंडन राजा ने किया है। सामान्य दुःख के पीछे विशेष दुःख होता है तब पहला भूल जाता है। भरत-राज्य माँगने पर सामान्य दुःख हुआ, उसे भी राजा ने जनाया है, यथा—"मैं बड़ छोट बिचारि जिय, करत रहेउँ नृप नीति।" (दो० ३१), अर्थात्—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई ॥" (दो० १४) के अनुसार कुल-रीति एवं राज-नीति के विरोध का दुःख है। पुनः—"तेहि ते परेउ मनोरथ छूछे।" (दो० ३१); अर्थात्—"भूपमनोरथ सुभग बन, सुख सुबिहंग समाज।" (उपर्युक्त) के सुख की हानि 'छूछे' शब्द से सूचित की है, स्पष्ट न कहने का कारण यह है कि इसके प्रारम्भ में ही—'बानी सबिनय तासु सुहाती' कहा है, इसीसे तो—'मोरे भरत राम दुइ आँखी।' कहने में छोटे 'भरत' का नाम पहले कहा है। यदि कहा जाय कि एक ही व्यक्ति को एक ही वस्तु मृदु और शोककर कैसे हुई ? तो उत्तर यह है, ऐसा होता है, यथा—"तन सँकोच मन परम उछाहू।" (बा० दो० १६३)।

माथे हाथ मूँदि दोउ लोचन। तनु धरि सोच लाग जनु सोचन ॥७॥
मोर मनोरथ सुरतरु-फूला। फरत करिनि जिमि हतेउ समूला ॥८॥
अवध उजारि कीन्ह कैकेई। दीन्हिसि अचल बिपति कै नेईं ॥९॥

दोहा—कवने अवसर का भयेउ, गयेउँ नारि बिस्वास।
जोग-सिद्धि फल समय जिमि, जतिहि अबिद्या नास ॥२९॥

अर्थ—शिर पर हाथ रख दोनों नेत्रों को मूँदकर राजा सोचने लगे, मानों सोच ही शरीर धारण करके सोच रहा हो ॥७॥ (सोचते हैं कि) मेरा मनोरथरूपी कल्पवृक्ष फूल चुका था, (परन्तु) फलते समय जैसे हथिनी ने उसे जड़-समेत नाश किया हो वैसे कैकेयी ने उसे जड़-समेत नाश कर दिया ॥८॥ (कैकेयी ने अवध को उजाड़ कर दिया) और विपत्ति की अचल (दृढ़) नींव डाल दी ॥९॥ किस अवसर में यह क्या हो गया ? स्त्री पर विश्वास रखने से मैं गया (नाश हुआ)। (मेरी वही दशा हुई) जैसे योग की सिद्धि एवं फल-प्राप्ति के समय यती (योगी) को अविद्या माया नाश करती है ॥२९॥

विशेष—(१) 'माथे हाथ मूँदि दोउ...'—यह अत्यंत शोक की मुद्रा है, शोक एवं भय की व्याकुलता में प्रायः ऐसा ही लोग करते हैं, यथा—"हृदय कंप तन सुधि कछु नाहीं। नयन मूँदि बैठीं मगमाहीं ॥" (बा० दो० ५४); "मूँदे नयन सहमि सुकुमारी।" (दो० २३५); "मूँदेउँ नयन त्रसित जब भयेऊ।" (उ० दो० ७१); शिर पर हाथ धरने का भाव यह कि भाग्य और अभाग्य भाल पर और हस्त में लिखा रहता है, इसीसे शिर पर हाथ धरकर सोचते हैं कि मैं अभागी हूँ, मैं हतभाग्य हो गया।

'तनु धरि सोच लाग ...'—ऊपर राजा का मन, वचन, तन (कर्म) से शोकमय होना कहा गया, अब शिर पर हाथ धर और आँख मूँदकर शोचने लगे, तब मूर्त्तिमान् शोक की तरह हो गये। शोक का रूप नहीं होता। अतः, उत्प्रेक्षा से उसकी अधिकता कही गई।

यहाँ करुणारस की दशा क्रमशः बढ़ी, पहले रानी को कोप-भवन में सुनकर राजा के मन में भावी अमङ्गल का खटका हुआ, तब शोक का भाव इस अवलंबन से उभरा, फिर वरदान उद्दीपन का कारण हुआ, तब विकलता का संचार हुआ, राजा सहम गये, फिर सात्त्विक भावों के उदय होने से वदन फीका एवं छविहीन हो गया, और यहाँ इस मुद्रा से शोक की मूर्त्ति ही हो गये।

(२) 'मोर मनोरथ सुर तरु...'—राजा के हृदय में राम-तिलक का मनोरथरूपी कल्पवृक्ष अंकुरित हुआ। उसके विषय में गुरु, मंत्री, परिजनों की सम्मति होना, उस वृक्ष का बढ़ना है—"अभिमत बिरव परेउ जनुपानी।" (दो० ४); तिलक की तैयारी होना फूलना और तिलक होना फलना है। फल (राम-राज्याभिषेक) से सबकी मनोवांछा की पूर्त्ति होती एवं आगे सब दिन हुआ करती, यथा—"माँगे बारिद देहि जल, रामचंद्र के राज।" (उ० दो० २३); इत्यादि विस्तार से कहा गया है। परन्तु फलने न पाया। 'हतेउ समूला'—जड़ या ठूँठ रहता है, तो वृक्ष में फिर से अंकुर फूटते हैं और बढ़कर फिर उसमें डाल-पत्ते आदि होते हैं, पर यहाँ जड़-समेत उखाड़ डाला गया; अर्थात् अब मेरे आगे राम-तिलक किसी तरह नहीं हो सकता। क्योंकि राम-वन-गमन से तो मैं जीता रहूँगा नहीं, यह निश्चित है। अतः, मनोरथ-सहित मैं नाश हुआ। 'समूला' इसके मूल राजा स्वयं हैं, क्योंकि पहले इन्होंने इसकी चर्चा गुरुजी के यहाँ की है। अतः, 'समूला' से अपना भी नाश स्पष्ट कह रहे हैं, यथा—"व्याकुल राउ

सिथिल सब गाता। करिनि कलप तरु मनहुँ निपाता॥" (दो० ३४); इसमें राजा स्वयं कल्पतरु कहे गये हैं और यहाँ उनका मनोरथ कल्पतरु है, दोनों जगह नाश करनेवाली कैकेयी 'करिनि' कही गई, क्योंकि इसने पशु का-सा काम किया। विचार का लेश भी इसमें नहीं है, नहीं तो अपने घर में लगा हुआ कल्पवृक्ष फिर फूलते-फलते समय देवता और मनुष्य की तो बात ही क्या, राक्षस भी न उखाड़ेगा और न दूसरे को उखाड़ने देगा। इस घरवाली ही ने उखाड़ फेंका। राजा को वचनबद्ध करके बल प्राप्त किया, इसी से हथिनी की तरह उखाड़ फेंकने में समर्थ हुई।

(३) 'अवध उजारि कीन्हि···'—मेरा ही मनोरथ नाश हुआ हो, सो नहीं, प्रत्युत् अवध-भर को उजाड़ कर डाला, क्योंकि राम-वन-गमन से अवधवासी उनके ही पीछे भागेंगे, अवध में कोई न रह जाएगा। जब वे किसी तरह रहेंगे भी तब भूषण-भोग आदि त्यागकर रहेंगे, जिससे शोक-पूर्ण अयोध्या चौदह वर्ष तक उजाड़ ही रहेगी। 'दीन्हिसि अचल बिपति···'—उजाड़ करके विपत्ति की नींव डाल दी, अचल नींव दी, क्योंकि मैं वचन छोड़ूँगा नहीं, राम अवश्य वन जायँगे और मेरा मरन होगा, यह सब अचल है, तब क्रमशः विपत्ति बढ़ती ही जायगी। यही दीवार (नेईं के ऊपर) का उठाया जाना है। इसपर भरतजी ने भी कहा है—"मिटइ कुजोग राम फिरि आये। बसइ अवध नहिं आन उपाये॥" (दो० २११)।

(४) 'कवने अवसर का भयेउ···'—मंगल के समय में अमंगल हुआ, राम-तिलक के समय उनको वनवास हुआ, परम लाभ के समय परम हानि हुई, झँखते हैं कि स्त्री पर विश्वास करने से मैं नाश हुआ, जैसे योग-सिद्धि के समय यती को अविद्या नाश करती है। यहाँ राजा यती, राम-तिलक होना योग, अभिषेक हो जाना फल और कैकेयी अविद्या है, अविद्या यती को छल से बिगाड़ती है, यथा—"कल बल छल करि जाइ समीपा। अँचल बात बुझावे दीपा॥" (उ० दो० ११७); वैसे ही कैकेयी ने भी छल से ही बिगाड़ा, यथा—"कपट सनेह बढ़ाइ···" से "लखी न भूप कपट चतुराई।" तक (दो० २६); कैकेयी को अविद्या की उपमा भी युक्त है, यथा—"तिन्ह महँ अति दारुन दुःखद, माया रूपी नारि॥" (आ० दो० ४३); ऊपर राजधानी का उजड़ना कहकर यहाँ अपना भी नाश कहा—यही झँख रहे हैं।

येहि बिधि राउ मनहिं मन झाँखा। देखि कुभाँति कुमति मन माँखा॥१॥
भरत कि राउर पूत न होहीं। आनेहु मोल बेसाहि कि मोहीं॥२॥
जो सुनि सर-अस लाग तुम्हारे। काहे न बोलेहु बचन सँभारे॥३॥
देहु उतर अनुकरहु कि नाहीं। सत्यसंध तुम्ह रघुकुल माहीं॥४॥

शब्दार्थ—झाँखा=(झींखना=कुढ़ना, दुखड़ा रोना)=पछताते रहे। मोल बेसाहि=दाम देकर खरीद लाये। अनुकरहु (अनुकारः सदृशीकरणम् अनुहारः इत्यमरः)=अनुकूल करते हो।

अर्थ—इस प्रकार राजा मन-ही-मन झींखते (पछताते) रहे, राजा के इस बुरे ढंग को देखकर दुर्बुद्धि (कैकेयी) मन में बेतरह क्रुद्ध हुई॥१॥ (और बोली) भरत क्या आपके पुत्र नहीं हैं? या कि मुझे ही दाम देकर खरीद लाये हैं!॥२॥ जो (मेरा माँगना) सुनकर आपको बाण की तरह लगा, सँभालकर वचन क्यों न बोले थे? ॥३॥ उत्तर दीजिये, अनुकूल करते हैं कि नहीं? आप तो सत्यप्रतिज्ञ हैं और रघुकुल में हैं॥४॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि राउ···'—इसका उपक्रम—'तनु धरि सोच लाग जनु सोचन।' से हुआ, यहाँ 'येहि बिधि···झाँखा।' पर उपसंहार करके झींखना और सोचना पर्याय-वाचक जनाया। 'येहि बिधि'

अर्थात् मींखने की विधि भर यहाँ कही गई; इसी प्रकार से बहुत पछताया है, वाल्मी० २।१२।१-३७ देखिये। एवं अन्यत्र के भी इस प्रसंग के वचन आ गये। 'कुभाँति' दीप देहली है। राजा को अपने 'कुभाँति' (प्रतिकूल) देखा, तो वह भी 'कुभाँति' रीति से मन में माँखी (क्रुद्ध हुई) और कुभाँति वचन भी कहेगी। यथा—"प्रिया वचन कस कहसि कुभाँती।" (दो० ३०); कैकेयी ने राजा की कुभाँति दशा से उन्हें अपने प्रतिकूल और कौशल्या के अनुकूल समझा, तो उसे मंथरा के वचन 'मन मलीन मुँह मीठ नृप' सत्य प्रतीत हुए।

(२) 'कुमति मन माँखा'—यहाँ इसका मन नष्ट हुआ—'बात दृढ़ाइ कुमति हँसि बोली' में वचन नष्ट हुआ और—'कोपसमाज साजि सब सोई। राज करत निज कुमति बिगोई॥' में इसने कर्म नष्ट किया। इस तरह इसके तीनों नष्ट हुए, तीनों प्रसंगों में 'कुमति' कही गई, क्योंकि इसकी दुर्बुद्धि ही से तीनों नष्ट हुए।

(३) 'भरत कि राउर-पूत न···'—भरत राज्य के अनधिकारी तभी हो सकते हैं, जब कि वे आपके पुत्र न हों, अथवा वे मोल से खरीदी हुई स्त्री (दासी) की कोख से उत्पन्न हुए हों। यदि ऐसा नहीं है; अर्थात् वे आपके पुत्र हैं और मैं पटरानी ही हूँ, तो आपको भरत-राज्य माँगने से दुःख क्यों हुआ? (क्या राम ही आपके पुत्र और कौशल्या ही पटरानी हैं?)। 'मोल लाना' और 'बेसाहि लाना' पर्याय शब्द हैं। पर जोर देने के लिये साथ ही बोलने का मुहावरा है कि क्या यह आपने 'दाम देकर बेसाहा' है, आपकी 'जर खरीद' है? अतः, पुनरुक्ति नहीं है।

(४) 'जो सुनि सर अस लाग···'—बाण लगने से जो दशा होती है, वैसी दशा राजा की हो गई है, रंग फीका पड़ गया, पीले हो गये, शोक से वचन बंद हो गया, आँखें मूँदे हुए सिर पर हाथ धरे हुए हैं। इसीसे कहती है कि—'सर अस लाग···'।

(५) 'देहु उतर अनु-करहु···'—राजा की दशा देखकर रानी डर रही है कि कहीं बिना हाँ किये प्राण छोड़ दिये, तो मेरा काम बिगड़ जायगा, इसलिये शीघ्र उत्तर चाहती है, इसीसे प्रचारती है—'हमारे वचन बाण से लगे' 'सँभाल कर क्यों न बोले थे' इत्यादि। 'अनु-करहु' अर्थात् जैसा हमने माँगा है, उसके अनुकूल करते हो कि नहीं? 'सत्यसंध तुम्ह···'—जब उसने कहा कि करते हो तब हाँ, कहो अथवा नाहीं कर दो, तब फिर डरी कि कहीं नाहीं न कर दें, इसलिये फिर कहती है कि तुम्हें अपने कुल पर दृष्टि देनी चाहिये, रघुकुल में हो, अभी-अभी आपही कह चुके हैं—"रघुकुल रीति सदा···बचन न जाई॥" अब नाहीं करने से कुल में कलंक लगेगा। पुनः आपने ही अभी वेद-पुराण और मनु आदि के प्रमाण से अपनी सत्य की निष्ठा कही है, सत्यसंध बने हैं, अब प्रतिज्ञा से हटने से भ्रष्टप्रतिज्ञ होकर मृत जीवन भोगोगे, क्योंकि संसार में अपयश होगा जो मरने से भी निकृष्ट है।

देन कहेहु अब जनि बरु देहू। तजहु सत्य जग अपजस लेहू॥५॥
सत्य सराहि कहेहु बरु देना। जानेहु लेइहि माँगि चबेना॥६॥
सिबि दधीचि बलि जो कछु भाखा। तनु धनु तजेउ बचन पनु राखा॥७॥
अति कटु बचन कहति कैकेई। मानहुँ लोन जरे पर देई॥८॥

दोहा—धरमधुरंधर धीर धरि, नयन उघारे राय।
सिर धुनि लीन्हि उसास असि, मारेसि मोहि कुठाय॥३०॥

अर्थ—(आपने) वर देने को कहा था, अब न दीजिये, सत्य छोड़ दीजिये और जगत् में अपयश लीजिये ।।५।। सत्य की सराहना करके आपने वर देने को कहा था। समझते थे कि (रानी) चबेना माँग लेगी ।।६।। राजा शिवि, ऋषि दधीचि और राजा बलि ने जो कुछ कहा, उस वचन एवं प्रतिज्ञा की उन्होंने रक्षा की, (उसमें) तन, धन (भले ही) त्याग दिया ।।७।। कैकेयी अत्यन्त कड़वे वचन कह रही है, मानों जले पर नमक लगाती है ।।८।। धर्म की धुरी धारण करनेवाले (श्रेष्ठ धर्मिष्ठ) राजा ने धैर्य धरकर नेत्रों को खोला, शिर पीटकर आह भरी ऊर्ध्व श्वास लिया (मन में कहा कि) इसने मुझे कुठौर (मर्मस्थल) में तलवार से मारा ।।३०।।

विशेष—(१) 'देन कहेहु अब जनि'''—उपर्युक्त—'देहु उतर अनु-करहु कि नाही' का लक्ष्य लेकर नाहीं करने पर अपयश का भय दिखाती है कि जिससे राजा नाहीं न करें।

(२) 'सत्य सराहि''' सत्य की सराहना, यथा—"सत्य मूल सब सुकृत सुहाये। वेद-पुरान विदित मनु गाये ।।" (दो० २७); आपने समझा था कि यह चबेना एवं वैसी कोई तुच्छ वस्तु माँग लेगी इसी धोखे से आप सत्य-संध बने बैठे थे, कोई भूखा दरिद्री हो, तो भले ही चबेना माँग ले, पर रानी तो जब माँगेगी, तब राज्य ही माँगेगी ।। फिर आगे शिवि आदि के उदाहरण देकर सूचित करती है कि दानी तो वे लोग थे, आप तो मुट्ठी भर चबेना ही देने वालों में हैं, अर्थात् कृपणों में हैं, दानी वे ही थे, जिन्होंने तन, धन सब दे डाले।

(३) 'सिवि दधीचि बलि'''—राजा शिवि—ये उशीनर महाराज के पुत्र थे, इनकी साधुता और उदारता की परीक्षा के लिये इन्द्र और अग्नि आये। अग्नि कबूतर और इन्द्र बाज बनकर शिवि की राज-सभा में आये, कबूतर भागता हुआ शिवि की गोद में जा गिरा और बाज पीछा करता हुआ, वहाँ आ पहुँचा। कबूतर ने राजा से कहा कि मैं आपकी शरण हूँ, मैं वस्तुतः कबूतर नहीं हूँ, एक तपस्वी श्रोत्रिय ब्रह्मचारी हूँ, मेरी रक्षा कीजिये। इसपर बाज शिवि से बोला कि आप मेरे आहार में विघ्न न डालिये। इन दोनों की मनुष्य-भाषा में बातें सुनकर राजा असमंजस में पड़ गये। शरणागतरक्षा धर्म विचारकर राजा ने बाज को और तरह मांस देना चाहा, अथवा जिस तरह मेरी कीर्ति रहे और तुम्हारा प्रिय भी हो, यह भी कहा। बाज ने कबूतर के बराबर अपनी दाहिनी जंघा का मांस राजा को देने के लिये कहा। तराजू मँगा एक तरफ कबूतर को बैठाकर दूसरी ओर अपनी जंघा का मांस काट-काटकर रखने लगे। सारे शरीर का मांस चढ़ा दिया, पर पूरा न पड़ा, तब सारा शरीर ही अर्पण किया, यह देखकर बाज ने कहा कि राजा के लिये कुछ असाध्य नहीं है और वह अंतर्धान हो गया। पीछे कबूतर ने सारा हाल कहा और वर दिया, कि जो मांस तुमने मेरी रक्षा के लिये दिया है, वह तुम राजाओं का स्वर्ण-वर्ण अत्यन्त पवित्र सुगंध युक्त राज-चिह्न होगा और तुम्हारे दक्षिण भाग से यशस्वी कपोत-रोमा पुत्र होगा, यह कहकर वह भी अंतर्धान हो गया। यह कथा महाभारत वन पर्व अ० १९७ के अनुसार है, कहीं-कहीं के लेख में भेद भी है, वह कल्प भेद से है।

दधीचि ऋषि—ये अथर्वण ऋषि के पुत्र थे, उदार बुद्धि और महातपस्वी थे, इनका आश्रम सरस्वती नदी के पार था। इन्द्र जब वृत्रासुर को न मार सके, तब देवताओं ने विष्णु भगवान् से पुकार की। भगवान् ने सबको दधीचि ऋषि के पास भेजा कि जाकर विद्या, व्रत एवं तप के प्रभाव से अत्यन्त दृढ़ उनका शरीर उनसे माँगो।'''वे अपना शरीर दे देंगे। उनकी हड्डियों से विश्वकर्मा जो अस्त्र बना देंगे, उससे तुम मेरे तेज से युक्त होकर वृत्रासुर का शिर काटोगे। देवताओं के साथ इन्द्र ऋषि के पास गया और प्रार्थना की।'''ऋषि ने धर्म की व्यवस्था से स्वीकार कर लिया। उन्होंने शरीर

त्याग दिया विश्वकर्मा ने उनकी हड्डियों से वज्र बनाया, जिससे वृत्रासुर मारा गया। यह कथा श्रीमद्भागवत स्कंध ६ अ० ६-१० के अनुसार है। महाभारत वन पर्व अ० १०० में लिखा है कि देवताओं को ब्रह्माजी ने महर्षि के पास भेजा था।...पुनः पुराणों में यों भी कहा है कि ऋषि ने शरीर पर चार लगाकर मांस गौओं से चटवा दिया और देवताओं को हड्डियाँ दीं। उसीसे पिनाक और विष्णु का धनुष भी बना था, इत्यादि कल्प-भेद है।

राजा बलि—ये दैत्यराज प्रह्लादजी के पौत्र थे, देवताओं को इन्होंने जीत लिया। ये बड़े धर्मज्ञ और दानी थे। देवताओं का राज्य छिन जाने से उनकी माता अदिति ने कश्यपजी से प्रार्थना की। उन्होंने उसे भगवान् की उपासना बतलाई जिससे भगवान् प्रसन्न होकर वामन-रूप से उसके पुत्र हुए। भादो शुक्ला १२ को यह अवतार हुआ। (उस समय बलि इन्द्र बनने के लिये ९९ यज्ञ कर चुका था, १०० वाँ यज्ञ कर रहा था,) यज्ञशाला में बैठे हुए राजा बलि ने वामन-रूप ब्रह्मचारी को आया हुआ देखा, इनका सम्मान कर चरणामृत लेकर उनसे अभीष्ट माँगने को कहा। भगवान् ने तीन पग पृथिवी माँगी। गुरु शुक्राचार्य ने बलि को बहुत समझाया और कहा कि ये भगवान् हैं, छल से तुम्हारा राज्य लेना चाहते हैं। तुम नाहीं कर दो, पर ये प्रतिज्ञा से नहीं हिगे। वामन ब्रह्मचारी ने पग बढ़ाया, तो एक पग से बलि की पृथिवी नाप ली और दूसरे चरण में स्वर्ग आदि सभी आ गये। तीसरे चरण के लिये कुछ न बचा। भगवान् ने कहा कि तेरा वचन असत्य हो रहा है। नहीं तो १ पग और पूरा कर। उसने कहा कि राजा का शरीर आधे राज्य के बराबर है। अतः, इसे ही नाप लीजिये, मैं झूठ नहीं बोलता और अपकीर्ति से डरता हूँ। भगवान् तीसरा चरण उनके शिर पर रखकर उनको भी नाप लिया। (भा० स्कं० ८ अ० १६–२२)।

'जो कछु भाषा'—अर्थात् इन लोगों ने जो कुछ कहा, वही किया, तन-धन बचाने की चेष्टा नहीं की और न शोक ही किया। शिवि-दधीचि ने तन और बलि ने धन दिया। यहाँ भरत को राज्य देने में धन और श्रीरामजी को वन देने में तन का त्याग करना होगा, इसलिये इन्हीं उदाहरणों को कहा।

(४) 'अति कटु बचन कहति...'—कैकेयी के वचन यद्यपि धर्ममय हैं, पर वह इन उदाहरणों को प्रशंसा रूप में रखकर राजा की निन्दा कर रही है कि ये दानी थे और आप तो चबेना ही देना जानते हैं, अतः कृपण हैं। आप तन-धन के त्यागने में मोह कर रहे हैं, इत्यादि निन्दा करना अति कटु वचन कहना जले में नमक लगाना है। प्रथम जलना कहा गया—"बिबरन भयेउ निपट नरपालू। दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू॥" (दो० २८); प्रथम जलाया; अब अधर्मी भी बनाती है। अति कटु वचन कह रही है, क्योंकि अत्यन्त क्रुद्धा है। यथा—"आगे दीखि जरति रिसि भारी।" (दो० ३०); इसीसे अति कटु वचन कह रही है, यथा—"क्रोध के परुष बचन बल, मुनिबर कहहिं बिचारि।" (आ० दो० ३८) किसी दुःखी को और भी दुखाना जले पर निमक छिड़कना कहा जाता है। राजा राम-वनवास के वरदान से अति दुःखी थे, उसपर अधर्मी, कृपण आदि भी कहकर निन्दा करती हुई और दुखाती है। यही जले पर निमक छिड़कना है। यहाँ (सिद्धास्पद) फलोत्प्रेक्षा अलंकार है।

(५) 'धरम धुरंधर धीर...'—यद्यपि रानी वामांगी है, अत्यन्त स्नेही होती हुई भी शत्रुवत् वचन कह रही है। पति को स्त्री पर दंड देने का स्वतः अधिकार है। फिर भी ये राजा हैं, सब तरह के दंड दे सकते हैं, पर सह रहे हैं, यह धर्म की मर्यादा दिखाते हैं। अतः, कवि राजा के इस गुण की प्रशंसा करते हैं कि राजा धर्म-धुरंधर हैं, कैकेयी का अधर्मी बनाना सर्वथा झूठा है। राजा को यद्यपि शोक से नेत्र खोलने एवं बोलने का भी सामर्थ्य नहीं है, तब भी धैर्य धारण कर आँख खोली कि न बोलने से मुझे झूठा कहेगी।

(६) 'सिर धुनि लीन्हि'''—भारी दुःख में लोग शिर पीटते हैं, वैसे ही राजा भी कर रहे हैं और कोई उपाय न बनने से ऊर्ध्व श्वास ले रहे हैं। 'असि' मारना कहते हैं, इसी से आगे असि (तलवार) का ही रूपक कहा जायगा। 'कुठाय'—हम राम को राज्य देते रहे और यह वनवास माँग रही है। यह मर्म-स्थल पर तलवार मारना है। अब तो सत्य जायगा अथवा जीवन—यही तलवार का लगना है। ऐसी जगह आघात किया, जहाँ उपाय भी नहीं हो सकता; क्योंकि राम-शपथ करवाकर दृढ़ कर लिया है, अब मंत्री आदि भी क्या कर सकते हैं? भरत को बुलाकर भी इसे समझाने का समय नहीं है, क्योंकि इसने 'होत प्रात मुनि वेष धरि, जौं न राम बन जाँहि''' (दो० ३३), ऐसी हठ की है, इसीसे ऊर्ध्व-श्वास ले रहे हैं।

आगे दीखि जरति रिस भारी। मनहु रोष तरवारि उघारी ॥१॥
मूठि कुबुद्धि धार निठुराई। धरी कूबरी सान बनाई ॥२॥
लखी महीप कराल कठोरा। सत्य कि जीवन लेइहि मोरा ॥३॥
बोले राउ कठिन करि छाती। बानी सबिनय तासु सोहाती ॥४॥
प्रिया बचन कस कहसि कुभाँती। भीर प्रतीति प्रीति करि हाँती ॥५॥

शब्दार्थ—मूठि = मुठिया, हथियार का वह भाग जो हाथ में रहता है। सान (शाण) = वह पत्थर की चक्की जिस पर शस्त्र आदि तेज किये जाते हैं, शाण धरना = तेज करना। हाँती = तोड़कर।

अर्थ—भारी क्रोध से जलती हुई कैकेयी को आगे देखा, (वह ऐसी जान पड़ती थी कि) मानों रोष-रूपी नंगी तलवार है ॥१॥ जिसकी कुबुद्धि मूठ और निष्ठुरता धार है, जिसे कूबरी ने अच्छी तरह शाण पर धरकर तेज किया है ॥२॥ राजा ने लख लिया कि यह बड़ी कराल (भयंकर) और कठोर है। अतः, मेरा सत्य अथवा जीवन लेगी ॥३॥ राजा छाती कड़ी करके विनय-सहित (विशेष नम्रतापूर्वक) वाणी से बोले, जो उसको रुचे ॥४॥ हे प्रिये! तुम डर, विश्वास और प्रीति को तोड़ करके कुत्सित प्रकार के वचन कैसे कह रही हो ॥५॥ ?

विशेष—(१) 'आगे दीखि जरति रिस भारी।'—कटु वचन सुनकर राजा ने आँख खोली, तो देखा कि उसकी भौंहें चढ़ीं, आँखें लाल, ओष्ठ फड़कते और मुख-चेष्टा लाल है। इस प्रकार भारी क्रोध से जलती है। 'मनहुँ रोष तरवारि उघारी।'—रोष तलवार है, प्रणय (प्रीति) रूप म्यान है, जिसमें रक्खी हुई थी। अब म्यान से पृथक् हो गई, यथा—"भीर प्रतीति प्रीति करि हाती।" आगे कहा है। रोष भारी है, अतः भारी तलवार है, इसीसे मारेगी। म्यान है ही नहीं, इससे नहीं कहा गया। ऊपर 'असि मारेसि मोहि कुठाय'—उसमें इसके वचन को तलवार कहा गया और यहाँ 'मनहुँ रोष तलवार'''' से इसके तन (रूप) को तलवार कहा गया। रूप से कर्म हुआ, इस तरह कर्म और वचन को तलवार कहा गया, मन को नहीं, क्योंकि उससे प्रहार नहीं होता; अतः, दो ही को 'असि' कहा।

(२) 'मूठि कुबुद्धि धार'''—'कुबुद्धि' यह कि सौत के पुत्र को राज्य न होने पावे, प्रत्युत वन भेजकर उसे दुःखी करूँ यही दृढ़-रूप से पकड़े हुए है। रोष तलवार है। पति, सौत-पुत्र एवं परिवार आदि किसी के दुःख की पीड़ा इसे नहीं है, यही निष्ठुरता धार है। मंथरा शाण धरनेवाली है, क्योंकि उसीको कर्त्ता कहा गया है, यथा—"कोन्हेसि कठिन पढ़ाइ कुपाठू।" "कुबरी'''कपट छुरी उर पाहन टेई।" "कोटि कुटिल मनि गुरु पढ़ाई॥" इत्यादि। "कहि कहि कोटिक कपट कहानी।" शाण का यंत्र और "काज

सँवारेहु सजग सब, सहसा जनि पतियाहु ॥" यह शाण धरने की क्रिया है ; क्योंकि कपट कहानियों के उदाहरण से निष्ठुरता दृढ़ की गई है और इस इस तरह तुम कार्य सँवारना, यह शाण धरना, (उस धार को) तेज करना है ।

(३) 'लखी महीप कराल'''—जब प्रीति-रूप म्यान से पृथक् हो गई, तब राजा ने देखा। देखने में कराल (भयंकर) है और काटने में कठोर है। 'भारी रिसि' को ही 'भारी असि' कहा गया था। भारी क्रोध देखकर भय लगता ही है। कठोरता यह कि समझाने-बुझाने से नम्र न होगी। समझाना-बुझाना आदि ढाल हैं, इन्हें काट बहावेगी।

(४) 'सत्य कि जीवन लेइहि '''—पहले आशा थी कि सामान्य मान होगा तो मना लेंगे, पर अब निश्चय हो गया कि यदि रामजी को रक्खें तो सत्य लेगी, अन्यथा जीवन (प्राण) लेगी। करालता देखकर संभव है कि पीठ दिखानी पड़े; अर्थात् सत्य छूटे, यदि सामना करें, तो कठोरता से प्राण ही लेगी, क्योंकि रामजी को वन देने में दया न करेगी।

(५) 'बोले राउ कठिन करि'''—राजा धर्मवीर हैं। अतः, सोचा कि सत्य न जाय, जीवन भले ही चला जाय। इससे तलवार की चोट सहने के लिये छाती कड़ी की कि प्राण दे दूँगा पर सत्य न छोड़ूँगा। पहले कैकेयी ने धोखा देकर भारी आघात किया, श्रीरामजी के वनवास का वर माँगना ही प्रहार है, तब राजा घायल हो गये थे—"दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू।" कहा गया, अब सावधान हुए, इस तरह कि जब कैकेयी शिवि आदि के उदाहरण देकर अधर्मी बनाने लगी तब छाती कड़ी करके बोले। उसने कहा कि दो, या तो 'नहीं' करो, यदि राजा नहीं बोलते तो 'नहीं' होती है, इससे बोले। 'बानी सबिनय तासु सुहाती'—राजा ने साम नीति से काम लिया। इसलिये कि कहे सुने मान जाय तो दूसरा वर और कुछ माँग ले तो मेरा सत्य और जीवन दोनों रह जायँ।

(६) 'प्रिया बचन'''भीर प्रतीति'''—'प्रिया' अर्थात् तुम तो प्रियवादिनी हो, तुम्हें कुभाँति वचन नहीं कहना चाहिये, किन्तु जो हमें प्रिय लगे वही बोलना चाहिये। 'भीर' शब्द संस्कृत के 'भी' शब्द से बना हुआ है। डर के अर्थ में यहाँ संगत है। कटु वचन ही कुभाँति वचन है। इनसे डर, प्रतीति और प्रीति का नाश होता है। स्वामी से तीनों का बर्त्ताव चाहिये, यथा—"सुत की प्रीति प्रतीति मीत की नृप ज्यों डर डरि है।" (वि० २६८); पहले तुम तीनों प्रकार बर्त्तनेवाली प्रिया थी, पर आज निडर, अविश्वासिनी और निष्ठुर होकर और भाँति वचन बोल रही हो, यह क्यों ? अथवा हमारा डर, कौशल्याजी की प्रतीति और रामजी की प्रीति को नष्ट करके—यह भी भाव कहा जाता है।

मोरे भरत राम दुइ आँखी। सत्य कहउँ करि संकर साखी ॥६॥
अवसि दूत मैं पठउब प्राता। अइहहिं बेगि सुनत दोउ भ्राता ॥७॥
सुदिन सोधि सब साज सजाई। देउँ भरत कहँ राज बजाई ॥८॥

दोहा—लोभ न रामहि राज कर, बहुत भरत पर प्रीति।
मैं बड़ छोट बिचारि जिय, करत रहेउँ नृप नीति ॥३१॥

अर्थ—मेरे तो भरतजी और रामजी दो नेत्र हैं। मैं शिवजी को साक्षी करके सत्य कहता हूँ ॥६॥ मैं अवश्य ही प्रातःकाल दूत भेजूँगा, दोनों भाई सुनते ही शीघ्र आवेंगे ॥७॥ सुन्दर दिन (मुहूर्त) शोधकर सब सामग्री सजाकर डंके की चोट पर (धूमधाम से) भरतजी को राज दूँगा ॥८॥ रामजी को राज्य का लोभ नहीं है, भरतजी पर उनको बहुत प्रीति है। मैं ही बड़े-छोटे का मन में विचार करके राजनीति (का वर्त्ताव) कर रहा था ॥३१॥

विशेष—'मोरे भरत राम दुइ आँखी।'—आँखवालों को दाहिनी और बाईं आँखें समान प्रिय होती हैं, वैसे भरतजी और रामजी दोनों ही मुझे समान प्रिय हैं। यह वचन—'भरत कि राउर पूत न होहीं। आनेहु मोल···' के उत्तर में है। कैकेयी के विश्वास के लिये शिवजी की साक्षी देते हैं कि वे त्रिनेत्र हैं, सूर्य-चन्द्रमा नेत्र से दिन-रात देखते हैं और अग्नि नेत्र से दंड देते हैं, यदि मैं बनाकर कहता हूँगा, तो वे दंड देंगे, संहारकर्त्ता देव हैं। अतः, शील न करेंगे। 'भरत' छोटे हैं तब भी प्रथम उन्हें कहा, क्योंकि यहाँ 'तासु सुहाती' कह रहे हैं और उसने भरतजी को राज्य माँगकर उन्हें ज्येष्ठ की जगह में मान लिया है। अतः, उसकी सिद्धि जान वह प्रसन्न होगी।

(२) 'अवसि दूत मैं पठउब···'—उसके विश्वास के लिये 'अवसि' और 'प्रात' कहा। पुनः उत्तरार्द्ध में—'अइहहिं बेगि सुनत···' कहा अर्थात् शीघ्र ही आवेंगे तब तो तुम्हें प्रतीति हो ही जायगी। हम ऐसी चिट्ठी लिखेंगे कि शीघ्र ही दोनों भाई आ जायँगे। 'दोउ भ्राता'—क्योंकि दोनों सदा साथ ही रहते हैं, यथा—"बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी॥ भरत सत्रुहन दूनौ भाई। प्रभु-सेवक जस प्रीति बड़ाई॥" (बा० दो० १९७); दोनों साथ ही गये भी हैं। अथवा यह भी भाव है कि पहले एक (भरतजी) के बिना बुलाये शीघ्रता से कार्य ठान दिया गया तो सिद्ध न हुआ। अतः, अब उन दोनों को ही साथ बुलावेंगे कि किसी तरह के विघ्न की शंका न रहे।

(३) 'सुदिन सोधि सब साज···'—कल प्रातःकाल के मुहूर्त्त में वे दोनो यहाँ नहीं आ सकते, क्योंकि दूर कैकेय देश में हैं। बस, सुदिन प्राप्ति का ही विलंब समझो, शोधकर उत्तम मुहूर्त्त में भरतजी का तिलक करेंगे जिससे उसमें कोई विघ्न न हो। 'सब साजि सजाई' अर्थात् भरत के अभिषेक में कम उत्साह नहीं है, बड़े उत्साह से तैयारी करके तिलक करेंगे। 'बजाई'—यह न समझो—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥" (दो० १४); का स्मरण करके छिपकर चुपचाप तिलक कर दें, सो नहीं, धूम-धाम से गाजे-बाजे के साथ राज-तिलक करेंगे, हम इस अपयश एवं कुल-कलंकित होने से न डरेंगे।

(४) 'लोभ न रामहिं राज कर···'—पहले वर का सुन्दर विधान-पूर्वक देना कहकर अब दूसरे वर के प्रति कहते हैं—वह समझती है कि भरतजी के राजा होने पर रामजी ईर्ष्या करेंगे, क्योंकि उन्हें राज्य छूटने का दुःख होगा। उसपर कहते हैं कि रामजी को राज्य का लोभ नहीं है, प्रत्युत भरतजी पर उनकी बहुत प्रीति है; अतः, भरतजी के राजा होने पर वे प्रसन्न होंगे, ईर्ष्या न करेंगे। 'बहुत भरत पर प्रीति'—प्रीति और भाइयों पर भी है पर भरतजी पर बहुत प्रीति है। यथा—"तुम्ह पर अस सनेह रघुबर के। सुख जीवन जग जस जड़ नर के॥" (दो० २०७); यह भरद्वाजजी ने श्रीभरतजी से कहा है। "तात भरत प्रान समान राम प्रिय अहहू॥" (दो० १८१)। 'मैं बड़ छोट बिचारि ···'—'मैं' अर्थात् कौशल्याजी एवं रामजी की सम्मति इसमें नहीं थी। मैं ही केवल राजनीति के अनुकूल तिलक करता था, यथा—"जेठ स्वामि सेवक लघु·" अच्छा, अब श्रीरामजी का तिलक न सही, श्रीभरतजी ही का होगा।

राम-सपथ-सत कहउँ सुभाऊ। राम-मातु कछु कहेउ न काऊ ॥१॥
मैं सब कीन्ह तोहि बिनु पूछे। तेहि ते परेउ मनोरथ छूछे ॥२॥
रिस परिहरु अब मंगल साजू। कछु दिन गये भरत जुवराजू ॥३॥
एकहि बात मोहि दुख लागा। बर दूसर असमंजस माँगा ॥४॥
अजहूँ हृदय जरत तेहि आँचा। रिस परिहास कि साँचहु साँचा ॥५॥

अर्थ—श्रीरामजी की सौ शपथ करके मैं स्वभाव से ही कहता हूँ कि श्रीरामजी की माता ने (तिलक के विषय में) कभी कुछ नहीं कहा ॥१॥ मैंने तुमसे बिना पूछे ही यह सब कुछ किया, इसीसे मेरे सब मनोरथ निष्फल हुए ॥२॥ अब क्रोध छोड़ो और मंगल साज़ साजो, कुछ ही दिन बीतने पर भरत युवराज हो जायँगे ॥३॥ एक ही बात से मुझे दुःख हुआ कि तुमने दूसरा वर बड़ी अड़चन का माँगा है ॥४॥ उसीकी आँच से अब भी मेरा हृदय जल रहा है, यह तुम्हारा क्रोध है या हँसी है या सत्य ही सत्य है ॥५॥

विशेष—(१) 'राम-सपथ-सत कहउँ······'—कैकेयी को तीन व्यक्तियों पर शंका है—राजा, कौशल्याजी और श्रीरामजी पर, इसे राजा समझ गये हैं। अतः, तीनों की सफाई देते हैं, अपनी और श्रीरामजी की सफाई दे चुके। अब कौशल्याजी के विषय में श्रीरामजी की सैकड़ों शपथ करके कहते हैं, क्योंकि सौत समझ इनपर उसे भारी संदेह होगा, राम-शपथ से वह सत्य समझेगी, क्योंकि वह जानती है कि श्रीरामजी राजा को प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं। अतः, उनकी झूठी शपथ राजा न करेंगे। 'राम मातु' अर्थात् जैसे श्रीरामजी किसी से ईर्ष्या-द्वेष नहीं रखते, वैसे उनकी माता भी शुद्ध हैं। उन्होंने कभी और कुछ भी इसकी चर्चा तक नहीं की।

(२) 'मैं सब कीन्ह तोहि···'—श्रीरामजी और कौशल्याजी का दोष नहीं, दोष सब मेरा ही है कि मैंने तुमसे न पूछ लिया। इससे मनोरथ ही निष्फल हुआ। 'सब कीन्ह'—तिलक का निश्चय, मंगल सजाना आदि। डर के मारे राजा उसे दोष नहीं देते, सब दोष अपने ही शिर ले लेते हैं, क्योंकि 'दारु सुहाती' प्रथम ही कहा गया।

(३) 'रिसि परिहरु अब मंगल······'—रिस से जर रही है—'आगे दीखि जरत रिस भारी।' अतः, इसे त्यागने को कहते हैं, क्योंकि जिसपर क्रोध होता है, उसके गुण भी अवगुण की तरह भासते हैं, भाव रिस छोड़ देगी, तब कौशल्याजी और श्रीरामजी में अवगुण न जान पड़ेंगे। राजा अपने सबकी सफाई देकर इसे ही दोषी सूचित करते हैं कि तू रिस के वश है, इसीसे सबमें दोष देखती है। 'मंगल-साजू'—मंगल साज सजाने में कई दिन लगेंगे, अभी से मंगल सज चलो, जिससे भरतजी के आने पर तिलक में विलंब न हो। 'कछु दिन गये ···'—थोड़े ही दिनों में शीघ्र ही तिलक होगा।

(४) 'एकहि बात मोहि दुख······'—उसने कहा था—'भरत कि राउर···जो सुनि···' उसपर कहते हैं कि भरतजी के लिये राज्य माँगने से दुःख नहीं लगा, किंतु दूसरे वर से ही दुःख है। इसने तो 'असमंजस' पैदा कर दिया। इस वर से राजा इतना डरे हैं कि इसका नाम तक जिह्वा से नहीं कहते। असमंजस के विषय में वाल्मी० २।१२–१३ में बहुत कुछ कहा है कि लोक मुझे क्या कहेगा। सब निन्दा करेंगे। स्त्रीजित् कहकर व्यंग कहेंगे। पुत्र पिता में स्नेह छोड़ देंगे और पिता पुत्र में। श्रीरामजी के वन जाने से कोई भी अयोध्यावासी न जियेगा, इत्यादि।

(५) 'अजहूँ हृदय जरत······'—भाव यह कि प्रथम इसे सुनते ही जल गये, यथा—"दामिनि हनेहुँ मनहुँ तरु तालू।" अब भी उसे समझकर हृदय जल ही रहा है। 'रिस परिहास की···'—कैकेयी के लक्षणों से राजा को तीनों बातें जान पड़ीं, उन्हीं का निर्णय करते हैं, 'रिस' यथा—"आगे दीखि जरत रिस भारी॥" 'परिहास'—"बात दृढ़ाइ कुमति हँसि बोली।" 'साचेहुँ साँचा'—"देन कहेहु अब जनि बर देहू। तजहु सत्य जग अपजस लेहू॥" इत्यादि से तीन तरह की प्रतीति हुई। 'रिस' प्रत्यक्ष है। अतः, प्रथम कहा। रिस के आवेश में लोग अनुचित कह डालते हैं, यथा—"जेहि बस जन अनुचित करहिं···" (बा० दो० २७७); अथवा हमारी परीक्षा लेने के लिये कि देखें इनका भरतजी में कैसा प्रेम है हँसी की हो, या सत्य ही माँग रही हो। राजा प्रथम के दो (रिस, परिहास) हेतुओं से रानी को हठ छोड़ने का अवसर देते हैं।

'कि साँचेहु साँचा'—यथा—"नहि किंचिदयुक्तं वा विप्रियं वा पुरा मम। अकारोस्त्वं विशालाक्षि तेन न श्रद्दधामि ते॥" (वाल्मी० २।१२।२०); अर्थात् मुझे विश्वास नहीं होता (कि तुम ऐसा माँग रही हो), क्योंकि तुमने आज तक मेरा कोई अपराध नहीं किया और न कोई प्रतिकूल वर्ताव ही किया है।

कहु तजि रोष राम-अपराधू। सब कोउ कहइ राम सुठि साधू॥६॥
तुहूँ सराहसि करसि सनेहू। अब सुनि मोहिं भयेउ संदेहू॥७॥
जासु सुभाव अरिहु-अनुकूला। सो किमि करिहि मातु प्रतिकूला॥८॥

दोहा—प्रिया हास रिस परिहरहि, माँगु बिचारि बिबेक।
जेहि देखउँ अब नयन भरि, भरत - राज- अभिषेक॥३२॥

अर्थ—क्रोध छोड़कर रामजी का अपराध कहो। सभी कोई कहते हैं कि रामजी अत्यन्त साधु हैं॥६॥ तू भी सराहती और स्नेह करती थी। अब तेरा वचन सुनकर मुझे संदेह हुआ॥७॥ जिसका स्वभाव शत्रु को भी अनुकूल है, वह माता के प्रतिकूल कैसे कर सकता है?॥८॥ हे प्रिये! हँसी और क्रोध छोड़ो, विवेक से विचार-पूर्वक वर माँगो, जिससे मैं अब नेत्र भरके भरतजी का राज्याभिषेक देख सकूँ॥३२॥

विशेष—(१) 'कहु तजि रोष राम···'—क्रोध अंधकारमय रात की तरह है, उसमें कुछ नहीं सूझता, यथा—"घोर क्रोध तम निसि जो जागा।" (कि० दो० १०); क्रोधवश अनुचित कहकर लोग पछताते हैं। अतः, क्रोध छोड़कर रामजी का अपराध कहो। क्रोध छोड़कर विचारने से रामजी में अपराध न देख पड़ेंगे, क्योंकि—'सब कोउ कहइ राम सुठि साधू।' अर्थात् सामान्य साधु से कभी अपराध हो भी जाता है, यथा—"काल सुभाउ करम बरिआई। भलेउ प्रकृत बस चुकइ भलाई॥" (बा० दो० ६); पर 'सुठि साधू' से तो अपराध होता ही नहीं, यथा—"बिधि बस सुजन कुसंगति परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं (बा० दो० २)। तथा—"सान्त्वयन्सर्वभूतानि रामः शुद्धेन चेतसा।··· तस्मिन्नार्जवसंपन्ने देवि देवोपमे कथम्। पापमाशससे रामे महर्षि-सम-तेजसि॥ ' क्षमा यस्मिंस्तपस्त्यागः सत्यं धर्मः कृतज्ञता। ·····" (वाल्मी० २।१२।२८–३२)।

(२) 'तुहूँ सराहसि करसि······'—मुख से सराहती थी और हृदय से स्नेह करती थी। अब इस दूसरे वर का माँगना सुनकर मुझे तेरे पूर्व स्वभाव पर संदेह हो गया कि तेरी वह सराहना झूठी थी

और स्नेह भी झूठा ही था, क्या ? किस कारण से तूने रामजी के लिये वनवास माँगा। हाँ, यह हो सकता है कि रामजी ने कुछ तुम्हारे प्रतिकूल बर्ताव किया हो, पर यह कैसे हो सकता है ? क्योंकि—

(३) 'जासु सुभाव अरिहु अनुकूला। सो···'—रामजी का स्वभाव शत्रु के साथ भी अनुकूल ही है, यथा—"अरिहुँक अनभल कीन्ह न रामा।" (दो० १८३), "बैरिहु राम बड़ाई करहीं।" (दो० ११६); "उमा राम मृदु चित करुना कर। बैर भाव मोहिं सुमिरत निसिचर॥ देहि परम गति सो जिय जानी॥ अस कृपालु को कहहु भवानी॥" (लं० दो० ४४); तब वे माता के प्रतिकूल कैसे करेंगे ? इस तरह राजा ने श्रीरामजी की सुठि साधुता पुष्ट की और जनाया कि तू ही क्रोधवश उनमें दोष देख रही है।

(४) 'प्रिया हास रिसि परिहरहि···'—जब रामजी का कोई दोष नहीं सिद्ध हुआ, तब उपर्युक्त—'रिस परिहास कि साँचेहु साँचा।' को लेकर कहते हैं कि हँसी से हो वा रिसि से यह हठ हो तो उसे छोड़ो, क्योंकि तुम प्रिया हो और इस दूसरे वर से मुझे असह्य दुःख हो रहा है। हमारा अप्रिय तुम्हें न करना चाहिये। यदि 'साँचेहु साँचा' ही हो तो विवेक से विचार कर माँगो, क्योंकि वन को निकाला जाना, वध की जगह में दंड विधान है, वैसा रामजी का कोई दोष नहीं, तब तो यह अविवेक है। इससे तुम्हारी और हमारी भी निन्दा होगी। रानी वर माँग चुकी है, बदलने में संकोच होगा, इसलिये हँसी का हेतु दिखाते हैं कि इस बहाने हठ छोड़ दे और दूसरे वर में और कुछ माँग ले।

(५) 'जेहि देखउँ अब ···'—अब तो भरतजी का तिलक पक्का ही हो गया, किन्तु दूसरा वर नहीं बदलोगी तो फिर तुम्हारे प्रिय पुत्र भरतजी का राज्याभिषेक हम कैसे देखेंगे ? अपने पुत्र का अभिषेक देखने के लिये मुझे जीवनदान दो, इसलिये दूसरा वर बदल दो। क्योंकि राम वनवास से तुम्हारा कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अतः, यह माँगना तो निरा अविवेक है। यदि यही माँगोगी तो फिर मैं तो किसी तरह भी जीता न रहूँगा, फिर भरतजी का राज-तिलक कैसे देखूँगा ? 'नयन-भरि' अर्थात् पूर्ण-उत्साह-सहित देखना चाहता हूँ, मेरी पूर्ण रुचि है।

जियइ मीन बरु बारि बिहीना। मनि बिनु फनिक जियइ दुख दीना॥१॥
कहउँ सुभाव न छल मन माहीं। जीवन मोर राम बिनु नाहीं॥२॥
समुझि देखु जिय प्रिया प्रबीना। जीवन राम - दरस - आधीना॥३॥
सुनि मृदुबचन कुमति अति जरई। मनहुँ अनल आहुति घृत परई॥४॥

अर्थ—चाहे बिना पानी के मछली भले ही जिये और सर्प बिना मणि के दुःख से दीन होकर जीता रहे॥१॥ (परन्तु) मैं स्वभाव से ही सत्य कहता हूँ, मन में छल नहीं है। मेरा जीवन राम (दर्शन) के बिना नहीं है॥२॥ हे चतुर प्रिये ! हृदय में विचारकर देखो, मेरा जीवन राम दर्शन के अधीन है॥३॥ राजा के कोमल मधुर वचन सुनकर दुर्बुद्धि कैकेयी अत्यन्त जल रही है, मानों अग्नि में घृत की आहुतियाँ पड़ रही हों॥४॥

विशेष—(१) 'जियइ मीन बरु बारि···'—मछली जल बिना नहीं जी सकती, यथा—"जल बिनु थल कहाँ मीच बिनु मीन को।" (वि० १७८), सर्प मणि बिना तड़पते हुए जीता है, यथा—"मनि बिना फनि जिये व्याकुल बिहाल रे।" (वि० ६७), यही पूर्व-जन्म का वर है—"मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहि अधीना॥" (बा० दो० १५०); अतः, स्वभावतः मुख

गया। इनकी प्रकृति चाहे बदल जाय; अर्थात् पानी बिना मछली जिये और मणि बिना सर्प आनन्द-पूर्वक जिये। पर—

(२) 'कहउँ सुभाव न छल···'—उपर्युक्त दो दृष्टान्तों की सत्यता में संदेह करेगी कि मुझे वैधव्य का भय देकर स्वार्थ साधते हैं, उसपर कहते हैं कि मैं छल से नहीं कहता, किन्तु यह यथार्थ ही है, यद्यपि और मनुष्य के लिये मीन की तरह वियोग में तुरत मरना भले ही असम्भव हो, पर मेरे विषय में सत्य ही है।

(३) 'समुझि देख जिय प्रिया···'—चतुरों के लिये संकेत-मात्र पर्याप्त है, वे स्वयं समझ लेते हैं, ऐसे ही तुम तो प्रिया प्रवीणा हो, मेरी प्रवृत्ति रामजी के विषय में जैसी है इसको विचारकर जान सकती हो कि मैं राम-बिना नहीं जी सकता, यथा—"नृप कि जिइहि बिनु राम।" (दो० ४१); यह पुरवासियों का अनुमान है और तुम तो प्रवीणा हो फिर क्यों न समझोगी।

मीनवाले दृष्टान्त को उपर्युक्त—'जीवन मोर राम बिनु नाहीं।' से जनाया और सर्प के दृष्टान्त को यहाँ—'जीवन राम दरस आधीना' से कहा कि मैं राम के दर्शन से ही जीता हूँ।

अभी तक राजा ने इसे *'प्रिया'* कहा और *प्रवीणा* कहकर समझने को कहा, पर इसने नहीं समझा तो अब आगे प्रिया न कहेंगे। इस प्रसंग में तीन बार इसे 'प्रिया' कह चुके।

(४) 'सुनि मृदु बचन कुमति···'—राजा ने मृदु वचनों से प्रवीणा आदि कहकर समझना कहा, इसने न सुनी तो कवि उसे *'कुमति'* कहते हैं और तदनुसार *'अति जरई'* ठीक ही है। पहले जलती थी—'आगे दीखि जरत रिस भारी।' फिर मृदु वचनों को सुनकर अत्यन्त जलने लगी। 'मनहुँ अनल आहुति···' कैकेयी का क्रोध अग्नि है, राजा के मृदु वचन (स्नेह भरे) घृत हैं जो घृत की तरह गुणद, पवित्र, चिकने और कोमल हैं। आहुति पाने से अग्नि की तरह इसका क्रोध बढ़ा, यथा—"लखन उतर आहुति सरिस, भृगुबर कोप कृसानु। बढ़त देखि···" (बा० दो० २७६)।

कहइ करहु किन कोटि उपाया। इहाँ न लागिहि राउरि माया ॥५॥
देहु कि लेहु अजस करि नाहीं। मोहि न बहुत प्रपंच सोहाहीं ॥६॥
राम साधु तुम्ह साधु सयाने। राममातु भलि सब पहिचाने ॥७॥
जस कौसिला मोर भल ताका। तस फल उन्हहिं देउँ करि साका ॥८॥

दोहा—होत प्रात मुनि-बेष धरि, जौ न राम बन जाहिं।
मोर मरन राउर अजस, नृप समुझिय मन माहिं ॥३३॥

शब्दार्थ—माया = छल, चालबाजी। प्रपंच = झंझट, माया, टालमटोल के वाग्जाल। भल ताका = बुरा चाह (व्यंग्य से ऐसा कहने का मुहावरा है)। साका = ख्याति, कीर्ति-स्मारक।

अर्थ—वह कहने लगी कि आप करोड़ों उपाय क्यों न करें, यहाँ आपकी माया नहीं लगेगी ॥५॥ वर दीजिये या तो 'नहीं' करके अपयश लीजिये, मुझे बहुत प्रपंच नहीं अच्छा लगता ॥६॥ श्रीरामजी साधु हैं, तुम सयाने साधु हो और श्रीरामजी की माता भली (साधु) हैं, मैंने सबको पहचान लिया ॥७॥ कौशल्याजी ने

जैसा मेरा भला ताका है वैसा ही फल मैंने उन्हें साका (ख्याति) करके दूँगी (संसार भर में प्रकट करके दूँगी कि वे जन्म-भर न भूलें) ॥८॥ प्रात होते ही मुनि वेष धारण करके जो रामजी वन को न जायँगे तो हे नृप ! मन में समझ रखिये कि मेरी मृत्यु और आपका अपयश होगा ॥३३॥

विशेष—(१) 'कहइ करहु किन कोटि···'—राजा ने अपनी, श्रीरामजी की और श्रीकौशल्याजी की सफाई में जो-जो बातें कही हैं, उन्हीं को 'कोटि उपाया' कहती है। भरतजी रामजी के समान ही प्रिय हैं, विना राम के मैं नहीं जी सकता, राम-वन के बदले और कुछ माँग ले, इत्यादि माया है।

'इहाँ न लागिहि राउरि माया'—जो जिसका भेद न जाने उसपर उसकी माया लगती है। हम तुम्हारी चालें जान चुकी हैं, यथा—"मन मलीन मुँह मीठ नृप।" (दो० १७); यह गुरु मंथरा ने सिखा रक्खा है। इसपर कहा जाता है कि इसपर ब्राह्मी माया (सरस्वती) लगी हुई है तो नर-माया उसपर नहीं लग सकती, वह ठीक नहीं क्योंकि न तो कैकेयी ही अपने को माया मोहित मानती है और न राजा के वचन ही मायामय हैं, राजा ने तो शुद्ध भाव से यथार्थ कहा है।

(२) 'देहु कि लेहु अजस···'—इसे प्रयोजन से ही काम है, इससे 'देहु' प्रथम कहती है। ऊपर 'माया' कही थी, उसीको यहाँ 'प्रपंच' कहा है; अर्थात् हमें बहुत वाग्जाल फैलाने से काम नहीं है या दो या नहीं कर दो, बस।

'राम साधु तुम साधु ··'—यह—'सब कोउ कहइ राम सुठि साधू' के प्रति है, 'सब पहिचाने'—मन्थरा ने सबकी पहचान करवाई है, यथा—"प्रिय सिय राम कहा ··" से "बिनु जर जारि करइ सोइ छारा॥" (दो० १६) तक अर्थात् रामजी वैरी हैं। "अरि तुम्हारि चह सौति उखारी।" (दो० १६); अर्थात् कौशल्या वैरिणी हैं। "मन मलीन मुँह मीठ नृप।" (दो० १७) अर्थात् राजा कपटी हैं। रामजी साधु हैं तभी तो भाई को बंदीखाने में डालने के विचार से उससे चुराकर अपना तिलक कराते थे। तुम सयाने,साधु हो तभी तो कपटमय व्यवहार है कि ऊपर से हमसे मीठे बने थे और भीतर गला काटने के प्रबंध में थे। कौशल्या हमसे चुराकर बेटे के तिलक का मंगल-साज सजाती थीं, ऐसे लोग शीघ्र पहचान में नहीं आते, पर मैंने अच्छी तरह पहचान लिया कि सब गँव के साधु हैं। यहाँ पदार्थावृत्ति अलंकार है।

(३) 'जस कौसिला मोर भल···'—जैसा उन्होंने मेरे साथ किया वैसा ही मैं उनके साथ करूँगी। वे मेरी जड़ उखाड़ना, मुझे दासी बनाना और मेरे पुत्र को निकालकर अपने पुत्र को राज्य दिलाना चाहती थीं। वैसा ही सब मैं भी उनके प्रति करूँगी, उनके पुत्र को निकालकर अपने पुत्र को राज्य दूँगी। 'करि साका' यह अधिक करूँगी कि उन्होंने चोरी से सब कुछ मेरे साथ किया है और मैं डंके की चोट पर उसका फल चखाऊँगी कि सर्वदा संसार में कीर्त्ति बनी रहेगी। यह मंथरा की बातों को लेकर कह रही है, यथा—"जेहि राउर अति अनभल ताका। सोइ पाइहि यह फल परिपाका॥" (दो० २०)।

(४) 'होत प्रात मुनि वेष···'—राजा ने कहा था—'जीवन मोर राम बिनु नाहीं।' उसी पर कहती है कि तुम रामजी के विना नहीं जी सकते और मैं रामजी के घर रहने से न जीऊँगी। राजा ने कहा था—'समुझि देखु जिय प्रिया प्रवीना' उसी पर कहती है—'नृप समझिय मन माहिं।' राजा ने कहा था—'जीवन राम दरस आधीना' उसपर कहती है—'होत प्रात मुनि ··' अर्थात् मैं उन्हें न देखूँ, ऐसी शीघ्रता से वे वन को जायँ। 'मोर मरन राउर अजस'—मेरे मरने के साथ ही आपका अपयश होगा, जिससे मुझसे कोटि गुणा फल भोगोगे, यथा—"संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥" (दो० ९७); अतः, 'नृप समझिय' अर्थात् मन में समझ लीजिये कि आपके लिये क्या अच्छा है। सत्य की रक्षा में एक ही बार मरना होगा और भ्रष्ट-प्रतिज्ञ होकर जीने से कोटि मरण का दुःख होगा। राजा अपयश को डरते हैं, इसीसे यह इसक

भय बार-बार दिखाती है—"देन कहेहु अब जनि बर देहू। तजहु सत्य जग अपजस लेहू॥" (दो० ११); "देहु कि लेहु अजस करि नाहीं।" (दो० १२); पुनः यहाँ भी 'रा3र अजस' कहा है।

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहुँ रोष-तरंगिनि बाढ़ी॥१॥
पाप-पहार प्रगट भइ सोई। भरी क्रोध-जल जाइ न जोई॥२॥
दोउ बर कूल कठिन हठ धारा। भँवर कूबरी-बचन-प्रचारा॥३॥
ढाहत भूप-रूप तरुमूला। चली बिपति-बारिधि-अनुकूला॥४॥

शब्दार्थ—तरंगिनि = लहर लेनेवाली अर्थात् नदी। जोई = देखी। प्रचार = प्रेरणा, रह-रहकर स्मरण होना।

अर्थ—ऐसा कहकर कुटिला कैकेयी उठकर खड़ी हुई, मानों क्रोध की नदी बढ़ी॥१॥ वह नदी पाप-रूपी पहाड़ से निकली है, क्रोध-रूपी जल से भरी हुई देखी नहीं जाती (अर्थात् भयंकर है)॥२॥ दोनों वरदान दोनों किनारे हैं, कैकेयी का कठिन हठ कठिन धारा है, कुबड़ी मंथरा के वचनों की प्रेरणा भँवर है॥३॥ यह नदी भूप-रूपी वृक्ष को जड़ से ढाहती (गिराती) हुई, विपत्ति-सागर की ओर (उससे मिलने) को सीधी चली॥४॥

विशेष—(१) *'अस कहि कुटिल भई···'—यहाँ कैकेयी के कर्म की भीषणता दिखाने के लिये* कवि ने नदी का सांग रूपक बाँधा है। नदी टेढ़ी होती है, वैसे ही यह भी 'कुटिल' है। 'भई उठि ठाढ़ी' अर्थात् मुझे जो कुछ कहना था, कह दिया, अब उसमें अदल-बदल नहीं हो सकता। व्यर्थ प्रपंच की बातें कौन सुने, ऐसी जगह से टल जाना ही भला है, इससे मैं जाती हूँ, ऐसा कहती हुई, उठ खड़ी हुई। इसका क्रोध-पूर्वक उठकर खड़ा होना, उत्प्रेक्षा का विषय है।

(२) 'मानहु रोष-तरंगिनि बाढ़ी'—उठकर खड़ी होने से ऊँची हो गई, इससे नदी की बाढ़ से उपमा है। नदी जलमय और कैकेयी रोषमय है। बढ़ी हुई नदी में बार-बार तरंगे उठती हैं, वैसे इसके रोष की तरंगे क्षण-क्षण में उठती हैं, यथा—"मानहुँ सरोष भुअंग भामि बिषिम भाँति निहारई।" (दो० २५); "देखि कुभाँति कुमति मन माँखा।" (दो० २९), "आगे दीखि जरत रिस भारी।" (दो० ३०); पुनः यहाँ—"मानहु रोष तरंगिनि बाढ़ी।" कहा है। 'भई उठि ठाढ़ी' और 'रोष तरंगिनि' कहने से नख से शिखा तक रोष से भरी सूचित किया। 'बाढ़ी' से स्वच्छंद-गामिनी भी जनाया।

(३) 'पाप-पहार प्रगट भइ सोई'—भारी नदी भारी पहाड़ से निकलती है, वैसे ही रोष-नदी इस (कैकेयी) को पाप-वासना से हुई कि कौशल्या मेरा अमुक-अमुक बुरा चाहती हैं, यह इसका निर्मूल मानसी पाप है। [कोई-कोई राजा के पाप को पहाड़ कहते हैं—"सो सब मोर पाप परिनामू।" (दो० ३५); यह पाप पूर्व का है—"तापस अंध साप सुधि आई।" (दो० १५४);] यहाँ तो पाप से क्रोध का होना कहा है और—"लखन कहेउ हँसि सुनहु मुनि, क्रोध पाप कर मूल।" (बा० दो० २७७); अर्थात् क्रोध से पाप होता है। दो जगह परस्पर विरोधी बातें हैं, इनका तात्पर्य यह कि क्रोध से पाप और पाप से क्रोध होते हैं, यहाँ बीज-वृक्ष न्याय है। ये दोनों ही अन्योन्य सापेक्ष्य हैं। *'भरी क्रोध जल जाइ न जोई'*—रोष नदी है और वह क्रोध-जल से भरी है, रोष और क्रोध एक ही हैं, तात्पर्य यह कि इसके सर्वांग में क्रोध पूर्ण है, नदी जलमय होती है, वैसे ही यह क्रोध से भरी है। नदी की भारी बाढ़ देखकर डर लगता है, वैसे क्रोधी को देखकर भी डर लगता है, इसीसे 'जाइ न जोई' कहा है।

(४) 'दोउ वर कूल कठिन हठ धारा ।'—नदी दोनों किनारों के बीच में चलती है, वैसे ही इसका क्रोध दोनों वरों की प्राप्ति के लिये है, वर मिल जायँ, तब शांत हो जायगी। 'कठिन हठ'—यह हठ किसी के समझाने से छूटनेवाली नहीं है, ऐसे ही नदी को प्रबल धारा भी कोई नहीं रोक सकता। कठिन धारा दोनों कूलों (किनारों) से टकराई हुई चलती है, वैसे ही इसका हठ दोनों वरों के अनुरोध में है। 'भँवर कुबरी बचन प्रचारा'—कुबड़ी के वचनों को स्मरण कर-करके हठ और भयंकर हो जाती है, जैसे भँवर से धारा भीषण हो जाती है। 'कुबरी वचन, यथा—"काज सँवारेहु सजग होइ, सहसा जनि पतिआहु।" (दो० २२); "बचन मोर प्रिय मानेहु जीते।" (दो० २१), तथा उसने जो राजा, श्रीरामजी और श्रीकौशल्या के विषय में कपट-द्वेष आदि की बातें कही हैं।

(५) 'ढाहत भूप रूप तरुमूला'—धारा के वेग से तट के वृक्ष जड़-समेत उखड़कर नदी के साथ बह चलते हैं। यहाँ राजा ही इस नदी के तट के वृक्ष हैं, उनकी जड़ श्रीरामजी हैं, क्योंकि इनका 'जीवन राम दरस आधीना।' है। श्रीरामजी को वन भेजना और उससे राजा की मृत्यु होना, जड़-समेत वृक्ष का ढहाना है। रोष तरंगिनी-रूप से कैकेयी विपत्ति सागर में गिरने चली, राजा रूप वृक्ष को भी बहा ले गई। यह विधवा होगी, पुत्र त्यागेगा, राज्य छूटेगा और कोई इसका मुह न देखना चाहेगा। अपयश से मरने से भी अधिक दुःखी होगी। यथा—"अवनि जमहि जाँचति कैकेई। महि न बीच विधि मीचु न देई॥" (दो० २५१); 'अनुकूला'—अर्थात् सीधी चली, जिससे शीघ्र ही दुःखसागर में गिरेगी, प्रातःकाल ही भर में सब कुछ होगा।

लखी नरेस बात फुरि साँची। तिय मिस मीचु सीस पर नाची ॥५॥
गहि पद बिनय कीन्ह बैठारी। जनि दिनकर कुल होसि कुठारी ॥६॥
माँगु माथ अबहीं देउँ तोही। राम-बिरह जनि मारसि मोही ॥७॥
राखु राम कहुँ जेहि तेहि भाँती। नाहित जरिहि जनम भरि छाती ॥८॥

दोहा—देखी व्याधि असाधि नृप, परेउ धरनि धुनि माथ।
कहत परम आरत बचन, राम राम रघुनाथ ॥३४॥

अर्थ—राजा ने समझ लिया कि बात 'साँचेहु साँची' ही है, सत्य ही स्त्री के बहाने मेरी मृत्यु शीश पर नाच रही है ॥५॥ चरण पकड़ उसे बैठाकर विनती की कि सूर्यवंश (रूपी वृक्ष) के लिये कुल्हाड़ी मत हो ॥६॥ मेरा शिर माँग ले, मैं अभी दे दूँ, पर राम विरह से मुझे मत मार ॥७॥ जैसे-तैसे रामजी को रख ले, नहीं तो तेरी छाती जन्म भर जलेगी ॥८॥ राजा ने देखा कि रोग असाध्य है, तब वे शिर पीटकर पृथिवी पर गिर पड़े और बड़े आर्त स्वर से राम, राम, रघुनाथ, ये वचन कहने लगे ॥३४॥

विशेष—(१) 'लखी नरेस बात फुरि साँची'—पहले राजा ने तीन प्रकार के अनुमान किये थे—'रिस परिहास कि साँचेहु साँचा।' उनमें यहाँ की इसकी बातों से अब निश्चय कर लिया कि न तो रिस की है और न परिहास ही किया है। यह तो 'साँचेहु साँचा' वाली बात है। जैसे वहाँ 'साँचेहु साचा' कहा गया था, वैसे यहाँ 'फुरि साँची' है। अथवा 'साँची' को उत्तरार्द्ध के साथ ही रक्खें, तब भी ठीक ही है, पर उपर्युक्त अर्थ में 'साँची' को दीपदेहली मानकर 'फुरि' और उत्तरार्द्ध, दोनों के

साथ अर्थ किया गया है, यह अधिक संगत है, पुनरुक्ति नहीं है, किंतु विषय को विशेष पुष्टि के लिये दोहराया गया है, ऐसा मुहावरा है। यहाँ कैतवापह्नुति अलंकार का दूसरा भेद है।

(२) 'गहि पद विनय कीन्हि बैठारी।'—पूर्व कहा गया—'कुटिल भई उठि ठाढ़ी।' अतः, पैर पकड़कर बैठाना कहा गया। विनय उत्तरार्द्ध में करते हैं, कि दिनकर कुल रूप वृक्ष से जगत् भर का उपकार होता है। अतः, इसे न काट। प्रथम विनय की थी, तो अपने जीने के लिये कहा था—'जियइ मीन बरु ···' इसपर वह अधिक जल उठी थी—'सुनि मृदु वचन कुमति अति जरई।' इससे इस विनय में कुल की रक्षा के लिये प्रार्थना करते हैं, इसपर यदि वह कहे कि आपने स्वयं तो सत्य की प्रशंसा करके वर देने को कहा और अब नहीं देते हैं, मिथ्यावादी हैं और मुझे कुल-कुठारी बनाते हैं, उसपर अपनी सत्यता के प्रति कहते हैं—'माँगु माथ अब हीं ·· ' 'गहि पद' यथा—"अञ्जलिं कुर्मि कैकेयि पादौ चापि स्पृशामि ते। शरणं भव रामस्य माऽधर्मो मामिह स्पृशेत्॥" (वाल्मी० २।१२।३६)।

इस प्रसंग में कैकेयी को राजा के रूप, मनोरथ, अयोध्या और कुल को नाश करनेवाली कहा गया, क्रमशः प्रमाण, यथा—"बिबरन भयेउ निपट नर पालू। दामिनि हनेउ···", "मोर मनोरथ सुरतरु फूला। फरत करिनि जिमि हतेउ समूला॥", "अवध उजारि कीन्हि कैकेयी।" और "जनि दिनकर कुल होसि कुठारी।"

(३) 'माँगु माथ अबहीं देउँ तोही'—श्रीराम-वनवास के बदले मेरा शिर माँग ले। यदि यह कहा चाहे कि एक बार देने को कहा था, वह दिया नहीं जाता, तो शिर कैसे दिया जायगा? उसपर कहते हैं—'अबहीं देउँ' अर्थात् तुम्हारे कहने भर की देर है, देने में नहीं। क्योंकि राम-वनवास से तो दिनकर कुल भर का नाश होगा और मुझे भी तड़प-तड़प कर मरना होगा। राजा ने लख लिया—'तिय मिस मीच सीस पर ··' इससे कहते हैं कि तू मृत्यु रूपा है ही, अतएव मेरा शिर माँग ले। मैं प्रसन्न होकर तुरत देता हूँ। भाव यह कि सत्य धर्म की रक्षा में प्राण देना मुझे सुगम है। राम-वनवास तो दिया ही नहीं जाता—'बर दूसर असमंजस माँगा॥ अजहूँ हृदय जरत तेहि आँचा।" (दो० ३१)। अतः, राम-विरह से मुझे मत मार।

(४) 'राखु राम कहँ जेहि तेहि भाँती।'—भाव यह कि आदर से चाहे निरादर से रख, यथा—"गुरु गृह बसहिं राम तजि गेहू। नृप सन असबर दूसर लेहू॥" (दो० ३३); 'राखु' अर्थात् तेरे रखने से ही रह सकते हैं, क्योंकि वे धर्मात्मा हैं। वरदान की बात सुनते ही वन को चल देंगे। अतः, तू ही उन्हें घर में रख एवं रक्षा कर।

(५) 'देखी ब्याधि असाधि··· '—रोग की चिकित्सा प्रथम की जाती है, वैसे ही राजा ने की, उसके पैरों पड़े, विनती की, शिर तक देने को कहा, पर उसका हठ रूप रोग असाध्य जान पड़ा, क्योंकि अंत में अपना मरना और जन्म भर उसकी छाती जलना कहा कि इस भय से भी हठ छोड़ दे, पर वह टस-से-मस न हुई। तब राजा ने समझ लिया कि यह महौषधि भी व्यर्थ हुई, तो यह रोग असाध्य है। अतः, भावी विरह समझकर शोक से पश्चात्ताप करते हुए शिर पीट कर पृथिवी पर गिर पड़े और परम करुण स्वर से राम, राम, रघुनाथ—यह आर्त वचन कहने लगे। ऐसे अवसर पर प्रायः लोग शिर पीटते हैं (भाग्य एवं कर्म को दोष कहते हैं), पृथिवी पर लोटते हैं और परमात्मा का स्मरण करते ही हैं। यहाँ उपर्युक्त—'ढाहति भूप रूप तरु मूला' का चरितार्थ हुआ।

ब्याकुल राउ सिथिल सब गाता। करिनि कलपतरु मनहुँ निपाता ॥१॥
कंठ सूख मुख आव न बानी। जनु पाठीन दीन बिनु पानी ॥२॥
पुनि कह कटु कठोर कैकेई। मनहुँ घाय महँ माहुर देई ॥३॥

शब्दार्थ—पाठीन = पढ़िना, पढ़िना नाम की मछली। कटु-कठोर = मर्म वचन आगे दोहे में स्पष्ट है।

अर्थ—राजा व्याकुल हो गये। उनका सब शरीर ढीला पड़ गया, मानों हथिनी ने कल्प वृक्ष को उखाड़ डाला ॥१॥ गला सूख गया, मुख से वचन नहीं निकलता, मानों बिना पानी के पढ़िना मछली व्याकुल (तड़प रही) हो ॥२॥ कैकेयी फिर कड़वे और कठोर (मर्म वचन) बोली, मानों वह घाव में विष दे रही है ॥३॥

विशेष—(१) 'व्याकुल राउ सिथिल ' ···करिनि ·····'—कैकेयी ने राजा को कृपण बनाया था—'जानेहु लेइहि माँगि चबेना।' आगे भी कहेगी—'दानि कहाउब अरु कृपिनाई।' इसपर कवि ने उसे असत्यवादिनी ठहराते हुए राजा को राम-विरह की व्याकुलता में भी कल्पवृक्ष कहा, क्योंकि वे सब-के-सब मनोरथ पूरक हैं, यथा—"मोर मनोरथ सुरतरु फूला।" (दो० २८); पर कहा गया। इस (कैकेयी) के भी मनोरथ को पूरा किया ही है, क्योंकि 'नहीं' न किया और श्रीरामजी से घर रहने को वाणी से न कहा। अतः, सत्य-प्रतिज्ञ हैं। यहाँ राजा के शरीर को कल्पवृक्ष कहा, और कैकेयी को हथिनी, क्योंकि जैसे हथिनी का प्रयोजन पेट भरने से रहता है, वह डाल-पत्ते आदि से ही हो जाता है, पर वह पशु-स्वभाव से पेड़ को ही उखाड़ फेंकती है, पेड़ बना रहे तो आगे भी उससे डाल, पत्ते, फल-फूल हों, उसे भी खाने को मिलें औरों का भी हित हो, यह बात पशु होने से वह नहीं जानती। वैसे ही कैकेयी का पहले वर था, उससे अपना पेट भरती; पर इसने कल्पवृक्ष रूप राजा को ही मारकर जगत् भर को हानि पहुँचाई और स्वयं तो विपत्ति में पड़ेगी ही। (पहले कल्प-तरु पृथिवी पर भी रहता था)।

(२) 'कंठ सूख मुख आव न······'—प्रथम राजा को व्याकुल कहा, अब व्याकुलता की दशा कहते हैं कि शोक से कंठ सूख गया है, इससे वाणी नहीं निकलती, यहाँ राजा पाठीन हैं, रामजी जल हैं, राजा व्याकुल हैं, मानों श्रीरामजी अभी ही चले गये। मीन के दृष्टान्त से राजा की मरण दशा जनाई, क्योंकि मछली जल बिना नहीं जीती।

'पुनि कह कटु कठोर ···'—जब प्रथम वर की बात पर राजा सहम गये और कुछ न बोल सके थे—"गयेउ सहमि नहि कछु कहि आवा।" (दो० २८); तब कैकेयी रुष्ट होकर कटु वचन कहने लगी थी, यथा—"देखि कुभाँति कुमति मन माखा।" "अति कटु बचन कहति कैकेयी।" वैसे ही इस समय भी जब राजा कुछ न बोल सके—'मुख आव न बानी' तब फिर 'कटु-कठोर' कहने लगी। तात्पर्य यह कि राजा के चुप रह जाने पर वह समझती है कि वर देना नहीं चाहते, इसीसे कटु वचनों से पीड़ित करके 'हाँ' कराना चाहती है। पहले जले पर निमक छिड़काना कहा गया था—"मानहु लोन जरे पर देई" क्योंकि उससे प्रथम जलना कह चुके थे—"दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू।" (दामिनि अग्नि रूपा है।) फिर उस जले पर निमक छिड़कना कहा—"तजहु सत्य जग अपजस लेहू।" वैसे ही यहाँ घाव पर माहुर देना कहते हैं, यहाँ भी घाव का रूपक प्रथम कहा गया है—"मनहुँ रोप तरवारि उघारी।" उसका प्रभाव पड़ा कि रामवनवास का निश्चय हो गया। यही राजा के मर्म स्थल में घाव होना है। अब राजा की शोक-ममता पर इन्हें कृपण बनाती है—"दानि कहाउब अरु कृपनाई।" यही उस घाव पर

माहुर देना है, ये वचन राजा को घाव में माहुर के समान कटु लगेंगे। घाव में माहुर लगने से असह्य पीड़ा होती है, घाव सड़ जाता है और रोगी शीघ्र ही मरता है। वही हाल इन वचनों से राजा का होगा। वज्रवत् कठोर हृदय से ये वचन निकल रहे हैं। उसे राजा के शोक का कुछ भी ध्यान नहीं है। अतः, उसके वचन कठोर कहे गये हैं।

जौं अंतहु अस करतब रहेऊ। माँगु माँगु तुम्ह केहि बल कहेऊ ॥४॥
दुइ कि होइ एक समय भुआला। हँसब ठठाइ फुलाउब गाला ॥५॥
दानि कहाउब अरु कृपनाई। होइ कि खेम कुसल रउताई ॥६॥
छाँड़हु बचन कि धीरज धरहू। जनि अबला जिमि करुना करहू ॥७॥
तनु तिय तनय धाम धन धरनी। सत्यसंध कहुँ तृन सम बरनी ॥८॥

दोहा—मरम बचन सुनि राउ कह, कहुँ कछु दोष न तोर।
लागेउ तोहि पिसाच जिमि, काल कहावत मोर ॥३५॥

अर्थ—जो परिणाम में यही करना था, तो तुमने किस बल पर 'माँगो, माँगो' कहा था ? ॥४॥ हे राजन् ! क्या दो (विरोधी) बातें एक ही समय हो सकती हैं—ठट्ठा मारकर हँसना और गाल फुलाना ॥५॥ दानी कहाना और कृपणता करना, क्षेम-कुशल और रावतपना (वीरता), ये क्या एक साथ हो सकते हैं ? ॥६॥ या तो वचन ही छोड़िये और या तो धैर्य धारण कीजिये, स्त्रियों की तरह विलाप न कीजिये ॥७॥ सत्य प्रतिज्ञ के लिये शरीर, स्त्री, पुत्र, घर, धन और पृथिवी तृण के समान कहे गये हैं ॥८॥ मर्म भेदी वचन सुनकर राजा ने कहा (जो चाहे) कह, तेरा कुछ दोष नहीं है, मेरा काल तुझे पिशाच की तरह लगा है, वही यह कहलाता है ॥३५॥

विशेष—(१) 'जौं अंतहु अस ···'—'अंतहु' भाव आदि में भी आपका ऐसा ही न देने का स्वभाव था, यथा—"माँगु-माँगु पै कहहु पिय, कबहुँ न देहु न लेहु।" (दो० २७); अंत में भी अर्थात् माँगने पर भी जो नहीं ही देना था, तो 'माँगु-माँगु' क्यों कहा ? यह भी कहा जाता है। पर उपर्युक्त अर्थ में 'अंतहु' का अर्थ 'परिणाम' है, वह अधिक संगत है।

(२) 'दुइ कि होइ एक समय भुआला ···'—ठट्ठा मारकर हँसने में मुँह खुल जाता है, गाल पचक जाते हैं और ओष्ठ खुल जाते हैं। गाल फुलाने में ओष्ठ मिले रहते हैं, मुँह बंद हो जाता है। गाल पचके रहें और फूलें भी, ओष्ठ मिले रहें और अलग भी, मुँह बंद भी रहे और खुला भी, ये सब द्वन्द्व बातें एक साथ नहीं होतीं, ऐसे ही दानी बनना और कृपण होना और वीर बनना फिर कुशल-क्षेम चाहना भी एक साथ नहीं हो सकते। एक समय में दो में से एक ही हो सकता है, अर्थात् हम और कौसल्या एक साथ प्रसन्न नहीं हो सकतीं। दानी बनते हो तो भरतजी को राज्य दीजिये और वीर बनते हो तो प्राण का लोभ छोड़िये और राम को वनवास दीजिये। रोइये नहीं, धैर्य धरिये। 'भुआला'—जब से क्रुद्ध हुई, इसने 'पिय' आदि मधुर सम्बोधन छोड़ दिया। स्वार्थी व क्रोधी को अपना-पराया नहीं सूझता, यथा—"जाहु न निज पर सूझ मोहि, भयेउँ काल बस बीर।" (लं० दो० ६१)। इसीसे यह राजा को 'तुम' 'राउर' 'भुआल' इत्यादि ही कहती है।

(३) 'छाँड़हु बचन कि धीरज···'—वचन छोड़ो तो राम को रख लो और जो वचन रक्खो तो धैर्य धारण करो, स्त्रियों की तरह रोओ मत। स्त्रियाँ सहज में ही रो देती हैं, क्योंकि 'अबला' हैं, बलहीन रोवेगा ही। वैसे राजा का—"कहत परम आरत बचन, राम, राम रघुनाथ ॥" (दो० ३१); पर अभी रोना है। उसी पर तिरस्कार करती है।

(४) 'तनु तिय तनय धाम···'—कैकेयी ने जो कहा कि—'छाड़हु बचन कि धीरज धरहू।' उसी पर डरी कि कहीं वचन छोड़ने ही पर न उद्यत हो जायँ। इसलिये वचन रखने ही को पुष्ट करती है—"सत्य संध कहँ तृन सम बरनी" और "सत्य संध तुम रघुकुल माहीं।" (दो० ३१); अर्थात् आप रघुवंशी हैं फिर स्वयं भी सत्यसंध हैं, आपने स्वयं कहा है—"रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाइ बरु बचन न जाई ॥" (दो० २७); तब आपको तन, तिय, तनय आदि पर ममता नहीं चाहिये, 'तन' को प्रथम कहा, क्योंकि शेष सब इसके ही आश्रित हैं। सत्यसंध राजा ऐसा ही करेंगे भी, यथा—"बिछुरत दीन दयाल, प्रिय तन तृन इव परिहरेउ।" (बा० दो० १६); तन त्याग के साथ तत्सम्बन्धियों का त्याग स्वतः हो गया।

(५) 'मरम बचन सुनि राउ···'—इस वचन के उपक्रम में—'पुनि कह कटु कठोर···' कहा गया, उसे ही उपसंहार में 'मरम बचन' कहा गया। मर्म अर्थात् घाव कर देनेवाले वचन वे हैं, जिनसे राम-वनवास पुष्ट किया, उनसे राजा के हृदय में घाव हो गया, व्रण बनाना माहुर भरना हुआ, अब उससे राजा की मृत्यु होगी, इसी पर कहते हैं—

(६) 'लागेउ तोहिं पिसाच···'—अर्थात् हमारा काल ही ऐसे कटु-कठोर एवं उल्टे-पुलटे वचन कहा रहा है, जैसे पिशाच वश होने से लोग बकते हैं, यथा—"बातुल भूत बिबस मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे ॥" (बा० दो० ११४); यथा—"भूतोपहतचित्तेव ब्रुवन्ती मां न लज्जसे। शीलव्यसन-मेतत्ते नाभिजानाम्यहं पुरा ॥" (वाल्मी० २।१२।५७); अर्थात् भूत लगे हुए के समान तुम मेरे सामने ऐसी बातें बोल रही हो, लज्जित नहीं होती। तुम्हारे शील का इतना नाश हो गया है। यह बात मैं पहले नहीं जानता था।

चहत न भरत भूपतहि भोरे। बिधिबस कुमति बसी जिय तोरे ॥१॥
सो सब मोर पाप-परिनामू। भयेउ कुठाहर जेहि बिधि बामू ॥२॥
सुबस बसिहि फिरि अवध सुहाई। सब गुन धाम राम'- प्रभुताई ॥३॥
करिहहिं भाइ सकल सेवकाई। होइहि तिहुँ पुर राम - बड़ाई ॥४॥
तोर कलंक मोर पछिताऊ। मुयेहु न मिटिहि न जाइहि काऊ ॥५॥

शब्दार्थ—भूपतहि = भूपता को, भूपपने को, राज्य-पद को। सुबस = स्वतंत्र-रूप से, शोभा-सुख सहित।

अर्थ—भरतजी भूपता को भूलकर भी नहीं चाहते, विधिवश तेरे हृदय में ही कुमति बसी है ॥१॥ यह मेरे पाप का फल है, जिससे बिना अवसर विधाता टेढ़े हो गये ॥२॥ अयोध्यापुरी फिर भी स्वतंत्र-रूप से शोभायुक्त होकर बसेगी और सब गुणों के धाम श्रीरामजी की प्रभुता होगी (वे राजा होंगे) ॥३॥ सभी भाई उनकी सेवा करेंगे, तीनों लोकों में रामजी की बड़ाई होगी ॥४॥ परन्तु तेरा कलंक और मेरा पछतावा मरने पर भी न मिटेगा (और) कभी भी न जायगा ॥५॥

विशेष—(१) 'चहत न भरत भूप तिहि भोरे···'—कैकेयी के वर माँगने पर राजा ने कहा था—"देउँ भरत कहँ राज बजाई।" (दो० ३०); क्योंकि राजा ने सोचा था कि यह जो दूसरा न माँगे, तो मैं जीता रहूँगा और भरतजी को राज्य दूँगा, पर भरतजी न लेंगे तो इसे भी विरोध न रहेगा और मेरा वचन भी रह जायगा। जब कैकेयी ने नहीं ही माना तब राजा ने ठीक-ठीक कह दिया।

(२) 'सो सब मोर पाप परिनामू ···'—पाप के फल भोगाने के लिये विधाता वाम हो गये, यथा—"कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता॥" (दो० २८१); विधि के वाम होने से तेरे हृदय में कुमति बस गई, यथा—"बिधि बस कुमति बसी जिय तोरे।" और इसी कुमति से मेरा काल मुझसे ऐसे वचन कहला रहा है। यह 'पाप' कौन है ? यह आगे सुधि होने पर राजा स्वयं कहेंगे—"तापस अंध साप सुधि आई।" (दो० १५५); काल पर किसी का वश नहीं चलता। वैसे ही इसपर राजा का वश नहीं चलता। 'कुठाहर'—तिलक की तैयारी हो चुकी, प्रातःकाल ही तिलक करना मात्र शेष था, ऐसे अवसर पर विधि को विपरीत न होना था, पर परम हर्ष के अवसर पर महान शोक कर दिया। पुनः भरतजी भी इस अवसर पर नहीं हैं और मुहूर्त के भीतर आ भी नहीं सकते, नहीं तो अवरेव मिट जाता।

(३) 'सुबस बसिहि फिरि···'—पहले अयोध्या सुहावनी थी, किंतु अब उजाड़ हो जायगी, यथा—"अवध उजारि कीन्हि कैकेयी।" (दो० २८); वही दशा आगे होगी, यथा—"लागति अवध भयावनि भारी। मानहुँ कालराति अँधियारी॥" (दो० ८२); फिर श्रीरामजी के लौटने पर 'सुहाई' होगी, यथा—"अवधपुरी प्रभु आवत जानी। भई सकल सोभा की खानी॥" (उ० दो० २); 'सब गुन धाम राम···'—श्रीरामजी दिव्य गुणों के धाम हैं, यथा—"दिव्यैर्गुणैः शक्रसमो रामः···" (वाल्मी २।२।२८)। उनका राज्य होगा और तीनों लोकों में उनकी बड़ी बड़ाई होगी, यथा—"राम राज बैठे त्रयलोका। हर्षित भयेउ···" (उ० दो० १९); "सुबस बसे गावत जिन्हके जस अमर-नाग-नर-सुमुखि सनाहैं।" (गी० उ० १६)।

(४) 'करिहहिं भाइ सकल सेवकाई।'—भाव इस कुल की उत्तम रीति ही बरती जायगी, यथा—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥" (दो० १४); यही होगा, यथा—"सेवहिं सानुकूल सब भाई। रामचरन रति अति अधिकाई॥" (उ० दो० २४)।

(५) 'तोर कलंक मोर पछिताऊ···'—पछतावा यह कि मैं रामजी को राज्य न दे पाया, यथा—"पुनि न सोच तन रहउ कि जाऊ। जेहि न होइ पाछे पछिताऊ॥" (दो० ३); 'मुयेहु' अर्थात् जीते-भर तो रहेगा ही, मरने पर भी बना रहेगा, यह लंका विजय पर दिव्य रूप से आने पर राजा ने स्वयं कहा है, यथा—"कैकेय्या यानि चोक्तानि वाक्यानि वदतां वर। तव प्रव्राजनार्थानि स्थितानि हृदये मम॥" (वाल्मी० ६।११६।१७) अर्थात् आप (श्रीराम) के वन भेजने के लिये कैकेयी ने जो-जो वचन कहे हैं, वे मेरे हृदय में आज भी बैठे हैं (अर्थात् हम बराबर पछताते ही रहे)। 'न जाइहि काऊ'—कीर्ति-रूप से कल्पान्त में भी बना रहेगा तथा हमारे हृदय में सदा बना रहेगा, जैसे काकभुशुंडीजी को गुरुजी के अपमान का शूल २७ कल्प तक बना रहा, यथा—"एक सूल मोहिं बिसर न काऊ। गुरु कर कोमल सील सुभाऊ॥" (उ० दो० १०६)। तथा—"सुखी हरिपुर बसत होत परीछितहिं पछिताय।" (वि० २२०)।

अब तोहि नीक लाग करु सोई। लोचन-ओट बैठु मुँह गोई॥६॥
जब लगि जियउँ कहउँ कर जोरी। तब लगि जनि कछु कहसि बहोरी॥७॥
फिरि पछितैहसि अंत अभागी। मारसि गाइ नहारु लागी॥८॥

दोहा—परेउ राउ कहि कोटि बिधि, काहे करसि निदान।
कपट सयानि न कहति कछु, जागति मनहुँ मसान ॥३६॥

शब्दार्थ—निदान = अंत, नाश, यथा—"देहि अगिनि तन करहि निदाना।" (सुं० दो० ११)।

अर्थ—अब तुझे जो अच्छा लगे वही कर, आँखों की ओट में मुँह छिपाकर जा बैठ (अर्थात् मैं तेरा मुह देखना नहीं चाहता) ॥६॥ मैं हाथ जोड़कर कहता हूँ कि जबतक जीता रहूँ, तबतक फिर कुछ न कहना ॥७॥ अरी अभागिनी ! फिर तू अंत में पछतायगी कि जो तू 'नहारू' के लिये गाय को मारती है ॥८॥ राजा करोड़ों प्रकार से यह कहकर कि क्यों नाश करती है, पृथिवी पर गिर पड़े, वह कपट में प्रवीणा है, इससे कुछ बोलती नहीं, मानों श्मशान जगा रही है ॥३६॥

विशेष—(१) 'अब तोहि नीक लाग···'—जो अच्छा लगा एवं लगे वही कर; अर्थात् भरतजी को राज्य दे और रामजी को वन भेज। 'लोचन ओट' अर्थात् जिस मुँह से राम-वनवास माँगा है वह मेरी आँख के सामने न पड़े, भाव राम-विमुख का मुख न देखना चाहिये। अब इसे राजा ने त्याग दिया—

राजा ने कैकेयी को चारो नीतियों से समझाया, यथा—"गहि पद बिनय कीन्ह बैठारी।"—साम, "माँगु माथ अबही देउँ ··"—दाम, "चहत न भरत भूपतिहि भोरे। बिधि बस कुमति बसी उर तोरे॥" —भेद और—"लोचन ओट बैठु मुँह गोई।"—दंड है, क्योंकि सज्जनों की दृष्टि में त्याग और वध समान है, यथा—"त्यागो वधो वा विहितः साधूनां ह्युभयं समम्॥" (वाल्मी० ७।१०६।१३)।

(२) 'जब लगि जियउँ कहउँ···'—यदि तू हठात् यहाँ से नहीं ही हटे तो जबतक जीऊँ फिर न कुछ कहना। त्याग देने से अब आज्ञा न देकर हाथ जोड़ा। 'जब लगि जियउँ' अर्थात् अब अल्पकाल में ही मरण होगा। भाव इसपर भी कदाचित् हठ छोड़ दे। बार-बार इसने कटु वचन कहा है, इसलिये अब हाथ जोड़कर प्रार्थना करते हैं कि जैसे तेरा मुँह देखना नहीं चाहता, वैसे ही मैं तेरी बोली भी सुनना नहीं चाहता।

(३) 'फिरि पछितइहसि अंत···'—राजा का यह अंतिम वचन इसे शाप की तरह लगा, यथा—"लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई॥" (दो० २५१); 'अभागी'—क्योंकि विधवा होगी, पुत्र भी त्यागेगा, राज्य-सुख भी गया।

(४) 'मारसि गाइ नहारू लागी।'—कैकेयी ने कहा है—"तनु तिय तनय धाम धन धरनी। सत्य संध कहँ तृन सम बरनी॥" (दो० ३४); अर्थात् वर देकर फिर प्राणों का लोभ कैसा ? इसके उत्तर में राजा ने कहा है—"चहत न भरत भूपतहि भोरे। बिधि बस···" यही प्रसंग यहाँ तक है, तदनुसार अर्थ होगा कि तू नहारू (नाहर) अर्थात् सिंह के खाने के लिये गाय को मार रही है। अंत में तुझे पछताना पड़ेगा। सिंह गाय का मांस खाता है, यथा—"गोमुख नाहरनिके न्याय" (वि० ११०); अर्थात् गाय-बाघ (सिंह) का विरुद्ध भाव कहा भी जाता है। यहाँ भरतजी सिंह, राजा गाय, श्रीरामजी गाय के प्राण और राजा का शरीर-रूप राज्य ही मांस है। सिंह अपना ही मारा हुआ शिकार खाता है, वह मुर्दाखोर नहीं होता। इसी प्रकार श्रीभरतजी अपने ही भाग (प्रारब्ध) को भोगनेवाले हैं, वे दूसरे का भाग राज्य न ग्रहण करेंगे। अतएव भरत-रूपी सिंह के लिये मुझ गऊ के प्राण-रूपी श्रीरामजी को निकालकर राज्य-रूपी मांस देना चाहती है। भरतजी जब राज्य न ग्रहण करेंगे, तब तुझे पछताना ही पड़ेगा। सिंह स्वयं शिकार मार सकता है, वैसे भरतजी स्वयं बाहु-बल से और राज्य ग्रहण कर सकते हैं। 'गाइ' की उपमा में लिंग विरोध है पर इसकी तरह अन्यत्र भी बहुत उपमाएँ हैं। यथा—"फनिकन्ह जनु···" (बा० दो० ३५७)।

इसके और भी बहुत तरह के अर्थ किये जाते हैं, पर मुझे उपर्युक्त ही ठीक जान पड़ा है। और अर्थ अन्य टीकाओं में देखे जा सकते हैं, विस्तारभय से उन्हें यहाँ नहीं लिखा।

(५) 'परेउ राउ कहि कोटि बिधि ···' राजा का एक बार पहले भी भूमि मे गिरना कहा गया है—"परेउ धरनि धुनि माथ" (दो० ३१), उसके पीछे कैकेयी ने फिर कटु-कठोर वचन कहा, तब उसे भावी व्यवस्था कहकर समझाने को बैठ गये थे। पुनः व्याकुल होकर गिर पड़े। अतः, फिर—'परेउ राउ' कहा गया। अब सुमंत्रजी आवेंगे तो पड़े हुए ही पावेंगे—'सोच बिकल बिबरन महि परेऊ।' फिर वे उठाकर बैठावेंगे—'सचिव उठाइ राउ बैठारे।' यह कहा जायगा।

(६) 'कपट सयानि न कहति ···'—'मसान जगाना' मुहावरा है, योगिनी या भूत-प्रेत सिद्ध करनेवाले श्मशान (मरघट) में जाकर तंत्र-शास्त्र के अनुसार मुर्दे की खोपड़ी या शव पर बैठकर मौन रहकर रात-भर मंत्र जपते हैं, वहाँ प्रेत बहुत तरह से शब्द करते हैं, डरवाते और प्रार्थना भी करते हैं। इन बाधाओं में साधक असावधान हो गया, एवं बोल दिया, तो कार्य-सिद्धि के बदले वह प्रायः पागल हो जाता है। निर्विघ्न समाप्ति पर योगिनी एवं भूत-प्रेत आदि के वश होने की सिद्धि होती है।

यहाँ घर श्मशान है, यथा—"घर मसान परिजन जनु भूता।" (दो० ८२); राजा प्रेत हैं, यथा—"भवन भयंकर लाग तेहि, मानहुँ प्रेत निवास।" (दो० १४७)। श्मशान जगानेवाले से प्रेत विनती करते हैं, वैसे यहाँ राजा कैकेयी से विनती करते हैं—"परेउ राउ कहि कोटि बिधि ··" पर श्मशान जगानेवाला नहीं बोलता, वैसे कैकेयी नहीं बोलती। प्रेत की प्रार्थना जगानेवाला मान ले, तो उसका विघ्न हो, वैसे ही कैकेयी राजा की विनय मान ले तो इसके भी मनोरथ में विघ्न हो। वहाँ रात-भर के अनुष्ठान से सिद्धि होती है, वैसे यहाँ भी सन्ध्या समय ही राजा इसके महल में आये, थोड़ी ही देर में इसने वर माँगा, तब से रात पूरी होते ही सवेरे इसकी भी अभीष्ट-सिद्धि होगी। 'कपट सयानि'—राजा ने कहा है—"जब लगि जियउँ कहउँ कर जोरी। तब लगि जनि कछु कहसि बहोरी॥" ऊपर से तो इस आज्ञा का पालन करना जनाती है और भीतर से इसका अभिप्राय यह है कि हमारा काम तो उसीसे हो गया, जो राजा ने कहा है—'अब तोहि नीक लाग करु सोई।' अब फिर कुछ बोलने का प्रयोजन ही नहीं। बस, राम यहाँ आवें और मैं उन्हें वन भेजूँ, इसीसे चुप साधे बैठी है। राजा के कहने पर भी (लोचन ओट बैठु,) नहीं हटी, क्योंकि सोचती है कि मेरे हट जाने पर ऐसा न हो कि राजा किसी तरह मंत्रियों को जना दें और वे बाहर ही चुपके से राम को गद्दी दे दें अथवा उन्हें सावधान कर दें, इत्यादि कारणों से उसे 'कपट सयानि' कहा है।

राम राम रट बिकल भुआलू। जनु बिनु पंख बिहंग बेहालू॥१॥
हृदय मनाव भोर जनि होई। रामहि जाइ कहइ जनि कोई॥२॥
उदउ करहु जनि रबि रघुकुल गुरु। अवध बिलोकि सूल होइहि उरु॥३॥
भूप-प्रीति कैकइ कठिनाई। उभय अवधि बिधि रची बनाई॥४॥

अर्थ—राजा राम-राम रटते हुए व्याकुल हैं और बिना पंख के पक्षी की तरह बेचैन हैं॥१॥ हृदय में मनाते हैं कि सवेरा न हो, कोई रामजी को जाकर कह न दे॥२॥ हे रघुकुल में श्रेष्ठ सूर्य! आप अपना उदय न करें, (अन्यथा) अयोध्या को देखकर आपके हृदय में शूल (दुःख) होगा॥३॥ राजा

की प्रीति और कैकेयी की निष्ठुरता, दोनों ही सीमा (को प्राप्त) हैं। ब्रह्मा ने दोनों को रचकर बनाया है ॥४॥

विशेष—(१) 'जनु बिनु पंख बिहंग···'—राजा सब उपाय करके हार गये, तब अत्यंत दीन हो गये, वही दशा इस उपमा से दिखाई, यथा—"जथा पंख बिनु खग अति दीना।" (लं० दो० ५६)।

(२) 'हृदय मनाव भोर···'—मनाते हैं कि भोर न हो, क्योंकि भोर होते ही कैकेयी रामजी को वन भेजेगी, वह कह चुकी है—"होत प्रात मुनि बेष···" हृदय की प्रार्थना विशेष होती है, राजा व्याकुल होने से बोल भी नहीं सकते। पुनः कैकेयी पास बैठी है और वह भोर होने की प्रतीक्षा में है। अतः, प्रकट में उसके विरुद्ध कहने पर वह फिर कटु वचन कहेगी।

'कहइ जनि कोई' अर्थात् मैं तो वचन से न कहूँगा, न अवधवासी ही कोई कहेगा, रही कैकेयी, वही कहेगी अथवा कहलायेगी, किंतु वह शत्रु है, इससे उसका नाम न लेकर 'कोई' से सूचित करते हैं। किसे मनाते हैं ? यह आगे स्पष्ट है—

(३) 'उदउ करहु जनि रबि···'—आप इस कुल के गुरु (पुरुषा) हैं। अतः, कुल की रक्षा करनी चाहिये, इसलिये आप अपना उदय न करें, जिससे दिन ही न हो, क्योंकि दिनकर आप ही हैं। अन्यथा इस अपने कुल की व्याकुलता को देखकर आपके भी हृदय में विशेष पीड़ा होगी। कुल-मात्र ही नहीं, किंतु 'अवध बिलोकि···' अर्थात् अयोध्या-भर व्याकुल हो जायगी, जिसे आप देख न सकेंगे, (जिस अवध के कौतुक-आनन्द में एक मास का बीतना नहीं जान पड़ा, वह कसर निकल जायगी)।

(४) 'भूप-प्रीति कैकइ···'—यहाँ रात्रि-भर के चरित्र का उपसंहार कर रहे हैं, यथा—"बिलपत नृपहि भयउ भिनुसारा।" आगे कहते हैं। इसका उपक्रम—"गवनु निठुरता निकट किय, जनु धरि देह सनेह॥" (दो० २५); और उपसंहार में भी—"भूप प्रीति कैकइ कठिनाई। उभय अवधि ···" कहा है। 'उभय अवधि'—तात्पर्य यह कि ऐसी प्रीति के प्रति निष्ठुरता नहीं रह सकती। पुनः ऐसी निष्ठुरता के प्रति प्रीति नहीं रह सकती। किंतु दोनों पक्ष की दोनों ही बातें आदि से अन्त तक निबह गई। इसी पर कहते हैं कि इन्हें ब्रह्माजी ने रचकर बनाया है।

बिलपत नृपहि भयेउ भिनुसारा। बीना - बेनु - संख-धुनि द्वारा ॥५॥
पढ़हिं भाट गुन गावहिं गायक। सुनत नृपहि जनु लागहि सायक ॥६॥
मंगल सकल सोहाहिं न कैसे। सहगामिनिहि बिभूषन जैसे ॥७॥
तेहि निसि नींद परी नहिं काहू। राम-दरस - लालसा - उछाहू ॥८॥

दोहा—द्वार भीर सेवक सचिव, कहहिं उदित रवि देखि।
जागेउ अजहुँ न अवधपति, कारन कवन बिसेखि ॥३७॥

शब्दार्थ—भिनुसारा (सं० भानु सरण)=सवेरा। सहगामिनि=पति के साथ परलोक को गमन करनेवाली, सती, पकज आदि की तरह योग रूढ़ि-द्वारा यह अर्थ है।

अर्थ—राजा को विलाप करते-करते सवेरा हो गया, द्वार पर वीणा, बाँसुरी और शंख की ध्वनि

हो रही है ॥५॥ भाट विरुदावली पढ़ते और गवैये गुण-गान कर रहे हैं, सुनते ही राजा को वे मानों बाण-सरीखे लगते हैं ॥६॥ राजा को ये सब मंगल कैसे नहीं सुहाते जैसे पति के साथ सती होने के लिये जानेवाली स्त्री को भूषणादि (साज शृंगार) नहीं प्रिय लगते ॥७॥ उस रात में किसी को नींद नहीं पड़ी, (क्योंकि) सबको रामजी के दर्शन की लालसा और उत्साह है ॥८॥ द्वार पर सेवक मंत्री आदि की भीड़ है, सूर्योदय देखकर वे कह रहे हैं कि अवधपति दशरथजी महाराज अभी तक नहीं उठे, क्या विशेष कारण है ? ॥३७॥

विशेष—(१) 'मंगल सकल सोहाहिं न···'—वीणा, वेणु, और शंख-ध्वनि; भाट आदि का पढ़ना एवं गायकों का गाना, ये सब मंगल हैं। राजा इन्हें सुनना नहीं चाहते, पर बरवस कान में पड़ते हैं, तो बाण के समान लगते हैं, हृदय से नहीं सुहाते, जैसे सहगामिनी को विभूषण।

पति के मृतक होने पर सती होनेवाली स्त्री को और लोग सोलहो शृंगार सजाते हैं, पर उसे नहीं सुहाता, क्योंकि जिसके लिये भूषणादि सजना था, वह तो चला (मर) ही गया। वैसे, और लोग मंगल कर रहे हैं, पर वे राजा को नहीं सुहाते, क्योंकि ये जानते हैं कि जिसके लिये मंगल हो रहे थे, वे रामजी तो वन को चलेंगे। पुनः परिणाम में सती को अग्नि में जलकर मरना है, वैसे राजा को विरह-अग्नि में जलकर मरना है, तो सती के भूषण साज की तरह इन्हें मंगल कैसे सुहावें ?

(२) 'तेहि निसि नींद परी नहिं···'—राम-दर्शन की लालसा है और उनके राज्याभिषेक देखने का उत्साह है, यथा—"कनक सिंहासन सीय समेता। बैठहिं राम होइ चित चेता॥ सकल कहहिं कब होइहि काली।" (दो० १०); इससे किसी को भी नींद नहीं पड़ी। 'सब काहू' से यहाँ प्रजा-गण-मात्र से प्रयोजन है, कैकेयी-मंथरा और राजा को छोड़कर। नींद तो इन्हें भी नहीं हो पड़ी, पर इनके अभिप्राय भिन्न-भिन्न थे; राजा विलपते हुए रात भर जगे, कैकेयी श्मशान जगाने की तरह जगी और मंथरा भी चिता में रात-भर जगी होगी, यथा—"सो किमि सोव सोच अधिकाई।" (बा० दो० १६१); अर्थात् ऐसा न हो कि भंडा फूटे और मेरी जान जाय।

किन्तु यहाँ—'राम दरस लालसा उछाहू' की दृष्टि से इन तीन से भिन्न लोग हैं, इस तरह कथन को प्रायोवाद कहते हैं, जैसे 'सत्तग्राम' आदि शब्दों का अभिप्राय होता है।

(३) 'द्वार भीर सेवक सचिव···'—इसका उपक्रम—"एक प्रविसहिं एक निर्गमहिं भीर भूप दरबार।" (दो० २३); से है, वहाँ 'दरबार' का जो अर्थ हुआ, वही यहाँ के 'द्वार' का भी है। यहाँ सवेरा हो गया, इसी समय राम-राज्याभिषेक का मुहूर्त है, इसीसे राज-द्वार पर भीड़ है। सेवक-मंत्री आदि नियत कार्य के लिये उत्सुक हैं, पर बिना राजा की आज्ञा के कुछ कर नहीं सकते, यथा—"जाहु सुमंत जगावहु जाई। कीजिय काज रजायसु पाई॥" आगे कहते ही हैं। 'अजहुँ'—सूर्य उदय हो गये और वे नित पहर-भर रात रहे ही जागा करते थे—"पछिले पहर भूप···" आगे कहा है। 'अवधि पति'—अवध की रक्षा उनके जागने से होती है, यथा—"जानेउ सती जगत पति जागे।" (बा० दो० ५९); "गुरु ते पहिलेहि जगत पति, जागे राम सुजान॥" (बा० दो० २२६); शिवजी और श्रीरामजी ईश्वर हैं, इससे उन्हें 'जगत-पति' कहा और ये जीव हैं। अतः, 'अवध-पति' कहा है। पुनः अवध-भर के लोग जगे हैं, और ये तो अवध-भर के पति हैं, फिर कैसे न जगे? इसका कोई विशेष कारण है, क्योंकि सामान्य कारणों से ऐसा मोहित नहीं हो सकते। भीड़ का वर्णन वाल्मी० २।१४।१० तथा २।१५।१-२, १२-१३ में है।

पछिले पहर भूप नित जागा । आज हमहि बड़ अचरज लागा ॥१॥
जाहु सुमंत्र जगावहु जाई । कीजिय काज रजायसु पाई ॥२॥
गये सुमंत्र तब राउर माँहीं । देखि भयावन जात डेराहीं ॥३॥
धाइ खाइ जनु जाइ न हेरा । मानहुँ बिपति - बिषाद - बसेरा ॥४॥

अर्थ—राजा नित्य ही पिछले पहर (ब्राह्म-मूहूर्त्त) में जागते थे, आज हमें बड़ा आश्चर्य हो रहा है ॥१॥ सुमंत्र ! जाओ और जाकर राजा को जगाओ, आज्ञा पाकर कार्य किया जाय ॥२॥ तब सुमंत्रजी अन्तः पुर में गये । उसे भयावन देखकर भीतर जाते हुए डरते हैं ॥३॥ मानों वह दौड़कर खा लेगा, देखा नहीं जाता, मानों विपत्ति और विषाद ने वहाँ निवास किया है ॥४॥

विशेष—(१) 'आज हमहि बड़ अचरज···'—आज तो और सावधानता चाहती थी, क्या कारण है ?

(२) 'जाहु सुमंत्र···'—वृद्ध सुमंत्रजी ही अंतःपुर में बेरोक-टोक जा सकते थे, यथा—"तं तु पूर्वोदितं वृद्धं द्वारस्था राज-संमताः । न शेकुरभिसंरोद्धं राज्ञः प्रियचिकीर्षवः ॥" (वाल्मी० २।१४।४४) ।

'कीजिय काज···'—अर्थात् यह कार्य विना महाराज की आज्ञा के मंत्री लोग नहीं कर सकते थे ।

'जाहु सुमंत्र···'—जाओ और जाकर जगाओ, ऐसा मुहावरा है, यथा—"बानर जूथ जाहु चहुँ ओरा ॥ जनक सुता कहँ खोजहु जाई ।" (कि० दो० २१) ।

(३) 'देखि भयावन···'—राजा की व्याकुलता से महल भयानक हो गया था, जैसे पुरवासियों की व्याकुलता से आगे अवधपुरी होगी, यथा—"लागति अवध भयावनि भारी ।" (दो० ८२) ।

(४) 'धाइ खाइ जनु जाइ न हेरा'—'धाइ खाइ'—यह मुहावरा है, अर्थात् काल के समान अत्यन्त भयंकर है । पुनः मंत्री अभी कुछ ही दूरी पर है; अर्थात् धावने-भर की जगह अभी कुछ बीच में है ।

'मानहुँ बिपति-बिषाद ······'—विपत्ति-रूपा कैकेयी है, यथा—"बिपति बीज बरषा-रितु चेरी । भुइँ भइ कुमति कैकई केरी ॥" (दो० २२); और विषाद-रूप राजा हैं, यथा—"तनु धरि सोच लाग जनु सोचन ।" (दो० २८); इस भवन में पहले कैकेयी आईं, तब राजा आये, उसी क्रम से विपत्ति और विषाद कहे गये ।

पूछे कोउ न ऊतर देई । गये जेहि भवन भूप कैकेई ॥५॥
कहि जयजीव बैठ सिर नाई । देखि भूपगति गयेउ सुखाई ॥६॥
सोच बिकल बिबरन महि परेऊ । मानहुँ कमल मूल परिहरेऊ ॥७॥
सचिव सभीत सकइ नहिं पूछी । बोली असुभभरी सुभ-छूछी ॥८॥

दोहा—परी न राजहि नींद निसि, हेतु जान जगदीस ।
राम राम रटि भोर किय, कहइ न मरम महीस ॥३८॥

आनहु रामहि बेगि बुलाई । समाचार तब पूछेहु आई ॥१॥

अर्थ—पूछने पर कोई उत्तर नहीं देता। जिस घर में राजा और कैकेयी थे, वहाँ गये ॥५॥ 'जय-जीव' कह शिर नवाकर (प्रणाम करके) बैठ गये, राजा की दशा देखकर सूख गये ॥६॥ (देखा कि राजा) सोच से व्याकुल कान्ति-हीन पृथिवी पर पड़े हैं। मानों जड़ से छूटा हुआ (जड़-रहित) कमल पड़ा है ॥७॥ मंत्री डर के मारे पूछ नहीं सकता, अशुभ से भरी हुई और शुभ से रहित कैकेयी बोली ॥८॥ राजा को रात में नींद नहीं पड़ी, इसका कारण जगत् के ईश्वर ही जानें। राजा ने राम-राम रटकर भोर कर दिया, भेद नहीं कहते ॥३८॥ रामजी को शीघ्र बुला लाओ, तब आकर हाल पूछना ॥१॥

विशेष—(१) 'पूछे कोउ न ऊतर देई।'''—राजा और रानी एकान्त में हैं, इससे किसीने उत्तर न दिया कि कहीं बतलाकर वहाँ भेजने से हमें दंड न मिले। मंत्री ने किसी लक्ष्य से जाना, तो वे कोप भवन में गये, (यह भवन राजा के शयनागार के एक भाग में ही रहता है) 'कहि जय जीव'''—वाणी से 'जय जीव' कहा, तन से प्रणाम किया और 'गयउ सुखाई'—शोक से सूख गये, शोक मन का धर्म है। राजा ने व्याकुलता से कुछ न कहा।

(२) 'सोच बिकल बिबरन'''—पहले राजा के शरीर को कल्पवृक्ष कहा था—"करिनि कलप तरु मनहुँ निपाता।" क्योंकि वहाँ राजा की उदारता दिखानी थी। यहाँ तन की सुन्दरता कही गई है कि वह शरीर कमल के समान सुन्दर था, पर कांति-हीन होकर काला पड़ गया है। जैसे कमल जड़-हीन होने से सूखकर काला पड़ जाता है। यहाँ राजा कमल, श्रीरामजी मूल, उनका वियोग होना उखड़ना और विरह-ताप से विवरण होना सूखना है।

(३) 'सचिव सभीत सकइ'''—मंत्रीजी राजा की दशा देखकर डर गये हैं। पूछने में भी डरते हैं कि समाचार पूछने के योग्य है कि नहीं। 'असुभ भरी' अर्थात् अशुभ ही कहेगी, सब झूठ ही कहेगी। तथा राम-तिलक-रूप शुभ से खाली है, वनवास देना-रूप अशुभ की इच्छा से भरी है। मंत्री चिन्ता के कारण शिर नीचा करके बैठे हैं, वे सोचते हैं कि यदि कोई रोग आदि होता तो रानी उदास होती, वह तो रूठी-सी है, पुनः कोप-भवन में है। अतः, परस्पर कुछ अनबन है। इससे पूछ न सके, पर अपना कार्य साधने के लिये वह स्वयं बोली।

(४) 'परी न राजहि नींद निसि''''—केवल राम-राम रट रहे थे, और कोई बात बोले ही नहीं, इससे हमें भी नहीं मालूम हो सका। 'महीस' हैं, अतः, अपना मर्म छिपाये हुए हैं। हम उनकी प्राण-प्रिया हैं, जब हमसे नहीं कहा, तब तुमसे क्या कहेंगे, भाव यह कि व्यर्थ पूछने का प्रयास न करो। महीश के भीतर की बात जगदीश जाने, क्योंकि वे सबके अंतर्यामी हैं। यह सरासर झूठ बोलकर मर्म छिपाती है, क्योंकि राजा ने सभा में राम-तिलक की आज्ञा दे ही दी है। ये प्रधान मंत्री हैं, कहीं बाहर ही रामजी को तिलक न कर दें, क्योंकि सभी एक-मत हैं।

(५) 'आनहुँ रामहि बेगि'''—रामजी ही को बुला लाओ; अर्थात् वे राजा को प्राणों से अधिक प्रिय हैं, उन्हीं को रटते थे, अतः उन्हींसे मर्म कहेंगे। वह चाहती है कि राजा के सामने में उन्हें सब सुना दूँ और अंगीकार करा लूँ, अन्यथा ये लोग बीमार जानकर कहीं राजा ही को बाहर ले जायँ, या राजा को बीमार कहकर बाहर रामजी को तिलक ही कर दें, तिलक का समय भी आ पहुँचा है, इसीसे 'बेगि' भी कहती है। 'आवहु' अर्थात् तुम भी साथ आओ। वह चाहती है कि ये प्रधान मंत्री हैं। इस संवाद को सुन लें, अन्यथा रामजी वन को जायँगे, तो राजा प्राण ही छोड़ देंगे। राजा के सामने वरदान की सत्यता इन्हें भी मालूम हो जाय, तो ये ही लोग फिर पीछे भरतजी को तिलक करेंगे। 'बेगि' का यह भी भाव है कि राजा को पीड़ा अधिक जान पड़ती है, देर होने से न जाने क्या हो जाय। रामजी कोई उपाय कर सकें तो आकर करें।

चलेउ सुमंत्र राय रुख जानी। लखी कुचालि कीन्हि कछु रानी ॥२॥
सोच बिकल मग परइ न पाऊ। रामहिं बोलि कहिहि का राऊ ॥३॥
उर धरि धीरज गयेउ दुआरे। पूछहिं सकल देखि मन मारे ॥४॥
समाधान करि सो सब ही का। गयेउ जहाँ दिनकर-कुल-टीका ॥५॥

अर्थ—राजा का रुख पाकर सुमंत्रजी चले, उन्होंने समझ लिया कि रानी ने कुछ कुचाल की है ॥२॥ सुमंत्रजी शोक से व्याकुल हो गये हैं, मार्ग में पैर नहीं पड़ता, (मन में सोचते हैं) कि रामजी को बुलाकर राजा क्या कहेंगे? ॥३॥ हृदय में धैर्य धरकर द्वार पर गये, सब लोग इन्हें उदास देखकर पूछने लगे ॥४॥ वे सबका संदेह निवारण करके वहाँ गये; जहाँ सूर्यकुल के तिलक श्रीरामजी थे ॥५॥

विशेष—(१) 'चलेउ सुमंत्र राय-रुख'''—रानी ने श्रीरामजी को शीघ्र बुलाना कहा, तब सुमंत्रजी ने राजा की ओर देखा तो उनकी कुछ वैसी चेष्टा से रुख जान गये, क्योंकि दिन-रात राजा का रुख देखते रहते थे, इससे जान गये। पर कुचाल को यथार्थ न जान पाया। वनवास देने को उसको नियत जानते तो ये कभी श्रीरामजी को वहाँ लाकर सामना न कराते, जरा-भर कोई उपाय करते।

वाल्मी० २।१४।६१–६२ में कहा है कि कैकेयी के कहने पर सुमंत्रजी ने राजा की आज्ञा के लिये अनुरोध किया, तब राजा ने भी अनुमति दे दी, तब गये।

राजा तो मनाते थे, भोर न हो, रामजी को मालूम न हो, फिर श्रीरामजी को बुलाने में रुख क्यों दिया? इसका उत्तर यह है कि वे सोचते हैं कि अब तो रामजी जानेंगे ही और फिर वन जायँगे ही। भला आवें, देख तो लूँ, यथा—"सुमंत्र रामं द्रक्ष्यामि शीघ्रमानय सुन्दरम्।" (वाल्मी० २।१४।६१); 'लखी'—भाव यह कि रानी तो राजा को परम प्रिय थी, इससे मर्म क्यों छिपाते, फिर वहाँ कोई और भी नहीं था। अतः, इसकी बातों में कपट मालूम होता है। 'कछु'—क्योंकि मंत्री ठीक न जान सके।

(२) 'सोच बिकल'—राजा की दशा, रानी की कुचाल और नियम-विरुद्ध श्रीरामजी के बुलाये जाने को सोचते जाते हैं, इससे व्याकुल हो गये हैं।

(३) 'उर धरि धीरज गयउ'''—द्वार पर गये, क्योंकि वहीं से भेजे गये थे। सब इनकी राह देख रहे थे। इसीलिये 'दुआरे' लिखा गया, अन्यथा श्रीरामजी के यहाँ जाना लिखा जाता। 'पूछहिं सकल'—इन्हें पहले केवल न जागने ही का शोच था, अब सुमंत्रजी को उदास देख अधिक डर गये। अतः, सभी पूछने लगे। 'मन मारे'—पहले 'मग परइ न पाऊ' से तन के द्वारा भी चिह्न था। पर धैर्य धरकर द्वार पर आये तो केवल मन की उदासीनता रह गई। वही देखी गई।

(४) 'समाधान करि सो'''—वाल्मी० २।१४।१६–१८ में सुमंत्रजी ने इस तरह सबको समाधान किया है कि मैं राजा की आज्ञा से श्रीरामजी को बुलाने जाता हूँ।'''तो आकर राजा के अभी तक यहाँ न आने का कारण पूछता हूँ'''।

राम सुमंत्रहि आवत देखा। आदर कीन्ह पिता सम लेखा ॥६॥
निरखि बदन कहि भूप-रजाई। रघुकुल-दीपहि चलेउ लिवाई ॥७॥
राम कुभाँति सचिव संग जाहीं। देखि लोग जहँ तहँ बिलखाहीं ॥८॥

दोहा—जाइ दीख रघुबंस-मनि, नरपति निपट कुसाज ।
सहमि परेउ लखि सिंहिनिहि, मन वृद्ध गजराज ॥३९॥

अर्थ—श्रीरामजी ने सुमंत्रजी को आते देखा तो उन्हें पिता के समान समझकर उनका आदर किया ॥६॥ मुख देखकर राजा की आज्ञा कही और रघुकुल के दीपक-रूपी श्रीरामजी को लिवा ले चले ॥७॥ श्रीरामजी बुरी तरह से मंत्री के साथ जा रहे हैं, यह देखकर लोग जहाँ-तहाँ दुःखी हो रहे हैं ॥८॥ रघुकुल के शिरोमणि श्रीरामजी ने जाकर देखा कि राजा बिल्कुल कुसाज (अस्त-व्यस्त) पड़े हैं । मानों सिंहनी को देखकर कोई बूढ़ा गजराज डरकर गिर पड़ा हो ॥३९॥

विशेष—(१) 'आवत देखा'—जहाँ से सुमंत्रजी देख पड़े, वहीं चलकर मिले और पिता के समान सम्मान करते हुए लाये, क्योंकि ये पिता के सखा हैं । अतः, उनके समान हैं ।

(२) 'निरखि बदन कहि···'—इनमें सुमंत्रजी का वात्सल्य भाव है, इससे मुख देखना कहा गया, यथा—"जननिन्ह सादर बदन निहारे ।" (बा० दो० २५७); मुख देखकर ही राजा की आज्ञा सुनाई; अर्थात् शीघ्रता की आज्ञा है; अतः, बैठे नहीं ।

(३) 'राम कुभाँति सचिव···'—श्रीरामजी संयम से थे, वैसे ही पैदल चल पड़े, मंत्री आगे हैं, श्रीरामजी ने कुछ शृंगार भी नहीं किया है । इसीसे लोग दुखी होते हैं कि आज तो इन्हें सवारी पर शृंगार-सहित आना चाहिये । मंत्री आदि पीछे-पीछे चलते, क्या बात है, कुछ अनर्थ जान पड़ता है । कुभाँति का भाव वाल्मी०' २।२६।१२-१७ में स्पष्ट है ।

(४) 'जाइ दीख रघुबंस-मनि ···'—ऊपर 'रघुकुल दीपहि' कहा गया, वैसे यहाँ 'रघुबंस मनि' कहा है, मणि और दीप का थोड़ा प्रकाश होता है, उससे थोड़ी दूर का अँधकार दूर होता है, वैसे राजा का शोक-रूपी तम थोड़ा ही दूर करेंगे, सम्पूर्ण नहीं, इनके दर्शनों से कुछ क्षणों को सुख होगा । सूर्य नहीं कहा, क्योंकि सम्पूर्ण शोक-रूपी तम नहीं निवृत्त करेंगे । सूर्य स्वतः उदय होते एवं चलते हैं, दीप और मणि दूसरे के द्वारा लाये जाते हैं, वैसे इन्हें सुमंत्रजी लाये हैं । दीपक के चले जाने से अँधेरा हो जाता है, वैसे इनके वन जाने से अब रघुकुल में अँधेरा हो जायगा । 'कुसाज'—छत्र, चँवर, पलँग आदि नहीं हैं, पृथिवी पर पड़े हैं । कैकेयी सिंहनी है, राजा बड़े शरीरवाले हाथी के समान हैं, वृद्ध भी हैं ही । पुनः प्रतिज्ञा में फँसने से भागकर भी बच नहीं सकते, युवा हाथी हो तो भागे भी ।

सूखहिं अधर जरइ सब अंगू । मनहु दीन मनिहीन भुअंगू ॥१॥
सरुष समीप दीखि कैकेई । मानहुँ मीच घरी गनि लेई ॥२॥
करुनामय मृदु राम-सुभाऊ । प्रथम दीख दुख सुना न काऊ ॥३॥
तदपि धीर धरि समय बिचारी । पूछी मधुर बचन महतारी ॥४॥

अर्थ—राजा के ओठ सूख रहे हैं और सारा शरीर जल रहा है, मानों मणि-हीन होने से सर्प दीन हो ॥१॥ समीप में ही क्रोध से भरी हुई कैकेयी को देखा, मानों वह मृत्यु है, (राजा के मरने की) घड़ियाँ गिन रही है, (समय पूरा होने पर प्राण) लेगी ॥२॥ श्रीरामजी का स्वभाव कोमल और करुणामय है,

उन्होंने पहले-पहल दुःख देखा जो कभी सुना भी न था ॥३॥ तो भी उन्होंने समय विचारकर धैर्य धारण किया और माता कैकेयी से मीठे वचनों से पूछा ॥४॥

विशेष—(१) 'सूखहिं अधर जरइ सब''''''—राम-विरह अग्नि रूप है, उससे अंग जलते हैं और ओष्ठ सूख रहे हैं, यथा—"विरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माँहि सरीरा॥" (सुं० दो० ३०)। मणि सर्प का धन है, उसके बिना वह दीन हो जाता है, वैसे राजा भी दीन हैं। राजा ने कैकेयी से कहा था—"जियइ मीन बरु बारि बिहीना। मनि बिनु फनिक जियइ दुख दीना॥" (दो० ३२); उसे यहाँ अपनेमें चरितार्थ किया, यथा—"कंठ सूख मुख आव न बानी। जनु पाठीन दीन बिनु पानी॥" (दो० ३४); "सूखहिं अधर जरइ सब अंगू। मनहुँ दीन मनि हीन भुअंगू॥"

(२) 'सरुष समीप'''' मानहुँ मीचु'''—राजा ने कैकेयी से कहा था—"लोचन ओट बैठु मुँह गोई।" (दो० ३५); पर उसने नहीं माना, समीप बैठी ही है। मानों वह मृत्यु है, समीप आ गई है, बस, कुछ ही घड़ियों में लेगी; अर्थात् राजा अल्पकाल ही जियेंगे। बिना घड़ी पूरी हुए मृत्यु मार नहीं सकती, इसलिये गिन रही है। घड़ी अल्पकाल का वाचक है, यथा—"मुए मरत मरि हैं सकल, घड़ी पहर के बीच।" (दोहावली २२४)।

(३) 'करुनामय मृदु राम''''''—करुणा मन का वह विकार है, जिससे आश्रित एवं दूसरे के दुःख को देखकर अपनेको दुःख हो और उसकी पीड़ा-निवारण का तुरत उपाय करे। श्रीरामजी का स्वभाव तो करुणामय है, यथा—"करुनामय रघुनाथ गोसाँई। बेगि पाइयहि पीर पराई॥" (दो० ८५); रामजी अपने आपको मृदु हैं और आश्रितों के लिये करुणामय हैं। 'प्रथम दीख दुख'''—महाराजाओं के लड़कों के लिये बचपन से ही ऐसा प्रबंध रहता है कि वे खेद-जनक बातें देखने सुनने न पावें। इससे महाराज कुमार को आज पहले-ही-पहल एकाएक महान् खेद-जनक दुःख का दृश्य आ पड़ा। फिर स्वयं करुणामय और मृदु-स्वभाव भी हैं। अतः, असह्य दुःख हुआ, यथा—"अब एक दुख मोहि बिसेषी॥ निपट बिकल नर नायक देखी॥" (दो० ४१); 'तदपि धीर धरि'—यद्यपि धैर्य धरना कठिन था, तो भी 'समय बिचारी' अर्थात् इस समय पिता दुःखित हैं, हमें धैर्य करके उनके दुःख दूर करने का उपाय करना चाहिये। महतारी से ही पूछा, क्योंकि पिता तो बिकल ही हैं, नहीं तो उन्हीं से पूछते। 'मधुर बचन'—क्योंकि आप सदा मधुर ही बोलते हैं। पुनः, मधुर वचनों से पूछने पर माताजी अच्छी तरह कहेंगी।

मोहि कहु मातु तात-दुख-कारन। करिय जतन जेहि होइ निवारन ॥५॥
सुनहु राम सब कारन एहू। राजहि तुम्ह पर बहुत सनेहू ॥६॥
देन कहेन्हि मोहि दुइ बरदाना। माँगेउँ जो कछु मोहि सोहाना ॥७॥
सो सुनि भयेउ भूप-उर सोचू। छाड़ि न सकहिं तुम्हार सँकोचू ॥८॥

दोहा—सुत-सनेह इत बचन उत, संकट परेउ नरेस।
सकहु त आयसु धरहु सिर, मेटहु कठिन कलेस ॥४०॥

अर्थ—हे माता! पिता के दुःख का कारण मुझसे कहो, यत्न किया जाय, जिससे वह निवृत्त

हो ॥५॥ (कैकेयी ने कहा) हे राम ! सुनो, सब कारण ये ही हैं कि राजा का तुमपर बहुत स्नेह है ॥६॥ उन्होंने मुझे दो वरदान देने को कहा, मुझे जो कुछ अच्छा लगा, वह मैंने माँगा ॥७॥ उसे सुनकर राजा के हृदय में शोच हुआ, (क्योंकि) वे तुम्हारा संकोच नहीं छोड़ सकते ॥८॥ इधर तो पुत्र-स्नेह है और उधर वचन, राजा संकट में पड़े हैं, (आज्ञा-पालन) कर सकते हो, तो उसे शिरोधार्य करो और उनके कठिन क्लेश को मिटाओ ॥४०॥

विशेष—(१) 'मोहि कहु मातु तात······'—श्रीरामजी ने दुःख का कारण पूछा और उसका उपाय करने को कहा। 'मृदु स्वभाव' से दुःख का कारण पूछा और 'करुणामय स्वभाव' से उसे निवारण करने को कहते हैं।

(२) 'सुनहु राम सब कारन ·····'—कैकेयी उत्तर देती है, सारांश यह कि दुःख के कारण तुम्हीं हो और उसका मिटाना भी तुम्हारे ही हाथ है। 'सब कारन'—दुःख के कई कारण हैं। उन सबका कारण तुम्हारे प्रति अति-स्नेह ही है। उन कारणों को आगे कहती है—

(३) 'देन कहेन्हि मोहि ·····'—'देन कहेन्हि' अर्थात् अपनी ओर से देने को कहा था, तब मैंने माँगा। 'मोहि सुहाना'—दूसरे को भले ही न सुहायँ, पर मुझे तो वे ही सुहाये।

(४) 'सो सुनि भयेउ भूप·······'—भाव यह कि तुम अपनी ओर से कर चलो, तो वह पूरा हो सकेगा, अन्यथा तुम्हारा संकोच छोड़कर वे तुमसे वह करने को नहीं कह सकते। संकोच का कारण ऊपर कह आई—'तुम्ह पर बहुत सनेहू' अर्थात् स्नेह ही से संकोच में पड़कर वे वचन पूरा करने के संकट में पड़े हैं।

(५) 'सुत-सनेह इत बचन····· '—न तो पुत्र-स्नेह ही छोड़ सकें और न अपने वचन मिटा सकें। 'सकहु त'—इसे विश्वास नहीं है कि ये अपनी इच्छा से राज्य छोड़कर वन जाना स्वीकार करेंगे, इसीलिये पहले ही इन्हें भी वचन-बद्ध करके तब उसे स्पष्ट करना चाहती है। 'आयसु धरहु सिर'—पिता की आज्ञा-पालन बड़ा धर्म है, यथा—"पितु आयसु सब धरमक टीका।" (दो० ५४); इसे करो, यह परम धर्म होगा। 'सुत सनेह' इस लोक का सुख है और 'वचन' का पालन (सत्य धर्म) परलोक सुख का साधन है, तुम्हें छोड़ते हैं, तो इस लोक का सुख जाता है और वचन छोड़ने से परलोक। दोनों कैसे बनें, राजा इस असमंजस में पड़े हैं। सुपूत हो तो आज्ञा मानकर उनका परलोक बनाओ और संकट दूर करो। कैकेयी के वचनों में अंतर्भाव यह है कि राजा इस संकोच से तुमसे नहीं कहते कि न जाने तुम उसे करो या न करो, इस तरह वह इन्हें प्रतिज्ञा-बद्ध कराना चाहती है।

निधरक बैठि कहइ कटु बानी। सुनत कठिनता अति अकुलानी ॥१॥
जीभ कमान बचन सर नाना। मनहुँ महिप मृदु लच्छ समाना ॥२॥
जनु कठोरपन धरे सरीरू। सिखइ धनुष-बिद्या बर बीरू ॥३॥
सब प्रसंग रघुपतिहि सुनाई। बैठि मनहुँ तनु धरि निठुराई ॥४॥
मन मुसुकाइ भानु-कुल-भानू। राम सहज - आनंद - निधानू ॥५॥

अर्थ—कैकेयी बेधड़क (निडर) बैठी हुई कड़वे वचन बोल रही है, जिन्हें सुनकर (मूर्त्तिमान) कठिनता भी अत्यन्त अकुला गई ॥१॥ जीभ धनुष है, वचन उनके तीर हैं, मानों राजा ही कोमल निशाने

के समान हैं ॥२॥ मानों कठोरपन ही श्रेष्ठ वीर का शरीर धारण करके धनुष-विद्या सीख रहा है ॥३॥ सब प्रसंग (ब्योरा) श्रीरघुनाथजी को सुनाकर बैठ गई, मानों शरीर धारण किये हुए निष्ठुरता बैठी है ॥४॥ सूर्य-कुल के (प्रकाशक) सूर्य श्रीरामजी मन में मुसकुराते हैं, वे तो स्वाभाविक ही आनंद के कोश हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'निधरक बैठि कहइ···'—राजा का कुछ भी डर नहीं है, वह कटु वाणी बोलती जाती है। मंथरा ने इसे कुपाठ पढाकर कठिन कर दिया है—"कीन्हेसि कठिन पढ़ाइ कुपाठू।" (दो० १९); इसीसे इतनी कठोर हो गई है कि इसके वचनों को सुनकर मूर्त्तिमान् कठिनता भी अत्यन्त घबड़ा जाती है। कटु वाणी का रूपक आगे कहते हैं—

(२) 'जीभ कमान वचन सर नाना··'—धनुष से तीर निकलते हैं, वैसे जीभ से वचन निकल रहे हैं। तीर चलाने में धनुष लचता है, वैसे बोलने में जीभ भी लचती है। 'बचन सर' यथा—"तुलसी सेत खल बचन सर, हये न गये पराइ।" (दोहावली ४०१)। "लगे बचन जनु बान।" (बा० दो० २५१), "बचन बान-सम लागहि ताही।" (दो० ४८)। 'मनहु महिप मृदु लच्छ'—पहले कोमल निशाने पर ही तीर चलाना सीखा जाता है। वह तृण आदि से बनी हुई पुरुषाकार प्रतिमा टट्टी की होती है और उसके पीछे एक कठोर दीवार आड़ के लिये होती है। तीर टट्टी को बेधकर दीवार में अड़ जाता है। यहाँ मृदु लक्ष्य (तृण का) राजा हैं और कठोर लक्ष्य (दीवार) श्रीरामजी हैं। वचन श्रीरामजी के प्रति कह रही है, पर उनसे राजा का कोमल हृदय वेधा जाता है। श्रीरामजी को उन वचनों का कुछ भी आघात नहीं होता, यथा—"रामहि मातु बचन सब भाये। जिमि सुरसरि गत सलिल सुहाये॥" (दो० ४२)।

(३) 'जनु कठोरपन धरे सरीरू।···'—कठोरपन के दया नहीं होती, वैसे ही कैकेयी के हृदय में दया नहीं है। सीखने में बार-बार तीर चलाया जाता है, वैसे यह बार-बार कटु-वचन कह रही है। कठोरपन ही इसके मुख से ऐसे निष्ठुर वचन कहला रहा है। 'बर बीरू'—अर्थात् तीक्ष्ण और अत्यन्त कठोर प्रहार होते हैं, एक बार भी खाली नहीं जाते। कठोरपन के शरीर नहीं होता। अतः, शरीर धरना कहा, नहीं तो धनुषबाण लेना कैसे कहा जा सकता ?

(४) 'सब प्रसंग रघुपतिहिं··'—यह इस उद्देश्य में थी कि ये भी पिता की आज्ञा पालन की प्रतिज्ञा कर लें, तब कहूँ, इसीसे पहले—'माँगेउँ जो कछु मोहि सुहाना।' यह कपट से कहा था। पर जब श्रीरामजी सब कारण सुनने की प्रतीक्षा से चुप ही रहे, तब इसने सब प्रसंग सुनाया। 'तनु धरि निठुराई' *अर्थात् पूर्ण निष्ठुरता बिना यह प्रसंग कहा जाना असम्भव था। यहाँ कैकेयी के मन, वचन, कर्म, तीनों में* निष्ठुरता प्रकट हुई, यथा—"निधरक बैठि ··"—निडर होना, मन की निष्ठुरता, "सब प्रसंग रघुपतिहि सुनाई।"—यह वचन की और "बैठि मनहु तनु धरि निठुराई।"—यह तन (कर्म) की निष्ठुरता है।

(५) 'मनु मुसुकाइ भानु-कुल-भानू।···'—श्रीरामजी स्वाभाविक आनंद के निधान हैं, उन्हें भी दुःखी करना चाहती है कि तिलक से सुखी रहे होंगे, वह कसर निकाल लूँ। इसपर श्रीरामजी मन में मुसकाते हैं कि कैसी अनधिकार चेष्टा है। वा, सरस्वती के कौतुक पर हँसे कि कैसा मोहित किया है। इसपर भी हँसे कि मेरा तो मनभाया हुआ। कुल भी अनुचित से बचा—"बिमल बंस यह अनुचित एकू।" (दो० ६); पर इसका मनोरथ नहीं सिद्ध होगा, कलंक-भर ही हाथ लगेगा।

'भानुकुल भानू'—श्रीरामजी के विशेषण क्रमशः अधिकता-बोधक कहे गये हैं, यथा—'दिनकर कुल टीका' 'रघुकुल दीपहि ··' 'रघुबंसमनि' और 'भानुकुल भानू।' इनमें टीका से दीप में और उससे अधिक मणि की उपमा में श्रेष्ठता है। जब अंतःपुर में रहे, तब 'टीका', वहाँ से बाहर चले, तब 'दीप' और राजा के पास पहुँचे, तब 'मणि' कहा गया। अब यहाँ संसार-भर के कल्याण-कार्य में नियुक्त हो रहे हैं, तब

'भानु' कहे गये। क्योंकि दीपक और मणि से घर ही में प्रकाश होता है और सूर्य से संसार-भर में। वैसे ही वनवास से जगत्-भर का कल्याण करेंगे।

बोले बचन बिगत सब दूषन। मृदु मंजुल जनु बाग-बिभूषन ॥६॥
सुनु जननी सोइ सुत बड़ भागी। जो पितु-मातु-बचन-अनुरागी ॥७॥
तनय मातु - पितु - तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा ॥८॥

दोहा—मुनिगन मिलन बिसेषि बन, सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि, संमत जननी तोर ॥४१॥

अर्थ—श्रीरामजी सब दोषों से रहित वचन बोले। वे वचन ऐसे कोमल और सुन्दर हैं कि मानों सरस्वती के भूषण ही हैं ॥६॥ हे माता! सुनो, वही पुत्र बड़ा भाग्यवान् है, जो पिता-माता के वचनों में प्रेम रखता है ॥७॥ माता-पिता को संतुष्ट करनेवाला पुत्र, हे माता! सारे संसार-भर में मिलना दुर्लभ है ॥८॥ हे माता! वन में विशेष रूप से मुनि लोगों से मिलना होगा, जिसमें मेरा सब प्रकार से भला है। उसमें भी पिता की आज्ञा और फिर आपकी सम्मति है, (यह तो सर्वश्रेष्ठ है) ॥४१॥

विशेष—(१) 'बोले बचन बिगत सब'''—कैकेयी के तीक्ष्ण वचनों से श्रीरामजी के हृदय में कुछ भी क्षोभ नहीं हुआ। इसीसे उनके वचनों में दोष नहीं आया, यथा—"क्रोध के परुष बचन बल" (आ० दो० ३८)। किन्तु वचन मृदु-मंजुल ही कहे गये। ऐसे ही वचनों से वाणी की शोभा होती है। अतः, ये वचन वाग्विभूषण अर्थात् वाग्देवी के सौभाग्य-तिलक हैं। 'मृदु' सुनने में और 'मंजुल' अर्थ समझने में हैं। इनमें कैकेयी के कठोर वचनों की अपेक्षा में मृदुता है और निष्ठुरता की अपेक्षा में मंजुलता है। पुनः—'जीभ कमान बचन सर नाना' की अपेक्षा में ये वचन 'बाग्-बिभूषन' हैं।

(२) 'सुनु जननी सोइ सुत'''—'बड़भागी' अर्थात् सामान्य धर्म करनेवाला 'भागी' (भाग्यवान्) है और सर्वश्रेष्ठ धर्म पिता की आज्ञा पालनेवाला 'बड़भागी' है। यथा—"पितु आयसु सब धरमक टीका।" (दो० ५५); 'बचन अनुरागी' अर्थात् जो चाहता रहता है कि मुझे कुछ आज्ञा हो, 'सोइ'—वही, दूसरा नहीं।

(३) 'तनय मातु-पितु'''—पुत्र तो माता-पिता की आज्ञा पालने से बड़भागी होता है। माता-पिता को संतुष्ट करनेवाला पुत्र हो। यह बात माता-पिता को भी दुर्लभ है; अर्थात् ऐसे पुत्र से उसके माता पिता भी बड़भागी होते हैं। इस तरह अन्योन्य-भाग्य-सापेक्ष्य कहा है। 'सकल संसारा' अर्थात् ग्राम, जिला, प्रान्त, देश की कौन गिनती, सारे संसार में दुर्लभ है।

(४) 'मुनिगन मिलन बिसेषि''' मुनि वसिष्ठ-वामदेव आदि यहाँ भी रहते हैं, पर वन में विशेष मिलेंगे। दिन-रात उन्हीं का संग रहेगा। 'सबहि भाँति हित', यथा—"मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई॥ सो जानब सत संग प्रभाऊ।" (बा० दो० ३); तथा—"बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू।" आगे कहते ही हैं। 'तेहि महँ' अर्थात् उससे भी श्रेष्ठ 'पितु आयसु' है। 'बहुरि' अर्थात् फिर उससे भी श्रेष्ठ तुम्हारी सम्मति है। भाव यह कि मुनियों से अधिक पिता और पिता से अधिक

माता का गौरव है। यथा—"उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता। सहस्रन्तु पितृन् माता गौरवेणाति रिच्यते ॥" (मनुस्मृति)। इस प्रकार अपना उत्तरोत्तर अधिक हित होना कहा है।

भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सबबिधि मोहि सनमुख आजू ॥१॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिय मोहि मूढ़ समाजा ॥२॥
सेवहिं अरँड कलपतरु त्यागी। परिहरि अमृत लेहिं बिष माँगी ॥३॥
तेउ न पाइ अस समय चुकाहीं। देखु बिचारि मातु मन माहीं ॥४॥

अर्थ—प्राण-प्रिय भरत राज्य पावें, आज विधाता सब तरह मुझे सम्मुख (अनुकूल) हैं ॥१॥ जो ऐसे भी कार्य (लाभ) के लिये वन को न जाऊँ तो मुझे मूढ़ों की समाज में सबसे बड़ा मूढ़ समझना चाहिये ॥२॥ जो कल्पवृक्ष को छोड़कर रेंड की सेवा करते हैं। अमृत को छोड़कर विष माँग लेते हैं ॥३॥ वे भी ऐसा समय पाकर नहीं चूकते, हे माता! इसे मन में विचार कर देखो ॥४॥

विशेष—(१) 'भरत प्रान प्रिय पावहिं···'—'प्रान प्रिय' यथा—"भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम ॥" (वाल्मी० ३।२६।३३); लोग प्राणों के सुख के लिये यत्न करते हैं, मेरे प्राण-प्रिय के लिये मेरे यत्न किये बिना ही राज्य-सुख प्राप्त होगा। सब प्रकार से यही ब्रह्मा की अनुकूलता है। यहाँ श्रीरामजी ने चार बातों से चारों फल की प्राप्ति दिखाई। १—'मुनिगन मिलन' से मोक्ष, यथा—"संत संग अपवरग कर" (उ० दो० ३३); २—'पितु आयसु' से धर्म, यथा—"पितु आयसु सब धरमक टीका" (दो० ५४); ३—'जननी का सम्मत'—वन-यात्रा है, इस कामना की सिद्धि एवं भूभार हरण होगा। अतः, काम और 'भरत पावहिं राजू'—से अर्थ; क्योंकि प्राण-प्रिय का सुख अपना ही है। यों भी है कि १४ वर्ष पर लौटेंगे तो दशगुणा कोश (खजाना) पावेंगे वाल० ६।१२७।५३ देखिये। यह अर्थ-वृद्धि भरतजी के शासन से होगी, 'आजू' अर्थात् ये चारों बातें आज ही घटित हुई हैं, नहीं तो हम तो पछताते थे—'बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू।'

(२) 'जौं न जाउँ बन···'—पहले वन जाने के गुण कहे, अब न जाने के दोष कहते हैं। 'मूढ़ समाजा' अर्थात् हजार पाँच सौ की टोल में सबों से अधिक अर्थात् मूढ़तम समझा जाऊँ। आगे मूढ़ का लक्षण कहते हैं—

(३) 'सेवहिं अरँड···'—इन मूढ़ों को कल्पतरु और अमृत के गुण एवं लाभ न समझ पड़े और रेंड़ और विष के अवगुण एवं हानि न समझ पड़ी। ऐसे मूढ़ भी समय पाकर नहीं चूकते तो मैं क्यों चूकूँ। रेंड़ प्रवृत्ति मार्ग है। उसका फल विष अर्थात् विषय है। यह फल बहुत थोड़ा है, यथा—"स्वर्गौ स्वल्प···" (उ० दो० ४३); कल्पतरु निवृत्ति मार्ग है उसका फल अमृत-रूप ज्ञानोपासना है। प्रवृत्ति मार्गवाले भी थोड़े प्रयास में बहुत लाभ होता देख नहीं चूकते तो मैं ऐसे परम लाभ को जिसमें चारो फल प्राप्त हो रहे हैं क्यों छेड़ूँगा; अर्थात् अवश्य वन जाऊँगा। यह—'कछु त आयसु धरहु सिर' का उत्तर है।

अंब एक दुख मोहि बिसेखी। निपट बिकल नरनायक देखी ॥५॥
थोरिहि बात पितहिं दुख भारी। होति प्रतीति न मोहि महतारी ॥६॥
राउ धीर गुन-उदधि-अगाधू। भा मोहि ते कछु बड़ अपराधू ॥७॥
जाते मोहि न कहत कछु राऊ। मोरि सपथ तोहि कहु सतिभाऊ ॥८॥

दोहा—सहज सरल रघुबर-बचन, कुमति कुटिल करि जान ।
चलइ जोंक जिमि बक्रगति, जद्यपि सलिल समान ॥४२॥

अर्थ—हे माता ! राजा को अत्यन्त व्याकुल देखकर मुझे एक बड़ा दुःख हो रहा है ॥५॥ थोड़ी ही बात के लिये पिता को भारी दुःख हो, यह मुझे विश्वास नहीं होता, हे माता ! ॥६॥ राजा बड़े धीर और गुणों के अथाह समुद्र हैं, मुझसे कोई बड़ा भारी अपराध (अवश्य) हो गया है ॥७॥ जिससे राजा मुझसे कुछ नहीं कहते, तुम्हें मेरी शपथ है, सत्य ही कहो ॥८॥ रघुकुल में श्रेष्ठ श्रीरामजी के सहज ही सीधे वचनों को दुर्बुद्धि कैकेयी ने टेढ़ा करके जाना । जैसे, यद्यपि जल समान ही रहता है, तथापि जोंक उसमें टेढ़ी ही चाल से चलती है ॥४२॥

विशेष—(१) 'अंब एक दुख मोहि'''—राज्य छूटने और वन जाने का दुःख नहीं है, केवल एक ही बात का दुःख है कि राजा अत्यन्त व्याकुल हैं।

(२) 'थोरिहि बात पितहिं'''—श्रीरामजी ने वन जाने में अपना बड़ा लाभ कहा है। तदनुसार पिता के लिये विदेश जाने पर जो वियोग मात्र का दुःख है, वह थोड़ा है, क्योंकि चार भाइयों में तीन तो यहाँ रहेंगे, फिर मैं प्रसन्नता पूर्वक बड़े लाभ की दृष्टि से जाता हूँ। सत्य रक्षा के लिये तो पूर्वजों ने बड़े-बड़े दुःख उठाये हैं, पिताजी को एक पुत्र के थोड़े दिन विदेश जाने मात्र के वियोग का थोड़ा ही दुःख है। इस धर्म की अपेक्षा में पुत्र आदि तृण समान कहे गये हैं। 'दुख भारी'—ऊपर 'निपट विकल' कहा था। वही यहाँ भारी दुःख कहकर जनाया।

(३) 'राउ धीर गुन उदधि अगाधू।'—(क) समुद्र उछलता है, शब्द करता है, राजा गुणों के समुद्र होते हुए भी अपनेको नहीं जनाते, ऐसे धीर हैं। (ख) राजा धीर हैं, फिर मेरे त्यागने में अधीर कैसे होंगे ? पुनः गुणों के अगाध समुद्र हैं तो असत्य रूप अवगुण को कैसे ग्रहण करेंगे ? अतः, तुम्हारे इस उत्तर में मुझे प्रतीति नहीं होती। 'भा मोहि ते कछु ''' अर्थात् मुझसे भूल में कोई बड़ा अपराध हो गया है, पर राजा धीर एवं अगाध-गुणवाले होने से नहीं कह रहे हैं, *यथा*—"कृपासिंधु सिव परम अगाधा। प्रगट न कहेउ मोर अपराधा॥" (बा० दो० ५७'; *मुझसे नहीं कहते, पर तुमसे कहा होगा। अतः, तुम सत्य*-सत्य कह दो। मुझसे हुए अपराध से ही भारी दुःख है, इसीसे हमसे नहीं बोल रहे हैं, यह भाव श्रीरामजी ने—'जाते मोहि न''' से जनाया है।

(४) 'सहज सरल रघुबर बचन'''—श्रीरामजी के वचन शुद्ध सत्य हैं, बनाकर नहीं कहे गये, क्योंकि रघुवंशी झूठ नहीं बोलते, *यथा*—"सत्य संध तुम्ह रघुकुल माहीं।" (दो० २६)। ये तो 'रघुबर' हैं अर्थात् रघुकुल में श्रेष्ठ हैं। पर कैकेयी अपनी दुर्बुद्धि से उन वचनों को कुटिल करके ही मानती है। उदाहरण रूप में जोंक को दिखाते हैं कि जल तो समान ही रहता है, पर वह अपनी प्रकृति से टेढ़ी चलती है।

सीधे वचनों में उसने क्या कुटिलता जानी ? उत्तर—(क) मुझे प्रिय वचनों से रिझाकर वनवास से बचना चाहते हैं, पर मैं भूलनेवाली नहीं हूँ। (ख) दंड-रूप वनवास को सुख-रूप कह रहे हैं, अपने अधिकार छीननेवाले पट्टीदार भरतजी को प्राण-प्रिय कह रहे हैं। यह सब मुझे ठगने की छल-चातुरी है कि जिससे मैं वर की बातें उलट दूँ। इन्हें राज्य और अपने पुत्र भरत को वनवास माँग लूँ, पर यह होने का नहीं। मैं तुम्हारी चातुरी जानती हूँ। (ग) वन जाने में प्रसन्नता होती, तो मुझसे हो

सुनकर चल देते। राजा की आज्ञा क्यों चाह रहे हैं? इनका भाव यह है कि न राजा कहेंगे और न मुझे जाना पड़ेगा, पर मैं तो भेजूँगी ही।

रहसी रानि राम-रुख पाई। बोली कपट सनेह जनाई ॥१॥
सपथ तुम्हार भरत कै आना। हेतु न दूसर मैं कछु जाना ॥२॥
तुम्ह अपराध जोग नहिं ताता। जननी - जनक - बंधु-सुख-दाता ॥३॥
राम सत्य सब जो कछु कहहू। तुम्ह पितु-मातु-बचन-रत अहहू ॥४॥

शब्दार्थ—आना = शपथ। जोग = योग्य। रत = अनुरक्त, माननेवाले, अनुरागी।

अर्थ—रानी रामजी के रुख (रुचि) को पाकर हर्षित हुई और कपटमय स्नेह दिखाती हुई बोली ॥१॥ तुम्हारी सौगंध और भरत की शपथ, मैं दूसरा कोई कारण नहीं जानती ॥२॥ हे तात! तुम अपराध के योग्य नहीं हो, (क्योंकि) माता, पिता और बंधु को सुख देनेवाले हो ॥३॥ हे श्रीरामजी! तुम जो कुछ कह रहे हो, सब सत्य है, तुम ठीक हो पिता-माता के वचनों में अनुरक्त रहनेवाले हो ॥४॥

विशेष—'रहसी रानि राम···'—रानी को पहले संदेह था कि श्रीरामजी वन जाना न स्वीकार करेंगे, तो उनका कोई क्या कर सकता है? राजा तो भीतर से यही चाहते भी हैं—"बचन मोर तजि रहहिं घर, परिहरि सील सनेहु ॥" (दो० ४४)। जब श्रीरामजी का रुख वन जाने का पाया, तो बहुत हर्षित हुई। 'कपट सनेह'–भीतर से पूरा द्वेष है; पर ऊपर से स्नेह प्रकट करती है कि जिससे मेरा कहा हुआ करें।

(२) 'सपथ तुम्हार ···'—श्रीरामजी ने कहा था 'मोरि सपथ तोहि कहु सतिभाऊ' उसपर अपनी सचाई दिखाने के लिये भरतजी की भी साथ ही शपथ करती है और ऊपर से यह भी दिखाती है कि हमें तुम भरत के समान ही प्रिय हो।

(३) 'तुम्ह अपराध जोग नहिं ···'—श्रीरामजी ने कहा था—'भा मोहि ते कछु बड़ अपराधू।' उसका उत्तर देती है कि तुम ऐसे हो कि तुमसे अपराध हो ही नहीं सकता। पुनः—"तेहि महँ पितु आयसु बहुरि, संमत जननी तोर ॥ "भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू।" को पुष्ट करती हुई—'जननी जनक बंधु सुख दाता।' कहती है कि पिता-माता के वचन मान कर वन जाओ और उन्हें सुखदाता हो और भरतजी के राज्य में बाधक न होकर बंधु-सुख-दाता हो। 'राम सत्य सब जो कछु···'—श्रीरामजी ने—"सुनु जननी सोइ सुत बड़ भागी। ···" से—"जौं न बन जाउँ···" तक के सब वचनों के सत्य कहकर पुष्ट करती है कि फिर वे पलटें नहीं। 'तुम्ह' तुम झूठे नहीं हो, जो कहते हो, वह करते हो, पर—

पितहि बुझाइ कहहु बलि सोई। चौथेपन जेहि अजस न होई ॥५॥
तुम्ह सम सुवन सुकृत जेहि दीन्हे। उचित न तासु निरादर कीन्हे ॥६॥
लागहिं कुमुख बचन सुभ कैसे। मगह गयादिक तीरथ जैसे ॥७॥
रामहि मातु बचन सब भाये। जिमि सुरसरिगत सलिल सुहाये ॥

छंद—गइ मुरछा रामहिं सुमिरि, नृप फिरि करवट लीन्ह।
सचिव-राम आगमन कहि, बिनय समय-सम कीन्ह ॥४३॥

शब्दार्थ—कुमुख = कुत्सित (निकम्मा) मुख। मगह = बा० दो० ३० चौ० ३ देखिये। करवट = दूसरी ओर फिरकर लेटना।

अर्थ—मैं बलिहारी जाती हूँ, तुम पिता को समझाकर वही बात कहो कि उन्हें जिससे अब बुढ़ापे में अपयश न हो ॥५॥ जिस पुण्य ने तुम्हारे समान पुत्र दिये हैं, उसका निरादर करना उचित नहीं है ॥६॥ कैकेयी के निकम्मे मुख के ये वचन कैसे शुभ लगते हैं कि जैसे मगह देश में गया आदि तीर्थ (शुभ) हैं ॥७॥ श्रीरामजी को माता के सब वचन अच्छे लगे, जैसे गंगाजी में (अशुद्ध एवं अशुभ) जल प्राप्त होने से शुभ हो जाता है ॥८॥ राजा की मूर्च्छा निवृत्त हुई, उन्होंने रामजी का स्मरण (राम, राम कह) कर फिरकर करवट ली। मंत्री ने श्रीरामजी का आना कहकर समय के अनुसार प्रार्थना की ॥४३॥

विशेष—(१) 'पितहि बुझाइ कहहु बलि······'—'सोई' अर्थात् जो तुमने हमसे कहा है, वही धर्म की बात पिता को भी समझाकर कहो। तुम धर्म को समझते हो। वे तुम्हारे स्नेह की विकलता से धर्म की ओर उदासीन हो रहे हैं। अत, उन्हें समझाओ, इसलिये मैं तुम्हारी बलिहारी जाती हूँ। (भीतर से यह स्वार्थ के लिये व्याकुल है। अतः, बलिहारी जा रही है)।

'चौथेपन ······'—तीनपन धर्म से बीते, चौथे में अब धर्म न छोड़ें, अन्यथा पाप होगा और उससे अपयश, यथा—"बिनु अघ अजस कि पावै कोई।" (उ० दो० १११)।

(२) 'तुम्ह सम सुवन सुकृत ······'—राजा के सुकृत अत्यन्त श्रेष्ठ है, तभी तो उससे तुम ऐसे श्रेष्ठ पुत्र मिले। यथा—"दसरथ सुकृत राम धरे देही।" (बा० दो० ३०१)। जिस सुकृत ने इतना बड़ा उपकार किया है, उसका अपमान करना योग्य नहीं है। सब सुकृतों का मूल सत्य है—"सत्य मूल सब सुकृत सुहाये। बेद पुरान बिदित मनु गाये॥" (दो० २७)। अतएव सत्य के त्याग से सब सुकृतों का अपमान होता है। इससे वे सुकृत नहीं रहते। यथा—"सुकृत जाहि अस कहत तुम्हारे।" (दो० ३०), तथा सुकृत का निरादर यों भी हो रहा है कि दान हर्षपूर्वक देना चाहिये, राजा दु:ख से दे रहे हैं, जैसे तुम हर्ष और उत्साह के साथ करते हो, (वैसे) करने को पिता से भी कहो।

(३) 'लागहिं कुमुख बचन सुभ ······'—कैकेयी के वचन हैं—"तुम्ह अपराध जोग नहिं···" से "उचित न तासु निरादर कीन्हें॥" तक, ये वचन उत्प्रेक्षा के विषय हैं। कैकेयी का कुमुख मगह और उसके वचन गया आदि तीर्थ हैं। कैकेयी के मुख में वचनों का जो वास्तविक अभिप्राय है, वह मगह देश की तरह अशुभ है, इसके भाव मगह की तरह अधोगति देनेवाले हैं। पर वचनों का शब्दार्थ लोक शिक्षात्मक तीर्थ-रूप है। "तुम्ह अपराध जोग नहिं ताता। जननी जनक बंधु सुखदाता॥" इसका भाव यह है कि माता-पिता को तुम्हारे वन जाने में सुख है और भरतजी को राज्य निर्विघ्न भोगने का सुख दो। इस-लिये वन को जाओ। पुन.—"राम सत्य सब जो ··" का भी वही अभिप्राय है कि तुम उपर्युक्त सब वचन सत्य करो और वन को जाओ, हमको इसी में सुख है। पुनः ऐसी आज्ञा पिता से भी समझा-बुझाकर प्राप्त करो, यह—"पितहिं बुझाइ···तुम्ह सम···" का भाव है। मुख के इन्हीं कुत्सित भावों को लेकर श्रीभरतजी ने कहा है—"बर माँगत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा॥" (दो० १६१); अर्थात् श्रीरामजी के प्रति ऐसा बर्त्ताव मगह की तरह अधोगति का देनेवाला है।

कैकेयी के वचनों का जो शब्दार्थ है, जो ऊपर भावार्थ में लिखा गया, वह तीर्थ रूप ऊर्ध्वगति का देनेवाला है। मगह में 'गयादिक' चार तीर्थ हैं, यथा—"कीकटेषु गया पुण्या पुण्यं राजगृहं वनम्। विषयश्चारणः पुण्यो नदीनां च पुनः पुनः ॥" (गरुडपुराण अ० ८३ श्लोक १); वैसे यहाँ कैकेयी के मुख के भी चार वचन हैं—"तुम्ह अपराध जोग नहिं ताता। जननी जनक···", "राम सत्य सब···तुम्ह···", "पितहिं बुझाइ···" "तुम्ह सम सुअन···" इत्यादि चारो अर्द्धालियों में चार बातें कही गई हैं। ये ही चारो तीर्थ हैं। इनका प्रभाव श्रीरामजी पर जैसा पड़ा वह आगे उपमा से प्रकट है।

(४) 'रामहि मातु बचन सब भाये। जिमि···'—जैसे नालों, मोरियों एवं कर्मनाशा नदी के अशुभ जल भी गंगाजी में पड़ने से शुद्ध हो जाते हैं, वैसे कैकेयी के कुमुख वचन (उपर्युक्त मगह के रूप में कहे हुए) भी श्रीरामजी को अच्छे लगे, अर्थात् इनका अभिप्राय समझते हुए भी प्रिय लगे, उद्वेग न हुआ। जैसे उपर्युक्त अशुभ जल भी गंगाजी में प्राप्त होने से शुभ होकर सुहावने हो जाते हैं।

(५) 'गइ मुरछा रामहि सुमिरि··'—पूर्व राजा की विकलता कही गई—"राम राम रट बिकल भुआलू।" (दो० ३६); व्याकुलता में ही सुमंत्रजी आये, फिर वे श्रीरामजी को बुला लाये, इनसे जब कैकेयी निधड़क वही कटु वाणी कहने लगी—"जीभ कमान बचन सर नाना। मनहुँ महिप मृदुलच्छ समाना॥" (दो० ४०); तब राजा को गाढ़ मूर्च्छा आ गई। वह मूर्च्छा इतनी देर में निवृत्त हुई, तब वे राम राम स्मरण करने लगे, यथा—"राम नाम सिव सुमिरन लागे। जानेउ सती जगतपति जागे॥" (बा० दो० ५९); और उलटकर करवट ली, तब मंत्री ने श्रीरामजी का आगमन कहकर समयानुसार प्रार्थना की कि हे राजन्! रामजी आये हैं, धैर्य धरकर देखिये और उचित आज्ञा दीजिये। विनय का यही भाव आगे चौपाई—'धरि धीरजु तब नयन उघारे।' से प्रकट है।

अवनिप अकनि राम पगु धारे। धरि धीरजु तब नयन उघारे ॥१॥
सचिव सँभारि राउ बैठारे। चरन परत नृप राम निहारे ॥२॥
लिये सनेहबिकल उर लाई। गै मनि मनहुँ फनिक फिरि पाई ॥३॥
रामहिं चितइ रहेउ नरनाहू। चला बिलोचन बारि-प्रबाहू ॥४॥
सोकबिबस कछु कहइ न पारा। हृदय लगावत बारहिं बारा ॥५॥

शब्दार्थ—अवनिप = राजा। अकनि (आकर्ण्य) = सुनकर। बिलोचन = नेत्र।

अर्थ—राजा ने यह सुनकर कि श्रीरामजी आये हैं, तब वे धैर्य धारण करके नेत्र खोले ॥१॥ मंत्री ने सँभालकर राजा को बैठाया, (तब) राजा ने चरणों पर पड़ते (प्रणाम करते) हुए श्रीरामजी को देखा ॥२॥ और स्नेह से व्याकुल होकर उन्होंने इनको हृदय से लगा लिया, मानों सर्प ने खोई हुई मणि को फिर से पाया हो ॥३॥ राजा श्रीरामजी को देखते ही (यकटक) रह गये, उनके दोनों नेत्रों से जल (आँसू) की धारा बह चली ॥४॥ शोक के विशेष वश होने के कारण कुछ कह नहीं सकते, बार-बार उन्हें हृदय से लगाते हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'अवनिप अकनि······धरि धीरज···'—पृथिवी का नाम क्षमा है, क्योंकि उसमें धैर्य धारण करने की विशेष शक्ति है, राजा के विशेष धैर्य धारण करने के संबंध से अवनिप (अवनि = पृथिवी, प = पति) पद दिया गया, यथा—"धरनि सुता धीरज धरेउ" (दो० २८६)।

(२) 'सचिव सँभारि राउ'''—पूर्व कहा गया—"सोच बिकल बिबरन महि परेऊ। मानहुँ कमल मूल परिहरेऊ॥" (दो० ३७); उसी तरह अभी तक पड़े थे, विकलता से स्वयं उठकर बैठ भी नहीं सकते थे। मंत्री ने सँभालकर बैठाया, आँख खोलने को भी बड़ा धैर्य धरना पड़ा, वह भी श्रीरामजी को देखने की लालसा से, अन्यथा इसमें भी असमर्थ थे। 'राम निहारे'—क्योंकि इन्हें देखने पर दुःख भूल जाता है, यथा—"दुख न रहइ रघुपतिहि बिलोकत" (गो० म० ५२); "कहँ दुख समउ प्रान पति पेखे।" (दो० ६६)। पुनः इसलिये भी कि अब इनका वियोग हो रहा है। आँखों भर देख तो लूँ।

(३) 'लिये सनेह ''' मनि मनहुँ'''—गई हुई मणि पर सर्प का स्नेह बढ़ जाता है, फिर पाते ही वह उसे हृदय से लगाता है। राजा सर्प हैं, श्रीरामजी मणि हैं, राम-वनवास का वर माँगा जाना, मानों मणि का खो जाना है, यथा—"सूखहि अधर जरहिं सब अंगू। मनहुँ दीन मनि हीन भुअंगू॥" (दो० ३६); यहाँ आकर श्रीरामजी का मिलना मणि का मिलना है।

(४) 'रामहि चितइ रहेउ''''—वियोग की सम्भावना से यकटक देखते रह गये और इसीसे आँसू की धारा बह चली।

(५) 'सोकबिबस कछु कहइ'''—'सोक-बिबस'—मन की, 'हृदय लगावत बारहिं बारा'—तन की और 'कछु कहइ न पारा'—वचन की विवशता है। वनवास की बात से हृदय जल रहा है, "अजहूँ हृदय जरत तेहि आँचा।" (दो० ३१)। उसे शीतल करने के लिये बार-बार हृदय में लगाते हैं, यथा—"हृदय लगाइ जुड़ावहि छाती।" (बा० दो० ३४४); बार-बार हृदय लगाते हैं, क्योंकि तृप्ति नहीं होती।

बिधिहि मनाव राउ मन माहीं। जेहि रघुनाथ न कानन जाहीं॥६॥
सुमिरि महेसहि कहइ निहोरी। बिनती सुनहु सदासिव मोरी॥७॥
आसुतोष तुम्ह अवढर दानी। आरति हरहु दीन जन जानी॥८॥

दोहा—तुम्ह प्रेरक सबके हृदय, सो मति रामहि देहु।
बचन मोर तजि रहहिं घर, परिहरि सील सनेहु॥४४॥

शब्दार्थ—अवढर दानी = जिस ओर मन में आया, उसी ओर ढल पड़नेवाले, मनमौजी दानी, यथा—"अवढर दानि द्रवत पुनि थोरे। सकत न देखि दीन कर जोरे॥" (वि० ६); पात्रापात्र का विचार न करनेवाले दानी। प्रेरक = प्रेरणा करनेवाले।

अर्थ—राजा मन में ब्रह्माजी को मनाते हैं कि जिसमें रघुनाथजी वन को न जायँ॥६॥ शिवजी का स्मरण करके उनसे निहोरापूर्वक प्रार्थना करते हैं, हे सदा शिव! आप मेरी विनती सुनिये॥७॥ आप शीघ्र प्रसन्न होनेवाले और औढर दानी हैं। अतः, मुझे दीन जन जानकर मेरे दुःख को हरण कीजिये॥८॥ आप सबके हृदय के प्रेरक हैं। रामजी को वह बुद्धि दीजिये कि जिससे मेरे वचन को त्यागकर और मेरे शील-स्नेह को छोड़कर वे घर में रहें॥४४॥

विशेष—(१) 'विधिहि मनाव राउ ·····'— ब्रह्माजी को मनाते हैं, क्योंकि वे सृष्टि-कर्त्ता हैं, हर तरह के संयोग ये ही करते हैं, यथा—"जो विधि बस अस बनइ सँजोगू ।" (बा० दो० २२१); इन्होंने वनवास की रचना भी की है, यथा—"जो जगदीस इन्हें वन दीन्हा।" (दो० ११०), "वन इनको वो वाम विधि के बनाये हैं।" (गी० अ० २८)। श्रीरामजी की सुकुमारता देखकर चाहते हैं कि ये वन के दुःख न सह सकेंगे। अतः, घर ही में रहें। मन ही में मनाते हैं, क्योंकि श्रीरामजी और कैकेयी भी समीप ही में हैं।

(२) 'सुमिरि महेसहि कहइ···'— भाव यह कि आप 'महेस' अर्थात् महान् ईश हैं। इससे इस महान् कार्य के लिये विनती करता हूँ। 'सदासिव' अर्थात् आप सदा ही कल्याण-स्वरूप हैं, हमारा भी कल्याण करें। आप 'आसुतोष' हैं; अतः, शीघ्र संतुष्ट होइये, क्योंकि मुझे ऐसा ही कार्य आ पड़ा है। 'अवढर-दानी' हो; अतः, 'रामजी घर में रहें' यही बड़ा दान मुझे दीजिये। आप औढरदान से दुःसाध्य घटना भी कर सकते हैं। यहाँ यही भाव है कि मेरा सत्य भी रहे; अर्थात् मुझे वरदान को 'नाहीं' न करना पड़े और श्रीरामजी घर में रह जायँ। 'दीन जन जानी' कहा, क्योंकि दीन पर शिवजी शीघ्र ही अत्यन्त प्रसन्न होते हैं, यथा—"सकत न देखि दीन कर जोरे।" (वि० ६), 'आरति हरहु' और 'जन' शब्द से अपनेको आर्त भक्तों में कहा। अब वन से रोकने की विधि कहते हैं।

(३) 'तुम्ह प्रेरक सबके हृदय···'—श्रीरामजी घर में तभी रह सकते हैं, जब हमारे वचन (जो कैकेयी ने श्रीरामजी से वन जाने को कहा है) का त्याग करें, वचन का त्याग हमारा शील-स्नेह छोड़े बिना न होगा, पर श्रीरामजी शील-स्नेह छोड़ते नहीं, प्रत्युत आजन्म निर्वाह करते हैं, यथा—" को रघुबीर सरिस संसारा। सील सनेह निबाहन हारा ॥" (दो० २४); इसीलिये ब्रह्माजी और शिवजी से विनती करते हैं कि आप प्रेरणा करके उनसे ऐसा करायें। राजा की यह विह्वलता श्रीराम-स्नेह का महत्त्व प्रकट कर रही है, यथा—"मोह मगन मति नहिं विदेह की। महिमा सिय रघुबर सनेह की ॥" (दो० २८५)।

> अजस होउ जग सुजस नसाऊ। नरक परउँ बरु सुरपुर जाऊ ॥१॥
> सब दुख दुसह सहावहु मोहीं। लोचन-ओट राम जनि होहीं ॥२॥
> अस मन गुनइ राउ नहिं बोला। पीपर-पात-सरिस मन डोला ॥३॥
> रघुपति पितहि प्रेम-बस जानी। पुनि कछु कहिहि मातु अनुमानी ॥४॥
> देस काल अवसर अनुसारी। बोले बचन विनीत बिचारी ॥५॥

अर्थ—जगत् में अपयश भले ही हो, सुयश भले ही नाश कर बैठूँ, नरक में भले ही पड़ूँ, स्वर्ग भले ही चला जाय॥१॥ सभी दुःसह दुःख मुझे सहन करा लीजिये, पर राम मेरे नेत्रों से ओझल (दूर) न हों ॥२॥ राजा ऐसा मन में विचार कर रहे थे, बोले नहीं। उनका मन पीपल के पत्ते के समान डोल (काँप) रहा है ॥३॥ श्रीरघुनाथजी ने पिता को प्रेम के वश जाना और अनुमान किया कि माता फिर कुछ कहेगी ॥४॥ (पिता को दुःख न दे) अतः, देश, काल और अवसर के अनुकूल विचारकर नम्र वचन बोले ॥५॥

विशेष—(१) 'अजस होउ जग सुजस···'—पहले चाहते थे कि सत्य और श्रीरामजी दोनों ही रहें, इसलिये ब्रह्मा-शिव को मनाया था, पर अब कहते हैं कि दोनों न हों तो न सही, पर श्रीरामजी घर में रहें

तो मैं सत्य भी छोड़ दूँ जिसका परिणाम होगा—जगत्-भर में अपकीर्त्ति होगी, बना-बनाया सुयश नाश होगा, नरक में पड़ूँगा और स्वर्ग भी नाश हो जायगा—यह सब भी मैं सह लूँगा, पर रामजी का वियोग न हो।

अयश हो और सुयश नष्ट हो, इससे इस लोक का और नरक में पड़ूँ, स्वर्ग नाश हो, इससे परलोक का नाश होना स्वीकार किया, पर रामजी न जायँ, यह—"चितहि बुझाइ कहहु बलि सोई। चौथेपन लेहि···" के प्रति है।

(२) 'सब दुख दुसह सहावहु···' अर्थात् श्रीराम-विरह का दुःख सब दुःखों से अधिक है, यथा—"माँगु माथ अबहीं देउँ तोहीं। राम-बिरह जनि मारसि मोहीं॥" (दो० ३३); सब दुसह दुःख भारी पाप के फल हैं। राम-वनवास के बदले में उन सबों को मुझसे भोगाइये, अर्थात् भारी पाप से ही श्रीरामजी का वियोग होता है। यह भी प्रकट हुआ।

राजा श्रीरामजी के समक्ष में सुकृत को तुच्छ मानते हुए त्यागने को भी सन्नद्ध हैं, पर शिव-ब्रह्मा को मना रहे हैं कि वे श्रीरामजी को प्रेरणा करके घर में रहने की रुचि कर दें, नहीं तो मैं सत्य भी छोड़ूँ और वे रहें भी नहीं तो एक भी बात न रहेगी।

(३) 'अस मन गुनइ राउ···'—इसका उपक्रम—'बिधिहि मनाव राउ···' है और यहाँ उपसंहार है। पीपल के पत्ते थोड़ी भी वायु से सर्वांग हिलने लगते हैं, वैसे ही राजा का मन स्थिर नहीं होता। चंचलता यह कि उन्होंने ब्रह्मा-शिव को भी मनाया, पर यह विश्वास स्थिर नहीं होता कि रघुनाथजी हमारा शील-स्नेह छोड़कर घर में रहेंगे। इसीसे कुछ बोल न सके। 'पीपर पात सरिस···' में पूर्णोपमा है।

अर्थ—हे तात ; मैं कुछ कहता हूँ, (यह) ढिठाई करता हूँ। मेरा लड़कपन समझकर इस अनुचित को क्षमा कीजियेगा ॥६॥ अत्यन्त तुच्छ बात के लिये आपने दुःख पाया, किसीने भी मुझे प्रथम ही (यह बात) कहकर नहीं जनाया, (नहीं तो मैं आकर कह देता कि मुझे वन जाने में दुःख न होगा, आप दुःखी न हों) ॥७॥ आपको (दुःखी) देखकर मैंने माता से पूछा। सब प्रसंग सुनकर शरीर शीतल हुआ ॥८॥ हे तात ! मंगल के समय स्नेह-वश होकर शोच करना छोड़िये। हृदय से प्रसन्न होकर मुझे आज्ञा दीजिये। ऐसा कहकर प्रभु श्रीरामजी शरीर से पुलकित हो गये ॥४५॥

विशेष—(१) 'तात कहउँ कछु'''—बिना पूछे बड़ों के समक्ष में कुछ कहना एवं समझाना मेरी ढिठाई है। मेरा लड़कपन समझकर यह अनुचित क्षमा करना कि लड़के अज्ञान होते ही हैं।

(२) 'अति-लघु-बात लागि'''—पिता समझते होंगे कि वन जाने और वहाँ १४ वर्ष रहने में बड़ा कष्ट होगा, इसीसे उसे 'अति लघु' कहते हैं कि इसमें हमें दुःख न होगा।

(३) 'देखि गोसाँइहिं पूँछिउँ'''—'देखि', यथा—"जाइ दीख रघुबंस मनि, नरपति निपट कुसाज।" (दो॰ ३९); 'पूँछिउँ माता'—यथा—"पूछी मधुर बचन महतारी।" (दो॰ ३९); 'सुनि प्रसंग', यथा—"सब प्रसंग रघुपतिहि सुनाई।'''" (दो॰ ४०)। 'भये सीतल गाता' अर्थात् हाल जानने के पूर्व हमारे गात जलने लगे थे, यथा—"अंब एक दुख मोहिं बिसेखी। निपट बिकल नरनायक देखी॥" (दो॰ ४१); किंतु जब हाल जाना, तो शरीर शीतल हुआ कि मेरे महान् भाग्य का उदय है कि माता-पिता की आज्ञा पालन करने को मिली और प्राण-प्रिय श्रीभरतजी राज्य पावेंगे, इत्यादि पूर्व दो॰ ४१ में कहा गया है।

'पूँछिउँ माता'—माता से मैंने पूछा तब उसने कहा। इस तरह श्रीरामजी ने माता को उस प्रसंग के कहने में निर्दोष किया।

(४) 'मंगलसमय सनेहबस '''—माता-पिता की आज्ञा पालन-रूप परम धर्म के लिये यात्रा है। अतः, मेरे मंगल का समय है। आपका सत्य धर्म रहेगा और कैकेयी से उऋण होंगे। अतः, आपको भी मंगल का समय है। कैकेयीजी भी अभीष्ट पा रही हैं। इससे उनका भी मंगल समय ही है। मंगल के समय शोच न चाहिये, किंतु हर्ष चाहिये। अतः, हर्ष-सहित आज्ञा दीजिये। 'पुलके' अर्थात् त्याग वीरता से हार्दिक उत्साह जनाया। 'प्रभु', ऐसा दुःसाध्य कार्य भी हर्ष-पूर्वक करने में एक आप ही समर्थ हैं, यथा—"त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराजलक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्।" (श्रीमद्भागवत)।

धन्य जनम जगतीतल तासू। पितहि प्रमोद चरित सुनि जासू ॥१॥
चारि पदारथ करतल ताके। प्रिय पितु-मातु प्रान-सम जाके ॥२॥
आयसु पालि जनमफल पाई। अइहउँ बेगिहि होउ रजाई ॥३॥
बिदा मातु सन आवउँ माँगी। चलिहउँ बनहिं बहुरि पग लागी ॥४॥
अस कहि राम गवन तब कीन्हा। भूप सोकबस उतर न दीन्हा ॥५॥

शब्दार्थ—रजाई = आज्ञा, 'रजा' अर्बी शब्द से बना है, यथा—"राम-रजाइ सीस सब ही के।" (दो॰ २५४)।

अर्थ—पृथिवीतल पर उसका जन्म धन्य है, जिसके चरित सुनकर पिता को अतीव आनन्द

हो ॥१॥ अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ये चारों पदार्थ उसकी हथेली में हैं, जिसे पिता-माता प्राण के समान प्रिय हों ॥२॥ आज्ञा पालन कर, जन्म लेने का फल पाकर शीघ्र ही लौट आऊँगा। अतः, शीघ्र ही आज्ञा हो ॥३॥ माता से विदा माँग आऊँ, फिर आपके चरणों में लगकर (प्रणाम करके) वन को चल दूँगा ॥४॥ ऐसा कहकर तब श्रीरामजी चल दिये, राजा ने शोक-वश होने से उत्तर न दिया ॥५॥

विशेष —(१) 'धन्य जनम जगतीतल'''—श्रीरामजी का चरित ठीक ऐसा ही है, यथा— "राम रूप गुन सील सुभाऊ। प्रमुदित होइ देखि सुनि राऊ॥" (दो० १); यहाँ श्रीरामजी कहते हैं कि इस श्रेष्ठ धर्माचरण में मुझे उत्साह है। अतः, इस मेरे चरित पर आपको प्रमोद चाहिये, तभी तो हमारा जन्म धन्य होगा।

(२) 'चारि पदारथ करतल'''—ये चारों यद्यपि और साधनों से बहुत प्रयास एवं बहुत काल में भी अगम हैं। तथापि माता-पिता की भक्ति से अल्पायास में ही और अतिशीघ्र प्राप्त हो जाते हैं, मानों हथेली में रक्खे हुए हैं। इसीसे कवि ने भी प्रथम चरण में ही प्राप्ति कहकर तब दूसरे चरण में साधन कहा है। किन्तु *माता-पिता प्राण समान प्रिय हों,* यह इस भक्ति का स्वरूप है। प्राण से अधिक प्रिय कुछ नहीं होता। इस तरह चार फलों को भी साधन से न्यून दिखाया कि जिससे साधन में ही प्रीति रहे, स्वार्थ में नहीं।

(३) 'आयसु पालि जनमफल'''—पिता की आज्ञा का पालन करना श्रेष्ठधर्म है, यथा—"पितु आयसु सब धरमक टीका।" ((दो० ५४)। अतः, धर्म-पालन से जन्म की सफलता है। 'अइहउँ बेगिहि' अर्थात् एक दिन भी अधिक न लगाऊँगा। इस तरह आज्ञा पालन में श्रद्धा दिखाई। पिता के संतोष के लिये यह सब कहा, अब माता के संतोष के लिये जाते हैं।

(४) 'बिदा मातु सन आवउँ माँगी।'—श्रीरामजी के इन वचनों से स्पष्ट है कि माता आज्ञा दे देगी, क्योंकि आपने उसे अलौकिक विवेकपूर्ण हो से दे रक्खा है। यथा—"मातु विवेक अलौकिक तोरे। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरे॥" (बा० दो० १५०); 'बहुरि पगलागी'—क्योंकि एक बार प्रणाम कर चुके हैं—"चरन परत नृप राम निहारे।" (दो० ४१)। श्रीरामजी को यहीं पर कैकेयीजी से मुनि-साज मिलेगा और उसीके सामने उसे सजकर जाना होगा, क्योंकि वह यही चाहती है—"होत प्रात मुनि बेष धरि'''" (दो० ३३)। इसलिये लौटकर यहाँ आने का प्रयोजन भी है।

(५) 'अस कहि राम गवन'''—ऐसा कहकर जाने से आशा बनी है कि अभी फिरकर आवेंगे। अन्यथा राजा को बड़ा दुःख होता कि हमने व्याकुलता में कुछ कह न पाया और श्रीरामजी मुझे छोड़कर चल दिये। 'भूप सोकबस'''—राजा को उत्तर देने की इच्छा थी, यही आगे वन-यात्रा के समय कहेंगे—"सुनहु राम तुम्ह कहँ मुनि कहहीं।'''" (दो० ७६); पर यहाँ शोक-वश न कह पाया।

इसके उपक्रम में—'देस काल अवसर अनुसारी' वचन की प्रतिज्ञा है, वह, यथा—"बिनु पूछे कछु'''—यह देशानुसार है, क्योंकि महाराज यदि राज्य-सिंहासन पर होते, तो ऐसी धृष्टता न कर सकते, किंतु यहाँ कोप-भवन में खेद-युक्त एकान्त में हैं। अतः, बोले हैं।"अति लघु बात लागि''''''— से "मंगल समय सनेह बस''' तक कालानुसार वचन है कि मैं पहले जानता तो आपका दुःख इतनी देर न रह पाता। "धन्य जनम जगतीतल'''" से "अइहउँ बेगिहि होउ रजाई।" तक वचन अवसर के अनुसार है, क्योंकि इस अवसर पर इस कार्य में हर्ष एवं भाग्य मानने से लोगों को खेद न होगा। 'विनीत' तो सभी वचन हैं ही।

राज-रस-भंग-प्रकरण समाप्त

पुरवासि-विरह-विषाद-प्रकरण

नगर व्यापि गइ बात सुतीछी । छुअत चढ़ी जनु सब तनु बीछी ॥६॥
सुनि भये बिकल सकल नरनारी । बेलि बिटप जिमि देखि दवारी ॥७॥
जो जहँ सुनइ धुनइ सिर सोई । बड़ बिषाद नहि धीरज होई ॥८॥

दोहा—मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं, सोक न हृदय समाइ ।
मनहुँ करुन-रस-कटकई, उतरी अवध बजाइ ॥४६॥

शब्दार्थ—सुतीछी = बहुत तीक्ष्ण । दवारी = वनाग्नि, वन में लगनेवाली आग । कटकई = सेना ।

अर्थ—यह बड़ी ही तीक्ष्ण बात नगर में फैल गई । मानों (बिच्छी का डंक) स्पर्श होते ही सारे शरीर में बिच्छी (अर्थात् उसके विष की पीड़ा) चढ़ गई ॥६॥ सुनकर सब स्त्री-पुरुष व्याकुल हो गये, जैसे लताएँ और वृक्ष दावानल (वनाग्नि) देख व्याकुल होकर (मुरझा) जाते हैं ॥७॥ जो जहाँ ही सुनता है, वह वहीं पर शिर धुनने (पीटने) लगता है, बड़ा दुःख है, धैर्य नहीं होता ॥८॥ (सबके) मुख सूख रहे हैं, आँखों से आँसू गिरते हैं, शोक हृदय में नहीं समाता । मानों करुणा रस की सेना अवध पर डंका बजाकर चढ़ आई हो, (अर्थात् आनंद को दुःख ने जीत लिया) ॥४६॥

विशेष—(१) 'नगर व्यापि गइ बात······'—कैकेई ने सब प्रसंग श्रीरामजी से कहा, उनके साथ के लोगों ने सुना । फिर कानों-कान यह बात थोड़ी ही देर में नगर-भर में व्याप्त हो गई। जैसे बिच्छी एक अंग में डंक मारती है और शीघ्र ही शरीर-भर में विष चढ़ जाता है । साँप की उगली हुई बिच्छी अत्यन्त तीक्ष्ण होती है । वैसी ही यहाँ 'सुतीछी' अर्थात् अत्यन्त तीक्ष्ण बात की उपमान-रूपा अत्यन्त तीक्ष्ण बिच्छी है, कैकेयी सर्पिणी ने इसे उगला है, यथा—"मानहुँ सरोष भुअंग भामिनि ··दोउ बासना रसना दसन बर···" (दो॰ २५); नगर-रूपी शरीर का एक अंग-रूप कोप-भवन स्थल है, वहाँ डंक-स्पर्श हुआ, फिर क्षण में सर्वत्र विष चढ़ गया । अर्थात् इसके वरदान की बात नगर-भर में फैलते देर न लगी । श्रीरामजी के साथ सुमंत्रजी निकले, तब उनसे द्वार की भीड़ को मालूम हुई, फिर सर्वत्र फैल गई । यह भी कहा जाता है कि उपर्युक्त सुतीछी-बिच्छी जिसे डंक मारती है, उसे तो विष चढ़ता ही है, उसे जो छूता है, उसे भी चढ जाता है ।

(२) 'सुनि भये बिकल सकल···'—यहाँ नारी बेलि और नर बिटप हैं । दावाग्नि से बेलि-बिटप झुलस जाते हैं, वैसे ही ये सब विरह-अग्नि से काले पड़ गये । ऊपर बिच्छी के विष की उपमा थी, वही यहाँ दावाग्नि-रूप से कही गई । बिच्छी का विष अग्नि के समान ही दाहक होता है । तीक्ष्ण बिच्छी के डंक मारने से भी शरीर काला पड़ जाता है ।

शंका—बेलि-बिटप के तो आँख नहीं होती, फिर उनका देखना कैसे कहा गया ?

समाधान—(क) यहाँ बेलि-बिटप के अभिमानी देवता के देखने का तात्पर्य है, यथा—"बन सागर सब नदी तलावा । ··· काम-रूप सुन्दर तनु धारी ।····· गये सकल···" (बा॰ दो॰ ६३) । (ख) विज्ञान-दृष्टि से देखा जाता है कि बेलि-बिटप स्थावर प्राणी हैं, अचर हैं, विपत्ति के पास आने का इन्हें

भी पता लग जाता है, ये बेचारे भाग नहीं सकते, किंतु पास दावाग्नि देखकर मुरझा जाते हैं एवं दूर पर की भी लताएँ भय से सूख जाती हैं, जिससे अग्नि को जलाने में और भी सुगमता हो जाती है। यहाँ नगर-वासी स्थावर की तरह जड़वत हो रहे हैं, क्योंकि उपाय चल नहीं सकता, राजा और श्रीरामजी सत्यव्रती हैं। कैकेयी की हठ भी वैसी ही दृढ़ है।

(३) 'जो जहँ सुनइ धुनइ '' '—जो जहाँ सुनता है, वहीं शिर पीटने लगता है, उपर्युक्त वेलि-विटप की तरह इधर-उधर नहीं जा पाता, क्योंकि जायँ कहाँ ? अभी तो श्रीरामजी यहीं (नगर में ही) हैं। जब श्रीरामजी वन को चलेंगे, तब भी दावाग्नि की ही उपमा देंगे, परन्तु नर-नारी को खग-मृग कहेंगे, क्योंकि वहाँ इनका भाग चलना है, यथा—"नगर सफल बन ''खग मृग बिपुल सकल नर-नारी ॥ बिधि कैकेई किरातिनि कीन्ही। जेहि दव दुसह दसहुँ दिसि दीन्ही ॥ सहि न सके रघुबर बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भागी ॥" (दो० ८३)। शोक में शिर पीटना स्वाभाविक है, मानों हाथ और भाल की भाग्य-रेखा को ताड़ना करते हैं कि हमारे भाग्य फूट गये।

(४) 'मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं ···'—ऊपर—'भइ बिषाद नहि धीरज होई।' कहा गया। उसीकी दशा यहाँ कहते हैं कि लोग अधीर हो गये, मुख सूख गये, आँसू की धारा चल रही है, शोक हृदय में नहीं समाता, तो हा-हाकार के द्वारा निकलता है। मानों करुणा रस (प्रिय-वियोग दुःख) चतुरंगिणी सेना सहित अवध के आनंद कटक को जो जन्म-विवाह आदि से आ जुड़े थे, डंका बजाकर जीतना चाहता है।

यहाँ राम वियोग विभाव है—यही गज हैं। आँसू गिराना, मुख सूखना, शिर पीटना आदि अनुभाव घोड़े हैं। ग्लानि, श्रम, शंका, अपस्मार, चिन्ता, उन्माद आदि संचारी पैदल हैं। अत्यन्त शोक स्थायी रथ हैं और शीघ्र ही सर्वत्र दुःख व्याप्त हो गया, हा-हाकार हो गया; यही डंका का शब्द है।

मिलेहि माँझ बिधि बात बिगारी। जहँ तहँ देहि कैकइहि गारी ॥१॥
येहि पापिनिहि बूझि का परेऊ। छाइ भवन पर पावक धरेऊ ॥२॥
निज कर नयन काढ़ि चह दीखा। डारि सुधा बिष चाहत चीखा ॥३॥
कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी। भइ रघुबंस-बेनु बन आगी ॥४॥
पालव बैठि पेड़ येहि काटा। सुख महँ सोक ठाठ धरि ठाटा ॥५॥

शब्दार्थ—मिलेहि माँझ = मेल ही में। चीखना = स्वाद लेना, खाना। ठाटा (स्थापू) = रचा, खड़ा किया।

अर्थ—मेल ही में ब्रह्मा ने बात बिगाड़ दी, लोग जहाँ तहाँ कैकेयी को गाली देते हैं ॥१॥ इस पापिनी को क्या समझ पड़ा ? कि इसने घर को छाकर उसपर आग धर लगा दी ॥२॥ अपने हाथों से अपनी आँख निकालकर देखना चाहती है और अमृत को गिराकर विष चखना चाहती है ॥३॥ यह कुटिला, कठोर, दुर्बुद्धि और अभागिनी है। रघुवंश-रूपी बाँस के वन को अग्नि-रूपा (जलानेवाली, नाश करनेवाली) हुई ॥४॥ पल्लव-डाल पर बैठकर इसने पेड़ को काटा, इसने सुख में शोक का ठाट बनाकर खड़ा किया ॥५॥

विशेष—(१) 'मिलेहि माँझ बिधि···'—मेल ही में बिगाड़ हो गया। राजा रानी और पुत्रों में मेल था। परस्पर प्रीति थी, अचानक महा विरोध हो गया। ऐसी घटना दैव-कृत कही जाती है, इसीसे विधि का

बिगाड़ना कहते हैं कि मेल ही में मात बिगाड़ दो, यथा—"मिलेहि माँझ रावन रजनीचर लंक संक अकुलानी ॥" (गी० बा० ४); 'गारी' यथा—पापिनि, कुटिल, कठोर, कुबुद्धि आदि आगे कहा है।

(२) 'येहि पापिनिहि बूझि का···'—कैकेयी ने बालपन से ही श्रीरामजी का पालन-पोषण किया, यही मकान उठाना है। मकान उठाने में बहुत समय लगता है। वैसे बालपन से कुमारावस्था-पर्यंत पालने में भी बहुत-समय लगा है। मकान छाने में समय कम लगता है, वैसे ही इसने श्रीरामजी का विवाह कराया। उसमें भी समय कम लगा। घर में सुख-सामग्री जुटाना, इसका राम-तिलक के लिये राजा से बार-बार कहना है। (क्योंकि इससे सब सुख मिलते) अब इस सम्पन्न घर-रूप श्रीसीतारामजी से इसे सुख उठाना चाहिये था। पर इसने उल्टे उनको वनवास दे दिया, यही मानों उसपर आग धर (लगा) दी। आग लगाने में बहुत-से जीव जलते हैं वैसे ही यहाँ समस्त प्रजा विरह-रूपी अग्नि में जलेगी—"सहि न सके रघुबर बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भागी ॥" (दो० ८१); आग लगानेवाला आततायी अर्थात् महापापी कहा जाता है, यथा—"अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्र-दारापहर्त्ता च षडेतेह्याततायिनः ॥"—वशिष्ठ स्मृति (३।१९) वैसे ही वनवास देनेवाली कैकेयी 'पापिनि' कही गई।

(३) 'निज कर नयन काढ़ि···'—यहाँ नेत्र-रूप श्रीरामजी हैं, उन्हें वनवास देना उस आँख का निकालना है। स्वयं वर माँगकर निकाला। यही अपने हाथ से निकालना है। अब भरत-राज्य देखना चाहती है, यह असंभव है, क्योंकि श्रीरामजी के घर रहने पर राजा जीते रहते तो भरत को राज्य देते और यह देखती—"देउँ भरत कहँ राज बजाई।" (दो० ३०); यह राजा ने कहा ही है। पर श्रीरामजी के वन जाने पर यह देखना असम्भव है।

(४) 'हारि सुधा बिष चाहत चीखा।'—अमृतरूपी श्रीरामजी का प्रेम है, यथा—"प्रेम अमिय मंदर बिरह ··" (दो० २३८); राज्य-सुख विषय विष-रूप है; अर्थात् श्रीभरतजी को राज्य देकर राजमाता होकर विषय-सुख अनुभव करना चाहती है, यथा—"हौं लहिहउँ सुख राजमातु होइ सुत सिर छत्र धरैगो।" (गी० अ० ६०); यह असम्भव है, क्योंकि पहले अमृत पी लेवे तब तो विष का स्वाद ले सकता है। वैसे यह श्रीरामजी का प्रेम पान करे; अर्थात् उन्हें घर में रखकर प्रेम करे, तब राजा जीते रहें और श्रीभरतजी को राज्य दें और यह उसका स्वाद भी ले सकती है। पर श्रीरामजी को वनवास देना अमृत का फेंकना है। अब उपर्युक्त विष-पान करने से चीखते ही मर जायगी; अर्थात् राजा की मृत्यु होगी और यह विधवा होगी। यही इसका मरना है। अब श्रीभरतजी के राज्य के सुख का अनुभव कैसे करेगी?

(५) 'कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी।'—'कुटिल' है, क्योंकि ऊपर से श्रीरामजी से स्नेह करती थी, किन्तु भीतर से द्वेष था, तभी तो उनके राज्य-तिलक से क्षोभ हुआ। 'कठोर' है, इसी से श्रीरामजी ऐसे कोमल को वनवास दिया। 'कुबुद्धि' है, तभी तो विचार न किया कि श्रीरामजी के वन जाने से तो राजा की ही मृत्यु हो जायगी, फिर विधवा होकर मैं कौन सुख भोगूँगी। 'अभागी' है, तभी तो श्रीरामजी-से विमुख हुई। इसके भाग्य में श्रीरामजी की अमृतरूपा भक्ति नहीं है, यथा—"ते नर नरक रूप जीवत जग भव भंजन पद बिमुख अभागी ॥" (वि० १४०)। 'भइ रघुबंस बेनु बन आगी।'—वन में बाँस की परस्पर रगड़ से अग्नि लग जाती है, वैसे ही यह (कैकेयी) इसी कुल में है और कौशल्याजी से ईर्ष्या-रूपी रगड़ की कल्पना करके अग्निरूपा हो गई कि इसने राम-विरह-रूपी अग्नि में वंश-भर को जलाया।

(६) 'पालव बैठि पेड़···'—यहाँ पेड़-रूप राजा हैं, पेड़ के भी प्राण होते हैं। वैसे राजा के प्राण-रूप श्रीरामजी हैं। पल्लव श्रीभरतजी हैं, जो पेड़-रूप राजा से जायमान हैं। यह श्रीभरतजी का आधार लेकर श्रीरामजी को वनवास दे रही है। अर्थात् राजा के प्राण ले रही है, यही पल्लव पर बैठकर पेड़ का

काटना है। जैसे पेड़ के कटकर गिरने से पल्लव पर बैठे हुए काटनेवाले की भी मृत्यु होती है, वैसे ही राजा की मृत्यु से कैकेयी की भी मृत्यु है, क्योंकि स्त्री के प्राण पतिदेव ही हैं, यथा—"जिय बिनु देह · तैसहि नाथ पुरुष बिनु नारी ॥" (दो० ६४); ऐसा ही श्रीभरतजी ने भी कहा है—"पेड़ काटि तैं पालव सींचा। मीन जियन निति बारि उलीचा ॥" (दो० १६०)।

'सुख महँ सोक ठाट···'—पहले सुख के ठाट में आग लगाना ऊपर कहा गया है—"छाइ भवन पर पावक धरेऊ।" अब उसकी जगह शोक का ठाट (समाज) ठाटा अर्थात् रचा, बाँधा। ठाट—किसान लोग फूस से घर छाने के लिये बाँस की फट्टियों को सीधी-तिर्छी रख बाँधकर ठाट बनाते हैं। इसपर कास-फूस आदि बिछाकर ऊपर से बाँस की फट्टी रखकर बाँधते हैं। इसमें आग लगने से तुरत फैल जाती है। इसने राम-राज्य-रूपी सुख की छावनी को जला दिया। वनवास-रूपी शोक का ठाट बाँधा है, जिसमें नाना प्रकार के शोक की भेदरूपी सीधी-तिर्छी फट्टियाँ हैं।

सदा राम येहि प्रान-समाना। कारन कवन कुटिलपन ठाना ॥६॥
सत्य कहहिं कबि नारि-सुभाऊ। सब बिधि अगह अगाध दुराऊ ॥७॥
निज प्रतिबिंब बरुक गहि जाई। जानि न जाइ नारिगति भाई ॥८॥

दोहा—काह न पावक जारि सक, का न समुद्र समाइ।
का न करइ अबला प्रबल, केहि जग काल न खाइ ॥४७॥

का सुनाइ बिधि काह सुनावा। का देखाइ चह काह देखावा ॥१॥

शब्दार्थ—ठानना = अनुचित करना, स्थिर, दृढ़ संकल्प करना। अगह = अग्राह्य, जो पकड़ा एवं जाना न जा सके।

अर्थ—श्रीरामजी इसे सदा प्राण के समान (प्रिय) थे, किस कारण से इसने यह कुटिलपन ठाना है (कि श्रीरामजी के वन जाने की हठ ठानी) ॥६॥ कवि लोग स्त्री का स्वभाव कहते हैं कि इनका दुराव (कपट) सब प्रकार अग्राह्य है और अगाध (अत्यन्त गहरा एवं अथाह) है, यह सत्य है ॥७॥ अपनी परछाईं चाहे पकड़ी जा सके, पर हे भाई! स्त्रियों की गति (चाल, चरित, दशा) नहीं जानी जा सकती ॥८॥ आग क्या नहीं जला सकती? समुद्र में क्या नहीं समा सकता? अबला ऐसी प्रबला होती है कि यह क्या नहीं कर सकती? जगत् में काल किसको नहीं खाता? ॥४७॥ ब्रह्मा ने क्या सुनाकर क्या सुनाया (अर्थात् राज्य-तिलक सुनाकर वनवास सुनाया), क्या दिखाकर और अब क्या दिखाना चाहता है (अर्थात् पहले से भूषण-वस्त्रयुक्त श्रीरामजी को देखते रहे अब जटा-वल्कल के साथ दिखाना चाहता है, वा आनंद-उत्सव दिखाकर अब विषाद एवं शोक दिखाना चाहता है) ॥१॥

विशेष—(१) 'सत्य कहहिं कबि···'—भाव यह है कि अभी तक पुस्तकों में लिखा हुआ ही पाते थे और कवियों को कहते हुए भी सुनते थे। आज प्रत्यक्ष देखा, तब उसकी सत्यता पर विश्वास हुआ। स्त्रियों के स्वभाव में जो दुराव (कपट) है, उसे ही अगह और अगाध कहा है। इन्हीं दोनों के भाव क्रमशः आगे 'निज प्रतिबिंब···' और 'काह न पावक···' में उपमा से प्रकट करेंगे।

(२) 'निज प्रतिबिंब···जानि न जाइ···'—'नारि गति' उपर्युक्त दुराव को ही कहा है, यथा—"बिधिहुँ न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी॥" (दो० १६१); अर्थात् यह भीतर से श्रीरामजी से द्वेष रखती थी, उसे ऐसा छिपा रक्खा था कि आज तक किसी ने न लख पाया। जैसे अपना प्रतिबिंब पकड़ में नहीं आता। 'भाई' यह अवधवासियों के परस्पर का संबोधन है। अपने मन को भी ऐसे प्रसंग में भाई कहा जाता है। यथा—"करइ बिचार करउँ का भाई।" (सुं० दो० ८) इसमें उपर्युक्त 'अगह' का भाव है।

(३) 'काह न पावक जारि···'—इसने विरह-अग्नि में सबको जलाया, शोकसागर में डुबाया और राजा को कालवश किया, इसी लक्ष्य पर ये उपमाएँ दी गई हैं। 'का न करइ' अर्थात् अग्नि, समुद्र एवं काल के-से कार्य करने में अकेली अबला समर्थ है। है तो अबला, पर माया (कपट) के द्वारा प्रबल है, उसी कपट की अगाधता से यह अग्नि के समान दाहक, समुद्र के समान बोरक और काल के समान मारक हुई। अग्नि, समुद्र और काल तीनों जड़ हैं, इनकी उपमा दी गई, क्योंकि अबला भी जड़-जाति कही गई है—"अधम अबल सहज जड़ जाती।" (उ० दो० ११४); 'अबला प्रबल', यथा—"नूनं हि ते कविवरा विपरीतबोधा ये नित्यमाहुरबला इति कामिनीनाम्। याभिर्विलोलतरतारकदृष्टिपातैः शक्रादयोऽपि विजितास्त्वबलाः कथं ताः॥" (भर्तृहरिशतक)। पावक कहकर साथ ही समुद्र कहा है, इससे समुद्र-शोषक अग्नि बड़वानल की तरह इसे जनाया है कि जलाने में बड़वानल और गंभीरता में समुद्र के समान है। बड़वानल समुद्र में रहता है और उसीको जलाता है। वैसे ही यह अयोध्यारूपी समुद्र में रहती है और अब इसीको जलाने लगी।

'बिधि काह सुनावा'—अर्थात् विधि होकर भी अविधि ही करता है, यह ठीक नहीं।

एक कहहिं भल भूप न कीन्हा। बर बिचारि नहिं कुमतिहि दीन्हा॥२॥
जो हठि भयेउ सकल दुख भाजनु। अबला बिबस ग्यान गुन गा जनु॥३॥
एक धरमपरमिति पहिचाने। नृपहिं दोष नहिं देहिं सयाने॥४॥
सिबि-दधीचि-हरिचंद-कहानी। एक एक सन कहहिं बखानी॥५॥

शब्दार्थ—हठि=बलात्, निश्चय करके। भाजन=पात्र, बर्तन। परमिति=सीमा, मर्यादा।

अर्थ—एक (कोई) कहते हैं कि राजा ने अच्छा नहीं किया, दुर्बुद्धि कैकेयी को विचारकर वर न दिया॥२॥ जो निश्चय करके सब दुःख का पात्र हो गया, स्त्री के विशेष वश होने से मानों (उनका) ज्ञान और गुण जाता रहा॥३॥ एक (कोई जो) धर्म की मर्यादा को जाने हुए हैं, वे सयाने राजा को दोष नहीं देते॥४॥ शिवि, दधीचि और हरिश्चन्द्र की कहानी (कथा) एक दूसरे से बखान कर कहते हैं॥५॥

विशेष—(१) 'एक कहहिं भल भूप न···'—प्रथम बहुत लोगों ने कैकेयी को दोष दिया था तब किसी-किसी ने राजा को भी दोष दिया।

(२) 'जो हठि भयेउ सकल···'—राजा ने स्वयं उसपर मोहित होकर वर माँगने को कहा। फिर सत्य की सराहना करके राम-शपथ भी कर ली, वे इसीसे बँध गये। विचार न किया, इसीसे वह घर सब दुःखों का पात्र हो गया। 'सकल दुःख'—राम-राज्य-रस-भंग का, राम-वन-वास का, प्रजा के नाश का और अपने मरने का दुःख।

'अबला बिबस'—राजा अपने से ही उसके वश हुए, अन्यथा उसे कोई बल न था कि ऐसा अनर्थ कर सकती। 'ग्यान-गुन गा'—ज्ञान के जाने ही पर उसमें मोहित हुए, नीतिज्ञता आदि गुण न चले जाते तो उसके छल में कैसे पड़ते ?

(३) 'एक धरमपरमिति···'—कैकेयी के दोषों का खंडन किसीने नहीं किया, क्योंकि लोक-दृष्टि से वह पापिनी है। उसने रामजी को वनवास दिया, पति को मारा और सभी को दुःख दिया। पर राजा को दोष देना धर्मज्ञ-सयाने न सह सके। अतः, उन्होंने खंडन किया। पुनः राजा के गुणों की बड़ाई करते हुए आगे शिवि आदि के उदाहरण दिये। इससे यह भी जनाया कि जिन्होंने राजा को दोष दिया है, वे धर्म की मर्यादा नहीं जानते और वे सयाने भी नहीं हैं।

(४) 'सिबि-दधीचि-हरिचंद-कहानी।···'—राजा शिवि और दधीचि ऋषि की कथाएँ पूर्व लिखी गईं। हरिश्चन्द्रजी की कथा बहुत प्रसिद्ध है—सारांश यह है कि ये रघुवंशी राजा त्रिशंकु के पुत्र थे। वसिष्ठजी ने इन्द्र की सभा में इनकी प्रशंसा की। सुनकर विश्वामित्रजी विप्र रूप से परीक्षा के लिये आये। राजा हरिश्चन्द्र से सम्पूर्ण राज्य माँग लिया और फिर दक्षिणा माँगी। राजा स्त्री-पुत्र-सहित राज्य से निकले, स्त्री-पुत्र बेचकर कुछ दिया, शेष के लिये काशी में वीरबाहक चांडाल के हाथ स्वयं बिके। फिर भी विश्वामित्रजी ने उनके पुत्र रोहित को सर्प बनकर काटा, वह मर गया और उसे जलाने के लिये उसकी माता श्मशान पर आई। तब मालिक के लिये उससे भी श्मशान का कर माँगा। उसके परिचय देने और निर्धनता कहने पर भी न माना और उसकी आधी साड़ी लेनी चाही, त्यों ही भगवान् ने उसका हाथ पकड़ लिया। मुनि अति प्रसन्न हुए, उन्होंने उनके पुत्र को जिला दिया। स्त्री के साथ उन्हें पुनः अयोध्या का राज्य सौंप दिया।

इन कथाओं से दिखाया कि राजा का ज्ञान-गुण नहीं गया, किन्तु उन्होंने सत्य-धर्म का पालन किया है। जैसे कि इन सब धर्मात्मा लोगों ने दुःख सहकर प्रतिज्ञा की रक्षा की है। बहुत लोग कहनेवाले हैं, कोई शिवि की, कोई दधीचि आदि की कथाएँ कहते हैं।

एक भरत कर संमत कहहीं। एक उदास भाय सुनि रहहीं ॥६॥
कान मूँदि कर रद गहि जीहा। एक कहहिं यह बात अलीहा ॥७॥
सुकृत जाहिं अस कहत तुम्हारे। राम भरत कहुँ प्रानपियारे ॥८॥

दोहा—चंद चवइ बरु अनल-कन, सुधा होइ बिष-तूल।
सपनेहुँ कबहुँ न करहिं किछु, भरत राम-प्रतिकूल ॥४८॥

शब्दार्थ—संमत = सलाह, अनुमति। अलीहा (अलीक) = असत्य। उदास = निरपेक्ष।

अर्थ—एक (कैकेयी के कर्तव्य में) श्रीभरतजी की सम्मति कहते हैं, एक (कोई) यह सुनकर उदास भाव से (मौन) रह जाते हैं ॥६॥ एक (कोई) हाथ से कान मूँदकर और दाँत तले जीभ दबा-कर कहते हैं कि यह बात असत्य है ॥७॥ ऐसा कहने से तुम्हारे सब सुकृत नाश हो जायँगे, श्रीभरतजी श्रीरामजी को प्राणों के समान प्यारे हैं ॥८॥ चन्द्रमा चाहे आग के कण चुवावे (गिरावे), अमृत विष के समान हो जाय, पर श्रीरामजी के प्रतिकूल (विरुद्ध) श्रीभरतजी कभी स्वप्न में भी कुछ नहीं करेंगे ॥४८॥

विशेष—(१) 'कान मूँदि कर रद गहि···'—अर्थात् ऐसी बात का कहना और सुनना दोनों ही पाप हैं। अतः, हम न कान से सुनेंगे और न जीभ से कहेंगे। अप्रिय बात के प्रति ऐसी रीति है।

(२) 'सुकृत जाहिं अस···'—सुकृत के साथ ही उसके फल रूप सुख और सुगति भी नाश हो जाते हैं। अन्यत्र यह भी कहा है, यथा—"मत तुम्हार यह जो जग कहहीं। सो सपनेहु सुख सुगति न लहहीं॥" (दो० १६८); सुख इस लोक में और सुगति परलोक में नहीं पाते, यथा—"उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई। जाइ लोक परलोक नसाई॥" (दो० २६२)।

(३) 'चंद चवइ बरु अनल···'—चन्द्रमा रस-मय है, किरणों द्वारा अमृत की वृष्टि करके वनस्पतियों को पोसता और भूमि की ताप हरण करता है। वह चाहे अपना स्वभाव छोड़कर चिनगारियाँ बरसावे। अमृत चाहे मृत्युकर विषवत् हो जाय; अर्थात् ये सब असंभव बातें चाहे हो जायँ, पर श्रीभरतजी श्रीरामजी के प्रतिकूल नहीं हो सकते।

इस प्रसंग में तीन प्रकार की वार्त्ता है—"एक भरत कर संमत कहहीं।" ये अधम; "एक उदास भाय सुनि रहहीं।" ये मध्यम और "कान मूँदि ··" से "चंद चवइ···" तक की वार्त्ता उत्तम लोगों की है।

एक बिधातहि दूषन देहीं। सुधा देखाइ दीन्ह बिष जेहीं॥१॥
खरभर नगर सोच सब काहू। दुसह दाह उर मिटा उछाहू॥२॥
बिप्रबधू कुल-मान्य जठेरी। जे प्रिय परम कैकई केरी॥३॥
लगीं देन सिख सील सराही। बचन बान-सम लागहिं ताही॥४॥

शब्दार्थ—मान्य = प्रतिष्ठित, पूज्य। जठेरी = बड़ी बूढ़ी। सील (शील) = अच्छा स्वभाव।

अर्थ—एक विधाता को दोष देते हैं कि जिसने अमृत दिखाकर विष दिया॥१॥ नगर में खलबली मच गई, सब किसी को शोच है, हृदय में असह्य जलन है, आनंदोत्साह मिट गया॥२॥ ब्राह्मणों की स्त्रियाँ, कुल की मान्या और बड़ी बूढ़ी एवं जो कैकेयी की परम प्रिय हैं॥३॥ वे सब कैकेयी के शील की प्रशंसा करके उसे शिक्षा देने लगीं, पर उनके वचन उसको बाण के समान लगते हैं॥४॥

विशेष—(१) 'सुधा दिखाइ दीन्ह बिष···'—राम-तिलक सुधा और वनवास विष है।

(२) 'खरभर नगर सोच···'—पूर्व—"मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं···" से नगर की खलबली और शोच कहकर फिर पुरवासियों की वार्त्ता कहने लगे थे। अब वहीं से फिर प्रसंग लिया। 'दुसह दाह'—राम-राज्य न हुआ, इससे दाह और उसपर भी वनवास हुआ, इससे दुस्सह दाह हुआ। 'उर' शब्द दीपदेहली है। 'मिटा उछाहू'—उछाह पूर्व कहा गया था—"तेहि निसि नींद परी नहि काहू। राम दरस लालसा उछाहू॥" (दो० ११); वह मिट गया।

(३) 'बिप्र बधू कुल मान्य···'—ब्राह्मणों की स्त्रियाँ, कुलमान्या क्षत्रिय वर्ण की, जठेरी वैश्य वर्ण की और परम प्रिय दासियाँ शूद्रवर्ण की भी उपदेश करने में थीं, क्रमशः न्यून कही गई। अथवा विप्रवधू और कुलमान्याओं में जो बड़ी-बूढ़ी और कैकेयी की परम प्रिय हैं, वे सब शिक्षा देने लगीं।

(४) 'सील सराही'—शील (मुलाहिजा) की सराहना करती है कि जिससे हमारा शील मानकर शिक्षा को सुनें, ये सब अच्छे स्वभाववाली है, मिलकर आई हैं कि हमारे लिहाज में पड़कर मान जाय। पर उसके अभीष्ट के विरुद्ध कहती हैं, इससे उसे बाण की-सी चोट पहुँचती है।

भरत न मोहि प्रिय राम समाना। सदा कहहु यह सब जग जाना ॥५॥
करहु राम पर सहज सनेहू। केहि अपराध आज बन देहू ॥६॥
कबहुँ न कियेहु सवतिआरेसू। प्रीति प्रतीति जान सब देसू ॥७॥
कौसल्या अब काह बिगारा। तुम्ह जेहि लागि बज्र पुर पारा ॥८॥

दोहा—सीय कि पिय सँग परिहरिहिं, लखन कि रहिहहिं धाम।
राज कि भूँजब भरत पुर, नृप कि जिइहि बिनु राम ॥४९॥

अस बिचारि उर छाड़हु कोहू। सोक कलंक कोठि जनि होहू ॥१॥

शब्दार्थ—आरेसू=ईर्ष्या, डाह, विरोध। पारा=गिराया, डाला। भूँजब=भोग करेंगे। कोठि=कोठी, कोठिला, जिसमें किसान अनाज रखते हैं।

अर्थ—श्रीभरतजी मुझे श्रीरामजी के समान प्रिय नहीं हैं, यह सदा कहती आई हो। इसे सब जगत् जानता है ॥५॥ श्रीरामजी पर स्वाभाविक स्नेह करती रही हो, आज किस अपराध से उन्हें वनवास देती हो ॥६॥ तुमने कभी भी सौतियाडाह नहीं की, तुम्हारी (पारस्परिक) प्रीति और प्रतीति को सारा देश जानता है ॥७॥ अब कौसल्याजी ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, जिसके कारण तुमने नगर-भर पर वज्रपात किया, अर्थात् एक कौशल्याजी के कारण सारे नगर को महान् दुःख दिया ॥८॥ सीताजी क्या पति का साथ छोड़ेंगी ? श्रीलक्ष्मणजी क्या घर में रहेंगे ? श्रीभरतजी क्या राज्य भोग करेंगे ? और राजा क्या बिना श्रीरामजी के जीवित रहेंगे ? अर्थात् न तो श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी घर रहेंगे, न श्रीभरतजी राज्य भोगेंगे और न राजा जियेंगे ॥४९॥ ऐसा हृदय में विचारकर क्रोध छोड़ो, शोक और कलंक की कोठी न बनो ॥१॥

विशेष—(१) 'भरत न मोहि प्रिय'''बन देहू।'—सखियों ने पहले श्रीरामजी पर इसका प्रेम कहा कि मुख से कहती थी और हृदय से भी प्रेम करती थी। न बोली, तब अपराध पूछा कि हो तो समाधान किया जाय, पर न बोली, तब अनुमान किया कि कौशल्याजी से कोई विरोध न हुआ हो, इसलिये कहा कि—'कबहुँ न कियेहु ''' अर्थात् कौशल्याजी बड़ी हैं, उनसे कोई वैर माने होती तो प्रीति-प्रतीति का नाश हो गया होता, किंतु उनमें तो तुम्हारी प्रीति-प्रतीति जगत्प्रसिद्ध है।

(२) 'कौसल्या अब काह'''—अभी यदि कौशल्याजी ने कुछ बिगाड़ किया हो तो कहो, क्योंकि तुम्हारी इस करनी से तो नगर-भर का नाश हो रहा है। अब आगे दोहे में वज्र गिराने का स्वरूप एवं भावी अनर्थ शृङ्खला दिखाती हैं—'सीय कि पिय''' अर्थात् श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी पर प्रेम हो तो संभवतः मान जाय फिर भी नहीं बोली, तब दिखाया कि इस तरह रक्त-सना हुआ राज्य-भोग श्रीभरतजी न करेंगे तब तो तुम्हें केवल शोक और कलंक ही की कोठी बननी होगी।

भरतहि अवसि देहु जुबराजू। कानन काह राम कर काजू ॥२॥
नाहिन राम राज के भूखे। धरमधुरीन बिषय-रस रूखे ॥३॥

गुरुगृह बसहु राम तजि गेहू। नृप सन अस बर दूसर लेहू ॥४॥
जौं नहिं लगिहहु कहे हमारे। नहिं लागिहि कछु हाथ तुम्हारे ॥५॥
जौं परिहास कीन्हि कछु होई। तौ कहि प्रगट जनावहु सोई ॥६॥
राम सरिस सुत कानन जोगू। काह कहिहि सुनि तुम्ह कहँ लोगू ॥७॥
उठहु बेगि सोइ करहु उपाई। जेहि बिधि सोक कलंक नसाई ॥८॥

अर्थ—श्रीभरतजी को अवश्य युवराज पद दो, पर वन में श्रीरामजी का क्या काम है? ॥२॥ श्रीरामजी राज्य के भूखे नहीं हैं। वे धर्म की धुरी धारण करनेवाले हैं, (अतः पिताजी श्रीभरतजी को राज्य दे देंगे तो वे कभी उसमें बाधा न करेंगे। पिता की आज्ञा भंग-रूप अधर्म न करेंगे) वे विषय के आनंद से उदासीन रहनेवाले हैं ॥३॥ 'श्रीरामजी घर छोड़कर गुरुजी के घर में रहें' ऐसा दूसरा वर राजा से ले लो ॥४॥ जो हमारे कहे पर न चलोगी तो कुछ भी तुम्हारे हाथ न लगेगा ॥५॥ जो कुछ हँसी की हो तो खोलकर कह दो कि हमने हँसी की है ॥६॥ श्रीरामजी के समान पुत्र क्या वन के योग्य हैं? यह सुनकर लोग तुम्हें क्या कहेंगे? ॥७॥ शीघ्र उठो और वही उपाय करो, जिस विधि (उपाय) से शोक और कलंक दूर हो ॥८॥

विशेष—(१) 'कानन काह राम कर काजू'—अर्थात् श्रीभरतजी को युवराज करने में तो स्वार्थ है, पर श्रीरामजी को वन भेजने में कोई स्वार्थ नहीं है। यदि यह डर हो कि ये श्रीभरतजी के राज्य में उपद्रव करेंगे उसपर कहती हैं—'नाहिन राम ···' अर्थात् कोई अधर्मी और विषय लोलुप होता तो ऐसी शंका ठीक होती। यदि राम-वनवास माँग चुकने की हठ हो कि मेरी बात रहे तो उसका उपाय कहती हैं—'गुरु गृह बसहु ···' अर्थात् गुरु मुनि हैं, उनका घर वन के समान है, वहाँ श्रीरामजी के रहने से तुम्हारा वचन राजा का सत्य और जीवन रहेगा और श्रीरामजी का वनवास भी।

(२) 'नहिं लागिहिं कछु हाथ···' अर्थात् न श्रीभरतजी का राज्य ही होगा, न राजा जियेंगे। तुम विधवा होगी और कलंक की कोठी बनोगी। सखियों का यह वचन शाप के समान है।

(३) 'राम सरिस सुत कानन जोगू।'—अर्थात् वे तो नेत्रों में रखने योग्य हैं, फिर वनवास देने से—'काह कहहिं सुनि···' अर्थात् लोक में निन्दा होगी, यथा—"आँखिन में, सखि! राखिबे जोग, इन्हें किमि कै बन बास दियो है।" "रानी मैं जानी अजानी महा, पबि पाहन हूँ ते कठोर हियो है।" (क॰ अ॰ २०;) 'जौं परिहास कीन्ह···' से उसे हठ छोड़ने का अवसर दिया है। 'उठहु बेगि सोइ···'—अर्थात् श्रीरामजी वन जाने को तैयार हो रहे हैं। अतः, जल्दी उठो और स्वयं उन्हें रोकने का उपाय करो। उठना कहा, क्योंकि पहले से बैठी है, यथा—"सम प्रसंग···बैठि मनहुँ तनु धरि निठुराई॥" (दो॰ ४०)।

छंद—जेहि भाँति सोक कलंक जाइ उपाय करि कुल पालही।
हठि फेरु रामहिं जात बन जनि बात दूसरि चालही।
जिमि भानु बिनु दिन प्रान बिनु तनु चंद बिनु जिमि जामिनी॥
तिमि अवध तुलसीदास प्रभु बिनु समुझि धौं जिय भामिनी॥

सो०—सखिन्ह सिखावन दीन्ह, सुनत मधुर परिनाम हित ।
तेइ कछु कान न कीन्ह, कुटिल प्रबोधा कूबरी ॥५०॥

शब्दार्थ—चालही=(सं० चालन)=प्रसंग चला, कह । धौं (सं० ध्रुव का अपभ्रंश है)=निश्चय ही ।

अर्थ—जिस तरह (सबका) शोक और (तुम्हारा) कलंक दूर हो, उस तरह का उपाय करके कुल का पालन कर। हठ करके श्रीरामजी को वन जाने से लौटा (रोक), वे वन को जाते हैं। बस, अब दूसरी बात ही न चला। जैसे सूर्य के बिना दिन, प्राण के बिना शरीर और चन्द्रमा के बिना रात (अशोभित) हैं। वैसे ही तुलसीदास के प्रभु (या, तुलसीदासजी कहते हैं कि सखियाँ कहती हैं कि प्रभु) श्रीरामजी के बिना अयोध्या हो जायगी, हे भामिनि ! यह निश्चय ही हृदय में समझो (या, हृदय में जरा समझ तो !)॥ सखियों ने शिक्षा दी, जो सुनने में मधुर और परिणाम (अन्त) में हितकर है, परन्तु उसने उसपर कुछ भी कान न दिया (न सुना, न माना), क्योंकि वह तो कुटिला कुबड़ी मंथरा की सिखाई हुई है ॥५०॥

विशेष—(१) 'जेहि भाँति सोक कलंक''' हठि फेरु'''—श्रीरामजी वन जाने को कह चुके हैं—"बिदा मातु सन आवउँ'''" (दो० ४५); वे अवश्य जायँगे, उससे 'सोक-कलंक' भी अवश्य ही होगा। अतः, हठ करके रोको कि हम न जाने देंगी, तभी रुकेंगे अन्यथा वे किसी की भी न सुनेंगे, क्योंकि धर्म धुरीण हैं। यही शोक-कलंक मिटने का उपाय है।

(२) 'जनि बात दूसरि चाल ही'—अर्थात् हठात् रोकने के अतिरिक्त दूसरी बात ही न करो। श्रीरामजी से यही कहो कि हम किसी तरह वन न जाने देंगी। उनसे और बात ही न करो।

(३) 'जिमि भानु बिनु दिन '''—बादलों की सघन घटा में सूर्य के प्रकाश बिना दिन मलीन रहता है, उसी तरह श्रीरामजी के वन जाने से अवध के पुरुष मलीन रहेंगे। चन्द्रमा (राकेश) बिना रात मलीन (अँधेरी) रहती है, वैसे ही श्रीरामजी के बिना अवध की स्त्रियाँ मलीन रहेंगी। प्रमाण—"श्री हत सीय-बिरह दुति हीना। जथा अवध नर-नारि मलीना ॥" (दो० ११८)। श्रीरामजी सूर्य और चन्द्र रूप हैं, यथा—"भानु कुल भानू" (दो० ४०); "निरखि राम राकेस" (उ० दो० ३)।

जैसे बादलों के हट जाने से दिन और शुक्लपक्ष की (चन्द्रमा के साथ होने पर) रात—ये दोनों फिर सुशोभित होते हैं, वैसे ही श्रीरामजी के लौटकर घर आने पर ये नर-नारी पुन सुशोभित होंगे। पुनः जैसे प्राण बिना तन अशोभित, वैसे श्रीरामजी के वन जाने और राजा के प्राण छोड़ देने पर श्रीरामजी की सब माताएँ अशोभित हो जायँगी। जैसे मृत देह फिर सुशोभित नहीं होता, वैसे माताएँ फिर सुशोभित नहीं होंगी, क्योंकि इनके प्राण-रूप तो राजा ही हैं, यथा—"जिय बिनु देह'' तैसेहि नाथ पुरुष बिनु नारी ॥" (दो० ६४); इस तरह सम्पूर्ण अयोध्या का अंग आ गया। सामान्य नर-नारी में राजा-रानी नहीं कहे जा सकते, इसलिये रानियों को प्रजा-गण (की स्त्रियों) से पृथक् कहा गया।

(४) 'प्रभु बिनु'—दिन के स्वामी सूर्य, रात के चन्द्रमा और तन के प्राण हैं, वैसे अवध के नर-नारियों के स्वामी श्रीरामजी हैं और रानियों के स्वामी राजा के भी प्राणाधार श्रीरामजी ही हैं। श्रीरामजी के लौटने पर समष्टि में अवधपुरी की शोभा कही गई है, यथा—"अवधपुरी प्रभु आवत जानी। भई सकल सोभा की खानी ॥" (उ० दो० २)।

उतर न देइ दुसह रिस रूखी। मृगिन्ह चितव जनु बाघिनि भूखी ॥१॥
ब्याधि असाधि जानि तिन्ह त्यागी। चलीं कहत मतिमंद अभागी ॥२॥

राज करत येहि दैव बिगोई। कीन्हेसि अस जस करइ न कोई ॥३॥
येहि विधि बिलपहिं पुर-नर-नारी। देहिं कुचालिहि कोटिक गारी ॥४॥

शब्दार्थ—रुखी = स्नेह रहित, उदासीन। दैव = विधाता। बिगोई = बिगाड़ दिया।

अर्थ—कैकेयी उत्तर नहीं देती। अत्यन्त क्रोध के कारण स्नेह रहित (रुष्ट) हो गई है (उन्हें इस तरह देखती है), मानों भूखी बाघिन हिरनियों को ओर देख रही हो ॥१॥ रोग को असाध्य जानकर (कि इसकी हठ रूप-व्याधि नहीं निवृत्त होगी,) उन्होंने इसे छोड़ दिया और कहते हुए चलीं कि यह मंद-बुद्धि और अभागिनी है ॥२॥ राज्य करते हुए इसे दैव ने बिगाड़ दिया। इसने ऐसा किया कि जैसा कोई न करे ॥३॥ इस तरह नगर के स्त्री-पुरुष विलाप कर रहे हैं। कुचाली कैकेयी को करोड़ों (बहुत) गालियाँ दे रहे हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'दुसह रिस रूखी'—रुष्ट तो पहले ही से थी। यहाँ अपने विरुद्ध शिक्षा से अत्यन्त क्रुद्ध होकर रुष्ट हो गई। अतः, 'दुसह' कहा। 'मृगिन्ह चितव जनु'''—बाघिन बूढ़े मृगों का मांस नहीं खाती, वैसे ही कैकेयी ने इन्हें बूढ़ी (जठेरी) जानकर छोड़ दिया। मुख से उत्तर न देती हुई, उन्हें क्रोध से देखा।

(२) 'ब्याधि असाधि'''—असाध्य जानकर वैद्य दवा बन्द कर देते हैं, वैसे इन सखियों ने उपदेश देना बन्द कर दिया कि यह हमारे वश की नहीं।

'मति मंद अभागी'—बुद्धि की मंद है। इसीसे इसने उपदेश न समझा और न उत्तर दिया, उल्टे क्रोध किया। अभागी है, क्योंकि पति-पुत्र आदि सबसे विमुख हुई और विधवा भी होगी। श्रीरामजी के विमुख होने से तो अभागिनी है ही।

(३) 'येहि बिधि बिलपहिं'''—विलाप का प्रसंग—"सुनि भये बिकल सकल नर-नारी।" (दो० ४५); से प्रारंभ हुआ था, बीच में और-और प्रसंग चल पड़े। अब फिर वही प्रसंग फिर लेते हैं। 'देहिं कुचालिहि'''—कुचाली को प्रायः सामान्य लोग, उनमें विशेष कर स्त्रियाँ गाली देती ही हैं, यथा—"नर भर देखि बिकल पुर नारी। सब मिलि देहिं महीपन्ह गारी ॥" (बा० दो० २६७); "सब मिलि देहिं रावनहिं गारी।" (लं० दो० ४०)।

जरहिं बिषमजर लेहिं उसासा। कवनि रामबिनु जीवनआसा ॥५॥
बिपुल बियोग प्रजा अकुलानी। जनु जलचरगन सूखत पानी ॥६॥
अति बिषाद बस लोग लोगाई। गये मातु पहिं राम गोसाँई ॥७॥
मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ। मिटा सोच जनि राखइ राऊ ॥८॥

दोहा—नवगयंद रघुबीर मन, राज अलान-समान।
छूट जानि बन-गवन सुनि, उर अनंद अधिकान ॥५१॥

शब्दार्थ—बिषमजर = विषम ज्वर, यह सामान्य ज्वर के बिगड़ने पर अथवा ज्वर अच्छा होने के

कुपथ्य करने पर होता है। इसमें नाड़ी की गति बदलती रहती है, ताप भी सदा एक रस नहीं रहता। उसासा=ऊँची श्वास, आह। चाऊ=उत्साह। नवगयंद=नया पकड़ा हुआ हाथी। अलान=लकड़ी की बनी हुई तिकोनी बेड़ी, जिसके भीतर लोहे के काँटे होते हैं। यह नये हाथी के पाँव में लगाई जाती है कि जिससे वह उछल-कूद नहीं सकता—"अलानं गजबंधनमित्यमर:"

अर्थ—वे (पुरवासी) विषम ज्वर से जल रहे हैं, ऊर्ध्व श्वास (लंबी श्वास) ले रहे हैं (और कहते हैं कि) श्रीरामजी के विना जीने की कौन आशा है॥५॥ भारी वियोग समझकर प्रजागण व्याकुल हैं, मानों जलचर समूह पानी के सूखते हुए अकुलाते (छटपटाते) हैं॥६॥ स्त्री-पुरुष सभी अत्यन्त विषादवश हो रहे हैं। गोस्वामी श्रीरामजी माता कौशल्याजी के पास गये॥७॥ उनका मन प्रसन्न है, चित्त में चौगुना उत्साह है, (अब) यह शोच दूर हो गया कि कहीं राजा रख न लें॥८॥ रघुवीर श्रीरामजी का मन नये पकड़े हुए हाथी के समान है और राज्य 'अलान' के समान है। वन का जाना सुन उस 'अलान' का छूटना जानकर हृदय में आनन्द बढ़ गया॥५१॥

विशेष—(१) 'जरहिं बिषमजर ···'—विषम ज्वर में पहले कम्प होता है, फिर दाह और श्वासा बहुत चलती है, और जीने की आशा नहीं रहती, वैसे इन्हें वियोग भय से कम्प है। विरह से अत्यन्त ताप है, ऊर्ध्व श्वास ले रहे हैं और जीने की आशा छूट गई है, क्योंकि विषम ज्वर बहुत काल तक रहता है, वैसे इनका यह वियोग १४ वर्ष का है।

(२) 'बिपुल बियोग प्रजा···'—वियोग १४ वर्ष का है। अतः, 'बिपुल' कहा है। श्रीरामजी का वन जाना जल का सूखना है। प्रजागण जलचर है, मछली न कहकर जलचर ही कहा है, क्योंकि जल सूखने पर मछली मर जाती है, पर अन्य जलचर जीते रहते हैं। फिर जल पाने पर सुखी हो जाते हैं, वैसे ही पुरवासी तड़पते हुए जीते रहेंगे। श्रीरामजी के फिर आने पर सुखी होंगे। ऊपर 'विषम जर' से हृदय की दशा कही गई है और यहाँ शरीर की।

(३) 'अति विषाद बस लोग···'—यथा—"जो जहँ सुनइ धुनइ सिर सोई। बड़ बिषाद नहिं धीरज होई॥" (दो० ४५)। 'गोसाईं' अर्थात् पृथिवी के स्वामी हैं, उसका भार उतारने पर सन्नद्ध हैं, अतः माता रखना चाहेंगी, तो भी आप न रहेंगे, यथा—"तुलसिदास जौ रहउँ मातु-हित को सुर-बिप्र-भूमि-भय टारै॥" (गी० अ० २)। पुनः गोस्वामी का अर्थ इन्द्रियजित् एवं स्नेहजित् भी है। अतः, गृह-सुख एवं मातृ-स्नेह में न रुकेंगे। सबकी इन्द्रियाँ व्याकुल हैं, पर ये सावधान हैं। इसका उपक्रम—"बिदा मातु सन आवउँ माँगी।" (दो० ४५); है और यहाँ—'गये मातु पहँ राम गोसाईं।' उपसंहार है।

(४) 'मुख प्रसन्न चित···'—सबके तो मुख सूख रहे हैं और सभी चित्त से व्याकुल हैं, यथा—"मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं···" (दो० ४६); पर श्रीरामजी का मुख प्रसन्न है और चित्त में चौगुना चाव है। सबके हृदय में पहले चाव था—"कनक सिंहासन सीय समेता। बैठहिं राम होइ चित चेता॥" (दो० १०); उससे श्रीरामजी का चौगुना चाव वन जाने में है। इसे ही आगे दृष्टान्त से कहते हैं।

(५) 'मिटा सोच जनि···'—कैकेयी ने सब प्रसंग सुनाया तब इतना ही शोच रह गया था कि कहीं राजा रख न लें, नहीं तो अभीष्ट कार्य (मुनिगन मिलन बिसेषि बन···' पर कहा हुआ) की हानि होगी। जब श्रीरामजी ने कहा—"बिदा मातु सन आवउँ माँगी। चलिहउँ बनहिं ··" इसपर राजा नहीं बोले, तब 'मौनं सम्मतिलक्षणम्' की दृष्टि से उनकी भी स्वीकृति मान ली और उक्त शोच मिट गया।

7255

(६) 'नवगयंद रघुवीर मन'''—बहुत दिनों का पकड़ा हुआ हाथी फिर वन जाने की इच्छा नहीं करता और नवीन हाथी बंधन में पड़ने से दुःखी रहता है और वन जाकर स्वतंत्र रहने की इच्छा करता है, इसीसे 'नवगयंद' कहा है। क्योंकि श्रीरामजी वन जाने को उसी तरह उत्सुक हैं और राज्य-तिलक को बंधन समझते हैं। इसपर तो ये पहले ही पछताते थे—"प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई'''" (दो० ९); यथा—"पित्रा दत्तां रुदन् रामः प्राङ्महीं प्रत्यपद्यत। पश्चात् वनाय गच्छेति तदाज्ञां मुदितोऽग्रहीत् ॥" (रघुवंश); पुनः देवता लोग वनचर-देह से वन में इनकी राह देख रहे हैं। उनके संबंध से भी 'नवगयंद' उपमा अधिक उपयुक्त है।

रघुकुल तिलक जोरि दोउ हाथा। मुदित मातुपद नायेउ माथा ॥१॥
दीन्हि असीस लाइ उर लीन्हे। भूषन-बसन निछावर कीन्हे ॥२॥
बार बार मुख चुंबति माता। नयन नेह जल पुलकित गाता ॥३॥
गोद राखि पुनि हृदय लगाये। स्रवत प्रेमरस पयद सुहाये ॥४॥
प्रेमप्रमोद न कछु कहि जाई। रंक धनद-पदवी जनु पाई ॥५॥

अर्थ—रघुकुल के तिलक श्रीरामजी ने दोनों हाथ जोड़कर प्रसन्नता-पूर्वक माता के चरणों में शिर नवाया (प्रणाम किया) ॥१॥ माता ने आशिष दी और उनको हृदय से लगा लिया। पुनः भूषण-वस्त्र निछावर किया ॥२॥ माता बार-बार मुख चूमती है, स्नेह के आँसू आँखों में भर आये और उसका शरीर पुलकायमान हो गया ॥३॥ गोद में ले (बिठा) कर फिर हृदय लगाया, सुन्दर छाती से प्रेम के कारण दूध टपकता है ॥४॥ इतना प्रेम और आनन्द है कि कुछ कहा नहीं जाता। मानों कंगाल ने कुबेर की पदवी पाई हो ॥५॥

विशेष—(१) 'रघुकुल तिलक जोरि ''—सभी रघुवंशी माता-पिता के भक्त होते आये, ये तो उस कुल के तिलक (सुशोभित करनेवाले, श्रेष्ठ) हैं, फिर क्यों न ऐसे भक्त हों। हाथ जोड़कर शिर नवाना प्रसन्न करने का कृत्य है, यथा—"भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइ है। ततकाल तुलसीदास जीवन जनम को फल पाइ है ॥" (वि० १३५)।

(२) 'दीन्हि असीस लाइ उर'''—आशिष दी, यथा—"वृद्धानां धर्मशीलानां राजर्षीणां महात्मनाम्। प्राप्नुह्यायुश्च कीर्तिं च धर्मं चाप्युचितं कुले ॥" (वाल्मी० २।२०।२३); अर्थात् धर्मात्मा, वृद्ध, महात्मा राजर्षियों के समान तुम आयु पाओ, कीर्ति पाओ और कुलोचित धर्म का पालन करो। हृदय से लगाकर छाती ठंढी की। 'भूषन बसन निछावरि ''—माता ने राज्याभिषेक सुनने पर भी निछावर की थी, यथा—"प्रथम जाइ जिन्ह बचन सुनाये। भूषनबसन भूरि तिन्ह पाये ॥" (दो० ७); वैसे ही श्रीरामजी के आने पर भी किया।

(३) 'गोद राखि पुनि ''—प्रथम आशिष देना, हृदय से लगाना और निछावर करना आदि खड़े-खड़े ही हुए थे। यहाँ कहते हैं कि बैठकर गोद में लिया और फिर अत्यन्त प्रेम के साथ हृदय से लगाया। 'स्रवत प्रेम-रस पयद'''—बालक के वात्सल्य-स्नेह के कारण स्तन में दूध आता है, बालक के बड़ा होने पर स्तन सूख जाते हैं। पर इनका श्रीरामजी में अत्यन्त वात्सल्य है, इसीसे उन्हें गोद में लेने और हृदय लगाने से स्तनों में दूध आ गया और टपकने लगा। अतः, 'पयद' (जो दूध दे) कहा गया है और दूध देने से ही स्तनों की शोभा है। अतएव, 'सुहाये' भी कहा है।

(४) 'प्रेम प्रमोद न कछु ···'—प्रेम के कारण आनन्द है और आनन्द के अंश को ही आगे उत्प्रेक्षा है कि कंगाल को कुबेर को पदवी प्राप्ति की सीमा है, वैसे ही श्रीरामजी भी प्राप्ति की अवधि हैं, यथा—"सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। ··यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।···" (गीता ६।२१-२२); तथा—"लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरे दरस आस सब पूजी॥" (दो० १०६)। पहले वह स्वयं कंगाल था, अब धनद अर्थात् और सभी को धन देनेवाला हो गया तो उसके आनन्द का क्या ठिकाना? यहाँ पहले प्रेम-प्रमोद की दशा दिखाई गई कि नेत्रों में प्रेमाश्रु भरे हैं, शरीर पुलकित है, स्तनों से दूध टपक रहा है, पर प्रेम-प्रमोद का तो कुछ अंश भी नहीं कहा जा सकता, इसलिये उत्प्रेक्षा से लक्षित कराया गया।

सादर सुन्दर बदन निहारी। बोली मधुर बचन महतारी॥६॥
कहहु तात जननी बलिहारी। कबहिं लगन मुदमंगलकारी॥७॥
सुकृत सील सुखसींव सुहाई। जनम लाभ कइ अवधि अघाई॥८॥

दोहा—जेहि चाहत नरनारि सब, अति आरत येहि भाँति।
जिमि चातक चातकि तृषित, बृष्टि सरद रितु स्वाति॥५२॥

अर्थ—आदर के साथ सुन्दर मुख देखकर माता मीठे कोमल वचन बोली॥६॥ हे तात! माता बलिहारी जाती है। कहो, आनद और मंगल करनेवाला लग्न कब है॥७॥ जो पुण्यात्मा पुरुषों के सुख की सुन्दर सीमा है और जन्म-लाभ की परिपूर्ण सीमा है॥८॥ जिस लग्न को सब स्त्री-पुरुष अति आर्त होकर इस प्रकार चाह रहे हैं, जिस प्रकार चातक चातकी प्यासे होकर शरद-ऋतु में स्वाती नक्षत्र की वृष्टि चाहते हैं॥५२॥

विशेष—(१) 'सादर सुंदर बदन···'—पहले—'बार-बार मुख चुंबति माता। नयन नेह जल···' में माता के स्नेह की प्रधानता थी। यहाँ—'सादर सुंदर बदन ··' में श्रीरामजी की सुन्दरता प्रधान है, इसी से उसे सादर देख रही हैं। ऊपर 'नयन नेह जल पुलकित गाता।' में 'स्नेह' से मन का स्नेह और 'पुलकित गाता' से तन का स्नेह और यहाँ 'बोली मधुर बचन' से वचन का स्नेह दिखाया। श्रीरामजी की सुंदरता से माता को सुख हुआ, वैसा ही माता के मधुर वचनों से श्रीरामजी को सुख होगा।

(२) 'कहहु तात जननी बलि हारी ··'—लग्न बतलाने पर माता बलिहारी जाती है, यह लग्न तो सभी को प्रिय है। आगे दोहे में कहेंगे, फिर माता को 'अतिप्रिय' हुआ ही चाहे। इसपर 'बलिहारी' जाती हैं। 'बलिहारी' शब्द दीपदेहली न्याय से लग्न के साथ भी है। बलिहारी का अर्थ मोहित होकर अपनेको निछावर करना होता है।

(३) 'सुकृत सील सुख ···'—सुकृत का फल सुख है, सुकृत-शील पुरुषों को जो सुख मिलता है, यह लग्न उसकी सीमा है। जन्म-लाभ अर्थात् जन्म-साफल्य की भी पूर्ण सीमा है।

(४) 'जेहि चाहत नरनारि ··'-शरद्-ऋतु में हस्त, चित्रा और विशाखा नक्षत्र की भी वृष्टि होती है। पर चातक-चातकी केवल स्वाती के ही जल को चाहते हैं। अर्थात् जब शरद और स्वाती दोनों का योग हो तब चातक

को तृप्ति होवे। वैसे प्रजागण राम-राज्य के ही अनुरागी हैं। चाहे भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न से भी राज्य कार्य चल जाय। स्वाती की वृष्टि अर्थात् अधिक बूँदों की वर्षा दैवाधीन है, वैसे श्रीराम-राज्य भी अति दुर्लभ है।

तात जाउँ बलि बेगि नहाहू। जो मन भाव मधुर कछु खाहू ॥१॥
पितु समीप तब जायेहु भैया। भै बड़ि बार जाइ बलि मैया ॥२॥
मातुबचन सुनि अति अनुकूला। जनु सनेह-सुरतरु के फूला ॥३॥
सुख मकरंद भरे श्रिय मूला। निरखि राममन-भँवर न भूला ॥४॥

अर्थ—हे तात! मैं बलिहारी जाऊँ, तुम जल्दी नहाओ और जो मन में अच्छा लगे, वह कुछ मीठी वस्तु खाओ ॥१॥ हे भैया! तब पिताजी के पास जाना, बड़ी विलंब हुई, माता बलिहारी जाती है ॥२॥ माता के बड़े ही अनुकूल वचनों को सुनकर जो मानों स्नेह-रूपी कल्पवृक्ष के फूल थे। सुख-रूपी मकरंद से भरे हुए और लक्ष्मी-रूपी राज्य-श्री के मूल इन वचन-रूपी फूलों को देखकर श्रीरामजी का मन-रूपी भ्रमर न लुभाया ॥४॥

विशेष—(१) 'जो मन भाव मधुर कछु ...'— सूर्योदय पर सुमंत्रजी राजा के पास गये, फिर श्रीरामजी को बुला लाये, उनसे बातें हुईं, तब माता के पास आये। अतः, लगभग एक प्रहर दिन चढ़ गया। अभी अभिषेक के कृत्य में भी एक पहर लगेंगे और दोपहर हो जायगा। कल भी एक ही समय भोजन किया था, क्योंकि संयम किये हुए थे। इसीसे माता भोजनार्थ कह रही हैं। यद्यपि अभिषेक के प्रथम भोजन करना न चाहिये, पर माता अत्यन्त वात्सल्य में भूल रही हैं और इन्हें नियम की सुधि नहीं है। प्रेमातिशय के कारण यहाँ कई बार बलि जाना कहा गया है। 'बोली मधुर बचन' कहा गया है, वही 'भैया' कहकर जनाया, यथा—"तब नृप दूत निकट बैठारे। मधुर मनोहर बचन उचारे॥ भैया कहहु कुसल दोउ बारे।" (बा० दो० २९०)।

(२) 'मातु बचन सुनि अति ...सुख मकरंद भरे ...'—यहाँ सुखपूर्ण राज्यश्रीदायक माता के स्नेह-पूर्ण मधुर वचन उत्प्रेक्षा के विषय हैं। वचन की अनुकूलता से स्नेह को कल्पतरु कहा गया। वचन फूल, और सुख उसके मकरंद है। कल्पवृक्ष के फूल श्री (लक्ष्मी) देते हैं, वैसे इनमें राज्य-श्री की प्राप्ति सन्निहित है। अनुकूल (कृपायुक्त) वचन पुष्प के समान कहे जाते हैं, यथा—"चाउ कृपा मूरति अनुकूला। बोलत बचन झरत जनु फूला॥" (बा० दो० २७१); कल्पवृक्ष अनुकूल वस्तु देता है। माता भी स्नेह से इनके अनुकूल ही कह रही हैं। अतः, स्नेह को कल्पतरु कहा है, क्योंकि स्नेह ही से मधुर वचन निकल रहे हैं। इस वचन-रूपी पुष्प में सुख ही रस है, क्योंकि माता ने लग्न पूछा है। वह सुख की सीमा है, यथा—"सुकृत सील सुख सींव सुहाई।" कहा गया है। फूल पर भ्रमर बैठता है। यहाँ श्रीरामजी का मन ही भ्रमर है। भ्रमर तो सामान्य पुष्प पर भी लुभा जाता है, पर श्रीरामजी का मन-रूपी भ्रमर कल्पतरु के रसीले फूल पर भी न लुभाया; अर्थात् पिता की आज्ञा के पालन-रूप श्रेष्ठ धर्म को छोड़कर इस सुख की इच्छा न की, न भूला, क्योंकि श्रीरामजी धर्मधुरीण हैं, आगे कहते ही हैं। इस सुख में भूलना लोलुपों का काम है, यथा—"लोलुप भूमि भोग के भूखे।" (दो० १७८)।

धरमधुरीन धरमगति जानी। कहेउ मातु सन अति-मृदु-बानी ॥५॥
पिता दीन्ह मोहि कानन-राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू ॥६॥

आयसु देहि मुदित-मन माता। जेहि मुद मंगल कानन जाता ॥७॥
जनि सनेहबस डरपसि भोरे। आनंद अंब अनुग्रह तोरे ॥८॥

दोहा—बरष चारि दस बिपिन-बसि, करि पितु-बचन-प्रमान।
आइ पाय पुनि देखिहउँ, मन जनि करसि मलान ॥५३॥

अर्थ—धर्म का बोझ सँभालनेवाले (धर्मात्मा)-श्रीरामजी धर्म की गति जानकर माता से बहुत ही कोमलवाणी से बोले ॥५॥ पिता ने मुझे वन का राज्य दिया है, जहाँ सब प्रकार से मेरा बड़ा काम है ॥६॥ हे माता! प्रसन्न मन से आज्ञा दीजिये कि जिससे वन जाते हुए आनंद-मंगल हो ॥७॥ मेरे स्नेह-वश होकर भूलकर भी नहीं डरना; क्योंकि हे माता! आपकी कृपा से आनंद ही होगा ॥८॥ चार और दस (चौदह) वर्ष वन में रहकर पिता के वचन प्रमाणित (पूर्ण) करके फिर आकर आपके चरणों के दर्शन करूँगा। अपने मन को मैला (दुखी) न करना ॥५३॥

विशेष—(१) 'धरमधुरीन धरम गति···'—आप धर्मधुरीण हैं, अर्थात् कैसा भी कठिन धर्म हो, उसका पालन कर सकते हैं। धर्म की गति भी जानते हैं कि यहाँ राज्य के ग्रहण करने से पिता की आज्ञा के पालन-रूप श्रेष्ठ धर्म की हानि है। अतः, स्वधर्म पर स्थित रहेंगे। 'अति मृदु बानी' बोले, क्योंकि दुःसह बात कहनी है, जिससे वह घबड़ा न जाय।

(२) 'पिता दीन्ह मोहिं ···'—आप धर्मधुरीण हैं। अतः, धर्म समझकर कठोर वनवास को भी सुख-रूप शब्दों में कहते हैं। इस तरह उसमें श्रद्धा दिखाते हैं, क्योंकि—"श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई।" (उ० दो० ८९); कहा है। पुनः—"पितु आयसु सब धरमक टीका।" (दो० ५५); 'कानन राजू'—माताजी राज्याभिषेक पर प्रसन्न हैं, अतएव आप वही उसे सुना रहे हैं कि राज्य ही मिला है, किन्तु वन का राज्य मिला है। इस तरह 'अति मृदु बानी' न कहते, तो संभव था कि राजा की तरह ये भी सहम (डर) जातीं, यथा—"गयेउ सहमि नहिं कछु कहि आवा।" (दो० २८)।

'जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू'—यह बड़ा कार्य कैकेयी के प्रति कहा गया है—"मुनि गन मिलन बिसेषि बन ··भरत प्रान-प्रिय पावहिं···" (दो० ४१); वही सब यहाँ भी कहा गया है। घर में रहकर राज्य का कार्य छोटा कार्य है और उक्त वन के कार्य बड़े हैं। 'मोर' अर्थात् अवध राज्य में और लोगों का कार्य होगा, पर वन के राज्य में मेरा बड़ा हित होगा। 'सब भाँति'—यहाँ राज्य-सुख-भोग रूप एक ही भाँति का कार्य है और वन के राज्य से राज्य शत्रु-हीन होगा, बड़े-बड़े राजा मित्र हो जायँगे, इत्यादि। पुनः बड़े कार्य रावणादि का वध, भू-भार-हरण, सुर-नर-नाग आदि की स्वतंत्रता स्थिर करना इत्यादि भी हैं।

(३) 'आयसु देहि मुदित···'—सुनते ही माता के मुख पर उदासी छा गई। इसलिये कहते हैं कि प्रसन्न मन से आज्ञा दो, जिससे इस राज्य में तो विघ्न हुआ, किंतु वन के राज्य में जाते हुए आनंद-मङ्गल हो। जानते हैं कि हमारे मुद-मंगल होने के लिये माता प्रसन्न होकर आज्ञा दे देंगी। क्योंकि यात्रा में हर्ष भी शकुन है। अतः, माताजी अवश्य करेंगी।

(४) 'जनि सनेहबस डरपसि भोरे।···'—वास्तव में मुझे तुम्हारी अनुग्रह से आनंद ही होगा तो डरने की कोई बात नहीं है। अतः, मेरे स्नेह-वश होकर कि वहाँ पुत्र को दुःख होगा, ऐसा भूल कर भी न समझना और न डरना।

(५) 'बरष चारि दस···'—प्रथम ही कहा गया कि 'अति मृदु बानी' कह रहे हैं, इसलिये वनवास की अवधि बतलाने में प्रथम 'चार' (अल्प काल वाचक) कहा, तब 'दश' कहकर चौदह वर्ष कहा कि जिससे प्रथम थोड़ा सहन हो जाय, तो फिर दश कहने से क्रमशः सह सकेंगी। साथ ही संयोग की आशा देते हैं—'आइ पाइ पुनि···' अर्थात् १४ वर्ष पूरा होते ही लौटकर फिर चरण देखूँगा, इस तरह भावी भी जनाई। यह बात पिता के यहाँ नहीं कही, यथा—"चलिहउँ बनहिं बहुरि पग लागी।" मात्र ही कहा है, क्योंकि पिताजी जीवित न रहेंगे तो वैसा क्यों कहें ?

बचन बिनीत मधुर रघुबर के। सर सम लगे मातु-उर करके ॥१॥
सहमि सूखि सुनि सीतलि बानी। जिमि जवास पर पावस पानी ॥२॥
कहि न जाइ कछु हृदय-बिषादू। मनहुँ मृगी सुनि केहरिनादू ॥३॥
नयन सजल तनु थरथर काँपी। माँजहि खाइ मीन जनु माँपी ॥४॥

शब्दार्थ—करके (करकन, करकना)=रुक-रुककर पीड़ा होना, कसकना। माँजा=प्रथम वर्षा का फेन जो मछलियों के लिये मादक होता है। मापना=मतवाला होना।

अर्थ—रघुवर के बहुत ही नम्र और मीठे वचन माता के हृदय में बाण के समान लगे और कसकने लगे ॥१॥ शीतल वाणी सुनकर वह डरकर सूख गई, जैसे वर्षा का जल पड़ने से जवासा सूख जाता है ॥२॥ हृदय का दुःख कुछ कहा नहीं जाता, मानों सिंह की गरजन सुनकर हरिणी दुःखित हुई हो ॥३॥ नेत्रों में जल भर आया। शरीर थर-थर काँपने लगा, मानों मछली माँजा को खाकर मतवाली हुई हो ॥४॥

विशेष—(१) 'सर सम लगे···'—बाण लगने से जैसे पीड़ा होती है और बोला नहीं जाता, वैसी ही दशा है। 'उर करके'—बाहर कोई घाव आदि चिह्न नहीं है, पर असह्य वेदना है। यहाँ हृदय की दशा कही, आगे शरीर की कहते हैं।

(२) 'सहमि सूखि सुनि···'—सूखना गरम से होता है और वचन शीतल हैं, फिर कैसे सूख गई। उसके लिये दृष्टान्त दिया कि वर्षा के ठंढे जल से ही जवासे की पत्तियाँ सूखकर गिर जाती हैं। फिर वर्षा बीतने पर वह पनपता है, वैसे माताजी भी चौदह वर्ष के पीछे श्रीरामजी के दर्शन पाकर हरी (प्रसन्न) होंगी।

(३) 'कहि न जाइ कछु···'—ऊपर की दशा तो कुछ कही गई कि जवासे की तरह सूख गई, थर-थर काँपने लगीं, उनका कंठ रुक गया, पर भीतर का दुःख तो अकथनीय है। 'मनहुँ मृगी···'—सिंह मृगी का घातक नहीं, तो भी मृगी उसके गर्जन सुनकर वह डर जाती ही है। वैसे ही श्रीरामजी ने अधर्म-गज-विदारण के लिये धर्म-वीरता लिये हुए सिंह के समान निर्भय वचन कहा। पर माताजी पुत्र-वियोग के भय से मृगी की तरह स्वयं डर गईं।

(४) 'नयन सजल तन···'—वचन हृदय में बाण के समान लगे, पीड़ा हुई। शरीर जवासे की तरह सूख गया। वे मृगी की तरह डर गईं और माँजा खाई हुई मीन की तरह थर-थर काँपने लगीं। माँजा खाने से मछलियाँ मतवाली होकर काँपती हुई उतरा जाती हैं, बहुत मर भी जाती हैं।

धरि धीरज सुत-बदन निहारी। गदगद बचन कहति महतारी ॥५॥
तात पितहि तुम्ह प्रान-पियारे। देखि मुदित नित चरित तुम्हारे ॥६॥
राज देन कहँ सुभ दिन साधा। कहेउ जान बन केहि अपराधा ॥७॥
तात सुनावहु मोहि निदानू। को दिनकर-कुल भयेउ कृसानू ॥८॥

दोहा—निरखि रामरुख सचिवसुत, कारन कहेउ बुझाइ।
सुनि प्रसंग रहि मूक जिमि, दसा बरनि नहिं जाइ ॥५४॥

शब्दार्थ—साधा = निश्चित किया। निदान = कारण, आदि कारण। मूक = गूँगा।

अर्थ—धैर्य धरकर पुत्र के मुख को देखकर माता गद्‌गद वचन कहती हैं ॥५॥ हे तात! तुम तो पिता के प्राण-प्रिय हो, वे तुम्हारे चरित्र देखकर नित्य ही प्रसन्न रहते हैं ॥६॥ (तुम्हें) राज्य देने के लिये उन्होंने शुभ मुहूर्त्त निश्चित किया। अब किस अपराध से वन जाने को कहा? ॥७॥ हे तात! मुझे इसका कारण सुनाओ कि कौन इस सूर्यकुल के लिये अग्नि हुआ? ॥८॥ श्रीरामजी का रुख देख मंत्री के पुत्र ने सब कारण समझाकर कहा। वृत्तान्त सुनकर गूँगी की तरह रह गई। उनकी दशा वर्णन नहीं की जा सकती ॥५४॥

विशेष—(१) 'धरि धीरज सुत······'—पूर्व—"कहि न जाइ कछु हृदय विषादू।" में मन की व्याकुलता, "नयन सजल तन थर-थर काँपी।" में तन की और यहाँ—"गद्‌गद वचन······" में वचन की व्याकुलता, इस वन के समाचार सुनने से हुई। 'धरि धीरज'—क्योंकि वचन वाण के समान लगने से अधीर हो गई थीं। इसीसे धैर्य धरने पर भी ठीक से बोलते नहीं बनता, गद्‌गद वचन कहती हैं। 'सुत बदन निहारी'—प्रथम भी—'सादर सुन्दर बदन निहारी।' कहा गया है, किंतु वहाँ राज्य-प्राप्ति की प्रसन्नता देखने में और यहाँ वन जाने के प्रति विषाद देखने में है माता को कुछ भी अन्तर न जान पड़ा। वात्सल्य में माता की दृष्टि स्वाभाविक बच्चे के मुख पर जाती है कि कोई विकार तो नहीं है।

'राज देन कहँ सुभ······'—इसमें अपह्नुति अलंकार है।

(२) 'तात सुनावहुँ मोहि निदानू।'—उपर्युक्त बातों से निश्चय ही कोई भारी दुर्घटना हुई होगी, अन्यथा ऐसा असंभव है, इसलिये कारण पूछती हैं कि यदि कोई उपाय हो सके, तो किया जाय। कारण सुनने पर यथावकाश उपाय भी करेंगी, यथा—"तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि, प्रजहिं प्रचंड कलेस ॥ जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता ॥" (दो० ५५)। 'को दिनकर कुल······'—प्रथमोक्त बातों का उत्तर न पाकर माता ने निश्चय किया कि न तो राजा का इनपर प्रेम ही घट सकता है और न इनसे कोई वैसा अपराध ही हो सकता है। यह कुछ और ही कारण है कि जिससे यह सूर्यवंश ही नाश होगा। अतः, पूछती हैं।

(३) 'निरखि राम रुख···'—श्रीरामजी ने स्वयं न कहा, मंत्री-पुत्र से कहलाया। क्योंकि उसमें पिता का स्त्री-वश होना, माता कैकेयी की कुचाल और अपनी प्रशंसा भी है। यह सब स्वयं कैसे कहें? आप मर्यादापुरुषोत्तम हैं। पुनः पूरा कारण जानने के लिये माता ने पूछा है, उसे भी सब बतलाना है। 'कारन कहेउ बुझाइ'—राजा का राम-शपथ करके वचन-बद्ध होना, कैकेयी के बातीवाते

वरदान की कथा, जो शंबरासुर के संग्राम की थी, इत्यादि, कही। समझाकर कहा, क्योंकि माता तन, मन, वचन से विकल है। ऊपर लिखा गया, सुनि-प्रसंग रहि''''''—प्रथम कारण पूछा था, तब आशा थी कि पिता ने वनवास दे दिया है तो मैं माता हूँ, अपनी आज्ञा से इन्हें घर रख सकूँगी, क्योंकि पुत्र के लिये पिता से दश गुणा माता का गौरव है। पर मंत्री-पुत्र से कैकेयी के द्वारा वनवास होना सुना, तो चुप हो गई, क्योंकि विमाता का अपनेसे भी दश गुणा गौरव शास्त्र में है। क्या करूँ? यही शोच रही है, माता की दशा पर करुणा आ जाती है, इससे वह कही नहीं जाती।

राखि न सकइ न कहि सक जाहू। दुहूँ भाँति उर दारुन दाहू ॥१॥
लिखत सुधाकर गा लिखि राहू। बिधिगति बाम सदा सब काहू ॥२॥
धरम सनेह उभय मति घेरी। भइ गति साँप छुछुंदरि केरी ॥३॥
राखउँ सुतहि करउँ अनुरोधू। धरम जाइ अरु बंधुबिरोधू ॥४॥
कहउँ जान बन तौ बड़ि हानी। संकट-सोच-बिबस भइ रानी ॥५॥

शब्दार्थ—सुधाकर = चन्द्रमा। गति = चाल, कर्त्तव्य। अनुरोध = विनय-पूर्वक अपनी अनुकूलता के लिये हठ।

अर्थ—न तो रख ही सकें और न यही कह सकें कि जाओ; दोनों ही तरह से हृदय में कठिन जलन हो रही है ॥१॥ (सोचती हैं कि) ब्रह्मा की चाल सदा ही सबके लिये टेढ़ी होती है, (देखो तो) चन्द्रमा लिखते हुए लिख गया राहु ॥२॥ धर्म और स्नेह, दोनों ने कौशल्याजी की बुद्धि को घेर लिया जिससे उनकी दशा साँप और छुछूँदर के समान हो गई ॥३॥ (वे सोचती हैं कि) पुत्र को रक्खूँ और अनुरोध करूँ तो धर्म जाता है और भाई से विरोध होता है ॥४॥ यदि वन जाने के लिये कहती हूँ तो बड़ी हानि है। इस तरह रानी संकट और शोच के वश हो गई ॥५॥

विशेष—(१) 'राखि न सकइ'''दुहूँ भाँति''''—प्रथम रोकने का विचार है, इसीसे 'राखि' प्रथम कहा गया। फिर समझने से दोनों प्रकार में कठिन जलन है। दोनों प्रकार की व्याख्या आगे करती हैं—"राखउँ सुतहिं''''''कहउँ जान बन तौ''''''" अर्थात् रखने में धर्म-हानि और जाने को कहूँ, तो स्नेह-हानि है।

(२) 'लिखत सुधाकर गा लिखि''''''—राज्य-तिलक चन्द्रमा है, सबको सुखदाता है। सुधाकर कहा है, क्योंकि राम-राज्य में लोग सुधा पीनेवालों की अपेक्षा से भी अधिक सुखी होनेवाले थे, (जैसा आगे होगा, उत्तरकाण्ड में लिखा है)। वन राहु है, सबको दुःख-दाता है। 'सदा सब काहू'—सतयुग में राजा नल के ऊपर, त्रेता में श्रीरामजी पर, द्वापर में युधिष्ठिर इत्यादि पर। 'सब काहू' अर्थात् छोटे-बड़े सबके ऊपर। 'बिधि गति'—कैकेयी तो सदा राम-राज्य ही माँगती थी, किंतु एकाएक मति पलट जाना, यही, तो दैवगति कहाती है। यथा—"बिधि बाम की करनी कठिन जेहि मातु कीन्हीं बावरी।" (दो० २००), 'गा लिखि'—से विधि का भी भावी-वश होना जनाया। वह भावी श्रीरामजी की इच्छा है—"हरि इच्छा भावी बलवाना।" (बा० दो० ५५); ऐसा ही राहु लिख जाने की कथा से स्पष्ट है—हिरण्यकशिपु की लड़की सिंहिका विप्रचित्ती दैत्य को ब्याही गई। ब्रह्मा ने प्रथम ही सोचा था कि चन्द्रमा और सूर्य का जन्म इसके उदर से कर दें तो दैत्य हिरण्यकश्यप इनका नाना होगा। इस नाते से देवता-दैत्य का विरोध मिट जायगा। सिंहिका के शिर पर 'राकेश' लिखने लगे, भावी-वश 'रा' लिख चुकने पर 'केश' की

जगह 'हु' लिखा गया। तो 'राहु' उसका पुत्र हुआ, जो सूर्य-चन्द्रमा को अत्यन्त दुःख देने लगा। वैसे यहाँ सबकी बुद्धि के देवता ब्रह्माजी ही हैं, उन्होंने सबके द्वारा श्रीराम-राज्य की ही अभिलाषा प्रकट की पर भावी-वश वनवास हो गया, जिससे श्रीरामजी घर में भी न रह पाये, एवं और भी अनर्थ शृंखला हुई। इसमें विषाद अलंकार है।

(३) 'धरम सनेह उभय'''—धर्म और स्नेह पुँल्लिंग हैं, मति स्त्रीलिंग है, दो पुरुष जैसे एक स्त्री को घेर लें, वैसे ही बुद्धि इन दोनों के फेर में पड़ी है, कुछ निश्चय नहीं कर पाती। 'भइ गति साँप छुछुंदरि केरी'—यह बात प्रसिद्ध है कि साँप चूहे के धोखे में जो कहीं छुछूँदर को पकड़ लेता है, तो वह उसे न तो निगल ही सकता है और न उगल ही। यदि निगल जाय, तो उसकी मृत्यु हो और उगल दे, तो अंधा हो जाय। वैसी ही दशा कौशल्याजी की है। वे यदि श्रीरामजी को घर रख लें तो धर्म जाना और अपयश (बंधु विरोध) होना मृत्यु के समान हो, यथा—"संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥" (दो० ६४); और जो वन जाने को कहती हैं तो स्नेह-हानि है और १४ वर्ष रोते-रोते आँख फोड़ना अंधा होना है। अतः, दोनों ही पक्ष में आपत्ति ही देखती हैं। घर रखना निगलना और वन को आज्ञा देना उगलना है।

(४) 'राखउँ सुतहि'''—'धरम जाइ' पुत्र से माता-पिता की आज्ञा भंग कराना और स्वयं पति की आज्ञा भंग करना, यह धर्म-हानि है और बंधु भरतजी से राज्य के लिये भी विरोध होगा, जिससे अर्थ-हानि भी होगी। 'कहेउँ जान वन तौ बड़ि हानी' अर्थात् धर्म-हानि और स्वार्थ-हानि की अपेक्षा वन देकर स्नेह हानि करना बड़ी हानि है। ऐसा विचारती हुई, रानी धर्म-संकट और स्नेह-शोच के विशेष वश हो गईं।

बहुरि समुझि तियधरम सयानी। राम-भरत दोउ सुत सम जानी ॥६॥
सरल सुभाव राममहतारी। बोली बचन धीरधरि भारी ॥७॥
तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका। पितु आयसु सब धरमक टीका ॥८॥

दोहा—राज देन कहि दीन्ह बन, मोहिं न सो दुखलेस।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि, प्रजहिं प्रचंड कलेस ॥५५॥

शब्दार्थ—तियधरम = पातिव्रत-धर्म। टीका = श्रेष्ठ, सर्वोपरि। लेस (लेश) = थोड़ा भी।

अर्थ—फिर प्रवीणा श्रीकौशल्याजी ने पातिव्रत-धर्म समझकर, श्रीरामजी और श्रीभरतजी दोनों पुत्रों को समान जाना (अर्थात् हमारे ही पति देव के दोनों ही पुत्र हैं। अतः, दोनों को हमें समान ही मानना चाहिये) ॥६॥ तब सीधे (कपट-रहित स्वभाववाली श्रीरामजी की माता भारी धैर्य धरकर बोलीं ॥७॥ हे तात ! मैं बलिहारी जाती हूँ, तुमने अच्छा किया, पिता की आज्ञा का पालन करना सब धर्मों में श्रेष्ठ है ॥८॥ राज्य देने को कहकर वन दिया गया। इसका मुझे कुछ भी न शोच है और न दुःख; पर तुम्हारे बिना भरतजी को, राजा को और प्रजा को अत्यन्त तीक्ष्ण कष्ट होगा (इसी का मुझे दुःख और शोच है) ॥५५॥

विशेष –(१) 'बहुरि समुझि तिय धरम····'—पहले धर्म और स्नेह में 'मति' घिरी थी। अब वह धर्म की ओर झुकी, उसी मार्ग से निकल आई, इसी से मति को 'सयानी' कहा गया। स्नेह से रामजी के रखने में केवल स्वार्थ ही था और धर्म के रखने में परमार्थ तो है ही, भरत को राम तुल्य मानने में स्वार्थ भी है। 'सरल सुभाव राम महतारी'—श्रीरामजी का सरल स्वभाव है, यथा—"सरल सुभाव छुआ छल नाही॥" (बा० दो० २२६); ये उनकी माता हैं। अतः, इनका भी स्वभाव वैसा होना ही चाहिये, क्योंकि उत्तम पदार्थ उत्तम ही क्षेत्र में होता है। कहा भी है—"रावरो सुभाव राम जन्म ही ते जानियत····" (क० अ० ४)। 'धीर धरि भारी'—वन के लिये आज्ञा देना चाहती हैं, यह बड़ा कठिन काम है। अतः, भारी धीर धरना पड़ा।

(२) 'तात जाउँ बलि····'—बड़ा नोक (अच्छा) कार्य किया। इसके प्रति निछावर करने के योग्य और पदार्थ न पाकर अपना शरीर ही निछावर करती हुई, बलिहारी जाती हैं।

'राज देन कहि दीन्ह बन····'—इसमें आक्षेप अलंकार का तीसरा भेद है।

(३) 'तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि····'—माता श्रीरामजी के रखने का उपाय करती हैं। यदि अपने दुःख बचाव के लिये रक्खें, तो धर्म नाश होगा, यथा—"धरम जाइ अरु बंधु बिरोधू।" ऊपर कहा गया। यदि भरतजी, राजा और प्रजा के प्राण-रक्षार्थ रक्खें तो हो सकता है। भरतजी के लिये ही रखने में बंधु विरोध न होगा। पति की ही प्राण-रक्षा के लिये रखने में धर्म-विरोध नहीं, पुनः प्रजा की रक्षा के लिये रखने में पति को ही नरक से बचाना है, यथा—"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥" (दो० ७०); यह सब कथन श्रीरामजी के वचन—'पिता दीन्ह मोहि कानन राजू' के अनुसार है। किंतु मंत्री-पुत्र के वचनों से कैकेयी द्वारा वनवास होना सुना गया। उसपर लक्ष्य करके आगे कहती हैं।

जौं केवल पितु-आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता ॥१॥
जौं पितुमातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत-अवध-समाना ॥२॥
पितु बनदेव मातु बनदेवी। खगमृग चरनसरोरुह-सेवी ॥३॥
अंतहु उचित नृपहिं बनबासू। बय बिलोकि हिय होइ हरासू ॥४॥
बड़ भागी बन अवध अभागी। जो रघुबंस-तिलक तुम्ह त्यागी ॥५॥

अर्थ—हे तात ! जो केवल पिता की आज्ञा है तो माता को बड़ी जानकर वन को मत जाओ ॥१॥ और जो पिता-माता दोनों ने वन जाने को कहा है, (तब) तो वन सैकड़ों अवध के समान है ॥२॥ वन के देवता पिता के और वन की देवी माता के समान होंगे, अर्थात् रक्षा करेंगे, पक्षी और पशु तुम्हारे चरण-कमलों के सेवक होंगे ॥३॥ अंत में राजा को वनवास करना उचित है, पर तुम्हारी (सुकुमार एवं नवीन) अवस्था देखकर हृदय में खेद होता है ॥४॥ वन बड़ा भाग्यवान् है अवध अभागी है, जिसे रघुकुल-श्रेष्ठ ! तुमने त्याग दिया ॥५॥

विशेष—(१) 'जौं केवल पितु आयसु ··'—ऊपर रानी ने अपना धर्म बचाकर श्रीरामजी को रखने का उपाय किया है और यहाँ की धर्म-रक्षा समेत रहने का उन्हें उपाय बतला रही हैं कि जो (तुम्हारे

कथनानुसार) केवल पिता की आज्ञा हो तो मुझे बड़ी जानकर वन न जाओ, यथा:—"पितुर्दशगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते।" (मनुस्मृति); अर्थात् पुत्र के लिये पिता की अपेक्षा माता का गौरव दशगुणा है। मेरी आज्ञा से घर रहने में तुम्हें दशगुणा धर्म होगा।

(२) 'जौं पितु मातु कहेउ...'—अर्थात् जो कैकेयी समेत पिता की आज्ञा है तो वन सौ अवध के समान होगा, क्योंकि माता से भी दशगुणा विमाता (सौतेली माता) का गौरव है, "मातुर्दशगुणा मान्या विमाता धर्मभीरुणा।" (मनुस्मृति); अतः, पिता के राज्य से सौ गुना वन सुखदाई होगा ही। उनकी आज्ञा के पालने में बहुत धर्म का लाभ है, धर्म से ही सुख होता है। अतः, वन सौ अवध के समान सुखदायी होगा, क्योंकि—"पुन्य पुरुष कहँ महि सुख छाई।" (बा० दो० २११); ऐसा कहा है।

(३) 'पितु बन देव मातु...'—ऊपर कहा गया कि पुण्यात्मा के लिये पृथिवी मात्र सुख से छाई हुई है, उसी का विवरण यहाँ है कि वन के देवी-देवता माता-पिता का कार्य करेंगे, यथा—"देव पितर सब तुम्हहि गोसाईं। राखहु नयन पलक की नाईं॥" (दो० ५६); और सेवकों का कार्य खग-मृग करेंगे, जैसे कि खग गीधराज ने इनकी सेवा में शरीर ही अर्पण किया है और मृग (वन्य पशु) वानर-भालु सुग्रीव आदि सेवक हुए हैं।

(४) 'अंतहु उचित नृपहिं बन बासू', यथा—"संत कहहिं असि नीति दसानन। चौथे पन जाइहि नृप कानन॥" (लं० दो० ६); 'बय बिलोकि'—तुम्हारी तो बाल्यावस्था ही है।

(५) 'बड़ भागी बन' यथा—"जे पुर गाँव बसहिं मग..." से "भूरि निज भागा॥" (दो० ११२) तक। तथा—"सो बनु सैल सुभाय सुहावन।..."से "कहि न सकहिं सुषमा जसि कानन।" (दो० ११८) तक।

जौं सुत कहउँ संग मोहि लेहू। तुम्हरे हृदय होइ संदेहू॥६॥
पूत परमप्रिय तुम्ह सबही के। प्रान प्रान के जीवन जी के॥७॥
ते तुम्ह कहहु मातु बन जाऊँ। मैं सुनि बचन बैठि पछिताऊँ॥८॥

दोहा—यह बिचारि नहिं करउँ हठ, झूठ सनेहु बढ़ाइ।
मानि मातु कर नात बलि, सुरति बिसरि जनि जाइ॥५६॥

अर्थ—हे पुत्र ! जो मैं कहूँ कि मुझे साथ ले चलो, तो तुम्हारे हृदय में संदेह होगा॥६॥ हे पुत्र ! तुम सभी के परम प्रिय हो, प्राणों के प्राण और जीवों के जीवन हो॥७॥ वही तुम मुझसे कहते हो—"माता ! मैं वन जाता हूँ"—और मैं इन वचनों को सुनकर बैठी हुई पछताती हूँ॥८॥ यह विचार कर झूठा स्नेह बढ़ा कर हठ नहीं करती, मैं तुम्हारी बलिहारी जाती हूँ। माता का नाता मानकर मेरी सुधि न भूल जाय॥५६॥

विशेष—(१) 'तुम्हरे हृदय होइ संदेहू।'—यह संदेह होगा कि माता को संग कैसे लूँ, क्योंकि पिता उपस्थित हैं, उन्हें ऐसी दशा में छोड़कर इन्हें न जाना चाहिये। यह पातिव्रत धर्म के विरुद्ध है, यथा—"धरिमन्पुनर्जीवति धर्मराजे विशेषतः स्वे पथि वर्तमाने। देवी मया सार्धमितोऽभिगच्छेत्कथं

रिवदन्या विधवेव नारी ॥" (वाल्मी० २।२१।६१)। और यदि संग मे नहीं लेता हूँ, तो आज्ञा-भंग दोष होता है, तुम इस दुविधा रूप संदेह में पड़ोगे।

(२) 'पूत परमप्रिय तुम···' यथा—"ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी।" (बा० दो० २१५); 'प्रान-प्रान के' यथा—"कोह्येवान्यात्कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।" (तैत्ति० २।७); अर्थात् प्राणों की सत्ता ब्रह्म से है। 'जीवन जी के' यथा—"एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुप जीवन्ति।" (बृह० ४।३।३२); अर्थात् इसी आनन्द रूप ब्रह्म की आनन्द-मात्रा से अन्य जीव जीते हैं। तथा—"प्रान-प्रान के जीव के, जिव सुख के सुख राम।" (दो० २९०)।

(३) 'ते तुम कहहु···मैं सुनि···'—जो अन्य प्राणी मात्र के परम-प्रिय आदि हैं, वे ही मुझसे वन जाने कहते हैं, मैं माता बनी हुई भी जीती बैठी हूँ; अर्थात् इसपर तो हृदय फट जाना चाहता था, यथा—"ऐसेहु बचन कठोर सुनि, जो न हृदय बिलगान।" (दो० ६०); पर न फटा, तो कैसी माता? यथा—"राम लषन सिय बनहि सिधाये।···सच न तजा तन प्रान अभागे।···मोर हृदय सत कुलिस समाना॥" (दो० १६५)। (माता बैठी पछताती हैं। इन्होंने पूर्व ही अलौकिक विवेक वर पाया है, वही इन्हें जिलाता है।)

(४) 'यह बिचारि नहिं करउँ हठ ''···'—यदि तुम्हारा वन-गमन सुनकर भी प्राण न निकले, तो स्नेह झूठा है और इसीसे मेरा मातृभाव झूठा है। किंतु हे तात! जो तुमने अपनी ओर से मुझमें मातृभाव माना है, उससे मेरी सुधि बनाये रखना। कहा है—"कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।" इस दृष्टि से मेरा स्नेह सर्वथा झूठा ही है।

देव पितर सब तुम्हहिं गोसाईं। राखहु नयन-पलक की नाईं ॥१॥
अवधि अंबु प्रियपरिजन मीना। तुम्ह करुनाकर धरमधुरीना ॥२॥
अस बिचारि सोइ करहु उपाई। सबहि जियत जेहि भेंटहु आई ॥३॥
जाहु सुखेन बनहिं बलि जाऊँ। करि अनाथ जन-परिजन गाऊँ ॥४॥

अर्थ—हे गोसाईं! सब देवता और पितर पलक-नयन की तरह तुम्हारी रक्षा करें ॥१॥ अवधि (१४ वर्ष की) जल है, प्रिय लोग और कुटुंबी मछली हैं, तुम करुणा की खान और धर्मधुरीण हो ॥२॥ ऐसा विचार कर वही उपाय करो, जिससे सबको जीते-जी आकर मिलो ॥३॥ मैं बलिहारी जाती हूँ, तुम सेवक, कुटुंबी और नगर-भर को अनाथ करके, सुख-पूर्वक वन को जाओ ॥४॥

विशेष—(१) 'देव पितर सब तुम्हहिं···'—'गोसाईं' अर्थात् तुम पृथिवी के स्वामी हो, पृथिवी की रक्षा के लिये जाते हो, (धर्म से पृथिवी की रक्षा होती है, तुम श्रेष्ठ धर्म के मार्ग पर जा रहे हो।) अतः, इन्द्र आदि ३३ कोटि देवता ऊपर की पलक की तरह और अर्यमा आदि पितृगण नीचे की पलक की तरह तुम्हारी रक्षा करें, यथा—"जोगवहिं प्रभु सिय लखनहिं कैसे। पलक बिलोचन गोलक जैसे॥" (दो० १४१); क्योंकि अपने धर्माचरण से तुम सबको नेत्र के समान प्रिय हो। नेत्र सब अंगों की अपेक्षा अत्यन्त कोमल हैं। उनकी रक्षा भी पलकें निरंतर करती हैं। जाग्रत् में तृण भी नहीं पड़ने देतीं और सोते समय ढँके रहती हैं। प्रथम वन के देवी-देवता को माता-पिता की तरह कहा गया था। यहाँ स्वर्गस्थ देवताओं को कहा है।

(२) 'अवधि अनु प्रिय ·· ··'—प्रिय परिजन १४ वर्ष किसी तरह जियेंगे। इस अवधि की पूर्त्ति पर प्रथम दिन ही न आने पर सब तुरत प्राण त्याग देंगे, यथा—"तुलसी बीते अवधि प्रथम दिन जो रघुबीर न ऐहौ। तौ प्रभु-चरन सरोज सपथ जीवत परिजनहि पैहौ॥" (गी० बा० ७१)। यह श्रीभरतजी ने कहा है। 'धरमधुरीन' हो, अतएव पिता की आज्ञा के पालन करने को वन जाओ और 'करुनाकर' हो, अतः, प्रिय-परिजन पर दया करके ठीक अवधि पर आ जाओ, अन्यथा ये न जियेंगे।

(३) 'अस बिचारि' अर्थात् उपर्युक्त 'करुनाकर' के हेतुभूत भावों को। 'सोइ करहु ·····'—अवधि पर ठीक-ठीक आने का उपाय, अन्यथा ये प्रिय परिजन जीते न मिलेंगे।

(४) 'जाहु सुखेन बनहिं··· ·'—श्रीरामजी ने कहा था—"आयसु देहि मुदित मन माता। जेहि मुद-मंगल कानन जाता॥" (दो० ५२); उसके प्रति माता कहती हैं 'जाहु सुखेन'—क्योंकि वन जाना धर्म है, उसका फल सुख है। 'बलि जाऊँ'—इसका सम्बन्ध आगे से है कि जिससे इन—'जन परिजन गाउँ' को शीघ्र आकर सनाथ करो। 'करि अनाथ जन'···—इन सबके एकमात्र तुम ही नाथ हो—"जेहि चाहत नर नारि सब···जिमि चातकि चातक ··" पर कहा गया। जन, परिजन, गाँव का अनाथ होना कहा, क्योंकि ये सब श्रीरामजी को अत्यन्त प्रिय हैं, यथा—"अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी।" "जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। · अवध सरिस प्रिय मोहि न सोऊ॥" (उ० दो० ३); अतः, इनके स्नेह से शीघ्र लौटेंगे। आगे भी कहेंगे—"चलत राम लखि अवध अनाथा।" (दो० ८२); इस समय राजा अचेत ही हैं, ये दो भाई वन ही जायँगे तो अयोध्या अनाथ होती ही है।

सबकर आजु सुकृतफल बीता। भयेउ कराल काल बिपरीता॥५॥
बहु बिधि बिलपि चरन लपटानी। परम अभागिनि आपुहि जानी॥६॥
दारुन-दुसह-दाह उर ब्यापा। बरनि न जाहिं बिलापकलापा॥७॥
राम उठाइ मातु उर लाई। कहि मृदुबचन बहुरि समुझाई॥८॥

दोहा—समाचार तेहि समय सुनि, सीय उठी अकुलाइ।
जाइ सासु-पद-कमल-जुग, बंदि बैठि सिर नाइ॥५७॥

अर्थ—आज सबके पुण्यों का फल समाप्त हो गया और उलटा कठिन काल हो गया॥५॥ इस तरह बहुत प्रकार से विलाप करके चरणों में लपट गई और अपनेको परम अभागिनी जाना॥६॥ हृदय में कठिन और दुःख से सहने योग्य पूर्ण दाह हो गया। विलाप का कलाप (समूह) वर्णन नहीं किया जा सकता॥७॥ श्रीरामजी ने माताजी को उठाकर हृदय से लगाया और फिर कोमल वचनों से कहकर समझाया॥८॥ उसी समय समाचार सुनकर सीताजी अकुला उठीं पुनः सास के पास जा उनके दोनों चरण-कमलों की वंदना की और शिर नीचे करके बैठ गईं॥५७॥

विशेष—(१) 'सबकर आजु सुकृत···'—पूर्व कर्म (धर्म) के अनुसार ही काल होता है। अतः, कराल काल का उदय देखकर सुकृत फल का बीतना कहा है। 'बिपरीता'—क्योंकि राज्य होते हुए वन हुआ, सुख की जगह दुःख हुआ।

(२) 'बहु बिधि बिलपि चरन'''—'बिलपि' अर्थात् उपर्युक्त बातें रोकर कही गई'। अयोध्या को अभागो कहा है—"बड़भागी बन अवध अभागी।" (दो० ५५); और यहाँ अपनेको 'परम अभागिनि, कहा; अर्थात् अयोध्या-भर में मुझसे बढ़कर अभागिनी कोई नहीं है। व्याकुलता से चरण में लपट गईं। यद्यपि यह माधुर्य दृष्टि से ठीक नहीं है, पर यहाँ आर्त दशा है। अतः, दोष नहीं, क्योंकि—"रहत न आरत के चित चेतू।" (दो० २६८); कहा है।

(३) 'दारुन दुसह दाह उर ब्यापा'''—'उर ब्यापा' से भीतर की दशा कही और 'बिलाप कलापा' से बाहर का हाल कहा। विलाप को स्मरण से ही कवि का हृदय दुखित हो जाता है। अतः, कहा नहीं जाता।

(४) 'कहि मृदु बचन बहुरि समझाई।'—'बहुरि' अर्थात् पूर्व की तरह, यथा—"बरष चारि दस बिपिन बसि, करि पितु बचन प्रमान। आइ पाय पुनि देखिहउँ, मन जनि करसि मलान॥" (दो० ५३); उसी को यहाँ संकेत से जना दिया।

(५) 'समाचार तेहि समय'''—'तेहि समय' अर्थात् जिस समय माता का विलाप हुआ—'बरनि न जाइ बिलाप कलापा' तभी किसी से कारण पूछने पर जाना। पति के समक्ष में सास के पास आईं, क्योंकि आपत्काल में मर्यादा पर ध्यान नहीं रहता। 'पद कमल जुग' पद से 'बंदि' भिन्न कहा गया, क्योंकि ये इन चरणों से अब पृथक् होंगी।

दीन्हि असीस सासु मृदुबानी। अति सुकुमारि देखि अकुलानी॥१॥
बैठि नमित मुख सोचति सीता। रूपरासि पति-प्रेम-पुनीता॥२॥
चलन चहत बन जीवन नाथू। केहि सुकृती सन होइहि साथू॥३॥
की तनु प्रान कि केवल प्राना। बिधि-करतब कछु जाइ न जाना॥४॥

अर्थ—सास ने कोमल वाणी से आशिष दी, (सीताजी को) अति सुकुमारी देखकर वे घबड़ा गईं (क्योंकि चेष्टा से एवं पूर्व धृति से जान गईं कि ये अवश्य साथ जायँगी तो वन के क्लेश कैसे सहेंगी ?)॥१॥ रूप की राशि और पति में पवित्र प्रेमवाली श्रीसीताजी शिर झुकाये हुए बैठी सोचती हैं॥२॥ जीवन के स्वामी वन को चलना चाहते हैं, किस सुकृती (पुण्यात्मा) से उनका साथ होगा ?॥३॥ क्या तन और प्राण दोनों (सुकृती) से या कि केवल प्राण ही से ? ब्रह्मा का कर्त्तव्य क्या है, कुछ जाना नहीं जाता॥४॥

विशेष—(१) 'बैठि नमित मुख सोचति सीता।'—पूर्व दोहे में कहा गया—'बैठि सिर नाइ' उसी मुद्रा से बैठी हुई सोच रही हैं। यहाँ उसकी क्रिया कहते हुए प्रसंग मिलाया। 'रूप राशि' से शरीर की शोभा और 'पति प्रेम पुनीता' से हृदय एवं प्राण की शोभा कही। कवि सूचित करते हैं कि ये दोनों ही सुकृती हैं और साथ जायँगे। इसपर सीताजी का विचार आगे है।

(२) 'चलन चहत बन जीवन'''—'जीवन नाथू' अर्थात् मेरा जीवन पति के साथ बिना नहीं है। 'केहि सुकृती' यदि साथ ले गये तो मानों तन और प्राण दोनों ही सुकृती हैं, अन्यथा समझूँगी कि केवल प्राण ही सुकृती है; अर्थात् प्राण छोड़ दूँगी। इस तरह प्राणों को तो साथ कर ही दूँगी, यथा—"गइउँ न संग न प्रान पठाये।" (दो० १५५) 'कि तनु प्रान कि'''—इसमें विकल्प अलंकार है।

(३) 'बिधि करतब कछु जात न जाना ।'—संयोग-वियोग करना विधि का कर्तव्य है, उसे दूसरा नहीं जान सकता, यथा—"कठिन करम गति जान बिधाता । जो सुभ असुभ सकल फल दाता ॥" (दो० २८१) । अतः, तन-प्राण का संयोग अथवा प्राणमात्र का संयोग होगा, इसे विधाता ही जाने, मुझसे तो कुछ भी जाना नहीं जाता ।

चारु चरननख लेखति धरनी । नूपुर मुखर मधुर कबि बरनी ॥५॥
मनहुँ प्रेमबस बिनती करहीं । हमहिं सीयपद जनि परिहरहीं ॥६॥
मंजुबिलोचन मोचति बारी । बोली देखि राम - महतारी ॥७॥
तात सुनहु सिय अति सुकुमारी । सासु-ससुर-परिजनहिं पिआरी ॥८॥

दोहा—पिता जनक भूपालमनि, ससुर भानु - कुल - भानु ।
पति रबि - कुल - कैरव - बिपन - बिधु गुन-रूप-निधानु ॥५८॥

अर्थ—अपने सुन्दर चरणों के नखों से पृथिवी पर लिखती हैं (यह शोच की मुद्रा है), नूपुरों में जो मधुर शब्द हो रहा है, उसे कवि इस प्रकार वर्णन करते हैं ॥५॥ कि मानों प्रेम के वश वे (श्रीरामजी से) विनती करते हैं कि हमें सीताजी के चरण न त्यागें ॥६॥ सुन्दर नेत्रों से जल बहा रही हैं, यह देखकर श्रीरामजी की माता बोलीं ॥७॥ हे तात ! सुनो, सीताजी अत्यन्त सुकुमारी हैं। सास, ससुर और कुटुम्बी सभी को प्यारी हैं ॥८॥ इनके पिता जनकजी राजाओं में शिरोमणि हैं, श्वसुर सूर्य कुल के सूर्य (चक्रवर्त्ती श्रीदशरथजी) हैं और पति सूर्य कुल रूपी कुईं के वन के (प्रफुल्लित करने के) लिये चन्द्रमा और गुण एवं रूप के निधान हैं ॥५८॥

विशेष—(१) 'लेखति धरनी'—यह स्त्रियों के शोच की मुद्रा है कि वे सहज ही नखों से भूमि खोदने लगती हैं । 'हमहिं सीय पद····'—भाव यह कि आप जो साथ ले चलें, तो श्रीसीताजी हमें चरणों में रक्खेंगी, अन्यथा वे विरह में निकालकर फेंक देंगी । 'लेखति धरनी' यथा—"पुलक सिथिल तनु बारि बिलोचन । महि नख लिखन लगीं सब सोचन ॥ जनु करुनाबहु बेष बिसूरति (दो० २८०) ।

'मनहुँ प्रेमबस ···'—इसमें सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा अलंकार है ।

(२) 'मंजु बिलोचन····'—पहले जानकीजी को रूप राशि कह आये । अब प्रसंगत उनके प्रत्येक अंग की शोभा पृथक्-पृथक् कहते हैं । यहाँ नेत्रों की शोभा कही है कि ये पति-वियोग भय से आँसू गिरा रहे हैं । आगे 'चंद बदनि दुख कानन भारी ।' में मुख की एवं—'चारु चरन नख लेखति धरनी ।' में साथ चलने की आतुरी में चरणों की ओर साथ के लिये विनय करने के संबंध से नूपुर के शब्दों को मधुर कहा है । 'तात सुनहु सिय अति सुकुमारी ।'—पूर्व—"अति सुकुमारि देखि अकुलानी ।" पर से प्रसग छोड़ा था यहीं से पुनः लेते हैं । 'राम महतारी'—क्योंकि श्रीरामजी की तरह धीर हैं ।

(३) 'पिता जनक भूपाल···'—'भूपाल मनि', यथा—"पितु बैभव बिलास मैं डीठा । नृप-मनि-मुकुट-मिलित पद पीठा ॥" (दो० ९७), 'पति रबि कुल कैरव बिपिन, बिधु ···'—राजा को सूर्य कहा, तो श्रीरामजी को चन्द्रमा, क्योंकि चन्द्रमा सूर्य का अंश है, वैसे ही राजा के पुत्र रूप अंश श्रीरामजी हैं । इनको भी सूर्य कहने से पिता की बराबरी होगी, यह सँभाल है । 'गुन रूप निधान'—चन्द्रमा अवगुण

का निधान है—"अवगुन बहुत चन्द्रमा तोही।" (बा० दो० २३७); पर श्रीरामजी में अवगुण नहीं हैं, प्रत्युत ये गुण के निधान हैं। चन्द्रमा के क्षयी रोग है, इससे वह मलीन रहता है, पर श्रीरामजी रूप के निधान हैं। 'रविकुल कैरव बिपिन' से 'बिधु' शब्द को भिन्न चरण में रखकर कवि दिखाते हैं कि अब ये इस कुल से पृथक होकर वन को जा रहे हैं। इनसे कुल रूपा कुई का वन तबतक संपुटित (उदास) रहेगा।

मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई। रूपरासि गुन सील सुहाई ॥१॥
नयनपुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखेउँ प्रान जानकिहिं लाई ॥२॥
कलपबेलि जिमि बहुबिधि लाली। सींचि सनेह-सलिल प्रतिपाली ॥३॥
फूलत फलत भयेउ बिधि बामा। जानि न जाइ काह परिनामा ॥४॥

अर्थ—फिर मैंने रूप की राशि सुन्दर गुणवती और शीलवती प्यारी बहू पाई ॥१॥ मैंने जानकीजी को आँखों की पुतली बनाकर इसमें प्रीति बढ़ाई है और अपने प्राण इसमें ही लगा रक्खे हैं ॥२॥ कल्पलता की भाँति (इसका) मैंने बहुत प्रकार से लालन पालन किया और स्नेह रूपी जल से सींच कर इसका प्रतिपालन किया ॥३॥ फूलते-फलते समय ब्रह्मा टेढ़े (उल्टे) हो गये, जाना नहीं जाता कि क्या परिणाम होगा ? ॥४॥

विशेष—(१) 'मैं पुनि पुत्र बधू ...'—जैसी बहू मैंने पाई, वैसी औरों को दुर्लभ है। 'रूपरासि' कहकर 'गुन सील सुहाई' कहा, क्योंकि बिना गुण-शील के रूप की शोभा नहीं। 'पुनि' शब्द मैं के साथ जोर देने के लिये भी होता है, इसका कुछ अर्थ नहीं होता। ऐसा मुहावरा है, यथा—"मैं पुनि करि प्रमान पितु बानी।" (दो० ११); इत्यादि। रूप और गुण से प्रायः अहंकार होता है, पर यह शीलवती है। इसमें यह दुर्लभता है।

(२) 'नयन पुतरि करि प्रीति ...'—'नयन पुतरि करि' अर्थात् अत्यन्त प्रिय बनाकर, यथा—"बधू लरिकिनी पर घर आईं। राखेहु नयन पलक की नाईं॥" (बा० दो० ३५४); यह राजा की आज्ञा थी, वैसा ही इन्होंने रक्खा है। तथा—"जौ बिधि पुरव मनोरथ काली। करउँ तोहि चख पूतरि आली॥" (दो० २२)। 'प्रीति बढ़ाई' अर्थात् प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ाती ही थी। 'नयन पुतरि करि'—तन से प्रीति करना है, 'प्रीति बढ़ाई'—मन से और 'राखेउँ प्रान...'—यह प्राण से प्रीति करना है; अर्थात् तन, मन, प्राण, इन तीनों से प्रीति करती थी।

(३) 'बहु बिधि लाली'—श्रीजानकीजी ब्याह कर आईं, तब बालिका थीं। अतः, लालन (दुलार) करना एवं पालन करना कहा है। उपर्युक्त तन, मन, प्राण से स्नेह के साथ पालन करने को 'बहु बिधि' कहा है।

(४) 'फूलत फलत भयेउ...'—राज्य सुख भोगतीं, रानी होतीं, यह फूलना और संतान होना फलना है। 'जानि न जाइ...' अर्थात् अब वन जाने से न जाने क्या हो ? यह फूलने-फलने का सुख देखने को मिले या नहीं।

पलँग-पीठ तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा ॥५॥
जिवनमूरि जिमि जोगवत रहेउँ। दीपबाति नहिं टारन कहेउँ ॥६॥

सोइ सिय चलन चहति बन साथा। आयसु काह होइ रघुनाथा ॥७॥
चंद - किरन - रस-रसिक चकोरी। रबिरुख नयन सकइ किमि जोरी ॥८॥

दोहा—करि केहरि निसिचर चरहिं, दुष्ट जंतु बन भूरि।
बिषवाटिका कि सोह सुत, सुभग सजीवनि मूरि ॥५९॥

शब्दार्थ—पलँग-पीठ=पलँग की कोमल शय्या, पीठमासनमिति—अमरकोशे। पीठ का पीढ़ा अर्थ ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ कोमलता का प्रसंग है—पलँग और सिंहासन भी।

अर्थ—सीताजी ने पलँग के (कोमल) आसन, गोद और हिंडोला छोड़कर कभी कठोर भूमि पर चरण नहीं रक्खा ॥५॥ जीवन मूरि की तरह मैं इनकी रक्षा करती रही हूँ, दीपक की बत्ती उसकाने (घटाने-बढ़ाने) तक को नहीं कहा ॥६॥ वही सीताजी तुम्हारे साथ वन को चलना चाहती हैं, हे रघुनाथजी! क्या आज्ञा होती है? ॥७॥ चन्द्रमा की किरणों के रस को भोगनेवाली चकोरी (भला) सूर्य के सामने कैसे आँख मिला सकती है; अर्थात् ये सदा राज्य सुख भोगनेवाली वन की विपत्ति कैसे सहेंगी? ॥८॥ हाथी, सिंह, निशाचर (एवं) और भी बहुत दुष्ट जन्तु वन में विचरते रहते हैं। हे पुत्र! क्या विष की वाटिका में सुन्दर संजीवनी बूटी सोहती है? (कभी नहीं) ॥५९॥

विशेष—(१) पलँग-पीठ तजि ·····'—बाल्यावस्था में गोद और हिंडोले पर क्रीड़ा करती थीं। सयानी होने पर पलँग की कोमल शय्या पर रहती थीं, पुनः पैदल भी चलती थीं, तो गुल-गुले वस्त्रों के पाँवड़े पर ही, कठोर भूमि पर तो इन्होंने कभी पैर ही नहीं रक्खा, फिर वन की कठोर कँकरीली एवं कँटीली भूमि पर ये कैसे चलेंगी?

(२) 'जिवन मूरि जिमि······'—पहले कल्पवेलि की उपमा दी थी, फिर जीवन-मूरि की, भाव यह कि हमारे मनोरथ-पूर्ति के लिये कल्पलता और मुझे जीवित रखने के लिये सजीवनी बूटी के समान हैं। 'दीप बाति नहिं···'—दिया की बाती उसकाना, यह मुहावरा है; अर्थात् अत्यन्त हलका काम भी करने को नहीं कहा।

(३) 'सोइ सिय चलन चहति······'—'सोइ' अर्थात् उपर्युक्त सुकुमारी एवं लाड़िली, सुकुमारता दिखाकर आज्ञा पूछने का भाव यह कि हमारी रुचि तो है कि ये घर ही में रहें, जैसा आगे स्पष्ट कहा है—"जौं सिय भवन रहइ कह अंबा। मोहिं कहँ होइ बहुत अवलंबा॥" (दो० ५९); यही आज्ञा दो, ऐसा नहीं कहतीं, अन्यथा माता के अनुरोध से श्रीरामजी को हठात् वैसी ही आज्ञा देनी पड़े। पर कहती हैं—'आयसु काह' अर्थात् तुम अपने विचार से जो रुचे, वैसी आज्ञा दो।

(४) 'चंद-किरन-रस रसिक ·····'—यहाँ अयोध्या चन्द्रमा, यहाँ के अनेक सुख चन्द्र-किरण-रस और श्रीजानकीजी उसकी रसिक चकोरी हैं। वन-रवि, दुःख-सूर्य-किरण के ताप और वहाँ को जाना सम्मुख दृष्टि करना है।

(५) 'करि केहरि निसिचर ·····'—विष-वाटिका विषैले वृक्षों से पूर्ण है, वैसे वन करि, केहरि, निशाचर और दुष्ट जन्तु (बिच्छू, साँप आदि) से पूर्ण हैं। विषैले वृक्षों के बीच में संजीवनी बूटी नहीं सोहती, वैसे ही उक्त दुष्ट जीवों के बीच में श्रीजानकीजी न सोहेंगी। सजीवनी बूटी विष की झाड़ से सूख जाती है, वैसे ही ये उक्त करि-केहरि आदि के भय से सूख जायँगी; अर्थात् अत्यन्त डर जायँगी।

वृत्त छोटे-बड़े दो प्रकार के होते हैं, जैसे करि, केहरि और निशाचर, इन दुष्ट जीवों को एक कोटि कही गई। ये बड़े वृत्त हैं और छोटे-छोटे जन्तु साँप-बिच्छू आदि दूसरी कोटि के छोटे वृत्त हैं। 'चरहिं' अर्थात् वे विचरते रहते हैं, जहाँ रहो, वहीं पर आकर घात करते हैं। 'सुभग' अर्थात् संजीवनी में गुण होते हैं, पर वह सुन्दर नहीं होती, ये सुन्दरी भी हैं। इसलिये 'सुभग-सजीवन-मूरि' कहकर उपमा दी।

बनहित कोल किरात किसोरी। रची बिरंचि बिषय सुख-भोरी ॥१॥
पाहन कृमि जिमि कठिन सुभाऊ। तिन्हहि कलेस न कानन काऊ ॥२॥
कै तापसतिय काननजोगू। जिन्ह तपहेतु तजा सब भोगू ॥३॥
सिय बन बसिहि तात केहि भाँती। चित्रलिखित कपि देखि डेराती ॥४॥

शब्दार्थ—हित=लिये। किसोरी (किशोरी)=लड़की। पाहन कृमि=पत्थर का कीड़ा, जो पत्थर को खाता है। लिखित=खिंची हुई, उतरी हुई। भोरी=अज्ञान।

अर्थ—वन के लिये कोल-किरात की लड़कियाँ बनाई गई हैं, जिन्हें ब्रह्मा ने विषय (भोग-विलास) को न जाननेवाली बनाया है ॥१॥ उनका पत्थर के कीड़े की तरह कठोर स्वभाव होता है। अतः, उन्हें वन में कभी दुःख नहीं होता ॥२॥ अथवा तपस्वियों की स्त्रियाँ (वा, तपस्विनी स्त्रियाँ) वन के योग्य हैं, जिन्होंने तपस्या के लिये सब भोग (ऐश्वर्य-सुख) को त्याग दिया है ॥३॥ हे तात! सीताजी वन में किस तरह बसेंगी? जो तसवीर के बने हुए बन्दर को देखकर डरती हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'पाहन कृमि जिमि कठिन······'—पत्थर का कीड़ा उसी में पैदा होता है, वही खाता है और सहज ही में गर्मी, सर्दी, वर्षा सहता है। वैसे ही वे कोल-किरात की लड़कियाँ वन में ही पैदा होती हैं, उनका कठिन स्वभाव होता है; वे उत्तम भोगों की व्यवस्था जानती ही नहीं, वन की ही वस्तुओं से निर्वाह करने में सुख मानती हैं। गर्मी, सर्दी, वर्षा सहज ही सहती हैं। 'काऊ'—जाड़ा, गर्मी, वर्षा आदि कभी भी। कीड़ा पत्थर काटता है, ये जाड़ा आदि। इनमें स्वभावतः सहन-शक्ति है। श्रीजानकीजी तो भूमिजा हैं, इनका उत्पत्तिस्थान कोमल है, फिर ये कैसे सहेंगी?

(२) 'कै तापस तिय ···'—इन्होंने युवा अवस्था के सब भोगों को भोग लिया है, तब चौथेपन में तप करने गई हैं। भोगों को जानती हैं, पर तप के लिये भोगों को त्याग करती हैं, यथा—"बैखानस सोइ सोचन जोगू। तप बिहाइ जेहि भावइ भोगू॥" (दो० १७२); अर्थात् भोग तप का बाधक है। ये उपर्युक्त कोल-किरात की लड़कियों से सहन में नीचे हैं, क्योंकि वे तो वन के क्लेश को क्लेश जानती ही नहीं और इन्हें क्लेश का ज्ञान है, पर उसे सहकर निवास करती हैं। वैसे क्रम से नीचे लिखी गई हैं। श्रीजानकीजी ने भोगों का त्याग नहीं किया है, तो ये कैसे वन जा सकती हैं?

(३) 'सिय बन बसिहि तात·····'—जो बन्दर का चित्र देखकर डरती हैं, वे साक्षात् सिंह, व्याघ्र आदि को कैसे देख सकेंगी? अर्थात् तन कोमल और स्वभाव-भीरु है। अतः, ये वन के योग्य नहीं हैं।

सुर-सर-सुभग बनज-बन चारी। डाबर-जोग कि हंसकुमारी ॥५॥
अस बिचारि जस आयसु होई। मैं सिख देउँ जानकिहि सोई ॥६॥
जौं सिय भवन रहइ कह अंबा। मोहि कहँ होइ बहुत अवलंबा ॥७॥

सुनि रघुबीर मातु - प्रिय - बानी । सील सनेह सुधा जनु सानी ॥८॥

दोहा—कहि प्रियबचन बिबेकमय, कीन्ह मातु - परितोष ।
लगे प्रबोधन जानकिहि, प्रगटि बिपिन-गुन-दोष ॥६०॥

शब्दार्थ—चारी = विचरनेवाली । सुरसर = देवसर, जैसे मानसरर, नारायणसर आदि । तावर = गड्ढा ।

अर्थ—सुन्दर मानस-सर के सुन्दर कमल वन में विचरनेवाली हंस-कुमारी क्या गड्ढे में रहने के योग्य है ? ॥५॥ ऐसा विचार कर जैसी तुम्हारी आज्ञा हो, वैसी ही शिक्षा मैं जानकीजी को दूँ ॥६॥ माताजी कहती हैं (अर्थात् फिर बोलीं) कि जो श्रीसीताजी घर रहें तो मुझको बहुत सहारा हो जाय ॥७॥ रघुवीर श्रीरामजी ने मानों शील स्नेह-रूपी अमृत में सनी हुई माताजी की प्रियवाणी सुनकर ॥८॥ विवेक से भरे हुए प्रिय वचन कहकर माता को संतुष्ट किया । फिर वन के गुण-दोष प्रकट कहकर श्रीजानकीजी को प्रबोध करने लगे ॥६०॥

विशेष—(१) 'सुर-सर-सुभग बनज '''—हंस-कुमारी मानससर में रहती है, कमलवन में विचरती और मोती चुनती है । वैसे ही अयोध्या मानससर है । अनेक प्रकार के फर्श, गलीचा आदि कमल वन हैं और अनेकों प्रकार के भोग मोती हैं, श्रीजानकीजी हंस-कुमारी हैं । डावर में शूकर लोटते हैं, उसमें साफ जल भी नहीं मिलता तो वहाँ हंस-कुमारी के चुनने को क्या है ? वैसे वन में पहाड़ी जल पीना, कंदमूल फल आदि खाना होता है और काँटे-कंकड़ों में चलना होता है सो वहाँ इनका निर्वाह नहीं हो सकता ।

यहाँ कौशल्याजी बार-बार 'सिय' शब्द का प्रयोग करके इनकी कोमलता सूचित करती हैं । पुनः यहाँ चार उपमाओं से श्रीजानकीजी के क्रमशः मन, त्वचा, नेत्र और जिह्वा के दुःख वन में कहे गये । १—कोल-किरात की लड़कियों के 'पाहन कृमि जिमि स्वभाव' से इनके मन का, २—'तापस तिय' से सहने में त्वचा का, ३—कपि चित्र' से नेत्र का और 'हंस-कुमारी' से जिह्वा का दुःख कहा, अर्थात् किसी तरह ये वन के योग्य नहीं हैं ।

(२) 'अस बिचारि जस आयसु '''—अर्थात् इस विषय में इनपर मैं आज्ञा नहीं दे सकती, किन्तु तुम्हारी आज्ञानुसार शिक्षा दे सकती हूँ ।

(३) 'मोहि कहँ होइ बहुत अवलंबा'—अर्थात् जहाँ कोई अवलंब नहीं, वहाँ इनसे बहुत आधार होगा, क्योंकि ये श्रीरामजी के समान प्रिय हैं, इसीलिये चक्रवर्त्तीजी ने भी कहा है—"एहि बिधि करेहु उपाय कदंबा । फिरइ तो होइ प्रान अवलंबा ॥" (दो० ८१) । 'बहुत' का भाव यह अवलंब तो सबको तथा राजा को भी होगा, पर हमको बहुत अवलंब होगा, क्योंकि ये अधिकतर मेरे ही पास रहेंगी ।

(४) 'सुनि रघुबीर मातु '''—'प्रिय'—क्योंकि वचन धर्म के अनुकूल हैं । 'सील'—क्योंकि माता होती हुई भी आज्ञा नहीं देती, किन्तु कहती हैं—'जस आयसु होई, 'मैं सिख देउँ' । 'स्नेह'—"जौं सिय भवन रहइ'''मोहि कहँ होइ '''" इत्यादि, सब वाणियों में शील-स्नेह भरा है ।

(५) 'कहि प्रिय बचन बिबेकमय '''—प्रिय वचन से उपदेश धारण होता है । माता ने भी प्रिय वचन ही कहा था । विवेकमय वचन कहा, क्योंकि श्रीरामजी ने माताजी को अलौकिक विवेक पहले ही से दे रक्खा है—"मातु बिबेक अलौकिक तोरे । कबहुँ न मिटिहि '''" (बा० दो० १५०) उसीका उद्दीपन कराया । इससे माता को संतोष हुआ । 'लगे प्रबोधन''' 'लगे' से जनाया कि इन्हें बड़ी देर तक

समझाना पड़ेगा। माता ने वन के दोष कहे थे, वैसे ही श्रीरामजी भी वन जाने में दोष और न जाने में गुण दिखाते हुए समझाते हैं। माता का मन तो विवेक से स्थिर कर दिया, पर इन्हें नर-नाट्य की रीति से कह रहे हैं, इन्हें साथ जाना ही है।

मातु समीप कहत सकुचाहीं। बोले समउ समुझि मन माहीं ॥१॥
राजकुमारि सिखावन सुनहू। आन भाँति जिय जनि कछु गुनहू ॥२॥
आपन मोर नीक जौ चहहू। बचन हमार मानि गृह रहहू ॥३॥
आयसु मोरि सासु-सेवकाई। सब बिधि भामिनि भवन भलाई ॥४॥

अर्थ—माताजी के पास में श्रीजानकीजी से बोलने में सकुचते हैं (लज्जा लगती है), किन्तु मन में यह समझ कर कि बोलने ही का अवसर आ पड़ा है, वे बोले ॥१॥ हे राजकुमारी ! मेरी शिक्षा सुनो, हृदय में कुछ और प्रकार न विचारो ॥२॥ अपना और मेरा जो भला चाहती हो तो मेरा वचन मानकर घर में रहो ॥३॥ मेरी आज्ञा (पालने से) और सास की सेवा से, हे भामिनि ! घर में रहने में सब तरह से भलाई है ॥४॥

विशेष—(१) 'मातु समीप कहत···'—माता के सामने पत्नी से बात करना लोक-मर्यादा की दृष्टि से अनुचित है। यही संकोच है; पर यह आपत्ति का समय है। माता के सामने ही यदि हम उनका दुःख कहकर इन्हें समझायें और रोकें तो ठीक होगा। इससे बोले।

(२) 'राजकुमारि'—सम्मानार्थ सम्बोधन है। पुनः यह भी भाव है कि राजा धीर होते हैं, तो राजकुमारी को भी धीर होना चाहिये। 'आन भाँति···' अर्थात् इन निवारण की बातों से यह न समझ लो कि हम तुम्हें त्याग रहे हैं। वा, जो प्राण-त्याग का विचार करती हो, वह न करो। यथा—"की तनु प्रान कि केवल प्राना।" किन्तु मैं जो कहूँ, उसे सुनो।

(३) 'आपन मोर नीक···'—घर में तुम्हारे रहने से हम-तुम दोनों का भला है। इस तरह कि तुम सास की सेवा करोगी तो हमारा-तुम्हारा दोनों का कल्याण होगा। पुनः तुम वन के क्लेश से बचोगी और हम तुम्हारी रक्षा की झंझट से बचेंगे। परदा भी बना रहेगा और हमारी आज्ञा के पालन से उत्तम धर्म को भी पाओगी।

(४) 'आयसु मोरि सासु···'—'भामिनि' पद का अर्थ मानवती एवं क्रोधवती स्त्री है। इससे वाल्मीकि के वचन—"चिन्तयन्तीं तदा तां तु निवर्तयितुमात्मवान्। क्रोधाविष्टां तु वैदेहीं काकुत्स्थो बहु सान्त्वयत् ॥" (२।२९।२४) एवं इसके सम्बन्ध की बातें आ गईं। इसी प्रसंग में श्रीजानकीजी ने प्रणय के अभिमान से कहा है—"किं त्वा मन्यत वैदेहः पिता मे मिथिलाधिपः। राम जामातरं प्राप्य स्त्रियं पुरुषविग्रहम् ॥" (२।३०।३) अर्थात् मेरे पिता मिथिलाधिप राजा जनकजी ने आपको पुरुष शरीरधारी स्त्री नहीं समझा था, अतएव उन्होंने आपको अपना दामाद बनाया, इत्यादि भामिनि शब्द से ग्रंथकार ने युक्ति से सूचित कर दिया।

एहि ते अधिक धरम नहिं दूजा। सादर सासु-ससुर-पद-पूजा ॥५॥
जब जब मातु करिहि सुधि मोरी। होइहि प्रेम बिकल मति भोरी ॥६॥

तब तब तुम्ह कहि कथा पुरानी। सुंदरि समुझायेहु मृदु बानी ॥७॥
कहउँ सुभाव सपथ सत मोही। सुमुखि मातुहित राखउँ तोही ॥८॥

दोहा—गुरु श्रुति-संमत धरम फल, पाइय बिनहिं कलेस।
हठबस सब संकट सहे, गालव नहुष नरेस ॥६१॥

अर्थ—आदरपूर्वक सास-ससुर के चरणों की पूजा से बढ़कर दूसरा धर्म नहीं है ॥५॥ जब-जब माता मेरी सुधि करेंगी तब-तब वे प्रेम से व्याकुल हो जायँगी, क्योंकि वे मति की भोरी हैं ॥६॥ हे सुंदरी! तब-तब तुम पुराण की कथाएँ कह-कहकर कोमल वाणी से उन्हें समझाना ॥७॥ हे सुमुखि! मैं स्वभाव से ही कहता हूँ (बनाकर नहीं), मुझे सैकड़ों शपथ है कि मैं तुम्हें माता के लिये घर पर रखता हूँ ॥८॥ गुरु और वेद की सम्मति से जो धर्म का फल है, वह विना क्लेश के ही प्राप्त हो जाता है। हठ के वश होने से गालव मुनि और राजा नहुष आदि सबों ने संकट सहा है ॥६१॥

विशेष—(१) 'येहि ते अधिक धरम ···' —श्रीजानकीजी पातिव्रत-धर्म की दृष्टि से पति-सेवा के लिये वन को चला चाहती हैं। उसपर आप कहते हैं कि हमारे भी पूज्य हमारे माता-पिता हैं। हमारी सेवा से उनकी सेवा का अधिक फल है। सास-ससुर तुम्हारे देव के भी देव हैं। 'सादर' अर्थात् केवल मेरी आज्ञा मान विवश होकर नहीं, किंतु श्रद्धा-भक्ति सहित सेवा करना।

(२) 'जब जब मातु करिहि सुधि···'—माता की व्याकुलता दूर करने के लिये पुराणों की कथा कहकर समझाना। तुम्हारी मृदु वाणी से माता को धैर्य हो जायगा। तुम्हारे वचनों से विशेष धैर्य होगा, क्योंकि तुम उन्हें प्रिय हो। यही समझाने की सेवा करना और और सेवाओं के लिये तो दास-दासी हैं ही। 'मति भोरी'—क्योंकि भोरी मति को सावधान करनेवाली (ऐश्वर्य देश में) तुम्हीं हो। यथा—"जासु कृपा निर्मल मति पावउँ।" (बा० दो० १७)।

(३) 'सपथ सत मोही'—श्रीजानकीजी कहीं यह न मान लें कि माता के समझाने को गुरु-पत्नी आदि मुनियों की स्त्रियाँ बहुत हैं, यह मुझे त्यागने का बहाना-मात्र है। अतः विश्वास कराने के लिये शपथ करते हैं। सैकड़ों शपथ में सबकी शपथ आ गईं, जितनी हो सकती हैं। अतः, नाम लेकर करने से उतनी ही (परिमित) होतीं। 'सुमुखि'—इस सुंदर मुख से समझाकर माता का हित करना, इसी में मुख की सुंदरता है।

'गुरु श्रुति संमत···'—पति का आज्ञा-पालन और सास-ससुर की सेवा करना—यही गुरु और वेद का सिद्धान्त है। केवल वेद-वाक्य में संदेह का भ्रम रहता है, गुरु के द्वारा वह असंदिग्ध हो जाता है। इसलिये दोनों के द्वारा उक्त धर्म को पुष्ट किया। इस धर्म का फल स्वर्ग है। वह विना क्लेश के ही सास-ससुर की सेवा से प्राप्त हो रहा है। अन्यथा ऐसे फल के लिये अन्य धर्मों में बड़ा कष्ट सहना पड़ता है। यथा—"सिबि दधीचि हरिचन्द नरेसा। सहे धरम हित कोटि कलेसा॥" (दो० ६४)।

(४) 'हठ बस सब संकट सहे····'—गालव मुनि की कथा महाभारत उ० प० अ० १०६–११९ के अनुसार इस तरह है—गालव मुनि विश्वामित्र मुनि के शिष्य थे। इनकी सेवा से गुरुजी संतुष्ट हुए और कहा कि तुम, जहाँ इच्छा हो, जाओ। मैं प्रसन्न हूँ; पर गालव मुनि ने हठ की कि कुछ गुरु दक्षिणा के लिये आज्ञा हो। पुनः-पुनः कहने पर विश्वामित्रजी ने कहा अच्छा, ८०० श्यामकर्ण घोड़े लाकर दो। तब तो गालव मुनि चिंतित हुए और उन्होंने विष्णु भगवान् का आश्रय लिया। गरुड़जी ने इस कार्य में सहायता की।

राजा नहुष—महाभारत उ० प० अ० ११–१९ के अनुसार कथा इस प्रकार है कि राजा नहुष महा तेजस्वी और धर्मिष्ठ एवं यशस्वी थे। जब इन्द्र को वृत्रासुर के वध से ब्रह्म-हत्या लगी, तब देवताओं ने इन्हें इन्द्र बनाया और अप्रतिम तेज दिया। इन्होंने इन्द्राणी को अपनी अर्द्धाङ्गिनी बनाने के लिये हठ की। बृहस्पति की सम्मति से इन्द्राणी ने इन्द्र से कहा। इन्होंने उसको व्रत रक्षा के लिये उपाय बतलाया कि तुम उससे कहो कि आप तेजस्वी महर्षियों को पालकी में लगाकर उस नई सवारी पर मेरे पास आवें तो मैं सहर्ष अधीन हो जाऊँगी। नहुष ने वही उपाय किया। अंत में थक जाने पर अगस्त्यजी ने वाद-विवाद किया तब नहुष ने क्रोधान्ध होकर उनके शिर पर लात चलाई, तब वह अगस्त्यजी के शाप से तेजहत होकर पृथिवी पर गिरा और फिर दस सहस्र वर्ष तक अजगर बनकर रहा।

गालव मुनि ने इसी शरीर से संकट सहा और राजा नहुष ने दूसरे (अजगर) शरीर से संकट सहा। यहाँ वैसी ही हठ करने से श्रीजानकीजी भी पहले इसी शरीर से वन-मार्ग के क्लेश एवं शूर्पणखा से डराई जाने के क्लेश सहेंगी। फिर दूसरे तन (छाया रूप) से लंका जाने के क्लेश सहेंगी। दोनों शरीरों से संकट दिखलाने के लिये क्रमशः दो दृष्टान्त हैं।

मैं पुनि करि प्रमान पितुबानी। बेगि फिरब सुनु सुमुखि सयानी ॥१॥
दिवस जात नहिं लागिहि बारा। सुंदरि सिखवन सुनहु हमारा ॥२॥
जौ हठ करहु प्रेमबस बामा। तौ तुम्ह दुख पाउब परिनामा ॥३॥
कानन कठिन भयंकर भारी। घोर घाम हिम बारि बयारी ॥४॥
कुस कंटक मग काँकर नाना। चलब पयादेहि बिनु पदत्राना ॥५॥

शब्दार्थ—प्रमान (प्रमाण) = पूरा। बारा = देर। बामा = स्त्री। पदत्राना = खड़ाऊँ, जूता आदि।

अर्थ—हे सुमुखी ! हे सयानी ! सुनो, फिर मैं पिता के वचनों को पूरा करके शीघ्र ही लौटूँगा ॥१॥ दिन जाते देर न लगेगी, हे सुन्दरी ! मेरी यह शिक्षा सुनो ॥२॥ हे वामा ! जो तुम प्रेम-वश होकर हठ करोगी तो अंत में दुःख पाओगी ॥३॥ वन कठिन और भारी भयावन है। घाम (धूप), जाड़ा, जल और पवन सब वहाँ बड़े तीक्ष्ण हैं ॥४॥ मार्ग में कुश, काँटे और कंकड़ बहुत तरह के हैं। तुम्हें पैदल और विना जूती के चलना होगा ॥५॥

विशेष—(१) 'मैं पुनि करि प्रमान पितु···'—तुम माता-पिता की सेवा करो और मैं उनकी आज्ञा का पालन करूँ। 'बेगि'—अवधि के बीतने पर एक दिन भी न रुकूँगा। 'सुमुखि'—मुख की सुन्दरता इसी में है कि स्वामी की आज्ञा सुनकर उत्तर न दे, यथा—"उतर देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई ॥" (दो० २९८); 'सयानी'—इन सब धर्मों की व्यवस्था तुम जानती हो।

(२) 'दिवस जात नहिं लागिहि···'—१४ वर्ष कैसे कटेंगे ? इसपर कहते हैं, दिन जाते देर न लगेगी। 'सुंदरि'—अर्थात् सीख मानने में ही तुम्हारी सुन्दरता है।

(३) 'जौ हठ करहु प्रेमबस ···'—श्रीजानकीजी प्रेम-वश हठ करेंगी ही। अतः, 'बामा' संबोधन

आज्ञा उल्लंघन एवं पति के प्रतिकूल हठ के संबंध से ठीक ही दिया गया है। अंत में दुःख पाओगी; अर्थात् वन के क्लेश सहोगी। पुनः हरण होने पर वर्ष-भर हमसे वियोग होगा (यह भी गर्भित है)।

(४) 'कानन कठिन भयंकर भारी।'—वन की भूमि कठिन है—"कठिन भूमि कोमल पद-गामी।" (कि० दो० १); 'भयंकर'—"हरषहिं घोर गहन सुधि आये।" (दो० ६२) 'भारी'—दंडक वन ४०० कोस का है। अतः, भारी भयंकर है। 'घोर घाम हिम बारि बयारी'—'घोर' शब्द आदि में होने से सबों के साथ है। यहाँ अभी ग्रीष्म ऋतु में चलना है। अतः, 'घोर घाम' प्रथम कहा। बीच में वर्षा को छोड़कर हिम कहा, क्योंकि घोर-घाम के समान ही घोर जाड़ा का भी दुःख होता है। 'घोर बारि'—से वर्षा का दुःख कहा। अंत में 'बयारी' कहकर इसे भी सबों के साथ सूचित किया। 'घोर बयारी' के सम्बन्ध से उक्त तीनों अत्यन्त दुःखद हो जाते हैं।

(५) 'कुस कंटक मग काँकर नाना...'—कुश काँटे से भी अधिक दुःखद होता है, इसलिये उसे प्रथम कहा है। 'चलब पयादेहि'—भयंकरता कहकर अब मार्ग का कष्ट कहते हैं कि पालकी आदि में चलने से उक्त घोर-घाम आदि उतने बाधक नहीं होते, पर हमारे साथ पैदल चलना होगा। पुनः जूता आदि के बिना ही चलने में कुश, काँटे आदि भी गड़ेंगे। ये सब सहने पड़ेंगे।

चरन कमल मृदु मंजु तुम्हारे। मारग अगम भूमिधर भारे ॥६॥
कंदर खोह नदीं नद नारे। अगम अगाध न जाहिं निहारे ॥७॥
भालु बाघ बृक केहरि नागा। करहिं नाद सुनि धीरज भागा ॥८॥

दोहा—भूमिसयन बलकलबसन, असन कंद - फल - मूल।
ते कि सदा सब दिन मिलहिं, सबइ समय अनुकूल ॥६२॥

शब्दार्थ—अगम=दुर्गम, पहुँच के बाहर, विकट। भूमिधर=पहाड़। कंदर=गुफा, पर्वत की सुरंग। खोह=दो पहाड़ों के बीच का तंग मार्ग। नद=बड़ी नदी। बृक=भेड़िया, बीग। बलकल=वृक्षों की छाल, भोजपत्र आदि। कंद=जो पृथिवी में गोल-गोल निकलते हैं। जैसे जिमी कंद (सूरन) आदि। मूल=भूमि में जो लंबे-लंबे निकलते हैं। असन=भोजन।

अर्थ—तुम्हारे चरण-कमल कोमल और सुन्दर हैं, रास्ता दुर्गम है, उसमें बड़े-बड़े पहाड़ हैं ॥६॥ कंदराएँ, खोह, नदियाँ, नद और नाले ऐसे दुर्गम और गहरे हैं कि देखे नहीं जाते; अर्थात् देखने से डर लगता है ॥७॥ रीछ, बाघ, भेड़िये, सिंह और हाथी, ऐसे शब्द करते हैं (गर्जते हैं) कि सुनकर धैर्य भाग (छूट) जाता है ॥८॥ पृथिवी पर सोना होगा, बलकल के वस्त्र पहनने और कंद-मूल-फल के भोजन करने पड़ेंगे, वे भी क्या सब दिन मिलते हैं ? नहीं, सभी समय के अनुकूल मिलेंगे ॥६२॥

विशेष—(१) क्रमशः मार्ग की दुर्गमता अधिक दिखाते हैं। पहले कुश, काँटा आदि पर मंजु चरण कमल से कैसे चलोगी ? फिर बड़े-बड़े पहाड़ों पर कैसे चढ़ोगी, चढ़ाव-उतार होने से कठिन भूमि जल्दी चुकने नहीं आती, अतएव अगम है। पुनः उसमें भी कंदराओं और खोहों में होकर चलना होगा।

नदी, नद, नाले उतरने पड़ेंगे, जो बड़े गहरे होते हैं। उतरने की बात तो कठिन है, उनका देखना भी कठिन है। पुनः उसपर भी उन कंदर-खोह आदि में रीछ, बाघ आदि हिंसक-भयंकर जीव रहते-गर्जते हैं। इससे वे और भी अगम्य होते हैं।

यहाँ थल, जल और नभ तीनों की अगमता दिखाई है—"कुस कंटक मग···" से स्थल की, "नदी नद नारे" से जल की और "भूमि घर भारे" से नभ (ऊँचे) की अगमता कही है।

पहले कंदर-खोह आदि स्थल कहा, तब उनमें रहनेवाले भालू, बाघ आदि को कहा। फिर उनका गर्जना और फिर उससे लोगों का धैर्य छूटना कहा। 'भालू' को प्रथम कहा है, क्योंकि इससे वृक्षों पर चढ़ने पर भी नहीं बच सकते और यह धोखा देकर भी घात करता है, पुनः बड़ा क्रूर होता है। यह पहले आँख ही नोच लेता है।

(२) 'भूमि सयन ···'—भूमि पर ही सोना होगा, कभी शीत पकड़ लेती है तो असह्य पीड़ा होती है। वल्कल वस्त्र भोजपत्र आदि से शीत-उष्ण का बचाव नहीं होता। केवल शरीर ढकना-भर होता है। १४ वर्ष तक बराबर कंद-मूल-फल, आदि ही भोजन करने पड़ेंगे, वे भी सब दिन न मिलेंगे, कभी-कभी उपवास हो कर जाना पड़ेगा है। फल भी समय के अनुकूल ही अर्थात् जिस ऋतु में जो फल होते हैं, वे ही मिलते हैं, जो कि जाड़े में शीत, वर्षा में कफ और गर्मी में पित्त के बढ़ानेवाले होते हैं। ये सब भोजन के कष्ट हैं।

नरअहार रजनीचर चरहीं। कपटबेष बिधि कोटिक करहीं ॥१॥
लागइ अति पहार कर पानी। बिपिन बिपति नहिं जाइ बखानी ॥२॥
ब्याल कराल बिहँग बन घोरा। निसिचर-निकर नारि-नर-चोरा ॥३॥
डरपहिं धीर गहन सुधि आये। मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुहाये ॥४॥

शब्दार्थ—नर-अहार = मनुष्यों को खानेवाले। लागइ = लगता है, 'पानी लगना' मुहावरा है; अर्थात् रोग पैदा करता है। बखानना = विस्तृत वर्णन। गहन = वन।

अर्थ—मनुष्यों को खानेवाले निशाचर फिरते रहते हैं, करोड़ों (अनेकों) प्रकार के छल (बनावटी)-वेष धारण करते हैं ॥१॥ पहाड़ों का पानी बहुत लगता है। वन के दुःख बखाने नहीं जा सकते ॥२॥ वन में भयंकर सर्प और घोर (भयंकर) पक्षी रहते हैं। राक्षसों के समूह हैं। वे स्त्री-पुरुषों को चुरा लेते हैं ॥३॥ वन की सुधि आने पर धैर्यवान् पुरुष भी डर जाते हैं और हे मृगलोचनी! तुम तो स्वाभाविक ही डरनेवाली हो ॥४॥

विशेष—(१) 'नर-अहार रजनीचर ······'—रजनीचर रात में भोजन के लिये निकलते हैं और विचरते रहते हैं। अतः, रक्षा के लिये रात-भर जागना पड़ता है। एक तो रात में सूझता नहीं, फिर वे मायावी होते हैं। इससे कपट-वेष से आते हैं। वे छल से ले जाकर मनुष्यों को खा लेते हैं। 'वेष विधि कोटिक'—जैसे कि मारीच मृग, रावण यती और कालनेमि मुनि बना, इत्यादि।

(२) 'लागइ अति पहार कर···'—भोजन के दुःख पहले कह आये हैं। अब जल पीने के दुःख कहते हैं कि पहाड़ीजल अन्न खानेवालों को भी लगता है, पर फल खानेवालों को तो अत्यन्त लगता है।

आज्ञा उल्लंघन एवं पति के प्रतिकूल हठ के संबंध से ठीक ही दिया गया है। अंत में दुःख पाओगी; अर्थात् वन के क्लेश सहोगी। पुनः हरण होने पर वर्ष-भर हमसे वियोग होगा (यह भी गर्भित है)।

(४) 'कानन कठिन भयंकर भारी।'—वन की भूमि कठिन है—"कठिन भूमि कोमल पद-गामी।" (कि० दो० १); 'भयंकर'—"दरपहिं धीर गहन सुधि आये।" (दो० ६२) 'भारी'—दंडक वन ४०० कोस का है। अतः, भारी भयंकर है। 'घोर घाम हिम बारि बयारी'—'घोर' शब्द आदि में होने से सबों के साथ है। यहाँ अभी ग्रीष्म ऋतु में चलना है। अतः, 'घोर घाम' प्रथम कहा। बीच में वर्षा को छोड़कर हिम कहा, क्योंकि घोर-घाम के समान ही घोर जाड़ा का भी दुःख होता है। 'घोर बारि'—से वर्षा का दुःख कहा। अंत में 'बयारी' कहकर इसे भी सबों के साथ सूचित किया। 'घोर बयारी' के सम्बन्ध से उक्त तीनों अत्यन्त दुःखद हो जाते हैं।

(५) 'कुस कंटक मग काँकर नाना'''—कुश काँटे से भी अधिक दुःखद होता है, इसलिये उसे प्रथम कहा है। 'चलब पयादेहिं'—भयंकरता कहकर अब मार्ग का कष्ट कहते हैं कि पालकी आदि में चलने से उक्त घोर-घाम आदि उतने बाधक नहीं होते, पर हमारे साथ पैदल चलना होगा। पुन जूता आदि के बिना ही चलने में कुश, काँटे आदि भी गड़ेंगे। ये सब सहने पड़ेंगे।

चरन कमल मृदु मंजु तुम्हारे। मारग अगम भूमिधर भारे ॥६॥
कंदर खोह नदी नद नारे। अगम अगाध न जाहिं निहारे ॥७॥
भालु बाघ वृक केहरि नागा। करहिं नाद सुनि धीरज भागा ॥८॥

दोहा—भूमिसयन बलकलबसन, असन कंद - फल - मूल।
ते कि सदा सब दिन मिलहिं, सबइ समय अनुकूल ॥६२॥

शब्दार्थ—अगम=दुर्गम, पहुँच के बाहर, विकट। भूमिधर=पहाड़। कंदर=गुफा, पर्वत की सुरंग। खोह=दो पहाड़ों के बीच का तंग मार्ग। नद=बड़ी नदी। वृक=भेड़िया, बाग। बलकल=वृक्षों की छाल, भोजपत्र आदि। कंद=जो पृथिवी में गोल-गोल निकलते हैं। जैसे जिमी कंद (सूरन) आदि। मूल=भूमि में जो लंबे-लंबे निकलते हैं। असन=भोजन।

अर्थ—तुम्हारे चरण-कमल कोमल और सुन्दर हैं, रास्ता दुर्गम है, उसमें बड़े-बड़े पहाड़ हैं ॥६॥ कंदराएँ, खोह, नदियाँ, नद और नाले ऐसे दुर्गम और गहरे हैं कि देखे नहीं जाते; अर्थात् देखने से डर लगता है ॥७॥ रीछ, बाघ, भेड़िये, सिंह और हाथी, ऐसे शब्द करते हैं (गर्जते हैं) कि सुनकर धैर्य भाग (छूट) जाता है ॥८॥ पृथिवी पर सोना होगा, बलकल के वस्त्र पहनने और कंद-मूल-फल के भोजन करने पड़ेंगे, वे भी क्या सब दिन मिलते हैं? नहीं, सभी समय के अनुकूल मिलेंगे ॥६२॥

विशेष—(१) क्रमशः मार्ग की दुर्गमता अधिक दिखाते हैं। पहले कुश, काँटा आदि पर मंजु चरण कमल से कैसे चलोगी? फिर बड़े-बड़े पहाड़ों पर कैसे चढ़ोगी, चढ़ाव-उतार होने से कठिन भूमि जल्दी चुकने नहीं आती, अतएव अगम है। पुनः उनमें भी कंदराओं और खोहों में होकर चलना होगा।

नदी, नद, नाले उतरने पड़ेंगे, जो बड़े गहरे होते हैं। उतरने की बात तो कठिन है, उनका देखना भी कठिन है। पुनः उसपर भी उन कंदर-खोह आदि में रीछ, बाघ आदि हिंसक-भयंकर जीव रहते-गर्जते हैं। इससे वे और भी अगम्य होते हैं।

यहाँ थल, जल और नभ तीनों की अगमता दिखाई है—"कुस कंटक मग···" से स्थल की, "नदी नद नारे" से जल की और "भूमि धर भारे" से नभ (ऊँचे) की अगमता कही है।

पहले कंदर-खोह आदि स्थल कहा, तब उनमें रहनेवाले भालू, बाघ आदि को कहा। फिर उनका गर्जना और फिर उससे लोगों का धैर्य छूटना कहा। 'भालू' को प्रथम कहा है, क्योंकि इससे वृक्षों पर चढ़ने पर भी नहीं बच सकते और यह धोखा देकर भी घात करता है, पुनः बड़ा क्रूर होता है। यह पहले आँख ही नोच लेता है।

(२) 'भूमि सयन···'—भूमि पर ही सोना होगा, कभी शीत पकड़ लेती है तो असह्य पीड़ा होती है। वलकल वस्त्र भोजपत्र आदि से शीत-उष्ण का बचाव नहीं होता। केवल शरीर ढकना-भर होता है। १४ वर्ष तक बराबर कंद-मूल-फल, आदि ही भोजन करने पड़ेंगे, वे भी सब दिन न मिलेंगे, कभी-कभी उपवास ही कर जाना पड़ेगा है। फल भी समय के अनुकूल ही अर्थात् जिस ऋतु में जो फल होते हैं, वे ही मिलते हैं, जो कि जाड़े में शीत, वर्षा में कफ और गर्मी में पित्त के बढ़ानेवाले होते हैं। ये सब भोजन के कष्ट हैं।

नरअहार रजनीचर चरहीं। कपटबेष बिधि कोटिक करहीं ॥१॥
लागइ अति पहार कर पानी। बिपिन बिपति नहिं जाइ बखानी ॥२॥
ब्याल कराल बिहँग बन घोरा। निसिचर-निकर नारि-नर-चोरा ॥३॥
डरपहिं धीर गहन सुधि आये। मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुहाये ॥४॥

शब्दार्थ—नर-अहार = मनुष्यों को खानेवाले। लागइ = लगता है, 'पानी लगना' मुहावरा है; अर्थात् रोग पैदा करता है। बखानना = विस्तृत वर्णन। गहन = वन।

अर्थ—मनुष्यों को खानेवाले निशाचर फिरते रहते हैं, करोड़ों (अनेकों) प्रकार के छल (बनावटी)-वेष धारण करते हैं ॥१॥ पहाड़ों का पानी बहुत लगता है। वन के दुःख बखाने नहीं जा सकते ॥२॥ वन में भयंकर सर्प और घोर (भयंकर) पक्षी रहते हैं। राक्षसों के समूह हैं। वे स्त्री-पुरुषों को चुरा लेते हैं ॥३॥ वन की सुधि आने पर धैर्यवान् पुरुष भी डर जाते हैं और हे मृगलोचनी ! तुम तो स्वाभाविक ही डरनेवाली हो ॥४॥

विशेष—(१) 'नर-अहार रजनीचर ·····'—रजनीचर रात में भोजन के लिये निकलते हैं और विचरते रहते हैं। अतः, रक्षा के लिये रात-भर जागना पड़ता है। एक तो रात में सूझना नहीं, फिर वे मायावी होते हैं। इससे कपट-वेष से आते हैं। वे छल से ले जाकर मनुष्यों को खा लेते हैं। 'वेष बिधि कोटिक'—जैसे कि मारीच मृग, रावण यती और काल नेमि मुनि बना, इत्यादि।

(२) 'लागइ अति पहार कर···'—भोजन के दुःख पहले कह आये हैं। अब जल पीने के दुःख कहते हैं कि पहाड़ीजल अन्न खानेवालों को भी लगता है, पर फल खानेवालों को तो अत्यन्त लगता है।

(३) 'व्याल कराल विहँग……'—सर्प कराल हैं, अजगर आदि मनुष्यों को निगल जाते हैं। पक्षी भयानक होते हैं, शार्दूल आदि पक्षी जीवों को पकड़कर उठा ले जाते हैं। यहाँ तीनों स्थलों के जीवों का बाधा करना कहा गया, 'व्याल' भूमि के, 'विहँग' आकाश के और 'निसिचर' पाताल के हैं।

यहाँ कहा गया—'निसिचर निकर नारि नर चोरा।' और ऊपर—'नर अहार रजनीचर चरहीं।' कहा है। इसमें पुनरुक्ति नहीं है, क्योंकि 'चरहीं' में उनका आहार के लिये विचरना-फिरना कहा गया है कि पाते हैं, तो नरों का आहार करते हैं। 'नारि-नर चोरा' में कहा गया कि वे चोरी से नर-नारी को उठा ले जाते हैं। अतः, एक में आहार के लिये फिरना और दूसरे में उठा ले जाना, ये दो बातें हैं। 'चरहीं' के अर्थ में विचरना और खाना दोनों ही अर्थ ले सकते हैं, यथा—'चर गति भक्षणयोः' धातु है।

यहाँ श्रीसीताजी के डराने के लिये 'नारि' मात्र के चार ही कह सकते थे, पर नर को चुराना कहा। इससे उपर्युक्त 'नर-आहार' का अर्थ खोला गया है कि चुराकर ले जाते हैं और नरों को तो खा ही जाते हैं। कालकेतु निशाचर का प्रतापभानु के पुरोहित को माया से चुरा ले जाना कहा भी गया है।

(४) 'डरपहिं धीर·· मृग लोचनि तुम्ह···'—जब बड़े-बड़े धीर लोग वन की सुधि आने पर डर जाते हैं, तब तुम इन मृगा के से डराउल नेत्रों से प्रत्यक्ष देखोगी कैसे ? तुम तो स्वभाव से ही भीरु हो। अतः, समझ लो कि कैसे जी सकोगी ?

हंसगवनि तुम्ह नहिं बनजोगू। सुनि अपजस मोहिं देइहि लोगू ॥५॥
मानस-सलिल-सुधा प्रतिपाली। जियइ कि लवनपयोधि मराली ॥६॥
नव-रसाल-बन बिहरनसीला। सोह कि कोकिल बिपिन करीला ॥७॥
रहहु भवन अस हृदय बिचारी। चंदबदनि दुख कानन भारी ॥८॥

दोहा—सहज सुहृद-गुरु-स्वामि-सिख, जो न करइ सिर मानि।
सो पछिताइ अघाइ उर, अवसि होइ हित हानि ॥६३॥

अर्थ—हे हंसगामिनी ! तुम वन के योग्य नहीं हो, (तुम्हारा वन जाना) सुनकर लोग मुझे अपयश देंगे ॥५॥ मानस-सर के अमृत जल से पाली हुई हंसिनी क्या खारे समुद्र में जी सकती है ? अर्थात् नहीं जी सकती ॥६॥ नवीन आम के वन में विहार करनेवाली कोयल क्या करील के वन में शोभा पाती है ? अर्थात् वह वहाँ नहीं सोहती ॥७॥ ऐसा हृदय में विचारकर घर में रहो, हे चन्द्र-मुखी ! वन में भारी दुःख है ॥८॥ स्वाभाविक मित्र, गुरु और स्वामी की शिक्षा जो शिर पर धारण करके नहीं करता, वह पीछे हृदय में भरपूर पछताता है और अवश्य ही उसके हित की हानि होती है ॥६३॥

विशेष—(१) 'हंस गवनि तुम्ह नहिं……'—हंस की-सी चाल से पहाड़ों पर कैसे चढ़ोगी ? वन की कठोर भूमि पर काँटों में कैसे चल सकोगी ? लोग अपयश देंगे कि ऐसी सुकुमारी स्त्री को वन

में ले गये। वह वहाँ न रह सकी, जैसा कि आगे कहते हैं—'जियइ कि···' उपर्युक्त—"सुरसर सुभग बनज बनचारी।···" भी देखिये।

(२) 'मानस सलिल सुधा प्रति······'—ऊपर 'हंस गवनि' कहकर गमन में अयोग्यता दिखाई। अब दिखाते हैं कि वहाँ रह न सकोगी, जीना ही दुर्लभ होगा। श्रीमिथिलाजी और श्रीअयोध्याजी मानस-सर के समान हैं। यहाँ के उत्तम भोग 'सलिल-सुधा' के समान और श्रीजानकीजी मराली हैं। वन खारा समुद्र के समान और उसके दुःख खारे जल हैं। भाव यह कि जो सदा से सुन्दर भोगों को भोग आया है और कोमल है, वह भारी दुःख पड़ने पर जी नहीं सकता। यहाँ जीवन का अभाव दिखाया, आगे शोभा का अभाव दिखाते हैं।

(३) 'नव रसाल बन बिहरन ···'—आम के नये वृक्ष सुहावने होते हैं, सुंदर छाया, स्वादिष्ट फल और सुगंधित फूल होते हैं। वैसे ही तुम यहाँ कनक भवन के स्रग-सुगंध एवं सम्पूर्ण दिव्य भोगों को भोगने-वाली हो। करील का वन जिसमें पत्ते भी नहीं होते और फूल-फल भी किसी योग्य नहीं, उसमें कोयल के रहने की शोभा नहीं। वैसे तुम्हारी शोभा वन जाने और वहाँ रहने में नहीं है, (करील के वन ब्रजदेश में बहुत हैं)।

(४) 'रहहु भवन अस हृदय····'—ऐसे वन के भारी दुःखों को हृदय में विचारो और घर में रहो। सामान्य दुःख होता तो ले भी चलते। वहाँ तुम्हारा चन्द्रवदन मलिन पड़ जायगा। इसलिये वन जाना ठीक नहीं।

(५) 'सहज सुहृद गुरु स्वामि ·· ··'—इनकी शिक्षा मानना परम धर्म है, अतएव शिरोधार्य करना चाहिये, यथा—"सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा॥" (बा० दो० ७१); जो इनकी शिक्षा पर चलता है, वह क्लेश-बिना ही धर्मों का फल पाता है, यथा—"गुरु श्रुति संमत धरम फल ·····" (दो० ६१); पर जो इनकी शिक्षा नहीं मानता उसकी अवश्य हित-हानि होती है, क्योंकि ये हित ही की शिक्षा देते हैं और इनके वचन अमोघ (सफल) होते हैं। अतः, उसके लिये पीछे पछताना पड़ता है, अपनी ही भूल समझकर किसी से कहता भी नहीं, उर में ही पछतावा है।

यहाँ तो तुम्हारे लिये तीनों का एक ही उपदेश है। हम तुम्हारे सहज-सुहृद और स्वामी हैं। माताजी तुम्हारी गुरु (श्रेष्ठ) हैं, यथा—"प्रभु तुम्हार कुलगुरु जलधि" (सु० दो० ५०)। तथा—"अस्वाधीनं कथं दैवं प्रकारैरभिराध्यते। स्वाधीनं समतिक्रम्य मातरं पितरं गुरुम्॥" (वाल्मी० २।३०।३३); यहाँ इसी प्रसंग में श्रीरामजी ने श्रीसीताजी से ही माता-पिता को गुरु कहा है। अतः, इस शिक्षा को श्रद्धा-पूर्वक मानना चाहिये।

सुनि मृदु बचन मनोहर पिय के। लोचन ललित भरे जल सिय के॥१॥
सीतल सिख दाहक भइ कैसे। चकइहि सरद चंद निसि जैसे॥२॥
उतर न आव बिकल बैदेही। तजन चहत सुचि स्वामि सनेही॥३॥
बरबस रोकि बिलोचन बारी। धरि धीरज उर अवनिकुमारी॥४॥

अर्थ—प्रिय-पति के कोमल और मनोहर वचन सुनकर सीताजी के सुन्दर नेत्र जल (आँसू) से भर गये॥१॥ शीतल शिक्षा उन्हें कैसी जलानेवाली हुई कि जैसी शरद-ऋतु की चाँदनी रात चकवी को

(दाहक होती है) ॥३॥ श्रीजानकीजी के मुख से उत्तर नहीं निकलता, वे व्याकुल हो गईं कि पवित्र एवं पवित्र-स्नेही स्वामी मुझे छोड़ना चाहते हैं। नेत्रों के जल को हठात् रोककर पृथिवी की पुत्री श्रीसीताजी हृदय में धैर्य धरकर ॥४॥

विशेष—(१) 'सुनि मृदु बचन मनोहर···'—वचन सुनने में कोमल एवं मधुर और अर्थ समझने में मनोहर (सुन्दर) हैं, पर इन वचनों से पति का वियोग होगा। इससे समझने से नेत्रों में आँसू भर आये। इसीसे इन नेत्रों की शोभा 'ललित' शब्द से कही गई; क्योंकि यह उचित है।

(२) 'सीतल सिख दाहक भइ ···'—चाँदनी रात सबको शीतल और सुखदाई होती है। पर उसमें चकवी का चकवे से वियोग होता है, इससे उसके हृदय में जलन होती है। वैसे ही श्रीरामजी के वचन सबके लिये मृदु-मनोहर और शीतल ही हैं, पर श्रीजानकीजी को पति-विरह की सम्भावना से दाहक हुए। यहाँ श्रीरामजी का मुख चन्द्रमा और उनके वचन किरण हैं।

(३) 'उतर न आव बिकल बैदेही।'—'बैदेही'—क्योंकि व्याकुलता से देह सुधि न रह गई। 'सुचि स्वामि सनेही'—शुचि हैं, इसीसे वैसा ही पवित्र उपदेश दिया, यथा—"येहि ते अधिक धरम नहिं दूजा। सादर सास ससुर पद पूजा॥" (दो० ६०); स्नेही हैं, इसीसे हमारा वन का क्लेश सहन करना नहीं देखना चाहते। पुनः माताजी पर स्नेह है, इससे उनके अवलंब के लिये मुझे रखते हैं और अपनी आज्ञा-रूपी सेवा से मेरा पातिव्रतधर्म भी निबाहते हैं। किन्तु ऐसे स्वामी का वियोग मैं कैसे सह सकूँगी? इसपर विकल हो गईं।

(४) 'बरबस रोकि बिलोचन बारी।'—पहले कहा गया—"लोचन ललित भरे जल सिय के।" वह रुकता नहीं, अतएव बरबस रोकना पड़ा। 'धरि धीरज···'—शीत उष्ण सहने के गुण पृथ्वी में हैं, यथा—"क्षमया पृथिवी समा" (गुण रा० वाल्मी०), वैसे ही यहाँ शीतल शिक्षा से दाह उत्पन्न हुआ, उसे सहकर धैर्य धरने से 'अवनि कुमारी' कही गई। माता के गुण कन्या में होने ही चाहिये।

लागि सासुपग कह कर जोरी। छमबि देवि बड़ि अविनय मोरी॥५॥
दीन्हि प्रानपति मोहि सिख सोई। जेहि बिधि मोर परमहित होई॥६॥
मैं पुनि समुझि दीख मन-माहीं। पिय-वियोग-सम दुख जग नाहीं॥७॥

दोहा—प्राननाथ करुनायतन, सुन्दर सुखद सुजान।
तुम्ह बिनु रघुकुल-कुमुद-बिधु, सुरपुर नरक-समान॥६४॥

अर्थ—सास के पैर लगकर हाथ जोड़कर कहने लगीं कि हे देवि! मेरी इस बड़ी ढिठाई को क्षमा कीजिये॥५॥ प्राणनाथ ने मुझे वही शिक्षा दी है जिस प्रकार से मेरा परम-हित हो॥६॥ फिर मैंने मन में विचार कर देखा कि पति-वियोग के समान संसार में कोई दुःख नहीं है॥७॥ मेरे प्राणों के स्वामी, करुणा के स्थान, सुन्दर सुख के दाता, सुजान और हे रघुकुल-रूपी कुईं के चन्द्रमा (रूप प्रफुल्लित करनेवाले)! आपके बिना मुझे स्वर्ग भी नरक के समान है॥६४॥

विशेष—(१) 'लागि सासुपग ···'—चरणों पर पड़कर हाथ जोड़कर क्षमा माँगती हैं, क्योंकि सास के सामने पति से वार्ता करना पड़ रहा है, श्रीरामजी भी सकुचे थे—"मातु समीप कहत सकुचाहीं।"

(दो० ६०); यह बड़ी ढिठाई है, (क्योंकि आपने ही उनसे अपने सामने कहलाया, तब मुझे भी कहना पड़ा अन्यथा न बोलती)।

(२) 'दीन्हि प्रानपति मोहिं···'—'प्रानपति'—अर्थात् ये ही मेरे प्राणों के स्वामी और रक्षक हैं तो इनके बिना मेरे प्राण कैसे रहेंगे ? इन्होंने ही शिक्षा दी है, जिसमें मेरा परम हित हो; अर्थात् लोक-परलोक दोनों बने, यथा—"गुरु श्रुति संमत धरम फल, पाइय बिनहिं कलेस।" (दो० ६१); उसकी विधि भी बतलाई है—"येहिते अधिक धरम नहिं दूजा। सादर सासु ससुर पद पूजा॥" (दो० ६०); यही परमहित का अंग भी है, यथा—"सब बिधि भामिनि भवन भलाई।" (दो० ६१); इत्यादि।

(३) 'मैं पुनि समुझि दीखि ···'—श्रीजानकीजी अब अपने हृदय की बात कहती हैं—'प्रिय वियोग सम···' इसी पर कौशल्याजी को निरुत्तर कर दिया, क्योंकि वे भी पातिव्रत-धर्म को जानती हैं। प्रथम उन्होंने ही कहा था। अतः, उन्हें उत्तर देकर आगे श्रीरामजी से कहती हैं—श्रीजानकीजी की व्याकुलता में कवि भी व्याकुल हो गये। अतः, ७ ही अर्द्धाली पर दोहा कर दिया।

(४) 'प्रान नाथ करुनाय तन···'—प्राणनाथ हैं। मेरे प्राणों के सुखदाता हैं। अतः, प्राणों की रक्षा कीजिये, आपके वियोग में मेरे प्राण न रहेंगे। करुणायतन हैं, करुणा करके साथ लें, वियोग की निष्ठुर बात न कहें। सुन्दर हैं। अतः, साथ रखकर दर्शनों का आनन्द देते रहें। सुखद और सुजान हैं। अतः, मेरे हृदय का भाव जानकर कि आपके बिना स्वर्ग भी मुझे नरक के समान है। मुझे अपने साथ रखकर सुख दें। 'रघुकुल कुमुद बिधु···'—रघुवंश-भर के प्रफुल्ल करनेवाले हैं, फिर मैं तो आपकी निज पाणिग्रहीता दासी हूँ। अतः, मुझे संग रखकर प्रफुल्ल रखना ही चाहिये। आपके साथ में मुझे वन ही स्वर्ग है, अन्यथा स्वर्ग भी नरक के समान दुःखद है। यह श्रीरामजी के वचन—"आपन मोर नीक ·· घर रहहू। सब बिधि भामिनि भवन भलाई॥" (दो० ६०); का उत्तर है। यथा—"यस्त्वया सह स स्वर्गो निरयो यस्त्वया विना। इति जानन्परां प्रीतिं गच्छ राम मयासह॥" (वाल्मी० २।३०।१८)।

मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवार सुहृद-समुदाई॥१॥
सासु ससुर गुरु सजन सहाई। सुत सुंदर सुसील सुखदाई॥२॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहुँ ते ताते॥३॥
तनु धन धाम धरनि पुरराजू। पतिबिहीन सब सोकसमाजू॥४॥

अर्थ—माता, पिता, बहन और प्यारा भाई, प्यारा परिवार, मित्रों का समूह॥१॥ सास, ससुर, गुरु एवं गुरुजन तथा ज्येष्ठ (पति का बड़ा भाई), सजन (स्वजन = सम्बन्धी = दामाद, बहनोई आदि) सहायक, सुन्दर सुशील और सुखदायी पुत्र॥२॥ इत्यादि जहाँ तक हे नाथ ! प्रेम और नाते हैं, वे सब स्त्री को पति के बिना सूर्य से भी अधिक तप्त (ताप देनेवाले) हैं॥३॥ शरीर, धन, घर, पृथिवी, नगर और राज्य पति-रहित स्त्री के लिये ये सब शोक की सामग्री हैं; अर्थात् इन्हें देखकर उसे शोक उत्पन्न होता है॥४॥

विशेष—(१) 'मातु पिता भगिनी···'—इस अर्द्धाली में सब नैहर के कहे गये। इनमें माता को प्रथम कहा, क्योंकि माता का स्नेह पुत्री मे सबसे अधिक होता है। फिर क्रमशः न्यून स्नेहवाले कहे गये। ऊपर स्वर्ग का खंडन करके यहाँ से इस लोक के सुखों का खंडन करती हैं। इसमें प्रथम नैहर के नातों को

कहा। फिर—'सासु ससुर ···' से ससुराल के नातों को गिनाया। यहाँ तक विशेष नातेवालों को कहकर— 'जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। ···' से समष्टि में सामान्य स्नेहियों और नातेवालों को भी कह दिया। फिर सबको साथ ही खंडन करती हैं कि पति के साथ में सभी सुखदायक हैं। पर पति के विना सूर्य से भी अधिक ताप देनेवाले हैं, यथा—"न पिता नात्मजो नात्मा न माता न सखी जनः। इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा॥" (वाल्मी० २।२७।६)। 'पिय बिनु तियहिं···'—जैसे जबतक जल रहता है, तब तक सूर्य कमल को सुख देता है। जल न रहने से जला डालता है वैसे ही पति के न रहने से सब कोई ताप देते हैं, देखकर जलते हैं, चाहते हैं कि यह मर जाय। सूर्य १२ हैं, वैसे ही १२ नाते भी गिनाये गये हैं। 'तनु धन धाम···'—इसमें 'तनु' प्रथम कहा गया, क्योंकि शेष सब इसी के लिये हैं।

भोग रोगसम भूषन भारू। जम - जातना - सरिस संसारू॥५॥
प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥६॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिय नाथ पुरुष बिनु नारी॥७॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे। सरद-बिमल - बिधु-बदन निहारे॥८॥

दोहा—खग मृग परिजन नगरं बन, बलकल बिमल दुकूल।
नाथ-साथ सुर-सदन-सम, परनसाल सुखमूल॥६५॥

अर्थ—भोग रोग के समान, भूषण बोझ के समान और संसार यमयातना (नरक की पीड़ा) के समान है॥५॥ हे प्राणनाथ! आपके विना मुझे संसार में कहीं भी कुछ सुखदायक नहीं है॥६॥ जैसे जीव के विना देह और जल के विना नदी, वैसे ही हे नाथ! पुरुष के विना स्त्री है॥७॥ हे नाथ! आपके साथ रहते हुए शरद्-ऋतु के चन्द्रमा के समान आपका मुख देखने से मुझे सब सुख प्राप्त हैं॥८॥ हे नाथ! आपके साथ पक्षी, वन्यपशु कुटुम्बी के समान, वन नगर के समान, बकले के वस्त्र (भोजपत्र आदि) निर्मल महीन कपड़े के समान और पर्णकुटी देवताओं के (स्वर्गीय) महल के समान सुख देनेवाले होंगे॥६५॥

विशेष—(१) 'भोग रोगसम भूषन···'—भोगों से सुख होता है, पर वही भोग पति के विना रोग के समान दुःखद होता है। भूषणों से शोभा होती है। विधवा पहने तो दर्शकों को नहीं सुहाता। अतः, भूषण भार के समान हो जाता है। 'जम-जातना सरिस···'—संसार का हँसना, बोलना, क्रीड़ा आदि उसे अत्यंत दुःखद हो जाते हैं।

(२) 'मातु पिता भगिनी···से यहाँ तक सामान्य स्त्रियों की व्यवस्था कही। आगे—'प्रान नाथ तुम्ह बिनु···' से विशेष करके अपने लिये कहती हैं—'मो कहँ' तो कहीं कोई भी सुखद नहीं है, भाव और स्त्रियों को उपर्युक्त नातों में कोई चाहे सुखद हो भी, पर मुझे नहीं है।

(३) 'जिय बिनु देह नदी ···'—यहाँ पुरुष रहित स्त्री के लिये दो उदाहरण दिये गये हैं—एक प्राणों के विना देह और दूसरा जल के विना नदी। इनका भाव यह है कि जब स्त्री का पति से वियोग होता है तब उसके लिये दो क्रियाएँ हैं। एक तो पति के साथ ही प्राण दे देती है; अर्थात् सती हो जाती है। यदि यह न हुआ तो वह ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करके अशोभित रूप से देहावसान कर देती है। यह

दूसरी क्रिया है। अतः, पहली क्रिया के लिये 'जिय बिनु देह' कहा और दूसरी के लिये बिना जल की नदी। पर इनका अपना निश्चय पहली के रूप में ही है, यथा—"की तनु प्रान कि केवल प्राना।" (दो० ५७)।

(४) 'नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे···'—पहले पति विना सब सुखों को दुःख रूप कहा। अब उन्हीं सबके समान मुखचन्द्र के अवलोकन से वन में सुख होना आगे कहती हैं—

(५) 'खग मृग परिजन नगर बन···'—'पर्नसाल सुखमूल'—अर्थात् सुरसदन में रहने से क्रमशः पुण्य क्षीण होते हैं; पीछे वह प्राणी सुख रहित होकर नीचे गिरता है। पर आपके साथ पर्णशाला में रहने से सुकृत बढ़ेंगे और उनसे सुख भी बढ़ेंगे। 'बिमल दुकूल'—मैला एवं अशुद्ध वस्त्र पहनना मना है। इसपर कहती हैं कि वल्कल तो स्वयं निर्मल एवं पवित्र वस्त्र है, फिर आपके साथ से वह महीन वस्त्रों का-सा सुख देगा।

बनदेवी बनदेव उदारा। करिहहिं सासु-ससुर-सम सारा ॥१॥
कुस-किसलय-साथरी सुहाई। प्रभु-सँग मंजु मनोज-तुराई ॥२॥
कंद मूल फल अमिय अहारू। अवध-सौध-सत-सरिस पहारू ॥३॥
छिन छिन प्रभु-पद-कमल बिलोकी। रहिहउँ मुदित दिवस जिमि कोकी ॥४॥

शब्दार्थ—उदार = श्रेष्ठ, निर्हेतु-दानी। सार = पालन-पोषण। किसलय = कोमल नया पत्ता। साथरी = नये पत्तों को सुखाकर उनसे बनी हुई मोटी कोमल तोशक। सौध = राज-महल।

अर्थ—वन की देवी और देवता उदार हैं। वे सास-ससुर की तरह मेरा पालन-पोषण करेंगे ॥१॥ कुश और पेड़ों के पत्तों की सुन्दर साथरी आपके साथ में सुन्दर कामदेव की तोशक के समान होगी ॥२॥ कंद, मूल और फल का आहार अमृत के समान है और अवध के सौ राजमहल के समान पहाड़ हैं ॥३॥ क्षण-क्षण पर आपके चरण-कमलों को देखकर मैं प्रसन्न रहूँगी, जैसे दिन में चकवी प्रसन्न रहती है ॥४॥

विशेष—(१) 'बनदेवी बनदेव उदारा।···'—मनुष्य आदि चेतनों के स्थलों के देवता पूजा आदि पाते हैं, तब उनका पालन-पोषण करते हैं। पर वन-पर्वत आदि जड़ हैं, इनके देवता निःस्वार्थ भाव से रहकर वनों का पोषण कर उनके फल-फूलों से अनन्त जीवों का उपकार करते हैं। अतः, उसी स्वभाव से वे मेरा तो सास-ससुर की तरह पालन करेंगे। वन परोपकारी होते हैं और उनके देवताभी वैसे स्वभाव के होते हैं।

(२) 'कुस-किसलय-साथरी······'—बड़ी कोमल होने से साथरी को कामदेव की तोशक के समान कहा है। यह श्रीरामजी के—'भूमि सयन···' इस वचन का उत्तर है।

(३) 'कंद मूल फल अमिय अहारू।'—श्रीरामजी ने कहा था—"असन कंद फल मूल" यह उसीका उत्तर है और जो कहा था—"मारग अगम भूमि धर भारे।" उसका उत्तर देती हैं—"अवध सौध सत सरिस पहारू।" अर्थात् जैसे यहाँ के दो महलों आदि पर चढ़ती थीं, वैसे ही किंतु उससे सौ गुने उत्साह से पहाड़ों पर चढ़ूँगी। श्रीकौशल्याजी ने कहा था—"तौ कानन सत अवध समाना ॥" उसीके अनुसार यह कथन भी है।

"नाथ साथ सुर सदन सम······" से अमिय अहारू ॥" तक स्वर्ग के सुख की ही उपमाएँ हैं। 'अवध सौध सत···' यह पृथिवी की उपमा है।

कहा। फिर—'सासु ससुर···' से ससुराल के नातों को गिनाया। यहाँ तक विशेष नातेवालों को कहकर—'जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। ··' से समष्टि में सामान्य स्नेहियों और नातेवालों को भी कह दिया। फिर सबको साथ ही खंडन करती हैं कि पति के साथ में सभी सुखदायक हैं। पर पति के बिना सूर्य से भी अधिक ताप देनेवाले हैं, यथा—"न पिता नात्मजो वात्मा न माता न सखी जनः। इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा॥" (वाल्मी० २।२७।६)। 'पिय बिनु तियहिं···'—जैसे जबतक जल रहता है, तब-तक सूर्य कमल को सुख देता है। जल न रहने से जला डालता है वैसे ही पति के न रहने से सब कोई ताप देते हैं, देखकर जलते हैं, चाहते हैं कि यह मर जाय। सूर्य १२ हैं, वैसे ही १२ नाते भी गिनाये गये हैं। 'तनु धन धाम···'—इसमें 'तनु' प्रथम कहा गया, क्योंकि शेष सब इसी के लिये हैं।

भोग रोगसम भूषन भारू। जम - जातना - सरिस संसारू ॥५॥
प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं ॥६॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिय नाथ पुरुष बिनु नारी ॥७॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे। सरद-बिमल - बिधु-बदन निहारे ॥८॥

दोहा—खग मृग परिजन नगर बन, बलकल बिमल दुकूल।
नाथ-साथ सुर-सदन-सम, परनसाल सुखमूल ॥६५॥

अर्थ—भोग रोग के समान, भूषण बोझ के समान और संसार यमयातना (नरक की पीड़ा) के समान है ॥५॥ हे प्राणनाथ! आपके बिना मुझे संसार में कहीं भी कुछ सुखदायक नहीं है ॥६॥ जैसे जीव के बिना देह और जल के बिना नदी, वैसे ही हे नाथ! पुरुष के बिना स्त्री है ॥७॥ हे नाथ! आपके साथ रहते हुए शरद्-ऋतु के चन्द्रमा के समान आपका मुख देखने से मुझे सब सुख प्राप्त हैं ॥८॥ हे नाथ! आपके साथ पक्षी, वन्यपशु कुटुम्बी के समान, वन नगर के समान, वक्कले के वस्त्र (भोजपत्र आदि) निर्मल महीन कपड़े के समान और पर्णकुटी देवताओं के (स्वर्गीय) महल के समान सुख देनेवाले होंगे ॥६५॥

विशेष—(१) 'भोग रोगसम भूषन···'—भोगों से सुख होता है, पर वही भोग पति के बिना रोग के समान दुःखद होता है। भूषणों से शोभा होती है। विधवा पहने तो दर्शकों को नहीं सुहाता। अतः, भूषण भार के समान हो जाता है। 'जम-जातना सरिस···'—संसार का हँसना, बोलना, क्रीड़ा आदि उसे अत्यंत दुःखद हो जाते हैं।

(२) 'मातु पिता भगिनी···'से यहाँ तक सामान्य स्त्रियों की व्यवस्था कही। आगे—'प्रान नाथ तुम्ह बिनु···' से विशेष करके अपने लिये कहती हैं—'मो कहँ' तो कहीं कोई भी सुखद नहीं है, भाव और स्त्रियों को उपर्युक्त नातों में कोई चाहे सुखद हो भी, पर मुझे नहीं है।

(३) 'जिय बिनु देह नदी···'—यहाँ पुरुष रहित स्त्री के लिये दो उदाहरण दिये गये हैं—एक प्राणों के बिना देह और दूसरा जल के बिना नदी। इनका भाव यह है कि जब स्त्री का पति से वियोग होता है तब उसके लिये दो क्रियाएँ हैं। एक तो पति के साथ ही प्राण दे देती है; अर्थात् सती हो जाती है। यदि यह न हुआ तो वह ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करके अशोभित रूप से देहावसान कर देती है। यह

सब अवश्य ही रक्षा करेंगे। जिससे रक्षा चाहती हैं, उस दुःख की भीषणता भी कहती हैं। उपर्युक्त सब दुःख उसके किंचित् अंश भी नहीं, तब तो समझ लीजिये कि इस प्रभु-वियोग से मेरे प्राण नहीं ही रह सकते।

(३) 'अस जिय जानि सुजान''''''— आप सुजान गुण से सब जानते ही हैं, तो बहुत कहना दोष-रूप है, यथा—"सुहृद सुजान सुसाहिबहि, बहुत कहब बड़ि खोरि।" (दो० ३००) ; सुजानता से जानने का विषय आगे—"राखिय अवध जो''' इस दोहे में है। 'बिनती बहुत करउँ का''' '''—आप हृदय की बात जानने में अंतर्यामी हैं। ऊपर की जानने में सुजान हैं। 'करुनामय' हैं। अतः, मुझपर करुणा करें और कृपा निधानता से सन्नद्ध होकर प्रभुता से मुझे साथ लेकर दुःख दूर करेंगे ही, तो बहुत विनती क्या करूँ?

(४) 'राखिय अवध जो अवधि लगि''''''—श्रीजानकीजी ने साथ ले चलने को बहुत कहा और श्रीरामजी ने बार-बार घर में ही रहने को कहा। उसके विरुद्ध यह इनकी हठ समझी जाती और हठ करने को श्रीरामजी ने मना किया है—"हठबस सब संकट सहे। ''जो हठ करहु प्रेम बस बामा।" (दो० ६१); इत्यादि, उसका सँभाल यहाँ करती हैं कि यदि आप मेरे प्राण रहते जानें, तो अवध में रक्खें, अन्यथा 'दीनबंधु सुन्दर''''' कहकर प्रार्थना करती हैं कि घर पर रखना और न रखना आप की ही रुचि पर है, तो यह हठ न रह गई।

प्रार्थना—आप दीन-बंधु हैं और मैं दीन हूँ। अतः, दया करें। सुंदर-सुखद हैं। अतः, साथ रखकर दर्शनों का सुख दें। शील-निधान हैं। अतः, मेरा मान रक्खें। स्नेह-निधान हैं। अतः, मेरे स्नेह की ओर देखें और अपना स्नेह न छोड़ें।

मोहि मग चलत न होइहि हारी। छिन छिन चरन सरोज निहारी ॥१॥
सबहिं भाँति पिय-सेवा करिहउँ। मारगजनित सकल श्रम हरिहउँ ॥२॥
पाय पखारि बैठि तरुछाहीं। करिहउँ बाउ मुदित तन माहीं ॥३॥
श्रम-कन-सहित श्याम तनु देखे। कहँ दुख समय प्रानपति पेखे ॥४॥

शब्दार्थ—हारी = थकावट। श्रमकन = पसीने की बूँदें। पेखे (प्रेक्षण) = देखने से।

अर्थ—क्षण-क्षण आपके चरण-कमलों को देखकर मुझे मार्ग में थकावट न होगी ॥१॥ हे प्राणपति! सभी प्रकार से मैं आपकी सेवा करूँगी और मार्ग चलने की सब थकावट दूर करूँगी ॥२॥ चरण-धोकर पेड़ की छाया में बैठकर प्रसन्न मन से आपको हवा करूँगी ॥३॥ पसीनेकी बूँदों के साथ आपका श्याम शरीर देखकर और प्राण-नाथ के (मेरी ओर) देखने से दुःख का समय कहाँ होगा? ॥४॥

विशेष—(१) 'मोहि मग चलत न'''—श्रीरामजी ने कहा था—"चरन कमल मृदु मंजु तुम्हारे। मारग अगम भूमिधर भारे॥" (दो० ६१); उसपर कहती हैं कि क्षण-क्षण पर आपके चरण-कमलों को देखते हुए हर्ष-वश श्रम होगा ही नहीं, क्योंकि स्वेच्छित कार्य में श्रम नहीं होता, यह प्रसिद्ध है।

(२) 'सबहि भाँति पिय-सेवा'''—सब प्रकार की सेवा आगे—'पाय पखारि बैठि''' से कहती हैं; अर्थात् पद-प्रक्षालन, स्नान कराना, वस्त्र-प्रक्षालन, शय्या डासन और पाय-पलोटन आदि सेवा

(४) 'छिन छिन-प्रभु-पद ·· '—मार्ग में चलते हुए एवं हर समय पास में रहते हुए अहर्निशि चरणकमलों के दर्शन हुआ करेंगे। यह उपासकों का भाव भी सहज में बना रहेगा। यथा—"सुनु सठ सदा रंक के धन ज्यों छिन-छिन प्रभुहि निहारहि।" (वि० ८५)। 'दिवस जिमि कोकी'—शिक्षा सुनकर वियोग-भय से आप विकल हो गई थीं, यथा—"सीतल सिख-दाहक भइ कैसे। चकइहि सरद चंद निसि जैसे॥" (दो० ६२); अब संयोग में उसके विरुद्ध प्रसन्न रहना युक्त ही है।

वन में अवध की अपेक्षा सौ गुना सुख कह रही है, क्योंकि सुख का कारण है—प्रभु का सहवास। वह यहाँ की अपेक्षा वहाँ अधिक रहेगा। वहाँ शरीर निर्वाह की आवश्यक बातें अपने हाथों पूरी करनी होंगी। इस प्राकृतिक जीवन में प्रीतम के सहयोग का जितना अवसर मिलेगा। उतना यहाँ के कृत्रिम जीवन में नहीं हो सकता। इसीसे ग्रंथकार ने प्राकृतिक जीवनवाले वनवासियों के द्वारा ही प्रेम का अधिक प्रदर्शन कराया है। श्रीजानकीजी के सम्बन्ध में भी कहा है—"जल को गये लक्खन हैं लरिका, परिखो, पिय ! छाँह घरीक है ठाढ़े। पोंछि पसेउ बयारि करौं, अरु पायँ पखारिहौं भूभुरि डाढ़े। तुलसी रघुबीर प्रिया श्रम जानिकै बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े। जानकी नाह को नेह लख्यो, पुलकेउ तनु, बारि बिलोचन बाढ़े॥" (क० अ० १२)।

बनदुख नाथ कहे बहुतेरे। भय बिषाद परिताप घनेरे॥५॥
प्रभु - बियोग - लवलेस-समाना। सब मिलि होहिं न कृपानिधाना॥६॥
अस जिय जानि सुजान-सिरोमनि। लेइय संग मोहि छाँड़िय जनि॥७॥
बिनती बहुत करउँ का स्वामी। करुनामय उर - अंतर-जामी॥८॥

दोहा—राखिय अवध जो अवधि लगि, रहत जानियहि प्रान।
दीनबंधु सुंदर सुखद, सील-सनेह-निधान॥६६॥

अर्थ—हे नाथ ! आपने वन में बहुत-से दुःख भय, विषाद और परिताप कहे॥५॥ पर, हे कृपानिधान ! ये सब दुःख भय आदि मिलकर भी आपके वियोग-दुःख के लवलेश (अत्यंत अल्पांश) के समान भी नहीं हो सकते॥६॥ ऐसा जी में जानकर, हे सुजान-शिरोमणि ! मुझे संग लीजिये, छोड़िये नहीं॥७॥ हे स्वामी ! मैं बहुत क्या विनती करूँ। आप करुणामय और हृदय की बात जाननेवाले हैं॥८॥ जो मेरे प्राणों को अवधि (१४ वर्ष) तक रहते जानिये, तो मुझे अयोध्या में रखिये। आप दीन-बंधु हैं, सुन्दर और सुखद हैं, शील और स्नेह के निधान हैं॥६६॥

विशेष—(१) 'बनदुख नाथ कहे ···'—'भय', यथा—"भालु बाघ वृक केहरि नागा। करहिं नाद सुनि धीरज भागा॥" (दो० ६१); इत्यादि, 'बिषाद', यथा—"सुनि अपजस मोहि देइहि लोगू।" (दो० ६२); 'परिताप' यथा—"घोर-घाम हिम बारि बयारी॥ कुस कंटक मग काँकर नाना। चलब पयादेहि बिनु पद त्राना॥ चरन-कमल मृदु मंजु तुम्हारे। मारग अगम भूमि धर भारे॥" (दो० ६१)।

(२) 'प्रभु-बियोग-लवलेस······'—'प्रभु-बियोग'—जैसे आप प्रभु (समर्थ) हैं, वैसे ही आपका वियोग भी समर्थ है। उससे रक्षा करने में आप ही समर्थ हैं और कृपानिधान भी हैं,

सब अवश्य ही रक्षा करेंगे। जिससे रक्षा चाहती है, उस दुःख की भीषणता भी कहती हैं। उपर्युक्त सब दुःख उसके किंचित् अंश भी नहीं, तब तो समझ लीजिये कि इस प्रभु वियोग से मेरे प्राण नहीं ही रह सकते।

(३) 'अस जिय जानि सुजान······'—आप सुजान गुण से सब जानते ही हैं, तो बहुत कहना दोष-रूप है, यथा—"सुहृद सुजान सुसाहिबहि, बहुत कहब बड़ि खोरि।" (दो० ३००); सुजानता से जानने का विषय आगे—"राखिय अवध जो ···" इस दोहे में है। 'बिनती बहुत करउँ का ··· ···'—आप हृदय की बात जानने में अंतर्यामी हैं। ऊपर की जानने में सुजान हैं। 'करुनामय' हैं। अतः, मुझपर करुणा करें और कृपा निधानता से सन्नद्ध होकर प्रभुता से मुझे साथ लेकर दुःख दूर करेंगे ही, तो बहुत विनती क्या करूँ?

(४) 'राखिय अवध जो अवधि लगि······'—श्रीजानकीजी ने साथ ले चलने को बहुत कहा और श्रीरामजी ने बार बार घर में ही रहने को कहा। उसके विरुद्ध यह इनकी हठ समझी जाती और हठ करने को श्रीरामजी ने मना किया है—"हठवस सब संकट सहे। जो हठ करहु प्रेम बस बामा।" (दो० ६१); इत्यादि, उसका सँभाल यहाँ करती हैं कि यदि आप मेरे प्राण रहते जानें, तो अवध में रक्खें, अन्यथा 'दीनबंधु सुन्दर ··· ' कहकर प्रार्थना करती हैं कि घर पर रखना और न रखना आप की ही रुचि पर है, तो यह हठ न रह गई।

प्रार्थना—आप दीनबंधु हैं और मैं दीन हूँ। अतः, दया करें। सुंदर-सुखद हैं। अतः, साथ रखकर दर्शनों का सुख दें। शील निधान हैं। अतः, मेरा मान रक्खें। स्नेह-निधान हैं। अतः, मेरे स्नेह की ओर देखें और अपना स्नेह न छोड़ें।

मोहि मग चलत न होइहि हारी। छिन छिन चरन सरोज निहारी ॥१॥
सबहिं भाँति पिय-सेवा करिहउँ। मारगजनित सकल श्रम हरिहउँ ॥२॥
पाय पखारि बैठि तरुछाहीं। करिहउँ बाउ मुदित तन माहीं ॥३॥
श्रम-कन-सहित स्याम तनु देखे। कहँ दुख समय प्रानपति पेखे ॥४॥

शब्दार्थ—हारी = थकावट। श्रमकन = पसीने की बूँदें। पेखे (प्रेक्षण) = देखने से।

अर्थ—क्षण-क्षण आपके चरण कमलों को देखकर मुझे मार्ग में थकावट न होगी ॥१॥ हे प्राणपति! सभी प्रकार से मैं आपकी सेवा करूँगी और मार्ग चलने की सब थकावट दूर करूँगी ॥२॥ चरण-धोकर पेड़ की छाया में बैठकर प्रसन्न मन से आपको हवा करूँगी ॥३॥ पसीने की बूँदों के साथ आपका श्याम शरीर देखकर और प्राण-नाथ के (मेरी ओर) देखने से दुःख का समय कहाँ होगा? ॥४॥

विशेष—(१) 'मोहि मग चलत न ···'—श्रीरामजी ने कहा था—"चरन कमल मृदु मंजु तुम्हारे। मारग अगम भूमिधर भारे ॥" (दो० ६१), उसपर कहती हैं कि क्षण क्षण पर आपके चरण-कमलों को देखते हुए हर्ष-वश श्रम होगा ही नहीं, क्योंकि स्वेच्छित कार्य में श्रम नहीं होता, यह प्रसिद्ध है।

(२) 'सबहि भाँति पिय-सेवा ···'—सब प्रकार की सेवा आगे—'पाय पखारि बैठि····' से कहती हैं, अर्थात् पद-प्रक्षालन, स्नान कराना, वस्त्र-प्रक्षालन, शय्या डासन और पाय-पलोटन आदि सेवा

करूँगी। 'प्रिय-सेवा'—प्रिय की सेवा मुझे अत्यंत प्रिय है। सेवा से मैं आपकी भी थकावट दूर करूँगी, मुझे श्रम कहाँ ?

(३) 'पाय पखारि बैठि तरु···'—पहले चरण धोकर मार्ग का श्रम हरण करूँगी, तब वायु करके शरीर की गर्मी दूर करूँगी। 'बैठि' अर्थात् यह बैठने की सेवा है। शयन की सेवा आगे—'सम महि तृन तरु···' से कहेंगी। 'मुदित मन माहीं'—उत्साह-पूर्वक सेवा करूँगी, यही उत्तम भक्ति है, यथा—"मारुत सुत तब मारुत करई। पुलक बपुष लोचन जल भरई॥" (उ० दो० ५१), भाव यह कि मन में कुछ भी उदास न हूँगी कि जो देखकर आपको खेद हो।

(४) 'श्रम-कन-सहित श्याम तन···'—स्त्रियों को शृंगार प्रिय होता है और शृंगार का रंग श्याम है। इससे श्याम-तन देखने में आनंद कहा है, अन्यत्र भी ऐसा ही कहा है—"सीता चितव श्याम मृदु गाता। परम प्रेम लोचन न अघाता॥" (आ० दो० २०), "कबहुँ नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि श्याम मृदु गाता॥" (सु० दो० १३)। 'श्याम तन देखे' से अपना देखना और 'प्रान पति पेखे' से श्रीरामजी का देखना है। भाव यह कि आपके कृपावलोकन से मुझे फिर दुःख कहाँ रह जायगा ? आगे रात की सेवा कहती हैं—

सम महि तृन तरु-पल्लव डासी। पाय पलोटिहि सब निसि दासी॥५॥
बार बार मृदु मूरति जोही। लागिहि तात बयारि न मोही॥६॥
को प्रभुसँग मोहि चितवनिहारा। सिंहबधुहि जिमि ससक सियारा॥७॥
मैं सुकुमारि नाथ बनजोगू। तुम्हहि उचित तप मो कहँ भोगू॥८॥

दोहा—ऐसेउ बचन कठोर सुनि, जौ न हृदय बिलगान।
तौ प्रभु-बिषम-बियोग दुख, सहिहहिं पामर प्रान॥६७॥

शब्दार्थ—पलोटना (सं० प्रलोठन)=पैर दबाना। ससक=खरगोश। बिलगान=फट गया।

अर्थ—समान भूमि पर तृण और पेड़ों के पल्लव बिछाकर यह दासी सारी रात आपके चरण दाबेगी॥५॥ बार-बार आपकी कोमल मूर्ति को देख देखकर मुझे गर्म हवा भी न लगेगी॥६॥ प्रभु के साथ मुझे कौन देखनेवाला है ? जैसे सिंह की स्त्री को खरगोश और सियार (नहीं ताक सकते)॥७॥ क्या मैं सुकुमारी हूँ और हे नाथ ! आप वन के योग्य हैं ? आपको तपस्या उचित है और मुझे भोग ?॥८॥ ऐसे भी कठोर वचनों को सुनकर जो मेरा हृदय न फटा, तो हे प्रभो ! आपके वियोग का कठिन दुःख ये नीच प्राण सहेंगे॥६७॥

विशेष—(१) 'सम महि तृन तरु···'—पहले कहा था—"कुस किसलय साथरी सुहाई।" यहाँ—'तृन तरु पल्लव' कहती हैं, क्योंकि कुश सर्वत्र नहीं रहता और तृण सर्वत्र मिलता है। जहाँ कुश न मिलेगा, वहाँ तृण से ही वह काम चल जायगा। पाय पलोटने के सम्बन्ध से अपनेको दासी कहा, क्योंकि यह दासी का काम है। 'सब निसि' अर्थात् जितने दिन साथ रहूँगी, सारी रात बराबर यह चर्या रहेगी, यथा—"कोशलेंद्रपदकंज मंजुलौ कोमलावजमहेशवन्दितौ। जानकीकरसरोजलालितौ॥" (उ० म०)।

(२) 'बार-बार मृदु मूरति जोही।'''—श्रीरामजी ने कहा था—"घोर घाम हिम बारि बयारी।" उसका उत्तर देती हैं कि मुझे 'तात बयारि' न लगेगी। अभी चैत्र का महीना है, प्रथम गरम हवा मिलेगी, इससे यही कहा। अथवा, 'तात बयारि' अत्यन्त अल्प दुःख का वाचक है, यथा—"मृदु मूरति सुकुमार सुभाऊ। तात बाउ तन लाग न काऊ॥ ते बन सहहिं बिपति सब भाँती।" (दो० १११), अर्थात् मुझे आपके दर्शनों से वन में कुछ भी दुःख न होगा। 'बार-बार' अर्थात् इनके दर्शनों से तृप्ति नहीं होती, यथा—"छिन छिन प्रभु पद कमल बिलोकी।" एवं—"छिन-छिन चरन सरोज निहारी।" यह पूर्व कह आई हैं।

(३) 'को प्रभु सँग मोहि चितवनि हारा।'''—'प्रभु' अर्थात् परम समर्थ आपके संग में मुझे कौन कुदृष्टि से देख सकता है ? जैसे सिंह की स्त्री को खरहा और सियार नहीं देख सकते, क्योंकि उन्हें जाते ही मृत्यु का भय रहता है। वैसे तुच्छ राक्षस मेरे समीप आते ही नाश होंगे। यह—"निसिचर निकर नारि नर चोरा॥" का उत्तर है। सिंहनी स्वयं भी शशक-सियार क्या मत्तगजों को भी मार सकती है। वैसे श्रीजानकीजी स्वयं भी राक्षसों को मार सकती हैं, यथा—"असंदेशात्तु रामस्य तपसश्चानुपालनात्। न त्वां कुर्मि दशग्रीव भस्म भस्मार्हतेजसा॥" (वाल्मी० ५।२२।२०); तथा—"तपसा धारयेल्लोकान्क्रुद्धा वा निर्दहेदपि। ''न तदग्निशिखा कुर्यात्संस्पृष्टा पाणिना सती। जनकस्य सुता कुर्याद्यत्क्रोधकलुषी कृता॥" (वाल्मी० ५।५१।३५)।

शंका—तब विराध ने स्पर्श किया (वाल्मीकीय रामायण में कहा है) और रावण ने हरण किया, तब श्रीसीताजी ने स्वयं क्यों न उन्हें नाश किया ?

समाधान—श्रीरामजी ने ललित नर-लीला करने का परामर्श किया है और तदनुसार ही श्रीजानकीजी भी करना चाहती हैं, यथा—"मैं कछु करबि ललित नर लीला।" (आ० दो० २३), यही बात उपर्युक्त—'असंदेशात्तु रामस्य ''' का भी अभिप्राय है। ललित नर-लीला के ही अनुरोध से आप विवशा, दीना की तरह रहीं, यथा—"अनीशा किं करिष्यामि विनाथा विवशा सती॥" (वाल्मी० ५।३७।६३); यह श्रीसीताजी ने ही कहा है। पुनः—'को प्रभु संग''' पर ऐसा ही वाल्मी० २।२९।६ में भी कहा है—"नहि मां त्वत्समीपस्थामपि शक्रोऽपि राघव। सुराणामीश्वरः शक्तः प्रधर्षयितुमोजसा॥"

यहाँ शशक-सियार दोनों उपमाएँ चोर निशाचरों के ही लिये हैं। जयंत को इसमें नहीं लेना चाहिये, क्योंकि वह बुरी दृष्टि से नहीं आया; किंतु श्रीरामजी का बल देखने के लिये ही श्रीसीताजी पर आघात किया है।

(४) 'मैं सुकुमारि नाथ'''—भाव यह कि जैसे आप सुकुमार हैं, वैसे मैं भी। यदि आपको तप उचित है तो मुझे भी उचित है ही। इस अर्द्धाली में वक्रोक्ति अलंकार है।

(५) 'ऐसेउ बचन कठोर'''—श्रीरामजी ने जो कहा था—"रहहु भवन अस हृदय बिचारी।" यही वियोग-सूचक वचन अत्यंत कठोर है, उसी पर कहती हैं कि जो ऐसे कठोर वचन पर भी हृदय न फटा तो संभव है कि मेरे प्राण भी वियोग-दुःख भोगेंगे और सहेंगे। अतः, ये प्राण नीच हैं। (यह भावी भी कही गई कि जो एक वर्ष का वियोग लंका में छाया तन से सहेंगी)। यहाँ दोहे में कारणमाला अलंकार है।

अस कहि सीय बिकल भइ भारी। बचनबियोग न सकी सँभारी॥१॥

देखि दसा रघुपति-जिय जाना। हठि राखे नहिं राखिहि प्राना॥२॥

कहेउ कृपाल भानु-कुल-नाथा। परिहरि सोच चलहु बन साथा ॥३॥
नहि बिषाद कर अवसर आजू। बेगि करहु बन-गवन-समाजू ॥४॥

अर्थ—ऐसा कहकर श्रीसीताजी अत्यन्त व्याकुल हो गईं, वे वचन का भी वियोग न सह सकीं ॥१॥ उनकी दशा देखकर श्रीरघुनाथजी ने जी में जान लिया कि हठ करके इनको घर पर रखने से ये प्राण न रक्खेंगी ॥२॥ तब सूर्य कुल के स्वामी कृपालु श्रीरामजी ने कहा कि शोक छोड़कर मेरे साथ वन को चलो ॥३॥ आज शोक का अवसर नहीं है, शीघ्र ही वन चलने की तयारी करो ॥४॥

विशेष—(१) 'सीय बिकल भइ भारी'—श्रीरामजी के वचन सुनकर श्रीसीताजी पूर्व ही विकल हो गई थीं, यथा—"उतरु न आव बिकल बैदेही।" अब 'भारी विकल' हो गईं, क्योंकि इन्हें ग्लानि हो रही है कि वियोग के वचन सुनते ही मृत्यु क्यों न हो गई ?

(२) 'देखि दसा रघुपति जिय ···'—पूर्व श्रीजानकीजी ने कहा था—"राखिय अवध जो अवधि लगि···" उसका यहाँ चरितार्थ हुआ कि दशा देखकर श्रीरामजी ने हृदय से जान लिया कि हठात् रखने से ये प्राण ही न रक्खेंगी। दशा का वर्णन वाल्मी० २।३०।२३-२६ में है।

(३) 'कहेउ कृपाल भानु कुलनाथा। '—कृपा करके साथ ले जाना स्वीकार किया। अतएव 'कृपालु' कहा। 'भानुकुलनाथा'—साथ न लेने से श्रीसीताजी प्राण छोड़ देतीं तो श्रीरामजी दूसरा ब्याह न करते, क्योंकि आप एकपत्नीव्रत हैं, यथा—"एक पत्नीव्रतधरो राजर्षिचरितः शुचि. (भाग० ९।१०।५५' फिर आगे सन्तान न होने से कुल की वृद्धि न होती। साथ लेकर आपने कुल की रक्षा की; इसीसे 'भानु कुल नाथा' कहा।

(४)' नहिं बिषादकर अवसर ···'—ऊपर—'परिहरि सोच चलहु···' कहा था, उसका कारण कहते हैं कि आज विषाद (शोक) करने का अवसर नहीं है। लोग कहेंगे कि वनजाने के दुःख से रो रही हैं। तब पिता की आज्ञा के पालन में न्यूनता समझी जायगी। पुनः हमारे अभीष्ट-साधन की यात्रा का समय है। अतः, मंगल करना चाहिये, रोना न चाहिये, क्योंकि रोना अमंगल है। 'बेगि'—शीघ्र करो, अन्यथा कोई विघ्न न आ पड़े, वा देर करने से पिता के वचन-पालन की श्रद्धा में न्यूनता पाई जायगी।

कहि प्रियबचन प्रिया समुझाई। लगे मातुपद आसिष पाई ॥५॥
बेगि प्रजादुख मेटब आई। जननी निठुर बिसरि जनि जाई ॥६॥
फिरिहि दसा बिधि बहुरि कि मोरी। देखिहउँ नयन मनोहर जोरी ॥७॥
सुदिन सुघरी तात कब होइहि। जननी जियत बदनबिधु जोइहि ॥८॥

दोहा—बहुरि बच्छ कहि लाल कहि, रघुपति रघुबर तात।
कबहिं बोलाइ लगाइ हिय, हरषि निरखिहउँ गात ॥६८॥

अर्थ—प्रिय वचन कहकर अपनी प्यारी पत्नी को समझाया और माता के चरणों में लगकर आशिष पाई ।।५।। (माता ने कहा कि) शीघ्र आकर प्रजा का दुःख दूर करना, निष्ठुर (हृदय) माता

तुम्हें भूल न जाय ॥६॥ हे विधाता ! क्या मेरी दशा फिर लौटेगी ? आँखों से इस सुन्दर मनोहर जोड़ी को फिर देखूँगी ? ॥७॥ हे तात ! वह सुन्दर दिन, सुन्दर घड़ी कब होगी कि जब माता जीतेजी तुम्हारा चन्द्र-मुख देखेगी ॥८॥ फिर कभी 'बच्छ' कहकर 'लाल' कहकर 'रघुपति' 'रघुबर' 'तात' कह बुलाकर और हृदय से लगाकर हर्ष-पूर्वक तुम्हारा शरीर अर्थात् तुमको देखूँगी ॥६८॥

विशेष—(१) 'कहि प्रियबचन प्रिया···'—पहले घर में रहने की शिक्षा दी थी, वे वचन श्रीसीताजी के लिये कठोर थे, यथा—"ऐसेउ बचन कठोर सुनि···"। अब जो—"परिहरि सोच चलहु बन साथा।" कहा है। यह उन्हें प्रिय है। इससे उन्हें आश्वासन दिया, समझाया। प्रिय वचनों से ही माताजी को भी समझाया था—"कहि प्रिय बचन बिबेक मय ··" (दो० ६०)। 'प्रिय बचन'—वाल्मीकिजी ने अ० स० ३० श्लोक २६ से ४२ तक में विस्तार से कहा है कि श्रीरामजी ने विश्वास दिलाते हुए श्रीसीताजी से कहा कि हे देवि ! मैं उस स्वर्ग को भी नहीं चाहता, जहाँ तुम्हारे वियोग का दुःख हो। मुझे भय किसी का नहीं है, जिस प्रकार ब्रह्माजी को। शुभानने ! तुम्हारा अभिप्राय ठीक-ठीक बिना जाने, मुझे रक्षा में सामर्थ्य रहते हुए भी तुम्हारा वनवास न रुचता था। तुम मेरे साथ वनवास के लिये ही उत्पन्न हुई हो। मैं तुम्हारा त्याग नहीं कर सकता। प्रिये ! तुम्हारा यह अभिप्राय तुम्हारे पिता के और मेरे कुल के योग्य है, इत्यादि।

(२) 'बेगि प्रजा दुख मेटब · '—श्रीकौशल्याजी ने प्रथम कहा था—"अवधि अंबु प्रिय परिजन मीना।···" (दो० ५६); फिर श्रीसीताजी आ गई, उनका संवाद हो गया। तब माता वहाँ से फिर प्रसंग लेती हैं—'बेगि प्रजा दुख···'। वहाँ 'परिजन' और यहाँ 'प्रजा' कहकर दोनों को एक समान जनाया। 'जननी निठुर बिसरि···'—ऐसे पुत्र-पतोहू वन को जाते हैं, तो भी मैं देखती हुई जीती हूँ, अतएव निष्ठुर हूँ, निष्ठुर की लोग सुधि नहीं लेते। इसलिये प्रार्थना करती हूँ कि जननी का स्मरण रखना, यथा—"मानि मातु कर नात बलि, सुरति बिसरि जनि जाइ।" (दो० ५६)।

(३) 'फिरिहि दसा बिधि बहुरि · '—अभी तक श्रीसीतारामजी की जोड़ी आँखों के सामने थी, यह दशा अच्छी थी। अब वे आँख-ओट हो रहे हैं, यह बुरी-दशा आ रही है। जब ये बुरे दिन जायँगे और भले दिन आयँगे। तब इनकी अपनी पूर्व की भली दशा का लौटना होगा। 'बुरी दशा'—"जनु यह दसा दुसह दुखदाई॥" (दो० ११); यह श्रीराम-वनवास के लिये ही आई है—"राम जाहिं बन राज तजि, होइ सकल सुरकाज।" (दो० ११)।

(४) 'सुदिन सुघरी तात कब···'—अभी १४ वर्ष हैं, न जाने तब तक जीती रहूँ या नहीं, कैसे जिऊँगी ?

(५) 'बहुरि बच्छ कहि लाल कहि·· '—माताजी अत्यन्त स्नेह के कारण आतुर हैं और प्यार के संबोधन 'बच्छ' 'लाल' आदि कह रही हैं। 'बच्छ' आदि कहना वचन का स्नेह है। 'लगाइ हिय'—तन का और 'हरषि' यह मन का स्नेह है। माताजी तीनों से स्नेहमय हो रही हैं।

लखि सनेह कातरि महतारी। बचन न आव बिकल भइ भारी ॥१॥
राम प्रबोध कीन्ह बिधि नाना। समय सनेह न जाइ बखाना ॥२॥
तब जानकी सासुपग लागी। सुनिय माय मैं परम अभागी ॥३॥
सेवा समय दैव बन दीन्हा। मोर मनोरथ सुफल न कीन्हा ॥४॥

तजब छोभ जनि छाड़िय छोहू। करम कठिन कछु दोष न मोहू ॥५॥

अर्थ—माता स्नेह से अधीर हो गई, मुख से वचन नहीं निकलता और भारी व्याकुल हो गई—यह देखकर ॥१॥ श्रीरामजी ने अनेकों प्रकार से समझाया। उस समय का प्रेम-वर्णन नहीं किया जा सकता ॥२॥ तब श्रीजानकीजी सास के चरणों में लगीं (प्रणाम कीं) और बोलीं, हे माता ! सुनिये, मैं अत्यन्त अभागिनी हूँ ॥३॥ सेवा के समय दैव ने वनवास दिया, मेरा मनोरथ पूरा न किया ॥४॥ छोभ (मन का उद्वेग) छोड़ियेगा, पर स्नेह एवं दया न छोड़ियेगा, कर्म कठिन है, इसमें मेरा दोष नहीं है ॥५॥

विशेष—(१) 'लखि सनेह कातरि···'—ऊपर कहा गया कि माता कहती हैं कि मुझे यह जोड़ी कब देखने को मिलेगी। जीती रहूँ कि नहीं, कब परछन आदि करूँगी, इत्यादि अधीरता वृत्ति कातरि होना है।

(२) 'राम प्रबोध कीन्ह बिधि नाना'— भारी व्याकुलता थी। अतः, अनेकों प्रकार से समझाना पड़ा। कहा कि वनवास का नाश बहुत शीघ्र ही हो जायगा। १४ वर्ष आपको सोते हुए की तरह बीत जायँगे। शीघ्र ही आप सुनेंगी कि मैं मित्रों के साथ आ गया, यथा—"त्वयाऽपि वनवासस्य क्षिप्रमेव भविष्यति॥ सुप्तायास्ते गमिष्यन्ति नववर्षाणि पंच च। समग्रमिह सम्प्राप्तं मा द्रक्ष्यसि सुहृद्वृतम्॥" (वाल्मी० २।२।। ३४-३५)। 'न जाइ बखाना'—उस समय की सुधि आने से चित्त करुणामय हो जाता है, इससे कहा नहीं जाता।

(३) 'तब जानकी सासु पग···'—'तब' अर्थात् जब श्रीरामजी के प्रबोध करने से सावधान हुईं, तब कहती हैं कि इन चरणों से पृथक् होने से मैं परम अभागिनी हूँ।

(४) 'सेवा समय दैव बन···' 'दैव'—अपने कर्मानुसार प्रवृत्त ईश्वर की शक्ति को दैव कहते हैं, यथा—"यदचिन्त्यं तु तद्दैवं भूतेष्वपि न हन्यते। व्यक्तमयि च तस्या च पतितो हि विपर्ययः॥" (वाल्मी० २।२२।२०); अर्थात् जो चिन्तन से बाहर है, वही दैव है, उसका प्रभाव सब प्राणियों पर पड़ता है, उसे कोई नहीं जान सकता। यह मेरे और कैकयी के विषय में प्रत्यक्ष है, कैसा उलट-पलट हो गया। ये किसी को दोष नहीं देतीं। श्रीसीताजी अपने कर्म ही से वनवास कहती हैं, यही कौशल्याजी ने भी कहा है, यथा—"कौसल्या कह दोष न काहू। करम बिबस दुख सुख छति लाहू॥" (दो० २८१); श्रीजानकीजी भी दैव का अर्थ आगे यहीं पर स्वयं कहती हैं—"करम कठिन कछु दोष न मोहू।" अर्थात् कर्म ही दैव है। 'छोभ'—यह कि सीताजी अत्यंत सुकुमारी हैं, वन में कैसे रहेंगी ? इत्यादि। 'जनि छाड़िय छोहू'—आपके छोह से हमें कुशल-मंगल रहेगा। यथा—"तुम्हरे अनुग्रह तात···" (दो० १५१)।

सुनि सियबचन सासु अकुलानी। दसा कवनि बिधि कहउँ बखानी ॥६॥
बारहि बार लाइ उर लीन्ही। धरि धीरज सिख आसिष दीन्ही ॥७॥
अचल होउ अहिवात तुम्हारा। जब लगि गंग-जमुन-जल-धारा ॥८॥

दोहा—सीतहि सासु असीस सिख, दीन्हि अनेक प्रकार।
चली नाइ पदपदुम सिर, अति हित बारहिं बार ॥६९॥

अर्थ—श्रीसीताजी के वचन सुनकर सास सकुचा गई। उनकी दशा मैं किस प्रकार बखानकर कहूँ ॥६॥ बार-बार हृदय से लगाया और धैर्य धरकर शिक्षा और आशीर्वाद दिया ॥७॥ जबतक गंगा और यमुना में जल की धारा रहे तबतक तुम्हारा सोहाग अचल रहे ॥८॥ सास ने श्रीसीताजी को अनेक प्रकार से आशीर्वाद और शिक्षा दी। तब श्रीसीताजी अत्यन्त प्रेम से बार-बार चरण-कमलों में शिर नवाकर चलीं ॥६९॥

विशेष—(१) 'सुनि सिय बचन सासु'''—सास की व्याकुलता के कारण श्रीजानकीजी के साधु वचन हैं कि ऐसी साधु-स्वभाव बहू का वियोग हो रहा है। 'दसा कवनि बिधि कहउँ'''' अर्थात् संवाद तो कहा पर दशा कहते नहीं बनती, क्योंकि वे व्याकुलता से कुछ कह नहीं सकती। बिना अक्षर एवं अर्थ का बल पाये कवि कैसे कहे ? यथा—"कबिहि अरथ आखर बल साँचा।" (दो० २४०); अतएव—

(२) 'बारहिं बार लाइ उर'''—बार-बार हृदय में लगाया, फिर धैर्य धारण करके पातिव्रत धर्म की शिक्षा और आशिष दी। अन्यथा श्रीसीताजी के चली जाने पर पछतावा रहता। इसलिये बड़े कष्ट से धैर्य किया।

(३) 'अचल होउ अहिवात'''—श्रीजानकीजी ने सब नातों का खंडन करके पति का ही नाता मुख्य माना है, यथा—"जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु'''" (दो० ६४); उसीके अनुकूल सास ने आशिष दी है कि अहिवात अचल हो। पुनः श्रीसीताजी ने कहा था—"जिय बिनु देह नदी बिनु बारी'''" तदनुसार ही यहाँ—'गंग जमुन जल धारा।' कहा है। गंगा यमुना की धारा कल्प-भर इस लोक में फिर देवलोक में पुनः वैकुंठ में रहती है। अतएव अचल है। पुनः यह दोनों धारा एकत्र-गामिनी हैं और इस जोड़ी से वर्ण में भी समान हैं। अतः, उपमा दी है।

(४) 'सीतहिं सासु असीस'''—पहले—'धरि धीरज सिख आसिष दीन्ही।' कहा गया। यहाँ फिर कहा है, क्योंकि सास का अत्यन्त स्नेह है। इसीसे फिर आशिष और शिक्षा देती हैं। यहाँ पातिव्रत-धर्म की शिक्षा दी गई है। यह वाल्मी० २।३९।२०–३२ में है और ग्रंथकार को आ० दो० ४–५ में कहना है। अतः, यहाँ उसे नाममात्र कहा है। अनेक प्रकार से शिक्षा और आशीर्वाद मिला। अतएव अत्यंत प्रेम से बार-बार प्रणाम करती हैं।

भुशुंडीजी की मूल रामायण के अनुसार—'पुर बासिन्ह कर बिरह बिषादा।' प्रसंग यहाँ तक है। श्रीकौशल्याजी का एवं श्रीजानकी का श्रीरामजी से संवाद भी इसीमें अंतर्भूत है। ठीक-ठीक से तो यह प्रसंग—"अति बिषाद बस लोग लोगाई।" (दो० ५०) पर ही समाप्त हो गया था।

श्रीराम-लक्ष्मण-संवाद-प्रकरण

समाचार जब लछिमन पाये। ब्याकुल बिलख बदन उठि धाये ॥१॥
कंप पुलक तनु नयन सनीरा। गहे चरन अतिप्रेम अधीरा ॥२॥
कहि न सकत कछु चितवत ठाढ़े। मीन दीन जनु जल ते काढ़े ॥३॥
सोच हृदय बिधि का होनिहारा। सब सुख सुकृत सिरान हमारा ॥४॥

अर्थ—जब श्रीलक्ष्मणजी ने यह समाचार पाया तब वे उदास मुख व्याकुल होकर उठ दौड़े ॥१॥ उनका शरीर काँप रहा है, आँखों में आँसू भरे हुए हैं और पुलक से रोएँ खड़े हैं, अत्यन्त प्रेम से अधीर होकर उन्होंने श्रीरामजी के चरण पकड़ लिये ॥२॥ कुछ कह नहीं सकते, खड़े (उनको) देख रहे हैं, मानों जल से निकाले जाने पर मछली अत्यन्त दीन-दशा में हो ॥३॥ हृदय में सोचते हैं कि हे विधाता! क्या होनेवाला है? हमारा तो सब सुख और पुण्य समाप्त हो गया ॥४॥

विशेष—(१) 'समाचार जब लछिमन पाये ······'—समाचार देनेवाले ने उचित अवसर पर कहा कि जब कौशल्याजी और श्रीजानकीजी का संवाद हो चुका। श्रीरामजी द्वार पर आ गये। तब लक्ष्मणजी भी आ पहुँचे। 'लछिमन' पद देकर ग्रथकार ने इनके विषय में पूर्वोक्त—"लच्छन धाम राम-प्रिय···लछिमन नाम उदार।" और—"बारेहिं ते निज हित पति जानी। लछिमन राम···" (बा० दो० १९७)। इन सब गुणों का स्मरण कराया है कि उन्हीं गुणों से ये स्वामी का वियोग होता हुआ देखकर व्याकुल हो गये।

कान से हाल सुना, मुख से उदास चेष्टा कर, पाँव से दौड़े और शरीर से पुलके हैं, नेत्रों में आँसू भरे हैं, हाथों से चरण पकड़े हैं, हृदय में अत्यन्त प्रेम है और शरीर काँप रहा है। अत्यन्त प्रेम के कारण इनके आठो अगों में यही दशा है। अतः, सर्वांग से व्याकुल हो गये हैं।

(२) 'कहि न सकत कछु ···· '—ऊपर अत्यन्त प्रेम से अधीरता कही गई, उसीसे बोल नहीं सकते। 'चितवत'—स्वामी का रुख देख रहे हैं कि रुख पावें तो कुछ कहें। 'ठाढ़े'—पहले आकर चरण पकड़े। अब हाथ जोड़कर खड़े हो गये—'राम बिलोकि बंधु कर जोरे।' आगे कहा ही है। 'मीन दीन ··' अर्थात् श्रीरामजी से पृथक् रहने पर जी नहीं सकते। यथा—"न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव। मुहूर्त्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धतौ ॥" (वाल्मी० २।५३।३१)।

(३) 'सोच हृदय बिधि ·· '—इनके सुख रूप श्रीरामजी ही हैं, क्योंकि उन्हीं से इनको माता, पिता, गुरु, स्वामी सभी नातों का सुख था, आगे कहेंगे ही। श्रीरामजी की प्राप्ति सब सुकृत का फल है, यथा—"को जानइ केहि सुकृत सयानी। नयन अतिथि कीन्हें बिधि आनी ॥" (बा० दो० ३३४); "लोचन गोचर सुकृत फल, मनहुँ किये बिधि आनि ॥" (दो० १०६); सुकृत समाप्त होने से ही सुख का अंत होता है, यहाँ सुख-रूप श्रीरामजी को वियोग-कल्पना से सुकृत का समाप्त होना कह रहे हैं। सुकृत का फल ब्रह्माजी देते हैं। अतः 'बिधि का ' ' कहा है।

मो कहँ काह कहब रघुनाथा। रखिहहिं भवन कि लेइहहिं साथा ॥५॥
राम बिलोकि बंधु कर जोरे। देह गेह सब सन तृनतोरे ॥६॥
बोले बचन राम नयनागर। सील-सनेह-सरल - सुख - सागर ॥७॥
तात प्रेमबस जनि कदराहू। समुझि हृदय परिनाम उछाहू ॥८॥

दोहा—मातु-पिता गुरु-स्वामि सिख, सिर धरि करहि सुभाय।
लहेउ लाभ तिन्ह जनम कर, नतरु जनम जग जाय ॥७०॥

शब्दार्थ—तृनतोरें = नाता तोड़े हुए, सम्बन्ध तोड़े हुए; अर्थात् तृण तोड़ने में ममता नहीं होती है, वैसे ममता रहित होकर।

अर्थ—मुझे श्रीरामजी क्या कहेंगे? घर पर रक्खेंगे कि साथ लेंगे? ॥५॥ श्रीरामजी ने भाई को हाथ जोड़े और देह-गेह (अर्थात् सुत-वित्त-देह-गेह स्नेह इति जगत्, ऐसे जगत् मात्र) सभी से सम्बन्ध तोड़े हुए देखकर ॥६॥ नीति में चतुर, शील, स्नेह, सरलता और सुख के सागर श्रीरामजी ये वचन बोले ॥७॥ हे तात! अंत में आनंदोत्साह होगा, ऐसा हृदय में समझकर प्रेम के वश होकर कादर (कातर-भीरु) मत हो ॥८॥ जो लोग माता, पिता, गुरु और स्वामी की शिक्षा शिरोधार्य करके स्वाभाविक ही उसे करते हैं, उन्हीं ने जन्म लेने का फल पाया, नहीं तो संसार में जन्म ही व्यर्थ है ॥७०॥

विशेष—(१) 'रखिहहिं भवन कि ……'—यहाँ भवन रखना प्रथम कहते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि श्रीरामजी 'रघुनाथ' हैं, वे रघुकुल की रक्षा के लिये मुझे घर रक्खेंगे, यथा—"गुरु-पितु-मातु प्रजा परिवारू। सब कहँ परइ दुसह दुख भारू॥ रहहु करहु सबकर परितोषू।" यह आगे कहा है। 'मो कहँ' अर्थात् श्रीजानकीजी तो अर्द्धांगिनी हैं। ब्याह में अग्नि की साक्षी सहित उन्हें साथ रखने की प्रतिज्ञा की थी; अतः, साथ लिया। मैं तो दास हूँ; अतः, उनके अधीन हूँ।

(२) 'राम विलोकि बंधु ……'—'राम' शब्द से जनाया कि ये सबके हृदय में रमण करते हैं। अतः, श्रीलक्ष्मणजी के हृदय की व्यवस्था भी जानते हैं। 'देह-गेह' के साथ 'स्नेह' शब्द भी देकर उससे तृण-तोरना कहना था, किंतु स्नेह शब्द का नाम भी न लिखा, क्योंकि लक्ष्मणजी के हृदय में और किसी का ममत्व है ही नहीं। देह-गेह से जगत् का अर्थ है, देखिये बा० मं० श्लोक ६, तथा बा० दो० ११७, वहाँ विस्तार से कहा गया है। 'कर जोरे' से दीनता दिखाई है, यथा—"ठाढ़े हैं लखनकमलकर जोरे। उर धकधकी न कह कछु सकुचनि्ह प्रभु परि हरत सबहि तृनतोरे॥ कृपासिंधु अवलोकि बंधु तनु प्रान कृपान वीर-सी छोरे।" (गी० अ० ११)।

(३) 'बोले बचन राम नयनागर……'—यहाँ नीति का उपदेश प्रधान है। अतः, नय-नागर कहा है। माता-पिता ने वनवास दिया है। उस अपकार पर दृष्टि न देकर उन्हीं की रक्षा का यत्न करेंगे। अतः, शील और सरलता है। उन्हें सुख देने में परायण हैं, अतः, सुखसागर हैं। श्रीलक्ष्मणजी को भी वन का कष्ट न झेलना पड़े, यह स्नेह है, अतः, स्नेहसागर हैं।

(४) 'मातु-पिता गुरु-स्वामि ……'—यहाँ स्वामी से गुरु, गुरु से पिता और पिता से भी माता को श्रेष्ठ मानकर प्रथम कहा है और फिर वैसा ही क्रम रक्खा है। (गुरु से यहाँ मोक्ष साधक गुरु का तात्पर्य नहीं है किंतु धर्म गुरु एवं विद्या गुरु का अर्थ है।) 'सुभाय' अर्थात् किसी के कहने पर नहीं, स्वतः स्वभाव से ही करते हैं। पहले—"सहज सुहृद गुरु स्वामि ……" (दो० ६३); पर कहा गया है कि इन सबकी शिक्षा पर न चलने से हित की हानि होती है और यहाँ कहते हैं कि इनकी शिक्षा पर चलने से जन्म सफल होता है। तात्पर्य यह कि हम तुम्हारे स्वामी हैं, अतः, हमारा कहना मानो।

असि जिय जानि सुनहु सिख भाई। करहु मातु-पितु-पद-सेवकाई ॥१॥
भवन भरत रिपुसूदन नाहीं। राउ वृद्ध मम दुख मन माहीं ॥२॥
मैं बन जाउँ तुम्हहि लेइ साथा। होइ सबहि बिधि अवध अनाथा ॥३॥

गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू। सब कहँ परइ दुसह-दुख-भारू ॥४॥
रहहु करहु सब कर परितोषू। नतरु तात होइहि बड़ दोषू ॥५॥

अर्थ—हे भाई! ऐसा जी में जानकर मेरी शिक्षा सुनो और माता-पिता के चरणों की सेवा करो ॥१॥ घर पर श्रीभरत-शत्रुघ्नजी नहीं हैं, राजा बूढ़े हैं और उनके मन में मेरा दुःख है ॥२॥ मैं तुमको (भी) साथ लेकर वन जाऊँ, तो अयोध्या सभी तरह से अनाथ हो जायगी ॥३॥ गुरु, पिता, माता, प्रजा और परिवार सभी पर भारी दुःख का भार पड़ेगा ॥४॥ यहीं रहो और सबको सब तरह संतोष करो, अन्यथा हे तात! बड़ा दोष होगा ॥५॥

विशेष—(१) 'अस जिय जानि सुनहुँ...'—'भाई' अर्थात् मैं माता-पिता की आज्ञा का पालन करता हूँ, तुम उनकी सेवा करो, क्योंकि भाई हो। अतः, हमारी तरह तुम्हें भी करना ही चाहिये। ऐसा ही श्रीभरतजी से भी आपने कहा है—"पितु आयसु पालिय दुहुँ भाई।" (दो० ३१४), 'सुनहु सिख'—तुम हमारे छोटे भाई हो। अतः, सेवक के समान हो, यथा—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिन-कर कुल रीति सुहाई॥" (दो० १५)। अतः, तुम हमारी शिक्षा मानो। माता आदि चारों नातों में एक की भी सेवा से जन्म सफल होता है, फिर तुम्हें तो यहाँ चारो प्राप्त होंगे (हमारी आज्ञा का पालन करने से स्वामि-सेवा भी होगी)।

(२) 'भवन भरत रिपु सूदन...'—राजा बूढ़े हैं, फिर उन्हें हमारे वियोग का दुःख भी है, जिसे वे नहीं सह सकेंगे। हम चार भाइयों में से यहाँ कोई एक तो उनके सँभालने के लिये रहना चाहिये, क्या जाने इस भारी विरह में उनकी क्या दशा हो। अतः, तुम्हें यहाँ रहना आवश्यक है। नगर भी सूना हो जायगा। कोई शत्रु न चढ़ाई कर दे। अतः, रक्षा के लिये तुम्हें रहना ही चाहिये। यही आगे कहते हैं—'होइ सबहि बिधि अवध अनाथा।'—'सबहि बिधि'—श्रीभरत-शत्रुघ्नजी नहीं हैं, राजा वृद्ध हैं, मैं वन जाता हूँ, तुम भी साथ चलना चाहते हो, तब इसका रक्षक कोई न रहेगा। अवध श्रीरामजी को अत्यन्त प्रिय है। अतः, इसकी रक्षा के लिये चिंतित हैं, यथा—"जद्यपि सब बैकुंठ...अवध सरिस प्रिय मोहि न सोऊ॥" (उ० दो० ३)

(३) 'दुसह-दुख-भारू'—मेरा वियोग सभी को असह्य है। क्योंकि मैं सबको प्राणों से अधिक प्रिय हूँ। यथा—"प्रानहुँ ते प्रिय लागहिं, सब कहँ रामकृपाल।" (बा० दो० २०४); ऐसे दुसह दुःख में समझाने के लिये तुम्हें यहाँ रहना चाहिये। 'बड़ दोषू'—एक पर भी दुःख पड़ने पर दोष होता है और यहाँ तो सभी पर पुनः दुस्सह दुःख पड़ेगा, इससे बड़ा दोष होना कहा है।

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक-अधिकारी ॥६॥
रहहु तात असि नीति बिचारी। सुनत लखन भये ब्याकुल भारी ॥७॥
सियरे बचन सूखि गये कैसे। परसत तुहिन तामरस जैसे ॥८॥

दोहा—उतर न आवत प्रेमबस, गहे चरन अकुलाइ।
नाथ दास मैं स्वामि तुम्ह, तजहु त कहा बसाइ ॥७१॥

अर्थ—जिसके राज्य में प्यारी प्रजा दुःखी हो। वह राजा अवश्य नरक का भागी है ॥६॥ ऐसी नीति विचार कर, हे तात ! (घर पर) रहो। यह सुनते ही श्रीलक्ष्मणजी भारी व्याकुल हो गये ॥७॥ शीतल वचनों से कैसे सूख गये ; जैसे पाले के स्पर्श से कमल ॥८॥ प्रेम के वश उत्तर नहीं निकलता। अकुला कर श्रीरामजी के चरण पकड़ लिये (और बोले कि) हे नाथ ! मैं दास हूँ, आप स्वामी हैं। आप त्याग दें, तो मेरा क्या वश है ? ॥७१॥

विशेष—(१) 'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी'''—भाव यह कि राजा का धर्म है कि वह प्रजा को प्रिय माने और उसे दुःखी न होने दे। यदि प्रिय प्रजा दुखी हुई, तो वह राजा अवश्य नरक का भागी होता है। श्रीरामजी को तो प्रजा अत्यन्त प्रिय है, यथा—"अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी।" (उ० दो० ३)। 'प्रिय प्रजा' का यह भी भाव है कि चोर, खल आदि अपने अन्याय से दुखी हों तब राजा को नरक नहीं होता, किंतु सदाचारी धर्मात्मा प्रजा, प्रिय प्रजा हैं। उनके दुखी होने से उक्त हानि होती है। 'अवसि' का भाव यह कि राजा के लिये अन्य अधर्म सब इससे नीचे हैं। प्यारी प्रजा का दुखी होना उसके लिये भारी पाप है।

(२) 'रहहु तात असि नीति'''—'नीति'—यह कि हमलोगों के रहते हुए, उपर्युक्त रीति से राजा नरक के अधिकारी न हों। 'बोले बचन राम नयनागर'—यह उपक्रम है और यहाँ उसका उपसंहार है। 'व्याकुल भारी'—श्रीरामजी का वन जाना सुनकर ही श्रीलक्ष्मणजी व्याकुल हो गये थे, यथा—"व्याकुल बिलख बदन उठि धाये।" अब श्रीरामजी ने घर रहने की आज्ञा देकर इनको वियोग का निश्चय कर दिया, इससे 'भारी' व्याकुल हो गये।

(३) 'सियरे बचन सूखि गये कैसे'''—श्रीरामजी ने धर्म का उपदेश किया, धर्म शीतल है। अतः, वचनों को शीतल कहा। श्रीलक्ष्मणजी की देह कमल के समान कोमल है, वह ऐसा सूख गई, जैसे पाला पड़ने से कमल सूख जाता है। इनकी व्याकुलता मीन के दृष्टान्त से कही गई थी। यहाँ शरीर सूखने के लिये 'तुहिन तामरस' कहा है। श्रीलक्ष्मणजी विशेष धर्म में निरत हैं। श्रीरामजी ने उनके लिये सामान्य धर्म कहा। इसीसे वे व्याकुल हुए। कारण वे आगे स्वयं कहेंगे।

(४) 'उतर न आवत प्रेमबस'''—प्रेमवश अधीरता से उत्तर नहीं निकलता, न बोलने से उपदेश की स्वीकृति सिद्ध होती। अतः, अकुलाकर चरण पकड़ लिये, पहले भी कहा है—'गहे चरन अति प्रेम अधीरा।' इससे सूचित करते हैं कि मैं इन चरणों को नहीं छोड़ना चाहता। यथा—"स भ्रातुश्चरणौ गाढं निपीड्य रघुनन्दनः। सीतामुवाचातियशां राघवं च महाव्रतम्॥" (वाल्मी० २।३१।२)।

(५) 'तजहु त कहा बसाइ'''—भाव यह कि सेवक को स्वामी की आज्ञा पर उत्तर देने का भी अधिकार नहीं है। यथा—"उतर देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई॥" (दो० २६८) ; तो और कौन-सा वश है। जिसका भरोसा करूँ।

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसांईं। लागि अगम अपनी कदराईं ॥१॥
नरवर धीर धरम-धुर-धारी। निगम नीति कहँ ते अधिकारी ॥२॥
मैं सिसु प्रभु-सनेह-प्रतिपाला। मंदर मेरु कि लेहिं मराला ॥३॥

अर्थ—हे गोसाईं ! आपने मुझे भली भाँति शिक्षा दी, पर मुझे अपनी कायरता से वह कठिन लगी ॥१॥ जो मनुष्य श्रेष्ठ हैं, धीर हैं और धर्म को धुरी के धारण करनेवाले हैं, वे ही वेद धर्म और

नीति के अधिकारी हैं ॥२॥ मैं तो बचा हूँ, और हे प्रभो ! आपके स्नेह में पला हूँ, क्या हंस मंदराचल और सुमेरु उठा सकता है ? ॥३॥

विशेष—(१) 'दीन्हि मोहि सिख नीकि···'—शिक्षा को 'नीकि' कहते हैं। क्योंकि श्रीरामजी ने इसकी प्रशंसा की है। यथा—"मातु पिता गुरु···लहेउ लाभ तिन्ह·" (दो० ७०)।

(२) 'नरवर धीर धरम धुर···'—वेद में धर्म वर्णित है और नीति शास्त्र में राजनीति कही गई है। इनके करनेवाले नर-श्रेष्ठ धीर लोग हैं। वे धर्म के लिये बड़े-बड़े कष्ट सहने में समर्थ होते हैं। तात्पर्य यह कि इसमें आप ही समर्थ हैं।

(३) 'मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला···'—अपनेको शिशु कहकर फिर मराल से भी उपमित किया। यथा—"बाल मराल कि मंदर लेहीं।" (बा० दो० २५५); यहाँ वैदिक-धर्म और माता-पिता-गुरु की सेवा सुमेरु है और राजनीति मंदराचल है। मैं शिशु इन दोनों का अधिकारी नहीं हूँ। भाव यह कि जिनपर श्रीरामजी का स्नेह रहता है, उन्हें 'निगम नीति' 'मंदर मेरु' की तरह भार लगते हैं। अर्थात् मुझ मराल को पालकर फिर इसपर पहाड़ न रखिये। 'सिसु' धर्माधर्म को जानता ही नहीं। अत', उसे विधि-निषेध के त्याग का दोष नहीं। अतएव उपर्युक्त 'नतरु तात होइहि बड़ दोषू।' का दोष मुझे नहीं होगा। मराल विवेक के लिये होता है, बोझा ढोने को नहीं। वैसे मैं शिशु आपके स्नेह का पात्र हूँ। 'निगम नीति' रूप बोझ का नहीं।

गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाव नाथ पतियाहू ॥४॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीतिप्रतीति निगम निजगाई ॥५॥
मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर - अंतरजामी ॥६॥

अर्थ—मैं गुरु, पिता, माता किसी को नहीं जानता। हे नाथ ! मैं स्वभाव से ही कहता हूँ, विश्वास कीजिये ॥४॥ जहाँ तक जगत् में स्नेह, नाते, प्रीति और प्रतीति वेदों ने स्वयं गान किया है ॥५॥ हे स्वामी ! हे दीनबन्धु !! हे हृदय के जाननेवाले !!! एक आप ही मेरे सब हो ॥६॥

विशेष—(१) 'गुरु पितु मातु न जानउँ काहू।'—श्रीरामजी ने कहा था—"गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू। सब कहँ परइ दुसह दुख भारू॥ रहहु करहु··" उसका उत्तर यहाँ दिया है। 'कहउँ सुभाव नाथ '—यह मैं वेद-पुराण से सुनकर नहीं कहता हूँ। किन्तु स्वाभाविक जन्म से ही यह वृत्ति है, यथा—"बारेहि ते निज हित पति···" (बा० दो० १३७); ऐसा होना तो असम्भव-सा है। इसीलिये कहते हैं कि हे नाथ ! विश्वास कीजिये। कुछ साथ चलने के लिये बनाकर नहीं कहता हूँ।

(२) 'मोरे सबइ एक तुम्ह ··'—प्रथम गुरु आदि का न जानना (मानना) कहने में नास्तिकता समझी जाती, पर जब यह कहा गया कि उन नातों के रूप से वस्तुतः आप ही हैं, तब यह परम धर्म हो गया, क्योंकि इसमें—"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।" (गीता १८।६६); का भाव है कि भगवान् ही चराचर रूप से जीवों के पालक हैं।

(३) 'दीनबंधु उर अंतरजामी'—मैं दीन हूँ और आप दीनबंधु हैं। इनकी दीनता, यथा—"मीन दीन जनु जलते काढ़े।" यह ऊपर कही गई। यह जो मैं झूठा कहता हूँ तो आप अन्तर्यामी हैं। अतः, जान ही लेंगे।

धरम नीति उपदेसिय ताही । कीरति-भूति-सुगति-प्रिय जाही ॥७।
मन-क्रम-बचन चरनरत होई । कृपासिंधु परिहरिय कि सोई ॥८॥

दोहा—करुन सिंधु सुबंधु के, सुनि मृदु बचन बिनीत ।
समुझाये उर लाइ प्रभु, जानि सनेह सभीत ॥७२॥

अर्थ—धर्म और नीति का उपदेश उसे करना चाहिये, जिसे कीर्ति, ऐश्वर्य और सुगति प्यारी हो ॥७॥ जो मन, कर्म, वचन से चरणों में प्रेम रखता है, हे कृपासिंधु ! क्या उसका त्याग किया जाता है ? ॥८॥ करुणा के समुद्र प्रभु श्रीरामजी ने सुन्दर भाई के कोमल और विशेष नम्र वचन सुन, स्नेह के कारण डरा हुआ जान उन्हें हृदय से लगाकर समझाया ॥७२॥

विशेष —(१) 'धरम नीति उपदेसिय···'—श्रीरामजी ने इन्हें माता, पिता, गुरु स्वामी के सेवा-धर्म और प्रजा-पालन की नीति का उपदेश किया था। उसका उत्तर देते हैं कि यह उन्हें प्रिय होनी चाहिये कि जो धर्म के फल रूप कीर्ति आदि को चाहते हों। यथा—"मातु पिता गुरु स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनी धर सेसू॥ साधक एक सकल सिधि देनी। कीरति सुगति भूति मय बेनी॥" (दो० ३०५); अर्थात् जिसे इन कीर्ति आदि की इच्छा हो, उसे उक्त धर्म-नीति प्रिय लगेगी।

(२) 'मन-क्रम-बचन चरन रत···'—मन, कर्म, वचन से अनुरक्त व्यक्ति को निष्ठुर भी नहीं त्याग करता, फिर आप तो कृपासिंधु हैं तब त्यागना नहीं ही चाहिये, यथा—"मन क्रम बचन चरन अनुरागी। केहि अपराध नाथ हौं त्यागी॥" (सुं० दो० १०)।

(३) 'करुनासिंधु सुबंधु के '—'करुनासिंधु'—श्रीलक्ष्मणजी के कृपासिंधु कहने के अनुसार आपने कृपा की। अतः, 'करुनासिंधु' कहा है। 'सुबंधु'—क्योंकि विपत्ति में सहायक हुए। यथा—"होहिं कुठायँ सुबंधु सहाये।" (दो० ३००); 'उरलाई'—अर्थात् हमने तुमको त्यागा नहीं है। 'समुझाये'—कि डरो नहीं, मैं तुम्हें माता-पिता की सेवा के लिये ही रखता था, त्यागा नहीं, किंतु तुमपर मेरा प्रेम है। 'जानि सनेह सभीत'—सभीत को अभय देना आपका व्रत है, यथा- "अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥" (वाल्मी० ६।१८।३३); अतएव इन्हें भी अभय दिया।

मांगहु बिदा मातु सन जाई। आवहु बेगि चलहु बन भाई ॥१॥
मुदित भये सुनि रघुबर-बानी। भयेउ लाभ बड़ गइ बड़ि हानी ॥२॥

अर्थ—जाकर माता से विदा माँगो। हे भाई ! शीघ्र आओ और वन को चलो ॥१॥ रघुवर श्रीरामजी के वचन सुनकर (लक्ष्मणजी) आनन्दित हुए, बड़ा लाभ हुआ और बड़ी हानि दूर हुई ॥२॥

विशेष—(१) 'आवहु बेगि चलहु ···'—'आवहु'—क्योंकि निश्चय है कि सुमित्राजी आज्ञा देंगी। वहाँ भेजने का प्रयोजन यह कि माता इन्हें प्रपत्ति में और दृढ़ कर देंगी, यह भी भाव है कि इन्हें तो पिता की आज्ञा नहीं है। अतः, माताजी ने हर्ष पूर्वक कहा, तब ले जाने में उसे दुःख न होगा। यथा—"तात बिदा मागिये मातुसन बनि है बात उपाय न और।" (गी० अ० ११); 'बेगि'—क्योंकि विलंब

करने से यह समझा जायगा कि घर छोड़ा नहीं जाता। 'भयउ लाभ बड़ गइ।' साथ जाने से सेवा रूपा भक्ति होगी, वही परम लाभ है, यथा—"लाभ कि रघुपति-भगति अकुंठा।" (लं० दो० १५); श्रीरामजी के साथ विना सेवा न मिलती, यही हानि होती, यथा—"हानि कि जग एहि सम कछु भाई। भजिय न रामहि···"—(उ० दो० १११)।

विपिन-गवन-प्रकरण

हरषित हृदय मातु पहिं आये। मनहुँ अंध फिरि लोचन पाये ॥३॥
जाइ जननि-पग नायेउ माथा। मन रघुनंदन-जानकि-साथा ॥४॥
पूछे मातु मलिन मन देखी। लखन कही सब कथा बिसेखी ॥५॥

अर्थ—हृदय में प्रसन्न हो माताजी के पास आये। मानों अंधे ने फिर से नेत्र पाया हो ॥३॥ जाकर माता के चरणों में प्रणाम किया। उनका मन श्रीरघुनाथजी और श्रीजानकीजी के साथ है ॥४॥ माता ने लक्ष्मणजी को उदास देखकर (कारण) पूछा। श्रीलक्ष्मणजी ने सब कथा विस्तार से कही ॥५॥

विशेष—(१) 'हरषित हृदय मातु पहिं···'—इनकी दृष्टि श्रीसीतारामजी की सेवा पर ही रहती थी। वह वन-यात्रा सुनने पर मानों चली गई, क्योंकि आपको कुछ नहीं सूझता था—'विधि का होनिहारा' कहा ही है। अब साथ जाने की आज्ञा पर उक्त सेवा मानों फिर से प्राप्त हुई। अब सब कुछ सूझने लगा कि मैं ऐसा करूँगा। ऊपर 'मुदित भये' कहा गया था। उसी का अर्थ यहाँ 'हरषित हृदय' से स्पष्ट हुआ।

(२) 'जाइ जननि-पग'—श्रीरामजी की आज्ञा के पालने के लिये शरीर से माता के यहाँ आये हैं, पर मन वहीं है, क्योंकि इनका सिद्धान्त है—"गुरु पितु मातु न जानउँ···" श्रीरामजी से क्षण-भर का भी वियोग इन्हें असह्य है।

(३) 'पूछे मातु मलिन मन···'—प्रथम इन्हें 'मुदित भये' पुनः 'हरषित हृदय' कहा; फिर इन्हें ही यहाँ 'मलिन मन' भी कहते हैं। इसका तात्पर्य यह कि श्रीरामजी ने साथ लिया। इसका सुख तो है, पर उनके वनवास होने का दुःख तो है ही जो कि वाल्मीकीय अ० स० २२-२३ में विस्तार से कहा गया है। इस मानस में भी—"पुनि कछु लखन कही कटु बानी।" (दो० ८५) "कहँ लगि सहिय रहिये मन मारे।" (दो० २२८); इत्यादि प्रसंगों से स्पष्ट है। मन की मलिनता से चेष्टा भी मलिन पड़ गई। अतः, देखकर जाना। 'बिसेषी'—जिसमें बार-बार शंका-समाधान करना न पड़े।

गई सहमि सुनि बचन कठोरा। मृगी देखि दव जनु चहुँ ओरा ॥६॥
लखन लखेउ भा अनरथ आजू। येहि सनेहबस करब अकाजू ॥७॥
माँगत बिदा सभय सकुचाहीं। जाइ संग बिधि कहिहि कि नाहीं ॥८॥

दोहा—समुझि सुमित्रा राम-सिय, रूप-सुसील-सुभाव।
नृप-सनेह लखि धुनेउ सिर, पापिनि दीन्ह कुदाव ॥७३॥

अर्थ—कठोर वचन सुनकर वे डर गईं, मानों चारों तरफ बनाग्नि देखकर हरणी डर गई हो ॥६॥ श्रीलक्ष्मणजी ने देखा कि आज अनर्थ हुआ, यह स्नेह-वश कार्य बिगाड़ेगी ॥७॥ माता से विदा माँगते हुए भय सहित सकुचाते हैं, विचारते हैं कि हे विधि ! यह (श्रीरामजी के) साथ जाने को कहेगी कि नहीं ॥८॥ सुमित्राजी ने श्रीराम-सीताजी का रूप, सुन्दर शील और स्वभाव समझकर और उनपर राजा का स्नेह लख (विचार) कर अपना शिर पीटा (और सोचने लगीं) कि इस पापिनी (कैकेयी) ने बुरा दाँव दिया, (जिसमें राजा की हार ही होगी) ॥७३॥

विशेष—(१) 'गई सहमि सुनि बचन ······'—श्रीरामजी के वन जाने की बात कठोर है, 'चहुँ ओरा'-श्रीसीतारामजी वन को जायँगे, श्रीभरतजी राज्य न ग्रहण करेंगे, श्रीलक्ष्मणजी भी वन जायँगे और राजा की मृत्यु होगी, यथा—"सीय कि पियसँग परिहरिहि, लखन कि रहिहहिं धाम। राज कि भूँजब भरत पुर, नृप कि जिइहि बिनु राम ॥" (दो० ४१); जैसे वनाग्नि से मृगी निकलने का मार्ग न पाकर डरे, वैसे इन्होंने सभी ओर की उपर्युक्त विपत्ति को अनिवार्य देखा तो डर गईं।

(२) 'लखन लखेउ भा अनरथ ······'—श्रीलक्ष्मणजी ने समझा कि माताजी की यह दशा हमारे वन जाने के कारण हुई। अतः, यह प्रेम-वश मुझे वन की आज्ञा न देंगी तो यही अनर्थ होगा, क्योंकि अभी तक कभी मेरा श्रीरामजी से वियोग नहीं हुआ 'आज' ही होगा। यहाँ 'लखन' लखने में चूक गये। वास्तव में वह बात न थी, आगे स्पष्ट ही है। इनके भूलने का कारण प्रथम ही कहा गया—"मन रघुनंदन जानकि साथा।" जब मन ही अन्यत्र है, तो लखें कैसे ?

(३) 'माँगत बिदा सभय सकुचाहीं'—भय है कि यह यदि न आज्ञा देंगी, तब श्रीरामजी साथ न ले जायँगे। सकुचते हैं कि आज्ञा माँगू तो न जाने हाँ करें अथवा नहीं। 'बिधि'—क्योंकि ब्रह्मा ही संयोग-वियोग के कर्त्ता हैं। यथा—"यह संजोग बिधि रचा बिचारी।" (आ० दो० १६); "हानि लाभ जीवन मरन, जस अपजस बिधि हाथ।" (दो० १७१); पुनः ब्रह्मा बुद्धि के देवता भी हैं। अतः, ब्रह्मा के द्वारा बुद्धि में ठीक निश्चय कराना चाहते हैं।

(४) 'समुझि सुमित्रा राम सिय ····'—सुमित्राजी ने विचारा कि राजा श्रीसीतारामजी के रूप, शील और स्वभाव के वश हैं। अतः, इनके विरह में प्राण छोड़ देंगे, यथा—"राम-रूप गुन सील सुभाऊ। सुमिरि-सुमिरि उर सोचत राऊ ॥" (दो० १४८); इसपर शिर पीटा कि हम सब विधवा होंगी। 'पापिनि' —क्योंकि ऊपर से पतिव्रता बनी थी और श्रीरामजी पर अत्यन्त प्रेम करती थी। अंत में पति के प्राण ले रही है और श्रीरामजी को वनवास दे रही है।

वाले हैं ॥२॥ जहाँ रामजी रहें वहीं अयोध्या है, जहाँ सूर्य का प्रकाश है वहीं दिन है ॥३॥ जो निश्चय ही श्रीसीतारामजी वन जा रहे हैं तो अवध में तुम्हारा कुछ काम नहीं है ॥४॥ गुरु, पिता, माता, भाई, देवता और स्वामी इन सबकी सेवा प्राण की तरह करनी चाहिये ॥५॥

विशेष—(१) 'धीरज धरेउ कुअवसर जानी ।'—कुअवसर यह कि इस समय अधीर होने से पुत्र को शिक्षा कौन देगा ? पुत्र की विदेश यात्रा में रोना अमंगल है ; अतः, न चाहिये । पुनः धैर्य धरने के अतिरिक्त कोई उपाय भी तो नहीं है—'पापिनि दीन्हि कुदाँव ।' कहा ही गया । 'सहज सुहृद बोली ···'—जैसे सुंदर हृदय है वैसे ही स्वच्छ वाणी बोलीं । सुहृद को ऐसा ही सदुपदेश देना चाहिये । इनका हृदय जन्म से ही ऐसा सुन्दर है, कुछ विद्या-सत्संगादि से सुहृद नहीं हुई । 'मृदु बानी'—क्योंकि ऐसी ही वाणी से उपदेश लगता है ।

(२) 'तात तुम्हारि मातु बैदेही ।···'—अर्थात् इन्हीं को माता-पिता समझना, हमारी ओर चित्त वृत्ति न करना । श्रीरामजी सब प्रकार के स्नेही हैं, वे ही तुम्हारे प्रति गुरु, पिता, स्वामी सब प्रकार से स्नेह करेंगे । तुम जो वृत्ति यहाँ पर और स्नेहियों में करते थे, वह सब उन्हीं में करना—यह तात्पर्य है ।

तथा—"रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम् । अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथा सुखम् ।" (वाल्मी० २।४०।९), अर्थ श्रीगोस्वामीजी से मिलता है, पर यहाँ (मानस में) इतनी विशेषता है कि यहाँ नाता तोड़ने का प्रसंग है । अतः, माता प्रथम अपना ही नाता तोड़ती हैं । मैं तुम्हारी माता नहीं हूँ, किंतु वैदेही हैं ।

(३) 'अवध तहाँ जहँ राम···'—अर्थात् अयोध्या के सब सुख तुम्हें वन में भी प्राप्त होंगे । अवध का स्मरण भी न करना, श्रीलक्ष्मणजी ने ऐसा ही किया भी है, यथा—"छिन छिन लखि सिय राम पद, जानि आपु पर नेह । करत न सपनेहुँ लखन चित, बंधु मातु पितु गेह ॥" (दो० १३९); 'तहँ दिवस जहँ ··' जैसे सूर्य के प्रकाश से दिन वैसे ही श्रीरामजी के ही प्रभाव से अवध का आनंद है, यथा—"लागति अवध भयावन भारी । मानहुँ काल राति अँधियारी ॥" (दो० ८२), अर्थात् श्रीराम बिना अयोध्या प्रभा-हीन होकर भयानक हो गई ।

(४) 'जौ पै सीयराम बन ···'—अर्थात् स्वामी के साथ ही सेवक को सेवा सहित ही रहना चाहिये ।

'प्रान की नाईं'—प्राण की रक्षा के लिये लोग नाना यत्न करते हैं, वैसे ही प्रीति सहित इनकी सेवा करनी चाहिये । ऐसा ही श्रीलक्ष्मणजी ने किया भी है, यथा—"सेवहिं लखन सीय रघुबीरहिं । जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहिं ॥" (दो० १४१) ।

राम प्रानप्रिय जीवन जी के । स्वारथरहित सखा सबही के ॥६॥
पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते । सब मानियहिं राम के नाते ॥७॥
अस जिय जानि संग बन जाहू । लेहु तात जग जीवनलाहू ॥८॥

दोहा—भूरि भागभाजन भयेहु, मोहि समेत बलि जाउँ ।
जौ तुम्हरे मन छाड़ि छल, कीन्ह रामपद ठाउँ ॥७४॥

अर्थ—श्रीरामजी प्राण-प्रिय हैं और जी के (जीवों के) जीवन हैं और सबके स्वार्थ-रहित सखा हैं ॥६॥ जहाँ तक पूजा के योग्य और परम प्रिय (व्यक्ति) हैं, सब श्रीरामजी के नाते से माने जाते हैं, (इसलिये कि उन-उन रूपों से श्रीरामजी ने ही उपकार किया है, तदनुसार कृतज्ञता रूप से उन-उन की पूजा श्रीरामजी की ही उपासना होती है और इस दृष्टि से श्रीरामजी प्रसन्न होते हैं) ॥७॥ ऐसा जी में जानकर (उनके) साथ वन जाओ और हे तात ! जगत् के जीवन का लाभ लो ॥८॥ मुझ समेत तुम बड़े भाग्यवान् हुए, मैं बलिहारी जाती हूँ कि छल छोड़कर तुम्हारे मन ने श्रीरामजी के चरणों में जगह बनाई अर्थात् उनका आश्रय लिया ॥७४॥

विशेष—(१) 'राम प्रान-प्रिय जीवन जीके।...' यथा—"प्रान प्रान के जीव के, जिय..." (दो० २१०); गुरु, पिता, माता आदि प्राणों के समान हैं और श्रीरामजी प्राणों से भी अधिक हैं। अतः, इन्हें सबसे अधिक मानकर इनकी सेवा करनी चाहिये। 'स्वारथ रहित सखा सबही के।'—प्रायः संसार के और सब लोग स्वार्थ सहित ही प्रीति करते हैं, यथा—"सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती ॥" (कि० दो० १); पर श्रीरामजी स्वार्थ-रहित सबके सखा (सहायक) हैं, यथा—"हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी ॥" (उ० दो० ४६); तथा—"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" (श्वे० ४।६)। अर्थात् ब्रह्म निःस्वार्थ जगत् का हित करता है, यथा—"मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।" (गीता ९।४); इन बातों से श्रीरामजी को ब्रह्मरूप कहा है।

(२) 'पूजनीय प्रिय परम ...' यथा—"नातो नेह राम सो,मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं। अंजन कहा आँखि जेहि फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं ॥" (वि० १७४) तथा—" न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ॥" (बृह० २।४।५); अर्थात् सबके लिये सब प्रिय नहीं होते, आत्मा के लिये ही सब प्यारे होते हैं।

(३) 'अस जिय जानि संग...'—'अस' अर्थात् उपर्युक्त रीति से श्रीरामजी का स्वरूप और ऐश्वर्य जानकर साथ जाओ; अर्थात् सेवक बनकर जाओ, भाई (बराबरी) का भाव रखकर नहीं।

(४) 'भूरि भाग भाजन भयेहु...'—श्रीरामचरण में मन लगना बड़े भाग्य की बात है, यथा—"बड़े भाग अनुराग राम-पद होइ।" (बरवा ६३); यह तुम बहुत भारी कार्य कर रहे हो। अतः, इसके योग्य और वस्तु न पाकर मैं अपनापन निछावर करती हूँ, बलि जाती हूँ। माता से सब वृत्तान्त कहते हुए लक्ष्मणजी ने अपनी बात भी कह दी थी, इससे माताजी सराहना करती हैं। 'छाँड़ि छल'—अर्थात् निःस्वार्थ, यथा—"स्वारथ छल फल चारि बिहाई।" (दो० १००); तन से वन को अवध मानकर वहाँ रहो और मन से निष्काम होकर श्रीरामचरण में अनुराग करो। श्रीरामचरणानुरागी को बड़भागी सातो कांडों में कहा है, देखिये—'अतिशय बड़भागी चरनन लागी।' (बा० दो० २१०)।

पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुपति-भगत जासु सुत होई ॥१॥
नतरु बाँझ भलि बादि बियानी। रामबिमुख सुत ते हित जानी ॥२॥
तुम्हरेहि भाग राम बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं ॥३॥
सकल सुकृत कर बड़ फल येहू। राम-सीय-पद सहज सनेहू ॥४॥

अर्थ—संसार में वही स्त्री पुत्रवती है, जिसका पुत्र श्रीरघुनाथजी का भक्त हो ॥१॥ नहीं तो बाँझ

भली थी, उसने राम-विमुख पुत्र से अपना हित जानकर व्यर्थ ही उसे पैदा किया ॥२॥ तुम्हारे ही भाग्य से श्रीरामजी वन को जा रहे हैं। हे तात! (उनके वन जाने का) और कोई कारण नहीं है ॥३॥ सब पुण्यों का बड़ा फल यही है कि श्रीसीतारामजी के चरणों में स्वाभाविक स्नेह हो ॥४॥

विशेष—(१) 'पुत्रवती जुबती जग सोई।'''—पुत्र शब्द का अर्थ है कि जो पितरों को नरक से बचावे, यथा—"पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात् त्रायते पितरं सुत। तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥" (वायुपुराण); श्रीराम-भक्त होने से उसके पितर तर जाते हैं और श्रीराम-विमुख के पितर पश्चात्ताप करते हैं कि मेरी संतान राम-भक्त न हुई। ऐसे पुत्र से बिना पुत्र ही होना भला है। 'बियानी' शब्द पशुओं के बच्चा पैदा करने को कहा जाता है। अत', 'बादि' शब्द के साथ ठीक पड़ा है, यथा—"तिन्ह ते खर सूकर स्वान भले जड़ता बस ते न कहैं कछु वै। तुलसी जेहि राम सों नेह नहीं सो सही पसु पूँछ बिखान न द्वै॥ जननी कत भार मुई दस मास भई किन बाँझ गई किन च्वै॥ जरि जाउ सो जीवन, जानकि नाथ! जियै जग में तुम्हरो बिन ह्वै॥" (क० उ० ४०); अर्थात् उसने मनुष्य की जगह पशु पैदा किया।

(२) 'तुम्हरेहि भाग राम बन जाहीं।'—पहले दोहे में दोनों का भाग्य साथ ही कहा था, फिर 'पुत्रवती जुबती''' में अपना भाग्य और यहाँ पुत्र का भाग्य कहती हैं, यह पृथक् पृथक् भी कहा गया है। 'तुम्हरेहि भाग' अर्थात् श्रीरामजी अयोध्या में रहे, तो सबका भाग्य रहा, सभी दर्शन पाते थे और सबको उनकी सेवा मिलती थी। अब वन में तुम्हारा ही भाग्य है, सब सेवा तुम अकेले ही पाओगे, यथा—"अहो लक्ष्मण सिद्धार्थः सततं प्रियवादिनम्। भ्रातरं देव-संकाशं यस्त्वं परिचरिष्यसि॥ महत्येषा हि ते बुद्धिरेष चाभ्युदयो महान्। एष स्वर्गस्य मार्गश्च यदेनमनुगच्छसि॥" (वाल्मी० २।४०।२५-२६)।

(३) 'सकल सुकृत कर बड़'''—सुकृत से स्वर्ग भी प्राप्त होता है, पर वह छोटा फल है। यथा—"स्वर्गौ स्वल्प अंत दुख दाई।" (उ० दो० ४३); श्रीराम-स्नेह बड़ा फल है। यथा—"सकल सुकृत फल राम सनेहू।" (बा० दो० २६), तथा—"तीर्थाटन साधन ''नाना करम धरम ''भूत-दया द्विज'''जहँ लगि साधन वेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी॥" (उ० दो० १२५)। सहज सनेहू'—स्वत. चित्त अनुराग में रंगा रहे।

राग रोष इरिषा मद मोहू। जनि सपनेहु इन्हके बस होहू ॥५॥
सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई ॥६॥
तुम्ह कहुँ बन सब भाँति सुपासू। सँग पितु मातु राम-सिय जासू ॥७॥
जेहि न राम बन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू ॥८॥

अर्थ—राग, रोष, ईर्ष्या, मद और मोह—इनके वश स्वप्न में भी न होना ॥५॥ सब प्रकार के विकार को छोड़कर मन, कर्म, वचन से सेवा करना ॥६॥ तुमको वन में सब तरह का सुख है कि जिसके सग में पिता-माता-रूप श्रीरामजी और श्रीसीताजी हैं ॥७॥ हे पुत्र! तुम वही करना, जिससे श्रीरामजी वन में दुःख न पावें, यही हमारा उपदेश है ॥८॥

विशेष—(१) 'राग रोष इरिषा मद मोहू।''—प्रथम श्रीराम-स्नेह का महत्त्व कहकर अब उसके बाधकों से बचना कह रही हैं कि राग (देह संबंधी प्रेम), क्रोध, ईर्ष्या (डाह) मद और

मोह, ये भक्ति के बाधक हैं। यथा—"तात तीन अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ। मुनि विज्ञान धाम मन, करहिं निमिष महँ छोभ ॥" (आ०दो० ३८); 'सकल प्रकार बिकार'''—पाँच का नाम गिना कर शेष और विकारों की तरह समष्टि में छोड़ना कहती हैं कि मन, कर्म, वचन तीनो शुद्ध रखकर सेवा करना। मन से प्रेम, वचन से प्रिय और अनुकूल भाषण तथा कर्म से कैंकर्य करना।

'राग' छोड़ना यह कि वहाँ रहते हुए घर की स्त्री, भाई, एवं यहाँ की माता और पिता में प्रेम न करना। 'रोष' उनकी कोई बात प्रतिकूल भी हो, तो रुष्ट नहीं होना, जैसे—"मरम बचन जब सीता बोला।" (आ० दो० २७); "आयेहु तात बचन मम पेली।" (आ० दो० ३१); इन वचनों पर श्रीलक्ष्मणजी ने कर दिखाया है कि वे कुछ भी रुष्ट नहीं हुए। 'ईर्ष्या'—यह कि हम भी तो राजकुमार ही हैं। फिर इनकी गुलामी क्यों करें? यह न होने पावे। 'मद'—यह कि मेरे समान बली, गुणी आदि न हो तो इनकी रक्षा हो न हो, यह छोड़ना। 'मोह'—घर का मोह न करना एवं अपनापन भुला देना, इत्यादि मोह छोड़ना है।

(२) 'जेहि न राम बन लहहिं कलेसू।'—वन में बहुत क्लेश होते हैं। यथा—"बिपिन बिपति नहिं जाइ बखानी।" (दो० ६२); श्रीरामजी को क्लेश न हो, यह श्रीसुमित्राजी को बहुत ध्यान है। इस पर गीतावली लं० पद १३ पूरा देखने योग्य है कि श्रीलक्ष्मणजी के शक्ति लगने पर उनका शोक नहीं, किंतु शोक इसी बात का है कि श्रीरामजी शत्रु के देश में अकेले हैं। फिर शत्रुघ्नजी को भी भेजती हैं।

छंद—उपदेसु यह जेहि जात तुम्हरे रामसिय सुख पावहीं।
पितु-मातु-प्रिय-परिवार-पुर-सुख-सुरति बन बिसरावहीं ॥
तुलसी प्रभुहिं सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई।
रति होउ अबिरल अमल सिय-रघुबीर-पद नित नित नई ॥

सो०—मातुचरन सिरु नाइ, चले तुरत संकित हृदय।
बागुर बिषम तोराइ, मनहुँ भाग मृग भागबस ॥७५॥

अर्थ—हमारा यही उपदेश है कि जिसमें तुम्हारे साथ जाने से श्रीराम-जानकीजी सुख पावें। पिता, माता, प्रिय-परिवार और अवधपुर की सुधि वन में भुला दें॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं (कि माताजी ने हमारे) प्रभु श्रीलक्ष्मणजी को शिक्षा देकर आज्ञा दी और फिर आशिष दी कि श्रीसीताजी और रघुवीर श्रीरामजी के चरणों में नित्य-नित्य नवीन, अविरल (सघन=तैल धारवत्) और निर्मल प्रीति हो॥ माता के चरणों में शिर नवाकर मन में डरते हुए शीघ्र चले (कि कहीं देरी होने से श्रीसीतारामजी चल न दिये हों) मानों भाग्यवश हिरण कठिन फंदा छुड़ाकर (तोड़ कर) भागा जाता हो ॥७५॥

विशेष—(१) 'उपदेसु यह जेहि जात'''—ऊपर क्लेश न हो, यह कहा। अब यहाँ सुख देना कहती हैं, कैसा सुख देना—'जेहि न राम''पितु-मातु प्रिय'''।

(२) 'सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई'—'सिख'—'उपदेसु यह''' से 'बिसरावहीं।'

तक, 'आयसु'—'अस जिय जानि संग बन जाहू ।' और 'आसिष'—'रति होउ अविरल···नई ।' पूर्व कहा था—"सकल सुकृत कर बड़ फल येहू । सीय-राम-पद सहज सनेहू ॥" यहाँ उसी की आशिष भी दी।

(३) 'मातु चरन सिर नाइ ··बागुर विषम···'—माता ने अनुकूल शिक्षा, आज्ञा और आशिष दीं। अतएव श्रीलक्ष्मणजी ने चरणों में प्रणाम किया। माताजी ने विदा के समय पुत्र को हृदय से न लगाया, क्योंकि इनको श्रीसीताजी और श्रीरामजी के लिये अर्पण कर चुकीं और अपना मातृत्व-भाव श्रीजानकीजी को दे चुकी हैं; उसीको चरितार्थ किया। वन से लौटने पर भी श्रीराम-भक्ति के नाते से ही भेटेंगी—"भेंटेउ तनय सुमित्रा रामचरन रति जानि ।" (उ० दो० ६)।

'बागुर विषम'—माताजी की आज्ञा मिलना भारी फंदे का टूटना है, यह भारी बंधन था, यथा—"तात बिदा माँगिये मातु सन बनि है बात उपाय न औरे । ··तुलसी सिख सुनि चले चकित चित, उड़्यो मानों बिहँग बधिक भये भोरे ॥" (गी० अ० ११); श्रीलक्ष्मणजी इस आज्ञा-प्राप्ति को अपना बड़ा भाग्य मानते हैं, क्योंकि अपनी ओर से तो ये सब नाते छोड़ चुके थे, पर यहाँ के लिये श्रीरामजी की आज्ञा थी। यदि माता आज्ञा न देती तो वे साथ न लेते।

गये लखन जहँ जानकिनाथू । भे मन मुदित पाइ प्रिय-साथू ॥१॥
बंदि राम-सिय-चरन सुहाये । चले संग नृपमंदिर आये ॥२॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी वहाँ गये, जहाँ पर श्रीजानकीजी और उनके नाथ श्रीरामजी थे। प्यारा (अभीष्ट) साथ पाकर मन में प्रसन्न हुए ॥१॥ श्रीसीताजी और श्रीरामजी के सुहावने चरणों की वंदना करके उनके साथ चले और राज-मंदिर में आये ॥२॥

विशेष—(१) 'गये लखन जहँ···'—'जहँ' अर्थात् श्रीकौशल्याजी के महल से निकलने पर श्रीलक्ष्मणजी श्रीसीता-रामजी से मिले थे, फिर ये माता से आज्ञा लेने गये और वे (दोनों) वहीं पर ठहरे हुए, इनका मार्ग देखते थे। इनके आते ही चल दिये, तब राज मंदिर पहुँचे। 'जानकि नाथू'—अर्थात् श्रीजानकीजी और उनके स्वामी, इस तरह का एक शब्द देकर ग्रंथकार ने दोनों को अपृथक् जनाया और श्रीलक्ष्मणजी की दोनों में बराबर प्रीति सूचित की, अन्यथा एक का नाम देने से दूसरे में इनको स्नेह-न्यूनता पाई जाती। 'भे मन मुदित पाइ ···'—प्रथम साथ के लिये श्रीरामजी की आज्ञा पाकर प्रसन्न हुए थे, यथा—"मुदित भये सुनि रघुबर बानी ।" (दो० ७२); फिर माता के यहाँ जाने पर भय और सकोच हुआ था, यथा—'मांगत बिदा सभय सकुचाहीं ।' अब माता की भी आज्ञा पाकर पुनः प्रसन्न हुए 'पाइ' अर्थात् भाग्य से साथ मिला। 'प्रिय-साथू'—क्योंकि श्रीसीतारामजी का ही साथ इन्हें प्रिय है और सब नाते अप्रिय हो गये हैं।

(२) 'बंदि राम-सिय-चरन···'—इन्होंने चरण-वंदना से ही सूचित कर दिया कि जिसलिये मैं गया था, वह सिद्ध कर आया। इन्हें अब किसी और से विदा होना नहीं है। श्रीरामजी को तो अभी पिता से भी विदा होना है, पर इन्हों ने सब नाता श्रीरामजी में ही माना है, माताजी ने भी ऐसा ही सिखाया है। अतएव यह वंदना इनके वन-यात्रा के मंगलाचरण की भी है। भाग्यवश छूटकर आये और कुछ देर बाहर जाकर आये। अतः, वंदना करनी ही चाहिये। पुनः माता ने—'रति होउ अविरल···' की आशिष दी थी, तुरत ही उसको चरितार्थ भी किया। यह चरण-वंदना ही चरण-रति है।

कहहिं परसपर पुर-नर-नारी। भलि बनाइ बिधि बात बिगारी ॥३॥
तनु कृस मन दुख बदन मलीने। बिकल मनहुँ माखी मधु छीने ॥४॥
कर मीजहिं सिर धुनि पछिताहीं। जनु बिनु पंख बिहँग अकुलाहीं ॥५॥
भइ बड़ि भीर भूप-दरबारा। बरनि न जाइ बिषाद अपारा ॥६॥

अर्थ—नगर के स्त्री-पुरुष एक-दूसरे से कहते हैं कि विधाता ने अच्छी तरह बात बनाकर बिगाड़ दी ॥३॥ उनके शरीर दुबले, मन दुःखी और मुख उदास हैं, ऐसे विकल हैं कि मानों मधु-मक्खी मधु छीन (निकाल) लेने से ॥४॥ हाथ मलते हैं, शिर पीटकर पछताते हैं, मानों बिना पंख के पक्षी व्याकुल हो रहे हों ॥५॥ राजा के द्वार पर बड़ी भीड़ हो गई है, विषाद अपार है। अतः, वर्णन नहीं किया जाता ॥६॥

विशेष—(१) 'कहहिं परस्पर पुरनर नारी।···'—पूर्व पुर-नर-नारियों का प्रसंग—"अति विषाद बस लोग लोगाई।" (दो० ५०); पर छूटा था, वहीं से फिर प्रसंग उठाते हैं।

'भलि बनाइ बिधि ···'—राज्य-तिलक की तैयारी हो चुकने पर वनवास दिया गया। यही भली बनाकर बात बिगाड़ना है या खूब बनाकर बिगाड़ा कि जिसका सुधार हो ही नहीं सकता। 'कहहिं परस्पर' यह वचन से दुःखी हैं और—"तन कृस मन दुःख ···"—यह तन और मन से दुःखी है, इत्यादि रीति से तन-मन-वचन तीनों से दुखी हैं।

(२) 'बिकल मनहुँ माखी मधु छीने।'—इसका विशेष रूपक पूर्व—"देखि लागि मधु कुटिल किराती ···" (दो० १२); पर कहा गया। छत्ता तैयार होने पर मधु निकाला जाता है, वैसा ही, राज्य-तिलक की तैयारी होने पर उसे छीन कर वनवास दिया गया।

(३) 'कर मोजहिं सिर धुनि ·····'—कुछ उपाय नहीं चलता। अतः, हाथ मीजते हैं। शिर पीटते हैं कि हमारे कर्म फूट गये। पक्षियों की गति पंख से होती है, वैसे ही श्रीसीताजी और श्रीरामजी ही इन सबकी गति (आश्रय) हैं, वे चले जाते हैं, इससे अकुलाते हैं, अत्यन्त दीन हैं—"जथा पंख बिनु खग अति दीना।" (लं० दो० ६०)।

(४) 'भइ बड़ि भीर··· ···'—इसमें 'बरनि न जाइ' दीपदेहली है, भीड़ और विषाद दोनों ही का वर्णन नहीं किया जा सकता। सभी पुरवासी आ गये हैं; अतः, भारी भीड़ है।

सचिव उठाइ राउ बैठारे। कहि प्रिय बचन राम पगु धारे ॥७॥
सियसमेत दोउ तनय निहारी। ब्याकुल भयेउ भूमिपति भारी ॥८॥

दोहा—सीयसहित सुत सुभग दोउ, देखि देखि अकुलाइ।
बारहिं बार सनेहबस, राउ लेइ उर लाइ ॥७६॥

अर्थ—श्रीरामजी आये हैं, यह प्रिय-वचन कहकर मंत्रीजी ने राजा को उठाकर

श्रीसीताजी के साथ दोनों पुत्रों को देखकर राजा बहुत व्याकुल हो गये ॥८॥ श्रीसीताजी के साथ सुंदर दोनों पुत्रों को देख देखकर राजा व्याकुल हो जाते हैं और स्नेह के वश बार-बार उन्हें हृदय से लगा लेते हैं ॥७६॥

विशेष—(१) 'कहि प्रिय बचन राम पगु धारे।'—पूर्व 'चले संग नृप मंदिर आये।' से फिर प्रसंग लेते हैं कि तीनों मूर्त्ति राज-मंदिर में आये, तब इनका आगमन कहकर मंत्री ने राजा को बैठाया। श्रीरामजी राजा को प्रिय हैं। अतएव इनके आगमन का वचन उनके लिये 'प्रिय वचन' है। उससे धैर्य धरकर बैठेंगे, इसलिये ऐसा कहा।

'सिय समेत दोउ तनय'''—कैकेयी ने केवल श्रीरामजी को ही वनवास माँगा था, पर दो और जाते हैं। अतः, 'भारी' व्याकुल हो गये। यद्यपि 'भूमि-पति' हैं; पृथिवी से कहीं अधिक सहिष्णुता है और धैर्यवान् हैं, पर क्या करें? अपार दुःख है; इससे भारी व्याकुल हो गये।

(३) 'सीय सहित सुत सुभग दोउ'''' 'देखि-देखि' अर्थात् पृथक्-पृथक् एक-एक की सुकुमारता देखते हुए अकुलाते हैं। ऊपर समष्टि में और यहाँ व्यष्टि में देखना है। अतः, पुनरुक्ति नहीं है। अत्यंत दुःख से बोला नहीं जाता। अतः, हृदय में लगा-लगा कर ही प्रीति प्रकट करते हैं।

सकइ न बोलि बिकल नरनाहू। सोकजनित उर दारुन दाहू ॥१॥
नाइ सीस पद अति अनुरागा। उठि रघुबीर बिदा तब माँगा ॥२॥
पितु असीस आयसु मोहि दीजै। हरष समय बिसमय कत कीजै॥३॥
तात किये प्रिय प्रेमप्रमादू। जसु जग जाइ होइ अपबादू ॥४॥
सुनि सनेहबस उठि नरनाहाँ। बैठारे रघुपति गहि बाँहा ॥५॥

अर्थ—राजा व्याकुल हैं, बोल नहीं सकते। उनके हृदय में शोक से उत्पन्न अत्यन्त कठिन जलन है ॥१॥ अत्यन्त प्रीति-पूर्वक चरणों में सिर नवाकर रघुकुल-वीर श्रीरामजी ने उठकर तब विदा माँगी ॥२॥ पिताजी! मुझे आशिष और आज्ञा दीजिये, हर्ष के समय में आप दुःख क्यों करते हैं ॥३॥ हे तात! प्रिय के विषय में प्रेम करने से असावधानता (अंतःकरण की दुर्बलता) प्रकट होगी। जिससे जगत् में यश जाता रहेगा और निन्दा होगी ॥४॥ यह सुनकर स्नेह के वश उठकर राजा ने श्रीरघुनाथजी को हाथ पकड़ कर बैठाया ॥५॥

विशेष—(१) 'नाइ सीस पद अति''''' जब राजा शोक के कारण बोल न सके। तब 'श्रीरघुबीर' अर्थात् धर्म-वीर, जो कि १४ वर्ष के वनवास पर भी कादरता से उदास न हुए, किंतु पिता की आज्ञा के पालन को परम धर्म मानकर अति अनुराग-पूर्वक आज्ञा माँगते हैं। बड़ों की बंदना में अनुराग चाहिये ही; पर आज महावन के लिये प्रस्थान कर रहे हैं; इसलिये 'अति अनुराग' है।

(२) 'पितु असीस आयसु मोहि''''—क्योंकि पिता-माता की आज्ञा और कृपा से मुद-मंगल होता है। यथा—"आयसु देहि मुदित मन माता। जेहि मुदमंगल कानन जाता॥" (दो० ५२); "तुम्हरे अनुग्रह तात कानन जात सब सुख पाइहौं।" (दो० १५१); 'हर्ष समय' अर्थात् आपके सत्य की रक्षा से जगत् में आपका सुयश होगा और मुझे भी इस कार्य में उत्साह है। "मंगल समय सनेह''" (दो० ४५); भी देखिये।

(३) 'जस जग जाइ होइ अपवादू।'—सत्य पालन श्रेष्ठ धर्म है, उसके छोड़ने से पाप होगा। यथा—"नहिं असत्य सम पातक पुंजा।" (दो० २७); उस पाप से अपयश होगा, यथा—"बिनु अघ अजस कि पावै कोई।" (उ० दो० १११); आपका विस्तृत यश है। यथा—"दसरथ गुन गन बरनि न जाहीं। अधिक कहा जेहि सम जग नाहीं॥" (दो २०८); वह नाश हो जायगा। पुनः संसार-भर में अपयश होगा ; यथा—"पितहि बुझाइ कहहु बलि सोई। चौथे पन जेहि अजस न होई॥" (दो० ४१); यह कैकेयीजी ने कहा था, तदनुसार यहाँ पर—"तात किये प्रिय प्रेम ··जसु जग जाइ ··" यह श्रीरामजी का वचन है।

(४) 'सुनि सनेह बस उठि···' यद्यपि उठने की शक्ति नहीं है, फिर भी स्नेह से शक्ति आ गई। इससे उठ पड़े। 'नरनाहा'—राजनीति के अनुसार जिस तिस उपाय से राजा को प्रयोजन साधना चाहिये, तदनुसार श्रीरामजी के रखने के लिये अनेकों उपाय करेंगे ; अतः, 'नरनाहा' कहा है। 'गहि बाँहा—जाने के लिये खड़े हैं, कहीं यों ही चल न दें, इससे पकड़कर बिठा लिया।

सुनहु तात तुम्ह कहँ मुनि कहहीं। राम चराचरनायक अहहीं॥६॥
सुभ अरु असुभ करम-अनुहारी। ईस देइ फल हृदय बिचारी॥७॥
करइ जो करम पाव फल सोई। निगम नीति असि कह सब कोई॥८॥

दोहा—और करइ अपराध कोउ, और पाव फल भोग।
अति बिचित्र भगवंत-गति, को जग जानइ जोग॥७७॥

अर्थ—(राजा ने कहा कि) हे तात! सुनो, तुमको मुनि कहते हैं कि श्रीरामजी चराचर के नायक हैं॥६॥ शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार ईश्वर हृदय में विचार कर फल देता है॥७॥ जो कर्म करता है, वही उसका फल पाता है। ऐसा वेद और नीति तथा सब कोई कहते हैं॥८॥ अपराध तो कोई और करे और दूसरा कोई उसका फल भोग पावे। भगवान् की गति बड़ी ही विचित्र है। उसके जानने के योग्य संसार में कौन है? अर्थात् कोई नहीं॥७७॥

विशेष—(१) 'सुनहु राम तुम्ह कहँ ··'—यहाँ से श्रीरामजी को रखने के लिये राजा उपाय कर रहे हैं। उपसंहार पर कहेंगे—"राय राम राखन हित लागी। बहुत उपाय किये छल त्यागी॥" पहला उपाय इस अर्द्धाली में है कि आपको मुनि लोग कहते हैं कि तुम चराचर के मालिक हो, यथा—"सुनु नृप जासु बिमुख···भयो तुम्हार तनय सोइ ··"(दो० ३), "तब बसिष्ठ बहु बिधि समुझावा। नृप संदेह नास कहँ पावा॥" (बा० दो० २०७) तब आपको कर्मों का भोक्ता न होना चाहिये। आप हमारे और कैकेयी के बीच में उचित न्याय कीजिये। तात्पर्य यह कि आप वन को न जायँ। इसपर श्रीरामजी ने ध्यान न दिया, तब फिर राजा ने कहा—

(२) 'सुभ अरु असुभ करम···'—अर्थात् हमारे कर्म का फल ऐसा उग्र भी न होना चाहिये कि जिसके परिणाम में मृत्यु हो, किंतु हृदय में विचार करके कर्म के सदृश ही फल दिया जाय। यह दूसरा उपाय भी व्यर्थ हुआ, क्योंकि इसपर भी श्रीरामजी ने कुछ न कहा। तब फिर कहते हैं—

(३) 'करइ जो करम पाव फल ''और करइ अपराध कोउ'''—इस राज्याभिषेक के विषय में कैकेयीजी ने समझा था कि इसमें श्रीकौशल्याजी की सम्मति है, यथा—"प्रसु कौसिला मोर भल ताका। तस फल उन्हहिं देउँ करि साका ॥" (दो० १२), वह इसी ईर्ष्या से श्रीरामजी को वन दे रही है। उसी पर राजा कहते हैं कि हे तात! जो कर्म करता है, वही फल पाता है, इसको वेद और नीति सभी कोई ऐसा ही कहते हैं। परन्तु यहाँ तो अपराध और किसीने किया है और उसका फल और कोई भोग रहा है, अर्थात् कर्म तो हमने किया है, जो बिना कैकेयी के पूछे, राजगद्दी की तैयारी की है। अत:, इसका परिणाम हमको ही मिलना चाहिये, पर ऐसा न होकर उस कर्म का फल आपको मिल रहा है, जिससे निरपराधिनी श्रीकौशल्याजी को भारी दुःख मिल रहा है। कैकेयी जो चाहे हमें दण्ड देवे, पर हमारे कर्म से और आपसे सम्बन्ध न होना चाहिये। यदि है तो यही भगवान् की अति विचित्र गति है, जिसे कोई नहीं जान सकता। इसपर भी श्रीरामजी का उत्तर न पाया तब निराश हुए—श्रीरामजी के न बोलने का कारण इसी प्रसंग पर वाल्मीकीय रामायण में खोला गया है, यथा—"वञ्चना या तु लब्धा मे तां त्वं निस्तर्तुमिच्छसि। अनया वृत्तसादिन्या कैकेय्याभिप्रचोदित ॥ न चैतदाश्चर्यतमं यत्त्वं ज्येष्ठः सुतो मम। अपानृतं कर्तुं पुत्र पितरं कर्तुमिच्छसि ॥" (२।३४।२७-२८), अर्थात् कैकेयी के कहने में पड़कर धोखा मुझे हुआ और फल तुम्हें भोगना पड़ रहा है।'''कारण यह कि तुम हमारे ज्येष्ठ पुत्र हो, अपने पिता को सत्यवादी बनाना चाहते हो।

राय राम राखन हित लागी। बहुत उपाय किये छल त्यागी ॥१॥
लखी रामरुख रहत न जाने। धरम धुरंधर धीर सयाने ॥२॥
तब नृप सीय लाइ उर लीन्ही। अतिहित बहुत भाँति सिख दीन्ही ॥३॥
कहि बन के दुख दुसह सुनाये। सासु ससुर पितु सुख समुझाये ॥४॥
सिय-मन रामचरन अनुरागा। घर न सुगम बन बिषम न लागा ॥५॥

ही रखना चाहते हैं। यही प्रकट करने को आगे 'धरम-धुरंधर' कहा गया है। पुनः ऊपर वाल्मी० २। ३४। ३०-३८ से दिखाया गया है। 'धीर' हैं; अतः, वन के दुःख समझकर घबड़ाते नहीं हैं। 'सयाने' हैं; अर्थात् धर्म की गति को जानते हैं।

(३) 'बहुत भाँति सिख दीन्हीं।'—अर्थात् विस्तार से शिक्षा दी, जैसे श्रीरामजी ने दी थी। 'कहि वन के दुख दुसह'''—वन का दुःख सुनाया कि जिससे न जायँ और सास आदि के यहाँ के सुख सुनाया कि जिससे घर में रहें, यथा—"पितु गृह कबहुँ कबहुँ ससुरारी। रहेहु जहाँ रुचि होइ तुम्हारी॥" (दो० ८१)।

(४) 'सिय मन रामचरन'''—श्रीराम-चरणानुराग से विषय सुख की इच्छा ही नहीं रही, यथा—"सुमिरत रामहि तजहि जन, तृन सम विषय बिलास। राम प्रिया जग जननि सिय, कछु न आचरज तासु॥" (दो० १४०); "रामचरन पंकज प्रिय जिन्हहीं। विषय भोग बस करइ कि तिन्हहीं॥" (दो० ८३); पुनः वन विषम न लगा, यथा—"सिय मन रामचरन अनुरागा। अवध सहस सम वन प्रिय लागा॥" (दो० १३९)।

औरउ सबहि सीय समुझाई। कहि-कहि बिपिन-बिपति अधिकाई॥६॥
सचिवनारि गुरुनारि सयानी। सहित सनेह कहहि मृदु बानी॥७॥
तुम्ह कहँ तौ न दीन्ह बनबासू। करहु जो कहहि ससुर-गुरु-सासू॥८॥

दोहा—सिख सीतलि हित मधुर मृदु, सुनि सीतहि न सोहानि।
सरद - चंद - चंदनि लगत, जनु चकई अकुलानि॥७८॥

अर्थ—और सबों ने भी वन के बहुत-से दुःख कह-कहकर श्रीसीताजी को समझाया॥६॥ मंत्री (सुमंत्रजी) की स्त्री, गुरु वशिष्ठजी की स्त्री अरुन्धतीजी एवं और भी सयानी स्त्रियाँ स्नेह-सहित कोमल वाणी से कह रही हैं॥७॥ तुमको तो वनवास नहीं दिया गया, जो ससुर, गुरु और सास कहती हैं, वही करो॥८॥ यह शीतल, हितकारी, मीठी और कोमल शिक्षा सुनकर श्रीसीताजी को अच्छी न लगी। मानों शरद्-ऋतु के चन्द्रमा की चाँदनी लगते (स्पर्श होते) ही चकई व्याकुल हो गई हो॥७८॥

विशेष—(१) 'औरउ सबहिं सीय ''—जब राजा के समझाने में न डरीं, तब औरों ने भी वन की विपत्ति कही और अधिक कहकर समझाया। राजा ने सुनाया-भर था, औरों ने उसे समझा-समझाकर कहा। सास आदि का सुख राजा ने ही समझाकर कहा था, इससे इन्होंने उसे न समझाया।

(२) 'सचिव नारि गुरु नारि'''—उन स्त्रियों के समझाने का प्रभाव न पड़ा। तब मंत्री की स्त्री और गुरु-पत्नी आदि बड़ी बूढ़ी समझाने लगीं जिनका विशेष दबाव है। सहित सनेह'—'मृदु बानी'—अर्थात् हृदय से स्नेह है और बाहर से मृदुवाणी है।

(३) 'तुम्ह कहँ तौ न दीन्ह ''—श्रीरामजी को माता-पिता ने वनवास दिया है तो वे आज्ञा मानकर वन को जाते हैं। वे ही तुम्हारे ससुर आदि तुम्हें घर रहने की आज्ञा देते हैं तो पति की तरह तुम भी आज्ञा का पालन करो। 'गुरु'—हम सब तुम्हारे गुरु वर्ग में हैं। ससुर और सास के मध्य में गुरु को कहकर उक्त कथन को गुरु-सम्मत जनाया।

(४) 'सिय सीतलि हित मधुर मृदु ···'—चाँदनी शीतल और हितकर होती है। वैसे ही इन स्त्रियों के वचन स्नेहमय हैं। अतएव मधुर हैं, मृदु वाणी से कहे गये हैं, अतएव मृदु हैं। चाँदनी अमृतमय होती है, वैसे वचन भी स्नेहमय हैं। शरद ऋतु की चाँदनी के लगने से चकवी अकुला उठती है, क्योंकि उससे उसका पति से वियोग होता है। वैसे ही इन वचनों से श्रीजानकीजी का पति से वियोग होगा, इससे ये भी अकुल हैं।

सीय सकुचवस उतर न देई। सो सुनि तमकि उठी कैकेई ॥१॥
मुनि-पट-भूषन भाजन आनी। आगे धरि बोली मृदु बानी ॥२॥
नृपहि प्रानप्रिय तुम्ह रघुबीरा। सील सनेह न छाड़िहि भीरा ॥३॥
सुकृत सुजस परलोक नसाऊ। तुम्हहि जान बन कहिहि न काऊ ॥४॥

अर्थ—श्रीसीताजी संकोच के मारे उत्तर नहीं देतीं, (परन्तु) इन बातों को सुनकर कैकेयी तमककर (क्रोध सहित तेजी से) उठी ॥१॥ और मुनियों के वस्त्र (वलकल), भूषण (माला-मेखला आदि) और पात्र (कमंडल) ले आई और श्रीरामजी के आगे रखकर उनसे कोमल वाणी से बोली ॥२॥ हे रघुवीर ! तुम राजा को प्राण-प्रिय हो, कादर लोग शील और स्नेह नहीं छोड़ेंगे ॥३॥ चाहे पुण्य, सुन्दर यश और परलोक नष्ट हो जाँय, पर वे कभी भी तुम्हें वन जाने को न कहेंगे ॥७८॥

विशेष—(१) 'सकुच बस उतर···'—उत्तर दे सकती हैं, पर गुरुजनों के प्रति उत्तर देने में संकोच है। 'तमकि उठी कैकेई'—राजा ने श्रीरामजी के रखने के लिये बहुत-से उपाय किये। उसपर श्रीरामजी ने भी कुछ उत्तर न दिया था—'लखी राम रुख रहत न जाने।' वैसे ही श्रीजानकीजी ने भी सबके कहने पर उत्तर न दिया। इसपर कैकेयी ने समझा कि ये सबलोगों के कहने-सुनने पर घर रहना चाहते हैं; वन जाने की इच्छा नहीं है। इसपर क्रोध से भरकर तेजी से उठी। 'मुनि पट भूषन ···'—यह सब लाकर रख दिया कि ये तपस्वी वेष बना लें तो वन जाने का निश्चय हो जाय। उसने ऐसा ही वर भी माँगा था कि मेरे सामने मुनि वेष करके जायँ—"होत प्रात मुनि बेष···" (दो० ३३)। 'बोली मृदुबानी'—कोमल वाणी से कहती है कि जिसमें प्रसन्न होकर वन को चल दें, क्योंकि कैकेयी का बल वचनबद्ध होने के कारण राजा ही पर है। श्रीरामजी यदि न जाना चाहें तो इनपर उसका बल नहीं है।

(२) 'नृपहि प्रान प्रिय तुम्ह···'—'प्रान-प्रिय'—राजा के प्राण चाहे चले जायँ, पर वे तुम्हें वन जाने को न कहेंगे, क्योंकि तुम उन्हें प्राणों से अधिक प्रिय हो। 'रघुबीर' अर्थात् तुम तो धर्म में वीर हो, अतः, धर्माचरण करो। राजा तो 'भीरा' अर्थात् धर्म में कादर हैं, इससे वे पुत्र का शील स्नेह नहीं छोड़ सकते।

(३) 'सुकृत सुजस परलोक···'—अर्थात् राजा तुम्हें वन भेजना नहीं चाहते। इसके कारण उनके सुकृत, सुयश और परलोक नाश हो जायँगे, यह भी उन्हें स्वीकार है, यथा—"अजस होउ जग सुजस नसाऊ। नरक परउँ बरु सुरपुर जाऊ ॥ ··· लोचन ओट राम जनि होहीं ॥" (दो० ४४)। तात्पर्य यह कि तुम स्वयं यदि वन को चले जाओ तभी राजा के सुकृत, सुयश आदि बच सकते हैं।

अस विचारि सोइ करहु जो भावा। राम जननि सिख सुनि सुख पावा ॥५॥
भूपहि बचन बान-सम लागे। करहिं न प्रान पयान अभागे ॥६॥
लोग बिकल मुरछित नरनाहू। काह करिय कछु सूझ न काहू ॥७॥
राम तुरत मुनिबेष बनाई। चले जनक जननी सिर नाई ।८॥

दोहा—सजि बन-साज-समाज सब, बनिता बंधु समेत।
बंदि बिप्र गुरु चरन प्रभु, चले करि सबहिं अचेत ॥७९॥

शब्दार्थ— पयान (प्रस्थान)= जाना, गमन। साज-समाज = सामान सामग्री।

अर्थ—ऐसा विचार कर वही करो, जो तुम्हें अच्छा लगे, श्रीरामजी ने माता कैकेयीजी की शिक्षा सुनकर सुख पाया ॥५॥ राजा को (कैकेयी के) वचन बाण के समान लगे, (वे हृदय मे कहते हैं कि) अभागे प्राण अब भी नहीं जाते ॥६॥ लोग व्याकुल हैं और राजा मूर्च्छित हैं। क्या किया जाय, यह किसी को नहीं सूझता ॥७॥ श्रीरामजी तुरत मुनियों का-सा वेष बनाकर पिता-माता को प्रणाम कर के चल दिये ॥८॥ वन का सब सामान (खंती, खाँचो, कुल्हाड़ी आदि) धारण कर स्त्री और भाई सहित प्रभु श्रीरामजी ब्राह्मण और गुरु के चरणों की वंदना कर सबको अचेत करके चले ॥७९॥

विशेष—(१) 'अस विचारि सोइ करहु ···'—राजा तुम्हारे लिये सुकृत आदि नाश कर रहे हैं। अब तुम्हारे हाथ की बात है। चाहे रक्खो और चाहे नाश होने दो। 'सिख सुनि सुख पावा'—श्रीरामजी को हाथ पकड़ कर बैठा लिया था। अतः, वे शील तोड़कर कैसे जाते, संकोच में थे। कैकेयी ने मुनि वेष की वस्तु ला दी और वचनों द्वारा धर्म का उपदेश करके जाने का भी योग लगा दिया, इसीसे श्रीरामजी ने सुख पाया।

(२) 'भूपहि बचन बान-सम···'—इस तरह के आघात पर भी प्राण नहीं निकलते। अतः, वियोग दुःख भी सहेंगे, इसीसे अभागे हैं। यथा—"ऐसेहु बचन कठोर सुनि, जो न हृदय बिलगान। तौ प्रभु बिषम बियोग दुःख, सहिहैं पामर प्रान ॥" (दो॰ ६०)।

(३) 'लोग बिकल मुरछित ···'— सब व्याकुल हैं ; यही कहते हैं कि क्या करें ? कुछ उपाय नहीं सूझता, वे रानी, राजा और श्रीरामजी, इनमें किसी का मत फेरने का उपाय नहीं पाते। राजा मूर्च्छित हैं। ऊपर कहा गया—'भूपहिं बचन बान सम लागे।' बाण लगने से मूर्च्छा होती ही है।

(४) 'राम तुरत मुनि बेष···'—'तुरत' से माताजी के वचन पालने में श्रद्धा दिखाई। माता-पिता को प्रणाम करके चले। यह आपका स्वभाव ही है। यथा —"प्रातकाल उठि के रघुनाथा। मातु-पिता गुरु नावहि माथा ॥" (बा॰ दो॰ २०४)। और यह भी भाव है कि वनवास के कारण हृदय में दुःख नहीं है। यह प्रणाम वन-यात्रा का मंगलाचरण भी है।

(५) 'सजि बन साज-समाज ·'—ऊपर मुनि वेष धारण में वलकल वस्त्र आदि आ गये। यहाँ 'साज-समाज' से खंती, खाँची, कुल्हाड़ी, पेटी, अस्त्र-शस्त्र, कवच, तर्कश लेने का अर्थ है। यथा—"खनित्र-पिटके चोभे समानयत गच्छत ।" (वाल्मी॰ २।३०।५) ; "तथैवायुधजातानि भ्रातृभ्यां कवचानि च। रथोपस्थे प्रविन्यस्य स चर्म कठिनं च यत् ॥" (वाल्मी॰ २।४०।१५) ; 'बंदि बिप्र गुरु चरन ··'

प्रथम कहा गया—"चले जनक जननी सिरनाई।" फिर यहाँ भी कहते हैं—'चले' इसका भाव यह है कि प्रथम कोप-भवन में माता-पिता को प्रणाम करके चले, तब बाहर गुरु वशिष्ठजी और विप्र-वृंद के प्रणामकर चले (यहाँ चौथे चरण में 'चले' में एक मात्रा अधिक हो गई; क्योंकि लोगों के साथ कवि भी विकल हैं। 'वनिता'—श्रीजानकीजी सादे वेष से ही गई थीं। शृंगवेरपुर में—'कनक बिंदु दुइ···' कहा गया है। वाल्मी० में स्पष्ट है; पर कुछ तापस-चिह्न भी था। यथा—"तापस वेष जनक सिय देखी।" (दो० २८५)।

> निकसि वसिष्ठद्वार भये ठाढ़े। देखे लोग बिरहदव दाढ़े ॥१॥
> कहि प्रिय बचन सकल समुझाये। बिप्रबृंद रघुबीर बोलाये ॥२॥
> गुरु सन कहि बरषासन दीन्हे। आदर दान बिनय बस कीन्हे ॥३॥
> जाचक दान मान संतोषे। मीत पुनीत प्रेम परितोषे ॥४॥

अर्थ—राज-मंदिर से निकल कर वसिष्ठजी के दरवाजे पर आकर खड़े हुए, देखा कि लोग विरह-रूपी दावाग्नि से दाढ़े (दग्ध हो रहे) हैं ॥१॥ प्रिय वचन कहकर सबको समझाया। फिर रघुवीर श्रीरामजी ने ब्राह्मण-मंडली को बुलाया ॥२॥ गुरुजी से कहकर उनको 'वर्षासन' दिया और उनका आदर दान और विनय से वश कर लिया ॥३॥ याचकों को दान और सम्मान से संतुष्ट किया। पवित्र मित्रों को पवित्र प्रेम से अच्छी तरह संतुष्ट किया ॥४॥

विशेष—(१) 'निकसि वसिष्ठद्वार भये···'—देवता, गुरु आदि के स्थान से यात्रा उत्तम कही गई है। यथा—"देवगृहाद्वा गुरुसद्मनाद्वा स्वगृहान्मित्रकलत्रगृहाद्वा।" (मुहूर्त चिंतामणि); अतः, श्रीरामजी गुरु के यहाँ से चलेंगे यहाँ ठाढ़े हुए, क्योंकि गुरु का घर वन के तुल्य है। 'बिरह दव···' यथा—"नगर सफल बन गहवर भारी। खग मृग बिपुल सकल नर-नारी॥ बिधि कैकई किरातिनि कीन्हीं। जेहि दव दुसह दसहुँ दिसि दीन्हीं॥" (दो० ८३)।

(२) 'कहि प्रिय बचन सकल···'—यहाँ प्रिय-वचन ये हैं कि मैं पिता की आज्ञा पूरी करके शीघ्र लौटूँगा। धर्म के कारण आपलोगों से पृथक् जाना हो रहा है क्योंकि मुझे ऐसा न करने से राजा असत्य-वादी होंगे और मैं भी पिता की आज्ञा न पालन करके धर्म से च्युत हूँगा, जोकि इस कुल के लिये सर्वथा अयोग्य है, क्योंकि इस कुल में सभी राजा सत्यसंध होते आये हैं। 'विप्रबृंद'—ये ब्राह्मण वे हैं जो पूजापाठ के वरणी थे और वर्षासन पाया करते थे। विद्यार्थियों एवं तपस्वियों के लिये भी वर्षासन दिया जाता था।

(३) 'गुरु सन कहि बरषासन ···'—शीघ्र जाना है, इसलिये स्वयं न देकर गुरु से कह दिया कि मेरे स्वकीय (कनकभवन के) धन से दे दिया जाय। यथा—"अहं प्रदातुमिच्छामि यदिदं मामकं धनम्। ब्राह्मणेभ्यस्तपस्विभ्यस्त्वयासह परंतप॥ वसन्तीह दृढं भक्त्या गुरुषु द्विजसत्तमाः। तेषामपि च मे भूयः सर्वेषां चोपजीविनाम्॥" (वाल्मी० २।३।।२५-२६); अर्थात् मैं अपना धन तपस्वी ब्राह्मणों, विद्यार्थियों और उपजीवियों को देना चाहता हूँ। 'वर्षासन' (वर्ष + अशन)=वर्ष भर के लिये भोजन, पर यहाँ १४ वर्ष के लिये दिये जाने से तात्पर्य है।

'आदर दान विनय बस कीन्हे'—ब्राह्मण आदर, दान और विनय से वश होते हैं। फिर इनके वश होने से त्रिदेव वश हो जाते हैं। यथा—"जौं विप्रन्ह बस करहु नरेसा। तौ तुअ बस विधि विष्णु महेसा॥" (बा० दो० १६४)।

(४) 'जाचक दान मान···'—मान बिना दान व्यर्थ है, अतः, मान के साथ दिया।

'मीत पुनीत ···'—'पुनीत' शब्द दीपदेहली है। पवित्र (निश्छल) मित्र द्रव्य आदि नहीं चाहते। इसलिये उन्हें शुद्ध प्रेम से संतुष्ट किया।

दासी दास बोलाइ बहोरी। गुरहिं सौंपि बोले कर जोरी॥५॥
सब के सार सँभार गोसाईं। करबि जनक जननी की नाईं॥६॥
बारहिं बार जोरि जुग पानी। कहत राम सब सन मृदु बानी॥७॥
सोइ सब भाँति मोर हितकारी। जेहि ते रहइ भुआल सुखारी॥८॥

दोहा—मातु सकल मोरे बिरह, जेहि न होहिं दुख दीन।
सोइ उपाय तुम्ह करेहु सब, पुरजन परम प्रवीन॥८०॥

अर्थ—फिर दासियों और दासों को बुलाकर गुरुजी को सौंपकर हाथ जोड़े हुए बोले॥५॥ हे गोसाईं! इन सबका पालन-पोषण (सार सँभार = देख-रेख) आप माता-पिता की तरह कीजियेगा॥६॥ बार-बार दोनों हाथ जोड़कर श्रीरामजी सबसे कोमल वाणी से कहते हैं॥७॥ कि वही सब प्रकार से मेरा हितैषी है जिससे राजा सुखी रहें॥८॥ जिससे सब माताएँ मेरे विरह में दुःख से दीन न हों, हे परम चतुर पुरजनो! तुम सब वही उपाय करना॥८०॥

विशेष—(१) 'दासी दास बोलाइ ··· ···'—दासी-दास श्रीरामजी को अत्यन्त प्रिय हैं। यथा—"सबके प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीती॥" (उ० दो० १५); इसलिये उन्हें बुलाया और तब गुरुजी को सौंपा; इससे उन्हें सम्मान और संतोष दिया। राजा शोक से विह्वल हैं। अतः, इस समय राज्य-कार्य गुरुजी के ही हाथ में है, इसलिये उन्हें ही सौंपा—'सबके सार सँभार ···' अर्थात् ये सेवक घर के हैं। कहीं जाने के नहीं; अतः, आप इनकी देख-भाल रखियेगा। गुरुजी से कहना है, अतः, हाथ जोड़कर कहा है।

[ये दासी-दास वे हैं जो श्रीजनकपुर से दायज में आये और जो श्रीकौशल्याजी के नैहर के थे]

'जनक जननी की नाईं'—क्योंकि श्रीरामजी स्वयं भी इन्हें माता-पिता के तुल्य पालते आये हैं। यह सूचित हुआ।

(२) 'बारहिं बार जोरि जुग···'—श्रीरामजी जानते हैं कि राजा हमारे विरह में अत्यन्त दुःखी हैं। इसलिये पुरजनों से बार-बार निहोरा करते हैं कि जिससे वे प्रवीणता-पूर्वक समझाते रहें। इस युक्ति से पुरजनों को भी समझा रहे हैं कि वे स्वयं निःशोच होकर राजा को समझाते रहें। इस तरह राजा को समझाने के लिये गुरुजी से न कहा, क्योंकि गुरुजी सर्वज्ञ हैं, कहीं ध्यान-द्वारा भविष्य जान गये हों और कह दें कि राजा तो जियेंगे ही नहीं, कोई क्या समझावेगा?

(३) 'सोइ सब भाँति'...'—जो राजा का हित करेगा उसे मैं अपना ही हित मानूँगा। 'भुआल' उनके सुखी रहने से पृथिवी-भर के लोग सुखी रहेंगे। 'जेहि ते'—ऊँच-नीच कोई भी क्यों न हो।

(४) 'मातु सकल मोरे बिरह'...'—सब माताएँ श्रीरामजी को समान प्रिय हैं। यथा—"कौसल्यादि सकल महतारी। रामहिं सहज सुभाय पियारी॥" (दो० १४), अतः, 'सकल' कहा है। 'सोइ' अर्थात् जिस तरह बने, तुम सब परम प्रवीण हो, इससे जानते हो।

येहि बिधि राम सबहिं समुझावा। गुरु पद-पदुम हरषि सिर नावा॥१॥
गनपति गौरि गिरीस मनाई। चले असीस पाइ रघुराई॥२॥
राम चलत अति भयेउ बिषादू। सुनि न जाइ पुर आरतनादू॥३॥
कुसगुन लंक अवध अति सोकू। हरष - बिषाद - बिबस सुरलोकू॥४॥

अर्थ—इस प्रकार श्रीरामजी ने सबको समझाया। गुरुजी के चरणकमलों में हर्षपूर्वक शिर नवाया॥१॥ श्रीगणेशजी, श्रीपार्वतीजी और कैलाशगिरि के स्वामी श्रीशिवजी को वंदना करके और (गुरुजी की) आशिष पाकर श्रीरघुनाथजी चले॥२॥ श्रीरामजी के चलते ही अत्यन्त विषाद हुआ। नगर-भर का आर्तस्वर (रोने का शब्द) सुना नहीं जाता॥३॥ लंका में अशकुन और अवध में अत्यंत शोक होने लगा। देवलोक हर्ष और विषाद के विशेष वश हो गया॥४॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि राम सबहिं समुझावा।'—'सब' को समझाना एक साथ ऐश्वर्य दृष्टि से ही बनता है। इसलिये 'राम' शब्द दिया गया। इसका उपक्रम—"कहि प्रिय बचन सकल समुझाये।" (दो० ७१); और यहाँ—'येहि बिधि राम'...' उपसंहार है।

(२) 'गुरु-पद-पदुम हरषि'...'—'पदुम'—गुरुजनों के चरणों को कमल से उपमित करने की रीति है। 'हरषि'—गुरुजी को प्रणाम करते हुए हर्ष एवं पुलक होना ही चाहिये। यथा—"रामहि सुमिरत रन भिरत, देत परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तन, ते जग जीवत जाय॥" (दोहावली ४२)।

(३) 'गनपति गौरि गिरीस मनाई।'—विघ्न निवारण करने के लिये गणेशजी को मनाया। शत्रु विनाश हेतु दुर्गा (गौरी) को, यथा—"दुरगा कोटि अमित अरिमर्दन।" (उ० दो० ९०); रण में स्थिरता और शत्रु पर विजय प्राप्ति के लिये गिरीश को मनाया। यात्रा में प्रायः इनके मनाने की रीति भी है। 'चले असीस पाइ'...' गुरुजी ने प्रत्यक्ष आशिष दी और देवताओं ने परोक्ष। इन सबको मना कर चलने से माधुर्य का नाम 'रघुराई' दिया गया। चलने के संबंध में प्रायः 'रघुराई' नाम दिया गया है। क्योंकि—'रघि गतौ' धातु के अनुसार 'रंघति गच्छतीति रघुः' शब्द का मेल है।

(४) 'राम चलत अति'...'—विषाद तो प्रथम से ही था, अब 'अति' हो गया। इसीसे बड़े जोर से सब रो रहे हैं। वह आर्त-स्वर सुना नहीं जाता, करुणा छा गई है। सब त्याग कर चल दिये। यथा—"राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ कि नाईं॥" (क० अ० १)।

(५) 'कुसगुन लंक अवध ''हरष-बिषाद'''—यहाँ यथासंख्य अलंकार की रीति से अर्थ है। लंका में अशकुन हुए, इससे देवताओं को हर्ष हुआ, क्योंकि इससे राक्षसों का नाश अपना बदी खाने से छूटना निश्चय हुआ। अवध में अत्यंत शोक हुआ। इससे उन्हें विषाद हुआ। क्योंकि इन निर्दोष प्रजाओं को दुःख देने के कारण वे ही हैं। अतः, यह अत्यंत शोक देखकर दुखी हो गये।

गइ मुरछा तब भूपति जागे। बोलि सुमंत्र कहन अस लागे ॥५॥
राम चले बन प्रान न जाहीं। केहि सुख लागि रहत तनु माहीं ॥६॥
येहि ते कवन व्यथा बलवाना। जो दुख पाइ तजिहि तनु प्राना ॥७॥
पुनि धरि धीर कहइ नरनाहू। लेइ रथ संग सखा तुम्ह जाहू ॥८॥

दोहा—सुठि सुकुमार कुमार दोउ, जनकसुता सुकुमारि।
रथ चढ़ाइ दिखराइ बन, फिरेहु गये दिन चारि ॥८१॥

अर्थ—मूर्च्छा दूर हुई तब राजा जगे (सचेत हुए) और सुमंत्रजी को बुलाकर ऐसा कहने लगे ॥५॥ श्रीरामजी वन को चल दिये, पर प्राण नहीं निकल रहे हैं। किस सुख के लिये शरीर में रहते हैं ? ॥६॥ इससे अधिक प्रबल कौन-सी पीड़ा होगी कि जिसे पाकर शरीर प्राणों को छोड़ेगा ॥७॥ राजा ने फिर धैर्य धरकर कहा कि हे सखा ! तुम रथ को लेकर साथ जाओ ॥८॥ दोनों कुमार अत्यन्त सुकुमार हैं और जानकीजी भी अत्यंत सुकुमारी हैं। रथ में चढ़ाकर ले जाओ, वन दिखलाकर चार दिन बीतते ही लौट आना ॥८१॥

विशेष—(१) 'गइ मुरछा तब···'—जब कैकेयी ने मुनि-पट-भूषण आदि लाकर श्रीरामजी को दिया था। राजा तभी मूर्च्छित हो गये थे—"लोग विकल मुरछित नरनाहू।" कहा गया था, वह मूर्च्छा अब छूटी। यहाँ धैर्य धरने से चेतनता हुई। यह आगे 'पुनि धरि धीर कहइ' से स्पष्ट है कि प्रथम भी धैर्य धरना हुआ है।

(२) 'राम चले वन प्रान···'—'राम' के वन जाने के साथ प्राणों को निकल जाना था। यथा—"राम लखन सिय बनहिं सिधाये। गइउँ न संग न प्रान पठाये ॥" (दो० १६५)। पर मूर्च्छा होने पर भी नहीं गये। प्राण सुख के लोभ से शरीर में रहते हैं सो अब इन्हें कौन-सा सुख है जिसके लिये ठहरे हुए हैं। सुख-स्वरूप तो रामजी हैं, वे चले ही गये।

(३) 'येहि ते कवन व्यथा···'—दुःख से प्राण निकलते हैं, सो राम-वियोग से अधिक कौन-सी पीड़ा होगी, जिसपर प्राण निकलेंगे, यथा—"सब दुख दुसह सहावहु मोहीं। लोचन ओट राम जनि होहीं ॥" (दो० ४४)।

(४) 'पुनि धरि धीर कहइ···'—'नरनाह' हैं, बड़े-बड़े आघात भी सहनेवाले हैं, अतएव धैर्य धारण किया। सामान्य व्यक्ति ऐसा धैर्य नहीं धर सकता। 'सखा तुम्ह जाहू'—'सहायं ख्यातीति सखा' अर्थात् तुम सखा हो हमारी सहायता करो। तुम स्वयं जाओ, क्योंकि आगे कहा हुआ कार्य समझाना-बुझाना तुम्हीं से अच्छा होगा। अथवा सखा हो, अतः, प्राण-समान हो, प्राण न गये तो बदले में तुम्हीं साथ जाओ।

(५) 'सुठि सुकुमार कुमार···'—अत्यन्त सुकुमार हैं, पैदल चलने के योग्य नहीं हैं, अतः, रथ पर चढ़ाकर ले जाओ। वन में रहने योग्य नहीं हैं, अतएव वन दिखलाकर लौटा लाओ। 'दिन चारि' अल्पकाल का वाचक है, यथा—"यह सपना मैं कहउँ पुकारी। होइहि सत्य गये दिन चारी ॥" (सुं०

(३) 'सोइ सब भाँति···'—जो राजा का हित करेगा उसे मैं अपना ही हित मानूँगा। 'भुआल' उनके सुखी रहने से पृथिवी-भर के लोग सुखी रहेंगे। 'जेहि ते'—ऊँच-नीच कोई भी क्यों न हो।

(४) 'मातु सकल मोरे बिरह···'—सब माताएँ श्रीरामजी को समान प्रिय हैं। यथा—"कौसल्यादि सकल महतारी। रामहिं सहज सुभाय पियारी॥" (दो० १४); अतः, 'सकल' कहा है। 'सोइ' अर्थात् जिस तरह बने, तुम सब परम प्रवीण हो, इससे जानते हो।

येहि बिधि राम सबहिं समुझावा। गुरु-पद-पदुम हरषि सिर नावा ॥१॥
गनपति गौरि गिरीस मनाई। चले असीस पाइ रघुराई ॥२॥
राम चलत अति भयेउ बिषादू। सुनि न जाइ पुर आरतनादू ॥३॥
कुसगुन लंक अवध अति सोकू। हरष - बिषाद - बिबस सुरलोकू ॥४॥

अर्थ—इस प्रकार श्रीरामजी ने सबको समझाया। गुरुजी के चरणकमलों में हर्षपूर्वक सिर नवाया ॥१॥ श्रीगणेशजी, श्रीपार्वतीजी और कैलाशगिरि के स्वामी श्रीशिवजी की वंदना करके और (गुरुजी की) आशिष पाकर श्रीरघुनाथजी चले ॥२॥ श्रीरामजी के चलते ही अत्यन्त विषाद हुआ। नगर-भर का आर्तस्वर (रोने का शब्द) सुना नहीं जाता ॥३॥ लंका में अशकुन और अवध में अत्यंत शोक होने लगा। देवलोक हर्ष और विषाद के विशेष वश हो गया ॥४॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि राम सबहिं समुझावा।'—'सब' को समझाना एक साथ ऐश्वर्य दृष्टि से ही बनता है। इसलिये 'राम' शब्द दिया गया। इसका उपक्रम—"कहि प्रिय बचन सकल समुझाये।" (दो० ७१); और यहाँ—'येहि बिधि राम···' उपसंहार है।

(२) 'गुरु-पद-पदुम हरषि ···'—'पदुम'—गुरुजनों के चरणों को कमल से उपमित करने की रीति है। 'हरषि'—गुरुजी को प्रणाम करते हुए हर्ष एवं पुलक होना ही चाहिये। यथा—"रामहि सुमिरत रन भिरत, देत परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तन, ते जग जीवत जाय॥" (दोहावली ४२)।

(३) 'गनपति गौरि गिरीस मनाई।'—विघ्न निवारण करने के लिये गणेशजी को मनाया। शत्रु-विनाश-हेतु दुर्गा (गौरी) को, यथा—"दुरगा कोटि अमित अरिमर्दन।" (उ० दो० ९०); रण में स्थिरता और शत्रु पर विजय प्राप्ति के लिये गिरीश को मनाया। यात्रा में प्रायः इनके मनाने की रीति भी है। 'चले असीस पाइ ···' गुरुजी ने प्रत्यक्ष आशिष दी और देवताओं ने परोक्ष। इन सबको मना कर चलने माधुर्य का नाम 'रघुराई' दिया गया। चलने के संबंध में प्रायः 'रघुराई' नाम दिया गया है। क्योंकि 'रघि गतौ' धातु के अनुसार 'रंघति गच्छतीति रघुः' शब्द का मेल है।

(४) 'राम चलत अति···'—विषाद तो प्रथम से ही था, अब 'अति' हो गया। ... ओर से सब रो रहे हैं। वह आर्त-स्वर सुना नहीं जाता, करुणा छा गई है। सब त्याग यथा—"राजियलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ कि नाईं॥" (क० अ० १)।

(५) 'कुसगुन लंक अवध ··हरष-बिषाद···'—यहाँ यथासंख्य अलंकार की लंका में अशकुन हुए, इससे देवताओं को हर्ष हुआ, क्योंकि इससे राक्षसों का नाश छूटना निश्चय हुआ। अवध में अत्यंत शोक हुआ। इससे उन्हें विषाद हुआ प्रजाओं को दुःख देने के कारण वे ही हैं। अतः, यह अत्यंत शोक देखकर दुखी हो

येहि बिधि करेहु उपायकदंबा। फिरइ त होइ प्रान-अवलंबा ॥६॥
नाहि त मोर मरन परिनामा। कछु न बसाइ भये बिधि बामा ॥७॥
अस कहि मुरछि परा महि राऊ। राम-लखन-सिय आनि देखाऊ ॥८॥

दोहा—पाइ रजायसु नाइ सिर, रथ अतिबेग बनाइ।
गयेउ जहाँ बाहेर नगर, सीयसहित दोउ भाइ ॥८२॥

अर्थ—इस प्रकार कदंब (बहुत-से) उपाय करना, यदि वे लौटें तो प्राणों को सहारा हो जाय ॥६॥ नहीं तो अंत में मेरा मरण होगा। विधाता के वाम (विपरीत) होने पर कुछ वश नहीं चलता ॥७॥ ऐसा कहकर राजा मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़े (और बोले कि) श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी को लाकर दिखाओ ॥८॥ राजा की आज्ञा पा शिर नवाकर सुमंत्रजी अत्यन्त फुर्ती से एवं अत्यन्त तेज चलनेवाला रथ तैयार करके नगर के बाहर गये, जहाँ श्रीसीताजी के साथ दोनों भाई थे ॥८२॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि करेहु···'—भाव यह कि हमने लक्ष्य-मात्र करा दिया, तुम इसी तरह से और भी बहुत-से उपाय करना। पुनः यह भी कि जैसे हमने रामजी के रखने के लिये बहुत उपाय किये हैं, यथा—"राय राम राखन हित लागी। बहुत उपाय किये छल त्यागी" (दो० ७७)। वैसे तुम श्रीसीताजी के फेरने के लिये करना।

'प्रान अवलंबा'—श्रीसीताजी श्रीरामजी की अर्द्धांगिनी हैं। तत्त्वतः भी उनसे अपृथक् तत्त्व हैं। यह—"गिरा अरथ जल बीचि···" (बा० दो० १८); और मनु-प्रसंग पर कहा गया है। इससे उनके आधार पर प्राण रह सकते हैं, क्योंकि हमारा जीवन राम-दर्शन के अधीन है; यथा—"जीवन राम दरस आधीना।" (दो० ३१)।

(२) 'नाहिं त मोर मरन परिनामा।···'—'नाहिं त' अर्थात् जबतक तुम न आओगे तबतक इस आशा में हम प्राण रक्खेंगे। 'परिनामा,' अर्थात् प्रतिफल-रूप में, अंत में।

'बिधि बामा'—जब अपने सब उपाय निष्फल हो जायँ, तब समझ लेना चाहिये कि विधि वाम हैं, अर्थात् हमारे भाग्य बुरे हैं। वही राजा भी कह रहे हैं, क्योंकि ये श्रीरामजी के रखने का बहुत उपाय कर चुके। अब यही एक और कर रहे हैं, यदि न सिद्ध न हुआ तो विधिवामता का निश्चय कर लेंगे।

(३) 'अस कहि मुरछि परा महि···'—श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी की ओर से निराशता तो थी ही, यथा—"जौ नहि फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्यसंध दृढ़ब्रत रघुराई ॥" (दो० ८१); श्रीजानकीजी के लौटने में भी उक्त विधिवामता की कल्पना आ गई। अतः, निराश होकर यह कहते हुए मूर्च्छित हो गये कि श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी को लाकर दिखाओ। जैसा—"रथ चढ़ाइ दिखराइ बन, फिरेहु गये दिन चारि।" पर कह चुके हैं। 'अस कहि' शब्द आगे और पीछे दोनों के साथ लग सकता है। 'सिय' शब्द को अंत में करके 'आनि देखाऊ' के साथ रक्खा है, क्योंकि इनके लौटने की विशेष आशा है।

'रथ अति बेग'—अर्थात् उसमें बहुत तेज चलनेवाले घोड़े जोतकर।

दो० १०); अर्थात् शीघ्र लौटा लाओ। भाव यह कि मार्ग में धूप, बयारि और भूख प्यास से दुःखित हो लौट आवेंगे।

जौं नहि फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्यसंध दृढ़व्रत रघुराई ॥१॥
तौ तुम्ह बिनय करेहु कर जोरी। फेरिय प्रभु मिथिलेस-किसोरी ॥२॥
जब सिय कानन देखि डेराई। कहेहु मोर सिख अवसर पाई ॥३॥
सासु ससुर अस कहेउ सँदेसू। पुत्रि फिरिय बन बहुत कलेसू ॥४॥
पितुगृह कबहुँ कबहुँ ससुरारी। रहेहु जहाँ रुचि होइ तुम्हारी ॥५॥

अर्थ—दोनों भाई धैर्यवान् हैं और श्रीरामजी सत्यप्रतिज्ञ और व्रत-धारण में दृढ़ हैं, अतएव यदि वे न फिरें ॥१॥ तो तुम हाथ जोड़कर विनती करना कि हे प्रभो! जानकीजी को लौटा दीजिये ॥२॥ जब श्रीसीताजी वन देखकर डरें तब अवसर पाकर मेरी शिक्षा कहना ॥३॥ कि सास और ससुर ने ऐसा संदेश कहा कि हे पुत्री! घर लौट चलिये, वन में बहुत क्लेश होता है ॥४॥ कभी पिता के घर और कभी ससुराल में जब जहाँ तुम्हारी रुचि हो रहना ॥५॥

विशेष—(१) 'जौं नहि फिरहिं धीर ···'—'धीर' दोनों भाई विषय त्यागने में और वन के क्लेश सहने में धीर हैं। 'सत्यसंध'—श्रीरामजी सत्य प्रतिज्ञ हैं। कैकेयी के सामने वनवास की प्रतिज्ञा कर चुके और 'दृढ़व्रत' हैं, मुनि-वेष और वृत्ति का व्रत धारण कर चुके हैं। अतः, जो वे अपनी प्रतिज्ञा और व्रत न छोड़ें क्योंकि 'रघुराई' हैं, रघुवंशी सभी दृढ़व्रत और सत्यप्रतिज्ञ होते आये हैं, ये तो उनमें श्रेष्ठ हैं।

(२) 'तौ तुम बिनय करेहु···'—इस तरह विनय से वे प्रसन्न होकर लौटा देंगे, क्योंकि वे ही लौटाने में 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं। 'मिथिलेस-किसोरी' भाव यह कि हम मिथिलेशजी को क्या उत्तर देंगे। 'मिथिलेस' शब्द से पिता का ऐश्वर्य और 'किसोरी' से वहाँ के लाड़-दुलार का भाव है।

(३) 'जब सिय कानन देखि ···'—श्रीजानकीजी को कौशल्याजी, श्रीरामजी, राजा स्वयं; पुनः औरों ने भी वन के दुःख सुनाये। पर वे न डरी थीं, किन्तु वन देखकर अवश्य डरेंगी। तब उसी अवसर पर मेरी शिक्षा कहना, जिससे धैर्य धारण हो। यहाँ 'सिख', 'उपदेश' और 'संदेश' एक ही अर्थ में हैं।

(४) 'सासु ससुर अस···'—सास कौशल्याजी यद्यपि उस स्थल पर नहीं हैं, तथापि राजा उनकी तरफ से कहते हैं। इसलिये कि जानकीजी कौशल्याजी को बहुत मानती हैं। उनकी आज्ञा सुनकर अवश्य लौटेंगी। (कौशल्याजी यह क्यों न चाहेंगी, यह राजा जानते ही हैं)। 'पुत्रि' शब्द का भाव भी पुत्र शब्द के समान नरक से बचाने का है; अर्थात् तुम्हारे लौटने से हम सब नरक का-सा दुःख भोगने से बचेंगे। यथा—"तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु, सुर पुर नरक समान॥" (दो० ६४); 'बन बहुत कलेसू'—अभी तो वन का प्रारंभ ही है आगे बहुत क्लेश है। 'पितु गृह कबहुँ '—पिता का घर लड़कियों को अधिक रुचिकर होता है। इससे प्रथम कहा 'जहाँ रुचि होइ'—लड़की नैहर में माता-पिता की रुचि से विदा होती है और ससुराल में सास-ससुर की रुचि से। सो न होगा, यहाँ और वहाँ का आना-जाना तुम्हारी ही रुचि से रहेगा।

येहि बिधि करेहु उपायकदंबा । फिरइ त होइ प्रान-अवलंबा ॥६॥
नाहि त मोर मरन परिनामा । कछु न बसाइ भये बिधि बामा ॥७॥
अस कहि मुरछि परा महि राऊ । राम-लखन-सिय आनि देखाऊ ॥८॥

दोहा—पाइ रजायसु नाइ सिर, रथ अतिबेग बनाइ ।
गयेउ जहाँ बाहेर नगर, सीयसहित दोउ भाइ ॥८२॥

अर्थ—इस प्रकार कदंब (बहुत-से) उपाय करना, यदि वे लौटें तो प्राणों को सहारा हो जाय ॥६॥ नहीं तो अंत में मेरा मरण होगा । विधाता के वाम (विपरीत) होने पर कुछ वश नहीं चलता ॥७॥ ऐसा कहकर राजा मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़े (और बोले कि) श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी को लाकर दिखाओ ॥८॥ राजा की आज्ञा पा शिर नवाकर सुमंत्रजी अत्यन्त फुर्ती से एवं अत्यन्त तेज चलनेवाला रथ तैयार करके नगर के बाहर गये, जहाँ श्रीसीताजी के साथ दोनों भाई थे ॥८२॥

विशेष—(१) 'येहि विधि करेहु···'—भाव यह कि हमने लक्ष्य-मात्र करा दिया, तुम इसी तरह से और भी बहुत-से उपाय करना । पुनः यह भी कि जैसे हमने रामजी के रखने के लिये बहुत उपाय किये हैं, यथा—"राय राम राखन हित लागी । बहुत उपाय किये छल त्यागी" (दो० ७७) । वैसे तुम श्रीसीताजी के फेरने के लिये करना ।

'प्रान अवलंबा'—श्रीसीताजी श्रीरामजी की अर्द्धांगिनी हैं । तत्त्वतः भी उनसे अपृथक् तत्त्व हैं । यह—"गिरा अरथ जल बीचि···" (बा० दो० १८); और मनु-प्रसंग पर कहा गया है । इससे उनके आधार पर प्राण रह सकते हैं, क्योंकि हमारा जीवन राम-दर्शन के अधीन है ; यथा—"जीवन राम दरस आधीना ।" (दो० ३१) ।

(२) 'नाहि त मोर मरन परिनामा ।···'—'नाहि त' अर्थात् जबतक तुम न आओगे तबतक इस आशा में हम प्राण रक्खेंगे । 'परिनामा,' अर्थात् प्रतिफल-रूप में, अंत में ।

'बिधि बामा'—जब अपने सब उपाय निष्फल हो जायँ, तब समझ लेना चाहिये कि विधि वाम हैं, अर्थात् हमारे भाग्य बुरे हैं । वही राजा भी कह रहे हैं, क्योंकि ये श्रीरामजी के रखने का बहुत उपाय कर चुके । अब यही एक और कर रहे हैं, यदि न सिद्ध न हुआ तो विधिवामता का निश्चय कर लेंगे ।

(३) 'अस कहि मुरछि परा महि'···'—श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी की ओर से निराशता तो थी ही, यथा—"जौ नहि फिरहिं धीर दोउ भाई । सत्यसंध दृढ़ब्रत रघुराई ॥" (दो० ८१); श्रीजानकीजी के लौटने में भी उक्त विधिवामता की कल्पना आ गई । अतः, निराश होकर यह कहते हुए मूर्च्छित हो गये कि श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी को लाकर दिखाओ । जैसा—"रथ चढ़ाइ दिखराइ बन, फिरेहु गये दिन चारि ।" पर कह चुके हैं । 'अस कहि' शब्द आगे और पीछे दोनों के साथ लग सकता है । 'सिय' शब्द को अंत में करके 'आनि देखाऊ' के साथ रक्खा है, क्योंकि इनके लौटने की विशेष आशा है ।

'रथ अति वेग'—अर्थात् उसमें बहुत तेज चलनेवाले घोड़े जोतकर ।

तब सुमंत्र नृपबचन सुनाये । करि बिनती रथ राम चढ़ाये ॥१॥
चढ़ि रथ सीयसहित दोउ भाई । चले हृदय अवधहि सिर नाई ॥२॥
चलत राम लखि अवध अनाथा । बिकल लोग सब लागे साथा ॥३॥
कृपासिंधु बहुबिधि समुझावहिं । फिरहिं प्रेमबस पुनि फिरि आवहिं॥४॥
लागति अवध भयावनि भारी । मानहुँ कालराति अँधियारी ॥५॥

अर्थ—तब सुमंत्रजी ने राजा के वचन ('रथ चढ़ाइ दिखराइ बन···') सुनाये और विनती करके श्रीरामजी को रथ पर चढ़ाया ॥१॥ श्रीसीताजी सहित दोनों भाई रथ पर चढ़कर, हृदय में अयोध्यापुरी को प्रणाम करके चले ॥२॥ श्रीरामजी को जाते हुए और अयोध्या को अनाथ देखकर सब लोग व्याकुल होकर साथ चले ॥३॥ कृपा के सागर श्रीरामजी बहुत तरह से समझाते हैं, उसपर वे लौटकर अयोध्या की ओर चलते हैं, पर प्रेम-वश फिर लौट पड़ते हैं ॥४॥ अवधपुरी भारी डरावनी लगती है, मानों अँधेरी कालरात्रि है ॥५॥

विशेष—(१) 'तब सुमंत्र नृप ··'—केवल सुमंत्रजी के कहने से रथ पर न चढ़ते, इसलिये राजा की आज्ञा सुनाई। फिर भी सुमंत्रजी को बहुत विनती करनी पड़ी। रथ पर प्रथम श्रीजानकीजी चढ़ीं, तब श्रीरामजी और फिर पीछे श्रीलक्ष्मणजी भी चढ़े। यथा—"राम सखा तब नाव मँगाई। प्रिया-चढ़ाइ चढ़े रघुराई॥ लखन बान धनु ' आप चढ़े···" (दो॰ १५०); अर्थात् ऐसी ही रीति है। 'हृदय अवधहि सिरनाई'—अयोध्यापुरी सप्त पुरियों में श्रेष्ठ है। पुनः इनके पूर्वज महात्मा राजाओं की राजधानी है, इसीसे इसे प्रणाम करके चले। हृदय से प्रणाम किया, इससे श्रद्धा एवं प्रीति दिखाई। बाहर से प्रणाम करने पर दुष्ट लोग यह भी कह सकते थे कि इन्हें बड़ा मोह है; इससे अयोध्या छोड़ी नहीं जाती। हाँ, वनवास-पूर्त्ति पर बाहर से भी प्रणाम करेंगे—"सीता सहित अवध कहँ, कीन्ह कृपाल प्रनाम।" (दो॰ १२०)। वाल्मी॰ २।५०।१—३ में इसी प्रसंग पर प्रकट ही प्रणाम करना कहा गया है।

(२) 'चढ़ि रथ सीयसहित ' '—यह अर्द्धाली यात्रा में मंगलकारक-मन्त्र-रूपा है।

(३) 'चलत राम लखि अवध···'—ऊपर श्रीरामजी का अवध को प्रणाम करना कहा गया, इसपर संदेह होता कि अयोध्या का नाथ कोई और परात्पर होगा। उसका समाधान इस अर्द्धाली से करते हैं कि अवध के नाथ आप ही हैं, बिना आपके वह अनाथ हो रही है। जैसा आगे प्रकट है—"लागति अवध भयावनि भारी।·····" इत्यादि।

(४) कृपासिंधु बहुबिधि समुझावहिं ' '—'कृपासिंधु' पुरवासियों पर कृपा है, इसीसे समझाते हैं, क्योंकि उनको साथ जाने में बड़ा दुःख होगा। समझाते हैं कि राजा तो बने ही हैं, आपलोगों का पूर्ववत् पालन करेंगे, फिर भरतजी भी धर्मात्मा हैं, वे आकर अच्छी तरह आपलोगों का सार-सँभार रक्खेंगे। हम पिता की आज्ञा पूरी कर शीघ्र ही आ जायँगे। १४ वर्ष शीघ्र ही बीत जायँगे। अब आप लौट जायँ, चलने से व्यर्थ ही बहुत कष्ट झेल रहे हैं, इत्यादि।

(५) 'लागति अवध भयावनि ···'—पुरजन श्रीरामजी के समझाने पर उनकी आज्ञा मानकर लौट तो पड़ते हैं, पर फिर उधर ही को फिर जाते हैं। इसका एक कारण तो यह बतलाया कि वे सब दृप्रेमवश फिरते हैं। दूसरा यहाँ से कह रहे हैं कि उन्हें अयोध्या भयावनी लगती है जैसे अँधेरी काल

रात्रि हो, अँधेरी रात यों ही भयानक होती है, इसमें तो काल भी वर्तमान है। भाव यह कि सब श्रीरामजी के बिना मृत तुल्य हो रहे हैं। किसी को कुछ सूझता नहीं है। अयोध्या इनके लिये कालरात्रि नहीं है। पर ये स्वयं उसे देखकर डर रहे हैं। इसलिये 'मानहुँ' कहा गया है। जहाँ यथार्थ कालरात्रि का रूपक होता है। वहाँ 'मानहु' नहीं कहते, यथा—"कालराति निसिचर कुल केरी। तेहि सीता पर प्रीति घनेरी॥" (सुं० दो० ३६); अर्थात् श्रीसीताजी निशाचरों का नाश करके ही लौटेंगी। 'कालराति'=प्रलय की रात, मृत्यु की रात।

घोर जंतुसम पुर-नर-नारी। डरपहिं एकहिं एक निहारी॥६॥
घर मसान परिजन जनु भूता। सुत हित मीत मनहुँ जमदूता॥७॥
बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं। सरित सरोवर देखि न जाहीं॥८॥

दोहा—हय गय कोटिन्ह केलिमृग, पुरपसु चातक मोर।
पिक रथांग सुक सारिका, सारस हंस चकोर॥८३॥

रामबियोग बिकल सब ठाढ़े। जहँ तहँ मनहुँ चित्र लिखि काढ़े॥१॥

शब्दार्थ—रथांग=रथ का अंग=चक्र। इससे यहाँ चक्रवाक का अर्थ लिया गया है।

अर्थ—नगर के स्त्री-पुरुष भयानक जन्तुओं (क्रूर जीवों) के समान हैं। एक-एक (दूसरे) को देखकर डरते हैं॥६॥ घर मरघट और कुटुम्बी मानों भूत हैं। पुत्र, हितैषी और मित्र मानों यमदूत हैं॥७॥ बागों में वृक्ष और बेलें कुम्हला रही हैं। नदी और तालाब देखे नहीं जाते॥८॥ करोड़ों घोड़े, हाथी, क्रीड़ा के पशु, नगर के पशु (गाय, भैंस आदि), पपीहा, मोर, कोयल, चकवा, तोता, मैना, सारस, हंस और चकोर॥८३॥ ये सब श्रीरामजी के वियोग में व्याकुल खड़े हैं, मानों जहाँ-तहाँ तसवीरें कढ़ी हुई (लिखी एवं खिंची हुई) खड़ी हैं। अर्थात् चलते-फिरते नहीं॥१॥

विशेष—(१) 'घोर जंतुसम पुर-नर...'—पुर की भयानकता कहकर पुरजनों को कहते हैं कि कालरात्रि-रूपी अयोध्या के नर-नारी ही घोर जन्तु (बाघ-सिंह, सर्प आदि) हैं। एक दूसरे से डरते हैं। आगे घर का हाल भी कहते हैं। अयोध्या को 'भारी' भयानक कहा था। वैसे ही वहाँ के नर-नारी को 'घोर' जन्तु-सम कहते हैं। प्रलय की रात्रि के समय बहुत-से मरघट चाहिये, वैसे ही लाखों घर ही लाखों मरघट हैं। मरघटों में भूत रहते हैं, वैसे यहाँ कुटुम्बी भूत के समान भयानक हैं। यमदूत जीवों को पकड़कर यमपुरी को ले जाते हैं। वैसे ये लोग भी पकड़कर अयोध्या ले जायँगे, तब श्रीरामजी से हमारा वियोग होगा, यह समझकर इन्हें देखते हुए डरते हैं।

यहाँ तक जंगम की दशा कही, आगे स्थावर की कहते हैं—

(२) 'बागन्ह बिटप बेलि...'—श्रीरामजी चराचर की आत्मा हैं। अतएव सबको प्रिय हैं—"ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी।" (बा० दो० २१५); इसीसे इनके वियोग में सभी विकल हो रहे हैं। चेतनों में स्त्री-पुरुष कहे गये, वैसे जड़ों में भी कहते हैं। वेलि स्त्री और विटप पुरुष हैं, विरहाग्नि से मुरझा गये हैं। नदी-तालावों के जल गर्म हो गये हैं। यथा—"विषये ते महाराज महाव्यसनकर्शिताः।

अपि वृक्षाः परिम्लानाः सपुष्पांकुरकोरकाः ॥ उपतप्तोदका नद्यः पल्वलानि सरांसि च। परिशुष्कपलाशानि वनान्युपवनानि च ॥" (वाल्मी० २।५९।४–५) ; इत्यादि बहुत कहा है।

(३) 'हय गय कोटिन्ह केलिमृग···'—पहले बाग, नदी, तालाब आदि कहकर तब हय-गय आदि कहे गये, क्योंकि हाथी, घोड़े आदि पशु नदी-तालाबों में जल पीने आते हैं और पक्षिगण बागों में आते हैं। यहाँ तक तीन कोटि के जीव कहे गये—१. नर-नारी, चैतन्य; २. विटप वेलि, जड़ और ३. पशु-पक्षी न केवल जड़ और न केवल चैतन्य ही हैं।

(४) 'रामवियोग बिकल सब···'—सब जड़ के समान हो रहे हैं। चित्र की तरह हिलते-डोलते नहीं, तात्पर्य यह कि जब जड़ों की यह दशा है तो मनुष्यों की क्या कहना, यथा—"जासु वियोग बिकल पसु ऐसे। प्रजा मातु पितु जीइहि कैसे ॥" (दो० ९९)।

नगर सफल बन गहबर भारी। खग मृग बिपुल सकल नरनारी ॥२॥
बिधि कैकई किरातिनि कीन्हीं। जेहि दव दुसह दसहुँ दिसि दीन्हीं ॥३॥
सहि न सके रघुबर-बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भागी ॥४॥
सबहिं बिचार कीन्ह मन माहीं। राम-लखन-सिय बिनु सुख नाहीं ॥५॥

शब्दार्थ—गहबर = सघन, गुफा, कुंज यथा—"गह्वरस्तु गुहादंभनिकुंजगहनेष्वपीति विश्वः"।

अर्थ—नगर फल से लदा हुआ सघन भारी वन है। सब स्त्री-पुरुष उसके बहुत-से पशु-पक्षी हैं ॥२॥ ब्रह्मा ने कैकेयी को भीलनी बनाया, जिसने दशों दिशाओं में असह्य (न सही जानेवाली) वनाग्नि लगा दी ॥३॥ लोग रघुकुल के श्रेष्ठ श्रीरामजी की विरहाग्नि को न सह सके। अतः, वे सब व्याकुल होकर भाग चले ॥४॥ सभी ने मन में विचार कर लिया कि श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी के बिना सुख नहीं है ॥५॥

विशेष—(१) 'नगर सफल बन गहबर ···'—नगर भारी है। ४८ कोश लंबा और १२ कोश चौड़ा है। अतः, 'भारी' वन कहा गया। सघन बस्ती होने से गह्वर कहा गया। नगर सब पदार्थों से पूर्ण है और अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष भी देता है, इससे 'सफल' कहा गया। ऐसे भारी वन में आग लगी है तो १४ वर्ष पर बुझेगी भी—यथा—"मिटै कुजोग राम फिरि आये। बसइ अवध नहिं आन उपाये ॥" (दो० २११); सघन-सफल और भारी वन में पक्षियों और पशुओं को बहुत आराम रहता है, इसीसे रहते हैं। वैसे यहाँ नर-नारी भी सुख-सम्पन्न रहते थे। *श्रीरामजी के बिना नगर वन के समान है*, इसलिये वन का रूपक बाँधा है।

(२) 'बिधि कैकई किरातिनि कीन्हीं।···'—कैकेयी स्वभावतः ऐसी नहीं थी, वह तो श्रीरामजी को बहुत चाहती थी—"प्रान ते अधिक राम प्रिय मोरे।" (दो० १५); ब्रह्माजी ने सरस्वती के द्वारा उसे निष्ठुर किरातिनी बना दिया ; यथा—"तात कैकइहि दोष नहिं, गई गिरा मति धूति।" (दो० २०६); वन में आग लगाना किरातिनी का काम है। 'दसहुँ दिसि'—चार दिशाएँ, चार उपदिशाएँ और नीचे-ऊपर ये दस दिशाएँ हैं। वृक्षों में जड़-फुनगी लेने से दस दिशाएँ होती हैं। वैसे ही नगर की आठों दिशाओं में ऊँचे महलों में और नीचे सभी विरहाग्नि में जल रहे हैं।

(३) 'रघुवर-विरहागी'—न सह सकने से सब लोग खग-मृग की तरह भाग चले। पुरवासी बहुत हैं। इसलिये खग-मृग की तरह भागना कहा गया।

(४) 'राम-लखन-सिय बिनु सुख नाहीं।' यथा—"तुम्ह बिनु दुखी सुखी तुम्ह ते ही।" (दो॰ २९०); श्रीरामजी सब सुखों के धाम हैं—"सो सुख धाम राम" (बा॰ दो॰ ११६)।

जहाँ राम तहँ सबइ समाजू। बिनु रघुवीर अवध नहिं काजू ॥६॥
चले साथ अस मंत्र दृढ़ाई। सुरदुर्लभ सुखसदन बिहाई ॥७॥
राम-चरन-पंकज प्रिय जिन्हहीं। विषय भोग बस करहिं कि तिन्हहीं ॥८॥

दोहा—बालक वृद्ध बिहाय गृह, लगे लोग सब साथ।
तमसा-तीर निवास किय, प्रथम दिवस रघुनाथ ॥८४॥

अर्थ—जहाँ श्रीरामजी रहेंगे, वहीं सब समाज रहेगा। रघुवीर के बिना अवध में रहने का काम नहीं ॥६॥ ऐसा सम्मत पक्का करके वे देवताओं को भी दुर्लभ सुख को और ऐसे सुखवाले घरों को छोड़कर साथ चल दिये ॥७॥ जिनको श्रीरामजी के चरण कमल प्यारे हैं, उन्हें भला विषय-भोग क्या वश कर सकता है ? ॥८॥ घर में बच्चों-बूढ़ों को छोड़कर सभी लोग साथ लगे, पहले दिन श्रीरघुनाथजी ने तमसा नदी के तट पर निवास किया ॥८४॥

विशेष—(१) 'जहाँ राम तहँ सबइ···'—ऊपर कहा—'राम लखन-सिय बिनु सुख नाहीं।' इसीसे कहते हैं कि सब समाज ही उन्हीं के साथ रहें, क्योंकि सुख तो वहीं है और सुख ही के लिये सब कार्य किये जाते हैं तो फिर अवध में क्या कार्य है ? यथा—"जौं पै सीय राम बन जाहीं। अवध तुम्हार काज कछु नाहीं ॥" (दो॰ ७३); 'रघुवीर' अर्थात् वे दानवीर एवं दयावीर हैं, अतएव दया-पूर्वक पालन करेंगे।

(२) 'चले साथ अस मंत्र दृढ़ाई।···'—मंत्र दृढ़ कर लिया, दृढ़ संगठन कर लिया। इसी समाज को आगे जहाज भी कहेंगे—"मनहुँ वारिनिधि बूड़ जहाजू।" जहाज दृढ़ चाहिये ही। 'सुर दुर्लभ सुख सदन···' यथा—"नित नव सुख सुर देखि सिहाहीं। अवध जनम जाचहिं बिधि पाहीं ॥" (बा॰ दो॰ ३५१) "नाकेस दुर्लभ भोग लोग करहिं न मन विषयन्हि हरे।" (गी॰ उ॰ ११)।

(३) 'राम-चरन पंकज प्रिय···'—कमल जैसे जल में रहते हुए निर्लिप्त रहता है, वैसे ही इन चरण-कमल के प्रेमी विषय-वारि से भिन्न रहते हैं, यथा—"तवामृतस्यन्दिनि पादपंकजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति। स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरसं समीक्षते ॥" (आलवन्दार-स्तोत्र); तथा—"सुमिरत रामहिं तजहिं जन, तृन सम विषय बिलास।" (दो॰ १४०)।

(४) 'बालक वृद्ध बिहाय गृह···'—रथ के साथ दौड़कर चलना है, बालक और वृद्ध न पहुँच सकेंगे, इसलिये इन्हें घर में ही छोड़कर चल दिये; यथा—"चले लोग सब व्याकुल भागी।" ऊपर कहा ही है। 'तमसा तीर निवास···'—पैदल दौड़ते हुए लोगों का दुःख देखकर आप तमसा के ही किनारे ठहर गये। तमसा नदी अयोध्या से ६ कोस दक्खिन बहती है। यहाँ इसे मढ़हा कहते हैं, १८ कोस पूर्व जाकर अकबरपुर के पास बिसुई से मिलती है। फिर इसका नाम टौंस पड़ जाता है, जो तमसा

का ही अपभ्रंश है। यहाँ प्रथम दिन ठहरने का यह भी कारण हो सकता है कि ज्योतिष-मत से विदेश-यात्रा में पहले दिन अपने गाँव के सिवाने में रहने की रीति है। 'प्रथम दिवस'—अर्थात् आज ही से १४ वर्ष की गिनती होगी। आज निराहार ही रह गये, जल-मात्र ही ग्रहण किया है, यथा—"न्हाइ रहे जलपान करि, सिय समेत दोउ बीर॥" (दो० १५०); तथा—"अद्भिरेवहि सौमित्रे वत्स्याम्यद्य निशामिमाम्। एतद्धि रोचते मह्यं वन्येऽपि विविधे सति॥" (वाल्मी० २।४६।१०)।

रघुपति प्रजा प्रेमबस देखी। सदय हृदय दुख भयेउ बिसेखी॥१॥
करुनामय रघुनाथ गोसाँई। बेगि पाइयहि पीर पराई॥२॥
कहि सप्रेम मृदुबचन सुहाये। बहु बिधि राम लोग समुझाये॥३॥
किये धरम - उपदेस घनेरे। लोग प्रेमबस फिरहिं न फेरे॥४॥

अर्थ—प्रजा को प्रेम के वश देखकर श्रीरघुनाथजी के दयालु हृदय में विशेष दुःख हुआ॥१॥ गोस्वामी श्रीरघुनाथजी करुणामय हैं, वे दूसरे की पीड़ा को शीघ्र ही पाते हैं; अर्थात् उसे पीड़ित देख स्वयं भी पीड़ित हो जाते हैं॥२॥ प्रेम सहित सुंदर कोमल वचन कहकर श्रीरामजी ने लोगों को बहुत तरह समझाया॥३॥ बहुत-से धर्म के उपदेश किये, पर प्रेम के वश होने से लोग लौटाने से भी नहीं लौटते॥४॥

विशेष—(१) 'रघुपति प्रजा प्रेम···'—प्रजाओं का प्रेम प्रत्यक्ष देख पड़ता है कि वे घर के सुख छोड़कर साथ में दुःख उठाने को आतुर हैं, इसीसे 'देखी' कहा गया। इसपर श्रीरामजी को दया आ गई, क्योंकि वे प्रेमी पर दया करते हैं। यथा—"राम कृपा नहिं करहिं तस, जस निष्केवल प्रेम।" (लं० दो० ११९); "रामहिं केवल प्रेम पियारा।" (दो० १३१)। प्रजागण प्रजा के नाते से भी प्रिय हैं, यथा—"सोचिय नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥" (दो० १७१); 'सदय हृदय'—जो दयालु होता है, वही दूसरे के दुःख में दुखी होता है। श्रीरामजी दयालु हैं, इसीसे आश्रितों के दुःख में विशेष दुखी हुए; यथा—"जन के दुख रघुनाथ दुखित अति सहज प्रकृति करुना निधान की।" (गी० सु० ११)।

(२) 'करुनामय रघुनाथ गोसाँई···'—'गोसाँई' अर्थात् इन्द्रियों के स्वामी हैं; इससे सब इन्द्रियों की पीड़ा जानते हैं और करुणामय होने से द्रवीभूत हो जाते हैं। ऊपर प्रजा को अपने कारण दुखी देखकर करुणा होना कहा, उसी पर यहाँ कहा कि आप करुणामय हैं। अतः, बिना कारण ही करुणा करते हैं।

(३) 'कहि सप्रेम मृदुबचन···'—प्रजागण प्रेमवश हैं, इसीसे आपने भी सप्रेम समझाया। मृदुवचनों से कहा, जिससे वियोग करानेवाला उपदेश कड़ुवा न लगे। धर्म-सम्बन्धी उपदेश है, अतएव 'सुहाये' कहा है। 'राम' पद दिया गया है, क्योंकि बहुत-से लोगों को एक साथ समझाना है, इनके लिये अयुक्त नहीं, क्योंकि राम सबमें रमते हैं। यथा—"यह बड़ि बात राम कै नाहीं। जिमि घट कोटि एक रबि छाहीं॥" (दो० २४१)।

(४) 'किये धरम उपदेश-घनेरे···'—पिता की आज्ञा का पालन करना मेरा धर्म है, यह मैं करूँ, जिसमें मेरा धर्म रहे, यही तुम्हें भी उचित है। पुनः हमारी आज्ञा से अयोध्या में रहो, यही तुम्हारा भी धर्म है। जो धर्मोपदेश सुमंत्रजी के प्रति किया गया है, वही यहाँ भी जानना चाहिये, यथा—"सिबि दधीचि

हरिचंद नरेसा।···" से "संभावित कहँ अपजस लाहू।···" (दो० ९४) तक। 'लोग प्रेमबस···'—पहले समझाने से लौटते भी थे, यथा—"कृपासिंधु बहु बिधि समुझावहिं। फिरहिं प्रेमबस···" (दो० ८१); पर अब धर्मोपदेश से भी नहीं लौटते, क्योंकि जिस धर्म से राम-वियोग हो, वह अग्राह्य है। यथा—"सो सुख धरम करम जरिजाऊ। जहँ न राम-पद-पंकज-भाऊ॥" (दो० २९०)।

सील सनेह छाँड़ि नहिं जाई। असमंजसबस भे रघुराई॥५॥
लोग सोग-श्रम-बस गये सोई। कछुक देवमाया मति मोई॥६॥
जबहि जामजुग जामिनि बीती। राम सचिव सन कहेउ सप्रीती॥७॥
खोज मारि रथ हाँकहु ताता। आन उपाय बनिहि नहिं बाता॥८॥

दोहा—राम लखन सिय जान चढ़ि, संभुचरन सिर नाइ।
सचिव चलायेउ तुरत रथ, इत उत खोज दुराइ॥८५॥

शब्दार्थ—मोई=मोही, वा मोई=भिगोई, यथा—"बिथकी है ग्वालि मैन मन मोये।" (कृ० गी० ११)।

अर्थ—शील और स्नेह छोड़ा नहीं जाता, श्रीरघुनाथजी दुविधा में पड़ गये॥५॥ लोग शोक और थकावट के कारण सो गये और कुछ देवताओं की माया से उनकी बुद्धि मोहित हो गई॥६॥ ज्योंही दोपहर रात बीती कि श्रीरामजी ने प्रीतिपूर्वक मंत्री से कहा॥७॥ कि हे तात! खोज मारकर (जिसमें रथ के जाने का मार्ग न जान पड़े इस तरह) रथ हाँको, दूसरे उपाय से बात न बनेगी॥८॥ शिवजी के चरणों में शिर नवाकर श्रीराम-लक्ष्मणजी और श्रीसीताजी रथ पर चढ़े, तब मंत्री सुमंत्रजी ने रथ को शीघ्र ही इधर-उधर खोज मारकर चलाया॥८५॥

विशेष—(१) 'सील सनेह छाँड़ि नहिं जाई···'—श्रीरामजी शील-स्नेह निबाहनेवाले हैं। यथा—"को रघुबीर सरिस संसारा। सील सनेह निबाहनि हारा॥" (दो० २४) इसीसे ऊँची-नीची बातों से स्नेह नहीं छोड़ते और दुविधा में पड़ गये। असमंजस-वश होने के सम्बन्ध से 'रघुराई' यह माधुर्य का नाम दिया।

(२) 'लोग सोग श्रम-बस···'—अयोध्या से तमसा-तट तक दौड़ते आये हैं। इससे थक गये हैं। इसीसे निद्रा आना योग्य ही है। यथा—"श्रमित भूप निद्रा अति आई।" (बा० दो० १५९)। वियोग का शोक भी है और कुछ देवमाया भी लगी। 'कछुक'—श्रम और शोक के कारण देवमाया की कुछ ही आवश्यकता पड़ी कि जितनी से गहरी निद्रा आ जाय। माया से निद्रा आती ही है। यथा—"या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता।" (दुर्गासप्तशती)। पुरवासी इन तीन कारणों के उपस्थित होने से गहरी नींद में पड़े, अन्यथा वे बड़े सावधान थे।

(३) 'जबहि जामजुग···'—आधी रात तक जब सब कोई सो गये तब श्रीरामजी ने कहने का अवसर पाया और कहा। 'ताता'—क्योंकि इन्हें श्रीरामजी पिता की तरह मानते हैं। 'सप्रीती'—यह आपका स्वभाव ही है फिर आज तो काम भी निकालना है। दक्षिण दिशा की यात्रा में आधी रात शुभवेला भी कही जाती है।

(४) 'राम लखन सिय जान'''—शिवजी के चरणों में शिर नवाना, माधुर्य रीति निबाहने के लिये है, यथा—"सेवक स्वामि सखा सिय पी के।" (बा० दो० १५)। पुनः रात्रि में चलना है और उसमें भूत-प्रेत आदि फिरा करते हैं। उनसे विघ्न शांति के लिये भूत-पति (शिवजी) को प्रणाम करने की रीति भी दिखाई। प्रथम प्रस्थान पर 'गनपति गौरि गिरीस' इन तीनों को मनाकर चले थे। यहाँ उनमें अंगी (शिवजी) को ही प्रणाम करके अंगभूत उन दो को भी मना दिया। पहले 'खोज मारि रथ हाँकहु' कहा गया था। उसका अर्थ यहाँ खोला गया—'इत उत खोज दुराइ' यथा—"मोहनाथ तु पौराणां सूतं रामोऽब्रवीद्वचः। उदङ्मुखः प्रयाहि त्वं रथमारुह्य सारथे॥ मुहूर्तं त्वरितं गत्वा निवर्तय रथं पुनः। यथा न विद्युः पौरा मां तथा कुरु समाहितः॥" (वाल्मी० २।४६।३०-३१); अर्थात् श्रीरामजी ने सुमंत्रजी से कहा कि पहले रथ उत्तर की ओर ले चलो। थोड़ी दूर जाकर पुनः लौटा लाओ, जिससे पुरजन मुझे न जान पावें कि किधर गये। यह सब सावधानी से करो।

जागे सकल लोग भये भोरू। गे रघुनाथ भयेउ अति सोरू ॥१॥
रथ कर खोज कतहुँ नहि पावहि। राम राम कहि चहुँ दिसि धावहि ॥२॥
मनहु वारिनिधि बूड़ जहाजू। भयेउ बिकल बड़ बनिकसमाजू ॥३॥
एकहि एक देहिं उपदेसू। तजे राम हम जानि कलेसू ॥४॥
निदहिं आप सराहहि मीना। धिग जीवन रघुबीर-बिहीना ॥५॥

अर्थ—प्रातःकाल होने पर सब लोग जगे। श्रीरघुनाथजी चले गये इसका बड़ा हल्ला मचा ॥१॥ रथ का चिह्न कहीं नहीं पाते, 'हा राम! हा राम!' कहकर चारो ओर दौड़ते हैं ॥२॥ मानों समुद्र में जहाज डूब गया, जिससे व्यापारी लोग व्याकुल हो गये हों ॥३॥ एक दूसरे को उपदेश देते हैं कि श्रीरामजी ने हमारा क्लेश समझकर हमें छोड़ा है, (कुछ निरादर से नहीं) ॥४॥ अपनी निंदा करते हैं। मछली की सराहना करते हैं और कहते हैं कि रघुवीर के विना हमारे जीवन को धिक्कार है! ॥५॥

विशेष—(१) 'जागे सकल लोग भये'''—इसपर वाल्मी० २।४७ पूरा सर्ग पढ़ने योग्य है। वहाँ इनकी विकलता और आर्त्त वचन विस्तार से कहे गये हैं।

(२) 'राम राम कहि'''—राम-राम कहकर दौड़ने का बड़ा हल्ला मचा। 'चहुँ दिसि धावहि' कहकर उपर्युक्त 'इत उत खोज दुराइ' का अर्थ खोला गया है कि रथ की लकीर चारों तरफ गई थी।

(३) 'मनहुँ वारि-निधि बूड़'''—अयोध्या से लंका तक का मार्ग समुद्र है। अवध-वासियों का मनोरथ—'जहाँ राम तहँ सबइ समाजू'—'चले साथ असमंत्र दृढ़ाई' यही दृढ़ जहाज है। श्रीराम-लक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी माल हैं। अवधपुर-वासी लोग वणिक हैं। जहाज तमसा के तट तक ही आ पाया, फिर डूब गया। माल रूपी तीनों मूर्त्ति हाथ से निकल गये, यही माल-हानि है। माल का नाम 'राम-राम' कहकर रोते हैं और व्याकुल हो रहे हैं।

(४) 'निदहि आपु सराहहि'''—प्रथम इनकी जलचरों से उपमा दी गई थी; यथा—"बिपुल बियोग प्रजा अकुलानी। जिमि जलचर गन सूखत पानी॥" (दो० ५०); अर्थात् वहाँ सूखता हुआ कहा गया; क्योंकि श्रीरामजी का साथ था। किंतु अब छूट गया। इससे मानों जल कुछ न रह गया; तब तरसते हैं कि हम लोग मछली की तरह न हुए। हमलोगों का सच्चा स्नेह न हुआ; यथा—"मकर

चरग दादुर कमठ, जल जीवन जल गेह। तुलसी एकइ मीन को है साँचिलो सनेह ॥" (दोहावली ३१८) अर्थात् मीन की तरह का जीवन होता, तो धन्य होता। अन्यथा जीते रहने में धिक्कार है!

जो पै प्रियबियोग बिधि कीन्हा। तौ कस मरन न माँगे दीन्हा ॥६॥
येहि बिधि करत प्रलापकलापा। आये अवध भरे परितापा ॥७॥
बिषम बियोग न जाइ बखाना। अवधिआस सब राखहिं प्राना ॥८॥

दोहा—रामदरस-हित नेम ब्रत, लगे करन नरनारि।
मनहुँ कोक कोकी कमल, दीन बिहीन तमारि ॥८६॥

अर्थ—जो निश्चय ही ब्रह्मा ने प्यारे का वियोग रचा है, तो माँगी मृत्यु क्यों न दी? ॥६॥ इस तरह बहुत प्रलाप करते हुए, वे सब अत्यन्त दुःख से भरे हुए अयोध्याजी आये ॥७॥ अत्यन्त कठिन दुःख वर्णन नहीं किया जा सकता। सब अवधि (१४ वर्ष बीतने) की आशा से (कि श्रीरामजी फिर मिलेंगे) प्राण रखते हैं ॥८॥ स्त्री-पुरुष श्रीराम-दर्शन के लिये नियम और व्रत करने लगे। मानों चकवा-चकवी और कमल, सूर्य के विना दीन (दुखी) हैं ॥८६॥

विशेष—(१) 'जो पै प्रियबियोग···'—ये प्रिय-वियोग में मीन की तरह मृत्यु चाहते हैं। पर ब्रह्मा से मिलती ही नहीं, क्योंकि ऊपर अभी मीन को सराहते थे।

(२) 'येहि बिधि करत प्रलाप···'—मुख से प्रलाप करते हैं और हृदय में परिताप भरा है। अर्थात् भीतर-बाहर दुःख व्याप्त है। 'प्रलाप', यथा—"वहाँ राम लछिमनहिं निहारी।···" से "प्रभु प्रलाप सुनि कान···" (लं० का० दो० ५१-१०) तक। 'भरे परितापा'—विरह की अग्नि के भय से भगे थे, यथा—"सहि न सके रघुबर बिरहागी।···" (दो० ८३); वहाँ भी वियोग हो ही गया; अतः, परिताप भरे आये।

(३) 'बिषम बियोग न जाइ···'—विषम वियोग ही विषम ज्वर की तरह है। यथा—"जरहिं बिषम ज्वर लेहिं उसासा कवनि राम बिनु जीवन आसा॥" (दो० ५०); इससे जलते हुए भी उनके मिलने की आशा से प्राण रखते हैं।

(४) 'रामदरस हित नेम ब्रत···'—श्रीरामजी के दर्शनों के साधन कर रहे हैं। यथा—"सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन-राम-सिय दरसन पावा॥" (दो० २०१); क्या नेम-व्रत करते हैं। इसे आगे कहेंगे। यथा—"पय अहार फल असन एक, निसि भोजन एक लोग। करत राम-हित नेम ब्रत, परिहरि भूषन भोग॥" (दो० १४८); 'मनहुँ कोक-कोकी ···'—यहाँ १४ वर्ष की वियोग रात है। पीछे श्रीरामजी का आगमन सूर्योदय है; उससे शोक तम निवृत्त होगा। कोक-कोकी के दृष्टान्त से पति-पत्नी का शृंगार वासना रहित होना और करुणा पूर्णता भी जनाई। कमल के दृष्टान्त से शोभा नष्ट होना और शरीर काला पड़ जाना सूचित किया। 'तमारि' अर्थात् श्रीरामजी सूर्य के विना अयोध्या शोक रूपी तम से आच्छादित है; यथा—"लागति अवध भयावनि भारी। मानहुँ काल राति अँधियारी॥" (दो० ८२)।

सीता सचिव सहित दोउ भाई। सृंगबेरपुर पहुँचे जाई ॥१॥
उतरे राम देवसरि देखी। कीन्ह दंडवत हरष बिसेखी ॥२॥
लखन सचिव सिय किये प्रनामा। सबहिं सहित सुख पायेउ रामा ॥३॥
गंग सकल-मुद-मंगल-मूला। सब सुख करनि हरनि सब सूला ॥४॥

अर्थ—श्रीसीताजी और मंत्री सहित दोनों भाई शृंगवेरपुर जा पहुँचे ॥१॥ श्रीगंगाजी को देखकर
श्रीरामजी उतरे और बहुत प्रसन्नतापूर्वक दंडवत् की ॥२॥ श्रीलक्ष्मणजी, मंत्रीजी और श्रीसीताजी ने प्रणाम
किया, सबके सहित श्रीरामजी ने सुख पाया ॥३॥ श्रीगंगाजी सब आनंद-मंगलों की जड़ हैं। सब सुखों
को करनेवाली और सब दुःखों की हरनेवाली हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'सीता सचिव सहित···'—इसका संबंध—'राम-लखन-सिय जान चढ़ि' से
है, बीच में पुरवासियों का विरह कहा गया, यहाँ से फिर श्रीरामजी का प्रसंग लिया। 'सृंगबेरपुर'—यह
जिला इलाहाबाद में है। आजकल सिंगरौर घाट कहा जाता है। वहाँ रामचौरा स्थान है, जहाँ श्रीरामजी
ठहरे थे। इसका शृंगवेरपुर नाम होने का कारण यह है कि इसके चारों ओर सींगों की बारी थी, इससे
सूचित होता है कि निषाद लोग कैसे हिंसक होते थे? कि अगणित वन्य जीवों को मार-मारकर उनके
सींगों की बारी (सरहद) बनाई थी। ऐसा वाल्मी० के भूषण टीकाकार का कथन है।

(२) 'उतरे राम देवसरि···'—तीर्थ जहाँ से देख पड़े, वहीं से प्रणाम करना चाहिये, यथा—
"गिरिवर दीख जनक पति जबहीं। करि प्रनाम रथ त्यागेउ तबहीं॥" (दो० २०४); इसीसे श्रीरामजी
ने भी प्रणाम किया। 'हरष बिसेषी' अर्थात् रोमांच, सजल नयन, गद्गद कंठ सहित, क्योंकि गंगाजी इनके
कुल की कीर्ति वर्द्धिनी हैं और साक्षात् ब्रह्मद्रव हैं। श्रीरामजी ने जैसे दंडवत् की, वैसे ही श्रीलक्ष्मण आदि
के प्रणाम का भी अर्थ दंडवत् प्रणाम लेना चाहिये। इसीसे सभी को समान रूप से सुख भी कहा गया है।

(३) 'गंग सकल-मुद-मंगल-मूला···'—'मुद'-मानसी आनंद और 'मंगल'-उत्सव आदि बाहरी
आनंद, इत्यादि सबकी मूल गंगाजी हैं। 'सब सूला'—शूल तीन प्रकार के हैं, यथा—"त्रयः शूल निर्मूलनं
शूल पाणिम्।" (उ० दो० १०७); वे हैं जन्म, जरा और मरण।

अर्थ—अनेक कथाओं के प्रसंग कह-कहकर श्रीरामजी गंगाजी की लहरें देख रहे हैं ॥५॥ मंत्री को, भाई को और प्रिय स्त्री को देवनदी की बड़ी महिमा सुनाई ॥६॥ स्नान किया, उससे मार्ग का श्रम (थकावट) दूर हुआ, पवित्र जल पीते ही मन प्रसन्न हो गया ॥७॥ (वक्ताओं का कथन है कि) जिसका स्मरण करते ही जन्म-मरण का श्रम-रूप बोझ मिट जाता है, उसको श्रम (कैसा ?) यह तो लोक का व्यवहार है ॥८॥ शुद्ध (सत्त्वादि गुणों से रहित) सत्-चित्-आनंद स्वरूप हैं, सुख के देनेवाले, सूर्यकुल की ध्वजा (श्रेष्ठ) मनुष्यों की तरह चरित करते हैं, जो संसार-सागर से पार होने के लिये पुल के समान हैं ; अर्थात् इन चरित्रों को गा-सुनकर लोग भव-निधि से छूट जाते हैं ॥८७॥

विशेष—(१) 'कहि कहि कोटिक कथा ···'—यहाँ 'कोटिक' अनंत एवं बहुत का वाचक है। यथा—"कहि कहि कोटिक कपट कहानी। धीरजु धरहु प्रबोधिसि रानी ॥" (दो० १९)। बहुत-सी कथाएँ कहते हैं, उन प्रत्येक की समाप्ति पर श्रीगंगाजी की तरंग देखते हैं कि ये ऐसी हैं। 'सुख पावा' मन का धर्म है। कथा कहना, वचन का और दंडवत् करना, कर्म का; इस तरह तीनों से गंगाजी में भक्ति दिखाई। माहात्म्य कह सुनकर तीर्थस्नान की विधि भी जनाई। 'बिबुध नदी' अर्थात् देवताओं की नदी है, ब्रह्मा·· शिव आदि को भी पवित्र करती हैं ; यथा—"जयति जय सुरसरी जगदखिल पावनी।" "जय जय भगीरथ नन्दिनि, मुनि चय-चकोर चंदिनि,···" (वि० १७-१८)। इत्यादि पदों में विस्तार से गंगाजी की महिमा कही गई है।

(२) 'मज्जन कीन्ह पंथश्रम···'—यहाँ मज्जन और स्पर्श दो हुए। पूर्व—'राम बिलोकहिं गंग तरंगा।' में दर्शन और यहाँ—'सुचिजल पियत···' में पान कहा गया। इस तरह—"दरस परस मज्जन अरु पाना। हरइ पाप···" (बा० दो० ३४)। के सब भाव आ गये। माहात्म्य कथन के साथ-साथ वैद्यक शास्त्र के नियम का निर्वाह भी किया है कि परिश्रम की गर्मी मिटाकर स्नान करना चाहिये। स्नान में दश गुण कहे गये हैं, उनमें से थकावट मिटना और मन मुदित होना – दो यहाँ प्रकट कहे गये हैं।

(३) 'सुद्ध सच्चिदानंदमय···'—'मयट्' प्रत्यय यहाँ स्वार्थ में है। अर्थात् भीतर-बाहर सच्चिदानंद विग्रह हैं, यथा—"चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार···" (दो० १२६)। यह ऐश्वर्यमय ब्रह्म स्वरूप कहा। फिर यह कहा कि वे ही सूर्यकुल में प्रकट होकर चरित करते हैं, फिर चरित का माहात्म्य कहा कि यह भव-सागर का सेतु है ; यथा—"जग पावनि कीरति बिस्तरिहहिं। गाइ गाइ भव-निधि नर तरिहहिं ॥" (छं० दो० ३४)।

यह सुधि गुह निषाद जब पाई। मुदित लिये प्रिय बंधु बोलाई ॥१॥
लिये फल मूल भेंट भरि भारा। मिलन चलेउ हिय हरष अपारा ॥२॥
करि दंडवत भेंट धरि आगे। प्रभुहि बिलोकत अति अनुरागे ॥३॥
सहज - सनेह - बिबस रघुराई। पूछी कुसल निकट बैठाई ॥४॥
नाथ कुसल पदपंकज देखे। भयेउँ भाग-भाजन जन लेखे ॥५॥

सीता सचिव सहित दोउ भाई। सृंगबेरपुर पहुँचे जाई ॥१॥
उतरे राम देवसरि देखी। कीन्ह दंडवत हरष बिसेखी ॥२॥
लखन सचिव सिय किये प्रनामा। सबहि सहित सुख पायेउ रामा ॥३॥
गंग सकल-मुद-मंगल-मूला। सब सुख करनि हरनि सब सूला ॥४॥

अर्थ—श्रीसीताजी और मंत्री सहित दोनों भाई शृंगवेरपुर जा पहुँचे ॥१॥ श्रीगंगाजी को देखकर श्रीरामजी उतरे और बहुत प्रसन्नतापूर्वक दंडवत् की ॥२॥ श्रीलक्ष्मणजी, मंत्रीजी और श्रीसीताजी ने प्रणाम किया, सबके सहित श्रीरामजी ने सुख पाया ॥३॥ श्रीगंगाजी सब आनंद-मंगलों की जड़ हैं। सब सुखों की करनेवाली और सब दुःखों की हरनेवाली हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'सीता सचिव सहित'''—इसका संबंध—'राम-लखन-सिय जान चढ़ि' से है, बीच में पुरवासियों का विरह कहा गया, यहाँ से फिर श्रीरामजी का प्रसंग लिया। 'सृंगबेरपुर'—यह जिला इलाहाबाद में है। आजकल सिंगरौर घाट कहा जाता है। वहाँ रामचौरा स्थान है, जहाँ श्रीरामजी ठहरे थे। इसका शृंगवेरपुर नाम होने का कारण यह है कि इसके चारों ओर सींगों की वारी थी, इससे सूचित होता है कि निषाद लोग कैसे हिंसक होते थे? कि अगणित वन्य जीवों को मार-मारकर उनके सींगों की वारी (सरहद) बनाई थी। ऐसा वाल्मी० के भूषण टीकाकार का कथन है।

(२) 'उतरे राम देवसरि'''—तीर्थ जहाँ से देख पड़े, वहीं से प्रणाम करना चाहिये, यथा—"गिरिवर दीख जनक पति जबहीं। करि प्रनाम रथ त्यागेउ तबहीं॥" (दो० २७४); इसीसे श्रीरामजी ने भी प्रणाम किया। 'हरष विसेषी' अर्थात् रोमांच, सजल नयन, गद्‌गद कंठ सहित, क्योंकि गंगाजी इनके कुल की कीर्ति वर्द्धिनी हैं और साक्षात् ब्रह्मद्रव हैं। श्रीरामजी ने जैसे दंडवत् की, वैसे ही श्रीलक्ष्मण आदि के प्रणाम का भी अर्थ दंडवत्-प्रणाम लेना चाहिये। इसीसे सभी को समान रूप से सुख भी कहा गया है।

(३) 'गंग सकल-मुद-मंगल-मूला'''—'मुद'-मानसी आनंद और 'मंगल'-उत्सव आदि बाहरी आनंद, इत्यादि सबकी मूल गंगाजी हैं। 'सब सूला'—शूल तीन प्रकार के हैं, यथा—"त्रयः शूल निर्मूलनं शूल पाणिम्।" (उ० दो० १०७); वे हैं जन्म, जरा और मरण।

कहि कहि कोटिक कथाप्रसंगा। राम बिलोकहिं गंगतरंगा ॥५॥
सचिवहि अनुजहि प्रियहि सुनाई। बिबुध-नदी-महिमा अधिकाई ॥६॥
मज्जन कीन्ह पंथश्रम गयेऊ। सुचि जल पियत मुदित मन भयेऊ ॥७॥
सुमिरत जाहि मिटइ श्रम भारू। तेहि श्रम यह लौकिक ब्यवहारू ॥८॥

दोहा—सुद्ध सच्चिदानंदमय, कंद भानुकुल-केतु।
चरित करत नरअनुहरत, संसृति-सागर-सेतु ॥८७॥

शब्दार्थ—श्रम भारू = श्रम का बोझा, जन्म-मरणादि भारी श्रम। कंद (कं = सुख, द = देनेवाले) = सुख देनेवाले, जड़, मेघ। अनुहरत = समान, तरह। संसृति = संसार = जन्म-मरण।

अर्थ—अनेक कथाओं के प्रसंग कह-कहकर श्रीरामजी गंगाजी की लहरें देख रहे हैं ॥५॥ मंत्री को, भाई को और प्रिय स्त्री को देवनदी की बड़ी महिमा सुनाई ॥६॥ स्नान किया, उससे मार्ग का श्रम (थकावट) दूर हुआ, पवित्र जल पीते ही मन प्रसन्न हो गया ॥७॥ (वक्ताओं का कथन है कि) जिसका स्मरण करते ही जन्म-मरण का श्रम-रूप बोझ मिट जाता है, उसको श्रम (कैसा ?) यह तो लोक का व्यवहार है ॥८॥ शुद्ध (सत्त्वादि गुणों से रहित) सत्-चित्-आनंद स्वरूप हैं, सुख के देनेवाले, सूर्यकुल की ध्वजा (श्रेष्ठ) मनुष्यों की तरह चरित करते हैं, जो संसार-सागर से पार होने के लिये पुल के समान हैं ; अर्थात् इन चरित्रों को गा-सुनकर लोग भव-निधि से छूट जाते हैं ॥८७॥

विशेष—(१) 'कहि कहि कोटिक कथा ···'—यहाँ 'कोटिक' अनंत एवं बहुत का वाचक है। यथा—"कहि कहि कोटिक कपट कहानी। धीरजु धरहु प्रबोधिसि रानी॥" (दो० ११)। बहुत-सी कथाएँ कहते हैं, उन प्रत्येक की समाप्ति पर श्रीगंगाजी की तरंग देखते हैं कि ये ऐसी हैं। 'सुख पावा' मन का धर्म है। कथा कहना, वचन का और दंडवत् करना, कर्म का; इस तरह तीनों से गंगाजी में भक्ति दिखाई। माहात्म्य कह सुनकर तीर्थस्नान की विधि भी जनाई। 'बिबुध नदी' अर्थात् देवताओं की नदी है, ब्रह्मा-शिव आदि को भी पवित्र करती हैं; यथा—"जयति जय सुरसरी जगदखिल पावनी।" "जय जय भगीरथ नन्दिनि, मुनि चय-चकोर चंदिनि,···" (वि० १७-१८)। इत्यादि पदों में विस्तार से गंगाजी की महिमा कही गई है।

(२) 'मज्जन कीन्ह पंथश्रम···'—यहाँ मज्जन और स्पर्श दो हुए। पूर्व—'राम बिलोकहिं गंग तरंगा।' में दर्शन और यहाँ—'सुचिजल पियत···' में पान कहा गया। इस तरह—"दरस परस मज्जन अरु पाना। हरइ पाप···" (बा० दो० ३४)। के सब भाव आ गये। माहात्म्य कथन के साथ-साथ वैद्यक शास्त्र के नियम का निर्वाह भी किया है कि परिश्रम की गर्मी मिटाकर स्नान करना चाहिये। स्नान में दश गुण कहे गये हैं, उनमें से थकावट मिटना और मन मुदित होना – दो यहाँ प्रकट कहे गये हैं।

(३) 'सुद्ध सच्चिदानंदमय···'—'मयट्' प्रत्यय यहाँ स्वार्थ में है। अर्थात् भीतर-बाहर सच्चिदानंद विग्रह हैं, यथा—"चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार···" (दो० १२७)। यह ऐश्वर्यमय ब्रह्म स्वरूप कहा। फिर यह कहा कि वे ही सूर्यकुल में प्रकट होकर चरित करते हैं, फिर चरित का माहात्म्य कहा कि यह भव-सागर का सेतु है; यथा—"जग पावनि कीरति बिस्तरिहहिं। गाइ गाइ भव-निधि नर तरिहहिं॥" (लं० दो० ७४)।

यह सुधि गुह निषाद जब पाई। मुदित लिये प्रिय बंधु बोलाई ॥१॥
लिये फल मूल भेंट भरि भारा। मिलन चलेउ हिय हरष अपारा ॥२॥
करि दंडवत भेंट धरि आगे। प्रभुहि बिलोकत अति अनुरागे ॥३॥
सहज - सनेह - बिबस रघुराई। पूछी कुसल निकट बैठाई ॥४॥
नाथ कुसल पदपंकज देखे। भयेउँ भाग-भाजन जन लेखे ॥५॥

अर्थ—जब गुह निषाद ने यह समाचार पाया, तब उसने, अपने प्यारे भाई लोगों को बुला लिया ॥१॥ और भेंट के लिये फल और मूल भार (कंधे पर बोझ ढोने की बहँगी) भर-भर के लेकर हृदय में अपार आनन्दपूर्वक श्रीरामजी से मिलने के लिये चला ॥२॥ भेंट को आगे रखकर दंडवत् करके वह प्रभु को अत्यंत अनुरागपूर्वक देखने लगा ॥३॥ रघुकुल के स्वामी श्रीरामजी स्वाभाविक स्नेह के वश हैं। उन्होंने उसे समीप में बैठाकर कुशल पूछा ॥४॥ (निषादराज ने कहा) हे नाथ ! आपके चरण-कमलों के दर्शनों से कुशल है। अब मैं भाग्य-शाली-भक्तों की गिनती में हो गया ॥५॥

विशेष—(१) 'यह सुधि गुह निषाद···'—'गुह'='गुह्यति वंचयति परस्वमिति गुहः' अर्थात् जो पराया धन चुरावे, वह गुह है। 'निषाद' अर्थात् जो जीवहिंसा करे। इसका नाम गुह है; यह निषाद जाति का है। *यथा*—"*तत्र राजा गुहो नाम रामस्यात्मसमः सखा। निषादजात्यो बलवान्थ-पतिश्चेति विश्रुतः ॥*" (वाल्मी० २।५०।३२)। गुह-निषाद कहकर इसे भारी पापी दिखाया, फिर इसे ही शरणागत होना कहकर श्रीरामजी का पतित-पावन बाना दिखावेंगे। कुटुम्बियों को भी बुलाया, क्योंकि वह सबके सहित शरण होगा; यथा—"देव धरनि धन धाम तुम्हारा।···" आगे कहा है। पुनः श्रीरामजी भी भाई सहित हैं। अतः, यह भी भाई वर्ग को लेकर मिलने आया।

(२) 'लिये फल मूल भेंट भरि ···'—गुहराव को समाचार मिल चुका है कि श्रीरामजी मुनि व्रत धारण करके वन को जा रहे हैं। इसलिये कंद, मूल फल ही भेंट के हेतु लिये। श्रीभरतजी से राजाओं के योग्य वस्तु लेकर मिलेंगे; क्योंकि उन्हें वे राजा जानकर मिलने चलेंगे। 'भरि भारा'—भेंट की वस्तु पात्र में पूर्ण भरी हुई चाहिये। यथा—"दधि चिवरा उपहार अपारा। भरि-भरि काँवरि चले कहारा ॥" "भरे सुधा सम सब पकवाने।···" (बा० दो० ३०४)।

(३) 'करि दंडवत् भेंट धरि···'—पहले भेंट अर्पण करके दंडवत् के द्वारा देह को भी अर्पण किया। फिर अनुरागपूर्वक देखने में हृदय (मन) भी अर्पण किया; क्योंकि अनुराग मन से होता है।

(४) 'सहज सनेह बिबस रघुराई। ··'—यद्यपि निषाद राज ने भेंट अर्पण की; पर आप उसके सहज सनेह के ही वश हैं। 'रघुराई' हैं। इन्हें वह कुछ देकर कोई क्या प्रसन्न कर सकता है? स्नेह से वश होते हैं, सहज-स्नेह से विशेष वश होते हैं। और राजा बहुत सेवा से भी वश नहीं होते; यथा—"भूप सुसेवित बस नहिं लेखिय।" (बा० दो० ३६); पर 'रघुराई' सहज स्नेह से ही विशेष वश हो जाते हैं। 'निकट बैठाई'—यह बड़ा आदर जनाया; यथा—"अति आदर समीप बैठाई (लं० दो० २६)।

(५) 'नाथ कुसल पद-पंकज देखे'—चरण के दर्शनों से कुशल कहा; क्योंकि ये चरण कुशल के मूल हैं; यथा—"कुसल मूल पद पंकज देखी। मैं तिहुँ काल कुसल निज लेखी ॥" (दो० १६४); अपना जन जानकर श्रीचरण यहाँ पधारे, तो मैं भी आज से आपके भाग्यशाली भक्तों में कहा जाऊँगा।

देव धरनि धन धाम तुम्हारा। मैं जन नीच सहित परिवारा ॥६॥
कृपा करिय पुर धारिय पाऊ। थापिय जन सब लोग सिहाऊ ॥७॥
कहेहु सत्य सब सखा सुजाना। मोहि दीन्ह पितु आयसु आना ॥८॥

दोहा—बरष चारिदस बास बन, मुनि - व्रत - बेष - अहार।
ग्रामबास नहिं उचित सुनि, गुहहि भयेउ दुखभार ॥८८॥

अर्थ—हे देव ! यह पृथिवी, धन, घर सब आपका है। मैं परिवार सहित आपका नीच टहलुआ हूँ ॥६॥ कृपा करके नगर में चलिये और इससे मुझे अपने दासों में स्थापित कीजिये, जिससे सब लोग सिहावें कि धन्य इसका भाग्य है। जो इस निषाद के यहाँ श्रीरामजी पधारे और उन्होंने इसे अपना सेवक माना ॥७॥ (श्रीरामजी ने कहा) हे चतुर सखे ! तुमने ठीक ही कहा है। पर पिताजी ने मुझे और ही आज्ञा दी है ॥८॥ चौदह वर्ष वन में निवास, मुनियों के व्रत, वेष और भोजन की आज्ञा है। (अतः,) ग्राम में रहना उचित नहीं, यह सुनकर गुह को भारी दुःख हुआ (वा, दुःख के बोझ से वह दब गया) ॥८८॥

विशेष—(१) 'देव धरनि, धन, धाम···'—यहाँ इनकी आत्म समर्पण भक्ति है कि मैं अपना सर्वस्व सहित आपकी नीच टहल करूँगा।

(२) 'कृपा करिय पुर धारिय ··'—मैं नीच हूँ। आपको अपने घर ले जाने योग्य नहीं हूँ। अतः, कृपा करके वहाँ पधारें (यह बोलने की उत्तम रीति भी है) वहाँ ले जाने का अभिप्राय यह है कि जिसमें सब सुपास हो।

(३) 'कहेहु सत्य सब सखा···'—'सुजान' हो, इससे उचित ही कहा है, ऐसा ही सखा का धर्म है। आपका कथन सत्य है ; अर्थात् हृदय से भी ऐसा ही है। पिता का आज्ञा-पालन रूप श्रेष्ठ धर्म को भी जानने में सुजान हो कि जिसके अनुरोध से मैं नगर में नहीं जा सकता। 'आना' का विस्तार आगे दोहे में है।

(४) 'बरष चारि दस बास बन ··'—अभी वनवास का प्रारंभ है। इसीसे 'चारि' शब्द अल्प-काल वाचक प्रथम दिया गया है। ऐसे ही माता के यहाँ भी—"बरष चारि दस बिपिन बसि ··" (दो० ५३) ; कहा है। निषाद राज ने पुर में बसने को कहा था। उसपर कहते हैं कि पिता की आज्ञा १४ वर्ष वनवास के लिये है। पुन निषाद राज ने राज्य करने को कहा था। उसपर कहते हैं कि मुझे 'मुनि व्रत···'—से रहने की आज्ञा है।

यहाँ 'ग्राम बास' कहा है। सुग्रीव से 'पुर न जाउँ' और विभीषण से—'पिता बचन मैं नगर न आवउँ।' कहा है ; अर्थात् ग्राम, पुर और नगर तीनों में न जाने को आज्ञा है। यह--"तापस बेष बिसेषि उदासी" (दो० २८) ; का अर्थ है ; अर्थात् जनस्थान मात्र में न जाने की आज्ञा है। यथा—"ग्रामादरण्यं नि सृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः।" (मनुस्मृति), यह मनु ने वानप्रस्थों के लिये कहा है। श्रीगोस्वामीजी ने ग्राम, पुर और नगर पर्याय शब्द भी माना है, जैसे कि 'अवध' को 'पुर' और 'नगर' भी कहा है।

राम लखन सिय रूप निहारी। कहहिं सप्रेम ग्राम नर-नारी ॥१॥
ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठये बन बालक ऐसे ॥२॥
एक कहहिं भल भूपति कीन्हा। लोयनलाहु हमहिं बिधि दीन्हा ॥३॥
तब निषादपति उर अनुमाना। तरु सिंसुपा मनोहर जाना ॥४॥
लै रघुनाथहिं ठाउँ देखावा। कहेउ राम सब भाँति सुहावा ॥५॥

अर्थ—श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी का रूप देखकर गाँव के स्त्री-पुरुष प्रेम सहित कहते हैं ॥१॥ कि हे सखी ! कहो तो वे मातापिता कैसे हैं कि जिन्होंने ऐसे (सुकुमार एवं सुन्दर) बालकों को वन भेज दिया है ॥२॥ एक (कोई) कहते हैं कि राजा ने अच्छा किया, ब्रह्मा ने हमें नेत्रों का लाभ दिया ॥३॥ तब निषाद-राज ने हृदय में विचार किया कि शीशम (वा, अशोक) का वृक्ष सुंदर है ऐसा जानकर ॥४॥ श्रीरघुनाथजी को ले जाकर वह स्थान दिखाया। श्रीरामजी ने कहा कि यह सब प्रकार सुन्दर है ॥५॥

विशेष—(१) 'राम लखन सिय रूप···'—पुरवासियों को अब समाचार मिला तो वे भी देखने आये। देखते ही 'सप्रेम' अर्थात् प्रेमवश हो गये। इससे इनके रूप और सुकुमारता पर उन्हें तरस आ रहा है कि क्या ये वन भेजे जाने के योग्य हैं ?

(२) 'ते पितु मातु कहहु ···' अर्थात् जिन्हें देखकर मार्ग की साँपिनि और बीछी भी अपनी क्रूरता छोड़ देते हैं; यथा—"जिन्हहिं निरखि मग···" (दो० २६१) और जो जीव-जन्तु-मात्र को प्राण-प्रिय हैं। वे माता-पिता को कैसे अप्रिय लगे ? कि उन्होंने वन दिया, यथा—"अस को जीव जन्तु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रान प्रिय नाहीं ॥ भे अति अहित राम तेउ तोहीं। को तू अहसि सत्य कहु मोहीं ॥" (दो० १६१)।

(३) 'एक कहहिं भल भूपति ···'—भाव यह कि राजा अच्छे हैं। वे पृथिवी मात्र के पति हैं तो हम भी पृथिवी में ही हैं। अतः, हमपर कृपा करके उन्होंने हमारा भी भला किया है। नहीं तो हमें इनके दर्शन कैसे होते ? पहली ने राजा को दोष लगाया और इसने उसका खंडन किया। 'लोचनलाहु···'—ब्रह्मा की प्रेरणा से ही ये इधर से आये, अन्यथा और ही मार्ग से चले गये होते। अतः, विधि से भी कृतज्ञता दिखाती हैं।

ऐसा ही आगे भी कहा है, यथा—"जे कछु समाचार सुनि पावहिं। ते नृप रानिहिं दोष लगावहिं ॥ कहहिं एक अति भल नर नाहू। दीन्ह हमहि जेहि लोचन लाहू ॥" (दो० १२१)।

(४) 'तब निषादपति उर···'—'तब' इसका सम्बन्ध—'बरष चारि दस ···' इस दोहे से है, बीच में पुरवासियों की बातें कही गईं। 'निषाद पति'—यह राजा है; अतः, राजाओं के योग्य स्थल जानता है इसीसे इसका अनुमित स्थान श्रीरघुनाथजी ने स्वीकार किया। 'लै रघुनाथहि ठाँव···'—श्रीरामजी की रुचि रखने के लिये उन्हें ले जाकर दिखाया। श्रीरामजी ने उसका मन रखने के लिये उस स्थल की प्रशंसा की। 'सब भाँति सुहाया'—अर्थात् ग्राम से बाहर है, गंगाजी समीप हैं, सम भूमि, स्थान स्वच्छ और छाया सघन है फिर प्रिय भक्त का चुना हुआ है।

पुरजन करि जोहार घर आये। रघुबर संध्या करन सिधाये ॥६॥
गुह सँवारि साथरी डसाई। कुस किसलय मय मृदुल सुहाई ॥७॥
सुचि फल मूल मधुर मृदु जानी। दोना भरि भरि राखेसि आनी ॥८॥

दोहा—सिय सुमंत्र भ्राता सहित, कंद मूल फल खाइ।
सयन कीन्ह रघुबंसमनि, पाय पलोटत भाइ ॥८९॥

अर्थ—पुरवासी प्रणाम करके घर आये और रघुवर श्रीरामजी संध्या करने गये ॥६॥ गुह ने कुश और कोपलों (नवीन कोमल पत्तों) से युक्त कोमल (गुलगुली) सुन्दर साथरी सजाकर बिछाई ॥७॥ फल और मूल पवित्र मीठे और कोमल जानकर दोनों में भर-भरकर ला रक्खा ॥८॥ श्रीसीताजी, श्रीसुमंत्रजी और भाई श्रीलक्ष्मणजी के साथ कन्द-मूल-फल खाकर रघुकुल श्रेष्ठ श्रीरामजी ने शयन किया और भाई श्रीलक्ष्मणजी पैर दबाते हैं ॥८६॥

विशेष—(१) 'पुरजन करि जोहार···'–पुरवासी बड़े प्रेम के कारण साथ छोड़ना नहीं चाहते थे, पर श्रीरामजी का संध्या का समय जानकर चले गये और- श्रीरामजी भी पुरजनों को छोड़कर संध्या करने न गये—यह स्नेह का सँभाल है। संध्या वेदोक्त धर्म है, इसकी मर्यादा रखने के सम्बन्ध से 'रघुवर' नाम दिया, क्योंकि रघुवंशी धर्म-रक्षक हैं।

(२) 'गुह सँवारि साथरी···'—पहले कुश बिछाकर तब किसलय की साथरी बिछाई गई। इसी क्रम से कहा गया। साथरी ऊँची (मोटी) होने से मृदुल है, सँभालकर बनाई गई है, इससे सुहाई कहा है। 'मयट्' प्रत्यय यहाँ प्रचुर (बहुत) के अर्थ में है। यह श्रीसीतारामजी की सेवा गुह ने स्वयं की है।

(३) 'सुचि फल मूल मधुर···'—'सुचि' अर्थात् कुछ फल मूल अशुचि (अपवित्र) भी होते हैं, जैसे कि गूलर (ऊमरि) का फल, पपीता-कैथा आदि फल और गाजर आदि मूल अपवित्र माने जाते हैं। 'मुनि व्रत वेष अहार' श्रीरामजी से सुना है, तदनुसार मुनियों के ग्रहण के योग्य ही कंद-मूल-फल लाया। 'जानी'—जिस वृक्ष के फल और जिस भूमि के मूल निषाद-राज मधुर-मृदु जानते हैं वही लाये।

'दोना भरि भरि'—प्रत्येक वस्तु पृथक् पृथक् दोने में भर-भरकर लाये, चार व्यक्ति भोजन करनेवाले हैं। अतः, हरएक वस्तु कम-से-कम चार दोने आई। 'आनी' अर्थात् बाहर से लाया, भेंटवाली वस्तुओं में से नहीं हैं।

(४) 'सिय सुमंत्र भ्राता सहित···'—धर्म-शास्त्र के अनुसार पहले स्त्री, बूढ़े और बच्चे को भोजन देकर तब भोजन किया, इसीसे 'रघुबंस मनि' कहा। यथा—"रिषय संग रघुबंसमनि, करि भोजन···" (बा० दो० २१०); प्रायः धार्मिक आचरण के सम्बन्ध से वंश सम्बन्धी ही नाम देते हैं। 'पाय पलोटत भाइ'—निषाद-राज ने अपनेको अपवित्र मानकर केवल शय्या की ही सेवा ग्रहण की, श्रीलक्ष्मणजी चरण-सेवा करते हैं, क्योंकि सुमित्राजी ने सेवा करना कहा ही है।

उठे लखन प्रभु सोवत जानी। कहि सचिवहि सोवन मृदु बानी ॥१॥
कछुक दूरि सजि बानसरासन। जागन लगे बैठि बीरासन ॥२॥
गुह बुलाइ पाहरू प्रतीती। ठाँव ठाँव राखे अति प्रीती ॥३॥
आप लखन- पहि बैठेउ जाई। कटि भाथी सरचाप चढ़ाई ॥४॥

विशेष—(१) 'उठे लखन प्रभु सोवत···'—सोते जान सेवा छोड़कर उठ आये और इसीसे मंत्रीजी से धीमी वाणी से सोने को कहा कि जिससे प्रभु की निद्रा भंग न हो। वृद्ध मंत्री चिंता से व्याकुल हैं। इसलिये उन्हें सोने को कहा ; वे बिना कहे न सोते।

(२) 'कछुक दूरि सजि बान···'—पहरा न तो बहुत दूर से और न अत्यन्त पास से दिया जाता है, वैसे ही यहाँ है। सावधान होकर पहरा देने लगे।

(३) 'गुह बुलाइ पाहरू···'—विश्वासी सिपाहियों को नाके-नाके पर बैठाया। यद्यपि वहाँ वैसा कोई भय नहीं था, तथापि ऐसा करने का उसका कारण 'अति प्रीती' शब्द से जनाया कि अत्यन्त प्रेम के कारण ही इतना प्रबन्ध किया।

(४) 'आप लखन पहिं बैठेउ···'—श्रीलक्ष्मणजी शस्त्रास्त्र सजे हुए बैठे हैं। वैसे सजकर यह भी जा बैठा। 'भाथी' अर्थात् छोटा तर्कश, क्योंकि इसके यहाँ बड़े-बड़े राजाओं के-से शस्त्रास्त्र नहीं हैं। सब गँवारू ठाठ है। *यथा—"भाथी बाँधि चढ़ायेन्हि धनुहीं। अंगरी पाहरि कुंडि सिर धरहीं।" (दो॰ ११०)*; इत्यादि आगे कहे गये हैं।

सोवत प्रभुहि निहारि निषादू। भयेउ प्रेमबस हृदय बिषादू ॥५॥
तनु पुलकित जल लोचन बहई। बचन सप्रेम लखन सन कहई ॥६॥
भूपति-भवन सुभाय सुहावा। सुरपति-सदन न पटतर आवा ॥७॥
मनि-मय-रचित चारु चौबारे। जनु रतिपति निज हाथ सँवारे ॥८॥

दोहा—सुचि सुबिचित्र सुभोगमय, सुमन सुगंध सुबास।
पलँग मंजु मनिदीप जहँ, सब बिधि सकल सुपास ॥९०॥

अर्थ—प्रभु को (साथरी पर) सोते हुए देखकर प्रेम के कारण निषाद के हृदय में बड़ा विषाद हुआ ॥५॥ शरीर पुलकित हो गया, नेत्रों में जल बह रहा है। वह श्रीलक्ष्मणजी से प्रेम-सहित ये वचन कह रहा है ॥६॥ कि राजा का महल सहज ही सुन्दर है, इन्द्र का महल भी उसकी तुलना का नहीं है ॥७॥ सुन्दर मणि-रचित चौबारे (चारो ओर खुले बंगले) हैं। मानों रति के पति कामदेव ने (उन्हें) अपने हाथों सजाकर बनाया हो ॥८॥ जो पवित्र हैं, सुन्दर-विचित्र हैं, सुन्दर भोगमय (उत्तम-उत्तम भोग की सामग्री से सुसज्जित) हैं॥ फूल और सुगन्धित (अतर-गुलाब आदि) द्रव्यों से सुवासित हैं। जहाँ सुन्दर मणिमय पलँग और सुन्दर मणिमय दीपक हैं। इस तरह जहाँ सब तरह का आराम है॥९०॥

विशेष—(१) 'सोवत प्र हि निहारि···'—श्रीरामजी 'प्रभु' अर्थात् परम समर्थ हैं, पर निषादराज की माधुर्यमय दृष्टि है। अतएव बड़े सुख से पले हुए राजकुमार को भूमि पर और पत्तों के बिछौने पर सोता हुआ देखकर भारी दुःख हुआ। इस दुःख का कारण उनकी प्रेमवशता है। इसे ऐश्वर्य कहकर श्रीलक्ष्मणजी समझावेंगे। इसलिये उनके पास अपना हार्दिक भाव कहेगा, क्योंकि इसके समझने का अधिकारी है और श्रीलक्ष्मणजी के समझाने के योग्य है, भक्ति के नाते सजातीय है।

(२) 'तनु पुलकित जल ··'—यहाँ उसकी प्रेम-दशा कही गई है। तन, मन, वचन से प्रेमवश है, इसीसे अपने परम-प्रिय की दुःखमय दशा समझकर न सह सका।

(३) 'भूपति-भवन सुभाय सुहावा।···'—'भूपति' अर्थात् पृथिवी-भर के स्वामी दशरथ महाराज हैं। अतः, पृथिवी-भर में उनके महल के बराबर किसी का महल नहीं है। रहा स्वर्ग, सो वहाँ का राजा इन्द्र भोग में सबसे बढ़कर है। यथा—"भोगेन् मघवानिव" (वाल्मी० सू०); "सुनासीर सत सरिस सो, संतत करइ विलास।" (लं० दो० १२); उस 'सुर पति' का महल भी बराबरी को नहीं पा सकता, नरेन्द्र के लिये नरेन्द्र की ही उपमा बहुत है, पर यहाँ सुरेन्द्र भी तुलना में नहीं पहुँचता। 'सुभाय'—बिना किसी तैयारी के।

(४) 'मनि मय रचित···'—रति अत्यन्त सुन्दरी है। उसके भी पति कामदेव की सुन्दरता का क्या कहना। वह जिसे अपने हाथों से सँवारेगा वह भवन तो अत्यन्त सुन्दर होगा ही। 'मनिमय'—उसमें अमूल्य रत्न लगे हैं। 'रचित' से रचना की बड़ाई और 'चारु' से उसे सुन्दर कहा, उस सुन्दरता को कामदेव की स्वहस्त-रचना कहकर सुन्दर कारीगर के अनुसार कारीगरी का लक्ष्य कराया है।

(५) 'सुचि सुबिचित्र सुभोग···'—'सुचि' अर्थात् पवित्र है। प्रायः यवनों और अँगरेजों के घर भी सुन्दर होते हैं, पर वे शुचि नहीं होते। 'बिचित्र' अर्थात् रंग-बिरंग की चित्रकारी की गई है। 'सुभोगमय'—भोग-सामग्री से खचित है, क्योंकि श्रीसीताजी की सेवा के लिये सिद्धियाँ रहती हैं। यथा—"तोहिं सेवहिं सब सिधि कर जोरे।" (दो० १०२)।

क्रम—स्नान के लिये शुचि तीर्थ-जल आदि वस्तुएँ हैं। उसके पीछे भोजन के लिये भोग के पदार्थ, फिर फूल-माला अतर आदि सुगन्ध भी हैं। फिर विश्राम के लिये पलँग हैं। रात की शोभा के लिये मणिमय दीप हैं कि जिसमें दुर्गंध, कालिख, गर्मी, तेल घटने एवं बत्ती बुझने का भय नहीं है और भी आराम के सब पदार्थ हैं।

बिबिध बसन उपधान, तुराईं। छीरफेन मृदु बिसद सुहाईं ॥१॥
तहँ सियराम सयन निसि करहीं। निज छबि रतिमनोज-मद हरहीं ॥२॥
ते सियराम साथरीं सोये। श्रमित बसन बिनु जाहिं न जोये ॥३॥
मातु पिता परिजन पुरबासी। सखा सुसील दास अरु दासी ॥४॥
जोगवहिं जिन्हहिं प्रान की नाईं। महि सोवत तेइ राम गोसाईं ॥५॥

अर्थ—जहाँ अनेकों प्रकार के वस्त्र, तकिये और तोशक हैं जो दूध के फेन के समान कोमल, स्वच्छ और सुहावने हैं ॥१॥ वहाँ श्रीसीतारामजी रात में सोया करते हैं और अपनी छवि से रति और काम की छवि के गर्व को हरते हैं ॥२॥ वे ही श्रीसीतारामजी थके हुए और बिना वस्त्र के साथरी पर सो रहे हैं। देखे नहीं जाते; अर्थात् ऐसी दशा में उन्हें सोते हुए देखकर बड़ा दुःख लगता है ॥३॥ माता, पिता, कुटुम्बी, पुरवासी, सुन्दर शील स्वभाववाले सखा, दास और दासियाँ ॥४॥ जिनको अपने प्राणों की तरह रक्षा (सार-सँभार) करते रहते थे, वे ही गोसवामी श्रीरामजी पृथिवी पर सो रहे हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'विविध बसन उपधान······'—ऊपर पलँग का वर्णन कर आये। अब उसपर का सामान कहते हैं कि वे सब दूध के फेन के समान कोमल और श्वेत हैं।

(२) 'रतिमनोज-मद हरहीं'—यह स्थान विहार स्थल है। अतः, श्रृंगार-प्रधान है, इसीसे श्रीसीताजी से रति के मद का और श्रीरामजी से कामदेव के मद का हरा जाना कहा गया और ऊपर 'जनु रति पति निज हाथ सँवारे' भी कहा गया है।

(३) 'ते सियराम साथरी ······'—सदा उत्तमासन पर सोनेवाले हैं, इन्हें साथरी पर नींद न आती, किंतु 'श्रमित' हैं, इससे सोये हैं। यथा—"श्रमित भूप निद्रा अति आई।" (बा० दो० १६६), (फिर कल रात तमसातट के जगे हुए भी हैं)।

(४) 'सखा सुसील दास अरु दासी'—सखा, दास आदि सुशील हैं, शठ एवं उत्तर देनेवाले नहीं; यथा—"दुष्टा भार्या शठं मित्रं भृत्यश्चोत्तरदायकः।" (चाणक्यनीतिः); ऐसे नहीं हैं, किन्तु सुशील हैं और श्रीरामजी को प्राण की तरह मानकर रक्षा करनेवाले हैं। 'जोगवहिं' शब्द बहुत उपयुक्त है, क्योंकि सेवा करना आदि कहने से, माता-पिता एवं पुरवासी में ब्राह्मण भी आ जाते हैं, उनके प्रति अनुचित होता। 'प्रान की नाइ'—क्योंकि श्रीरामजी सबको प्राणों की तरह प्रिय हैं। यथा—"कोसलपुरवासी नर-नारि वृद्ध अरु बाल। प्रानहु ते प्रिय लागहिं, सब कहँ राम कृपाल॥" (बा० दो० २०४)। 'गोसाईं'—गो का अर्थ पृथिवी, अर्थात् पृथिवी-भर के स्वामी होकर भूमि पर कैसे सो रहे हैं?

पिता जनक जगबिदित प्रभाऊ। ससुर सुरेस-सखा रघुराऊ॥६॥
रामचंद पति सो बैदेही। सोवत महि बिधि बाम न केही॥७॥
सिय रघुबीर कि कानन जोगू। करम प्रधान सत्य कह लोगू॥८॥

दोहा—कैकयनंदिनि मंदमति, कठिन कुटिलपन कीन्ह।
जेहि रघुनंदन जानकिहि, सुख अवसर दुख दीन्ह॥९१॥

अर्थ—जिनके पिता श्रीजनकजी हैं, जिनका प्रभाव जगत्-भर में प्रसिद्ध है और ससुर इन्द्र के सखा एवं रघुकुल के राजा हैं॥६॥ जिनके पति श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे ही विदेह-कुमारी श्रीसीताजी पृथिवी पर सो रही हैं, तो विधाता किसे उलटे नहीं होते?॥७॥ श्रीसीताजी और रघुवीर श्रीरामजी क्या वन के योग्य हैं? अर्थात् नहीं, तो लोगों ने सत्य ही कहा है कि कर्म मुख्य है॥८॥ केकय राज की लड़की नीच-बुद्धि कैकेयी ने कठिन कुटिलता की है कि जिसने श्रीरामजी और श्रीजानकीजी को सुख के समय पर दुःख दिया (यह बड़ा अनुचित किया)॥९१॥

विशेष—(१) 'पिता जनक जग······', यथा—"पितु-वैभव विलास मैं दीठा। नृप मनि मुकुट मिलत पद पीठा॥ सुख निधान अस पितु गृह मोरे।" (दो० ९७)।

'ससुर सुरेस-सखा······', यथा—"ससुर चक्कवइ कोसल राऊ।······आगे होइ जेहि सुरपति लेई।···" (दो० ९७)।

(२) 'रामचंद पति सो वैदेही······'—'चदि—आह्लादने' धातु से 'चन्द्र' शब्द होता है, अर्थात् जो ब्रह्मांड-भर को आह्लादित (आनंदित) करता है, वह चन्द्रमा है, वैसे श्रीरामजी ब्रह्मांड-भर को आनंदित करनेवाले हैं। पिता का जगत्-भर में, श्वसुर का स्वर्ग तक और पति का ब्रह्मांड-भर में प्रसिद्ध प्रभाव कहा गया, क्रमशः अधिक कहा।

'सोवत महि बिधि बाम······'—अर्थात् ऐसे-ऐसे को जो ब्रह्मा टेढ़े होते हैं, तो भला और किसे न होंगे। निषाद-राज को प्रभु का भूमि पर सोना देखकर विषाद हुआ—"सोवत प्रभुहि निहारी·····" इसीसे वे बार-बार वही कहते हैं, यथा—"तेइ सियराम साथरी सोये।" "महि सोवत तेइ राम गोसाईं।" तथा यहाँ भी—"सोवत महि बिधि बाम न केही।" इत्यादि।

(३) 'सिय रघुबीर कि कानन·····'—श्रीसीतारामजी क्या वन के योग्य हैं? ऐसा कहकर फिर स्वयं उत्तर देते हैं कि श्रीरामजी का वनवास कर्म की प्रधानता से हुआ। इसे ही पहले विधि की वामता कही थी, उसका भी इस कथन से मेल है, क्योंकि विधि का कर्त्तव्य जीवों के कर्मानुसार ही होता है; यथा—"कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता॥" (दो० २८१)। कर्म का कार्य किसी के द्वारा ब्रह्मा कराते हैं, वही आगे कहते हैं "कैकयनंदिनि·····" कुटिलता के सम्बन्ध में अवध-सम्बन्धी नाम न दिया, केकय देश का नाम दिया; ऐसी कुटिलता उसने बुद्धि की नीचता से की है, इसीसे 'मंदमति' कहा।

भइ दिनकरकुल बिटप कुठारी। कुमति कीन्ह सब बिस्व दुखारी॥१॥
भयउ बिषाद निषादहि भारी। राम-सीय महि-सयन निहारी॥२॥

अर्थ—सूर्यकुल-रूपी वृक्ष के लिये कुल्हाड़ी हुई, इस दुर्बुद्धि ने सारे संसार को दुःखी किया॥१॥ श्रीराम-जानकी को पृथिवी पर सोते हुए देखकर निषाद को भारी दुःख हुआ॥२॥

विशेष—(१) 'भइ दिनकरकुल······'—राजा दशरथजी ने कहा ही था—'जनि दिनकरकुल होहि कुठारी॥" (दो० ३३); पर यह सत्य ही कुठारी हुई। पहले केवल सीतारामजी को ही दुःख देना कहा, अब उसी कारण से कुल-भर का दुःखी होना कहा। रघुकुल को फूला-फला वृक्ष कहा, क्योंकि इसके आश्रय से जगत्-भर का हित था। उसे इसने काट डाला, जिससे संसार भर दुःखी हुआ, ऐसा करने का कारण 'कुमति' शब्द से कहा। प्रथम श्रीसीतारामजी को, फिर कुल को और फिर विश्व-भर को दुःखी करना कहा, इस तरह क्रमशः अधिक लोगों को दुःख देना कहा।

(२) 'भयउ बिषाद निषादहि······'—निषाद को पहले विषाद होना कहा गया, अब वही कहते-कहते भारी हो गया। निषाद लोग हिंसक होने से कठोर हृदय के होते हैं, जब निषादराज को करुणा आ गई और भारी विषाद हो गया, तब औरों की क्या कहना है?

निषाद-राज के विषाद का उपक्रम—"सोवत प्रभुहि निहारि निषादू। भयेउ प्रेमबस हृदय बिषादू॥" (दो० ८९) पर हुआ था। यहाँ 'भयेउ बिषाद निषादहि भारी' पर उसका उपसंहार हुआ।

श्री लक्ष्मण-गीता

बोले लखन मधुर मृदु बानी। ज्ञान बिराग भगतिरस सानी॥३॥

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सब भ्राता ॥४॥
जोग बियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा ॥५॥
जनम मरन जहँ लगि जगजालू। संपति बिपति करम अरु कालू ॥६॥
धरनि धाम धन पुर परिवारू। सरग नरक जहँ लगि ब्यवहारू ॥७॥
देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं। मोहमूल परमारथ नाहीं ॥८॥

दोहा—सपने होइ भिखारि नृप, रंक नाकपति होइ।
जागे लाभ न हानि कछु, तिमि प्रपंच जिय जोइ ॥९२॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी ज्ञान-वैराग्य और भक्ति-रस में सनी हुई मीठी कोमल वाणी बोले ॥३॥ कोई किसी को दुःख-सुख का देनेवाला नहीं है। हे भाई ! सब अपने किये हुए कर्मों का भोग है ॥४॥ संयोग, वियोग, भोग, भला, बुरा, मित्र, शत्रु, मध्यस्थ (उदासीन), ये सब भ्रम के फंदे हैं ॥५॥ जन्म, मरण—जहाँ तक जगत् का जाल (फैलाव) है। सम्पत्ति, विपत्ति, कर्म और काल ॥६॥ पृथिवी, घर, धन, नगर, कुटुंब, स्वर्ग और नरक—जहाँ तक व्यवहार देखने, सुनने और मन में विचारने में आता है, सबका मूल मोह है, परमार्थ नहीं है ॥७-८॥ जैसे स्वप्न में भिखारी राजा हो जाय और स्वर्ग का स्वामी इन्द्र कंगाल हो जाय; जागने पर (भिखारी को) न तो कुछ लाभ ही है और (इन्द्र को) न कुछ हानि ही ; इसी तरह जगत् के (नानात्व) व्यवहारों को जी में देखो ॥९२॥

विशेष—(१) 'बोले लखन मधुर मृदु बानी'—निषाद के मत को खंडन करके अपना मत उसके हृदय में जमाना है, इसलिये श्रीलक्ष्मणजी ने मधुर-मृदुवाणी से कहा कि उसे दुःख न हो और वह मान ले। श्रीरामजी जग न पड़ें, इसलिये भी धीमे बोलते हैं। निषाद-राज ने 'सप्रेम' कहा है—'बचन सप्रेम लखन सन कहई।' अतएव इन्होंने भी 'मधुर मृदु' कहा।

एवं नियाम्य होने से प्रकृति और जीव कर्मों के कर्तृत्वाभिमानी नहीं हो सकते। अपनी मूढ़ता से जीव गुणाभिमानी होकर कर्ता बनकर उपर्युक्त योग-वियोग आदि विकारों का भागी होता है, यथा—"तै निज कर्म डोरि दृढ़ कीन्हीं, अपने करनि गाँठि गहि दीन्हीं। ताते परबस परो अभागे।'''॥" (वि० ११६)। 'भ्रमफंदा' अर्थात् ये सब भ्रम से उत्पन्न फंदे हैं, यथा—"शत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हे बरियाई। त्यागब गहब उपेक्षनीय अहि हाटक तृन की नाईं॥" (वि० १२४)।

(३) 'सपने होइ भिखारि नृप'''—उपर्युक्त 'मोहमूल' को स्वप्न के दृष्टान्त से समझाते हैं कि जैसे जाग्रत् अवस्था में जो-जो देखा और सुना है, उससे उत्पन्न वासना के द्वारा जो प्रपंच का अनुभव होता है, वह स्वप्न है। वैसे यहाँ राजा का रंक और रंक का राजा होना दृष्टान्त में कहा गया है। जीव का शुद्ध स्वरूप राजा के समान है, यथा—"निष्काज राज विहाय नृप ज्यों स्वप्न कारागृह परो॥" (वि० ११६), वह भगवान् की शरीर-रूपता छोड़कर मोहवश (देहाभिमानी) हुआ, यही निशा हुई और देह से हुए पूर्वकृत कर्मों के अभिमानी होने से जो फल-रूप में योग-वियोग आदि के अनुभव होते हैं, यह स्वप्न देखना है। यथा—"मोह निसा सब सोवनिहारा। देखिय सपन अनेक प्रकारा॥" आगे कहेंगे। तीनों तापों का अनुभव करना रंक होना है। पुनः भगवान का शरीर होने से जीव उनके परतंत्र रंक के समान है, वह देहाभिमानी होकर इन्द्रिय देवों के विषय भोग के साथ उनका अभिमानी होकर इन्द्र की नाईं विषय-भोक्ता भी हो गया है। जागने के साथ ही न तो इसका इन्द्रपन का यह लाभ रह जायगा और न रंक होने की उक्त हानि ही, उसके लिये उपाय आगे कहते हैं—

(४) "बोले लखन मधुर मृदु बानी।'''" से यहाँ तक में उक्त 'कर्म-प्रधान' की मीमांसा की।

> अस बिचारि नहिं कीजिय रोषू। काहुहि बादि न देइय दोषू॥१॥
> मोहनिसा सब सोवनिहारा। देखिय सपन अनेक प्रकारा॥२॥
> येहि जग जामिनि जागहि जोगी। परमारथी प्रपंचबियोगी॥३॥
> जानिय तबहि जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥४॥
> होइ बिबेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ-चरन अनुरागा॥५॥

अर्थ—ऐसा विचारकर क्रोध न कीजिये, किसी को व्यर्थ दोष न दीजिये॥१॥ सब मोह-रात्रि में सोनेवाले हैं, सोने में अनेकों प्रकार के स्वप्न देख पड़ते हैं॥२॥ इस संसार-रूपी रात्रि में योगी लोग जागते हैं, जो परमार्थी हैं और प्रपंच से निर्लिप्त हैं।३॥ जब (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, इन) सब विषयों की क्रीड़ा से वैराग्य हो, तब जानना चाहिये कि इस जगत्-रूपी रात्रि से जीव जगा॥४॥ विवेक होने पर मोह और भ्रम छूट जाते हैं, तब श्रीरघुनाथजी के चरणों में प्रेम होता है॥५॥

विशेष—(१) मोह-निशा देहाभिमान है, उपर्युक्त योग-वियोग आदि का अनुभव स्वप्न है। यह स्वप्न-विकार जागने से ही छूटता है। अतः, आगे जागना कहते हैं कि इस जगत्-रूपी रात्रि से परमार्थी योगी जागते हैं, तब प्रपंच से रहित होते हैं, जगत् यामिनी; यथा—"सुत-वित नारि भवन ममता निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी।" (वि० १४०); अर्थात् देहाभिमानी होने से सुत-वित्त आदि अंग-रूप हो जाते हैं और जीव उनका अंगी बनता है, तब उनकी ममता ही देहाभिमान-रूपा रात्रि

है। अतः, योगी (संयमी) होकर परमार्थी होना चाहिये। इन्द्रियों के विषय अर्थ हैं, उन इन्द्रियों से भगवान् का भजन करना परम अर्थ है। अत', भगवान् ही परमार्थ हैं; यथा—"राम ब्रह्म परमारथ रूपा।". आगे कहेंगे। श्रीरामजी भजनीय होने से परमार्थ-रूप हैं। जगत् उनका शरीर है, श्रीरामजी शरीरी हैं। शरीरी के शरीर-रूप हाथ-पाँव आदि सेवक-रूप होते हैं। अतः, इन्हें शरीर-रूप जीवों को उनकी सेवा करनी ही चाहिये। अतः, उपर्युक्त अनेक प्रकारता को भगवान के शरीर-रूप में जानकर तन्निष्ठ (भगवान का उपासक) होना परमार्थी होना है। इस तरह ज्ञान के द्वारा प्रपंच से वियोग हो जाता है। यथा—"जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई॥" (बा० दो० १११); अर्थात् भगवान् अपने शरीर-रूप जीवों के कर्मानुसार ही शत्रु-मित्र आदि-रूप से यथान्याय ही बर्त्ताव कर रहे हैं। यह भगवान का जानना है। अतः, उपर्युक्त योग-वियोग आदि से उपेक्षा हो जायगी कि भगवान हमारे कर्मानुसार ही योग-वियोग आदि के प्रवर्त्तक हैं, तब दूसरा कोई शत्रु-मित्र नहीं रह जायगा। यही प्रपंच-वियोग एवं जगत् का हेरा (खो) जाना है, इसी को आगे दो अर्द्धालियों से कहते हैं—

(२) 'जानिय तबहि होइ विवेक ···' अर्थात् जागने पर विषय-विलास का त्याग स्वतः होता है, क्योंकि—"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।" (गीता ३।३४); अर्थात् विषय, राग-द्वेष कराने वाले हैं, जो उपर्युक्त जाग्रत् के विरुद्ध हैं। तब प्रज्ञा प्रतिष्ठित होने पर सत्-असत् का यथार्थ विवेक होता है। यथा—"तस्मात् यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥" (गीता २।६८)।

विवेक—जगत्-शरीरी श्रीरामजी के जानने से सत् का ग्रहण हुआ और अज्ञान-कल्पित 'सुत-वित-देह-गेह-स्नेह' रूप नानात्व-जगत् के त्याग से असत् का त्याग हुआ। तब मोह जो देहाभिमान है और नानात्व-जगत् की सत्यता का भ्रम, ये दोनों निवृत्त हुए। तब 'रघुनाथ चरन' अर्थात् श्रीरामजी रघु संज्ञक जीवमात्र के पालक रूप नाथ हैं, ऐसा जानने से उनमें अनुराग होगा ही, क्योंकि जिन-जिन उपकारों के प्रति जगत् में ममता फैली थी विवेक से वह सर्वत्र से सिमटकर श्रीरामजी में ही हुई। यथा—"यहि जग में जहँ लगि या तन की प्रीति प्रतीति सगाई। सो सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहु सिमिटि यक ठाँई॥" (वि० १०३); तथा—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत सब सपना॥" (आ० दो० ३८); अर्थात् विवेक होने पर भजन ही होता है, इसे ही आगे परम परमार्थ (उत्कृष्ट ज्ञान) कहते हैं—

सखा परम परमारथ येहू। मन-क्रम-बचन रामपद नेहू॥६॥
राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा॥७॥
सकल - बिकार - रहित गतभेदा। कहि नित नेति निरूपहि बेदा॥८॥

दोहा—भगत भूमि भूसुर सुरभि, सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज-तनु, सुनत मिटहिं जगजाल॥६३॥

अर्थ—हे सखा! सबसे श्रेष्ठ परमार्थ यही है कि मन, कर्म और वचन से श्रीरामजी के चरणों में प्रेम हो॥६॥ श्रीरामजी ब्रह्म हैं और परमार्थ के स्वरूप ही हैं, अविगत (अतिशय-विगत अर्थात् मन आदि इन्द्रियों से परे) हैं, अलख हैं, जन्म रहित, उपमारहित॥७॥ सब विकार (षड्विकार) रहित

हैं, भेद से रहित हैं, नित्य ही वेद उनका 'नेति-नेति' कहकर निरूपण करते हैं ॥८॥ भक्त, पृथिवी, ब्राह्मण, गऊ और देवताओं के लिये दयालु श्रीरामजी मनुष्य-शरीर धारण करके चरित करते हैं, जिनके सुनने से संसार-रूपी बंधन छूट जाता है ॥९३॥

विशेष—(१) 'सखा परम परमारथ येहू'—ऊपर श्रीरामजी को शरीरी जानकर तन्निष्ठ होनेवाला परमार्थी कहा गया था। यहाँ उसमें (परम परमार्थ रूप) मन-वचन-कर्म से स्नेह भी हुआ, तो अब वही परम-परमार्थी कहाया। पुनः विषय-सुख-सामग्री अर्थ, ज्ञान-वैराग्य (साधन रूप) परमार्थ और श्रीरामचरण में मन कर्म और वचन से स्नेह होना (फलरूप सरस ज्ञान) परम परमार्थ है।

सम्बन्ध—इसपर निषाद-राज को संदेह हो सकता है कि श्रीरामजी तो नर के समान देखे जाते हैं, कर्म की अधीनता भी इनमें दीखती है; तब इनका भजन परम परमार्थ कैसे होगा ? इसलिये आगे श्रीरामजी का ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों रूप कहते हैं—

(२) 'राम ब्रह्म परमारथ रूपा···'—राम ब्रह्म हैं ; यथा—"व्यापक एक ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी। अस प्रभु हृदय अछत···" (बा० दो० २१) ; इसकी व्याख्या में कहा गया है कि ब्रह्म षडैश्वर्य-पूर्ण एवं षड्विकार-रहित है, ब्रह्म शब्द-मात्र से निर्गुण का ही अर्थ होता है। यथा—"ब्रह्म राम ते नाम बड़" (बा० दो० २५); 'परमारथ रूपा' अर्थात् ज्ञान-स्वरूप हैं। अतः, कर्म-वश नहीं, क्योंकि—"कर्म कि होंहि स्वरूपहि चीन्हें।" (उ० दो० ११२); अर्थात् परमार्थ के ज्ञाता भी कर्म से निर्लिप्त रहते हैं और ये तो परमार्थ के स्वरूप ही हैं। 'अविगत'—इन्द्रियों से परे हैं। अतः, भूमि पर सोने आदि के दुःखों का सम्पर्क इन्हें नहीं है। 'अलख' अर्थात् जो लखा या देखा न जा सके, श्रीरामजी ज्ञान-गम्य हैं, यथा—"ज्ञान-गम्य जय रघुराई॥" (बा० दो० २१०)।

'अनादि'—कर्म के नियामक ब्रह्मा सादि (स + आदि, आदिवाले = उत्पन्न होनेवाले) हैं और श्रीरामजी का दिव्य-रूप इनसे परे अनादि है। 'अनूपा'—जब दूसरा कोई इनसे भिन्न सत्तावान् हो तो उसकी उपमा भी दी जा सके। कहा भी है—"निरुपम न उपमा आनि राम समान राम निगम कहैं।" (उ० दो० ९१)।

(३) 'सकल-बिकार-रहित गत-भेदा।···'—षड्विकार से रहित हैं 'गत-भेदा'—श्रीरामजी चिद्-चिद्विशिष्ट ब्रह्म एक ही हैं। इनसे भिन्न और कुछ नहीं है; अर्थात् जीव और प्रकृति ब्रह्म के अपृथक्-सिद्ध-सम्बन्ध युक्त शरीर रूप एवं विशेषण हैं, श्रीरामजी स्वयं ब्रह्म-रूप विशेष्य हैं। इस (भेदराहित्य) से जनाया कि कैकेयीजी भी इनसे भिन्न नहीं हैं। अतः, उनके कार्य भी इनकी ही इच्छा एवं प्रेरणा से लीला के लिये हुए हैं।

सम्बन्ध—जब अलख आदि हैं, तब प्रत्यक्ष क्यों देख पड़ते हैं ? इसके समाधान के लिये आगे अवतार कहते हुए उसी ब्रह्म का माधुर्य-रूप कहते हैं—

(४) 'भगत भूमि भूसुर सुरभि······'—'कृपाल' अर्थात् कृपा-गुण से ही भक्त आदि के हित के लिये अवतार लेकर चरित करते हैं। यथा—"जब जब होइ धरम कै हानी।···हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥" (बा० दो० १२०)। 'सुनत मिटहिं जग जाल' से चरित्र-श्रवण का माहात्म्य कहा कि जो ऊपर—"जोग-वियोग भोग······" से "जनम मरन जहँ लगि जग जालू।" तक मोह-मूलक विकार कहे गये। वे सब इस चरित्र के सुनने से मिट जायँगे। अतः, यही उसका उपाय है। यथा—"बिनु सत संग न हरि-कथा, तेहि बिनु मोह न भाग।" (उ० दो० ६१)। इससे जनाया कि श्रीरामजी का ये भूमि-शयन आदि उनके प्रति विकार नहीं, किंतु लीला-रूप में जगत् के लिये विकार छूटने का उपाय हैं।

यथा—"जथा अनेकन वेष करि, नृत्य करै नट कोइ। सोइ-सोइ भाव देखावै, आपुन होइ न सोइ ॥" (उ० दो० ७२)। अर्थात् भगवान् नर-तन की लीला करने से नर ही नहीं हो जाते, किंतु उपर्युक्त ब्रह्म रूप-वाले गुण इनमें रहते हैं। अत, इनके विषय में कर्म-परतंत्रता का मोह (संदेह) छोड़कर इनका भजन करो। यही निष्कर्ष हुआ। वही आगे कहते हैं—

सखा समुझि अस परिहरि मोहू। सिय-रघुबीर-चरन-रत होहू ॥१॥

अर्थ—हे सखा! ऐसा समझकर मोह को छोड़ श्रीसीतारामजी के चरणों में प्रीति करो ॥१॥

विशेष—(१) 'सखा समुझि अस ......'—'अस' अर्थात् न तो कैकेयीजी ने ही श्रीरामजी को बलात् दुःख दिया है और न श्रीरामजी कर्म के वश ही हैं। वे यह सब चरित कर रहे हैं कि जिनसे उपर्युक्त भक्त भूमि आदि के हित होते हैं। 'परिहरि मोहू'—श्रीरामजी के विषय का अज्ञान किये दुःख पा रहे हैं, इसे छोड़ो। उपर्युक्त "सोवत प्रभुहि निहारि निषादू। भयो प्रेम-बस हृदय बिषादू ॥" के 'प्रेम-वश' का भाव ही यहाँ मोह कहा गया है, क्योंकि निषाद-राज ने श्रीरामजी को प्राकृत नर की तरह कर्म वश मानकर उनके दुःख में सौहार्द से दुःख माना है। जैसे अर्जुन का बांधव-स्नेह ही मोह-रूप कहा गया है और उसका निवृत्त होना अन्त में कहा गया है। यथा—"नष्टो मोहः ......" (गीता १८।७३) वैसे यहाँ निषादराज का बांधव-स्नेह मोह कहा गया। श्रीलक्ष्मणजी ने उसे उपर्युक्त उपदेश से निवृत्त किया। 'सिय रघुबीर चरन रत......'—मोह-निवृत्ति से राम-पद-प्रेम होता है; यथा—"मोह गये बिनु राम पद, होइ न दृढ़ अनुराग।" (उ० दो० ६१)।

यहाँ इस 'लक्ष्मण-गीता' की फल-श्रुति कही गई है कि इसके श्रवण से मोह छूटकर विज्ञान होता है और 'सिय रघुवीर चरन रत होहू।' के अनुसार श्रीराम-भक्ति होती है। यह गीता प्रथम सब जीवों के भक्ति-मार्ग के आचार्य रूप श्रीलक्ष्मणजी ने कही है। दूसरी 'राम-गीता' आ० दो० १३-१६ में श्रीलक्ष्मणजी से श्रीरामजी ने कही है। तीसरी गीता लं० दो० ७९ में श्रीविभीषणजी से श्रीरामजी ने कही है, इसे 'भगवद्गीता' कहते हैं। चौथी 'पुरजन गीता' उ० दो० ४२-४६ में कही गई है और पाँचवीं 'ज्ञान गीता' एवं उसके साथ ही 'भक्ति गीता' उ० दो० ११६-१२० में गरुड़-भुशुंडी-संवाद में कही गई है। इनकी फल-श्रुतियाँ भी क्रमशः—(क) यहाँ की ऊपर कही गई, (ख)—"तिन्ह के हृदय कमल महुँ, करउँ सदा बिश्राम।" (ग)—"महा अजय संसार रिपु, जीति सकइ सो बीर। जाके असरथ होइ दृढ़" (घ)—"उमा अवध बासी नर, नारि कृतारथ रूप।" (ङ)—"जो निर्बिघ्न पंथ निरबहई। सो कैवल्य परम पद लहई॥" एवं—"बिरति चर्म असि ज्ञान मद, लोभ मोह रिपु मारि। जय पाइय सोइ हरि भगति···।"

'जागे जग मंगल-सुख दारा।'—श्रीरामजी ने अभी तक की लीलाओं से अवध-मिथिला में मंगल किया। अब वन-लीला से जगत्-भर का मंगल और सुख-दातृत्व प्रारंभ करेंगे। यथा—"दसमुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्ह के जस अमर नाग नर सुमुखि सनाहैं॥" (गी० उ० १३)। पुनः ईश्वर की जागर्त्ति से जगत् का मंगल और सुख है।

(२) 'सकल सौच करि···'—जनकपुर में—'सकल सौच करि जाइ नहाये' कहा गया था, पर यहाँ 'जाइ' नहीं कहा गया, क्योंकि यहाँ तो गंगाजी के तट पर ही ठहरे हैं। 'सुचि'—शौच कृत्य और नहाना कहने से पहले का अशुचि होना पाया जाता; इसलिये शुचि शब्द कहा है कि आप तो सहज ही शुद्ध हैं। यथा—"सुद्ध सच्चिदानंद मय, कंद भानु कुल केतु। चरित करत नर अनुहरत, संसृति-सागर-सेतु॥" (दो० ८७); "तीरथ अमित कोटि सम पावन।" (उ० दो० ११)।

'सुजान बट छीर मँगावा'—'सुजान' हैं। इसीसे सुमंत्र का अभिप्राय जान गये कि ये लौटाने की हठ करेंगे। इसलिये जटाएँ बना लीं कि जिससे वे निश्चय जान लें कि ये न लौटेंगे, फिर व्यर्थ हठ न करें और पिता-तुल्य वृद्ध मंत्री से मुझे उत्तर की धृष्टता भी न करनी पड़े। श्रीरामजी का यह भी अभिप्राय है, मुझे जटा बनाते हुए देखकर ये वहाँ कहेंगे, तो कैकेयी को निश्चय हो जायगा कि श्रीरामजी विशेष उदासीन वेष से वन को गये। यह मंत्री और कैकेयी के प्रति भी सौशील्य गुण का बर्ताव है। 'मँगावा'—से यह भी जान पड़ता है कि वहाँ समीप में वट-वृक्ष न था। नहीं तो उसी के नीचे ठहरते, जैसे कि अन्यत्र पाया जाता है। यथा—"घरिक बिलंब कीन्ह बट छाहीं।" (दो० ११४); "देखि निकट बट सीतल पानी॥ तहँ बसि···" (दो० १२३); "बट छाया बेदिका" (दो० २३६)। "पुनि प्रभु पंचबटी कृत बासा।" (आ० दो० १५) इत्यादि।

(३) 'अनुज सहित सिर जटा ···'—श्रीरामजी ने और मुनि वेष तो कैकेयीजी के सामने ही बना लिया था। केवल जटा बनाना शेष था। उसकी पूर्त्ति यहाँ की। श्रीलक्ष्मणजी ने भाई की भक्ति से जटा बनाई, क्योंकि इन्हें मुनि वेष करने के लिये पिता की आज्ञा नहीं थी। 'देखि सुमंत्र नयन जल छाये'—भाव यह कि कहाँ तो इस शिर पर मुकुट और तिलक देखने की अभिलाषा थी और कहाँ अब जटा देख रहा हूँ।

(४) 'हृदय दाह अति बदन मलीना।···'—श्रीसुमंत्रजी मन, वचन और तन इन तीनों से अत्यन्त दुखी हो गये। यथा—'हृदय दाह अति'—मन, 'अति बदन मलीना'—तन, और 'कह कर

यथा—"जथा अनेकन वेष करि, नृत्य करै नट कोइ। सोइ-सोइ भाव देखावै, आपुन होइ न सोइ॥" (उ० दो० ७२)। अर्थात् भगवान् नर-तन की लीला करने से नर हो नहीं हो जाते, किंतु उपर्युक्त ब्रह्म रूप-वाले गुण इनमें रहते हैं। अतः, इनके विषय में कर्म-परतंत्रता का मोह (संदेह) छोड़कर इनका भजन करो। यही निष्कर्ष हुआ। वही आगे कहते हैं—

सखा समुझि अस परिहरि मोहू। सिय - रघुबीर - चरन - रत होहू ॥१॥

अर्थ—हे सखा ! ऐसा समझकर मोह को छोड़ श्रीसीतारामजी के चरणों में प्रीति करो ॥१॥

विशेष—(१) 'सखा समुझि अस ......'—'अस' अर्थात् न तो कैकेयीजी ने ही श्रीरामजी को बलात् दुःख दिया है और न श्रीरामजी कर्म के वश ही हैं। वे यह सब चरित कर रहे हैं कि जिनसे उपर्युक्त भक्त भूमि आदि के हित होते हैं। 'परिहरि मोहू'—श्रीरामजी के विषय का अज्ञान कि ये दुःख पा रहे हैं, इसे छोड़ो। उपर्युक्त "सोवत प्रभुहि निहारि निषादू। भयो प्रेम-बस हृदय बिषादू॥" के 'प्रेम-वश' का भाव ही यहाँ मोह कहा गया है, क्योंकि निषाद-राज ने श्रीरामजी को प्राकृत नर की तरह कर्म वश मानकर उनके दुःख में सौहार्द्य से दुःख माना है। जैसे अर्जुन का बांधव-स्नेह ही मोह-रूप कहा गया है और उसका निवृत्त होना अन्त में कहा गया है। यथा—"नष्टो मोहः......" (गीता १८।७३) वैसे यहाँ निषादराज का बांधव-स्नेह मोह कहा गया। श्रीलक्ष्मणजी ने उसे उपर्युक्त उपदेश से निवृत्त किया। 'सिय रघुबीर चरन रत......'—मोह-निवृत्ति से राम-पद-प्रेम होता है; यथा—"मोह गये बिनु राम-पद, होइ न दृढ़ अनुराग।" (उ० दो० ६१)।

श्री लक्ष्मण-गीता समाप्त।

कहत रामगुन भा भिनुसारा। जागे जग - मंगल - सुखदारा ॥२॥
सकल सौच करि राम नहावा। सुचि सुजान बटछीर मँगावा ॥३॥
अनुजसहित सिर जटा बनाये। देखि सुमंत्र नयन जल छाये ॥४॥
हृदय दाह अति बदन मलीना। कह कर जोरि बचन अति दीना ॥५॥

शब्दार्थ—दारा = देनेवाले, यह 'दा-दाने' धातु से निष्पन्न 'दारु' शब्द का अनुप्रासानुसार विकृत-रूप है; यथा—"(त्रि०) दा दाने दो खवड ने वा—रु। दानशील, देनेवाला।" हिन्दी—विश्वकोश।

अर्थ—श्रीरामजी के गुण कहते हुए सवेरा हो गया, जगत् के मंगल और सुख के देनेवाले श्रीरामजी जगे ॥२॥ सब शौच के कृत्य करके पवित्र और सुजान श्रीरामजी ने स्नान किया और बरगद का दूध मँगाया ॥३॥ (उस दूध से) भाई के साथ शिर पर जटाएँ बनाईं, यह देखकर श्रीसुमंत्रजी के नेत्रों में आँसू छा गये ॥४॥ हृदय में अत्यन्त जलन है और मुख अत्यन्त मलिन (उदास) है, हाथ जोड़कर उसने अत्यन्त दीन वचन कहा ॥५॥

विशेष—(१) 'कहत राम गुन भा ......'—श्रीलक्ष्मणजी राम-गुण कहने में मुख्य हैं, यथा—"राम रावरो सुभाउ गुन सील महिमा-प्रभाउ जान्यो हर हनूमान लखन भरत।" (वि० २५१); (इसमें विपरीत यथासंख्यालंकार से अर्थ है कि श्रीभरतजी स्वभाव, श्रीलक्ष्मणजी गुण, श्रीहनुमान्जी शील और श्रीशिवजी महिमा-प्रभाव के ज्ञाताओं में श्रेष्ठ हैं।) इसीसे गुण कहते-कहते रात बीत गई। पुनः राम-गुण-गान के श्रवण से गुह की मोह-रात्रि दूर हुई और विज्ञान-रूपी सवेरा हुआ।

यहाँ इस 'लक्ष्मण-गीता' की फल-श्रुति कही गई है कि इसके श्रवण से मोह छूटकर विज्ञान होता है और 'सिय रघुबीर चरन रत होहू ।' के अनुसार श्रीराम-भक्ति होती है। यह गीता प्रथम सब जीवों के भक्ति-मार्ग के आचार्य रूप श्रीलक्ष्मणजी ने कही है। दूसरी 'राम गीता' आ० दो० १३-१६ में श्रीलक्ष्मणजी से श्रीरामजी ने कही है। तीसरी गीता लं० दो० ७९ में श्रीविभीषणजी से श्रीरामजी ने कही है, इसे 'भगवद्गीता' कहते हैं। चौथी 'पुरजन गीता' उ० दो० ४२-४६ में कही गई है और पाँचवीं 'ज्ञान गीता' एवं उसके साथ ही 'भक्ति गीता' उ० दो० ११६-१२० में गरुड़-भुशुंडी-संवाद में कही गई है। इनकी फल-श्रुतियाँ भी क्रमशः—(क) यहाँ की ऊपर कही गई, (ख)—"तिन्ह के हृदय कमल महँ, करउँ सदा बिश्राम।" (ग)—"महा अजय संसार रिपु, जीति सकइ सो बीर। जाके असरथ होइ दृढ़" (घ)—"उमा अवध बासी नर, नारि कृतारथ रूप।" (ङ)—"जौ निर्बिघ्न पंथ निरबहई। सो कैवल्य परम पद लहई॥" एवं—"बिरति चर्म असि ज्ञान मद, लोभ मोह रिपु मारि। जय पाइय सोइ हरि भगति···।"

'जागे जग मंगल-सुख दारा।'—श्रीरामजी ने अभी तक की लीलाओं से अवध-मिथिला में मंगल किया। अब वन-लीला से जगत्-भर का मंगल और सुख-दातृत्व प्रारंभ करेंगे। यथा—"दससुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्ह के जस अमर नाग नर सुमुखि सनाहैं॥" (गी० उ० १३)। पुनः ईश्वर की जागर्त्ति से जगत् का मंगल और सुख है।

(२) 'सकल सौच करि··· '—जनकपुर में—'सकल सौच करि जाइ नहाये' कहा गया था, पर यहाँ 'जाइ' नहीं कहा गया, क्योंकि यहाँ तो गंगाजी के तट पर ही ठहरे हैं। 'सुचि'—शौच कृत्य और नहाना कहने से पहले का अशुचि होना पाया जाता, इसलिये शुचि शब्द कहा है कि आप तो सहज ही शुद्ध हैं। यथा—"सुद्ध सच्चिदानंद मय, कंद भानु कुल केतु। चरित करत नर अनुहरत, संसृति-सागर-सेतु॥" (दो० ८७); "तीरथ अमित कोटि सम पावन।" (उ० दो० ४१)।

'सुजान बट छीर मँगावा'—'सुजान' हैं। इसीसे सुमंत्र का अभिप्राय जान गये कि ये लौटाने की हठ करेंगे। इसलिये जटाएँ बना लीं कि जिससे वे निश्चय जान लें कि ये न लौटेंगे, फिर व्यर्थ हठ न करें और पिता-तुल्य वृद्ध मंत्री से मुझे रुक्ष उत्तर की धृष्टता भी न करनी पड़े। श्रीरामजी का यह भी अभिप्राय है, मुझे जटा बनाते हुए देखकर ये वहाँ कहेंगे, तो कैकेयी को निश्चय हो जायगा कि श्रीरामजी विशेष उदासीन वेष से वन को गये। यह मंत्री और कैकेयी के प्रति भी सौशील्य गुण का बर्त्ताव है। 'मँगावा'—से यह भी जान पड़ता है कि वहाँ समीप में बट-वृक्ष न था। नहीं तो उसी के नीचे ठहरते, जैसे कि अन्यत्र पाया जाता है। यथा—"घरिक बिलंब कीन्ह बट छाहीं।" (दो० ११४); "देखि निकट बट सीतल पानी॥ तहँ बसि···" (दो० १२३); "बट छाया बेदिका" (दो० २३६)। "पुनि प्रभु पंचवटी कृत बासा।" (आ० दो० १५) इत्यादि।

(३) 'अनुज सहित सिर जटा ···'—श्रीरामजी ने और मुनि वेष तो कैकेयीजी के सामने ही बना लिया था। केवल जटा बनाना शेष था। उसकी पूर्त्ति यहाँ की। श्रीलक्ष्मणजी ने भाई की भक्ति से जटा बनाई, क्योंकि इन्हें मुनि वेष करने के लिये पिता की आज्ञा नहीं थी। 'देखि सुमंत्र नयन जल छाये'—भाव यह कि कहाँ तो इस शिर पर मुकुट और तिलक देखने की अभिलाषा थी और कहाँ अब जटा देख रहा हूँ।

(४) 'हृदय दाह अति बदन मलीना।···'—श्रीसुमंत्रजी मन, वचन और तन इन तीनों से अत्यन्त दुखी हो गये। यथा—'हृदय दाह अति'—मन, 'अति बदन मलीना'—तन, और 'कह कर

जोरि वचन अति दीना।' से वचन की दुःखमय दशा प्रत्यक्ष है। ये तीनों प्रकार के दुःख प्रथम से भी थे; पर अब जटा बनाना देख कर 'अति' हो गये।

नाथ कहेउ अस कोसलनाथा। लै रथ जाहु राम के साथा ॥६॥
बन देखाइ सुरसरि अन्हवाई। आनेहु फेरि बेगि दोउ भाई ॥७॥
लखन राम सिय आनेहु फेरी। संसय सकल सँकोच निबेरी ॥८॥

दोहा—नृप अस कहेउ गोसाइँ जस, कहइ करउँ बलि सोइ।
करि विनती पायन्ह परेउ, दीन्ह बाल जिमि रोइ ॥९४॥

अर्थ—हे नाथ! कोशलेश महाराज श्रीदशरथजी ने ऐसा कहा था कि रथ लेकर श्रीरामजी के साथ जाओ ॥६॥ वन दिखा और गंगा स्नान कराकर शीघ्र ही दोनों भाइयों को लौटा लाना ॥७॥ सब संदेह और संकोच अलग करके श्रीलक्ष्मणजी, श्रीरामजी और श्रीसीताजी को लौटा लाना ॥८॥ हे गोसाइं! राजा ने ऐसा कहा है। अब जैसा आप कहें, मैं वैसा ही करूँ। मैं आपकी बलिहारी हूँ। विनती करके वह पैरों पर गिर पड़ा और बालकों की तरह रो दिया; अर्थात् अधीर हो ऊँचे स्वर से रोने लगा ॥९४॥

विशेष—(१) 'नाथ कहेउ अस कोसल नाथा।...'—'कोसल नाथा' कहने का भाव यह कि वे कोशल (अयोध्या) के कुशल के लिये आपको बुला रहे हैं। यही आगे—"तात कृपा करि कीजिय सोई। जाते अवध अनाथ न होई॥" से स्पष्ट होगा। पहले श्रीसुमंत्रजी ने पिता की आज्ञा सुनाकर रथ पर चढ़ाया है। यथा—"तब सुमंत्र नृप बचन सुनाये। करि विनती रथ राम चढ़ाये॥" (दो० ८२); उसी बल पर फिर भी राजा की यह आज्ञा सुना रहे हैं कि जिससे उसी तरह इसे भी श्रीरामजी मान लें।

(२) 'बन देखाइ सुरसरि अन्हवाई।"—'बन देखाइ'—क्योंकि श्रीरामजी ने वनवास करने की प्रतिज्ञा कर ली है; उसे इस तरह पूरी कर देना। 'सुरसरि अन्हवाई' पीछे कहा। इससे गंगाजी के इसी पार का वन दिखाना सूचित किया। 'आनेहु बेगि'—'बेगि' से यहाँ शीघ्र मात्र अर्थ हुआ। पर राजा के पूर्व वचन—"फिरेहु गये दिन चारि" (दो० ८१) पर इसका भाव स्पष्ट हुआ है, क्योंकि १४ वर्ष की अपेक्षा चार दिन बहुत ही अल्प कहे जायँगे।

(३) 'लखन राम सिय आनेहु ...'—प्रथम 'दोउ भाई' मात्र कहा था। व्याकुलता से श्रीसीताजी को न कह सके थे। इसलिये फिर तीनों को कहा। वा, प्रथम दो में तीनों का भाव है। दोबारा अधिक पुष्टि के लिये कहा। 'संसय सकल सकोच निबेरी।'—(क) श्रीरामजी यदि संशय करें कि पिताजी ने प्रेमवश ऐसा कहा है; मैं लौटूँगा तो उनका धर्म जायगा और यह संकोच करें कि हम वनवास के लिये निकल पड़े अब कैसे लौटें? तो उनके इन संशय और संकोच को दूर करना। (ख) तुम भी ऐसा संशय न करना कि श्रीरामजी वनवास के लिये प्रतिज्ञा करके निकल पड़े। धर्मिष्ट हैं लौटें या न लौटें तो कहूँ या न कहूँ। पुनः कहने में संकोच न करना। इत्यादि 'सकल' शब्द में सब भाव हैं। 'निबेरी'=अलग करके, त्याग करके। यथा—"गृह आनहि चेरि निबेरि गती।" (उ०दो० १००)।

(४) 'नृप अस कहेउ गोसाइँ...'—'नृप' (नृ=मनुष्य, प=पालक) अर्थात् राजा मनुष्यों के पालन-कर्त्ता हैं। उन्हीं के निमित्त उन्होंने ऐसा (उपर्युक्त) कहा है; अन्यथा प्रजा न जियेगी।' गोसाँइ जस···'—आप तो गोसाईं अर्थात् इन्द्रियजित हैं। अतः, वन के दुःख से न घबड़ायँगे; किंतु प्रजा की रक्षा के लिये यह प्रार्थना है। 'जस कहइ' अर्थात् ऐसा न हो कि संकोच से कुछ उत्तर न दें, तो मैं राजा से क्या कहूँगा। अतः, लौटें अथवा उत्तर दें। विनती करके पैरों पर पड़ गये; क्योंकि बड़ों पर ऐसे ही दबाव पड़ता है।

तात कृपा करि कीजिय सोई। जाते अवध अनाथ न होई॥१॥
मंत्रिहि राम उठाइ प्रबोधा। तात धरम-मत तुम्ह सब सोधा॥२॥
सिबि दधीचि हरिचंद नरेसा। सहे धरमहित कोटि कलेसा॥३॥
रंतिदेव बलि भूप सुजाना। धरम धरेउ सहि संकट नाना॥४॥
धरम न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना॥५॥
मैं सोइ धरम सुलभ करि पावा। तजे तिहूँ पुर अपजस छावा॥६॥

अर्थ—हे तात! कृपा करके वही कीजिये, जिससे अवध अनाथ न हो॥१॥ श्रीरामजी ने मंत्री को उठाकर समझाया—हे तात! तुमने धर्म के सब मतों (सिद्धान्तों) का संशोधन किया है॥२॥ शिवि, दधीचि और हरिश्चन्द्र ने धर्म के लिये करोड़ों कष्ट सहे हैं॥३॥ सुजान राजा रंति देव और बलि ने अनेकों कष्ट सह कर भी धर्म को धारण किया है॥४॥ सत्य के समान दूसरा धर्म नहीं है। शास्त्र, वेद और पुराणों में कहा है॥५॥ मैंने वही धर्म सहज ही में पाया है। उसके छोड़ने से तीनों लोकों में अपयश फैलेगा॥६॥

विशेष—(१) 'तात कृपा करि कीजिये सोई···'—धर्म की दृष्टि से लौटा नहीं सकते। इसलिये अवधवासियों पर कृपा करके लौटने को कहते हैं कि जिससे अवध अनाथ न हो, अर्थात् तुम्हारे न लौटने से राजा न जियेंगे। श्रीभरतजी भी राज्य न ग्रहण करेंगे तो अवध अनाथ होगी।

(२) 'मंत्रिहि राम उठाइ प्रबोधा···'—मंत्रीजी पिताजी के सखा हैं। अतः, उनका चरणों पर पड़ना न सह सके, उसे उठाकर समझाया। धर्म का मत कहकर समझाया, वही आगे कहते हैं कि तुम तो धर्म का मत जानते ही हो, इसलिये धर्मिष्ठों का उदाहरणमात्र ही कहता हूँ। धर्म का मत समझाने का प्रयोजन नहीं।

(३) 'सिबि दधीचि हरिचंद··'—इनकी कथाएँ पूर्व आ चुकी हैं।

(४) 'रंतिदेव बलि भूप सुजाना।···'—ये दोनों राजा धर्म की गति जानने में बड़े निपुण थे। बड़े-बड़े संकट सहकर इन्होंने धर्म की रक्षा की है। बलि की कथा पूर्व आ चुकी है। रंतिदेव की कथा श्रीमद्भागवत स्कंध ९ अ० २१ में विस्तार से कही गई है। ये पुरुवंश में राजा संकृति के पुत्र हुए। सर्वदा दान दिया करते थे। सम्पत्ति चुक जाने पर एक बार ४८ दिनों तक इन्हें बिना अन्न-जल के रहना पड़ा। ४९ वें दिन भोजन प्राप्त हुआ, तब एक ब्राह्मण अतिथि आ गया, उसे श्रद्धा-पूर्वक खिलाया। शेष भोजन स्त्री-पुत्र के साथ तीनों बाँटकर खाने को तैयार हुए कि एक शूद्र अतिथि आया। राजा ने उसे भी उसी में संतुष्ट किया। फिर एक भूखा चांडाल भूखे कुत्ते को लिये हुए आया। राजा ने इनको भी शेष अन्न खिलाया। अब केवल एक व्यक्ति के पीने भर को जल शेष रहा। उसे पीना चाहते ही थे कि एक प्यासा चांडाल आ

गया। दया करके आपने वह जल उसे पिला दिया। आप सर्वत्र हरि को ही देखते थे और भगवान् से यही चाहते थे कि मैं ही सब प्राणियों के हृदय में रहकर उनका दुःख भोगूँ। राजा ने मृत के तुल्य दशा में ज्यों ही शेष जल उस चांडाल को दिया, त्यों ही उपर्युक्त रूपों से परीक्षा लेनेवाले त्रिदेव प्रकट हो गये और इन तीनों प्राणियों ने उनके सामने ही शरीर त्याग दिया।

(५) 'धरम न दूसर सत्य समाना'''—यदि सुमंत्रजी कहें कि उक्त लोगों में किसी का सर्वस्व और किसी का शरीर नाश हुआ। उसके लिये तुम क्यों कष्ट झेलोगे? उसपर कहते हैं, सत्य रक्षा के समान दूसरा धर्म नहीं है। फिर वेदादि के प्रमाण दिये। यथा—"सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम्।'''सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रित। सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्॥'' वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात्सत्य परो भवेत्॥" (वाल्मी० २।१०९।१०-१४)।

(६) 'मैं सोइ धरम सुलभ करि पावा।'''—पिता के वचन सत्य करना, यह सत्य-रक्षा रूप परम धर्म पालन करने को मुझे सुलभता से मिल गया कि केवल वन में थोड़े काल निवास करने मात्र में हो जायगा और सत्य-प्रतिज्ञ का यश होगा। इसे भी न कर सकने पर अपयश होगा कि श्रीरामजी धार्मिक वृत्ति में कादर थे जिससे सुलभ धर्म भी न कर सके। यही नहीं, किंतु तीनों लोकों में अपयश छा जायगा; अर्थात् चिरकाल तक बना रहेगा। सत्य का त्यागना पाप है, उससे अपयश होगा। यथा—"बिनु अघ अजस कि पावै कोई।" (उ० दो० १११), अपयश का भारी भय है, वही आगे कहते हैं—

संभावित कहुँ अपजसलाहू। मरन - कोटि - सम दारुन दाहू ॥७॥
तुम्ह सन तात बहुत का कहऊँ। दिये उतर फिरि पातक लहऊँ ॥८॥

दोहा—पितुपद गहि कहि कोटि नति, बिनय करब कर जोरि।
चिंता कवनिहु बात कै, तात करिय जनि मोरि ॥९५॥

अर्थ—प्रतिष्ठित पुरुषों को अपयश प्राप्त होने से करोड़ों मरण के समान कठिन दाह होता है ॥७॥ हे तात! तुमसे बहुत क्या कहूँ? उत्तर देने से उल्टे पाप का भागी हूँगा ॥८॥ पिता के चरण पकड़कर हमारा कोटिशः (बहुत-सा) प्रणाम कहना और हाथ जोड़कर विनय करना कि हे तात! मेरी ओर से किसी भी बात की चिन्ता न कीजिये ॥९५॥

विशेष—(१) 'संभावित कहँ अपजस'''—भाव यह कि अप्रतिष्ठित को अपयश होने पर उतना दुःख नहीं होता और प्रतिष्ठित को तो करोड़ों मरण के समान दुःख होता है। यथा—"संभावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते।" (गीता २।३४); दधीचि आदि को धर्म के विषय में एक ही बार मरण हुआ है, पर वे कीर्त्ति रूप से संसार में जीवित ही हैं और मैं जो धर्म छोड़कर अपयश पाऊँगा तो मुझे मरने से कोटिगुणा दुःख होगा।

(२) 'तुम्ह सन तात बहुत'''—तुम सर्व-धर्म मत जानते ही हो। अतः, धर्मात्माओं के उदाहरण मात्र से कह दिया है। बहुत कहने की आवश्यकता ही नहीं है। तुम पिता के समान हो। फिर तुम्हारा वचन पिता का संदेशा है। अतः, उन्हें बिना विचारे ही मान लेना था; यथा—"गुरु पितु मातु स्वामि-हित-बानी। सुनि मन मुदित करिय भलि जानी॥ उचित कि अनुचित किये बिचारू। धरम जाइ सिर

पातक भारू ॥" (दो० १७६)। उत्तर देने से पाप होता है। इसीसे मैंने धर्मात्माओं के उदाहरणमात्र दिये हैं कि आप तो स्वयं समझ लेंगे।

(२) 'पितु पद गहि कहि'''—अर्थात् जितनी बार नमस्कार कहना, उतनी ही बार पैर धरना। श्रीरामजी पिता का अत्यन्त संकोच मानते हैं, बड़े लोग अपने बड़ों का कितना सकोच रखते हैं, इसके आप आदर्श हैं। श्रीभरतजी ने भी कहा है—"महूँ सनेह सँकोच बस, सनमुख कही न बैन।" (दो० २६०); 'चिंता कवनिहु बात'''—इसका कारण आगे कहा गया है; यथा—"बन मग मंगल कुसल हमारे। कृपा अनुग्रह पुन्य तुम्हारे॥ तुम्हरे अनुग्रह तात कानन जात सब सुख पाइहउँ।'''"

तुम्ह पुनि पितुसम अतिहित मोरे। बिनती करउँ तात कर जोरे ॥१॥
सब बिधि सोइ करतब्य तुम्हारे। दुख न पाव पितु सोच हमारे ॥२॥
सुनि रघुनाथ-सचिव-संबादू। भयेउ सपरिजन बिकल निषादू ॥३॥
पुनि कछु लखन कही कटुबानी। प्रभु बरजेउ बड़ अनुचित जानी ॥४॥
सकुचि राम निज सपथ देवाई। लखनसँदेस कहिय जनि जाई ॥५॥

अर्थ—आप भी पिता के समान मेरे अत्यन्त हितैषी हैं, हे तात ! मैं हाथ जोड़कर आपसे विनती करता हूँ ॥१॥ सब प्रकार से आपका वही कर्त्तव्य है, (आपको वही करना चाहिये) कि जिससे पिताजी हमारे शोच में दुःख न पावें ॥२॥ श्रीरघुनाथजी और मंत्रीजी का संवाद सुनकर कुटुंब के साथ निषाद-राज व्याकुल हो गये ॥३॥ फिर श्रीलक्ष्मणजी ने कुछ कड़वे वचन कहे, जिन्हें बड़ा अनुचित जानकर प्रभु श्रीरामजी ने मना किया ॥४॥ सकुचकर श्रीरामजी ने अपनी शपथ दिलाकर कहा कि (वहाँ) जाकर श्रीलक्ष्मणजी का सँदेशा न कहना ॥५॥

विशेष—(१) 'तुम्ह पुनि पितु सम'''—आप हमारे अत्यंत हितैषी हैं, हमारा हित इसीमें है कि पिता हमारे शोच में दुःख न पावें; ऐसा उपाय करते रहना। श्रीरामजी मंत्री को पिता के समान मानते हैं, इससे आपने हाथ जोड़कर कहा है। 'अतिहित', यथा—"इक्ष्वाकूणां त्वया तुल्यं सुहृदं नोपलक्षये। यथा दशरथो राजा मां न शोचेत्तथा कुरु ॥" (वाल्मी० २। ५२। २२)।

(२) 'सब बिधि सोइ करतब्य'''—'सब बिधि' विधियाँ आगे स्पष्ट हैं। (क) "तुम्हसो करेहु सोइ जतन'''" (ख) गुरु से संदेश कहकर, यथा—"गुरु सन कहब संदेस, बार-बार पद पदुम गहि। करब सोइ उपदेस'''" (ग) पुरवासियों से मेरी प्रार्थना सुनाना, यथा—"पुरजन परिजन सकल निहोरी। तात सुनायहु बिनती मोरी॥ सोइ सब भाँति मोर हितकारी। जाते रह नरनाह सुखारी॥" इत्यादि।

(३) 'दुख न पाव पितु सोच'''—इस प्रसंग में सर्वत्र श्रीरामजी ने अपने विषय में एक वचन ही का प्रयोग किया है, जैसे कि 'कहऊँ' 'मोरि' 'मोरे' 'करउँ' से स्पष्ट है। पर यहाँ 'हमारे' यह बहुवचन कहा है। इसका भाव यह कि मेरे, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी, इन तीनों के शोच में दुखी न होने पावें। ऐसा न कहते, तो जाना जाता कि श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी का शोच राजा को नहीं है।

(४) 'भयेउ सपरिजन बिकल'''—मंत्री की विनती और उसका अघोर होकर रोना एवं पाँव पड़ना, करुणामय है। पुनः श्रीरामजी का पृथक्-पृथक् संदेशा कहना भी वैसे ही करुणापूर्ण है, पुनः श्रीरामजी का वन जाने का निश्चय जानकर तो व्याकुलता बहुत ही बढ़ गई।

(५) 'पुनि कछु लखन कही'''—श्रीलक्ष्मणजी ने कौन से कटु वचन कहे हैं, उन्हें कवि ने नहीं खोला है। प्राय: ग्रंथकार की रीति है कि ये ऐसे वचन खोलकर नहीं कहते। यथा—"कहि दुर्वचन क्रुद्ध दसकंधर'' " (लं० दो० ८६), "तेहि कारण करुना निधि; कहे कछुक दुर्वाद।" (लं० दो० १०७)। हाँ, श्रीवाल्मीकिजी ने लिखा है, जो चाहें वहाँ देख लें। पिताजी ने श्रीरामजी की शपथ करके प्रतिज्ञा की थी, इससे उन्होंने परवशता में वर दिया। श्रीलक्ष्मणजी का ध्यान इतनी दूर न गया, ये श्रीरामजी का अपमान न सह सके, इसीसे इन्होंने कटु वचन कहा। इसपर श्रीरामजी सकुच गये कि इसमें कोई मेरा भी रुख न मान ले। वा, भाई के अनुचित कार्य पर भाई को लज्जा होती ही है। श्रीसुमंत्रजी ने कटु वचन तो नहीं कहा ; पर इस विषय की श्रीरामजी की सुशीलता को वे न छिपा सके, इसीसे उन्होंने यह गुण राजा को भी जनाया।

'प्रभु बरजेउ बड़ अनुचित'''—भाव यह कि जिन पिता के वचन मानकर हम वन को जा रहे हैं, उन्हें ऐसा कहना बड़ा अनुचित है। श्रीरामजी ने वरज दिया, नहीं तो संभवतः वे और कुछ कहते। श्रीरामजी की इस उक्ति से लोक-शिक्षा भी हुई कि गुरुजनों के प्रति अनुचित कहना बड़ा दोष है। इसीसे यहाँ मानस के चारों वक्ता एक-मत हैं, किसी ने उन वचनों को नहीं खोला।

(६) 'सकुचि राम निज सपथ'''—श्रीरामजी सकुच गये कि श्रीलक्ष्मणजी हमारी इच्छानुसार काम करनेवाले हैं। कहीं इनके सदेश में मेरी सम्मति न मानी जाय, इसलिये अपनी शपथ दिलाई कि मंत्री को हम अत्यन्त प्रिय हैं। अतः, हमारी शपथ के विरुद्ध वे कुछ न कहेंगे। 'लखन संदेश'—अर्थात् श्रीलक्ष्मणजी ने कहा था कि जैसा हम कहते हैं, ऐसा ही जाकर राजा से कहना। इसपर दो० १५१ चौ० ८ भी देखिये।

कह सुमंत्र पुनि भूप - सँदेसू। सहि न सकिहि सिय बिपिनकलेसू ॥६॥
जेहि बिधि अवध आव फिर सीया। सोइ रघुबरहिं तुम्हहि करनीया ॥७॥
नतरु निपट अवलंब बिहीना। मैं न जियब जिमि जलबिनु मीना ॥८॥

दोहा—मइके ससुरे सकल सुख, जबहि जहाँ मन मान।
तहँ तब रहिहि सुखेन सिय, जब लगि बिपति बिहान ॥९६॥

शब्दार्थ—बिहान = सवेरा वा बिहाइन = समाप्त न हो, दूर न हो जाय। सुखेन = सुखपूर्वक।

अर्थ—सुमंत्रजी ने फिर राजा का सँदेशा कहा कि श्रीसीताजी वन का क्लेश न सह सकेंगी ॥६॥ जिस तरह से श्रीसीताजी अवध को लौट आवें, रघुवर को और तुमको वही करना चाहिये ॥७॥ नहीं तो बिल्कुल ही अवलंब (सहारा) रहित होने से मैं जीता न रहूँगा, जैसे विना जल के मछली ॥८॥ नैहर (पिता के घर) और ससुराल में सब सुख है। जब जहाँ जी चाहे, तब वहाँ श्रीसीताजी सुख पूर्वक रहेंगी। जबतक विपत्ति का अंत न हो ॥९६॥

विशेष—(१) 'कह सुमंत्र पुनि भूप संदेसू'—राजा ने कहा था—"जौ नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई।''' तौ तुम विनय'''फेरिय प्रभु मिथिलेस किसोरी॥" (दो० ८१), अर्थात् दोनों भाई न फिरें तो श्रीसीताजी के ही लौटने का सँदेशा कहना, तदनुसार यहाँ दोनों भाइयों के न लौटने का निश्चय होने पर श्रीसुमंत्रजी

दूसरा संदेशा कहते हैं। यह 'पुनि' का भाव है। 'सहि न सकिहि सिय······'—प्रथम तीनों को अत्यन्त सुकुमार कहकर लौटने को कहा था—"सुठि सुकुमार कुमार······" (दो० ८१); अब इनमें भी श्रीसीताजी को और अधिक सुकुमारी दिखाते हुए लौटने को कहते हैं, 'जेहि बिधि अवध आव······'—'तुम्हहिं' अर्थात् श्रीसुमंत्रजी को राजा ने श्रीसीताजी के लौटाने के लिये विधि बतलाई थी—"सासु ससुर अस···पितु गृह कबहूँ ···" (दो० ८१); पर 'रघुबरहि' अर्थात् श्रीरामजी के लिये कोई भी विधि नहीं कही थी, क्योंकि वे जानते हैं कि श्रीरामजी की आज्ञा मानकर श्रीसीताजी अवश्य लौट सकती हैं। इसीसे 'रघुबरहि' को पहले कहा है।

(२) 'नतरु निपट अवलंब बिहीना।···'—श्रीसीताजी के लौटने से अवलंब होगा, यथा—"येहि बिधि करेहु उपाइ कदंबा। फिरइ त होइ प्रान अवलंबा॥" (दो० ८१); उनका न लौटना अवलंब-रहित होना है, अभी लौटने की आशा-रूप जल से जीते हैं, नहीं तो श्रीसीताजी के बिना जल-रहित मछली की तरह न जियेंगे।

(३) 'मइके ससुरे सकल सुख······'—राजा ने कहा था कि श्रीसीताजी के बिना मैं 'जल-हीन मछली की तरह न जीऊँगा' उससे यह समझा जाता कि श्रीसीताजी सदा मेरी दृष्टि के सामने ही रहें, उसका निराकरण करते हैं कि यह बात नहीं, नैहर, सासुर में जब जहाँ मन माने, वहाँ रहेंगी। लड़कियों को मायका अधिक प्रिय होता है, इसलिये उसे प्रथम कहा है। अथवा प्रथम मायका है तब ससुराल है, वैसे ही कहा है। 'बिपति बिहान'—विपत्ति को रात मानकर विहान से सवेरा होना भी अर्थ लिया जाता है, भाव एक ही है।

बिनती भूप कीन्हि जेहि भाँती। आरति प्रीति न सो कहि जाती॥१॥
पितु-सँदेस सुनि कृपानिधाना। सियहि दीन्हि सिख कोटि बिधाना॥२॥
सासु ससुर गुरु प्रिय परिवारू। फिरहु न सबकर मिटइ खँभारू॥३॥
सुनि पतिबचन कहति बैदेही। सुनहु प्रानपति परम सनेही॥४॥
प्रभु करुनामय परम बिबेकी। तनु तजि रहति छाँह किमि छेंकी॥५॥

अर्थ—राजा ने जिस तरह (आर्त होकर) बिनती की है, वह दीनता, प्रीति नहीं कही जाती॥१॥ पिता का सँदेशा सुनकर कृपानिधान श्रीरामजी ने श्रीसीताजी को अनेकों प्रकार से शिक्षा दी॥२॥ कि जो तुम लौटो तो सास, श्वसुर, गुरु, प्रियलोग और परिवार सब का खँभार (खलबली, क्षोभ, घबराहट) मिट जाय॥३॥ पति के वचन सुनकर श्रीजानकीजी कहती हैं कि हे प्राणपति! हे परम स्नेही! सुनिये॥४॥ हे प्रभो! आप करुणामय और परम विचारवान हैं, (कहिये तो भला) देह को छोड़कर छाया रोकने से कब अलग रह सकती है?॥५॥

विशेष—(१) 'बिनती भूप कीन्हि ···'—पहले सँदेशा कहा था। अब बिनती भी सुनाते हैं, पिता की आज्ञा ही बहुत है, फिर उन्होंने विनती भी की है; वह भी आर्ति और अत्यंत प्रीति-पूर्वक है। तब तो आपको संकोच करना ही चाहिये। 'न सो कहि जाती' अर्थात् स्मरण होते ही हृदय भर आता है।

(२) 'पितु सँदेस सुनि कृपानिधाना।···'—"सासु ससुर गुरु प्रिय परिवारू।

कर मिटइ सँभारू ॥" ये वचन सास आदि पर कृपा करके कहे हैं। अतः, 'कृपानिधान' हैं। 'कोटि बिधाना'—प्रथम एकबार माता के समक्ष में कह चुके हैं, वही सब एवं उसी प्रकार के उपदेश यहाँ भी हैं। अतः, फिर नहीं लिखे गये। प्रथम बार आज्ञा दी थी—"वचन हमार मानि गृह रहहू।" (दो० ६०); उस-पर श्री जानकीजी ने ऐसे वचन कहे थे कि विवश होकर उन्हें साथ लेना ही पड़ा। इसीसे अबकी श्रीरामजी आज्ञा नहीं देते, शिक्षा-मात्र देते हैं।

(३) 'सासु ससुर गुरु प्रिय···'—तुम्हारे फिरने से सबका दुःख मिटेगा; क्योंकि तुम सबके प्रिय हो, यथा—"तात सुनहु सिय अति सुकुमारी। सासु ससुर परिजनहि पियारी ॥" (दो० ५७); 'फिरहु त' अर्थात् फिरना तुम्हारे अधीन है, मैं कुछ वैसी आज्ञा नहीं देता हूँ।

(४) 'सुनि पतिबचन कहति ··'—मंत्री ने राजा के वचन पहले कहे थे, उसके पीछे श्रीरामजी ने कहा है, किंतु श्रीजानकीजी प्रथम श्रीरामजी को ही उत्तर देती हैं। पीछे मंत्री से कुछ विस्तार से कहेंगी। यह 'सुनि पतिबचन' से प्रकट है। 'बैदेही' का भाव यह कि पति के बिना इनकी देह न रहेगी। तथा 'प्रानपति' अर्थात् प्राण भी न रहेंगे। 'परम सनेही' अर्थात् सास आदि स्नेही हैं और आप परम स्नेही हैं तो आपको छोड़कर मैं उन सबके पास कैसे जा सकती हूँ।

(५) प्रभु करुनामय परम बिबेकी। '—'करुनामय' हैं। अतः, मुझपर करुणा करें, जिसमें मेरे प्राण रहें। 'परम बिबेकी'—श्रीजानकीजी विवेक की बातें कहेंगी, इसलिये कहती हैं कि आप परम विवेकी हैं, आपके सामने कोई विवेक की बातें कहाँ तक कहेगा? आप तन हैं, तो मैं छाया, यथा— "कृत-कृत्या हि वैदेही छायेवानुगता पतिम्।". (वाल्मी० २।४०।२४); जहाँ तन जाता है, वहीं छाया भी साथ रहती है, कोई छेंक (रोक) कर अलग नहीं कर सकता। वैसे ही मैं भी आपके साथ ही रहूँगी। भाव यह कि आप लौटें तो मैं भी लौट सकती हूँ।

विशेष—(१) 'प्रभा जाइ कहँ भानु···'—आप सूर्य हैं, तो मैं प्रभा, यथा—"अनन्या राघवेणाहं भास्करेण यथा प्रभा।" (वाल्मी॰ ५।२१।१५); पुनः आप चन्द्रमा हैं तो मैं चन्द्रिका, यथा—"धर्माद्विचलितुं नाहमलं चन्द्रादिव प्रभा।" (वाल्मी॰ २।११।२८) अर्थात् सूर्य-चन्द्रमा की प्रभाएँ (किरणें) उन्हें छोड़कर नहीं जा सकतीं, वैसे ही मैं आपको छोड़कर अलग नहीं जा सकती। सूर्य की प्रभा दिन में और चन्द्रमा की चन्द्रिका रात में साथ रहती है, वैसे ही दिन-रात अर्थात् निरंतर मैं आपके साथ हूँ।

(२) 'पतिहि प्रेममय बिनय···'—'सुनि पति बचन कहति बैदेही।' उपक्रम है और यहाँ उपसंहार हुआ। 'प्रेममय बिनय'—पति से प्रेममय प्रार्थना ही की। उत्तर नहीं दिया, प्रेम पति में ही है। अतः, 'प्रेममय' कहा है, मंत्री से सुंदर वाणी ही कही है।

(३) 'तुम्ह पितु···उतर देउँ फिरि···'—श्रीरामजी ने जैसे जो नाता और भाव मंत्री में कहा है। वही ये भी कहती हैं। श्रीरामजी ने कहा है—"तुम्ह पुनि पितु सम अति हित मोरें" (दो॰ ९५); वैसे ही ये भी कहती हैं—'तुम्ह पितु ससुर सरिस···'सुमंत्रजी श्वसुर के मंत्री एवं सखा हैं। इससे उनको श्वसुर के तुल्य कहा है। श्रीरामजी ने—'दिये उतर फिरि पातक लहऊँ।' कहा है। वैसे ये भी—'उतर देउँ फिरि···' कहती हैं। किन्तु आप पति-वियोग कराने की वार्त्ता करते हैं; जिससे महान् दुःख होता है, इससे कुछ बोलना पड़ा। इसका क्षमापन आगे कहती हैं—

(४) 'आरतिबस सनमुख···'—आर्त्त के चित्त में सावधानता नहीं रहती; यथा—"रहत न आरत के चित चेतू।"(दो॰ २६८)। अतः, उसके दोषों को साधु लोग नहीं गिनते। यथा—"दुखित दोष-गुन गनहिं न साधू।" (दो॰ १०१); अतएव आप भी अनुचित न मानियेगा। 'आरज सुत' (आर्यपुत्र) यह पति के लिये उस समय में नियत संबोधन था; यथा—"आगच्छागच्छ शीघ्रं वै आर्यपुत्र सहानुज।" (वाल्मी॰ ३।४२।२); (यह श्रीसीताजी ने श्रीरामजी को कहा है) तथा— "आरज सुवन के तो दया दुवनहूँ पर···" (गी॰ सुं॰ ७); (यह भी इन्हीं का वचन है) "आर्यपुत्रेति वादिन्यो हा नाथेति च सर्वशः।···" (वाल्मी॰ ६।११०।४); (यह रावण की स्त्रियों ने पति के लिये कहा है), इत्यादि। 'आदि,जहाँ लगि नात'—अर्थात् पति के सहयोग में सभी मान्य हैं। अन्यथा नहीं; यथा—"मातु पिता भगिनी प्रिय भाई।···जहँ लगि नाथ···पिय बिनु तियहिं तरनिहुँ ते ताते॥" (दो॰ ६४)। 'सनमुख भइउँ' अर्थात् पहले कभी सामने न होती थी। यथा—"या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि। तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः॥" (वाल्मी॰ २।३३।८); अर्थात् श्रीसीताजी को आकाशचारी पक्षी भी नहीं देख पाते थे।

पितु - बैभव - बिलास मैं दीठा। नृप-मनि-मुकुट-मिलित पदपीठा॥१॥
सुखनिधान अस पितुगृह मोरे। पियबिहीन मन भाव न भोरे॥२॥
ससुर चक्कवइ कोसल राऊ। भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ॥३॥
आगे होइ जेहि सुरपति लेई। अरधसिंहासन आसन देई॥४॥
ससुर एतादृस अवधनिवासू। प्रिय परिवार मातुसम सासू॥५॥
बिनु रघुपति- पद- पदुम - परागा। मोहि कोउ सपनेहुँ सुखद न लागा॥६॥

अर्थ—पिता का ऐश्वर्य और अतिशय सुख-भोग मैंने देखा है कि श्रेष्ठ राजाओं के मुकुट उनके खड़ाऊँ (वा, तलवों) से मिलते थे ; अर्थात् बड़े-बड़े मुकुटधारी राजा साष्टांग प्रणाम करते थे, जिससे उनके मुकुट खड़ाऊँ में छू जाते थे ॥१॥ ऐसा सुख का स्थान पिता का घर मेरे मन में पति के बिना भूल कर भी नहीं सुहाता ॥२॥ श्वसुर चक्रवर्ती अयोध्या के राजा हैं, जिनका प्रभाव चौदहों भुवनों में प्रकट है ॥३॥ कि आगे आकर जिसे इन्द्र लेते हैं (अगवानी करते हैं) और आधे सिंहासन पर (अपने बराबर) आसन देते हैं ॥४॥ ऐसे श्वसुर, अवधपुरी का निवास, प्यारा परिवार और माता के समान सास आदि सब हैं। पर रघुपति के चरण-कमल-रज के बिना मुझे कोई स्वप्न में भी सुखद नहीं लगता ॥५-६॥

विशेष—'पितु वैभव बिलास मैं···'—खड़ाऊँ के प्रणाम एवं साष्टांग प्रणाम महात्माओं के प्रति भी किया जाता है और राजा जनक ज्ञानी महात्मा थे ही, तो यह स्वाभाविक ही है। इसपर कहती हैं कि वह नहीं ; किंतु ऐश्वर्य-विलास देखकर वे राजा लोग साष्टांग पड़ते हैं। यथा—"भूप भीर नट मागध भाँटा।" (बा० दो० ३१२)। पद-पीठ का अर्थ खड़ाऊँ है। यथा—"चरनपीठ करुना निधान के।" (दो० ३१५)।

अगम पंथ बन भूमि पहारा। करि केहरि सर सरित अपारा ॥७॥
कोल किरात कुरंग बिहंगा। मोहि सब सुखद प्रानपति संगा ॥८॥

दोहा—सासु ससुर सन मोर हुँति, बिनय करबि परि पाय।
मोरि सोच जनि करिय कछु, मैं बन सुखी सुभाय ॥९८॥

शब्दार्थ—हुँति=ओर से, तरफ से। सुभाय=स्वाभाविक, सदा की तरह।

अर्थ—दुर्गम मार्ग, वन, भूमि, पहाड़ ; बहुत-से हाथी, सिंह ; अपार तालाब और नदियाँ ॥७॥ कोल, किरात, मृग और पक्षी, ये सब प्राण-नाथ पति के साथ मुझे सुख देनेवाले होंगे (जो और यात्रियों को दुखद होते हैं) ॥८॥ सास और श्वसुर से मेरी ओर से पाँव पकड़कर विनती कीजियेगा कि वे मेरा कुछ भी शोच न करें। मैं वन में स्वाभाविक (वनवासियों की तरह) सुखी हूँ ॥९८॥

विशेष—'मोहि सब सुखद प्रानपति संगा।'—ऊपर—'मोहि कोउ सपनेहुँ सुखद न लागा।' से श्रीसुमंत्रजी के कहे हुए—'मइके ससुरे सकल सुख···' इत्यादि का उत्तर हुआ। अब यह कहती हैं कि प्राणपति के साथ से दुखद भी सुखद होंगे। प्राणपति का माधुर्य परक अ पति-वाचक तो है ही, साथ ही ऐश्वर्यपरक सबके प्राणों के रक्षक, अर्थ भी है। यथा—"सरिता बन गिरि अवघट घाटा। पति पहिचानि देहिं बर बाटा ॥" (अ० दो० ६) ; कोल-किरातों की सेवकाई आगे दो० १३४-१३६ देखिये। पक्षी जटायु ने सेवा में प्राण ही दिये। वानर-भालुओं की सेवकाई आगे प्रसिद्ध ही है। राक्षसों का सुखद होना न कहा ; क्योंकि उनके नाश करने के लिये तो इनका अवतार ही है। यथा—"निसिचर हीन करउँ महि " (आ० दो० ९) ; "तव कुल कमल बिपिन दुखदाई। सीता सीत निसा सम आई" (सु० दो० ३५) "काल राति निसिचर कुल केरी। तेहि सीता पर प्रीति घनेरी ॥" (सु० दो० ३९)।

प्राननाथ प्रिय देवर साथा। धीरधुरीन धरे धनु भाथा ॥१॥
नहिं मगश्रम भ्रम दुख मन मोरे। मोहिलगि सोच करिय जनि भोरे ॥२॥
सुनि सुमंत्र सिय सीतलि बानी। भयेउ बिकल जनु फनि मनिहानी ॥३॥
नयन सूझ नहिं सुनइ न काना। कहि न सकइ कछु अति अकुलाना ॥४॥

अर्थ—प्यारे पति और प्यारे देवर साथ हैं। जो वीरों में अग्रगण्य हैं धनुष और (बाण पूर्ण) तर्कश धारण किये हुए हैं ॥१॥ मार्ग की थकावट, भ्रम और दुःख मेरे मन में नहीं है। अतः, मेरे लिये भूलकर भी शोच न करें ॥२॥ श्रीसीताजी की शीतल वाणी सुनकर श्रीसुमंत्रजी व्याकुल हो गये, जैसे मणि खो जाने से सर्प की दशा होती है ॥३॥ आँख से दिखाई नहीं पड़ता, कान से सुनाई नहीं देता, अत्यन्त व्याकुल हो गये, कुछ कह नहीं सकते ॥४॥

विशेष—(१) 'प्राननाथ प्रिय…धीरधुरीन…'—जो सबके प्राणों के रक्षक हैं, वे ही मेरे प्राणनाथ (पति) हैं। रक्षा में समर्थ दोनों भाई हथियार-युक्त भी हैं। अतः, शत्रुता करनेवाले स्वयं तुरत नाश होंगे। 'नहिं मग श्रम भ्रम दुख…'—मार्ग की थकावट का दुःख और किसी प्रकार की बाधा का भ्रम मेरे मन में नहीं है।

(२) 'सुनि सुमंत्र सिय…'—दोनों भाइयों से तो प्रथम ही निराश हो चुके थे, उनके उत्तर पा चुके थे। यहाँ श्रीजानकीजी से भी निराश हुए। वे ही मणि रूपा हुईं। मंत्री को मरण के समान दुःख हुआ, यथा—"मनि लिये फनि जिये व्याकुल बिहाल रे। (वि० ६७)।

(३) 'नयन सूझ नहिं सुनइ न काना।…'—यहाँ तीन प्रकार से सुमंत्र को दुःख हुआ। श्रीरामजी नेत्र, श्रीलक्ष्मणजी कान और श्रीजानकीजी वाणी हुईं। तीनों की हानि से तीन प्रकार के दुःख हुए था, तीनों से अत्यन्त व्याकुलता की दशा जनाई। यथा—"उतर न आव बिकल भइ बानी॥ सुनै न श्रवन नयन नहिं सूझा।…दासिन्ह दीख सचिव बिकलाई।" (दो० १४७); पर स्पष्ट कहा है।

राम प्रबोध कीन्ह बहु भाँती। तदपि होति नहिं सीतलि छाती ॥५॥
जतन अनेक साथहित कीन्हे। उचित उतर रघुनंदन दीन्हे ॥६॥
मेटि जाइ नहिं राम-रजाई। कठिन करमगति कछु न बसाई ॥७॥
राम-लखन-सिय-पद सिर नाई। फिरेउ बनिक जिमि मूर गँवाई ॥८॥

दोहा—रथ हाँकेउ हय राम-तन, हेरि हेरि हिहिनाहिं।
देखि निषाद बिषादबस, धुनहिं सीस पछिताहिं ॥९९॥

अर्थ—श्रीरामजी ने बहुत तरह से समझाया, तो भी छाती ठंढी नहीं होती ॥५॥ साथ चलने के लिये बहुत उपाय किये, पर रघुनन्दन श्रीरामजी ने उचित (यथायोग्य) उत्तर दिया ॥६॥ श्रीरामजी की

अर्थ—पिता का ऐश्वर्य और अतिशय सुख-भोग मैंने देखा है कि श्रेष्ठ राजाओं के मुकुट उनके खड़ाऊँ (वा, तलवों) से मिलते थे, अर्थात् बड़े-बड़े मुकुटधारी राजा साष्टांग प्रणाम करते थे, जिससे उनके मुकुट खड़ाऊँ में छू जाते थे ॥१॥ ऐसा सुख का स्थान पिता का घर मेरे मन में पति के बिना भूल कर भी नहीं सुहाता ॥२॥ श्वसुर चक्रवर्त्ती अयोध्या के राजा हैं, जिनका प्रभाव चौदहों भुवनों में प्रकट है ॥३॥ कि आगे आकर जिसे इन्द्र लेते हैं (अगवानी करते हैं) और आधे सिंहासन पर (अपने बराबर) आसन देते हैं ॥४॥ ऐसे श्वसुर, अवधपुरी का निवास, प्यारा परिवार और माता के समान सास आदि सब हैं। पर रघुपति के चरण-कमल रज के बिना मुझे कोई स्वप्न में भी सुखद नहीं लगता ॥५-६॥

विशेष—'पितु बैभव बिलास मैं ···'—खड़ाऊँ के प्रणाम एवं साष्टांग प्रणाम महात्माओं के प्रति भी किया जाता है और राजा जनक ज्ञानी महात्मा थे ही, तो यह स्वाभाविक ही है। इसपर कहती हैं कि वह नहीं ; किंतु ऐश्वर्य विलास देखकर वे राजा लोग साष्टांग पड़ते हैं। यथा—"भूप भीर नट मागध भाँटा।" (बा० दो० ३१२)। पद पीठ का अर्थ खड़ाऊँ है। यथा—"चरनपीठ करुना निधान के।" (दो० ३१५)।

अगम पंथ बन भूमि पहारा। करि केहरि सर सरित अपारा ॥७॥
कोल किरात कुरंग बिहंगा। मोहि सब सुखद प्रानपति संगा ॥८॥

दोहा—सासु ससुर सन मोर हुँति, बिनय करबि परि पाय।
मोरि सोच जनि करिय कछु, मैं बन सुखी सुभाय ॥९८॥

शब्दार्थ—हुँति = ओर से, तरफ से। सुभाय = स्वाभाविक, सदा की तरह।

अर्थ—दुर्गम मार्ग, वन, भूमि, पहाड़ ; बहुत से हाथी, सिंह ; अपार तालाब और नदियाँ ॥७॥ कोल, किरात, मृग और पक्षी, ये सब प्राण नाथ पति के साथ मुझे सुख देनेवाले होंगे (जो और यात्रियों को दुखद होते हैं) ॥८॥ सास और श्वसुर से मेरी ओर से पाँव पकड़कर विनती कीजियेगा कि वे मेरा कुछ भी शोच न करें। मैं वन में स्वाभाविक (वनवासियों की तरह) सुखी हूँ ॥९८॥

विशेष—'मोहि सब सुखद प्रानपति संगा।'—ऊपर—'मोहि कोउ सपनेहुँ सुखद न लागा।' से श्रीसुमन्त्रजी के कहे हुए—'नइहे ससुरे सकल सुख ··' इत्यादि का उत्तर हुआ। अब यह कहती हैं कि प्राणपति के साथ से दुखद भी सुखद होंगे। प्राणपति का माधुर्य परक अर्थ पति वाचक तो है ही, साथ ही ऐश्वर्यपरक सबके प्राणों के रक्षक, अर्थ भी है। यथा—"सरिता बन गिरि अवघट घाटा। पति पहिचानि देहिं बर बाटा ॥" (आ० दो० ६), कोल किरातों की सेवकाई आगे दो० १३४-१३६ देखिये। पक्षी जटायु ने सेवा में प्राण ही दिये। वानर-भालुओं की सेवकाई आगे प्रसिद्ध ही है। राक्षसों का सुखद होना न कहा, क्योंकि उनके नाश करने के लिये तो इनका अवतार ही है। यथा—"निसिचर हीन करउँ महि " (आ० दो० ९), "तव कुल कमल बिपिन दुखदाई। सीता सीत निसा सम आई" (सु० दो० ३५) "काल राति निसिचर कुल केरी। तेहि सीता पर प्रीति घनेरी ॥" (सु० दो० ३३)।

प्राननाथ प्रिय देवर साथा। धीरधुरीन धरे धनु भाथा ॥१॥
नहिं मगश्रम भ्रम दुख मन मोरे। मोहिलगि सोच करिय जनि भोरे ॥२॥
सुनि सुमंत्र सिय सीतलि बानी। भयेउ विकल जनु फनि मनिहानी ॥३॥
नयन सूझ नहिं सुनइ न काना। कहि न सकइ कछु अति अकुलाना ॥४॥

अर्थ—प्यारे पति और प्यारे देवर साथ हैं। जो वीरों में अग्रगण्य हैं धनुष और (वाण-पूर्ण) तर्कश धारण किये हुए हैं ॥१॥ मार्ग की थकावट, भ्रम और दुःख मेरे मन में नहीं है। अतः, मेरे लिये भूलकर भी शोच न करें ॥२॥ श्रीसीताजी की शीतल वाणी सुनकर श्रीसुमन्त्रजी व्याकुल हो गये, जैसे मणि खो जाने से सर्प की दशा होती है ॥३॥ आँख से दिखाई नहीं पड़ता, कान से सुनाई नहीं देता, अत्यन्त व्याकुल हो गये, कुछ कह नहीं सकते ॥४॥

विशेष—(१) 'प्राननाथ प्रिय'''धीरधुरीन'''—जो सबके प्राणों के रक्षक हैं, वे ही मेरे प्राणनाथ (पति) हैं। रक्षा में समर्थ दोनों भाई हथियार-युक्त भी हैं। अतः, शत्रुता करनेवाले स्वयं तुरत नाश होंगे। 'नहिं मग श्रम भ्रम दुख'''—मार्ग की थकावट का दुःख और किसी प्रकार की बाधा का भ्रम मेरे मन में नहीं है।

(२) 'सुनि सुमंत्र सिय '''—दोनों भाइयों से तो प्रथम ही निराश हो चुके थे, उनके उत्तर पा चुके थे। यहाँ श्रीजानकीजी से भी निराश हुए। वे ही मणि-रूपा हुईं। मंत्री को मरण के समान दुःख हुआ; यथा—"मनि लिये फनि जिये ब्याकुल बिहाल रे। (वि० ६७)।

(३) 'नयन सूझ नहिं सुनइ न काना।'''—यहाँ तीन प्रकार से सुमंत्र को दुःख हुआ। श्रीरामजी नेत्र, श्रीलक्ष्मणजी कान और श्रीजानकीजी वाणी हुईं। तीनों की हानि से तीन प्रकार के दुःख हुए था, तीनों से अत्यन्त व्याकुलता की दशा जनाई। यथा—"उतर न आव बिकल भइ बानी ॥ सुनै न श्रवन नयन नहिं सूझा।'''दारुन्ह दीख सचिव बिकलाई।" (दो० १४७); पर स्पष्ट कहा है।

राम प्रबोध कीन्ह बहु भाँती। तदपि होति नहिं सीतलि छाती ॥५॥
जतन अनेक साथहित कीन्हे। उचित उतर रघुनंदन दीन्हे ॥६॥
मेटि जाइ नहिं राम-रजाई। कठिन करमगति कछु न बसाई ॥७॥
राम-लखन-सिय-पद सिर नाई। फिरेउ बनिक जिमि मूर गँवाई ॥८॥

दोहा—रथ हाँकेउ हय राम-तन, हेरि हेरि हिहिनाहिं।
देखि निषाद बिषादबस, धुनहिं सीस पछिताहिं ॥९९॥

अर्थ—श्रीरामजी ने बहुत तरह से समझाया, तो भी छाती ठंढी नहीं होती ॥५॥ साथ चलने के लिये बहुत उपाय किये, पर रघुनन्दन श्रीरामजी ने उचित (यथायोग्य) उत्तर दिया ॥६॥

आज्ञा मेटी नहीं जाती, कर्म की गति कठिन है, कुछ वश नहीं चलता ॥७॥ श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी के चरणों में शिर नवाकर लौटे, जैसे बनिया मूल (भी) गँवाकर लौटे ॥८॥ सुमंत्रजी ने रथ हाँका, घोड़े श्रीरामजी की ओर देख-देखकर हिनहिनाते हैं, (घोड़ों की यह दशा) देखकर निषाद लोग दुःख के वश होकर शिर पीटते और पछताते हैं ॥९९॥

विशेष—(१) 'जतन अनेक साथहित कीन्हे।'—"आपके बिना मैं पुरी को कैसे जाऊँ? अयोध्यापुरी आपके वियोग से पुत्रशोक से दुखिनी के समान है।···आपसे खाली रथ देखकर सब लोग एवं नगर दुःख से विदीर्ण हो जायँगे।···मैं कौशल्या से क्या कहूँगा?···किसीसे भी वन भेजना—यह अप्रिय कैसे कहूँगा।···भृत्य को भी अपने मार्ग में साथ रखिये, मैं इस रथ पर ही लौटाकर (१४ वर्ष पर) लौटूँगा।" (वाल्मी० २।५२।३६–५४); इत्यादि रीति से बहुत-कुछ कहा।

'उचित उतर रघुनंदन दीन्हे'—"हे स्वामि-भक्त ! मैं आपकी भक्ति को जानता हूँ, मैं आपको अयोध्या इसलिये भेजता हूँ कि आपके वहाँ जाने से कैकेयी माता को विश्वास हो जायगा कि श्रीरामजी वन को गये, इससे कैकेयी संतुष्ट हो जायगी और धार्मिक राजा के मिथ्यावादी होने की शंका नहीं करेगी।···कैकेयी अपने पुत्र के द्वारा राज्य पावे। हे सुमंत्र ! मेरी तथा राजा की प्रसन्नता के लिये अयोध्या जाओ और जिसके लिये जो सँदेशा मैंने कहा है, कहना।···" (वाल्मी० २।५२।६०–६४); इत्यादि। पुनः राजा ने आपको लौटाने के लिये ही भेजा है। साथ जाने को नहीं, स्वामी की आज्ञा मानिये। महाराज को ऐसी अवस्था में छोड़ना आप ऐसे सुहृद के लिये योग्य नहीं है।

'रघुनंदन'—क्योंकि रघुकुल की कीर्त्ति सत्य-रक्षा में ही है, वही कर रहे हैं।

(२) 'कठिन करम गति'—मृत्यु के योग्य दुःख हो रहा है, पर कर्म-भोग अभी शेष है, इसलिये प्राण नहीं निकल रहे हैं, यही कर्म-काठिन्य है।

(३) 'फिरेउ बनिक जिमि मूर···'—यहाँ सुमंत्रजी वणिक हैं। ये तीनों मूर्त्तियों को लौटा लाने की आशा से चले हैं। (कि जिनकी आज्ञा से वन जा रहे हैं, उन्हीं की इस दूसरी आज्ञा पर लौट भी आवेंगे।) जैसे बनिया नफा के साथ लौटने की आशा से चलता है। चलते समय सुमंत्रजी के प्रति राजा के वचनों में दो पक्ष हैं—उत्तम हो जब तीनों लौट आवें, दो भाई न लौटें और यदि श्रीजानकीजी अकेली भी लौट आवें तो मेरे प्राणों का सहारा हो जाय, नहीं तो मेरा मरण ही होगा। राजा ने कहा था कि श्रीसीताजी भीरु हैं, वन देखकर डरेंगी तो कहने से अवश्य लौटेंगी ; यही सुमंत्रजी की दृढ़ता है। जैसे बनिये को मूल में दृढ़ता रहती है कि यह तो अपने हाथ में है। सत्यसंध और दृढ़व्रत एवं धीर होने से दोनों भाइयों के लौटाने की कम आशा है। अतः, इनका लौटाना, लाभ (नफा) लाना है। वैसे ही सुमंत्रजी ने यहाँ संदेशा कहा। दोनों भाइयों से उत्तर पाया, तब केवल श्रीजानकीजी को कहा। जब वे भी न लौटीं तब मूल का भी गँवाना कहा गया। अतः, नफा के साथ तीनों को लेकर आना है इससे वणिक सुमंत्रजी को बड़ा हर्ष रहता। श्रीजानकीजी-मात्र को लौटा लाते तो भी हर्ष-विस्मय रहित रहते कि और नहीं तो राजा के प्राणों का अवलंब तो लेकर चलता हूँ, यही मूल-मात्र लेकर लौटना है। जब तीनों ही न लौटे तो सुमंत्रजी को वैसा ही दुःख हुआ। जैसे चोरी आदि से जमा (मूल) मारी जाने से वणिक को दुःख होता है। जो कोई तीनों मूर्त्तियों को मूर (मूल) कहते हैं और तीनों के लौटाने के सुयश को ब्याज कहते हैं। उन्हें मूलमात्र लेकर लौटने का उपमेय कहाँ से आवेगा? क्योंकि तीनों के लौटाने से तो सुमंत्रजी को सुयश होगा ही।

यदि कहा जाय कि ब्याज कहने से दोनों भाइयों के प्रति लघुता आती है तो—"भइ गति साँप छुछुंदर

केरी।" (दो० ५४), "चले जहाँ रावन ससि राहू।" (बा० दो० २७); में क्या उपाय है ? वस्तुतः उपमा के धर्म से कवि का प्रयोजन रहता है और बातें मिलें चाहे न मिलें, वैसे यहाँ सुमंत्रजी की व्याकुलता दिखाना ही कवि का प्रयोजन है।

(२) 'रथ हाँकेउ हय राम तन···'—इन घोड़ों की दशा आगे दो० १४१-१४२ में कही गई है—"देखि दखिन दिसि हय···" से "बिनु मनि फनिक बिकल जेहि भाँती।" तक देखिये। पुनः—"राघौ एक बार फिरि आओ। ये वर बाजि बिलोकि आपने···" (गी० अ० ८७) यह पूरा पद पढ़ने योग्य है।

जासु बियोग बिकल पसु ऐसे। प्रजा मातु पितु जीइहिं कैसे ॥१॥
बरबस राम सुमंत्र पठाये। सुरसरितीर आप तब आये ॥२॥
माँगी नाव न केवट आना। कहइ तुम्हार मरम मैं जाना ॥३॥
चरन-कमल-रज कहँ सब कहई। मानुपकरनि मूरि कछु अहई ॥४॥
छुअत सिला भइ नारि सुहाई। पाहन ते न काठ कठिनाई ॥५॥
तरनिउँ मुनिघरनी होइ जाई। बाट परइ मोरि नाव उड़ाई ॥६॥

शब्दार्थ—घरनी=स्त्री, घरवाली। बाट पड़ना=डाका पड़ना, जीविका मारा जाना, इत्यादि अर्थों में ऐसा मुहावरा है।

अर्थ—जिसके वियोग में पशु ऐसे व्याकुल हैं, उसकी प्रजा और माता-पिता कैसे जियेंगे ? ॥१॥ श्रीरामजी ने हठात् श्रीसुमंत्रजी को लौटाया; तब आप गंगातट पर आये ॥२॥ केवट से नाव माँगी; पर वह न लाया और कहने लगा कि मैंने आपका मर्म (भेद) जान लिया है। (अतः, चूकनेवाला नहीं हूँ) ॥३॥ आपके चरण-कमलों की धूलि को सभी कहते हैं कि यह मनुष्य बनाने की कोई जड़ी है ॥४॥ (जब) छू जाते ही शिला सुन्दर स्त्री हो गई, (तो फिर) लकड़ी तो पत्थर से अधिक कठिन नहीं होती ॥५॥ (अतः) यह नाव भी मुनि की स्त्री हो जायगी। (फिर जैसे अहल्या गौतम के साथ पतिलोक को गई, वैसे ही) मेरी नाव उड़ जायगी और मेरी जीविका मारी जायगी ॥६॥

विशेष—(१) 'माँगी नाव न···कहइ तुम्हार···'—केवट गुहराज के बंधु-वर्ग में है। यह नाव को कुछ धारा में करके वहीं से कहता है कि मैंने तुम्हारा गुप्त हाल जान रक्खा है। 'तुम्हार' शब्द गँवार के मुख से योग्य ही है। 'मूरि कछु अहई'—कहा जाता है कि जैसे मूँसाकर्णी जड़ी राँगा में लगकर चाँदी करती है और राजहंती ताम्र में पड़कर सोना करती है; वैसे ही यह चरण-रज पत्थर में लगकर उसे स्त्री करती है। अहल्योद्धार की कथा से यह ख्याति हो गई। अतः, सभी कहते हैं।

(२) 'पाहन ते न काठ···' अर्थात् यह तो बनी बनाई है—"पाहन ते वन बाहन काठ को कोमल है जल खाइ रहा है।" (क० अ० ७)। 'तरनिउँ मुनि घरनी होइ जाई।'—अहल्या की तरह कहीं मेरी नाव भी मुनि की स्त्री हो जायगी। कौन जाने, यह भी किसी के शाप से लकड़ी हुई हो, तो मेरी तो जीविका जायगी। 'मुनि घरनी' अर्थात् स्त्री होकर वह भी मुनि के घर चली जायगी। भाव यह कि दिव्य देहवाली होकर मुझ नीच के यहाँ क्यों कर रहेगी ? (यह प्रसंग क० अ० ५—१०, २८ वें पद में विस्तारपूर्वक कहा गया है)।

येहि प्रतिपालउँ सब परिवारू। नहिं जानउँ कछु और कबारू ॥७॥
जौ प्रभु पार अवसि गा चहहू। मोहि पद-पदुम पखारन कहहू ॥८॥

छंद—पद-कमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं।
मोहि राम राउरि आन दसरथ-सपथ सब साँची कहौं।
बरु तीर मारहु लखन पै जब लगि न पाय पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपाल पार उतारिहौं ॥

दोहा—सुनि केवट के बयन, प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहँसे करुना-अयन, चितइ जानकी-लखन-तन ॥१००॥

अर्थ—इसीसे मैं सब कुटुंब का पालन-पोषण करता हूँ और कोई व्यापार (उद्यम) नहीं जानता ॥७॥ हे प्रभो ! यदि आप अवश्य ही पार जाना चाहते हैं, तो मुझे चरण-कमलों को धोने की आज्ञा दीजिये ॥८॥ हे नाथ ! चरण-कमल धोकर ही नाव पर चढ़ाऊँगा। आपसे उतराई नहीं चाहता। हे श्रीरामजी ! मुझे आपकी शपथ है और दशरथ महाराज की सौगंध है, मैं सब सत्य ही कहता हूँ। चाहे श्रीलक्ष्मणजी तीर भले ही मारें, पर जबतक आपके चरण न धो लूँगा; तबतक हे तुलसीदासजी के स्वामी ! हे कृपालु ! मैं पार न उतारूँगा। केवट के प्रेम से भरे हुए, अटपटे (बेढंगे, गँवारू) वचन सुनकर करुणा के स्थान श्रीरामजी, श्रीजानकीजी और श्रीलक्ष्मणजी की ओर देखकर हँसे ॥१००॥

विशेष—(१) 'नहिं जानउँ कछु और कबारू'—'कबारू' अर्थात् व्यापार, यथा—"दानिन दिये बसन मनि भूषन राजा सदन भँडार। मागध सूत भाँट नट जाचक जहँ तहँ करहिं कबार ॥" (गी० बा० २)।

(२) 'पद-कमल धोइ चढ़ाइ नाव···'—'चढ़ाइ' अर्थात् मैं ही आपको (कंधे पर उठाकर) नाव पर चढ़ा दूँगा जिसमें चरणों में फिर धूल न लग जाय। 'नाथ' अर्थात् आप राजा हैं, मैं प्रजा हूँ। अतः, सहज में ही पार उतार दूँगा। ऐश्वर्य-पक्ष का गुप्त आशय यह कि आप भवसागर के खेवैया (मल्लाह) हैं और मैं नदी का। एक पेशावाले आपस में कर (मूल्य) नहीं लेते। अतः, मैं भी उतराई नहीं चाहता। भाव यह कि मैं आपके घाट पर आऊँ तो यों ही मुझे भी उतार दीजियेगा। यह आगे के—'पितर पारकरि ···' इस वचन से संगत है। 'न चहउँ' का यह भी भाव है कि आप स्वयं देंगे तो अपनी हैसियत (ऐश्वर्य) के अनुसार बहुत कुछ देंगे और मैं माँगू तो मुझे अपने योग्य ही कहना होगा।

(३) 'मोहि राम राउरि आन ···'—'सब साँची कहउँ' इस बात की पुष्टि के लिये श्रीरामजी और उनके बाप की भी शपथ करता है, क्योंकि ये दोनों सत्य-संध एवं दृढ़व्रत हैं, यथा—"सत्य संध दृढ़व्रत रघुराई।" (दो० ८१); तथा—"राखेउ राय सत्य मोहि त्यागी। (तनु परिहरेउ) प्रेम पन लागी ॥" (दो० २९१); भाव मैंने भी सत्य प्रण कर लिया है, इसे नहीं छोड़ने का, चाहे प्राण क्यों न चले जायँ।

(४) 'बरु तीर मारहु लखन पै ·····'—अपनी प्रतिज्ञा के निर्वाह के लिये वह प्राणों की बाजी

लगाता है, जान पड़ता है कि जब उसने कहा कि आपको शपथ और दशरथ (आपके बाप) की शपथ है, इस गँवारी धृष्टता पर श्रीलक्ष्मणजी ने बाण की ओर इशारा किया, उसपर वह कहता है कि चाहे श्रीलक्ष्मणजी तीर मारें। 'मारहु' का अर्थ 'मारें' है, यथा—"भरतहि राम करहु जुवराजा।" (दो० २०१); "लखन राम सिय जाहु बन।" (दो० १८१)।

(५) 'तब लगि न तुलसीदास नाथ ·····'—कवि त्रेता के भक्तों के मुख से 'तुलसीदास नाथ' यह अपना नाता पुष्ट करवाते हैं। अतः, यहाँ—'भाविक अलंकार' है। इसपर ऐसा भी भाव कहा जाता है कि 'तुलसी' से श्रीजानकीजी 'दास' से श्रीलक्ष्मणजी और 'नाथ कृपाल' से श्रीरामजी के लिये कहा है; अर्थात् तीन में एक को भी न उतारूँगा, (यदि आप चाहें कि अच्छा, मैं तैरकर ही चला जाऊँगा, ये दो स्त्री और बच्चे हैं, इन्हें ही उतार दे।)

(६) 'सुनि केवट के बयन, प्रेम लपेटे ·····'—केवट की अभिलाषा है कि मुझे चरणामृत मिल जाय, पर सीधे कहने का उसे कोई हेतु नहीं है, इसलिये वह अपनी कहारजाति-स्वभाव से प्रभु को रिझाने के लिये प्रेम भरे हुए अटपटे वचन कहता है कि आपके चरण-रज से मेरी नाव ही उड़ जायगी। अतः, धोकर ही पार उतारूँगा, चाहे प्राण चले जायँ, इसके लिये वह शपथ भी करता है और कुछ उतराई भी नहीं चाहता, इत्यादि चरणामृत के लिये प्राणों की भी बाजी लगाई है। प्रभु उसके अंतरिक प्रेम पर प्रसन्न हो उसपर कृपा करना चाहते हैं, कहा भी है—"कहत नसाइ होइ हिय नीकी। रीझत राम जानि जन जी की॥" (बा० दो० २८); उसपर प्रसन्नता प्रकट करते हुए आप हँस पड़े।

(७) 'चितइ जानकी-लखन-तन'—श्रीलक्ष्मणजी ने उसपर कड़ी दृष्टि कर दी थी, हँसकर उन्हें अपना रुख जनाया कि हम इसपर प्रसन्न हैं। श्रीजानकीजी की ओर देखने का भाव यह कि आपके पिता आपको देकर ये चरण धोये हैं और यह गँवारू प्रेम से ही धोना चाहता है। यह भी भाव है कि ऐसे ही प्रेम-वश और यही उदाहरण अहल्या का ही लेकर आप भी जनकपुर में चरण-स्पर्श नहीं करती थीं—"गौतम तिय गति सुरति करि, नहिं परसति पग पानि। मन बिहसे रघुबंस मनि, प्रीति अलौकिक जानि॥" (बा० दो० २६५)। पुनः दोनों की ओर देखकर दिखाते हैं कि वन में भी हमारे कैसे-कैसे विलक्षण प्रेमी हैं और यह कि निषाद-राज की प्रजा भी बड़ी चतुर है।

कृपासिंधु बोले मुसुकाई। सोइ करु जेहि तव नाव न जाई॥१॥
बेगि आनु जल पाय पखारू। होत बिलंब उतारहि पारू॥२॥
जासु नाम सुमिरत एक बारा। उतरहिं नर भवसिंधु अपारा॥३॥
सोइ कृपालु केवटहि निहोरा। जेहि जग किय तिहुँ पगहुँ ते थोरा॥४॥

अर्थ—कृपा के समुद्र श्रीरामजी ने मुस्कुराकर कहा कि वही कर जिससे तेरी नाव न जाय; अर्थात् बनी रहे॥१॥ शीघ्र जल ला और पैर धो, देरी हो रही है, पार उतार दे॥२॥ जिसके नाम को एक बार स्मरण करके मनुष्य अपार भव-सागर तर जाते हैं॥३॥ वे ही कृपालु श्रीरामजी केवट से मनौनी (खुशामद) कर रहे हैं, जिन्होंने सारे जगत् को तीन पग से भी कम कर दिया है॥४॥

विशेष—(१) 'कृपासिंधु'—क्योंकि केवट पर भी कृपा कर रहे हैं।

(२) 'सोइ कृपाल केवटहि······'—'जासु नाम ······' से नाम का महत्त्व कहकर फिर रूप की भी महिमा कहते हैं कि इन्हीं प्रभु ने तीन ही चरण में वामन अवतार में जगत्-भर को नाप लिया है, तो गंगा-पार होना इनके लिये कौन कठिन है। पर जैसे इन्होंने तीन पग में पृथिवी नापकर बलि पर कृपा की है, वैसी ही कृपा केवट पर भी करना चाहते हैं। वामनजी की कथा दो०'२६ चौ० ७ में आ चुकी है।

(३) 'होत बिलंब उतारहि पारू'—चैत का महीना है, धूप कड़ी हो जायगी, तो चलना कठिन हो जायगा, श्रीजानकीजी को आज प्रथम दिन चलना पड़ेगा। पुनः प्रभु जानते हैं कि श्रीसुमंत्रजी विक्षिप्त होकर पड़े हैं, कोई आकर कह देगा, तो न चलते हो बनेगा और न लौटते ही। 'उतारहि पारू' में गुप्त भाव यह भी है, तेरे मन की हो गई। अब शीघ्र चरणोदक ले और अपने पितरों को पार उतारकर फिर मुझे पार ले चल, यह आगे दोहे में स्पष्ट है—'पद पखारि जल······'।

पदनख निरखि देवसरि हरषी। सुनि प्रभुबचन मोह मति करषी ॥५॥
केवट रामरजायसु पावा। पानि कठवता भरि लै आवा ॥६॥
अतिआनंद उमगि अनुरागा। चरनसरोज पखारन लागा ॥७॥
बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीं। येहि सम पुन्यपुंज कोउ नाहीं ॥८॥

दोहा—पद पखारि जल पान करि, आप सहित परिवार।
पितर पार करि प्रभुहि पुनि, मुदित गयउ लेइ पार ॥१०१॥

शब्दार्थ—करषी = आकर्षित की, खींच ली। कठवता = काष्ठ का बना हुआ एक बर्तन-विशेष।

अर्थ—श्रीरामजी के चरण-नखों को देखकर (अपने उत्पत्ति-स्थान का संयोग होना जानकर कि कुछ काल इनकी प्राप्ति रहेगी) गंगाजी प्रसन्न हुई। (परन्तु) भगवान् के वचन सुनकर (कि वे शीघ्र ही चले जाना चाहते हैं) यह मोह (प्रेम) दूर हो गया ॥५॥ श्रीरामजी की आज्ञा पाकर केवट कठौते में पानी भर लाया ॥६॥ अत्यन्त आनन्द से उमगकर अनुराग-पूर्वक वह चरण-कमलों को धोने लगा ॥७॥ सब देवता लोग फूल बरसा कर सिहाते (ललचाकर उसकी प्रशंसा करते) हैं कि इसके समान पुण्य-समूहवाला (पुण्यवान्) दूसरा कोई नहीं है ॥८॥ चरणों को धोकर और कुटुम्ब के साथ आप भी उस जल को पीकर अपने पितरों को भव-समुद्र पार करके तब प्रसन्नता-पूर्वक प्रभु को गंगाजी के पार ले गया ॥१०१॥

विशेष—(१) 'मोह मति करषी' अर्थात् मोहित बुद्धि खिंच गई, दूर हो गई; अर्थात् यह निश्चय हो गया कि प्रभु लीला के अनुरोध से शीघ्र ही चले जायँगे, मुझे पूर्ववत् कल्पान्त तक बहते ही बीतेगा। कहा भी है—"जद्यपि अति पुनीत सुरसरिता···तजे चरन अजहूँ न मिटत; नित बहिबो ताहू केरो।" (वि ८७); यहाँ मोह का अर्थ वही है जो पिता के आने पर लड़कियों को होता है प्रेम सुहब्बत; यथा—"सौंचेहु उनके मोह न माया।" (बा० दो० ६६)।

(२) 'पानि कठवता भरि लेइ आवा'—श्रीरामजी की आज्ञा—'वेगि आनु जल पाय पखारू' यह पाकर छोटी कठवती में पानी भर लाया। प्रायः केवटों के पास नाव का जल उलीचने के लिये छोटी कठवती रहा करती है। शीघ्रता में वह भर लाया। यथा—"प्रभु रुख पाइ कै बुलाइ बाल घरनिहिं बंदि कै चरन चहूँ दिसि बैठे घेरि-घेरि। छोटो सो कठौता भरि आनि पानी गंगाजी को, धोइ पाइ पियत पुनीत वारि फेरि फेरि॥ तुलसी सराहैं ताको भाग सानुराग सुर, बरषैं सुमन जय जय कहैं टेरि टेरि। विबुध-सनेह-सानी बानी असयानी सुनी, हँसे राघौ जानकी लखन तन हेरि-हेरि॥" (क० अ० १०); कठवता लाने के और भी भाव कहे जाते हैं कि इससे वह पूर्ववत् अटपटी चातुरी का निर्वाह करता है कि यह छो हो जायगी, तो परीक्षा भी मिल जायगी और मेरी नाव भी बच जायगी। वा, इसी में सदा रसोई भी रक्खेंगे तो वह महाप्रसाद हुआ करेगा। अथवा, विशेष उदासीन संत लोग धातु नहीं छूते। पाषाण और काष्ठ ही से काम चलाते हैं। श्रीजानकीजी ने भी और भूषणों के रहते हुए मणि मुंदरी (जो पाषाण है) दी है। आगे हनुमानजी के द्वारा भी चूड़ामणि (पाषाण) ही भेजी है। इसलिये भी केवट काष्ठ का ही बर्तन भर लाया, क्योंकि श्रीरामजी विशेष उदासीन वेष में हैं।

(३) 'पानि'—श्रीरामजी ने यद्यपि 'वेगि आनु जल' कहा था, फिर भी यह पानी (हलका नाम) ही की दृष्टि से गंगाजल भर लाया, क्योंकि यदि वह अभी से इस जल का माहात्म्य चरणोदक समझे, तो फिर चरण धोने की आवश्यकता ही न रहे। हाँ, धोने पर 'पुनीत वारि' कहेगा, ऊपर कवित्त में लिखा गया। पुनः नित्य तट पर रहनेवाले सामान्य लोग जल का वैसा माहात्म्य नहीं मानते।

(४) 'येहि सम पुन्य पुंज कोउ नाहीं'—क्योंकि जो शिव ब्रह्मादि को प्राप्त हुआ, वही चरणोदक इसे मिला, यथा—"मकरंद जिनको संभुसिर ···" (बा० दो० ३२३)।

(५) 'पद पखारि जल ···'—स्वयं पिया, कुटुम्ब-भर को पिलाया और पितरों का तर्पण भी इसीसे किया कि जिससे वे भी भव पार हो गये; तब प्रभु को पार ले गया।

यहाँ अत्यन्तातिशयोक्ति अलंकार है।

उतरि ठाढ़ भये सुरसरि-रेता। सीय राम गुह लखन-समेता॥१॥
केवट उतरि दंडवत कीन्हा। प्रभुहि सकुच येहि नहिं कछु दीन्हा॥२॥
पियहिय की सिय जाननिहारी। मनि मुँदरी मन मुदित उतारी॥३॥
कहेउ कृपाल लेहि उतराई। केवट चरन गहे अकुलाई॥४॥

अर्थ—गुह (निषादराज) और श्रीलक्ष्मणजी के साथ श्रीसीताजी और श्रीरामजी नाव से उतरकर गंगाजी के रेत (बालूमय भूमि) पर खड़े हुए॥१॥ तब केवट (नाव खेनेवाले) ने उतरकर दंडवत् की (इसपर) प्रभु श्रीरामजी को संकोच हुआ कि इसे कुछ दिया नहीं गया॥२॥ पति के हृदय की जाननेवाली श्रीसीताजी ने प्रसन्न मन से मणिमय मुँदरी उतारी॥३॥ कृपालु श्रीरामजी ने केवट से कहा कि नाव की उतराई ले। (सुनकर) केवट ने अकुलाकर चरण पकड़ लिये॥४॥

विशेष—(१) 'प्रभुहि सकुच ''मनि मुँदरी'''—केवट स्वयं भव-पार हुआ। परिवार और पितरों को भी तारा। इतने दान को प्रभु ने कुछ गिना ही नहीं। अपनी ओर देखकर सकुचते हैं कि इसे कुछ दिया ही नहीं। भाव यह कि मुक्ति-मात्र तो निशाचरों को भी देते हैं, सब भक्त के लिये

क्या ? अतः, चिंतामणिमयी मुँदरी दे रहे हैं कि इच्छित पदार्थ अर्थ आदि चारों प्राप्त हुआ करें और मुँदरी भी बनी रहे।

ऐसा ही संकोच विभीषण के प्रति भी रहा है। यथा—"जो संपति सिव रावनहिं, दीन्हि दिये दस माथ। सोइ संपदा विभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥" (सुं० दो० ४९); ये श्रीरामजी के शील, उदारता और कृतज्ञतादि गुण हैं। पुनः प्रभु दिया हुआ दान भूल भी जाते हैं। यथा—"निज गुन, अरि कृत अनहितो दास दोष, चित रहति न दिये दान की। बानि बिसारन सील है मानद अमान की।" (वि० ४२); अर्थात् प्रभु सब कुछ देकर भी स्वयं भक्तों के अधीन रहते हैं। आपकी यह निराली बानि है।

(२) 'मन मुदित'—से श्रीसीताजी की उदारता एवं पति-रुचि-पालकता भी प्रकट हुई, जो इन्हें पूर्व शिक्षा मिली थी—"पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू।" (बा० दो० ३३१)।

नाथ आजु मैं काह न पावा। मिटे दोष - दुख - दारिद - दावा॥५॥
बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी। आजु दीन्ह बिधि बनि भलि भूरी॥६॥
अब कछु नाथ न चाहिय मोरे। दीनदयाल अनुग्रह तोरे॥७॥
फिरती बार मोहि जो देवा। सो प्रसाद मैं सिर धरि लेवा॥८॥

दोहा—बहुत कीन्ह प्रभु लखन सिय, नहिं कछु केवट लेइ।
बिदा कीन्ह करुनायतन, भगति बिमल बर देइ॥१०२॥

शब्दार्थ—बनि (बन्धी) = मजदूरी (हिन्दी-शब्दसागर)। भलि भूरी = अच्छी तरह बहुत-सी, अच्छी और भरपूर।

अर्थ—(केवट ने कहा) हे नाथ ! आज मैंने क्या नहीं पाया; अर्थात् सब कुछ मिल गया, मेरे दोष, दुःख और दरिद्रता-रूपी दावानल आज मिटे॥५॥ मैंने बहुत काल मजदूरी की, आज विधाता ने अच्छी और भरपूर मजदूरी दे दी॥६॥ हे नाथ ! हे दीन-दयालु ! अब आपके अनुग्रह हो जाने से मुझे और कुछ न चाहिये॥७॥ लौटते समय आप जो कुछ प्रसाद मुझे देंगे, वह मैं शिर पर धारण करके लूँगा॥८॥ प्रभु श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी ने बहुत (लेने के लिये आग्रह) किया। पर केवट कुछ नहीं लेता, तब करुणा के स्थान श्रीरामजी ने निर्मल भक्ति का वर देकर उसे विदा किया॥१०२॥

विशेष—(१) 'नाथ आजु मैं काह न ···'—प्रभु उसे मजदूरी देना चाहते हैं और वह बहुत कुछ पा चुका है। फिर भी—'न नाथ उतराई चहउँ' इसपर शपथ भी कर चुका है, इसलिये चरण पकड़े हुए मजदूरी न लेने की ढिठाई से क्षमा चाहता है। 'मिटे दोष-दुख दारिद दावा'—'दोष' अर्थात् पूर्व कर्मों के कारण इन्द्रियों की कुटेव', 'दुःख' अर्थात् जन्म लेने एवं वृद्धापन आदि के कष्ट। यथा—"जराजन्म दुःखौघतातप्यमानम्" (उ० दो० १०७); एवं दैहिक दैविक और भौतिक आदि ताप। 'दारिद' यथा—"नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।" (उ० दो० १२०); दुःख से पृथक् भी दरिद्र कहा गया, क्योंकि यह दुःखों में प्रधान है। दोष से दुःख होता है। अतः, कार्य-कारण दोनों मिटे। 'दावा' दोष आदि तीनों के साथ है। भाव यह कि आजतक मैं दोषादि से संतप्त रहा। आज सभों से छुटकारा मिला।

(२) 'अब कछु नाथ न···'—भाव यह कि भगवान् के अनुग्रह होने पर जीव आप्त-काम हो जाता है। यथा—" यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।" (गीता ६।२२); तथा—"उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु-पद-प्रीति सरित सो बही॥" (सु० दो० ४८)।

(३) 'फिरती बार मोहि जो···'—भाव यह कि मजदूरी तो उस समय भी नहीं ही लूँगा, हाँ, प्रसाद आदरपूर्वक लूँगा। 'जोइ' अर्थात् इस अगूँठी की बात नहीं है। जो कुछ हो, वह प्रसाद ले लूँगा। (इस प्रकार प्रभु को ऋणी बना रखता है कि जिससे फिर इसी घाट से आवें।) इस बार तो मैं आपको और आप मुझको पार उतारें। दोनों बराबर हो गये, आप फिर आवेंगे, तो उतराई ले लूँगा, क्योंकि मुझे तो यही एक बार ही उतरना था, फिर तो न भवसागर में आऊँगा और न आपको उतारना पड़ेगा। यथा—"न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते।" (छान्दो० ८।१५।१); अर्थात् मुक्त पुरुष फिर संसार में नहीं आता। तथा—"मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।" (गीता ८।१६); "यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम" (गीता १५।६)।

(४) 'बहुत कीन्ह प्रभु लखन···'—श्रीलक्ष्मणजी ने भी बहुत कहा कि भूषण लड़कों के पहनने का है; संभवतः हमारे कारण न लेता हो। श्रीजानकीजी ने भी कहा, क्योंकि मुँदरी उनके पहनने की थी, जिससे उसे संकोच न रहे। पर उसने नहीं ही लिया, तब प्रभु ने करुणा करके प्रसाद-रूप में अभी ही उसे विमल भक्ति दे दी, क्योंकि लौटकर विमान पर आवेंगे। इसके घाट पर उतरना न होगा। यह भी जाना गया कि जो पूर्ण निष्काम होता है उसे ही निर्मल (अविरल विशुद्ध) भक्ति मिलती है। वह प्रभु के प्रसाद ही से मिलती भी है। यथा—"अबिरल भगति बिसुद्ध तव, श्रुति पुरान जो गाव। जेहि खोजत योगीस मुनि, प्रभु प्रसाद कोउ पाव।" (उ० दो० ८४) इसीसे 'करुनायतन' कहा है।

विपिन-गवन—प्रकरण समाप्त

"सुरसरि उतरि निवास प्रयागा"—प्रकरण

तब मज्जन करि रघुकुलनाथा। पूजि पारथिव नायेउ माथा॥१॥
सिय सुरसरिहि कहेउ कर जोरी। मातु मनोरथ पुरउबि मोरी॥२॥
पति-देवर-संग कुसल बहोरी। आइ करउँ जेहि पूजा तोरी॥३॥
सुनि सियबिनय प्रेम-रस-सानी। भइ तब बिमल बारि-बरबानी॥४॥

शब्दार्थ—पारथिव (पार्थिव) = पृथिवी के सम्बन्धी, मिट्टी का बना हुआ शिव-लिंग।

☞ यहाँ से अब भुशुंडीजी की मूल रामायण के अनुसार शीर्षक दिये जाते हैं—

अर्थ—तब रघुकुल के स्वामी श्रीरामजी ने स्नान करके पार्थिव पूजन कर प्रणाम किया॥१॥ श्रीसीताजी ने श्रीगंगाजी से हाथ जोड़कर कहा कि हे माता! मेरा मनोरथ पूरा कीजिये॥२॥ कि जिससे स्वामी और देवर के साथ कुशल से लौट आकर फिर तुम्हारी पूजा करूँ॥३॥ श्रीसीताजी की प्रेम-रस में सनी हुई प्रार्थना सुनकर निर्मल श्रेष्ठ जल से यह श्रेष्ठ वाणी हुई॥४॥

विशेष—(१) 'पूजि पारथिव नायेउ माथा'—यहाँ पार्थिव-पूजन के सम्बन्ध से 'रघुकुलनाथा' कहा है; क्योंकि सब रघुवंशी देवताओं को पूजते आये हैं। आप भी वंश की रीति का पालन करते हैं।

श्रीरामजी ने शिव पूजन किया है और श्रीजानकीजी ने शिव-शक्ति गंगाजी की वंदना की है। इन्होंने यहाँ मनौती की है और लंका से लौटते समय इन (गंगाजी) की पूजा की है—"तब सीता पूजी सुरसरी।" (लं० दो० ११६); श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में गंगाजी की धारा में ही गंगाजी से प्रार्थना करना श्रीसीताजी का कहा है और यहाँ मानस में गंगा-पार होने पर, यह कल्प-भेद से है।

श्रीगोस्वामीजी ने शिवजी को परम भागवत माना है; यथा—"वैष्णवानां यथा शंभुः" (भाग० १२।१३।१६) और इन्हें जीव-तत्त्व में ही माना है, यथा—"तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सब जाना॥" (बा० दो० ५५); अर्थात् शिवजी ने व्यास-वाल्मीकि आदि की तरह ध्यान धरके सती के चरित को जाना है और उसी प्रसंग में श्रीरामजी ने उन्हीं सती के कपट को बिना ध्यान के देखते ही जान लिया। यथा—"सतीकपट जानेउ सुरस्वामी। सब दरसी सब अंतरजामी॥" (बा० दो० ५२), एक ही प्रसंग में एवं ग्रंथारंभ में ही आपने विलक्षण चरित के साथ में निर्णय कर दिया है। फिर श्रीरामजी का राजकुमार की रीति से जहाँ शिवजी का पूजन आदि कहा है वहाँ शिवजी की श्रीरामजी में इष्ट-भाव से अनन्य भक्ति का वर्णन किया है।

जहाँ शिवजी में ब्रह्म के लक्षण कहे हैं वहाँ स्तुति-वाद है। क्योंकि शिवजी ब्रह्म की एक विशिष्ट विभूति हैं। ये श्रीरामनाम और रूप के प्रभाव जानने में अद्वितीय हैं। श्रीरामजी ने इनकी भक्ति से विवश होकर इन्हें जहाँ-तहाँ लीला के साथ अधिक महत्त्व दिया है। इसपर—"लिंग थापि बिधिवत करि पूजा।" (लं० दो० १) भी देखिये।

(२) 'सुनि सियबिनय प्रेम ···'—प्रेम-युक्त प्रार्थना से ही देवता प्रसन्न होते हैं और आशिष देते हैं। यथा—"बिनय प्रेम बस भई भवानी।" (बा० दो० २३५); तथा—"जानि सभय सुर भूमि सुनि, बचन समेत सनेह। गगन गिरा गंभीर भइ······" (बा० दो० १८६)। वैसे यहाँ भी प्रेमयुक्त विनय के प्रति—'भइ तब बिमल बारि बरबानी' कहा है। यहाँ जल के अभिमानी देवता का बोलना है।

सुनु रघुबीरप्रिया बैदेही। तव प्रभाव जग बिदित न केही॥५॥
लोकप होहिं बिलोकत तोरे। तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरे॥६॥
तुम्ह जो हमहि बड़ि बिनय सुनाई। कृपा कीन्हि मोहि दीन्हि बड़ाई॥७॥
तदपि देवि मैं देबि असीसा। सफल होन हित निज बागीसा॥८॥

दोहा—प्राननाथ देवरसहित, कुसल कोसला आइ।
पूजिहि सब मनकामना, सुजस रहिहि जग छाइ॥१०३॥

अर्थ—हे रघुवीर श्रीरामजी की प्रिया! हे वैदेही! सुनिये। आपका प्रभाव जगत् में किसे नहीं मालूम है॥५॥ आपकी कृपा-दृष्टि से लोग लोकपाल हो जाते हैं, सब सिद्धियाँ हाथ जोड़े हुए आपकी सेवा करती हैं॥६॥ आपने जो हम बड़ी विनती सुनाई है यह कृपा की है और मुझे बड़ाई दी है॥७॥ तो भी हे देवि! मैं अपनी वाग्देवी के सफल होने के लिये आपको आशिष दूँगी॥८॥ कि प्राणपति और देवर-समेत कुशल सहित अयोध्या आओ। आपके सब मनोरथ पूरे होंगे और जगत् में सुंदर यश फैल जायगा॥१०३॥

विशेष—(१) 'सुतु रघुवीरप्रिया ' '—भाव यह कि सामान्य वीर की स्त्रियों को किसी का भय नहीं रहता। आप तो रघुवीर की प्रिया हैं जो कि आश्रित मात्र की रक्षा में समर्थ हैं, यथा—"त्राहि-त्राहि आरति हरन, सरन सुखद रघुवीर।" (सु० दो० ४५); 'रघुबीर करुनासिंधु आरत बन्धु-जन रच्छक हरे॥" (लं० दो० ८१); तथा—"निवासवृक्षः साधूनामापन्नाना परागतिः॥ आर्तानां संश्रयश्चैव यशसश्चैक-भाजनम्।" (वाल्मी० ४।१५।१९–२०); अतः, आपके कुशल-पूर्वक लौटने में कोई बाधक नहीं हो सकता, आपकी विनती तो मुझे प्रतिष्ठा देने के लिये है।

'तव प्रभाव जग विदित '' '—रघुवीर की प्रिया हो, फिर तुम्हारा भी प्रभाव जगत् में सबको विदित है कि पिनाक धनुष को तृण की तरह एक हाथ से उठा लिया, जिससे श्रीविदेहजी ने उसके तोड़ने की प्रतिज्ञा की। उसे तीनों लोकों के वीर भी न उठा सके थे। इससे यह प्रभाव सब जानते हैं। तब तुम्हें कहीं भी क्या भय है? पूर्वोक्त—"सिंह बधुहिं जिमि ससक सियारा।" (दो० ६६), की व्याख्या भी देखिये।

(२) 'लोकप होहिं बिलोकत तोरे''''' यथा—"उमा-रमा-ब्रह्मादिवंदिता।''' जासु कृपा कटाच्छ सुर, चाहत चितवन सोइ।" (उ० दो० २४), अर्थात् आप त्रिदेव और उनकी शक्तियों से वंदिता हैं, और इन्द्रादि देवता आपकी कृपा कटाक्ष चाहा करते हैं, क्योंकि आपकी अनुकूल दृष्टि से लोग इन्द्र, वरुण आदि की पदवी पा जाते हैं। 'दीन्हि बड़ाई' अर्थात् अब लोग सिहायँगे कि गंगाजी की प्रार्थना और पूजा तो सर्वेश्वरी ने भी की थी। मुझपर यह बड़ी कृपा की। यहाँ विनय सुनाने के सम्बन्ध से 'हमहिं' बड़प्पन-सूचक शब्द बहुवचन कहा गया है और कृपा करने में 'मोहि' यह एकवचन लघुता-सूचक सर्वनाम अपने लिये गंगाजी ने कहा है, यह कवि का सँभाल भी प्रशंसनीय है।

'तोहिं सेवहिं सब सिधि''' यथा—"सिधि सब सिय आयसु अकनि, गईं'''" (बा० दो० ३०६)।

(३) 'तदपि देवि मैं देवि असीसा।'—माधुर्य-रीति से आपने मुझे देवता मानकर विनती की है। तदनुसार मैं आशिष दूँगी। पुनः आपके ऐश्वर्य को जानती हुई मैं अपनी वाणी को सफल करती हूँ। सफलता यों होगी कि आप सर्वेश्वरी हैं। अतः, सकुशल तो लौटेंगी ही। इसपर मेरी आशिष रहने से लोग कहेंगे कि गंगाजी की आशिष से कुशल-पूर्वक आईं। यथा—"सकल अमानुष करम तुम्हारे। केवल कौसिक कृपा सुधारे॥" (बा० दो० ३५७); 'बागीसा'—ईश्वर के विषय में प्रवृत्त वाणी ही वाणियों की ईश्वरी है।

(४) 'पूजिहि सब मनकामना'''—भू-भार-हरण, निशिचरनाश, सुर-विप्र-दुःख-हरण आदि। 'सुजस', यथा—"दसमुख बिबस तिलोक लोकपति। बिकल बिनाये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्हके जस अमरनाग नर-सुमुखि सनाहैं॥" (गी० उ० १३)।

गंग-बचन सुनि मंगलमूला। मुदित सीय सुरसरि अनुकूला॥१॥
तब प्रभु गुहहि कहेउ घर जाहू। सुनत सूख मुख भा उर दाहू॥२॥
दीन बचन गुह कह कर जोरी। बिनय सुनहु रघुकुलमनि मोरी॥३॥
नाथ साथ रहि पंथ देखाई। करि दिन चारि चरन-सेवकाई॥४॥
जेहि बन जाइ रहब रघुराई। परनकुटी मैं करबि सुहाई॥५॥
तब मोहि कहँ जसि देब रजाई। सोइ करिहउँ रघुबीर-दोहाई॥६॥

अर्थ—गंगाजी के मंगल-मूलक (मांगलिक) वचन सुनने से और उन देव-नदी के अनुकूल होने से श्रीसीताजी आनंदित हुईं ॥१॥ तब प्रभु श्रीरामजी ने गुह से कहा कि घर जाओ, यह सुनकर उसका मुख सूख गया और उसके हृदय में जलन होने लगी ; अर्थात् लौटने की बात पर उसे बड़ा दुःख हुआ ॥२॥ हाथ जोड़कर दीनता के वचन कहे कि हे रघुकुल-शिरोमणि ! मेरी प्रार्थना सुनिये ॥३॥ हे नाथ ! मैं (आपके) साथ में रहकर मार्ग दिखाकर चार (अर्थात् कुछ) दिन आपके चरणों की सेवा करके, ॥४॥ हे रघुराई ! जिस वन में आप जाकर रहेंगे, वहाँ मैं सुहावनी पर्णकुटी बनाऊँगा ॥५॥ तब मुझे जैसी आज्ञा दीजियेगा, वही करूँगा, हे रघुवीर ! मैं आपकी शपथ करके कहता हूँ ॥६॥

विशेष—(१) 'तब प्रभु गुहहि कहेउ······'—श्रीरामजी ने पहले केवट को विदा किया था, अब उसके राजा गुह को कहते हैं। 'रघुकुलमनि' अर्थात् रघुवंशी सदा दीनों की विनती सुनते आये हैं, कृपया आप भी सुनें। 'दिन चारि'—यह 'कुछ दिन' का वाचक मुहावरा है, पर श्रीरामजी ने इन्हें चार ही दिन साथ रक्खा है, जैसे कि पहले दिन वृक्ष के नीचे बसे—"तेहि दिन भयेउ बिटप तर बासू।" (दो० १०४); दूसरे दिन प्रयाग में बसे—"राम कीन्ह बिश्राम निसि, प्रात प्रयाग नहाइ।" (दो० १०८); तीसरे दिन यमुना-तट पर रहे, इसीसे श्रीभरतजी भी वहाँ ठहरे थे। चौथे दिन गुह को विदा किया। चार ही दिन कहा, क्योंकि अधिक कहने से श्रीरामजी स्वीकार न करते। 'परन कुटी मैं करबि सोहाई'—इस कार्य में ये निपुण थे। 'तब' अर्थात् आपके लिये स्थायी-निवास-स्थान बनाकर। 'दोहाई'—श्रीरामजी ने अभी तक साथ लेना स्वीकार नहीं किया, इसलिये आगे गुह ने हठ न करने के लिये शपथ की, तब श्रीरामजी ने उसे साथ लिया।

सहज सनेह राम लखि तासू। संग लीन्ह गुह हृदय हुलासू ॥७॥
पुनि गुह ग्याति बोलि सब लीन्हे। करि परितोष बिदा तब कीन्हे ॥८॥

दोहा—तब गनपति सिव सुमिरि प्रभु, नाइ सुरसरिहि माथ।
सखा-अनुज-सिय-सहित बन, गवन कीन्ह रघुनाथ ॥१०४॥

तेहि दिन भयेउ बिटपतर बासू। लखन सखा सब कीन्ह सुपासू ॥१॥

अर्थ—उसका स्वाभाविक स्नेह देखकर श्रीरामजी ने उसे साथ लिया, (जिससे) गुह के हृदय में बड़ा आनंद हुआ ॥७॥ फिर गुह की जाति के सब लोगों को बुला लिया और उनको अच्छी तरह संतुष्ट करके विदा किया ॥८॥ तब प्रभु श्रीरामजी ने श्रीगणेशजी और श्रीशिवजी का स्मरण करके गंगाजी को शिर नवाया। सखा, भाई और श्रीसीताजी के सहित श्रीरघुनाथजी वन को चले ॥१०४॥ उस दिन वृक्ष के नीचे निवास हुआ, श्रीलक्ष्मणजी और सखा (गुह) ने सब सुपास (सुख का सामान) किया ॥१॥

विशेष—(१) 'सहज सनेह राम लखि······'—स्नेह लखने के सम्बन्ध से 'राम' नाम ऐश्वर्य-परक दिया, क्योंकि स्नेह हृदय का धर्म है और श्रीरामजी सबके हृदय में रहते हैं। 'हृदय हुलासू'—पहले वियोग-भय से—'भा उर दाहू' कहा गया था, अब संयोग पाने से वह दाह दूर हुआ और आनन्दोल्लास हुआ।

(२) 'पुनि गुह ज्ञाति बोलि······'—श्रीरामजी ने कहा कि तुम लोग चिंता न करो, ये चार दिन के लिये ही साथ जा रहे हैं, फिर शीघ्र लौट आवेंगे, तुम सब यहाँ के कार्य देखो।

(३) 'तब गनपति सिव······'—आप 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं, तब लोक-शिक्षा के लिये श्रीगणेशजी और श्रीशिवजी का स्मरण करके चले। ये दो अप्रत्यक्ष हैं, इसलिये इन्हें हृदय में ही स्मरण किया और गंगाजी प्रत्यक्ष हैं, अतः, उन्हें प्रणाम किया। वन-गमन में तो सबको साथ कहा है, पर श्रीगणेशजी आदि के स्मरण में नहीं, क्योंकि ये तीनों श्रीराम-रूप के ही अनन्य नैष्ठिक हैं। अथवा, 'सखा अनुज सिय सहित' को दीपदेहली-न्याय से पूर्वार्द्ध के साथ भी ले लें। 'वनगमन' के साथ 'रघुनाथ' कहा गया है, क्योंकि इससे पिता के सत्य की रक्षा होगी, जिससे रघुकुल की कीर्ति बढ़ेगी। सखा आगे चल रहा है, क्योंकि वह वन के मार्गों को जानता है। फिर श्रीलक्ष्मणजी, तब श्रीसीताजी और सबके पीछे श्रीरामजी चले, वैसे ही क्रम से लिखा गया है; यथा—"अग्रतो गच्छ सौमित्रे सीतात्वामनुगच्छतु॥ पृष्ठतोऽनुगमिष्यामि सीतां त्वां चानुपालयन्।" (वाल्मी० २।५२।९५-९६)।

प्रात प्रातकृत करि रघुराई। तीरथराज दीख प्रभु जाई॥२॥
सचिव सत्य श्रद्धा प्रिय नारी। माधव-सरिस मीत हितकारी॥३॥
चारि पदारथ भरा भँडारू। पुन्य प्रदेस देस अति चारू॥४॥
छेत्र अगम गढ़ गाढ़ सुहावा। सपनेहुँ नहिं प्रतिपच्छिन्ह पावा॥५॥
सेन सकल तीरथ बरबीरा। कलुष-अनीक-दलन रनधीरा॥६॥
संगम सिंहासन सुठि सोहा। छत्र अखयबट मुनिमन मोहा॥७॥
चवँर जमुन अरु गंग-तरंगा। देखि होहिं दुख दारिद भंगा॥८॥

दोहा—सेवहिं सुकृती साधु सुचि, पावहिं सब मन काम।
बंदी बेद पुरान गन, कहहिं बिमल गुनग्राम॥१०५॥

अर्थ—रघुकुल-श्रेष्ठ प्रभु श्रीरामजी ने प्रातःकाल की सब क्रियाएँ करके जाकर तीर्थ-राज प्रयाग के दर्शन किये॥२॥ तीर्थराज का मंत्री सत्य है, श्रद्धा प्यारी स्त्री और वेणीमाधव-सरीखा हित करनेवाला मित्र है॥३॥ चारों पदार्थ अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष से भंडार भरा है, वहाँ का पवित्र स्थल ही अत्यन्त सुंदर देश (राजधानी) है॥४॥ वहाँ की पवित्र भूमि ही सुन्दर, दृढ़ और दुर्गम किला (कोट) है। जिसे प्रतिपक्षी (शत्रु, पाप-वर्ग) स्वप्न में भी नहीं पा सकते॥५॥ सब तीर्थ उसकी श्रेष्ठ धीरों की सेनाएँ हैं, जो पाप की सेना को दल (पीस) डालने में धीरता से लड़नेवाली हैं॥६॥ (गंगा, यमुना और सरस्वती का) संगम ही उसका अत्यन्त शोभायमान सिंहासन है, अक्षयवट छत्र है, जो मुनियों के मन को लुभानेवाला है॥७॥ यमुनाजी और गंगाजी की तरंगें श्याम-श्वेत चँवर हैं, जिन्हें देखकर दुःख और दारिद्र्य नष्ट हो जाते हैं॥८॥ पुण्यात्मा और पवित्र साधु सेवन करते और सब मनोरथ पाते हैं, वेद-पुराण भाट लोग हैं, जो उनके निर्मल गुण समूह कहते हैं॥१०५॥

विशेष—(१) प्रयाग राज सब तीर्थों के राजा हैं, अतएव राजा के सब अंग रूपक के द्वारा दिखाते हैं। राजा के प्रधान सात अग हैं। यथा—"स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि चेत्यमर ।" अर्थात् राजा, मंत्री, मित्र, कोश, राज्य मंडल, कोट और सेना, ये सात अग हैं। राजा और उसके सुखांग में रानी सिहासन चमर, छत्र आदि हैं। मन्त्री उत्तम चाहिये, वसे ही यहाँ सत्य है, तीर्थ-सेवन करनेवाले को यहाँ सत्य ही बोलना चाहिये। तथा मन, वचन, कर्म से निश्छल होकर शास्त्र की आज्ञा का पालन करना चाहिये। हर्षपूर्वक इष्ट व्यापार ग्रहण करना श्रद्धा है तथा तीर्थ माहात्म्य सुनकर सेवन की रुचि करना श्रद्धा रूपा प्रिय (पतिव्रता) स्त्री है। मित्र समर्थ वेणी माधव हैं। दर्शन करनेवाले भक्त के सदा हित कर्त्ता हैं। अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष चारों पदार्थों से भरा भंडार (खजाना) है। पुण्य प्रदेश अर्थात् प्रयाग का का प्रात ही पवित्र स्थल है; वह सुंदर देश (राष्ट्र) है। चालीस कोश जो क्षेत्र भूमि है वही अगम दृढ किला है। 'अगमता'—वहाँ जो गंगा-यमुना की रेणुका उड़ती है, वही विषम वन है।

'गाढ़'—गंगा यमुना की धारा ही दृढ धुस्स (बाँध) है। जगह-जगह के घाट ही बुर्ज हैं। रेत परिखाएँ हैं इस प्रकार की सुंदरता है। इस किले को प्रत्यक्ष में कौन कहे, स्वप्न में भी पापवर्ग रूप शत्रु नहीं पा सकते। सामान्य तीर्थ सिपाही हैं, और विशेष तीर्थ गया, पुष्कर, काशी आदि श्रेष्ठ वीर (सुभट) हैं। इस प्रकार ये तीर्थराज सप्तांग पूर्ण हैं।

(२) 'प्रात प्रातकृत करि···'—चलने के सम्बन्ध से प्राय रघुराई कहते हैं—'रं घति गच्छति इति रघु'। पुनः क्रिया के सम्बन्ध से भी माधुर्य नाम दिया गया है।

'प्रभु'—प्रयाग राज ३॥ कोटि तीर्थों के राजा हैं, एक-एक करोड़ तीनों लोकों के और ५० लाख वायुमंडल के तीर्थों के राजा हैं, वैसे ये भी 'प्रभु' हैं; अत परस्पर योग्य का सम्बन्ध है। 'माधव' (मा= लक्ष्मी, धव=पति) अर्थात् लक्ष्मी के पति मित्र हैं, समय पड़ने पर सहायता करते हैं, कोश देते हैं। 'बर बीरा' अर्थात् अचल हैं। पुन मरते भी नहीं। 'संगम'—गंगा, यमुना और सरस्वती तीनों के एकत्र होने से सगम की अपरिमित महिमा है, इसी से 'सुठि सोहा' कहा है। यहीं पर तीर्थराज के अभिमानी देवता विराजते हैं। यहाँ स्नान करना ही सिंहासन तक पहुँचना है।

(३) 'छत्र अपयबट मुनि ···'—अक्षयवट प्रलय में भी अक्षय रहता है। अत, इनका छत्र भंग नहीं होता। लोमश-मारकंडेय आदि चिरंजीवी मुनियों के मन को लुभानेवाला है; अर्थात् वे सदा इसका ध्यान करते हैं।

(४) 'चवँर जमुन अरु गंग तरंगा।'—गगा-यमुना चवँर डुरानेवाली हैं, इनकी तरंगें श्याम श्वेत दो चँवर हैं, जिनके दर्शन मात्र से दु ख और दारिद्र्य रूपी मक्खी और मशक आदि भंग (नाश) होते हैं।

(५) 'सेवहिं सुकृती साधु···'—गुणी लोग राजा को सेवन करके अभीष्ट पाते हैं, वैसे यहाँ बड़े-बड़े पुण्यात्मा लोग ही पुण्यरूप गुण से इन राजा के पास पहुँचते हैं और मनोरथ पाते हैं। सामादि वेद और पद्मादि पुराण भाटों की तरह इनके यश-प्रताप आदि कहा करते हैं।

को कहि सकइ प्रयागप्रभाऊ। कलुषपुंज - कुंजर मृगराऊ ॥१॥
अस तीरथपति देखि सुहावा। सुख-सागर रघुबर सुख पावा ॥२॥
कहि सिय लखनहि सखहि सुनाई। श्रीमुख तीरथराज - बड़ाई ॥३॥

करि प्रनाम देखत बन बागा। कहत महातम अति अनुरागा ॥४॥
येहि बिधि आइ बिलोकी बेनी। सुमिरत सकल सुमंगल देनी ॥५॥

अर्थ—पाप समूह रूपी हाथियों के लिये सिंह रूप प्रयाग का प्रभाव कौन कह सकता है ? ॥१॥ ऐसे (द्वादशांग पूर्ण) सुहावने तीर्थराज को देखकर सुख के समुद्र श्रीरामजी ने सुख पाया ॥२॥ और श्रीसीताजी श्रीलक्ष्मणजी और सखा से कहकर, अपने मुख से तीर्थराज की बड़ाई सुनाई ॥३॥ प्रणाम करके वन और बागों को देखते हुए और अत्यन्त अनुरागपूर्वक माहात्म्य कहते हुए ॥४॥ इस प्रकार आकर उन्होंने त्रिवेणी (गंगा, यमुना और सरस्वती के संगम स्थल) के दर्शन किये, जो स्मरणमात्र से सभी सुंदर मंगलों की देनेवाली हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'को कहि सकइ प्रयाग ···'—जब वेदादि कहकर समाप्त नहीं कर पाते, तो और कौन कह सकता है ? भारी-भारी पापों को प्रबल एवं भारी हाथियों के समान कहा और अकेले तीर्थराज को सिंह की तरह उनके नाश करने में समर्थ कहा। पहले—"सेन सकल ··कलुष अनेक दलन रनधीरा ॥" में सेना के द्वारा पापों का नाश होना कहा गया और यहाँ राजा का निज सामर्थ्य कहा है।

(२) 'सुखसागर रघुबर सुख पावा।'—सुखसागर को भी सुख देता है। अतएव परम रमणीक है। यथा—"परम रम्य आराम यह, जो रामहिं सुख देत।" (बा० दो० २२७)। आप सुख-सागर हैं, तभी सुख के समुद्र का अनुभव कर सकते हैं। पुन जो दुःखी होगा, उसे यहाँ कितना सुख मिलेगा, इसे कौन कह सकता है ?

मुदित नहाइ कीन्हि सिव-सेवा। पूजि जथाबिधि तीरथदेवा ॥६॥
तब प्रभु भरद्वाज पहिं आये। करत दंडवत मुनि उर लाये ॥७॥
मुनि-मन-मोद न कछु कहि जाई। ब्रह्मानंदरासि जनु पाई ॥८॥

दोहा—दीन्हि असीस मुनीस उर, अति अनंद अस जानि।
लोचनगोचर सुकृतफल, मनहुँ किये बिधि आनि ॥१०६॥

अर्थ—आनंदपूर्वक (त्रिवेणी में) स्नान करके उन्होंने शिवजी की पूजा की और विधिवत् तीर्थ-देवताओं की पूजा की ॥६॥ तब प्रभु श्रीरामजी भरद्वाज मुनि के पास आये और दंडवत् करते हुए उनको मुनि ने हृदय से लगा लिया ॥७॥ मुनि के मन में जो आनंद हुआ, वह कुछ कहा नहीं जाता, मानों वे ब्रह्मानंद की राशि (ढेरी) ही पा गये ॥८॥ मुनीश्वर ने उनको आशिष दी, उनके हृदय में अत्यन्त आनंद हुआ, यह जानकर कि विधाता ने हमारे पुण्यों का फल लाकर नेत्रों का विषय कर दिया है ॥१०६॥

विशेष—(१) 'मुदित नहाइ···पूजि जथाबिधि ···'—वेणीमाधव आदि तीर्थ देवता हैं। यथा—"प्रयाग माधव सोम भारद्वाज च वासुकीम्। वंदे अक्षयवट शेष प्रयागं तीर्थनायकम् ॥" भरद्वाजजी बृहस्पति के पुत्र, द्रोणाचार्य के पिता और वाल्मीकिजी के शिष्य थे।

(६) 'ब्रह्मानंदराशि जनु पाई'—भरद्वाज ब्रह्मानंद के भोक्ता थे। किंतु आज इनके दर्शनानंद से आगे वह एक दाना मात्र सिद्ध हुआ और यहाँ उसका सैकड़ों गुणा आनन्द पा रहे हैं। यथा—"अवलोकि रामहि अनुभवत मनु ब्रह्म सुख सौगुन दिये॥" (जानकी-मंगल ४५)। यह श्रीजनकजी के अनुभव करने का प्रसंग है। श्रीरामजी माधुर्य में राजकुमार हैं; इस दृष्टि को निर्वाह करते हुए 'जनु' कहा है।

(७) 'दीन्हि असीस मुनीस…'—श्रीरामजी ने राजकुमार की हैसियत से दंडवत् की, तब उन्होंने मुनीश्वर की हैसियत से आशिष दी। 'सुकृत फल'; यथा—"सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसन पावा॥" (दो० २०६); 'बिधि आनि'—क्योंकि सुकृत के फल ब्रह्मा ही देते हैं। यथा—"कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ-असुभ सकल फल दाता॥" (दो० २८१)।

कुसलप्रस्न करि आसन दीन्हे। पूजि प्रेम परिपूरन कीन्हे॥१॥
कंद मूल फल अंकुर नीके। दिये आनि मुनि मनहुँ अमी के॥२॥
सीय-लखन-जन-सहित सुहाये। अति रुचि राम मूलफल खाये॥३॥
भये बिगतश्रम राम सुखारे। भरद्वाज मृदुबचन उचारे॥४॥

अर्थ—कुशल-क्षेम पूछ कर मुनि ने बैठने को आसन दिया और प्रेम-पूर्वक पूजा करके श्रीरामजी को सन्तुष्ट किया॥१॥ अच्छे-अच्छे कंद, मूल, फल और अंकुर मुनि ने लाकर दिये, जो ऐसे स्वादिष्ट थे; मानों अमृत के हों॥२॥ श्रीसीताजी, श्रीलक्ष्मणजी और अपने भक्त निषादराज के साथ श्रीरामजी ने बड़ी रुचि से सुंदर मूल फल खाये॥३॥ थकावट निवृत्त होने से श्रीरामजी सुखी हुए; तब भरद्वाज मुनि ने कोमल वचन कहे॥४॥

विशेष—(१) 'कुसलप्रस्न करि…'—स्वयं लाकर आसन दिया और कंद आदि भी लाकर दिये। यह अति आदर है। 'पूजि' अर्थात् अर्घ्य आदि से स्वागत किया, यथा—"उपानयत धर्मात्मा गामर्घ्यमुदकं ततः॥ · राममागतमभ्यर्च्य स्वागतेनागतं मुनिः॥" ((वाल्मी० २।५४।१७–१८); 'अमीके' अर्थात् कंदादि सब मीठे, स्वादिष्ट और गुणकारी थे। 'प्रेम परिपूरन'—पूजा में द्रव्य की अपेक्षा प्रेम ही मुख्य है। उसीसे श्रीरामजी संतुष्ट हुए। यथा—"शबर्या पूजितः सम्यग्रामो दशरथात्मजः॥" (वाल्मी० १।१।५८); अर्थात् शबरी के प्रेम से ही श्रीरामजी सम्यक् प्रकार से पूजित हुए।

(२) 'भये बिगत श्रम…'—आप भक्तों की सेवा ग्रहण करने के लिये श्रम, क्षुधा आदि भी ग्रहण करते हैं और प्रेम सहित दिये हुए पदार्थ से सुखी होते हैं। वास्तव में तो ये 'राम' हैं, योगी लोग इनमें रमण-करते हैं, तो इन्हें श्रम आदि कहाँ ?

आजु सुफल तप तीरथ त्यागू। आजु सुफल जप
सकल सकल-सुभ-साधन-साजू। राम तुम्हहिं अवल
लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरे ‥स आस
अब करि कृपा देहु बर येहू। निज-

करम बचन मन छाँड़ि छल, जब लगि जन न तुम्हार।
तब लगि सुख सपनेहुँ नहीं, किये कोटि उपचार ॥१०७॥

अर्थ—आज मेरे तप, तीर्थ और त्याग सफल हुए और आज मेरे जप, योग, वैराग्य सुफल ॥५॥ हे राम! आज आपके देखते ही मेरे समस्त शुभ साधनों की सामग्री सुफल हुई ॥६॥ आपके दर्शनों से मेरी सब आशाएँ पूरी हुईं। लाभ की परा काष्ठा और सुख की सीमा (आपके दर्शनों के अतिरिक्त) और कुछ नहीं है ॥७॥ अब कृपा करके यह वर दीजिये कि आपके चरण-कमलों में मेरा स्वाभाविक प्रेम बना रहे ॥८॥ जब तक मन, वचन, कर्म से छल छोड़कर मनुष्य आपका दास नहीं होता, तब तक करोड़ों उपायों के करने से उसे स्वप्न में भी सुख नहीं होता ॥१०७॥

विशेष—(१) 'आजु सुफल तप···'—अर्थात् इन सबका फल श्रीराम-दर्शन ही है। यथा—"सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसन पावा॥" (दो० २०६)।

(२) 'लाभ अवधि सुख अवधि ··'—भक्तों का यही लाभ, योगी-ज्ञानी लोगों का सुख और कर्मकांडियों की इसीमें सब आशा पूर्ति है। 'सहज सनेहु' अर्थात् मन, वचन, कर्म से स्वाभाविक प्रेम पूर्वक लगा रहना। यथा—"राम कबहुँ प्रिय लागिहौ जैसे नीर मीन को।" ···(वि० २६९)।

(३) 'करम बचन मन छाँड़ि छल···'—भजन करते हुए उससे दूसरा फल चाहना छल है। यथा—"स्वारथ छल फल चारि बिहाई।" (दो० ३००)। अत, अन्य कामना न करके भक्ति करते हुए भक्ति ही की कामना करनी चाहिये; यथा—"उमा राम-सुभाव जेहि जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥" (सुं० दो० ३३)।

सुनि मुनिबचन राम सकुचाने। भाव भगति आनंद अघाने॥१॥
तब रघुबर मुनि-सुजस सुहावा। कोटि भाँति कहि सबहिं सुनावा॥२॥
सो बड़ सो सब-गुन-गन-गेहू। जेहि मुनीस तुम्ह आदर देहू॥३॥
मुनि रघुबीर परस्पर नवहीं। बचन अगोचर सुख अनुभवहीं॥४॥

अर्थ—मुनि के वचन सुनकर श्रीरामजी सकुच गये। उनके भाव और भक्ति को देखकर आनंद से अघा गये ॥१॥ तब रघुकुल में श्रेष्ठ श्रीरामजी ने मुनि का सुन्दर यश अनेक तरह से कहकर सबको सुनाया ॥२॥ (फिर मुनि से कहा) हे मुनीश्वर! वही बड़ा है और वही सब गुण-समूह का घर (स्थान) है जिसे आप आदर दें ॥३॥ मुनि और रघुवीर आपस में एक-दूसरे से नम्र हो रहे हैं। और उस सुख का अनुभव कर रहे हैं जो वाणी से कहने में नहीं आ सकता ॥४॥

विशेष—(१) 'सुनि मुनिबचन राम ···'—मुनि वचन से श्रीरामजी की बड़ाई करते हैं। इससे तो आप सकुच गये। यह शिष्टता है। पर मुनि की भाव-भक्ति से हर्षित हुए। फिर अपना ऐश्वर्य छिपाने के लिये मुनि का सुयश कहने लगे कि जिससे लोग समझें कि दोनों परस्पर बड़ाई कर रहे हैं। पुनः भक्तों का सुयश कहना-सुनना आपका स्वभाव भी है।

(२) 'सो बड़ सो सब गुन-गन-गेहू।''''''—आप मुनीश्वर हैं, बड़े हैं। अतः, आप जिसे आदर दें, वह उसीसे बड़ा एवं गुणी हो जाता है, ऐसे ही आपने मुझे आदर देकर योग्य बना दिया। इस तरह माधुर्य के भाव से ऐश्वर्य को ढक दिया।

(३) 'मुनि रघुबीर परसपर नवहीं।''''''' में अन्योन्य अलंकार है।

'वचन अगोचर सुख अनुभवहीं'—यह सुख मन बुद्धि से परे है। यथा—"सुनु सिवा सो सुख वचन मन ते भिन्न जान जो पावई।" (उ० दो० ४)। इसीसे वचन से कहा नहीं जा सकता। दोनों एक दूसरे के भाव में निमग्न हो जाते हैं। मुनि स्वामी का सुख और श्रीरामजी सेवक का सुख लेते हैं।

यह सुधि पाइ प्रयागनिवासी। बटु तापस मुनि सिद्ध उदासी ॥५॥
भरद्वाज-आश्रम सब आये। देखन दसरथसुवन सुहाये ॥६॥
राम प्रनाम कीन्ह सब काहू। मुदित भये लहि लोचन लाहू ॥७॥
देहि असीस परम सुख पाई। फिरे सराहत सुंदरताई ॥८॥

दोहा—राम कीन्ह बिश्राम निसि, प्रात प्रयाग नहाइ।
चले सहित सिय लखन जन, मुदित मुनिहि सिर नाइ ॥१०८॥

अर्थ—यह समाचार पाकर (कि मुनि के यहाँ चक्रवर्त्ति कुमार आये हैं) प्रयाग के रहनेवाले, ब्रह्मचारी, तपस्वी, मुनि, सिद्ध और उदासी सब भरद्वाज मुनि के आश्रम पर श्रीदशरथजी के सुन्दर पुत्रों को देखने आये ॥५-६॥ श्रीरामजी ने सब किसी को प्रणाम किया, सब नेत्रों का लाभ (अपूर्व दर्शन) पाकर आनंदित हुए ॥७॥ परम सुख पाकर आशिष देते हैं और उनकी सुंदरता सराहते हुए लौट गये ॥८॥ श्रीरामजी ने रात को (वहीं पर) विश्राम किया और सवेरे प्रयाग स्नान करके श्रीसीताजी, श्रीलक्ष्मणजी और अपने भक्त गुह सहित (भरद्वाज-आश्रम को) चले और (वहाँ) मुनि को प्रणाम करके आनंदित हुए ॥१०८॥

विशेष—(१) यहाँ चारों आश्रम के लोग आये ; 'प्रयाग निवासी'—गृहस्थ, 'बटु'—ब्रह्मचारी 'तापस'—वानप्रस्थ और 'उदासी' से संन्यास आश्रम जनाये हैं। 'राम प्रनाम कीन्ह'''—क्योंकि सबमें विप्र, बटु, सन्यासी आदि सब क्षत्रियों के पूज्य हैं। अतः, श्रीरामजी ने समष्टि में सभी को प्रणाम किया है। 'चले सहित सिय लखन''' यहाँ श्रीरामजी तैयार होकर अपने आसन से मुनि के पास विदा होकर जाने के लिये गये। मुनि से मार्ग पूछकर फिर प्रणाम करके वन को चलना आगे कहा जायगा। वाल्मी० २।५४। २७-३४ में लिखा है कि रात की वार्ता में ही मुनि से चित्रकूट निवास का निश्चय हो गया था। इसलिये प्रातःकाल मुनि के पास से वहाँ का मार्ग जानना और आज्ञा लेकर चलना आवश्यक था।

साथ लागि मुनि-सिष्य बोलाये। सुनि मन मुदित पचासक आये ॥३॥
सबन्हि राम पर प्रेम अपारा। सकल कहहिं मग दीख हमारा ॥४॥
मुनि बटु चारि संग तब दीन्हे। जिन्ह बहु जनम सुकृत सब कीन्हे ॥५॥
करि प्रनाम रिषि आयसु पाई। प्रमुदित हृदय चले रघुराई ॥६॥

शब्दार्थ—लागि = के लिये। पचासक = पचास के लगभग (ऐसा मुहावरा है)।

अर्थ—फिर श्रीरामजी ने प्रेमसहित मुनि से कहा कि हे नाथ! कहिये, हम किस मार्ग से जायँ ॥१॥ मुनि मन में हँसकर श्रीरामजी से कहते हैं कि आपको सभी मार्ग सुगम हैं, (चाहे जिससे जायँ) ॥२॥ साथ के लिये मुनि ने शिष्यों को बुलाया, (श्रीरामजी के साथ जाना) सुनकर प्रसन्न मन से पचास के लगभग आये ॥३॥ सबों का श्रीरामजी पर अत्यन्त प्रेम है, सभी कहते हैं कि मार्ग हमारा देखा हुआ है ॥४॥ तब मुनि ने चार ब्रह्मचारी साथ कर दिये, जिन्होंने अनेकों जन्मों में सब पुण्य किये थे ॥५॥ प्रणाम करके ऋषि की आज्ञा पाकर श्रीरघुनाथजी प्रसन्न मन से चले ॥६॥

विशेष—(१) 'राम सप्रेम कहेउ ·····'—भक्त पर प्रेम है, इससे उनसे मार्ग पूछते हैं कि वे समझें कि श्रीरामजी हमारे आज्ञाकारी हैं और इससे यह भी जनाया कि आप भक्तों के बताये हुए मार्ग पर चलते हैं। ऊपर लिखा भी गया कि मुनि से चित्रकूट जाने की सम्मति हुई थी, इससे वे वहाँ का मार्ग पूछते हैं। 'हम' शब्द बहुवचन है, क्योंकि आप चार व्यक्ति हैं।

(२) 'सुगम सकल मग······'—मुनि हँसे कि हमसे ऐश्वर्य छिपाते हैं और प्राकृत मनुष्यों की तरह पूछते हैं। इसी तरह वाल्मीकिजी और अगस्त्यजी के यहाँ भी श्रीरामजी ने ऐश्वर्य छिपाया है और उन लोगों ने भी हँसकर प्रकट कह भी दिया है। ऐसे ही श्रीभरद्वाजजी कहते हैं, आपके लिये सभी मार्ग सुगम हैं; अर्थात् दसों दिशाएँ सुगम हैं। आपको किसी के बतलाये हुए मार्ग की आवश्यकता नहीं, आप सब जगह वर्त्तमान हैं। यथा—"जहँ न होहु तहँ देहु कहि, तुम्हहिं देखावउँ ठाउँ॥" (दो० १२७)। माधुर्य का यह भाव है कि सभी आपकी प्रजा हैं, जिधर से जाओगे, सभी सब सुपास करेंगे। फिर व्यावहारिक दृष्टि से मार्ग दिखाने के लिये शिष्यों को बुलाया। 'मुनि बटु चारि ·····'—चार विद्यार्थियों को साथ दिया, सम्मान के लिये चार भेजे, पुनः श्रीरामजी भी चार व्यक्ति हैं और घोर जंगल में उन्हें लौटना पड़ेगा, इसलिये चार दिये, जिससे डरें नहीं। पुनः इन चारों ने बहुत सुकृत भी किये हैं। अतएव इन्हें कृतार्थ कराना है। 'चले रघुराई'—चलने के सम्बन्ध से यहाँ भी 'रघुराई' कहा है। इस मानस में भरद्वाजजी का कर्म घाट है, इससे भी इन्होंने सुकृतियों को ही साथ भेजा।

"सुरसरि उतरि निवास प्रयागा" प्रकरण समाप्त।

"वाल्मीकि-प्रभु-मिलन" प्रकरण

ग्राम निकट जब निकसहिं जाई। देखहिं दरस नारि-नर धाई ॥७॥
होहिं सनाथ जनमफल पाई। फिरहिं दुखित मन संग पठाई ॥८॥

दोहा—बिदा किये बटु बिनय करि, फिरे पाइ मनकाम।
उतरि नहाये जमुनजल, जो सरीरसम स्याम ॥१०९॥

☞ यहाँ से अब वाल्मीकि-आश्रम को जाते हैं, मार्ग-वासियों को सुख देते हुए जा रहे हैं।

अर्थ—जब किसी गाँव के समीप जा निकलते हैं तब वहाँ के स्त्री-पुरुष दौड़कर इनके दर्श (दर्शनीय रूप) को देखते हैं ॥७॥ जन्म लेने का फल पाकर सनाथ हो जाते हैं और अपने मन को उनके साथ भेजकर दुःखित होकर लौटते हैं ॥८॥ (साथ आये हुए चारों) ब्रह्मचारियों को विनय करके विदा किया। वे अपने मनोरथ पाकर के लौटे, तब उतरकर यमुनाजी के जल में स्नान किया, वह जल शरीर के समान श्याम था ॥१०९॥

विशेष—'देखहिं दरस'—'दरस' का अर्थ दर्शनीय रूप का है। यथा—"भरत दरस देखत खुलेउ···" (दो० २२३), 'फिरहिं दुखित'—क्योंकि मन से बेहाथ हो गये। जिसके संयोग में जैसा अधिक सुख होता है उसके वियोग में वैसा ही दुःख भी होता है। यथा—"जेहि-जेहि मग सिय राम लखन गये, तहँ-तहँ नर नारि बिनु छर छरिगे।" (गी० अ० ३२); 'फिरे पाइ मन काम'—इनकी मनोभिलाषा थी कि कुछ काल इन चरणों के दर्शन हों, यह कामना पूरी हुई, लौटना था ही, अतः, फिरे। 'विनय' अर्थात् आप लोगों को बड़ा कष्ट हो रहा है। अब लौटें, हमें अब ठीक राह मिल गई, अतः, चले जायँगे। आप लोग भी गुरु सेवा में प्राप्त हों। 'उतरि नहाये जमुन जल···' में प्रतीप अलंकार का पहला भेद है।

सुनत तीरवासी नर-नारी। धाये निज-निज काज बिसारी ॥१॥
लखन-राम-सिय-सुंदरताई। देखि करहिं निज भाग्य बड़ाई ॥२॥
अति लालसा सबहि मन माहीं। नाउँ गाउँ बूझत सकुचाहीं ॥३॥
जे तिन्ह महँ बयबिरिध सयाने। तिन्ह करि जुगुति राम पहिचाने ॥४॥

अर्थ—यमुना के किनारे रहनेवाले स्त्री-पुरुष सुनकर (कि अत्यंत सुन्दर दो पुरुष और एक स्त्री घाट पर आये हैं) अपने-अपने कार्य भूलकर दौड़े ॥१॥ श्रीलक्ष्मणजी, श्रीरामजी और श्रीसीताजी की सुन्दरता देखकर अपने भाग्य की बड़ाई करते हैं ॥२॥ सबके मन में (इनके नाम और गाँव जानने की) अत्यन्त लालसा है, पर नाम-ग्राम पूछने में सकुचते हैं ॥३॥ इनमें जो वृद्धावस्था के और सयाने थे, उन्होंने युक्ति करके श्रीरामजी को पहचान लिया ॥४॥

विशेष—इनका तेज-प्रताप देखकर नाम—ग्राम पूछने में सकुचते हैं। अतएव युक्ति करके जाना, निषादराज से इशारे से पूछकर जान लिया!

सकल कथा तिन्ह सबहि सुनाई। बनहिं चले पितुआयसु पाई ॥५॥
सुनि सबिषाद सकल पछिताहीं। रानी राय कीन्ह भल नाहीं ॥६॥
तेहि अवसर एक तापस आवा। तेजपुंज लघुबयस सुहावा ॥७॥
कबि-अलखित गति बेष बिरागी। मन-क्रम-बचन राम-अनुरागी ॥८॥

दोहा—सजल नयन तनु पुलकि निज, इष्टदेव पहिचानि।
परेउ दंड जिमि धरनितल, दसा न जाइ बखानि ॥११०॥

अर्थ—उन्होंने सारी (वन आने की) कथा सबको सुनाई कि ये पिता की आज्ञा पाकर वन को चले हैं ॥५॥ यह सुनकर सब विषाद-सहित पछता रहे हैं। (और कहते हैं कि) रानी और राजा ने अच्छा नहीं किया ॥६॥ उसी समय एक तपस्वी आया जो अत्यंत तेजस्वी, छोटी अवस्था का और सुंदर था ॥७॥ कवि के लिये उसकी गति अलखित है; अर्थात् कवि उसका ठीक-ठिकाना नहीं जानते। उसका विरक्तों का वेष है और वह मन, वचन कर्म से श्रीरामजी का अनुरागी है ॥८॥ अपने इष्ट-देव को पहचानकर उसके नेत्रों में जल भर आया है, शरीर में पुलकावली है, वह दण्डाकार भूमि में पड़ गया। उसकी दशा वर्णन नहीं की जा सकती ॥११०॥

विशेष—'सुनि सविषाद सकल ···'—इनकी सुंदरता और सुकुमारता देखकर दुःखित होते हैं। और अयोग्य कार्य पर रानी-राजा को दोष देते हैं, रानी ने ही वर माँगा है, इससे उसे प्रथम कहा। राजा भी रानी के वश हो गये थे, इससे इन्हें भी दोष देते हैं।

राम सप्रेम पुलकि उर लावा। परम रंक जनु पारस पावा ॥१॥
मनहुँ प्रेम परमारथ दोऊ। मिलत धरे तनु कह सब कोऊ ॥२॥
बहुरि लखन पायन्ह सोइ लागा। लीन्ह उठाइ उमगि अनुरागा ॥३॥
पुनि सिय-चरन-धूरि धरि सीसा। जननि जानि सिसु दीन्ह असीसा ॥४॥
कीन्ह निषाद दंडवत तेही। मिलेउ मुदित लखि रामसनेही ॥५॥
पियत नयनपुट रूप-पियूखा। मुदित सुअसन पाइ जिमि भूखा ॥६॥

अर्थ—श्रीरामजी ने प्रेम-सहित पुलकित होकर उसे हृदय से लगा लिया; मानों महादरिद्र ने पारस पाया हो ॥१॥ (इनका मिलना देखकर देखनेवाले) सब कोई कहते हैं कि ऐसा जान पड़ता है। मानों प्रेम और परमार्थ शरीर धारण किये हुए परस्पर मिल रहे हों ॥२॥ फिर वह श्रीलक्ष्मणजी के चरणों में जा लगा; अर्थात् चरणों पर गिर पड़ा, उनको प्रणाम किया, अनुराग से उमँगकर श्रीलक्ष्मणजी ने उसे उठा लिया ॥३॥ फिर उसने श्रीसीताजी के चरणों की रज को शिर पर रक्खा। माता ने बालक जानकर उसे आशिष दी ॥४॥ निषाद-राज ने उसको दंडवत् (प्रणाम) की। श्रीरामजी का स्नेही जानकर वह इससे प्रसन्न मन से मिला ॥५॥ वह (तपस्वी) नेत्र-रूपी दोनों के द्वारा श्रीरामजी का रूपामृत पान कर रहा है। ऐसा आनंदित है कि जैसे भूखा सुंदर भोजन पाने से ॥६॥

विशेष—(१) तापस प्रसंग—यह प्रसंग यहाँ के चरित-प्रसंग से पृथक्-सा है, इसीसे इसपर लोगों ने बहुत तरह के विचार प्रकट किये हैं। प्रसंगानुसार यहाँ भी कुछ कहा जाता है। इसके विषय में कवि स्वयं कहते हैं—'कवि अलखित गति' अर्थात् हम नहीं जान पाते, तो टीकाकार लोग कैसे निश्चय कह सकते हैं। घटना से अनुमान होता है कि जिस समय ग्राम-नर-नारी विषाद-सहित पछता रहे थे—

"रानी राय कीन्ह भल नाहीं" उसी समय यह तपस्वी आया, इसे देख वे सब चुप हो गये और तपस्वी का चरित प्रारंभ हुआ। ग्राम-नर-नारी मुग्ध होकर इसके मिलाप की प्रशंसा करने लगे—'मनहुँ प्रेम परमारथ दोऊ। मिलत धरे तनु' इन्होंने उसे शरीरधारी 'प्रेम' और श्रीरामजी को 'परमार्थ' कहा है। श्रीरामजी वास्तव में परमार्थ-रूप हैं। यथा—"राम ब्रह्म परमारथ रूपा।" (दो० ९२); वैसे ही वह भी प्रेम स्वरूप है। भगवान् तेजपुंज हैं, प्रेम का भगवान् से तादात्म्य सम्बन्ध है, अतः, तद्रूप होने से प्रेम भी तेजपुंज है। लघुवयस् के बच्चे की तरह प्रेम भगवान् को प्रिय है। कवि उसे ठीक-ठीक नहीं लख पाते। क्योंकि प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है, यथा—"अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्" (नारदभक्ति सू० ५१); 'वेष बिरागी' अर्थात् प्रेमनिरोधरूप ही है। यथा—"सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात्।" (नारदभक्तिसूत्र ७); 'मनक्रम बचन राम अनुरागी', यथा—"तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च" (नारद भ० सू० ९)। 'परम रंक जनु पारस पावा' अर्थात् तपस्वी दंडाकार भूमि में पड़ा, तब श्रीरामजी ने प्रेम-सहित उसे उठा लिया। जैसे कोई परम कंगाल पारस पा जाय और उसे उठाकर हृदय में लगावे और आनंदित होवे, इससे दिखाया कि भगवान् को प्रेम कितना दुर्लभ और प्रिय है, यथा—"रामहि केवल प्रेम पियारा।" (दो० १३६); दूसरी उत्प्रेक्षा—'मनहुँ प्रेम परमारथ···' से दिखाया कि प्रेमी को इष्ट श्रीरामजी ही परम प्राप्य हैं। आगे विशेष (४) भी देखिये।

(२) 'बहुरि लखन पायन्ह···'—श्रीलक्ष्मणजी ने हृदय से अनुराग-पूर्वक उसे उठा लिया, इस तरह अपना परम प्रियत्व जनाया। 'जननि जानि' यह दीप देहली है) उसने माता जानकर इनकी चरण-रज शिरोधार्य किया और माता ने उसे शिशु जानकर आशिष दी, इससे जनाया कि श्रीजानकीजी की कृपा से प्रेम होता है और बढ़ता भी है।

(३) 'कीन्ह निषाद दंडवत्···'—यद्यपि निषाद-जाति अस्पृश्य है, तो भी वह 'राम सनेही' देखकर प्रसन्न होकर मिला, क्योंकि प्रेमी भक्तों में आत्म दृष्टि से जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियादि भेद नहीं हैं; यथा—"नास्ति तेषु जाति-विद्या-रूप-कुल-धन-क्रियादि-भेदः।" (नारद भ० सू० ७२)।

(४) 'पियत नयन पुट रूप···'—वह बड़े चाव से श्रीरामजी की रूप माधुरी का अवलोकन कर रहा है। अमृत की तरह आस्वादन कर रहा है। उत्तम अन्न पेट भर भोजन करने से सभी को आनंद होता है। भूखा हो, तो उसके सुख का ठिकाना ही नहीं। प्रेमी इष्ट के रूप को उसी तरह देखता है, जैसे भूखा उत्तम भोजन को; यथा—"तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति॥" (नारद भ० सू० ५५); ('नयन पुट'—पान-मार्ग में पत्ते ही बहुत हैं। इसी से नेत्रों को दोने का रूपक कहा गया है।) प्रेमी श्रीभरतजी ने कहा भी है—"दरसन तृपिति न आजु लगि, प्रेम पियासे नैन।" (दो० २६०)।

इस प्रेम-मूर्त्ति तपस्वी का जाना नहीं कहा गया; क्योंकि प्रेम-मूर्त्ति का प्रभु से वियोग कैसा! प्रेम और भगवान् से तो भेद ही नहीं है, जैसे कि रस खान ने कहा है—"प्रेम हरी को रूप है, वे हरि प्रेम स्वरूप। एक होइ दो में लसे, ज्यों सूरज में धूप॥" तब-इसका जाना कैसे कहा जाय? पुनः शिशु माता-पिता से पृथक कैसे हो?—"जननि जानि सिसु दीन्ह असीसा।" कहा ही है। इस तरह इसी ग्रंथ में प्रेम का मूर्त्तिमान स्वरूप दिखाया गया है। यही कारण है कि इसके दर्शन पाकर निषाद यहीं से लौट जायँगे; क्योंकि प्रेम की पूर्णता होने पर वियोग का अनुभव नहीं होता। अन्यथा वे तो शपथ कर चुके थे कि भगवान् के लिये कुटी बनाकर ही लौटूँगा।

वाह्य दृष्टि से वह तपस्वी साधु था। अचानक आ गया, उसका चरित लिखा गया। वह प्रेमी था, रूप माधुरी में मुग्ध हो गया, फिर कवि औरों की बातें लिखने लग गये। वह निमग्न था कि श्रीरामजी ने अपना राह ली। वे साधु भी रमते राम थे, पीछे अपनी राह से गये होंगे। ग्रंथकार तो श्रीरामजी का चरित लिख रहे हैं। आनुषंगिक बातें प्रयोजन भर ही लिखी जाती हैं। विचरनेवाले साधु से विशेष जानकारी न की गई और न कवि ने लिखा।

ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठये बन बालक ऐसे ॥७॥
राम - लखन - सिय - रूप निहारी। होहिं सनेह - बिकल नरनारी ॥८॥

दोहा—तब रघुबीर अनेक बिधि, सखहि सिखावन दीन्ह।
रामरजायसु सीस धरि, भवन गवन तेइ कीन्ह ॥१११॥

अर्थ—हे सखि! कहो तो वे पिता-माता कैसे हैं कि जिन्होंने ऐसे (सुन्दर सुकुमार) बालकों को वन भेज दिया ॥७॥ श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी, श्रीसीताजी के रूप को देखकर वे स्त्री-पुरुष अत्यन्त स्नेह के कारण व्याकुल हो जाते हैं ॥८॥ तब रघुवीर श्रीरामजी ने बहुत तरह से सखा गुह को शिक्षा दी। श्रीरामजी की आज्ञा को शिरोधार्य कर वह घर को चला ॥१११॥

विशेष—(१) 'ते पितु मातु कहहु ···'—पूर्व इन लोगों का प्रसंग—'रानी राय कीन्ह भल नाहीं।' पर छोड़ा था। बीच में तपस्वीजी आ गये, उनके तेज और प्रेम के आगे सब ठिठक गये थे। अब सावधान होकर पूर्व प्रसंग फिर उठाते हैं और वे ही विषाद के वचन कहते हैं। (यहाँ की ये दो अर्द्धालियाँ पूर्व दो० ८८ में भी आई हैं)। इसमें असङ्गति अलंकार है।

(२) 'तब रघुबीर अनेक बिधि ···'—गुह साथ नहीं छोड़ना चाहता था। अतः, अनेक तरह से समझाना पड़ा। 'रघुबीर' अर्थात् अपनी वीरता भी कही कि हम स्वयं अपनी रक्षा में समर्थ हैं, दूसरे की आवश्यकता नहीं है। 'रामरजायसु'—श्रीरामजी की आज्ञा अमिट है; यथा—"मेटि जाइ नहिं राम रजाई।" (दो० ६८); "राम रजाइ सीस सबही के।" (दो० २५३); 'राम' अर्थात् सबमें रमण करते हैं। अतः, यह भी जानते हैं कि श्रीसुमन्त्रजी अभी शृंगवेरपुर में ही पड़े हैं। बिना गुह के लौटे वे अवध न जा सकेंगे; यथा—"गुहेन सार्धं तत्रैव स्थितोऽस्मि दिवसान्बहून्। आशया यदि मां रामः पुनः शब्दापयेदिति ॥" (वाल्मी० २।५९।३), अर्थात् श्रीसुमन्त्रजी कई दिन शृंगवेरपुर में ही ठहरे थे कि सम्भवतः श्रीरामजी मुझे बुलावेंगे, यह आशा लगी थी। गुह के लौटने पर दूर तक चले जाने की बात जानकर तब सुमंत्रजी लौटेंगे।

पुनि सिय राम लखन कर जोरी। जमुनहि कीन्ह प्रनाम बहोरी ॥१॥
चले ससीय मुदित दोउ भाई। रबितनुजा कइ करत बड़ाई ॥२॥
पथिक अनेक मिलहिं मग जाता। कहहिं सप्रेम देखि दोउ भ्राता ॥३॥
राजलखन सब अंग तुम्हारे। देखि सोच अति हृदय हमारे ॥४॥

अर्थ—फिर श्रीसीताजी, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी ने हाथ जोड़कर यमुनाजी को प्रणाम किया ॥१॥ सूर्य की कन्या यमुनाजी की बड़ाई करते हुए श्रीसीताजी के साथ दोनों भाई प्रसन्नता-पूर्वक चले ॥२॥ मार्ग में जाते हुए अनेकों पथिक (बटोही) मिलते हैं। वे दोनों भाइयों को प्रेम-सहित देखकर कहते हैं ॥३॥ कि तुम्हारे सब अंगों में राजा के लक्षण देखकर हमारे हृदय में अत्यन्त शोच होता है ॥४॥

विशेष—(१) 'पुनि सिय राम लखन'''—'पुनि' अर्थात् गुह को विदा करने पर, 'बहोरी'—अभी स्नान करने पर एक बार प्रणाम कर चुके थे। यहाँ पर तापस-भेंट और गुह-विदाई आदि प्रसंग हुए। अब चलते समय फिर प्रणाम किया। 'रवितनुजा'—बड़ाई करने में सूर्य-सम्बन्धी नाम दिया; अर्थात् यमुनाजी अपने कुल की पुरुषिनि हैं। इनकी बड़ाई करनी ही चाहिये। पुनः सूर्य के सम्बन्ध से इनका पावनत्व आदि महत्त्व भी सूचित किया।

(२) 'राजलखन सब अंग तुम्हारे'—सामुद्रिक शास्त्रानुसार सब राज्य-लक्षण श्रीरामजी में हैं। यथा—"यानि रामस्य चिह्नानि लक्ष्मणस्य च यानि वै।'''" से "षड्उन्नतो नवतनुस्त्रिभिर्व्याप्नोति राघवः॥" वाल्मी० (५।३५।८–२०); तक यह प्रसंग वाल्मीकीय रामायण में ही देखने योग्य है। विस्तारभय से नहीं लिखा।

मारग चलहु पयादेहिं पायें। ज्योतिष झूठ हमारेहि भायें ॥५॥
अगम पंथ गिरि कानन भारी। तेहि महँ साथ नारि सुकुमारी ॥६॥
करि केहरि बन जाइ न जोई। हम सँग चलहिं जो आयसु होई ॥७॥
जाब जहाँ लगि तहँ पहुँचाई। फिरब बहोरि तुम्हहि सिर नाई ॥८॥

दोहा—येहि बिधि पूछहिं प्रेम बस, पुलकगात जल नयन।
कृपासिंधु फेरहिं तिन्हहिं, कहि बिनीत मृदु बयन ॥११२॥

अर्थ—(कि इन लक्षणों के होते हुए भी) आप मार्ग में पैदल चल रहे हैं। (इससे तो) हमारे समझ में ज्योतिष शास्त्र झूठा है ॥५॥ एक तो मार्ग दुर्गम, फिर उसमें भारी पहाड़ और भारी वन हैं, उसमें भी साथ में सुकुमारी स्त्री है ॥६॥ वन में हाथी और सिंह हैं। इससे वह देखा नहीं जाता। अर्थात् डर लगता है, यदि आज्ञा हो तो हम साथ चलें ॥७॥ जहाँ तक आप जायँगे। वहाँ तक पहुँचाकर फिर हम आपको प्रणाम करके लौट आवेंगे ॥८॥ इस प्रकार प्रेम के वश होकर वे पूछते हैं। उनके शरीर पुलकित हैं और आँखों में जल भरे हैं। कृपा के सागर श्रीरामजी नम्र-कोमल वचन कह-कहकर उन्हें लौटाते हैं ॥११२॥

विशेष—(१) 'ज्योतिष झूठ हमारेहि भाये'—जिसमें उपर्युक्त राज-लक्षण हों, उसे राजा होना और उसके साज-बाज चाहिये, किन्तु आप राजा न होकर पैदल चलते हैं। अतः, हमें ज्योतिष (सामुद्रिक) शास्त्र की सत्यता में ही संदेह होता है। 'सिर नाई' अर्थात् प्रणाम-मात्र करके फिर आवेंगे, कुछ पहुँचाई न लेंगे। अतः, साथ लेने में संकोच न करें।

(२) 'कृपा सिंधु फेरहिं······'—फेरने में कृपालुता ही कारण है कि हमें तो मार्ग में जाना ही है, फिर इन्हें व्यर्थ कष्ट क्यों दें। 'बिनीत मृदु बैन'—आप लोगों का अनुमान ठीक है। हमारे हाथी, घोड़े आदि सब हैं, हम पिता की आज्ञा के पालन करने के लिये श्रद्धा और स्वेच्छा से वन को विचरने जा रहे हैं; अतः, हमें कोई कष्ट नहीं है।

जे पुर गाँव बसहिं मग माहीं। तिन्हहि नाग-सुर-नगर सिहाहीं ॥१॥
केहि सुकृती केहि घरी बसाये। धन्य पुन्यमय परम सुहाये ॥२॥
जहँ जहँ रामचरन चलि जाहीं। तिन्ह समान अमरावति नाहीं ॥३॥
पुन्यपुंज मग-निकट-निवासी। तिन्हहिं सराहहिं सुरपुर-बासी ॥४॥
जे भरि नयन बिलोकहिं रामहिं। सीता-लखन-सहित घनस्यामहिं ॥५॥

अर्थ—जो पुरवे और गाँव मार्ग में बसे हैं, उन्हें (देखकर) नाग-लोक और देव-लोक सिहाते (ललचाकर प्रशंसा करते) हैं ॥१॥ कि किस पुण्यात्मा ने और किस शुभ मुहूर्त्त में इन्हें बसाया है, ये धन्य और पुण्यमय हैं, तथा परम शोभायमान हैं ॥२॥ (क्योंकि) जहाँ-जहाँ श्रीरामजी चरण से चले जाते हैं, उनके समान तो इन्द्रपुरी भी नहीं है ॥३॥ मार्ग के समीप बसनेवाले बड़े पुण्यात्मा हैं उन्हें देवलोक-वासी सराहते हैं ॥४॥ कि जो नेत्र भरकर श्रीसीताजी, श्रीलक्ष्मणजी और घनश्याम (सजल मेघ के समान श्याम) श्रीरामजी के दर्शन कर रहे हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'नाग-सुर-नगर······'—नागों का लोक भोग्य-पदार्थों से पूर्ण है, भोगावती उनकी पुरी का नाम ही है। 'पुर गाँव' के यथाक्रम से पुरवा को नाग-लोक और ग्राम को सुरलोक सिहाते हैं। कहाँ ये छोटे-छोटे पुरवा और गाँव और कहाँ नागलोक और सुरलोक की विभूति ? अतः, प्रशंसा की हद जना दी। नगर आदि के अभिमानी देवताओं की प्रशंसा करना जानना चाहिये; क्योंकि नगर आदि जड़ हैं।

(२) 'केहि सुकृती केहि घरी······'—यहाँ से प्रशंसा लिखते हैं। यदि घड़ी जानी होती तो हम लोगों के गुरु शुक्राचार्य और बृहस्पति हमारे नगरों को उसी घड़ी में बसाते। श्रीराम-चरण की प्राप्ति से पुण्यमय हैं। 'मग निकट निवासी' अर्थात् पुर-गाँव को नाग-सुर-नगर का सिहाना कहा; अब इनके निवासियों को उनके निवासियों का सराहना कहते हैं; अर्थात् बस्ती को बस्ती और निवासी को निवासी सराहते हैं।

जे सर सरित राम अवगाहहिं। तिन्हहि देव-सर-सरित सराहहिं ॥६॥
जेहि तरुतर प्रभु बैठहिं जाई। करहिं कलपतरु तासु बड़ाई ॥७॥
परसि राम-पद-पदुम-परागा। मानति भूमि भूरि निज भागा ॥८॥

दोहा—छाँह करहिं घन बिबुधगन, बरषहिं सुमन सिहाहिं।
देखत गिरि बन बिहग मृग, राम चले मग जाहिं ॥११३॥

अर्थ—जिन तालाबों और नदियों में श्रीरामजी स्नान करते हैं (वा, उनमें पैठकर चलते हैं), उन्हें देव-सर-सरितायें (देवलोक के तालाब और नदियाँ) सर हतो हैं ॥६॥ जिस वृक्ष के नीचे प्रभु जाकर बैठते हैं, कल्पवृक्ष उसकी बड़ाई करते हैं ॥७॥ श्रीरामजी के चरण-कमल की धूलि का स्पर्श करके पृथिवी अपना अतिशय भाग्य मानती है ॥८॥ मेघ छाया करते हैं, देवता-गण फूल बरसाते और सिहाते हैं, पर्वत, वन, पक्षी और वन्य पशुओं को देखते हुए श्रीरामजी मार्ग चले जाते हैं ॥११३॥

विशेष—(१) 'जे सर सरित राम''''''—'अवगाहहिं' में पैठकर चलना, स्नान करना और थाह लेते हुए पार होना, सभी आ जाते हैं, क्योंकि कहीं कुछ और कहीं कुछ होता है। देव-सर-सरितायें अभी तक देवताओं के सम्बन्ध से अपनेको अधिक मानती थीं, किंतु इन सर-सरिताओं में तो देवों के देव परम प्रभु का सम्पर्क हुआ; अतः, ये धन्य हैं। यहाँ देव-सरिता से भूमि की गंगा-यमुना आदि से तात्पर्य नहीं है, क्योंकि इनमें तो प्रभु ने स्नान भी किया है। अतः, देवलोक ही के सर आदि से तात्पर्य है, ऊपर से वैसा ही प्रसंग भी आ रहा है।

(२) 'जेहि तरुतर प्रभु''''''— उपर्युक्त रीति से देवलोक के वृक्ष (कल्पवृक्ष) यहाँ के जैसे-तैसे वृक्षों की भी बड़ाई करते हैं। 'जेहि'—वट-पीपर आदि उत्तम वृक्ष ही नहीं।

(३) 'परसि-राम-पद-पदुम ''''''—क्योंकि त्रिपाद विभूति के विचरनेवाले परम प्रभु हमारे ऊपर नंगे पैरों से विचर रहे हैं हमारा अहो भाग्य है!

(४) 'छाँह करहिं घन''''''—वैशाख का महीना आ गया है, धूप कड़ी है, इससे 'छाँह' करके सेवा करते हैं। सिहाते हैं कि हा! हमलोग पृथिवी के जीव न हुए। व्यर्थ ही योजन-भर ऊपर रहकर यज्ञ का धुआँ लेते हैं। 'देखत गिरि बन''''—सबको श्रीरामजी देखते हुए कृतार्थ करते जाते हैं, वा, जड़ों को श्रीरामजी देखते हैं और चेतन श्रीरामजी को देखते हैं, यथा—"जड़ चेतन जग जीव घनेरे। जिन्ह चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥ ते सब भये परम-पद जोगू।" (दो० २१६); इस तरह सबको कृतार्थ करते जाते हैं।

सीता - लखन - सहित रघुराई। गाँव निकट जब निकसहिं जाई ॥१॥
सुनि सब बाल - वृद्ध नर - नारी। चलहिं तुरत गृहकाज बिसारी ॥२॥
राम - लखन - सिय - रूप निहारी। पाइ नयनफल होहिं सुखारी ॥३॥
सजल बिलोचन पुलक सरीरा। सब भये मगन देखि दोउ बीरा ॥४॥

(उ० दो० ७४); "होइहहिं सुफल आज मम लोचन । निरखि बदन पंकज भव मोचन ॥" (आ० दो० ६)। आगे उनकी दशा कहते हैं—

(३) 'सजल बिलोचन पुलक···'—इस मग्नता का कारण वीर-रूप दर्शन है, यथा—"तुलसिदास बस होहिं तबहि जब द्रवै ईस जेहि हत्यो सीस दस ।" (वि० २०४), अर्थात् श्रीरामजी दर्शक के मोह-रूपी रावण के दशों इन्द्रिय-रूपी शिरों को छेदनकर मन को उनसे पृथक् करके अपने में निमग्न कर देते हैं।

बरनि न जाइ दसा तिन्ह केरी । लहि जनु रंकन्ह सुर-मनि-ढेरी ॥५॥
एकन्ह एक बोलि सिख देहीं । लोचन लाहु लेहु छन येहीं ॥६॥
रामहि देखि एक अनुरागे । चितवत चले जाहि सँग लागे ॥७॥
एक नयन मग छबि उर आनी । होहि सिथिल तनु मन बरबानी ॥८॥

दोहा—एक देखि बटछाँह भलि, डासि मृदुल तृन पात ।
कहहिं गँवाइय छिनक श्रम, गवनब अबहिं कि प्रात ॥११४॥

एक कलस भरि आनहिं पानी । अँचइय नाथ कहहिं मृदु बानी ॥१॥

अर्थ—उनकी दशा वर्णन नहीं की जाती, मानो दरिद्रों को चिंतामणि की ढेरी मिल गई हो ॥ ५ ॥ एक-एक को बुलाकर शिक्षा देते हैं कि इसी क्षण आकर नेत्रों का लाभ ले लो (अन्यथा इनके निकल जाने से पछताना पड़ेगा) ॥६॥ एक कोई श्रीरामजी को देखकर ऐसे अनुरक्त हो गये हैं कि उनको देखते हुए साथ लगे चले जा रहे हैं ॥७॥ एक कोई नेत्रों के मार्ग से उनकी छवि को हृदय में बसाकर तन मन और श्रेष्ठ वाणी से शिथिल हो जाते हैं ॥८॥ कोई बरगद की अच्छी छाया देख कोमल तृण और पत्ते बिछाकर कहते हैं कि एक क्षण यहाँ थकावट दूर कर लीजिये, फिर चाहे अभी और चाहे सबेरे चले जाइयेगा ॥११४॥ एक कोई घड़े में जल भर लाते हैं और कोमल वाणी से कहते हैं कि हे नाथ ! आचमन कर लीजिये; अर्थात् हाथ-मुख धो लीजिये ॥१॥

विशेष—(१) 'बरनि न जाइ दसा तिन्ह···'—प्रेमानंद की दशा ऐसी ही होती है, यथा—"बरनउँ किमि तिन्ह की दसहि, निगम-अगम प्रेम-रसहि ।" (गी० बा० १०); "कहि न जाइ सो दसा भवानी ।··· को मैं कहाँ चलेउँ नहि बूझा ।" (सा० दो ३); फिर विषयानन्द की उत्कृष्ट उत्प्रेक्षा से कुछ लक्ष्य कराते हैं—'लहि जनु रंकन्ह···'—एक चिंतामणि इन्द्र के पास है जिससे वह सम्पूर्ण विषयानंद से पूर्ण रहता है, यथा—"भोगेन मघवानिव" (वाल्मी० मू०); वह देवताओं का राजा है। फिर जिस दरिद्र को चिंतामणि के ढेर-के-ढेर अनायास प्राप्त हो जायँ, उसके आनंद का क्या ठिकाना ?

(२) श्रीरामजी को देखकर कोई पराभक्ति को प्राप्त होकर अनुराग-पूर्वक पीछे लग जाते हैं, कोई प्रेमाभक्ति से तन, मन और वाणी के द्वारा शिथिल हो जाते हैं और कोई नवधा-भक्ति की युक्ति से छाँह में पल्लवआदि बिछाकर बैठने की प्रार्थना करते और जल लाकर आचमन कराते हैं। इन तीनों पर क्रमशः वशीकरण, मोहन और आकर्षण पड़ना भी कहा जाता है।

सुनि प्रिय वचन प्रीति अति देखी। राम कृपाल सुसील बिसेखी ॥२॥
जानी श्रमित सीय मन माहीं। घरिक बिलम्ब कीन्ह बटछाहीं ॥३॥
मुदित नारिनर देखहिं सोभा। रूप अनूप नयन मन लोभा ॥४॥
एकटक सब सोहहिं चहुँओरा। रामचंद - मुख - चंद - चकोरा ॥५॥

अर्थ—प्यारे वचन सुनकर और उनकी अत्यन्त प्रीति देखकर बड़े ही कृपालु और सुशील श्रीरामजी ॥२॥ मन में श्रीसीताजी को थकी हुई जानकर, कोई एक घड़ी बरगद की छाँह में विलंब को, ठहर गये ॥३॥ स्त्री-पुरुष आनन्द से शोभा देखते हैं। उस उपमा-रहित रूप ने उनके नेत्रों और मन को लुभा लिया ॥४॥ सब चारों ओर से श्रीरामजी के मुखचन्द्र को चकोर के समान एकटक देखते हुए शोभते हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'राम कृपाल सुसील विसेषी'—श्रीरामजी में इस प्रसंग से कृपालुता और सुशीलता विशेष प्रकट है, कृपा श्रीसीताजी पर और मगवासियों पर है।

श्रीजानकीजी कह चुकी हैं—"मोहि मग चलत न होइहि हारी" (दो० ९९); इसीसे वे कहती नहीं हैं, पर श्रीरामजी लख गये। यथा—"जल को गये लक्खन हैं लरिका, परिखो पिय ! छाँह घरीक है ठाढ़े। पोंछि पसेउ बयारि करौं, अरु पायँ पखारि हौं भूभुरि डाढ़े॥ तुलसी रघुवीर प्रिया श्रम जानि कै, बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े। जानकी नाह को नेह लख्यो, पुलको तनु बारि बिलोचन बाढ़े॥" (क० अ० १२)। यह श्रीसीताजी की श्रमित चेष्टा भी मगवासियों को कृतार्थ करने के लिये हुई कि जिससे प्रभु यहाँ थोड़ा बैठ जायँ।

(२) 'रूप अनूप नयन···'—ये सब चाहते हैं कि सदा इन्हें देखते ही रहें, क्योंकि इनका रूप अनूप है।

(३) 'एकटक सब सोहहि चहुँओरा···'—चन्द्रमा सभी चकोरों के सम्मुख रहता है, वैसे ही श्रीरामजी चारों ओर के दर्शकों के सम्मुख हैं, यह आपका रहस्य है; यथा—"मुनि समूह महँ बैठे, सनमुख सबकी ओर। सरद इंदु तन चितवत, मानहुँ निकर चकोर॥" (आ० दो० १२); तथा—"जेहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ। तेहि तस देखेउ कोसल राऊ॥" (बा० दो० २४१); इत्यादि, यहाँ श्रीपार्वतीजी के—"औरउ राम रहस्य अनेका। कहहु नाथ···" (बा० दो० ११०); इस प्रश्न का उत्तर है।

तरुन - तमाल - बरन तनु सोहा। देखत कोटि - मदन - मन मोहा ॥६॥
दामिनिबरन लखन सुठि नीके। नखसिख सुभग भावते जी के ॥७॥
मुनिपट कटिन्ह कसे तूनीरा। सोहहि कर - कमलन्हि धनु तीरा ॥८॥

दोहा—जटा मुकुट सीसन्हि सुभग, उर भुज नयन बिसाल।
सरद - परब - बिधु - बदन बर, लसत स्वेद - कन - जाल ॥११५॥

अर्थ—(श्रीरामजी का) श्याम शरीर तरुण (नवीन) तमाल वृक्ष के रंग की शोभा दे रहा है। जिसे देखते ही करोड़ों कामदेव के मन मोहित हो जाते हैं ॥६॥ बिजली के से रंग के (गौर) श्रीलक्ष्मणजी अत्यन्त अच्छे लगते हैं। नख से शिखा तक; अर्थात् सर्वाङ्ग सुंदर और हृदय को भानेवाले हैं ॥७॥ मुनियों के वस्त्र (कोपीन, वल्कल आदि) पहने और उसीसे कमर में तर्कश कसे हुए हैं। कर-कमलों में धनुष-बाण शोभित हो रहे हैं ॥८॥ उनके सुन्दर शिरों पर सुन्दर जटाओं के मुकुट हैं। अर्थात् मुकुटाकार जटाएँ बाँधे हुए हैं। छाती, भुजाएँ और नेत्र विशाल हैं; (अर्थात् छाती चौड़ी और उन्नत, बाहु घुटने तक लंबे और नेत्र बड़े, इस तरह विशाल शब्द के तीन अर्थ हैं)। शरद-पूर्णिमा के चन्द्रमा के से सुन्दर मुखों पर पसीने की बूँदों का समूह शोभित हो रहा है ॥११५॥

सम्बन्ध—दोनों राजकुमारों के वर्ण भिन्न-भिन्न हैं। इससे पहले एक-एक अर्द्धाली में भिन्न-भिन्न कहा, वेष एक-सा है; अतः, फिर एक में कहा। आगे श्रीजानकीजी की भी मनोहरता साथ में कह देंगे, क्योंकि उनकी शोभा का वर्णन पृथक् में कहना अयोग्य मानते हैं। यह भी भाव है कि पुरुष दोनों भाइयों के पास और युवती गण श्रीसीताजी के पास बैठी हैं, किंतु उन (युवतीगण) की दृष्टि दोनों भाइयों पर भी है, इससे श्रीसीताजी की छवि पृथक् और साथ में कही गई।

बरनि न जाइ मनोहर जोरी। सोभा बहुत थोरि मति मोरी ॥१॥
राम - लखन - सिय - सुंदरताई। सब चितवहिं चित मन मति लाई ॥२॥
थके नारि नर प्रेम पियासे। मनहुँ मृगी - मृग देखि दियासे ॥३॥
सीय - समीप ग्राम - तिय जाहीं। पूछत अति सनेह सकुचाहीं ॥४॥
बार बार सब लागहिं पाये। कहहिं बचन मृदु सरल सुभाये ॥५॥

अर्थ—यह (श्रीराम-लक्ष्मणजी की) मनोहर जोड़ी वर्णन नहीं की जा सकती। (क्योंकि इसकी) शोभा बहुत है और मेरी बुद्धि थोड़ी (तुच्छ) है ॥१॥ सब लोग श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजी की सुन्दरता को मन, बुद्धि और चित्त लगाये हुए देख रहे हैं ॥२॥ प्रेम के प्यासे स्त्री-पुरुष (इनकी सुंदरता देखकर) इस तरह ठिठक (स्तब्ध) हो गये हैं। जैसे हरिणी और हरिण दीपक देखकर (ठिठक जाते हैं) ॥३॥ गाँव की स्त्रियाँ सीताजी के पास जाती हैं, (पर) अत्यन्त स्नेह के कारण पूछते हुए सकुचाती हैं ॥४॥ बार-बार सब उनके चरण छूती हैं और सहज स्वभाव ही से कोमल वचन कहती हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'बरनि न जाइ मनोहर···'—'मनोहर' जोड़ी है, मन ही हर जाता है, तो वर्णन कौन करे? पुनः शोभा बहुत है। वह अल्प बुद्धि में आ नहीं सकती, यथा—"सरसी सीप कि सिंधु समाई।" (दो० २५१); श्रीसीताजी के प्रति भी; यथा—"सिय सुंदरता बरनि न जाई। लघुमति बहुत मनोहरताई ॥" (बा० दो० ३२१)।

(२) 'चित मन मति लाई'—चित्त से चिंतवन, मन से संकल्प विकल्प और बुद्धि से तत्पर विचार होते हैं, जहाँ ये तीनों लग जायँ, वहीं एकाग्रता होती है। यहाँ तीनों मूर्त्तियों की सुंदरता में सब एकाग्र हो रहे हैं; यथा—"थोरेहिमहँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मन मति चित लाई ॥" (आ० दो० १४)।

(३) थके नारि नर प्रेम पियासे ' '—नारि-नर प्रेम के प्यासे हैं, यथा—"दरसन तृपित न आजु लगि, प्रेम पियासे नैन ॥" (दो० २६०), अतः, देखते देखते सब जड़ की तरह स्तब्ध हो गये। यहाँ नर मृग और नारि मृगी हैं तथा श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी दीप के समान हैं। यह प्रसिद्ध है कि व्याधा लोग दीपक जलाकर गाते हैं। मृग दीपक देखकर खड़े रह जाते हैं, यथा—"रूप दीपिका निहारि मृग मृगी नर नारि बिथके बिलोचन निमेषैं बिसराइ कै॥" (गी० बा० ८२)।

(४) 'अति सनेह सकुचाहीं'—अत्यन्त स्नेह के कारण पूछना चाहती हैं, पर बिना मन पाये सकुचाती है। भय मानती हैं कि हम गँवारी हैं और ये राजकुमारी हैं। इनसे वार्ता करते बने या न बने; इसलिये मन मिलाने के लिये बार-बार चरण लगती हैं। ये अनुकूल करने के उपाय हैं।

राजकुमारि बिनय हम करहीं। तिय-सुभाय कछु पूछत डरहीं ॥६॥
स्वामिनि अबिनय छमबि हमारी। बिलग न मानब जानि गँवारी ॥७॥
राजकुँवर दोउ सहज सलोने। इन्ह ते लहि दुति मरकत सोने ॥८॥

दोहा—श्यामल गौर किसोर बर, सुंदर सुषमा अयन।
सरद-सर्बरी-नाथ-मुख, सरद-सरोरुह नयन ॥११६॥

कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे ॥१॥

शब्दार्थ—सलोने (लावण्य-सहित)=सुंदर। दुति=कान्ति। सर्बरी (शर्वरी)=रात।

अर्थ—हे राजकुमारी! हम कुछ विनती करना चाहती हैं, पर स्त्री स्वभाव से कुछ पूछते हुए डरती हैं ॥६॥ हे स्वामिनी! हमारी ढिठाई को क्षमा कीजिये। हमको गँवारिन (देहातिनि) जानकर बुरा न मानियेगा। (क्योंकि हमलोग योग्य वार्ता करना जानती ही नहीं) ॥७॥ हे सुमुखि! कहो, ये दोनों स्वाभाविक ही सुंदर राजकुमार, जिनसे मरकत मणि और सोने ने कान्ति पाई है, (अर्थात् इनकी कण मात्र कांति पाकर वे सब कान्तिमान् हो गये हैं) ॥८॥ साँवले गोरे, श्रेष्ठ किशोर अवस्थावाले, सुंदर एवं परम शोभा के धाम शरत्पूनो के चन्द्रमा के समान मुख शरद् ऋतु के समान नेत्रवाले ॥११६॥ और करोड़ों कामदेवों को लजानेवाले तुम्हारे कौन हैं? ॥१॥

विशेष—(१) 'तिय सुभाय'—दीपदेहली है; अर्थात् स्त्री-स्वभाव ही पूछने की लालसा है और स्त्री-स्वभाव से डरती भी हैं; क्योंकि डरना भी स्त्री-स्वभाव है।

(२) 'को आहिं तुम्हारे'—'कोटि मनोज लजावनि हारे' से अपनी शृंगार दृष्टि कही, यथा—"नारि बिलोकहिं ' जनु सोहत सिंगार धरि, मूरति परम अनूप॥" (बा० दो० २४१) कि हमलोग इनपर निछावर हो रही हैं, पर ये तुम्हारी ही ओर देखते हैं और किसी की तरफ ताकते ही नहीं। अतः, हम सब जानना चाहती हैं कि ये तुम्हारे कौन हैं? यथा—"सीस जटा, उरबाहु बिसाल, बिलोचन लाल, तिरछी-सी भौंहें। तून सरासन बान धरे, तुलसी बन मारग में सुठि सोहैं॥ सादर बारहिं बार सुभाय चितै तुम त्यों हमरो मन मोहैं। पूछति ग्राम बधू सियसों 'कहो साँवरे से सखि रावरे को हैं'॥" (क० अ० २१), 'चितै तुम त्यों' अर्थात् ज्यों ही तुम्हारी ओर चितवते हैं, त्यों ही हमारे मन को मोह लेते हैं।

सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुची सिय मन महँ मुसकानी ॥२॥
तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सकोच सकुचति बरबरनी ॥३॥
सकुचि सप्रेम बालमृगनयनी। बोली मधुर बचन पिकबयनी ॥४॥
सहज सुभाय सुभग तनु गोरे। नाम लखन लघु देवर मोरे ॥५॥

शब्दार्थ—बरबरनी, यथा—"शीते सुखोष्णा सर्वांगी ग्रीष्मे च सुख शीतला। भर्तृभक्ता तु या नारी सा भवेद् वरवर्णिनी ॥" (भरत-सूत्र), श्रीसीताजी की माता के लिये भी यही विशेषण आया है, यथा—"भगम सबहिं बरनत बरबरनी।" (दो० २८८)। अर्थात् श्रेष्ठ वर्णवाली स्त्री, यह अर्थ शब्दार्थ से होता है।

अर्थ—उनकी स्नेह से भरी हुई सुन्दर वाणी सुनकर श्रीसीताजी सकुच गईं और मन में मुसुकाईं ॥२॥ उनको देखकर पृथिवी की ओर देखती हैं, 'बरबरनी' श्रीसीताजी दोनों के संकोच से सकुच रही हैं ॥३॥ मृग के बच्चे के-से नेत्रोंवाली और कोकिला की-सी वाणीवाली श्रीसीताजी प्रेम-सहित मधुर वचन बोलीं ॥४॥ जिनका सीधा स्वभाव और सुंदर गौर शरीर है, श्रीलक्ष्मण नाम है, वे मेरे छोटे देवर हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'सुनि सनेहमय मंजुल···'—'स्नेहमय'—'राजकुमारी' 'स्वामिनि' आदि सम्बोधनों में स्नेह भरा है। हम गँवारी हैं। अतः, ढिठाई क्षमा करना इत्यादि में मंजुलता है। 'सकुची सिय मन महँ मुसुकानी'।—पति की बात पूछती हैं, अतः लाज से सकुच गईं। हैं ग्रामीण, पर बात करने में बड़ी सयानी हैं, यह समझकर मुसकाईं, यथा—"सुनि सुंदर बैन सुधारस साने सयानी हैं जानकी जानी भली।" (क० अ० २१)।

(२) 'दुहुँ सकोच'—पहले उन ग्राम-वासिनियों की ओर देखा, फिर पृथिवी की ओर, इन्हीं दो का संकोच है। स्वामी के समीप ही उनकी वार्त्ता करने में संकोच होता है, पर यह संकोच ग्रामीण स्त्रियों में उतना नहीं होता। अतः, यदि इन्हें न बतावें, तो इनका मन भंग होगा। इसलिये संकेत से बतलाती हैं। पृथिवी माता हैं, क्योंकि आप भूमि की कुमारी हैं। अतः, माता के सामने पति की वार्त्ता कैसे करें? संकोच होता है। स्त्रियों का स्वभाव भी है कि लाज की बात पर भूमि की ओर दृष्टि कर लेती हैं।

(३) 'सकुचि सप्रेम बाल···'—संकोच और प्रेम दिखाने को 'बाल मृगनयनी' कहा है, यथा—"जहँ बिलोकि मृग सावक नयनी।" (बा० दो० २३१)। 'मधुर वचन' के सम्बन्ध से 'पिक बयनी' कहा है।

(४) 'लघु देवर' अर्थात् इनसे जेठे भी एक देवर हैं, जो घर पर हैं, या 'लघु' से शत्रुघ्न कहे जायँगे। ये तो मँझले देवर हैं, इसलिये 'लघु' का श्रीरामजी से छोटे जो हैं, वे देवर हैं, ऐसा भी अर्थ किया जाता है।

बहुरि बदनबिधु अंचल ढाँकी। पियतनु चितइ भौंह करि बाँकी ॥६॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सयननि ॥७॥
भईं मुदित सब ग्रामबधूटी। रंकन्ह राय-रासि जनु लूटी ॥८॥

विशेष—(१) 'बहु विधि'—प्रथम 'सदा सोहागिनि' होना कहा, फिर प्रलय तक का समय रक्खा—'जब लगि महि अहि सीस' तब तीसरी प्रकार से पुष्ट किया—'पारवती सम'...'—पार्वतीजी के पति अविनाशी हैं, अतः अक्षय सौभाग्य होना कहा। वे पर्वत (अचल) की पुत्री हैं, इस लक्ष्य से सौभाग्य की अचलता भी कही। सौभाग्य अचल भी हो, पर जो पति का प्रेम स्त्री पर न रहा, तो भी उसका जीवन व्यर्थ है, इसलिये पार्वतीजी के समान पति को प्यारी होना कहा। शिवजी अत्यन्त प्यार के कारण पार्वतीजी को सदा आधे अंग में रखते हैं।

(२) 'मधुर बचन कहि कहि'...'—मीठे शब्दों में कहा—तुम-सबसे हमें बड़ा सुख मिला, जल आदि से सत्कार हुआ और वार्त्तालाप से सुख मिला। हम तुम्हारा बड़ा उपकार मानती हैं, इधर से लौटना होगा तो अवश्य तुमसे मिल करके जायँगी, क्योंकि तुम-सब भूलने योग्य नहीं हो। 'जनु कुमुदिनी'...'—कुई पहले सकुचित रहती है, वैसे ये सब थीं, यथा—'पूछत अति सनेह सकुचाहीं।' श्रीरामजी चन्द्रमा और श्रीसीताजी उनकी चाँदनी हैं, उनसे अपृथक् हैं; यथा—"कहँ चन्द्रिका चन्द तजि जाई।" (दो० ९६); चाँदनी पड़ते ही कुई खिल जाती है वैसे श्रीसीताजी के प्रिय भाषण से वे खिल उठीं, प्रसन्न हो गईं, उनका संकोच जाता रहा। कुईं रात में खिलती है, वैसे ही इन सबकी भक्ति ही रात है, यथा—"राका रजनी भगति तव" (आ० दो० ४२); इनमें भक्ति, यथा—"लखी सीय सब प्रेम पियासी।" यही प्रेम-प्यास उत्तमाभक्ति है।

तबहिं लखन रघुबररुख जानी। पूछेउ मग लोगन्हि मृदुबानी ॥५॥
सुनत नारिनर भये दुखारी। पुलकित गात बिलोचन बारी ॥६॥
मिटा मोद मन भये मलीने। बिधि निधि दीन्ह लेत जनु छीने ॥७॥
समुझि करमगति धीरज कीन्हा। सोधि सुगम मग तिन्ह कहि दीन्हा ॥८॥

दोहा—लखन-जानकी-सहित तब, गवन कीन्ह रघुनाथ।
फेरे सब प्रियबचन कहि, लिये लाइ मन साथ ॥११८॥

अर्थ—उसी समय श्रीरामजी का रुख (इच्छा) जानकर श्रीलक्ष्मणजी ने कोमल वाणी से लोगों से मार्ग पूछा ॥५॥ सुनते ही स्त्री-पुरुष दुखी हो गये, (क्योंकि समझ गये कि अब जायँगे) उनके शरीर पुलकित हो गये और आँखों में आँसू भर आये ॥६॥ हृदय का आनंद मिट गया और वे मन से मलीन हो गये, मानों ब्रह्मा दी हुई निधि को छीन लेते हैं ॥७॥ कर्म की (अकाट्य) गति को समझकर उन्होंने धैर्य धारण किया और आपस में विचार करके सुगम (अच्छा) रास्ता उन्होंने बतला दिया ॥८॥ तब श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी के साथ रघुनाथजी ने गमन किया; अर्थात् चल पड़े। (लोग साथ लग गये, अतः) सबको प्रिय वचन कहकर लौटाया, पर उनके मन को अपने साथ लगा लिया ॥११८॥

विशेष—(१) 'तबहिं लखन '...'—श्रीलक्ष्मणजी उत्तम सेवक हैं, इससे श्रीरामजी का रुख समझ जाते हैं और तदनुसार ही कार्य करते हैं। 'पूछेउ मगु'—वाल्मीकि आश्रम होते हुए चित्रकूट का मार्ग पूछा। 'बिधि निधि दीन्ह '...'—क्योंकि संयोग-वियोग के विधान में ब्रह्मा का ही अधिकार है; यथा—"जो बिधि

अर्थ—फिर श्रीसीताजी ने अपना मुखचन्द्र आँचर से ढककर, पति की तरफ देखकर और भौंहें टेढ़ी करके ॥६॥ सुन्दर खंजन पक्षी के-से सुन्दर नेत्रों को तिरछे करके संकेत से उन स्त्रियों से श्रीरामजी को अपना पति बतलाया ॥७॥ सब ग्राम-वासिनी स्त्रियाँ ऐसी प्रसन्न हुईं कि मानों दरिद्रों ने राजा का कोश (धन की राशि) लूटा हो ॥८॥

विशेष—(१) 'बहुरि बदन बिधु खंजन मंजु ···'—वे सब ग्राम वधूटियाँ चाहती हैं कि श्रीरामजी हमारी ओर भी देखें, पर वे श्रीसीताजी की ही ओर देखते हैं, तब वे पूछती हैं कि तुम्हारा-इनका कैसा नाता है। इसका उत्तर श्रीसीताजी सैन से बताती हैं कि ये हमारे पति हैं, यह भी कि इन्हीं कटाक्षों के अनुकूल हैं। वे स्त्रियाँ समझ गईं कि पति के वशी-करण का यही मुद्रा एवं महामंत्र है, इससे मुदित हुईं। कहा भी है—"अनियारे दीरघ नयनि, किती न तरुनि समान। वह चितवनि औरे कछू जा बस होत सुजान॥ झूठे जानि न संग्रहे, जनु मुख निकसे बैन। याही ते मानो कियो, बातनि को बिधि नैन॥" (बिहारी)।

(२) 'रंकन्ह राय-राशि'''—दरिद्र लोग निधि लूटने पर तड़फड़ गिरते हैं। वैसे ही सबकी तावड़तोड़ दृष्टि पड़ रही है। यह रहस्य कवितावली अ० २२ में भी है। यथा—"सुनि सुन्दर बैन सुधारस साने सयानी हैं जानकी जानी भली। तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हैं समुझाइ कछू मुसुकाइ चली॥ तुलसी तेहि अवसर सोहैं सबै अवलोकति लोचन-लाहु अली। अनुराग-तड़ाग में भानु उदै बिगसीं मानो मंजुल कंज कली॥"

यह प्रसंग अन्य रामायणों में नहीं है। इस ग्रंथ में भी वन के मार्ग में कहीं भी इतने प्रेमियों के समाज का वर्णन नहीं है। इसपर कहा जाता है कि यह सौभाग्य ग्रंथकार ने अपनी जन्म-भूमि ही को दिया है। दूसरी दृष्टि से "कल्प भेद हरि चरित सुहाये। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाये॥" (बा० दो० ३३) का समाधान तो है ही।

दोहा—अति सप्रेम सिय-पाय परि, बहु बिधि देहिं असीस।
सदा सोहागिनि होहु तुम्ह, जब लगि महि अहिसीस॥११७॥

पारबतीसम पतिप्रिय होहू। देबि न हमपर छाड़बि छोहू॥१॥
पुनि पुनि बिनय करिय कर जोरी। जौं येहि मारग फिरिय बहोरी॥२॥
दरसन देब जानि निज दासी। लखी सीय सब प्रेमपियासी॥३॥
मधुर बचन कहि कहि परितोषी। जनु कुमुदिनी कौमुदी पोषी॥४॥

अर्थ—अत्यन्त प्रेम से श्रीसीताजी के चरणों पर पड़कर बहुत तरह से आशिष देती हैं कि तुम सदा सौभाग्यवती होओ, जबतक कि पृथिवी शेषजी के सिर पर रहे ॥११७॥ पार्वतीजी के समान पति की प्यारी होओ। हे देवि! हमपर कृपा न छोड़ना; अर्थात् कृपा रखना ॥१॥ हम बार-बार हाथ जोड़कर विनती करती हैं कि जो आप इसी रास्ते से फिर लौटें ॥२॥ तो हमें अपनी दासी जानकर दर्शन दें। श्रीजानकीजी ने देखा कि ये सब प्रेम की प्यासी हैं ॥३॥ तो उन्हें मधुर वचन कह-कहकर संतुष्ट किया (वे सुनकर ऐसी प्रफुल्ल हुईं कि) मानों कुईं को चाँदनी ने पोसा; खिलाकर पुष्ट कर दिया ॥४॥

विशेष—(१) 'बहु बिधि'—प्रथम 'सदा सोहागिनि' होना कहा, फिर प्रलय तक का समय रक्खा—'जब लगि महि अहि सीस' तब तीसरी प्रकार से पुष्ट किया—'पारवती सम...'—पार्वतीजी के पति अविनाशी हैं, अतः अक्षय सौभाग्य होना कहा। वे पर्वत (अचल) की पुत्री हैं, इस लक्ष्य से सौभाग्य की अचलता भी कही। सौभाग्य अचल भी हो, पर जो पति का प्रेम स्त्री पर न रहा, तो भी उसका जीवन व्यर्थ है, इसलिये पार्वतीजी के समान पति को प्यारी होना कहा। शिवजी अत्यन्त प्यार के कारण पार्वतीजी को सदा आधे अंग में रखते हैं।

(२) 'मधुर बचन कहि कहि...'—मीठे शब्दों में कहा—तुम-सबसे हमें बड़ा सुख मिला, जल आदि से सत्कार हुआ और वार्तालाप से सुख मिला। हम तुम्हारा बड़ा उपकार मानती हैं, इधर से लौटना होगा तो अवश्य तुमसे मिल करके जायँगी, क्योंकि तुम-सब भूलने योग्य नहीं हो। 'जनु कुमुदिनी...'—कुई पहले संकुचित रहती है, वैसे ये सब थीं, यथा—'पूछत अति सनेह सकुचाहीं।' श्रीरामजी चन्द्रमा और श्रीसीताजी उनकी चाँदनी हैं, उनसे अपृथक् हैं; यथा—"कहँ चंद्रिका चन्द तजि जाई।" (दो० ९६); चाँदनी पड़ते ही कुई खिल जाती है वैसे श्रीसीताजी के प्रिय भाषण से वे खिल उठीं, प्रसन्न हो गईं, उनका संकोच जाता रहा। कुईं रात में खिलती है, वैसे ही इन सबकी भक्ति ही रात है, यथा—"राका रजनी भगति तव" (आ० दो० ४२), इनमें भक्ति, यथा—"लखो सीय सब प्रेम पियासो।" यही प्रेम-प्यास उत्तमाभक्ति है।

तबहिं लखन रघुबररुख जानी। पूछेउ मग लोगन्हि मृदुबानी ॥५॥
सुनत नारिनर भये दुखारी। पुलकित गात बिलोचन बारी ॥६॥
मिटा मोद मन भये मलीने। बिधि निधि दीन्ह लेत जनु छीने ॥७॥
समुझि करमगति धीरज कीन्हा। सोधि सुगम मग तिन्ह कहि दीन्हा ॥८॥

दोहा—लखन-जानकी-सहित तब, गवन कीन्ह रघुनाथ।
फेर सब प्रियबचन कहि, लिये लाइ मन साथ ॥११८॥

अर्थ—उसी समय श्रीरामजी का रुख (इच्छा) जानकर श्रीलक्ष्मणजी ने कोमल वाणी से लोगों से मार्ग पूछा ॥५॥ सुनते ही स्त्री-पुरुष दुखी हो गये, (क्योंकि समझ गये कि अब जायँगे) उनके शरीर पुलकित हो गये और आँखों में आँसू भर आये ॥६॥ हृदय का आनंद मिट गया और वे मन से मलीन हो गये, मानों ब्रह्मा दी हुई निधि को छीन लेते हैं ॥७॥ कर्म की (अकाट्य) गति को समझकर उन्होंने धैर्य धारण किया और आपस में विचार करके सुगम (अच्छा) रास्ता उन्होंने बतला दिया ॥८॥ तब श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी के साथ रघुनाथजी ने गमन किया; अर्थात् चल पड़े। (लोग साथ लग गये, अतः,) सबको प्रिय वचन कहकर लौटाया, पर उनके मन को अपने साथ लगा लिया ॥११८॥

विशेष—(१) 'तबहिं लखन...'—श्रीलक्ष्मणजी उत्तम सेवक हैं, इससे श्रीरामजी का रुख समझते हैं और तदनुसार ही कार्य करते हैं। 'पूछेउ मगु'—वाल्मीकि-आश्रम होते हुए चित्रकूट का मार्ग पूछा। 'बिधि निधि दीन्ह...'—क्योंकि संयोग-वियोग के विधान में ब्रह्मा का ही अधिकार है; यथा—"जो बिधि

पस अस बनइ सँजोगू।" (बा० दो० २२१)। ब्रह्माजी कर्म के अनुसार ही कार्य करते हैं। अतएव कर्म की गति को समझा कि जिस कर्म ने इनके आश्चर्य-दर्शन दिलाये, वही वियोग भी देता है तो सहना ही चाहिये। पुनः कर्म ने तो इनको माता-पिता से भी अलग कर दिया तो हम क्षणिक संयोग के सम्बन्ध से क्यों व्याकुल हों ? 'सोधि सुगम मग' अर्थात् वहाँ से कई मार्ग उधर को गये थे, उनमें जो अच्छा था उसे सबों ने निर्णय करके उसके चिह्नों को कह दिया। 'प्रिय बचन कहि'—जैसे श्रीसीताजी ने उपर्युक्त मधुर वचन स्त्रियों से कहा था। 'फिरे लाइ मन साथ'—वे तन-मात्र ले लौटे, पर मन उनका श्रीरामजी में ही अनुरक्त हो गया, वे श्रीरामजी की ही ध्यान-वार्ता आदि करते हैं।

फिरत नारिनर अति पछिताहीं। दैवहि दोष देहिं मन माहीं ॥१॥
सहित बिषाद परसपर कहहीं। बिधिकरतब उलटे सब अहहीं ॥२॥
निपट निरंकुस निठुर निसंकू। जेहि ससि कीन्ह सरुज सकलंकू ॥३॥
रूख कलपतरु सागर खारा। तेहि पठये बन राजकुमारा ॥४॥

अर्थ—लौटते हुए स्त्री-पुरुष अत्यन्त पछताते हैं और मन में दैव (विधाता) को दोष देते हैं ॥१॥ आपस में दुःख कहते हैं कि ब्रह्मा के सभी कार्य उल्टे हैं ॥२॥ वह बड़ा ही (बिल्कुल) स्वतंत्र, निर्दय और निडर है जिसने चन्द्रमा को रोगी और कलंकी बनाया ॥३॥ कल्पवृक्ष को वृक्ष (जड़, स्थावर) और समुद्र को खारा बनाया; उसीने राजकुमारों को वन भेजा ॥४॥

विशेष—(१) 'सहित बिषाद परसपर ···'—विषाद-वश आर्त्त हैं, इसीसे दैव को दोष देते हैं यथा—"लोकरीति देखी सुनी व्याकुल नर-नारी। अति बरषे अनबरषेहूँ देहिं दैवहिं गारी ॥" (वि० १९ 'निपट निरंकुस निठुर···'—हाथी अंकुश के वश होकर सीधा चलता है, वैसे ही इसे भी किसी का अंकुश (दबाव-शासन) होता तो अन्याय न करता। निष्ठुर है, दया होती तो दूसरों के दुःख पर दुखी होता निःशंक है, किसी की शंका होती, तो सोच-समझकर कुछ करता। देखो तो भला, जो चन्द्रमा अमृत स्रवता (टपकाता) है, आह्लादकारक एवं सबको प्रिय है उसे रोगी और कलंकी बनाया है (चन्द्रमा के बीच में जो श्याम-चिह्न है उसपर ही रोग एवं और भी बहुत-सी कल्पनाएँ होती हैं, लं० दो० ११-१२ देखिये। गुरु-अपमान से कलंकी हुआ)। कल्पवृक्ष सुजान है, वह सबके मन की जानकर अर्थ, धर्म और काम देता है, ऐसे उदार दाता को जड़-स्थावर बनाया। समुद्र जो रत्नों की खान है और मेघ-द्वारा उसीसे जगत् का जीवन रहता है उसे खारा कर दिया, जिससे प्रत्यक्ष में किसी के काम का न रहा। नाम तो विधि है, पर करता अविधि उसी स्वभाव से उसने इन राजकुमारों को भी वन भेजा॥

जौं पै इन्हहि दीन्ह बनबासू। कीन्हि बादि बिधि भोगबिलासू ॥५॥
ये बिचरहिं मग बिनु पदत्राना। रचे बादि बिधि बाहन नाना ॥६॥
ये महि परहिं डासि कुस-पाता। सुभग सेज कत सृजत बिधाता ॥७॥
तरुवर बास इन्हहि बिधि दीन्हा। धवल धाम रचि रचि श्रम कीन्हा ॥८॥

दोहा—जौ ये मुनि-पट-धर जटिल, सुंदर सुठि सुकुमार।
बिबिध भाँति भूषन-बसन, बादि किये करतार ॥११९॥

जौ ये कंद मूल फल खाहीं। बादि सुधादि असन जग माहीं ॥१॥

अर्थ—जो ब्रह्मा ने इन्हें वनवास दिया, तो उसने भोग-विलास व्यर्थ ही बनाया ॥५॥ ये बिना जूते के मार्ग में चल रहे हैं, तो ब्रह्मा ने अनेक सवारियाँ व्यर्थ ही बनाई ॥६॥ ये भूमि पर कुश और पत्ते बिछाकर रहते हैं, तो सुन्दर शय्या ब्रह्मा क्यों बनाते हैं ? ॥७॥ इन्हें ब्रह्मा ने पेड़ों के नीचे (ठहरने का) वास-स्थान दिया, तो उसने सुन्दर स्वच्छ महल रच-रचकर परिश्रम ही तो किया है ! ॥८॥ ये अत्यन्त सुन्दर और अत्यन्त सुकुमार (राजकुमार) जो मुनियों के वल्कल वस्त्र और जटाएँ धारण करते हैं, तो फिर कर्त्तार (ब्रह्मा) ने तरह-तरह के भूषण-वस्त्र व्यर्थ ही बनाये ॥११९॥ जो ये कंद-मूल-फल खाते हैं, तो संसार में अमृत (सरीखे स्वादिष्ट) भोजन आदि व्यर्थ ही हैं ॥१॥

विशेष—'यहाँ प्रथम समष्टि में—'बादि कीन्ह बिधि भोग-बिलासू' कहा, फिर पृथक्-पृथक् भोगों को गिनाया और जिस पदार्थ का जो पात्र है, उसे वह मिलना चाहिये, अयोग्य को नहीं। इनसे बढ़कर भोग्य-पदार्थों का योग्य पात्र संसार में नहीं दीखता, जब ये भोग इन्हें न मिले, तो व्यर्थ ही हैं। इससे तो विधि के कर्त्तव्य अविधि-रूप में ही देखे जाते हैं।

सम्बन्ध—ऊपर उनके वचन कहे गये, जो इन्हें ब्रह्मा के रचे हुए मानते हैं। आगे उनके वचन कहे जायँगे, जो युक्ति से इन्हें विधाता की सृष्टि से भिन्न सिद्ध करते हैं—

एक कहहिं ये सहज सुहाये। आप प्रगट भये बिधि न बनाये ॥२॥
जहँ लगि बेद कही बिधिकरनी। श्रवन नयन मन गोचर बरनी ॥३॥
देखहु खोजि भुवन दसचारी। कहँ अस पुरुष कहाँ असि नारी ॥४॥
इन्हहिं देखि बिधि मन अनुरागा। पटतर जोग बनावइ लागा ॥५॥
कीन्ह बहुत श्रम ऐक न आये। तेहि इरिषा बन आनि दुराये ॥६॥

शब्दार्थ—ऐक=ऐक्य=समानता, सादृश्य; वा अन्दाजा।

अर्थ—एक (कोई) कहते हैं कि ये तो स्वाभाविक (भूषण-वस्त्र बिना) ही शोभायमान हैं, ये आप ही प्रकट हो गये हैं, ब्रह्मा ने इन्हें नहीं बनाया ॥२॥ (क्योंकि) वेदों ने जहाँ तक ब्रह्मा की करनी कही हैं, वे सब कानों, नेत्रों और मन आदि इन्द्रियों के विषय रूप में कही गई हैं ॥३॥ चौदहों भुवनों में ढूँढ़कर देखो, तो ऐसा पुरुष कहाँ है और कहाँ ऐसी स्त्री ? ॥४॥ इन्हें देखकर ब्रह्मा का मन अनुरक्त हो गया (लुभा गया) तब वह इनकी समता के योग्य बनाने लगा ॥५॥ बहुत परिश्रम किया, पर ये उसके अन्दाज ही में न आये (कि इन्हें कैसे बनावें ?), इसी ईर्ष्या के कारण(उस ब्रह्मा ने)इन्हें वन में लाकर छिपा दिया ॥६॥

विशेष—(१) 'आप प्रगट भये……'—यही यथार्थ है, यथा—"इच्छामय नर बेष

होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे ॥" (बा० दो० १५१) ; 'जहँ लगि बेद कही···'—अर्थात् ब्रह्मा की सम्पूर्ण सृष्टि श्रवण, नेत्र और मन के विषय-रूप में ही है। अतः, इन तीन साधनों से जानी जाती है। 'देखहु खोजि·····'—श्रवण से सुनकर, आँख से देखकर, और मन से अनुमान करके चौदहो भुवन देख सकते हो, ढूँढ़ सकते हो, कहीं भी इनके समान स्त्री-पुरुष नहीं हैं। बस, इससे ही निश्चय है, ये ब्रह्मा के रचे हुए नहीं हैं, क्योंकि ब्रह्मा की रचना में कोई भी पदार्थ एक समान का एक ही नहीं होता, किंतु प्रत्येक की गिनती अनन्त है। यथा—"बानी बिधि गौरी हर सेसहू गनेस कही, सही भरी लोमस भुसुंडि बहुबारिखो ॥ चारि दस भुवन निहारि नर नारि सब, नारद को परदा न नारद सो पारिखो ॥ तिन्ह कही जग में जगमगत जोरी एक, दूजो को कहैया औ सुनैया चख चारिखो। रमा रमा-रमन सुजान हनुमान कही, 'सीय सी न तीय न पुरुष राम सारिखो' ॥" (क० बा० १६)।

(२) 'इन्हहि देखि बिधि ·····'—ब्रह्मा ने इनके तुल्य बनाने का श्रम किया, किंतु ढाँचा न बन सका, तब उसे ईर्ष्या हो गई कि ये नगर (बस्ती) में रहेंगे, तो देख-देखकर लोग हमें हँसेंगे कि इस ब्रह्मा से ऐसे व्यक्ति नहीं बन सकते, इसलिये उसने अपनी शक्ति सरस्वती के द्वारा षड्यंत्र रचकर इन्हें वन में लाकर छिपा दिया। "इन्हहि देखि·····" से "तेहि इरिया·····" तक असिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा अलंकार है।

एक कहहिं हम बहुत न जानहिं। आपुहि परम धन्य करि मानहिं ॥७॥
ते पुनि पुन्यपुंज हम लेखे। जे देखहिं देखिहहिं जिन्ह देखे ॥८॥

दोहा—येहि बिधि कहि कहि बचन प्रिय, लेहिं नयन भरि नीर।
किमि चलिहहिं मारग अगम, सुठि सुकुमार सरीर ॥१२०॥

अर्थ—एक (कोई) कहते हैं कि हम बहुत (युक्ति-अनुमान आदि की बातें) नहीं जानते, किंतु अपनेको परम धन्य (पुण्यवान्) करके मानते हैं ॥७॥ और हमारे लेखे (विचार) में वे भी पुण्यवान् हैं, जो इन्हें देख रहे हैं, देखेंगे और जिन्होंने देखा है ॥८॥ इस प्रकार प्रिय वचन कह-कहकर आँखों में आँसू भर लेते हैं (और कहते हैं कि) कठिन मार्ग में अत्यन्त सुकुमार शरीर से ये कैसे चलेंगे ? ॥१२०॥

नारि सनेह - बिकल बस होहीं। चकई साँझ समय जनु सोहीं ॥१॥
मृदु - पद-कमल कठिन मग जानी। गहबरि हृदय कहहिं बरबानी ॥२॥
परसत मृदुल चरन अरुनारे। सकुचित महि जिमि हृदय हमारे ॥३॥
जौ जगदीस इन्हहिं बन दीन्हा। कस न सुमनमय मारग कीन्हा ॥४॥
जौ माँगा पाइय बिधि पाहीं। ये रखियहि सखि आँखिन्ह माहीं ॥५॥

अर्थ—स्त्रियाँ स्नेह के वश व्याकुल होती हैं, मानों संध्या समय चकवी (भावी वियोग के कारण दुःखी) शोभित हैं ॥१॥ इनके चरण-कमल कोमल हैं और मार्ग कठिन है, ऐसा जानकर वे व्याकुल

हृदय से श्रेष्ठ वाणी कह रही हैं ॥२॥ इनके लाल कोमल चरणों का स्पर्श होते ही पृथिवी ऐसी सकुचाती है, जैसे हमारे हृदय सकुच रहे हैं ॥३॥ जो जगदीश (ब्रह्मा) ने इन्हें वनवास ही दिया, तो मार्ग को पुष्पमय क्यों न कर दिया ? ॥४॥ यदि ये ब्रह्मा से माँगने पर मिलें, तो हे सखी ! ये आँखों में रख लिये जायँ ॥५।

विशेष—(१) 'नारि सनेह बिकल बस'''—ऊपर पुरुषों का स्नेह कहा गया। यहाँ से स्त्रियों की स्नेह-वार्ता कहते हैं कि वे प्रेम वश व्याकुल हो रही हैं। चकवी की उत्प्रेक्षा करते हैं कि जैसे वह संध्या समय पति के वियोग-दुःख से दुखी हो। वैसे श्रीरामजी के वियोग में ये सब दुखी हैं। इसीसे इनका शोभित होना कहा गया। यथा—"जाइ सुमंत्र दीख कस राजा। अमिय रहित जनु चन्द बिराजा ॥" (दो० १४७)। श्रीरामजी के वियोग एवं विरह में दुखी होने में मनुष्य की शोभा है। पुनः चकवी को वियोग-शृंगार का दुःख रहता है। वैसे इन्हें श्रीरामजी को वियोग का दुःख है। श्रीरामजी पतियों के भी परम पति हैं ; यथा—"पतिं पतीनां परमं'''" (श्वेता० ६।७); अतएव विप्रलंभ शृंगार की दृष्टि से दुखी होने में भी शोभा है।

(२) 'सकुचति महि जिमि'''—पृथिवी भी सकुचती है कि मैं बड़ी कठोर हूँ। जैसे हमारा हृदय सकुच रहा है कि ऐसे प्रिय के वियोग पर वह फट क्यों न गया ?

(३) 'जौं माँगा पाइय बिधि'''—जब एक ने कहा—'कस न सुमन मय मारग कीन्हा।' तब इसने पुष्पों को भी इनके योग्य कोमल न समझकर आँखों में रखना कहा, हृदय में रखना न कहा। क्योंकि उसे तो कठोर कह चुकी है। यह भी भाव है कि इसे ध्यान दर्शन अभीष्ट नहीं, किन्तु चाहती है कि प्रत्यक्ष बराबर आँखों से देखा करूँ। यह भी आँख में रखना है। आँख श्याम-गौर वर्ण है ; वैसे वर्ण इन के भी हैं।

सम्बन्ध—यहाँ तक दर्शकों का हाल कहा, आगे उन्हें कहते हैं, जो समय पर न पहुँचे थे—

जे नर नारि न अवसर आये। तिन्ह सियराम न देखन पाये ॥६॥
सुनि सुरूप बूझहिं अकुलाई। अब लगि गये कहाँ लगि भाई ॥७॥
समरथ धाइ बिलोकहिं जाई। प्रमुदित फिरहिं जनम-फल पाई ॥८॥

दोहा—**अबला बालक वृद्धजन, कर मीजहिं पछिताहिं।**
होहिं प्रेमबस लोग इमि, राम जहाँ जहँ जाहिं ॥१२१॥

अर्थ—जो स्त्री-पुरुष समय पर नहीं पहुँचे, उन्होंने श्रीसीताजी और श्रीरामजी को न देख पाया ॥६॥ वे उनके सुन्दर रूप को सुनकर व्याकुल होकर पूछते हैं कि हे भाई ! अब तक वे कहाँ पर्यंत गये होंगे ? ॥७॥ जो समर्थ हैं वे दौड़ते हुए जाकर देखते हैं और जन्म लेने का फल पाकर प्रकर्ष आनंदित होकर लौटते हैं ॥८॥ स्त्रियाँ, छोटे लड़के और बुड्ढे लोग हाथ मलते और पछताते हैं। इसी तरह जहाँ-जहाँ श्रीरामजी जाते हैं, वहाँ-वहाँ के लोग प्रेम-वश होते हैं ॥१२१॥

विशेष—(१) 'समरथ धाइ बिलोकहिं जाई।'—ये मन, वचन, कर्म से भक्त हैं—'बूझहिं अकुलाई'—वचन, 'धाइ बिलोकहिं'—कर्म और 'प्रमुदित फिरहिं' यह मन की भक्ति है। 'अबला बालक

होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे ॥" (बा० दो० १५१); 'जहँ लगि बेद कही···'—अर्थात् ब्रह्मा की सम्पूर्ण सृष्टि श्रवण, नेत्र और मन के विषय-रूप में ही है। अतः, इन तीन साधनों से जानी जाती है। 'देखहु खोजि·····'—श्रवण से सुनकर, आँख से देखकर, और मन से अनुमान करके चौदहो भुवन देख सकते हो, ढूँढ़ सकते हो, कहीं भी इनके समान स्त्री-पुरुष नहीं हैं। बस, इससे ही निश्चय है, ये ब्रह्मा के रचे हुए नहीं हैं, क्योंकि ब्रह्मा की रचना में कोई भी पदार्थ एक समान का एक ही नहीं होता, किंतु प्रत्येक को गिनती अनन्त है। यथा—"बानी बिधि गौरी हर सेसहू गनेस कही, सही भरी लोमस भुसुंडि बहुबारिखो ॥ चारि दस भुवन निहारि नर नारि सब, नारद को परदा न नारद सो पारिखो ॥ तिन्ह कही जग में जगमगत जोरी एक, दूजो को कहैया औ सुनैया चख चारिखो। रमा रमा-रमन सुजान हनुमान कही, 'सीय सी न तीय न पुरुष राम सारिखो' ॥" (क० बा० १६)।

(२) 'इन्हहि देखि बिधि ·····'—ब्रह्मा ने इनके तुल्य बनाने का श्रम किया, किंतु ढाँचा न बन सका, तब उसे ईर्ष्या हो गई कि ये नगर (बस्ती) में रहेंगे, तो देख-देखकर लोग हमें हँसेंगे कि इस ब्रह्मा से ऐसे व्यक्ति नहीं बन सकते, इसलिये उसने अपनी शक्ति सरस्वती के द्वारा षड्यंत्र रचकर इन्हें वन में लाकर छिपा दिया। "इन्हहि देखि·····" से "तेहि इरिषा·····" तक असिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा अलंकार है।

एक कहहिं हम बहुत न जानहिं। आपुहि परम धन्य करि मानहिं ॥७॥
ते पुनि पुन्यपुंज हम लेखे। जे देखहिं देखिहहिं जिन्ह देखे ॥८॥

दोहा—येहि बिधि कहि कहि बचन प्रिय, लेहिं नयन भरि नीर।
किमि चलिहहिं मारग अगम, सुठि सुकुमार सरीर ॥१२०॥

अर्थ—एक (कोई) कहते हैं कि हम बहुत (युक्ति-अनुमान आदि की बातें) नहीं जानते, किंतु अपनेको परम धन्य (पुण्यवान्) करके मानते हैं ॥७॥ और हमारे लेखे (विचार) में वे भी पुण्यवान् हैं, जो इन्हें देख रहे हैं, देखेंगे और जिन्होंने देखा है ॥८॥ इस प्रकार प्रिय वचन कह-कहकर आँखों में आँसू भर लेते हैं (और कहते हैं कि) कठिन मार्ग में अत्यन्त सुकुमार शरीर से ये कैसे चलेंगे ? ॥१२०॥

नारि सनेह - बिकल बस होहीं। चकई साँझ समय जनु सोहीं ॥१॥
मृदु - पद-कमल कठिन मग जानी। गहबरि हृदय कहहिं बरबानी ॥२॥
परसत मृदुल चरन अरुनारे। सकुचित महि जिमि हृदय हमारे ॥३॥
जौ जगदीस इन्हहि बन दीन्हा। कस न सुमनमय मारग कीन्हा ॥४॥
जौ माँगा पाइय बिधि पाहीं। ये रखियहि सखि आँखिन्ह माहीं ॥५॥

अर्थ—स्त्रियाँ स्नेह के वश व्याकुल होती हैं, मानों संध्या समय चकवी (भावी वियोग के कारण दुःखी) शोभित है ॥१॥ इनके चरण-कमल कोमल हैं और मार्ग कठिन है, ऐसा जानकर वे व्याकुल

हैं ॥७॥ श्रीराम-लक्ष्मण पथिकों की सुहावनी कथा सब मार्ग और वन में छा गई ॥८॥ इस तरह मार्ग के लोगों को सुख देते हुए रघुकुल रूपी कमल के (प्रफुल्ल करनेवाले) सूर्य श्रीरामजी श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ वन को देखते हुए चले जाते हैं ॥१२२॥

विशेष—(१) 'ते पितु मातु धन्य···'—यहाँ धन्य शब्द प्रशंसा परक साधुवाद में है।

(२) 'सुख पायेउ विरंचि···'; यथा—"जिन्हहि बिरचि बड़ भयउ विधाता। महिमा अवधि राम पितु माता।" (बा० दो० १५); 'सब भाँति सनेही'; यथा—"स्वामि सखा पितु मातु गुरु, जिन्ह के सब तुम्ह तात।" (दो० १३०)।

(३) 'येहि विधि रघुकुल-कमल······'—सूर्य ब्रह्मांड-भर के प्रकाशक हैं, पर कमल के विशेष; वैसे ही श्रीरामजी ब्रह्मांड-भर के सुखद हैं, पर रघुकुल के विशेष। ऊपर 'भानुकुल कैरव चंदू' कहा और यहाँ 'रघुकुल कमल रवि'। इस तरह चंद्र और सूर्य दोनों के समान कहा और जगत् का पूर्ण हितैषी जनाया; यथा—"जगहित हेतु बिमल बिधुपूषन।" (बा० दो० १९) ; इनमें एकत्र ही दोनों के गुण जनाये। किसी को चन्द्रमा से दुःख तो किसी को सूर्य से दुःख होता है, पर ये सबको सुखद ही हैं। पुनः श्रीरामजी रातो-दिन एक-रस सुख देनेवाले हैं, सूर्य-चन्द्रमा में एक दिन और एक रात ही में सुखद होता है।

(४) "कहहिं एक अति भल नर नाहू।" से "धन्य सोइ ठाऊँ॥" तक शांत-रस पूर्ण वृद्धाओं की बातें हैं और 'सुख पायेउ विरंचि···'—यह शृंगार-रस-पूर्ण स्त्रियों की वार्ता है।

आगे राम लखन बने पाछे। तापसवेष विराजत काछे॥१॥
उभय बीच सिय सोहति कैसे। ब्रह्म - जीव - बिच माया जैसे॥२॥
बहुरि कहउँ छवि जसि मन बसई। जनु मधु-मदन-मध्य रति लसई॥३॥
उपमा बहुरि कहउँ जिय जोही। जनु बुध बिधु बिच रोहिनि सोही॥४॥

शब्दार्थ—काछे (सं० कक्ष)=बनाना, सँवारना, पहनना—"गौर किसोर बेष वर काछे।" (बा० दो० २२०)

अर्थ—आगे श्रीरामजी और पीछे श्रीलक्ष्मणजी सजे हैं, तपस्वी का वेष बनाये हुए सुशोभित हैं ॥१॥ दोनों के बीच में श्रीसीताजी कैसी सोह रही हैं, जैसे ब्रह्म और जीव के बीच में माया ॥२॥ इसी छवि को फिर से मैं कहता हूँ जैसी मेरे मन में बसती है, (ऐसा जान पड़ता है कि) मानों बसन्त और कामदेव के मध्य में रति शोभित हो ॥३॥ हृदय में टटोलकर फिर और उपमा कहता हूँ कि मानों बुध और चन्द्रमा के बीच में रोहिणी सोह रही हो ॥४॥

विशेष—(१) 'आगे राम लखन ···· '—'विराजत' अर्थात् तपस्वी-वेष से पूर्ण हैं, वलकल आदि से सजे हुए महा मुनिश्वरों की तरह सुशोभित हैं।

(२) 'उभय बीच सिय······'—ब्रह्म, जीव, माया उपमान, राम-लक्ष्मण सीता उपमेय, कैसी-जैसी वाचक और 'सोहइ' यह धर्म है। उपमा के वर्णन में कवि का प्रयोजन उसके धर्म से रहता है, शेष बातें आनुषंगिक हैं। ऊपर की अर्द्धाली में श्रीराम-लक्ष्मणजी की शोभा कही गई, इसमें श्रीसीताजी की शोभा कहते हैं। माया का अर्थ यहाँ ज्ञान (चित् शक्ति) और कृपा का है, यथा—"माया दंभे कृपायाञ्च" प्रमाण—"साँचेहु उनके मोह न माया।" (बा० दो० ६९); पुनः 'माया वयुन ज्ञान' ये

हुद्ध '-'अबला'—का अर्थ स्त्री तो है ही, परन्तु दूसरा अर्थ बल-हीन का भी है। आशय यह है कि ग्रामीण स्त्रियों में भी जो समर्थ हैं, वे दौड़कर जाकर देखती हैं। ऊपर "जे नर-नारि न अवसर आये।" का प्रसंग भी है। अतः, अबला शब्द से यहाँ वे ही स्त्रियाँ हैं; जो सुकुमारता या रोग आदि किसी कारण से असमर्थ हैं और दौड़ कर नहीं जा सकतीं। 'कर मीजहिं'—कर्म से, 'पछिताहिं'—वचन से और 'होहिं प्रेम बस'—मन से उनका भक्ति करना है। 'होहिं प्रेम बस' को दीप-देहली न्याय से पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों में लगाना चाहिये।

गाँव गाँव अस होइ अनंदू। देखि भानुकुल-कैरव-चंदू ॥१॥
जे कछु समाचार सुनि पावहिं। ते नृप-रानिहि दोष लगावहिं ॥२॥
कहहि एक अति भल नरनाहू। दीन्ह हमहिं जेइ लोचनलाहू ॥३॥
कहहिं परसपर लोग लोगाई। बातैं सरल सनेह सुहाई ॥४॥

अर्थ—सूर्यवंश रूपी कुईं को (प्रफुल्ल करने के लिये) चन्द्रमा (रूप-श्रीरामजी) को देखकर गाँव-गाँव में ऐसा ही आनन्द हो रहा है ॥१॥ जो लोग कुछ भी समाचार (वनवास होने का) सुन पाते हैं, वे राजा-रानी को दोष लगाते हैं ॥२॥ कोई कहते हैं कि राजा अत्यन्त भले हैं कि जिन्होंने हमें नेत्रों के लाभ दिये ॥३॥ स्त्री-पुरुष आपस में सरल (सीधी) प्रेम युक्त सुहावनी बातें कह रहे हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'गाँव-गाँव अस ...'—जैसा एक गाँव का आनंद कहा गया जितने गाँव मार्ग में पड़ते हैं सबमें वैसा ही आनंद होता जाता है। 'भानु कुल कैरव ...'—चन्द्रमा संसार भर को प्रकाश एवं आनंद देता और शीतल करता है; पर कुईं का विशेष हितैषी है। वैसे ही श्रीरामजी संसार भर के हितैषी हैं; पर कुल के सत्य-व्रत रक्षा से विशेष हितकर हैं।

(२) 'कहहि परसपर लोग लोगाई।' अर्थात् पुरुष पुरुष से, स्त्री स्त्री से। 'सरल' और 'सनेह' युक्त होने से बातों को 'सुहाई' कहा है।

ते पितु मातु धन्य जिन्ह जाये। धन्य सो नगर जहाँ ते आये ॥५॥
धन्य सो देस सैल बन गाऊँ। जहँ जहँ जाहिं धन्य सोइ ठाऊँ ॥६॥
सुख पायेउ बिरंचि रचि तेही। ये जेहिके सब भाँति सनेही ॥७॥
राम-लखन-पथि-कथा सुहाई। रही सकल मग कानन छाई ॥८॥

दोहा—येहि बिधि रघुकुल-कमल-रवि, मग-लोगन्ह सुख देत।
जाहिं चले देखत बिपिन, सिय-सौमित्रि-समेत ॥१२२॥

अर्थ—धन्य हैं वे माता-पिता, जिन्होंने इन्हें पैदा किया और धन्य है वह नगर जहाँ से ये आये हैं ॥५॥ धन्य है वह देश, पर्वत, वन और गाँव, ये जहाँ-जहाँ से होते हुए आते हैं। वही-वही स्थान धन्य है जहाँ-जहाँ ये जाते हैं ॥६॥ ब्रह्माजी ने उसी को बनाकर सुख पाया है, जिसके ये सब प्रकार से स्नेही

हैं ॥७॥ श्रीराम-लक्ष्मण पथिकों की सुहावनी कथा सब मार्ग और वन में छा गई ॥८॥ इस तरह मार्ग के लोगों को सुख देते हुए रघुकुल रूपी कमल के (प्रफुल्ल करनेवाले) सूर्य श्रीरामजी श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ वन को देखते हुए चले जाते हैं ॥१२२॥

विशेष—(१) 'ते पितु मातु धन्य···'—यहाँ धन्य शब्द प्रशंसा परक साधुवाद में है।

(२) 'सुख पायेउ बिरंचि···'; यथा—"जिन्हहि बिरचि बड़ भयउ बिधाता। महिमा अवधि राम पितु माता।" (बा० दो० १५); 'सब भाँति सनेही'; यथा—"स्वामि सखा पितु मातु गुरु, जिन्ह के सब तुम्ह तात।" (दो० १३०)।

(३) 'येहि बिधि रघुकुल-कमल······'—सूर्य ब्रह्मांड-भर के प्रकाशक हैं, पर कमल के विशेष; वैसे ही श्रीरामजी ब्रह्मांड-भर के सुखद हैं, पर रघुकुल के विशेष। ऊपर 'भानुकुल कैरव चंदू' कहा और यहाँ 'रघुकुल कमल रवि'। इस तरह चंद्र और सूर्य दोनों के समान कहा और जगत् का पूर्ण हितैषी बताया; यथा—"जगहित हेतु बिमल बिधुपूषन।" (बा० दो० १९); इनमें एकत्र ही दोनों के गुण जनाये। किसी को चन्द्रमा से दुःख तो किसी को सूर्य से दुःख होता है, पर ये सबको सुखद ही हैं। पुनः श्रीरामजी रातो-दिन एक-रस सुख देनेवाले हैं, सूर्य-चन्द्रमा में एक दिन और एक रात ही में सुखद होता है।

(४) "कहहिं एक अति भल नर नाहू।" से "धन्य सोइ ठाऊँ॥" तक शांत-रस पूर्ण वृद्धाओं की बातें हैं और 'सुख पायेउ बिरंचि···'—यह शृंगार-रस-पूर्ण स्त्रियों की वार्ता है।

आगे राम लखन बने पाछे। तापसबेष बिराजत काछे॥१॥
उभय बीच सिय सोहति कैसे। ब्रह्म-जीव-बिच माया जैसे॥२॥
बहुरि कहउँ छबि जसि मन बसई। जनु मधु-मदन-मध्य रति लसई॥३॥
उपमा बहुरि कहउँ जिय जोही। जनु बुध बिधु बिच रोहिनि सोही॥४॥

शब्दार्थ—काछे (सं० कक्ष)=बनाना, सँवारना, पहनना—"गौर किसोर बेष बर काछे।" (बा० दो० २२०)

अर्थ—आगे श्रीरामजी और पीछे श्रीलक्ष्मणजी सजे हैं, तपस्वी का वेष बनाये हुए सुशोभित हैं ॥१॥ दोनों के बीच में श्रीसीताजी कैसी सोह रही हैं, जैसे ब्रह्म और जीव के बीच में माया ॥२॥ इसी छवि को फिर से मैं कहता हूँ जैसी मेरे मन में बसती है, (ऐसा जान पड़ता है कि) मानों बसन्त और कामदेव के मध्य में रति शोभित हो ॥३॥ हृदय में टटोलकर फिर और उपमा कहता हूँ कि मानों बुध और चन्द्रमा के बीच में रोहिणी सोह रही हो ॥४॥

विशेष—(१) 'आगे राम लखन ···· '—'बिराजत' अर्थात् तपस्वी-वेष से पूर्ण हैं, वलकल आदि से सजे हुए महा मुनिश्वरों की तरह सुशोभित हैं।

(२) 'उभय बीच सिय······'—ब्रह्म, जीव, माया उपमान, राम-लक्ष्मण सीता उपमेय, कैसी-जैसी वाचक और 'सोहइ' यह धर्म है। उपमा के वर्णन में कवि का प्रयोजन उसके धर्म से रहता है, शेष बातें आनुषंगिक हैं। ऊपर की अर्द्धाली में श्रीराम-लक्ष्मणजी की शोभा कही गई, इसमें श्रीसीताजी की शोभा कहते हैं। माया का अर्थ यहाँ ज्ञान (चित् शक्ति) और कृपा का है, यथा—"माया दंभे कृपायाञ्च" प्रमाण—"सोचेहु उनके मोह न माया।" (बा० दो० ६६); पुनः 'माया वयुन ज्ञान' ने

पर्याय शब्द हैं, प्रमाण—"सम्भवाम्यात्ममायया।" (गीता० ४।६); श्रीजानकीजी कृपामयी एवं चिद्रूपा हैं; यथा—"कृपा-रूपिणि कल्याणि राम-प्रेयसि जानकि। कारुण्यपूर्णनयने कृपादृष्ट्यावलोकय॥" (सीतोपनिषत्) तथा—"हेमाभया द्विभुजया सर्वालंकारया चिता।" (श्रीरा० पू० ता०)।

यहाँ नर-नाट्य की माधुर्य-दृष्टि से उपमा कही गई है, अन्यथा यह यथार्थ ही है कि श्रीरामजी ब्रह्म हैं, श्रीलक्ष्मणजी नित्य शुद्ध जीव हैं, और श्रीजानकीजी ब्रह्म की अभिन्न शक्ति चिद्रूपा एवं कृपा-रूपिणी हैं।

ब्रह्म के पीछे कृपा-शक्ति (माया) और उसके पीछे जीव, तब उस जीव का ब्रह्म के द्वारा उद्धार कराने से इस माया की शोभा है। यही अर्द्धाली आ० दो० ६ में भी है। वहाँ भी देखिये। अलौकिक शोभा के लिये अलौकिक दृष्टान्त दिया गया है। यह दृष्टान्त शांत-रस का दिया गया। इसमें दृष्टान्त अलंकार है।

(३) 'जनु मधु-मदन-मध्य ...'—यहाँ बीच में रहने की और वर्णों की समता है, यह उपमा श्रृंगार-रस में कही गई।

(४) 'उपमा बहुरि कहउँ जिय.....'—बुध चन्द्रमा का पुत्र है, किंतु वह बृहस्पति की स्त्री तारा से उत्पन्न है। वैसे श्रीलक्ष्मणजी श्रीसुमित्राजी के पुत्र हैं, पर छोटे भाई होने से वे श्रीरामजी को पिता के समान मानते हैं श्रीजानकीजी रोहिणी की तरह पतिव्रता भी हैं। इस तीसरी उपमा से सम्बन्ध-सहित बीच में रहना दिखाया गया है।

गी० अ० २४ में भी कहा है—"बीच बधू बिधु बदनि बिराजति उपमा कहँ कोउ है न। मानहुँ रति रितुनाथ सहित मुनि बेष बनाये हैं मैन॥ किधौं सिंगार सुखमा-सुप्रेम मिलि चले जग चित-वित लैन। अद्भुत त्रयी किधौं पठई है बिधि मग लोगन्हि सुख दैन॥" इत्यादि और पदों में भी बीच की छवि कही गई है।

प्रभु - पद - रेख बीच बिच सीता। धरति चरन मग चलति सभीता॥५॥
सीय - राम - पद - अंक बराये। लखन चलहिं मग दाहिन लाये॥६॥
राम-लखन - सिय - प्रीति सुहाई। बचन अगोचर किमि कहि जाई॥७॥
खग मृग मगन देखि छबि होहीं। लिये चोरि चित्त राम बटोही॥८॥

दोहा—जिन्ह जिन्ह देखे पथिक प्रिय, सिय समेत दोउ भाइ।
भव-मग-अगम अनंद तेइ, बिनु श्रम, रहे सिराइ॥१२३॥

शब्दार्थ—दाहिन लाये = प्रदक्षिणा करते हुए, यथा—"पंचवटी गोदहिं प्रनाम करि कुटी दाहिनी लाई।" (गी० अ० ११)। बराये = बचाये हुए। बराना = जानकर अलग करना। अगोचर = अविषय।

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी के चरण-चिह्नों के बीच-बीच में श्रीसीताजी अपना चरण रखती हैं और मार्ग में डरती हुई चलती हैं॥५॥ श्रीसीताजी और श्रीरामजी के चरण-चिह्नों को बचाये हुए श्रीलक्ष्मणजी उसे दाहिने लगाकर मार्ग चलते हैं॥६॥ श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजी की सुन्दर प्रीति वचन की

इन्द्रिय (वाणी) का विषय नहीं है, तो वह कैसे कही जा सके ? ॥७॥ पक्षी-पशु छवि देखकर मग्न हो जाते हैं, राम-बटोही (राही पथिक) ने उनके भी चित्त को चुरा लिया है ॥८॥ जिन-जिन लोगों ने प्यारे पथिक श्रीसीताजी के साथ दोनों भाइयों के दर्शन किये, उन्होंने कठिन भव मार्ग (जन्म-मरण) को बिना परिश्रम के आनन्द-पूर्वक चुका डाला (तय कर डाला) ; अर्थात् फिर उन्हें भव में पड़ना न होगा ॥१२३॥

विशेष—(१) 'प्रभु-पद-रेख······'—श्रीसीताजी पतिव्रता हैं, इसलिये पति के चरण-चिह्नों पर अपना चरण न पड़े, इसे डरती हुई बचाती जाती हैं। यह भी अभिप्राय है कि ये चिह्न बने रहेंगे तो और दर्शक भी देखकर कृतार्थ होंगे, जैसे कि आगे श्रीभरतजी को—"हरषहिं निरखि राम-पद अंका।" (दो० २३७) ; कहा है। श्रीलक्ष्मणजी दोनों के चिह्न बचाते और उन्हें दाहिने देते हुए चलते हैं, यह इनकी धर्म-भीरुता है; यथा—"रीति चलिबे की चाहि प्रीति पहिचानि कै। आपनी-आपनी कहैं प्रेम पर बस अहैं मंजु मृदु बचन सनेह-सुधा सानि कै॥ साँवरे कुँवर के चरन के बराइ चिह्न बधू पग धरति कहा धौं जिय जानि कै। जुगल-कमल-पद-अंक जोगवत जात गोरे गात कुँवर महिमा महा मानि कै॥ उनकी कहनि नीकी, रहनि लखन सी की, तिन्हकी गहनि जे पथिक उर आनि कै। लोचन सजल, तन पुलक, मगन मन, होत भूरि भागी जस तुलसी बखानि कै॥" (गी० अ० ३१)।

(२) 'खग मृग मगन देखि······'—बटोही-रूप में शृंगार-रहित हैं, तो भी खग-मृग आदि तक के चित्त को चुराये लेते हैं, वे सब इनकी शोभा पर जड़ के समान हो रहे हैं। 'बटोही' पद हलका है, पर कवि कहते हैं, क्योंकि सब लोग एवं खग-मृग आदि भी इनकी छवि पर मुग्ध हो रहे हैं और ये किसी की प्रीति पर ध्यान न देकर अपने बाट चलने से प्रयोजन रखते हैं। अतः, उन सबके पक्ष से कवि आपको बटोही कहते हैं। 'चोरि चित' के साहचर्य से चोर बटोही भी कहे जायँगे, क्योंकि छवि-रूपी धतूरा आदि मादक वस्तुएँ पिलाकर सबके चित्त-रूपी धन हरते हैं।

(३) 'जिन्ह जिन्ह देखे पथिक ······'—पथिकों पर प्रायः किसी का प्रेम नहीं होता, क्योंकि उनका संग कुछ क्षणों के लिये ही रहता है; पर इन पथिकों को तो जो देख भर लेता है, उसे ही ये प्रिय हो जाते हैं। फिर वह इन्हें आजन्म नहीं भूलता और इनके निरंतर-स्मरण से भव तर जाता है। 'जिन्ह-जिन्ह देखे'—भूतकाल के, 'अजहुँ' से वर्त्तमान काल के दर्शनों का फल कहा और 'काऊ' से भविष्य के दर्शनों का भी महत्त्व आगे कहते हैं। 'भव मग अगम'—चौरासी लाख योनियों में अनन्त काल तक काल, कर्म, स्वभाव और गुणों के चक्कर में फिरना पड़ता है; यथा—"आकर चारि···फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥" (उ० दो० ४३); "भव मग अगम अनन्त है बिन श्रमहि सिरातो।" (वि० १५१) ; 'बिनु श्रम'—साधन चतुष्टय आदि एवं जप, तप, योग आदि के बिना किये ही।

अजहुँ जासु उर सपनेहु काऊ। बसहु लखन-सिय राम बटाऊ ॥१॥
राम - धाम - पथ पाइहि सोई। जो पथ पाव कबहुँ मुनि कोई ॥२॥
तब रघुबीर श्रमित सिय जानी। देखि निकट बट सीतल पानी ॥३॥
तहँ बसि कंद मूल फल खाई। प्रात नहाइ चले रघुराई ॥४॥

अर्थ—आज भी जिसके हृदय में स्वप्न में भी कभी श्रीलक्ष्मण-सीता-रामजी बटोही (पथिक) बसें ॥१॥ वही राम-धाम के उस मार्ग को पा जायगा कि जिस मार्ग को कभी कोई-कोई मुनि पाते हैं ॥२॥

रघुवीर श्रीरामजी ने श्रीसीताजी को थकी जाना, तब समीप में बरगद का पेड़ और शीतल जल देखकर ॥३॥ वहाँ कंद-मूल-फल खा (रात में) निवास कर प्रातःकाल स्नान करके श्रीरामजी चले ॥४॥

विशेष—(१) 'बटाऊ' अर्थात् शृंगार-युक्त ही ध्यान हो, सो नहीं, पुनः किसी देश-विशेष का नियम नहीं। 'जासु' अर्थात् किसी जाति-विशेष का नियम नहीं, 'काऊ' अर्थात् किसी काल-विशेष का नियम नहीं है। 'राम-धाम-पथ'—अर्थात् साकेत धाम का मार्ग, अर्चिरादि मार्ग (भगवत्प्राप्ति) वा, अविरल भक्ति।

(२) 'तब रघुबीर श्रमित······'—ये तो वीर हैं, इन्हें थकावट नहीं है। श्रीसीताजी को थकी जानकर रुके। चलने के सम्बन्ध से यहाँ भी 'रघुराई' कहा गया है।

मुख्य 'वाल्मीकि-प्रभु-मिलन' प्रसंग

देखत बन सर सैल सुहाये। बालमीकि-आश्रम प्रभु आये ॥५॥
राम दीख मुनिवास सुहावन। सुंदर गिरि कानन जल पावन ॥६॥
सरनि सरोज बिटप बन फूले। गुंजत मंजु मधुप रस भूले ॥७॥
खग मृग बिपुल कोलाहल करहीं। बिरहित बैर मुदित मन चरहीं ॥८॥

दोहा—सुचि सुंदर आश्रम निरखि, हरषे राजिवनैन।
सुनि रघुबर-आगमन मुनि, आगे आयेउ लैन ॥१२४॥

अर्थ—सुहावने वन, तालाब और पर्वत देखते हुए प्रभु वाल्मीकिजी के आश्रम पर आये ॥५॥ श्रीरामजी ने देखा कि मुनि का निवास-स्थान बड़ा सुहावना है। वहाँ के वन-पर्वत सुंदर हैं और जल पवित्र है ॥६॥ तालाबों में कमल, वन में वृक्ष फूले हुए हैं और सुन्दर भौंरे मकरंद में निमग्न गुंजार कर रहे हैं ॥७॥ पक्षी-पशु बहुत हैं और वे कोलाहल कर रहे हैं। पुनः वैर से विशेष रहित होकर आनंदित मन से विचर रहे हैं ॥८॥ पवित्र और सुन्दर आश्रम देखकर लाल कमल के समान नेत्रवाले श्रीरामजी हर्षित हुए। रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामजी का आगमन सुनकर मुनि उन्हें लिवाने के लिये आगे आये ॥१२४॥

विशेष—(१) 'देखत बन सर सैल···'—वाल्मीकिजी के आश्रम की बाहरी सीमा दूर तक है। इसके बीच में वन, सर, शैल आदि हैं और समीप में भी जलाशय आदि हैं। इन सबसे तप और भजन के योग्य स्थल सूचित किया; यथा—"निरखि सैल सरि बिपिन बिभागा। भयेउ रमापति-पद-अनुरागा ॥" (बा० दो० १२४); अर्थात् भजन के लिये एकान्त गिरि-वन, भोजन के लिये फल-मूल आदि और स्नान-पान के लिये स्वच्छ जल, इत्यादि सब अनुकूलता है। 'बाल्मीकि आश्रम प्रभु आये'—इन ज्ञानी मुनि की दृष्टि में आप प्रभु हैं, इसलिये 'प्रभु' कहा। औरों को तो नर देख पड़ते हैं।

(२) "सरनि सरोज बिटप···" से "कोलाहल करहीं।" तक में रमणीकता कही गई। "बिरहित बैर···'—से मुनि के भजन का प्रभाव सूचित किया; यथा—"सरिता सब पुनीत जल बहहीं। खग मृग मधुप सुखी सब रहहीं ॥ सहज बैर सब जीवन्ह त्यागा। गिरि पर सकल करहिं अनुरागा ॥ सोह सैल गिरिजा गृह आये। जिमि जन राम-भगति के पाये ॥" (बा० दो० ६५)।

(३) 'सुचि सुंदर आश्रम···'—मुनियों का आश्रम पवित्र और सुहावन होता है, इसीसे वहाँ सभी का मन लगता है ; यथा—"भरद्वाज आश्रम अति पावन। परम रम्य मुनिवर मन भावन॥" (बा० दो० ४३) ; "आश्रम परम पुनीत सुहावा। देखि देवरिषि मन अति भावा॥" (बा० दो० १२४); "विश्वामित्र···तबहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी॥" (बा० दो० २०५) ; "देखि परम पावन तव आश्रम। गयेउ मोह···" (उ० दो० ११)।

(४) 'सुनि रघुबर आगमन···'—कोल-किरात आदि से अथवा, शिष्यों से सुना; तब मुनि अगवानी के लिये चले। इसी तरह प्रेम से और भी बड़े-बड़े ऋषियों ने अगवानी की है; यथा—"अत्रि के आश्रम जब प्रभु गयेऊ। सुनत महामुनि हरषित भयेऊ॥ पुलकित गात अत्रि उठि धाये।" (आ० दो० २) ; अत्रिजी; "प्रभु-आगवन श्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा॥ ··निज आश्रम प्रभु आनि करि, पूजा···" (आ० दो० ९-१०); सुतीक्ष्णजी, "सुनत अगस्त तुरत उठि धाये।···" (आ० दो० ११), अगस्त्यजी।

मुनि कहँ राम दंडवत कीन्हा। आसिरबाद बिप्रबर दीन्हा॥१॥
देखि राम-छबि नयन जुड़ाने। करि सनमान आश्रमहिं आने॥२॥
मुनिबर अतिथि प्रानप्रिय पाये। कंद मूल फल मधुर मँगाये॥३॥
सिय सौमित्रि राम फल खाये। तब मुनि आसन दिये सुहाये॥४॥

अर्थ—श्रीरामजी ने मुनि को दंडवत् की। विप्रश्रेष्ठ वाल्मीकिजी ने आशिष दी॥१॥ श्रीरामजी की छवि देखकर उनके नेत्र शीतल हुए। सम्मान करके आश्रम में ले आये॥२॥ मुनिश्रेष्ठ ने प्राण-प्रिय पाहुन को पाया। मीठे कंद-मूल-फल मँगाये॥३॥ श्रीसीताजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीरामजी ने फल खाया, तब मुनि ने सुन्दर आसन (बैठने को) दिया॥४॥

विशेष—(१) 'मुनि कहँ राम दंडवत ···'—यद्यपि मुनि श्रीरामजी को ब्रह्म जानते हैं, तथापि श्रीरामजी ने साष्टाङ्ग दंडवत् की, क्योंकि आपका धर्म-संस्थापन के लिये अवतार ही है। उनकी रुचि के अनुसार मुनि ने आशिष भी दी।। 'बिप्रबर'—क्योंकि ये प्रचेता के दशवें पुत्र हैं और भृगुवंशी हैं, इसीसे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ हैं ; यथा—"प्रचेतसोऽहं दशमः पुत्रो राघव-नन्दन।" (वाल्मी० ७।९६।१८)।

(२) 'नयन जुड़ाने' अर्थात् अभी तक दर्शनों के लिये संतप्त थे। दर्शन पाकर शीतल हुए। इसीसे बार-बार निहारते हैं, यथा—"देखि राम छबि ··"; "मंगल मूरति नयन निहारी।"

(३) 'अतिथि प्रानप्रिय पाये'—ये तो प्राणी मात्र के प्रिय तदर हैं, पर आज तो पाहुन रूप में आये हैं। इसीसे मधुर कंद-मूल-फल मँगाये। मुनि का प्रेम वात्सल्य भाव से है। ये श्रीजनकजी से सखाभाव मानते हुए श्रीजानकीजी को पुत्री की तरह मानते हैं। इसीसे भारी आनन्द एवं वात्सल्य में पहले आसन आदि पूजा विधि न करके मधुर भोजन ही कराने लगे। यथा—"जो मन भाव मधुर कछु खाहू।" (दो० ५२) ; यह कौशल्याजी ने कहा है। भोजन कराके तब आगे आसन देना कहा गया है। भरद्वाजजी के यहाँ पहले 'पूजि' कहा गया है। पर यहाँ केवल माधुर्य है। आगे भी 'राम', 'रघुबर' आदि माधुर्य ही नाम मुनि कहेंगे। 'प्रभु' आदि ऐश्वर्य के नाम भी न कहेंगे।

वालमीकि मन आनँद भारी। मंगल मूरति नयन निहारी ॥५॥
तब कर-कमल जोरि रघुराई। बोले बचन श्रवन-सुखदाई ॥६॥
तुम्ह त्रिकाल-दरसी मुनिनाथा। बिश्व-बदर जिमि तुम्हरे हाथा ॥७॥
अस कहि प्रभु सब कथा बखानी। जेहि जेहि भाँति दीन्ह बन रानी ॥८॥

दोहा—तात-बचन पुनि मातुहित, भाइ भरत अस राउ।
मो कहँ दरस तुम्हार प्रभु, सब मम पुन्य-प्रभाउ ॥१२५॥

अर्थ—मंगलमूर्त्ति को नेत्रों से देखकर वाल्मीकिजी के मन में भारी आनंद हुआ ॥५॥ तब श्रीरामजी कमल के समान हाथों को जोड़कर कानों को सुख देनेवाले वचन बोले ॥६॥ हे मुनिनाथ! आप त्रिकालज्ञ हैं (तीनों काल भूत-भविष्य-वर्त्तमान की बात जानते हैं), आपको जगत् हथेली पर रक्खे हुए बेर के समान है ॥७॥ ऐसा कहकर प्रभु ने सब कथाएँ कह सुनाईं, जिस-जिस तरह रानी ने बनवास दिया ॥८॥ पिता का वचन-पालन, माता का हित और भरत ऐसे भाई राजा हों; पुनः मुझे आपके दर्शन हों, हे प्रभो! यह सब मेरे पुण्यों का प्रभाव है (अर्थात् इसमें कैकेयी का दोष नहीं है) ॥१२५॥

विशेष—(१) 'आनँद भारी'—क्योंकि अभी तक इस मूर्ति का ध्यान मात्र ही करते थे, आज वे ही प्रत्यक्ष आ गये; अतः, भारी आनंद हुआ; यथा—"निगम अगम मूरति महेस मति जुवति बरायबरी। सोइ मूरति भइ जानि नयन पथ यकटक ते न टरी॥" (गी० बा० ५५); वा, अभी तक ब्रह्मानंद था, अब उसकी राशि प्राप्त हो गई, जैसा कि इनके शिष्य भरद्वाजजी के प्रसंग में कहा गया है—"मुनि मन मोद न कछु कहि जाई। ब्रह्मानंद रासि जनु पाई॥" (दो० १०५)।

(२) 'बोले बचन श्रवन सुखदाई।'—पहले नेत्रों को आनंद दिया, फिर मन को, अब श्रवण को सुख देंगे। मुनि की प्रशंसा करेंगे, जिससे अपनी अनुकूलता जनावेंगे। श्रीरामजी हाथ जोड़कर बोले हैं, क्योंकि अपना ऐश्वर्य छिपाना है, यह भी दिखाया कि हम भक्तों के अधीन रहते हैं।

(३) 'बिश्व-बदर जिमि तुम्हरे···'—'बदर' अर्थात् बेर, यहाँ झाड़ी का बेर लिया जायगा, क्योंकि वही पृथिवी की तरह गोलाकार होता है। हथेली पर रक्खे हुए बेर का सर्वांग देख पड़ता है; वैसे ही आप सब संसार की तीनों काल की बातें जानते हैं—यह मुनि का महत्त्व कहा।

(४) 'सब कथा बखानी'—बखानना कहकर आनंद-पूर्वक कहना सूचित किया, यह नहीं कि कैकेयीजी के कर्त्तव्य पर दुःख माना हो। पुनः बखानने का विस्तार-पूर्वक कहने का भी अर्थ है। इनसे विस्तार से कहा, क्योंकि इन्हें रामायण बनानी है।

(५) 'तात बचन पुनि मातु हित···।'—'तात बचन' में धर्म, 'मातु हित' में काम, क्योंकि जो इन्हें कामना थी, वही माता ने वरदान माँगा है। 'भाइ भरत अस राउ' में अर्थ, क्योंकि चौदह वर्ष के पीछे लौटने पर श्रीभरतजी ने कोश को दश गुणा कर रक्खा था; यथा—"अवेक्षतां भवान्कोशं कोष्ठागारं गृहं बलम्। भवतस्तेजसा सर्वं कृतं दशगुणं मया॥" (वाल्मी० ६।१२७।५६)। 'मो कहँ दरस तुम्हार' में मोक्ष की प्राप्ति है, क्योंकि संत के दर्शन एवं संग से मोक्ष होता है, यथा—"सत संग अपबरग कर" (७० दो० ३३); इस तरह से चारो फलों की प्राप्ति कही, जो बड़े पुण्य के प्रभाव से ही होती है।

देखि पाय मुनिराय तुम्हारे। भये सुकृत सब सुफल हमारे ॥१॥
अब जहँ राउर आयसु होई। मुनि उदबेग न पावइ कोई ॥२॥
मुनि तापस जिन्हते दुख लहहीं। ते नरेस बिनु पावक दहहीं ॥३॥
मंगलमूल बिप्रपरितोषू। दहइ कोटि कुल भूसुर-रोषू ॥४॥
अस जिय जानि कहिय सोइ ठाऊँ। सिय-सौमित्रि-सहित जहँ जाऊँ ॥५॥
तहँ रचि रुचिर परन-तृन-साला। बास करउँ कछु काल कृपाला ॥६॥

अर्थ—हे मुनिराज! आपके चरणों के दर्शन करने से हमारे सब सुकृत सफल हुए ॥१॥ अब जहाँ आपकी आज्ञा हो, जहाँ किसी मुनि को उद्वेग (व्यग्रता) न हो ॥२॥ क्योंकि मुनि और तपस्वी लोग जिनसे दुःख पाते हैं, वे राजा बिना अग्नि के ही भस्म हो जाते हैं ॥३॥ ब्राह्मणों का संतोष मंगल का पैदा करनेवाला है और उन भूमि के देवताओं का कोप करोड़ों कुलों को जला डालता है ॥४॥ ऐसा हृदय में जानकर वही स्थान कहिये, जहाँ श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ जाऊँ ॥५॥ वहाँ सुन्दर तृण और पत्तों की कुटी बनाकर, हे कृपालु! कुछ काल निवास करूँ ॥६॥

विशेष—(१) 'मुनि उदबेग न···'—भाव यह कि आप यदि किसी मुनि का रमणीक आश्रम खाली करा के देंगे, तो मुनियों को उद्वेग होगा ही; अतः कहीं पृथक बतलाइये। क्योंकि जहाँ राजा रहते हैं, मृगया आदि करते हैं, इससे भी मुनियों को खेद होगा ही। उद्वेग का अर्थ आगे-'दुख लहहीं' से जनाया है।

(२) 'ते नरेस बिनु पावक दहहीं।'—अपने उपर्युक्त संकोच का कारण कहते हैं—यह शास्त्र का मत है कि ऐसे राजा लोग बिना अग्नि के भस्म हो जाते हैं। फिर हम तो अभी राजा भी नहीं हैं, तो हमसे यदि वैसा अपराध होगा, तो अत्यन्त अनुचित होगा; इससे हम डरते हैं।

(३) 'मंगलमूल बिप्र···'—जैसे विप्र वशिष्ठजी की प्रसन्नता से रघुकुल के बहुत-से मंगल हुए; यथा—"दलि दुख सजै सकल कल्याना। अस असीस राउरि जग जाना॥" (दो० २५५); अर्थात् हम विप्रों की प्रसन्नता चाहते हैं।

(४) 'दहइ कोटि कुल भूसुर···'—ऊपर विप्रों के दुःख देने का फल कहा था, अब उनके कुपित होने का फल कहते हैं कि जो वे कोप करें, तो करोड़ों कुल नाश हो जायँ, जैसे कोटि यदुवंशी जल मरे। भानु प्रताप सपरिवार नाश हुआ, सगर के पुत्र भस्म हुए। सहस्रबाहु अपने कुल और सजातीय कोटि-कुलों के साथ मारा गया। प्रमाण—"बंस कि रह द्विज अनहित कीन्हें।" (उ० दो० १११); "जिमि द्विज द्रोह किये कुल नासा॥" (कि० दो० १६); इत्यादि।

(५) 'अस जिय जानि···'—कि जिसमें हमारा मंगल हो और हम अमंगल से बचे रहें। 'कछु काल'—अर्थात् १ वर्ष पर्यंत, यद्यपि वाल्मीकीय रामायण में श्रीभरतजी के लौटने के पीछे ही श्रीरामजी का चित्रकूट से दंडकारण्य जाना कहा है, तथापि श्रीगोस्वामीजी ने चित्रकूट में सब ऋतुओं का विहार कहा है, इसीसे तो एक वर्ष कहा जा सकता है। या, कुछ ही काल रहकर दंडकारण्य जाऊँगा; यह भाव है।

सहज सरल सुनि रघुबर-बानी। साधु-साधु बोले मुनि ज्ञानी ॥७॥
कस न कहहु अस रघुकुल-केतू। तुम्ह पालक संतत श्रुतिसेतू ॥८॥

छंद—श्रुति-सेतु-पालक राम तुम्ह जगदीसमाया जानकी।
जो सृजति जग पालति, हरति रुख पाइ कृपानिधान की।
जो सहससीस अहीस महिधर लखन सचराचर-धनी
सुरकाज धरि नरराज तनु चले दलन खल निसिचर-अनी॥

सो०—राम सरूप तुम्हार, बचन-अगोचर बुद्धि-पर।
अबिगत अकथ अपार, नेति-नेति नित निगम कह॥१२६॥

शब्दार्थ—अविगत = जो विगत न हो, जो जाना न जाय, नित्य—(हिन्दी-शब्द-सागर) अथवा, जो किसी से अलग नहीं, सबमें पूर्ण, सर्वव्यापक।

अर्थ—रघुवर श्रीरामजी की स्वाभाविक सीधी वाणी सुनकर ज्ञानी मुनि वाल्मीकिजी साधु! साधु! बोले॥७॥ हे रघुकुल की ध्वजा (श्रेष्ठ)! आप ऐसा क्यों न कहें; अर्थात् ऐसा कहना आपके योग्य ही है, क्योंकि आप सदा वेद-मर्यादा के पालनेवाले हैं॥८॥ हे रामजी! आप वेद-मर्यादा के रक्षक हैं, जगत् के ईश्वर हैं और श्रीजानकीजी आपकी आदि शक्ति हैं, जो कृपानिधि (आप) का रुख पाकर जगत् को रचती, पालती और संहार करती हैं॥ जो हजार शिरवाले, पृथिवी के धारण करनेवाले सर्पों के स्वामी शेषनाग और चराचर जगत् के स्वामी हैं, वे श्रीलक्ष्मणजी हैं। देवताओं के कार्य के लिये मनुष्यों के राजा का शरीर धरकर, आप दुष्ट राक्षसों की सेना को नाश करने चले हैं॥ हे श्रीरामजी! आप का स्वरूप वाणी का विषय नहीं, बुद्धि से परे, नित्य एवं व्यापक, अकथनीय और अपार है। आपको वेद निरंतर 'नेति नेति' कहते हैं॥१२६॥

विशेष—(१) 'सहज सरल सुनि रघुबर-बानी'—श्रीरामजी ने जो ब्राह्मणों में भक्ति कही, वह यथार्थ है, ब्राह्मणों के वचन सत्य करने को आपने अपने प्रिय-पार्षद जय-विजय को वैकुंठ से मर्त्यलोक में गिराया, भृगु की लात तक सही, इत्यादि। इसीसे मुनि ने साधु-साधु (ठीक-ठीक) कहा है। 'रघुवर'—क्योंकि रघुवंशी सभी विप्र-भक्त होते आये हैं, आप तो इस विषय में बहुत श्रेष्ठ हैं।

(२) 'कस न कहहु अस रघुकुल···'—रघुवंशी सभी वेद-मर्यादा की रक्षा करते आये हैं, वैसे आप भी करते हैं। यहाँ सम-अलंकार का दूसरा भेद है। 'संतत'—माधुर्य पक्ष में कुल-परंपरा से, ऐश्वर्य पक्ष में मत्स्य, कूर्म, वराह आदि रूपों से सदा वेद मर्यादा की रक्षा करते हैं।

यहाँ वाल्मीकिजी से स्थान पूछा है, क्योंकि ये रामायण (राम-अयन = रामजी का स्थान) के रचयिता होंगे, यथा—"रामायन जेहि निरमयेउ।" (बा० दो० १४); ऐसे ही पूर्व भरद्वाजजी से मार्ग पूछा है; क्योंकि वे परमार्थ-पथ के ज्ञाता हैं; यथा—"परमारथ पथ परम सुजाना।" (बा० दो० ४४); पुनः आगे अगस्त्यजी से मंत्र पूछेंगे—"अब सो मंत्र देहु प्रभु सोही॥" (आ० दो० १२); क्योंकि वे मंत्र के प्रचारक हैं। (अगस्त्य-संहिता में राम-मंत्र की विस्तृत व्याख्या है।)

(३) 'श्रुति-सेतु-पालक राम···'—यहाँ ऐश्वर्य-वर्णन प्रसंग है; अतः, 'राम' नाम कहा। ऊपर श्रुति-

सेतु रक्षा-सम्बन्ध से 'रघुकुल केतू' कहा था, यहाँ 'जगदीस' भी कहा है। जगदीश का अर्थ भगवान् है; अर्थात् आप माधुर्य और ऐश्वर्य दोनों तरह से जगत् की रक्षा करते हैं, वेद-मर्यादा का पालन करते हैं।

'माया जानकी'—माया का अर्थ कृपा ऊपर किया गया है, कृपा शब्द 'कृपू सामर्थ्ये' धातु से निष्पन्न है। अत, सामर्थ्य एवं शक्ति तथा आदि शक्ति अर्थ यहाँ है; यथा—"आदि सक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥" (बा० दो० १५१)। (इसकी व्याख्या भी देखिये।) 'रुख पाइ' अर्थात् संकेतमात्र से; यथा—"लव-निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया॥" (बा० दो० २२४); 'कृपानिधान'—यह श्रीजानकीजी ने स्वामी के लिये नियत संबोधन कर रक्खा है। अत:, इनके पारस्परिक व्यवहार-सम्बन्ध में यह एवं इसका पर्यायवाची 'करुणानिधान' आदि ही शब्द आते हैं; यथा—"अतिसय प्रिय करुनानिधान की।" (बा० दो० १७); "सत्य सपथ करुनानिधान की।" (सुं० दो० १२); (वहाँ इस अपने ऐकान्तिक संबोधन को सुनकर विश्वास हो गया था) पुन:—"सरल प्रकृति आप जानिये करुनानिधान की।" (वि० ४२), इत्यादि।

यहाँ इस शब्द से जनाया कि एकान्त में बैठे हुए स्वामी की सृष्टि की इच्छा जानकर महारानीजी मूल प्रकृति-द्वारा इच्छा-मात्र से जगत् रचना कर देती हैं। इच्छा; यथा—"तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" (छां० ६।२।३); सृष्टि रचना आदि भी जीवों पर कृपा-दृष्टि से होती है। इस सम्बन्ध से भी 'कृपा-निधान' कहा है।

(४) 'जो सहससीस अहीस'''—इस ग्रंथ में चार कल्पों की मिश्रित कथा है। किसी कल्प में श्रीलक्ष्मणजी शेषावतार हैं और किसी में साकेत-वासी श्रीलक्ष्मणजी स्वयं रूप से अवतीर्ण हैं। उपर्युक्त मूल अर्थ साकेत-विहारी परक है। दूसरे शेषावतारपरक भी इस तरह होगा कि जो सहस्र शीर्ष शेषनाग हैं, जो चराचर के स्वामी हैं। बा० दो० १९७ तथा बा० दो० २५६ चौ० १ भी देखिये। श्रीरामजी पालक, श्रीसीताजी रचनेवाली और श्रीलक्ष्मणजी धारण-कर्त्ता हैं; इस तरह तीनों को लेकर भी अंत में तीनों को 'सचराचर धनी' कहा जा सकता है।

(५) 'सुरकाज धरि नरराज तनु'''—ऊपर अवतार का कारण कहा; अब कार्य कहते हैं। 'दलन खल निसिचर' अर्थात् साधु निशाचर विभीषणादि को नहीं मारना है। यथा—"हम छत्री मृगया बन करहीं। तुम्हसे खल मृग खोजत फिरहीं॥" (आ० दो० १८)।

(६) 'राम सरूप तुम्हार, बचन'''—आपका रूप, वचन और बुद्धि की पहुँच से परे हैं; यथा—"यतो वाचो निवर्त्तन्ते॥ अप्राप्य मनसा सह॥" (तैत्ति० २।४); "नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा। अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयो॥" (कठ० ६।१२); तथा—"मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥" (बा० दो० ३४०); जो वाणी और बुद्धि से नहीं जाना जाता, तो होगा ही नहीं, इसपर कहते हैं कि 'अविगत' अर्थात् व्यापक रूप से सबमें पूर्ण है, फिर कहकर प्रकट किया जाय? इस शंका पर कहते हैं कि वह 'अकथ्य' है, क्योंकि 'अपार' है, तो कोई कहाँ तक कहेगा। अच्छा! मनुष्यों के लिये अपार होगा, पर वेद तो कहकर पार पाते होंगे, इसपर कहते हैं—'नेति नेति'''; यथा—"महिमा निगम नेति कहि कहई। जो तिहुँकाल एक रस अहई॥" (बा० दो० ३४०)।

इस कांड में कुल १३ छंद हैं और सब २४-२५ दोहों पर हैं, (केवल एक में तापस-प्रसंग का एक दोहा अधिक है) उनमें इसी एक छंद में 'तुलसी' का संभोग नहीं है, क्योंकि यहाँ तुलसी (दासजी) स्वयं वाल्मीकि-रूप में कह रहे हैं, संवाद प्रकट है, तो 'तुलसी' क्यों लिखें? इस तरह ग्रंथकार ने अपने पूर्व

रूप का परिचय दिया है। तथा—"जनम जनम जानकी नाथ के गुन गन तुलसिदास गाये।" (गी० लं० २१); अर्थात् पूर्व शरीर में भी इन्होंने ही गाया है। बा० मं० १ भी देखिये।

जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। विधि-हरि-संभु-नचावनिहारे ॥१॥
तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा। और तुम्हहि को जाननिहारा ॥२॥
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई ॥३॥
तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत-उर-चंदन ॥४॥

अर्थ—जगत् खेल (तमाशा) है। आप देखनेवाले हैं और ब्रह्मा-विष्णु-महेश को नचानेवाले हैं ॥१॥ वे भी आपका मर्म (भेद) नहीं जानते तब और कौन आपको जाननेवाला हो सकता है ? ॥२॥ वही जानता है जिसे आप जना दें। आपको जानते ही आप (ब्रह्म) ही हो जाता है ॥३॥ हे भक्त-उर-चन्दन हे रघुनन्दन ! आप ही की कृपा से भक्त-लोग आपको जानते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'जग पेखन तुम्ह···'—यहाँ कठ-पुतली के खेल का रूपक है—जगत् खेल है। तीनों गुण डोरी हैं और विधि, हरि, शंभु नचानेवाले हैं। आप देखते हैं; इसीलिये वे तीनों नचाते हैं कि आप प्रसन्न हों। पर आप किस खेल से प्रसन्न होते हैं ? यह मर्म वे भी नहीं जानते। यथा—"विधि हरि हर ससि रबि दिसि पाला।···राम रजाइ सीस सबही के॥" (दो० २५४); "जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत ··" (सुं० दो० २०)। जब वे तीनों आपके मर्म को नहीं जानते तो उनकी सृष्टि का कोई जीव कैसे जानेगा ? इसपर यह शंका होती कि तब तो ज्ञान-प्रतिपादक शास्त्र व्यर्थ हो जाते हैं; इसपर कहते हैं—

(२) 'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।···'—अर्थात् शास्त्रों के द्वारा एवं अन्य किसी भी उपाय से अपनी कृपा द्वारा आपही अपने को जना दें तो कोई भी आपको जान सकता है। फिर—'जानत तुम्हहि तुम्हइ···'; यथा—"ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" (मुं० ३।२।९) अर्थात् ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही होता है। इसका भाव यह है—"यस्यात्मा शरीरम्" (बृह० ३।७।२२ ; माध्य० ५।७।२२) तथा—"ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" (छां० ६।८।७) इत्यादि श्रुतियाँ चिदचिदात्मक (जड़ चेतनात्मक) जगत् को ब्रह्म का शरीर और ब्रह्म को उनका आत्मा प्रतिपादन करती हैं। जैसे प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) अपने शरीर के प्रति आत्मा होने से 'मैं मनुष्य हूँ', 'मैं देव हूँ' इस प्रकार अनुसंधान करता है; वैसे परमात्मा भी आत्माओं का आत्मा है। अतः, उपासक (जीव) अपने शरीरी उपास्य (ब्रह्म) के लिये 'अहं ब्रह्मास्मि' ऐसा अनुसंधान कर सकता है। यद्यपि जीवात्मा का शरीर जड़ है; अतः, यह अनुसंधान नहीं करता कि मैं जीवात्मा हूँ, तथापि यहाँ प्रत्यगात्मा तो चेतन है। अतः, यह अपने शरीरी ब्रह्म के प्रति 'अहं ब्रह्मास्मि' यह अनुसंधान कर सकता है, यथा—"त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते। अहं वै त्वमसि भगवो देवते।" इस श्रुति का अर्थ है कि हे भगवान् ! हे दिव्य गुण विशिष्ट ! मैं आप हूँ और आप मैं हैं···। यह अनुसंधान प्रीति के प्रणय भाव में होता है। "मम तव, तव मम प्रणय यह।" कहा है; यथा—"तोर कोस गृह मोर सब" (अं० दो० ११५)। इस प्रकार की प्रणयात्मक उपासना से जीव में ब्रह्म के साधर्म्य (लक्षण) आ जाते हैं। यथा—"इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।" (गीता १४।२), साधर्म्य के आठ लक्षण हैं; यथा—"एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्य कामः सत्य संकल्पः।" (छां० ८।१।५) अर्थात् यह आत्मा निष्पाप, वृद्धावस्थारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और

सत्यसंकल्प है। ये आठो लक्षण ब्रह्म में नित्य रहते हैं और जीव में इसके मुक्त होने पर नित्य धाम में प्राप्त होते हैं तो यह भी ब्रह्म संज्ञा से कहा जाता है। यही बात अगली अर्द्धाली के—'भगत-उर चंदन' विशेषण से घटित है।

जैसे चन्दन वृक्ष अपने तटस्थ वृक्षों को वायु-द्वारा अपना गंध-गुण पहुँचा कर चन्दन बना देता है, उन-उन वृक्षों के आकार-पत्ते आदि वही (पूर्व नामवाले वृक्षों के ही) रहते हैं। वे चन्दन के गंध-गुण-प्राधान्य से चन्दन कहाते हैं। इस तरह आम, नीम, बबूल-आदि भी 'चन्दन कहे जाते हैं। वैसे ही श्रीरामजी उपासकों—अर्थात् समीप रहकर प्रीतिपूर्वक सेवा करनेवालों को—अनुग्रह-रूपी वायु से उपर्युक्त गुण देकर ब्रह्म संज्ञा भी प्राप्त कराते हैं।

तात्पर्य यह कि उपर्युक्त—'त्वं वा अहमस्मि ···' की रीति से प्रणय द्वारा तादात्म्य-भाव प्राप्त होने पर—'अहं ब्रह्मास्मि' का भी अनुसंधान होता है और मुक्त होने पर साधर्म्य प्राप्त जीव की ब्रह्म-संज्ञा भी होती है। पर उपर्युक्त रीति से उसमें जीव-भाव रहता ही है। जैसे चन्दन से हुए वृक्षों का रूप कह आये। अतः, जीव और ब्रह्म दो पदार्थ हैं और इनका भेद वास्तविक है। जैसे कि ज्ञान की पराकाष्ठा सूर्य हैं। यथा—"तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।" (गीता ५।१६); "ज्ञान भानुगत" (उ० दो० ११०) उन सूर्य रूप जीव का भी आत्मा एवं प्रेरक ब्रह्म कहा गया है। यथा—"यस्यादित्यः शरीरम्" (वृह० ३।७।९)। अतः, भेद है ही।

सम्बन्ध—श्रीरामजी की कृपा से भक्त लोग उन्हें किस तरह जानते हैं, यही आगे कहते हैं—

चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगतबिकार जान अधिकारी ॥५॥
नरतनु धरेहु संत-सुर-काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा ॥६॥
राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे ॥७॥
तुम्ह जो कहहु करहु सब साँचा। जस काछिय तस चाहिय नाचा ॥८॥

अर्थ—आपकी देह सच्चिदानंदमय है; विकाररहित है। अधिकारी ही जानते हैं ॥५॥ संतों और देवताओं के कार्य के लिये आपने मनुष्य-शरीर धारण किया है और प्राकृत (पाञ्चभौतिक देहधारी) राजाओं की तरह आप कहते और करते हैं ॥६॥ हे श्रीरामजी! आपके चरितों को देख और सुनकर मूर्ख (आसुरी संपत्तिवाले) मोहते हैं और बुद्धिमान् सुखी होते हैं ॥७॥ आप जो कहते हैं और करते हैं, वह सब सत्य ही (यथार्थ ही) है; क्योंकि "जैसा काछ काछै वैसा नाच नाचै" (यह कहावत है; नर-शरीर धारणकर ऐसा ही कहना और करना चाहिये) ॥८॥

विशेष—(१) 'चिदानंदमय देह तुम्हारी।'—ब्रह्म-विग्रह (देह) सहित सच्चिदानंद स्वरूप है; यथा—"विरराम महातेजः सच्चिदानन्द विग्रहः ॥" (श्रीरामस्तवराज); "सर्वे शाश्वता नित्या देहास्तस्य परात्मनः। हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित् ॥" (वाराहपुराण); और जीव केवल स्वरूप से सच्चिदानंद रूप है। 'विकार'—जन्म, जरा, मरण एवं षड्विकार आदि। 'अधिकारी'—आगे के १४ स्थान संपन्न अथवा, आपके कृपापात्र—'तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं ··जानहिं···' ऊपर कहा ही गया।

(२) 'नरतनु धरेहु संत-सुर···', यथा—"इच्छा-मय नर वेष सँवारे। होइहउँ प्रगट निकेत

तुम्हारे ॥" (बा० दो० १५१); अर्थात् श्रीरामजी अपने नित्य किशोर रूप में इच्छानुसार बाल, पोगंड आदि अवस्थाएँ धारण करते और तदनुसार लीला करते हैं।

(३) 'राम देखि सुनि चरित···'—चरित एक ही है, पर उसी में जड़ मोहित होते और बुध (पंडित) सुखी होते हैं। जैसे कि एक ही जगत् को लोभी धनमय, कामी नारिमय और ज्ञानी ब्रह्ममय देखते हैं। अन्यत्र कहा भी है; यथा—"निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन जान नहि कोइ। सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होइ" (उ० दो० ७३) तथा—"उमा राम गुन गूढ़, पंडित मुनि पावहिं बिरति। पावहिं मोह बिमूढ़, जे हरि बिमुख न धरम रति ॥" (आ० दो० १) इत्यादि।

दोहा—पूछेहु मोहि कि रहउँ कहँ, मैं पूछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहु कहि, तुम्हहिं देखावउँ ठाउँ ॥१२७॥

सुनि मुनिबचन प्रेमरस साने। सकुचि राम मन महँ मुसकाने ॥१॥
बालमीकि हँसि कहहिं बहोरी। बानी मधुर अमिअरस बोरी ॥२॥

अर्थ—आपने मुझसे पूछा कि कहाँ रहूँ, और मैं यह पूछते हुए सकुचता हूँ कि जहाँ आप न हों वह स्थान बता दें तो मैं वही स्थान आपके लिये दिखा दूँ ॥१२७॥ मुनि के प्रेमरस में साने हुए वचन सुनकर श्रीरामजी सकुचकर मन में हँसे ॥१॥ वाल्मीकिजी हँसकर मीठी अमृत रस में डूबी हुई वाणी फिर बोले ॥२॥

विशेष—(१) 'पूँछेहु मोहि कि···'—'सकुचाउँ' क्योंकि ऐसा करने में आपकी बराबरी होती है, प्रतिवादी बनता हूँ। 'जहँ न होहु' अर्थात् आप सर्वत्र ही तो हैं। 'सकुचि राम मन···'—क्योंकि आप ऐश्वर्य गुप्त रखते हुए लीला करना चाहते हैं, मन में मुस्कुराकर अपनी प्रसन्नता जनाते हैं। अपनी बड़ाई सुनकर सकुचना आपका स्वभाव है, यथा—"सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई।" (वि० १६४)।

(२) 'बालमीकि हँसि···'—मुनि हँसे कि मुझे अभी स्मरण हो आया कि जहाँ-जहाँ आप नहीं हैं, उन-उन स्थानों को गिनाता हूँ, क्योंकि यदि आप वहाँ होते, तो वे सब तरसते क्यों ? वाणी प्रेमपूर्ण है; अतएव, उसे अमृत-रस से बोरी हुई कहा है, क्योंकि प्रेम ही अमृत है। यथा—"प्रेम अमिय मंदर बिरह···" (दो० २३८)।

चौदह स्थान प्रदर्शन

सुनहु राम अब कहहुँ निकेता। जहाँ बसहु सिय-लखन-समेता ॥३॥
जिन्हके श्रवन समुद्र-समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना ॥४॥
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्हके हिय तुम्ह कहँ गृह रूरे ॥५॥

अर्थ—हे श्रीरामजी ! सुनिये, अब स्थान बतलाता हूँ, जहाँ, आप श्रीसीता और लक्ष्मणजी के साथ

निवास करें ॥३॥ जिनके कान समुद्र के समान हैं और आपकी कथारूपिणी अनेक सुंदर नदियाँ से सदा (अहर्निश = निरंतर) भरते ही रहते हैं, पर पूर्ण नहीं होते ; अर्थात् बराबर श्रद्धा बनी ही रहती है, उनके हृदय आपके लिये सुंदर घर हैं ॥४-५॥

विशेष—(१) यहाँ से १४ स्थान कहे जा रहे हैं, ये १४ प्रकार के भक्ति के अंग हैं। पहले ही—'जहँ बसहु सिय-लखन समेता।' कह दिया है। इसके अनुरोध से सर्वत्र आगे तीनों को ही समझना चाहिये। आगे प्रत्येक स्थान में छंदानुरोध से कहीं एक और कहीं दो ही नाम देंगे। भक्ति के वर्णन में प्रथम नवधा है; यथा—"श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥" (भाग० ७।५।२३)। इसमें प्रथम श्रवणभक्ति है, वाल्मीकिजी भी प्रथम इसी को कहते हैं।

(२) 'जिन्हके श्रवन समुद्र समाना।···'—पहले 'जहँ न होहु तहँ देहु कहि' से व्यापक रूप से श्रीरामजी का सर्वत्र रहना कहा था। यहाँ से अब माधुर्य रूप से तीनों मूर्त्तियों के बसने के लिये स्थान कहते हैं। कान समुद्र के समान सदा अतृप्त रहते हैं, कथाएँ बड़ी-बड़ी नदियों के समान हैं, जो समुद्र तक गई हैं। यद्यपि—'रामायन सतकोटि अपारा' सुनते हैं, तथापि तृप्त नहीं होते। उनका ही हृदय सुंदर घर है। 'गृह रूरे'—वहाँ आपके लिये सब तरह के पदार्थों से सुपास है। यह प्रथम स्थान हुआ।

लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाखे ॥६॥
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी। रूपबिंदु जल होहिं सुखारी ॥७॥
तिन्हके हृदय-सदन सुखदायक। बसहु बंधु सिय सह रघुनायक ॥८॥

दोहा—जस तुम्हार मानस बिमल, हंसिनि जीहा जासु।
मुकताहल गुनगन चुनइ, राम बसहु हिय तासु ॥१२८॥

अर्थ—जिन्होंने अपने नेत्रों को चातक बना रक्खा है, आपके दर्शन-रूपी मेघों के अभिलषित रहते हैं ॥६॥ भारी नदियों, समुद्रों और तालाबों का निरादर करते हैं और आपके दर्शनरूपी बूँदभर जल से ही सुखी होते हैं ॥७॥ उनके हृदय सुखदायक घर हैं। उनमें, हे रघुनायक! आप भाई और श्रीसीताजी के साथ बसिये ॥८॥ आपके यशरूपी निर्मल मानस-सरोवर में जिसकी जिह्वा हँसिनी-रूप होकर आपके गुण-समूह-रूपी मोती समूह को चुगती है, हे श्रीरामजी! आप उसके हृदय में निवास कीजिये ॥१२८॥

विशेष—(१) 'लोचन चातक जिन्ह करि ···'—चातक की अनन्यता ; यथा—"आश्रित्य चातकीं वृत्तिं देहपातावधि द्विज। सरःसमुद्रनद्यादीन् विहाय चातको यथा ॥ तृषितो म्रियते वापि याचते वा पयोधरम्।" (पद्मपुराण, पातालखंड अ० ५१) तथा—"एक भरोसो एक बल, एक आस बिस्वास। एक राम घनस्याम हित, चातक तुलसीदास ॥···" से "एक अंग जो सनेहता, निसि दिन चातक नेह ···" (दोहावली २७७-३१२) तक। अर्थात् वह गंगा, यमुना, सरस्वती आदि पवित्र नदियों और मानस-सर आदि पवित्र तालाबों और सातों समुद्रों तक के जल का निरादर करके शरदऋतु के स्वाती नक्षत्र के जल का बूँद-मात्र ग्रहण करता है। वैसे आपके अनन्य भक्त निर्गुण ब्रह्मरूपी सिंधु, ऋद्धि-सिद्धि-सम्पि

भारी-भारी नदियों और सब धर्मरूपी तालाबों का निरादर कर आपके अहर्निश दर्शनरूपी स्वाती की झड़ी के अभिलाषी रहते हैं; क्षणिक दर्शनरूपी एक बूँद भी पाकर सुखी हो जाते हैं। उदाहरण, सरित—"रिधि-सिधि संपति नदी सुहाई।" (दो० १), सिंधु—"जो आनँद-सिंधु सुखरासी।" (बा० दो० १९६); "आनँद सिंधु मध्य तव बासा॥ बिनु जाने कत मरसि पियासा॥" (वि० १३६); (अन्य भगवद्रूप सगुण ब्रह्म की अवस्था मात्र हैं और सब देवता अंग हैं। साधक को यह दृष्टि रहने से वे अनन्यता के बाधक नहीं होते।) 'सर'—"धरम तड़ाग ···" (उ० दो० ३०)।

अनन्य भक्तों ने इन्हें त्यागा भी है; यथा—"जरउ सो संपति सदन सुख, सुहृद मातु पितु भाइ। सनमुख होत जो राम पद, करइ न सहस सहाइ॥" (दो० १८५); तथा पूर्वोक्त—"रिधिसिधि संपति नदी···", "सब बिधि सब पुरलोग सुखारी। रामचंद्र मुखचंद निहारी॥" (दो० १) पर कहा गया कि ऋद्धि आदि की उपेक्षा करके पुरवासी केवल राममुख-चंद्र के दर्शन पर ही सुखी हैं, यह ऋद्धि-सिद्धि संपत्ति रूपिणी नदियों का त्यागना है। "इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा॥" (बा० दो० ११५)। यह निर्गुण ब्रह्म का त्यागना है। "सो सुख धरम करम जरि जाऊ। जहँ न राम-पद-पंकज भाऊ॥" (दो० २९०) यह सब धर्मरूपी तालाब का त्यागना है।

यहाँ नेत्र-इन्द्रिय को भक्ति में लगाने को रूपा-सक्ति कही गई। यह दूसरा स्थान कहा गया।

(२) 'जस तुम्हार मानस बिमल······'—यश मानस-सर है; जिह्वा हंसिनी है; उदारता, सुशीलता, धीरता, कृपालुता आदि गुण मोती के समूह हैं, गान, कीर्तन आदि चुगना हैं, यद्यपि यश-रूपी मानस में गुण-गण मोती के अतिरिक्त और भी पदार्थ हैं, तथापि अनन्य भक्त लोग गुण-गण-रूपी मोतियों को ही ग्रहण करते हैं। 'मुकुताहल'; यथा—"बिथुरे नभ मुकुताहल तारा।" (लं० दो० ११); यहाँ वाणी का लगना एवं कीर्त्तन भक्ति है। यह तीसरा स्थान हुआ।

> प्रभुप्रसाद सुचि सुभग सुबासा। सादर जासु लहइ नित नासा॥१॥
> तुम्हहि निवेदित भोजन करहीं। प्रभु-प्रसाद पट-भूषन धरहीं॥२॥
> सीस नवहिं सुर-गुरु-द्विज देखी। प्रीतिसहित करि बिनय बिसेखी॥३॥
> कर नित करहिं रामपद पूजा। रामभरोस हृदय नहि दूजा॥४॥
> चरन रामतीरथ चलि जाहीं। राम बसहु तिन्हके मन माहीं॥५॥

अर्थ—जिनकी नासिका नित्य आदरपूर्वक आपकी प्रसादित पवित्र-सुन्दर-सुगंध (फूल, तुलसी, अतर आदि) सूँघती है॥१॥ जो आपको अर्पण किया हुआ भोजन करते हैं, आपका प्रसाद वस्त्र-भूषण धारण करते हैं॥२॥ देवता, गुरु और ब्राह्मण को देखकर शिर नवाते और प्रेम से बहुत विनती करते हैं॥३॥ जो अपने हाथों से नित्य श्रीरामजी के चरणों की पूजा करते हैं, जिनके हृदय में श्रीरामजी का भरोसा है, दूसरा नहीं॥४॥ जो चरणों से (सवारी पर नहीं) श्रीरामजी के तीर्थ में चलकर जाते हैं, हे श्रीरामजी ! आप उनके हृदय में बसिये॥५॥

विशेष—(१) यहाँ अर्चनभक्ति है, नासिका, मुख, रसना, त्वचा, शिर, मन, हाथ और चरण—इन आठो अंगों से अर्चन-विधि कही गई है। 'सीस नवहिं'—कर्म, 'प्रीति सहित'—मन 'करि बिनय'—वचन से सुर, गुरु और द्विज की भक्ति कही गई है।

यहाँ पर वाल्मीकिजी श्रीरामजी से ही कह रहे हैं, फिर—'कर नित करहि राउरि पद-पूजा' न कहकर 'राम-पद पूजा' कहा है। यह व्यंग से प्रार्थना है और ऊपर से माधुर्य-रक्षा भी है कि परमात्मा रामजी के पद की पूजा करते हैं, उनके हृदय में आप दाशरथी राम ही बसें, क्योंकि वे राम ही के लिये तरस रहे हैं। ऊपर कहा था—'जहँ न होहु तहँ देहु कहि' को लेने से व्यंगार्थ स्पष्ट हो जाता है।

श्रीभरद्वाजजी ने याज्ञवल्क्यजी से पूछा था—"एक राम अवधेस कुमारा।''''''प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ, जाहि जपत त्रिपुरारि।" (बा० दो० ४५–४६) उसका उत्तर भी दक्षिण घाट के वक्ता याज्ञवल्क्यजी भरद्वाजजी के गुरु (वाल्मीकिजी) के ही मुख से दाशरथी राम और परमात्मा राम की एकता कहलवाते हैं।

(२) 'रामभरोस हृदय''''''; यथा—"मोर दास कहाइ नर आसा। करै तो कहहु कहा विश्वासा॥" (उ० दो० ४५); "हरिजन इव परिहरि सब आसा।" (कि० दो० १५)।

(३) 'चरन राम तीरथ चलि जाहीं'; यथा—"चंचल चरन लोभ लगि लोलुप द्वार-द्वार जग बागे। राम-सीय आश्रमनि चलत त्यों भये न श्रमित अभागे॥" (वि० १७०)। यह चौथा स्थान कहा गया।

मंत्रराज नित जपहि तुम्हारा। पूजहि तुम्हहि सहित परिवारा॥६॥
तरपन होम करहि विधि नाना। विप्र जेंवाइ देहि बहु दाना॥७॥
तुम्ह ते अधिक गुरहि जिय जानी। सकल भाय सेवहि सनमानी॥८॥

दोहा—सब करि माँगहिं एक फल, राम-चरन-रति होउ।
तिन्हके मन-मंदिर बसहु, सिय-रघुनंदन दोउ॥१२९॥

अर्थ—जो नित्य आपका मंत्र-राज जपते हैं, और आपको परिवार के साथ पूजते हैं॥६॥ अनेक प्रकार से तर्पण और हवन करते हैं, ब्राह्मणों को भोजन कराके बहुत दान देते हैं॥७॥ गुरु को आपसे अधिक जी से जानकर सर्व भाव से सम्मान-पूर्वक उनकी सेवा करते हैं॥८॥ यह सब करके (इन सबका) एक ही फल माँगते हैं कि श्रीरामजी के चरणों में अनुराग हो, उनके हृदय रूपी मंदिर में रघुकुल को आनंद देनेवाले आप और श्रीसीताजी दोनों निवास करें॥१२९॥

विशेष—(१) 'मंत्रराज नित जपहिं''''''—यह मंत्राराधन नवधाभक्ति में पाँचवीं भक्ति है; यथा—"मंत्र जाप मम दृढ़ विश्वासा। पंचम भजन सो वेद प्रकासा॥" (आ० दो० ३५); 'मंत्र राज' षडक्षर राम-मंत्र को कहते हैं, इसे नित्य-नियम से जपते हैं। 'पूजहिं तुम्हहि सहित परिवारा'—यहाँ मंत्र जाप के साथ मंत्रार्थानुसार परिवार पूजन अभिप्रेत है। इसका विधान रामतापनीय उपनिषत्, रामार्चन चंद्रिका, अगस्त्य संहिता आदि में है। श्रीरामजी के परिवार, उनके परिकर और आवरण देवता हैं। ऊपर प्रतिमा रूप में पूजन कहा था।

(२) 'तरपन होम'''विप्र जेंवाई'''—मंत्र जाप कहा था, उसको यज्ञ भी कहा जाता है, यथा—"यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि।" (गीता० १०।२५); यज्ञ करके तर्पण, हवन, ब्राह्मण भोजन और दक्षिणा देना, विधि है। अतएव इन्हें भी कहा है। यहाँ अनुष्ठान-पूर्वक मंत्र जाप कहा

(३) 'तुम्हते अधिक गुरहि जिय''''''—गुरु को श्रीरामजी से अधिक महत्त्व देना कहा है, क्योंकि गुरुजी की कृपा से श्रीरामजी की प्राप्ति होती है ; यथा—"गुरु गोविंद दोनों खड़े, काके लागूँ पायँ। बलिहारी उन गुरुन की गोविंद दियो लखाय ॥" यह प्रसिद्ध है। तथा—"गुरु बिनु भव-निधि तरै न कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई ॥" (उ० दो० ९३); गुरु से यहाँ शरणागति के दीक्षागुरु से तात्पर्य है। यह पाँचवाँ स्थान है।

काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा ॥१॥
जिन्हके कपट दंभ नहिं माया। तिन्हके हृदय बसहु रघुराया ॥२॥
सबके प्रिय सबके हितकारी। दुख-सुख-सरिस प्रसंसा गारी ॥३॥
कहहिं सत्य प्रियबचन बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी ॥४॥
तुम्हहिं छाड़ि गति दूसरि नाहीं। राम बसहु तिन्हके मन माहीं ॥५॥

अर्थ—जिनके न काम, क्रोध, मद, मान और न मोह है, न लोभ, न क्षोभ, न राग और न द्रोह है ॥१॥ कपट, दंभ और न माया है, हे रघुराय ! आप उनके हृदय में बसें ॥२॥ जो सबके प्यारे हैं, सबका भला करते हैं, जिनको दुःख और सुख, प्रशंसा और गाली एक समान हैं ॥३॥ जो विचार कर प्रिय सत्य वचन बोलते हैं, जागते-सोते आपकी शरण हैं ॥४। आपको छोड़कर जिन्हें दूसरी गति नहीं है, हे श्रीरामजी ! उनके मन में निवास कीजिये ॥५॥

विशेष—(१) 'काम कोह मद मान'''—अब अंतःकरण शुद्धि कहते हैं—कामादि नरक में डालनेवाले हैं; यथा—"त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥" (गीता १६।२१); "काम क्रोध मद लोभ सब, नाथ नरक के पंथ।" (सुं० दो० ३८)। अतः, इन्हें त्यागा है; अर्थात् कोई कामना एवं स्त्री की अभिलाषा नहीं है, कोई कैसा भी अपराध करे, तब भी क्रोध नहीं होता। जाति-विद्या, धन आदि का मद नहीं है, लोक प्रतिष्ठा की चाह नहीं और न किसी का मोह है। धन का लोभ, व्यग्रता, सांसारिक प्रेम और न किसी से द्रोह है।

(२) 'कपट दंभ नहिं माया'—भीतर कुछ बाहर कुछ यह कपट है, बाहर साधु वेष का आडंबर बनाकर लोगों को ठगना एवं आत्मश्लाघा की चाह दंभ है। छल की बातों से किसी को वश करना माया है। यह छठा स्थान हुआ यहाँ ज्ञानवृत्ति है।

(३) 'सबके प्रिय सबके हित'''—सबके हित करने से सबके प्रिय हैं।

(४) कहहिं सत्य प्रिय'''—सत्य प्रायः कठोर होता है, उसे प्रिय बनाकर कहते हैं; यथा—"पिता दीन्ह मोहि कानन राजू।" (दो० ५२); वनवास दिया जाना सत्य था, पर माता को अप्रिय होता, उसे राज्य का रूप देकर कहा। प्रिय वाद में भी कभी मिथ्या कहा जाता है, इसलिये विचारकर सत्य ही कहना कहा गया।

(५) 'जागत सोवत सरन'' '—अर्थात् हर अवस्था में प्रभु के रक्षकत्व का विश्वास है।
'तुम्हहिं छाड़ि गति'''; यथा—"बचन करम मन मोरि गति, भजन करैं निःकाम।" (आ० दो० १६); अर्थात् मन आदि तीनों से मुझमें निरत रहते हैं, दूसरे का भरोसा नहीं। यह सातवाँ स्थान हुआ, यहाँ अनन्य गतिवृत्ति है।

जननी - सम जानहिं पर- नारी । धन पराव विष ते विष भारी ॥६॥
जे हरषहिं परसंपति देखी । दुखित होहिं परबिपति बिसेखी ॥७॥
जिन्हहि राम तुम्ह प्रान-पियारे । तिन्हके मन सुभ सदन तुम्हारे ॥८॥

दोहा—स्वामि सखा पितु मातु गुरु, जिन्हके सब तुम्ह तात ।
मन-मंदिर तिन्हके बसहु, सीयसहित दोउ भ्रात ॥१३०॥

अर्थ—जो दूसरे की स्त्री को माता के समान मानते हैं, जिनको दूसरे का धन विष से भी भारी विष है ॥६॥ जो दूसरे का ऐश्वर्य देखकर प्रसन्न होते हैं और दूसरों की विपत्ति पर विशेष दुखी होते हैं ॥७॥ हे श्रीरामजी ! जिन्हें आप प्राणों से भी अधिक प्रिय हों, उनके मन आपके लिये शुभ भवन हैं ॥८॥ हे तात ! जिनके स्वामी, सखा, माता, पिता, गुरु सब कुछ आप ही हैं, उनके मन-रूपी मंदिर में श्रीसीताजी के साथ आप दोनों भाई निवास करें ॥१३०॥

विशेष—(१) 'जननी-सम जानहिं'''—यह सब संतवृत्ति है और आठवाँ स्थान है ।

(२) 'स्वामि सखा पितु'''—स्वामी पालक, सखा सहायक एवं विश्वासी ; यथा—"गुरु पितु मातु बंधु पति देवा । सब मोकहँ जानइ दृढ़ सेवा ॥" (बा० दो० १५), यथा—"जननी जनक बंधु सुत दारा'''सबकै ममता ताग'''" (सुं० दो० ४७); श्रीलक्ष्मणजी ने कर दिखाया है; यथा—"गुरु पितु मातु न जानउँ काहू।'' " (दो० ७१) । यह नवाँ स्थान है, यहाँ आत्मनिवेदन भक्ति है (उ० उ० ११० भी देखिये) ।

'जे हरषहिं परसंपति '''—इसमें गुण से गुण मानने में उल्लास-अलंकार का पहला भेद है । पुनः 'दुखित होहिं पर बिपति बिसेखी ।' में दोष से दोष मानने में उसी का चौथा भेद है ।

अवगुन तजि सबके गुन गहहीं । बिप्र-धेनु-हित संकट सहहीं ॥१॥
नीतिनिपुन जिन्ह कइ जग लीका । घर तुम्हार तिन्हकर मन नीका ॥२॥
गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा । जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा ॥३॥
रामभगत प्रिय लागहिं जेही । तेहि उर बसहु सहित बैदेही ॥४॥

अर्थ—जो अवगुणों को छोड़कर सबके गुणों को ग्रहण करते हैं, ब्राह्मण और गऊ के लिये संकट सहते हैं ॥१॥ नीति में निपुण होने की जिनकी जगत् में ख्याति (नाम) है, उनके अच्छे मन आपके लिये अच्छे घर हैं ॥२॥ जो आपके गुणों को और अपने दोषों को समझते हैं; अर्थात् जो कुछ हमसे अच्छा बनता है, वह श्रीरामजी की प्रेरणा से और जो बिगड़ता है, वह हमारे प्राकृतिक दोषों से ही है । जिसको सब तरह से आपका ही भरोसा है (कि श्रीरामजी हमारा भला ही करेंगे) ॥३॥ जिसे राम-भक्त प्रिय लगते हैं, उसके हृदय में (आप) वैदेहीजी के साथ निवास करें ॥४॥

विशेष—(१) 'अवगुन तजि सबके गुन '''; यथा—"संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार ।" (बा० दो० ६) ; "मधुकर सरिस संत गुनग्राही ।" (बा० दो० ६) ।

'नीतिनिपुन'—यथा—"अति नय निपुन न भाव अनीती।" (सुं० दो० ४५)।
'जग लीका'—अर्थात् उनकी बाँधी हुई उत्तम नीति आज तक जगत् में प्रचलित है।
यह दसवाँ स्थान है, यहाँ तितिक्षा-वृत्ति है, इसके धर्म विशेषकर क्षत्रियों में घटित हैं।

(२) 'गुन तुम्हार समुझइ निज…'—यथा—"तुलसी सुखी जो राम सों, दुखी जो निज करतूत।" (दोहावली ८८); "कोटिहुँ मुख कहि जाहिं न प्रभु के एक-एक उपकार।" (वि० १०२); 'सब भाँति तुम्हार भरोसा'—आपकी कृपा का ही भरोसा है; यथा—"प्रनत पाल.पालिहि सब काहू। … अस मोहि सब बिधि भूरि भरोसो।" (दो० ३१२)। 'राम भगत प्रिय लागहिं जेही।'; यथा—"गृही बिरति रत हरष जस, बिष्णु भगत कहँ देखि।" (कि० दो० १६)।

यह ग्यारहवाँ स्थान है, इसमें कार्पण्य-वृत्ति है।

जाति पाँति धन धरम बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई ॥५॥
सब तजि तुम्हहिं रहइ लव लाई। तेहि के हृदय रहहु रघुराई ॥६॥
सरग नरक अपबरग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु-बाना ॥७॥
करम-बचन-मन राउर चेरा। राम करहु तेहि के उर डेरा ॥८॥

दोहा—जाहि न चाहिय कबहुँ कछु, तुम्ह सन सहज सनेह।
बसहु निरंतर तासु मन, सो राउर निज गेह ॥१३१॥

येहि बिधि मुनिबर भवन देखाये। बचन सप्रेम राम-मन भाये ॥१॥

अर्थ—जो जाति, पाँति, धन, धर्म, बड़ाई, प्रिय वर्ग, प्यारे परिवार और सुखदायक घर, यह सब छोड़कर आप ही में लव लगाये रहता है, हे रघुराई! उसके हृदय में आप रहें ॥५-६॥ स्वर्ग, नरक और मोक्ष जिनके लिये समान हैं, (क्योंकि वे) जहाँ-तहाँ (सर्वत्र) धनुष-बाण धारण किये हुए आपको ही देखते हैं ॥७॥ और कर्म, वचन और मन से आपके चेरे (सेवक) हैं, हे श्रीरामजी! उनके हृदय में (आप) निवास करें ॥८॥ जिसे कभी भी कुछ न चाहिये, जो आपसे स्वाभाविक स्नेह रखता है, उसके हृदय में निरंतर निवास करें, यह (तो) आपका स्वकीय घर है ॥१३१॥ इस प्रकार मुनि-श्रेष्ठ ने १४ स्थान दिखाये, उनके प्रेम युक्त वचन श्रीरामजी के मन को अच्छे लगे ॥१॥

विशेष—(१) 'जाति पाँति धन धरम…'—ऊपर प्रवृत्ति-मार्गवाले कहे गये, अब निवृत्तिवाले कहे जाते हैं। 'जाति' की उच्चता, 'पाँति'—उच्चकुल में सहभोजाधिकार' एवं धन आदि इन सबके अभिमान को त्यागकर श्रीरामजी (आप) में लव लगाये हुए रहते हैं; यथा—"मन ते सकल वासना भागी। केवल रामचरन लय लागी ॥" (उ० दो० १०६); "मेरे जाति पाँति न चहउँ काहू की जाति पाँति …" (क० उ० १०७); "सुत संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई। ये सब राम-भगति के बाधक।…" (कि० दो० ६)। कहा भी है—"जातिर्विद्यामहत्त्वं च रूपयौवनमेव च। यत्नेन परिवर्ज्जेयाः पंचैते भक्तिकंटकाः ॥"

यह बारहवाँ स्थान वैराग्य वृत्ति का है।

(२) 'सरग नरक अपबरग···'—अर्थात् हर अवस्था में वे प्रभु ही को देख सुखी होते हैं— "खेलिबे को खग मृग तरु किंकर होइ रावरो राम हौं रहि हौं। यहि नाते नरकहुँ सचु पैहौं या बिनु परम-पदहुँ दुख दहिहौं॥" (वि० २३१); "तुम्ह बिनु दुखी सुखी तुम्ह ते ही॥" (दो० २३०); 'जह तहँ देख धरे···'—भक्तों की गाढ़ स्मृति होने पर भगवान् उनकी आँखों के सामने ही सर्वत्र दीखने लगते हैं। गोपिकाओं के वचन हैं—"साँवरे रंग में हौं तो रँगी हमरो जग साँवरो साँवरो सूझै।" तथा—"लगे रहत मेरे नैनन आगे रामलखन अरु सीता।" (गी० अ० ५१)। यह तेरहवाँ स्थान अनन्य-वृत्ति का है।

(३) 'जाहि न चाहिय कबहुँ ···'—ये निष्काम प्रेमी हैं; यथा—"सकल कामना-हीन जे, राम-भगति-रस लीन।" (बा० दो० २२); ये केवल प्रभु ही को चाहते हैं, इसीसे वे यहाँ निरंतर रहते हैं। 'येहि बिधि मुनिवर भवन देखाये।' यह उपसंहार है। इसका उपक्रम—"सुनहु राम अब कहउँ निकेता।" (दो० १२७); से हुआ है। यह चौदहवाँ स्थान निष्काम प्रेम का है।

(४) 'बचन सप्रेम राम-मन भाये'—श्रीरामजी प्रेम-प्रिय हैं; यथा—"रामहि केवल प्रेम पियारा।" (दो० १३६); अतः, उन्हें सप्रेम वचन प्रिय लगे।' मन भाये'···श्रीरामजी ने मन-ही-मन उक्त स्थानों को स्वीकार किया कि हम अवश्य इनमें रहेंगे। मन ही से स्वीकार किया, क्योंकि ऐश्वर्य गुप्त रखना चाहते हैं।

मुनि ने १४ स्थान कहे, क्योंकि पहले 'जहँ न होहु तहँ देहु कहि' से सर्वत्र व्यापकता कह आये थे, वैसे यहाँ कहा कि जैसे १४ भुवनों में रहते हैं, वैसे इन १४ स्थानों में भी रहें। वा, १४ वर्ष वन में रहना है; अतः, १४ ही स्थान कहे हैं।

कह मुनि सुनहु भानु-कुल-नायक। आश्रम कहउँ समय सुखदायक॥२॥
चित्रकूट - गिरि करहु निवासू। तहँ तुम्हार सब भाँति सुपासू॥३॥
सैल सुहावन कानन चारू। करि-केहरि - मृग - बिहग बिहारू॥४॥
नदी पुनीत पुरान बखानी। अत्रिप्रिया निज तप-बल आनी॥५॥

अर्थ—मुनि ने कहा कि हे सूर्यकुल के स्वामी! सुनिये, अब समय के अनुसार सुख-दायक निवास-स्थान कहता हूँ॥२॥ आप चित्रकूट पर्वत पर निवास करें, वहाँ आपका सब तरह सुपास (सुविधा) है॥३॥ पर्वत सुहावना है और सुन्दर वन है, हाथी, सिंह, हरिण आदि पशु और पक्षियों का यह विहार स्थान है॥४॥ पवित्र नदी है, जिसकी पुराणों ने बड़ाई की है और जिसे अत्रि मुनि की प्रिय स्त्री अनसुइयाजी अपने तप के बल से (पृथिवी पर) लाई थीं॥५॥

विशेष—(१) 'सुनहु भानुकुल नायक'—पहले ऐश्वर्य स्वरूप के कथन में 'राम' यह ऐश्वर्य-परक नाम कहा था; यथा—"सुनहुँ राम अब कहउँ निकेता।" (दो० १२७); अब माधुर्य स्वरूप के स्थान कथन में 'भानुकुल नायक' यह माधुर्य नाम दिया।

'समय सुखदायक'—इस समय आपने जो रूप-धारण किया है, इसके योग्य, क्योंकि—"अस काछिय तस चाहिय नाचा।" (दो० १२६); कह ही चुके हैं।

(२) 'तहँ तुम्हार सब भाँति······'; यथा—"इहाँ सकल रितु रहब सुखारी।" (दो० १२५)।

(३) 'सैल सुहावन कानन चारू।'—पर्वत सुन्दर हैं, हरे-हरे वृक्ष हैं और वे पल्लव, फूल और

फल से सम्पन्न रहते हैं। 'करि केहरि मृग...'—इनके विहार से सैल वन की रमणीयता है, मृगया आदि के लिये भी अच्छा है (इसकी शोभा आगे विस्तार से कहेंगे)।

(४) 'अत्रि-प्रिया निज तप......'—यह कथा आ० दो० ४ चौ० १ में कही जायगी।

सुरसरि धार नाउँ मंदाकिनि। जो सब पातक-पोतक-डाकिनि ॥६॥
अत्रि आदि मुनिबर बहु बसहीं। करहिं जोग जप तप तनु कसहीं ॥७॥
चलहु सफल श्रम सब कर करहू। राम देहु गौरव गिरिबरहू ॥८॥

दोहा—चित्रकूट महिमा अमित, कही महामुनि गाइ।
आइ नहाये सरित-बर, सिय समेत दोउ भाइ ॥१३२॥

शब्दार्थ—पोतक = बालक, कसहीं (सं० कर्षण) = कष्ट देना = क्लेश पहुँचाना।

अर्थ—यह गंगाजी की एक धारा है, इसका नाम मंदाकिनी है, जो पाप-रूपी बालकों के खा डालने के लिये डाइन के समान है; अर्थात् यह दर्शन-स्नान करनेवालों के पापों को बिना श्रम ही जड़ से नाश कर देती है ॥६॥ अत्रि आदि बहुत-से मुनिश्रेष्ठ वहाँ बसते हैं, योग और जप-तप करते हैं और (इन साधनों से) शरीर को कसते हैं ॥७॥ हे श्रीरामजी चलिये, सबके परिश्रम को सफल कीजिये और गिरि-श्रेष्ठ चित्रकूट को गौरव (प्रतिष्ठा) दीजिये ॥८॥ महामुनि वाल्मीकिजी ने चित्रकूट की अमित महिमा को गा (बखान) कर कहा, तब दोनों भाइयों ने श्रीसीताजी के साथ यहाँ आकर श्रेष्ठ नदी में स्नान किया ॥१३२॥

विशेष—(१) 'सब पातक'; यथा—"जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कवि कहहीं ॥" (दो० १६६)। पातक—गोहत्या, ब्रह्महत्या आदि; उपपातक—छोटे पाप जो साधारण व्यवहार में प्रायः हुआ करते हैं। बालक की उपमा का भाव यह कि पापों को जन्मते ही नाश कर देती है, बढ़ने नहीं पाते, पुनः बिना श्रम नाश करती है, यह भी भाव है।

(२) 'सफल श्रम सब कर करहू'—क्योंकि श्रीराम-दर्शन से ही साधन सफलता है, यथा—"सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दर्सन पावा ॥" (दो० २०१)। श्रीरामजी के ही सम्बन्ध से चित्रकूट को महान् गौरव मिला। आगे दो० १३७–१३८ देखिये।

(३) 'चित्रकूट-महिमा अमित ....', यथा—"सब सोच विमोचन चित्रकूट।......अब चित चेतु चित्रकूटहिं चल।..." (वि० २३–२४); "यावता चित्रकूटस्य नरः शृंगाण्यवेक्षते। कल्याणानि समाधत्ते न मोहे कुरुते मनः ॥" (वाल्मी० २।५४।३०)।

"वाल्मीकि-प्रभु-मिलन" प्रकरण समाप्त

"चित्रकूट जिमि बस भगवाना" प्रकरण

रघुबर कहेउ लखन भल घाटू। करहु कतहुँ अब ठाहर ठाटू ॥१॥
लखन दीख पय उतर करारा। चहुँ दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा ॥२॥

नदी पनच सर सम दम दाना। सकल कलुष कलि साउज नाना ॥३॥
चित्रकूट जनु अचल अहेरी। चुकइ न घात मार मुठभेरी ॥४॥
अस कहि लखन ठाँव देखरावा। थल बिलोकि रघुबर सुख पावा ॥५॥

शब्दार्थ—ठाहर = ठहरने का स्थान। ठाट = प्रबंध, उपाय। कारा = ऊँचा किनारा। पनच = रोदा, प्रत्यञ्चा। मुठभेरी = भिड़कर, समीप से मुक्का की भिड़ंत (मार)।

अर्थ—रघुकुल श्रेष्ठ श्रीरामजी ने श्रीलक्ष्मणजी से कहा कि यह घाट अच्छा है, अब कहीं ठहरने का प्रबन्ध करो ॥१॥ श्रीलक्ष्मणजी ने पयस्विनी नदी के उत्तर तट को देखा कि एक नाला चारों ओर धनुष की तरह फिरा हुआ है ॥२॥ नदी प्रत्यंचा रूप है, शम, दम, दान बाण हैं, कलि के समस्त पाप अनेक जीवा (शिकार पशु) हैं ॥३॥ चित्रकूट मानों अचल शिकारी है, जो मुठभेरी मारता है, उसकी घात नहीं चूकती ॥४॥ ऐसा कहकर श्रीलक्ष्मणजी ने स्थान दिखाया, स्थल देखकर श्रीरामजी ने सुख पाया ॥५॥

विशेष—(१) 'चहुँ दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा'—धनुष जब कान तक खींचा जाता है, तब गोलाकार हो जाता है, वैसे ही यह नाला फिरा हुआ है। नदी को जलधारा ही प्रत्यंचा है। यहाँ पर स्नान-दान आदि किये जाते हैं; जैसे रोदा से बाण चलाये जाते हैं। बाणों से शिकार मारे जाते हैं, यहाँ इन बाणों से पाप नाश होते हैं।

कलि के सब पाप नाश हो जाते हैं, तो और युगों के पाप तो सूक्ष्म ही होते हैं। 'चल' अहेरी थक भी जाता है; पर यह 'अचल' अहेरी है; अतः, थकता नहीं। अचल है, पाप-समूह-रूप शत्रुओं से चलायमान नहीं होता; यथा—"चला न अचल रहा रथ रोपी। रन दुर्मद रावन अति कोपी ॥" (लं० दो० ८०); अन्य तीर्थ चल अहेरी हैं, क्योंकि वहाँ के शम, दम, दान आदि कटाक्ष आदि से चूक जाते हैं, पर यहाँ पहाड़-वन आदि उदासीन भूमि है। अतः, सहज ही मन शुद्ध रहता है, उपयुक्त 'यावता चित्रकूटस्य······' देखिये।

ऊपर मंदाकिनी को डाकिनी रूप से पातक-रूपी बालकों का खाना कहा गया, अर्थात् जो चित्रकूट में रहकर पाप-रूपी बालक पैदा होते हैं, उन्हें खा जाती है और यहाँ बाहर के किये हुए पापों को भी नाश करना बताया कि दूर के पापों को भी श्रीचित्रकूटजी शिकार की तरह मार डालते हैं। वा, मंदाकिनि मानसिक पापों को और चित्रकूट कायिक पापों को नाश करते हैं।

रमेउ राम-मन देवन्ह जाना। चले सहित सुर-थपति प्रधाना ॥६॥
कोल-किरात-बेष सब आये। रचे परन-तृन-सदन सुहाये ॥७॥
बरनि न जाहिं मंजु दुइ साला। एक ललित लघु एक बिसाला ॥८॥

दोहा—लखन-जानकी-सहित प्रभु, राजत रुचिर निकेत।
सोह मदन मुनिबेष जनु, रति-रितुराज-समेत ॥१३३॥

अर्थ—जब देवताओं ने जाना कि श्रीरामजी का मन रम (लग) गया तब वे देव-थवई (सं०-सुर-स्थपति अर्थात् स्थापत्यकला के आदि आचार्य, विश्वकर्मा आदि) और अपने प्रधान इन्द्र के साथ चले ॥६॥ सब कोल किरातों के वेष में आये। पत्ते और तृण के सुन्दर घर रचकर बनाये ॥७॥ सुन्दर दो निवास-स्थान बनाये जो वर्णन नहीं किये जा सकते। एक सुंदर छोटा-सा और दूसरा विशाल (बड़ा लंबा, चौड़ा और ऊँचा) ॥८॥ श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी के साथ सुंदर पर्ण-कुटी में प्रभु विराजमान (होकर ऐसे) सोहते हैं कि मानों कामदेव मुनि-वेष धारण कर रति और वसंत के साथ सोह रहा हो ॥१३३॥

विशेष—(१) 'रमेउ राम-मन···'—यहाँ श्रीरामजी का मन रम गया। वे यहाँ रमण करना चाहते हैं; इसलिये वैसी रम्य कुटी भी चाहिये। अतः, देवता विश्वकर्मा और इन्द्र के साथ आये। जैसा कार्य करना है वैसे ही कोल-किरात के रूपों में आये। देव रूप से आते, तो उनका कुटी बनाना श्रीरामजी के नर-नाट्य के विरुद्ध होता। पुनः साक्षात् देवता भूमि पर स्पर्श नहीं करते। इससे भी इस वेष में आये।

(२) 'एक ललित लघु एक···'—बड़ी पर्णशाला श्रीसीतारामजी के लिये और छोटी निकट में ही श्रीलक्ष्मणजी के लिये है। वा, बड़ी तीनों के लिये और छोटी रसोई घर है। यहाँ रम्य स्थल कहा। आगे रमण करना कहते हैं। ऐसा ही महर्षिजी ने भी कहा है, यथा—*"रम्यमावसथं कृत्वा रममाणा वनेत्रयः।"* (वाल्मी० २।५६।३१)।

(३) 'लखन-जानकी-सहित···'—भाव यह कि मुनि वेष पर भी सोहते हैं। जैसे कामदेव सहायकों के साथ होने पर जगत् को मोहता है। यहाँ तीनों उपमान-उपमेय में वर्ण की और रमण की समता है। काम विकारयुक्त होने से नहीं सोहता था; पर आज मुनि वेष में होने से सोहता है। यहाँ की क्रीड़ा का वर्णन—"फटिक शिला मृदु बिसाल संकुल···" (गी० अ० ४४); इस पूरे पद में देखने योग्य है।

> अमरनाग किंनर दिसिपाला। चित्रकूट आये तेहि काला ॥१॥
> राम प्रनाम कीन्ह सब काहू। मुदित देव लहि लोचन लाहू ॥२॥
> बरषि सुमन कह देव-समाजू। नाथ सनाथ भये हम आजू ॥३॥
> करि बिनती दुख दुसह सुनाये। हरषित निज निज सदन सिधाये ॥४॥
> चित्रकूट रघुनंदन छाये। समाचार सुनि सुनि मुनि आये ॥५॥

अर्थ—देवता, नाग, किंपुरुष, दिक्पाल, उस समय चित्रकूट आये ॥१॥ सब किसी ने श्रीरामजी को प्रणाम किया। (क्योंकि ऐश्वर्य दृष्टि से दुःख सुनाने आये हैं) देवता नेत्रों का लाभ पाकर आनंदित हुए ॥२॥ फूल बरसाकर देव-समाज कह रहा है कि हे नाथ! हम आज सनाथ हुए; अर्थात् अभी तक अनाथ की तरह भूखों मरते थे, राक्षसों से सताये जाते थे; अब यज्ञ भाग भी मिलेगा; राक्षसों से भी रक्षा होगी ॥३॥ विनती करके उन्होंने अपने-अपने दुस्सह दुःख सुनाये और प्रसन्न होकर अपने-अपने घर गये ॥४॥ श्रीरघुनाथजी चित्रकूट में छा कर रहे। (कुटी बनाकर स्थायी रूप में ठहरे), तब समाचार सुन-सुनकर मुनि लोग आये ॥५॥

विशेष—(१) 'अमरनाग किन्नर'' '—देवताओं का आना ऊपर कोल-किरात रूप में कहा गया। अभी उनका आना नहीं कहा गया, फिर दोबारा आना कैसा ? उत्तर यह है कि पहले सेवा के योग्य शरीर धरकर आये। कुछ थोड़े से देवता आये थे और अब शेष भी प्रत्यक्ष रूप से समाज के साथ आये; क्योंकि सब मिलकर दुःख सुनायेंगे। प्रथम के कोल-किरात रूपवाले भी कार्य करके अपने रूप में विमानों पर समाज के साथ हैं।

सब आये, क्योंकि सभी रावण से सताये हुए हैं; यथा—"रवि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी॥ किन्नर सिद्ध मनुज सुर नागा। हठि सब ही के पंथहिं लागा॥" (बा० दो० १८१) "दिगपालन्ह मैं नीर भरावा।" (लं० दो० २७)।

(२) 'राम प्रनाम कीन्ह सब काहू।'—ये सब प्रत्यक्ष रूप से दुःख सुनाने आये हैं। इससे इन्होंने प्रणाम किया है और इसीलिये 'राम' यह ऐश्वर्यपरक नाम दिया गया है। आगे मुनियों को दण्डवत् करने में 'रघुकुल चंदा' माधुर्य नाम देंगे। 'दुख दुसह' अर्थात् घर में रहने नहीं पाते, रावण उर्वसी आदि को ले गया; पुष्पक विमान ले गया और सबको बंदीखाने में डाल रक्खा है, इत्यादि।

(३) 'हरषित निज निज'''' अर्थात् प्रभु ने ढारस दिया; इससे प्रसन्न होकर घर गये। नहीं तो भागे फिरते थे। 'चित्रकूट ''छाये' अर्थात् यहाँ कुछ काल रहेंगे। अभी तक तो मार्ग ही चला करते थे। 'सुनि सुनि मुनि आये'—जैसे-जैसे सुनते हैं। वैसे-वैसे आते-जाते हैं।

आवत देखि मुदित मुनिबृंदा। कीन्ह दंडवत रघुकुल-चंदा ॥६॥
मुनि रघुबरहिं लाइ उर लेहीं। सुफल होन हित आसिप देहीं ॥७॥
सिय-सौमित्रि-राम-छवि देखहि। साधन सकल सफल करि लेखहि ॥८॥

दोहा—जथाजोग सनमानि प्रभु, बिदा किये मुनिवृन्द।
करहिं जोग जप जाग तप, निज आश्रमन्हि सुछंद ॥१३४॥

अर्थ—मुनियों के समूह को प्रसन्नतापूर्वक आते देखकर रघुकुल के चन्द श्रीरामजी ने दंडवत् की ॥६॥ मुनि रघुवर श्रीरामजी को हृदय से लगा लेते हैं और (अपनी आशिष की) सफलता के लिये आशिष देते हैं ॥७॥ वे श्रीसीताजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीरामजी की छवि को देखते हैं और अपने समस्त साधनों को सफल करके मानते हैं ॥८॥ प्रभु श्रीरामजी ने मुनिवृंदों को यथायोग्य सम्मान करके विदा किया। वे अपने-अपने आश्रमों में स्वतंत्रता से योग, जप, यज्ञ, तप करने लगे ॥१३४॥

विशेष—(१) 'सुफल होन हित '''; यथा—"तदपि देवि मैं देवि असीसा। सफल होन हित निज बागीसा॥" (दो० १०२), 'साधन सकल सफल'''—वाल्मीकिजी ने कहा था—"चलहु सफल श्रम सब कर करहू।" (दो० १२१) उसीका यहाँ चरितार्थ हो रहा है। श्रीराम-दर्शन ही साधनों की सफलता है; यथा—"सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन-राम-सिय-दरसन पावा॥" (दो० २०१) "आजु सकल सुकृत फल पाइहउँ।'''सुतन्ह सहित दशरथहिं देखिहउँ'''" (गी० बाँ० ३६)।

(२) 'जथा जोग सनमानि प्रभु'''—जो जिस योग्य था उसका वैसा सम्मान किया।

अर्थात् अपने सामर्थ्य का भरोसा दिया। 'निज आश्रमन्हि सुछंद' अर्थात् पहले अगस्त्य, पर्वत आदि मुनियों के आश्रमों में और उनके परतंत्र होकर जप-योगादि करते थे। अब अपने-अपने ही आश्रमों में करते हैं। क्योंकि जानते हैं कि ये विश्वामित्रजी के यज्ञ के रक्षक और—'मारीच-सुभुज-मद-मोचन' हैं। हमारी भी रक्षा करेंगे।

सम्बन्ध—अत्रि आदि महामुनियों के सम्मान करने से इनका प्रभाव और इनकी कथा कोलों ने सुनी तो आगे उनका आना कहते हैं—

यह सुधि कोल किरातन्ह पाई। हरषे जनु नव निधि घर आई ॥१॥
कंद मूल फल भरि भरि दोना। चले रंक जनु लूटन सोना ॥२॥
तिन्ह महँ जिन्ह देखे दोउ भ्राता। अपर तिन्हहि पूछहि मग जाता ॥३॥
कहत सुनत रघुबीर - निकाई। आइ सबन्हि देखे रघुराई ॥४॥
करहि जोहार भेंट धरि आगे। प्रभुहि बिलोकहि अति अनुरागे ॥५॥
चित्र लिखे जनु जहँ तहँ ठाढ़े। पुलक सरीर नयन जल बाढ़े ॥६॥
राम सनेह मगन सब जाने। कहि प्रिय बचन सकल सनमाने ॥७॥
प्रभुहि जोहारि बहोरि बहोरी। बचन बिनीत कहहिं कर जोरी ॥८॥

दोहा—अब हम नाथ सनाथ सब, भये देखि प्रभु पाय।
भाग हमारे आगमन, राउर कोसलराय ॥१३५॥

अर्थ—कोल-किरात यह (श्रीरामजी के आने का) समाचार पाकर प्रसन्न हुए, मानों घर बैठे नवोनिधियाँ आ गई हों ॥१॥ दोने में कंद-मूल-फल भर-भरकर चले, मानों दरिद्र लोग सोना लूटने जा रहे हों ॥२॥ उनमें से जिन्होंने दोनों भाइयों को देखा, उनसे और लोग मार्ग में पूछते हैं ॥३॥ रघुवीर श्रीरामजी की सुन्दरता कहते-सुनते सबों ने आकर रघुनाथजी के दर्शन किये ॥४॥ भेंट (के पदार्थ कंद-मूल आदि जो लाये हैं) आगे रखकर प्रणाम करते हैं और अनुरक्त होकर प्रभु को देख रहे हैं ॥५॥ लिखे हुए चित्र की तरह जहाँ-तहाँ खड़े हैं (हिलते-डोलते नहीं), शरीर में पुलकावली है, नेत्रों में प्रेमाश्रु की बाढ़ आ गई ॥६॥ श्रीरामजी ने सबको प्रेम में निमग्न जाना। प्रिय-वचन कहकर सबका सम्मान किया ॥७॥ वे बार-बार प्रभु को प्रणाम कर-करके हाथ जोड़कर बड़े ही नम्र वचन कहते हैं ॥८॥ कि हे नाथ! आपके चरणों के दर्शन पाकर हम सब अब सनाथ हुए। हे कोशल राज! आपका आगमन हमारे भाग्य से हुआ ॥१३५॥

विशेष—(१) 'हरषे जनु नव निधि'''—ये सब गरीब हैं, नव-निधियाँ इनके घरों में एकाएक आ जायँ तो इन्हें कितना हर्ष होगा, वैसा ही हर्ष हुआ। ये मारे प्रेम के दौड़कर दर्शनों के लिये जा रहे हैं, जैसे कंगाल लोग सोना लूटने को दौड़कर चलें। इनका प्रेम आगे कहा जायगा; यथा—"नर नारि

निदरहिं नेह निज सुनि कोल भिल्लनि की गिरा।" (दो० २५१) तथा—"बचन परसपर कहत किरातिनि प्रेम बिवस जल नयन बहेरी॥ तुलसी प्रभुहिं बिलोकत यक टक लोचन जनु बिनु पलक लहेरी॥" (गी० अ० ४१); 'अब हम नाथ सनाथ''—प्रभु के दर्शनों से ये सब सन्मार्गी हो गये, यही सनाथ होना है; यथा—"यह हमारि अति बड़ि सेवकाई।''' पाप करत निसिबासर जाहीं।' जब ते प्रभु पद पदुम निहारे। मिटे दुसह दुःख दोष हमारे॥" (दो० २५०)। 'भाग हमारे'—ऋषि-मुनि लोग साधन-निष्ठ हैं, पर हमारे पास तो कुछ नहीं है, केवल कृपा से दर्शन दिये। माधुर्य में भी इतने बड़े कोशल राज का कोलों के यहाँ आना उनके अहोभाग्य से ही है।

धन्य भूमि बन पंथ पहारा। जहँ जहँ नाथ पाउ तुम्ह धारा॥१॥
धन्य बिहग मृग काननचारी। सफल जनम भये तुम्हहि निहारी॥२॥
हम सब धन्य सहित परिवारा। दीख दरस भरि नयन तुम्हारा॥३॥
कीन्ह बास भल ठाउँ बिचारी। इहाँ सकल रितु रहब सुखारी॥४॥
हम सब भाँति करब सेवकाई। करि-केहरि-अहि-बाघ बराई॥५॥
बन - बेहड़ गिरि - कंदर - खोहा। सब हमार प्रभु पग-पग जोहा॥६॥
तहँ तहँ तुम्हहि अहेर खेलाउब। सर निरझर भल ठाउँ देखाउब॥७॥
हम सेवक परिवार समेता। नाथ न सकुचब आयसु देता॥८॥

दोहा—बेदबचन मुनि-मन अगम, ते प्रभु करुना अयन।
बचन किरातन्ह के सुनत, जिमि पितु बालक बयन॥१३६॥

अर्थ—हे नाथ! वे भूमि, वन, मार्ग और पहाड़ धन्य हैं, जहाँ-जहाँ आपने चरण रक्खा है॥१॥ वे पक्षी, पशु वन में विचरनेवाले धन्य हैं, आपको देखकर सबके जन्म सफल हुए॥२॥ परिवार के साथ हम सब धन्य हैं कि नेत्रों-भर आपके दर्शन किये॥३॥ अच्छी जगह विचारकर आपने निवास किया है। यहाँ सब ऋतुओं में सुखी रहेंगे॥४॥ हमलोग सब प्रकार से हाथी, सिंह सर्प और व्याघ्र से बचाकर आपकी सेवा करेंगे॥५॥ वन, बीहड़ (ऊँचा नीचा विषमस्थल), पर्वत, कन्दराएँ और खोह ये सब हमारे पैर-पैर (अर्थात् पग-भर भी ऐसी भूमि नहीं है, जिसे हमने न देखा हो) देखे हुए हैं॥६॥ जहाँ-तहाँ आपको शिकार खेलावेंगे, तालाब झरने आदि अच्छे-अच्छे स्थल दिखावेंगे॥७॥ हम परिवार के साथ आपके सेवक हैं। हे नाथ! आज्ञा देने में संकोच न कीजियेगा॥८॥ जो वेद की वाणी और मुनियों के मन को अगम हैं। वे ही करुणा के स्थान प्रभु किरातों के वचन ऐसे सुन रहे हैं, जैसे पिता बालक के वचनों को॥१३६॥

(७) 'इहाँ सकल रितु'''— गर्मी में ताप नहीं लगेगा, वर्षा में बूँदों का बचाव होगा और जाड़ा भी न लगेगा ; यथा—"चित्रकूट सब दिन नीको लागत।" (गी० अ० ५०); 'सकलरितु' से यह भी जनाया कि ऋतुएँ वर्ष में छः होती हैं, छहों में (१ वर्ष) यहाँ रहेंगे। वाल्मीकिजी ने कहा था— "तहँ तुम्हार सब भाँति सुपासू।" (दो० १३१); वही यहाँ चरितार्थ है। 'करि केहरि अहि बाघ बराई' अर्थात् मंत्र द्वारा उन्हें अलग कर देंगे, पास न आने पावेंगे।

'अहेर खेलाउब'—शिकारियों के साथ हँकवारे होते हैं। शिकार को भगाकर शिकारी के पास लाते हैं, एवं अवसर भी दिखाते हैं; वही सेवा करने को ये लोग कहते हैं।

(३) 'वेदवचन मुनि-मन'''—वेद 'नेति नेति' कहते हैं ; यथा—"मुनि जेहि ध्यान न पावहि, नेति नेति कह वेद।" (लं० दो० ११७); "मन समेत जेहि जान न बानी।" (बा० दो० ३४०) तब दूसरों के वचन और मन की पहुँच कैसे हो सकती है ? 'ते प्रभु' अर्थात् ऐसे समर्थ ईश्वर भी अपनी करुणा से सुगम हैं। 'जिमि पितु बालक'''; यथा—"जौं बालक कह तोतरि बाता। सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता॥" (बा० दो० ७)।

> रामहि केवल प्रेम पियारा। जानि लेउ जो जाननिहारा ॥१॥
> राम सकल-बनचर तब तोषे। कहि मृदु बचन प्रेम परिपोषे ॥२॥
> बिदा किये सिर नाइ सिधाये। प्रभुगुन कहत सुनत घर आये ॥३॥
> एहि बिधि सिय-समेत दोउ भाई। बसहिं बिपिन सुर-मुनि-सुखदाई ॥४॥

अर्थ—श्रीरामजी को केवल प्रेम प्यारा है, जो जाननेवाले हों, वे जान लें ॥१॥ तब श्रीरामजी ने सब वनवासियों (कोल-किरातों) को संतुष्ट किया, कोमल मीठे वचन कहकर उनके प्रेम को परिपुष्ट कर दिया ॥२॥ और विदा किया, वे शिर नवाकर चले, प्रभु के गुण कहते-सुनते अपने घर आये ॥३॥ इस तरह सुर-मुनि को सुख देनेवाले दोनों भाई श्रीसीताजी के साथ वन में बसते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'केवल प्रेम पियारा'—जाति, विद्या, बुद्धि, वेष आदि नहीं, क्योंकि यहाँ प्रत्यक्ष है कि इन कोल-किरातों के पास तो कुछ भी नहीं, प्रेममात्र ही है; उसी पर प्रभु इन्हें पुत्र के समान प्यार कर रहे हैं तो ऐसे प्रभु की शरण अवश्य होना चाहिये; यथा—"बालमीकि केवट कथा कपि भील भालु सनमान। सुनि सन्मुख जो न राम सों तेहि को उपदेसिहि ज्ञान॥" (वि० १११); जब ऐसों को अपना लिया तो जो उत्तम वृत्तिवाले शरण होंगे, उनके लिये क्या कहना है ? यथा—"अपिचेत्सु · मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः। · किं पुनर्ब्राह्मणाः'''"—(गीता ९।३०-३३)।

'राम सकल बनचर'''—कोमल वाणी से कहा कि हम यहाँ तुम्हारे ही भरोसे हैं। जो काम लगेगा, तुम्हीं से कहेंगे; क्योंकि यहाँ हमारा और कौन है ? हम संकोच न करेंगे। प्रयोजन पड़ने पर बुला लेंगे। अभी अपने घर का काम देखो, इत्यादि। सबके हार्दिक प्रेम को जानकर उनका परितोष किया, इसीसे 'राम' कहा कि आप सबमें रमे हैं। 'सुर मुनि सुखदाई'—ऊपर सुर-मुनियों के प्रति सुख-दातृत्व कहा गया, यहाँ कोलों का भी कहकर साथ ही सुरमुनि के प्रसंग का भी उपसंहार करते हैं।

जब ते , आइ रहे रघुनायक । तब ते भयेउ बन मंगल-दायक ॥५॥
फूलहिं फलहिं बिटप बिधि नाना । मंजु-बलित-बर-बेलि - बिताना ॥६॥
सुर-तरु-सरिस सुभाय सुहाये । मनहुँ बिबुधबन परिहरि आये ॥७॥
गुंज मंजुतर मधुकर - श्रेनी । त्रिबिध बयारि बहइ सुख देनी ॥८॥

दोहा—नीलकंठ कलकंठ सुक, चातक चक्क चकोर ।
भाँति भाँति बोलहिं बिहग, श्रवनसुखद चितचोर ॥१३७॥

अर्थ—जब से श्रीरघुनाथजी यहाँ आकर बसे तब से वन मंगलदायक हो गया ।।५।। तरह-तरह के वृक्ष अनेक प्रकार से फूलते-फलते हैं, उनपर लपटी हुई सुन्दर बेलों के सुन्दर मंडप बने हुए हैं ।।६।। कल्पवृक्ष के समान स्वाभाविक शोभायमान हैं, मानों देवताओं के वन को छोड़कर आये हैं ।।७।। भौंरों की पंक्ति अतिशय सुंदर गुंजार कर रही है, सुख देनेवाली शीतल-मंद-सुगंध तीनों प्रकार की हवा चल रही है ।।८।। नीलकंठ, कोयल, तोते, चातक, चकवा और चकोर आदि तरह-तरह के पक्षी कानों को सुख देनेवाली भाँति-भाँति की बोलियाँ बोल रहे हैं ।।१३७।।

विशेष—'मंगल-दायक'—फल, फूल, पल्लवों से युक्त होना मंगल-दायक होना है, वही आगे कहते हैं। 'बलित'=आवेष्टित, लपटी हुई। 'नीलकंठ' एक पक्षी है, जिसका देखना दशहरे को शुभ है, पुनः मोर को भी नीलकंठ कहते हैं।

करि केहरि कपि कोल कुरंगा । बिगत बैर बिचरहिं सब संगा ॥१॥
फिरत अहेर रामछबि देखी । होहिं मुदित मृगबृंद बिसेखी ॥२॥
बिबुधबिपिन जहँ लगि जग माहीं । देखि रामबन सकल सिहाहीं ॥३॥
सुरसरि सरसइ दिनकरकन्या । मेकलसुता गोदावरि धन्या ॥४॥
सब सर सिंधु नदी नद नाना । मंदाकिनि कर करहिं बखाना ॥५॥
उदय-अस्त गिरि अरु कैलासू । मंदर मेरु सकल-सुर-बासू ॥६॥
सैल हिमाचल आदिक जेते । चित्रकूट - जस गावहिं तेते ॥७॥
बिंधि मुदित मन सुख न समाई । श्रम बिनु बिपुल बड़ाई पाई ॥८॥

दोहा—चित्रकूट के बिहँग मृग, बेलि बिटप तृन जाति ।
पुन्यपुंज सब धन्य अस, कहहिं देव दिन-राति ॥१३८॥

अर्थ—हाथी, सिंह, बानर, शूकर, हिरण, ये सब वैर को छोड़कर एक साथ विचरते हैं। शिकार के लिये फिरते हुए, श्रीरामजी की छवि को देखकर पशुओं के समूह विशेष आनंदित होते हैं

जहाँ तक संसार में देवताओं के वन हैं, वे सब श्रीरामजी के वन को देखकर ललचाते हैं ॥३॥ गंगा, सरस्वती, सूर्यपुत्री यमुना, नर्मदा, गोदावरी आदि धन्या (पुण्या) नदियाँ ॥४॥ सभी अनेक तालाब, समुद्र, नदी और (सोन, ब्रह्मपुत्र, महानद आदि) नद, मंदाकिनी की बड़ाई करते हैं ॥५॥ उदयाचल, अस्ताचल, कैलास, मंदराचल और सुमेरु पर्वत आदि सभी देव-स्थान ॥६॥ हिमालय आदि जितने पहाड़ हैं, वे सब चित्रकूट का यश गाते हैं ॥७॥ विन्ध्याचल मन में प्रसन्न है, इसके मन में सुख नहीं समाता, (क्योंकि) इसने बिना परिश्रम के ही बहुत बड़ाई पाई है ॥८॥ चित्रकूट के पक्षी, पशु, लताएँ, वृक्ष, तृण जातियाँ, सब समूह पुण्यवाले और धन्य हैं, दिनरात देवता ऐसा कहते हैं ॥१३८॥

विशेष—(१) 'बिगत बैर बिचरहिं ···'—पहले वन की रमणीयता कही थी, अब जीवों की निर्वैरता द्वारा उसका प्रभाव कहते हैं कि इसमें पशुओं में भी सात्त्विक भाव आ गये हैं।

(२) 'फिरत अहेर···'; यथा—"सरचारिक चारु बनाइ कसे कटि पानि सरासन सायक लै। बन खेलत राम फिरैं मृगया तुलसी छबि सो बरनै किमि कै॥ अवलोकि अलौकिक रूप मृगी मृग चौंकि चकैं चितवैं चित दै। न डगैं न भगैं जिय जानि सिलीमुख पंच धरे रतिनायक है॥" (क० अ० २७)।

(३) 'सुरसरि सरसइ दिनकर···'—गंगाजी ब्रह्मद्रव हैं और सर्व तीर्थमयी हैं, सरस्वतीजी ब्रह्मरूपा, यमुनाजी सूर्य की पुत्री, नर्मदाजी में शिवजी का निवास ही रहता है। धन्या सबों का विशेषण है, धन्या नाम की एक नदी भी श्रीमद्भागवत में कही गई है। ये सब मंदाकिनी की बड़ाई करती हैं कि इसके तट पर परात्पर श्रीरामजी निवास करते हैं।

(४) 'उदय-अस्त-गिरि ···'—उदयाचल ब्रह्मांड का द्वार है, सूर्य उसी पर नित्य उदय होते हैं और अस्ताचल पर अस्त होते हैं, कैलास शिवजी का निवास स्थान है, मंदराचल को भगवान् ने कच्छप-रूप से पीठ पर धारण किया है और सुमेरु स्वर्णमय है और उसपर देवता लोग रहते हैं। ये राक्षसों से भयभीत होने पर वहीं छिपा करते हैं। ये सब चित्रकूट का यश गाते हैं; अर्थात् वन को वन, नदी को नदी और पहाड़ को पहाड़ सिहाते हैं, इस तरह जाति जाति को सिहाती है।

(५) 'बिंधि मुदित मन सुख ·····'—क्योंकि चित्रकूट विंध्याचल का ही एक शृंग है। 'श्रम बिनु···'—महाभारत वन पर्व अ० १०४ में कथा है कि सूर्य सदा सुमेरु की प्रदक्षिणा करते हैं। विन्ध्याचल ने कहा कि हमारी भी प्रदक्षिणा किया करें, तब सूर्य ने कहा कि ईश्वर के द्वारा जो नियत है, उसी मार्ग पर मैं चलता हूँ, इसपर विन्ध्याचल क्रुद्ध हुए और सूर्य-चन्द्रमा की गति रोकने के लिये बढ़ने लगे, तब देवता लोगों ने घबड़ाकर अगस्त्यजी से प्रार्थना की कि आप इनकी गति को रोकें। अगस्त्यजी स्त्री के साथ आये और कहा कि मैं किसी कार्य से दक्षिण जाता हूँ, मुझे राह दो और जब तक मैं न लौटूँ, तब तक तुम और न बढ़ना। उसने गुरु की आज्ञा मान ली। अगस्त्यजी फिर दक्षिण से लौटे ही नहीं। इससे विंध्याचल लेटा हुआ है। (इसीसे इसके पत्थर स्तरमय निकलते हैं) देखिये, इसने पहले बहुत श्रम किया था, पर बड़ाई न पाई, और गुरु की आज्ञा मानने से श्रीरामजी ने कृपा करके पूर्व की चाह से कहीं अधिक बड़ाई दी कि सुमेरु आदि सभी इसे सराहते हैं।

(६) 'चित्रकूट के बिहँग मृग ·· ···'—चित्रकूट की शोभा वर्णन का उपसंहार करते हैं। 'दिन-राति'—देवताओं के सम्बन्ध से यह भी भाव है कि श्रीरामजी को एक वर्ष यहाँ रहना हुआ; क्योंकि ग्रंथकार ने यहाँ छः ऋतुओं का वर्णन किया है और मनुष्यों के एक वर्ष में देवताओं के १ दिन और १ रात होते हैं।

नयनवंत रघुबरहि बिलोकी। पाइ जनम-फल होहिं बिसोकी ॥१॥
परसि चरनरज अचर सुखारी। भये परमपद के अधिकारी ॥२॥
सो बन सैल सुभाय सुहावन। मंगलमय अति-पावन-पावन ॥३॥
महिमा कहिय कवनि बिधि तासू। सुखसागर जहँ कीन्ह निवासू ॥४॥
पयपयोधि तजि अवध बिहाई। जहँ सिय-लखन-राम रहे आई ॥५॥

अर्थ—आँखवाले श्रीरघुनाथजी को देखकर जन्म का फल पाकर शोक-रहित हो जाते हैं ; अर्थात् भव-चक्र से छूट जाते हैं ॥१॥ चरणों की धूलि का स्पर्श करके अचर (जड़) सुखी होते हैं, (क्योंकि) वे परम-पद के अधिकारी हो गये ॥२॥ वे वन और पर्वत सहज ही सुहावने, अत्यन्त मंगलमय और अत्यन्त पावन को भी पावन करनेवाले हैं ॥३॥ उनकी महिमा किस तरह कही जा सकती है कि जहाँ सुख के समुद्र श्रीरामजी ने निवास किया है ॥४॥ क्षीर सागर को छोड़ और श्रीअवध को छोड़कर जहाँ श्रीसीताजी, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी आकर रहे ॥५॥

विशेष—(१) 'नयनवंत · होहिं बिलोकी'—आँखवाले श्रीरामजी के दर्शनों से स्व-स्वरूप के अधिकारी होकर शोक-रहित हो जाते हैं; यथा—"तरति शोकमात्मवित्" यह श्रुति है। अचर वर्ग चरण के स्पर्श से परम-पद के अधिकारी बनते हैं, जैसे अहल्या की कथा है ; कहा भी है—"जड़ चेतन जग जीव घनेरे। जिन्ह चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे ॥ ते सब भये परम-पद जोगू।" (दो० २१६)। "मुहूर्तमपि राम त्वां येऽनुपश्यन्ति केचन। पाविताः स्वर्गभूताश्च पूज्यास्ते त्रिदिवेश्वरैः ॥" (वाल्मी० ७ ८२।१०)।

(४) 'पय पयोधि तजि अवध······'—चित्रकूट की महिमा क्षीर-समुद्र और श्रीअवध से भी अधिक है, क्योंकि श्रीलक्ष्मीनारायणजी और शेषजी क्षीर-समुद्र में रहते हैं, वे उसे छोड़कर 'सिय राम लखन' रूप से अवध में आकर रहे, अब अवध को भी छोड़कर पैदल आकर यहाँ रहते हैं। अतः, क्षीर-सागर से अवध और उससे अधिक यहाँ की महिमा है।

इस ग्रंथ में चार कल्प की कथाएँ एक साथ चल रही हैं, उनमें एक कल्प का अवतार क्षीर-सागर से होता है। वही प्रसंग यहाँ प्रधान है। यों भी अर्थ है कि श्रीलक्ष्मीनारायणजी क्षीर-सागर को छोड़कर और श्रीसीतारामजी श्रीअवध (साकेत) को छोड़कर यहाँ आकर रहे।

कहि न सकहिं सुषमा जसि कानन। जौ सत सहस होहिं सहसानन ॥६॥
सो मैं बरनि कहउँ बिधि केहीं। डाबर कमठ कि मंदर लेहीं ॥७॥
सेवहिं लखन करम-मन-बानी। जाइ न सील सनेह बखानी ॥८॥

दोहा—छिन-छिन लखि सिय-राम-पद, जानि आपपर नेह।
करत न सपनेहुँ लखन चित, बंधु-मातु-पितु-गेह ॥१३९॥

अर्थ—जो लाखों (लाख-सहस्र मुखवाले) शेष भी हों, तो भी जैसी परम शोभा वन की है, वैसी नहीं कह सकते ॥६॥ फिर उसे मैं किस तरह बखान करके कह सकता हूँ ? क्या गड़े के कछुए मंदराचल ले सकते हैं ? ॥७॥ श्रीलक्ष्मणजो मन, वचन, कर्म से सेवा करते हैं, उनका शील-स्नेह कहा नहीं जा सकता ॥८॥ क्षण-क्षण पर श्रीसीतारामजी के चरणों को देखकर और अपने ऊपर उनका स्नेह जानकर श्रीलक्ष्मणजी स्वप्न में भी माता, पिता और घर की ओर चित्त नहीं करते ॥१३६॥

विशेष—(१) 'डाबर कमठ कि मंदर लेहीं'—भगवान् ने कच्छप रूप होकर मंदराचल को धारण किया था, दूसरे समुद्र के कछुए भी उसे नहीं धारण कर सकते, तो भला गड़े के कछुए में कहाँ सामर्थ्य ? वाल्मीकि आदि समुद्र के कछुए हैं, मैं गड़े का हूँ, दोनों कवि होने से एक जाति हैं। श्रीगोस्वामीजी मानस के कवि हैं जिसका सर (तालाब) से रूपक है। कार्पण्य दृष्टि से तालाब को गड़ा कहते हैं, भाव यह कि कहाँ समुद्र और कहाँ तालाब ? वाल्मीकिजी ने कुछ कहा, पर अमित कहकर छोड़ दिया; यथा— "चित्रकूट महिमा अमित, कही महा मुनि गाइ।" (दो० १३२); तात्पर्य यह कि इसकी महिमा भगवान् ही चाहें, तो कह सकते हैं।

(२) 'सील सनेह'—शील नेत्र से और स्नेह हृदय से होता है।

(३) 'छिन छिन लखि सिय……'—अन्योन्य प्रीति है, श्रीलक्ष्मणजी श्रीसीतारामजी के चरणों के भक्त हैं और उनका इनपर स्नेह है। श्रीलक्ष्मणजी ने कहा था—"गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। …… मोरे सबुइ एक तुम स्वामी।" (दो० ७१); सुमित्राजी ने भी कहा था—"तात तुम्हारि मातु……" (दो० ७२); वही सब यहाँ चरितार्थ है।

राम-संग सिय रहति सुखारी। पुर-परिजन गृह-सुरति बिसारी ॥१॥
छिनछिन पिय-बिधु बदन निहारी। प्रमुदित मनहुँ चकोरकुमारी ॥२॥
नाह-नेह नित बढ़त बिलोकी। हरषति रहति दिवस जिमि कोकी ॥३॥
सिय-मन राम चरन अनुरागा। अवध-सहस-सम बन प्रिय लागा ॥४॥
परनकुटी प्रिय प्रियतम संगा। प्रिय परिवार कुरंग बिहंगा ॥५॥
सासु-ससुर-सम मुनितिय मुनिबर। असन अमिअ सम कंद मूल फर ॥६॥
नाथ साथ साथरी सुहाई। मयन-सयन-सय-सम सुखदाई ॥७॥
लोकप होहिं बिलोकत जासू। तेहि कि मोह सक बिषय बिलासू ॥८॥

दोहा—सुमिरत रामहिं तजहिं जन, तृन सम बिषय बिलास।
रामप्रिया जगजननि सिय, कछु न आचरज तासु ॥१४०॥

अर्थ—श्रीरामजी के साथ श्रीसीताजी, श्रीअवध-नगर, कुटुंब और घर की सुधि भूलकर सुखी रहती हैं ॥१॥ क्षण क्षण पर पति के मुख चन्द्र को देख-देखकर ऐसी आनंदित रहती हैं, मानों चकोर की बालिका (चन्द्रमा को देखकर) ॥२॥ पति का स्नेह अपने ऊपर नित्य बढ़ता हुआ देखकर वे ऐसी प्रसन्न

रहती हैं, जैसे दिन में चकवी (चकवे के साथ हर्षित रहे) ॥३॥ श्रीसीताजी का मन श्रीरामजी के चरणों में अनुरक्त है, (इससे इन्हें) सहस्रों अवध के समान वन प्रिय लगता है ॥४॥ प्यारे प्रीतम के साथ पत्तों की कुटी प्यारी लगती है, हरिण और पक्षी प्यारे परिवार की तरह प्रिय लगते हैं ॥५॥ मुनियों की स्त्रियाँ और मुनि श्रेष्ठ सास-ससुर के समान, कंद-मूल-फल अमृत भोजन के समान हो रहे हैं ॥६॥ स्वामी के साथ सुन्दर साथरी सैकड़ों कामदेवों की शय्या के समान सुखदायी है ॥७॥ (वक्ता लोग कहते हैं कि) जिसके कटाक्ष-मात्र से लोग लोकपाल हो जाते हैं, क्या उसे विषय-विलास (सांसारिक विषय सुख) लुभा सकता है ? ॥८॥ श्रीरामजी का स्मरण करते ही (उनके भक्त) लोग विषय-क्रीड़ा को तृण के समान त्याग देते हैं श्रीसीताजी तो श्रीरामजी की प्रिय-पत्नी और जगत् की माता हैं, उनके लिये यह कुछ आश्चर्य नहीं ॥१४०॥

विशेष—(१) 'चकोरकुमारी'—यहाँ श्रीसीताजी की अनन्यता दिखाते हैं कि जैसे आकाश में असंख्य तारागण भी देख पड़ते हैं, पर चकोर कुमारी चन्द्रमा ही को देखती है, वैसे ही ये 'पुर-परिजन-गृह' की सुधि भुलाकर श्रीराम-मुख ही देखती हैं। 'कुमारी' क्योंकि श्रीसीताजी सुकुमारी हैं।

(२) 'नाह-नेह नित···'—जैसे-जैसे दिन बढ़ता है, वैसे-वैसे चकवी का आनंद बढ़ता है, इसी तरह नाह-नेह के बढ़ने से श्रीसीताजी का आनन्द भी बढ़ता है। 'चकोर कुमारी' रूप से श्रीसीताजी की प्रीति और 'नाह नेह नित···' से श्रीरामजी की प्रीति कही गई। इस तरह दोनों का अन्योन्य प्रेम कहा गया। चन्द्रमा-चकोरी का सुख-सम्बन्ध रात में और चकवा-चकवी का सुख दिन में रहता है। इन दोनों उपमाओं से दिन-रात एवं निरंतर सुख सूचित किया। श्रीसीताजी का प्रिय-मुख देखना शृंगार दृष्टि से है, क्योंकि चित्रकूट आपका विहार-स्थल है। आगे कहेंगे—"जिमि वासव बस अमरपुर··" (दो० १११)।

(३) 'लोकप होहिं बिलोकत···'; यथा—"लोकप होहिं बिलोकत तोरे। तोहिं सेवहिं सब सिधि कर जोरे।" (दो० १०१); "जासु कृपा कटाच्छ सुर, चाहत···" (ब० दो० २४)।

(४) 'सुमिरत रामहिं तजहिं जन,···'; यथा—"राम-चरन-पंकज प्रिय जिन्हहीं। बिषय भोग बस करहिं कि तिन्हहीं ॥" (दो० ८३); "रमा [ ]ास राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़ भागी ॥ राम प्रेम भाजन भरत, बड़े न येहि करतूत " (दो० ३२४)।

'जगजननि'—अर्थात् जगत् के सभी पदार्थ [ ]हीं से हुए हैं, तब उनका लोभ इन्हें कैसे हो ?

वहाँ		यहाँ
(५) "खग मृग परिजन।"	(दो०६५)	प्रिय परिवार कुरंग बिहंगा।
(६) "कुस किसलय साथरी सुहाई। प्रभु सँग मंजु मनोज तुराई॥"	(,,)	नाथ साथ साथरी सुहाई। मयन-सयन-सय-सम सुखदाई॥
(७) "अवध सौध सत सरिस पहारू।"	(,,)	अवध सहस सम बन प्रिय लागा॥
(८) "नाथ साथ सुर सदन सम, पर्नसाल सुख मूल।"	(,,)	"राम लखन सीता सहित, राजत परन निकेत। जिमि बासव बस अमरपुर, सची जयंत समेत॥

सीय लखन जेहि बिधि सुख लहहीं। सोइ रघुनाथ करहि सोइ कहहीं॥१॥
कहहि पुरातन कथा-कहानी। सुनहि लखन सिय अति सुख मानी॥२॥
जब जब राम अवध-सुधि करहीं। तब तब बारि बिलोचन भरहीं॥३॥
सुमिरि मातु पितु परिजन भाई। भरत-सनेह-सील-सेवकाई॥४॥
कृपासिंधु प्रभु होहि दुखारी। धीरज धरहि कुसमय बिचारी॥५॥
लखि सिय लखन बिकल होइ जाहीं। जिमि पुरुषहि अनुसर परिछाँहीं॥६॥
प्रिया-बंधु-गति लखि रघुनंदन। धीर कृपाल भगत-उर-चंदन॥७॥
लगे कहन कछु कथा पुनीता। सुनि सुख लहहिं लखन अरु सीता॥८॥

दोहा—राम-लखन-सीता-सहित, सोहत परननिकेत।
जिमि बासव बस अमरपुर, सची-जयंत समेत॥१४१॥

अर्थ—श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी जिस तरह सुख पावें, श्रीरघुनाथजी वही करते और वही कहते हैं॥१॥ पुरानी कथा-कहानी कहते हैं। श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी अत्यन्त सुख मानकर सुनते हैं॥२॥ जब-जब श्रीरामजी श्रीअवध का स्मरण करते हैं तब-तब आँखों में आँसू भरते हैं॥३॥ माता, पिता, कुटुम्बी, भाई और भाई श्रीभरतजी के स्नेह, शील और सेवा को स्मरण करके॥४॥ कृपासागर प्रभु श्रीरामजी दुखी हो जाते हैं। फिर कुसमय समझकर धैर्य धरते हैं॥५॥ (श्रीरामजी को दुखी) देखकर श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी व्याकुल हो जाते हैं जैसे मनुष्य की परछांई उसके अनुसार होती है॥६॥ धीर, कृपालु और भक्तों के हृदय को (शीतल करने को) चन्दन रूप रघुकुल को आनंद देनेवाले श्रीरामजी प्यारी स्त्री और भाई की दशा देखकर॥७॥ कुछ पवित्र कथाएँ कहने लगे कि जिन्हें सुनकर श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी सुख पाते हैं॥८॥ श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी के साथ श्रीरामजी पर्णकुटी में ऐसे सोह रहे हैं जैसे जयंत और इन्द्राणी के साथ अमरावती में इन्द्र (सोहते हैं)॥१४१॥

विशेष—(१) 'जब-जब राम अवध सुधि'''—श्रीरामजी ने तमसा तट पर पुरवासियों की दशा देखी ही है। चलते समय माताएँ और पिताजी एवं नगर के लोग अत्यन्त दुखी हुए। उन्हें स्मरण करके आप भी दुखी होते हैं। इसीसे 'कृपा सिंधु' कहा है; यथा—"जन के दुख रघुनाथ दुखित अति सहज बानि करुनानिधान की।" (गी० सुं० ११); तथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११)।

(२) 'सोइ रघुनाथ करहिं सोइ कहहीं।'—वाल्मी० २।९४-९५ में श्रीसीताजी को प्रसन्न करने के लिये श्रीरामजी का बहुत कहना है और गी० अ० ४४ भी पढ़ने योग्य है।

(३) 'जिमि बासव बस अमरपुर'''—राज्य छूट गया। वन को आये हैं। अतः, दुखी होंगे। इस शंका के निवारण करने के लिये कहते हैं कि आपको इन्द्र का-सा सुख है। श्रीसीताजी इन्द्राणी की तरह और श्रीलक्ष्मणजी जयंत की तरह सुखी हैं। देवताओं ने ही कुटी बनाई। देवता लोग प्रार्थना भी करते हैं। अतः, अमरावती का-सा सुख है; यथा—"देवगंधर्वसंकाशास्तत्र ते न्यवसन्सुखम्।" (वाल्मी० ३।१।१२)।

(४) बृहद्रामायण के चित्रकूट माहात्म्य प्रसंग में यहाँ श्रीरामजी के गोप्य रहस्य रास-विहार आदि कहे गये हैं। उन सबको इस उपमा से सूचित किया। ऊपर से देखने में तो मुनि वेष में ही विशेष शोभा है।

जोगवहिं प्रभु सिय-लखनहि कैसे। पलक बिलोचनगोलक जैसे॥१॥
सेवहिं लखन सीय रघुबीरहि। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि॥२॥
येहि बिधि प्रभु बन बसहिं सुखारी। खग-मृग-सुर-तापस-हितकारी॥३॥
कहेउँ राम-बन-गवन सुहावा। सुनहु सुमंत्र अवध जिमि आवा॥४॥

अर्थ—श्रीरामजी और श्रीसीताजी श्रीलक्ष्मणजी की (वा, श्रीरामजी, श्रीसीता-लक्ष्मणजी की) कैसे रक्षा करते हैं, जैसे आँखों की पलकें गोलक की रक्षा करती हैं॥१॥ श्रीलक्ष्मणजी श्रीसीताजी और श्रीरामजी की (वा, श्रीलक्ष्मण-सीताजी रघुवीर की) ऐसी सेवा करते हैं, जैसे अज्ञानी पुरुष शरीर की॥२॥ इस तरह पक्षी, पशु, देवता और तपस्वियों के हित करनेवाले प्रभु वन में सुखपूर्वक वास कर रहे हैं॥३॥ *मैंने श्रीरामजी का सुन्दर-वन-गमन कहा; अब जिस तरह श्रीसुमंत्रजी श्रीअवध को आये, वह सुनो॥४॥*

विशेष—(१) 'जोगवहिं प्रभु ''सेवहिं लखन'''—इनमें दो-दो प्रकार के अर्थ किये गये, दोनों ही ग्राह्य हैं। दूसरे अर्थ में श्रीसीताजी की भी सेवा आ जाती है। 'सेवहिं' क्रिया भी बहुवचन की हो सकती है, आदर के लिये कम सँभावना है, लें तो एक वचन में भी रह सकती है। पलकें नीचे-ऊपर की दो हैं, वैसे श्रीसीताजी और रामजी दो हैं। श्रीलक्ष्मणजी की रक्षा करते हैं, इससे दास पर प्रेम सूचित किया। अविवेकी पुरुष देह ही को आत्मा एवं सर्वस्व मानकर सेता है। दिन-रात इसीके पोषण में लगा रहता है। वैसे श्रीलक्ष्मणजी को अन्य किसी बात की सुधि ही नहीं रहती। 'येहि बिधि'—उपर्युक्त—'जिमि बासव ......'।

(२) 'कहेउँ राम बन गवन'''—श्रीरामजी का अभीष्ट वन के लिये था, इसी से वे चौगुन चाव से आये। मार्ग में प्रेमियों को सुख देते और मुनियों से समागम करते हुए आये, इससे इसे 'सुहावा' कहा है। पुनः पिता-मरण आदि शोकमय चरितों की अपेक्षा तो यह सुहावा है ही।

(३) "राम तुरत मुनि वेष बनाई। चले जनक जननी सिर नाई॥" (दो० ७८); उपक्रम है और यहाँ—'कहेहु राम बन·····' यह उपसंहार है।

"चित्रकूट जिमि बस भगवाना" प्रकरण समाप्त

"सचिवागवन नगर नृप मरना" प्रकरण

फिरेउ निषाद प्रभुहि पहुँचाई। सचिवसहित रथ देखेसि आई॥५॥
मंत्री बिकल बिलोकि निषादू। कहि न जाइ जस भयेउ बिषादू॥६॥
राम राम सिय लखन पुकारी। परेउ धरनितल ब्याकुल भारी॥७॥
देखि दखिनदिसि हय हिहिनाहीं। जनु बिनु पंख बिहँग अकुलाहीं॥८॥

दोहा—नहिं तृन चरहिं न पियहिं जल, मोचहि लोचन बारि।
ब्याकुल भये निषाद सब, रघुबर-बाजि निहारि॥१४२॥

अर्थ—निषाद (गुह) प्रभु को पहुँचा कर लौटा, रथ को मंत्री समेत आकर देखा॥५॥ मंत्री को व्याकुल देखकर निषाद को जैसा विषाद हुआ, वह कहा नहीं जा सकता॥६॥ राम, 'राम-सिय-लक्ष्मण' ऐसा पुकारकर जमीन पर भारी व्याकुल पड़ा है॥७॥ दक्षिण दिशा को देख-देखकर घोड़े हिन-हिनाते हैं, मानों बिना पक्ष के पक्षी अकुला रहे हों॥८॥ न घास चरते हैं और न जल पीते हैं। नेत्रों से आँसू गिरा रहे हैं रघुवर श्रीरामजी के घोड़ों को देखकर सब निषाद व्याकुल हो गये॥१४२॥

विशेष—(१) 'देखि दखिन दिसि···'—क्योंकि श्रीरामजी इसी दिशा में गये हैं, आते होंगे। 'जनु बिनु पंख···'—पक्षी पक्ष के बिना पराधीन हो जाता है; वैसे ये बँधे हुए हैं। नहीं तो प्रभु के पास चले जाते। जैसे पक्षी उड़कर चाहे जहाँ चले जाते हैं। अत्यन्त दीन हैं; यथा—"जथा पंख बिनु खग अति दीना।" (ल० दो० ५६)।

धरि धीरज तब कहइ निषादू। अब सुमंत्र परिहरहु बिषादू॥१॥
तुम्ह पंडित परमारथज्ञाता। धरहु धीर लखि बिमुख बिधाता॥२॥
बिबिध कथा कहि कहि मृदु बानी। रथ बैठारेउ बरबस आनी॥३॥
सोकसिथिल रथ सकइ न हाँकी। रघुबर-बिरह-पीर उर बाँकी॥४॥
चरफराहिं मग चलहिं न घोरे। बनमृग मनहुँ आनि रथ जोरे॥५॥
अढुकि परहिं फिरि हेरहिं पीछे। राम-बियोग बिकल दुख तीछे॥६॥
जो कह राम लखन बैदेही। हिकरि हिकरि हित हेरहिं तेही॥७॥
बाजि-बिरह-गति कहि किमि जाती। बिनु मनि फनिक बिकल जेहि भाँती॥८॥

दोहा—भयेउ निषाद बिषादबस, देखत सचिव-तुरंग।
बोलि सुसेवक चारि तब, दिये सारथी संग ॥१४३॥

गुह सारथिहि फिरेउ पहुँचाई। बिरह-बिषाद बरनि नहिं जाई ॥१॥

अर्थ—धैर्य धारण करके तब निषाद कहने लगा कि हे सुमन्त्रजी! अब विषाद छोड़ो ॥१॥ तुम पंडित हो, परमार्थ के जानने वाले हो। विधाता को विपरीत जानकर धैर्य धारण करो ॥२॥ कोमल वाणी से तरह-तरह की कथाएँ कह-कह कर (धैर्य न होने पर) बलात् (जबरदस्ती) उन्हें लाकर रथ में बैठाया ॥३॥ शोक से (सब अंग) ढीले पड़ गये हैं। (इससे वे) रथ को हाँक नहीं सकते। हृदय में रघुवर-विरह की बड़ी तीक्ष्ण पीड़ा है ॥४॥ घोड़े छटपटाते (दुःख से व्याकुल होकर लोटते-पोटते) हैं। मार्ग पर नहीं चलते। मानों जंगली पशु लाकर रथ में जोड़े गये हों ॥५॥ ठोकर खाकर गिर-गिर पड़ते हैं। लौटकर पीछे की ओर देखते हैं। श्रीरामजी के वियोग के तीक्ष्ण दुःख से व्याकुल हैं ॥६॥ जो कोई 'राम, लक्ष्मण और वैदेही' ऐसा कहता है, हिन-हिनाकर प्रेम-पूर्वक उसकी ओर देखने लगते हैं ॥७॥ घोड़ों के विरह की दशा कैसे कही जाय? जैसे मणि के बिना सर्प व्याकुल हो (ऐसी दशा है) ॥८॥ मंत्री और घोड़ों को देखकर निषाद-राज विषाद के वश हो गये। तब चार अच्छे सेवकों को बुलाकर सारथी (श्रीसुमंत्रजी) के साथ कर दिया ॥१४३॥ गुह सारथी को पहुँचाकर लौटा। बिछोह का दुःख कहा नहीं जाता ॥१॥

विशेष—(१) 'तुम्ह पंडित परमारथज्ञाता।····'—पंडित हो, इससे सत्-असत् जानते हो कि सत् धर्म है। पिता की आज्ञा पालन-रूप श्रेष्ठ धर्म को ग्रहणकर श्रीरामजी कैसे छोड़ें? परमार्थ के ज्ञाता हो। अतः, इस अचानक विषम घटना को दैवी दुर्घटना अतएव अमिट समझकर धैर्य धरो। शोक करना व्यर्थ है। 'बरबस आनी'—जब श्रीरामजी गये तब ये रथ से दूर तट पर जाकर ऊँचे से श्रीरामजी का गंगा पार-होना देखते थे। जब वे ओझल हो गये तब वहीं पर गिर पड़े थे। इससे लाकर रथ पर बैठाना पड़ा।

(२) 'बन मृग मनहुँ···'—घोड़े इधर-उधर भागते हैं, ऐड़ें मारते हैं, वन ही की ओर को भागते हैं, मानों रथ में चलना ही भूल गये। जैसे जंगली पशु रथ में जोतने से चरफरावें।

(३) 'राम-बियोग बिकल दुख तीछें'—सुमंत्रजी की माधुर्य-दृष्टि थी, वे राजकुमार रघुकुल-श्रेष्ठ के बिछोह से दुखी थे, इसलिये वहाँ 'रघुवर बिरह' कहा गया। घोड़ों के सम्बन्ध में 'राम-बियोग' कहा गया, क्योंकि श्रीरामजी घोड़ों में भी रमते हैं। अतः, वियोग में वे छटपटाते हैं, क्योंकि—"ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी।" (बा० दो० २१५); कहा ही है।

(४) 'बाजि-बिरह-गति किमि···'—कवि तो अक्षर-अर्थ पाकर कुछ कहता है। घोड़े तो कुछ बोल नहीं सकते तो इनकी दशा कैसे कही जाय? वा, जिसे श्रीरामजी मिल के बिछुड़े हों, वही जाने और कहे। हाँ, देखने में दशा वैसी है, जैसे सर्प की सर्वस्वरूपा मणि के बिना दशा हो जाय।

(५) 'भयेउ निषाद बिषादबस···'—निषाद हिंसक जाति होने से कठोर-चित्त होते हैं। जब वे ही दुखी हो गये तो औरों का क्या कहना है। 'सुसेवक चारि'—जो मंत्री और घोड़ों की भी सेवा चार दिये कि चारों घोड़ों को लीक पर थाम्हे हुए ले जायँ।

चले अवध लेइ रथहिं निषादा। होहिं छनहिं छन मगन बिषादा ॥२॥
सोच सुमंत्र बिकल दुखदीना। धिग जीवन रघुबीर-बिहीना ॥३॥
रहिहि न अंतहु अधम सरीरू। जसु न लहेउ बिछुरत रघुबीरू ॥४॥
भये अजस-अघ-भाजन प्राना। कवन हेतु नहिं करत पयाना ॥५॥
अहह मंद मन अवसर चूका। अजहुँ न हृदय होत दुइ टूका ॥६॥
मींजि हाथ सिर धुनि पछताई। मनहुँ कृपन धनरासि गँवाई ॥७॥
बिरद बाँधि बरबीर कहाई। चलेउ समर जनु सुभट पराई ॥८॥

दोहा—बिप्र बिबेकी बेदबिद, संमत साधु सुजाति।
जिमि धोखे मद-पान कर, सचिव सोच तेहि भाँति ॥१४४॥

अर्थ—निषाद-लोग रथ को लेकर अयोध्या को चले। वे क्षण-क्षण पर विषाद में डूब जाते हैं ॥२॥ दुःख से दीन और व्याकुल होकर सुमंत्रजी शोच रहे हैं कि रघुवीर के बिना हमारे जीने को धिक्कार है ॥३॥ अंत में यह अधम शरीर नहीं ही रहेगा (एक दिन छूटेगा ही), पर इसने रघुवीर के बिछुड़ते हुए यश न पाया (अर्थात् बिछुड़ते ही प्राण-त्याग होने से प्रेम के सच्चा होने का यश होता, पर वह न हो पाया ॥४॥ प्राण अपयश और पाप के पात्र हुए हैं, न जाने किस लिये नहीं जाते ॥५॥ हा! यह मंद मन अवसर चूक गया, अब भी तो हृदय दो टुकड़े नहीं होता ॥६॥ हाथ मलकर, हाथों से शिर पीटकर पछताते हैं, मानों कोई कंजूस अपने धन की राशि खो बैठा हो ॥७॥ वीर का बाना बाँधकर और बड़ा वीर कहलाकर मानों कोई योद्धा लड़ाई में से भाग चला हो ॥८॥ जैसे कोई विवेकी, वेदवेत्ता, साधु-सम्मत और श्रेष्ठ-जाति का ब्राह्मण धोखे से मदिरा पान कर जाये और पछतावे, वैसे ही मंत्रीजी शोच रहे हैं ॥१४४॥

विशेष—(१) 'सोच सुमंत्र···'—मार्ग में सुमंत्रजी का शोचना कहते हैं कि वे प्रथम श्रीराम-विरह के जीवन को धिक्कारते हैं, फिर शरीर की निंदा और फिर उसके आधार-भूत प्राणों की निन्दा और पीछे मन की निन्दा करते हैं, क्योंकि यह प्राणों का भी आधार है और यही दुःख का अनुभव करनेवाला है। फिर मन के रहने के आधार-भूत हृदय को ही दूषते हैं कि यही दो टुकड़े क्यों न हो गया तब तो उपर्युक्त सभी को निकलने पड़ते। 'अहह' अत्यंत खेद सूचक है। 'अजस अघ'—छूट जाता तो यश होता, अन्यथा अयश हुआ। पुरवासियों से छिपाकर तमसा के किनारे से लेकर भागे, यह पाप किया। उसीके फल-रूप में अपयश हो रहा है।

(२) 'मनहुँ कृपिन धनरासि···' कृपण को धन बहुत प्रिय होता है, थोड़ा-सा भी धन खो जाने से उसे बहुत दुःख होता है और जो कहीं उसके धन की राशि ही खो जाय तो क्या कहना है? उसके दुःख की सीमा नहीं। यहाँ सुमंत्रजी कृपण हैं, उन्हें श्रीराम-जानकीजी और श्रीलक्ष्मणजी बहुत प्रिय हैं, इन तीनों में से एक के भी न लौटने से उन्हें बहुत दुःख होता और तीनों नहीं लौटे तो सुमंत्रजी को निस्सीम दुःख हुआ। अपनी भूल पर शोचते हैं कि हमने तमसा-तट पर पुरजनों को भी न जगा दिया।

(३) 'बिरद बाँधि बरबीर'''—सुमंत्रजी वीर-रूप चतुर थे, श्रीरामजी को बातचीत-रूपी समर में हराकर विजय-रूप में लौटा लायेंगे, यह इन्हें आशा थी। परन्तु न तो श्रीरामजी को बातचीत-रूपी समर में हरा सके कि वे लौटते और उक्त विजय होती और न समर में जूझ मरने की तरह साथ ही गये, किंतु समर में भागने की तरह खाली रथ लेकर लौटे। अतः, इन्हें उस भागे हुए सुभट की तरह दुःख हुआ।

(४) 'बिप्र बिबेकी बेद बिद'''—इन सब गुणों से युक्त ब्राह्मण व्यास के कारण जल के धोखे में मदिरा पी जाय तो उसे मरण के समान दुःख होता है। वैसे सुमंत्रजी नीति-कुशल, विवेकी और शास्त्रज्ञ थे। अच्छे मंत्री थे। राजा के वचन-रूपी जल के धोखे में पड़ के श्रीराम-लक्ष्मण-सीताजी को स्नेह-पूर्वक रथ पर लेकर चले कि नृप वचन के बल से समझा बुझाकर लौटा लाऊँगा, पर वे तीनों न लौटे तो अब स्नेह-रूप मदिरा पीने के प्रति पछताते हैं कि हम स्नेह से नाहक चले और रथ पर चढ़ाकर वन को चले, पुनः उनके स्नेह-वश हो आधी रात में सोते हुए पुरवासियों से चुराकर ले भागे। अब किसी को कौन मुँह दिखाऊँगा। वन ले जाकर छोड़ आने का अपयश होगा। अतः, स्नेह ही मदिरा हो गया; यथा—"जाहि सनेह सुरा सब छाकें।" (दो० १२४); धोखा यह हुआ कि पहले इन्होंने विचार न कर लिया कि मैं किसका भेजा हुआ लौटाने जा रहा हूँ ? वनवास तो कैकेयी ने दिया; यथा—"मुनि पट भूषन भाजन आनी। आगे धरि बोली मृदु बानी॥" (दो० ७८); तब राजा के वचन से श्रीरामजी कैसे लौटेंगे ? लौटने पर कैकेयी विरोध करेगी और श्रीरामजी को भी भ्रष्ट-प्रतिज्ञ कहेगी, इत्यादि विचार किये होते तो लौटाने की आशा से रथ पर लेकर न आते और न रात में तमसा-तट से ले भागने की भी घटना होती।

जिमि कुलीन तिय साधु सयानी। पतिदेवता करम - मन - बानी ॥१॥
रहइ करमबस परिहरि नाहू। सचिव - हृदय-तिमि दारुनदाहू ॥२॥
लोचन सजल डीठि भइ थोरी। सुनइ न श्रवन बिकल मति भोरी॥३॥
सूखहिं अधर लागि मुँह लाटी। जिउ न जाइ उर अवधिकपाटी ॥४॥
बिबरन भयेउ न जाइ निहारी। मारेसि मनहुँ पिता महतारी ॥५॥
हानि गलानि बिपुल मन ब्यापी। जम-पुर - पंथ सोच जिमि पापी ॥६॥
बचन न आव हृदय पछिताई। अवध काह मैं देखब जाई ॥७॥
रामरहित रथ देखिहि जोई। सकुचिहि मोहि बिलोकत सोई ॥८॥

दोहा—धाइ पूँछिहहिं मोहि जब, बिकल नगर नर-नारि।
उतर देब मैं सबहिं तब, हृदय बज्र बैठारि ॥१४५॥

अर्थ—जैसे कोई उत्तम कुलवाली स्त्री, साधु, सयानी और मन-कर्म-वचन से पतिव्रता हो ॥१॥ वह कर्म (संस्कार) वश स्वामी को छोड़कर रहे वैसे सुमंत्रजी के हृदय में कठिन दुःख है ॥२॥

नेत्रों में जल भरा है, दृष्टि कम हो गई है, कानों से सुनाई नहीं पड़ता, व्याकुल होने से बुद्धि बावली-सी हो गई ॥३॥ ओष्ठ सूख रहे हैं, मुँह में लाटी लग गई (थूक सूख गया, यह असाध्य लक्षण है तब भी) प्राण नहीं निकलते, क्योंकि हृदय (रूपी कोठरी) में अवधि-रूपी किवाड़े लगे हैं; अर्थात् आशा है कि १४ वर्ष बीतने पर श्रीरामजी फिर मिलेंगे, इस आशा से प्राण नहीं निकलते ॥४॥ (मन्त्री) पीला पड़ गया, वह देखा नहीं जाता, मानों इसने अपने माता-पिता को मार डाला है (उनकी हत्या लगी है) ॥५॥ हानि और ग्लानि मन में बहुत व्याप्त हो गई है, जैसे कोई पापी यमपुरी (नरक) को जाते हुए राह में शोचे ॥६॥ बोला नहीं जाता, हृदय में पछता रहा है, मैं अयोध्या में जाकर क्या देखूँगा? ॥७॥ जो कोई भी रथ को श्रीरामजी से रहित देखेगा, वह मुझे देखकर सकुचेगा, अर्थात् मेरा मुँह देखना न चाहेगा ॥८॥ जब नगर के स्त्री-पुरुष व्याकुल हो दौड़कर मुझसे पूछेंगे, तब मैं हृदय पर वज्र रखकर सबको उत्तर दूँगा ॥१४५॥

विशेष—(१) 'जिमि कुलीन तिय······'—उत्तम कुल की, सन्मार्ग-वर्त्तिनी, पंडिता और मन-कर्म-वचन से पतिव्रता स्त्री हो, वह पति के मरने पर सती होने से कर्म-वश (गर्भवती होने के कारण पति की प्रथम दी हुई आज्ञा से) रह जाय, तो उसे पति-वियोग का भारी दाह हो। वैसे श्रीसुमंत्रजी को श्रीरामजी की आज्ञा-वश उनके साथ न जा पाने से दारुण दाह हुआ; यथा—"मेटि जाइ नहिं राम रजाई। कठिन करम गति कछु न बसाई॥" (दो० ९८); जैसे कि राजा बलि की माता को मरने के पहले उसके पति विरोचन ने आज्ञा दी थी कि तुम्हारे गर्भ में जो बालक है, वह धर्मात्मा है, इसलिये तुम सती न होना। फिर बलि का जन्म हुआ, किंतु बलि की माता को पति को छोड़कर रह जाने का कठिन दाह हुआ ही।

(२) 'लोचन सजल डीठि भइ······'—आँखों में आँसू भर आने से दिखाई नहीं पड़ता, कोई कहकर समझावे, तो सुनाई नहीं पड़ता और अपनी बुद्धि बावली हो रही है, समझे कैसे?

(३) 'मारेसि मनहुँ पिता ·····'—श्रीरामजी पिता, और श्रीजानकीजी माता के समान हैं, क्योंकि राजा एवं राजपुत्र हैं, इनका वन भेजना वध करना है, यह समझने से हत्यारे की-सी आकृति हो गई है, ऐसे पापी का लोग मुँह नहीं देखते, वही आगे कहते हैं—'राम रहित रथ·····सकुचिहि मोहिं·····'।

(४) 'जम-पुर-पंथ सोच ····'—श्रीराम-रहित होने से अयोध्या यमपुरी के समान है, श्रीसुमंत्रजी ने अपनेको पापी माना है शोचते हैं कि मैंने श्रीरामजी को पुरवासियों से भी चुराकर वन भेज आने का महा पाप किया है, यमराज-रूप राजा के पूछने पर मैं इसका क्या उत्तर दूँगा।

(५) 'हृदय बज्र बैठारि'—जैसे मकान न फटने के लिये चूना आदि से जमाकर पत्थर बैठाया जाता है, वैसे हृदय न फट जाने के लिये उसपर बज्र बैठाकर ही उत्तर देना होगा; अर्थात् हृदय अत्यन्त कठोर करके उत्तर देना होगा; यथा—"हौं तो दियो छाती पवि ····" (वि० २५६)।

जोइ पूँछिहि तेहि ऊतर देबा । जाइ अवध अब यह सुख लेबा ॥५॥
पूँछिहि जबहि राउ दुख दीना । जिवन जासु रघुनाथ-अधीना ॥६॥
देहउँ उतर कवन मुँह लाई । आयेउँ कुसल कुँअर पहुँचाई ॥७॥
सुनत लखन - सिय - राम - सँदेसू । तृन जिमि तनु परिहरिहि नरेसू ॥८॥

दोहा—हृदय न बिदरेउ पंक जिमि, बिछुरत प्रीतम नीर ।
जानत हौं मोहि दीन्ह बिधि, यह जातना - सरीर ॥१४६॥

अर्थ—सब दीन दुखी माताएँ पूछेंगी, हे विधाता ! तब मैं उनसे क्या कहूँगा ? ॥१॥ जब श्रीलक्ष्मणजी की माता पूछेंगी, तब मैं कौन सुखदाई सँदेशा कहूँगा ? ॥२॥ जब श्रीरामजी की माता इस तरह दौड़ती हुई आवेंगी, जैसे नवीन ब्याई गाय बछड़े का स्मरण करके दौड़कर आती है ॥३॥ उनके पूछने पर मैं यही उत्तर दूँगा कि श्रीरामजी लक्ष्मणजी और जानकीजी वन को गये ॥४॥ जो ही पूछेगा, उसी को उत्तर दूँगा, श्रीअवध में जाकर अब मैं यही सुख लूँगा ॥५॥ जब दुःख से दीन राजा पूछेंगे जिनका जीवन रघुनाथजी के (दर्शनों के) अधीन है ॥६॥ तब मैं कौन मुँह लगाकर उत्तर दूँगा कि कुमार को पहुँचाकर मैं कुशल पूर्वक आ गया ।७॥ श्रीलक्ष्मणजी, श्रीसीताजी और श्रीरामजी का सँदेशा सुनकर राजा तिनके की तरह शरीर छोड़ देंगे ॥८॥ प्रियतम प्यारे रूपी जल के बिछुड़ते मेरा हृदय कीचड़ की तरह फट न गया, इससे जान पड़ता है कि विधाता ने यह मुझे यम-यातना शरीर (नरक के कष्ट भोगने के लिये) दिया है ॥१४६॥

विशेष—(१) श्रीसुमंत्रजी शोचते जाते हैं कि किसे क्या उत्तर दूँगा । पुरवासियों के प्रति तो इतना कह सकते हैं कि आप लोगों का पालन श्रीभरतजी भी करेंगे ही, पर यह भी छाती अत्यन्त कठोर करके कहना पड़ेगा । फिर और सब माताएँ श्रीसुमित्राजी, श्रीकौशल्याजी इत्यादि के लिये कोई उत्तर नहीं पाते, निष्ठुर बात कैसे कहेंगे कि वन भेज आये । फिर शोचते हैं—'जोइ पूछिहि ···'—अर्थात् कैकेयी जानती है कि श्रीसुमंत्रजी लौटाने के लिये भेजे गये हैं। अत, वह भी पूछेगी, (राम विमुखा का नाम नहीं लेते 'जोइ' के संकेत से कहते हैं, क्योंकि उपर्युक्त पूछनेवालों में यही एक नहीं कही गई ।) तो उसे भी कहना ही होगा कि हाँ, वन को भेज आये, इसपर हर्षेगी, यह मुझसे कैसे सहा जायगा ? हा ! अब श्रीअवध जाकर यही तो सुख लेना है।

(२) 'पूछिहि जबहिं राउ दुख ···'—उनका जीवन श्रीरामजी के बिना नहीं है; यथा—"नतरु निपट अवलंब बिहीना । मैं न जियब जिमि जल बिनु मीना ॥" (दो० ६५), 'कौन मुँह लाई'—इस मुख से ऐसा न कहा जायगा कि कुमारों को पहुँचाकर मैं सकुशल आ गया, वा, कुमार कुशल पूर्वक वन को चले गये, मैं पहुँचा आया ।

(३) 'तृन जिमि तनु परिहरिहि नरेसू ।' यथा—"बिछुरत दीन दयाल, प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ ।" (दो० ११) ।

(४) 'हृदय न बिदरेउ पंक जिमि···'—प्रियतम जल के वियोग में कमल, मछली आदि उत्तम कोटि के प्रेमी तो प्रथम ही मर जाते हैं। कीचड़ कुछ दिनों के बाद फटता है, अतएव निकृष्ट प्रेमी है, मेरा हृदय जो राम-वियोग होते ही फट गया होता, तो उत्तम कोटि का प्रेम समझा जाता । अब कई दिन बीत

गये। अब फटता, तो भी कीचड़ की तरह निकृष्ट प्रेमियों में कहा जाता, पर वह भी न हुआ। अतएव कीचड़ से भी नीच है। इससे तो यही जान पड़ता है कि मुझे ब्रह्मा इसी देह से यम-यातना का दुःख भोगाना चाहता है। यातना-शरीर—मरने के पीछे पाप कर्मों के फल भोगने के लिये मोम के पुतले के समान लिंग-शरीर मिलता है। काटने पर टुकड़े-टुकड़े हो जाता है, फिर वह वैसा ही हो जाता है। पर काटने आदि का दुःख इसी स्थूल शरीर के काटने आदि के दुःख की तरह होता है।

येहि बिधि करत पंथ पछितावा। तमसा - तीर तुरत रथ आवा ॥१॥
बिदा किये करि बिनय निषादा। फिरे पाँय परि बिकल बिषादा ॥२॥
पैठत नगर सचिव सकुचाई। जनु मारेसि गुरु-बाँभन गाई ॥३॥
बैठि बिटपतर दिवस गँवावा। साँझ समय तब अवसर पावा ॥४॥
अवधप्रवेस कीन्ह अँधियारे। पैठ भवन रथ राखि दुआरे ॥५॥
जिन्ह-जिन्ह समाचार सुनि पाये। भूप - द्वार रथ देखन आये ॥६॥
रथ पहिचानि बिकल लखि घोरे। गरहिं गात जिमि आतप ओरे ॥७॥
नगर नारि नर ब्याकुल कैसे। निघटत नीर मीन गन जैसे ॥८॥

दोहा—सचिव आगमन सुनत सब, बिकल भयेउ रनिवास।
भवन भयंकर लाग तेहि, मानहुँ प्रेतनिवास ॥१४७॥

अर्थ—(मंत्रीजी) इस तरह मार्ग में पश्चात्ताप करते हुए जा रहे हैं कि शीघ्र ही रथ तमसा किनारे आ पहुँचा ॥१॥ विनती करके निषादों को विदा किया। वे चरणों पर पड़कर दुःख से व्याकुल लौटे ॥२॥ नगर में पैठते हुए मंत्री सकुच रहे हैं, मानों उन्होंने गुरु, ब्राह्मण और गऊ को मारा है ॥३॥ पेड़ के नीचे बैठकर दिन बिता दिया। संध्या का समय हुआ, तब अवसर पाया ॥४॥ अँधेरे में श्रीअवध में प्रवेश किया। रथ को द्वार पर रखकर राज-भवन में गये ॥५॥ जिन-जिन लोगों ने समाचार सुन पाया वे राज-द्वार पर रथ देखने आये ॥६॥ रथ को पहचान और घोड़ों को व्याकुल देख—कि उनके शरीर ऐसे गल रहे हैं, जैसे धूप से ओले (गलते हों) ॥७॥—नगर के स्त्री-पुरुष कैसे व्याकुल हैं, जैसे कि जल को घटते हुए समझ मछलियों का समुदाय व्याकुल हो ॥८॥ मंत्री का आना सुनकर रनिवास व्याकुल हो गया, उसे राजमहल ऐसा भयावन लगा कि मानों प्रेत का निवास-स्थान है ॥१४७॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि करत पंथ···' यह उपसंहार है। इसका उपक्रम—"बचन न आव हृदय पछिताई।" (दो० १४४) है। पुनः शोच का उपक्रम—"जम पुर पंथ सोच जिमि पापी।" (दो० १४४); से हुआ और उपर्युक्त—'यह जातना सरीर' पर उपसंहार है।

पापी इसी तरह शोचता हुआ वैतरणी नदी पर पहुँचता है जैसे श्रीसुमंत्रजी तमसा तट पर पहुँचे। तम+सा=तम से युक्त, इस तरह तमसा ही मानों वैतरणी है। ऊपर शोच का उपक्रम और उपसंहार यमपुर के प्रसंग पर है ही।

(२) 'पैठत नगर सचिव···'—तमसा नदी से आगे चलने को नगर में पैठना कहते हैं। इससे जाना गया कि उस समय दक्षिण दिशा में तमसा तक नगर बसा था और उत्तर में सरयू तक। 'सचिव' अर्थात् ये उत्तम मंत्री थे, पर ये ऐसा चूके हैं कि आज नगर में प्रवेश करते हुए लजाते हैं। संकोच की दशा उपमा से जनाते हैं; यथा—'जनु मारेसि गुरु···'. श्रीरामजी गुरु, श्रीलक्ष्मणजी ब्राह्मण और श्रीजानकीजी गाय हुई। सुमंत्रजी इनको वन पहुँचाना मारने के समान समझे हुए हैं।

(३) 'साँझ समय तब···'—यह चांडाल समय कहा जाता है; हत्यारे के योग्य है।

'अध प्रवेस कीन्ह अँधियारे'—नगर भर में शोक है। इससे दीपक नहीं जलते। अँधेरे में पैठा कि कोई हमें न देखे। कवि शब्दों के द्वारा श्रीसुमंत्रजी की आतुरता दिखाते हैं। 'पैठ भवन' पहले कहकर तब 'रथ राखि' कहा है; अर्थात् लज्जा से शीघ्र ही महल में घुस गये।

(४) 'समाचार सुनि पाये'—सब लोग सुधि लेते थे कि श्रीसुमंत्रजी गये हैं, क्या होगा? इसीसे आते ही जान गये, 'गरहि गात जिमि आतप ओरे'— अर्थात् घोड़े श्वेत वर्ण के हैं। उनके शरीर से पसीना चल रहा है। जैसे धूप में बर्फ गलती है। वियोग की ताप में गले जाते हैं।

(५) 'नगर-नारिनर···'—जब पशुओं की वैसी दशा है, तो ये तो मनुष्य हैं। अतः, इन्हें जल बिना मछली के समान कहा। 'मीन गन'—क्योंकि नगर ४८ क्रोस का है और उसमें स्त्री-पुरुष भी बहुत हैं।

अति आरति सब पूछहिं रानी। उतरु न आव बिकल भइ बानी ॥१॥
सुनइ न श्रवन नयन नहिं सूझा। कहहु कहाँ नृप जेहि तेहि बूझा ॥२॥
दासिन्ह दीख सचिव बिकलाई। कौसल्यागृह गईं लिवाई ॥३॥
जाइ सुमंत्र दीख कस राजा। अमिअरहित जनु चंद बिराजा ॥४॥
आसन - सयन - बिभूषन - हीना। परेउ भूमितल निपट मलीना ॥५॥
लेइ उसास सोच येहि भाँती। सुरपुर ते जनु खसेउ जजाती ॥६॥
लेत सोच भरि छिन छिन छाती। जनु जरि पंख परेउ संपाती ॥७॥
राम राम कह रामसनेही। पुनि कह राम लखन बैदेही ॥८॥

अर्थ—रानियाँ अत्यन्त आर्त्त होकर पूछ रही हैं, पर मंत्री की वाणी व्याकुल हो गई है, इससे उत्तर नहीं कहा जाता ॥१॥ कानों से सुनाई नहीं पड़ता, आँखों से देख नहीं पड़ता। जिस-तिस से उसने पूछा कि राजा कहाँ हैं? ॥२॥ मंत्री की व्याकुलता देखकर दासियाँ उसे कौशल्याजी के गृह में लिवा ले गई ॥३॥ श्रीसुमंत्रजी ने जाकर राजा को कैसा देखा कि मानों अमृत-रहित होने पर चन्द्रमा शोभित हो रहा है ॥४॥ आसन, शय्या और आभूषणों से रहित अत्यन्त मलिन राजा पृथिवी पर पड़े हुए हैं ॥५॥ ऐसी लंबी साँसें लेते और शोच कर रहे हैं कि मानों स्वर्ग से राजा ययाति गिरे हुए (साँसें लेते और शोचते रहे) हैं ॥६॥ क्षण-क्षण पर सोच से छाती भर-भर लेते हैं। मानों परों के जलने पर संपाती गिरा पड़ा है राजा राम, राम, स्नेही राम, ऐसा (बार-बार) कह रहे हैं। फिर 'राम-लक्ष्मण-वैदेही' कहते हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'अति आरति सब···'—अत्यन्त आर्त होने से सब रानियाँ एक साथ ही पूछ रही हैं, 'विकल भइ बानी'—कंठ गद-गद हो गया वा (वाणी की अधिष्ठात्री देवी) सरस्वती ही व्याकुल हो गईं, तो उत्तर कैसे दें।

(२) 'कहहु कहाँ नृप···'—राजा कहाँ हैं बस, यही धुन लग गई। श्रवण आदि इन्द्रियाँ विकल हैं। 'दासिन्ह दीख···कौसल्या गृह'···—राजा कैकेयी का त्याग तो पहले ही कर चुके थे। श्रीरामजी के चले जाने पर कैकेयी के घर में भी रहना त्याग दिया। वाल्मीकीय अ० स० ४२ में कहा है—"श्रीरामजी के चले जाने पर राजा देखने के लिये निकले, जब तक रथ की धूल भी देख पड़ती थी। देखते रहे फिर व्याकुल होकर गिर पड़े, तब श्रीकौशल्याजी और कैकेयीजी ने उठाना चाहा, तब राजा ने कैकेयीजी का त्याग किया और वे श्रीकौशल्याजी के ही भवन लाये गये।" इससे मंत्री को दासियाँ वहीं लिवा ले गईं।

(३) 'अमिअ-रहित जनु चंदु बिराजा।'—अमृत रहित चन्द्रमा में प्रकाश, आह्लादकत्व आदि कोई गुण नहीं रहते, वैसे राजा तेजहीन, असमर्थ पड़े हैं। राम-विरह में यह दशा सराहनीय है; अतः, 'बिराजा' कहा गया है; यथा—"चकई साँझ समय जनु सोही।···" (दो० १२०)।

(४) 'सुरपुर ते जनु खसेउ जजाती।'—राजा ययाति १००० वर्ष से अधिक वानप्रस्थ आश्रम में रहकर तप करके स्वर्ग को गये। वहाँ इन्द्र ने इनसे पूछा कि वनवास में आपने किसके समान तप किया था? राजा ने अभिमान-पूर्वक कहा कि देव, मनुष्य और ऋषियों में मुझे अपने तप के समान किसी का तप नहीं दिखता। इस तरह अपनेसे उत्तम और बराबरवालों का अपमान करने से राजा के पुण्य क्षीण हो गये और वे स्वर्ग से गिरा दिये गये। इसपर स्वर्ग के देवताओं ने शोक प्रकट किया। उनकी कृपा से राजा, अष्टक राजर्षि की यज्ञभूमि में आ टिके। अष्टक के पूछने पर उन्होंने बतलाया कि स्वर्ग में तप, दान, शांति, दान्ति, लोकलाज, सरलता और दया ये सात द्वार हैं। अपनी श्रेष्ठता का अभिमान होने से सातो नाश हो जाते हैं। अतः, अपनी करनी का स्वयं बखान करना अनुचित है। अष्टक राजा ययाति के नाती थे, इनके पुण्य से वे फिर स्वर्ग में जा प्राप्त हुए, भूमि पर न गिर सके। यह कथा महाभारत आदि पर्व अ० ७०-८३ में है।

वैसे ही राजा दशरथ श्रीराम-तिलक रूपी स्वर्ग तक पहुँच चुके थे, पर कैकेयी के धोखे में पड़कर इन्होंने सत्य धर्म की सराहना की और राम-शपथ भी कर ली। उसी का परिणाम हुआ कि उक्त मनोरथ रूपी स्वर्ग से गिरे। धर्मात्मा भरत-रूपी अष्टक के प्रेम-प्रभाव से श्रीराम-तिलक भी १४ वर्ष पीछे होगा, यही इनका फिर स्वर्ग मिलना है; यथा—"इच्छेयं त्वामहं द्रष्टुं भरतेन समागतम्।" (वाल्मी० ६।११३।२०)।

(५) 'जनु जरि पंख परेउ संपाती'—संपाती ने अपनी कथा कि० दो० २७ में स्वयं कही है, अपनी मूर्खता से उसके दोनों पक्ष जले, वैसे ही राजा पछताते हैं कि मैं अपनी मूर्खता से स्त्री के विश्वास में पड़ा; अतः, मेरी यह अति हीन दशा हुई। मैं दोनों पक्ष रूप श्रीसीतारामजी से रहित हुआ। संपाति के पक्ष फिर जमे, वैसे रावण-वध पर पक्षरूप श्रीसीतारामजी फिर मिलेंगे।

दोहा—देखि सचिव जय जीव कहि, कीन्हेउ दंड प्रनाम।
सुनत उठेउ ब्याकुल नृपति, कहु सुमंत्र कहँ राम॥१४८॥

भूप सुमंत्र लीन्ह उर लाई। बूड़त कछु अधार जनु पाई ॥१॥
सहित सनेह निकट बैठारी। पूछत राउ नयन भरि बारी ॥२॥
राम-कुसल कहु सखा सनेही। कहँ रघुनाथ लखन बैदेही ॥३॥
आने फेरि कि बनहि सिधाये। सुनत सचिव - लोचन जल छाये ॥४॥
सोक - बिकल पुनि पूछ नरेसू। कहु सिय - राम - लखन - संदेसू ॥५॥
राम - रूप - गुन - सील - सुभाऊ। सुमिरि सुमिरि उर सोचत राऊ ॥६॥
राज सुनाय दीन्ह बनबासू। सुनि मन भयेउ न हरष हरासू ॥७॥
सो सुत बिछुरत गये न प्राना। को पापी बड़ मोहि समाना ॥८॥

दोहा—सखा राम-सिय-लखन जहँ, तहाँ मोहि पहुँचाउ।
नाहित चाहत चलन अब, प्रान कहउँ सतिभाउ ॥१४९॥

अर्थ—मंत्री ने राजा को देखकर जय जीव कहकर दँडवत्-प्रणाम किया, राजा सुनते ही व्याकुल होकर उठे (और बोले), सुमंत्र ! कहो, राम कहाँ हैं ? ॥१४८॥ राजा ने सुमंत्रजी को हृदय से लगा लिया, मानों डूबते हुए कुछ सहारा पा गये ॥१॥ प्रेम-समेत पास बैठाकर राजा आँखों में आँसू भरकर पूछ रहे हैं ॥२॥ हे स्नेही सखा ! श्रीरामजी की कुशल कहो, श्रीरघुनाथजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीवैदेहीजी कहाँ हैं ? ॥३॥ लौटा लाये हो कि वन को ही चल दिये, सुनते ही मंत्री की आँखों में जल छा गया ॥४॥ शोक से विकल हो राजा फिर पूछते हैं कि श्रीसीताजी, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी का संदेश कहो ॥५॥ श्रीरामजी का रूप, गुण, शील-स्वभाव स्मरण करके राजा हृदय में शोचते हैं ॥६॥ कि हमने राज्य (तिलक) सुनाकर वनवास दिया, यह सुनकर (भी श्रीरामजी के) मन में न हर्ष हुआ और न शोक ॥७॥ ऐसे पुत्र के बिछुड़ते ही प्राण न निकले, तो मेरे समान कौन बड़ा पापी होगा ? ॥८॥ हे सखा ! जहाँ श्रीसीताजी, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी हैं, वहीं मुझे पहुँचाओ, नहीं तो मैं सत्य भाव से कहता हूँ कि अब प्राण चलना चाहते हैं ॥१४९॥

विशेष—(१) 'कछु अधार'—अर्थात् सुमंत्र से कुछ काल तक प्रियपुत्र का सँदेश मिलेगा; यही कुछ आधार होगा, अन्त में तो डूबना ही है।

(२) 'सोक बिकल पुनि पूछ···'—एक ही बात बार-बार पूछते हैं, क्योंकि शोक से व्याकुल हैं। पूछते हैं कि नहीं लौटे तो कुछ कहा ही होगा, वही कहो।

(३) 'राज सुनाय···सो सुत बिछुरत···'—इसपर—सुपहु न मिटैगो मेरो मानसिक पछितात। नारिबस न बिचारि कीन्हों काज सोचत रात···" (गी० अ० ५७) यह पूरा पद पढ़ने योग्य है।

पुनि पुनि पूछत मंत्रिहि राऊ। प्रियतम - सुवन - सँदेस सुनाऊ ॥१॥
करहि सखा सोइ बेगि उपाऊ। राम-लखन - सिय नयन देखाऊ ॥२॥

सचिव धीर धरि कह मृदु बानी। महाराज तुम्ह पंडित ज्ञानी ॥३॥
बीर सुधीर धुरंधर देवा। साधुसमाज सदा तुम्ह सेवा ॥४॥
जनम मरन सब दुख सुख भोगा। हानि लाभ प्रियमिलन बियोगा ॥५॥
काल-करम-बस होहिं गोसाईं। बरबस राति-दिवस की नाईं ॥६॥
सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं ॥७॥
धीरज धरहु बिबेक बिचारी। छाड़िय सोच सकल हितकारी ॥८॥

अर्थ—राजा बार-बार मंत्री से पूछते हैं कि परम प्रिय पुत्र का सदेश सुनाओ ॥१॥ हे सखा ! वही उपाय शीघ्र करो (कि जिसमें) श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी के दर्शन नेत्रों को कराओ ॥२॥ मंत्री ने धैर्य धारण करके कोमल वाणी से कहा कि महाराज ! आप पंडित हैं, ज्ञानी हैं ॥३॥ वीर हैं और अच्छे धीरों में धुरंधर (श्रेष्ठ) हैं, देव अर्थात् दिव्य रूप हैं, लोकपालों का तेज आप में हैं ॥ आपने सदा ही साधु-समाज का सेवन किया है ॥४॥ जन्म, मृत्यु, सभी दुःख-सुख के भोग, हानि-लाभ, प्रिय का मिलना और बिछुड़ना, ये सब, हे गोसाईं ! काल और कर्म के अधीन रात-दिन की तरह बरबस होते रहते हैं ॥५-६॥ मूर्ख लोग सुख में प्रसन्न होते और दुःखमें रोते हैं। धैर्यवान् लोग मन में दोनों को समाना मानते हैं ॥७॥ विवेक से विचार कर धैर्य धरिये, हे सबके हित करनेवाले ! शोच छोड़िये ॥८॥

विशेष—(१) 'सचिव धीर धरि कह मृदु...'—स्वामी के भारी दुःख पर अपना दुःख दबा दिया और धैर्य धरके समझाने लगे, इससे 'सचिव' पद दिया गया। 'महाराज'—राजा धीर होते हैं, आप तो महाराज हैं। इन्द्र भी आपके बाहु-बल से बसते हैं। अतः, आपको तो धीर होना ही चाहिये। 'पंडित'=शास्त्र-वेत्ता, ज्ञानी=तत्त्व के वेत्ता।

(२) साधु समाज सदा...'—साधुओं के द्वारा दुःख-सुख सहिष्णुता आती है; यथा—"जिन्हके मिले दुख सुख समान अमानतादिक गुन भये।" (वि० १३६)।

(३) 'बरबस राति दिवस की नाईं।'—दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन का होना अनिवार्य है, वैसे ही काल-कर्म का भोग भी अकाट्य है, परीक्षित ने काल से बचने का बहुत उपाय किया, पर न बचे। वैसे ही राजा नृग कर्म की थोड़ी चूक से भी न बचे, गिरगिट होना ही पड़ा। अतः, अनिवार्य वस्तु को भोगना ही चाहिये।

दोहा—प्रथम बास तमसा भयेउ, दूसर सुरसरि तीर।
न्हाइ रहे जलपान करि, सियसमेत दोउ बीर ॥१५०॥

केवट कीन्ह बहुत सेवकाई। सो जामिनि सिंगरौर गँवाई ॥१॥
होत प्रात बटछीर मँगावा। जटामुकुट निज सीस बनावा ॥२॥
रामसखा तब नाव मँगाई। प्रिया चढ़ाइ चढ़े रघुराई ॥३॥

लखन बान-धनु धरे बनाई । आप चढ़े प्रभु - आयसु पाई ॥४॥
बिकल बिलोकि मोहि रघुबीरा । बोले मधुरबचन धरि धीरा ॥५॥
तात प्रनाम तात सन कहेहू । बार बार पद-पंकज गहेहू ॥६॥

अर्थ—पहला निवास तमसा पर हुआ, दूसरा गंगाजी के तट पर, श्रीसीताजी के साथ दोनों वीर उस दिन स्नान करके जल पीकर ही रह गये ॥१५०॥ केवट ने बहुत सेवा की, वह रात सिंगरौर में बिताई ॥१॥ प्रातःकाल होते ही वट का दूध मँगाया और अपने सिर पर जटाओं का मुकुट बनाया ॥२॥ तब श्रीरामजी के सखा निषादराज ने नाव मँगाई । श्रीरघुनाथजी प्रिया (श्रीसीताजी) को चढ़ाकर स्वयं भी (नाव पर) चढ़े ॥३॥ श्रीलक्ष्मणजी ने धनुष-बाण को सँवारकर रक्खा और प्रभु की आज्ञा पाकर स्वयं भी चढ़े ॥४॥ मुझे व्याकुल देखकर रघुवीर श्रीरामजी धैर्य धरकर मधुर वचन बोले ॥५॥ हे तात ! पिताजी से प्रणाम कहना और बार-बार चरण-कमल पकड़ना ॥६॥

विशेष—(१) 'प्रथम बास तमसा...'—वाल्मीकीय रामायण के मत से दो दिन जल पर ही रहे और गोस्वामीजी के मत से तमसा तट पर जल पर रहे । दूसरे दिन गंगातट पर केवट ने सेवा की अर्थात् कंद-मूल-फल लाकर दिये और उन्हें सब किसी ने भोजन किया ।

कवि ने यहाँ दोनों मत दिखा दिये हैं । वाल्मीकीय रामायण का मत दोहे में ही आ गया, तदनुसार केवट की सेवकाई शय्या-रचना आदि ही है । श्रीगोस्वामीजी का मत—'प्रथम बास तमसा भयेउ (तहाँ) न्हाइ रहे जलपान करि' और 'दूसर सुरसरि तीर' (तहाँ) केवट कीन्ह बहुत सेवकाई ।' इस तरह यथासंख्यालंकार से अर्थ होता है ।

(२) 'लखन बान-धनु धरे...'—अस्त्र-शस्त्र बना नाव पर धर दिये, क्योंकि यह नीति है कि नाव पर शस्त्रास्त्र धर के ही चढ़ना चाहिये, अन्यथा नाव कहीं डूब जाय तो शस्त्रसमेत तैरकर बचना कठिन हो जाता है । यह भी हेतु है कि अभी उस पार स्नान आदि करना ही है ।

(३) 'बिकल बिलोकि मोहि...'—वे तो वीर हैं, स्नेह को भी जीत लिया है, पर मुझे विकल देखकर वे भी विकल हो गये, फिर धीर धरकर समझाने लगे । कहा भी है—"जन के दुःख रघुनाथ दुखित अति सहज बानि करुना निधान की ।" (गी० सुं० ११) ।

करबि पाय परि बिनय बहोरी । तात करिय जनि चिंता मोरी ॥७॥
बनमग मंगल कुसल हमारे । कृपा अनुग्रह पुन्य तुम्हारे ॥८॥

छंद—तुम्हरे अनुग्रह तात कानन जात सब सुख पाइहौं ।
प्रातपालि आयसु कुसल देखन पायँ पुनि फिरि आइहौं ।
जननी सकल परितोषि परि परि पायँ करि बिनती घनी ।
तुलसी करेहु सोइ जतन जेहि कुसली रहहिं कोसलधनी ॥

सो०—गुरु सन कहब संदेस, बार बार पद-पदुम गहि।
करब सोइ उपदेस, जेहि न सोच मोहि अवधपति ॥१५१॥

अर्थ—फिर चरणों पर पड़कर विनती करना कि हे तात! आप मेरी चिन्ता न करें ॥७॥ आपकी कृपा, अनुग्रह और पुण्य (के प्रभाव) से वन के मार्ग में हमारे लिये मंगल और कुशल है ॥८॥ हे तात! आपके अनुग्रह से वन में जाते हुए सब सुख पाऊँगा। आज्ञा का अच्छी तरह पालन करके कुशल-पूर्वक लौट आकर चरणों के दर्शन करूँगा॥ सब माताओं के चरणों पर पड़-पड़कर उनका संतोष करके बड़ी विनती करना। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरामजी ने मंत्री के द्वारा माताओं से प्रार्थना की कि आप सब वही उपाय करें, जिसमें कोशलनाथ कुशल से रहें॥ बार-बार श्रीगुरुजी के चरण पकड़कर उनसे यह संदेश कहना कि पिताजी को वही उपदेश दें, जिससे वे अवधनाथ मेरा शोच न करें ॥१५१॥

विशेष—'वन मग मंगल कुशल······'—मंगल होगा—मुनियों के दर्शन होंगे। कुशल होगी—सुग्रीव आदि सखा मिलेंगे।' पुनः स्वधर्म निर्वाह में विघ्न-बाधा न होगी। 'सब सुख पाइहउँ'—राजा को चिन्ता थी कि कुमारों को दुःख होगा। उसीपर कहते हैं, जाते ही वहाँ सब सुख मिलेगा। 'जननी सकल '—माताओं से भी निहोरा करते हैं कि वे पिता से यह भी कहकर उन्हें न दुखावें कि आपने हमारे पुत्र को वनवास दे दिया। 'गुरु सन कहब ···'—गुरुजी भविष्य के कल्याण की बात कहकर पिता को समझाते रहें कि इस वनवास से भू-भार हरण आदि बहुत कार्य होंगे। यह भी समझावें कि श्रीअवध के सभी राजा उदार और धर्मात्मा होते आये हैं, आप भी सत्यरक्षा में धैर्य धारण करें, तब पुरी की रक्षा होगी।

पुरजन परिजन सकल निहोरी। तात सुनायेहु विनती मोरी ॥१॥
सोइ सब भाँति मोर हितकारी। जाते रह नरनाहु सुखारी ॥२॥
कहब सँदेस भरत के आये। नीति न तजिय राजपद पाये ॥३॥
पालेहु प्रजहि करम-मन-बानी। सेयेहु मातु सकल सम जानी ॥४॥
ओर निबाहेहु भायप भाई। करि पितु-मात-सुजन सेवकाई ॥५॥
तात भाँति तेहि राखब राऊ। सोच मोर जेहि करइ न काऊ ॥६॥
लखन कहे कछु बचन कठोरा। बरजि राम पुनि मोहिं निहोरा ॥७॥
बार बार निज सपथ देवाई। कहबि न तात लखन लरिकाई ॥८॥

दोहा—कहि प्रनाम कछु कहन लिय, सिय भइ सिथिल-सनेह।
थकित बचन लोचन सजल, पुलक पल्लवित देह ॥१५२॥

अर्थ— हे तात ! सब पुरवासियों और कुटुम्बियों को निहोरा करके मेरी बिनती सुनाना ॥१॥ सब प्रकार से वही मेरा हितकारी है, जिससे राजा सुखी रहें ॥२॥ श्रीभरतजी के आने पर सँदेशा कहना कि राज्य-पद पाकर नीति न छोड़ दें (वा, नीति है कि पाये हुए राज्य-पद को न छोड़ें) ॥३॥ कर्म, मन, वचन से प्रजा का पालन करना और सब माताओं को समान जानकर उनकी सेवा करना ॥४॥ हे भाई ! पिता, माता और सुजन (स्वजन, परिजन एवं सज्जन) की सेवा करके भाई-पना अंत तक निबाहना ॥५॥ हे तात ! राजा को उस तरह से रखना कि जिससे वे कभी भी मेरा शोच न करें ॥६॥ श्रीलक्ष्मणजी ने कुछ कठोर वचन कहे, तब श्रीरामजी ने उन्हें मनाकर फिर मुझसे प्रार्थना की ॥७॥ और बार-बार अपनी शपथ दिलाई और कहा कि हे तात ! पिता से श्रीलक्ष्मणजी का यह लड़कपन न कहना ॥८॥ प्रणाम कहकर श्रीसीताजी ने कुछ कहना चाहा, पर वे स्नेह के कारण शिथिल हो गईं, उनकी वाणी स्थगित हो (रुक) गई, आँखों में आँसू भर आये और देह पुलकों (रोमांचों) से पल्लवित हो गई ॥१५२॥

विशेष—(१) 'नरनाह सुखारी' अर्थात् राजा नर मात्र के स्वामी और सेव्य हैं, उन्हें सुखी रखना ही चाहिये ।

(२) 'नीति न तजिय राजपद पाये'—प्रायः लोगों को राज्य-पद पाने पर अभिमान हो जाता है, तब वे नीति छोड़ बैठते हैं, यथा—"जग बौराइ राज-पद पाये ।" (दो० २२७); इसलिये कहते हैं कि श्रीभरतजी से ऐसा कहना कि वे नीति न छोड़ें, नीति के त्यागने से नरक होता है।

यद्यपि श्रीरामजी जानते हैं—"भरतहि होइ न राज-मद, बिधि हरिहर पद पाइ ।" (दो० २३१); फिर भी यह शिक्षा देते हैं, यह प्रीति का स्वभाव है कि बड़े भाई प्यार से छोटे को नीति सिखाते हैं; यथा—"राम करहिं भ्रातन्ह पर प्रीती । नाना भाँति सिखावहिं नीती ॥" (उ० दो० २४); तथा —"सुनु सीता तव नाम, सुमिरि नारि पतिव्रत करहिं । तोहि प्रान प्रिय राम कहिउँ कथा संसार हित ॥" (आ० दो० ५); वैसे ही यहाँ भी जानना चाहिये ।

दूसरा अर्थ जो कोष्ठक में है, उसका समर्थन श्रीभरतजी के इन वचनों से भी होता है—"प्रभु पितु वचन मोह बस पेली । आयेउँ इहाँ समाज सकेली ॥" (दो० २६७); वह 'प्रभु वचन' यही हो सकता है कि यहाँ श्रीरामजी ने राज्य करने की आज्ञा दी है ।

(२) 'ओर निबाहेहु भायप भाई ।······'—अर्थात् हमारी माता एवं श्रीलक्ष्मणजी की माता को अपनी माता के समान मानना, और भी सब माताओं को तुल्य मानना, भाव यह कि इससे हम दोनों भाई भी प्रसन्न होंगे । 'पितु' शब्द प्रथम देकर माताओं के तुल्य होने का कारण जनाया कि पिता के अनुरूप ही सब माताएँ तुल्य हैं ; यथा—"भरतश्चापि वक्तव्यो यथा राजनि वर्तसे । तथा मातृषु वर्तेथाः सर्वास्वेवाविशेषतः ॥ यथा च तव कैकेयी सुमित्रा चाविशेषतः । तथैव देवी कौसल्या मम माता विशेषतः ॥ तातस्य प्रियकामेन यौवराज्यमवेक्षता । लोकयोरुभयोः शक्यं नित्यदा सुखमेधितुम् ॥" (वाल्मी० २।५२।३४–३६) ।

(३) 'लखन कहे कछु बचन कठोरा ।······ लरिकाई ॥'—राजा ने तीनों के विषय में लौटाने को श्रीसुमंत्रजी से कहा था और यह भी कि जब नहीं लौटें तो तीनों का संदेशा ही लाना । इसपर मंत्रीजी कहते हैं कि श्रीलक्ष्मणजी ने भी कुछ वचन कहे हैं, पर वे कठोर वचन थे, इससे श्रीरामजी ने अपनी शपथ देकर मना कर दिया ; यथा—"पुनि कछु लखन कही कटु बानी । प्रभु बरजेउ बड़ अनुचित जानी ॥ सकुचि राम निज सपथ देवाई । लखन सँदेस कहिय जनि जाई ॥" (दो० ९५); (इसपर भी कुछ

है, यहीं देखिये) श्रीलक्ष्मणजी के कटु वचन औरों की दृष्टि से कुछ वैसे न थे, पर श्रीरामजी की दृष्टि से बहुत अनुचित थे कि जिनके वचन मानकर हम वन को आये, हमारे अनुगामी होते हुए श्रीलक्ष्मणजी को ऐसा न कहना चाहिये, फिर भी अभी लड़के ही हैं,—यथा "लालन जोग लखन लघु लोने।" (दो० ११६); ये श्रीलक्ष्मणजी के वचन वाल्मी० २।५८।२६-३२ में हैं, जो देखना चाहें, देख लें।

शंका—जब श्रीरामजी ने इन्हें शपथ-पूर्वक मना किया था तब फिर श्रीसुमंत्रजी ने क्यों कहा?

समाधान—राजा ने तीनों का सँदेशा पूछा था, यथा—"सोक बिकल पुनि पूछ नरेसू। कहु सिय राम लखन संदेसू॥" इसका उत्तर देते हुए मंत्री ने श्रीलक्ष्मणजी के उत्तर के विषय में इतना ही कहा कि हाँ, श्रीलक्ष्मणजी ने भी कुछ कहा था, पर उसे कहने को श्रीरामजी ने मना कर दिया है, इससे हम न कहेंगे। बस, उत्तर भी हो गया और ह बात भी न कही गई।

(४) 'कहि प्रनाम कछु ......'—यहाँ श्रीसीताजी का संदेशा न कहा, केवल नौका पर चढ़ने के समय की दशा-मात्र कह दी। कारण यह कि वे वचन सुमंत्रजी कह न सकते, यथा—"सुनि सुमंत्र सिय सीतलि बानी। भयेउ बिकल जनु फनि मनि हानी॥ नयन सूझ नहिं सुनइ न काना। कहि न सकइ कछु अति अकुलाना॥" (दो० ९८); जब सुनकर यह दशा हुई थी तो कहते कैसे? उसके स्मरण से ही विह्वल हो रहे हैं।

मंत्री के यहाँ के कथन का भाव वाल्मीकीय रामायण के इस प्रसंग (अ० स० ५८।३४-३७) के अनुसार है। इस तरह यहाँ पर महर्षिजी का भी मत दिखा दिया। राजा दशरथ अत्यन्त दुखी हैं, मृत्यु चाहते हैं, यथा—"सुनि सुमंत्र की आनि सुंदर सुवन सहित जियाउ। दास तुलसी नतरु मोहि मरन अमिअ पियाउ॥" (गी० अ० ५७); श्रीसुमंत्रजी की विह्वल दशा में भावी ने उनसे ऐसे वचन कहलाये कि जो श्रीसीताजी की दु:ख दशा आदि वे न सह सके। यद्यपि पीछे वाल्मीकीय रामायण में ही फिर सावधान होने पर इन्हीं श्रीसुमंत्रजी ने कौसल्याजी को और ही तरह समझाया है। अतः यहाँ मंत्री की व्याकुलता में ये वचन पूर्व घटना से कुछ पृथक् हैं; क्योंकि प्रथम सुमंत्रजी का नाव के समीप होना नहीं पाया जाता।

तेहि अवसर रघुबर-रुख पाई। केवट पारहिं नाव चलाई॥१॥
रघु-कुल-तिलक चले येहि भाँती। देखेउँ ठाढ़ कुलिस धरि छाती॥२॥
मैं आपन किमि कहउँ कलेसू। जियत फिरेउँ लेइ राम-सँदेसू॥३॥
अस कहि सचिव बचन रहि गयेउ। हानि गलानि सोच बस भयेउ॥४॥
सूत-बचन सुनतहि नरनाहू। परेउ धरनि उर दारुन दाहू॥५॥
तलफत बिषम मोह मन मापा। माँजा मनहुँ मीन कहँ ब्यापा॥६॥
करि बिलाप सब रोवहिं रानी। महाबिपति किमि जाइ बखानी॥७॥
सुनि बिलाप दुखहू दुख लागा। धीरजहू कर धीरज भागा॥८॥

दोहा—भयेउ कोलाहल अवध अति, सुनि नृप-राउर सोर।
बिपुल बिहँग-बन परेउ निसि, मानहुँ कुलिस कठोर॥१५३॥

अर्थ—उस समय रघुवर श्रीरामजी का रुख पाकर केवट ने पार ले जाने को नाव चलाई ॥१॥ रघुकुल-श्रेष्ठ श्रीरामजी इस प्रकार चल दिये और मैं छाती पर वज्र रखकर खड़ा देखता रहा ॥२॥ मैं अपना क्लेश कैसे कहूँ कि श्रीरामजी का संदेश लेकर जीता लौटा ॥३॥ ऐसा कहकर मंत्री की वाणी रुक गई और वह हानि, ग्लानि और शोच के वश हो गया ॥४॥ सारथी के वचन सुनते ही राजा पृथिवी पर गिर पड़े, उनके हृदय में कठिन दाह होने लगा ॥५॥ तड़प रहे हैं, कठिन मोह मन में भर (व्याप) गया है, मानों मछली को माँजा व्याप गया ॥६॥ विलाप करके सब रानियाँ रो रही हैं, बड़ी भारी विपत्ति है, उसका कैसे बखान किया जाय ? ॥७॥ विलाप सुनकर दुःख को भी दुःख लगा, धैर्य का भी धैर्य भाग गया ॥८॥ राजमहल का हल्ला सुनकर श्रीअवध-भर में अत्यन्त कोलाहल मच गया, ऐसा जान पड़ता है कि मानों पक्षियों के बड़े भारी वन में रात के समय कठोर वज्र गिरा ॥१५३॥

विशेष—(१) 'जियत फिरेउँ लेइ···'-अर्थात् यह आश्चर्य हुआ जो मैं जीता हुआ यहाँ तक आ सका।

(२) 'हानि गलानि सोच···'—श्रीरामजी ; श्रीलक्ष्मणजी श्रीजानकीजी धन हैं ; यथा—"मनहुँ कृपिन धन रासि गँवाई।" (दो० १४३); इनका हाथ से निकल जाना हानि है, उसीसे ग्लानि हुई, फिर उसीसे शोचवश हुए। वा जीते हुए लौट आने की ग्लानि है और राजा की दशा से शोच हुआ।

(३) 'मोह मन मापा'—माप शब्द का अर्थ व्यापना है ; यह नाप के अर्थ में भी कहा जाता है ; अर्थात् मन की हद-पर्यंत में मोह भर गया वा मोह से मन मतवाला हो गया, मात गया ; यथा—"माँजहि खाइ मीन जनु मापी ॥" (दो० ५१); 'सुनि बिलाप दुखहू···'—भाव यह कि मूर्तिमान दुःख और धैर्य भी दुःखी और अधीर हो गये, इस तरह दुःख की सीमा जनाई।

(४) 'बिपुल बिहँग-बन परेउ निसि······'—अयोध्या वन है, पुरवासी विहंग हैं, मंत्री का वचन वज्र है, वह प्रथम राजा पर गिरा; यथा—"सूत बचन सुनतहिं नर नाहू। परेउ धरनि उर दारुन दाहू ॥" वज्र से जलना होता ही है। मंत्री रात ही में आया, पक्षी रात में बसेरा लिये हुए रहते हैं, कोई भी बाहर नहीं रहता। वैसे ही सभी पुरवासी श्रीअवध में हैं, सभी दुखी हुए। पूर्व कैकेयी से उसकी सखियों ने कहा था—"कौसल्या अब काह बिगारा। तुम्ह जेहि लागि बज्र पुर पारा ॥" (दो० ४८); वह यहाँ चरितार्थ हुआ।

प्रान कंठगत भयेउ भुआलू। मनि-बिहीन जनु ब्याकुल ब्यालू ॥१॥
इंद्रिय सकल बिकल भइं भारी। जनु सर सरसिज बन बिनु बारी ॥२॥
कौसल्या नृप दीख मलाना। रबि-कुल-रबि अथयेउ जिय जाना ॥३॥
उर धरि धीर राम-महतारी। बोली बचन समय-अनुसारी ॥४॥
नाथ समुझि मन करिय बिचारू। राम-बियोग-पयोधि अपारू ॥५॥
करनधार तुम्ह अवधजहाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय-पथिक-समाजू ॥६॥
धीरज धरिय त पाइय पारू। नाहि त बूड़िहि सब परिवारू ॥७॥
जौ जिय धरिय बिनय पिय मोरी। राम लखन सिय मिलहिं बहोरी ॥८॥

दोहा—प्रिया वचन मृदु सुनत नृप, चितयेउ आँखि उघारि।
तलफत मीन मलीन जनु, सींचत सीतल बारि ॥१५४॥

अर्थ—राजा के प्राण कंठ में आ गये, मानों मणि के बिना सर्प व्याकुल हो ॥१॥ सभी इन्द्रियाँ अत्यंत व्याकुल हो गई मानों बिना जल के तालाब में कमल-वन है ॥२॥ कौशल्याजी ने राजा को म्लान (कुम्हलाये हुए) देखा, तब वे जी से जान गईं कि सूर्यकुल के सूर्य डूबे (डूबना चाहते हैं) ॥३॥ श्रीरामजी की माता हृदय में धैर्य धरकर समय के अनुकूल वचन बोलीं ॥४॥ हे नाथ! मन में समझकर विचार कीजिये कि श्रीरामजी का वियोग अपार समुद्र है ॥५॥ आप मल्लाह हैं और अयोध्या जहाज है, समस्त प्रिय वर्ग यात्रियों के समाज हैं, जो उसपर चढ़े हैं ॥६॥ धैर्य धरिये तो पार हो जायँगे, नहीं तो सब परिवार डूब जायगा ॥७॥ हे प्रिय नाथ! यदि आप मेरी विनती को हृदय में धारण करें तो श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी फिर मिलेंगे ॥८॥ प्रिय स्त्री के कोमल वचन सुन राजा ने आँखें खोलकर देखा मानों तड़पती हुई दीन मछली को ठंढे जल का छींटा दिया गया हो ॥१५४॥

विशेष—(१) 'मनि बिहीन जनु ब्याकुल······'—राजा ने पूर्व-जन्म में वर माँगते समय दो प्रकार के जीवन-मरण माँगे थे; यथा—"मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना।" (बा० दो० १५०); वे चरितार्थ हो रहे हैं; यथा—'माँजा मनहुँ मीन कहँ ब्यापा।' 'मनि बिहीन जनु ब्याकुल ब्यालू।' 'तलफत मीन मलीन ज्यों'।

(२) 'इन्द्रिय सकल बिकल भईं ······'—यहाँ राजा-सर, दश इन्द्रियाँ-कमल-वन और श्रीरामजी जल हैं। सर से परोपकार होता है, वैसे ही राजा से सबका पालन होता है। कमल देवताओं को चढ़ता है, वैसे राजा के हस्त आदि इन्द्रियों से देवताओं के कार्य हुए हैं। 'उर धरि धीर राम ···'—धैर्य के सम्बन्ध से 'राम महतारी' कहा है, क्योंकि श्रीरामजी धीर हैं।

(३) 'करनधार तुम्ह अवध···'—अभी ये कर्णधार हैं, पर ये अधीर होकर प्राण छोड़ देंगे। तब दूसरे कर्णधार श्रीभरतजी आकर सँभालेंगे; यथा—"अवसि चलिय बन राम जहँ, भरत मंत्र भल कीन्ह। सोक सिंधु बूड़त सबहिं, तुम्ह अवलंबन दीन्ह॥" (दो० १८४); फिर १४ वर्ष तक ये ही रहे, ये भी अधीर होकर प्राण छोड़ने पर हुए; यथा—"बीते अवधि रहहिं जो प्राना। अधम कौन जग मोहिं समाना॥" (उ० दो० १); तब इनको सहारा देने को श्रीहनुमानजी आ गये; यथा—"राम बिरह सागर महँ, भरत मगन मन होत। बिप्ररूप धरि पवन सुत, आइ गयो जनु पोत॥" (उ० दो० १); फिर श्रीरामजी स्वयं आ गये। तब यह विरह-सागर ही समाप्त हो गया।

(४) 'जौं जिय धरिय बिनय ···'—ये शिक्षा नहीं देतीं, किंतु विनय करती हैं। विनय के सभी वचन मृदु हैं। पर 'राम लखन सिय मिलिहिं बहोरी' ये वचन अत्यंत मृदु हैं। ये ही वचन शीतल जल के छींटे के समान हैं। जल बिना मछली तड़पती रहती है। जल के छींटे से जैसे वह आँख खोल दे वैसे राजा ने इस वचन से यही समझा कि मानों क्षण-भर को श्रीरामजी मिल ही गये। इससे उठकर राजा बैठ गये। 'प्रिया'—क्योंकि पटरानी हैं और इनके पुत्र को वनवास दिया तो भी ये प्रिय-वचन कह रही हैं और श्रीरामजी के मिलने की आशा दे रही हैं।

धरि धीरजु उठि बैठि भुआलू। कहु सुमंत्र कहँ राम कृपालू ॥१॥
कहाँ लखन कहँ राम सनेही। कहँ प्रिय पुत्र-बधू बैदेही ॥२॥

बिलपत राउ बिकल बहु भाँती। भइ जुगसरिस सिराति न राती ॥३॥
तापस-अंध साप सुधि आई। कौसल्यहि सब कथा सुनाई ॥४॥
भयेउ बिकल बरनत इतिहासा। राम रहित धिग जीवन आसा ॥५॥
सो तनु राखि करबि मैं काहा। जेहि न प्रेमपन मोर निबाहा ॥६॥
हा रघुनंदन प्रानपिरीते। तुम्ह बिनु जियत बहुत दिन बीते ॥७॥
हा जानकी लखन हा रघुबर। हा पितु-हित-चित-चातक-जलधर ॥८॥

दोहा—राम राम कहि राम कहि, राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबर-बिरह, राउ गयेउ सुरधाम ॥१५५॥

अर्थ—धैर्य धर के राजा उठ बैठे (और बोले) श्रीसुमंत्रजी! कहो, कृपालु श्रीरामजी कहाँ हैं? ॥१॥ श्रीलक्ष्मणजी कहाँ हैं? स्नेही श्रीरामजी कहाँ हैं? प्यारी पुत्र वधू विदेह-कुमारी कहाँ हैं? ॥२॥ राजा व्याकुल हैं और बहुत प्रकार से विलाप कर रहे हैं। रात युग के समान (भारी) हो गई। बीतती ही नहीं ॥३॥ अंधे तपस्वी के शाप की याद आई तो श्रीकौशल्याजी को सब कथा सुनाई ॥४॥ तपस्वी के इतिहास का वर्णन करते हुए व्याकुल हो गये। (और बोले कि) श्रीरामजी के विना जीने की आशा को धिक्कार है ॥५॥ उस शरीर को रखकर मैं क्या करूँगा, जिसने मेरे प्रेम-प्रण का निर्वाह नहीं किया ॥६॥ हा रघुकुल के आनंद देनेवाले! हा प्राण प्यारे! तुम्हारे विना जीते हुए बहुत दिन बीत गये ॥७॥ हा श्रीजानकीजी! श्रीलक्ष्मणजी!! हा रघुबर!!! हा पिता के चित्तरूपी-चातक के हित करनेवाले मेघ!!! ॥८॥ राम-राम कहकर, फिर राम कहकर पुनः राम-राम-राम कहते हुए रघुबर श्रीरामजी के विरह (दुःख) में शरीर छोड़कर राजा सुरलोक को गये ॥१५५॥

विशेष—(१) 'भइ जुग सरिस'''—दुःख के समय बहुत बड़े जान पड़ते हैं।

(२) 'तापस अंध-साप सुधि'''—यह कथा वाल्मीकीय रामायण अ० स० ६३-३४ में विस्तार से है—श्रीरामजी के वन जाने की छठी रात को राजा ने श्रीकौशल्याजी से कहा है कि मैं जब युवराज-पद को प्राप्त कुमार ही था। वर्षाऋतु में रात के समय सरयू-तट पर गया। वहाँ नदी में जल पीनेवाले जानवरों के प्रति शिकार की इच्छा से और अपनी 'शब्दवेधी' धनुर्धरों में ख्याति पाने की इच्छा से घात में था। अँधेरे में मुझे हाथी के गर्जन के समान शब्द मालूम हुआ। उसी ओर को मैंने शब्दवेधी तीक्ष्ण बाण चलाया, तब उस ओर से तपस्वी के शब्द सुनाई पड़े—हा, हा, मुझ तपस्वी पर किसने शस्त्र प्रहार किया, मैंने किसी की क्या बुराई की थी? जो मुझे बाण से मारा। मैं वहाँ घबड़ाकर गया, तब देखा कि वे तपस्वी बाण से घायल खून से लपटे हुए पड़े थे। मुझे देखकर वे बोले, तुमने मुझे क्यों मारा? मैं अपने वृद्ध अंधे माता-पिता के लिये जल लेने आया था, वे प्रतीक्षा करते होंगे। मेरे शरीर से बाण निकाल दो और जाकर मेरे माता-पिता का यह सब वृत्तान्त कहकर उन्हें प्रसन्न करो। जिससे वे तुम्हें शाप न दे दें। बाण निकालते ही मृत्यु हो जायगी तो मुझे ब्रह्म-हत्या लगेगी—इससे मैं डरता था, यह जानकर उन्होंने

कहा कि मैं ब्राह्मण नहीं हूँ, आप डरें नहीं, बाण निकालें। मेरे बाण के निकालते ही उनके प्राण निकल गये। मैं उनके बताये हुए मार्ग से उनके माता पिता के पास गया और वृत्तान्त सुनाया। तब वे बोले कि राजन्! यदि तुम अपना अनजान से किया हुआ कर्म स्वयं आकर न कहते तो तुम्हारे शिर के सौ टुकड़े हो जाते। तुम यदि जान बूझकर ऐसा किये होते, तो तुम्हारा रघुकुल ही नष्ट हो जाता, तुम्हारी क्या बात? मुझे अपने पुत्र का स्पर्श कराओ। मैं उन्हें वहाँ ले गया। वे दोनों पुत्र पर गिर पड़े और विलाप करने लगे। उनका पुत्र दिव्य-रूप हो स्वर्ग को प्राप्त हुआ और फिर इन्द्र के साथ उस पुत्र ने आ मा-बाप को आश्वासन दिया और कहा कि आप लोगों की सेवा से मुझे बड़ा उच्च पद मिला। उन दोनों ने पुत्र को जलांजलि देकर हाथ जोड़ मुझसे कहा—'तुम हमें भी बाण से मार डालो, तुमने अज्ञान से हमारे पुत्र को मार डाला, अतएव मैं तुम्हें बहुत ही कठोर शाप देता हूँ कि जिस प्रकार मैं पुत्र की मृत्यु का दुःख भोग रहा हूँ। राजन्! तुम भी पुत्र शोक से ही मृत्यु पाओगे और मेरी-सी भयानक दशा पाओगे। इस तरह शाप देकर वे दोनों चिता में भस्म होकर स्वर्ग को गये। उस उदार मुनि का वचन आज मुझे सत्य हुआ।

(३) 'भयेउ बिकल बरनत ···'—कहते-कहते ही ग्लानि हुई कि प्राकृत पुत्र के वियोग में उन्होंने प्राण छोड़ दिये और मैं श्रीरामजी-ऐसे दिव्य पुत्र के वियोग में भी जीता हूँ, इस आशा पर कि फिर मिलेंगे, इस जीने को धिक्कार है! 'सोतनु राखि करबि मैं ···'; यथा—"करत राय मन में अनुमान। ··ऐसे सुत के बिरह अवधि लौं जौ राखउँ यह प्रान। तौ मिटि जाइ प्रीति की परमिति अजस सुनौं निज कान॥ राम गये, अजहूँ हौं जीवत समुझत हौ अकुलान।। तुलसिदास तनु तजि रघुपति हित कियो प्रेम परवान" (गी० अ० ५६)।

(४) 'राम राम कहि राम ···'—राजा ने राम-राम कहते ही प्राण छोड़े दूसरा शब्द कहा ही नहीं, इसीसे ग्रंथकार ने भी राम-राम से ही दोहे के पूर्वार्द्ध पद की पूर्ति की है। अभी 'सुरधाम' अर्थात् इन्द्र-लोक ही गये, क्योंकि इन्हें राम-तिलक देखने की वासना है, वह १४ वर्ष के बाद पूरी होगी, तब परधाम जायेंगे। भगवान् ने जैसे सुग्रीवजी और विभीषणजी को राज्य-वासना के भोग की पूर्ति कराई। पुनः ध्रुव को ३६००० वर्ष राज्य-भोग कराया। वैसे इनकी भी वासना पूरी कराके नित्य धाम देंगे; क्योंकि यह सिद्धान्त है—"जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमौ मुकुत होइ श्रुति गावा॥" (आ० दो० ३०); अर्थात् राम-नाम जीवों को मुक्ति देने में कमज्ञानादि की अपेक्षा नहीं करता।

जियन-मरन-फल दसरथ पावा। अंड अनेक अमल जस छावा॥१॥
जियत राम-बिधु-बदन निहारा। राम-बिरह करि मरन सँवारा॥२॥
सोकबिकल सब रोवहिं रानी। रूप सील बल तेज बखानी॥३॥
करहिं बिलाप अनेक प्रकारा। परहिं भूमितल बारहिं बारा॥४॥
बिलपहिं बिकल दास अरु दासी। घर घर रुदन करहिं पुरबासी॥५॥
अथयेउ आजु भानु-कुल-भानू। धरमअवधि गुन-रूप-निधानू॥६॥
गारी सकल कैकइहि देहीं। नयनबिहीन कीन्ह जग जेहीं॥७॥
येहि बिधि बिलपत रैनि बिहानी। आये सकल महामुनि ज्ञानी॥८॥

दोहा—तब बसिष्ठ मुनि समयसम, कहि अनेक इतिहास।
सोक निवारेउ सबहि कर, निज विज्ञान प्रकास ॥१५६॥

अर्थ—जीने-मरने का फल श्रीदशरथजी ने पाया, उनका निर्मल यश अनेक ब्रह्मांडों में छा गया ॥१॥ वे जीते जी श्रीरामजी का मुखचन्द्र देखते रहे और राम-विरह करके (राम-विरह के द्वारा) मरण सँवारा (सुशोभित किया) ॥२॥ शोक से व्याकुल होकर सब रानियाँ रो रही हैं। राजा के रूप, शील, बल और तेज को बखान करके ॥३॥ अनेकों प्रकार से विलाप कर रही हैं और बार-बार भूमि पर गिरती हैं ॥४॥ व्याकुल होकर दास और दासी विलाप कर रहे हैं, पुरवासी घर-घर रो रहे हैं ॥५॥ (और कहते हैं कि) आज धर्म की सीमा और गुण गण की निधि सूर्य-कुल के सूर्य अस्त हो गये ॥६॥ सब कैकेयी को गाली देते हैं, जिसने संसार-भर को नेत्रों से हीन कर दिया ॥७॥ इस तरह विलाप करते रात बीती, (तब) समस्त ज्ञानी महामुनि आये ॥८॥ तब वसिष्ठ मुनि ने समयानुसार अनेक इतिहास कहकर और अपने विज्ञान के प्रकाश से सबका शोक दूर किया ॥१५६॥

विशेष—(१) 'जियन-मरन-फल दसरथ'''—जगत् में किसी का जीवन बनता है, पर मरण दुर्गति से होता है और किसी के जीवनकाल में दुर्गति रहती है, पर मरण उत्तमता से होता है। राजा दशरथ के दोनों ही बने और इनका निर्मल यश संसार-भर को पवित्र करनेवाला हुआ; यथा—"जीवन मरन सुनाम, जैसे दसरथ राय को। जियत खेलाये राम, राम-विरह तनु परिहरेउ ॥" (दोहावली २११)

(२) 'जियत राम-बिधु-बदन'''—यहाँ उक्त जीवन मरण की श्रेष्ठता का स्वरूप कहा। किसी प्राकृत में विरह होता, तो दुर्गति होती, पर राम-विरह से सुगति हुई।

(३) 'रूप सील बल तेज बखानी।'—'रूप'—राजा ऐसे सुंदर थे कि वृद्ध होने पर भी लोकोत्तर सुन्दरी कैकेयी ने इनसे ब्याह के लिये पिता से आग्रह किया। 'शील' ऐसा था कि अपने मुख से पुत्र को वन जाने को नहीं कहा। पुनः दुःशीला कैकेयी के प्रति भी कठोर न बोले। 'बल'; यथा—"सुरपति बसइ बाँहबल जाके। नरपति सकल रहहिं रुख ताके ॥" (दो॰ २४); 'तेज'; यथा—"आगे होइ जेहि सुरपति लेई। अरध सिंघासन आसन देई ॥" (दो॰ २७); इन चार गुणों के अनुसार क्रमशः चारों पुत्र हुए, जो मानों गुण ही रूप धर-धरके प्रकट हैं। अर्थात् श्रीरामजी, श्रीभरतजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी मानों इनके रूप, शील, बल और तेज के ही प्रतिरूप हों।

(४) 'तब बसिष्ठ मुनि समय''''''—वसिष्ठजी ने कहा कि राजा सुकृती थे और सत्य-पालन की निष्ठा में तो अद्वितीय हुए। अतः, ऐसे कीर्तिमानों को मृत्यु मृत्यु नहीं कही जाती, क्योंकि ये संसार में प्रलय तक यश-रूप से प्रतिष्ठित रहेंगे। फिर इन्होंने राम-विरह में शरीर छोड़ा है। ऐसा तो कोई न हुआ है और न होगा। फिर इनके लिये शोक न करना चाहिये, प्रत्युत इसपर सुख मानना चाहिये कि वे नर-राज से सुरराज हो गये, प्राकृत-तन से दिव्य-तन हो गये। मुनि ने पूर्व के राजा हरिश्चन्द्र आदि की कथाएँ कहीं और फिर दिखाया कि इनके समान धन्य वे भी नहीं हुए। वसिष्ठजी ने इन सब इतिहासों को शास्त्र की दृष्टि से कहा। फिर अपने अनुभव के विज्ञान से भी समझाया। जैसे कि शास्त्रीय ज्ञान कहने के पीछे शिवजी ने भी कहा है; यथा—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत सब सपना ॥" (आ॰दो॰३८); तथा—"निज अनुभव अब कहउँ खगेसा। बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा ॥" (उ॰दो॰८८)

तेल नाव भरि नृप-तनु राखा। दूत बोलाइ बहुरि अस भाखा ॥१॥
धावहु बेगि भरत पहिं जाहू। नृप-सुधि कतहुँ कहहु जनि काहू ॥२॥
एतनेइ कहेहु भरत सन जाई। गुरु बोलाइ पठयेउ दोउ भाई ॥३॥
सुनि मुनि-आयसु धावन धाये। चले बेगि बरबाजि लजाये ॥४॥

अर्थ—नाव में तेल भरकर राजा का शरीर उसमें रक्खा, फिर दूत को बुलाकर ऐसा कहा ॥१॥ दौड़कर शीघ्रता से भरतजी के पास जाओ। राजा का समाचार कहीं भी किसी से न कहना ॥२॥ श्रीभरतजी से जाकर इतना ही कहना कि दोनों भाइयों को गुरुजी ने बुला भेजा है ॥३॥ मुनि की आज्ञा पाकर दूत दौड़े, अपनी तेज चाल से वे श्रेष्ठ घोड़ों को भी लज्जित करते थे ॥४॥

विशेष—'तेल नाव भरि नृप ……'—श्रीभरतजी के आने तक राजा का शरीर बना रहे; इसलिये उसे तेल में रखना उचित समझा, तो नाव में तेल भरकर उसमें रक्खा; यथा—"तैल-द्रोण्यां शायितं तं सचिवैस्तुनराधिपम्।" (वाल्मी० २।६६।१६); वनस्पति कोश में 'तैलपर्णिक' श्वेत चन्दन का नाम कहा गया है; अतः, वह नाव भी श्वेत चंदन की थी। 'दूत बोलाइ ……'—मंत्री लोग नीति-निपुण हैं, इसीसे राजा का मरण छिपाते हैं, अन्यथा कोई शत्रु के चढ़ आने की आशंका है।

अयोध्याकाण्ड का पूर्वार्द्ध समाप्त

अयोध्याकाण्ड उत्तरार्द्ध

"भरतागवन-प्रेम-बहु" प्रकरण

अनरथ अवध अरंभेउ जब ते। कुसगुन होहिं भरत कहँ तब ते ॥५॥
देखहिं राति भयानक सपना। जागि करहिं कटु कोटि कलपना ॥६॥
विप्र जँवाइ देहिं दिन दाना। सिव-अभिषेक करहिं विधि नाना ॥७॥
माँगहिं हृदय महेस मनाई। कुसल मातु पितु परिजन भाई ॥८॥

दोहा—येहि बिधि सोचत भरत मन, धावन पहुँचे आइ।
गुरु-अनुसासन श्रवन सुनि, चले गनेस मनाइ ॥१५७॥

शब्दार्थ—अभिषेक (अभि=ऊपर, सिच्=सींचना)=शिव-लिंग के ऊपर छेदवाला घड़ा रखकर जल टपकाना, या बाधा-शान्ति या मंगल के लिये मंत्र पढ़कर कुश और दूब से जल छिड़कना। कलपना=अनुमान।

अर्थ—जब से श्रीअवध में अनर्थ प्रारंभ हुआ, तब से श्रीभरतजी को अपशकुन होते हैं ॥५॥ वे रात में भयानक शकुन देखते हैं और जागने पर अनेक बुरी कल्पनाएँ करते हैं ॥६॥ (शांति के लिये)

नित्य दिन में ब्राह्मणों को भोजन करा के दान देते हैं, अनेक प्रकार से शिवजी का अभिषेक करते हैं ॥७॥ और हृदय में शिवजी को मनाकर माता, पिता, कुटुम्बी और भाइयों की कुशल माँगते हैं ॥८॥ श्रीभरतजी इस तरह मन में शोचते थे कि दूत आ पहुँचे, गुरु की आज्ञा सुन गणेशजी को मनाकर चल पड़े ॥१५७॥

विशेष—(१) 'देखहिं राति भयानक सपना'—वाल्मी० ७।६९।८-१८ में स्वप्न का विस्तृत वर्णन है। श्रीभरतजी ने वहाँ के दुःस्वप्न अपने मित्रों से कहे हैं कि मानों पिता मुरझाये हुए हैं। उनके बाल खुले हैं। पर्वत के शिखर से वे गोबर-भरे तालाब में गिर पड़े हैं, वे उस गोबर के तालाब में तैरने लगे हैं; अंजलि से तेल पीते हैं और बार-बार हँसते हैं। उन्होंने तिल-चावल खाया, उनका शिर नीचे हो गया, उनके शरीर-भर में तेल लगाया गया और वे तेल में डुबाये गये। और भी मैंने देखा कि समुद्र सूख गया, चन्द्रमा पृथिवी पर गिर पड़ा, सब संसार राक्षसों से पीड़ित है और अंधकार से ढक गया है।''''''इत्यादि।

यहाँ से श्रीभरत-चरित का प्रारंभ होकर प्रथम १४ दोहों तक 'पितृ-क्रिया' प्रसंग है। फिर मुख्य भरत-चरित्र प्रारंभ होकर १५६ दोहों में होगा, जितना पूर्वार्द्ध में श्रीरामचरित कहा गया है। इसीसे इस कांड के आदि में—"जब ते राम ब्याहि घर आये।" और अंत में—"भरत चरित करि नेम" कहा गया है। यहाँ से—'पितु हित भरत कीन्ह जसि करनी।" पर्यत १४ दोहे हैं, इतने दोहों में क्रिया-प्रसंग देकर जनाया कि १४ दिन में ही सब कृत्य हुए।

शंका—मुनि ने श्रीभरतजी को ही क्रिया के लिये क्यों बुलवाया? ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामजी तो निकट ही हैं, उन्हें क्यों न बुलवा लिया?

समाधान—क्रिया में सम्पत्ति का काम है, श्रीरामजी इसे त्याग चुके हैं, उदासीन वेष भी कर चुके हैं। श्रीभरतजी राज्य के अधिकारी हैं, अतएव वे ही क्रिया के भी अधिकारी हैं, सब कुछ दे भी सकते हैं। वे आवेंगे तो राज्य-प्रबन्ध भी करेंगे, इन कारणों से उन्हें ही बुलाया गया।

(२) 'गुरु-अनुसासन श्रवन''''''—गुरु-आज्ञा सुनते ही, दोघड़िया मुहूर्त भी न शोधा, केवल गणेश को मनाकर चल दिये। क्योंकि दुःस्वप्नों से शंकित थे ही, शीघ्र बुलाया जाना सुनकर और घबड़ा गये, कुशल भी न पूछ सके। वाल्मीकीय रामायण में कुशल पूछना और संदिग्ध उत्तर पाना लिखा है और यह भी कहा गया है कि जल्दी में विदाई का सामान भी साथ न लिया, कह दिया कि पीछे आवेगा, तुरंत सबसे विदा होकर चल दिये।

चले समीरबेग हय हाँके। नाँघत सरित सैल बन बाँके ॥१॥
हृदय सोच बड़ कछु न सोहाई। अस जानहिं जिय जाउँ उड़ाई ॥२॥
एक निमेष बरष-सम जाई। येहि बिधि भरत नगर नियराई ॥३॥
असगुन होहिं नगर पैठारा। रटहिं कुभाँति कुखेत करारा ॥४॥
खर सियार बोलहिं प्रतिकूला। सुनि सुनि होइ भरत-मन सूला ॥५॥

शब्दार्थ—बाँके = दुर्गम, विकट। जानहिं = विचार करते हैं। करारा = काला कौआ।

अर्थ—हवा के समान वेगवाले घोड़ों को हाँकते हुए चले, विकट नदियों, पर्वतों और व

घर और गलियाँ सूनी हैं, धूल से द्वार के किंवाड़ की खिड़की आदि मलीन हो गये हैं, इन्द्रपुरी के समान सुशोभित नगरी की यह दशा देखकर श्रीभरतजी दुःख से भर गये।

(२) 'नगर-नारि-नर-निपट ...'—जब स्थावरों की वैसी दशा है, तब ये तो चेतन हैं, इनकी दशा तो वैसी है, जैसे 'कोई सारी संपत्ति जुए में हार जाय'। यहाँ श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी संपत्ति हैं; यथा—"मनहुँ कृपिन धनरासि गँवाई।" (दो॰ ११२) देखिये।

(३) 'गँवहिं जोहारहिं जाहिं'—चुपके से (अन्यत्र दृष्टि किये हुए से) प्रणाम करके चल देते हैं। चुप साधे हैं, क्योंकि अभी श्रीभरतजी के भीतर का हाल नहीं जानते। इससे डरते हैं कि कहीं इन्हें राज्य-प्राप्ति का हर्ष हो, तो हम दुःखी होने से (राम-पक्ष के होने से) प्रतिकूल माने जायँगे। यदि इन्हें राम-वन पर दुःख हो और हम धन्यवाद दें, तो भी प्रतिकूल ही होगा। वा, लोगों के मन में दुःख है कि ये राज्य लेने आये हैं, इससे कोई बोलना नहीं चाहता। इसपर श्रीभरतजी के मन में और भी भय होता है कि ये लोग मुझसे क्यों विरोध मानते हैं?

हाट बाट नहिं जाइ निहारी। जनु पुर दहँ दिसि लागि दवारी ॥१॥
आवत सुत सुनि कैकयनंदिनि। हरषी रबि-कुल-जलरुह-चंदिनि ॥२॥
सजि आरती मुदित उठि धाई। द्वारहि भेंटि भवन लेइ आई ॥३॥
भरत दुखित परिवार निहारा। मानहुँ तुहिन बनज बन मारा ॥४॥
कैकेई हरषित येहि भाँती। मनहुँ मुदित दव लाइ किराती ॥५॥

अर्थ—बाजार और मार्ग देखे नहीं जाते, मानों नगर की दसों दिशाओं में दावाग्नि लगी हो ॥१॥ पुत्र को आता हुआ सुनकर, सूर्यकुल-रूपी कमल के लिये चाँदनी-रूपा राजा केकय की पुत्री कैकेयी हर्षित हुई ॥२॥ आरती सजाकर आनंदपूर्वक उठ दौड़ी और द्वार पर ही भेंट कर उनको महल में ले आई ॥३॥ श्रीभरतजी ने कुटुम्ब भर को दुखी देखा, (वे ऐसे हो रहे हैं) मानों पाला के मारे हुए कमल के वन हों ॥४॥ (परन्तु) कैकेयी इस प्रकार प्रसन्न दीख पड़ती है कि मानों वन में आग लगाकर भिल्लनी प्रसन्न हो ॥५॥

विशेष—(१) 'कैकयनंदिनि'—इसे नगर-भर के विरुद्ध जानकर अयोध्या सम्बन्धी नाम न दिया और दशरथ महाराज एवं महात्मा श्रीभरतजी का सम्बन्धी नाम भी न दिया, क्योंकि यह इनसे पृथक् स्वभाव की है। 'रविकुल जलरुह चंदिनि'—चाँदनी से कमल सिकुड़ जाते हैं और शीत से काले पड़ जाते हैं, वैसे ही सूर्यवंशी दुःख से संकुचित और साँवरे हो रहे हैं।

(२) 'सजि आरती मुदित .....'—राजकुमार बाहर से आते थे; तब आरती होती थी। आज सब शोक में हैं, इसलिये स्वयं अपने पुत्र की आरती करने चली। इससे भी स्वयं उठ दौड़ी कि कोई पिता मरण आदि सुना न दे; मैं ही पीछे ठीक से कहूँगी। कहाँ तो पति मृतक पड़ा है, सब दुःखी हैं और यह प्रसन्न होकर आरती कर रही है। सत्य है—'अर्थी दोष न पश्यति'।

(३) 'मानहुँ तुहिन बनज बन मारा'—परिवार के लोग बहुत हैं, इससे उन्हें वन कहा है और उनकी कोमलता दिखाने के लिये कमल कहा। पाला से कमल झुलस जाता है, वैसे ही ये सब मन से उदासीन और शरीर से काले पड़ गये हैं।

लाँघते चले जाते हैं ॥१॥ हृदय में बड़ा शोच है, कुछ नहीं सोहाता, मन में ऐसा आता है कि उड़कर चला जाऊँ ॥२॥ एक निमेष वर्ष के समान बीतता है, इस तरह श्रीभरतजी नगर के समीप पहुँचे ॥३॥ नगर में प्रवेश करते हुए अपशकुन होते हैं, काले कौवे बुरे स्थानों में बुरी तरह से (काँव-काँव को) रट लगाये हुए हैं ॥४॥ गधे, गीदड़ प्रतिकूल (अपशकुन सूचक बोली) बोल रहे हैं, सुन सुनकर श्रीभरतजी के मन में बड़ा दुःख होता है ॥५॥

विशेष—(१) 'हय हाँके'—यद्यपि घोड़े वायु-वेग से स्वयं चलते हैं, तथापि उन्हें हाँकते हैं। बड़ी-बड़ी नदियों, पहाड़ों आदि को लाँघते जाते हैं, तब भी संतोष नहीं, क्योंकि—

(२) 'हृदय सोच बड़ कछु न···'—एक तो दुःस्वप्न, दूसरे गुरु-आज्ञा, फिर दूत लोगों ने भी कुछ कुशल न कही, वे केवल चलने की ही शीघ्रता कराते हैं। इससे शोच बढ़ गया, पहले शोच-मात्र था— "येहि बिधि सोचत भरत मन" अब 'बड़ सोच' है। 'कछु न सोहाई'—खाना, पीना, विश्राम करना आदि नहीं सुहाता ; यथा—"किमहं त्वरयानीतः कारणेन विनानघ। अशुभाशङ्कि हृदयं शीलं च पततीव मे ॥" (वाल्मी० २।७१।१५)।

(३) 'रटहिं कुभाँति कुखेत करारा।'—पूर्व कहा गया—"दाहिन काग सुखेत सुहावा।" (बा० दो० ३०२)। यहाँ उसका उल्टा कहा गया है। अतः, अशुभ है। बाईं तरफ विष्ठा आदि युक्त अशुभ स्थान पर करर रट लगाये हुए हैं ; यथा—"काका कररत काग।" (दोहावली ४१६)। 'खर सियार बोलहिं···'—राजकुमार के आगमन पर मंगल वाद्य वा, सलामी (तोपों के शब्द से स्वागत) होनी चाहिये, पर यहाँ गधे और सियार करुण शब्द में बोल रहे हैं। खर ग्रामीण पशु है, वह वन में और सियार जंगली है, वह ग्राम में बोलता है। यही प्रतिकूल बोलना है।

श्रीहत सर सरिता बन बागा। नगर बिसेषि भयावन लागा ॥६॥
खग मृग हय गय जाहिं न जोये। राम - बियोग - कुरोग बिगोये ॥७॥
नगर - नारि - नर निपट दुखारी। मनहुँ सबन्हि सब संपति हारी ॥८॥

दोहा—पुरजन मिलहिं न कहहिं कछु, गँवहिं जोहारहिं जाहिं।
भरत कुसल पूँछि न सकहिं, भय बिषाद मन माहिं ॥१५८॥

अर्थ—तालाब, नदी, वन और बाग शोभारहित हो गये, (जिससे) श्रीअवध नगर विशेष करके भयानक लगा ॥६॥ पक्षी, पशु, घोड़े, हाथी देखे नहीं जाते, राम-वियोग रूपी कुरोग से वे नष्ट हो गये हैं ॥७॥ नगर के स्त्री-पुरुष बहुत ही दुखी हैं, मानों सभी अपनी सारी सम्पत्ति हारकर बैठे हों ॥८॥ पुरवासी मिलते हैं, पर कुछ कहते नहीं, चुपके से प्रणाम करके चल देते हैं। श्रीभरतजी उनसे एवं वे श्रीभरतजी से कुशल पूछ नहीं सकते, क्योंकि मन में भय और दुःख भरा है ॥१५८॥

विशेष—(१) 'श्रीहत सर सरिता···'—इसका विस्तृत वर्णन वाल्मी० २।७१।२०-४३ में है। 'नगर बिसेषि भयावन लागा' ; यथा—"तां शून्यशृंगाटकवेश्मरथ्यां रजोऽरुणद्वारकवाटयन्त्राम्। दृष्ट्वा पुरीमिन्द्रपुरीप्रकाशां दुःखेन सम्पूर्णतरो बभूव ॥" (वाल्मी० २।७१।४५)। अर्थात् अयोध्या के चौक,

घर और गलियाँ सूनी हैं, धूल से द्वार के किवाड़ की खिड़की आदि मलीन हो गये हैं, इन्द्रपुरी के समान सुशोभित नगरी की यह दशा देखकर श्रीभरतजी दुःख से भर गये।

(२) 'नगर-नारि-नर-निपट ......'—जब स्थावरों की वैसी दशा है, तब ये तो चेतन हैं, इनकी दशा तो वैसी है, जैसे 'कोई सारी संपत्ति जुए में हार जाय'। यहाँ श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी संपत्ति हैं; यथा—"मनहुँ कृपिन धनरासि गँवाई।" (दो० १०२) देखिये।

(३) 'गँवहिं जोहारहिं जाहिं'—चुपके से (अन्यत्र दृष्टि किये हुए से) प्रणाम करके चल देते हैं। चुप साधे हैं, क्योंकि अभी श्रीभरतजी के भीतर का हाल नहीं जानते। इससे डरते हैं कि कहीं इन्हें राज्य-प्राप्ति का हर्ष हो, तो हम दुखी होने से (राम-पक्ष के होने से) प्रतिकूल माने जायँगे। यदि इन्हें राम-वन पर दुःख हो और हम धन्यवाद दें, तो भी प्रतिकूल ही होगा। वा, लोगों के मन में दुःख है कि ये राज्य लेने आये हैं, इससे कोई बोलना नहीं चाहता। इसपर श्रीभरतजी के मन में और भी भय होता है कि ये लोग मुझसे क्यों विरोध मानते हैं?

हाट बाट नहिं जाइ निहारी। जनु पुर दहँ दिसि लागि दवारी ॥१॥
आवत सुत सुनि कैकयनंदिनि। हरषी रवि-कुल-जलरुह-चंदिनि ॥२॥
सजि आरती मुदित उठि धाई। द्वारहि भेंटि भवन लेइ आई ॥३॥
भरत दुखित परिवार निहारा। मानहुँ तुहिन बनज बन मारा ॥४॥
कैकेई हरषित येहि भाँती। मनहुँ मुदित दव लाइ किराती ॥५॥

अर्थ—बाजार और मार्ग देखे नहीं जाते, मानों नगर की दसों दिशाओं में दावाग्नि लगी हो ॥१॥ पुत्र को आता हुआ सुनकर, सूर्यकुल-रूपी कमल के लिये चाँदनी-रूपा राजा केकय की पुत्री कैकेयी हर्षित हुई ॥२॥ आरती सजाकर आनंदपूर्वक उठ दौड़ी और द्वार पर ही भेंट कर उनको महल में ले आई ॥३॥ श्रीभरतजी ने कुटुम्ब भर को दुखी देखा, (वे ऐसे हो रहे हैं) मानों पाला के मारे हुए कमल के वन हों ॥४॥ (परन्तु) कैकेयी इस प्रकार प्रसन्न दीख पड़ती है कि मानों वन में आग लगाकर भिल्लनी प्रसन्न हो ॥५॥

विशेष—(१) 'कैकयनंदिनि'—इसे नगर-भर के विरुद्ध जानकर अयोध्या सम्बन्धी नाम न दिया और दशरथ महाराज एवं महात्मा श्रीभरतजी का सम्बन्धी नाम भी न दिया, क्योंकि यह इनसे पृथक् स्वभाव की है। 'रविकुल जलरुह चंदिनि'—चाँदनी से कमल सिकुड़ जाते हैं और शीत से काले पड़ जाते हैं, वैसे ही सूर्यवंशी दुःख से संकुचित और साँवरे हो रहे हैं।

(२) 'सजि आरती मुदित ......'—राजकुमार बाहर से आते थे, तब आरती होती थी। आज सब शोक में हैं, इसलिये स्वयं अपने पुत्र की आरती करने चली। इससे भी स्वयं उठ दौड़ी कि कोई पिता-मरण आदि सुना न दे; मैं ही पीछे ठीक से कहूँगी। कहाँ तो पति मृतक पड़ा है, सब दुखी हैं और यह प्रसन्न होकर आरती कर रही है। सत्य है—'अर्थी दोषं न पश्यति'।

(३) 'मानहुँ तुहिन बनज बन मारा'—परिवार के लोग बहुत हैं, इससे उन्हें वन कहा है और उनकी कोमलता दिखाने के लिये कमल कहा। पाला से कमल झुलस जाता है, वैसे ही ये सब मन से उदासीन और शरीर से काले पड़ गये हैं।

(४) 'मनहुँ मुदित दव लाइ किराती'—इसका पूरा रूपक दो० ८३ चौ० २-३ में देखिये।

सुतहि ससोच देखि मन मारे। पूँछति नैहर कुसल हमारे ॥६॥
सकल कुसल कहि भरत सुनाई। पूँछी निज-कुल-कुसल भलाई ॥७॥
कहु कहँ तात कहाँ सब माता। कहँ सिय राम लखन प्रिय भ्राता ॥८॥

दोहा—सुनि सुतबचन सनेहमय, कपटनीर भरि नयन।
भरत-श्रवन-मन-सूल सम, पापिनि बोली बयन ॥१५६॥

तात बात मैं सकल सँवारी। भइ मंथरा सहाय बिचारी ॥१॥
कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ। भूपति सुरपति-पुर पगु धारेउ ॥२॥

शब्दार्थ—सूल (शूल) = यह एक शस्त्र है, बरछे के आकार का होता है।

अर्थ—पुत्र को शोच करते हुए और उदास देखकर पूछती है कि हमारे नैहर में तो कुशल है? ॥६॥ श्रीभरतजी ने सबकी और सब प्रकार की कुशल कह सुनाई,' फिर अपने कुल की कुशल और भलाई पूछी ॥७॥ कहो, पिताजी कहाँ हैं, सब माताएँ कहाँ हैं, श्रीसीताजी और प्यारे भाई श्रीरामजी-श्रीलक्ष्मणजी कहाँ हैं? ॥८॥ पुत्र के स्नेहमय वचन सुनकर, आँखों में कपट के आँसू भरकर पापिनी कैकेयी श्रीभरतजी के कानों और मन को शूल के समान पीड़ित करनेवाले वचन बोली ॥१५९॥ हे तात! मैंने सभी बात बना ली, बिचारी मंथरा सहायक हुई ॥१॥ पर बीच में विधाता ने कुछ थोड़ा सा कार्य बिगाड़ दिया कि राजा इन्द्र लोक को पधार गये ॥२॥

विशेष—(१) 'सुतहि ससोच देखि ''''—उसने समझा कि यहाँ मैंने सब आनंद ही का साज कर लिया है, नैहर में तो कुछ गड़बड़ी नहीं है? 'हमारे' शब्द से उसका अति गर्व जनाया।

(२) 'कुसल भलाई'—श्रीभरतजी को संदेह हो गया कि सब तो दुखी हैं और यही अकेली हर्षित क्यों हैं? क्या कुल की भलमनसाहत में तो दाग नहीं लगा इससे कुशल और भलाई दोनों पूछते हैं।

यहाँ कैकयी तो श्रीभरतजी को 'सुत' अपना माने हुए हैं, इससे उसकी तरफ की बात में 'सुत' शब्द देते हैं, पर श्रीभरतजी उसके मत में नहीं हैं। अतः, इन्हें 'कैकेयी सुत' आदि नहीं कहते हैं। यह कवि का सँभाल है।

(३) 'कहु कहँ तात कहाँ सब माता।'—कैकेयी राजा को अधिक प्रिय थी, इससे वे प्रायः इसीके महल में रहते थे। आज पिता का आसन खाली देखते हैं; इससे प्रथम उन्हीं को पूछा। श्रीकौशल्याजी को श्रीभरतजी बहुत प्रिय थे। इससे इनके आने पर वे और उनके साथ सब माताएँ आ जातीं, पर आज कोई न आई, इससे उन्हें भी पूछा। फिर श्रीसीताजी, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी जो कैकेयी को प्राणों से भी अधिक प्रिय थे और इनके ही पास अधिक रहते थे। किंतु आज नहीं देख पड़ते, इससे पूछते हैं कि सब कहाँ हैं? पुनः पिता के अनिष्ट विषयक स्वप्न देखे थे, इससे भी पहले पिता को ही पूछा।

(४) 'सुनि सुत वचन सनेहमय'···'—'सनेहमय' और 'मरत श्रवन मन सूल सम' से कवि श्रीभरतजी को निर्दोष एवं कैकेयी से भिन्न मतवाले दिखाते हैं। 'कपट नीर भरि नैन'—वह तो राजा और श्रीकौशल्याजी आदि सौतों एवं श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी को शत्रु माने बैठी है, इनके दुःख में उसे हर्ष है ; यथा—"दुइ बर दान···माँगहु आजु जुड़ावहु छाती ॥ सुतहि राज रामहि बनवासू। देहु लेहु सब सवति हुलासू ॥" (दो० २१)। तो उसे इन सबके दुःख पर आँसू कहाँ आ सकते थे ? और हँसती हुई पति-मरण सुनाती तो पहले ही श्रीभरतजी ताड़ जाते कि इसने ही दुष्टता की है। इसलिये उसने ऊपर से बनावटी आँसू आँखों में भर लिये। पुनः अप्रिय वचनों को भी प्रिय बना कर कहने लगी।

(५) 'तात बात मैं सकल'···'—पति का मरण पहले कहना था, क्योंकि 'पिता' कहाँ हैं ? यह श्रीभरतजी ने पहले पूछा है ; पर उसके मन में जो भाव मुख्य था, पहले वही कहा कि मैंने सब सँवार ली। भाव यह कि कुशल न होती, पर मैंने सब बना ली। नहीं तो मैं घर से निकाली जाती—"भामिनि भइहु दूध कै माखी।" और तुम जेल में पड़े रहते—"भरत बंदि गृह सेइहहिं" (दो० १९)। 'मइ मथरा सहाय बिचारी'—यह न बनाती तो मुझे मालूम भी न होता। 'बिचारी' पद श्लिष्ट है—(क) यह बेचारी, गरीब है, दासी ही तो है। इसकी कौन गिनती ? पर यही सहायक हुई। (ख) बड़ी बुद्धि-विचार वाली है ; यथा—"बार बार बड़ि बुद्धि बखानी।" (दो० २२)। प्रायः अभिमानी लोग दूसरे को 'बेचारा' या 'बेचारी' कहते हैं। यह भी हेतु है। मथरा की प्रशंसा इसलिये करती है कि इसने मथरा से कह रक्खा है—"जौं बिधि पुरब मनोरथ काली। करउँ तोहि चख पूतरि आली ॥" (दो० २२)। वह प्रतिज्ञा श्रीभरतजी से ही पूरी होगी। इसलिये जनाती है कि यही एक हम लोगों की हितैषिणी है और सब तो शत्रु ही हैं।

(६) 'कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ'—पति का मरण इसके लिये बहुत बड़ी बात है, पर राज्य-लोभ में अंधी हो रही है। अतः, बड़ी हानि को थोड़ी ही कहती है। वा, श्रीभरतजी के आश्वासन के लिये भी कछुक ही कहती है कि जिससे वे अधीर न हों। 'बिधि'—अभिमानी लोगों का स्वभाव होता है कि हानि को ब्रह्मा के सिर पर धरते हैं और लाभ के अभिमानी स्वयं बनते हैं। जैसे कि इसने अभी कहा है—"तात बात मैं सकल सँवारी।"

सुनत भरत भये बिबस बिषादा। जनु सहमेउ करि केहरिनादा ॥३॥
तात तात हा तात पुकारी। परे भूमितल ब्याकुल भारी ॥४॥
चलत न देखन पायउँ तोही। तात न रामहि सौंपेहु मोही ॥५॥
बहुरि धीर धरि उठे सँभारी। कहु पितु मरन हेतु महतारी ॥६॥
सुनि सुतबचन कहति कैकेई। मरम पाछि जनु माहुर देई ॥७॥
आदिहुँ तें सब आपनि करनी। कुटिल कठोर मुदित मन बरनी ॥८॥

दोहा—भरतहि बिसरेउ पितु-मरन, सुनत राम - बन गौन।
हेतु अपनपउ जानि जिय, थकित रहे धरि मौन ॥१६०॥

शब्दार्थ—मरम = मर्म स्थल। पाछि = चीर कर; हलका चीरा लगाना। माहुर = विष।

अर्थ—यह सुनते ही श्रीभरतजी दुःख से बेबस हो गये, मानों सिंह के गर्जन सुनकर हाथी डर गया हो ॥३॥ तात! तात!! हा तात!!! (ऐसा) पुकारते हुए बड़े व्याकुल होकर पृथिवी पर गिर पड़े ॥४॥ मैंने आपको स्वर्ग जाते समय न देख पाया, हा तात! आपने मुझे श्रीरामजी को न सौंपा ॥५॥ फिर धैर्य धारण करके सँभाल कर उठे। (और बोले) हे महतारी! पिता के मरण का कारण कहो ॥६॥ पुत्र के वचन सुनकर कैकेयी कहती है। मानों मर्मस्थल को चीरकर उसमें विष देती हो ॥७॥ कुटिला और कठोर-हृदया श्रीकैकेयी ने प्रारम्भ से ही अपनी कुटिल-कठोर करनी को प्रसन्न मन से कहा ॥८॥ श्रीरामजी का वन गमन सुनते ही श्रीभरतजी का पिता का मरण भूल गया, हृदय में कारण रूप अपना सम्बन्ध (अर्थात् अपनेको वनवास का कारण) समझकर चुप होकर वे स्तभित हो गये ॥१६०॥

विशेष—(१) 'ब्याकुल भारी'—दु:स्वप्नों से और प्रजाओं को दुखी देखकर व्याकुल थे ही, अब 'भारी व्याकुल' हो गये। इसीसे कई बार 'तात' 'तात' कहा।

(२) 'चलत न देखन···'—अर्थात् मैंने आपको न देख पाया, यह मुझसे न बना और आपने अंत समय में मुझे श्रीरामजी को न सौंपा, यह आपसे भी न बना। सौंपने का प्रयोजन वाल्मी० २।७२।३२-३३ में कहा है—"जो मेरे भाई, पिता और बन्धु हैं और मैं जिनका प्रिय दास हूँ। ··धर्म जानने वालों के बड़े भाई पिता के तुल्य होते हैं। मैं उनका चरण ग्रहण करूँगा। इस समय वे ही मेरे गति (अवलंब) हैं।"

(३) 'मरम पाछि जनु···'—'मरम', यथा—"मरम ठाहर देखई।" (दो० १५)। पिता का मरण कहना मर्म-स्थल का चीरना है और श्रीराम-वन-गमन का ब्योरा, मंथरा के समागम से लेकर वरदान माँगने और पाने की सब कथाएँ कहना, उस घाव में माहुर देना है। ऐसे समाचार को प्रसन्नता-पूर्वक कह रही है। इसीसे 'कुटिल कठोर' कहा, क्योंकि यह वज्र-हृदया है। तभी तो पति-मरण पर भी कहना नहीं और पुत्र श्रीभरतजी पर भी दया नहीं है कि वे पिता-मरण पर दुखी हुए थे, श्रीराम-वन-गमन पर भी दुखी होंगे। अभी तो वह जानती है, मेरी तरह मेरा पुत्र भी प्रसन्न होगा।

'थकित रहे धरि मौन ···'—सन्न रह गये और कुछ बोल न सके। इससे अत्यन्त विह्वलता जनाई; क्योंकि पिता के मरण पर तो विलाप भी किया था। पर वनवास की बात और अपनेको ही उसका कारण समझकर तो वे दंग रह गये कि अरे यह क्या हुआ?

बिकल बिलोकि सुतहि समुझावति। मनहुँ जरे पर लोन लगावति ॥१॥
तात राउ नहि सोचइ जोगू। बिढ़इ सुकृत जस कीन्हेउ भोगू ॥२॥
जीवत सकल जनम फल पाये। अंत अमरपति-सदन सिधाये ॥३॥
अस अनुमानि सोच परिहरहू। सहित समाज राज पुर करहू ॥४॥

अर्थ—व्याकुल देखकर पुत्र को समझाती है, मानों जले पर नमक लगाती है ॥१॥ हे तात! राजा शोचने के योग्य नहीं है, उन्होंने जैसा पुण्य कमाया वैसा भोग भी किया (वा, उन्होंने आगे के लिये सुकृत-यश कमाया और पूर्व-कृत सुकृत-यश का भोग भी किया।) ॥२॥ जीते हुए उन्होंने सब जन्मों का

सम्पूर्ण फल पाया और अंत में इन्द्रलोक को गये ॥३॥ ऐसा विचार कर शोच को छोड़ो और समाज (मंत्री-सेना आदि) के साथ नगर का राज्य करो ॥४॥

विशेष—'मनहुँ जरे पर लोन ···'—जले हुए पर नमक लगाने से असह्य वेदना होती है। वैसे ही इसका समझाना और भी पीड़ा देनेवाला है। नमक रस है, भोजन की वस्तु है, लगाने की नहीं। वैसे ही राज-रस भी भोगी के लिये है; यथा—"लोलुप भूमि भोग के भूखे।" (दो० १०८); राम-विरही के लिये नहीं। इसने अपनी करनी कही कि मैंने तुम्हारे ही लिये यह सब यत्न किया। इसपर जलन हुई कि बड़े भाई को रहते हुए छोटे को राजा होने से कुल को कलंक होगा। फिर—"तात राउ नहिं सोचइ जोगू।···" से "सोच परिहरहू।" तक के वचन नमक लगाना और—"सहित समाज राज पुर करहू।" यह घाव पर अंगार रखना है। यही आगे कहेंगे।

'सहित समाज'—अर्थात् राज्य के सातो अंग अभी ठीक-ठीक बने हैं। अतः, तुरत गादी पर बैठ जाओ, नहीं तो कोई विघ्न न हो जाय।

सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारू। पाके छत जनु लाग अँगारू ॥५॥
धीरज धरि भरि लेहि उसासा। पापिनि सबहि भाँति कुल नासा ॥६॥
जौं पै कुरुचि रही अति तोही। जनमत काहे न मारे मोही ॥७॥
पेड़ काटि तैं पालउ सींचा। मीनजियन निति बारि उलीचा ॥८॥

दोहा—हंसबंस दसरथ जनक, राम-लखन-से भाइ।
जननी तू जननी भई, बिधि सन कछु न बसाइ ॥१६१॥

अर्थ—राजकुमार श्रीभरतजी यह सुनकर अत्यन्त डर गये, मानों पके घाव में अंगार लग गया हो। (पके हुए घाव पर चिनगारी लगने से असह्य वेदना होती है, वैसे ही श्रीभरतजी को दुःसह दुःख हुआ।) ॥५॥ धैर्य धरकर लंबी साँसें लेते हैं, (और कहते हैं कि) अरी पापिनि! तूने सभी प्रकार से कुल का नाश किया ॥६॥ जो निश्चय करके तेरी अत्यन्त कुत्सित रुचि थी, तो तूने मुझे जन्मते ही क्यों न मार डाला? ॥७॥ तूने पेड़ काटकर पल्लव को सींचा और मछली के जीने के लिये तूने जल उलीचा। (निकाल फेंका) ॥८॥ सूर्य वंश ऐसा (उत्तम) वंश, दशरथ महाराज ऐसे पिता और श्रीराम-लक्ष्मणजी सरीखे भाई मुझे मिले। पर हे माता! तू मुझे जनने (पैदा करने) वाली हुई! (क्या करूँ) विधाता से कुछ भी वश नहीं चलता। (भाव यह कि जहाँ और सब नाते अच्छे-अच्छे बनाये, वहाँ यह महा अयोग्य नाता दिया कि तुझ ऐसी दुष्टा के गर्भ से मेरा जन्म कराया। यदि मेरा वश चलता तो मैं उसे दंड देता) ॥१६१॥

विशेष—(१) 'सुनि सुठि सहमेउ···'—'राजकुमार' अर्थात् राज्य के योग्य हैं, परन्तु धर्म-विरुद्ध मानकर ही त्याग रहे हैं। पहले कहा गया—"जनु सहमेउ करि केहरिनादा।" अर्थात् सहम (डर) तो प्रथम से ही था, अब 'सुठि सहमेउ'। 'पाके छत जनु ···'—राजा की मृत्यु व्रत (फोड़ा), राम-वनवास पकना और 'राज्य करो' यह कहना अंगार लगना है।

'सबहिं भाँति'—पिता की मृत्यु, कुल-रीति का तोड़ना, राम-वन से प्रिय परिजन प्रजा का दुखी होना, इत्यादि।

(२) 'पेड़ काटि तै पालव···'—उपर्युक्त कुरुचि कहते हैं—पेड़ राजा और पालव श्रीभरतजी हैं, सींचना इन्हें राज्य देना है। श्रीभरतजी मीन, अयोध्या सर, श्रीरामजी जल हैं। 'जननी तू जननी'—व्यंगार्थ से अपने और माता में अनमेल कहा है; यथा—"दिनकर वंस पिता दसरथ से रामलखन से भाई। जननी! तू जननी तो कहा कहउँ, बिधि केहि खोरि न लाई॥" (गी० अ० ६०)।

जब तैं कुमति कुमत जिय ठयऊ। खंड खंड होइ हृदय न गयऊ॥१॥
बर माँगत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा॥२॥
भूप प्रतीति तोरि किमि कीन्ही। मरनकाल बिधि मति हरि लीन्ही॥३॥
बिधिहु न नारि-हृदय-गति जानी। सकल कपट अघ अवगुनखानी॥४॥
सरल सुसील धरमरत राऊ। सो किमि जानइ तीय-सुभाऊ॥५॥

अर्थ—हे दुर्बुद्धिनी! जब तूने हृदय में यह कुमत (बुरा विचार) ठाना; तभी तेरा हृदय टुकड़े-टुकड़े क्यों न हो गया? ॥१॥ वर माँगते हुए तेरे मन में पीड़ा न हुई, तेरी जीभ न गल गई और मुँह में कीड़े क्यों न पड़ गये? ॥२॥ राजा ने तेरी प्रतीति कैसे कर ली (जान पड़ता है कि) मरने के समय पर विधाता ने उनकी बुद्धि हर ली ॥३॥ ब्रह्माजी ने भी स्त्रियों के हृदय की गति (चाल) नहीं जानी, स्त्रियाँ समस्त कपट, पाप और अवगुणों की खानि हैं ॥४॥ फिर राजा तो सीधे, सुशील और धर्म-परायण हैं, वे भला स्त्री-स्वभाव कैसे जानें? ॥५॥

विशेष—(१) 'जब तै कुमति···'—ब्रह्मा को उचित तो यह था, जब से तेरे हृदय में कुमत आया, हृदय ही खंड खंड कर देते। वर माँगते हुए मन में पीड़ा पैदा कर देते। जीभ गला देते, और तेरे मुँह में कीड़े पैदा कर देते; पर उन्होंने कुछ नहीं किया। इससे भी चूके, तो भूप की मति ही न हरते। इन सबसे निश्चय होता है—"बिधिहु न···" वर माँगना पहले कैकेयी के हृदय में आया, फिर मन से ठीक किया, तब वाणी द्वारा मुँह से माँगा, इससे उसके इन्हीं अंगों की निन्दा की गई।

(२) 'सरल सुसील धरम···'—ऊपर स्त्री-स्वभाव कहा; यथा—'सकल कपट अघ अवगुन खानी।' उसके न जानने में यहाँ राजा के तीन ही गुण कहते हैं कि राजा 'सरल' हैं; इसीसे उन्होंने तुझे 'सकल कपट की खानि' न जाना और तुझसे कह दिया कि कल श्रीरामजी का तिलक है, तुम मंगल सजो। तू कपट की खानि है; इसीसे उनसे श्रीरामजी की शपथ कराके माँगा। राजा 'धरम रत' हैं, इसीसे उन्होंने तुझे 'अघ की खानि' न जाना और तुझ स्त्री को भी जो वचन दिया, उसे सत्य कर दिखाया। नहीं तो जैसे ही सुना था कि वह कोप भवन में है, तो वहाँ जाते ही नहीं। राजा 'सुशील' हैं, इसीसे तेरे अवगुणों को न जाना, नहीं तो जानकर झिड़क देते।

(३) 'सो किमि जानइ' अर्थात् यह तो मैं ही जानता हूँ, या तो श्रीरामजी या उनके दास जानते हैं।

अस को जीव-जंतु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रान-प्रिय नाहीं ॥६॥
भे अति अहित राम तेउ तोही। को तू अहसि सत्य कहु मोही ॥७॥
जो हसि सो हसि मुँह मसि लाई। आँखि ओट उठि बैठहि जाई ॥८॥

दोहा—राम - बिरोधी - हृदय ते, प्रगट कीन्ह बिधि मोहि।
मो समान को पातकी, बादि कहउँ कछु तोहि ॥१६२॥

अर्थ—जगत् में ऐसे कौन जीव-जन्तु हैं, जिन्हें रघुनाथजी प्राणों से प्यारे नहीं हैं ॥१॥ वे ही श्रीरामजी तुझे बड़े शत्रु जान पड़े, तो तू कौन है ? मुझसे सत्य-सत्य बता (नर-स्त्री के वेष में डाकिनी, राक्षसी आदि तो नहीं है !) ॥२॥ (खैर) तू जो है सो है, मुख में स्याही लगाकर यहाँ से उठकर मेरी आँखों की आट (ओर कहीं) जा बैठ ॥३॥ ब्रह्मा ने मुझे श्रीरामजी से वैर माननेवाले हृदय से पैदा किया। अतः, मेरे समान और कौन पापी है ? मैं व्यर्थ ही तुझे कुछ कहता हूँ ॥१६२॥

विशेष—(१) 'अस को जीव जंतु'''—जीव बड़े और जन्तु छोटे प्राणियों को कहते हैं; अर्थात् श्रीरामजी प्राणि-मात्र को प्रिय हैं; यथा—"ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी।" (बा० दो० २१५); भाव यह कि तू जड़ पाषाण आदि की तरह है। वा, जीव तीन भेदवाले ही कहाते हैं। यथा-"बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥" (दो० २७१); इनके अतिरिक्त और सब प्राणी जन्तु हैं, जन्तुओं को भी श्रीरामजी प्रिय हैं; यथा—"जिन्हहिं निरखि मग साँपिनि बीछी। तजहिं बिषम बिष तामस तीछी॥" (दो० २६१)। 'भे अति अहित राम'''—भाव, अहित तो तभी हुए, जब तुमने उनका राज्य छीना, फिर उन्हें घर-गाँव में भी न रहने दिया, बनवास दिया, अतएव 'अति अहित' हुए।

(२) 'जो हसि सो हसि'''—भाव यह कि पूछकर क्या करना है, तेरा वध कर नहीं सकता, क्योंकि इससे श्रीरामजी अप्रसन्न होंगे; यथा—"हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम्। यदि मां धार्मिको रामो नासूयेन्मातृघातकम्॥" (वाल्मी० २।७८।२२)। वा, तेरा मुख देखने योग्य नहीं है। यहाँ माता का त्याग किया, इससे यहाँ 'प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्' (षट्-शरणागति में से एक) है।

(३) 'मो समान को पातकी ''''''—यह कार्पण्य शरणागति है, जैसे बालकांड में कवि ने खलों के अवगुण कहते हुए अपनेको—"तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। धिग धर्मध्वज धंधक धोरी॥" (दो० ११); कहा है। वास्तव में श्रीभरतजी परम साधु हैं। 'बादि' का छोड़कर भी अर्थ होता है; अर्थात् कुछ तू भी है, तुझे छोड़कर और कोई मेरे समान पापी नहीं है। यही बात आगे—"कारन ते कारज कठिन''''''" (दो० १७९); में स्पष्ट होगी।

सुनि सत्रुहन मातु - कुटिलाई। जरहिं गात रिस कछु न बसाई ॥१॥
तेहि अवसर कुबरी तहँ आई। बसन बिभूषन बिबिध बनाई ॥२॥
लखि रिस भरेउ लखन-लघु-भाई। बरत अनल घृत-आहुति पाई ॥३॥
हुमगि लात तकि कूबर मारा। परि मुँह भर महि करत पुकारा ॥४॥

शब्दार्थ—हुमगि=हुंकार के जोर से कुछ उछलकर। मुँह भरि= मुँह के बल।

अर्थ—माता की कुटिलता सुनकर श्रीशत्रुघ्नजी का शरीर क्रोध से जल रहा है, पर कुछ वश नहीं चलता ॥१॥ उसी समय कुबरी मंथरा अनेक प्रकार वस्त्राभूषण पहने हुई वहाँ आई ॥२॥ श्रीलक्ष्मणजी के छोटे भाई श्रीशत्रुघ्नजी उसे देखकर रिस से भर गये, मानों जलती हुई अग्नि को घी की आहुति मिल गई हो ॥३॥ हुमँगकर और ताककर कूबर पर लात मारी, वह पुकार करती हुई पृथिवी पर मुँह के बल गिर पड़ी ॥४॥

विशेष—(१) 'सुनि सत्रुहन मातु ...'—यद्यपि शत्रु के हनन में समर्थ हैं, तथापि यहाँ तो माता ही नहीं, किंतु स्वामी श्रीभरतजी की माता हैं, अतएव उनसे वश नहीं चलता। श्रीभरतजी ने उसे बहुत कुछ कहा, इससे उनकी रिस कुछ शान्त हुई, पर इनकी रिस ज्यों-की-त्यों भरी है, उसके उतारने का योग भी विधाता ने लगा दिया कि उसी अवसर पर मंथरा आ गई। 'तेहि अवसर'—वाल्मीकिजी ने १४ दिन के पीछे यह लिखा है और इस मानस में तुरत मंथरा का आना और दंड पाना लिखा, इसलिये इस कल्प का चरित उससे उत्तम है।

(२) 'लखि रिस भरेउ लखन... '—लखने (लक्ष्य करने) और अन्यायी पर क्रोध करने के सम्बन्ध से 'लखन लघु भाई' कहा है। लख गये कि इसीने सब अनर्थ किया है, तभी तो शोक के समय में इसे शृंगार भाया है। श्रीलक्ष्मणजी अन्यायी पर क्रोध करते हैं; यथा—"माखे लखन कुटिल भइ भौंहैं। रदपट फरकत नयन रिसौंहैं॥" (बा० दो० २५१); "बर तीर मारहु लखन...(दो० १००); तथा इस मंथरा को भी जब-तब पीट देते थे; यथा—"दीन्ह लखन सिख अस मन मोरे॥" (दो० १२); उनके छोटे भाई को भी वैसा होना युक्त ही है।

वाल्मीकिजी ने भी इस प्रसंग पर इन्हें लक्ष्मणानुज कहा है; यथा—"अथ यात्रां समीहन्तं शत्रुघ्नो लक्ष्मणानुजः।" (२।७८।१); एवं—"इति संभाषमाणे तु शत्रुघ्ने लक्ष्मणानुजे।" (२।७८।५); इत्यादि।

(३) 'करत पुकारा'—कैकेयी की दोहाई देती हुई।

कूबर टूटेउ फूट कपारू। दलित दसन मुख रुधिरप्रचारू ॥५॥
आह दैव मैं काह नसावा। करत नीक फल अनइस पावा ॥६॥
सुनि रिपुहन लखि नखसिख खोटी। लगे घसीटन धरि धरि झोंटी ॥७॥
भरत दयानिधि दीन्हि छँड़ाई। कौसल्या पहिं गे दोउ भाई ॥८॥

दोहा—मलिन बसन बिबरन बिकल, कृस सरीर दुखभार।
कनक-कलपबर-बेलि-बन, मानहुँ हनी तुपार ॥१६३॥

भरतहि देखि मातु उठि धाई। मुरछित अवनि परी झइँ आई ॥१॥
देखत भरत बिकल भये भारी। परे चरन तनुदसा बिसारी ॥२॥

शब्दार्थ—प्रवाह=बह निकला। अनहित (सं० अहित)=बुराई। कइँ आई=चकाचौंध होना, तिलमिलाना।

अर्थ—उसका कूबर टूट गया, कपाल फूट गया, दाँत टूट गये, मुँह से लोहू बहने लगा ॥५॥ (वह कराहती हुई बोली) हाय! दैव! मैंने क्या बिगाड़ा, जो अच्छा करते हुए बुरा फल पाया ॥६॥ यह सुनकर और इसे नख से शिखा पर्यंत दुष्टा जानकर शत्रु को मारनेवाले शत्रुघ्नजी उसकी झोंटी पकड़-पकड़कर उसे घसीटने लगे ॥७॥ दयासागर श्रीभरतजी ने उसे छुड़ा दिया और दोनों भाई श्रीकौशल्याजी के पास गये ॥८॥ उनके वस्त्र मैले हैं, शरीर का रंग उतर गया है, वे दुःख के बोझे से व्याकुल हैं और शरीर दुर्बल हो गया है, ऐसी जान पड़ती हैं कि मानों वन में सोने की सुन्दर कल्पलता को पाला मार गया हो ॥१६३॥ श्रीभरतजी को देखकर माता उठ दौड़ीं, उन्हें चकाचौंधी आ गई, वे मूर्च्छित होकर पृथिवी पर गिर पड़ीं ॥१॥ देखते ही श्रीभरतजी भारी व्याकुल हो गये और शरीर की दशा भूलकर उनके चरणों पर गिर पड़े ॥२॥

विशेष—(१) 'कूबर टूटेउ फूट कपारू···'—मंथरा ने पहले कहा था—"जौ असत्य कछु कहउँ बनाई। तौ बिधि देइहि मोहिं सजाई॥" (दो० १८); तथा—"कोरइ जोग कपारु अभागा।" (दो० १५)। वे ही वचन चरितार्थ हो रहे हैं। मंथरा कैकेयी के पक्ष की है। अतः, इसके दंड से कैकेयी का भी अपमान हो रहा है, जो श्रीभरतजी ने कहा था—"खंड-खंड होइ हृदय न गयऊ।" (दो० १६१), इत्यादि।

(२) 'आह दैव मैं काह······'—यहाँ बन-ठनकर आने का अभिप्राय खोला गया कि यह इसलिये प्रसन्नता-पूर्वक आई कि आज बहुत इनाम मिलेगा। श्रीशत्रुघ्नजी इसे नख से शिखा पर्यन्त दुष्टा जानकर (क्योंकि प्रसन्नता से सर्वांग सजकर आई इसीसे) सर्वांग में दंड देने लगे। पहले कूबर ही पर मारा था। 'करत नीक······' का गुप्तार्थ यह भी है कि जो बुराई का फल दे रहे हैं, अच्छा करते हैं।

(३) 'भरत दयानिधि दीन्हि······'—श्रीभरतजी साधु हैं, इसीसे अति दयालु हैं; यथा—"नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता॥" (आ० दो० १)। वाल्मी० २।७८।२१-२४ में लिखा है कि श्रीशत्रुघ्नजी को क्रुद्ध देखकर श्रीभरतजी ने समझाया कि स्त्रियाँ अवध्य होती हैं। इससे अब इस मंथरा को छोड़ दो। मैं इस दुष्टा कैकेयी को अभी मार डालता, यदि धर्मात्मा श्रीरामजी मातृ-हत्या समझकर मुझसे घृणा न करते। इस मंथरा को भी तुम्हारे द्वारा मारी गई सुनेंगे, तो वे हम-तुमसे बोलेंगे भी नहीं तब श्रीशत्रुघ्नजी ने उसे छोड़ दिया।

(४) 'तनुदसा बिसारी'—देह के वस्त्र कहीं गिरे, आप कहीं गिरे।

मातु तात कहँ देहि देखाई। कहँ सिय रामलखन दोउ भाई ॥३॥
कैकइ कत जनमी जग माँझा। जौं जनमि त भइ काहे न बाँझा ॥४॥
कुल-कलंक जेहि जनमेउ मोही। अपजस-भाजन प्रियजन द्रोही ॥५॥
को तिभुवन मोहि सरिस अभागी। गति असि तोरि मातु जेहि लागी ॥६॥
पितु सुरपुर बन रघुबर केतू। मैं केवल सब अनरथ हेतू ॥७॥
धिग मोहि भयेउ बेनु-बन-आगी। दुसह दाह-दुख-दूषन-भागी ॥८॥

दोहा—मातु भरत के वचन मृदु, सुनि पुनि उठी सँभारि।
लिये उठाइ लगाइ उर, लोचन मोचति बारि॥१६४॥

अर्थ—हे तात ! पिताजी कहाँ हैं, उन्हें दिखा दे। श्रीसीताजी, एवं श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी दोनों भाई कहाँ हैं ? उन्हें दिखा दे ॥३॥ कैकेयी संसार में क्यों जन्मी ? जो जन्मी ही, तो बाँझ क्यों न हुई ? ॥४॥ कि जिसने कुल को कलंकित करनेवाला, अपयश का पात्र, प्रिय लोगों का द्रोही, मुझ (ऐसे पुत्र) को पैदा किया ॥५॥ तीनों लोकों में मेरे समान अभागा कौन होगा कि जिसके कारण हे माता तेरी ऐसी दशा हुई ॥६॥ पिता स्वर्ग को और रघुकुल-श्रेष्ठ श्रीरामजी वन को गये। इन सब अनर्थों का कारण वेणु-रूप केवल मैं ही हूँ ॥७॥ मुझे धिक्कार है कि जो मैं बाँस के वन में अग्नि रूप (पैदा) हुआ और कठिन दाह, दुःख और दोषों का भागी हुआ ॥८॥ श्रीभरतजी के कोमल वचन सुनकर माता फिर सँभलकर उठी, उनको उठाकर छाती से लगा लिया और वे आँखों से आँसू बहा रही हैं ॥१६४॥

विशेष—(१) 'मातु तात कहँ···गति अस तोरि···'—व्याकुलता में विलाप करते हुए पूछते हैं कि अमुक-अमुक कहाँ हैं ? फिर उसीपर कहते हैं कि न मैं पैदा होता और न यह सब अनर्थ होता। मेरे सम्बन्ध से कुल कलंकित हुआ और मेरे ही कारण अमुक-अमुक को दुःख हुआ, जिससे मैं सबका द्रोही हुआ। कैकयी बाँझ होती तो यह कुछ न होता। 'वेनु बन आगी' अर्थात् मैं इसी कुल में पैदा हुआ और इसी को जला रहा हूँ ; यथा—"भइ रघुबंस बेनु बन आगी।" (दो० ३६)।

(२) 'पुनि उठी सँभारि'—क्योंकि पूर्व मूर्च्छित होकर गिर पड़ी थीं—"मुरुछित अवनि परी झइँ आई।" ऊपर कहा गया, अब फिर उठीं, तिलमिलाकर गिरी थीं, इसीसे सँभलकर उठना कहा गया।

सरल सुभाय माय हिय लाये। अति हित मनहुँ राम फिरि आये ॥१॥
भेंटेउ बहुरि लखन-लघु-भाई। सोक सनेह न हृदय समाई ॥२॥
देखि सुभाव कहत सब कोई। राममातु अस काहे न होई ॥३॥
माता भरत गोद बैठारे। आँसु पोंछि मृदु बचन उचारे ॥४॥
अजहुँ बच्छ बलि धीरज धरहू। कुसमय समुझि सोक परिहरहू ॥५॥
जनि मानहु हिय हानि गलानी। काल-करम-गति अघटित जानी ॥६॥
काहुहि दोष देहु जनि ताता। भा मोहि सब बिधि बाम बिधाता ॥७॥
जो एतहुँ दुख मोहि जियावा। अजहुँ को जानइ का तेहि भावा ॥८॥

दोहा—पितुआयसु भूषन बसन, तात तजे रघुबीर।
बिसमय हरष न हृदय कछु, पहिरे बलकल चीर ॥१६५॥

अर्थ—सीधे स्वभाववाली माता ने अत्यन्त प्रेम पूर्वक उन्हें हृदय से लगा लिया, मानों श्रीरामजी लौट आये हों ॥१॥ फिर श्रीलक्ष्मणजी के छोटे भाई को हृदय से लगाया, शोक और स्नेह हृदय में नहीं समाता (अर्थात् आँसू और रोमांच आदि से बाहर निकल पड़ता है) ॥२॥ स्वभाव देखकर सभी लोग कहते हैं कि ये श्रीरामजी की माता हैं, ऐसी क्यों न हों; अर्थात् इनका ऐसा उ म स्वभाव होना योग्य ही है ॥३॥ माता ने श्रीभरतजी को गोद में बैठा लिया और आँसू पोंछकर कोमल वचन बोलीं ॥४॥ हे वत्स ! मैं बलिहारी जाती हूँ, अब भी धैर्य धरो; कुसमय समझकर शोक को छोड़ो ॥५॥ काल-कर्म की व्यवस्था को अकाट्य जानकर हे तात ! हृदय में हानि और ग्लानि मत मानो और न किसी को दोष दो, मुझ से सब तरह से विधाता विरुद्ध है ॥६-७॥ जो इतने दुःख पर भी मुझे जिला रहा है, तो कौन जाने कि उसे अब भी क्या रुचता है ? ॥८॥ हे तात ! पिता की आज्ञा से रघुकुल में वीर श्रीरामजी ने भूषण-वस्त्र त्याग दिये और वल्कल वस्त्र पहन लिये; उनके मन में कुछ हर्ष-विषाद न हुआ ॥१६५॥

विशेष—(१) 'सरल सुभाय माय···'—श्रीकौशल्याजी सरल-स्वभाववाली हैं, यथा —"राम मातु सुठि सरल चित···" (दो० १८१) ; इसीसे तो जिस कैकेयी ने इनके पुत्र को वन दिया और उसका राज्य छीना, पति को मारा, उसी के पुत्र को वात्सल्य से हृदय लगाती हैं। इनका सदा से ही ऐसा स्वभाव था ; यथा—"सिथिल सनेह कहैं कौसिला सुमित्राजी सों, मैं न लखी सौति, सखी ! भगिनी ज्यों सेई है। कहैं मोहि मैया, कहौं मैं न, मैया भरत की, बलैया लेहौं, भैया ! तेरी मैया कैकेयी है॥ तुलसी सरल भाय रघुराय माय मानी ···" (क० उ० १)।

(२) 'भेंटेउ बहुरि लखन-लघु भाई'—भाव यह कि ये उन्हीं के छोटे भाई हैं, जो वन में भी हमारे पुत्र के परम-बन्धु हैं। अतः, इनसे मिलने में श्रीलक्ष्मणजी के मिलने का-सा सुख हुआ। 'सोक सनेह न···' शोक पति की मृत्यु और पुत्र के वनवास का और स्नेह इन दोनों पुत्रों की भेंट का।

(३) 'देखि सुभाव कहत सब ···'—'सब कोई'—उपस्थित छोटे बड़े सभी लोग। 'राम मातु'— क्योंकि इनका श्रीराम का-सा सरल स्वभाव है ; यथा—"राम कहा ··सरल सुभाव छुआ छल नाहीं।" (बा० दो० २४१)। जैसा कारण होता है वैसा ही तो कार्य होता है।

(४) 'माता भरत गोद···'—'मृदु वचन' पहले कैकेयी के वचन शूल के समान कठोर थे— "भरत श्रवन मन सूल सम, पापिनि बोली बैन।" (दो० १५९)। अब ये मृदु वचन कहती हैं। 'अजहुँ बच्छ बलि धीरज ···'—श्रीभरतजी अधीर हैं, क्योंकि आँसू चल रहे हैं और अपनेको कुल-कलंक अभागी आदि कह रहे हैं। इसीसे माता धैर्य धरने को कह रही हैं। 'अजहुँ'—राजा की मृत्यु और श्रीरामजी के वनगमन की विपत्ति पर भी, क्योंकि दुःख में धैर्य ही चाहिये ; क्या तो वह निवृत्त होगा ही।

(६) 'जो एतहुँ दुख मोहि ···'—'एतहुँ'—अर्थात् उपर्युक्त कर्म-गति एवं विधिवामता तथा अपने भाग्य का दोष, ये सभी एक ही हैं, उन्हीं को यहाँ कहती हैं। क्या जाने आगे और क्या सहना पड़े, ऐसा कहने की रीति है। पर यहाँ तो आगे दैव ने और भी दिखाया ही है कि श्रीभरतजी के शिर पर भी जटाएँ धारण कराईं।

(७) 'पितु आयसु भूषन···'—'रघुबीर' शब्द से त्याग-वीरता दिखाई है। 'बिसमय हरष न···'; यथा—"राज सुनाय दीन्ह बनबासू। सुनि मन भयउ न हरष हरासू॥" (दो० ११८); यह राजा का वचन है, श्रीरामजी का यही सुशील स्वभाव माता के भी हृदय में है।

मुख प्रसन्न मन रंग न रोषू। सबकर सब बिधि करि परितोषू ॥१॥
चले बिपिन सुनि सिय सँग लागी। रहइ न राम-चरन-अनुरागी ॥२॥
सुनतहि लखन चले उठि साथा। रहहि न जतन किये रघुनाथा ॥३॥
तब रघुपति सबही सिर नाई। चले संग सिय अरु लघु भाई ॥४॥

अर्थ—प्रसन्न मुख, मन में न किसी से रंग (अनुरक्ति) और न किसी पर क्रोध, सबका सब तरह संतोष करके ॥१॥ वे वन को चले, सुनकर श्रीसीताजी साथ लगीं, (किसी प्रकार) नहीं रहतीं, क्योंकि वह श्रीरामजी के चरणों में अनुरक्त हैं ॥२॥ यह सुनते ही श्रीलक्ष्मणजी उठकर साथ चले। श्रीरघुनाथजी ने बहुत उपाय किये, पर वे नहीं रहते ॥३॥ तब सबको माथा नवाकर रघुपति श्रीरामजी चले, उनके साथ में श्रीसीताजी और छोटे भाई (मात्र) थे ॥४॥

विशेष—(१) 'मुख प्रसन्न मन रंग···'; यथा—"प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा···" (मं० श्लोक)। मुख की प्रसन्नता श्रीरामजी के इन वचनों से स्पष्ट है; यथा—"भरत प्रान प्रिय पावहि राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥" (दो० ४१); पुनः—"मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ।··· उर अनंद अधिकाऊ।" (दो० ५१)। 'रंग न रोषू'—'रंग' का अर्थ अनुराग, प्रेम है; यथा—"ऐसे भये तो कहा तुलसी जो पै जानकी नाथ के रंग न राते।" (क० उ० ४४)। यहाँ रंग का अर्थ यह कि राज्य की कुछ चाह (प्रेम, ममत्व) नहीं और रोष यह कि राज्य दे कर छीना गया, तब भी क्रोध न हुआ। 'सब कर सब बिधि करि···' अर्थात् यह भी नहीं कि सबसे उदासीन हो गये हों। नहीं, सब दास-दासियों को गुरुजी को सौंप दिया। प्रियजन एवं पुरजनों को समझाया और कहा कि भरत साधु-स्वभाव हैं, आप लोगों को पालेंगे और चौदह वर्ष पर मैं भी आऊँगा, इत्यादि।

(२) 'रहइ न' अर्थात् हमने, राजा ने और भी सभी ने समझाया, पर वह न रही। 'रहइ न' और 'रहहिं न' ये वर्त्तमान क्रियाएँ दी गई हैं। क्योंकि श्रीकौशल्याजी की दृष्टि में वह दृश्य, मानों अभी सामने हो रहा हो; यथा—"लगेइ रहत मेरे नयननि आगे राम-लखन अरु सीता।" (गी० अ० ५२)।

राम लखन सिय बनहि सिधाये। गइउँ न संग न प्रान पठाये ॥५॥
येहु सब भा इन्ह आँखिन्ह आगे। तब न तजा तनु जीव अभागे ॥६॥

मोहि न लाज निज नेह निहारी। रामसरिस सुत मैं महतारी ॥७॥
जियइ मरइ भल भूपति जाना। मोर हृदय सत-कुलिस-समाना ॥८॥

दोहा—कौसल्या के बचन सुनि, भरत - सहित रनिवास।
ब्याकुल बिलपत राजगृह, मानहुँ सोक - निवास ॥१६६॥

अर्थ—श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी वन को चले गये, मैं न तो साथ गई और न उनके संग प्राणों को ही भेजा ॥५॥ यह सब इन आँखों के सामने हुआ, तब भी अभागे जीव ने शरीर न छोड़ा ॥६॥ अपना स्नेह देखकर मुझे लज्जा भी नहीं आती कि राम ऐसे (सुशील, धर्मात्मा) पुत्र की मैं (निष्ठुर, अयोग्य) माता! ॥७॥ जीना और मरना तो राजा ने ही अच्छी तरह जाना है। मेरा हृदय तो सैकड़ों वज्रों के समान है ॥८॥ श्रीकौशल्याजी के वचनों को सुनकर रनिवास सहित श्रीभरतजी व्याकुल होकर विलाप कर रहे हैं; राज महल मानों शोक का निवास-स्थान है ॥१६६॥

विशेष—(१) 'राम लखन सिय बनहिं···तब न तजा तनु···'—ऊपर श्रीरामजी का उत्तम स्वभाव कहकर अपनेको उनके अयोग्य मानकर धिक्कारती हैं कि श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी की तरह मैं प्रेमपूर्वक साथ हो लेती, वह भी न हुआ, तो प्राणों को ही साथ पठाती; अर्थात् वियोग में प्राण ही छोड़ देती, जैसे राजा ने किया। पर मुझसे दोनों में एक भी न हुआ, तो अभागी हूँ। क्योंकि श्रीराम-विमुख होकर अभागे ही जीते हैं; यथा—"ते नर नरक रूप जीवत जग भव-भंजन पद बिमुख अभागी॥" (वि० १४०)।

(२) 'रामसरिस सुत मैं ···'—मैं ऐसे पुत्र की माता होने योग्य नहीं हूँ; यथा—"जिन्ह के बिरह बिषाद बँटावन खग मृग जीव दुखारी। मोहिं कहा सजनी समुझावति हौं तिन्ह की महतारी॥" (गी० अ० ८५)।

(३) 'जियइ मरइ भल भूपति ···' अर्थात् उनके दोनों बने; यथा—"जियत राम-बिधु-बदन निहारा। राम बिरह करि मरन सँवारा॥" (दो० १५५)। 'मोर हृदय सत ···'—क्योंकि—"सूल कुलिस असि अँगवनि हारे।" (दो० २१)। राजा श्रीदशरथजी तो श्रीराम-वियोग न सह सके और जिसने उन्हें रात-दिन गोद में खेलाया, वह जीती रहे! भाव यह कि राजा ने तो पिता-भाव निबाह दिया, पर मुझसे मातृ-भाव न निबहा। भारी लज्जा की बात है; यथा—"जिन्हके बिरह बिषाद बँटावन खग-मृग जीव दुखारी। मोहिं कहा सजनी समुझावति हौं तिन्ह की महतारी॥" (गी० अ० ८५)।

बिलपहिं बिकल भरत दोउ भाई। कौसल्या लिये हृदय लगाई ॥१॥
भाँति अनेक भरत समुझाये। कहि बिबेकमय बचन सुनाये ॥२॥
भरतहु मातु सकल समुझाईं। कहि पुरान श्रुति कथा सुहाईं ॥३॥
छलबिहीन सुचि सरल सुबानी। बोले भरत जोरि जुग पानी ॥४॥

अर्थ—श्रीभरतजी श्रीशत्रुघ्नजी दोनों भाई व्याकुल होकर विलाप कर रहे हैं। श्रीकौशल्याजी ने उन्हें हृदय से लगा लिया ॥१॥ अनेक तरह से श्रीभरतजी को समझाया और विवेकमय वचन कहकर सुनाया ॥२॥ श्रीभरतजी ने भी सब माताओं को समझाया और वेद-पुराणों की सुंदर कथाएँ कहीं ॥३॥ श्रीभरतजी दोनों हाथ जोड़कर छल-रहित पवित्र सीधी सुन्दर-वाणी बोले ॥४॥

विशेष—(१) 'कहि बिबेकमय बचन…'; यथा—"जनम मरन सब दुख सुख भोगा। हानि लाभ प्रिय मिलन बियोगा ॥ काल करम बस होहिं गोसाँई। बरबस राति दिवस की नाईं ॥ सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दुहुँ सम धीर धरहिं मन माहीं ॥" (दो० १४१)। "हानि लाभ जीवन मरन, जस अपजस बिधि हाथ ॥" (दो० १७१), इत्यादि। इन्हें श्रीरामजी का दिया हुआ अलौकिक विवेक प्राप्त है; यथा—"मातु बिबेक अलौकिक तोरे। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरे ॥" (बा० दो० १५०)।

(२) 'मातु सकल' से श्रीकौशल्याजी तथा श्रीसुमित्राजी को छोड़कर और माताओं को समझना चाहिये, कैकेयी को तो प्रथम ही त्याग कर यहाँ आये हैं।

(३) 'छलबिहीन सुचि'—वाणी कपटरहित है, इसीसे शुचि है। माता की करनी में इनकी सम्मति नहीं है; इसी को सफाई देते हैं, यह यथार्थ है। इसीसे इसे कवि शुचि कह रहे हैं।

मनुष्य का जीवन सामाजिक होना चाहिये कि जिसके आचरण से संसार को शिक्षा प्राप्त हो। वैसा ही जीवन श्रीभरतजी का है। ये शुद्ध हैं, पर फिर भी शपथों के द्वारा सफाई देते हैं कि जिससे लोग भी इन दोषों से बचें। अन्यथा महान् पुरुषों के किसी ऊपरी असत् व्यवहार के मर्म को न समझकर लोग अनुचित आचरण करने लगते हैं।

जे अघ मातु - पिता - सुत मारे। गाइगोठ महि - सुरपुर जारे ॥५॥
जे अघ तिय - बालक - बध कीन्हे। मीत महीपति माहुर दीन्हे ॥६॥
जे पातक उपपातक अहहीं। करम-बचन-मन-भव कबि कहहीं ॥७॥
ते पातक मोहि होहु बिधाता। जौं येहु होइ मोर मत माता ॥८॥

दोहा—जे परिहरि हरि - हर - चरन, भजहिं भूतगन घोर।
तिन्ह कइ गति मोहि देउ बिधि, जौं जननी मत मोर ॥१६७॥

शब्दार्थ—गाइगोठ = गोशाला। उपपातक = छोटा पाप। माहुर = विष।

अर्थ—जो पाप माता, पिता और पुत्र को मारने से होते हैं; गोशाला और ब्राह्मणों के गाँव जलाने से होते हैं ॥५॥ जो पाप स्त्री और बालकों की हत्या करने से होते हैं; मित्र और राजा को विष देने से होते हैं ॥६॥ जो मन, वचन, कर्म से होनेवाले पाप और उपपाप हैं; जिन्हें कवि लोग कहते हैं ॥७॥ हे विधाता! वे सब पाप मुझे लगें, हे माता! जो इसमें मेरी सम्मति हो ॥८॥ जो लोग हरिहर-चरण छोड़कर घोर भूत गणों को भजते हैं। हे माता! ब्रह्मा मुझे उनकी गति दें। यदि इस (कैकेयी के कर्त्तव्य) में मेरी सम्मति हो ॥१६७॥

विशेष—(१) 'जे अघ मातु'' मीत महीपति'''—माता पिता पूज्य हैं, पुत्र पोष्य है ; अत, इनका मारना भारी पाप है। गुरु के द्वारा यज्ञ आदि धर्म होते हैं और ब्राह्मण लोग धर्म का प्रचार करते हैं। स्त्री और बालक दया के पात्र हैं, अतएव अवध्य हैं। मित्र को मित्र पर और राजा को नौकर पर विश्वास रहता है, अतएव इनका मारना विश्वास घात करना—भारी पाप है।

(२) 'जे पातक उपपातिक अहहीं।'''—ऊपर भारी पाप गिनाये गये हैं। उपपातक—जैसे कि औषधि बेचकर जीवन, हिंसक शस्त्रों का बनाना, इंधन के लिये पेड़ काटना, नीचों से मित्रता, नीचों का आज्ञाकारी होना, असत् शास्त्रावलोकन आदि। 'करम बचन मनभव', यथा—"कायेन कुरुते पापं मनसा संप्रधार्य तत्। अनृतं जिह्वया चाह त्रिविधं कर्म पातकम्॥" (वाल्मी० २।१०९।२१), 'कवि कहहीं'—वाल्मीकि, मनु आदि कवि कहते हैं।

(३) 'भजहिं भूतगन घोर'—हरि हर सात्त्विक रीति से पूज्य हैं और उत्तम गति देते हैं, इन्हें छोड़कर भूत, पिशाच, यक्षिणी आदि तामसी जीवों की तामसी पूजा करते हैं, इससे उन्हीं की योनि को प्राप्त होते हैं, यही घोर गति है ; यथा—"यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रता। भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥" (गीता ९।२५) ; "क्रतुमय पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेत' प्रेत्य भवति स क्रतु कुर्वीत॥" (छं० ३।१४।१)। तथा "तुलसी परिहरि हरिहरहिं, पामर पूजहिं भूत। अंत फजीहत होहिंगे, ज्यों गनिका के पूत॥" (दोहावली ९५)।

बेचहिं बेद धरम दुहि लेहीं। पिसुन पराय पाप कहि देहीं॥१॥
कपटी कुटिल कलहप्रिय क्रोधी। बेदबिदूषक बिस्वबिरोधी॥२॥
लोभी लंपट लोलुप चारा। जे ताकहिं पर-धन पर-दारा॥३॥
पावउँ मैं तिन्ह कइ गति घोरा। जौं जननी येहु संमत मोरा॥४॥

शब्दार्थ—बेचहिं बेद=द्रव्य के लिये लोभ से अनधिकारी को वेद पढ़ाना या सुनाना। धर्मदुहना=धर्म का कार्य लौकिक प्रयोजन साधने के लिये करना, जैसे द्रव्य लेकर कन्या ब्याहना, द्रव्य लेकर सच्ची गवाही देना। कहा भी है—"सुगति साधन भइ उदर भरनि।" (वि० १८४) ; पिसुन=चुगुल। बिदूषक=विशेष दूषित करनेवाला, हँसी उड़ानेवाला। लोलुपचारा=चंचल आचरणवाला।

अर्थ—जो लोग वेदों को बेचते हैं, धर्म को दुह लेते हैं, चुगुल हैं, पराये पापों को कह देते हैं॥१॥ जो कपटी, कुटिल, झगड़ालू, क्रोधी, वेदों का परिहास करनेवाले, संसार-भर के विरोधी॥२॥ लोभी, व्यभिचारी, चंचल आचरणवाले जो पराया धन और परायी स्त्री ताकनेवाले हैं॥३॥ मैं उनकी घोरगति पाऊँ, हे माता! जो यह मेरी सम्मति हो॥४॥

विशेष—(१) 'पिसुन पराय पाप कहि '—पिशुनता (चुगुली) के रूप में पराया पाप क— भारी पाप है, यथा—"अघ कि पिसुनता सम कछु आना।" (उ० दो० १११), 'कहि देहीं' का दूसरा भाव है कि कहकर उसे भी देते हैं, अर्थात् उसे भी पाप का भागी बनाते हैं ; क्योंकि सुनने से भी पाप होता है (यदि उसे सुधारने के लिये सुने तो नहीं)।

(२) 'वेद बिदूषक'—वेद में दूषण निकालना पाप है ; यथा—"कलप कलप भरि एकएक नरका। परहि जे दूषहि श्रुति करि तरका ॥" (उ० दो० ९९); "सुरश्रुति-निंदक जे अभिमानी। रौरव नरक परहिं ते प्रानी ॥" (उ० दो० १२०)।

(३) 'लोभी लंपट लोलुपचारा'—यहाँ यथासंख्यालंकार की रीति से अर्थ होगा कि 'लोभी' 'जे ताकहि परधन' और 'लंपट'—'जे ताकहि परदारा' 'लोलुपचारा'—लोभी-लंपट दोनों ही का विशेषण है। 'ताकहि' अर्थात् अवसर (घात) देखते हैं; यथा—"जिमिगवँ तकइ लेउँ केहि भाँती।" (उ०दो०१२)।

जे नहिं साधु-संग अनुरागे। परमारथ-पथ बिमुख अभागे ॥५॥
जे न भजहि हरि नरतनु पाई। जिन्हहि न हरि-हर-सुजस सुहाई ॥६॥
तजि श्रुतिपंथ बामपथ चलहीं। बंचक बिरचि बेष जग छलहीं ॥७॥
तिन्ह कइ गति मोहि संकर देऊ। जननी जौ यहु जानउँ भेऊ ॥८॥

दोहा—मातु भरत के बचन सुनि, साँचे सरल सुभाय।
कहति रामप्रिय तात तुम्ह, सदा बचन मन काय ॥१६८॥

शब्दार्थ—भेऊ=भेद। परमारथ पथ=भगवत्प्राप्ति का मार्ग। बामपथ (वाम मार्ग)=जिस मार्ग में पंच मकार मुख्य हैं—मांस, मत्स्य, मद्य, मैथुन और मुद्रा। तंत्र ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। बंचक बिरचि बेष=नाना वेष रचकर कपट से स्वार्थसाधक; यथा—"अंतः शाक्ता बहिश्शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः। नाना-वेष-धरा कौलाः विचरंति महीतले ॥"

अर्थ—जो साधु-संगति में अनुरक्त नहीं हैं, जो अभागे परमार्थ मार्ग से विमुख हैं ॥५॥ जो नर-शरीर पाकर भगवान् का भजन नहीं करते, जिनको हरि-हर का सुन्दर यश नहीं अच्छा लगता ॥६॥ जो वेदमार्ग को छोड़कर वाम मार्ग पर चलते हैं, ठग हैं, सुंदर वेष रच-रचकर जगत् को छलते हैं ॥७॥ उनकी गति मुझे शंकर दें, हे माता ! जो मैं यह भेद जानता होऊँ ॥८॥ श्रीभरतजी के सच्चे और स्वाभाविक सीधे वचन सुनकर माता कौशल्या कहती हैं कि हे तात ! तुम सदा तन-मन-वचन से श्रीरामजी के प्रिय हो ॥१६८॥

विशेष—(१) 'जे नहि साधु-संग···'—साधु-संग करने से विकार छूटते हैं और सद्गुण आते हैं और अपने स्वरूप-ज्ञान-पूर्वक भगवत्प्राप्ति होती है यही परमार्थ बनना है। ये सत्संग नहीं करते, इसी से इन्हें परमार्थ-पथ-विमुख अतएव 'अभागे' कहा है; यथा—"संत-संग अपवर्गकर, कामी भवकर पंथ।" (उ० दो० ३३); तथा—"जब द्रवै दीन दयाल राघव साधु-संगति पाइये।···" से "तेहि पथ चलत सबै सुख पावै।···" (वि० १३६) तक।

(२) 'जे न भजहि हरि नर···'—'पाई' शब्द से नर-देह का पाना हरि-कृपा से जनाया; यथा—"कबहुँक करि करुना नरदेही। देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥" (उ० दो० ४३); इस तन से हरि-भजन करके परलोक बनाना चाहिये; यथा—"साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सँवारा ॥ सो परत्र दुख पावइ, सिर धुनि-धुनि पछिताइ।" (दो० ४३); 'जिन्हहिं न हरि-हर-सुजस सुहाई।'—पूर्वार्द्ध

में—'जे न भजहिं···' कहने के साथ इसका भाव यह कि और प्रकार की भक्ति न भी हो तो हरि-यश ही सुने ; अन्यथा आत्मघाती होता है ; यथा—"ते जड़ जीव निजात्मघाती। जिन्हहिं न रघुपति कथा सुहाती॥" (उ० दो० ५२)।

(३) 'तजि श्रुति पंथ···बंचक···'—वेष रचकर अपनेको श्रुति के अनुकूल दिखाते हैं और इसीसे आस्तिक जनता को ठगते हैं।

(४) 'तिन्ह कइ गति मोहि संकर···'—पूर्व तीन शपथों में कैकेयी के कर्त्तव्य में अपनी सम्मति न होने की शपथें कीं और यहाँ उसके भेद न जानने की, क्योंकि उसमें सम्मत न होने से भी संदेह रह जाता कि ये उसका यह दुष्ट अभिप्राय जानते रहे हैं और इसीसे उससे विरुद्ध हो अलग जाकर ननिहाल में रहे हैं। इसलिये इसकी भी सफाई दी कि मैं इसका मर्म भी नहीं जानता था। शंकर की शपथ की, क्योंकि वे संहार कर्त्ता हैं और नीति-विरोधी एवं श्रुति-विरोधी को कड़ा दंड देते हैं, यथा—"तदपि साप सठ देइहउँ तोही। नीति विरोध सोहाइ न मोहीं॥ जौं नहिं दंड करउँ खल तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा॥" (उ० दो० १०१); इसीसे साक्षी में भी इनका नाम आता है ; यथा—"मितु पानहिन्ह पयादेहि पाये। संकर साखि रहेउँ येहि घाये॥" (दो० २११); यह श्रीभरतजी ने ही कहा है। "मोरे जान भरत रुचि राखी। जो कीजिय सो सुभ सिव साखी॥" (दो० २५७); "कहउँ सुभाव सत्य सिव साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी॥" (दो० २६३); इत्यादि।

(५) 'सदा बचन मन काय'—तीनों से प्रियत्व के उदाहरण; यथा—"लखन राम सीतहिं अति प्रीती। निसि सब तुम्हहिं सराहत बीती॥" यह वचन, "सुनहु भरत रघुबर मन माहीं। प्रेम पात्र तुम्ह सम कोउ नाहीं॥" यह मन, "जाना मरम नहात प्रयागा। मगन होहिं तुम्हरेहि अनुरागा॥" यह कर्म—(दो० २०७)।

राम प्रानहु ते प्रान तुम्हारे। तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु ते प्यारे॥१॥
बिधु बिष चवइ स्रवइ हिम आगी। होइ बारिचर बारि-बिरागी॥२॥
भये ज्ञान बरु मिटइ न मोहू। तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू॥३॥
मत तुम्हार यह जो जग कहहीं। सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं॥४॥
अस कहि मातु भरत हिय लाये। थन पय स्रवहिं नयन जल छाये॥५॥

अर्थ—श्रीरामजी के प्राणों से तुम्हारे प्राण हैं (अर्थात् श्रीरामजी तुम्हारे प्राणों के आधार हैं) और तुम भी रघुपति श्रीरामजी को प्राणों से अधिक प्रिय हो॥१॥ चाहे चन्द्रमा विष टपकावे, पाला अग्नि गिरावे, जलचर (मछली) जल से प्रेम छोड़ दे॥२॥ और चाहे ज्ञान होने पर मोह न मिटे, पर तुम श्रीरामजी के प्रतिकूल नहीं होने को॥३॥ 'यह तुम्हारा सम्मत है' (अर्थात् तुम्हारी सलाह से कैकेयी का कर्त्तव्य है) ऐसा जगत् में जो मनुष्य कहते हैं, वे स्वप्न में भी सुख और सद्गति न पावें॥४॥ ऐसा कहकर माता ने श्रीभरतजी को हृदय से लगा लिया, उनके स्तनों से दूध टपकने लगा और नेत्रों में जल भर आया (ये प्रेम की दशाएँ हैं)॥५॥

विशेष—(१) 'राम प्रानहु ते प्रान···'—श्रीरामजी तो सभी के प्राणाधार हैं ; यथा—"प्रान प्रान

के जीव के जिय" " (दो० २१०); "प्रान प्रान के जीवन जीके।" (दो० ५५); पर यहाँ अत्यन्त प्रियत्व से तात्पर्य है। वैसा ही उत्तरार्द्ध में श्रीरामजी का अत्यन्त प्रेम भरत में कहा; यथा—"तुम्ह पर अस सनेह रघुबर के। सुख जीवन जग जस जड़ नर के॥" दो० २०७)।

(२) 'तुम्ह रामहि प्रतिकूल न' '—अर्थात् चन्द्रमा और पाला आदि अपना प्राकृतिक नियम चाहे छोड़ दें, पर तुम श्रीरामजी के विरुद्ध नहीं हो सकते हो; अर्थात् तुम्हारी प्रकृति नहीं बदल सकती; यथा—"भरतहि होइ न राज मद, बिधि हरिहर पद पाइ।···" से "मसक फूँक मकु मेरु उड़ाई। होइ न नृप मद भरतहिं भाई॥" (दो० २३१) तक।

(३) मत तुम्हार यह जो···'—यह माताजी ने श्रीभरतजी पर दोष देनेवालों को शाप दिया है।

करत बिलाप बहुत येहि भाँती। बैठेहिं बीति गई सब राती॥६॥
बामदेव बसिष्ठ तब आये। सचिव महाजन सकल बोलाये॥७॥
मुनि बहु भाँति भरत उपदेसे। कहि परमारथ बचन सुदेसे॥८॥

अर्थ—इस प्रकार से बहुत विलाप करते हुए सारी रात बैठे-ही-बैठे बीत गई॥६॥ तब वामदेव और वसिष्ठजी आये और सब मंत्रियों और रईसों को बुलवाया॥७॥ मुनि ने बहुत तरह से श्रीभरतजी को समय के अनुकूल और योग्य परमार्थ के वचन कहकर उपदेश दिया॥८॥

विशेष—(१) 'बामदेव बसिष्ठ तब' '—वामदेवजी प्रतिष्ठित और वसिष्ठजी के तुल्य ऋषि हैं, क्योंकि ये वसिष्ठजी के वचनों की समर्थन करके प्रतीति करानेवाले हैं; यथा—"बोले बामदेव सब साँची।" (बा० दो० ३५८); मंत्रियों और महाजनों को बुलवाया, क्योंकि ये लोग आते समय श्रीभरतजी से न मिले थे, इन्हें श्रीरामजी के विरोधी होने का संदेह था, वह निवृत्त करने के लिये बुलवाया।

(२) 'मुनि बहु भाँति भरत···'—राजा धर्मात्मा थे, उन्होंने आयु-पर्यन्त धर्म में बिताया, फिर स्वर्ग में भी इन्द्रासन पर जा विराजे, नरराज से देवराज हुए, तो उनके लिये शोक न करना चाहिये। प्रिय-वियोग-जन्य दुःखों को सहना ही चाहिये, क्योंकि ये अपरिहार्य हैं; यथा—"त्रीणि द्वन्द्वानि भूतेषु प्रवृत्तान्यविशेषतः। तेषु चापरिहार्येषु नैवं भवितुमर्हसि॥" (वाल्मी० २।७७।२३); अर्थात् सभी प्राणियों को तीन द्वन्द्व (भूख-प्यास, हानि-लाभ, जरा-मृत्यु) होते हैं, ये अनिवार्य हैं। अतः, तुम्हें ऐसा शोक नहीं करना चाहिये।

"भरतागमन-प्रेम-बहु" प्रकरण समाप्त

"करि-नृप-क्रिया" प्रकरण

दोहा—तात हृदय धीरज धरहु, करहु जो अवसर आज।
उठे भरत गुरुबचन सुनि, करन कहेउ सब साज॥१६९॥

नृपतनु बेदबिहित अन्हवावा। परम बिचित्र बिमान बनावा॥१॥
गहि पगु भरत मातु सब राखी। रहीं राम-दरसन अभिलाषी॥२॥

अर्थ—हे तात ! हृदय में धैर्य धारण करो और आज इस अवसर पर जो करना चाहिये, वह करो, गुरुजी के वचन सुनकर श्रीभरतजी उठे और सब सामान करने को कहा ॥१६९॥ वेद में कही हुई रीति के अनुसार राजा के शरीर को स्नान कराया और परम विचित्र विमान (अरथी) बनाया गया ॥१॥ श्रीभरतजी ने सब माताओं के चरण पकड़ कर उनको रख लिया (प्रार्थना करके सती होने से रोका), वे श्रीरामजी के दर्शनों की अभिलाषा से रह गईं (सती न हुईं) ॥२॥

विशेष—(१) 'उठे भरत गुरुवचन सुनि'—गुरु की आज्ञा का गौरव मानकर सुनते ही उठे।

(२) 'गहि पगु भरत मातु······'—जब राजा का विमान ले चले, तब श्रीकौशल्याजी आदि रानियाँ सती होने को चलीं। इसपर श्रीभरतजी ने चरण पकड़कर रोका और समझाया कि पिता स्वर्ग को गये, श्रीरामजी वन में हैं। यदि आप सब भी न रहेंगी, तो मेरी रक्षा कौन करेगा ? फिर धर्म-शास्त्र में भी लिखा है कि जिसका पुत्र धर्म-रक्षा में समर्थ हो, वह स्त्री पति के साथ सती न हो। क्या मैं आपका पुत्र नहीं हूँ ? लोक में भी मेरी निन्दा होगी कि माताएँ इसीसे जल मरीं कि यह राजा होने से हम विधवाओं की दुर्गति करेगा।

पुनः आप ही लोगों के सहारे तो मैं श्रीरामजी को लौटाने की प्रार्थना करूँगा, यदि अभी न भी लौटें, तो अवधि-पूर्त्ति पर तो उनके अभिषेक का सुख होगा ही, इत्यादि सुनकर श्रीराम-दर्शनाभिलाष से रह गईं। उन्होंने हरि-प्राप्ति को उस धर्म से विशेष माना।

चंदन अगर भार बहु आये। अमित अनेक सुगंध सुहाये ॥३॥
सरजुतीर रचि चिता बनाई। जनु सुर-पुर-सोपान सुहाई ॥४॥
येहि बिधि दाहक्रिया सब कीन्ही। बिधवत न्हाइ तिलांजुलि दीन्ही ॥५॥
सोधि सुमृति सब वेद पुराना। कीन्ह भरत दस-गात बिधाना ॥६॥
जहँ जस मुनिवर आयसु दीन्हा। तहँ तस सहस भाँति सब कीन्हा ॥७॥
भये बिसुद्ध दिये सब दाना। धेनु बाजि गज बाहन नाना ॥८॥

दोहा—सिंहासन भूषन बसन, अन्न धरनि धन धाम।
दिये भरत लहि भूमिसुर, भे परिपूरन काम ॥१७०॥

पितुहित भरत कीन्हि जसि करनी। सो मुख लाख जाइ नहि बरनी ॥१॥

शब्दार्थ—अनेक सुगंध = गुग्गुल, पद्मक, केसर, कचूर, कस्तूरी, कपूर इत्यादि। सरजुतीर = बिल्वहरिघाट पर। दाहक्रिया = मुर्दा जलाने का कर्म। सुमृति = स्मृति, धर्म-शास्त्र। दसगात = दश गात्र, मृतक का दाहकर्म के पीछे का शास्त्रीय कर्म, जो दश दिनों तक होता रहता है। इसी कर्म से क्रमशः प्रेत का शरीर बनता है, दशवें दिन पूरा होता है।

अर्थ—चन्दन-अगर एवं और भी बहुत-से बे-अन्दाज़ सुन्दर सुगंधित पदार्थों के बहुत-से बोझ आये ॥३॥ श्रीसरजूजी के तट पर रचकर चिता बनाई गई, (जो ऐसी जान पड़ती थी कि) मानों स्वर्ग

की सुहावनी सीढ़ी है ॥४॥ इस प्रकार सब दाह-क्रिया की और विधि-पूर्वक स्नान करके तिलाञ्जलि दी ॥५॥ सब स्मृति, वेद और पुराणों को शोधकर श्रीभरतजी ने दशगात्र का विधान किया ॥६॥ मुनि-श्रेष्ठ ने जहाँ जैसी आज्ञा दी, वहाँ वैसा ही श्रीभरतजी ने सहस्रों प्रकार से किया ॥७॥ विशेष शुद्ध होकर सब (तरह के) दान दिये, बहुत तरह की गायें, घोड़े, हाथी, रथ ॥८॥ सिंहासन, भूषण, वस्त्र, अन्न, पृथिवी, धन और घर श्रीभरतजी ने दान में दिये, पाकर ब्राह्मण लोग परिपूर्ण-काम हो गये; अर्थात् उन्हें फिर और कामना न रह गई ॥१७०॥ पिता के लिये श्रीभरतजी ने जैसी करनी (अन्त्येष्टि-क्रिया) की, वह लाखों मुखों से भी नहीं कही जा सकती ॥१॥

विशेष—'चंदन अगर भार······'—चन्दन अगर आदि चिता बनाने के लिये और सुगंध अतर (इत्र) आदि शव के अंग में लगाने के लिये आये। 'सहस भाँति'—एक-एक वस्तु की जगह हजार-हजार और एक विधि अनेक प्रकार से की, यह उत्कृष्ट श्रद्धा है। 'परि पूरन काम' अर्थात् ब्राह्मणों को तृप्त कर दिया, उन्हें और कुछ कामना न रह गई।

"करि-नृप-क्रिया" प्रकरण समाप्त

"संग पुरबासी। भरत गये जहँ प्रभु सुखरासी" प्रकरण

सुदिन सोधि मुनिवर तब आये। सचिव महाजन सकल बोलाये ॥२॥
बैठे राजसभा सब जाई। पठये बोलि भरत दोउ भाई ॥३॥
भरत बसिष्ठ निकट बैठारे। नीति-धरममय बचन उचारे ॥४॥
प्रथम कथा सब मुनिवर बरनी। कैकइ कुटिल कीन्हि जसि करनी ॥५॥
भूप धरम-व्रत सत्य सराहा। जेहि तनु परिहरि प्रेम निबाहा ॥६॥

अर्थ—अच्छा दिन शोधकर तब मुनिश्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजी आये; मंत्रियों और महाजनों (रईसों) को बुलाया ॥२॥ सब राज-सभा में जाकर बैठे, तब श्रीभरतजी और श्रीशत्रुघ्नजी इन दोनों भाइयों को बुला भेजा ॥३॥ श्रीवसिष्ठजी ने श्रीभरतजी को अपने समीप बैठाया और वे नीतिमय एवं धर्ममय वचन बोले ॥४॥ जैसी कुटिल करनी कैकेयी ने की थी, मुनि-श्रेष्ठ ने पहले वही कथा कही ॥५॥ फिर राजा के धर्म-व्रत और सत्य-व्रत की सराहना की कि जिन्होंने शरीर त्यागकर प्रेम को निबाहा ॥६॥

विशेष—(१) 'सुदिन सोधि ·····'—गुरुजी ने सुदिन शोधा था कि श्रीभरतजी को राज्य देंगे, पर इन्होंने सेवा-धर्म की ओट से इस आज्ञा का भंग किया, तब भी गुरुजी एवं और सभी प्रसन्न ही हुए; यथा—"भा सबके मन मोद न थोरा। "भरत प्रान प्रिय में सब ही के॥" (दो० १८८)। इससे सेवा-धर्म को परम धर्म जनाया। परम धर्म के आश्रित होकर सामान्य धर्म का त्याग हो सकता है।
वाल्मी० २।७९।१ के अनुसार यह सभा नृप-क्रिया-समाप्ति के १४ वें दिन हुई।

(२) 'बैठे राजसभा सब ·· ··'—श्रीभरतजी को आज राजगद्दी पर बैठाने का विचार करना है, कुल-परंपरा की रीति से उसका यही स्थल है। 'दोउ भाई'—क्योंकि पहले एक भाई श्रीभरतजी के न

रहने से राम-तिलक में विघ्न हुआ था, इसलिये अब दोनों को साथ बुलाया। कहा भी है—"दूध का जला मट्ठा फूँक-फूँककर पीता है।"

(३) 'भरत वसिष्ठ निकट बैठारे······'—समीप में बैठाना अधिक आदर और प्रीति का सूचक है ; यथा—"अति आदर समीप बैठारी।" (लं॰ दो॰ ३६)। 'नीति धरममय बचन······'—पहले नीति-पद देकर पीछे धर्म शब्द कहा गया, क्योंकि श्रीभरतजी नीति की दृष्टि से राज्य ग्रहण कर सकते हैं ; यथा—"जेहि पितु देइ सो पावइ टीका।" (दो॰ १७४) ; और धर्म की दृष्टि से नहीं ; यथा—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई।" (दो॰ १४) ; अर्थात् धर्म-दृष्टि से श्रीरामजी ही राज्य के अधिकारी हैं। गुरुजी ने श्रीभरतजी को तिलक करने के विचार से नीति को प्रधान रक्खा, धर्म को भी साथ रक्खा, इसीसे श्रीभरतजी को उत्तर देने का मार्ग मिला।

(४) 'कैकइ कुटिल कीन्हि···'—श्रीभरतजी कैकेयी की करनी को कुटिल मानते हैं। अतः, गुरुजी ने भी इनकी रुचि रखते हुए कहा। श्रीभरद्वाजजी के वचन—"तात कैकेइहि दोष नहिं" (दो॰ २०६) ; की तरह न कहा, क्योंकि अभी इसका प्रभाव न पड़ता, यह भी नीति है।

(५) 'भूप धरम-व्रत सत्य सराहा'—धर्म-व्रत यह कि कैकेयी के दो वरदान थाती रूप में रक्खे थे। उन्हें उसने जब माँगा, तब दे दिया, धरोहर दे देना धर्म है। इस धर्म के रखने में प्राण तक दे दिये। सत्य-व्रत यह कि राजा ने उससे कहा था—"रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचन न जाई॥" सत्य मूल सब सुकृत सुहाये।" (दो॰ २०) ; उसे भी प्राण देकर निबाहा। वह स्त्री थी, फिर उसने छल से राजा को वचन-बद्ध किया था। अतएव वह ऐसे दान की अधिकारिणी न थी; पर राजा ने उससे भी न नहीं किया।

(६) 'जेहि तनु परिहरि···'—सत्य और धर्म-व्रत की रक्षा से राम-प्रेम में न्यूनता आती ; यथा—"वारउँ सत्य बचन स्रुति-सम्मत जाते हौं बिछुरत चरन तिहारे॥ बिनु प्रयास सब साधन को फल हरि पाये सो तो नाहिं सँभारे। हरि तजि धरमसील भयो चाहत नृपति नारि बस सरबस हारे॥" (गी॰ अ॰ २) ; इसलिये राम-वियोग होते ही शरीर त्याग दिया, यह प्रेम की पराकाष्ठा निबाही।

कहत राम - गुन - सील-सुभाऊ। सजल नयन पुलकेउ मुनिराऊ॥७॥
बहुरि लखन-सिय-प्रीति बखानी। सोक सनेह मगन मुनि ज्ञानी॥८॥

दोहा—सुनहु भरत भावी प्रबल, बिलखि कहेउ मुनिनाथ।
हानि लाभ जीवन मरन, जस अपजस बिधि हाथ॥१७१॥

अस बिचारि केहि देइय दोषू। व्यर्थ काहि पर कीजिय रोषू॥१॥

अर्थ—श्रीरामजी के गुण, शील और स्वभाव को कहते हुए मुनिराज वसिष्ठजी के नेत्रों में जल भर आया और शरीर पुलकित हो गया॥७॥ फिर श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी की प्रीति विस्तार-पूर्वक कहते हुए ज्ञानी मुनि शोक और स्नेह में डूब गये॥८॥ मुनिनाथ वसिष्ठजी ने दुःखी होकर कहा कि भरत! सुनो, भावी प्रबल है। हानि लाभ, जीना मरना, यश अपयश, सब विधाता के हाथ हैं।। ऐसा विचारकर किसे दोष दिया जाय और व्यर्थ किसपर क्रोध किया जाय?॥१॥

विशेष—(१) 'कहत राम-गुन-सील ···'—'गुन' यह कि पिता की आज्ञा का पालन किया। वनवास की आज्ञा भी हर्ष से ग्रहण की ; यथा—"सुनु जननी सोइ सुत बड़ भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी ॥" (दो० ४०) ; 'सील' यह कि ऐसी निष्ठुर कैकेयी के निष्ठुर एवं प्रतिकूल वचनों पर भी उसे कुछ न कहा, प्रत्युत उसमें ही सुख मान लिया ; यथा—"राम जननि सिख सुनि सुख पावा ॥" (दो० ७८) ; 'सुभाऊ' ; यथा—"तिलक कहँ बोल्यो दियो बन चौगुनो चित चाव। हृदय दाडिमि ज्यों बिदरयो समुझि सील सुभाव ॥" (गी० अ० ५७) ; तथा—"सब कर सब बिधि करि परितोषू ॥" (दो० १६५)।

(२) 'बहुरि लखन सिय प्रीति ······'—पहले श्रीजानकीजी साथ हुईं, तब श्रीलक्ष्मणजी साथ हुए और इसी क्रम से इनकी प्रीति हुई; पर यहाँ कहने में मुनिराज क्रम भूल गये, क्योंकि शोक-स्नेह में मग्न हैं ; उत्तरार्द्ध में कहा ही है।

'मुनि ज्ञानी'—ज्ञानी को शोक स्नेह की ममता कैसी ?—"यह सियराम सनेह बड़ाई।" (दो० २०६) ; प्रकट हुई हैं ; क्योंकि—"सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू।" (दो० २७६)।

(३) 'बिलखि कहेउ ···'—दुखी होकर कहा कि भावी (हरि की इच्छा) इतनी प्रबल है कि उसपर मुझसे कुछ करते न बना। क्या करूँ ? इस तरह अपनी लाचारी जनाई। उत्तरार्द्ध में उसी प्रबलता को समझाते हैं—'हानि लाभ ·····' अर्थात् लाभ, जीवन और यश ही सब चाहते हैं, पर हानि, मरण और अपयश बलात् हो जाते हैं। यह विधि की प्रबलता है। पुनः लाभ आदि के प्रति भी कभी-कभी बहुत-से विघ्न न लगकर इनकी सिद्धि हो ही जाती है तो वह भी वैसा ही है। विधि का कार्य है।

(४) 'अस बिचारि केहि ···'—अर्थात् कैकेयी आदि के कर्त्तव्य भी विधि के ही कार्य हैं ; यथा—"दोष देहिं जननिहिं जड़ तेई। जिन्ह गुरु साधु सभा नहिं सेई ॥" (दो० २६२) ; अतः, कैकेयी को भी दोष न दीजिये और न उसपर रोष कीजिये। आगे पिता के विषय का शोक छोड़ने के प्रति कहते हैं—

तात बिचार करहु मन माहीं। सोच जोग दसरथ नृप नाहीं ॥२॥
सोचिय बिप्र जो बेद-बिहीना। तजि निज धरम बिषय लयलीना ॥३॥
सोचिय नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना ॥४॥
सोचिय बयस कृपन धनवानू। जो न अतिथि-सिव-भगति-सुजानू ॥५॥
सोचिय सूद्र बिप्र - अवमानी। मुखर मानप्रिय ज्ञानगुमानी ॥६॥
सोचिय पुनि पतिबंचक नारी। कुटिल कलहप्रिय इच्छाचारी ॥७॥

शब्दार्थ—सोचिय = शोक करने के योग्य। मुखर = अप्रिय एवं बहुत बोलनेवाला।

अर्थ—हे तात ! मन में विचार करो (तो) राजा दशरथ शोक करने योग्य नहीं हैं ॥२॥ वह ब्राह्मण शोचने के योग्य है, जो वेद न जानता हो और अपना धर्म छोड़कर विषय (भोग-विलास) में आसक्त हो ॥३॥ वह राजा शोचने के योग्य है जो नीति न जानता हो और जिसे प्रजा प्राणों के समान प्रिय न हो ॥४॥ वह वैश्य शोचने के योग्य है, जो धनवान् होते हुए भी कंजूस हो, जो अतिथि-सेवा और

शिव-भक्ति में निपुण न हो ॥५॥ वह शूद्र शोचने के योग्य है, जो ब्राह्मण का अपमान करनेवाला, बकवादी, प्रतिष्ठा चाहनेवाला और अपने ज्ञान का घमंड रखनेवाला हो ॥६॥ फिर वह स्त्री शोचने के योग्य है, जो पति से छल करनेवाली, कुटिला, झगड़ालू और अपनी इच्छानुसार चलनेवाली हो ॥७॥

विशेष—(१) 'तात बिचार करहु मन'''—राजा दशरथ के लिये शोक (शोच) करना योग्य नहीं है। मुख्य यही वक्तव्य है। इसी की पुष्टि के लिये गुरुजी दो पक्ष कह रहे हैं। शोचनीय को कहकर उसके विपर्यय से अशोचनीय को सूचित करते हैं। यह वसिष्ठजी एवं कवि की लोक-शिक्षात्मक दृष्टि है। प्रथम चारों वर्णों के धर्म, फिर उनकी स्त्रियों के और फिर चारों आश्रमों के धर्म कहकर फिर सबके लिये करने के योग्य धर्म कहा है।

(२) 'सोचिय बिप्र''' अर्थात् ब्राह्मणों को वेद जानना चाहिये, तभी वे अपना धर्माचरण करते हुए औरों को भी शिक्षा दे सकेंगे। 'बिहीना' अर्थात् विशेष हीन, जो वेद की मूल-रूपा ब्रह्म-गायत्री भी न जाने।

(३) 'शोचिय नृपति'''; यथा—"राज कि रहै नीति बिनु जाने।" (उ० दो० ११२); और उसे प्रजा प्रिय रहनी चाहिये; यथा—"जासु राज प्रिय-प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥" (दो० ७०); यहाँ प्रसंगानुसार क्षत्रिय कहना चाहिये, पर 'नृपति' कहा, क्योंकि गुरुजी श्रीभरतजी को राजा दशरथ के निमित्त शोच करना छुड़ाना चाहते हैं।

(४) 'सोचिय बयस कृपन'''—शिवजी की भक्ति से धन की वृद्धि होती रहेगी और उसी से अतिथि सेवा भी हुआ करेगी। मनुस्मृति आदि में शिवभक्ति नहीं लिखी गई। यहाँ समयानुसार लोकसंग्रह पर भी कवि की दृष्टि है।

(५) 'सूद्र बिप्र अवमानी'; यथा—"बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन, हम तुम्हते कछु घाटि।" 'ज्ञान गुमानी'; यथा—"जानइ ब्रह्म सो बिप्रवर, आँखि देखावहिं डाटि॥" (उ० दो० ९९); 'मानप्रिय'—ब्राह्मण आदि से भी अधिक मान चाहते हैं कि लोग हमें पूजें और श्रेष्ठ मानें।

(६) 'सोचिय पुनि पति बंचक''' सब जाति की स्त्रियों के लिये पातिव्रत धर्म एक ही है, इसीलिये जाति-धर्म के साथ कहा और शूद्र के साहचर्य्य में कहा, क्योंकि स्त्रियाँ शूद्रवत् मानी जाती हैं। कहा भी है—"सहज अपावनि नारि, पति सेवत सुभगति लहइ।" (आ० दो० ५); यह श्रीअनसूयाजी ने श्रीसीताजी से कहा है, तथा—"जदपि जोषिता अनअधिकारी।" (बा० दो० १०९), "अधम ते अधम अधम अति नारी।" (आ० दो० ३४)। स्त्रियों का धर्म यह है कि वे पति की आज्ञा मानें, पति से कपट न करें, कुटिलता एवं कलह न करें; यही इसमें अभिप्राय है।

सोचिय बटु निज ब्रत परिहरई। जो नहिं गुरुआयसु अनुसरई ॥८॥

दोहा—सोचिय गृही जो मोहबस, करइ करमपथ त्याग।
सोचिय जती प्रपंचरत, बिगत बिबेक बिराग ॥१७२॥

बैखानस सोइ सोचन जोगू। तपु बिहाइ जेहि भावइ भोगू ॥१॥
सोचिय पिसुन अकारन क्रोधी। जननि-जनक-गुरु-बंधु - बिरोधी ॥२॥

सब बिधि सोचिय परअपकारी। निज तनु पोषक निरदय भारी ॥३॥
सोचनीय सबही बिधि सोई। जो न छाड़ि छलु हरिजन होई ॥४॥

अर्थ—उस ब्रह्मचारी के प्रति शोच करना चाहिये, जो अपने व्रत को छोड़ देता है और जो गुरु की आज्ञा पर नहीं चलता ॥८॥ उस गृहस्थ के प्रति भी शोच करना चाहिये जो मोहवश कर्म मार्ग को छोड़ देता है। प्रपंच (सांसारिक व्यवहार) में रत, ज्ञान-वैराग्य हीन संन्यासी भी शोचनीय है ॥१७२॥ वह वानप्रस्थ शोचने के योग्य है, जिसे तप छोड़कर विषय-भोग प्रिय लगे ॥१॥ शोचने के योग्य वह है, जो चुगलखोर है, बिना कारण ही क्रोध करनेवाला, माता, पिता, गुरु और भाई से विरोध करनेवाला है ॥२॥ सब प्रकार वह शोचने के योग्य है, जो दूसरों की हानि करनेवाला, अपने ही शरीर का पोषण करनेवाला (उदरार्थी) और भारी निर्दय है ॥३॥ सभी प्रकार से वही शोचने के योग्य है, जो छल छोड़कर हरि का भक्त नहीं होता ॥४॥

विशेष—(१) 'सोचिय बटु…'—ऊपर वर्ण-धर्म और स्त्री-धर्म कह चुके, अब आश्रम-धर्म कहते हैं। पहला आश्रम ब्रह्मचर्य है—इसका यह व्रत है कि उपनयन संस्कार के पीछे गुरु के यहाँ रहकर विद्या पढ़े। अच्छे गृहस्थों के यहाँ से भिक्षा लाकर निर्वाह करता हुआ गुरु-सेवा करे और उनकी आज्ञा में रहे। मद्य-मांस-सेवन, गंध द्रव्य-सेवन, मधुर स्वादिष्ट भोजन, स्त्री-संग आदि दुर्व्यसनों से बचा रहे। प्रातः-सायंकाल में हवन करे और भिक्षाटन समय के अतिरिक्त आचार्य के समक्ष में रहे। यह व्रत छोड़कर यदि वह उच्छृंखल वृत्ति से रहे, तो शोचने के योग्य है।

(२) 'सोचिय गृही जो मोहबस…'; यथा—"नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते। मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥" (गीता १८।७); गृहस्थों के लिये ऋणत्रय (देव-ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋण) के अनुसार कर्म नियत हैं, उनका त्यागना निषिद्ध है।

(३) 'सोचिय जती प्रपंच…' संन्यासी को प्रपंच (सांसारिक व्यवहार) से पृथक् रहना चाहिये, वैराग्य और विवेक की वृत्ति में कालक्षेप करना चाहिये; इसके बिना वह शोचने के योग्य है। 'प्रपंच रत'; यथा—"बहु दाम सँवारहि धाम जती, बिषया हरि लीन्हि न रहि बिरती॥" (उ० दो० १००)। 'विवेक' अर्थात् असत् (प्रपंच) को छोड़कर सत् (हरि-भजन) को ग्रहण करे; अर्थात् इन्द्रियों से जगत् व्यवहार छोड़कर हरि-भजन करे; यथा—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत् सब सपना॥" (आ० दो० ३८); इसपर बा० दो० ६।१ भी देखिये। 'विराग'; यथा—"कहिय तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी (आ० दो० १४)।

(४) 'बैखानस सोइ…'—वानप्रस्थ आश्रमवालों को ग्राम आदि बस्ती से पृथक् वन में रहना चाहिये और वहीं के कंद-मूल-फल आदि से शरीर-निर्वाह करना चाहिये। उन्हीं से पंचयज्ञ करना चाहिये। शय्या, वाहन, वस्त्र, पलंग आदि त्याग देना चाहिये। जब इस आश्रम में परिपक्व वैराग्य हो जाय, तब संन्यास लेना चाहिये।

आश्रम वर्णन में क्रम भंग किया गया है कि गृही के पीछे वानप्रस्थ को न कहकर संन्यास कहा गया है। इसका कारण यह है कि आश्रम दो ही मुख्य हैं, गार्हस्थ्य और संन्यास। शेष दो इन्हीं के साधक हैं, जैसे कि ब्रह्मचर्य में विद्या की प्राप्ति द्वारा धन और वीर्य संचय से सन्तान की प्राप्ति हो, ये दोनों बातें गृही के लिये चाहिये। पुनः गार्हस्थ्य-सेवन से इन्द्रियाँ प्रबल हुईं, तो वे वानप्रस्थ से शांत होती हैं और व संन्यास आश्रम के योग्य होता है। इस तरह यहाँ दोनों के सहायक आश्रमों को साथ-साथ रक्खा है।

क्रम भंग का यह भी हेतु है कि यहाँ गृही और यती को एक साथ रक्खा है कि गृही को कर्म त्यागना दोष रूप और यती को कर्म की ओट से प्रपंच-रत होना दोषरूप है ; क्रिया-वैषम्य साथ दिखाया।

(५) 'सोचिय पिसुन अकारन...'—पिशुनता भारी पाप है; यथा—"अघ कि पिसुनता सम कछु आना।" (उ० दो० १११); 'अकारन क्रोधी'—कारण पाकर क्रोध तो मुनियों को भी हो जाता है; यथा—"सुनु प्रभु बहुत अवज्ञा किये। उपज क्रोध ज्ञानिन्ह के हिये॥" (उ० दो० १११); बिना कारण क्रोध करना भारी पाप है और सामान्य क्रोध तो पाप का मूल कहा ही गया है। जननी-जनक आदि पूज्य हैं और इन्होंने वात्सल्य-पूर्वक बड़े-बड़े उपकार किये हैं। अतः, इनसे विरोध करना भारी पाप है।

(६) 'सब विधि सोचिय...'—'निज तनु पोषक' के साथ ही 'निरदय भारी' भी कहा है, इससे चोरी आदि दुष्टता करके जीविकावाले और मांसाहारियों पर लक्ष्य है। अथवा पुत्र, भृत्य, स्त्री आदि के रहते हुए उन्हें न देकर स्वयं उत्तम भोगों से शरीर-पोषण भी 'निज तनु पोषकता' रूप दोष है ; यथा—"पुत्रैर्दारैश्च भृत्यैश्च स्वगृहे परिवारितः। स एको मृष्टमश्नातु यस्यार्योऽनुमते गतः॥" (वाल्मी० २।७५।२४); ऊपर के सब एक एक विधि से शोचनीय कहे गये, पर ये सब प्रकार से शोचनीय कहे गये, क्योंकि इनके कर्त्तव्य मनुष्यता से बाहर के हैं।

(७) 'जो न छाड़ि छल हरिजन होई'—स्वार्थ-साधकता ही छल है ; यथा—"स्वारथ छल फल चारि बिहाई।" (दो० ३००); तथा—"होइ अकाम जो छल तजि सेइहि।" (लं० दो० ३); "बंचक भगत कहाइ राम के। किंकर कंचन कोह काम के॥" (बा० दो० ११)। ऊपर 'सब विधि' कहा गया था, यही 'सब ही विधि' कहकर 'ही' से विशेष जोर देकर कहा, क्योंकि मनुष्य-तन को पाने का मुख्य उद्देश्य हरि की भक्ति ही है।

सोचनीय नहि कोसलराऊ। भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ॥५॥
भयेउ न अहइ न अब होनिहारा। भूप भरत जस पिता तुम्हारा॥६॥
बिधि हरि हर सुरपति दिसिनाथा। बरनहि सब दसरथ-गुन-गाथा॥७॥

दोहा—कहहु तात केहि भाँति कोउ, करिहि बड़ाई तासु।
राम-लखन तुम्ह सत्रुहन, सरिस सुवन सुचि जासु॥१७३॥

अर्थ—कोसल-राज श्रीदशरथजी शोच करने के योग्य नहीं हैं, चौदहो लोकों में उनका प्रभाव प्रकट है॥५॥ हे भरतजी ! जैसे तुम्हारे पिता थे, वैसा राजा न तो हुआ, न है और न अब होनेवाला ही है॥६॥ ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, इन्द्र और लोकपाल सभी दशरथजी के गुणों की कथा वर्णन करते हैं॥७॥ हे तात ! कहो तो कोई भी किस प्रकार उनकी बड़ाई कर सकता है कि जिनके श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी, तुम और श्रीशत्रुघ्नजी-सरीखे पवित्र पुत्र हैं॥१७३॥

विशेष—(१) 'सोचनीय नहि कोसल राऊ।' यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"सोच जोग दसरथ नृप नाहीं।" है। वशिष्ठजी ने श्रीभरतजी के हृदय में पिता-मरण का ही शोक समझा था, उसीके अनुसार समझा रहे हैं। श्रीराम-वन-गमन का शोक श्रीभरतजी के हृदय में है; इसपर गुरुजी की दृष्टि

नहीं है, क्योंकि राज्य के निमित्त तो भाई-भाई में विरोध भी हो जाता है तो ये संयोग-वश प्राप्त राज्य के विरह में शोक क्यों करेंगे? राजा दशरथजी शोक के योग्य नहीं हैं, क्योंकि उपर्युक्त दोष उनमें नहीं हैं। प्रत्युत चौदहों भुवनों में उनका यश व्याप्त है तो वे मृतक नहीं हैं, फिर शोक कैसा? अपयशी जीते हुए भी मृतक-तुल्य है; यथा—"अजसी...जीवत सव सम चौदह प्रानी॥" (लं० दो० ३०); राजा में तो अपयश की बात कुछ नहीं है, चौदहों भुवनवाले उनका प्रभाव ही गाते हैं।

(२) 'बिधि हरि हर सुरपति...'—ब्रह्माजी प्रजा बढ़ाने की शक्ति में, विष्णु पालन-शक्ति में, शिवजी शत्रु-संहार-शक्ति में, इन्द्र पराक्रम में एवं राज्य-सुख-भोग-शक्ति में और दिक्पाल प्रजाओं की रक्षण-शक्ति में राजा दशरथ को अपने-अपने से बहुत बड़ा मानते हैं, तभी सराहते हैं; अन्यथा ये सब तो स्वयं बड़ाईवाले हैं, दूसरे के गुण क्यों गावेंगे? राजा के बड़प्पन का और भी हेतु आगे कहते हैं।

(३) 'कहहु तात केहि भाँति कोउ...'—भगवान् के अवतार लेने से राजा को यह महत्त्व मिला कि चारो भाइयों ने पिता को बड़ाई दी; यथा—"जिन्हहिं बिरचि बड़ भयेउ बिधाता। महिमा अवधि राम पितु माता॥" (बा० दो० १५); स्वयं शुचि थे, तब उनके शुचि पुत्र हुए। श्रीलक्ष्मणजी इस समय श्रीरामजी के समीप हैं। इसलिये उनका नाम भी अवस्था-क्रम छुड़ाकर श्रीभरतजी से पहले और श्रीराम नाम के साथ रक्खा गया है।

सब प्रकार भूपति बड़ भागी। बादि बिषाद करिय तेहि लागी॥१॥
येहु सुनि समुझि सोच परिहरहू। सिर धरि राज-रजायसु करहू॥२॥
राय राज-पद तुम्ह कहँ दीन्हा। पिता बचन फुर चाहिय कीन्हा॥३॥
तजे राम जेहि बचनहि लागी। तनु परिहरेउ राम-बिरहागी॥४॥
नृपहि बचन प्रिय नहि प्रिय प्राना। करहु तात पितु-बचन प्रमाना॥५॥

अर्थ—राजा सब तरह से बड़े भाग्यवान् थे, उनके लिये विषाद करना व्यर्थ है॥१॥ यह सुन-समझकर शोच छोड़ो और राजा की आज्ञा शिरोधार्य करके उसे करो॥२॥ राजा ने तुमको राज्य-पद दिया, पिता के वचन को सत्य करना चाहिये॥३॥ कि जिस वचन ही के लिये उन्होंने श्रीरामजी को छोड़ा (वनवास दिया) और राम-विरह रूपी अग्नि में शरीर त्याग दिया॥४॥ राजा को वचन प्रिय थे, प्राण प्रिय न थे, (अतः) हे तात! पिता के वचनों को प्रमाणित करो; अर्थात् राजा ने कैकेयी को वरदान दिया है कि भरत राज्य पावें, वह वचन तुम्हारे राज्य-ग्रहण करने से सत्य होगा॥५॥

विशेष—'सब प्रकार भूपति बड़ भागी।'—पुत्रों के ही संबंध से नहीं, प्रत्युत गुण, वैभव, जाति, धर्म, कर्म आदि की उत्तमता और श्रीराम-विरह में तन-त्याग आदि सभी प्रकार से। 'सिर धरि राज...'—राजा की आज्ञा भंग न करनी चाहिये, ऐसा कहकर उस आज्ञा को स्पष्ट करते हैं कि 'राज-पद तुम्ह कहँ दीन्हा' फिर इसे ही 'पिता बचन' कहकर महत्त्व देते हैं कि पिता की आज्ञा का पालन करना श्रेष्ठ धर्म है; यथा—"पितु आयसु सब धरमक टीका।" (दो० ५१); फिर—'तजे राम जेहि बचनहिं लागी।...' से पिता के वचन का महत्त्व दिखाया; यथा—"तुलसी जान्यो दसरथहि, धरम न सत्य समान। राम तजे जेहि लागि बिनु, राम परिहरे प्रान॥" (दोहावली २१२); अतएव पिता के इस वचन को अवश्य ही सत्य करना चाहिये।

करहु सीस धरि भूप-रजाई। हइ तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई ॥६॥
परसुराम पितु आज्ञा राखी। मारी मातु लोग सब साखी ॥७॥
तनय जजातिहि जौवन दयेऊ। पितुआज्ञा अघ अजस न भयेऊ ॥८॥

दोहा—अनुचित उचित बिचार तजि, जे पालहिं पितु-बयन।
ते भाजन सुख सुजस के, बसहि अमरपति-अयन ॥१७४॥

अर्थ—राजा की आज्ञा शिरोधार्य करके करो, (इसमें) तुमको सब तरह से भलाई है ॥६॥ श्रीपरशुरामजी ने पिता की आज्ञा रक्खी (मानी), माता को मार डाला, इसके सब लोग साक्षी हैं ॥७॥ और राजा ययाति के पुत्र ने ययाति को अपनी जवानी दे दी, पिता की आज्ञा (होने) के कारण पाप और अपयश नहीं हुआ ॥८॥ उचित-अनुचित का विचार छोड़कर जो अपने पिता के वचनों का पालन करते हैं, वे सुख और सुयश के पात्र हैं और (अंत में) इन्द्रपुरी में बसते हैं ॥१७४॥

विशेष—(१) 'परसुराम पितु आज्ञा······'—राजा की आज्ञा आदर-पूर्वक करने में तुम्हें सब प्रकार की भलाई है। इसीपर उदाहरण देते हुए श्रीपरशुरामजी की और आगे ययाति की कथा कही कि श्रीपरशुरामजी ने तो पिता की आज्ञा से माता को मार डाला और ययाति के पुत्र पुरु ने अपनी जवानी पिता को दे दी। ये दोनों कार्य-मातृवध और मातृ-गमन अनुचित थे, पर इनसे दोनों को यश ही प्राप्त हुआ, कोई भी पाप के भागी न हुए। यदि पापी होते तो इन्हें अपयश भी होता ; यथा—"बिनु अघ अजस कि पावै कोई।" (उ० दो० १११) ; पर इन्हें यश ही प्राप्त हुआ।

श्रीभरतजी बड़े भाई के रहते हुए छोटे का राजा होना अनुचित मानते हैं। उसीको खंडन करते हुए गुरुजी ने दो उदाहरण दिये कि ऐसे अनुचित कार्य भी पिता की आज्ञा से किये जाने पर यश हुआ, तब तुम्हें तो भलाई ही है। क्योंकि तुम्हारे लिये जो पिता की आज्ञा है। वह लोक-वेद सम्मित है ; यथा—"लोक-वेद-संमत सब कहई। जेहि पितु देइ राज सो लहई ॥" (दो० १०१)। पहले श्रीपरशुरामजी का उदाहरण दिया, इसपर श्रीभरतजी कह सकते थे कि वे ईश्वर के अवतार हैं, उनके कर्म करने का सबको अधिकार नहीं है ; यथा—"न देव चरितं चरेत्।" कहा है। फिर वे तो समर्थ भी थे, इससे फिर माता को जिला लिया। अतएव, यह मुझमें युक्त नहीं है। इसपर साथ ही मनुष्य राजकुमार का दूसरा उदाहरण दिया है। पुन. इसकी सत्यता पर सब लोकों को साक्षी दी कि यह कथा सर्वत्र प्रसिद्ध है।

(२) 'अनुचित उचित विचार तजि··· ···'—ऊपर कहा था कि अनुचित भी पिता की आज्ञा के पालने से पाप और अपयश नहीं होते। अब कहते हैं कि पिता की आज्ञा में अनुचित-उचित का विचार ही न करना चाहिये। ज्यों-की-त्यों उसे मान ही लेना चाहिये। उससे सुख और सुयश होता है और अंत में स्वर्ग मिलता है। दोहे के पूर्वार्द्ध में साधन और उत्तरार्द्ध में उसका फल कहा है। ये फल पुण्य से प्राप्त होते हैं ; यथा—"सुख चाहहिं मूढ न धर्मरता।" (उ० दो० १०१) ; "पावन यस कि पुन्य बिनु होई।" (उ० दो० १११)। स्वर्ग भी पुण्य से ही मिलता है ; यथा—"ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्र-लोकम् ·· ··" (गीता ९।२०) ; 'बसहिं' अर्थात् बहुत काल रहते हैं। इस तरह लोक-परलोक का सुधरना जनाया।

अवसि नरेस बचन फुर करहू। पालहु प्रजा सोकु परिहरहू ॥१॥
सुरपुर नृप पाइहि परितोषू। तुम्ह कहँ सुकृत सुजस नहिं दोषू ॥२॥
बेदबिदित संमत सबही का। जेहि पितु देइ सो पावइ टीका ॥३॥
करहु राज परिहरहु गलानी। मानहु मोर बचन हित जानी ॥४॥

अर्थ—राजा के वचन अवश्य सत्य करो, प्रजा को पालो और शोक छोड़ो ॥१॥ स्वर्ग में राजा सम्यक् प्रकार से संतोष पावेंगे। तुमको पुण्य और सुन्दर यश मिलेगा, दोष नहीं लगेगा ॥२॥ वेद में प्रसिद्ध है और सभी की सम्मति है कि जिसे पिता देवे, वही राज्य-तिलक पावे ॥३॥ (अतः) राज्य करो और ग्लानि को छोड़ो, मेरा वचन हितकारी समझकर मानो ॥४॥

विशेष—(१) 'अवसि नरेस बचन फुर······'—श्रीभरतजी पिता की इस आज्ञा के करने में दोष समझकर उदासीन हैं। इसीसे गुरुजी इसे करने को बार बार कहते हैं—(१) सिर धरि राज रजायसु करहू। (२) पिता-बचन फुर चाहिय कीन्हा। (३) करहु तात पितु-बचन प्रमाना। (४) करहु सीस धरि भूप-रजाई। (५) अवसि नरेस-बचन फुर करहू। आगे माता और मंत्री लोगों ने भी ऐसा ही कहा है; यथा—"पूत पथ्य गुरु-आयसु अहई।···सिर धरि गुरु-आयसु अनुसरहू।" तथा "कीजिय गुरु-आयसु अवसि, कहहिं सचिव कर जोरि।" (दो० १७५)।

'पालहु प्रजा'—प्रजा-पालन राजा का मुख्य धर्म है; इसलिये इसे करने के लिये बार-बार कहा गया है; यथा—"कौशल्यादि सकल महतारी। तेउ प्रजा-सुख होहिं सुखारी॥" "परिजन प्रजा सचिव सब अंबा। तुम्हही सुत सब कहँ अवलंबा॥" "प्रजा पालि परिजन दुख हरहू।" इत्यादि यहाँ है, अन्यत्र भी बहुत कहा गया है। 'सोक परिहरहू'—पिता सम्बन्धी शोक छोड़ दो। प्रजा के शोक-हरण का भाव भी निकलता है।

(२) 'संमत सबही का'—ऋषि, संहिता, पुराणादि एवं सभी छोटे-बड़े का।

'जेहि पितु देइ सो ···· '—श्रीशुक्राचार्यजी नीति के आचार्य हैं। उन्होंने ययाति राजा को आज्ञा दी है कि पिता चाहे जिस पुत्र को राज्य दे और इसमें सब ऋषि भी सहमत हुए।

(३) 'करहु राज परिहरहु गलानी।'—इसी आज्ञा के कारण पिता ने शरीर त्याग किया, इसकी ग्लानि छोड़ दो; क्योंकि कैकेयी के वरदानवाले राजा के वचन तभी सत्य होंगे, जब तुम राज्य ग्रहण करोगे। अतएव, इसीसे पिता भी संतुष्ट होंगे, यथा—"सुरपुर नृप पाइहि परितोषू।" ऊपर कहा गया है। 'मानहु मोर बचन···'—उपर्युक्त राजा की आज्ञा, 'पितु-आज्ञा' को ही अपने वचन से भी पुष्ट करते हैं कि इसे ही गुरु की आज्ञा मानकर करो। इसीसे आगे सभी ने गुरु-आयसु कहा है। यथा—"कीजिय गुरु-आयसु अवसि···"—मंत्री—"पूत पथ्य गुरु-आयसु अहई।"—माता, "मोहि उपदेस दीन्ह गुरु नीका।"—भरत। श्रीभरद्वाजजी ने इसे ही लेकर कहा है—"गुरु अवमान दोष नहिं दूषा।" (दो० २०८)।

सुनि सुख लहब राम-बैदेही। अनुचित कहब न पंडित केही ॥५॥
कौसल्यादि सकल महतारी। तेउ प्रजासुख होहिं सुखारी ॥६॥

मरम तुम्हार राम कर जानिहि। सो सब बिधि तुम्ह सन भल मानिहि ॥७॥
सौंपेहु राज राम के आये। सेवा करेहु सनेह सुहाये ॥८॥

दोहा—कीजिय गुरु - आयसु अवसि, कहहिं सचिव कर जोरि।
रघुपति आये उचित जस, तस तब करब बहोरि ॥१७५॥

अर्थ—श्रीरामजी और श्रीजानकीजी सुनकर सुख पावेंगे, कोई भी पंडित (बुद्धिमान) इसे अनुचित न कहेगा ॥५॥ श्रीकौशल्याजी आदि सभी माताएँ भी प्रजा के सुख पाने से सुखी होंगी ॥६॥ जो तुम्हारे और श्रीरामजी के मर्म (भेद) को जानेगा, वह सब प्रकार तुमसे अच्छा मानेगा ॥७॥ श्रीरामजी के आने पर उन्हें राज्य सौंप देना और सुन्दर स्नेह के साथ उनकी सेवा करना ॥८॥ मंत्री लोग हाथ जोड़ कर कहते हैं कि गुरुजी की आज्ञा (का पालन) अवश्य कीजिये। श्रीरघुनाथजी के आने पर जैसा उचित हो, तब फिर वैसा कीजियेगा ॥१७५॥

विशेष—(१) 'सुनि सुख लहब राम'''—यदि इसपर श्रीरामजी बुरा मानें, क्योंकि उनका भाग छीनकर दिया जा रहा है, इसका समाधान गुरुजी करते हैं कि श्रीसीतारामजी इससे सुख मानेंगे; यथा—"भरत प्रान-प्रिय पावहिं राजू।" (दो० ४१) ; "माइ भरत अस राउ" (दो० २५) ; इत्यादि श्रीरामजी के श्रीमुख वचन हैं। तुम्हारे राज्य-ग्रहण करने से पिता कैकेयीजी से उऋण होंगे। इससे भी श्रीरामजी सुख मानेंगे ; यथा—"ऋणान्मोचय राजानं मत्कृते भरत प्रभुम्। पितरं त्राहि धर्मज्ञ मातरं चाभिनंदय ॥" (वाल्मी० २।१०७।१०) ; पिता का दिया हुआ ; राज्य ग्रहणकर प्रजा को सुखी करने से पंडित लोग भी उचित ही मानेंगे।

(२) 'कौसल्यादि सकल महतारी।'''—उपर्युक्त बातों से श्रीभरतजी को संदेह हो सकता है कि माताएँ तो अवश्य दुःख मानेंगी कि हमारे पुत्र को वन भेजवाकर ये राज्य करते हैं। इसका गुरुजी यहाँ समाधान करते हैं कि माताएँ प्रजा के सुख से सुखी ही होंगी ; यथा—"वेगि प्रजा दुख मेटब आई।" (दो० १०) ; क्योंकि ये प्रजा को पुत्र के समान मानती हैं।

(३) 'मरम तुम्हार रामकर'''—भाव यह कि अनभिज्ञ लोग चाहे संदेह भी करें कि श्रीरामजी को वन भेजवाकर राज्य करते हैं, पर जो तुम्हारी और श्रीरामजी की हार्दिक प्रीति एवं स्वभाव की एकता जानते हैं, वे सब तरह से भला ही मानेंगे।

(४) 'सौंपेहु राज राम के आये।'''—इसपर भी राज्य-ग्रहण का रुख न पाकर कहते हैं कि श्रीरामजी के आने पर राज्य उन्हें सौंप देना और स्नेह-पूर्वक उनकी सेवा करना, तो यह स्नेह की शोभा होगी और राज्य करते ही रहने में धर्म की शोभा है; क्योंकि पिता-दत्त राज्य है, यह भी गर्भित है।

(५) 'कीजिय गुरु-आयसु '''—'मानहु मोर बचन''' यह गुरु की आज्ञा है, इसे ही अवश्य करने को कहते हैं, क्योंकि 'गुरोराज्ञा गरीयसी' कहा जाता है, गुरुजी ने पिता की आज्ञा का भार दिया। मंत्री लोग और आगे माताजी भी गुरु की आज्ञा को प्रधान करती हैं कि जिससे धर्म के डर से भी श्रीभरतजी मान लें। 'कर जोरि'—क्योंकि ये लोग पहले सँभाल न सके थे, व्यवहार बिगड़ गया है, डरे हुए भी हैं, फिर इनका स्वाभाविक अधिकार भी राजा से हाथ जोड़कर कहने का है। गुरुजी को तो आज्ञा देने

का अधिकार है। वसिष्ठजी का सभी मन्त्री बड़ा गौरव मानते थे; यथा—"जीवत्यपि महाराजे तवैव वचनं वयम्। नातिक्रमामहे सर्वे वेलां प्राप्येव सागरः॥" (वाल्मी० २।१७।२७)। इसीसे यहाँ भी इनकी आज्ञा पर सभी सहमत हैं। 'तब तस करब'—मंत्रियों को अभी श्रीभरतजी के हृदय का यथार्थ भाव नहीं मालूम है, इससे इन्हें संदेह है कि १४ वर्ष राज्य करने से कहीं इनका हृदय राज्य में रम जाय, और प्रजा भी अनुकूल रहे, तो अभी से यह कैसे कहें कि श्रीरामजी को राज्य सौंप देना और उधर गुरुजी के वचनों को भी बचाना है, इसलिये ऐसा कहा।

'नीति धरम मय बचन उचारे।'—उपक्रम है, और यहाँ 'कीजिअ गुर-आयसु ...' यह उपसंहार है।

कौसल्या धरि धीरज कहई। पूत पथ्य गुरुआयसु अहई ॥१॥
सो आदरिय करिय हित मानी। तजिय बिषाद कालगति जानी ॥२॥
बन रघुपति सुरपुर नरनाहू। तुम्ह येहि भाँति तात कदराहू ॥३॥
परिजन प्रजा सचिव सब अंबा। तुम्हही सुत सब कहँ अवलंबा ॥४॥

अर्थ—श्रीकौशल्याजी धैर्य धरकर कह रही हैं कि हे पुत्र! गुरुजी की आज्ञा पथ्य है, अर्थात् इस अनर्थ-रूपी कुरोग में सेवन करने के योग्य है ॥१॥ उसका आदर करना चाहिये और हित जानकर सेवन करना चाहिये, समय का फेर समझकर विषाद छोड़ो ॥२॥ श्रीरघुनाथजी वन में हैं और राजा (श्रीदशरथजी) स्वर्ग में हैं और हे तात! तुम इस तरह कदरा रहे हो ॥३॥ हे पुत्र! कुटुम्बियों, प्रजाओं, मंत्रियों और सब माताओं को तुम्हीं एक मात्र सहारा हो ॥४।

विशेष—(१) 'कौसल्या धरि धीरज ...'—इन्हें अलौकिक विवेक प्राप्त है, इसीसे धैर्य हुआ और विवेकमय वचन भी कह रही हैं। 'पथ्य'—श्रीभरतजी श्रीराम-वियोग-रूपी कुरोग से दुखी हैं, उसमें यह गुरु-आज्ञा पथ्य की तरह हित है। श्रीभरतजी ने कहा भी है; यथा—"येहि कुरोग कर औषध नाहीं" (दो० २११); तथा—"राम बियोग कुरोग बिगोये।" (दो० १५७); और रोगी को पथ्य दिया जाता ही है। पथ्य रोगी को रुचिकर नहीं होता, पर आगे हित करता है। वैसे ही गुरु की आज्ञा भी परिणाम में हितकर होगी। (शरीर में रोग रहते हुए पथ्य नहीं दिया जाता, पर माता स्नेहवश भूल कर दे रही हैं; पर रोगी तो स्वयं समझदार हैं। अतः, वे न ग्रहण करेंगे।) 'पूत पथ्य'—का यह भी भाव है कि यह पवित्र और पथ्य है; और कोई पथ्य-वस्तु भी अपवित्र होती है तो अग्राह्य होती है। जैसे उपर्युक्त मातृ-वध की आज्ञा एवं पिता को यौवन देना और उससे मातृ-गमन; पर यह गुरु की आज्ञा वैसी नहीं है; किन्तु पवित्र है।

(२) 'काल गति'—जैसे जाड़ा, गर्मी और वर्षा एवं दिन-रात अपने नियत अवसर पर होते ही हैं वैसे ही कालानुसार सुख-दुःख भी होते ही हैं। अतएव, अपरिहार्य हैं। इससे विषाद करना व्यर्थ है।

(३) 'सुरपुर नर-नाहू' की जगह 'सुरपति नरनाहू' भी कहीं-कहीं पाठ है। उसका भाव यह है कि राजा इन्द्र हो गये, राजा यद्यपि इन्द्र नहीं हुए, तथापि इन्द्र के सखा हैं। अतः, इन्द्र के तुल्य हैं और इन्द्रलोक में हैं भी। कहा भी है—'समान ख्यातीति सखा' नरपति से सुरपति हो गये तो उनके प्रति हर्ष चाहिये, शोक नहीं।

लखि बिधि बाम काल कठिनाई। धीरज धरहु मातु बलि जाई ॥५॥
सिर धरि गुरुआयसु अनुसरहू। प्रजा पालि परिजन-दुख हरहू ॥६॥
गुरु के बचन सचिव अभिनंदन। सुने भरत हिय हित जनु चंदन ॥७॥
सुनी बहोरि मातु मृदु बानी। सील सनेह सरल रस सानी ॥८॥

शब्दार्थ—अभिनन्दन = अनुमोदन, समर्थन। हित = हितकर।

अर्थ—ब्रह्माजी की प्रतिकूलता और समय की कठोरता देखकर धैर्य धरो, माता तुम्हारी बलिहारी जाती है ॥५॥ गुरुजी की आज्ञा शिरोधार्य करके उसके अनुसार करो, प्रजा का पालन करके कुटुम्बियों के दुःख हरण करो ॥६॥ श्रीभरतजी ने गुरुजी के वचन और मंत्रियों का समर्थन सुना, जो उनके हृदय के लिये मानो चंदन थे; अर्थात् हृदय को शीतल करनेवाले थे ॥७॥ फिर उन्होंने माता की शील-स्नेह और सरल-रस में सनी हुई कोमल वाणी सुनी ॥८॥

विशेष—(१) 'लखि बिधि बाम काल···'—विधि की वामता पर उपाय व्यर्थ जाते हैं और काल की गति का भी कोई खंडन नहीं कर सकता। यहाँ श्रीराम-वन-गमन में विधि-वामता और राजा की मृत्यु के प्रति काल-कठिनाई है।

(२) 'हित जनु चंदन'—चन्दन में शीत और सुगंध दो गुण हैं, वैसे इस वचन में भी परलोक-सुख शीत और लोक-सुयश सुगंध है। पिता एवं गुरु की आज्ञा का पालन करना महान् धर्म है। इसीसे लोक और परलोक का सुख होना कहा गया। चंदन पीने में कड़वा लगता है, वैसे यह वचन भी श्रीभरतजी के हृदय में कड़वा लगा। 'सील सनेह सरल रस सानी'—शील यह कि प्रतिकूल सौत के पुत्र का पक्ष लिया है। उसे राज्य पाने में सहायक हो रही हैं। स्नेह यह कि भरत की बलिहारी जाती हैं। सरलता यह कि हृदय से निश्छल हैं।

छंद—सानी सरल रस मातु-बानी सुनि भरत ब्याकुल भये।
लोचन सरोरुह स्रवत सींचत बिरह उर अंकुर नये।
सो दसा देखत समय तेहि बिसरी सबहि सुधि देह की।
तुलसी सराहत सकल सादर सींव सहज सनेह की ॥

सोरठा—भरत कमल-कर जोरि, धीर धुरंधर धीर धरि।
बचन अमिअ जनु बोरि, देत उचित उत्तर सबहि ॥१७६॥

अर्थ—सरलता रस में सनी हुई (सीधी-सादी) माता की वाणी सुनकर श्रीभरतजी व्याकुल हो गये। कमल के समान नेत्र आँसू बहाते हैं और हृदय के विरह के नये अँखुए को सींच रहे हैं; अर्थात्

इस वचन से हृदय का विरह लहलहा उठा, हरा-भरा हो गया। श्रीभरतजी की यह दशा देखकर सभी को उस समय देह की सुधि भूल गई। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि सब लोग स्वाभाविक स्नेह की सीमा (श्रीभरतजी) की आदर-सहित प्रशंसा करते हैं। कमल के समान हाथों को जोड़कर धैर्यवानों में श्रेष्ठ श्रीभरतजी धैर्य धारण करके, मानों वचनों को अमृत में डुबाकर सबको उचित उत्तर देते हैं ॥१७६॥

विशेष—'भरत व्याकुल भये'—माता भी मुझे श्रीराम-विमुख करना चाहती है, यह समझकर व्याकुल हो गये। हृदय में जो विरह के अंकुर थे, वे उद्दीप्त हो आये। इनकी श्रीरामजी में ऐसी प्रीति की दशा देखकर सब प्रेम में देह सुधि भूल गये। फिर सावधान होकर सभी सराहने लगे कि श्रीभरतजी सहज स्नेह की सीमा हैं, यथा—"भरतहिं कहहिं सराहि सराही। राम-प्रेम-मूरति तनु आही॥" (दो० १८३)। 'धीर धुरंधर धीर धरि'—विरह की व्याकुलता बहुत अधिक है तभी तो धैर्य धारण करने में धीर धुरंधर कहा है। कोरे प्रेमी ही नहीं हैं, किन्तु उत्तर देने में समर्थ हैं। अत, धैर्य धरकर उत्तर देते हैं। बड़ों को उत्तर देना है और उत्तर प्राय कड़ा होता ही है। इसलिये 'अमिअ जनु बोरि' कहा है, क्योंकि ये वचन सबको प्रिय लगेंगे; यथा—"भरत वचन सब कहँ प्रिय लागे।" (दो० १८३)। 'उचित' अर्थात् सभी इसे सराहेंगे और ये वचन सबके अनुकूल होंगे।

मोहि उपदेस दीन्ह गुरु नीका। प्रजा सचिव संमत सबही का ॥१॥
मातु उचित धरि आयसु दीन्हा। अवसि सीस धरि चाहउँ कीन्हा ॥२॥
गुरु-पितु-मातु-स्वामि-हित-बानी। सुनि मन मुदित करिय भलि जानी ॥३॥
उचित कि अनुचित किये बिचारू। धरम जाइ सिर पातक-भारू ॥४॥

शब्दार्थ—धरि = धारण करके, ठहरकर, निश्चय करके।

अर्थ—गुरुजी ने मुझे अच्छा उपदेश दिया और प्रजा, मंत्री आदि सभी की यही सम्मति है ॥१॥ माताजी ने भी उसे उचित निश्चय करके आज्ञा दी, मैं उसे अवश्य शिरोधार्य करके करना चाहता हूँ ॥२॥ (क्योंकि) गुरु, पिता, माता, स्वामी और हितैषी (मित्र) की वाणी सुनकर और उसे अच्छी जानकर प्रसन्न मन से करना चाहिये ॥३॥ उचित है कि अनुचित—ऐसा विचार करने से धर्म नष्ट हो जाता है और शिर पर पाप का भार लदता है ॥४॥

विशेष—(१) 'मोहि उपदेस दीन्ह'''—इसमें पले सबके वचनों का समर्थन किया।

(२) 'गुरु पितु मातु स्वामि '''—इसमें सामान्य धर्म का स्वरूप कहा गया।

(३) 'उचित कि अनुचित किये'''—तब पिता एव गुरु की आज्ञा का पालन क्यों न किया, इसका उत्तर यह है। यह सामान्य धर्म है और श्रीभरतजी विशेषतर धर्म पर आरूढ़ हैं। उसके आगे इसकी उपेक्षा हो जाती है, यदि इससे विशेष धर्म पर हानि आती हो, यथा—"सो सुख करम धरम जरि जाऊ। जहँ न राम-पद पंकज भाऊ॥" (दो० २९०)। "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।" (गीता १८।६६)।

तुम्ह तौ देहु सरल सिख सोई। जो आचरत मोर भल होई ॥५॥
जद्यपि यह समुझत हउँ नीके। तदपि होत परितोष न जी के ॥६॥

अब तुम्ह विनय मोरि सुनि लेहू। मोहि अनुहरत सिखावन देहू ॥७॥
उत्तर देउँ छमब अपराधू। दुखित-दोष-गुन गनहिं न साधू ॥८॥

दोहा—पितु सुरपुर सिय-राम बन, करन कहहु मोहि राज।
येहि ते जानहु मोर हित, कै आपन बड़ काज ॥१७७॥

BHARATIYA

अर्थ—आप तो मुझे सरल शिक्षा दे रहे हैं कि जिसपर चलने से मेरा हित हो ॥५॥ यद्यपि यह मैं अच्छी तरह समझता हूँ, तथापि हृदय को संतोष नहीं होता ॥६॥ अब आप मेरी विनती सुन लें और मेरे योग्य शिक्षा दें; अर्थात् यह आज्ञा मुझे अयोग्य समझ पड़ती है ॥७॥ मैं उत्तर दे रहा हूँ मेरे अपराध क्षमा करें, (क्योंकि) साधु (सज्जन) लोग दुखी मनुष्यों के गुण-दोष को नहीं गिनते; अर्थात् उनके दोषों को बुरा नहीं मानते ॥८॥ पिता स्वर्ग में हैं और श्रीसीतारामजी वन में हैं और मुझे राज्य करने को कहते हैं, इससे आपलोग मेरा भला समझते हैं अथवा अपना कोई बड़ा कार्य सधना समझते हैं ॥१७७॥

विशेष—(१) 'उत्तर देउँ छमब अपराधू'—बड़ों को उत्तर देना पाप है; यथा—"उतर देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई॥" (दो० २६८)। इसलिये क्षमा माँगते हैं। 'दुखित दोष-गुन···'—यहाँ तात्पर्य दोष न गिनने पर है, गुण भी साथ कहा गया है; क्योंकि द्वन्द्व बोलने का मुहावरा है—गुण-दोष, पाप-पुण्य, भला-बुरा इत्यादि। कहा भी है—"अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी। इनको बिलग न मानिये बोलहिं न बिचारी॥" (वि० ३४)।

(२) 'पितु सुरपुर सियराम बन···'—अर्थात् जिस मेरे राज्य की चर्चा के निमित्त मात्र से ऐसे-ऐसे अनर्थ हो गये, वही राज मुझे आपलोग करने को कहते हैं, रक्त से सने हुए भोगों को मुझे भोगने के लिये कहते हैं? यथा—"भुञ्जीय भोगान्रुधिर प्रदिग्धान्।" (गीता २।५)।

(३) 'येहि ते जानहु मोर हित···'—'दइ तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई।', 'मानहु मोर बचन हित जानी।' और 'सो आदरिय करिय हित जानी।' इत्यादि, गुरुजी के और माता के वचनों के प्रति—'मोर हित' के उदाहरण हैं। पुनः—'पालहु प्रजा सोक परिहरहू।'; 'तुम्हहीं सुत सब कहँ अवलंबा' इत्यादि वचनों के प्रति 'आपन बड़ काज' कहा है।

हित हमार सिय-पति-सेवकाई। सो हरि लीन्ह मातु-कुटिलाई ॥१॥
मैं अनुमानि दीख मन माहीं। आन उपाय मोर हित नाहीं ॥२॥
सोक समाज राज केहि लेखे। लखन-राम-सिय पद बिनु देखे ॥३॥
बादि बसन बिनु भूषन भारू। बादि बिरति बिनु ब्रह्मबिचारू ॥४॥
सरुज सरीर बादि बहु भोगा। बिनु हरिभगति जाय जप जोगा ॥५॥
जाय जीव बिनु देह सुहाई। बादि मोर सब बिनु रघुराई ॥६॥
जाउँ राम पहिं आयसु देहू। एकहि आँक मोर हित येहू ॥७॥

शब्दार्थ—सोक समाज = शोक का समुदाय, शोकपूर्ण। आँक = निश्चय, अंक।

अर्थ—(यह नहीं, किंतु) हमारा भला तो श्रीसीतापति श्रीरामजी की सेवा में ही है, उसे माता की कुटिलता ने हर लिया ॥१॥ मैंने मन में विचार करके देख लिया कि किसी और उपाय से मेरी भलाई नहीं है ॥२॥ शोक से पूर्ण यह राज्य विना श्रीसीताजी, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी के चरणों को देखे किस गिनती में है ; अर्थात् उनके चरणों में प्रेम विना राज्य व्यर्थ है ॥३॥ जैसे वस्त्र के विना बोझ भर गहनों का पहने होना व्यर्थ है, वैराग्य के विना ब्रह्म-विचार व्यर्थ है ॥४॥ रोगी शरीर के लिये बहुत-से भोग-विलास व्यर्थ हैं, विना हरि-भक्ति के जप-योग व्यर्थ और विना जीव के सुन्दर देह व्यर्थ है, वैसे ही रघुराज श्रीरामजी के विना मेरा सब कुछ व्यर्थ है ॥५-६॥ मैं श्रीरामजी के पास जाऊँ, यह मुझे आज्ञा दीजिये। मेरा हित तो इस एक ही निश्चय (सिद्धान्त) में है; परन्तु जिसमें आपलोग मेरा हित समझते हैं, वह शून्य के समान व्यर्थ है ॥७॥

विशेष—(१) 'हित हमार सिय-पति···'—'हमार' शब्द से बहुवचन होने से अहंकार सूचक है। भक्ति-सम्बन्ध में यह भूषण है ; यथा—"अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥" (आ॰ दो॰ १०) ; 'सो हरि लीन्ह' भाव यह कि मेरा हरा हुआ धन मिले, तभी अपना हित हो सकता है। यह उपर्युक्त दोहे के 'मोर हित' का निराकरण किया कि वह 'आन उपाय' से नहीं हो सकता।

(२) 'मैं अनुमानि···'—यह गुरुजी के—"यह सुनि समुझि सोक परिहरहू। सिर धरि राज रजायसु करहू॥" का उत्तर है कि उसमें औरों का हित चाहे हो, पर मेरा नहीं।

(३) 'सोक समाज राज ···'—यहाँ श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी, इन तीनों के सम्बन्ध का शोक रहने से राज्य सुखदाई वस्तु होते हुए भी दुखदाई कहा गया ; क्योंकि इसी राज्य के ही निमित्त इन तीनों का वनवास हुआ। इसीसे शोक का समाज (समुदाय) कहा और उत्तरार्द्ध में तीनों के नाम देकर उसे स्पष्ट किया है। भाव यह भी है कि मैं श्रीरामजी को, मांडवी श्रीजानकीजी को और श्रीशत्रुघ्नजी श्रीलक्ष्मणजी की सेवा करते, तब सुखद समाज होता। यहाँ श्रीलक्ष्मणजी का नाम प्रथम दिया गया; क्योंकि भगवान से भी अधिक उनके दासों में प्रीति होनी चाहिये ; यथा—"मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥" (उ॰ दो॰ ११९)। विना 'राम-लखन-सिय' की भक्ति के राज्य किस गिनती में है ? इसी पर कई दृष्टान्त दिये हैं। उनसे 'राम-लखन-सिय' को वस्त्र, वैराग्य, हरिभक्ति और जीव रूप कहा है और भूषण भार, ब्रह्मविचार, बहु भोग और सुन्दरदेह राज्य को कहा है। इनसे दिखाया है कि इन सबमें एक के विना एक ही व्यर्थ है और 'बादि मोर सब बिनु रघुराई' अर्थात् मेरे तो एक श्रीरामजी के विना सभी व्यर्थ हैं।

(३) 'एकहि आँक मोर हित येहू'—'एक ही आँक' का अर्थ—दृढ़ बात, पक्की बात, पक्का निश्चय; यथा—"एकहि आँक इहै मन माहीं। प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं॥" (दो॰ १८२)।

यहाँ तक 'येहिते जानहु मोर हित' के प्रति अपना विचार प्रकट किया, आगे 'कै आपन बड़ काज' के प्रति कहते हैं—

मोहि नृप करि भल आपन चहहू। सोउ सनेह जड़तावस कहहू॥८॥

दोहा—कैकेई सुव कुटिल मति, रामविमुख गत लाज।
तुम्ह चाहत सुख मोहवस, मोहि से अधम के राज ॥१७८॥

कहउँ साँच सब सुनि पतियाहू। चाहिय धरमसील नरनाहू ॥१॥
मोहि राज हठि देइहहु जबहीं। रसा रसातल जाइहि तबहीं ॥२॥

शब्दार्थ—रसा=पृथिवी। रसातल=पुराणानुसार पृथिवी के नीचे के सात लोकों में से छठा लोक। रसातल पहुँचाना=नष्ट करना—ऐसा मुहावरा है।

अर्थ—मुझे राजा बनाकर अपनी भलाई चाहते हैं, यह भी आप मेरे प्रति स्नेह की जड़ता के वश होकर कह रहे हैं ॥८॥ कैकयी का पुत्र, कुटिल बुद्धि, रामविमुख और निर्लज्ज—ऐसे मुझ अधम के राज्य में आपलोग मोह-वश सुख चाहते हैं ॥१७८॥ मैं सत्य कहता हूँ, आप सब सुनकर विश्वास करें, धर्मात्मा (धर्मिष्ठ) को राजा होना चाहिये ॥१॥ आप लोग ज्योंही हठ करके मुझे राज्य देंगे; (अर्थात् मैं अपने वशभर तो लूँगा नहीं) त्योंही पृथिवी रसातल को चली जायगी; अर्थात् ऐसे पापी के भार को न सह सकेगी। भाव यह कि पृथिवी नष्ट हो जायगी ॥२॥

विशेष—(१) 'मोह सनेह जड़तावस…'—स्नेह और वैर दोनों जब अत्यन्त हो जाते हैं, तब विवेक नहीं रह जाता; यथा—"तुलसी वैर सनेह दोउ, रहित विलोचन चारि। सुरा सेवरा आदरहिं, निंदहिं सुरसरि बारि॥" (दोहावली ३२९)।

(२) 'कैकेई सुव कुटिल मति…'—मुझमें ये चार एवं अनेक दोष हैं, अतएव मैं अधम हूँ। ऐसे के राज्य में प्रजा को सुख नहीं हो सकता; यथा—"चढ़े बघूरे चंग ज्यों, ज्ञान ज्यों सोक समाज। करम-धरम सुख संपदा, त्यों जानिबे कुराज॥" (दोहावली ५१३)। "धरनि धेनु चारितु चरति, प्रजा सुबच्छ पन्हाइ।" (दोहावली ५१२)। अधर्मी राजा के पाप से प्रजा पर दुकाल आदि आपत्तियाँ पड़ती हैं, इसलिये मंत्री आदि को चाहिये कि ऐसे को राजा न बनावें।

'कैकेई सुव'—जिसने श्रीरामजी को वन दिया और पिता के प्राण लिये, उसी का मैं पुत्र हूँ। कैकेई कुटिल मति, राम विमुखा और निलज्जा है, तो उसके दोष मुझमें भी हैं ही; क्योंकि कारण के गुण कार्य में आते ही हैं।

(३) 'रसा रसातल जाइहि तबहीं'—राजापुर की प्रति में पहले 'रसा' पाठ लिखा गया है, फिर उसे काटकर हरताल देकर 'राजु' पाठ दिया गया है, परन्तु विचारने से यह किसी अनभिज्ञ का संशोधन है, जो रसा का अर्थ ही न जानता था। 'राजु' शब्द से बिना प्रयोजन पुनरुक्ति दोष आ जाता है और 'रसा' के रहने से वह दोष नहीं रहता और यमकालंकार भी आ जाता है; पुनः अर्थ-लाघव ता है ही।

मेरे लिये राज्य माँगा गया, इतने ही में कितने अनर्थ हो गये। जब हठात् राज्य दिया जायगा, तब तो मेरे भार से पृथिवी ही रसातल चली जायगी; यथा—"अतिसय देखि धरम कै हानी। परम सभीत धरा अकुलानी॥ गिरि सरि सिंधु भार नहिं मोही। जस मोहि गरुअ एक परद्रोही॥" (बा० दो० १८३)। यह रसा है; अतः अनरस न सह सकेगी। आगे दिखाते हैं कि इसी अनरस से राजा ने प्राण ही छोड़ दिये। अनरस है—श्रीरामजी का वन दिया जाना।

मोहि समान को पाप-निवासू। जेहि लगि सीयराम बनवासू ॥३॥
राय राम कहँ कानन दीन्हा। बिछुरत गमन अमरपुर कीन्हा ॥४॥
मैं सठ सब अनरथ कर हेतू। बैठ बात सब सुनउँ सचेतू ॥५॥
बिनु रघुबीर बिलोकि अवासू। रहे प्रान सहि जग उपहासू ॥६॥
राम पुनीत बिषयरस रूखे। लोलुप भूमि भोग के भूखे ॥७॥

शब्दार्थ—अवासू (सं० आवास)=घर।

अर्थ—मेरे समान कौन पाप का स्थान (महान् पापी) होगा कि जिसके कारण श्रीसीतारामजी को वनवास हुआ ॥३॥ राजा ने श्रीरामजी को वनवास दिया, उनके बिछुड़ते ही आप स्वर्ग को गये ॥४॥ मैं ही शठ सब अनर्थों का कारण हूँ, बैठा हुआ सावधानी से सब बातें सुन रहा हूँ ॥५॥ रघुवीर श्रीरामजी के बिना घर को देखकर जगत् में उपहास सहकर भी मेरे प्राण बने रहे ॥६॥ (ये प्राण) राम रूपी पवित्र विषय के रस से उदासीन हैं, लोलुप हैं, पृथिवी और विषयभोग के इच्छुक हैं ॥७॥

विशेष—(१) '*मैं सठ सब अनरथ कर हेतू।*'—*श्रीसीतारामजी का वन दिया जाना महान् पाप है,* इसका कारण मैं हूँ, फिर प्रतिज्ञाबद्ध होकर राजा ने श्रीरामजी को वनवास दिया और उसी ग्लानि से उन्होंने तुरत प्राण छोड़ दिये। इसका भी हेतु मैं ही हूँ। इतने अनर्थ मेरे कारण हुए। इसपर मुझे मृत्यु की कौन कहे, मूर्च्छा भी नहीं आई; किंतु सब बातें सावधान बैठा सुन रहा हूँ; अतएव शठ हूँ।

(२) 'सहि जग उपहासू'—जगत् हँसता है और हँसेगा कि एक पुत्र श्रीरामजी हुए कि पिता के वचन सत्य करने और छोटे भाई भरत के राज्य प्राप्त होने के लिये वन को गये और एक पुत्र भरत भी है कि जिसके कारण पिता ने प्राण छोड़ दिये और बड़े भाई श्रीरामजी वन की बड़ी विपत्ति उठा रहे हैं, फिर भी यह शठ राज्य भोगने के लिये जीता-जागता बैठा है।

(३) 'राम पुनीत विषय रस…'—जगत् का उपहास सहकर भी प्राण क्यों रहे, इस का कारण कहते हैं कि ये रामरूपी पवित्र विषय रस (श्रीराम-भक्ति) के रूखे हैं, लोलुप हैं और भूमि-भोग के भूखे हैं, इसी से शरीर में बने हैं।

कहँ लगि कहउँ हृदयकठिनाई। निदरि कुलिस जेहि लही बड़ाई ॥८॥

दोहा—कारन ते कारज कठिन, होइ दोष नहिं मोर।
कुलिस अस्थि ते उपल ते, लोह कराल कठोर ॥१७९॥

कैकेई-भव तनु अनुरागे। पाँवर प्रान अघाइ अभागे ॥१॥
जौं प्रियबिरह प्रान प्रिय लागे। देखब सुनब बहुत अब आगे ॥२॥

अर्थ—अपने हृदय की कठोरता कहाँ तक कहूँ कि जिसने वज्र का निरादर करके बड़ाई पाई है; अर्थात् यह वज्र से भी कहीं अधिक कठोर है ॥८॥ कारण से कार्य कठोर होता है, इसमें मेरा दोष नहीं, हड्डी से वज्र और पत्थर से लोहा घोर कठोर होता है ॥१७९॥ कैकेयी से उत्पन्न हुए शरीर में अनुराग रखनेवाले नीच प्राण अभाग्य से अब अघायँ ॥१॥ जो प्यारे के विरह दुःख में भी प्राण अधिक प्रिय लगे हैं, तो अब आगे हम और भी बहुत कुछ देखें-सुनेंगे ॥२॥

विशेष—(१) 'कहँ लगि कहउ हृदय···'—मेरा हृदय वज्र से भी अधिक कठोर है, क्योंकि राजा वज्र को भी सह लेते थे; यथा—"सूल कुलिस असि अँगवनि हारे।" (दो० १४); वे श्रीराम वियोग को न सह सके और मुझको मूर्च्छा भी न आई, यथा—"राय राम कहँ कानन दीन्हा।···मैं सठ सब अनरथ-कर हेतू। बैठि बात सब सुनउँ सचेतू॥" ये प्रमाण ऊपर कहे गये।

(२) 'कारन ते कारज कठिन···'—दधीचि की हड्डी से वज्र हुआ, पर वज्र हड्डी से अधिक कठोर होता है। पत्थर से लोहा होता है, लोहा पत्थर से अधिक कठोर होता है; क्योंकि लोहे की टाँकी से पत्थर काटा जाता है। इसी प्रकार मैं कैकेयी से पैदा हुआ, तो उसके हृदय से मेरा हृदय अधिक कठोर होना ही चाहिये; तब कठोरता के विषय में हृदय का क्या दोष?

(३) 'कैकेई-भव तनु···'—भाव यह कि कैकेयी से उत्पन्न शरीर पर इन नीच प्राणों की ममता है, इसीसे ये भर पूर अभागे हैं; अर्थात् इस शरीर को छोड़ देते, तो भाग्यशाली कहाते। राजापुर की प्रति में पुरानी लिपि के अनुसार 'र' और 'न' में बहुत ही कम अंतर है। इसीसे 'पावर' को 'पावन' पढ़ा जाना सहज है। इसी से 'पाँवर प्रान' का 'पावन प्रान' पाठांतर हो गया है। 'पावन' शब्द से अर्थ में बहुत अड़चन है।

(४) 'देखब सुनब बहुत अब आगे'—अभी तक जो देखा है, उसे आगे—"लखन राम सिय कहँ···" से "कीन्ह कैकेई सब कर काजू॥" तक में कहते हैं। पुनः आगे १४ वर्ष में अभी बहुत कुछ देखूँगा। यह अनुमान से निश्चय करते हैं।

लखन - राम - सिय कहँ बन दीन्हा। पठइ अमरपुर पतिहित कीन्हा ॥३॥
लीन्ह बिधवपन अपजस आपू। दीन्हेउ प्रजहि सोक संतापू ॥४॥
मोहि दीन्ह सुख सुजस सुराजू। कीन्ह कैकई सब कर काजू ॥५॥
येहि ते मोर काह अब नीका। तेहि पर देन कहहु तुम्ह टीका ॥६॥

अर्थ—श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी को वन दिया, स्वर्ग भेजकर पति का हित किया ॥३॥ विधवापन (रँड़ापा) और अपयश आप (स्वयं) लिया, प्रजा को शोक और संताप (दुःख) दिया ॥४॥ मुझे सुख, सुयश और सुन्दर राज्य दिया—इस तरह कैकेयी ने सबका काम किया ॥५॥ अब इससे बढ़कर मेरा और क्या भला होगा? उसपर भी आप लोग राज्यतिलक देने को कहते हैं ॥६॥

विशेष—(१) गुरुजी ने—"असविचारि केहि देइय दोषू। ब्यर्थ काहि पर कीजिय रोषू॥" (दो० १७१) से कैकेयी को निर्दोष ठहराया था, उसीका निराकरण करते हुए श्रीभरतजी कैकेयी के दोष दिखाते हैं कि जिन-जिन दोषों को उसने किया है।

(२) 'मोहि दीन्ह सुख सुजस सुराजू।'—यह कथन व्यंग है।

'सब कर काजू' कहने में श्रीजनकजी का ह्रास होना आदि भी आ गये। (गुप्तार्थ में देवताओं के कार्य, वनवासियों के हित और राक्षसों की सद्गति आदि भी आ जाती हैं)।

आगे कहा जायगा—"घालेसि सब जग बारह बाटा।" (दो० २११); तब यहाँ के कहे हुए बारह प्रकार के कैकेयी के कर्त्तव्य भी मार्ग (बाहर बाट) में गिने जायँगे। जैसे—(१) श्रीरामजी को वन का मार्ग (२) श्रीसीताजी को वन (३) श्रीलक्ष्मणजी को वन (४) श्रीदशरथजी को अमरपुर (स्वर्ग) (५) अपनेको विधवापन (६) और अपयश (७) प्रजा को शोक (८) और संताप (९) मुझको सुख (१०) सुयश (११) और सुराज (१२) सबका कार्य।

(३) 'येहि ते मोर काह अब नीका'—सब तो कैकेयी ने ही कर दिया, और अधिक मेरी कौन-सी भलाई हो सकती है, उसपर भी आप लोग राज्य-तिलक देने को कहते हैं; अर्थात् उन सब नीकों बातों से यह अधिक है; क्योंकि इससे मेरे शिर में कलंक का टीका लगेगा कि ऐसे अनर्थ का राज्य इसने लिया यह मेरी स्वामि-विमुखता होगी।

कैकइजठर जनमि जग माहीं। यह मोहि कहँ कछु अनुचित नाहीं ॥७॥
मोरि बात सब बिधिहि बनाई। प्रजा पाँच कत करहु सहाई ॥८॥

दोहा—ग्रहग्रहीत पुनि बातबस, तेहि पुनि बीछी मार।
तेहि पिआइय बारुनी, कहहु काह उपचार ॥१८०॥

शब्दार्थ—ग्रहग्रहीत=ग्रहों से ग्रस्त हुआ, ग्रहों के फेर में पड़ा हुआ। बात=सन्निपात, वात रोग। उपचार=चिकित्सा, दवा, विधान, प्रयोग, व्यवहार आदि।

अर्थ—कैकेयी के गर्भ से जन्म लेकर जगत् में यह मेरे लिये कुछ अनुचित नहीं है ॥७॥ मेरी बात तो सब ब्रह्माजी ने ही बना दी है। फिर प्रजा और पंच क्यों मेरी सहायता कर रहे हो? ॥८॥ जो (क्रूर) ग्रहों से ग्रस्त हो, पुनः वात (सन्निपात) रोग के वश हो और फिर उसे बिच्छी मार दे, उसे यदि मदिरा पिलाइये, तो भला बतलाइये कि यह कौन दवा है? (अर्थात् वह तो मर ही जायगा) ॥१८०॥

विशेष—(१) 'कैकइजठर जनमि जग···'—टीका देकर मुझे अधर्मी बनाना चाहते हो, जिससे जगत् में अपयश होगा, वह मेरे लिये मरण के तुल्य है। जब मैंने कैकेयी के गर्भ से जन्म लिया है तब (यह) मेरे योग्य ही है।

(२) 'मोरि बात सब बिधिहि···'—उपर्युक्त अनर्थ ब्रह्मा पर डालते हैं। पुनः गुरुजी पर कटाक्ष भी है कि आपके पिता ने ही मेरे लिये बहुत-कुछ सज दिया है, आप अब मरे हुए को क्या मारते हैं। 'कत करहु सहाई' में व्यंग है कि इतना ही बहुत है, गिरते हुए को और धक्का क्यों देते हो?

(३) 'ग्रहग्रहीत पुनि बातबस···'—यह दशा श्रीभरतजी अपने में कह रहे हैं कि दुःख-पूर्ण माताओं का दुःख मुझे ग्रहों की तरह पकड़े हुए हैं। ग्रह बहुत हैं, वैसे माताएँ भी बहुत हैं। इनका दुःख यथा—"देखि न जाहिं बिकल महतारी।" (दो० २६१); "को तिभुवन मोहि सरिस अभागी। गति असि तोरि मातु जेहि लागी॥" (दो० १६३); श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी को वनवास का

दुःख मुझे वात, पित्त, कफ के प्रकोपवाले सन्निपात की तरह है और पिता का मरण बिच्छी मारने के समान दुःखद है। बिच्छी के मारने पर तुरत विष चढ़ता है, वैसे पिता का मरण सुनते ही श्रीभरतजी विषाद के वश हो गये। किंतु वह थोड़े समय में उतर जाता है, वैसे इन्हें राम वन-गमन सुनते ही वह भूल गया—"भरतहिं बिसरेउ पितु मरन, सुनत राम बन गौन।" (दो० १६०); सन्निपात से जान बचना कठिन हो जाता है। वैसे इन्हें श्रीराम-वन-गवन के दुःख में जीना कठिन है; यथा—"गूढ़ सनेह भरत मन माहीं। रहे नीक मोहि लागत नाहीं॥" (दो० २८३); "जाय जीव बिनु देह सुहाई। बादि मोरि सब बिनु रघुराई॥" (दो० १७७)।

उसपर आप लोग राज्य-तिलक देकर मानों वारुणी (मदिरा) पिला रहे हैं; यथा—"केहि न राज-मद दीन्ह कलंकू।" (दो० २२८); "सब ते कठिन राज-मद भाई॥ जो अचवत मातहिं नृप ···" (दो० २३०); उक्त तीन दुःखों से तो यों ही मैं मरे हुए के समान हो रहा हूँ, उसपर भी आपलोग मुझे राज्य-मद से सुखी किया चाहते हैं जो मेरे मरने का उपाय है; अर्थात् इससे मुझे अपयश होगा और मैं राम-विमुख हूँगा, ये दोनों मरण से भी अधिक दुःख हैं; यथा—"संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥" (दो० ६४); "बिष्णु बिमुख ··जीवत सव सम चौदह प्रानी॥" (लं० दो० ३०); (यहाँ विष्णु-विमुख से राम-विमुख का तात्पर्य है, क्योंकि ये तत्त्वतः अभेद हैं।)।

कैकइसुवन जोग जग जोई। चतुर बिरंचि दीन्ह मोहि सोई॥१॥
दसरथतनय राम लघु भाई। दीन्हि मोहि बिधि बादि बड़ाई॥२॥
तुम्ह सब कहहु कढ़ावन टीका। रायरजायसु सब कहँ नीका॥३॥
उतर देउँ केहि बिधि केहि-केही। कहहु सुखेन जथारुचि जेही॥४॥

शब्दार्थ—कढ़ावन टीका = तिलक कराना। सुखेन = सुख पूर्वक।

अर्थ—कैकेयी के पुत्र के योग्य जगत् में जो कुछ है, चतुर ब्रह्मा ने मुझे वही दिया॥१॥ (परन्तु) श्रीदशरथ महाराज का पुत्र और श्रीरामजी का छोटा भाई (होना) यह बड़ाई ब्रह्मा ने मुझे व्यर्थ ही दी; अर्थात् कैकेयी के पुत्र को ये दोनों गौरव योग्य नहीं हैं॥२॥ आप सब लोग मुझे राज्य-तिलक कराने को कहते हैं, राजा की आज्ञा का पालन करना (अर्थात् मेरा राज्य करना) सबको अच्छा लगता है॥३॥ (जब सबको यही भला लगता है) तब मैं अकेला किस-किस को और किस प्रकार से उत्तर दूँ। अतः जिसकी जैसी रुचि हो, वह सुख-पूर्वक कहे (अर्थात् मैं अब किसीको जवाब न दूँगा)॥४॥

विशेष—(१) 'कैकइ सुवन जोग···'—कैकेयी के पुत्र में जो-जो बातें चाहिये। चतुर ब्रह्मा ने वे सब बातें मुझमें ठीक सजाई हैं। अर्थात् कुल-कलंकी, गुरुस्वामि-द्रोही, बंधु-विरोधी और निर्लज्ज होना मुझे युक्त ही है। यहाँ ब्रह्मा को 'चतुर' और 'बिरंचि' दो विशेषण दिये हैं और आगे—'दसरथ तनय राम लघु भाई।' बनाने के सम्बन्ध में ऐसा कोई विशेषण नहीं दिया; क्योंकि वहाँ तो वे भूल गये हैं। 'दीन्हि मोहि बिधि बादि बड़ाई'—भाव यह कि ब्रह्मा के उपर्युक्त विधान से ये दोनों बातें विरुद्ध हैं। व्यंग से यह भी जनाते हैं कि ये दोनों सम्बन्ध मुझे कुलकलंकी आदि न होने देंगे। अन्यथा मैं तो उसी योग्य था।

'जोई' का दूसरा अर्थ 'देखकर' है, तदनुसार यह भी अर्थ हो सकता है कि ब्रह्मा ने सारे जगत् में देखकर मुझे ही कैकेयी का पुत्र होने योग्य पाया, तब ठीक-ठीक वैसा ही मुझे (एवं मुझमें वैसा ही सब) रचा, इसमें उनके चातुर्य की प्रशंसा है; पर आगे की दो बातें देने में वे चूक गये हैं।

(२) 'रायरजायसु सब कहँ नीका।'; यथा—"करहु राज रघुराज-चरन तजि, लै लटि लोग रहा है।" (गी० अ० ६४)। 'कहहु सुजेन···' अर्थात् अब कोई कुछ न कहे; यथा—"राम सपथ कोउ कछु कहै जनि, मैं दुख दुसह सहा है।" (गी० अ० ६४)।

मोहि कुमातु समेत बिहाई। कहहु कहिहि के कीन्हि भलाई ॥५॥
मो बिनु को सचराचर माहीं। जेहि सियराम प्रानप्रिय नाहीं ॥६॥
परम हानि सब कहँ बड़ लाहू। अदिन मोर नहिं दूषन काहू ॥७॥
संसय-सील-प्रेम-बस अहहू। सबइ उचित सब जो कछु कहहू ॥८॥

दोहा—राममातु सुठि सरल चित, मोपर प्रेम बिसेखि।
कहइ सुभाय सनेहबस, मोरि दीनता देखि ॥१८१॥

अर्थ—कुमाता के साथ मुझे छोड़कर कहिये तो, कौन ऐसा कहेगा कि यह भला काम किया गया है ॥५॥ मेरे बिना चराचर जगत् में ऐसा कौन है जिसे श्रीसीतारामजी प्राणों से प्यारे नहीं हैं ॥६॥ जिसमें मेरी बड़ी भारी हानि है, उसी में सबको बड़ा लाभ सूझ रहा है, यह मेरे दुर्दिनों का फेर है। किसी का दोष नहीं ॥७॥ आपलोग संशय, शील और प्रेम के वश हैं। (इससे) आप सब जो कुछ कहें, वही उचित है ॥८॥ श्रीरामजी की माता अत्यन्त सरल चित्त हैं और मुझपर उनका बड़ा प्रेम है। इससे वे मेरी दीनता देखकर स्वाभाविक प्रेम के वश होकर ऐसा कहती हैं ॥१८१॥

विशेष—(१) 'मोहि कुमातु समेत बिहाई।···'—पूर्व कहा था—'उतर देउ केहि बिधि····' अर्थात् सबके वचन अयोग्य हैं; अतएव मैं न बोलूँगा, उसीको स्पष्ट करते हैं कि श्रीरामजी का राज्य ग्रहण करने पर मुझे संसार में कोई भला नहीं कहेगा, केवल मुझको और मेरी माता को छोड़कर। इसका कारण आगे कहते हैं—

(२) 'मो बिनु को सचराचर···'; यथा—"जगदातमा प्रानपति रामा।" (लं० दो० ११); "ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी।" (बा० दो० २१५); सबके प्राण-प्रिय का राज्य मैंने अपहरण कर लिया, तो मुझे कोई क्यों भला कहेगा। माता समेत मुझको वे अप्रिय हैं, इसीलिये इसको मैं दोनों भला कहूँगा।

(३) 'परम हानि सब कहँ···'—राज्य लेने से मैं स्वामि-द्रोही हूँगा, यह मेरी परम हानि है और उसीमें सब कोई अपना बड़ा कार्य मान रहे हैं। किसी का दोष नहीं, मेरे दिनों का फेर है। स्वामी श्रीरामजी की सम्मुखता सुदिन है और विमुखता ही दुर्दिन है; यथा—"दिन दुरदिन, दिन दुरदसा, दिन दुख, दिन दूषन। जब लौं तू न बिलोकिहै रघुबंस-बिभूषन ॥" (वि० १४१) वा, राजा का मरण, और श्रीरामजी का वन-गमन आदि अनर्थ जिस मेरे राज्य के लिये हो गये, वही मेरा राज्य-तिलक सबको परम लाभ सूझ रहा है, यह मेरे दुर्दिन का फल है।

(४) 'संसय-सील-प्रेम-बस···'—'संशय' के दो अर्थ होते हैं—(१) अनिश्चयात्मक ज्ञान, जैसा कि मंत्रियों ने कहा है; यथा—"रघुपति आये उचित जस, तब तस करब बहोरि ॥" (दो० १७५); अर्थात् गुरुजी ने तो साफ कहा कि श्रीरामजी के आने पर राज्य उन्हें देकर सेवा करना ; पर मंत्री लोगों को संशय था कि संभवतः तब तक इनकी राज्य-भोग की इच्छा हो जाय, इसलिये ऐसा कहा। (२) डर अर्थ है। तदनुसार वाल्मी० २।६७ में विस्तार से मन्त्रियों ने कहा है—राजा के स्वर्ग-वास होने पर मंत्री लोग एकत्र हुए और डरे कि इक्ष्वाकु वंशियों में से किसी को शीघ्र राजा बनाया जाय, नहीं तो अराजकता से सब प्रजा नष्ट हो जायगी, तब वशिष्ठजी ने श्रीभरतजी के बुलाने को कहा है। उस दृष्टि से भी आपलोग शीघ्र राजा बनाने की चेष्टा करते हैं। 'सील'—यह कि राजा इन्हें राज्य दे गये हैं। कैसे कहा जाय कि तुम राज्य न लो, श्रीरामजी ही राजा हों। 'प्रेम' से हमारा हित भी चाहते हैं। इन तीनों की विशेषता में विचार नहीं रहता ; यथा—"अस संसय मन भयो अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा ॥" (बा० दो० ५०); "कह मुनि राम सत्य तुम भाषा। भरत सनेह विचार न राखा ॥ तेहि ते कहउँ बहोरि बहोरी। भरत भगति बस भइ मति मोरी ॥" (दो० २५७); अर्थात् आपलोग संशय आदि के वश होकर कह रहे हैं। अतः, आपका दोष नहीं है।

(५) 'राम मातु सुठि सरल ···'—श्रीरामजी सरल-स्वभाव के हैं, तो उनकी माता की प्रकृति वैसी होनी ही चाहिये। दीनता यह कि पिता स्वर्ग गये और भाई श्रीरामजी वन को गये; ऐसे पर दया करनी ही चाहिये। पर विशेष स्नेह भी दूषित है ; ऐसा लट्टू होना भी न चाहिये कि परिणाम में मेरा अहित हो।

गुरु बिबेक - सागर जग जाना। जिन्हहि बिस्व कर-बदर-समाना ॥१॥
मो कहँ तिलकसाज सज सोऊ। भये बिधि बिमुख बिमुख सब कोऊ ॥२॥
परिहरि रामसीय जग माहीं। कोउ न कहिहि मोर मत नाहीं ॥३॥
सो मैं सुनब सहब सुख मानी। अंतहु कीच तहाँ जहँ पानी ॥४॥

अर्थ—गुरुजी ज्ञान के समुद्र हैं। यह सारा संसार जानता है। जिनके लिये जगत् हथेली पर रक्खे हुए बेर के समान है ; अर्थात् संसार की तीनों काल की सभी बातें जानते हैं ॥१॥ वे भी मेरे लिये *तिलक का साज सजा रहे हैं। (सच है) विधाता के प्रतिकूल होने पर सभी कोई प्रतिकूल हो जाते* हैं ॥२॥ श्रीसीतारामजी को छोड़कर जगत् में कोई भी न कहेगा कि (कैकेयीजी के कर्त्तव्य में) मेरा मत नहीं था ॥३॥ उसे मैं सुख-पूर्वक सुनूँगा और सहूँगा ; क्योंकि जहाँ पानी होता है वहाँ अंत में कीचड़ होता ही है ॥४॥

विशेष—(१) 'गुरु बिबेक-सागर···'—बेर कुपथ्य है। वसिष्ठजी जगत् को सर्वात्मना जानते हैं तो भी उसे कुपथ्य-दृष्टि से हेय समझते हैं। वे भी जगत् का ऐश्वर्य देकर मुझे राम-विमुख करना चाहते हैं ; अत, प्रतिकूल हो रहे हैं। इसका कारण विधि की प्रतिकूलता कहते हैं; यथा—"भरद्वाज सुनु जाहि जब होइ बिधाता बाम। धूरि मेरु सम जनक जम, ताहि ब्याल सम दाम ॥" (बा० दो० १७५); भाव यह कि विधि इनके पिता प्रतिकूल हैं, तो इन्हें भी पिता के मार्ग पर होना ही चाहिये। माता ने कहा था—"पूत पथ्य गुरु आयसु अहई।" (दो० १७५); उसका यह उत्तर भी है कि पथ्य नहीं, किंतु कुपथ्य है।

(२) भरद्वाजजी के विषय में जगत् के तीनों काल जानने में आँवले की तरह कहा है; यथा—"करतल`गत आमलक-समाना।" (बा० दो० २१); क्योंकि वे कर्म-घाट के श्रोता हैं। उनकी दृष्टि में निष्काम कर्म-रीति से जगत् पथ्य भी है। पर यहाँ तो श्रीभरतजी इसे कुपथ्य-दृष्टि से देखते हैं। वैसा ही कहा भी है; यथा—"ततः पश्यति धर्मात्मा तत्सर्वं योगमास्थितः। पुरो यत्तत्र निर्वृत्तं पाणावामलकं यथा॥" (वाल्मी० १।३।६)।

यहाँ व्यंग से गुरुजी पर कटाक्ष भी है; यथा—"विललाप सभामध्ये जगर्हे च पुरोहितम्॥" (वाल्मी० २।८२।१०); अर्थात् श्रीभरतजी सभा में विलाप करने और पुरोहित वसिष्ठजी की निन्दा करने लगे। यहाँ श्रीभरतजी का अभिप्राय यह है कि गुरुजी को ऐसा न चाहिये कि जिसमें मैं श्रीरामजी से विमुख होऊँ।

(३) 'परिहरि रामसीय'''अंतहु कीच''''''—श्रीभरतजी को यह अटल विश्वास है कि श्रीसीतारामजी अंतर्यामी हैं और वे सुशीलता की मूर्त्ति हैं। अतः, वे ही मेरा सम्मत भले ही' न कहेंगे, पर जगत् तो कहेगा ही कि माता की कुटिल करनी में मेरा सम्मत था। यथा—"एक भरत कर संमत कहहीं।" (दो० ४०); यह लोक-निन्दा मुझे सहनी ही पड़ेगी, मुझे बुरा मानने का अवकाश नहीं है; क्योंकि सब उत्पात मेरे लिये हुआ और इसीसे मुझे यह अनर्थ-मूलक राज्य-तिलक भी लेने को कहा जाता है। जहाँ दोष होता है, वहाँ अपयश भी होता है। जसे कि कहावत है कि जहाँ पानी रहता है, वहाँ अंत में कीचड़ होता ही है।

परम पवित्र हृदयवाले श्रीभरतजी यद्यपि निर्दोष हैं, तथापि लोक-दृष्टि-सुधार के लिये महान् प्रयास कर रहे हैं; क्योंकि मनुष्य का जीवन केवल वैयक्तिक न होकर सामाजिक होना चाहिये; अर्थात् लोक-दृष्टि में भी उसका चरित आदर्श होना चाहिये, जिससे लोक-शिक्षा हो।

डर न मोहि जग कहहि कि पोचू। परलोकहु कर नाहिन सोचू॥५॥
एकइ उर बस दुसह दवारी। मोहि लगि भे सियराम दुखारी॥६॥
जीवन-लाहु लखन भल पावा। सब तजि रामचरन मन लावा॥७॥
मोर जनम रघुबर-बन लागी। झूठ काह पछिताउँ अभागी॥८॥

दोहा—आपनि दारुन दीनता, कहउँ सबहि सिर नाइ।
देखे बिनु रघुनाथपद, जिय कइ जरनि न जाइ॥१८२॥

अर्थ—मुझे यह डर नहीं है कि जगत् मुझे बुरा कहेगा और न परलोक ही का शोच है॥५॥ हृदय में एक यही असह्य दावाग्नि बस रही है कि मेरे कारण श्रीसीतारामजी दुखी हुए॥६॥ जीवन का लाभ श्रीलक्ष्मणजी ने पाया है कि सब छोड़कर श्रीरामजी के चरणों में मन लगाया है॥७॥ मेरा जन्म तो रघुकुल-श्रेष्ठ श्रीरामजी के वन-गमन के लिये हुआ, (तो) मैं अभागा झूठ ही क्या पछताता हूँ?॥८॥ सबको शिर नवाकर मैं अपनी कठिन दीनता कहता हूँ कि बिना श्रीरघुनाथजी के चरणों को देखे मेरे जी की जलन नहीं जायगी॥१८२॥

विशेष—(१) 'डर न मोहि जग······'—जगत् कहेगा कि पृथिवी-भर का राज्य मिलता था, इससे लेते न बना; अतः, यह मंदमति है। परलोक इससे बिगड़ेगा कि जो माता-पिता की आज्ञा नहीं मान रहा हूँ। मुझे इसका डर नहीं है, किन्तु—

(२) 'एकइ उर बस······'—दावानल समुद्र में रहकर समुद्र को जलाया करता है, वैसे ही यह दावानल हृदय-सिंधु को जलाता है।

(३) 'जीवन-लाहु लखन भल······'; यथा—"अहह धन्य लछिमन बड़ भागी। रामपदारविंद अनुरागी॥" (७० दो० १); 'लखन' अर्थात् उन्होंने लख लिया कि जीवन-लाभ यही है; यथा—"गुरु पितु मातु न जानउँ काहू।···जहँ लगि जगत सनेह सगाई।···मोरे सबइ एक तुम स्वामी।" (दो० ७१); तथा—"पावन प्रेम राम-चरन जनम लाभ परम।" (वि० १३१)।

(४) 'आपनि दारुन दीनता······'—श्रीभरतजी प्रथम कह आये—"मोहि अनुहरत सिखावन देहू।" (दो० १७९); अब अपना रोग और उसकी दवा स्वयं कहते हैं। 'सिरनाइ'—यह प्रणाम क्षमापन के लिये है, क्योंकि उन सबकी सम्मति के विरुद्ध कहना है।

आन उपाय मोहि नहिं सूझा। को जिय कै रघुबर बिनु बूझा॥१॥
एकहि आँक इहइ मन माहीं। प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं॥२॥
जद्यपि मैं अनभल अपराधी। भइ मोहि कारन सकल उपाधी॥३॥
तदपि सरन सनमुख मोहि देखी। छमि सब करिहहिं कृपा बिसेषी॥४॥

अर्थ—मुझे और उपाय नहीं सूझता, बिना रघुबर के हृदय की बात कौन जान सकता है?॥१॥ एक यही निश्चय मन में है कि प्रातःकाल प्रभु के पास चलूँगा॥२॥ यद्यपि मैं बुरा और अपराधी हूँ, क्योंकि मेरे ही कारण सब उपद्रव हुए हैं॥३॥ तथापि मुझे शरणागत और सम्मुख देखकर मेरे सब अपराध क्षमा करके स्वामी मुझपर विशेष कृपा करेंगे॥४॥

विशेष—(१) 'आन उपाय मोहि······'—यही एकमात्र उपाय है, 'रघुबर' शब्द का अर्थ अंतर्यामी श्रीरामजी का है; यथा—"रघुबर सब उर अंतरजामी।" (बा० दो० ११८)। क्योंकि जब वसिष्ठ आदि महर्षि न जान सके, तो अंतर्यामी ही जान सकता है।

(२) 'प्रभु पाहीं'—वे प्रभु अर्थात् समर्थ हैं, वे यह रोग छुड़ा देंगे। दूसरे ने तो इस रोग को जाना ही नहीं, तो वे उपाय क्या करेंगे?

(३) 'कृपा बिसेषी'—यों तो सदा ही कृपा करते हैं, अब शरण में आया हुआ जानकर विशेष कृपा करेंगे; यथा—"निजपन तजि राखेउ पनु मोरा। छोहु सनेहु कीन्ह नहिं थोरा॥" (दो० २६५); "प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्ही।" (दो० ३१५)।

सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ। कृपा-सनेह-सदन-रघुराऊ॥५॥
अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा। मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा॥६॥

तुम्ह पै पाँच मोर भल मानी। आयसु आसिष देहु सुबानी ॥७॥
जेहि सुनि बिनय मोहि जन जानी। आवहिं बहुरि राम रजधानी ॥८॥

दोहा—जद्यपि जनम कुमातु ते, मैं सठ सदा सदोस।
आपन जानि न त्यागिहहिं, मोहि रघुबीर भरोस ॥१८३॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी शीलवान्, संकोची और अत्यन्त सीधे स्वभाववाले हैं, वे कृपा और स्नेह के तो स्थान ही हैं ॥५॥ श्रीरामजी ने तो शत्रु का भी बुरा नहीं किया। मैं यद्यपि टेढ़ा हूँ, तथापि हूँ शिशु और सेवक ही। (मेरा दोष वे क्यों देखेंगे ?) ॥६॥ पर आप पंच निश्चय करके मेरा हित समझकर सुन्दर वाणी से आज्ञा और आशिष दें ॥७॥ जिससे मेरी प्रार्थना सुनकर और मुझे अपना दास जानकर श्रीरामजी राजधानी को लौट आवें ॥८॥ यद्यपि मेरा जन्म कुमाता से है और मैं दुष्ट सदा से दोषी हूँ, तथापि अपना जानकर वे मुझे न त्यागेंगे, मुझे रघुवीर श्रीरामजी का भरोसा है ॥१८३॥

विशेष—(१) 'सील सकुच सुठि···'—'सील'; यथा—"प्रभुतरु तर कपि डार पर, ते किय आपु समान। तुलसी कहूँ न राम से, साहिब सीलनिधान ॥" (बा॰ दो॰ २९); "साहिब होत सरोष, सेवक को अपराध सुनि, अपनेहु दोखे दोष, राम न सपनेहु उर धरेउ ॥" (दोहावली ४७); "सील सराहि सभा सब सोची। कहुँ न राम सम स्वामि सकोची ॥" (दो॰ ३१२); यह संकोच भी हद है। 'सुठि सरल सुभाऊ'; यथा—"राम कहा सब कौसिक पाहीं। सरल सुभाव छुआ छल नाहीं।" (बा॰ दो॰ २३९); पुनः कैकेयी के साथ सर्वत्र शील और सरलता उत्तम रीति से बर्ती गई है।

'कृपा-सनेह-सदन'; यथा—"को साहिब सेवकहि नेवाजी। आपु समाज साज सब साजी···" से "को कृपाल बिनु पालिहै, बिरुदावलि बरजोर ॥" (दो॰ २९९) तक। गीध को पिता और सबरी को माता से अधिक माना है; यह स्नेह की रीति का निर्वाह भी लोकोत्तर है।

(२) 'अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा'—पूर्व दो॰ ३१ चौ॰ ८ देखिये। 'मैं सिसु सेवक···'—फिर मैं तो बच्चा हूँ और सेवक हूँ, तो वे कैसे मेरा अहित करेंगे। वा, बचपन से सेवक हूँ, अब बाम हो गया हूँ तो क्या ?

(३) 'तुम्ह पै पाँच मोर···'—'पै' का अर्थ परन्तु और निश्चय होता है—(क) श्रीरामजी तो भला करेंगे, परन्तु आपलोग भी आज्ञा और आशिष से सहायता करें। (ख) आपलोग निश्चय-रूप से मेरा भला इसी में समझकर···।

(४) 'जद्यपि जनम कुमातु ते···'—इसमें 'रक्षिष्यतीति विश्वासः' शरणागति दिखाई गई है जो कि षट्शरणागति में तीसरी है। षट्-शरणागति—"आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा। आत्मनिक्षेपकार्पण्यं षड्विधा शरणागतिः ॥" यद्यपि श्रीरामजी लौटेंगे नहीं, तथापि इनका भरोसा निष्फल न होगा। पादुका को उनके प्रतिनिधि-रूप में लेकर ही लौटेंगे; यथा—"भरत मुदित अवलंब लहे ते, अस सुख जस सियराम रहे ते ॥" (दो॰ ३१५)। इसी से पादुका को ही सिंहासन पर पधराया। 'रघुबीर' शब्द यहाँ दया-वीरता एवं धर्म (शरणागत-रक्षण)-वीरता की दृष्टि से दिया गया है।

भरत बचन सब कहँ प्रिय लागे। राम - सनेह - सुधा जनु पागे ॥१॥
लोग बियोग - बिषम - बिष दागे। मंत्र सबीज सुनत जनु जागे ॥२॥
मातु सचिव गुरु पुर-नर-नारी। सकल सनेह बिकल भये भारी ॥३॥
भरतहिं कहहिं सराहि सराही। राम - प्रेम - मूरति तनु आही ॥४॥

शब्दार्थ—सबीज=बीज-सहित। प्रायः मंत्रों का आदि वर्ण विन्दु-सहित होकर बीज होता है। बीज-सहित मंत्र बड़ा प्रभावशाली होता है, बीज में मंत्र का मूल तत्व रहता है। जागे=चैतन्य हो गये। दागे=दग्ध हुए, जले हुए।

अर्थ—श्रीभरतजी के वचन सबको प्रिय लगे, मानों वे श्रीरामजी के स्नेह-रूपी अमृत में पगे हुए थे ॥१॥ सब लोग वियोग-रूपी विषम-विष से जले हुए थे, वे मानों बीज-सहित मंत्र के सुनते ही चैतन्य हो गये ॥२॥ माता, मंत्री, गुरु, पुरवासी स्त्री-पुरुष सभी स्नेह से भारी व्याकुल हो गये ॥३॥ और भरतजी को बखान-बखानकर उनसे कहते हैं कि आपका शरीर राम-प्रेम की मूर्ति है ॥४॥

विशेष—'भरत बचन सब कहँ प्रिय लागे।'—यह श्रीभरतजी के भाषण का उपसंहार है। इसका उपक्रम—"बचन अमिय जनु बोरि, देत उचित उत्तर सबहिं॥" (दो० १७६) है। 'प्रिय लागे' का कारण उत्तरार्द्ध में है—'राम-सनेह सुधा'''—अमृत सबको प्रिय लगता ही है। इस भाषण के उपक्रम और उपसंहार दोनों में अमृतवाची विशेषण हैं।

उपक्रम में कहा गया है—'देत उचित उत्तर सबहिं'—उत्तर अप्रिय होता है; यथा—"उतरु देत छाड़ौं बिनु मारे।'''" (बा० दो० २७४); "उत्तर प्रति उत्तर मैं कीन्हा। मुनि तन भये क्रोध के चीन्हा॥" (उ० दो० ११०); पर इन वचनों में राम-स्नेह ही ओत-प्रोत है। श्रीरामजी सबको प्रिय हैं, इससे यह सबको प्रिय लगा।

(२) 'लोग-वियोग-विषम'''—"एक तीक्ष्ण विष बदरिकाश्रम के पहाड़ों में होता है, जिसका स्पर्शित वायु कोसों तक जाता है, वह वायु शरीर में लगता है, तो शरीर टूटता-सा है, फिर एक तरह का अपूर्व सुख प्राप्त होता है। उसी समय यव का सत्तू और मधु मिलाकर खा ले, तो अच्छा हो जाय। अन्यथा वह मूच्छित होकर गिर पड़ता है। फिर उसे मंत्र से झाड़ना ही उपाय है। मंत्र—"गंगा गौरी ये दो रानी। ठोकर मारि करो विष पानी॥ गंगा घोटैं गौरा खाइ।" यह मंत्र सुनाये जाने से वह सचेत होता है।" (टीका बैजनाथ)। उसीका यहाँ रूपक है।

यहाँ श्रीराम-वियोग-रूपी विषम विष से लोग दग्ध थे। श्रीभरतजी ने कहा—"एकहि आँक इहै मन माहीं। प्रातकाल चलिहौं प्रभु पाहीं॥" यही सबीज मंत्र हुआ। इसीसे सब सचेत हुए। इनके वचन को अमृत की उपमा उपक्रम और उपसंहार में भी दी गई है, मंत्र की तरह जिलाना अमृत का ही कार्य है।

तात भरत अस काहे न कहहू। प्रान समान राम-प्रिय अहहू ॥५॥
जो पामर अपनी जड़ताईं। तुम्हहि सुगाइ मातुकुटिलाईं ॥६॥
सो सठ कोटिक-पुरुष-समेता। बसहि कलपसत नरक-निकेता ॥७॥
अहि-अघ-अवगुन नहि मनि गहई। हरइ गरल दुख दारिद दहई ॥८॥

दोहा—अवसि चलिय बन राम जहँ, भरत मंत्र भल कीन्ह।
सोकसिंधु बूड़त सबहि, तुम्ह अवलंबन दीन्ह ॥१८४॥

शब्दार्थ—सुगाइ = संदेह करना, अनुमान से दोष लगाना। कीन्ह = किया, विचारा।

अर्थ—हे तात श्रीभरतजी! तुम ऐसा क्यों न कहो? तुम श्रीरामजी को प्राणों के समान प्रिय हो ॥५॥ जो नीच अपने अज्ञान से तुमपर माता की कुटिलता का संदेह करके दोष लगावे ॥६॥ वह मूर्ख अपने करोड़ों पुरखों-सहित सैकड़ों कल्प तक नरक-रूपी घर में वास करेगा ॥७॥ सर्प का पाप और अवगुन मणि नहीं ग्रहण करता (प्रत्युत्) वह विष-दुःख और दारिद्र्य को जला डालता है॥८॥ हे भरतजी! अवश्य उस वन को चलिये, जहाँ श्रीरामजी हैं, तुमने अच्छा मंत्र (सलाह) विचारा है। शोक-समुद्र में डूबते हुए सबको तुमने सहारा दिया है ॥१८४॥

विशेष—(१) 'तात भरत अस ···'—यहाँ से दोहे तक गुरुजी के वचन हैं। 'प्रान समान राम प्रिय अहहू।'; यथा—"रामहिं बंधु सोच दिन राती। अंडन्हि कमठ हृदय जेहि भाँती ॥" (दो० ६); "तुम्ह पर अस सनेह रघुबर के। सुख जीवन जग जस जड़ नर के ॥" (दो० २०७); 'नरक निकेता' अर्थात् नरक ही उनका घर हो जायगा।

(२) 'अहि-अघ-अवगुन नहिं···'—सर्प में विष, मणि और पाप रूप हिंसा का कारण क्रोध रहता है। मणि विष के साथ ही रहता है, पर विष का दूषण उसमें नहीं आता, प्रत्युत् मणि को धोकर पिलावे, एवं घाव पर रक्खे तो सर्प के काटने का विष उतर जाता है। यहाँ कैकेयी सर्प है; यथा—"मानहुँ सरोष भुअंग भामिनि ··दोउ बासना रसना दसन बर···" (दो० २५)। उसने राजा को डसा, जिससे उनके शरीर-रूपी प्रजागण अचेत हुए और स्वयं उनके प्राण गये। कैकेयी का यह पाप तुमपर नहीं आ सकता, प्रत्युत् उसके विष की ज्वाला-रूपी राम-वियोग दुःख के हरण करनेवाले तुम मणि-रूप हो। सर्प-रूपा कैकेयी से उत्पन्न हो। मणि दरिद्रता को भी हरता है, वैसे यहाँ प्रजागण राम-रूपी धन से रहित हो रहे हैं; यथा—"मनहुँ बारि निधि बूड़ जहाजू। भयेउ बिकल बड़ बनिक समाजू ॥" (दो० ८५)। श्रीभरतजी उनके प्राप्त कराने को तत्पर हैं।

(३) 'जो पामर अपनी ···'—श्रीभरतजी पर दोषारोपण के प्रति यह गुरुजी का शाप है। इसपर यह शंका हो सकती है कि आगे निषादराज और श्रीलक्ष्मणजी ने भी तो शंका की है। उसके समाधान ये हैं। एक तो उनके कथन एवं कर्त्तव्य श्रीराम-भक्ति-रूप में है। दूसरे श्रीरामजी ने उद्धार का उपाय भी कहा है—"मिटिहहिं पाप प्रपंच सब, अखिल अमंगल भार। लोक सुजसु परलोक सुख, सुमिरत नाम तुम्हार ॥" (दो० २६३)। अर्थात् जैसे मणि विष हरता है, वैसे इन दोष को मणि-रूप श्रीभरतजी का नाम हरता है।

(४) 'सोक सिंधु बूड़त सबहिं···'—पहले सब शोक-समुद्र में डूबते हुए घबड़ा गये थे, अब सहारा पा सचेत हुए, तब कृतज्ञता-रूप में ऐसा कहते हैं। श्रीकौशल्याजी ने पहले ही राजा से कहा था—"धीरज धरिय त पाइय पारू। नाहि त बूड़िहि सब परिवारू॥" (दो० १५१)। उसपर राजा ने धैर्य नहीं धारण किया जिससे परिवार नष्ट होनेवाला था। इसका उद्धार इस दोहे में कहा गया है कि इसीसे सब बचे।

भा सब के मन मोद न थोरा। जनु घनधुनि सुनि चातक मोरा॥१॥
चलत प्रात लखि निरनय नीके। भरत प्रानप्रिय भे सबही के॥२॥
मुनिहि बंदि भरतहि सिर नाई। चले सकल घर बिदा कराई॥३॥
धन्य भरत जीवन जग माहीं। सील सनेह सराहत जाहीं॥४॥

अर्थ—सबके मन में थोड़ा आनंद नहीं हुआ; अर्थात् बहुत आनंद हुआ, जैसे मेघों के शब्द सुनकर चातक और मोर आनंदित होते हैं॥१॥ 'प्रातःकाल चलते हैं' यह निर्णय अच्छी तरह लखकर श्रीभरतजी सबके प्राण-प्रिय हो गये॥२॥ मुनि की वंदना करके और श्रीभरतजी को शिर नवाकर सब लोग विदा कराके घर गये॥३॥ (सब) श्रीभरतजी के शील और स्नेह की प्रशंसा करते जाते हैं और कहते हैं कि जगत् में श्रीभरतजी का जीवन धन्य है!॥४॥

विशेष—(१) 'भा सबके मन मोद न थोरा'—शोक-समुद्र में डूबने से बचे, श्रीरामजी की प्राप्ति की आशा हुई, इसे उपमा से बताते हैं—'जनु घनधुनि···'—यहाँ श्रीभरतजी मेघ, उनके शब्द—"प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं।" यह गर्जन ध्वनि, श्रीरामजी जल और सभा के लोग चातक-मोर हैं। श्रीराम-रूपी जल-प्राप्ति की आशा के सम्बन्ध से चातक, और इस वचन पर जो प्रसन्नता हुई और रोमांच-पुलक सहित आनंद से नाचने लगे, इससे मोर कहे गये। कहा भी है—"ये सेवक संतत अनन्य गति ज्यों चातकहिं एक गति घन की। अस बिचारि गवनहु पुनीत पुर हरहु दुसह आरति परिजन की।" (गी० अ० ७१); "बिहरहिं बन चहुँ ओर, प्रति दिन प्रमुदित लोग सब। जल ज्यों दादुर मोर, भये पीन···" (दो० २५१)। चातक-मोर दोनों मेघ के अनुरागी हैं, वैसे वे लोग श्रीभरतजी के अनुरागी हो गये।

(२) 'चलत प्रात लखि···'—प्रथम जो कहा गया—'एकहि आँक इहै···' उसीको यहाँ 'निरनउ नीके' कहा है; अर्थात् 'एकहि आँक' का अर्थ है—पक्का निर्णय। इसी पर सब भरतजी की सराहना करते और इनके जीवन को धन्य कहते हैं। श्रीभरतजी जब पहले ननिहाल से आये, तब इनसे कोई बोलता भी न था; यथा—'गवहिं जोहारहिं जाहिं' और अब भरतजी सबके प्राणप्रिय हो रहे हैं, क्योंकि पूर्व श्रीभरतजी के रामविरोधी होने की इन्हें शंका थी और अब राम-प्रेम सम्बन्ध की प्रीति है।

इस प्रथम दरबार के प्रसंग का उपक्रम—"सुदिन सोधि मुनिवर तब आये। सचिव महाजन सकल बोलाये॥ बैठे राज सभा सब जाई।···" पर हुआ था। यहाँ—"चले सकल घर बिदा कराई॥" पर उसका उपसंहार हुआ।

कहहिं परसपर भा बड़ काजू। सकल चलइ कर साजहिं साजू॥५॥
जेहि राखहिं रहु घर रखवारी। सो जानइ जनु गरदन मारी॥६॥
कोउ कह रहन कहिय नहिं काहू। को न चहइ जग जीवन लाहू॥७॥

दोहा—जरउ सो संपति सदन सुख, सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो रामपद, करइ न सहस सहाइ॥१८५॥

शब्दार्थ—गरदन मारी=गले पर छुरी चलाना, गला काटना—ये मुहावरे हैं; अर्थात् बड़ी हानि करना।

अर्थ—सब आपस में कहते हैं कि बड़ा कार्य हुआ, सभी चलने के समान सज रहे हैं॥५॥ जिसको रखते हैं कि रखवाली करने के लिये घर पर रहो, वह समझता है कि मानों मेरा गला काटा गया॥६॥ कोई-कोई कहते हैं कि किसी को घर रहने को न कहो, भला संसार में जीवन का लाभ कौन नहीं चाहता॥७॥ वह संपत्ति, घर, सुख, मित्र, माता, पिता और भाई जल जायँ (अर्थात् त्याज्य हैं) जो श्रीरामजी के चरण के सम्मुख होते हुए सहस्रों प्रकार से सहायता न करें॥१८५॥

विशेष—(१) 'कहहिं परसपर भा···'—बड़ा कार्य हुआ—श्रीभरतजी में कुटिलता का संदेह मिटा। श्रीरामजी के दर्शनों और उनके घर लौटने की आशा हुई। श्रीराम-वियोग रूपी बड़ी हानि गई। 'गरदन मारी'—अर्थात् श्रीरामशरण में बाधा करनेवाला भारी शत्रु है। 'जीवन लाहू'—श्रीरामजी में शुद्ध प्रेम ही जीवन का लाभ है; यथा—"पावन प्रेम राम चरन जनम लाभ परम" (वि० १३१)।

(२) 'जरउ सो संपति सदन····'; यथा—"गज बाजि घटा···जरि जाय सो जीवन जानकि नाथ रहै जग में तुम्हरो बिन ह्वै॥" (क० उ० ३१)। कहीं-कहीं 'सहस' के स्थान में 'सहज' पाठ भी मिलता है जिसका अर्थ है 'अकृत्रिम'।

इस दोहे में सात ही अर्द्धालियाँ हैं। जान पड़ता है—'भा सबके मन मोद न थोरा।' वर्णन साथ ग्रंथकार भी मोद में निमग्न हो गये; इससे भूल गये।

घर घर साजहिं बाहन नाना। हरष हृदय परभात पयाना॥१॥
भरत जाइ घर कीन्ह बिचारू। नगर बाजि गज भवन भँडारू॥२॥
संपति सब रघुपति कै आही। जौं बिनु जतन चलउँ तजि ताही॥३॥
तौ परिनाम न मोरि भलाई। पापसिरोमनि साइँ-दोहाई॥४॥

शब्दार्थ—दोहाई (द्रोहाई)=द्रोह करना, शपथ का अर्थ यहाँ ठीक नहीं जँचता।

अर्थ—लोग घर-घर अनेक प्रकार की सवारियाँ सज रहे हैं, सबके हृदय में हर्ष है कि सवेरे ही चलना है ॥१॥ श्रीभरतजी ने घर जाकर विचार किया कि नगर, घोड़े, हाथी, घर, भंडार (खजाना) आदि सब संपत्ति श्रीरघुनाथजी की है जो इसकी रक्षा का उपाय किये बिना, इसे छोड़कर चल दूँ ॥२-३॥ तो परिणाम में (अंत में, फलतः) मेरी भलाई नहीं है ; (क्योंकि) स्वामी से द्रोह करना पापों में शिरोमणि (अर्थात् महान् पाप) है ॥४॥

विशेष—(१) 'घर घर साजहिं···'—सभावालों से जानकर सब तुरत तैयारी करने लगे।

'हरष हृदय'—अब पूर्व का रंग ही पलट गया, श्रीरामजी के दर्शनों की लालसा है।

(२) 'भरत जाइ घर···'—पूर्व कहा गया—'पठये बोलि भरत ···' अब उनका घर जाना भी कहा गया।

(३) 'संपति सब रघुपति कै ···'—श्रीभरतजी के गूढ़चरित का मर्म प्रायः बहुतों ने नहीं समझा। कौशल्याजी ने कहा है ; यथा—"एवं कनीयसा भ्रात्रा भुक्तं राज्यं विशांपते। भ्राता ज्येष्ठो वरिष्ठश्च किमर्थं नावमंस्यते ॥" (वाल्मी० २।६१।१५)। अर्थात् पंद्रहवें वर्ष में लौटने पर भी छोटे भाई श्रीभरतजी का भोगा हुआ राज्य ज्येष्ठ और गुण-श्रेष्ठ श्रीरामजी न भोगेंगे, तिरस्कार कर देंगे। इसीसे श्रीभरतजी राज्य एवं संपत्ति के स्वामी नहीं बन रहे हैं और न बनेंगे। अंत में श्रीरामजी की खड़ाऊँ को ही राज-सिंहासन पर बिठावेंगे। श्रीरामजी को गौरव देने ही के लिये सब राज-अंग के साथ मनाने जायँगे। पुनः वन ही में उन्हें राज देकर वहाँ से लाना चाहते हैं। इस भेद को औरों की कौन कहे, निषादराज और श्रीलक्ष्मणजी ने भी सहसा नहीं जाना।

करइ स्वामिहित सेवक सोई। दूषन कोटि देइ किन कोई ॥५॥
अस बिचारि सुचि सेवक बोले। जे सपनेहुँ निज धरम न डोले ॥६॥
कहि सब मरम धरम भल भाखा। जो जेहि लायक सो तेहि राखा ॥७॥
करि सब जतन राखि रखवारे। राममातु पहिं भरत सिधारे ॥८॥

दोहा—आरत जननी जानि सब, भरत सनेह सुजान।
कहेउ बनावन पालकी, सजन सुखासन जान ॥१८६॥

अर्थ—सेवक वही (अच्छा) है, जो स्वामी की भलाई करे, चाहे कोई उसे करोड़ों दोष क्यों न दे ॥५॥ ऐसा विचार कर पवित्र सेवकों को बुलाया, जो स्वप्न में भी (कभी) अपने धर्म से न डिगे थे ॥६॥ सब मर्म (भेद) कहकर धर्म को अच्छी तरह कहा (कि सेवक का उत्तम धर्म ऐसा है) और जो जिस (कार्य के) योग्य था, उसने उसकी रक्षा का भार लिया ॥७॥ सब यत्न करके रक्षकों को रख-कर (कार्य में नियुक्त कर) श्रीभरतजी श्रीकौशल्याजी के पास गये ॥८॥ सब माताओं को दुखी जानकर

प्रेम में सुजान (प्रवीण) श्रीभरतजी ने पालकी तैयार करने को और सुखासन (तामजान) एवं रथों को सजाने के लिये कहा ॥१८६॥

विशेष—(१) 'करइ स्वामिहित ···'—संपत्ति आदि की रक्षा करने पर प्रायः लोग कहेंगे कि कहाँ तो अभी वैराग्य करते थे, अब सब सार सँभार करते हैं, भला ये कब चूकनेवाले हैं! ऊपर और तथा भीतर और ही है; यथा—"जौं जिय होति न कपट कुचाली। केहि सोहाति रथ बाजि गजाली॥" (दो० २२७); अर्थात् भीतर से इनको राज का लोभ है, इत्यादि दूषण भले ही एक नहीं करोड़ों क्यों न कोई दें, पर सेवक को तो स्वामी के कार्य पर दृष्टि रखनी चाहिये; यथा—"मोहि न कछु बाँधे कइ लाजा। कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा॥" (सुं० दो० २१)।

(२) 'सुचि सेवक'—यथा—"सुचि सेवक सब लिये हँकारी।" (बा० दो० २११); अर्थात् विश्वासपात्र, निष्कपट और सेवा-धर्म में सावधान रहनेवाले।

(३) 'मरम धरम'—मर्म यह कि कोश (खजाना) आदि कितना कहाँ है और उसकी कैसे रक्षा करनी चाहिये? शत्रु से किस तरह रक्षा करनी होगी? एवं और राज्य के गुप्त भेद। धर्म यह कि स्वामी के हित साधने में अपनी स्वार्थ-हानि भी हो तो सेवक को उसकी परवाह न करनी चाहिये; यथा—"स्वामि धरम स्वारथहि बिरोधू।" (दो० २९२)।

'जो जेहि लायक सो तेहि राखा'—यहाँ 'सो' कर्त्ता है। भरत को कर्त्ता मान भी लें तो आगे—'राखि रखवारे' में पुनरुक्ति होगी। अन्वय यों होगा—'जो जेहि (राखन) लायक (रहा) सो तेहि राखा।'

(४) 'करि सब जतन···'—सब यत्न ऊपर कहा गया एवं और भी प्रबंध जो कर्त्तव्य थे।

(५) 'आरत जननी आनि···'—यहाँ 'आरत' का अर्थ बेतरह चित्त लगने का है; यथा—"सखि हमरे आरति अति ताते। ··" (बा० दो० २२१)। ये श्रीरामजी के दर्शनाभिलाष से ही सती होने से रुकी थीं। इससे श्रीभरतजी ने प्रार्थना करके चलने को कहा और पालकी आदि सवारियों का भी योग्य प्रबंध किया। श्रीकौशल्याजी की ओट से तो श्रीभरतजी चलना ही चाहते हैं। 'सनेह सुजान'—प्रेम की रीति एवं बर्ताव में निपुण हैं। इससे जानते हैं कि माताओं को श्रीरामजी के दर्शनों के लिये कैसी उत्कृष्ट अभिलाषा है। पुनः 'आरत' का दूसरा अर्थ पीड़ित भी लग सकता है; क्योंकि सब पति-हीन एवं पुत्र-वियोग से दुखी हैं ही इससे भी उत्तम सवारी का प्रबंध किया।

चक्क चक्कि जिमि पुर-नर-नारी। चहत प्रात उर आरत भारी॥१॥
जागत सब निसि भयेउ बिहाना। भरत बोलाये सचिव सुजाना॥२॥
कहेउ लेहु सब तिलक-समाजू। बनहिं देब मुनि रामहिं राजू॥३॥
बेगि चलहु सुनि सचिव जोहारे। तुरत तुरग रथ नाग सँवारे॥४॥
अरुंधती अरु अगिनिसमाऊ। रथ चढ़ि चले प्रथम मुनिराऊ॥५॥
बिप्रबृंद चढ़ि बाहन नाना। चले सकल तप-तेज-निधाना॥६॥
नगर लोग सब सजि सजि जाना। चित्रकूट कहँ कीन्ह पयाना॥७॥
सिबिका सुभग न जाहिं बखानी। चढ़ि चढ़ि चलत भईं सब रानी॥८॥

दोहा—सौंपि नगर सुचि सेवकनि, सादर सकल चलाइ।
सुमिरि राम-सिय-चरन तब, चले भरत दोउ भाइ ॥१८७॥

शब्दार्थ—समाऊ=समाजू, जैसे राऊ=राजू। अरुंधती=वशिष्ठजी की स्त्री।

अर्थ—चकवा-चकवी की तरह स्त्री-पुरुष प्रातःकाल की प्रतीक्षा (चाह) कर रहे हैं और इसके लिये हृदय से उत्सुक हैं (या दुखी हैं) ॥१॥ सारी रात जागते हुए सवेरा हो गया। श्रीभरतजी ने प्रवीण मंत्रियों को बुलाया ॥२॥ और कहा कि सब तिलक का सामान ले लो, वन ही में मुनि श्रीरामजी को राज्य देंगे ॥३॥ 'शीघ्र चलो' ऐसा सुनकर मंत्रियों ने प्रणाम किया, तुरत घोड़े रथ और हाथी सजाये गये ॥४॥ अरुंधती और अग्नि होम की सामग्री के साथ रथ पर चढ़कर पहले मुनिराज वशिष्ठजी चले ॥५॥ अनेक सवारियों पर चढ़कर ब्राह्मण समूह चले, वे सभी तप और तेज के कोश हैं ॥६॥ नगर के सब लोगों ने रथों को सजा-सजाकर चित्रकूट को प्रयान किया ॥७॥ सुन्दर पालकियों पर, जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता, चढ़-चढ़कर सब रानियाँ चलीं ॥८॥ विश्वासी सेवकों को नगर सौंप कर और आदर पूर्वक सब को चलाकर तब श्रीभरतजी दोनों भाई श्रीसीतारामजी के चरणों का स्मरण करके चले ॥१८७॥

विशेष—(१) 'चक चकि जिमि ···'—चकवा-चकवी का रात में एक दूसरे से वियोग रहता है, इससे वे आर्त होकर सवेरा चाहते हैं, यहाँ पुरुष चकवा और स्त्री चकवी रूपी हैं। सब श्रीरामजी के दर्शनों के लिये सवेरा चाहते हैं कि रात बीते और चलें।

इससे यह जनाया कि जैसे स्त्री पति का और पति स्त्री का संयोग चाहते हैं। वैसे ये सब श्रीराम-दर्शनों के लिये आर्त हैं, उत्कंठित हैं; इसी उत्कंठा में नींद नहीं आई।

(२) 'कहेउ लेहु सब तिलक ···'—यह श्रीगुरुजी की आज्ञा से श्रीभरतजी ने कहा है। आगे स्पष्ट है; यथा—"देव देव अभिषेक हित, गुरु अनुशासन पाइ। आनेउँ सब तीरथ सलिल ···" (दो॰ ३०७)। 'बनहिं देव' पहले राज देने को कहकर वन दिया गया; उस अनादर के प्रति आदर के लिये उन्हें राजा बनाकर यहाँ लावेंगे। 'मुनि रामहि राजू'—पिता की अभिलाषा न पूरी हुई, तो गुरुजी उसे पूरी करेंगे। तिलक बड़े के द्वारा ही दिया जाता है। पिता नहीं हैं तो उनकी जगह मुनि ही हैं।

(३) 'अगिनि समाऊ'—अग्निहोत्र की सामग्री; जैसे पात्र, कुश, घृत, स्रुवा आदि। अग्निहोत्र नित्य करने का विधान है; इसीसे सामग्री साथ लेकर चले।

(४) 'सुमिरि राम-सिय चरन ···'—यह श्रीभरतजी का मंगलाचरण है। चलने का क्रम भी जना दिया कि आगे गुरुजी, तब ब्राह्मण, फिर रानियों की सवारी और फिर उनके पीछे श्रीभरतजी चले।

राम - दरस - बस सब नरनारी। जनु करि करिनि चले तकि बारी ॥१॥
बन सिय राम समुझि मन माहीं। सानुज भरत पयादेहि जाहीं ॥२॥
देखि सनेह लोग अनुरागे। उतरि चले हय गय रथ त्यागे ॥३॥
जाइ समीप राखि निज डोली। राम-मातु मृदु बानी बोली

तात चढ़हु रथ बलि महतारी। होइहि प्रिय परिवार दुखारी ॥५॥
तुम्हरे चलत चलिहि सब लोगू। सकल सोक-कृस नहि मग जोगू ॥६॥
सिर धरि बचन चरन सिर नाई। रथ चढ़ि चलत भये दोउ भाई ॥७॥
तमसा प्रथम दिवस करि बासू। दूसर गोमतितीर निवासू ॥८॥

दोहा—पय अहार फल असन एक, निसि भोजन एक लाग।
करत राम-हित नेम व्रत, परिहरि भूपन भोग ॥१८८॥

शब्दार्थ—दरस बस=दर्शनों के लिये ; दर्शनों की लालसा के अधीन होकर।

अर्थ—श्रीराम के दर्शनों की लालसा में सब स्त्री-पुरुष (ऐसी आतुरता से चले) मानों (प्यासे) हाथी-हथिनी जल देखकर चले जा रहे हैं ॥१॥ श्रीसीतारामजी वन में हैं। (राज ऐश्वर्य छोड़े हुए हैं, मैं सवारी पर चलूँ—ऐसा उचित नहीं) यह मन में स्मरण कर भाई के साथ श्रीभरतजी पैदल ही जा रहे हैं ॥२॥ उनका स्नेह देखकर लोग अनुरागवश हो गये और घोड़े, हाथी, रथ छोड़कर उनसे उतर कर चलने लगे ॥३॥ श्रीरामजी की माता समीप पहुँचकर और अपनी डोली रखकर कोमल वाणी से बोलीं ॥४॥ हे तात! रथ पर चढ़ो, माता बलिहारी जाती है, अन्यथा प्रिय एवं परिवार के लोग दुखी होंगे ॥५॥ (क्योंकि) तुम्हारे पैदल चलने से सब लोग पैदल चलेंगे। सब शोक से दुर्बल हैं। मार्ग (चलने) के योग्य नहीं हैं ॥६॥ माता के वचनों को शिरोधार्य कर और उनके चरणों में माथा नवाकर दोनों भाई रथ पर चढ़कर चलने लगे ॥७॥ पहले दिन तमसा तट पर निवास किया, दूसरे दिन गोमती तट पर निवास किया ॥८॥ कोई दूध और कोई फल भोजन करते हैं और कोई रात में एक ही बार भोजन करते हैं। इस तरह श्रीरामजी के लिये भूषण और भोग विलास छोड़ कर नेम-व्रत करते हैं ॥१८८॥

विशेष—(१) 'जनु करि करिनि चले……'—हाथी-हथिनी का पेट भारी होता है, इसीसे उन्हें प्यास भी अधिक होती है। वे जल की ओर तेजी से झपटते हुए जाते हैं। वैसे इन्हें श्रीराम-विरह-रूपी भारी प्यास है, इसी से ये लोग भी आतुरता से दौड़े हुए चले जाते हैं। इन्हें पशु की उत्प्रेक्षा की गई। क्योंकि इन लोगों ने यह विचार न किया कि श्रीसीतारामजी तो वाहन, पात्र, वस्त्र आदि से रहित वन में हैं और हम श्रीरामजी के दर्शनों के लिये श्रीराम-तीर्थ को चल रहे हैं, तो सवारी पर न चढ़ें। यही समझ श्रीभरतजी की है, तभी आगे उन्हें 'सानुज' शब्द से मनुष्य कहा और पैदल चलना कहा गया। 'सब नर नारी' से पुरवासियों को ही कहा गया है; गुरु और ब्राह्मण एवं माता आदि को नहीं; क्योंकि ये तो श्रीरामजी के पूज्य हैं, इन्हें तो सवारी पर चलना उचित ही है।

(२) 'देखि सनेह लोग अनुरागे……'—महात्मा श्रीभरतजी का स्नेह देखकर इन्हें विचार आया कि राज्य के मालिक तो पैदल चल रहे हैं। तब हम सवारी पर क्यों चल रहे हैं? पुनः श्रीभरतजी का हार्दिक भाव समझकर श्रीरामजी में अनुराग हुआ और उक्त विचार भी आया। तब इन्हें भी 'लोग' शब्द से मनुष्य कहा गया, महान् लोगों के संग से उत्तम बुद्धि होती ही है।

(३) 'जाइ समीप राखि निज डोली'—प्रथम कहा जा चुका है—"सिबिका सुभग न जाहिं बखानी। चढ़ि-चढ़ि चलत भईं सब रानी॥" (दो० १८६); तब यहाँ 'डोली' यह हलका शब्द क्यों

दिया गया ? इसके समाधान ये हैं—(क) शोकातुर होने के कारण इन्हें पालकी आदि उत्तम सवारी न रुची और इसीसे ये डोली पर ही चढ़ीं। (ख) शिविका के लिये भी राजाओं के यहाँ डोला शब्द का प्रयोग होता है कि 'अमुक रानी का डोला छीना गया'। जैसे कर देने में चाहे लाखों रुपये दिये जायँ, तब भी 'पैसा चुकाना', 'कौड़ी भरना' आदि मुहावरे कहे जाते हैं। प्रायः डोली शब्द ब्याह-गौने की पालकी आदि में कहा जाता है। इससे यहाँ डोली रखने और बलिहारी जाने के भाव ये हैं कि हम क्या ब्याहने-गौने चली हैं जो सवारी पर चलें, हम भी पैदल ही चलेंगी। तुम सवारी पर चलो। जो दोष तुम्हें लगेगा, वह मैं अपने सिर लेती हूँ।

(४) 'तुम्हरे चलत चलिहि··· ···'—अर्थात् तुम्हारे विचार ठीक हैं, पर तुम्हारे चलते हुए सभी पैदल ही चलने लगेंगे, सब शोक से दुर्बल हो रहे हैं। चल न सकेंगे। बहुत दिन लगेंगे और श्रीरामजी के दर्शनों की आतुरता सभी को है ही।

(५) 'सिर धरि बचन······'—जैसे श्रीरामजी पिता की आज्ञा सुनकर रथ पर चढ़कर चले और शृंगवेरपुर तक रथपर गये थे; वैसे ही श्रीभरतजी माता की आज्ञा मानकर रथ पर चढ़कर शृंगवेरपुर तक ही जायँगे।

(६) 'तमसा प्रथम दिवस ·····'—श्रीभरतजी के चलने की शीघ्रता को कवि अपूर्ण क्रियाएँ देकर जनाते हैं, चौथे दिन 'शृंगवेरपुर सब नियराने।' पर पूर्ण किया दी है। क्योंकि यहाँ बहुत-कुछ कहना है। बीच के तीन मुकामों में कहीं अच्छी तरह निवास नहीं हुआ। श्रीरामजी दूसरे ही दिन शृंगवेरपुर पहुँचे थे; पर श्रीभरतजी उतनी जल्दी न पहुँच सके; क्योंकि इनके साथ भारी समाज है।

(७) 'पय अहार फल असन······'—कोई जो कुछ विशेष भूख सहने में समर्थ हैं वे केवल दूध ही पर रह जाते हैं। जो उनसे कुछ असमर्थ हैं, वे फलाहार करते हैं, जो और भी असमर्थ हैं, वे अन्न भोजन करते हैं; पर रात में और वह भी एक ही बार। दो बार 'एक' 'एक' शब्द से सबके लिये भी लिखते हैं कि एक ही बार एवं एक ही पदार्थ सभी ग्रहण करते हैं। अंत में 'निसि भोजन' शब्द होने से सभी का रात ही में आहार ग्रहण करना सूचित किया है, इस विचार से कि अब श्रीरामजी अवश्य भोजन कर चुके होंगे। श्रीरामजी की प्राप्ति के लिये ये सब भोगत्याग 'नेम-व्रत' कर रहे हैं।

सई तीर बसि चले बिहाने। शृंगबेरपुर सब नियराने ॥१॥
समाचार सब सुने निषादा। हृदय बिचार करइ सबिषादा ॥२॥
कारन कवन भरत बन जाहीं। है कछु कपट भाउ मन माहीं ॥३॥
जौं पै जिय न होति कुटिलाई। तौ कत लीन्ह संग कटकाई ॥४॥
जानहिं सानुज रामहि मारी। करउँ अकंटक राज सुखारी ॥५॥

शब्दार्थ—सई = यह स्यन्दिका का अपभ्रंश है। यह नदी रायबरेली जिले से होकर प्रतापगढ़ (अवध) से होती हुई आगे जाकर गोमती में मिलती है। पै = निश्चय। अकंटक = निर्विघ्न।

अर्थ—सई के किनारे बसकर सवेरे चले और शृंगवेरपुर के निकट पहुँचे ॥१॥ निषादराज ने सब समाचार सुने, तब वह दुःख सहित हृदय में विचार करने लगा ॥२॥ क्या कारण है कि श्रीभरतजी

वन को जा रहे हैं? मन में कुछ कपट भाव (अवश्य) है ॥३॥ जो निश्चय ही हृदय में कुटिलता न होती, तो साथ में सेना क्यों ली है? ॥४॥ जानते हैं कि भाई सहित श्रीरामजी को मारकर सुख-पूर्वक *निर्विघ्न राज्य करूँ ॥५॥*

विशेष—(१) 'समाचार सब सुने······'—यद्यपि यह निषादों का ही राजा है, तो भी नीति में कुशल है। तभी तो इधर श्रीभरतजी के पहुँचने के पहले ही खबर ले ली और कर्त्तव्य का विचार करने लगा। किन्तु इस समय यह 'सुविषादा' है, इसीसे इसके अनुमान ठीक न ठहरेंगे। जैसे पहले—"भयेउ प्रेम बस हृदय विषादू।" (दो० ८९) पर इसके विचार ठीक न थे। उन्हें श्रीलक्ष्मणजी ने ठीक किया था।

भरत न राजनीति उर आनी। तब कलंक अब जीवनहानी ॥६॥
सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहि समर न जीतनिहारा ॥७॥
का आचरज भरत अस करहीं। नहिं विषबेलि अमिअ फल फरहीं ॥८॥

दोहा—अस बिचारि गुह ज्ञाति सन, कहेउ सजग सब होहु।
हथबाँसहु बोरहु तरनि, कीजिय घाटारोहु ॥१८९॥

शब्दार्थ—जुझारा (सं० युद्धालु)=जूझ मरनेवाले। हथबाँसहु=डाँड़, पतवार आदि जो हाथ में लेकर खेते हैं। घाटारोहु (सं० घाटावरोध)=घाट रोकना।

अर्थ—श्रीभरतजी हृदय में राजनीति नहीं लाये (अर्थात् राजनीति पर ध्यान नहीं दिया, अतः) तब तो कलंक ही था और अब तो प्राण जायँगे ॥६॥ सब जूझ मरनेवाले देवता और असुर जुट जायँ, तो भी श्रीरामजी को युद्ध में जीतनेवाले नहीं हो सकते ॥७॥ क्या आश्चर्य है? जो श्रीभरतजी ऐसा कर रहे हैं, विष की लता अमृत फल नहीं फलती (विष ही फलती है; अर्थात् हैं तो कैकेयी के ही पुत्र न!) ॥८॥ ऐसा विचारकर गुह ने जातिवालों से कहा कि सब सावधान हो जाओ। डाँड़, पतवार और नावों को डुबा दो और घाटों की राह रोक दो ॥१८९॥

विशेष—(१) 'भरत न राजनीति उर···'—राजनीति; यथा—"मैं बड़ छोट विचारि जिय, करत रहेउँ नृप नीति।" (दो० ३१); पुनः—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥" (दो० १४); इसपर श्रीभरतजी ने ध्यान नहीं दिया और राज्य ग्रहण किया, तब तो कलंक ही था, पर प्राण बचे रहते; अब तो प्राण ही पर आ बीतेगी, क्योंकि—

(२) 'सकल सुरासुर···'—सब सुर-असुर के लिये तो अकेले श्रीलक्ष्मणजी ही बहुत हैं; यथा—"जौं सब संकर करहिं सहाई। तदपि हतउँ रघुबीर दोहाई॥" (लं० दो० ७४); "जग महँ सखा निसाचर जेते। लछिमन हनहिं निमिष महँ तेते॥" (सुं० दो० ४३); और श्रीरामजी का तो कहना ही क्या? यथा—"ब्रह्मा स्वयंभूश्चतुराननो वा रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा। इन्द्रो महेन्द्रः सुरनायको वा स्थातुं न शक्ता युधि राघवस्य॥" (वाल्मी० ५।५१।४४)।

(३) 'कीजिय घाटारोहु'—जब डाँड़-पतवार एवं नाव न पावेंगे तो संभव है कि तैरकर बहुत-से वीर आ जायँ ; क्योंकि सरयू-तट के रहनेवाले हैं, अथवा बेड़ा आदि बना के कुछ वीर आवें तो उनकी राह रोकी जाय; अर्थात् बीच में डुबाये जायँ ।

होहु सँजोइल रोकहु घाटा । ठाटहु सकल मरइ के ठाटा ॥१॥
सनमुख लोह भरत सन लेऊँ । जियत न सुरसरि उतरन देऊँ ॥२॥
समर-मरन पुनि सुरसरि-तीरा । रामकाज छनभंग सरीरा ॥३॥
भरत भाइ नृप मैं जन नीचू । बड़े भाग असि पाइय मीचू ॥४॥
स्वामिकाज, करिहउँ रन रारी । जस धवलिहउँ भुवन दसचारी ॥५॥
तजउँ प्रान रघु-नाथ-निहोरे । दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरे ॥६॥
साधुसमाज न जाकर लेखा । राम-भगत महँ जासु न रेखा ॥७॥
जाय जियत जग सो महिभारू । जननी-जौबन-बिटप-कुठारू ॥८॥

दोहा—बिगत बिषाद निषादपति, सबहि बढ़ाइ उछाह ।
सुमिरि राम माँगेउ तुरत, तरकस धनुष सनाह ॥१९०॥

शब्दार्थ—सँजोइल=सुसज्जित, सामग्री-युक्त । लोह। लेना=युद्ध करना—यह मुहावरा है । मुद मोदक= आनन्द के लड्डू, 'दोनों हाथों में लड्डू' यह मुहावरा है । प्रायः उभय लोक बनने के प्रति कहा जाता है । यहाँ मुद का तात्पर्य—'जीतने और मरने पर भी यश' से है ।

अर्थ—(युद्ध के साज से) सुसज्जित होकर घाटों को रोको, सब कोई मरने का पूरा प्रबंध कर लो (अर्थात् लड़ने मरने को तैयार हो जाओ) ॥१॥ श्रीभरतजी के सामने होकर उनसे युद्ध करूँगा और जीते-जी उन्हें गंगा-पार उतरने न दूँगा ॥२॥ (यदि कहा जाय कि भारी वीर एवं चक्रवर्ती श्रीभरतजी से जीतना असंभव है, फिर जान क्यों देते हो, तो इसपर कहते हैं कि इसमें बड़े लाभ हैं) युद्ध में मरना, फिर गंगा-तट पर, श्रीरामजी के कार्य में और फिर शरीर तो क्षण में नाश होनेवाला है ही (इसका स्वामि कार्य में लगना उत्तम है) ॥३॥ पुनः श्रीभरतजी राजा (श्रीरामजी) के भाई (वा श्रीरामजी के भाई और राजा) हैं और मैं नीच जन (अर्थात् जाति से ही दास) हूँ । (उनके हाथ से मरना) ऐसी मृत्यु बड़े भाग्य से मिलती है ॥४॥ स्वामी के कार्य के लिये रण में लड़ाई करूँगा । इससे चौदहो लोकों को अपने यश से प्रकाशित करूँगा, अर्थात् चौदहो लोकों में निर्मल यश होगा ॥५॥ श्रीरघुनाथजी के निमित्त प्राणों को छोड़ूँगा, मेरे दोनों हाथों में आनन्द के लड्डू हैं ॥६॥ जिसकी साधु-समाज में गणना नहीं और न राम भक्तों में ही जिसका स्थान है ॥७॥ वह जगत् में व्यर्थ ही जीता है, वह पृथिवी का भार है और माता के यौवन-रूपी वृक्ष को (काटनेवाला) कुठार (कुल्हाड़ा) रूप है ॥८॥ खेद-रहित होकर निषाद-राज ने सबका उत्साह बढ़ाकर और श्रीरामजी का स्मरण कर तुरत तरकश, धनुष और कवच मँगाया ॥१९०॥

विशेष—(१) 'मरइ के ठाटा'—क्योंकि जीतना असंभव है।

(२) 'समर-मरन'''भरत भाइ नृप'''—यहाँ राजा ने अपने सुभटों को उत्तेजित करने के लिये क्रमशः चार उत्तरोत्तर श्रेष्ठ संयोग कहा-समर-मरण, गंगातट पर मृत्यु, श्रीरामजी के कार्य में नश्वर तन त्यागना और श्रीराम-भ्राता के हाथ मृत्यु ; यथा—"हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्। तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृत निश्चयः॥" (गीता २।३७); "अंतवंत इमे देहा ··" (गीता २।११)। "गंगायां त्यजतो देहं भूयो जन्म न विद्यते।" (पद्मपुराण); "सत्संगज्ञानि निधनान्यपि तारयंति।" (उत्तररामचरित), "आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षिताः। युद्ध्यमानाः परंशक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः॥" (मनु०)।

(३) 'स्वामिकाज करिहउँ ··'—जो पराये के कार्य में तन त्याग करता है, उसकी संतों में प्रशंसा होती है ; यथा—"पर हित लागि तजै जो देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही॥" (बा० दो० ८३); यहाँ तो मेरा मरण स्वामी के निमित्त होगा, इससे तो चौदहों भुवनों में प्रशंसा होगी। हमलोगों के यश से चौदहो भुवन धवलित हो जायगा।

(४) 'साधुसमाज न जाकर'''—परोपकार साधु का सहज कर्म है ; यथा—"पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाव खग राया॥" (उ० दो० १२०), अतः, हमलोग इस कार्य से साधु-समाज में गिने जायगे।

(५) 'जननी-जौबन-बिटप'''—पुत्र उत्पन्न होने से माता का यौवन उतर जाता है। यदि पुत्र योग्य हुआ तो उस त्रुटि की पूर्ति समझी जाती है, अन्यथा वह पुत्र व्यर्थ है ; यथा—"पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति-भगत जासु सुत होई॥ नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम-बिमुख सुत ते हित जानी॥" (दो० ७४)।

(६) 'बिगत बिषाद निषाद पति''''''—पहले 'सबिषाद' था ; यथा—"हृदय बिचार करै सबिषादा॥" ऊपर कहा गया। विचार करके युद्ध करने के लिये निश्चय किया, तब उत्साहित हो गया और खेद न रहा। श्रीरामजी का स्मरण सफलता के लिये है, यहीं इसका मंगलाचरण है। पहले स्वयं तैयार होने लगा कि जिससे सभी शीघ्र तैयार हो जावें।

बेगिहि भाइहु सजहु सँजोऊ। सुनि रजाइ कदराइ न कोऊ॥१॥
भलेहिं नाथ सब कहहिं सहरषा। एकहिं एक बढ़ावइ करषा॥२॥
चले निषाद जोहारि जोहारी। सूर सकल रन रूचइ रारी॥३॥
सुमिरि राम - पद - पंकज - पनहीं। भाथी बाँधि चढ़ाइन्हि धनुहीं॥४॥
अँगरी पहिरि कूँड़ि सिर धरहीं। फरसा बाँस सेल सम करहीं॥५॥
एक कुसल अति ओड़न खाँड़े। कूदहिं गगन मनहुँ छिति छाँड़े॥६॥
निज निज साज समाज बनाई। गुहराउतहि जोहारे जाई॥७॥
देखि सुभट सब लायक जाने। लै-लै नाम सकल सनमाने॥८॥

दोहा—भाइहु लावहु धोख जनि, आजु काज बड़ मोहिं।
सुनि सरोष बोले सुभट, बीर अधीर न होहिं ॥१९१॥

शब्दार्थ—सँजोऊ = साज, समान। रुपा = क्रोध, उत्साह। अँगरी = कवच। कूँड़ि = लोहे की ऊँची टोपी, जो शिर-रक्षा के लिये रहती है। बाँस = वल्लम। सैल = बरछा। ओड़न = ढाल। खाँड़े = तलवार। समकारहीं = सीधा करते हैं, पैनी करते हैं। धोखा लाना = कमी करना, चूक करना। सरोष = जोश-पूर्वक, उत्साह-सहित। राउत = राजपुत्र वीर, बहादुर।

अर्थ—हे भाइयो! शीघ्र ही साज सजो, हमारी आज्ञा सुनकर कोई कायर न हो (डरे नहीं) ॥१॥ सब हर्ष-पूर्वक कहते हैं—हे नाथ! बहुत अच्छा और एक दूसरे को कर्ष (जोश) बढ़ाते हैं ॥२॥ निषादराज को प्रणाम कर-करके सब निषाद (तैयारी करने को) चले, सब शूरवीर हैं, इन्हें संग्राम में लड़ना ही रुचता है ॥३॥ श्रीरामजी के चरण-कमलों की जूतियों का स्मरण करके तरकश बाँधकर अपने-अपने छोटे-छोटे धनुषों को चढ़ाया ॥४॥ कवच पहनकर शिर पर लोहे की टोपी धारण करते हैं। फरसा, वल्लम, बरछे सीधा करते हैं (उनकी धार सुधारते हैं) ॥५॥ कोई ढाल-तलवार की कला में अत्यन्त प्रवीण हैं। वे (ऐसे जोश-भरे हैं) मानों पृथिवी को छोड़कर आकाश में उछल रहे हों ॥६॥ अपने-अपने लड़ाई के साज और टोली बना सबने बहादुर गुह को जाकर प्रणाम किया ॥७॥ सब सुभटों को देखकर उनको युद्ध के योग्य समझ नाम ले-लेकर उन सबका सम्मान किया ॥८॥ (और कहा कि) हे भाइयो! धोखा न लगाना (पुरुषार्थ में कमी न करना) आज मेरा बड़ा कार्य है। यह सुनकर सुभट-लोग रोष (जोश-उत्साह) के साथ बोले—वीर लोग अधीर नहीं होते; अर्थात् आप वीर हैं; अतः, अधीर न होइये ॥१९१॥

विशेष—(१) 'बढ़ावहिं करषा'—कहते हैं कि आज ही तो देखना है कि कौन वीर है? कौन सबसे अधिक पराक्रम दिखाता है? हम अकेले ही सैकड़ों को मार गिरावेंगे। स्वामी ने जन्म-भर पाला है, तो आज उनका नमक अदा करना है।

(२) 'सुमिरि राम-पद-पंकज-पनहीं'—चरण के अधिकारी तो शिव आदि हैं; यथा—"सिव अज पूज्य चरन रघुराई।" (उ० दो० १२३); ये अपनेको जूती ही के अधिकारी मानते हैं; क्योंकि निषाद-जाति के हैं। पर उच्च कोटि के भक्त उच्च कुल के भी प्रभु की अपेक्षा में अपनेको देखते हुए एवं कार्पण्य-दृष्टि से अपने को जूती ही के अधिकारी मानते हैं; यथा—"मोरे सरन रामहि की पनही।" (दो० २३३); यह श्रीभरतजी ने कहा है। यहाँ निषाद-लोग श्रीभरतजी से लड़ने को प्रस्तुत हैं, तो दोनों ओर समान बल चाहिये ही।

यह भी भाव है, घाम की पनही होती है और ढाल भी। अतः, निषादों ने श्रीरामजी की पनही को ही अपनी ढालें बनाईं और इसी बल पर विजय का भी भरोसा किया। श्रीरामजी ने भी विजय के लिये ऐसा ही आधार लिया है; यथा—"कवच अभेद बिप्र-पद-पूजा। येहि सम बिजय उपाय न दूजा॥" (लं० दो० ७८)

(३) 'लै-लै नाम सकल सनमाने'—सबके नाम ले-लेकर उन्हें अधिक आदर दिया, इसीसे वे सब जोश में आये; यथा—"सुनि सरोष बोले सुभट…" यह राजा की उत्तम रीति है कि वह कार्य पर

कृतज्ञता प्रकट करे, आदर करे, उत्तेजना दे और योग्य रीति से प्रोत्साहन दे। सबके नाम लेने से यह भी जाना गया कि सेना बहुत थोड़ी थी; अन्यथा सबके नाम लेने का अवसर न मिलता।

(४) 'भाइहु लावहु धोख जनि······'—आज ही ऐसा अवसर आ पड़ा है। इसमें पुरुषार्थ में कमी न होने पावे कि मुझे पछताना पड़े कि मैं नाहक लड़ा, मुझसे धोखा हुआ। 'काज बड़'–इष्ट-सम्बन्धी भारी कार्य है वा, सेर-सुमेरु का सामना है। अतः, युद्ध करना बड़ा भारी कार्य है। 'सुनि सरोष बोले···'—इसपर वीरों को रोष (जोश) आया और वे कुछ क्रुद्ध होकर बोले कि ऐसा तो अधीर (कायर) लोग कहते हैं। नाथ! आपको तो कहना चाहिये कि हम अकेले ही सारी फौज को नाश कर देंगे। श्रीभरतजी को जीत लेंगे, बाँध लेंगे; क्योंकि आप वीर हैं। देखियेगा—

रामप्रताप नाथ बल तोरे। करहिं कटक बिनु भट बिनुघोरे ॥१॥
जीवत पाउ न पाछे धरहीं। रुंड-मुंड-मय मेदिनि करहीं ॥२॥
दीख निषादनाथ भल टोलू। कहेउ बजाउ जुझाऊ ढोलू ॥३॥
एतना कहत छींक भइ बाँये। कहेउ सगुनियन्ह खेत सुहाये ॥४॥
बूढ़ एक कह सगुन बिचारी। भरतहि मिलिय न होइहि रारी ॥५॥
रामहि भरत मनावन जाहीं। सगुन कहइ अस बिग्रह नाहीं ॥६॥

शब्दार्थ—रुंड = बिना सिर का धड़। मेदिनि = पृथिवी, क्योंकि यह मधु-कैटभ के मेदा-मज्जा से बनी है। टोलू = समूह, झुंड। खेत सुहाये = क्षेत्र सुंदर है = सुंदर दिशा में छींक हुई है, इसका परिणाम सुहावना है। बिग्रह = झगड़ा, विरोध।

अर्थ—हे नाथ! श्रीरामजी के प्रताप से और आपके बल से हम श्रीभरतजी की सेना को बिना योद्धा और बिना घोड़े की कर देंगे; अर्थात् योद्धा और घोड़े एक भी न देख पड़ेंगे ॥१॥ जीते-जी हम पीछे पाँव न हटावेंगे और पृथिवी को हम रुंड-मुंड-मय कर देंगे, अर्थात् पृथिवी पर रुंड-मुंड ही देख पड़ेंगे ॥२॥ निषादराज ने देखा कि हमारा यूथ अच्छा है, तब कहा कि लड़ाईवाले ढोल बजाओ ॥३॥ इतना कहते ही बाईं ओर छींक हुई। शकुन विचारवालों ने कहा कि क्षेत्र सुन्दर है; अर्थात् हमारी जीत होगी ॥४॥ एक बुड्ढे ने शकुन विचारकर कहा कि श्रीभरतजी से मेल होगा (वा, उनसे मिलिये) लड़ाई न होगी ॥५॥ श्रीभरतजी श्रीरामजी को मनाने जाते हैं। शकुन ऐसा कह रहा है कि झगड़ा नहीं है ॥६॥

विशेष—(१) 'रामप्रताप नाथ बल······'—श्रीरामजी के प्रताप से समुद्र भी सूख सकता है; यथा—"प्रभु-प्रताप मैं जाब सुखाई।" (सुं० दो० ५८); तब उसके आगे कोई भी शत्रु कैसे ठहर सकता है? 'बिनु घोरे'–घोड़े यहाँ हाथी आदि के भी उपलक्षक हैं। चतुरंगिणी सेना में घुड़सवार आगे रहते हैं, इससे वे ही कहे गये। 'रुंड मुंड मय मेदिनि करहीं।'—पृथिवी मधुकैटभ के मेदा से बनी, इसीसे इसका मेदिनी नाम है; वह आज यथार्थ मेदा मय हो जायगी। मेदा, मज्जा, मांस के अतिरिक्त मिट्टी तो दिखाई ही न देगी, अर्थात् श्रीभरतजी की सेना का कोई भी सुभट दिखाई न पड़ेगा।

(२) 'जुझाऊ ढोलू'—निषादों की छोटी टोल के अनुकूल ही ढोल भी कहा गया। रावण के भारी युद्ध-प्रसंग में 'निशान', 'बाजा' आदि कहे गये हैं ; यथा—"बाजे सकल जुझाऊ बाजा।" (लं० दो० ७१); "कहेसि बजावहु युद्ध निसाना।" (लं० दो० ८४)।

(३) 'एतना कहत छींक भइ···'—दोनों ओर से राम-भक्त ही थे, इसलिये शकुन-द्वारा प्रकृति देवी ने अनर्थ बचाया। बाईं दिशा में छींक होने से सुन्दर चेत समझा गया ; यथा—"दाहिन काग सुखेत सुहावा।" (बा० दो० ३०२)।

यह भी कहा जाता है कि उस समय निषादराज उत्तर-मुख थे। इससे उनका बायाँ पश्चिम या वायव्य पड़ा, इन दिशाओं की छींक अच्छी कही गई है।

(४) 'बूढ़ एक कह सगुन···'—इससे जाना गया कि पहले शकुन विचारनेवाले युवक थे, जिन्हें जीत ही अभीष्ट थी। अतः, उनके विचार उनके अपने अभीष्ट के अनुसार ही ढल गये। इस बूढ़े ने सोच-विचारकर कहा, इससे यथार्थ कहा। 'सगुन कहइ'—अर्थात् मैं अपनी ओर से नहीं कहता हूँ, शकुन ही कह रहा है, अर्थात् इस शकुन का यही तात्पर्य है। 'बिग्रह नाहीं' अर्थात् जो आपने विचारा था—"है कछु कपट भाव···जानहिं सानुज रामहिं मारी।···" इत्यादि, वह नहीं है। झगड़े के भाव श्रीभरतजी में नहीं होंगे। (बूढ़े लोग देश-काल बहुत कुछ देखे-सुने होते हैं, अतएव उनके विचार यथार्थ ही होते हैं)।

सुनि गुह कहइ नीक कह बूढ़ा। सहसा करि पछिताहिं बिमूढ़ा ॥७॥
भरत सुभाव सील बिनु बूझे। बड़ि हितहानि जानि बिनु जूझे ॥८॥

दोहा—गहहु घाट भट सिमिटि सब, लेउँ मरम मिलि जाइ।
बूझि मित्र अरि मध्य गति, तब तस करिहउँ आइ ॥१९२॥

लखब सनेहु सुभाय सुहाये। बैर प्रीति नहि दुरइ दुराये ॥१॥

शब्दार्थ—सहसा = अकस्मात्, एकबारगी। जूझे = युद्ध किया। गहहु = रोको।

अर्थ—यह सुनकर गुह ने कहा कि बुड्ढा ठीक कह रहा है। मूढ़ ही अकस्मात् कोई काम करके पीछे पछताते हैं ॥७॥ श्रीभरतजी का शील-स्वभाव बिना जाने हुए युद्ध करने से हित की बड़ी हानि है ॥८॥ सब एकत्र होकर घाट को रोको, मैं जाकर उनसे मिलूँ और उनका भेद लूँ। वे मित्र, शत्रु, वा मध्यस्थ भाव के हैं—यह जानकर तब यहाँ आकर वैसा करूँगा ॥१९२॥ मैं उनका स्नेह, स्वभाव की सुन्दरता से जान लूँगा, क्योंकि वैर और प्रेम छिपाये से नहीं छिपते ॥१॥

विशेष—(१) 'सुनि गुह कहइ···'—निषाद-राज स्वयं भी शकुन-विचार में प्रवीण थे ; यथा—"लगे होन मंगल सगुन, सुनि गुनि कहत निषाद।" (दो० २३०)। अतः, बूढ़े की बात को स्वयं भी समझकर ठीक कहा। 'सहसा करि ··' ; यथा—"अनुचित उचित काज कछु होऊ। समुझि करिय भल कह सब कोऊ॥ सहसा करि पाछे पछताहीं। कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं॥" (दो० २३०), यथा—

"अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्तेर्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥" (सुभाषितरत्नभांडागार); अर्थात् सहसा किये हुए कर्मों का परिणाम विपत्ति-पर्यन्त छाती में गड़ी हुई साँग की तरह दुखदाई होता है।

(२) 'लखब सनेहु सुभाय सुहाये'—वैर और स्नेह दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। एक के रहते दूसरा नहीं रहता। बूढ़े ने कहा है—"रामहिं भरत मनावन जाहीं।" अर्थात् स्नेह-भाव से जा रहे हैं। उसीको मिलकर उनके स्वभाव-द्वारा यह प्रत्यक्ष करना चाहता है। जैसा स्वभाव होता है, वैसा मन, वचन, कर्म से स्पष्ट हो जाता है; यथा—"कपट सार सूची सहस, बाँधि वचन पर वास। कियो दुराउ चह चातुरी, सो सठ तुलसीदास ॥" (दोहावली ३१०); तथा—"अखियाँ देत बताय सब, हिय को हेत अहेत। जैसे निरमल आरसी, भली बुरी कहि देत ॥" प्रीति में मन सरल, वचन कोमल एवं स्निग्ध होते हैं। वैर में वचन व्यंग-पूर्ण और हृदय में रुखाई होती है, इत्यादि।

अस कहि भेंट सँजोवन लागे। कंद मूल फल खग मृग माँगे ॥२॥
मीन पीन पाठीन पुराने। भरि भरि भार कहारन्ह आने ॥३॥
मिलन साज सजि मिलन सिधाये। मंगलमूल सगुन सुभ पाये ॥४॥
देखि दूरि ते कहि निज नामू। कीन्ह मुनीसहि दंडप्रनामू ॥५॥
जानि रामप्रिय दीन्हि असीसा। भरतहि कहेउ बुझाइ मुनीसा ॥६॥
रामसखा सुनि स्यंदन त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा ॥७॥
गाउँ जाति गुह नाउँ सुनाई। कीन्ह जोहार माथ महि लाई ॥८॥

दोहा—करत दंडवत देखि तेहि, भरत लीन्ह उर लाइ।
मनहुँ लखन सन भेंट भइ, प्रेम न हृदय समाइ ॥१९३॥

शब्दार्थ—सँजोवन = सजाने अथवा इकट्ठा करने। पीन = मोटी। पाठीन = पढ़िना जाति की मछली।

अर्थ—ऐसा कहकर भेंट की चीजें सजाने एवं इकट्ठी करने लगे। कंद, मूल, फल, पक्षी और जंगली पशु मँगाये ॥२॥ पुरानी मोटी पढ़िना मछली (भी) कहार लोग भार भर-भरकर लाये ॥३॥ इस तरह मिलने के सामान सजाकर मिलने के लिये चले, तब मंगल-मूलक शुभ शकुन मिले ॥४॥ मुनीश्वर वसिष्ठजी को देखकर दूर से ही अपना नाम कहकर उसने उनको दंडवत्-प्रणाम किया, (क्योंकि वे सबसे आगे थे) ॥५॥ श्रीरामजी का प्रिय जानकर मुनीश्वर ने उसे आशिष दी और श्रीभरतजी को समझाकर कहा (कि यह राम-सखा है) ॥६॥ यह श्रीरामजी का सखा है, ऐसा सुनकर श्रीभरतजी ने रथ त्याग दिया, रथ से उतरकर अनुराग से उमड़ते हुए चले ॥७॥ गुह ने अपने ग्राम, जाति, नाम 'गुह' सुनाकर पृथ्वी में माथा लगाकर प्रणाम किया ॥८॥ उसको दंडवत् करते देखकर श्रीभरतजी ने उसे हृदय से लगा लिया, मानों उन्हें श्रीलक्ष्मणजी से भेंट हुई, श्रीभरतजी के हृदय में प्रेम नहीं समाता ॥१९३॥

विशेष—(१) 'कंद मूल फल खग मृग'—'कंद'—सकरकंद आदि, 'मूल'—मूली आदि' 'फल'—तेंदू, केला, बेर, आम, कटहल आदि, 'खग'—महरी, जुर्रा, नरूक, घूघी आदि, 'मृग'—चीतर (मृगा), रोझा, चिकारा, चौवा, स्याह गोश आदि।

(२) 'मीन पीन पाठीन···'—इसपर कहा जाता है कि श्रीभरतजी श्रीराम-भक्त हैं। फिर उनकी भेंट के लिये मछली क्यों ली गई ? उत्तर यह है कि निषाद-जाति के लोग मछली आदि का भी वर्त्ताव रखते हैं ; यथा—"पात भरी सहरी सकल सुत बारे बारे···" (क०अ०८); अपने स्वरूप के अनुरूप-पदार्थ भी भेंट में अवश्य चाहिये। इसीसे वन-सम्बन्धी ही कंद-मूल आदि भी लिये हैं। क्योंकि ये वन के राजा हैं। फिर श्रीभरतजी सेना के साथ हैं, उसमें तो सब तरह के लोग हैं। भरद्वाजजी ने भी तो इनकी पहुनाई में सब तरह के भाग उपस्थित कराये हैं। पुनः जीवित मछलियाँ शकुन रूपमें मांगलिक होती हैं। इससे उन्हें राजकुमार के सामने उपहार में लाना युक्त ही है।

(३) 'मिलन साज सजि···'—ये सब मिलने के साज हैं, इनके द्वारा राजकुमार श्रीभरतजी के सामने होकर, उनसे मिलते हुए उनके भीतर का भाव लेना है। आगे मिलने ही से पता चल गया कि श्रीभरतजी मित्र-भाव में हैं ; यथा—"राम सखा सुनि स्यंदन त्यागा। चले उतरि उमगत अनु-रागा॥" यह कहा है। पदार्थों में सात्त्विक आदि पर उनके चित्त एवं दृष्टि की परीक्षा लेना ठीक नहीं जान पड़ता, क्योंकि वह पहले ही कह चुका है—"लखब सनेह सुभाय सुहाये।···" श्रीभरतजी के स्वभाव की परीक्षा, जो वे श्रीरामजी का सखा जानकर उस महा नीच से भी बड़े प्रेम और आदर से मिले ; इसी से हो गई कि जब उनके सम्बन्धी नीच पर इतना प्रेम है, तब उनपर तो अत्यन्त ही प्रेम होगा। श्रीरामजी उदासीन वेष में थे ; इसलिये उनसे मिलने में फल-मूल ही कहा गया है।

'मंगलमूल सगुन सुभ···'—देखिये बा० दो० ३०२ – ३०३।

(४) 'देखि दूरि तें कहि ···'—मुनि सबसे आगे हैं। यह जाति में अत्यन्त नीच है। इस विचार से इसने दूर से ही प्रणाम किया। नाम आदि परिचय देकर प्रणाम करने की रीति है। 'मुनीसहि'—ये मुनी-श्वर हैं, इसीसे गुह का अभिप्राय जान गये और इसीसे इन्होंने श्रीभरतजी को बुलाकर कहा कि यह श्रीरामजी का प्रिय सखा है ; इसने यहाँ श्रीरामजी की सप्रेम सेवा की है। यह सुमंत्रजी ने भी कहा ही है। यहाँ गुरुजी रथ पर हैं और निषाद-राज दूर है, इससे ऊपर से आशिष दी है। आगे जब पैदल रहेंगे और यह निकट से दंडवत् करेगा, तो सप्रेम मिलेंगे भी—"राम सखा रिषि बरबस भेंटा।···" (दो० २४३)।

(५) 'रामसखा सुनि···गाउँ जाति ···'—यह श्रीरामजी का प्रिय है, सखा है, यह जानकर श्रीभरतजी सवारी से उतर पड़े और उनसे मिलने के लिये अनुराग से उमगते हुए चले, पग-पग पर अनुराग अधिक होता है, कहा ही है—"जानेसु संत अनन्त समाना।" (उ० दो० १०८) ; "तातें संत अधिक करि लेखा।" (आ० दो० ३५)। "राम कहहिं जेहि आपनो, तेहि भजु तुलसीदास।" (दोहावली १४०)।

निषादराज ने देखा कि ये मिलने के लिये चले आते हैं, ऐसा न हो कि पीछे मेरी जाति आदि की न्यूनता पर इन्हें और मुझे भी पछताना पड़े, इसलिये उसने गाम सिंगौर (शृंगवेरपुर) जाति निषाद (हिंसक) और नाम गुह (जो परधन चोरावे) बतलाकर भूमि पर सिर लगाकर प्रणाम किया।

(६) 'मनहुँ लखन सन ···'—श्रीलक्ष्मणजी भाई हैं और यह सखा है ; अतः दोनों बराबर हैं। श्रीलक्ष्मणजी ने सबरूप प्रभु को ही जाना है ; यथा—"गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। ···मोरे सबइ एक

तुम स्वामी।" (दो० ७१); वैसे ही इसने भी प्रभु को सब कुछ अर्पण कर दिया है; यथा—"देव धरनि धन धाम तुम्हारा। मैं जनु नीच सहित परिवारा॥" (दो० ८७); इसीसे श्रीरामजी ने भी कहा है—"तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता।" (७० दो० १९)। अतः, निषाद से मिलने पर श्रीभरतजी को वैसा ही सुख हुआ, जैसा श्रीलक्ष्मणजी से मिलने पर होता।

भेंटत भरत ताहि अति प्रीती। लोग सिहाहिं प्रेम कै रीती॥१॥
धन्य धन्य धुनि मंगलमूला। सुर सराहि तेहि बरिसहिं फूला॥२॥
लोक बेद सब भाँतिहि नीचा। जासु छाँह छुइ लेइय सींचा॥३॥
तेहि भरि अंक राम-लघु-भ्राता। मिलत पुलकपरिपूरित गाता॥४॥
राम राम कहि जे जमुहाहीं। तिन्हहिं न पापपुंज समुहाहीं॥५॥
येहि तौ राम लाइ उर लीन्हा। कुलसमेत जग पावन कीन्हा॥६॥
करमनास-जल सुरसरि परई। तेहि को कहहु सीस नहि धरई॥७॥

शब्दार्थ—लेइय सींचा = स्नान या मार्जन करना चाहिये। समुहाहीं = सामना करते।

अर्थ—उसे श्रीभरतजी अत्यन्त प्रेम से भेंट रहे हैं, लोग इस प्रेम की रीति को सिहाते (बड़ाई करते हुए ललचाते) हैं॥१॥ मंगल-मूलक 'धन्य-धन्य' ध्वनि हो रही है, देवता लोग उसकी सराहना करके फूल बरसाते हैं॥२॥ (कहते हैं कि) यह लोक और वेद (दोनों की रीति) से सब प्रकार से नीच है, (यहाँ तक कि) जिसकी परछाईं छू जाने से मार्जन एवं स्नान करना होता है॥३॥ उसे ही अँकवार भरकर श्रीरामजी के छोटे भाई श्रीभरतजी मिलते हुए शरीर में परिपूर्ण पुलकित हो रहे हैं॥४॥ जो लोग राम-राम कहकर जँभाई लेते हैं; अर्थात् अलसाते-जँभाते हुए भी जिनके मुख से राम नाम निकल आता है, उनके सामने पाप-समूह नहीं आते॥५॥ और इसे तो स्वयं (साक्षात्) श्रीरामजी ने ही हृदय से लगा लिया है और इसे कुल-समेत जगत् में पावन किया है; अर्थात् जब श्रीरामजी ने ही इसे पवित्र मान लिया, तब तो जगत् में सभी इसे एवं इसके कुल को पवित्र मानेंगे॥६॥ कर्मनाशा का जल जब गंगाजी में पड़ता है, तब कहिये तो, कौन उसे शिर पर धारण नहीं करता; अर्थात् सभी धारण करते हैं, (अतः श्रीभरतजी ने इसका इतना सम्मान किया है।)॥७॥

विशेष—(१) 'लोग सिहाहिं प्रेम कै रीती'—सिहाते हैं कि क्या कहें, हम सभों में ऐसा प्रेम न हुआ, नहीं तो हमें भी श्रीभरतजी इतना मानते। प्रेम की रीति ही विलक्षण है कि इसमें बड़े की बड़ाई और छोटे को छोटाई नहीं रह पाती; यथा—"जानत प्रीति रीति रघुराई।···सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई। केवट मीत कहे सुख मानत बानर बंधु बड़ाई॥" (वि० १६४); "श्रीरघुबीर की यह बानि। नीचहू सो करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि॥ परम अधम निषाद पामर कौन ताकी कानि? लियो सो उर लाइ सुत ज्यों प्रेम को पहिचानि॥" (वि० २१५)। 'लोग'—ये अवधवासी हैं, जो "पय अहार फल असन एक, निसि भोजन एक लोग। करत राम हित नेमव्रत, परिहरि भूषन भोग॥" (दो० १८८) इस तरह श्रेष्ठ वृत्तिवाले हैं।

(२) 'धन्य धन्य धुनि ...'—यह देवताओं की सराहना है। ब्रह्मा आदि इसे धन्य धन्य कहते हैं और फूल बरसाते हैं, मानों प्रेमी की पूजा करते हैं। आगे—'लोक बेद'' रामनाम महिमा सुर कहहीं।" तक देवताओं की ही प्रशंसा की वाणी है। लोक में इसकी परछाई तक अशुद्ध मानी जाती है। वेद की दृष्टि से इसे सुर प्रतिमा के स्पर्श का अधिकार भी नहीं है। 'सब भाँति' श्रीभरतजी की अपेक्षा सब प्रकार से नीच है। वे राजा यह प्रजा। वे क्षत्रिय एवं चक्रवर्ती और यह नीच निषाद, इत्यादि।

(३) 'राम राम कहि जे ...'; यथा—"अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः। पुमान् विमुच्यते सद्यस्सिंहत्रस्तमृगैरिव॥" (विष्णुपुराण)। जैसे कि यवन ने शूकर के धक्का लगने से विवश होकर 'हराम' शब्द की ओट से 'राम' कहा और मोक्ष पाया; यथा—'दैवाच्छूकरशावकेन निहतो म्लेच्छो जराजर्जरो। हा रामेण हतोऽस्मि भूमिपतितो जल्पंस्तनुं त्यक्तवान्। तीर्णो गोष्पदवद्भवार्णवमहो...' (वाराहपुराण), तथा—"आँधरो अधम जड़ जाजरो जरा जमन ..." (क० उ० ७६)।

(४) 'करमनास जल सुरसरि ...'—'कुल समेत जग पावन कीन्हा।' इसे ही कर्मनाशा के दृष्टान्त से पुष्ट करते हैं। यहाँ श्रीरामजी गंगाजी और गुह कर्मनाशा है। वहाँ कर्मनाशा का कुछ अंश ही पवित्र होता है और यहाँ 'कुल समेत' अर्थात् सर्वांश। वहाँ कर्मनाशा गंगा में आ मिलती है और यहाँ गंगा ही आकर कर्मनाशा से मिली—यह अधिकता है। अन्यत्र भी कहा है—"भूषन भूति गरल परिहरि कै हर मूरति उर आनी। मज्जन पान कियो कै सुरसरि करमनास जल छानी ?॥" (कृष्णगीतावली ११)।

उलटा नाम जपत जग जाना। बालमीकि भये ब्रह्म-समाना॥८॥

दोहा—स्वपच सबर खस जवन जड़, पामर कोल किरात।
राम कहत पावन परम, होत भुवन-विख्यात॥१९४॥

नहिं अचरज जुग जुग चलि आई। केहि न दीन्हि रघुबीर बड़ाई॥१॥
राम-नाम-महिमा सुर कहहीं। सुनि सुनि अवधलोग सुख लहहीं॥२॥

अर्थ—जगत् जानता है कि उल्टा नाम (मरा, मरा) जपते हुए वाल्मीकिजी ब्रह्मा के समान हो गये॥८॥ श्वपच, शबर, खस, यवन, कोल, किरात आदि मूर्ख और नीच लोग भी श्रीराम नाम कहते ही परम पावन और लोकप्रसिद्ध हो जाते हैं॥१९४॥ यह कोई आश्चर्य नहीं है; किन्तु यह बात युग-युग से होती चली आई है, रघुवीर श्रीरामजी ने किसे बड़ाई नहीं दी ? अर्थात् सभी ने इनसे बड़ाई पाई है॥१॥ देवता लोग श्रीराम नाम की महिमा कहते हैं; सुन-सुनकर अवधवासी लोग सुख पाते हैं॥२॥

विशेष—(१) 'उलटा नाम जपत...'; यथा—"जहाँ बालमीकि भये व्याध ते मुनीन्द्र साधु, 'मरा मरा' जपे सुनि सिष ऋषि सात की" (क० उ० १३८)। 'जग जाना' अर्थात् कुछ मैं ही नहीं कहता, किंतु जगत् भर जानता है, (इनकी कथा देखिये बा० दो० २ चौ० ३)। 'ब्रह्म समाना'—वाल्मीकिजी ब्रह्माजी के समान त्रिकालज्ञ हुए। ब्रह्माजी ने वेद कहे; इन्होंने वेद का उपबृंहण एवं अवतारूप रामायण कही है, जिसमें छः कांड भूतकाल के, राज्य-लीला वर्तमान् काल की और अवधवासियों के साथ श्रीरामजी की साकेत यात्रा भविष्य काल की भी कही गई है। यह तो श्रीरामजी के उल्टे नाम का प्रभाव है और इस निषादराज को तो स्वयं श्रीरामजी ने ही हृदय से लगाया है।

(२) 'स्वपच सबर खस···'—द्वापर में श्वपच भक्त हुए, जिनके प्रसाद-सेवन से युधिष्ठिर का यज्ञ पूर्ण हुआ। शबर जाति में श्रीशबरीजी प्रसिद्ध हैं। यवन, जिसने हराम कहा और तर गया। इसकी कथा वाराहपुराण में है। 'खस' यह भक्त श्रीमद्भागवत एवं महाभारत में कहा गया है और कोल-किरातों की कथा इसी ग्रंथ में है; यथा—"पाई न गति केहि·· गनिका अजामिल ब्याध गीध गजादि खल तारे घना। आभीर जवन किरात खस स्वपचादि अति अघरूप जे। कहि नाम बारेक तेऽपि पावन होत राम नमामि ते॥" (उ० दो० १३०); तथा—"किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुक्कसा आभीरकंका यवनाः खसादयः। येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥" (श्रीमद्भागवत)।

(३) 'नहि अचरज जुग जुग··'—आश्चर्य तब किया जाय, जब कि यह बात नई हो। ऐसा तो युगों से होता आया है; यथा—"चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ।" (बा० दो० २१); 'रघुबीर' अर्थात् इन्हीं श्रीरामजी के नाम के ये सब भक्त हैं; दूसरे ब्रह्म के नहीं। 'पावन परम' का पाठ राजापुर की प्रति में 'पाँवर परम' है। पुरानी हिन्दी के 'र' और 'न' में कम अंतर होता है। इसीसे ऐसा हो गया है।

(४) 'राम नाम महिमा सुर···'—'सुर सराहि तेहि' उपक्रम है और यहाँ—'सुर कहहीं' पर उपसंहार है, इतनी देवताओं की वाणी है। 'भेंटत भरत ताहि अति प्रीती।' कहकर भेंट का प्रसंग छोड़कर देवताओं की सराहना करना कहने लगे। आगे फिर—'राम सखहि मिलि···' पर पूर्व प्रसंग लिया, इससे यह भी जनाया कि इतनी देर श्रीभरतजी और निषादराज के मिलने में लगी जितने समय में ये बातें हुईं।

यह सुनकर श्रीअवध के लोग सुख पाते हैं कि हमारे परमप्रिय स्वामी की सराहना देवता भी करते हैं। हमलोग तो इन्हें राजकुमार ही जानते थे, ये तो परब्रह्म हैं, देवताओं की वाणी से तो यही सिद्ध है। अतः, हमारे बड़े भाग्य हैं कि इनसे हमारी घनिष्ठता है। जब ऐसे पापियों पर दया करते हैं, तब तो हम सबों को बहुत कुछ आशा है।

रामसखहि मिलि भरत सप्रेमा। पूँछी कुसल सुमंगल खेमा॥३॥
देखि भरत कर सील सनेहू। भा निषाद तेहि समय बिदेहू॥४॥
सकुच सनेहु मोद मन बाढ़ा। भरतहि चितवत एकटक ठाढ़ा॥५॥
धरि धीरजु पद बंदि बहोरी। बिनय सप्रेम करत कर जोरी॥६॥
कुसल मूल पद पंकज पेखी। मैं तिहुँकाल कुसल निज लेखी॥७॥
अब प्रभु परम अनुग्रह तोरे। सहित कोटि कुल मंगल मोरे॥८॥

दोहा—समुझि मोरि करतूति कुल, प्रभु महिमा जिय जोइ।
जो न भजइ रघुबीर-पद, जग बिधि-बंचित सोइ॥१९५॥

अर्थ—श्रीभरतजी ने प्रेम के साथ राम-सखा निषाद से मिलकर उससे कुशल-क्षेम और सुन्दर मंगल पूछा॥३॥ श्रीभरतजी का शील और स्नेह देखकर निषाद उस समय विदेह हो गया; अर्थात् प्रेम

में देहाध्यास भूल गया ॥४॥ उसके मन में संकोच, स्नेह और आनंद बढ़ा, (यहाँ तक कि) वह एकटक खड़ा-खड़ा श्रीभरतजी को देखता ही रह गया ॥५॥ फिर धैर्य धरकर उनके चरणों की वंदना करके हाथ जोड़ प्रेम से विनय करने लगा ॥६॥ कि कुशल के मूल आपके चरण-कमलों को देखकर मैंने तीनों कालों में अपनी कुशल समझ ली है ॥७॥ हे प्रभो ! अब आपके परम अनुग्रह से करोड़ों कुलों (पुरुषों) के साथ मुझे मंगल प्राप्त हो गया ॥८॥ मेरी करतूत और मेरा कुल समझकर और प्रभु की महिमा को हृदय में विचारकर जो रघुवीर श्रीरामजी के चरणों को न भजे, वही संसार में ब्रह्मा के द्वारा ठगा गया है ; अर्थात् वह संसार-भर में सबसे बड़ा अभागा है ॥१९५॥

विशेष—(१) 'पूँछी कुसल सुमंगल खेमा ।'—कुशल, मंगल और क्षेम पर्यायवाची शब्द हैं ; यथा—"श्वः श्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणं मंगलं शुभम् । भावुकं भाविकं भाव्यं कुशलं क्षेममस्त्रियाम् ॥" (अमरकोश) ; अत्यन्त प्रेम के कारण उससे बहुत बार कुशल पूछने के भाव से तीन बार पूछा, क्योंकि तीन संख्या बहुवचन है । तीन शब्दों में कहा ; यथा—"बान्धो बन निधि नीर निधि···" (लं॰ दो॰ ५); इस दोहे में जल के ही समुद्र को दस नामों से कहा है । वा, भक्ति-सम्बन्ध से उस नीच-वर्ण को उच्च तीन वर्णों का महत्त्व भी इन तीन शब्दों से दिया; यथा—"ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत् क्षत्रबन्धुमनामयम् । वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ॥" (मनु॰); कहा भी है—"तुलसी भगत सुपच भलो, भजै रैनि दिन राम । ऊँचो कुल केहि काम को, जहाँ न हरि को नाम ॥" (वैराग्य-संदीपिनी)

(२) 'देखि भरत कर सील सनेहू ।'—शील, नीच जाति को आदर देने और उससे मिलने में और स्नेह श्रीरामजी और उनके दासों के प्रति देखा । 'भा निषाद···'—हिंसक (निषाद) जाति का हृदय कठोर होता है, उसपर भी श्रीभरतजी के शील-स्नेह का प्रभाव पड़ा, जिससे उसको देह-सुधि न रह गई । वह सावधान होकर श्रीभरतजी की परीक्षा लेने आया था कि उनकी 'मित्र अरि मध्यगति' 'सुभाउ सील' एवं 'सनेह सुभाय सुहाये' की व्यवस्था जान आऊँ । यहाँ पर शील-स्नेह के ही देखने में सब काम हो गया । यह अधिकता हुई कि इनका प्रेम देखकर वह स्वयं विदेह हो गया ।

(३) 'सकुच सनेह मोद···'—'सकुच' इसपर हुई कि जो परम-भक्त पर दोषारोपण किया था—"है कछु कपट भाव मन माहीं ।" से "नहिं बिष बेलि अमिय फर फरहीं ॥" (दो॰ १८८) तक ; फिर बिना विचारे ही लड़ने को भी तैयारी कर दी थी । छींक-द्वारा न जाना जाता, तो बड़ा अनर्थ हो जाता । पुनः इनके प्रेम के अल्पांश के तुल्य भी मुझमें प्रेम नहीं है । ऐसे पापमय मेरे विचार और कहाँ इनका शील-स्नेह ! 'सनेह'—श्रीभरतजी का शुद्ध हृदय और राम-भक्तों में इतना प्रेम देखकर स्नेह हुआ । यों भी कि ये हमारे इष्ट के सच्चे भक्त हैं । तब तो उनका किंचित् स्नेह-सम्बन्ध देखकर मुझ नीच से भी प्रेम-सहित मिले । 'मोद'—श्रीभरतजी का स्नेह अपने ऊपर देखकर आनन्द उमड़ा । वह एकटक देखता ही रह गया । इससे भी मन में मोद है कि भला हुआ जो इनसे आ मिला और इन्हें मेरा दुर्भाव मालूम भी न हुआ ।

(४) 'धरि धीरज पद बंदि···'—पहले कहा गया था—"भा निषाद तेहि समय बिदेहू ।" इससे यहाँ उसका सावधान होना भी कहा है—'धरि धीरज' । फिर चरणों की वंदना करके प्रश्न का उत्तर देना यह शिष्टाचार है; क्योंकि श्रीभरतजी चक्रवर्त्ति-कुमार और परम भागवत हैं और निषाद-राज उनकी अपेक्षा बहुत ही छोटे अपनेको मानते हैं । श्रीभरतजी ने कुशल-प्रश्न किया था और निषादराज विदेह हो गये थे, अभी सावधान हुए तो उत्तर देते हैं । इसीसे आगे (सातवें) चरण में उत्तर लिखा गया है

(५) 'कुसल मूल पद-पंकज······'—आप परम भक्त श्रीरामजी के प्रिय भ्राता और हमारे महाराज के पुत्र हैं। आपके चरणों के दर्शन मेरी सब कुशल के कारण हैं। फिर जो आपने मुझपर परम अनुग्रह किया, इतना सम्मान दिया, तब तो मेरे करोड़ों पुरखों का मंगल हुआ। 'कुसल मूल पद ···' का दूसरा अर्थ और भाव भी कहा जाता है—कुशल के मूल श्रीरामजी के चरण हैं; यथा—"तब लगि कुसल न जीव कहँ·· जब लगि भजत न राम-पद,···" (सुं० दो० ४६)। उनके दर्शनों से ही मैं अपने तीनों कालों की कुशल मानता हूँ। अब परम-भक्त आपके अनुग्रह से तो मेरे कोटि कुल की कुशल हुई; यथा—"सब साधनकर सुफल सुहावा। लखन-राम-सिय दरसन पावा॥ तेहि फलकर फल दरस तुम्हारा। सहित प्रयाग सुभाग हमारा॥" (दो० २०६)—यह श्रीभरद्वाजजी ने कहा है। श्रीरामजी ने अनुग्रह किया और आपने परम-अनुग्रह। 'सहित कोटि कुल'—श्रीरामजी के अनुग्रह से कुल-भर और आपके परम अनुग्रह से मेरी करोड़ों पीढ़ियाँ तरीं। इस तरह भागवत-महिमा कही; यथा—"मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक रामकर दासा॥" (उ० दो० ११९); "तुलसी रामहुँ ते अधिक, राम-भक्त जिय जान। ऋनियाँ राजा राम से, धनिक भये हनुमान॥" (दोहावली १११)।

(६) 'तिहुँकाल'—भूतकाल की कुशल के परिणाम-रूप में आपके दर्शन हुए, यही कुशल वर्त्तमान की है। अब मैं सपरिजन आपकी सेवा करूँगा; इससे भविष्य में मंगल होगा।

(७) 'समुझि मोरि करतूति ····'—करतूत चोरी हिंसा आदि, कुल महाअधम निषाद का; जिसकी परछाईं छू जाने पर द्विजातियों को स्नान की आवश्यकता होती है। और कहाँ प्रभु-महिमा; यथा—"सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन-सेवकाई॥" (लं० दो० २१); "देखे सिव बिधि बिष्णु अनेका। अमित प्रभाव एक ते एका॥ बंदत-चरन करत प्रभु सेवा। बिबिध बेष देखे सब देवा॥" (बा० दो० ५४)। प्रभु की महिमा और मेरी नीचता में महान् अंतर है। फिर भी मुझे कृपालु श्रीरामजी ने अपनाया और भुवन-भूषण बनाया कि परम-श्रेष्ठ श्रीभरतजी मुझसे मिले। 'जग बिधि बंचित सोइ'; यथा—"तुलसी जाके 'होइगो, भीतर बाहर दीठि। सो कि कृपालहि देइगो, केवटपालहि पीठि॥" (दोहावली ४६); अर्थात् जब ऐसे नीचों को भी कृपालु श्रीरामजी अपनाते हैं, तो मुझे क्यों न अपनावेंगे। यह दृढ़ता करके उनकी भक्ति करनी चाहिये। ऐसी बुद्धि न हुई, तो निश्चय है कि उसे ब्रह्मा ने ठग लिया कि सुबुद्धि न दी; यथा—"बालमीकि केवट कथा कपि भील-भालु सनमान। सुनि सन्मुख जो न राम सों तेहि को उपदेसिहि ज्ञान॥" (वि० १९१)।

कपटी कायर कुमति कुजाती। लोक बेद बाहेर सब भाँती॥१॥
राम कीन्ह आपन जबही ते। भयेउँ भुवन-भूषन तबही ते॥२॥
देखि प्रीति सुनि बिनय सुहाई। मिलेउ बहोरि भरत - लघु भाई॥३॥
कहि निषाद निज नाम सुबानी। सादर सकल जोहारी रानी॥४॥
जानि लखन - सम देहिं असीसा। जियहु सुखी सय लाख बरीसा॥५॥
निरखि निषाद नगर - नर - नारी। भये सुखी जनु लखन निहारी॥६॥
कहहिं लहेउ येहि जीवन लाहू। भेंटेउ रामभद्र भरि बाहू॥७॥
सुनि निषाद निज - भाग - बड़ाई। प्रमुदित मन लै चलेउ लिवाई॥८॥

दोहा—सनकारे सेवक सकल, चले स्वामि रुख पाइ।
घर तरु तर सर बाग बन, बास बनायेन्हि जाइ ॥१९६॥

शब्दार्थ—सनकारे = संकेत किया, इशारा किया, सैन किया। बास = निवास-स्थान।

अर्थ—मैं कपटी, कादर, दुर्बुद्धि, नीच जाति सब तरह से लोक और वेद से बाहर (गया बीता) हूँ ॥१॥ मुझ ऐसे को भी श्रीरामजी ने जब से अपनाया, तभी से मैं सब भुवनों का भूषण-रूप हो गया ॥२॥ (निषादराज की) प्रीति और सुन्दर विनती सुनकर फिर श्रीभरतजी के छोटे भाई श्रीशत्रुघ्नजी उससे मिले ॥३॥ निषादराज ने अपना नाम कहकर सुन्दर वाणी से आदर के साथ सब रानियों को जोहार (प्रणाम) किया ॥४॥ (वे) श्रीलक्ष्मणजी के समान जानकर (इन्हें) आशिष देती हैं—सौ लाख वर्ष तक तुम सुख-पूर्वक जियो ॥५॥ अयोध्या नगर के स्त्री-पुरुष निषादराज को देखकर ऐसे सुखी हुए, मानों श्रीलक्ष्मणजी को देखा है ॥६॥ सब कहते हैं कि इसने जीने का लाभ पाया कि जो कल्याण-स्वरूप श्रीरामजी ने इससे एवं इसने श्रीरामजी से बाहु-भर (पूरी भुजा पसारकर हृदय से लगाकर) भेंट की है ॥७॥ अपने भाग्य की बड़ाई सुनकर निषाद-राज आनंदित मन से सबको लिवा ले चला ॥८॥ सब सेवकों को संकेत से जना दिया, वे सब स्वामी का रुख पाकर चले और घरों में, वृक्षों के नीचे, तालाबों के तट पर, बागों और वनों में जाकर निवास (के योग्य) स्थान बनाये; अर्थात् स्थानों को साफकर वहाँ साथरी आदि सामग्री सजा दी ॥१९६॥

विशेष—(१) 'कपटी कायर कुमति कुभाती''''—मैं कपटी हूँ, भीतर कुछ और बाहर कुछ और ही बर्ताव रहता है। ऐसे को सज्जन लोग उपदेश भी नहीं देते। जो कृपा करके शिक्षा भी दें तो तदनुसार आचरण करके अपना सुधार करने में भी कादर हूँ। फिर यह भी नहीं कि बुद्धि अच्छी हो कि स्वयं कुछ सुधार का उपाय सोचे और न उत्तम जाति ही है कि भले लोगों का सहवास मिले कि उनके सत्संग से सुधार हो, इत्यादि सभी तरह से बिगड़ा हूँ। बस, बनने का यही एक हेतु है कि जो—

(२) 'राम कीन्ह आपन'''; यथा—"जाको हरि दृढ़ करि अंग करेउ। सोई सुसील पुनीत वेद-विद-विद्या गुननि भरेउ॥" (वि० २३९); 'भयेउँ भुवन भूषण''' अर्थात् पहले नीच जाति का एवं अधम निषाद होने से पृथिवी में दूषण-रूप था।

(३) 'भरत-लघु-भाई'—श्रीरामजी की तरह उनके लघु भाई श्रीभरतजी ने इससे भेंट की। वैसे श्रीभरतजी की तरह इनके लघु भाई ने भी भेंट की; अर्थात् श्रीरामजी की कृपा होने पर भागवत और भागवताश्रयी की भी कृपा हुई। कहा ही है—"तुलसी राम जो आदर्यो, खोटो खरो खरोइ॥" (दो० १०९); 'राम भद्र'—श्रीरामजी कल्याणस्वरूप हैं। अतः, उनके सम्बन्ध से इसका भी कल्याण हुआ। 'भरि बाहू'; यथा—"हिंसारत निषाद तामस वपु पसु समान बन चारी। भेंट्यो हृदय लगाइ प्रेम बस नहिं कुल जाति बिचारी॥" (वि० १६६)। "जेहि कर कमल उठाइ बधु ज्यों परम प्रीति केवट भेंट्यो।" (वि० १३८)।

(४) 'सनकारे सेवक सकल'''—संकेत से जनाया, (जो संकेत—'रामहिं भरत मनावन जाहीं।' समझाने के लिये सम्भवतः कर रक्खा था)। 'घर तरु तर सर'''—रानियों के लिये घर, मुनियों के लिये तरु तर, पुरवासियों के लिये सर-बाग और बैल, घोड़े, हाथी आदि के लिये बन में रहने का प्रबंध किया।

निषाद-राज ने संकेत से काम लिया कि श्रीभरतजी न जान पावें, नहीं तो बड़ी लज्जा की बात होगी, पर श्रीभरतजी भी तो राजकुमार हैं, राजनीति में परम निपुण हैं; अतः, जान ही गये, यथा—"बहुरि निहारि निषाद सनेहू। कुलिस कठिन उर भयउ न बेहू॥" (दो० २६१); (यह वचन निषादराज के इस प्रसंग की प्रशंसा के रूप में कहा गया है)।

सृंगबेरपुर भरत दीख जब। भे सनेह बस अंग सिथिल तब॥१॥
सोहत दिये निषादहि लागू। जनु तनु धरें बिनय अनुरागू॥२॥
येहि बिधि भरत सेन सब संगा। दीख जाइ जगपावनि गंगा॥३॥
रामघाट कहँ कीन्ह प्रनामू। भा मन मगन मिले जनु रामू॥४॥

शब्दार्थ—लागू=सहारा, लगाव, यथा—"राम सखा कर दीन्हें लागू।" (दो० २१५)।

अर्थ—जब श्रीभरतजी ने शृंगवेरपुर को देखा, तब उनके सब अंग स्नेहवश शिथिल हो गये॥१॥ वे निषादराज के कंधे पर हाथ का सहारा दिये हुए ऐसे शोभित हो रहे हैं, जैसे विनय और अनुराग शरीर धारण किये हुए शोभित हों॥२॥ इस प्रकार श्रीभरतजी ने सब सेना के साथ जाकर जगत् पावनी गंगाजी के दर्शन किये॥३॥ श्रीरामघाट (जहाँ श्रीरामजी ने संध्या एवं स्नान आदि किये थे) को प्रणाम किया, उनका मन (आनंद में ऐसा) मग्न हो गया कि मानों श्रीरामजी ही मिल गये हों॥४॥

विशेष—(१) 'सृंगबेरपुर भरत दीख···'—यहाँ पर श्रीरामजी ने दो उपवासों पर फल खाया है, वे भूमि पर पहले-पहल सोये हैं, उन्होंने जटा रखाई, रथ छोड़ा और सुमंत्रजी को लौटाया है, ये सब बातें स्मरण हो आई। अत, स्नेह से शिथिलता आ गई।

(२) 'सोहत दिये निषादहि लागू।···'—विह्वलता से शरीर शिथिल पड़ गया है, इसलिये निषादराज के सहारे से चल रहे हैं; यही उत्प्रेक्षा का विषय है। विनय-रूप निषाद और अनुराग रूप श्रीभरतजी हैं; क्योंकि निषादराज अपनी दीनता कह रहे हैं और श्रीभरतजी का शरीर ही अनुराग से शिथिल है।

करहिं प्रनाम नगर-नर-नारी। मुदित ब्रह्ममय बारि निहारी॥५॥
करि मज्जन माँगहिं कर जोरी। रामचंद्र-पद प्रीति न थोरी॥६॥
भरत कहेउ सुरसरि तव रेनू। सकल सुखद सेवक सुरधेनू॥७॥
जोरि पानि बर माँगउँ येहू। सीय-राम-पद सहज सनेहू॥८॥

दोहा—येहि बिधि मज्जन भरत करि, गुरु अनुसासन पाइ।
मातु नहानीं जानि सब, डेरा चले लिवाइ॥१९७॥

शब्दार्थ—ब्रह्ममय बारि=ब्रह्म रूप जल, भगवान् का विग्रह सच्चिदानंद-रूप है। अत', उनके नख से उत्पन्न जल भी ब्रह्मरूप ही है, इसीसे 'ब्रह्ममय' कहा है।

अर्थ—नगर के स्त्री-पुरुष प्रणाम करते हैं, गंगाजी के ब्रह्म-रूप जल को देख-देखकर प्रसन्न होते हैं ॥४॥ स्नान करके हाथ जोड़कर माँगते हैं कि श्रीरामजी के चरणों में हमारी बहुत प्रीति हो ॥६॥ श्रीभरतजी ने कहा कि हे गंगाजो! तुम्हारी रेणु (बालू, धूल) सबको सुख देनेवाली है और सेवकों के लिये तो कामधेनु के समान है ॥७॥ मैं हाथ जोड़कर यही वर माँगता हूँ कि श्रीसीतारामजी के चरणों में मेरा स्वाभाविक स्नेह हो ॥८॥ इस प्रकार श्रीभरतजी स्नान करके गुरु आज्ञा पा और यह जानकर कि सब माताएँ नहा चुकीं, डेरा को लिवा चले ॥१९७॥

विशेष—(१) 'करहिं प्रनाम नगर ···'—'ब्रह्ममय वारि', यथा—"ब्रह्म जो व्यापक वेद कहैं, गम नाहिं गिरा गुन ज्ञान गुनी को। जो करता भरता हरता सुर साहिब साहब दीन दुनीको॥ सोई भयो द्रव-रूप सही जु है नाथ विरंचि महेस मुनी को। मानि प्रतीति सदा तुलसी जल काहे न सेवत देवधुनी को ?॥" (क० उ० १४६)। इस ब्रह्ममय जल के दर्शन करने से नर-नारियों को ब्रह्म की प्राप्ति के सुख के समान आनंद हो रहा है। श्रीभरतजी ने रामघाट का प्रणाम किया और उनका मन इस आनंद में मग्न हो गया कि मानो उन्हें श्रीरामजी ही मिल गये। पुरवासी मुदित हैं और उनका मन तो आनंद में डूब ही गया है। इस तरह पुरवासियों की अपेक्षा इनका सुख अधिक कहा गया है, क्योंकि ब्रह्मानंद की अपेक्षा श्रीराम-प्राप्ति में कहीं अधिक सुख है ; यथा—"अवलोकि रामहिं अनुभवत मनु ब्रह्म सुख सौ गुन दिये॥" (जानकी-मंगल ४५), यह श्रीजनकजी ने अनुभव किया है।

श्रीरामघाट के दर्शनों से श्रीभरतजी वहाँ के चरित्र स्मरण करते हुए श्रीरामप्रेम में निमग्न हुए, तब उनके हृदय में राम-मूर्त्ति का साक्षात्कार हो गया, क्योंकि—"प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।" (बा० दो० १८४) कहा ही है। इसीसे 'मिले जनु रामा' कहा है।

(२) 'भरत कहेउ ···'—श्रीभरतजी रामघाट को प्रणाम कर ध्यान में निमग्न हो गये। उसी बीच में पुरवासियों का प्रणाम करना, स्नान और वर माँगना वर्णन किया, तब फिर श्रीभरतजी का सावधान होकर कहना कहा गया।

(३) 'सहज सनेहू' ; यथा—"सुम अपनायो तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै। जेहि सुभाव विषयनि लग्यो तेहि सहज नाथ सों नेह छाँड़ि छल करिहै। ···" (वि० २६८) तथा—"मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय। निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशय ॥" (गीता १२।८)।

(४) 'गुरु अनुसासन पाइ' यह दीप-देहली न्याय से दोनों ओर लग सकता है—श्रीभरतजी और माताओं के स्नान में तथा डेरा लिवा जाने में भी।

जहँ तहँ लोगन्ह डेरा कीन्हा। भरत सोध सबही कर लीन्हा ॥१॥
गुरु-सेवा करि आयसु पाई। राममातु पहिं गे दोउ भाई ॥२॥
चरन चाँपि कहि कहि मृदु बानी। जननी सकल भरत सनमानी ॥३॥
भाइहि सौंपि मातुसेवकाई। आपु निषादहि लीन्ह बोलाई ॥४॥
चले सखा कर सों कर जोरे। सिथिल सरीर सनेह न थोरे ॥५॥

अर्थ—जहाँ-तहाँ लोगों ने डेरा (निवास स्थान) किया, श्रीभरतजी ने सबकी शोध (जाँच, खोज)

की (कि सब आराम से आ गये और ठहर गये) ॥१॥ गुरुजी की सेवा कर आज्ञा ले करके दोनों भाई श्रीकौशल्याजी के पास गये ॥२॥ चरण दबाकर और मीठी वाणी कह-कहकर श्रीभरतजी ने सब माताओं का सम्मान किया ॥३॥ फिर भाई को माताओं की सेवा सौंपकर आपने निषादराज को बुला लिया ॥४॥ सखा के हाथ से हाथ मिलाये हुए चले, अत्यन्त स्नेह से शरीर शिथिल हो गया है ॥५॥

विशेष—(१) 'सोध सबही कर लीन्हा'—यह नीति की सावधानता है कि कोई बिछड़ तो नहीं गया, किसे कौन-सा सुपास होना चाहिये ? इत्यादि।

(२) 'गुरु सेवा करि'' '—यहाँ 'सुर-सेवा' भी पाठ है ; राजापुर की प्रति एवं और कई प्राचीन प्रतियों में पाया जाता है। सम्भवतः 'गु' का लेख-प्रमाद से 'सु' हो गया हो, फिर प्रतिलिपियों की अंध परंपरा से वही होता आया हो। अन्यथा 'आयसु पाई' को ठीक संगति नहीं होती। माता की सेवा स्वयं की, फिर भाई को भी वही सेवा सौंपी—यह मातृ-भक्ति है। स्वयं निषादराज के साथ श्रीरामजी का वात्सल्य देखने चले कि जिससे कुछ शांति मिले।

पूँछत सखहिं सो ठाउँ देखाऊ। नेकु नयन-मन-जरनि जुड़ाऊ ॥६॥
जहँ सिय राम लखन निसि सोये। कहत भरे जल लोचन कोये ॥७॥
भरतबचन सुनि भयउ बिषादू। तुरत तहाँ लेइ गयेउ निषादू ॥८॥

दोहा—जहँ सिंसुपा पुनीत तरु, रघुबर किय बिश्राम।
अति सनेह सादर भरत, कीन्हेउ दंड प्रनाम ॥१९८॥

अर्थ—सखा से पूछते हैं कि वह स्थान दिखाओ, जिससे मेरे नेत्र और मन की जलन शीतल हो ॥६॥ जहाँ श्रीसीतारामजी रात में सोये थे—ऐसा कहते हुए उनके नेत्रों के कोनों में जल भर आया ॥७॥ श्रीभरतजी के वचन सुनकर निषादराज को बड़ा दुःख हुआ और वह तुरत वहाँ लिवा ले गया ॥८॥ जहाँ पवित्र शीशम के वृक्ष के नीचे रघुबर श्रीरामजी ने विश्राम किया था, श्रीभरतजी ने अत्यन्त स्नेह और आदर से दंडवत्-प्रणाम किया ॥१९८॥

विशेष—(१) 'नेकु नयन मन जरनि जुड़ाऊ।'—श्रीभरतजी ने पहले कहा था—"देखे बिनु रघुबीर पद, जिय की जरनि न जाइ ॥" (दो० १८२), यद्यपि अभी यहाँ 'रघुबीर-पद' के दर्शन नहीं हैं, तथापि उनके स्मारक स्थलों एवं वस्तुओं को देखने से कुछ शांति मिलेगी, इसीसे 'नेकु' शब्द कहा है। पूरी शांति तो साक्षात् दर्शनों से ही होगी। भक्तों को अपने प्रिय इष्ट के सम्बन्ध की सामान्य वस्तुओं से भी उतना ही सुख होता है, जितना कि इष्ट के मिलने से, यथा—"रज सिर धरि हिय नयनन्हि लावहिं। रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं ॥ हरषहिं निरखि राम पद अंका।…" (दो० २३७) इत्यादि।

(२) 'तुरत तहाँ लेइ गयेउ…'—निषाद हिंसक जाति के कठोर हृदयवाले होते हैं, तब भी हृदयद्रावक श्रीभरतजी के वचनों से उसका हृदय द्रवीभूत हो गया और वह तुरत वहाँ ले गया। जहाँ पर प्रभु साथरी पर सोये थे।

(३) 'जहँ सिंसुपा पुनीत…'—श्रीरामजी के द्वारा स्वीकृत होने से वह पवित्र कहा गया ; यथा—

"जेहि तरु तर प्रभु बैठहिं जाई। करहिं कलप तरु तासु बड़ाई॥" (दो० ११२); "महाराज रामादरयो धन्य सोई।" (वि० १०६)। (यह स्थान आजतक रामचौरा नाम से विख्यात है।)

कुस साथरी निहारि सुहाई। कीन्ह प्रनाम प्रदच्छिन जाई॥१॥
चरन-रेख-रज आँखिन्ह लाई। बनइ न कहत प्रीति अधिकाई॥२॥
कनक-बिंदु दुइ चारिक देखे। राखे सीस सीय-सम लेखे॥३॥
सजल बिलोचन हृदय गलानी। कहत सखा सन बचन सुबानी॥४॥

शब्दार्थ— बिंदु=कण, छोटे टुकड़े। दुइ-चारिक=दो-चार—यह कुछ थोड़े से के लिये मुहावरा है।

अर्थ—कुश की सुन्दर साथरी देख प्रदक्षिणा करके प्रणाम किया॥१॥ चरण-चिन्हों की धूल आँखों में लगाई, वह प्रीति की अधिकता कहते नहीं बनती॥२॥ कुछ थोड़े-से कनक बिन्दु (जो श्रीसीताजी के वस्त्राभूषणों से झड़कर गिरे थे) देखे तो उनको (भक्ति भाव से) शिर पर रक्खा और श्रीसीताजी के समान समझा॥३॥ नेत्रों में आँसू भरे हैं, हृदय में ग्लानि है, वे सखा से सुन्दर वाणी कह रहे हैं॥४॥

विशेष—(१) 'कुस साथरी ···'—श्रीरामजी के विश्राम करने से यह 'सुहाई' है, 'चरन-रेख रज आँखिन्ह लाई'; यथा—"जेहिं परसत अति प्रिय पाती। हृदय लगाइ जुड़ावहिं छाती।" (बा० दो० ३१४); आगे श्रीजानकीजी के चिह्न भी कहते हैं—'कनक बिंदु दुइ ···'—श्रीजानकीजी की साड़ी आदि वस्त्रों में सलमा-सितारा आदि लगे थे, वे रगड़ से कुछ झड़ गये हैं; तथा पहुँची, बेंदी आदि आभूषणों से कुछ छोटे दाने गिरे पड़े हैं; यथा—"मन्ये साभरणा सुप्ता सीतास्मिञ्शयने शुभा। तत्र तत्र हि दृश्यन्ते सक्ताः कनक बिन्दवः॥" (वाल्मी० २।८८।१४)। 'कनक बिंदु' श्रीसीताजी की साड़ी के हैं। अतः, उनका श्रीसीताजी के ही तुल्य सम्मान किया। पुनः वर्ण साम्य भी है, क्योंकि श्रीसीताजी भी स्वर्ण वर्णा हैं। इससे यह भी जाना गया कि श्रीसीताजी वस्त्राभूषण धारण किये हुए वन को गई हैं।

(२) 'सजल बिलोचन···'—मेरे ही कारण श्रीसीताजी-श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी को वनवास हुआ, यह ग्लानि तो प्रथम से ही थी। यहाँ उनके दु:ख झेलने के चिन्ह देखे इससे करुणारस प्रबल हो गया और आँसू चल पड़े, वाणी भी अति कोमल हो गई।

श्रीभरतजी को यहाँ श्रीसीताजी, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी तीनों के मिलने का-सा सुख कहा गया; यथा—"मनहुँ लखन सन भेंट भइ,···" (दो० १९९)। "भा मन मगन मिले जनु रामू॥" (दो० १९९); "राखे सीस सीय सम लेखे।" (दो० १९८)।

श्रीहत सीयबिरह दुतिहीना। जथा अवध नरनारि बिलीना॥५॥
पिता जनक देउँ पटतर केही। करतल भोग जोग जग जेही॥६॥
ससुर भानु-कुल-भानु भुआलू। जेहि सिहात अमरावतिपालू॥७॥
प्राननाथ रघुनाथ गोसाईं। जो बड़ होत सो रामबड़ाई॥

दोहा—पतिदेवता सुतीय - मनि, सीय साथरी देखि।
बिहरत हृदय न हहरि हर, पवि ते कठिन बिसेखि ॥१९९॥

शब्दार्थ—बिहरत (सं० विघटन)=विदीर्ण होता, फटता ; यथा—"सब बिलोकि बिहरति नहिं छाती।" (लं० दो० ३१); हहरि=घबड़ाकर, हा हा करके ; यथा—"गिरयो हिये हहरि 'हराम हो हराम हन्यो'…" (क० उ० ७६)।

अर्थ—(ये कनक विन्दु) श्रीसीताजी के विरह से शोभा-रहित और चमक-हीन हो गये हैं। जैसे श्रीअयोध्याजी के स्त्री-पुरुष मलिन हो रहे हैं ॥५॥ जिन राजा जनक की हथेली में भोग और योग प्राप्त हैं उनकी समता किससे दूँ? वे जिनके पिता हैं ॥६॥ सूर्य-कुल के सूर्य राजा दशरथ श्वशुर हैं। जिनको देवपुरी के स्वामी इन्द्र भी सिहाता था ॥७॥ गोस्वामी श्रीरघुनाथजी पति हैं; जो बड़ा होता है वह श्रीरामजी की दी हुई बड़ाई से ही बड़ा होता है ॥८॥ पतिव्रता स्त्रियों में शिरोमणि श्रीसीताजी की साथरी देखकर मेरा हृदय हहरकर फट नहीं जाता! हे हर! यह वज्र से भी विशेष कठोर है ॥१९९॥

विशेष—(१) 'श्रीहत सीयविरह…'—श्रीजानकीजी से विलग हुए इससे विरह के कारण द्युति-हीन हुए, धूल में पड़ने से मलिन हो रहे हैं। ये जड़ हैं तो भी अवधवासियों (चेतनों) की तरह मलिन हैं। कम नहीं, जिनके विरह में जड़ों की यह दशा है, वे कैसी हैं—

(२) 'पिता जनक देउँ…'—उपमा के लिये कोई नहीं मिल सकता, क्योंकि इन्द्र में भोग की अवधि है ; यथा—"भोगेन मघवानिव…" (वाल्मी० सु०); और सनकादिक सिद्ध योगी हैं, पर इन दोनों में एक ही एक ऐश्वर्य है और श्रीजनकजी में योग-भोग दोनों ही ऐश्वर्य हैं ; यथा—"भूमि भोग करत अनुभवत जोग सुख मुनि मन अगम अलख गति जान की ॥" (गी० बा० ८६)। योग और भोग परस्पर विरोधी हैं, पर इनमें दोनों ही हैं।'

(३) 'ससुर भानु कुल…'—जिस सूर्य-कुल में एक-से-एक प्रतापी हुए, ये उसके भी प्रकाशक हैं; अर्थात् अत्यन्त प्रतापी हैं। जिनका ऐश्वर्य देखकर इन्द्र सिहाते हैं; अर्थात् ललचाते हुए सराहना करते हैं। ऐसे तो जिनके श्वशुर हैं।

(४) 'प्रान नाथ रघुनाथ…'—'प्राननाथ'—इनके तो पति हैं और सबके भी प्राणों के स्वामी हैं ; यथा—"प्रान प्रान के जीव के, जिव…" (दो० २९०)।

'जो बड़ होत सो राम…' ; यथा—"केहि न दीन्हि रघुबीर बड़ाई।" (दो० १६२), "हरिहिं हरिता बिधिहि बिधिता, सिवहिं सिवता जो दई। सोइ जानकी पति…" (वि० १३५) ; यथा—"यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥" (गीता १०।४१)। तब इनकी महिमा की तो सीमा ही नहीं है, ऐसे जिनके पति हैं।

(५) 'पतिदेवता सुतीय मनि…'—पति को इष्ट देवता माननेवाली स्त्रियाँ अरुंधती, अनसूया, पार्वती आदि प्रसिद्ध हैं, श्रीसीताजी उन सबों में शिरोमणि हैं, इस तरह स्वयं भी सब तरह श्रेष्ठ हैं; पिता, श्वशुर और पति ही के ऐश्वर्य-सम्बन्ध से इनकी बड़ाई नहीं है। वे भी कुश पल्लव की साथरी पर सोती हैं, यह देखकर तो हा-हा करके हृदय फट जाना चाहिये था। पर न फटा। अतः, हे हर! आप संहार-कर्त्ता देव हैं ; इसे विदीर्ण कर दें, यह 'हर' के सम्बोधन का तात्पर्य है

वज्र (हीरा) के विषय में कहा जाता है कि अनभिज्ञ दासी ने उसपर पैर रख दिया। तब वह न फूटा और उसके महत्त्व के जाननेवाले जौहरी ने जब उसपर पाँव रक्खा; अर्थात् उसका अपमान किया, तो वह घन की चोट सहनेवाला भी अपमान न सह सका, प्रत्युत् चूर्ण हो गया। पर मेरा हृदय इतनी ग्लानि पर भी न फटा, अतः, वज्र से भी अत्यंत कठिन है।

लालनजोग लखन लघु लोने। भे न भाइ अस अहहि न होने ॥१॥
पुरजन प्रिय पितु मातु दुलारे। सिय रघुबीरहि प्रानपियारे ॥२॥
मृदुमूरति सुकुमार सुभाऊ। ताति बाउ तन लाग न काऊ ॥३॥
ते बन सहहिं बिपति सब भाँती। निदरे कोटि कुलिस येहि छाती ॥४॥

शब्दार्थ—दुलारे = प्रेम के कारण बच्चों या प्रेम-पात्रों को प्रसन्न करने के लिये उनके साथ अनेक प्रकार की चेष्टा करना, दुलारना है, लाड़-प्यार किये हुए।

अर्थ—सुन्दर छोटे (अतएव) दुलार करने के योग्य श्रीलक्ष्मणजी के समान भाई न हुआ, न है और न होनेवाला है ॥१॥ जो पुरवासियों के प्यारे, माता-पिता के दुलारे और श्रीसीतारामजी को प्राणों से प्रिय हैं ॥२॥ जिनका कोमल शरीर है और स्वभाव सुकुमार (नाजुक) है, जिनके शरीर में कभी गर्म हवा भी नहीं लगी, अर्थात् जो कभी बाहर नहीं निकले ॥३॥ वे ही श्रीलक्ष्मणजी वन में सब प्रकार की विपत्तियाँ सह रहे हैं। (हा!) इस मेरी छाती ने करोड़ों वज्रों का भी निरादर कर दिया (अन्यथा इसे यह समझकर फट जाना चाहता था) ॥४॥

विशेष—(१) 'लालनजोग लखन ···'—श्रीसीतारामजी की साथरी देखी, पर श्रीलक्ष्मणजी की वह भी नहीं देखी; इससे अधिक ग्लानि हुई कि ये रात-भर सोये भी नहीं, पहरा ही देते रहे; इसीसे उपर्युक्त 'पवि ते कठिन' की अपेक्षा यहाँ 'कोटि कुलिस' कहा है। 'लालन जोग' अर्थात् ये तो गोद में लेकर लाड़-प्यार करने के योग्य हैं, क्योंकि 'लघु' अर्थात् छोटे हैं, बच्चे हैं, इतना ही नहीं, किन्तु 'लोने' अर्थात् सुन्दर भी हैं। 'पुरजन प्रिय'—अनीति एवं अवगुण का लेश भी नहीं है, इससे पुरजनों को प्रिय हैं। (सौम्य स्वभाव से 'पितु मातु दुलारे' हैं।) अपनी भक्ति एवं आयप से श्रीसीतारामजी को प्राण-प्रिय हैं। यहाँ 'प्रिय' 'दुलारे' और 'प्रान पियारे' में उत्तरोत्तर अधिकता है। 'मृदु मूरति' अर्थात् ये तो सवारी पर ही चलने के योग्य हैं, वन के काँटे-कंकड़ पर पैदल के योग्य नहीं। 'सुकुमार सुभाऊ' हैं, इससे दुःख सुनने के भी योग्य नहीं हैं। यह भी नहीं है कि प्रथम से इन्हें ऐसा कष्ट सहने का अभ्यास रहा हो, किन्तु इन्हें तो कभी गर्म हवा भी नहीं लगी। सदा खस-गुलाब आदि-द्वारा त्रिविध वायु का ही सेवन करते थे। ये भी वन में भाई की विपत्ति बँटाने के लिये साथ हुए, सब तरह से सब प्रकार के दुःख झेल रहे हैं। 'येहि छाती'—अंगुल्या निर्देश करके कहा है।

राम जनमि जग कीन्ह उजागर। रूप सील सुख सब गुनसागर ॥५॥
पुरजन परिजन गुरु पितु-माता। राम-सुभाव सबहि सुखदाता ॥६॥
बैरिउ रामबड़ाई करहीं। बोलनि मिलनि बिनय मन हरहीं ॥७॥
सारद कोटि कोटि सत सेखा। करि न सकहिं प्रभु-गुन-गन-लेखा ॥८॥

दोहा—सुखसरूप रघुबंस-मनि, मंगल-मोद-निधान।
ते सोवत कुस डासि महि, बिधिगति अति बलवान॥२००॥

अर्थ—श्रीरामजी ने जन्म लेकर संसार को प्रकाशित कर दिया। वे रूप, शील, सुख और सब गुणों के समुद्र हैं ॥५॥ पुरवासी, कुटुंबी, गुरु, पिता और माता, सभी को श्रीरामजी का स्वभाव सुख देनेवाला है ॥६॥ शत्रु भी श्रीरामजी की बड़ाई करते हैं, उनकी बोली, मिलने की रीति और विशेष नम्रता आदि मन को हर लेती है ॥७॥ करोड़ों सरस्वती और करोड़ों शेष भी प्रभु के गुण-समूहों का लेखा (गणना) यदि करना चाहें तो नहीं कर सकते (तो मैं कैसे कहूँ ?) ॥८॥ जो सुख के स्वरूप, मंगल और आनंद के कोश एवं रघुकुल के शिरोमणि हैं, वे पृथिवी पर कुश बिछाकर सोते हैं, ब्रह्मा की चाल अत्यंत बलवती है ॥२००॥

विशेष—(१) 'रूप सील सुख सब गुनसागर।'; यथा—"चारित सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुख सागर रामा॥" (बा० दो० १२७); 'रूप'; यथा—"रूप सकहि नहिं कहि श्रुति सेखा। सो जानइ सपनेहुँ जिन्ह देखा॥" (बा० दो० १२८); 'सील'—"सील सिंधु सुनि गुरु आगमनू॥" (दो० २४२); 'सुख'—"तात कुसल कहु सुख निधान की।" (लं० दो० ५८); 'गुन'—"गुनसागर नागर बर बीरा।" (बा० दो० २४०)। गुणों का वर्णन वाल्मी० अ० २ स० २६ में विस्तार से है। रूप आदि पर विश्वामित्रजी, श्रीजनकजी, श्रीपरशुरामजी एवं खर-दूषण आदि भी मोहित हो गये। रूप आदि में श्रीरामजी जगत्-भर में आदर्श हुए।

(२) 'पुरजन परिजन गुरु…'—पुरवासियों पर श्रीरामजी की ममता है; यथा—"बंदउँ पुर नर नारि बहोरी। ममता जिन्ह पर प्रभुहिं न थोरी॥" (बा० दो० १५); श्रीमुख वचन है—"अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी।" (उ० दो० ३); सेवा एवं शील-स्वभाव से आपने गुरुजनों को वश कर रक्खा है, इत्यादि गुणों से आप सबको सुखद हैं।

यह भी आशय है कि श्रीरामजी से प्रजा, कुटुम्बी आदि का कोई भी नाता कर लिया जाय तो आप सब प्रकार से सुखदाता होंगे, ऐसा स्वभाव ही है। कहा भी है—"उमा राम सुभाव जिन्ह जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥" (सुं० दो० ३४)।

(३) 'बैरिउ रामबड़ाई करहीं'—जैसे कि खर-दूषण, शूर्पणखा और मारीच ने बड़ाई की है। 'बोलनि मिलनि बिनय…'—'बोलनि'; यथा—"सुख पाइहैं कान सुने बतियाँ, कल आपुस में कछु पै कहिहैं॥" (क० अ० २३); "भाई सों करत बात कौसिकहि सकुचात बोल घनघोर से बोलत थोर थोर हैं॥" (गी० बा० ७१); विभीषण से बोलनि; यथा—"कहु लंकेस सहित परिवारा।…" (सुं० दो० ४५); श्रीहनुमानजी से मिलनि; यथा—"तब रघुपति उठाय उर लावा।…" (कि० दो० २); विनय, अत्रि और श्रीपरशुरामजी से; यथा—"संतत मोपर कृपा करेहू। सेवक जानि तजेउ जनि नेहू॥" (आ० दो० ५); "बिनय सील करुना गुनसागर।…" (बा० दो० २८४)। अंगदजी के प्रति भी कहा है—"राम बिलोकनि बोलनि चलनी। सुमिरि सुमिरि सोचत हँसि मिलनी॥" (उ० दो० १८)। इन बोलनि आदि की कथा भी मन को हरनेवाली है।

(४) 'सारद कोटि कोटि सत…'—ऊपर कुछ गुण गिनाये गये, यहाँ कहते हैं कि इतना ही नहीं, किन्तु गुण तो अनन्त हैं।

(५) 'सुखसरूप रघुबंस मनि ···'—सुख स्वरूप कहकर बाहर का सुख और मंगल-मोद-निधान कहकर भीतर का सुख कहा। ये सुख के रूप ही हैं, तभी तो ध्यान में भी पाकर श्रीशिवजी ने ८७ हजार वर्ष तक आँख ही न खोली थी। श्रीजनकजी के प्रति भी कहा है—"सुख के निधान पाये, हिय के पिधान लाये, ठग के से लाड़ू खाये, प्रेम मधु छाके हैं ॥" (गी० बा० ६२)।

(६) 'ते सोवत कुस डासि···बिधिगति···'—प्रेम की व्याकुलता में ऐश्वर्य विस्मृत हो गया है, इससे इनपर भी विधि-गति कहते हैं। इस प्रसंग पर वाल्मी० अ० स० ८८ में इसी तरह बहुत कहा है; यथा—"न नूनं दैवतं किञ्चित्कालेन बलवत्तरम्" इत्यादि।

राम सुना दुख कान न काऊ। जीवनतरु जिमि जोगवइ राऊ ॥१॥
पलक नयन फनि मनि जेहि भाँती। जोगवहिं जननि सकल दिनराती ॥२॥
ते अब फिरत बिपिन पदचारी। कंद - मूल फल - फूल अहारी ॥३॥
धिग कैकई अमंगल - मूला। भइसि प्रान-प्रियतम-प्रतिकूला ॥४॥
मैं धिगधिग अघ उदधि अभागी। सब उतपात भयेउ जेहि लागी ॥५॥
कुल-कलंक करि सृजेउ बिधाता। साइँ-द्रोह मोहि कीन्ह कुमाता ॥६॥

अर्थ—श्रीरामजी ने कानों से भी कभी दुःख (का नाम) न सुना था (देखना और भोगना तो दूर की बात है) अपने जीवन-वृक्ष की तरह राजा उनका सार-सँभार करते थे ॥१॥ जिस तरह पलक नेत्र की और सर्प मणि की रक्षा करते हैं, वैसे ही सब माताएँ दिन-रात उनका सार-सँभार करती थीं ॥२॥ वे ही श्रीरामजी अब जंगलों में पैदल फिर रहे हैं और कंद मूल-फल-फूल भोजन करते हैं ॥३॥ अमंगल की जड़ कैकेयी को धिक्कार है कि प्राणप्यारे स्वामी के प्रतिकूल हुई ॥४॥ मुझ पाप के समुद्र और अभागे को धिक्कार है—धिक्कार है कि जिसके निमित्त सारे उपद्रव हुए ॥५॥ ब्रह्मा ने मुझे कुल का कलंक रूप पैदा किया और कुमाता कैकेयी ने मुझे स्वामि-द्रोही बनाया ॥६॥

विशेष—(१) 'राम सुना दुख कान न काऊ।'; यथा—"करुनामय मृदु राम सुभाऊ। प्रथम दीख दुख सुना न काऊ॥" (दो० ५९)। 'जीवन तरु जिमि ···'—एक संजीवनी जड़ी है, वह जिसके पास रहे, उसके प्राणों की रक्षा करती है। अतः, वह जिसके पास हो, वह उसकी बड़े प्रेम से रक्षा एवं पोषण करता है। वैसे ही राजा श्रीरामजी की रक्षा और उनका पोषण करते थे। (जीवन तरु की तरह श्रीरामजी ने भी उनके सत्य की रक्षा करके कीर्त्ति-रूप से उन्हें अमर कर दिया; यह सत्य ही है) भारत की यह कथा भी सुनी जाती है कि एक जीवन वृक्ष होता है, जो उसे उखाड़े, उसकी मृत्यु हो जाय। यह भी यहाँ चरितार्थ हुआ कि राजा ने प्रतिज्ञा के वश श्रीरामजी को वन भेजा और उसीसे उनकी मृत्यु हुई।

(२) 'पलक नयन फनि मनि ···'—पलकें दिन-भर नेत्र-गोलक की रक्षा करती रहती हैं कि धूल, तृण आदि न पड़ने पावें, वैसे ही सब (सात सौ) माताएँ इनकी बलैया लेती हैं, जैसे पलकें तृण आदि को अपने ऊपर लेती हैं। सर्प को मणि के प्रकाश का आनंद रात में रहता है। वह उसके प्रकाश में कार्य साधता और उसकी रक्षा करता है। वैसे ही माताएँ रात में भी श्रीरामजी के ल··· आनंद लेती हैं, गुण गातीं और रक्षा करती हैं, इस तरह निरतर रक्षा करना सूचित किया।

(३) 'मैं धिग धिग अघ ···'—प्रथम कैकेयी को धिक्कार दिया, फिर विचारा कि इसने सब अनर्थ मेरे लिये ही किया, अतएव अपनेको बार-बार धिक्कार के उद्देश्य से दो बार कहा ; यथा—"हा हतोऽस्मि नृशंसोऽस्मि यत्सभार्यः कृते मम । ईदृशीं राघवः शय्यामधिशेते ह्यनाथवत् ॥" (वाल्मी० २।८८।१७); पुनः उपर्युक्त 'विधिगति अति बलवान' के अनुसार विधाता को भी कहते हैं कि उसने ही मुझ कुल-कलंक को पैदा किया; अन्यथा कैकेयी बाँझ होती तो वह किसके लिये यह अनर्थ करती। फिर अपने स्वामि-विमुख बनाये जाने की प्रत्यक्ष कारण-रूपा कैकेयी पर चित्त-वृत्ति गई, तब कहने लगे—'साइँ द्रोह मोहि कीन्ह कुमाता।'

सुनि सप्रेम समुझाव निषादू। नाथ करिय कत बादि बिषादू ॥७॥
राम तुम्हहिं प्रिय तुम्ह प्रिय रामहि। यह निरजोस दोष बिधि बामहिं ॥८॥

छंद—बिधि बाम की करनी कठिन जेहिं मातु कीन्ही बावरी।
तेहि राति पुनि-पुनि करहिं प्रभु सादर सरहना रावरी।
तुलसी न तुम्ह सों राम प्रीतम कहत हौं सौहें किये।
परिनाम मंगल जानि अपने आनिये धीरज हिये ॥

सोरठा—अंतरजामी राम, सकुच सप्रेम कृपायतन।
चलिय करिय बिश्राम, यह बिचारि दृढ़ आनि मन ॥२०१॥

शब्दार्थ—निरजोस (निर्यास)= निचोड़, निर्यास, सिद्धान्त, निश्चय ; यथा—"सगु-सिखावन मोद-मंगल-मूल अति अनुकूल निज निरजोस, राम नाम प्रभाव सुनि तुलसिहुँ परम संतोस (वि० १५६)।

अर्थ—यह सुनकर निषाद-राज प्रेम के साथ समझा रहे हैं कि हे नाथ ! आप व्यर्थ दुःख क्यों कर रहे हैं ॥७॥ श्रीरामजी आपको प्यारे हैं और उन्हें आप प्रिय हैं, यह निश्चय है और निश्चय ही कुटिल ब्रह्मा का दोष है ॥८॥ कुटिल ब्रह्मा की करनी कठिन है कि जिसने माता कैकेयी को बावली कर दिया। उस रात को प्रभु बार-बार आदर के साथ आपकी प्रशंसा करते रहे ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं (कि निषादराज कहते हैं) कि आपके समान श्रीरामजी का अत्यन्त प्यारा दूसरा नहीं है, यह मैं सौगंध करके कहता हूँ। परिणाम (अंत) में मंगल होगा ; यह जानकर अपने हृदय में धैर्य लाइये ॥ श्रीरामजी अंतर्यामी, प्रेम-पूर्ण संकोच और कृपा के स्थान हैं, यह निश्चय कर और उसे अपने मन में पक्का करके चलिये और विश्राम कीजिये ॥२०१॥

विशेष—(१) 'सुनि सप्रेम समुझाव निषादू।'—श्रीभरतजी की अत्यन्त व्याकुलता देखकर निषाद (हिंसक एवं कठोर हृदय की) जातिवाले को भी प्रेम उमड़ा और वह भक्त-श्रेष्ठ एवं उच्च कुल श्रीभरतजी को समझाने लगा—अत्यन्त प्रेम में मर्यादा पर दृष्टि न रही।

(२) 'बिधि बाम की करनी···'—कैकेयीजी को पहले श्रीरामजी अत्यन्त प्रिय थे ; यथा—"प्रान ते अधिक राम प्रिय मोरे।" (दो० १४), सहसा उसकी मति बदल गई। अतः, यह ब्रह्माजी की ही

कुटिलता है। जैसे कि राजा परीक्षित ने कलि की प्रेरणा से ऋषि के गले में मृतक सर्प लपेट दिया ; पर यह दोष उनका नहीं कहा जाता। पहले यह किसी के भी चित्त में नहीं था कि कैकेयीजी ऐसा करेंगी। कहा भी है—"असंकल्पितमेवेह यदकस्मात्प्रवर्तते। निवर्त्यारब्धमारम्भैर्ननु दैवस्य कर्म तत्॥" (वाल्मी० २।२२।२४) ; अर्थात् प्रयत्नों के द्वारा प्रारंभ किये हुए कामों को रोककर जो अनचाहा काम—अनायास ही हो जाता है, वह दैव का काम है। यहाँ प्रयत्न से श्रीराम-राज्याभिषेक की तैयारी हुई। वह रुककर उसके विरुद्ध वनवास हुआ। इससे निषाद-राज ने ब्रह्मा (दैव) की कुटिलता कही है (सूक्ष्म विचार से ब्रह्मा के कार्य जीवों के कर्मानुसार ही होते हैं। अतः, उनका भी दोष नहीं है, पर सामान्य दृष्टि से कहा जाता है, जैसे कि अमुक न्यायाधीश ने अमुक को दंड दिया।)।

यहाँ पर कोई-कोई 'विधि बाम' से सरस्वती का गुप्तार्थ भी निकालते हैं और भरद्वाज के वचन—'गई गिरा मति धूति' (दो० २०६) ; का प्रमाण देते हैं ; पर यह त्रिकालज्ञमुनि में ही युक्त है, निषाद में यह ज्ञातृत्व ठीक नहीं जान पड़ता।

(३) 'तेहि राति पुनि-पुनि ······'—जिस रात में यहाँ ठहरे थे। 'सादर' अर्थात् मुँह-देखी एवं किसी की प्रेरणा से नहीं, किन्तु स्वयं प्रेम-पूर्वक और आपके परोक्ष में। 'पुनि-पुनि'—बार-बार कहते हुए सारी रात बीत गई। 'सौंहें'—श्रीभरतजी व्याकुल हैं। अतः, उनका विश्वास दृढ़ करने के लिये बहुत-सी शपथें कीं, क्योंकि 'सौंहें' बहुवचन है।

(४) 'परिनाम मंगल जानि ······'—अर्थात् अंत में आपका मंगल होगा। श्रीरामजी मिलेंगे और आपके दुःख दूर होंगे। कलंक एवं अपयश की गंध भी न रहेगी ; यथा—"अपडर डरेउँ न सोच समूले। रविहि न दोष देव दिसि भूले॥" (दो० २६६)।

(५) 'अंतरजामी राम, सकुच ······'—अंतर्यामी हैं, इससे आपके हृदय की शुद्धता और प्रीति को जानते हैं। प्रेमपूर्ण हैं अतएव प्रेम करेंगे। संकोची हैं, अतएव दोष हो भी, तो दृष्टि नहीं देते हैं। कृपायतन हैं, अतएव कोई उनका अपराध भी करे, तो सम्मुख होने पर कृपा ही करते हैं। अतः, आप किसी तरह की चिंता न करें।

सखा-बचन सुनि उर धरि धीरा। बास चले सुमिरत रघुबीरा ॥१॥
यह सुधि पाइ नगर-नर-नारी। चले बिलोकन आरत भारी ॥२॥
परदखिना करि करहिं प्रनामा। देहिं कैकइहि खोरि निकामा ॥३॥
भरि भरि बारि बिलोचन लेहीं। बाम बिधातहि दूषन देहीं ॥४॥
एक सराहहिं भरत - सनेहू। कोउ कह नृपति निबाहेउ नेहू ॥५॥
निंदहि आप सराहि निषादहि। को कहि सकइ बिमोह बिषादहि ॥६॥
येहि बिधि राति लोग सब जागा। भा भिनुसार गुदारा लागा ॥७॥
गुरुहि सुनाव चढ़ाइ सुहाईं। नई - नाव सब मातु चढ़ाईं ॥८॥
दंड चारि महँ भा सब पारा। उतरि भरत तब सबहिं सँभारा ॥९॥

दोहा—प्रातक्रिया करि मातुपद, बंदि गुरुहि सिर नाइ।
आगे किये निषादगन, दीन्हेउ कटक चलाइ ॥२०२॥

शब्दार्थ—निकाम=बहुत ; यथा—"निकाम श्याम सुंदरं···" (आ० दो० ३)। बिमोह=चित्त की विशेष विकलता, 'मुह वैचित्ये' धातु से मोह शब्द बना है। गुदारा (फा० गुजारा)=चलाचली, उतराई होने लगी।

अर्थ—सखा के वचन सुन हृदय में धैर्य धारणकर रघुवीर श्रीरामजी का स्मरण करते हुए निवास-स्थान को चले ॥१॥ नगर (अयोध्या) के स्त्री-पुरुष यह समाचार पाकर (कि श्रीभरतजी राम-शय्या देखने गये हैं), बड़े आर्त्त (दुखी एवं आतुर) होकर देखने चले ॥२॥ प्रदक्षिणा (परिक्रमा) करके प्रणाम करते हैं और कैकेयी को बहुत दोष देते हैं ॥३॥ आँखों में आँसू भर-भर लेते हैं और प्रतिकूल ब्रह्मा को दोष देते हैं ॥४॥ कोई श्रीभरतजी के स्नेह की बड़ाई करते हैं, कोई कहते हैं कि राजा ने अपना प्रेम अच्छा निबाहा ॥५॥ निषाद की सराहना करके अपनी निन्दा करते हैं। उस विमोह और दुःख को कौन कह सकता है ? (अर्थात् इतना ही बहुत है, कहा नहीं जाता) ॥६॥ इस तरह सब लोग रात भर जगे, सबेरा होते ही उतराई होने लगी ॥७॥ गुरुजी को सुन्दर नाव पर चढ़ाकर नवीन नाव पर सब माताओं को चढ़ाया ॥८॥ चार दंड में सब पार उतर गये। तब श्रीभरतजी ने उतरकर सबकी सँभाल (देख-भाल) की (कि सब लोग और उनके सामान आ गये या नहीं) ॥८॥ प्रातःकाल की स्नान आदि क्रिया कर माता के चरणों की वंदना कर गुरुजी को शिर नवा निषाद-लोगों को (मार्ग बतलाने के लिये) आगे करके सेना को चला दिया ॥२०२॥

विशेष—(१) 'सखा-बचन सुनि···'—सख्यत्व (मित्रता) में प्रतीति करना मुख्य है ; यथा—"सुत की प्रीति प्रतीति मीत की·" (वि० २६८); यहाँ श्रीभरतजी ने उसके वचन पर विश्वास किया ; इसीसे 'सखा-वचन' कहा गया।

(२) 'एक सराहहिं भरत···'—उपासक स्नेह को सराहते हैं, धर्मात्मा लोग सत्य-धर्म-निष्ठ राजा की सराहना करते हैं कि राजा ने धर्म रखते हुए प्रेम-प्रण का भी निर्वाह कर दिखाया। कर्म-कांडी कर्म की विषमता को लेते हुए विधाता को दोष देते हैं। 'निंदहिं आपु···'—जो श्रीरामजी ने हमलोगों को त्यागा और इसे स्वीकार किया, तो यह धन्य है। 'गुरुहि सुनाव'—सम्मान के लिये गुरुजी और माताओं के लिये सुन्दर-सुन्दर नावें सजाकर लाये। 'दंड चारि महँ ···'—श्रीवाल्मीकिजी ५०० नावों का होना लिखते हैं; यथा—"पञ्चनावां शतान्येव समानिन्युः समन्ततः ॥ अन्याः स्वस्तिक विज्ञेया···" (२।८९।१०-११); इसीसे चार दंड (दो घड़ी) ही में इतनी भारी सेना उतर गई ; यथा—"मैत्रे मुहूर्त्ते प्रययौ प्रयागवन-मुत्तमम् ॥" (वाल्मी० २।८९।२०); अर्थात् सेना सूर्योदय से तीसरे मुहूर्त (मैत्र) में प्रयाग के लिये चली। 'सबहि सँभारा' ; यथा—"भरत सोध सब ही कर लीन्हा।" (दो० १८७); यह पूर्व कहा गया।

(३) 'प्रात क्रिया करि ···'—सरस्वती नदी के अतिरिक्त और सब नदियों से यदि पार जाना हो, तो उस पार जाकर ही स्नान करना चाहिये। इसीसे इस पार आकर स्नानादि नियम किये। 'आगे किये निषाद गन ···'—इसलिये कि ये रास्ता बतलाते और सुधारते हुए लिवा ले चलेंगे।

कियेउ निषादनाथ अगुआई। मातु-पालकी सकल चलाई ॥१॥
साथ बोलाइ भाइ लघु दीन्हा। बिप्रन्ह सहित गवन गुरु कीन्हा ॥२॥

आप सुरसरिहि कीन्ह प्रनामू । सुमिरे लखन सहित सियरामू ॥३॥
गवने भरत पयादेहि पाये । कोतल संग जाहिं डोरियाये ॥४॥

शब्दार्थ—अगुआई = अगुआ किया, 'ई' वर्ण छन्दानुरोध से बढ़ा दिया गया है। कोतल = सजा हुआ बिना सवार का घोड़ा, जो आवश्यकता के लिये साथ रहता है।

अर्थ—निषाद-राज को अगुआ किया और सब माताओं की पालकियाँ चलाईं ॥१॥ छोटे भाई श्रीशत्रुघ्नजी को बुलाकर साथ कर दिया। ब्राह्मणों के साथ गुरुजी चले ॥२॥ तब आप (श्रीभरतजी) ने गंगाजी को प्रणाम किया और श्रीलक्ष्मणजी-समेत श्रीरामजी का स्मरण किया ॥३॥ श्रीभरतजी पैदल ही चले, साथ में कोतल (खाली) घोड़े डोरियाये हुए आ रहे हैं; अर्थात् नौकर-लोग बागडोर पकड़े उन्हें लिये जा रहे हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'कियेउ निषादनाथ'''साथ बोलाइ'''—श्रीअवध से चलने का क्रम यह था—प्रथम गुरु, तब विप्र, पुरवासी, माताएँ और पीछे श्रीभरतजी चले थे। यहाँ से वन का बीहड़ मार्ग है—ऐसा प्रकट में कहकर क्रम बदल रहे हैं। कारण यह है कि यहाँ से श्रीरामजी पैदल गये हैं। श्रीभरतजी ने विचारा कि मैं यदि सवारी पर चलता हूँ तो सेवक धर्म के विरुद्ध होगा। यदि माताएँ पीछे रहीं तो ये सवारी पर चढ़ने की हठ करेंगी। फिर इनकी आज्ञा के पालन का भी धर्म-संकट आ पड़ेगा। पुरवासी भी उतर पड़ेंगे। ये सब शोक से दुर्बल हैं। पैदल चलने में कष्ट झेलेंगे, यह भी मुझे असह्य होगा। इसलिये पहले सेना चलाकर फिर निषाद-राज को आगे करके उनके साथ माताओं की पालकियाँ कर दीं कि वे इनकी देखभाल रक्खें। तब गुरु और विप्रवृन्द चले। उनके साथ शत्रुघ्नजी को कर दिया कि ये आज्ञाकारी हैं; इन सबकी सेवा में सन्नद्ध रहेंगे। फिर भी ऐसा न हो कि मेरे पैदल आने की सम्भावना से आगे के लोग मेरे लिये रुक जायँ। इसलिये साथ में अपनी सवारी का घोड़ा रख लिया कि हम पीछे से शीघ्र आ जायँगे।

(२) 'आप सुरसरिहि'''—तीर्थ पर से चल रहे हैं। इसलिये प्रणाम करके चले और प्रस्थान के समय परिकर सहित इष्ट का स्मरण करना भी चाहिये; यह भी भाव है कि गंगाजी कुल की पुत्रवधिनि हैं; क्योंकि भगीरथ-नंदिनी हैं। इससे श्रीरामजी से प्रथम स्मरण इनका किया कि ये शीघ्र स्वामी के दर्शन करावें।

कहहिं सुसेवक बारहिं बारा । होइय नाथ अस्व असवारा ॥५॥
राम पयादेहि पाय सिधाये । हम कहँ रथ गज बाजि बनाये ॥६॥
सिर भर जाउँ उचित अस मोरा । सब ते सेवकधरम कठोरा ॥७॥
देखि भरतगति सुनि मृदुबानी । सब सेवकगन गरहिं गलानी ॥८॥

दोहा—भरत तीसरे पहर कहँ, कीन्ह प्रवेस प्रयाग ।
कहत राम-सिय राम-सिय, उमगि उमगि अनुराग ॥२०३॥

झलका झलकत पायन्ह कैसे। पंकज-कोस ओस-कन जैसे ॥१॥
भरत पयादेहि आये आजू। भयेउ दुखित सुनि सकल समाजू ॥२॥

शब्दार्थ—झलका = चलने अथवा रगड़ लगने आदि से देह में पड़ा हुआ छाला, फफोला। झलकना = चमकना, दिखाई पड़ना। कोस (कोश) = संपुट, समूह।

अर्थ—अच्छे सेवक बार-बार कहते हैं कि हे नाथ! घोड़े पर सवार होइये ॥५॥ (श्रीभरतजी कहते हैं कि श्रीरामजी तो पैदल पाँव से गये हैं और हमारे लिये रथ, हाथी और घोड़े बनाये गये हैं। ॥६॥ मुझे तो उचित है कि (जिस मार्ग से स्वामी पैर से गये उसपर पैर न देकर) मैं शिर के बल जाऊँ, क्योंकि सेवक-धर्म सब धर्मों से कठिन है ॥७॥ श्रीभरतजी की दशा देखकर और उनकी कोमल वाणी सुनकर सब सेवक लोग ग्लानि से गले जाते हैं ॥८॥ श्रीभरतजी ने तीसरे पहर (दिन में दोपहर के पीछे) प्रयाग में प्रवेश किया। प्रेम में उमड़-उमड़कर 'रामसिय-रामसिय' (श्रीसीताराम-श्रीसीताराम) कहते जाते हैं ॥२०३॥ चरणों में फफोले कैसे झलक रहे हैं जैसे कमल के कोश में ओस के कण झलकते हों ॥१॥ श्रीभरतजी आज पैदल ही आये हैं; यह सुनकर सब समाज दुखी हुआ ॥२॥

विशेष—(१) 'कहहिं सुसेवक बारहिं बारा।'''—गंगाजी के तट से कुछ दूर तक तो कोवल डोरियाये ही आये; क्योंकि सेवकों ने समझा था कि गंगाजी के सामने सवारी पर न चढ़ेंगे। फिर कहने पर दो एक बार न बोले, तब बार-बार कहा। यही उत्तम सेवक का धर्म है। इसीसे वे 'सुसेवक' कहे गये।

(२) 'राम पयादेहिं पाय'''—भाव यह कि स्वामी तो इसी मार्ग से पैरों से गये, तब तुम सब कहाँ थे? हमारे लिये घोड़े सजा लाये हो। क्या यह उचित है कि उसी मार्ग पर हम पैरों से चलें? उचित तो यह है कि मैं शिर के बल जाऊँ, जिससे स्वामी की चरण-रज मेरे मस्तक पर चढ़ती जाय।

(३) 'सब ते सेवक-धर्म कठोरा'—अन्य धर्मों की अपेक्षा सेवक-धर्म बड़ा कठिन है; यथा—"मौनान्मूकः प्रवचनपटुश्चाटुलो जल्पको वा, धृष्टः पार्श्वे वसति च तदा दूरतश्चाप्रगल्भः। क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः। सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥" (भर्तृहरिशतक); अर्थात् मौन रहे तो गूँगा; वाक्चतुर होने से खुशामदी और बकवादी। पास रहे तो ढीठ, दूर रहे तो मूर्ख, क्षमा से डरपोक, न सहे तो अकुलीन कहाता है। अतएव सेवाधर्म बड़ा कठिन है; योगियों को भी अगम्य है।

(४) 'सब सेवकगन गरहिं'''—ग्लानि यह है कि ऐसा उत्तम सेवक-धर्म हमलोगों में कहाँ है? चाहिये तो ऐसा ही। यह भी सोचते हैं कि ये हमारे स्वामी हैं। शिर के बल चलना कहते हैं। तो हम किस तरह चलना कहें, इत्यादि।

(५) 'भरत तीसरे पहर कहँ'''—सब लोग सवारी पर आये। इससे वे दोपहर तक में ही पहुँच गये। श्रीभरतजी पैदल आये। इससे उन सबके नहा चुकने पर तीसरे पहर पहुँचे। यह 'खबरि लीन्ह सब लोग नहाये।' से सिद्ध है।

(६) 'राम-सिय'—यद्यपि 'सीताराम' कहने की विधि है तथापि ये 'राम-सिय' यह उलटा कहते हैं; क्योंकि प्रेम में नियम निर्वाह नहीं भी होता। श्रीभरतजी का नाम-स्मरण का अभ्यास सदा का ही है; पर यहाँ लिखने का हेतु यह है कि तीर्थ-यात्रा में बराबर नाम जपते हुए चलना चाहिये।

(७) 'पंकज-कोस ओस···'—चरण कमल-कोश, छाले ओस कण हैं, छालों में जल रहता ही है।

कमल दल ओस कणों से अलिप्त रहते हैं, वैसे श्रीभरतजी के चरणों में छालों की वेदना का भान नहीं है ; क्योंकि मन तो श्रीरामजी में है, तो दुःख की स्मृति कौन करे ? यथा—"सत्वासक्तमतिः कृष्णे दश्यमानो महोरगैः। न विवेदात्मनो गात्रं तत्स्मृत्याऽऽह्लादसंस्थितः॥" यह प्रह्लादजी के विषय में कहा गया है।

(८) 'भयेउ दुखित सुनि···'—दुःख एक तो श्रीभरतजी के पैदल आने के कष्ट का, दूसरा अपनी-अपनी भूल का हुआ कि हमलोगों को भी उस मार्ग पर पैदल ही आना था।

खबरि लीन्ह सब लोग नहाये। कीन्ह प्रनाम त्रिबेनिहि आये ॥३॥
सबिधि सितासित नीर नहाने। दिये दान महिसुर सनमाने ॥४॥
देखत स्यामल-धवल-हिलोरे। पुलकि सरीर भरत कर जोरे ॥५॥
सकल कामप्रद तीरथराऊ। बेदबिदित जग प्रगट प्रभाऊ ॥६॥
मागउँ भीख त्यागि निज धरमू। आरत काह न करइ कुकरमू ॥७॥
अस जिय जानि सुजान सुदानी। सफल करहिं जग जाचकबानी ॥८॥

अर्थ—श्रीभरतजी ने जाँच की कि सब लोग स्नान कर चुके, तब त्रिवेणी पर आकर उन्होंने प्रणाम किया॥३॥ विधिपूर्वक श्वेत और श्याम जल में अर्थात् गंगा-यमुना के संगम पर स्नान किया और ब्राह्मणों को दान देकर उनका सम्मान किया॥४॥ श्याम और श्वेत लहरों को देखते ही श्रीभरतजी का शरीर पुलकित हो गया, उन्होंने हाथ जोड़ लिया (और बोले कि) हे तीर्थराज ! आप सबकी सब कामनाओं को पूरा करनेवाले हैं, आपका प्रभाव वेद में विख्यात है और जगत् जानता है॥५-६॥ अपना धर्म त्यागकर मैं भिक्षा माँगता हूँ, आर्त्त क्या कुकर्म नहीं करता ? अर्थात् विवशता में उसे सभी कुकर्म करने ही पड़ते हैं॥७॥ ऐसा जी में जानकर सुजान श्रेष्ठ दानी संसार में याचकों की वाणी सफल करते हैं (अतः, आप भी मेरी याचना सफल करें)॥

विशेष—(१) 'सबिधि सितासित नीर···'—स्नान की विधि प्रयाग-माहात्म्य में दी गई है। वह माहात्म्य सुनकर तदनुसार स्नान किया। त्रिवेणी में सरस्वती का लाल रंग का भी जल है, पर वह अत्यन्त सूक्ष्म होने से देख नहीं पड़ता ; इसीसे दो ही रंग कहे गये। आगे अर्द्धाली में स्पष्ट रूप में श्याम-गौर जोड़ी के ध्यान उद्दीपन से प्रयोजन भी कहा है।

'सितासित' से शीत-अशीत अर्थात् ठंढा और गर्म का भी अर्थ लेकर कहा जाता है कि यहाँ नहाने में त्वचा के स्पर्श-धर्म से प्रयोजन है और दोनों नदियों के जल में एक ठंढा और दूसरा गर्म रहता है। आज दिन भी वर्षा में जब दोनों जल एकरंग हो जाते हैं, तब मर्मी महात्मा लोग संगम की पहचान ठंढे-गरम के अनुभव से करके संगम-स्नान करते हैं। आगे-'श्यामल धवल' में रंग के ज्ञान तात्पर्य है, इसीसे वहाँ 'देखत' क्रिया नेत्र-विषयक दी गई है।

(२) 'पुलकि सरीर'—रंग के द्वारा श्याम-गौर जोड़ी श्रीसीतारामजी एवं श्रीराम-लक्ष्मणजी का उद्दीपन होने से पुलकावली हो आई। तीर्थ की भक्ति से भी पुलकावली होनी ही चाहिये; यथा—"मज्जहिं अति अनुराग" (बा० दो० २)।

(३) 'सकल कामप्रद तीरथराऊ'; यथा—"चारि पदारथ भरा भँडारू।···सेवहिं सुकृती साधु सुचि, पावहिं सब मन काम।" (दो० १०५); 'वेद बिदित'; यथा—"वंदौ वेद-पुरान गन, कहहिं बिमल गुन ग्राम॥" (दो० १०५)। 'जग प्रकट प्रभाऊ'; यथा—"देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ॥" (बा० दो० १)।

(४) 'माँगउँ भीख त्यागि निज धरमू।'—यहाँ श्रीभरतजी वर्ण-धर्म को निज धर्म कहते हैं। 'दान क्षत्रियों का स्वाभाविक-धर्म है। भिक्षा माँगना एवं याचक बनना, उसके विरुद्ध होने से उनके लिये कुकर्म है—गीता १८।४३ देखिये। निज-धर्म या स्वाभाविक धर्म सामान्य धर्म की संज्ञा से कहा जाता है और भगवद्भक्ति विशेष धर्म है; अतः, उसके लिये जो कोई निज-धर्म छोड़ता है, उसके दोष को भगवान् छुड़ा देते हैं; यथा—"सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥" (गीता० १८।६६)। यहाँ याचक बनकर भीख माँगने मात्र को कुकर्म कहा है; क्योंकि यह क्षत्रियों के लिये गर्हित है। यदि कहा जाय कि शृंगबेरपुर में भी तो इन्होंने वर माँगा ही है तो उत्तर यह है कि देवता से वर माँगना और बात है, यह क्षत्रिय प्रतापभानु आदि ने भी माँगा है, पर भिक्षुक बनकर भीख माँगना और फिर राजा (तीर्थराज) से राज-पुत्र के माँगने का यहाँ माधुर्य प्रसंग है और वहाँ 'मुदित ब्रह्ममय बारि' का ऐश्वर्य प्रसंग था।

'आरत काह न करइ···'; यथा—"अति आरत, अति स्वारथी अति दीन दुखारी। इनको बिलग न मानिये बोलहि न बिचारी॥" (वि० ३४)।

(५) 'अस जिय जानि···'—आप सुजान हैं, अतएव मन की बात जान लेंगे; यथा—"स्वामि सुजान जान सब ही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की॥" (दो० ३१३); और 'सुदानी' हैं; अतः, इच्छानुसार देंगे।

दोहा—अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति रामपद, यह बरदान न आन॥२०४॥

जानहु राम कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुरु-साहिब द्रोही॥१॥
सीताराम-चरन रति मोरे। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरे॥२॥
जलद-जनम भरि सुरति बिसारउ। जाचत जल पबि-पाहन डारउ॥३॥
चातक रटनि घटे घटि जाई। बढ़े प्रेम सब भाँति भलाई॥४॥
कनकहि बान चढ़इ जिमि दाहे। तिमि प्रियतम-पद नेम निबाहे॥५॥

शब्दार्थ—बान (वर्ण) = रंग, आभा कान्ति।

अर्थ—मुझे न अर्थ (द्रव्यादि) की, न धर्म की, न काम की रुचि है और न मोक्ष ही चाहता हूँ, 'जन्म-जन्म श्रीरामजी के चरणों में प्रेम हो' यही वरदान चाहता हूँ, दूसरा नहीं॥२०४॥ श्रीरामजी मुझे कुटिल करके भले ही जानें, लोग भी मुझे गुरु और स्वामी का द्रोही (क्यों न) कहें॥१॥ पर

मुझमें श्रीसीतारामजी के चरणों की प्रीति आपकी कृपा से दिनों दिन बढ़ती जाय ॥२॥ (मैं ऐसा चाहता हूँ कि जैसे चातक की) सुधि मेघ चाहे जन्म-भर भुला दे, जल माँगने पर चाहे वह वज्र और हिमोपल (ओले, पत्थर) गिरावे ॥३॥ पर चातक की रटन घटने से उसकी (प्रतिष्ठा) घट जायगी; सबकी दृष्टि से वह उतर जायगा, प्रेम बढ़ने से ही उसको सब तरह भलाई है ॥४॥ जैसे] तपाने से सोने की कान्ति बढ़ती है, वैसे ही परम प्यारे स्वामी के चरणों में प्रेम का नियम निबाहने से (सेवक की प्रतिष्ठा बढ़ती है) ॥५॥

विशेष—(१) 'अरथ न धरम न···'—श्रीभरतजी चारों पदार्थों को छोड़कर केवल श्रीराम-पद-प्रेम माँगते हैं, 'न आन' शब्द 'यह वरदान' पद पर विशेष ज़ोर देने के लिये हैं, क्योंकि चारों फलों के त्याग में और सब त्याग तो आ ही गये। भक्ति करके कुछ भी चाहने से वह अभीष्ट वस्तु फलरूपा और भक्ति एवं इष्ट उसके साधन हो जाते हैं और वह भक्ति एक प्रकार के वाणिज्य में परिणत हो जाती है। कहा भी है—"यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्॥ आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः। न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन्यो राति चाशिषः॥ अहंत्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः॥ नान्यथेहावयोर्थो राजसेवकयोरिव॥ यदि रासीश मे कामान्वरांस्त्वं वरदर्षभ। कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्॥" (भाग० स्कं० ७ अ० १०।४-७); अर्थात् नृसिंह भगवान् ने प्रह्लादजी से वर माँगने के लिये कहा। उसपर वे कहते हैं कि जो आपसे वर (वैभव) की आशा रखता हो, वह भृत्य ही नहीं है और सेवक पर अपना स्वामित्व जमाने के लिये वैभव देने की इच्छावाला स्वामी ही नहीं है। मैं आपका निष्काम-भक्त हूँ और आप मेरे निष्काम स्वामी हैं। राजा और उसके सेवक का-सा (अर्थापेक्षी) सम्बन्ध मेरा और आपका कभी न हो। यदि आप मुझे काम-पूरक वर देना ही चाहते हैं तो मैं आपसे यही माँगता हूँ कि मेरे हृदय में कोई भी कामना अंकुरित न हो।

श्रीभरतजी का भाव प्रह्लादजी के समान तो दोहेमात्र में आ गया। अब ये आगे बढ़ते हैं—

(२) 'जानहु राम कुटिल···' अर्थात् उपर्युक्त भक्ति मैं इस अभिप्राय से नहीं माँगता हूँ कि इससे मुझपर श्रीरामजी प्रसन्न हों और लोग मेरी बड़ाई करें, प्रत्युत् श्रीरामजी मुझे कुटिल जानें और लोग भी 'गुरु-साहिब द्रोही' कहकर मेरी निन्दा करें। ('गुरु' शब्द में पिता, माता, गुरु सभी आ सकते हैं, 'साहिब' से इष्टदेव श्रीरामजी का अर्थ है) कि इसने गुरुजनों की आज्ञा नहीं माना, इत्यादि। भाव यह कि मेरा एकांगी प्रेम हो।

(३) 'सीताराम चरन-रति···'—ऊपर केवल छन्दानुरोध से 'राम' मात्र नाम लिखा गया था, यहाँ स्पष्ट किया कि युगल रूप में प्रेम हो और वह आपकी कृपा से दिनों दिन बढ़ता जाय। इसे ही आगे प्रेमियों के दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं—

(४) 'जलद जनम भरि···'—उपर्युक्त बातों पर संदेह हो सकता है कि ऐसा कैसे होगा कि तुम प्रेम करोगे और श्रीरामजी तुम्हें कुटिल जानेंगे। उसपर कहते हैं कि चातक मेघ से प्रेम करता है, स्वाती का जल बूँद-भर चाहता है, पर मेघ उसपर वज्र-पत्थर गिराता है, तो भी वह प्रेम कम नहीं करता, रट लगाये ही रहता है। वैसे ही यहाँ मेघ की सुधि बिसारने की तरह श्रीरामजी का मुझे कुटिल जानकर उपेक्षा करना है और लोगों का मुझे 'गुरु-द्रोही' कहना वज्र गिराना और 'साहिब-द्रोही' कहना पाहन बरसाना है। जैसे मेघ की उपेक्षा एवं उसके 'पवि-पाहन' डालने से यदि चातक रटन कम कर दे तो वह प्रेम का आदर्श न रह जायगा। भाव यह कि मैं घटनेवाला प्रेम नहीं चाहता, मेरा प्रेम तो दिनोंदिन बढ़ता ही जाय, इसी में मेरी भलाई है।

(५) 'कनकहि बान चढ़ै''''—सोना जैसे-जैसे अग्नि में तपाया जाता है, वैसे-वैसे उसमें दीप्ति बढ़ती है, वैसे ही प्रियतम के प्रेम-निर्वाह में जितना ही कष्ट सह-सहकर प्रेम-निर्वाह किया जाय उतनी ही अधिक शोभा है और इसीमें सच्चे प्रेमी की पहचान होती है।

किसी-किसी के मत में चौ० ३, ४, ५ के वचन ग्रन्थकर्त्ता के हैं, श्रीभरतजी की प्रशंसा के रूप में कहे गये हैं; पर मेरी तुच्छ समझ में तो उपर्युक्त ही यथार्थ अर्थ है। श्रीभरतजी के मुख से भक्ति का यथार्थ-स्वरूप कहा गया है। भरद्वाजजी ने भी इन्हें भक्ति-रस का आचार्य माना है; यथा—"तुम्ह कहँ भरत कलंक यह, हम सब कहँ उपदेस। राम भगति रस सिद्धि हित, भा यह समउ गनेस ॥" (दो० २०८)।

भरतबचन सुनि माँझ त्रिबेनी। भइ मृदुबानि सुमंगल - देनी ॥६॥
तात भरत तुम्ह सब बिधि साधू। राम - चरन - अनुराग - अगाधू ॥७॥
बादि गलानि करहु मन माहीं। तुम्ह सम रामहिं कोउ प्रिय नाहीं ॥८॥

दोहा—तनु पुलकेउ हिय हरष सुनि, बेनि - बचन अनुकूल।
भरत धन्य कहि धन्य सुर, हरषित बरषहिं फूल ॥२०५॥

अर्थ—श्रीभरतजी के वचन सुनकर त्रिवेणी के मध्य (जल धारा में) सुन्दर मंगल देनेवाली कोमल वाणी हुई ॥५॥ हे तात ! हे भरतजी ! तुम सब प्रकार से साधु हो, श्रीरामजी के चरणों में तुम्हारा अगाध (बड़ा गहरा) प्रेम है ॥७॥ तुम मन में व्यर्थ ग्लानि कर रहे हो, तुम्हारे समान श्रीरामजी को कोई भी प्यारा नहीं है ॥८॥ त्रिवेणीजी के अनुकूल वचन सुनकर उनका शरीर पुलकित हो गया और हृदय में हर्ष हुआ। श्रीभरतजी को—'धन्य हो, धन्य हो' ऐसा कहकर देवता लोग प्रसन्न होकर फूल बरसाते हैं ॥२०५॥

विशेष—(१) 'माँझ त्रिबेनी'—त्रिवेणी-संगम के मध्य में सरस्वती है ही, वही बोली, किन्तु अभिप्राय तीनों का है।

(२) 'तात भरत तुम्ह सब''''''''—'सब बिधि'—मन, वचन, कर्म से, 'साधु' सन्मार्गी, एवं सद्भाववाले तथा परोपकार साधक हो, अंतर बाहर साधु हो।

जो साधु लक्षणवाला है, वही धन्य है; यथा—"साधु समाज न जाकर लेखा। राम-भगत महँ जासु न रेखा ॥ जाय जियत जग सो महि भारू ॥ ''" (दो० १८६)। 'अनुराग-अगाधू'—इतना गहरा अनुराग है कि इसकी थाह वसिष्ठजी, निषादराज, श्रीलक्ष्मणजी, देवगण आदि भी न पा सके, चरित में प्रकट है।

(३) 'बादि गलानि करहु''''—श्रीभरतजी ने ग्लानि की थी; यथा—"जानहु राम कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुरु साहिब द्रोही ॥" उसका निराकरण करती हुई त्रिवेणीजी कहती हैं कि तुम कुटिल आदि नहीं हो; किन्तु 'सब बिधि साधू' हो। तुम्हारा तो श्रीरामजी के चरणों में अगाध प्रेम है जो कि साधुओं का मुख्य अंग है। तुम एकांती प्रीति अपनी ही ओर से न समझो; किन्तु—'तुम्ह सम रामहिं कोउ प्रिय नाहीं ॥' इत्यादि वचनों से त्रिवेणीजी ने श्रीभरतजी की ग्लानि दूर की।

(४) 'भरत धन्य कहि……'—त्रिवेणीजी ने 'मृदुबानि' से ही कहा था, पर देवताओं ने उच्च स्वर से कहा, देवताओं ने भी "बेनि बचन' का समर्थन किया।

श्रीभरतजी ने त्रिवेणी से आर्त्त होकर भीख माँगी है, पर उन्होंने समझा भर दिया है (भिक्षा दी नहीं) कि तुम राम-विमुख नहीं हो, किन्तु श्रीराम-प्रिय एवं परम साधु हो, तुम्हारा राम-प्रेम रूपी धन इतना अगाध है कि और देने की आवश्यकता ही नहीं।

प्रमुदित तीरथराज - निवासी। बैखानस बटु गृही उदासी ॥१॥
कहहिं परसपर मिलि दस पाँचा। भरत सनेह सील सुचि साँचा ॥२॥
सुनत राम - गुन - ग्राम सुहाये। भरद्वाज मुनिवर पहिं आये ॥३॥
दंडप्रनाम करत मुनि देखे। मूरतिमंत भाग्य निज लेखे ॥४॥
धाइ उठाइ लाइ उर लीन्हे। दीन्हि असीस कृतारथ कीन्हे ॥५॥

अर्थ—प्रयाग के बसनेवाले वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी, गृहस्थ और विरक्त (संन्यासी) बड़े आनंदित हुए ॥१॥ दस-पाँच आपस में मिलकर कहते हैं कि श्रीभरतजी का स्नेह, शील पवित्र और सच्चा है ॥२॥ श्रीरामजी के सुन्दर गुण-समूह सुनते हुए वे मुनि-श्रेष्ठ भरद्वाजजी के यहाँ आये ॥३॥ मुनि ने श्रीभरतजी को दंडवत्-प्रणाम करते हुए देखा, तो अपने भाग्य को मूर्त्तिमान् समझा ; अर्थात् मुनि ने ऐसा माना कि ये मानों मेरे भाग्य की मूर्त्ति ही हैं ; मुझे कृतार्थ करने आये हैं ॥४॥ उन्होंने दौड़कर इन्हें उठाकर हृदय से लगा लिया और आशिष देकर कृतार्थ किया ॥५॥

विशेष—(१) 'प्रमुदित तीरथ…'—देववाणी के द्वारा सब ने श्रीभरतजी की महिमा जानी और ये इनके दर्शन पाकर कृतार्थ हुए। वैखानस आदि आश्रम-क्रम से नहीं कहे गये ; क्योंकि जैसे-जैसे आते गये, वैसे-वैसे लिखे गये, वा, छन्दानुरोध से भी क्रम भंग है।

(२) 'मिलि दस पाँचा'—कहीं दस, कहीं पाँच, अपने-अपने वर्गवाले।

'सुचि साँचा'—इन्होंने चारो फलों का भी स्वार्थ त्याग किया, यही कामना-रूपी विकार से रहित पवित्रता है। 'साँचा'—क्योंकि त्रिवेणी की धार में खड़े होकर कहा है, और उसे त्रिवेणीजी और देवताओं ने भी पुष्ट किया है ; उसीका इन लोगों ने अनुमोदन किया है। आगे श्रीरामजी ने भी कहा है—"तीनि काल तिभुवन मत मोरे। पुन्य सिलोक तात तर तोरे ॥" (दो॰ २६३)।

(३) 'सुनत राम-गुन-ग्राम…'—ऊपर श्रीभरतजी की ही प्रशंसा लिखी गई है ; पर यहाँ श्रीरामजी के गुण-समूह का सुनना लिखते हैं। इससे जनाया कि दोनों के गुण लोग कहते हैं, पर श्रीभरतजी अपनी बड़ाई पर कान नहीं देते, श्रीरामजी के सुहावने गुण सुनते जाते हैं। वा, अपने ही गुणों को वे श्रीरामजी की कृपा से प्राप्त जानकर इन्हें उन्हीं के गुण-ग्राम मानते हैं ; यथा—"हौं तो सदा खर को असवार तिहारोइ नाम गयंद चढ़ायो।" (क॰ उ॰ ६०)। वा, त्रिवेणी-तट पर ठौर-ठौर श्रीराम-चरित हो रहा है, उसे सुनते जाते हैं। कहा भी है—"वेदे व्याकरणे चैव पुराने भारते तथा। आदौ मध्ये तथा चान्ते हरिः सर्वत्र गीयते ॥"

(४) 'दीन्हि असीस कृतारथ कीन्हे'—यह दोनों ही ओर लग सकता है। श्रीभरतजी को तथा अपनी आशिष को भी कृतार्थ किया ; यथा—"सफल होन हित निज बागीसा ॥" (दो० १०२)।

आसन दीन्ह नाइ सिर बैठे। चहत सकुच गृह जनु भजि पैठे ॥६॥
मुनि पूँछब कछु यह बड़ सोचू। बोले रिषि लखि सील सँकोचू ॥७॥
सुनहु भरत हम सब सुधि पाई। बिधि-करतब पर कछु न बसाई ॥८॥

दोहा—तुम्ह गलानि जिय जनि करहु, समुझि मातु करतूति।
तात कैकइहि दोष नहिं, गई गिरा मति धूति ॥२०६॥

शब्दार्थ—धूति = ठगकर ; यथा—"जाहि जपि जोह रामहू को बैठो धूति हौं।" (क० उ० ६१)।

अर्थ—मुनि ने आसन दिया, वे मुनि को शिर झुकाकर एवं अपना शिर, नीचा करके बैठे। ऐसे जान पड़ते हैं, मानों सकोच-रूपी घर में भागकर जा बैठना चाहते हैं; अर्थात् अत्यन्त संकोच है ॥६॥ श्रीभरतजी को यह बड़ा भारी शोच है कि मुनि कुछ पूछेंगे (तो मैं कैसे उत्तर दूँगा ?), मुनि इनके शील और संकोच को लखकर बोले ॥७॥ हे श्रीभरतजी ! सुनो, हमने सब समाचार पाया है, ब्रह्मा की करनी पर कुछ जोर नहीं चलता ॥८॥ तुम माता की करतूत को समझकर मन में ग्लानि न करो। हे तात ! कैकेयी का दोष नहीं है ; सरस्वती उसकी बुद्धि को ठग ले गई ॥२०६॥

विशेष—(१) 'आसन दीन्ह नाइ सिर बैठे ....'—यहाँ शिर झुकाकर बैठना उत्प्रेक्षा का विषय है, उसका कारण संकोच है। उसे आगे कहते हैं—

(२) 'मुनि पूँछब कछु.....'—'कछु' में यहाँ कई आशय आ सकते हैं—(क) श्रीरामजी को क्यों वनवास दिया गया, इसपर शोच है कि घर का कुकार्य कहना मना है, मैं कैसे कहूँगा ? (ख) वाल्मी० २।९०।१०-२१ में श्रीरामजी में स्नेह के कारण और श्रीभरतजी की कीर्त्ति प्रकट करने के लिये श्रीभरद्वाजजी ने पूछा है कि क्या तुम अकटक राज्य करने के लिये श्रीरामजी वा उनके भाई के प्रति पाप बुद्धि से तो नहीं जाते हो ? तब श्रीभरतजी ने कहा है कि आप सवज्ञ होकर यदि ऐसा कहते हैं तो मेरा जन्म ही व्यर्थ गया। इत्यादि प्रश्नोत्तर को यहाँ 'कछु' और 'सील सकोचू' में ही कवि ने जना दिया। वा, वाल्मी० २।९२।१६-२६ में मुनि ने पूछा है कि मैं तुम्हारी (तीनों) माताओं का परिचय जानना चाहता हूँ। तब श्रीभरतजी ने तीनों का परिचय दिया है और कैकेयी की निन्दा की है, उसपर भी सकोच कहा जा सकता है कि मैं कैसे कहूँगा कि यही मेरी माता है।

यहाँ यह भी जनाया है कि सज्जनों को अपने ही नहीं, किन्तु अपने सम्बन्धियों के भी कुकार्य पर संकोच और ग्लानि होती है। मनु ने कहा ही है—"तत्संसर्गी च पंचमः।" तथा—"मातु मंद मैं साधु सुचाली। उर अस आनत कोटि कुचाली ॥" (दो० २१०)।

(३) 'तुम्ह गलानि जिय ''गई गिरा मति धूति ॥'—मुनि ने लख लिया कि इन्हें अपनी माता की करनी पर सकोच है, उसी को वे अपनी सर्वज्ञता से निराकरण करते हैं कि इसमें कैकेयी का दोष

नहीं है, शारदा ने इसकी मति को फेर दिया था। सरस्वती ने मंथरा की मति को फेरा था; यथा—"अजस पेटारी ताहि करि, गई गिरा मति फेरि ॥" (दो० १२); फिर आगे कहा गया—"सुर माया बस बैरिनिहि, सुहृद जानि पतियानि ।" (दो० १६); और यहाँ साक्षात् सरस्वती का ही कैकेयी की मति का फेरना कहा गया है। इसकी एकता यों होगी कि सरस्वती ने मंथरा की मति फेरी और मंथरा ने कैकेयी को। इस तरह मंथरा-द्वारा मति का फेरा जाना भी सरस्वती का ही कार्य है, जैसे कि श्रीरामचरितमानस शिवजी ने लोमश मुनि को दिया, फिर लोमश ने काकभुशुंडी को दिया, पर वह देना शिवजी का ही कहा गया; यथा—"सोइ सिव काकभुसुंडिहि दीन्हा।" (बा० दो० २९); वा उपर्युक्त 'सुरमाया' से सुर ब्रह्मा की माया सरस्वती ही कही गई है। तब अर्थ होगा कि पूर्व मंथरा के पीछे सरस्वती ने ही कैकेयी की भी मति को छला है, वही यहाँ स्पष्ट-रूप में श्रीभरद्वाजजी ने कहा है।

यहउ कहत भल कहिहि न कोऊ। लोक बेद बुधसंमत दोऊ ॥१॥
तात तुम्हार बिमल जस गाई। पाइहि लोकउ बेद बड़ाई ॥२॥
लोक-बेद-संमत सब कहई। जेहि पितु देइ राज सो लहई ॥३॥
राउ सत्यब्रत तुम्हहिं बोलाई। देत राज सुख धरम बड़ाई ॥४॥
रामगवन बन अनरथमूला। जो सुनि सकल बिस्व भइ सूला ॥५॥
सो भावीबस रानि अयानी। करि कुचालि अंतहु पछितानी ॥६॥
तहउँ तुम्हार अलप अपराधू। कहइ सो अधम अयान असाधू ॥७॥

अर्थ—यह भी कहते हुए कोई भला न कहेगा, क्योंकि लोक और वेद दोनों पंडितों की सम्मति से (मान्य) हैं ॥१॥ हे तात! तुम्हारा निर्मल यश गाकर लोक और वेद बड़ाई पावेंगे ॥२॥ लोक और वेद का यह सम्मत है, सब कहते हैं कि पिता जिसे राज्य दे, वही पाता है ॥३॥ राजा सत्य-प्रतिज्ञ थे, वे तुम्हें बुलाकर राज्य देते, तो उससे सुख, धर्म और बड़ाई होती ॥४॥ (किन्तु) श्रीरामजी का वन जाना अनर्थ का कारण हो गया, जिसे सुनकर सारे जगत् को पीड़ा हुई ॥५॥ वह भी हरि-इच्छा (रूपा भावी) वश हुआ, रानी अज्ञानी हो गई, (फिर) वह भी कुचाल करके अंत में पछताई (क्योंकि शोक और कलंक ही उसके हाथ लगा) ॥६॥ वहाँ (उस विषय में) भी जो तुम्हारा थोड़ा भी दोष कहे, वह अधम, अज्ञान और असाधु है ॥७॥

विशेष—(१) 'यहउ कहत भल····'—भाव यह कि वेद मत से कैकेयी निर्दोष है, पर लोक मत से नहीं। वह लोक-मत भी पंडितों से मान्य है, मैंने वेद-मत कहा था, इसे लोक न मानेगा, लोक तो प्रत्यक्ष दृष्टि को ही अधिक मानता है। 'सब कोऊ' से लोक मत को कहा है, तब तो कैकेयी के सम्बन्ध से श्रीभरतजी भी लोक दृष्टि से दोषी होंगे, इसका निराकरण आगे करते हैं—

(२) 'तात तुम्हार बिमल जस····'—तुम्हारे यश से लोक और वेद दोनों बड़ाई पावेंगे, यही आगे विस्तार से कहते हैं कि लोकमत और वेदमत दोनों ही से तुम्हें राज्य मिलना निर्दोष था, पर श्रीराम भक्ति (रूपी परम-धर्म) के प्रतिकूल जान तुमने इसे त्याग दिया, इससे तुम्हारा मत दोनों मतों से ऊपर (परे) है। अतः, इससे लोक-वेद दोनों को बड़ाई मिलेगी।

(३) 'राउ सत्यव्रत तुम्हहि ···'—राजा प्रतिज्ञा कर चुके थे, उसके निर्वाह के लिये तुम्हें बुलाकर राज्य देते तो उससे सुख, धर्म और बड़ाई ही होती ; क्योंकि लोक यही कहता कि राजा धर्मात्मा हैं, तभी तो उन्होंने प्रतिज्ञा का निर्वाह किया। तुम्हारा राज्य करना भी पिता-माता की आज्ञा-वश युक्त ही कहा जाता, सब इसमें सुख ही मानते।

(४) 'राम गवन बन···'—राजा की मृत्यु का होना अनर्थ है, अन्यथा राजा तो तुम्हें बुलाकर धूम-धाम से राज्य देते ही। बस, श्रीरामजी के वन जाने से और राजा की मृत्यु से, चराचर जगत्-मात्र को दुःख हुआ।

(५) 'सो भावी बस···'—पहले 'बिधि करतब' कहा था, फिर 'गिरा' का कर्त्तव्य, पीछे लोक-मत से कैकेयी का कर्त्तव्य कहकर अंत में भावी पर ही सिद्धान्त किया, भावी भी हरि-इच्छा ही है; यथा—"हरि-इच्छा भावी बलवाना।" (बा० दो० ५५)।

(६) 'तहँउ तुम्हार अलप···'—जब कैकेयी का कर्त्तव्य भी भावी वश ही हुआ, तब उसके सम्बन्धी होनेवाले तुम कैसे दोषी हो सकते हो, क्योंकि भावी का कार्य अचानक हो जाता है, अतएव संसर्गी का सम्पर्क नहीं कहा जा सकता। इससे तुम निर्दोष हो, फिर भी जो तुम्हें दोष दे, वह अधम है।

करतेहु राज त तुम्हहि न दोषू। रामहि होत सुनत संतोषू ॥८॥

दोहा—अब अति कीन्हेहु भरत भल, तुम्हहिं उचित मत एहु।
सकल-सुमंगल-मूल जग, रघुबर-चरन सनेहु ॥२०७॥

सो तुम्हार धन जीवन प्राना। भूरि भाग को तुम्हहि समाना ॥१॥
यह तुम्हार आचरज न ताता। दसरथ-सुवन राम-प्रिय भ्राता ॥२॥

अर्थ—जो तुम राज्य करते तो तुम्हें दोष न था, यह सुनकर श्रीरामजी को भी संतोष होता ॥८॥ और अब तो, हे भरतजी ! तुमने बहुत भला किया। यह मत तुम्हारा उचित ही है, क्योंकि रघुवर श्रीरामजी के चरणों में स्नेह होना समस्त सुन्दर मंगलों का मूल है ॥२०७॥ वह तो तुम्हारा धन, जीवन और प्राण है, अतएव तुम्हारे समान अत्यन्त भाग्यशाली कौन है ॥१॥ हे तात ! तुम्हारे लिये यह आश्चर्य नहीं है, (क्योंकि) तुम श्रीदशरथजी के पुत्र और श्रीरामजी के प्यारे भाई हो ॥२॥

विशेष—(१) 'अब अति कीन्हेहु भरत ···'—पिता की आज्ञा से राज्य-पालन सामान्य धर्म होने से 'भल' अर्थात् अच्छा था और उसे छोड़कर राम-पद-प्रीति रूपी विशेष (भागवत) धर्म को ग्रहण करना अत्यंत भला है।

(२) 'सो तुम्हार धन जीवन प्राना।'—प्राणिमात्र को धन, जीवन और प्राण ही अत्यन्त प्रिय होते हैं, वैसे तुम्हें राम-पद-प्रेम अभीष्ट है। धन से श्रेष्ठ जीवन और उससे अधिक प्राण हैं, क्योंकि शरीर में प्राण रहने से जीवन रहता है; तब उससे धन का उपभोग होता है। शिवजी के प्रति भी ऐसा ही कहा है—"मुनि धन जन सरबस सिव प्राना।" (बा० दो० १०७)।

(२) 'दसरथ सुवन राम···'—दशरथ महाराजजी के स्नेह और संकोच-वश तो श्रीरामजी ही प्रकट हुए; यथा—"जासु सनेह सकोच···" (दो० २०१)। तुम उनके पुत्र हो तो ऐसा रामानुरागी क्यों न हो, पिता ने श्रीरामजी के लिये प्राण ही छोड़ दिये, तो तुम्हारा राज्य छोड़ना योग्य ही है। श्रीरामजी के प्रिय भाई हो, तुम्हारे बिना राज्य लेना उन्हें न अच्छा लगा; यथा—"बिमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू ॥" (दो० ९); वैसे तुम्हें भी—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई ॥" (दो० १४); के विरुद्ध कार्य न रुचा।

श्रीराम-चरणानुराग के सम्बन्ध से 'भूरि भाग' कहा है; यथा—"बड़े भाग अनुराग राम-पद होइ।" (बरवा रा० ६१)। "भूरि भाग भाजन भयेउ···" (दो० ७४)।

सुनहु भरत रघुबर-मन माहीं। प्रेमपात्र तुम्ह सम कोउ नाहीं ॥३॥
लखन राम सीतहिं अति प्रीती। निसि सब तुम्हहिं सराहत बीती ॥४॥
जाना मरम नहात प्रयागा। मगन होहिं तुम्हरे अनुरागा ॥५॥
तुम्ह पर अस सनेह रघुबर के। सुख जीवन जग जस जड़ नर के ॥६॥
यह न अधिक रघुबीर बड़ाई। प्रनत-कुटुंब-पाल रघुराई ॥७॥
तुम्ह तौ भरत मोर मत येहू। धरें देह जनु राम-सनेहू ॥८॥

दोहा—तुम्ह कहँ भरत कलंक यह, हम सब कहँ उपदेस।
राम-भगति-रस-सिद्धि हित, भा यह समय गनेस ॥२०८॥

शब्दार्थ—सुख जीवन = सुख-पूर्वक जीना। रस = जैसे मंग, मृगांक आदि। श्रीगनेश होना प्रारंभ होने के अर्थ में मुहावरा है।

अर्थ—हे श्रीभरतजी ! सुनो, रघुबर श्रीरामजी के मन में तुम्हारे समान प्रेम का पात्र कोई नहीं है ॥३॥ श्रीलक्ष्मणजी, श्रीरामजी और श्रीसीताजी को सारी रात अत्यन्त प्रीति-पूर्वक तुम्हारी प्रशंसा करते हुए ही बीत गई ॥ ४॥ प्रयाग में स्नान करते समय हमने उनका यह भेद जाना कि वे तुम्हारे ही अनुराग में डूब जाते थे ॥५॥ रघुबर श्रीरामजी का तुम्हारे ऊपर ऐसा स्नेह है, जैसा कि अज्ञानी (देहाभिमानी) लोगों का जगत् में सुख-पूर्ण जीने पर स्नेह होता है ॥६॥ रघुवीर श्रीरामजी की यह कुछ अधिक बड़ाई नहीं है, क्योंकि वे रघुराई तो शरणागत के कुटुम्ब-भर के पालनेवाले हैं (फिर तुम्हारे समान प्रणत के आदर्श पर ऐसा स्नेह करें तो कौन आश्चर्य है ?) ॥७॥ हे श्रीभरतजी ! मेरा मत तो यह है कि तुम मानों देह धारण किये हुए राम-स्नेह ही हो ॥८॥ हे श्रीभरतजी ! तुम्हारे लिये (समझ में) यह कलंक है, पर हम सबके लिये यह उपदेश है। श्रीराम-भक्ति-रस की सिद्धि के लिये यह समय ही श्रीगणेश हुआ; अर्थात् हमने श्रीराम-भक्ति-रस की प्राप्ति के पाठ का श्रीगणेश (प्रारंभ) आज तुमसे किया है ॥२०८॥

विशेष—(१) 'प्रेमपात्र तुम्ह सम···'—ऊपर श्रीभरतजी की प्रीति श्रीरामजी ने कही, अब इनमें श्रीरामजी का प्रेम कहते हैं कि प्रेम-पात्र श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी भी साथ थे, पर उनके समक्ष में भी

उन्होंने सारी रात तुम्हारी ही सराहना की थी। अत, वे भी तुम्हारे समान प्रेम-पात्र नहीं हैं, यह निश्चय हुआ, तब और कौन हो सकता है ? फिर भी श्रीभरतजी को संदेह होता कि श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी अप्रसन्न होंगे, उसपर कहते हैं कि—

(२) 'लखन-राम-सीतहिं''' अर्थात् इन दोनों ने भी स्वयं रात-भर प्रीति-पूर्वक तुम्हारी सराहना की थी, इससे इनकी पूर्ण प्रसन्नता है। ऊपर श्रीभरतजी को श्रीरामजी का अद्वितीय प्रेम-पात्र कहना था, तब उनके साथ श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी के नाम न लिखे ; क्योंकि वे दोनों श्रीरामजी में ही अनन्य हैं। अत', उनके तो प्रेम पात्र श्रीरामजी ही हैं। श्रीलक्ष्मणजी का नाम प्रथम दिया गया, क्योंकि भगवत्-कृपा की अपेक्षा भागवत-कृपा का अधिक महत्त्व है, इससे श्रीभरतजी को अधिक आनंद होगा। यहाँ तक श्रीरामजी के वचन-द्वारा जानी हुई उनके मन की प्रीति कही; और सहज-स्नेह का प्रमाण आगे कहते हैं—

(३) 'जाना मरम नहात'''—प्रयाग-स्नान के समय जब पंडालोगों ने संकल्प पढा—"जम्बू द्वीपे भरतखंडे ··" तब वे तुम्हारे ही अनुराग में निमग्न होते थे। यद्यपि 'भरतखंड' दूसरे भरतजी के नाम से है, तथापि वह शब्द कान में पड़ते ही वे तुम्हारे अनुराग में डूब जाते थे। 'होहिं' बहुवचन है, क्योंकि साथ में निषादराज और श्रीलक्ष्मणजी तथा और भी तीर्थवासी नहाते थे, सबके संकल्प पढ़े जाने में बार-बार सुन-सुनकर उनकी वही दशा हो जाती थी। अनुराग में मग्न होना उनके पुलक, प्रेमाश्रु आदि लक्षणों से जाना। यह भी भाव है कि मैं ही नहीं, प्रयाग-भर ने यह मर्म जाना।

इसपर लोग शंका करते हैं कि श्रीरामजी स्नान करके इनसे मिले थे, तब स्नान में साथ रहना कैसे बने, इससे वे यों अर्थ करते हैं कि तुम्हारे अनुराग-रूपी प्रयाग में मग्न हो जाते थे; अर्थात् कहते-कहते वाणी रुक जाती थी, कंठ गद्गद हो जाता था। प्रशंसा करना नहाना और चुप हो जाना, गोता लगाना है। पर इस शंका का समाधान यह है कि श्रीरामजी रात-भर मुनि के आश्रम में रहे, प्रातःकाल फिर प्रयाग स्नान करके अपने आसन पर आये और नित्यनेम करके फिर मुनि के आसन पर आये और विदा हुए। प्रातःकाल के स्नान में मुनि का साथ जाना अवश्य है, क्योंकि ये श्रीरामजी को परब्रह्म जान गये थे और इनकी परम-प्रीति भी कही हो गई है। प्रयागवासी भी स्नान-दर्शन में उस दिन बहुत आये होंगे, यह उस प्रसंग से स्पष्ट है। वा, यमुनाजी के श्यामवर्ण जल से भो श्रीभरतजी के अनुराग का उद्दीपन होना प्रयाग स्नान में हो सकता है।

(४) 'तुम्ह पर अस सनेह'''—'जड़ का' अर्थ अज्ञानी है, जो देह ही को आत्मा मानते हैं, देह ही के सुख में अपना सुख मानते हैं; यथा—"सेवहिं लखन सीय रघुबीरहिं। जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहि॥" (दो० १४१); ऐसे लोग शरीर के भोजन, वस्त्र, आरोग्यता आदि को ही सर्वस्व मानते हैं, तीर्थ आदि में भी यही माँगते हैं, वैसे ही श्रीरामजी भो तुम्हारे स्नेह की ही वृद्धि एवं तुम्हारी ही वृद्धि माँगते हैं।

दुःख-जीवन तो ज्ञानी को भो प्रिय नहीं है, पर अंतर इतना ही है कि ज्ञानी सुख में सुखी और दुःख में दुखी नहीं होते हैं; यथा—"सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दुहुँ सम धीर धरहिं मन माहीं॥" (दो० १५१)।

(५) 'यह न अधिक रघुबीर'''—जैसे श्रीभरतजी के प्रति—'यह तुम्हार आचरज न ताता। दसरथ सुवन'''' कहा था, वैसे ही यहाँ भी जानना चाहिये।

(६) 'तुम्ह तौ भरत मोर मत'''—दूसरे का कहा-सुना नहीं, किंतु मेरा अनुभव ऐसा है।'

'धरे देह जनु ···'; यथा—"भरतहिं कहहिं सराहि सराही। राम-प्रेम-मूरति तनु आही॥" (दो० १८१); अर्थात् जो राम-प्रेम के दर्शन चाहे, वह तुम्हें देख ले, तो उसे निश्चय हो जायगा कि ऐसा ही राम-प्रेम करना चाहिये।

(७) 'तुम्ह कहँ भरत कलंक···'—जिसे तुम कलंक मान रहे हो, वह हमें उपदेश-रूप है। इस चरित के द्वारा तुम हमारे उपदेष्टा हुए। ईश्वर की प्रेरणा से यह घटना हुई कि जिसे तुम कलंक मानते हो, यथार्थ में यह कलंक नहीं है, किन्तु हम सबों के उपदेश के लिये है कि जिससे हमलोग प्रेम-लक्षणा भक्ति का तात्त्विक रूप जानें; यथा—"प्रेम अमिअ मंदर बिरह, भरत पयोधि गंभीर। मथि प्रगटेउ सुर साधु हित, कृपासिंधु रघुबीर॥" (दो० २३८))। तुम्हारे इस समय के वैराग्य, अनन्य प्रेम एवं प्रपत्ति की दशा को जो स्मरण करेंगे। पुनः अनुकरण करते हुए राम-प्रेम मार्ग पर आरूढ़ होंगे, उनकी यह भक्ति अवश्य सिद्ध होगी, उसमें कोई बाधा न होगी, जैसे कि गणेशजी के स्मरण-पूर्वक कार्यारंभ से निर्विघ्न सिद्धि होती है। तुम्हें लोक-परलोक के त्याग का अपयश न हुआ, वैसे ही राम-प्रेम-निर्वाह के लिये लोक-परलोक के साधनी-भूत और धर्मों के त्याग का अपयश किसी को न होगा। कहा भी है—"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥" (गीता १८।६६)।

यहाँ भरद्वाजजी ने श्रीभरतजी से दीक्षा लेने का मानों प्रचार का बीज डाल दिया, आगे देखिये—श्रीरामजी कहते हैं; यथा—"भरत कहहिं सोइ किये भलाई।" (दो० १५८); "कहहु करउँ सोइ आजु" (दो० २१०); श्रीजनकजी कहते हैं—"कहिय जो आयेसु देहु।" (दो० २१२); श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—"समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरम सार जग होइहि सोई॥" (दो० ३२१); ('इसमें गुरुजी ने तो इन्हें जगद्गुरु ही कहा है)। श्रीरामजी ने इनके नाम-स्मरण के प्रति भी ऐसा ही कहा है; यथा—"मिटिहहिं पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार। लोक सुजस परलोक सुख सुमिरत नाम तुम्हार॥" (दो० २६३); अर्थात् यह श्रीभरतजी का कलंक औरों के लोक-परलोक का साधक हो गया।

(८) 'राम-भगति-रस-सिद्धि···'—भक्ति-रस का एक अर्थ पंच-रसात्मिका प्रेम-लक्षणा-रस-रूपा भक्ति का ऊपर हो गया। दूसरा अर्थ ऐसा भी किया जाता है कि यहाँ रस का रूपक है। पारा, सोना, चाँदी आदि फूँके जाते हैं, उनकी भस्म को रस कहते हैं। पारे को शुद्ध गंधक के साथ खरल करने पर उसकी कज्जली बनती है। उससे ही रस-निर्माण का कार्य प्रारंभ होता है, उसे कलंक कहते हैं। भक्ति-रस का कार्य भी गुरु-उपदेश से प्रारंभ होता है। श्रीभरतजी के इस समय के चरित को भी (जिसे श्रीभरतजी ने कलंक मान रक्खा है) मुनि ने गुरु-उपदेश-रूप कहा है। अतएव यही भक्ति-रस को भी सिद्ध करेगा। जैसे कज्जली (कलंक) से रस सिद्ध होते हैं। तात्पर्य यह कि—श्रीभरतजी के चरित से भक्ति के साधकों को यह आधार मिलेगा कि इसमें स्वार्थ का सर्वथा त्याग रहना चाहिये। श्रीराम-चरणानुराग के बाधक माता, पिता, गुरु के भी उपदेश को न माने और श्रीराम में पूर्ण भरोसा रक्खे। श्रीभरतजी के इस समय की दशा का ध्यान करने से उनके उस सामर्थ्य की प्राप्ति भी होगी, जिससे वह भक्ति हो।

नवबिधु बिमल तात जस तोरा। रघुबर-किंकर कुमुद चकोरा॥१॥
उदित सदा अथइहि कबहूँ ना। घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना॥२॥
कोक तिलोक प्रीति अति करिहीं। प्रभुप्रताप रबि छबिहि न हरिहीं॥३॥

निसि दिन सुखद सदा सब काहू। ग्रसिहि न कैकइ करतब राहू ॥४॥
पूरन राम-सुप्रेम पियूषा। गुरु-अपमान दोष नहिं दूषा ॥५॥
रामभगत अब अमिअ अघाहू। कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहू ॥६॥

अर्थ—हे तात ! तुम्हारा यश निर्मल नवीन चन्द्रमा है। रघुवर श्रीरामजी के सेवक कुईं और चकोर हैं ॥१॥ यह यश रूपी चन्द्रमा सदा उदित (प्रकट) रहेगा, कभी भी अस्त न होगा, जगत्-रूपी आकाश में घटेगा नहीं। (किंतु) दिन-दिन दूना होगा ॥२॥ चकवाक-रूपी तिनोलोक इससे अत्यन्त प्रीति करेंगे और श्रीरामजी का प्रताप-रूपी सूर्य इसकी छवि को न हरेगा ॥३॥ यह दिन-रात सदा सब किसी को सुखदायक होगा। इसे कैकेयीजी का कर्त्तव्य-रूपी राहु न ग्रसेगा; अर्थात् इस यश में कैकेयीजी की करनी से धब्बा न लगेगा ॥४॥ श्रीरामजी के सुन्दर प्रेम रूपी अमृत से यह पूर्ण है। यह गुरु के अपमान-रूपी दोष से दूषित नहीं हुआ ॥५॥ तुमने पृथिवी को भी अमृत सुलभ कर दिया, अब श्रीराम-भक्त इस अमृत से अघायँ ॥६॥

विशेष—(१) 'नवबिधु बिमल तात'''—ऊपर कहा गया—"तात तुम्हार बिमल जस गाई। पाइहि लोकहु बेद बड़ाई ॥" (दो० २०६); उसीकी व्याख्या करते हुए यहाँ विशाल (अधिक अभेद) रूपक-द्वारा समझाते हैं कि वह (प्राकृत) चन्द्रमा तो पुराना है और बहुत अवगुणों के होने से समल (मैला) है। पर तुम्हारा-यश-रूपी चन्द्रमा नवीन और निर्मल है; यथा—"कीरति बिधु तुम्ह कीन्ह अनूपा।" (दो० २०१); 'रघुबर किंकर कुमुद चकोरा।'—कुईं स्थावर और चकोर जंगम है, वैसे ही श्रीरामजी के भक्त भी दो प्रकार के होते हैं—प्रवृत्ति मार्गवाले स्थावर और निवृत्ति मार्गवाले जंगम, अर्थात् लोमश की तरह स्थावर और नारद की तरह जंगम (दोनों ही इससे प्रफुल्ल एवं आनंदित होंगे)।

(२) 'उदित सदा अथइहि'''—वह चन्द्रमा नित्य आकाश में उदय-अस्त होता है। घटता-बढ़ता है और अमावस्या-प्रतिपदा को तो उदय भी नहीं होता, पर यह जगत् में सदा ही उदित और दिन-दूना होता रहेगा, घटेगा, तो कभी नहीं।

(३) 'कोक तिलोक प्रीति'''—वह चन्द्रमा—"कोक सोक प्रद पंकज द्रोही।" (बा० दो० २३७); है, और इसमें तीनों लोक प्रीति करेंगे। (तिलोक अर्थात् त्रिलोक से 'लोकस्तु भुवने जने' के अनुसार तीन प्रकार के जीव—विषयी, मुमुक्षु और मुक्त का भी अर्थ होता है)।

'प्रभुप्रताप रबि'''—उस चन्द्रमा की छवि को सूर्य हरता है; यथा—"ससि छबिहर रबि सदन तउ, मित्र कहत सब कोइ।" (दोहावली ३२१); पुनः यथा—"दिन मलीन सकलंक" (बा० दो० २३७); पर यह यश-चन्द्र श्रीराम-प्रताप के साथ चमकता हुआ देख पड़ेगा।

(४) 'निसि दिन सुखद सदा'''—वह चन्द्रमा नभ में रहता है, इससे सबको सुलभ नहीं है और यह जगत् में ही है सब किसी को सुखद है। वह तो 'बिरहिन-दुखदाई' है। वह रात में और वह भी किसी-किसी को ही सुखद है और यह तो सबको सुखद है और राम-विरही लोगों को तो अत्यन्त सुखद है; यथा—"भा सबके मन मोद न थोरा। ''भरत प्रान प्रिय भे सब ही के ॥" (दो० १८४)। 'ग्रसिहि न कैकइ करतब राहू।'—उसे राहु ग्रसता है; यथा—"सइ राहु निज संधिहि पाई।" (बा० दो० २३७)। पर इसे कैकेयी का कर्त्तव्य-रूपी राहु छू भी न सकेगा; यथा—"जो पाँवर अपनी जड़ताई। तुम्हहि सुगाइ मातु कुटिलाई। सो सठ कोटिक पुरुष समेता। बसिहि कलप सत नरक निकेता ॥" (दो० १८३)।

(५) 'पूरन राम सुप्रेम पियूषा।'—इसमें कलाओं के घटने के साथ अमृत घट भी जाता है, पर यह श्रीरामजी के प्रेम से पूर्ण रहता है; यथा—"सियराम प्रेम पियूष पूरन होत जनम···" (दो० ३२६)। वह 'सकलंक' है और यह—'गुरु अपमान दोष नहिं दूषा।' है।

(६) 'रामभगत अब अमिअ ···'—वहाँ देवता ही अमृत पीते हैं, यहाँ राम-भक्त; यथा—"भरत-चरित करि नेम, तुलसी जे सादर सुनहिं। सीय-राम-पद प्रेम, अवसि होइ भवरस बिरति॥" (दो० ३२६); 'कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहू।'—वह स्वर्गीय देवों को ही सुलभ है, पर यह पृथिवी के लोगों को भी सुलभ है; यथा—"सियराम-प्रेम पियूष पूरन···कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥" (दो० ३२६)।

'अब' शब्द से ध्वनित होता है कि कवि के पूर्व शरीर (वाल्मीकि-रूप) से किये हुए भरत-चरित से राम-भक्तों को उतनी तृप्ति नहीं हुई थी, जिसकी आपने इस शरीर की कृति से पूर्ति की।

भूप भगीरथ सुरसरि आनी। सुमिरत सकल-सुमंगल-खानी॥७॥
दसरथ-गुनगन बरनि न जाहीं। अधिक कहा जेहि सम जग नाहीं॥८॥

दोहा—जासु सनेह-सकोच-बस, राम प्रगट भये आइ।
जे हर-हिय-नयननि कबहुँ, निरखे नहीं अघाइ॥२०९॥

कीरति बिधु तुम्ह कीन्ह अनूपा। जहँ बस राम-प्रेम मृग-रूपा॥१॥

अर्थ—(आपके पूर्वज) भगीरथ महाराज गंगाजी को लाये, जिनका स्मरण करते ही समस्त सुन्दर मंगलों की खान प्राप्त हो जाती है॥७॥ श्रीदशरथ महाराज के गुण-समूह वर्णन नहीं किये जा सकते, अधिक का क्या कहना? जिनके समान भी संसार में कोई नहीं है॥८॥ जिनके स्नेह और संकोच के वश श्रीरामजी आकर प्रकट हो गये कि जिनको श्रीशिवजी ने अपने हृदय के नेत्रों से अघाकर नहीं देख पाया॥२०९॥ और तुमने कीर्त्ति-रूपी अनुपम चन्द्रमा को उदित किया, जिसमें राम प्रेम रूपी हिरण बसता है॥१॥

विशेष—(१) 'भूप भगीरथ सुरसरि ·····'—ऊपर कहा गया—"कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहू।" उसीपर कहते हैं कि तुम्हारी कुल-परंपरा ही ऐसी चली आती है। देखो श्रीभगीरथजी गंगाजी को लाये, जिससे जगत्-भर का महान् उपकार हुआ।

(२) 'जासु सनेह-सकोच बस····'—'सनेह'; यथा—"देखि प्रीति सुनि बचन अमोले। एवमस्तु करुनानिधि बोले॥ आपु सरिस खोजउँ कहँ जाई। नृप तव तनय होब मैं आई॥" 'संकोच'; यथा—"सकुच बिहाइ माँगु नृप··· ···" (बा० दो० १४८–१९)। यह मनु शरीर की बात कही गई है। गंगाजी श्रीरामजी के चरण से प्रकट हुईं और श्रीरामजी प्रेम से प्रकट होते हैं। अतः, गंगाजी से श्रेष्ठ श्रीरामजी और उनसे भी श्रेष्ठ उनका प्रेम हुआ। गंगाजी में देश का नियम है कि अमुक-अमुक देश में होकर बही हैं। वहीं-वहीं जाकर स्नान करना चाहिये। श्रीरामजी के प्रकट होने में काल का नियम है कि वे ११ हजार वर्ष तक पृथिवी पर प्रकट-रूप में रहते हैं और राम-प्रेम के लिये देश-काल का नियम नहीं है, वही राम-प्रेम तुमने प्रकट किया।

(३) कीरति बिधु तुम कीन्ह अनूपा।'—इसकी उपमा है ही नहीं, जैसे चन्द्रमा में मृग का नित्य निवास है, वैसे ही तुम्हारी कीर्त्ति में राम-प्रेम का नित्य-निवास है; यथा—"भरत-चरित करि नेम, तुलसी जे सादर सुनहिं। सीय-राम-पद-प्रेम, अवसि होइ भव-रस-बिरति॥" (दो० ३२६); अर्थात् इसमें देश-काल का व्यवधान नहीं है, अतः, उक्त दोनों से तुमने अधिक किया। चन्द्रमा में जो मृगांक है, वह श्याम रंग का है, वैसे ही प्रेम का भी श्याम ही रंग है।

तात गलानि करहु जिय जाये। डरहु दरिद्रहि पारस पाये॥२॥
सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥३॥
सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम-सिय-दरसन पावा॥४॥
तेहि फल कर फल दरस तुम्हारा। सहित प्रयाग सुभाग हमारा॥५॥
भरत धन्य तुम्ह जग जस जयेऊ। कहि अस प्रेम-मगन मुनि भयेऊ॥६॥

शब्दार्थ—जयऊ=जीत लिया, इसका सं० जयन् है।

अर्थ—हे तात! तुम व्यर्थ ही हृदय में ग्लानि करते हो, पारस को पाकर भी दरिद्रता से डरते हो॥२॥ हे श्रीभरतजी! सुनो, हम झूठ नहीं कहते, क्योंकि हम विरक्त हैं, तपस्वी हैं और वन में रहते हैं॥३॥ सब साधनों के शोभायमान सुन्दर फल श्रीसीताजी, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी के दर्शन हैं, सो हमने पाये॥४॥ और उस फल का भी फल तुम्हारा दर्शन हुआ, प्रयाग-समेत हमारा यह सौभाग्य है॥५॥ हे श्रीभरतजी! तुम धन्य हो, तुमने अपने यश से जगत् को जीत लिया; अर्थात् तुम्हारा सा यश जगत् में किसी का नहीं हुआ, ऐसा कहकर मुनि प्रेम में मग्न हो गये॥६॥

विशेष—(१) 'डरहु दरिद्रहि पारस पाये'—राम-प्रेम पारस है, कलंक दारिद्र्य है। पारस के स्पर्श से लोहा सोना हो जाता है, वैसे राम-प्रेम के सम्पर्क से कलंक स्वर्ण-भूषण-रूप हो गया। तुम्हारे पास पारस है, पर तुम उसके गुण भूले हुए हो, इसीसे कलंक-रूप दारिद्र्य से डर रहे हो।

(२) 'सुनहु भरत हम झूठ ......'—झूठ किसीको न बोलना चाहिये और हमारे लिये तो तीन कारण और प्रबल हैं—(क) हम उदासीन हैं, अतः हमारा कोई शत्रु-मित्र नहीं है और न किसीसे कुछ स्वार्थ-दृष्टि ही है, तब झूठ क्यों बोलेंगे? क्योंकि लोग इन्हीं कारणों से झूठ कहते हैं

(ख) हम तपस्वी हैं; अतः, तप नाश हो जाने के भय से भी झूठ नहीं कह सकते।

(ग) हम वन में रहते हैं, किसी से कुछ व्यवहार का प्रयोजन ही नहीं है। फल-मूल और वल्कल आदि से ही निर्वाह हो जाता है। तब झूठ ऐसे पाप की क्या आवश्यकता?

(३) 'सब साधन कर सुफल...'—यह इन्होंने कहा है; यथा—"आजु सुफल तप तीरथ त्यागू। आजु सुफल जप जोग बिरागू। सुफल सकल सुभ साधन साजू। राम तुम्हहि अवलोकत आजू॥" (दो० १०६);

(४) 'तेहि फल कर फल दरस तुम्हारा।'—फल का फल है, उसका भोग करना, फलरूप श्रीरामजी प्राप्त हुए, तब उनका उपयोग उनकी भक्ति द्वारा होता है। वह भक्ति तुम्हारे दर्शनों से प्राप्त हुई; यथा—"तुम्ह कहँ भरत कलंक..." इस दोहे में कहा गया। अतः, फल का आस्वादन करना हमने आपसे सीखा।

इसीसे कहा भी है—"मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥" (उ० दो० ११९); 'सहित प्रयाग सुभाग हमारा।'—श्रीभरतजी के दर्शनों से प्रयाग-समेत मुनि को प्रेम की प्राप्ति हुई, इसीसे सबका सौभाग्य कहते हैं; यथा—"बड़े भाग अनुराग राम पद होइ।" (बरवा० ३०)। 'प्रयाग' से यहाँ प्रयागराज तीर्थ और वहाँ के वासी भी कहे गये हैं। तीर्थ भी संत-दर्शनों से अपनेको कृतार्थ मानते हैं; यथा—"सुर तीरथ तासु मनावत आवत, पावन होत हैं ता तन छुवे।···तुलसी जो रहे रघुवीर को ह्वै॥" (क० उ० ३४)।

(५) 'भरत धन्य तुम्ह जग···'; यथा—"तीनि काल तिभुवन मत मोरे। पुन्य सिलोक तात तर तोरे॥" (दो० २६२); इस प्रकरण का उपक्रम—"नव बिधु बिमल तात जस तोरा।" है और यहाँ—'भरत धन्य···' पर इसका उपसंहार हुआ।

(६) 'कहि अस प्रेम मगन···'—यहाँ श्रीभरतजी के यश को कहते हुए मुनि प्रेम में डूब गये। वाणी रुक गई, मन भी डूब गया, इस तरह—"यतो वाचो निवर्त्तन्ते॥ अप्राप्य मनसा सह॥" (तैत्तरीय); इस श्रुति का भाव भक्त-चरित में भी चरितार्थ हुआ।

सुनि मुनिबचन सभासद हरषे। साधु सराहि सुमन सुर बरषे॥७॥
धन्य धन्य धुनि गगन प्रयागा। सुनि सुनि भरत मगन अनुरागा॥८॥

दोहा—पुलकगात हिय राम सिय, सजल सरोरुह नयन।
करि प्रनाम मुनिमंडलिहि, बोले गदगद बयन॥२१०॥

अर्थ—मुनि के वचन सुनकर सब सभासद प्रसन्न हुए, साधुवाद (सत्य है, सत्य है, धन्य हो, इत्यादि) द्वारा प्रशंसा करके देवता लोगों ने फूलों की वर्षा की॥७॥ आकाश और प्रयाग में धन्य-धन्य का शब्द सुन-सुनकर श्रीभरतजी अनुराग में मग्न हुए॥८॥ उनके शरीर में पुलकावली हो रही है, हृदय में श्रीसीतारामजी हैं, कमल के समान नेत्रों में प्रेमाश्रु भरे हैं। वे मुनि मंडली को प्रणाम करके गद्गद वचन बोले॥२१०॥

विशेष—(१) 'सुनि मुनि बचन सभासद···'—'सभासद' यहाँ वे हैं, जिनका पहले आना कहा गया है; यथा—"प्रमुदित तीरथ राज निवासी। बैखानस बटु गृही उदासी॥" (दो० २०५); इनके हर्ष के कारण मुनि का सत्य भाषण, भागवत् यश-वर्णन एवं—"सहित प्रयाग सुभाग हमारा॥ भरत धन्य तुम्ह जग जस जयऊ।" ये अंतिम वचन हैं। सभासदों ने साधुवाद से और देवताओं ने फूल बरसाकर मुनि के वचनों की सत्यता जनाई; यथा—"मोर बचन सबके मन माना। साधु साधु करि ब्रह्म बखाना॥" (बा० दो० १८४); अर्थात् सबको मनभाई बात होने पर साधुवाद की रीति है।

(२) 'धन्य धन्य धुनि···सुनि सुनि भरत···'—श्रीभरतजी ने इसे सबके अंतर्यामी प्रभु की कृपा समझा, इससे अनुराग में मग्न हुए कि प्रभु मुझ ऐसे दोषी की भी प्रशंसा करा रहे हैं, उन्हें इस बड़ाई का कुछ भी अहंकार नहीं हुआ। यह उनकी प्रेम-दशा से स्पष्ट है कि कंठ भर आया, इसीसे गद्गद वचन कह रहे हैं—

मुनिसमाज अरु तीरथराजू। साँचिहु सपथ अघाइ अकाजू ॥१॥
येहि थल जौं किछु कहिय बनाई। येहि सम अधिक न अघ अधमाई॥२॥
तुम्ह सर्वज्ञ कहउँ सतिभाऊ। उर - अंतरजामी रघुराऊ ॥३॥
मोहि न मातुकरतब कर सोचू। नहिं दुख जिय जग जानहि पोचू ॥४॥
नाहिंन डर बिगरिहि परलोकू। पितहु मरन कर मोहि न सोकू ॥५॥

अर्थ—मुनियों का समाज और तीर्थराज प्रयाग (ऐसा स्थल) है, यहाँ सची शपथ करने पर भी भरपूर अनर्थ होता है ॥१॥ फिर जो इस स्थल पर कुछ बनावटी (झूठ बनाकर) कहा जाय, तो इसके समान कोई बड़ा पाप और अधमता न होगी ॥२॥ मैं अपने सत्य भाव से कहता हूँ, आप सर्वज्ञ हैं और रघुराज श्रीरामजी सबके हृदय की जाननेवाले हैं; अर्थात् मेरे बनावटी कथन को आप और श्रीरामजी तो जान ही लेंगे ॥३॥ मुझे माता की करनी का शोच नहीं है, हृदय में इसका भी दुःख नहीं है कि संसार मुझे नीच (बुरा) समझेगा ॥४॥ न इसका ही डर है कि मेरा परलोक बिगड़ेगा और पिता के मरने का भी मुझे शोक नहीं है ॥५॥

विशेष—(१) 'अघाइ अकाजू'—अकाज (अनर्थ) होने का कारण यह है कि शपथ करनेवाले ने इनको कुछ समझा ही नहीं, तब तो अमुक-अमुक बातों के लिये इनका अपमान किया। विप्र-समाज ही बहुत है, यहाँ तो मुनिसमाज है। पुनः तीर्थ ही नहीं, किंतु तीर्थराज हैं।

(२) मुनि ने अपने सत्य भाषण में तीन प्रमाण दिये थे—'उदासीन, तापस, बन रहहीं।' इन्होंने एक और अधिक प्रमाण दिया—मुनि समाज, तीर्थराज, तुम्ह सर्वज्ञ और अंतर्यामी रघुराऊ। इनमें यह भी अधिकता है कि मुनि ने कहा था—'हम झूठ न कहहीं' और इन्होंने—'साँचेहु सपथ अघाइ अकाजू' कहा है, अर्थात् ये सत्य की शपथ को भी पाप मानते हैं।

श्रीभरतजी ने यहाँ मुनि की बातों के उचित उत्तर दिये हैं—

मुनि—तुम्ह गलानि जिय जनि करहु, समुझि मातु करतूति। श्रीभरतजी—मोहि न मातु करतब कर सोचू। क्योंकि जो बोया है वही काटेगा। मुनि—तुम्हार अलप अपराधू। कहइ सो अधम···। श्रीभरतजी—नहिं दुख जिय जग जानिहि पोचू॥ अर्थात् माता का सम्बन्ध लेकर कोई मुझे बुरा कहे, तो उसका दुःख नहीं; क्योंकि—"महिमा-मृगी कौन सुकृती की खल बच बिसिखन बाँची॥ (अतएव) गहि न जाइ रसना काहू की, कहत जाहि जोइ सूझै।···" (गी० अ० ६१)। मुनि—तुम्हार बिमल जस गाई। पाइहि लोकहु बेद बड़ाई। श्रीभरतजी—नाहिंन डर बिगरिहि परलोकू। मुनि—राम गवन बन अनरथ मूला। श्रीभरतजी—पितहु मरन कर नाहिन सोचू। पिता के प्रति आगे कहते हैं—

सुकृत सुजस भरि भुवन सुहाये। लछिमन-राम-सरिस सुत पाये ॥६॥
रामबिरह तजि तनु छनभंगू। भूप - सोच कर कवन प्रसंगू ॥७॥
राम-लखन- सिय बिनु पग पनहीं। करि मुनिबेष फिरहिं बन बनहीं ॥८॥

दोहा—अजिन बसन फल असन महि, सयन डासि कुसपात।
बसि तरुतर नित सहत हिम, आतप बरषा बात ॥२११॥

शब्दार्थ—छनभंगू=क्षण-भर में नाश होनेवाला। अजिन=वल्कल, छाल।

अर्थ—उनका सुन्दर पुण्य और सुयश लोकों में भरपूर सुशोभित हुआ और उन्होंने श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी के समान पुत्र पाये ॥६॥ फिर, श्रीरामजी के विरह में क्षण-भंगुर शरीर को छोड़ दिया, तो राजा के शोक की कौन चर्चा? ॥७॥ श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी बिना जूती के, मुनि-वेष किये हुए वन-वन में फिर रहे हैं ॥८॥ वल्कल वस्त्र पहने, फल खाते, पृथिवी पर कुश और पत्ते बिछाकर सोते और वृक्षों के नीचे बसते हुए नित्य ही जाड़े, गर्मी, वर्षा और वायु (के दुःख) सहते हैं ॥२११॥

विशेष—(१) 'लछिमन-राम-सरिस···'—अपनेको नहीं कहते, क्योंकि कह चुके हैं—"मैं सठ सब अनरथ कर हेतू।" (दो० १७८); श्रीशत्रुघ्नजी अपने अनुयायी हैं। इसलिये उन्हें भी न कहा। श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी ने पिता की आज्ञा मानी और वनके लिये पिता ने प्राण छोड़ दिये; अतः, वे श्रेष्ठ पुत्र हैं।

(२) 'भूप सोच कर कवन प्रसंगू।'—राजा का जीते जी यश रहा, श्रेष्ठ पुत्र का सुख भी पाया, राम-विरह में शरीर छोड़कर सत्य-प्रेम की भी कीर्ति प्राप्त की, जिससे सदा के लिये अमर यश संसार में छोड़ गये, शरीर तो क्षण-भर में नाश होनेवाला है, कभी तो छूटता ही। इसपर दो० १७१–१७३ और क्षण-भंगुर शरीर पर दो० १८६ चौ० ३ भी देखिये।

(३) 'राम-लखन-सिय बिनु···'—अब यहाँ से अपने शोच का यथार्थ कारण कह रहे हैं। यहाँ से—'येहि दुख दाह दहइ दिन छाती।···' तक में कहा है। भरद्वाजजी ने जो-जो बातें अनुमान की थीं, उनका निराकरण पहले ही कर चुके।

(४) 'हिम, आतप बरषा बात'—तीनों कालों (हिम, गर्मी, और वर्षा) में वायु का झकोरा अत्यन्त दुःखद होता है। इसलिये 'बात' को सबके अंत में कहा और इस तरह उसे तीनों के साथ जनाया। वायु के झकोर से गर्मी में लू, जाड़े में अत्यन्त शीत और वर्षा में बूँदें चढ़ी सी लगती हैं जिनसे शीत भी पैदा होता है।

येहि दुख दाह दहइ दिन छाती। भूख न बासर नींद न राती ॥१॥
येहि कुरोग कर औषध नाहीं। सोधेउँ सकल बिस्व मन माहीं ॥२॥
मातु कुमत बढ़ई अघमूला। तेहि हमार हित कीन्ह बँसूला ॥३॥
कलि कुकाठ कर कीन्ह कुजंत्रू। गाड़ि अवधि पढ़ि कठिन कुमंत्रू ॥४॥
मोहि लगि यह कुठाटु तेहि ठाटा। घालेसि सब जग बारहबाटा ॥५॥
मिटइ कुजोग राम फिरि आये। बसइ अवध नहिं आन उपाये ॥६॥

शब्दार्थ—दिन = दिनो दिन, प्रति दिन। कलि = कलह, फूट। बारहबाट माजना = तितर-बितर करना, नष्ट-भ्रष्ट करना, यथा—"तुलसी ते कुरु राज ज्यों, जैहैं बारह बाट॥" (दोहावली ४१०); "रावन सहित समाज सब, जाइहि बारह बाट।" (रामाज्ञा ५।३।२)।

अर्थ—इसी दुःख की जलन से प्रति दिन मेरी छाती जलती है, न दिन में भूख लगे; और न रात में नींद आवे॥१॥ इस कुरोग की दवा नहीं। मैंने अपने मन में सारा ब्रह्मांड खोज डाला॥२॥ माता (कैकेयी) का कुमत (कुत्सित मन्तव्य) पाप का मूल (अत्यन्त पापी) बढ़ई है। उसने हमारे हित को अपना बसूला बनाया॥३॥ और कलह रूपी कुकाठ (भिलावाँ बहेड़े आदि की लकड़ी) का कुयन्त्र (अभिचार, टोटका, बुरी खूँटी) बनाया और कठिन कुमंत्र पढ़कर अवध में अवधि (१४ वर्ष) भर के लिये उसे गाड़ दिया॥४॥ उसने मेरे लिये यह सब कुठाट सजाया और सारे संसार को 'बारह बाट' किया॥५॥ यह कुयोग श्रीरामजी के लौट आने पर ही मिटेगा और किसी भी उपाय से अयोध्यापुरी बस नहीं सकती॥६॥

विशेष—(१) 'येहि दुख दाह दहइ'—अंतःकरण में गर्मी होने से ऐसी ही दशा होती है। श्रीभरतजी श्रीरामजी के दुःख में दुःख और उनके ही सुख में सुख मानते हैं। यह इनमें स्वाभाविक है, इसीसे इस रोग को असाध्य और कुरोग कहते हैं; क्योंकि वन में रहने से श्रीरामजी को सुख मिल नहीं सकता। 'सकल बिस्व'—का तात्पर्य जहाँ तक अपने मन और बुद्धि की पहुँच है, वहीं तक है।

(२) 'मातु कुमत बढ़ई ... घालेसि सब जग'—यहाँ शत्रु-दमन के लिये अभिचार (मारण) प्रयोग का रूपक बाँधा गया है। यह कई प्रकार का होता है, उनमें एक प्रकार का यों है—निकृष्ट मास-पक्ष-तिथि नक्षत्र आदि में भिलावाँ-बहेड़े आदि की लकड़ी का कोल्हू बनाकर शत्रु के पैर के तले की मिट्टी लेकर उसका पुतला बनावे और उसकी छाती पर उस शत्रु का नाम लिखकर उस कोल्हू में दबाकर सिद्ध किये हुए मंत्र को १०८ बार पढ़ उस मारण यंत्र को भूमि में गाड़ दे, तो शत्रु मर जाय। दूसरा यों है—कि अमुक नक्षत्र में नंगे होकर बहेड़े की लकड़ी ले आवे और उसकी खूँटी बनाकर उच्चाटन मंत्र पढ़कर जहाँ गाड़ दे वहाँ के निवासी भाग जाते हैं और वह स्थान उजाड़ हो जाता है, इत्यादि।

यहाँ प्रयोग करनेवाली कैकेयी है, उसका कुमत, यथा—"परउँ कूप तव बचन पर, सकउँ पूत पति त्यागि।" (दो० २१) यही बढ़ई है। ('कुमत' और 'बढ़ई' दोनों पुंल्लिंग हैं) यह कुमत पापमूलक है। 'बसूला'—'हमार हित' अर्थात् हम (भरत) को राज्य मिले, यह कैकेयी ने सोचा था; यथा—"कस न करब हित लागि।" (दो० २०); 'कलि कुकाठ'—भिलावाँ-बहेड़े आदि की लकड़ी की तरह कलह है, यथा—"नैहर जनम भरब बरु जाई। जियत न करबि सवति सेवकाई॥ ··मरन नीक तेहि जीवन चाही॥" (दो० २०); "होत प्रात मुनि बेष धरि···" (दो० ३३)। 'गढ़ि'—गढ़ना, बार-बार हठ करना है। 'कुजन्त्र'—विरोध की पुष्टि; यथा—"भरत कि राउर पूत न होहीं।···" (दो० ३१); 'गाड़ि अवधि'—टोटका गाड़ने में अवधि नियत कर दी जाती है। वैसे यह गड़त—"चौदह बरिस राम बनबासी।" (दो० २८) कहकर गाड़ा गया है। हठ-पूर्वक धर्म से दबाना गाड़ना है; यथा—"देहु कि लेहु अजस करि नाहीं·" (दो० ३२) इत्यादि। गाड़ने की भूमि अवध का कोप-भवन है। 'पढ़ि कठिन कुमन्त्र', यथा—"कीन्हेसि कठिन पढ़ाइ कुपाठू।·" (दो० १९), "भूपति राम सपथ जब करई।···" (दो० २१) इत्यादि मंथरा द्वारा मंत्र पाना और सिद्ध करना है। "तनु तिय तनय धाम धन धरनी। सत्यसंध कहँ त्रिन सम बरनी॥" (दो० ३४) आदि पढ़ना है। मंत्र पढ़नेवाली कैकेयी है।

(३) 'घालेसि सब जग'—(१) मनुष्य का संसार (जगत) वहीं तक है, जहाँ तक उसके सम्बन्धियों की सीमा है। यहाँ श्रीअवध एवं श्रीभरतजी के सम्बन्धी से तात्पर्य है; यथा—"भरत उजारि कीन्हि कैकेयी।···" (दो० २१) तथा आगे कहते हैं—"बसइ अवध नहिं आन उपाये।" इत्यादि से इस अर्थ की पुष्टि होती है। (२) चक्रवर्त्ती महाराज जगत्-भर के सम्राट् हैं, उनपर प्रयोग होने से जगत्-भर पर विपत्ति पड़ी; यथा—"मिथिला अवध बिसेषि ते, जग सब भयो अनाथ।" (दो० २७०)।

'बारह बाटा' का अर्थ नष्ट-भ्रष्ट होना है, इसी अर्थ में मुहावरा है, तदनुसार ऊपर का पहला अर्थ संगत है। यह मुहावरा क्यों पड़ा? इसपर १२ भेद भी कहे जाते हैं। वे पूर्णतया दूसरे अर्थ में घटते हैं; यथा—"मोहो दैन्यं भयं ह्रासो हानिर्ग्लानिः क्षुधा तृषा। मृत्युः क्षोभो व्यथा कीर्तिर्बाटो होतेहि द्वादशाः॥" इनमें—१ मोह, २ दीनता, ३ हानि, ४ ग्लानि, ये चारों अवधवासियों को हुईं। क्रमशः उदाहरण; यथा—(१) "कछुक देव माया मति मोई।" (दो० ८४); (२) "मनहुँ कोक कोकी कमल दीन बिहीन तमारि॥" (दो० ८६); (३) "फिरेउ बनिक जिमि मूर गँवाई।" (दो० ८८); "नगर नारि नर निपट दुखारी। मनहुँ सबनि सब संपति हारी॥" (दो० १५७), (४) "निदहिं आपु सराहहि मीना। धिग जीवन रघुबीर बिहीना॥" (दो० ८५)। (५) भय, रावण को; यथा—"दस मुख बोलि उठा अकुलाना।" (लं० दो० ४); (६) ह्रास, जनक आदि को; यथा—"भरत राज रघुबर बनबासू। भा मिथिलेसहि हृदय हरासू॥" (दो० २७०); (७-८) क्षुधा-तृषा, श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी को; यथा—"असन कंद-फल मूल। ते कि सदा सब दिन मिलहिं···" (दो० ६१); "जल को गये लक्खन हैं लरिका परिखो पिय छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े॥" (क० अ० १२); (९) क्षोभ, देवताओं को; यथा—"कह गुरु बादि छोभ छल छाड़ू।" (दो० २१७)। (१०) मृत्यु, चक्रवर्त्तीजी को; यथा—"राउ गयेउ सुर धाम।" (दो० १५५); (११) व्यथा, कुबरी को—"कूबर टूटेउ फूट कपारू।" (दो० १६१); (१२) अकीर्त्ति, कैकेयी को; यथा—"तोर कलंक मोर पछताऊ। मुयेहु न मिटिहि···" (दो० ३५)। यहाँ तक गढ़न्त और उसका फल—'घालेसि सब जग ·····' कहा गया है। आगे—'मिटइ कुजोग राम फिरि आये' से उत्कीलन और उसका फल—'बसइ अवध · ' भी कहते हैं।

(४) 'मिटइ कुजोग राम ·····'—यंत्र प्रयोग पर यदि प्रयोगकर्त्ता से भी अधिक कुशल पंडित हो और उसका उखाड़ना जानता हो, तो वह उसे निष्फल कर सकता है। यहाँ श्रीरामजी का लौटना ही कुयंत्र का उखाड़ना है, इसी उपाय से उजड़ा हुआ अवध बस सकता है। यह उपाय किया क्यों नहीं? इसका उत्तर ऊपर कह चुके—"जेहि कुरोग कर औषध नाहीं। सोधेउँ सकल बिस्व मन माहीं॥" शोधना आगे—"केहि बिधि होइ राम अभिषेकू।···" से "सोचत भरतहिं रैनि बिहानी॥" (दो० २५२) तक कहना है, इसीसे यहाँ नहीं कहा गया।

भरत-बचन सुनि मुनि सुख पाई। सबहि कीन्हि बहु भाँति बड़ाई॥७॥
तात करहु जनि सोच बिसेखी। सब दुख मिटिहि रामपद देखी॥८॥

दोहा—करि प्रबोध मुनिबर कहेउ, अतिथि प्रेमप्रिय होहु।
कंद मूल फल फूल हम, देहिं लेहु करि छोहु॥२१२॥

अर्थ—श्रीभरतजी के वचन सुनकर मुनि ने सुख पाया, सभी ने उनकी बहुत तरह से

की ॥७॥ (मुनि ने कहा) हे तात ! तुम इतना विशेष शोक मत करो, श्रीरामजी के चरण देखते ही सब दुःख दूर हो जायँगे ॥८॥ खूब समझाकर मुनि श्रेष्ठ ने श्रीभरतजी से कहा कि आप हमारे प्रेम के प्यारे मेहमान (पाहुन) होवें; हम कंद, मूल, फल, फूल (आदि जो कुछ) दें, इन्हें कृपा करके स्वीकार करें ॥२१२॥

विशेष—(१) 'सब दुख मिटिहि राम···'—श्रीभरतजी ने अभी कहा है—"येहि दुख दाह दहइ दिन छाती।" और इसका उपाय श्रीअवध के दरबार में कहा था—"देखे बिनु रघुबीर-पद, जिय की जरनि न जाइ।" (दो० १८२) उसीके अनुसार मुनि आशिष देते हैं। इसकी सफलता आगे हुई भी है; यथा—"हरषहि निरखि राम-पद-अंका।···" (दो० २३७); पुनः चरण-पादुका पाने पर—"अस सुख जस सिय राम रहे ते॥" (दो० ३१५)। मुनि ने श्रीरामजी के लौटने की आशिष नहीं दी, क्योंकि सर्वज्ञ हैं, जानते हैं कि प्रभु लौटेंगे नहीं।

श्रीराम-चरण-दर्शनों से बहुतों के दुःख मिटे ; यथा—"नाथ कुसल पद पंकज देखे। भयेउँ भाग-भाजन···" (दो० ८७)।—गुह। "प्रभु-पद-देखि मिटा सो पापा ॥" (आ० दो० ३१)—कबंध। "अब मैं कुसल मिटे भय भारे। देखि राम-पद-कमल तुम्हारे॥" (सुं० दो० ४६)—विभीषण, इत्यादि।

(२) 'अतिथि प्रेम-प्रिय होहु'—हम आपकी पहुनाई करने के योग्य नहीं हैं। अतएव, आप हमारे प्रेम के ही प्रिय पाहुन हों। अर्थात् हमारे पास प्रेममात्र ही है, कृपाकर इसे सफल करें, क्योंकि भगवत् भागवत दोनों को प्रेम ही प्रिय होता है; यथा—"सुर साधु चाहत भाव सिन्धु कि तोष जल अंजलि दिये।" (बा० दो० ३२५)। प्रेम-पूर्वक दिया हुआ पदार्थ ग्रहण करने का सबको अधिकार भी है।

(३) 'कंद मूल फल···'—मुनि ने कहा, कंद-मूल आदि ही ; परन्तु किया बहुत कुछ, यह मिथ्या भाषण नहीं, किंतु शिष्टाचार है। कहने की लोकरीति है कि कृपाकर मेरे 'शाक-पात' को ग्रहण करें। 'हम देहि'—क्योंकि कंद-मूल आदि शिष्य वर्गों ने लाकर दिये और दिव्य-पदार्थ मुनि प्रकट करेंगे। इसलिये बहुवचन 'हम' शब्द कहा है।

सुनि मुनि-बचन भरत हिय सोचू। भयेउ कुअवसर कठिन सँकोचू ॥१॥
जानि गरुइ गुरुगिरा बहोरी। चरन बंदि बोले कर जोरी ॥२॥
सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा ॥३॥

अर्थ—मुनि के वचन सुनकर श्रीभरतजी के हृदय में शोक (चिंता) हुआ कि बड़े कुअवसर प कठिन संकोच आ पड़ा है ॥१॥ फिर गुरु की वाणी को गौरवयुक्त मान वे चरणों में प्रणाम कर हा जोड़कर बोले ॥२॥ हे नाथ ! आपकी आज्ञा शिरोधार्य करें, यह हमारा सबसे बड़ा धर्म है ॥३॥

विशेष—(१) 'कुअवसर कठिन सँकोचू'—कुअवसर यह कि समाज के साथ इनका व्रत यथा—"पय अहार फल असन एक···" (दो० १८८)। यह तीर्थ स्थल है, ये क्षत्रिय हैं, ब्राह्मण एवं महर्षि धान्य कैसे लें ? फिर श्रीरामजी तो भोग छोड़े हुए हैं और हम यहाँ पहुनाई करावें, यह अनुचित है। पु मुनि को ससैन्य हमारे सत्कार में बड़ा कष्ट सहना पड़ेगा, इत्यादि। संकोच यह कि आज्ञा न मानें अवज्ञा होगी, इत्यादि।

(२) 'जानि गरुइ गुरुगिरा···'—फिर विचार करने पर गुरु-आज्ञा के पालन करने को विशेष

माना कि जैसे ससैन्य विश्वामित्रजी (राजा विश्वरथ) ने वसिष्ठजी का सत्कार स्वीकार किया, राजा सहस्रबाहु ने जमदग्नि का, वैसे हमें भी ग्रहण करना ही चाहिये। 'गुरु' शब्द से यहाँ (गुरु-वर्ग) भरद्वाजजी का तात्पर्य है।

(२) 'सिर धरि आयसु···'—यह अर्धाली ज्यों-की-त्यों बा० दो० ७६ में है, वहीं के भाव यहाँ भी लगा लें। वहाँ—"प्रभु तोषेउ सुनि संकर बचना।" है, वैसे यहाँ भी—"भरत बचन मुनिवर मन भाये।" आगे कहा है।

पूर्व विचार धर्म का था, उसपर गुरु-आज्ञा परमधर्म परक होने से विशेष हुई।

भरतबचन मुनिबर मन भाये सुचि सेवक सिप निकट बोलाये ॥४॥
चाहिय कीन्हि भरत पहुनाई। कंद मूल फल आनहु जाई ॥५॥
भलेहि नाथ कहि तिन्ह सिर नाये। प्रमुदित निज निज काज सिधाये ॥६॥
मुनिहि सोच पाहुन बड़ नेवता। तसि पूजा चाहिय जस देवता ॥७॥
सुनि रिधिसिधि अनिमादिक आईं। आयसु होइ सो करहिं गोसाईं ॥८॥

दोहा—रामबिरह ब्याकुल भरत, सानुज सहित समाज।
पहुनाई करि हरहु श्रम, कहा मुदित मुनिराज ॥२१३॥

अर्थ—श्रीभरतजी के वचन मुनि-श्रेष्ठ के मन को प्रिय लगे, उन्होंने पवित्र सेवकों और शिष्यों को निकट बुलाया ॥४॥ (और कहा कि) श्रीभरतजी की मेहमानी करनी चाहिये, जाकर कंद-मूल-फल लाओ ॥५॥ हे नाथ ! बहुत अच्छा, ऐसा कहकर उन्होंने शिर नवाया और बड़े हर्ष से अपने-अपने कार्य को चल दिये ॥६॥ मुनि को शोच हुआ कि मेहमान बड़ा भारी निमंत्रित किया गया है, जैसा देवता हो, उसकी वैसी ही पूजा होनी चाहिये; अर्थात् श्रीभरतजी महान् पाहुन हैं, उनके योग्य भारी सत्कार-विधान भी चाहिये ॥७॥ यह (मुनि का शोच) सुनकर अणिमा आदि सिद्धियाँ और ऋद्धियाँ आईं और कहने लगीं कि हे गोस्वामी ! जो आज्ञा हो वह हम करें ॥८॥ मुनि-श्रेष्ठ ने प्रसन्न होकर कहा कि छोटे भाई श्रीशत्रुघ्नजी और समाज के साथ श्रीभरतजी श्रीरामजी के विरह से व्याकुल हैं, मेहमानी करके उनके श्रम को दूर करो ॥२१३॥

विशेष—(१) 'सुचि सेवक सिप निकट बोलाये।'—सेवक वे हैं, जो अभी शिष्य नहीं हुए हैं, परीक्षा के लिये सेवा में रहते हैं। (पहले ऋषि लोग तुरंत चेला नहीं कर लेते थे, सेवा द्वारा उसकी श्रद्धा की कठिन परीक्षा करके शिष्य करते थे।) और शिष्य वे हैं, जिन्होंने मंत्र दीक्षा पाई है एवं जो विद्या पढ़ते हैं। 'सुचि'—जो निश्छल सेवा करें और कभी आज्ञा भंग न करें; यथा—"भानु पीठि सेइय उर आगी। स्वामिहि सर्बभाव छल त्यागी ॥" (कि० दो० २२); "उतर देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई ॥" (दो० २६८); "सुचि सेवक सब लिये हँकारी ॥" (बा० दो० ३३१) एवं दो० १८५ चौ० ६ भी देखिये।

(२) 'कंद मूल फल आनहु···'—यह शास्त्र का मत है कि जो वस्तु स्वयं खाय, वही अपने देव-पितृ को भी अर्पण करे; यथा—"यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः ॥" (वाल्मी० २।१०३।३०);

इस विचार से कंद आदि मँगाये। पुनः यह भी रीति है—"तसि पूजा चाहिय जस देवता।" यह विचार कर मुनि शोच में पड़ गये कि श्रीभरतजी चक्रवर्ती के कुमार हैं, इनका ससैन्य सत्कार करना है तो कंद-मूल आदि क्या दें? ये तो तपस्वियों के ही योग्य हैं।

(३) 'प्रमुदित निज निज काज ...'—इस अर्द्धाली में उपर्युक्त शुचिता चरितार्थ है कि जिन्हें जो आज्ञा हुई थी, एवं जो जिस वस्तु के ज्ञाता थे, उसके लिये वे हर्ष-पूर्वक गये।

(४) 'सुनि रिधि सिधि ...'—'सुनि' शब्द से ध्वनित है कि स्मरण-द्वारा इनका आवाहन किया गया, जैसे कि वाल्मी० २।९१।११–२३ में देवावाहन कहे गये हैं।

'रिधि-सिधि'—देखिये—'रिधि सिधि संपति नदी सुहाई।' एवं बा० दो० २१ चौ० ४। इन सबके आने पर मुनि प्रसन्न हुए कि अब योग्य सत्कार होगा। 'मुनिराज'—वे राजा हैं तो ये भी मुनिराज हैं। अतः, सत्कार करने के योग्य हैं।

रिधि सिधि सिर धरि मुनिबरबानी। बड़ भागिनि आपुहि अनुमानी ॥१॥
कहहिं परसपर सिधिसमुदाई। अतुलित अतिथि राम-लघु भाई ॥२॥
मुनिपद बंदि करिय सोइ आजू। होइ सुखी सब राजसमाजू ॥३॥
अस कहि रचेउ रुचिर गृह नाना। जेहि बिलोकि बिलखाहिं बिमाना ॥४॥
भोग बिभूति भूरि भरि राखे। देखत जिन्हहि अमर अभिलाखे ॥५॥
दासी दास साज सब लीन्हे। जोगवत रहहिं मनहि मन दीन्हे ॥६॥
सब समाज सजि सिधि पल माहीं। जे सुख सुरपुर सपनेहु नाहीं ॥७॥
प्रथमहि बास दिये सब केही। सुंदर सुखद जथारुचि जेही ॥८॥

दोहा—बहुरि सपरिजन भरत कहँ, रिषि अस आयसु दीन्ह।
बिधि-बिसमय-दायक बिभव, मुनिबर तपबल कीन्ह ॥२१४॥

शब्दार्थ—बिलखाहिं = रोते हैं, लज्जित होते हैं। केही = किसी को।

अर्थ—ऋद्धि सिद्धियों ने मुनि श्रेष्ठ की वाणी सुनकर उसे शिरोधार्य किया और अपने को बड़ी भाग्यवती समझा ॥१॥ सब सिद्धियाँ आपस में कहती हैं कि श्रीरामजी के छोटे भाई अद्वितीय मेहमान हैं ॥२॥ मुनि के चरणों की वन्दना करके आज वही करना चाहिये, जिससे सब राज-समाज सुखी हो ॥३॥ ऐसा कहकर उन्होंने अनेक सुन्दर घर रचे, जिन्हें देखकर विमान लज्जित होते हैं ॥४॥ और उनमें बहुत-से भोग और ऐश्वर्य भर रक्खे, जिन्हें देखकर देवता उनकी इच्छा करते हैं ॥५॥ दासियाँ और दास लोग सब सामग्री लिये हुए लोगों के मन से-मन लगाये हुए उनके मन को देखते रहते हैं, (कि किसकी क्या इच्छा है, हम वही सम्पन्न करें) ॥६॥ जो सुख का सामान स्वर्ग में स्वप्न में भी नहीं है, वह सब सिद्धियों ने पल-भर में सजकर ॥७॥ पहले सब किसी को सुन्दर सुखदायक और जिस प्रकार

जिसकी रुचि थी, वैसे ही निवास-स्थान दिये ॥८॥ फिर ऋषि भरद्वाजजी ने (स्वयं) कुटुम्ब के साथ श्रीभरतजी को ऐसो (जैसी आज्ञा ऋद्धि-सिद्धियों के द्वारा घरों में रहने के लिये पहले सब किसी को दी थी, वैसी) आज्ञा दी। ब्रह्माजी को भी आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला ऐश्वर्य मुनिश्रेष्ठ भरद्वाजजी ने अपने तपोबल से उपस्थित किया ॥२१४॥

विशेष—(१) 'रिधि सिधि सिर धरि···'—इनकी सदा इच्छा रहती थी, पर मुनि के यहाँ निरादर ही रहता था, आज मुनि ने स्वयं आवाहन किया, इससे श्रद्धा पूर्वक आज्ञा शिरोधार्य कर अपनेको बड़ी भाग्यवती समझा। पुनः आज परम भागवत की सेवा प्राप्त होगी, इससे भी अपना बड़ा भाग्य माना।

(२) 'अतुलित अतिथि राम लघु भाई।'—यह दीप-देहली है, इसीसे ऋद्धियों और सिद्धियों ने अपनेको बड़ी भाग्यवती माना और वे सत्कार करने के योग्य सामर्थ्य प्राप्त करने के लिये मुनि के चरणों की वंदना करती हैं। 'राम लघु भाई'—श्रीरामजी ने श्रीअवध के राज्य को तृण की तरह त्याग दिया, जिसे इन्द्र भी सिहाते हैं; यथा—"अवध राज सुरराज सिहाई।···" (दो० ३२३); ये उनके ही छोटे भाई हैं। फिर ये स्वयं भी वैसे ही वैराग्यवान् हैं कि उसी राज्य को त्यागे हुए हैं, अतः, बड़े भारी पाहुन हैं। ये हमारी सेवा से सुखी हो सकेंगे? संदेह है, यदि प्रसन्न हों तो हमारा बड़ा भाग्य हो।

(३) 'मुनि-पद बंदि···'—हमारी शक्ति तो इनके समाज को प्रसन्न करने की भी नहीं है। हाँ, मुनि के चरणों के प्रभाव से हो सके तो बड़ा भाग्य है।

मुनि श्रीभरतजी के प्रभाव को यथार्थ रूप में नहीं जान पाये, तभी तो उन्होंने विरह-श्रम भोग-विभूति से हरना चाहा था, भला ऐसे परमभक्त इससे कैसे सुखी हो सकते हैं? ये श्रीरामचरण के लोभी भ्रमर हैं, यथा—"बंदउँ प्रथम भरत के चरना।···राम चरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥" (बा० दो० १६); ये भोगों से कब सुखी हो सकते हैं; यथा—"तवामृतस्यंदिनि पादपंकजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति। स्थितेऽरविन्दे मकरंदनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरसं समीक्षते॥" (आलवंदारस्तोत्र); तथा—"रमाविलास राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़ भागी॥" (दो० ३२३); परन्तु सिद्धियों ने लख लिया, इसीसे अतुलित अतिथि आदि कहा। यह भी कहा कि श्रीभरतजी को संतुष्ट करना असंभव है, मुनि-कृपा से समाज भले हो सुखी हो तो हो।

(४) 'बिलखाहिं बिमाना'—(१) विमान देवताओं के हैं। आगे कहा ही है कि 'जे सुख सुरपुर सपनेहुँ नाहीं।' देवता लोग तरसते हैं कि हम भी अवधवासियों में न हुए, नहीं तो ये सब भोग पाते। (२) विमान का अर्थ सतमहला भवन भी है—संस्कृत-शब्दार्थकौस्तुभ पृ० ७०९ देखिये।

(५) 'बहुरि सपरिजन भरत कहँ···'—पहले सेना आदि समाज को घर आदि का प्रबंध करके तब श्रीभरतजी के लिये जो मुनि-श्रेष्ठ ने (सिद्धियों का ह्रास होना समझकर) अपने तपोबल से गृह निर्मित किया था, उसमें प्रवेश करनेकी आज्ञा दी, अर्थात् आज्ञा मानने को विवश कर उसमें प्रवेश करने को कहा; यथा—"प्रविवेश महाबाहुरनुज्ञातो महर्षिणा। वेश्म तद्रत्नसम्पूर्णं भरतः कैकयीसुतः॥" (वाल्मी० २।९१।३६); श्रीभरतजी भागवत-श्रेष्ठ हैं। अतः, इन्हें स्वयं मुनिश्रेष्ठ ने श्रेष्ठ गृह दिया और उसमें प्रवेश की आज्ञा दी।

श्रीभरतजी की पहुनाई के लिये मुनिराज ने प्रथम सेवकों और शिष्यों से कहा। फिर ऋषि-

का आवाहन किया, तब अपना तपोबल भी लगाया, विधि-विस्मय दायक ऐश्वर्य से भी वे श्रीभरतजी को सन्तुष्ट न कर सके, यह श्रीभरतजी के राम-प्रेम एवं वैराग्य की महिमा है।

मुनिप्रभाव जब भरत बिलोका। सब लघु लगे लोकपति लोका ॥१॥
सुख समाज नहिं जाइ बखानी। देखत बिरति बिसारहिं ज्ञानी ॥२॥
आसन सयन सुबसन बिताना। बन बाटिका बिहग मृग नाना ॥३॥
सुरभि फूल फल अमिअ-समाना। बिमल जलासय बिबिध बिधाना ॥४॥
असन पान सुचि अमिअ अमी से। देखि लोग सकुचात जमी से ॥५॥
सुरसुरभी सुरतरु सबही के। लखि अभिलाष सुरेस सची के ॥६॥
रितु बसंत बह त्रिबिध बयारी। सब कहँ सुलभ पदारथ चारी ॥७॥
स्रक चंदन बनतादिक भोगा। देखि हरष बिसमयबस लोगा ॥८॥

दोहा—संपति चकई भरत चक, मुनिआयसु खेलवार।
तेहि निसि आश्रमपिंजरा, राखे भा भिनुसार ॥२१५॥

शब्दार्थ—सुरभि = सुगंध, सुगंधित। पान = पेय द्रव्य, जल, शर्बत आदि।

अर्थ—जब श्रीभरतजी ने मुनि का प्रभाव देखा, तो (उसके समक्ष में) सभी लोकपालों के लोक (उन्हें) तुच्छ जान पड़े ॥१॥ सुख की सामग्रियाँ वर्णन नहीं किया जा सकता, उन्हें देखकर ज्ञानी लोग अपना वैराग्य भूल जाते हैं ॥२॥ बिछौने, शय्या, सुन्दर वस्त्र, चँदोवे, वन, फुलवाड़ी और अनेक प्रकार के पक्षी और पशु ॥३॥ सुगंध (अतर आदि), सुगंधित फूल, अमृत के समान फल, निर्मल जलाशय (तालाब-बावड़ी आदि) तरह-तरह के ॥४॥ पवित्र और अमृत के भी अमृत-समान खाने और पीने के पदार्थ, जिन्हें देखकर लोग संयमी की तरह सकुचाते हैं ॥५॥ सभी के यहाँ कामधेनु और कल्पवृक्ष हैं, जिन्हें देखकर इन्द्र और इन्द्राणी को भी अभिलाषा होती है (कि यह एवं ऐसा भोग-ऐश्वर्य हमें भी मिलता, तो कृतार्थ हो जाते) ॥६॥ वसन्त ऋतु है (शीतल, मंद, सुगंध) तीनों प्रकार की हवा चल रही है, सभी को चारों पदार्थ सुलभ हैं ॥७॥ माला, चन्दन, स्त्री आदि सब भोग-विलास के पदार्थों को देखकर सब लोग हर्ष और विस्मय के वश हो गये (हर्ष-मुनि के प्रभाव से देवी दिव्य सामग्री देखकर और आश्चर्य यह कि अभी कुछ न था, सब पदार्थ एवं स्थल आदि कहाँ से और कैसे क्षणमात्र में आ गये ? विस्मय का अर्थ डर भी होता है। डर यह कि हमलोग नेम-व्रतधारी हैं। अतः, यह भोग राम-विरह में अनुचित है) ॥८॥ सम्पत्ति (उपर्युक्त सब सामग्री) चकवी है, श्रीभरतजी चकवा हैं, मुनि की आज्ञा (निमंत्रण) खेलाड़ी है। जिसने उस रात में दोनों को उस आश्रम-रूपी पिंजड़े में बंद कर रक्खा, रक्खे रक्खे ही सवेरा हो गया ॥२१५॥

विशेष—(१) 'सुख समाज···देखत बिरति ···'—वैराग्य ज्ञानी का मुख्य अंग है—"ज्ञान कि होइ बिराग बिनु" (उ० दो० ८९); "बादि बिरति बिनु ब्रह्म बिचारू।" (दो० १७७); ज्ञानी लोग

ब्रह्मानंद भोगते हुए प्राकृत सुख के सर्वथा त्यागी होते हैं ; यथा—"परमारथी प्रपंच वियोगी ॥ ब्रह्म सुखहिं अनुभवहिं अनूपा ।" (बा० दो० २१) ; ऐसे ज्ञानियों का वैराग्य भूलना कहकर इस दिव्य ऐश्वर्य की अत्यंत प्रशंसा की । ज्ञानी तो आसक्त हो जाते हैं, पर उसी को भक्त-शिरोमणि श्रीभरतजी ने दृष्टि से भी नहीं चाहा, यह इनकी भक्ति का महत्त्व है ।

(२) 'बन बाटिका बिहग • सुरभि फूल···'—वन में नाना प्रकार के पक्षी और मृग हैं, वाटिका में नाना सुगंधित फूल और बागों में अमृत के समान स्वादिष्ट फल हैं । फल कहकर बाग भी जना दिया; क्योंकि अन्यत्र प्रायः वन, बाग और वाटिका तीनों ही साथ कहे जाते हैं ।

(३) 'अमिअ अमी से'—यहाँ 'बिधि बिसमय दायक बिभव' कहा गया है और अमृत का पान तो स्वर्ग में भी रहता ही है, ब्रह्मलोक का ऐश्वर्य उससे कहीं अधिक है, उससे भी अधिक यहाँ है । तब अमृत का भी सार-रूप अमृत का पान होना युक्त ही है । इसीसे तो इन्द्र और इन्द्राणी का अभिलाष करना कहा है ।

'सकुचात जमी से'—अवधवासी लोग श्रीरामजी के दर्शनों के लिये नियम व्रत-रूप संयम करने-वाले हैं । वे सकुचा रहे हैं कि यह भोग कहीं हमारे व्रत को भंग न कर दे, जैसे संयमी लोग सिद्धियों के छल से सकुचते एवं डरते हैं ।

(४) 'सुरसुरभी सुरतरु सबही के'—सभी के यहाँ इसलिये रक्खे कि सबके मनोवांछित देने में हम (सिद्धियाँ) भूल भी जायँ, तो इनसे प्राप्त हो जाय ।

(५) 'सब कहँ सुलभ पदारथ चारी'—यहाँ चारों पदार्थों के उपभोग का सुख सब को प्राप्त है ; यथा—"अरथ धरम कामादि सुख, सेवइ समय नरेस ॥" (बा० दो० १५४) । काम से अधिक अर्थ में, उससे अधिक धर्म में, पुनः उससे अधिक मोक्ष में सुख होता है, ये सब लोगों को उनकी रुचि के अनुसार प्राप्त हैं । यहाँ मोक्ष-सुख सत्संग में अंतर्भूत है ; यथा—"तात स्वर्ग, अपवर्ग सुख, धरिय तुला एक संग । तुल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग ॥" (सुं० दो० ४) ।

(६) 'स्रक चंदन बनितादिक' ' अर्थात् भोग के आठो अंग सम्पन्न हैं; यथा—"सुगंधं वनिता वस्त्रं गीतं ताम्बूलभोजनम् । भूषणं वाहनं चेति भोगाष्टकमुदीरितम् ॥" ये सबको प्राप्त हैं ।

(७) 'संपति चकई भरत चक···'—इस भोग की प्राप्ति में श्रीभरतजी की वृत्ति कैसी रही ? यह उपमा द्वारा कहते हैं—यह प्राकृतिक नियम है कि चकवा-चकवी रात में संयोग नहीं करते, उनका परस्पर वियोग ही रहता है । यदि दोनों रात में पिंजड़े में बंद भी कर दिये जायँ, तो भी परस्पर मुँह फेरे ही रहते हैं ।

वैसे ही यहाँ जो मुनि ने श्रीभरतजी को भोग विभूति के भोगने की आज्ञा दी, वही आज्ञा खेलाड़ी है क्योंकि आज्ञा ने ही विवश करके आश्रम-रूप पिंजड़े में उस रात को मानों बंद कर रक्खा । चकवा की तरह श्रीभरतजी भोग-विभूति-रूपी चकवी से मुँह फेरे रहे, उससे वियोगी ही बने रहे, अर्थात् राम-विरह के कारण उससे दुखी हुए ; यथा—"भोरहि भरद्वाज आश्रम तें···चले जनु तक्यो तड़ाग तृषित गज घोर घाम के लागे ॥" (गी० अ० ६८) ; "चक चकि जिमि पुर नर नारी । चहत प्रात उर आरत भारी ॥" (दो० १८६) । खेलाड़ी चकवे और चकवी को परीक्षा के लिये पिंजड़े में बंद करता है कि देखे दोनों मिलते हैं कि नहीं । पर यहाँ मुनि की आज्ञा ने श्रीभरतजी को दिव्य-विभूति से भी वैराग्य को संसार के समक्ष में दिखाने के लिये विवश कर नियुक्त किया । उसे पूर्ण सफलता हुई, श्रीभरतजी ने कंद मूल आदि ही ग्रहण कर विभव पर दृष्टि न दी ।

इस प्रसंग पर श्रीवाल्मीकिजी लिखते हैं कि जो राज का आसन श्रीभरतजी के लिये था, उसपर तो मन से श्रीरामजी को राजा मानकर आप मंत्री के आसन पर चंवर लेकर बैठे और उस आसन को प्रणाम किया, इस तरह 'संपति सब रघुपति कै आही।' की भावना से भोग से निर्लिप्त रहे और अपना सेवक भाव भी रक्खा।

कीन्ह निमज्जन तीरथराजा। नाइ मुनिहि सिर सहित समाजा ॥१॥
रिषिआयसु असीस सिर राखी। करि दंडवत बिनय बहु भाखी ॥२॥
पथ-गति-कुसल साथ सब लीन्हे। चले चित्रकूटहि चित दीन्हे ॥३॥
रामसखा - कर दीन्हे लागू। चलत देह धरि जनु अनुरागू ॥४॥
नहि पदत्रान सीस नहि छाया। प्रेम नेम ब्रत धरम अमाया ॥५॥
लखन - राम - सिय - पंथ - कहानी। पूँछत सखहि कहत मृदु बानी ॥६॥
राम - बास - थल - बिटप बिलोके। उर अनुराग रहत नहि रोके ॥७॥
देखि दसा सुर बरिसहि फूला। भइ मृदु महि मग मंगलमूला ॥८॥

दोहा—किये जाहिं छाया जलद, सुखद बहइ बरवात।
तस मग भयेउ न राम कहँ, जस भा भरतहि जात ॥२१६॥

अर्थ—(श्रीभरतजी ने) तीर्थ राज-प्रयाग की त्रिवेणी में स्नान किया और समाज के साथ मुनि को प्रणाम कर ॥१॥ ऋषि की आज्ञा और आशिष शिरोधार्य कर दण्डवत् करके बहुत प्रार्थना की ॥२॥ मार्ग की व्यवस्था में निपुण लोगों को और सबको साथ लिये हुए चित्रकूट को चित्त लगाये हुए चले ॥३॥ श्रीरामजी के सखा निषादराज के हाथ का सहारा लिये हुए चल रहे हैं, मानों अनुराग ही शरीर धारण कर चल रहा है ॥४॥ न तो चरणों में जूते हैं और न शिर पर छाया (अर्थात् शिर पर छाता भी नहीं लगाया है), उनके प्रेम, नियम, व्रत और धर्म निश्छल हैं ॥५॥ श्रीलक्ष्मणजी, श्रीरामजी और श्रीसीताजी के मार्ग की कथा सखा से पूछते हैं और वह कोमल-वाणी से कहता है ॥६॥ श्रीरामजी के निवास-स्थल एवं वहाँ के वृक्षों को देखकर हृदय में अनुराग रोके नहीं रुकता (अर्थात् रोमांच आदि से उमड़ा पड़ता है) ॥७॥ श्रीभरतजी की यह दशा देखकर देवता लोग फूल बरसाते हैं, पृथिवी कोमल हो गई है और मार्ग मंगल-दायक हो गया है ॥८॥ मेघ छाया किये जाते हैं, सुख देनेवाली (त्रिविध) श्रेष्ठ हवा चल रही है, जैसा (सुखद) मार्ग श्रीभरतजी के जाते समय हुआ, वैसा श्रीरामजी के लिये (भी) न हुआ था ॥२१६॥

विशेष—(१) 'चले चित्रकूटहि चित दीन्हे।'—चित्रकूट तीर्थ है, विशेष कर इस समय वहाँ श्रीरामजी भी विराजमान हैं, इसलिये उसी ओर ध्यान लगाये हुए चले। सीधे चित्रकूट की ओर ही चित्त देकर चलने का यह भी भाव हो सकता है कि भरद्वाजजी के हो आतिथ्य से ऊब गये थे, बीच मार्ग में उनके गुरु वाल्मीकिजी का भी स्थान है। वे कहीं इनसे भी अधिक वैभव से सत्कार करने लगे, तो राम-विरह

के कारण दुःखद ही होगा और आज्ञा-उल्लंघन करते भी न बनेगा। इसलिये वहाँ न ठहरे, इस भाव की पुष्टि उपर्युक्त 'घोर घाम के लागे' इस गीतावली के प्रमाण से भी होती है। 'चित दीन्हे'—मन, 'चले'—कर्म और 'पंथ कहानी पूछत'—वचन है, इन तीनों से इनका श्रीरामजी में लीन होना दिखाया गया।

यहाँ प्रयाग में इसी पार स्नान करके चले; क्योंकि एक तो तीर्थ-राज का स्थल त्रिवेणी इसी पार है, दूसरे यहाँ तो सरस्वती नदी भी है, अतः, यों भी उतरकर नहाने की आवश्यकता नहीं है। (सरस्वती नदी के अतिरिक्त और नदियों में यदि पार जाना हो, तो उतरकर स्नान करना चाहिये, यह विधि है)।

(२) 'रामसखा-कर दीन्हे लागू।···'—अनुराग में देह शिथिल हो ही जाती है, इन्हें श्रीराम-विरह एवं श्रीरामजी के दर्शनों की उत्कृष्ट लालसा है, इसीसे अनुराग में शिथिल हैं। अतः, मूर्त्तिमान् अनुराग कहे गये हैं और सखा के सहारे चलते हैं।

(३) 'पंथ-कहानी'—यहाँ मार्ग में जहाँ-तहाँ थोड़ी-थोड़ी ही देर ठहरे थे, इससे मगवासियों की वार्ता आदि छोटी-छोटी कथाएँ कहते जाते हैं, इसीसे 'कहानी' शब्द दिया गया है। कहानी का अर्थ छोटी कथाएँ। 'मृदुबानी'—भक्तों की वाणी कोमल ही होती है, दूसरे श्रीभरतजी के संग से शुद्ध भी अति-अनुराग में निमग्न हैं, इससे भी उनकी वाणी मृदु हो गई है। यह भी गर्भित है कि श्रीरामजी के किंचित् भी कष्ट की बात नहीं कहते कि जिससे श्रीभरतजी दुखी हो जायँ। 'भइ मृदु महि···'—पृथिवी का मंगल मूल होना आगे—'किये जाहि छाया···' से कहते हैं।

(४) 'तस मग भयेउ न राम कहँ···'—यहाँ पर भगवत् की अपेक्षा भागवत का माहात्म्य अधिक दिखाया गया है। जैसे कि आगे समुद्र ने श्रीरामदूत की सेवा की, पर श्रीरामजी की न की, यह सुंदरकाण्ड में प्रसिद्ध है। पुनः इसका कारण आगे स्वयं कवि देते हैं; यथा—"भरत राम प्रिय पुनि लघु भ्राता। कस न होइ मग मंगल दाता॥" कहा भी है—"राम सुहाते तोहिं जो तू सबहि सोहातो। काल करम कुलि कारनी कोऊ कोहातो॥" (वि० १५२); अर्थात् जब भक्त सर्वात्मना प्रभु को प्रिय दृष्टि से देखता है, तब भगवान् भी चराचर-रूप से मृदु भाव से ही उसके सम्मुख रहते हैं; यथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११)।

शंका—पहले तो छाले पड़ना कहा गया है; यथा—"झलका झलकत पायन्ह कैसे। पंकज कोस ओसकन जैसे॥" (दो० २०३)।

समाधान—सन्मार्ग में प्रायः पहले कठिन परीक्षा होती है, फिर परिणाम में सुख होता है। पर यहाँ परीक्षा जगत् की शिक्षा के लिये थी, श्रीभरतजी को उसमें भी कष्ट नहीं हुआ, जैसे 'ओस कन' शीतल ही लगते हैं और पंकज-पत्र उनसे निर्लिप्त ही रहते हैं। विवेकी भक्त लोग देह धर्म को अपनेसे भिन्न मानकर उससे निर्लिप्त ही रहते हैं।

लोग यह भी कहते हैं कि श्रीभरतजी प्रथम श्रीरामजी के लौटाने का निश्चय करके श्रीअवध से चले थे, इससे स्वार्थ की हानि समझकर देवताओं ने कष्ट दिया। जब त्रिवेणी में कहे हुए वचनों से इनकी निष्कामता देखी, तो वे मृदु-भाववाले हो गये।

जड़ चेतन मग जीव घनेरे। जे चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥१॥
ते सब भये परम-पद-जोगू। भरतदरस मेटा भव रोगू॥२॥

यह बड़ि बात भरत कइ नाहीं। सुमिरत जिन्हहि राम मन माहीं ॥३॥
बारक राम कहत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ ॥४॥
भरत राम प्रिय पुनि लघुभ्राता। कस न होइ मग मंगलदाता ॥५॥
सिद्ध साधु मुनिबर अस कहहीं। भरतहि निरखि हरष हिय लहहीं ॥६॥
देखि प्रभाव सुरेसहि सोचू। जग भल भलेहि पोच कहँ पोचू ॥७॥
गुरु सन कहेउ करिय प्रभु सोई। रामहि भरतहि भेंट न होई ॥८॥

दोहा—राम सँकोची प्रेमबस, भरत सुप्रेम पयोधि।
बनी बात बिगरन चहति, करिय जतन छल सोधि ॥२१७॥

शब्दार्थ—बारक = एक बार। तरन = तैरकर पार होनेवाला। तारन = दूसरे को भवपार करनेवाला।

अर्थ—मार्ग के बहुत-से जड़-चेतन जीव, जिन्होंने प्रभु श्रीरामजी को देखा अथवा जिन्हें प्रभु ने देखा ॥१॥ वे सब परम-पद (मोक्ष) के अधिकारी हो गये और श्रीभरतजी के दर्शनों ने तो उनका भव-रोग (जन्म-मरण के कारण रूप मानस रोग) ही मिटा दिया ॥२॥ श्रीभरतजी के लिये यह कोई बड़ी बात नहीं है कि जिन्हें श्रीरामजी भी स्मरण करते रहते हैं ॥३॥ (देखिये !) जगत् में कोई भी एक बार 'राम' (ऐसा) कहते हैं, वे स्वयं तर जाते हैं और (कीर्ति-द्वारा) दूसरों के तारनेवाले हो जाते हैं ॥३॥ श्रीभरतजी तो श्रीरामजी के प्यारे हैं और फिर उनके छोटे भाई हैं, तो उनके लिये मार्ग मंगल-दायक कैसे न हो ? अर्थात् होना ही चाहिये ॥५॥ सिद्ध, साधु और मुनि श्रेष्ठ ऐसा कह रहे हैं और श्रीभरतजी को देखकर हृदय में हर्षित होते हैं ॥६॥ श्रीभरतजी के (प्रेम का) प्रभाव देखकर देवराज इन्द्र को शोच हुआ, (यह प्रसिद्ध है कि) संसार भले के लिये भला और बुरे के लिये बुरा ही दीखता है ॥७॥ उसने गुरु बृहस्पतिजी से कहा कि हे प्रभो ! वही (यत्न) कीजिये, जिससे श्रीरामजी से श्रीभरतजी की भेंट न हो ॥८॥ (क्योंकि) श्रीरामजी सकोची और प्रेम के वश हैं और श्रीभरतजी पवित्र प्रेम के समुद्र हैं, इससे अब बनी हुई बात बिगड़ना चाहती है, इसलिये विचार कर कोई छल का उपाय कीजिये ॥२१७॥

विशेष—(१) 'ते सब भये परम-पद-जोगू।...'—श्रीरामजी के दर्शनों से जीव मोक्ष का अधिकारी हो जाता है, यथा—"मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥"—(आ० दो० ३५) "अमोघं दर्शनं राम अमोघस्तव संस्तवः।" (वाल्मी० ६।११७।३०) वह प्रारब्ध कर्म समाप्त कर मरने पर मुक्त होता है; क्योंकि इस प्रारब्ध परिणाम शरीर के रहते हुए मुक्ति का भोग नहीं हो सकता ; यथा—"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये।" (छां० ६।१४।२) ; शरीर पर्यंत जन्म-मरण के कारण-रूप-मानसी रोगों का बीज बना रहता है ; यथा—"जाने ते छीजहिं कछु पापी। नास न पावहिं जन परितापी ॥ विषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहुँ हृदय का नर बापुरे ॥" (उ० दो० १२१) ; "इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।" (गीता० ५।१९), कारण पाकर मन को विषय वश करनेवाले कामादि मानसी रोगों के बीज भी श्रीभरतजी के दर्शनों से मिट गये ; यथा—"काक होहिं पिक बकउ मराला।"

(बा० दो० २); (इसकी टीका देखिये) तात्पर्य यह कि श्रीभरतजी के दर्शनों से श्रीरामजी का ऐश्वर्य-ज्ञान और उनमें उत्कृष्ट प्रेम हुआ; यथा—"जबहिं राम कहि लेहिं उसासा। उमँगत प्रेम मनहुँ चहुँ पासा॥ द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना। पुरजन प्रेम न जाइ बखाना॥" (दो० २११); उस प्रेम से मानसी-रोगों का सूक्ष्म मल भी शुद्ध हो गया; यथा—"मोह जनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहुँ जतन न जाई।···राम-चरन अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै॥" (वि० ८२)। "रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।" (गीता २।५९) फिर जीते ही मुक्त के तुल्य दशा प्राप्त हो गई।

(२) 'जग भल भलेहि पोच··· ···'—यहाँ यह चरितार्थ है कि श्रीभरतजी के प्रेम प्रभाव को देखकर सिद्ध, साधु, मुनिवर तो प्रशंसा कर रहे हैं और उसीसे इन्द्र को शोच हुआ। इन्द्र स्वयं छलिया है, इसीसे सबको वैसा ही समझता है।

(३) 'राम सँकोची प्रेम बस ·· ··'—'सँकोची'; यथा—"सील सराहि सभा सब सोची। कहुँ न राम सम स्वामि सँकोची॥" (दो० ३१२); 'प्रेमबस'; यथा—"तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरे।" (बा०दो०३४१); श्रीभरतजी प्रेम के समुद्र हैं, फिर श्रीरामजी क्यों न इनके वश होंगे। 'बनो बात'—माता-पिता और कुटुंब एवं श्रीअवध को छोड़कर वन को आये, तो रावण-वध की आशा हुई। 'बिगरन चहत' यदि श्रीरामजी घर लौटे, तो सरस्वती-द्वारा किया हुआ कार्य व्यर्थ हुआ, फिर हम लोगों की विपत्ति मिटने की कोई आशा नहीं। 'छल सोधि'—ऐसा भारी छल-प्रयोग किया जाय, जिससे काय अवश्य सफल हो।

बचन सुनत सुरगुरु मुसुकाने। सहसनयन बिनु लोचन जाने॥१॥
कह गुरु बादि छोभ छल छाँड़ू। इहाँ कपट करि होइहि भाँडू॥२॥
मायापति - सेवक सन माया। करइ त उलटि परइ सुरराया॥३॥
तब कछु कीन्ह रामरुख जानी। अब कुचालि करि होइहि हानी॥४॥

शब्दार्थ—भाँडू = भंडाफोर, नष्ट भ्रष्ट, बदनाम। उलट पड़ना = अपने ही सिर पड़ना।

अर्थ—इन्द्र के वचन सुनकर देव गुरु बृहस्पतिजी मुसकुराये और हजार नेत्रवाले इन्द्र को बिना आँख का (अंधा) समझा॥१॥ गुरु ने कहा कि व्यर्थ की घबड़ाहट और छल छोड़ो, यहाँ (इस समय) कपट करने से भंडाफोड़ होगा (भेद खुल जायगा, हँसी एवं दुर्दशा होगी)॥२॥ हे देवराज! माया के स्वामी श्रीरामजी के सेवक से माया (छल) करने से वह फिरकर अपने ही माथे आ पड़ती है॥३॥ तब (पहले) जो कुछ किया था, वह श्रीरामजी का रुख समझकर ही; और अब कुचाल करने से हानि होगी॥४॥

विशेष—(१) 'सुर गुरु मुसुकाने'—हँसना निरादर दृष्टि से है कि यह कहावा है सहस्राक्ष, पर अंधे की तरह विवेक शून्य है। स्वार्थी को अपना ही सूझता है। इसपर भी हँसे कि भला हुआ, जो हमसे कहा; अन्यथा औरों के चाटु वचनों में दुर्दशा भोगता।

(२) 'मायापति-सेवक सन ··'—भाव यह कि जिनकी माया ब्रह्मादिक को अधीन में रखनेवाली है; यथा—"सिव चतुरानन जाहि डेराहीं॥" (उ० दो० ७१)। उनके सेवक पर दूसरों की माया नहीं लग सकती; यथा—"राम भगति निरुपम ··बसै जासु उर···तेहि बिलोकि माया सकुचाई।" (उ० दो० ११५),

यदि भरत पर माया न लग सकी, तो मूठ (जादू)-प्रयोग की तरह उलटकर करनेवाले ही को नाश करेगी। 'सुरराया' अर्थात् यह देवराजत्व चला जायगा। यदि कहो कि हमने पहले मायापति ही के साथ माया की थी और सफल भी हुए, तो सुनो—

(३) 'तब कछु कीन्ह···'—उस बार श्रीरामजी का रुख था; यथा—"निमल वंस यह अनुचित एकू।···प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। ··" (दो० ४); पुनः तमसा-तट पर पुरजनों पर माया की; यथा—"कछुक देव माया मति मोई।" तो वहाँ भी श्रीरामजी की इच्छा थी कि सब लौट जायँ, पर अब की श्रीरामजी की ऐसी इच्छा नहीं है कि श्रीभरतजी लौट जायँ, प्रत्युत् भेंट की इच्छा है—दो० ६ शकुन-विचार-प्रसंग से स्पष्ट है।

सुनु सुरेस रघुनाथ-सुभाऊ। निज अपराध रिसाहि न काऊ ॥५॥
जो अपराध भगत कर करई। राम-रोष-पावक सो जरई ॥६॥
लोकहुँ बेद बिदित इतिहासा। यह महिमा जानहि दुरबासा ॥७॥
भरत-सरिस को रामसनेही। जग जप राम राम जप जेही ॥८॥

दोहा—मनहुँ न आनिय अमरपति, रघुबर - भगत - अकाज।
अजस लोक परलोक दुख, दिन-दिन सोकसमाज ॥२१८॥

अर्थ—हे देवराज! श्रीरघुनाथजी का स्वभाव सुनो, वे अपने अपराध पर कभी भी रुष्ट नहीं होते ॥५॥ पर जो उनके भक्त का अपराध करता है, वह श्रीरामजी की क्रोधाग्नि से जलता है ॥६॥ लोक और वेद दोनों में यह इतिहास प्रसिद्ध है, इस महिमा को दुर्वासाजी जानते हैं ॥७॥ श्रीभरतजी के समान श्रीरामजी का कौन स्नेही है? कि जिन श्रीरामजी को जगत् जपता है, वे रामजी जिन (श्रीभरतजी) को जपते हैं; अर्थात् श्रीभरतजी के समान श्रीरामजी का प्रेमी दूसरा नहीं है ॥८॥ (अतएव) हे देवराज! रघुकुल-श्रेष्ठ श्रीरामजी के भक्त का अनहित (बुरा) मन में भी न लाइये, (नहीं तो) लोक में अपयश, परलोक में दुःख और नित्यप्रति शोक का समाज बढ़ता जायगा ॥२१८॥

विशेष—(१) 'निज अपराध रिसाहि न काऊ।'—कवि ने यहाँ इसका प्रयोजन न रहने से उदाहरण नहीं दिया, पर अन्यत्र है—भृगु की लात सही, नारद का शाप और परशुरामजी के दुर्वचन सह लिये। क० उ० ३ भी देखिये।

(२) 'जो अपराध भगत कर···'; यथा—"जो पै कृपा रघुपति कृपाल की बैर और के कहा सरै। होइ न बाँको बार भगत को ··" (वि० १३७)।

(३) 'यह महिमा जानहि दुरबासा।'—परम वैष्णव भक्तराज अम्बरीषजी के यहाँ दुर्वासा ऋषि शिष्यों के सहित प्रातःकाल द्वादशी को पहुँचे। भक्तराज ने इन्हें निमंत्रित किया, इनके मन में तो और बात थी, स्नान के लिये गये और द्वादशी वहीं बिता दी। इधर भक्तराज एकादशी-व्रत के परम नैष्ठिक थे, अतएव उन्हें व्रत-रक्षा के लिये द्वादशी रहते हुए पारण कर लेना उचित था। पंडितों की अनुमति से चरणामृत-मात्र ले लिया, क्योंकि बिना अतिथि दुर्वासाजी को भोजन कराये स्वयं कैसे भोजन करते? उधर

दुर्वासाजी कुपित होकर आये कि मुझे न भोजन कराके तुमने पारण कर लिया, जिससे मेरा अपमान हुआ। क्रुद्ध हो जटा पटककर कालकृत्या को उत्पन्न कर भक्तराज को भस्म करना चाहा। इधर भगवान् की आज्ञा से सुदर्शन-चक्र ने—जो अम्बरीषजी की रक्षा के लिये सदा प्रस्तुत रहता था—उस कृत्या को अपने तेज से भस्म कर दिया और दुर्वासा की ओर बढ़ा। दुर्वासाजी दसों दिशाओं को भगे, ब्रह्मा-शिव आदि ने भी शरण न दी, वैकुंठ पहुँचे, भगवान् ने भी न रक्खा, बहुत प्रार्थना करने पर उन्होंने उत्तर दिया कि यद्यपि मैं ब्रह्मण्यदेव, आर्त्त-रक्षक और शरण्य हूँ, तथापि भक्त-वात्सल्य गुण इन तीनों को दबा देता है। अतः, तुम उन्हीं भक्तराज की शरण में जाओ। तब अभिमान-रहित होकर ऋषि राजा अम्बरीष की ही शरण आये। राजा इनके दीन भाषण पर लज्जित हुए और चक्र से प्रार्थना कर उसे शान्त किया। (यह कथा श्रीमद्भागवत एवं भक्तमाल-टीका आदि में प्रसिद्ध है)।

मुनि एक तो ब्राह्मण, फिर महान् ऋषि और शिवजी के अवतार थे, उन्हें भी मनुष्य, राजा और क्षत्रिय की शरण में पड़ना पड़ा। एक वर्ष तक किसी ने उनकी रक्षा न की। कहा भी है—"सपनेहुँ सुख न संतद्रोही कहँ सुरतरु सोउ विष फरनि फरै॥" (वि० ११७)।

दुर्वासाजी ने ऐसा ही परमभक्त पांडवों के साथ भी किया था। दुर्योधन की प्रेरणा से ये युधिष्ठिर के पास ऐसे अवसर पर पहुँचे कि जब द्रौपदीजी सूर्य भगवान् की दी हुई बटुली धो चुकी थीं, युधिष्ठिर ने इन्हें निमंत्रित कर दिया, वहाँ भी भगवान् कृष्ण ने रक्षा की, दुर्वासा को डरकर भागना पड़ा, (यह कथा महाभारत वनपर्व अ० २६२–२६३ में है)।

(४) 'भरत-सरिस को रामसनेही······'—यदि इन्द्र कहना चाहें कि अम्बरीषजी बड़े भारी भक्त थे, तो ऐसा हुआ, इसपर कहते हैं कि श्रीभरतजी के समान श्रीरामजी का स्नेही और कौन है कि जिन्हें स्वयं श्रीरामजी ही जपते हैं?

(५) 'मनहुँ न आनिय····'—भाव यह कि मन में भी ऐसा लाने पर लोक-परलोक बिगड़ता है, तब कर्म से ऐसा करने पर न जाने क्या दशा हो। 'दिन-दिन सोक समाज'—शोक की सामग्री दिनों-दिन बढ़ती ही जायगी। 'अमरपति'—देवता सात्विक होते हैं, तुम उनके भी स्वामी हो, तुम्हें तो निश्छल रहना ही शोभा देता है।

सुनु सुरेस उपदेस हमारा। रामहि सेवक परमपियारा॥१॥
मानत सुख सेवकसेवकाई। सेवकबैर बैर अधिकाई॥२॥
जद्यपि सम नहि राग न रोषू। गहहि न पाप पुन्य गुन दोषू॥३॥
करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥४॥
तदपि करहि सम-बिषम-बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥५॥

अर्थ—हे देवराज! हमारा उपदेश सुनो, श्रीरामजी को सेवक परम प्यारे हैं॥१॥ वे सेवक की सेवा से सुख मानते हैं और सेवक के प्रति वैर करनेवाले से भारी वैर मानते हैं॥२॥ यद्यपि वे प्रभु सम हैं, तथापि उनका किसी से न राग (ममत्व) है और न रोष। वे किसी के पाप-पुण्य और गुण-दोष को नहीं ग्रहण करते॥३॥ (किन्तु) कर्म की प्रधानता में जगत् को रच रक्खा है, जो जैसा कर्म करता है,

वैसा फल भोगता है ॥४॥ तो भी वे भक्त और अभक्त के हृदय के अनुसार सम और विषम विहार (प्रवृत्ति) करते हैं; अर्थात् भक्तों से सम (प्रीत्यात्मक) और अभक्तों के प्रति विषम (विरोधात्मक) प्रवृत्ति रखते हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'रामहिं सेवक परम पियारा।'; यथा—"पुनि-पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं ॥···भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी ॥" (उ० दो० ८५); प्रिय तो जीव-मात्र हैं, पर सेवक परम प्यारे हैं; यथा—"सेवक-सेवकाई जानि जानकीस मानै कानि···" (ह० बाहुक)।

(२) 'जद्यपि सम नहिं ····'—श्रीराम ईश्वर का सहज स्वरूप कहते हैं कि वे पाप और दोष के प्रति रोष, एवं पुण्य और गुण के प्रति राग नहीं ग्रहण करते, किन्तु सदा सम (एक रस) रहते हैं। पाप और दोष का व्यवहार यमराज को और पुण्य और गुण का ब्रह्मा को दे रक्खा है। इन दोनों के द्वारा भी यथायोग्य कर्मानुसार ही करते हैं, आगे कहा भी है; यथा—'करम प्रधान बिस्व···' अर्थात् सब जीव अपने-अपने अनादि कर्म के अनुसार ही सुख-दुःख पाते हैं, इसीसे ईश्वर में विषमता और निर्दयता का दोष नहीं आता; यथा—"वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति।" (वेदान्तदर्शन २।१।३४)।

(३) 'तदपि करहिं सम बिषम···'—भक्त भगवान् से प्रीति-पूर्वक वर्त्ताव करते हैं। अतः, भगवान् भी अपने शरीर-रूप जगत् के द्वारा प्रीति से ही उनसे वर्त्ताव करते हैं। अभक्त भगवान् से एवं उनके शरीर रूप जगत् से द्वेष रखते हैं, इसीसे भगवान् भी उनसे काल-रूप से विषमता रखते हैं, कहा भी है—'तुलसी प्रभु सुभाउ सुरतरु सों ज्यों दर्पण मुख कान्ति ॥" (वि० २४१); "सम दरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ ॥" (कि० दो० २); भगवान् ने अनन्य भक्त प्रह्लाद की रक्षा की और अभक्त हिरण्यकश्यपु का वध किया, यह चरितार्थ भी है।

(४) 'जद्यपि सम······'—में ज्ञानियों का ब्रह्म निष्क्रिय, 'करम प्रधान···' में कर्म-काण्डियों का ईश्वर न्यायी और 'तदपि करहिं···'—में भक्तों का भगवान् दयालु कहे गये हैं। यह प्रसंग ऐसा ही गीता में भी कहा गया है; यथा—"समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। ये भजंति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥" (९।२९), मानस में भी—"राम सदा सेवक रुचि राखी।" यह आगे कहते ही हैं।

अगुन अलेप अमान एक रस। राम सगुन भये भगत प्रेम-बस ॥६॥
राम सदा सेवकरुचि राखी। बेद-पुरान-साधु-सुर-साखी ॥७॥
अस जिय जानि तजहु कुटिलाई। करहु भरत-पद प्रीति सुहाई ॥८॥
दोहा—रामभगत परहितनिरत, परदुख दुखी दयाल।
भगतसिरोमनि भरत ते, जनि डरपहु सुरपाल ॥२१६॥

शब्दार्थ—अलेप = निर्लिप्त, सम्बन्ध रहित। अमान = अप्रमेय, निरभिमान।

अर्थ—श्रीरामजी निर्गुण, निर्लेप, अमान और एक रस हैं, वे ही भक्त के प्रेम वश सगुण हुए ॥६॥ श्रीरामजी ने सदा सेवक की रुचि रक्खी है, वेद, पुराण, साधु और देवता इसके साक्षी हैं ॥७॥ ऐसा

जी में जानकर कुटिलता छोड़ो और श्रीभरतजी के चरणों में सुन्दर प्रीति करो ॥८॥ हे सुरपाल ! राम-भक्त पराये हित में अनुरक्त और पराये दुःख में दयालु होते हैं । श्रीभरतजी तो भक्तों में शिरोमणि हैं, अतः उनसे न डरो ॥२१९॥

विशेष—(१) 'अगुन अलेप अमान'''''—ऊपर भक्त-अभक्त के साथ सम-विषम विहार करना कहा गया । यहाँ भक्त के साथ बर्त्ताव-कथन का प्रसंग है, अतएव वही कहते हैं कि भक्त लोगों के प्रेमवश भगवान् अपनी सहज वृत्ति छोड़ देते हैं, वही यहाँ दिखाते हैं कि जो निर्गुण थे वे सगुण होकर सत्त्व, रज और तमोगुण का बर्त्ताव करते हैं। अलेप थे, उन्होंने माता-पिता, भ्राता, पुत्र आदि के नाते जोड़े। अमान (अप्रमेय) थे, वे परिमित रूप-धारी हुए, देश-काल से परिमित हुए एवं क्षत्रियत्व के मानी हुए। एक रस थे, उन्होंने अनेक रस (नव रस एवं भक्ति के शृंगारादि रस) धारण किये, इत्यादि रीति से भक्तों के अधीन होकर सब कुछ करते हैं। श्रीमुख वचन है ; यथा—"जिन्ह के हौं हित सब प्रकार चित नाहिन और उपाउ। तिन्हहिं लागि धरि देह करउँ सब डरउँ न सुजस नसाउ॥" (गी० सुं० ४५) ; "प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी।" (बा० दो० १८४) ; "अवतरेउ अपने भगति हित'''" (बा० दो० ५१)।

(२) 'राम सदा सेवक रुचि'''''—श्रीरामजी सेवकों की रुचि रखने के लिये अपनी प्रतिज्ञा छोड़ देते हैं। उन्होंने भीष्मपितामह का प्राण रखने के लिये अपना प्राण छोड़ा। प्रह्लाद का वचन रखने के लिये खंभे से ही प्रकट हुए, इत्यादि बहुत-से प्रमाण हैं। कहा भी है—"तुलसी रामहि आपु तें, सेवक की रुचि मीठि। सीतापति से साहिबहिं कैसे दीजै पीठि॥" (दोहावली ४८)।

(३) 'प्रीति सुहाई' अर्थात् हृदय से श्रद्धा-पूर्वक निश्छल प्रीति करो। यदि इन्द्र कहें कि वे तो हमारा अनहित करने जाते हैं, उसपर कहते हैं—

(४) 'राम भगत परहित'''''—संत दयालु होते हैं ; यथा—"लागि दया कोमल चित संता।" (बा० दो० १) ; इसीसे पर-दुःख से दुखी हो जाते हैं और फिर उसका हित करते हैं; यथा—"पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता।" (उ० दो० १२४) ; "पर उपकार बचन मन काया। संत सहज स्वभाव खगराया॥" (उ० दो० १२०)। ये लक्षण सामान्य संतों के हैं और श्रीभरतजी तो उनमें शिरोमणि हैं। 'सुरपाल'— अपनी साहिबी को यदि बचाना चाहो और देवताओं का पालन करना चाहो, तो श्रीभरतजी से न डरो, प्रत्युत उनमें प्रीति करो ; अन्यथा देवों के साथ तुम्हारी कुशल न होगी।

सत्यसंध प्रभु सुर-हितकारी। भरत राम-आयसु-अनुसारी ॥१॥
स्वारथबिबस बिकल तुम्ह होहू। भरत-दोष नहिं राउर मोहू ॥२॥
सुनि सुरबर सुर-गुरु-बर बानी। भा प्रमोद मन मिटी गलानी ॥३॥
बरषि प्रसून हरषि सुरराऊ। लगे सराहन भरत-सुभाऊ ॥४॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी सत्य-प्रतिज्ञ, समर्थ और देवताओं के हित करनेवाले हैं और श्रीभरतजी श्रीरामजी की आज्ञा के अनुसार चलनेवाले हैं ॥१॥ तुम स्वार्थ के विशेष वश होकर व्याकुल हो रहे हो, इसमें श्रीभरतजी का दोष नहीं है, यह तुम्हारा ही अज्ञान है ॥२॥ देवश्रेष्ठ इन्द्र, देवगुरु बृहस्पति की श्रेष्ठ वाणी सुनकर मन में आनंदित हुए और उनको ग्लानि दूर हुई ॥३॥ देवराज प्रसन्न होकर फूल बरसा-बरसाकर श्रीभरतजी के स्वभाव को सराहने लगे ॥४॥

विशेष—(१) 'सत्यसंध प्रभु ···' —'प्रभु श्रीरामजी सत्यसंध' हैं, अतः—"हरिहउँ सकल भूमि गरुआई। निरभय होहु देव-समुदाई ॥" (बा० दो० १८६)। इस अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करेंगे। पुनः चित्रकूट में भी—"करि बिनती दुःख दुसह सुनाये। हरषित निज-निज सदन सिधाये ॥" (दो० १३३) कहा गया है, उसे भी सत्य करेंगे। पुनः १४ वर्ष वनवास करने की भी प्रतिज्ञा करके उसे न छोड़ेंगे, यथा—"जौं नहि फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्यसंध दृढ़व्रत रघुराई ॥" (दो० ८१)। 'प्रभु' अर्थात् अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने में वे समर्थ भी हैं। 'सुर हितकारी' हैं, सदा से देवताओं का हित करने का उनका स्वभाव भी है। अत, तुम सबके हित के लिये वे वन ही में रहेंगे। यदि कहो कि श्रीभरतजी के प्रेम-वश लौटने का डर है तो श्रीभरतजी तो श्रीरामजी की आज्ञा के अनुवर्त्ती हैं ; अतः, हठ न करेंगे।

(२) 'सुनि सुरबर सुर-गुरु-बर बानी।'—गुरु की आज्ञा मानी, इससे देव-श्रेष्ठ कहा गया। गुरुजी ने उत्तम शिक्षा दी और इसमें श्रीराम-स्वभाव, भक्त-स्वभाव और इन्द्र का हित कहा गया। इससे 'वरबानी' कही गई। गुरुजी ने कहा था ; यथा —'बादि छोभ छल छाड़ू।' वह यहाँ चरितार्थ हुआ—"भा प्रमोद मन मिटी गलानी।" यह स्पष्ट कहा है। 'कह गुरु बादि···' से इस उपदेश का उपक्रम हुआ और यहाँ—'सुनि सुरबर सुर-गुरु-बर बानी।' पर उपसंहार है। 'सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ।··· से राम-स्वभाव कथन का उपक्रम है और 'सत्यसंध प्रभु सुर-हितकारी।' पर उपसंहार है।

येहि बिधि भरत चले मग जाहीं। दसा देखि मुनि सिद्ध सिहाहीं ॥५॥
जबहिं राम कहि लेहि उसासा। उमगत प्रेम मनहुँ चहुँ पासा ॥६॥
द्रवहि बचन सुनि कुलिस पषाना। पुरजन प्रेम न जाइ बखाना ॥७॥
बीच बास करि जमुनहि आये। निरखि नीर लोचन जल छाये ॥८॥

दोहा—रघुबर-बरन बिलोकि बर, बारि समेत समाज।
होत मगन बारिधि बिरह, चढ़े बिबेक जहाज ॥२२०॥

अर्थ—इस तरह श्रीभरतजी मार्ग में चले जा रहे हैं, उनकी वह (प्रेम की) दशा देखकर मुनि और सिद्ध तरसते हैं (कि ऐसी उत्तम प्रेम की दशा हमें न मिली, तो मनन करते और साधन करते हुए व्यर्थ ही जन्म गँवाया) ॥५॥ जब जब वे (श्रीभरतजी) 'राम' कहकर ऊँची श्वास लेते हैं, तब तब मानों चारों ओर प्रेम उमड़ पड़ता है ॥६॥ वचन सुनकर वज्र और पत्थर भी द्रवीभूत हो (पिघल) जाते हैं और पुरवासियों के प्रेम का वर्णन नहीं किया जाता ॥७॥ बीच में (एक रात एक जगह) निवास करके यमुना तट पर आये, जल देखकर आँखों में आँसू भर आये ॥८॥ श्रीरघुनाथजी के श्याम रंग के समान सुन्दर जल देखकर समाज के साथ श्रीभरतजी श्रीराम-विरह समुद्र में डूबते हुए विवेक-रूपी जहाज पर चढ़े ; अर्थात् विचार किया कि अभी उनके वर्ण-मात्र के दर्शन हुए हैं, इतने ही में अटक रहे तो साक्षात् दर्शन दूर पड़ जायँगे, यह समझकर सावधान हो गये ॥२२०॥

विशेष—(१) 'उमगत प्रेम मनहुँ चहुँ पासा।'—जैसे नदियों का जल उमड़कर चारों ओर फैलता हुआ तटस्थ वस्तुओं को डुबा देता है वैसे ही जब ये अत्यन्त प्रेम से 'राम' कहकर ऊर्ध्व साँस लेते हैं तब पास के लोग प्रेम में डूब जाते हैं और वे भी प्रेमपूर्वक 'राम - राम' कहने लगते हैं।

(२) 'द्रवहिं बचन सुनि···'—जब वज्र-पाषाण ऐसे कठोर भी पिघल जाते हैं अर्थात् कठोर हृदय वाले वनवासी पिघल जाते हैं तब पुरजनों का प्रेम कैसे कहा जाय ?

(३) 'रघुवर-बरन बिलोकि···'—'रघुवर बरन'; यथा—"उतरि नहाये जमुन जल, जो सरीर सम स्याम।" (दो॰ १०९); देह की सुध भूलते हुए मन को समझाया कि अब शीघ्र पहुँचना चाहिये, तभी वियोग के दिन दूर होंगे, अतः धैर्य धरना चाहिये।

जमुन-तीर तेहि दिन करि बासू। भयेउ समय-सम सबहि सुपासू ॥१॥
रातिहिं घाट घाट की तरनी। आईं अगनित जाहिं न बरनी ॥२॥
प्रात पार भये एकहि खेवा। तोषे रामसखा की सेवा ॥३॥
चले नहाइ नदिहि सिर नाई। साथ निषादनाथ दोउ भाई ॥४॥
आगे मुनिवर-बाहन आछे। राजसमाज जाइ सब पाछे ॥५॥
तेहि पाछे दोउ बंधु पयादे। भूषन बसन बेष सुठि सादे ॥६॥
सेवक सुहृद सचिवसुत साथा। सुमिरत लखन सीय रघुनाथा ॥७॥
जहँ जहँ राम - बास - बिश्रामा। तहँ तहँ करहिं सप्रेम प्रनामा ॥८॥

दोहा—मगवासी नरनारि सुनि, धामकाम तजि धाइ।
देखि सरूप सनेह बस, मुदित जनमफल पाइ ॥२२१॥

अर्थ—उस दिन यमुना-तट पर निवास किया, समय के अनुसार सबको सुपास हुआ; अर्थात् भोजन-शयन आदि सबको समय के अनुकूल मिला ॥१॥ रात-ही-रात घाट-घाट की अगणित नावें आईं, उनका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥२॥ सवेरे एक ही खेप की खेवाई में सब नदी के पार पहुँच गये, राम-सखा निषाद-राज की इस सेवा से संतुष्ट एवं प्रसन्न हुए (कि बहुत) शीघ्रता में बड़ा कार्य हो गया) ॥३॥ नदी में स्नान कर उसे प्रणाम कर निषाद-राज के साथ दोनों भाई चले ॥४॥ आगे मुनि-श्रेष्ठ (विप्र-समाज समेत) अच्छी-अच्छी सवारियों पर हैं। उनके पीछे सब राज-समाज जा रहा है ॥५॥ उसके पीछे दोनों भाई बहुत ही सादे भूषण-वस्त्र और वेष से पैदल जा रहे हैं ॥६॥ सेवक, मित्र और मंत्री के पुत्र साथ हैं। श्रीलक्ष्मणजी, श्रीसीताजी और श्रीरघुनाथजी का स्मरण करते जाते हैं ॥७॥ जहाँ-जहाँ श्रीरामजी ने निवास एवं विश्राम किया था, वहाँ-वहाँ प्रेमपूर्वक प्रणाम करते हैं ॥८॥ मार्ग के रहनेवाले स्त्री-पुरुष यह सुनकर घर के कार्य छोड़ दौड़कर जाते और उनके स्वरूप (सुन्दरता) और स्नेह को देख जन्म का फल पाकर सब आनंदित होते हैं ॥२२१॥

विशेष—(१) समाज समेत श्रीभरतजी को श्रीराम-दर्शनों की आतुरता है, वही शब्दों से भी कवि ने ध्वनित किया है; यथा—'चले चित्रकूटहि चित दीन्हे।' लिखकर फिर बीच के मुकामों के लिये अपूर्ण ही क्रिया देते जाते हैं—'करि बासू', 'बसि प्रातहीं चले', 'जलथल देखि बसे निसि बीते। कीन्ह गवन···' अर्थात् 'करि बासू' चले, 'निसि बीते' ही चले, 'बसि प्रातहीं' चले—ये शब्द आतुरता बोधक हैं।

विशेष—(१) 'सत्यसंध प्रभु ...'—'प्रभु श्रीरामजी सत्यसंध' हैं, अतः—"हरिहउँ सकल भूमि गरुआई। निरभय होहु देव-समुदाई ॥" (बा० दो० १८१)। इस अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करेंगे। पुनः चित्रकूट में भी—"करि विनती दुःख दुसह सुनाये। हरषित निज-निज सदन सिधाये ॥" (दो० ११३) कहा गया है, उसे भी सत्य करेंगे। पुनः १४ वर्ष वनवास करने की भी प्रतिज्ञा करके उसे न छोड़ेंगे, यथा—"जौं नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्यसंध दृढ़व्रत रघुराई ॥" (दो० ८१)। 'प्रभु' अर्थात् अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने में वे समर्थ भी हैं। 'सुर हितकारी' हैं, सदा से देवताओं का हित करने का उनका स्वभाव भी है। अत, तुम सबके हित के लिये वे वन ही में रहेंगे। यदि कहो कि श्रीभरतजी के प्रेम-वश लौटने का डर है तो श्रीभरतजी तो श्रीरामजी की आज्ञा के अनुवर्त्ती हैं; अतः, हठ न करेंगे।

(२) 'सुनि सुरबर सुर-गुरु-बर बानी।'—गुरु की आज्ञा मानी, इससे देव-श्रेष्ठ कहा गया। गुरुजी ने उत्तम शिक्षा दी और इसमें श्रीराम-स्वभाव, भक्त-स्वभाव और इन्द्र का हित कहा गया। इससे 'बरबानी' कही गई। गुरुजी ने कहा था; यथा —'बादि छोभ छल छाडू।' वह यहाँ चरितार्थ हुआ—"भा प्रमोद मन मिटी गलानी।" यह स्पष्ट कहा है। 'कह गुरु बादि...' से इस उपदेश का उपक्रम हुआ और यहाँ—'सुनि सुरबर सुर-गुरु-बर बानी।' पर उपसंहार है। 'सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ।...' से राम-स्वभाव कथन का उपक्रम है और 'सत्यसंध प्रभु सुर-हितकारी।' पर उपसंहार है।

येहि बिधि भरत चले मग जाहीं। दसा देखि मुनि सिद्ध सिहाहीं ॥५॥
जबहिं राम कहि लेहिं उसासा। उमगत प्रेम मनहुँ चहुँ पासा ॥६॥
द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना। पुरजन प्रेम न जाइ बखाना ॥७॥
बीच बास करि जमुनहिं आये। निरखि नीर लोचन जल छाये ॥८॥

दोहा—रघुबर-बरन बिलोकि बर, बारि समेत समाज।
होत मगन बारिधि बिरह, चढ़े बिबेक जहाज ॥२२०॥

अर्थ—इस तरह श्रीभरतजी मार्ग में चले जा रहे हैं, उनकी वह (प्रेम की) दशा देखकर मुनि और सिद्ध तरसते हैं (कि ऐसी उत्तम प्रेम की दशा हमें न मिली, तो मनन करते और साधन करते हुए व्यर्थ ही जन्म गँवाया) ॥५॥ जब जब वे (श्रीभरतजी) 'राम' कहकर ऊँची श्वास लेते हैं, तब तब मानों चारों ओर प्रेम उमड़ पड़ता है ॥६॥ वचन सुनकर वज्र और पत्थर भी द्रवीभूत हो (पिघल) जाते हैं और पुरवासियों के प्रेम का वर्णन नहीं किया जाता ॥७॥ बीच में (एक रात एक जगह) निवास करके यमुना तट पर आये, जल देखकर आँखों में आँसू भर आये ॥८॥ श्रीरघुनाथजी के श्याम रंग के समान सुन्दर जल देखकर समाज के साथ श्रीभरतजी श्रीराम-विरह समुद्र में डूबते हुए विवेक-रूपी जहाज पर चढ़े; अर्थात् विचार किया कि अभी उनके वर्ण-मात्र के दर्शन हुए हैं, इतने ही में अटक रहे तो साक्षात् दर्शन दूर पड़ जायँगे, यह समझकर सावधान हो गये ॥२२०॥

विशेष—(१) 'उमगत प्रेम मनहुँ चहुँ पासा।'—जैसे नदियों का जल उमड़कर चारों ओर फैलता हुआ तटस्थ वस्तुओं को डुबा देता है वैसे ही जब ये अत्यन्त प्रेम से 'राम' कहकर ऊर्ध्व साँस लेते हैं तब पास के लोग प्रेम में डूब जाते हैं और वे भी प्रेमपूर्वक 'राम - राम' कहने लगते हैं।

(२) 'द्रवहिं बचन सुनि'''—जब वज्र-पाषाण ऐसे कठोर भी पिघल जाते हैं अर्थात् कठोर हृदय वाले वनवासी पिघल जाते हैं तब पुरजनों का प्रेम कैसे कहा जाय ?

(३) 'रघुबर-बरन बिलोकि'''—'रघुबर बरन'; यथा—"उतरि नहाये जमुन जल, जो सरीर सम स्याम।" (दो॰ १०६); देह की सुध भूलते हुए मन को समझाया कि अब शीघ्र पहुँचना चाहिये, तभी वियोग के दिन दूर होंगे, अतः धैर्य धरना चाहिये।

जमुन-तीर तेहि दिन करि बासू। भयेउ समय-सम सबहि सुपासू ॥१॥
रातिहिं घाट घाट की तरनी। आईं अगनित जाहिं न बरनी ॥२॥
प्रात पार भये एकहि खेवा। तोषे रामसखा की सेवा ॥३॥
चले नहाइ नदिहि सिर नाई। साथ निषादनाथ दोउ भाई ॥४॥
आगे मुनिबर-बाहन आछे। राजसमाज जाइ सब पाछे ॥५॥
तेहि पाछे दोउ बंधु पयादे। भूषन बसन बेष सुठि सादे ॥६॥
सेवक सुहृद सचिवसुत साथा। सुमिरत लखन सीय रघुनाथा ॥७॥
जहँ जहँ राम - बास - बिश्रामा। तहँ तहँ करहिं सप्रेम प्रनामा ॥८॥

दोहा—मगबासी नरनारि सुनि, धामकाम तजि धाइ।
देखि सरूप सनेह बस, मुदित जनमफल पाइ ॥२२१॥

अर्थ—उस दिन यमुना-तट पर निवास किया, समय के अनुसार सबको सुपास हुआ; अर्थात् भोजन-शयन आदि सबको समय के अनुकूल मिला ॥१॥ रात-ही-रात घाट-घाट की अगणित नावें आईं, उनका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥२॥ सवेरे एक ही खेप की खेवाई में सब नदी के पार पहुँच गये, राम-सखा निषाद-राज की इस सेवा से संतुष्ट एवं प्रसन्न हुए (कि बहुत) शीघ्रता में बड़ा कार्य हो गया) ॥३॥ नदी में स्नान कर उसे प्रणाम कर निषाद-राज के साथ दोनों भाई चले ॥४॥ आगे मुनि-श्रेष्ठ (विप्र-समाज समेत) अच्छी-अच्छी सवारियों पर हैं। उनके पीछे सब राज-समाज जा रहा है ॥५॥ उसके पीछे दोनों भाई बहुत ही सादे भूषण-वस्त्र और वेष से पैदल जा रहे हैं ॥६॥ सेवक, मित्र और मंत्री के पुत्र साथ हैं। श्रीलक्ष्मणजी, श्रीसीताजी और श्रीरघुनाथजी का स्मरण करते जाते हैं ॥७॥ जहाँ-जहाँ श्रीरामजी ने निवास एवं विश्राम किया था, वहाँ-वहाँ प्रेमपूर्वक प्रणाम करते हैं ॥८॥ मार्ग के रहनेवाले स्त्री-पुरुष यह सुनकर घर के कार्य छोड़ दौड़कर जाते और उनके स्वरूप (सुन्दरता) और स्नेह को देख जन्म का फल पाकर सब आनंदित होते हैं ॥२२१॥

विशेष—(१) समाज समेत श्रीभरतजी को श्रीराम-दर्शनों की आतुरता है, वही शब्दों से भी कवि ने ध्वनित किया है; यथा—'चले चित्रकूटहि चित दीन्हे।' लिखकर फिर बीच के मुकामों के लिये अपूर्ण ही क्रिया देते जाते हैं—'करि बासू', 'बसि प्रातही चले', 'जलथल देखि बसे निसि बीते। कीन्ह गवन''' अर्थात् 'करि बासू' चले, 'निसिबीते' ही चले, 'बसि प्रातही' चले—ये शब्द आतुरता बोधक हैं।

'नदिहि सिर नाई'—यहाँ 'नदी' यह हलका शब्द दिया, क्योंकि विवेक से निश्चय हुआ कि यहाँ श्रीरामजी नहीं, यह तो नदी ही है, इसमें श्रीरामजी का वर्णमात्र ही तो है। पहले शृंगवेरपुर में मार्ग चलने का क्रम बदला था, यहाँ फिर भी बरत रहे हैं—'आगे मुनिवर…'

(२) 'सेवक सुहृद सचिवसुत साथा।…'—पहले शृंगवेरपुर से प्रयाग तक मार्ग में किसी ने न जाना था कि ये पैदल ही आ रहे हैं, किंतु अब तो सब जान गये हैं। अतएव बराबरी वाले साथ हैं।

(३) 'सुमिरत लखन सीय…'—साथ में 'निषाद नाथ' को लिये हुए हैं कि इन्हें देखकर श्रीरामजी प्रसन्न होंगे और श्रीशत्रुघ्नजी को भी श्रीलक्ष्मणजी की प्रसन्नता के लिये साथ लिये हुए हैं और इसीलिये दोनों का स्मरण करते हुए जाते हैं।

(४) 'धामकाम तजि…'; यथा—"चलहिं तुरत गृह काज बिसारी।" (दो॰ ११२); तथा—"धाये धाम काम सब त्यागी।" (बा॰ दो॰ २११) भी देखिये।

कहहिं सप्रेम एक एक पाहीं। रामलखन सखि होहिं कि नाहीं ॥१॥
बय बपु बरन रूप सोइ आली। सील सनेह सरिस सम चाली ॥२॥
बेष न सो सखि सीय न संगा। आगे अनी चली चतुरंगा ॥३॥
नहिं प्रसन्नमुख मानस खेदा। सखि संदेह होइ येहि भेदा ॥४॥

अर्थ—एक-एक से (आपस में) प्रेम के साथ कहती हैं—हे सखि! ये श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी हैं कि नहीं ॥१॥ हे सखि! अवस्था, शरीर, रंग और रूप वही है, शील और स्नेह भी उन्हीं के समान है और चाल भी उन्हीं की तरह है ॥२॥ (किन्तु) हे सखि! न तो वह वेष है और न श्रीसीताजी साथ हैं और इनके आगे चतुरंगिनी सेना चल रही है ॥३॥ इनका मुख प्रसन्न नहीं है, मन में दुःख है, हे सखि! इस भेद के कारण सन्देह होता है ॥४॥

विशेष—(१) 'बय बपु बरन रूप सोइ…'; यथा—"सखि जस राम लखन कर जोटा। तैसेइ भूप संग दुइ ढोटा॥ श्याम गौर सब अंग सुहाये। ते सब कहहिं देखि जे आये॥ …भरत राम ही की अनुहारी। सहसा लखि न सकहिं नर नारी॥ लखन सत्रुसूदन एक रूपा। नख सिख ते सब अंग अनूपा॥" (बा॰ दो॰ ३१०)। यह जनकपुर की स्त्रियों का कथन है। श्रीहनुमानजी को भी ऐसा ही संदेह हुआ है; यथा—"भरत सत्रुसूदन बिलोकि कपि चकित भयो है। राम-लखन रन जीति अवध आये, कैधौं मोहि भ्रम, कैधौं काहू कपट ठयो है॥" (गी॰ लं॰ ११); 'सील सनेह सरिस'; यथा—"चारित सील रूप गुन धामा।" "चारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी॥ भरत शत्रुहन दूनउ भाई। प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई॥" (बा॰ दो॰ १९७)।

(२) 'बेष न सो…'—उन्होंने वल्कल वस्त्र धारण किया था, ये राजकुमारों के ही वेष में हैं। उनके साथ श्रीसीताजी भी थीं, किंतु वे यहाँ नहीं हैं। वे प्रसन्न मुख थे, इनको मानसिक दुःख है।

तासु तरक तियगन मन मानी। कहहिं सकल तोहि सम न सयानी ॥५॥
तेहि सराहि बानी फुरि पूजी। बोली मधुरबचन तिय दूजी ॥६॥

कहि सप्रेम सब कथाप्रसंगू। जेहि बिधि राम-राज-रस भंगू ॥७॥
भरतहि बहुरि सराहन लागी। सील सनेह सुभाय सुभागी ॥८॥

दोहा—चलत पयादे खात फल, पिता दीन्ह तजि राज।
जात मनावन रघुबरहि, भरत - सरिस को आज ॥२२२॥

अर्थ—उसका तर्क स्त्रियों के मन को भाया, सब कहने लगीं कि तेरे समान कोई चतुर नहीं है ॥५॥ उसकी बड़ाई करके 'तेरी वाणी सत्य है' ऐसा कहकर उसका सम्मान किया और दूसरी को मधुर वचन बोली ॥६॥ प्रेमपूर्वक सब कथा-प्रसंग कहकर कि जिस तरह श्रीरामजी के राज्य-तिलक का आनंद नष्ट हुआ ॥७॥ फिर श्रीभरतजी के शील, स्नेह, स्वभाव और सौभाग्य की सराहना करने लगी ॥८॥ पैदल चलते, फल खाते, पिता का दिया हुआ राज्य छोड़कर रघुबर श्रीरामजी को मनाने जा रहे हैं, तो श्रीभरतजी के समान (धन्य) आज कौन है ? अर्थात् कोई नहीं ॥२२२॥

विशेष—(१) 'तोहि सम न सयानी'—'तोहि' का 'तेहि' पाठांतर है, यह लेख-प्रमाद से ही जान पड़ता है, एक (।) पाई छूट जाना संभव है, क्योंकि 'तेहि' के अर्थ में गौरव नहीं है।

(२) 'बानी फुरि पूजी'—वाणी को सत्य कहकर सराहना की कि तू ठीक कहती है।

(३) 'चलत पयादे खात फल···'—पैदल चलते हुए मनाने जाने में अनुराग, फल ही खाने में त्याग और पिता-दत्त राज्य के त्यागने में भीतर का भी त्याग जनाया गया है। यहाँ के उल्लेख से मार्ग में सर्वत्र श्रीभरतजी का फलाहार करना जाना गया।

भायप भगति भरत - आचरनू। कहत सुनत दुख-दूषन-हरनू ॥१॥
जो कछु कहब थोर सखि सोई। राम-बंधु अस काहे न होई ॥२॥
हम सब सानुज भरतहि देखे। भइन्ह धन्य जुबतीजन लेखे ॥३॥
सुनि गुन देखि दसा पछिताहीं। कैकेइ-जननि - जोग सुत नाहीं ॥४॥
कोउ कह दूषन रानिहि नाहिंन। बिधि सबु कीन्ह हमहि जो दाहिन ॥५॥
कहँ हम लोक-बेद - बिधि - हीनी। लघुतिय कुल-करतूति-मलीनी ॥६॥
बसहि कुदेस कुगाँव कुबामा। कहँ यह दरस पुन्यपरिनामा ॥७॥
अस अनंद अचरज प्रतिग्रामा। जनु मरुभूमि कलपतरु जामा ॥८॥

दोहा—भरतदरस देखत खुलेउ, मग लोगन्ह कर भाग।
जनु सिंहलबासिन्ह भयेउ, बिधिबस सुलभ प्रयाग ॥२२३॥

अर्थ—श्रीभरतजी का भाईपना, भक्ति और आचरण कहने सुनने मात्र से दुःख और दोष के हरनेवाले हैं ॥१॥ हे सखि ! जो कुछ भी कहिये, वह थोड़ा ही है, ये श्रीरामजी के भाई हैं तो ऐसा क्यों न हो? अर्थात् ऐसा होना योग्य ही है ॥२॥ भाई के साथ श्रीभरतजी को देखने से हम सब धन्य स्त्रियों की गणना में हुई ॥३॥ गुण सुनकर और दशा देखकर सब स्त्रियाँ पछताती हैं कि ये पुत्र कैकेयी (ऐसी) माता के योग्य नहीं हैं ॥४॥ कोई कहती हैं कि रानी का भी दूषण नहीं है, यह सब ब्रह्माजी ने किया है, जो हमको दाहिने हैं ॥५॥ (नहीं तो) कहाँ हमलोग लोक और वेद की रीति से हीन, तुच्छ, स्त्री, कुल और करनी से दूषित ॥६॥ बुरे देश, बुरे गाँव में बसनेवाली, खोटी स्त्रियाँ और कहाँ पुण्य के फल रूप इनके दर्शन, अर्थात् ऐसे महात्माओं के दर्शन बहुत पुण्य से होते हैं ॥७॥ ऐसा आनन्द और आश्चर्य प्रत्येक गाँव में होता है, मानों मरुभूमि में कल्पवृक्ष जम आया हो ॥८॥ श्रीभरतजी के दर्शन करते ही मार्गनिवासियों के भाग्य खुले (उदित हुए) मानों दैवयोग से सिंहल (द्वीप) के निवासियों को प्रयाग (तीर्थ) प्राप्त हो गया ॥२२३॥

विशेष—(१) 'भायप भगति भरत ···'—'भायप'; यथा—"भयेउ न भुवन भरत सम भाई।" (दो० २५८); अर्थात् भाई में प्रीति होना श्रीभरतजी में लोकोत्तर गुण है। 'भगति'—ज्येष्ठ भाई में और 'आचरनू'—माता, पिता एवं और सब लोगों के साथ बर्ताव। वा, भाईपन को रक्षा में राज्य त्याग दिया, फल खाते हुए 'राम-सिय, राम-सिय' अनुराग पूर्वक कहते हैं। यह भक्ति है और पैदल चलना आचरण है।

राजकुमारों में ऐसा भायप और भक्ति असंभव है; इसीसे सभी को आश्चर्य लगता है। वही आगे कहते हैं—'अचरज प्रतिगामा' इत्यादि।

(२) 'भइन्ह धन्य जुबती ···'—धन्य स्त्रियाँ—शची, शारदा, रमा, भवानी आदि हैं। आज से हमलोग उनके तुल्य गिनी जायँगी। इस रीति से अपने भाग्य की सराहना करती हैं। वा, आज से हम स्त्रियों की गणना में धन्य कही जायँगी; यथा—"भयउँ भाग-भाजन जन लेखे।" (दो० ८७)।

(३) 'कोउ कह दूषन रानिहि ···'—भाव यह कि हमें तो रानी ही के द्वारा इनके दर्शन मिले, तो कृतज्ञता चाहिये, उल्टे उसे दोष क्यों दें?

(४) 'यह दरस'—अगुल्यानिर्देश करके कहा। 'लघुतिय कुल ···'—ये ब्राह्मण आदि ऊँचे कुल की नहीं हैं। करतूत भी इनकी मलिन है, कमाना खाना मात्र रहता है, शुद्धाचरण भी नहीं। 'मरुभूमि कलपतरु ···'—मरुभूमि वह है, जहाँ जल न हो, बालू का मैदान हो, जैसे मारवाड़ एवं उसके पास के देश। ऐसे स्थलों पर सामान्य वृक्ष भी नहीं होते, फिर कल्पवृक्ष का होना तो आश्चर्य ही है।

(५) 'भरतदरस देखत खुलेउ ···'—'दरस' का अर्थ दृश्य अर्थात् रूप है। सिंहल द्वीप भारतवर्ष के दक्षिण में, श्रीरामेश्वर के भी ठीक दक्षिण में है। इसे इतिहासों में स्वर्ण द्वीप एवं स्वर्ण भूमि भी कहते हैं। सिंहल के मोती, माणिक्य, नीलम आदि प्रसिद्ध हैं। वहाँ पर ३॥ करोड़ तीर्थों के राजा प्रयाग का जाना असंभव है। वैसे इस जाँगल देश में सामान्य भक्तों के दर्शन ही दुर्लभ हैं। उन्हें भक्त शिरोमणि श्रीभरतजी के दर्शन घर बैठे मिल गये, यह दैवयोग ही कहा जायगा। 'मग लोगन्ह कर भाग'—इसका उपक्रम—"मगवासी नर नारि···" (दो० २२१) से है, 'नर-नारि' और 'मग लोगन्ह' से सूचित किया कि श्रीभरतजी के दर्शन बच्चे, बूढ़े आदि सभी को होते हैं, क्योंकि ये पीछे हैं। ग्रामों से होकर जब तक सम्पूर्ण सेना निकलती है, तब तक मार्ग पर सब पहुँच जाते हैं।

प्रयाग की उत्प्रेक्षा दी गई। प्रयाग चारों फल देता है; इनके दर्शनों से भी चार फलों की प्राप्ति जनाई। प्रयाग में त्रिवेणी है; यहाँ श्रीभरतजी श्यामवर्ण यमुना, श्रीशत्रुघ्नजी गौरवर्ण गंगाजी और ज्ञानी महर्षि वसिष्ठजी सरस्वती के तुल्य हैं।

निज-गुन-सहित राम-गुन-गाथा। सुनत जाहिं सुमिरत रघुनाथा ॥१॥
तीरथ मुनिआश्रम सुरधामा। निरखि निमज्जहिं करहिं प्रनामा ॥२॥
मन हीं मन माँगहिं बर येहू। सीय-राम-पद-पदुम सनेहू ॥३॥
मिलहिं किरात कोल बनबासी। बैखानस बटु जती उदासी ॥४॥
करि प्रनाम पूछहिं जेहि तेही। केहि बन लखन राम बैदेही ॥५॥
ते प्रभुसमाचार सब कहहीं। भरतहि देखि जनमफल लहहीं ॥६॥
जे जन कहहिं कुसल हम देखे। ते प्रिय राम-लखन-सम लेखे ॥७॥
येहि बिधि बूझत सबहि सुबानी। सुनत राम-बन-बास-कहानी ॥८॥

दोहा—तेहि बासर बसि प्रातहीं, चले सुमिरि रघुनाथ।
राम-दरस की लालसा, भरत-सरिस सब साथ ॥२२४॥

शब्दार्थ—उदासी (उत्-आसीन) = जो संसार के झंझटों से पृथक् हो, विरक्त।

अर्थ—अपने गुण-सहित श्रीरामजी के गुणों की कथा सुनते और श्रीरघुनाथजी का स्मरण करते हुए (श्रीभरतजी) चले जाते हैं ॥१॥ तीर्थ देखकर स्नान और मुनियों के आश्रम तथा देवताओं के मंदिरों को देखकर प्रणाम करते हैं ॥२॥ और मन-ही-मन यह वरदान माँगते हैं कि श्रीसीतारामजी के चरण-कमलों में स्नेह हो ॥३॥ किरात-कोल आदि वनवासी, वान-प्रस्थ, ब्रह्मचारी, यती और उदासी मिलते हैं ॥४॥ (उनमें से) जिस-तिस से प्रणाम करके पूछते हैं कि श्रीलक्ष्मणजी, श्रीरामजी और श्रीसीताजी किस वन में हैं ॥५॥ वे प्रभु के सब समाचार कहते हैं और श्रीभरतजी को देखकर जन्म के फल पाते हैं ॥६॥ जो लोग कहते हैं कि हमने उन्हें कुशल-पूर्वक देखा है, उनको श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी के समान प्यारे मानते हैं ॥७॥ इस तरह सबसे सुन्दर वाणी से पूछते हैं और श्रीरामजी के वनवास की कहानी सुनते हैं ॥८॥ उस दिन (बीच में) ठहरकर प्रातःकाल ही श्रीरघुनाथजी का स्मरण करके चले, सब साथ के लोगों को श्रीभरतजी के समान ही श्रीराम-दर्शनों की लालसा है; अर्थात् उन्हीं की-सी सभी की दशा है ॥२२४॥

विशेष—(१) 'निज गुन-सहित…'—सुनने में श्रीराम-गुण-गाथा मुख्य है, 'सहित' शब्द से 'निजगुन' को गौण कहा गया है। निज गुण में 'गुण' एक वचन है, श्रीरामगुण में बहुवचन-सूचक 'गाथा' शब्द है। 'राम-गुन-गाथा'; यथा—"कहि सप्रेम सब कथा प्रसंगू। जेहि बिधि राम-राज-रस भंगू ॥" (दो० २२१); राम-कथा के साथ-साथ श्रीभरतजी की भी प्रशंसा है; यथा—"राम बंधु अस काहे न होई ॥" (दो० २२२); "चलत पयादे खात फल,……जात मनावन रघुबरहिं…" (दो० २२२); इत्यादि

निज गुण भी सुनते हैं, क्योंकि इसे श्रीभरतजी राम-गुण-गाथा का अंग मानते हैं। पुनः इससे श्रीभरतजी जगत्-प्रेरक प्रभु की अनुकूलता का अनुभव करते हैं। मुख से 'राम-सिय, राम-सिय' कहते जाते हैं और कानों से रामकथा सुनते हैं—श्रवण और कीर्तन इन दोनों भक्तियों को साथ-साथ करते हैं।

(२) 'तीरथ मुनि···मन ही मन···'—कई कर्मों का एक-मात्र फल श्रीसीतारामजी के चरण-कमलों का स्नेह माँगते हैं; यथा—"सब करि माँगहिं एक फल, राम चरन रति होउ।" (दो० १२१); मन ही में माँगते हैं, क्योंकि भक्ति-भाव छिपा रहना चाहिये।

(३) 'बनवासी। बैखानस बटु जती उदासी'—पहले क्रमशः गृही, वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी और संन्यासी कह कर और फिर उदासी कहकर आश्रम-नियम से भिन्न भी जो विरक्त साधु हैं, उन्हें बताया। 'करि प्रनाम पूछहिं···'—कोई भी हो, उससे प्रणाम करके पूछते हैं, क्योंकि वह श्रीराम-दर्शनों से पावन हो चुका है और इन्हें श्रीरामजी के समाचार के लिये अत्यन्त आतुरता है। अत्यंत प्रेम ने सामान्य धर्म को दबा दिया है। सब किसी से पूछना प्रेम की अधिकता है।

(४) 'जनमफल लहहीं'—विचारते हैं कि ये गृही होते हुए भी ऐसी उच्च दशा को प्राप्त हैं। अतः, इनके दर्शनों से हम धन्य हुए। 'राम लखन सम लेखे'—जो 'बैखानस बटु जती उदासी' हैं, एवं 'बनवासी' में जो अपनेसे किसी अंश में बड़े हैं, उन्हें श्रीरामजी के समान और छोटों को श्रीलक्ष्मणजी के समान देखते हैं; यथा—"जो कहिहै फिरे राम लखन घर करि मुनि-मख-रखवारी। सो तुलसी प्रिय मोहि लागिहै ज्यों सुभाय सुत चारी॥" (गी० बा० ६८)।

मंगल सगुन होहिं सब काहू। फरकहिं सुखद बिलोचन बाहू॥१॥
भरतहि सहित समाज उछाहू। मिलिहहिं राम मिटिहि दुखदाहू॥२॥
करत मनोरथ जस जिय जाके। जाहिं सनेहसुरा सब छाके॥३॥
सिथिल अंग पग मग डगि डोलहिं। बिहबल बचन प्रेमबस बोलहिं॥४॥

अर्थ—सबको मंगल शकुन हो रहे हैं। सुख देनेवाले (अंग) नेत्र और बाहु (स्त्रियों के बाम और पुरुषों के दाहिने) फड़क रहे हैं॥१॥ समाज के साथ श्रीभरतजी को उत्साह हो रहा है कि श्रीरामजी अवश्य मिलेंगे और दुःख की जलन मिटेगी॥२॥ जिसके हृदय में जैसा भाव है, वैसा ही वह मनोरथ करता है। स्नेह-रूपी मदिरा से छके हुए (नशे में चूर की तरह) चले जा रहे हैं॥३॥ सबके सब अंग शिथिल हैं, मार्ग में पैरों से डगमगाते हुए चलते हैं और प्रेम के वश विह्वल वचन बोलते हैं॥४॥

विशेष—(१) 'करत मनोरथ जस···'—ऊपर 'मिलिहहिं राम' कहा गया, उसीपर अपने-अपने भाव (शृंगार, सख्य, वात्सल्यादि) के अनुसार मनोरथ करते हैं कि हम श्रीरामजी से इस तरह मिलेंगे, बोलेंगे, वे हमसे इस-इस तरह, इत्यादि 'जाहिं सनेह सुरा···'—स्नेह को मदिरा से रूपक बाँध कर आगे कहते हैं—

(२) 'सिथिल अंग पग···' से मतवाले का स्वरूप कहते हैं कि अंग ढीले पड़ गये हैं, पैर से डगमगाते हैं, वचन ठीक नहीं निकलते इत्यादि। मतवालों के मन में मनोरथ भी बहुत होते हैं।

रामसखा तेहि समय देखावा। सैलसिरोमनि सहज सुहावा ॥५॥
जासु समीप सरित-पय-तीरा। सीयसमेत बसहिं दोउ बीरा ॥६॥
देखि करहिं सब दंडप्रनामा। कहि जय जानकिजीवन रामा ॥७॥
प्रेममगन अस राजसमाजू। जनु फिरि अवध चले रघुराजू ॥८॥

दोहा—भरत प्रेम तेहि समय जस, तस कहि सकइ न सेषु।
कबिहि अगम जिमि ब्रह्मसुख, अह-मम-मलिन-जनेषु ॥२२५॥

शब्दार्थ—अह मम = अहंकार और ममकार, मैं और मेरा। जनेषु = जनों में।

अर्थ—रामसखा निषादराज ने उसी समय सहज ही सुहावने पर्वतों में शिरोमणि (कामदगिरि) को इन्हें दिखाया ॥५॥ जिसके समीप ही पयस्विनी नदी के तट पर श्रीसीताजी सहित दोनों वीर (भाई) श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी निवास करते हैं ॥६॥ सबलोग दर्शन करके 'जय जानकी जीवन रामजी की' ऐसा कह-कहकर दण्डवत् (साष्टाङ्ग) प्रणाम करते हैं ॥७॥ राज-समाज तो ऐसा प्रेम में मग्न है, मानों रघुराज श्रीरामजी लौटकर श्रीअवध को चले हों ॥८॥ उस समय श्रीभरतजी का जैसा प्रेम हुआ, उसे शेषजी भी नहीं कह सकते. और कवि के लिये तो ऐसा अगम है जैसा मैं-मेरा पन से मलिन हृदयवाले मनुष्यों में ब्रह्म-सुख का प्राप्त होना अगम है।

विशेष—(१) 'सैलसिरोमनि सहज...'—वाल्मीकिजी ने कहा था—"सैलसुहावन कानन चारू।" और—"राम देहु गौरव गिरिवरहू।" (दो० १३१); वह यहाँ चरितार्थ हुआ, इसीसे 'शिरोमणि' और 'सहज' विशेषण अधिक लग गया। इसने श्रीरामजी के निवास से ही यह बड़ाई पाई है; यथा—"श्रम बिनु बिपुल बड़ाई पाई।" सब स्नेहरूपी सुरा में मतवाले हैं, इसलिये आगे चलने के उत्साह को बढ़ाने के लिये निषादराज ने कामदगिरि के दर्शन कराये।

(२) 'दोउ बीरा'—वीर का अर्थ शूरवीर और भाई भी होता है। शूरवीर ही बन में रह सकते हैं। 'दंड प्रनामा'—दंडवत् शरीर से करते और वचन से भी—'जय...' कहते हैं। 'जनु फिरि अवध चले...'—श्रीभरतजी ने निश्चय किया था—"आवहिं बहुरि राम रजधानी।" (दो० १८३); वह मानों हो गया। 'रघुराजू' शब्द से—"बनहि देव मुनि रामहि राजू।" (दो० १८९); का भी सुख हुआ कि मानों श्रीरामजी राजा होकर लौटे। राज-समाज की व्यवस्था कहने तक तो बुद्धि की पहुँच रही, श्रीभरतजी के विषय में आगे कहते हैं—

(३) 'कबिहि अगम जिमि...'—'जनेषु' शब्द सप्तमी के बहुवचन का रूप है। यह भी निश्चय है कि जब तक 'मैं मोर' रूपी नानात्व जगत् की सत्ता नहीं छूटती, तब तक ब्रह्मानंद बहुत दूर है; यथा—"तुलसिदास 'मैं मोर' गये बिनु जिय सुख कबहुँ न पावै।" (वि० १२०)। शेषजी अपने शुद्ध हृदय से तो अनुभव कर सकते हैं, किन्तु कथन में दो सहस्र रसना के होते हुए भी वे असमर्थ हैं। पर कवि के मलिन हृदय में श्रीभरत-प्रेम का अनुभव भी नहीं हो सकता, तो कहेगा क्या ?- इसकी मनोवृत्ति तो अहं-मम की तरह उपमा-उपमेय की खोज में ही निमग्न रहती है, शुद्ध हृदय एवं एकाग्रता बिना श्रीभरत के प्रेम को कैसे समझे ? जिसकी अगमता के विषय में—"जहँ न जाइ मन बिधि हरि हरको।" (दो० . कहा है। तब कहना तो इसके लिये अत्यन्त ही अगम है।

सकल सनेह सिथिल रघुबर के। गये कोस दुइ दिनकर ढरके ॥१॥
जल थल देखि बसे निसि बीते। कीन्ह गवन रघुनाथ-पिरीते ॥२॥
उहाँ राम रजनी अवसेषा। जागे सीय सपन अस देखा ॥३॥
सहित समाज भरत जनु आये। नाथवियोग ताप तन ताये ॥४॥
सकल मलिनमन दीन दुखारी। देखीं सासु आन अनुहारी ॥५॥

शब्दार्थ—दिनकर ढरके = सूर्य डूबने पर। अवशेषा = अंत समय। ताये = तपे हुए। अनुहारी = आकृति।

अर्थ—सब लोग रघुवर के प्रेम से शिथिल हैं, (इसीसे) दो ही कोस चल पाये कि सूर्य डूब गये (वा, सूर्य अस्त होने पर भी दो कोस चले; क्योंकि शीघ्र दर्शनों की उत्कंठा है) ॥१॥ जल का सुपास और ठहरने के योग्य स्थल देखकर ठहर गये। रात बीतते ही श्रीरघुनाथजी के प्यारे (श्रीभरतजी) ने गमन किया अथवा, श्रीरामजी के प्रीत्यर्थ गमन किया ॥२॥ वहाँ श्रीरामजी रात के अंत में एवं कुछ रात रहने पर जागे, (श्रीसीताजी भी जागीं, उठने के पहले) श्रीसीताजी ने ऐसा स्वप्न देखा ॥३॥ (उसे वे श्रीरामजी को सुनाती हैं) कि मानों समाज-सहित श्रीभरतजी आये हैं और प्रभु (आप) की वियोगाग्नि की ताप से उनका शरीर तप्त हो रहा है ॥४॥ सब लोग उदास-मन, दीन और दुखी हैं, सासुओं की और ही आकृति (रूप में) देखी; अर्थात् न कहने योग्य विधवा-रूप में देखा ॥५॥

विशेष—(१) 'गये कोस दुइ···'—दिन भर में दो ही कोस चल पाये, कारण पूर्वार्द्ध में दिया गया है कि स्नेह में मतवाले हैं, अंग ढीले पड़ गये हैं, पाँव डगमगाते हैं, वा, उत्कंठावश रात में भी दो कोस चले। इसीलिये राम-सखा ने गिरिवर दिखाकर उत्साहित किया है। 'जल थल देखि' अर्थात् यहाँ भोजन भी नहीं किया, केवल जल-थल ही मात्र से सम्बन्ध रहा, (यहाँ तक श्रीभरतजी के नौ मुकाम हुए)।

(२) 'उहाँ राम रजनी···'—कवि जहाँ एक ही समय में दो जगह दो बातें लिखते हैं, वहाँ 'इहाँ उहाँ' प्रायः लिखते हैं। 'उहाँ' शब्द से कवि ने अपनी स्थिति भागवत-शिरोमणि श्रीभरतजी की तरफ जनाई, इस तरफ को फिर 'इहाँ' कहेंगे ; यथा—"इहाँ भरत सब सहित सहाये।···" (दो० २२१); पहले श्रीरामजी के चित्रकूट-निवास तक का वर्णन करके उस प्रसंग को—"येहि बिधि प्रभु बन बसहिं सुखारी।··" (दो० १४१); पर छोड़ दिया ; फिर इधर श्रीभरतजी के सम्बन्ध की कथा कहने लगे। अभी तक इसीमें थे, इससे भी यहाँ से वहाँ का वर्णन करते हैं ; क्योंकि वहाँ के स्वप्न की बातें कहकर फिर इधर के ही वर्णन में लगना है।

'रजनी अवसेषा' अर्थात् ब्राह्ममुहूर्त्त में ; यथा—"प्रातपुनीत काल प्रभुजागे। अरुणचूड़वर बोलन लागे॥" (बा० दो० ३५०) श्रीसीताजी चिद्रूपा हैं, इन्हें अन्य प्राकृतों की तरह का स्वप्न नहीं हुआ, किंतु ये तो ज्यों-की-त्यों सब पाती हैं, निरावरण देखती हुई की तरह कह रही हैं। माधुर्य-दृष्टि में इसे स्वप्न कहा गया है। ये जगज्जननी हैं, पुत्रवत् श्रीभरतजी पर चित्त-वृत्ति लगी रही, इसीसे वहाँ का समाचार सब कह रही हैं।

(३) 'नाथवियोग'—हे नाथ ! आपके वियोग में, वा श्रीभरतजी (निज) नाथ के···। 'आन अनुहारी'—जैसे देख आई हैं, उससे दूसरी तरह अर्थात् विधवा-रूप में। अपने प्रिय-वर्ग के विषय में

अमंगल शब्द जिह्वा से न कहकर 'आन' इस संकेत से काम लिया है ; यथा—"एक बार कैसेहुँ सुधि जानउँ। कालहु जीति···" (कि० दो० १०); (इसमें 'कैसेहुँ' से मरण का अर्थ है, पर गुप्त रीति से कहा गया है)।

सुनि सियसपन भरे जल लोचन । भये सोचबस सोचबिमोचन ॥६॥
लखन सपन यह नीक न होई । कठिन कुचाह सुनाइहि कोई ॥७॥
अस कहि बंधुसमेत नहाने । पूजि पुरारि साधु सनमाने ॥८॥

छंद—सनमानि सुर मुनि बंदि बैठे उतर दिसि देखत भये ।
नभ धूरि खग मृग भूरि भागे बिकल प्रभु आश्रम गये ॥
तुलसी उठे अवलोकि कारन काह चित सचकित रहे ।
सब समाचार किरात कोलन्हि आइ तेहि अवसर कहे ॥

सो०—सुनत सुमंगल बयन, मन प्रमोद तन पुलक भर ।
सरदसरोरुह नयन, तुलसी भरे सनेह जल ॥२२६॥

शब्दार्थ—कुचाह = अशुभ समाचार; यथा —"जातुधान तिय जानि बियोगिनि दुखइ सोच सुनाइ कुचाहैं ॥" (गी० ५० १६) सचकित = आश्चर्यान्वित ।

अर्थ—श्रीसीताजी का यह स्वप्न सुनकर नेत्रों में जलभर आया और जगत्-भर के शोच के छुड़ानेवाले प्रभु शोच के वश हो गये ॥६॥ (और बोले —) हे श्रीलक्ष्मणजी ! यह स्वप्न अच्छा न होगा, कोई अत्यन्त अशुभ समाचार सुनावेगा ॥७॥ ऐसा कहकर भाई के साथ स्नान किया और त्रिपुर के शत्रु श्रीशिवजी का पूजन करके साधुओं का सम्मान किया ॥८॥ देवताओं का सम्मान और मुनियों की वन्दना करके बैठे, तब उत्तर दिशा की ओर देखा कि आकाश में धूल छा गई है, पक्षियों और पशुओं के समूह व्याकुल होकर भागे और प्रभु के आश्रम को गये ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि यह देखकर प्रभु उठ खड़े हुए, क्या कारण है ? (ऐसा विचारते ही) चित्त में आश्चर्यान्वित हो गये । उसी समय कोल-किरातों ने आकर सब समाचार कहे ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि सुंदर मंगल-वचन सुनते ही मन में बहुत आनन्द हुआ, शरीर में पुलकावली छा गई और शरद् ऋतु के कमल के सदृश आँखों में स्नेह से आँसू भर गये ॥२२६॥

विशेष—(१) 'भये सोचबस···'—शोच मानसी विकार है, इससे श्रीरामजी के प्राकृत होने की शंका होती, इसलिये साथ ही 'सोच बिमोचन' पद भी लिखा गया । जैसे —"बाहिज चिंता कीन्ह बिसेषी ।" (आ० दो० २१) ; में 'बाहिज' पद से किया है ।

(२) 'कठिन कुचाह'–पिता की मृत्यु के सम्बन्ध में गमी (शोक की अवस्था) का सूचक है । भयानक स्वप्न देखकर विघ्न-शान्ति का उपाय करना चाहिये , यथा—"देखहिं राति भयानक सपना ।···विप्र जेवाइ

बेहिं दिन दाना। सिव अभिषेक करहिं बिधि नाना ॥" (दो० १५१); वैसे यहाँ भी—'पूजि पुरारि साधु सनमाने।' कहा गया है। यहाँ वन है; अतः, विप्र की जगह साधु हैं। श्रीशिवजी त्रिपुर के घातक हैं; अतः, विघ्नों का नाश करें—यह अभिप्राय है। 'बंधु समेत' अर्थात् नित्य ही साथ स्नान करते हैं।

(३) 'उतर दिसि देखत भये'—श्रीभरतजी और श्रीअवधवासियों के विषय में स्वप्न हुए थे; अतः, स्वभावतः उधर ही दृष्टि गई। 'प्रभु आश्रम गये'—प्रभु पशु-पक्षियों के भी रक्षक हैं, तभी तो वे घबड़ाकर प्रभु के आश्रम को आये। 'हित अनहित पसु पच्छिउ जाना।" (दो० २६२); यह उक्ति यहाँ चरितार्थ है।

(४) 'सब समाचार किरात कोलन्हि '—इन लोगों ने कहा था—"हम सब भाँति करबि सेवकाई।" (दो० १३५); वह भी यहाँ चरितार्थ हुआ कि श्रीभरतजी समाज-सहित आ रहे हैं; इसे सावधानी से जानकर प्रथम ही आ सुनाया।

(५) 'सुनत सुमंगल बयन'—श्रीभरतजी का आगमन आप चाहते थे; यथा—"पुलकि सप्रेम परसपर कहहीं। भरत आगमन सूचक अहहीं॥ भये बहुत दिन अति अवसेरी। " (दो० ६); अतएव उनके आगमन-सूचक वचन सुंदर मांगलिक लगे कि परम प्यारे भाई आ रहे हैं, पुलक आदि पूर्णप्रेम के लक्षण प्रकट हो आये, यह भक्तों पर अपनी प्रीति दिखाई।

बहुरि सोच-बस भे सियरमनू। कारन कवन भरतआगमनू ॥१॥
एक आइ अस कहा बहोरी। सेन संग चतुरंग न थोरी ॥२॥
सो सुनि रामहि भा अति सोचू। इत पितुबच इत बंधुसँकोचू ॥३॥
भरत सुभाव समुझि मन माहीं। प्रभु चितहित थिति पावत नाहीं ॥४॥
समाधान तब भा यह जाने। भरत कहे महँ साधु सयाने ॥५॥

(२) 'सो सुनि रामहि भा अति सोचू।'—साथ में भारी सेना भी आ रही है, इसपर सोच अत्यन्त हो गया, इसका कारण स्वयं कवि लिखते हैं—'इत पितु बच इत बंधु सँकोचू।'—अर्थात् सेना सहित आना सुनकर और शंकाएँ न रह गईं। यह समझा कि राज्य में कोई विघ्न होता, तो सेना वहीं रक्षा के लिये रहती। अयोध्या की क्षेम-कुशल निश्चय है, अब यह भी निश्चय हुआ कि राज्य देने का समारोह करके और इस तरह मेरा वन भेजा जाना सुन बहुतों के समक्ष में मेरा अपमान होना विचारकर समारोह से ही मुझे प्रसन्न करने, मनाने एवं राज्य देने को ही आ रहे हैं। सेना-समेत राज्य सौंपने आ रहे हैं; यथा—"अम्बां च कैकयीं रुष्य भरतश्चाप्रियं वदन्। प्रसाद्य पितरं श्रीमान्राज्यं मे दातुमागतः ॥" (वाल्मी० २।९०।१२); अब सोचते हैं कि इधर तो पिता का वचन पालन करने के लिये १४ वर्ष पर्यंत वनवास करने की मेरी प्रतिज्ञा है और इधर बंधु श्रीभरतजी का संकोच है कि जब वे लौटाने की स्नेहपूर्ण हठ करेंगे तो कैसे निष्ठुर उत्तर दिया जायगा? 'रामहि भा अति सोचू'—सोच सम्बन्ध में 'राम' शब्द देकर कवि ने श्रीरामजी के इस शोच को भी एक क्रीड़ा बनाया। 'इत, इत'—इसका मुहावरा 'इत, उत' का है, पर दोनों ओर 'इत' ही कहा गया है, भाव यह कि मुझे पिता के आज्ञा-पालन के तुल्य ही बंधु-संकोच भी है। दोनों में कोई त्याज्य नहीं है। 'पितुबच' में इस समय आरूढ़ हैं, इससे प्रथम कहा गया है और इसके साथ 'इत' कहना स्वाभाविक था, पर 'बंधु-संकोचू' के साथ भी 'उत' न देकर 'इत' ही कहा गया एवं इधर 'बच' अपूर्ण पद और उधर 'सँकोचू' पूरा एवं बड़ा पद देकर कवि जनाते हैं कि प्रभु, पिता के आज्ञा-पालन-रूप सामान्य धर्म की अपेक्षा भक्ति-पक्ष को विशेष गौरव देंगे; यथा—"तासु बचन मेटत मन सोचू। तेहि तें अधिक तुम्हार सँकोचू ॥" (दो० २६१)

(३) 'भरतसुभाव समुझि···'—श्रीभरतजी का शील स्वभाव; यथा—"महूँ सनेह सकोच बस, सनमुख कहे न बयन।···" (दो० २६०); "हारे हरष होत हिय भरतहिं जिते सकुच सिर नयन नये।" (गी० बा० ७२); शील-गुण में विशेष वशकारिता होती है, अतः श्रीभरतजी का वश हो जाना सहज है।

(४) 'भरत कहे महँ साधु सयाने।'—अर्थात् वे जो हम कहेंगे, वही करेंगे, साधु हैं 'पराये कार्य के साधक हैं, उनसे किसी के भी कार्य की हानि न होगी; यथा—"साधु ते होइ न कारज हानी ॥" (सुं० दो० ५); सयाने हैं, अतः जिसमें हमारा धर्म रहे, वही करेंगे; यथा—"जो सेवक साहिबहिं सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची ॥" (दो० २६०) इत्यादि धर्म की व्यवस्था जानते हैं।

लखन लखेउ प्रभु हृदय खँभारू। कहत समयसम नीति बिचारू ॥६॥
बिनु पूछे कछु कहउँ गोसाईं। सेवकसमय न ढीठ ढिठाई ॥७॥
तुम्ह सर्बज्ञ सिरोमनि स्वामी। आपनि समुझि कहउँ अनुगामी ॥८॥

दोहा—नाथ सुहृद सुठि सरल चित, सील-सनेह-निधान।
सब पर प्रीति प्रतीति जिय, जानिय आप समान ॥२२७॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी ने लख लिया कि प्रभु के हृदय में खँभार (क्षोभ, खलबली) है, तब वे समय के अनुसार नीति के विचार कहने लगे ॥६॥ हे गोस्वामी! आपके बिना पूछे ही मैं कुछ कहता हूँ,

देहिं दिन दाना। सिव अभिषेक करहिं बिधि नाना ॥" (दो० १५१); वैसे यहाँ भी—'पूजि पुरारि साधु सनमाने।' कहा गया है। यहाँ वन है; अतः, विप्र की जगह साधु हैं। श्रीशिवजी त्रिपुर के घातक हैं; अतः, विघ्नों का नाश करें—यह अभिप्राय है। 'बंधु समेत' अर्थात् नित्य ही साथ स्नान करते हैं।

(३) 'उतर दिसि देखत भये'—श्रीभरतजी और श्रीअवधवासियों के विषय में स्वप्न हुए थे; अतः, स्वभावतः उधर ही दृष्टि गई। 'प्रभु आश्रम गये'—प्रभु पशु-पक्षियों के भी रक्षक हैं, तभी तो वे घबड़ाकर प्रभु के आश्रम को आये। 'हित अनहित पसु पच्छिउ जाना।" (दो० २६३); यह उक्ति यहाँ चरितार्थ है।

(४) 'सब समाचार किरात कोलन्हि'—इन लोगों ने कहा था—"हम सब भाँति करनि सेवकाई।" (दो० १३५); यह भी यहाँ चरितार्थ हुआ कि श्रीभरतजी समाज-सहित आ रहे हैं; इसे सावधानी से जानकर प्रथम ही आ सुनाया।

(५) 'सुनत सुमंगल बयन'—श्रीभरतजी का आगमन आप चाहते थे; यथा—"पुलकि सप्रेम परसपर कहहीं। भरत आगमन सूचक अहहीं॥ भये बहुत दिन अति अवसेरी।" (दो० ६); अतएव उनके आगमन-सूचक वचन सुंदर मांगलिक लगे कि परम प्यारे भाई आ रहे हैं, पुलक आदि पूर्णप्रेम के लक्षण प्रकट हो आये, यह भक्तों पर अपनी प्रीति दिखाई।

बहुरि सोच-बस भे सियरमनू। कारन कवन भरतआगमनू ॥१॥
एक आइ अस कहा बहोरी। सेन संग चतुरंग न थोरी ॥२॥
सो सुनि रामहि भा अति सोचू। इत पितुबच इत बंधुसँकोचू ॥३॥
भरत सुभाव समुझि मन माहीं। प्रभु चितहित थिति पावत नाहीं ॥४॥
समाधान तब भा यह जाने। भरत कहे महँ साधु सयाने ॥५॥

अर्थ—फिर श्रीसीतापति श्रीरामजी शोच के वश हो गये कि श्रीभरतजी के आने का क्या कारण है? ॥१॥ फिर एक ने आकर कहा कि उनके साथ बड़ी भारी चतुरंगिणी सेना है ॥२॥ यह सुनकर श्रीरामजी को अत्यन्त शोच हुआ, इधर तो पिता के वचन और इधर भाई श्रीभरतजी का संकोच ॥३॥ मन में श्रीभरतजी का स्वभाव समझकर प्रभु का चित्त अपने हित पर स्थिति नहीं पाता, अर्थात् यह निश्चय नहीं होता कि मैं आगे वन जाकर अपना अभीष्ट भूभारहरण करने पाऊँगा ॥४॥ तब यह जानने पर चित्त को सान्त्वना मिली कि श्रीभरतजी हमारे आज्ञाकारी, साधु एवं चतुर हैं। (अतः, मेरे अभीष्ट के बाधक न होंगे) ॥५॥

विशेष—(१) 'सियरमनू'—'सिय' शब्द माधुर्य बोधक और 'रमनू' रमण क्रीड़ा-सूचक है; अर्थात् यह आपकी माधुर्य लीला है, अन्यथा इन्हें शोच कैसा? 'कारन कवन'—इसपर कई कल्पनाएँ हैं—(क) क्या श्रीभरतजी के राज्य पाने में तो कोई विघ्न नहीं हुआ, हमारी माता या प्रजा बिगड़ गई हो, या श्रीशत्रुघ्न से कुछ भेद पड़ गया हो। (ख) बीच पाकर कोई शत्रु तो नहीं आ गया, जैसा संदेह—"नृप सुधि कतहुँ कहेहु जनि जाई।" (दो० १५६), इस गुरु-वचन में गर्भित है। (ग) हमारे वनवास पर दुखी होकर हमें लौटाने के लिये तो नहीं आते हैं; यथा—"अथवा नौ ध्रुवं मन्ये मन्यमानः सुखोचितौ। वनवासमनुध्याय गृहाय प्रतिनेष्यति॥" (वाल्मी०, २।९७।२२)।

(२) 'सो सुनि रामहिं भा अति सोचू।'— साथ में भारी सेना भी आ रही है, इसपर सोच अत्यन्त हो गया, इसका कारण स्वयं कवि लिखते हैं—'इत पितु बच इत बंधु सँकोचू।'—अर्थात् सेना सहित आना सुनकर और शंकाएँ न रह गई। यह समझा कि राज्य में कोई विघ्न होता, तो सेना वहीं रक्षा के लिये रहती। अयोध्या की क्षेम-कुशल निश्चय है, अब यह भी निश्चय हुआ कि राज्य देने का समारोह करके और इस तरह मेरा वन भेजा जाना सुन बहुतों के समक्ष में मेरा अपमान होना विचारकर समारोह से ही मुझे प्रसन्न करने, मनाने एवं राज्य देने को ही आ रहे हैं। सेना-समेत राज्य सौंपने आ रहे हैं; यथा—"अस्मां च कैकयीं रुष्य भरतश्चाप्रियं वदन्। प्रसाद्य पितरं श्रीमान्राज्यं मे दातुमागतः ॥" (वाल्मी॰ २।१०।१२); अब सोचते हैं कि इधर तो पिता का वचन पालन करने के लिये १४ वर्ष पर्यंत वनवास करने की मेरी प्रतिज्ञा है और इधर बंधु श्रीभरतजी का संकोच है कि जब वे लौटाने की स्नेहपूर्ण हठ करेंगे तो कैसे निष्ठुर उत्तर दिया जायगा ? 'रामहि भा अति सोचू'— सोच सम्बन्ध में 'राम' शब्द देकर कवि ने श्रीरामजी के इस शोच को भी एक क्रीड़ा जनाया। 'इत, इत'—इसका मुहावरा 'इत, उत' का है, पर दोनों ओर 'इत' ही कहा गया है, भाव यह कि मुझे पिता के आज्ञा-पालन के तुल्य ही बंधु-संकोच भी है। दोनों में कोई त्याज्य नहीं है। 'पितुबच' में इस समय आरूढ़ हैं, इससे प्रथम कहा गया है और इसके साथ 'इत' कहना स्वाभाविक था, पर 'बंधु-संकोचू' के साथ भी 'उत' न देकर 'इत' ही कहा गया एवं इधर 'बच' अपूर्ण पद और उधर 'सँकोचू' पूरा एवं बड़ा पद देकर कवि जनाते हैं कि प्रभु, पिता के आज्ञा-पालन-रूप सामान्य धर्म की अपेक्षा भक्ति-पक्ष को विशेष गौरव देंगे; यथा—"तासु बचन मेटत मन सोचू। तेहि ते अधिक तुम्हार सँकोचू ॥" (दो॰ २६१)

(३) 'भरतसुभाव समुझि···'— श्रीभरतजी का शील स्वभाव; यथा—"महूँ सनेह सकोच बस, सनमुख कहे न बयन।···" (दो॰ २६०); "हारे हरष होत हिय भरतहिं जिते सकुच सिरनयन नये।" (गी॰ बा॰ ४३); शील-गुण में विशेष वशाकारिता होती है, अतः श्रीभरतजी का वश-हो जाना सहज है।

(४) 'भरत कहे महँ साधु सयाने।'— अर्थात् वे जो हम कहेंगे, वही करेंगे, साधु हैं 'पराये कार्य के साधक हैं, उनसे किसी के भी कार्य की हानि न होगी; यथा—"साधु ते होइ न कारज हानी ॥" (सुं॰ दो॰ ५); सयाने हैं, अतः जिसमें हमारा धर्म रहे, वही करेंगे; यथा—"जो सेवक साहिबहिं सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची ॥" (दो॰ २६०) इत्यादि धर्म की व्यवस्था जानते हैं।

लखन लखेउ प्रभु हृदय खँभारू। कहत समयसम नीति बिचारू ॥६॥
बिनु पूछे कछु कहउँ गोसाईं। सेवकसमय न ढीठ ढिठाई ॥७॥
तुम्ह सर्बज्ञ सिरोमनि स्वामी। आपनि समुझि कहउँ अनुगामी ॥८॥

दोहा—नाथ सुहृद सुठि सरल चित, सील-सनेह-निधान।
सब पर प्रीति प्रतीति जिय, जानिय आप समान ॥२२७॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी ने लख लिया कि प्रभु के हृदय में खँभार (क्षोभ, खलबली) है, तब वे समय के अनुसार नीति के विचार कहने लगे ॥६॥ हे गोस्वामी ! आपके बिना पूछे ही मैं कुछ कहता हूँ,

प्रभु (आप) के चरणों में उनका प्रेम है यह सारा जगत् जानता है ॥२॥ वे भी आज राज्य-पद पाकर धर्म की मर्यादा को मिटाकर चले हैं ॥३॥ कुटिल, खोटे भाई (भरत) बुरा अवसर देखकर और यह जानकर कि श्रीरामजी वन में बसते हुए अकेले हैं ॥४॥ खोटा विचार करके समाज सजाकर राज्य को अकंटक (शत्रु-रूपी काँटा-रहित) करने आये हैं ॥५॥ (यद्यपि आपको राज्य की चाह नहीं है, तथापि) वे करोड़ों प्रकार की कुटिलता की कल्पनाएँ करके सेना एकत्र कर दोनों भाई आये हैं ॥६॥ जो इनके हृदय में कपट और कुचाल न होती, तो रथों, घोड़ों और हाथियों का समूह किसे अच्छा लगता ? अर्थात् शुद्ध हृदय वाला आप वनवासी के समक्ष में इस ठाट-बाट से न आता ॥७॥

विशेष—(१) 'विषयी जीव पाइ ···'—जीव तीन प्रकार के होते हैं; यथा—"विषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिविध जीव जग वेद बखाने॥" (दो० २७६); इन तीनों में श्रीभरतजी विषयी हैं, तभी तो वे मूढ़ता और मोहवश होकर अपनी प्रभुता को जनाया चाहते हैं।

(२) 'भरत नीतिरत साधु···'—वे उत्तम नीति को जानते थे। साधु अर्थात् सूधे-स्वभाव और सदाचारी थे, सुजान अर्थात् उनका व्यावहारिक ज्ञान भी अच्छा था। 'धरममरजाद मिटाई' यथा—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥" (दो० १४); इस धर्म से उन्हें आपको राज्य देकर सेवा करनी चाहिये थी।

(३) 'कुटिल कुबंधु कुअवसर···'—नीति और साधुता छोड़कर कुटिल हो गये। राम-पद-प्रेम छोड़कर कुबंधु हो गये और यह कुअवसर देखा कि श्रीरामजी अकेले ही तो हैं और वन में बसते हैं, तो यहाँ उनका कोई सहायक नहीं है।

(४) 'आये करइ अकंटक राजू'—सोचा होगा कि चौदह वर्ष पर लौटकर श्रीरामजी कहीं हमारा राज्य-पद छीन न लें, अतएव श्रीरामजी हमारे लिये काँटा हैं, तो इन्हें जड़ से ही क्यों न उखाड़ डालें, अर्थात् इन्हें मारकर निश्चिन्त हो जायँ।

(५) 'कोटिप्रकार कलपि कुटिलाई।'—जैसे कि अभी लोक-देखाव में पिता की आज्ञा श्रीरामजी ने मान ली है, पीछे सोच-समझकर ईर्ष्या करेंगे, तो कसर निकालेंगे। ज्येष्ठ हैं, बली एवं शस्त्रास्त्र निपुण हैं और प्रजा उन्हें चाहती भी है, तो वन में तप से और भी बली हो जायँगे, फिर आकर प्रजा को मिला लेंगे और हमें निकाल देंगे, या कैद कर लेंगे इत्यादि। 'दोउ भाई'—श्रीशत्रुघ्नजी का तो नाम भी नहीं लेते, क्योंकि उन्हें श्रीराम-विरोधी का साथी माने हुए हैं, नहीं तो वे फूटकर इधर आ गये होते।

(६) 'जौं जिय होति न···'—कपट-कुचाल होने का प्रमाण देते हैं कि विरह में ठाट-बाट किसी को नहीं सुहाता, उनका श्रीरामजी में प्रेम होता तो दुखी होते और पैदल आते।

भरतहि दोष देइ को जाये। जग बौराइ राजपद पाये ॥८॥

दोहा—ससि गुरु-तियगामी नहुष, चढ़ेउ भूमि सुर-जान।
लोकबेद ते बिमुख भा, अधम न वेन-समान ॥२२८॥

सहसबाहु सुरनाथ त्रिसंकू। केहि न राजमद दीन्ह कलंकू ॥१॥

अर्थ—श्रीभरतजी को व्यर्थ ही दोष कौन दे ? राज्य-पद पाकर संसार हो बावला (उन्मत्त, मदांध) -

सेवक कोई समय (पड़ने) पर ढीठ हो तो वह ढिठाई नहीं है ; अर्थात् कहने का अवसर आ पड़ा है, अतः, मेरी ढिठाई क्षमा हो ॥७॥ हे स्वामी ! आप सर्वज्ञों में शिरोमणि हैं (अतः सब यथार्थ जानते ही हैं) पर मैं आपका अनुचर अपनी समझ (के अनुसार) कहता हूँ ॥८॥ हे नाथ ! आप अतिशय सुहृदय, अत्यन्त सरल-चित्त, शील और स्नेह के समुद्र हैं, सबपर आपकी प्रीति और प्रतीति है और हृदय में अपने ही समान सबको जानते हैं ॥२२७॥

विशेष—(१) 'लखन लखेउ प्रभु'''श्रीलक्ष्मणजी ने यहाँ यथार्थ न लख पाया, क्योंकि ये नित्य जीव हैं, इनकी सर्वज्ञता परिमित है और ये ईश्वर-सापेक्ष हैं। लीला के अनुरोध से यहाँ श्रीरामजी ने श्रीभरतजी का मर्म इन्हें नहीं जनाया, श्रीभरतजी की महिमा अमित है; यथा—"भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिं राम न सकहिं बखानी ॥" (दो० २८८) ; तब श्रीलक्ष्मणजी का न जानना कोई आश्चर्य की बात नहीं। अपनी लीला का भेद प्रभु स्वयं जनावें, तो कोई भी जाने ; यथा—"सो जानइ जेहि देहु जनाई।" (दो० १२६); इसी तरह इन्होंने श्रीरामजी की 'ललित नर लीला' के भेद को भी नहीं जाना ; यथा—, लछिमनहूँ यह मरम न जाना।" (आ० दो० २४) ; श्रीरामजी इस लीला से श्रीभरतजी की महिमा को प्रकट करना चाहते थे, इसीसे श्रीलक्ष्मणजी को न जनाया।

(२) चरित भी भ्रमात्मक था ही, जैसा एक ने आकर कहा—"सेनसंग चतुरंग न थोरी।" वैसे ही प्रभु को खलबली हुई। श्रीलक्ष्मणजी ने इतना ही लख पाया, फिर समाधान होना न जाना। किन्तु यही जाना कि प्रभु इस बात पर क्षुभित हुए कि इतनी बड़ी सेना से लड़ना पड़ेगा, वा, सब अपने ही हैं इनसे युद्ध कैसे करेंगे ? इत्यादि। इसीसे अपनी योग्य सेवा के लिये सन्नद्ध हो गये। ये प्रभु के किंचित् भी क्षोभ को नहीं सह सकते। प्रभु के लिये इन्होंने श्रीजनकजी, श्रीपरशुरामजी एवं पिताजी के प्रति क्रोध किया है, तो श्रीभरतजी पर क्रोध करने में क्या आश्चर्य ?

(३) 'नाथ सुहृद सुठि'''—आप सुहृद हैं , इसीसे सबपर प्रीति है, सरल-चित्त होने से प्रतीति और शील-स्नेह के निधान होने से सबको अपने समान जानते हैं।

विषयी जीव पाइ प्रभुताई। मूढ़ मोहबस होहिं जनाई ॥१॥
भरत नीतिरत साधु सुजाना। प्रभु-पद-प्रेम सकल जग जाना ॥२॥
तेऊ आजु राजपद पाई। चले धरम मरजाद मिटाई ॥३॥
कुटिल कुबंधु कुअवसर ताकी। जानि राम बनवास एकाकी ॥४॥
करि कुमंत्र मन साजि समाजू। आये करइ अकंटक राजू ॥५॥
कोटिप्रकार कलपि कुटिलाई। आये दल बटोरि दोउ भाई ॥६॥
जौं जिय होति न कपट कुचाली। केहि सोहाति रथ-बाजि गजाली ॥७॥

शब्दार्थ—एकाकी = अकेला। गजाली = गज + आली = हाथियों की श्रेणी।

अर्थ—मूर्ख विषयी प्राणी प्रभुता पाकर मोहवश उस प्रभुता को लिये हुए प्रकट हो जाते हैं। अर्थात् उनका वह अभिमान प्रकट देखने में आता है ॥१॥ श्रीभरतजी नीति परायण, साधु और सुजान हैं,

प्रभु (आप) के चरणों में उनका प्रेम है यह सारा जगत् जानता है ॥२॥ वे भी आज राज्य-पद पाकर धर्म की मर्यादा को मिटाकर चले हैं ॥३॥ कुटिल, खोटे भाई (भरत) बुरा अवसर देखकर और यह जानकर कि श्रीरामजी वन में बसते हुए अकेले हैं ॥४॥ खोटा विचार करके समाज सजाकर राज्य को अकंटक (शत्रु-रूपी काँटा-रहित) करने आये हैं ॥५॥ (यद्यपि आपको राज्य की चाह नहीं है, तथापि) वे करोड़ों प्रकार की कुटिलता की कल्पनाएँ करके सेना एकत्र कर दोनों भाई आये हैं ॥६॥ जो इनके हृदय में कपट और कुचाल न होती, तो रथों, घोड़ों और हाथियों का समूह किसे अच्छा लगता ? अर्थात् शुद्ध हृदय वाला आप वनवासी के समक्ष में इस ठाट-बाट से न आता ॥७॥

विशेष—(१) 'विषयी जीव पाइ ···'—जीव तीन प्रकार के होते हैं; यथा—"विषई साधक सिद्ध सयाने । त्रिविध जीव जग वेद बखाने ॥" (दो० २०६); इन तीनों में श्रीभरतजी विषयी हैं, तभी तो वे मूढ़ता और मोहवश होकर अपनी प्रभुता को बनाया चाहते हैं।

(२) 'भरत नीतिरत साधु···'—वे उत्तम नीति को जानते थे। साधु अर्थात् सुधे-स्वभाव और सदाचारी थे, सुजान अर्थात् उनका व्यावहारिक ज्ञान भी अच्छा था। 'धरममरजाद मिटाई' यथा—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई । यह दिनकर कुल रीति सुहाई ॥" (दो० १४); इस धर्म से उन्हें आपको राज्य देकर सेवा करनी चाहिये थी।

(३) 'कुटिल कुबंधु कुअवसर···'—नीति और साधुता छोड़कर कुटिल हो गये। राम-पद-प्रेम छोड़कर कुबंधु हो गये और यह कुअवसर देखा कि श्रीरामजी अकेले ही तो हैं और वन में बसते हैं, तो यहाँ उनका कोई सहायक नहीं है।

(४) 'आये करइ अकंटक राजू'—सोचा होगा कि चौदह वर्ष पर लौटकर श्रीरामजी कहीं हमारा राज्य-पद छीन न लें, अतएव श्रीरामजी हमारे लिये काँटा हैं, तो इन्हें जड़ से ही क्यों न उखाड़ डालें, अर्थात् इन्हें मारकर निश्चिन्त हो जायँ।

(५) 'कोटिप्रकार कलपि कुटिलाई।'—जैसे कि अभी लोक-देखाव में पिता की आज्ञा श्रीरामजी ने मान ली है, पीछे सोच-समझकर ईर्ष्या करेंगे, तो कसर निकालेंगे। ज्येष्ठ हैं, बली एवं शस्त्रास्त्र निपुण हैं और प्रजा उन्हें चाहती भी है, तो वन में तप से और भी बली हो जायँगे, फिर आकर प्रजा को मिला लेंगे और हमें निकाल देंगे, या कैद कर लेंगे इत्यादि। 'दोउ भाई'—श्रीशत्रुघ्नजी का तो नाम भी नहीं लेते, क्योंकि उन्हें श्रीराम-विरोधी का साथी माने हुए हैं, नहीं तो वे फूटकर इधर आ गये होते।

(६) 'जौं जिय होति न···'—कपट कुचाल होने का प्रमाण देते हैं कि विरह में ठाट-बाट किसी को नहीं सुहाता, उनका श्रीरामजी में प्रेम होता तो दुखी होते और पैदल आते।

भरतहि दोष देइ को जाये। जग बौराइ राजपद पाये ॥८॥

दोहा—ससि गुरु-तियगामी नहुष, चढ़ेउ भूमि सुर-जान ।
लोकवेद ते बिमुख भा, अधम न वेन-समान ॥२२८॥

सहसबाहु सुरनाथ त्रिसंकू। केहि न राजमद दीन्ह कलंकू ॥१॥

अर्थ—श्रीभरतजी को व्यर्थ ही दोष कौन दे ? राज्य-पद पाकर संसार ही बावला (उन्मत्त, मदांध)-

हो जाता है ॥८॥ (जैसे कि) चन्द्रमा गुरु-स्त्री-गामी हुआ, नहुष ब्राह्मणों को सवारी ढोने में लगाकर उस सवारी पर चढ़ा और वेणु लोक-वेद दोनों से विमुख हुआ; अर्थात् इसने दोनों को नहीं माना, अतः इसके समान कोई अधम नहीं हुआ ॥२२८॥ सहस्रबाहु, इन्द्र और त्रिशंकु आदि किस-किस को राज-मद ने कलंक नहीं दिया; अर्थात् ये सभी कलंकित हुए ॥१॥

विशेष—(१) 'जग बौराइ'—इसमें भूत-पूर्व जगत् के प्रधान-प्रधान छः प्रमाण दिये। इनमें सहस्रबाहु की कथा बा० दो० २७१ चौ० ८ और बा० दो० २७५ चौ० २ में, त्रिशंकु की बा० दो० ५ चौ० ८ में, इन्द्र की बा० दो० २१० में, नहुष की दो० ६१ में देखिये। चन्द्रमा—इसने एक समय राजसूय यज्ञ किया, उसमें गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा में आसक्त हो गया। गुरुजी ने इन्द्र से फिरियाद की, चन्द्रमा ने इन्द्र का भी कहना नहीं माना। तब घोर युद्ध हुआ, राक्षसों ने चन्द्रमा का साथ दिया। फिर मध्यस्थ होकर ब्रह्माजी ने बृहस्पति को तारा दिला दी। तारा के गर्भ से जो बुध पुत्र नाम का हुआ वह चन्द्रमा का ही कहलाया। राज-मद से ही चन्द्रमा ने ऐसा कुकर्म किया (भाग० ९।१४)।

(२) वेणु—ध्रुव के वंशज महात्मा अंग राजा की सुनीथा रानी से यज्ञ-द्वारा यह पुत्र हुआ। अंग साधु स्वभाव के थे, सुनीथा मृत्यु की कन्या थी। वेणु जन्म से ही नाना के अनुरूप हुआ, बड़ा निष्ठुर था। साथ के लड़कों को एवं मृग आदि को बहुत मारता था। राजा अंग सब तरह से हार गये। निदान आधी रात को घर से विरक्त होकर वन को चले गये, खोजने पर भी न मिले, ऋषियों ने इसे ही उस कुल में पाकर राजा बनाया। अब राज्यमद से यह अत्यन्त मदांध हो गया। सब धर्म-कर्म बंद करके स्वयं ईश्वर बन बैठा और कहने लगा कि ब्रह्मा आदि लोकपाल सब राजा के ही शरीर में रहते हैं, तुम सब हमें ही पूजो। मुझ यज्ञ-पुरुष को छोड़कर जार के समान दूसरे की उपासना न करो। सब मुनि ने ईश्वर की निंदा सुनकर उसपर कुपित हो गये और 'हुंकार' कर उसे मार डाला।—(भाग० स्कं० ४ अ० १३-१४)

> भरत कीन्ह यह उचित उपाऊ। रिपु रिन रंच न राखब काऊ ॥२॥
> एक कीन्हि नहिं भरत भलाई। निदरे राम जानि असहाई ॥३॥
> समुझि परहि सोउ आजु बिसेखी। समर सरोष राममुख पेखी ॥४॥
> एतना कहत नीतिरस भूला। रन-रस-बिटप पुलक मिस फूला ॥५॥

शब्दार्थ—रंच (सं० न्यञ्च) = थोड़ा-सा भी, असहाई = असहाय = जिसका कोई सहायक न हो।

अर्थ—श्रीभरतजी ने यह उचित ही उपाय किया है; क्योंकि (ऐसी नीति है कि) शत्रु और ऋण थोड़ा भी कभी शेष नहीं रखना चाहिये ॥२॥ पर श्रीभरतजी ने एक काम अच्छा नहीं किया, जो श्रीरामजी को सहाय-रहित जानकर उनका निरादर किया ॥३॥ वह भी आज उन्हें विशेषकर (खास तौर पर) समझ पड़ेगा, जब वे संग्राम में श्रीरामजी का क्रोध-पूर्ण मुख देखेंगे ॥४॥ इतना कहते ही श्रीलक्ष्मणजी नीति-रस भूल गये और (उनमें) वीर-रस-रूपी वृक्ष पुलक के बहाने फूल उठा; अर्थात् नीति-रस कहते ही कहते वीर-रस जाग्रत हो आया, उसकी पुलकावली शरीर में छा गई।

विशेष—(१) 'रिपु रिन रंच न राखब काऊ।'—ये किंचित् भी रह गये, तो फिर समय पाकर बढ़ जाते हैं, इसलिये इन्हें मिटा ही देना चाहिये; यथा—"ऋणशेषश्चाग्निशेषः शत्रुशेषस्तथैव च। पुनः पुनः प्रवर्धन्ते तस्माच्छेषं न कारयेत् ॥" (सुभाषित रत्न-भाण्डागार); यथा—"रिपु रुज पावक पाप,

प्रभु महि गनिय न छोट करि।" (आ० दो० ११); (इसमें वहाँ रिपु-रुज आदि छः कहे गये हैं, पर छोटा न गिनने में ही। और यहाँ निरशेष करने की बात है, अतः इसमें दो ही कहे गये हैं।

यहाँ श्रीरामजी स्वमात्र हैं, क्योंकि असहाय वन में हैं, राजा के सातों अंगों से रहित हैं और भरत सप्तांगपूर्ण हैं; यह भाव है।

(२) 'निदरे राम जानि असहाई।'—इन्होंने एक यही बुरा किया, जो श्रीरामजी को असहाय जाना; अर्थात् मुझ सहायक को कुछ गिना ही नहीं। यह भी भाव है कि श्रीरामजी को सहाय की अपेक्षा ही नहीं, वे तो संसार-भर के स्वयं सहायक हैं।

(३) 'समर सरोष राम मुख'''।'—कपिलदेव की सरोष-दृष्टि से साठ हजार सगर के पुत्र भस्म हो गये, वहाँ तो दृष्टि की ही बात थी, यहाँ तो समर की सरोषता से काम पड़ेगा और फिर ये तो दो ही भाई हैं।

(४) 'एतना कहत नीति रस भूला।'''—पहले क्रोध-पूर्वक नीति की बात कहते थे, तब रौद्र-रस था; यथा—'समर सरोष राम मुख''' यह कहते ही थे कि चित्तमें आया कि मुझ सेवक के रहते हुए स्वामी को युद्ध का कष्ट उठाना पड़ा, तो मेरा साथ रहना ही व्यर्थ है। बस, श्रीरामजी का रुख देखा कि मौन हैं, तो ये भी इसमें सहमत है, तब वीर-रस जाग्रत हो गया, उसका स्थायी उत्साह हो गया कि हम ही संग्राम करेंगे! 'पुलक मिस फूला'—वृक्ष फूलने से खिल जाता है, वैसे ही ये पुलक से सुशोभित हुए।

वीर-रस के देवता इन्द्र हैं, इसका स्थायी उत्साह है, तर्क रोमांच आदि इसके संचारी हैं, भयानक, शांत और शृंगार-रस का यह विरोधी है।

प्रभुपद बंदि सीसरज राखी। बोले सत्य सहज बल भाखी ॥६॥
अनुचित नाथ न मानब मोरा। भरत हमहिं उपचार न थोरा ॥७॥
कहँ लगि सहिय रहिय मन मारे। नाथ साथ धनु हाथ हमारे ॥८॥

दोहा—छत्रिजाति रघुकुल-जनम, रामअनुग जग जान।
लातहुँ मारे चढ़ति सिर, नीच को धूरि-समान ॥२२९॥

शब्दार्थ—उपचार=व्यवहार, प्रयोग, विधान, चिकित्सा, दवा आदि।

अर्थ—प्रभु के चरणों को प्रणाम करके और उनके चरण-रज को शिर पर धरकर अपना सच्चा और स्वाभाविक बल कहते हुए बोले ॥६॥ हे नाथ! मेरे इस कथन को अनुचित न मानियेगा, श्रीभरतजी ने हमसे थोड़ा व्यवहार नहीं किया; अर्थात् बहुत काल से बहुत बुरा व्यवहार करते आ रहे हैं ॥७॥ कहाँ तक सहा जाय? और मन को मारे (दबाये) हुए रहा जाय? हे नाथ! एक तो स्वामी (आप) का साथ और दूसरा हमारे हाथ में धनुष है ॥८॥ क्षत्रिय जाति में, (उसपर भी) रघुकुल में मेरा जन्म है, फिर मैं श्रीरामजी का अनुगामी हूँ, यह जगत् जानता है, (तो कैसे सह सकूँ, देखिये) धूल के समान कौन नीच है? अर्थात् वह अत्यंत नीच है, इससे सबके चरणों के नीचे रहती है, वह भी लात मारने से शिर पर चढ़ती है, (फिर ऊँचा कोई होगा, तो अपमान कैसे सहेगा?) ॥२२९॥

विशेष—(१) 'प्रभुपद बंदि सीस रज…'—यह इनका मंगलाचरण है, चरण-रज के ही बल पर सब कुछ करेंगे। पुनः इस तरह अनुचित की क्षमा भी चाही। 'सत्य सहज बल'—ये जो कुछ कहते हैं, यह आवेशवश बढ़ाकर नहीं, किन्तु सत्य ही।

(२) 'भरत हमहि उपचार न थोरा'—श्रीभरतजी ने हमें दुःख देने के लिये वनवास कराया, इसमें अपमान और दुःख सहाया। इसमें हम ही नहीं, किन्तु स्वजनों को भी महान् कष्ट हुआ। अब भी पीछा नहीं छोड़ते, हम सहते ही आये।

(३) 'कहँ लगि सहिय…'—यदि कहिये कि हमें तापस-वेष के अनुरोध से सहना ही चाहिये, उसपर कहते हैं कि कहाँ तक सहूँ और मन मारकर रहूँ। मेरी चलती तो आप राज्य ही न छोड़ने पाते और न वन आते। पर विवश होकर वहाँ मन मारना पड़ा, अब वे यहाँ भी नहीं पीछा छोड़ते, तो वेष जो भी हो, पर हमने धनुष धारण करने का क्षात्र-धर्म तो नहीं छोड़ा है।

पूर्वोक्त—"कहहु काह उपचार" (दो० १८०); के अनुसार यहाँ के उपर्युक्त 'उपचार' का अर्थ यदि दवा, इलाज अर्थ लिया जाय, तो इस अर्द्धाली का यह अर्थ होगा कि मेरे पास श्रीभरतजी के लिये थोड़ा इलाज नहीं है; अर्थात् बहुत है। वह यह कि—आप साथ हैं और हाथों में धनुष है।

(४) 'छत्रिजाति रघुकुल……'—क्षत्रिय-जाति असहनशील होती है,। रघुकुल में जन्म है, जिसका असहनशील और निर्भीक स्वभाव ही है; यथा—"जौं रन हमहि पचारइ कोऊ। लरहिं सुखेन काल किन होऊ॥……कालहु डरहिं न रन रघुबंसी॥" (बा० दो० २८३); फिर आपका छोटा भाई हूँ, और अनुगामी हूँ। शूर के साथ कादर भी शूर हो जाता है। आपके समान शूर जगत् में नहीं है, ऐसे प्रबल स्वामी के साथ शस्त्र धारण किये हुए जो व्यक्ति शूर न भी हो उसे शत्रु से भागने में लज्जा होती है। धनुष-यज्ञ-प्रसंग एवं परशुराम-प्रसंग से जगत्-भर इस बात को जानता है।

(५) 'लातहु मारे चढ़ति सिर…'—'धूरि'को रज इस पुँल्लिंग शब्द को न कहकर यहाँ स्त्रीलिंग कहा, क्योंकि उसे अबला-रूप में बलहीन कहना है। भाव यह कि बलहीन रज भी अपमान नहीं सह सकता, तो उपर्युक्त रीति से बलवान् होते हुए मैं कैसे सहूँ?

(६) 'नीच को धूरि समान'; यथा—"रज मग परी निरादर रहई। सब कर पद प्रहार नित सहई॥" (उ० दो० १०५); जब कोई धूल पर पैर पटकता है, तो वह उड़कर उसके शिर पर जाती है। भाव यह कि अभी तक कुचलते आये, हम सहते आये, अब यहाँ भी सेना लेकर आये हैं, यही पैर पटकना है, तो अब मैं क्यों न शिर चढ़ूँ और उनके कृत्य का फल उन्हें चखाऊँ?

उठि कर जोरि रजायसु माँगा। मनहुँ बीररस सोवत जागा॥१॥
बाँधि जटा सिर कसि कटि भाथा। साजि सरासन सायकु हाथा॥२॥
आजु रामसेवक जसु लेऊँ। भरतहि समर सिखावन देऊँ॥३॥
राम-निरादर कर फलु पाई। सोवहु समर-सेज दोउ भाई॥४॥

शब्दार्थ—सिखावन = अनुचित कार्य के बुरे परिणाम कहने का यह मुहावरा है = दण्ड देना।

अर्थ—उठकर हाथ जोड़ आज्ञा माँगी—मानों वीररस सोते हुए से जग पड़ा हो॥१॥ शिर में जटाएँ बाँधकर, कमर में तरकश कसकर और धनुष पर रोदा सजकर एवं धनुष-बाण हाथों में

लेकर ॥२॥ (बोले) —आज मैं राम-सेवक होने का यश लूँ, भरतजी को युद्ध की शिक्षा दूँ (कि श्रीरामजी के विरुद्ध समरवाले की कैसी दुर्दशा होती है ?) ॥३॥ श्रीरामजी के अपमान करने का फल पाकर दोनों भाई रणभूमि-रूपी शय्या पर सोवें ॥४॥

विशेष—(१) 'उठि कर जोरि…'—अभी तक बैठे-बैठे ही कहते थे, अब रण के लिये सन्नद्ध हो गये।

(२) 'सोवहु समर-सेज…'—'सोवहु' क्रिया श्रीगोस्वामीजी की अवधी भाषा में संस्कृत के लट् (वर्त्तमान) और लोट् (विधि) दोनों लकारों में प्रयुक्त होती है। वर्त्तमान काल से यह भी जनाते हैं कि अभी से मानों वे मारे पड़े हैं। भाव यह कि जब तक मारे न जायँगे तब तक उन्हें शिक्षा न होगी। 'बीर रस सोवत जागा।'—वनवास के समय से ही शान्त-रस उदित रहा। यह नियम है कि शांत-रस के उदय में शेष आठो रस सो जाते हैं, उसके न रहने पर ही आठो रसों के विलास रहते हैं। यहाँ श्रीभरतजी को प्रतिकूल जानने पर क्रोध चढ़ा, जिससे शांत-रस चला गया और वीर-रस जाग्रत हो आया, इससे शरीर लाल हो गया।

आइ बना भल सकल समाजू। प्रगट करउँ रिस पाछिलि आजू ॥५॥
जिमि करि निकर दलइ मृगराजू। लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू ॥६॥
तैसेहि भरतहि सेन समेता। सानुज निदरि निपातउँ खेता ॥७॥
जौं सहाय कर संकर आई। तौ मारउँ रन राम-दोहाई ॥८॥

दोहा—अति सरोष माखे लखन, लखि सुनि सपथ प्रमान।
सभय लोक सब लोकपति, चाहत भभरि भगान ॥२३०॥

शब्दार्थ—आइ बना = एकत्र हुआ, आ जुटा। लवा = तीतर। भभरि = घबड़ाकर। प्रमान = सत्य।

अर्थ—सारी सामग्री अच्छी आ जुटी, पिछला क्रोध आज प्रकट करता हूँ ॥५॥ जैसे हाथियों के समूह को सिंह दल डालता है, जैसे लवा को बाज (चंगुल में) लपेट लेता है ॥६॥ वैसे ही श्रीभरत को भाई के साथ और सेना-समेत तिरस्कार करके युद्ध-भूमि में मार डालूँगा ॥७॥ जो शंकरजी भी आकर उनकी सहायता करें, तो भी श्रीराम-शपथ है, उन्हें भी (या, तो भी श्रीभरतजी को) युद्ध में मारूँगा ॥८॥ श्रीलक्ष्मणजी अत्यंत क्रोध-सहित रुष्ट हुए, यह देखकर और प्रामाणिक शपथ सुनकर सब लोक डर गये और लोक-पाल लोग घबड़ाकर (अपने-अपने लोकों से) भागना चाहते थे ॥२३०॥

विशेष—(१) 'आइ बना भल…'—सब विरोधी समाज एकत्र मालूम हो गया, नहीं तो किस-किस को कहाँ-कहाँ ढूँढ़ते ? स्वयं सब वैरी मतकर आये, दाँव लेने की सामग्री जुट गई।

'प्रगट करउँ रिसि पाछिलि आजू।'—पिछली रिस जो श्रीकैकेयीजी के कर्त्तव्य पर हुई थी, जिसका वर्णन वाल्मीकिजी ने बहुत कुछ किया है। मानस में भी पूर्व इन्होंने ही श्रीसुमंत्रजी से थोड़ा संकेत किया है, उस क्रोध को आज प्रकट करूँगा। (इससे निश्चय हुआ कि वहाँ ऐसा ही क्रोध मन में था।)

(२) 'जिमि करि निकर दलइ मृगराजू।···'—यहाँ 'सेन समेता' के लिये मृग राज का दृष्टान्त है कि अकेला ही सिंह जैसे हाथियों के समूह को नाश कर देता है, वैसे ही सम्पूर्ण सेना को मैं नाश करूँगा और जैसे बाज लवा को लपेट लेता है, वैसे ही श्रीभरतजी और श्रीशत्रुघ्नजी को लपेट लूँगा, भागने भी न पावेंगे और एक शब्द भी न बोलने पावेंगे। (बाज के झपटने पर लवा डरकर सिकुड़ जाता है, फिर चूँ भी नहीं कर पाता कि वह आकर लपेट लेता है।) बाज दोनों पंजों से दो लवों को लपेट लेता है, तो शेष भाग जाते हैं, वैसे मैं दोनों हाथों से दोनों भाइयों को पकड़ लूँगा, तो सेना भाग जायगी। इन दोनों को तो भागने भी न दूँगा। 'निदरि'—युद्ध करके मरने पर भी वीर को यश होता है, पर वे एक हथियार भी न चलाने पावेंगे, अथवा, विरथ, आदि करके भूमि में गिराकर निरादर-पूर्वक मारूँगा।

(३) 'जौं सहाय कर संकर आई'—'जौं' अर्थात् शङ्करजी आवेंगे नहीं, शायद आ गये तो फल पावेंगे। श्रीशिवजी संहारकर्त्ता काल-रूप हैं। भाव यह कि उनके पक्ष में काल भी आ जाय तो भी मैं लड़ूँगा, और उसे मारूँगा, इसकी सत्यता के लिये इष्ट की शपथ करते हैं। शपथ-द्वारा अपनेको श्रीरामजी का अनन्य और श्रीभरतजी को श्रीशिवजी के भक्त सूचित करते हैं; क्योंकि श्रीभरतजी श्रीशिवजी का भी पूजन करते हैं; यथा—"सिव अभिषेक करहिं बिधि नाना॥ माँगहिं हृदय महेस मनाई।···" (दो० १५६)।

श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामजी की ही शपथ सर्वत्र करते हैं; क्योंकि ये श्रीरामजी के अनन्य भक्त हैं। मेघनाद-वध के समय 'सत संकर' का सहाय करना कहा है और उसमें भी 'राम दोहाई' कहा है। यहाँ एक ही शंकर कहा है; क्योंकि वहाँ स्वयं श्रीरामजी ने उसके वध की आज्ञा दी थी, पर यहाँ वे अभी तक मौन हैं। यदि आज्ञा होती, तो अवश्य सत्य कर देते, क्योंकि 'सपथ प्रमान' लिखा है।

(४) 'सभय लोक सब ······'; यथा—"लखन सकोप बचन जब बोले। डगमगानि महि दिग्गज डोले॥ सकल लोक सब भूप डेराने।···" (बा० दो० २५१); सब लोकों का डरना इससे है कि इनका प्रभाव सबको विदित है; यथा—"सुनु गिरिजा क्रोधानल जासू। जारै भुवन चारि दस आसू॥" (लं० दो० ५४); इनका सबपर ऐसा आतंक है कि एक पर क्रोध करने से भी सब डर जाते हैं।

जग भयमगन गगन भइ बानी। लखन-बाहु - बल बिपुल बखानी॥१॥
तात प्रताप - प्रभाव तुम्हारा। को कहि सकइ को जाननिहारा॥२॥
अनुचित उचित काज कछु होऊ। समुझि करिय भल कह सब कोऊ॥३॥
सहसा करि पाछे पछिताहीं। कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं॥४॥

शब्दार्थ—प्रताप=आतंक, रोब। प्रभाव=वह शक्ति जिससे और लोग अधीन रहें।

अर्थ—जगत् डर में डूब गया (तब) आकाशवाणी हुई, उसने श्रीलक्ष्मणजी के बाहु-बल की बहुत प्रशंसा की॥१॥ कि हे तात! तुम्हारे प्रताप और प्रभाव को कौन कह सकता है और कौन जानने-वाला है॥२॥ परन्तु अनुचित किंवा उचित जो कुछ भी कार्य हो, उसे समझकर करना चाहिये, तभी उसे सभी भला कहते हैं॥३॥ जो सहसा (एकाएक) करके पीछे पछताते हैं, वे बुद्धिमान् नहीं हैं, ऐसा वेद और पंडित कहते हैं॥४॥

वि०—(१) 'जग भयमगन······'—संसार के डरने पर तुरत आकाशवाणी हुई कि कहीं ये जगत् का नाश ही न कर दें। 'प्रताप प्रभाव'—यथासंख्यालंकार से 'प्रताप' कौन कह सकता है और प्रभाव कौन जान सकता है? यह भाव है।

(२) 'अनुचित उचित ····'—अनुचित शब्द पहले देकर जनाया कि आप अनुचित कह रहे हैं। उचित भी साथ कहा गया, क्योंकि प्राय. ऐसा द्वन्द्व कहने का मुहावरा है—बुरा-भला, पाप पुण्य, दिन रात, प्रमाण ; यथा—"निसि दिन नहिं अवलोकहिं कोका।" (बा० दो० ८४) ; (इसमें प्रथमोक्त 'निसि' से ही तात्पर्य है)। उचित भी कहा जाय, तो उसे भी समझकर ही करने से लोग अच्छा कहते हैं। यहाँ श्रीलक्ष्मणजी स्वामि-भक्ति की दृष्टि से उचित करने को ही सन्नद्ध हैं, पर उसमें यही अनुचित है, जो समझ न लिया कि श्रीभरतजी में दोष है कि नहीं। आकाशवाणी के द्वारा रोके गये, नहीं तो जैसे सिंह और बाघ अपनी ही ओर से धावा कर बैठते हैं, वैसे ये भी श्रीभरतजी पर आक्रमण कर बैठते, तो इस सहसा कार्य से हानि और पछतावा होता।

श्रीरामजी ने स्वयं पहले न कहा, इस तरह देवताओं के द्वारा श्रीभरतजी के निरपराध होने की साक्षी दिलाई। सच्चे अनन्य भक्तों को स्वामि भक्ति श्रीलक्ष्मणजी के द्वारा प्रकट करके, और श्रीभरतजी के कीर्ति-कथन का हेतु बनाकर तब कहा। यह भी भाव है कि माधुर्य-दृष्टि के कारण श्रीलक्ष्मणजी को श्रीरामजी के कथन से एकाएक शांति न आती। श्रीलक्ष्मणजी के इस क्रोधाभिनिवेश से यह शिक्षा भी हुई कि श्रीराम विरोधी कैसा भी घनिष्ठ सम्बन्धी क्यों न हो, उससे सम्बन्ध न रखना चाहिये।

सुनि सुरबचन लखन सकुचाने। राम सीय सादर सनमाने ॥५॥
कही तात तुम्ह नीति सुहाई। सब तें कठिन राजमद भाई ॥६॥
जो अँचवत मातहिं नृप तेई। नाहिन साधु-सभा जेहिं सेई ॥७॥
सुनहु लखन भल भरत-सरीसा। बिधि-प्रपंच महँ सुना न दीसा ॥८॥

दोहा—भरतहि होइ न राजमद, बिधि-हरि-हर-पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी-सीकरनि, छीरसिंधु बिनसाइ ॥२३१॥

शब्दार्थ—अँचवत (सं० आचमन)=पान करना, पीना। बिनसाइ=विनष्ट होना, बिगड़ना। काँजी (सं० कांजिक)=एक प्रकार का खट्टा रस जो पीसी हुई राई आदि को घोलकर रखने से बनता है; इसके पड़ने से दूध तुरत फट जाता है।

अर्थ—देववाणी सुनकर श्रीलक्ष्मणजी सकुचा गये। श्रीरामजी और श्रीसीताजी ने आदर-पूर्वक उनका सम्मान किया ॥५॥ (कहा कि) हे तात! तुमने सुन्दर नीति कही है, हे भाई! राज्य मद सब (मदों) से कठिन है ॥६॥ जिसे पीकर वे ही राजा मतवाले हो जाते हैं, जिन्होंने साधु (सज्जनों की) सभा का सेवन नहीं किया है ॥७॥ हे श्रीलक्ष्मणजी, सुनो, श्रीभरतजी के समान अच्छे पुरुष को ब्रह्मा की सृष्टि में कहीं न सुना है और न देखा है ॥८॥ ब्रह्मा, विष्णु और महेश के पद पाकर भी श्रीभरतजी को राज्य-मद नहीं हो सकता (तब अयोध्या-मात्र को राज्य-प्राप्ति पर कैसे होगा?) क्या कभी काँजी के कण से क्षीर समुद्र बिगड़ सकता है? अर्थात् कभी नहीं ॥२३१॥

विशेष—(१) 'सुनि सुरबचन लखन ···'—देववाणी सच्ची ही होती है, इसी से श्रीलक्ष्मणजी तुरत सकुचा गये कि हमसे बड़ी चूक हुई। जो श्रीभरतजी के भावन एवं भक्ति की उपेक्षा की और उनपर

क्रोध करके भागवतापराध किया, जिसे प्रभु भी नहीं सहन करते। अपने परम अनन्य भक्त—जिन्होंने भक्ति के आगे अपने जीवन तक को कुछ नहीं समझा—ऐसे सरल स्वभाव श्रीलक्ष्मणजी की हार्दिक ग्लानि प्रभु से न सही गई। उन्होंने उनकी ग्लानि दूर करने के लिये आदर-पूर्वक उनका सम्मान किया, पास बैठाया और उनके उक्त वचनों को सुन्दर नीति कहकर उनकी सराहना की। 'लखन सकुचाने'; यथा—"लक्ष्मणः प्रविवेशेव स्वानि गात्राणि लज्जया।" (वाल्मी० २।९७।१८)।

(२) 'कही तात तुम्ह नीति सुहाई।' मद कई प्रकार के होते हैं; यथा—"कुल जाती वयरूप मद, ज्ञान ध्यान मद होइ। विद्याधन अष्टम मदहिं, कहत राजमद कोइ॥" इनमें राज्यमद सबसे कठिन होता है।

(३) 'जो अँचवत मातहिं···'—साधु-संग से विवेक होता है, यथा—"बिनु सत्संग विवेक न होई।" (बा० दो० २); विवेक होने से देहाभिमान निवृत्त होता है, जिससे मद आदि रह ही नहीं जाते, क्योंकि मद ऐहिक पदार्थों एवं गुणों के होते हैं, उन सबका सम्बन्ध देह से ही रहता है। कहा भी है—"साधु-संगत पाइये।···जिन्हके मिले दुख सुख समान अमानतादिक गुन भये। मद मोह लोभ बिषाद क्रोध सुबोध ते सहजहि गये॥" (वि० १३६); साधुसंग से शील-गुण भी आता है, जिससे उन्मत्तता नहीं आ पाती; यथा—"सील कि मिल बिनु बुध सेवकाई।" (उ० दो० ८९)।

(४) 'विधि-प्रपंच महँ सुना न दीसा।'—अर्थात् श्रीभरतजी इस एकपाद विभूति से परे गुणवाले हैं।

(५) 'विधि हरि हर पद पाइ। कबहुँ कि काँजी···'—उत्पत्ति, पालन और संहार के अधिकार अकेले श्रीभरतजी को ही प्राप्त हो जायँ। तब भी वह काँजी के कण के समान होगा और क्षीर समुद्र-रूपी श्रीभरतजी पर उसका कुछ प्रभाव न पड़ेगा। इस दोहे के पूर्वार्द्ध में उपमेय और उत्तरार्द्ध में उपमान कहा गया है। जैसे क्षीर समुद्र श्वेत और गंभीर है, वैसे श्रीभरतजी भी शुद्ध-सात्त्विक एवं अगाध हृदयवाले हैं।

तिमिर तरुन तरनिहि मकु गिलई। गगन मगन मकु मेघहि मिलई॥१॥
गोपद जल बूड़हिं घटजोनी। सहज छमा बरु छाड़इ छोनी॥२॥
मसक-फूँक मकु मेरु उड़ाई। होइ न नृपमद भरतहि भाई॥३॥
लखन तुम्हार सपथ पितु-आना। सुचि सुबंधु नहिं भरत-समाना॥४॥

शब्दार्थ—मगन = लीन होना, तन्मय होना। गिलई = निगल जाय। आना = शपथ।

अर्थ—अंधकार चाहे दोपहर के सूर्य को निगल जाय, आकाश (जिसमें सब समाया हुआ है, वह) चाहे मेघ में तन्मय होकर मिल जाय, (वा, चाहे आकाश में मेघों को मार्ग न मिले)॥१॥ (समुद्र पी जानेवाले) अगस्त्यजी चाहे गौ के खुर-भर जल में डूब जायँ, चाहे पृथिवी अपनी स्वाभाविक क्षमा को छोड़ दे॥२॥ मच्छड़ की फूँक से चाहे सुमेरु पर्वत उड़ जाय, परन्तु हे भाई! श्रीभरतजी को राज्य-मद नहीं हो सकता॥३॥ श्रीलक्ष्मणजी! तुम्हारी शपथ और पिता की सौगंध (करके कहता हूँ), श्रीभरतजी के समान पवित्र उत्तम भाई (कहीं) नहीं है॥४॥

विशेष—(१) 'तिमिर तरुन तरनिहि ·····'—अंधकार सूर्य के उदय के प्रथम ही से दूर हो जाता है, यथा—"उदय तासु त्रिभुवन तम भागा।" (बा० दो० २५५); "उयेउ भानु बिनु श्रम तम नासा।"

(बा० दो० १२८); उसका सूर्य के सम्मुख होना ही असंभव है। सूर्य को निगलकर पेट में रखना तो अत्यन्त ही असंभव है; ऐसा चाहे हो जाय। 'गगन मगन मकु···'—आकाश में अनन्त अवकाश है; यथा—"तुम्हहि आदि खग मसक प्रजंता। नभ उड़ाहिं नहिं पावहिं अंता॥" (उ० दो० ९०); उसी में सब ब्रह्मांड समाये हुए हैं। उसके एक अल्पांश में मेघ पड़े रहते हैं, ऐसा बड़ा आकाश चाहे मेघों में डूब जाय, (वा, अनन्त आकाश में भी मेघों को चाहे राह न मिले; क्योंकि मगन का मग न भी हो सकता है।)

(२) 'गोपद जल बूड़हिं घटजोनी'—जो अंजलि से ही समुद्र पी गये, वे गोपद जल में डूबें, यह आश्चर्य ही है। 'सहज छमा'··· '—पृथिवी का नाम ही सर्व-सहा है। क्षमा इसका स्वाभाविक गुण है। छोणी के साथ क्षमा शब्द विशेष संगत है। 'बरु' शब्द का पर्याय ही 'मकु' है-यह भी यहाँ स्पष्ट किया।

(३) 'मसक-फूँक मकु मेरु उड़ाई।'—पर्वत का नाम ही अचल है, प्रचंड वायु भी उसे नहीं उड़ा सकता। सुमेरु पर्वत तो कई लक्ष योजन ऊँचा है, उसका मच्छड़ की फूँक से उड़ना तो अत्यन्त ही असंभव है।

यहाँ 'तरुन तरनि', 'गगन', 'घट जोनी', 'छोनी' और 'मेरु' ये पाँचो क्रमशः श्रीभरतजी की उपमाएँ और 'तिमिर', 'मेघ', 'गोपद जल', 'उद्वेग' 'मसक फूँक' ये पाँचो राज्य-मद की हैं। ये पाँच दृष्टान्त पाँच तत्त्वों के हैं, जैसे कि सूर्य में तेज है, वह अग्नि का गुण है और छोणी (पृथिवी), गगन, गोपद जल, फूँक (श्वास-पवन) ये स्पष्ट हैं। इन पाँचो से सूचित किया कि ये सृष्टि के मूल हैं, ये मर्यादा छोड़ दें, तो सृष्टि ही न रह जाय। ये चाहे अपनी-अपनी मर्यादा भले ही छोड़ दें, पर श्रीभरतजी धर्म-मर्यादा नहीं छोड़ सकते। यह भी दिखाया कि ये पाँचो तत्त्वों से बड़े एवं परे हैं; अर्थात् इन पाँचो की सृष्टि से परे हैं; यथा—"बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा।" ऊपर कहा है।

छीर-सिंधु अप्राकृत है, वैसे ही श्रीभरतजी भी दिव्य हैं, यह इस छठे दृष्टान्त का तात्पर्य है। 'भरतहि होइ न राज-मद' से उपक्रम कर छः दृष्टान्तों में उसे पुष्ट कर के अंत में—'होइ न नृप मद भरतहि भाई।' पर उसका उपसंहार किया। क्योंकि श्रीलक्ष्मणजी ने राज्य-मद के लिये छः उदाहरण दिये थे—"जग बौराइ राज-पद पाये।" से उपक्रम कर—"केहि न राज-मद दीन्ह कलंकू।" पर उपसंहार किया था, उसमें—शशि, नहुष, वेणु, सहस्रबाहु, इन्द्र और त्रिशंकु इन छः के उदाहरण दिये थे। वहाँ 'जग' 'केहि न' से जगत्-भर को राज्य-मद में लिप्त कहा था। श्रीरामजी ने उसीके प्रति-उत्तर में—"बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा।" से श्रीभरतजी की निर्लेपता कहते हुए इन छः ही दृष्टान्तों से—'होइ न नृप-मद भरतहि भाई।' तक में श्रीभरतजी को अप्राकृत एवं जगत् के परे जनाया और इनका मद-राहित्य सिद्ध किया। इस तरह श्रीलक्ष्मणजी के 'जग बौराइ' को रखते हुए भी श्रीभरतजी के विषय में राज्य-मद का खंडन किया।

(४) 'लखन तुम्हार सपथ······'—उपर्युक्त बातों की पुष्टि के लिये प्रथम श्रीलक्ष्मणजी की शपथ की, फिर पिता की। शपथ और आन पर्याय शब्द हैं, फिर भी इनमें कुछ सूक्ष्म भेद है। शपथ से सूचित किया कि जो मैं झूठ कहता होऊँ, तो मुझे तुम्हारे वध का पाप हो और आन शब्द संस्कृत के आणि अर्थात् मर्यादा, सीमा और सौगंद का वाचक है; अर्थात् मुझे पिता की सत्य-धर्म-मर्यादा के उल्लंघन का दोष हो। ऐसे ही केवट प्रसंग में भी दोनों शब्द आये हैं यथा—"मोहिं राम राउरि आन दसरथ सपथ सब साँची कहउँ।" (दो० १००)। श्रीलक्ष्मणजी ने कहा था—'कुटिल कुबंधु' उसपर यहाँ—'सुचि सुबंधु'······ —— कहा है।

भरत हंस रबि - बंस - तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन-दोष-बिभागा ॥६॥
गहि गुन पय तजि अवगुन बारी। निज जस जगत कीन्हि उजियारी ॥७॥
कहत भरत - गुन - सील - सुभाऊ। प्रेम - पयोधि मगन रघुराऊ ॥८॥

शब्दार्थ—सगुन (सगुण) = शुभ गुन। खीर (क्षीर) = दूध। विभाग करना = पृथक्करण।

अर्थ—हे तात! शुभ-गुण-रूपी दूध और अवगुण-रूपी जल को मिलाकर ही विधाता जगत् को रचना करता है ॥५॥ (पर) श्रीभरत रूपी हंस ने सूर्य-वंश-रूपी तालाब में जन्म लेकर गुण और दोष को अलग-अलग कर दिया है ॥६॥ इन्होंने गुण-रूपी दूध को ग्रहण कर और अवगुण-रूपी जल को त्याग कर के अपने यश से जगत् में उजाला कर दिया है ॥७॥ श्रीभरतजी का गुण, शील और स्वभाव कहते हुए श्रीरघुनाथजी प्रेम रूपी समुद्र में मग्न हो गये ॥८॥

विशेष—(१) 'सगुन-खीर अवगुन-जल……'—यहाँ 'सगुन' में 'स' उपसर्ग 'सु' के अर्थ में है। अन्यत्र 'सह' के अर्थ में भी प्राय: हुआ करता है। 'मिलइ' का अर्थ 'मिलाकर' नहीं है, किन्तु 'मिला हुआ ही' अर्थ होगा; यथा—"भलेउ पोच सब विधि उपजाये। गनि गुन दोष वेद बिलगाये॥ कहहिं वेद इतिहास पुराना। विधि प्रपंच गुन अवगुन साना॥ "जड़ चेतन गुन दोष मय, बिस्व कीन्ह करतार। संत-हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार॥ अस बिबेक…" (बा० दो० ६); अर्थात् गुण-दोष मिला हुआ ही संसार सनातन से है। हंस में यह शक्ति है कि वह मिले हुए जल और दूध में से दूध मात्र को पी लेता है, जल को पृथक् कर देता है। वैसे संत एवं श्रीभरतजी में ही ऐसा विवेक है कि ये गुण (शुभ गुण) मात्र ग्रहण कर लेते हैं, अवगुण इन्हें छू नहीं पाता। 'भरत हंस रबि बंस तड़ागा …'—'हंस' शब्द यहाँ श्लिष्ट है। हंस पक्षीपरक भाव इस अर्द्धाली में है और इसका दूसरा अर्थ सूर्य भी है; यथा—"हंस बंस दसरथ जनक …" (दो० १६१); 'रवि बंस' शब्द से साहचर्य भी है और उसका प्रकाश करना अगली अर्द्धाली में है। (यह भी कहा जाता है कि इस भाव में अड़चन यह है कि यश के लिये चन्द्रमा की ही किरणों की उपमा दी जाती है, सूर्य की नहीं)। 'जनमि'- हंस के स्वभाव से ही उक्त कार्य करता है, उसे कोई सिखाता नहीं, वैसे ही श्रीभरतजी में विवेक स्वभाव से ही है। श्रीभरतजी ने विवेक से यह निश्चय किया कि चाहे संसार के सातो द्वीपों का भी आधिपत्य क्यों न हो, उसमें न फँसकर भगवद्भक्ति करनी चाहिये; यथा—"साधन सिद्धि राम-पद नेहू। मोहि लखि परत भरत मत येहू॥" (दो० २८८), तथा—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत् सब सपना॥" (आ० दो० ३८)।

(२) 'कहत भरत-गुन-सील…'—यह प्रसंग—"सब ते कठिन राज मद भाई।" से "निज जस जगत कीन्हि उँजियारी।" तक है। इसमें 'साधु सभा सेई' से शील कहा गया है, क्योंकि—"सील कि मिल बिनु बुध-सेवकाई।" (उ० दो० ८९)।

'गहि गुन पय… '—से सम्पूर्ण शुभ गुणों का ग्रहण करना एवं विवेक गुण कहा है। स्वभाव का वर्णन प्रसंग भर है, यहाँ भी 'भल' एवं 'जनमि कीन्ह' में शब्द से प्रकट है।

'प्रेम-पयोधि मगन… '—श्रीभरतजी प्रेम के अगाध समुद्र हैं; यथा—"राम सँकोची प्रेम बस, भरत सुप्रेम पयोधि।" (दो० २१७)। उनके प्रेम में वैसी ही वृत्ति श्रीरामजी की भी है, इसमें—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११) चरितार्थ है।

दोहा—सुनि रघुबर-बानी बिबुध, देखि भरत पर हेतु ।
सकल सराहत राम सो, प्रभु को कृपानिकेतु ॥२३२॥

जौं न होत जग जनम भरत को । सकल धरमधुर धरनि धरत को ॥१॥
कवि-कुल - अगम भरत-गुन-गाथा । को जानइ तुम्ह बिनु रघुनाथा ॥२॥
लखन राम सिय सुनि सुरबानी । अति सुख लहेउ न जाइ बखानी ॥३॥

अर्थ—रघुवर श्रीरामजी की वाणी सुनकर और श्रीभरतजी पर उनका प्रेम देखकर सब देवता प्रशंसा करते हैं कि श्रीरामजी के समान कृपालु प्रभु (समर्थ) और कौन है ? ॥२३२॥ यदि संसार में श्रीभरतजी का जन्म न होता, तो पृथिवी पर सम्पूर्ण धर्मों को धुरी (अर्थात् बोझ) को कौन धारण करता ? ॥१॥ कवियों के कुल (समुदाय) के लिये अगम्य श्रीभरतजी के गुणों की कथा, हे श्रीरघुनाथजी ! आपके बिना कौन जाने ? ॥२॥ देवताओं की वाणी सुनकर श्रीलक्ष्मणजी, श्रीरामजी और श्रीसीताजी ने अत्यन्त सुख पाया, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥३॥

विशेष—(१) 'सकल धरम धुर धरनि···'—'सकल धरम'—वर्णाश्रम-धर्म, भागवत-धर्म, भ्रातृ-धर्म, राज-धर्म इत्यादि। धर्म से ही श्रीभरतजी पृथिवी को धारण करते हैं ; यथा—"भरत भूमि रह राउरि राखी।" (दो० २११) ; धर्म ही से पालन-पोषण करते हैं ; यथा—"बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई ॥" (बा० दो० १९६) ; वर्ण धर्म; यथा—"पितु हित भरत कीन्हि जसि करनी। सो मुख लाख जाइ नहिं बरनी ॥" (दो० १००)।

बालकांड वंदना-प्रसंग में श्रीभरतजी में मुख्य दो गुण कहे गये—एक धर्म दूसरा प्रेम ; यथा—"जासु नेम-ब्रत जाइ न बरना ॥" यह धर्म है और—"राम चरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू ॥" यह प्रेम है। वे ही दोनों गुण यहाँ कहे गये हैं—'सकल धरम धुर···' यह धर्म और आगे—"अचर सचर चर अचर करत को।" (दो० २३७) यह प्रेम है।

(२) 'को जानइ तुम्ह बिनु···'—यहाँ तो कवि शेषजी के शासक श्रीलक्ष्मणजी भी नहीं जान सके, तो दूसरे कवि समूह व्यास, वाल्मीकि, शुक आदि क्या कह सकेंगे। भक्तों के गुण भगवान् ही यथार्थ जानते और कहते हैं।

(३) 'लखन राम सिय ···'—यहाँ श्रीलक्ष्मणजी का नाम पहले आया है, ये परम निर्मल हृदय-वाले हैं। जब इन्होंने श्रीभरतजी को श्रीरामजी का विरोधी समझा था, तब उनपर क्रुद्ध थे, अब इन्हें सबसे अधिक सुख हुआ। इन्हें तो अपनापन कुछ है ही नहीं, श्रीरामजी ही सब कुछ हैं, उनकी अनुकूलता में प्रसन्न और प्रतिकूलता में क्रुद्ध।

इहाँ भरत सब सहित सहाये । मंदाकिनी पुनीत नहाये ॥४॥
सरित समीप राखि सब लोगा । माँगि मातु-गुरु-सचिव-नियोगा ॥५॥

चले भरत जहँ सिय - रघुराई । साथ निषाद - नाथ लघु भाई ॥६॥
समुझि मातु - करतब सकुचाहीं । करत कुतरक कोटि मन माहीं ॥७॥
राम - लखन - सिय सुनि मम नाऊँ । उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ ॥८॥

दोहा—मातु मते महँ मानि मोहि, जो कछु कहहिं सो थोर ।
अघ अवगुन छमि आदरहिं, समुझि आपनी ओर ॥२३३॥

शब्दार्थ—सहाये=सेना एवं सहायता करनेवाले । नियोग=आज्ञा ।

अर्थ—यहाँ श्रीभरतजी ने सब सेना सहित पवित्र श्रीमंदाकिनीजी में स्नान किया ॥४॥ नदी के समीप में सब लोगों को रखकर (ठहराकर) माता, गुरु और मंत्रियों से आज्ञा माँग कर ॥५॥ निषाद-राज और छोटे भाई श्रीशत्रुघ्नजी को साथ लेकर श्रीभरतजी वहाँ चले, जहाँ श्रीसीतारामजी हैं ॥६॥ माता की करनी समझकर सकुचते हैं और मन में अनेक कुतर्क करते हैं ॥७॥ कि श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी मेरा नाम सुनकर कहीं अन्यत्र न चल दें ॥८॥ माता के मत में मानकर मुझे वे जो कुछ भी कहें, वह थोड़ा ही है । मेरे पाप और अवगुणों को क्षमा करके आदर करें, तो अपनी ओर समझकर ही; अन्यथा मैं इस योग्य तो नहीं ही हूँ ॥२३३॥

विशेष—(१) 'इहाँ भरत सब सहित सहाये···'— पूर्व—"जल थल देखि बसे निसि बीते । कीन्ह गवन रघुनाथ पिरीते ॥" (दो० २२५) पर श्रीभरतजी का प्रसंग छोड़ा था, बीच में उधर श्रीरामजी का प्रसंग कहने लगे थे ; अब फिर पूर्व का प्रसंग लेते हैं, इससे 'इहाँ' कहा गया है । कवि अपनी स्थिति प्रेमियों की ओर ही रखते हैं । भगवत् की अपेक्षा भागवत को निष्ठा अधिक दिखाते हुए श्रीरामजी के पक्ष को 'उहाँ' शब्द से कहा है—"उहाँ राम रजनी अवसेषा । जागे···" (दो० २२४) । 'उहाँ' और 'इहाँ' से यह भी सूचित किया कि जितनी देर में श्रीभरतजी पिछले वासस्थल से मंदाकिनी तट तक पहुँचे, उतनी ही देर में वहाँ की सब व्यवस्थाएँ हुईं ।

(२) 'साथ निषाद नाथ लघु भाई ।'—निषाद - राज मार्ग के ज्ञाता हैं और श्रीशत्रुघ्नजी प्राय साथ ही रहते हैं । इस तरह पता लगाकर फिर सबको मिलावेंगे । व्यर्थ ही सबको भटकना क्यों पड़े ? निषाद-राज सखा हैं, इनकी ओट लेकर चलने से श्रीरामजी प्रसन्न होंगे और छोटे भाई के साथ देखकर श्रीलक्ष्मणजी भी प्रसन्न होंगे, इससे भी इन्हें साथ लिया है ।

(३) 'समुझि मातु करतब···'—मनु ने कहा ही है—"तत्संसर्गी च पंचमः" अर्थात् पापी का संसर्गी भी पाप में भागी माना जाता है । श्रीभरतजी श्रीकैकेयीजी के पुत्र हैं । इसलिये ग्लानि करते हैं । यद्यपि ये सर्वथा मातु-संसर्ग से भिन्न हैं, तथापि यह ग्लानि करते हैं ; यह इनकी कार्पण्य भक्ति है ।

(४) 'मातु मते महँ मानि···'—इसमें दो पक्षों की बातें उठाई हैं—माता के पक्ष का मुझे जानें अथवा अपनी ओर समझकर मुझे दास जानें और मेरे दोष क्षमा कर मेरा आदर करें ।

जौं परिहरहिं मलिन मन जानी । जौं सनमानहिं सेवक मानी ॥१॥
मोरे सरन रामहि की पनहीं । राम सुस्वामि दोष सब जनहीं ॥२॥

जग जस-भाजन चातक मीना। नेम प्रेम निज निपुन नवीना ॥३॥
अस मन गुनत चले मग जाता। सकुच सनेह सिथिल सब गाता ॥४॥
फेरति मनहुँ मातुकृत खोरी। चलत भगति-बल धीरज-धोरी ॥५॥

शब्दार्थ—शरण = रक्षक, आश्रय। धोरी = वह तीसरा बैल जो गाड़ी में बोझा अधिक होने पर आगे नहा (लगाया) जाता है। बा० दो० ११ चौ० ४ भी देखिये।

अर्थ—जो मुझे मलिन मन समझें तो त्याग दें और जो सेवक मानें तो सम्मान करें (यह उनकी रुचि पर निर्भर है, पर) मेरे लिये तो श्रीरामजी की जूती ही शरण है, श्रीरामजी सुन्दर स्वामी हैं और दोष तो सब दास का ही है ॥२॥ संसार में पपीहा और मछली यश के पात्र हैं, वे अपने नेम और प्रेम में निपुण एवं नित्य नये हैं ॥३॥ ऐसा मन में विचारते हुए राह में चले जाते हैं। संकोच (श्रीकैकेयीजी के सम्बन्ध से) और स्नेह (श्रीराम-स्वभाव समझने से) है, उससे सब शरीर शिथिल (ढीला) हो गया है ॥४॥ माता की की हुई खोटाई मन को पीछे लौटाती है, फिर वे भक्ति और धैर्य-रूपी 'धोरी' के बल से आगे चलते हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'जौ परिहरहिं मलिन मन···'—दोहे के दोनों पक्षों का ही भाव इसमें स्पष्ट किया गया है। त्यागने का अनुमान पहले है, क्योंकि डर यही है कि मुझे माता के पक्ष का मान कर मलिन-मन ही मानेंगे और त्याग देंगे। दूसरे पक्ष में अपनी कृपालुता के महत्त्व से सेवक जानकर क्षमा कर दें, तो यह उनके योग्य ही है। मुझे तो दोनों तरह में उनकी ही जूतियों का आश्रय है, चाहे जैसे रक्खें। 'रामहिं की पनही' में यह विशेषता है कि सेवक के शिर पर दोनों पक्षों में पनही रहती है, निरादर में शिर पर मारी जाती है और आदर में वह स्वयं शिर पर आदरपूर्वक रखता है। अर्थात् मुझे आदर-निरादर दोनों ही स्वीकार है। क्योंकि—'राम सुस्वामि दोष···'—श्रीरामजी सुन्दर स्वामी हैं; यथा—"जो तुम त्यागो राम हौं तौ नहिं त्यागों।···सुखद सुप्रभु तुम सों जग नाहीं।" (वि० १००); "भयेहूँ उदास राम मेरे आस रावरी।" (वि० १०८); "नाहिं न और कोउ सरन लायक दूजो श्रीरघुपति सम विपति निवारन।" (वि० २०६); 'दोष सब जनहीं'—सेवक धर्म पर दृष्टि करने से दास का निर्दोष रहना अत्यन्त कठिन है। हाँ, इस वृत्ति में स्वामी की प्रसन्नता से सब दूषण भूषण हो जाते हैं।

(२) 'जग जस भाजन···'—चातक पक्षी और मछली जलचर है। चातक में 'नेम' और मीन में 'प्रेम' की प्रवीणता होती है; यथा—"नेम तो पपीहा ही के प्रेम प्यारो मीन ही के ··" (गी० सुं० ७); इन दोनों की अपनी-अपनी वृत्ति नित्य नवीन रहती है। स्वामी के निरादर पर भी ये दोनों बढ़े चढ़े ही रहते हैं। मुझमें इन तिर्यग योनियों का सा भी नेम-प्रेम नहीं है, क्योंकि नेम होता, तो स्वाति बूँद रूप श्रीरामजी के दर्शनों को छोड़कर ननिहाल क्यों जाता, अनन्य भक्तों को इष्ट-रूप ही स्वाती की बूँद-सी है; यथा—"रूप बिंदु जल होहिं सुखारी।" (दो० १२०) और प्रेम होना तो वन गवन सुनते ही प्राण छोड़ देता; यथा—"तुलसिदास तनु तजि रघुपति हित कियो प्रेम परवान।" (गी० अ० ५१)। श्रीभरतजी की यह कार्पण्य वृत्ति है; इनमें नेम-प्रेम दोनों ही पूर्ण हैं; यथा—"असन बसन बासन व्रत नेमा। करत कठिन रिषि धरम सप्रेमा।" (दो० ३२३); "सुनि व्रत नेम साधु सकुचाहीं।" (दो० ३२५); "राम प्रेम-भाजन भरत ''नित नव राम-प्रेम-पन पीना।" (दो० ३२२); इत्यादि।

(३) 'फेरति मनहुँ मातु-कृत खोरी।···'—उपर्युक्त 'सकुच-सनेह' की दशा यहाँ स्पष्ट करते हैं।

माता की की हुई खोटाई का संकोच है। यह संकोच मन को पीछे की ओर खींचता है कि कैसे सामने होकर मुँह दिखाऊँगा ? भक्ति के भरोसे आगे चलने की वृत्ति हो जाती है। भक्ति बल ; यथा—"भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय अस मम बानी ॥" (उ० दो० ८५) ; "क्रूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी ॥ तेउ सुनि सरन सामुहें आये। सकृत प्रनाम किये अपनाये ॥" (दो० २९८)।

जब समुझत रघुनाथ-सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ ॥६॥
भरत-दसा तेहि अवसर कैसी। जल-प्रवाह जल-अलि-गति जैसी ॥७॥
देखि भरत कर सोच सनेहू। भा निषाद तेहि समय बिदेहू ॥८॥

दोहा—लगे होन मंगल सगुन, सुनि गुनि कहत निषाद।
मिटिहि सोच होइहि हरष, पुनि परिनाम बिषाद ॥२३४॥

सेवक बचन सत्य सब जाने। आश्रम निकट जाइ नियराने ॥१॥

शब्दार्थ—उताइल = शीघ्रता से, त्वरा से। जल अलि = पानी का भ्रमर। यह एक काला कीड़ा खटमल की तरह होता है। पर आकृति में उससे बड़ा होता है। जल-प्रवाह के विरुद्ध यह बड़ी तेजी से तैरता है। कभी धार के वेग पर रुक जाता है और फिर त्वरा से बढ़ता है। इसे 'भौंतुवा' भी कहते हैं; यथा—"कहा भयो जो मन मिलि कलिकालहि कियो भौंतुवा भौंर को हौं।" (वि० १९६)। (जल का भ्रमर (भँवर) वह भी कहलाता है, प्रवाह में कहीं गहरा स्थल होने से उस जगह का जल घूमता रहता है, तैरनेवाले प्रायः इसमें पड़कर डूब जाते हैं)।

अर्थ—जब श्रीरघुनाथजी के स्वभाव का स्मरण करते हैं, तब मार्ग में पैर जल्दी-जल्दी पड़ने लगते हैं ॥६॥ श्रीभरतजी की दशा उस समय कैसी है कि जैसे जल के प्रवाह (बहाव) में जल-भ्रमर की चाल होती है ॥७॥ श्रीभरतजी का शोच और स्नेह देखकर उस समय निषाद देह की सुधबुध भूल गया ॥८॥ मंगल शकुन होने लगे, उन्हें सुनकर और विचारकर निषाद कहता है कि शोच मिटेगा और हर्ष होगा (पर) अन्त में दुःख होगा ॥२३४॥ सेवक के सब वचन श्रीभरतजी ने सत्य समझे। वे आश्रम के समीप जा पहुँचे ॥१॥

विशेष—(१) 'रघुनाथ-सुभाऊ' ; यथा—"सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ।...जौं नर होइ... कोटि विप्र बध लागइ जाहू। आये सरन तजउँ नहि ताहू ॥" (सुं० दो० ४३-४०); "जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ ॥" (उ० दो० १)।

(२) 'जल-अलि-गति जैसी'—उपर्युक्त दोनों बातों (पीछे हटने और तेजी से आगे बढ़ने) पर यह उपमा है कि जो मातु-कृत खोरि समझकर रुकते और भक्ति के बल पर बढ़ते हैं।

(३) 'देखि भरत कर...' ; यथा—"देखि भरत कर सील सनेहू। भा निषाद तेहि समय बिदेहू ॥" (दो० १९९); वहाँ के 'सील' की जगह यहाँ 'सोच' है ; इतना ही भेद है।

(४) 'लगे होन मंगल सगुन...'—निषादराज मार्ग दिखानेवाले थे, जब वे ही विदेह हो गये, तब मार्ग कौन बतलाता ? इसलिये शकुनों के द्वारा प्रकृति ने सहायता की। 'सुनि' शब्द से वे शकुन सूचित

होते हैं जो कान से सुने जायँ, जैसे कि कुछ पक्षियों की बोली ; जो शुभ माने जाते हैं। निषादराज विदेह हो गये हैं, इसलिये ऐसे शकुन हुए कि जिनसे उन्हें चेतना आ जाय। 'लगे होन' से और भी शकुनों का होना जनाया गया है, जो देखने से जाने जायँ। निषाद लोग शकुन विचार में कुशल होते हैं—यह पूर्व कहा गया है। 'परिनाम बिषाद' से यह कि श्रीरामजी लौटेंगे नहीं, जिससे दुःख सहित ही लौटना होगा। निषादराज ने शकुन से तीन बातें कहीं। वे सब सत्य हुईं—(१) 'मिटिहि सोच'; यथा-"मिटी मलिन मन कलपित सूला।" (दो० २१६); "भे तिसोच डर अपडर बीता।" (दो०२३१); (२) 'होइहि हरषु'; यथा—"मुख प्रसन्न मन मिटा बिषादू।" (दो० २०१); "भरत मुदित अवलंब लहे ते।" (दो० ३१५); (३) 'परिनाम बिषाद'; यथा—"मुनि महिसुर गुरु भरत भुआलू। राम बिरह सब साज बिहालू॥" (दो० १२१); "भरत भवन बसि तप वन करहीं॥" (दो० ३२५)।

(४) 'सेवक बचन सत्य ...'—सेवक शब्द के यहाँ दो अर्थ हैं—श्रीरामजी का सेवक (दास) और केवट जाति; यथा—"कैवर्त्तो दासधीवरौ" इत्यमरः। केवट शकुनियाँ होते ही हैं और भक्तों के अनुभव भी ठीक ही होते हैं।

> भरत दीख बन - सैल - समाजू। मुदित छुधित जनु पाइ सुनाजू॥२॥
> ईति भीति जनु प्रजा दुखारी। त्रिबिध ताप पीड़ित ग्रह मारी॥३॥
> जाइ सुराज सुदेस सुखारी। होहिं भरतगति तेहि अनुहारी॥४॥

शब्दार्थ—ईति = कृषि (खेती) के हानिकारक उपद्रव। ये छः प्रकार के माने जाते हैं—अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डी पड़ना, चूहे लगना, पक्षियों की अधिकता और दूसरे राजा की देश पर चढ़ाई। भीति = डर।

अर्थ—वनों और पर्वतों की पंक्तियों को देखकर श्रीभरतजी को ऐसा आनन्द हुआ, मानों भूखा सुन्दर अन्न (भोजन) पाकर सुखी हो॥२॥ मानों 'ईति' के भय से प्रजा दुखी हो और तीनों (दैहिक, दैविक और भौतिक) तापों और भारी क्रूर ग्रह की दशाओं से ग्रसित होने से पीड़ित हुई हो॥३॥ वह अच्छे सुन्दर राज्य में जाकर सुखी हो, उसी प्रकार की दशाएँ श्रीभरतजी की हो रही हैं॥४॥

विशेष—'मुदित छुधित जनु पाइ...'—श्रीअयोध्याजी में जब से अनय प्रारंभ हुआ, तब से आज ही इन्होंने वन-पर्वत की श्रेणियों की छटा से आनन्द पाया। भूखे को निकृष्ट भोजन भी दुर्लभ है, यदि उत्तम भोजन मिले, तब तो उसे अत्यन्त ही आनन्द होता है। यहाँ श्रीभरतजी क्षुधित हैं, वन-शैल-दर्शन सुनाज हैं।

(२) 'ईति भीति जनु...'—'ईति' यथा—"अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः। प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः॥" यहाँ श्रीअयोध्या का राज्य खेती है, श्रीराम तिलक की तैयारी उसका पकना है, कैकेयी की कुचाल-रूप टिड्डियों और तोतों ने उसे चुग लिया, वही श्रीअवधवासियों के लिये ईति हुई, यथा—"कीन्हि मातु मिस काल कुचाली। ईति भीति जनु पाकत साली॥" (दो० २५१)। 'त्रिबिध ताप पीड़ित'; यथा—"नाथ बियोग ताप तन ताये।" (दो० २२५); 'ग्रह मारी'—शनि आदि भारी ग्रहों के प्रकोप से मृत्यु होती है, वैसे ही यहाँ राजा की मृत्यु हुई। कहा भी है—"अवध साढ़साती तब बोली।" (दो० ११)। श्रीभरतजी इन तीनों से दुखी हुए। कैकेयी की कुचाल से, पिता की मृत्यु से और श्रीरामजी के वनवास से। वन को 'सुराज' कहा है। आगे इसका रूपक कहते हैं—

रामबास बन संपति भ्राजा। सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा ॥५॥
सचिव बिराग बिबेक नरेसू। बिपिन सुहावन पावन देसू ॥६॥
भट जम-नियम सैल रजधानी। सांति सुमति सुचि सुंदर रानी ॥७॥
सकल अंग संपन्न सुराऊ। रामचरन आश्रित चित चाऊ ॥८॥

दोहा—जीति मोह-महिपाल दल, सहित बिबेक भुआल।
करत अकंटक राज पुर, सुख संपदा सुकाल ॥२३५॥

अर्थ—श्रीरामजी के निवास से वन की सम्पत्ति शोभायमान है, मानों अच्छा राजा पाकर प्रजा सुखी हो ॥५॥ वैराग्य मंत्री, विवेक राजा और शोभायमान (हरा-भरा) पवित्र वन पवित्र देश है ॥६॥ यम-नियम योद्धा हैं, पर्वत राजधानी है, शान्ति और सुमति पवित्र और सुन्दर रानियाँ हैं ॥७॥ वह उत्तम राजा सम्पूर्ण (राज्य) अंगों से पूर्ण है, श्रीरामजी के चरणों के भरोसे रहने से उसके चित्त में चाव (उत्साह) रहता है ॥८॥ मोह-रूपी राजा को दल-समेत जीतकर ज्ञान-रूपी राजा नगर में अकंटक राज्य कर रहा है, यहाँ सुख, सम्पत्ति और सुकाल वर्त्तमान हैं ॥२३५॥

विशेष—(१) यहाँ राज्य के सप्ताङ्ग का रूपक है, राज्य में खजाना (संपत्ति), मंत्री, राजा, राष्ट्र (देश), सुभट (सेना), राजधानी और रानी एवं इनके अतिरिक्त सहायक (मित्र) भी चाहिये। ये सब यहाँ क्रम से कहे गये हैं। वन में श्रीरामजी ही संपत्ति हैं, इन्हीं से वन में शोभा है। वैराग्य मंत्री है; अर्थात् यहाँ "तृन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी।" (आ० दो० १४); ही अधिक बसते हैं। विवेक राजा है; अर्थात् यहाँ के निवासियों में सत्-असत् के ज्ञाता ही अधिक एवं प्रधान हैं और उनमें भी वैराग्य प्रधान है, सत् मात्र ग्रहण कर असत् का त्याग है। यही वैराग्य का मंत्रित्व है, मंत्री-विना राजा व्यर्थ है वैसे विराग-विना विवेक व्यर्थ है, यथा—"ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।" (उ० दो० ८९); सुन्दर देश वन है और उसमें प्रधान कामदगिरि (चित्रकूट पर्वत) राजधानी है (देश और राजधानी को एक लेने से मित्र भी सप्तांग में ही आ जाते हैं, ऐसे ही अन्यत्र कहा भी जाता है)। यम-नियम सुभट हैं, यम के पाँच भेद हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। नियम के भी पाँच ही भेद हैं—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर की भक्ति। 'राम-चरन आश्रित' से मित्र भी कहा। इसके अतिरिक्त और भी अंग होते हैं, उनकी पूर्त्ति के लिये 'सकल अंग संपन्न' कहा गया है।

(२) 'राम चरन आश्रित'—यह अंत में कहा गया है, अतः यह सबसे प्रधान अंग है, जैसे कोई सामान्य राजा बड़े सम्राट् के आश्रित होने से निर्भय रहता है, वैसे यहाँ राम चरण के आश्रित होने से विवेक राजा निर्भय है, उसके चित्त में चाव है, तात्पर्य यह कि शुष्क ज्ञान में अनेक विघ्नों का भय रहता है और इसीसे वह नहीं सोहता; यथा—"सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू। करन धार बिनु जिमि जलजानू॥" (दो० २०६); "यह बिचारि पंडित मोहिं भजहीं। पायेहु ज्ञान भगति नहि तजहीं॥" (आ० दो० ४१)। "सम जम नियम फूल फल ज्ञाना। हरिपद रस बर बेद बखाना॥" (बा० दो० ३६)।

ऊपर कहा गया—"जाइ सुराज सुदेस सुखारी।···" उसी सुराज्य का रूपक यहाँ तक कहा गया; अर्थात् जिस राज्य में प्रजा सब प्रकार सुखी रहे, वही सुराज्य है। इसी के आदर्श रूप में उत्तरकांड का श्रीराम-राज्य वर्णित है।

(३) 'जीति मोह-महिपाल-दल···'—मोह आसुरी सम्पत्ति में राजा है ; यथा—"मोह सकल ब्याधिन कर मूला ।" (उ० दो० १२०); "मोह दसमौलि···" (वि० ५८) (रावण भी असुरों में राजा था) यहाँ चित्रकूट राजधानी के विवेक राजा ने मोह राजा को दल समेत जीत लिया । पहले 'राम-चरन आश्रित' लिखकर तब जीतना कहा गया है; अर्थात् भक्ति के आश्रित (सरस) ज्ञान ही मोह को सर्वात्मना जीत सकता है । शत्रु-रूप कंटक से रहित होने से 'अकंटक' कहा गया । (विवेक और मोह राजा की लड़ाई प्रबोध चन्द्रोदय नाटक में भी विस्तार से कही गई है)।

यहाँ चित्रकूट का सूक्ष्म-रीति से माहात्म्य कहा गया कि यहाँ विवेक की वृद्धि और मोह का ह्रास होता है; यथा—"यावता चित्रकूटस्य नरः शृंगाण्यवेक्षते । कल्याणानि समाधत्ते न मोहे कुरुते मनः ॥" (वाल्मी० २।५४।३०) । इस पर विनय और गीतावली में ऐसा ही बहुत कुछ कहा गया है ।

(४) 'सुख संपदा सुकाल' यहाँ सुख सरस ब्रह्मानंद है और सम्पत्ति श्रीरामजी का निवास है, इसीसे सदा सुन्दर काल की स्थिति है ; यथा—"चित्रकूट सब दिन बसत, प्रभु-सिय-लखन-समेत । राम नाम जप जापकहि, तुलसी अभिमत देत ॥" (दोहावली ४); "रस एक रहित गुन कर्म काल । सिय-राम-लखन पालक कृपाल ।" (वि० २३); (यह चित्रकूट के ही वर्णन में कहा गया है)।

यहाँ तक मुख्य अंगों को कहा; आगे शेष सामान्य अंगों को भी कुछ कहते हैं—

बनप्रदेस मुनिबास घनेरे । जनु पुर नगर गाउँ गन खेरे ॥१॥
बिपुल बिचित्र बिहग मृग नाना । प्रजासमाज न जाइ बखाना ॥२॥
खगहा करि हरि बाघ बराहा । देखि महिष बृष साज सराहा ॥३॥
बैर बिहाय चरहिं एक संगा । जहँ तहँ मनहुँ सेन चतुरंगा ॥४॥
झरना झरहिं मत्त गज गाजहिं । मनहुँ निसान बिबिधबिधि बाजहिं ॥५॥
चक चकोर चातक सुक पिक गन । कूजत मंजु मराल मुदित मन ॥६॥
अलिगन गावत नाचत मोरा । जनु सुराज मंगल चहुँ ओरा ॥७॥
बेलि बिटप तृन सफल सफूला । सब समाज मुद-मंगल-मूला ॥८॥

दोहा—रामसैल सोभा निरखि, भरत हृदय अति प्रेम ।
तापस तप-फल पाइ जिमि, सुखी सिराने नेम ॥२३६॥

शब्दार्थ—खगहा (खाँग = गैंड़े के मुँह पर का सींग + हा = हनन करनेवाला) = गैंड़ा । चरहि = विचरते हैं ।

अर्थ—वन-रूपी प्रान्त में बहुत-से मुनियों के निवास स्थान हैं, वे मानों पुरों (शहरों) नगरों (कसबों), ग्रामों और पुरवों के समूह हैं ॥१॥ बहुत प्रकार के रंग-बिरंगे अनेकों जाति के बहुत-से पशु-पक्षी प्रजा के समाज हैं, जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥२॥ गैंड़ों, हाथियों, सिंहों, बाघों, वाराहों, भैंसों और बैलों का साज (अंगों की गढ़नि) देखने में सराहनीय है ॥३॥ वे सब वैर छोड़कर एक साथ जहाँ-तहाँ विचर रहे हैं, मानों चतुरंगिनी सेना है ॥४॥ झरने झर रहे हैं, मतवाले हाथी गरज रहे हैं, मानों अनेक प्रकार के डंके-

(नगाड़े) बज रहे हैं ॥५॥ चक्रवाकों, चकोरों, पपीहों, तोतों, और कोकिलाओं के समूह और सुन्दर हंस प्रसन्न मन से अपनी-अपनी सुन्दर बोलियों से बोलते एवं चहचहाते हैं ॥६॥ भ्रमरों के समूह गाते हैं, मोर नाचते हैं, मानों सुराज्य में चारों ओर मंगल हो रहे हैं ॥७॥ लताएँ, वृक्ष और तृण सब फल-फूल-युक्त हैं। सारा समाज आनन्द-मंगल का मूल है ॥८॥ श्रीरामजी के पर्वत की शोभा देखकर श्रीभरतजी के हृदय में अत्यन्त प्रेम हुआ, जैसे तपस्वी तपस्या का फल पाकर नियम की समाप्ति होने पर सुखी होता है ॥२३६॥

विशेष—(१) *'मनहुँ सेन चतुरंगा'*—रथ, हाथी, घोड़े और पैदल मिलकर चारो की चतुरंगिनी सेना होती है। यहाँ गैंड़ा 'रथ' हैं, क्योंकि इनकी पीठ चौड़ी होती है, हाथी 'हाथी' ही हैं, सिंह-बाघ, 'घोड़े' तथा वराह, महिष और बैल 'पैदल' हैं।

ऊपर शहर, कसबे, ग्राम और पुरवे आदि तथा उनकी प्रजा और फिर उनकी रक्षा के लिये सेना कही गई। सेना में डंके होते हैं, वे भी कहे गये। 'चक चकोर चातक सुक···'—इनका अपनी-अपनी बोली में बोलना ताल, सारंगी आदि बाजों का बजना है। भौंरे गायक हैं और मोर नाचनेवाले हैं। ये सब नाच, गान, वाद्य आदि मंगल के अंग हैं। इसलिये चारों ओर मंगल का होना कहा गया। 'बेलि बिटप तृन ···'—वृक्ष पुरुष, लताएँ उनकी स्त्रियाँ; और तृण बच्चे हैं, इनके मुद-मंगल-मूलक समाज हैं। ये जलसा देखनेवाले हैं। इनका पुष्पित होना प्रसन्न होना है, फलों से लदकर झुकना वाह-वाह करना है।

(२) *'रामसैल सोभा निरखि···'*—श्रीभरतजी तपस्वी हैं, श्रीरामजी के पर्वत के दर्शन इनके तप का फल हैं। जो—'पय अहार फल असन ···' आदि नेम-व्रत करते आये, वह आज सफल हुआ; अर्थात् सब साधनों का फल श्रीरामजी की प्राप्ति ही है; यथा—"सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम-सिय-दरसन पावा॥" (दो० २०१)। यहाँ 'सुखी सिराने नेम' कहा, आगे—"जनु जोगी परमारथ पावा।" और फिर—"सानुज सखा समेत मगन मन ···" तब—"परम प्रेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥" (दो० २४०); कहा गया है, अर्थात् श्रीभरतजी का प्रेमानन्द श्रीरामजी के समीप जाने में उत्तरोत्तर बढ़ता गया है।

> तब केवट ऊँचे चढ़ि धाई। कहेउ भरत सन भुजा उठाई ॥१॥
> नाथ देखिअहि बिटप बिसाला। पाकरि जंबु रसाल तमाला ॥२॥
> तिन्ह तरुबरन्ह मध्य बट सोहा। मंजु बिसाल देखि मन मोहा ॥३॥
> नील सघन पल्लव फल लाला। अबिरल छाँह सुखद सब काला ॥४॥
> मानहु तिमिर - अरुनमय रासी। बिरची बिधि सकेलि सुषमा-सी ॥५॥

अर्थ—तब केवट ने दौड़कर ऊँचे पर चढ़कर हाथ उठा श्रीभरतजी से कहा ॥१॥ हे नाथ! उन विशाल वृक्षों को देखिये (वा, जो वृक्ष देख पड़ते हैं), वे पाकर, जामुन, आम और तमाल के वृक्ष हैं ॥२॥ जिन श्रेष्ठ वृक्षों के मध्य में सुन्दर बड़ा बरगद का वृक्ष शोभा दे रहा है, देखकर मन मोह जाता है ॥३॥ उसके पत्ते नीले और सघन हैं, फल लाल हैं और उसकी छाँह सघन है जो सब समय में सुख देने वाली है; अर्थात् गर्मी में धूप से, वर्षा में जल से और जाड़े में ठंढक से तथा सब समयों में हवा से

बचाती है ॥४॥ मानों ब्रह्माजी ने परम शोभा को एकत्र करके अंधकार और लालिमामयी राशि-सी रच दी है ॥५॥

विशेष—(१) 'मानहु तिमिर अरुन मय'···—अरुण शब्द का अर्थ गहरा लाल रंग और सूर्य तथा संध्या की ललाई का भी होता है। इसके पत्ते नीले और सघन हैं, इससे अंधकार की तरह हैं, ये बहुत हैं, इनकी प्रधानता मानकर 'तिमिर' प्रथम कहा गया है। फल पत्तों के बीच-बीच में पृथक्-पृथक् लाल रंग के हैं, इसलिये संध्याकालीन सूर्य के रंग के हैं। बहुत फल हैं, इसलिये परिपूर्णता-बोधक 'मय' शब्द भी है। इस तिमिर और अरुणमयी राशि में परम शोभा पूर्ण है, इसी से कहा गया कि मानों ब्रह्मा ने सर्वत्र से परम शोभा समेटकर सब यहीं लगा दी है।

ये तरु सरितसमीप गोसाईं। रघुबर परनकुटी जहँ छाईं ॥६॥
तुलसी तरुवर बिबिध सुहाये। कहुँ कहुँ सिय कहुँ लखन लगाये ॥७॥
बट-छाया बेदिका बनाई। सिय निज-पानि-सरोज सुहाई ॥८॥

दोहा—जहाँ बैठ मुनि-गन-सहित, नित सिय-राम सुजान।
सुनहिं कथा इतिहास सब, आगम निगम पुरान ॥२३७॥

अर्थ—हे गोसाईं ! ये वृक्ष नदी के पास हैं, जहाँ पर श्रीरघुनाथजी की पर्णकुटी छाई हुई है ॥६॥ अनेक प्रकार से शोभायुक्त तुलसी के वृक्ष कहीं-कहीं श्रीसीताजी ने और कहीं-कहीं श्रीलक्ष्मणजी ने लगाये हैं ॥७॥ वट की छाया में सुन्दर वेदी श्रीसीताजी ने अपने कर-कमलों से बनाई है ॥८॥ जहाँ बैठकर सुजान श्रीसीतारामजी मुनि गणों के साथ नित्य ही शास्त्र, वेद, पुराण, इतिहास—इन सबकी कथायें सुनते हैं ॥२३७॥

विशेष—(१) 'ये तरु सरितसमीप'···—निषादराज की जाति के लोग यहाँ बसते हैं, इससे यह बहुत बार आने-जाने से इस स्थल की बातों को जानता है और यद्यपि इसे श्रीरामजी ने यमुना-तट पर से ही लौटा दिया था, तथापि यह अपने आदमियों से समाचार लेता था। यह बात गीतावली अ० ९९ में स्पष्ट कही गई है। इसीसे सब परिचय दे रहा है।

(२) 'कहुँ-कहुँ सिय'— यहाँ श्रीसीताजी की सेवा भी जना दी।

(३) 'जहाँ बैठि मुनि '—'सुजान' शब्द से सूचित किया कि यद्यपि सब जानते हैं, तथापि लोक-संग्रह के लिये सुनते हैं कि जिससे और लोग भी सुनें। पुनः "शास्त्रं सुचिन्तितमपि परिचिन्तनीयम्।" (पंचतंत्र); "सास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिय।" (आ० दो० ३६); इस नीति का भी पालन करते हैं। इतिहास जैसे कि इस समय रामायण और महाभारत आदि हैं। पुराण पद्म आदि। बहुत-से मुनि रहते हैं, जो जिस ग्रंथ के विशेष ज्ञाता होते हैं, वे उसे कहते हैं।

सखा-बचन सुनि बिटप निहारी। उमगे भरत बिलोचन बारी ॥१॥
करत प्रनाम चले दोउ भाई। कहत प्रीति सारद सकुचाई ॥२॥

हरषहिं निरखि राम-पद-अंका। मानहु पारस पायेउ रंका ॥३॥
रज सिर धरि हिय नयनन्हि लावहिं। रघुबर-मिलन सरिस सुख पावहिं ॥४॥

अर्थ—सखा निषादराज के वचन सुनकर और उन वृक्षों को देखकर श्रीभरतजी के नेत्रों में (आनन्द के) आँसू उमड़ आये ॥१॥ दोनों भाई प्रणाम करते हुए चले, उनकी वह प्रीति कहने में श्रीसरस्वतीजी भी सकुचाती हैं (क्योंकि वे यथार्थ कह सकने में असमर्थ हैं।) ॥२॥ श्रीरामजी के चरणों के चिह्नों (कमल, ध्वज, अंकुश और वज्र) को देखकर प्रसन्न होते हैं, मानों दरिद्र ने पारस पा लिया हो ॥३॥ चरण-रज को शिर पर रखकर हृदय और नेत्रों में लगाते हैं और रघुवर श्रीरामजी के मिलन के समान सुख पाते हैं; अर्थात् उस रज में भी इष्ट श्रीरामजी का ही भाव रखते हैं ॥४॥

देखि भरतगति अकथ अतीवा। प्रेम मगन खग मृग जड़ जीवा ॥५॥
सखहि सनेह बिबस मग भूला। कहि सुपंथ सुर बरषहिं फूला ॥६॥
निरखि सिद्ध साधक अनुरागे। सहज सनेह सराहन लागे ॥७॥
होत न भूतल भाव भरत को। अचर सचर चर अचर करत को ॥८॥

दोहा—प्रेम अमिअ मंदर बिरह, भरत पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर-साधु-हित, कृपासिंधु रघुबीर ॥२३८॥

शब्दार्थ—अतीव = बहुत, अत्यन्त। भाव (भू-सत्तायाम् धातु से) = अस्तित्व, जन्म, उत्पत्ति वा प्रेम।

अर्थ—श्रीभरतजी की अत्यन्त अकथ्य दशा को देखकर पशु पक्षी और जड़-जीव (वृक्ष आदि) प्रेम में निमग्न हैं ॥५॥ स्नेह के विशेषवश हो जाने से सखा को मार्ग भूल गया, तब सुन्दर मार्ग बतलाकर देवता-गण फूल बरसाते हैं ॥६॥ इस प्रेम की दशा को देखकर सिद्ध और साधक अनुरक्त हो गये और इनके इस स्वाभाविक स्नेह की प्रशंसा करने लगे ॥७॥ कि जो पृथिवी पर श्रीभरतजी का आविर्भाव (जन्म एवं प्रेम) न होता, तो अचर को सचर और चर को अचर कौन करता? ॥८॥ कृपा के समुद्र रघुवीर श्रीरामजी ने श्रीभरत-रूपी अगाध समुद्र को, विरह-रूपी मंदराचल के द्वारा मथकर, साधु-रूपी देवताओं के लिये, प्रेम-रूपी अमृत को प्रकट किया ॥२३८॥

विशेष—(१) 'सखहि सनेह बिबस···'—ऊपर कहा गया—'प्रेम मगन खग मृग जड़ जीवा।' तब निषादराज तो चैतन्य मनुष्य हैं, उनका स्नेह से विवश होना कोई आश्चर्य नहीं। 'कहि सुपंथ सुर बरषहिं फूला'—जिधर मार्ग है, उसी ओर फूल बरसाते हैं कि उसी पर चले आवें। इस प्रकार मार्ग को कोमल बनाकर भी सेवा करते हैं; क्योंकि गुरु श्रीबृहस्पतिजी का उपदेश हो चुका है—"मानत सुख सेवक सेवकाई।" (दो० २१८)।

(२) 'निरखि सिद्ध साधक···'—सिद्ध जैसे कपिल आदि, साधक सौनक आदि।

(३) 'होत न भूतल भाव भरत को।'—'भाव' का जन्म और प्रेम दोनों अर्थ यहाँ संगत हैं। 'जन्म' अर्थ, यथा—"जौं न होत जग जनम भरत को। सकल धरम धुर धरनि धरत को ॥" (दो० २३२); के अनु-

रोध से ठीक है और 'प्रेम' का अर्थ यहाँ ऊपर के प्रसंग से युक्त है, यह सिद्ध-साधकों की सराहना है, वे सहज स्नेह को ही तो सराहने लगे थे। आगे भी —'प्रेम अमिअ मंदर'···' आदि कहा है। बा० दो० १६ चौ० ३-४ में जो इनमें धर्म और प्रेम गुण प्रधान कहे गये हैं, उन्हीं का यहाँ वर्णन है। वा, उपर्युक्त 'सकल धरम धुर'···' में धर्म का और यहाँ प्रेम का वर्णन है।

'अचर सचर चर अचर करत को।'—यहाँ वृक्ष-शिला आदि जड़ हैं, उन्होंने चेतन की वृत्ति धारण की है; यथा—"द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना।" (दो० २११); "भइ मृदु भूमि···तृन मृदु माहीं" (दो० ११०); और चर (चेतन) देवता-गण जड़वत् हो रहे हैं; यथा—"समुझाये सुर गुरु जड़ जागे।" (दो० २९०); "प्रेम मगन खग मृग जड़ जीवा।" (दो० २२७); ये सब चर भी जड़ के समान हो गये।

(४) 'प्रेम अमिअ मंदर बिरह······'—श्रीभरतजी क्षीर-समुद्र, श्रीराम-विरह मंदराचल, साधु देवता, प्रेम अमृत और मथनेवाले वहाँ रघुबीर और वहाँ देवता-दैत्य हैं—ये उपमेय-उपमान हैं। वहाँ देवता-गण अमृत पीकर दैत्यों को जीत सके, वैसे ही यहाँ प्रेम से साधु लोग आसुरी-वृत्ति (कामादि) को जीतते हैं।

वहाँ मथनेवाले स्वार्थी थे, यहाँ अकेले श्रीरघुबीर हैं, वे भी 'कृपासिंधु' अर्थात् निःस्वार्थ कृपावश मथते हैं। श्रीभरतजी को दुःख न हो, यह भी कृपालुता है। 'प्रगटेउ'—प्रेम श्रीभरतजी के हृदय में था, अब सबके देखने में भी आया। 'साधु हित'—प्रेम के विशेष अधिकारी सन्मार्गी एवं सद्भाववाले ही हैं। श्रीभरतजी प्रेम के समुद्र हैं; यथा —"भरत सुप्रेम पयोधि।" (दो० २१७); और श्रीरामजी भी यहाँ 'कृपा-सिंधु' कहे गये हैं। देवताओं को अमृत की आवश्यकता थी, उसी के लिये समुद्र मथा गया, वैसे ही साधुओं को प्रेम की आवश्यकता है, इसीलिये यहाँ भी मथन हुआ; यथा—"तुम्ह कहँ भरत कलंक यह, हम सब कहँ उपदेस। रामभगति रस सिद्धि हित···" (दो० २०८)।

सखा समेत मनोहर जोटा। लखेउ न लखन सघन बन ओटा ॥१॥
भरत दीख प्रभुआश्रम पावन। सकल-सुमंगल-सदन सुहावन ॥२॥
करत प्रबेस मिटे दुख दावा। जनु जोगी परमारथ पावा ॥३॥
देखे भरत लखन प्रभु आगे। पूछे बचन कहत अनुरागे ॥४॥
सीस जटा कटि मुनिपट बाँधे। तून कसे कर सरु धनु काँधे ॥५॥

अर्थ—सखा निषादराज-सहित श्रीभरतजी और श्रीशत्रुघ्नजी की मनोहर जोड़ी को सघन जंगल की आड़ के कारण श्रीलक्ष्मणजी ने नहीं देखा ॥१॥ श्रीभरतजी ने श्रीरामजी के आश्रम को देखा, जो पवित्र, समस्त सुन्दर मंगलों का स्थान, और सुन्दर था ॥२॥ आश्रम में प्रवेश करते ही दुःख की दावाग्नि मिट गई, मानों योगी को परमार्थ प्राप्त हुआ ॥३॥ श्रीभरतजी ने देखा कि श्रीलक्ष्मणजी प्रभु श्रीरामजी के आगे हैं, प्रभु के पूछे हुए वचनों का उत्तर अनुराग-पूर्वक कह रहे हैं ॥४॥ सिर पर जटा, कटि में मुनियों के-से वस्त्र बाँधे और उसी में तरकश भी कसे हैं, हाथ में बाण और कंधे पर धनुष रक्खे हुए हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'लखेउ न लखन···'—यद्यपि लखना (लख करना) ही इनका सहज गुण है, तथापि इन्होंने नहीं देखा, क्योंकि ये (श्रीभरतजी) सघन बन की ओट में थे।

(२) 'मिटे दुख दावा'—पूर्व कहा था—"येहि दुख दाह दहइ दिन छाती।" (दो० २११); जलन यहाँ शांत हुई। 'जनु जोगी ···'—अष्टांग योग सिद्ध होने पर बहुत कष्ट झेलकर ५८५

को योगी पाता है ; यथा—"नाम जीह जपि जागहि जोगी । परमारथी प्रपंच वियोगी ॥ ब्रह्म सुखहि अनुभवहिं अनूपा ॥" (बा० दो० २१); वैसे ही श्रीभरतजी को भी बहुत कष्ट उठाने पर प्रभु के आश्रम की प्राप्ति हुई है, तब वैसा ही सुख भी हुआ। यही आनंद अन्यत्र भी कहा गया है ; यथा—"भरी प्रमोद मातु सब सोहीं ॥ पाया परम तत्त्व जनु जोगी । अमृत लहेउ जनु संतत रोगी ॥ जनमरंक जनु पारस पावा।··" (बा० दो० ३४१)।

(३) 'पूछे बचन कहत अनुरागे।'—पूछने पर सदा अनुराग से ही उत्तर देते हैं, कभी सेवा में यदि बिना पूछे कुछ कहना होता है, तो पहले क्षमा माँग लेते हैं। श्रीलक्ष्मणजी प्रभु की सेवा में खड़े हैं, इस तरह प्रथम भागवत के दर्शन हुए, तब भगवत् के। ऐसा ही नियम है ; यथा—"संत संग अपवर्ग कर।··" (उ० दो० ३३)।

बेदी पर मुनि - साधु - समाजू। सीयसहित राजत रघुराजू ॥६॥
बलकल बसन जटिल तनु स्यामा। जनु मुनिबेष कीन्ह रति-कामा ॥७॥
कर-कमलनि धनु - सायक फेरत। जिय की जरनि हरत हँसि हेरत ॥८॥

दोहा—लसत मंजु मुनि-मंडली, मध्य सीय - रघुचंद।
ज्ञानसभा जनु तनु धरे, भगति सच्चिदानंद ॥२३९॥

शब्दार्थ—जटिल=जटा-सहित। फेरना=चारों ओर घुमाना। लसना=सोहना।

अर्थ—(श्रीभरतजी ने देखा कि) वेदी पर मुनि और साधुओं का समाज है और श्रीसीताजी के सहित श्रीरघुनाथजी सुशोभित हैं ॥६॥ वल्कल वस्त्र, पहने जटा धारण किये हुए, श्याम शरीर हैं, मानों रति और कामदेव मुनि-वेष किये हुए (बैठे) हैं ॥७॥ (श्रीरामजी) हस्त-कमलों से धनुषबाण फिरा रहे हैं, (जिसकी ओर) हँसकर देखते हैं उसके जी की जलन हर लेते हैं ॥८॥ सुन्दर मुनियों के समाज के बीच में श्रीसीताजी और रघुकुल-चन्द्र श्रीरामजी ऐसे विराज (सोह) रहे हैं, जैसे ज्ञान की सभा में शरीर धारण किये हुए भक्ति और सच्चिदानंद (ब्रह्म) विराजमान हों ॥२३९॥

विशेष—(१) 'मुनि-साधु'—मुनि से मनन करनेवाले और साधु से सूधे स्वभाववाले सन्मार्गी को सूचित किया, आगे इन्हें केवल 'मंजु मुनि मंडली' से ही कहा है।

(२) 'जनु मुनिबेष कीन्ह रति कामा'—ऊपर 'सीय सहित राजत' कहा है, उसीकी व्याख्या यहाँ है ; किन्तु वेष का वर्णन श्रीरामजी का ही है और 'कीन्ह रति कामा' से श्रीसीताजी का भी मुनि-वेष कहा गया है। आगे भी कहेंगे—"तापस-बेष जनक सिय देखी।" (दो० २८५) ; और पूर्व—"कनक बिंदु दुइ चारिक देखे। राखे सीस सीय सम लेखे॥" (दो० १९८) भी कहा है, जिससे श्रीसीताजी के राजसी वस्त्र आदि पाये जाते हैं जो कि वाल्मीकीय रामायण में स्पष्ट कहे गये हैं। इन सब प्रमाणों से पाया जाता है कि श्रीसीताजी ने तपस्विनी का कुछ चिह्नमात्र रक्खा था और साधारण वस्त्राभूषण रखना ही इनके लिये तापस-वेष है। श्रीसीताजी के विषय में 'वल्कल' का 'वरकल' अर्थात् श्रेष्ठ सुन्दर अर्थ होगा। व्याकरण में 'र' और 'ल' सवर्ण होने से अभेद कहे गये हैं। 'जटिल' से केश छूटे हुए और 'श्याम'

से षोड़श वर्ष तककी अवस्था का अर्थ है। 'कर कमलनि···' से श्रीरामजी कर कमलों में धनुष-बाण को और श्रीसीताजी कर में कमलों को फिरा रही हैं।

(३) 'जिय की जरनि हरत हँसि हेरत।'—श्रीभरतजी ने पहले कहा था—"देखे बिनु रघुबीर-पद, जिय के जरनि न जाइ।" (दो० १८१); उस जलन को इस क्रीड़ा से हर रहे हैं। यह क्रीड़ा गीतावली में भी कही गई है; यथा—"बिलोके दूरितें दोउ बीर। उर आयत, आजानु सुभग भुज, स्यामल गौर सरीर ॥१॥ सीस जटा, सरसीरुह लोचन, बने परिधन मुनि चीर। निकट निषंग संग सिय सोभित, करनि धुनत धनु तीर ॥२॥···" (अ० ६१)।

(४) 'लसत मंजु मुनि-मंडली···'—मुनि लोग बहुत हैं और सब ज्ञानी हैं, इसलिये ज्ञान की सभा कही है। 'लसत' से भक्ति के साहचर्य में ज्ञान की शोभा दिखाई; यथा—"सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू।" (दो० २७६); तथा—"नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरंजनम्।" (भाग० १।५।१२); "जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ न राम प्रेम परधानू॥" (दो० २९०)। ये मुनि लोग सरस ज्ञानी हैं। भक्ति-रूपा श्रीसीताजी और सच्चिदानंद ब्रह्म-रूप श्रीरामजी हैं। माधुर्य की दृष्टि से 'जनु' शब्द से ये उपमा-रूप में कहे गये हैं कि ये तनु-धारी नहीं होते, पर यहाँ मानों शरीर धारण किये हुए (एकदेशी बने) बैठे हैं।

सानुज सखा समेत मगन मन। बिसरे हरष-सोक-सुख-दुख-गन ॥१॥
पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं ॥२॥
बचन सप्रेम लखन पहिचाने। करत प्रनाम भरत जिय जाने ॥३॥
बंधुसनेह सरस येहि ओरा। इत साहिब-सेवा बर जोरा ॥४॥
मिलि न जाइ नहिं गुदरत बनई। सुकबि लखनमन की गति भनई ॥५॥
रहे राखि सेवा पर भारू। चढ़ी चंग जनु खैंच खेलारू ॥६॥

शब्दार्थ—गुदरना = निवेदन करना, पेश करना (फा०—गुजरान) या, बीतना, पृथक् होना।

अर्थ—भाई और सखा के सहित श्रीभरतजी मन में मग्न हैं, हर्ष, शोक और सुख-दुःख-समूह को भूल गये ॥१॥ हे नाथ! पाहि (रक्षा कीजिये), हे गोसाईं! पाहि, ऐसा कहकर पृथिवी पर लाठी की तरह गिर पड़े ॥२॥ (यद्यपि यह घटना श्रीलक्ष्मणजी के पीठ-पीछे हुई, तथापि) प्रेम युक्त वचनों से श्रीलक्ष्मणजी ने पहचान लिया और जी में जान लिया कि श्रीभरतजी प्रणाम करते हैं ॥३॥ इस ओर तो भाई का प्रेम सरस (बढ़ा हुआ एवं अधिक) है और इधर स्वामी की सेवा अत्यन्त प्रबल ॥४॥ न तो जाकर मिला ही जाय और न सेवा से पृथक् होते ही बने, (या, यह कहते नहीं बनता कि श्रीभरतजी आये हैं,) सुकवि श्रीलक्ष्मणजी के मन की दशा को इस तरह कहते हैं ॥५॥ कि वे सेवा पर भार रखकर रह गये, मानों खेलाड़ी चढ़ी हुई पतंग को खींच रहा हो ॥६॥

विशेष—(१) 'बिसरे हरष-सोक···'—'गन' शब्द से हर्ष आदि अनेक तरह के बहुत-से हैं, उन सबको भूल गये। यह तुरीयावस्था है; यथा—"सोक मोह भय हरष दिवस निसि देस काल तहँ नाहीं॥ तुलसिदास यहि दसा हीन संसय निर्मूल न जाहीं॥" (वि० १२०); हर्ष से सुख और शोक से दुःख का

अनुभव होता है। यहाँ श्रीराम-शैल के दर्शनों पर, श्रीरामजी के आश्रम में प्रवेश करने पर और श्रीराम-चरण-चिह्न के देखने पर हर्ष हुआ था और पितामरण, माता की कुटिलता और श्रीराम-वन-गमन सुनने पर शोक हुआ था—इस समय उन सबको भूल गये।

(२) 'भूतल परे लकुट की नाईं।'—लकुट की नाईं कहकर दंडवत् की क्रिया जनाई, मनुजी की दंडवत् के प्रसंग में—'परे दंड इव' और यहाँ 'लकुट की नाईं' कहा है। दंडा मोटा होता है, वैसे मनुजी को—"हृष्ट पुष्ट तन भये सुहाये।" कहा है और श्रीभरतजी—'कृशतनु राम-वियोग' से पतली लकुटी की तरह दुबले हैं। अतः, जैसे निराधार खड़ी लकुटी गिर पड़ती है, वैसे गिर पड़े।

(३) 'पाहि नाथ कहि ···'—'नाथ' शब्द से अपना सनाथ होना चाहा एवं रक्षा चाही और 'गोसाईं' शब्द से अपनेको इन्द्रिय-परतंत्र सूचित करते हुए इन्द्रियों के स्वामी श्रीरामजी से रक्षा चाही। 'जिय जाने' केवल हृदय से जाना, आँखों से नहीं देखा, क्योंकि उधर पीठ किये हुए थे।

(४) 'बंधुसनेह सरस येहि ओरा'—श्रीभरतजी बहुत दिनों पर मिल रहे हैं, इससे स्नेह अधिक है और इनपर क्रोध किया था, उसकी ग्लानि से भी स्नेह अधिक है।

'इत साहिब सेवा ···'—सेवा यह कि स्वामी श्रीरामजी ने कुछ पूछा था, ये अनुराग-पूर्वक उसका उत्तर दे रहे हैं, जब तक वह पूरा न हो तब तक दूसरी बात कैसे कहें? प्रभु को आज्ञा का पालन ही सेवा है। यथा—"आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।" (दो० ३००); 'बर जोरा' सेवा का पक्ष अत्यन्त प्रबल है, इसीसे—'रहे राखि सेवा पर भारू।' कहा है; यथा—"यह छरभार ताहि तुलसी जग जाको दास कहै हौं।" (वि० १०४)। 'चढ़ी चंग जनु···'—जब पतंग ऊँचा चढ़ जाता है, तब खेलाड़ी यत्न-पूर्वक उसे खींचकर ही दूसरा काम कर सकता है। वैसे श्रीलक्ष्मणजी प्रभु की बातों का उत्तर दे रहे थे, वही चढ़ी हुई चग है; अर्थात् उत्तर का विषय बड़ा था, पर उसे शीघ्र समाप्त करने के लिये यत्न-पूर्वक थोड़े में समाप्त करना (प्रसंग को समेटना) यह चंग का खींचना है, बात समाप्त करके तुरत कहा—'भरत प्रनाम करत···'। इस अर्थ में वाणी के साहचर्य में मन की व्यवस्था है। या, श्रीलक्ष्मणजी खेलाड़ी हैं, उनका मन चंग है, हृदय आकाश है, बंधु-स्नेह पवन है, श्रीरामजी की सेवा डोरी है। खेलाड़ी के हाथ से डोरी थोड़ी भी ढीली पड़ी कि वायु उसे आकाश मे दूर चढ़ा ले जाता है। यहाँ ये सेवा में कुछ ढीले पड़े (श्रीभरतजी के शब्दों की ओर कान गया) कि बंधु-स्नेह ने मन को दूर कर दिया, फिर इन्होंने बंधु-स्नेह की अपेक्षा स्वामी को सेवा का गौरव अधिक मानकर धीरे-धीरे मन को इधर खींचा और उसे पूर्ववत् नियुक्त कर सेवा-रूप प्रश्नोत्तर पूर्ण करके कहा—'भरत प्रनाम करत···'—जैसे खेलाड़ी चंग को स्वस्थान पर रख देता है। चग खिचती हुई रुक-रुक कर आती है, वैसे ही मन बंधु-स्नेह से रुक-रुक कर इधर आता है। यहाँ डोरी भी न टूटी अर्थात् सेवा न छूटी और मन सेवा में आ पहुँचा; अर्थात् चंग भी स्व-स्थान पर आ गई।

कहत सप्रेम नाइ महि माथा। भरत प्रनाम करत रघुनाथा ॥७॥
उठे राम सुनि प्रेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा ॥८॥

दोहा—बरबस लिये उठाइ उर, लाये कृपानिधान।
भरत राम की मिलनि लखि, बिसरे सबहिं अपान ॥२४०॥

अर्थ—पृथिवी पर शिर नवाकर वे प्रेम-सहित कहते हैं कि हे रघुकुल के नाथ! श्रीभरतजी प्रणाम करते हैं ॥७॥ यह सुनकर श्रीरामजी प्रेम से अधीर होकर उठे, कहीं वस्त्र गिरा, कहीं तर्कश, कहीं धनुष और कहीं बाण ॥८॥ उनको 'बरबस' (बलवश, बल-पूर्वक) उठाकर कृपासागर श्रीरामजी ने हृदय से लगा लिया, श्रीभरतजी और श्रीरामजी का मिलाप देखकर सभी को अपनी सुधि भूल गई ॥२४०॥

विशेष—(१) 'कहत सप्रेम नाइ···'—प्रभु के सामने खड़े हुए श्रीलक्ष्मणजी प्रश्नोत्तर देने की सेवा में थे, इधर ज्यों ही श्रीभरतजी ने 'पाहि नाथ' ! कहते हुए दंडवत् को और 'पाहि गोसाईं' कहते ही थे कि श्रीलक्ष्मणजी ने 'मन की गति' के समान शीघ्रता भी की कि अपना कथन शीघ्र पूर्ण कर पृथिवी में झुक श्रीभरतजी का प्रणाम कहा, साथ ही झुककर श्रीरामजी की दृष्टि का व्यवधान भी छोड़ दिया कि श्रीरामजी उन्हें स्वयं देख लें और अपनी बात शीघ्र समाप्त करने को वे-अदबी की क्षमा भी माँगी और निवेदन भी किया, तब श्रीभरतजी का 'पाहि गोसाईं' शब्द पूर्ण हो पाया और श्रीरामजी अधीर हो उठ दौड़े।

(२) 'उठे राम सुनि प्रेम···'—प्रेम की अधीरता की दशा उत्तरार्द्ध में कही गई है। पुनः ; यथा— "सुमिरत सुलभ, दास दुख सुनि, हरि चलत तुरत, पट पीत सँभार न। साखि पुरान निगम आगम सब जानत द्रुपद सुता अरु बारन ॥" (वि० २०१) ;

(३) 'कृपानिधान' यथा—"तुलसिदास दसा देखि भरत की उठि धाये अतिहि अधीर। लिये उठाइ उर लाइ कृपानिधि बिरह-जनित हरि पीर ॥" (गी० अ० ६६)।

(४) 'बिसरे सबहि अपान' ; यथा—"बनबासी पुरलोग महामुनि किये हैं काठ के-से कोरि।" (गी० अ० ७०)।

मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी। कवि कुल अगम करम मन बानी ॥१॥
परम-प्रेम-पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई ॥२॥
कहहु सुप्रेम प्रगट को करई। केहि छाया कवि मति अनुसरई ॥३॥
कबिहि अरथ आखर बल साँचा। अनुहरि ताल गतिहि नट नाचा ॥४॥
अगम सनेह भरत-रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधि-हरि-हर को ॥५॥
सो मैं कुमति कहउँ केहि भाँती। बाज सुराग कि गाँडरताँती ॥६॥

शब्दार्थ—गाँडर (सं० गंडाली)=मूँज की तरह की एक घास, गंड-दूर्वा। ताँत=भेड़ आदि के चमड़े, नस आदि की डोरी, सारंगी आदि के तार ; यथा—"बूझयो राग बाजी ताँति" (वि० ११४)।

अर्थ—श्रीरामजी और श्रीभरतजी के मिलने की प्रीति कैसे बखानी जाय? वह तो कवि-समाज के लिये कर्म-मन-वचन (तीनों) से अगम्य है ॥१॥ दोनों भाई परम-प्रेम से पूर्ण हैं, उन्होंने अपने-अपने मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को भुला दिया है ॥२॥ कहिये, उस सुन्दर प्रेम को कौन प्रकट करे? कवि की बुद्धि किस छाया का अनुसरण करे? ॥३॥ कवि को अर्थ और अक्षर का ही सच्चा बल है, (जैसे) नट ताल की गति के अनुसार ही नाचता है ॥४॥ श्रीभरतजी और रघुबर श्रीरामजी का प्रेम अगम है,

विशेष—'मिलनि बिलोकि भरत……'—पूर्व—'भरत राम की मिलनि लखि' पर से मिलने का प्रसंग छोड़ छः अर्द्धालियों में प्रीति का वर्णन किया, अब फिर वही पूर्व प्रसंग लिया। अतः, इतनी देर बेसुध मिले रहे, यह सूचित किया। जब देवताओं ने देखा कि श्रीरामजी तो स्वयं श्रीभरतजी के स्नेह में तन-मन भूल गये, तब उनका कलेजा धड़कने लगा, वे मूर्च्छित हो गये कि अब तो अवश्य ही श्रीभरतजी के कहने से लौट जायँगे। तब गुरु बृहस्पतिजी के समझाने पर सचेत हुए। अज्ञान के कारण देवता 'जड़' कहे गये। सोने में मनुष्य जड़के समान हो ही जाता है, उसका जगना ही सचेत होना है। देवताओं की मोह-निशा बीती और उनके ज्ञान-रूपी सूर्य का उदय हुआ।

भेंटेउ लखन ललकि लघु भाई। बहुरि निषाद लीन्ह उर लाई ॥१॥
पुनि मुनिगन दुहुँ भाइन्ह बंदे। अभिमत आसिष पाइ अनंदे ॥२॥
सानुज भरत उमगि अनुरागा। धरि सिर सिय-पद-पदुम-परागा ॥३॥
पुनि पुनि करत प्रनाम उठाये। सिर कर-कमल परसि बैठाये ॥४॥
सीय असीस, दीन्हि मन माँही। मगन सनेह देह सुधि नाहीं ॥५॥

शब्दार्थ—ललकि = प्रबल उत्साह से, चाव सहित। अनंदे = सुखी हुए।

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी छोटे भाई श्रीशत्रुघ्नजी से ललककर मिले, फिर निषाद को हृदय से लगाया ॥१॥ फिर दोनों भाइयों (श्रीभरत-शत्रुघ्न) ने मुनिगणों की वन्दना की, उनसे मनोवांछित आशिष पाकर आनंदित हुए ॥२॥ भाई सहित श्रीभरतजी ने प्रेम से उमँगकर श्रीसीताजी के चरण-कमलों की धूलि को शिरोधार्य किया ॥३॥ फिर-फिर (बार-बार) प्रणाम करते हुए उनके शिर पर हस्त-कमल फिरा कर उन्हें उठाकर बैठाया ॥४॥ श्रीसीताजी ने मन में आशिष दी, वे प्रेम में मग्न हैं, उन्हें देह की सुध नहीं है ॥५॥

विशेष—(१) 'भेंटेउ लखन ललकि……'—उपर्युक्त 'लछिमन करत प्रनाम' के अनुरोध से यहाँ लगा लेना चाहिये कि श्रीशत्रुघ्नजी के प्रणाम करने पर श्रीलक्ष्मणजी ललककर मिले। श्रीलक्ष्मणजी को चाव इससे है कि हमारा भाई परम भागवत् की सेवा में है अतएव परम भाग्यवान् है। 'निषाद' शब्द से उर लगाने में उसका भाग्य दिखाया।

(२) 'पुनि मुनिगन दुहुँ……'—मुनिगण भी श्रीरामजी के साथ कुछ उधर हो बढ़ गये थे, नहीं तो श्रीराम-लक्ष्मणजी के पीछे श्रीसीताजी को ही प्रणाम करते।

(३) 'अभिमत आसिष'—जैसे कि श्रीभरतजी ने त्रिवेणी में माँगा था; यथा—"जनम जनम रति राम पद, यह बरदान न आन ॥" (दो० २०४); एवं—"सीय राम पद सहज सनेहू।" (दो० १११); यह श्रीगंगाजी से माँगा था।

श्रीरामजी विह्वल हो गये थे—'प्रेम अधीरा' कहा गया है, पर ये सावधान रहीं, इसीसे प्यार-सूचक मुद्रा से शिर पर हाथ फेरा, फिर भी आशिष देती हुई स्नेह में मग्न हो गईं, इससे मन ही में आशिष दी।

सब बिधि सानुकूल लखि सीता। भे निसोच उर अपडर बीता ॥६॥

जहाँ ब्रह्मा-विष्णु महेश का भी मन नहीं जा सकता ॥५॥ उस प्रेम को मैं दुर्बुद्धि किस तरह कहूँ ? क्या गाँडर (घास) की ताँत से सुन्दर राग बज सकता है ? ॥६॥

विशेष—(१) 'मिलनि प्रीति किमि······'—इसीके विस्तार-रूप में आगे की पाँचो अर्द्धालियाँ हैं। उस प्रीति के स्मरण से कवियों के मन आदि अपने-अपने धर्म भूल जाते हैं, इसीसे उसका वर्णन नहीं हो सकता।

(२) 'परम-प्रेम-पूरन दोउ··'—श्रीभरतजी अंतःकरण - चतुष्टय को भूल भी जायँ, पर श्रीरामजी परब्रह्म हैं, वे कैसे भूले ? इसका समाधान यह है कि भगवान् भक्तों के भाव के प्रति तदनुसार ही वर्ताव करते हैं, यह नियम है ; यथा— "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।" (गीता ४।११)। अंतःकरण से परे आत्मा की चेतनता-मात्र शेष रही।

(३) 'जहँ न जाइ मन बिधि····· '—त्रिदेवों की वृत्तियाँ अपने-अपने गुणों तक रहती हैं, पर यह प्रीति त्रिगुणातीत है, यह सूचित किया ; यथा—"बिधि हरिहर कवि कोबिद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी ॥" (बा० दो० २) ; तब साधु शिरोमणि श्रीभरतजी और उनके इष्ट की महिमा एवं प्रीति को ये कैसे कह सकते हैं ?

(४) 'सो मैं कुमति कहउँ ·····'—भेड़ की नसों की ताँत एवं तार हो तो उससे सुन्दर राग भी निकले, घास की बटी हुई ताँत तो कमानी रगड़ते ही टूट जाती है। गाँडर का अर्थ भेड़ भी होता है। इससे भी भाव होगा कि क्या भेड़ (गाँडर) की ताँत है कि उससे सुराग निकले, यह तो गाँडर (घास) की ताँत है। अतः, इससे कुछ आशा नहीं। अपनी कुबुद्धि को गाँडर (घास) से उपमा दी है।

(५) 'कबिहि अरथ आखर बल······'—दोनों भाई अपनी-अपनी दशा के प्रकट करने में मौन हैं, तो उसे कवि कैसे कहे, जब कि इसे अक्षर और अर्थ का बल नहीं मिल रहा है। जैसे नट ताल पर नाचता है, वैसे कवि भी अर्थ-अक्षर के बल पर ही कुछ कह सकता है। प्रेम का स्वरूप ही अनिर्वचनीय है; यथा—"अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ।" (नारदभक्ति सूत्र)। प्रेम का चित्र शब्द और उसके अर्थ की सामग्री से बन ही नहीं सकता ; तो कवि-रूपी नट अपनी गति किस आधार से प्रकट करे।

मिलनि बिलोकि भरतरघुबर की। सुरगन सभय धकधकी धरकी ॥७॥
समुझाये सुरगुरु जड़ जागे। बरषि प्रसून प्रसंसन लागे ॥८॥

दोहा—मिलि सप्रेम रिपुसूदनहि, केवट भेंटेउ राम।
भूरि भाय भेंटे भरत, लछिमन करत प्रनाम ॥२४१॥

शब्दार्थ—धकधकी = कलेजा। धड़कना = धक-धक करना। जागना = सावधान होना।

अर्थ—श्रीभरतजी और रघुवर श्रीरामजी का मिलना देखकर देवता लोग डर गये और उनके कलेजे धड़कने लगे ॥७॥ देव-गुरु बृहस्पतिजी के समझाने पर वे मूर्ख सचेत हुए और फूल वर्षा कर प्रशंसा करने लगे ॥८॥ प्रेम-पूर्वक श्रीशत्रुघ्नजी से मिलकर श्रीरामजी ने केवट से भेंट की ; अर्थात् उससे गले लगाकर मिले। श्रीलक्ष्मणजी के प्रणाम करते ही श्रीभरतजी ने भी अत्यन्त प्रेम से उनसे भेंट की ॥२४१॥

विशेष—'मिलनि बिलोकि भरत ·····'—पूर्व—'भरत राम की मिलनि लखि' पर से मिलने का प्रसंग छोड़ छः अर्द्धालियों में प्रीति का वर्णन किया, अब फिर वही पूर्व प्रसंग लिया। अतः, इतनी देर बेसुध मिले रहे, यह सूचित किया। जब देवताओं ने देखा कि श्रीरामजी तो स्वयं श्रीभरतजी के स्नेह में तन-मन भूल गये, तब उनका कलेजा धड़कने लगा, वे मूर्च्छित हो गये कि अब तो अवश्य ही श्रीभरतजी के कहने से लौट जायँगे। तब गुरु बृहस्पतिजी के समझाने पर सचेत हुए। अज्ञान के कारण देवता 'जड़' कहे गये। सोने में मनुष्य जड़के समान हो ही जाता है, उसका जगना ही सचेत होना है। देवताओं की मोह-निशा बीती और उनके ज्ञान-रूपी सूर्य का उदय हुआ।

भेंटेउ लखन ललकि लघु भाई। बहुरि निषाद लीन्ह उर लाई ॥१॥
पुनि मुनिगन दुहुँ भाइन्ह बंदे। अभिमत आसिष पाइ अनंदे ॥२॥
सानुज भरत उमगि अनुरागा। धरि सिर सिय-पद-पदुम-परागा ॥३॥
पुनि पुनि करत प्रनाम उठाये। सिर कर-कमल परसि बैठाये ॥४॥
सीय असीस दीन्हि मन माँही। मगन सनेह देह सुधि नाहीं ॥५॥

शब्दार्थ—ललकि = प्रबल हलास से, चाव सहित। अनंदे = सुखी हुए।

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी छोटे भाई श्रीशत्रुघ्नजी से ललककर मिले, फिर निषाद को हृदय से लगाया ॥१॥ फिर दोनों भाइयों (श्रीभरत-शत्रुघ्न) ने मुनिगणों की वन्दना की, उनसे मनोवांछित आशिष पाकर आनंदित हुए ॥२॥ भाई सहित श्रीभरतजी ने प्रेम से उमँगकर श्रीसीताजी के चरण-कमलों की धूलि को शिरोधार्य किया ॥३॥ फिर-फिर (बार-बार) प्रणाम करते हुए उनके शिर पर हस्त-कमल फिरा कर उन्हें उठाकर बैठाया ॥४॥ श्रीसीताजी ने मन में आशिष दी, वे प्रेम में मग्न हैं, उन्हें देह की सुध नहीं है ॥५॥

विशेष—(१) 'भेंटेउ लखन ललकि ·····'—उपर्युक्त 'लछिमन करत प्रनाम' के अनुरोध से यहाँ लगा लेना चाहिये कि श्रीशत्रुघ्नजी के प्रणाम करने पर श्रीलक्ष्मणजी ललककर मिले। श्रीलक्ष्मणजी को चाव इससे है कि हमारा भाई परम भागवत् की सेवा में है अतएव परम भाग्यवान् है। 'निषाद' शब्द से उर लगाने में उसका भाग्य दिखाया।

(२) 'पुनि मुनिगन दुहुँ·····'—मुनिगण भी श्रीरामजी के साथ कुछ उधर हो बढ़ गये थे, नहीं तो श्रीराम-लक्ष्मणजी के पीछे श्रीसीताजी को ही प्रणाम करते।

(३) 'अभिमत आसिष'—जैसे कि श्रीभरतजी ने त्रिवेणी में माँगा था; यथा—"जनम जनम रति राम पद, यह बरदान न आन।" (दो० २०४); एवं—"सीय राम पद सहज सनेहू।" (दो० १९९); यह श्रीगंगाजी से माँगा था।

श्रीरामजी विह्वल हो गये थे—'प्रेम अधीरा' कहा गया है, पर ये सावधान रहीं, इसीसे प्यार-सूचक मुद्रा से शिर पर हाथ फेरा, फिर भी आशिष देती हुई स्नेह में मग्न हो गईं, इससे मन ही में आशिष दी।

सब बिधि सानुकूल लखि सीता। भे निसोच उर अपडर बीता ॥६॥

कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूछा। प्रेम भरा मन निजगति छूछा ॥७॥
तेहि अवसर केवट धीरजु धरि। जोरि पानि बिनवत प्रनामु करि ॥८॥

दोहा—नाथ साथ मुनिनाथ के, मातु सकल पुरलोग।
सेवक सेनप सचिव सब, आये बिकल बियोग ॥२४२॥

शब्दार्थ—अवडर = झूठा भय। छूछा = खाली।

अर्थ—सब तरह से श्रीसीताजी को अपने अनुकूल देखकर श्रीभरतजी सोच-रहित हो गये और झूठा भय (कि मेरे निमित्त इनके पति का अपमान हुआ, इससे रुष्ट होंगी—यह कल्पित भय) जाता रहा ॥६॥ न कोई कुछ कहता है और न कोई कुछ (कुशल-वार्त्ता आदि) पूछता है, मन प्रेम से परिपूर्ण है और अपनी गति (चंचलता रूपी चाल) से खाली हो गया है ॥७॥ उस समय केवट धैर्य धरकर और हाथ जोड़ प्रणाम करके विनती करने लगा ॥८॥ हे नाथ! मुनिनाथ श्रीवसिष्ठजी के साथ सब माताएँ, पुरवासी, सेवक, सेनापति और मंत्री—ये सब आपके वियोग से व्याकुल होकर आये हैं ॥२४२॥

विशेष—(१) 'भे निसोच···'—श्रीरामजी तो अपने अपराध पर रिसाते ही नहीं; यथा—"सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहि न काऊ॥" (दो॰ २१७)। पर ये पतिव्रता शिरोमणि हैं, अतएव पति के अपमान पर अवश्य रुष्ट होंगी—यह भय जाता रहा।

(२) 'तेहि अवसर केवट धीरज धरि···'—इस प्रसंग में 'केवट' शब्द तीन बार (आदि, मध्य और अंत में) आया है; यथा—"तब केवट ऊँचे चढ़ि धाई।" यह आदि में, "केवट भेंटेउ राम"—यह मध्य में और 'केवट धीरज धरि' यह अंत में कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि श्रीजनकजी के आगमन पर करुणा एवं स्नेह-नदी का विस्तृत रूपक कहना है। वही भाव यहाँ भी दिखाने के लिये 'केवट'-शब्द दिया, क्योंकि नदी से पार करना केवट का काम है। अतएव उसे धैर्य भी चाहिये ही, अन्यथा सभी डूब जायँ; यथा—"करनधार तुम्ह···धीरज धरिय त पाइय पारू। नाहित बूड़िहि सब परिवारू॥" (दो॰ १५१)। यहाँ चारों भाई स्नेह-नदी में निमग्न हो रहे हैं और उधर अवधवासी भी शोक-समुद्र में डूब रहे हैं, केवट के इस धैर्य-पूर्वक कथन से सभी पार होंगे।

(३) 'नाथ साथ मुनिनाथ के···'—श्रीवसिष्ठजी इस समय उधर प्रधान हैं और चक्रवर्तीजी के स्थान पर हैं, इससे उनके संग माता आदि का आना कहा, राजकुमार के साथ न कहा। पुनः श्रीभरतजी तो इस समय यहाँ ही हैं और वे लोग गुरुजी के ही साथ हैं। श्रीरामजी को स्नेह-सरित से तुरत निकालने के लिये भी मुनि का नाम कहा कि गुरु एवं माता आदि से मिलने के लिये सावधान हो जायँ और चलें; यही निषाद का केवट-कर्म है।

(४) गुरु-पुरजन आदि केवट को श्रीलक्ष्मणजी के समान मानते आये, पूर्व लिखा गया है। इस समय यह सबसे श्रीरामजी को मिलाने में श्रीलक्ष्मणजी के समान कार्य कर रहा है।

सीलसिंधु सुनि गुरु-आगवनू। सियसमीप राखे रिपुदवनू ॥१॥
चले सबेग रामु तेहि काला। धीर-धरमधुर दीनदयाला ॥२॥

गुरहि देखि सानुज अनुरागे। दंडप्रनाम करन प्रभु लागे ॥३॥
मुनिवर धाइ लिये उर लाई। प्रेम उमगि भेंटे दोउ भाई ॥४॥
प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि ते दंडप्रनामू ॥५॥

अर्थ—शील-सागर श्रीरामजी ने गुरु का आगमन सुनकर श्रीशत्रुघ्नजी को श्रीसीताजी के पास रक्खा ॥१॥ उस समय धीर, धर्म धुरंधर और दीनदयालु श्रीरामजी तेजी से चले ॥२॥ गुरुजी को देखकर भाई श्रीलक्ष्मणजी के सहित प्रभु श्रीरामजी अनुरक्त हो गये और दंडवत्-प्रणाम करने लगे ॥३॥ मुनि श्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजी ने दौड़कर उनको हृदय से लगा लिया और प्रेम से उमँग कर दोनों भाइयों से मिले ॥४॥ प्रेम से पुलकित होकर केवट ने अपना नाम कहकर दूर से दंडवत्-प्रणाम किया ॥५॥

विशेष—(१) 'सील सिंधु सुनि···'—शील-गुण सदाचार में प्रवृत्त कराता ही है; अतः, धैर्य धरकर चले। श्रीशत्रुघ्नजी को श्रीसीताजी की रक्षा में रक्खा, क्योंकि वे शत्रु-दमन में समर्थ हैं और छोटे हैं। फिर श्रीभरतजी को रखने पर पुरजनों को संदेह हो जायगा कि श्रीभरतजी को त्याग तो नहीं दिया। श्रीलक्ष्मणजी तो अपनी तरह मिलने को आतुर हैं ही।

(२) 'चले सवेग राम···'—सब हमारे वियोग में विकल होकर आये हैं, इसलिये धैर्य धारण करके चले। सबकी व्याकुलता पर दया-दृष्टि है, इससे 'दीनदयाला' कहा है। 'सवेग' से श्रद्धा की विशेषता सूचित की। गुरु-भक्ति-रूप धर्म पर आरूढ़ हैं, इससे 'धरमधुर' कहा है।

(३) 'गुरहिं देखि सानुज अनुरागे।···'—गुरु में अनुराग होना ही चाहिये; यथा—"परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहि न पुलक तन, ते जग जीवत जाय ॥" (दोहावली ४२)।

(४) 'मुनिवर धाइ लिये···'—इधर प्रभु 'धरमधुर' हैं, अपने धर्म का पालन करते हैं, तो उधर मुनि-श्रेष्ठ भी कोरे (रुक्ष) ज्ञानी नहीं हैं, किंतु सरस ज्ञानी हैं, प्रेम से दौड़कर उठा लिया। 'धाइ' से मुनि का कुछ दूर रहना जाना गया।

(५) 'प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। ···'—यह अभी गुरुजी के पास से श्रीभरतजी के साथ ही आया था, श्रीभरतजी का प्रणाम करना नहीं कहा गया, तब इसने क्यों किया? इसका समाधान 'प्रेम पुलकि' से हो जाता है कि यह श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी को प्रणाम करते देखकर प्रेम उमड़ने से भूल गया कि मैं तो अभी ही वहाँ से आया था; किन्तु उनके साथ फिर प्रणाम किया; क्योंकि स्वामी तो प्रणाम करें और वह कैसे न करे? अपनेको नीच जानकर दूर से ही प्रणाम किया, पर मुनि अपने हृदय की उच्चता का परिचय देते हैं; प्रेम में मर्यादा भूल जाते हैं। यह भी भाव है कि वह श्रीरामजी का सखा है। इस भाव से उनके साथ प्रणाम किया है, फिर ऋषि एक को उर लगाकें, दूसरे को क्यों नहीं? 'केवट' शब्द उसकी जाति की न्यूनता का सूचक है।

राम-सखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा ॥६॥
रघुपति-भगति सुमंगल मूला। नभ सराहि सुर बरषहिं फूला ॥७॥
येहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ बसिष्ठ-सम को जग माहीं ॥८॥

दोहा—जेहि लखि लखनहुँ ते अधिक, मिले मुदित मुनिराउ ।
सो सीतापति - भजन को, प्रगट प्रताप प्रभाउ ॥२४३॥

शब्दार्थ—लुठत = भूमि पर लोटते हुए । बरबस = जोरावरी से (दोनों हाथों से उठाकर) ।

अर्थ—ऋषि श्रीवसिष्ठजी ने श्रीरामजी के सखा निषादराज से जोरावरी से भेंट की, अर्थात् बलात् उसे उठाकर हृदय लगाया, मानों भूमि पर लोटते हुए स्नेह को समेट (बटोर) लिया ॥६॥ श्रीरघुनाथजी की भक्ति सुन्दर मंगलों की जड़ है, (इस तरह) प्रशंसा करके देवता लोग आकाश से फूल बरसाते हैं ॥७॥ (वे कहते हैं कि) इसके समान अत्यन्त नीच कोई नहीं है और श्रीवसिष्ठजी के समान संसार में बड़ा कौन है अर्थात् कोई नहीं है ॥८॥ जिसे देखकर श्रीलक्ष्मणजी से भी अधिक आनंदित होकर मुनिराज उससे मिले, यह श्रीसीता-पति के भजन का प्रकट प्रताप एवं प्रभाव है ॥२४३॥

विशेष—(१) 'राम-सखा रिषि बरबस भेंटा ।'—शृंगवेरपुर में मुनि का मिलाप नहीं कहा गया, क्योंकि वह श्रीभरतजी के प्रति दुर्भाव से परीक्षा के लिये आया था और श्रीवसिष्ठजी रथ पर थे। वे श्रीरामजी के लिये भी रथ से नहीं उतर सकते फिर यह तो श्रीरामजी का सखा ही है। श्रीभरतजी का वहाँ मिलना योग्य था, क्योंकि 'राम-सखा' को श्रीरामजी के तुल्य मानना योग्य ही था। यहाँ श्रीवसिष्ठजी भूमि पर हैं और इसने श्रीरामजी के साथ उनकी सखात्व दृष्टि से दंडवत् की। श्रीवसिष्ठजी ने श्रीरामजी को 'धाइ' कर हृदय लगाया तो उनके सखा को क्यों न 'बरबस' हृदय लगावें ? वहाँ 'धाइ' तो यहाँ 'बरबस' कहा गया है। पुनः शृंगवेरपुर में इससे श्रीभरतजी के मिलने पर देवताओं ने कहा था—"येहि तौ राम लाइ उर लीन्हा। कुल समेत जग पावन कीन्हा॥ करमनास जल सुरसरि परई। तेहि को कहहु सीस नहिं धरई॥" (दो० १९३); सम्भवतः इसे वहाँ श्रीवसिष्ठजी ने अपने पर कटाक्ष समझा था। अतः, उस त्रुटि का यहाँ मार्जन किया। 'जनु महि लुठत सनेह समेटा।'—स्नेह चिकने पदार्थ तेल आदि को भी कहते हैं। चिकनी वस्तु शीघ्र हाथ में नहीं आती। इसी तरह वह बराबर हटता जाता है और ऋषि उसे दोनों हाथों से पकड़कर उठाने का प्रयास करते हैं। इनके समेटने से उसका संकुचित होना एवं पीछे हटना माना गया।

(२) 'जेहि लखि लखनहुँ ते अधिक···'—पहले इसे 'राम-प्रिय' श्रीलक्ष्मणजी के समान माना था; यथा—"जानि राम-प्रिय दीन्हि असीसा।" (दो० १९२); यहाँ श्रीरामजी के साथ है और उनका सखा है, यह जानकर श्रीलक्ष्मणजी से भी अधिक माना ; अर्थात् श्रीरामजी के समान माना। यह श्रीरामजी के प्रण के अनुसार है ; यथा—"नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई॥" (वि० १६४); इसीको उत्तरार्द्ध से स्पष्ट किया गया है—

(३) 'सो सीतापति-भजन को···'—प्रायः जहाँ श्रीरामजी का अधिक परत्व कहना होता है, वहाँ ग्रन्थकार उन्हें 'सीतापति', 'सीतानाथ' आदि शब्दों से श्रीसीताजी के सम्बन्ध द्वारा कहते हैं। श्रीसीताजी—"उद्भवस्थितिसंहारकारिणी···" हैं, इनका प्रभाव ; यथा—"लोकप होहिं बिलोकत तोरे। तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरे॥" (दो० १०२); "जासु कृपा कटाच्छ सुर चाहत ··" (उ० दो० २४); ये भी जिन्हें अपना स्वामी मानें तो उसका कितना महत्त्व होगा ? यथा—"श्रियोरमणसामर्थ्यात्सौन्दर्यगुणसागरात्। श्रीराम इति नामेदं तस्य विष्णोः प्रकीर्तितम् ॥" (हारीतस्मृति); ऐसे प्रभु श्रीरामजी का जो भजन करता है और उनकी कृपा का पात्र है; उसकी बड़ाई में जो भी कहा जाय थोड़ा ही है। भजन के प्रताप से

ही श्रीवसिष्ठजी उससे बरबस मिले और भजन ही के प्रभाव से वह पवित्र माना गया; यथा—"विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्। मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थप्राणं पुनाति सकुलं न तु भूरिमानः॥" (भाग० ७।९।१०)।

आरत लोग राम सब जाना। करुनाकर सुजान भगवाना ॥१॥
जो जेहि भाय रहा अभिलाषी। तेहि तेहि कै तसि तसि रुख राखी॥२॥
सानुज मिलि पल महुँ सब काहू। कीन्हि दूरि दुख दारुन दाहू ॥३॥
येहि बड़ि बात राम कै नाहीं। जिमि घट कोटि एक रबि छाहीं ॥४॥

अर्थ—करुणा की खान, सुजान, भगवान् श्रीरामजी ने सब लोगों को दुखी जाना ॥१॥ इससे जो-जो जिस भाव से (मिलने के) अभिलाषी थे, उन-उनकी उसी-उसी तरह रुचि रक्खी ॥२॥ भाई के साथ सब किसी से पल-भर में मिलकर दुःख से होनेवाली कठिन जलन को मिटा दिया ॥३॥ श्रीरामजी के लिये यह कोई बड़ी बात नहीं है, जैसे करोड़ों (जलपूर्ण) घड़ों में एक ही सूर्य का प्रतिबिंब दिखाई देता है ॥४॥

विशेष—(१) 'आरत लोग राम सब···'—'राम' हैं, इसीसे 'जाना', क्योंकि सबमें रमण करते हैं। 'करुनाकर' हैं, इसीसे सब दुःखियों पर दया आई; यथा—"करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइअहि पीर पराई ॥" (दो० ८४)। करुणा हो, पर आश्रितों की व्यवस्था न जाने, तो भी कार्य नहीं चलता; अतः, ये 'सुजान' भी हैं। जानकर भी पोषण का सामर्थ्य न हो, तो भी जानना व्यर्थ है; अतः, ये भगवान् (षडैश्वर्यवान्) भी हैं।

(२) 'जो जेहि भाय रहा···'—कोई पुत्र भाव, कोई सखा भाव, कोई राजा भाव, कोई शिष्य भाव आदि के थे, उनकी रुचि के अनुसार ही, किन्तु उसी उदासीन वेष से मिले, दूसरा रूप नहीं धारण किया, क्योंकि १४ वर्ष इसी वेष में रहने की प्रतिज्ञा की है। इसीसे वैसी ही उपमा—'जिमि घट कोटि एक रबि छाहीं' की दी गई है। इसमें सबके भाव घट और श्रीरामजी रवि हैं। उत्तरकांड के मिलाप में अनेक रूप हुए, क्योंकि १४ वर्ष पूर्ण हो चुके थे।

(३) 'जिमि घट कोटि एक रबि छाहीं'; यथा—"एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत् ॥" (ब्रह्मबिन्दु १२); तथा—"जिन्हके रही भावना जैसी। प्रभुमूरति देखी तिन्ह तैसी ॥" (बा० दो० २४०)।

दोहा—भेंटी रघुबर मातु सब, करि प्रबोध परितोष।
अंब ईस - आधीन जग, काहु न देइय दोष ॥२४४॥

अर्थ—अनुराग से उमड़कर केवट से मिलकर सब पुरवासी भाग्य की सराहना करते हैं ॥५॥ श्रीरामजी ने दुखी-माताओं को देखा (वे ऐसी हो रही हैं) मानों पाला मारी हुई सुन्दर वेलों की पंक्तियाँ हैं ॥६॥ पहले श्रीरामजी कैकेयीजी से मिले, ये सीधे स्वभाव के हैं, मातृ भक्ति रस में इनकी बुद्धि भीगी हुई है ॥७॥ चरणों पर पड़कर फिर काल, कर्म और ब्रह्मा के शिर पर दोष रखकर उनको समझाया ॥८॥ श्रीरघुनाथजी सब माताओं को समझा और प्रसन्न करके उनसे मिले, (और बोले कि) माता! जगत् ईश्वर के अधीन है, किसीको दोष न दीजिये ॥२४४॥

विशेष—(१) 'मिलि केवटहि उमगि ···'—; यथा—"कहहि लहेहु येहि जीवन लाहू। भेंटेउ राम भद्र भरि बाहू ॥ सुनि निषाद निज भाग बड़ाई ॥" (दो० १९५); ऐसा शृंगबेरपुर में हुआ था। पर वहाँ पुरवासी लोग इससे न मिले थे। यहाँ तो गुहजी ने भाग खोल दिया, इससे सब कोई इससे मिलने में अपना अहोभाग्य समझते हैं और अपना भाग्य सराहते हैं।

(२) 'जनु सुवेलि अवली'—यहाँ पान की लता समझना चाहिये, क्योंकि वह बड़ी नाजुक होती है और उसकी बड़ी सार-सँभार होती है।

(३) 'सरल सुभाय भगति मति भेई।'; यथा—"तुलसी सरल भाय रघुराय माय मानी काय मन बानी हूँ न जानी कै मतेई है।" (क० अ० ३)।

(४) 'काल करम बिधि सिर धरि खोरी।'—काल का फेर था कि अभिषेक की तैयारी होने पर आपकी मति फिर गई। कर्म का फल है, समय पाकर इसी बहाने से उदय हुआ, (तापस अंध का शाप कर्म से ही हुआ था)। यह सब ब्रह्मा की करनी है, नहीं तो क्या उसी समय चेरी की बुद्धि फिरती और वह आपको उल्टा बोध कराती?

(५) 'अंब ईस आधीन जग···'—'ईस'; यथा—"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥" (गीता १८।६१)। उपर्युक्त काल-कर्म आदि का भी नियंता ईश्वर ही है; यथा—"माया, जीव, काल के करम के सुभाय के करैया राम बेद कहैं साँची मन गुनिये ॥" (हनु० बाहुक); ज्योतिषी काल का और मीमांसक कर्म का दोष कहते हैं, ब्रह्मा तो कर्मानुसार ही विधान करते हैं। ये भी श्रीरामजी के ही आश्रित हैं, यथा—"बिधिहि बिधिता जेहि दई। सोइ जानकी पति···" (वि० १३५); अभिप्राय यह है कि हमें ऐसा ही करना था।

गुरु - तिय - पद बंदे दुहु भाई। सहित बिप्रतिय जे संग आई ॥१॥
गंग - गौरि - सम सब सनमानी। देहिं असीस मुदित मृदु बानी ॥२॥
गहि पद लगे सुमित्रा अंका। जनु भेंटी संपति अति रंका ॥३॥
पुनि जननी - चरनन्हि दोउ भ्राता। परे प्रेम ब्याकुल सब गाता ॥४॥
अति अनुराग अंब उर लाये। नयन सनेह सलिल अन्हवाये ॥५॥

तेहि अवसर कर हरष बिषादू। किमि कबि कहइ मूक जिमि स्वादू॥६॥
मिलि जननिहि सानुज रघुराऊ। गुरु सन कहेउ कि धारिय पाऊ॥७॥
पुरजन पाइ मुनीस - नियोगू। जल थल तकि तकि उतरे लोगू॥८॥

दोहा—महिसुर मंत्री मातु गुरु, गने लोग लिये साथ।
पावन आश्रम गवन किय, भरत लखन रघुनाथ॥२४५॥

अर्थ—दोनों भाइयों ने संग में आई हुई ब्राह्मणों की स्त्रियों के साथ गुरु-पत्नी के चरणों की वन्दना की ॥१॥ सबों का गंगा-गौरी के समान सम्मान किया, वे सब प्रसन्न होकर कोमल वाणी से आशीर्वाद दे रही हैं ॥२॥ चरण पकड़ (प्रणाम) कर श्रीसुमित्राजी की गोद में जा लगे, मानों अत्यन्त कंगाल को सम्पत्ति से भेंट हुई ॥ ३॥ फिर दोनों भाई माता कौशल्याजी के चरणों में पड़े, सब अंग प्रेम से व्याकुल हैं ॥४॥ अत्यन्त अनुराग से माता ने हृदय से लगाया और नेत्रों के प्रेमाश्रु से उन्हें नहला दिया ॥५॥ उस समय का हर्ष और शोक कवि कैसे कहे ? जैसे गूँगे का स्वाद (कथन अशक्य है) ॥६॥ श्रीरघुनाथजी ने भाई के साथ माता से मिलकर गुरुजी से कहा कि (आश्रम पर) चलिये ॥७॥ मुनीश्वर श्रीवसिष्ठजी की आज्ञा पाकर पुरवासी लोग जल, स्थल (अनुकूल) देख-देखकर उतरे (डेरा डाला) ॥८॥ ब्राह्मण, मंत्री, माता, गुरु आदि गिने (मुख्य-मुख्य कुछ) लोगों को साथ लिये हुए श्रीभरतजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीरघुनाथजी पवित्र आश्रम को चले ॥२४५॥

विशेष—(१) श्रीसुमित्राजी और श्रीकौशल्याजी से पीछे मिलें; क्योंकि ये इन (श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी) की अपनी माता हैं, शेष विमाताओं से पहले मिले, क्योंकि शास्त्र में अपनी माता से दश गुणा विमाता का गौरव कहा है। यह भी भाव है कि ये दो मुख्या हैं, इससे पीछे मिले, क्योंकि आवरण के देवताओं की पूजा करने के पीछे प्रधान की पूजा होती है।

(२) 'तेहि अवसर कर···'—हर्ष मिलने का और विषाद श्रीरामजी आदि के उदासीन वेष देख एवं राजा की मृत्यु स्मरण करने से है। 'मूक जिमि स्वादू'—जैसे गूँगा उत्तम वस्तु खाकर स्वाद का अनुभव करता हुआ भी उसे कह नहीं सकता, क्योंकि वह बोल नहीं सकता। वैसे ही माता अवाक् हो गई हैं। उनका अनुभव उनके ही हृदय में रह गया, कवि उसका अनुभव भी नहीं कर सकता, तो कहे कैसे ?

(३) 'जल थल तकि · '—अपने-अपने ठहरने के योग्य स्थल और उपयुक्त जल का सुपास देखकर ठहर गये, क्योंकि श्रीरामजी के आश्रम के पास मुनियों के आश्रम हैं, जिससे उन्हें कष्ट भी न हो और वहाँ थोड़ी जगह में सब समा भी नहीं सकते थे।

सीय आइ मुनिबर-पग लागी। उचित असीस लही मन माँगी॥१॥
गुरुपतिनिहि मुनितियन्ह समेता। मिली प्रेम कहि जाइ न जेता॥२॥
बंदि बंदि पग सिय सबही के। आसिरबचन लहे प्रिय जी के॥३॥
सासु सकल जब सीय निहारी। मूँदे नयन सहमि सुकुमारी॥४॥

परी बधिकबस मनहुँ मराली। काह कीन्ह करतार कुचाली ॥५॥
तिन्ह सिय निरखि निपट दुख पावा। सो सब सहिय जो दैव सहावा ॥६॥
जनकसुता तब उर धरि धीरा। नील-नलिन-लोयन भरि नीरा ॥७॥
मिली सकल सासुन्ह सिय जाई। तेहि अवसर करुना महि छाई ॥८॥

दोहा—लागि लागि पग सबनि सिय, भेटति अति अनुराग।
हृदय असीसहिं प्रेमबस, रहियहु भरी सोहाग ॥२४६॥

शब्दार्थ—भरी सोहाग = सिंदूर सौभाग्य का चिह्न है, उसका माँग में भरना (लगाना) सुहाग भरना है, इसके बिना स्त्रियाँ विधवा समझी जाती हैं।

अर्थ—श्रीसीताजी आकर मुनिश्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजी के चरणों में लगीं और इच्छित उचित आशिष पाईं ॥१॥ मुनियों की स्त्रियों के साथ गुरु-पत्नी-श्रीअरुंधतीजी से मिलीं, जितना प्रेम है, वह कहा नहीं जाता ॥२॥ सभी के चरणों की (पृथक् पृथक्) वंदना करके उनसे जी को प्यारे लगनेवाले आशीर्वाद पाये ॥३॥ जब श्रीसीताजी ने सासों को देखा तब डरकर उन सुकुमारी ने नेत्र बंद कर लिये (सासों की विधवा दशा देखी न गई) ॥४॥ (श्रीसीताजी ऐसी डरी हुई हैं कि) मानों हंसिनी व्याधा के वश में पड़ गई हो (श्रीसीताजी हृदय में शोचती हैं कि) विधाता ने क्या कुचाल की है? ॥५॥ उन सासों ने भी श्रीसीताजी को देखकर अत्यन्त दुःख पाया (और वे शोचती हैं कि) जो कुछ दैव सहावे वह सहना ही होता है ॥६॥ तब जनकसुता श्रीसीताजी ने धैर्य धारण किया और नीलकमल के समान नेत्रों में आँसू भरकर ॥७॥ सब सासों से जाकर मिलीं, उस समय पृथिवी पर करुणा छा गई ॥८॥ सब के चरणों में लग-लगकर श्रीसीताजी बड़े ही अनुराग-पूर्वक मिल रही हैं, वे सब प्रेमवश हैं, हृदय से आशिष देती हैं कि सौभाग्य से भरी-पूरी रहोगी ॥२४६॥

विशेष—(१) 'उचित असीस ......'—'पति प्रिय होहु', 'होइ अचल तुम्हार अहिवाता।' आदि। पतिव्रता स्त्रियाँ पति की ही अचलता एवं प्रियत्व चाहती हैं; यथा—"प्रान नाथ देवर सहित, कुसल कोसला आइ। पूजिहि सब मन कामना, सुजस रहिहि जग छाइ॥" (दो० १०३); इसपर 'मुदित सीय सुरसरि अनुकूला।' कहा है। आशीर्वाद का एक नाम न देने से सबके मत आ सकते हैं।

(२) 'मूँदे नयन सहमि......'—श्रीसीताजी अत्यन्त सुकुमारी हैं, इससे डर गई हैं, वधिक-वश मराली की तरह दीखती हैं। इसे कोई-कोई सासों में लगाते हैं, पर 'परी' एकवचन है और 'सुकुमारी' और 'मराली' भी श्रीसीताजी के ही विशेषण संगत हैं, पूर्व कई जगह कहे गये हैं।

(३) 'सो सब सहिय जो दैव सहावा।'—जैसा कि अभी श्रीरामजी ने समझाया ही है—'ईस-आधीन जग...' इत्यादि; अर्थात् दैव ने ही कैकेयीजी की मति फेरकर ऐसा किया कि ये वन को आईं।

(४) 'जनकसुता तब उर......'—धैर्य धरने के सम्बन्ध में 'जनकसुता' कहा; क्योंकि श्रीजनकजी धीर एवं ज्ञानी हैं; यथा—"ज्ञान निधान ''परम धीर नरपाल।" (दो० २११); "धुर धीर जनक से।" (दो० २११); श्रीसीताजी के हृदय में इस समय करुणा रस है, उसका रंग कबूतर का-सा धूमिल कहा गया है, इसीसे इनके नेत्रों को 'नील नलिन' की उपमा दी गई है।

(५) 'करुना महि छाई'—सासें सात सौ हैं, सभी श्रीसीताजी के साथ रोने लगीं, जगह एवं मैदान में हैं, इससे दूर तक शब्द गये। 'करुना'; यथा—"मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं, सोक न हृदय समाइ। मनहुँ करुन रस कटकई, उतरी अवध बजाइ॥" (दो० ४१); (इसीका भाव यहाँ भी है)।

बिकल सनेह सीय सब रानी। बैठन सबहि कहेउ गुरु ज्ञानी ॥१॥
कहि जगगति मायिक मुनिनाथा। कहे कछुक परमारथ गाथा ॥२॥
नृप कर सुरपुर-गवन सुनावा। सुनि रघुनाथ दुसह दुख पावा ॥३॥
मरन-हेतु निज नेह बिचारी। भे अति बिकल धीर-धुर-धारी ॥४॥
कुलिस कठोर सुनत कटु बानी। बिलपत लखन सीय सब रानी ॥५॥
सोक बिकल अति सकल समाजू। मानहुँ राज अकाजेउ आजू ॥६॥
मुनिबर बहुरि राम समुझाये। सहित समाज सुसरित नहाये ॥७॥
ब्रत निरंबु तेहि दिन प्रभु कीन्हा। मुनिहु कहे जल काहु न लीन्हा ॥८॥

दोहा—भोर भये रघुनंदनहि, जो मुनि आयसु दीन्ह।
श्रद्धा-भगति-समेत, प्रभु सो सब सादर कीन्ह ॥२४७॥

शब्दार्थ—धीर-धुर-धारी = धीर यहाँ धैर्य के अर्थ में है = धैर्य रूपी बोझे को धारण करनेवाले। अकाजना = मरना। गति = व्यवहार, चाल।

अर्थ—श्रीसीताजी और सब रानियाँ स्नेह से व्याकुल हैं, ज्ञानी गुरुजी ने सबको बैठने के लिये कहा ॥१॥ जगत् के व्यवहार को मायिक (भ्रमात्मक, ऐन्द्रजालिक) कहकर मुनिनाथ श्रीवसिष्ठजी ने कुछ परमार्थ की कथाएँ कहीं ॥२॥ राजा का स्वर्ग-गमन कह सुनाया, सुनकर श्रीरघुनाथजी ने दुस्सह दुःख पाया ॥३॥ मरने का कारण अपना स्नेह विचार कर धैर्य की धुरी के धारण करनेवाले श्रीरामजी अत्यंत व्याकुल हुए ॥४॥ वज्र की तरह कठोर कड़वी वाणी सुनकर श्रीलक्ष्मणजी, श्रीसीताजी और सब रानियाँ विलाप करने लगीं ॥५॥ सब समाज शोक से अत्यन्त व्याकुल हैं, मानों राजा आज ही मरे ॥६॥ फिर मुनिश्रेष्ठ ने श्रीरामजी को समझाया, तब उन्होंने समाज के साथ श्रेष्ठ नदी (पयस्विनी) में स्नान किया ॥७॥ उस दिन प्रभु श्रीरामजी ने निर्जल व्रत किया, मुनि के भी कहने पर किसीने जल नहीं लिया ॥८॥ सवेरा होने पर श्रीरघुनाथजी को मुनि ने जो-जो आज्ञाएँ दीं, उन सबको प्रभु ने श्रद्धा और भक्ति के साथ किया ॥२४७॥

विशेष—(१) 'गुरु ज्ञानी'—ज्ञानी विशेषण से इन्हें सावधान बनाया और यह भी किये सबके शोक दूर करेंगे; यथा—"सोक निवारेउ सबहिं कर, निज विज्ञान प्रकास।" (दो० १५६); यह श्रीअवध में किया था, वैसे यहाँ भी करेंगे।

(२) 'कहि जगगति मायिक ...'—जगत् का व्यवहार माया-कृत है; यथा—"जनम मरन जहँ लगि जग जालू। संपति बिपति करम अरु कालू॥ धरनि धाम धन पुर परिवारू। सरग नरक जहँ लगि

व्यवहारू ॥···मोह मूल परमारथ नाहीं ॥" (दो० ९१); (यह प्रसंग देखिये) जगत् के शत्रु-मित्र-मध्यस्थ आदि भाव मनःकल्पित हैं, अज्ञान ही इनका कारण है और यही माया है। 'कहे कछुक परमारथ गाथा'—परमार्थ के बहुत अंश जगत् की गति कहने में आ गये, इससे कुछ परमार्थ-कथा कहनी पड़ी। परमार्थ-प्रसंग—"कहि परमारथ बचन सुदेसे।" (दो० १९८) में देखिये।

ज्ञानी मुनि ने प्रथम जगत् की व्यवस्था को भ्रमात्मक कहा, जगत् से अरुचि कराई। तब परमार्थ की कथाएँ कहीं। इस तरह सबके हृदय में बल देकर तब पिता का मरण सुनाया कि जिससे दुःख सहन हो एवं धैर्य रहे। ऐसे ही श्रीसुमंत्रजी ने प्रथम परमार्थ की बातें कहकर तब श्रीरामजी के वन गमन का असह्य संदेशा राजा को सुनाया था।

(३) 'सुनि रघुनाथ दुसह दुख पावा।'—श्रीरामजी ने पिता के सुखी रहने के निमित्त बहुत-से उपाय किये थे। श्रीलक्ष्मणजी से, पुरजनों से, श्रीसुमंत्रजी से एवं श्रीसुमंत्रजी के द्वारा गुरुजी से भी कहा था, प्रार्थना की थी, वे ही न रहे। फिर उन्होंने हमारे ही लिये स्नेहवश प्राण छोड़े; इसीसे श्रीरामजी 'अति विकल' हुए। मरण सुनते ही दुसह दुःख हुआ और कारण सुनने पर तो वे अत्यन्त व्याकुल हो ही गये। श्रीरामजी 'धीर धुरधारी' हैं, तब भी अधीर हो गये, इससे अत्यन्त शोक जनाया।

(४) 'कुलिस कठोर सुनत···'—वचन हृदय पर आघात पहुँचाने में वज्र से भी कठोर और सुनने में कड़वे हैं।

(५) 'मानहुँ राज अकाजेउ आजू।'—सबके एक-साथ रोने से ऐसा कहा गया, क्योंकि मरने पर सब एक-साथ ही रोते हैं।

(६) 'मुनिबर बहुरि राम···'—'बहुरि' का अर्थ यहाँ 'फिर' 'तब' है, दोहराने का नहीं। श्रीरामजी को समझाने में सभी सुनते और समझते हैं। 'राम' शब्द ऐश्वर्य-परक है, इससे यह भी गर्भित है कि यहाँ मुनि ने कुछ इनका ऐश्वर्य भी कहा, तब आप सावधान हुए।

(७) 'ब्रत निरंबु तेहि दिन···'—धर्मशास्त्र की यह रीति है कि जिस दिन पिता मरे या पुत्र उसे सुने, उस दिन वह निराहार व्रत करे। इससे श्रीरामजी ने निर्जलव्रत किया, श्रीअवधवासी लोग भी स्वामी के साथ व्रत करने लगे। इसपर मुनि ने कहा कि आज तो व्रत श्रीरघुनाथजी के लिये कर्त्तव्य है और लोग तो श्रीअवध में कर ही चुके हैं, उनके लिये आवश्यक नहीं है। पर अवधवासियों ने स्वामि-भक्ति से स्वामी के साथ व्रत किया, क्योंकि स्वामी तो निराहार रहें और हमलोग आहार करें, यह अयोग्य है। मुनि ने सामान्य रीति कही और इन लोगों ने विशेष धर्म निबाहा, यह और भी उत्तम हुआ। इसपर मुनि को प्रसन्नता ही हुई। जैसे श्रीअवध में श्रीभरतजी ने राज्य लेने की गुरु-आज्ञा न मानी, तो उसपर गुरुजी प्रसन्न ही हुए थे।

(८) 'श्रद्धा-भगति-समेत प्रभु···'—धर्म में श्रद्धा प्रधान अंग है ; यथा—"श्रद्धा बिना धरम नहिं होई।" (उ० दो० ९९) ; भक्ति भी चाहिये ही ; यथा—"भगति सहित मुनि आहुति दीन्हे।" (बा० दो० १८८) ; आदर-सहित भी होना चाहिये ; यथा—"भूप धरम जे बेद बखाने। सकल करइ सादर सुख माने॥" (बा० दो० १५४)। श्रद्धा और भक्ति-सहित धर्म करना ही धर्म का आदर करना है। 'रघुनंदनहि'—आप रघुकुल को आनंद देनेवाले हैं, कुल के अनुरूप, किन्तु विशेषता से धर्म कर रहे हैं। 'प्रभु'—समर्थ हैं, न भी करें तो इन्हें दोष नहीं, किन्तु परलोक-संग्रह के लिये करते हैं ; यथा—"यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।···" (गीता ३।२३–२४)।

करि पितुक्रिया वेद जसि बरनी। भे पुनीत पातक-तम-तरनी ॥१॥
जासु नाम पावक अघतूला। सुमिरत सकल सुमंगल-मूला ॥२॥
सुद्ध सो भयेउ साधु संमत अस। तीरथ-आवाहन सुरसरि जस ॥३॥

शब्दार्थ—आवाहन = आह्वान, मंत्र के द्वारा किसी देवता का बुलाना।

अर्थ—वेदों में जैसा कहा गया है, वैसे पिता की क्रिया करके पाप-रूपी अंधकार (नाश करने) के लिये सूर्य-रूप श्रीरामजी पवित्र हुए ॥१॥ जिसका नाम पाप-रूपी रुई को (शीघ्र जलाने के लिये) अग्नि है और स्मरण करने से सुन्दर मंगलों का कारण है ॥२॥ वे शुद्ध हुए, (इसपर) साधुओं का सम्मत ऐसा है जैसे गंगाजी में तीर्थों का आवाहन; अर्थात् सर्वतीर्थमयी गंगाजी में और तीर्थों के आवाहन की आवश्यकता नहीं, पर लोक-रीति से होता है। वैसे शुद्ध सच्चिदानंद-विग्रह श्रीरामजी कर्म से शुद्ध नहीं हुए, वे नित्य शुद्ध ही हैं, पर लोक-रीति से कर्म किया, इससे यह भी कहा जाता है कि श्रीरामजी कर्म करके शुद्ध हुए ॥३॥

विशेष—(१) 'करि पितुक्रिया···'-पिता की क्रिया की, और उससे शुद्ध हुए, इसीपर आगे सूर्य, अग्नि और गंगाजी की उपमाएँ दीं। इससे सूचित किया कि श्रीरामजी समर्थ हैं, अतः इन्हें दोष का स्पर्श नहीं हो सकता; यथा—"समरथ कहँ नहिं दोष गोसाईं। रवि पावक सुरसरि की नाईं ॥" (बा० दो० ६८); पाप नाश करने में आप सूर्य-रूप हैं, बिना श्रम के नाश करते हैं; यथा—"उयेउ भानु बिनु श्रम तम नासा।" (बा० दो० २३८); तब इन्हें पाप कैसे स्पर्श कर सकता है ? थोड़ी-सी भी आग रुई के पहाड़ को भस्म कर सकती है, वैसे ही आपका नाम पाप-पुंज का नाशक है; यथा—"तीरथ अमित कोटि सत पावन। नाम अखिल अघ पूग नसावन ॥" (उ० दो० ९१)। अर्थात् श्रीरामजी के रूप-दर्शन और नामस्मरण दोनों ही से पाप नाश होते हैं।

सुद्ध भये दुइ बासर बीते। बोले गुरु सन राम पिरीते ॥४॥
नाथ लोग सब निपट दुखारी। कंद-मूल-फल-अंबु-अहारी ॥५॥
सानुज भरत सचिव सब माता। देखि मोहि पल जिमि जुग जाता ॥६॥
सब समेत पुर धारिय पाऊ। आप इहाँ अमरावति राऊ ॥७॥
बहुत कहेउँ सब कियेउँ ढिठाई। उचित होइ तस करिय गोसाईं ॥८॥

दोहा—धरमसेतु करुनायतन, कस न कहहु अस राम।
लोग दुखित दिन दुइ दरस, देखि लहहिं बिश्राम ॥२४८॥

अर्थ—जब शुद्ध हुए दो दिन बीत गये, तब प्यारे श्रीरामजी गुरुजी से प्रीति-सहित बोले ॥४॥ हे नाथ ! सब लोग कंद, मूल, फल और जल के आहार करते हुए सर्वथा दुखी हैं ॥५॥ भा-

श्रीभरतजी को, मंत्री लोगों और सब माताओं को देखकर मुझे एक-एक पल युग के समान जा रहा है ॥६॥ सब के साथ आप श्रीअवधपुरी को पधारें, आप यहाँ हैं और राजा इन्द्रपुरी में हैं; (अर्थात् श्रीअयोध्या सूनी है, कोई शत्रु आ न जाय) ॥७॥ मैंने बहुत कहा, यह सब ढिठाई की, जैसा उचित हो, हे गोसाईं! वैसा आप करें ॥८॥ (गुरुजी ने कहा) श्रीरामजी! तुम धर्म के पुल हो और करुणा के स्थान हो, फिर तुम ऐसा क्यों न कहो? (ऐसा कहना तुम्हारे योग्य ही है) परन्तु लोग दुखी हैं, दो दिनों से (तुम्हारे) रूप को देखकर विश्राम पा रहे हैं, एवं पावें ॥२४८॥

विशेष—(१) 'सुद्ध भये दुइ बासर बीते'—पिता की जितनी अधिक योग्यता हो, उतने ही सूतक के कम दिन लगते हैं। जैसे कि शूद्रों के १ मास तो ब्राह्मणों के दश दिन, संन्यासी के वह भी नहीं। यहाँ सूतक के दिन न देने में सबके मत की रक्षा है। शुद्ध होने के पीछे की ही दिन-संख्या है। 'पिरीते' शब्द के 'प्यारे' और 'प्रीति-पूर्वक', ये दो अर्थ 'राम' और 'बोले' के साथ हैं।

(२) 'कंद-मूल-फल-अंबु-अहारी'—यह मुनियों का भोजन है, पर अब अवधवासियों का यही आहार हो रहा है, तब दुखी अवश्य होंगे। पहले इन सबका आहार—"पय अहार फल असन ···" आदि कहा गया, वह उनका स्वेच्छित व्रत-रूप में था, किंतु यहाँ उपर्युक्त कंद आदि के अतिरिक्त और आहार मिलता ही नहीं।

(३) 'सब समेत पुर धारिय पाऊ।'—निषादराज ने कहा था—"नाथ साथ मुनिनाथ के, मातु···" इसीसे उन्हींसे कहते हैं कि सबके साथ पुर को पधारिये। पिता के न रहने पर अब ये ही सबके रक्षक हैं; यथा—"गुरु प्रभाव पालिहि सबहिं ···" (दो० २०५); 'सब समेत' कहने का यह भी भाव है कि हमारा व्रत विशेष उदासीन रहने का है, लोगों के साथ रहने में उसमें बाधा पड़ेगी। 'आप इहाँ···' अर्थात् पुरी सूनी है।

(४) 'बहुत कहेउँ सब कियेउँ······'—अर्थात् अब और ढिठाई करनी अयोग्य है, जो उचित हो वही कीजिये। 'गोसाईं' अर्थात् मैं भी आपके अधीन ही हूँ।

(५) 'धरम सेतु करुनायतन······'—आप धर्म के पुल हैं, पुल पर से सभी पार होते हैं, वैसे ही आप धर्म के मार्ग-स्थापक हैं; यथा—"मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।" (गीता ३।२३); आपके आचरित मार्ग पर चलने से लोग भव-नदी से पार होते हैं। पिता की आज्ञा का पालन, गुरु-मर्यादा-रक्षण और लोगों पर दया (करुणा) है, यह सब धर्म ही है, इसीसे श्रीरामजी 'करुनायतन' भी कहे गये हैं।

(६) 'लोग दुखित दिन······'—आप इनको दुखी मान रहे हैं, पर ये यहाँ आकर विश्राम पा रहे हैं। 'लहहिं' का 'लहहुँ' पाठ भी हो तो अर्थ 'लहैं' अर्थात् पावें यही होगा। दो दिन अर्थात् कुछ दिन और रहें, इन्हें आपके दर्शन ही में सुख है; यथा—"पुरजन परिजन प्रजा गोसाईं। सब सुचि सरस सनेह सगाईं॥ राउर बदि भल भव-दुख-दाहू। प्रभु बिनु बादि परम पद लाहू॥" (दो० ३१२)।

रामबचन सुनि सभय समाजू। जनु जलनिधि महुँ बिकल जहाजू ॥१॥
सुनि गुरुगिरा सुमंगल-मूला। भयेउ मनहु मारुत अनुकूला ॥२॥
पावन पय तिहुँ काल नहाहीं। जो बिलोकि अघओघ नसाहीं ॥३॥
मंगलमूरति लोचन भरि भरि। निरखहिं हरषि दंडवत करि करि ॥४॥
राम-सैल-बन देखन जाहीं। जहँ सुख सकल सकल दुख नाहीं ॥५॥

झरना झरहिं सुधा - सम बारी । त्रिविध ताप-हर त्रिविध बयारी ॥६॥
बिटप बेलि तृन अगनित जाती । फल प्रसून पल्लव बहु भाँती ॥७॥
सुंदर सिला सुखद तरु - छाहीं । जाइ बरनि बन-छबि केहि पाहीं ॥८॥

दोहा—सरनि सरोरुह जलबिहग, कूजत गुंजत भृंग ।
बैर बिगत बिहरत बिपिन, मृग बिहंग बहुरंग ॥२४९॥

अर्थ—श्रीरामजी के वचन सुनकर समाज भयभीत हो गया, मानों समुद्र में जहाज (डूबने के डर से) व्याकुल हो ॥१॥ उसपर गुरुजी के सुन्दर मंगल-मूलक वचन सुनकर मानों वायु अनुकूल हो गया ॥२॥ पवित्र पयस्विनी (एवं पवित्र जल) में तीनों काल स्नान करते हैं, जिसके दर्शनों से ही पाप-समूह नाश हो जाते हैं ॥३॥ मंगल-मूर्त्ति श्रीरामजी को हर्षपूर्वक दंडवत् कर-कर के नेत्र भर-भर कर देखते हैं ॥४॥ श्रीरामजी के पर्वत (कामतानाथ) और वन को देखने जाते हैं, जहाँ सभी सुख हैं और सभी दुःख नहीं हैं ॥५॥ झरने अमृत के समान जल स्रवते हैं, तीनों प्रकार के (शीतल, मंद, सुगंध) वायु तीनों तापों (दैहिक, दैविक, भौतिक) को हर लेते हैं ॥६॥ वृक्ष, लता और तृण असंख्य जाति के हैं और उनके फल, फूल, पल्लव, बहुत तरह के हैं ॥७॥ सुन्दर चट्टानें हैं, पेड़ों की छाया सुख देनेवाली हैं, वन की छवि किससे वर्णन की जा सकती है ? अर्थात् किसीसे भी नहीं ॥८॥ तालाबों में कमल हैं, जल-पक्षी कूजते और भौंरें गूँजते हैं, बहुत रंग के मृग और पक्षी वन में वैर-रहित होकर विहार कर रहे हैं ॥२४९॥

विशेष—(१) 'राम बचन सुनि सभय ···'—सबकी अभिलाषा है कि श्रीरामजी चलकर राजा हों ; यथा—"राजा राम जानकी रानी ।···अछतराम राजा···" (दो० २७२) ; ये वचन उसके प्रतिकूल हैं, इससे भय हुआ, उसे रूपक से कहते हैं ; यथा—'जनु जलनिधि महुँ ···'—इसमें विरह समुद्र, समाज जहाज, राम वचन प्रतिकूल वायु और गुरु-गिरा अनुकूल वायु हैं। अनुकूल वायु जहाज को उसके गन्तव्य मार्ग की ओर ले चलता है, उसी तरह गुरु-वचन समाज के अभीष्ट-पोषक हैं, इसीसे सब किसीने उन्हें मंगल-मूलक माना है। (पहले जहाज हवा के सहारे पाल चढ़ाकर चलाये जाते थे, वैसा ही रूपक है)।

(२) 'पावन पय तिहुँ काल···'—यहाँ पुरवासियों की दिनचर्या कहते हैं।

(३) 'भरि भरि' और 'करि करि'—बहुत लोगों के प्रति एवं उनके बार-बार करने के प्रति हैं। दर्शनों और दंडवत् में हर्ष अत्यन्त श्रद्धा-सूचक है ।

(४) 'त्रिविध बयारी'—झरनों के योग से शीतल, वृक्ष और पर्वतों की आड़ से मंद और पुष्पों के सहयोग से सुगंधित हवा चलती है। इसीसे सब एक साथ ही कहे गये हैं ।

(५) 'बिटप बेलि तृन···'—यथासंख्य अलंकार से वृक्षों में फल, लताओं में फूल और तृणों में पत्तों की शोभा है। या श्रीरामजी के योग से सभी त्रय-सम्पत्ति-पूर्ण हैं ; यथा—"सब तरु फरे राम-हित लागी ।···" (अं० दो० ४) ; "कामद भे गिरि राम प्रसादा ।" (दो० २०८) ; 'सुंदर सिला बिटप ···' यहाँ बैठने को चट्टानें, पेड़ों की सुन्दर छाया, खाने को फल, सूँघने को फूल, बिछाने को पत्ते, नेत्रों को सुख देनेवाले तृण आदि सभी सुपास की वस्तुएँ हैं।

लिये इसे पहले कहा गया। श्रीरामजी के लिये मधु नहीं लाये थे ; क्योंकि वे उदासीन-वृत्तिवाले हैं। मधु का अर्थ मधुर नहीं और न यह कंद आदि का विशेषण ही है। 'कंद मूल फल अंकुर'—अंकुर जैसे बाल आदि के अंकुर जो खाये जाते हैं, वा, फलों के कठोर बीजों के भीतर की गूदी, जैसे गरी, बादाम, पिस्ता, अखरोट आदि की मींगी।

(२) 'कहि कहि स्वाद भेद गुन नामा'—स्वाद—खट्टा, मीठा आदि। भेद यह कि कौन कहाँ का और कैसा है एवं वस्तुओं के जाति-भेद आदि। गुण-भाव, पित्त और कफ नाशक आदि। नाम—तेंदूँ, शरीफा, पियार (जिसकी गूदी चिरौंजी कहाती है, चित्रकूटी इसे अँचार वा, चार कहते हैं) इत्यादि।

☞ "कोल किरात भिल्ल···" से "लौका तिरा" तक दो दोहों में कोल आदि की सेवा और उनका स्नेह कहा गया है।

(३) 'फेरत राम दोहाई देहीं'—दोहाई का प्रयोग समर्थ से रक्षा के लिये होता है और शपथ के रूप में भी। यहाँ इसके दोनों ही भाव हैं कि आप अन्याय करते हैं ; अतः, श्रीरामजी की दोहाई है ; अर्थात् वे हमारी रक्षा करें। पुनः आपको श्रीरामजी की शपथ है, ऐसा न कीजिये।

(४) 'मानत साधु प्रेम···'; यथा—"सुर साधु चाहत भाव सिंधु कि तोष जल अंजलि दिये।" (बा० दो० १२५); अर्थात् जो हमारा सच्चा प्रेम देखिये तो ग्रहण कीजिये।

(५) 'पावा दरसन राम-प्रसादा।···'—पुण्यात्मा एवं साधु के दर्शन श्रीराम-कृपा से ही होते हैं; यथा—"जब द्रवै दीन दयालु राघव-साधु संगति पाइये।" (वि० १३६) हम पापियों को तो आपके दर्शन दुर्लभ ही हैं। वही यहाँ कहते हैं-'जस मरु धरनि···'—मरुभूमि में सामान्य जलाशय भी दुर्लभ है, वहाँ नदी का होना ही अगम ; फिर गंगाजी की प्राप्ति तो अत्यंत ही अगम है कि जिनका परम पुनीत जल सद्गति भी देता है और पीने में सुखद तो है ही। वैसे ही हमें सामान्य साधुओं के दर्शन भी अगम हैं, फिर भी अवध-वासियों के दर्शन घर बैठे होना तो अत्यन्त ही अगम हैं।

(६) 'राम कृपाल निषाद ···'—यह भी भाव है कि आपके राजा ने हमारे राजा को 'निवाजा' और आप उनकी प्रजा हैं। अतः, निषादराज की प्रजा (हम सब) पर वैसी ही कृपा करें ; क्योंकि परिजन-प्रजा को भी राजा के अनुरूप होना ही चाहिये।

तुम्ह प्रिय पाहुन बन पगु धारे। सेवाजोग न भाग हमारे ॥१॥
देब काह हम तुम्हहि गोसाँई। इंधन पात किरात मिताई ॥२॥
यह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न बासन-बसन चोराई ॥३॥
हम जड़ जीव जीवगन - घाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती ॥४॥
पाप करत निसि - बासर जाहीं। नहिं पट कटि नहिं पेट अघाहीं ॥५॥
सपनेहु धरम - बुद्धि कस काऊ। यह रघुनंदन - दरस प्रभाऊ ॥६॥
जब ते प्रभु - पद - पदुम निहारे। मिटे दुसह दुख दोष हमारे ॥७॥

शब्दार्थ—इंधन = जलाने की लकड़ी। पात = पत्ते एवं पत्तल। बासन = बर्तन।

(६) 'जाइ बरनि बन ···'—यथा—"सुखसागर जहँ कीन्ह निवासू ॥···कहि न सकहिं सुषमा जसि कानन । जौं सत सहस होहिं सहसानन ॥" (दो० १३८) ।

(७) 'बैर बिगत बिहरत '—चित्रकूट के ही प्रभाव से यहाँ त्रिदेव का भी छल छूट गया, यथा—"जहँ जनमे जग जनक जगतपति बिधि हरिहर परिहरि प्रपंच छल ॥" (वि० २४), अब तो यहाँ परात्पर प्रभु भी विराजते हैं, तो यह वैर छूटना कोई बड़ी बात नहीं । 'राम सैल बन देखन जाहीं । ···' से 'बिगत बैर बिहरत ···' तक यहाँ वन पर्वत की शोभा कही गई ।

कोल किरात भिल्ल बनवासी । मधु सुचि सुंदर स्वाद सुधा सी ॥१॥
भरि भरि परनपुटी रचि रूरी । कंद मूल फल अंकुर जूरी ॥२॥
सबहिं देहि करि बिनय प्रनामा । कहि कहि स्वाद भेद गुन नामा ॥३॥
देहि लोग बहु मोल न लेहीं । फेरत राम दोहाई देहीं ॥४॥
कहहि सनेह मगन मृदु बानी । मानत साधु प्रेम पहिचानी ॥५॥
तुम्ह सुकृती हम नीच निषादा । पावा दरसन राम-प्रसादा ॥६॥
हमहि अगम अति दरस तुम्हारा । जस मरुधरनि देव धुनि-धारा ॥७॥
रामकृपाल निषाद नेवाजा । परिजन प्रजउ चहिय जस राजा ॥८॥

दोहा—यह जिय जानि संकोच तजि, करिय छोह लखि नेहु ।
हमहि कृतारथ करन लगि, फल तृन अंकुर लेहु ॥२५०॥

अर्थ—पवित्र, सुन्दर और अमृत के समान स्वादिष्ट मधु (शहद), दोने में भर-भरकर और कंद, मूल, फल और अंकुर (अँखुओं) की सुन्दर अँटियाँ (गट्ठों) को रचकर कोल, किरात, भील आदि वनवासी लोग विनय और प्रणाम करके और उन सबके स्वाद, भेद, गुण और नाम कहकर सबको देते हैं ॥१-२-३॥ लोग बहुत दाम देते हैं पर वे नहीं लेते और लौटाने में श्रीरामजी की दोहाई देते हैं ॥४॥ वे प्रेम में निमग्न होकर कोमल वाणी से कहते हैं कि साधु प्रेम पहचान कर मानते हैं, अर्थात् हार्दिक प्रीति पूर्वक दिये हुए पदार्थों को पहचान कर उसे ग्रहण करते हैं, प्रेमी की जाति, गुण आदि नहीं देखते ॥५॥ आप धर्मात्मा हैं और हम नीच (हिंसक) जाति के निषाद हैं, आपके दर्शन तो हमें श्रीरामजी की प्रसन्नता एवं कृपा से प्राप्त हुए ॥६॥ हमको आपके दर्शन दुर्लभ हैं, जैसे मारवाड़ देश में गंगाजी की धारा ॥७॥ कृपालु श्रीरामजी ने निषाद को निवाजा (उसपर कृपा की), वैसे ही उनके कुटुम्बी और प्रजा (आपलोगों) को भी होना चाहिये, अर्थात् आपलोगों को भी हम सबों पर कृपा करनी चाहिये ॥८॥ यह जी में जानकर संकोच को छोड़ और हमारा स्नेह देखकर कृपा कीजिये; हमको कृतार्थ करने के लिये फल, तृण और अँखुओं को लीजिये ॥२५०॥

विशेष—(१) 'मधु सुचि···'भरि भरि परनपुटी···'—मधु, जो हिंसा करके निकाला जाता है, अशुचि होता है। पर ये लोग शुचि मधु लाये हैं। यह कोलों के घर की उत्तम उत्तम वस्तु है। इस

लिये इसे पहले कहा गया। श्रीरामजी के लिये मधु नहीं लाये थे ; क्योंकि वे उदासीन-वृत्तिवाले हैं। मधु का अर्थ मधुर नहीं और न यह कंद आदि का विशेषण ही है। 'कंद मूल फल अंकुर'—अंकुर जैसे बाल आदि के अंकुर जो खाये जाते हैं, वा, फलों के कठोर बीजों के भीतर की गूदी, जैसे गरी, बादाम, पिस्ता, अखरोट आदि की मींगी।

(२) 'कहि कहि स्वाद भेद गुन नामा'—स्वाद—खट्टा, मीठा आदि। भेद यह कि कौन कहाँ का और कैसा है एवं वस्तुओं के जाति-भेद आदि। गुण-वात, पित्त और कफ नाशक आदि। नाम—तेंदूँ, शरीफा, पियार (जिसकी गूदी चिरौंजी कहाती है, चित्रकूटी इसे अँचार वा, चार कहते हैं) इत्यादि।

☞ "कोल किरात भिल्ल···" से "लौका तिरा" तक दो दोहों में कोल आदि की सेवा और उनका स्नेह कहा गया है।

(३) 'फेरत राम दोहाई देहीं'—दोहाई का प्रयोग समर्थ से रक्षा के लिये होता है और शपथ के रूप में भी। यहाँ इसके दोनों ही भाव हैं कि आप अन्याय करते हैं ; अतः, श्रीरामजी की दोहाई है ; अर्थात् वे हमारी रक्षा करें। पुनः आपको श्रीरामजी की शपथ है, ऐसा न कीजिये।

(४) 'मानत साधु प्रेम···'; यथा—"सुर साधु चाहत भाव सिंधु कि तोष जल अंजलि दिये।" (बा० दो० ३२५); अर्थात् जो हमारा सच्चा प्रेम देखिये तो ग्रहण कीजिये।

(५) 'पावा दरसन राम-प्रसादा।···'—पुण्यात्मा एवं साधु के दर्शन श्रीराम-कृपा से ही होते हैं; यथा—"जब द्रवै दीन दयालु राघव-साधु संगति पाइये।" (वि० १३६) हम पापियों को तो आपके दर्शन दुर्लभ ही हैं। वही यहाँ कहते हैं-'जस मरु धरनि ···'—मरुभूमि में सामान्य जलाशय भी दुर्लभ है, वहाँ नदी का होना ही अगम ; फिर गंगाजी की प्राप्ति तो अत्यंत ही अगम है कि जिनका परम पुनीत जल सद्गति भी देता है और पीने में सुखद तो है ही। वैसे ही हमें सामान्य साधुओं के दर्शन भी अगम हैं, फिर भी अवध-वासियों के दर्शन घर बैठे होना तो अत्यन्त ही अगम हैं।

(६) 'राम कृपाल निषाद ···'—यह भी भाव है कि आपके राजा ने हमारे राजा को 'निवाजा' और आप उनकी प्रजा हैं। अतः, निषादराज की प्रजा (हम सब) पर वैसी ही कृपा करें ; क्योंकि परिजन-प्रजा को भी राजा के अनुरूप होना ही चाहिये।

तुम्ह प्रिय पाहुन बन पगु धारे। सेवाजोग न भाग हमारे ॥१॥
देव काह हम तुम्हहि गोसाँई। इंधन पात किरात मिताई ॥२॥
यह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न बासन-बसन चोराई ॥३॥
हम जड़ जीव जीवगन - घाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती ॥४॥
पाप करत निसि - बासर जाहीं। नहि पट कटि नहिं पेट अघाहीं ॥५॥
सपनेहु धरम - बुद्धि कस काऊ। यह रघुनंदन - दरस प्रभाऊ ॥६॥
जब ते प्रभु - पद - पदुम निहारे। मिटे दुसह दुख दोष हमारे ॥७॥

शब्दार्थ—इंधन = जलाने की लकड़ी। पात = पत्ते एवं पत्तल। बासन = बर्तन।

अर्थ—आप ऐसे प्यारे मेहमान वन में पधारे, सेवा के योग्य हमारे भाग्य ही नहीं हैं; अर्थात् हमलोगों में इतनी योग्यता नहीं है जिससे आपकी योग्य-सेवा हो ॥१॥ हे गोसाईं ! हम आपको देंगे क्या ? किरातों की मित्रता तो बस, इतनी ही है कि इनसे ईंधन और पत्ते भले ही प्राप्त हो जायँ ॥२॥ हमारी अत्यन्त बड़ी सेवा यह है कि बर्तन और कपड़े न चुरा लें ॥३॥ हम जड़ (मूर्ख) जीव हैं, समूह जीवों की हिंसा करनेवाले हैं, कुटिल, कुचालवाले, दुर्बुद्धि और कुजाति हैं ॥४॥ पाप करते दिन-रात बीतते हैं, पर न कमर में कपड़ा है और न पेट ही भरता है ॥५॥ (हमलोगों में) स्वप्न में भी धर्म-बुद्धि कैसी ? यह (जो आपलोगों की कुछ सेवा में प्रेम हुआ सो) तो श्रीरघुनाथजी के दर्शनों का प्रभाव है ॥६॥ हमलोगों ने जब से प्रभु के चरण-कमल देखे, तब से हमारे दुस्सह दुःख और दोष मिट गये ॥७॥

विशेष—(१) 'तुम्ह प्रिय पाहुन बन ···'—प्रिय पाहुन की विधि-पूर्वक उत्तम सेवा करनी चाहिये, पर हमारे भाग्य ही ऐसे नहीं हैं, क्योंकि ईंधन-पात मात्र की ही सेवा करने का हम नीचों का अधिकार है, एवं इतना ही देने का विभव है। भाव यह कि आपकी योग्य सेवा भरद्वाज महर्षि ने की है।

(२) 'हम जड़ जीव जीव गन घाती ।'—एक भी प्राणी की हिंसा भारी पाप है और जो समूह जीवों को मारते हैं उनके पाप की सीमा ही नहीं ; यथा—"हिंसा पर अति प्रीति, तिन्ह के पापहिं कवनि मिति ।" (बा० दो० १८३), हिंसा करते-करते स्वभाव से कुटिल, चाल से बुरे, और बुद्धि से कुत्सित हो गये, इसी से कुजाति कहे जाते हैं। निष्ठुर होने से जड़ पाषाण के समान हृदय हो जाता है, इससे भी जड़-संज्ञा है।

(३) 'नहिं पट कटि ···'—इतना पाप करने पर भी भोजन-वस्त्र के कंगाल बने रहते हैं, क्योंकि सुख तो धर्म से होता है ; यथा—"सुख चाहहिं मूढ़ न धर्म रता।" (उ० दो० १०१)।

(४) 'मिटे दुसह दुख दोष'—हिंसा का स्वभाव-रूपी दोष छूट गया और पेट न भरने का दुःख मिट गया। दुःख ; यथा—"नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।" (उ० दो० १२०), पाप का स्वभाव और उसका फल दुःख दोनों निवृत्त हुए ; यथा—"करहिं पाप पावहिं दुख···" (उ० दो० १००) अर्थात् कार्य और कारण दोनों ही छूट गये।

बचन सुनत पुरजन अनुरागे। तिन्हके भाग सराहन लागे ॥८॥

छंद—लागे सराहन भाग सब अनुराग बचन सुनावहीं।
बोलनि मिलनि सिय-राम-चरन-सनेह लखि सुख पावहीं।
नरनारि निदरहिं नेह निज सुनि कोल-भिल्लनि की गिरा।
तुलसी कृपा रघुबंस - मनि की लोह लै लौका तिरा ॥

सोरठा—बिहरहिं बन चहुँ ओर, प्रतिदिन प्रमुदित लोग सब।
जल ज्यों दादर मोर, भये पीन पावस प्रथम ॥२५१॥

शब्दार्थ—लौका (लावुक) = तूँबी, लौकी एवं तितलौकी, जिसका कमंडलु बनता है।

अर्थ—उनके प्रेम-भरे वचनों को सुनकर पुरवासी लोग अनुरक्त हो गये और उनके भाग्य की प्रशंसा करने लगे (कि थोड़े ही समय में श्रीरामजी में इनका इतना प्रेम हो गया, ये धन्य हैं और बड़े भाग्यवान् हैं) ॥८॥ सब भाग्य की सराहना करने लगे और अनुराग-भरे वचन सुनाते हैं। उनकी बोल-चाल, मिलने की रीति और श्रीसीतारामजी के चरणों का स्नेह देखकर सुख पा रहे हैं॥ कोल-भीलों की वाणी सुनकर स्त्री-पुरुष (श्रीअवधवासी) अपने प्रेम का निरादर करते हैं (अपने प्रेम को तुच्छ मानते हैं)। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि रघुकुल-शिरोमणि श्रीरामजी की कृपा है कि लोहा तुम्बे को लेकर तैर रहा है॥ सबलोग बड़े आनन्द से नित्य चारों ओर वन में विचरते हैं, जैसे पहली वर्षा (पावस) के जल में मेढ़क और मोर मोटे हो जाते हैं, अर्थात् आनंद से फूल उठते हैं और विहार करते हैं ॥२५१॥

विशेष—(१) 'बोलनि मिलनि···'—'बोलनि'—"कहहिं सनेह मगन मृदुबानी।···" से "सपनेहुँ धरम बुद्धि कस काऊ।" तक। 'मिलनि'—"मधु सुचि सुंदर स्वाद सुधासी।···" से "फेरत राम दोहाई देहीं॥" तक। 'सिय राम चरन सनेह'—"यह रघुनंदन दरसप्रभाऊ॥ जब ते प्रभु-पद-पदुम निहारे। मिटे दुसह दुख दोष हमारे॥" इनमें ये मुख्य रूप में हैं, यों तो सब बातें प्रसंग-भर में हैं।

(२) 'नर नारि निदरहिं नेह निज···'—अपनेको न्यून मानते हैं कि हमलोग श्रेष्ठ अधिकारी और श्रीरामजी के समीपवर्त्ती थे और ये कोल आदि नीच हैं, पर इनके तुल्य हमलोगों का प्रेम नहीं है। कोलों को देखकर इनकी प्रीति प्रतीति और बढ़ी। पुनः कोल आदि ने अपनी न्यूनता और इनकी बड़ाई की थी। उत्तर में ये लोग भी उनकी बड़ाई और अपनी न्यूनता कहते हैं कि तुम्हारा प्रेम विशेष है, तभी तो श्रीरामजी ने हमें छोड़ा और तुम्हारे यहाँ आकर रहे, इत्यादि।

(३) 'लोह लै लौका तिरा'—बड़े-बड़े तुम्बे जल में तैरनेवाले होते हैं। तैरना सीखनेवाले इसे कमर में बाँध कर तैरते हैं कि जिससे थकने पर डूबें नहीं, यह न स्वयं डूबे और न दूसरों को डूबने दे। लौके में थोड़ा लोहा रख दिया जाय, तो वह तैरता रहेगा। लौकों का बेड़ा बाँध दें, तो मानों लोहा उसपर तैरता रहेगा। पर लोहा स्वयं डूबनेवाला है, आश्रित को भी डुबानेवाला है। वैसे श्रीअवधवासी लोग तरण-तारण लौका रूप हैं और वनवासी कोल आदि लोहे की तरह तमोगुणी एवं पापाचारी हैं, पर आज श्रीरामकृपा से ऐसे शुद्ध प्रेमी हो गये कि श्रीअवधवासी लोग भी इनसे प्रेम की शिक्षा पा रहे हैं। यह लोह पर लौके का तैरना है कि कोल लोग ही इन्हें तारनेवाले हो रहे हैं।

प्रायः नौका में लोहा लगाया जाता है, श्रीअवधवासी नौका के समान तरण-तारण हैं, इनसे और लोग भक्ति की शिक्षा पाते हैं। पर आज ये ही कोलों से शिक्षा पा रहे हैं, यही लोह पर नाव का तैरना है, यह अर्थ विशेष संगत है; यदि नौका का विकृत रूप लौका माना जाय, क्योंकि प्राचीन प्रतियों का पाठ 'लाका' ही है।

(४) 'कृपा रघुबंस-मनि की'; यथा—"ता कहँ प्रभु कछु अगम नहिं, जा पर तुम्ह अनुकूल। तब प्रताप बड़वानलहिं, जारि सकइ खलु तूल॥" (सुं॰ दो॰ ३३)।

(५) 'जल ज्यों दादुर मोर···'—वर्षा के प्रथम जल से मेढ़क मोटे हो जाते हैं और आनंद-पूर्वक कूदते और कलोल के शब्द करते हैं। मोर के भी पंख बढ़ते हैं और वह भी मोटा हो जाता है, फिर आनंद से नाचता है और आह्लाद सहित बोलता है। वैसे, श्रीअवधवासी लोग श्रीराम-विरह रूपी

... के तपे हुए हैं, घनश्याम रूप श्रीरामजी के दर्शनरूप जल से प्रफुल्लित होकर विचर रहे हैं। 'प्रथम' शब्द में यह भी ध्वनि है कि जैसे मोर दादुर वर्षा के अंत में फिर दुखी होते हैं—उनका वह सुख नहीं रह जाता—वैसे इन लोगों का भी यह सुख अल्पकाल का है, फिर श्रीराम-विरह होगा, उससे दुखी भी होंगे।

पुरवासियों के विचरने का प्रसंग—"राम सैल बन देखन जाहीं। ..." (दो० १३८) से प्रारंभ होकर यहाँ—"बिहरहिं बन ..." पर समाप्त हुआ।

पुर-जन-नारि मगन अति प्रीती। बासर जाहि पलक-सम बीती ॥१॥
सीय सासु प्रति बेष बनाई। सादर करइ सरिस सेवकाई ॥२॥
लखा न मरम राम बिनु काहू। माया सब सियमाया माहू ॥३॥
सीय सासु सेवा बस कीन्ही। तिन्ह लहि सुख सिख आसिष दीन्ही ॥४॥

अर्थ—श्रीअवधपुर के पुरुष और स्त्री अत्यन्त प्रीति में निमग्न हैं, अत्यन्त प्रीति के कारण उनके (सुख के) दिन पलक समान बीत जाते हैं ॥१॥ प्रत्येक सासों के लिये श्रीसीताजी एक-एक वेष (अर्थात् सात सौ सासों के लिये सात सौ रूप) बनाकर उन सबकी आदरपूर्वक एक समान सेवा करती हैं ॥२॥ इस भेद को श्रीरामजी के अतिरिक्त और किसी ने नहीं जाना, (क्योंकि) सब माया श्रीसीताजी की माया में (माया के अंतर्गत ही) है ॥३॥ श्रीसीताजी ने सासों को सेवा से वश में कर लिया, उन्होंने सुख पाकर शिक्षा और आशिष दी ॥४॥

विशेष—(१) 'सीय सासु प्रति बेष······'—यहाँ से श्रीसीताजी की सास-सेवा को कहते हैं। 'सरिस' के यहाँ दो अर्थ हैं, एक तो समान अर्थात् किसी सास के प्रति न्यूनाधिक्य नहीं। दूसरा सदृश अर्थात् योग्य, जैसा कि पतोहू को चाहिये।

'सादर'—श्रद्धा एवं शील-पूर्वक। सबकी पतोहू बनकर सेवा करती हैं, यह दुर्लभ है; यथा—"सासु ससुर गुरु मातु पितु, प्रभु भयो चहै सब कोइ। होनो दूजी ओर को, सुजन सराहिय सोइ ॥" (दोहावली ३११)।

लोकहु वेद विदित कवि कहहीं । राम बिमुख थल नरक न लहहीं ॥७॥
यह संसय सबके मन माहीं । रामगवन बिधि अवध कि नाहीं ॥८॥

दोहा—निसि न नींद नहिं भूख दिन, भरत बिकल सुचि सोच ।
नीच कीच बिच मगन जस, मीनहिं सलिल सँकोच ॥२५२॥

शब्दार्थ—कीच = अवकाश, दरार । नीच = नीचे का, वा, वह कीचड़ जिसे मछली नहीं खाती । एक सुन्दर कीच भी होता है, जिसे मछली खाती है । सँकोच = तंगी, कमी ।

अर्थ—श्रीसीताजी के साथ दोनों भाइयों के सरल-स्वभाव देखकर कुटिला रानी कैकेयी भरपूर पछताई ॥५॥ वह कैकेयी पृथिवी और यमराज से माँगती है, पर न तो पृथिवी अवकाश (रास्ता) देती है और न विधाता मृत्यु ही देता है ॥६॥ लोक और वेद में भी प्रसिद्ध है और कवि लोग भी कहते हैं कि श्रीरामजी के विमुख नरक में भी जगह नहीं पाते ॥७॥ यह संशय सभी के मन में है कि हे विधाता ! श्रीरामजी का गमन श्रीअवध को होगा कि नहीं ? ॥८॥ श्रीभरतजी को न रात में नींद पड़ती है और न दिन में भूख ही लगती है, वे पवित्र शोच में व्याकुल हैं, जैसे नीचे के (वा, नीच) कीचड़ के बीच में डूबी हुई मछली को जल की तंगी से व्याकुलता हो ॥२५२॥

विशेष—(१) 'लखि सियसहित सरल······'—पहले मंथरा के कहने से श्रीकैकेयीजी ने इन्हें कुटिल समझा था, वह झूठ निकला, अब यथाकर (परिपूर्ण) पछताई कि मैंने इन्हें वनवास दिया फिर भी ये सरल एवं सौम्य-भाव से ही मुझसे बर्त्ताव करते हैं । राजा का वह वचन—"फिरि पछितैहसि अंत अभागी ।" (दो० ३५); यहाँ चरितार्थ हुआ । अतः, "कुटिल रानि पछितानि अघाई ।" कहा गया ।

राजा ने कैकेयीजी को बहुत समझाया था पर उन्होंने नहीं माना । पुनः श्रीभरतजी के त्याग देने से दुखी थीं ही, इधर श्रीरामजी की शील - सरलता ने उन्हें सात्त्विक कर दिया ; यथा—"भये सब साधु किरात किरातिनि, राम-दरस मिटि गइ कलुषाई ।" (गी० अ० ८१); जो कैकेयी जी पहले 'किरातिनि' 'पापिनि' कही गईं, वे अब साधु-वृत्ति को प्राप्त होकर अपने कुटिल कार्य पर ग्लानि कर रही हैं ।

(२) 'अवनि जमहि जाँचति ·· ··'—पहले पृथिवी से, फिर यमराज से माँगा, अभीष्ट उत्तरार्द्ध से स्पष्ट होता है कि पृथिवी से 'बीच' और यमराज से 'मीच' माँगी थी, पर देने में यमराज की जगह 'विधि' कहा गया, इसका कारण यह है कि यमराज मृत्यु देने में स्वतंत्र नहीं हैं, कर्मानुसार ब्रह्माजी की आज्ञा से प्राणियों को मृत्यु देते हैं ; यथा—"भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः । भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः ॥" (कठ० २।६।३); अर्थात् ब्रह्म के अन्तर्यामी-रूप से ब्रह्म के शासन-भय से मृत्यु (यम) प्राणियों को लेने के लिये नियत समय पर दौड़ते हैं ; यथा—"हानि लाभ जीवन मरन, जस अपजस विधि हाथ ॥" (दो० १७१); इसलिये दो स्थलों से दोनों कहे गये कि यमराज से माँगा, वे ब्रह्मा की आज्ञा के बिना नहीं दे सके । पहले पृथिवी से माँगा कि वह बीच (दरार) दे, तो मैं तुरत समा जाऊँ कि कोई मेरा मुँह न देख पावे, क्योंकि मैं अब जगत् में मुँह दिखाने योग्य नहीं हूँ । जब निराश हुई तब यमराज से माँगा कि वह (दरार) होता तो उत्तम होता, तुरत ही सबकी आँखों की आड़ हो जाती । न हुआ तो यही (मृत्यु) सही, क्योंकि मरने पर भी शव को कुछ देर लोग देख-देख धिक्कारेंगे । यहाँ इसके पश्चात्ताप की पराकाष्ठा दिखाई ।

(३) 'राम बिमुख थल······'—पृथिवी के फटने और मृत्यु के होने की कौन कहे, श्रीरामजी से विमुख नरक में भी छिपकर रहने की जगह न पावेगा। जहाँ पापी प्राणियों को बलात् स्थल दिया जाता है, वहाँ भी ऐसे को ठौर नहीं; यथा—"अति बड़ि मोरि ढिठाई खोरी। सुनि अघ नरकहु नाक सिकोरी॥" (बा० दो० २८)।

(४) 'यह समय सबके मन माहीं।···'—पहले कहा गया कि श्रीरामजी ने गुरुजी से कहा—"सब समेत पुर धारिय पाऊ।" इसपर गुरुजी ने कहा था कि सब दो दिन और दर्शन कर लें। तब 'राम वचन सुनि सभय समाजू।' कहा गया था। फिर गुरुवचन पर कुछ सांत्वना कही गई थी। बीच में ग्रंथकार श्रीअवध-वासियों की चर्चा कहने लगे थे। अब फिर वहीं से प्रसंग लेकर कहते हैं कि जब श्रीरामजी ने सबको लौटने के लिये कहा था, तब गुरुजी ने यह भी नहीं कहा कि सब आपको लौटाने आये हैं। तब भला श्रीरामजी क्यों जायँगे? संदेह होना योग्य ही है कि जिस लिये सब आये, उसकी चर्चा पर भी गुरुजी सकुचते हैं। यहाँ समष्टि में सबकी बातें कहकर आगे श्रीभरतजी का शोच करना विस्तार से कहते हैं—

(५) 'निसि न नींद'' '—श्रीभरतजी का शोच श्रीरामजी में अत्यन्त प्रीति के कारण है, इससे इसे 'सुचि' कहा गया है। शोच के कारण उन्हें नींद और भूख नहीं है, यह शोच की दशा है। 'नीच कीच बिच'' '—पूर्वार्द्ध के शोच को उपमा से समझाते हैं कि जब श्रीअवध से समाज-समेत चले थे, तब आशा थी कि गुरुजी श्रीरामजी को वन में ही राज्य देकर लौटा लायेंगे। पर उपर्युक्त श्रीरामजी और गुरुजी के संवाद से वह आशा न रह गई, जब कि गुरुजी ने लौटाने की चर्चा भी न की। यही मछली के जल का सूखना है। अब आगे के अनुमानवाले उपाय नीचे के कीचड़रूप रह गये। कीचड़ में मीन के जीवनाधार जल का अल्पांश ही रहता है, ऐसे ही आगे अनुमित उपायों से श्रीरामजी के लौटने की (श्रीरामजी के संयोग रहने की) आशा बहुत कम रह गई है। उस दशा में जैसे मछली को शोच होता है, वैसे यहाँ श्रीभरतजी शोच करते हैं, इसी का विस्तार आगे है—

कीन्हि मातु मिस काल कुचाली। ईति भीति जस पाकत साली॥१॥
केहि बिधि होइ राम-अभिषेकू। मोहि अवकलत उपाय न एकू॥२॥
अवसि फिरहिं गुरु आयसु मानी। मुनि पुनि कहब रामरुचि जानी॥३॥
मातु कहेहु बहुरहिं रघुराऊ। राम-जननि हठ करबि कि काऊ॥४॥
मोहि अनुचर कर केतिक बाता। तेहि महँ कुसमय बाम बिधाता॥५॥
जौ हठ करउँ त निपट कुकरमू। हर-गिरि तें गुरु सेवक-धरमू॥६॥
एकउ जुगुति न मन ठहरानी। सोचत भरतहिं रैनि बिहानी॥७॥
प्रात नहाइ प्रभुहि सिर नाई। बैठत पठये रिषय बोलाई॥८॥

ही कहेंगे ॥३॥ माता के कहने से भी रघुराज श्रीरामजी लौटेंगे, पर श्रीरामजी को उत्पन्न करनेवाली माता क्या कभी हठ करेगी ? अर्थात् कभी नहीं ॥४॥ मुझ सेवक की बात ही कितनी ? उसमें भी कुसमय है और विधाता भी टेढ़े हैं ॥५॥ मैं जो हठ करूँ, तो नितान्त कुकर्म है, क्योंकि शिवजी के पर्वत कैलास से भी सेवक-धर्म भारी है ॥६॥ एक भी युक्ति मन में न ठहरी, श्रीभरतजी को सोचते ही रात बीत गई ॥७॥ प्रातःकाल स्नान करके प्रभु को शिर नवाकर बैठते ही ऋषि श्रीवसिष्ठजी ने (श्रीभरतजी को) बुला भेजा ॥८॥

विशेष—(१) 'कीन्ह मातु मिस काल'''—श्रीभरद्वाजजी ने कहा ही है—"गई गिरा मति धूति" उसी को लेकर एवं अचानक घटना पर ऐसा कहते हैं। काल ईश्वर की इच्छा है, यथा—"भृकुटि बिलास भयंकर काला।" (लं० दो० १४); इसीसे वह परम समर्थ हैं। वैसे ही बाधा का दृष्टान्त भी देते हैं कि जिसका उपाय फिर न हो सके। 'ईति भीति जस''''—'ईति' के छः भेद पूर्व कहे गये, उनमें एक मूषक-बाधा भी है, वही यहाँ समझना चाहिये कि पकते हुए धान की तरह एक ही दिन तिलक को शेष था, तभी काल की कुचाल हुई। जैसे पकी बाली मूसा काट ले, तो फिर ठूँठ में बालियाँ नहीं फलतीं, चाहे कितना भी यत्न किया जाय। वैसे ही अब श्रीरामजी का तिलक इस समय पर होना असंभव है। (दूसरे साल फिर धान होता है, वैसे १४ वर्ष पर तिलक होगा।) यहाँ राजा, गुरु, प्रजा सब किसान हैं, राम-राज्य-तिलक धान है, सुकृत-रूपी श्रम से सम्पन्न हुआ, फसल कटने को एक ही दिन रह गया कि उक्त बाधा हुई।

(२) 'अवसि फिरहिं गुरु''''—पिता की आज्ञा मानकर वन को आये हैं, गुरुजी उनके भी गुरु हैं। अतएव उनकी आज्ञा से अवश्य लौट सकते हैं; यथा—"राउरि राय रजायसु होई। राउरि सपथ सही सिर सोई॥" (दो० २५५)। पर मुनि तो श्रीरामजी की रुचि पालेंगे; यथा—"राखे राम रजाइ रख, हम सब कर हित होइ॥" (दो० २५४)। अभी भी पहले जब श्रीरामजी ने उनसे सबके साथ लौटने को कहा था, तब गुरुजी ने उन्हीं के अनुकूल कहा है कि लोग दो दिन और दर्शन पा लें। यह न कहा कि सब लौटाने आये हैं। 'पुनि' अर्थात् फिर कहना पड़ेगा तो ऐसा ही कहेंगे। यह 'पुनि' का फिर (दोबारा) अर्थ लेने से भाव होगा। ऊपर 'पर' अर्थ का भाव तो कहा ही है।

(३) 'राम-जननि हठ '''—दूसरा उपाय सोचते हैं कि पिता की आज्ञा से वन आये हैं और माता का गौरव पिता से दस गुणा है। उनके आग्रह से भी लौट सकते हैं, पर वे हठ न करेंगी, क्योंकि उन्होंने तो—"पितु आयसु सब धरमक टीका।" (दो० ५५) कहकर पुत्र का सत्यसंधता में आरूढ़ किया है। वे पति की आज्ञा और पुत्र के धर्म पर आक्षेप कैसे करेंगी ? उन्होंने कहा भी है—"यह बिचारि नहिं करउँ हठ'' " (दो० ५६)।

(४) 'मोहि अनुचर कर केतिक बाता। '''—फिर तीसरा उपाय सोचते हैं कि मैं ही कहूँ, तो सेवक की बात का कुछ गौरव नहीं, फिर उसमें भी कुसमय है और विधाता टेढ़े हैं। इससे सफलता में संदेह ही है। जो कहा जाय—"राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान-साधु-सुर साखी॥" (दो० २१८), तो इस नियम से जब पाँव पकड़कर मैं मचल पड़ूँ, तो मेरी हार्दिक रुचि जानकर अवश्य पूरी करेंगे; उसपर कहते हैं—

(५) "जौ हठ करउँ ''' "—सेवक के लिये हठ करना निन्द्य है, यथा—"जो सेवक साहिबहि सकोची। निज हित चहै तासु मति पोची॥" (दो० २६०)। वाल्मीकीय रामायण में श्रीभरतजी का हठ करने (अनशन व्रत करने = धरना देने) पर उद्यत होना और फिर अयोग्य कहकर श्रीरामजी के मना करने पर उस

छोड़ना लिखा है। यहाँ उसे मन में लेकर श्रीभरतजी को स्वयं खंडन करना कहा है। सेवक का धर्म स्वामी की आज्ञा को मानना है, अपनी ओर से कुछ करने के लिये कहना तो आज्ञा देना है। अतः, प्रतिकूल है।

'हर-गिरि ते गुरु'''—कैलास को तो रावण उठा सका था, पर वह सेवक धर्म उठाने में असमर्थ हो गया ; यथा—"होइहि भजन न तामस देहा।" (आ० दो० २२) मानों उसने दोनों को तौला था। कैलास स्वच्छ वर्ण और भारी है, वैसे सेवा-धर्म भी सात्त्विक एवं भारी है।

(६) 'एकउ जुगुति न'''—तीन उपाय कहकर बहुवचन द्वारा और भी बहुत-से उपाय जनाये, पर वे सब परीक्षा में ठीक न जान पड़े।

"भरत गये जहँ प्रभु सुखरासी।" प्रकरण समाप्त

"पुनि रघुपति बहु बिधि समुझाये।" प्रकरण

दोहा—गुरु-पद-कमल प्रनाम करि, बैठे आयसु पाइ।
बिप्र महाजन सचिव सब, जुरे सभासद आइ ॥२५३॥

बोले मुनिवर समय समाना। सुनहु सभासद भरत सुजाना ॥१॥
धरमधुरीन भानु-कुल-भानू। राजा राम स्वबस भगवानू ॥२॥
सत्यसंध पालक श्रुतिसेतू। राम-जनम जग-मंगल-हेतू ॥३॥
गुरु-पितु-मातु-बचन-अनुसारी। खल-दल-दलन देव-हितकारी ॥४॥
नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न रामसम जान जथारथ ॥५॥

अर्थ—श्रीभरतजी गुरुजी के चरण-कमलों को प्रणाम कर आज्ञा पाकर बैठे। (तब) ब्राह्मण, महाजन, मंत्री एवं सभी सभासद लोग आकर एकत्र हुए ॥२५३॥ मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी समय के अनुसार बोले, हे सुजान श्रीभरतजी और सभासदो! सुनिये ॥१॥ श्रीरामजी धर्मधुरंधर, सूर्यकुल के सूर्य, राजा, स्वतंत्र और भगवान् हैं ॥२॥ सत्य-प्रतिज्ञ हैं, वेदों की मर्यादा के रक्षक हैं। श्रीरामजी का जन्म जगत् के मंगल के लिये हुआ है ॥३॥ वे गुरु, पिता और माता के वचनों पर चलनेवाले हैं, दुष्ट-दलों के नाशक और देवताओं के हितकारी हैं ॥४॥ नीति, प्रीति, परमार्थ और स्वार्थ को श्रीरामजी के समान यथार्थ और कोई भी नहीं जानता ॥५॥

विशेष—(१) 'बिप्र महाजन सचिव''''''—इन सबको भी गोष्ठी के लिये ही गुरुजी ने बुला भेजा था। अतः, एक साथ ही नियत समय पर आ गये। यह भी आशय है कि गुरुजी का स्थल श्रीरामजी के पास ही है, इसीसे वहाँ से श्रीभरतजी बुलाते ही तुरत आ गये। इसी विचार के लिये गुरुजी ने श्रीरामजी से दो दिन का अवकाश माँगा था ; यथा—"लोग दुखित दिन दुइ'''" (दो० २४८)।

(२) 'बोले मुनिवर समय''''''—'समय'—सभा को विशेष सम्मान देने और अपना उत्साह

प्रकट करने का समय नहीं है, क्योंकि सब दुखी हैं। अतएव, संक्षिप्त शब्दों में ही कहा। 'सुनहु सभासद भरत सुजाना'—सभासदों में वामदेव, जाबालि आदि ऋषि भी हैं, इसीसे प्रथम कहा। श्रीभरतजी को जान कर कहा, क्योंकि वक्तव्य विषय के समझने में ये विशेषज्ञ हैं। पुनः अंत में सुजान शब्द के होने से इसे सभी में लगा सकते हैं।

(३) 'धरमधुरीन'—धर्म रथ है, सारा जगत् इसीके आश्रित है, श्रीरामजी उसकी धुरी के धारण करनेवाले हैं। अभिप्राय यह है कि श्रीरामजी—'पितु आयसु सब धरमक टीका।' के लिये दृढ़-प्रतिज्ञ होकर चले हैं। यदि वे इसमें कुछ भी ढीले पड़ें किंवा हेर-फेर करें, तो जगत् भी धर्म में दृढ़ता छोड़ बैठेगा; यथा—"मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः। उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ॥ (गीता ३।२३-२४)। इसलिये उनकी प्रतिज्ञा पर हमलोगों को दृष्टि रखनी चाहिये। 'भानु-कुल भानू'—सूर्य धर्म मार्ग के प्रवर्त्तक हैं, क्योंकि सूर्योदय से दिन, घड़ी आदि के अनुसार ही धर्म किया जाता है। इसीसे इस सूर्यवंश के सभी राजा धर्माचरण में प्रमुख होते आये हैं। श्रीरामजी भी पिता के सत्य-धर्म की रक्षा पर आरूढ़ हैं और स्वयं भी कैकेयीजी से प्रतिज्ञा कर चुके हैं कि मैं १४ वर्ष वनवास को जाता हूँ। अपने कुल पर ध्यान रखते हुए प्रतिज्ञा छोड़ना उन्हें अभीष्ट न होगा; यथा—"रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचन न जाई ॥" (दो॰ २७)। 'राजा'—वे किसी के कहने से कुछ का कुछ करें—यह नहीं हो सकता; यथा—"भूप सुसेवित बस नहिं लेखिय।" (आ॰ दो॰ ३६)। पुनः वे तो स्वयं राजा हैं, उन्हें कोई राजा क्या बनावेगा? 'राम'—सबमें रमण करते हैं; अतः, सबके मन की जानते हैं, और सबको रमाते भी हैं। अतः, सबके लिये उचित विधान वे स्वयं करेंगे, उनके सम्मुख अपनी रुचि आगे रखना ठीक नहीं। 'स्ववस' यथा—"निज तंत्र नित रघुकुल मनी।" (बा॰ दो॰ ५०)। अतः, वे किसी सम्बन्धी के दबाव में नहीं आ सकते कि उनपर लौटने ही का एवं ऐसा और कोई दबाव दिया जाय। 'भगवानू'—षडैश्वर्य-पूर्ण हैं, उन्हीं से संसार की उत्पत्ति, पालन और संहार होता है; अर्थात् संसार-भर की व्यवस्था ही उनके हाथ है। अतः, सबका सार-सँभार रखते हुए भी तुम सबका स्नेह रक्खेंगे; यह सब सामर्थ्य उनमें है।

(४) 'सत्य-संध'; यथा—"सत्य-संध दृढ़व्रत रघुराई।" (दो॰ ८१)। तब उनका दृढ़व्रत कोई कैसे छुड़ावे? और वे कैसे छोड़ेंगे? 'पालक श्रुतिसेतू'—वे अधर्मियों से वेद-मर्यादा की रक्षा करते हैं, धर्म का संस्थापन करते हैं। मत्स्यादि रूपों को इसीलिये धारण करते हैं। आज दिन भी तो रावणादि असुर बढ़े हुए हैं, उनका शासन करना और धर्मात्मा ऋषियों की रक्षा करना भी है ही। तब कैसे कहा जाय कि हमारी ही रुचि रखिये। 'जग मंगल हेतू'—उन्होंने जगत् भर के मंगल के लिये अवतार लिया है, कुछ श्रीअवध ही के लिये नहीं। तब कौन कहे कि आप जगत् भर का मंगल न करें और घर में ही रहें। जगत् भर में हमलोग भी हैं, वे यथायोग्य हमारे और सबके भी मंगल की व्यवस्था करेंगे।

(५) 'गुरु पितु मातु बचन '—भू-भार-हरण की प्रतिज्ञा कर चुके हैं, पिता के वचन का पालन भी करते हैं, फिर उसे छुड़ाकर गुरु-माता की आज्ञा कैसे दी जाय? जो पहले से कर रहे हैं उसका खंडन होगा। 'खल दल दलन ...'- खलों का दलन वन की लीला से ही होगा और इसीसे देवताओं का हित भी होगा; यथा—"असुर मारि थापहि सुरन्ह ..." (बा॰ दो॰ १२१); तब कैसे कहा जाय कि वन को न जाइये?

(६) 'नीति प्रीति परमारथ...'—नीति रावण और बालि को सिखाई। देखिये—कि॰ दो॰ ८-९ और लं॰ दो॰ ८९-६० । प्रीति; यथा—"जानत प्रीति रीति रघुराई।..." (कि॰ ११७); (यह पूरा

में कहा गया है। स्वार्थ अर्थात् लोक-व्यवहार में पर देखिये)। परमार्थ-पुरजन-उपदेश उ० दो० ४२-४६ में कहा गया है। स्वार्थ अर्थात् लोक-व्यवहार में निपुण हैं; इसीसे सबको प्राणों से अधिक प्रिय लगते हैं।

बिधि हरिहर ससि रबि दिसिपाला। माया जीव करम कुलि काला ॥६॥
अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोग सिद्धि निगमागम गाई ॥७॥
करि बिचार जिय देखहु नीके। राम-रजाइ सीस सबही के ॥८॥

दोहा—राखे राम रजाइ रुख, हम सबकर हित होइ।
समुझि सयाने करहु अब, सब मिलि संमत सोइ ॥२५४॥

अर्थ—ब्रह्मा, विष्णु, महेश, चन्द्रमा, सूर्य, आदि दिक्पाल, माया, जीव, समस्त कर्म, और समस्त काल ॥६॥ सर्पराज, पृथिवी के पालक राजा आदि की जहाँ तक प्रभुता (साहिबी) है और योग की सिद्धियाँ जो वेदों और शास्त्रों में कही गई हैं ॥७॥ इन सबको हृदय में अच्छी तरह से विचार कर देखिये (तो समझ पड़ेगा कि) श्रीरामजी की आज्ञा सभी के शिर पर है। अर्थात् सभी उसे आदर सहित मानते हैं ॥८॥ श्रीरामजी की आज्ञा और उनका रुख रखते हुए हम सब का हित (भी) हो, वही सम्मत आप सब चतुर लोग मिलकर अब (निश्चय) कीजिये ॥२५४॥

विशेष—(१) 'विधि हरि हर ससि…'– विधि आदि बड़े-बड़े ईश्वर-कोटि के भी श्रीरामजी की आज्ञा का पालन करते हैं, तब हमलोग अपनी रुचि से उन्हें आज्ञा कैसे दें?

(२) 'अहिप महिप…'—अहिप (शेष) से पाताल, महिप से सातों द्वीपों के राजा लोग, 'जहँ लगि प्रभुताई' से इन्द्र आदि स्वर्गवासी भी आ गये। सभी श्रीरामजी के आज्ञाकारी हैं; यथा—"माया जीव काल के करम के सुभाव के करैया राम वेद कहैं साँची मन गुनिये ॥" (हनु० बाहुक)। "करम काल सुभाव गुन दोष जीव जग माया तें सो सभय भौंह चकित चहति ॥" (वि० २४६); अतः हमें भी आज्ञानुसार ही रहना चाहिये।

(३) 'राखे राम रजाइ रुख…'—यहाँ वसिष्ठजी ने अपना मत भी कह दिया कि श्रीरामजी की आज्ञा और रुख में ही मैं सहमत हूँ, जैसा कि पूर्व ही श्रीभरतजी ने समझा था; —"मुनि पुनि कहब राम रुचि जानी।" औरों को भी समझने को कहते हैं कि मेरी उपर्युक्त बातों को समझ-बूझकर सब कोई एक-मत होकर जो कहो वही किया जाय। किंतु यह चेतावनी अवश्य है कि श्रीरामजी का रुख रखते हुए ही अपना हित सोचा जाय।

अर्थ—श्रीरामजी का राज्याभिषेक सबके लिये सुखदायक है, मंगल-मोद की जड़ वही एक मुख्य मार्ग है ॥१॥ रघुराज श्रीरामजी किस प्रकार से श्रीअवध लौट चलें, समझकर कहिये, वही उपाय किया जाय ॥२॥ नीति, परमार्थ और स्वार्थ में सनी हुई मुनिश्रेष्ठ की उत्तम वाणी सब ने सुनी ॥३॥ (पर) किसी को कुछ उत्तर स्फुरित न हुआ, सब लोग भोरे (चकित) हो गये, तब श्रीभरतजी शिर नवाकर हाथ जोड़ बोले ॥४॥

विशेष—(१) 'सब कहँ सुखद'''—मुनि ने अपने उपर्युक्त भाषण में सबका रुख न देखकर कहा कि जैसे आपलोगों को श्रीराम-तिलक सुखद है, वैसे मुझे भी, पर वह कैसे हो? यह आप ही लोग समझकर कहें। भाव यह कि मैंने उनका लौटने का रुख नहीं देखा, इससे मैं तो उन्हें लौटने को न कहूँगा। तब आप ही लोग कोई उपाय बतलावें, पर समझकर कहना, यह चेतावनी है। (श्रीवशिष्ठजी ने एक बार बिना श्रीरामजी का रुख लिये राजा दशरथजी से सहसा श्रीराम-तिलक के लिये कह दिया, उसमें ठगे गए हैं, इसीसे सबको सचेत करते हैं) 'केहि विधि अवध'''—'रघुराऊ' अर्थात् श्रीरामजी को यहीं से राजा बनाकर ले चलने को आये थे, पर अब मेरे विचार में कोई विधि नहीं आती, अतः आप ही लोग कहें। श्रीभरतजी ने कहा था—"केहि बिधि होइ राम अभिषेकू। मोहि अवकलत उपाय न एकू॥" (दो० २५२); वैसा ही यहाँ गुरुजी ने भी कहा।

(२) 'नय-परमारथ स्वारथ'''—क्रम से—'धरम धुरीन भानु''' से 'कोउ न राम सम''' तक नीति; 'विधि हरिहर ससि' से 'हम सब कर हित होइ।' तक परमार्थ और—'सब कर हित होइ''' से 'कहहु समुझि सोइ करिय उपाऊ।' तक स्वार्थ है। मुनि के कथन का उपक्रम—'बोले मुनिवर समय समाना।''' से हुआ और यहाँ—'सब सादर सुनि मुनिवर बानी।' पर उसका उपसंहार है।

भानुबंस भये भूप घनेरे। अधिक एक ते एक बड़ेरे ॥५॥
जनम हेतु सब कहँ पितु-माता। करम सुभासुभ देइ बिधाता ॥६॥
दलि दुख सजइ सकल कल्याना। अस असीस राउरि जग जाना ॥७॥
सोइ गोसाइँ बिधि-गति जेहि छेकी। सकइ को टारि टेक जो टेकी ॥८॥

दोहा—बूझिय मोहिं उपाय अब, सो सब मोर अभाग।
सुनि सनेहमय बचन गुरु, उर उमगा अनुराग ॥२५५॥

शब्दार्थ—छेकना=रोकना, मिटा देना। टेक टेकना=हठ करना, जिद ठानना।

अर्थ—सूर्यवंश में बहुत-से राजा हुए, वे सब एक-से-एक अधिक और बड़े हुए ॥५॥ सबके जन्म के कारण (मात्र) पिता-माता होते आये और शुभाशुभ कर्मों के फल विधाता देते रहे ॥६॥ (पर सबके) दुःख को नष्ट कर (और उसपर) समस्त कल्याण (विधानों को) सज देनेवाली आप ही की आशिष है, यह समस्त जगत् जानता है ॥७॥ हे गोस्वामी! आप वे ही हैं कि जिन्होंने ब्रह्मा की गति रोक दी है, जो हठ आपने की उसे कौन हटा सकता था; अर्थात् कोई नहीं ॥८॥ अब आप मुझसे उपाय पूछते हैं, यह सब मेरा अभाग्य है। (ऐसा) स्नेहमय वचन सुनकर गुरुजी के हृदय में अनुराग उमड़ आया ॥२५५॥

विशेष—(१) 'भानुबंस भये भूप ...'—"विधि प्रपंच गुन अवगुन साना" (बा० दो० ५); इस उक्ति की रीति से जगत् में सबके लिये उन्नति और अवनति की व्यवस्था पाई जाती है। पर इस सूर्यवंश में एक-से-एक बढ़कर राजा होते आये और निर्विघ्न निबहते आये। इसका कारण विचारने पर ज्ञात पड़ता है कि सबके माता-पिता जन्ममात्र के कारण होते थे, भाग्य नहीं बना सकते थे। यदि कहा जाय कि भाग्य के बनानेवाले ब्रह्मा हैं, तो वे तो कर्मानुसार ही सबका विधान करते हैं, इसीसे विधाता कहाते हैं और सबको यथासमय शुभ-अशुभ (दोनों) कर्मों के फल देते हैं। इस नियम को वे नहीं तोड़ सकते। तब निश्चय होता है कि इस कुल के राजाओं के अशुभ कर्मों के फल-रूप दुःखों को आप ही अपनी आशिष से निवारण करके उनके समस्त कल्याण करते आये हैं।

श्रीभरतजी का अभिप्राय यह है कि वैसी ही आशिष मैंने माँगी है; यथा—"आयसु आसिष देहु सुबानी ॥ जेहि सुनि बिनय मोहिं जन जानी। आवहिं बहुरि राम रजधानी ॥" (दो० १८१); पर मुझे न मिली थी, वही मुझे देकर इस कुल का कल्याण सजिये (कीजिये)।

(२) 'सोइ गोसाइँ बिधि-गति ...'—आप इस कुल के बहुत से राजाओं के अशुभ संस्कारों को बार-बार शमन करते आये और उनकी जगह उनके कल्याण करते आये। इस तरह बार-बार आप ब्रह्मा की गति को रोकते आये हैं। 'सोइ' में यह भी ध्वनि है कि आप वही, कुल वही और मैं भी उसी कुल में उत्पन्न हूँ, फिर आप अब वैसी आशिष क्यों नहीं देते ? 'जग जाना'—जगत् क्या कहेगा ? कि गुरुजी में अब वह सिद्धि नहीं रह गई या अब सूर्य-कुल में ही कोई दोष आ गया, इत्यादि। इन बातों को भी जगत् जानता है कि आपने ही मनु की पुत्री इला को सुद्युम्न नामक राजकुमार बनाया है। फिर वह शिवजी के विहार-वन में जाकर (उनके शापवश) स्त्री हो गया, तब आप ही ने दया करके शिवजी को प्रसन्न कर उनसे वर दिलाया कि वह एक मास पुरुष रहे और एक मास स्त्री। (भाग० स्क० ९ अ० १); राजा दशरथ के पुत्र नहीं होता था, आप ही ने आशिष देकर चौथे पन में उनको चार पुत्र दिये, इत्यादि, इत्यादि।

(३) 'बूझिय मोहि उपाय अब ...'—अब मेरे विषय में मुझसे ही उपाय पूछ रहे हैं, यह सब मेरा ही अभाग्य है, आप तो वही सिद्ध हैं। भाव यह कि कन्या को पुत्र बनाने से श्रीरामजी को वन से श्रीअवध ले जाना कठिन कार्य नहीं है। यह मुनि के—'कहहु समुझि सोइ करिय उपाऊ।' का उत्तर है।

तात बात फुरि राम-कृपाहीं। रामबिमुख सिधि सपनेहुँ नाहीं ॥१॥
सकुचउँ तात कहत एक बाता। अरध तजहिं बुध सरबस जाता ॥२॥
तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई। फेरिअहिं लखन सीय रघुराई ॥३॥
सुनि सुबचन हरषे दोउ भ्राता। भे प्रमोद परिपूरन गाता ॥४॥
मन प्रसन्न तन तेज बिराजा। जनु जिय राउ राम भये राजा ॥५॥
बहुत लाभ लोगन्ह लघु हानी। सम दुखसुख सब रोवहिं रानी ॥६॥

अर्थ—हे तात ! बात सत्य है (पर यह सब) श्रीरामजी की कृपा से ही (होती आई)। श्रीरामजी से विमुख होकर यह सिद्धि स्वप्न में भी नहीं हो सकती ॥१॥ हे तात ! एक बात कहता हुआ सकुचता हूँ—

बुद्धिमान् लोग सर्वस्व जाते समय आधा छोड़ देते हैं ; अर्थात् आधा-मात्र ही ले लेते हैं ॥२॥ तुम दोनों भाई वन को जाओ, (इसपर) श्रीलक्ष्मणजी, श्रीसीताजी और श्रीरामजी को लौटाया जाय ॥३॥ यह सुन्दर वचन सुनकर दोनों भाई प्रसन्न हुए, उनका सम्पूर्ण शरीर विशेष आनंद से परिपूर्ण हो गया ॥४॥ मन प्रसन्न हो गया, शरीर में तेज विराजमान हो गया, मानों राजा जी उठे और श्रीरामजी राजा हो गये ॥५॥ लोगों को लाभ बहुत और हानि कम जान पड़ी, सब रानियाँ दुःख और सुख समान जानकर रो रही हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'राम बिमुख सिधि सपनेहुँ नाहीं ।'—इससे जाना गया कि ऋषियों की आशिष और शाप के फल श्रीरामजी के द्वारा ही सिद्ध होते हैं ; यथा—"अस कहि नारद सुमिरि हरि, गिरिजहि दीन्ह असीस ।" (बा० दो० ७०) ; पुनः—"राम बिमुख न जीव सुख पावै ।" "बिमुख राम सुख पाव न कोई ॥" (उ० दो० १२१) ।

(२) 'अरध तजहिं बुध सरबस जाता ।'—यह लोकोक्ति है—"सर्वस देखी जात तो आधा लेइय बाँट ।" इसमें ठीक आधा ही अभिप्रेत नहीं है । तात्पर्य यह है कि अवधवासियों के सर्वस्व श्रीसीतारामजी हैं, वे तुम्हारे जाने से लौटें, तो उतनी हानि नहीं है, जैसा कि आगे कहा है—"बहुत लाभ लोगन्ह लघु हानी ।" श्रीवसिष्ठजी ने यहाँ सहसा इतना ही विचारा कि पिता की आज्ञा में दोनों अपना-अपना हेर-फेर कर लें । बस, यही एक-मात्र उपाय है, जैसा कि श्रीभरतजी ने ही कहा है ; यथा—"तस्याहमुत्तरं कालं निवत्स्यामि सुखं वने । तत्प्रतिश्रुतमार्यस्य नैव मिथ्या भविष्यति ॥" (वाल्मी० २।८८।१७) ; गुरुजी यहाँ घबड़ाये-से जान पड़ते हैं, उन्होंने इसमें न तो श्रीरामजी का रुख ही देखा और न श्रीकैकेयीजी के वरदान को ही देखा, सहसा यह प्रस्ताव कर बैठे । परीक्षा की यहाँ कोई बात नहीं है, श्रीभरतजी के भाव को तो उन्होंने अयोध्या-दरबार में ही देख लिया है । हाँ, यह लोगों में श्रीभरतजी की महिमा को प्रसिद्ध करने की मुनि की दृष्टि भले ही कही जाय । यह आगे—'भरत महा महिमा जलरासी ।'''' से स्पष्ट है ।

(३) 'जनु जिय राउ राम'''—श्रीभरतजी को दो दुःख हैं—पिता के मरण का और श्रीरामजी के वन जाने का । इससे यह जनाया कि उनके दोनों दुःख निर्मूल हो गये । श्रीरामजी के वनवास के कारण ही पिता ने देह-त्याग किया, इससे उनके वनवास की निवृत्ति में ही दोनों दुःख निवृत्त हो गये ।

(४) 'बहुत लाभ लोगन्ह लघु हानी ।'—तीनों भाइयों की अपेक्षा श्रीरामजी अधिक सुखदायक हैं ; यथा—"चारिउ सील रूप गुन धामा । तदपि अधिक सुखसागर रामा ॥" (बा० दो० १९७) ; "प्रानहु ते प्रिय लागहि, सब कहँ राम कृपाल ॥" (बा० दो० २०४) ; इत्यादि । माताओं को चारो पुत्र एक समान हैं, इसलिये उनका दुःख वैसा ही अब भी रहेगा, दो का रोना तब था, वैसा ही अब भी रहेगा ।

'अरध तजहिं ''' से 'हरषे दोउ भ्राता ।' तक, ये चार चरण राजापुर की प्रति में नहीं हैं, शेष सब प्राचीन प्रतियों में पाये जाते हैं । समालोचकों के निर्णय से राजापुर की प्रति श्रीगोस्वामीजी की स्वयं लिखित नहीं है, किंतु उन्हीं के समय की प्रतिलिपि है और प्रामाणिक है । पर ये चरण लेखक की अनवधानी से छूटे हुए प्रतीत होते हैं ; क्योंकि बिना इनके प्रसंग अधूरा रहता है । कोई-कोई ऐसा भी अनुमान करते हैं कि इस कांड में बहुत स्थलों पर आराप से काम लिया गया है । वैसे ही इन चरणों को गुरुजी मन में लाये, पर कह न सके, क्योंकि वे श्रीकैकेयीजी की तरह कठोर-हृदय तो नहीं हैं । तब श्रीभरतजी ने लख लिया और आगे की बातें हुईं । जब श्रीवसिष्ठजी ही न कह सके, तो कवि ने भी उसे

छोड़ दिया और छः ही अर्द्धाली रखकर छोड़ने का गुप्त यह भाव भी जना दिया कि यह जानकर छोड़ा गया है। श्रीभरतजी ने प्रसन्नता प्रकट कर उसमें श्रद्धा जनाकर गुरुजी का संकोच मिटाया, इत्यादि। किंतु पहले पक्षवाले कहते हैं कि गुरुजी को जो कहना था, स्पष्ट कहा और सबलोगों ने और माताओं ने भी सुना और समझा, तभी तो तदनुसार व्यवस्था कही गई। मेरी तुच्छ मति में तो पहला पक्ष समीचीन जान पड़ता है, क्योंकि इसी तरह एक अर्द्धाली की कमी आगे दो० २७८ में भी है। वह भी छूटी हुई है, वहीं पर देखिये।

कहहिं भरत मुनि कहा सो कीन्हे। फलु जग जीवन अभिमत दीन्हे ॥७॥
कानन करउँ जनम भरि बासू। येहि ते अधिक न मोर सुपासू ॥८॥

दोहा—अंतरजामी राम सिय, तुम्ह सरबज्ञ सुजान।
जौ फुर कहहु त नाथ निज, कीजिय बचन प्रमान ॥२५६॥

अर्थ—श्रीभरतजी कहते हैं कि मुनि ने जो कहा उसके करने से संसार-भर के जीवों को मनोवांछित देने का फल होगा ॥७॥ (१४ वर्ष तो कुछ भी नहीं है) मैं जन्म-भर वन में वास करूँ, इससे बढ़कर मेरे लिये और अनुकूलता नहीं है ॥८॥ श्रीसीतारामजी अंतर्यामी हैं और आप सर्वज्ञ एवं सुजान हैं। यदि आप सत्य (हृदय से) ही कहते हैं, तो हे नाथ! अपने वचन को प्रमाण (पक्का) कर ही दीजिये; अर्थात् यह प्रस्ताव टलने न पावे, तभी मैं जानूँगा कि आपने हृदय से कहा है।

विशेष—(१) 'कहहिं भरत मुनि कहा……'—'मुनि' शब्द संबोधन नहीं है; किंतु यह बात श्रीभरतजी सभा के समक्ष में कह रहे हैं, क्योंकि शिष्य हैं। अतः, 'मुनि' संबोधन अयोग्य है।

(२) 'कानन करउँ जनम भरि बासू'—यहाँ गुरुजी से ही कहते हैं कि आप १४ वर्ष ही कहते हैं, पर मैं जन्म-भर वास करूँगा और उसे परम आनंद मानूँगा।

(३) *'अंतरजामी राम सिय……'—मैं यदि कुछ बनाकर कहूँ, तो छिप नहीं सकता, मेरी* अभिलाषा सत्य है और आप उसके लिये कह ही चुके हैं, तो अब प्रमाण कीजिये; अर्थात् मेरे बदले में श्रीरामजी को अवध लौटाइये और उन्हें राज्य दीजिये। श्रीभरतजी निश्चय जानते हैं कि श्रीरामजी का रुख ऐसा नहीं होगा, यदि गुरुजी कर दें, तो बड़ा भाग्य है, पर गुरुजी उनके रुख के विरुद्ध भी न करेंगे। अतः, मुनि ने ये वचन ऊपर से ही किसी और कारण से सहसा कह दिये हैं, इसलिये ठीक करने के लिये प्रार्थना करते हैं।

भरत-बचन सुनि देखि सनेहू। सभासहित मुनि भये बिदेहू ॥१॥
भरत-महा-महिमा जलरासी। मुनिमति ठाढ़ि तीर अबला-सी ॥२॥
गा चह पार जतन हिय हेरा। पावति नाव न बोहित बेरा ॥३॥
और करिहि को भरत-बड़ाई। सरसी सीपि कि सिंधु समाई ॥४॥

शब्दार्थ—जलरासी = समुद्र । बोहित (बोहित्थ) = बड़ी नाव (जहाज) । सासी = छोटा तालाब । और = दूसरा, अधिक ।

अर्थ—श्रीभरतजी के वचन सुनकर और उनका स्नेह देखकर सभा के समेत मुनि विदेह हो गये ॥१॥ श्रीभरतजी की महती महिमा समुद्र है, मुनि की बुद्धि उसके तट पर अबला (स्त्री) की तरह खड़ी है ॥२॥ पार जाना चाहती है, उसने हृदय में बहुत उपाय ढूँढ़ा, पर वह न नाव पाती है, न जहाज और न बेड़ा ही ॥३॥ श्रीभरतजी की बड़ाई और कौन करेगा ? अर्थात् कोई न कर सकेगा, क्या छोटे तालाब की सीपी में समुद्र समा सकता है ? अर्थात् कभी नहीं ॥४॥

विशेष—(१) 'सभासहित मुनि भये विदेहू ।'—इन सबको यह आशा न थी कि ये हर्ष-पूर्वक १४ वर्ष का भी वनवास स्वीकार करेंगे । पर जब इन्होंने जन्म-भर के लिये माँगा और हठ की, तब इनका स्नेह बहुत उच्च कोटि का देखा गया । इसपर मारे प्रेम के लोगों का देहाध्यास न रह गया ।

पहले—'सुनि सनेह मय बचन गुरु, उर उमँगा अनुराग ॥' कहा गया था, पर इस बार तो मुनि सभ के सहित विदेह ही हो गये । श्रीभरतजी की भक्ति की महिमा अगाध देख पड़ी, उसे समुद्र के रूपक से कहते हैं—

(२) 'भरत-महा-महिमा जलरासी ।'—अबला जो कहीं अगाध समुद्र के किनारे जाय और वहाँ जहाज, नाव और बेड़ा भी न पावे, तो हार मानकर देखती खड़ी ही रह जायगी । पुरुष हो तो भला कुछ तैरने का भी साहस करे । बुद्धि स्त्रीलिंग है । अतः, उसे अबला कहा और बल-हीनता भी जनाई । वैसे मुनि की मति ने श्रीभरतजी की महिमा के पार जाना अर्थात् उसके पूर्ण प्रभाव का पता लगाना चाहा, पर उसने उत्तम-मध्यम और निकृष्ट में एक भी साधन न पाया । जहाज उत्तम, नाव मध्यम और बेड़ा निकृष्ट साधन है, इन्हींसे जल-राशि का उतरना हो सकता है । श्रीभरतजी के महिमा-समुद्र के समक्ष में उस अबला की तरह मुनि की मति दंग हो गई, हृदय से हार गई ; यथा—"तीर ते उतरि जस कह्यो चहै, गुन गननि जयो है ।··· यह जलनिधि खन्यों, मथ्यो लँघ्यो, बाँध्यो, अँचयो है । तुलसिदास रघुबीर बंधु महिमा को सिंधु तरि को कबि पार गयो है ॥" (गी॰ अ॰ ११) ; भाव यह कि मुनि की मति श्रीभरतजी के महिमा-समुद्र में प्रवेश करने में भी असमर्थ है । इस हार में गुरुजी को जो आनन्द हुआ, कदाचित् जीत जाते तो न होता प्रत्युत् खेद होता । इसीसे आगे ये ही श्रीभरतजी के पैरवीकार हो गये और श्रीभरतजी के स्नेह में अपनी मुग्धता प्रकट की ; यथा—"भरत सनेह बिचार न राखा ।" कहा है ।

(३) 'और करिहि को······'—जब ब्रह्मा के पुत्र श्रीवशिष्ठजी ने हार मानी, तो दूसरा कौन श्रीभरतजी की बड़ाई कर सकता है ? यहाँ औरों की मति सीपी और श्रीभरतजी की महिमा समुद्र है ।

वशिष्ठ-भरतगोष्ठी समाप्त हुई ।

चित्रकूट-प्रथम-दरबार

भरत मुनिहि मन भीतर भाये । सहितसमाज राम पहिं आये ॥५॥
प्रभु प्रनाम करि दीन्ह सुआसन । बैठे सब सुनि मुनि अनुसासन ॥६॥

बोले मुनिबर बचन बिचारी। देस काल अवसर अनुहारी ॥७॥
सुनहु राम सरबग्य सुजाना। धरम - नीति - गुन-ग्यान-निधाना ॥८॥

दोहा—सबके उर अंतर बसहु, जानहु भाउ कुभाउ ।
पुरजन-जननी-भरत हित, होइ सो कहिय उपाउ ॥२५७॥

आरत कहहिं बिचारि न काऊ। सूझ जुआरिहि आपन दाऊ ॥१॥

अर्थ—मुनि को श्रीभरतजी मन में प्रिय लगे और वे समाज-सहित श्रीरामजी के पास आये ॥५॥ प्रभु ने प्रणाम करके श्रेष्ठ आसन दिया, सबलोग मुनि की आज्ञा सुनकर बैठ गये ॥६॥ मुनि-श्रेष्ठ देश, काल और अवसर के अनुसार विचार कर वचन बोले ॥७॥ हे श्रीरामजी ! आप सर्वज्ञ और सुजान हैं एवं धर्म, नीति, गुण और ज्ञान की खान हैं ॥८॥ आप सबके हृदय के भीतर बसते हैं, सबके भाव और कुभाव को जानते हैं, पुरवासियों, माताओं और श्रीभरतजी का हित जिसमें हो, वह उपाय बतलावें ॥२५७॥ आर्त्त लोग कभी विचार कर नहीं कहते, जुआरियों को अपने ही दाँव सूझते हैं ॥१॥

विशेष—(१) 'मन भीतर भाये'—क्योंकि श्रीराम-भक्ति में परम अगाध देखे गये ।

(२) 'बोले मुनिवर बचन ···'—'विचारी' क्योंकि गोष्ठी में बिना विचारे ही सहसा प्रस्ताव कर बैठे थे। इसीसे अब सावधान होकर बोले। 'देश'—चित्रकूट सात्विक मुनियों का देश है, सभा की एवं किसी की प्रशंसा आदि की आवश्यकता नहीं। 'काल'—आपत् काल है, उदासीन वृत्ति से ही बातचीत हो। 'अवसर'—सूक्ष्म रीति से कार्यवाही हो, जिसमें मध्याह्न से पहले सभा-विसर्जन हो जाय, अतएव—'अरथ अमित अति आखर थोरे।' की रीति से बोले ।

(३) 'सुनहु राम सर्वज्ञ ···'—श्रीरामजी के सब विशेषण अभिप्राय युक्त हैं—'सर्वज्ञ' अर्थात् देवता दैत्य, मुनि, विप्र, पृथिवी आदि की व्यवस्था जानते हो। 'सुजान' अर्थात् चातुर्य गुण से आश्रितों के जी की भी जानते हो , यथा—"देखि दयाल दसा सबही की। राम सुजान जानि जन जी की ॥" (दो० ३०१) । "ज्ञान-सिरोमनि कोसल राऊ।" (बा० दो० २०) ; अत', हमलोगों के जी की भी जानते ही हो। 'धरम नीति गुन ···'—सत्य धर्म, भ्रातृ धर्म, सेवक-धर्म, प्रजा-धर्म, राज-धर्म आदि सभी धर्मों के आप खजाना हैं, जिसमें आपका और सबका धर्म रहे, वैसा उपाय कहिये । राजनीति भी आप जानते हैं, यथा— जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। (दो०१४), इसका निर्वाह भरतजी चाहते हैं, पुन —"रिपु रिन रच न राखब काऊ।" (दो० २२८), इसके अनुसार रावण आदि आपके आश्रितों के शत्रु हैं, उनका नाश करना आप चाहते हैं। 'गुन' अर्थात् शील, कृपा, करुणा आदि गुणों के आप ही एकमात्र आधार हैं। हम एवं सब माताओं आदि पर शील, श्रीभरतजी पर करुणा और आर्त्त देवता आदि पर कृपा की आवश्यकता है। 'ज्ञान निधाना'—अपरोक्ष ज्ञान, त्रिकाल ज्ञान एवं शास्त्र ज्ञान के भी आप स्थान हैं, अत , हमलोगों को आवश्यक ज्ञान भी आप ही दे सकते हैं ।

(४) 'सबके उर अंतर बसहु ···'—सबके भीतर का भाव यह है कि आप लौट चलें और राज्य स्वीकार करें। आपके वन जाने में सबका कुभाव है, यह सब भी आप जानते ही हैं , यथा—"जानत

हो सब ही के मन की। ''''ये सेवक संतत अनन्य गति ज्यों चातकहिं एक गति घन की। यह बिचारि गवनहु पुनीत पुर हरहु दुसह आरति परिजन की॥'' (गी० अ० ७१); आपने स्वयं कहा भी है—"सानुज भरत सचिव सब माता। देखि मोहिं पल जिमि जुग जाता॥'' (दो० २४७); फिर इनके दुःख-निवारण का उपाय बतलाइये। तात्पर्य यह कि इनका हित हो, चाहे जिस रीति से हो, श्रीरामजी सबके हितार्थ आगे चरण पादुका देंगे; यथा—"तुलसिदास अनुजहिं प्रबोधि प्रभु चरन पीठ निज दीन्हें। मनहुँ सबनि के प्रान-पाहरू भरत सीस धरि लीन्हे॥'' (गी० अ० ७५)।

'पुरजन जननी'''— पुरजनों में ऋषि, विप्र भी हैं, इससे इन्हें प्रथम कहा। श्रीरामजी के भी पुरजन अति प्रिय हैं; यथा—"अति प्रिय मोहिं इहाँ के बासी।'' (उ० दो० ३)।

(५) 'आरत कहहिं बिचारि न काऊ।' यथा—"अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी। इनको बिलग न मानिये बोलहिं न सँभारी।'' (वि० ३४); तथा—"रहत न आरत के चित चेतू।'' (दो० २९८); भाव यह कि मेरे ऊपर न डालिये (जैसा कि आगे प्रभु ने कहा ही है) हमलोग आर्त्त हैं; अतः, जिसमें हमें सुख देख पड़ेगा, वही कहेंगे, चाहे वह यथार्थ न भी हो। जैसे जुआरी जब पासा या कौड़ी फेंकते हैं, तब सब अपनी बाजी पड़ना कहते हैं कि मेरी कौड़ी आई। वैसे हमलोग तो अपनी ही कहेंगे कि आप राजा हों, लौट चलें; इत्यादि।

इस जुए में आपका ही दाँव पड़ा, राजा-रानी में जुआ हुआ, रानी ने दाँव जीता। आप चाहते थे—श्रीभरतजी राजा हों और हम वन को जायँ, वही हुआ, पासा तो आपका पड़ा, पर हमलोग अपनी ही हाँकते हैं कि आप लौट चलें, राजा होवें—"केहि बिधि होइ राम अभिषेकू।'' (दो० २५१); इत्यादि। अपने आ' होने का कारण भी आगे मुनि ने ही कहा है—'भरत सनेह बिचारु न राखा।' इत्यादि।

सुनि मुनि-बचन कहत रघुराऊ। नाथ तुम्हारेहि हाथ उपाऊ॥२॥
सब कर हित रुख राउरि राखे। आयसु किये मुदित फुर भाखे॥३॥
प्रथम जो आयसु मो कहँ होई। माथे मानि करउँ सिख सोई॥४॥
पुनि जेहि कहँ जस कहब गोसाँई। सो सब भाँति घटिहि सेवकाई॥५॥

शब्दार्थ—माथे मानि = शिरोधार्य करके। घटिहि = होगा, लगेगा। फुर भाखे = सच कहने में।

अर्थ—मुनि के वचन सुनकर श्रीरघुनाथजी कहते हैं कि हे नाथ! आपके ही हाथ में उपाय है॥२॥ आपके रुख रखने में एवं आपकी आज्ञा (के प्रति कर्म से) करने में, (मन से) प्रसन्न होने में और (वचन से) उसे सत्य (ठीक) कहने में सबका हित है॥३॥ पहले जो आज्ञा मुझे हो, उस शिक्षा को मैं शिरोधार्य करके करूँ॥४॥ फिर हे गोसाईं! आप जिसको जैसा कहेंगे, वह सब प्रकार से सेवा में लगेगा॥५॥

विशेष—(१) मुनि ने कहा था—'पुरजन जननी भरत हित, होइ सो कहिय उपाउ।' उसके प्रति श्रीरामजी कहते हैं—'नाथ तुम्हारेहि हाथ उपाऊ॥ सब कर हित रुख'''' अर्थात मुनियों ने श्रीरामजी को 'सर्वज्ञ' और 'सुजान' आदि में और अंत में—'उर अंतर बसहु' कहा है। तदनुसार श्रीरामजी सब जानकर कहते हैं कि गोष्ठी में आपका जो रुख था "राखे राम रजाइ रुख, हम सब कर हित होइ।''

एवं "राम रजाइ सीस सबही के" पुनः मेरे रुख को भी आपने ही प्रकट किया है ; यथा—"सत्य संध-पालक श्रुति सेतू। राम जनम जग मंगल हेतू॥" अतः, वैसी ही आज्ञा मुझको और सबको हो।

(२) 'प्रथम जो आयसु ' '—जब मैं गुरु-आज्ञा पर सन्नद्ध हो जाऊँगा, तब सभी होंगे, इसलिये पहले मुझे ही आज्ञा हो।

कह मुनि राम सत्य तुम्ह भाखा। भरत-सनेह-बिचार न राखा॥६॥
तेहि ते कहउँ बहोरि बहोरी। भरत-भगति बस,भइ मति मोरी॥७॥
मोरे जान भरत - रुचि राखी। जो कीजिय सो सुभ सिव-साखी॥८॥

दोहा—भरतबिनय सादर सुनिय, करिय बिचार बहोरि।
करब साधुमत लोकमत, नृपनय निगम निचोरि॥२५८॥

अर्थ—मुनि ने कहा, हे श्रीरामजी! आपने सत्य कहा है, पर श्रीभरतजी के स्नेह ने मेरे विचार को नहीं रहने दिया॥६॥ इसीसे मैं बार बार कहता हूँ कि मेरी बुद्धि श्रीभरतजी की भक्ति के वश हो गई है॥७॥ मेरी समझ में तो श्रीभरतजी की रुचि रखकर जो कुछ कीजियेगा, वह शुभ ही होगा, शिवजी इसके साक्षी हैं॥८॥ श्रीभरतजी की प्रार्थना आदर-पूर्वक सुनिये, फिर उसपर विचार कीजिये, तब साधु-मत, लोक-मत, राजनीति और वेदों का मत निकालकर वही कीजियेगा॥२५८॥

विशेष—(१) श्रीरामजी ने मुनि को ही आज्ञा देना कहा था, उसपर मुनि कहते हैं कि श्रीभरतजी की भक्ति के वश होने से मेरे विचार तो उन्हीं के अनुकूल ढलेंगे। अतः, मैं स्वतंत्र-रूप से कोई सिद्धान्त की बात नहीं कह सकता। हाँ, इतना तो कहूँगा कि श्रीभरतजी की रुचि रखकर जो भी करोगे, शुभ होगा, क्योंकि श्रीभरतजी परम भागवत (साधु) हैं और—"साधु ते होइ न कारज हानी।" (सुं० दो० ५); यह कहा है और आप सेवकों की रुचि रखते ही हैं; यथा—"राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद-पुरान-साधु-सुर-साखी॥" (दो० २१८)। 'सिव साखी'—शिवजी कल्याणकर्त्ता हैं, यदि हम झूठ कहते होंगे, तो वे दंड देंगे, क्योंकि संहारकर्त्ता भी हैं।

(२) 'करिय विचारि बहोरि'—क्योंकि मुनि पहले ही कह चुके हैं कि मैं एक पक्ष में विवश हूँ। अतः, स्वतंत्र आज्ञा नहीं दे सकता। काकु से यह भी ध्वनि है कि श्रीभरतजी की विनय सुनने पर क्या फिर आप उनसे भिन्न विचार कर सकेंगे? अर्थात् आप भी उन्हीं के अनुकूल ढल पड़ेंगे और—"भरत कहहिं सोइ किये भलाई।..." देना ह पड़ेंगे।

गुरु अनुराग भरत पर देखी। रामहृदय आनंद बिसेखी॥१॥
भरतहि धरम - धुरंधर जानी। निज सेवक तन-मानस-बानी॥२॥
बोले गुरु - आयसु - अनुकूला। बचन मंजु मृदु मंगलमूला॥३॥
नाथ सपथ पितु चरन दोहाई। भयेउ न भुवन भरतसम भाई॥४॥

जे गुरु-पद-अंबुज-अनुरागी। ते लोकहुँ बेदहुँ बड़ भागी ॥५॥
राउर जा पर अस अनुरागू। को कहि सकइ भरत कर भागू ॥६॥
लखि लघु बंधु बुद्धि सकुचाई। करत बदन पर भरत-बड़ाई ॥७॥
भरत कहहिं सोइ किये भलाई। अस कहि राम रहे अरगाई ॥८॥

शब्दार्थ—अरगाई (अलं गानम्)=मौन होना, चुप होना; यथा—"कुबो रानि अब रहु अरगानी।" (दो० ११)।

अर्थ—श्रीभरतजी पर गुरु का अनुराग देखकर श्रीरामजी के हृदय में विशेष आनंद हुआ ॥१॥ श्रीभरतजी को धर्म-धुरंधर और तन-मन-वचन से अपना सेवक जानकर ॥२॥ उन्होंने गुरुजी की आज्ञा के अनुकूल सुन्दर, कोमल और मङ्गल-मूलक वचन कहा ॥३॥ हे नाथ! आपकी शपथ और पिता के चरणों की शपथ (करके, कहता हूँ), भुवन भर में श्रीभरतजी के समान भाई नहीं हुआ ॥४॥ जो गुरुजी के चरण-कमल के अनुरागी हैं, वे लोक में और वेद में भी बड़े भाग्यवान् (माने जाते) हैं ॥५॥ (फिर) जिसपर आपका ऐसा अनुराग है उन श्रीभरतजी के भाग्य को कौन कह सकता है? अर्थात् कोई नहीं ॥६॥ छोटा भाई जानकर श्रीभरतजी के मुँह पर उनकी बड़ाई करते हुए बुद्धि सकुचती है ॥७॥ श्रीभरतजी जो कुछ कहें वही करने में भलाई है—ऐसा कहकर श्रीरामजी चुप हो रहे ॥८॥

विशेष—(१) 'रामहृदय आनंद बिसेषी।' श्रीभरतजी में श्रीरामजी का स्नेह है। अतः, गुरुजी के अनुराग से उनकी अत्यन्त भलाई होगी; इसपर श्रीरामजी को विशेष आनन्द हुआ। यह भी सूचित किया कि गुरु-भक्ति करके गुरुजी की अनुकूलता से श्रीरामजी विशेष प्रसन्न होते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से विशेष आनन्द का यह भी कारण है कि यदि गुरुजी न्याय अपने हाथ में रखते तो मुझे परतंत्रता थी, अब तो अनुराग से उन्होंने श्रीभरतजी पर ही डाल दिया, तो श्रीभरतजी अपने कहने में हैं और सयाने साधु हैं; यथा—"भरत कहे महँ साधु सयाने।" (दो० २२५); अतः, मेरे अनुकूल ही रहेंगे।

(२) 'भरतहिं धरम-धुरंधर जानी...'—धर्म धुरंधर हैं; अतः, हमारा भी धर्म बचावेंगे। हमारे 'निज सेवक' हैं। अतः, हमारे प्रतिकूल हठ न करेंगे, आज्ञा मानेंगे। 'तन मानस बानी' यथा—"चलत पयादे खात फल..." (दो० २११);—तन, "सिर भरि जाउँ उचित अस मोरा।..." (दो० १०२);—वचन, "केहि बिधि होइ राम अभिषेकू, मोहि अवकलत उपाय न एकू ॥..." से "एकउ जुगुति न मन ठहरानी।..." (दो० १५२) तक मन। श्रीभरतजी में धर्म और प्रेम दोनों कई जगह आये हैं, वैसे इस अर्धाली में भी दोनों ही कहे हैं।

(३) 'वचन मंजु मृदु मंगलमूला।'—पहले जब मुनि ने कहा—'पुरजन जननी भरत......' तब आपने जो उत्तर दिया, वह गुरु-आयसु के अनुकूल न था, इसलिये वहाँ—'कहब रघुराऊ' मात्र कहा गया और यहाँ गुरु आयसु की अनुकूलता से वचन के तीन विशेषण 'मंजु, मृदु और मंगल-मूला' दिये गये।

(४) 'नाथ सपथ पितु चरन दोहाई।'—पिता के चरण-मात्र की शपथ और गुरु के सर्वांग की शपथ की, इससे पिता में अधिक भक्ति दिखाई, क्योंकि श्रीभरतजी को भी पिता की आज्ञा के पालन में दृढ़ करना है कि जिससे वे इसके प्रतिकूल कुछ न कहें। श्रीभरतजी की प्रशंसा करने में संकोच दिखाते

हुए भी उनकी कुछ प्रशंसा करके उन्हें अपने अनुकूल बनाते हैं कि जिससे वे मेरी रुचि रक्खें। गुरु की शपथ से दिखाया कि मैं इन्हें इष्ट मानता हूँ, वैसे तुम भी मानो और इनकी आज्ञा का पालन करो। जो गुरु-भक्त होगा, वह गुरु की रुचि को भंग न करेगा।

(५) 'लखि लघु बंधु बुद्धि सकुचाई।''' '''—सम्मुख में संकोच होता है, पर परोक्ष में तो बहुत बड़ाई किया करते हैं, जैसे कि निषादराज ने और भरद्वाजजी ने तथा आगे उ० दो० २ में श्रीहनुमानजी ने भी कहा है।

(६) 'भरत कहहिं सोइ किये''''''—पूर्वोक्त गुरु-वचन—'मोरे जान भरत रुचि राखी। जो कीजिय'''''' को यहाँ पूरा किया।

दोहा—तब मुनि बोले भरत सन, सब सँकोच तजि तात।
कृपासिंधु प्रिय बंधु सन, कहहु हृदय कै बात ॥२५९॥

सुनि मुनि-बचन राम - रुख पाई। गुरु साहिब अनुकूल अघाई ॥१॥
लखि अपने सिर सब छरभारू। कहि न सकहिं कछु करहिं बिचारू ॥२॥
पुलकि सरीर सभा भये ठाढ़े। नीरज - नयन नेह - जल बाढ़े ॥३॥

अर्थ—तब मुनि श्रीभरतजी से बोले—हे तात ! सब संकोच छोड़कर कृपा के सागर प्यारे भाई से हृदय की बात कहो ॥२५९॥ मुनि के वचन सुन श्रीरामजी का रुख पा, गुरु और इष्टदेव की अनुकूलता से तृप्त होकर ॥१॥ सब छरभार (कार्य का बोझा) अपने शिर देखकर श्रीभरतजी कुछ कह नहीं सकते, विचार कर रहे हैं ॥२॥ शरीर से पुलकित होकर सभा में खड़े हुए, कमल समान नेत्रों में प्रेम-जल की बाढ़ आ गई ॥३॥

विशेष—(१) 'तब मुनि बोले '''—पूर्व की गोष्ठी में श्रीभरतजी ने मुनि से कहा था—"जौ गुर कहहु त नाथ निज, कीजिय बचन प्रमान॥" (दो० २५६); वहाँ उस समय मुनि चुप हो रहे थे, उसका निर्वाह प्रबंध बाँधकर यहाँ किया कि लो, श्रीरामजी प्रसन्न हैं और यह कह भी चुके हैं—"भरत कहहिं सोइ किये भलाई।" अब अपने अभीष्ट पूरे कर लो, वचन देकर श्रीरामजी टलेंगे नहीं। यह श्रीवसिष्ठजी की शिष्टता है, कोरा-कथन् मात्र ही नहीं है। किंतु कर्त्तव्य पूर्ण करके कहा ; यथा—"देवि ! बिनु करतूति कहिबो जानि हैं लघु लोय। कहौं गो मुख की समरसरि कालि कालिख धोय।" (गी० सुं० ५)। गुरु का कर्त्तव्य यही है ईश्वर को शिष्य के सम्मुख कर दे। 'सब सँकोच तजि'—संकोच, माता के किये हुए अपराध का ; यथा—"मातु मते महुँ मानि मोहि " (दो० २३३) ; सामने बात करने का ; यथा—"महूँ सनेह सँकोच बस, सनमुख कही न बैन।" (दो० २६०); इत्यादि। संकोच छोड़ दो, क्योंकि श्रीरामजी कृपासिंधु और प्रिय बंधु हैं, उन्होंने तुम्हारे प्रेम से कृपा करके तुम्हें पूर्ण स्वत्व दे दिया कि जो कहो वही करें, तब संकोच क्या ?

(२) 'गुर साहिब अनुकूल अघाई।'—पहले डरते थे कि ये प्रतिकूल होंगे ; यथा—"लोग कहइ

गुर-साहिब द्रोही।" (दो० २०७)। "अपडर डरेउँ न सोच समूले।" (दो० २६६); अा यहाँ दोनों की अनुकूलता से तृप्त हो गये।

(३) 'कहि न सकहिं कछु ····'—गुरु की आज्ञा से शपथ करके प्रभु मेरे लिये प्रतिज्ञा भी छोड़ने को सन्नद्ध हो गये, तो अब मुझे क्या कर्त्तव्य है? यही विचार रहे हैं, क्योंकि—"सहसा करि पाछे पछिताहीं। कहहिं वेद बुध ते बुध नाहीं॥" (दो० २३०)।

(४) 'पुलक सरीर सभा ···· '—खड़े होकर बोलना सभा की रीति है, अपने पर गुरु और स्वामी की प्रसन्नता देखकर प्रेम के आँसू चल पड़े।

भरत-भाषण [१]

कहब मोर मुनिनाथ निबाहा। येहि ते अधिक कहउँ मैं काहा॥४॥
मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥५॥
मो पर कृपा सनेह बिसेखी। खेलत खुनिस न कबहूँ देखी॥६॥
सिसुपन ते परिहरेउँ न संगू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू॥७॥
मैं प्रभु कृपा-रीति जिय जोही। हारेहु खेल जितावहिं मोही॥८॥

दोहा—महूँ सनेह-सकोच-बस, सनमुख कहे न बयन।
दरसन तृपित न आजु लगि, प्रेम पियासे नयन॥२६०॥

शब्दार्थ—खुनिस (खिन्न मनस्) = क्रोधित, रूखापन। जोही = देखी।

अर्थ—मेरा कहना तो मुनिराज ने ही पूरा कर दिया; अर्थात् जो मैं कहना चाहता, वह उन्होंने ही कह दिया। इससे अधिक मैं और क्या कहूँ? ॥४॥ अपने स्वामी का स्वभाव मैं जानता हूँ कि वे अपराधी पर भी कभी क्रोध नहीं करते ॥५॥ और मुझपर तो बहुत कृपा और स्नेह रखते हैं, (यहाँ तक कि) मैंने खेलते हुए (बालपन में) भी कभी उन्हें क्रोधित नहीं देखा॥६॥ मैंने बचपन से कभी साथ नहीं छोड़ा, स्वामी ने कभी भी मेरा मन भंग नहीं किया ॥७॥ मैंने स्वामी की कृपा की रीति हृदय में (विचार कर) देखी है कि हारने पर भी खेल में वे मुझे जिता देते थे ॥८॥ मैंने भी स्नेह और संकोचवश सामने बात नहीं की। प्रेम के प्यासे नेत्र आज तक दर्शनों से तृप्त नहीं हुए ॥२६०॥

विशेष—(१) 'कहब मोर मुनिनाथ निबाहा।····'—गुरुजी ने जो पहले कहा था—"पुरजन जननी भरत हित, होइ सो कहिय उपाउ॥" उसीमें मेरा कथन आ गया, वही तो मैं भी कहता। पुनः पूर्वगोष्ठी में गुरुजी से श्रीभरतजी ने कहा था—'कोजिय बचन प्रमान' उसकी पूर्ति भी—"मोरे जान भरत रुचि राखी।····" में आ गई। इससे श्रीरामजी पर स्वीकृति का भार दे दिया, अब यह बात भी श्रीभरतजी चाहे कहें या न कहें, पर गुरुजी ने तो अपना कथन सत्य कर दिया।

(२) 'मैं जानउँ निज नाथ···'—औरों के नाथ प्रायः क्रोध करते हैं, पर मेरे नाथ नहीं; यथा—"साहिब होत सरोष, सेवक को अपराध सुनि। अपनेहुँ देखे दोष, राम न सपनेहुँ उर धर्यो॥" (दोहावली ४७), प्रत्युत् वे कृपा और स्नेह रखते हैं; यथा—"एक कहत भइ हार रामजी की एक कहत भैया भरत जये। प्रभु बकसत गज बाजि बसन मनि···" (गी० बा० ४३)। 'खेलत खुनिस न कबहूँ देखी।'—बालपन के खेल में प्रायः क्रोध आया करता है, पर स्वामी ने उस अवस्था में भी क्रोध नहीं किया; यथा—"सिसु पन ते पितु मातु बंधु गुरु सेवक सचिव सखाउ। कहत राम बिधु बदन रिसौंहैं सपनेहुँ लखेउ न काउ॥" (वि० १००); अब तो बड़े हो गये हैं, क्रोध क्यों करेंगे।

(३) 'सिसुपन ते परिहरेउँ न संगू।'—बराबर साथ रहने पर कभी स्वभाव-भेद से अनादर का कारण आ जाता है, पर मैं बराबर साथ रहा, तो भी कभी मेरा मन न तोड़ा।

(४) 'हारेहु खेल जितावहिं मोही।'—भाव यह कि अब भी माता की करनी से मेरी हार हुई है इसमें भी मुझे जिताया, क्योंकि त्याग न करके आदर किया और मेरे अनुकूल हो गये।

यहाँ तक स्वामी का स्वभाव और अपनी कृतज्ञता कही, आगे अपनी रीति कहते हैं—

(५) 'महूँ सनेह सकोच-बस···'—भाव यह कि कभी कोई बात पूछने की इच्छा होती थी, तब भी सामने शिर उठाकर बात नहीं की; यथा—"नाथ भरत कछु पूछन चहहीं। प्रश्न करत मन सकुचत अहहीं॥" (उ० दो० ३५); कभी ऐसा अवसर ही नहीं आया कि सम्मुख होऊँ, तो आज कैसे बात करूँ। तब आये ही क्यों? इसपर कहते हैं—'दरसन तृपिति न ···' अर्थात् दर्शनों के लिये दौड़ा आया और आपत्काल के कारण बात कहनी पड़ रही है; यथा—"छोटेहु ते छोह करि आये मैं सामुहें न हेरो। एकहि बार आजु बिधि मेरो सील सनेह निबेरो॥" (गी० अ० ७३)।

बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा। नीच बीच जननी मिस पारा॥१॥
यहउ कहत मोहि आजु न सोभा। अपनी समुझि साधु सुचि को भा॥२॥
मातु मंदि मैं साधु सुचाली। उर अस आनत कोटि कुचाली॥३॥
फरइ कि कोदव बालि सुसाली। मुकता प्रसव कि संबुक काली॥४॥

शब्दार्थ—बीच···पारा=भेद डाल दिया, पार्थक्य कर दिया। प्रसवना=पैदा करना।

अर्थ—ब्रह्मा मेरा दुलार न सह सका (ईर्ष्यावश) उस नीच ने नीच माता के बहाने भेद डाल दिया॥१॥ यह भी कहते हुए आज मुझे शोभा नहीं, (क्योंकि) अपनी समझ से कौन साधु और पवित्र हुआ है? अर्थात् कोई नहीं॥२॥ 'माता नीच और मैं साधु सदाचारी हूँ, ऐसा हृदय में लाने से करोड़ों कुचालों (की तुल्यता) है।३॥ क्या कोदो की बाली में सुन्दर धान फलता है? क्या काली घोंघी में मोती पैदा हो सकता है? ॥४॥

विशेष—(१) 'बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा।'—आपका स्नेह और कृपा दैव से न सहा गया। इससे उस नीच ने माता के बहाने भेद डाला, यथा—"बिघन मनावहिं देव कुचाली।" (दो० ११), "बिधि बाम की करनी कठिन जेहि मातु कीन्ही बावरी।" (दो० २०१), 'नीच' को विधि का विशेषण

इससे समझा गया कि पूर्व कहा है; यथा—"ऊँच निवास नीच करतूती।" (दो० ११); माता का भी विशेषण माना गया, क्योंकि आगे—'मातु मंद मैं···' कहा ही है। यदि 'नीच' को 'बीच' का ही विशेषण मानें, तो अर्थ होगा कि छोटे को बड़ा पद और बड़े का निरादर कराके नीचा पद दिया, जिससे कुल में दाग लगाया; यह नीच रीति का बीच (भेद) है।

(२) 'कहत कहत मोहि आजु न सोभा।···'—माता मंद है, किंतु मैं साधु सुचाली हूँ, यह किसी के विश्वास योग्य नहीं है, इसीसे यह कहने में मेरी शोभा नहीं है। जो बात औरों के विश्वास योग्य न हो, वह अपने ही मुँह से अपनी प्रशंसा के विषय में कभी प्रामाणिक नहीं हो सकती। इसी को दृष्टान्त से पुष्ट करते हैं।

(३) 'फरइ कि कोदव बालि···'—कोदव कदन्न (निषिद्ध अन्न) है और सुशालि देवान्न है। कोदव रूपा निषिद्ध-वृत्ति-माता से उत्पन्न मैं सुशालि की तरह साधु-सुचाली नहीं हो सकता। काई सेंवार आदि के समीपवाले घोंघे काले हो जाते हैं, उससे मोती कभी नहीं हो सकता, वैसे मंथरा आदि के संसर्गवाली कैकेयी से साधु-सुचाली पुत्र नहीं हो सकता।

यहाँ तक माता के संबंध से अपनेको दोषी कहा। आगे केवल अपनेको ही दोषी कहते हैं और उपर्युक्त विधि और माता को निर्दोष कहते हैं।

सपनेहुँ दोसक लेस न काहू। मोर अभाग उदधि अवगाहू ॥५॥
बिनु समुझे निज-अघ परिपाकू। जारिउँ जाय जननि कहि काकू ॥६॥
हृदय हेरि हारेउँ सब ओरा। एकहि भाँति भलेहि भल मोरा ॥७॥
गुरु गोसाइँ साहिब सिय-रामू। लागत मोहि नीक परिनामू ॥८॥

दोहा—साधु-सभा-गुरु-प्रभु निकट, कहउँ सुथल सतिभाउ।
प्रेम प्रपंच कि झूठ फुर, जानहिं मुनि रघुराउ ॥२६१॥

शब्दार्थ—दोसक = दोष का। लेस = संसर्ग, लगाव। अवगाहू = अथाह। परिपाक = फल, पूर्णता। गोसाइँ = इन्द्रियों के स्वामी, समर्थ। काकु = व्यंग्य।

अर्थ—स्वप्न में भी किसी को दोष का लगाव नहीं है, मेरा अभाग्य-समुद्र अथाह है ॥५॥ अपने पापों का फल बिना समझे हुए मैंने व्यर्थ माता को व्यंग्य वचन कहकर जलाया ॥६॥ हृदय में सब ओर खोज कर सभी ओर से हार गया, एक ही प्रकार से भले ही मेरा भला जान पड़ता है ॥७॥ कि गुरुजी गोस्वामी हैं और श्रीसीतारामजी स्वामी (इष्ट देव) हैं, इससे मुझे परिणाम अच्छा लगता है ॥८॥ साधु-समाज, गुरु और प्रभु के समीप श्रेष्ठ स्थल चित्रकूट में सद्भाव से कहता हूँ, प्रेम है वा कपट, झूठ है वा सत्य, इसे तो मुनि और रघुराज श्रीरामजी जानते हैं ॥२६१॥

विशेष—(१) 'मोर अभाग उदधि···'; यथा—"मैं सिग धिग अघ उदधि अभागी। सब उत्पात भयेउ जेहि लागी॥" (दो० २००)। 'बिनु समुझे निज···'—अपने ही बुरे कर्मों के फल-भोग

का समय प्राप्त है ; यथा—"कोउ न काहु सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सब भ्राता॥" (दो॰ ९१) ; इसे न समझकर व्यर्थ ही माता को व्यंग्य एवं कठोर वचन कहा ; यथा—"पापिनि सबहि भाँति कुल नासा।···" से "राम बिरोधी हृदय ते···" (दो॰ १६०-१६२)।

(२) 'हृदय हेरि हारेउँ···'—उपर्युक्त अभाग्य-सिंधु से पार पाने के लिये और कोई उपाय न मिला, यही एकमात्र उपाय है—'गुरु गोसाइँ···'।

(३) 'साधु-सभा-गुरु प्रभु···'—इन चारों स्थलों में झूठ बोलना महापाप है, दूसरे इनके समक्ष में कपट प्रकट भी हो जाता है। साधु, गुरु और प्रभु सर्वज्ञ हैं तथा उत्तम स्थल चित्रकूट में त्रिदेव को भी कपट-छल छोड़ना पड़ा है ; यथा—"जहँ जनमें···बिधि हरि हर परिहरि प्रपंच छल।" (वि०)

भूपतिमरन प्रेम पन राखी। जननी कुमति जगत सब साखी॥१॥
देखि न जाहिं बिकल महतारी। जरहिं दुसह जर पुर-नर-नारी॥२॥
महीं सकल अनरथ कर मूला। सो सुनि समुझि सहेउँ सब सूला॥३॥
सुनि बन-गवन कीन्ह रघुनाथा। करि मुनिबेष लखन-सिय-साथा॥४॥
बिनु पानहिन्ह पयादेहि पाये। संकर साखि रहेउँ येहि घाये॥५॥

अर्थ—प्रेम-प्रण की रक्षा के लिये राजा का मरण और माता की कुमति (दोनों) का सारा जगत् साक्षी है॥१॥ माताएँ व्याकुल हैं, अतएव देखी नहीं जातीं, श्रीअवधपुर के स्त्री-पुरुष दुस्सह ज्वर से जल रहे हैं॥२॥ इन सब अनर्थों का मूल (कारण) मैं ही हूँ, यह सुन समझकर सब दुःख सहता हूँ॥३॥ श्रीरघुनाथजी मुनि-वेष बनाकर श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी को साथ लेकर, बिना जूतियों के पैदल ही वन को गये, यह सुनकर श्रीशंकरजी साक्षी हैं कि ऐसे घाव से भी मैं जीता रह गया॥४-५॥

विशेष—(१) 'भूपतिमरन प्रेम पन राखी।···'—'प्रेम पन' के यहाँ दो अर्थ हो सकते हैं—प्रेम-प्रण और प्रण (अर्थात् सत्य का प्रण)। प्रेम का प्रण ; यथा—"सो तन राखि करब मैं काहा। जेहि न प्रेम पन मोर निबाहा॥" (दो॰ १५५) ; सत्य का प्रण—सत्य-प्रण की रक्षा में श्रीराम-वियोग हुआ और फिर प्रेम-प्रण की रक्षा में शरीर-त्याग।

(२) 'महीं सकल अनरथ कर मूला।'—'सकल' उपर्युक्त 'भूपति मरन' 'जननी कुमति' 'बिकल महतारी' 'जरहिं दुसह जर पुर नरनारी' इन सब अनर्थों का कारण मैं ही हूँ। माता की कुमति मेरे राज्य के लिये हुई, उसीसे शेष सब अनर्थ हुए।

'सो सुनि समुझि···'—माता से सुना और स्वयं समझा ; यथा—"हेतु अपनपौ जानि जिय, थकित रहे धरि मौन॥" (दो॰ १६०) ; अब मैं सब अनर्थों का कारण हूँ, तो कहूँ किससे? विवश होकर सब सहा; अर्थात् व्यथाएँ तो बहुत हैं, पर ये सब अपने ही कर्मों के फल हैं, अतः इन्हें भोगना पड़ा।

(३) 'संकर साखि रहेउँ येहि घाये।'—शूल तो उपर्युक्त कारणों से ही हुआ था, पर अब यह जाना कि बिना जूती और पैदल ही मुनि-वेष से वन को गये, तब अत्यन्त पीड़ा हुई। पर प्राण न गये, क्योंकि

अभी शेष हैं। इस बात पर शिवजी की साक्षी दी कि जो यह झूठ हो तो वे हमारा कल्याण न करें, क्योंकि कल्याण-कर्त्ता हैं और कराल दंड दें, क्योंकि कालरूप भी ह।

बहुरि निहारि निषाद सनेहू। कुलिस कठिन उर भयेउ न बेहू ॥६॥
अब सब आँखिन्ह देखेउँ आई। जियत जीव जड़ सबइ सहाई ॥७॥
जिन्हहि निरखि मग साँपिनि बीछी। तजहिं बिषमबिष तामस तीछी ॥८॥

दोहा—तेइ रघुनंदन लखन सिय, अनहित लागे जाहि।
तासु तनय तजि दुसह दुख, दैव सहावइ काहि ॥२६२॥

शब्दार्थ—बेहू (सं० वेध)=छिद्र, छेद। तामस=तमोगुण प्रकृतिवाली। तीछी=तीक्ष्ण।

अर्थ—फिर निषाद का स्नेह देखकर वज्र से भी कठोर हृदय में छिद्र न हुआ; अर्थात् वह फट न गया ? ॥६॥ अब आकर सब आँखों से देखा; यह जड़ जीव सब सहकर जीता है ॥७॥ जिन्हें देखकर मार्ग की तीक्ष्ण तामसी साँपिनें और बिच्छियाँ अपने कठिन विष त्याग देती हैं ॥८॥ वे ही श्रीरघुनन्दन, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी जिसे शत्रु जान पड़े, उसके पुत्र को छोड़कर दैव यह दुःसह दुःख और किसे सहावे ? अर्थात् मैं ही इसके योग्य पात्र हूँ ॥२६२॥

विशेष—(१) 'बहुरि निहारि निषाद ...'—निषाद हिंसक-जाति होने से कठोर हृदय के होते हैं, उस जाति के 'गुह' का तो उनपर इतना प्रेम और मुझ-भाई की ओर से ऐसे अनर्थ उन्हीं पर किये गये। उसका ऐसा प्रेम आँखों से देखा कि वह आपके लिये प्राण देने को उपस्थित था। (इससे जान पड़ता है कि जब निषादराज ने अपने परिजनों को श्रीभरतजी के मित्र-भाव होने का संकेत दिया, तब स्वाभाविक चतुर राजकुमार श्रीभरतजी ने उसकी तैयारी जान ली थी और वे उसका आशय भी जान गये थे।)

'कुलिस कठिन उर भयेउ न बेहू।'—कर्म शेष से प्राण न निकले, तो कलेजा तो फट जाना चाहिये, पर वह भी न हुआ, क्योंकि यह वज्र से भी कठोर है।

'सहेउँ सब सूला'—'रहेउँ येहि घाये' और 'कुलिस कठिन उर भयउ न बेहू।' इन में उत्तरोत्तर अधिक दुःख होना कहा गया।

(२) 'जियत जीव जड़...'—जीव को जड़ कहा, क्योंकि चेतन होता, तो न सह सकता। 'जियत जीव' का जीते-जी भी अर्थ होता है, इससे भाव होगा कि हम सुनते थे कि मरने पर यम-यातना शरीर से कष्ट भोगाया जाता है, पर वह शरीर बना ही रहता है। वैसे ही मेरे जीते-जी भी दुःख भोग-भोगकर यह शरीर बना ही है।

(३) 'जिन्हहि निरखि मग साँपिनि '—साँपिनि और बिच्छी स्त्रीलिंग हैं, क्योंकि कैकेयीजी के लिये उपलक्ष्य ये उपमाएँ हैं। यह भी भाव है कि सर्प और बिच्छू की अपेक्षा सर्पिणी और बिच्छी अधिक तीक्ष्ण विषवाली होती हैं। ये तीक्ष्ण तामसी जीव भी श्रीरामजी को देखकर सदा का क्रूर स्वभाव छोड़ देते हैं, पर कैकेयी सदा साथ रहनेवाली और मनुष्य-योनि की है, वह इनसे भी क्रूर-कर्मा निकली कि

सदा प्रेम करती थी और फिर वैर करने लगी। 'सहावेइ,काहि' अर्थात् सहा नहीं जाता, पर विवश होकर सहना पड़ता है। यहाँ श्रीभरतजी ने गुरु-आज्ञा से अपने हृदय की ग्लानि कही।

सुनि अति विकल भरत - बरबानी। आरति प्रीति-बिनय नय-सानी ॥१॥
सोकमगन सब सभा खभारू। मनहु कमल - बन परेउ तुषारू ॥२॥
कहि अनेक बिधि कथा पुरानी। भरत प्रबोध कीन्ह मुनि ज्ञानी ॥३॥
बोले उचित बचन रघुनंदू। दिनकर - कुल-कैरव-बन - चंदू ॥४॥

अर्थ—आर्ति, प्रीति, विनती और नीति में सनी हुई अत्यन्त व्याकुल श्रीभरतजी की श्रेष्ठ-वाणी सुनकर सब शोक में मग्न हो गये, सभा-भर में खँभार (खलबली) पड़ गई, मानों कमल के वन पर पाला पड़ा ॥१-२॥ ज्ञानी मुनि वसिष्ठजी ने अनेक प्रकार की पौराणिक (वा, प्राचीन) कथाएँ कहकर श्रीभरतजी को समझाया ॥३॥ सूर्यकुल-रूपी कुईं-वन के चन्द्र रघुनन्दन श्रीरामजी उचित वचन बोले ॥४॥

विशेष—(१) 'आरति-प्रीति-बिनय नय-सानी।'—वाणी में चारो बातें मिश्रित हैं, जहाँ तहाँ पृथक्-पृथक् भी हैं, जैसे—"देखि न जाहिं बिकल महतारी। जरहिं दुसह जर पुर नरनारी ॥"—आर्ति, "प्रेम पन" एवं "निषाद सनेहू।"—प्रीति, "गुरु गोसाईं साहिब सियरामू।···"—विनय और—"करइ कि कोदव···"—नीति है।

(२) 'मनहु कमल-बन परेउ तुषारू।'—पाले से झुलस जाने पर कमल का शिर नीचे को लटक पड़ता है, वैसे ही सभा के शिर शोक से लटक गये हैं, उदासी छा गई है। पहले सब कमल के समान प्रफुल्लित थे कि श्रीभरतजी लौटने को ही कहेंगे। पर उनके शोक-पूर्ण वचनों से सभी दुखी हो रहे, यह भी डरे कि कहीं ऐसी दशा में श्रीभरतजी प्रान न छोड़ दें।

(३) 'कहि अनेक बिधि कथा···'—नल, हरिश्चन्द्र आदि की पुरानी कथाएँ कहीं कि इन सबपर विपत्ति पड़ी और धैर्य धारण करने से दूर हुई। ज्ञानी हैं इससे ज्ञान-विषयक भी कथाएँ कहीं जिनसे शोक दूर हो; यथा—"होत मगन बारिधि बिरह, चढ़े बिबेक जहाज ॥" (दो॰ २२०); समझाने के प्रसंग में प्रायः मुनि को ज्ञानी कहा गया है; यथा—"यहि बिधि बिलपत रैनि बिहानी। आये सकल महामुनि ज्ञानी ॥ तब बसिष्ठ मुनि···सोक निवारेउ···" (दो॰ १५६); तथा—"बैठन सबहिं कहेउ गुरु ज्ञानी ॥ ·· मुनिवर बहुरि राम समुझाये ॥" (दो॰ २४९)। श्रीभरतजी अधिक शोकाकुल हैं, अतएव प्रधान श्रोता इन्हीं को कहा गया और सुना समझा तो सब किसीने।

(४) 'बोले उचित बचन रघुनंदू।···'—चन्द्रमा के प्रकाश से कुईं का वन प्रफुल्लित हो जाता है, वैसे श्रीरामजी के इस भाषण से कुल-भर सुखी होगा। इसी प्रसंग के उपसंहार में कहा है—"सत्यसंध रघुबर बचन, सुनि भा सुखी समाज ॥" (दो॰ २९४)। 'रघुनंदू' शब्द से भिन्न दूसरे चरण में 'दिनकर कुल' कहा गया; क्योंकि रघुनाथजी से पृथक् होकर कुलवाले श्रीअयोध्याजी में जाकर रहेंगे।

तात जाय जिय करहु गलानी। ईस-अधीन जीव - गति जानी ॥५॥
तीनि काल तिभुवन मत मोरे। पुन्यसिलोक तात तर तोरे ॥६॥

उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई। जाइ लोक परलोक नसाई ॥७॥
दोस देहिं जननिहि जड़ तेई। जिन्ह गुरु-साधु-सभा नहिं सेई ॥८॥

दोहा—मिटिहहिं पाप प्रपंच सब, अखिल अमंगल भार।
लोक सुजस परलोक सुख, सुमिरत नाम तुम्हार ॥२६३॥

शब्दार्थ—पुन्यसिलोक (पुण्यश्लोक)=पवित्र यशवाले, पुण्यात्मा। तर=तले, नीचे।

अर्थ—हे तात ! ईश्वर के अधीन जीव की गति जानकर भी हृदय में व्यर्थ ग्लानि करते हो ॥५॥ मेरे मत (विचार) से तीनों कालों और तीनों लोकों के पुण्यात्मा तुम्हारे नीचे हैं; अर्थात् तीनों लोकों में तुम्हारे समान पुण्यात्मा न हुआ, न है और न होगा ॥६॥ हृदय में (भी) तुमपर कुटिलता लाते ही (उसका बना-बनाया) लोक और परलोक नाश हो जाता है ॥७॥ वे ही मूर्ख लोग माता को दोष देते हैं, जिन्होंने गुरु और साधुओं के समाज का सेवन नहीं किया ॥८॥ तुम्हारा नाम स्मरण करते ही सब पाप, प्रपंच (मायिक व्यवहार), सम्पूर्ण अमंगल के बोझ मिट जायँगे, लोक में सुयश और परलोक में सुख प्राप्त होंगे ॥२६३॥

विशेष—(१) 'ईस-अधीन जीव-गति···'—यह—'देखि न जाहिं बिकल महतारी···' का उत्तर है, भाव यह कि ये सब लोग दैवाधीन हैं, अपने-अपने कर्मानुसार ईश्वर के विधान से उन्हें दुःख सहना ही है; इसपर ग्लानि करना व्यर्थ है; यथा—"तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।" (गीता २।२७); दैव पर तो किसी का वश नहीं है।

(२) 'उर आनत'—जो प्रकट कहेंगे, उनकी दुर्गति का तो ठिकाना ही नहीं।

(३) 'दोस देहिं जननिहि जड़···'—यह जगत् की दृष्टि का भाव लेकर जो श्रीभरतजी ने कहा था—"फरइ कि कोदव बालि सुसाली।···" इन बातों का उत्तर है। गुरु-साधु-सभा के सेवन से शील-गुण आता है, तब किसी पर दोष-दृष्टि नहीं रहती, क्योंकि यह बोध हो जाता है कि अपनी श्रेष्ठता सभी चाहते हैं, पर असमर्थता एवं दैवाधीनता से अवगुणों को नहीं बचा पाते, तो इनका दोष क्या ? पुनः साधुओं की यह भी वृत्ति है ; यथा—"अवगुन तजि सबके गुन गहहीं।" (दो० १३०) ; उनके संग से यह वृत्ति भी आ जाती है। कैकेयी को प्रायः सभी ने दोष दिया है, यहाँ श्रीरामजी ने ही उसे सर्वथा दोष-रहित कहा है, क्योंकि—"नीति प्रीति परमारथ-स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ ॥" (दो० २५४)।

(४) 'मिटिहहिं पाप प्रपंच···'—ऊपर श्रीभरतजी और श्रीकैकेयीजी को निर्दोष कहा और यह भी कहा कि तुमपर कुटिलता लाने से लोक-परलोक नाश हो जाते हैं। पुनः माता को दोष देनेवाले जड़ हैं, इनमें कैकेयीजी को तो प्रायः सभी ने बुरा-भला कहा, किसी-किसी ने श्रीभरतजी को भी कहा ही है। अतः, उन सबको पाप-मुक्त होने के लिये यह दोहा महामंत्र-रूप कहा है और साथ ही श्रीभरतजी की पवित्रता का भी वर्णन किया। श्रीभरतजी को यह आशीर्वाद है और—"मोर अभाग उदधि अवगाहू॥ बिनु समुझे निज अघ परिपाकू।" आदि की ग्लानि का निराकरण भी है।

कहउँ सुभाव सत्य सिव साखी । भरत भूमि रह राउरि राखी ॥१॥
तात कुतरक करहु जनि जाये । बैर प्रेम नहिं दुरइ दुराये ॥२॥
मुनिगन निकट बिहग मृग जाहीं । बाधक बधिक बिलोकि पराहीं ॥३॥
हित अनहित पसु पच्छिउ जाना । मानुषतनु गुन - ज्ञान-निधाना ॥४॥

शब्दार्थ—बाधक=बाधा (हानि) पहुँचानेवाले । बधिक=बध करनेवाले, प्राणहारक ।

अर्थ—हे श्रीभरतजी ! मैं स्वभाव से सत्य कहता हूँ, शिवजी साक्षी हैं। पृथिवी तुम्हारे ही रखने से रह सकती है ॥१॥ हे तात ! व्यर्थ ही कुतर्क मत करो, वैर और प्रेम छिपाये नहीं छिपते ॥२॥ (देखिये) मुनियों के पास पक्षी-पशु जाते हैं और बाधा करनेवालों एवं मारनेवालों को देखकर वे भाग जाते हैं ॥३॥ मित्र और शत्रु को तो पशु-पक्षी भी जानते हैं, फिर मनुष्य शरीर तो गुण और ज्ञान का खजाना है। (अतः, क्यों न जानेगा) ॥४॥

विशेष—(१) 'कहउँ सुभाव सत्य सिव साखी' ; यथा—"जो कीजिये सो सुभ सिव साखी ॥" (दो० २५७)—श्रीवसिष्ठजी, "संकर साखि रहेउँ येहि घाये।" (दो० २६१)—श्रीभरतजी, वैसे ही यहाँ सत्य के प्रतिपादन में श्रीरामजी ने भी शिवजी को ही साक्षी दी है। 'भरत भूमि रह राउरि राखी।'—ऊपर का भाव तो यह है कि पृथिवी तुम्हारे ही द्वारा स्थिर है ; यथा—"बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई ॥" (बा० दो० १९६) ; और अंतरंग भाव यह है कि मैं वचन दे चुका हूँ कि जो कहोगे वही करूँगा। जो मैं वन को न गया तो पृथिवी का भार न उतरेगा, फिर पृथिवी भार से रसातल को चली जायगी। मेरा अवतार इसकी रक्षा के लिये है ; यथा—"प्रभु अवतरेउ हरन महिभारा।" (बा० दो० २०५)।

श्रीभरतजी ने कहा था—"चाहिय धरमसील नरनाहू ॥ मोहिं राज हठि देइहहु जबहीं। रसा रसातल जाइहि तबहीं ॥" (दो० १७८) ; उसका यहाँ निराकरण है कि पृथिवी तुम्हारे ही धर्म के आधार पर ठहरी हुई है ; यथा—"भरतहि धरम धुरंधर जानी। निज सेवक···" (दो० १५८) ; तथा—"धर्माद्धारयते प्रजाः" यह उक्ति भी है।

(२) 'मुनिगन निकट···'—उपर्युक्त—'बैर प्रेम नहिं दुरइ दुराये' को ही समझा रहे हैं। पशु-पक्षी भी शत्रु-मित्र जान लेते हैं ; यथा—"निज हित अनहित पसु पहिचाना।" (दो० १८) ; मित्र जानकर निकट जाते हैं, शत्रु जानकर दूर भागते हैं और मनुष्य शरीर तो गुण-ज्ञान का खजाना है, तो भला कैसे न जानेगा ? श्रीभरतजी ने कहा था—"प्रेम प्रपंच कि झूठ फुर, जानहिं मुनि रघुराउ।" उसीका यह उत्तर है, आगे भी—'तात तुम्हहि मैं जानउँ नीके।' कहा है। भाव यह कि मैं पशु-पक्षी से भी गया बीता नहीं हूँ ; तुम्हें जानता हूँ और इसीसे तुम्हारा आगमन जानकर प्रेम-पूर्वक मिलने को यहाँ रहा अन्यथा अन्यत्र चल देता। जैसे अहित जानकर पशु-पक्षी दूर भागते हैं।

तात तुम्हहि मैं जानउँ नीके। करउँ काह असमंजस जीके ॥५॥
राय सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ प्रेम पन लागी ॥६॥

तासु बचन मेटत मन सोचू। तेहि ते अधिक तुम्हार सँकोचू ॥७॥
ता पर गुरु मोहि आयसु दीन्हा। अवसि जो कहहु चहउँ सोइ कीन्हा ॥८॥

दोहा—मन प्रसन्न करि सकुच तजि, कहहु करउँ सोइ आज।
सत्य-संध-रघुबर बचन, सुनि भा सुखी समाज ॥२६४॥

अर्थ—हे तात ! मैं तुम्हें अच्छी तरह जानता हूँ, पर क्या करूँ? हृदय में बड़ी दुविधा है ॥५॥ राजा ने मुझे त्याग कर सत्य को रक्खा और प्रेम-प्रण की रक्षा के लिये शरीर का त्याग किया ॥६॥ उनका वचन मेटते हुए मन में शोच होता है, पर उससे बढ़कर तुम्हारा संकोच (मुलाहजा) है ॥७॥ उसपर भी गुरुजी ने मुझे आज्ञा दी है; अतः, जो तुम कहो उसे अवश्य मैं करना चाहता हूँ ॥८॥ मन प्रसन्न करके, संकोच छोड़कर कहो, मैं आज वही करूँ, सत्य-प्रतिज्ञ रघुवर श्रीरामजी के वचन सुनकर समाज सुखी हुआ ॥२६४॥

विशेष—(१) 'तात तुम्हहिं मैं जान ....'—श्रीमुख से कहा गया है—"सुनहु लखन भल भरत सरीखा।...." से "निज जस जगत कीन्हि उजियारी ॥" (दो॰ २३०-२३१); तक। इसपर देवताओं ने कहा है—"*कवि कुल अगम भरत गुन गाथा। को जानइ तुम्ह बिनु रघुनाथा ॥*" (दो॰ २३२)।

(२) 'करउँ काह असमंजस जीके।'—इस दुविधा में पड़ा हूँ कि मैं पिता को प्राण से भी अधिक प्रिय था, उन्होंने सत्य-रक्षा के लिये मेरा त्याग किया, पर सत्य का नहीं, ऐसे वे सत्य प्रिय थे। पुनः उन्होंने मेरे प्रेम के निर्वाह में अपने प्राण निछावर कर दिये, तब उनके वरदान की पूर्ति मुझे करनी ही चाहिये। (जैसे कि गी॰ अ॰ ७२ में विस्तार से कहा है।) ऐसे पिता के वचन मेटने में संकोच होता है। दूसरी तरफ तुम्हारा शील-संकोच उससे भी अधिक है। अधिक के कई कारण कहे जाते हैं—(क) राजा ने लोक-लज्जा से एवं सत्य-धर्म की रक्षा के लिये श्रीरामजी का त्याग किया और श्रीभरतजी ने माता-पिता-गुरु आदि के वचनों (सामान्य धर्म) को त्यागकर अनन्य परम भागवत धर्म को ही रक्खा; यथा—"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।......" इस गीता के चरम वाक्य में कहा है। इस भक्ति के नाते श्रीभरतजी का संकोच अधिक है; यथा—"मानो एक भगति कर नाता।" (आ॰ दो॰ ३४); (ख) राजा युवराज पद ही देते थे, वह भी चौथे पन तक राज्य भोगकर, और ये सम्पूर्ण राज्य दे रहे हैं; अपने से छुआ भी नहीं। (ग) पिता ने तन दिया, ये सर्वस्व धन दे रहे हैं। तन की अपेक्षा सर्वस्व धन देना अधिक कहा गया है, यथा—"सुत्यजा युधि विप्रर्षे ह्यनिवृत्तास्तनुत्यजः। न तथा तीर्थमायाते श्रद्धया ये धनत्यजः ॥" (भाग॰ ८।२०।९); यह बलि ने कहा है कि युद्ध से न लौटकर वहाँ तन देना सुलभ है, पर सत्पात्र के उपस्थित होने पर श्रद्धापूर्वक धन त्याग करना दुर्लभ है, इत्यादि।

(३) 'मन प्रसन्न करि सकुच तजि....'—माता की करनी के कारण ग्लानि है, वह (माता) निर्दोष है, अतः मन प्रसन्न करो। पुनः मैं तुम्हारे अनुकूल मानने का वचन दे चुका हूँ, इससे भी प्रसन्न हो जाओ। संकोच यह कि मैं बड़े को आज्ञा कैसे दूँ! यथा—"महूँ सनेह सकोच बस, सनमुख कहे न बैन।"

(दो० २९०); यह संकोच भी छोड़ दो, क्योंकि मैं स्वयं कहने को कहता हूँ। और—"तापर गुरु मोहिं आयसु दीन्हा।···" (ऊपर कहा गया); अर्थात् उसे न मानने में गुरु-अवज्ञा होगी। इससे मैं निस्संदेह मानूँगा। अतः, प्रसन्न मन से कहो। 'आजु' अर्थात् १४ वर्ष बीतने पर नहीं, किंतु आज ही करने को तैयार हूँ।

(४) 'सत्य-संध-रघुवर ···'—श्रीरामजी सत्य-पालन में दृढ़व्रत हैं; यथा—"सत्यवाक्यो दृढ़-व्रतः।" (वाल्मी० मू०); और श्रीभरतजी लौटाने आये ही हैं, अभी कहेंगे और श्रीरामजी लौट चलेंगे, यह अनुमान कर समाज सब सुखी हो गया और यही समझकर देवता डर गये, वह आगे कहते हैं—

सुरगन-सहित सभय सुरराजू। सोचहिं चाहत होन अकाजू ॥१॥
बनत उपाय करत कछु नाहीं। रामसरन सब गे मन माहीं ॥२॥
बहुरि बिचारि परसपर कहहीं। रघुपति भगत-भगति-बस अहहीं ॥३॥
सुधि करि अंबरीष दुरबासा। भे सुर सुरपति निपट निरासा ॥४॥
सहे सुरन्ह बहुकाल बिषादा। नरहरि किये प्रकट प्रहलादा ॥५॥

अर्थ—देवगण के साथ देवराज इन्द्र डरकर सोच रहे हैं कि अब अकाज होना चाहता है ॥१॥ कुछ उपाय करते नहीं बनता, मन में सब श्रीरामजी की शरण में गये ॥२॥ फिर विचार कर वे एक-दूसरे से कहते हैं कि श्रीरघुनाथजी भक्त की भक्ति के वश हैं ॥३॥ अम्बरीष और दुर्वासा की सुधि करके देवता और देवराज नितान्त निराश हो गये ॥४॥ (फिर कहने लगे कि) देवताओं ने बहुत समय तक दुःख झेला (परन्तु) नृसिंह भगवान् को प्रह्लादजी ने ही प्रकट किया ॥५॥

विशेष—(१) 'सुरगन सहित सभय ···'—इस कांड-भर में हर्ष और शोक के लिये दो स्थान हैं—स्वर्ग और श्रीअवध। जब श्रीअवधवासी प्रसन्न होते हैं, तब देवता दुखी होते हैं और जब देवता प्रसन्न होते हैं, तब श्रीअवधवाले दुखी होते हैं। यहाँ अब देवताओं के डरने की पारी आई है। देवगण गौण हैं, डर में इन्द्र प्रधान है, क्योंकि यह राजा है, इसे मेघनाद बाँध लाया था, इससे मान-हानि का भारी दुःख है। 'अकाज' यह कि श्रीरामजी वन तक आकर भी लौट जायँगे। सोचते हैं कि सम्मुख जाकर प्रार्थना करने से ऐश्वर्य खुलने और ब्रह्माजी का वचन झूठा होने का भय है। श्रीभरतजी का भी भय है कि उनका मनोरथ भंग होने से भागवतापराध होगा। रावण का भय तो है ही। सोचते हैं कि क्या करें, भक्त पर माया नहीं लगेगी; यथा—"माया पति सेवक सन-माया। करइ त उलटि परइ सुरराया ॥" (दो० २१७); यह बृहस्पतिजी ने पहले ही समझा रक्खा है। इससे कुछ उपाय करते नहीं बनता।

(२) 'रामसरन सब गे मन माहीं।'—मन से ही प्रपत्ति की, क्योंकि प्रकट जाने और दंड-वत् करने में उपर्युक्त भय है; पुनः श्रीअवधवासी बुरा मानेंगे।

(३) 'बहुरि बिचारि परसपर ···'—श्रीरामजी की शरण तो श्रीभरतजी भी हैं ही, प्रभु भक्तों के प्रेम-वश हैं, तब उनके आगे हमारी शरणागति व्यर्थ हो जायगी; क्योंकि हमलोग स्वार्थ के लिये शरण हुए और श्रीभरतजी निष्काम हैं। इससे भी उनके विपक्ष में हमारी न चलेगी, इसीके उदाहरण कहते हैं—

(४) 'सुधि करि अंबरीष दुरबासा ।···'—दुर्वासा मुनि श्रीअंबरीष भक्त के विपक्षी बनकर भगवान् की शरण गये, तब उन्होंने कोरा उत्तर दे दिया, यथा—"अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतंत्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥···" इत्यादि, इनकी कथा दो० २१७ चौ० ७ में देखिये। दूसरा प्रमाण श्रीप्रह्लाद भक्त का देते हैं कि देवताओं के बहुत काल के विषाद पर आपने ध्यान नहीं दिया और श्रीप्रह्लादजी की पुकार पर तुरत खंभ फोड़कर प्रकट हो गये। इसी तरह यहाँ भी श्रीभरतजी के आगे हमारी सुनवाई न होगी।

लगि लगि कान कहहिं धुनि माथा। अब सुर काज भरत के हाथा ॥६॥
आन उपाय न देखिय देवा। मानत राम सुसेवक सेवा ॥७॥
हिय सप्रेम सुमिरहु सब भरतहिं। निज गुन-सील रामबस करतहि ॥८॥

दोहा—सुनि सुरमत सुरगुरु कहेउ, भल तुम्हार बड़ भाग।
सकल सुमंगल-मूल जग, भरत-चरन-अनुराग ॥२६५॥

अर्थ—शिर पीटकर कानों से लगकर (वे परस्पर) कहते हैं कि अब देवताओं का कार्य श्रीभरतजी के हाथ है ॥६॥ हे देवताओ ! और उपाय नहीं देख पड़ता। श्रीरामजी अपने अच्छे सेवक की सेवा को मानते हैं; अर्थात् उसपर प्रसन्न होते हैं, उस सेवा का मान करते हैं ॥७॥ अपने गुण-शील से श्रीरामजी को वश करनेवाले श्रीभरतजी का प्रेम-सहित हृदय से स्मरण करो ॥८॥ देवताओं का यह मत सुनकर देवगुरु बृहस्पतिजी ने कहा—भला किया, तुम्हारे बड़े भाग्य हैं, (क्योंकि) जगत् में श्रीभरतजी के चरणों का प्रेम सब सुंदर मंगलों का कारण है ॥२६५॥

विशेष—(१) 'लगि लगि कान···'—उपर्युक्त दो प्रमाणों से निश्चय कर लिया तब शिर पीटकर अपना अभाग्य जनाते हैं, मानों अभाग्य की रेखाओं को मिटाते हैं। कानाफूसी करते हैं; क्योंकि डर है कि कहीं कोई श्रीभरतजी के पक्ष का न सुन ले, तो स्वार्थ की हानि होगी। वा, रावण ही को पता लग जाय कि श्रीरामजी को तो श्रीभरतजी लौटाये जाते थे, पर देवताओं की प्रेरणा से ही इधर आ रहे हैं, तब वह और कष्ट देगा।

(२) 'आन उपाय न···'—देवता जब दुखी होते हैं, तब भगवान् की शरण में पुकार करते हैं। यहाँ वह उपाय भी न रह गया, क्योंकि रघुवर भक्त के वश हो रहे हैं। अतः, भक्त के विरुद्ध कुछ न सुनेंगे। तब हृदय से श्रीभरतजी का ही सप्रेम स्मरण किया जाय। 'सब' एक साथ और 'सप्रेम' स्मरण करो जिससे शीघ्र सफलता हो। 'मानत राम···'—से यह भी जनाया कि भक्त की सेवा का फल वे स्वयं देते हैं, भक्त की ओर से दिये जाने का प्रयोजन नहीं; यथा—"सेवक सेवकाई जानि जानकीस मानै कानि ··" (हनु० बाहुक)।

(३) 'सकल सुमंगल मूल···'—श्रीभरतजी विश्व के भरण-पोषण करनेवाले हैं। अतः, इनकी भक्ति से अवश्य मंगल होगा।

सीतापति सेवक सेवकाई। कामधेनु-सय सरिस सोहाई ॥१॥
भरत-भगति- तुम्हरे मन आई। तजहु सोच विधि बात बनाई ॥२॥
देखु देवपति भरतप्रभाऊ। सहज-सुभाय-बिवस रघुराऊ ॥३॥
मन थिर करहु देव डर नाहीं। भरतहिं जानि राम-परछाहीं ॥४॥
सुनि सुर-गुरु-सुर संमत सोचू। अंतरजामी प्रभुहि सकोचू ॥५॥

अर्थ—सीतापति श्रीरामजी के सेवक की सेवा सैकड़ों उत्तम कामधेनुओं के समान सुन्दर है ॥१॥ तुम्हारे मन में श्रीभरतजी की भक्ति आई है, (अतः) शोच छोड़ दो, विधाता ने बात बना दी ॥२॥ हे देवराज! श्रीभरतजी का प्रभाव देखो कि उनके सहज स्वभाव से रघुराज श्रीरामजी उनके विशेष वश में हैं ॥३॥ हे देवताओ! श्रीभरतजी को श्रीरामजी की परछाँई (प्रतिरूप) जानकर मन को स्थिर करो, डर नहीं है ॥४॥ देव-गुरु और देवताओं का सम्मत सुनकर अंतर्यामी प्रभु को शोच और संकोच हुआ ॥५॥

विशेष—(१) 'सीतापति सेवक···'; यथा—"जो सीतापति-भजन को, प्रगट प्रताप प्रभाउ।" (दो० १४१)। भाव यह कि श्रीभरतजी की ही नहीं, कोई भी सीतापति-सेवक क्यों न हो, सबकी सेवा का फल सैकड़ों कामधेनुओं के समान है। देवलोक की कामधेनु सुन्दर नहीं है; क्योंकि वह अर्थ आदि तीन ही फल देती है और भक्तों की सेवा से चारो फल मिलते हैं; यथा—"लहहिं चारि फल अछत तन, साधु समाज प्रयाग।" (बा० दो० २)—वह अनित्य ही फल देती है और यह नित्य।

(२) 'देखु देवपति···'—पहले श्रीभरतजी में इनकी कुबुद्धि जानकर इन्हें अन्धा माना था; यथा—"सहस नयन बिनु लोचन जाने।" (दो० २१७) और अब श्रीभरत-भक्ति देखकर इन्हें आँखवाला माना, इसीसे 'देखु' कहा।

'सहज सुभाय···'—औरों के कई जन्मों के साधनों से भी वश नहीं होते, पर श्रीभरतजी के सहज स्वभाव से ही श्रीरामजी वश में हैं। मनु को कई हजार वर्ष कठिन तप करने पड़े हैं, तब उनके वश होकर उनका पुत्रत्व ग्रहण किया है और यहाँ तो विशेष वश हैं।

(३) 'भरतहिं जानि राम परछाहीं।'—मनुष्य की परछाँई उसके ही अधीन रहती है, वैसे ही श्रीभरतजी श्रीरामजी के अधीन हैं, उन्हीं के मन की करेंगे; यथा—"जिमि पुरुषहिं अनुसर परिछाहीं॥" (दो० १४०)। 'अंतरजामी प्रभुहि सँकोचू'—प्रभु अंतर्यामी हैं, इससे देवगुरु और देवताओं का सम्मत जान लिया, भले ही वे 'लगि लगि कान' कहते थे। इसीसे प्रभु को संकोच है कि श्रीभरतजी को भक्ति का फल देवताओं को अवश्य मिलना चाहिये और इधर श्रीभरतजी का भी मन न टूटे, दोनों कैसे हों?

निज सिर भार भरत जिय जाना। करत कोटिबिधि उर अनुमाना ॥६॥
करि बिचार मन दीन्ही ठीका। रामरजायसु आपन नीका ॥७॥
निज पन तजि राखेउ पन मोरा। छोहु सनेहु कीन्ह नहिं थोरा ॥८॥

दोहा—कीन्ह अनुग्रह अमित अति, सब बिधि सातानाथ।
करि प्रनाम बोले भरत, जोरि जलज-जुग-हाथ ॥२६६॥

शब्दार्थ—दीन्ही ठीका=दृढ़ निश्चय किया, ठीक देना=मन में पक्का करना; यथा—"नाके के ठीक दई तुलसी अवलंब बड़ी उर आखर दू की।" (क० ह० ८८)।

अर्थ—श्रीभरतजी ने हृदय में अपने ही शिर पर सारा भार देखा, तब वे करोड़ों प्रकार के अनुमान मन में करते हैं ॥६॥ विचार करके मन में पक्का निश्चय किया कि श्रीरामजी की आज्ञा में ही अपना भला है ॥७॥ श्रीरामजी ने अपना प्रण छोड़कर मेरे प्रण को रक्खा, यह छोह (ममत्व) और स्नेह कुछ थोड़ा नहीं किया ॥८॥ सीतानाथ श्रीरामजी ने (मुझपर) सब तरह से अत्यन्त और अपरिमित कृपा की, दोनों करकमलों को जोड़कर और प्रणाम करके श्रीभरतजी बोले ॥२६६॥

विशेष—(१) 'निज सिर भार भरत···'—सभा का प्रसंग—'मन प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु···' पर छूटा था। बीच में सुर-सम्मत कहा गया, अब वहीं से फिर प्रसंग लेते हैं। गुरुजी ने श्रीरामजी पर भार दिया, उन्होंने फिर गुरुजी पर ही धर दिया। तब गुरुजी ने श्रीभरतजी की ओर संकेत करके लौटा दिया, फिर श्रीरामजी ने श्रीभरतजी पर ही रख दिया, यथा—"भरत कहहिं सोइ किये भलाई ॥ मन प्रसन्न करि···' श्रीभरतजी ने इसे जाना कि श्रीरामजी के उपर्युक्त असमंजस निवृत्ति का भार, श्रीरामजी की सत्य-प्रतिज्ञा-रक्षा का भार एवं प्रजा के दुःख-निवृत्ति-सहित उन्हें सुख पहुँचाने का भार इत्यादि श्रीरामजी के भाषण के सभी भार मेरे शिर पर हैं। इन सबके विषय में मुझे ही कहना होगा। 'करत कोटि बिधि उर···'—अभी तक केवल अपने ही स्वार्थ पर दृष्टि थी, अब तो सब बातों की ओर ध्यान देना पड़ा, इससे बहुत प्रकार के अनुमान करने पड़े।

(२) 'करि विचार जिय···'—श्रीरामजी की आज्ञा में ही अपना भला है, गोष्ठी में यही बात गुरुजी ने भी कही थी; यथा—"करि विचार जिय देखहु नीके। राम रजाइ सीस सबही के ॥ राखे राम रजाइ रुख, हम सबकर हित होइ।" (दो० २५४)।

'रजायसु'—श्रीरामजी राजा हैं, उनकी आज्ञा में हम सबका भला होगा। 'सकल सयाने एक मत' की कहावत चरितार्थ हुई। स्वामी की आज्ञा का पालन एक विशिष्ट सेवा है; यथा—"आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।" (दो० ३००), यही विचार करके ठीक किया।

(३) 'निज पन तजि राखेउ पन मोरा।'—मन में विचारते हैं कि श्रीरामजी ने अपना प्रण तो पिता की आज्ञा पालन के लिये किया था; यथा—"तद्ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकाङ्क्षितम्। करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते ॥" (वाल्मि० २। १८। ३०)। इस ग्रंथ में भी कैकेयी से, पिता से, माता कौशल्या और प्रजा एवं निषाद आदि से १४ वर्ष वनवास के लिये कहा है। उसे त्यागने पर भी उद्यत हो गये; यथा—'कहहु करउँ सोइ आज।' यह निश्चय है कि मैं श्रीअयोध्याजी से यही निश्चय करके आया हूँ कि श्रीरामजी को लौटा लाऊँगा। अन्तर्यामी प्रभु ने जानकर भी मुझे ऐसा वचन दिया। इससे

अधिक कृपा और क्या हो सकती है ! परमा शक्ति श्रीसीताजी के स्वामी होकर भी मेरे वश हो रहे हैं, तो अब मुझे क्या कर्त्तव्य है ? यही विचारते हुए अपना ही प्रण छोड़ना अच्छा समझा और श्रीरामजी की आज्ञा में ही अपना भला माना। यही आगे कहते हैं—

(४) 'सब विधि'—मुझे निर्दोष किया, महत्त्व दिया और मेरा दुलार रक्खा।

भरत-भाषण [२]

कहउँ कहावउँ का अब स्वामी। कृपा-अंबुनिधि अंतरजामी ॥१॥
गुरु प्रसन्न साहिब अनुकूला। मिटी मलिन मन कलपित सूला ॥२॥
अपडर डरेउँ न सोच समूले। रविहि न दोष देव दिसि भूले ॥३॥
मोर अभाग मातुकुटिलाई। बिधिगति बिषम काल-कठिनाई ॥४॥
पाउँरोपि सब मिलि मोहि घाला। प्रनतपाल पन आपन पाला ॥५॥

शब्दार्थ—समूले = कारण सहित, जड़ सहित। पाँव रोपना = प्रतिज्ञा करना, अड़ जाना।

अर्थ—हे स्वामी ! हे कृपासिंधु !! हे अंतर्यामी !!! अब मैं क्या कहूँ और क्या कहलाऊँ ? ॥१॥ गुरुजी को प्रसन्न और स्वामी को अपने अनुकूल पाकर मेरे मलिन मन की गढ़ी हुई व्यथा मिट गई (जो वास्तविक न थी) ॥२॥ मैं अपने व्यर्थ डर से डर गया था, शोच जड़ समेत न था; अर्थात् शोच का कोई कारण ही न था। हे देव ! स्वयं दिशा भूल जाय तो सूर्य का दोष नहीं; अर्थात् डर की बातें मैंने ही कल्पना कर ली थीं, पर आपकी ओर से वे बातें कुछ न थीं ॥३॥ मेरा अभाग्य, माता की कुटिलता, विधि की टेढ़ी चाल और काल की कठिनता ॥४॥ इन सबने मिलकर प्रतिज्ञापूर्वक मुझे नष्ट कर डाला था, पर हे शरणागतरक्षक ! आपने अपने प्रणत-पाल प्रण को रक्खा, अर्थात् मुझ प्रणत की रक्षा की ॥५॥

विशेष—'कहउँ कहावउँ का ···'—स्वामी की आज्ञा का पालन करना ही सेवक का धर्म है, कहना (आज्ञा देना) नहीं। कृपा के समुद्र स्व ही सेवक पर कृपा करेंगे और अंतर्यामी स्वतः जानते हैं, तो कहना और कहलाना व्यर्थ ही है। मेरा हित आप स्वय करेंगे।

(२) 'गुरु प्रसन्न साहिब···'—शूल पहले कहे गये ; यथा—"भूपति मरन प्रेम पन राखी।···सो सुनि समुझि सहेउँ सब सूला।·· जियत जीव जड़ सबइ सहाई॥" (दो० २६१) उनकी निवृत्ति यहाँ की गई।

(३) 'अपडर डरेउँ न सोच समूले।'—'अपडर' ; यथा—"राम-लखन-सिय सुनि मम नाऊँ। उठि जनि अनत जाहि तजि ठाऊँ॥ मातु मते महँ मानि मोहिं, जो कुछ कहहिं सो थोर।" (दो० २३३); 'समूले'—इस डर के मूल प्रभु हैं, उनकी ओर से कुछ बात न थी, पर मैंने ही कल्पना कर ली थी। जैसे कि सूर्य तो सदा पूर्व ही से उदय होते हैं, पर जिसे दिशा-भ्रम होता है, वह कहता है कि पश्चिम में उदय हुए हैं ; यथा—"जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा। सोइ कह पच्छिम उयेउ दिनेसा॥" (उ० दो० ७२)

भाव यह कि आप तो सदा मुझपर एकरस कृपा करते ही रहे, पर मैंने ही भ्रम से भय की कल्पना कर ली थी कि आप मुझपर अप्रसन्न होंगे, मेरा त्याग करेंगे।

(३) 'मोर अभाग मातु-कुटिलाई।'—'अभाग'; यथा—"अपनेहुँ दोपक लेस न काहू। मोर अभाग उदधि अवगाहू॥" (दो० २६०); 'मातु कुटिलाई'; यथा—"जननी कुमति जगत् सब साखी।" (दो० २६१); "विधि गति विषम'; यथा—"विधि न सकेउ सहि मोर दुलारा। नीच बीच जननी मिस पारा॥" (दो० २६०); काल कठिनाई'; यथा—"कीन्हि मातु मिस काल कुचाली।" (दो० २५२) इत्यादि सब श्रीभरतजी ने ही पहले कहा है। मेरे अभाग्य के उदय से माता में कुटिलता आई, जिससे आपको वनवास हुआ। पुनः अशुभ कर्मों के उदय में विधि की गति विषम हुई। उन्हीं कर्मों के भोग का काल ठिन हो गया।

यह नइ रीति न राउरि होई। लोकहु वेद विदित नहि गोई॥६॥
जग अनभल भल एक गोसाईं। कहिय होइ भल कासु भलाईं॥७॥
देव देवतरु-सरिस सुभाऊ। सनमुख विमुख न काहुहि काऊ॥८॥

दोहा—जाइ निकट पहिचानि तरु, छाँह समनि सब सोच।
माँगत अभिमत पाव जग, राउ रंक भल पोच॥२६७॥

अर्थ—आपकी यह नई रीति नहीं है; अर्थात् सदा से चली आती है। लोक और वेद (दोनों) में प्रकट है, छिपी नहीं है॥६॥ जगत बुरा है, हे गोसाईं! एक आप ही भले हैं, (अन्यथा फिर) आप ही कहिये कि किसकी भलाई से भला होता है॥७॥ हे देव! आपका स्वभाव कल्पवृक्ष के समान है, सबको सम्मुख है, किसी को कभी भी विमुख (प्रतिकूल) नहीं है॥८॥ उस वृक्ष को पहचानकर उसके निकट जाय, तो उसकी छाया सब शोच को नाश करनेवाली है। जगत् भर के राजा, रंक, भले, बुरे सभी माँगते ही मनोरथ पाते हैं॥२६७॥

विशेष—(१) 'जग अनभल भल एक…'—ऊपर—"मोर अभाग मातु कुटिलाई।…" आदि चार ही कहे गये और उनसे प्रभु का उत्कर्ष कहा गया। उसी को लेकर श्रीभरतजी कहते हैं कि चार ही नहीं, जगत् भर जीव का अनभला ही है, एक आप ही की भलाई से सबका भला होता है, यथा—"ह्वै है जब तब तुमहिं ते तुलसी को भलेरो।" (वि० २०२); "रावरी भलाई सब ही की भली भई।" (वि० १५२)।

(२) 'देव देवतरु-सरिस सुभाऊ।'—कल्पवृक्ष की छाया में कोई भी जाय, वह सबके सम्मुख ही रहता है, वैसे ही आप शत्रु-मित्र सभी के सम्मुख ही रहते हैं; यथा—"तुलसी प्रभु सुभाव सुरतरु सों ज्यों दर्पन मुख-काति॥" (वि० २३१)। आप शरण लेने में हित-अहित का विचार नहीं करते। यथा—"अरिहुँक अनभल कीन्ह न रामा।" (दो० १८२)। "बैरिउ राम बड़ाई करहीं।" (दो० ११२ ; "बयर भाव मोहि सुमिरत निसिचर॥ देहिं परम गति सो जिय जानी।" (लं० दो० १११) इत्यादि। 'पहिचानि तरु'—जाने बिना प्रतीति न होगी और प्रतीति बिना प्रीति न होगी, फिर प्रीति बिना भक्ति

कहाँ ? जानेगा, तभी सम्मुख होगा; यथा—"श्रवन सुजस सुनि आयउँ। प्रभु भंजन भव भीर।" (सुं० दो० ४५) विभीषणजी ने हनुमान्‌जी से जाना, तब आकर शरण हुए।

लखि सब बिधि-गुरु - स्वामि-सनेहू। मिटेउ छोभ नहिं मन संदेहू ॥१॥
अब करुनाकर कीजिय सोई। जन-हित प्रभु-चित छोभ न होई ॥२॥
जो सेवक साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची ॥३॥
सेवक - हित साहिब - सेवकाई। करइ सकल सुख लोभ बिहाई ॥४॥
स्वारथ नाथ फिरे सबही का। किये रजाइ कोटि बिधि नीका ॥५॥
यह स्वारथ - परमारथ सारू। सकल सुकृत फल सुगति सिंगारू ॥६॥

अर्थ—सब तरह से गुरु और स्वामी का (अपने विषय में) स्नेह देखकर मन का क्षोभ (उद्वेग) मिट गया, मन में संदेह नहीं रह गया ॥१॥ हे करुणाकर ! अब वही कीजिये, जिससे दास के लिये (वा, दास का हित हो और) प्रभु के चित्त में उद्वेग न हो ॥२॥ जो सेवक स्वामी को संकोच में डालकर अपना हित चाहे, उसकी बुद्धि नीच है ॥३॥ सेवक का हित तो इसीमें है कि समस्त सुख और लोभ को छोड़कर स्वामी की सेवा करे ॥४॥ हे नाथ ! आपके लौटने में सभी का स्वार्थ है और आज्ञा (के पालन) करने में करोड़ों प्रकार का भला है ॥५॥ यही स्वार्थ और परमार्थ का सार है, सब पुण्यों का फल और सब शुभ गतियों का शृंगार है ॥६॥

विशेष—(१) 'लखि सब बिधि-गुरु···'—गुरु का स्नेह; यथा—"राउर जापर अस अनुरागू।" "कृपा सिंधु प्रिय बंधु सन, कहहु हृदय के बात ॥" (दो० २५९); स्वामी का स्नेह; यथा—"निज पन तजि राखेउ पन मोरा। छोह सनेह कीन्ह नहिं थोरा ॥" (दो० २६५)। नहिं मन संदेहू, अर्थात् प्रभु मेरा नाम सुनकर अन्यत्र न चल दें—ऐसा जो संदेह था, वह मिट गया।

(२) 'जन हित प्रभु चित···'—मेरा क्षोभ आपने दूर किया, तब मेरा धर्म ऐसा नहीं होना चाहिये कि मेरे निमित्त प्रभु के चित्त में क्षोभ हो ; क्योंकि—

(३) 'जो सेवक साहिबहि··'—अर्थात् सेवक का स्वार्थी होना भारी दोष है, इसलिये—

(४) 'सेवक हित ··'—शरीर के सुख और धन का लोभ मन से त्याग दे। उपर्युक्त 'निज हित चहइ'—में वचन से चाह करना (माँगना), वचन का दोष कहा गया है, उसे भी त्याग दे और शुद्ध मन, वचन और तन से सेवा करे; यथा—"सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई ॥" (दो० ३००)।

(५) 'स्वारथ नाथ फिरे··'—'सब ही का' अर्थात् माता, मंत्री, प्रजा आदि का ; क्योंकि यही सब चाहते हैं और आपकी आज्ञा का पालन करोड़ों प्रकार से अच्छा है, क्योंकि यह परमार्थ है। 'कोटि बिधि' का गुप्तार्थ भू-भार-हरण आदि लेने से 'कोटि बिधि' बहुत उपयुक्त है।

(६) 'यह स्वारथ-परमारथ सारू।···'—'यह'—आपकी आज्ञा का पालन। यहाँ 'सकल सुकृत फल' से कर्म का, 'परमारथ सारू' से ज्ञान का और 'सुगति' से भक्ति का शृंगार कहा गया है। शृंगार ; यथा—"संत सुमति तिय सुभग सिंगारू। (बा० दो० ३१)।

देव एक बिनती सुनि मोरी। उचित होइ तस करब बहोरी ॥७॥
तिलक समाज साजि सब आना। करिय सुफल प्रभु जौ मन माना ॥८॥

दोहा—सानुज पठइय मोहि बन, कीजिय सबहिं सनाथ।
नतरु फेरियहि बंधु दोउ, नाथ चलउँ मैं साथ ॥२६८॥

नतरु जाहिं बन तीनिउँ भाई। बहुरिय सीय-सहित रघुराई ॥१॥
जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई। करुना-सागर कीजिय सोई ॥२॥

अर्थ—हे देव! मेरी एक प्रार्थना सुनकर, फिर जैसा उचित हो, कीजिये ॥७॥ तिलक की सामग्री सजाकर लाया हूँ, हे प्रभो! उसे सुफल कीजिये, जो मन माने; अर्थात् यदि उचित समझिये, तो राज्य-तिलक कराइये, जिससे लाना सफल हो ॥८॥ भाई श्रीशत्रुघ्नजी के साथ मुझे वन भेजिये और सबको सनाथ कीजिये, नहीं तो, हे नाथ! दोनों भाइयों को लौटा दीजिये, मैं साथ चलूँ ॥२६८॥ नहीं तो, तीनों भाई वन को जायँ और हे रघुराई! आप श्रीसीताजी के साथ लौटें ॥१॥ जिस प्रकार प्रभु का मन प्रसन्न रहे, हे करुणा सागर! वही कीजिये ॥२॥

विशेष—'देव एक बिनती …'—विनती-मात्र करता हूँ (आज्ञा नहीं देता) उसमें उचित जैसा हो वैसा कीजिये। प्रथम तिलक स्वीकार करने के लिये कहा, किंतु उसमें पिता के वचन का उल्लंघन होता है। इसपर तीन उपाय और कहे कि आपके प्रतिनिधि-रूप में हम दोनों भाई जायँ और उस पिता के वचन की पूर्ति करें। वा, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी घर जायँ मैं साथ चलूँ। अथवा हम तीनों वन को जायँ और आप श्रीसीताजी के साथ लौटें। इनमें अथवा और भी जिस तरह आपकी प्रसन्नता हो, वही करुणा-दृष्टि से किया जाय। प्रथम 'सनाथ' करना कहकर फिर 'करुना-सागर' भी कहा गया। भाव यह कि आपके विना श्रीअवधवासी एवं प्रजा-वर्ग अनाथ हैं; यथा—"जाहु सुखेन बनहिं बलि जाऊँ। करि अनाथ जन परिजन गाऊँ॥" (दो० ५१); करुणा करके इन सबको सनाथ कीजिये।

प्रथम दो के बदले दो का जाना कहा, यदि वह न रुचे, तो मुझे साथ रखिये और दोनों छोटे भाई श्रीअयोध्याजी की रक्षा के लिये जायँ। यदि यह भी न रुचे; क्योंकि तीन घर से आये थे, उसपर फिर तीनों भाइयों का जाना कहा। अंत में यह कहा कि जिस तरह प्रसन्नता हो, वही कीजिये। प्रतिनिधि-रूप में जाना गुरुजी ने ही कहा था, वाल्मीकीय रामायण में भी शृंगवेरपुर में श्रीभरतजी ने कहा है; अतः, यह नीति एवं धर्म-सम्मित है।

देव दीन्ह सब मोहि अभारू। मोरे नीति न धरम बिचारू ॥३॥
कहउँ बचन सब स्वारथ हेतू। रहत न आरत के चित चेतू ॥४॥
उतर देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई ॥५॥
अस मैं अवगुन-उदधि-अगाधू। स्वामि-सनेह सराहत साधू

अब कृपाल मोहि सो मत भावा। सकुच स्वामि मन जाइ न पावा ॥७॥
प्रभु-पद-सपथ कहउँ सतिभाऊ। जग मंगल हित एक उपाऊ ॥८॥

दोहा—प्रभु प्रसन्न मन सकुचि तजि, जो जेहि आयसु देब।
सो सिर धरि धरि करिहि सब, मिटिहि अनट अवरेब ॥२६९॥

शब्दार्थ—मोहि अभारू=मुझ ही पर भार, वा मोहि-अभारू (आभार=बोझ)=मुझे बोझा। चेतू=ज्ञान, बोध। अनट (सं० अनृत=अत्याचार)=अन्याय, उपद्रव।

अर्थ—हे देव! आपने सब भार मुझ ही पर दे दिया और मुझे न तो नीति का विचार (बोध) है और न धर्म का ही ॥३॥ सब बातें अपने स्वार्थ के लिये कह रहा हूँ, आर्त्त के चित्त में चेत नहीं रहता (कि क्या कहना चाहिये?) ॥४॥ स्वामी की आज्ञा सुनकर उत्तर दे; ऐसे सेवक को देखकर लज्जा भी लजा जाती है; अर्थात् वह पराकाष्ठा का निर्लज्ज है ॥५॥ मैं अवगुणों का ऐसा गहरा समुद्र हूँ, पर स्वामी स्नेह से मुझे साधु कहकर सराहते हैं ॥६॥ हे कृपालु! अब तो मुझे वही मत सुहाता है कि जिसमें स्वामी के मन में संकोच न जाने पावे ॥७॥ प्रभु के चरणों की शपथ, सत्य-भाव से कहता हूँ कि जगत्-भर के मंगल के लिये एक-मात्र उपाय यही है ॥८॥ कि हे प्रभो! आप प्रसन्न-मन से संकोच छोड़कर जिसे जो आज्ञा दें, वह सब (पूरी आज्ञा) शिरोधार्य करके करेगा और सब उपद्रव और अवरेब (उलझनें) मिट जायँगी ॥२६९॥

विशेष—(१) 'देव दीन्ह सब मोहि……'—आपने बोझे को छोटा जानकर ही मुझपर रक्खा, पर मुझे नीति और धर्म का विचार नहीं है, इसीसे भारी लगा। भार; यथा—'कहहु करउँ सोइ आज' इसीको—'निज सिर भार भरत जिय जाना।' कहा है। यदि धर्म और नीति का विचार नहीं है, तो—'सानुज पठइय……' आदि कैसे कहा है? इसपर कहते हैं—'रहत न आरत के चित चेतू।' और इसीसे—'कहउँ बचन सब स्वारथ हेतू।' अर्थात् वे वचन स्वार्थ-दृष्टि से कहे गये हैं।

(२) 'उतर देइ……'—स्वामी की आज्ञा होने पर कोई हेतु दिखाकर भी विरोध करना उत्तर देना ही है। जब आपने आज्ञा दी—'कहहु करउँ सोइ आज' उसपर भी उत्तर दे रहा हूँ; यथा—"देव दीन्ह सब मोहि अभारू। …… "इससे उत्तर देनेवाला सेवक हूँ। अतएव—'अवगुन उदधि अगाधू।' हूँ। उसपर भी स्वामी स्नेह से मुझे साधु कहकर सराहते हैं, यह स्वामी की असीम कृपा है।

इससे भक्तों को उपदेश है कि किसी भी व्यवस्था पर प्रभु की इच्छा को प्रधान मानते हुए उसपर बाधा न करें और न यही कहें कि मुझको ऐसा कर दीजिये।

(३) 'प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि ……'—पहले श्रीभरतजी ने कहा था—'जनहित प्रभुचित छोभ न होई।' उसीको फिर दोहराया—'सकुच स्वामि मन जाइ न पावा।' यहाँ फिर तेहराया है—'प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि…' तीन बार कहकर प्रतिज्ञा की जाती है, वैसे तीन बार निःसंकोच इच्छित आज्ञा देने की प्रार्थना की है। 'अनट अवरेब'—अर्थात् अन्याय के उपद्रव और उलझनें पड़ गईं, वचन पालने की प्रतिज्ञाएँ की गईं। यहाँ ही प्रथम दरबार समाप्त होता है, इसमें कुछ निर्णय न हुआ। श्रीरामजी ने श्रीभरतजी से कहा—'मन प्रसन्न करि सकुच तजि, कहहु करउँ सोइ आज।' वैसे ही श्रीभरतजी ने

उनसे कहा—'प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि, जो जेहि आयसु देव। सो सिर धरि ···' अर्थात् इन्होंने उनपर और उन्होंने इनपर छोड़ा। दोनों के कथन में अपने-अपने भाव-मात्र की पृथक्ता है, तात्पर्य एक है।

भरत-बचन सुचि सुनि सुर हरषे। साधु सराहि सुमन सुर बरषे ॥१॥
असमंजस - बस अवध - निवासी। प्रमुदित मन तापस बनबासी ॥२॥
चुपहि रहे रघुनाथ सँकोची। प्रभु-गति देखि सभा सब सोची ॥३॥

अर्थ—श्रीभरतजी के पवित्र वचन सुनकर देवता प्रसन्न हुए। 'साधु साधु' अर्थात् धन्य हो, धन्य हो, इस तरह प्रशंसा कर उसने बहुत फूल बरसाये ॥१॥ श्रीअवधवासी दुविधा में पड़ गये (कि प्रभु लौटेंगे कि नहीं), तपस्वी और वनवासी मन में बहुत प्रसन्न हुए ॥२॥ संकोची-स्वभाव से श्रीरामजी चुप ही रह गये, (कि क्या कहें ?) प्रभु की दशा देखकर सब सभा शोच करने लगी ॥३॥

विशेष—(१) 'भरत-बचन सुचि······'—स्वार्थ ही विकार है, श्रीभरतजी के वचन में उसका सर्वथा त्याग है। स्वामी को पूर्ण आज्ञा देने को कहा और संकोच भी हटा दिया, इसीसे वचन को 'सुचि' अर्थात् पवित्र कहा है। देवता पहले डरे हुए थे ; यथा—"सुरगन सहित सभय सुरराजू।" अब अनुकूल वचन सुनकर हर्षित हुए और बहुत फूल बरसाये।

(२) पहले बृहस्पतिजी ने कहा था—'राम भगत परहित निरत···' वह बात यहाँ चरितार्थ हुई। अतएव देवता लोग फूल बरसाकर सेवा जना रहे हैं। सराहते हैं कि साधु हो, साधु हो, जो अपना स्वार्थ छोड़कर पराया कार्य साधते हो ; यथा—"भरत धन्य कहि धन्य सुर, हरषित बरषहि फूल।" (दो० २०५) ; श्रीभरतजी की शरण हुए थे, उसका फल तुरत पाया। श्रीभरतजी पहले लौटाने के ही उपाय में थे, उस स्वार्थ को छोड़कर—'किये रजाइ कोटि बिधि नीका।' पर स्थिर हो गये, इसीसे देवता सुखी हुए कि श्रीरामजी की इच्छा तो वन में रहने की है ही।

(३) 'प्रमुदित मन तापस बनबासी।'—तपस्वी लोग प्रभु के साहचर्य से निर्भय तप करेंगे और कोल-किरात आदि प्रभु के दर्शनों और सेवा से कृतार्थ होंगे। प्रभु के लौटने से उन्हें विछोह होता, वह मिट गया।

(४) 'चुपहि रहे रघुनाथ···'—श्रीरघुनाथजी को जो कहना है, उसमें उनको ही स्वार्थ-सिद्धि है और सब श्रीअवधवासियों को स्वार्थ-हानि है, इससे शील-संकोच के मारे सहसा कह नहीं सकते। पुनः अंतर्यामी हैं, इससे श्रीजनकजी का आगमन भी जान रहे हैं। इससे उनका भी कहना-सुनना हो ले, तब निर्णय किया जाय, इसलिये भी चुप हैं ; अन्यथा उनका आना व्यर्थ-सा हो जायगा। 'सभा सब सोची' —सम्पूर्ण सभा-भर के लोग शोच में पड़ गये कि प्रभु क्यों नहीं बोलते हैं ? किस बात के संकोच में पड़ गये ? क्या श्रीभरतजी ने अपने वन जाने को कहा, उसका शोच है ? वा, दोनों भाइयों के वन जाने पर शोच है ? कि हम घर में रहें लड़के क्यों कष्ट झेलें ? इत्यादि।

पहला दरबार समाप्त हुआ

श्रीजनक-आगमन

जनक-दूत तेहि अवसर आये। मुनि बसिष्ठ सुनि बेगि बोलाये ॥४॥
करि प्रनाम तिन्ह राम निहारे। बेष देखि भये निपट दुखारे ॥५॥

बूझन्ह मुनिबर बूझी बाता। कहहु बिदेह भूप कुसलाता ॥६॥
सुनि सकुचाइ नाइ महि माथा। बोले चरबर जोरे हाथा ॥७॥
बूझब राउर सादर साईं। कुसल-हेतु सो भयउ गोसाईं ॥८॥

दोहा—नाहिं त कोसलनाथ के, साथ कुसल गइ नाथ।
मिथिला अवध बिसेष ते, जग सब भयउ अनाथ ॥२७०॥

अर्थ—उसी समय श्रीजनकजी के दूत आये, श्रीवसिष्ठ मुनि ने सुनकर तुरत उनको (वहाँ अपने पास) बुला लिया ॥४॥ उन्होंने प्रणाम करके श्रीरामजी को देखा (तब इनका) मुनि-वेष देखकर वे अत्यंत दुखी हुए ॥५॥ मुनिश्रेष्ठ ने दूतों से (यह) बात पूछी कि विदेहराज का कुशल-क्षेम कहो ॥६॥ यह सुनकर, सकुचाकर और पृथिवी में शिर नवाकर हाथ जोड़े हुए वे श्रेष्ठ दूत बोले ॥७॥ हे स्वामी! आपका जो सादर पूछना है, हे गोस्वामी! वही कुशल का कारण हो गया ॥८॥ नहीं तो, हे नाथ! कोशलनाथ (दशरथ महाराज) के साथ ही कुशल तो चली गई। सब जगत् अनाथ हो गया और मिथिला तथा श्रीअवध तो विशेष करके अनाथ हो गये ॥२७०॥

विशेष—(१) 'जनक-दूत तेहि···'—जब सब शोच में पड़े थे और श्रीरघुनाथजी चुप थे, उसी समय श्रीजनकजी के दूत आये। तब गुरुजी ने बुलाया, क्योंकि वे श्रीदशरथजी के स्थान पर हैं। विवाह की चिट्ठी लेकर आये थे, तब राजा ने ही बुलाया था। 'बेगि बोलाये'—इससे अपना प्रेम और श्रीजनकजी का सम्मान जनाया। इससे भी शीघ्र बुलाया कि सभा-विसर्जन होने के पहले सबलोग इनका आना जान लें और श्रीरामजी उत्तर भी न दे पावें, जनकजी भी आ लें, तब निर्णय हो।

(२) 'करि प्रनाम तिन्ह राम···'—ब्याह के पीछे आज यह वेष देखकर अत्यंत दुखी हो गये कि कहाँ वह दुलहा-रूप और कहाँ यह वल्कल वस्त्र-सहित वेष!

(३) 'सुनि सकुचाइ नाइ···'—प्रश्न के उत्तर देने में दूत सकुचा गये कि श्रीअवध में ऐसा अनर्थ हुआ और हम विदेह की कुशलता कैसे कहें? दुःख का समय समझकर शिर नीचा कर लिया। पुनः मुनि के प्रश्न में उन्होंने व्यंग्योक्ति समझी। व्यंग्य यह कि जिस विपत्ति में जगत भर दुखी हो गया, उसमें उन्हें क्यों कुछ खेद होगा? वे तो विदेह हैं न? देही होते तो समधियाने की घोर आपत्ति पर सहानुभूति प्रकट करते, दौड़े आते। उनपर किसी नाते के दुःख का प्रभाव क्योंकर पड़े, जिसे देह ही पर ममत्व नहीं है। 'चरबर'—क्योंकि व्यंग्य समझ गये। इसीसे सकुच गये और लज्जा से सिर नीचा कर लिये, पर चुप ही रहें तो गुरुजी की अवज्ञा होती है, इसलिये हाथ जोड़े हुए बोले।

(४) 'बूझब राउर सादर···'—भाव (क) जिस 'विदेह' शब्द से आपने आदर देकर पूछा है, बस, वही कुशलता का कारण हो गया; अर्थात् ऐसी उच दशा ज्ञान की न होती, तो इस शोक-समुद्र में डूब गये होते। (ख) आपने सादर-सहित कुशल पूछी है, तो अब कुशल होगी, नहीं तो इस समाचार पर उनको विदेहता आ ही चुकी थी। वे विकल हो गये और कुशल रहने की आशा न थी। पर आपके वचन से जो 'विदेह' और 'कुसलाता' ये दो शब्द निकले हैं, ये ही आशीर्वाद-रूप से उन्हें पुनः विदेह और कुशल-सहित करेंगे।

(५) 'नाहि त कोसलनाथ के, साथ ···'—कुशल तो कोशलाधीश के साथ-साथ स्वर्ग को चली गई। तब जगत-भर की कुशल कैसे होगी ? भाव यह कि कुशल तो स्वर्गवासी इन्द्रादि की होगी। श्रीजनकपुर के दूत हैं; वहाँ के सोच को अधिक दिखाने के लिये 'मिथिला' शब्द 'अवध' से प्रथम कहा।

कोसलपति गति सुनि जनकौरा। भे सब लोक सोकबस बौरा ॥१॥
जेहि देखे तेहि समय बिदेहू। नाम सत्य अस लाग न केहू ॥२॥
रानि कुचालि सुनत नरपालहि। सूझ न कछु जस मनि बिनु ब्यालहि ॥३॥
भरत राज रघुबर बनबासू। भा मिथिलेसहि हृदय हराँसू ॥४॥
नृप बूझे बुध-सचिव-समाजू। कहहु बिचारि उचित का आजू ॥५॥
समुझि अवध असमंजस दोऊ। चलिय कि रहिय न कह कछु कोऊ ॥६॥
नृपहि धीर धरि हृदय बिचारी। पठये अवध चतुर चर चारी ॥७॥
बूझि भरत सतिभाउ कुभाऊ। आयेहु बेगि न होइ लखाऊ ॥८॥

दोहा—गये अवध चर भरतगति, बूझि देखि करतूति।
चले चित्रकूटहि भरत, चार चले तिरहूति ॥२७१॥

अर्थ—कोशलराज श्रीदशरथ महाराज की गति (मृत्यु) सुनकर श्रीजनकजी के नगरवासी सभी शोकवश बावले हो गये ॥१॥ उस समय जिन्होंने विदेहजी को देखा, उनमें से किसीको भी इनका विदेह ऐसा नाम सत्य न लगा ॥२॥ रानी की कुचाल सुनते ही राजा को कुछ न सूझ पड़ा, (वे ऐसे व्याकुल हो गये) जैसे मणि के बिना सर्प को कुछ नहीं सूझ पड़ता ॥३॥ श्रीभरतजी को राज्य और रघुवर श्रीरामजी को वनवास (यह सुनने से) श्रीजनकजी के हृदय में ह्रास हुआ ॥४॥ राजा ने पंडितों और मंत्रियों के समाज से पूछा कि विचार कर कहिये, आज क्या करना उचित है ? ॥५॥ श्रीअयोध्याजी में दोनों तरह में असमंजस समझकर, चलिये या रहिये (न जाइये), इनमें से कोई कुछ नहीं कहता था ॥६॥ राजा ने ही धैर्य धरकर हृदय में विचार कर चार चतुर जासूसों (खोफिया) को श्रीअवध भेजा ॥७॥ (और उनसे कहा कि) श्रीभरतजी के सद्भाव या दुर्भाव को समझकर शीघ्र आना, कोई तुम्हें न जान पावे ॥८॥ दूत श्रीअवध को गये, श्रीभरतजी की व्यवस्था समझकर और उनकी करतूत देखकर—जैसे ही श्रीभरतजी चित्रकूट को चले—दूत तिरहुत को चल दिये ॥२७१॥

विशेष—(१) 'जनकौरा'—श्रीजनकजी का नगर'; यथा—"सिय नैहर जनकौर नगर नियरायेन्हि।" (जानकी-मंगल); यहाँ जनक-नगर-निवासी से तात्पर्य है, आगे श्रीजनकजी को कहते हैं—

(२) 'जेहि देखे तेहि समय···'—विदेह को तो देह से ही ममत्व नहीं, फिर समधी, दामाद में ऐसी प्रीति क्यों ? अतएव जान पड़ता है कि ये झूठे ही विदेह कहाते हैं; उस समय सभी कोई दे·· समझने लगे।

(३) 'मनि बिनु ब्यालहि'—सर्प मणि छिन जाने पर व्याकुल होकर छटपटाता है। मणि लेनेवाले पर अत्यन्त कुपित होता है, पा जाय तो उसके प्राण ही ले ले। वैसे राजा व्याकुल हो कर छटपटाने लगे और अनर्थ-कर्त्ता पर रोष से भर गये। व्याकुलता में उन्हें कोई कल्याण का मार्ग न सूझ पड़ा।

(४) 'भरत राज रघुबर बनबासू···'—छोटी रानी का पुत्र, वह भी छोटा, उसे राज्य और बड़ी रानी का और बड़ा पुत्र वन को भेजा गया, इस अनीति से दुःख हुआ कि यह कार्य लोक-वेद दोनों ही से निंदित है।

(५) 'समुझि अवध असमंजस दोऊ।' दोनों असमंजस कि राजा का मरण सुनने पर जाना चाहिये, न जाय तो अनुचित है। यदि जायँ तो कैकेयीजी के पक्ष के समझे जायँगे। कौशल्याजी एवं नगरवासी विरोध मानेंगे। यदि कैकेयीजी को समझायें और वे न मानें, तो उनसे विरोध हो। फिर इधर हमारे भाई-भाई में भी फूट की सम्भावना हो, क्योंकि भाई कुशध्वज मुझे अपने दामाद के विरोधी समझेंगे। दोनों ही दामाद हैं, हम किस तरफ क्या कहेंगे ? इत्यादि दुविधा ही रही।

(६) 'चतुर चर चारी'—चर यहाँ गुप्तचर (जासूस) के लिये है। 'चार चले' शब्द से यह भी ध्वनि है कि वे बहुत तेज चलनेवाले भी थे। इसीके अनुसार 'आयेहु बेगि' भी कहा गया है। 'चार' से चार दूतों की संख्या भी जनाई कि चार दूतों के जाने से चारों का विचार दृढ़ होगा।

(७) 'बूझि भरत सतिभाव कुभाऊ'—श्रीभरतजी की साधुता प्रसिद्ध थी; यथा—"भरत नीति रत साधु सुजाना। प्रभु-पद-प्रेम सकल जगजाना॥" (दो॰ २१७); और जब श्रीअवध में अनर्थ हुआ, तब वे अन्यत्र थे; अब आये हैं। तो देखना चाहिये कि वे पूर्ववत् हैं कि माता के पक्ष में हैं, यह जानने पर किसी कर्त्तव्य का निश्चय किया जाय।

(८) 'गये अवध चर भरतगति··· —'गति' अर्थात् हार्दिक व्यवस्था, जो कि कैकेयीजी को डाटने से, कौशल्याजी के समक्ष मे शपथ करने से, सभा में विह्वल होने और गुरु, मंत्री आदि सभी के कहने पर भी राज्य न ग्रहण करने से जान पड़ी। 'करतून'—सबको लेकर प्रभु को मनाने जा रहे हैं।

दूतन्ह आइ भरत कइ करनी। जनक-समाज जथामति बरनी ॥१॥
सुनि गुरु परिजन सचिव महीपति। भे सब सोच सनेह बिकल अति ॥२॥
धरि धीरज करि भरत बड़ाई। लिये सुभट साहनी बोलाई ॥३॥
घर पुर देस राखि रखवारे। हय गय रथ बहु जान सँवारे ॥४॥
दुघरी साधि चले ततकाला। किये बिश्राम न मग महिपाला ॥५॥
भोरहि आजु नहाइ प्रयागा। चले जमुन उतरन सब लागा ॥६॥
खबरि लेन हम पठये नाथा। तिन्ह कहि अस महि नायेउ माथा ॥७॥
साथ किरात छ-सातक दीन्हे। मुनिबर तुरत बिदा चर कीन्हे ॥८॥

शब्दार्थ—दुघरिया मुहूर्त्त, इससे सब दिन सब ओर का यात्रा-विधान हो सकता है। ततकाल=उसी समय। हम=हमको। छ सातक=छः सात के लगभग।

अर्थ—दूतों ने आकर श्रीजनकजी के समाज में श्रीभरतजी की करनी अपनी बुद्धि के अनुसार वर्णन की ॥१॥ सुनकर गुरु, कुटुंबी, मंत्री और राजा सभी शोच और स्नेह से अत्यन्त व्याकुल हो गये ॥२॥ धैर्य धारण कर श्रीभरतजी की प्रशंसा करके अच्छे-अच्छे योद्धाओं और साहनियों (हाथी घोड़े आदि के दारोगाओं) को बुला लिया ॥३॥ घर, नगर, देश (प्रान्त) में रक्षकों को रखकर, हाथी, घोड़े, रथ आदि बहुत-सी सवारियाँ सजवाई ॥४॥ दुघड़िया मुहूर्त्त साध कर उसी समय चल दिये। राजा ने मार्ग में विश्राम भी नहीं किया ॥५॥ आज सवेरे ही प्रयाग स्नान करके चले, सबलोग यमुना पार उतरने लगे (तब) ॥६॥ हे नाथ ! हमको स्वामी ने खबर लेने के लिये भेजा, उन्होंने ऐसा कहकर पृथिवी पर शिर नवाया अर्थात् प्रणाम किया ॥७॥ मुनिश्रेष्ठ ने शीघ्र कोई छः सात किरातों को साथ में देकर दूतों को शीघ्र विदा किया ॥८॥

विशेष—(१) 'जनक-समाज जथामति बरनी।'—'जनक-समाज' से जनाया कि वहाँ उस समय निमिवंशी अधिक थे। 'जथामति'—करनी अकथनीय थी, उनकी बुद्धि में जितना आया, उतना ही उन्होंने कहा।

(२) 'भे सब सोच सनेह बिकल अति'—शोच व्यर्थ में राजा की मृत्यु का तथा श्रीरामजी के वनवास का और स्नेह श्रीभरतजी के सद्भाव का। पहले कैकेयी की करनी पर शोच था, अब सोचते हैं कि व्यर्थ ही इतने अनर्थ हुए।

(३) 'लिये सुभट साहनी बोलाई।'—सुभटों को नगर की रक्षा के लिये और साहनियों को हाथी-घोड़े आदि तैयार कराने के लिये बुलाया।

(४) 'दुघरी साधि चले…'—कर्मकांड में राजा की दृढ़ निष्ठा है; अतः; यात्रा-विधान किया, सम्भवतः उस दिन यात्रा का कोई योग न था, इसलिये शिवजी के मत से द्विघटिका मुहूर्त्त शोधकर चले। 'महिपाला'—इतने बड़े राजा होते हुए विश्राम भी नहीं किया, प्रेम से रातो-दिन दौड़े चले आये।

(५) 'भोरहि आजु नहाइ…'—भोर होते ही प्रयाग पहुँचे और स्नान कर चल दिये।

(६) 'तिन्ह कहि अस महि नायेउ माथा।'—कथन-समाप्ति पर प्रणाम किया। प्रणाम करके बोलना और वचन की पूर्त्ति पर भी प्रणाम के साथ विसर्जन करना शिष्टाचार है। यह भी संकेत किया कि कहना था, सो कहा, अब जाने की आज्ञा हो।

(७) 'किरात छ-सातक दीन्हे'—श्रीजनक महाराज का भारी समाज है, जिससे ये लोग अच्छे मार्ग से सुविधापूर्वक उन्हें ला सकें। एक-दो से भी काम चल जाता, पर राजा के सम्मान के लिये भी अधिक भेजे।

'बोले चरचर जोरे हाथा' उपक्रम है और यहाँ—'मुनिबर तुरत बिदा चर कीन्हे।' पर उपसंहार है।

दोहा—सुनत जनक आगमन सब, हरषेउ अवध-समाज।
रघुनंदनहि सकोच बड़, सोच-बिबस सुरराज ॥२७२॥

गरइ गलानि कुटिल कैकेई। काहि कहइ केहि दूषन देई ॥१॥
अस मन आनि मुदित नर-नारी। भयउ बहोरि रहब दिन चारी ॥२॥
येहि प्रकार गत बासर सोऊ। प्रात नहान लाग सब कोऊ ॥३॥

अर्थ—श्रीजनक महाराज का आना सुनकर सब श्रीअवध का समाज प्रसन्न हुआ, रघुनन्दन श्रीरामजी को बड़ा संकोच हुआ और इन्द्र बड़े शोच में पड़ गये ॥२७२॥ कुटिला कैकेयी ग्लानि से गली जाती है (सूखी जाती है, उसका शरीर क्षीण होता जाता है), किससे कहे और किसे दोष दे ? (क्योंकि अपना ही दोष है और समाज-भर में उससे सहानुभूति रखनेवाला भी कोई नहीं है,) ॥१॥ स्त्री पुरुष मन में ऐसा लाकर (समझकर) प्रसन्न हैं कि फिर चार (कुछ) दिन रहना हुआ (नहीं तो आज ही विदाई होती) ॥२॥ इस तरह वह दिन भी बीत गया, प्रातःकाल सब कोई स्नान करने लगे ॥३॥

विशेष—(१) 'सुनत जनक आगवन···'—श्रीअवध के समाज को हर्ष हुआ कि परम ज्ञानी श्रीजनकजी अवश्य लौटा ले चलेंगे, जो श्रीरामजी न भी लौटेंगे, तो कुछ दिन और रहने को मिलेगा ही। यही आगे कहा है—'अस मन आनि···'। 'रघुनंदनहिं संकोच बड़···'—संकोच तो भरतजी के ही आने पर हुआ था, अब ये भी आये तो अधिक हो गया, इसीसे 'बड़' कहा गया है। इन्द्र को बहुत ही शोच हुआ, वह सोचता है कि श्री जनकजी श्वशुर हैं, पिता के समान हैं, इनकी आज्ञा श्रीरामजी टाल ही नहीं सकते। अभी तक एक श्रीभरतजी के लिये ही झखते थे, अब तो दो आ गये।

(२) 'गरइ गलानि कुटिल···'—अपनी कुटिलता पर पछता रही है कि समधिनियों के आगे कौन मुँह दिखाऊँगी ? पश्चात्ताप से उसका शरीर क्षीण होता जाता है, मानों वह पापों का प्रायश्चित्त कर रही है। 'काहि कहइ···'—सोचती है कि महिलाओं की सभा में मैं किसका दोष कहकर आड़ लूँगी। मंथरा तो नीच चेरी है, इसका नाम लेने से लोग मुझे और भी मंद-बुद्धि समझेंगे। यह भी भाव है कि पहले इसने पृथिवी से बीच माँगा और यमराज से मृत्यु माँगी, पर सुनवाई नहीं हुई, तो और अब किससे कहे ? सभी तो इसके शत्रु हो रहे हैं, सहानुभूति करनेवाला मिले तो उससे कहे भी। इससे ग्लानि की सीमा जनाई।

(३) 'येहि प्रकार गत बासर'—ऐसे ही मनोरथ करते हुए दिन-रात बीत गया। 'बासर' से यहाँ दिन-रात का तात्पर्य है।

करि मज्जन पूजहिं नर-नारी। गनप गौरि त्रिपुरारि तमारी ॥४॥
रमा-रमन-पद बंदि बहोरी। बिनवहिं अंजुलि अंचल जोरी ॥५॥
राजा राम जानकी रानी। आनँद-अवधि अवध-रजधानी ॥६॥
सुबस बसउ फिरि सहित समाजा। भरतहि राम करहु जुबराजा ॥७॥
येहि सुखसुधा सींचि सब काहू। देव देहु जग जीवन-लाहू ॥८॥

दोहा—गुरुसमाज भाइन्ह सहित, राम-राज पुर होउ।
अछत राम राजा अवध, मरिय माँग सब कोउ ॥२७३॥

अर्थ—स्नान करके सब स्त्री-पुरुष गणेशजी, गौरीजी, त्रिपुर के शत्रु शिवजी और सूर्य की पूजा करते हैं ॥४॥ फिर लक्ष्मीनाथ विष्णु भगवान् के चरणों की वंदना करके पुरुष हाथ जोड़कर, और स्त्रियाँ आँचल पसार कर विनती करती हैं ॥५॥ कि श्रीरामजी राजा हों, श्रीजानकीजी रानी हों और आनंद की सीमा श्रीअवध राजधानी ॥६॥ फिर से स्वतंत्रता-पूर्वक समाज-सहित, बसे और श्रीरामजी श्रीभरतजी को युवराज बनावें ॥७॥ हे देव ! इस सुखरूपी अमृत से सब-किसी को सींचकर संसार में जन्म लेने का लाभ दीजिये ॥८॥ गुरु, समाज और भाइयों के सहित श्रीरामजी का राज्य श्रीअवधपुर में हो, श्रीरामजी के राजा रहते हुए ही हमारी मृत्यु हो, सब कोई यही (वरदान) माँगते हैं ॥२७३॥

विशेष—(१) 'करि मज्जन पूजहिं···'—श्रीअवधवासी इन पंचदेवों की उपासना करके फल रूप में श्रीरामजी की भक्ति माँगते हैं, फल में सबकी श्रीरामजी में ही अनन्यता है, साधन में प्रकृति-भेद से नानात्व है, कहा भी है–"रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसि-पयसामर्णव इव ॥" (शिव-महिम्नस्तोत्र) । तथा–"आजु सकल सुकृत फल पाइहौं । सुख की सींव अवधि आनंद की अवध बिलोकि हौं जाइ हौं ॥ ··" (गी० बा० ४६) । श्रीगोस्वामीजी ने भी विनयपत्रिका में पाँचों की प्रार्थना करके श्रीराम-भक्ति माँगी है ; यथा—"बसहु राम सियमानस मोरे ।"—गणेशजी से, "देहि माँ मोहिं प्रण प्रेम, यह नेम निज राम घनश्याम तुलसी पपीहा ॥"—गौरी से, "देहु कामरिपु राम-चरण रति"—शिवजी से, "तुलसी राम भगति बर माँगै ।"—सूर्य से और—"देहि अवलंब करकमल कमलारमन ··अनुज निज जानकी सहित हरि सर्वदा दास तुलसी हृदय कमल बासी ।"—विष्णु भगवान् से, इत्यादि । वास्तव में यह उपासना श्रीरामजी की ही है, बा० मं० श्लो० १ की टीका भी देखिये ।

(२) 'सुबस बसउ फिरि······'—जैसा कि राजा श्रीदशरथजी ने कहा है—"सुबस बसिहि फिरि अवध सुहाई ।" (दो० ४५) ; 'सहित समाजा'—राजा के प्रधान अंग सात हैं, शेष और भी जितने अंग हैं, उनसब से सम्पन्न श्रीअवध बसे। 'फिरि'-क्योंकि अभी उजड़ चुकी है, यथा-"अवध उजारि कीन्हि कैकेई ।" (दो० ४८) ; साथ ही श्रीभरतजी को युवराज बना लें ; यथा —"राज दीन्हि सुग्रीव कहँ, अंगद कहँ जुबराज ।" (कि० दो० ११) ; पीछे युवराज बनाने में न जाने कोई विघ्न हो जाय, वा, श्रीरामजी के पुत्र होंगे, तो श्रीभरतजी फिर क्यों पावेंगे, इसलिये अभी से युवराज हो जायँ, यह श्रीभरतजी पर सबकी प्रीति एवं कृतज्ञता है ।

(३) 'येहि सुखसुधा······'—अभी तक विरहानल से संतप्त रहे, अब इस सुख-रूपी अमृत से सींचकर तर कर दीजिये । 'गुरु-समाज'—गुरुजनों का समाज—माता, गुरु, पूज्य-वर्ग का और लोगों का समाज भी । 'जग जीवन लाहू' ; यथा—"सियराम सरूप अगाध अनूप ·· ··तुलसी के मते इतनों जग जीवन को फल है ।" (क० उ० ३७) ।

सुनि सनेहमय पुरजन-बानी । निंदहिं जोग बिरति मुनि ग्यानी ॥१॥
येहि बिधि नित्य करम करि पुरजन । रामहिं करहिं प्रनाम पुलकि तन ॥२॥
ऊँच नीच मध्यम नर-नारी । लहहिं दरस निज निज अनुहारी ॥३॥
सावधान सबही सनमानहि । सकल सराहत कृपानिधानहि ॥४॥
लरिकाइहि ते रघुबर बानी । पालत नीति प्रीति पहिचानी ॥५॥

अर्थ—श्रीअवधवासियों की स्नेह-पूर्ण वाणी सुनकर ज्ञानी मुनि अपने योग और वैराग्य की निन्दा करते हैं ॥१॥ इस तरह श्रीअवधपुरवासी अपने नित्य-कर्म करके पुलकित शरीर से श्रीरामजी को प्रणाम करते हैं ॥२॥ उत्तम, नीच और मध्यम (सभी श्रेणियों के) स्त्री-पुरुष अपने-अपने (भाव एवं अधिकार के) अनुसार दर्शन पाते हैं ॥३॥ श्रीरामजी सावधानी से सबका सम्मान करते हैं, सब कोई कृपानिधान श्रीरामजी की प्रशंसा करते हैं ॥४॥ लड़कपन से ही रघुवर श्रीरामजी की बानि (टेव) है कि वे प्रेम पहचान कर नीति का पालन करते हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'निंदहिं जोग बिरति'''—इन लोगों ने योग-वैराग्य के बहुत साधन किये हैं, पर प्रेम नहीं हुआ और इनकी सहज-वृत्ति में प्रेम की उच्च दशा है। प्रेम से भगवान् शीघ्र मिलते हैं और अत्यन्त कृपा करते हैं; यथा—"उमा जोग जप ज्ञान तप, नाना व्रत अरु नेम। राम कृपा नहि करहिं तसि, जसि निःकेवल प्रेम ॥" (लं० दो० ११६)। "ज्ञान दया दम'''तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल यह सुंदर ॥" (उ० दो० ४८)। इसलिये प्रेम के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हुए ये लोग अपने योग-वैराग्य की निन्दा करते हैं।

(२) 'येहि बिधि नित्य करम''''''—यह पुरजनों की नित्य-चर्या है, श्रीअवध में पहले भी करते थे; यथा—"आशंसते जनाः सर्वे राष्ट्रे पुरवरे तथा। आभ्यन्तरश्च बाह्यश्च पौरजानपदो जनः॥ स्त्रियो वृद्धास्तरुण्यश्च सायं प्रातः समाहिताः। सर्वा देवान्नमस्यन्ति रामस्यार्थे मनस्विनः॥" (वाल्मी० २।२। ५१–५२) 'पुलकि तन'—श्रीरामजी के स्मरण एवं प्रणाम में पुलक होना ही चाहिये; यथा—"रामहि सुमिरत रन भिरत, देत परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तनु, ते जग जीवत जाय॥" (दोहावली ४२)। 'सावधान सबही सनमानहिं'; यथा—"बड़ी साहिबी में नाथ बड़े सावधान हौ।" (क० उ० १२६)। 'कृपानिधानहि'—और लोग स्वार्थ-दृष्टि से दूसरे का सम्मान करते हैं, पर श्रीरामजी कृपा करके ही करते हैं। क्योंकि आप तो आप्त-काम हैं; यथा—"न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन। नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥" (गीता ३।२२)।

सील - सँकोच - सिंधु रघुराऊ। सुमुख सुलोचन सरल सुभाऊ ॥६॥
कहत राम - गुन - गन अनुरागे। सब निज भाग सराहन लागे।७॥
हम सम पुन्यपुंज जग थोरे। जिन्हहिं राम जानत करि मोरे ॥८॥

दोहा—प्रेम-मगन तेहि समय सब, सुनि आवत मिथिलेस।
सहित सभा संभ्रम उठेउ, रबि - कुल-कमल-दिनेस ॥२७४॥

शब्दार्थ—सुमुख = प्रसन्न मुख, प्रिय-भाषी। संभ्रम = उतावली, उत्कंठा—"समौ संवेग संभ्रमावित्यमरः"

अर्थ—रघुराज श्रीरामजी शील और संकोच के समुद्र हैं, सुन्दर वदन, प्रसन्नमुख एवं मधुर भाषी, सुन्दर नेत्रवाले (अर्थात् शीलवान् एवं कृपालु), और सरल स्वभाव के हैं (तब उपर्युक्त स्वभाव योग्य ही है) ॥६॥ श्रीरामजी के गुण-गणों को कहते-कहते अनुराग में भर गये और सभी अपने-अपने भाग्य की बड़ाई करने लगे ॥७॥ कि हमारे समान पुण्य समूहवाले जगत् में बहुत कम होंगे कि जिन्हें रामजी अपना करके जानते हैं; अर्थात् ममत्व रखते हैं ॥८॥ उस समय सब प्रेम में मग्न हैं।

श्रीजनकजी महाराज को आते हुए सुनकर सूर्य-कुल-रूपी कमल के सूर्य श्रीरामजी सभा सहित उत्साह एवं उतावली से उठे ॥२७४॥

विशेष—(१) 'सील-संकोच-सिंधु···'; यथा—"सील सिंधु सुंदर सब लायक समरथ सद्गुन खानि हौ।" (वि० २२१)। शील और संकोच से स्वभाव की बाहरी सुन्दरता और सरलता (निष्कपट हृदय होने) से भीतरी सुन्दरता है। शरीर की सुन्दरता मुख और नेत्र से कही गई। अर्थात् श्रीरामजी शरीर और स्वभाव, दोनों से सुन्दर हैं।

(२) 'कहत राम-गुन-गान अनुरागे'—राम-गुण-गान से अनुराग होता है; यथा—"तब हनुमंत कही सब, राम कथा निज नाम। सुनत जुगल तनु पुलक मन, मगन सुमिरि गुन ग्राम ॥" (सुं० दो० ६); "प्रभु गुन सुनि मन हरषिहै नीर नयनन्हि ढरिहै।" (वि० २१८)।

(३) 'हम सम पुन्य पुंज जग थोरे।···'—हमें श्रीरामजी अपना करके मानते हैं; यथा—"प्रनवउँ पुर नरनारि बहोरी। ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी ॥" (बा० दो० १५); श्रीमुख-वचन भी है; यथा—"अति प्रिय मोहिं इहाँ के बासी।" (उ० दो० ३) "राम कहैं जेहि आपनो, तेहि भजु तुलसीदास ॥" (दोहावली १२०)।

(४) 'संभ्रम उठेउ, रबि-कुल-कमल-दिनेस'—क्योंकि अच्छे कुलवाले दूसरे का सत्कार करते हैं, फिर ये तो सूर्यकुल को प्रकाशित एवं प्रफुल्लित करनेवाले हैं, क्यों न सत्कार के लिये ऐसे उठें, यथा—"उठे राम सुनि प्रेम अधीरा।" (दो० २३१)।

भाइ-सचिव - गुरु - पुरजन - साथा। आगे गवन कीन्ह रघुनाथा ॥१॥
गिरिबर दीख जनकपति जबहीं। करि प्रनाम रथ त्यागेउ तबहीं ॥२॥
रामदरस लालसा उछाहू। पथश्रम लेस कलेस न काहू ॥३॥
मन तहँ जहँ रघुबरबैदेही। बिनु मन तनु दुख सुख सुधि केही ॥४॥
आवत जनक चले येहि भाँती। सहित समाज प्रेम मति माँती ॥५॥

अर्थ—भाई, मंत्री, गुरु और पुरवासी को साथ लिये हुए श्रीरघुनाथजी आगे चले ॥१॥ राजा श्रीजनक ने ज्योंही गिरिश्रेष्ठ कामदानाथ के दर्शन किये, त्योंही प्रणाम करके उन्होंने रथ त्याग दिया (अर्थात् पैदल चलने लगे) ॥२॥ श्रीरामजी के दर्शनों की लालसा और उत्साह है, इसीसे मार्ग के थकावट-सम्बन्धी क्लेश किसी को नहीं हैं ॥३॥ (क्योंकि) मन तो वहाँ है जहाँ रघुवर-वैदेही (श्रीसीतारामजी) हैं, तो विना मन के दुःख और सुख की सुधि किसको हो (क्योंकि दुःख सुख का अनुभव मन के द्वारा ही होता है) ॥४॥ इस तरह श्रीजनकजी महाराज समाज के साथ चले आते हैं, समाज सहित उनकी बुद्धि प्रेम से मतवाली हो रही है ॥५॥

विशेष—(१) 'आगे गवन कीन्ह···'—इस समय अपने घर के ज्येष्ठ श्रेष्ठ श्रीरामजी ही हैं। अतएव अगवानी के लिये आगे चले। 'रघुनाथा'—क्योंकि कुल व्यवहार में प्रवृत्त हैं। 'गिरि बर दीख जनकपति···'—श्रीजनकजी का कुल ही 'जनक' कहाता है; क्योंकि इनके पूर्वज पहले पिता से उत्पन्न हुए हैं। कथा बा० दो० २१४ में दी गई है। अतः, जैसे रघुकुल के स्वामी रघुपति

हैं, वैसे 'जनक-पति' श्रीजनकजी जनक कुल के स्वामी हैं। गिरिवर को देखकर उतरे और प्रणाम किया। ऐसा ही श्रीभरतजी ने भी किया है; यथा—"सैल सिरोमनि सहज सुहावा। देखि करहिं सब दंड प्रनामा···" (दो० २३४)।

(२) 'राम दरस लालसा उछाहू।···'; यथा—"भरतहिं सहित समाज उछाहू।" (दो० २२४)।

(३) 'बिनु मन तनु दुख सुख सुधि केही।'; यथा—"मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः। बन्धाय विषयासक्तं मुक्तं निर्विषयं स्मृतम्॥" (ब्रह्मबिन्दु २)।

(४) 'आवत जनक चले··'; यथा—"जाहिं सनेह सुरा सब छाके॥ सिथिल अंग मग पग डगि डोलहिं॥ बिहल बचन प्रेम बस बोलहिं॥" (दो० २२४)।

आये निकट, देखि अनुरागे। सादर मिलन परसपर लागे॥६॥
लगे जनक मुनि-जन-पद बंदन। रिषिन्ह प्रनाम कीन्ह रघुनंदन॥७॥
भाइन्ह सहित राम मिलि राजहिं। चले लिवाइ समेत समाजहिं॥८॥

दोहा—आश्रम सागर सांतरस, पूरन पावन पाथ।
सेन मनहुँ करुना-सरित, लिये जाहिं रघुनाथ॥२७५॥

अर्थ—जब समीप आये तब परस्पर देखकर अनुराग से पूर्ण हो गये और आदरपूर्वक आपस में मिलने लगे॥६॥ श्रीजनकजी मुनि गणों के चरणों की वंदना करने लगे, और भाइयों के साथ रघुनन्दन श्रीरामजी ने ऋषियों को प्रणाम किया॥७॥ भाइयों के साथ श्रीरामजी राजा से मिल कर समाज के साथ उनको लिवा ले चले॥८॥ श्रीरामजी का आश्रम समुद्र है, वह शांत रस रूपी पवित्र जल से पूर्ण है, श्रीजनकजी की सेना (एवं समाज) मानों करुणा नदी है, उसे श्रीरघुनाथजी (आश्रम-सागर को) लिये जा रहे हैं॥२७५॥

विशेष—(१) 'लगे जनक मुनि···'—श्रीरामजी के साथ के मुनियों को श्रीजनकजी ने प्रणाम किया और श्रीजनकजी के साथ शतानंद आदि ऋषियों को श्रीरामजी ने प्रणाम किया। 'रघुनंदन'—शब्द कुलोचित मर्यादा-निर्वाह के सम्बन्ध से दिया गया है।

(२) 'आश्रम सागर सांतरस···'—यहाँ सम अभेद रूपक द्वारा उत्प्रेक्षा है। आश्रम साधु की कुटी को कहा जाता है। श्रीरामजी भी तपस्वी वेष में हैं। वहाँ सब शांत रस को ही व्यवस्था रहती है, यथा—"जहँ बैठि मुनि गन सहित, नित सियराम सुजान। सुनहिं कथा इतिहास नित, आगम निगम पुरान॥" (दो० २१०)। इसलिये वह शांतरस जल से पूर्ण कहा गया है। इस रस में जगत् की असारता, अनित्यता, दुःख आदि का विचार, वा परमात्म स्वरूप आलंबन; तपोवन, तीर्थ आदि एवं सत्संग आदि उद्दीपन, रोमांचादि अनुभाव तथा हर्ष, दया आदि संचारी भाव होते हैं, इसका स्थायी भाव निर्वेद (कामादि वेगों का शमन) है। इस रस में योगियों को एक अलौकिक प्रकार का आनंद होता है। जिसमें संचारी आदि भावों की स्थिति हो सकती है, इसीसे यह रस में परिगणित है; अन्यथा विषय संबंधी मनोविकारों का तो इसमें शमन होता है।

(३) 'सेन मनहुँ करुना सरित'''—सेना और समाज सब करुणारस से पूर्ण, शोकमय हैं। वे मुनि-समूह से पूर्ण श्रीरामजी के आश्रम पर पहुँच कर शान्ति प्राप्त करेंगे, जैसे सागर में पहुँच कर नदियाँ शांत हो जाती हैं। यहाँ पर किसी नदी का नाम नहीं दिया गया। पर प्राप्य स्थान 'सागर' और लिये जानेवाले को 'रघुनाथ' कहा है। इससे गंगाजी को लक्षित किया है। श्रीभगीरथजी भी रघुकुल के ही राजा होने से रघुनाथ कहे जा सकते हैं। सगर भी सगर के पुत्रों के द्वारा खोदे जाने से कहा गया है। उन्हीं के उद्धार के लिये वहाँ गंगाजी गई भी हैं। जैसे भगीरथ के पीछे-पीछे गंगाजी कोलाहल करते हुए चली हैं; वैसे ही श्रीरामजी के पीछे-पीछे सब समाज रोता हुआ जा रहा है। शेष अंग आगे कहते हैं—

बोरति ग्यान बिराग करारे। बचन ससोक मिलत नद-नारे ॥१॥
सोच उसास समीर तरंगा। धीरज तट-तरु-बर कर भंगा ॥२॥
बिषम बिषाद तोरावति धारा। भय भ्रम भँवर अवर्त अपारा ॥३॥
केवट बुध बिद्या बड़ि नावा। सकहिं न खेइ ऐक नहिं आवा ॥४॥
बनचर कोल किरात बिचारे। थके बिलोकि पथिक हिय हारे ॥५॥
आश्रम उदधि मिली जब जाई। मनहुँ उठेउ अंबुधि अकुलाई ॥६॥

शब्दार्थ—तोरावति (सं॰ त्वरावती)= वेगवती। अवर्त (आवर्त)=घुमाव, चक्कर, जिसका चौड़ों तक घुमाव होता है और जिसके केन्द्र में थोड़ी दूर में ही जल घूमता है, जहाँ गड्ढा होता है, वही 'भँवर' है। ऐक = अंदाज।

अर्थ—ज्ञान-वैराग्य रूपी किनारों को डुबाती जाती है, शोक भरे वचन नद और नालों की तरह इसमें मिलते जाते हैं ॥१॥ सोच और लंबी साँसें वायु और लहरें हैं, जो धैर्यरूपी तट के बड़े-बड़े वृक्षों को गिराती जाती हैं ॥२॥ कठिन दुःख वेगवती धारा है, भय और भ्रम अगणित भँवर और उसके चक्कर हैं ॥३॥ पंडित लोग केवट हैं और उनकी बड़ी विद्या ही बड़ी नाव है, वे खे नहीं सकते हैं। क्योंकि उन्हें इस नदी का ऐक (अटकल) नहीं मिल रहा है ॥४॥ वन के विचरनेवाले विचारे कोल-किरात पथिक हैं। वे इसे देखकर हृदय से हारकर थक रहे (स्तंभित हो रहे) हैं ॥५॥ जब यह करुणा नदी आश्रम समुद्र में जा मिली तब मानो समुद्र अकुला उठा; (अर्थात् वहाँ भी रोने का अत्यंत कोलाहल हुआ) ॥६॥

विशेष—(१) 'बोरति ज्ञान बिराग'''—करुणानदी इतनी बढ़ी कि ज्ञान-विराग रूपी किनारे डूब गये; अर्थात् ज्ञानी-वैरागी भी उसमें निमग्न होगये। सबमें करुणा ही दिखाई देती है। 'बचन ससोक'''—राजा के रूप-गुण आदि पर जो शोक के वचन कहे जाते हैं, उनसे करुणा और बढ़ती है, जैसे नद-नालों के जल पा-पाकर नदी तीव्र होती और बढ़ती है। 'सोच उसास समीर'''—शोकातुर होकर लोग लंबी साँसें (आहें) भरते हैं, जिससे बड़े-बड़े धैर्यवानों का धैर्य छूट जाता है। जैसे नदी में पवन के झकोरों से लहरें ऊपर को उठती और किनारों को बहुत काटती हैं; तट के बड़े-बड़े वृक्षों को उखाड़ ले जाती हैं। कठिन दुःखरूपी तीव्र धारा में लोगों के हृदय में तरह-तरह के भय और भ्रम हैं। जैसे बड़ी नदी में अनेक भँवर और आवर्त्त पड़ते हैं। भय राज्य नष्ट होने का; भ्रम श्रीरामजी के लौटने वा न लौटने का; अथवा भय सबके शोक में डूबने का है। जिसका कोई उपाय नहीं दीखता और भ्रम अर्थात् किसी का चित्त सावधान नहीं है।

इस नदी का ज्ञान-किनारा ज्ञानी मिथिलेश का समाज है और श्रीभरतजी का समाज वैराग्य-रूपी तट है, क्योंकि इन्होंने भरद्वाज के दिव्य ऐश्वर्य को भी तृण के समान त्यागा है। नद, जैसे महानद अर्थात् भारी नदी, यह मिथिला समाज के सशोक वचन हैं, क्योंकि ये अभी आये हैं। अतः, इनमें करुणा रूपी जल अधिक है। श्रीअवधवासियों का शोक प्रभु के सहवास में कई दिन रहने से कुछ कम हो गया है। अतः, करुणा जल कम है, ये नाले रूप हैं।

(२) 'केवट बुध बिद्या ...'—बड़े बड़े विद्वानों की बड़ी-बड़ी विद्याएँ बड़ी-बड़ी नावें हैं। इस विषाद का अन्दाज ही उन्हें नहीं मिल रहा है, उनकी बुद्धि चकरा गई है कि कैसे लोगों को धैर्य करावें? जैसे भयंकर बाढ़ में केवट नाव का लंगर डाल देते हैं, और मुसाफिरों को जवाब दे देते हैं कि नाव बस में नहीं है, अतः, अभी न खेवेंगे। नाव का मार्ग-निश्चय करने को केवट लोग ऐकना कहते हैं।

(३) 'बनचर कोल किरात बिचारे।......'—भयंकर बढ़ी हुई नदी के तट पर पथिक लोग चकित होकर खड़े रहते हैं, क्योंकि उसमें उनका कुछ चारा (वश) नहीं चलता, वैसे कोल-किरात खड़े स्तंभित हो एकटक देख रहे हैं, इनका कुछ वश नहीं है। ये विचारते हैं कि जब बड़े-बड़े विद्वान् हार बैठे हैं, तो हमलोगों का क्या वश है?

(४) 'आश्रम उदधि मिली......'—आश्रम पर पहुँचने से वहाँ श्रीअवध का रनवास था। सम्बन्धियों को देखकर उनका भी आर्त्त स्वर से रोना बढ़ा और इधर तो आर्त्तस्वर से रोना था ही, इससे बड़ा कोलाहल हुआ, जैसे गंगा आदि बड़ी नदियों के समुद्र में मिलने पर होता है। 'उठेउ अकुलाई' से यह भी जनाया कि यहाँ का रनिवास और मुनि-मंडली आदि भी उठ खड़े हुए और सबकी शान्ति भंग हो गई, जैसे नदी के जल के टक्कर से समुद्र का जल भी क्षुब्ध हो जाता है।

सोक - बिकल दोउ राज - समाजा। रहा न ज्ञान न धीरज-लाजा ॥७॥
भूप - रूप - गुन - सील सराही। रोवहिं सोकसिंधु अवगाही॥८॥

छंद—अवगाहि सोक - समुद्र सोचहिं नारि-नर ब्याकुल महा।
दै दोष सकल सरोष बोलहिं बाम बिधि कीन्हो कहा॥
सुर-सिद्धि-तापस-जोगिजन-मुनि देखि दसा बिदेह की।
तुलसी न समरथ कोउ जो तरि सकइ सरित सनेह की॥

सोरठा—किये अमित उपदेस, जहँ तहँ लोगन्ह मुनिबरन्ह।
धीरज धरिय नरेस, कहेउ बसिष्ठ बिदेह सन ॥२७६॥

अर्थ—दोनों राज-समाज शोक से व्याकुल हो गये; न ज्ञान रहा, न धैर्य और न लज्जा ही रह गई ॥७॥ राजा दशरथजी के रूप, गुण और शील को सराहकर सब रो रहे हैं और शोक-समुद्र में डूब ॥८॥ स्त्री-पुरुष सभी शोक-समुद्र में डूबे हुए शोच रहे हैं और महान् व्याकुल हैं। सब टेढ़े ब्रह्मा

को दोष देकर क्रोध सहित कहते हैं कि इस वाम-विधि ने क्या (आश्चर्य) कर डाला ? ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि देवता, सिद्ध, तपस्वी, योगी और मुनि लोग विदेह राजा श्रीजनकजी की दशा देखकर कहते हैं कि कोई भी समर्थ नहीं है, जो स्नेह-रूपी नदी पार कर सके। श्रेष्ठ मुनियों ने जहाँ-तहाँ लोगों को अगणित प्रकार से उपदेश किये और वशिष्ठ मुनि ने विदेहजी से कहा कि राजन् ! धैर्य धारण कीजिये ॥२७६॥

विशेष—(१) 'सोक बिकल दोउ···'—शोक से सभी व्याकुल हैं, इससे ज्ञान न रहा ; यथा— "चढ़े बघूरे (बौंडर) चंग ज्यों, ज्ञान ज्यों सोकसमाज। करम धरम सुख संपदा, त्यों जानिबे कुराज ॥" (दोहावली ५१४) ; अर्थात् बौंडर में पड़ी हुई पतंग की तरह शोक-समाज में ज्ञान नष्ट हो जाता है। सभी रोने से चुप नहीं होते, इससे धीरज न रहा और वस्त्र आदि का सँभार न रहने से लज्जा न रही। वा ज्ञानियों का ज्ञान, धीरों का धैर्य और स्त्रियों की लज्जा न रही। 'भूप-रूप-गुन-सील सराही।' रोवहिं···' यथा—"सोक-बिकल सब रोवहिं रानी। रूप-सील-बल-तेज बखानी ॥" (दो० १५५) ; —देखिये ; तारा और मंदोदरी आदि के विलाप-प्रसंग भी ऐसे ही हैं।

(२) 'सोक-सिंधु अवगाही'—स्वजनों को देखकर दबा हुआ भी शोक उमड़ आता है; अतः, जैसे-जैसे श्रीमिथिलावासी शोक करते हैं, वैसे-वैसे श्रीअवधवासी और भी शोक में डूबते जाते हैं ; यथा— "स्वजनस्यहि दुखमग्रतो विवृत्तद्वारमिवोपजायते ॥" (कुमारसंभव)।

(३) 'तुलसी न समरथ कोउ······'—यहाँ सुर-सिद्ध आदि के साथ ही कवि की भी उक्ति है कि जब ऐसे ज्ञानी की यह दशा है, तो स्नेह-नदी को तैरने में दूसरा कोई समर्थ नहीं हो सकता।

(४) 'किये अमित उपदेस······'—सामान्य मुनि तो दशा ही देखकर दंग हैं, श्रेष्ठ मुनियों ने जहाँ-तहाँ के लोगों को अगणित उपदेश दिये और विदेहजी से श्रीवसिष्ठजी ने कहा। उपदेष्टा भी अधिकारानुसार हैं, श्रीजनकजी को श्रीवसिष्ठजी ने ही कहा। इन्हें उपदेश नहीं दिया केवल कहा है, क्योंकि ये स्वयं महान् ज्ञानी हैं, इससे कहा कि आपके धैर्य धारण करने से सभी धैर्य धरेंगे। आपको मोह कहाँ ? यह तो श्रीरामजी के स्नेह की महिमा है, जिसे आपने सबको दिखाया है।

(५) 'अमित उपदेस'—होतव्यता होकर ही रही, फिर अपरिहार्य बातों पर शोक करने से कोई लाभ नहीं, अब तो धैर्य धरना ही चाहिये। देखिये, अमुक-अमुक पर ऐसी-ऐसी विपत्ति पड़ी, और धैर्य धारण करने पर निवृत्त हुई। सुख-दुःख तो आगमापायी हैं, समय के हेर-फेर से आते-जाते रहते हैं, अतएव उनसे अलिप्त रहना चाहिये, दो० १४९ में श्रीसुमंत्रजी की उक्ति भी देखिये।

जासु ज्ञान - रबि भव-निसि-नासा। बचनकिरन मुनि-कमल बिकासा ॥१॥
तेहि कि मोह - ममता नियराई। यह सिय - राम - सनेह - बड़ाई ॥२॥
बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने ॥३॥
राम-सनेह सरस मन जासू। साधु-सभा बड़ आदर तासू ॥४॥
सोह न राम - प्रेम बिनु ज्ञानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू ॥५॥

अर्थ—जिनके ज्ञान-रूपी सूर्य से भवरूपी रात मिट जाती है और वचन-रूपी किरणों से मुनि-रूपी कमल खिल उठते हैं ॥१॥ उनके पास क्या मोह और ममता आ सकती हैं ? (कभी नहीं) यह तो

श्रीसीतारामजी के स्नेह की बड़ाई है ॥२॥ विषयी, साधक और सयाने सिद्ध, तीन तरह के जीव जगत् में वेदों ने कहा है ॥३॥ जिसका मन श्रीरामजी के स्नेह में सरस (आर्द्र, भीगा हुआ) है, साधु-समाज में उसीका बड़ा आदर होता है ॥४॥ (क्योंकि) श्रीरामजी के प्रेम के बिना ज्ञान शोभा नहीं पाता, जैसे बिना मल्लाह के नाव की शोभा नहीं ॥५॥

विशेष—(१) 'तेहि कि मोह ममता···'—उत्कृष्ट ज्ञान सूर्य के समान कहा जाता है; यथा—"तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।" (गीता ५।१६); ऐसे ज्ञान के समक्ष में मोह और ममता नहीं आ सकते; यथा—"भयेउ ज्ञान बरु मिटइ न मोहू।" (दो० १६८); इनकी भव-रात्रि नाश हो चुकी है, इनके उपदेश से बड़े-बड़े मुनियों के संदेह दूर होते हैं। अतः, इन्हें मोह (अहं बुद्धि) और ममता (मेरे समधी, मेरे जामाता आदि की प्रीति) नहीं हो सकते। मोह और ममता ही 'मैं-मोर' कहाते हैं, ये भाव श्रीसीतारामजी के विषय में हैं, पर ये अज्ञान-दृष्टि से नहीं हैं। मैं श्रीरामजी का श्वशुर हूँ, वे मेरे जामाता हैं, इत्यादि उपासना के अंग हैं। अतः, इनसे ज्ञानी की शोभा है; यथा—"अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥" (आ० दो० १०); 'यह सियराम सनेह बड़ाई'; यथा—"इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा॥" (बा० दो० २१५); आगे रामस्नेह की महिमा कहते हैं—

(२) 'बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव···'—यहाँ जगत् में रहनेवाले जीवों के तीन भेद कहे गये हैं—विषयी बद्ध हैं, साधक मुमुक्षु और सिद्ध सयाने जीवन्मुक्त हैं। श्रीजनकजी जीवन्मुक्तों में हैं; यथा—"रिषि राज! राजा आजु जनक समान को।···गाँठि बिनु गुन की कठिन जड़ चेतन की छोरी अनायास साधु सोधक अपान को॥" (गी० बा० ८१)। यहाँ 'जग' शब्द से जगत् में रहनेवाले ही तीन प्रकार के जीव कहे गये हैं। इनके अतिरिक्त मुक्त, कैवल्य और नित्य—ये तीन भेद और होते हैं। साम्प्रदायिक ग्रन्थों में इनका विस्तृत विवेचन है। हमारे 'मानस-सिद्धान्त विवरण' के अध्याय २ में भी इनपर कुछ लिखा गया है; वहीं देखिये। 'राम सनेह सरस ···'—तीन में कोई भी हो, पर उसमें श्रीराम स्नेह की सरसता हो, तो वही साधु-सभा में मान्य है। 'बड़ आदर'—सामान्य आदर तो साधु सभी का करते हैं; यथा—"सबहि मानप्रद आपु अमानी।" (उ० दो० ३७)। 'सोह न राम प्रेम बिनु···'—मल्लाह के बिना नाव डूब जाती है अथवा टूट जाती है, वैसे ही प्रेम के बिना ज्ञान नहीं सिद्ध हो पाता; यथा—"तबहि दीप बिज्ञान बुझाई।" (उ० दो० ११८); क्योंकि—"ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहँ टेका॥" (उ० दो० ४४)। अतएव—"अस बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पायेहुँ ज्ञान भगति नहि तजहीं॥" (आ० दो० ४२)।

मुनि बहु बिधि बिदेह समुझाये। रामघाट सब लोग नहाये॥६॥
सकल सोक-संकुल नर-नारी। सो बासर बीतेउ बिनु बारी॥७॥
पसु-खग-मृगन्ह न कीन्ह अहारू। प्रिय परिजन कर कवन बिचारू॥८॥

दोहा—दोउ समाज निमिराज रघुराज नहाने प्रात।
बैठे सब बट - बिटप-तर, मन मलीन कृस गात॥२७७॥

अर्थ—मुनि श्रीवसिष्ठजी ने बहुत प्रकार से श्रीविदेहजी को समझाया, (तब) सब लोगों ने श्रीराम-घाट पर स्नान किया ।।६।। सब स्त्री-पुरुष शोक से भरे हुए थे (इससे) वह दिन बिना जल का बीत गया; अर्थात् किसी ने जल तक न पिया, भोजन की कौन कहे ।।७।। पशु-पक्षी और मृगों तक ने भी आहार नहीं किया, तब प्यारे कुटुम्बियों (के आहार) का क्या विचार किया जाय ? ।।८।। निमिकुल के महाराज श्रीजनकजी और रघुकुल के राजा श्रीरामजी एवं श्रीभरतजी के समाज दोनों ने प्रातः काल स्नान किया और सब वट वृक्ष के नीचे आकर बैठे, सब मन से मलिन और शरीर से दुर्बल हो गये हैं ।।२७७।

विशेष– पहले 'धीरज धरिय नरेस, कहेउ बसिष्ठ बिदेह सन' पर यह प्रसंग छोड़कर कवि श्रीजनकजी की अधीरता के प्रति संदेह निवृत्ति करने लगे थे। उसे पूरा करके फिर समझाने से ही प्रसंग उठाते हैं; यथा—'मुनि बहु बिधि ···'—मुनि वे ही श्रीवसिष्ठजी हैं, बहुविधि के भाव दोहा के अर्थ में कहे गये हैं। श्रीरामघाट वह है, जहाँ श्रीरामजी बराबर स्नान करते थे। 'न कीन्ह अहारू' अर्थात् चारा सामने रक्खा रहने पर भी न खाया। जब शोक में तीर्यग योनि की यह दशा हुई, तब चैतन्यों की कौन कहे। फिर जो श्रीरामजी के प्रिय परिजन हैं, उनके विषय में विचार उठाना ही व्यर्थ है। यों ही सभी जान सकते हैं। 'रघुराज'—शब्द का 'रघु' शब्द पहले चरण के साथ और 'राज' दूसरे चरण में रखकर कवि ने संकेत किया कि श्रीरामजी अभी कुलवालों से पृथक् रहेंगे, वन में ही रहेंगे।

जे महिसुर दसरथ - पुर - बासी । जे मिथिलापति-नगर-निवासी ।।१।।
हंस - बंस गुरु जनक - पुरोधा । जिन्ह जग-मग परमारथ सोधा ।।२।।
लगे कहन उपदेस अनेका । सहित धरम-नय-बिरति-बिबेका ।।३।।
कौसिक कहि-कहि कथा पुरानी । समुझाई सब सभा सुबानी ।।४।।
तब रघुनाथ कौसिकहि कहेऊ । नाथ कालि जल बिनु सब रहेऊ ।।५।।

अर्थ—जो ब्राह्मण श्रीदशरथजी के नगर श्रीअयोध्याजी के निवासी थे, और जो श्रीमिथिला के राजा श्रीजनकजी के नगर के रहनेवाले थे ।।१।। सूर्यवंश के गुरु श्रीवसिष्ठजी और श्रीजनकजी के पुरोहित श्रीशतानंदजी जिन्होंने जगत् के मार्ग में ही परमार्थ का मार्ग खोजा था ।।२।। वे सब धर्म, नीति, वैराग्य और विवेक सहित अनेक उपदेश देने लगे ।।३।। श्रीविश्वामित्रजी ने पुरानी कथाएँ कह-कहकर सब सभा को सुन्दर वाणी से समझाया ।।४।। तब श्रीरघुनाथजी ने श्रीविश्वामित्रजी से कहा कि हे नाथ ! कल सब बिना जल के रहे हैं ।।५।।

विशेष—(१) 'जिन्ह जग-मग ···'—इन्होंने बाल-बच्चों में रहते और लोक-व्यवहार करते हुए भी परमार्थ तत्त्व का साक्षात् कर लिया है, अतएव ये दोनों मार्गों की व्यवस्था भली भाँति जानते हैं। इसमें यह उपदेश भी है कि लोक-व्यवहार करते हुए भी भगवत्प्राप्ति हो सकती है। ये दोनों गुरु लोग इसके आदर्श हैं; इन्होंने शोध लिया है। इनके बतलाये हुए मार्ग से दूसरे भी उसे पा सकते हैं; यथा—"यथा लाभ सतोष सुख, रघुबर चरन सनेह। तुलसी जो मन बूँद (खूँद ?) सम, कानन बसहु कि गेह ।।" (दोहावली ९१)।

(२) 'सहित धरम-नय-बिरति-बिबेका ।'—धर्म शास्त्र और नीति-शास्त्र ये जगत् मार्ग (प्रवृत्ति) के हैं और वैराग्य शास्त्र पातंजलि तथा विवेक शास्त्र वेदान्त ये परमार्थ-मार्ग के हैं। अधिकार के अनुसार

उपदेश दिये—किसी को धर्म, किसी को नीति, आदि के। 'जग मग परमारथ सोधा।' से यहाँ चरितार्थ है कि ये दोनों मार्गों के ज्ञाता हैं, इससे दोनों मार्गों के उपदेश दिये।

(३) 'कौसिक कहि-कहि ...'—श्रीविश्वामित्रजी का नाम पहले यहाँ ही कहा गया, ये श्रीजनकजी के साथ आये हैं, कथा कहने में इनका नाम कहना ही था, इससे पूर्व नहीं कहा गया। पुरानी कथाओं में इनकी विशेष प्रवृत्ति है, क्योंकि ये बहु कालीन ऋषि हैं। प्रायः ये पुरानी ही कथा कहते हैं; यथा—"कहत कथा इतिहास पुरानी।" (बा० दो० २२५); "लगे कहन कछु कथा पुरानी।" (बा० दो० २३६); वैसे यहाँ भी कहा है। 'समुझाई सब सभा सुबानी।' श्रीवसिष्ठजी और श्रीशतानंदजो अपने-अपने पक्ष को समझाया और इन सबों सभा को, क्योंकि ये किसी एक वर्ग के नहीं हैं, और इनकी सुन्दर वाणी अत्यन्त प्यारी लगती है, इससे सभी सुनते हैं। दोनों सभाजनों का सम्बन्ध इनकी कृपा से हुआ, इससे भी ये दोनों के प्रिय हैं।

(४) 'कौसिकहिं कहेऊ'—क्योंकि इनका दबाव दोनों समाजों पर है, जब चक्रवर्तीजी को श्रीजनकजी शीघ्र विदा नहीं करते थे, तब भी इन्होंने ही जाकर समझाया था।

मुनि कह उचित कहत रघुराई। गयउ बीति दिन पहर अढ़ाई ॥६॥
रिषिरुख लखि कह तिरहुतिराजू। इहाँ उचित नहिं असन अनाजू ॥७॥
कहा भूप भल सबहिं सुहाना। पाइ रजायसु चले नहाना ॥८॥

दोहा—तेहि अवसर फल-फूल-दल, मूल अनेक प्रकार।
लइ आये बनचर बिपुल, भरि-भरि काँवरि भार ॥२७८॥

अर्थ—श्रीविश्वामित्रजी बोले कि श्रीरामजी उचित कह रहे हैं। अढ़ाई पहर दिन (आज भी) बीत गया ॥६॥ ऋषि (श्रीविश्वामित्रजी) का रुख देखकर तिर्हुतराज श्रीजनकजी ने कहा कि यहाँ अन्न-भोजन करना उचित नहीं (श्रीरामजी तो फलाहार करते हैं, तो हमलोग अन्न कैसे पावें?) ॥७॥ राजा ने अच्छी बात कही, वह सबको अच्छी लगी। आज्ञा पाकर सब स्नान करने चले ॥८॥ उसी समय (श्रीरामजी की इच्छा से) अनेक प्रकार के फूल, फल और मूल बहँगों एवं बोझों में भरभर कर वनवासी कोल-किरात आदि ले आये ॥२७८॥

कामद भे गिरि रामप्रसादा। अवलोकत अपहरत बिषादा ॥१॥
सर-सरिता-बन-भूमि-बिभागा। जनु उमगत आनँद-अनुरागा ॥२॥
बेलि-बिटप सब सफल सफूला। बोलत खग-मृग-अलि अनुकूला ॥३॥
तेहि अवसर बन अधिक उछाहू। त्रिबिध समीर सुखद सब काहू ॥४॥

शब्दार्थ—अपहरत = विशेष हरण करता है। 'अप' उपसर्ग यहाँ 'विशेषता' के अर्थ में है।

अर्थ—श्रीरामजी की प्रसन्नता एवं कृपा से (चित्रकूट के) सब पर्वत मनोकामना देनेवाले हो गये, दर्शन करने से ही विषाद को विशेष हरण कर लेते हैं ॥१॥ तालाब, नदी, वन और भूमि के

अनेक भागों में मानों आनन्द और अनुराग उमड़ रहा है ॥२॥ बेलें और वृक्ष सभी फल और फूल से युक्त हैं। पक्षी, पशु और भ्रमर अनुकूल बोली बोल रहे हैं ॥३॥ उस समय वन में अधिक उत्साह था, सब किसी को सुख देनेवाली तीन तरह की वायु चल रही थी ॥४॥

विशेष—(१) 'कामद भे गिरि रामप्रसादा।'—इतने लोगों के लिये कंद, मूल, फल शीघ्र ही कहाँ से आ गया? उसी का उत्तर दे रहे हैं कि श्रीरामजी की कृपा से; यथा—"बिन ही रितु तरुवर फरहिं, सिला बहहि जल जोर। राम-लखन सिय करि कृपा, जब चितवहिं जेहि ओर॥" (दोहावली १७१); तथा—"सब तरु फरे रामहित लागी। रितु अनरितु अकालगति त्यागी॥" (लं० दो० ४)। 'राम'—क्योंकि सबमें रमते हैं, सबकी आत्मा हैं, तो उनके लिये यह बड़ी बात नहीं।

(२) 'सर सरिता-बन-भूमि-बिभागा।'—'विभाग' शब्द सबके साथ है; क्योंकि आगे—'जनु महि करत जनक पहुनाई।' कहा ही है, ये सब पृथिवी के ही अंग हैं। वन-शैल की शोभा का वर्णन—"जब ते आइ रहे रघुनायक। तब ते भयो बन मंगलदायक॥" (दो० १३६); से "सो बन सैल सुभाय सुहावन।···" (दो० १३८); तक किया गया है। मंगलदायक था ही, अब अधिक हो गया, इससे अनुराग उमँगता है।

(३) 'बेलि-बिटप सब सफल ···'—बेलें फूलयुक्त और वृक्ष फलयुक्त, वा, फूलवाले फूलों से और फलवाले फलों से लदे रहते हैं, जिनमें दोनों चाहिये, वे दोनों ही से सम्पन्न हो गये हैं; यथा—"फूलत फलत सुपल्लवत, सोहत पुर चहुँ पास।" (बा० दो० २१२)।

जाइ न बरनि मनोहरताई। जनु महि करत जनक-पहुनाई ॥५॥
तब सब लोग नहाइ नहाई। राम जनक मुनि आयसु पाई ॥६॥
देखि-देखि तरुवर अनुरागे। जहँ-तहँ पुरजन उतरन लागे ॥७॥
दल फल फूल कंद बिधि नाना। पावन सुंदर सुधा-समाना ॥८॥

दोहा—सादर सब कहँ राम-गुरु, पठये भरि-भरि भार।
पूजि पितर-सुर-अतिथि-गुरु, लगे करन फलहार ॥२७९॥

अर्थ—वन की रमणीयता कही नहीं जा सकती, मानों पृथिवी श्रीजनकजी की पहुनाई कर रही है ॥५॥ तब सब लोग नहा नहाकर, श्रीरामजी, श्रीजनकजी और मुनि की आज्ञा पाकर ॥६॥ सुन्दर वृक्षों को देख-देखकर अनुरक्त हो गये और जहाँ तहाँ पुरवासी उतरने लगे ॥७॥ श्रीरामजी के गुरु श्रीवसिष्ठजी ने नाना प्रकार के पवित्र, सुन्दर और अमृत के समान स्वादवाले दल, फल, मूल, और कंद भार भर-भरकर सबको आदरपूर्वक भेजे और वे लोग पितृ, देवता, अतिथि और गुरु को पूजकर फलाहार करने लगे ॥२७९॥

विशेष—(१) 'जनु महि करति जनक-पहुनाई।'—ऊपर—'जाइ न बरनि मनोहरताई।' तक वन-शैल आदि का शृंगार कहा गया, जो कि उपर्युक्त करुणारस के विरुद्ध है। उसीका समाधान करते हैं कि पृथिवी जड़ है, इसे अवसर-कुअवसर का ज्ञान नहीं, इसने तो इतना ही सोचा कि

श्रीजनकजी श्रीरामजी के श्वशुर हैं। इनकी वस्तु लेंगे नहीं; और यहाँ ये अतिथि हैं। इनका स्थल के योग्य सत्कार होना ही चाहिये। श्रीजानकीजी भूमिजा हैं; उस सम्बन्ध से वह पति मानकर इनकी सेवा करती है; यथा—"देखे-सुने भूपति अनेक झूठे-झूठे नाम, साँचे तिरहुति नाथ साखी देति मही है।" (गी० बा० ८५); अर्थात् पृथिवी ने कन्या देकर सच्चे भाव से इन्हें पति माना है। पत्नी की सेवा स्वीकार करने में श्रीजनकजी का धर्म रहा। राजा की पहुनाई है। वृक्षों पर बेलें छाई हैं, वे ही तंबू, और चँदोवे हैं। अमृत के समान स्वादिष्ठ फल-मूल भोजन हैं। पक्षी-पशु नर्तकी, भ्रमर गायक, मोर नट, इत्यादि सब सामग्री योग्य हैं। पृथिवी की पहुनाई पर यह भी कहा जाता है कि वह सेवा से प्रसन्न करके चाहती है कि ये श्रीरामजी को न लौटावें। हमारा भार उतारने दें। मैं श्रीरामजी की ऐसी ही सेवा करती रहूँगी।

किसी-किसी का यह भी भाव है कि करुणा वियोग-पर्यन्त रही। श्रीरामजी के संयोग से शृंगार जग उठा, क्योंकि श्रीजनकपुरवासियों की दृष्टि में श्रीरामजी के प्रति नित्य शृंगार रस ही प्रधान है।

(२) 'देखि-देखि तरुवर ...'—कल शोक में निमग्न थे, इससे अभी तक जहाँ के-तहाँ ही सब रह गये थे। अब वन की शोभा पर मुग्ध हो-होकर रुचि के अनुसार उतरने लगे। 'तरुवर'—ग्रीष्म के दिन हैं, अतः विशाल छायावाले बड़े-बड़े वृक्षों के नीचे डेरा डाला।

(३) 'सादर सब कहँ राम गुरु ...'—'राम-गुरु' से यहाँ श्रीवसिष्ठजी और श्रीविश्वामित्रजी दोनों ही हो सकते हैं; पर श्रीविश्वामित्रजी ने ही फलाहार की अनुमति दी है। इन्हीं की ओर से भेजा जाना युक्ति संगत भी है, क्योंकि श्रीवसिष्ठजी श्रीअयोध्याजी के हैं। उनके देने में उन्हें संकोच होगा ही।

(४) 'पूजि पितर-सुर ...'—यह भोजन की विधि है कि पितृ, देवता और अतिथि का भाग निकालकर फिर गुरुजनों को देकर भोजन करना चाहिये।

येहि बिधि बासर बीते चारी। राम निरखि नर-नारि सुखारी ॥१॥
दुहुँ समाज असि रुचि मनमाहीं। बिनु सियराम फिरब भल नाहीं ॥२॥
सीताराम संग बनबासू। कोटि अमरपुर - सरिस सुपासू ॥३॥
परिहरि लखन राम बैदेही। जेहि घर भाव बाम बिधि तेही ॥४॥
दाहिन दैव होइ जब सबहीं। रामसमीप बसिय बन तबहीं ॥५॥
मंदाकिनि - मज्जन तिहुँ काला। राम - दरस मुद - मंगल-माला ॥६॥
अटन राम - गिरि-बन तापस-थल। असन अमिय-सम-कंद-मूल-फल ॥७॥
सुख - समेत संबत दुइ साता। पल-सम होहिं न जनियहि जाता ॥८॥

दोहा—येहि सुख-जोग न लोग सब, कहहिं कहाँ अस भाग।
सहज सुभाय समाज दुहुँ, राम - चरन - अनुराग ॥२८०॥

अर्थ—इस तरह चार दिन बीत गये। श्रीरामजी को देखकर स्त्री-पुरुष सुखी हैं ॥१॥ दोनों समाजों के मन में ऐसी रुचि है कि बिना श्रीसीतारामजी के (साथ लिये) लौटना अच्छा नहीं ॥२॥ श्रीसीतारामजी

के साथ वन का वास करोड़ों देवलोकों के समान सुविधादायक है ॥३॥ श्रीलक्ष्मणजी, श्रीरामजी और श्रीवैदेहीजी को छोड़कर जिसे घर अच्छा लगे, उसके विधाता उल्टे हैं (ऐसा जानो) ॥४॥ जब हम सबों के दैव दाहिना हो, तभी श्रीरामजी के पास वन में निवास हो ॥५॥ मंदाकिनीजी में तीनों काल स्नान और आनंद-मंगलों के समूह श्रीरामजी के दर्शन ॥६॥ श्रीरामजी के पर्वतों और वनों एवं तपस्वियों के स्थानों में विचरते तथा अमृत-समान कंद-मूल-फल भोजन करते हुए। ७॥ सुखपूर्वक १४ वर्ष तो पल के समान (बीत) जायँगे, जाते हुए जान ही न पड़ेंगे ।।८॥ सब लोग कहते हैं कि हमलोग इस सुख के योग्य नहीं हैं। (भला) हमारे ऐसे भाग्य कहाँ ? दोनों (श्रीअवध और श्रीमिथिला के) समाजों का सहज स्वभाव से श्रीरामजी के चरणों में अनुराग है ॥२८०॥

विशेष—(१) 'येहि विधि बासर बीते···'—जैसा ऊपर कहा गया कि प्रातःकाल स्नान कर श्रीरामजी के पास बैठते हैं। दोपहर को कंद आदि का विधिवत् फलाहार करते हैं। 'कोटि अमरपुर···' —देवलोक में एक कल्पवृक्ष है और यहाँ सब गिरि कामद हो रहे हैं। वहाँ मंदाकिनीजी हैं जिनसे स्वर्ग की गंगाजी भी ईर्ष्या करती हैं। वहाँ अमृत और यहाँ अमृत-तुल्य कंद-मूल-फल; वहाँ नन्दनवन का विहार है और यहाँ श्रीराम-वन-पर्वत के विहार हैं। वहाँ असुरों का भय रहता है और यहाँ—'राम दरस मुद-मंगल-माला।' प्राप्त है। वे श्रीरामजी के लिये तरसते हैं और यहाँ श्रीरामजी साथ हैं।

(२) 'सुख-समेत संबत दुइ साता।'—कई भाग होने से कोई भी वस्तु अल्प हो जाती है, थोड़ी जान पड़ती है, इसीसे १४ के दो भाग (७+७) करके कहते हैं, उसमें 'दुइ' शब्द से एक सात को दिखाते हैं कि थोड़े ही तो हैं। वे भी सुख के साथ होने से जान ही न पड़ेंगे, यथा—"प्रेम मगन कौसल्या, निसि दिन जात न जान॥" (बा० दो० २००): "ब्रह्मानंद मगन कपि, सबके प्रभु-पद-प्रीति। जात न जाने दिवस तिन्ह, गये मास षट् बीति॥" (उ० दो० १५)।

येहि बिधि सकल मनोरथ करहीं। बचन सप्रेम सुनत मन हरहीं ॥१॥
सीयमातु तेहि समय पठाईं। दासी देखि सुअवसर आईं ॥२॥
सावकास सुनि सब सिय-सासू। आयउ जनकराज - रनिवासू ॥३॥
कौसल्या सादर सनमानी। आसन दिये समय सम आनी ॥४॥
सील सनेह सकल दुहुँ ओरा। द्रवहिं देखि सुनि कुलिस कठोरा ॥५॥
पुलक सिथिल तनु बारि बिलोचन। महि नख लिखन लगीं सब सोचन॥६॥
सब सियराम-प्रीति कि सि मूरति। जनु करुना बहु बेष बिसूरति ॥७॥
सीय - मातु कह बिधि बुधि बाँकी। जो पयफेन फोर पबि टाँकी ॥८॥

दोहा—सुनिय सुधा देखियहि गरल, सब करतूति कराल।
जहँ-तहँ काक-उलूक-बक, मानस सकृत मराल ॥२८१॥

शब्दार्थ—सावकाश = अवकाश सहित, खाली। बिसूरति = दुःख या चिन्ता करती है। टाँकी = छेनी।

अर्थ—इस तरह सभी लोग मनोरथ कर रहे हैं, प्रेम-सहित वचन सुनते ही (सबके) मन हर जाते हैं ॥१॥ उसी समय श्रीसीताजी की माता श्रीसुनयनाजी की भेजी हुई दासियाँ (श्रीअयोध्याजी के रनवास से मिलने का) अच्छा अवसर देखकर आईं ॥२॥ श्रीसीताजी की सब सासों को खाली सुनकर श्रीजनक राज का रनवास आया ॥३॥ श्रीकौशल्याजी ने सबका आदरपूर्वक सम्मान किया, समयानुसार आसन लाकर दिये ॥४॥ दोनों ओर सबके पूर्ण रीति से शील और स्नेह को देखकर (और तत्सम्बन्धी वचन) सुनकर कठोर वज्र भी पिघले जाते हैं ॥५॥ (सबके) शरीर पुलकित और शिथिल हैं, नेत्रों में (शोक और प्रेम के) आँसू हैं, वे सब अपने पैर के नखों से पृथिवी पर लिखने और सोचने लगीं ॥६॥ सब श्रीसीतारामजी की प्रीति की मूर्त्ति-सी हैं, मानों करुणा ही बहुत-से वेष धरकर चिन्ता कर रही है ॥७॥ श्रीसीताजी की माता ने कहा कि विधाता की बुद्धि बड़ी बाँकी (विचित्र एवं टेढ़ी, तीक्ष्ण) है, जो दूध के फेन को वज्र की टाँकी से फोड़ती है ॥८॥ अमृत सुनने में आता है और विष दिखाई पड़ता है, उसके सभी कर्त्तव्य कठोर हैं, जहाँ-तहाँ कौए, उल्लू और बगुले दिखाई देते हैं, हंस एक मानसर में ही हैं ॥२८१॥

विशेष—(१) 'देखि सुअवसर आईं'—अवसर देखने गई थीं कि भोजन आदि से निवृत्त तो हैं ? किसी कार्य में तो नहीं लगी हैं ? इत्यादि, वे अच्छा अवसर देखकर आ गईं। अवसर पर ही कार्य करना श्रेयस्कर होता है ; यथा—"समयहि साधे काज सब, समय सराहहि साधु।" (दोहावली ४४८)।

(२) 'आसन दिये समय सम'—शोक का समय है और ग्रीष्मऋतु है। अतः, कुश-साथरी आदि शीतल आसन काले या हरे रंग के वनस्थल के अनुसार दिये। स्वयं लाकर दिये, यह आदर एवं सम्मान है। 'द्रवहिं देखि सुनि···'; यथा—"जबहिं राम कहि लेहिं उसासा। उमँगत प्रेम मनहुँ चहुँ पासा॥ द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पखाना। पुरजन प्रेम न जाइ बखाना॥" (दो० २११)।

(३) 'महि नख लिखन लगीं···'—यह स्त्रियों के शोच समय की मुद्रा है ; यथा—"चारु चरन नख लेखति धरनी।" (दो० ५७)। 'जनु करुना बहु बेष···'—७०० श्रीअवध की रानियाँ हैं, और मिथिला-नरेश का रनवास है, सब एक मुद्रा से शोच करती हैं, इसीसे मूर्त्तिमान् करुणा के बहुत रूपों से उपमा दी गई है कि एक तो करुणा और वह भी मूर्त्तिमान् होकर, फिर भी चिन्ता करती हुई बहुत वेष में मानों बैठी है। अत्यन्त प्रेम देखकर 'प्रीति कि सि मूरति' और अति करुणा से 'जनु करुना···' कहा है।

(४) 'सीय-मातु कह बिधि···'—पहले श्रीसुनयनाजी बोलीं, क्योंकि दुःख में आश्वासन देने आई हैं। विधि की ओर से श्रीकैकेयीजी के कर्त्तव्य पर विचार करती हैं। ब्रह्मा-सबकी बुद्धि के देवता हैं, वेही प्राचीन कर्मानुसार बुद्धि से विचार स्फुरण कराते हैं। पर जहाँ अचानक कुछ-से-कुछ हो जाता है, वहाँ ब्रह्मा की विचित्रता एवं कुटिलता कही जाती है ; उसी रीति से श्रीसुनयनाजी कह रही हैं कि श्रीरामजी दूध के फेन के समान स्वच्छ, सात्त्विक स्वभाव के और कोमल हैं, उन्हें वनवास देकर दुःख दिया गया, यही वज्र की टाँकी से दूध के फेन का फोड़ना है। वा, राजा श्रीदशरथजी, श्रीकौशल्याजी और श्रीरामजी का सात्त्विक संयोग दूध के फेन का जुड़ना है, श्रीकैकेयीजी वज्र की टाँकी हैं, मन्थरा हथौड़ी, श्रीअवधवासी निहाई और सरस्वती (ब्रह्मा की बुद्धि रूपा शक्ति) ठोंकनेवाली है। जल के फेन से वृत्र दैत्य को इन्द्र ने मारा है, वह वज्र के समान कठोर था ; यथा—"अजर अमर कुलिसहु नाहिन बध सो पुनि फेन मर्यो।" (वि० २११) ; ब्रह्मा ने यहाँ उसका उल्टा किया, यही विचित्रता है।

(५) 'सुनिय सुधा···'—सबके सुनने में आया कि श्रीरामजी का तिलक है और देखने में वनवास ; यथा—"का सुनाइ बिधि काह सुनावा। का देखाइ चह काह देखावा॥" (दो० ४७) ;

श्रीराम-तिलक सुधा और वनवास विष है। सायंकाल में सुना गया राज्य-तिलक और प्रातःकाल में दिया गया वनवास; यह एवं उसके और भी सभी कर्त्तव्य कठोर हैं। जैसे कि काक, उलूक और बक तो जहाँ-तहाँ सुख से रहते हैं, हंस एक मानसर में ही सुख से रहते हैं—यह प्राकृतिक नियम है। पर, उसने हंस के समान श्रीरामजी को जहाँ-तहाँ का कर दिया। जो श्रीअवध-रूपी मानसर के योग्य थे; उन्हें वन-वन जहाँ-तहाँ फिरने का संयोग कर दिया।

वा अमृत सुनने ही में आता है और विष ठौर-ठौर प्रत्यक्ष है। हंस एक मानसर में ही सुने जाते हैं और काक, उलूक और बक सर्वत्र भरे पड़े हैं; अर्थात् सुखदायी पदार्थ तो इस कराल करतूतवाले ब्रह्मा ने सुनने-मात्र को रक्खा है और दुःखद पदार्थों को भर दिया है। उसी स्वभाव से उसने श्रीरामजी का तिलक तो सुनने मात्र को रचा है, पर १४ वर्ष के वनवास का दुःख आँखों से देख रही हैं। यही ब्रह्मा की बुद्धि का टेढ़ापन है।

> सुनि ससोच कह देवि सुमित्रा। बिधिगति बड़ि बिपरीत बिचित्रा ॥१॥
> जो सृजि पालइ हरइ बहोरी। बाल-केलि-सम बिधिमति भोरी ॥२॥
> कौसल्या कह दोष न काहू। करमबिबस दुख-सुख-छति-लाहू ॥३॥
> कठिन करम-गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फलदाता ॥४॥
> ईस-रजाइ सीस सबही के। उतपति थिति लय बिषहु अमी के ॥५॥
> देवि मोहबस सोचिय बादी। बिधिप्रपंच अस अचल अनादी ॥६॥

अर्थ—यह सुनकर श्रीसुमित्रा देवी शोक के साथ कहती हैं कि विधाता की चाल बड़ी उल्टी और विचित्र है ॥१॥ जो उत्पन्न करके पालता है और फिर नष्ट कर देता है, लड़कों के खेल के समान ब्रह्मा की बुद्धि भोली है ॥२॥ (इसपर) श्रीकौशल्याजी कहती हैं कि दोष किसी का नहीं है, कर्म के विवश दुःख-सुख और हानि-लाभ होते हैं ॥३॥ कठिन कर्म-गति को ब्रह्माजी जानते हैं, जो सबको शुभ और अशुभ सभी (कर्मों के) फलों को देनेवाले हैं ॥४॥ ईश्वर की आज्ञा सभी के सिर पर है; उत्पत्ति, स्थिति (पालन), संहार, विष और अमृत के भी (शिर पर है) ॥५॥ हे देवि! मोहवश व्यर्थ (आप) शोच करती हैं, विधाता का रचा हुआ संसार (भव-जाल) ऐसा ही अचल है और यह अनादि काल से ऐसा ही है ॥६॥

विशेष—(१) 'सुनि ससोच कह...'—सुमित्राजी ने सुनयनाजी के वचनों का समर्थन किया। इन्होंने भी विधि को ही दोष दिया, क्योंकि 'ससोच' हैं। 'बड़ि बिपरीत बिचित्रा'—अमृत घर-घर होना चाहता था, क्योंकि सुखकारी है, पर वह देखने को भी नहीं मिलता। विष छिपा रहता तभी अच्छा था, क्योंकि मृत्युकारी है, पर वह सर्वत्र है। उसी ब्रह्मा की सन्तान जीवमात्र है, इनका सुख भी उसे अभीष्ट ही होना चाहिये। पर सब उल्टा ही है, विचित्रता यह है कि बहुत काल में रचता है, फिर संहार भी कर देता है। तब तो ब्रह्मा बालकों के घरौंदा बनाने-बिगाड़ने की तरह प्रपंच रचता है, अतएव वह भोली बुद्धि का है।

(२) 'कौसल्या कह दोष न काहू।'—श्रीसुनयनाजी ने भी विधि को ही दोष लगाया है, पर अपने

शील के कारण उनकी बात का खंडन नहीं किया, क्योंकि वे बराबर की हैं। सुमित्राजी छोटो हैं, इनकी ओट से कहा कि विधि का दोष कुछ नहीं। वह तो कर्म का यथार्थ फल देता है, सुख-दुःख में परिवर्त्तन नहीं कर सकता; यथा—"करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥" (दो० २१८); "जनम मरन सब दुख सुख भोगा। हानि लाभ प्रिय मिलन बियोगा॥ काल करम बस होहिं गोसाईं। बरबस राति दिवस की नाईं॥" (दो० १४९); 'कठिन करम गति जान बिधाता।···'—कर्म की गति कठिन है; यथा—"गहना कर्मणोगतिः॥" (गीता ४।१७); 'जान बिधाता'—अर्थात् विधाता ही जानता है, जीव नहीं जानता; यथा—"बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन। तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥" (गीता ४।५); "जीव करम बस सुख दुख भागी।" (दो० ११); "सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईस देइ फल हृदय बिचारी॥" (दो० ७९); अर्थात् ईश्वर (ब्रह्म) शुभ और अशुभ फल कर्म के अनुसार ही देता है।

(३) 'ईस-रजाइ सीस सबही के।'—अर्थात् विधि आदि सब भी ईश्वर (श्रीरामजी) के अधीन हैं; यथा—"बिधि हरि हर ससि रबि ··अहिप महिप···राम रजाइ सीस सबही के॥" (दो० २५३); तात्पर्य यह कि दोष किसी का नहीं, ईश्वर की इच्छा ही प्रधान है। अपने अधिकारानुसार जगत्-भर ईश्वर की आज्ञा में यंत्रित है। 'उतपति थिति लय बिषहुँ अमी के'—बिना ईश्वर की आज्ञा के उत्पत्ति आदि किसी बात की भी प्रवृत्ति नहीं है। ईश्वर की आज्ञा से मारकण्डेय मुनि के लिये बिना समय हो प्रलय हो गया; यथा—"मारकण्डेय मुनिवर्जहित कौतुकी बिनहिं कल्पान्त प्रभु प्रलयकारी।" (वि ६०); प्रह्लाद और शिव जो विष पीकर भी नहीं मरे, इत्यादि।

(४) 'देबि मोह बस सोचिय बादी।···'—श्रीकौशल्याजी उपर्युक्त बातों का सारांश कहती हैं कि हे देवि! अज्ञानवश व्यर्थ ही शोच करती हैं। विधि का प्रपंच अनादि काल से ऐसा ही चला आता है और चला जायगा; यथा—"तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।" (गीता २।२७); 'अस'—वर्त्तमान है, 'अचल' अर्थात् आगे भी ऐसा ही रहेगा। 'अनादि' अर्थात् भूतकाल से ऐसा हो चला आता है। इस तरह तीनों कालों में प्रपंच की सत्ता कही गई। अतः, उपर्युक्त अमृत, विष, हंस, काक आदि सब तीनों कालों में ऐसे ही रहते हैं, तब शोच करना व्यर्थ ही है।

भूपति जियब मरब उर आनी। सोचिय सखि लखि निज-हित-हानी॥७॥
सीयमातु कह सत्य सुबानी। सुकृती-अवधि अवधपति-रानी॥८॥

दोहा—लखन राम सिय जाहु बन, भल परिनाम न पोच।
गहबरि हिय कह कौसिला, मोहि भरत कर सोच॥२८२॥

अर्थ—राजा का जीना और मरना हृदय में लाकर जो शोच करती हैं, हे सखि! वह शोच अपने हित की हानि को देखकर है॥७॥ श्रीसीताजी की माता ने कहा कि आपकी सुंदर वाणी सत्य है, आप पुण्यात्माओं में सर्वश्रेष्ठ अवध के राजा श्रीदशरथजी की रानी ही हैं (इससे आपका ऐसा कहना योग्य ही है)॥८॥ श्रीलक्ष्मणजी, श्रीरामजी और श्रीसीताजी वन को जायँ, इसका परिणाम (फल) अच्छा है, बुरा नहीं, (पर) व्याकुल हृदय से श्रीकौशल्याजी कहती हैं कि मुझे श्रीभरतजी की चिन्ता है (कि श्रीराम-वियोग में न जाने उनकी क्या दशा हो?)॥२८२॥

विशेष—'सोचिय सखि ···'— जो शोच किया जाता है वह अपने हित की हानि के प्रति, मृतक-प्राणी के प्रति नहीं, उसके लिये तो शोच करना व्यर्थ है। 'सुकृती अवधि अवध पति रानी'—श्रीकौशल्याजी ने सबको निर्दोष किया, यह धर्म की बात है, इसीसे इनके सुकृत सम्बन्ध की सराहना की गई। 'भल परिनाम न पोच'—श्रीरामजी धर्म-मार्ग पर आरूढ़ हैं, पिता की आज्ञा का पालन श्रेष्ठ धर्म है; यथा—"पितु आयसु सब धरमक टीका।" (दो० ५४), धर्माचरण का परिणाम अच्छा ही होता है, 'न पोच'—धर्मात्मा की दुर्गति हो ही नहीं सकती; यथा—"न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥" (गीता ६।४०)।

ईस - प्रसाद असीस तुम्हारी। सुत - सुतबधू - देवसरि बारी ॥१॥
राम-सपथ मैं कीन्हि न काऊ। सो करि कहउँ सखी सतिभाऊ ॥२॥
भरत सील गुन बिनय बड़ाई। भायप भगति भरोस भलाई ॥३॥
कहत सारदहु कर मति हीचे। सागर सीप कि जाहि उलीचे ॥४॥
जानउँ सदा भरत कुल-दीपा। बार-बार मोहि कहेउ महीपा ॥५॥
कसे कनक मनि पारिखि पाये। पुरुष परिखियहि समय सुभाये ॥६॥
अनुचित आजु कहब अस मोरा। सोक सनेह सयानप थोरा ॥७॥
सुनि सुरसरि-सम पावनि बानी। भई सनेह बिकल सब रानी ॥८॥

अर्थ—ईश्वर की कृपा और आपकी आशिष से (मुझे) पुत्र और पुत्रवधू दोनों गंगा-जल (के समान पवित्र मिले) हैं॥१॥ मैंने श्रीरामजी की शपथ कभी नहीं की है, हे सखि! वह भी करके सद्भाव से कहती हूँ॥२॥ श्रीभरतजी का शील, गुण, विनम्र स्वभाव, बड़ाई (की महिमा), भाईपना, भक्ति, भरोसा और भलापन॥३॥ कहते हुए सरस्वती की भी बुद्धि हिचकिचाती (अशक्त हो जाती) है, क्या सीप से समुद्र उलीचा जा सकता है? अर्थात् सीपी से सागर उलीचे जाने की तरह शारदा से कहा जाना असंभव है॥४॥ मैं सदा से श्रीभरतजी को कुल का दीपक जानती हूँ (वा तुम सदा जानो) मुझसे बार-बार राजा ने ऐसा कहा था॥५॥ सोना (कसौटी पर) कसे जाने पर और मणि क परीक्षा पाने पर (यथार्थ जाना जाता है) वैसे ही पुरुष की परीक्षा समय पड़ने पर स्वभाव स सहज ही में हो जाती है॥६॥ आज मेरा ऐसा कहना अनुचित है, (क्योंकि) शोक और स्नेह से चतुरता कम पड़ जाती है॥७॥ गंगाजी के समान पवित्र वाणी सुनकर सब रानियाँ स्नेह से व्याकुल हो गईं॥८॥

विशेष—(१) 'ईस-प्रसाद असीस ···'—ईश से ईश्वर और शिवजी के अर्थ होते हैं, यहाँ शिष्टाचार कहती है, ऐसी रीति है। 'देवसरि बारी'—गंगाजी के समान स्वच्छ हैं, गंगाजी की शपथ भी सहसा नहीं की जाती, पर अत्यन्त सत्यता के लिये की भी जाती है, वैसे शपथ करना है, इससे गंगाजी के तुल्य कहा। धर्मात्मापने से पवित्रता में भी गंगाजी के सदृश कहा है। 'राम सपथ मैं कीन्हि न काऊ'—स्त्रियाँ प्राय. पुत्र की शपथ नहीं करतीं। कोई भारी संकट पर ही करती हैं। वैसे ये यहाँ अपने सद्भाव कथन के लिये शपथ करती हैं, तात्पर्य यह कि श्रीभरतजी की बड़ाई करती हुई यह भी

अर्थ—श्रीकौशल्याजी धैर्य धरकर कहती हैं कि हे श्रीमिथिलेश्वरी देवि ! सुनिये, आप विवेक-सागर राजा श्रीजनकजी की प्यारी हैं (अतः) आपको कौन उपदेश दे सकता है ? ॥२८३॥ हे रानी ! अवसर पाकर आप राजा से अपनी तरह समझाकर कहियेगा ॥१॥ कि श्रीलक्ष्मणजी (घर) रख लिये जायँ और श्रीभरतजी वन को जायँ, जो यह सलाह राजा के मन में ठीक जान पड़े ॥२॥ तो भले प्रकार विचार करके भला (पूरा) यत्न करें, मुझे श्रीभरतजी का भारी शोच है (कि कहीं राजा की तरह ये भी न प्राण छोड़ दें) ॥३॥ श्रीभरतजी के मन में गूढ़ प्रेम है (इससे) उनका घर रहना मुझे अच्छा नहीं लगता ॥४॥

विशेष—(१) 'कौसल्या कह धीर धरि ···'—ऊपर कहा गया—'भई सनेह विकल सब रानी।' ये भी विकल थीं, इसीसे यहाँ 'धरि धीर' कहा है। ये कौशल्या (कौशल्यं=निपुणता) अर्थात् निपुणा हैं और पूर्वजन्म से ही इन्हें अलौकिक विवेक प्राप्त है, इसी से सबको सम झाती हैं।

(२) 'विवेकनिधि बल्लभहि'—श्रीजनकजी ज्ञान के खजाना हैं और आप उनकी प्रिया हैं, तो अवश्य विवेकयुक्ता होंगी, अन्यथा उन्हें प्रिय न होतीं, आप स्वयं सब जानती हैं, तो आपको उपदेश देना धृष्टता है।

(३) 'अपनी भाँति···'—अपनी ओर से ही कहना, हमारी तरफ से नहीं। जैसे अपनी आवश्यक बातें आप कहा करती हैं, वैसे इसे भी अपनी बुद्धि के अनुसार सँभालकर कहें। अपनी ओर से ऐसे ही श्रीसुनयनाजी ने आगे कहा भी है; यथा—"कही समयसिर भरतगति, रानि सुबानि सयानि।"

(४) 'रखियहिं लखन···'—श्रीलक्ष्मणजी के लौटने में उन्हें केवल श्रीराम-वियोग का एक ही दुःख होगा और श्रीभरतजी के साथ जाने से उनके दो दुःख मिटेंगे—एक अपयश का, दूसरा श्रीराम-वियोग का, इसलिये इस हेर-फेर के लिये कह रही हैं। 'जौ यह मत ···'—भाव यह कि मैं हठ नहीं करती, जो राजा के मन में यह बात ठीक समझ पड़े, तब ऐसा करें।

(५) 'गूढ़ सनेह भरत मन-माहीं। ···'—श्रीलक्ष्मणजी का स्नेह प्रकट है कि सबका स्नेह तृण के समान तोड़कर साथ हो लिये। पर श्रीभरतजी का स्नेह गूढ़ अर्थात् गुप्त एवं गंभीर अभिप्राय-युक्त है। 'ये प्रवृत्ति को लिये हुए निर्लिप्त रहकर राम-स्नेह निबाहते हैं।' तभी तो श्रीवसिष्ठजी, निषादराज, श्रीलक्ष्मणजी और देवता आदि भी इनका गूढ़स्नेह सहसा न जान सके। इस स्नेह में बलात् घर रखने पर ये कहीं प्राण न छोड़ दें, यही डर है।

लखि सुभाव सुनि सरल सुबानी। सब भइँ मगन करुनरस रानी ॥५॥
नभ प्रसून झरि धन्य धन्य धुनि। सिथिल सनेह सिद्धि जोगी मुनि ॥६॥
सब रनिवास बिथकि लखि रहेऊ। तब धरि धीर सुमित्रा कहेऊ ॥७॥
देवि दंडजुग जामिनि बीती। राममातु सुनि उठी सप्रीती ॥८॥

दोहा—बेगि पाउ धारिय थलहि, कह सनेह सति भाय।
हमरे तौ अब ईसगति, कै मिथिलेस सहाय ॥२८४॥

कहेंगी कि श्रीभरतजी वन को जायँ, उसपर लोग कह सकते हैं कि कैसी युक्ति से कैकेयी से बदला ले रही हैं, इसके निवारण के लिये और अपने सद्भाव (दुर्भाव नहीं) दिखाने लिये प्राणप्रिय पुत्र की शपथ करती हैं कि यदि मैं अहित भाव से कहती होऊँ, तो मेरे श्रीरामजी और श्रीसीताजी काम न आवें, यह शपथ का भाव है।

(२) 'भरत-सील-गुन-बिनय'''—'गुन' को शील-विनय के विशेषण मानें, तो सात ही गुण कहे गये हैं, सागर भी प्रधान सात ही हैं, वे अगाध और अनन्त हैं। वैसे श्रीभरतजी उन सातों गुणों के गंभीर समुद्र हैं, वे एक-एक गुण उनमें अनंत भाव के हैं। जब सरस्वती से कहा जाना असंभव है, तब मैं या और कोई कवि क्या कह सकते हैं? अतः, ऐसे ही कहकर छोड़े देती हूँ।

(३) 'जानउँ सदा भरत'''—राजा ने बार-बार कहा, क्योंकि पहले मुझे प्रतीति नहीं होती थी, अब मैंने जाना कि वे ठीक ही कहते थे।

(४) 'कसे कनक मनि'''—आपत्ति पड़ने पर भरत के स्वभाव की परीक्षा हुई कि कुल-मर्यादा की रक्षा इन्होंने ही की, अन्यथा और से न हो सकती थी। अतएव यथार्थ कुल के प्रकाशित करनेवाले दीपक हैं, यह मैंने आँखों से देखा। सोने की परख कसौटी पर रखने से और मणि की जौहरी की परीक्षा से होती है। सोने की परीक्षा चार तरह से की जाती है; यथा—"और भूप परखि सुलाखि तौलि ताइ लेत लसम के खसम तुही पै दसरत्थ के।" (क० उ० २१); तथा—"यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते। निघर्षणच्छेदनतापताडनैः। तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते त्यागेन शीलेन गुणेन कर्मणा॥" (चाणक्यनीतिः)।

(५) 'अनुचित आजु कहब'''—अनुचित यह है कि आज सभी श्रीभरतजी के त्याग की बड़ाई करते हैं, मैं भी करूँ, तो तात्पर्य यह होता है कि श्रीभरतजी! तुम किसी के भी कहने पर राज्य न लो, त्याग में ही तुम्हारी बड़ाई है, इत्यादि। इसीसे सकुचा गई कि शोक से चित्त खिन्न है और भरतजी के स्नेह में उनकी बड़ाई करते हुए व्यावहारिक चतुरता थोड़ी पड़ गई, इसी से सहसा उपर्युक्त बातें कही गईं।

(६) 'सुनि सुरसरि सम'''—श्रीकौशल्याजी ने पहले पुत्र और पुत्रवधू को गंगाजी के समान कहा था, अब उनकी वाणी ही गंगाजी के समान पवित्र कही गई, क्योंकि इस वाणी ने मंथरा, कैकेयी और सरस्वती एवं ब्रह्मा आदि सबको निष्पाप बनाया, यह इसमें पावनता-गुण है। पुनः अपने पुत्र-पुत्रवधू की शपथ करके भी श्रीभरतजी की सराहना करती हैं और उन्हीं के कल्याण की चिन्ता कर रही हैं, यह परम पावन भाव इस वाणी में है।

दोहा—कौसल्या कह धीर धरि, सुनहु देवि मिथिलेसि।
को बिबेक निधि-बल्लभहि तुम्हहिं सकइ उपदेसि ॥२८३॥

रानि राय सन अवसर पाई। अपनी भाँति कहब समुझाई ॥१॥
रखिअहि लखन भरत गवनहि बन। जौ यह मत मानइ महीप-मन ॥२॥
तौ भल जतन करब सुबिचारी। मोरे सोच भरत कर भारी ॥३॥
गूढ़ सनेह भरत-मन माहीं। रहे नीक मोहि लागत नाहीं ॥४॥

अर्थ—श्रीकौशल्याजी धैर्य धरकर कहती हैं कि हे श्रीमिथिलेश्वरी देवि ! सुनिये, आप विवेक-सागर राजा श्रीजनकजी की प्यारी हैं (अतः) आपको कौन उपदेश दे सकता है ? ॥२८३॥ हे रानी ! अवसर पाकर आप राजा से अपनी तरह समझाकर कहियेगा ॥१॥ कि श्रीलक्ष्मणजी (घर) रख लिये जायँ और श्रीभरतजी वन को जायँ, जो यह सलाह राजा के मन में ठीक जान पड़े ॥२॥ तो भले प्रकार विचार करके भला (पूरा) यत्न करें, मुझे श्रीभरतजी का भारी शोच है (कि कहीं राजा की तरह ये भी न प्राण छोड़ दें) ॥३॥ श्रीभरतजी के मन में गूढ़ प्रेम है (इससे) उनका घर रहना मुझे अच्छा नहीं लगता ॥४॥

विशेष—(१) 'कौसल्या कह धीर धरि····'—ऊपर कहा गया—'भईं सनेह विकल सब रानी।' ये भी विकल थीं, इसीसे यहाँ 'धरि धीर' कहा है। ये कौशल्या (कौशल्यं=निपुणता) अर्थात् निपुणा हैं और पूर्वजन्म से ही इन्हें अलौकिक विवेक प्राप्त है, इसी से सबको सम मानती हैं।

(२) 'विवेकनिधि वल्लभहि'—श्रीजनकजी ज्ञान के खजाना हैं और आप उनकी प्रिया हैं, तो अवश्य विवेकयुक्ता होंगी, अन्यथा उन्हें प्रिय न होती, आप स्वयं सब जानती हैं, तो आपको उपदेश देना धृष्टता है।

(३) 'अपनी भाँति···'—अपनी ओर से ही कहना, हमारी तरफ से नहीं। जैसे अपनी आवश्यक बातें आप कहा करती हैं, वैसे इसे भी अपनी बुद्धि के अनुसार सँभालकर कहें। अपनी ओर से ऐसे ही श्रीसुनयनाजी ने आगे कहा भी है ; यथा—"कही समयसिर भरतगति, रानि सुबानि सयानि।"

(४) 'रखियहि लखन···'—श्रीलक्ष्मणजी के लौटने में उन्हें केवल श्रीराम-वियोग का एक ही दुःख होगा और श्रीभरतजी के साथ जाने से उनके दो दुःख मिटेंगे—एक अपयश का, दूसरा श्रीराम-वियोग का, इसलिये इस हेर-फेर के लिये कह रही हैं। 'जौ यह मत···'—भाव यह कि मैं हठ नहीं करती, जो राजा के मन में यह बात ठीक समझ पड़े, तब ऐसा करें।

(५) 'गूढ़ सनेह भरत मन माहीं। ···'—श्रीलक्ष्मणजी का स्नेह प्रकट है कि सबका स्नेह तृण के समान तोड़कर साथ हो लिये। पर श्रीभरतजी का स्नेह गूढ़ अर्थात् गुप्त एवं गंभीर अभिप्राय-युक्त है। 'ये प्रवृत्ति को लिये हुए निर्लिप्त रहकर राम-स्नेह निबाहते हैं।' तभी तो श्रीवसिष्ठजी, निषादराज, श्रीलक्ष्मणजी और देवता आदि भी इनका गूढ़स्नेह सहसा न जान सके। इस स्नेह में बलात् घर रखने पर ये कहीं प्राण न छोड़ दें, यही डर है।

लखि सुभाव सुनि सरल सुबानी। सब भइँ मगन करुनरस रानी ॥५॥
नभ प्रसून झरि धन्य धन्य धुनि। सिथिल सनेह सिद्धि जोगी मुनि ॥६॥
सब रनिवास बिथकि लखि रहेऊ। तब धरि धीर सुमित्रा कहेऊ ॥७॥
देवि दंडजुग जामिनि बीती। राममातु सुनि उठी सप्रीती ॥८॥

दोहा—बेगि पाउ धारिय थलहि, कह सनेह सति भाय।
हमरे तौ अब ईस-गति, कै मिथिलेस सहाय ॥२८४॥

अर्थ—श्रीकौशल्याजी का स्वभाव देखकर और उनकी सीधी निष्कपट सुन्दर वाणी सुनकर सब रानियाँ करुण रस में डूब गईं ॥५॥ आकाश से फूलों की झड़ी लग गई और 'धन्य ! धन्य !' की ध्वनि छा गई। सिद्ध योगी और मुनि लोग स्नेह से शिथिल हो गये ॥६॥ सब रनवास देखकर स्तब्ध रह गया, तब धैर्य धरकर श्रीसुमित्राजी ने कहा ॥७॥ कि हे देवि ! दो घड़ी रात बीत गई। यह सुनकर श्रीरामजी की माता प्रीति-पूर्वक उठीं एवं प्रीति-पूर्वक कहने लगीं ॥८॥ कि आप शीघ्र डेरे को पधारें। हमें तो अब ईश्वर ही का अवलंब है, या श्रीमिथिलेशजी सहायक हैं ॥२८४॥

विशेष—(१) 'सब भईं मगन करुन रस रानी।'—वाणी करुणारस-पूर्ण थी, इसीसे सुनकर सब उसी रस में निमग्न हो गईं, इसकी दशा ; यथा—"मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं, सोक न हृदय समाइ। मनहुँ करुनरस कटकई, उतरी अवध बजाइ ॥" (दो० ४६); तथा—"मानहुँ कीन्ह बिदेहपुर, करुना बिरह निवास।" (बा० दो० ३३७); भी देखिये। इस प्रसंग का उपक्रम—"जनु करुना बहु बेष बिसूरति।" से हुआ और यहाँ—'सब भईं मगन ...' पर उपसंहार है। भाव यह कि प्रसंग भर करुणा रस पूर्ण है।

(२) 'नभ प्रसून झरि धन्य ...'—श्रीकौसल्याजी के वचनों में देवताओं ने अपने स्वार्थ की सिद्धि देखी, वे जान गये कि इनका अभिप्राय श्रीरामजी के लौटाने का नहीं है, किंतु ये श्रीरामजी के वन जाने में भलाई माने हुई हैं ; यथा—'भल परिनाम न पोच।' इसीसे फूल-वर्षा कर धन्य-धन्य कहते हैं। 'सिथिल सनेह सिद्ध जोगी मुनि'—ये लोग प्रायः स्नेही नहीं होते, पर यहाँ इन्होंने माता को सरल स्नेह और धर्म में निष्ठा देखी कि पुत्र-वियोग की पीड़ा सहने में प्रस्तुत हैं, पर यह नहीं कहतीं कि श्रीरामजी रख लिये जायँ। इनमें स्वार्थ का लेश नहीं है, अतएव ये स्नेह में मुग्ध हो गये।

(३) 'सब रनिवास बिथकि ...'—करुणा के कारण सब स्तब्ध हो गईं। श्रीसुमित्राजी सब के लिये सुष्ठु-मित्र हैं। सबकी धर्म-रक्षा पर इनकी दृष्टि है। इसीसे बोलीं कि दो दंड रात भी बीत चुकी ; अर्थात् लगभग ३ घड़ी दिन रहते बैठक हुई और दो घड़ी रात भी बीत गई। पति-सेवा में पहुँचना चाहिये।

'ईसगति'—ईश का अर्थ यहाँ श्रीशिवजी है, क्योंकि आगे श्रीसुनयनाजी ने दुहराते हुए स्पष्ट कर दिया है ; यथा—"सदा सहाय महेस भवानी।" श्रीकौशल्याजी की तरह श्रीरामजी ने भी कहा है; यथा—"मुनिमिथिलेस राखि सब लीन्हा।" (दो० २०४)।

लखि सनेह सुनि बचन बिनीता। जनकप्रिया गह पाय पुनीता ॥१॥
देवि उचित असि बिनय तुम्हारी। दसरथ घरनि राम-महतारी ॥२॥
प्रभु अपने नीचहु आदरहीं। अगिनि धूम गिरि सिर तृन धरहीं ॥३॥
सेवक राउ करम-मन-बानी। सदा सहाय महेस भवानी ॥४॥
रउरे अंग जोग जग को है। दीप सहाय कि दिनकर सोहै ॥५॥

शब्दार्थ—गह=ग्रहण करना, लगना, स्पर्श करना। घरनि=स्त्री, घरवाली। अंग=सहायक, मित्र।

अर्थ—श्रीकौशल्याजी के स्नेह को देखकर और उनके विनम्र वचन सुनकर श्रीजनकजी की प्रिया श्रीसुनयनाजी ने उनके पवित्र चरण स्पर्श किये ॥१॥ (और कहा) हे देवि ! आपकी ऐसी नम्रता उचित

ही है. (क्योंकि) आप श्रीदशरथ महाराज की स्त्री और श्रीरामजी की माता हैं ॥२॥ प्रभु (बड़े लोग) अपने नीच जनों को भी आदर देते हैं। (जैसे कि) अग्नि धुएँ को और पर्वत तृण को शिर पर धारण करते हैं ॥३॥ राजा (श्रीजनकजी तो) मन, कर्म और वचन से आपके सेवक हैं और सदा सहायक तो शिव-पार्वतीजी हैं ॥४॥ आपका सहायक होने के योग्य जगत् में कौन है ? क्या दीपक सूर्य का सहायक बनकर शोभा पाता है ? ॥५॥

विशेष—(१) 'जनक प्रिया गह पाय पुनीता ।'—श्रीकौशल्याजी का पद बड़ा है, क्योंकि जामाता की माता और चक्रवर्त्ती की बड़ी रानी हैं। फिर भी इनमें इतनी नम्रता है, यह समझ कर इन्होंने चरण-पर्श किया, विनती की और कहा कि हमलोग तो आपके दास-दासी हैं, सहायक होने के योग्य नहीं।

(२) 'दसरथ घरनि राम महतारी ।'—भाव यह कि श्रीदशरथजी महाराज प्रेम के खजाना थे, आप उनकी रानी हैं, तो आपमें ऐसा स्नेह क्यों न हो ? श्रीरामजी श्रीकैकेयीजी के निष्ठुर, वचनों पर भी मृदु भाषण ही करते रहे, फिर आप उन्हीं की माता हैं तो, ऐसा मृदु-विनम्र वचन क्यों न कहें ? स्त्री की तीनों प्रकार की श्रेष्ठता आपमें है—स्वयं देवि अर्थात् दिव्य स्वरूपा हैं। आपके पति श्रेष्ठ और पुत्र भी श्रेष्ठ हैं ; यथा—"महिमा अवधि राम··" (बा० दो० १५); "दसरथ गुन गन बरनि न जाहीं। अधिक कहा जेहि सम जग नाहीं ॥" (दो० २०८)। माता और पत्नी में योग्यता का अंश रहता है।

(३) 'प्रभु अपने नीचहु····'—आपने जो विनम्र वचनों से मुझे आदर दिया, वह ऐसा ही है, जैसा स्वामी सेवक को आदर दे ; यथा—"प्रभु तरु तर कपि डार पर ते किय आपु समान ।" ··· "प्रभु एक त्रिभुवन मारि जियाई केवल सक्रहि दीन्हि बड़ाई ॥" (लं० दो० ११२) ; जैसे कि अग्नि जलते समय धुएँ को शिर पर और पर्वत तृणों को शिर पर रखता है, क्योंकि ये इन्हें अपना एवं अपनेसे छोटा मानते हैं। यद्यपि धुएँ और तृण से अग्नि और पर्वत को कोई लाभ नहीं, तथापि ये आदर देते हैं। वैसे ही राजा और मैं धूम्र और तृण के समान हैं। आपने कृपा कर अपना मान कर आदर दिया है।

(४) 'सेवक राउ करम मन····'— भाव राजा सहायक नहीं, किन्तु सेवक हैं। राजा ने स्वयं भी विनय में कहा है; यथा—"येहि राज साज समेत सेवक जानिबे बिनु गथ लये ॥" (बा० दो० ३२६) ॥ हाँ, महेश-भवानी सदा सहायता करने के योग्य हैं, क्योंकि ईश्वर हैं।

(५) 'रउरे अंग जोग जग····'—यह 'के मिथिलेस सहाय' का उत्तर है। 'जग को है' अर्थात् राजा श्रीजनकजी की कौन चली, सारे जगत् के देव, दनुज आदि भी सहायक होने के योग्य नहीं हैं, क्योंकि यह कुल सभी की रक्षा करता आया है; यथा—"सुरपति बसइ बाहँ बल जाके। नरपति सकल रहहि रुख ताके ॥" (दो० २२); आप सूर्य के समान जगत्-भर में अद्वितीय प्रतापवाले राजा की रानी हैं। राजा (श्रीजनकजी) दीप के समान अपने राज्य मात्र के रक्षक हैं जैसे दीपक घर भर को ही प्रकाशित कर सकता है। दीपक सूर्य का सहायक बनने से शोभा नहीं पाता, छवि हीन देख पड़ता है। वैसे, सहायक बनने में राजा की शोभा नहीं ; किंतु ये सेवक हैं।

राम जाइ बन करि सुर-काजू। अचल अवधपुर करिहहि राजू ॥६॥
अमर नाग नर राम बाहु बल। सुख बसिहहिं अपने-अपने थल ॥७॥
यह सब जागबलिक कहि राखा। देवि न होइ मुधा मुनि भाखा ॥८॥

दोहा—अस कहि पग परि प्रेम अति, सियहित बिनय सुनाइ ।
सियसमेत सियमातु तब, चलीं सुआयसु पाइ ॥२८५॥

अर्थ— श्रीरामजी वन में जाकर देव कार्य करके श्रीअवधपुर में अचल राज्य करेंगे ॥६॥ देवता, नागदेव (पातालवासी), मनुष्य, सब श्रीरामजी के बाहुबल से अपने-अपने स्थलों (लोकों) में सुख पूर्वक बसेंगे ॥७॥ यह सब श्रीयाज्ञवल्क्य मुनि ने कह रक्खा है, हे देवि ! मुनि का कहा हुआ झूठा नहीं हो सकता ॥८॥ ऐसा कहकर अत्यंत प्रेम से चरणों में पड़कर और श्रीसीताजी के लिये अत्यंत प्रेम-पूर्वक प्रार्थना करके (कि इसे साथ में दीजिये, सब देख लें) सुन्दर आज्ञा पाकर श्रीसीताजी के साथ श्रीसीताजी की माता (अपने स्थल को) चलीं ॥२८५॥

विशेष—(१) 'राम जाइ बन·· यह सब जागबलिक कहि राखा ।'—श्रीकौशल्याजी ने कहा था—'भल परिनाम न पोच' ये मुनि की वाणी से उसका समर्थन एवं विस्तार करती हैं। श्रीयाज्ञवल्क्यजी श्रीजनकजी के गुरु हैं; यथा—"जोगी जागबलिक प्रसाद सिद्धि लही है।" (गी० बा० ८५); श्रीयाज्ञवल्क्यजी ने श्रीकाकभुशुंडीजी से श्रीरामचरित पाया और श्रीभरद्वाजजी को सुनाया। यह मानस के मुख-बंध में कहा गया। बा० दो० ४४ चौ० ४-८ भी देखिये।

(२) 'अमर नाग नर राम···'; यथा—"दसमुख-बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिना ये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिनके जस अमर नाग नर सुमुखि सनाहैं ॥" (गी० उ० १३); अमर स्वर्ग के, नाग पाताल के और नर भूलोक के; अर्थात् तीनों लोकों के। यह सब श्रीयाज्ञवल्क्यजी ने बहुत पहले कभी कहा है, इसीसे ये जानती हैं।

यह राजमहिला सम्मेलन लोक-शिक्षा के लिये बड़े महत्त्व का है, जो लोग श्रीगोस्वामीजी को समग्र स्त्री-जाति के अनभिज्ञ एवं स्त्री-निन्दक कह बैठते हैं। उन्हें इसपर ध्यान देना चाहिये कि इनका वर्णन एवं और भी श्रीसीताजी, अनसूयाजी आदि का चरित-चित्रण भी तो इन्हींने किया है। फिर इन्हींने मंथरा, शूर्पणखा आदि का भी वर्णन किया है। जहाँ जैसा पात्र देखा गया, वहाँ वैसा, किन्तु व्यापक दृष्टि से कहा है। नारी-जाति पर जहाँ कटाक्ष है, वहाँ उसी श्रेणी की स्त्रियों पर है। यदि कहा जाय—"ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी॥" (सुं० दो० ५८), में तो किसी खास पात्र का सम्बन्ध नहीं है, तो उत्तर यह है कि वहाँ भी गँवार, शुद्र और पशु के साहचर्य में कहकर गँवारिनी, अनाचारिणी एवं पशु के समान बुद्धिवाली स्त्रियों पर कहा है कि जैसे जबतक ठीक स्वर नहीं होता, तबतक ढोल कसा एव चढ़ाया जाता है। वैसे ही ये सब जबतक सुधर न जायँ, तबतक दंड देकर कसे जायँ, सुधारे जायँ। पशु भी जब ठीक चलते हैं, तब मारे नहीं जाते, यह प्रत्यक्ष ही है। फिर ढोल का बजाया जाना ताड़ने में नहीं है, यह तो उसके गुण प्रकट करने की क्रिया है। ये स्त्रियाँ भी जब सुधर जायँ, तब उनके गुणों से लोगों में प्रशंसा हो। 'अधिकारी'—शब्द से भी स्पष्ट है कि जो ढोल सुरीला होता है, उसे नहीं कसा-ठोंका जाता, वैसे किसी भी श्रेणी की स्त्रियाँ सदाचारिणी होने से दंड की अधिकारिणी नहीं हैं, इत्यादि।

प्रिय परिजनहि मिली बैदेही। जो जेहि जोग भाँति तेहि तेही ॥१॥
तापस बेष जानकी देखी। भा सब बिकल बिषाद बिसेखी ॥२॥
जनक राम-गुरु आयसु पाई। चले थलहि सिय देखी आई ॥३॥

लीन्हि लाइ उर जनक जानकी। पाहुनि पावन प्रेम प्रान की ॥४॥

अर्थ—वैदेही श्रीसीताजी अपने प्यारे कुटुम्बियों से, जो जिस योग्य थे, उनसे उसी प्रकार से मिलीं ॥१॥ श्रीजानकीजी का तपस्विनी-वेष देखकर सब विशेष दुःख से विशेष व्याकुल हो गये ॥२॥ श्रीरामजी के गुरु श्रीवसिष्ठजी की आज्ञा पाकर श्रीजनकजी डेरे को चले और वहाँ आकर श्रीसीताजी को देखा ॥३॥ श्रीजनकजी ने अपने पवित्र प्रेम और प्राणों की पवित्र पाहुनी श्रीजानकीजी को हृदय से लगा लिया ॥४॥

विशेष—(१) 'जो जेहि जोग ...'—समान वय से गले लगकर मिलीं, छोटों के शिर पर हाथ रक्खा और बड़ों के चरण स्पर्श किये, किसीसे मृदुवाणी से कुशल ही पूछी। 'वैदेही'—अत्यंत स्नेह से विदेह-दशा को भी प्राप्त हैं। 'भा सब विकल विषाद बिसेषी।'—पहले सुनकर सबको ही स्नेह से व्याकुलता थी; यथा—"सुनि गुरु परिजन सचिव महीपति। भे सब सोच सनेह बिकल अति ॥" (दो० २०१); अब आँखों से भी देखा, इससे विशेष विषाद से विकल हो गये।

(२) 'पाहुनि पावनि प्रेम प्रान की।'—पवित्र प्रेम और प्राणों की पाहुनी है, पाहुन का पूजा-सत्कार करना चाहिये, अतएव हृदय में लगाया। बहुत काल तप करने पर थोड़े दिन के लिये पाहुनीरूप से ब्याह-पर्यन्त घर में रहीं, आज फिर प्राप्त हुई हैं; अतः हृदय से लगाया।

उर उमगेउ अंबुधि अनुरागू। भयउ भूप-मन मनहु प्रयागू ॥५॥
सिय-सनेह बट बाढ़त जोहा। तापर राम-प्रेम-सिसु सोहा ॥६॥
चिरजीवी मुनि ज्ञान-बिकल जनु। बूड़त लहेउ बाल-अवलंबनु ॥७॥
मोह मगन मति नहि बिदेह की। महिमा सिय-रघुबर-सनेह की ॥८॥

अर्थ—उनके हृदय में अनुराग-समुद्र उमड़ा, राजा का मन ही मानों प्रयाग हो गया ॥५॥ श्रीसीताजी में स्नेहरूपी अक्षयवट को उन्होंने बढ़ते देखा, उस (सिय-स्नेह-वट) पर श्रीराम प्रेमरूपी बालक शोभित हो रहा है ॥६॥ (श्रीजनकजी का) ज्ञानरूपी चिरजीवी माकण्डेय ऋषि, मानों व्याकुल होकर डूबते-डूबते (उस श्रीराम-प्रेम) बालक का सहारा पा गया ॥७॥ (कवि कहते हैं कि) विदेह राजा श्रीजनकजी की बुद्धि मोह में नहीं डूबी है, किन्तु यह सिय-रघुबर के प्रेम की महिमा है ॥८॥

विशेष—भाग० स्कं० १२ अ० ८-९-१० में विस्तृत कथा है। मार्कण्डेय मुनि ने भगवान् से वर माँगा कि मैं आपकी अद्भुत माया को देखूँ। एक दिन संध्यासमय पुष्पभद्रानदी के तट पर मुनि बैठे थे, अचानक आँधी आई और वर्षा हुई। चारों ओर से समुद्र ने उमड़कर पृथिवी को डुबा दिया। आकाश स्वर्ग आदि भी डूब गये। केवल चिरजीवी महामुनि ही बचे। ज्ञानी होने पर भी मुनि व्याकुल और भयभीत हुए। डूबते-उतराते अमित काल तक गोते खाते रहे। फिर उन्होंने एक छोटा-सा टापू देखा, जिसपर एक सुहावना वटवृक्ष था। उसके ईशानकोण की शाखा में पत्र-पुट पर एक सुन्दर श्यामवर्ण-बालक को देखा कि वह सुंदर अंगुलि-युक्त दोनों हाथों से अपने चरण-कमल के अंगुष्ठ को मुँह में डाले हुए पी रहा है। उसे देखते ही मुनि के सब दुःख मिट गये, वे बड़े आनंदित हुए। 'तुम कौन हो' ? यह पूछने के लिये निकट गये। जाते ही उस बालक की साँस के साथ उसके उदर में चले गये। वहाँ ब्रह्मांड को पूर्व के समान देखा। मुनि कुछ समझ न सके कि यह क्या है ? मैं क्या हूँ ? साँस-द्वारा बाहर निकलकर

फिर उसी प्रलय-सागर में डूबने लगे कि वट वृक्ष पर उन्हीं बालमुकुन्द भगवान् को देखते हुए हृदय में बिठाकर संतुष्ट हुए और पास जाने लगे, त्योंही भगवान् अंतर्धान हो गये और सब प्रलय-दृश्य भी क्षण-भर में अदृश्य हो गया।

रूपक--राजा श्रीजनकजी परम ज्ञानी हैं, पर उन्होंने प्रेम और प्राण की पाहुनी श्रीजानकीजी को हृदय में लगा लिया और कुछ क्षणों के लिये वे प्रेम में विह्वल हो गये। शरीर-संबंध के पिता-पुत्री-भाव का अनुराग उमड़ पड़ा। पुत्री-भाव में उसी अनुराग की मोह-संज्ञा होती है, पर वास्तव में श्रीसीताजी ईश्वरी हैं, इससे वह अनुराग ही लिखा गया। पुत्री के प्रेम में ज्ञान डूबने लगा, उसी समय उनके मन में ईश्वरी भाव आया। यही मन रूपी प्रयाग में ज्ञान-रूपी मुनि का सिय-सनेह-वट देखना है। जब ईश्वर भाव हो गया, तब ज्ञान मुनि अभय हुआ—यही वट पर जाना एवं उसका आश्रय लेना है। किंचित् पुत्री-भाव-रूपी मोह-जल नीचे रह गया। श्रीसीताजी ने धनुष उठा लिया था, उसे श्रीरामजी ने तोड़ा, तब श्रीजनकजी ने उन्हें परंब्रह्म, शक्तिमान् और इन्हें उनकी आदि शक्ति माना था। वही ज्ञान उदित हुआ, यही वट पर परंब्रह्म के बालरूप के दर्शनों का सहारा पाना है। श्रीसीताजी और श्रीरामजी के प्रति अभिन्न परंब्रह्म का ज्ञान होने पर उपर्युक्त मोह-कल्पना निवृत्त हुई। मार्कण्डेय मुनि चिरजीवी हैं, वैसे श्रीजनकजी का ज्ञान अक्षय है। वहाँ भगवान् की माया के द्वारा मुनि ने उनकी महिमा देखी है, वैसे यहाँ 'सिय-रघुवर सनेह' की महिमा प्रकट होने के लिये श्रीजनकजी के ज्ञान की क्षणिक विह्वलता हुई है।

'मोह मगन मति नहि विदेह की।···'—देह में अहंबुद्धि का होना मोह है। श्रीजनकजी तो विदेह हैं, तब उन्हें मोह-मग्नता कहाँ? यह श्रीसीतारामजी के स्नेह की महिमा है कि जो बड़े-बड़े ज्ञानियों के ज्ञान को विकल कर देती है। श्रीरामजी के प्रेम में ज्ञान का व्याकुल होना ज्ञान की शोभा है; यथा—"जासु ज्ञान रवि भवनिसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा"। से "सोह न राम-प्रेम बिनु ज्ञानू।···" (दो॰ २७१); तक ऐसा ही श्रीजानकीजी की विदाई के समय बा॰ दो॰ ३३७ में तथा श्रीजनकजी के प्रथम श्रीराम-दर्शन पर बा॰ दो॰ २१५ में भी इनके ज्ञान का प्रेम में विह्वल होना कहा गया है; क्योंकि भक्ति बिना ज्ञान की शोभा नहीं है। गीता में भी भक्ति को ज्ञान का मुख्य अंग कहा गया है; यथा—"मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।" (१३।१०)।

दोहा—सिय पितु-मातु-सनेह-बस, बिकल न सकी सँभारि।
धरनिसुता धीरज धरेउ, समय सुधरम बिचारि ॥२८६॥

तापसबेष जनक सिय देखी। भयउ प्रेम परितोष बिसेषी ॥१॥
पुत्रि पवित्र किये कुल दोऊ। सुजस धवल जग कह सब कोऊ ॥२॥
जिति सुरसरि कीरति-सरि तोरी। गवन कीन्ह बिधि अंड करोरी ॥३॥
गंग अवनिथल तीनि बड़ेरे। येहि किये साधु समाज घनेरे ॥४॥

अर्थ—माता-पिता के स्नेह-वश व्याकुल होने से श्रीसीताजी अपनेको न सँभाल सकीं, फिर भी पृथिवी की पुत्री श्रीसीताजी ने समय और अपना धर्म विचार कर धैर्य धारण किया ॥२८६॥ तपस्विनी के वेष में श्रीजानकीजी को देखकर श्रीजनकजी को अधिक प्रेम और संतोष हुआ ॥१॥ (वे बोले) बेटी! तूने दोनों कुलों (पिता और पति के कुल) को पवित्र किया, जगत् में सब कोई तुम्हारा उज्ज्वल सुन्दर यश कहते हैं ॥२॥ तेरी कीर्तिनदी ने श्रीगंगाजी को भी जीतकर करोड़ों ब्रह्मांडों में गमन किया ॥३॥ पृथिवी पर गंगाजी ने तीन ही बड़े स्थान बनाये हैं (हरिद्वार, प्रयाग और गंगासागर) और तेरी इस (कीर्तिनदी) ने तो बहुत-से साधुसमाज-रूपी बड़े-बड़े स्थान बनाये हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'सिय पितु मातु-सनेह-बस ...'—माता-पिता इनके स्नेह में व्याकुल हुए, तो ये भी वैसी व्याकुल हुईं, क्योंकि—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११); ऐसा श्रीमुखवचन है। 'धरनि सुता धीरज ...'—पृथिवी धैर्य-धारण करने में प्रधान है, ये उसकी पुत्री हैं, इससे धैर्य धर सकीं; अर्थात् विकलता अत्यन्त थी; यथा—"धरि धीरज उर अवनि कुमारी।" (दो० ६६); 'समय सुधरम बिचारि'—समय आपत्ति का है, इसमें ही धैर्य-धर्म की परीक्षा होती है; यथा—"धीरज धरम मित्र अरु नारी। आपद काल परखियहि चारी॥" (आ० दो० ४)। ऐसा विचारते हुए उन्होंने धैर्य धारण किया कि यदि माता-पिता दुखी समझेंगे, तो लौटाने की चेष्टा करेंगे, तो इनसे कैसे कहूँगी कि पति के संग ही जाऊँगी। जो पति के साथ वन न जाऊँगी, तो पातिव्रत-धर्म की हानि होगी।

(२) 'तापसबेष जनक ...'—इनका यह वेष देखकर और लोग तो दुखी हुए थे; यथा—"तापस-बेष जानकी देखी। भा सब बिकल बिषाद बिसेखी॥" (दो० २८५), क्योंकि वे सब इनको सुकुमारता जानते हैं; यथा—"पलंग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा॥" (दो० ५८); पर श्रीजनकजी को पातिव्रत-धर्म पर आरूढ़ होने से प्रेम और संतोष हुआ। 'बिसेषी'—पहले से भी अधिक हुआ। इसीको सराहना आगे की ३ अर्द्धालियों में है।

(३) 'पुत्रि पबित्र किये कुल दोऊ।'—'कुलदोऊ'—नैहर और ससुराल के दोनों।

'सुजस धवल जग ...'; यथा—"कृतकृत्या हि वैदेही छायेवानुगता पतिम्। न जहाति रता धर्मे मेरुमर्कप्रभा यथा॥" (वाल्मी० २।४०।२४); भाव यह कि मैं ही नहीं, किन्तु सारा जगत् कहता है, आगे इसी कीर्ति को श्रीगंगाजी के रूपक से कहते हैं, 'कुलदोऊ' को यहाँ उसी कीर्त्ति गंगा के दोनों कूल (किनारे) कह सकते हैं।

(४) 'जिति सुरसरि कीरति ...'—'बिधि अंड'—विधि का अर्थ ब्रह्मा है, अंड मिलाने से ब्रह्माण्ड हो जाता है। गंगाजी स्वच्छ वर्ण हैं, उसी तरह कीर्त्ति भी उज्जल ही कही जाती है इससे बालकांड में भी इसकी नदी की उपमा दी गई है; यथा—"कीरति सरित छहूँ रितु रूरी।" (बा० दो० ४१)। 'गंग अवनि थल तीन ...'; यथा—"हरिद्वारे प्रयागे च गंगासागरसंगमे। सर्वत्र दुर्लभा गंगा त्रिषुस्थाने विशेषतः॥" इस कीर्त्ति-नदी ने तो बहुत-से साधु-समाज-रूपी बड़े-बड़े स्थल बना दिये, भाव यह कि साधु-समाज बड़े-बड़े स्थल हैं और सामान्य लोगों के समाज सामान्य स्थल हैं। यह भी भाव है, जो साधु तुम्हारी कीर्ति गावेंगे, वे ही बड़ाई पावेंगे।

पितु कह सत्य सनेह सुबानी। सीय सकुच महँ मनहु समानी ॥५॥
पुनि पितु-मातु लीन्हि उर लाई। सिष आसिष हित दीन्हि सुहाई ॥६॥

कहति न सीय सकुचि मन माहीं । इहाँ बसब रजनी भल नाहीं ॥७॥
लखि रुख रानि जनायेउ राऊ । हृदय सराहत सील सुभाऊ ॥८॥

दोहा—बारबार मिलि भेंटि सिय, बिदा कीन्हि सनमानि ।
कही समय सिर भरतगति, रानि सुबानि सयानि ॥२८७॥

शब्दार्थ—समाना = घुस जाना, पैठना । समयसिर = ठीक समय पर, अवसर पर; यथा—"जौ घन बरषै समय सिर, जौ भरि जनम उदास ।" (दोहावली १०८) ।

अर्थ—पिता ने तो स्नेह से सत्य ही सुन्दर वाणी कही, (पर) श्रीसीताजी मानों सकुच में समा गई हैं ॥५॥ माता-पिता ने फिर श्रीसीताजी को हृदय से लगा लिया और सुन्दर हितकारी शिक्षा और आशिष दी ॥६॥ श्रीसीताजी संकोच के मारे नहीं कहती हैं, पर मन में संकोच है कि यहाँ रात में रहना अच्छा नहीं है ॥७॥ श्रीसीताजी का रुख देखकर रानी ने राजा को जनाया । (दोनों दंपति) हृदय में इनके शील-स्वभाव की बड़ाई करते हैं ॥८॥ बार-बार श्रीसीताजी से मिल, भेंटकर सम्मान-पूर्वक इनको विदा किया, (तब) ठीक अवसर पाकर चतुर रानी ने सुन्दर वाणी से श्रीभरतजी की दशा भी कही ॥२८७॥

विशेष—(१) 'पितु कह सत्य सनेह······'—यद्यपि यह नीति है कि अपनी संतान की प्रशंसा नहीं करनी चाहिये, न सम्मुख और न परोक्ष ही में, तथापि स्नेह में राजा उस नीति को भूल गये, प्रेम के मारे कह चले । श्रीसीताजी को अत्यंत संकोच हुआ । कहा भी है—"निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं ।" (आ० दो० ४५); अर्थात् अपनी बड़ाई पर हर्ष न होना अच्छे लोगों का लक्षण है; यथा—"चहत सकुच गृह जनु भजि पैठे ।" (दो० १०५) । वहाँ के 'भजि पैठे' का ही भाव यहाँ 'समानी' में है ।

(२) 'पुनि पितु-मातु लीन्हि······'—इनका संकोची स्वभाव देखकर अधिक प्रेम हुआ, इससे फिर हृदय लगाया । 'कहति न सीय सकुचि···'—१४ वर्ष व्रत-निर्वाह के विचार से पति के साथ चली हैं, यहाँ रात रहने से वह व्रत भंग होगा । पुनः यह भी संकोच है कि यहाँ रात में न रहना चाहिये, यह माता-पिता से कैसे कहें ? संकोच की बात है । 'लखि रुख रानि जनायेउ राऊ ।'—स्त्रियों की चेष्टा स्त्रियाँ ही जान लेती हैं; यथा—"अहिरेव अहेः पादान्विजानाति न संशयः (वाल्मी० ५।४२।९) । रुख लखना यों भी कहा जाता है कि किसी तारे की ओर देखा, जिस तारे से रात के समय का पता लगता है, या पूछा कि कितनी रात गई, इत्यादि ।

(३) 'सनमानि'—बहुत कुछ देकर कन्या को नैहर से विदा किया जाता है, पर ये तापस व्रत में हैं, इससे सम्मान मात्र ही किया गया । प्यार के साथ मिलकर साथ में अपने प्रिय वर्ग को भेजा कि पहुँचा आवें, इत्यादि । 'कही समय सिर भरत गति···'—श्रीकौशल्याजी ने कहा था—"रानि राय सन अवसर पाई । अपनी भाँति कहब समुझाई ।" उसीका यहाँ चरितार्थ है । वहाँ के 'अवसर पाई' के अनुसार यहाँ 'समय सिर' और जो वहाँ 'अपनी भाँति कहब' कहा है, उसी को यहाँ—'सुबानि सयानि' कहा है । 'भरत गति'—का अर्थ आगे खोला है—"सुनि भूपाल भरत व्यवहारू ।" इस समय राजा प्रेम में मग्न हैं, इसीसे अवसर पाकर रानी ने चतुरता एवं मृदुवाणी से कहा ।

सुनि भूपाल भरत-व्यवहारू। सोन सुगंध सुधा ससि सारू ॥१॥
मूँदे सजल नयन पुलके तन। सुजसु सराहन लगे मुदित मन ॥२॥
सावधान सुनु सुमुखि सुलोचनि। भरत-कथा भव-बंध विमोचनि ॥३॥
धरम राजनय ब्रह्मविचारू। इहाँ जथामति मोर प्रचारू ॥४॥
सो मति मोरि भरत महिमाही। कहइ काह छलि छुअति न छाँही ॥५॥

अर्थ—सोने में सुगंध और अमृत में चन्द्रमा के सार-रूप अमृत के समान श्रीभरतजी का व्यवहार सुनकर ॥१॥ राजा ने अपने अश्रु-पूर्ण नेत्र मूँद लिये, उनके सब अंग पुलकित हो गये और आनंदित मन से वे (श्रीभरतजी के) सुंदर यश की बड़ाई करने लगे ॥२॥ हे सुमुखी ! हे सुलोचनी ! सावधान होकर सुनो, श्रीभरतजी की कथा भव-बंधन-रूपी आवागमन छुड़ानेवाली है ॥३॥ धर्म-नीति, राज-नीति और वेदान्त शास्त्र में बुद्धि के अनुसार मेरी प्रवृत्ति है अर्थात् इनमें मैं बहुत कुछ कह सुन सकता हूँ ॥४॥ पर वही मेरी बुद्धि श्रीभरतजी की महिमा कहेगी क्या ? वह तो उस महिमा की छाया तक को छल करके भी नहीं छू पाती ॥५॥

विशेष—(१) 'सोन सुगंध सुधा ससि सारू।'—ये श्रीभरतजी के व्यवहार के विशेषण हैं। 'सोने में सुगंध' यह मुहावरा है, सर्वोत्कृष्ट के अर्थ में कहा जाता है। सोना उत्तम पदार्थ है; यदि उसमें सुगंध भी आ जाय, तो वह सर्वोत्कृष्ट होगा। उत्तम-से-उत्तम कहा जायगा। वैसे ही श्रीभरतजी माता पिता का दिया हुआ राज्य करते तो इन्हें दोष नहीं था; यथा—"करतेहु राज त तुम्हहि न दोसू।" (दो० २०६); "वेद विदित संमत सबही का। जेहि पितु देइ सो पावइ टीका॥" (दो० १७४); यह सोने की तरह उत्तम होता। पर जो इन्होंने कुल के सर्वोत्कृष्ट धर्म पर दृष्टि की; यथा—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिन कर कुल रीति सुहाई॥" (दो० १४) इस सुहावनी रीति का पालन किया, श्रीरामजी को मनाने आये हैं और उनके सेवक भाव से ही रहना चाहते हैं। यह उत्तम-से-उत्तम है, यही सोने में सुगंध है; यथा—"तात तुम्हार विमल जस गाई। पाइहि लोकहु वेद बड़ाई॥" (दो० २०६); यश और सुगंध की समता है। नाग लोक में भी अमृत है, पर जो अमृत चन्द्रमा का सार रूप है वह सर्वोत्तम है। वैसे ही श्रीभरतजी के जितने धर्माचरण हैं सभी उत्तम हैं, अमृततुल्य हैं; यथा—"समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरम सार जग होइहि सोई॥" (दो० ३२२); पर उसमें श्रीराम-भक्ति सर्वोत्तम चन्द्रमा का सार रूप अमृत है; यथा—"नवविधु विमल ‥राम भगत अब अमिअ अघाहू। कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहू॥" (दो० २०८); तथा—"अब अति कीन्हेहु भरत भल, तुम्हहि उचित मत येहु। सकल सुमंगल मूल जग, रघुबर चरन सनेहु॥" (दो० २०७)।

(२) 'मूँदे सजल नयन‥‥'—श्रीभरतजी का सद्व्यवहार सुनने से उनमें राजा की प्रीति हुई। उनके नेत्रों में प्रेमाश्रु आ गये और श्रीभरतजी के ध्यान में उन्होंने आँखें मूँद लीं; यथा—"हरहिय राम चरित सब आये। प्रेम पुलक लोचन जल छाये॥ श्रीरघुनाथ रूप उर आवा। परमानंद अमित सुख पावा॥ मगन ध्यान रस दंड जुग, पुनि मन बाहेर कीन्ह। रघुपति चरित महेस तब, हरषित बरनइ लीन्ह॥" (बा० दो० १११); जैसे वहाँ 'हरषित बरनइ लीन्ह' वैसे यहाँ—'सुजस सराहन लगे मुदित मन।' कहा है। वहाँ—"सावधान सुनु सुमति भवानी।" (बा० दो० १२१); कहा है, वैसे यहाँ—"सावधान सुनु सुमुखि सुलोचनि' है। 'सावधान' क्योंकि गूढ़ है 'सुमुखि'—क्योंकि इस मुख से परम भक्त का यश कहा है

'सुलोचनि'—क्योंकि दिव्य दृष्टिवाली हो। अतः जो कहता हूँ, उसे विचारना। 'भरतकथा भवबंध···'—कथा' अर्थात् प्रबंध सहित कहूँगा। 'भव बंध विमोचनि'; यथा—"भरत चरित करि नेम, तुलसी जे सादर सुनहिं। सीयराम पद प्रेम, अवसि होइ भव रस बिरति॥" (दो० ३२६)।

(३) 'इहाँ जथा मति मोर प्रचारू।'—उत्तम वक्ताओं की ऐसी रीति है; यथा—"तदपि जथाश्रुत जसि मति मोरी। कहिहउँ···" (बा० दो० ११४); "जथा मति गावा।" (उ० दो० १२६) यह विनीत भाव है, पर तात्पर्य यह है कि इन शास्त्रों में मुझे अधिकार है, संदेह नहीं है।

(४) 'सो मति मोरि भरत···'—महिमा को कहेगी क्या? छल-बल करके उसकी छाया को भी नहीं छू पाती। हनुमान्‌जी की छाया को छल करके सिंहिका ने पकड़ा है, पर उस तरह भी मेरी मति का श्रीभरत-महिमा का स्पर्श करना (जानना) असंभव है। छल से छूना उपमाओं के द्वारा उसका दिग्दर्शन कराना है, ऐसी ही धारणा श्रीवसिष्ठजी की भी है; यथा—"भरत महा महिमा जल रासी। मुनि मति ठाढ़ि तीर अबलासी। गा चह पार जतन हिय हेरा। पावति नाव न बोहित बेरा॥" (दो० २५६); पुन: यही दशा श्रीहनुमान्‌जी की भी हुई; यथा—"तीरते उतरि जस कह्यो चहै, गुन गननि जयो है।···यह जल निधि खन्यो मथ्यो, लँघ्यो, बाँध्यो, अँचयो है। तुलसिदास रघुबीर बंधु महिमा को सिंधु तरि को कवि पार गयो है॥" (गी० लं० ११)।

बिधि गनपति अहिपति सिवसारद। कबिकोबिद बुध बुद्धिबिसारद॥६॥
भरत - चरित - कीरति - करतूती। धरम सील गुन बिमल बिभूती॥७॥
समुझत सुनत सुखद सब काहू। सुचि सुरसरि रुचि निदर सुधाहू॥८॥

दोहा—निरवधि गुन निरुपम पुरुष, भरत भरत-सम जानि।
कहिय सुमेरु कि सेर-सम, कबि-कुल-मति सकुचानि॥२८८॥

अर्थ—ब्रह्मा, गणेश, शेष, शिव, शारदा, कवि, कोविद, पंडित, (एवं और भी) जो बुद्धि में निपुण हैं॥६॥ सब किसी को श्रीभरतजी का चरित, कीर्त्ति, करनी, धर्म, शील, गुण और निर्मल ऐश्वर्य, समझने और सुनने में सुख देनेवाले हैं। पवित्रता में गंगाजी का और स्वाद में अमृत का निरादर करनेवाले हैं॥७-८॥ उनके गुणों की हद नहीं है, वे उपमा-रहित पुरुष हैं, श्रीभरतजी को श्रीभरतजी के ही समान जानो, क्या सुमेरु पर्वत को सेर के समान कह सकते हैं! (अतः,) कवि-समाज की बुधि सकुचा गई॥२८८॥

विशेष—(१) 'बिधि गनपति···'—ब्रह्मा जीव-मात्र की गति जानते हैं, उनसे बुद्धिमत्ता की हद है, इसीलिये इन्हें प्रथम कहा। ये वेदों के भी आदि वक्ता हैं; यथा—"तेने ब्रह्म हृदा य आदि कवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।" (भाग० मं०); गणेशजी—'विद्यावारिधि बुद्धि विधाता' हैं। इसीसे व्यासजी के लेखक बने। शेषजी दो हजार जिह्वाओं से प्रभु का यश गाते रहते हैं। शिवजी के द्वारा व्याकरण विद्या ही का प्रादुर्भाव हुआ और शावर मंत्र का उद्‌घाटन एवं उसमें प्रकट-प्रभाव-संस्थापन इन्होंने ही किया है, फिर श्रीराम-नाम निष्ठा के द्वारा भी श्रीशिवजी समर्थ हैं। सरस्वती वक्ताओं की वाणी की अधिष्ठातृ देवी है। कवि शुक्राचार्य आदि, कोविद बृहस्पति आदि और जो बुद्धि में निपुण लोग हैं। यहाँ इन नौ की गणना की नौ संख्या की सीमा है, इससे संसार के सम्पूर्ण वक्ताओं को ले लिया।

शंका—संत वंदना में तो हरि को भी कहा है ; यथा—"विधि हरि हर कवि कोविद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी ॥" (बा० दो० २) ; पर यहाँ नहीं कहा।

समाधान—आगे कहते हैं—"भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहि राम न सकहिं बखानी ॥" श्रीरामजी के हरि (विष्णु) भगवान् अभिन्नांश हैं, अतएव अभेद हैं, श्रीरामजी के द्वारा अकथ्य कहे जाने में वे भी आ गये। उपर्युक्त संत-महिमा में छः ही असमर्थ माने गये हैं और यहाँ नौ का असमर्थ होना कहा। नौ अंक की सीमा है ; अर्थात् जितने भी वक्ता हों, पार न पावेंगे एवं सब मिलकर भी पार नहीं पा सकते। नौ में विधि-शिव ईश्वर ही हैं, गणेश, शेष और शारदा सुकवि हैं ; यथा—"बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेष गनेस गिरा गम नाहीं ॥" (दो० २२४)। इन बड़ों को पूर्वार्द्ध में कहकर तब सामान्यों को उत्तरार्द्ध में कहा है।

(२) 'भरत चरित कीरति करतूती ···'—इसमें श्रीभरतजी के चरित आदि सात गुण कहे गये। इनमें 'चरित' को प्रथम कहा है, क्योंकि इन (श्रीजनकजी) की दृष्टि चरित पर ही विशेष मुग्ध है ; यथा—"बूझि भरत सतिभाव कुभाऊ। आयेउ बेगि···" (दो० २७०) ; अर्थात् चरों से श्रीभरतजी का सद्भाव (सदाचार=चरित) सुना, वही यहाँ भी कह रहे हैं—"भरत कथा भव बंध···"। सात ही कहकर इन्हें सातो समुद्रों के समान अगाध जनाया ; यथा—"भरत सील गुन विनय बड़ाई। भायप भगति भरोस भलाई ॥ कहत सारदहु कर मति हीचे। सागर सीप कि जाहि उलीचे ॥" (दो० २८१) ; इसमें शील को प्रथम कहा है, क्योंकि श्रीकौशल्याजी की दृष्टि में शील गुण ही मुख्य जँचा है। आगे कवि स्वयं भी ऐसे ही सात कहेंगे ; यथा—"भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती ॥ बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। ···" (दो० ३२४) ; इनमें 'रहनि' और 'समुझनि' को इन्होंने प्रधान माना है ; यथा—"आयसु होइ त रहउँ सनेमा।" इसपर गुरुजी ने कहा—'समुझब कहब करब···' (दो० ३२२)।

तीनो जगह सातो सागरों की तरह श्रीभरतजी के गुणों की अगाधता कही गई है और साथ ही वक्ताओं के वर्णन की अगमता भी कही गई है ; यथा—"सागर सीप कि जाहि उलीचे।' 'अगम सबहि बरनत···' 'बरनत सकल सुकबि सकुचहीं।"···इत्यादि।

(३) 'समुझत सुनत सुखद सब काहू।'—श्रीभरत-चरित समझकर प्रतीति होती है, तब वह प्रीति-सहित सुना जाता है और फिर सब किसी को उससे सुख प्राप्त होता है, क्योंकि यह श्रीगंगाजी से अधिक पावन और अमृत से अधिक स्वादिष्ट है ; यथा—"सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनम न भरत को।" (दो० ३२६); "राम भगत अब अमिअ अघाहू।" (दो० २०८)। पवित्र होने से मनन करने पर हृदय शुद्ध होता है और स्वादिष्ट होने से इसके सुनने के लिये कान लालायित रहते हैं। 'सुचि' ; यथा—"परम पुनीत भरत आचरनू। मधुर मंजु मुद मंगल करनू।" (दो० ३२५)।

(४) 'निरवधि गुन निरुपम पुरुष'—उपर्युक्त अगाधता का कारण यहाँ खोला कि इनके गुण ही सीमा-रहित हैं और इनके योग्य उपमा भी नहीं है, अतः श्रीभरतजी के समान श्रीभरतजी ही हैं—यह निश्चय किया। अन्य उपमाएँ—सुमेरु पर्वत जो कि कई लक्ष योजन विस्तृत है—उसके समक्ष में सेर (पत्थर का छोटा बटखरा) की तरह तुच्छ हैं। 'कबिकुल' उपर्युक्त विधि आदि हैं। वे यही समझकर सकुच गये कि सुमेरु को सेर के समान कहने से हँसी होगी। कविता यश लिये की जाती है, अपयश कौन ले ?

अगम सबहि बरनत बरबरनी । जिमि जलहीन मीन गम धरनी ॥१॥
भरत अमित महिमा सुनु रानी । जानहि राम न सकहि बखानी ॥२॥
बरनि सप्रेम भरत अनुभाऊ । तिय जिय की रुचि लखि कह राऊ ॥३॥
बहुरहि लखन भरत बन जाहीं । सब कर भल सबके मन माहीं ॥४॥

शब्दार्थ—अनुभाव = महिमा, प्रभाव । बरबरनी = परम सुन्दरी । गम = चलना ।

अर्थ—हे परम सुन्दरी ! सभी के लिये वर्णन करना वैसा ही अगम है, जैसे जलरहित पृथिवी पर मछली का चलना ॥१॥ हे रानी ! सुनो, श्रीभरतजी की अपरिमित महिमा को श्रीरामजी जानते हैं, पर वे भी वर्णन नहीं कर सकते ॥२॥ प्रेमपूर्वक श्रीभरतजी की महिमा वर्णन करके और स्त्री के हृदय की इच्छा को लखकर राजा ने कहा ॥३॥ श्रीलक्ष्मणजी लौटें और श्रीभरतजी वन को जायँ, इसमें सबका भला है और यही सबके मन में है ॥४॥

विशेष—(१) 'अगम सबहि बरनत···'—यहाँ महिमा को अवर्ण्य दिखाते हुए कहते हैं कि जैसे सूखी भूमि पर मछली नहीं चल सकती । मछली जल के आधार से चलती है । वैसे कवि लोग विषय (वारि) सम्बन्धी गुणों को ही वैषयिक उपमाओं के द्वारा कह पाते हैं, पर श्रीभरतजी के दिव्य गुण विषय से नीरस हैं, इससे कवियों के लिये अगम्य हैं । 'बरबरनी' शब्द यहाँ श्रीसुनयनाजी के प्रति और—"दुहुँ सँकोच सकुचति बरबरनी ।" (दो० ११६); में श्रीसीताजी के लिये कहा गया है, वहाँ ही इसके भाव देखिये ।

दोनों जगह इशारे से गुह्य अभिप्राय लक्ष्य कराने के प्रसंग में यह विशेषण आया है, वहाँ पति का परिचय सकुचते हुए लखाया गया है और यहाँ श्रीकौशल्याजी का अभिप्राय अपनी तरफ से लक्ष्य कराया गया है । दोनों जगह सफलता मिली है, इससे 'बरबरनी' का अर्थ श्रेष्ठ वर्णन करनेवाली भी हो सकता है ।

(२) 'जानहि राम न सकहिं बखानी ।'—श्रीरामजी सर्वज्ञ हैं, इससे श्रीभरतजी की महिमा भी जानते ही हैं; यथा—"तात तुम्हहि मैं जानउँ नीके ।" (दो० २६६) । पर महिमा अमित होने के कारण उसे नहीं कह सकते । यहाँ महिमा को अमित कहना अभीष्ट है । जब श्रीरामजी ही नहीं कह सकते, तब इनसे अधिक समर्थ तो कोई है ही नहीं ।

(३) 'तिय जिय की रुचि···'—भरत-गति कहकर रानी ने अपनी रुचि भी संकेत से जनाई । श्रीकौशल्याजी के कथनानुसार अपनी ही ओर से कहा और उसीपर राजा अपना मत प्रकट करते हैं, यही श्रीकौशल्याजी ने कहा था—"अपनी भाँति कहब समुझाई ॥ रखियहिं लखन भरत गवनहिं बन । जौं यह मत मानइ महीप मन ॥" (दो० २८३); पहले उस रुचि को स्पष्ट करके फिर उसे सर्वमत से समर्थन करते हैं—'बहुरहिं···' ।

देवि परंतु भरत-रघुबर की । प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी ॥५॥
भरत अवधि सनेह ममता की । जद्यपि राम सीम समता की ॥६॥

परमारथ स्वारथ सुख सारे । भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे ॥७॥
साधन सिद्धि राम - पग - नेहू । मोहि लखि परत भरत-मत एहू ॥८॥

दोहा—भोरेहु भरत न पेलिहहिं, मनसहु राम-रजाइ ।
करिय न सोच सनेहबस, कहेउ भूप बिलखाइ ॥२८९॥

अर्थ—परन्तु हे देवि ! श्रीभरतजी और श्रीरघुबरजी की (परस्पर) प्रीति और प्रतीति तर्क-द्वारा अनुमान नहीं की जा सकती ॥५॥ यद्यपि श्रीरामजी समता की सीमा हैं; तथापि श्रीभरतजी (भी) स्नेह और ममता की सीमा हैं ॥६॥ सारे परमार्थ, स्वार्थ और सुखों की ओर श्रीभरतजी ने स्वप्न में भी (जाग्रत की एवं कर्म-वचन की कौन कहे ?) मन से भी नहीं देखा ॥७॥ श्रीरामजी के चरणों का स्नेह ही साधन है और यही सिद्धि है (बस) यही श्रीभरतजी का सिद्धान्त मुझे मालूम पड़ता है ॥८॥ राजा ने बिलखकर (विह्वल एवं प्रेमार्द्र होकर) कहा कि श्रीभरतजी भूलकर भी श्रीरामजी की आज्ञा को मन से न टालेंगे (कर्म-वचन-से तो सर्वथा असंभव है) । आप (श्रीभरतजी के) स्नेहवश होकर शोच न करें ॥२८९॥

विशेष—(१) 'देवि परंतु···'—जो सब चाह रहे हैं कि श्रीभरतजी वन को साथ जायँ और श्रीलक्ष्मणजी लौटें । यह बात तो तब छेड़ी जाय कि जब इनके आपस की प्रीति-प्रतीति की थाह मिले । प्रीति—श्रीभरतजी के सब चरित ही श्रीराम-प्रीति में रँगे हुए हैं और श्रीरामजी की प्रीति श्रीभरतजी में भी पूर्ण है; यथा—"तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु ते प्यारे ।" (दो॰ १६८); "राम तुम्हहिं प्रिय तुम्ह प्रिय रामहि ।" (दो॰ २००); "सुनहु भरत रघुबर-मन माहीं । प्रेम पात्र तुम्ह सम कोउ नाहीं ॥" (दो॰ २०७); इत्यादि । प्रतीति—"आपन जानि न त्यागिहैं, मोहिं रघुबीर भरोस ॥" (दो॰ १८३); "भरत कहे महँ साधु सयाने ।" (दो॰ २२६); "तात भरत···मोहि सब भाँति भरोस तुम्हारा ।" (दो॰ ३०४); इत्यादि । भाव यह कि प्रीति के कारण श्रीरामजी श्रीभरतजी का रुख रखकर आज्ञा देंगे, तब श्रीभरतजी उसे हर्ष से मानकर करेंगे । यह श्रीरामजी को विश्वास है और श्रीभरतजी श्रीरामजी में प्रीति के कारण उनका रुख रक्खेंगे । श्रीरामजी की आज्ञा में ही मेरा कल्याण है; इसमें श्रीभरतजी को पूर्ण विश्वास है, तब उपर्युक्त हेर-फेर की आवश्यकता ही न आवेगी । इसीको पुष्टि में कहते हैं—

(२) 'भरत अवधि सनेह ममता की । जद्यपि ·····'—यद्यपि श्रीरामजी समता की सीमा हैं; यथा—"समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः । ये भजंति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥" (गीता ९।२९); प्रभु की समता का भाव यह है कि जो जिस प्रकार उनके सम्मुख होता है, उसे वे उसी भाव से प्राप्त होते हैं; अर्थात् उसीके भाव के अनुसार उससे वर्त्तते हैं, कहा भी है—"तुलसी प्रभु सुभाव सुरतरु सों, ज्यों दर्पन मुख कांति ।" (वि॰ १२२); तथा—"ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥" (गीता ४।११), इस नियम से जब श्रीभरतजी स्नेह और ममता की सीमा होकर सम्मुख आये हैं, तब तो श्रीरामजी भी श्रीभरतजी के प्रति स्नेह और ममता की सीमा-रूप से ही वर्त्तेंगे, तब श्रीभरतजी को दुःख क्योंकर रहेगा ।

(३) 'परमारथ स्वारथ सुख सारे ···'—'परमार्थ'; यथा—"नाहिन डर बिगरिहि परलोकू ।"

स्वार्थ—"नहिं दुख जिय जग जानिहि पोचू।" (दो० २१०); तथा—"अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहउँ निरबान।" (दो० २०४)।

(४) 'साधन सिद्धि राम पद-नेहू।···'—कर्म और ज्ञान में साधन दूसरा रहता है और फल दूसरा होता है, पर यहाँ श्रीभरतजी में साधन और फल दोनों एक ही हैं। भक्त लोग भक्ति करके फिर भक्ति ही चाहते हैं; यथा—"परहु नरक फल चारि सिसु, मीच डाकिनी खाउ। तुलसी राम सनेह को, जो फल सो जरि जाउ॥" (दोहावली ९२)। "जनम-जनम रति राम पद, यह बरदान न आन।" (दो० २०४) 'मोहि लखि परत भरत मत येहू।'—भाव यह कि पूरा जानना तो दुर्गम ही है, हाँ, ऐसा कुछ जान पड़ता है। तात्पर्य यह कि भजन से दूसरा फल चाहने में भगवान् और उनकी सेवा की अपेक्षा फल ही श्रेष्ठ और प्राप्य हो जाता है, इससे भक्ति और भगवान् की लघुता होती है। हाँ, यह अवश्य है कि भक्त अंत में भगवान् को प्राप्त होते हैं और भगवान् को पाकर फिर उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती; यथा—"*मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।*" (*गीता ८।१६*); "*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।*" (गीता ९।३१); इत्यादि।

(५) 'भोरेहु भरत न पेलिहहिं ·· ···'—भाव यह कि श्रीभरतजी वही प्रसन्न होकर करेंगे, जो श्रीरामजी की आज्ञा होगी, अपनी ओर से कोई पृथक् रुचि न करेंगे; यथा—"करइ स्वामि हित सेवक सोई।" (दो० १८५); "आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।" (दो० ३००); उतर देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई॥" (दो० २६८); इत्यादि उन्हीं के वचनों से सिद्ध है। 'करिय न सोच···'—श्रीकौशल्याजी ने कहा था—"मोरे सोच भरत कर भारी।" (दो० २८३); उसीको अपनी ओर से यहाँ श्रीसुनयनाजी ने प्रकट किया था, उसीपर राजा कहते हैं कि जब श्रीभरतजी श्रीरामजी की आज्ञा को प्रसन्न हो न मान सकते और प्राण त्याग करने पर उद्यत होते तब शोच की बात थी, किंतु वह बात नहीं है।

(६) 'कहेउ भूप बिलखाइ'—अभी श्रीजानकीजी के वात्सल्य में इनका चित्त करुणार्द्र हो चुका था, उनके जाते ही रानी ने श्रीभरतजी का प्रसंग छेड़ दिया। उसपर श्रीभरतजी की परिस्थिति की आलोचना करते हुए श्रीभरतजी के भविष्य पर चित्त गया कि श्रीरामजी अवश्य वन को जायँगे और श्रीभरतजी बिरह-पीर सहते हुए श्रीअवध का सेवन करेंगे; यथा—"सीता-रघुनाथ-लखन बिरह पीर सहनि।" (गी० अ० ८१)। "देह दिनहिं दिन दूबरि होई।···" (दो० ३२४); इत्यादि। सोचते हुए उनकी महा विवेकिनी बुद्धि पर श्रीभरत स्नेह का पूरा प्रभाव पड़ा। वे वात्सल्य-दृष्टि से विह्वल हो गये और गद्गद स्वर से कहा कि रानी! शोच न करो।

राम भरत गुन गनत सप्रीती। निसि दंपतिहि पलक-सम बीती॥१॥
राज-समाज प्रात जुग जागे। न्हाइ न्हाइ सुर पूजन लागे॥२॥
गे नहाइ गुरु- पहिं रघुराई। बंदि चरन बोले रुख पाई॥३॥
नाथ भरत पुरजन महतारी। सोक-बिकल बनबास दुखारी॥४॥
सहितसमाज राउ मिथिलेसू। बहुत दिवस भये सहत कलेसू॥५॥
उचित होइ सोइ कीजिय नाथा। हित सब ही कर रउरे हाथा॥६॥

अस कहि अति सकुचे रघुराऊ। मुनि पुलके लखि सील सुभाऊ ॥७॥
तुम्ह बिनु राम सकल सुख साजा। नरक-सरिस दुहुँ राज-समाजा ॥८॥

दोहा—प्रान प्रान के जीव के, जिव सुख के सुख राम।
तुम्ह तजि तात सुहात गृह, जिन्हहिं तिन्हहिं बिधि बाम ॥२९०॥

अर्थ—श्रीरामजी और श्रीभरतजी के गुणों को प्रीति-पूर्वक कहते एवं विचारते हुए दंपति (राजा-रानी) को रात पलक के समान बीत गई ॥१॥ दोनों राज-समाज प्रातःकाल जगे और नहा-नहाकर देवताओं की पूजा करने लगे ।२॥ स्नान करके श्रीरघुनाथजी गुरु श्रीवसिष्ठजी के पास गये और चरणों की वंदना करके रुख पाकर बोले ॥३॥ हे नाथ ! श्रीभरतजी, श्रीअवधपुरवासी, माताएँ सब शोक से व्याकुल हैं और फिर वनवास से दुखी हैं ॥४॥ और समाज के साथ श्रीमिथिला के स्वामी राजा जनकजी बहुत दिन से क्लेश सहते हैं ॥५॥ हे नाथ ! जो उचित हो, वही कीजिये, सभी का हित आपके हाथों में है ॥६॥ ऐसा कहकर श्रीरघुनाथजी अत्यंत सकुच गये, उनका शील-स्वभाव देखकर मुनि पुलकित हो गये ॥७॥ (और बोले) हे रामजी ! तुम्हारे बिना सम्पूर्ण सुख की सामग्रियाँ दोनों राज-समाजों को नरक के समान हैं ॥८॥ तुम प्राणों के प्राण, जीव के जीव और सुख के भी सुख हो, हे तात ! तुमको छोड़कर जिन्हें घर भाता है, उन्हें विधाता वाम हैं (ऐसा जानो) ॥२९०॥

विशेष—(१) 'राम-भरत-गुन'''—यदि प्रीति पूर्वक भगवत्-भागवत गुणगान हो, तो समय नहीं जान पड़ता। सुख के दिन पल के समान बीत जाते हैं ; यथा—"सुख समेत संवत दुइ साता। पलसम होहिं न जनियहि जाता ॥" (दो० २०१); 'दंपतिहिं'—रात में दंपति एक-साथ भी रहें और प्रीति-पूर्वक भगवत्-भागवत यश कहें, तो कामादि वासनाएँ दूर हो जायँ, यह उपदेश भी है। इसलिये 'दंपति' यह सामान्य पद दिया गया है।

श्रीसुनयनाजी और श्रीजनकजी का संवाद समाप्त हुआ। इसका उपक्रम—"कही समय सिर भरत गति।'''" से हुआ और यहाँ—"राम-भरत-गुन गनत''' पर उपसंहार है।

(२) 'न्हाइ न्हाइ सुर'''—यह इनका नित्य-नियम पूर्व दो० २७२ में विस्तार से कहा गया। यहाँ उसीको सूक्ष्म में कहा है। 'बोले रुख पाई'—प्रातकृत्य करके सबेरे ही आये। इससे समझ गये कि कुछ कहना है। इससे तुरत मुनि ने पूछा।

(३) 'नाथ भरत पुरजन'''—शोक राजा की मृत्यु का है और वन में रहने से दुःख है, भाव यह कि मुझे तो वन में रहना ही है, इससे दुःख नहीं है। करुणामय स्वभाव होने से आप पराये दुःख में दुखी हो जाते हैं ; यथा—"करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइयहि पीर पराईं ॥" (दो० ८४); राजा को भी समाज-समेत दुःख सहते बहुत दिन हो गये। भाव यह कि हमें तो लौटना नहीं है, फिर व्यर्थ आपलोग क्यों कष्ट झेल रहे हैं ? 'उचित होइ सोइ''''''—श्रीभरतजी राज्य की रक्षा करें, माताएँ महलों में रहें, पुरजन, प्रजा अपने-अपने घरों में रहें। राजा पिता के समान हैं, अतएव मैं नहीं कह सकता कि आप लौटें। आप ही के कहने से सबके कष्ट दूर होंगे, इस रीति से सबका हित आप ही के द्वारा होगा।

(४) 'अस कहि अति सकुचे···'—संकोच यह कि यह कहना भी बड़ों के प्रति आज्ञा देने के समान है और इसमें अपना हठ गर्भित है कि हम कभी अपना व्रत न छोड़ेंगे। पहले भी ऐसे सकोच सहित कहा था ; यथा—"बहुत कहेउ सब कियेउँ ढिठाई। उचित होइ तस करिय गोसाईं ॥" (दो० २४०), 'लखि सील सुभाऊ'—शील यह कि श्रीभरतजी आदि स्नेहियों के लिये परोक्ष में भी न कहा कि जायँ, किन्तु कष्ट सहते हैं, यही कहा और यह कि हम मारे स्नेह के वियोग का दुःखद शब्द नहीं कह सकते, यथा—"सील सनेह छाँड़ि नहिं जाई। असमंजस बस भे रघुराई ॥" (दो० ८४), आपके कहने से किसी को भी दुःख न होगा।

(५) 'तुम्ह बिनु राम सकल···'—यह—'बनवास दुखारी' और 'सहत कलेसू' का उत्तर है। 'नरक सरिस' अर्थात् अत्यन्त दुःख रूप, क्योंकि नरक में बड़ा दुःख होता है।

(६) 'प्रान प्रान के जीव के···'; यथा—"पूत परम प्रिय तुम्ह सबही के। प्रान प्रान के जीवन जी के ॥" (दो० ५५); "राम प्रान-प्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सबही के ॥" (दो० ७३), "आनँदहू के आनँद दाता।" (बा० दो० २१६)। इन प्रसगों को देखिये। "विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक ते एक सचेता ॥ सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई ॥" (बा० दो० ११६), अर्थात् आप सभी के प्रकाशक हैं। 'तुम्ह तजि तात सुहात गृह···' इसकी प्रतिद्वंद्वी (जोड़ की) अर्द्धाली भी है ; यथा—"दाहिन दैव होइ जब सबहीं। राम समीप बसिय बन तबहीं ॥" (दो०२७१)।

सो सुख करम धरम जरि जाऊ। जहँ न राम-पद-पंकज भाऊ ॥१॥
जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं राम-प्रेम परधानू ॥२॥
तुम्ह बिनु दुखी सुखी तुम्ह तेही। तुम्ह जानहु जिय जो जेहि केही ॥३॥
रावर आयसु सिर सबही के। बिदित कृपालहि गति सब नीके ॥४॥
आप आश्रमहि धारिय पाऊ। भयउ सनेह-सिथिल मुनिराऊ ॥५॥

अर्थ—वह सुख, कर्म, धर्म जल जाय (अर्थात् व्यर्थ है), जिसमें श्रीराम-चरण कमल में प्रेम नहीं है ॥१॥ वह योग कुयोग है और ज्ञान अज्ञान है, जिसमें श्रीराम-प्रेम प्रधान न हो ॥२॥ सब तुम्हारे बिना दुखी हैं और तुमसे ही सुखी हैं। जिसके जी में जो है ; वह तुम जानते हो ॥३॥ आपकी आज्ञा सभी के सिर पर है (सबको मान्य है), हे कृपालु ! आपको सबकी सब गति (दशा) अच्छी तरह मालूम है ॥४॥ आप आश्रम को पधारें (यह कहकर) मुनिराज स्नेह से शिथिल हो गये (फिर कुछ न बोल सके) ॥५॥

विशेष—(१) 'सो सुख,करम धरम ···'; यथा—"ज्ञान बिराग जोग जप तप मख जग मुद मग नहिं थोरे। राम प्रेम बिनु नेम जाय जैसे मृगजल जलधि हलोरे ॥" (वि० १४४)। "भजन हीन सुख कवने काजा।" (उ० दो० ८३); इत्यादि। 'तुम्ह बिनु दुखी ···'—लोग तुम्हारे बिना दुखी थे। यहाँ तुम्हीं से सुखी भी हैं। 'तुम्ह जानहु···'—अर्थात् हम बनाकर नहीं कहते हैं।

(२) 'रावर आयसु सिर···'—तुम्हीं से सुखी हैं। इससे तो यही सिद्ध हुआ कि लोग नहीं लौटेंगे कहते हैं कि आपकी आज्ञा सबके लिये शिरोधार्य है। अत, साथ रहने को हठ न करेंगे। 'गति

सब' ; यथा—"तुम्ह बिनु राम सकल सुख साजा। नरक सरिस ···" (उपर्युक्त); आप कृपालु हैं, अतः उनके कष्ट पर चित्त दें। श्रीरामजी ने कहा था—"हित सबही कर रौरे हाथा।" उसके उत्तर में कहते हैं कि आपकी आज्ञा पर ही सबका हित निर्भर है।

(३) 'आप आश्रमहि धारिय पाऊ।'—इतना ही कह पाया—'मैं उपाय करता हूँ'—यह न कह पाया कि प्रभु के उपर्युक्त शील-स्वभाव के प्रति स्नेह उमड़ पड़ा, वाणी रुक गई। यही शील-स्वभाव इनके चित्त में बस गया। इसीसे आगे श्रीजनकजी के यहाँ भी—'सील सनेह सुभाय सुहाये' कहा है। इस संवाद के उपक्रम में—'मुनि पुलके लखि सील सुभाऊ।' कहा गया है और यहाँ—'भयउ सनेह सिथिल मुनि राऊ।' पर इसका उपसंहार है।

करि प्रनाम तब राम सिधाये। रिषि धरि धीर जनक पहिं आये ॥६॥
राम-बचन गुरु नृपहिं सुनाये। सील सनेह सुभाय सुहाये ॥७॥
महाराज अब कीजिय सोई। सब कर धरमसहित हित होई ॥८॥

दोहा—ज्ञान-निधान सुजान सुचि, धरमधीर नरपाल।
तुम्ह बिनु असमंजस-समन, को समरथ येहि काल ॥२९१॥

अर्थ—तब श्रीरामजी प्रणाम करके चल दिये, ऋषि वसिष्ठजी धैर्य धरकर श्रीजनकजी के पास आये ॥६॥ गुरुजी ने श्रीरामजी के शील और स्नेह-युक्त और स्वाभाविक सुन्दर वचन राजा को सुनाये ॥७॥ (और बोले कि) महाराज! अब वही कीजिये, जिसमें सबका धर्म-सहित भला हो ॥८॥ हे राजन्! आप ऐसे ज्ञान के खजाने, सुजान पवित्र धर्मवाले, धैर्यवान् और मनुष्यों के पालनेवाले के अतिरिक्त इस समय दुविधा मिटाने को और कौन समर्थ है? ॥२९१॥

विशेष—(१) 'रिषि धरि धीर···'—शिथिल हो गये थे, इससे धैर्य धरना कहा गया। 'सील सनेह सुभाय सुहाये'—श्रीरामजी के शील आदि गुण बिना प्रकट किये गुरुजी से न रहा गया, जैसे श्रीसुमंत्रजी ने श्रीरामजी के रोकने पर भी उनका शील-स्वभाव राजा श्रीदशरथजी से कहा ही है, दो० १५१ चौ० ७ देखिये। 'धरम सहित हित'—जैसे कि श्रीरामजी और श्रीभरतजी पिता की आज्ञा पालें, शेष सब श्रीरामजी की आज्ञा मानें। इसमें हित है वा और जिस भाँति से हो। अब इस कार्य के योग्य गुण राजा में होना कहते हैं—

(२) 'ज्ञान-निधान सुजान···'—सबके धर्म-सहित हित के विधान के लिये ज्ञान आदि चाहिये, ये सब गुण आपमें पूर्ण हैं। आप ज्ञान एवं शास्त्र-विधि के द्वारा सब धर्म की विधि देखेंगे। सुजानता से नीति और शुचि धर्मवाले स्वभाव से पवित्र भागवत-धर्म को भी जानेंगे। धीरता से आपके विचार उत्तम होंगे, मैं तो स्नेह से शिथिल हो गया हूँ। आपकी धर्म-धीरता धनुर्भंग-प्रतिज्ञा के समय से ही सब जानते हैं। आप नर-पाल हैं। अतः, प्रजा के दुःख-निवारण का उपाय करें।

(३) 'तुम्ह बिनु···'—मैंने भी कुछ प्रयास किया था; यथा—"तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई।···" इसे श्रीभरतजी ने श्रीरामजी के प्रति अपनी ओर से कहा भी, पर उन्होंने इसे प्रमाणित नहीं किया। अतएव अब आप ही सोचिये कि जिससे सबका धर्म रहे और हित हो।

सुनि मुनि-बचन जनक अनुरागे। लखि गति ज्ञान बिराग बिरागे ॥१॥
सिथिल सनेह गुनत मन माहीं। आये इहाँ कीन्ह भल नाहीं ॥२॥
रामहि राय कहेउ बन जाना। कीन्ह आप प्रिय प्रेम प्रमाना ॥३॥
हम अब बन ते बनहि पठाई। प्रमुदित फिरब बिबेक बड़ाई ॥४॥
तापस मुनि महिसुर सुनि देखी। भये प्रेमबस बिकल बिसेखी ॥५॥

अर्थ—मुनि के वचन सुनकर श्रीजनकजी (सम्बन्धियों के) अनुराग में लीन हो गये, उनकी दशा देखकर ज्ञान और वैराग्य को भी वैराग्य हो गया; (अर्थात् उनको ज्ञान और वैराग्य की वृत्ति न रह गई) ॥१॥ स्नेह में शिथिल हैं, मन में विचारते हैं कि मैं जो यहाँ आया, यह अच्छा नहीं किया ॥२॥ राजा दशरथजी ने श्रीरामजी को वन जाने को कहा और स्वयं अपने प्यारे के प्रेम को सत्य किया ॥३॥ मैं अब वन से भी वन को भेजकर ज्ञान को बढ़ाकर (गुप्तार्थ बुझाकर, क्योंकि दीपक बढ़ाना बुझाने को कहा जाता है, ज्ञान भी दीपक-रूप है) बड़े आनन्द-पूर्वक लौटूँगा। (अर्थात् मन में रूखे-ज्ञान का घमंड लेकर लौटूँगा कि मुझ सा ज्ञानी नहीं है, मुझमें ममता का लेश भी नहीं है) ॥४॥ तपस्वी, मुनि, ब्राह्मण सुन और देखकर प्रेमवश बहुत व्याकुल हुए ॥५॥

विशेष—(१) 'लखि गति ज्ञान···'—अर्थात् जामातृ-भाव का प्रेम ही रह गया, किन्तु महा में होने से वह कवि के द्वारा अनुराग ही कहा गया। 'प्रमुदित फिरब ··'—अपने ज्ञान की रूक्षता को धिक्कार देते हैं कि लोग यही कहेंगे कि ये श्रीरामजी को वन भेजने और विवेकी होने की प्रशंसा कराने ही को यहाँ आये हैं। इन्हें भला स्नेह वा ग्लानि क्यों हो, ये विदेह हैं न ? यथा—"कीन्ह बिदेह बिदा कर साजू।" (बा० दो० ३३४); "जनक मन की रीति जानि बिरहित प्रीति पेखिबो मूरति देखे रह्यो पहिलो बिचारु।····· " (गी० बा० ८०)। 'हम अब बनते ···· '—इससे इनका मत भी यही जान पड़ता है कि श्रीरामजी नहीं लौटेंगे, किन्तु पिता की आज्ञा पूरी करेंगे। राजा दशरथ ने,वन भेजकर प्रेम का प्रण रक्खा, शरीर छोड़ दिया; अतः, उनके प्रेम की बड़ाई होती है। हम यहाँ से वन की आज्ञा दे प्रमुदित लौटेंगे (क्योंकि शरीर छूटेगा नहीं) तो यह सराहना होगी कि विदेह बड़े ज्ञानी हैं, इत्यादि व्यंग सहना पड़ेगा।

(२) 'तापस मुनि महिसुर सुनि देखी।···'—अभी 'गुनत मनमाहीं' का प्रसंग चला आ रहा है, तो 'सुनि' का अर्थ क्या होगा ? उत्तर यह है कि पहले मन में गुना (विचारा) फिर विह्वलता में वे शब्द—"आये इहाँ कीन्ह···" से "बिबेक बड़ाई॥" तक मुख से भी निकल आये, जिससे तापस आदि ने इनकी प्रेम दशा देखी और वचन भी सुने।

'भये प्रेमबस बिकल बिसेखी।'—यह समझकर विशेष व्याकुल हुए कि ऐसे बड़े ज्ञानी भी प्रेम-दशा के लिये तरस रहे हैं और जीवन को धिक्कार रहे हैं, इसीपर प्रेमवश हुए।

श्रीजनक-भरत-गोष्ठी

समय समुझि धरि धीरज राजा। चले भरत पहिं सहित समाजा ॥६॥
भरत आइ आगे भइ लीन्हे। अवसर-सरिस सुआसन दीन्हे ॥७॥
तात भरत कह तिरहुतिराऊ। तुम्हहिं बिदित रघुबीर-सुभाऊ ॥८॥

दोहा—राम सत्यव्रत धरमरत, सब कर सील सनेहु।
संकट सहत सकोचबस, कहिय जो आयसु देहु ॥२९२॥

शब्दार्थ—आगे भइ ली-हे = आगे होकर (बढ़कर) लिया, अगवानी की। स्वागत किया; यथा—"आगे होइ जेहि सुरपति लेई।…" (दो० ४७); आयसु (आदेश) = आज्ञा, अनुमति।

अर्थ—समय का विचार करके राजा श्रीजनकजी धैर्य धरकर समाज के साथ श्रीभरतजी के पास चले ॥६॥ श्रीभरतजी ने आगे बढ़कर उनको लिया (अर्थात् स्वागत किया) और समय के अनुसार उनको अच्छा आसन दिया ॥७॥ तिरहुत-राज श्रीजनकजी कहते हैं कि हे तात श्रीभरतजी ! तुमको रघुवीर श्रीरामजी का स्वभाव मालूम है ॥८॥ श्रीरामजी सत्यप्रतिज्ञ और धर्मपरायण हैं, सबका शील और स्नेह है, इससे संकोचवश संकट सहते हैं, तुम जो 'आयसु' दो, वह उनसे कहा जाय ॥२९२॥

'समय समुझि धरि'—शोक का समय है, धैर्य चाहिये, श्रीभरतजी के ही पास चलें, वे ही पिता की आज्ञा मानें, तो अवश्य मिटे। बहुत समय यहाँ रहना भी ठीक नहीं, इत्यादि।

विशेष—(१) 'तुम्हहि बिदित रघुबीर सुभाऊ।'; यथा—"मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ।" (दो० २५६) श्रीरामजी के स्वभाव की व्यवस्था—'संकट सहत संकोच बस…' से कहते हैं कि वे संकोच के कारण न तो यह कह सकें कि जाओ और न दूसरों का क्लेश ही देख सकें; यथा"—सानुज भरत सचिव सब माता।…" कह चुके हैं। वे 'विशेष उदासी' व्रत लिये हुए हैं, हमसबों के साथ रहने में उस व्रत का भी संकोच है। यदि कह दें कि आपलोग जायँ, हमलोग न लौटेंगे, तो शील-स्नेह में त्रुटि आती है, इस दुविधा में संकट सहते हैं। इनका अभिप्राय यह है कि संकट तुम्हीं से मिटेगा, उन्हें एकान्त-वास करने दो और समाज लेकर लौट चला जाय। 'आयसु' शब्द का मुख्यार्थ आदेश के अनुसार आज्ञा ही है, पर इसे अनुमति में भी कहा जाता है, यही यहाँ इष्टार्थ है, पर जान पड़ता है कि भरत-महिमा पर दृष्टि रखते हुए राजा ने यह सम्मानार्थक श्लिष्ट शब्द कहा है।

सुनि तनु पुलकि नयन भरि बारी। बोले भरत धीर धरि भारी ॥१॥
प्रभु प्रिय पूज्य पिता-सम आपू। कुल-गुरु-सम हित माय न बापू ॥२॥
कौसिकादि मुनि सचिव-समाजू। ज्ञान-अंबु-निधि आपुन आजू ॥३॥
सिसु सेवक-आयसु अनुगामी। जानि मोहि सिख देइय स्वामी ॥४॥
येहि समाज थल बूझब राउर। मौन मलिन मैं बोलब बाउर ॥५॥
छोटे बदन कहउँ बड़ि बाता। छमब तात लखि बाम बिधाता ॥६॥

शब्दार्थ—मौन = चुप रहना।

अर्थ—यह सुनकर शरीर से पुलकित हो और नेत्रों में जल भरे हुए श्रीभरतजी भारी धैर्य धरकर बोले ॥१॥ हे प्रभो ! आप समर्थ हैं और पिताजी के समान प्रिय और पूज्य हैं, कुल-गुरु श्रीवसिष्ठजी के समान हितैषी तो माता-पिता भी नहीं हैं ॥२॥ श्रीविश्वामित्र आदि मुनियों और मंत्रियों का

यह समाज है, उसमें भी आज ज्ञान के समुद्र आप भी हैं ॥३॥ शिशु, सेवक और आज्ञा के अनुसार चलनेवाला जानकर, हे स्वामिन्! मुझे शिक्षा दीजिये ॥४॥ (कहाँ तो) इस (पूज्य गुरुओं और ज्ञानियों के) समाज और (चित्रकूट पुण्य) स्थल में और फिर आपका मुझसे पूछना और (कहाँ) मैं मलिन मौन और मेरा पागलों का-सा बोलना? ॥५॥ छोटे मुँह बड़ी बात कहता हूँ, हे तात! विधाता को रूठा जानकर क्षमा कीजियेगा ॥६॥

विशेष—(१) 'सुनि तनु पुलकि नयन भरि बारी।'—श्रीजनकजी के वचनों का स्पष्ट भाव जान पड़ा कि श्रीरामजी सत्य-संध और धर्म-धुरंधर हैं। अतः, उन्हें संकोच में डालना उचित नहीं और वे तुम्हारे ही स्नेहवश संकोच से कष्ट सह रहे हैं। इससे अपने ऊपर प्रभु का स्नेह समझ कर श्रीभरतजी के हृदय में प्रेम उमड आया और वचनों में भावी-वियोग की स्थिति भी समझ पड़ी, इसीसे वे अधिक शिथिल हो गये, अतएव बोलने के लिये भारी धैर्य धरना पड़ा।

पहले दरबार में भी अपने ऊपर प्रभु की कृपा देखकर स्नेह से विह्वल हो गये थे; यथा—"पुलक सरीर सभा भये ठाढे। नीरज नयन नेह जल बाढ़े।।" (दो० २५१)।

(२) 'प्रभु प्रिय पूज्य पिता···'—श्रीजनकजी यहाँ प्रधान हैं, उन्होंने प्रश्न भी किया है। इससे उन्हीं से कहते हैं कि आप समर्थ हैं, पिता के समान प्रिय और पूज्य हैं, साथ ही कुल गुरु भी हैं, इससे दोनों के प्रति कहते हैं कि भला मैं माता-पिता और गुरु के समक्ष कैसे आज्ञा एवं अनुमति दे सकता हूँ? यह 'कहिये जो आयसु देहू' का उत्तर है।

(३) 'कौसिकादि मुनि सचिव समाजू।···'—श्रीविश्वामित्रजी पूर्वावस्था में राजा भी थे और फिर तपोबल से ब्रह्मर्षि भी हो गये और दूसरे ब्रह्मा हैं। इससे उन्हें आदि में कहा। पुनः आप उपस्थित हैं जो ज्ञान के समुद्र हैं। 'आजू'—हमारे भाग्य से आज असमंजस मिटाने को आ गये हैं। भाव यह कि पूर्व समाज में आप और श्रीकौशिकजी न थे। 'सिसु सेवक आयसु···'—आप अपना 'बच्चा' जानकर, गुरु एव श्रीकौशिक आदि 'सेवक' जानकर और सचिव-समाज 'आज्ञाकारी' मानकर मुझे शिक्षा दें। वा मैं आपलोगों का शिशु (अबोध बालक) हूँ, असएव असमर्थ हूँ। सेवक हूँ, अतः, आज्ञा देकर सेवा कहिये; यथा—"आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा" (दो० १००); 'आयसु अनुगामी' हूँ जैसी आज्ञा देंगे, अवश्य करूँगा। अर्थात् मैं शिक्षा का और आज्ञा पाने का ही अधिकारी हूँ, आज्ञा देने का नहीं।

(४) 'येहि समाज थल बूझब···'—क्रमालंकार से यों भी अर्थ होगा कि कहाँ यह ज्ञानियों, वृद्धों एवं गुरुजनों का समाज और कहाँ मैं! जिसे ऐसे समाज में मौन ही रहना उचित है। कहाँ चित्रकूट ऐसा पवित्र स्थल और कहाँ मैं मलिन (पापी) और कहाँ आप-जैसे ज्ञानाम्बुनिधि का पूछना और कहाँ उत्तर में मेरी बावली बातें। महान् अंतर है। समाज के जोड़ में बालक, स्थल के जोड़ में मलिन और बूझब रावर के जोड़ में बोलब बाउर—यह अयोग्यता दिखाई।

(५) 'छोटे बदन कहउँ बड़ि बाता।'—'छोटे मुँह और बड़ी बात' यह मुहावरा है; अर्थात् योग्यता से अधिक कहना, बड़ों के सामने बोलने का साहस करना, इस धृष्टता को क्षमा कीजियेगा, क्योंकि 'बाम बिधाता' अर्थात् मेरा भाग्य फूटा है; अतः, मैं दया का पात्र हूँ।

आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। सेवा-धरम कठिन जग जाना ॥७॥
स्वामि-धरम स्वारथहि बिरोधू। बैर अंध प्रेमहि न प्रबोधू ॥८॥

दोहा—राखि राम रुख धरमव्रत, पराधीन मोहि जानि।
सबके संमत सर्बहित, करिय प्रेम पहिचानि ॥२९३॥

अर्थ—वेद, शास्त्र और पुराणों में प्रसिद्ध है और संसार-भर जानता है कि सेवा-धर्म कठिन है ॥७॥ स्वामि-धर्म और स्वार्थ में परस्पर विरोध है, इन दोनों में अंध वैर है, इनमें (परस्पर) प्रेम का ज्ञान हो ही नहीं सकता ; अर्थात् स्वामि-धर्म की स्थिति में स्वार्थ न रहेगा और स्वार्थ की स्थिति में स्वामि-धर्म का निर्वाह नहीं ॥८॥ श्रीरामजी का रुख, धर्म और व्रत रखते हुए, मुझे पराधीन जानकर, सबका प्रेम पहचान कर, सबकी सम्मति से जो सबके लिये हितकारी हो, वही करिये ॥२९३॥

विशेष—(१) 'स्वामि-धरम स्वारथहि बिरोधू।'—उपर्युक्त सेवाधर्म ही स्वामि-धर्म है, उसका निर्णय करते हैं—स्वामि-धर्म वासना-रहित है और स्वार्थ वासना सहित है अतः; परस्पर विरोध है ; यथा—"सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥" (दो० ३००); इन दोनों में एक ही एक पात्र (अधिकारी) में रहता है, मैं स्वामि-धर्म ही चाहता हूँ, स्वार्थ नहीं, अतएव—

(२) 'राखि राम रुख धरम···'—श्रीभरतजी ने पहले भी कहा है—"अस कृपाल मोहि सो मत भावा। सकुच स्वामि मन जाइ न पावा॥" (दो० २६८); वैसे ही यहाँ भी कहते हैं—'राखि राम रुख···'। श्रीजनकजी ने जो-जो कहे थे, उनके उत्तर यहाँ सब आ गये हैं—'कहिय जो आयसु देहू' इसका उत्तर है—'पराधीन मोहि जानि' अर्थात् परतंत्र तो आज्ञा सुनकर तदनुसार करता है; अतएव मैं कुछ नहीं कह सकता। श्रीरामजी सत्यव्रत हैं, तो उनका 'व्रत' न टूटे, वे धर्मरत हैं, तो 'धर्म' (पिता की आज्ञा का पालनरूप धर्म) भी रहे। वे 'सब कर सील सनेह' रखना चाहते हैं, यह बना रहे, अतः सबका प्रेम पहचानकर सबकी सम्मति जो हो, वह किया जाय। और फिर—'संकट सहत सँकोच बस' पर कहते हैं—'राखि राम रुख' अर्थात् जैसा उनका रुख हो, वैसा ही किया जाय।

(३) 'सर्बहित, करिय'—इसमें अपना और परिजन, प्रजा सबका हित भी आ गया। यही तो गुरुजी ने भी कहा है ; यथा—"पुरजन जननी भरत हित, होइ सो कहिय उपाउ॥" (दो० २५७); गुरुजी ने यह भी कहा था—"राखे राम रजाइ रुख, हम सब कर हित होइ।" (दो० २५४); इसीसे यहाँ श्रीभरतजी ने 'रुख' को प्रथम कहा और उसीके अनुकूल अपनी पराधीनता कही।

भरत-बचन सुनि देखि सुभाऊ। सहितसमाज सराहत राऊ॥१॥
सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे। अरथ अमित अति आखर थोरे॥२॥
ज्यों मुख मुकुर मुकुर निज पानी। गहि न जाइ अस अदभुत बानी॥३॥
भूप भरत मुनि साधु समाजू। गे जहँ बिबुध-कुमुद-द्विजराजू॥४॥

अर्थ—श्रीभरतजी के वचन सुनकर और उनका स्वभाव देखकर समाज-सहित राजा श्रीजनकजी उनकी प्रशंसा कर रहे हैं ॥१॥ श्रीभरतजी की वाणी सुगम है और अगम भी, कोमल और सुंदर है पुनः कठोर भी, उसमें अक्षर तो बहुत कम हैं, पर अर्थ अत्यंत अमित हैं ॥२॥ जैसे मुख दर्पण में देख पड़ता है और दर्पण अपने हाथ में है, पर वह मुँह (का प्रतिबिंब) पकड़ा नहीं जाता, ऐसी ही

अद्भुत यह वाणी है ॥३॥ राजा, श्रीभरतजी, मुनि (श्रीवसिष्ठजी-श्रीविश्वामित्रजी) और साधु-समाज, वहाँ गये, जहाँ देवतारूपी कुई के लिये चंद्रमा रूप श्रीरामजी थे ॥४॥

विशेष— (१) 'सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे ।···'—उत्तम वाणी में ये सात बातें होनी चाहिये कि उसका-वाक्य प्रबंध सुगम हो, भाव की गंभीरता में अगम हो, कानों को सुनने में मृदु एवं रोचक हो, सर्व-शास्त्रों से निर्दूषित होने से मंजुता और समझने में कठोरता हो और फिर अक्षर अत्यन्त थोड़े पड़ें पर उनमें अर्थ अमित हो ।

इन सातों को यहाँ देखिये—वाक्य-प्रबंध की सुगमता यह कि पहले इन्होंने श्रीजनकजी और गुरुजी और कौशिक आदि की प्रशंसा योग्य एवं हेतु-पूर्ण वाक्यों से की, फिर 'सिसु सेवक···येहि समाज ' से अपना कार्पण्य कहा, तब अधिकारानुसार क्षमा माँगी । तब—"आगमनिगम " से सेवा-धर्म की महिमा कही, पुनः—"स्वामि धरम···" से उस सेवा-धर्म के करने का प्रकार दिखाया कि उसमें स्वार्थ का लेश भी न रहना चाहिये । तब दोहे में अपना स्वार्थ-रहित शुद्ध स्वामि-धर्म कहा है ।

इनमें—'सेवा धरम कठिन जग जाना ।'—विषय वाक्य है । स्वामि-धर्म और स्वार्थ का मिश्रित स्वरूप—संशय और स्वार्थ इसका पूर्वपक्ष है, ये (संशय और पूर्व पक्ष) दोनों—"स्वामि धरम स्वारथहि बिरोधू । बैर अंध···" इस अर्द्धाली में कहे गये हैं । फिर दोहे में इसका सिद्धान्त कहा गया है ।

भाव की अगमता यह कि रामरुख को प्रथम कहकर प्रधानता दी, क्योंकि गुरुजी ने पहले ही दृढ़ कर दिया था—"राखे राम रजाइ रुख·· " (दो० २५४); फिर श्रीजनकजी ने कहा था—"राम सत्य व्रत धरम रत···" (दो० २९२); तदनुसार श्रीरामजी का धर्म और व्रत भी रखने को कहा । श्रीजनकजी ने कहा था—'संकोच बस संकट सहत' अर्थात् श्रीरामजी तुम्हारे संकोच से संकट सहते हैं, उसपर कहते हैं—'पराधीन मोहि जानि'—मुझे पराधीन जानिये, मैं स्वामी की आज्ञा में ही प्रसन्न हूँ, तो संकोच कैसा ? 'सब कर सील सनेह'—रखने में संकट सहते हैं, उसपर कहते हैं—"सबके संमत सर्बहित ··" अर्थात् सबका श्रीरामजी में प्रेम है, तो सभी उनकी आज्ञा के पालन में अपना हित समझकर सम्मत दे देंगे ।

सुनने में मृदु और रोचक स्पष्ट ही हैं । इनका सिद्धान्त-भूत विषय शास्त्र-संमत है ही, यही इसमें मंजुता है । अर्थ के अमित होने में कठोरता है, वही आगे—'ज्यों मुख मुकुर···' से कही गई है । 'रुख' 'धरम' 'व्रत' आदि में अक्षर थोड़े हैं और इनका अर्थ-विस्तार बहुत है । वा, सम्पूर्ण वाक्य में भी अक्षर थोड़े और अर्थ बहुत हैं और उनका समझना और व्यवस्था करना कठिन है ।

(२) 'ज्यों मुख मुकुर···'—ऊपर 'आगमनिगम···स्वामिधरम···' में कहा हुआ शुद्ध सेवा-धर्म मुख है, और—'राखि राम रुख ··' यह दोहा मुकुर है, इसमें कहा है—'पराधीन मोहि जानि' यह सेवा-धर्म का प्रतिबिंब है । आशय यह है कि मैं अपना स्वार्थ नहीं चाहता । जो स्वामी की आज्ञा होगी, वही करूँगा और सबका प्रभु में प्रेम है, उसे पहचानिये, तो स्पष्ट हो जायगा कि स्वामी की आज्ञा में सभी अपना हित मानेंगे और सम्मत दे देंगे । इस तरह अर्थ-व्यवस्था है, पर सहसा पकड़ में नहीं आती । यही वाणी की अद्भुत रूपता है ।

कोई-कोई सुगम आदि को क्रमशः सबमें लगाते हैं—'सुगम'—'प्रभु पितु पूज्य···' 'अगम'—'कौसिकादि·· ' मृदु—'सिसु सेवक आयसु···' मंजु—'मोन मलिन मैं ·' कठोर—'सेवा धरम कठिन जग···स्वामिधरम···' अरथ अमित अति आखर थोरे—'राखि राम रुख धरम ··' इत्यादि ।

(३) 'गे जहँ बिबुध कुमुद···'—आगे दरबार में क्या निर्णय होगा, वह यहीं पर बीज-रूप में

जना दिया कि जैसे चन्द्रमा का जन्म सिंधु में होता है, पर वह ब्रह्मांड-भर में विचरता है और संकुचित कुई को प्रफुल्लित करता है। वैसे ही श्रीरामजी का जन्म श्रीअयोध्याजी में हुआ, पर वे जगत् में विचरेंगे; अर्थात् अभी लौटकर घर न जायँगे और संकुचित कुई के समान देवताओं को (जो शोच में पड़े हैं,) विकसित करेंगे। आज देवताओं के कार्य के लिये वन जाना ही निश्चय करेंगे। देवताओं के शोच-प्रसंग में भी यही 'विबुध' शब्द कई बार आया है; यथा—"पालु विबुध कुल··· विबुध बिनय सुनि···बिबुध बिकल निसि ··" (दो० २११); देवताओं में यह बुद्धिमानी है कि दुःख पड़ने पर भगवान् की ही शरण जाते हैं। इससे प्रभु उनका दुःख हरते हैं, इसीसे इन्हें 'विबुध' कहा है। आगे दुःख-निवृत्ति पर इनका प्रफुल्ल होना भी कहेंगे; यथा—"गावत गुन सुर मुनि बर बानी।" (बा० दो० १२)।

सुनि सुधि सोच बिकल सब लोगा। मनहुँ मीनगन नवजल जोगा ॥५॥
देव प्रथम कुल-गुरु-गति देखी। निरखि बिदेह सनेह बिसेखी ॥६॥
राम-भगति-मय भरत निहारे। सुर स्वारथी हहरि हिय हारे ॥७॥
सब कोउ राम प्रेममय पेखा। भये अलेख सोचबस लेखा ॥८॥

दोहा—राम-सनेह-सँकोच-बस, कह ससोच सुरराज।
रचहु प्रपंचहि पंच मिलि, नाहिं त भयउ अकाज ॥२९४॥

शब्दार्थ—नवजल जोगा = माँजा व्यापने से। जोगा = संयोग से, मिलने से। अलेख = बे-अंदाज, बहुत अधिक। लेखा = देवता। पंच = सब लोग; यथा—"पंच कहे सिव सती···" (बा० दो० ७८); या, पाँच एवं उससे अधिक प्रधान लोगों का समाज।

अर्थ—यह खबर पाकर सबलोग शोच से व्याकुल हैं, मानों मछलियाँ नये (प्रथम वर्षा के) जल के संयोग से (माँजा के द्वारा) छटपटा रही हैं ॥५॥ देवताओं ने पहले कुल-गुरु श्रीवसिष्ठजी की दशा देखी, फिर विदेह श्रीजनकजी का विशेष स्नेह देखा ॥६॥ और श्रीभरतजी को देखा कि वे श्रीराम-भक्ति-मय हैं; अर्थात् उनमें भीतर-बाहर श्रीराम-भक्ति ही ओत-प्रोत है। तब स्वार्थी देवता लोग घबड़ाकर हृदय से हार गये, (कि ये सब अवश्य श्रीरामजी को लौटा ले जायँगे, अब कोई उपाय नहीं, क्या करें?) ॥७॥ समाज के सब-किसी को श्रीराम-प्रेम-मय देखा, तो देवता लोग बे-अंदाज शोच के वश हो गये ॥८॥ देवराज इन्द्र शोच के साथ कहने लगे कि श्रीरामजी स्नेह और संकोच के वश हैं। सब पंच लोग मिलकर माया रचो, नहीं तो कार्य बिगड़ता है ॥२९४॥

विशेष—(१) यहाँ देखी, निरखि, निहारे और पेखा पर्याय हैं, भिन्न-भिन्न शब्द देना रचना-सौष्ठव है।

(२) 'सुनि सुधि सोच···'—गोष्ठी का निर्णय—'राखि राम रुख धरम ब्रत···' सुनकर सबलोग शोच में व्याकुल हो गये, जैसे मछली माँजा से व्याकुल होती है। क्योंकि श्रीराम-वियोग का निश्चय हो गया। श्रीरामजी का रुख वनवास करने और पिता की आज्ञा के पालन करने का है ही। 'नव जल जोगा'; यथा—"माँजा मनहुँ मीन कहँ व्यापा।" (दो० १५१)।

(३) 'कुल गुरु गति'; यथा—"भये सनेह सिथिल मुनि राऊ"। 'विदेह सनेह'—"सुनि मुनि बचन जनक अनुरागे।···" से "तापस मुनि·" तक। 'राम भगतिमय भरत'; यथा—"राम-प्रेम मूरति तन आही।" (दो० १८१); "तुम्ह तौ भरत मोर मत येहू। धरे देह जनु राम सनेहू॥" (दो० २०७)। 'सब कोउ राम-प्रेम मय'; यथा—"सहज सुभाय समाज दुहूँ, राम चरन अनुराग॥" (दो० २८०)। 'हहरि हिय हारे'—देवता लोग स्वार्थांध होने के कारण श्रीभरतजी की वाणी का अभिप्राय नहीं समझ सके, इसीसे घबड़ा उठे। श्रीभरतजी की वाणी "गहि न जाइ अस अद्भुत बानी।" तो कही ही गई है। 'भये अलेख सोच···'—पहले तीन तक को ही देखा, जब सभी को वैसा प्रेमी देखा, तब इनके शोच का लेखा ही न रहा।

(४) 'राम-सनेह सँकोच-बस ··'; यथा—"राम सँकोची प्रेमबस, भरत सुप्रेम पयोधि। बनी बात बिगरन चहति, करिय जतन छल सोधि॥" (दो० २१७); वही भाव यहाँ भी है। वहाँ बृहस्पति ने समझाया, पर फिर भी वही हाल है, क्योंकि ये स्वार्थांध हैं। पुनः धीरता-अधीरता, ज्ञान-अज्ञान ये जीवों के स्वभाव हैं, *यथा—"हरष बिषाद ज्ञान अज्ञाना। जीव धरम अहमिति अभिमाना॥"* (बा० दो० ११५), देवता भी तो बद्ध जीव ही हैं।

सुरन्ह सुमिरि सारदा सराही। देवि देव सरनागत पाही॥१॥
फेरि भरतमति करि निज माया। पालु बिबुधकुल करि छलछाया॥२॥
बिबुध-बिनय सुनि देवि सयानी। बोली सुर स्वारथ जड़ जानी॥३॥
मो सन कहहु भरत-मति फेरू। लोचन सहस न सूझ सुमेरू॥४॥

अर्थ—देवताओं ने सरस्वती का आवाहन करके उसकी प्रशंसा की (और कहा) हे देवि! देवता आपकी शरण में प्राप्त हैं, रक्षा कीजिये॥१॥ अपनी माया करके श्रीभरतजी की बुद्धि को फेरकर छल रूपी छाया से देवताओं के कुल का पालन कीजिये॥२॥ देवताओं की प्रार्थना सुनकर और उन्हें स्वार्थ-वश जड़ जानकर चतुर देवी (इन्द्र से) बोली॥३॥ कि मुझसे कहते हो कि श्रीभरतजी की बुद्धि पलट दो, हजार नेत्रों से भी तुम्हें सुमेरु पर्वत नहीं सूझता॥४॥

विशेष—(१) 'करि छलछाया'—श्रीरामजी का लौटाना ग्रीष्म का तपन है। अतः, ये लोग छल-रूपी छाते की छाया चाहते हैं। 'बिबुध-बिनय सुनि···'—विनय के साथ विबुध कहा, क्योंकि विनती में बड़ी बुद्धि लगाई। जड़ कहने में 'सुर' छोटा सा नाम दिया। 'जड़ जानी'—बृहस्पतिजी ने दो बार समझाया, फिर भी न समझा; यथा—"समुझाये सुर गुरु जड़ जागे।" (दो० २४०), "स्वारथ बिबस बिकल तुम्ह होहू।" (दो० २१६)। इससे सयानी देवी ने जान लिया कि ये जड़ हो गये हैं, इसीसे इन्होंने भरत-भारती नहीं समझी।

(२) 'लोचन सहस न सूझ सुमेरू।'—यहाँ श्रीभरतजी प्रेम-प्रभाव सहित सुमेरु हैं; यथा—"कहिय सुमेरु कि सेर सम · भरत अमित महिमा···" (दो० २८१), सुमेरु बहुत ऊँचा और भारी है, एक आँखवाला भी उसे देख सकता है, तुम हजारों आँखों से भी नहीं देख पाते, आश्चर्य है! श्रीभरतजी की थाह श्रीवसिष्ठजी, श्रीजनकजी और विधि हरिहर भी नहीं पा सकते, प्रत्युत् उन्हें देखकर प्रेम में मग्न हो जाते हैं, यह तुम्हें नहीं सूझता? भला उनकी मति फेरी जा सकती है?

बिधि-हरि-हर माया बड़ि भारी। सोउ न भरतमति सकइ निहारी ॥५॥
सो मति मोहि कहत करु भोरी। चंदिनि कर कि चंडकर चोरी ॥६॥
भरत-हृदय सिय-राम निवासू। तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू ॥७॥
अस कहि सारद गइ बिधिलोका। बिबुध बिकल निसि मानहुँ कोका ॥८॥

दोहा—सुर स्वारथी मलीन मन, कीन्ह कुमंत्र कुठाट।
रचि प्रपंच माया प्रबल, भय भ्रम अरति उचाट ॥२९५॥

करि कुचालि सोचत सुरराजू। भरत-हाथ सब काज अकाजू ॥१॥

शब्दार्थ—अरति = अलगन, मन का किसी काम में न लगना। उचाट = चित्त का चट जाना।

अर्थ—ब्रह्मा, विष्णु और महेश की माया बड़ी भारी है, वह भी श्रीभरतजी की बुद्धि की ओर नहीं देख सकती ॥५॥ उसी बुद्धि को तुम मुझसे कहते हो कि भोली कर दो, क्या चाँदनी सूर्य की चोरी कर सकती है? ॥६॥ श्रीभरतजी के हृदय में श्रीसीतारामजी का निवास है, जहाँ सूर्य का प्रकाश है, वहाँ क्या अँधेरा हो सकता है? ॥७॥ ऐसा कहकर सरस्वती ब्रह्मा के लोक को चली गईं, देवता व्याकुल हो गये, मानों रात में चकवा व्याकुल हो रहा है ॥८॥ मन के मैले और स्वार्थी देवताओं ने कुमंत्र का बुरा ठाट रचा, प्रबल मायाजाल रचकर भय, भ्रम, अलगनता और उचाटन फैलाया ॥२९५॥ कुचाल करके इन्द्र सोचता है कि (मेरा) कार्य-अकार्य श्रीभरतजी के हाथ है, (चाहे बनावें या बिगाड़ें) ॥१॥

विशेष—(१) 'बिधि-हरि-हर माया···'—इनमें से एक-एक की माया बड़ी प्रबल है, तीनों की माया मिलकर भी श्रीभरतजी की बुद्धि के तेज के सामने दृष्टि नहीं कर सकती और भोरी करना तो बड़ा भारी काम है। तब अकेली मेरी माया वहाँ क्या कर सकती है? यथा—"कहत सारदहु कर मति हीचे। सागर सीप कि जाहिं उलीचे॥" (दो० २८५); अर्थात् उनके समक्ष में मेरी माया अत्यन्त तुच्छ है। यह कुछ नहीं कर सकती। श्रीभरतजी की मति गुणातीत है, अतः, वहाँ त्रिदेव की त्रिगुणमयी माया नहीं लगेगी।

(२) 'चंदिनि कर कि चंडकर चोरी।'— चंद्रमा में सूर्य से ही प्रकाश आता है, अतः, चन्द्रमा भी सूर्य को नहीं चुरा सकता, तो उसकी चाँदनी की सामर्थ्य कहाँ? यहाँ त्रिदेव चन्द्रमा, सारदा चाँदनी और श्रीभरत-मति प्रचंड किरणवाले दोपहर के सूर्य के समान है, अर्थात् शारदा की माया से श्रीभरतजी की मति का भोरी होना असंभव है।

(३) 'भरत-हृदय सिय-राम···'—मेरा छल अंधकार-रूप है, श्रीभरतजी के हृदय में श्रीसीताराम-रूपी तरुण सूर्य का निवास है; यथा—"सूर्यमंडलमध्यस्थं रामं सीतासमन्वितम्।" (सनत्कुमार संहिता); अतः, वहाँ मेरी माया स्वतः नाश हो जायगी। भाव यह कि त्रिदेव और उनकी शक्तियाँ श्रीसीताराम जी के अंश से प्रादुर्भूत होती हैं; यथा—"रेफो रुद्रः मूर्त्तयः स्युः शक्त्यस्तिस्र एव च।" (रा०ता० उ०) तथा—"बिधिहरि हर मय।" (बा० दो० १८) अतः, सबकी माया उनके अन्तर्भूत हैं; यथा—"माया

सब सिय माया माहू।" (दो० २५१), "मायापति सेवक सन माया।" (दो० २१७)। शारदा भी ब्रह्मा की शक्ति ही है, तो इसको माया वहाँ कैसे पहुँच सकती है ? श्रीसीतारामजी ज्ञान स्वरूप सूर्य हैं, वहाँ अज्ञानरूप तम नहीं जा सकता।

(४) 'अस कहि सारद गइ···'—ब्रह्मा के लोक में वह रहती है; यथा—"भगति हेतु बिधि-भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवत धाई॥" (बा० दो० १०); इन्हें उत्तर देकर वहीं चली गई। 'बिबुध बिकल··'–रात में चकवे-चकवी का वियोग रहता है, इसीसे व्याकुलता रहती है। श्रीरामजी के श्रीअवध लौटने से देवताओं को भी राज्यश्री से वियोग रहेगा, वे अप्सरा आदि से सदा वियोगी रहेंगे, इससे भावी दुःख को समझकर व्याकुल हो गये।

(५) 'सुर स्वारथी मलीन मन'···'—'मलीन मन'—क्योंकि सरस्वती की शिक्षा मन में न बैठी। 'भय'—बाघ, सिंह आदि का, 'भ्रम'–हम कहाँ आ पड़े हैं, कहाँ श्रीअयोध्या, 'अरति'—चित्त घर के बाल-बच्चों में जाता है, इधर से प्रीति हटती है। 'उचाट'—अब तो श्रीरामजी लौटेंगे नहीं ही, वन ही में रहेंगे, जाना तो होगा ही, अच्छा हो कि शीघ्र चल दें। भय, भ्रम और अरति—ये उचाट के ही अंग हैं, आगे प्रसंग में ये स्पष्ट चरितार्थ हैं; यथा—"प्रथम कुमत करि कपट सकेला। सो उचाट सबके सिर मेला॥···" से "सुरपति छल भारे॥" तक (दो० ३०१–३०२)।

(६) 'करि कुचालि सोचत सुरराजू।'—कुचाल का ठाट करने पर सरस्वती के वचनों के स्मरण करने पर फिर शोच हुआ कि जिनके हाथों से सब बनना-बिगड़ना है, उन श्रीभरतजी पर तो माया लगेगी नहीं, फिर औरों पर डालना ही व्यर्थ है। अतः, अभी माया-जाल रचकर ठीक कर लिया है। डालना पीछे दो० ३०१ में लिखा जायगा।

इन्द्र सन्मार्गियों का अनिष्ट करता है। इससे उसे व्यर्थ ही मानसी व्यथा हो रही है। श्रीभरतजी से यह भी भय है कि कहीं मेरी कुचाल से बच जायँगे, तो फिर न जाने मुझपर क्या करेंगे ? क्योंकि श्रीरामजी इनके हाथ में हैं।

इन भय, भ्रम, अरति और उचाट को तांत्रिक क्रिया सूक्ष्म रीति से श्रीवैजनाथजी की टीका में लिखी गई है।

चित्रकूट द्वितीय दरबार

(सार्वजनिक सभा)

गये जनक रघुनाथ - समीपा। सनमाने सब रबि-कुल-दीपा॥२॥
समय समाज धरम अबिरोधा। बोले तब रघुबंस - पुरोधा॥३॥
जनक - भरत संबाद सुनाई। भरत कहाउति कही सुहाई॥४॥
तात राम जस - आयसु देहू। सो सब करइ मोर मत येहू॥५॥
सुनि रघुनाथ जोरि जुग पानी। बोले सत्य सरल मृदु बानी॥६॥
बिद्यमान आपुन मिथलेसू। मोर कहब सब भाँति भदेसू॥७॥
राउर राय रजायसु होई। राउरि सपथ सही सिर सोई॥८॥

दोहा—राम-सपथ सुनि मुनि जनक, सकुचे सभासमेत।
सकल बिलोकत भरत मुख, बनइ न ऊतर देत ॥२९६॥

शब्दार्थ—अविरोधा = अनुकूल। पुरोधा = पुरोहित। कहाउति = वक्तव्य, उक्ति।

अर्थ—श्रीजनकजी श्रीरघुनाथजी के पास गये। सूर्यकुल के दीपक (श्रेष्ठ) श्रीरामजी ने सबका सम्मान किया ॥२॥ तब रघुकुल के पुरोहित श्रीवसिष्ठजी समय, समाज और धर्म के अनुकूल बोले ॥३॥ उन्होंने श्रीजनकजी और श्रीभरतजी का संवाद सुनाया। श्रीभरतजी की सुन्दर उक्ति (कही हुई बात) सुनाई ॥४॥ हे तात श्रीरामजी ! मेरा मत तो यह है कि जैसी तुम आज्ञा दो, वही सब करें ॥५॥ सुनकर श्रीरघुनाथजी दोनों हाथ जोड़कर सत्य, सीधी और कोमल वाणी बोले ॥६॥ कि आपकी और श्रीमिथिलेशजी की विद्यमानता (उपस्थिति) में मेरा कहना (आज्ञा देना) सब प्रकार भद्दा है ॥७॥ आपकी और राजा की जो आज्ञा होगी, आपकी शपथ, वह सत्य ही सबको शिरोधार्य होगी ॥८॥ श्रीरामजी की शपथ सुनकर सभा-समेत मुनि और श्रीजनकजी सकुचा गये। सभी श्रीभरतजी का मुँह देखने लगे, उत्तर देते नहीं बनता ॥ २९६ ॥

विशेष—(१) 'गये जनक रघुनाथ-समीपा···'—पहले—"भूप भरत मुनि साधु समाजू। गे जहँ विबुध कुमुद द्विजराजू॥" (दो० २९१); पर प्रसंग छोड़कर देवताओं की बातें कहने लगे थे, अब फिर वहीं से प्रसंग उठाया। वहाँ 'गे जहँ···' और यहाँ—'गये जनक···' वहाँ 'भूप' को प्रधान कहा गया, वैसे यहाँ भी—'गये जनक·····' कहा है। 'गये' शब्द आदरार्थक और बहुवचन है, क्योंकि इनके साथ समाज भी है, श्रीरामजी ने गुरुजी से कहा, गुरुजी ने श्रीजनकजी पर रख दिया, फिर वे ही श्रीभरतजी के पास गये और वहाँ से सम्मत कर सबके साथ श्रीरामजी के पास आये। 'सनमाने सब रबिकुल दीपा।'—सम्मान यह कि आगे से बढ़कर लिवा लाये, स्वयं लाकर आसन दिया और बैठने की प्रार्थना की। सम्मान के संबंध में रविकुल-दीप कहा, क्योंकि अब ये ही इस कुल में ज्येष्ठ हैं; राजा के सम्मान करने के योग्य श्रीदशरथजी थे, वे नहीं हैं, तो अब श्रीरामजी ही हैं। पहले 'विबुध कुमुद द्विजराजू' कहा, अब 'रविकुल दीपा' कहते हैं, इससे सूचित किया कि देवताओं की तरफ अधिक ढरेंगे' उनकी रक्षा में चित्त है, उन्हीको प्रफुल्लित करेंगे। क्योंकि रविकुल के सम्बन्ध में 'दीपा' और विबुध पक्ष में—'द्विजराजू' कहा गया है।

(२) 'समय समाज धरम अविरोधा।'—शोक का समय है, इससे अल्प वचन, समाज बुद्धिमानों का है, अतः विचार-पूर्वक, सारी व्यवस्था पिता-वचन रक्षा रूप धर्म पर करनी है ; अतः, उसे भी रखते हुए बोले। बोलने में श्रीवसिष्ठजी प्रधान हैं, क्योंकि ये ही सबसे बड़े हैं और श्रीजनक आदि की बातें ज्यों-की-त्यों कहनी हैं। फिर श्रीरामजी से भी इन्होंने ही वचन दिया था कि मैं प्रबन्ध करता हूँ, आप आश्रम पर चलिये। इससे किये हुए प्रबंध को आकर कहा भी है।

(३) 'जनक-भरत संबाद···'—"तात भरत कह तिरहुति राऊ।···" से "राखि रामरुख धरम ब्रत··" तक जो कुछ कहा गया, वह सब कहा। श्रीभरतजी की 'कहाउति' को 'सुहाई' कहा, क्योंकि उसमें उनके शुद्ध सेवक धर्म की व्यवस्था है और वे वचन सुहावने हैं भी ; यथा—"सुगम अगम मृदु मंजु···"।

(४) 'तात राम जस आयसु देहू।······'—यही गुरुजी का निश्चय सबसे पहले था, वही श्रीजनकजी का भी हुआ और श्रीभरतजी ने भी वही माना। अतः, सर्वनिश्चित मत गुरुजी ने यहाँ कहा।

'आयसु देहू' के साथ 'राम' शब्द ऐश्वर्यपरक है। मुनि ऐश्वर्य-दृष्टि से आज्ञा देने को कहते हैं, पर श्रीरामजी ने माधुर्य ही में उत्तर दिया, अतः—'सुनि रघुनाथ···' कहा गया, क्योंकि आज्ञा देना गुरु और राजा पर रख दिया।

'सब भाँति भदेसू'—छोटा बड़ों को कैसे आज्ञा दे? आप दोनों सब प्रकार बड़े हैं; यथा—"प्रभुप्रिय पूज्य पिता सम आपू। कुलगुरु सम हित माय न बापू॥" (दो० २११)।

(५) 'राखर राय रजायसु होई।···'—भाव यह कि यदि मैं आप दोनों की आज्ञा न माननेवाला होता, तो मुझसे ही कहलाया जाता। मैं तो शपथ-पूर्वक प्रस्तुत हूँ। आप पिता के समान हैं; यथा—"कुल गुरु सम हित माय न बापू।" और राजा पिता के तुल्य हैं ही। मैं भी पिता की आज्ञा के पालन पर तत्पर हूँ। अतः, आप दोनों चाहे उसे करवावें और चाहे छुड़ा दें। धर्म-अधर्म का भार आप दोनों पर है। पहले समाज में भी श्रीरामजी ने ऐसा ही कहा था; यथा—"माथे मानि करउँ सिख सोई।" (दो० २५७); अब यहाँ शपथ करके भी कहा।

(६) 'राम-सपथ सुनि मुनि ······'—सकुच का कारण यह कि श्रीरामजी जिस धर्म पर आरूढ़ हैं, उसे कैसे छुड़ावें? और जो लौटने की बात न कहें, तो लोग कहेंगे कि आये ही क्यों? और श्रीभरतजी को दुःख होगा। पूर्व विचारों से यह निश्चित हो चुका है कि श्रीरामजी के सत्य व्रत आदि न छूटें। तब तो श्रीभरतजी को ही श्रीअवध-रक्षा का भार लेना होगा, जो उनके लिये अत्यंत दुखद है। पर उन्हें कोई कैसे कहे? इसलिये सब उन्हींका मुख देखने लगे।

सभा सकुचबस भरत निहारी। रामबंधु धरि धीरज भारी॥१॥
कुसमय देखि सनेह सँभारा। बढ़त बिंधि जिमि घटज निवारा॥२॥
सोक कनकलोचन मति छोनी। हरी बिमल-गुन-गन जगजोनी॥३॥
भरतबिबेक बराह बिसाला। अनायास उधरी तेहि काला॥४॥

शब्दार्थ—घटज = अगस्त्यजी। निवारा = रोका। कनकलोचन = हिरण्याक्ष। छोनी = पृथिवी। जगजोनी = ब्रह्मा। उधरी = छूटी, मुक्त हुई।

अर्थ—सभा को संकोच के वश देखकर श्रीरामजी के भाई श्रीभरतजी ने बड़ा धैर्य धारण किया॥१॥ और कुसमय समझकर (अपने बढ़ते हुए) स्नेह को सँभाला, जैसे बढ़ते हुए विन्ध्याचल को श्रीअगस्त्यजी ने रोका है॥२॥ शोक-रूपी हिरण्याक्ष ने (अपनी) बुद्धि-रूपिणी पृथिवी के (नाना पदार्थ-रूपी) निर्मल गुण-गणों को हर लिया॥३॥ (तब) ब्रह्मा-रूपी श्रीभरतजी के विवेक-रूपी विशाल वराह (भगवान्) के द्वारा बिना श्रम उसी समय वह मुक्त हुई, अर्थात् अपयश एवं वियोग-जन्य दुःख के द्वारा बुद्धि के हरे हुए निर्मल गुण-समूह, त्याग, विराग, धैर्य, स्थिरता, शांति, क्षमा आदि विवेक के द्वारा फिर आ गये; यथा—"होत मगन बारिधि बिरह, चढ़े बिबेक जहाज॥" (दो० २१०)॥४॥

विशेष—(१) 'सभा सकुचबस भरत···'—ऊपर 'सकुचे सभासमेत' कहा गया, वही भाव लेकर यहाँ 'सकुच बस' कहा गया। धैर्य के सम्बन्ध से रामबंधु कहा गया, क्योंकि श्रीरामजी धीरधुरंधर हैं, उनके भाई हैं; अतः, ये भी धीर हैं। इसीसे इन्होंने भारी धैर्य धरकर शोक और स्नेह को दबाया।

उसीको दो रूपकों से कहते हैं। शोक और स्नेह से अधीरता आती है; यथा—"सोक सनेह कि बाल सुभाये। आयेउँ लाइ रजायसु बाँये॥" (दो० २११); "सोक सनेह सयानप थोरा।" (दो० २८१)।

(२) 'कुसमय देखि सनेह सँभारा......'—विन्ध्याचल बढ़कर सूर्य की गति को रोकना चाहता था, तब डरकर देवताओं ने श्रीअगस्त्यजी से कहा, उन्होंने उसे रोक दिया। इसकी कथा दो० १३७ चौ० ८ में देखिये। यहाँ श्रीभरतजी का स्नेह विन्ध्याचल है, श्रीभरतजी अगस्त्य हैं। श्रीरामजी सूर्य हैं, उनकी प्रतिज्ञा-रूपी गति का बाधक जानकर बढ़ते हुए अपने स्नेह को श्रीभरतजी ने रोका। यद्यपि पहले से ही निश्चय कर चुके हैं—"राखि राम रुख धरम ब्रत..." आदि, तथापि यहाँ भावी वियोग की दृष्टि पर स्नेह उमड़ आया था, जिससे बुद्धि में सहसा यह बात आई कि किसी प्रकार प्रभु आँखों से ओट न हों, इससे श्रीरामजी की प्रतिज्ञा को राह रुक जाती। इसलिये इस स्नेह को इन्होंने रोक लिया, प्रकट न होने दिया।

(३) 'सोक कनक लोचन मति ... ...'—भूमि की तरह इनकी बुद्धि बड़ी उपजाऊ है, स्वस्थ होने पर आगे कही गई है; यथा—"बिमल बिबेक धरम नय साली। भरत भारती मंजु मराली॥" पर सहसा उठे हुए शोक ने उसे क्षण-भर के लिये विक्षिप्त कर दिया, जैसे हिरण्याक्ष के पाप प्रभाव से पृथिवी को उपज मारी गई थी। पर इन्होंने विवेक-द्वारा उक्त शोक का निवारण किया और धैर्य धारण करने पर उनकी बुद्धि में निर्मल गुण-गण फिर आ गये, तब उस भरत-भारती की आगे प्रशंसा की गई है। शोक से बुद्धि के दिव्य गुण हर जाते हैं; यथा—"सोक बिकल दोउ राज समाजा। रहा न ज्ञान न धीरज लाजा॥" (दो० २७५); वराह भगवान् से हिरण्याक्ष का नाश होता है, वैसे विवेक से शोक का; यथा—"सोक निवारेउ सबहिं कर, निज विज्ञान प्रकास॥" (दो० १५६); वहाँ बहुत काल में और भारी युद्ध होने पर हिरण्याक्ष मारा गया और यहाँ बिना श्रम (अनायास) और उसी समय क्षण-भर में ही (तेहिकाला) बुद्धि-रूपा पृथिवी मुक्त हुई और उसकी आसुरी वृत्ति (शोक) का नाश हुआ। हिरण्याक्ष और वराह की कथा—"धरि बराह बपु एक निपाता" (बा० दो० १२१); में दी गई है। ब्रह्मा 'जग जोनी' हैं, वैसे श्रीभरतजी भी विश्व-भरण-पोषण करनेवाले हैं।

करि प्रनाम सब कहँ कर जोरे। राम राउ गुरु साधु निहोरे॥५॥
छमब आजु अति अनुचित मोरा। कहउँ बदन मृदु बचन कठोरा॥६॥
हिय सुमिरी सारदा सुहाई। मानस ते मुख-पंकज आई॥७॥
बिमल बिबेक धरम नयसाली। भरत भारती मंजु मराली॥८॥

दोहा—निरखि बिबेक बिलोचनन्हि, सिथिल सनेह समाज।
करि प्रनाम बोले भरत, सुमिरि सीय-रघुराज॥२९७॥

शब्दार्थ—निहोरे=प्रार्थना की। साली (शाली)=परिपूर्ण, युक्त, वाली; जैसे सम्पत्तिशाली=धनवाला, एवं बलशाली, गुणशाली, तपशाली आदि।

अर्थ—(श्रीभरतजी ने) प्रणाम करके सबसे हाथ जोड़े, श्रीरामजी, राजा, गुरु और साधु-समाज से उन्होंने प्रार्थना की॥५॥ आज मेरे इस अत्यन्त अनुचित को क्षमा कीजियेगा, (जो कि) कोमल मुख से

वचन कह रहा हूँ ॥६॥ हृदय में सुहावनी सरस्वती का स्मरण किया, वह हृदय (मन) से मुख-कमल पर आई ॥७॥ निर्मल विवेक, धर्म और नीति से पूर्ण श्रीभरतजी की भारती (वाणी) सुन्दर हंसिनी है ॥८॥ विवेक-दृष्टि से समाज को स्नेह-शिथिल देखकर, सबको प्रणाम करके, श्रीभरतजी, श्रीसीताजी और श्रीरघुनाथजी का स्मरण करके बोले ॥२९७॥

विशेष—(१) 'करि प्रनाम सब कहँ···'—यह सज्जनों के समाज में बोलने की रीति है कि बड़ों से प्रार्थना करके वक्तृत्व में अनुचित हो जाने की क्षमा माँग ले।

(२) 'छमब आजु अति···'; यथा—"छोटे बदन कहउँ बड़ि बाता। छमब तात लखि बाम बिधाता॥" (दो० २६१); 'बदन मृदु'—बालक का मुख कोमल होता है। 'बचन कठोरा'—गुरुजनों के प्रति ढिठाई करता हूँ।

(३) 'हिय सुमिरी सारदा सुहाई।'—'सारदा सुहाई'—यह परा वाणी है जो शुद्ध श्रीराम-तत्त्व का निरूपण करती है और नाभि-कमल में इसका स्थान है, उसने हृदय से आकर मुख-कमल पर वैखरी वाणी को प्रकाशित किया। तात्पर्य यह कि जो पहले मन में निश्चय किया था; यथा—"करि बिचार मन दीन्ही ठीका। राम रजायसु आपन नीका॥" (दो० २६५); उसीके प्रकट करने का अनुसंधान किया। वाणी का रूपक हंसिनी से है। हंसिनी मानस सर में रहती है, कमल पर आकर बैठती है और फिर मुक्ता-गण को चुगती है। वैसे ही यह वाणी मन (मानस) से निकलकर मुख-कमल पर आई और आगे इसे—'बिमल बिबेक धरम नय' में विमल गुण-गण-रूपी मोतियों के चुनने के स्वभाववाली भी कहते हैं; यथा—"जसु तुम्हार मानस बिमल, हंसिनि जीहा जासु। मुकताहल गुन गन चुनइ···" (दो० १२८); ब्रह्माजी पद्मासन हैं, तो उनकी शक्ति सरस्वती भी पद्मासिना है; अतः, मुख-कमल पर उसका आना युक्त है। यह भरत-भारती केवल श्रीराम-तत्त्व ग्रहण करेगी, श्रीरामजी के ही सुन्दर गुणों को अति उत्तम रीति से चुनेगी, इसलिये इसे 'मंजु मराली' कहा गया। 'बिमल'—अर्थात् विवेक, धर्म और नीति समल (मलिन) भी होते हैं, पर यह निर्मल विवेक आदि से ही पूर्ण है।

(४) 'निरखि बिबेक बिलोचनन्हि···'—पहले श्रीभरतजी की वाणी को विमल-विवेक, धर्म और नीति-पूर्ण कहा गया। उनमें यहाँ पहले विवेक का कार्य कहते हैं कि सब समाज (अर्थात् श्रीजनकजी-श्रीवसिष्ठजी आदि) की माधुर्य पर ही दृष्टि है, इससे वे सब स्नेह में शिथिल ही हैं। पर इन्होंने स्नेह और शोक को विवेक से दबाकर धैर्य धारण कर लिया, ऊपर कहा गया। वही बात लेकर कहते हैं कि अब श्रीसीतारामजी का स्मरण-रूपी मंगलाचरण करके बोले—

प्रभु पितु मातु सुहृद गुरु स्वामी। पूज्य परमहित अंतरजामी॥१॥
सरल सुसाहिब सीलनिधानू। प्रनतपाल सर्बग्य सुजानू॥२॥
समरथ सरनागत हितकारी। गुनगाहक अवगुन अघ हारी॥३॥
स्वामि गोसाइँहि सरिस गोसाईं। मोहि समान मैं साइँ दोहाई॥४॥

अर्थ—हे प्रभो! आप मेरे पिता, माता, सुहृद, गुरु, स्वामी, पूज्य, परम-हितैषी और हृदय के जाननेवाले हैं॥१॥ सरल, अच्छे इष्टदेव, शील के खजाना, दीनों के पालक, सर्वज्ञ, सुजान॥२॥ समर्थ, शरणागत का हित करनेवाले, गुणों को ग्रहण करनेवाले, अवगुणों और पापों के हरनेवाले

हैं ॥३॥ हे स्वामी ! (श्रेष्ठता में) गोसाईं के समान गोसाईं ही हैं और स्वामी की दोहाई (शपथ) मेरे समान (अधमता और स्वामि द्रोहिता में) मैं ही हूँ ॥४॥

विशेष—(१) 'प्रभु पितु मातु···अवगुन-अघ-हारी।'—इसमें स्वामी के लिये बीस विशेषण दिये गये हैं। इनके भाव—'प्रभु' अर्थात् आप परम समर्थ हैं, जो चाहें सब कर सकते हैं। पिता, गुरु, और श्रीजनकजी के भी वचनों को एक-साथ पालन कर सकते हैं। अघटित को घटित कर सकने हैं। 'पितु मातु'— पिता-माता के समान पालन, रक्षण एवं दुलार करनेवाले हैं। 'सुहृद'—मित्र हैं, पुनः अच्छा हृदय होने से प्रतीति के योग्य हैं। 'गुरु'—शिक्षा देनेवाले हैं। वेद-शास्त्र सब आपही के वचन हैं। 'स्वामी'—ऐश्वर्य-पूर्वक सर्वमान्य हैं। 'पूज्य'—आप देव, मुनि आदि सबके पूजा करने के योग्य हो। 'परम हित'—परलोक के भी उपकार करनेवाले हैं। 'अंतरजामी'—सबके अंतःकरण के प्रेरक और जाननेवाले हैं। 'सरल'—सुलभ ऐसे हैं कि श्वान तक आपके यहाँ न्याय के लिये पहुँचा। 'सुसाहिब'—अच्छे इष्ट-देव हैं। आश्रित की रक्षा में सन्नद्ध रहते हैं। यथा—"बड़ी साहिबी मैं नाथ बड़े सावधान हो।" (क० उ० १२९)। 'सील निधानू'—कैसा भी हीन, दीन, मलिन क्यों न हो, सबको आदर करते हैं; यथा—"हीनैर्दीनैर्मलीनैश्च बीभत्सैः कुत्सितैरपि। महतोऽच्छिद्रसंश्लेषं सौशील्यं विदुरीश्वराः॥" (भगवद्गुणदर्पण); 'प्रनत पाल'—दीनों के पालनेवाले हैं; यथा—"कृतभूप विभीषन दीन रहा।" (ल० दो० १०१); 'सर्वज्ञ'—विश्व-भर के नाम, रूप, गुण, स्वभाव और ज्ञानादि जानते हैं। 'सुजानू'—चातुर्य गुण से सब विद्या, बोली आदि भी जानते हैं तथा अपने जनों की रुचि आदि जानते हैं। 'समरथ'; यथा—"जो चेतन कहँ जड़ करइ, जड़हि करइ चैतन्य। अस समरथ रघुनायकहिं, भजहिं जीव ते धन्य॥" (उ० दो० ११९); तथा—स्वामि सुसील समत्थ सुजान सो तोसो तुही दसरत्थ दुलारे॥" (क० उ० १२), 'सरनागत हितकारी'—सुग्रीव विभीषण आदि का हित किया। 'गुन गाहक'—किसी के भी गुण मात्र लेते हैं; यथा—"बैर भाव मोहिं सुमिरत निसिचर।" (ल० दो० ७१); 'अवगुन अघ हारी'; यथा—"जनम कोटि अघ नासहिं तबही।" (सुं० दो० ४३); पुनः; यथा—"गुन गहि अघ अवगुन हरै अस करुनासिंधु।" (वि० १०७)।

(२) 'स्वामि गोसाइहि सरिस······'—बीस विशेषण देकर तब कहते हैं कि आप ऐसे स्वामी के समान आप ही हैं। बीसों बिस्वा गुण-निधान आप ही हैं और वैसे ही स्वामि-द्रोहिता में मेरे समान मैं ही हूँ। अर्थात् मेरी इस एक स्वामि-द्रोहिता के बराबर आपके बीसों गुण नहीं हो सकते; यथा—"स्वामी की सेवक हितता सब कछु निज साइँ द्रोहाई। मैं मति तुला तौलि देखी भइ मेरिहि दिसि गरुआई॥" (वि० १७१); "बड़ो साईं द्रोही न बराबरी मेरी को कोऊ नाथ की-सपथ किये कहत करोरि हौं॥" (वि० २५८); 'दोहाई' शब्द के शपथ और (द्रोहाई) द्रोहिता दोनों अर्थ हैं, अपनी अधमता की सत्यता के लिये शपथ करना भी कहा गया है।

दोहा—कृपा भलाई आपनी, नाथ कीन्ह भल मोर ।
दूपन भे भूपन-सरिस, सुजस चारु चहुँ ओर ॥२९८॥

अर्थ—प्रभु (आप) के और पिता के वचन का मोहवश उल्लंघन करके समाज को बटोरकर यहाँ आया ॥५॥ जगत् में भला और बुरा, ऊँचा और नीचा, अमृत और अमरत्व, विष और मृत्यु ॥६॥ किसीको भी कहीं नहीं देखा और न सुना कि श्रीरामजी की आज्ञा को मन से भी मेटा (टाला) हो (कर्म और वचन की कौन कहे ?) ॥७॥ मैंने सब प्रकार से वही ढिठाई की, हे प्रभो ! आपने उसे स्नेह और सेवा मान लिया ॥८॥ हे नाथ ! आपने अपनी कृपा और भलाई से मेरा भला किया, (जिससे मेरे) दूषण भूषण के समान हो गये और चारों ओर सुन्दर सुयश फैल गया ॥२९८॥

विशेष—(१) 'प्रभु-पितु-वचन मोहवस ······'—प्रभु ने श्रीसुमंत्रजी के द्वारा कहा था—"नीति न तजिय राजपद पाये ।" (दो० १५१) ; उस आज्ञा को न माना और पिता ने राज्य दिया, उनका वचन माता और गुरुजी से सुना, वह भी न माना और फिर आपके यहाँ भी समाज बटोर दवाव डालकर आपका धर्म छुड़ाने आया, जिससे आपके चित्त का विक्षेप किया ।

(२) 'सो मैं सब विधि कीन्हि ढिठाई ।'—उपर्युक्त—"मोहि समान मैं साइँ दोहाई ।" को यहाँ तक कहकर पूरा किया । 'प्रभु मानी सनेह सेवकाई ।'—मुझ-ऐसे धृष्ट के दोषों को आपने स्नेह और सेवा के रूप में मान लिया, ऐसे सुस्वामी हैं । इसीको आगे कहते हैं—

(३) 'कृपा भलाई आपनी······'—सुयश यह कि श्रीभरतजी बड़े प्रेमी हैं और त्यागी हैं, श्रीरामजी के लिये इन्होंने बहुत कुछ त्याग दिया, इत्यादि । 'भलाई आपनी' ; यथा—"राम भलाई आपनी भल कियो न का को । जुग-जुग जानकि नाथ को जग जागत साको ॥···" (वि० १५२) । 'कृपा'; यथा—"नाथ कृपा ही को पंथ चितवत दीन हौं दिन राति ।··" (वि० २२१) ।

राउरि रीति सुवानि बड़ाई । जगत विदित निगमागम गाई ॥१॥
क्रूर कुटिल खल कुमति कलंकी । नीच निसील निरीस निसंकी ॥२॥
तेउ सुनि सरन सामुहे आये । सकृत प्रनाम किहें अपनाये ॥३॥
देखि दोप कबहुँ न उर आने । सुनि गुन साधुसमाज बखाने ॥४॥

अर्थ—आपकी सुन्दर रीति, सुन्दर बानि (आदत) और बड़ाई संसार में प्रसिद्ध है, वेद-शास्त्रों ने गाई है ॥१॥ क्रूर, कुटिल, खल, दुर्बुद्धि, कलंकी, नीच, निःशील, अनाथ एवं नास्तिक और निःशंक ॥२॥ ऐसों को भी शरण और सम्मुख आया हुआ सुनकर एक ही प्रणाम करने पर अपना लिया ॥३॥ (शरणागत के) दोष देखकर भी कभी हृदय में न लाये और गुणों को सुनकर ही सज्जनों के समाज में उनका बखान (प्रशंसा) किया ॥४॥

विशेष—(१) 'राउरि रीति सुबानि······'—उपर्युक्त भलाई कुछ मेरे ही साथ नहीं की गई, किंतु जगत्-भर में प्रसिद्ध है, वेद-शास्त्रों ने गाई है । इसे ही आगे—"क्रूर कुटिल···" से कहते हैं । 'रीति'; यथा—"ऐसी कौन प्रभु की रीति । बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति ॥" (वि० २१४);

"जानत प्रीति रीति रघुराई।" (वि० १६४) ; "यहि दरबार दीन को आदर रीति सदा चलि आई।" (वि० १६५)। 'सुबानि' ; यथा—"सहज बानि सेवक सुखदायक।" (सुं० दो० १३) ; "एक बानि करुना निधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की ॥" (अ० दो० ६) ; 'बड़ाई' ; यथा—"रघुबर रावरि इहै बड़ाई। निदरि गनी आदर गरीब पर करत कृपा अधिकाई ॥" (वि० १६६) ; इत्यादि बहुत प्रमाण हैं।

(२) 'कूर कुटिल खल···'—'कूर' - कठोर हृदयवाले, निर्दयी। 'कुटिल'—मन, वचन, कर्म से टेढ़े। 'खल'; यथा—"खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी ॥" (उ० दो० १२०), 'कुमति'—दुर्बुद्धि, विचार शून्य। 'कलंकी'—अयशी, पापी ; यथा—"बिनु अघ अजस कि पावइ कोई।" (उ० दो० १११); 'नीच'—वर्णाधम, वा, स्वभाव का नीच, यथा—"नीच गुड़ी ज्यों जानिबो, सुनि लखि तुलसीदास। ढीलि देत भुइँ गिरि परत, खैंचत चढ़त अकास ॥" (दोहावली ४०१) ; 'निसील'—जिसकी आँखों में शील न हो, तोताचश्म। 'निरीस'—अनाथ, नास्तिक एवं उच्छृंखल। 'निसंकी'—बड़ों का संकोच न माननेवाले, इत्यादि नौ को गिनाकर ऐसे ही जो असंख्य प्रकार के पापी हैं उन्हें सूचित किया, क्योंकि नौ अंकों की सीमा है। 'सुनि'—किसीके भी कहने मात्र से, वा, जो सम्मुख आकर अपना शरण होना वचन से कहे और एक बार प्रणाम करे, बस, सुनते ही उसे अपना लेते हैं।

(३) 'सकृत प्रनाम·· ···' ; यथा—"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥" (वाल्मीकीय ६।१८।३३)।

(४) 'देखि दोष कबहुँ न उर आने।'—देखी बात प्रामाणिक होती है, सुनी में संदेह रहता है, पर आप गुण-ग्राहक स्वामी हैं, अतः, सुने हुए गुण को मान लेते हैं और देखे हुए दोष को भी भुला देते हैं ; यथा—"साहिब होत सरोष सेवक को अपराध सुनि। अपनेहुँ देखे दोष, राम न सपनेहुँ उर धर्‍यो ॥" (दोहावली ४७) ; "सुनि सेवा सही को करै परिहरै को दूषन देखि। ··" (वि० १६१) ; तथा बा० दो० २८ चौ० ५-८ भी देखिये।

को साहिब सेवकहि नेवाजी। आप समाज साज सब साजी ॥५॥
निज करतूति न समुझिय सपने। सेवक सकुच सोच उर अपने ॥६॥
सो गोसाइँ नहि दूसर कोपी। भुजा उठाइ कहउँ पन रोपी ॥७॥
पसु नाचत सुक पाठ प्रबीना। गुन गति नट पाठक आधीना ॥८॥

दोहा—यों सुधारि सनमानि जन, किये साधु सिरमौर।
को कृपाल बिनु पालिहै, बिरदावलि बरजोर ॥२९९॥

अर्थ—ऐसे और कौन स्वामी हैं ? जो सेवक पर कृपा करके आप ही सब साज-समाज उसका सज दें ॥५॥ अपनी करनी (आपने जो सेवक पर बहुत-से उपकार किये हैं) को स्वप्न में भी नहीं समझते, (किन्तु) सेवक के संकोच का शोच (आपके) अपने हृदय में बराबर रखते हैं ॥६॥ हे श्रीगोस्वामी ! ऐसे एक आप ही हैं, दूसरा कोई भी नहीं है, हाथ उठाकर प्रतिज्ञा-पूर्वक सत्य कहता हूँ ॥७॥ पशु नाचते हैं, तोते पाठ (जो उन्हें पढ़ाया जाता है, उस) में प्रवीण हो जाते हैं, पर (तोते की पाठ-प्रवीणता

गुण और (पशु के नाचने की) गति, पढ़ानेवाले (पाठक) और नचानेवाले (नट) के अधीन है; अर्थात् प्रशंसा का श्रेय पाठक और नट को ही है, शुक और पशु को नहीं ॥८॥ इसी प्रकार आपने मुझ सेवक को सुधारकर और सम्मान करके साधु शिरोमणि बना दिया। हे कृपालु ! आपके बिना और कौन अपनी प्रबल विरुदावली को हठ-पूर्वक पालेगा ? अर्थात् कोई नहीं ॥२९९॥

विशेष—(१) 'आप समाज साज ...'—आप ही अपने रीझने के योग्य साज-समाज (गुण वैभव) दास को दे देते हैं और आप ही उन गुणों पर प्रसन्न होते हैं, ऐसा दूसरा स्वामी कौन है ?; यथा—"मोहि कहा बूझत पुनि पुनि जैसे पाठ अरथ चरचा कीरै। सोभा सुख छतिलाहु भूप कहँ केवल कांति मोल हीरै ॥" (गो० लं० १५); अर्थात् पाठक अपने प्रसन्न होने के योग्य पाठ तोते को पढ़ाता है और फिर सुनकर उससे प्रसन्न होता है, इसी बात को आगे शुक और पशु के दृष्टान्त से पुष्ट करते हैं।

(२) 'निज करतूति न समुझिय सपने।'—सेवक पर आपने जो बहुत-से उपकार किये हैं उनकी स्मृति चित्त में स्वप्न में भी नहीं आने पाती ; यथा—"निज गुन अरिकृत अनहितो दास-दोष सुरति चित रहति न दिये दान की। बानि बिसारनसील है मानद अमान की ॥" (वि० ४२), सेवक का संकोच देख कर स्वयं सोचते हैं कि हमने इसे ऐसी योग्यता न दी, यह हमसे चूक हुई। सेवक तो संकोच करता है कि हमसे कुछ सेवा न हो पाई और प्रभु बहुत कृपा कर रहे हैं, पर आप उल्टे स्वयं उसपर शोच करते हैं। यथा—"सोइ संपदा बिभीषनहिं, सकुचि दीहिं रघुनाथ।" (सुं० दो० ४९); "केवट उतरि दंडवत कीन्हा। प्रभुहि सकुच यहि नहि कछु दीन्हा ॥" (अ० दो० १०१); "लंक जरी जोहे जिय सोच सो बिभीषन को कहो ऐसे साहिब की सेवा न खटाय को।" (क० उ० २२)।

(३) 'सो गोसाइँ नहिं दूसर कोपी।'—भुजा उठाकर ईश्वर को साक्षी करके प्रतिज्ञा करते हैं।

(४) 'पसु नाचत सुक पाठ प्रवीना।'—पशु बकरी, बंदर आदि। नट जैसे-जैसे डोरी घुमाता है, पशु वैसे-वैसे नाचता है और पाठक जो कुछ पढ़ावेगा, तोता वही पढ़ेगा। पर प्रशंसा पशु और तोते की होती है, वैसे भक्तों को आप स्वयं वैसे गुण दे देते हैं और आपही जगत्-रूप से उनकी प्रशंसा भी अनेक मुखों से करते हैं ; यथा—"मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥" (गीता ११।३३)।

(५) 'यों सुधारि सनमानि जन ...'—उपर्युक्त—'पसु नाचत ...' उपमान है और यह दोहा उपमेय है ; यथा—"आपु हीं आपु को नीके कै जानत रावरो राम भरायो गढ़ायो। कीर ज्यों नाम रटै तुलसी सो कहै जग जानकी नाथ पढ़ायो ॥..." (क० उ० १०); "नट-मरकट-इव सबहिं नचावत। राम खगेस बेद अस गावत ॥" (कि० दो० ६)। 'को कृपाल बिनु ...'; यथा—"कौन देव बरियाइ बिरद हित हठि हठि अधम उधारे। ..." (वि० १०१), 'बरजोर'—यह 'बिरदावलि' और 'पालिहै' दोनों के साथ है।

यहाँ तक सर्वसाधारण पर भलाई करना कहा, आगे अपने पर उसका सम्बन्ध दिखाते हैं। वा, अपने अवगुणों के साथ प्रभु के गुण दिखाते हैं। उपर्युक्त प्रसंग में प्रभु के सुलभता और कृतज्ञता गुणों की प्रधानता है।

सोक सनेह कि बाल सुभाये। आयेउँ लाइ रजायसु बाँये ॥१॥
तबहुँ कृपाल हेरि निज ओरा। सबहि भाँति भल मानेउ मोरा ॥२॥
देखेउँ पाय सुमंगल - मूला। जानेउँ स्वामि सहज अनुकूला ॥३॥

बड़े समाज बिलोकेउँ भागू। बड़ी चूक साहिब अनुरागू ॥४॥
कृपा अनुग्रह अंग अघाई। कीन्हि कृपानिधि सब अधिकाई ॥५॥
राखा मोर दुलार गोसाईं। अपने सील सुभाय भलाई ॥६॥
नाथ निपट मैं कीन्हि ढिठाई। स्वामि-समाज सँकोच बिहाई ॥७॥
अबिनय बिनय जथारुचि बानी। छमिहि देव अति आरति जानी ॥८॥

दोहा—सुहृद सुजान सुसाहिबहि, बहुत कहब बड़ि खोरि।
आयसु देइय देव अब, सबइ सुधारी मोरि ॥३००॥

शब्दार्थ—बायाँ लाना = विरुद्ध करना, जानकर त्याग करना। अनुग्रह = दुःख दूर करने की इच्छा, दया, अंगीकारत्व। अविनय = ढिठाई, उद्दण्डता।

अर्थ—मैं शोक से, स्नेह से किंवा बाल-स्वभाव (लड़काई) से आज्ञा को बायें लाकर यहाँ आया ॥१॥ तब भी हे कृपालु ! आपने अपनी ओर देखकर सभी प्रकार से मेरी भलाई ही मानी ॥२॥ सुन्दर मंगल के कारण आपके चरणों के दर्शन किये और स्वामी को स्वाभाविक ही अपने अनुकूल जान लिया ॥३॥ बड़े समाज में अपना भाग्य देखा कि बड़ी भारी चूक होने पर भी स्वामी का मुझपर इतना अनुराग है ॥४॥ आपकी कृपा और अनुग्रह से मैं अंग-अंग (पूर्ण) अघा गया, हे कृपानिधे ! आपने सब कुछ अधिकता से ही किया है ॥५॥ हे गोसाईं ! आपने अपने शील-स्वभाव और भलाई से मेरा दुलार (लाड़-प्यार) रक्खा ॥६॥ हे नाथ ! मैंने स्वामी और समाज का संकोच छोड़कर सर्वथा ढिठाई की है ॥७॥ हे देव ! अत्यन्त विपत्ति (दशा) जानकर मेरी रुचि के अनुकूल इस अविनय या विनय की वाणी को क्षमा कीजियेगा ॥८॥ सुहृद्, सुजान और सुसाहिब से बहुत कहना बड़ा अनुचित (दोष) है। हे देव ! अब मुझे आज्ञा दीजिये, वही मेरा सब सुधार करेगी; अर्थात् मेरे सुधार का दूसरा उपाय नहीं है ॥३००॥

विशेष—(१) 'सबहि भाँति भल मानेउ मोरा।' यथा—"तीनि काल तिभुवन मत मोरे। पुन्य सिलोक तात तर तोरे ॥ उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई। जाइ लोक पर लोक नसाई ॥··· मिटिहहिं पाप प्रपंच सब, अखिल अमंगल भार। लोक सुजस परलोक सुख, सुमिरत नाम तुम्हार ॥" (दो० २६३); इत्यादि सुयश दिये।

(२) 'देखेउँ पाय सुमंगल मूला।'—चित्रकूट आने का लाभ कहते हैं कि श्रीअवध में जो कामना थी—"देखे बिनु रघुनाथ पद, जिय कै जरनि न जाइ।" (दो० १८२); तदनुसार—'देखेउँ पाय ··'। पुनः पहले (मार्ग में) समझा था—"राम लखन सिय सुनि मम नाऊँ। उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ ॥" (दो० २३३); उसपर यहाँ कहते हैं—"जानेउँ स्वामि सहज अनुकूला।"

(३ 'बड़े समाज बिलोकेउँ भागू।'—श्रीवसिष्ठजी, श्रीविश्वामित्रजी और श्रीजनकजी आदि का समाज है, इससे बड़ी कहा है। 'बड़ी चूक'—आज्ञा-उल्लंघन है। इतनी भारी चूक पर भी स्वामी का ऐसा अनुराग है, यही तो भाग्य की बड़ाई है।

(४) 'कृपा अनुग्रह अंग · '—कृपा-अनुग्रह से मैं पूर्ण तृप्त हो गया। कृपानिधे !

मेरी योग्यता की अपेक्षा से मुझपर बहुत अधिक कृपा और अनुग्रह किये। कृपा से मेरे दोष नाश किये और फिर अनुग्रह से मुझे अंगीकार किया।

(५) 'राखा मोर दुलार'' '—आप ही ने रक्खा, अन्यथा विधि ने तो इसे नाश ही कर डाला था ; यथा—"विधि न सकेउ सहि मोर दुलारा। नीच बीच जननी मिस पारा ॥" (दो० २६०)। 'अपने सील सुभाय भलाई'—शील स्वभाव से दोषों को न देखा और भलाई के स्वभाव से दुलार किया। वा, शोक से आया तो आपने शील से दुलार किया। स्नेह से आया, तो अपने स्वभाव से और बाल स्वभाव के प्रति भलाई से मेरा दुलार रक्खा। यह उपर्युक्त चौपाई के अनुसार भाव है।

(६) 'निपट'''''' ढिठाई'– बड़ों के समाज में बोलना ही ढिठाई है और स्वामी के समक्ष में भी संकोच छोड़कर बोलना सर्वथा ढिठाई है।

(७) 'अविनय विनय जथा रुचि बानी।''' '—ढिठाई है वा प्रार्थना है, रुचि के अनुसार कही गई है, वह क्षमा के योग्य है, क्योंकि मैं आर्त्त हूँ, आर्त्त के चित्त में चेत (सावधानता) नहीं रहती ; यथा—"अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी। इनको बिलग न मानिये बोलहि न बिचारी ॥" (वि० ३४)।

(८) 'सुहृद सुजान सुसाहिबहि''' '—सुहृद स्वयं सदा हित ही करता है, सुजान अपने जनों के हृदय की भी जानता है और जो कुछ करता है, वह शास्त्र-दृष्टि से ही करता है। सुसाहिब अपने सेवक का बड़ा सार-सँभार स्वयं करता है और उसके दोषों पर भी दृष्टि नहीं देता। जिसमें ये तीनों गुण हैं, ऐसे स्वामी से कहना कि मुझे ऐसा कीजिये, बड़ा दोष है। 'बहुत कहब' अर्थात् थोड़ा भी कहना दोष ही है, बहुत कहना तो बड़ा दोष है। यही विचारकर ये कहते हैं—'आयसु देइय देव अब ''' आगे भी कहेंगे—"आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा। '"

प्रभु - पद - पदुम - पराग दोहाई। सत्य सुकृत सुखसीवँ सुहाई ॥१॥
सो करि कहउँ हिये अपने की। रुचि जागत सोवत सपने की ॥२॥
सहज सनेह स्वामि-सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई ॥३॥
आज्ञासम न सुसाहिब - सेवा। सो प्रसाद जन पावइ देवा ॥४॥
अस कहि प्रेमविबस भये भारी। पुलक शरीर बिलोचन बारी ॥५॥
प्रभु - पद - कमल गहे अकुलाई। समय सनेह न सो कहि जाई ॥६॥
कृपासिंधु सनमानि सुबानी। बैठाये समीप गहि पानी ॥७॥

अर्थ—प्रभु के चरण-कमल की धूलि, जो सुन्दर सत्य, सुकृत और सुख की सुंदर सीमा है, उसकी शपथ करके अपने हृदय की जागते, सोते और स्वप्न की रुचि को कहता हूँ ॥१-२। स्वाभाविक स्नेह से, स्वार्थ, छल और चारों फलों (वा, चारों फलों के स्वार्थ-रूपी छल) को छोड़कर स्वामी की सेवा (यही मेरी रुचि है, क्योंकि) ॥३॥ आज्ञा (पालन) के समान सुसाहिब की दूसरी सेवा नहीं है, हे देव ! वही प्रसाद (प्रसन्नता का दान) सेवक को मिले ॥४॥ ऐसा कहकर वे प्रेम के अत्यन्त विवश हो गये, उनका शरीर पुलकित हो गया और नेत्रों में जल भर आया ॥५॥ अकुला कर प्रभु के चरण-कमलों को पकड़ लिया,

वह समय और स्नेह एवं उस समय का स्नेह कहा नहीं जाता। फिर कृपा-सागर श्रीरघुनाथजी ने सुन्दर वाणी से उनका सम्मान करके हाथ पकड़कर (उन्हें अपने) पास बैठाया ॥७॥

विशेष—(१) 'प्रभु-पद-पदुम-पराग····'—सत्य-सुकृत आदि चरण-रज के विशेषण हैं, जो इस रज की अन्यथा शपथ करेगा; अर्थात् झूठी सौगंद करेगा, उसके ये सत्य आदि नाश हो जायँगे।

'सींव' अर्थात् सत्य आदि की सीमा (हद) बस, यहीं तक है। 'सुहाई' शब्द सत्य आदि के साथ है, क्योंकि सत्य आदि दोषों से असुहावन भी होते हैं।

इस रज से अहल्या को सत्य, अर्थात् सत्य शुद्ध अपना रूप, निषाद को सुकृत और दंडक-वन को सुख प्राप्त हुआ, इनके द्वारा रज के महत्त्व का प्रमाण है।

(२) 'रुचि जागत सोवत सपने की।'—तुरीया तो स्वाभाविक शुद्ध ही है, उसमें प्रभु की प्राप्ति रहती ही है। जाग्रत, सुषुप्ति और स्वप्न, इनमें विक्षेप-विकार होते हैं, इससे इन्हीं की रुचि शपथ करके कही।

(३) 'सहज सनेह स्वामि···'—यही तीनो अवस्थाओं की रुचि है; यथा—"स्वारथ परमारथ रहित, सीताराम सनेह। तुलसी सो फल चारि को, फल हमार मत येह॥" "परहुँ नरक फल चारि सिसु, मीच डाकिनी खाउ। तुलसी राम सनेह को, जो फल सो जरि जाउ॥" (दोहावली ९०+९२); 'स्वार्थ' देह-सुख-साधन, 'छल' कहना कुछ और करना कुछ, पुनः अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष इन चार फलों की इच्छा छोड़कर। वा, चारो फलों का स्वार्थ ही छल है; यथा—"भानु पीठ सेइय उर आगी। स्वामिहि सर्वभाव छल त्यागी॥" (कि० दो० २२)।

(४) 'अस कहि प्रेम बिबस···'—'अस'—आप प्रसन्न हैं, तो प्रसाद-रूपी आज्ञा मिले, ऐसा कहते ही भावी वियोग पर व्याकुल हो गये और चरण-कमल पकड़ लिये कि इनका वियोग मुझे असह्य है। फिर प्रेम के विवश होने की दशा पुलक आदि से हो आई; यथा—"कंप पुलक तन नयन सनीरा। गहे चरन अति प्रेम अधीरा॥" (दो० ९६); "चरन परेउ प्रेमाकुल, त्राहि-त्राहि भगवंत॥ (सुं० दो० ११); इत्यादि। श्रीभरतजी का भाषण यहाँ समाप्त हुआ।

(५) 'कृपासिंधु सनमानि···'—इसपर समुद्र रूपा कृपा उमड़ आई और सुन्दर प्रेममयी वाणी से आश्वासन किया कि भैया! अधीर न हो, समीप बैठाकर जनाया कि हमें सदा पास ही समझो।

भरत-बिनय सुनि देखि सुभाऊ। सिथिल सनेह सभा रघुराऊ॥८॥

छंद—रघुराउ सिथिल सनेह साधु समाज मुनि मिथिलाधनी।
मन महँ सराहत भरत-भायप-भगति की महिमा घनी।
भरतहि प्रसंसत बिबुध बरषत सुमन मानस मलिन-से।
तुलसी बिकल सब लोग सुनि सकुचे निसागम नलिन-से॥

सोरठा—देखि दुखारी दीन, दुहुँ समाज नर-नारि सब।
मघवा महामलीन, मुये मारि मंगल चहत॥३०१॥

शब्दार्थ—धनी = मालिक, राजा, स्वामी। मघवा (सं० मघवन्) = इन्द्र। घनी = बहुत बड़ी।

अर्थ—श्रीभरतजी की प्रार्थना सुनकर और उनका स्वभाव देखकर सभा और श्रीरघुनाथजी स्नेह से शिथिल हैं ॥८॥ श्रीरघुनाथजी, साधु-समाज, श्रीवसिष्ठ मुनि और श्रीमिथिला के स्वामी श्रीजनकजी स्नेह से शिथिल हैं। सब मन-ही-मन श्रीभरतजी के भ्रातृत्व और भक्ति की बहुत बड़ी महिमा सराहते हैं। देवता अपने मलिन मन से श्रीभरतजी की बड़ी बड़ाई करते हैं और फूल बरसा रहे हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि सबलोग (यह निर्णय) सुनकर ऐसे संकुचित हो गये, जैसे रात्रि के आगमन से कमल॥ दोनों समाजों और सभी स्त्री-पुरुषों को दुखी और दीन देखकर महामलिन इन्द्र मानों मरे हुए को मारकर अपना मंगल (कल्याण) चाहता है ॥३०१॥

विशेष—(१) 'भरतहि प्रसंसत बिबुध · ·'—'मानस मलिन से'—अब भी देवताओं के मन में संदेह-रूपिणी मलिनता है—(क) श्रीभरतजी ने तो आज्ञा माँगी, पर श्रीरामजी ने उनके प्रेम-वश होकर न जाने क्या कहा ? (ख) प्रेमातुर होकर चरण पकड़े और श्रीरामजी ने पास बैठाया, तब फिर संदेह हो गया कि न जाने अब क्या हो ? अब भी मन में मलिनता है कि श्रीभरतजी किसी तरह शीघ्र लौट जायँ।

(२) 'सब लोग सुनि सकुचे निसागम मलिन-से'—आगे वियोग रूपी रात के आगमन की संभावना है, क्योंकि श्रीभरतजी ने श्रीरामजी की आज्ञा पर छोड़ दिया और श्रीरामजी पिता की आज्ञा पालने में दृढ़व्रत हैं ही, इससे स्वयं न लौटकर सबको लौटने को ही कहेंगे। अभी श्रीरामजी की निश्चित आज्ञा नहीं हुई, इसीसे 'निसागम' कहा है।

(३) 'मघवा महामलीन · ·'—लोग वियोग और स्नेह से स्वतः शिथिल हैं, सूखे जा रहे हैं, इन दीन-दुखियों को सताना अधमता है। इन्द्र इनपर पूर्व रचित उच्चाटन का प्रयोग करना चाहता है, इसीसे उसे 'महामलीन' कहा और 'मघवा' इस अनादर-सूचक नाम से कहा। इसी नाम से आगे श्रीरामजी भी इसे कुत्ते के समान कहेंगे।

कपट - कुचालि - सीवँ सुरराजू। पर-अकाज-प्रिय आपन काजू ॥१॥
काक - समान पाकरिपु - रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती ॥२॥
प्रथम कुमत करि कपट सँकेला। सो उचाट सबके सिर मेला ॥३॥
सुरमाया सब लोग बिमोहे। रामप्रेम अतिसय न बिछोहे ॥४॥
भय उचाटबस मन थिर नाहीं। छन बन रुचि छन सदन सुहाहीं ॥५॥
दुबिध मनोगति प्रजा दुखारी। सरित सिंधु संगम जनु बारी ॥६॥
दुचित कतहुँ परितोष न लहहीं। एक एक सन मरम न कहहीं ॥७॥
लखि हियँ हँसि कह कृपानिधानू। सरिस स्वान मघवान जुबानू ॥८॥

दोहा—भरत जनक मुनिजन सचिव, साधु सचेत बिहाइ।
लागि देवमाया सबहिं, जथाजोग जन पाइ ॥३०२॥

शब्दार्थ—पाकरिपु=इन्द्र । मेला=डाला। दुविधा=दुविधा में पड़ी हुई। दुचित=अस्थिर चित्त, संदेह में पड़ा हुआ, दो ओर चित्त जाना । जुबान्=युवक ।

अर्थ—देवराज इन्द्र कपट और कुचाल को सीमा है, उसे दूसरे का कार्य बिगाड़ना और अपना कार्य साधना प्रिय है ॥१॥ पाक दैत्य के शत्रु इन्द्र की रीति कौए के समान है, वह छली और मलिन है, उसका किसीपर विश्वास नहीं है ॥२॥ उसने पहले कुमंत्र करके कपट एकत्र किया (था), उस उच्चाटन को सबके शिर पर डाल दिया ॥३॥ देव-माया से सबलोग विशेष मोहित हो गये, परन्तु श्रीरामजी के अतिशय प्रेम से उनका अधिक विछोह न हुआ ॥४॥ उचाटन के वश होने से मन स्थिर नहीं है, क्षण-भर तो वन की रुचि रहती है, फिर क्षण में घर अच्छे लगने लगते हैं ॥५॥ मन की गति दुविधामय होने से प्रजा दुखी है, मानों नदी और समुद्र के संगम का जल है (जो कभी इधर कभी उधर आता-जाता है) ॥६॥ अस्थिर चित्त होने से कहीं भी संतोष नहीं पाते, एक-दूसरे से अपना भेद नहीं कहते ॥७॥ यह देखकर कृपासागर श्रीरामजी हृदय में हँसकर कहते हैं कि कुत्ता, इन्द्र और युवक समान (प्रकृति) वाले हैं ॥८॥ श्रीभरतजी, श्रीजनकजी, मुनिलोग, मंत्री और सज्ञान साधुओं को छोड़कर सभीको मनुष्यों की योग्यता-नुसार देवमाया लगी; अर्थात् न्यूनाधिक चेतनता के अनुसार लगी ॥३०२॥

विशेष—(१) 'कपट-कुचालि-सीवँ ···कबहुँ न प्रतीती ।'—परम भक्त श्रीभरत की ओर कुदृष्टि देख तथा ऐसे ही और भी भक्तों एवं ऋषियों से छल करने का इसका स्वभाव जानकर यहाँ पर कवि ने इसके लिये सात क्रूर विशेषण दिये हैं—कपट सीवँ, कुचाल सीवँ, पर अकाज प्रिय, आपन काज प्रिय, छली, मलिन और अविश्वासी । इन दुर्गुणों की यह सीमा है । सात गिनाकर अवगुणों की अगाधता में इसे सातों समुद्रों के तुल्य कहा । 'पाक रिपु रीती'—से सूचित किया कि पाक दैत्य के साथ इसने इन दुर्गुणों का प्रयोग किया है, तभी से इसका यह स्वभाव-सा पड़ गया है । जो स्वयं छली और अविश्वासी होता है, वह दूसरों में भी छल आदि की शंका करता है, वैसा ही यह भी श्रीभरतजी से डरता है ।

(२) 'प्रथम कुमत करि कपट ···'—प्रथम दो० २६५ में कुमंत्र करके उचाटन प्रयोग की रचना कही गई थी, उसका प्रयोग होना यहाँ कहते हैं । यह प्रयोग ही उपर्युक्त 'मुए का मारना' है । 'राम प्रेम अतिसय न बिछोहे'—देवमाया लगने पर अतिशय श्रीराम-प्रेम होने के कारण उस प्रेम से अतिशय विछोह भी न हुआ, किन्तु दुचित हो गये ।

(३) 'दुबिध मनोगति ···'—जैसे नदी का जल वेग से समुद्र में जाता है और समुद्र के वेग से उसका जल नदी में आता है, ठेला-ठेली लगी रहती है । उसी तरह कभी घर की रुचि प्रबल होकर वन की रुचि को दबा देती है और कभी वन की रुचि प्रबल होकर घर की रुचि को दबाती है चित्त शांत नहीं हो पाता । सबके मन समुद्र हैं, देवमाया नदी है ।

(४) 'एक एक सन मरम ····'—लज्जा लगती है कि यह सुनकर दूसरे हँसेंगे कि अरे ! श्रीरामजी को छोड़कर घर की रुचि है, वह प्रेम कहाँ गया ?

(५) 'लखि हिय हँसि कह ···'—कृपानिधान श्रीरामजी की दया भक्तों पर है, इससे इनके प्रति अपचार देखकर निरादर की दृष्टि से इन्द्र पर हँसे कि यह हमारे प्रेम में पगे हुए लोगों के प्रति भी बिना कारण अपचार करता है, जैसे कुत्ता व्यर्थ शंका पर भूँकता, गुर्राता और काटने दौड़ता है । समझता है कि श्रीभरतजी श्रीरामजी को छीन ले जायँगे । अच्छा किया है, पाणिनि ने, जो श्वन्, युवन् मघवन को एकही सूत्र में लिखा (पिरोया) है, सत्य ही इनकी प्रकृति एक-सी है; यथा—"श्वयु

भाग सठ, श्वान निरखि मृगराज। छीनि लेइ जनि जानि जड़, तिमि सुरपतिहि न लाज॥" (बा० दो० १२५); जवान कामी होता ही है, वैसे ही इन्द्र भी कामी है, इसीसे वह कुटिल है; यथा—"जे कामी लोलुप जग माहीं। कुटिल काक इव सबहि डेराहीं॥" (बा० दो० १२४)।

पुनः श्वान अपने गाँव में शंका-रहित रहता है, इसीसे ग्राम-सिंह भी कहा जाता है, वैसे जवान मदान्ध होता है, वैसेही इन्द्र शंका-रहित है।

इन तीनों शब्दों की बनावट (प्रकृति) एक समान होने से पाणिनि महर्षि ने इन्हें एक सूत्र में रक्खा है; यथा—"श्वयुवमघोनामतद्धिते" इसीपर किसी कवि ने हास्य की रीति से कहा है—"काञ्चं मणिं काञ्चनमेकसूत्रे नार्यो निग्रथ्नन्ति न चित्रमेतत्। स शास्त्रकृत् पाणिनिरेकसूत्रे श्वानं युवानं मघवानमाह॥" यहाँ काँच-तुल्य 'श्वान', मणि-तुल्य 'युवा' और काञ्चन-तुल्य 'मघवा' को कहा है।

यहाँ पूज्य कवि ने व्याकरण के सूत्र का आशय लेकर इन्द्र को श्वान के तुल्य कहने में हास्य की रीति से बुद्धि की विलक्षण चातुरी दिखाई है।

कृपासिंधु लखि लोग दुखारे। निज सनेह सुर-पति-छल भारे॥१॥
सभा राउ गुरु महिसुर मंत्री। भरतभगति सबकै मति जंत्री॥२॥
रामहि चितवत चित्र लिखे-से। सकुचत बोलत बचन सिखे-से॥३॥
भरत - प्रीति - नति-बिनय बड़ाई। सुनत सुखद बरनत कठिनाई॥४॥

शब्दार्थ—जंत्री (यंत्र=ताला)=ताला लगा दिया, यथा—"लोचन निजपद जंत्रित ··" (सुं० दो० ३०)।

अर्थ—कृपासागर श्रीरामजी ने लोगों को अपने स्नेह और इन्द्र के भारी छल से दुखी देखा॥१॥ सभा, राजा, गुरु, ब्राह्मणगण और मंत्रीगण सबकी बुद्धि पर श्रीभरतजी की भक्ति ने ताला लगा दिया; अर्थात् सभी मुग्ध होकर कि कर्त्तव्य-विमूढ़ से हो रहे हैं॥२॥ सबलोग लिखे हुए चित्र (तसवीर) की तरह श्रीरामजी को (एकटक) देख रहे हैं और बोलने में सिखे हुए वचन बोलनेवाले की तरह सकुचते हैं॥३॥ श्रीभरतजी की प्रीति, नम्रता, विनय और बड़ाई सुनने में सुखदायक हैं, पर वर्णन करने में कठिन हैं॥४॥

विशेष—(१) 'कृपासिंधु लखि···'—भक्तों पर उच्चाटन प्रयोग देखकर दया है।

(२) 'सभा राउ गुर महिसुर···'—जो लोग देवमाया से बचकर सचेत थे, वे श्रीभरतजी की भक्तिमयी वाणी सुनकर अवाक् हो रहे हैं, सबकी बुद्धि पर ताला-सा लग गया। अब श्रीरामजी पर सबकी एकटक दृष्टि है कि देखें अब क्या आज्ञा देते हैं? जैसे पहले—"सकल बिलोकत भरत मुख, बनइ न ऊतर देत॥" (दो० २११); पर कहा गया है। 'चित्र लिखे से'; यथा—"राम बिलोके लोग सब, चित्र लिखे-से देखि।" (बा० दो० २६०)।

(३) 'सकुचत बोलत बचन सिखे से'—बोलने में सकुचते हैं कि घर से आये थे कि श्रीरामजी को लेकर लौटेंगे अथवा उनके साथ ही रहेंगे। पर एक भी न हुआ, मन में उच्चाटन की दशा विचारकर बोलने में सकुचते हैं कि भीतर से तो घर की ओर रुचि लगी है और मुख से कहें कि हम साथ ही

रहेंगे, तो बनता नहीं। किसी-न-किसी तरह भीतरी भाव बोलने में प्रकट हो ही जायगा। पूर्व की निश्चित बातें कहने में संकोच लगता है कि हृदय में और होने से अब वे बातें रटी हुई सी जान पड़ेंगी और अप्रामाणिक होंगी, तो फिर लज्जित होना होगा।

(४) 'भरत-प्रीति-नति·····'—'प्रीति'—यह इनके चरित्र-भर में पूर्ण है। नम्रता यह कि श्रीरामजी पैदल गये, तो मुझे शिर के बल से जाना चाहिये ; यह इन्होंने पहले आते समय कहा है। विनय का स्वरूप त्रिवेणी की धार में तीर्थराज के समक्ष में कहा है, वह देखने योग्य है। बड़ाई जैसे कि प्रयाग में धन्य, धन्य की ध्वनि छा गई। श्रीभरद्वाजजी ने और फिर आकाशवाणी एवं श्रीरामजी ने भी बड़ाई की है। इन सब प्रसंगों के सुनने में सुख होता है, पर वर्णन करना कठिन है।

जासु बिलोकि भगति लवलेसू। प्रेममगन मुनिगन मिथिलेसू ॥५॥
महिमा तासु कहइ किमि तुलसी। भगति सुभाय सुमति हिय हुलसी ॥६॥
आप छोटि महिमा बड़ि जानी। कबिकुल कानि मानि सकुचानी ॥७॥
कहि न सकति गुन रुचि अधिकाई। मतिगति बालबचन की नाईं ॥८॥

दोहा—भरत-बिमल-जस बिमल बिधु, सुमति चकोर-कुमारि।
उदित बिमल जन हृदय-नभ, एकटक रही निहारि ॥३०३॥

अर्थ—जिसकी कण-मात्र भक्ति को देखकर मुनि-गण और मिथिलापति राजा श्रीजनकजी प्रेम में डूब गये हैं ॥५॥ उसकी महिमा तुलसी क्योंकर कहे ? भक्ति के स्वभाव से हृदय में स्वाभाविक सुमति उल्लसित हुई ॥६॥ (परन्तु) अपनेको छोटी और महिमा को बड़ी जानकर पुनः कवि-समाज की मर्यादा समझकर सकुच गई ॥७॥ रुचि बहुत है, पर गुणों को कह नहीं सकती, बुद्धि की गति (व्यवस्था) बाल-वचन की-सी हो रही है ; (जैसे बालक कुछ कहना चाहता है, पर वचनों-द्वारा मन की बात कह नहीं पाता) ॥८॥ श्रीभरतजी का निर्मल यश चन्द्रमा है, सुमति चकोर-कुमारी है, यह निर्मल भक्तों के हृदय-रूपी आकाश में उदित होकर उस चन्द्रमा को एकटक देखती रह गई है ॥३०३॥

विशेष—(१) 'भगति सुभाय सुमति ······'—भक्ति के कारण भक्त लोग कुछ इष्ट के यश-कथन की लालसा करते हैं; यथा—"कहँ रघुपति के चरित अपारा। कहँ मति मोरि निरत संसारा ॥···" से "तदपि कहे बिनु रहा न कोई ॥" (बा० दो० १२) तक। वैसे ही भक्ति के स्वभाव से मेरे हृदय में भी सुमति का विकाश हुआ है। वह कुछ कहना चाहती है; यथा—"संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरित मानस कबि तुलसी ॥" (बा० दो० ३५) ; वहाँ तो 'रामचरितमानस' के कवि हो चले और चरित कहा भी, पर यहाँ श्रीभरतजी की महिमा नहीं कह पाते। 'कहै किमि' पर कहा जा सकता है कि तब चुप हो जाओ, उसपर कहा कि भक्ति के स्वभाव से चुप रहा नहीं जाता। प्रबल इच्छा पर कह उठते हैं, तो बाल-वचन की नाईं दशा होती है—कहना चाहता हूँ कुछ, तो निकलता है कुछ। भाव यह कि श्रीभरत-चरित परम दिव्य है, अतएव मेरी प्राकृत वाणी से परे है।

(२) 'भरत-बिमल जस बिमल बिधु''' ''—श्रीभरतजी का निर्मल यश निर्मल चन्द्रमा है, (अन्य भक्तों के यश तारा गण हैं) सुमति चकोर-कुमारी है, यहाँ मति को सुमति कहा, क्योंकि परम भक्त के यश कथन के लिये उल्लसित है; जब असमर्थ हुई, तब 'मति गति' में मति-मात्र कहा है। 'कुमारी' अर्थात् कन्या और भी असमर्थ होती है। चकोरी चंद्र-छवि का पार नहीं पाती, किंतु दर्शनों में ही मुग्ध होकर सुख पाती है। वैसे ही मेरी सुमति उसपर मुग्ध होकर एकटक देखने में ही सुख पा रही है। यहाँ 'एकटक' निहारने के साथ शिथिल होना और सुख पाना भी लेना चाहिये, क्योंकि चकोरी में सर्वत्र तीनों बातें पाई जाती हैं; यथा—"थके नयन रघुपति छबि देखे। पलकनिहूँ परिहरीं निमेषे॥ अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥" (बा० दो० २३१); "सिय मुख ससि भये नयन चकोरा।''' देखि सीय सोभा सुख पावा।" (बा० दो० २२१)। अर्थात् स्नेह से मति भोरी हो गई, मन-चित्त आदि भी उसीमें लय हो सुख पा रहे हैं। जैसा विमल-यश, वैसा ही उसका उपमान विमल विधु और स्थान विमल जन-हृदय है।

भरत-सुभाव न सुगम निगमहूँ। लघु मति चापलता कबि छमहूँ॥१॥
कहत सुनत सतिभाउ भरत को। सीयराम-पद होइ न रत को॥२॥
सुमिरत भरतहिं प्रेम राम को। जेहि न सुलभ तेहि सरिस बाम को॥३॥
देखि दयाल दसा सबही की। राम सुजान जानि जन जी की॥४॥
धरमधुरीन धीर नय-नागर। सत्य-सनेह-सील - सुख - सागर॥५॥
देस काल लखि समय समाजू। नीति - प्रीति - पालक रघुराजू॥६॥
बोले बचन बानि - सरबस - से। हित परिनाम सुनत ससि-रस-से॥७॥

शब्दार्थ—बाम = विमुख, खोटा। बानि सरबस से = मानों सरस्वती की सब कुछ पूँजी यही है, ऐसा।

अर्थ—श्रीभरतजी के स्वभाव का वर्णन वेदों को भी सुगम नहीं है, मेरी तुच्छ बुद्धि की चपलता को कविजन क्षमा करें॥१॥ श्रीभरतजी के सद्भाव को कहते-सुनते श्रीसीतारामजी के चरणों में अनुरक्त कौन न होगा? अर्थात् जो कहे-सुनेगा, वही अनुरक्त हो जायगा॥२॥ श्रीभरतजी का स्मरण करने से जिसको श्रीरामप्रेम सुलभ न हुआ, उसके समान खोटा (या भाग्य-विमुख) कौन होगा? ॥३॥ दयालु और सुजान श्रीरामजी ने सभी की दशा देखी, अपने भक्त के हृदय की जानकर॥४॥ धर्म-धुरंधर, धीर, नीति में निपुण, सत्य स्नेह, शील और सुख के समुद्र॥५॥ नीति और प्रीति के पालनेवाले श्रीरघुनाथजी देश, काल, समय और समाज को समझकर (तदनुसार)॥६॥ वचन बोले, जो सरस्वती के सर्वस्व के समान थे, अंत में हितकारी और सुनने में अमृत के समान थे॥७॥

विशेष—(१) 'कबि छमहूँ'—क्षमा की प्रार्थना करनी है, तो कहने ही से बाज आओ, उसपर कहते हैं—"कहत सुनत सतिभाव'''" अर्थात् मैं इसीलिये कहता हूँ। यह हुआ भी; यथा—"सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनम न भरत को।''कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥" (दो० ३२६)। यह भरत-सद्भाव के श्रोताओं और वक्ताओं के लिये आशीर्वाद भी है।

(२) 'देखि दयाल दसा सबही की ।...'—श्रीभरतजी के भाषण के प्रभाव से लोग विकल हो गये थे ; यथा—"तुलसी बिकल सब लोग सुनि सकुचे निसागम नलिन से ॥" (दो० ३०१); तब कवि इन्द्र की कुचाल कहने लग गये थे, फिर—"कृपासिंधु लखि लोग दुखारे। निज सनेह..." से वही प्रसंग लिया, किंतु फिर श्रीभरत-भक्ति की महिमा पर मुग्ध हो गये। उसे कुछ कहकर तो उसी छोड़े हुए प्रसंग—"कृपासिंधु लखि लोग दुखारे।" को यहाँ—"देखि दयाल दसा..." से फिर उठाते हैं।

'राम सुजान जानि जन जी की ।'—भक्तों के मन की जानने के संबंध से सुजान कहा है।

(३) 'धरमधुरीन धीर .....'—बोलने में पहले धर्म-धुरीण कहकर सूचित किया कि इस भाषण में धर्म (पिता-वचन-पालन) पर ही दृष्टि रहेगी ; यथा—"मातु पिता गुरु स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनी धर सेसू ॥ सो तुम करहु करावहु मोहू।" (दो० ३०५); धर्मधुरीण आदि सात विशेषण कहते हुए अंत में 'सागर' पद देकर इसे सबों के साथ जनाया कि ये सातो गुण सातो समुद्र की तरह अपार एवं अगाध हैं। इन सातो के सूक्ष्म भाव—पिता के वचन रक्खेंगे, कष्ट सहने में धीर हैं, नीति भी रक्खेंगे, अपने वचन सत्य करेंगे, सबके स्नेह और शील को भी रक्खेंगे, स्वयं सुख के सागर हैं, औरों को भी सुखद आज्ञा देंगे। 'देस, काल' के भाव ऊपर कहे गये। 'बोले बचन बानि .. '—सरस्वती का सर्वस्व सिद्धान्त इसमें ही आ गया, जो परिणाम में हितकर और सुनने में प्रिय अमृत के समान मधुर और आह्लादकारक है। वाणी का प्रिय होना और परिणाम (अन्त) में हितकर होना दुर्लभ है ; यथा—"बचन परम हित सुनत कठोरे। सुनहिं जे कहहिं ते नर प्रभु थोरे ॥" (सु० दो० ८), जो वचन सुनने में प्रिय होते हैं, वे प्राय: परिणाम में दुःखद होते हैं; यथा—"सुनत नीक आगे दुख पावा। सचिवन्ह अस मत प्रभुहि सुनावा ॥" (लं० दो० ८)। इस वाणी में दोनों गुण हैं।

श्रीरामजी का भाषण

तात भरत तुम्ह धरमधुरीना। लोक - बेद - बिद प्रेम-प्रबीना ॥८॥

दोहा—करम बचन मानस बिमल, तुम्ह समान तुम्ह तात।

गुरुसमाज लघु - बंधु-गुन, कुसमय किमि कहि जात ॥३०४॥

जानहु तात तरनि - कुल - रीती। सत्यसंध पितु-कीरति प्रीती ॥१॥

समय समाज लाज गुरुजन की। उदासीन हित अनहित मन की ॥२॥

तुम्हहि बिदित सबही कर करमू। आपन मोर परम हित धरमू ॥३॥

मोहि सब भाँति भरोस तुम्हारा। तदपि कहउँ अवसर-अनुसारा ॥४॥

अर्थ—हे तात श्रीभरतजी ! तुम धर्म-धुरंधर हो, लोक और वेद (दोनों) के जाननेवाले हो और प्रेम में प्रवीण हो ॥८॥ हे तात ! कर्म, वचन और मन से निर्मल तुम्हारे समान तुम्हीं हो, बड़ों के समाज में और ऐसे कुसमय में छोटे भाई के गुण कैसे कहे जा सकते हैं ? ॥३०४॥ हे तात ! तुम सूर्यकुल की रीति, सत्य प्रतिज्ञ पिता की कीर्ति और प्रीति को जानते हो ॥१॥ समय, समाज, गुरुजनों की

उदासीन, मित्र और शत्रु के मन की (बात) ॥२॥ सभी का कर्त्तव्य, अपना और मेरा परम हित और परम धर्म तुमको मालूम है ॥३॥ मुझे सब प्रकार से तुम्हारा भरोसा है, तो भी समय के अनुसार कुछ कहता हूँ ; अन्यथा कहने समझाने की आवश्यकता न थी ॥४॥

विशेष—(१)—'तात भरत तुम्ह··'—श्रीभरतजी ने अपने भाषण में प्रभु की बड़ाई और अपने दोष कहे थे, उसपर श्रीरामजी उनकी प्रशंसा करते हुए उन्हें निर्दोष कहते हैं कि तुम तो धर्मधुरीण हो और मन, वचन, कर्म से निर्मल हो। श्रीभरतजी ने कहा था—'स्वामि गोसाइहि सरिस गोसाईं।' उस-पर आप कहते हैं—'तुम्ह समान तुम्ह तात।' पहले धर्म-धुरीण कहा, क्योंकि उन्हें पिता-वचन-पालन रूप धर्म पर आरूढ़ करना है।

(२) 'गुरु समाज लघु··'—एक तो श्रीवसिष्ठजी, श्रीविश्वामित्रजी एवं श्रीजनकजी आदि गुरुजनों का समाज है जिसमें बहुत बोलना भी अनुचित है, उसपर भी छोटे भाई की प्रशंसा उसके मुख पर कहना, फिर भी कुसमय में जहाँ किसी की भी प्रशंसा कहना रुचिकर नहीं होता, कैसे उचित हो? यथा—"लखि लघु बंधु बुद्धि सकुचाई। करत बदन पर भरत बड़ाई॥ (दो० १५८)

(३) 'जानहु तात तरनि-कुल-रीती।····' 'रीति'—यथा—"रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचन न जाई॥" (दो० २७); 'सत्य-संध पितु ···' यथा—"राखेउ राय सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ प्रेम पन लागी॥" (दो० २९२), "तजे राम जेहि बचनहि लागी। तनु परिहरेउ राम बिरहागी॥ नृपहि बचन प्रिय नहि प्रिय प्राना। करहु तात पितु बचन प्रवाना॥" (दो० १७१); भाव यह कि तुम भी कुल कीर्त्ति में प्रीति करो और पिता के वचन का पालन करो। पिता की कीर्त्ति; यथा— "जियन मरन फल दसरथ पावा। अंड अनेक अमल जस छावा॥ जियत राम-बिधु-बदन निहारा। राम बिरह करि मरन सँवारा॥" (दो० १५५) । भाव यह कि ऐसे कीर्त्तिमान् पिता के वचन सत्य करो, नहीं तो वे श्रीकैकेयीजी के ऋणी रह जायँगे और यह अपकीर्त्ति होगी कि उन्होंने वरदान देकर फिर उसे पूरा नहीं किया। तुम्हारे द्वारा पूरा किया जाना उन्हीं का पूरा करना है। तुम्हें कुल-कीर्त्ति की रक्षा करनी चाहिये।

(४) 'समय समाज लाज···'—यह भी जानते हो कि हमारे तुम्हारे लिये कठिन समय आ पड़ा है। राजा के बिना राज्य रक्षा-हीन हो रहा है। समाज का हाल भी जानते ही हो कि दंडनीति बिना समाज निरंकुश हो प्रमादी हो जाता है, दो राज-समाजों के रक्षक यहीं पर आ जुटे हैं, इन्हें अपने-अपने कर्त्तव्यों पर आरूढ़ होने चाहिये। गुरु-जन यहाँ हमारे-तुम्हारे निर्णय का बाट देखते हैं। उनकी लाज भी रखनी चाहिये कि शीघ्र अपने-अपने कार्यों में लग जाना चाहिये। तुम यह भी जानते हो कि जो उदासीन लोग हैं, उन्हें हमारे-तुम्हारे बनने-बिगड़ने की परवाह नहीं है। हित लोग सब यहीं उपस्थित हैं, यहाँ से वे प्रजा की रक्षा नहीं कर सकते। शत्रु लोग छिद्र ढूँढा करते हैं, वे इस समय हमारी असावधानी से लाभ उठा सकते हैं।

(५) 'तुम्हहि बिदित सबही···'—किसे क्या करना चाहिये ? यह तुम जानते हो। अब मेरा कर्त्तव्य वनवास और तुम्हारा कर्त्तव्य प्रजा की रक्षा करना है। हम दोनों को पिता की आज्ञा का पालन करना चाहिये, यही परम धर्म है, और इसीमें परम हित है।

(६) 'मोहि सब भाँति···'—मुझे सब प्रकार तुम्हारा भरोसा है कि तुम स्वयं सब जानते हो। अतः, स्वयं उचित ही करोगे। पर अवसर आ पड़ा है कि सब चाहते हैं और तुम भी चाहते हो कि मैं कहूँ, इसलिये कहता हूँ।

तात तात बिनु बात हमारी। केवल कुलगुरु-कृपा सँभारी ॥५॥
नतरु प्रजा परिजन परिवारू। हमहिं सहित सब होत खुआरू ॥६॥
जौ बिनु अवसर अथव दिनेसू। जग केहि कहहु न होइ कलेसू ॥७॥
तस उतपात; तात बिधि कीन्हा। मुनि मिथिलेस राखि सब लीन्हा ॥८॥

दोहा—राजकाज सब लाज पति, धरम धरनि धन धाम।
गुरु प्रभाव पालिहि सबहि, भल होइहि परिनाम ॥३०५॥

शब्दार्थ—खुआरू (फा॰ ख्वार)=बरबाद नष्ट। पति=प्रतिष्ठा, मर्यादा।

अर्थ—हे तात! पिता के बिना हमारी बात केवल कुल-गुरु श्रीवसिष्ठजी की कृपा ने सँभाल ली है ॥५॥ नहीं तो हमारे-समेत प्रजा, कुटुंबी और परिवार के लोग सभी बरबाद होते ॥६॥ जो बिना समय के ही सूर्य अस्त हो जायँ, तो कहिये, संसार में किसे कष्ट न होगा? ॥७॥ हे तात! उसी प्रकार का उपद्रव विधाता ने किया था, पर मुनि और मिथिलेश श्रीजनकजी ने सबको रक्षा की ॥८॥ राज्य के सब कार्य, सबकी लज्जा, प्रतिष्ठा, धर्म, पृथिवी, धन, धाम सभी का पालन गुरु प्रभाव ही करेगा और परिणाम अच्छा होगा ॥३०५॥

विशेष—(१) 'केवल कुलगुरु कृपा सँभारी'—वाल्मी॰ २।६७-६८ में विस्तार से कहा गया है कि राजा के शरीर त्यागने पर ऋषि और मंत्रीगण डर गये कि शीघ्र ही राज्य-रक्षा के लिये कोई नियुक्त हो, नहीं तो अमुक-अमुक रीति से प्रजा नष्ट हो जायगी और अराजक देश में रहना ठीक नहीं, इत्यादि, तब गुरु श्रीवसिष्ठजी ने हो सबको समझाया और फिर श्रीभरत-शत्रुघ्नजी के बुलाने का प्रबंध किया, इत्यादि।

(२) 'नतरु प्रजा परिजन परिवारू।'—इसमें परिजन और परिवार शब्द साथ आये हैं, ये अन्यत्र पर्याय माने जाते हैं, पर यहाँ एक से आश्रित (उपजीवी) और दूसरे से कुटुंबी लोगों का अर्थ लेना चाहिये। *'हमहि सहित सब होत खुआरू'; यथा*—"मैं बन जाउँ तुम्हहिं लेइ साथा। होइ सबहि बिधि अवध अनाथा ॥ गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू। सब कहँ परइ दुसह दुख भारू ॥...जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी ॥" (दो॰ ७०)।

(३) 'जौ बिनु अवसर...'—राजा के शरीर-त्याग का अभी अवसर नहीं था, क्योंकि अभी तो चौथेपन का प्रारंभ हुआ था; यथा—"श्रवन समीप भये सित केसा। मनहुँ जरठ पन अस उपदेसा ॥" (दो॰ १); यही बिना अवसर सूर्य का अस्त होना है। अनवसर-सूर्यास्त से सबको कष्ट होता है, वैसे गुरुजी न होते तो सबको महान् कष्ट होता।

(४) 'तस उतपात तात...'—पहले पिता के मरने पर गुरुजी ने ही सँभाला था, इससे ऊपर केवल गुरु-कृपा को ही कहा। पीछे रक्षा के लिये मिथिलेशजी आये, इससे पीछे उन्हें भी कहा। या, मुनि के साथ कहकर इन्हें भी बड़ाई दी।

(५) 'राज काज सब लाज...'—राज्य का कार्य सँभालना गुरु-प्रभाव पर निर्भर किया। लाज,

पति आदि सब राज्य-काय के ही व्यष्टि भेद हैं। 'गुरु प्रभाव' अर्थात् गुरुजी को कुछ करना न होगा; इनके प्रभाव से स्वतः सब सँभला रहेगा।

सहित समाज तुम्हार हमारा। घर बन गुरु-प्रसाद रखवारा ॥१॥
मातु-पिता-गुरु-स्वामि-निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू ॥२॥
सो तुम्ह करहु करावहु मोहू। तात तरनिकुल-पालक होहू ॥३॥
साधक एक सकल सिधि देनी। कीरति सुगति भूतिमय बेनी ॥४॥
सो बिचारि सहि संकट भारी। करहु प्रजा परिवार सुखारी ॥५॥

अर्थ—समाज-सहित तुम्हारा और हमारा, घर और वन में श्रीगुरुजी का प्रसाद (अनुग्रह) रक्षक है ॥१॥ माता, पिता, गुरु और स्वामी का आयसु सम्पूर्ण धर्म-रूपी पृथिवी को धारण करने के लिये शेष नाग (रूप) है ॥२॥ वही तुम करो और मुझसे कराओ, हे तात ! इस सूर्य-कुल के रक्षक होओ ॥३॥ साधक के लिये सब सिद्धियों को देनेवाली, कीर्त्ति, सद्‌गति और ऐश्वर्यमय त्रिवेणी यह एक ही है ॥४॥ इसे विचारकर भारी संकट सहकर प्रजा और परिवार को सुखी करो ॥५॥

विशेष—(१) 'सहित समाज तुम्हार ······'—यहाँ यथासंख्य अलंकार की रीति 'तुम्हारा' के साथ 'घर' और 'हमारा' के साथ 'वन' का अर्थ है। 'हमारा'—बहुवचन है। अतः,—श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी के साथ मेरा—यह अर्थ है। 'प्रसाद' का अर्थ उपर्युक्त प्रभाव के समान है। भाव यह कि हमारे बिना राज्य-कार्य की हानि न होगी।

(२) 'मातु-पिता-गुरु······'—इनकी आज्ञा में सम्पूर्ण धर्मों का भाव है।

(३) 'तरनिकुल-पालक होहू।'—यह सत्य-संध कुल है; यथा—"जानहु तात तरनि कुल रीती। सत्यसंध पितु कीरति प्रीती ॥" यह ऊपर कहा गया है। भाव यह कि सत्य-धर्म की रक्षा करो।

(४) 'साधक एक सकल······'—माता-पिता की आज्ञा का पालन करने से कीर्त्ति, गुरु की आज्ञा पालन करने से सद्‌गति और स्वामी की (मेरी) आज्ञा का पालन करने से भूति मिलती है। वा, तीनों की आज्ञा पालन करने से तीनों ही प्राप्त होती हैं। त्रिवेणी के अनुरोध से माता-पिता की आज्ञा गंगाजी, गुरु की आज्ञा यमुनाजी और स्वामी की आज्ञा श्रीसरस्वतीजी की तरह गुप्त हैं।

(५) 'सो बिचारि सहि······'—यह विचारकर कि प्रजा-पालन की आज्ञा मानने से कीर्त्ति, सुगति और ऐश्वर्य एवं सभी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। 'संकट भारी'—मेरे वियोग में तुम्हें भारी दुःख होगा, उसे सहकर, क्योंकि—"संत सहहिं दुख परहित लागी।" (उ० दो० १२०); 'करहु प्रजा परिवार सुखारी।'—अर्थात् घर जाकर वहीं पर रहते हुए इन सबको सुखी करो।

बाँटी बिपति सबहि मोहि भाई। तुम्हहि अवधि भरि बड़ि कठिनाई ॥६॥
जानि तुम्हहि मृदु कहउँ कठोरा। कुसमय तात न अनुचित मोरा ॥७॥
होहिं कुठायँ सुबंधु सहाये। ओड़ियहिं हाथ असनिहु के घाये ॥८॥

दोहा—सेवक कर पद नयन-से, मुख-सो साहिब होइ ।
तुलसी प्रीति की रीति सुनि, सुकवि सराहहिं सोइ ॥३०६॥

शब्दार्थ—ओड़ियहि = वार-प्रहार रोकने के लिये आड़ की जाती है, (ओड़न = ढाल) ।

अर्थ—हे भाई ! विपत्ति सबको और मुझको बाँटी (हिस्से में रक्खी) गई है । पर तुमको अवधि (१४ वर्ष) भर बड़ी कठिनता है ॥६॥ तुमको कोमल जानकर भी कठोर बात (वियोग की) कहता हूँ, हे तात ! कुसमय से कहा जाता है, इसमें मेरा अनुचित नहीं है ॥७॥ कुठाँव (आपत्ति) में अच्छे भाई ही सहायक होते हैं, जैसे वज्र के आघात पर भी हाथ ही ओड़ा जाता है ॥८॥ सेवक हाथ, पैर और नेत्र के समान और स्वामी मुख के समान होना चाहिये, श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि ऐसी सेवक-स्वामी की प्रीति की रीति को सुनकर सुकवि लोग इसकी सराहना करते हैं ॥३०६॥

विशेष—(१) 'बाँटी बिपति··· '—सबपर विपत्ति पड़ी है, पर तुमको सबसे अधिक है ।

(२) 'ओड़ियहि हाथ······'—यहाँ सुबंधु हाथ, कुठाँव वज्र का वार और सहाय होना ओड़ना है । यह स्वाभाविक रीति है कि जब शरीर पर कोई आघात होता है, तब उसको रोकने के लिये पहले हाथ ही उठता है, वैसे गाढ़ पड़ने पर उत्तम भाई ही काम आते हैं ।

(३) 'सेवक कर पद नयन-से······'—स्वामी राज-वाचक शब्द है, अंग एवं सेवक से प्रजा का तात्पर्य है । यहाँ राजा-प्रजा का बर्त्ताव (राजनीति) कह रहे हैं । जैसे नेत्र कोई वस्तु संग्रह-योग्य देखता है, तब पैर चलकर वहाँ पहुँचता है, हाथ उसे उठाता है, फिर खाने के योग्य बनाकर उसे मुख में देता है । मुख स्वाद-मात्र लेकर उसका रस सब अंगों को यथायोग्य बाँट देता है, उन्हें पुष्ट करता है, स्वयं ही नहीं रख लेता । ऐसी ही प्रीति की रीति प्रजा और राजा में होनी चाहिये । (आगे—"मुखिया मुख सों चाहिये ····" (दो० ३१५); भी देखिये ।) अर्थात् राजा-प्रजा में कपट न रहना चाहिये । राजा को चाहिये कि प्रजा से उचित कर लेकर उसे प्रजा के ही काम में लगा दे । राजा सेवकों से सेवा ले और सेवकों का सार-सँभार भी सावधानी से करे । भरत ! तुम इसी तरह प्रजा-पालन करना ।

सभा सकल सुनि रघुबर-बानी । प्रेम-पयोधि-अमिअ जनु सानी ॥१॥
सिथिल समाज सनेह समाधी । देखि दसा चुप सारद साधी ॥२॥
भरतहि भयउ परम संतोषू । सनमुख स्वामि बिमुख दुख दोषू ॥३॥
मुख प्रसन्न मन मिटा बिषादू । भा जनु गूँगेहि गिरा प्रसादू ॥४॥

अर्थ—प्रेम-समुद्र के (संभूत) अमृत में मानों सनी हुई रघुवर-वाणी को सुनकर समस्त समाज ॥१॥ शिथिल हो गया, स्नेह की समाधि लग गई, दशा देखकर श्रीसरस्वतीजी ने चुप साध ली ; अर्थात् मौन हो रही है ॥२॥ श्रीभरतजी को परम संतोष हुआ, क्योंकि स्वामी की सम्मुखता प्राप्त हुई और दुःख-दोष दूर हुए ॥३॥ मुख प्रसन्न हो गया, मन का दुःख मिट गया, मानों गूंगे पर श्रीसरस्वतीजी की कृपा हो गई ॥४॥

विशेष—(१) 'प्रेम-पयोधि-अमिअ······'—प्रेम-रूपी दूध के समुद्र का अमृत अर्थात्

परमोत्तम प्रेम में सनी हुई वाणी है। उससे सबका ऐसा स्नेह उमड़ा कि सब जड़ के समान हो गये। शारदा सबकी वाणी की अधिष्ठात्री देवी है। अतः, सबका चुप रहजाना शारदा का चुप रह जाना है। सब चुपचाप देख रहे हैं कि अब श्रीरामजी की आज्ञा सुनकर श्रीभरतजी क्या कहते हैं ? बिना श्रीभरतजी के उत्तर दिये किसीको बोलने का अवसर भी नहीं है।

(२) 'भरतहि भयउ परम संतोषू ···'—पहले दुःख और दोष से दुखी थे ; यथा—"येहि दुख दाह दहइ दिन छाती।" (दो० २११), "एकइ उर बस दुसह दँवारी। मोहि लगि भे सियराम दुखारी॥" (दो० १८१) ; दोष—"बिनु समुझे निज अघ परिपाकू।" (दो० २६०)। पाप का फल दुःख है; यथा—"करहि पाप पावहिं दुख··· " (उ० दो० १००) ; अर्थात् कारण और कार्य दोनों मिट गये। इसीसे परम संतोष हुआ।

(३) 'मुख प्रसन्न मन···'—पूर्व कहा गया था—"नहिं प्रसन्न मुख मानस खेदा।" (दो० २२१); उसीकी निवृत्ति यहाँ है। पहले इन्होंने अपने को स्वामि-विमुख माना था ; यथा—"हित हमार सिय पति सेवकाई। सोहरि-लीन्हि मातु-कुटिलाई॥" (दो० १०७) इससे ये अवाक् हो गये थे। अब इन्हें स्वामी ने आज्ञा-रूप से सेवा प्रदान की। यही मानों गूँगे को वाणी प्राप्त हो गई।

कीन्ह सप्रेम प्रनाम बहोरी। बोले पानि-पंकरुह जोरी ॥५॥
नाथ भयउ सुख साथ गये को। लहेउँ लाहु जग जनम भये को ॥६॥
अब कृपाल जस आयसु होई। करउँ सीस धरि सादर सोई ॥७॥
सो अवलंब देव मोहि देई। अवधि पार पावउँ जेहि सेई ॥८॥

दोहा—देव देव-अभिषेक हित, गुरु अनुसासन पाइ।
आनेउँ सब तीरथ-सलिल, तेहि कहँ काह रजाइ ॥२०७॥

अर्थ—प्रेम पूर्वक प्रणाम किया और हस्त-कमल जोड़कर बोले ॥५॥ हे नाथ ! मुझे आपके साथ जाने का सुख प्राप्त हो गया, जगत् में जन्म होने का लाभ मैंने पा लिया ॥६॥ हे कृपालु ! अब जैसी आज्ञा हो, मैं शिरोधार्य करके आदर पूर्वक वही करूँ ॥७॥ (परन्तु) हे देव ! मुझे वह अवलंब दीजिये, जिसका सेवन करके मैं अवधि का पार पाऊं ॥८॥ हे देव ! आप (देव) के तिलक के लिये गुरुजीकी आज्ञा पाकर सब तीर्थों के जल लाया हूँ, उसके लिये क्या आज्ञा होती है ? ॥२०७॥

विशेष—(१) 'कीन्ह सप्रेम ···'—कृतज्ञता से सप्रेम प्रणाम करते हैं, हाथ जोड़कर बोलना नीति है।

(२) 'नाथ भयउ सुख साथ ···'—पहले दरबार में साथ चलने का प्रस्ताव किया था; यथा—"नाथ चलउँ मैं साथ।" (दो० १९८); अब मुझे उसका भी सुख हो गया। पहले अपना जन्म व्यर्थ माना था; यथा—"बादि मोरि सब बिनु रघुराई॥" (दो० १७७); "कुल कलंक जेहि जनमेउ मोही।" (दो० १६१), इत्यादि। उसपर अब कहते हैं—"लहेउँ लाहु जग जनम भये को।"

(३) 'अब कृपाल जस आयसु ···'—श्रीरामजी ने अभी तक माता-पिता को आज्ञा पालन करने को कहा है, अपनी आज्ञा नहीं दी, अतः माँगते हैं। 'करउँ सोस धरि सादर सोई।'—भाव यह कि जाने को तो तैयार हूँ; पर 'जस आयसु' अर्थात् एक तो १४ वर्ष के लिये अवलंब माँगा है, उसपर और तिलक-सामग्री के विषय में क्या आज्ञा होती है? पुनः चित्रकूट के दर्शनों को भी चाह आगे कहेंगे।

(४) 'सो अवलंब देव···'—'देव'—क्योंकि आप दिव्यगुण विशिष्ट हैं और देवता के समान हैं; यथा—"अमरोपमसत्त्वस्त्वं महात्मा सत्यसंगरः। सर्वज्ञः सर्वदर्शी च बुद्धिमांश्चापि राघव॥" (वाल्मी० २।१०६।१); यह अवलंब चलते समय मिलेगा; यथा—"भरत मुदित अवलंब लहेते।" (दो० ३१५)। 'पार पावउँ'—इससे अवधि को समुद्र के समान जनाया।

(५) 'देव देव-अभिषेक···'—'देव' अर्थात् हमारे इष्टदेव हैं और तेज-प्रताप आदि से युक्त एवं दिव्य हैं। 'गुरु अनुसासन···'—यहाँ जाना गया कि उस समय आज्ञा भी ले ली थी; यथा—"कहेउ लेहु सब तिलक समाजू। बनहिं देव मुनि रामहि राजू॥" (दो० १८६); वहाँ तो इतना ही कहा गया था।

एक मनोरथ बड़ मन माहीं। सभय सँकोच जात कहि नाहीं॥१॥
कहहु तात प्रभु-आयसु पाई। बोले बानि सनेह सुहाई॥२॥
चित्रकूट सुचि थल तीरथ बन। खग मृग सरि सर निर्झर गिरिगन॥३॥
प्रभु-पद-अंकित अवनि बिसेखी। आयसु होइ त आवउँ देखी॥४॥
अवसि अत्रि आयसु सिर धरहू। तात बिगत-भय कानन चरहू॥५॥
मुनि-प्रसाद बन मंगलदाता। पावन परम सुहावन भ्राता॥६॥
रिषिनायक जहँ आयेसु देहीं। राखेहु तीरथ-जल थल तेहीं॥७॥
सुनि प्रभुबचन भरत सुख पावा। मुनि-पद-कमल मुदित सिर नावा॥८॥

दोहा—भरत-राम-संबाद सुनि, सकल-सुमंगल-मूल।
सुर स्वारथी सराहि कुल, बरषत सुरतरु-फूल॥३०८॥

धन्य भरत जय राम गोसाईं। कहत देव हरषत बरिआईं॥१॥

वचनों को सुनकर श्रीभरतजी ने सुख पाया और (अत्रि) मुनि के चरण-कमलों में आनंदित होकर शिर नवाया ॥८॥ सम्पूर्ण सुन्दर मंगलों का मूल श्रीभरत-राम-संवाद सुनकर स्वार्थी देवता इनके कुल की प्रशंसा करके कल्पवृक्ष के फूल बरसाते हैं ॥३०८॥ 'धन्य भरत जय राम गोसाईं' ऐसा कहते हैं और बलात् (बरबस) हर्षित होते हैं ॥१॥

विशेष—(१) 'एक मनोरथ बड़···'- मनोरथ छोटा होता तो उसे मन में ही दबा देता, पर बड़ा है।

'सभय सकोच'—आज्ञा मिल गई, तो फिर बोलना ढिठाई है। इसका भय और संकोच भी है; यथा—"उतर देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई॥" (दो० २६८); 'प्रभु-पद-अंकित ··'—एक चरण-चिह्न से तो गया तीर्थ का माहात्म्य हुआ, (गया में 'विष्णु पद' मंदिर है, जिसका वहाँ बहुत महत्त्व है।) यहाँ तो बहुत-से तीर्थ हैं और सब में प्रभु के चरण-चिह्न पड़े हैं, इससे लालसा है।

(२) 'अवसि अत्रि आयसु ···'—पहले तीसरे प्रश्न के लिये ही आज्ञा हुई, क्योंकि इस मनोरथ को इन्होंने 'बड़' कहा था। साथ ही दूसरे (सर्व-तीर्थ-जल) के लिये भी कह दिया। पहले के प्रति अवलंब अंत में देंगे, क्योंकि उसे पाकर तो फिर चल देना होगा। यहाँ श्रीअत्रिजी को बड़ाई दी। 'बिगत भय'—वन में भय रहता है, पर मुनि की आज्ञा पर चलने में बाधा न होगी। 'चरहू'—विचरो, जहाँ-जहाँ कहें, वहाँ-वहाँ जाओ।

(३) 'मुनि-पद-कमल मुदित सिर नावा।'—प्रभु की आज्ञा के अनुसार मुनि के पास जाकर प्रणाम किया। मुनि पास ही थे, श्रीरामजी की बातें सुनते थे, इसीसे इन्होंने और कुछ न कहा। शिर नवाकर आज्ञा भी माँगी, उत्तर में मुनि का कहना आगे—"अत्रि कहेउ तब···" से कहा है, बीच में संवाद का माहात्म्य कहेंगे।

(४) 'भरत-राम-संबाद सुनि······'—यहाँ इस संवाद की पूर्ति है। इसका उपक्रम—"प्रभु पितु-मातु सुहृद गुरु स्वामी।···" से हुआ और—"राखेहु तीरथ जल-थल तेहीं।" पर उपसंहार है। पुनः—"करि प्रनाम बोले भरत" पर उपक्रम है और—"सुनि प्रभु बचन भरत सुख पावा।" पर उपसंहार है। इसके भीतर दो-दो बार संवाद हुए हैं। इस प्रसंग की फलश्रुति—'सकल सुमंगल मूल' है। 'सुर स्वारथी सराहि ··'—देवता सदा के स्वार्थी हैं; यथा—"आये देव सदा स्वारथी।" (लं० दो० १०१); यहाँ उनको स्वार्थ-सिद्धि हुई, इससे कल्पवृक्ष के फूल बरसाये, क्योंकि निश्चय हो गया कि श्रीभरतजी लौट जायँगे और श्रीरामजी वनवास करेंगे। पहले संदेह था, तब—"बरसत सुमन मानस मलिन से।" (दो० ३०१); कहा है। अब बरियाईं भी हर्ष प्रकट करते हैं। 'सराहि कुल'—सराहना यह कि रघुकुल सदा से परोपकारी; सत्य-संध और गो-विप्र एवं देवताओं का हित करनेवाला है। इसमें सभी राजा धर्म-धुरंधर हुए हैं, तो श्रीरामजी और श्रीभरतजी ऐसे क्यों न हों। पुनः कुल के परंपरा-धर्म के निर्वाह की भी सराहना है; यथा—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥" (दो० १४); इसके अनुसार श्रीभरतजी आज्ञा में कृतकृत्य हुए।

(५) 'धन्य भरत जय राम······'—श्रीभरतजी को धन्य कहते हैं, ये संत हैं; स्तुति में कहते हैं। श्रीरामजी की जय मनाते हैं कि असुरों को जीतें और इनका स्वार्थ सधे।

'हरषत बरियाइं'—कृतज्ञता के रूप में बरियाईं भी हर्ष प्रकट करते हैं, पर भीतर रावण का भय बना है।

मुनि, मिथिलेस सभा सब काहू। भरत बचन सुनि भयउ उछाहू ॥२॥
भरत-राम - गुन - ग्राम - सनेहू। पुलकि प्रसंसत राउ बिदेहू ॥३॥
सेवक स्वामि सुभाव सुहावन। नेम प्रेम अति पावन पावन ॥४॥
मति अनुसार सराहन लागे। सचिव सभासद सब अनुरागे ॥५॥
सुनि सुनि राम - भरत - संबादू। दुहुँ समाज हिय हरष बिषादू ॥६॥
राम-मातु दुख-सुख सम जानी। कहि गुन राम प्रबोधी रानी ॥७॥
एक कहहिं रघुबीर - बड़ाई। एक सराहत भरत - भलाई ॥८॥

अर्थ—मुनि, श्रीमिथिलापति और सभा, सब किसीको श्रीभरतजी के वचन सुनकर उत्साह हुआ ॥२॥ श्रीभरतजी के और श्रीरामजी के गुण-समूह और स्नेह से पुलकित होकर विदेहराज प्रशंसा करते हैं ॥३॥ सेवक और स्वामी के सुन्दर स्वभाव और अत्यन्त पावन को भी पावन करनेवाले नेम और प्रेम की ॥४॥ मंत्री और सभासद, सभी अनुरक्त होकर अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार प्रशंसा करने लगे ॥५॥ श्रीरामजी और श्रीभरतजी का संवाद सुन-सुनकर दोनों समाजों के हृदय में हर्ष और विषाद है ॥६॥ श्रीरामजी की माता ने दुःख-सुख को समान ही जाना और श्रीरामजी के गुण कहकर सब रानियों को समझाया ॥७॥ कोई तो रघुवीर श्रीरामजी की बड़ाई कर रहे हैं और कोई श्रीभरतजी की भलाई (भलापन) को सराहते हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'भरत बचन सुनि भयउ उछाहू।'—श्रीभरतजी की ओर से ही दुविधा थी कि ये वियोग को कैसे स्वीकार करेंगे, जब ये प्रसन्नता से उद्यत हो गये, तब सबको उत्साह हुआ, पुनः चार-छः दिन और रहने को मिले और तीर्थ के दर्शनों का भी संयोग हुआ, इससे सब प्रसन्न हो गये।

(२) 'सेवक स्वामि सुभाव···'—सेवक श्री ी का स्वामी श्रीरामजी के प्रति और उनका इनके प्रति, यह सुन्दर भाव सुहावना वा उभयपक्ष का उपयुक्त सुहावन स्वभाव और दोनों का नेम-प्रेम अत्यन्त पवित्रतम है।

(३) 'मति अनुसार सराहन लागे।···'—मति के अनुसार ही कुछ कहते हैं, क्योंकि यथार्थ कोई कह नहीं सकता; यथा—"अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधि हरि हर को ॥" (दो॰ २४०); "बिधि गनपति अहिपति सिव सारद।···" से "अगम सबहि बरनत बरबरनी।···" (दो॰ २८८) तक।

(४) 'दुहुँ समाज हिय हरष बिषादू।'—(क) श्रीभरतजी की ग्लानि मिटी, कुल धर्म के अनुसार सेवा-धर्म में दृढ़ हैं, श्रीरामजी का भी धर्म रक्खा, यह समझकर हर्ष है और श्रीरामजी के न लौटने का दुःख है। (ख) पिता के वचन में श्रीरामजी की दृढ़ भक्ति, उनका अद्भुत धैर्य और अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ता देखकर हर्ष और श्रीअवध न लौटने का दुःख हुआ; यथा—"न चैव चक्रे गमनाय सत्त्ववान्मतिं पितुस्तद्वचने प्रतिष्ठितः॥ तदद्भुतं स्थैर्यमवेक्ष्य राघवे समं जनो हर्षमवाप दुःखितः। न यात्ययोध्यामिति दुःखितोऽभवत्स्थिरप्रतिज्ञत्वमवेक्ष्य हर्षितः ॥" (वाल्मी॰ २।१०१।११-१२)।

(५) 'राम-मातु दुख-सुख······'—दुःख-सुख दोनों ही आगमापायी हैं; यथा—"मात्रा स्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः। आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।" (गीता २।१४); इससे समान हैं; यथा—"सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं॥" (दो० १५६); 'गुन राम'—श्रीरामजी के गुण, जैसे 'हरन भव-भय-दारुनम्' का-सा प्रयोग है, श्रीकौशल्याजी ने श्रीराम-गुण यह कहा कि वे सद्धर्म पर आरूढ़ हैं, उसे कैसे छोड़ें? वीर और धीर भी हैं, मारीच-सुबाहु आदि के मारने और श्रीपरशुराम-गर्व-हरण से विदित है। इससे वन में भी वे सुखी ही रहेंगे, उन्हें कोई भय न होगा, इत्यादि।

द्वितीय दरबार (सार्वजनिक सभा) समाप्त

दोहा—अत्रि कहेउ तब भरत सन, सैल-समीप सुकूप।
राखिय तीरथ-तोय तहँ, पावन अमिअ अनूप॥३०९॥

भरत अत्रि अनुसासन पाई। जल-भाजन सब दिये चलाई॥१॥
सानुज आप अत्रि मुनि साधू। सहित गये जहँ कूप अगाधू॥२॥
पावन पाथ पुन्य-थल राखा। प्रमुदित प्रेम अत्रि अस भाखा॥३॥
तात अनादि सिद्ध थल येहू। लोपेउ काल बिदित नहिं केहू॥४॥
तब सेवकन्ह सरस थल देखा। कीन्ह सुजल हित कूप बिसेखा॥५॥
बिधिबस भयउ बिस्व उपकारू। सुगम अगम अति धरम बिचारू॥६॥
भरतकूप अब कहिहहिं लोगा। अति पावन तीरथ जलजोगा॥७॥
प्रेम सनेम निमज्जत प्रानी। होइहहिं बिमल करम-मन-बानी॥८॥

दोहा—कहत कूप-महिमा सकल, गये जहाँ रघुराउ।
अत्रि सुनायेउ रघुबरहिं, तीरथ-पुन्य-प्रभाउ॥३१०॥

शब्दार्थ—तोय = जल। दिये चलाई = रवाना कर दिया। सरस = सजल, श्रेष्ठ। बिसेखा = खास।

अर्थ—तब श्रीअत्रिजी ने श्रीभरतजी से कहा कि इस पर्वत के समीप एक सुन्दर कुआँ है, वहीं इस अनुपम, पवित्र और अमृत-तुल्य तीर्थ-जल को रखिये॥३०९॥ श्रीअत्रिजी की आज्ञा पाकर श्रीभरतजी ने तीर्थ-जल के पात्र सब आगे भेज दिये॥१॥ अत्रिमुनि एवं साधुओं के साथ और भाई श्रीशत्रुघ्नजी समेत आप (श्रीभरतजी) वहाँ गये, जहाँ वह गहरा कुआँ था॥२॥ पवित्र जल को उस पुण्य स्थल में रक्खा, श्रीअत्रिजी ने अत्यन्त आनंदित होकर प्रेम से ऐसा कहा॥३॥ हे तात! यह अनादि सिद्ध-स्थल है, इसे काल ने लुप्त कर दिया था, (अर्थात् बहुत काल में क्रमशः लुप्त हो गया था) इससे किसीको मालूम न था॥४॥ तब हमारे सेवकों (शिष्यों) ने इस श्रेष्ठ एवं सजल स्थल को देखा और

सुन्दर जल के लिये एक खास बड़ा कुआँ बना लिया ॥५॥ दैवयोग से संसार का उपकार हुआ, जो धर्म का विचार अत्यन्त अगम था, वह सुगम हो गया ॥६॥ अब इसे लोग श्रीभरत-कूप कहेंगे। तीर्थ-जल के सम्बन्ध से यह अत्यन्त पवित्र हो गया ॥७॥ इसमें नियम से प्रेम-पूर्वक स्नान करने से प्राणी मन-वचन-कर्म से निर्मल हो जायँगे ॥८॥ कूप की महिमा कहते हुए सब लोग वहाँ गये, जहाँ श्रीरघुनाथजी थे, श्रीअत्रिजी ने रघुवर श्रीरामजी को इस पवित्र तीर्थ के पुण्य और प्रभाव को सुनाया ॥३१०॥

विशेष—(१) 'अत्रि कहेउ तब······'—श्रीभरतजी और श्रीअत्रिजी का प्रसंग—"मुनि-पद कमल मुदित सिर नाया।" (दो० ३०७); से छोड़ा था, वहीं से फिर उठाते हैं कि श्रीभरतजी के प्रणाम करने पर श्रीअत्रिजी ने कहा।

(२) 'तीरथ-तोय तहँ, पावन अमिअ अनूप।'—पवित्रता तो तीर्थ-जल कहने ही में आ गई, फिर भी पावन कहकर अत्यन्त पवित्र बताया। अमृत के समान स्वादिष्ट और मृत्यु-रूप संसार से छुड़ानेवाला कहकर इसे अनुपम फलवाला कहा है।

(३) 'प्रमुदित प्रेम अत्रि··'—श्रीरघुनाथजी के दर्शन हुए, उन्होंने प्रसन्न होकर मुझे बड़ाई दी, इससे प्रेमानंद था। अब समीप ही में सर्वतीर्थमय कूप बना, जिससे यहाँ के सभी लोग कृतार्थ होंगे। अतः, प्रकर्ष प्रेम और आनन्द हुआ।

(४) 'अनादि सिद्ध थल येहू।'—'अनादि'—इतना प्राचीन है कि इसका आदि कोई जानता ही नहीं कि कब से है। 'सिद्ध थल'—यहाँ पर बहुत-से साधक लोग सिद्ध हुए हैं और यहाँ सब सिद्धियाँ भी शीघ्र प्राप्त होती हैं।

(५) 'तब सेवकन्ह सरस थल देखा। ··'—'तब' अर्थात् जल की आवश्यकता पर, इस स्थल को देखा कि सरस है; अर्थात् जल शीघ्र निकलेगा, तो सुन्दर जल के लिये कूप-विशेष बना लिया।

(६) 'विधिबस भयउ······'—यह श्रीअत्रिजी का वचन इस समय के लिये है कि दैवयोग से ऐसा हुआ, नहीं तो सम्पूर्ण तीर्थों का जल यहाँ कौन और कैसे लाता ? भाव यह कि आया श्रीराम-तिलक के लिये और लाकर यहाँ रक्खा गया। 'सुगम अगम अति···'—सब तीर्थ एक ही जगह मिल जायँ, यह विचार अगम था, वह विधिवश सुगम हो गया। सब तीर्थों को एकत्र स्थापन करना एवं सब तीर्थों में एकत्र ही स्नान में बड़ा भारी धर्म है, इसकी अगमता इससे भी दूर हुई; क्योंकि दैवयोग से कठिन कार्य भी सुगम हो जाते हैं।

(७) 'भरतकूप अब ·····'—तीर्थ का नाम, उसका माहात्म्य और स्नान आदि की विधि जानकर स्नान करना चाहिये। अतः, 'भरत कूप' नाम कहा गया, मन, वचन, कर्म का निर्मल होना फल और प्रेम से नियम-पूर्वक स्नान करना उसकी विधि कही गई। बा० दो० २ और बा० दो० ३४ चौ० ७-१० भी देखिये। 'अति पावन'—पावन तो प्रथम ही था, तीर्थ जल के योग से अति पावन हो गया।

कहत धरम इतिहास सप्रीती। भयउ भोर निसि सो सुख बीती ॥१॥
नित्य निबाहि भरत दोउ भाई। राम-अत्रि-गुरु आयसु पाई ॥२॥

सहित समाज साज सब सादे। चले राम-बन-अटन पयादे ॥३॥
कोमल चरन चलत बिनु पनहीं। भइ मृदु भूमि सकुचि मन मनहीं ॥४॥

अर्थ—प्रीति-सहित धर्म के इतिहास कहते हुए वह रात सुख से बीत गई और सबेरा हुआ ॥१॥ श्रीभरतजी और श्रीशत्रुघ्नजी दोनों भाई नित्य प्रातःक्रिया से निवृत्त होकर, श्रीरामजी, श्री अत्रिजी और श्रीगुरुजी की आज्ञा पाकर ॥२॥ समाज-सहित सब सादे साज से और पैदल श्रीराम-वन में घूमने (प्रदक्षिणा करने) चले ॥३॥ चरण कोमल हैं और विना जूते के चल रहे हैं, (यह जानकर) पृथिवी मन-ही-मन सकुचाकर कोमल हो गई ॥४॥

विशेष—(१) 'निसि सो सुख बीती'—आज अवरेब मिट जाने से सुख-पूर्वक रात बीती।

(२) 'सहित समाज साज···'—इसमें तीर्थाटन की विधि कही गई है कि पैदल ही चले और जूती भी न पहने और विशेष ठाट-बाट से न रहे। यह भी नियम कहा गया कि नित्य-नियम करके प्रदक्षिणा करनी चाहिये। प्रायः लोग तीर्थ-यात्रा में नित्य-नियम आधा ही करते हैं, पर ये पूरा निबाहते हैं।

(३) 'भइ मृदु भूमि सकुचि···'—सकुचने के भाव—(क) सकुची कि पहले हमसे न बना, जो इन्हें फफोले का कष्ट दिया ; यथा—"झलका झलकत पायन कैसे।···" (दो० २०३) ; इसीसे अब सकुचा गई, सकुचने से कोमलता आ गई। कोमल बनकर सुख दिया, क्योंकि ये उसके भार उतारने में सहायक हुए। (ख) सकुची अर्थात् सिकुड़ गई कि दूर के स्थान समीप हो जायँ, अधिक चलना न पड़े। (ग) जिसपर प्रभु की प्रसन्नता होती है, उसपर जड़-चेतन सभी अनुकूल हो जाते हैं।

कुस कंटक काँकरी कुराईं। कटुक कठोर कुबस्तु दुराईं ॥५॥
महि मंजुल मृदु मारग कीन्हे। बहत समीर त्रिबिध सुख लीन्हे ॥६॥
सुमन बरषि सुर घन करि छाँहीं। बिटप फूलि फलि तृन मृदुताहीं ॥७॥
मृग बिलोकि खग बोलि सुबानी। सेवहिं सकल राम-प्रिय जानी ॥८॥

दोहा—सुलभ सिद्धि सब प्राकृतहु, राम कहत जमुहात।
राम-प्रान-प्रिय भरत कहँ, यह न होइ बड़ि बात ॥३११॥

शब्दार्थ—कुराई=गढ़े आदि से कुराह। कटुक=कष्टदायक, खुजली करनेवाली घास आदि।

अर्थ—कुश, काँटे (गोखुरू, जवासा, बबूल आदि के-) कंकड़ियाँ, गढ़े आदि कुराह के दोषों एवं कष्टदायक कठोर और बुरी वस्तुओं (विष्ठा हड्डी, आदि) को छिपा दिया ॥ ५ ॥ पृथिवी ने सुन्दर कोमल मार्ग कर दिया, सुख को लिये हुए तीनों प्रकार की हवा चलती है ॥ ६ ॥ देवता फूल-वर्षा करके, बादल छाया करके, वृक्ष फूल-फल प्रकट करके और तृण कोमलता से ॥७॥ पशु देखकर और पक्षी सुन्दर वाणी बोलकर, सभी श्रीरामजी के प्यारे जानकर इनकी सेवा करते हैं ॥८॥ जम्हाते हुए भी 'राम' ऐसा कहने से साधारण लोगों को भी स्वाभाविक ही सब सिद्धियाँ सुलभ हो जाती हैं, तब श्रीरामजी के प्राणप्यारे श्रीभरतजी के लिये यह कोई बड़ी बात नहीं है ॥३११॥

विशेष—यहाँ सब अपने-अपने गुण-वैभव से श्रीभरतजी की सेवा कर रहे हैं, मृगों के नेत्र सुन्दर होते हैं, वे उन्हें दिखाते हैं। पक्षी, कोयल आदि सुरीली बोली सुनाती हैं। वृक्ष फूल-फल दिखाकर प्रसन्न करते हैं, इत्यादि। 'बहत समीर त्रिबिध सुख लीन्हे'—सबकी इच्छानुसार सुखद सीतल, मंद और सुगंधित वायु बह रहा है। 'सेवहिं सकल राम प्रिय जानी।'—उपर्युक्त सुख-दातृत्व का कारण यहाँ बतलाया कि श्रीरामजी सबकी आत्मा हैं, उनका प्रिय होने से प्राणी सबका प्रिय हो जाता है। यथा—"राम सुहाते तोहि जो तू सबहि सुहातो।" (वि० १५१)। पूर्व कहा गया—"अचर सचर चर अचर करत को।" (दो० २३७); वह यहाँ चरितार्थ है कि अचर सचर का कार्य कर रहे हैं। भूमि, वृक्ष, तृण आदि चैतन्य के समान हो रहे हैं।

येहि बिधि भरत फिरत बन माहीं। नेम प्रेम लखि मुनि सकुचाहीं ॥१॥
पुन्य जलाश्रय भूमि बिभागा। खग मृग तरु तृन गिरि बन बागा ॥२॥
चारु बिचित्र पवित्र बिसेखी। बूझत भरत दिव्य सब देखी ॥३॥
सुनि मन मुदित कहत रिषिराऊ। हेतु नाम गुन पुन्य प्रभाऊ ॥४॥
कतहुँ निमज्जन कतहुँ प्रनामा। कतहुँ बिलोकत मन अभिरामा ॥५॥
कतहुँ बैठि मुनि - आयसु पाई। सुमिरत सीय सहित दोउ भाई ॥६॥
देखि सुभाव सनेह सुसेवा। देहिं असीस मुदित बनदेवा ॥७॥
फिरहिं गये दिन पहर अढ़ाई। प्रभु-पद-कमल बिलोकहि आई ॥८॥

दोहा—देखे थल तीरथ सकल, भरत पाँच दिन माँझ।
कहत सुनत हरिहर सुजस, गयेउ दिवस भइ साँझ ॥३१२॥

अर्थ—इस प्रकार श्रीभरतजी वन में फिरते हैं, उनका नियम और प्रेम देखकर मुनि सकुचा जाते हैं ॥१॥ पवित्र जल के स्थान (नदी, तालाब, कूप आदि), पृथिवी के पृथक्-पृथक् भाग, पक्षी, पशु, वृक्ष, तृण, पहाड़, वन और बाग ॥२॥ सभी बहुत सुन्दर, विचित्र (रंग-विरंग के) और विशेष पवित्र हैं। इन सबको दिव्य देखकर श्रीभरतजी पूछते हैं ॥३॥ सुनकर ऋषिराज श्रीअत्रिजी प्रसन्न-मन से सबके कारण, नाम, गुण, पुण्य और प्रभाव को कहते हैं ॥४॥ कहीं स्नान और कहीं प्रणाम करते हैं और दर्शन करते ही मन रम जाता है ॥५॥ कहीं मुनि की आज्ञा पाकर बैठकर श्रीसीताजी के साथ दोनों भाइयों का स्मरण करते हैं ॥६॥ श्रीभरतजी का स्वभाव, प्रेम और सुन्दर सेवा देखकर सब वन के देवता प्रसन्न होकर आशिष देते हैं ॥७॥ ढाई पहर दिन बीतने पर लौटते हैं और प्रभु के चरण-कमलों के दर्शन करते हैं ॥८॥ श्रीभरतजी ने पाँच दिनों में सब तीर्थ-स्थानों के दर्शन कर लिये, हरि-हर-सुयश कहते-सुनते दिन बीत गया और संध्या हुई ॥३१२॥

विशेष—(१) 'नेम-प्रेम लखि मुनि सकुचाहीं।'—मुनि लोग लज्जित होते हैं, सकुचाते हैं कि हमलोगों ने इसी नियम और प्रेम के लिये घर-बार छोड़ा, फिर भी ऐसा भाव न आया। इनके सदृश तो

सबका 'नेम-प्रेम' कुछ भी नहीं है, तो व्यर्थ ही साधु हुए; यथा—"तुलसी जो पै राम सों, नाहिन सहज सनेह। मूड़ मुड़ायो बादि ही, भाँड़ भयो तजि गेह ॥" (दोहावली ६३)

(२) 'पुन्य जलाश्रय'''—पुण्य जलाश्रय वे हैं, जिनके दर्शनों से मन पवित्र हो।

(३) 'हेतु नाम गुन पुन्य-प्रभाऊ।'—'हेतु'—ये यहाँ कैसे आये ? यह नाम क्यों पड़ा ? इनकी उत्पत्ति कैसे हुई ? इनके पृथक्-पृथक् गुण क्या-क्या हैं ? इत्यादि, 'दिव्य सब देखी'—श्रीभरतजी का हृदय शुद्ध है, इसीसे इन्हें तीर्थों की दिव्यता का अनुभव हो जाता है। तीर्थों को दिव्य जानकर ही उनके प्रभाव आदि कहने में मुनि को भी आनन्द होता है।

(४) 'कतहुँ निमज्जन'''—जहाँ-जैसी विधि है। 'विलोकत मन अभिरामा'—देखते ही मन रम जाता है, तो रुचि-पूर्वक देखते ही रह जाते हैं। 'कतहुँ बैठि''—श्रमित जानकर मुनि आज्ञा दे देते हैं, अथवा वहाँ बैठने की भी विधि है।

(५) 'सुभाव सनेह सुसेवा'—सबमें अच्छा भाव है, प्रभु में स्नेह है और ऋषियों की सुन्दर सेवा करते हैं। 'फिरहिं गये दिन पहर अढ़ाई।'—यही पाँचों दिनों की चर्या रही। 'हरिहर सुजस'—भगवत्—भागवत का यश, अर्थात् नित्य कथा होती थी। भगवान् के साथ उनके भक्तों की भी कथा होती है। अथवा सब कोई विष्णु और श्रीशिवजी का सुयश सुनते और कहते थे, भगवान् के साथ उनके प्रिय भक्त श्रीशिवजी की भी कथा रहती ही है।

कौन तीर्थ कैसे देखा जाता है—यह सब बृहद्रामायणोक्त चित्रकूट माहात्म्य में विस्तार से कहा गया है।

चित्रकूट तृतीय दरबार

भोर न्हाइ सब जुरा समाजू। भरत भूमिसुर तिरहुतिराजू ॥१॥
भल दिन आजु जानि मनमाहीं। राम कृपाल कहत सकुचाहीं ॥२॥
गुरु नृप भरत सभा अवलोकी। सकुचि राम फिरि अवनि बिलोकी ॥३॥
सील सराहि सभा सब सोची। कहुँ न राम सम स्वामि-सँकोची ॥४॥
भरत सुजान राम-रुख देखी। उठि सप्रेम धरि धीर बिसेखी ॥५॥
करि दंडवत कहत कर जोरी। राखी नाथ सकल रुचि मोरी ॥६॥
मोहि लगि सहेउ सबहि संतापू। बहुत भाँति दुख पावा आपू ॥७॥
अब गोसाइँ मोहि देउ रजाई। सेवउँ अवध अवधि भरि जाई ॥८॥

दोहा—जेहि उपाय पुनि पाय जन, देखइ दीनदयाल।
सो सिख देइय अवधि लगि, कोसल-पाल कृपाल ॥३१३॥

अर्थ—सवेरे स्नान करके श्रीभरतजी, ब्राह्मण और राजा श्रीजनकजी, सबके सब समाज एकत्रित हुए ॥१॥ आज (यात्रा के लिये) उत्तम दिन है, यह मन में जानकर कृपालु श्रीरामजी कहते हुए सकुचाते हैं ॥२॥ गुरुजी, राजा (जनकजी), श्रीभरतजी और सभा की ओर देखकर, फिर श्रीरामजी सकुचकर पृथिवी की ओर देखने लगे; अर्थात् शिर नीचा कर लिया ॥३॥ उनके शील की सराहना करके सब सभा सोचने लगी कि श्रीरामजी के समान संकोची स्वामी कहीं भी नहीं है ॥४॥ सुजान श्रीभरतजी श्रीरामजी का रुख देखकर प्रेम-पूर्वक उठे और बहुत धैर्य धरकर ॥५॥ दंडवत् करके हाथ जोड़कर कहते हैं कि हे नाथ! आपने मेरी सभी इच्छाएँ रक्खीं (पूरी कीं) ॥६॥ मेरे निमित्त सबने दुःख सहा और आपने भी बहुत तरह से दुःख पाया ॥७॥ हे गोसाईं! अब मुझे आज्ञा दीजिये, मैं जाकर अवधि-पर्यंत श्रीअवध का सेवन करूँ ॥८॥ हे दीनदयालु! जिस प्रकार से यह आपका दास फिर चरणों को देखे, हे कोशलपाल! हे कृपालु! अवधि-भर के लिये मुझे वही शिक्षा दीजिये ॥३१३॥

विशेष—(१) 'भल दिन आजु ···'—आज, तिथि, वार, नक्षत्र, योग आदि सभी यात्रा के योग्य पड़े हैं। पर श्रीरामजी कहने में सकुचाते हैं, क्योंकि 'कृपालु' हैं, इससे 'आज जाओ' ऐसा कहने में वियोग की बात से दुःख होगा, यह समझकर कह नहीं सकते।

(२) 'गुरु नृप भरत···'—मुख से कहने में शील टूटता है, पर सबकी ओर देखकर आँखें नीची कर लीं, यह शील और संकोच की मुद्रा है, इस प्रकार मुख से बिना कहे ही बिदाई की चेष्टा जना दी।

(३) 'भरत सुजान राम रुख···'—श्रीभरतजी सुजान हैं, इसीसे उन्होंने चेष्टा जान ली कि अब हमलोगों को विदा करने की श्रीरामजी की इच्छा है। वियोग का स्मरण होने से भारी अधीरता हो गई, इससे भारी धैर्य धरना पड़ा।

(४) 'राखी नाथ सकल रुचि···'; यथा—"निज पन तजि राखेउ पन मोरा। छोह सनेह कीन्ह नहि थोरा॥ कीन्ह अनुग्रह अमित अति, सब बिधि सीतानाथ॥" (दो॰ २९९); साथ जाने की रुचि भी पूरी की; यथा—"नाथ भयउ सुख साथ गये को।" (दो॰ ३०१); श्रीचित्रकूट के दर्शनों का बड़ा मनोरथ भी पूरा किया, ध्वनि यह है कि अभी एक अभिलाषा जो बाकी है, वह भी पूरी होगी।

(५) 'मोहि लगि सहेउ सबहिं···'; यथा—"नाथ भरत पुरजन महतारी। सोक बिकल बनबास दुखारी॥ सहित समाज राउ मिथिलेसू। बहुत दिवस भये सहत कलेसू॥" (दो॰ २८१); "राम सत्यब्रत धरम रत, सबकर सील सनेहु। संकट सहत सँकोच बस, कहिय जो आयसु देहु॥" (दो॰ २९२)।

(६) 'अब गोसाँइ मोहि···'—'गोसाँइ' अर्थात् गो (=पृथिवी) के स्वामी आप हैं। मैं आपकी आज्ञा से सेवक-रूप में आपकी राजधानी श्रीअवध की सेवा करूँगा। 'अवधि भरि' अर्थात् १४ वर्ष तक के लिये ही, अधिक नहीं; यथा—"बीते अवधि जाउँ जौं, जियत न पावउँ बीर।" (लं॰ दो॰ ११५); "तुलसी बीते अवधि प्रथम दिन जो रघुबीर न ऐहौ। तौ प्रभु चरन-सरोज-सपथ जीवत परिजनहि न पैहौ॥" (गी॰ अ॰ ७९); "चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम। न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्॥" (वाल्मी॰ २।११२।२५)

(७) 'जेहि उपाय पुनि पाय···'—'कोसल पाल'—कोशला (श्रीअयोध्या) के पालने पर दृष्टि है, 'कृपाल'—क्योंकि श्रीअवधवासियों पर कृपा है। 'दीनदयाल'—मुझ दीन पर दया

उपाय और वैसी शिक्षा मिलनी चाहिये। तभी चौदह वर्ष जीता रह सकूँगा, तो इन चरणों के दर्शन हो सकेंगे; यथा—"प्रभु जानत जेहि भाँति अवधि लगि वचन पालि निबहौं गो। आगे की विनती तुलसी तब, जब फिरि चरन गहौं गो॥" (गी० अ० ७०)।

पुरजन परिजन प्रजा गोसाईं। सब सुचि सरस सनेह सगाईं ॥१॥
राउर बदि भल भव-दुख-दाहू। प्रभु बिनु बादि परमपद-लाहू ॥२॥
स्वामि सुजान जानि सब ही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की ॥३॥
प्रनतपाल पालिहि सब काहू। देव दुहू दिसि ओर निबाहू ॥४॥
अस मोहि सब बिधि भूरि भरोसो। किये बिचार न सोच खरोसो ॥५॥
आरति मोर नाथ कर छोहू। दुहुँ मिलि कीन्ह ढीठ हठि मोहू ॥६॥
यह बड़ दोष दूरि करि स्वामी। तजि संकोच सिखइय अनुगामी ॥७॥
भरत-बिनय सुनि सबहि प्रसंसी। खीर नीर बिबरन गति हंसी ॥८॥

शब्दार्थ—सरस = बढ़े-चढ़े, अधिक, भावुक। बदि (सं० वर्त = बदला, पलटा) = के लिये। राउर बदि = आपकी प्राप्ति के बदले में = आपके लिये। खरोसो = तृण बराबर भी, थोड़ा-सा भी। बिबरन = विवेचन, एक में मिली हुई वस्तुओं का पृथक्करण।

अर्थ—हे गोसाईं! श्रीअवधपुरवासी, कुटुम्बी, प्रजा सभी आपके स्नेह-नाते में पवित्र और बढ़े-चढ़े हैं॥१॥ आपके लिये संसार के दुःख और दाह भी (सहना) अच्छा है और प्रभु (आपके) बिना परम पद का लाभ भी व्यर्थ ही है॥२॥ हे स्वामी! आप सुजान हैं, सभी के हृदय की रुचि और मुझ दास के हृदय की रुचि, लालसा और 'रहनि' (चाल-चलन) को जानकर॥३॥ हे प्रनतपाल! आप सभी का पालन करेंगे, और हे देव! आप दोनों तरफ का ओर (अंत) तक निर्वाह करेंगे॥४॥ ऐसा मुझे सब प्रकार बहुत बड़ा भरोसा है और विचार करने पर मेरे लिये कुछ भी सोच करना तृण के समान भी नहीं है॥५॥ मेरा दुःख और स्वामी की कृपा इन दोनों ने मिलकर मुझे हठात् ढीठ कर दिया है; अर्थात् मैं पहले ढीठ न था; इन दो कारणों से ही हो गया॥६॥ हे स्वामी! इस बड़े दोष को दूर करके और संकोच छोड़कर मुझ दास को शिक्षा दीजिये॥७॥ श्रीभरतजी की प्रार्थना सुनकर सभी ने प्रशंसा की कि उनकी प्रार्थना दूध और जल को अलग-अलग करने में हंसिनी की तरह है; अर्थात् विवेक-पूर्ण है॥८॥

विशेष—(१) 'पुरजन परिजन प्रजा···' 'सुचि'—पवित्र, निष्काम, 'सनेह सगाईं' यथा—"जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते।" (दो० ६४); 'सनेह' यथा—"जननि जनक गुरु बंधु हमारे। कृपा-निधान प्रान ते प्यारे॥ तनु धन धाम रामहितकारी। सब बिधि तुम्ह प्रनतारति हारी॥" (उ० दो० ४६); 'सगाईं'; यथा—"सेवक हम स्वामी सिय नाहू। होउ नात येहि ओर निबाहू॥" (दो० २२); इत्यादि।

(२) 'राउर बदि भल भव···'; यथा—"तुम्ह बिनु दुखी सुखी तुम्हते ही।" (दो० २१०); "तुम्ह बिनु राम सकल सुख साजा। नरक सरिस दुहुँ राज समाजा॥" (दो० २९१); "देखिबे को

खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहि हौं। येहि नाते नरकहु सचु पैहौं या बिनु परम पदहुँ दुख दहिहौं ॥ (वि० २३१)।

(३) 'स्वामि सुजान जानि सबही की ।…'—ऊपर जो पुरजन आदि की बातें कही गईं, उन्हीं को 'सबही की' से सूचित किया गया है। आगे 'रुचि', 'लालसा' आदि अपनी कहते हैं कि मुझ जन की रुचि सेवा करने की है, लालसा साथ रहने की और 'रहनि' स्वामी के अनुकूल वानप्रस्थ रीति से है; यह मेरे जी में है, इसे हे स्वामी! आप जानते ही हैं, भाव यह कि आप प्रणतपाल हैं, सबको पालेंगे। 'देव दुहूँ दिसि …'—हे देव! आपही दोनों तरफ (मेरी और अपनी ओर) का निर्वाह अंत (१४ वर्ष) तक करेंगे। एक तन से पिता का प्रण पूरा करेंगे, दूसरे दिव्यतन से (पादुका-द्वारा) मेरी भी रुचि आदि निबाहेंगे। ऐसा समझने से जान पड़ा कि मेरा शोच बेकार था।

(४) 'आरति मोर नाथ कर ……'—मैं पहले ढीठ न था; यथा—"महूँ सनेह सँकोच बस, सनमुख कहे न बैन।" (दो० २६०); आर्त्तिवश सम्मुख होना पड़ा; यथा—"आरति बस सन मुख भयउँ, बिलग न मानब तात।" (दो० ६०); छोहवश भी; यथा—"भरत कहहिं सोइ किये भलाई।… तब मुनि बोले भरत सन, सब सँकोच तजि तात। कृपासिंधु प्रियबंधु सन, कहहु हृदय कै बात॥" (दो० २५९); इत्यादि। सम्मुख बोलना ढिठाई है, इसीको कहते हैं—'येह बड़ दोष दूरि करि ……'—भाव यह कि दोष अब न होने पावे, अब अधिक कुछ कहना न पड़े, मुझे शिक्षा दीजिये, क्योंकि सुहृद् और सुजान स्वामी से बहुत कहना भी भारी दोष है; यथा—"सुहृद सुजान सुसाहिबहिं…" (दो० ३००)।

(५) 'तजि सँकोच सिखइय अनुगामी।'—श्रीभरतजी तो अनुगामी हैं; यथा—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई।" (दो० १५)। अतः, स्वामी के मुख से नीति की शिक्षा चाहते हैं कि जिस तरह आज्ञा हो, मैं सेवक रूप से श्रीअवध जाकर करूँगा। पर श्रीरामजी संकोची हैं; यथा—"कहुँ न राम सम स्वामि सँकोची।" (दो० ३१२); इसीसे गुरुजनों के समक्ष में शिक्षा नहीं देना चाहेंगे, संकोच करेंगे, इसलिये 'तजि संकोच' कहा।

(६) 'खीर नीर बिबरन गति हंसी।'—पहले श्रीभरतजी की वाणी को हंसिनी कहा था "भरत भारती मंजु मराली।" (दो० २९६); फिर श्रीभरतजी को ही हंस कहा था; यथा—"भरत हंस रबि बंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥" (दो० २३१); यहाँ उनकी विनय को हंसिनी कहा है, क्योंकि यहाँ दोष, स्वार्थ आदि जल का और प्रभु के गुण रूपी दूध का विवरण है। दोनों को अलग-अलग किया गया है; अर्थात् इनका विनय विवेक पूर्ण है।

दोहा—दीनबंधु सुनि बंधु के, बचन दीन छल-हीन।
देस-काल-अवसर-सरिस, बोले राम प्रबीन ॥३१४॥

तात तुम्हारि मोरि परिजन की। चिंता गुरहिं नृपहि घर बन की ॥१॥
माथे पर गुरु मुनि मिथिलेसू। हमहि तुम्हहिं सपनेहुँ न कलेसू ॥२॥
मोर तुम्हार परम पुरुषारथ। स्वारथ सुजस धरम परमारथ ॥३॥
पितु-आयसु पालिय दुहुँ भाई। लोक-बेद भल भूप भलाई ॥४॥

अर्थ—दीन जनों के सहायक प्रवीण श्रीरामजी भाई के दीन और छल हीन वचन सुनकर, देश, काल और अवसर के अनुकूल बोले ॥३१४॥ हे तात ! तुम्हारी, मेरी और कुटुम्बियों की, घर की और वन की चिंता गुरु और राजा (श्रीजनकजी) को है ॥१॥ गुरु मुनि (श्रीविश्वामित्रजी) और श्रीमिथिलेशजी शिर पर (रक्षक) हैं, हमको और तुमको स्वप्न में भी क्लेश नहीं (हो सकता) ॥२॥ मेरा और तुम्हारा परम पुरुषार्थ, स्वार्थ, सुयश, धर्म और परमार्थ यही है ॥३॥ कि पिता की आज्ञा दोनों भाइयों के द्वारा पालन की जाय, यही लोक और वेद (की दृष्टि) से भला है और राजा (पिता) को भी भली तरह भलाई है ॥४॥

विशेष—(१) 'दीनबंधु मुनि ···'—दीनता से प्रभु सहायक होते हैं ; यथा—"येहि दरबार दीन को आदर रीति सदा चलि आई।" (वि० १६५) ; और श्रीभरतजी के वचनों में दीनता है, छल हीनता से भी प्रभु शीघ्र प्रसन्न होते हैं; यथा—मोहिं कपट छल छिद्र न भावा।" (सुं० दो० ४४)।

(२) 'देसकाल···'—यथा—"देसकाल लखि समय समाजू।" (दो० ३०२) ; पर भाव कहा गया। 'प्रवीन'—क्योंकि जिस अवरेब को श्रीगुरुजी और श्रीजनकजी आदि भी न मिटा सके, उसे मिटावेंगे।

(३) 'चिंता गुरुहि नृपहि '—'घर बन की' यथा—"सहित समाज तुम्हार हमारा। घर बन गुरु प्रसाद रखवारा॥"(दो० ३०५) ; 'माथे पर गुरु मुनि···' यथा—"तुलसी सुखी निसोच राज ज्यों बालक माय बबाके।" (वि०) ; 'गुरु' और 'राजा' के बीच में मुनि (श्रीविश्वामित्रजी) भी थे, इससे आदर के लिये यहाँ उनका भी नाम दिया, उनका छोड़ देना अनुचित होता।

(४) 'मोर तुम्हार परम···'—श्रीभरतजी के सम्मान के लिये अपना भी नाम साथ में दिया। 'लोक बेद भल भूप भलाई।'—नहीं तो किसी की भलाई न थी, हम, तुम और पिता (राजा) तीनों अधर्मी कहाते ; यथा—"करहु सीस धरि भूप रजाई। है तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई॥···सुरपुर नृप पाइहि परितोषू।···" (दो० १७३-७४)। तथा—"श्राद्धं रामस्य वाक्यं ते पितरं यद्यवेक्षसे॥ सदानृण-मिमं रामं वयमिच्छामहे पितुः। अनृणत्वाच्च कैकेय्याः स्वर्गं दशरथो गतः॥" (वाल्मी०२।११२।५-६)—ये गंधर्व और महर्षियों के वचन हैं।

गुरु-पितु-मातु-स्वामि-सिख पाले। चलेहु कुमग पग परहिं न खाले ॥५॥
अस बिचारि सब सोच बिहाई। पालहु अवध अवधि भरि जाई ॥६॥
देस कोस परिजन परिवारू। गुरु-पद-रजहिं लाग छरभारू ॥७॥
तुम्ह मुनि-मातु-सचिव-सिख मानी। पालेहु पुहुमि प्रजा रजधानी ॥८॥

दोहा—मुखिया मुख सो चाहिये, खान पान कहँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग, तुलसी सहित बिबेक ॥३१५॥

राज - धरम सरबस एतनोई। जिमि मन माँह मनोरथ गोई ॥१॥

शब्दार्थ—पुहुमी=पृथिवी। खाळे=नीचे, गढ़े में। दुरमार=उत्तरदायित्व, सार-सँभार।

अर्थ—गुरु, पिता, माता और स्वामी की शिक्षा का पालन करने के लिये कुमार्ग पर भी चलने से पैर नीचे नहीं पड़ता; अर्थात् हानि नहीं होती ॥५॥ ऐसा विचार सब सोच छोड़ श्रीअवध जाकर अवधि (१४ वर्ष भर उसका पालन करो ॥६॥ देश, कोश, परिजन और परिवार, इन सबका सार-सँभार गुरुजी के चरणरज पर है ॥७॥ तुम मुनि, माता और मंत्रियों की शिक्षा मानकर पृथिवी, प्रजा और राजधानी को पालन भर करना; अर्थात् तुम निमित्त मात्र बने रहोगे, सब भार तो उन्हीं सब पर है ॥८॥ मुखिया मुख के समान होना चाहिये कि खाने-पीने को तो एक है, पर श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि सब अंगों को विवेक सहित पालन-पोषण करता है ॥३१५॥ राजधर्म का सर्वस्व इतना ही है, जैसे मन के भीतर मनोरथ छिपा रहता है ॥१॥

विशेष—(१) 'चलेहु कुमग पग ···'; यथा—"तनय जजातिहि जौवन···परसुराम पितु अज्ञा राखो।···" (दो॰ १७३); 'गुरु-पद-रजहिं···'—'शिर पर भार' का मुहावरा है, पर श्रीगुरुजी का प्रसंग होने से उनके पद-रज को कहा गया, क्योंकि ऐसे पूज्यवर्ग के चरण, रज आदि का ही आश्रय कहा जाता है। यह भी जनाया कि उन्हें कुछ करना नहीं होगा। रज के प्रभाव ही से सब होता रहेगा; यथा—"जे गुरुचरन-रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल विभव बस करहीं ॥···सब पायेउँ रज पावनि पूजे ॥" (दो॰२)।

(२) 'मुखिया मुख सों चाहिये···'—पहले कहा गया है—"सेवक कर पद नैन से, मुख सों साहिब होइ।···" (दो॰ ३०६); उसे इसके साथ मिलाकर अर्थ करने से सब भाव आ जाते हैं। वहाँ 'कर, पद, नैन' कहा गया, उसे यहाँ 'सकल अँग' से जनाया है। वहाँ 'मुख सों साहिब होइ' कहा गया था, उसका धर्म 'पालइ पोषइ' यहाँ कहा गया है। वहाँ परस्पर प्रीति की रीति कही गई थी, यहाँ मुखिये के धर्म का विवेक दिखलाया गया है। 'सहित विवेक'—जिस अंग के लिये जितने और जैसे रस की आवश्यकता होती है, उसे उतना ही पहुँचाता है जिससे वे स्वस्थ और पुष्ट रहें, कम या अधिक हो तो रोग पैदा हों। वैसे ही मुखिये को चाहिये। यहाँ राजा को मुख का अनुप्रास लेते हुए मुखिया कहा है। देश, प्रजा, सेना, कोश, मित्र, मंत्री आदि राजा के अंग हैं, राजा मुख-रूप है। मुख अकेला खाता है, पर वह वस्तुतः सभी को बाँट देता है। वैसे ही राजा एक ही भोक्ता कहा जाता है, पर सब अंगों को यथायोग्य इसी विवेक की रीति से पालन-पोषण करता है। अधिकार के अनुसार सबको कार्य देता है और तदनुसार उसके वेतन आदि पर दृष्टि रखता है। कहा भी है—"आनन छोड़ो साथ जब, ता दिन हितू न कोइ।" (दोहावली ५२४)।

(३) 'राज धरम सरबस एतनोई।'—जो दोहे में कहा गया, इसी में सब राजधर्म आ गये। दोहा मन रूप हुआ और सब राज-धर्म मनोरथ-रूप हैं, वे सब इसीमें हैं, जितना चाहो, उतना इसीमें से निकलते जायँगे; यथा—"असन बसन बसु वस्तु···विटप मध्य पुत्रिका सूत्र महँ ··मन महँ तथा लीन नाना तनु प्रगटत अवसर पाये ॥" (वि॰ १२४); वाल्मीकीय अ॰ १०० वें सर्ग की सब राजनीतियाँ इसी एक दोहे में आ गईं। राजनीति के और भी सब भेद आ गये। पुनः देश-काल के अनुरोध से मन के मनोरथ बदलते रहते हैं, वैसे ही देश-काल के अनुरोध से नीति भी बदला करती है, इसी सूत्र में सब आ गये। राजा के सभी कर्त्तव्य एक ही अद्भुत सूत्र में कह देना इन्हीं महा कवि के द्वारा हुआ है।

बंधु प्रबोध कीन्ह बहु भाँती। बिनु अधार मन तोष न साँती ॥२॥

भरत सील गुरु सचिव समाजू। सकुच सनेह बिबस रघुराजू ॥३॥

प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्ही। सादर भरत सीस धरि लीन्ही ॥४॥

अर्थ—भाई को बहुत तरह समझाया, पर बिना अवलंब के मन को न संतोष हुआ और न शान्ति ॥२॥ श्रीभरतजी के शील और गुरु, मंत्री और समाज के संकोच से श्रीरघुनाथजी संकोच और स्नेह के विशेष वश हो गये ॥३॥ प्रभु ने कृपा करके खड़ाऊँ दी, श्रीभरतजी ने उसे आदर सहित शिर पर धर लिया ॥४॥

विशेष—(१) 'प्रबोध कीन्ह बहु भाँती'—नीति सिखाई, गुरु, माता, राजा श्रीजनक आदि का पूर्ण आधार बतलाया, पर बिना अवलंब के शान्ति-संतोष न हुआ।

(२) 'भरत सील गुरु…'—श्रीभरतजी के स्वभाव पर आप विवश हैं, उनका शील तोड़ना नहीं चाहते और वे बिना आधार पाये प्रसन्न नहीं होते। वस्त्र आदि दे नहीं सकते, उससे मानों इन्हें भी उदासीन वेष की आज्ञा देते हैं, यह समझा जायगा। अतः, सकुचे कि क्या दें। पुनः गुरु आदि के सामने खड़ाऊँ कैसे दें? अंततोगत्वा गुरुजी ने संकोच का अभिप्राय जानकर स्वयं कहा कि आप अपनी खड़ाऊँ दीजिये, यह वाल्मीकीय अ० स० ११३ के ११-१३ वें श्लोकों से स्पष्ट है; यथा—"वसिष्ठः प्रत्युवाचह।… एतेप्रयच्छ संहृष्टः पादुके हेम भूषिते। अयोध्यायां महाप्राज्ञ योगक्षेम करो भव॥ एवमुक्तो वसिष्ठेन राघवः प्राङ्मुखः स्थितः। पादुके हेम विकृते मम राज्याय ते ददौ॥"

(३) 'प्रभु करि कृपा पावरी दीन्ही।…'—अंत में स्नेह की ही जीत हुई। गुरुजी की भी अनुमति हो गई, फिर सबका संकोच तोड़ कृपा करके इन्हें खड़ाऊँ दी।

शंका—श्रीरामजी तो—'बिनु पानहिन्ह पयादेहि पाये' आये थे, खड़ाऊँ कहाँ से आई?

समाधान—इसे भी राज्य-तिलक-सामग्री के साथ श्रीभरतजी ही लाये थे। उसी को गुरुजी की आज्ञा से रख दिया, श्रीरामजी ने पूर्व मुख होकर उसे पहनकर उतार दिया और तब उसे लेकर श्रीभरतजी ने शिर पर धारण कर लिया; यथा—"अधिरोहार्य पादाभ्यां पादुके हेमभूषिते। एतेहि सर्वलोकस्य योग क्षेमं विधास्यतः॥ सोऽधिरुह्य नरव्याघ्रः पादुके व्यवमुच्य च। प्रायच्छत्सुमहातेजा भरताय महात्मने॥" (वाल्मी० २।११२।२१-२२); 'सादर भरत सीस धरि लीन्ही'; यथा—"स पादुके ते भरतः स्वलंकृते महोज्ज्वले संपरिगृह्य धर्मवित्। प्रदक्षिणं चैव चकार राघवं चकार चैवोत्तमनागमूर्धनि॥……ततः शिरसि कृत्वा तु पादुके भरतस्तदा। आरुरोह रथं हृष्टः शत्रुघ्न सहितस्तदा॥" (वाल्मी० २।११२-११३)। अर्थात् श्रीभरतजी ने पादुका पाकर उसको प्रणाम किया, फिर लेकर श्रीरामजी की प्रदक्षिणा की और पादुका को हाथी पर पधराया, फिर बिदा होकर खड़ाऊँ को शिर पर लेकर रथ पर बैठे।

चरनपीठ करुनानिधान के। जनु जुग जामिक प्रजा प्रान के ॥५॥
संपुट भरत - सनेह - रतन के। आखर जुग जनु जीवजतन के ॥६॥
कुलकपाट कर कुसल करम के। बिमल नयन सेवा-सु-धरम के ॥७॥
भरत मुदित अवलंब लहे ते। अस सुख जस सिय-राम रहे ते ॥८॥

शब्दार्थ—चरनपीठ = खड़ाऊँ । जामिक = पहरेदार । संपुट = डब्बा ।

अर्थ—करुणानिधान श्रीरामजी की दोनों खड़ाऊँ मानों प्रजा के प्राणों के रक्षक दो पहरेदार हैं ।।५। श्रीभरतजी के स्नेह-रूपी रत्न के लिये डब्बा (दोनों नीचे-ऊपर के फाल) हैं। जीव के यत्न के लिये मानों युगल अक्षर हैं ।।६।। रघुकुल के लिये किवाड़ें हैं, कुशल-कर्म के मानों कुशल दोनों हाथ हैं। सेवा-रूपी सुधर्म के लिये निर्मल (दोनों) नेत्र हैं ।।७।। अवलंब के पाने से श्रीभरतजी ऐसे आनन्दित हैं, जैसे श्रीसीतारामजी के रहने से सुखी होते ।।८।।

विशेष—(१) 'जनु जुग जामिक प्रजा प्रान के ।'—पहरेदार माल की रक्षा करते हैं, ये प्रजा के प्राणों की रक्षा करते हैं, यथा—"मनहुँ अवनि के प्रान पाहरू भरत सीस धरि लीन्हे ।।" (गी० अ० ७५); पहरेदार पगिया बाँधे रहते हैं, वैसे ही इनमें खूँटियाँ हैं। जिसपर पहरा होता है, वह निकलने नहीं पाता। वैसे ही ये पहरेदार श्रीराम-वियोग में किसी के प्राण न निकलने देंगे; यथा—"नाम पाहरू राति दिन, ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित, प्रान जाहिं केहि बाट ।।" (सुं० दो० ३०); भाव यह कि इनके प्रभाव से प्रजा का योग-क्षेम रहेगा और वे इन्हें श्रीरामजी के प्रतिनिधि-रूप में देख-देखकर जीयेंगे। ये दिव्य पाहरू हैं, इससे रात-दिन तैयार रहेंगे।

(२) 'संपुट भरत सनेह रतन के ।'—दोनों पादुकाओं के तलवे मिलकर डब्बा रूप होते हैं। 'आखर जुग जनु···'—जीव के यत्न (उपाय) रूप राम-नाम के 'रा' और 'म' दो अक्षर की तरह हैं; अर्थात् लोक-परलोक के साधन रूप हैं। श्रीरामनाम का रक्षकत्व बा० दो० १६ देखिये।

(३) 'कुल कपाट कर···'—जैसे किवाड़े से घर की रक्षा होती है, वैसे ही इनसे कुल की रक्षा होगी। क्योंकि इस अवलंब के बिना श्रीभरतजी न जीते; यथा—"तुलसी प्रभु निज चरन-पीठ-मिस भरत प्रान रखवारो ।" (गी० अ० ६७); इनके अमंगल पर श्रीरामजी न जीते और फिर तो कुल का कोई भी न जीता। कुशल कर्म के लिये कुशल दो हाथ हैं, क्योंकि इन्हीं से श्रीभरतजी के सब कार्य सधे एवं सुकर्मों का संचय हुआ। 'बिमल नयन सेवा सुधरम के ।'—सेवा-रूपी सुन्दर धर्म के दोनों नेत्र हैं, नेत्र के द्वारा देखकर सेवा ठीक होती है, वैसे खड़ाऊँ की सेवा में इनका सेवा धर्म निबहा।

भाव यह कि खड़ाऊँ से प्रजा की रक्षा होगी; श्रीभरतजी का स्नेह स्वच्छ रहेगा; परमार्थ की प्राप्ति होगी; कुल की रक्षा होगी; शुभ कर्मों का संचय होगा और इनकी सेवा करने से इष्ट-सेवा-रूपी सुधर्म भी सुचारु रूप से निबह जायगा।

(४) 'भरत मुदित अवलंब······'—प्रियतम के अंग का वस्त्राभूषण प्रियतम के समान होता है, इसीसे इन्हें श्रीसीतारामजी के साथ रहने का-सा सुख हुआ। श्रीभरद्वाजजी ने कहा था—"सब दुख मिटिहि राम-पद देखी ।" (दो० २२१); वह यहाँ चरितार्थ हुआ। इन्होंने खड़ाऊँ को श्रीराम-रूप ही माना है, इसीसे उन्हें लेकर नन्दिग्राम में (अवध से बाहर) रहे हैं कि इस रूप से भी श्रीरामजी की वनवास-प्रतिज्ञा का निर्वाह हो जाय। भगवान् के सब भूषण सायुज्य मुक्त जीव ही हैं, वे चेतन हैं, बोलते हैं, जैसे मुद्रिका ने श्रीजानकीजी से बातें की हैं; यथा—"बोलि, बलि, मूँदरी ! ·····" (गी० सुं० ३ और ४) ; ये दोनों पद देखिये। वैसे खड़ाऊँ से श्रीभरतजी को आज्ञा मिलती थी; यथा—"माँगि-माँगि आयसु करत, राज-काज बहु भाँति ।।" (दो० ३२५); इसीसे कहा है—"जनु सुख जस सिय राम रहे ते ।" और इसीसे श्रीभरतजी तुरत मुदित हो गये।

चित्रकूट तृतीय दरबार समाप्त

दोहा—माँगेउ बिदा प्रनाम करि, राम लिये उर लाइ।
लोग उचाटे अमरपति, कुटिल कुअवसर पाइ ॥२१६॥

सो कुचालि सब कहँ भइ नीकी। अवधिआस सम जीवन जी की ॥१॥
नतरु लखन-सिय - राम - वियोगा। हहरि मरत सब लोग कुरोगा ॥२॥
रामकृपा अवरेब सुधारी। बिबुध धारि भइ गुनद गोहारी ॥३॥

शब्दार्थ—गुनद=गुणदायक। गोहारी=गोहारी का अर्थ रक्षार्थ पुकार है, गोहारी का अर्थ हुआ, सुनकर रक्षार्थ आया हुआ जन-समुदाय ; यथा—"धाई धारि फिरि कै गोहारि हितकारी होति···"(क० उ० ७५); धारि=झुंड, सेना, जो लूट-मार के लिये दौड़कर आई हो।

अर्थ—प्रणाम करके विदा माँगी, श्रीरामजी ने उन्हें हृदय से लगा लिया, कुटिल इन्द्र ने बुरा अवसर पाकर लोगों पर उचाटन किया ॥२१६॥ उसकी वह कुचाल सबके लिये हितकर हो गई। सब जीवों के जी की आशा समान-रूप से अवधि हो रही ; अर्थात् १४ वर्ष पर ही प्रभु फिर मिलेंगे, इससे राम-विरह की कुछ शान्ति हुई ॥१॥ नहीं तो, श्रीलक्ष्मणजी, श्रीसीताजी और श्रीरामजी के वियोग-रूपी कुरोग से सभी लोग भयभीत होकर (हा-हा करके) मर जाते ॥२॥ श्रीरामजी की कृपा ने अवरेब (कठिनाई) को सुधार दिया, देवताओं की सेना गुणदायक रक्षक-समुदाय हो गई ; अर्थात् देवताओं ने तो हानि पहुँचाने की दृष्टि से उचाटन किया, पर उनका वह प्रयोग इन्हें लाभदायक हो गया, श्रीराम-कृपा से अहित से भी हित का कार्य हो जाता है ॥३॥

विशेष—(१) 'लोग उचाटे अमरपति·· ··'—कुटिल लोग कुअवसर की ताक में रहते ही हैं। ऐसे ही ताककर इन्द्र ने भी घात की। पर श्रीराम-कृपा से भला हुआ, वही कहते हैं—

(२) 'अवधि आस सम ·····'—सबके जी में एक-मात्र यही आशा रह गई कि अब तो प्रभु १४ वर्ष पर ही फिर मिलेंगे, इस आशा पर सब जि`गे। पर अभी उचाट हुआ कि अब चलें श्रीरामजी को क्यों विक्षेप दें। 'सम'—अर्थात् पहले 'जथा जोग जन पाइ' लगी थी, किंतु यह माया समान रूप से सबको लगी। नहीं तो क्षण-क्षण कल्प के समान कटता। यहाँ ही से श्रीअवध पहुँचना कठिन होता।

देवताओं ने 'भय, भ्रम, अरति, उचाट' की रचनाएँ की थीं, पर उनमें उचाट मात्र का लगना यहाँ कहा गया है शेष दो० ३०१ चौ० ३ में भी देखिये।

भेंटत भुज भरि भाइ भरत-सो। राम-प्रेम-रस कहि न परत सो ॥४॥
तनु मन बचन उमग अनुरागा। धीर - धुरंधर धीरज त्यागा ॥५॥
बारिज - लोचन मोचत बारी। देखि दसा सुर-सभा दुखारी ॥६॥
मुनिगन गुरु धुरधीर जनक-से। ज्ञानअनल मन कसे कनक-से ॥७॥
जे बिरंचि निरलेप उपाये। पदुमपत्र जिमि जग जल जाये ॥८॥

दोहा—तेउ बिलोकि रघुबर-भरत, प्रीति अनूप अपार।
भये मगन मन तन बचन, सहित बिराग बिचार ॥३१७॥

अर्थ—भुजा भर कर (दोनों हाथ पूरे फैलाकर) भाई श्रीभरतजी से भेंट रहे हैं। श्रीरामजी का वह प्रेमरस कहते नहीं बनता ॥४॥ तन-मन-वचन से अनुराग उमड़ पड़ा, धीर धुरंधर श्रीरामजी ने धैर्य छोड़ दिया; अर्थात् अधीर होकर रोने लगे ॥५॥ कमल समान नेत्रों से आँसू गिरा रहे हैं। यह दशा देखकर देव-समाज दुखी हुआ ॥६॥ मुनि लोग, गुरु वशिष्ठ और श्रीजनकजी के समान श्रेष्ठ धीर, जिन्होंने अपने मन रूपी सोने को ज्ञान रूपी अग्नि से कस लिया है ॥७॥ जिन्हें श्रीब्रह्माजी ने निर्लिप्त ही उत्पन्न किया है और जो जगत्-रूपी जल में कमल के पत्र की तरह पैदा हुए ॥८॥ वे भी रघुवर श्रीरामजी और श्रीभरतजी की अपार और उपमारहित प्रीति को देखकर वैराग्य और विवेकसहित मन, तन, वचन से उस प्रेम में डूब गये ॥३१७॥

विशेष—(१) 'राम-प्रेम रस'—प्रेम को रस कहा है, रस में स्वाद होता है। स्वाद का भोक्ता ही उसे जानता है, दूसरा क्या जाने? 'कहि न परत'; यथा—"भरत राम को मिलनि लखि, बिसरे सबहिं अपान॥ मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी। कवि कुल अगम करम मन बानी॥ परम प्रेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥ कहहु सुप्रेम प्रगट को करई। केहि छाया कवि मति अनुसरई॥" (दो० २४०) वे ही सब भाव यहाँ हैं। वहाँ विस्तार से कह चुके हैं, इसीसे यहाँ संकेत मात्र कह दिया।

(२) 'देखि दसा सुर सभा दुखारी।'—ये लोग इसलिये दुखी हुए कि हमारे लिये प्रभु अपने परम प्रिय भाई के वियोग का दुःख सह रहे हैं। यह भी हो सकता है कि भय से दुखी हुए हों कि कहीं अब भी प्रेमातुर होकर लौट न पड़ें, यथा—"मिलनि बिलोकि भरत रघुबर की; सुरगन सभय धकधकी धरकी॥" (दो० २४०)।

(३) 'ज्ञान अनल मन कसे ⋯'—सोना अग्नि में तपाने से परखा जाता है, उससे उसमें अधिक कान्ति भी आ जाती है; यथा—"कनकहि बान चढ़इ जिमि दाहे।" (दो० २०४); "कसे कनक मनि पारिख पाये।" (दो० २८१) वैसे ही इनके मन कई बार परखे जा चुके हैं। किसी में राग, ममत्व आदि छू नहीं गये हैं। मोह, शोक आदि विकार इनमें नहीं आ सकते।

(४) 'जे बिरंचि निरलेप उपाये⋯'—'उपाये' अर्थात् उत्पन्न हुए। कमल जल में उपजता है। पर उससे निर्लिप्त रहता है, उसके दलों पर जल पड़ने से भी ढरक जाता है, छू नहीं जाता। वैसे ये जगत् के व्यवहार से निर्लिप्त हैं, यह गुण इनमें सहज है, ब्रह्मा ने ही इन्हें जन्म से ही निर्लिप्त पैदा किया है।

(५) 'तेउ बिलोकि रघुबर ⋯'—'अनूप'—उसकी कहीं भी उपमा नहीं है, 'अपार'—वह समुद्र के समान अपार है, इसीसे जनक आदि भी डूब गये। बिराग बिचार ही इनके जहाज रूप थे, यथा—"चढ़े विवेक जहाज" (दो० २२०)। अतः, जहाज सहित डूब गये। 'मन तन बचन'; यथा—"बिसरे सबहिं अपान।" (दो० २४०) पर कहा गया, इसीसे आगे 'मति भोरी' कहा है।

जहाँ जनक गुरु गति मति भोरी। प्राकृत प्रीति कहत बड़ि खोरी॥१॥
बरनत रघुबर - भरत - बियोगू। सुनि कठोर कबि जानिहि लोगू॥२॥

सो सकोच रस अकथ सुबानी। समय सनेह सुमिरि सकुचानी ॥३॥
भेंटि भरत रघुबर समुझाये। पुनि रिपुदवन हरषि हिय लाये ॥४॥
सेवक सचिव-भरत-रुख पाई। निज निज काज लगे सब जाई ॥५॥
सुनि दारुन दुख दुहूँ समाजा। लगे चलन के साजन साजा ॥६॥
प्रभु-पद-पदुम बंदि दोउ भाई। चले सीस धरि राम-रजाई ॥७॥
मुनि तापस बन-देव निहोरी। सब सनमानि बहोरि बहोरी ॥८॥

दोहा—लखनहि भेंटि प्रनाम करि, सिर धरि सिय-पद-धूरि।
चले सप्रेम असीस सुनि, सकल-सुमंगल-मूरि ॥३१८॥

अर्थ—जहाँ श्रीजनकजी महाराज और गुरु श्रीवसिष्ठजी की बुद्धि की गति भोरी हो गई, वहाँ प्राकृत (संसारी जीवों की) प्रीति कहना बड़ा दोष है; अर्थात् इसे प्राकृत कहना वा प्राकृतों की उपमा देना बड़ा दोष है ॥१॥ रघुबर श्रीरामजी और श्रीभरतजी का वियोग वर्णन करते हुए सुनकर लोग कवि को कठोर-हृदय समझेंगे, (कि कठोर हृदय कवि न होता, तो इस दशा को स्मरण कर विह्वल हो जाता, तो कैसे कहता?) ॥२॥ वह 'संकोच रस' अकथ्य है, उस समय और उस समय के स्नेह को स्मरण कर सुन्दर वाणी सकुचा गई ॥३॥ श्रीभरतजी से भेंट करके रघुबर श्रीरामजी ने उनको समझाया, फिर श्रीशत्रुघ्नजी को हर्षपूर्वक हृदय से लगा लिया ॥४॥ सेवक और मंत्री श्रीभरतजी का रुख पाकर सब अपने-अपने कार्य में जा लगे ॥५॥ यह सुनकर दोनों समाजों को कठिन दुःख हुआ। वे चलने के सामान सजने लगे ॥६॥ प्रभु के चरण-कमलों की वन्दना करके दोनों भाई श्रीरामजी की आज्ञा को शिरोधार्य करके चले ॥७॥ मुनियों, तपस्वियों और वन-देवताओं से विनती की और सबों का बार-बार सम्मान किया ॥८॥ श्रीलक्ष्मणजी से भेंट-प्रणाम करके, श्रीसीताजी की चरण-रज को शिर पर चढ़ा और समस्त सुन्दर मंगलों की जड़ आशिष सुनकर वे प्रेमसहित चले ॥३१८॥

विशेष—(१) 'प्राकृत प्रीति······'—यहाँ श्रीगुरुजी और श्रीजनकजी की मति को ही कहा, पहले कहा है; यथा—"अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधि हरिहर को॥" (दो० २१०); जहाँ त्रिदेवों का भी मन नहीं पहुँचता उसे प्राकृत कहना ही चाहिये।

(२) 'सो सँकोच रस अकथ ······'—एक तो कठोर हृदय बिना कहा भी न जायगा, पुनः यह रस भी अकथ्य है, फिर वह समय और स्नेह का स्मरण भी संकोच का कारण है, इत्यादि कई कारणों को समझकर सुन्दर वाणी सकुचा गई; नहीं तो कुछ-न-कुछ कहती।

(३) 'भेंटि भरत रघुबर समुझाये।'—'समुझाये'; यथा—"तात जात जानिबे न ये दिन करि प्रमान पितु-बानी। ऐहौं बेगि, धरहु धीरज उर कठिन काल गति जानी॥ तुलसिदास अनुजहि प्रबोधि ··" (गी० अ० ७५); यह भी कहा कि मेरा मन सदा तुम्हारे पास और तुम्हारा मन मेरे पास रहेगा, तो वियोग जान ही न पड़ेगा।

(४) 'लखनहिं भेंटि······'—यहाँ भेंट-प्रणाम एक शब्द मानें तो, श्रीलक्ष्मणजी से भेंट और

प्रणाम किये गये अर्थात् श्रीलक्ष्मणजी ने प्रणाम किया और श्रीभरतजी ने उनसे भेंट की यह अर्थ होगा अथवा श्रीभरतजी के साथ श्रीशत्रुघ्नजी भी हैं, श्रीभरतजी ने भेंट की और श्रीशत्रुघ्नजी ने प्रणाम किया। अथवा,'प्रनाम करि' को अगले चरण के साथ लगाना चाहिये। तब यह अर्थ होगा कि श्रीसीताजी को प्रणाम करके उनके चरणों की धूलि शिरोधार्य की और''''''सुमंगल मूरि' को 'धूरि' का भी विशेषण ले सकते हैं।

सानुज राम नृपहि सिर नाई। कीन्हि बहुत बिधि बिनय बड़ाई ॥१॥
देव दयावस बड़ दुख पायेउ। सहित समाज काननहिं आयेउ ॥२॥
पुर पगु धारिय देइ असीसा। कीन्ह धीर धरि गवन महीसा ॥३॥
मुनि महिदेव साधु सनमाने। बिदा किये हरि-हर-सम' जाने ॥४॥
सासु समीप गये दोउ भाई। फिरे बंदि पगु आसिष पाई ॥५॥
कौसिक बामदेव जाबाली। पुरजन परिजन सचिव सुचाली ॥६॥
जथाजोग करि बिनय प्रनामा। बिदा किये सब सानुज रामा ॥७॥
नारि पुरुष लघु मध्य बड़ेरे। सब सनमानि कृपानिधि फेरे ॥८॥

दोहा—भरत-मातु-पद-बंदि प्रभु, सुचि सनेह मिलि भेंटि।
बिदा कीन्ह सजि पालकी, सकुच सोच सब मेटि ॥३१९॥

अर्थ—भाई श्रीलक्ष्मणजी के साथ श्रीरामजी ने राजा को शिर झुकाकर उनकी बहुत तरह प्रार्थना और बड़ाई की ॥१॥ कि हे देव ! दया के वश आपने बड़ा दुःख पाया, समाज सहित आप वन को आये ॥२॥ अब आशिष देकर पुर को पधारिये, पृथिवी-पति श्रीजनकजी ने धैर्य धारण करके प्रस्थान किया ॥३॥ मुनियों, ब्राह्मणों और साधुओं को हरि-हर के समान जानकर सम्मान किया और उनको विदा किया ॥४॥ दोनों भाई सास के समीप गये, उनके चरणों को प्रणाम कर और आशिष पाकर लौटे ॥५॥ विश्वामित्र, वामदेव, जाबालि, शुभ आचरणवाले पुरवासी, कुटुम्बी और मंत्री ॥६॥ सबसे भाई सहित श्रीरामजी ने यथायोग्य विनती और प्रणाम करके सबको विदा किया ॥७॥ छोटे, मध्यम और बड़े सभी (श्रेणियों के) स्त्री-पुरुषों का सम्मान करके कृपा-सागर श्रीरामजी ने उनको लौटाया ॥८॥ श्रीभरतजी की माता श्रीकैकेयीजी को प्रभु ने पवित्र-स्नेह से प्रणाम किया और उनसे मिल-भेंट कर, उनका संकोच और शोच मिटाकर पालकी सजाकर उनको विदा किया ॥३१९॥

विशेष—(१) 'हरि हर-सम जाने'—हरि और हर उपास्य देव हैं, वैसे ही इन्हें इष्टदेव एवं पूज्य करके माना और सम्मान किया। 'सुचाली' विशेषण सबके साथ है, वे सब सच्चरित्र ही थे। तभी तो उस काल में उनको श्रीअवध में निवास प्राप्त था ; यथा—"सब निर्दंभ धरम रत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी ॥" (उ० दो० २०)।

(२) 'भरत-मातु-पद बंदि'''—पवित्र निश्छल स्नेह, दिखावटी नहीं। 'सकुच सोच' उन्हें संकोच था कि जिसके लिये मैंने इतना अनर्थ कर डाला, उस पुत्र ने ही मुझे त्याग दिया और कुवाक्य कहा, सो अब मैं संसार में कैसे मुँह दिखाऊँगी। शोच था कि अब मेरी कौन दुर्गति होगी, इत्यादि। पुनः अपनी करनी का भी संकोच था; यथा—"अवनि जमहिं जाँचति कैकेयी। महि न बीचु बिधि मीचु न देई ॥" (दो

"गरइ गलानि कुटिल कैकेयी। काहि कहइ केहि दूषन देई॥" (दो० ३०२)। समझाना पूर्व लिखा गया; यथा—"पग परि कीन्ह प्रबोध···" (दो० ३१३); यहाँ शोच आदि का मिटाना यों है कि श्रीरामजी ने कहा कि मैंने श्रीशत्रुघ्नजी को समझाकर कह दिया है, वे आपकी सेवा करेंगे और कोई भी कुछ न कहेगा; यथा—"शत्रुघ्नं च परिष्वज्य वचनं चेदमब्रवीत्। मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति॥ मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुनन्दन।···" (वाल्मी० २।११२।२७–२८)।

परिजन मातु पितहि मिलि सीता। फिरीं प्रान-प्रिय-प्रेम-पुनीता॥१॥
करि प्रनाम भेंटीं सब सासू। प्रीति कहत कवि हिय न हुलासू॥२॥
सुनि सिख अभिमत आसिष पाई। रही सीय दुहुँ प्रीति समाई॥३॥
रघुपति पटु पालकीं मँगाईं। करि प्रबोध सब मातु चढ़ाईं॥४॥
बार-बार हिलि मिलि दुहुँ भाई। सम सनेह जननीं पहुँचाईं॥५॥
साजि बाजि गज बाहन नाना। भरत भूप दल कीन्ह पयाना॥६॥
हृदय राम सिय लखन समेता। चले जाहिं सब लोग अचेता॥७॥
बसह बाजि गज पसु हिय हारे। चले जाहिं परबस मन मारे॥८॥

दोहा—गुरु गुरुतिय पद बंदि प्रभु, सीता लखन समेत।
फिरे हरष - बिसमय सहित, आये परननिकेत॥३२०॥

अर्थ—कुटुम्बी, माता और पिता से मिलकर अपने प्राण-प्रिय पति के प्रेम में पवित्र श्रीसीताजी लौट आईं॥१॥ (फिर) प्रणाम करके सब सासों से भेंट की, (गले लगकर मिलीं) उनकी प्रीति कहने के लिये कवि के हृदय में हुलास (उत्साह) नहीं है॥२॥ उनकी शिक्षा सुनकर और मन-माँगी आशिष पाकर श्रीसीताजी दोनों प्रीति में समाई रहीं; अर्थात् कुछ देर तक निमग्न रहीं॥३॥ श्रीरघुनाथजी ने सुन्दर पालकियाँ मँगाईं और सब माताओं को खूब समझाकर चढ़ाया॥४॥ दोनों भाइयों ने बार-बार माताओं से समान प्रेम से हिल-मिलकर उनको पहुँचाया॥५॥ घोड़े, हाथी और अनेक सवारियाँ सजाकर श्रीभरतजी और राजा श्रीजनकजी के दल (समाज एवं सेना) ने प्रस्थान किया॥६॥ सब लोग अचेत (बेसुध) चले जा रहे हैं, उनके हृदय में श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ श्रीरामजी हैं॥७॥ बैल, घोड़े, हाथी (आदि) पशु हृदय से हारे (लाचार) परवश उदास चले जा रहे हैं॥८॥ गुरु और गुरु-पत्नी के चरणों को प्रणाम करके श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के सहित प्रभु हर्ष और शोक के साथ लौटे और पर्ण-कुटी पर आये॥३२०॥

विशेष—(१) 'दुहुँ प्रीति'—माताओं और सासुओं, इन दोनों ओर की प्रीति में।

(२) 'करि प्रबोध'—समझाया कि हम आप सबके धर्म के प्रभाव से सदा सुखी रहेंगे। आप लोगों की सेवा हमसे अधिक श्रीभरतजी करेंगे, हम भी अवधि पूरी करके चरणों के दर्शन करेंगे, वे दिन आपको सोये हुए की तरह शीघ्र बीत जायँगे।

(३) 'हरष-बिसमय'—हर्ष अपने धर्म, प्रतिज्ञा एवं देव कार्य आदि के निर्वाह का और श्रीभरतजी की अनुकूलता एवं भक्ति का। विस्मय प्रियजनों के वियोग का।

बिदा कीन्ह सनमानि निषादू। चलेउ हृदय बड़ बिरह बिषादू ॥१॥
कोल किरात भिल्ल बनचारी। फेरे फिरे जोहारि जोहारी ॥२॥
प्रभु सिय लखन बैठि बट-छाँहीं। प्रिय-परिजन बियोग बिलखाहीं ॥३॥
भरत सनेह सुभाव सुबानी। प्रिया अनुज सन कहत बखानी ॥४॥
प्रीति प्रतीति बचन मन करनी। श्रीमुख राम प्रेमबस बरनी ॥५॥
तेहि अवसर खग मृग जल मीना। चित्रकूट चर अचर मलीना ॥६॥
बिबुध बिलोकि दसा रघुबर की। बरषि सुमन कहि गति घरघर की ॥७॥
प्रभु प्रनाम करि दीन्ह भरोसो। चले मुदित मन डर न खरो सो ॥८॥

दोहा—सानुज सीय समेत प्रभु, राजत परन-कुटीर।
भगति ज्ञान बैराग्य जनु, सोहत धरे सरीर ॥३२१॥

अर्थ—निषाद को सम्मान करके विदा किया, वह भी चला (पर) उसके हृदय में बड़ा विरह-दुःख था ॥१॥ कोल, किरात, भील आदि वनवासी लौटाने से बार-बार प्रणाम कर-करके लौटे ॥२॥ प्रभु श्रीरामजी, श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी बरगद की छाया में बैठकर प्यारे कुटुम्बियों के वियोग से विलख रहे हैं ॥३॥ श्रीभरतजी के स्नेह, स्वभाव और उनकी सुन्दर वाणी प्रिया श्रीसीताजी और भाई श्रीलक्ष्मणजी से बखान कर कह रहे हैं ॥४॥ उनके मन, वचन और कर्म की प्रीति प्रतीति श्रीरामजी ने प्रेमवश श्रीमुख (अपने मुख) से वर्णन की ॥५॥ उस समय पशु-पक्षी और जल के भीतर रहते हुए भी मछली तक चित्रकूट के जड़-चेतन सभी जीव उदास हो गये ॥६॥ देवताओं ने श्रीरघुनाथजी की दशा देख फूल बरसाकर अपने घर-घर की दशा कही ॥७। प्रभु ने प्रणाम करके उनको भरोसा (ढारस) दिया कि तुम्हारा डर खरा (ठीक) सा नहीं है; अर्थात् भ्रम से है, तब वे मन से प्रसन्न होकर चले, उनके मन में तृण के समान (जरा सा) भी डर नहीं है ॥८॥ श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ प्रभु पर्णकुटी में इस प्रकार सुशोभित हो रहे हैं, मानों भक्ति, ज्ञान और वैराग्य तीनों शरीर धारण किये सोह रहे हों ॥३२१॥

विशेष—(१) 'फेरे फिरे'—श्रीअवध और श्रीमिथिला के निवासियों की सेवा के लिये जो कोल किरात आदि आ जुटे थे, उन सबको श्रीरामजी ने विदा किया। वे जाना नहीं चाहते थे, लौटाने पर लौटे। जबरदस्ती लौटाये गये, प्रेम के मारे जाते न थे। 'जोहारि-जोहारी'—बहुत हैं, इससे दो बार कहा गया।

(२) 'बैठि बट छाँहीं ''प्रिय परिजन'' ''—अब तक सबकी विदाई में लगे थे, नहीं तो वे सब भी बहुत रोते। जब सब चले गये, तब सब प्रिय जनों का स्मरण करके

यह माधुर्य की शोभा है, अन्यथा आप कुछ निष्ठुर कहे जाते। 'प्रेम बस बरनी'—छोटे भाई की प्रशंसा करना लौकिक नियम के विरुद्ध है, पर प्रेमवश हो लौकिक नियम तोड़कर वर्णन किया।

(३) 'जल मीना'—मछलियाँ जल के वियोग में ही तड़पती हैं, पर इस समय जल में रहती हुई भी तड़प रही हैं, क्योंकि इस समय सबको आत्मा-रूप ब्रह्म में ही वियोग की दशा वर्तमान है। 'कहि गति घर-घर की'—ये लोग अपने घर-घर की दुर्दशा सुनाकर श्रीअवधवासियों से अपने दुःख को अधिक जनाते हैं कि जिससे हम लोगों के दुःख को देखकर उधर का वियोग-दुःख कम हो और इधर की ओर चित्त दें। पुनः अपने परिजनों के प्रति आर्त्त होकर हमलोगों के उचाटन आदि करने को बुरा न मानें। 'खरोसो' यहाँ श्लिष्ट है; इसके 'ठीक-सा' और 'तृण के समान' ये दो अर्थ हैं।

(४) 'भगति ज्ञान बैराग जनु'—पतिव्रता का भाव पति में भक्ति का है, अतः पति में निष्ठा से श्रीसीताजी की भक्ति कही गई। श्रीरामजी निर्लिप्त भाव से रहने के कारण ज्ञान रूप और जगत् का राग तोड़े हुए स्वामी में अनुरक्त रहने से श्रीलक्ष्मणजी वैराग्य रूप कहे गये हैं। भक्ति और ज्ञान में पति-पत्नी का भाव अन्यत्र भी कहा गया है; यथा—"पंथ जात सोहहि मति धीरा। ज्ञान भगति जनु धरे सरीरा॥" (बा० दो० १२१)।

श्रीमद्भागवत माहात्म्य अ० १ में ज्ञान, वैराग्य भक्ति के पुत्र कहे गये हैं, पर यहाँ पति-देवर। इसका समाधान यह है कि जो ज्ञान भक्ति से प्रथम हो; यथा—"होइ बिबेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥" (दो० ९३); वह पति है और जो नवधा आदि भक्ति करते हुए पीछे हो, वह पुत्र के समान है। जैसे कि शुकदेव और उद्धव को ज्ञान पहले हुआ और भक्ति पीछे हुई एवं ध्रुव-प्रह्लाद को भक्ति ही पहले हुई। पीछे परा भक्ति में ही ज्ञान की पूर्ति आ गई।

मुनि महिसुर गुरु भरत भुआलू। रामबिरह सब साज बिहालू ॥१॥
प्रभु-गुन-ग्राम गनत मन माहीं। सब चुपचाप चले मग जाहीं ॥२॥
जमुना उतरि पार सब भयऊ। सो बासर बिनु भोजन गयऊ ॥३॥
उतरि देवसरि दूसर बासू। राम-सखा सब कीन्ह सुपासू ॥४॥
सई उतरि गोमती नहाये। चौथे दिवस अवधपुर आये ॥५॥
जनक रहे पुर बासर चारी। राज काज सब साज सँभारी ॥६॥
सौंपि सचिव गुरु भरतहि राजू। तिरहुति चले साजि सब साजू ॥७॥
नगर-नारि-नर गुरु सिख मानी। बसे सुखेन राम-रजधानी ॥८॥

दोहा—राम-दरस लगि लोग सब, करत नेम उपवास।
तजि तजि भूषन भोग सुख, जियत अवधि की आस ॥३२२॥

अर्थ—मुनि, ब्राह्मण, गुरुजी, श्रीभरतजी और राजा श्रीजनकजी एवं सब साज-समाज श्रीरामजी

के विरह में विह्वल हैं ॥१॥ प्रभु श्रीरामजी के गुण-समूह को मन में विचारते हुए सभी मार्ग में चुप-चाप चले आ रहे हैं ॥२॥ यमुना उतरकर सब पार हुए, वह दिन बिना भोजन के बीता ॥३॥ गंगाजी उतरकर (शृंगवेरपुर में) दूसरा निवास हुआ, वहाँ श्रीरामजी के सखा निषादराज ने सब सुपास (सुख का साज) किया ॥४॥ सई उतरकर गोमती में स्नान किया और चौथे दिन श्रीअवधपुर में आ पहुँचे ॥५॥ श्रीजनकजी चार दिन नगर में रहे, राज्य के सब कार्य और सब साज-सामान सँभालकर ॥६॥ मंत्री, गुरु और श्रीभरतजी को राज्य सौंपकर और अपना सब साज-सामान ठीक करके (अपने) तिहुँत देश को चले ॥७॥ नगर के स्त्री-पुरुष गुरुजी की शिक्षा मानकर श्रीरामजी की राजधानी में सुख-पूर्वक बसे ॥८॥ श्रीरामजी के दर्शनों के लिये सबलोग नियम और उपवास (वा, उपवास के नियम) कर रहे हैं। भूषण और भोग के सुख को त्याग-त्यागकर अवधि की आशा से जी रहे हैं ॥३२२॥

विशेष—(१) 'जमुना उतरि पार…'—श्रीअवध से आते समय यमुना से चित्रकूट दो दिन में पहुँचे थे और लौटने में एक ही दिन लगा, क्योंकि उस समय श्रीभरतजी पैदल थे और अब रथ पर हैं; यथा—"ततः शिरसि कृत्वा तु पादुके भरतस्तदा। आरुरोह रथं हृष्टः शत्रुघ्नसहितस्तदा॥" (वाल्मी० २।११३।१); पुनः इस समय सब लोगों पर देवमाया भी लगी है, जिससे उचाटन की उतावली में दूना बल हो गया है।

(२) 'सौंपि सचिव गुरु भरतहि राजू।'—राजा ने यथायोग्य कार्य का विभाग कर दिया कि मंत्री तो व्यवहार करें, गुरुजी उनपर देखभाल रक्खें और श्रीभरतजी आज्ञा दें।

(३) 'गुरु सिख मानी…'—गुरुजी ने शिक्षा दी कि पुरी श्रीरामजी की है, उनके दर्शनों की लालसा में धैर्य-पूर्वक रहो। अवधि के अंत में श्रीरामजी आकर अवश्य मिलेंगे।

(४) 'करत नेम उपवास'—किसीने पूजा-पाठ के नियम लिये, किसीने फलाहार, दुग्धाहार एवं जलाहार आदि के भी नियमित अंश के नियम लिये। किसीने अमुक-अमुक तिथियों के उपवास के भी नियम रक्खे, इत्यादि। यह सब श्रीरामजी के दर्शनों के लिये करते हैं कि १४ वर्ष पर उन्हें सकुशल लौटकर आये हुए देखें, वस्तुतः यह श्रीराम-भक्ति ही है।

सचिव सुसेवक भरत प्रबोधे। निज निज काज पाइ सिख ओधे ॥१॥
पुनि सिख दीन्हि बोलि लघु भाई। सौंपी सकल मातु-सेवकाई ॥२॥
भूसुर बोलि भरत कर जोरे। करि प्रनाम बर बिनय निहोरे ॥३॥
ऊँच नीच कारज भल पोचू। आयसु देब न करब सँकोचू ॥४॥
परिजन पुरजन प्रजा बुलाये। समाधान करि सुबस बसाये ॥५॥
सानुज गे गुरु - गेह बहोरी। करि दंडवत कहत कर जोरी ॥६॥
आयसु होइ त रहउँ सनेमा। बोले मुनि तनु पुलकि सप्रेमा ॥७॥
समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरम - सार जग होइहि सोई ॥८॥

दोहा—सुनि सिख पाइ असीस बड़ि, गनक बोलि दिन साधि ।
सिंहासन प्रभु - पादुका, बैठारे निरुपाधि ॥३२३॥

शब्दार्थ—जोपे (जोधना, सं० आयंधन)=आबद्ध होना, काम में लगना । गनक=ज्योतिषी । निरुपाधि= उपद्रव रहित, निर्विघ्न, धर्म-चिन्ता-रहित ।

अर्थ—श्रीभरतजी ने मंत्रियों और सुसेवकों को समझाया, वे सब शिक्षा पाकर अपने-अपने काम में लग गये ॥१॥ फिर छोटे भाई श्रीशत्रुघ्नजी को बुलाकर शिक्षा दी और उनको सब माताओं की सेवा सौंपी ॥२॥ ब्राह्मणों को बुलाकर श्रीभरतजी ने हाथ जोड़ प्रणाम करके विशेष नम्रता से प्रार्थना की ॥३॥ कि ऊँचा-नीचा, भला-बुरा, जो कुछ कार्य हो, उसके लिये आज्ञा दीजियेगा, संकोच न कीजियेगा ॥४॥ कुटुम्बी, पुरवासी और प्रजा को बुलाया, सबको सान्त्वना देकर स्वतंत्रतापूर्वक (सुख से) बसाया ॥५॥ फिर भाई के साथ गुरुजी के घर गये और दंडवत्-प्रणाम करके हाथ जोड़ बोले ॥६॥ कि आज्ञा हो, तो नियम-सहित रहूँ, श्रीवसिष्ठ मुनि शरीर से पुलकित होकर प्रेम-पूर्वक बोले ॥७॥ कि जो तुम समझोगे, कहोगे और करोगे, वही संसार में धर्म का सार होगा ॥८॥ यह सुनकर, शिक्षा और बड़ी आशिष पाकर ज्योतिषियों को बुलाकर दिन (मुहूर्त) शोधवा कर प्रभु की पादुकाओं को निर्विघ्न एव धूमधाम से सिंहासन पर स्थापित किया ॥३२३॥

विशेष—(१) 'जोपे' अर्थात् नियुक्त किये हुए लगे, इससे हर्ष-रहित सूचित किया ।

(२) 'ऊँच नीच कारज···'—ऊँचा-नीचा एवं भला-बुरा ऐसा कहने का मुहावरा है, इसका तात्पर्य यह कि जो कोई भी कार्य हो; कहने में संकोच न कीजियेगा ।

(३) 'समाधान करि सुबस बसाये'—वाल्मीकीय अ० स० ११५ श्लोक १५–१६ में कहा गया है—"पादुका-रूपी थाती शिर पर रखकर दुःख-संतप्त श्रीभरतजी प्रजाओं से बोले कि ये पादुका श्रीरामजी के चरणों के प्रतिनिधि हैं, अतएव इनपर छत्र धारण करो, इन्हींसे राज्य में धर्म स्थापित रहेगा ।" इन्हींसे सबका योगक्षेम होगा; यथा—"एते हि सर्वलोकस्य योग-क्षेमौ विधास्यतः ।" (वाल्मी० २।११२।२१); श्रीभरतजी ने सबको यह भी समझाया कि श्रीरामजी ने वचन दिया है कि वे लौटकर अवश्य राजा होंगे; यथा—"अनेन धर्मशीलेन वनात्प्रत्यागतः पुनः । भ्रात्रा सह भविष्यामि पृथिव्याः पतिरुत्तमः ॥" (वाल्मी० २।१११।११), इत्यादि रीति से सबको सान्त्वना देकर सुख-पूर्वक बसाया ।

(४) 'समुझब कहब करब तुम्ह···'; यथा—"सुभृशं श्लाघनीयं च यदुक्तं भरत त्वया ।" (वाल्मी० २।११५।५); "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः । स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥" (गीता ३।२१) ।

(५) 'बैठारे निरुपाधि'—श्रीरामजी के अभिषेक में उपाधि (विघ्न) हुई, पादुकाओं के अभिषेक में नहीं । वा, पादुकाओं को सिंहासन पर स्थापित कर स्वधर्म-हानि की धर्म-चिंता से रहित हुए । सेवक-धर्म-निर्वाह का उत्तम आधार मिल गया; क्योंकि उपाधि का अर्थ धर्म-चिन्ता भी होता है ।

"ले पादुका अवधपुर आये" प्रकरण समाप्त ।

"भरत रहनि" प्रकरण

रामनातु गुरुपद सिर नाई। प्रभु - पद - पीठ - रजायसु पाई ॥१॥
नंदिगाँव करि परनकुटीरा। कीन्ह निवास धरम-धुर-धीरा ॥२॥
जटाजूट सिर मुनिपट धारी। महि खनि कुससाथरी सँवारी ॥३॥
असन बसन बासन व्रत नेमा। करत कठिन रिषिधरम सप्रेमा ॥४॥
भूषन बसन भोग सुख भूरी। मन तन बचन तजे तृन तूरी ॥५॥

शब्दार्थ—तृन तूरी=तृण तोड़े हुए के समान; यथा—"देह गेह सब सों तृन तोरे।" (दो० ६१); देखिये।

अर्थ—श्रीरामजी की माता और गुरुजी के चरणों में सिर नवा और प्रभु की खड़ाऊँ की आज्ञा पाकर ॥१॥ नन्दिग्राम में पर्णकुटी बनाकर के धर्म की धुरी धारण करने में धीर श्रीभरतजी ने निवास किया ॥२॥ शिर पर जटाओं का जूड़ा और शरीर में मुनि वस्त्र, धारण किया। पृथिवी को खोदकर कुश की साथरी सजाई ॥३॥ भोजन, वस्त्र, वर्तन, व्रत आदि के नियम (रखते हुए) ऋषियों के कठिन धर्मों को प्रेमपूर्वक करते हैं ॥४॥ भूषण, वस्त्र आदि भोग के सुख समूह मन, तन, वचन से तृण के समान तोड़कर (श्रीभरतजी ने) त्याग दिया ॥५॥

विशेष—(१) 'प्रभु-पद-पीठ-रजायसु पाई।'—पूर्व कहा गया कि खड़ाऊँ आदि प्रभु के सभी पदार्थ सच्चिदानंद स्वरूप हैं, चेतन हैं, बोलते भी हैं; अतः, श्रीभरतजी उनसे आज्ञा पाते थे।

(२) 'नंदिगाँव करि परन कुटीरा।'—श्रीरामजी दक्षिण की ओर गये हैं, इससे आपने भी दक्षिण की ओर ही पहली मंजिल पर निवास किया कि जिससे श्रीरामजी लौटें तो वहीं से अगवानी करें। श्रीरामजी पर्णशाला में रहते हैं, तो आपने भी पर्णकुटी ही बनाई। नंदी धर्म का स्वरूप है, क्योंकि धर्म भी चतुष्पाद है और उसकी ध्वजा में वृष का स्वरूप रहता है, आप 'धर्म-धुर-धीर' हैं, इसीसे आपने नंदिग्राम को स्वीकार किया। श्रीरामजी ने नगर को छोड़ा है, तो आप भी बाहर ही रहते हैं।

(३) 'जटा जूट सिर'''; यथा—"स वल्कलजटाधारी मुनिवेषधरः प्रभुः। नंदिग्रामेऽवसद्वीरः ससैन्यो भरतस्तदा॥" से "चकार परचाद्भरतो यथावत्॥" (वाल्मी० २।११५।२३-२४)। 'महि खनि कुस साथरी'—श्रीभरतजी ने ही कहा है—"सिर भरि जाउँ उचित अस मोरा। सब ते सेवक धरम कठोरा।" (दो० २०२); उसका निर्वाह यहाँ भी कर रहे हैं कि जहाँ स्वामी के चरण पड़ें, उससे नीचे ही सेवक का शिर रहना चाहिये। जिससे रज शिर पर ही रहे, जब श्रीरामजी पृथिवी पर ही सोते हैं, तो आप उससे नीचे भूमि खोदकर रहते हैं। इतना खोदा है कि खड़े होने पर भी शिर नीचे ही रहे। 'कठिन रिषि धरम सप्रेमा'—जो भोजन, वस्त्र आदि के नियम मुनियों के लिये कठिन हैं; उन्हें राजकुमार होकर निबाह रहे हैं। वह भी ऊपर ही से नहीं, किन्तु 'सप्रेमा' प्रीति और श्रद्धा-सहित करते हैं; क्योंकि धर्म श्रद्धा-सहित ही सार्थक होता है; यथा—"श्रद्धा बिना धरम नहिं होई।" (उ० दो० ८९)।

अवधराज सुरराज सिहाई। दसरथ धन सुनि धनद लजाई ॥६॥
तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा ॥७॥

रमा-विलास राम - अनुरागी । तजत बमन जिमि जन बड़ भागी ॥८॥

दोहा—राम-प्रेम-भाजन भरत, बड़े न येहि करतूति ।
चातक हंस सराहियत, टेक बिवेक बिभूति ॥३२४॥

अर्थ—श्रीअवध के राज्य को इन्द्र ललचाते हुए सराहते हैं, श्रीदशरथजी के धन को सुनकर कुबेर लज्जित होते हैं ॥६॥ ऐसे नगर में भी श्रीभरतजी स्पृहा-रहित होकर बसते हैं, जैसे भौंरा चंपा के बाग में (निस्पृह होकर रहता है) ॥७॥ श्रीरामजी के अनुरागी बड़भागी लोग लक्ष्मी के विलास को वमन के समान त्याग देते हैं ॥८॥ श्रीभरतजी तो श्रीरामजी के प्रेम के पात्र हैं, कुछ इस करनी से बड़े नहीं हुए (अर्थात् उनके विषय में यह सामान्य बात है) क्या चातक टेक की और हंस विवेक की विभूति से सराहे जाते हैं ? (अर्थात् टेक और विवेक गुण चातक और हंस में सहज स्वभाव से हैं, वैसे ही नेम-प्रेम एवं विवेक श्रीभरतजी में तो स्वभाव-सिद्ध हैं एवं और भी श्रीरामजी के प्रेमियों में होना ही चाहिये । सराहा तो वह जाता है, जो स्वाभाविक से विलक्षण कार्य हो) ॥३२४॥

विशेष— (१) 'चंचरीक जिमि चंपक बागा ।'—श्रीअवधराज का ऐश्वर्य अत्यन्त सुगंध-पूर्ण चंपा के बाग के समान है । भौंरा चम्पा पर नहीं बैठता, उसके रस को नहीं ग्रहण करता । वैसे विभूति-पूर्ण नगर में रहते हुए भी श्रीभरतजी उससे विमुख रहते हैं । तात्पर्य यह कि जब श्रीरामजी इसे भोगेंगे, तब ये भी इसे प्रसाद-रूप से ग्रहण करेंगे, दास बिना इष्ट के भोग लगाये नहीं पाते (भोजन करते) । श्रीरामजी अभी कंद-मूल, फल ही पाते हैं, वही श्रीभरतजी भी पाते हैं । यहाँ तक उपर्युक्त 'अवधराज' और 'दसरथ धन' के उपलक्ष में कहा । आगे दूसरे दृष्टान्त—'रमा विलास'''—से यह दिखाते हैं कि अन्य रामानुरागी भी वैराग्यवान् होते हैं । वे प्रथम रमाविलास (घर का धन-ऐश्वर्य एवं उसकी ममता) त्यागकर भजन करते हैं, तो माया प्रलोभन के लिये बड़े-बड़े ऐश्वर्य प्राप्त कराती है, पर वे उसे वमन (वमन की हुई वस्तु) के समान त्याग देते हैं, उससे घृणा करते हैं कि जिसे एक बार त्याग दिया, वही फिर भोगना श्वान की तरह वमन की हुई वस्तु का खाना है । ऐसी वृत्ति क्यों हो जाती है ? इसका भाव 'राम अनुरागी' में है; अर्थात् रामानुराग के समक्ष विषय-सुख फीका एवं अति तुच्छ लगता है; यथा—"जौ मोहि राम लागते मीठे । तौ नवरस षटरस रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे ।" (वि० १६९); तथा—"तवामृतस्यंदिनि पादपंकजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति । स्थितेऽरविन्दे मकरंदनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरसं समीक्षते ॥" (यामुनाचार्यस्तोत्र); जब अन्य रामानुरागियों की यह त्याग वृत्ति है, तो श्रीभरतजी के लिये क्या कहना ? उपर्युक्त त्याग में आश्चर्य नहीं है ।

(२) 'चातक हंस' के उदाहरण दो० २०४ चौ० ४ और बा० दो० ६ भी देखिये ।

देह दिनहुँ दिन दूबरि होई । घटइ तेजबल मुख-छबि सोई ॥१॥
नित नव राम - प्रेम - पन पीना । बढ़त धरमदल मन न मलीना ॥२॥
जिमि जल निघटत सरद प्रकासे । बिलसत बेतस बनज बिकासे ॥३॥
सम दम संयम नियम उपासा । नखत भरत हिय बिमल अकासा ॥४॥
ध्रुव बिस्वास अवधि राका-सी । स्वामि-सुरति सुरबीथि बिकासी ॥५॥

राम-प्रेम-बिधु अचल अदोखा। सहित समाज सोह नित चोखा ॥६॥
भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती ॥७॥
बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेस - गनेस - गिरा-गम नाहीं ॥८॥

शब्दार्थ—निघटत=घटता है, कम होता है। घटइ= संयुक्त होता है, घट धातु के कई अर्थ हैं, पर यहाँ 'संयुक्त होना' अर्थ है; यथा—"सो सब भाँति घटिहि सेवकाई।" (दो० २५० ; "सब बिधि घटब काज मैं तोरें।" (कि० दो० ६); 'घटइ' का घटना अर्थ नहीं है; क्योंकि तप से तेज बढ़ता है। गेतन=आकाश, देव। सुरबीथी= नक्षत्रों का मिलित मार्ग, आकाश गंगा। ध्रुव से लेकर उत्तर-दक्षिण में बहुत से तारे छिले हुए आकाश में दूधकी राह से दीखते हैं, वही सुरबीथी है। चोखा=सुन्दर, स्वच्छ।

अर्थ—शरीर दिनोंदिन दुबला होता जाता है, तेज से संयुक्त हो रहा है और बल एवं मुख की शोभा वैसी ही है ॥१॥ श्रीरामजी के प्रेम का प्रण नित्य नया और पुष्ट होता है, धर्म का दल बढ़ता है, मन मलिन नहीं होता; अर्थात् स्वच्छ है ॥२॥ जैसे शरद ऋतु के प्रकाश से जल घटता है, आकाश शोभित होता और कमल खिलते हैं ॥३॥ शम, दम, संयम, नियम और उपवास श्रीभरतजी के हृदय-रूपी निर्मल आकाश के नक्षत्र (तारे) हैं ॥४॥ विश्वास ध्रुव (नक्षत्र) है, अवधि पूर्णिमा है, स्वामी की सुधि (एक तार स्मृति) सुरबीथी-सी शोभित है ॥५॥ श्रीरामप्रेम-रूपी अचल और दोष-रहित चन्द्रमा समाज सहित नित्य स्वच्छ एवं सुन्दर सोहता है ॥६॥ श्रीभरतजी की रहनि, समुझनि, करतूत, भक्ति, वैराग्य, निर्मल गुण और ऐश्वर्य को ॥७॥ वर्णन करने में समस्त उत्तम कवि सकुचते हैं, शेषजी, गणेशजी और सरस्वतीजी को भी गम्य नहीं है, अर्थात् उन्हें भी अगम हैं, तो दूसरों की कौन गणना? ॥८॥

विशेष—(१) 'घटइ तेजबल मुख छबि सोई'—तप से तेज बढ़ता है; यथा—"बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा।" (उ० दो० ८९); इसलिये 'घटइ' का 'संयुक्त होता है' यह अर्थ किया गया है। आगे 'मुख छबि सोई' से भी यही सिद्ध होता है। बल की पहचान तो हनुमानजी ने अच्छी तरह की है; यथा—"चढ़ु मम सायक सैल समेता। पठवउँ तोहिं जहँ कृपा निकेता ॥" (लं० दो० ५९)।

(२) 'जिमि जल निघटत'''—शरद् ऋतु में जल घटता है और निर्मल होता है वैसे ही नित्य नये श्रीराम-प्रेम के प्रकाश से श्रीभरतजी की देह दुबली होती जाती है, पर तेज बढ़ता जाता है। वहाँ आकाश निर्मल और कमल का विकसना है वैसे यहाँ हृदय का निर्मल होना और मन का प्रफुल्लित होना है।

(३) 'सम दम संयम नियम उपासा।'—संयम-नियम, योगसूत्र में ५-५, स्मृतियों में १०-१० और श्रीमद्भागवत में १२-१२ भेद भी माने जाते हैं। अहिंसा सत्यमस्तेयमसंगो ह्रीरसंचयः॥ आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्य क्षमा भयम्॥ शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धातिथ्यं मदर्चनम्॥ तीर्थाटन परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम्॥ एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः॥ (भाग० ११।१९।३३-३५) यहाँ संयम १२, नियम १२, और शम, दम, उपवास भी मिलकर २७ होते हैं। नक्षत्र भी २७ ही होते हैं, जिनकी 'सुरबीथी' होती है, यह उपमा का मेल है। ये सब श्रीभरतजी के हृदय में श्रीराम-प्रेम रूपी चन्द्रमा के साथ जगमगा रहे हैं। श्रीरामजी उत्तर से दक्षिण लंका तक बराबर गये हैं, निषादराज से समाचार पाकर इनकी सुरति भी वैसे ही क्रमशः लगी रहती है, साथ ही शम-दम आदि भी स्वतः होते जाते हैं। यही 'सुरबीथी' है, जो कि उत्तर ध्रुव से लेकर मूल नक्षत्र तक दक्षिण को जाती है।

(४) 'ध्रुव बिस्वास अवधि राकासी।'—ध्रुव अविचल हैं, वैसे ही श्रीरामजी के

इनका विश्वास अचल है। अवधि १४ वर्ष बाद की है, वैसे ही १४वीं तिथि चतुर्दशी के बाद पूर्णिमा होती है। ध्रुव नक्षत्र से दशतारों के सहित मूल नक्षत्र तक शिशुमार चक्र 'सुरवीथी' है वैसे ही श्रीभरतजी के हृदय में भी दशमुख-वध-चरित तक सुरति है। वहाँ चन्द्रमा पूर्ण यहाँ श्रीराम-प्रेम पूर्ण। 'राम-प्रेम बिधु अचल अदोखा।' अर्थात् वह चन्द्रमा चल और निर्दोष है। 'सहित समाज सोह···'—वहाँ चन्द्रमा रोहिणी, बुध और नक्षत्रों के समाज सहित शोभित होता है। यहाँ भी श्रीराम-प्रेम के साथ श्रीलक्ष्मणजी, श्रीजानकीजी एवं परिकरों में प्रेम है, इससे यह प्रेम नित्य नया सोहता है।

(५) 'भरत रहनि समुझनि······' 'रहनि'; यथा—"मोहिं भावति, कहि आवति नहि भरत जू की रहनि।···" (गी० अ० ८१); (यह पूरा पद देखिये)। यहाँ भी ऊपर 'रहनि' कही गई है कुश-साथरी बिछाना, गुफा खोदकर रहना, नियम आदि करना, इत्यादि। 'समुझनि'; यथा—"साधन सिद्धि राम-पद-नेहू। मोहि लखि परत भरत मत येहू॥" (दो० २८८); तथा श्रीरामजी को वन में समझकर उनके समान नियम करना, पादुका को उनका साक्षात् चरण ही समझना, इत्यादि। 'करतूती'; यथा—"राम प्रेम भाजन भरत, बड़े न येहि न करतूत।" (दो० ३१२); 'भक्ति'; यथा—"नित नव राम प्रेमपन पीना।" 'बिरति'; यथा—"तेहि पुर बसत भरत बिनुरागा।" 'गुन'; यथा—विनय शील आदि; यथा—"भूसुर बोलि भरत कर जोरे।" आयसुदेव···" इत्यादि। 'बिभूति'; यथा—"राम प्रेम भाजन भरत···टेक बिवेक बिभूति" (दो० ३२४)। 'बिमल'; यथा—क्योंकि अणिमादि प्राकृत होने से समल विभूतियाँ हैं, इनकी विभूति भक्ति एवं वैराग्य के सम्बन्ध की है; इससे निर्मल है। यहाँ 'रहनि' आदि सात गुण कहे गये, इनके भाव "भरत चरित कीरति···" (दो० २८७); में देखिये।

दोहा—नित पूजत प्रभु पाँवरी, प्रीति न हृदय समाति।
माँगि माँगि आयसु करत, राजकाज बहु भाँति ॥३२५॥

पुलक गात हिय सिय रघुबीरू। जीह नाम जप लोचन नीरू ॥१॥
लखन-राम-सिय कानन बसहीं। भरत भवन बसि तप तनु कसहीं ॥२॥
दोउ दिसि समुझि कहत सब लोगू। सब बिधि भरत सराहन जोगू ॥३॥
सुनि ब्रत नेम साधु सकुचाहीं। देखि दसा मुनिराज लजाहीं ॥४॥

अर्थ—नित्य प्रति प्रभु की पादुकाओं का पूजन करते हैं, हृदय में प्रीति नहीं समाती। आज्ञा माँग-माँगकर बहुत तरह के कार्य करते हैं ॥३२५॥ शरीर पुलकित है, हृदय में श्रीसीतारामजी (विराजते हैं), जीभ से नाम जपते हैं, नेत्रों से जल चला जाता है ॥१॥ श्रीलक्ष्मणजी, श्रीसीताजी और श्रीरामजी वन में बसते हैं और श्रीभरतजी घर में रहकर तप से शरीर को कसते हैं ॥२॥ दोनों ओर की (व्यवस्था) समझकर सब लोग कहते हैं कि श्रीभरतजी सब तरह से प्रशंसा के योग्य हैं ॥३॥ उनके नेम और व्रत को सुनकर साधु सकुचा जाते हैं और उनकी दशा देखकर श्रेष्ठ मुनि लोग लजा जाते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'नित पूजत प्रभु पाँवरी··· ···'—भगवान् के अर्चा-विग्रह की तरह श्रीपादुकाजी की नित्य पूजा करते हैं, पूजा प्रेम से होनी चाहिये, वह भी है; यथा—'प्रीति न हृदय समाति'। 'माँगि माँगि आयसु' से पादुका का चिद्रूप होना और बोलना भी सूचित किया। यहाँ 'पूजत' में कर्म, 'प्रीति' में मन

और 'माँगि माँगि आयसु' में वचन की भक्ति है। 'राज काज बहु भाँति'; यथा—"सवाल व्यजनं छत्रं धारयामास स स्वयं। भरतः शासनं सर्वं पादुकाभ्यां निवेदयन्॥ ततस्तु भरतः श्रीमानभिषिच्यार्यपादुके। तदधीनस्तदा राज्यं कारयामास सर्वदा॥ तदाहि यत्कार्यमुपैति किंचिदुपायनं चोपहृतं महार्हम्। सपादुकाभ्यां प्रथमं निवेद्य चकार पश्चाद्भरतो यथावत्॥" (वाल्मी० २।११५।२२-२४)।

(२) 'पुलक गात हिय ·····'—यहाँ इनके उत्तम भजन की रीति दिखाते हैं कि जीभ से नाम जपते हैं, मन से ध्यान बना रहता है और प्रेम से पुलकावली और अश्रुपात होते रहते हैं। 'नित पूजत'··· से स्पष्ट है कि नन्दिग्राम में ही पादुका को स्थापित किया था। वाल्मीकीय अ० स० ११५ श्लोक २१ में स्पष्ट कहा गया है; यथा—"नन्दिग्रामेऽवसद्वीरः ससैन्यो भरतस्तदा।"

(३) 'भरत भवन बसि······'—जैसे अग्नि में तपाकर सोना कसा जाता है, वैसे श्रीभरतजी तपश्चर्या के क्लेशों से शरीर को कस रहे हैं। भाव यह कि स्वामी तो तप कर रहे हैं, हम भोग-विलास कैसे करें? वन में रहना नहीं है, स्वामी की आज्ञा श्रीअवध का पालन करने के लिये है। अतः, यहीं रहकर वन के तपस्वियों की रीति निबाहते हैं।

(४) 'दोउ दिसि समुझि·····'—उधर—'लखन-राम-सिय कानन बसहीं।' और इधर—'भरत भवन बसि तप तन कसहीं।' ये ही दोनों दिशाओं की व्यवस्था हैं। दोनों तरफ की चर्या को समझकर लोग श्रीभरतजी की ही प्रशंसा करते हैं—'

(५) 'सुनि ब्रत नेम साधु···'—प्रशंसा की बात यह है कि उधर तो श्रीरामजी के साथ श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी हैं, परस्पर सापेक्षता से बहुत कुछ सुपास है, पर श्रीभरतजी ने पितृ-दत्त राज्य सुख छोड़कर मन, वचन, कर्म से दुर्घट नियम धारण किये हैं, जिन्हें सुनकर ही साधु सकुच जाते हैं (उन्हें देखने और करने का साहस कैसे होगा?) कि ऐसे व्रत-नेम के साधन हमसे नहीं होने के। पुनः इनकी प्रेम-दशा देखकर श्रेष्ठ मुनि-गण लज्जित होते हैं कि यह प्रेम-दशा और वैराग्य-वृत्ति हमलोगों में चाहिये, क्योंकि हमलोगों ने इसीलिये घर-बार छोड़ा है, पर हमलोग इनके अल्पांश-भर भी नहीं हैं और ये घर बार सँभालते हुए ऐसी उच्च दशा को प्राप्त हैं, हमारी दशा तुच्छ है।

परम पुनीत भरत - आचरनू। मधुर मंजु मुद - मंगल - करनू॥५॥
हरन कठिन कलि-कलुष-कलेसू। महा - मोह - निसि - दलन दिनेसू॥६॥
पाप - पुंज - कुंजर - मृगराजू। समन सकल संताप - समाजू॥७॥
जन - रंजन भंजन भव-भारू। राम - सनेह सुधाकर - सारू॥८॥

अर्थ—श्रीभरतजी का परम पवित्र, (सुनने में) मधुर आचरण सुन्दर आनंद-मङ्गलों का करने वाला है॥५॥ कठिन कलिकाल के पापों और क्लेशों का हरनेवाला है। महामोह-रूपी रात्रि को नाश करने के लिये सूर्य-रूप॥६॥ और पाप-समूह-रूपी हाथी के लिये सिंह है। सम्पूर्ण संताप के समाजों का नाश करनेवाला है॥७॥ भक्तों को आनंद देनेवाला और भव (जन्ममरण) रूपी भार का भंजन करनेवाला है। पुनः श्रीरामजी के स्नेह-रूपी चन्द्रमा का सार (अमृत) है॥८॥

विशेष—(१) 'परम पुनीत भरत···'—स्वार्थ-रूपी अपावनता-रहित, परमार्थमय और परम पवित्र है। कर्ण-कटुता आदि दोषों से रहित श्रवण-सुखद होने से मधुर है। विचारने से कामादि

दोष-रहित मंजु है। "मंजु मुद-मंगल-करनू'; यथा—"मंजुल मंगल मोद प्रसूती।" (बा० दो० ॐ चौ० ३); देखिये।

(२) 'हरन कठिन कलि···'—कलिकाल पापमय है, जब इसके पापों के क्लेशों का हरनेवाला है, तब और युगों के पाप तो इसकी अपेक्षा कम ही होते हैं, उनका नाश होना तो कोई बात ही नहीं। 'महामोह निसि···'—ईश्वर में संदेह होना महामोह है; यथा—"महामोह उपजा उर तोरे।" (उ० दो० ५८)—गरुड़ का महामोह; तथा—"महामोह निसि सूतत जागू।" (लं० दो० ५५); रावण का। श्रीभरतजी के आचरण सुनने से ईश्वर में संदेह नहीं रह जाता।

(३) 'पाप-पुंज-कुंजर-मृगराजू।'—'पाप' यथा—"जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कवि कहहीं॥" (दो० १६६), ऐसे पाप-समूह हाथी के समान प्रबल हैं, वे सब श्रीभरतजी के आचरण-रूपी सिंह के गर्जन-रूपी श्रवण से डरकर भग जाते हैं; यथा—"जिमि करि निकर दलइ मृगराजू।" (दो० २११); 'समन सकल संताप समाजू।'—ताप तीन तरह के हैं; यथा—"दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहिं ब्यापा॥" (उ० दो० २०); श्रीराम-राज्य के समान ही यहाँ श्रीभरत-आचरण के श्रवण का भी फल है। इन तीनों तापों के अवान्तर भी बहुत-से भेद हैं, इसलिये 'सकल' कहा है।

(४) 'जन-रंजन भंजन भव-भारू।'—भव को भार कहा है, क्योंकि कर्मों के वश बार-बार जन्म लेना और मरना पड़ता है, जीव को बोझे की तरह ढोना पड़ता है; यथा—"जाको नाम लिये छूटत भव जनम मरन दुख भार।" (वि० ६८); "भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल करम गुननि भरे॥" (उ० दो० १२); पूर्व भी कहा गया है—"भायप भगति भरत आचरनू। कहत सुनत दुख दूषन हरनू॥" (दो० २२२)।

'राम सनेह सुधाकर सारू।'—श्रीरामजी का स्नेह चन्द्रमा है, उसका आह्लाद-वर्द्धक है, यह श्रीभरतजी का आचरण उसका भी सार है। भाव यह कि इनका आचरण श्रीराम-स्नेह का प्रकाशक है, क्योंकि चन्द्रमा में अमृत ही से गुण-वैभव है। यही बात इसके व्याख्या-रूप आगे छंद में स्पष्ट है। जिसे श्रीराम-प्रेम का सार तत्त्व देखना हो, वह श्रीभरतजी के आचरण को पढ़े सुने। यह शुद्ध श्रीराम-प्रेम का निचोड़-रूप है। पूर्व भी कहा गया—"रामप्रेम बिधु अचल अदोषा।" (दो० ३२४); "कीरति बिधु ··पूरन राम सुप्रेम पियूषा। · राम भगत अब अमिअ अघाहू।" (दो० २०८)।

छंद—सिय - राम - प्रेम - पियूष - पूरन होत जनम न भरत को।
मुनि-मन-अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को॥
दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी-से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥

सो०—भरत-चरित करि नेम, तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय-राम-पद प्रेम, अवसि होइ भव-रस बिरति॥३२६॥

इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने प्रेमवैराग्यसम्पादनो नाम
ॐ द्वितीयः सोपानः समाप्तः ॐ

अर्थ—श्रीसीतारामजी के प्रेमामृत से परिपूर्ण श्रीभरतजी का जन्म जो न होता तो मुनियों के मन के अगम यम, नियम, शम, दम आदि विषम व्रतों का आचरण कौन करता ? अर्थात् कोई नहीं करता !! दुःख, संताप, दारिद्र्य, दंभ और दूषण को सुयश के बहाने कौन हरता ? (कोई नहीं)। और इस कलिकाल में तुलसी ऐसे शठों को हठ-पूर्वक श्रीरामजी के सम्मुख कौन करता ? श्रीतुलसीदासजी कहते हैं (एवं आशिष देते हैं) कि जो कोई श्रीभरतजी के चरित को आदर-पूर्वक नियम से सुनेंगे, उनको श्रीसीतारामजी के चरणों में अवश्य प्रेम होगा और अवश्य ही संसार के विषय रसों से वैराग्य भी होगा ॥३२६॥ इति श्री···प्रेम-वैराग्य प्राप्त करनेवाला दूसरा सोपान समाप्त हुआ।

विशेष—(१) 'होत जनम न भरत को'—इसे छंद के सब चरणों के साथ लगाना चाहिये। श्रीभरतजी का स्वरूप ही प्रेमामृत का पात्र है, पहले इनके यश को चन्द्रमा कहकर उसमें राम प्रेमामृत का होना कहा गया है; यथा—"पूरन राम सुप्रेम पियूषा।" (दो० २०८); अर्थात् श्रीभरतजी स्वयं प्रेमामृत से पूर्ण हैं और यश के द्वारा औरों को भी प्रेमामृत सुलभ किया है; यथा—"राम भगत अब अमिअ अघाहू। कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहू ॥" (दो० २०८)।

(२) 'दुख दाह दारिद'···—और प्राकृत मनुष्य के यश-कथन में मिथ्यात्व आदि दोष होते हैं, पर परम भक्त श्रीभरतजी के सुयश-कथन-श्रवण से दुःख आदि सब दोष छूटते हैं। यह तो और लोगों की बात हुई ; अब ग्रन्थकार अपने सम्बन्ध के विशेष उपकार कहते हैं। 'हठि राम सनमुख करत को।'—भाव यह कि श्रीभरतजी के सुयश के साथ उनके राम-स्वभाव कथन आदि भी आते हैं ; यथा—"राउरि रीति सुबानि बड़ाई।···" से "सकृत प्रनाम किये अपनाये॥" (दो० २९८) तक; इनसे भारी से भारी शठ भी श्रीराम-सम्मुख (शरण) होते हैं। यही शठों का हठात् शरण होना है। 'कलिकाल तुलसी···'—कलियुग में शरणागति मात्र उपाय रह गई, उसमें दृढ़ प्रतीति श्रीभरतजी के चरित्र से ही होती है। पूर्ण प्रतीति बिना शरणागति होती ही नहीं।

चरित—"परम पुनीत भरत आचरनू। मधुर मंजु मुद मंगल करनू॥" (दो० ३२५)।

'इतिश्री……'—कितनी प्राचीन प्रतियों में इस कांड की इतिश्री नहीं पाई जाती। इसपर कहा जाता है कि श्रीभरतजी के चरित को अपार एवं अमित सूचित करते हुए यहाँ इति नहीं लगाई गई। आगे चलकर आ० दो० ६ पर इति है, वहाँ पर इति की रीति के अनुसार छंद, दोहा और सोरठा साथ दिये गये हैं। यहाँ श्रीराम-चरित के प्रसंग को लेकर उसपर इति लगी है। श्रीवाल्मीकीजी ने भी उसी प्रसंग पर अयोध्याकांड की इति लगाई है। पर इसमें कहा जा सकता है कि श्रीरामचरित भी तो अति अमित ही है, ऐसा बहुत स्थलों पर कहा गया है, तो उसकी ही इति क्यों लगाई गई ?

वस्तुतः इतिश्री तो अपनी रचना के सोपान की लिखी गई है, चरित की नहीं। इसका 'प्रेम-वैराग्य' सम्पादन नाम है, क्योंकि ऊपर यही कांड की फलश्रुति कही गई है; यथा—सीयराम पद प्रेम, अवसि होइ भव रस बिरति॥"

'भरत-रहनि' प्रकरण समाप्त

—:※:—

श्रीरामचरितमानस

(सिद्धान्त-तिलक समेत)

तृतीय सोपान (अरण्यकाण्ड)

मूलं धर्मतरोर्विवेकजलधेः पूर्णेन्दुमानंददं
वैराग्याम्बुजभास्करं ह्यघघनध्वान्तापहं तापहम् ।
मोहाम्भोधरपूगपाटनविधौ स्वःसम्भवं शङ्करं
वन्दे ब्रह्मकुलं कलङ्कशमनं श्रीरामभूपप्रियम् ॥ १ ॥

अर्थ—धर्म-रूपी वृक्ष के मूल, विवेक-रूपी समुद्र के आनन्द देनेवाले पूर्णचन्द्रमा, वैराग्य-रूपी कमल के (विकाशक) सूर्य, पाप-रूपी सघन अंधकार को निश्चय ही नाश करनेवाले, (दैहिक, दैविक और भौतिक) तापों के हरनेवाले, मोह-रूपी बादलों के समूह को विच्छिन्न (उत्पाटन) करने की विधि में पवन-रूप, शं (कल्याण) के करनेवाले, ब्रह्म-कुल, कलंक के नाशक और राजा श्रीरामजी के प्यारे (या, जिनको राजा श्रीरामजी प्रिय हैं, उन) श्रीशिवजी को मैं प्रणाम करता हूँ ॥१॥

विशेष—(१) 'मूलं धर्म तरोः'—धर्म (कर्म) में फल लगता है, इसीलिये वृक्ष-रूप कहा, श्रीशिवजी उस वृक्ष की जड़ हैं। जड़ के बिना वृक्ष खड़ा नहीं रह सकता और जड़ ही के सींचने से पूरा वृक्ष हरा-भरा रहता है। वैसे ही श्रीशिवजी से धर्म की उत्पत्ति, पालन एवं वृद्धि होती है। धर्म के चार चरण—सत्य, शौच, दया और दान हैं; यथा—"चारिउ चरन धरम जग माहीं। पूरि रहा सपनेहु अघ नाहीं ॥" (उ० दो० २०); इन चार में सब धर्म (सुकृत) आ जाते हैं। 'विवेक जलधेः…'—ज्ञान अगाध है, इसलिये समुद्र की उपमा दी गई है; यथा—"गुरु विवेक सागर जग जाना।" (दो० १८१); "ज्ञान अंबुनिधि आपुन आजू।" (दो० २५२); भाव यह कि श्रीशिवजी के दर्शन एवं ध्यान से

विवेक बढ़ता है। 'वैराग्याम्बुजभास्करं'—वैराग्य से संग-दोष छूटता है, अतः, उसे कमल कहा; यथा—"पदुम पत्र जिमि जग जल जाये।" (दो० ११६); कमल जल से निर्लिप्त रहता है, वैसे वैराग्यवान् विषय-वारि से निस्संग रहता है। भाव यह कि श्रीशिवजी का ध्यान वैराग्य का पोषक है। 'अघघनध्वान्तापहं'—'ध्वान्त' = अंधकार; यथा—"अंधकारोऽस्त्रियां ध्वान्तं तमिस्रं तिमिरं तमः।" (अमरकोश) 'अपहं' = नाशकर्ता 'तापहं'; यथा—"जराजन्मदुःखौघतातप्यमानं प्रभो पाहि आपन्नमामीश शंभो।" (उ० दो० १०७)।

यहाँ पहले धर्म, इन्दु और भास्कर कह कर तब—'अघघन···' कहा, भाव यह कि धर्म एवं सूर्य से अघ रूपी अंधकार का नाश, और चंद्र से ताप का नाश होता है। धर्म से अघ का नाश होता है; यथा—"चारिहु चरन धरम जग माहीं। पूरि रहा सपनेहु अघ नाहीं॥" (उ० दो० २०); तब चित्त शुद्ध होने पर विवेक होता है, उसके आनंद की प्राप्ति पर विषयों से सर्वथा वैराग्य होता है। पुनः धर्म से वैराग्य और फिर विवेक होता है; यथा—"धरम ते बिरति जोग ते ग्याना।" (दो० १५); "ग्यान कि होइ बिराग बिनु।" (उ० दो० ८९)। वैसे ही क्रम से यहाँ कहे गये। 'मूलंधर्म' से कर्म, 'विवेक जलधेः' से ज्ञान और 'श्रीरामभूपप्रियम्' से उपासना—क्रम से ये तीनों कांड मंगलाचरण में आये।

(२) 'मोहाम्भोधरपूग···'—जैसे मेघ सूर्य को ढँक लेता है, वैसे मोह ज्ञान को; यथा—"मोह महा घन पटल प्रभंजन···" (लं० दो० ११२); "जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी॥" (बा० दो० ११६); "ग्यान भानु गत।" (ब० दो० १२०); श्रीशिवजी मोह के नाशक हैं; यथा—"चिदानंदसंदोहमोहापहारी।" (उ० दो० १००); 'स्वः संभवं = वायु। वायु आकाश से होता है; यथा—"आकाशाद्वायुः" (तैत्तरीय वल्ली २।१); 'ब्रह्मकुलं'—ब्रह्म-कुल अर्थात् ईश्वर कोटि में हैं; यथा—"विभुं व्यापकं ब्रह्मवेदस्वरूपम्।" (उ० दो० १०७; वा, एक रुद्र ब्रह्मा से उत्पन्न भी हुए हैं। अतः, श्रीशिवजी ब्रह्मा के कुल के भी हैं। 'कलंकशमनं' = अपने भक्त चन्द्रमा को ललाट पर धारण करके उसके गुरुतल्पगता का कलंक मिटा दिया; यथा—"यमाश्रितोहिवक्रोपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते।" (बा० मं०); 'श्रीरामभूपप्रियम्'; यथा—"कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरे।" (बा० दो० १३७); "ते द्विज प्रिय मोहिं जथा खरारी॥" (उ० दो० १०८); इस तरह उभयतः प्रियत्व है। श्रीशिवजी ने अपने हृदय में भूप रूप ही बसाया है; यथा—"अनुज जानकी सहित निरंतर बसहु राम नृप मम उर अंतर॥" (लं० दो० ११२); सती-मोह-प्रसंग का स्मरण कराते हुए, पर-रूप और भूप-रूप की एकता भी इसीमें पुष्ट की।

यहाँ श्रीशिवजी के अष्टांगरूप की वंदना की गई है; यथा—"भूर्जलंवह्निराकाशं वायुर्यज्वा शशिः रविः। इत्यष्टौ मूर्त्तयः शम्भोर्मङ्गलं जनयन्तु नः॥" अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, आकाश, वायु, यज्ञ, चन्द्रमा और सूर्य ये ही श्रीशिवजी के आठ रूप हैं। यहाँ तरुमूल में पृथिवी, 'जलधेः इन्दु' से जल-तत्त्व, क्योंकि चन्द्रमा जलमय है। 'स्वः' से आकाश, 'स्वः संभवम्' से वायु, सूर्य तेजोमय होने से अग्नि-रूपी भी हैं ही, इस रीति से यहाँ आठो अंग आ गये हैं।

श्रीशिवजी में सूर्य-चंद्र, दोनों के गुण साथ कहे गये हैं, यह आश्चर्य है, अन्यत्र भी इनकी एक वाणी में ही दोनों उपमाएँ हैं; यथा—"ससि कर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥" (बा० दो० ११९); "सुनु गिरिराज कुमारि, भ्रम तम रबिकर बचन मम॥" (बा० दो० ११५)।

यहाँ श्रीशिवजी की ही वंदना पहले है, किष्किन्धाकांड से पीछे हुआ करेगी, क्योंकि श्रीशिवजी श्रीहनुमानजी के रूप से सेवक-भाव में आ जायँगे। वन की उदासीन लीला का वर्णन करना है, इसलिये उदासीन-रूप-समर्थ श्रीशिवजी की वंदना की गई। वन में अधिक वृक्षों और उनके फल-फूल आदि से ही सम्बन्ध रहेगा। इसलिये 'मूल' शब्द और 'वर' शब्द प्रथम दिये गये हैं, क्योंकि आगे ऋषियों के यहाँ सर्वत्र फल, मूल ही भेंट में प्राप्त होंगे। धर्म और वृक्ष से सुख होता है, इस कांड में सुख होना बहुतों को और बहुत स्थलों पर कहा जायगा; यथा—"रिषि निकाय···सुखी भये।"–श्रीसरभंगजी। "ध्यान जनित सुख पावा"—श्रीसुतीक्ष्णजी। "सुखी भये मुनि बीती त्रासा॥" (दो० १९)—मुनिलोग। "भगति जोग सुनि अति सुख पावा॥"—श्रीलक्ष्मणजी। ऐसे ही मारीच, रावण, श्रीरामजी, श्रीशबरीजी आदि बहुतों का सुख कहा गया है।

इस कांड में धर्म, विवेक आदि की जो बातें विस्तार से कही जायँगी, उनका इस मंगला-चरण में भी स्मरण किया गया है। अतः, यह वस्तुनिर्देशात्मक मंगला-चरण है। यह शार्दूलविक्रीड़ित छंद है, बा० मं० श्लो० ६ देखिये। इसका प्रयोजन यह है कि श्रीरामजी वन में निर्भय सिंह की तरह क्रीड़ा करेंगे; यथा-"हम छत्री मृगया वन करहीं।" (दो० १८); "पुरुषसिंह बन खेलन आये।" (दो० २१)।

इस श्लोक में भी 'मूलं धर्म' शब्द से आदि में मगण ही आया है, ऐसे ही सातो कांडों के आदि में है। इससे श्रोता-वक्ता दोनों के कल्याण होंगे।

सान्द्रानन्दपयोदसौभगतनुं पीताम्बरं सुन्दरं
पाणौ बाणशरासनं कटिलसत्तूणीरभारं वरम्।
राजीवायतलोचनं धृतजटाजूटेन संशोभितं
सीतालक्ष्मणसंयुतं पथिगतं रामाभिरामं भजे ॥२॥

शब्दार्थ—सान्द्र = घना, गहरा; यथा—"घनं निरंतरं सान्द्रमित्यमरः" रामा = सीताजी। रामाभिरामं = श्रीसीताजी को आनन्द देनेवाले। पथिगतं = मार्ग में प्राप्त।

अर्थ—जिनका श्याम-विग्रह, जल बरसानेवाले मेघों के समान सुंदर, एवं आनंदघन है (वल्कलका) पीताम्बर धारण किये हुए, सुन्दर, हाथों में बाण और धनुष लिये हुए, श्रेष्ठ (अक्षय) तर्कश के भार से जिनकी कटि शोभित है। लाल कमल के समान विशाल नेत्रवाले, जटाओं का जूड़ा धारण किये हुए, अत्यंत शोभायमान, श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ मार्ग में जाते हुए, श्रीसीताजी को आनंद देनेवाले श्रीरामजी को मैं भजता हूँ।

विशेष—(१) 'सान्द्रानंद पयोद···'—इस चरण में आपका श्रृंगार स्वरूप कहा है। 'पीताम्बरं' से वल्कल वस्त्रों को ही पीले रंग का होना सूचित किया। इस कांड से राक्षस-वध की प्रतिज्ञा होगी और उसका प्रारंभ होगा, वीररस का केसरियाबाना प्रसिद्ध है। 'सुंदर' क्योंकि इसी वेष में शूर्पणखा और खर आदि भी मोहित होंगे। यहाँ के 'पीताम्बरं' और आगे के—"एक बार चुनि कुसुमसुहाये। निज कर भूषन राम बनाये॥" से यहाँ का गुप्त रास महल भी लक्षित किया गया है, जो कि

चित्रकूट माहात्म्य में विस्तार से कहा गया है। आगे चौ० ३ का विशेष देखिये। 'पाणौ बाणशरासनं···' इस चरण में वीररस का स्वरूप कहा है, 'कटिलसत्तूणीरभारंवरं'—और भार (बोझ) अशोभित होता है, पर वीरों का तर्कश भार सुशोभित है, यथा—"सब सुंदर सब भूषन धारी। कर सर चाप तून कटि भारी॥" (बा० दो० २१७); श्रीरामजी श्रेष्ठ धनुर्धर हैं ; यथा—"कहँ कोसलाधीस दोउ भ्राता। धन्वी सकल लोक बिख्याता॥" (लं० दो० ४८); इसीसे श्रेष्ठ तर्कश धारण करते हैं ; यथा—"तूणौ चाक्षयसायकौ।" (वाल्मी० मू०) ; इनसे इसी कांड में खर आदि को मारेंगे।

(२) 'राजीवायतलोचनं'—भक्तों के भय-हरण-प्रसंग में प्रायः राजीवनेत्र कहा जाता है ; यथा—"राजिव नयन धरे धनु सायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक॥" (बा० दो० १७) ; तथा—सुं० दो० ३४ चौ० २ एवं दो० ३१ चौ० १ भी देखिये। यहाँ भी मुनियों के लिये राक्षस वध की प्रतिज्ञा करेंगे और उनके घर-घर जाकर उन्हें सुख देंगे ; यथा—"सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि, जाइ जाइ सुख दीन्ह।" (दो० ९) ; इस तीसरे चरण में शांत रस की शोभा कही गई है, क्योंकि मुनियों को सुख दिया है ; यथा—"जब रघुनाथ समर रिपु जीते। सुर नर मुनि सबके भय बीते॥" (दो० २०)।

इस कांड में दो ही श्लोकों में मंगलाचरण है, ऐसा ही अगले किष्किंधा-कांड में भी है, क्योंकि इसमें श्रीसीताजी का हरण होगा और दो ही मूर्तियों का साथ रहेगा। फिर किष्किंधा-काड में भी उनका पता न मिलेगा। सुन्दरकाड में पता मिलेगा, इसलिये फिर तीन श्लोकों से मंगलाचरण होगा। फिर आगे सर्वत्र साथ रहा, इससे वहाँ तीन-तीन श्लोक हैं।

सो०—उमा राम-गुन गूढ़, पंडित-मुनि पावहिं बिरति।
पावहिं मोह बिमूढ़, जे हरि-बिमुख न धर्म रति॥

अर्थ—हे उमा ! श्रीरामजी के गुण गूढ़ हैं, पंडित और मुनि उनसे वैराग्य प्राप्त करते हैं और जो विशेष मूर्ख हैं, जो हरि-विमुख हैं और जिनकी धर्म में प्रीति नहीं है, वे मोह को प्राप्त होते हैं।

विशेष—(१) इस कांड के आदि में श्रीशिवजी उमा को सावधान करते हैं कि देखना, पूर्व सती-तन की तरह फिर न वैसा संदेह कर बैठना, क्योंकि इसी कांड के चरित्र से तुम्हें वहाँ मोह हुआ था।

इससे पूर्व अयोध्या-काड में भरत-चरित है, अंत में फलश्रुति में कहा गया है, यथा—"भरत चरित करि नेम, तुलसी जे सादर सुनहि। सीय राम पद प्रेम, अवसि होइ भव रस बिरति॥" उसपर कहते हैं कि श्रीराम-चरित वैसा सरल नहीं है, किंतु गूढ़ है, इसमें पंडित मुनि ही वैराग्य पाते हैं, सब नहीं। पुनः श्रीभरत-चरित में किसीको मोह नहीं है, इसीसे उसमें किसीका सवाद नहीं है। क्योंकि उसमें तो प्रेम ही कहा गया है। श्रीराम-चरित में श्रीभरद्वाजजी, श्रीसतीजी और श्रीगरुड़जी को भी मोह हुआ है, इसीसे इस कांड में श्रीराम-चरित प्रारभ होते ही छः दोहों में तीनों वक्ताओं ने तीनों श्रोताओं को समाधान किया है; यथा—"उमा राम गुन गूढ···" उमा को पहले कहा, क्योंकि इन्हें इसी कांड के चरित में मोह हुआ है। पुनः—"सब जग ताहि अनलहु ते ताता।···भ्राता॥" "सुधा होइ बिष सुनु हरिजाना।" (दो० १); इन में श्रीभरद्वाजजी को 'भ्राता' और श्रीगरुड़जी को 'हरिजाना' कहा है।

(२) 'राम गुन गूढ़'; यथा—"श्रोता बकता ज्ञान निधि, कथा राम के गूढ़। किमि समुझौं मैं जीव जड़, कलिमल ग्रसित विमूढ़ ॥" (बा० दो० ३०); "चाहहु सुनइ राम-गुन-गूढ़ा। कीन्हेहु प्रश्न मनहुँ अति मूढ़ा ॥" (बा० दो० ४९); गूढ़ता यह है कि चरित तो एक ही है, पर उसीमें किसीको मोह होता है और किसीको वैराग्य उत्पन्न होता है। मोह और वैराग्य परस्पर विरोधी हैं, यह चरित दोनों की उत्पत्ति का कारण है, इसीसे इसे गूढ़ कहा गया कि किसीको कुछ भासता है और किसीको कुछ। गूढ़ अर्थात् जो बुद्धिमानों को भी समझने में कठिन हो।

यहाँ श्रीशिवजी पंडित और मुनि भी हैं, इन्हें वन-लीला से वैराग्य प्राप्त हुआ और सती को मोह हुआ कि इन्होंने पति के सहेतु वचनों पर भी विश्वास न किया, यही इनकी मूढ़ता है; यथा—"मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करेसि न काना ॥" (कि० दो० ८)। सगुण चरित गूढ़ हैं; यथा—"सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होइ ॥" (उ० दो० ७३); "राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे ॥" (अ० दो० १२९); "कामिन्ह कै दीनता दिखाई। धीरन्ह के मन बिरति दृढ़ाई ॥" (दो० ३८); इत्यादि।

श्रीजानकीजी के हरण पर पंडितों (सदसद्विवेकिनीबुद्धिवालों) और (मननशील) मुनियों को तो वैराग्य हुआ कि स्त्री ने श्रीरामजी को भी रुलाया, अतएव इससे प्रीति करना उचित नहीं और विमूढ़ों को मोह हुआ कि स्त्री के लिये तो श्रीरामजी भी रोये हैं। अत', यह दुर्लभ वस्तु है। इस कांड के आदि में श्रीरामजी के चरित में जयंत को मोह हुआ और अंत में नारदजी को वैराग्य की शिक्षा प्राप्त हुई। इस रीति से यहाँ कांड-भर का सूक्ष्म चरित आ गया।

'विमूढ़'—ज्ञान-रहित, 'हरि-विमुख'—उपासना-रहित और 'न धरमरति' वाले कर्मकांड-रहित हैं; अर्थात् कांड त्रय रहित ही मोह को प्राप्त होते हैं। जिनमें एक-दो त्रुटियाँ होती हैं, वे सँभल जाते हैं। विमूढ़ों के लक्षण भी बतलाये कि वे हरि विमुख होते हैं और उनकी धर्म में प्रीति नहीं होती।

BHARATIYA ... LIBR...

"वन वसि कीन्हे चरित अपारा"—प्रकरण

पुर - नर - भरत - प्रीति मैं गाई। मति अनुरूप अनूप सुहाई ॥१॥

अर्थ—पुरवासियों और श्रीभरतजी की उपमा-रहित और सुहावनी प्रीति मैंने बुद्धि के अनुसार वर्णन की ॥१॥

विशेष—'पुर-नर-भरत-प्रीति'—कहकर पूर्व कांड से इस कांड का सम्बन्ध मिलाया। पुर नर में 'नर' शब्द नर और नारी दोनों का बोधक है। अयोध्या कांड के पूर्वार्द्ध में पुरवासियों की प्रीति प्रधान थी, उत्तरार्द्ध में श्रीभरतजी की प्रीति के साथ-साथ भी पुरवासियों की प्रीति कही गई है। इनकी प्रीति के उदाहरण भरे पड़े हैं।

'मैं गाई'—अभी ऊपर श्रीशिवजी का संवाद है। अतः, 'मैं' से उन्हींका अर्थ है, साथ में और भी तीनों वक्ता हैं ही। भाव यह कि जैसे प्रभु के चरित गाने योग्य हैं, वैसे उनके भक्तों के चरित भी हैं। 'गाई' पर संदेह होता कि क्या तुमने पूर्ण रीति से वर्णन किया? उसपर कहा कि 'मति अनुरूप'—भाव यह कि पूर्णरूप से तो कोई कह ही नहीं सकता; यथा—"कवि कुल अगम भरत गुन गाथा। को जानइ

तुम्ह बिनु रघुनाथा ।।" (अ० दो० २११) । "अगम सनेह भरत रघुबर को । जहँ न जाइ मन बिधि हरि हर को ॥" (अ० दो० २१०) । मैंने अपनी बुद्धि के अनुरूप कुछ कहा है। ऐसी बड़ों की रीति भी है—मैं मति-अनुरूप ही कहता हूँ; यथा—"मति अनुहारि सुबारि गुन; गन गनि मन अन्हवाइ।···" (बा० दो० ४३)—वहीं पर और भी उदाहरण देखिये, विस्तार-भय से यहाँ नहीं लिखा।

अकथ्य होने से भी 'मति अनुरूप' कहा है; यथा—"कहत सारदहु कै मति होचे। सागर सीप कि जाहि उलीचे ।।" (अ० दो० २८१)। "बन बसि कीन्हे चरित अपारा" यह श्रीपार्वतीजी का प्रश्न यहाँ से सुन्दरकांड तक 'वन-चरित' के प्रति है।

अब प्रभु चरित सुनहु अति पावन। करत जे बन सुर-नर-मुनि-भावन ॥२॥

अर्थ—अब देवताओं, मनुष्यों और मुनियों को भानेवाले प्रभु श्रीरामजी के अत्यन्त पवित्र चरित, सुनो, जो वे वन में करते हैं ॥२॥

. विशेष—(१) 'अब' का भाव यह कि अभी तक प्रभु के दास के चरित कहे गये हैं, अब प्रभु के चरित कहूँगा। 'प्रभु' शब्द का भाव यह कि इस कांड से प्रभुता के चरित होंगे। बालकांड में माधुर्य और ऐश्वर्य कहा और अयोध्याकांड में माधुर्य ही रहा। अरण्यकांड से अब की प्रभुता के चरित प्रधान रहेंगे। इसीसे श्रीरामजी को 'प्रभु' और श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के भी ऐश्वर्य के ही नाम रहेंगे। 'लखन' 'सीय' नाम माधुर्य के हैं, अब ये न रहेंगे। बालकांड में जो ऐश्वर्य के चरित यज्ञरक्षा, धनुर्भंग आदि हुए भी हैं, उनमें मुनि की ओट थी; यथा—"केवल कौसिक कृपा सुधारे। " (बा० दो० ३५१); परन्तु यहाँ से जो जयंत एवं खरदूषण आदि के प्रसंगवाले चरित होंगे, वहाँ ऐश्वर्य छिप नहीं सकता। मुनियों के साथ बर्ताव में भी पहले की अपेक्षा आगे ऐश्वर्य दृष्टि अधिक रहेगी।

(२) 'अतिपावन'—पहले श्रीभरत-चरित परम पुनीत कहा गया है; यथा—"परम पुनीत भरत आचरनू।" (अ० दो० ३२५); अतएव, प्रभु-चरित को भी अतिपावन कहा; अन्यथा श्रीभरत-चरित की अपेक्षा इसमें न्यूनता आती। आगे अंत में पावन-मात्र ही कहा है; यथा—"रावनारि जस पावन" क्योंकि वहाँ ऐसे संदेह का अवसर नहीं है। 'अति पावन' का यह भी भाव है कि आगे गीध, शबरी आदि कितने ही पतितों को तारेंगे।

(३) 'करत जे बन'—ऊपर चौपाई में 'पुर नर' शब्द से अयोध्याकांड को पुर का एवं तत्संबंधी चरित कहा है और आगे के चरित वन-सम्बन्धी ही होंगे, इसीसे इस कांड का अरण्य (वन) कांड नाम भी है। वन के ही चरित किष्किंधा और सुन्दरकांड में भी हैं, पर इस कांड में वन शब्द भी बहुत आये हैं। वन-शब्द से चित्रकूट का भी अगला चरित आ जायगा; यथा—"रघुपति चित्रकूट बसि नाना। चरित किये श्रुति सुधा समाना ।।" (दो० १)।

(४) 'सुरनरमुनि भावन'—यद्यपि सुर नर मुनि तीनों तीन प्रकार की प्रकृतिवाले होते हैं, तथापि यह चरित तीनों को भानेवाला है; यथा—"जब रघुनाथ समर रिपु जीते। सुर नर मुनि सबके भय बीते ।।" (दो० २०); इस चरित से तीनों के भय दूर हुए, इससे यह सबका भानेवाला कहा गया है। इस कांड में ही श्रीरामजी राक्षसों के निर्मूल करने की प्रतिज्ञा करेंगे और उसका कार्य भी प्रारंभ करेंगे, इससे यह सुरभावन है। मुनियों के लिये भी रक्षार्थ प्रतिज्ञा है और उन सबके घर-घर जाकर उन्हें सुख देंगे, इससे मुनिभावन

होगा। इस वन-चरित की फलश्रुति कही गई है—"रावनारि जस पावन, गावहिं सुनहिं जे लोग। रामभगति दृढ़ पावहिं, बिनु बिराग जप जोग॥" अतः नरभावन भी कहा गया है। 'सुर' शब्द प्रथम है, क्योंकि जयन्त पर कृपा करने से देवताओं का भावन होना प्रथम ही है।

यहाँ तक चरित माहात्म्य कहा गया, आगे चरित कहते हैं—

एक बार चुनि कुसुम सुहाये। निजकर भूषन राम बनाये॥३॥
सीतहिं पहिराये प्रभु सादर। बैठे फटिक सिला पर सुन्दर॥४॥

अर्थ—एक समय सुंदर फूलों को चुनकर श्रीरामजी ने अपने हाथों से आभूषण (नूपुर, कंकन, शीशफूल, बंदी और चंद्रिका आदि) बनाये॥३॥ प्रभु ने आदर-सहित श्रीसीताजी को पहनाया और सुन्दर स्फटिक शिला पर बैठे॥४॥

विशेष—'एक बार चुनि···'—भाव यह कि ऐसे शृंगार के चरित तो बहुत हुए हैं, पर यह एक बार की बात है—'सुरपति सुत···'। 'सुहाये' से रंग बिरंग के बहुत-से सुन्दर फूलों का चुनना सूचित किया कि जिस भूषण में जहाँ जिस रंग की आवश्यकता हो, वहीं वहाँ लगाया जाय। 'भूषन बनाये'—बहुवचन क्रिया से अंग-अंग के बहुत-से भूषणों का बनाना सूचित किया। कैकेयी के वचन—"तापस बेष बिसेष उदासी।" के अनुसार रहते हैं, इसीसे राजसी भूषण-भोग त्यागे हुए हैं, इससे अथवा ग्रीष्म ऋतु के अनुसार फूलों के ही भूषण अपने हाथों से रचकर पहनाते हैं कि श्रीसीताजी वनमें प्रसन्न रहें। कहा भी है—"नाह नेह नित बढ़त बिलोकी। प्रमुदित रहति दिवस जिमि कोकी॥" (दो० १३९); "सीय लखन जेहि बिधि सुख लहहीं। सोइ रघुनाथ करहिं सोइ कहहीं॥" (दो० १४०); वे सब यहाँ चरितार्थ हैं। इसी प्रसंग पर गी० अ० ४४ में कहा है—"फटिक सिला मृदु बिसाल···सिय अँग लिखैं धातुराग, सुमननि भूषन-बिभाग, तिलक करनि का कहौं कला निधान की। माधुरीविलास हास गावत जस तुलसिदास बसति हृदय जोरी प्रिय परम प्रान की॥" तथा—"अभिज्ञानं च रामस्य दद्या हरिगणोत्तम। शिलामिषीकां काकस्य कोपादेकाक्षिशातनीम्। मनः शिलायास्तिलको गण्डपार्श्वे निवेशितः। त्वया प्रणष्टे तिलके तं किल स्मर्तुमर्हसि॥" (वाल्मी० ५।४०।४-५); इन वचनों से यह शृंगार-रहस्य जयंत-प्रसंग का कारण-रूप है।

बृहद्रामायणोक्त चित्रकूट माहात्म्य में श्रीसीतारामजी का यहाँ रास-विहार भी कहा गया है; यथा—"चित्रकूटसमं तीर्थं नास्ति ब्रह्माण्डगोलके। यत्र श्रीरामचन्द्रोऽसौ सीतया सहितः सुखात्। विमलादिसखीयुक्तः स्वणिमादिविभूतिभिः। सप्तावरणसंयुक्ते मन्दिरे रत्नभूषिते॥ पर्वतस्थानरासेऽसौ विहारं कुरुते सदा।···" वह प्रसंग भी यहाँ लक्षित किया गया है कि तरह-तरह के शृंगार-रहस्य हुए, उनमें एक बार की यह बात है।

(२) 'बैठे फटिक सिलापर सुन्दर'—स्फटिक-शिला विशाल थी और प्रभु के संबंध में कोमल बन गई थी—'मृदु बिसाल' ऊपर कहा ही है।

श्रीचित्रकूट में इस समय जहाँ स्फटिक-शिला है, वहाँ उसमें उस समय के कोमल हो जाने के चिह्न बने हुए हैं। वहाँ एक देवांगना प्रसिद्ध तीर्थ भी है, जिसका वृत्त यह है कि जयन्त की स्त्री देवांगनाओं के साथ प्रभु की रास-क्रीड़ा देखने आई हुई थी, वह देखकर मोहित हो गई और उस स्थल पर रही, इसीसे यह तीर्थ है।

"सुरपति सुत करनी"--प्रकरण

सुरपति-सुत धरि वायस बेखा। सठ चाहत रघुपति बल देखा ॥५॥
जिमि पिपीलिका सागर थाहा। महामंद - मति पावन चाहा ॥६॥

अर्थ—देवराज इन्द्र का पुत्र (जयंत) कौए का वेष धरकर मूर्ख, रघुनाथजी का बल देखना चाहता है ॥५॥ जैसे चींटी समुद्र की थाह लेना चाहे, वैसे ही महानीचमति जयन्त ने उनके बल की थाह पानी चाही ॥६॥

विशेष—(१) 'सुरपति सुत धरि······'—'सुरपति सुत' का भाव यह कि बड़े की परीक्षा बड़ा ही कर सकता है। श्रीरामजी का बल थाँचना सामान्य व्यक्ति का काम नहीं था, इससे देवराज का पुत्र जो कि अपने बाप के समान बली था, वही आया। यह भी भाव है कि अपने बाप के बल का भरोसा करके आया। यह एक तो देवता है, दिव्य देहवाला, फिर देवराज का ज्येष्ठ पुत्र युवराज है। तब भी पक्षियों में चांडाल कौआ बना, क्योंकि महान् लोगों के साथ छल करनेवाले की जैसी गति होती है, वैसी ही बुद्धि हो गई। इसका बाप इन्द्र भी तो छली, मलिन और अविश्वासी कौए के-से स्वभाववाला है; यथा—"काक समान पाक रिपुरीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती ॥" (अ० दो० ३०१); पुत्र में भी वैसे ही स्वभाव का हो जाना आश्चर्य नहीं। इसीसे इसने भी छल करना चाहा; यथा—"ता सन आइ कीन्ह छल, मूरख अवगुन गेह ॥" (दो० १); 'धरि वायस बेषा'—यह चांडाल का-सा कर्म करेगा, इसीलिये वैसा ही शरीर भी धारण किया; यथा—"सठ स्वपच्छ तव हृदय बिसाला। सपदि होहि पच्छी चंडाला ॥" (उ० दो० ११२); इसमें भी शाप देते हुए 'सठ' कहा है, वैसा ही यहाँ भी—'सठ चाहत···' कहा गया है।

'सठ चाहत रघुपति···'—चाहता है कि अपना काम भी कर लूँ, और कोई जाने भी नहीं, पर इसे और इसके नीच कर्म को तीनों लोक जानेगा। परिणाम को नहीं सोचा, सहसा अनुचित कार्य में प्रवृत्त हो गया, इसीसे शठ कहा गया। 'चाहत'—इसका कारण यह है कि सब देवता तो रावण-वध की प्रतीक्षा में थे और श्रीरामजी रात-दिन शृङ्गार-कुतूहल में रँगे हैं। इससे इनकी ईश्वरता और बल में उन्हें संदेह हुआ, जैसे श्रीकृष्ण भगवान् की बालक्रीड़ा में श्रीब्रह्माजी को मोह हुआ। बल की व्यवस्था आगे कहते हैं—

(२) 'जिमि पिपीलिका सागर थाहा।'—श्रीरामजी का बल अथाह समुद्र के समान है; यथा—"महिपमती को नाथ साहसी सहस्र बाहु, समर समर्थ, नाथ! हेरिये हलक में। सहित समाज महाराज सो जहाज राज, बूड़ि गयो जाके बल बारिधि छलक में। टूटत पिनाक के मनाक बाम राम से, ते नाक बिनु भये भृगु नायक पलक में ॥" (क० लं० २५); तथा—"परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।" (श्वेता० ६।८); ऐसे अथाह एवं अप्रमेय बल की परीक्षा जयन्त कौआ-रूप से करना चाहता है, इसीसे चींटी और समुद्र का दृष्टान्त दिया। 'पावहिं मोह बिमूढ़' यह उपर्युक्त वाणी यहीं चरितार्थ हुई। इसीसे 'महामंद मति' कहा गया। क्योंकि जो मन-बुद्धि की तर्क से बाहर एवं अप्रमेय है, उसे यह देखना चाहता है।

वायस-शरीर धरने का यह भी कारण कहा जाता है कि वाल्मी० उ० सर्ग १८।१० में यमराज ने कौए को वरदान दिया है कि वह मनुष्य को छोड़ औरों से अवध्य हो, इसीसे इसने सोचा कि ये मनुष्य होंगे, तो मेरा कुछ कर ही न सकेंगे और ईश्वर होंगे, तो उक्त वर की रक्षा करते हुए मुझे न मारेंगे। दूसरा यह कारण है कि काकभुशुंडीजी श्रीरामजी के परम भक्त हैं, कदाचित् मैं चूका भी हूँगा, तो उस नाते से मुझे न मारेंगे; यथा—"प्रनत कुटुंब पाल रघुराई।" कहा ही है।

सीताचरन चोंच हति भागा। मूढ़ मंद-मति कारन कागा ॥७॥
चला रुधिर रघुनायक जाना। सींक धनुष सायक संधाना ॥८॥

अर्थ—मूर्ख कौआ मन्दबुद्धि होने के कारण श्रीसीताजी के चरणों में चोंच मारकर भागा ॥७॥ खून बह चला तब श्रीरघुनाथजी ने जाना और धनुष पर सींक का बाण रखकर चलाया ॥८॥

विशेष—(१) 'सीताचरन चोंच···'—यह प्रसंग वाल्मी० सुं० सर्ग ३८ में विस्तार से कहा गया है। भेद इतना ही है कि वहाँ 'विददार स्तनान्तरे' कहा गया है और इस ग्रंथ में चरणों में चोंच मारना कहा गया है। यह कल्प-भेद है।

वाल्मीकीय रामायण में लिखा है—श्रीसीताजी श्रीरामजी की गोद में सो गई थीं, बहुत देर पर उठीं, तब श्रीरामजी उनकी गोद में सो गये, तब कौए ने आकर स्तनों में घाव किया, चोंच मारी। उस समय गिरे हुए रक्त-बिन्दुओं से श्रीरामजी जाग पड़े और उस कौए को देखा।

पतिव्रता-शिरोमणि श्रीजानकीजी ने आघात सह लिया, पर उन्होंने सोये हुए अपने स्वामी को नहीं जगाया। यह एकान्त का रहस्य है, इसलिये कवि ने व्यंजना से कथा-द्वारा ही बतलाया है। श्रीलक्ष्मणजी भी वहाँ न थे। सम्भवतः रहस्य-स्थल समझकर पृथक् रहे हों और इसीसे वह कौआ भी बना कि जिससे घरों में जाने से रोक न हो। या, वे कदमूल आदि लाने को गये रहे हों। 'सीताचरन' को वाल्मीकीय रामायण से भी अविरोध दिखाने के लिये लोग 'सीता-आचरन' ऐसा पदच्छेद करके यही अर्थ कर लेते हैं, अंचल को आँचर कहते हैं; यथा—"दुहुँ आचरन्ह लगे मनि मोती।", बा० दो० ३२१); 'अंचरा पिलाना=स्तन पिलाना' यह मुहावरा है। यह व्यंजनात्मक प्रसंग है, इससे मर्यादा रखते हुए कहा गया है। यह उनका मत है। कोई यों भी कहते हैं कि 'श्रीसीताजी (को) चरण और चोंच (दोनों) से मारा। किस अंग में मारा ? यह वाल्मीकीय मत ही का अध्याहार कर लें।

इन तरह तरह के अर्थों की आवश्यकता नहीं। कल्पभेद की दृष्टि से इतना भेद ही रहेगा तो कोई हानि नहीं, इससे सरलार्थ छोड़ने की आवश्यकता नहीं है।

'मूढ़ मंद मति ···'—उत्तरार्द्ध में चोंच मारने का कारण कहा कि उसे अपने परिणाम का ज्ञान नहीं रहा, अपने हाथों से मरने का उपाय रचा। अतः, मूढ़ कहा गया; यथा—"जातु धान सुनि रावन बचना। लागे रचइ मूढ़ सोइ रचना॥" (सुं० दो० २४); श्रीरघुनाथजी का बल और प्रभुत्व नहीं जाना, इससे 'मंदमति' कहा गया; यथा—"अतुलित बल, अतुलित प्रभुताई। मैं मति मंद जानि नहिं पाई॥" (दो० १); 'कागा' के भाव ऊपर कहे ही गये हैं कि वह छली, मलिन और अविश्वासी है।

(२) 'चला रुधिर रघुनायक जाना ।'—'चला' अर्थात् वह चला, तब लेटे हुए आपके शरीर में स्पर्श हुआ, इससे जाना । 'रघुनायक'—'रघु' यह संज्ञा जीव-मात्र के लिये है, ये जीव-मात्र के नायक हैं। तो क्यों न जान लें ? सब जान लिया कि यह इन्द्र का पुत्र जयंत है। कौआ बनकर बल की परीक्षा के लिये आया है तभी तो ब्रह्मास्त्र चलाया है और रुधिर का जानना तो है ही। स्वयं जाना, श्रीजानकीजी ने नहीं कहा, ऐसा सुशील स्वभाव है। ऐसे ही जब श्रीकौशल्याजी ने पूछा—"तात सुनावहु मोहि निदानू।···" (अ० दो० ५१); तब श्रीकैकेयीजी के अपराध को श्रीरामजी ने भी स्वयं नहीं कहा, किंतु सचिव-सुत ने कहा था। अतः, उनका भी ऐसा ही सुशील स्वभाव है।

'सींक धनुष सायक संधाना'—यह विहार-स्थल था, इससे धनुषबाण साथ नहीं था। इससे सींक का ही धनुष बना और उसपर बाण भी सींक ही का बनाकर संधान किया। भाव यह भी है कि वह परीक्षा लेने आया है, सींक के बाण का भी आश्चर्य-जनक प्रभाव देखेगा, तो उसे मेरे अपरिमित प्रभाव की प्रतीति हो जायगी। वा, उसे तुच्छ जानकर तुच्छ सींक ही का बाण चलाया। उसे यह भी दिखाया कि काम ने फूल के ही धनुष-बाण से तीनों लोकों को वश कर रक्खा है, हम सींक से ही सबको मार सकते हैं। पुनः उसे थोड़ा ही बल दिखाना है, इससे भी सींक ही का बाण चलाया; यथा—"सुरपति सुत जानेउ बल थोरा।" (लं० दो० ३५); श्रीरामजी के स्वकीय बाण अमोघ हैं और इसे मारना नहीं है, इससे भी सींक ही चलाई।

दोहा—अति कृपाल रघुनायक, सदा दीन पर नेह।
तासन आइ कीन्ह छल, मूरख अवगुन - गेह ॥१॥

अर्थ—रघुकुल के नायक श्रीरामजी अत्यन्त कृपालु हैं, जिनका दीनों पर सदा स्नेह रहता है, उनसे भी अवगुणों का घर मूर्ख जयन्त ने आकर छल किया ॥१॥

विशेष—श्रीरामजी अत्यन्त कृपालु हैं, इसीसे मुनि, देव, भूमि आदि पर कृपा करके प्रिय परिवार और श्रीअवध का राज्य छोड़कर वन को आये। सदा दीनों पर ही स्नेह करनेवाले हैं। रघु महाराज सर्वस्व-दान करके भी दीनों पर दया का पूर्णतया निर्वाह करते थे, ये तो उस कुल में श्रेष्ठ हैं और सब लायक हैं; यथा—"पुनि मन बचन करम रघुनायक। चरन कमल बंदउँ सब लायक॥" (बा० दो० १७); फिर इनसे तो छल करना ही न चाहता था; यथा—"मान्य मीत सों हित चहै, सो न छुवै छल छाँह। ससि त्रिसंकु कैकेइ गति, लखि तुलसी मन माँह॥" (दोहावली ३२७)। 'सदा दीन पर नेह'; यथा—"जेहि दरबार दीन को आदर रीति सदा चलि आई।" (वि० १६५); ऐसे स्वामी से भी आकर इसने छल किया, इससे वक्ता लोग इसे मूर्ख और अवगुण गेह कहते हैं।

प्रेरित मंत्र ब्रह्म - सर धावा। चला भाजि बायस भय पावा ॥१॥
धरि निज रूप गयउ पितु पाहीं। राम-बिमुख राखा तेहि नाहीं ॥२॥
भा निरास उपजी मन त्रासा। जथा चक्र-भय रिषि दुर्बासा ॥३॥

ब्रह्म-धाम सिव-पुर सब लोका । फिरा श्रमित ब्याकुल भय सोका ॥४॥
काहू बैठन कहा न ओही । राखि को सकइ राम कर द्रोही ॥५॥

अर्थ—ब्रह्मास्त्र के मंत्र से प्रेरित वह ब्रह्मबाण दौड़ा, कौआ डर गया और भाग चला ॥१॥ अपना (वास्तविक) रूप धरकर पिता (इन्द्र) के पास गया, उसने इसे श्रीराम-विरोधी जानकर नहीं रक्खा ॥२॥ तब वह निराश हो गया, उसके मन में डर उत्पन्न हो गया, जैसे दुर्वासा ऋषि को चक्र से डर हुआ था ॥३॥ ब्रह्मलोक, शिवलोक आदि समस्त लोकों में भागता फिरा, श्रमित होकर भय और शोक से व्याकुल हो गया ॥४॥ किसीने उसे बैठने तक न कहा, (क्योंकि) श्रीरामजी के द्रोही को कौन रख सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥५॥

विशेष—(१) 'प्रेरित मंत्र ब्रह्म सर '; यथा—"स दर्भं संस्तरादगृह्य ब्रह्मणोऽस्त्रेण योजयत् । स दीप्त इव कालाग्निर्जज्वालाभिमुखो द्विजम् ॥" (वाल्मी० ५।३८।३१) ; अर्थात् कुश के आसन से एक कुश निकालकर उसे ब्रह्मास्त्र से अभिमंत्रित किया, वह प्रलय काल की अग्नि के समान उस पक्षी की ओर होकर जलने लगा । ब्रह्मास्त्र की अपार महिमा है ; यथा—"ब्रह्म अस्त्र तेहि साधा, कपि मन कीन्ह बिचार । जौं न ब्रह्म सर मानउँ, महिमा मिटइ अपार ॥" (सुं० दो० १९) ; तथा—"ब्रह्म बिसिख ब्रह्मांड दहन छम" (वि० २११) ; वह बाण देखने में सींक था, पर उसमें तेज ब्रह्मास्त्र का था, जैसे कि वह देखने में कौआ, पर था जयंत देवराज का पुत्र ।

(२) 'धरि निज रूप गयउ पितु पाहीं ।···'—अपना रूप इसलिये धारण किया कि जिससे पिता पहचान ले और पुत्र जानकर प्रीति से रक्षा करे । पिता को पुत्र प्यारा होता है ; यथा—"सुत की प्रीति प्रतीति मीत की···" (वि० २६८) । 'राम बिमुख ···'—राम-विमुख को नरक में भी ठौर नहीं मिलता ; यथा—"राम-बिमुख थल नरक न लहहीं ।" (अ० दो० २५१); तब स्वर्ग में कैसे ठौर मिले ; यथा—"बरषा को गोबर भयो, को चहै कोकरै प्रीति । तुलसी तू अनुभवहि अब, राम बिमुख की रीति ॥" (दोहावली ७१) ।

(३) 'भा निरास उपजी मन त्रासा ।'—पिता देवराज है, समर्थ है, जब उसने ही नहीं रक्खा, तो दूसरा कौन रक्खेगा, इससे निराश हो गया और डर गया । आगे कहा है—"मातु मृत्यु पितु समन समाना ।···" इससे ज्ञान पड़ता है कि पिता उल्टा इसे और मारने दौड़ा । इससे हृदय से भय उपजा ; यथा—"स पित्रा च परित्यक्तः सर्वैश्च परमर्षिभिः । त्रींल्लोकान्संपरिक्रम्य तमेव शरणं गतः ॥" (वाल्मी० ५।३८।३३) ; 'जथा चक्रभय·· '—दुर्वासा की कथा पूर्व अ० दो० २१७ चौ० ७ में देखिये । वहाँ १ वर्ष लगा और अम्बरीष की ही शरण में रक्षा हुई । वैसे यहाँ भी १ वर्ष भागता रहा, पीछे श्रीसीताजी की कृपा से शरणागति स्वीकृत हुई, तब रक्षा हुई और विष्णु भगवान् के चक्र के समान श्रीरामजी का सींक-बाण तेजस्वी हुआ ।

(४) 'ब्रह्म धाम सिवपुर ·····'—पहले ब्रह्मा के लोक को गया कि बाण उनके मंत्र से योजित है, वे चाहें तो बचा लें । फिर शिव-लोक को गया कि वे प्रलय समर्थ के देवता हैं, बचा लें । फिर सब लोकपालों के यहाँ गया, लोक-पाल ; यथा—"रबि ससि पवन बरुन धनधारी । अगिनि काल जम सब अधिकारी ॥" (बा० दो० १८१) ; इन सबों ने उत्तर दे दिया । 'श्रमित'—करोड़ों योजन चला, व्याकुल हो गया कि अब जीता न बचूँगा । 'भय'—ब्रह्मास्त्र का, 'सोका'—बुरे कृत्य का । कहा भी है—"जौं खल भयेसि राम कर द्रोही । ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोही ॥" (लं० दो० २१) ।

(५) 'काहू बैठन कहा न ओही।'—श्रीरामजी सबकी आत्मा हैं। अतः, इनका द्रोही सभी का द्रोही हो गया,- इसीसे उसे किसीने बैठने तक न कहा। कवि भी उसे 'ओही' इस ओछे सर्वनाम से कहते हैं। यद्यपि शरणागत की रक्षा करना धर्म है, तथापि ईश्वर और साधु के द्रोही की सहायता करना भी अधर्म है। यदि कोई हठात् रक्षा करने के लिये उद्यत भी हो, तो कहते हैं—'राखि को सकइ राम कर द्रोही।'—अर्थात् जिसे अपनी भी दुर्दशा करानी हो, वही ऐसे का पक्ष ले। श्रीरामजी से कोई जीव भी तो नहीं सकता; यथा—"ब्रह्मा स्वयंभूश्चतुराननो वा रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्त को वा। इन्द्रो महेन्द्रः सुरनाय को वा स्थातुं न शक्ता युधि राघवस्य" (वल्मी० ५।५१।४४)।

मातु मृत्यु पितु समन-समाना। सुधा होइ विष सुनु हरिजाना ॥६॥
मित्र करइ सत रिपु कै करनी। ता कहँ बिबुधनदी बैतरनी ॥७॥
सब जग ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर-बिमुख सुनु भ्राता ॥८॥

शब्दार्थ—समन (शमन)=यम। बैतरणी=एक भयंकर दुःखद नदी जो यम के द्वार पर मानी जाती है। मरने के पहले जिसने गोदान किया है, वह सुख से पार हो जाता है। इसमें बदबूदार लहू, हड्डियाँ आदि भरे रहते हैं। इसका विस्तार दो योजन माना गया है।

अर्थ—हे श्रीगरुड़जी! सुनो, हे भ्राता! सुनिये, जो रघुवीर श्रीरामजी से विमुख है, उसके लिये उसकी माता मृत्यु, पिता यमराज और अमृत विष के समान हो जाते हैं। मित्र सौ शत्रुओं की करनी करता है और गंगाजी उसे वैतरणी हो जाती हैं। सारा जगत् उसे अग्नि से भी अधिक तप्त हो जाता है ॥६–८॥

विशेष—'मातु मृत्यु···सुनु भ्राता।'—यहाँ यह दिखाया कि राम-विमुख के सभी उल्टे हो जाते हैं। माता-पिता पालनेवाले हैं, वे ही मृत्यु और यम की तरह मारने और दुर्दशा करनेवाले हो जाते हैं। अमृत, अमरत्व छोड़कर मृत्युकर हो जाता है। मित्र अन्य शत्रु से बचानेवाला है, वही सैकड़ों शत्रुओं का काम करने लगता है। गंगाजी तारनेवाली हैं, वही कष्टदायक हो जाती हैं। संसार-भर उसे कष्टदायक ही हो जाता है; यथा—"भरद्वाज सुनु जाहि जब, होइ बिधाता बाम। धूरि मेरु सम जनक जम, ताहि ब्याल सम दाम॥" (बा० दो० १७५)। 'सुनु भ्राता' से श्रीयाज्ञवल्क्य का श्रीभरद्वाजजी से कहना भी हो सकता है; यथा—"को सिव सम रामहि प्रिय भाई।" (बा० दो० १०१)।

यह तो राम विमुखता की गति कही गई, श्रीराम-कृपा-पात्र की ठीक इससे उल्टी व्यवस्था है; यथा—"गरल सुधा रिपु करइ मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई॥ गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा जाही॥" (सुं० दो० ४); इसे जल, थल और नभ कहीं भी ठौर न मिली—'गयउ पितु पाहीं'—स्वर्ग (नभ) में, 'बिबुध नदी···'—जल में और 'सब जग'—थल में।

नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता ॥९॥
पठवा तुरत राम पहिं ताही। कहेसि पुकारि प्रनतहित पाही ॥१०॥
आतुर सभय गहेसि पद जाई। त्राहि त्राहि दयाल रघुराई ॥११॥

अतुलित बल अतुलित प्रभुताई। मैं मतिमंद जानि नहिं पाई ॥१२॥
निज कृत कर्मजनित फल पायउँ। अब प्रभु पाहि सरन तकि आयउँ ॥१३॥

अर्थ—श्रीनारदजी ने जयन्त को व्याकुल देखा, दया लगी, (क्योंकि) सन्तों का चित्त कोमल होता है ॥९॥ (श्रीनारदजी ने) उसको तुरत श्रीरामजी के पास भेजा, (श्रीनारदजी के शिक्षानुसार) उसने पुकारकर कहा कि हे प्रणत हित ! मेरी रक्षा कीजिये ॥१०॥ भय और आतुरता (व्याकुलता एवं शीघ्रता) सहित उसने जाकर चरण पकड़ लिये, और कहा कि हे दयालु ! हे रघुराज ! रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये ॥११॥ आपका बल और प्रभुता दोनों अतुल हैं। मैं मंदबुद्धि उसको नहीं जान सका ॥१२॥ अपने किये हुए कर्म से उत्पन्न फल मैंने पा लिया, हे प्रभो ! अब मेरी रक्षा कीजिये, शरण तककर (मानकर) आया हूँ ॥१३॥

विशेष—(१) 'नारद देखा बिकल जयंता।···'—श्रीनारदजी इसे यथार्थ ज्ञान देंगे, इसीसे इनको 'नारद' कहा है; यथा—'नारं ज्ञानं ददातीति नारदः' अर्थात् नार का अर्थ ज्ञान और द का देनवाला है। 'लागि दया···'—संत हैं, इससे दया हो आई; यथा—"कोमल चित दीनन्ह पर दाया।" (उ० दो० ३७); यह संतस्वभाव है। भगवान् के भी कोप से संत ही बचा सकते हैं। इसीसे तो कहा है—"राम ते अधिक राम कर दासा॥" (उ० दो० ११९)। जब उसकी मृत के तुल्य दशा हो गई, तब प्रभु की प्रेरणा से श्रीनारदजी आ गये और उसे बचा लिया, नहीं तो मरा ही था।

(२) 'पठवा तुरत राम पहँ···'—भागते हुए समय में ही कहा कि दूर से ही पुकारकर कहना, जिससे सुन लें। पुकारकर कहने से अभिमान टूटेगा और दीनता आवेगी, तब वह प्रपत्ति का अधिकारी होगा, क्योंकि श्रीमुख-वचन हैं—"मोहि कपट छल छिद्र न भावा।" (सुं० दो० ४४); प्रभु का यह स्वभाव श्रीनारदजी जानते हैं ; यथा—"सब बिधि हीन दीन अति जड़ मति जा कहँ कतहुँ न ठाँउ। आये सरन भजउँ न तजउँ तेहि यह जानत रिषि राउ॥" (गी० सुं० ४५)।

पहले दूर से पुकारकर कहेगा कि हे प्रणतहित ! पाहि (रक्षा कीजिये), यह वाचिकी-मात्र प्रपत्ति करेगा, तब पीछे कायिकी, वाचिकी और मानसी करेगा। ऐसा ही विभीषण ने भी किया है कि पहले दूर से पुकार कर कहा, तब उन्हें वानरों से अभय मिला, फिर समीप जाकर विधिवत् शरणागति की। अभियुक्तों ने कहा भी है—"काक तं च विभीषणं शरणमित्युक्तिक्षमौ रक्षतः।" (भट्टार्क स्वामी)।

पहले राम-विमुख जानकर कवि ने उसका नाम भी न लिया था। 'मोही' शब्द से संकेत किया था। जब दीनता पर प्रभु की दया से संत के दर्शन हुए तब उसके पाप नाश हुए ; यथा—"संत दरस जिमि पातक टरई।" (कि० दो० १६)।

पहले श्रीब्रह्माजी और श्रीशिवजी ही समझा सकते थे, पर इसका पूरा अभिमान नहीं टूटा था, इस मर्म को जानकर उन्होंने नहीं समझाया था ; यथा—"ताते उमा न मैं समुझावा। रघुपति कृपा मरम मैं पावा॥ होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवइ चह कृपानिधाना॥" (उ० दो० ६२)।

(३) 'आतुर सभय गहेसि···'—'आतुर'—श्रीनारदजी ने 'पठवा तुरत' इससे यह 'आतुर' आया। पहले तुरत वचन से पुकारा और फिर तुरत ही आया भी। मन, वचन, कर्म तीनों से शरण हुआ—'सभय' से मन, 'गहेसि' से कर्म और 'त्राहि-त्राहि···' कहने में वचन सूचित किया। 'आतुर

सभय' की व्यवस्था पद्मपुराण में कही गई है; यथा—"पुरतः पतितं देवो धरण्यां वायसं तदा। तच्छिरः पादयोस्तस्य योजयामास जानकी॥ प्राणसंशयमापन्नं दृष्ट्वा सीताथ वायसम्। त्राहित्राहीति भर्तारमुवाच दयया विभुम्॥" इस प्रसंग से श्रीजानकीजी की निःसीम दया दिखाई गई है कि अभी ही उसने बिना कारण अंग विदीर्ण किया है, आपने स्वामी श्रीरामजी से कहा भी नहीं, जब वह अपने कर्म-फल से दुःखित हो भय से घबड़ाकर शरण में आया, तब उल्टा गिरा; अर्थात् श्रीरामजी की ओर पाँव और महारानीजी की ओर शिर हुआ। तब श्रीजी ने कृपा करके उसका सिर प्रभु के चरणों में लगा दिया और उसकी अंतिम दशा पर स्वामी से उसकी रक्षा के लिये 'त्राहि-त्राहि' कहकर उसे बचाया; यथा—"स तं निपतितं भूमौ शरण्यः शरणागतं। वधार्हमपि काकुत्स्थः कृपया पर्यपालयत्॥" (वाल्मी० ५।३८।३३); इस तरह श्रीसीताजी की जीवों की शरणागति में पुरस्कार-रूपा सूचित किया। वाल्मीकिजी ने यही लक्षित कराया है; यथा—"स भ्रातुश्चरणौ गाढ़ं निपीड्य रघुनन्दनः। सीतामुवाचातियशां राघवं च महाव्रतम्॥" (अ० स० ३१।२); 'त्राहि त्राहि'—भय की वीप्सा है; अर्थात् डर के मारे बार-बार कहा। 'रघुराई'—रघुकुल ही शरण्य है। आप तो उस कुल के राजा हैं, मुझे शरण दें, पुनः रघु=जीव-मात्र के राजा हैं। अतः, मुझ नीच जीव को शरण दें।

(४) 'अतुलित बल ...'—परीक्षक ने स्वयं स्वीकार किया कि परीक्षा मिल गई, आप अतुलित बल एवं प्रभुतावाले हैं। मतिमंद होने के कारण मैं पहले न जान सका था। इसीसे अनजान की चूक क्षम्य है; यथा—"छमहु चूक अनजानत केरी।" (बा० दो० २८१)।

(५) 'निज कृत कर्म जनित ......'—अर्थात् इसमें आपका कोई दोष नहीं, मैंने अपने कर्म ही का फल पाया; यथा—"निजकृत करम भोग सब भ्राता॥" (अ० दो० ९१); 'प्रभु'—अर्थात् आपके समान समर्थ चौदहो भुवनों में कोई नहीं है। यह मैंने घर-घर टटोलकर देख लिया; यथा—"त्रींल्लोकान्संपरिक्रम्य तमेव शरणं गतः।" (वाल्मी० ५।३८।३२)।

सुनि कृपाल अति आरत बानी। एक नयन करि तजा भवानी॥१४॥

सोरठा—कीन्ह मोह-बस द्रोह, जद्यपि तेहि कर बध उचित।
प्रभु छाड़ेउ करि छोह, को कृपाल रघुबीर-सम॥२॥

अर्थ—(श्रीशिवजी कहते हैं कि) हे भवानी! कृपालु श्रीरामजी ने उसके अत्यन्त आर्त्त वचन सुनकर उसे एक आँख का करके छोड़ दिया॥१४॥ उसने मोह के वश होकर द्रोह (शत्रुता) की थी, (इसपर) उसका वध ही उचित था, तथापि प्रभु ने कृपा करके उसे छोड़ दिया। अतः, रघुवीर श्रीरामजी के समान कृपालु कौन है? (कोई नहीं)॥२॥

विशेष—(१) 'सुनि कृपाल ...'—'अति आरत बानी'; यथा—"प्रनत पाल रघुबंस मनि, त्राहि त्राहि अब मोहि। आरत गिरा सुनत प्रभु, अभय करै गो तोहि॥" (लं० दो० २०); वैसे जयंत ने भी कहा है—"प्रनतहित पाही", "त्राहि-त्राहि दयालु रघुराई", "अब प्रभु पाहि" इससे श्रीरामजी ने अभय किया। 'अति' शब्द का भाव यह कि थोड़ी भी दीनता को मान लेते हैं; यथा—"सुनत बिनीति बचन प्रभु, कह कृपालु मुसुकाइ।" (सुं० दो० ५१)।

'एक नयन करि तजा भवानी'—इससे बाण की अमोघता भी रक्खी और उसे शिक्षा भी हुई। एक आँख ही फोड़ी, क्योंकि और कोई भी अंग-हीन होने से (जैसे कि एक हाथ एवं एक पैर के काटने से) सदा दुःख रहता, पर एक आँख रहने से दोनों का काम हो जाता है। यह बाण-मर्यादा की रक्षा के साथ उसपर दया है।

(२) 'कीन्ह मोह-बस द्रोह······'—द्रोह का कारण मोह है; यथा—"करहिं मोह बस द्रोह परावा।" (उ० दो० ३९); 'जद्यपि तेहि ···'—श्रीपार्वतीजी को संदेह हुआ कि जब एक आँख फोड़ी हो, तब शरण होने का क्या फल हुआ? इसपर श्रीशिवजी न्याय-दृष्टि से कहते हैं कि वध-दंड के बदले एक ही अंग (वह भी उसकी सम्मति से) लेकर छोड़ दिया, इसमें न्याय और छोह दोनों की रक्षा की। यथा—"तमब्रवीत। मोघमस्त्रं न शक्यं तु ब्राह्मं कर्तुं तदुच्यताम्॥ ततस्तस्याक्षि काकस्य हिनस्ति स्म स दक्षिणम्। दत्त्वा तु दक्षिणं नेत्रं प्राणेभ्यः परिरक्षितः॥" (वाल्मी० ५।३८।३४-३५)। अतः, आँख फोड़ने में भी कृपालुता है; यथा—"वधार्हमपि काकुत्स्थः कृपया पर्यपालयत्॥" (वाल्मी० ५।३८।३३); अर्थात् महर्षिजी का भी ऐसा ही सम्मत है।

(३) 'प्रभु छाड़ेउ ··को कृपालु···'—सामर्थ्य रहते हुए क्षमा करके कृपा करना प्रायः नहीं देखा जाता, क्योंकि क्रोध में शान्ति का रहना दुर्लभ है; यथा—"क्रोधिहिं सम···ऊसर बीज बये फल जथा॥" (सुं० दो० ५७); "येहि के कंठ कुठार न दीन्हा। तौ मैं काह क्रोध करि कीन्हा॥" (बा० दो० २७८); पर श्रीरामजी में यहाँ चरितार्थ है। इसीसे इस प्रसंग के आदि, मध्य और अंत में भी कृपा-गुण कहा गया है; यथा—"अति कृपाल रघुनायक, सदा दीन पर नेह।" "सुनि कृपाल अति आरत बानी।" और—"को कृपालु रघुबीर सम।"

इस चरित्र से प्रभु ने अपना बल और प्रताप प्रकट करके सबको दिखाया और देवताओं को धैर्य हुआ कि जब देवराज के पुत्र के शरण होने पर भी श्रीसीताजी के अपराध पर आँख फोड़ी गई, तब इन्हीं (श्रीसीताजी) का अपराध करके अभिमानी राक्षस रावण कैसे बच सकेगा? 'श्रीसीताजी ने कहा भी है—"मेरे लिये एक काक पर जिन्होंने ब्रह्मास्त्र छोड़ा था, वे (श्रीरामजी) उसे कैसे क्षमा कर रहे हैं, जिसने मेरा हरण किया है।" (वाल्मी० ५।३८।३७)।

> रघुपति चित्रकूट बसि नाना। चरित किये श्रुति-सुधा-समाना॥१॥
> बहुरि राम अस मन अनुमाना। होइहि भीर सबहिं मोहि जाना॥२॥
> सकल मुनिन्ह सन बिदा कराई। सीतासहित चले दोउ भाई॥३॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी ने चित्रकूट में बसकर अनेक चरित किये, जो कानों को अमृत के समान (प्रिय) हैं॥१॥ फिर श्रीरामजी ने मन में ऐसा विचार किया कि मुझे सभी जान गये, इससे यहाँ भीड़ होगी॥२॥ (अतः) सब मुनियों से बिदा करा के (वहाँ से) श्रीसीताजी के साथ दोनों भाई चले॥३॥

विशेष—(१) 'रघुपति चित्रकूट बसि ·····'—इसका उपक्रम—"अब प्रभु चरित सुनहु अति पावन।···" से हुआ, यहाँ—'रघुपति चित्रकूट···' पर उपसंहार हुआ। इसके अंतर्गत नाना चरित किये, पर उनमें एक बार का ही यहाँ कहा गया; यथा-'एक बार चुनि ···' जिसमें कि अंत में जयंत ने विघ्न किया।

वे चरित भी श्रति-सुधा समान ही थे; अर्थात् सब शृंगार रस के थे और उनके अंतर्गत अन्य रस भी थे। जैसे कि इस एक रस में वर्णित हैं—(१) फूलों के भूषण बनाकर सादर पहनाने में शृंगार रस की पराकाष्ठा है, (क्योंकि यहाँ यही प्रधान है), (२) मुसकान सहित कुछ छेड़छाड़ में हास्य, (३) इसी समय जयन्त के कर्त्तव्य से रक्त का चलना वीभत्स, (४) उसपर प्रभु को क्रोध आना रौद्र, (५) सींक-बाण में भी ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करना वीर, (६) जयन्त का भय से भागना भयानक, (७) दो ही अंगुल पीछे ब्रह्मास्त्र रहा, पर वह जला नहीं, यह अद्भुत, (८) शरण आने पर क्षमा करना, करुणा और (९) सब होने पर भी चित्त स्थिर है, शांत।

श्रीवाल्मीकि मुनि ने कहा था—"चित्रकूट गिरि करहु निवासू। तहँ तुम्हार सब भाँति सुपासू॥" (अ० दो० १३१); अतः,—"रघुपति चित्रकूट बसि नाना। चरित किये ··" यहाँ चित्रकूट निवास की पूर्त्ति कही गई।

(२) 'होइहि भीर ···'—श्रीअवध और श्रीमिथिला के लोग सब जान गये हैं, किसी-न-किसी बहाने से आते-जाते रहेंगे, इससे भीड़ हुआ करेगी। यह हमारी विशेष उदासीन वृत्ति के विरुद्ध होगा। वा, जयंत-प्रसंग से यहाँ के लोग ऐश्वर्य जान गये; अतः, भीड़ हुआ करेगी।

(३) 'सकल मुनिन्ह सन बिदा ···'—विदा होकर जाना शिष्टाचार है; यथा—"मुनि सन बिदा माँगि त्रिपुरारी। चले भवन ··" (बा० दो० ४७); "गवउ राउ गृह बिदा कराई।" (बा० दो० २१९); 'सकल'—से विदा कराके जाने में सबको संतोष होगा और आपका सरल स्वभाव भी सब जानेंगे। आगे भी कहेंगे—"सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ-जाइ सुख दीन्ह॥" (दो० ६)।

"प्रभु अरु अत्रि भेंट"—प्रकरण

अत्रि के आश्रम जब प्रभु गयऊ। सुनत महामुनि हरषित भयऊ॥४॥
पुलकित गात अत्रि उठि धाये। देखि राम आतुर चलि आये॥५॥
करत दंडवत मुनि उर लाये। प्रेम-बारि दोउ जन अन्हवाये॥६॥
देखि राम-छबि नयन जुड़ाने। सादर निज आश्रम तब आने॥७॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी जब अत्रि मुनि के आश्रम में गये, तब वे महा मुनि सुनते ही आनंदित हो गये॥४॥ श्रीअत्रिजी शरीर से पुलकित हो गये और उठ दौड़े, (मुनि को दौड़े आते हुए) देखकर श्रीरामजी बड़ी शीघ्रता से चलकर आये॥५॥ दंडवत् करते ही मुनि ने उनको हृदय से लगा लिया और अपने प्रेमाश्रुओं से दोनों जनों को नहला दिया॥६॥ श्रीरामजी की छवि देखकर नेत्र शीतल हुए, तब मुनि आदर सहित उनको अपने आश्रम में लाये॥७॥

विशेष—(१) 'अत्रि के आश्रम ···'—चित्रकूट से चले, तब 'दोउ भाई' कहा गया; यहाँ 'प्रभु' कहते हैं, क्योंकि श्रीअत्रिजी इनके ऐश्वर्य को मानकर दौड़ेंगे। अभी आश्रम की सीमा पर पहुँचे हैं। यह स्थल श्रीचित्रकूट (रामघाट) से ७ मील पर है, वहाँ से श्रीअत्रिजी की कुटी १ मील पर है, जिसे आगे ८ वीं अर्द्धाली में कहेंगे। अर्द्धाली के क्रम में ७ वीं पर मिलना और ८ वीं पर कुटी लिखकर मील का माप

भी बता दिया'। ऐसे ही वाल्मीकि आश्रम पर आते समय भी दो बार आश्रम लिखा गया है ; यथा—"वाल्मीकि आश्रम प्रभु आये।" (अ॰ दो॰ १२४) और—"करि सनमान आश्रमहि आने॥" (अ॰ दो॰ १२४) ; यहाँ के-से वहाँ भी दो जगहों के अर्थ हैं।

'सुनत महामुनि …'—कोल भीलों ने कहा होगा ; यथा—"सब समाचार किरात कोलन्ह आइ तेहि अवसर कहे।" (अ॰ दो॰ २२६) ; 'हरषित भयऊ'—यहाँ मन का हर्ष है। आगे—'पुलकित गात' में बाहर का भी हर्ष कहा है। 'महामुनि'—यहाँ के मुनियों में ये प्रधान हैं ; यथा—"रिषि नायक जहँ आयसु देहीं।" (अ॰ दो॰ २०७) इसीसे और को 'मुनिन्ह' कहा है ; यथा—"सकल मुनिन्ह सन…" और इन्हें 'महामुनि'।

(२) 'पुलकित गात अत्रि उठि धाये।'—भीतर-बाहर हर्ष भर गया और उठ दौड़े ; यथा—"प्रभु आगमन श्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा॥" (दो॰ ९)—सुतीक्ष्ण मुनि, "सुनत अगस्ति तुरत उठि धाये। हरि बिलोकि लोचन जल छाये॥" (दो॰ ११)। 'देखि राम आतुर चलि आये।'—मुनि सुन चुके थे, इससे आश्रम से ही उठ दौड़े और श्रीरामजी ने जब मुनि को देखा, तब तेजी से चल कर आये। ये दौड़े नहीं, क्योंकि इनके साथ श्रीमहारानीजी हैं, पर फिर भी आप शील-सिंधु हैं; इससे आतुर चले कि मुनि को दौड़कर अधिक आना न पड़े ; यथा—"सील सिंधु सुनि गुरु आगमनू।'' चले सवेग राम तेहि काला। धीर धरम धुर दीन दयाला॥" (अ॰ दो॰ २४२)।

'करत दंडवत मुनि'…'—दोनों ओर से प्रेम और आतुरता है, इधर इनके दंडवत् करते ही मुनि ने हृदय से लगाया और प्रेमाश्रुओं से नहला दिया। यह अत्यन्त प्रेम की दशा है; यथा—"अति अनुराग अंब उर लाये। नयन सनेह सलिल अन्हवाये॥" (अ॰ दो॰ २४४) ; 'अन्हवाये'—शब्द से सूचित किया कि श्रीरामजी ने माधुर्य में दंडवत् की है। मुनि ने इनकी लीला की मर्यादा रखने के लिये उर में लगाया है। पर वे इन्हें ऐश्वर्य भाव से पूजेंगे और वैसी ही स्तुति भी करेंगे। उस पूजा के षोडशोपचार में स्नान यही जानना चाहिये। प्रभु की दंडवत् के अनुरोध से मुनि ने यहाँ प्रणाम न किया और न विनती ही की, पर आगे दोनों करेंगे और भक्ति का वर भी माँगेंगे।

(४) 'देखि राम छबि नयन जुड़ाने।…'—श्रीरामजी की छवि ऐसी ही सुखदाई है ; यथा—"तदपि अधिक सुखसागर रामा॥" (बा॰ दो॰ १९७) ; मुनियों ने अनुभव भी किया है ; यथा—"भये मगन देखत मुख सोभा। जनु चकोर पूरन ससि लोभा॥" (बा॰ दो॰ २०९)—विश्वामित्रजी; "रामहिं चितइ रहे थकि लोचन।" (बा॰ दो॰ २९८)—परशुरामजी ; इत्यादि। 'जुड़ाने'—अर्थात् पहले दर्शनों के लिये संतप्त थे, यथा—"चितवत पंथ रहेउँ दिन राती। अब प्रभु देखि जुड़ानी छाती॥" (दो॰ ७)—शरभंगजी; "देखि राम छबि नयन जुड़ाने। करि सनमान आश्रमहि आने॥" (अ॰ दो॰ १२४)—वाल्मीकिजी, इत्यादि। मुनि के नेत्र-जल से प्रभु शीतल हुए, और अपने छवि रूपी जल से मुनि के नेत्रों को शीतल किया ; यथा—"भरि लोचन छबि सिंधु निहारी।" (बा॰ दो॰ ४९) ; अर्थात् छवि समुद्र और दर्शन जल है। "सादर निज आश्रम तब आने॥'—'आदर' ; यथा—"प्रेम पट पाँवड़े देत सुअरघ बिलोचन बारि।" (गी॰ आ॰ १७) ; 'प्रेम पट' ; यथा—"जबहिं राम कहि लेहिं उसासा। उमँगत प्रेम मनहुँ चहुँ पासा॥" (अ॰ दो॰ २११)।

करि पूजा कहि बचन सुहाये। दिये मूल फल प्रभु मन भाये॥८॥

सो०—प्रभु आसन आसीन, भरि लोचन सोभा निरखि।
मुनिबर परम प्रबीन, जोरि पानि अस्तुति करत ॥३॥

अर्थ—पूजा करके सुहावने वचन कहकर उन्होंने प्रभु को उनके मन के अनुकूल कंद-मूल-फल दिये ॥८॥ प्रभु आसन पर विराजे, नेत्र भरकर उनकी शोभा देख परम प्रवीण मुनिश्रेष्ठ हाथ जोड़ कर स्तुति कर रहे हैं ॥३॥

विशेष—(१) 'करि पूजा'—पूजन १६ प्रकार के होते हैं; यथा—"आसनं स्वागतंपाद्यमर्घ्यं- माचमनीयकम्। मधुपर्काचमनं स्नानं वस्त्राण्याभरणानि च॥ सुगंधं सुमनो धूपं दीपनैवेद्यवंदनम्।" इनमें, 'प्रभु आसन आसीन'—यह आसन; 'प्रेम बारि दोउ जन अन्हवाये।' यह स्नान; 'दिये मूल फल प्रभु मन भाये।'—नैवेद्य; 'जोरि पानि अस्तुति करत'—वन्दना है। शेष अंग 'करि पूजा' में समझ लेना चाहिये। 'कहि बचन सुहाये'; यथा—"मोहिं सम भाग्यवंत नहिं दूजा।" (दो० ११) अर्थात् कहा कि आपके पधारने से हम बड़े भाग्यशाली हुए, मुझे घर बैठे दर्शन हुए, अब मेरा आतिथ्य भी स्वीकार कर मुझे कृतार्थ कीजिये; यथा—"करि प्रबोध मुनिबर कहेउ, अतिथि प्रेम प्रिय होहु। कंद मूल फल फूल हम, देहिं लेहु करि छोहु॥" (अ० दो० ११२)।

'मन भाये'—प्रभु की रुचि के अनुकूल एवं प्रभु की इच्छा-भर, पूर्ण खिलाया।

(२) 'प्रभु आसन आसीन ...'—प्रभु जब आसन पर विराजे और मुनि भी सब कृत्य से सावकाश हुए, तब छवि को भरिलोचन (पूर्ण अभिलाषा-सहित) देखने लगे। दर्शनों की अत्यंत अभिलाषा पर ही 'भरिलोचन' शब्द का प्रयोग होता है; यथा—"हृदय बिचारत जात हर, केहि बिधि दरसन होइ।...तुलसी दरसन लोभ, मन डर लोचन लालचो॥" (बा० दो० ४८); जब उन्हें दर्शन हुए, तब लिखते हैं—"भरि लोचन छबि सिंधु निहारी।" (बा० दो० ४९) ऐसे ही उत्कृष्ट अभिलाषा पर ही मनुजी, श्रीअवधवासी और श्रीभुशुंडीजी को श्रीरामजी के दर्शन हुए, तो सर्वत्र 'भरि लोचन' कहा गया है; यथा—"देखहिं हम सो रूप भरि लोचन।" (बा० दो० १४५); "मंगल मूरति लोचन भरि भरि। निरखहिं..." (अ० दो० २४८); "भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहउँ निरगुन उपदेसा॥" (उ० दो० ११०)।

वैसे बहुत अभिलाषा पर दर्शन पाये, अतएव नेत्रों से छवि रूपी-जल को भर रहे हैं; यथा—"देखि राम मुख पंकज, मुनिबर लोचन भृंग। सादर पान करत अति, धन्य जनम सरभंग (दो० ७)।

'मुनिबर परम प्रबीन...'—प्रभु का प्रभाव जानकर वैसी ही स्तुति करते हैं। इसलिये परम प्रवीण कहे गये। श्रीअत्रिजी सप्तर्षियों में हैं, अतएव सम्पूर्ण शास्त्र-ज्ञान के एक स्थान हैं। सामान्य प्रलय में सम्पूर्ण शास्त्र-ज्ञान इन्हीं में रहता है, फिर इन्हीं से विस्तार पाता है। ये ब्रह्मा के पुत्र हैं, अतः ये भी स्तुति में वैसे ही निपुण हैं; यथा "सुनि बिरंचि मन हरष तन, पुलकि नयन भरि नीर। अस्तुति करत जोरि कर, सावधान मति धीर॥" (बा० दो० १८५)। 'जोरि पानि'—ऐश्वर्य भाव से स्तुति करने की यही रीति है; यथा—"कह दुइ कर जोरी अस्तुति तोरी केहि बिधि करउँ अनंता॥" (बा० दो० १९१); "बंदि चरन बोली कर जोरी।" (बा० दो० २३४)।

छंद—नमामि भक्तवत्सलं। कृपालु शील कोमलं।
भजामि ते पदांबुजं। अकामिनां स्वधामदं ॥१॥
निकाम-श्याम-सुन्दरं। भवांबु-नाथ-मंदरं।
प्रफुल्ल-कंज-लोचनं। मदादि-दोष-मोचनं ॥२॥

अर्थ—भक्तवत्सल, दयालु और कोमल शील-स्वभाववाले, आपको मैं नमस्कार करता हूँ। निष्काम भक्तों को अपना धाम देनेवाले आपके चरण-कमलों को मैं भजता हूँ ॥१॥ आप अत्यन्त श्याम सुन्दर, भव सागर को (मथन करनेवाले) मंदराचल-रूप, प्रफुल्ल-कमल के समान नेत्रवाले और मद आदि दोषों के छुड़ानेवाले हैं ॥२॥

विशेष—(१) 'नमामि भक्तवत्सल···'—भक्तों के प्रति वत्सलता एवं औरों के प्रति कृपालुता का बर्ताव रखते हैं; यथा– "भगत बछल प्रभु कृपा निधाना।" (मनु-प्रसंग); "सब पर मोहिं बराबरि दाया।" (उ० दो० ८६); अपराधियों के लिये शील और कोमलता है। जैसे कि जयंत का वध उचित था, पर आपने छोड़ दिया। पहले भक्तवत्सल कहा है, क्योंकि जैसे गऊ को बछड़ा अत्यन्त प्यारा होता है, वैसे ही आपको भक्त प्रिय हैं। गऊ परवश चरने भी जाती है, तो दौड़कर बछड़े के पास आती है। वैसे ही आपके अमानी भक्त बालक के समान हैं, उनके प्यार से आप वहाँ जाते हैं, भाव यह कि हमारे यहाँ आप इसी गुण से पधारे हैं। आप भी राज्य-रूपी बन्धन तोड़ हम वन वासियों को दर्शन दे कृतार्थ करने यहाँ आये हैं; यथा—"नव गयंद रघुबीर मन, राज अलान समान। छूटि जान बन गमन सुनि, उर अनंद अधिकान॥" (अ० दो० ५१)। तथा–"भगत बछलता प्रभु कै देखी।" उ० दो० ८२)। गऊ बछड़े की मलिनता को चाटकर साफ करती है, वैसे ही आप भक्तों के दोषों को दूर करके उन्हें शुद्ध कर लेते हैं। 'स्वधामदं'—जो निष्काम होकर आपकी भक्ति करते हैं, उन्हें अपना धाम देते हैं। स्वधाम में साकेत, वैकुंठ आदि सभी कल्प-भेद के धामों का समावेश है। 'अकामिनां'—भाव यह कि कामनावालों को कामना मात्र देकर छुट्टी पा जाते हैं, जो कुछ नहीं चाहते, उन्हें तो धाम ही देते हैं; यथा—"मद्भक्ता यांति मामपि॥" (गीता ७।२३); "यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥" (गीता ८।२१); धाम का अर्थ लोक, स्वरूप और तेज भी है; अतः, अधिकारानुसार सबकी प्राप्ति जनाई।

(२) 'निकाम-श्याम-सुंदरं··'—निकाम=अत्यन्त; यथा—"कोपे समर श्रीराम, चले बिसिख निसित निकाम।" (दो० १६); प्रकाम और निकाम अत्यन्तता के वाचक हैं। 'श्याम सुंदरं भवाम्बु···' यथा—"श्यामल गात प्रनत भवमोचन।" (सुं० दो० ४४); भव-सागर को मथकर आप भक्त-रूपी रत्न निकाल लेते हैं, वे रत्नरूपी भक्त कर्म-रूपी कीचड़ से पृथक् हो, स्वस्वरूप-प्रयुक्त गुणों से कान्तिमान हो जाते हैं और सदा के लिये जन्म-मरण से छूट जाते हैं। 'प्रफुल्ल कंज लोचनं' के साथ 'मदादि दोष मोचनं' कहकर जनाया कि आप अपनी कृपा-दृष्टि से उन दोषों को छुड़ाते हैं, वे नेत्र कृपा-रस-पूर्ण हैं। 'मदादि दोष''—काम, क्रोध, लोभ आदि, जिन्हें उ० दो० १२० में मानस रोग कहा है।

यह नगस्वरूपिणी छंद है—इसके चारों चरणों में ८८ अक्षर होते हैं, दूसरा, चौथा, छठा और आठवाँ वर्ण गुरु (बड़ा) होते हैं, नग पहाड़ को भी कहते हैं, यहाँ से आगे श्रीरामजी को पहाड़ों की चढ़ाई विशेष मिलेगी, यह भाव इस छंद के प्रयोग से सूचित की है।

प्रलंब - बाहु - विक्रमं । प्रभोऽप्रमेय - वैभवं ।
निषंग - चाप - सायकं । धरं त्रि-लोक - नायकं ॥३॥
दिनेश - वंश - मंडनं । महेश - चाप - खंडनं ।
मुनींद्र - संत - रंजनं । सुरारि - वृन्द - भंजनं ॥४॥

अर्थ—हे प्रभो ! आपकी लंबी (आजानु) भुजाओं का पराक्रम अतुलनीय है और ऐश्वर्य प्रमाण-रहित है। तर्कश और धनुष-बाण धारण करनेवाले, तीनों लोकों के स्वामी ॥३॥ आप सूर्यवंश के भूषित करनेवाले (भूषण-रूप), श्रीमहादेवजी के धनुष को तोड़नेवाले, मुनि-श्रेष्ठों और संतों को आनंद देनेवाले और असुर समूह के नाशक हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'प्रलंब-बाहु विक्रमं'; यथा—"अतुलितभुजप्रतापबलधाम." (दो० १०)। आपकी भुजाएँ घुटने तक लंबी हैं, इसीसे 'आजानुबाहु' कहलाते हैं। ये भुजाएँ अतुलनीय पराक्रमवाली हैं, इनसे ही शत्रु नहीं बच सकता, फिर भी धनुष-बाण धारण किये हुए हैं। इनसे त्रिलोक की रक्षा करते हैं, इनके प्रभाव से सूर्य वंश की प्रतिष्ठा है, इन्हीं से श्रीशिवजी का धनुष तोड़ा गया है। आप मुनि-श्रेष्ठों और संतों के रक्षक एवं आनंद वर्द्धक हैं, इसीलिये असुरों को नाश करते हैं।

(२) 'प्रलंब-बाहु' के कार्य; यथा—"दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज बिसाल गहि हृदय लगावा॥" (सुं० दो० ४५); तथा—"तब मैं भागि चलेउँ उरगारी। राम गहन कहँ भुजा पसारी॥ जिमि-जिमि दूरि उड़ाउँ अकासा। तहँ भुज हरि देखउँ निज पासा॥···" (उ० दो० ७८); 'अप्रमेय वैभवं' यथा—"अतुलित बल अतुलित प्रभुताई। मैं मतिमंद जानि नहिं पाई॥" (दो० १); यह अभी जयंत ने जाँचकर कहा है। 'त्रिलोकनायकं', यथा—"दसमुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिनके जस अमर-नाग-नर-सुमुखि सनाहैं॥" (गी० उ० १३); (इस पूरे पद में भुजाओं का महत्त्व देखिये)। 'दिनेश-वंश-मंडन'—सूर्यवंशी सूर्य के समान प्रतापी होते हैं, आप उनसे भी अधिक प्रतापी हैं। 'महेश-चाप-खंडनं' से अप्रमेय बल दिखाया। 'मुनीन्द्र-संत-रंजनं'; यथा—"सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि, जाइ-जाइ सुख दीन्ह॥" (दो० ९); "तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहिं आन निहोरे॥" (सुं० दो० ४७); "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥" (गीता ४।८)।

श्लोक ३ में वीर स्वरूप और ४ में रामायण है। जैसे कि भक्तवत्सल प्रथम ही कहकर मनु-प्रसंग सूचित किया, फिर यहाँ 'दिनेश-वंश-मंडनं' से जन्म-प्रसंग और 'महेश-चाप-खंडन' से व्याह-प्रसंग कहकर बालकांड पूरा किया।

(३) 'मुनीन्द्र-संत रंजन' से राज्य-त्याग प्रसंग से अयोध्याकांड हुआ। 'सुरारि-वृंद-भंजनं' से अरण्य, किष्किंधा, सुंदर और लंकाकांड की कथा सूचित की। पुनः आगे के—'मनोज-वैरि-वंदितं ···' से राज्याभिषेक आदि और 'विशुद्ध बोध-विग्रहम् समस्त दूषणापह' से शांति पूर्ण राम-राज्य कहकर उत्तरकांड पूरा किया।

मनोज - वैरि - वंदितं । अजादि - देव - सेवितं ।
विशुद्ध - बोध - विग्रहं । समस्तदूषणापहं ॥५॥

नमामि इंदिरापतिं । सुखाकरं सतां गतिं ।
भजे सशक्ति-सानुजं । शचीपति - प्रियानुजं ॥६॥
त्वदंघ्रिमूल ये नराः । भजंति हीनमत्सराः ।
पतंति नो भवार्णवे । वितर्क - वीचि - संकुले ॥७॥
विविक्तवासिनस्सदा । भजंति मुक्तये मुदा ।
निरस्य इंद्रियादिकं । प्रयान्ति ते गतिं स्वकं ॥८॥

अर्थ—कामदेव के शत्रु श्रीशिवजी से वंदित, ब्रह्मादि देवताओं से सेवित, विशेष शुद्ध ज्ञान-शरीर और समस्त दोषों के हरणकर्त्ता को ॥५॥ मैं नमस्कार करता हूँ। लक्ष्मी के पति सुख की खान, सज्जनों की (एक-मात्र) गति आपको मैं नमस्कार करता हूँ। इन्द्राणी के पति, इन्द्र के प्रिय भाई (छोटे भाई वामन-रूप), आदि शक्ति श्रीसीताजी और भाई श्रीलक्ष्मणजी के साथ आपको मैं भजता हूँ ॥६॥ जो मनुष्य मत्सर-रहित होकर आपके चरण-मूल को भजते हैं, वे वितर्क-रूपी लहरों से पूर्ण संसार-सागर में नहीं गिरते ॥७॥ एकान्तवासी लोग इन्द्रियों के विषयों से उदासीन होकर जो आनंद-पूर्वक मुक्ति के लिये आपका भजन करते हैं, वे अपनी (स्वकीय) गति को प्राप्त होते हैं ॥८॥

विशेष--(१) 'मनोज वैरि······'—'मनोज वैरि' निवृत्तिपरक और 'अजादि देव' प्रवृत्ति-परक सेवक हैं ; अर्थात् संसार की उत्पत्ति और प्रलय करनेवाले भी आपकी सेवा करते हैं ; यथा—"सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई । चाहत जासु चरन सेवकाई ॥" (लं० दो० २१); "ब्रह्मा शंभु फणीन्द्र सेव्यमनिशं···" (उ० मं०) ; श्रीशिवजी सदा आपके यश गाते हैं, अन्य देवता आपके द्वारा नियत किये हुए कार्य करते हैं।

(२) 'विशुद्ध-बोध-विग्रहं' अर्थात् आपका शरीर शुद्ध ज्ञानमय है ; यथा—"चिदानंदमय देह तुम्हारी । बिगत बिकार जान अधिकारी ॥" (अ० दो० १२६)। अर्थात् आपका स्वरूप आधि-व्याधि से रहित है। इसीसे साथ ही 'समस्त दूषणापहं' भी कहा, क्योंकि ज्ञान समस्त दूषणों का नाशक है ; यथा—"जहँ-तहँ रहे पथिक थकि नाना । जिमि इंद्रिय गन उपजे ज्ञाना ॥" (कि० दो० १२)।

(३) 'नमामि इंदिरापतिं···'—श्रीलक्ष्मीजी के अतिरिक्त और भी सब सुखों की खान हैं; यथा—"जो आनंद सिंधु सुख रासी। सीकर ते त्रलोक सुपासी ॥ सो सुखधाम राम अस नामा ॥" (बा० दो० १९६) ; 'इंदिरापति' के साथ 'नमामि' और 'सशक्तिसानुजं' के साथ 'भजे' कहा, भाव यह कि आपके अन्य रूपों को नमस्कार-मात्र करता हूँ। मेरा सेव्य श्रीसीता-लक्ष्मणजी-सहित यही रूप है।

'सतां गतिं'; यथा—"परा त्वत्तो गतिर्वीर पृथिव्यां नोपपद्यते।" (वाल्मी० ३।१।२०); "सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिंधुभिः।" (वाल्मी० १।१।१६); "निवासवृक्षः साधूनां···"(वाल्मी० २।१५।११); "पुनि मम धाम पाइहहु, जहाँ संत सब जाहिं ॥" (लं० दो० ११६);' शचीपतिप्रियानुजं'—इन्द्र का राज्य बलि ने छीन लिया था, उसके प्रियत्व से आपने वामन-रूप धारण किया और बलि से भिक्षा माँगकर उसे राज्य दिया।

वामनजी की कथा अ० दो० २९ चौ० ७ में लिखी गई। भाव यह कि इन्द्रादि की रक्षा के लिये वहाँ वलि को छला, वैसे ही यहाँ भी आप देवताओं की रक्षा के लिये छल से मनुष्य-रूप धारण किये हुए हैं, नहीं तो मनुष्य ऐसा कहाँ हो सकता है, जिससे ब्रह्मा का वचन सत्य हो।

(४) 'त्वदंघ्रिमूल'''—चरण का मूल तलवा कहा जाता है, उसमें ही २४ चिह्न होते हैं, जिनसे ऐश्वर्य का पूर्ण ज्ञान होता है। उपासक लोग उन्हींका ध्यान करते हैं। रज भी शिरोधार्य करते और उसीका चरणामृत भी लेते हैं, इसे ही 'पादसेवन भक्ति' कहते हैं। 'पतंति नो भवार्णवे'' यथा—"यत्पादप्लव एक एव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां ॥" (बा० मं० ६); इससे यह भी सिद्ध हुआ कि जो इन चरणों से विमुख हैं, वे भवसिंधु में पड़ते हैं; यथा—"बहु रोग वियोगन्हि लोग हये। भवदंघ्रि निरादर के फलये ॥ भवसिंधु अगाध परे नर ते। पद पंकज प्रेम न जे करते ॥" (उ० दो० १४); 'वितर्कवीचिसंकुले'—नाना प्रकार के विशेष तर्कों का उठना इस भवसिंधु की लहरें हैं; यथा—"ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत बेद ॥' अस संसय मन भयो अपारा।'''" (बा० दो० ५०); "खेद खिन्न मन तर्क बढ़ाई। भयउ मोह बस " (उ० दो० ५८)। 'मुदा'—सेवा में अपना अहोभाग्य मानते हैं, अतः, आनंद मानकर करते हैं। 'गति स्वकं'—गति शब्द स्त्रीलिंग है; अतएव 'स्वकं' का 'स्वकाम्' भी पाठांतर हो गया है, पर प्राचीन पाठ यही मिलता है। जान पड़ता है कि भाषा सिद्ध होने के लिये कवि ने ही ऐसा रख दिया है, क्योंकि भाषा-निबंध रचने का संकल्प कर चुके हैं। बा० मं० श्लोक ७ देखिये। 'गति स्वकं' यथा—"जीव पाव निज सहज सरूपा ॥" (दो० ३५)। वा, यहाँ साधन की कठिनता और मुक्ति की आकांक्षा के अनुरोध से 'गति स्वकं' से कैवल्य-मुक्ति भी ले सकते हैं।

त्वमेकमद्भुतं प्रभुं। निरीहमीश्वरं विभुं ॥९॥
जगद्गुरुं च शाश्वतं। तुरीयमेव केवलं।
भजामि भाववल्लभं। कुयोगिनां सुदुर्लभं ॥१०॥
स्वभक्त - कल्पपादपं। समं सुसेव्यमन्वहं।
अनूप - रूप - भूपतिं। नतोऽहमुर्विजापतिं।
प्रसीद मे नमामि ते। पदाब्जभक्ति देहि मे ॥११॥
पठंति ये स्तवं इदं। नरादरेण ते पदं।
व्रजंति नात्र संशयः। त्वदीय-भक्ति-संयुताः ॥१२॥

अर्थ—आप एक (अद्वितीय), अद्भुत, समर्थ, चेष्टा-रहित, ईश्वर, व्यापक, जगत्-भर के गुरु और सनातन, तुरीय-रूप ही एवं केवल हैं ॥९॥ (पुनः) भाव-प्रिय, कुयोगियों को अत्यन्त दुर्लभ, अपने भक्तों के लिये कल्पवृक्ष-रूप, समदृष्टि (वैषम्य-रहित) और निरंतर सेवा करने योग्य आपको मैं निरंतर भजता हूँ ॥१०॥ आपके उपमा रहित भूप-रूप को और पृथिवी की पुत्री श्रीजानकीजी के पति को मेरा

नमस्कार है। मुझपर प्रसन्न होइये, मैं आपको नमस्कार करता हूँ, मुझे अपने चरण-कमलों में भक्ति दीजिये ॥११॥ जो मनुष्य इस स्तुति को आदर-पूर्वक पढ़ते हैं, वे आपकी भक्ति से संयुक्त होकर आपके पद को प्राप्त होते हैं, इसमें संदेह नहीं है ॥१२॥

विशेष—(१) 'त्वमेकमद्भुतं प्रभु ···'—'एक' अर्थात् आपके समान आप ही हैं; यथा—"राम समान राम निगम कहै।" (उ० दो० ९२); वा, आप अद्वितीय हैं; यथा—"सदेव सौम्येदमग्र आसीदेक-मेवाद्वितीयम् ॥" (छां० ६।२।१); यथा—"जेहि सृष्टि उपाई त्रिविध बनाई संग सहाय न दूजा ॥" (बा० दो० १८५)। 'अद्भुतं' आपके नाम, रूप, लीला, धाम सभी अद्भुत हैं; यथा—"सो सब अद्भुत देखेउँ" (उ० दो० ८०)। 'जगद्गुरु'—सब गुरुओं का गुरुत्व वेद से है, वह वेद भी आपकी सहज श्वास है। 'शाश्वतं'—आदि-अंतरहित, एक-रस सनातन; यथा—"जो तिहुँ काल एक रस अहई।" (बा० दो० १४०); 'तुरीयमेव'—आप स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदि शरीरों से रहित तुरीयावस्था में ही नित्य हैं। 'भाववल्लभं'—आपको भाव ही प्यारा है; यथा—"भाववश्य भगवान ···" (उ०दो० ९२); "प्रभु भाव गाहक अति कृपाल ···" (उ० दो० ९१)। 'कुयोगिनां सुदुर्लभं'; यथा—"पुरुष कुजोगी जिमि उरगारी। मोह बिटप नहिं सकहिं उपारी ॥" (उ० दो० ११); "मोह गये बिनु रामपद, होइ न दृढ़ अनुराग ॥" (उ० दो० ६१); "कल्पपादपं"; यथा—"भक्त-कल्प-पादप-आरामः" (दो० १०); एक को दुर्लभ और दूसरे को सुलभ कल्पवृक्ष कहने में विषमता पाई गई, उसपर 'समं' कहा; यथा—"जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पुन्य गुन दोषू ॥" (अ० दो० २१८); 'सुसेव्यं' यथा—"प्रभु रघुपति तजि सेइय काही। मोसे सठ पर ममता जाही ॥" (उ० दो० १११); 'सम' कहकर 'अन्वहं सुसेव्यं' कहा है। भाव यह कि कुयोगी में भाव नहीं है। इसीसे उनसे दूर हैं, भक्तों में भाव है, इसीसे उनके लिये कल्पवृक्ष हैं, तो निरंतर सेवा ही करनी चाहिये। श्लोक ६ में निर्गुण ऐश्वर्य कहा और १० वें में अपनी प्राप्ति होने की सुगमता कही गई।

(२) 'अनूपरूपभूपतिं ···'—आपका भूपति-रूप अनूप है; यथा—"नृप नायक दे बरदानमिदं चरणांबुज प्रेम सदा सुभदं ॥" (उ० दो० १०६); "भूप रूप तब राम दुरावा।" (दो० ६); भूपति कहकर तब भक्ति माँगते हैं, क्योंकि देना राजा ही का काम है (पुनः आगे सब पाठकों के लिये भी माँगते हैं—

(३) 'पठंति ये स्तवं इदं ·····'—'नात्र संशयः'—क्योंकि—'भक्ति-संयुताः' कहा है। भक्तों के पतन होने का संदेह नहीं रहता; यथा—"ताते नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़इ बिहंगवर ॥" (उ० दो० ७८); "कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥" (गीता ९।३१), "यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।" (गीता ९।२५)

दोहा—बिनती करि मुनि नाइ सिर, कह कर जोरि बहोरि।
चरन-सरोरुह नाथ जनि, कबहुँ तजइ मति मोरि ॥४॥

अर्थ—मुनि ने स्तुति करके शिर नवा हाथ जोड़कर कहा कि हे नाथ! मेरी बुद्धि कभी आपके चरण-कमलों को न छोड़े ॥४॥

विशेष—मुनि पहले तो भक्ति माँग चुके थे—'पदाब्जभक्ति देहि मे' अब यहाँ उसकी अचलता

माँगते हैं कि मेरी बुद्धि उसे कभी न छोड़े। 'करजोरि बहोरि'—पहले कहा गया—'जोरि पानि स्तुति करत' पर बीच में जब कहने लगे—'पठन्ति ये स्तवं इदं' तब इसमें अंगुल्या निर्देश करने में कर-संपुट छूट गया था, इससे फिर हाथ जोड़ना कहा गया।

जीव का स्वभाव चल होता है; यथा—"बिनसइ उपजइ ज्ञान जिमि, पाइ कुसंग सुसंग॥" (कि० दो० १५); पुनः त्रिविध एषणा (इच्छा) भी बुद्धि को मलिन कर देती है, यथा—"सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी॥" (उ० दो० ७०), इसलिये सदा के लिये भक्ति की अचलता माँगते हैं कि भगवान् वैसी ही प्रेरणा किये रहें; जिससे मन उनके चरणों में लगा रहे, क्योंकि आप ही उरप्रेरक हैं; यथा—"उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन।" (उ० दो० ११२), पर यहाँ वर देना नहीं कहा गया, क्योंकि प्रभु अपनी ओर से माधुर्य ही ग्रहण किये हुए हैं, आगे कहेंगे-"सेवक जानि तजेउ जनि नेहू।" (दो० ५; तब स्वामी बनकर एवमस्तु कैसे कहें? अतः मन में ही वर दिया। ऐसे ही श्रीजनकजी, श्रीभरद्वाजजी और श्रीवसिष्ठजी के प्रसंग में भी संतुष्ट होने में मन-ही-मन देना समझा गया है; यथा—"बार बार माँगउँ कर जोरे। मन परिहरइ चरन जनि भोरे॥ सुनि बर बचन प्रेम जनु पोषे। पूरन काम राम परितोषे॥" (बा० दो० ३४१)—श्रीजनकजी, ऐसे ही श्रीभरद्वाजजी का अ० दो० १०६ चौ० ८ और अ० दो० १०७ चौ० १ में और श्रीवसिष्ठजी का प्रसंग उ० दो० ४९ और उसकी चौ० १ में देखिये। श्रीअत्रिजी का प्रभु में पुत्र भाव और श्रीअनसूयाजी का श्रीसीताजी में पुत्री-भाव था। यह वाल्मीकीय रामायण के शब्दों से जाना जाता है।

अनसुइया के पद गहि सीता। मिली बहोरि सुसील बिनीता॥१॥
रिषिपतिनी-मन सुख अधिकाई। आसिष देइ निकट बैठाई॥२॥
दिव्य बसन-भूषन पहिराये। जे नित नूतन अमल सुहाये॥३॥

अर्थ—फिर सुशील, विनम्र श्रीसीताजी श्रीअनसूयाजी के चरण पकड़कर उत्तम शील और नम्रता पूर्वक उनसे मिलीं॥१॥ ऋषि श्रीअत्रिजी की स्त्री श्रीअनसूयाजी के मन में विशेष सुख हुआ, उन्होंने आशिष देकर पास बैठा लिया॥२॥ दिव्य वस्त्र और भूषण पहनाये, जो नित्य-नये स्वच्छ और सुहावने बने रहते हैं॥३॥

विशेष—(१) अनसूयाजी—ये श्रीअत्रिजी की परम पतिव्रता पत्नी हैं, वाल्मी० अ० स० ११७ श्लोक ९–१२ में श्रीअत्रिजी ने श्रीरामजी से कहा है—"दश वर्षों तक वृष्टि नहीं हुई थी, संसार जलने लगा था, उस समय इन्होंने फल-मूल उत्पन्न किये। गंगाजी को यहाँ लाकर प्रवाहित कराया। दश हजार वर्षों तक इन्होंने कठोर तपस्या की, इनकी तपस्या उग्र है और यह उत्तम नियमों से सुशोभित है। इनके व्रतों के प्रभाव से ही ऋषियों के विघ्न दूर हुए थे। देवकार्य के लिये त्वरा रखनेवाली इन्होंने दश रातों की एक रात बनाई। ये ही अनसूया तुम्हारी माता के समान पूज्या हैं और सब प्राणियों की पूज्या तथा तपस्विनी हैं, वैदेही इनके पास जायँ, ये वृद्धा क्रोध-रहित हैं।" इनके सतीत्व के प्रभाव की एवं सिद्धता की और भी बहुत-सी कथाएँ हैं।

श्रीसीताजी ने चरणों का स्पर्श किया, इसपर आशिष दी और 'मिली बहोरि' अतः 'मन सुख अधिकाई।' क्योंकि श्रीसीताजी आनंद रूपा हैं, अतएव इनसे मिलने पर उन्हें बहुत आनंद प्राप्त हुआ। चरण लगना और फिर भेंटना यह उस समय स्त्रियों की रीति थी; यथा—"लागि लागि पग सबनि सिय, भेंटति

अति अनुरागा ॥" (अ० दो० २२१); "करि प्रनाम भेंटी सब सासू।" (अ० दो० २४४) यहाँ भी श्रीसीताजी ने चरण पकड़े, इन्होंने हृदय से लगा लिया और फिर कंठ से लगकर मिलीं। 'आसिष'; यथा—"अचल होउ अहिवात तुम्हारा। जब लगि गंग जमुन जल धारा।" (अ० दो० ११८); निकट बैठाना आदर है; यथा—"अति आदर समीप बैठारी।" (लं० दो० १७)।

'मन सुख अधिकाई'—मन; 'आसिष देइ'—वचन और 'बैठाई' कर्म हैं, अर्थात् मन, वचन, कर्म से अनसूयाजी ने इनका आदर किया।

(७) 'दिव्य बसन भूषन'''—दिव्य का अर्थ स्वयं कवि ने कह दिया है—'जे नित नूतन अमल सुहाये' रहते हैं। प्राकृत वस्त्राभूषण पुराने, मैले और शोभा-हीन हो जाते हैं, इनमें वे तीनों दोष नहीं हैं। वस्त्र से षोडशो शृंगार और आभूषण से द्वादशो आभूषण सूचित किये हैं। श्रीसीताजी ने प्रीतिदान मानकर ग्रहण किया; यथा—"इदं दिव्यं वरं माल्यं वस्त्रमाभरणानि च। अङ्गरागं च वैदेहि महार्हमनुलेपनम् ॥ '' मैथिली प्रतिजग्राह प्रीतिदानमनुत्तमम् ॥" (वाल्मी० २।११८।१८-२१)। अनसूयाजी ने पुत्री भाव मानकर प्रीतिपूर्वक दिव्य वस्त्राभूषण दिये कि १४ वर्ष तक जिसमें ऐसे ही दिव्य बने रहें। प्रीतिदान किसीका भी लेना उचित है। अतः, श्रीसीताजी ने लिया।

> कह रिषिबधू सरस मृदु बानी। नारि-धर्म कछु ब्याज बखानी ॥४॥
> मातु - पिता - भ्राता - हितकारी। मितप्रद सब सुनु राजकुमारी ॥५॥
> अमित दानि भर्ता बैदेही। अधम सो नारि जो सेव न तेही ॥६॥
> धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद-काल परिखियहि चारी ॥७॥
> बृद्ध रोगबस जड़ धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना ॥८॥
> ऐसेहु पति कर किये अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना ॥९॥

अर्थ—ऋषि-पत्नी अनसूयाजी ने रसीली कोमल वाणी से कुछ स्त्रियों के धर्म (पातिव्रत धर्म) उनके बहाने से बखान किये ॥४। हे राजकुमारी! सुनिये, माता, पिता, भाई और हितकारी लोग थोड़ा ही (एवं प्रमाण-भर ही सुख) देनेवाले हैं ॥५॥ हे वैदेही! पति अतुल (बे अन्दाज सुख) देनेवाला है जो उसकी सेवा न करे वह अधम है ॥६॥ धैर्य, धर्म, मित्र और स्त्री ये चारों विपत्ति के समय परखे जाते हैं ॥७॥ बूढ़ा, रोगवश, मूर्ख, निर्धन, अन्धा, बहिरा, अत्यन्त क्रोधी एवं अत्यन्त दीन—ऐसे पति का भी अपमान करने से स्त्री यमपुर (नरक) में नाना प्रकार के दुःख भोगती है ॥८-९॥

विशेष—(१) 'कह रिषि बधू सरस '''—'सरस'—रसीली अमृतवत्; यथा—"नाथ दसानन ससि स्रवत, कथा सुधा रघुबीर। श्रवन पुटन मन पान करि, नहिं अघात मति धीर ॥" (उ० दो० ५२); अर्थात् कानों को सुखद, 'कछु ब्याज बखानी'— इनके बहाने कुछ स्त्री-धर्म कहती हैं, इनमें पुत्री भाव है, इससे श्रीगंगाजी की तरह ऐश्वर्य-कथन-पूर्वक स्तुति कर नहीं सकतीं; यथा—"सुनु रघुबीर प्रिया ''तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरे ॥" (अ० दो० १०२) इत्यादि, पर प्रीति से शिक्षा-रूप में अपने भावानुसार कुछ सम्भाषण किया चाहती हैं, जैसा कि सुनयनाजी और कौशल्याजी ने किया है।

(२) 'मातु-पिता-भ्राता'''—नैहर का प्रेम आपत्काल और पति में अयोग्यता, ये तीन पातिव्रत्य के बाधक हैं। अतः, पहले इन्हींको समझाती हैं—'मितप्रद'—सामान्य रीति से सन्तान पर माता-पिता

का स्नेह रहता ही है, पर विशेषकर माता का पाँच वर्ष तक और पिता का १० वर्ष आयु तक कन्या पर दुलार रहता है और भाई का इनसे स्नेह कम ही रहता है। फिर भी ये सभी प्रकार के सुख नहीं दे सकते। अतः, इनका देना परिमित कहा गया।

(३) 'अमित दानि भर्ता···'—उपर्युक्त माता-पिता आदि भी परिमित ही लोक-सुख देते हैं, परन्तु पति तन, मन, धन, माँग (सुहाग) सुख और कोख सुख आदि लोक का परिपूर्ण सुख-देता है और साथ ही परलोक सुख भी देता है ; यथा—"पति सेवत सुभ गति लहइ।" (दो० ५); पुनः सन्तान-द्वारा भी परलोक का साधक होता है, क्योंकि संतान के कृत्य से भी माता-पिता का परलोक बनता है।

'मितप्रद' के साथ 'राजकुमारी' कहा है; अर्थात् राजा की भी पुत्री हो तो भी ये लोग परिमित ही दे सकते हैं और 'अमित दानि' के साथ 'वैदेही' कहा; अर्थात् पति-सेवा में देह-सुख की चाह न रहे, किन्तु सर्वोत्तम-भाव से लग जाय।

(४) 'धीरज धर्म मित्र अरु नारी।···'—आपत्काल में ये चारों खरे निकलें तो इन्हें सचा समझना चाहिये; अर्थात् दुःख में धैर्य बना रहे, धर्म बना रहे, मित्रों का स्नेह न घटे और स्त्री की श्रद्धा पति में बनी रहे ; अन्यथा ये खोटे हैं ; यथा—"कसे कनक मनि पारिखि पाये। पुरुष परखिअहिं समय सुभाये॥" (अ० दो० २८२); "बिपति काल कर सत गुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन येहा॥" (कि० दो० ६) ; यहाँ 'नारी' मात्र का प्रस्तुत प्रसंग है, पर साथ ही तीन धैर्य आदि भी शिक्षार्थ एवं उसकी पुष्टि के लिये कहे गये; यथा—"आपत्सु मित्रं जानीयाद्युद्धे शूरं धने शुचिम्। भार्यां क्षीणेषु वित्तेषु व्यसनेषु च बांधवान्॥" (प्रस्तावरत्नाकर)।

(५) 'वृद्ध रोगबस जड़ ···'—इन्हें दैव ने ही अपमान के योग्य कर दिया है ; यथा—"दीरघ रोगी दारिदी; कटु बच लोलुप लोग। तुलसी प्रान समान तउ, होहिं निरादर जोग॥" (दोहावली ४०७); तथा—"कौल कामबस कृपिन बिमूढ़ा। अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा॥ सदा रोग बस संतत क्रोधी। बिष्णु बिमुख श्रुति संत बिरोधी॥···जीवत सव सम ··" (लं० दो० ३०)। उसपर यदि स्त्री ने भी अपमान किया, तो निस्सीम दुःख होता है, इसलिये यह भारी पाप है। यहाँ ८ दोष कहे गये। यदि आठो एक पति में ही हों, तो भी स्त्री उसका अपमान न करे; अर्थात् अपना धर्म देखते हुए उसे पति की आज्ञा पालनी ही चाहिये ; यथा—"दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जड़ो रोग्यधनोऽपि वा। पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी॥" (श्रीमद्भागवत); "दरिद्रं व्याधितं धूर्त्तं भर्त्तारं यावमन्यते। सा शुनी जायते मृत्वा शूकरी च पुनः पुनः॥" (पराशर-संहिता)।

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पतिपद प्रेमा॥१०॥
जग पतिब्रता चारि बिधि अहहीं। बेद पुरान संत सब कहहीं॥११॥
उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं॥१२॥
मध्यम पर पति देखइ कैसे। भ्राता पिता पुत्र निज जैसे॥१३॥
धर्म बिचारि समुझि कुल रहई। सो निकृष्ट त्रिय श्रुति अस कहई॥१४॥
बिनु अवसर भय तें रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई॥१५॥

पतिबंचक पर-पति-पति करई। रौरव नरक कलप सत परई ॥१६॥
छन सुख लागि जनम सत कोटी। दुख न समुझ तेहि सम को खोटी ॥१७॥

अर्थ—शरीर, वचन और मन से पति के चरणों में प्रेम करना, यह स्त्री के लिये एक ही धर्म, एक ही व्रत और एक ही नियम है ॥१०॥ जगत में चार प्रकार की पतिव्रताएँ हैं, (यह) वेद, पुराण और संत सभी कहते हैं ॥११॥ कि उत्तम के मन में ऐसा (भाव) बसता है कि स्वप्न में भी संसार में दूसरा पुरुष है ही नहीं ॥१२॥ मध्यम (पतिव्रता) पराये पति को कैसे देखती है कि जैसे वे अपने (सगे) भाई, बाप और बेटे हों ॥१३॥ जो धर्म को विचार कर और कुल (की मर्यादा) को समझकर रह जाती है (धर्म को रख लेती हैं, मन को रोके रहती हैं) वे निकृष्ट स्त्रियाँ हैं—ऐसा वेद कहते हैं ॥१४॥ जो अवसर न मिलने एवं (पति आदि के) डर से (पतिव्रता बनी) रह जाती हैं, संसार में उन्हें अधम स्त्री जानना ॥१५॥ पति से छल करनेवाली, जो पराये पुरुषों से प्रीति (वा, व्यभिचार) करती हैं, वे सैकड़ों कल्पों तक रौरव नरक में पड़ी रहती हैं ॥१६॥ क्षण-भर के सुख के लिये सैकड़ों करोड़ (असंख्य) जन्मों के दुःखों को नहीं समझती, उसके समान दुष्टा (बुरी) कौन होगी? ॥१७॥

विशेष—(१) 'एकइ धर्म एक···'—पुरुषों के लिये नाना प्रकार के धर्म कहे गये हैं, पर स्त्री के इस एक ही से लोक-परलोक सभी बन सकते हैं; यथा—"स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः।" (वाल्मी० २।११७।२४); अन्य धर्म, व्रत और नियम आदि भी स्त्रियों के लिये कहे गये हैं, परन्तु यहाँ ऐसा कहने का भाव यह कि स्त्री के लिये यह एक ही धर्म है, अर्थात् इसके समान दूसरा धर्म नहीं है, यह मुख्य है। 'काय बचन मन···'—शरीर से सेवा, मन से प्रीति और वचन से प्रिय भाषण करे।

(२) "जग पतिव्रता चारि बिधि···" से "तेहि सम को खोटी॥" तक के सब लक्षण ठीक ऐसे ही शिव पुराण में पाये जाते हैं, श्रीवैजनाथजी की टीका एवं और टीकाओं में उद्धृत हैं, यहाँ विस्तार-भय से नहीं लिखे जाते।

(३) 'उत्तम के अस बस···'—'बस' अर्थात् निरंतर यही बसा रहता है कि अपने पति के अतिरिक्त और किसीमें, पुंस्त्व है ही नहीं, सब जगत् स्त्रीमय है। जैसे कि अनन्य उपासकों की रीति है कि अपने इष्ट के अतिरिक्त दूसरे में ईश्वरबुद्धि नहीं होती। 'सपनेहु आन··' से पूर्वार्द्ध के 'बस' की पुष्टि की गई है। मीराजी की जीवनी में यह चरितार्थ भी है कि वे केवल गिरधर लाल को ही पुरुष मानती थीं। इसीपर उन्होंने महात्मा जीवगोसाईंजी का स्त्री-मुख न देखने का प्रण छुड़ाया है।

(४) 'मध्यम पर पति···'—इनकी दृष्टि में पर-पुरुष में भी पुंस्त्व है, पर ये अपने भाव-रक्षा के लिये उनमें अवस्था क्रम से पिता, सगे भाई और पुत्र के भाव रखती हैं, क्योंकि पिता, सगे भाई और पुत्र में वैकारिक प्रवृत्ति सहसा नहीं होती।

इन्हें मध्यम कहा गया, क्योंकि इन्हें चित्त-विकृत्ति का भय रहता है, यथा—"भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी॥ होइ बिकल सक मनहिं न रोकी। जिमि रबि मनि द्रव रबिहि बिलोकी॥" (दो० १६); मनुस्मृति में भी कहा गया है; यथा—"मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।" अर्थात् माता, बहन और पुत्री के साथ भी एकान्त में (अधिक) वास न करे। 'जैसे'—बराबर अवस्थावाले को भाई, बड़े को पिता और छोटे को पुत्र के समान मानती हैं। उपर्युक्त 'होइ बिकल··· ·' वाली कुबुद्धि नहीं आने पाती।

(५) 'धर्म बिचारि समुझि···'—'धर्म बिचारि' से परलोक का भय और 'समुझि कुल' से लोक का भय कहा गया; अर्थात् उभय-लोक बिगड़ने के डर से बची रहती हैं कि हमें पति ही में भाव रखना धर्म है। हमारे माता-पिता और पति का उत्तम, निष्कलंक एवं पवित्र कुल है। उभय कुल की नाक कटेगी, अतएव मुझे अधर्माचरण से सर्वथा बचना ही चाहिये।

(६) 'बिनु अवसर भय ते रह···'—'बिनु अवसर'—घर के शून्य होने का अवसर एवं अन्यत्र किसी के पास जाने के अवसर बिना। 'भय ते'—घर के अमुक-अमुक जानेंगे, तो प्राण ही ले लेंगे, इत्यादि। इसे अधम कहा गया, क्योंकि इसे रखवालों की आवश्यकता है, यह स्वयं अपने धर्म की रक्षा नहीं कर सकती। इसे भी पतिव्रता में ही गिना गया, क्योंकि इसका पाप मन में ही रह गया, ऐसी व्यवस्था कलिकाल में संगत है, क्योंकि—"मानस पुन्य होहिं नहिं पापा" (उ० दो० १०२); कहा गया है इस युग में तो—"गुन मंदिर सुंदर पति त्यागी। भजहिं नारि पर पुरुष अभागी॥" (उ० दो० ९८); ऐसी स्त्रियों की विशेषता है, तो वैसी अधम नारि भी पतिव्रता ही है।

आगे व्यभिचारिणी को कहती हैं, जो इनसे पृथक् हैं—

(७) 'पति बंचक पर पति···'—ऊपर दिखाने को पति से प्रेम करती है, किन्तु भजती है, पराये पति को, यही पति को ठगना है। इन्हें रौरव नरक होता है। भाग० स्कंध ५ अ० २६ में नरकों का वर्णन है, उन २८ नरकों में रौरव तीसरा है। इस नरक में रुरु नामक कीड़े होते हैं। वे सर्प से भी अधिक तीक्ष्ण होते हैं और प्राणी को चारों ओर से काटते हैं।

बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिब्रत-धर्म छाँड़ि छल गहई॥१८॥
पति प्रतिकूल जन्म जहँ जाई। बिधवा होइ पाइ तरुनाई॥१९॥

सोरठा—सहज अपावनि नारि, पति सेवत सुभ गति लहइ।
जस गावत श्रुति चारि, अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय॥
सुनु सीता तव नाम, सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं।
तोहि प्रानप्रिय राम, कहिउँ कथा संसार-हित॥५॥

अर्थ—जो स्त्री छल छोड़कर पातिव्रत धर्म को ग्रहण करती है, वह बिना परिश्रम परम गति पाती है॥१८॥ जो पति के प्रतिकूल है, वह जहाँ जाकर जन्म लेती है, वहीं जवानी पाकर विधवा हो जाती है॥१९॥ स्त्री स्वाभाविक अपवित्र है, वह पति की सेवा से शुभगति पा जाती है, चारो वेद (पतिव्रता का) यश गाते हैं, आज भी तुलसी भगवान् को प्रिय है॥ हे सीते! सुनो, तुम्हारा नाम स्मरण करके स्त्रियाँ पातिव्रत धर्म पालन करेंगी, तुमको तो श्रीरामजी प्राण-प्रिय हैं—यह कथा मैंने संसार के हित के लिये कही है॥५॥

विशेष—(१) 'बिनु श्रम'—जप-तप आदि के क्लेश नहीं उठाने पड़ते; यथा—"कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥" (उ० दो० ४५)। 'छाँड़ि छल'—स्वार्थ-साधन

एवं मन की कुटिलता छल है ; यथा—"सहज सनेह स्वामि सेवकाई । स्वारथ छल फल चारि विहाई ॥" (अ० दो० ३००) ; "सरल स्वभाव न मन कुटिलाई ।" (उ० दो० ४५) ; यह भक्ति के विषय में कहा गया है, वही यहाँ भी जानना चाहिये ।

(२) 'पाइ तरुनाई'—युवा अवस्था का सुख उसे किसी जन्म में नहीं मिलता—यह दुर्गति होती है । पति-अनुकूला को परम गति की प्राप्ति और पति प्रतिकूला को दुर्गति की प्राप्ति कही ।

(३) 'सहज अपावनि नारि······'—स्वाभाविक अपावनता और शुभगति परस्पर विरोधिनी हैं, पर वह शुभगति पातिव्रत धर्म से सुगम हो जाती है । 'शुभगति', 'जस गावत' और 'हरिहि प्रिय' से इस एक ही धर्म से सद्गति ; यश और हरि-प्रियत्व तीनों की प्राप्ति कही गई । 'अजहूँ तुलसिका······'—दैत्य कुल की पतिव्रता को इतना महत्त्व मिला कि वह भगवान् की वल्लभा हुई, इसकी कथा—"परम सती असुराधिप नारी । तेहि बल ताहि न जितहिं पुरारी ॥" (बा० दो० १२२) ; में लिखी गई तो मनुष्य कुल की सदाचारिणी स्त्रियों के महत्त्व का क्या कहना ? 'जस गावत श्रुति चारि' से शब्द प्रमाण और—'अजहूँ तुलसिका ······' से प्रत्यक्ष प्रमाण है ।

(४) 'सुनु सीता तव नाम ····'—जब उपदेश देने लगी थीं, तब 'राजकुमारी' माधुर्य नाम कहा था और यहाँ जब माहात्म्य कहने लगीं तब 'सीता' कहती हैं, क्योंकि यह ऐश्वर्य-सम्बन्धी इनका मुख्य नाम है । 'तव नाम' ; यथा—"जेहि कर नाम सुमिरि संसारा । तिय चढ़िहहि पतिव्रत असि धारा ॥" (बा० दो० ९१) । 'संसार हित'—पहले भी 'कछु व्याज बखानी' कहा है, भाव यह कि ऐसा कोई न समझे कि श्रीसीताजी में कुछ त्रुटि थी, इसलिये यह शिक्षा दी गई । पुनः यह उपदेश और साथ ही यह भी कि जो कोई पतिव्रता होना चाहें तो 'सीता' नाम स्मरण करें—संसार के लिये ही कहा गया है ।

सुनि जानकी परम सुख पावा । सादर तासु चरन सिर नावा ॥१॥
तब मुनि सन कह कृपानिधाना । आयसु होइ जाउँ बन आना ॥२॥
संतत मो पर कृपा करेहू । सेवक जानि तजेहु जनि नेहू ॥३॥

अर्थ—श्रीजानकीजी ने सुनकर परम सुख पाया और आदर-पूर्वक उनके चरणों में शिर नवाया ॥१॥ तब कृपा-सागर श्रीरामजी ने मुनि से कहा कि आज्ञा हो तो मैं दूसरे वन को जाऊँ ॥२॥ मुझपर निरंतर कृपा करते रहियेगा, सेवक जानकर स्नेह न छोड़ियेगा ॥३॥

विशेष—(१) 'सुनि जानकी परम···'—उन्होंने 'सुनु सीता···' कहकर ऐश्वर्य कहा, पर ये अपने माधुर्य को ही माने हुए हैं, इसीसे इनका 'जानकी' नाम कहा गया और उसी दृष्टि से 'सादर तासु चरन सिर नावा' भी है—यह कृतज्ञता है ।

यद्यपि श्रीसीताजी पतिव्रता शिरोमणि हैं ; यथा "सती सिरोमनि सिय गुन गाथा ।" (बा० दो० ३१) ; तथापि वृद्धा ऋषि-पत्नी से सादर धर्मोपदेश सुनती हैं और कृतज्ञता भी प्रकट करती हैं । यह सबके लिये उपदेश है कि निरभिमानता-सहित बड़ों का उपदेश सुनें, चाहे उसे जानते भी हों ।

"अनसूया के पद गहि सीता ।" उपक्रम है और यहाँ—"सादर तासु चरन सिर न उपसंहार है । ऋषि-पत्नी इन्हें पाकर सुखी हुईं ; यथा—"रिषि पतिनी मन सुख अधिकाई ।"

इन्होंने भी उनके वचनों से सुख पाया ; यथा—"सुनि जानकी परम सुख पावा।" इससे यहाँ—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११), यह चरितार्थ है। 'परम सुख'—भूषण-वस्त्र लेने में सुख हुआ और यह पारमार्थिक उपदेश सुनने में परम सुख हुआ। 'सादर तासु चरन सिर नावा।'—यह कृतज्ञता और विदाई का प्रणाम है और यह भी सूचित किया कि इसका प्रत्युपकार मुझसे नहीं हो सकता, इससे मैं आपको प्रणाम करती हूँ ; यथा—"मो पहि होइ न प्रति उपकारा। बंदउ तव पद बारहि बारा॥ तासु चरन सिर नाइ करि, प्रेम सहित मति धीर। गयउ गरुड़ वैकुंठ तब···" (उ० दो० १२५); सुशीलता के कारण कुछ बोलना नहीं कहा गया, आदि-अंत में शिर नवाना-मात्र कहा है।

(२) 'तब मुनि सन कह ···'—'तब'—जब उधर से श्रीजानकीजी आ गईं और इधर साथ ही श्रीरामजी और श्रीअत्रिजी का भी संवाद समाप्त हुआ। 'कृपानिधाना' अर्थात् और मुनियों पर भी कृपा करना चाहते हैं। 'आयसु होउ'—इस वन में श्रीअत्रिजी प्रधान हैं, इसलिये अन्यत्र जाने के लिये इन्हींसे आज्ञा माँग रहे हैं ; यथा—"अवसि अत्रि आयसु सिर धरहू। तात बिगत भय कानन चरहू॥" (अ० दो० ३०७); श्रीअत्रिजी के आश्रम तक एक ही वन (चित्रकूट) है। आगे फिर दूसरा वन है, इसीसे 'जाउँ बन आना' कहा है।

(३) 'संतत मोपर कृपा ···'—मुनि ने कहा था—"चरन सरोरुह नाथ जनि, कबहुँ तजइ मति मोरि।" उसपर आप कहते हैं—"संतत मोपर ···" अर्थात् आप स्वामी हैं, मैं सेवक हूँ; अतः, आपको कृपा और स्नेह ही रखना चाहिये, क्योंकि—"बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं।" (बा० दो० १६६)—ऐसा कहा है, मुनि ने ऐश्वर्य-दृष्टि से माँगा है। और आपने माधुर्य ही में उत्तर दिया है। भाव यह कि आप मेरी ओर वृत्ति रखिये, तदनुसार मैं सेवा करता रहूँगा ; यथा—"यो यो यां यां तनुं भक्तः···स तया श्रद्धया युक्तः···" (गीता ७।२१-२२)।

धर्म-धुरंधर प्रभु कै बानी। सुनि सप्रेम बोले मुनि ज्ञानी॥४॥
जासु कृपा अज सिव सनकादी। चहत सकल परमारथबादी॥५॥
ते तुम्ह राम अकाम पियारे। दीनबंधु मृदु बचन उचारे॥६॥
अब जानी मैं श्रीचतुराई। भजी तुम्हहि सब देव बिहाई॥७॥
जेहि समान अतिसय नहि कोई। ता कर सील कस न अस होई॥८॥

अर्थ—धर्म-धुरन्धर प्रभु के वचन सुनकर ज्ञानी मुनि प्रेम-सहित बोले ॥४॥ ब्रह्मा, शिव, सनकादि सभी परमार्थ-वादी (ज्ञानी) जिसकी कृपा की चाह करते हैं ॥५॥ वही निष्काम भक्तों के प्यारे और दीनबंधु हे राम ! आपने कोमल वचन कहे ॥६॥ अब मैंने श्रीलक्ष्मीजी की चतुराई समझी कि जो उन्होंने सब देवताओं को छोड़कर आपही को भजा (वरण किया) ॥७॥ जिनके समान या जिनसे अधिक कोई नहीं है, उनका शील ऐसा क्यों न हो ? ॥८॥

विशेष—(१) 'धर्म धुरंधर प्रभु कै बानी।'—श्रीरामजी मर्यादा रखते हैं, इसीसे ऐसा कहते हैं, क्योंकि धर्म-धुरंधर हैं ; यथा—"धर्म सेतु करुनायतन, कस न कहहु अस राम।" (अ० दो० २४८)—यह श्रीवसिष्ठजी ने कहा है। एवं—"सहज सरल सुनि रघुबर बानी। साधु साधु बोले मुनि ज्ञानी॥ कस न कहहु अस रघुकुल केतू। तुम्ह पालक संतत श्रुति सेतू॥" (अ० दो० १२५)—यह वाल्मीकिजी ने

कहा है। 'प्रभु'—अर्थात् आपकी आज्ञा सब मानते हैं—"बिधि हरिहर ससि ··" से "राम रजाइ सीस सबही के ॥" (अ० दो० २५३); वक्र। 'सप्रेम बोले मुनि ज्ञानी।'—'ज्ञानी' के साथ 'सप्रेम' कहा, क्योंकि ज्ञान की शोभा प्रेम से ही है; यथा—"सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू।" (अ० दो० २०१); "सोक सनेह मगन मुनि ज्ञानी॥" (अ० दो० १७०); ज्ञानी हैं, इसीसे माधुर्य में न भूले, आशिष न देकर ऐसा कह रहे हैं।

(२) 'जासु कृपा अज···'—प्रभु ने कहा था—'संतत मोपर कृपा करेहू।' उसका यह उत्तर है। 'ते तुम्ह राम अकाम···' यह—'सेवक जानि तजेहु जनि नेहू।' का उत्तर है। भाव यह कि स्वार्थी लोग तो स्वार्थ के लिये आपकी कृपा चाहते ही हैं, पर जो निष्काम हैं, वे भी प्यार करते हैं; यथा—"आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥" (श्रीमद्भागवत)। अर्थात् आपको सकाम-निष्काम सभी चाहते हैं, तो हम कैसे छोड़ सकते हैं? जो आप कहते हैं— 'तजेहु जनि नेहू॥' 'दीन बंधु मृदु···'—हम सब दीन हैं, आप बंधु बनकर हमें बड़ाई देने के लिये ही ऐसे कोमल वचन कहते हैं।

(३) 'अब जानी मैं श्री···'—श्रीलक्ष्मीजी बड़ी चतुरा हैं, इसी से उन्होंने सब देवताओं को छोड़कर आप ही को वरा है, क्योंकि आप ही सबसे बड़े हैं, जो सबसे बड़ा होता है, वही ऐसे नम्र वचन कह सकता है; यथा—"सन्तिर्हि तवाख्याति भविष्यच्छुभयोग्यताम्।" (वाल्मी० ५।१३।१०); यही शील गुण है कि स्वयं नम्र होकर औरों को बड़ाई देना, सबसे बड़े में ही ऐसा होता है, यही कहते हैं—

(४) 'जेहि समान अतिसय···'—आपके समान भी कोई नहीं है, तो बड़ा कहाँ से आवेगा; यथा—"न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।" (श्वे० ६।८); अर्थात् आप सबसे बड़े हैं, नम्रता की बड़ाई बड़ों में ही होती है।

केहि बिधि कहउँ जाहु अब स्वामी। कहहु नाथ तुम्ह अंतरजामी॥९॥
अस कहि प्रभु बिलोकि मुनि धीरा। लोचन जल बह पुलक सरीरा॥१०॥

छंद—तनु पुलक निर्भर प्रेमपूरन नयन मुख-पंकज दिये।
मन-ज्ञान-गुनगोतीत प्रभु मैं दीख जप तप का किये॥
जप जोग धर्म समूह ते नर भगति अनुपम पावई।
रघुबीर-चरित पुनीत निसिदिन दास तुलसी गावई॥

अर्थ—हे स्वामी! मैं किस तरह कहूँ कि अब जाइये, हे नाथ! आप ही कहिये, आप तो अंतर्यामी हैं, (अर्थात् ऊपर से ही कहता हूँगा, तो जान ही लेंगे) ॥९॥ ऐसा कहकर धीर मुनि प्रभु को देखने लगे, उनके नेत्रों से जल बह रहा है, शरीर पुलकित है ॥१०॥ शरीर पूर्ण पुलकित है, प्रेम-पूर्ण है। नेत्र मुख-कमल में लगाये हुए हैं। (मन में विचारते हैं कि) मैंने कौन-से जप-तप किये कि

मन, ज्ञान, गुण और इन्द्रियों से परे प्रभु के दर्शन पाये ॥ जप, योग और धर्म-समूह से मनुष्य अनुपम भक्ति को पाता है । रघुवीर श्रीरामजी के पवित्र चरित को श्रीतुलसी दासजी दिन-रात गाते हैं ॥

विशेष--(१) 'केहि बिधि कहउँ•• '—ऐश्वर्य-माधुर्य दोनों दृष्टि से नहीं कहते बनता, माधुर्य से ; यथा—"हम अब बनते बनहि पठाई । प्रमुदित फिरब बिबेक बढ़ाई ॥" (अ० दो० २११), आप तो अंतर्यामी हैं, हमारे हृदय की जानकर कहिये कि परम सुकुमार राजकुमार को घोर वन जाने के लिये कैसे कहूँ ? ऐश्वर्य-दृष्टि से स्वामी को सेवक कैसे कहे कि अब जाइये, मैं अनाथ होकर रहूँगा ? यथा—"जाहु सुखेन बनहिं बलि जाऊँ । करि अनाथ जन परिजन गाऊँ ॥" (अ० दो० ५६) । अंतरजामी'—आप अंतर्यामी-रूप से सबमें एवं सर्वत्र हैं, तो कौन जगह नहीं हैं ? जहाँ मैं जाने को कहूँ; यथा—"जहँ न होव तहँ देहु कहि, तुम्हहिं देखावउँ ठाउँ ।" (अ० दो० १२७) ।

इससे भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी का एक श्लोक मिलता हुआ सा है; यथा—"मा गा इत्यपमङ्गलं व्रज सखे स्नेहेन हीनं वचः । तिष्ठेति प्रभुता यथाभिलषितं कुर्वित्युदासीनता ।••• ••" अर्थात् 'मत जाइये' ऐसा कहना अमंगल होता है, 'जाओ' ऐसा कहने में स्नेहशून्यता पाई जाती है, 'ठहरिये' ऐसा कहने में प्रभुता (शासन) और 'जैसी इच्छा हो वैसा करो' ऐसा कहने में उदासीनता पाई जाती है । अतः, आप अंतर्यामी हैं, मैं तो कुछ नहीं कह सकता ।

(२) *'अस कहि प्रभु बिलोकि मुनि धीरा ।'—धीर हैं तब भी वियोग की संभावना से अधीर हो* गये । नेत्रों से आँसू चल पड़े, शरीर रोमांचित हो आया । इसी दशा में मुख-कमल की मधुरिमा अवलोकन कर रहे हैं । पहले मिलने पर भी यही दशा हुई थी; यथा —"प्रेम बारि दोउ जन अन्हवाये ।" अब जाते समय भी है । भेद यही है कि उस समय आनंद के आँसू थे और इस समय दुःख के । जैसे पूर्व मयना और गिरिजा के विषय में कहा गया है; यथा —"दसा एक समुझब बिलगाना ।" (बा० दो० ९७), 'नयन मुख पंकज दिये'—मुनि के नेत्र रूपी भ्रमर छवि-रूपी मकरंद पान करते हुए मुख-कमल पर ही मँडरा रहे हैं, यथा—"देखि राम मुख पंकज, मुनिवर लोचन भृङ्ग । सादर पान करत अति ••" (दो० ७); "मुख सरोज मकरंद छबि, करइ मधुप इव पान ।" (बा० दो० २३१) । नेत्र मुख-कमल में लगाये हुए हैं कि न जाने, अब फिर इनके दर्शनों का भाग्य हो कि नहीं, मुनि को प्रभु के दर्शनों की बड़ी आकांक्षा थी, इसीसे इनका कई बार देखना लिखा गया है, यथा —(१) "देखि राम छबि नयन जुड़ाने ।" (२) "भरि लोचन सोभा निरखि ।" (३) "अस कहि प्रभु बिलोकि मुनि धीरा ।" (४) "नयन मुख पंकज दिये ।"

(३) 'मन ग्यान गुन •••'—आप मन आदि इन्द्रियों से परे हैं ज्ञान (बुद्धि) से भी परे हैं, तीनों गुणों की प्रवृत्ति से भी परे हैं, यथा —"माया गुन ग्यानातीत अमाना •" (बा० दो० १९१), "मन समेत जेहि जान न बानी । तरकि न सकहिं सकल अनुमानी ॥" (बा० दो० ३४०); 'जप तप का किये' अर्थात् इनके दर्शन सम्पूर्ण साधनों के फल हैं, यथा—"सुफल सकल सुभ-साधन-साजू । राम तुम्हहि अवलोकत आजू ॥" (अ० दो० १०६); इनकी प्राप्ति के योग्य मेरे कुछ भी साधन न थे । प्रभु ने निर्हेतु ही कृपा की है ।

(४) 'जप जोग धर्म समूह ते •••'—'जप' यथा—"मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा ॥" (दो० ३५); यह उपासना है । 'जोग' यथा—"जोग ते ग्याना ।" (दो० १५), यह ज्ञान; और 'धर्म-समूह' में कर्मकांड

आ गया; अर्थात् कांड-त्रय की फलरूपा परा भक्ति है; यथा—"जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी॥" (उ० दो० १२५); "जप तप नियम जोग निज धरमा···" से "तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल यह सुंदर॥" (उ० दो० ४८) तक।

(५) 'रघुबीर चरित पुनीत···'—भाव यह कि उक्त भक्ति के लिये मैं केवल पुनीत चरित ही गाता हूँ। जप-योगादि कांड-त्रय से जो अंतःकरण की शुद्धि होती वह इस पुनीत चरित से हो होगी। इसीसे मैं रात-दिन इसीको प्रेम से गाता हूँ। अपने सब साधनों की अवहेलना का कारण कहते हैं—'कठिन काल मल कोस···'।

श्रीगोस्वामीजी ने भरत-चरित की समाप्ति पर ही अयोध्याकांड की समाप्ति—"भरत चरित करि नेम···" इस सोरठे पर की। पर श्रीवाल्मीकिजी के मत से अयोध्याकांड की इति यहाँ के—"कठिन काल मल कोस···" पर लगाई।

इस अरण्यकांड के यहाँ छः दोहों में—"उमा राम गुन गूढ़···" से "कठिन काल मल कोस···" तक के श्रीरामचरित की इन्हीं दो सोरठों में इति लगाई। इसके उपक्रम में—"सकल मुनिन्ह सन बिदा कराई। सीता सहित चले दोउ भाई॥" (दो० २) है, वैसे आगे चरित का उपक्रम—"मुनि पद कमल नाइ करि सीसा। चले बनहिं सुर नर मुनि ईसा॥" इस चौपाई से है।

श्रीवाल्मीकिजी के मत में श्रीअत्रिजी का वात्सल्य भाव था; यथा—"सेयं मातेव तेऽनघ।" (वाल्मी० २।११७।१२); यह श्रीअत्रिजी ने श्रीरामजी से कहा है। इसीसे अनसूयाजी ने श्रीसीताजी को भूषण और वस्त्र पहनाये हैं अतः, श्रीअत्रिजी के यहाँ तक मानों श्रीअयोध्या में ही रहे, इस से आगे कहते हैं—'चले बनहि'। ग्रन्थकार ने इस तरह उनका भी मत रक्खा, इसीसे चरित की फलश्रुति कहकर सोरठे पर इति लगा रहे हैं। इसीसे कुछ लोगों ने आगे दोहे से ही अरण्यकांड के दोहों की गिनती की है, इन छः दोहों को पृथक् गिना है।

दोहा—कलि-मल-समन दमन मन, राम-सुजस सुख मूल।
सादर सुनहिं जे तिन्ह पर, राम रहहिं अनुकूल॥
सोरठा—कठिन काल मल कोस, धर्म न ज्ञान न जोग जप।
परिहरि सकल भरोस, रामहि भजहिं ते चतुर नर॥६॥

अर्थ—श्रीरामजी का सुन्दर यश कलि के पापों का नाशक, मन का दमन करनेवाला और सुख का कारण है, जो इसे आदर-सहित सुनते हैं, उनपर श्रीरामजी प्रसन्न रहते हैं॥ यह कठिन कलि-काल पाप का खजाना है, इसमें न धर्म है, न ज्ञान, न योग और न जप ही; इसमें जो सब आशा-भरोसा छोड़कर श्रीरामजी को ही भजते हैं, वे ही चतुर लोग हैं॥६॥

विशेष—(१) 'कलिमल समन दमन ···'—भाव यह कि जो पाप मलिन हृदयवाले हैं, उन्हें उनके पापों को दूर कर यह सुख देता है और जो शुद्ध हृदयवाले इसे सादर सुनते हैं, उनपर श्रीरामजी प्रसन्न रहते हैं। 'कठिन काल···'—कलि पाप का खजाना है; यथा—"कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयो-

निधि जन मन मीना ॥" (बा० दो० २६); "सुनु ब्यालारि काल कलि, मल अवगुन आगार ॥" (उ० दो० १०२)। 'धर्म न ज्ञान न जोग जप' यथा—"नहिं कलि करम न भगति बिबेकू ॥" (बा० दो० २६); देखिये। तब और साधनों में व्यर्थ पचना छोड़कर जो श्रीरामजी को ही भजते हैं, वे ही चतुर हैं; यथा—"येहि कलि काल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप व्रत पूजा ॥ रामहिं सुमिरिय गाइय रामहिं।···" (उ० दो० १२१); थोड़े परिश्रम में बहुत बड़ा कार्य साध लेना चतुरता है, वही यहाँ है। यथा—"युग जुग धरम जानि मन माहीं। तजि अधर्म रति धर्म कराहीं ॥" काल धरम नहिं व्यापहिं ताही। रघुपति चरन प्रीति अति जाही ॥" (उ० दो० १०३)।

"बिराध-बध" प्रकरण

मुनि-पद-कमल नाइ करि सीसा। चले बनहिं सुर-नर-मुनि-ईसा ॥१॥
आगे राम अनुज पुनि पाछे। मुनिवर-बेष बने अति काछे ॥२॥
उभय बीच श्री सोहइ कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी ॥३॥
सरिता बन गिरि अवघट घाटा। पति पहिचानि देहिं बर बाटा ॥४॥
जहँ जहँ जाहिं देव रघुराया। करहिं मेघ तहँ तहँ नभ छाया ॥५॥

अर्थ—मुनि के चरण-कमलों में शिर नवाकर सुर-नर-मुनि के स्वामी श्रीरामजी वन को चले ॥१॥ आगे श्रीरामजी हैं, पुनः पीछे छोटे भाई (श्रीलक्ष्मणजी हैं), मुनि-श्रेष्ठों का अत्यंत सुन्दर वेष बनाये हुए शोभित हो रहे हैं ॥२॥ दोनों के बीच में श्रीजानकीजी कैसी शोभित हो रही हैं कि जैसे ब्रह्म और जीव के बीच में माया (शोभित) हो ॥३॥ नदी, वन, पहाड़ और दुर्गम (अटपट) घाट (सभी अपने) स्वामी को पहचान कर सुन्दर मार्ग देते हैं; अर्थात् जहाँ घाट नहीं है, वहाँ नदियाँ सुन्दर घाट कर देती हैं, अथाह जल को गोपद-भर कर देती हैं, वन और पहाड़ सुन्दर कोमल मार्ग कर देते हैं ॥४॥ जहाँ-जहाँ देव (दिव्य शरीर एवं दिव्य गुण-विशिष्ट) श्रीरघुनाथजी जाते हैं, वहाँ-वहाँ मेघ आकाश में छाया करते जाते हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'मुनि-पद-कमल नाइ ······'—श्रीरामजी ने अपने माधुर्य को रक्खा कि आज्ञा माँगी और प्रणाम करके चले; पर मुनि ने अपनी ऐश्वर्य-दृष्टि ही रक्खी, आशिष नहीं ही दी और न स्वामी को जाने को कहा। श्रीरामजी के यों ही चल देने का कारण 'सुर नर मुनि ईसा' से कहा गया कि वे सुर आदि की रक्षा के लिये गये, नहीं तो न जाते; यथा—"तुलसिदास जौं रहउँ मातु-हित को सुर बिप्र भूमि भय टारे। (गी० अ० ६); "तुलसिदास सुर काज न साध्यो तौ तो दोष होय मोहिं महि आयक।" (गी० अ० ३)। 'चले बनहिं'—इसका यह भाव नहीं कि अभी तक बस्ती में रहे, अब वन को जाते हैं, किंतु श्रीचित्रकूट वन से अब दूसरे वन जाने का भाव है; यथा—"आयसु होय जाउँ बन आना।" ऊपर कहा गया है। 'सुर नर मुनि ईसा' क्योंकि यहाँ से आगे ब्रह्मादि देवता, शरभंग, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य आदि मुनि एवं शबरी आदि ने ईश्वर ही करके माना भी है। आगे सर्वत्र ऐश्वर्य ही प्रधान रहेगा। पहले अयोध्याकांड में श्रीभरद्वाजजी और श्रीवाल्मीकिजी ने माधुर्य को प्रधान

माना है। इसीसे दोनों के यहाँ आशीर्वाद देना लिखा है और दोनों के ऐश्वर्य कथन पर श्रीरामजी का सकुचाना लिखा है ; यथा—"दीन्हि असीस मुनीस······"—श्रीभरद्वाजजी, "आसिरबाद बिप्रवर दीन्हा।"—श्रीवाल्मीकिजी, "सुनि मुनि बचन राम सकुचाने।"—श्रीभरद्वाजजी के यहाँ, सकुचि राम मन महँ मुसुकाने।"—श्रीवाल्मीकिजी के यहाँ। पर ऐसी व्यवस्था आगे ऋषियों के यहाँ नहीं है ; क्योंकि ऐश्वर्य प्रधान चरित हैं।

(२) 'आगे राम अनुज पुनि······'—दोनों भाइयों को एक साथ कहा, क्योंकि तापस-वेष एक-समान है। 'बने अति काछे' से पूर्व-कथित का संकेत कर दिया ; यथा—"तरुन तमाल बरन तन सोहा।··· दामिनि बरन लखन···मुनि पट कटिन्ह···जटा मुकुट सीसन्ह सुभग···" (अ० दो० ११५) ; 'पुनि' शब्द से सूचित कर दिया कि श्रीरामजी के पीछे कोई है, तब श्रीलक्ष्मणजी हैं।

(३) 'उभय बीच श्री सोहइ कैसी।··'—ये दोनों अर्द्धालियाँ अ० दो० १२२ में आ गई हैं। भेद केवल इतना ही है कि वहाँ के 'श्री' की जगह पर यहाँ 'सिय' कहा गया है। इसका कारण यह है कि अरण्यकांड से ऐश्वर्य की प्रधानता है, इसीसे 'सीय' नाम माधुर्य का न रखकर ऐश्वर्यपरक 'श्री' यह लिखा गया है। 'सिय' और 'लखन' इन वात्सल्य-सम्बन्धी नामों का सम्बन्ध अयोध्याकांड तक ही है। अतः, पूर्वोक्त अ० दो० १२२ चौ० १-२ के ही सब भाव यहाँ लेना चाहिये।

यहाँ श्रीरामजी को ब्रह्म, श्रीजानकीजी को ब्रह्म की अभिन्न शक्ति चिद्रूपा एवं कृपा-रूपिणी कहा गया और शुद्ध जीव के रूप में श्रीलक्ष्मणजी का होना कहा है। यहाँ फिर कहा गया, क्योंकि आगे यह चरितार्थ होगा। कृपा की ओट लेने से श्रीरामजी जीव-रूपी श्रीलक्ष्मणजी को गीता का उपदेश करेंगे, इतने ही अविद्या-रूपिणी शूर्पणखा आवेगी, उसे ये उसी ज्ञान से निशाचरी जान लेंगे। फिर प्रभु की ही कृपादेवी के सकेत से श्रीलक्ष्मणजी को संकेत मिलेगा। जिससे वे शूर्पणखा को कुरूपा करके त्याग करेंगे कि फिर उनकी दृष्टि में वह न आवेगी। फिर उसके प्रतिकार में खर-दूषणादि की बाधाओं को कृपा करके श्रीरामजी ही अपने ऊपर ले लेंगे। उन्हें क्षण-भर में नाश कर देंगे। यह सब कृपादेवी की ओट लेने के भाव हैं। जीव के उद्धार करने में कृपा देवी की शोभा होती है, वही शोभा यहाँ उत्प्रेक्षा का विषय है।

(२) 'सरिता बन गिरि···जहँ-जहँ···'—सरिता आदि सब श्रीरामजी के विराट्-रूप में शरीर हैं, श्रीरामजी सबके शरीरी हैं। अपने आत्मा रूप स्वामी को जानकर सभी सेवा कर रहे हैं, इसीसे ऐश्वर्य परक देव' नाम कहा गया है, आगे शरभंगजी के यहाँ—"सो कछु देव न मोर निहोरा।" कहा है और श्रीअगस्त्यजी के यहाँ भी—"मुनि आश्रम पहुँचे सुर भूपा।" कहा है, क्योंकि जब सरिता आदि जड़ भी ऐश्वर्य मान रहे हैं, तो ऋषियों के यहाँ तो प्रकट हैं ही। सरिता से जल, गिरि, वन से स्थल और मेघ से नभ के जीवों से सेवित होना कहा है। जीव संसार में तीन ही स्थल के होते हैं ; यथा—"जलचर थलचर नभचर नाना।" (बा० दो० ३)।

मिला असुर बिराध मग जाता। आवत ही रघुबीर निपाता ॥६॥
तुरतहि रुचिर रूप तेहि पावा। देखि दुखी निज धाम पठावा ॥७॥

अर्थ—विराध दैत्य मार्ग में जाते हुए मिला, समीप आते ही रघुवीर श्रीरामजी ने उसे मार डाला ॥६॥ तुरत ही उसने सुन्दर रूप पाया, उसको दुखी देखकर (शाप का फल भोगते हुए साधन हीन जानकर) अपने लोक को भेजा ॥७॥

विशेष—(१) 'पुनि आये जहँ···'—'पुनि' शब्द से दूसरा प्रसंग प्रारंभ हुआ। श्रीवाल्मीकिजी, श्रीअत्रिजी और श्रीअगस्त्यजी के यहाँ भगवानों का वर्त्ताव हुआ, पर यहाँ नहीं, क्योंकि विराध के कारण इधर की राह बंद थी। इधर का कोई आदमी उधर नहीं जाता था, इससे इन्हें समाचार ही नहीं मिला। इसलिये ये आगे बढ़कर लेने नहीं आये।

'सुंदर अनुज···'—श्रीवाल्मीकिजी ने लिखा है कि विराध-वध करके श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी सूर्य और चन्द्रमा की तरह शोभित हुए (वा० स० ३।१४); वही भाव यहाँ 'सुंदर' शब्द में है।

(२) 'सादर पान करत अति···'—भौंरा रस पीता है, अतः, यहाँ छवि-रूपी रस का अध्याहार कर लेना चाहिये ; यथा—"अरबिंद सों आनन रूप मरंद अनंदित लोचन भृंग पिये।" (क० बा० २); 'अति धन्य'—"सुकृती पुण्यवान् धन्यः" अर्थात् ये मुनि सुकृती हैं। इसीसे इन्हें ऐसे दर्शन हुए ; यथा—"जिन्ह जानकी राम छबि देखी। को सुकृती हम सरिस बिसेखी।।" (बा० दो० ३०१), "को जानै केहि सुकृति सयानी। नयन अतिथि कीन्हे बिधि आनी।।" (बा० दो० २३१); "फिरि-फिरि प्रभुहिं बिलोकिहउँ, धन्य न मो सम आन।।" (दो० २६)। और ऋषियों का जन्म धन्य है, इनका अति धन्य है।

> कह मुनि सुनु रघुबीर कृपाला। संकर - मानस - राज - मराला ।।१।।
> जात रहेउँ बिरंचि के धामा। सुनेउँ श्रवन बन अइहहिं रामा ।।२।।
> चितवत पंथ रहेउँ दिन - राती। अब प्रभु देखि जुड़ानी छाती ।।३।।
> नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना ।।४।।
> सो कछु देव न मोहि निहोरा। निज पन राखेहु जन-मन-चोरा ।।५।।

अर्थ—मुनि ने कहा कि हे कृपालु ! हे रघुबीर ! हे शिवजी के हृदय-रूपी मानससरोवर के राजहंस ! सुनिये ! ।।१।। मैं ब्रह्मलोक को जाता था, कानों से सुना कि श्रीरामजी वन में आवेंगे ।।२।। दिन-रात आपका मार्ग देखता रहा, हे प्रभो ! अब आपको देखकर छाती ठंढी हुई ।।३।। हे नाथ ! मैं सब साधनों से हीन हूँ, आपने मुझे अपना दीन सेवक जानकर कृपा की है ।।४।। हे देव ! यह (कृपा करना) कुछ मुझपर आभार (अनुग्रह) नहीं है, हे भक्तों के मन को चुरानेवाले ! आपने अपना प्रण रक्खा है ।।५।।

विशेष—(१) 'कह मुनि सुनु रघुबीर ···'—'रघुबीर'—आप कृपा के आलय और विद्यावीर एवं पराक्रम वीर हैं, तभी विराध को मारा ; यथा—"खर दूषन बिराध बध पंडित।" (उ० दो० ५०); नहीं तो वह किसी भी अस्त्र-शस्त्र से मरता ही न था। इस कार्य में मुनियों पर दया-वीरता भी है। कृपा-गुण से मुझे दर्शन दिये, नहीं तो किसी और ही मार्ग से चले जाते। 'संकर मानस राज मराल'—यहाँ 'मानस' शब्द में श्लेष है। ऐसा न लेने से रूपक अधूरा रह जाता है ; यथा—"जय महेस मन मानस हंसा।" (बा० दो० १८४); "जो भुसुंडि मन मानस हंसा।" (बा० दो० १४५); इत्यादि में मानस से भिन्न 'मन' कहा गया है, पर यहाँ नहीं है, इसका आशय आगे 'जन मन चोरा' से स्पष्ट है कि मन चुरा लिया गया है। हंस की प्राप्ति मानससर में ही होती है, वैसे आप श्रीशिवजी के ध्यान के ही विषय हैं। वे ही आप स्वयं यहाँ आकर दर्शन दिये और मैंने प्रत्यक्ष देखा। यह आपने मुझपर अत्यन्त कृपा की।

विशेष—(१) 'मिला असुर विराध'... ...'—'मग जाता'—यह रास्ते में सभीको लगता था; यथा—"हठि सब ही के पंथहि लागा।" (बा॰ दो॰ १८१); वही भाव यहाँ है। 'रघुबीर'—वीर हैं, तभी उसे आते ही मार डाला। 'आवत ही'—श्रीगोस्वामीजी के कल्प में विराध श्रीसीताजी को छू भी न सका, क्योंकि रावण भी इनकी छाया (माया-सीता) को ही हरण कर सका था, उन्हें विराध कैसे छू पाता? 'निपाता'—यह शब्द ऐसा रक्खा गया है कि वह जिस-जिस तरह से मारा गया है, सब आ जाय।

वाल्मीकीय रामायण आ॰ स॰ ३+४ में विराध ने अपनी कथा श्रीरामजी से कही है—"कि मैं जव राक्षस का पुत्र हूँ, शत हृदा मेरी माता का नाम है और मेरा नाम विराध है। ब्रह्मा को प्रसन्न करके मैंने यह वर पाया है कि मैं शस्त्र से न मारा जाऊँ और न मेरा कोई अंग ही कटे। (मैं ऋषियों के मांस खाते हुए विचरता हूँ, सर्ग २) (फिर अपने वध का निश्चय जानकर उसने कहा है कि) हे काकुत्स्थ! आपने मुझे मारा, यह अब मैं जान गया, पहले मोहवश न जाना था। मैं पहले तुम्बरु नामक गंधर्व था, रंभा में आसक्त होने और समय पर कुवेर की सेवा में न पहुँचने से उन्होंने मुझे शाप दिया था, जिससे मैंने राक्षसी तन पाया। मेरी प्रार्थना पर प्रसन्न होकर कुवेरजी ने कहा कि जब श्रीरामजी रण में तेरा वध करेंगे, तब फिर तू इसी अपने रूप को पाकर स्वर्ग में आवेगा। आज आपकी कृपा से मैं उस भयानक शाप से मुक्त हुआ। अब मैं अपने लोक को जाता हूँ, मेरा शरीर गढ़े में तोपकर आप शरभंगजी के आश्रम को जायँ। जो राक्षस गाड़े जाते हैं, उन्हें श्रेष्ठ लोक प्राप्त होता है, यही राक्षसों का सनातन धर्म है।" फिर वहीं पर गढ़ा खोदकर श्रीलक्ष्मणजी ने जीता ही उसे गाड़ दिया।

(२) 'तुरतहि रुचिर रूप तेहि पावा।...'—यह रुचिर रूप उसका पूर्व का गंधर्व-रूप है। 'निजधाम'—उपर्युक्त शाप की कथा के अनुसार उसका निजधाम अर्थात् गंधर्वलोक, जहाँ से वह च्युत हुआ था, वहीं भेज दिया गया; यथा—"रघुपति चरन-कमल सिर नाई। गयउ गगन आपनि गति पाई॥" (दो॰ ३३);—कबंध, "बंदि राम पद बारहिं बारा। मुनि निज आश्रम कहँ पगु धारा॥" (सुं॰ दो॰ ५१);—शुक।

अनसूया-आश्रम से दक्षिण दो मील पर आगे विराध कुंड मिलता है, यह स्थल घोर जंगल में बड़ा चौड़ा गहरा कटे हुए पत्थर में है, बड़ा भयंकर है। जिसे ३-४ गज बाहर से ही कोई भी देख सकता है। उसके नीचे वह भूमि के उगे हुए बड़े बड़े वृक्षों के हरे पत्ते ही देख पड़ते हैं।

शरभंग-देह त्याग-प्रकरण

पुनि आये जहँ मुनि सरभंगा। सुंदर अनुज जानकी संगा॥८॥

दोहा—देखि राम मुखपंकज, मुनिबर लोचन भृंग।
सादर पान करत अति, धन्य जन्म सरभंग॥७॥

शब्दार्थ—सरभंग(शर = चिता) = चिता में शरीर भंग किया, इससे शरभंग नाम पड़ा।

अर्थ—फिर सुन्दर भाई और श्रीजानकीजी के साथ वहाँ आये, जहाँ शरभंग मुनि थे॥८॥ श्रीरामजी का मुखकमल देखकर मुनि-श्रेष्ठ के नेत्र रूपी भौंरे (छवि-रूपी मकरंद को) सादर पान कर रहे हैं, शरभंगजी का जन्म धन्य है॥७॥

विशेष—(१) 'पुनि आये जहँ ···'—'पुनि' शब्द से दूसरा प्रसंग प्रारंभ हुआ। श्रीवाल्मीकिजी, श्रीअत्रिजी और श्रीअगस्त्यजी के यहाँ अगवानी का बर्त्ताव हुआ, पर यहाँ नहीं, क्योंकि विराध के कारण इधर की राह बंद थी। इधर का कोई आदमी उधर नहीं जाता था, इससे इन्हें समाचार ही नहीं मिला। इसलिये ये आगे बढ़कर लेने नहीं आये।

'सुंदर अनुज ···'—श्रीवाल्मीकिजी ने लिखा है कि विराध-वध करके श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी सूर्य और चन्द्रमा की तरह शोभित हुए (वा० स० ४।१४); यही भाव यहाँ 'सुंदर' शब्द में है।

(२) 'सादर पान करत अति ···'—भौंरा रस पीता है, अतः यहाँ छवि-रूपी रस का अध्याहार कर लेना चाहिये; यथा—"अरबिंद सो आनन रूप मरंद अनंदित लोचन भृंग पिये।" (क० बा० १); 'अति धन्य'—"सुकृती पुण्यवान् धन्य." अर्थात् ये मुनि सुकृती हैं। इसीसे इन्हें ऐसे दर्शन हुए; यथा—"जिन्ह जानकी राम छबि देखी। को सुकृती हम सरिस बिसेखी॥" (बा० दो० ३०१), "को जानै केहि सुकृति सयानी। नयन अतिथि कीन्हे बिधि आनी॥" (बा० दो० २३२); "फिरि-फिरि प्रभुहिं बिलोकिहउँ, धन्य न मो सम आन॥" (दो० १९)। और ऋषियों का जन्म धन्य है, इनका अति धन्य है।

कह मुनि सुनु रघुबीर कृपाला। संकर - मानस - राज - मराला॥१॥
जात रहेउँ बिरंचि के धामा। सुनेउँ श्रवन बन ऐहहिं रामा॥२॥
चितवत पंथ रहेउँ दिन - राती। अब प्रभु देखि जुड़ानी छाती॥३॥
नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना॥४॥
सो कछु देव न मोहि निहोरा। निज पन राखेहु जन-मन-चोरा॥५॥

अर्थ—मुनि ने कहा कि हे कृपालु! हे रघुबीर! हे शिवजी के हृदय-रूपी मानससरोवर के राजहंस! सुनिये! ॥१॥ मैं ब्रह्मलोक को जाता था, कानों से सुना कि श्रीरामजी वन में आवेंगे॥२॥ दिन-रात आपका मार्ग देखता रहा, हे प्रभो! अब आपको देखकर छाती ठंढी हुई॥३॥ हे नाथ! मैं सब साधनों से हीन हूँ, आपने मुझे अपना दीन सेवक जानकर कृपा की है॥४॥ हे देव! यह (कृपा करना) कुछ मुझपर आभार (अनुग्रह) नहीं है, हे भक्तों के मन को चुरानेवाले! आपने अपना प्रण रक्खा है॥५॥

विशेष—(१) 'कह मुनि सुनु रघुबीर ···'—'रघुबीर'—आप कृपा के आलय और विद्यावीर एवं पराक्रम वीर हैं, तभी विराध को मारा; यथा—"खर दूषन बिराध बध पंडित।" (उ० दो० ५०); नहीं तो वह किसी भी अस्त्र शस्त्र से मरता ही न था। इस कार्य में मुनियों पर दया-वीरता भी है। कृपा-गुण से मुझे दर्शन दिये, नहीं तो किसी और ही मार्ग से चले जाते। 'संकर मानस राज मराला'—यहाँ 'मानस' शब्द में श्लेष है। ऐसा न लेने से रूपक अधूरा रह जाता है; यथा—"जय महेस मन मानस हंसा।" (बा० दो० २८४); "जो भुसुंडि मन मानस हंसा।" (बा० दो० १४५); इत्यादि में मानस से भिन्न 'मन' कहा गया है, पर यहाँ नहीं है, इसका आशय आगे 'जन मन चोरा' से स्पष्ट है कि मन चुरा लिया गया है। हंस की प्राप्ति मानसर में ही होती है, वैसे आप श्रीशिवजी के ध्यान के ही विषय हैं। वे ही आप स्वयं यहाँ आकर दर्शन दिये और मैंने प्रत्यक्ष देखा। यह आपने मुझपर अत्यन्त कृपा की।

(२) 'जाय रहेउँ बिरंचि के धामा ।...'—ब्रह्मलोक-जाने की कथा वाल्मीकीय आ० स० ५ में कही गई है— श्रीरामजी ने शरभंगजी के आश्रम को जाते हुए एक अद्भुत चरित देखा कि हरे घोड़ों के रथ पर सवार, देवांगनाओं से सेवित इन्द्र आकाश में दीप्तिमान है। देव-गंधर्व उसकी स्तुति कर रहे हैं और वह शरभंगजी से बातें कर रहा है। श्रीरामजी को आते देखकर इन्द्र शीघ्र वहाँ से चल दिया कि अभी श्रीरामजी न देख पावें, रावण-वध के पीछे दर्शन करूँगा। तब श्रीरामजी मुनि के पास आये। स्वागत हो जाने पर श्रीरामजी ने इन्द्र के आने का कारण पूछा। तब मुनि ने कहा कि मैंने अपनी उग्र तपस्या से ब्रह्मलोक जीत लिया है। इन्द्र मुझे वहाँ ले जाने के लिये आये थे, पर जब मैंने सुना कि आप समीप आ गये हैं, तब मैंने यह निश्चय किया कि आप सरीखे अतिथि के दर्शन बिना ब्रह्मलोक न जाऊँगा।

(३) 'चितवत पंथ रहेउँ...'—बहुत काल से राह देखता था, अब आपके दर्शन पाने से छाती ठंढी हुई; यथा—"देखि राम छवि नयन जुड़ाने।" (दो० १); यह भी दिखाया कि ब्रह्मलोक की प्राप्ति से श्रीरामजी के दर्शन बहुत श्रेष्ठ हैं।

(४) 'नाथ सकल साधन मैं हीना...'; यथा—"मन ज्ञान गुन गोतीत प्रभु मैं दीख जप तप का किये।" (दो० ९); वही भाव यहाँ भी है। इनके साधन तो बहुत थे, उन्हींसे इन्होंने ब्रह्मलोक-पर्यन्त जीत लिया था। फिर भी अपनेको सब साधन-हीन कहते हैं, क्योंकि प्रभु के दर्शनों की अपेक्षा सब साधन नहीं के समान हैं; अर्थात् अति अल्प हैं। साधन परिमित होते हैं और प्रभु अपरिमित हैं। अतः, उनकी प्राप्ति उन्हीं की कृपा से होती है, साधनों से नहीं। कृपा का अधिकारी दीन है। इसलिये कहते हैं—"कीन्हीं कृपा जानि जन दीना।" कहा भी है—"जब लगि मैं न दीन दयालु तैं मैं न दास तैं स्वामी॥" (वि० ११३)।

(५) 'निज पन राखेहु जन मन चोरा।'—दर्शन देने का मैं कृतज्ञ नहीं हूँ, क्योंकि यह तो आपका प्रण ही है; यथा—"येहि दरबार दीन को आदर, रीति सदा चलि आई।" (वि० १६५); अतः आप अपने स्वभाव से ही ऐसा करते हैं। 'जन मन चोरा'—यहाँ तो यह प्रत्यक्ष हो गया कि शिवजी के मन को चुरा लिया, कवि को खोजे न मिला, इसलिये उन्होंने 'मानस' के ही श्लेष से काम चलाया। पहले 'संकर मानस राज मराला।' कहकर तब 'जन मन चोरा' कहा गया, क्योंकि चोरी खोलनी थी। मन ही चंचलता का कारण है। आप कृपा करके उसे ही चुरा लेते हैं कि भक्ति एक-रस हो। 'देव' अर्थात् आप सबके नियंता एवं समर्थ हैं।

तब लगि रहहु दीन हित लागी। जब लगि मिलउँ तुम्हहिं तनु त्यागी ॥६॥
जोग जज्ञ जप तप व्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा ॥७॥
येहि बिधि सर रचि मुनि सरभंगा। बैठे हृदय छाड़ि सब संगा ॥८॥

दोहा—सीता अनुज समेत प्रभु, नील जलद तनु श्याम।
मम हिय बसहु निरंतर, सगुन रूप श्रीराम ॥८॥

अर्थ—जबतक आप मुझ दीन के हित के लिये यहाँ रहिये, जबतक मैं शरीर छोड़कर आपसे (न)

मिलूँ ॥६॥ योग, यज्ञ, जप, तप जितने किये थे, वे सब प्रभु को समर्पण करके भक्ति का वरदान माँग लिया ॥७॥ इस प्रकार चिता रचकर शरभंगजी हृदय से सब आसक्ति छोड़कर उसपर बैठे ॥८॥ श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ नील मेघ के-से श्याम शरीरवाले सगुण-रूप श्रीरामजी (आप) मेरे हृदय में निरंतर (सदा) वास कीजिये ॥८॥

विशेष—(१) 'तब लगि रहहु···'—जैसे दीन को कृपा करके दर्शन दिये वैसे कुछ और ठहरिये। ठहरने के लिये निहोरा भी करते हैं कि इतना और मेरी प्रार्थना से कीजिये; यथा—"एष पन्था नरव्याघ्र ! मुहूर्तं पश्य तात माम्। यावज्जहामि गात्राणि जीर्णां त्वचमिवोरगः॥" (वाल्मी० ३।५।३७)।

(२) 'जोग जज्ञ जप तप व्रत कीन्हा। ···'—पहले इन्हें सुकृत और उनके फल-रूप लोकों की वासना थी, किन्तु श्रीरामजी के दर्शनों से वह धुल गई। इसलिये उनसबों को भक्ति के लिये समर्पण कर दिया; यथा—"सब करि मागहिं एक फल, राम चरन रति होउ।" (अ० दो० १२९); ऐसे ही विभीषणजी ने भी कहा है—"उर कछु प्रथम वासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥ अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु···" (सुं० दो० ४८)।

(३) 'येहि विधि सर रचि···'—स्थूल चिता-रचना के साथ ही सब साधन-रूपी लकड़ियों की भी चिता बना ली कि जल जायँ, फिर उनकी वासना न रह जाय। 'छाड़ि सब संगा'—क्योंकि हृदय में और भी वासना-रूपी विकारों के रहते प्रभु नहीं बसते; यथा—"जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत।" (वि० १८५); इसलिये सुकृत एवं तज्जन्य लोकों की वासना तथा और भी भावाभाव की आसक्ति छोड़ बैठे।

(४) 'सीता अनुज समेत प्रभु··'—भाव यह कि निर्गुण रूप से सदा बसते ही हैं; यथा—"सबके उर अंतर बसहु, जानहु भाव कुभाउ।" (अ० दो० २५७), ऐसे ही हमारे हृदय में भी हैं, पर अब सगुण-रूप से बसिये। जलद आकाश में रहता है, यहाँ हृदय ही आकाश है। मेघ के साथ दामिनि रहती है, यहाँ श्रीसीताजी श्रीलक्ष्मणजी साथ हैं। वहाँ दामिनि निरंतर नहीं रहती, पर यहाँ निरंतर साथ रहने को माँगते हैं।

अस कहि जोग अगिन तनु जारा। रामकृपा बैकुंठ सिधारा ॥१॥
ताते मुनि हरि-लीन न भयऊ। प्रथमहि भेद भगति बर लयऊ ॥२॥
रिषि-निकाय मुनिबर-गति देखी। सुखी भये निज हृदय बिसेखी ॥३॥
अस्तुति करहिं सकल मुनिबृंदा। जयति प्रनतहित करुना-कंदा ॥४॥

अर्थ—ऐसा कहकर योगाग्नि में शरीर जला दिया और श्रीरामजी की कृपा से वैकुंठ को चल दिये ॥१॥ इससे मुनि भगवान् में लीन न हुए; क्योंकि उन्होंने प्रथम ही भेद-भक्ति का वर माँग लिया था ॥२॥ ऋषि समूह मुनिश्रेष्ठ शरभंगजी की यह (श्रेष्ठ) गति देखकर अपने हृदय में विशेष सुखी हुए ॥३॥ सभी मुनि-वृन्द स्तुति कर रहे हैं—"शरणागत-हितकारी करुणाकर प्रभु की जय हो" ॥४॥

विशेष—(१) 'राम कृपा बैकुंठ सिधारा।'—मुनि ने अपने सब साधन तो भक्ति के बदले में दे दिये, तब भक्ति के अनुसार ही भगवान् के सगुण रूप का ध्यान माँगा। भक्तों को बैकुंठवास मि

(२) 'जात रहेउँ बिरंचि के धामा। ...'—ब्रह्मलोक-जाने की कथा वाल्मीकीय आ० स० ५ में कही गई है—श्रीरामजी ने शरभंगजी के आश्रम को जाते हुए एक अद्भुत चरित देखा कि हरे घोड़ों के रथ पर सवार, देवांगनाओं से सेवित इन्द्र आकाश में दीप्तिमान है। देव-गंधर्व उसकी स्तुति कर रहे हैं और वह शरभंगजी से बातें कर रहा है। श्रीरामजी को आते देखकर इन्द्र शीघ्र वहाँ से चल दिया कि अभी श्रीरामजी न देख पावें, रावण-वध के पीछे दर्शन करूँगा। तब श्रीरामजी मुनि के पास आये। स्वागत हो जाने पर श्रीरामजी ने इन्द्र के आने का कारण पूछा। तब मुनि ने कहा कि मैंने अपनी उग्र तपस्या से ब्रह्मलोक जीत लिया है। इन्द्र मुझे वहाँ ले जाने के लिये आये थे, पर जब मैंने सुना कि आप समीप आ गये हैं, तब मैंने यह निश्चय किया कि आप सरीखे अतिथि के दर्शन बिना ब्रह्मलोक न जाऊँगा।

(३) 'चितवत पंथ रहेउँ ...'—बहुत काल से राह देखता था, अब आपके दर्शन पाने से छाती ठंढी हुई; यथा—"देखि राम छबि नयन जुड़ाने।" (दो० २); यह भी दिखाया कि ब्रह्मलोक की प्राप्ति से श्रीरामजी के दर्शन बहुत श्रेष्ठ हैं।

(४) 'नाथ सकल साधन मैं हीना ...'; यथा—"मन ज्ञान गुन गोतीत प्रभु मैं दीख जप तप का किये।" (दो० ६); वही भाव यहाँ भी है। इनके साधन तो बहुत थे, उन्हींसे इन्होंने ब्रह्मलोक-पर्यन्त जीत लिया था। फिर भी अपनेको सब साधन-हीन कहते हैं, क्योंकि प्रभु के दर्शनों की अपेक्षा सब साधन नहीं के समान हैं; अर्थात् अति अल्प हैं। साधन परिमित होते हैं और प्रभु अपरिमित हैं। अतः, उनकी प्राप्ति उन्हीं की कृपा से होती है, साधनों से नहीं। कृपा का अधिकारी दीन है। इसलिये कहते हैं—"कीन्ही कृपा जानि जन दीना।" कहा भी है—"जब लगि मैं न दीन दयाल तैं मैं न दास तैं स्वामी॥" (वि० ११३)।

(५) 'निज पन राखेहु जन मन चोरा।'—दर्शन देने का मैं कृतज्ञ नहीं हूँ, क्योंकि यह तो आपका प्रण ही है; यथा—"येहि दरबार दीन को आदर, रीति सदा चलि आई।" (वि० १६५); अतः आप अपने स्वभाव से ही ऐसा करते हैं। 'जन मन चोरा'—यहाँ तो यह प्रत्यक्ष हो गया कि शिवजी के मन को चुरा लिया, कवि को खोजे न मिला, इसलिये उन्होंने 'मानस' के ही श्लेष से काम चलाया। पहले 'संकर मानस राज मराला।' कहकर तब 'जन मन चोरा' कहा गया, क्योंकि चोरी खोलनी थी। मन ही चंचलता का कारण है। आप कृपा करके उसे ही चुरा लेते हैं कि भक्ति एक-रस हो। 'देव' अर्थात् आप सबके नियंता एवं समर्थ हैं।

तब लगि रहहु दीन हित लागी। जब लगि मिलउँ तुम्हहिं तनु त्यागी॥६॥
जोग जज्ञ जप तप व्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा॥७॥
येहि बिधि सर रचि मुनि सरभंगा। बैठे हृदय छाड़ि सब संगा॥८॥

दोहा—सीता अनुज समेत प्रभु, नील जलद तनु श्याम।
मम हिय बसहु निरंतर, सगुन रूप श्रीराम॥८॥

अर्थ—तबतक आप मुझ दीन के हित के लिये यहाँ रहिये, जबतक मैं शरीर छोड़कर आपसे (न)

मिलूँ ॥६॥ योग, यज्ञ, जप, तप जितने किये थे, वे सब प्रभु को समर्पण करके भक्ति का वरदान माँग लिया ॥७॥ इस प्रकार चिता रचकर शरभंगजी हृदय से सब आसक्ति छोड़कर उसपर बैठे ॥८॥ श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ नील मेघ के-से श्याम शरीरवाले सगुण-रूप श्रीरामजी (आप) मेरे हृदय में निरंतर (सदा) वास कीजिये ॥८॥

विशेष—(१) 'तब लगि रहहु···'—जैसे दीन को कृपा करके दर्शन दिये वैसे कुछ और ठहरिये। ठहरने के लिये निहोरा भी करते हैं कि इतना और मेरी प्रार्थना से कीजिये; यथा—"एष पन्था नरव्याघ्र ! मुहूर्तं पश्य तात माम्। यावज्जहामि गात्राणि जीर्णां त्वचमिवोरगः॥" (वाल्मी० ३।५।३७)।

(२) 'जोग जज्ञ जप तप व्रत कीन्हा।···'—पहले इन्हें सुकृत और उनके फल-रूप लोकों की वासना थी, किन्तु श्रीरामजी के दर्शनों से वह धुल गई। इसलिये उनसबों को भक्ति के लिये समर्पण कर दिया; यथा—"सब करि मागहिं एक फल, राम चरन रति होउ।" (अ० दो० १२६); ऐसे ही विभीषणजी ने भी कहा है—"उर कछु प्रथम वासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥ अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु···" (सुं० दो० ४८)।

(३) 'येहि बिधि सर रचि···'—स्थूल चिता-रचना के साथ ही सब साधन-रूपी लकड़ियों की भी चिता बना ली कि जल जायँ, फिर उनकी वासना न रह जाय। 'छाड़ि सब संगा'—क्योंकि हृदय में और भी वासना-रूपी विकारों के रहते प्रभु नहीं बसते; यथा—"जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत।" (वि० १८५); इसलिये सुकृत एवं तज्जन्य लोकों की वासना तथा और भी भावाभाव की आसक्ति छोड़ बैठे।

(४) 'सीता अनुज समेत प्रभु···'—भाव यह कि निर्गुण रूप से सदा बसते ही हैं; यथा—"सबके उर अंतर बसहु, जानहु भाव कुभाव।" (अ० दो० २५७), ऐसे ही हमारे हृदय में भी हैं, पर अब सगुण-रूप से बसिये। जलद आकाश में रहता है, यहाँ हृदय ही आकाश है। मेघ के साथ दामिनि रहती है, यहाँ श्रीसीताजी श्रीलक्ष्मणजी साथ हैं। वहाँ दामिनि निरंतर नहीं रहती, पर यहाँ निरंतर साथ रहने को माँगते हैं।

अस कहि जोग अगिन तनु जारा। रामकृपा बैकुंठ सिधारा ॥१॥
ताते मुनि हरि-लीन न भयऊ। प्रथमहि भेद भगति बर लयऊ ॥२॥
रिषि-निकाय मुनिबर-गति देखी। सुखी भये निज हृदय बिसेखी ॥३॥
अस्तुति करहिं सकल मुनिबृंदा। जयति प्रनतहित करुना-कंदा ॥४॥

अर्थ—ऐसा कहकर योगाग्नि में शरीर जला दिया और श्रीरामजी की कृपा से वैकुंठ को चल दिये ॥१॥ इससे मुनि भगवान् में लीन न हुए; क्योंकि उन्होंने प्रथम ही भेद-भक्ति का वर माँग लिया था ॥२॥ ऋषि समूह मुनिश्रेष्ठ शरभंगजी की यह (श्रेष्ठ) गति देखकर अपने हृदय में विशेष सुखी हुए ॥३॥ सभी मुनि-वृन्द स्तुति कर रहे हैं—"शरणागत-हितकारी करुणाकंद प्रभु की जय हो" ॥४॥

विशेष—(१) 'राम कृपा बैकुंठ सिधारा।'—मुनि ने अपने सब साधन तो भक्ति के बदले में दे दिये, तब भक्ति के अनुसार ही भगवान् के सगुण रूप का ध्यान माँगा। भक्तों को वैकुंठवास मिलता है,

यथा—"यान्ति मद्याजिनोऽपिमाम् ।" (गीता ९।२५); इसीसे वैकुंठ गये । भगवान् अमेय वैभववाले हैं, इससे परिमित साधनों के फल-रूप नहीं हैं, अतएव उनकी ही कृपा से उनकी प्राप्ति कही गई । उनके दर्शन भी उनकी ही कृपा से हुए ; यथा—"कीन्हीं कृपा जानि जन दीना ।" और वैकुंठ की प्राप्ति भी ; यथा—"राम कृपा वैकुंठ सिधारा ।"

(२) 'ताते मुनि हरि लीन···'—पहले लीन होने की इच्छा थी, जैसे कि योगाग्नि से शरीर त्यागने पर कैवल्य-मुक्ति मिलती है ; जिसे 'सोहमस्मि-वृत्ति' से साक्षात्कार करने का विधान उत्तरकांड के ज्ञान-दीपक में कहा गया है । पर जब श्रीरामजी के दर्शन हुए तब इनके दर्शनानंद के आगे उस मुक्ति के सुख को फीका समझकर इसी रूप की नित्य-प्राप्ति के लिये वैसा ध्यान माँगा ; यथा—"जिन्हके मन मगन भये हैं रस सगुन, तिन्हके लेखे अगुन मुकुति कवनि ।" (गी० आ० ५) ; फिर उसी निश्चय के अनुसार गति हुई; यथा—"क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत ॥" (छां० ३।१४।१); अर्थात् यह पुरुष निश्चयमय है, इस लोक में पुरुष जैसा निश्चयवाला होता है, वैसा ही यहाँ से जाकर होता है, इसलिये वह यहीं पक्का निश्चय करे ; तथा—"यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यंते कलेवरम् । तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥" (गीता ८।६); 'प्रथमहि भेद भगति बर लयऊ ।'—कैवल्य मुक्ति में अभेदत्व है; यथा—"सो तं ताहि तोहि नहि भेदा । बारि बीचि इव गावहि वेदा ॥" (उ० दो० ११०); क्योंकि उसमें 'अहं ब्रह्मास्मि' की अभेद भावना होती है, जिससे ब्रह्म की साधर्म्य प्राप्ति को तल्लीन होना कहा जाता है । पर इन्होंने सगुण-रूप की ध्यान-पूर्वक भेद-भक्ति माँगी कि जिसमें परिकर रूप से भगवान् के साथ रहें ; यथा—"सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता ॥" (तै० २।१), सगुण-उपासक कैवल्य मोक्ष नहीं चाहते ; यथा—"सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं । तिन्ह कहँ राम भगति निज देहीं ॥ ताते उमा मोच्छ नहि पावा । दसरथ भेद भगति मन लावा ॥" (लं० दो० ११०) ।

(३) 'रिषि-निकाय मुनिवर-गति देखी ।'—'गति देखी'—हरिरूप धारण किये हुए वैकुंठ जाते सबने देखा, जैसा कि गृध्रराज के प्रसंग में कहा गया है—"गीध देह तजि धरि हरिरूपा । भूषन बहु पटपीत अनूपा ॥···" (दो० ३१); इत्यादि । 'सुखी भए ···'—पहले ब्रह्मलोक-यात्रा पर ही सुखी हुए थे, अब वैकुंठ जाते देखकर विशेष सुखी हुए । यह भी दिखाया कि शरभंगजी सर्व-प्रिय थे । इसीसे इनकी उत्तम गति पर सबने आनंद माना ।

(४) 'अस्तुति करहिं···'—उपर्युक्त 'रिषि निकाय' और यहाँ के 'मुनिवृंदा' से वाल्मीकीय आ० स० ६ में कहे हुए अनेक वृत्तिवाले ऋषियों को सूचित किया । पुनः 'प्रनतहित करुना कंदा' से वहाँ की स्तुति भी सूचित की; यथा—"ततस्त्वां शरणार्थं च शरण्यं समुपस्थिताः । परिपालय नो राम वध्यमानान्निशाचरैः ॥ परा त्वत्तो गतिर्वीर पृथिव्यां नोपपद्यते । परिपालय नः सर्वान्राक्षसेभ्यो नृपात्मज ॥" (वाल्मी० ३।६।२०–२१) । इन श्लोकों से मुनियों ने प्रणत हो कर अपने हित के लिये प्रभु से करुणा करने के लिये स्तुति की है ।

"बरनि सुतीछन प्रीति पुनि"—प्रकरण

पुनि रघुनाथ चले बन आगे । मुनिबर - बृंद बिपुल सँग लागे ॥५॥
अस्थि - समूह देखि रघुराया । पूछी मुनिन्ह लागि अति दाया ॥६॥

जानत हूँ पूछिय कस स्वामी। सबदरसी तुम्ह अंतरजामी ॥७॥
निसिचर-निकर सकल मुनि खाये। सुनि रघुबीर नयन जल छाये ॥८॥

दोहा—निसिचर हीन करउँ महि, भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि, जाइ जाइ सुख दीन्ह ॥९॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी फिर आगे वन को चले, मुनि-श्रेष्ठों के बहुत-से समूह साथ हो लिये ॥५॥ हड्डियों के ढेर देखकर श्रीरघुनाथजी को बड़ी दया लगी और उन्होंने मुनियों से पूछा (कि यह हड्डियों का ढेर कैसा है ?) तब मुनियों ने कहा कि हे स्वामी ! आप सर्वदर्शी और अंतर्यामी हैं, अतः जानते हुए भी कैसे पूछते हैं ? ॥६-७॥ निशाचर-समूह ने सब मुनियों को खा डाला है (उन्हीं मुनियों की हड्डियों का यह ढेर है), यह सुनकर रघुवीर श्रीरामजी के नेत्रों में जल भर आया ॥८॥ (तब श्रीरामजी ने) भुजा उठाकर प्रतिज्ञा की कि मैं पृथिवी को राक्षसों से रहित कर दूँगा। पुनः आपने समस्त मुनियों के आश्रमों में जा-जाकर सबको सुख दिया ॥९॥

विशेष—(१) 'पुनि रघुनाथ चले···'—'पुनि' शब्द से दूसरे प्रसंग का प्रारंभ जनाया कि श्रीअत्रिजी के यहाँ से चलकर शरभंगजी के यहाँ कुछ ठहरे थे ; यथा—"तब लगि रहहु दीन हित लागी।" (दो० ७); अब पुनः श्रीरामजी श्रीसुतीक्ष्णजी के वन को चले।

(२) 'मुनिबर बृंद बिपुल सँग लागे।'—क्यों संग लगे ? (क) आगे के अस्थि-समूह दिखाने और दुःख सुनाने को उसी राह से लिवा ले चले ; यथा—"एतदर्थं महातेजा महेन्द्रः पाकशासनः॥ शरभंगाश्रमं पुण्यमाजगाम पुरंदर.। आनीतस्त्वमिमं देशमुपायेन महर्षिभिः॥" (वाल्मी० ३।१०।१४-१५); अर्थात् अगस्त्यजी ने श्रीरामजी से कहा है कि··· इन्हीं पापी राक्षसों के वध के लिये, आपको महर्षि लोग उपाय करके इधर लाये हैं। (ख) अपने-अपने आश्रमों पर ले जाने और आतिथ्य सत्कार करने के लिये ; यथा—"सकलमुनिन्ह के आश्रमन्हि, जाइ जाइ सुख दीन्ह।" यह आगे कहा है। (ग) कुछ पहुँचाने और इसी मिस से शोभा देखने के लिये भी ; यथा—"रामहिं देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहिं सँग लागे॥" (अ० दो० ११३)।

पूर्व श्रीचित्रकूट से अत्रि-आश्रम तक बहुत मुनि थे ; यथा—"सकल मुनिन्ह सन बिदा कराई।" (दो० २); फिर बीच में विराध के भय से न रहते थे। इधर शरभंगाश्रम से अगस्त्य-आश्रम तक भी बहुत रहते हैं, इसीसे 'बृंद बिपुल' कहा गया है।

(३) 'अस्थि समूह देखि···'—एक-दो हड्डियाँ होतीं तो स्वाभाविक जानकर न पूछते। समूह देखकर ही पूछा, क्योंकि यह देखकर 'अति दाया' लगी। पुनः पूछकर नीति का पालन भी किया, क्योंकि बिना अपराध प्रकट किये किसीको दंड न देना चाहिये, राज-नीति-पालन के सम्बन्ध से 'रघुराया' कहा।

(४) 'सबदरसी सब अंतरजामी'—'सबदरसी' से जनाया कि जो कुछ हुआ आप जानते ही हैं। 'अंतरजामी' से सबके भीतर की बात भी जानना सूचित किया कि हमलोग जो चाहते हैं, यह भी आप जानते

ही हैं। 'नयनजल छाये'—अर्थात् करुणा का उदय हुआ, जिससे तुरत आश्रितों के दुःख दूर करते हैं, यथा—"जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिबिध दुख ते निर्बहे।" (उ० दो० १२)।

(५) 'निसिचर हीन करउँ महि, भुज ⋯'—पृथिवी-भर को निशाचर-हीन करने के लिये कहा, क्योंकि—"निसिचर निकर सकल मुनि खाये।" यह सुन चुके हैं। 'भुजउठाइ'—ऐसी प्रतिज्ञा की रीति है, इससे दृढ़ता एवं सत्यता प्रकट की जाती है; यथा—"चल न ब्रह्म कुल सन बरियाई। सत्य कहउँ दोउ भुजा उठाई॥" (बा० दो० १६७); "प्रन बिदेह कर कहहि हम, भुजा उठाइ बिसाल॥" (बा० दो० २४९), इस तरह मुनियों को दृढ़ भरोसा दिया।

(६) 'जाइ जाइ सुख दीन्ह'—जिसकी जैसी अधिक अभिलाषा थी, उसके यहाँ उतने अधिक दिन रहे। सबके यहाँ ठहरते हुए १० वर्ष बिता दिये; कहीं १० मास, कहीं एक वर्ष, कहीं ४ महीने और कहीं ३, ५, ६ महीने रहे। किसी के यहाँ दोबारा भी गये, वह भी 'जाइ-जाइ' कहकर जना दिया। वाल्मी० ३।११। २२–२७ में विस्तार से कहा है, यह सब कुछ इतने ही में जना दिया।

मुनि अगस्ति कर सिष्य सुजाना। नाम सुतीछन रति भगवाना॥१॥
मन-क्रम-बचन राम-पद-सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक॥२॥
प्रभु-आगवन श्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा॥३॥
हे बिधि दीनबंधु रघुराया। मो से सठ पर करिहहिं दाया॥४॥
सहित अनुज मोहि राम गोसाईं। मिलिहहिं निज सेवक की नाईं॥५॥
मोरे जिय भरोस दृढ़ नाहीं। भगति बिरति न ज्ञान मन माहीं॥६॥
नहिं सतसंग जोग जप जागा। नहि दृढ़ चरन-कमल अनुरागा॥७॥

शब्दार्थ—आतुर=शीघ्रता, तीव्र उत्कंठा से। देवक=देव का; 'क' मिथिला प्रांत का प्रत्यय है।

अर्थ—अगस्त्य मुनि का सुजान शिष्य जिसका नाम सुतीक्ष्ण था, जिनकी भगवान् में प्रीति थी॥१॥ वे मन, वचन, कर्म से श्रीरामजी के सेवक थे। उन्हें स्वप्न में भी किसी दूसरे देवता का भरोसा नहीं था॥२॥ उन्होंने प्रभु का आगमन जैसे ही सुना वैसे ही मनोरथ करते हुए शीघ्रता से दौड़ पड़े॥३॥ हे विधाता! क्या दीनबंधु श्रीरघुनाथजी मुझ से शठ पर दया करेंगे?॥४॥ गोस्वामी श्रीरामजी भाई श्रीलक्ष्मणजी के साथ मुझसे अपने निज (खास) सेवक की तरह मिलेंगे?॥५॥ मेरे जी में दृढ़ भरोसा नहीं है, (क्योंकि) हृदय में भक्ति, वैराग्य और ज्ञान कुछ भी नहीं है॥६॥ न सत्संग, जोग, जप, यज्ञ ही है और न (स्वामी के) चरण-कमलों में दृढ़ अनुराग ही है॥७॥

विशेष—(१) 'मुनि अगस्ति कर ⋯'—गुरु संबंध कहकर विरक्ति सूचित करते हुए उनकी बड़ाई की। 'नाम सुतीछन'—अगस्त्यजी के बहुत-से शिष्य हैं, उनमें ये श्रीसुतीक्ष्ण नाम के हैं, क्योंकि इनकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण (सूक्ष्मदर्शिनी) है। फिर गुण कहते हैं—'रति भगवाना'। भगवान् के किस रूप के उपासक हैं और कैसी वृत्ति के हैं? यह—'मन क्रम बचन राम-पद-सेवक।' कहकर स्पष्ट किया। 'सपनेहुँ आन⋯' से इनकी अनन्यता कही; यथा—"मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहा बिस्वासा॥"(उ० दो० ४५)।

(२) 'प्रभु आगवन श्रवन ···'—'धावा' मात्र कहा गया, इससे जान पड़ता है कि वे आगमन सुनते समय खड़े थे, वैसे ही दौड़ पड़े। बैठे होते तो उठना कहा जाता ; यथा—"पुलकित गात अत्रि उठि धाये।" (दो॰ ३); "सुनत अगस्ति तुरत उठि धाये।" (दो॰ ११)। वे लोग बैठे थे, इससे उठकर दौड़े।

(३) 'हे बिधि दीनबंधु···'—मन में विचारते हैं कि यों तो मैं शठ हूँ, पर दीन हूँ और श्रीरघुनाथजी दीनबंधु हैं, इससे ही सम्भव है कि दया करेंगे। हे विधि! यह मनोरथ करने की रीति है। ब्रह्मा विधानकर्त्ता हैं और सबकी बुद्धि के देवता हैं, इससे मनचाही बात इनके समक्ष कही जाती है, इसका यह आशय नहीं है कि वे विधि की उपासना करते हैं।

वाल्मीकिजी के कहे हुए १४ स्थानों में—"गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा ·" (अ॰ दो १३०) के ११ वें स्थान में सुतीक्ष्णजी की इस समय की स्थिति कही जा सकती है।

(४) 'मोरे जिय भरोस···'—यदि कांड-त्रय-सम्पन्न होता तो कुछ आशा भी होती, मैं वैसा भी नहीं हूँ। भक्ति, वैराग्य और ज्ञान कहकर तीनों कांड सूचित किये। क्योंकि विहित कर्म के अनुष्ठान का फल ही वैराग्य है ; यथा—"निज निज करम निरत श्रुति रीती॥ यहिकर फल मन बिषय बिरागा।" (दो॰ १५)।

(५) 'नहिं सतसंग जोग जप जागा।'—ये सब भक्ति के साधन हैं, यथा—"जप जोग धर्म समूह ते नर भगति अनुपम पावईं।" (दो॰ ६); अर्थात् भक्ति-प्राप्ति के साधन मुझमें नहीं हैं। यदि श्रीरामजी के चरणों में दृढ़ अनुराग हो, तो सभी सद्गुण स्वयं आ जाते हैं, वह भी नहीं है। अथवा पूर्वार्द्ध में साधन कहकर उत्तरार्द्ध में स्वाभाविक एवं कृपासाध्य भक्ति का भी निराकरण किया ; यथा—"तामस तनु कछु साधन नाहीं। प्रीति न पदसरोज मन माहीं॥" (सुं॰ दो॰ ६)।

एक बानि करुना - निधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की॥८॥
होइहैं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन-पंकज भव-मोचन॥९॥
निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥१०॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहि बूझा॥११॥
कबहुँक फिरि पाछे पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥१२॥
अबिरल प्रेम - भगति मुनि पाई। प्रभु देखैं तरु - ओट लुकाई॥१३॥

शब्दार्थ—बिदिसि (विदिशा) = चारों कोण—अग्नि, नैऋत्य, वायव्य और ईशान।

अर्थ—करुणानिधान श्रीरघुनाथजी की यह एक (मुख्य) बानि (आदत) है कि जिसे और किसी का आश्रय (एवं भरोसा) नहीं, वह उन्हें प्यारा है॥८॥ जन्म-मरण के छुड़ानेवाले मुखकमल को देखकर आज मेरे नेत्र सुफल होंगे॥९॥ वे ज्ञानी मुनि परिपूर्ण प्रेम में निमग्न हैं, हे भवानी! उनकी वह दशा कही नहीं जा सकती॥१०॥ उन्हें (पूर्व आदि चारों) दिशा, विदिशा और मार्ग (कुछ भी) नहीं सूझते हैं, मैं कौन हूँ, कहाँ जा रहा हूँ—यह भी नहीं जान पड़ता॥११॥ कभी लौटकर फिर पीछे जाने लगते हैं और कभी प्रभु के गुण गा गाकर नाचने लगते हैं॥१२॥ मुनि को अविरल (सघन-अविच्छिन्न प्रेमाभक्ति प्राप्त है, प्रभु वृक्ष की आड़ में छिपकर देख रहे हैं॥१३॥

विशेष—(१) 'एक बानि करुना…'—अर्थात् प्रभु की प्राप्ति में दीनता और अनन्यता ही साधन हैं। दीनता से प्रभु की करुणा होती है और अनन्यता से प्रियत्व। श्रीसुतीक्ष्णजी में ये ही दोनों बातें हैं; यथा—"हे बिधि दीनबंधु रघुराया।…" इसमें अपनी दीनता सूचित की है और—'सपनेहुँ आन भरोस न देवक' एवं—'सो प्रिय जाके गति न आन की।' से अनन्यता कही है। इस बानि का प्रमाण श्रीमुख-वचन है; यथा—"समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ॥" (कि० दो० ३); 'होइहैं सुफल आजु…'; यथा—"करहु सफल सबके नयन, सुंदर बदन देखाइ॥" (बा० दो० २१८); "निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सफल करउँ उरगारी॥" (उ० दो० ७४); आज हमारे नेत्रों के होने का श्रेष्ठ फल मिलेगा। इस कथन से मुनि का प्रभु की बानि में विश्वास और अपनी अनन्यता में उनकी दृढ़ता प्रकट हुई।

(२) 'निर्भर प्रेम मगन…'—मुनि ज्ञानी हैं, इसीसे परिपूर्ण प्रेम है, क्योंकि—"सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू।" (अ० दो० २७१); 'बदन पंकज' के स्मरण करते एवं उसके 'भव मोचन' माहात्म्य को समझकर निर्भर प्रेम में मुनि मग्न हो गये। उस दशा को श्रीशिवजी अकथ्य कहते हैं। श्रीशिवजी प्रेम-दशा के ज्ञाता हैं; यथा—"प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।" (बा० दो० १८४); इसीसे प्रेम-प्रसंग मानों इन्हींके बाँटे पड़ा है; यथा—"बार बार प्रभु चहहिं उठावा। प्रेम मगन तेहि उठब न भावा॥ प्रभु कर पंकज कपि के सीसा। सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा॥" (सुं० दो० ३२); "उमा जोग जप दान तप, नाना ब्रत मख नेम। राम कृपा नहिं करहिं तसि, जसि निष्केवल प्रेम॥" (लं० दो० ११६); "सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई॥" (उ० दो० ४) इत्यादि।

(३) 'दिसि अरु बिदिसि…'—सूझना नेत्रों का विषय है; यथा—"लोचन सहस न सूझ सुमेरू।" (अ० दो० २६४) और बूझना बुद्धि (हृदय) का विषय है; अर्थात् भीतर और बाहर, दोनों प्रकार की इन्द्रियों में विह्वलता है। इनके नेत्र और मन दोनों लुभाये हुए हैं; यथा—"बालक बृंद देखि अति सोभा। लगे संग लोचन मन लोभा॥" (बा० दो० २१८); दिशा-विदिशा से पंथ का न सूझना और इससे भी अपनापन का भूलना विशेष है। अतः, उत्तरोत्तर विह्वलता अधिक ही होती गई। आगे उस प्रेम की दशा कहते हैं।

(४) 'कबहुँक फिरि पाछे…अबिरल प्रेम'—यही अविच्छिन्न प्रेमाभक्ति के लक्षण हैं; यथा—"एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः। हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥" (भाग० ११।२।४०)। "निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान्वीर्याणि लीला तनुभिः कृतानि। यदाऽतिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्गद प्रोत्कंठ उद्गायति रौति नृत्यति॥" (भाग० ७।७।३४)। "वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च। विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥" (भाग० ११।१४।२४)।

(५) 'प्रभु देखहिं तरु ओट लुकाई।'—मुनि प्रेम में मग्न हैं और प्रभु भाव के ही गाहक हैं। अतः, ओट से देख रहे हैं कि यदि मुनि मुझे देख लेंगे, तो फिर यह नृत्य न करेंगे, रंग में भंग हो जायगा। जैसे माता-पिता छिपकर बच्चों के कौतुक देखते हैं; वैसे प्रभु इनका नृत्य देख रहे हैं। यहाँ 'तरु ओट', 'फुलवाड़ी में' 'लता ओट' और बालि के युद्ध में 'बिटप ओट' कहा है। क्योंकि शांत-रस में 'तरु', शृंगार में 'लता' और वीररस में 'बिटप' कहा जाना साहित्यिक कुशलता है।

अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा। प्रगटे हृदय हरन भव-भीरा॥१४॥
मुनि मग माँझ अचल होइ बैसा। पुलक सरीर पनस-फल जैसा॥१५॥

तब रघुनाथ निकट चलि आये। देखि दसा निज जन मन भाये ॥१६॥
मुनिहि राम बहु भाँति जगावा। जाग न ध्यान जनित सुख पावा ॥१७॥
भूप-रूप तब राम दुरावा। हृदय चतुर्भुज रूप देखावा ॥१८॥
मुनि अकुलाइ उठा तब कैसे। बिकल हीन मनि फनिबर जैसे ॥१९॥

शब्दार्थ—माँझ = में, बीच। बैसा = बैठा; यथा—"अंगद दीख दसानन बैसे।" (लं० दो० १८); यह 'विश्' धातु से निष्पन्न है, जिसका बैठना अर्थ होता है। पनस = कटहल। दुरावा = छिपाया। जगावा = ध्यान-वृत्ति छुड़ाई; यथा—"छूटि समाधि संभु तब जागे।" (बा० दो० ८६)।

अर्थ—जन्म-मरण के भय को हरनेवाले रघुवीर श्रीरामजी अत्यंत प्रेम देखकर मुनि के हृदय में प्रकट हो गये ॥१४॥ मुनि मार्ग में अचल (स्थिर) होकर बैठ गये, उनका शरीर कटहल के फल की तरह पुलकित हो गया (अर्थात् कटहल-फल के ऊपरी काँटों की तरह उनके रोंएँ खड़े हो गये) ॥१५॥ तब श्रीरघुनाथजी समीप चले आये, अपने भक्त की दशा देखकर मन में प्रसन्न हुए ॥१६॥ मुनि को श्रीरामजी ने बहुत प्रकार से जगाया (ध्यान छुड़ाने का यत्न किया), पर वे ध्यान से उत्पन्न सुख को प्राप्त हैं; इससे न जागे ॥१७॥ तब श्रीरामजी ने भूप-रूप (राज-रूप) को छिपा लिया और (उसके बदले) मुनि के हृदय में चतुर्भुज रूप दिखाया ॥१८॥ तब मुनि कैसे व्याकुल हो उठे, जैसे श्रेष्ठ सर्प मणि-हीन होने पर व्याकुल हो जाय ॥१९॥

विशेष—(१) 'अतिसय प्रीति देखि······'—प्रभु का यह नियम है; यथा—"जाके हृदय भगति जसि प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहि रीती।"; "प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।" (बा० दो० १८४); अतएव मुनि के अत्यन्त प्रेम पर प्रकट हो गये। पुनः यह भी नियम है—"बचन करम मन मोरि गति, भजन करहिं निःकाम। तिन्ह के हृदय कमल महँ, सदा करउँ बिश्राम।" (दो० १६); ये सब अंग भी मुनि में हैं; यथा—"मन क्रम बचन राम पद सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक॥" "अनुज जानकी सहित प्रभु, चाप बान धरि राम। मम हिय गगन इंदु इव, बसहु सदा निःकाम॥" "निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी।"। प्रेम के समान दूसरा भजन नहीं है; यथा—रामहि केवल प्रेम पियारा (अ० दो० १३६); इन्हीं कारणों से उनके हृदय में प्रभु को प्रकट होते ही बना। मुनि अंतर्दृष्टि हो गये थे, इससे श्रीरामजी उनके हृदय में ही प्रकट हो गये; पर ध्यान द्वारा दर्शन देने-मात्र में प्रभु को संतोष नहीं हुआ, अतएव फिर निकट चलकर उन्हें और अधिक सुख देंगे। विलंब के कारण मुनि के संतोष के लिये पहले हृदय में ही दर्शन दिये।

(२) 'हरन भव भीरा'—यह हृदय के ध्यान-दर्शनों का फल कहा गया।

(३) 'पनस फल जैसा' अर्थात् शरीर-भर के रोंएँ खड़े हैं, कटहल के भीतर रस भरा होता है, वैसे मुनि के हृदय में प्रेम-रस पूर्ण है।

(४) 'तब रघुनाथ निकट चलि···'—पहले मुनि प्रेम में विह्वल तो थे, पर आँखें खुली थीं, जब ध्यान में आँखें मूँदकर बैठ गये, तब श्रीरामजी निकट चले आये। प्रधानता के कारण 'रघुनाथ' मात्र कहा गया है, पर तीनों मूर्त्तियाँ हैं; यथा—"आगे देखि राम तनु स्यामा। सीता अनुज ५।६५

धामा ।।" यह आगे कहा है। बाहरी रूप से चलकर आये, तब निकट से दशा अच्छी तरह देखने में आई। 'देखि' अर्थात् वह दशा देखते ही बनती है, कहने में नहीं आती। पूर्व कहा ही है—"कहि न जाइ सो दसा भवानी।" अन्यत्र भी कहा है; यथा—"अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ।।५१।। मूकास्वादनवत् ।।५२।।" (नारदभक्तिसूत्र)।

'मुनिहि राम बहु भाँति जगावा।'—ऊँचे स्वर से पुकारा, हाथ पकड़कर हिलाया, इत्यादि। 'जाग न ध्यान जनित सुख'; यथा—"सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ।। यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः। यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ।।" (गीता ६।२१-२२)। तथा—"भगवद्दर्शनाह्लादबाष्पपर्याकुलेक्षणः। पुलकाञ्चिताङ्ग औत्कण्ठ्यान्नाश्रुधन्नोदितोऽपि सः ।।" (श्रीमद्भागवत ?)।

(५) 'भूप-रूप...हृदय चतुर्भुज...'—भूप-रूप=द्विभुज राम-रूप। चतुर्भुज=नारायण विष्णु-रूप। श्रीरामजी ने मुनि को जगाने के लिये और उनकी एकरूपानन्यता प्रख्यात करने के लिये, उनके हृदय में चतुर्भुज रूप प्रकट कर दिया कि लोग इस अनन्यता का आदर्श देख लें; यथा—"प्रेम अमिय मंदर बिरह, भरत पयोधि गँभीर। मथि प्रगटे सुर-साधु हित, कृपासिंधु रघुबीर ।।" (अ० दो० २३८); और यह भी सूचित किया कि वह चतुर्भुज-रूप भी हमारा ही है। भगवान् का राम-रूप परात्पर है; यथा—"बाहू राजन्य कृतः" (पुरुषसूक्त); अर्थात् परमात्मा का सर्व-कारण-रूप द्विभुज ही है; यथा—"द्विभुजः कुंडली रत्नमाली धीरो धनुर्धरः ।।" (रामतापनीय उ०) "मरीचि मंडले संस्थं बाणाद्यायुधलाञ्छितम्। द्विहस्तमेकवक्त्रं च रूपमाद्यमिदं हरेः ।।" (श्रीनारदपंचरात्र); "स्थूलं चाष्टभुजं प्रोक्तं सूक्ष्मं चैव चतुर्भुजम्। परं तु द्विभुजं ज्ञेयं ..." (संकर्षण सं० एवं आनंदसंहिता)। प्रथम सृष्टि की इच्छा से नरसंज्ञक व्यापक परमात्मा श्रीरामजी ने जल पैदा किया। तब उसका नाम नार हुआ, उसमें उन्हीं परमात्मा श्रीरामजी ने चतुर्भुज रूप से शयन किया, तब उनका नाम नारायण हुआ; यथा—"नरतीति नरः प्रोक्तः परमात्मा सनातनः। नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः ।।" (महाभारत); तथा—"तैर्युक्तं श्रूयतां नरः ।।...इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।" (वाल्मी० मू०); इत्यादि बहुत प्रमाण हैं। कुरान और बाइबिल में भी परमात्मा का नराकार ही रूप माना गया है।

भगवान् श्रीरामजी के ही चतुर्भुज आदि अभिन्नांश-रूप हैं, तत्त्वतः अभेद हैं। स्वरूपानन्य भक्त लोग एक ही रूप में निष्ठा करते हैं, पर अन्य रूपों से उनका द्वेष नहीं रहता। यहाँ मुनि का अकुला उठना अपने इष्ट-रूप के हटने पर है।

(६) 'मुनि अकुलाइ उठा ......'—पहले बैठ गये थे; यथा—"मुनि मग माझ अचल होइ बैसा।" यह पूर्व कहा गया था। अब वे अकुलाकर उठ खड़े हुए। अकुलाने का कारण आगे कहते हैं। 'बिकल हीन मनि...'; यथा—"मनि बिना फनि जिये ब्याकुल बिहाल रे।" (वि० ६७); सर्प अपनी ही मणि चाहता है, वैसे ये अपने ही इष्ट-रूप को चाहते हैं। बिना उसके व्याकुल हो गये।

परम अनन्य उपासक भगवान् के एक ही रूप में अनन्य होकर फिर रूपान्तर से प्रेम नहीं करते। जैसे भगवान् के ही नृसिंह-रूप धारण करने पर उन्हें शांत करने के लिये श्रीलक्ष्मीजी नहीं गईं। वे यह बोलीं कि ये हमारे इष्ट-रूप नहीं हैं, यद्यपि भगवान् ही हैं।

आगे देखि राम तनु स्यामा। सीता-अनुज-सहित सुखधामा ॥२०॥
परेउ लकुट इव चरननिह लागी। प्रेम-मगन मुनिबर बड़भागी ॥२१॥
भुज बिसाल गहि लिये उठाई। परम प्रीति राखे उर लाई ॥२२॥
मुनिहि मिलत अस सोह कृपाला। कनक-तरुहि जनु भेंट तमाला ॥२३॥
राम बदन बिलोक मुनि ठाढ़ा। मानहुँ चित्र माँझ लिखि काढ़ा ॥२४॥

दोहा—तब मुनि हृदय धीर धरि, गहि पद बारहिं बार।
निज आश्रम प्रभु आनि करि, पूजा बिबिध प्रकार ॥१०॥

अर्थ—श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ सुख के स्थान श्याम-शरीर श्रीरामजी को आगे देखकर ॥२०॥ बड़े ही भाग्यवान् मुनिश्रेष्ठ प्रेम में मग्न होकर लकुटी (पतली छड़ी) की तरह गिरकर चरणों में लग गये ॥२१॥ श्रीरामजी ने अपनी लंबी भुजाओं से पकड़कर उन्हें उठा लिया और बड़ी प्रीति से हृदय में लगाये रक्खा ॥२२॥ मुनि से मिलते हुए कृपालु श्रीरामजी ऐसे शोभित हो रहे हैं ; मानों सोने के वृक्ष से तमाल वृक्ष मिल रहा हो ॥२३॥ मुनि खड़े हुए श्रीरामजी के मुख के दर्शन कर रहे हैं। मानों चित्र (तसवीर) में लिखकर उनकी आकृति काढ़ी गई हो (अर्थात् निमेष-रहित जड़ के समान शरीर हो गया, हिलता-डुलता नहीं) ॥२४॥ तब (फिर) मुनि ने हृदय में धैर्य धारण कर और बार-बार प्रभु के चरणों को पकड़कर उन्हें अपने आश्रम में ला अनेक प्रकार से उनकी पूजा की ॥१०॥

विशेष—(१) 'सीता-अनुज सहित सुख धामा।'—पहले ध्यान-जनित सुख पाया था। फिर उस ध्येय रूप के हट जाने से दुखी हो गये थे। अब प्रत्यक्ष देखकर पुनः सुखी हुए। यहाँ 'सुख धामा' कहने से अब प्रत्यक्ष मूर्त्ति के दर्शनों से अधिक सुख पाना सूचित किया।

(२) 'परेउ लकुट इव चरननिह लागी। ...'—मुनि ने साष्टाङ्ग दण्डवत् की, लकुटी पतली छड़ी को कहते हैं, वैसे ये तपस्या आदि नियमों के क्लेश से दुबले हो गये थे। वैसे ही श्रीभरतजी भी वियोग-कृश थे, अतः वहाँ भी कहा गया है; यथा—"भूतल परेउ लकुट की नाईं।" (अ० दो० २३९), और बा० दो० १४७ चौ० ७ भी देखिये। बिना सहारे की लकुटी जैसे गिर पड़ती है वैसे ही मुनि चरणों पर गिर पड़े। 'प्रेम मगन मुनिबर बड़ भागी।'—दण्ड के समान गिरने का कारण प्रेम-मग्नता है और इसीसे ये 'बड़भागी' कहे गये। चरणों के सम्बन्ध में 'बड़भागी' पद सातों कांडों में आये हैं—"अतिसय बड़ भागी चरननिह लागी।" (बा० दो० ११)—देखिये। इन चरणों के विमुख अभागी हैं ; यथा—"ते नर नरक रूप जीवत जग भव भंजन पद बिमुख अभागी।" (वि० १४०)।

(३) 'परम प्रीति राखे उर लाई।'—'राखे' अर्थात् बड़ी देर तक हृदय में लगाये रहे ; यथा—"करत दंडवत लिये उठाई। राखे बहुत बार उर लाई ॥" (दो० ७१)।

(४) 'मुनिहि मिलत अस सोह' '—मुनि के दो मनोरथ थे—(१) "मिलिहहिं निज सेवक की नाईं।" वह यहाँ पूरा हुआ ;—(२) "होइहहिं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन "

वह भी आगे पूर्ण हुआ ; यथा—"राम बदन बिलोक मुनि ठाढ़ा।" कृपालु श्रीरामजी मुनि से मिल रहे हैं। उपमा में वर्णों की ही समता नहीं, किंतु दोनों वृक्ष के समान जड़ हो गये हैं। 'सोह कृपाला'— इसमें कृपालु की शोभा है कि जिनसे मिलने के लिये ब्रह्मादि तरसते हैं, वे मुनि को उठाकर आलिंगन कर रहे हैं, यह दीनों पर अत्यंत दया है, इसी में प्रभु की शोभा है।

(५) 'तब मुनि हृदय धीर धरि···'—ऊपर कहा गया—"राम बदन बिलोक मुनि ठाढ़ा। मानहुँ चित्र माँझ लिखि काढ़ा॥" इसमें अधीरता स्पष्ट है। इसीसे यहाँ 'धीर धरि' कहा गया। यह मूर्ति ही ऐसी है कि देखकर लोग अधीर हो जाते हैं ; यथा—"मूरति मधुर मनोहर देखी। भये बिदेह बिदेह बिसेखी॥ प्रेम मगन मन जानि नृप, करि बिबेक धरि धीर॥" (बा० दो० २१५); "देखि भानुकुल भूषनहिं, बिसरा सखिन्ह अपान॥ धरि धीरज एक आलि···" (बा० दो० २३३); 'गहि पद बारहि बार'— प्रेम के वश होने से बार-बार चरण गहे ; यथा—"प्रेम बिबस पुनि पुनि पद लागीं॥" (बा० दो० ३३५); "प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा॥" (दो० ११); इत्यादि। 'पूजा बिबिध प्रकार'—षोडशोपचार की विधियों में प्रत्येक को विशेष रूप से किया। यह व्यवहार का भी सँभाल है।

पहले कहा गया था—"मन-क्रम-बचन राम-पद-सेवक।" वह चरितार्थ भी हुआ; यथा—"सपनेहुँ आन भरोस न देवक।"—मन; "परेउ लकुट इव···पूजा बिबिध प्रकार।"—कर्म; "कह मुनि प्रभु सुनु बिनती मोरी।"—बचन।

मुनि में श्रवणादि नवधा-भक्ति के सब अंग परिपूर्ण हैं, नवधा भक्ति ; यथा—"श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥" (भाग० ७।५।२३) उदाहरण— (१) श्रवण—"प्रभु आगमन श्रवन सुनि पावा।" (२) कीर्तन—"कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई।" (३) विष्णु-स्मरण—"एक बानि करुना निधान की। सो प्रिय···" (४) पाद-सेवन—"मन-क्रम-बचन राम-पद-सेवक।" (५) अर्चन—"पूजा बिबिध प्रकार।" (६) वंदन—"कह मुनि प्रभु सुनु बिनती मोरी।" (७) दास्य—"अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक···।" (८) सख्य—"देखि कृपानिधि मुनि चतुराई। लिये संग बिहँसे दोउ भाई॥" क्योंकि चतुराई करके साथ होना और प्रभु का हँसना एवं साथ लेना सख्यत्व है। (९) आत्मनिवेदन—"परे लकुट इव चरनन्हि लागी।"

कह मुनि प्रभु सुनु बिनती मोरी। अस्तुति करउँ कवन बिधि तोरी॥१॥
महिमा अमित मोरि मति थोरी। रबि-सन्मुख खद्योत अँजोरी॥२॥
श्याम-तामरस-दाम-शरीरं। जटा-मुकुट-परिधन-मुनि-चीरं॥३॥
पानि-चाप-सर-कटि-तूनीरं। नौमि निरंतर श्रीरघुबीरं॥४॥
मोह-बिपिन-घन-दहन-कृशानुः। संत-सरोरुह-कानन-भानुः॥५॥
निसिचर-करि-बरूथ-मृगराजः। त्रातु सदा नो भव-खग-बाजः॥६॥
अरुन-नयन-राजीव-सुवेसं। सीता-नयन-चकोर-निसेसं॥७॥
हर-हृदि-मानस-बाल-मरालं। नौमि राम-उर-बाहु-बिसालं॥८॥

अर्थ—मुनि कहते हैं कि हे प्रभो ! मेरी विनती सुनिये, मैं किस प्रकार से आपकी स्तुति करूँ ? ॥१॥ आपकी निःसीम महिमा के सामने मेरी बुद्धि थोड़ी है, जैसे सूर्य के सामने जुगनू का प्रकाश ॥२॥ श्याम कमल-समूह के समान श्याम शरीर, जटाओं का मुकुट और मुनि-वस्त्र (वल्कल आदि) कटि से नीचे धारण किये हुए हैं ॥३॥ हाथों में धनुष-बाण और कमर में तर्कश कसे हुए, श्रीरघुवीर, आपको मैं निरंतर (सदा) नमस्कार करता हूँ ॥४॥ मोह-रूपी सघन वन को जलाने के लिये अग्नि-रूप, सन्त-रूपी कमल वन के (प्रफुल्लित करने के लिये) सूर्य-रूप ॥५॥ निशाचर-रूपी हाथियों के झुंड के (नाश करने के लिये) सिंह और भव-रूपी पक्षी के (मारने के लिये) बाज-रूप आप सदा मेरी रक्षा करें ॥६॥ लाल कमल के समान लाल नेत्र और सुन्दर वेषवाले श्रीसीताजी के नेत्र-रूपी चकोर के चन्द्रमा ॥७॥ श्रीशिवजी के हृदय-रूपी मानस सरोवर के बाल-हंस, चौड़ी छाती और लम्बी भुजाओंवाले श्रीरामजी, आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥८॥

विशेष—(१) 'कह मुनि प्रभु सुनु···'—विविध प्रकार पूजा कर चुके, उसीके साथ स्तुति भी है। किंतु स्तुति के लिये बड़ी बुद्धि चाहिये; यथा—"मुनिवर परम प्रबीन, जोरि पानि स्तुति करत ॥" (दो० ३) पर मेरी बुद्धि थोड़ी है; अतः, कैसे स्तुति कर सकूँ ? 'रवि सनमुख खद्योत अँजोरी ।'—सूर्य के सामने जुगनू कुछ भी प्रकाश नहीं कर सकता, वैसे आपकी अपरिमित महिमा के आगे मेरी बुद्धि कुछ भी प्रकाश नहीं कर सकती। भाव यह कि सूर्य की ज्योति के समक्ष फीके पड़ते हुए चन्द्रमा एवं तारागण की तरह (आपके) समक्ष शिव-ब्रह्मा आदि की बुद्धि भी चकरा जाती है तब मेरी जुगनू-सी बुद्धि की क्या गिनती ? (मुनि की बुद्धि तीव्र है, पर कार्पण्य-रीति से अपनी दीनता कही है। जैसे श्रीगोस्वामीजी का काव्य सर्वोपरि है, पर वंदना में इन्होंने अपनी बड़ी दीनता प्रकट की है) ।

(२) 'श्रीरघुबीर···'—ऊपर जटा-मुकुट आदि मुनिवेष धारण के सम्बन्ध से पिता के आज्ञा-पालन-रूप धर्म-वीरता से और 'पानि' चाप-शर-आदि के द्वारा भू-भार-हरण के लिये वीर-रूप धारण करने से आपकी शोभा है; इसलिये 'रघुबीर' के साथ शोभावाचक 'श्री' कहा है।

(३) 'मोह-बिपिन-घन···'—मोह आदि भीतरी विकार नाश करके संतों को आप सुखी करते हैं। 'निसिचर करि बरूथ···'—से बाहर के शत्रुओं का नाश कहा। भीतर-बाहर के शत्रुओं का नाश कहकर तब भव का नाश कहा। 'मोह बिपिन'; यथा—"बन बहु बिषम मोह मद माना।" (बा० दो० ३७); 'सीता नयन चकोर निसेसं' यथा—"अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरद ससिहिं जनु चितव चकोरी ॥" (बा० दो० २३१); 'अरुन नयन···'—लाल नेत्र शृंगार और वीर दोनों रसों में युक्त हैं, ऊपर वीर रस और नीचे शृंगार-रस का प्रसंग है।

पहले संतरक्षा, फिर निशाचर वध और तब श्रीसीताजी के नेत्र का विषय होना कहा, फिर पीछे श्रीशिवजी का ध्येय-स्वरूप कहा है, क्योंकि संत-रक्षा के लिये वन को आये, अब निशाचर को मारेंगे और फिर श्रीसीताजी प्राप्त होंगी। तत्पश्चात् श्रीशिवजी राजगद्दी पर स्तुति करके उसी रूप को हृदय में रखकर उसका बालक के समान लालन-पालन करेंगे। इसलिये 'बाल मराल' कहा है।

पण को, "करत दडवत् लिये उठाई। परम प्रीति राखे उर लाई॥" (सु० दो० ४०)—श्रीनारदजी को। श्रीभुशुंडीजी को ग्रहण करने के लिये सर्वत्र भुजा पहुँचती ही गई।

संसय - सर्प - ग्रसन - उरगादः। समन - सु - कर्कस - तर्क - विषादः॥९॥
भव - भंजन रंजन - सुर-जूथः। त्रातु सदा नो कृपावरूथः॥१०॥
निर्गुन - सगुन - विषम-सम-रूपं। ज्ञान - गिरा - गोतीतमनूपं॥११॥
अमलमखिलमनवद्यमपारं। नौमि राम भंजन - महि - भारं॥१२॥
भक्त - कल्प - पादप - आरामः। तर्जन - क्रोध - लोभ - मद-कामः॥१३॥
अति - नागर - भव-सागर-सेतुः। त्रातु सदा दिनकर - कुल - केतुः॥१४॥
अतुलित-भुज - प्रताप-बल-धामः। कलि - मल - विपुल-विभंजन-नामः॥१५॥
धर्म - वर्म नर्मद गुनग्रामः। संतत संतनोतु मम रामः॥१६॥

शब्दार्थ—सु-कर्कस = अत्यन्त कठोर। अखिल = निःशेष, पूर्ण। अनवद्य = अनिंद्य। पादप = वृक्ष। तर्जन = धमकाने-डाँटनेवाले। नर्मद = सुख देनेवाले। वर्म = कवच। संतनोतु (शंतनोतु) = कल्याण का विस्तार करो।

अर्थ—संशय-रूपी सर्प को निगल जाने के लिये गरुड़-रूप, अत्यन्त कठिन तर्कनाओं के दुःख को नाश करनेवाले॥९॥ भव (जन्म-मरण) को तोड़ने (मिटाने) वाले और देवताओं के समूह को सुखी करनेवाले—कृपा के समूह आप हमारी सदा रक्षा करें॥१०॥ निर्गुण-सगुण, विषम-सम रूप, ज्ञान, वाणी और इन्द्रियों से परे, उपमा-रहित॥११॥ निर्विकार, परिपूर्ण, निर्दोष, अपार, पृथिवी के बोझ के नाशक (ऐसे) श्रीरामजी (आप) को मैं नमस्कार करता हूँ॥१२॥ भक्तों के लिये कल्पवृक्ष के बाग, क्रोध-लोभ-मद और काम को डाँटनेवाले (नाश करनेवाले)॥१३॥ भव-सागर के पार उतरने के लिये पुल (रचने में) अत्यन्त चतुर, सूर्य-वंश की ध्वजा, आप सदा मेरी रक्षा करें॥१४॥ आपकी भुजाओं का प्रताप अपरिमित है, आप बल के धाम हैं, कलियुग के पाप-समूह का नाशक आपका नाम है॥१५॥ धर्म के लिये कवच-रूप जिनके गुण-समूह सुख देनेवाले हैं—ऐसे श्रीरामजी (आप) निरंतर मेरे कल्याण का विस्तार करें॥१६॥

विशेष—(१) 'संसय सर्प ग्रसन…'—पूर्वार्द्ध में संशय-रूपी सर्प का नाश कहा गया और उत्तरार्द्ध में उसकी लहर रूपी कुतर्कों का; यथा—"संसय सर्प ग्रसेउ मोहिं ताता। दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता॥" (उ० दो० ९३); अर्थात् संशय और उससे उठे हुए कुतर्क नाश होते हैं। तत्पश्चात् भव का नाश होता है। इन सबके रक्षा करने से कारण 'कृपावरूथः' कहा है। उरगाद = सर्पों का खानेवाला—यह नाम यहाँ कार्य सहित संगत है।

(२) 'निर्गुन-सगुन-विषम-सम रूपं…'—आप ही निर्गुण हैं और सगुण भी, विषम भी हैं और सम भी; अर्थात् परस्पर विरोधी गुण धारण करते हैं, इसीसे आगे 'अनूपं' कहा है अर्थात् ऐसा और कोई नहीं है। 'विषम-सम'; यथा—"जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पुन्य गुन दोषू॥ तदपि करहिं सम विषम विहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥" (अ० दो० २१८); इसीसे भक्त प्रह्लाद की रक्षा की और हिरण्यकशिपु को मारा।

(३) 'भक्त-कल्प-पादप आरामः ।'—पृथिवी का भार उतार कर सबको सुखी किया इससे कल्पवृक्ष-रूप हुए। पर भक्तों के लिये तो अनेक कल्पवृक्षों के बाग के समान हुए; अर्थात् उनके लिये तो अनेक रूपों से आप सर्वत्र ही हैं, वे जहाँ भी जायँ आपकी छाया में ही रहें; यथा—"निवासवृक्षः साधूनामापन्नानां परा गतिः।" (वाल्मी० ४।१५।११); कल्पवृक्ष तीन ही फलों को देता है, आप मोक्ष भी देते हैं। अतः, आगे 'भवसागर सेतुः' भी कहा है। भव से छूटना मुक्त होना है। 'तर्जन-क्रोध-लोभ-मद-कामः'—ऊपर कल्पवृक्ष के समान कहकर इनसे चारों फलों की प्राप्ति कही। अब उनकी रक्षा का विधान भी कहते हैं कि अर्थ का बाधक क्रोध, धर्म का बाधक लोभ, (कामना) का बाधक मद और मोक्ष का बाधक काम है; यथा—"लोभ ग्रसे सुभ कर्म।" (उ० दो० ७०); "सुभ गति पाव कि परतिय गामी।" (उ० दो० १११), आप इन सबसे रक्षा करते हैं। अर्थात् इनपर चित्त-वृत्ति जाने पर खेद प्राप्त कर देते हैं, फिर विवेक-द्वारा इन्हें हटाते हैं। अतः, आप योग-क्षेम दोनों करनेवाले हैं। क्रोधादि से रक्षा के क्रमशः उदाहरण—"भयउ न नारद मन कछु रोषा।" (बा० दो० १२६); "आमा बसनं व्यसन•" (उ० दो० ३१); "भरतहिं होइ न राजमद" (अ० दो० २३१); "बैठे सोह काम-रिपु कैसे (बा० दो० १०६)।

(४) 'अति नागर भव-सागर-सेतुः'—लंका जाने के लिये पुल बाँधने में आप नागर हैं और भव-सागर के पुल बाँधने में अति नागर हैं। समुद्र में पुल और किसीने नहीं बाँधा, पर आप आश्चर्यजनक कार्य करनेवाले हैं। यह सुनकर रावण को भी महान् आश्चर्य हुआ था। भवसागर का सेतु आपका चरित और नाम है; यथा—सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं।" (बा० दो० १२१); "नाथ नाम तव सेतु, नर चढ़ि भवसागर तरहिं॥" (लं० दो० ३)। 'त्रातु सदा'—उपर्युक्त क्रोध, लोभ, मद, काम और भव से सदा रक्षा करें। क्योंकि ये—"मुनि विज्ञान धाम मन, करहिं निमिष महँ छोभ॥" (दो० ३८); ऊपर कल्पवृक्ष कहा और यहाँ भवसागर-सेतु कहा है; अर्थात् आप लोक-परलोक दोनों के बनानेवाले हैं।

(५) 'अतुलित-भुज-प्रताप-बल-धामः।'—इस चरण में रूप का परत्व कहा है। 'कलिमल-विपुल विभंजन नामः' में नाम का, 'धर्म-वर्म नर्मद गुन-ग्रामः।' में लीला का और 'जनके हृदय निरंतर वासी।' में धाम का परत्व कहा है। इनके बीच में—'संतत संवनोतु मम रामः।' कहकर सूचित किया कि आप इन्हीं नाम, रूप, लीला, धाम के द्वारा रक्षा करते हैं। 'कलिमल-विपुल-विभंजन-नामः।'; यथा—"नाम सकल कलि कलुष निकंदन।" (बा० दो० २१)।

(६) 'धर्म-वर्म नर्मद गुन···'—'धर्म-वर्म'; यथा—"सद्धर्मवर्मी हि तौ" (कि० मं०); 'नर्मद गुनग्रामः'; यथा—"येहि विधि कहत राम गुन ग्रामा। पावा अनिर्वाच्य विश्रामा।" (सुं० दो० ७); पुनः गुण-ग्राम धर्म-वर्म भी है, क्योंकि इसके श्रवण करने से धर्म का परिज्ञान होता है।

जदपि बिरज ब्यापक अबिनासी। सबके हृदय निरंतर बासी ॥१७॥
तदपि अनुज-श्री-सहित खरारी। बसतु मनसि मम कानन - चारी ॥१८॥
जे जानहिं ते जानहु स्वामी। सगुन अगुन उर - अंतर - जामी ॥१९॥
जो कोसलपति राजिव - नयना। करउ सो राम हृदय मम अयना ॥२०॥
अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे ॥२१॥

सुनि मुनिबचन राम-मन भाये। बहुरि हरषि मुनिबर उर लाये ॥२२॥
परम प्रसन्न जानु मुनि मोही। जो बर माँगहु देउँ सो तोही ॥२३॥

अर्थ—यद्यपि आप विरज (अप्राकृत), व्यापक, नाश-रहित और सबके हृदय में निरंतर निवास करनेवाले हैं ॥१७॥ तथापि, हे खरारी! भाई श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी के सहित वन में विचरनेवाले आप मेरे मन-रूपी वन में बसें ॥१८॥ आपको जो सगुण, निर्गुण और हृदय में रहनेवाले अंतर्यामी-रूप जानते हों, वे जानें, पर मेरे हृदय में तो जो श्रीअयोध्या के राजा कमल-नयन श्रीरामजी हैं, वे ही घर बनावें ॥१९-२०॥ ऐसा अभिमान भूलकर भी न मिटे कि मैं सेवक हूँ और श्रीरघुनाथजी मेरे स्वामी हैं ॥२१॥ मुनि के वचन सुनने पर श्रीरामजी के मन में वे अच्छे लगे, हर्षित होकर उन्होंने फिर मुनि-श्रेष्ठ को हृदय से लगा लिया ॥२२॥ (और बोले) हे मुनि! मुझे परम प्रसन्न जानो, जो वर माँगो वही मैं तुम्हें दूँ ॥२३॥

विशेष—(१) 'जदपि बिरज ब्यापक अबिनाशी।'—'व्यापक' शब्द के एक ओर 'विरज' और दूसरी ओर 'अविनाशी' देने का भाव यह है कि व्यापक होने से व्याप्य-भूता प्रकृति के विकारों से आप अलग हैं और उसके विनाश होने पर भी आप अविनाशी बने रहते हैं। सर्वत्र व्यापक हैं, तो मेरे हृदय में भी हैं। ऐसा ही दो० १२ चौ० १२-१३ में अगस्त्यजी का, उ० दो० १२ में वेदों का और लं० दो० १११ में इन्द्र का अभिप्राय है।

(२) 'तदपि अनुज-श्री-सहित···'—जैसे दंडकारण्य में बसकर खरादि १४ हजार राक्षसों का वध करते हैं, वैसे मेरे मन-रूपी दंडक-वन में १० इन्द्रिय, १ मन और ३ अंतःकरण, इन चौदहों के सहस्र-सहस्र संकल्प हुआ करते हैं। वे आपके हृदय में बसने से आपमें लग-लगकर रामाकार होते हुए समाप्त हो जायँगे; यथा—"तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥" (सुं० दो० ४६)। 'खरारी' शब्द में भाविक अलंकार भी है; यथा—"सोभा सिंधु खरारी।" (बा० दो० १११)। 'तदपि'—भाव यह है कि उस रूप से रहते हुए भी इस रूप पर विशेष श्रद्धा है।

(३) 'जे जानहिं ते जानहु स्वामी।···'—अर्थात् मैं तो आपके इसी रूप को सर्वस्व मानता हूँ। पूर्व माँगा था—'कानन-चारी'-रूप को, किंतु यह १४ वर्ष तक के लिये ही है, फिर तो श्रीअयोध्या के राजा होंगे, इसीसे उसे भी माँगा। 'कानन-चारी' के लिये अपने मन को वन कहा और भूप-रूप के लिये भवन कहा, क्योंकि राजा तो महलों में ही रहते हैं। प्रमाण उपर्युक्त—'जदपि बिरज···' वाले ही यहाँ भी हैं।

(४) 'अस अभिमान जाइ···'—और विषय-सम्बन्धी के अभिमान का तो नाश होना ही चाहिये; यथा—"तुलसिदास मैं मोर गये बिनु जिय सुख कबहुँ न पावै" (वि० १२०); जाति, विद्या, बल, धन आदि का अभिमान न रहना चाहिये, पर सेवकत्व का अभिमान रहना ही चाहिये; यथा—"जौं तेहि आजु बधे बिनु आवउँ। तौ रघुपति सेवक न कहावउँ॥" (लं० दो० ७२); क्योंकि—"सेवक-सेव्य-भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि॥" (उ० दो० ११९)—ऐसा कहा है।

(५) 'बहुरि हरषि मुनिबर उर लाये।'—एक बार पहले ही हृदय से लगा चुके हैं; यथा—"परम प्रीति राखे उर लाई।" अब यहाँ फिर हृदय से लगाकर अपनी परम प्रसन्नता जनाई, जैसा कि आगे कहा

है—'परम प्रसन्न जानु मुनि···' इसीसे 'बहुरि' पद दिया गया है। 'जो कछु मागहुँ देउँ···'—क्योंकि मुनि आपके 'निज जन' हैं; यथा—"देखि दसा निज जन मन भावा।" और यह श्रीमुख-वचन है—"जन कहँ नहिं अदेय कछु मोरे।" (दो० ४१)।

मुनि कह मैं बर कबहुँ न जाँचा। समुझि न परइ झूठ का साँचा ॥२४॥
तुम्हहि नीक लागइ रघुराई। सो मोहि देहु दास - सुखदाई ॥२५॥
अबिरल भगति बिरति बिज्ञाना। होहु सकल - गुन - ज्ञान - निधाना ॥२६॥
प्रभु जो दीन्ह सो बर मैं पावा। अब सो देहु मोहि जो भावा ॥२७॥

दोहा—अनुज-जानकी-सहित प्रभु, चाप - बान धर राम।
मम हिय - गगन इंदु इव, बसहु सदा निष्काम ॥११॥

अर्थ—मुनि कहते हैं कि मैंने कभी वरदान नहीं माँगा, मुझे समझ नहीं पड़ता कि क्या असत्य है और क्या सत्य है ॥२४॥ हे श्रीरघुनाथजी! आपको जो अच्छा लगे, वह दासों को सुख देनेवाला वर मुझे दीजिये ॥२५॥ (प्रभु ने कहा—) अविरल भक्ति, वैराग्य, विज्ञान और समस्त गुण एवं ज्ञान के निधान हो जाओ ॥२६॥ (मुनि ने कहा कि) जो वर प्रभु ने दिया, वह मैंने पाया, अब जो मुझे अच्छा लगता है वह दीजिये ॥२७॥ हे प्रभो! भाई श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी के साथ धनुष-बाण-धारी रामरूप मेरे निष्काम हृदय-रूपी आकाश में चन्द्रमा की तरह बसें ॥११॥

विशेष—(१) 'मुनि कह मैं बर···'—मुनि ने श्रीरामजी के 'कानन-चारी' और 'कोशलपति' रूप का हृदय में बसना माँगा था, प्रभु ने और माँगने को कहा। इससे वे संदेह में पड़ गये कि संभवतः कुछ और श्रेष्ठ वर रह गया हो, अतएव ऐसा कहने लगे। इसपर जो वर श्रीरामजी ने—'अविरल भगति बिरति···' दिया। यही दासों को सुखदाई वर है और यही उन्हें प्रिय लगता है, यह भी जाना गया।

(२) 'अब सो देहु मोहि जो भावा।'—प्रभु से वर पाने पर और माँगने की इच्छा हो गई; अतः, अब फिर माँगते हैं—'अनुज जानकी सहित···'—तीन बार इन्होंने एक ही वर माँगा, क्योंकि यही सब साधनों का फल है; यथा—"सब साधन कर एक फल, जेहि जान्यो सोइ जान। ज्यों त्यों मन मंदिर बसहिं, राम धरे धनुबान॥" (दोहावली ९०); जैसे ऊपर दो वरों में दो अवस्थाओं का—वन और राज्य का—ध्यान माँगा है, वैसे यहाँ भी—'मम हिय गगन···'—साकेत-यात्रा एवं वहाँ की नित्य स्थिति माँगी है। इसीलिये 'इंदु' की स्वर्गीय उपमा भी कही गई है। "यद्वाकाशं सनातनम्" यह वाल्मीकीय रामायण के स्वर्गारोहण प्रकरण में कहा गया है। जब श्रीरामजी को 'इंदु' कहा, तब श्रीलक्ष्मणजी बुध हुए और श्रीसीताजी रोहिणी हुईं; यथा—"उपमा बहुरि कहउँ जिय जोही। जनु बुध बिधु बिच रोहिनि सोही॥" (अ० दो०१२२)।

(३) 'बसहु सदा'—चन्द्रमा आकाश में सदा नहीं बसता, पर साकेत-बिहारी साकेत में सदा बसते हैं, वही मेरे हृदय में भी सदा बसें। मेरे हृदय में और कोई कामना कभी न उपजे एवं आप भी कहीं जाने की कभी कामना न करें। 'निष्काम' शब्द 'हृदय', 'राम' और 'बसहु' इन तीनों के साथ है।

स्तुति-भर में 'नौमि' और 'त्रातु' की बराबर आवृत्ति है, अंत में १६ वीं अर्द्धाली में 'संतनोतु' भी कहा है। नौमि के साथ स्वरूप का वर्णन है और त्रातु के साथ मोह, भव आदि बाधकों का वर्णन है। 'संतनोतु' के साथ कल्याण-संबंधी बातें हैं—इस तरह सब संगत हैं।

इस सुतीक्ष्ण-प्रसंग में नवधा-भक्ति पूर्व दिखाई गई, 'प्रेमा' यथा—"निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी।" और 'परा'—"मुनि मग माँझ अचल होइ बैसा। पुलक सरीर पनस फल जैसा॥" में स्पष्ट है, अतः, इनमें भक्ति के सभी प्रकार पूर्ण हैं।

"प्रभु-अगस्ति-सत्संग"—प्रकरण

एवमस्तु करि रमानिवासा। हरषि चले कुंभज रिषि पासा॥१॥
बहुत दिवस गुरु दरसन पाये। भये मोहि येहि आश्रम आये॥२॥
अब प्रभु संग जाउँ गुरु पाहीं। तुम्ह कहँ नाथ निहोरा नाहीं॥३॥
देखि कृपानिधि मुनि-चतुराई। लिये संग बिहँसे दोउ भाई॥४॥

अर्थ—लक्ष्मी-निवास श्रीरामजी 'एवमस्तु' (ऐसा ही हो) ऐसा उच्चारण कर हर्षित होकर अगस्त्य मुनि के पास चले॥१॥ (श्रीसुतीक्ष्णजी ने कहा—) मुझे गुरुजी के दर्शन हुए बहुत दिन हो गये और इस आश्रम में आये बहुत दिन हुए; अर्थात् जबसे इस आश्रम में आया, तबसे गुरुजी के दर्शन नहीं हुए॥२॥ हे प्रभो! अब आपके साथ गुरुजी के पास जाता हूँ। हे नाथ! आपका इसमें निहोरा नहीं है॥३॥ मुनि की चतुरता देखकर कृपा निधान श्रीरामजी ने साथ ले लिया और दोनों भाई (चातुरी पर) हँस पड़े॥४॥

विशेष—(१) 'एवमस्तु करि रमा निवासा······'—उदारता के सम्बन्ध से रमा-निवास कहा; यथा—"बार-बार बर मागऊँ, हरषि देहु श्रीरंग।" (उ० दो० १४); रमा श्रीजानकीजी का नाम भी है। 'हरषि चले···'—श्रीअगस्त्यजी के दर्शनों के लिये बड़ी उत्कंठा है, इसीसे वहाँ जाने के लिये हर्ष है; यथा—"एष लोकार्चितः साधुर्हिते नित्यं रतः सताम्। अस्मानधिगतानेष श्रेयसा योजयिष्यति॥" (वाल्मी० ३।११।८७); अर्थात् श्रीरामजी इस उत्कंठा से श्रीअगस्त्यजी के यहाँ जा रहे हैं कि वे लोक पूजित एवं सज्जनों के हितैषी हैं, हमारा भी कल्याण करेंगे। 'येहि आश्रम आये'—अर्थात् इनका दूसरा भी आश्रम था, जैसे श्रीवाल्मीकिजी आदि के कई आश्रम पाये जाते हैं।

(२) 'तुम्ह कहँ नाथ निहोरा नाहीं।'—मुनि को साथ-साथ दर्शनों के लिये जाना है, और प्रभु किसी को साथ नहीं लेते; यथा—"बरबस राम सुमंत्र पठाये।" (अ० दो० ६६); "बिदा किये बटु बिनय करि···" (अ० दो० १०६); इत्यादि। इसीसे मुनि ने चतुराई की कि मुझे इसी मार्ग से गुरुजी के दर्शनों के लिये जाना है, मैं कुछ आपके साथी बनकर तो जाता नहीं, अब प्रभु कैसे मना करेंगे? प्रभु हँसे कि हमारे दर्शनों के लिये तो साथ चलते हैं और भार गुरु पर देते हैं। इसपर यह भी कहा जाता है कि पूर्व इन्होंने गुरुजी से गुरु-दक्षिणा के लिये हठ की थी, तब अगस्त्यजी ने कहा कि अच्छा, गुरु-दक्षिणा में श्रीसीतारामजी को ही लेकर तब आना। इसीसे अभी तक न गये थे, आज प्रभु को लेकर जाना चाहते हैं। प्रभु हँसे कि हम को ही गुरु-दक्षिणा में देंगे। 'कृपानिधि'—क्योंकि कृपा करके साथ लिया। प्रभु मन-

वचन-कर्म से इनके अनुकूल हैं—वचन से 'एवमस्तु' कहा, मनमें हर्ष है, और कर्म से 'लिये संग' अर्थात् साथ लेकर चले।

पंथ कहत निज भगति अनूपा। मुनि - आश्रम पहुँचे सुर भूपा ॥५॥
तुरत सुतीछन गुरु पहिं गयऊ। करि दंडवत कहत अस भयऊ ॥६॥
नाथ कोसलाधीस - कुमारा। आये मिलन जगत - आधारा ॥७॥
राम अनुज समेत बैदेही। निसि-दिन देव जपत हहु जेही ॥८॥
सुनत अगस्ति तुरत उठि धाये। हरि बिलोकि लोचन जल छाये ॥९॥

अर्थ—मार्ग में अपनी अनुपम भक्ति कहते हुए देवताओं के राजा (रघुनाथ) श्रीरामजी मुनि के आश्रम पर पहुँच गये ॥५॥ श्रीसुतीक्ष्णजी शीघ्र ही गुरुजी के पास गये और दंडवत् करके ऐसा कहने लगे ॥६॥ हे नाथ ! श्रीअयोध्या के राजा श्रीदशरथजी के राजकुमार, जो कि जगत् के आधार हैं, आपसे मिलने आये हैं ॥७॥ वे श्रीरामजी भाई और श्रीवैदेहीजी के साथ आये हैं। हे देव ! जिन्हें आप दिन-रात जपते रहते हैं ॥८॥ यह सुनते ही श्रीअगस्त्यजी शीघ्र ही उठ दौड़े, भगवान् को देखकर उनके नेत्रों में जल (प्रेमाश्रु) भर आये ॥९॥

विशेष—(१) 'पंथ कहत निज······'—कथा-वार्ता के द्वारा मार्ग शीघ्र कट जाता है जान नहीं पड़ता; यथा—"बरनत पंथ बिबिध इतिहासा। बिस्वनाथ पहुँचे कैलासा ॥" (बा० दो० ५७); "सीय को सनेह सील तथा कथा लंक की कहत चले चाय सों सिरानो पंथ छन में ॥" (क० सुं० २१); 'सुर भूपा'—क्योंकि यहाँ देवताओं के कार्य की सम्मति लेंगे और मुनि शस्त्रास्त्र देंगे। 'कहत निज भगति'—क्योंकि मुनि को इसीकी चाह है। अतः, उनके सुख के लिये कहते हैं। जैसे श्रीशबरीजी से एवं अन्यत्र भी भक्ति कही गई है।

(२) 'तुरत सुतीछन गुरु ······'—शीघ्र गये कि जिससे श्रीरामजी को देर तक ठहरना न पड़े, अभी श्रीरामजी द्वार के बाहर ही खड़े हैं। 'करि दंडवत्'—संदेशा कहने के पहले ही दंडवत् की, क्योंकि गुरुजी को दंडवत् उस संदेशा से भी अधिक है। तुरत इससे भी गये कि जिससे गुरुजी श्रीरामजी की अगवानी करें। (उपर्युक्त गुरु दक्षिणा के अर्थ से भाव यह है कि दंडवत् करके गुरु-दक्षिणा रूप संदेशा कहा—यही नीति है)।

(३) 'नाथ कोसलाधीस-कुमारा······'—'आये मिलन'—यदि कहते कि श्रीरामजी दर्शन करने आये हैं, तो गुरुजी को बुरा लगता, क्योंकि वे इन्हें इष्ट भाव से जपते हैं, और जो कहते कि आपको दर्शन देने आये हैं, तो श्रीरामजी की लीला मर्यादा के विरुद्ध होता, इससे 'मिलन' कहा।

यहाँ नाम, रूप, लीला, धाम, इन चारों से परिचय दिया—'कोसलाधीस'—से धाम, 'कुमारा' से रूप, 'जगत आधारा' से लीला और—'राम अनुज समेत···' से नाम कहा। 'कोसलाधीस कुमारा' मात्र में अति व्याप्ति दोष था, क्योंकि श्रीभरतजी आदि का भी संदेह होता। 'जगत आधारा' में श्रीलक्ष्मणजी और श्रीभरतजी का संदेह हो सकता था; यथा—"सकल जगत आधार।" (बा० दो० श्रीलक्ष्मणजी, "भरत भूमि रह राउरि राखी।" (अ० दो० २६६)—श्रीभरतजी ; इससे

जिनका मंत्र आप जपते हैं, वे 'राम अनुज समेत वैदेही' हैं, तब मुनि उठ दौड़े। आप दिन-रात जिन्हें जपते हैं, वे ही आये हैं; ऐसा कहने से—"देखिअहिं रूप नाम आधीना।" (बा० दो० २०); का चरितार्थ हुआ; अर्थात् नाम जपने से रूप आकर प्राप्त हो गया।

मुनि - पद - कमल परे दोउ भाई। रिषि अति प्रीति लिये उर लाई ॥१०॥
सादर कुसल पूछि मुनि ज्ञानी। आसन बर बैठारे आनी ॥११॥
पुनि करि बहु प्रकार प्रभु - पूजा। मोहि सम भाग्यवंत नहिं दूजा ॥१२॥
जहँ लगि रहे अपर मुनिबृंदा। हरषे सब बिलोकि सुखकंदा ॥१३॥

दोहा—मुनि-समूह महँ बैठे, सनमुख सबकी ओर।
सरद इंदु तन चितवत, मानहुँ निकर चकोर ॥१२॥

अर्थ—दोनों भाई मुनि के चरण-कमलों पर पड़ गये; अर्थात् साष्टांग दंडवत् की। अगस्त्य ऋषि ने अत्यन्त प्रीति से उन्हें हृदय से लगा लिया ॥१०॥ ज्ञानी मुनि ने आदर-पूर्वक कुशल पूछ उन्हें लाकर श्रेष्ठ आसन पर बैठाया ॥११॥ फिर बहुत प्रकार से प्रभु की पूजा की और बोले कि मेरे समान भाग्यवान् दूसरा नहीं है ॥१२॥ जहाँ तक और मुनिसमूह थे, वे सब आनंद-कंद (श्रीरामजी) को देखकर प्रसन्न हुए ॥१३॥ मुनियों के समूह में प्रभु सबकी ओर सम्मुख ही बैठे हैं; (अर्थात् पीठ किसीकी ओर नहीं है। यह विश्वतो-मुख प्रभु का रहस्य है,) सब उन्हें एकटक देख रहे हैं। मानों चकोरों का समुदाय शरद ऋतु के चन्द्रमा की ओर देख रहा है ॥१२॥

विशेष—(१) 'मुनि-पद-कमल परे दोउ भाई।'—श्रीजानकीजी का स्वभाव अत्यंत संकोची है, इसीसे संकोचवश सर्वत्र ऋषियों के यहाँ वे प्रणाम नहीं करतीं। गुरु वसिष्ठजी पुरोहित हैं, उन्हें पहचानती हैं। अतः उन्हें प्रणाम करना पाया जाता है; यथा—"गहे चरन सिय सहित बहोरी।" (अ० दो० ८) "सीय आइ मुनिवर पद लागी।" (अ० दो० २४५); वा व्याह-प्रतिज्ञा के अनुसार कर्म-मात्र में श्रीरामजी के साथ समझना चाहिये। श्रीरामजी ने दंडवत् की, मुनि ने अत्यंत प्रीति से हृदय लगाया, यह परस्पर योग्य वर्त्ताव है।

(२) 'सादर कुसल पूछि'''—'सादर'—प्रेम-पूर्वक बार-बार पूछा। ज्ञानी हैं, जानते हैं, तब भी पूछा, क्योंकि यह शिष्टाचार है।

(३) 'पुनि करि बहु प्रकार प्रभु पूजा।'—पूजन के बहुत-से भेद हैं। 'बहु प्रकार' में सभी एवं स्वेच्छित लिये जा सकते हैं। जैसे कि पञ्चोपचार, षोडशोपचार आदि। 'प्रभु पूजा'—ये समर्थ ऋषि हैं, अतएव प्रभु की पूजा के योग्य हैं। 'मोहि सम भाग्यवंत नहिं दूजा।'—ऐसा कहना स्वागत है; यथा—"बार भाग रावरि गुन गाथा। कहि न सिराहिं सुनहु रघुनाथा॥" (बा० दो० ३४१), "अहोभाग्य मम अमित अति,'''देखेउँ नयन बिरंचि सिव, सेव्य जुगल पद कंज॥" (सुं० दो० ४७); "देखि मुनि रावरे पद आजु। भयउँ प्रथम गिनती में अबतें हौं जहँ लौं साधु-समाज।" (गी० आ० ४७)।

(४) 'हरषे सब बिलोकि सुखकंदा ।'–श्रीअगस्त्यजी पूजन आदि से और मुनि लोग इनके दर्शनों से सुखी हुए, इसीसे श्रीरामजी 'सुख कंद' कहे गये।

(५) 'मुनि समूह महँ बैठे⋯'—यहाँ श्रीरामजी का मुख चन्द्रमा और उनके वचन चन्द्र-किरण हैं। चंद्र-किरण से ताप दूर होता है। इनके वचन (जो आगे भूभार-हरण के लिये कहेंगे, उन) से संसार-भर के ताप दूर होंगे; यथा—"ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥" (बा० दो० ११६); "देखि इंदु चकोर समुदाई। "चितवहिं जिमि हरिजन हरिपाई॥" (कि० दो० १६); "एक टक सब सोहहिं चहुँ ओरा। रामचन्द्र मुख चंद चकोरा॥" (अ० दो० ११४); इत्यादि।

यहाँ पर—"औरउ राम रहस्य अनेका। कहहु नाथ⋯" (बा० दो० ११०), इस पार्वतीजी के प्रश्न का उत्तर है। चारों ओर सबको मुख ही का सामना है, जैसे आकाश के चंद्रमा से।

तब रघुबीर कहा मुनि पाहीं। तुम्ह सन प्रभु दुराव कछु नाहीं॥१॥
तुम्ह जानहु जेहि कारन आयउँ। ताते तात न कहि समुझायउँ॥२॥
अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही। जेहि प्रकार मारउँ मुनि-द्रोही॥३॥
मुनि मुसुकाने सुनि प्रभु-बानी। पूछेहु नाथ मोहि का जानी॥४॥
तुम्हरेइ भजन-प्रभाव अघारी। जानउँ महिमा कछुक तुम्हारी॥५॥

अर्थ—तब रघुवीर श्रीरामजी ने मुनि से कहा कि हे प्रभो! आपसे कुछ छिपा नहीं है॥१॥ आप जानते हैं कि मैं जिस कारण से आया हूँ। इसीसे हे तात! कुछ आपसे समझाकर न कहा॥२॥ हे प्रभो! अब मुझे उस तरह का मंत्र (सम्मति) दीजिये, जिस तरह मैं मुनि-द्रोही निशाचरों को मारूँ॥३॥ प्रभु के वचन सुनकर मुनि मुस्कुराये, (और बोले कि) हे नाथ! आपने क्या जानकर मुझसे पूछा है? हे पापों के नाशक! आपके ही भजन-प्रभाव से तो मैं आपकी कुछ थोड़ी-सी महिमा जानता हूँ॥४-५॥

विशेष—(१) 'तब रघुबीर कहा⋯'—रावण-वध के लिये विचार करेंगे, अतः, 'रघुबीर' कहा है। तुमसे छिपा नहीं है, इससे यह भी ज्ञात हुआ कि औरों से दुराव रखते हैं, अर्थात् अपना ऐश्वर्य छिपाते हैं। 'तुम्ह जानहु जेहि⋯'—भूभार-हरण के लिये पिता की आज्ञा पालन के बहाने यहाँ वन में आया। पुनः आपके पास भी जिसलिये आया, यह सब आप जानते ही हैं। भाव यह कि मेरी इच्छा से ही वनवास हुआ है, फिर आपके पास भी जिस प्रयोजन से आया हूँ, उसे विस्तार से न समझाकर सीधे कह देता हूँ—'अब सो मंत्र ⋯'—मुनि को 'प्रभु' कहते हैं, क्योंकि ये बड़े समर्थ ऋषि हैं। इल्वल-वातापी जैसे मायावी राक्षसों को मार चुके हैं। रावण भी इनसे डरता था। इन्होंने समुद्र भी सोख लिया था। मंत्र पूछने का प्रयोजन यह है कि श्रीरामजी राक्षस-मात्र के वध की प्रतिज्ञा कर चुके हैं। कोई ऐसी युक्ति कहें, जिससे निशाचरों का वध हो और अकारण-रौद्रता का पाप भी न हो। "खर-दूषणादि के वध पर अगस्त्यजी ने श्रीरामजी से कहा है कि इसीलिये आपको महर्षि लोग यत्न करके इस स्थान पर ले आये थे" (वाल्मी० ३।३०।३५); इससे जान पड़ता है कि मुनि इस कार्य के योग्य स्थल भी बतलायेंगे। जहाँ रहने पर रावण से वैर होगा और सब राक्षस मारे जायँगे। श्रीरामजी ने अपना ऐश्वर्य छिपाने के लिये दो बार मुनि को 'प्रभु' कहा है। पर मुनि भी चूकनेवाले नहीं हैं, इन्होंने चार बार प्रभु

(३ बार प्रभु, १ बार नाथ—यह प्रभु का पर्याय है) कहा है—"मुनि मुसुकाने सुनि प्रभु बानी।" "पूछेहु नाथ मोहि···", "है प्रभु परम···", "दंडक बन पुनीत प्रभु करहू।"।

(२) 'मुनि मुसुकाने सुनि···'—'प्रभु बानी' पर हँसे कि ऐसे समर्थ होकर भी असमर्थ की तरह पूछते हैं। मुझे क्या जानकर पूछते हैं ? भाव यह कि मैं आपको मंत्र बतलाने योग्य कब हो सकता हूँ। इसका समाधान आगे मुनि ने स्वयं किया है; यथा -"संतत दासन्ह देहु बड़ाई। तातें मोहि पूछेहु रघुराई॥"। आप नाथ हैं, ब्रह्मांड-नायक हैं, मैं तो आपका दास हूँ। प्रभु के ये वचन मोहक हैं, इसीसे आगे मुनि वर माँगेंगे; यथा—"यह बर मागउँ···" कि जिससे मुझे भ्रम न हो। जिसके हृदय में प्रभु रहते हैं, उसे भ्रम नहीं होता; यथा—"भरत-हृदय सिय-राम-निवासू। तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू॥" (अ० दो० २९४); प्रभु के माधुर्य में भक्तों को भ्रम होने का संदेह रहता है, जैसे कि श्रीरामजी के कृतज्ञता-सूचक वचनों पर हनुमानजी ने डरकर रक्षा के लिये प्रार्थना की है; यथा—"चरन परेउ प्रेमाकुल, त्राहि-त्राहि भगवंत।" (सुं० दो० ३२)।

(३) 'तुम्हरेइ भजन प्रभाव अघारी।'—प्रभु ने कहा था—"तुम्ह जानहु जेहि कारन आयेउँ।···" इसका उत्तर यहाँ मुनि दे रहे हैं। भाव यह कि भक्तों को कृपा करके जितना आप जना देते हैं, वह उतना ही जान सकता है, यथा—"सो जानइ जेहि देहु जनाई।" (अ० दो० १२६); मैं भी आपके ही भजन-प्रभाव से कुछ जानता हूँ, वह आगे कहते हैं—"ऊमरि तरु···" तथा—"रोक्यो विंध्य, सोख्यो सिंधु घटजहूँ नाम बल हार्‌यो हिय, खारो भयो भूसुर-डरनि॥" (वि० २४७)।

(४) 'जानउँ महिमा कछुक तुम्हारी।'—अर्थात् जो महिमा आगे कहते हैं, वह कुछ ही कही गई है, तो पूरी महिमा का अंदाजा भी नहीं हो सकता; यथा—"तिमि रघुपति महिमा अवगाहा। तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा॥" (उ० दो० ९०)।

श्रीरामजी ने भरद्वाजजी से मार्ग पूछा था -'हम केहि मग जाहीं' क्योंकि आगे जाना था। श्रीवाल्मीकिजी से स्थान पूछा -'कहिय सोइ ठाऊँ' क्योंकि वहाँ पर्णशाला बनाकर कुछ काल रहना था कि श्रीभरतजी आ लें, नहीं तो दूर तक उन्हें दौड़ना पड़ेगा। अगस्त्यजी से मंत्र पूछते हैं, क्योंकि निशाचर-वध की प्रतिज्ञा का निर्वाह करना है। इनके भय से राक्षस इधर नहीं बढ़ सके, अतएव ये ही उनके बारे में मंत्र देंगे।

इन तीनों महात्माओं ने प्रथम हँसकर महिमा परक उत्तर दिये हैं, तब पीछे व्यावहारिक; क्योंकि यह नीति है कि बड़ों को सलाह देते हुए प्रथम उनकी बड़ाई करे, तब सलाह दे। इन तीनों के प्रति 'मग', 'ठाउँ' और 'मंत्र' का प्रयोग भी उपयुक्त है, तीनों में जो जिस बात में निपुण हैं, उनसे वही पूछा गया है। श्रीभरद्वाजजी मार्ग के ज्ञाता हैं; यथा—"परमारथ पथ परम सुजाना।" (बा० दो० ४५); अतः, उनसे मार्ग पूछा है। श्रीवाल्मीकिजी श्रीरामजी का ठाँव (स्थान) बनाने में निपुण हैं; यथा—"रामायन जेहि निरमयेउ।" (बा० दो० १४); रामायन (राम+अयन) अर्थात् श्रीरामजी का घर (स्थान); अतः, उनसे स्थान की बात पूछी। अगस्त्यजी श्रीराम मंत्र के ज्ञाता हैं; यथा -"निसि दिन देव जपत हहु जेही।" यह अभी सुतीक्ष्णजी ने कहा है। वाल्मीकीय रामायण में रावण-वध के लिये इनका श्रीरामजी को मंत्र (आदित्य-हृदय) देना कहा भी गया है और अगस्त्य-संहिता में श्रीराम-मंत्र की व्याख्या है। इसीसे इनसे मंत्र पूछा गया। यह कवि के शब्द-प्रयोग का कौशल सराहनीय है।

ऊमरि-तरु विसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया ॥६॥
जीव चराचर जंतु-समाना। भीतर बसहिं न जानहिं आना ॥७॥
ते फल-भच्छक कठिन कराला। तव भय डरत सदा सोउ काला ॥८॥
ते तुम्ह सकल लोकपति साईं। पूछेहु मोहि मनुज की नाईं ॥९॥
यह बर माँगउँ कृपानिकेता। बसहु हृदय श्री-अनुज-समेता ॥१०॥
अबिरल भगति बिरति सतसंगा। चरन-सरोरुह प्रीति अभंगा ॥११॥
जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता ॥१२॥
अस तव रूप बखानउँ जानउँ। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ ॥१३॥

अर्थ— आपकी विशाल माया गूलर के वृक्ष के समान है, अनेक ब्रह्मांड-समूह उसके फल हैं ॥६॥ चर-अचर सभी जीव गूलर-फल के भीतर के छोटे-छोटे जन्तुओं के समान हैं, जो (ब्रह्मांड-रूपी फल के) भीतर बसते हैं, वे (उसके बाहर का) और कुछ नहीं जानते ॥७॥ उन फलों का खानेवाला कठिन भयंकर काल है। वह भी आपके डर से डरता रहता है ॥८॥ वही समस्त लोकपालों के स्वामी होते हुए आपने मुझसे मनुष्य की तरह पूछा है (कि मंत्र कहो,) ॥९॥ हे कृपा के स्थान! मैं यह वर माँगता हूँ कि मेरे हृदय में आप श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ वास कीजिये ॥१०॥ अविरल भक्ति, वैराग्य, सत्संग और आपके चरण-कमलों की अटल प्रीति— मेरे हृदय में वास करे ॥११॥ यद्यपि आप अखंड, एवं अनन्त ब्रह्म हैं, अनुभव से प्राप्त होनेवाले हैं, जिन्हें संत भजते हैं ॥१२॥ आपके ऐसे रूप का बखान करता हूँ और (उसे) जानता हूँ, तथापि लौट-लौटकर आपके इस सगुण ब्रह्म-रूप में प्रीति करता हूँ ॥१३॥'

विशेष—(१) 'ऊमरि-तरु बिसाल······' यथा—"सुनु रावन ब्रह्मांड-निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया ॥" (सुं॰ दो॰ २०); 'तव माया' अर्थात् इस माया के आप स्वामी हैं। 'ते तुम्ह सकल लोक···'—से ब्रह्मांडों का स्वामी और 'तव भय डरत ···' से काल का स्वामी होना जनाया। इस तरह माया, काल और ब्रह्मांड तीनों का स्वामी होना सूचित किया।

'जीव चराचर जंतु समाना'—इससे विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त के जीवों का अणुत्व लक्षित कराया है।

(२) 'ते फल भच्छक कठिन··· ···'—काल समस्त ब्रह्मांड और उसके अनन्त जीवों को खा लेता है, पर उसे दया नहीं लगती, इससे कठिन कहा गया। ऐसा भारी है कि अनन्त ब्रह्मांड इसके पेट में समा जाते हैं, इससे कराल है। जैसे फलों को बंदर समूचे निगल जाते हैं, वैसे काल अनंत ब्रह्मांडों को ही निगल जाता है, भाव यह कि ब्रह्मांड के जीवों का ही नाश नहीं होता, ब्रह्मांड भी काल के द्वारा विनाश होते हैं। 'तव डर डरत सदा सोउ काला'; यथा—"जाके डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई ॥" (सुं॰ दो॰ २१); काल भी आपकी आज्ञा से ही ब्रह्मांडों का नाश करता है; यथा—"काल बिलोकत ईस रुख, ··" (दोहावली ५००); "भयादस्याग्निस्तपति ' मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥" (कठ॰ २।३।३); गूलर वृक्ष की तरह माया बनी ही रहती है, फलों के परिपक्व होने पर काल-द्वारा उनका नाश हुआ करता है; यथा—"बिधि प्रपंच अस अचल अनादी।" (अ॰ दो॰ २८१); माया फिर-फिर फला करती है; यथा—"पल्लव फूलत नवल नित···" (उ॰ दो॰ १२)।

(३) 'ते तुम्ह सकल लोकपति साईं ।'—ब्रह्मांड अनेक हैं, प्रत्येक में त्रिदेव और इन्द्र, वरुण आदि लोकपाल हैं ; यथा—"लोक-लोक प्रति भिन्न विधाता। भिन्न विष्णु सिव मनु दिसि त्राता।" (उ० दो० ८०); उन सबके आप ही स्वामी हैं। पर मनुष्य की तरह असमर्थ बनकर हमसे मंत्र पूछते हैं।

माया जड़ है—"जासु सत्यता ते जड़ माया।" (बा० दो० ११६); इसीलिये इसे जड़ वृक्ष की उपमा दी गई। गूलर वृक्ष में फलों के घौद लगते हैं और इसमें निकाय ब्रह्मांड ; यथा—"लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु, अनुसासन माया ॥" (बा० दो० २२४)।

(४) 'यह बर माँगउँ कृपा निकेता।'—श्रीरामजी के माधुर्य में भ्रम होने न पावे, इस रक्षा के लिये बीच में वर माँगने लगे, इसपर ऊपर कहा गया है—"तुम्हरेइ भजन प्रभाव···"।

(५) 'जद्यपि ब्रह्म अखंड···अस तव रूप '—ऊपर महिमा ब्रह्म की कही और माँगी सगुण के माधुर्य-रूप की भक्ति, इसीपर समाधान करते हैं कि मैं उसे कहता एवं जानता हूँ, पर मेरी प्रीति तो इसी रूप में है

(६) 'फिरि-फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ।'—क्योंकि—"जेहि सुख लागि पुरारि, असिव बेष कृत सिव सुखद। अवधपुरी नर नारि, तेहि सुख महँ संतत मगन। सोई सुख लवलेस, जिन्ह बारेक सपनेहु लहेउ। ते नहि गनहिं खगेस, ब्रह्म सुखहिं सज्जन सुमति ॥" (उ० दो० ८८); तथा—"जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं। ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं॥" (उ० दो० १२)।

संतत दासन्ह देहु बड़ाई। ताते मोहि पूछेहु रघुराई ॥१४॥
है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ। पावन पंचवटी तेहि नाऊँ ॥१५॥
दंडक बन पुनीत प्रभु करहू। उग्र साप मुनिबर कर हरहू ॥१६॥
बास करहु तहँ रघुकुल-राया। कीजे सकल मुनिन्ह पर दाया ॥१७॥

अर्थ—आप सदा से सेवकों को बड़ाई देते आये हैं, इसीसे, हे रघुराई ! आप मुझसे पूछते हैं ॥१४॥ हे प्रभो ! एक परम रमणीय और पवित्र स्थान है, उसका पंचवटी नाम है ॥१५॥ हे प्रभो ! आप दंडक-वन को पवित्र करें, मुनि-श्रेष्ठ शुक्राचार्य के उग्र (घोर) शाप का उद्धार करें ॥१६॥ हे रघुकुल राज ! आप वहाँ निवास करें और सब मुनियों पर दया करें ॥१७॥

विशेष—(१) 'संतत दासन्ह······'—यह अपने प्रश्न—'पूछेहु नाथ मोहि का जानी।' का उत्तर है।

(२) 'है प्रभु परम······'—'मनोहर' से शृंगार-सहित और 'पावन' से शान्त रस पूर्ण सूचित किया। 'पंचवटी'—पाँच वट वृक्षों के कारण यह नाम पड़ा। यह स्थान गोदावरी नदी के तट पर नासिक के पास है।

(३) 'दंडक बन पुनीत······'—मुनिवर शुक्राचार्य के शाप की कथा मा० दो० २३ चौ० ७ में लिखी गई है। दंडक-वन का पुनीत होना और शाप की निवृत्ति आपके वहाँ निवास-मात्र से हो

जायगी। इसीसे साथ ही—"वास करहु तहँ···" कहा गया है, उसीसे मुनियों को सुख भी होगा ; यथा—"जब ते राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भये मुनि बीती त्रासा॥" (दो० १४); दंडक वन पुनीत करने में 'प्रभु' कहा, क्योंकि उसमें प्रभुता का काम है कि चरणों के स्पर्श-मात्र से सब पावन हो जाय। दया के सम्बन्ध में 'रघुकुल राया' कहा गया, क्योंकि राजा ही संत, विप्र आदि पर दया करते हैं।

मुनि ने गंभीरता से मंत्र दिया कि वहाँ रहने से राक्षसों से वैर होगा, वे लड़ने आवेंगे, क्रमशः मारे जायँगे, श्रीरामजी को अकारण-रौद्रता का दोष भी न लगेगा। इसमें 'जेहि प्रकार मारउ मुनि द्रोही।' का उत्तर हो गया। मुनि की साधुता भी रही, क्योंकि संत लोग किसीका वध नहीं करवाते। पंचवटी का निवास ही निशाचर-वध का हेतु हो जायगा।

(४) 'कीजै सकल मुनिन्ह पर दाया।'; यथा—"भवानपि सदाचारः शक्तश्च परिरक्षणे। अपि चात्र वसन् राम तापसान्पालयिष्यसि॥" (वाल्मी० ३।१३।२०)। यहाँ मुनियों पर दया करने में उनके द्रोहियों का वध भी गर्भित है।

दंडक-वन-पावनता, गीध-मैत्री एवं पंचवटी—प्रकरण

चले राम मुनि आयसु पाई। तुरतहि पंचवटी नियराई॥१८॥

दोहा—गीधराज से भेंट भइ, बहु बिधि प्रीति बढ़ाइ।
गोदावरी निकट प्रभु, रहे पर्न गृह छाइ॥१३॥

अर्थ—मुनि की आज्ञा पाकर श्रीरामजी चले, शीघ्र ही पंचवटी के पास पहुँच गये॥१८॥ गृध्रराज से भेंट हुई, उनसे बहुत तरह से प्रीति बढ़ाकर प्रभु गोदावरी नदी के पास पर्णशाला छाकर (बनाकर) रहे॥१३॥

विशेष—(१) 'चले राम मुनि आयसु पाई···'—"हरषि चले कुंभज रिषि पासा।" इसका उपक्रम है और यहाँ—'चले राम···' पर उपसंहार हुआ। इतने में 'प्रभु-अगस्ति-सत्संग' प्रकरण रहा। पहले 'हरषि चले' कहा गया था, फिर अगस्त्यजी के यहाँ बैठ गये थे; यथा—"आसन पर बैठारे आनी।" अतः, फिर चलना कहा।

(२) 'बहु बिधि प्रीति बढ़ाइ'—वाल्मीकीय रा० आ० स० १४ में लिखा है कि पञ्चवटी पहुँचने के प्रथम ही श्रीरामजी ने एक विशालकाय पराक्रमी गृध्रको देखकर उससे परिचय पूछा। उसने प्रिय मधुर वाणी से कहा कि हे वत्स! मुझे अपने पिता का मित्र जानो। बिना और कुछ पूछे ही भाव-ग्राहक प्रभु ने उसकी पूजा की और तब उसके नाम आदि पूछे। फिर उसने सृष्टि के आदि से लेकर कथा कही और अपनेको विनता के द्वितीय पुत्र अरुण का छोटा पुत्र कहा और बताया कि मेरे भाई का नाम सम्पाती और मेरा नाम जटायु है। तुम्हारे यहाँ रहने में मैं सहायक हूँगा। तुम्हारे और श्रीलक्ष्मणजी के न रहने पर मैं श्रीसीताजी की रक्षा करूँगा। तब श्रीरामजी ने जटायु का अभिनन्दन और आलिंगन किया। पुनः उसके द्वारा अपने पिता से उसकी मैत्री की बात को बार-बार पूछा और सुना। फिर उस बलवान् पक्षी को श्रीसीताजी की रक्षा का भार देकर पंचवटी में रहने लगे।

पिता से मित्रता की बात पद्मपुराण में कही गई है, जहाँ शनिस्तोत्र भी है—एक समय सम्वत्सर सुनाते हुए श्रीवशिष्ठजी ने राजा दशरथजी से कहा कि शनि इस साल में रोहिणी की दशा को वेधकर निकल जायँगे, इससे १२ वर्ष का अवर्षण होगा। तब राजा ने गुरुजी से उनके मार्ग का निश्चय कर अकेले रथ पर जा उनका सामना किया। राजा तो महातेजस्वी थे, पर इनका रथ प्राकृत होने के कारण शनि की कड़ी दृष्टि से जल गया। राजा आकाश-मार्ग में नीचे गिरने लगे। इतने में जटायु पहुँचे और राजा को अपनी पीठ पर बैठा लिया। तब फिर राजा ने धनुष-बाण चढ़ाकर सामना किया। तब शनि हृदय से डर गये कि ऐसा पराक्रमी तो हमने नहीं देखा। फिर उन्होंने राजा से कहा कि हम तुम्हारे पराक्रम से प्रसन्न हैं, वर माँगो। राजा ने सरल प्रकृति होने से स्वीकार किया और यही वर माँगा कि अबसे आप कभी भी इस दशा का भेदन न करें। शनि ने 'एवमस्तु' कहा।

'रहे परन गृह छाइ'—श्रीचित्रकूट में देवता लोग कोल-किरात वेष से पर्णशाला रच गये थे और आगे किष्किंधा में भी—'प्रथमहिं देवन्ह गिरि गुहा, राखी रुचिर बनाइ।" कहा है। पर यहाँ क्यों नहीं बनाई? उत्तर—(क) यहाँ खर के भय से न आ सकते थे, आगे स्पष्ट है; यथा—"जब रघुनाथ समर रिपु जीते। सुर नर मुनि सबके भय बीते ॥" (दो० २०)। (ख) यह वन उग्रशाप से शापित था, इससे देवता यहाँ न आ सकते थे, प्रभु के आने पर हरा-भरा हुआ, तब प्रभु ने स्वयं पर्णकुटी बनाई। (ग) इस स्थान से श्रीसीताजी का हरण होगा, इससे अपयश के भय से भी नहीं बनाई। वाल्मीकीय रामायण में श्रीरामजी ने श्रीलक्ष्मणजी से योग्य स्थान ढूँढ़ने को कहा, तब उन्होंने भी यही कहा—"स्वयं तु रुचिरे देशे क्रियतामिति मा वद।" (वाल्मी० ३।१५।७) जब श्रीरामजी ने स्वयं ढूँढ़कर कहा कि यहाँ बनाओ, तब श्रीलक्ष्मणजी ने बहुत ही रमणीय शाला रच दी; इस तरह श्रीलक्ष्मणजी भी उक्त अपयश से बचे रहे।

जब ते राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भये मुनि बीती त्रासा ॥१॥
गिरि बन नदी ताल छबि छाये। दिन दिन प्रति अति होहिं सुहाये ॥२॥
खग-मृग-बृंद अनंदित रहहीं। मधुप मधुर गुंजत छबि लहहीं ॥३॥
सो बन बरनि न सक अहिराजा। जहाँ प्रगट रघुबीर बिराजा ॥४॥

अर्थ—जबसे श्रीरामजी ने वहाँ निवास किया, मुनि सुखी हुए और उनका डर जाता रहा ॥१॥ पर्वत वन, नदी, तालाब शोभा से पूर्ण हो गये, वे प्रतिदिन अत्यन्त सुहावने हो रहे हैं ॥२॥ पक्षियों और पशुओं के झुंड सुखी रहते हैं, भौंरे मधुर गुंजार करते हुए शोभा पा रहे हैं ॥३॥ शेषनाग भी उस वन का वर्णन नहीं कर सकते, जहाँ रघुवीर श्रीरामजी प्रत्यक्ष विराजमान हैं ॥४॥

विशेष—'सुखी भये मुनि ···'—अगस्त्यजी ने कहा था—"कीजै सकल मुनिन्ह पर दाया।" उसे यहाँ चरितार्थ किया। दंडक-वन को पुनीत करना मुनि ने पहले कहा था, पर उसका वर्णन आगे करते हैं। क्योंकि श्रीरामजी की दृष्टि में 'मुनिन्ह पर दाया' ही प्रधान कार्य है। ये उसके लिये प्रतिज्ञा कर चुके हैं।

(२) 'गिरि बन नदी · ·'—वन का सुहावन होना कहकर तब तदाश्रित खग-मृग आदि का आनंद कहा गया कि खग मृग आदि पारस्परिक वैर भूलकर क्रीड़ा करते हैं, यथा—"सहज बैर सब जीवन्ह त्यागा। गिरि पर सकल करहिं अनुरागा ॥" (बा० दो० ६५)।

(३) 'सो बन बरनि न सक अहिराजा ।'—न कह सकने का एक कारण तो यही है कि उसकी शोभा दिन-दिन बढ़ती है, जो आज कहेंगे, वह कल फीकी पड़ जायगी, तो देखकर लोग इसे झूठी कहेंगे। दूसरा कारण उत्तरार्द्ध में कहते हैं—

'जहँ प्रगट रघुबीर बिराजा ।'—जिन रघुवीर के भजन के प्रभाव से ही अगस्त्य आदि मुनियों के आश्रमों में पूर्ण शोभा है। वे जहाँ स्वयं विराजे हैं और प्रत्यक्ष हैं तो वहाँ की शोभा निस्सीम ही है, तब वह कैसे कही जाय ?

"पुनि लछिमन उपदेस अनूपा"—प्रकरण

(श्रीराम-गीता)

एक बार प्रभु सुख आसीना । लछिमन बचन कहे छल-हीना ॥५॥
सुर - नर - मुनि - सचराचर साईं । मैं पूछउँ निज प्रभु की नाईं ॥६॥
मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा । सब तजि करउँ चरन-रज-सेवा ॥७॥
कहहु ज्ञानहु बिराग अरु माया । कहहु सो भगति करहु जेहि दाया ॥८॥

दोहा—ईस्वर - जीव - भेद प्रभु, सकल कहउ समुझाइ ।
जाते होइ चरन - रति, सोक मोह भ्रम जाइ ॥१४॥

अर्थ—एक बार प्रभु श्रीरामजी सुख-पूर्वक बैठे थे, श्रीलक्ष्मणजी ने छल रहित (सहज स्वभाव से) वचन कहे ॥५॥ कि हे सुर-नर-मुनि एवं चराचर-मात्र के स्वामी ! मैं निज प्रभु की तरह आपसे पूछता हूँ ॥६॥ हे देव ! मुझसे वही समझाकर कहिये, जिससे सबको छोड़कर प्रभु के चरण-रज का सेवन करूँ ॥७॥ ज्ञान, वैराग्य और माया (के स्वरूप एवं उनकी वृत्तियों को) कहिये और वह भक्ति कहिये, जिससे आप दया करते हैं ॥८॥ ईश्वर और जीव का भेद—यह सब समझाकर कहिये, जिसमें आपके चरण में प्रीति हो और शोक, मोह और भ्रम मिट जायँ ॥१४॥

विशेष—(१) 'एक बार प्रभु सुख आसीना ।'—प्रभु श्रीरामजी ने अपने सामर्थ्य से गिरि-वन आदि को और मुनियों को सुखी किया और फिर स्वयं भी सुख-पूर्वक बैठे। आप आश्रितों के सुख से सुखी होते हैं। वन की रमणीयता भी सुख का हेतु है। प्रिया के साथ सुख-पूर्वक विराजने का बाहरी लीला में यह अंतिम दिन है, वास्तविक आपकी क्रीड़ा तो नित्य एक-रस ही है।

यहाँ तत्त्व-जिज्ञासा के योग्य अवसर है; यथा—"एक बार तेहि तर प्रभु गयऊ। तरु बिलोकि उर अति सुख भयऊ ॥ "पारबती भल अवसर जानी। गईं संभु पहिं ""(बा० दो० १०५-१०६)।

(२) 'लछिमन बचन कहे छल हीना।'-जो प्रश्न अपनी जीत और दूसरे की परीक्षा लेने एवं अपनी चतुरता प्रकट करने के लिये होते हैं, वे छल युक्त कहे जाते हैं। वे दोष श्रीलक्ष्मणजी के वचनों में नहीं हैं। यदि कहा जाय कि श्रीलक्ष्मणजी ने स्वयं कहा है—"मन-क्रम-बचन चरन रत होई। कृपासिंधु

हृदयँ कि सोई ॥" (अ० दो० ७१); अर्थात् वे श्रीरामजी के चरणों में पूर्ण अनुरक्त एवं अनन्य हैं। तो फिर यहाँ—'जाते होइ चरन रति' 'सब तजि करउँ···' को प्रश्न का हेतु क्यों कहा ? यह तो छल ही है। इसका उत्तर यह है कि श्रीमुख से सुनकर उनमें और दृढ़ता हो जायगी और श्रीमुख-वाणी पर जगत् का कल्याण होगा; यथा—"तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी। कीन्हिहु प्रश्न जगत हित लागी ॥" (बा० दो० १११) श्रीलक्ष्मणजी सगुण-भक्ति में जीवों के आचार्य माने जाते हैं। इससे सबके लिये इनका प्रश्न करना योग्य ही है। छल-हीन प्रश्न वक्ताओं को प्रिय लगते हैं; यथा—"प्रश्न उमा कै सहज सुहाई। छल बिहीन सुनि सिव मन भाई ॥" (बा० दो० ११०); (इसे भी देखिये)। श्रीलक्ष्मणजी ने गुह को इन ज्ञान विराग आदि के उपदेश भी किये हैं; यथा—"बोले लखन मधुर मृदु बानी। ज्ञान-बिराग भगति रस सानी ॥" (अ० दो० ९१); फिर इन सबको समझाकर कहलावेंगे, जिससे और दृढ़ हो जायँ। पुनः शास्त्रों का बार-बार अभ्यास करना नियम भी हैं; यथा—"शास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिय।" (दो० ३६); अन्यथा विस्मृति का भय रहता है। यह उपदेश भी है कि सज्जनों को इन्हीं बातों के प्रश्नोत्तर में कालक्षेप करना चाहिये।

(३) 'सुर-नर-मुनि-सचराचर साईं' ; यथा—"बिस्वनाथ मम नाथ पुरारी।" (बा० दो० १०१); 'मैं पूछउँ निज प्रभु की नाईं'—श्रीलक्ष्मणजी ने यहाँ अपनी अनन्यता प्रकट करते हुए प्रश्न किया है; यथा—"दासी मन क्रम बचन तुम्हारी।" (बा० दो० १०१); जिससे प्रभु को समाधान करते ही बने; यथा—"सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसे ॥" (कि० दो० २); अर्थात् जैसे अनन्य सेवक अपने स्वामी से पूछता है, वैसे ही सरल भाव से मैं पूछता हूँ। यह भी भाव है कि आप प्रभु हैं, प्रभु-सम्मित वचनों से कहें। वही अवश्य मुझ सेवक के लिये कर्त्तव्य होगा। क्योंकि जिसकी आज्ञा सुर-नर-मुनि एवं सचराचर सभी मानते हैं, तो उसको 'निज सेवक' क्यों न मानेगा।

(४) 'मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि···'—यह रीति है कि जब जिज्ञासु नितान्त अज्ञान बनकर पूछता है; तभी वक्ता विस्तार-पूर्वक और समझाकर कहता है; यथा—"कहिय बुझाइ कृपा निधि मोहीं ॥" (बा० दो० ४५)—श्रीभरद्वाजजी; "मोहि समुझाइ कहहु वृष केतू।" (बा० दो० ११६)—श्रीगिरिजाजी; "कहहु बुझाइ कृपानिधि मोहीं ॥" (उ० दो० ९२)—श्रीगरुड़जी, इत्यादि सब ने ऐसा ही पूछा है। 'सब तजि'; यथा—"जननी जनक बंधु···सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी ॥" -(सुं० दो० ४७); "सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई ॥ ये सब राम भगति के बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक ॥" (कि० दो० ६); अर्थात् जननी जनक आदि की ममता एवं देह सम्बन्धी सुख और मान के छोड़ने पर ही यथार्थ भक्ति होती है।

(५) 'कहहु ग्यान बिराग···' इसमें भक्ति को दूसरे चरण में रक्खा, उसका एक कारण तो यह है कि अपना अभीष्ट अंत में कहा जाता है, क्योंकि उपर्युक्त 'चरण रज सेवा' और 'जाते होइ चरन रति···' ये सब भक्ति के ही विशेष अंग हैं। दूसरा यह भी कारण है कि भक्ति के पास माया नहीं रह सकती, यथा—"भगतहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया ॥ (उ० दो० ११५); इसलिये भक्ति को माया से पृथक् रक्खा।

(७) 'जाते होइ चरन रति ···' इनमें ईश्वर और जीव का भेद जानने से चरण-रति अर्थात् ईश्वर में जीव की भक्ति होगी। यह इसके उत्तर के प्रसंग में स्पष्ट है। ज्ञान से शोक का, वैराग्य से मोह का और माया के जानने से भ्रम का नाश होगा। भक्ति का ज्ञान इसलिये चाहिये कि 'चरन-रति' कैसे हो ?

श्रीलक्ष्मणजी का मुख्य उद्देश्य है—"सब तजि करउँ चरन रज सेवा।" इसीके लिये सब जानना चाहते हैं, क्योंकि—"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहि प्रीती॥ प्रीति बिना नहि भगति दृढ़ाई।" (उ० दो० ८८)।

थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई॥१॥
मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हे जीव-निकाया॥२॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥३॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥४॥
एक दुष्ट अतिसय दुख-रूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥५॥
एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु-प्रेरित नहि निज बल ताके॥६॥

अर्थ—हे तात ! मैं थोड़े ही में सब समझाकर कहता हूँ, तुम बुद्धि, मन और चित्त लगाकर सुनो ॥१॥ मैं और मेरा, तू और तेरा, यही (भावना ही) माया का स्वरूप है, जिसने समूह जीवों को वश में कर लिया है ॥२॥ इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के विषय और जहाँ तक मन जाय, हे भाई ! उन सबको माया जानो ॥३॥ उस माया के दो भेद हैं—एक विद्या दूसरी अविद्या, इन दोनों को भी तुम सुनो ॥४॥ एक (अविद्या) अत्यन्त दुष्टा और बड़ी ही दुःख-रूपा है, जिसके वश में होकर जीव संसार-रूपी कुएँ में पड़ा है ॥५॥ एक (विद्या) जिसके वश में गुण हैं, वह प्रभु की प्रेरणा से जगत को रचती है, अपना बल उसे कुछ नहीं है ॥६॥

विशेष—(१) 'थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई।'—श्रीलक्ष्मणजी ने दो बार कहा है कि समझाकर कहिये, उसीसे कहते हैं कि हाँ, हम थोड़े ही में समझा कर कहेंगे। भाव यह कि शब्द थोड़े होंगे, पर समझने में आ जायँगे। इनके समझने का विस्तार भारी है। ये अत्यन्त सूक्ष्म विषय हैं, अतएव बुद्धि से निश्चय करते हुए, मन से मनन करते और चित्त में धारण करते जाओ। थोड़े शब्दों में बहुत आशय बोध कराना वक्ता की श्रेष्ठता है और थोड़े ही में बहुत कुछ समझ लेना श्रोता की उत्तमता है। प्रभु अंतर्यामी हैं, यह भी जानते हैं कि शूर्पणखा चल चुकी है, समय थोड़ा है, इससे भी थोड़े ही में कहते हैं।

पूर्व—"उभय बीच श्री सोहइ ·" (दो० ६); में कहा गया है कि श्रीलक्ष्मणजी प्रभु की कृपा के आश्रय हैं; इसलिये प्रभु ने कृपा करके श्रीलक्ष्मणजी को ऐसी बुद्धि-शक्ति दी है कि वे संकेत-मात्र से समझने जायँगे।

(२) 'मैं अरु मोर तोर तैं माया।'—माया के स्वरूप का ज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म है, अतः कार्य-द्वारा उसका लक्ष्य कराते हैं कि समस्त जीव ईश्वर के अंश, सच्चिदानंद-स्वरूप और ईश्वर के शरीर हैं; यथा—"ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥" (उ० दो० ११६); "जगत्सर्वं

शरीर ते" (वाल्मी० ६।११७।२७); वे परस्पर भिन्न और अनंत हैं; यथा—"जीव अनंत एक श्रीकंता।" (उ० दो० ७७); किंतु किसी अदृश्य शक्ति के वश अपनी वास्तविक स्थिति से पृथक् हो, स्वतन्त्र सत्तावान् होकर परस्पर 'मैं, मोर, तैं, तोर' के व्यवहार में लीन हो जाते हैं, वही माया है, जिसने समूह जीवों को वश में किया है।

शुद्ध जीव भगवान् का शरीर है, इससे इसका पृथक् स्वतन्त्राभिमान नहीं रहता। जब यह उस स्थिति से पृथक् हुआ, तब पहले 'मैं' की सत्ता हुई, फिर दूसरे जीवों के प्रति द्वैत-बुद्धि होने से 'तैं' भी हुआ। फिर 'मैं' का सम्बन्धी 'मोर' और 'तैं' का सम्बन्धी 'तोर' हो गया, इसीसे बुद्धि में नानात्व-जगत् बन गया।

'मैं अरु मोर तोर तैं माया' से माया का स्वरूप लक्षित किया। तब 'जेहि बस कीन्हेउँ जीव-निकाया।' से उसका कार्य दिखाया। आगे माया का विस्तार कहते हैं—

(३) 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब ···'—इसका इतना बड़ा विस्तार है कि नेत्र आदि इन्द्रियों और रूप आदि उनके विषय एवं जहाँ तक मन की दौड़ है, सब माया ही का विस्तार है। 'गो-गोचर' से दृश्यमान जगत् और 'जहँ लगि मन जाई' से और-और अदृश्य लोकों को जनाया; यथा—"असन बसन पसु बस्तु बिबिध बिधि सब मनि महँ रह जैसे। स्वर्ग नरक चर अचर लोक बहु बसत मध्य मन तैसे।" (वि० १२५); यहाँ पर यह शंका की जाती है कि मन तो भगवान् में भी जाता है; यथा—"मय्येव मन आधत्स्व ···" (गीता० १२।८); तो वे भी माया ही होंगे, इसलिये आगे भेद कहकर समझावेंगे कि अविद्या माया के सम्बन्ध से अशुद्ध मन का विषय माया है; विद्या माया से शुद्ध मन के विषय भगवान् होते हैं। श्रुतियों में भी ऐसी ही व्यवस्था है; यथा—"यतो वाचो निवर्तन्ते॥ अप्राप्य मनसा सह॥" (तैत० २।४); इसमें भगवान् को अशुद्ध मन से अप्राप्य कहा है और—"मनसैवेदमाप्तव्यं, नेह नानास्ति किंचन। मृत्योः स मृत्युं गच्छति, य इह नानेव पश्यति॥" (कठो० २।४।११); इसमें शुद्ध मन से प्राप्त होना कहा गया है।

(४) 'तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ ···'—इसमें माया के दो भेदों को कहा—विद्या और अविद्या।

(५) 'एक दुष्ट अतिसय···'; यथा—"बैरी माया सब बिधि गाढ़ी।" (बा० दो० २०१); "तव बिषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे। भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे॥" (उ० दो० १२); 'परा भव कूपा'—अर्थात् स्वयं पड़ा; यथा—"सो माया बस भयो गोसाईं। बँध्यो कीट मर्कट की नाईं॥" (उ० दो० ११६); माया के ही कारण भव-दुःख हैं; यथा—"तुलसिदास 'मैं मोर' गये बिनु जिय सुख कबहुँ न पावै।" (वि० ११०)।

(६) 'एक रचइ जग गुन बस···'—ऊपर एक माया दुष्टा कही गई, उसकी अपेक्षा इसे सुष्ठु (भली) सूचित किया। 'रचइ जग'; यथा—"लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया॥" (बा० दो० २२४)। 'गुन बस जाके'—यह त्रिगुणात्मिका है। सृष्टि कर्तृत्व के अतिरिक्त इसी के सत्त्वादि गुणों से भगवान् में श्रद्धा भी होती है। तब जीव निरंतर उनके भजन में लगता है, जिससे इसे भगवान् दिव्य बुद्धि का योग कर देते हैं; यथा—"मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्। कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥" (गीता १०।१०); तब उस बुद्धि के द्वारा मन भगवान् का अनुभव करता है। अन्यथा अशुद्ध मन से भगवान् परे हैं; यथा—"ग्यान गिरा गोतीत अज, माया मन गुन पार।" (उ० दो० २५)। 'प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके।'; यथा—"मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते ॥" (गीता ९।१०); "सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवंति याः। तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥" (गीता १४।४); अर्थात् श्रीगोस्वामीजी की परिभाषा में जगत् को भगवान् से भिन्न नानात्व-सत्ता में देखना अविद्या माया का कार्य है और जगत् एवं प्रकृति को भगवान् के शरीर रूप में देखना और प्रकृति के कार्यों को भगवान् की सत्ता और प्रेरणा से जानना विद्या माया की दृष्टि है।

इसका विशेष निर्णय बा० दो० ११७-११८ में देखिये।

इसी विद्या माया के सत्त्वादि गुणों के द्वारा दिव्य बुद्धि भी प्राप्त होती है। उसीसे ज्ञान आदि भी होते हैं। इसीसे क्रम-भंग करके अविद्या को प्रथम ही कहकर इसे पीछे कहा कि इसी विद्या माया के साहचर्य में ज्ञान आदि भी कहे जायँ। जिससे श्रुतियों में कही हुई विद्या का भाव भी इससे अपृथक् रहे; यथा—"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥" (ईशा०); इसमें विद्या से ज्ञानोपासना का अर्थ है।

प्रथम अविद्या को इससे भी कहा कि पहले अज्ञान को कहकर ही ज्ञान कहा जाता है; यथा—"ज्ञान कहै अज्ञान बिनु, तम बिनु कहै प्रकास। निर्गुन कहै जो सगुन बिनु, सो गुरु तुलसीदास ॥" (दोहावली २५१); अर्थात् अज्ञान को निवृत्त करना ही तो ज्ञान का महत्त्व है। इसलिये प्रथम अज्ञान को कहकर ज्ञान कहा जाता है।

शंका—श्रीलक्ष्मणजी के प्रश्नों का क्रम से उत्तर नहीं दिया गया, यह क्यों?

समाधान—श्रोता अज्ञान-दृष्टि से प्रश्न करता है, पर वक्ता ठीक क्रम से ही कहता है। अतः, श्रीरामजी ने पहले माया को ही कहा, क्योंकि पहले तम जनाकर प्रकाश का ज्ञान कराना है।

ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं ॥७॥
कहिय तात सो परम बिरागी। तृन-सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी ॥८॥

अर्थ—ज्ञान वह है जहाँ एक भी मान न हो, सबमें ब्रह्म को समान रूप से देखे ॥७॥ हे तात! वह परम वैराग्यवान् कहा जाता है, जो त्रिगुणात्मक सिद्धियों को एवं तीनों गुणों के विस्तार ऐश्वर्य रूप तीनों लोकों के विभव को त्याग दे ॥८॥

विशेष—(१) 'ज्ञान मान जहँ ···'—यहाँ गीता अ० १३ में कहे हुए ज्ञान का सारांश बड़ी ही सूक्ष्मता से लिया गया है; यथा—"अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्। आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥ इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च। जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥ असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु। नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥ मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी। विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥ अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्। एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥ इसके आदि के 'अमानित्वं' को श्रीरामजी ने अर्द्धाली के पूर्वार्द्ध में कहा और अंत के 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्' को उत्तरार्द्ध में कहा है। तत्त्वज्ञानार्थदर्शन का अर्थ—'यथार्थ ज्ञान का फल—ब्रह्म का सम रूप से सबमें साक्षात्कार होना' है, यह ब्रह्म का दर्शन (देखना) उत्तरार्द्ध में कहा है। इस तरह प्रत्याहार के सदृश सम्पूर्ण जनाया, क्योंकि—'थोरेहि महँ कहउँ बुझाई।' यह प्रतिज्ञा है। इस ज्ञान में—'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।' कहा गया

इससे भक्ति-रूप सरस ज्ञान का कथन है ; यथा—"उमा जे राम चरन रत, विगत काम मद क्रोध। निज प्रभु मय देखहिं जगत···" (उ० दो० ११२) ; इसे ही—"चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।···ज्ञानी च भरतर्षभ। तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते॥" (गीता ७।१६-१७); में भी कहा है। 'तेषां' से उन चार प्रकार के भक्तों में ही यह ज्ञानी कहा गया है। यही श्रीगोस्वामीजी ने भी कहा है ; यथा—"राम भगत जग चारि प्रकारा। ··ज्ञानी प्रभुहि बिसेषि पियारा॥" (बा० दो० २१); तथा—"संयम नियम फूल फल ज्ञाना। हरिपद रति रस बेद बखाना॥" (बा० दो० ३१)।

अतः ज्ञान और भक्ति दोनों पर्याय हैं, ऐसा ही श्रुतियों में भी कहा गया है; यथा—"मनो ब्रह्मेत्युपासीत···" से प्रारम्भ कर आगे—"भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद॥" (छां० ३।१८।१-२); इसमें 'उपक्रम में 'उपासीत' कहा है और उसे ही 'उपसंहार' में 'वेद' भी कहा है, अतः वेदन (ज्ञान) का अर्थ उपासना सिद्ध है।

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराज ने वेदान्त के आनन्द भाष्य में इसका निर्णय किया है; यथा—"ध्यानवेदनाद्यभिहितस्यावृत्तिः कर्तव्या। कुतः ? असकृदुपदेशात्। 'निदिध्यासितव्यः' (बृ० २।४।५) इत्यात्मदर्शनसाधनत्वेनासकृद्ध्यानकर्तव्यत्वोपदेशात्। निदिध्यासनपदस्यासकृद्ध्यानार्थकत्वात्। असकृद्ध्यानमन्तरेण परमात्मसाक्षात्करानुपपत्तेः। 'सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' (छा० ७।२६।२) इत्यत्र सर्वग्रन्थिविप्रमोक्षहेतुत्वेन श्रुताया ध्रुवस्मृतेर्ध्रुवत्वमचलत्वं तैलधारावदविच्छिन्नत्वमन्यथाऽनुपपद्यमानं स्मृतेः सातत्यमुपपाद्य तदावृत्तिं ज्ञापयति। उपास्यविषयिणी स्मृतिरेव तत्र तत्रोपासनवेदनादिपदैरभिधीयते। वेदनोपासने च समानप्रकरणाधीतत्वात्समानार्थके एवेत्यावृत्तिः कर्तव्येति॥४।१।१॥

अर्थ—ध्यान और वेदन आदि पदों से उपदिष्ट वेदन की आवृत्ति करनी चाहिये, क्योंकि श्रुति में 'निदिध्यासितव्यः' कहकर असकृत् ध्यान को आत्मदर्शन का साधन माना है। निदिध्यासन' पद का अर्थ होता है—'अनेक बार ध्यान करना'। जब तक 'असकृत्' अर्थात् अनेक बार ध्यान न किया जावे, तब तक परमात्मा का साक्षात्कार नहीं होता है। 'सत्त्वशुद्धौ···' इस छान्दोग्य वचन में ध्रुवा-स्मृति को सब ग्रन्थियों के मोक्ष का हेतु कहा गया है। 'ध्रुव' शब्द का 'अचल' अर्थात् 'तैलधारावदविच्छिन्न' अर्थ है। यह अचलत्व अथवा तैलधारावदविच्छिन्नत्व निरन्तरस्मृति के बिना हो नहीं सकता। अतः, यही अचलत्व स्मृति के सातत्य का उपपादन करके स्मृति की आवृत्ति का ज्ञापन करता है।

प्रश्न—'आत्मा वारे द्रष्टव्यः' इत्यादि श्रुतियों में तो स्मृति का विधान नहीं किया है, किन्तु श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि का ही विधान किया है।

उत्तर—भगवद्विषयक स्मृति को ही 'उपासना' शब्द से कहा है और कहीं 'वेदन' आदि शब्दों से कहा है। ध्यान, उपासना, वेदन और स्मृति ये सब पर्यायवाची शब्द हैं, क्योंकि वेदन और उपासन—ये दोनों समान प्रकरण में बोधित हुए हैं। (जैसे—'मनो ब्रह्मेत्युपासीत···' ऊपर लिखा गया है। तथा—'ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः'। इत्यादि श्रुतियों में वेदन, ध्यान, उपासन ये सब पर्यायवाची हैं। ध्यान का ही अर्थ चिन्ता है, चिन्ता स्मृति-संतान का नाम है। यह अनेक बार स्मृति के बिना बन नहीं सकता।) अतः, वेदन का अनुष्ठान सदा करना चाहिये॥४।१।१॥

शंका—उत्तरकांड में ज्ञान और भक्ति का बहुत कुछ तारतम्य कहा गया है।

समाधान—वहाँ कैवल्यपरक उस ज्ञान का प्रसंग है, उसे भी श्रीरामजी वहीं पर आगे (पृथक्)—'धरम ते बिरति जोग ते ज्ञाना।' में कहेंगे और फिर उससे भक्ति को बहुत श्रेष्ठ कहेंगे।

(२) 'ज्ञान मान जहँ…'—का भाव यह कि उपर्युक्त—'मैं, मोर, तैं, तोर' यह भावना ही अहंकार या मान है, इसीको माया कहा गया है। इसके दूर होने से ब्रह्म का साक्षात्कार होता है; यथा—"मायाछन्न न देखिये, जैसे निर्गुन ब्रह्म॥" (दो० ३१); तुलसिदास 'मैं मोर' गये बिनु जिय सुख कबहु न पावै॥" (वि० १२०); पहले अज्ञान दृष्टि में—"गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानहु भाई॥" कहा गया था। अब ज्ञान-दृष्टि में—"देख ब्रह्म समान सब माहीं।" कहा जा रहा है।…

इसी ज्ञान के साहचर्य में वैराग्य के लक्षण भी कहते हैं, क्योंकि दोनों का परस्पर सम्बन्ध है; यथा—"बादि बिरति बिनु ब्रह्म बिचारू।" (बा० दो० १०७); "ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।" (उ० दो० ८९)।

(३) 'कहिय तात सो परम बिरागी।…'—अरूप पदार्थ का स्वरूप उसके धर्म-द्वारा ही जाना जाता है, जैसे क्रोध का स्वरूप क्रोधी के लक्षणों (नेत्र लाल होने, भौंहें टेढ़ी होने आदि) से जाना जाता है। जो सांसारिक पदार्थों का त्याग करे, वह विरागी है और जो दिव्य पदार्थों का भी त्याग करे, वह परम विरागी है। तीनों गुणों की सिद्धियों एवं तीनों लोकों के ऐश्वर्य दिव्य पदार्थ हैं। इनके त्यागने के आदर्श श्री भरतजी हैं; यथा—"भरतहि होइ न राज मद, बिधि हरि हर पद पाइ।" (अ० दो० २३१); श्रीशिवजी भी; यथा—"वैराग्याम्बुजभास्करम्" (मं०)।

दोहा—माया ईस न आप कहँ, जान कहिय सो जीव।
बंध मोच्छप्रद सर्व-पर, माया प्रेरक सीव॥१५॥

शब्दार्थ—सीव का अर्थ सीम एवं सीमा = काष्ठा, अर्थात् सबकी पराकाष्ठा ईश्वर है।

अर्थ—जो माया, ईश्वर और न अपनेको ही जान (सके), वह जीव कहाता है। सब जीवों पर माया की प्रेरणा करके बंधन और मोक्ष का देनेवाला ईश्वर है॥१५॥

विशेष—(१) 'सीव'; यथा—"जीव सीव सम सुख सयन, सपने कछु करतूति। जागत दीन मलीन सोइ, सकल बिषाद बिभूति॥" (दोहावली २४९); तथा—"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था…महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥" (कठ० १।३।१०—११); इसमें सीव (सीमा) का ही पर्याय काष्ठा एवं परा गति से ईश्वर कहा गया है।

ऊपर—'ईश्वर-जीव-भेद' परक प्रश्न था, उसपर श्रीरामजी ने यह नहीं कहा कि भेद नहीं है; यथा—"अगुनहि सगुनहिं नहि कछु भेदा।" (बा० दो० ११५); प्रत्युत् भेद को स्वीकार करके उत्तर में यहाँ कह रहे हैं कि जीव अज्ञ है, क्योंकि तीनों तत्त्वों (माया, ईश्वर, जीव) को नहीं जान सकता और ईश्वर सर्वज्ञ हैं, इसीसे वे सब जीवों को उनके कर्मानुसार बाँधते और छोड़ते हैं; यथा—"बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन। तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥" गीता ४।५); अर्थात् भगवान् अपनेको सर्वज्ञ और जीव अर्जुन को अज्ञ कहते हैं। इसे विस्तार से उ० दो० ७७ में कहा है; यथा—"ज्ञान अखंड एक सीता बर। मायाबस्य जीव सचराचर। जौं सबके रह ज्ञान एक रस। ईस्वर जीवहि भेद कहहु कस॥…" अर्थात् स्वभावतः जीव का अज्ञ होना और ईश्वर का सर्वज्ञ होना—यह दोनों में भेद है।

जीव की अज्ञता; यथा—"जो माया सब जगहिं नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥"

(उ० दो० ७१); इसमें माया का न जानना है। "तब माया बस फिरउँ भुलाना। ताते मैं नहिं प्रभु पहिचाना॥" (कि० दो० १); इसमें ईश्वर का न जानना है। "आनंद सिंधु मध्य तव वासा। बिनु जाने कत मरसि पियासा॥" से "निज सहज अनुभव रूप तू खल भूलि अब आयो कहाँ?" (वि० १३६) तक; इसमें 'आपु (जीव) कहँ' न जानना है।

तीनों का यथार्थ ज्ञान श्रीराम-कृपा से ही होता है; यथा—"तुम्हरो कृपा तुम्हहि रघुनन्दन। जानहिं भगत भगत-उर-चंदन॥" (अ० दो० १२६); अर्थात् जब श्रीरामजी कृपा करके अपना ज्ञान कराते हैं। तब उनके 'पर' (विराट्) रूप का बोध होता है; यथा—"मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।" (गीता ११।४७); इस ग्रन्थ में भी जहाँ विराट् रूप दिखाना कहा गया है वहाँ कृपा से ही ; यथा—"बिहँसे सो सुनु चरित बिसेषा।···बिहँसत तुरत गयेउँ मुख माहीं॥···देखि कृपाल बिकल मोहिं, बिहँसे तब रघुबीर। बिहँसत ही मुख बाहेर आयेउँ···" (उ० दो० ७८–८२); श्रीरामजी की हँसी माया है; यथा—"माया हास···" (लं० दो० १४); और माया का अर्थ कृपा है; यथा—"माया दंभे कृपायाञ्च।"। उदाहरण—"सोचेहु उनके मोह न माया।" (बा० दो० ६६); "दाया माया राखना" यह मुहावरा है। विराट्-रूप के जानने से भगवान् के शरीर रूप में प्रकृति और जीव के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान-पूर्वक ऐश्वर्य समेत ईश्वर का ज्ञान होता है। इस तरह ईश्वर की कृपा से उनकी दी हुई दिव्य बुद्धि-द्वारा जीव तीनों को जानता है; यथा—"ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।" (गीता १०।१०); ऊपर 'न जानना' जीव के स्वतः ज्ञान से कहा है, यही जीव की अज्ञता है।

इस भेद-ज्ञान से जीव भगवान् की शरण होगा, तब वे अपना उपर्युक्त यथार्थ ज्ञान करावेंगे। तब दृढ़ भक्ति होगी; यथा—"जाने बिनु भगति न जानिबो तिहारे हाथ समुझि सयाने नाथ! पगनि परत।" (वि० २५१); यही श्रीलक्ष्मणजी का अभीष्ट भी है; यथा—"जाते होइ चरन रति" अतः, यही अर्थ संगत है।

यहाँ बद्धजीव का लक्षण कहा गया है। जीव का शुद्ध स्वरूप—"ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥" (उ० दो० ११६) में देखिये।

(२) 'बंध मोच्छ प्रद सर्ब पर···'—जो निरंतर भजन करते हैं, उन्हें ईश्वर विद्या माया द्वारा कृपा करके छोड़ते हैं; यथा—"तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥" (गीता १०।१०); जो प्रतिकूल आचरण करते हैं ; उन्हें बन्धन-रूप दंड देते हैं, यथा—"तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥" (गीता १६।१९); तथा—"नर सरीर धरि जे पर पीरा। करहिं ते परहिं महा भव भीरा॥ करहिं मोह बस नर अघ नाना ·· कालरूप तिन्ह कहँ मैं ताता। सुभ अरु असुभ करम फल दाता॥" (उ० दो० ४०) ऐसे विमुखों को वे अशुभ योनियों में डालते हैं—यही बंधन है। पुनः भगवान् अपनी लीला के विधान में नित्य-जीवों को भी अपनी माया के वश करते हैं, जैसे कि गरुड़जी को मोह हुआ ; सनकादिक को वैकुंठ में भी क्रोध हुआ, इत्यादि। अतः, ईश्वर की माया-द्वारा सबपर बंधन और मोक्ष का विधान होने से ईश्वर और जीव में स्वातंत्र्य और पारतंत्र्य भेद भी स्पष्ट हुआ।

प्रश्नकर्त्ता श्रीलक्ष्मणजी का अभीष्ट था—"जाते होइ चरन रति,···" पुनः सम्पूर्ण प्रसंग सुनने पर भी—"लछिमन प्रभु चरनन्हि सिर नावा।" कहा है। अतः, उन्होंने भी भेदात्मक ही अर्थ ग्रहण किया

है; अन्यथा अभेद होने से उपास्य भाव नष्ट होने पर 'चरन रति' परक 'चरन सिर नावा' कैसे हो सकता ? अतएव, यहाँ जीव और ईश्वर में अज्ञ सर्वज्ञ, परतंत्र स्वतंत्र, शरीर-शरीरी आदि भेद भी स्पष्ट हो गये।

शंका—भेद मानने से द्वैत की शंका है, जिससे भवकूप में पड़ने का भय है; यथा—"जननि जनक गुरु बंधु सुहृद पति सब प्रकार हितकारी। द्वैत रूप तम कूप परउँ नहिं अस कछु, जतन विचारी॥" (वि० ११३); "द्वैत कि बिनु अज्ञान।" (उ० दो० १११); तथा—"यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमीति, द्वितीयाद्वैभयं भवति॥" (बृह० १।४।२) अर्थात् दूसरे से भय होता ही है।

समाधान—उपर्युक्त भेद शरीर-शरीरी-भाव के अन्तर्गत कहे गये हैं। यहाँ शंका का भव-दायक द्वैत इसके विरुद्ध में कहा गया है। जैसे उपर्युक्त द्वैतवाले पद के पूर्वार्द्ध से ही स्पष्ट है कि ये जननी-जनक आदि आपके ही शरीर हैं। इन-इन रूपों से आपने ही सब उपकार किये हैं। इस ऐक्य के विरुद्ध अर्थात् उन्हें पृथक् पृथक् सत्तावान् मानने पर उन-उनके ऋणी होने से भवकूप में पड़ूँगा। अतः, इस द्वैत रूप अज्ञान से रक्षा का यत्न विचारिये—यह प्रार्थना है। यही द्वैत क्रोध मूलक भी है और इसी को उक्त श्रुति में भी भयदायक कहा है।

जगत् मात्र भगवान् का शरीर है और वे ही प्रत्येक जीवों के कर्मानुसार सबके प्रवर्तक भी हैं। वे सर्वज्ञ हैं, अतः यथान्याय ही बर्ताव कर रहे हैं। जैसे मनुष्य के एक हाथ में फोड़ा होता है, तब वह दूसरे हाथ से उसे चीरता है और फिर दवा भी भरता है, इत्यादि। परन्तु भिन्न भिन्न मानने पर हित पर प्रीति और अहित पर क्रोध होगा ही।

'सोक मोह भ्रम जाइ'—उपर्युक्त शरीर-शरीरी की एकता पर शोकादि का निवृत्त होना श्रुतियों ने भी कहा है; यथा—"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ··तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥" (यजु० सं० अ० ४० मंत्र १०); अतः यहाँ जिस भेद से शोक मोह आदि का छूटना कहा गया है, उसमें भव मूलक द्वैत की शंका नहीं है।

धर्म ते बिरति जोग ते ज्ञाना। ज्ञान-मोच्छ-प्रद बेद बखाना॥ १॥
जाते बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत-सुखदाई॥ २॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ज्ञान-बिज्ञाना॥ ३॥
भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥ ४॥

अर्थ—धर्म से वैराग्य और योग से ज्ञान होता है, ज्ञान मोक्ष देनेवाला है—ऐसा वेदों ने कहा है॥१॥ हे भाई! जिससे मैं शीघ्र प्रसन्न होता हूँ, वह मेरी भक्ति है, वह भक्तों को सुख देनेवाली है॥२॥ वह स्वतंत्र है, उसे दूसरे का अवलंब नहीं है। ज्ञान और विज्ञान उसके अधीन हैं; अर्थात् भक्ति करने से वे स्वतः आ जाते हैं॥३॥ हे तात! भक्ति उपमारहित और सुख की जड़ है, जो संत प्रसन्न हों तो वह प्राप्त होती है॥४॥

विशेष—(१) 'धर्म ते बिरति जोग ते ज्ञाना।······'—प्रथम सरस ज्ञान-प्रसंग कह चुके हैं। बीच में ईश्वर-जीव का भेद कहकर यहाँ फिर कैवल्यपरक ज्ञान का प्रसंग कहते हैं। इसीसे इसे पृथक्

हैं। यह ज्ञान वही है, जिसे उ० दो० ११६ में दीपक रूप में कहा गया है। यहाँ के सब अंग वहाँ से मिलते हैं—जैसे कि 'सात्विक श्रद्धा' पूर्वक जप तप आदि कहते हुए 'परम धर्म मय पय दुहि भाई।' तक धर्म कहा गया है। फिर आगे—'विमल विराग सुभग सुपुनीता।' तक धर्म का फल-रूप वैराग्य कहा है। पुनः—'योग अगिनि करि · ' में योग कहा गया है, तब विज्ञान आदि अंग कहते हुए—"जो निर्विघ्न पंथ निरबहई। सो कैवल्य परम पद लहई॥" यह फल कहा है। वैसे ही यहाँ भी धर्म से वैराग्य, योग से ज्ञान और तब, "ज्ञान मोच्छप्रद वेद बखाना।" कहा गया है। फिर उसे जैसे वहाँ भक्ति की अपेक्षा सविघ्न अल्प-फल-प्रद आदि कहा है, वैसे आगे यहाँ भी कहते हैं। यह ज्ञान योग-शास्त्र का है, इसे रूक्ष ज्ञान भी कहते हैं। इसी के प्रति कहा गया है—"जे ज्ञान मान विमत्त तव भव हरनि भगति न आदरी।" (उ० दो० १२); "जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ न राम प्रेम···" (अ० दो० २९०)।

(२) 'जाते बेगि द्रवउँ मैं··· ··'—इससे रूक्ष ज्ञान को चिरसाध्य और दुःखसाध्य सूचित किया; यथा—"ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहँ टेका॥ करत कष्ट बहु पावइ कोऊ। भगतिहीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ॥" (उ० दो० ४४); "क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्। अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥" (गीता १२।५)। 'बेगि द्रवउँ'; यथा—"सकृत प्रनाम किहें अपनाये।" (अ० दो० २९८); "सन्मुख होइ जीव मोहिं जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं।" (सुं० दो० ४३); "अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् साधुरेव·· क्षिप्रं भवति धर्मात्मा··" (गीता ९।३०—३१); 'भगत सुखदाई', यथा—"कहहु भगति पथ कवनि प्रयासा। जोग न मख जप-तप उपवासा॥" (उ० दो० ४५); "प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥" (गीता ९।२)। इसकी अपेक्षा ज्ञान के साधनों को दुःखदाई सूचित किया; यथा—"साधन कठिन विवेक।" (उ० दो० ११९)।

(३) 'सो सुतंत्र अवलंब न आना।'—ज्ञान में धर्म और योग के सहायक होने की जैसी आवश्यकता हुई; वैसी आवश्यकता भक्ति में नहीं पड़ती। इसमें धर्म का कार्य नवधा से और योग का कार्य प्रेमा से (अपने से) ही हो जाता है। भक्ति में ज्ञान विज्ञान की अधीनता यों है कि सरस ज्ञान दो प्रकार के हैं—एक साधन रूप और दूसरा फल-रूप। साधन रूप ज्ञान गीता १८।५०—५३ में कहा गया है। उसके फल-रूप में पराभक्ति वहीं पर आगे ५४ वें श्लोक में कही गई है। उसी ज्ञान की अधीनता यहाँ पर समझनी चाहिये। फल-रूप ज्ञान वही है जो ऊपर—'ज्ञान मान जहँ···' में भक्ति से अभेद कहा गया है। कैवल्यपरक ज्ञान की अधीनता इस प्रकार है कि उसका फल भक्ति में अनायास ही आ जाता है; यथा—"राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अन इच्छित आवइ बरिआईं॥" (उ० दो० ११८)। विज्ञान उस ज्ञान की छठी भूमिका में ही आ गया है, तो उसकी अधीनता आ ही गई। पुन सरस विज्ञान का अधीनता; यथा—"ज्ञानिहुँ ते अति प्रिय विज्ञानी। तिन्ह ते पुनि मोहिं प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥" (उ० दो० ८५)। विज्ञान गुणातीत अवस्था को भी कहा गया है—(उ० दो० ११०), देखिये, वह दशा भक्ति से सहज ही आ जाती है, यथा—"मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते।" (गीता १४।२६)।

(४) 'भगति तात अनुपम सुखमूला।'—'अनुपम'—क्योंकि भगवत् प्राप्ति और कैवल्य पद-प्राप्ति में ऐसा सुलभ साधन दूसरा नहीं है। सुख-मूलकता से भी यह अनुपम है; यथा—"मम गुन ग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह। ता कर सुख सोइ जानइ, परानंद संदोह॥" (उ० दो० ४६); "जेहि सुख लागि पुरारि, असिव वेष कृत सिव सुखद। अवधपुरी नरनारि, तेहि सुख महँ संतत मगन॥ सोई

सुख लवलेस, जिन्ह बारेक सपनेहु लहेउ। ते नहिं गनहिं खगेस, ब्रह्मसुखहिं सज्जन सुमति॥" (उ० दो० ८८) इत्यादि।

'मिलइ जो संत होइँ अनुकूला।'—संतों की प्रसन्नता से हरि-कथा का यथार्थ रहस्य प्राप्त होता है, तब विवेक होता है, श्रीरामजी में प्रीति होती है और मोह का नाश होता है; यथा—"बिनु सतसंग न हरि कथा, तेहि बिनु मोह न भाग। मोह गये बिनु राम पद, होइ न दृढ़ अनुराग॥" (उ० दो० ६१); "बिनु सत संग बिवेक न होई। रामकृपा बिनु सुलभ न सोई॥" (बा० दो० २); "सब कर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु संत न काहू पाई॥" (उ० दो० ११६); संतों की अनुकूलता से भक्ति की प्राप्ति और संतों की प्राप्ति श्रीराम-कृपा से होती है—यह यहाँ कहा गया, अतएव इस भक्ति को कृपासाध्य सूचित किया। आगे साधन-साध्य भक्ति कहते हैं—

भगति के साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥ ५॥
प्रथमहि बिप्र-चरन अति प्रीती। निज-निज कर्म निरत श्रुति-रीती॥ ६॥
यहि कर फल मन बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥ ७॥
श्रवनादिक नव भगति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥ ८॥
संत-चरन-पंकज अति प्रेमा। मन-क्रम-बचन भजन दृढ़ नेमा॥ ९॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानइ दृढ़ सेवा॥१०॥

अर्थ—मैं भक्ति के साधन विस्तार से कहता हूँ, जिस सुगम मार्ग से मनुष्य मुझे पाते हैं॥५॥ पहले ही ब्राह्मणों के चरणों में अत्यन्त प्रीति करे और अपने-अपने कर्म में वेद की रीति से प्रीति-पूर्वक लगा रहे॥६॥ फिर इसका फल विषयों से वैराग्य हो; तब हमारे धर्म में प्रेम उत्पन्न हो॥७॥ श्रवण कीर्त्तन आदि नव भक्तियाँ दृढ़ हों, मन में मेरी लीला में अत्यन्त प्रीति हो॥८॥ सन्तों के चरणों में अत्यन्त प्रेम हो, मन, वचन और कर्म से भजन का दृढ़ नियम हो॥९॥ गुरु, पिता, माता, भाई, स्वामी और देवता सब मुझको ही जानकर मेरी सेवा में दृढ़ हो॥१०॥

विशेष—(१) 'सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी।'—इसके साधन भी सुगम ही हैं और प्राणी मात्र इसके अधिकारी हैं। ऊपर ज्ञान-वैराग्य के साधन कहे थे—"धर्म ते बिरति जोग ते ज्ञाना।" ये कष्ट साध्य थे। अब भक्ति के भी साधन कहते हैं, परन्तु ये सुगम हैं।

(२) 'प्रथमहि बिप्र-चरन अति प्रीती।'—'बिप्र' शब्द का विशेष अर्थ वेद पाठी ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण के लिये है, इसीसे श्रुतियों में विप्र शब्द ही से ऋषि लोग कहे गये हैं। यथा—"जानइ ब्रह्म सो बिप्र बर···" (उ० दो० ११); यह भी प्रसिद्ध है। यहाँ 'विप्र' शब्द इसी अर्थ में है, क्योंकि आगे—'निज निज करम निरत श्रुति रीती॥' कहा गया है। जब इनमें प्रीति होगी, तब ये मोह जनित-संशय दूर करेंगे; यथा—"बंदेउँ प्रथम महीसुर चरना। मोह जनित संसय सब हरना॥" (बा० दो० १); तब अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्मों के ज्ञान पूर्वक उनमें प्रवृत्ति होगी। फिर उन्हीं के द्वारा विधिवत् अनुष्ठान होगा। 'अति प्रीती'—प्रीति तो जन्मना ब्राह्मण मात्र में चाहिये, पर उक्त रीति के श्रेष्ठ विप्रों में अत्यन्त प्रीति हो। क्योंकि—"पूजिय बिप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुन गन ज्ञान प्रबीना॥" (दो० ३४)

तात्पर्य यह है कि पूर्व कर्मों के अनुसार ईश्वर ने उन्हें उस कुल में जन्म दिया है और पूज्य होने का अधिकार दिया है। उनका पूजना ईश्वर की आज्ञा का पालन है। पूजा से प्रसन्न होकर वे आशिष देंगे, तो वह भी भगवान् सत्य करेंगे, क्योंकि उन्हीं के आज्ञानुसार अर्चक को निष्ठा है। जैसे जिसे वकालत का सार्टिफिकेट प्राप्त है, वह सामान्य वकील भी अदालत में पैरवी कर सकता है। दूसरा उससे चतुर भी हो, पर उसे वह अधिकार प्राप्त नहीं होता। वैसे ही इन्हें पूज्य होने की उपाधि भगवान् से प्राप्त है।

ब्राह्मणों के सुधार के लिये श्रीगोस्वामीजी ने उन्हें फटकार भी दी है; यथा—"बिप्र निरच्छर लोलुप कामी।···" (उ० दो० ९९); इत्यादि। चरन अति प्रीती।'—उनका दास बना रहे, बराबरी न करे, उनकी सेवा करे; तब वे श्रुति की रीति से स्वकर्म करावेंगे।

(३) 'यहि कर फल मन ···'—धर्म करने से चित्त शुद्ध होगा, तब विषय मलिन जान पड़ेंगे, तो उनसे विराग होगा; यथा—"तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता। मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥" (भाग० ११।२०।९); फिर वह शुद्ध चित्त परम पवित्र मम (भगवत्) धर्म में अनुरक्त होगा और उसे करने लगेगा; अर्थात् भक्ति करने लगेगा। 'भगवद्धर्म; यथा—"प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा। ···" से "पूजहिं तुम्हहिं सहित परिवारा।" (अ० दो० १२८) तक।

(४) 'श्रवनादिक नव···' यथा—"श्रवणं कीर्तनं विष्णोःस्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥" (भाग० ७।५।२३); इन नवों के उदाहरण; यथा—"जिन्हके श्रवन समुद्र समाना।" से "स्वामि सखा पितु मातु गुरु, जिन्हके सब तुम्ह तात। मन मंदिर तिन्हके बसहु···" (अ० दो० १२७-१३०) तक; श्रीवाल्मीकिजी के कहे हुए क्रमशः ये नौ स्थान हैं। सुतीक्ष्ण प्रसंग भी देखिये।

भगति के साधन कहउँ बखानी।···" से "श्रवनादिक···" तक नवधा-भक्ति हुई।

यहाँ से प्रेमा-भक्ति कहते हैं—

'मम लीला रति अति मन माहीं।'—लीला की रति से कृपा, दया, शील आदि गुणों के स्मरण से प्रीति की उमंग होती है; यथा—"सुमिरि सुमिरि गुन ग्राम राम के उर अनुराग बढ़ाउ। तुलसिदास अनयास राम-पद पाइहै प्रेम-पसाउ॥" (वि० १००); "तुलसी राम सनेह सील लखि जो न भगति उर आई। तो तोहि जनमि जाय जननी जड़ तनु तरुनता गँवाई॥" (वि० १६४)।

(५) 'संत चरन पंकज अति प्रेमा।'—अर्थात् संतों के चरण-कमलों में अति प्रेम हो; क्योंकि इनके द्वारा परस्पर हरि-गुण-कथन होगा; उससे प्रेम बढ़ेगा; यथा—"यहि बिधि कहत राम गुन ग्रामा। पावा अनिर्वाच्य बिश्रामा॥" (सु० दो० ७); पुनः—'मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा।' भी प्रेमा-भक्ति का ही पोषक कहा गया है; यथा—"करि प्रेम निरंतर नेम लिये, पद पंकज सेवत शुद्ध हिये॥" (उ०दो० १३)।

(६) 'गुरु पितु मातु बंधु···'—इन सब रूपों से श्रीरामजी ने ही सब उपकार किये हैं, क्योंकि सब जगत् उनका शरीर है। इस दृढ़ता से जगत् में फैली हुई प्रीति (ममता) सूत्र (ताग) के समान सिमट कर श्रीरामजी के चरणों में दृढ़ प्रीति होगी। तब इन गुरु आदि को श्रीरामजी का ही शरीर मानता हुआ उनकी दृढ़ सेवा में प्रेमानंद प्राप्त करेगा।

अब आगे परा-भक्ति कहते हैं—

मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥११॥
काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर बस मैं ताके॥१२॥

दोहा—बचन कर्म मन मोरि गति, भजन करहिं निष्काम।
तिन्हके हृदय-कमल महँ, करउँ सदा बिश्राम ॥१६॥

भगति जोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन प्रभु-चरनन्हि सिर नावा ॥१॥
येहि बिधि गये कछुक दिन बीती। कहत बिराग ज्ञान गुन नीती ॥ २ ॥

अर्थ—मेरे गुण गाते हुए शरीर पुलकित हो जाय, वाणी गद्‌गद हो जाय, नेत्रों से आँसू बहें ॥११॥ काम आदि मद और दम्भ जिसके न हों, हे तात! मैं सदा उसके वश में रहता हूँ ॥१२॥ जिनको मन, कर्म, वचन से मेरी गति (आश्रय) है, जो निष्काम होकर मेरा भजन करते हैं, उनके हृदय-कमल में मैं सदा विश्राम करता हूँ ॥१६॥ भक्ति-योग सुनकर श्रीलक्ष्मणजी ने अत्यन्त सुख पाया और प्रभु के चरणों में शिर नवाया ॥१॥ इस प्रकार वैराग्य, ज्ञान, गुण और नीति कहते हुए कुछ दिन बीत गये ॥२॥

विशेष—(१) 'मम गुन गावत पुलक सरीरा।'' बस मैं ताके ॥' अर्थात् गुण गाते-गाते ही उपर्युक्त प्रेमा-भक्ति की गाढ़ स्मृति पर शरीर पुलकित एवं वाणी गद्‌गद होकर नेत्रों से प्रेमानंद के आँसू चलते रहेंगे; यथा—"मुनि मग माँझ अचल होइ बैसा। पुलक सरीर पनस फल जैसा॥" (दो० ९—सुतीक्ष्णजी। इसमें निरंतर भगवान् वश में रहते हैं, इसीसे हृदय में कामादि नहीं रह पाते; यथा—"तब लगि हृदय बसहिं खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥" (सुं० दो० ४६)। निरंतर वश में रहना; यथा—"सरग नरक अपबरग समाना। जहँ-तहँ देख धरे धनु बाना॥" (अ० दो० १३०); 'मम-गुन गावत' के साथ में निरंतर वश में रहना कहा है; यथा—"नाहं वसामि वैकुंठे योगिनां हृदये न च। मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥" यह श्रीमुख-वचन है। पुनः कामादि का निराकरण करने पर अपना बसना कहा है, क्योंकि निर्मल हृदय में ही श्रीरामजी सदा रहते हैं; यथा—"निर्मल मन जन सो मोहिं पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥" (सु० दो० ४३); "करहु हृदय अति बिमल बसहिं हरि कहि कहि सबहि सिखावउँ।" (वि० १४२); इत्यादि।

यहाँ तक संक्षेपतः तीनों भक्तियों का वर्णन सूत्र रूप में किया। श्रीलक्ष्मणजी के प्रश्न—"कहहु सो भगति करहु जेहि दाया।" का उत्तर भी पूरा हुआ।

भक्ति में भी अति गुह्यतम-रूपा जो भगवान् को अनन्योपायोपेय मानने की शरणागति है। जिसके लिये श्रीलक्ष्मणजी ने प्रथम ही अपना मुख्य अभीष्ट कहा है; यथा—"मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि करउँ चरन रज सेवा॥" उसका उत्तर चरम (अंतिम) वाक्य में श्रीरामजी कहते हैं—

(८) 'बचन कर्म मन मोरि गति,''' यथा—"मन क्रम बचन राम-पद सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक॥" (दो० १); 'भजन करहिं निष्काम' यथा—"मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहा बिस्वासा॥" (उ० दो० ४५); कामनाओं की पूर्ति के लिये ही अन्य देवताओं की सकाम आराधना की जाती है; यथा—"कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्य देवताः। तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥" (गीता ७।२०); इसीसे अनन्यता की रक्षा के लिये 'बचन करम मन मोरि

साथ ही 'भजन करहिं निष्काम' भी कहा है। अनन्य भक्त के निष्काम हृदय में श्रीरामजी सदा विश्राम करते हैं। अतः, यह उनका निज गृह है; यथा—"जाहि न चाहिय कबहुँ कछु, तुम्ह सन सहज सनेहु। बसहु निरंतर तासु मन, सो राउर निज गेहु॥" (अ० दो० १३१); ऊपर ज्ञान का फल मोक्ष कहा गया; वैसे ही भक्ति का फल भगवान् का भक्त के हृदय में वास होना है; यथा—"सब साधन कर एक फल, जेहि जानेउ सोइ जान। ज्यों त्यों मन मंदिर बसहिं, राम धरे धनु बान॥" (दोहावली ९०); वही यहाँ कहा गया। इसी पर श्रीलक्ष्मणजी कृतार्थ हुए। यथा—भगति जोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन प्रभु चरनन्हि सिर नावा॥ यह आगे कहा है। अतः, यहीं पर गीता समाप्त हुई।

गीता के चरम वाक्य से यहाँ के चरम वाक्य का मिलान—

"मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥" (गीता १८।६५।६६)।

(क 'मन्मना भव···' का भाव यह कि उ० दो० १०३ में सबके हृदय में नित्य चारों युगों की वृत्तियों का होना कहा गया है। तदनुसार सत्ययुग की शुद्धसत्त्वमय वृत्ति में भगवान् में मन रक्खे; यह 'मन्मना भव' का अर्थ है। त्रेता की वृत्ति में थोड़े रजोगुण के संसर्ग से जब कुछ चपलता आवे, तब देवताओं को मेरे शरीर-रूप में जानते हुए यज्ञ-रूप मेरी भक्ति करे; यह 'मद्भक्तः' का अर्थ है। द्वापर की वृत्ति-रक्षा के लिये 'मद्याजी' अर्थात् मेरी पूजा कर, यह कहा है और फिर कलियुग की वृत्ति-रक्षा के लिये 'मां नमस्कुरु' यह कहा है; अर्थात् चारों युगों की वृत्तियों के उपाय-रूप मैं ही हूँ। इस श्लोक का भाव यहाँ 'बचन करम मन मोरि गति' में कहा गया।

(ख) 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' का भाव यह कि जब भगवान् ने चारों युगों के उपाय-रूप अपनेको ही कहा, तब अर्जुन को यह जानना आवश्यक हुआ कि भीष्म-द्रोण आदि नातेवालों ने मेरे साथ जो तरह-तरह के उपकार किये हैं, उनसे उऋण होने का तो कोई उपाय कहा ही नहीं। उसपर भगवान् कहते हैं कि उन सबके प्रति धर्म करके उन प्रत्येक को सन्तुष्ट करने की आवश्यकता नहीं, किन्तु अन्य सब धर्मों को छोड़कर मुझ पर की ही शरण में आ जा; क्योंकि उन सबके द्वारा प्रेरक-रूप से मैंने ही सब रूपों से तेरे प्रति तरह-तरह के उपकार किये हैं। (पूर्व 'पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः', यह अर्जुन के प्रश्न का उपक्रम था; उसी की पूर्ति पर उपसंहार भी हुआ। पूर्व में इन्होंने भीष्म आदि की ही सेवा को धर्म माना भी था। तत्सम्बन्धी शङ्का की पूर्ति पर कृतार्थ हुए) अतः, सर्वात्मना शरणागति करने से 'अहं त्वा···' अर्थात् तुझे किसी भी सामान्य धर्म के छोड़ने का पाप न लगेगा, मैं उन पापों से तुझे छुड़ा दूँगा, शोच मत कर। इस श्लोक के पूर्वार्द्ध का भाव यहाँ के 'भजन करहिं निष्काम' की अनन्यता में आ गया है।

श्लोक के उत्तरार्द्ध का भाव 'तिन्ह के हृदय ···' में कहा गया कि शेष आयु-भोग में फिर कोई शोच न रहेगा; यथा—"तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥" (० दो० ४६); तथा—"भरत हृदय सिय राम निवासू। तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू॥" (अ० दो० २९५); "सीम कि चाँपि सकइ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥" (बा० दो० १२५)।

इस गीता में थोड़े ही में सब साधन कह दिये गये हैं, क्योंकि श्रीरामजी ने 'थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई।' यह प्रतिज्ञा की थी।

'भगति जोग सुनि···'— सुख तो ज्ञान—वैराग्य आदि के सुनने पर भी हुआ, पर भक्ति योग से से अत्यन्त सुख हुआ। 'सिर नावा'— यह कृतज्ञता एवं प्रेम का सूचक कृत्य है; यथा—"मोपहि होइ न प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहि बारा ॥" (उ० दो० १२४); "प्रेम बिबस पुनि पुनि पद लागी।" (बा० दो० ३३५)।

उपक्रम में—'सब तजि करउँ चरन-रज-सेवा।' कहा है, वैसे ही उपसंहार में—'प्रभु चरनन्हि सिर नावा' कहा गया है।

'येहि बिधि गये कछुक दिन बीती।···'— और जगह वर्ष और महीनों के बीतने की गिनती थी, यहाँ दिन ही कहे गये हैं, क्योंकि अब वनवास के थोड़े दिन प्रयोजन-भर ही रह गये हैं। 'कहत बिराग···' ज्ञान-विराग उपयुक्त प्रसंग में स्पष्ट हैं। 'गुन'; यथा—"एक रचइ जग गुन बस जाके।" "तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी।" इत्यादि एवं भक्तों के गुण कहे गये। 'नीती'; यथा—"निज निज धरम निरत श्रुति नीती।" 'नीती' को ही अंत में कहा है, क्योंकि शूर्पणखा को अभी ही दंड देना है।

"सूपनखा जिमि कीन्ह कुरूपा"—प्रकरण

सूपनखा रावन कै बहिनी। दुष्ट-हृदय दारुन जसि अहिनी ॥ ३ ॥
पंचबटी सो गइ एक बारा। देखि बिकल भइ जुगल कुमारा ॥ ४ ॥
भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी ॥ ५ ॥
होइ बिकल सक मनहि न रोकी। जिमि रबिमनि द्रव रबिहि बिलोकी ॥६॥

अर्थ—सापणी के समान दारुण (क्रूर) स्वभाव एवं दुष्ट-हृदयवाली शूर्पणखा जो रावण की बहन थी ॥३॥ वह एकबार पंचवटी में गई और दोनों राजकुमारों को देखकर व्याकुल हो गई ॥४॥ भुशुंडीजी कहते हैं कि हे सर्पों के शत्रु गरुड़जी ! भाई, पिता या पुत्र कोई भी सुन्दर पुरुष हो, उसे को देखते ही व्याकुल हो जाती है, वह मन को नहीं रोक सकती, जैसे सूर्यकान्त मणि सूर्य को देखकर द्रवित होती है अर्थात् तेज को प्रवाहित करती है ॥५–६

विशेष—(१) 'सूपनखा रावन कै बहिनी।'—शूर्पणखा रावण की बहन है, इसका ब्याह काल-खंजवंशी मायावी राक्षस विद्युज्जिह्व से हुआ था, उसे दिग्विजय करने के समय प्रमत्त रावण ने मार डाला था। शूर्पणखा के विलाप करने पर रावण ने इसे खर-दूषण-त्रिशिरा को और १४ हजार बली राक्षसों सेना को देकर जनस्थान का निवास दिया। खरादि इसके भाई भी थे। यह स्वयं तेजस्विनी थी और अपने बल से सर्वत्र विचरनेवाली थी; यथा—"अहं प्रभावसंपन्ना स्वच्छन्दबलगामिनी।" (वाल्मी० ३।१७।२५)। इसके सूप (शूर्प, सूर्प) के समान नख थे, इसीसे यह शूर्पणखा कही जाती थी। रावण की बहन कहकर इसे विधवा जनाया। रावण अधिक प्रसिद्ध था, इससे भी परिचय में कहा गया। दुष्ट-हृदया और क्रूर स्वभाववाली के लिये सर्पिणी की उपमा भी युक्त है,

क्योंकि सर्पिणी भयंकर होती है और ऐसी दारुण-हृदया होती है कि सद्य प्रसूत (तुरत के जने) अपने बच्चों को भी खा जाती है। वैसे यह भी अपने 'निशाचर-वंश' का नाश करेगी।

(२) 'देखि बिकल भइ जुगल कुमारा।'—यह दोनों पर मोहित हुई इस विचार से कि एक के साथ स्त्री है, यदि वह न भी ब्याहेगा, तो दूसरा तो अवश्य ही ब्याहेगा। दोनों पर आसक्त होने से कुलटा भी जानी गई। अभी राजकुमारों ने इसे नहीं देखा, नहीं तो यह रुचिर रूप धारण नहीं कर पाती जो आगे कहा है—'रुचिर रूप धरि'''।

(३) 'भ्राता पिता पुत्र उरगारी।'' '—'उरगारी' का भाव यह कि आप सर्पों के शत्रु हैं, आपके स्वामी भी आज इस सर्पिणी-रूपा राक्षसी की दुर्दशा करेंगे। भ्राता, पिता, पुत्र के प्रति प्रायः कामचेष्टा नहीं होती, तो भी शूर्पणखा जैसी स्त्रियों के लिये यह कठिन ही है, इसीसे मनुस्मृति में कहा है—"मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।" अर्थात् माँ, बहन और कन्या के साथ भी एकान्त में न रहे।

देखिये, इन्हीं महाकवि ने सात्त्विक स्त्रियों के लिये—"सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं।" एवं "मध्यम पर पति देखहिं कैसे। भ्राता पिता पुत्र निज जैसे॥" (दो॰ ४); ऐसा कहा है और शूर्पणखा-सी कामातुरा और निर्लज्जा स्त्रियों के प्रति यहाँ ऐसा कहा है। यहाँ सामान्य स्वभाव-कहकर आगे विशेष का उदाहरण देते हैं। यदि ऐसी स्त्रियों का समूह संसार में न होता तो सामान्य स्वभाव-कथन पर कवि को दोष दिया भी जा सकता था। अतः, अल्पश्रुत-समालोचकों का श्रीगोस्वामीजी के ऐसे प्रसंगों पर उन्हें स्त्री-द्वेषी कहना अनुचित है।

'पुरुष मनोहर निरखत नारी।'—यहाँ यह दोनों पर रीझी है, दोनों पुरुष मनोहर हैं। इससे मन को न रोक सकी।

(४) 'जिमि रविमनि द्रव रविहि बिलोकी।'—रविमणि से सूर्य-कान्त मणि का अर्थ है। यह एक प्रकार का स्फटिक या बिल्लौर है। सूर्य के सामने रखने से इसमें से आँच निकलती है। वैसे ही यहाँ शूर्पणखा ने सुन्दर पुरुषों को देखा, तो उसके हृदय में काम वासना-रूपी अग्नि का उद्दीपन होने लगा। यहाँ सुन्दर पुरुष सूर्य हैं, शूर्पणखा का मन रविमणि और उससे काम-वासना का प्रवाहित होना, रविमणि से तेज का प्रवाहित होना है। काम को अग्नि-रूप कहा भी है, यथा—"कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।" (गीता ३।३९); इस पर कहा जाता है कि 'द्रव' शब्द जल के बहने पर कहा जाना चाहिये, यहाँ अग्नि के साथ क्यों कहा गया ? इसका उत्तर यह है कि 'द्रव' शब्द द्रु धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ भागना, बहना, आक्रमण करना, तरल होना, घुल जाना, पिघलना, उमड़कर बहना होता है—संस्कृत शब्दार्थकौस्तुभ। अतः 'द्रव' शब्द का अर्थ यहाँ चलना एवं प्रवाहित होना है। ऐसे ही 'स्रव' शब्द का अर्थ भी स्रवना, प्रवाहित होना है, वह भी 'द्रव' शब्द की तरह प्रयुक्त हुआ है ; यथा—"पावकमय ससि स्रवत न आगी।" (सु॰ दो॰ ११); "प्रलय पावक-महाज्वाल-माला-वमन'''" (वि॰ ३८ ; सूर्यकान्त-मणि से जब ज्वाला निकलती है, तब पहले सूर्य-किरणों के योग से उसके परमाणु अवश्य द्रवीभूत होते हैं और तभी वे ज्वाला-रूप में परिणत होते हैं। पदार्थों का परिणाम या रूपान्तर बिना उनके परमाणुओं के द्रवीभूत हुए नहीं हो सकता। अतएव यहाँ द्रव शब्द का प्रयोग बहुत ही सार्थक है।

रुचिर रूप धरि प्रभु पहिं जाई। बोली बचन बहुत मुसुकाई॥ ७॥
तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी। यह सँयोग बिधि रचा बिचारी॥ ८॥

मम अनुरूप पुरुष जग माहीं । देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं ॥ ९ ॥
ताते अब लगि रहिउँ कुमारी । मन माना कछु तुम्हहि निहारी ॥१०॥

अर्थ—सुन्दर रूप धरकर प्रभु के पास आ बहुत मुसकुराती हुई वचन बोली ॥७॥ तुम्हारे समान कोई पुरुष नहीं और न मेरे समान स्त्री है, यह संयोग विधाता ने विचार कर रचा है ॥८॥ मेरे योग्य पुरुष संसार-भर में नहीं है। मैंने तीनों लोकों में ढूँढकर देखा है ॥९॥ इसीसे अब तक कुमारी ही रही, तुमको देखकर कुछ मन माना है ॥१०॥

विशेष—(१) 'रुचिर रूप धरि···'—राजकुमार रुचिर-प्रिय हैं, इसीसे महाकवि ने उनके सम्बन्ध में इस शब्द का बहुधा प्रयोग किया है; यथा—"सेज रुचिर रचि राम उठाये।" (बा० दो० ३५५); "उर अति रुचिर नाग मनि माला।" (बा० दो० २१८); "रुचिर चौतनी सुभग सिर···" (बा० दो० २१९); "तहँ रचि रुचिर परन तृन साला। बास करउँ ··" (अ० दो० १२५); इत्यादि बहुत कहा है। इसीसे राक्षसी भी उन्हें प्रिय लगने के लिये रुचिर रूप ही बनाकर आई। आगे मारीच भी इसीलिये 'रुचिर मृग' बना; यथा—"सीता परम रुचिर मृग देखा।" (दो० २६)। 'बहुत मुसुकाई'—हाव, भाव, कटाक्ष करके, इससे दाम्पत्य-प्रेम का बोज प्रकट किया। स्त्री की मुसकान पुरुषों के फँसाने का फंदा है।

(२) 'तुम्ह सम पुरुष न मोसम नारी।'—अर्थात् तुम्हारे साथ की स्त्री मेरे समान सुंदरी नहीं है; यथा—"सीतया किं करिष्यसि ॥ विकृता च विरूपा च न सेयं सदृशी तव। अहमेवानुरूपा ते भार्या रूपेण पश्य माम् ॥" (वाल्मी० ३।१७।२६); इससे स्त्री सुलभ अहंकार प्रकट किया। 'विधि रचा बिचारी।' यथा—"जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहि स्यामल बर रचेउ बिचारी ॥" (बा० दो० २२२)।

(३) 'मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। ······'—इस वचन से उसका कुलटा एवं राक्षसी होना सिद्ध हो गया, क्योंकि भले मानस की लड़की जहाँ-तहाँ स्वच्छन्द-रूप से घूम-फिर नहीं सकती और तीनों लोकों में खोजना राक्षसी माया से ही हो सकता है, मानुषी सामर्थ्य से बाहर है। देखिये, जनकपुर की सखियों ने 'सुनियत' ही कहा है; यथा—"सुर नर असुर नाग मुनि माँही। सोभा असि कहुँ सुनियत नाहीं ॥" (बा० दो० २११); इससे जान पड़ता है कि वे परदे में रहनेवाली हैं। खर-दूषणादि पुरुष हैं। अतः, उन्होंने देखना कहा है, यह युक्त है; यथा—"नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते ॥ हम भरि जनम सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुन्दरताई ॥" (दो० १८); वाल्मीकीय रामायण में श्रीरामजी ने इसे व्यंग से सुन्दरी कहते हुए इसका राक्षसी होना कह भी दिया है; यथा—"त्वं हि तावन्मनोज्ञाङ्गी राक्षसी प्रतिभासि मे।" (वाल्मी० ३।१७।१८)।

(४) 'ताते अब लगि रहिउँ कुमारी।···'—युवा स्त्री बनकर आई है कि शीघ्र मनोरथ पूरा हो। पर इसपर यह संदेह हो सकता है कि कोई दोष होगा, तब तो अभी तक इसका ब्याह नहीं हुआ। इसलिये उसका कारण कहती है कि अनुरूप वर खोजने में इतनी अवस्था हो आई। अब आप मिले, परन्तु आपसे भी कुछ ही 'मन माना'। ऐसा कहकर अपनेको रूप-गर्विता नायिका जनाया। 'मन माना' से जनाया कि मैं अपनी रुचि का स्वयंवर करती हूँ; यथा—"करइ स्वयंबर सो नृप बाला।" (बा० दो० १३१); इससे निर्लज्जता भी सिद्ध हुई। यहाँ यह श्रीरामजी को 'तुम्ह' 'तुम्हहि' आदि से संबोधित करती है, पति बनाने के लिये 'अपनाना' सूचित करना है। दूसरा यह भी कारण है कि यह

दोनों भाइयों पर आसक्त हुई है; यथा—"देखि बिकल भइ जुगल कुमारा।" ऊपर कहा गया, भाषा में दो शब्द भी बहुवचन ही माना जाता है। उसके इसी अभिप्राय से श्रीरामजी ने उसे श्रीलक्ष्मणजी के पास भेजा है, नहीं तो यहीं से दूर कर देते।

सीतहि चितइ कही प्रभु बाता। अहइ कुमार मोर लघु भ्राता ॥११॥
गइ लछिमन रिपु-भगिनी जानी। प्रभु बिलोकि बोले मृदु बानी ॥१२॥
सुंदरि सुनु मैं उन्ह कर दासा। पराधीन नहिं तोर सुपासा ॥१३॥
प्रभु समर्थ कोसलपुर-राजा। जो कछु करहिं उन्हहिं सब छाजा॥१४॥

अर्थ—श्रीसीताजी की ओर देखकर प्रभु श्रीरामजी ने यह बात कही कि मेरा छोटा भाई कुमार है ॥११॥ तब वह श्रीलक्ष्मणजी के पास गई, श्रीलक्ष्मणजी ने उसे शत्रु की बहन जानकर और प्रभु श्रीरामजी को देखकर उससे कोमल वचन कहा ॥१२॥ हे सुंदरी! सुन, मैं तो उनका दास हूँ, पराधीन रहने में तेरा सुपास (सुविधा, सुख से निर्वाह) न होगा ॥१३॥ प्रभु श्रीरामजी समर्थ हैं और श्रीअयोध्या के राजा हैं, वे जो कुछ भी करें, उन्हें सब फबेगा (सोहेगा) ॥१४॥

विशेष—(१) 'सीतहि चितइ कही ·····'—वह श्रीरामजी के लिये विकल है, पर ऊपर से कहती है कि तुम्हें देखकर कुछ ही 'मन माना' है। श्रीरामजी श्रीसीताजी की ही ओर देखते हुए सूचित करते हैं कि मेरा तो इन्हें निहारने में ही 'मन माना' है, यहाँ से मन अलग जाता ही नहीं; यथा—"सो मन सदा रहत तोहि पाही।" (सुं० दो० १५); "मनस्वी तद्गतमनास्तस्या हृदि समर्पितः। प्रिया तु सीता रामस्य दारा पितृकृता इति ॥" (वाल्मी० १।७७।२६); मैं इनमें ही व्रत-निष्ठ हूँ। पर-स्त्री को देखता भी नहीं; यथा—"मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहुँ पर नारि न हेरी ॥" (बा० दो० २३०)। न रामः परदारान्स चक्षुर्भ्यामपि पश्यति ॥" (वाल्मी० २।७२।१८) उसने कहा था—"यह सँजोग बिधि रचा बिचारी।" उसपर सूचित करते हैं कि मेरे लिये तो विधि ने इन्हें ही रचा है, अर्थात् मेरा तो इनसे विवाह हो चुका है, इसीसे मेरी दृष्टि इन्हीं पर रहती है। पुनः आगे श्रीलक्ष्मणजी के पास उसे भेजना है, इससे भी श्रीसीताजी को देखकर सूचित करते हैं कि मेरे तो यह एक स्त्री है हो, तब मैं और विवाह कैसे करूँ? जब कि मेरा भाई अभी कुमार ही बैठा है।

'अहइ कुमार मोर लघु भ्राता।'—वह विधवा है, पर छल से कुमारी बन रही है, श्रीरामजी भी राजनीति के अनुसार उत्तर दे रहे हैं कि मेरा छोटा भाई भी (ऐसा ही) कुमार है। भाव यह कि घर में विवाहिता स्त्री के होने पर भी—वैसा ही कुमार है। छली से छलभरी बात करना नीति है—"शठे शाठ्यं समाचरेत्।" पुनः यहाँ हास्य रस का प्रसंग है; यथा—"स्वच्छया श्लक्ष्णया वाचा स्मितपूर्वमथाब्रवीत् ॥ कृतदारोऽस्मि भवति भार्येयं दयिता मम। त्वद्विधानां तु नारीणां सुदुःखा ससपत्नता ॥ अनुजस्त्वेष मे भ्राता शीलवान्प्रियदर्शनः। श्रीमानकृतदारश्च लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ॥···मन्यते तद्वचः सत्यं परिहासाविचक्षणा ॥" (वाल्मी० ३।१८।१-१२)। इस प्रसंग के आदि में ही श्रीवाल्मीकिजी ने श्रीरामजी को वाक्य-विशारद कहा है; यथा—"इदं वचनमारेभे वक्तुं वाक्यविशारदः ॥" (वाल्मी० ३।१७।११); और फिर शूर्पणखा को परिहास में अचतुर कहा है। तात्पर्य यह कि हास्य में ऐसा कथन दोषावह नहीं होता।

'लघु भ्राता'—भाव यह कि जैसे मैं राजकुमार हूँ, वैसे वह भी है, मेरे समान ही ऐश्वर्यवान् है।

(२) 'गइ लछिमन रिपु भगिनी जानी।'—उसने कहा था—"मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं॥" इससे उपर्युक्त अर्थ के अनुसार जान गये कि यह राक्षसी है और इन्हें राक्षस-मात्र से वैर है ही, क्योंकि—"निसिचर हीन करउँ महि···" यह प्रतिज्ञा की जा चुकी है। वाल्मीकीय रामायण में इसने स्वयं पूरा परिचय दिया है। अथवा संभवतः श्रीअगस्त्यजी ने कहा भी हो।

(३) 'प्रभु बिलोकि बोले मृदु बानी।'—प्रभु की ओर देखकर उनका रुख पा गये कि इससे हास्य-विनोद की ही बातें करनी चाहिये, नहीं तो ये शत्रु-पक्ष को कब सह सकते थे?

(४) 'सुंदरि सुनु मैं उन्ह कर दासा।···'—कुल-रीति के अनुसार छोटा भाई दास के समान है; यथा—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुलरीति सुहाई॥" (अ० दो० १४), अतः, "पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।" (बा० दो० १०१); रात-दिन सेवा करनी पड़ेगी, तो सुख कहाँ? यथा—"कथं दासस्य मे दासी भार्या भवितुमिच्छसि।" (वाल्मी० ३।१८।६)। 'सुंदरि' का यह भाव है कि तुम रानी होने के योग्य हो, श्रीरामजी तुम्हें पाकर औरों से प्रेम न करेंगे; यथा—"का हि रूपमिदं श्रेष्ठं संत्यज्य वरवर्णिनि। मानुषेषु वरारोहे कुर्याद्भावं विचक्षणः॥" (वाल्मी० ३।१८।१२)।

(५) 'प्रभु समर्थ कोसलपुर राजा।'—प्रभु श्रीरामजी समर्थ हैं, वे कई रानियाँ कर लें, तो उन्हें निवाह सकते हैं, उन्हें कोई दोष भी नहीं दे सकता। वे किसी भी जाति की स्त्री ग्रहण कर लें, तो उन्हें कोई जाति से भी नहीं हटा सकता; यथा—"समरथ कहँ नहिं दोष गोसाईं। रबि पावक सुरसरि की नाईं॥" (बा० दो० ६८); 'कोसलपुर राजा'—अर्थात् श्रीअवध के राजा श्रीदशरथजी के ७०० रानियाँ थीं; ये भी वहीं के राजा हैं, तो अधिक रानियों का करना कोई बड़ी बात नहीं है; यथा—"समृद्धार्थस्य सिद्धार्था मुदितामलवर्णिनी। आर्यस्य त्वं विशालाक्षि भार्या भव यवीयसी॥" (वाल्मी० ३।१८।१०)।

सेवक सुख चह मान भिखारी। ब्यसनी धन सुभगति बिभिचारी॥१५॥
लोभी जस चह चार गुमानी। नभ दुहि दूध चहत ए प्रानी॥१६॥
पुनि फिरि राम निकट सो आई। प्रभु लछिमन पहिं बहुरि पठाई॥१७॥
लछिमन कहा तोहि सो बरई। जो तृन तोरि लाज परिहरई॥१८॥

शब्दार्थ—ब्यसनी = जिसे कोई शौक हो, विलासी। तृन तोरना = सम्बन्ध छोड़ना।

अर्थ—सेवक सुख की चाह करे, भिक्षुक प्रतिष्ठा चाहे, व्यसनी धन और व्यभिचारी (परस्त्री-लंपट) सद्गति चाहे॥१५॥ लोभी यश चाहे और दूत अभिमानी हुआ चाहे, तो (मानों) ये प्राणी आकाश से दूध दुहना चाहते हैं॥१६॥ वह फिर लौटकर श्रीरामजी के पास आई। प्रभु श्रीरामजी ने फिर उसे श्रीलक्ष्मणजी के पास भेजा॥१७॥ श्रीलक्ष्मणजी ने कहा कि तुझे वही ब्याहेगा, जो लज्जा को तृण के समान तोड़कर त्याग देगा; अर्थात् निर्लज्ज होगा।

विशेष—(१) 'सेवक सुख चह···'—यहाँ सेवक के सुख चाहने का प्रस्तुत प्रसंग है, इसीसे इसे प्रथम कहा गया है। आकाश से दूध दुहना मुहावरा है। इसका अर्थ यह कि असंभव को संभव करना चाहते हैं। भाव यह कि सुख चाहती हो, तो स्वामिनी बनो, स्वामी की ही स्त्री हो। इसीकी पुष्टि के लिये पाँच और दृष्टांत दिये गये हैं।

सेवक का सुख चाहना विकार है, यथा—"सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥" (अ० दो० १००), भिखारी को मान नहीं मिलता। विलासी का रहा-सहा धन भी उड़ जाता है। व्यभिचारी को शुभगति हो नहीं सकती ; यथा—"सुभ गति पाव कि पर तिय गामी।" (उ० दो० १११)।

(२) 'पुनि फिरि राम ···'—इधर-उधर जाती है, क्योंकि इसकी निष्ठा किसी एक में नहीं है। श्रीरामजी के पास जाने से श्रीलक्ष्मणजी के काम की न रही और श्रीलक्ष्मणजी के पास आने से श्रीरामजी के योग्य भी नहीं रह गई। यही हाल उनका भी होता है, जो अनेक देवताओं की शरण में दौड़ते हैं।

शंका—शूर्पणखा शरण में आई, श्रीरामजी ने उसे क्यों न ग्रहण किया? यथा—"काम मोहित गोपिकन पर कृपा अतुलित कीन्ह। जगत् पिता बिरंचि जिन्हके चरन की रज लीन्ह॥" (वि० २१४)।

समाधान—यह कपट-वेष में व्यभिचारिणी बनकर आई, अतः मर्यादा-पुरुषोत्तम ने उसे त्यागकर दंड दिया।

(३) 'जो तृन तोरि···'—भाव यह कि जो तेरी तरह निर्लज्ज हो, वही तुझे वरे—यह फटकार है।

तब खिसियानि राम पहिं गई। रूप भयंकर प्रगटत भई॥१९॥
सीतहि सभय देखि रघुराई। कहा अनुज सन सैन बुझाई॥२०॥

दोहा—लछिमन अति लाघव सो, नाक कान बिनु कीन्हि।
ताके कर रावन कहँ, मनहुँ चुनौती दीन्हि॥१७॥

अर्थ—तब चिढ़ी हुई श्रीरामजी के पास गई और वहाँ उसने अपना भयंकर रूप प्रकट किया॥१९॥ श्रीसीताजी को भयभीत देखकर श्रीरघुनाथजी ने भाई श्रीलक्ष्मणजी को संकेत से समझाकर कहा॥२०॥ श्रीलक्ष्मणजी ने अत्यन्त फुर्ती से उसे बिना नाक-कान का कर दिया, मानों उसके हाथ (द्वारा) रावण को चुनौती (चैलेंज) दी, अर्थात् ललकारा कि वीर हो, तो सामने आ॥१७॥

विशेष—(१) 'तब खिसियानि ···'—कामना की हानि से क्रोध हुआ, इससे भयंकर रूप धारण कर श्रीसीताजी को खाने दौड़ी कि यह न रहेगी, तो मुझे अवश्य ब्याहेंगे। फिर सौत-रहित होकर विचरूँगी; यथा—"अद्येमां भक्षयिष्यामि पश्यतस्तव मानुषीम्। त्वया सह चरिष्यामि निःसपत्ना यथासुखम्॥" (वाल्मी० ३।१८।१९)।

(२) 'सीतहि सभय देखि ···'—अभय देना श्रीरामजी का विरद है, यथा—"अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम।" (वाल्मी० ६।१८।३३), "जो सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रान की नाई॥" (सुं० दो० ४३), इसीसे तुरत भय निवृत्ति का उपाय रच दिया।

(३) 'सैन बुझाई' ; यथा—"वेद नाम कहि अँगुरिनि खंडि अकास। पठयो सूपनखाहि लखन के पास॥" (बरवा १८); वेद = श्रुति = कान, आकाश = स्वर्ग = नाक। चार अँगुलियों को आकाश की ओर उठाकर फिर झुकाकर उनका खंडन जनाया। आकाश का गुण शब्द है, आकाश से ईश्वर भी लखाया

जाता है, ईश्वरीय शब्द वेद हैं, वे चार हैं भी। वेद का नाम श्रुति है, श्रुति कान को कहते हैं। नाक से नासिका का अर्थ है। दो छिद्र नासिका के और दो कान के—सब मिलकर चार हुए। इन चारों का काटना सूचित किया। प्रकट न कहा, नहीं तो सुनकर वह सचेत हो जाती।

(४) 'लछिमन अति लाघव सो ' '—इतनी फुर्ती से श्रीलक्ष्मणजी ने उसके नाक कान काटे कि वह कुछ कर ही न सकी। यद्यपि वह अपने भाइयों के समान बलवती थी; यथा—"तानहं समतिक्रान्ता···" (वाल्मी० ३।१७।२४)। श्रीलक्ष्मणजी ने तलवार से उसके नाक-कान काटे ; यथा—"उद्धृत्य खड्गं चिच्छेद कर्णनासे महाबलः॥" (वाल्मी० ३।१८।२१); वह श्रीसीताजी की ओर झुकी थी, इससे इन्हें अपनी ओर आते न देखा। 'चुनौती'; यथा—"सूपनखा कै गति तुम देखी। तदपि हृदय नहिं लाज बिसेषी॥" (लं० दो० ३४); तथा—"चतुरंगिनी सेन सँग लीन्हें। बिचरत सबहिं चुनौती दीन्हें॥" (दो० १०), इत्यादि। अर्थात् उत्तेजना—ललकार आदि देना। 'ताके कर'—में यह भी ध्वनि है कि काटकर उसके हाथ में धर दिये। नाक और कान से स्त्री की शोभा है, इन्हींके भूषणों से शृंगार होता है। इनके कटने पर वह कुरूपा हो जाती है, इससे उसकी अधर्म की प्रवृत्ति मिट जाती है। आजकल भी व्यभिचारिणी की नाक काटे जाने के अभियोग जहाँ-तहाँ होते हुए पाये जाते हैं। इसने तो अपनी कुत्सित चेष्टा के मार्ग में बाधक जानकर श्रीजानकीजी को खा लेने का भी उद्योग किया। जिसके प्रतिकार में मृत्यु-दंड न देकर स्त्री को अवध्य मान केवल इतना ही दंड दिया गया। इससे लीला का अंग भी सम्पन्न करना था, क्योंकि खर आदि और रावण को उतनी उत्तेजना और किसीसे न होती।

वाल्मीकीय रामायण श्रीरामजी के समय की ही निर्मित है, उस समय ऐसी स्त्रियों के लिये ऐसा ही दंड विधान किया जाता था। आ० स० ६९ श्लोक ११-१८ में अयोमुखी नाम राक्षसी को भी ऐसा ही दंड दिया गया है।

"खर-दूषन-वध" प्रकरण

नाक-कान बिनु भइ बिकरारा। जनु स्रव सैल गेरु कै धारा॥ १॥
खरदूषन पहिं गइ बिलपाता। धिग धिग तव पौरुष बल भ्राता॥ २॥
तेहिं पूछा सब कहेसि बुझाई। जातुधान सुनि सेन बनाई॥ ३॥
धाये निसिचर निकर बरूथा। जनु सपच्छ कज्जल-गिरि-जूथा॥ ४॥
नाना बाहन नानाकारा। नानायुध-धर घोर अपारा॥ ५॥
सूपनखा आगे करि लीनी। असुभ रूप श्रुति नासा हीनी॥ ६॥

अर्थ—बिना नाक-कान के वह बहुत ही कराल हो गई, मानों (काले) पर्वत से गेरू की धारा बह रही हो॥१॥ विलाप करती हुई खर-दूषण के पास गई, (और बोली) अरे भाई! तेरे पुरुषार्थ और बल को धिक्कार है॥२॥ उन्होंने पूछा, तब उसने सब समझाकर कहा, सुनकर उस निशाचर ने सेना सजाई॥३॥ राक्षस-समूहों के झुंड के-झुंड दौड़े, मानों पक्षयुत काजल के पर्वतों के झुंड हों॥४॥ वे सब अनेक आकार के अनेक वाहन (सवारियों) पर अनेक तरह के अगणित भयंकर अस्त्र-शस्त्र धारण किये हुए हैं॥५॥ अशुभ-रूपा कान नाक-रहित शूर्पणखा को उन्होंने आगे कर लिया॥६॥

विशेष—(१) 'बिकरारा'—कराल तो यों ही थी, नाक-कान कट जाने से विशेष कराल हो गई। 'बिकरारा'— में अंतिम 'रा' 'ला' के रूप में है, क्योंकि दोनों सवर्ण हैं; यथा—"सरिता नस जारा।" (लं० दो० १४); नाक और कानों के कटने से तीन रक्त-धाराएँ पनाले की तरह चल रही हैं।

(२) 'पौरुष बल'—पुरुषार्थ पराक्रम के अर्थ में है, और बल सेना के अर्थ में है। अथवा कोप में दो बार कहा गया है। अतः, कोप की वीप्सा है, पुनरुक्ति नहीं। 'बिलपाता'— की अंतिम बढ़ी हुई मात्रा अनुप्रास के योग से है; अतः, 'बिलपात गई' ऐसा करके अर्थ करना चाहिये, तो 'बिलपाती' इस स्त्रीलिंगता की अपेक्षा नहीं रह जाती। क्योंकि बिलपत, रोवत, गावत आदि में लिंग भेद की आवश्यकता नहीं रहती।

(३) 'कहेसि बुझाई'— आगे दो० २१ में रावण के यहाँ—"अवध नृपति" से "सुनि तव भगिनि करहिं परिहासा॥" तक विस्तार से कहना ही है, इससे यहाँ संकेत-मात्र से जना दिया, वहाँ भारी सभा में कहेंगे।

(४) 'निकर बरूथा'—अनेक प्रकार के बहुत-से झुंड हैं। 'जनु सपच्छ कज्जल गिरि जूथा।'— महातमोगुणी होने से अत्यन्त काले और विशाल शरीरवाले हैं, आकाश-मार्ग से आ रहे हैं। पुनः काजल की तरह इन्हें सार-रहित भी जनाया। पवन के झकोरे-जैसे श्रीरामजी के वार से छिन्न-भिन्न हो जायँगे।

'नानायुध'—"मुग्दर, पट्टिश, शूल, खड्ग, चक्र, तोमर, शक्ति, परिघ, गदा, मुसल, वज्र, धनुष, और बाण आदि।" (वाल्मी० ३।२२।१८।१९)।

(५) 'सूपनखा आगे'''—प्रारब्ध-वश राक्षसों ने यह महा अपशकुन स्वयं कर लिया। इसे पहले कहकर और अपशकुन कहे गये, क्योंकि इसका आगे होना भारी अपशकुन है। शत्रु का पता बतलाने के लिये इसे आगे किया।

असगुन अमित होहिं भयकारी। गनहिं न मृत्युबिबस सब झारी॥ ७॥
गर्जहिं तर्जहिं गगन उड़ाहीं। देखि कटक भट अति हरषाहीं॥ ८॥
कोउ कह जियत धरहु दोउ भाई। धरि मारहु तिय लेहु छुड़ाई॥ ९॥
धूरि पूरि नभमंडल रहा। राम बोलाइ अनुज सन कहा॥१०॥
लै जानकिहि जाहु गिरिकंदर। आवा निसिचर-कटक भयंकर॥११॥
रहेहु सजग सुनि प्रभु कै बानी। चले सहित श्री सर-धनु-पानी॥१२॥
देखि राम रिपुदल चलि आवा। बिहँसि कठिन कोदंड चढ़ावा॥१३॥

अर्थ—अगणित भयंकर अपशकुन हो रहे हैं, पर वे सब-के-सब मृत्यु के विशेष वश हैं, इससे उन्हें नहीं गिनते॥७॥ गरजते हैं, डपटते हैं, आकाश में उड़ते हैं, सेना देखकर योद्धा अत्यन्त हर्षित होते हैं॥८॥ कोई कहता है कि दोनों भाइयों को जीवित ही पकड़ लो, पकड़कर मारो और स्त्री को छुड़ा लो॥९॥ आकाश-मंडल धूलि से छा गया, तब श्रीरामजी ने भाई को बुलाकर कहा॥१०॥ कि श्रीजानकीजी को लेकर कंदरा में चले जाओ, भयंकर निशाचरों की सेना आ गई है॥११॥ सचेत रहना, प्रभु के ऐसे वचन सुनकर श्रीलक्ष्मणजी श्रीजानकीजी के साथ धनुष-बाण हाथों में लिये हुए चले॥१२॥ श्रीरामजी ने देखा कि शत्रु का दल चलकर आ गया, तब हँसकर कठिन धनुष चढ़ाया॥१३॥

विशेष—(१) 'असगुन अमित होहिं ···' ; यथा—"असगुन अमित होहिं तेहि काला।···" से "जनुकाल दूत उलूक बोलहिं बचन परम भयावने ॥" तक (लं० दो० ७७) अर्थात् भटों का वाहनों पर से गिरना, घोड़े-हाथियों का चिंघाड़ करके पीछे भागना और वीरों के हथियार हाथ से गिर पड़ना आदि अपशकुन हैं। 'गनहिं न···'—काल के वश होने से बुद्धि-बल हर जाता है; यथा—"कालदंड गहि काहु न मारा। हरइ धर्म बल बुद्धि बिचारा॥ निकट काल जेहि आवइ साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं॥" (लं० दो० ३९)।

(२) 'गर्जहिं तर्जहिं···'—क्योंकि सब मृत्यु के वश हैं और उत्साहपूर्ण हैं, इसीसे अपशकुनों पर ध्यान ही नहीं देते। 'अति हर्षाहीं'—सेना को हर्ष है, भटों को अति हर्ष है। 'कोउ कह जियत धरहु···' इन्हें अपने इन सब बातों पर पूर्ण विश्वास है कि हम अवश्य ऐसा करेंगे। जीतेजी पकड़कर तरह-तरह के कष्ट देकर मारेंगे, वैसे तो तुरत ही मर जायँगे। क्योंकि इन्होंने भारी अपराध किया है। अतः, स्त्री को छुड़ा लो। पुनः उस स्त्री की सुन्दरता सुन चुके हैं। अतः कहते हैं कि पहले स्त्री छुड़ाकर मानसिक दुःख दो, फिर शारीरिक कष्ट दिया जाय।

(३) 'लै जानकिहि जाहु···'—श्रीजानकीजी डर न जायँ, इसलिये इन्हें कंदरा में भेज रहे हैं; यथा—"*मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाये।*" (अ० दो० ६१)। अभी ही एक राक्षसी शूर्पणखा को देखकर डर गई थीं, इसलिये कंदरा में भेज रहे हैं कि अब तो अनेक विकट राक्षस आ रहे हैं। उनसे हमारा युद्ध होगा। श्रीलक्ष्मणजी को रक्षा के लिये भेजा कि कहीं कोई निशाचर वहाँ भी न पहुँच जाय।

(४) 'रहेहु सजग सुनि प्रभु कै बानी।'—यहाँ दो आज्ञाएँ दी गईं—एक तो श्रीजानकीजी को कंदरा में ले जाना, दूसरी सजग रहना। दोनों का पालन उत्तरार्द्ध में है—'लै जाओ' के प्रति 'चले सहित श्री' और 'रहेहु सजग' के प्रति 'सर धनु पानी' कहा है। 'सुनि प्रभु कै बानी'—का भाव यह कि श्रीलक्ष्मणजी के नाक-कान काटने पर वे सब लड़ने आ रहे हैं। अतः, इन्हें सम्मुख रहना चाहिये, पर इनकी ओर से त्रुटि नहीं है, प्रभु-वाणी के गौरव से जा रहे हैं; *यथा*—"*तस्माद्गृहीत्वा वैदेहीं शरपाणिर्धनुर्द्धरः। गुहामाश्रय* शैलस्य दुर्गां पादपसंकुलाम्॥ प्रतिकूलितुमिच्छामि न हि वाक्यमिदं त्वया। शापितो मम पादाभ्यां गम्यतां वत्स माचिरम्॥ त्वं हि शूरश्च बलवान्हन्या एतान्न संशयः। स्वयं निहन्तुमिच्छामि सर्वानेव निशाचरान्॥" (वाल्मी० ३।२४।१२-१४); प्रभु की वाणी का गौरव, यथा—"प्रभु आज्ञा अपेल श्रुति गाई।" (सुं० दो० ५८) तथा—"उतर देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई॥" (अ० दो० २९८)। प्रभु ने ही ऐसी आज्ञा क्यों दी ? उत्तर यह है कि शूर्पणखा को अपना पराक्रम दिखाना है, जिससे वह रावण से वैसा ही जाकर कहे। श्रीलक्ष्मणजी का प्रभाव तो वह कुछ जान चुकी है। पुनः वे कामरूप १४ हजार राक्षस श्रीरामजी के हाथों मरेंगे; यथा—"खर-दूषन-बिराधबध पंडित।" (उ० दो० ५०)।

(५) 'देखि राम रिपुदल···'—'देखि'—पहले नभ-धूलि से अनुमान किया था, अब उनकी ध्वजा, रथ आदि एवं उनकी सेना भी देख पड़ी। 'बिहँसि' से उत्साह-वृद्धि-क्षात्र-धर्म दिखाया; *यथा*—"छत्रीतन धरि समर सकाना। कुल कलंक तेहि पामर आना॥" (बा० दो० २८३); आगे स्वयं स्वीकार करेंगे; यथा— 'हम छत्री मृगया बन करहीं।" (दो० १८); इस दृष्टि से बिहँसने का यह भी भाव है कि अच्छे शिकार आ गये, निशाचर-वध की प्रतिज्ञा-पूर्ति का योग लगा। राक्षसों की मूर्खता पर भी हँसे; यथा—"जिमि अरुनोपल निकर निहारी। धावहिं खग सठ मांस अहारी॥ चोंच भंग दुख तिन्हहिं न सूझा। तिमि धाये मनुजाद अबूझा॥" (लं० दो० ३८); अर्थात् हमारे प्रभाव को नहीं जानते, इसीसे ऐसे आ रहे हैं। बिहँसना कृपा से भी है, क्योंकि उन्हें वैर-भाव से मुक्त करना है।

छंद—कोदंड कठिन चढ़ाइ सिर जटजूट बाँधत सोह क्यों।
मरकत सैल पर लरत दामिनि कोटि सो जुग भुजग ज्यों।
कटि कसि निषंग बिसाल भुज गहि चाप बिसिख सुधारि कै।
चितवत मनहुँ मृगराज-प्रभु गजराज-घटा निहारि कै॥
दोहा—आइ गये बगमेल, धरहु धरहु धावत सुभट।
जथा बिलोकि अकेल, बाल-रबिहि घेरत दनुज॥१८॥

अर्थ—श्रीरामजी कठिन धनुष चढ़ाकर शिर पर जटाओं का जूड़ा बाँधते हुए कैसे सोहते हैं। जैसे मरकत मणि के पर्वत पर करोड़ों बिजलियों से दो सर्प लड़ रहे हों॥ कटि में तर्कश कसकर अपने लंबे हाथों से धनुष को पकड़, बाण को सुधारते हुए प्रभु शत्रु की ओर इस तरह देख रहे हैं मानों हाथियों के समूह की ओर सिंह देखता हो॥ भारी-भारी योद्धा (यह कहते हुए कि) पकड़ो, पकड़ो, दौड़ते हुए निकट आ गये, जैसे (उदय-कालीन) बाल सूर्य को अकेला देखकर दैत्य घेर लेते हैं॥१८॥

विशेष—(१) 'कोदंड कठिन···'—पहले धनुष चढ़ाकर उसे कंधे पर लटका लिया, तब जटाएँ बाँधीं और पीछे तर्कश कसा, तब फिर हाथों में धनुष-बाण सुधार कर उसे लिये हुए राक्षसों की ओर देख रहे हैं।

(२) 'मरकत सैल पर···'—आपका श्याम शरीर मरकत-शैल के समान कान्तिमान्, गंभीर एवं अचल है। तपस्वियों की जटाओं का अग्र भाग ललाई लिये होता है। इससे उन्हें बिजली के समान कहा है। श्रीरामजी की दोनों भुजाएँ सर्प के शरीर और हथेलियाँ फण-रूपा हैं। दोनों हाथों से पकड़कर जटाओं को बाँध रहे हैं, यही मानों साँपों का बिजलियों से लड़ना है। 'चितवत मनहुँ···'; यथा—"मनहुँ मत्त गजगन निरखि सिंह किसोरहु चोप॥" (बा० दो० २६७); 'गजराज घटा'—क्योंकि विशालकाय एवं बली राक्षस बहुत हैं। प्रभु सबको अकेले ही सिंह के समान उत्साह के साथ नाश करेंगे।

यहाँ परुषावृत्ति का प्रसंग है। साहित्य की रीति से इसमें टवर्ग एवं ष, ध, अधिक पड़ने चाहिये। उनमें ट वर्ग (ट, ठ, ड, ढ) तो यहाँ एक ही चरण—'कोदंड कठिन चढ़ाइ सिर जट जूट बाँधत ··' में सब पड़ गये हैं, ऐसा पड़ना दुर्लभ है।

(३) 'आइ गये बगमेल···'—यहाँ बगमेल का अर्थ 'निकट' है; यथा—"हरषि परस्पर मिलन हित, कछुक चले बगमेल।" (बा० दो० ३०५); यह कहीं-कहीं बाग मिलाये हुए दौड़ने के अर्थ में भी आता है; यथा—"मदन कीन्ह बगमेल।" (दो० ३७)। "सूरसँजोइल साजि सुबाजि, सुसेल धरे बगमेल चले हैं।" (क० लं० ३३); 'बाल रबिहि घेरत दनुज'—अधिक तेजवाले श्रीरामजी के समीप नहीं आ पाते और न सम्मुख देख ही सकते हैं। इसीसे दूत भेजकर बात करेंगे। सूर्य प्रातःकालीन घेरे हुए दनुजों को जीत लेते हैं, वैसे श्रीरामजी इन्हें जीत लेंगे। यद्यपि विशेष प्रताप-प्रदर्शक तरुण-रवि कहना चाहिये था, पर अभी असुरों के प्रति प्रताप दिखाने का प्रारंभ ही हुआ है। इससे बाल-रवि ही कहा है। पुनः रूपक के अनुरोध से भी—हेमाद्रि आदि ग्रंथों में लिखा है कि मंदेह नामक दैत्य प्रातःकाल

सूर्य को अस्त्र-शस्त्र लिये हुए घेर लेते हैं। संध्या करते समय जो अर्घ्य दिया जाता है, उसकी प्रत्येक बूँदें बाण रूप होकर उन दैत्यों को मारती हैं, ये दैत्य २० हजार कहे गये हैं, उन्हीं का यहाँ रूपक है।

इस प्रसंग में नवो रसों के उदाहरण प्रकट हैं—(१) 'रुचिर रूप धरि…'—शृंगार, (२) 'बोली बचन बहुत मुसुकाई।'—हास्य, (३) 'रूप भयंकर प्रगटत भई।'—भयानक, (४) 'नाक कान बिनु भइ बिकरारा।'—बीभत्स, (५) 'खर दूषन पहिं गै बिलपाता।'—करुणा, (६) 'धिग धिग तव पौरुष बल भ्राता।'—वीर, (७) 'तेहि पूछा सब कहेसि बुझाई।'—शांत, (८) 'सूपनखहिं आगे करि लीनी।'—रौद्र, (९)—'देखहि परस्पर राम करि संग्राम रिपु दल लरि मरो।'—अद्भुत, (—यह आगे कहा है)।

प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी। थकित भई रजनीचर-धारी ॥ १ ॥
सचिव बोलि बोले खरदूषन। यह कोउ नृपबालक नरभूषन ॥ २ ॥
नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते ॥ ३ ॥
हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई ॥ ४ ॥
जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा ॥ ५ ॥
देहु तुरत निज नारि दुराई। जीयत भवन जाहु दोउ भाई ॥ ६ ॥
मोर कहा तुम ताहि सुनावहु। तासु बचन सुनि आतुर आवहु ॥ ७ ॥

अर्थ—प्रभु को देखकर वे बाण नहीं चला सकते, निशाचरों की सेना स्थगित हो गई; अर्थात् निश्चेष्ट की तरह खड़ी रह गई ॥१॥ मंत्रियों को बुलाकर खर-दूषण ने कहा—ये कोई मनुष्यों में भूषण-रूप राजपुत्र हैं ॥२॥ नाग, असुर, देवता, मनुष्य और मुनि जितने हैं, हमने कितने को देखा, जीता और मार डाला ॥३॥ पर हे सब भाइयो ! सुनो, हमने तो जन्म-भर में ऐसी सुन्दरता नहीं देखी ॥४॥ यद्यपि इन्होंने हमारी बहन को कुरूपा (नकटी-बूची) कर डाला है, तथापि ये उपमारहित पुरुष वध के योग्य नहीं हैं ॥५॥ "दोनों भाई अपनी छिपाई हुई स्त्री को हमें तुरत दे दो और जीतेजी घर लौट जाओ" ॥६॥ यह मेरा कथन तुम उनसे (जाकर) सुनाओ और उनका वचन (प्रति-उत्तर) सुनकर शीघ्र आओ ॥७॥

विशेष—(१) 'प्रभु बिलोकि सर…'—प्रभु का तेज देखकर सब ठिठक रहे; यथा—"कोउ कहै तेज प्रताप पुंज चितये नहिं जात भिया रे। छुवत सरासन सलभ जरै गो ये दिनकर बंस दिया रे॥" (गी॰ बा॰ ६६)। इससे बाण न चला सके। पुनः प्रभु के शोभा-माधुर्य पर मुग्ध हो रहे; यथा—"रामहिं चितइ रहे थकि लोचन।" (बा॰ दो॰ २६८)—परशुरामजी। "थके नारि नर प्रेम पिया से। मनहुँ मृगी मृग देखि दिया से।" (बा॰ दो॰ ११५)। यहाँ के इसी माधुर्य भाव को लेकर—"शोभा सिंधु खरारी।" (बा॰ दो॰ १११)। कहा गया है। आपको देखकर मार्ग की सर्पिणीगण और बिच्छियाँ भी तीक्ष्णता छोड़ देती हैं; यथा—"जिन्हहिं निरखि मग साँपिनि बीछी। तजहिं बिषम बिष तामस तीछी॥" (अ॰ दो॰ २६२)। उनका प्रभाव राक्षसों पर पड़ा, तो आश्चर्य नहीं। 'धारी'—उस सेना को कहते हैं, जो लूटने-मारने को दौड़ी आती हो; यथा—"धाई धारि फिरि कै गोहारि हितकारी होति…" (क॰ उ॰ ७५)। वह सेना भी ठिठक रही।

(२) 'सचिव बोलि बोले···'—श्रीरामजी का तेज-प्रताप देखकर इनको राजा समझा। शूर्पणखा ने श्रीलक्ष्मणजी से सुना भी था—"प्रभु समरथ कोसलपुर राजा।" (दो० १६); उसने भी कहा ही होगा। इससे प्रतिष्ठा-पूर्वक मंत्री को बुलाकर भेजा। पुनः इससे भी कि वह ठीक से समझा देगा। अत्यंत सुन्दरता पर नर-भूषण कहा है; यथा—"पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नर-भूषन लोचन-सुखदाई॥" (बा० दो० ४०)।

(३) 'नाग असुर सुर नर···सुंदरताई।'; यथा—"सुरनर असुर नाग मुनि माहीं। सोभा असि कहुँ सुनियत नाहीं॥" (बा० दो० २११), नाग-असुर को देखा, सुरों को जीता, नरों और मुनियों को हता; अर्थात् मारा-खाया। पर उनमें कहीं भी किसी में ऐसी सुन्दरता नहीं देखी गई। यहाँ शत्रु के मुख से सौन्दर्य की प्रशंसा किया जाना सौन्दर्य-पूर्णता का सूचक है। इसीसे सुन्दरता की सीमा दिखाने में जहाँ-तहाँ खरारी नाम आता है।

(४) 'जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा।···'—यद्यपि इन्होंने वध करने के योग्य अपराध किया है, तथापि ये अनुपम पुरुष हैं, इसलिये वध के योग्य नहीं हैं। शास्त्र दृष्टि से किसी अंश में परिपूर्ण पदार्थ भगवद्विभूति समझे जाते हैं। अतएव, उनका नष्ट करना पाप समझा जाता है। इसी दृष्टि से खर-दूषण ऐसा कह रहे हैं कि इनमें सौन्दर्य पदार्थ पूर्ण है। इससे ये वध लायक नहीं हैं। 'अनूपा'; यथा—"बिष्णु चारि भुज बिधि मुख चारी। बिकट बेष मुख पंच पुरारी॥ अपर देव अस कोउ न आही। येहि छबि सखी पटतरिय जाही॥" (बा० दो० २२१)। "उपमा कहुँ त्रिभुवन कोउ नाहीं।···बल-बिनय-बिद्या-सील-सोभा-सिंधु इन्ह सम एइ अहैं॥" (बा० दो० ३११)।

(५) 'देहु तुरत निज नारि···'—साथ में स्त्री होने की बात शूर्पणखा ने जना दी है। 'दुराई' अर्थात् हमारे डर से उसे छिपा रक्खा है, देने की इच्छा नहीं है, पर उसे दे दो, तो प्राणसहित लौट जाओ। स्त्री का अपराध किया है, इससे स्त्री लेंगे और तुम्हें छोड़ देंगे। 'जाहु दोउ भाई'—(भाव) चले जाओ, नहीं तो हम तो छोड़ देते हैं, पर यहाँ रहने से हमारा कोई निशाचर भक्षण कर लेगा। 'आतुर आवहु'—देर तक न खड़े रहना, नहीं तो अप्रतिष्ठा होगी।

दूतन्ह कहा राम सन जाई। सुनत राम बोले मुसुकाई॥८॥
हम छत्री मृगया बन करहीं। तुम्ह-से खल-मृग खोजत फिरहीं॥९॥
रिपु बलवंत देखि नहि डरहीं। एक बार कालहु सन लरहीं॥१०॥
जद्यपि मनुज दनुज-कुल-घालक। मुनि-पालक खल-सालक बालक॥११॥
जौं न होइ बल घर फिरि जाहू। समर-बिमुख मैं हतौं न काहू॥१२॥
रन चढ़ि करिय कपट चतुराई। रिपु पर कृपा परम कदराई॥१३॥
दूतन्ह जाइ तुरत सब कहेऊ। सुनि खरदूषन उर अति दहेऊ॥१४॥

अर्थ—दूतों ने श्रीरामजी से जाकर कहा। सुनते ही श्रीरामजी मुस्कुराकर बोले॥८॥ हम क्षत्रिय हैं, वन में शिकार करते हैं, तुम्हारे समान दुष्ट रूप मृगों (शिकार-पशुओं) को ढूँढ़ते-फिरते हैं॥९॥ शत्रु को बलवान् देखकर नहीं डरते, एक बार काल (यदि लड़ने आवे, तो उस) से भी लड़ते हैं॥१०॥ यद्यपि हम मनुष्य हैं, तथापि दैत्यों के कुल के नाशक, मुनियों के पालन करनेवाले और दुष्टों को दुःख देनेवाले

बालक हैं ॥११॥ जो बल न हो तो घर लौट जाओ, लड़ाई में मुँह फेरे (पीठ दिये) हुए को मैं कभी नहीं मारता ॥१२॥ समर में चढ़ाई करके कपट चातुरी और शत्रु पर कृपा करना महान् कादरपन है ॥१३॥ दूतों ने तुरत जाकर सब कहा, सुनकर खर-दूषण का हृदय अत्यन्त जल उठा ॥१४॥

विशेष—(१) 'दूतन्ह कहा राम सन···'—खर-दूषण ने मंत्रियों से कहा था। वे ही कई मिलकर गये। दूत के कार्य में गये, इसीसे दूत कहे गये; जैसे युवराज अंगद दूत के कार्य में दूत कहे गये हैं। 'सुनत राम बोले ···'—सुनते ही उत्तर दिया, क्योंकि खर के आज्ञानुसार दूतों ने उत्तर शीघ्र माँगा है।

(२) 'मुसकाई'—मुसुकाना उनकी गीदड़भवकी पर है कि हमें बातों से ही डराना चाहते हो, हम ऐसे नहीं हैं; यथा—"रिपु बलवंत देखि नहिं डरहीं।" यह आगे कहा ही है। छोटा आदमी भी इज्जत के पीछे जान देता है, हम ऐसे हैं कि स्त्री देकर चले जायँगे? नहीं जानते कि हम क्षत्रिय हैं? वही आगे कहा है। इसपर भी हँसे कि अभी 'नृप बालक' मानते हो, जान के लाले पड़ेंगे, तब जानोगे। अतः, यहाँ हँसना निरादर के लिये है।

(३) 'हम छत्री मृगया बन···लरहीं॥'—यह खर-दूषण के बल के प्रतिकार रूप में उत्तर है। 'तुम्ह से खल' अर्थात् जो पर-स्त्री को ताकनेवाले राक्षस हैं। 'खोजत फिरहीं'—तुम तो स्वयं आ गये हो, तो कैसे छोड़ेंगे?

(४) 'यद्यपि मनुज दनुज कुल घालक।'—उन्होंने कहा था कि आप नर-भूषण हैं, उसका यह उत्तर है। पुनः 'यह कोउ नृप बालक' का उत्तर—'मुनि पालक खल सालक बालक।' है।

(५) 'जौं न होइ बल······'—यह—'जीयत भवन जाहु दोउ भाई' का उत्तर है। 'काहू'; यथा—"मत्तं प्रमत्तमुन्मत्तं सुप्तं बालं स्त्रियं जडम्। प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवित्॥" (श्रीमद्भागवत ?); "अयुध्यमानं प्रच्छन्नं प्राञ्जलिं शरणागतम्। पलायमानं मत्तं वा न हन्तुं त्वमिहार्हसि॥" (वाल्मी॰ ६।८०।३९); 'कपट चतुराई'—हमारे प्राण-रक्षा की ओट लेकर अपने प्राण बचाने की बातें करते हो, यह कपट-चातुरी है। 'रिपु पर कृपा परम कदराई'—कपट-चातुरी कदराई और शत्रु पर कृपा करना तो परम कदराई है।

(६) 'दूतन्ह जाइ तुरत······'—क्योंकि—'तासु बचन सुनि आतुर आवहु।" यह आज्ञा थी। 'उर अति दहेउ'—भगिनी की दशा देखकर हृदय पहले से ही जला था, अब कपटी-कादर भी बनाया गया, सो अत्यन्त जल गया।

छंद—उर दहेउ कहेउ कि धरहु धाये बिकट भट रजनीचरा।
सर चाप तोमर सक्ति सूल कृपान परिघ परसुधरा॥
प्रभु कीन्हि धनुष टँकोर प्रथम कठोर घोर भयावहा।
भये बधिर व्याकुल जातुधान न ज्ञान तेहि अवसर रहा॥

दोहा—सावधान होइ धाये, जानि सबल आराति।
लागे बरषन राम पर, अस्त्र-शस्त्र बहु भाँति॥

तिनके आयुध तिल-सम, करि काटे रघुबीर।
तानि सरासन श्रवन लगि, पुनि छाँड़े निज तीर ॥१९॥

शब्दार्थ—तोमर=अस्त्र-विशेष, शर्पला, लकड़ी के डंडे में लोहे का फल लगा हुआ। परिघ=गँड़ासा लोहाँगी। टँकोर=धनुष की प्रत्यंचा का शब्द जो तानकर छोड़ने से होता है। आराति=शत्रु। अस्त्र=वे हथियार जो दूर से फेंके या चलाये जाते हैं, जैसे बाण, शक्ति आदि। शस्त्र=निकट से प्रहार किये जानेवाले खड्ग आदि। या अस्त्र मंत्रित और शस्त्र सामान्य हथियार।

अर्थ—हृदय जल उठा, तब कहा कि पकड़ो, (यह सुनकर) निशाचरों के विकट योद्धा बाण, धनुष, तोमर, शक्ति, शूल, कृपाण (द्विधारा खड्ग), परिघ और फरसा धारण किये हुए दौड़े। प्रभु ने पहले धनुष का टंकार किया जो बड़ा कठोर और घोर भयंकर था। निशाचर उस टंकार से बहरे और व्याकुल हो गये, उस समय उन्हें कुछ होश न रह गया॥ शत्रु को बली जानकर सावधान हो धावा किया, श्रीरामजी पर बहुत तरह के अस्त्र-शस्त्र बरसाने लगे॥ रघुवीर श्रीरामजी ने उनके हथियारों को काटकर तिल के समान कर डाला, फिर धनुष को कान तक खींचकर अपने तीर चलाये॥

विशेष—(१) 'प्रभु कीन्हि धनुष टँकोर···'; यथा—"प्रथम कीन्हि प्रभु धनुष टँकोरा। रिपु दल बधिर भयउ सुनि सोरा॥" (लं० दो० ११); कठोर शब्दों से बहरे हो गये और घोर भयंकर शब्दों से व्याकुल हो गये। टंकार का शब्द जब तक कानों में गूँजता रहा, तब तक होश नहीं रह गया; यथा—"सुर असुर मुनि कर कान दीन्हे सकल बिकल बिचारहीं। कोदंड खंडेउ राम तुलसी जयति बचन उचारहीं॥" (बा० दो० २६१)।

(२) 'सावधान होइ धाये·····'—पहले असावधानी से धाये थे; यथा—"धाये बिकट भट···" जब टंकार सुना, तब सबल शत्रु जानकर सावधानी से चढ़ाई की। 'लागे बरषन राम पर···'; यथा—"ते रामे शरवर्षाणि व्यसृजन् रक्षसां गणाः॥ शैलेन्द्रमिव धाराभिर्वर्षमाणा महाघनाः।" (वाल्मी० ३।२०।१०-११); वर्षा से पहाड़ की हानि नहीं होती, वैसे इन शस्त्रों से श्रीरामजी की कुछ हानि न होगी।

(३) 'तिनके आयुध तिल···'—राक्षसों के शस्त्रास्त्र लोहे के हैं, उन्हें तिल के समान छोटे-छोटे कर डाला, लोहे और तिल का रंग काला होता ही है। आयुधों के काटने की वीरता पर 'रघुवीर' कहा है। 'पुनि छाँड़े निज तीर'—पहले प्रहार से उनके आयुध काटे थे, अब अपनी ओर से बाण चलाकर उन्हें काटेंगे।

छंद—तब चले बान कराल। फुंकरत जनु बहु ब्याल।
कोपेउ समर श्रीराम। चले बिसिख निसित निकाम॥
अवलोकि खरतर तीर। मुरि चले निसिचर बीर।
भये क्रुद्ध तीनिउ भाइ। जो भागि रन ते जाइ॥

तेहि बधब हम निज पानि। फिरे मरन मन महँ ठानि।
आयुध अनेक प्रकार। सनमुख ते करहिं प्रहार॥

शब्दार्थ—निसित (निशित)=चोखा, तेज। निकाम=अत्यन्त।

अर्थ—तब भयंकर बाण चले, मानो बहुत-से सर्प फुफकारते हुए जाते हैं। श्रीरामजी ने युद्ध में क्रोध किया, तब उनके अत्यन्त तीक्ष्ण बाण चलने लगे॥ अत्यन्त तीक्ष्ण बाणों को देखकर वीर राक्षस मुड़ चले। तीनों भाई (खर-दूषण-त्रिशिरा) बड़े क्रुद्ध हुए कि जो रण से भागकर जायगा॥ उसका हम अपने हाथों से वध करेंगे, तब वे मन से मरना निश्चय करके लौटे और सामने आकर अनेक प्रकार से हथियार चलाने लगे॥

विशेष—(१) यह तोमर छन्द है, इसके प्रत्येक चरण में १२-१२ मात्राएँ होती हैं और अंत में गुरु-लघु वर्ण रहता है। युद्ध-प्रसंग में यह संगत है, क्योंकि तोमर भी एक आयुध का नाम है।

(२) 'फुंकरत जनु बहु ब्याल'—राक्षसों के बाणों को वर्षा कहा था और श्रीरामजी के बाणों को विषैले क्रोधी सर्पों की उपमा दी। भाव यह कि वर्षा से पर्वत की कुछ हानि नहीं होती, वैसे राक्षसों के प्रहार से श्रीरामजी की हानि न होगी। पर श्रीरामजी के सर्प के समान बाण राक्षसों के प्राण ही लेंगे; यथा—"राम बान अहि गन सरिस, निकर निसाचर भेक। जब लगि ग्रसत न तब लगि •" (सुं• दो• ११); फुंकरत' से सक्रोध और विषैले होना जनाया। 'चले बिसिष' तो कहा गया, पर उनका लगना नहीं कहा गया, क्योंकि राक्षस लोग 'मुरि चले'। तब पीठ दिये हुए राक्षसों पर वे बाण न लगे, क्योंकि श्रीरामजी की आज्ञा है; यथा—"समर बिमुख मैं हतउ न काहू।" ऊपर कहा गया है। 'कोपेउ समर श्रीराम'—राम में कोप कहाँ? पर समर में कोप से शोभा है, इसलिये कोप किया। अतः शोभावाचक 'श्री' शब्द लगाया गया। कोप का स्वरूप वाल्मी० ३।२४।३४-३५ में लिखा है कि जैसे प्रलयाग्नि हो एवं दक्ष-यज्ञ का नाश करने में रुद्र ने कोप किया हो।

(३) 'मुरि चले निसचर बीर'—पीठ देने पर भी उन्हें वीर कहा गया, इससे राम-बाण का प्रभाव कहा कि वीरों ने भी पीठ दे दी। वीर न मुड़ते तो बाणों की कौन बड़ाई थी; यथा—"नहिं गजारि जस बधे शृगाला।" (लं• दो• ११)।

(४) 'भये क्रुद्ध तीनिउ भाइ'—ये तीनों नहीं मुड़े थे, तीनों तीन दिशाएँ घेरे हुए हैं, चौथी दिशा में लड़ाई हो रही है। मरना निश्चय करके फिरे कि भागने पर भी तो मरना ही पड़ेगा तो यश के साथ क्यों न मरें; यथा—"सनमुख मरन बीर कै सोभा।" (लं• दो• ९•)। इसीसे सामने से प्रहार करने लगे।

रिपु परम कोपे जानि। प्रभु धनुष सर संधानि।
छाड़े बिपुल नाराच। लगे कटन बिकट पिसाच॥
उर सीस भुज कर चरन। जहँ तहँ लगे महि परन।
चिक्करत लागत बान। धर परत कुधर-समान॥

भट कटत तन सतखंड । पुनि उठत करि पाखंड ।
नभ उड़त बहु भुजमुंड । बिनु मौलि धावत रुंड ॥
खग कंक काक सृगाल । कटकटहिं कठिन कराल ।

अर्थ—शत्रु को अत्यन्त कुपित जानकर प्रभु श्रीरामजी ने धनुष में वाण का अनुसंधान (चढ़ा) करके बहुत-से नाराच नाम के वाण छोड़े, उनसे विकट राक्षस कटने लगे ॥ छाती, शिर, भुजाएँ, हाथ, पैर जहाँ-तहाँ पृथिवी पर कटकर गिरने लगे। वाण लगने पर चिघाड़ते हैं, धड़ (शिर बिना शरीर) पर्वत के समान गिर रहे हैं ॥ योद्धा कटकर सौ-सौ टुकड़े हो जाते हैं, फिर माया करके उठ जाते हैं। आकाश में बहुत-सी भुजाएँ और शिर उड़ते हैं, बिना शिर के धड़ दौड़ रहे हैं ॥ पक्षी-चील-कौए, गीदड़ कठिन और भयंकर कट्ट-कट्ट शब्द कर रहे हैं।

विशेष—(१) 'परम कोपे'—क्योंकि फटकारे भी गये और अब मरने पर तुल गये हैं। 'प्रभु धनुष सर संधानि…'—पहले तीर छोड़े थे, तब राक्षस भागे थे। इससे वाण चलाना बंद कर दिया था, क्योंकि समर-विमुख को नहीं मारते, यह आपका नियम है। जब शत्रु सन्मुख आये, तो अब फिर प्रहार करते हैं, किन्तु अब वाणों में पाँच पंखवाले नाराच का प्रहार करते हैं। इनका चलाना बड़ा कठिन है, ये बाण लोहे के ही होते हैं। अन्य वाण चार पंखवाले होते हैं।

(२) 'लगे कटन…'—अब कटने के भेद कहते हैं—(१) उर में वाण लगते ही चिघाड़ते हैं और शिर कटते ही उनके धड पृथिवी पर गिर पड़ते हैं। किसी के साथ ही उर आदि पाँचों अंग कट जाते हैं। (२) 'भट कटत तन सत खंड'—ये मायावी हैं, सो टुकड़े होने पर भी माया से उठ खड़े होते हैं, मानों कटे ही न थे। पाखंड का अर्थ माया है; यथा—"कृत माया बिस्तार ॥ जब कीन्ह तेहि पाखंड। भये प्रगट जंतु प्रचंड।" (लं० दो० ११)। पहले पाँच ही खंड कहे गये, ये सैकड़ों खंड हो जाते हैं। (३) 'नभ उड़त बहु भुज मुंड…'—इनके शिर, भुजाएँ आदि आकाश ही में उड़ते हैं, भूमि पर नहीं आने पाते, इत्यादि। 'खग कंक काक…'—ये उपर्युक्त पहले प्रकार के ही राक्षसों को खाने आये, क्योंकि दूसरे और तीसरे प्रकार के राक्षस तो इन्हें मिलते ही नहीं थे।

छंद—कटकटहिं जंबुक भूत प्रेत पिसाच खप्पर संचहीं।
बेताल बीर-कपाल ताल बजाइ जोगिनि नंचहीं ॥
रघुबीर बान प्रचंड खंडहिं भटन्ह के उर भुज शिरा।
जहँ तहँ परहि उठि लरहिं धर धरुधरु करहिं भयकर गिरा ॥
अंतावरी गहि उड़त गीध-पिसाच कर गहि धावहीं।
संग्राम-पुरबासी मनहुँ बहु बाल गुड़ी उड़ावहीं ॥

अर्थ—गीदड़ (सियार) कटकट करते हैं, भूत-प्रेत-पिसाच खप्पड़ में मांस-रक्त जमा करते हैं। वेताल (भूतों की एक योनि) वीरों की खोपड़ियों से ताल बजाते हैं और योगिनियाँ नाच रही हैं॥ रघुवीर श्रीरामजी के प्रचंड-बाण योद्धाओं के कलेजे, भुजाओं और शिरों को टुकड़े टुकड़े काटते हैं। (वे टुकड़े) जहाँ तहाँ गिरते हैं, फिर वे उठकर लड़ते हैं और पकड़ो, पकड़ो, पकड़ो ऐसा भयंकर शब्द करते हैं॥ गृद्ध अँतड़ियाँ पकड़कर उड़ते हैं और (उनका नीचे का छोर) हाथों से पकड़कर पिशाच दौड़ते हैं। मानों संग्राम-रूपी गाँव के रहनेवाले बहुत-से बालक पतंग उड़ा रहे हैं॥

विशेष—(१) 'जोगिनि नंचहीं'—योगिनियाँ मुख्य ६४ कही गई हैं, वे नाच रही हैं।

शंका—यहाँ तो उर, भुज, शिर से अलग हुए रुंड फिर उठ खड़े हो जाते हैं, तो जंबुक आदि खाते किसको हैं?

समाधान—जो अंग कटते हैं, वे पड़े ही रहते हैं, दूसरे शरीर तैयार हो जाते हैं। जैसे आगे रावण के शिर-बाहुओं का दशों दिशाओं में भर जाना कहा जायगा और फिर-फिर उसके नये-नये शिर-भुज होते जायँगे।

(२) 'धर धरुधरु करहिं भयकर गिरा।'—इन राक्षसों के हृदय में धरने की बात पहले से समाई हुई थी, वही शिर कटने पर भी उनके मुखसे निकल रही है; यथा—"कोउ कह जियत धरहु दोउ भाई।···धरहु धरहु धावत सुभट···कहेउ कि धरहु धाये···" इत्यादि। 'भयकर'—इसलिये कि इससे श्रीरामजी डर जायँ।

(३) 'अंतावरी गहि ·· ···'—गीध समूह गुड्डियाँ हैं, अँतड़ी डोर और पिशाचगण पुरबालक हैं। यहाँ बीभत्स-प्रसंग को भी कवि-शिरोमणि ने क्रीड़ा की उपमा से माधुर्य में ढाल दिया है, ऐसे ही और जगह भी; यथा—"सरजु तीर रचि चिता बनाई। जनु सुर-पुर-सोपान सुहाई॥" (अ० दो० १६६), तथा—"रुधिर कन तन अति बने। जनु रायमुनी तमाल पर बैठीं बिपुल सुख आपने।" (लं० दो० १०२); इत्यादि कवित्व की सूक्ष्म कुशलता है।

मारे पछारे उर बिदारे बिपुल भट कहरत परे।
अवलोकि निज दल बिकल भट तिसिरादि खरदूषन फिरे॥
सर सक्ति तोमर परसु सूल कृपान एकहि बारहीं।
करि कोप श्रीरघुबीर पर अगनित निसाचर डारहीं॥
प्रभु निमिष महँ रिपु सर निवारि प्रचारि डारे सायका।
दस दस बिसिख उर माँझ मारे सकल निसिचर-नायका॥

शब्दार्थ—पछारे=गिराये (बाणों से) कहँरत=पीड़ा से आह-आह करते हैं।

अर्थ—मारे हुए, गिराये हुए और हृदय फूटे हुए बहुत-से वीर पड़े कँहरते हैं। अपने दल को व्याकुल देखकर त्रिसिरा आदि योद्धा और खर-दूषण ने उधर मुँह फेरे; अर्थात् वे भी आ झुके। अगणित

निशाचर कोप करके एक बार ही बाण, शक्ति, तोमर, परशु, शूल और कृपाण श्रीरघुवीर पर फेंक रहे हैं॥ प्रभु श्रीरामजी ने क्षण-भर में शत्रु के बाणों को निवारण करके और ललकारकर अपने बाण छोड़े। समस्त निशाचरों के सेनापतियों के हृदय में दस-दस बाण मारे॥

विशेष—'त्रिसिरादि खर-दूषन फिरे'—स्वामित्व के कार्य में खर-दूषण आगे कहे गये; यथा-"खर दूषन पहिं गै बिलपाता।" "सुनि खर-दूषन उर अति दहेऊ।" "सचिव बोलि बोले खर-दूषन।" इत्यादि। इज्जत के अवसर पर तीनों समान रहे; यथा—"भये क्रुद्ध तीनिउ भाइ।" और यहाँ रण-संकट में छोटा भाई त्रिशिरा आगे है, क्योंकि उसका धर्म है कि बड़े को कष्ट न होने दे; यथा—"कौसलेस-सुत लछिमन रामा। कालहु जीति सकहिं संग्रामा॥" (कि० दो० १); इसमें भी रण-सम्बन्ध से श्रीलक्ष्मणजी आगे कहे गये हैं।

(२) 'एकहि बारहिं···'—पहले राक्षसों ने देख लिया कि ये आयुध नष्ट करने में निपुण हैं; यथा- "तिन्हके आयुध तिल सम, करि काटे रघुबीर।" (दो० १९); इसलिये अब सब एक-साथ ही प्रहार करते हैं कि जिससे रोक न पावें। पर प्रभु ने निमिष में ही सबको निवारण कर दिया, इसीसे शोभा-सूचक 'श्री' इस विशेषण के साथ रघुवीर पद दिया गया है कि आप श्रीमान्, वीर हैं। 'प्रचारि'—सचेत करके, यह युद्ध की श्रेष्ठ नीति है।

(३) 'दस दस बिसिष···'—ये सब रावण के समान बली हैं; यथा—"खर-दूषन मो सम बलवंता।" (दो० २२); रावण को दस-दस बाण मारे गये हैं; यथा—"दस दस बान भाल दस मारे।" (लं० दो० ९०); पुनः, एक-साथ भी रावण को तीस बाण मारे गये हैं; यथा—"तीस तीर रघुबीर पँवारे।" (लं० दो० ९०) यहाँ भी तीनों भाइयों के प्रति १०×३=३० बाण हुए।

महि परत उठि भट भिरत मरत न करत माया अति घनी।
सुर डरत चौदह सहस प्रेत बिलोकि एक अवध-धनी।
सुर-मुनि सभय प्रभु देखि मायानाथ अति कौतुक कर्यो।
देखहिं परसपर राम करि संग्राम रिपु-दल लरि मर्यो॥

दोहा—राम राम कहि तनु तजहिं, पावहिं पद निर्बान।
करि उपाइ रिपु मारे, छन महँ कृपा-निधान॥
हरषित बरषहिं सुमन सुर, बाजहिं गगन निसान।
अस्तुति करि करि सब चले, सोभित बिबिध बिमान॥२०॥

अर्थ—योद्धा पृथिवी पर गिर पड़ते हैं, फिर उठकर भिड़ते हैं, मरते नहीं, अत्यन्त घनी माया करते हैं। प्रेत तो १४ हजार हैं और श्रीअवध के स्वामी श्रीरामजी अकेले—यह देखकर देवता लोग डरते हैं॥ मायानाथ प्रभु ने देवताओं और मुनियों को भयभीत देखकर अत्यन्त खेल किया। (जिससे) शत्रु-दल सब एक-दूसरे को श्रीराम-रूप देखकर आपस में ही संग्राम करके लड़ मरा॥ सब 'राम-राम'

कहते हुए (राम है, इसे मारा, ऐसा कहते हुए) शरीर छोड़ते हैं और मोक्ष-पद पाते हैं। ऐसा उपाय करके कृपा सागर श्रीरामजी ने क्षण-भर में शत्रुओं को मार डाला॥ प्रसन्न होकर देवता लोग फूल बरसाते हैं और आकाश में नगाड़े बज रहे हैं। श्रीरामजी की स्तुति कर-करके सब देवता तरह तरह के विमानों पर सुशोभित चल दिये ॥२०॥

विशेष—(१) 'महि परत पुनि उठि भिरत ···'—१४ हजार हैं, वे सभी फिर-फिर भी उठते हैं, यही अति घनी माया है ; इसीसे इन्हें प्रेत कहा है कि उतने ही बने हैं। कहा जाता है कि इन्हें श्रीशिवजी का वरदान था कि तुम किसी दूसरे के मारने से न मरोगे। आपस में ही लड़ोगे, तभी मरोगे और परस्पर वैर भी न होगा। 'अवध धनी'—क्योंकि देवताओं की दृष्टि माधुर्य पर ही है। इसीसे वे डरते हैं ; क्योंकि उन्होंने इन्हें श्रीअवध-मात्र का स्वामी माना है।

(२) 'सुर-मुनि सभय प्रभु देखि ···'—सुर-मुनि ही हैं ; यहाँ नर नहीं हैं, राक्षसों के भय से यहाँ सामान्य नर न रहते थे। 'माया नाथ'—राक्षस लोग अति घनी माया करते हैं, पर ये तो माया के नाथ हैं। अतः, न मोहे। पुन ये मायानाथ हैं, फिर भी माया न की, किंतु कौतुक किया, जिससे वे परस्पर एक दूसरे को राम-रूप देखते हुए लड़ मरे। वाल्मीकीय रामायण से भी यह कौतुक ऐसा ही सिद्ध होता है, जैसा कि अकंपन ने रावण से कहा है ; यथा—"येन येन च गच्छन्ति राक्षसा भयकर्षिता'॥ तेन तेन स्म पश्यन्ति राममेवाग्रत' स्थितम्। इत्थ विनाशितं तेन जनस्थान तवानघ॥" (वाल्मी॰ ३।३१। १९+२०) ; यहाँ अद्भुत-रस है।

(३) 'राम राम कहि तनु तजहिं ···'—ये परस्पर युद्ध करके मरे, राम-बाण से नहीं मरे थे, इससे मुक्ति न होती, किन्तु 'राम-राम' कहते हुए मरे, अतः, नाम-माहात्म्य से मुक्त हुए। लंका में बाणों द्वारा मुक्ति होगी ; यथा—"रघुबीर सर तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहहिं सही।" (सुं॰ दो॰ ३) ; 'कृपानिधान'—क्योंकि क्षण-मात्र के कौतुक में महान् पापियों को मुक्त किया, उन्हें कष्ट न भोगने पड़े। पुनः देवताओं और मुनियों को भी अभय किया। यहाँ अनखभाव से नामोच्चारण का माहात्म्य है।

(४) 'हरषित बरषहिं सुमन सुर ···'—कार्य के पूर्ण होने से हर्षित होकर फूल बरसाना कहा है। अधूरा होता तो मलिन मन से बरसाते ; यथा—"भरतहि प्रसंसत बिबुध बरसत सुमन मानस मलिन से।" (अ॰ दो॰ २०१) ; 'अस्तुति करि करि' अर्थात् प्रत्येक ने पृथक् पृथक् स्तुति की। 'सोभित विविध विमान'—इस युद्ध से उन्हें आनन्द हुआ, इससे शोभित है, यथा—"बरषा घोर निसाचर रारी। सुरकुल सालि सुमंगल कारी॥" (बा॰ दो॰ ४१)। इनका स्तुति करना वाल्मी॰ ३।३०।३०—३६ में कहा गया है'।

जब रघुनाथ समर रिपु जीते। सुर-नर-मुनि सबके भय बीते ॥१॥
तब लछिमन सीतहि लै आये। प्रभु - पद परत हरषि उर लाये ॥२॥
सीता चितव स्याम मृदु गाता। परम प्रेम लोचन न अघाता ॥३॥
पंचबटी बसि श्रीरघुनायक। करत चरित सुरमुनि सुखदायक ॥४॥

अर्थ—जब श्रीरघुनाथजी ने संग्राम में शत्रु को जीता और सुर, नर, मुनि सबके भय दूर हुए ॥१॥

तब श्रीलक्ष्मणजी श्रीसीताजी को ले आये, चरणों में पड़ते ही प्रभु ने हर्ष के साथ उनको हृदय से लगा लिया ॥२॥ श्रीसीताजी परम प्रेम से श्यामल-कोमल शरीर के दर्शन कर रही हैं, उनके नेत्र तृप्त नहीं होते ॥३॥ पंचवटी में बसकर श्रीरामजी सुर-मुनियों को सुख देनेवाले चरित कर रहे हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'सुर-नर-मुनि सबके भय बीते ।'—समर के समय भी इन्हें भय था ; यथा—"सुर-मुनि सभय प्रभु देखि ···" ऊपर कहा है । पहले कहा गया—"अब प्रभु चरित सुनहुँ अति पावन। करत जे बन सुरनरमुनि भावन ॥" (दो० १) ; चले बनहिं सुरनरमुनि ईसा ॥" (दो० १) ; वही 'सुरनरमुनि' पद देकर यहाँ सूचित करते हैं कि इन्हीं की रक्षा के लिये चले थे, वही कार्य पूरा किया ।

(२) 'प्रभु-पद-परत···'—श्रीलक्ष्मणजी विजय प्राप्त स्वामी श्रीरामजी के चरणों में पड़े। प्रभु ने अपने सहृदय भाई को हृदय से लगा लिया ।

(३) 'सीता चितव स्याम···'—ये स्त्री-भाव की शृंगार-दृष्टि से देख रही हैं ; यथा—"नारि बिलोकहिं हरषि हिय। निज निज रुचि अनुरूप। जनु सोहत सिंगार धरि, मूरति परम अनूप ॥" (बा० दो० २४१); श्याम वर्ण शृंगार का रूप कहा गया है, यथा—"भ्रू पर मसि बिंदु बिराज। जनु···रजक राखे रसराज।" (गी० बा० १६) ; 'परम प्रेम'—प्रेम तो सदा ही रहता है। पर आज स्वामी विजयश्री सहित हैं। अतः, परम प्रेम है ; यथा—"बभूव हृष्टा वैदेही भर्त्तारं परिषस्वजे। मुदा परमया युक्ता दृष्ट्वा रक्षोगणान्हतान् । रामं चैवाव्ययं दृष्ट्वा तुतोष जनकात्मजा ॥" (वाल्मी० ३।३०।४०) ।

इस प्रसंग में नवो रसों का वर्णन है। १—'रुचिर रूप धरि ···'—शृंगार, २—'अहइ कुमार मोर लघु भ्राता ।'—हास्य, ३—'नाक कान बिनु भइ बिकरारा ।'—बीभत्स, ४—'एक बार कालहु सन लरहीं ।'—वीर, ५—'कोपेउ समर श्रीराम ।'—रौद्र, ६—'उर सीस भुज···लगे महि परन ।'—भयानक, ७—'देखहिं परसपर राम करि···'—अद्भुत, ८—'राम राम कहि तनु तजहिं ···'—करुणा (मरते समय 'राम, राम' कहना करुणा सूचक भी हैं ।), ९— 'सुर नर मुनि सब के भय बीते ।'—शांत ।

(४) 'करत चरित सुर-मुनि-सुख-दायक ।'—यहाँ 'सुर-मुनि' मात्र ही कहा गया है। उपर्युक्त चौ० १ के अनुरोध से 'नर' भी लेना चाहिये ।

खर-दूषणादि के युद्ध-प्रसंग के बहुत अंश रावण के युद्ध-प्रसंग से मिलते हैं, जिससे—"खर-दूषन मो सम बलवंता ।" यह चरितार्थ होता है, पर मैंने यहाँ विस्तार-भय से नहीं लिखा ।

"जिमि सब मरम दसानन जाना"—प्रकरण

धुआँ देखि खरदूषन केरा। जाइ सुपनखा रावन प्रेरा ॥५॥
बोली बचन क्रोध करि भारी। देस कोस कै सुरति बिसारी ॥६॥
करसि पान सोवसि दिन-राती। सुधि नहिं तव सिर पर आराती ॥७॥

शब्दार्थ—धुआँ=धुआँ एवं धज्जी धज्जी उड़ना, नाश होना, नाश के अर्थ में अवधी मुहावरा है; यथा—'हम तुम्हारा धुआँ (नाश) देखेंगे । प्रेरा=उत्तेजित किया ।

अर्थ--खर-दूषण का नाश देखकर शूर्पणखा ने जाकर रावण को उत्तेजित किया ॥५॥ भारी क्रोध करके वचन बोली--तूने देश और खजाने की सुध भुला दी ॥६॥ मदिरा पीता है और दिन-रात सोता है, तुझे खबर। नहीं कि शत्रु शिर पर चढ़ आया है ॥७॥

विशेष--(१) 'बोली बचन क्रोध करि भारी।'- खर-दूषण से क्रोध करके बोली थी;-- "धिग धिग तव पौरुष बल भ्राता।" और यहाँ 'भारी' क्रोध करके बोली। 'देस कोस कै···'—शत्रु ने जन-स्थान देश ले लिया, अब कोष भी लेगा।

(२) 'करसि पान सोवसि···'—राज्य-कार्य से बेखबर रहना कि इन्द्रादि भी तो मेरे वश हैं, मुझे क्या डर है, इत्यादि नीति-विरुद्ध है, इसलिये आगे नीति कहती है। धर्मोपदेश करना बहन का धर्म भी है; यथा--"यदा यदा हि कौसल्या दासीव च सखीव च। भार्यावद्भगिनीवच्च मातृवच्चोप-तिष्ठति।···" (वाल्मी० २।१२।६८-६९); इसमें भगिनी-रूप में धर्मोपदेश करना ही लिया गया है।

राज नीति बिनु धन बिनु धर्मा। हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा ॥ ८ ॥
बिद्या बिनु बिबेक उपजाये। श्रम-फल पढ़े किये अरु पाये ॥ ९ ॥
संग ते जती कुमंत्र ते राजा। मान ते ज्ञान पान ते लाजा ॥१०॥
प्रीति प्रनय बिनु मद ते गुनी। नासहिं बेगि नीति अस सुनी ॥११॥

सोरठा--रिपु रुज पावक पाप, प्रभु अहि गनिय न छोट करि।
अस कहि बिबिध बिलाप, करि लागी रोदन करन ॥

शब्दार्थ—प्रनय (प्रणय) = यह प्रीति के आठ अंगों में आदि है; यथा —"प्रणय प्रेम आसक्ति पुनि, लगन लाग अनुराग। नेह सहित सब प्रीति के, आनय अंग विभाग ॥" इनमें—"मम सब तव मम प्रणय यह" अर्थात् 'मेरा सब कुछ तुम्हारा है और तुम्हारा सब मेरा है', ऐसा भाव होना प्रणय है। यती = मोक्ष के लिये यत्न करता हुआ सर्वस्व त्यागी। संग = विषयासक्ति।

अर्थ—नीति के बिना राज्य और धर्म के बिना धन की प्राप्ति, हरि के समर्पण किये बिना किया हुआ सत्कर्म ॥८॥ बिना विवेक उत्पन्न किये (पढ़ी हुई) विद्या, इनके पढ़ने, करने और पाने का परिश्रम-मात्र ही फल है; अर्थात् सब व्यर्थ हैं ॥९॥ विषयासक्ति से संन्यासी, बुरी सलाह से राजा, अभिमान से ज्ञान, मदिरा-पान से लज्जा ॥१०॥ प्रणय के बिना प्रीति और मद से गुणवान् का शीघ्र नाश होता है—ऐसी नीति सुनी है ॥११॥ शत्रु, रोग, अग्नि, पाप, प्रभु (समर्थ राजा) और सर्प, इनको छोटा करके न समझना चाहिये—ऐसा कहकर अनेक प्रकार से विलाप करती हुई वह रोने लगी ॥२१॥

विशेष—(१) 'राज नीति बिनु···'; यथा—"राज कि रहइ नीति बिनु जाने।" (उ० दो० ११२); रावण को नीति में असावधान कहकर उपदेश देना प्रारंभ किया। इससे नीति को ही प्रथम कहा क्योंकि इसीका प्रस्तुत प्रसंग है। शेष बातें इसीकी पुष्टि में उदाहरण के लिये एवं लोकशिक्षा के लिये कही गई हैं। 'धन बिनु धर्मा'--धन पाकर यदि उसे धर्म में न लगाया, तो उसका पाना व्यर्थ ही है, क्योंकि—"सो

धन्य प्रथम गति जाकी।" (उ० दो० १२६); प्रथम गति = सुकृत में लगना। 'हरहि समर्पे बिनु सतकर्मा।'; यथा—"सुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥" (भाग० १।५।१२); भानुप्रताप विधिवत् करते थे; यथा—"करइ जो कर्म करम मन बानी। बासुदेव अर्पित नृपज्ञानी॥" (बा० दो० १५५)।

(२) 'बिद्या बिनु बिबेक उपजाये।'—विवेक न हुआ तो विद्या वंध्या ही रह गई। अतः, उसके पढ़ने का श्रम व्यर्थ हुआ। 'श्रम फल पढ़े किये अरु पाये।'—इसमें विपरीत क्रमालंकार है, विद्या के साथ 'पढ़े'; सत्कर्म के साथ 'किये' और धन एवं राज्य के साथ 'पाये' को लगाना चाहिये।

'धन बिनु धरमा' से कर्मकांड, 'हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा।' से उपासनाकांड और 'बिद्या बिनु बिबेक···' से ज्ञानकांड कहा गया है।

(३) 'संग ते जती'; यथा—"संग से कामना, कामना-हानि से क्रोध, क्रोध से मोह आदि की अनर्थ-परम्परा होती है"— (गीता २।६२-६३); 'कुमंत्र ते राजा'; यथा—"कहहिं सचिव सब ठकुर सोहाती। नाथ न पूर आव येहि भाँती॥" (लं० दो० ८); 'मान ते ज्ञान', यथा—"ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं।" (दो० १४); अर्थात् ज्ञान में तो एक भी मान न चाहिये। 'पान ते लाजा'—इसने अभी ही कहा है—"करसि पान सोवसि दिन राती।" फिर यहाँ नीति के अंग में भी कहा कि इससे लज्जा नहीं रहती; अर्थात् इसीसे तू निर्लज्ज हो गया है, तभी तो मेरी इस दशा पर भी तुझे लाज नहीं है; यथा—"सूपनखा कै गति तुम्ह देखी। तदपि हृदय नहिं लाज बिसेखी॥" (लं० दो० १२); 'प्रीति प्रनय बिनु'—प्रणय-युक्त प्रीति के उदाहरण में विभीषणजी हैं; यथा—"देव कोस मंदिर संपदा। देहु कृपालु कपिन्ह कहँ मुदा॥ सब बिधि नाथ मोहि अपनाइय।" इसपर श्रीरामजी ने कहा है—"तोर कोस गृह मोर सब···" (लं० दो० ११५); इस तरह भाव के विना प्रीति नहीं रहती। 'नीति अस सुनी' अर्थात् यह पढ़ी हुई नहीं थी, इससे 'सुनी' ऐसा कहा है।

(४) 'रिपु रुज पावक···'—इनमें 'रिपु' और 'प्रभु' दो प्रस्तुत प्रसंग में मान्य हैं, शेष इनकी पुष्टि के लिये और लोकशिक्षा के लिये हैं। इसने पहले ही कहा था—"सुधि नहिं तव सिरपर आराती।" इससे रिपु को ही प्रथम कहा। इसीका मुख्य प्रयोजन है। शत्रु श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी समर्थ एवं राजा भी हैं, इससे उन्हें 'प्रभु' भी कहा है कि इनकी छोटी अवस्था एवं मनुष्यत्व की अल्पता पर न भूल जाना। अग्नि, रोग और पाप थोड़े से भी शीघ्र बढ़ जाते हैं और असाध्य हो जाते हैं, सर्प छोटा भी विषैला होता ही है। वैसे वैरी और राजा से भी सावधान रहना ही चाहिये; यथा—"बैरी पुनि छत्री पुनि राजा। छल बल कीन्ह चहै निज काजा॥" (बा० दो० १५८); 'लागी रोदन करन'—कि जिससे रावण इन बातों पर अवश्य ध्यान दे।

दोहा—सभा माँझ परि ब्याकुल, बहु प्रकार कह रोइ।
तोहि जियत दसकंधर, मोरि कि असि गति होइ॥२१॥

सुनत सभासद उठे अकुलाई। समुझाई गहि बाँह उठाई॥१॥
कह लंकेस कहसि निज बाता। केइ तव नासा कान निपाता॥२॥

अर्थ—सभा के बीच में व्याकुल पड़ गई और बहुत तरह से रोकर कहती है कि अरे दश कंधोंवाला रावण ! तेरे जीते जी क्या मेरी ऐसी दशा होनी चाहिये ? ॥२१॥ यह सुनते ही सभासद व्याकुल हो उठे, उन्होंने उसे समझाया और बाँह पकड़कर उठा लिया ॥१॥ लंकेश रावण ने कहा कि अपनी बात तो कह—किसने तेरी नाक और कान काट लिये हैं ? ॥२॥

विशेष—(१) 'तोहि जियत'''—तेरे ऐसे समर्थ विश्व-विजयी के रहते बहन की यह दशा हो, अनाथा की तरह मैं रहूँ, मेरी नाक और कान कटने पर भी एक शिर और दो बाहुवाला जीता रहे ! तू तो दश कंधोंवाला है, चलकर मेरा बदला चुका ; अन्यथा तेरा मर जाना अच्छा है । "असि गति' का ऐसा भी भाव है कि वह अभी तक मुँह ढाँके थी, अब पूरी बातें कहकर मुँह खोला और दिखा रही है कि मेरी ऐसी दुर्दशा हुई, क्योंकि छिपाये न होती तो रावण अभी तक चुप न रहता ।

(२) 'उठे अकुलाई'—व्याकुल हो उठे कि कोई असाधारण शत्रु पैदा हो गया, अन्यथा रावण के डर से तो सभी काँपते हैं, उसकी बहन के नाक कान काटने का साहस कैसे करते ? 'समुझाई गहि बाँह उठाई'—समझाया, फिर बाँह पकड़कर उठा लिया, तब उठी । इससे जाना गया कि राक्षसों में मर्यादा का विचार बहुत कम था कि महाराजा की बहन वन-वन में घूमती थी, फिर सभा में आ गिरी और सभासदों ने बाँह पकड़कर उठा लिया ।

(३) 'कह लंकेस'—लंका का राजा है, राजा नीति जानते हैं, इसीसे नीति को मानते हुए उसने पूछा । 'निज बाता'—भाव यह कि इधर-उधर की तो बहुत कही, पर अपनी बात कुछ न कही । यह तो कहा कि ये नाक-कान किसने काटे ? भाव यह कि औरों को नीति सिखाती है और स्वयं नाक-कान कटा आई । इसने सभासदों से न कहा था, अब रावण के पूछने पर कहेगी, क्योंकि इसीकी प्रेरणा करने तो आई ही है ; यथा— "आइ सुपनखा रावन प्रेरा" यह कहा गया है ।

अवध-नृपति दसरथ के जाये । पुरुषसिंह बन खेलन आये ॥ ३ ॥
समुझि परी मोहि उन्हकै करनी । रहित निसाचर करिहहिं धरनी ॥ ४ ॥
जिन्हकर भुज - बल पाइ दसानन । अभय भये बिचरत मुनि कानन ॥ ५ ॥
देखत बालक काल - समाना । परम धीर धन्वी गुन नाना ॥ ६ ॥
अतुलित बल प्रताप दोउ भ्राता । खल-बध-रत सुर मुनि-सुखदाता ॥ ७ ॥

अर्थ—श्रीअवध के राजा दशरथ के पुत्र जो पुरुषों में सिंह के समान हैं, वे वन में (शिकार) खेलने आये हैं ॥३॥ मुझको उनकी करनी ऐसी समझ पड़ी है कि वे पृथिवी को निशाचर हीन कर देंगे ॥४॥ हे दशमुख ! जिनकी भुजाओं का बल (आश्रय) पाकर मुनि लोग वन में निर्भय होकर विचर रहे हैं ॥५॥ देखने में तो बालक हैं, पर (पराक्रम में) वे काल के समान हैं और परम धीर हैं, धनुष-विद्या में निपुण और अनेक गुणवाले हैं ॥६॥ दोनों भाइयों में अतोल बल और प्रताप है, वे खलों के वध में तत्पर हैं और सुर-मुनियों को सुख देनेवाले हैं ॥७॥

विशेष—(१) 'अवध नृपति दसरथ'''—वाल्मीकीय रामायण में श्रीरामजी ने उसे अपना पूरा परिचय दिया है, यह स्पष्ट है । इस ग्रंथ में भी श्रीलक्ष्मणजी ने कहा ही है; यथा—"प्रभु समर्थ कोसलपुर

राजा।" (दो० १६); इससे दशरथ-पुत्र कहा। 'पुरुष सिंह···' से 'रहित निसाचर करिहहिं धरनी॥' तक श्रीरामजी के उत्तर के अनुसार कहा, जो उन्होंने खर-दूषण को दिया है और इसने भी सुना है; यथा- "हम छत्री मृगया बन करहीं। तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं॥" इत्यादि। 'पुरुष सिंह'—यह इसकी उस मनोवृत्ति का भी परिचायक है, जो कि यह उन्हें ही मर्द औरों को नामर्द समझकर उनपर आसक्त हुई थी; यथा—"तुम्ह सम पुरुष न···" (दो० १६); 'खेलत'—क्रीड़ा एवं विहार करते।

(२) 'जिन्हकर भुज बल···'; यथा—"जबते राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भये मुनि बीती त्रासा॥" (दो० १३); 'देखत बालक काल समाना'; यथा—"मुनि पालक खल सालक बालक।" (दो० १८); 'परम धीर धन्वी गुन नाना।' यह उसने अपनी आँखों देखी बात कही है कि सेना-भर से घिर जाने पर भी हँसते ही रहे, इससे परम धीर हैं। धन्वीपना यह कि सबको क्षण-भर में मारा और अपने पर किंचित् आघात भी न होने दिया। ये सब बातें उसके हृदय में बिंध गई हैं, इसीसे कहती है।

सोभा-धाम राम अस नामा। तिन्हके संग नारि एक स्यामा॥ ८॥
रूपरासि बिधि नारि सँवारी। रति सतकोटि तासु बलिहारी॥ ९॥
तासु अनुज काटे श्रुति नासा। सुनि तव भगिनि करहिं परिहासा॥१०॥
खर-दूषन सुनि लगे पुकारा। छन महँ सकल कटक उन्ह मारा॥११॥
खर-दूषन-त्रिसिरा कर घाता। सुनि दससीस जरे सब गाता॥१२॥

दोहा—सूपनखहि समुझाइ करि, बल बोलेसि बहु भाँति।
गयउ भवन अति सोचबस, नींद परइ नहिं राति॥२२॥

शब्दार्थ—स्यामा=सोलह वर्ष तक की स्त्री; यथा—"शीतकाले भवेदुष्णा ग्रीष्मे च सुख शीतला। सर्वावयव शोभाढ्या सा श्यामा परिकीर्तिता॥" (प्रबोधोदये); लगे पुकारा=यह सहायक होने के अर्थ में मुहावरा है।

अर्थ—शोभा के धाम हैं, उनका 'राम' ऐसा नाम है, उनके साथ एक स्यामा स्त्री है॥८॥ जो रूप (सुन्दरता) की राशि है, उस स्त्री को ब्रह्मा ने सँवार कर बनाया है, सौ करोड़ रतियाँ उसपर निछावर हैं॥९॥ उसके भाई ने मेरी नाक और कान काट लिये, (मैं) तेरी बहन हूँ, यह सुनकर हँसी करते थे॥१०॥ (मेरी पुकार) सुनकर खर-दूषण सहायक हुए, सारा कटक क्षण भर में उन्होंने मार डाला॥११॥ खर-दूषण और त्रिशिरा का संहार सुनकर रावण के सब अंग जल उठे॥१२॥ शूर्पणखा को समझाकर बहुत तरह से अपने बल का वर्णन किया, तब अपने महल में गया, पर अत्यन्त शोच के वश रात में नींद नहीं पड़ रही है॥२२॥

विशेष—(१) 'सोभा-धाम राम···'—उस शोभा में यह स्वयं मोही थी और खर-दूषण को भी कहते सुना है; यथा—"हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई॥" (दो० १८); वही देखी-सुनी बात कह रही है।

(२) 'रूप रासि बिधि ···'—ब्रह्मांड-भर में एक ही रति अत्यन्त सुंदरी है, वैसी करोड़ों ब्रह्मांडों की रतियाँ मिलकर भी उसकी तुलना के योग्य नहीं हैं। शूर्पणखा ने पहले नीति कहकर रावण की शासन-वृत्ति को उत्तेजित किया, अब उसके कामी स्वभाव को उत्तेजित करने को—'नारि एक स्यामा।' आदि कह रही है। ध्वनि यह भी है कि उसी सुंदरी स्त्री के कारण मेरा अपमान किया है। शोभाधाम की शोभा के वर्णन से अपना आसक्त होना भी सूचित किया।

यह सपत्नी होने गई थी, फिर भी श्रीसीताजी की सुन्दरता का वर्णन करती है, इससे श्रीसीताजी का सौंदर्य परिपूर्ण सूचित हुआ।

(३) 'तासु अनुज काटे···'—यह—"केहि तव नासा कान निपाता।" का उत्तर है। श्रीलक्ष्मणजी का नाम न कहा, क्योंकि ये शत्रु हैं, शत्रु का नाम नहीं लिया जाता। अथवा इनका नाम वह न जानती थी, चरित-प्रसंग में नहीं आया। 'सुनि तव भगिनि···'—भाव यह कि पूछने पर मैंने अपना नाम और तुम्हारा संबंध बतलाया, तब वे मुझसे हँसी-मज़ाक करने लगे और उन्होंने कहा कि तू अपना विवाह हमसे कर ले। मैं इसपर क्रुद्ध हुई तब मेरी नाक और कान काट लिये; अर्थात् उन्होंने तुम्हें कुछ नहीं गिना।

(४) 'छन महँ सकल···'; यथा—"करि उपाइ रिपु मारेउ, छन महँ कृपानिधान।" (दो० २०)।

(५) 'खर-दूषन त्रिसिरा कर घाता।···'—पहले "छन महँ सकल कटक उन्ह मारा॥" कहा था, उसपर तीनों भाइयों के मरने में संदेह था। इससे इनका वध पृथक् भी कहा, इसीसे कवि ने दोहराया है। पहले—'रावण का भी कोई प्रबल शत्रु प्रकट हुआ'—इसपर सभासद व्याकुल हुए थे। जब तीनों *भाइयों का संहार सुना, तब रावण भी सर्वांग से जलने लगा; यथा—"सूखहिं अधर जरहिं सब अंगू। मनहुँ दीन मनि हीन भुअंगू॥"* (अ० दो० ११); इसका मानसिक शोच आगे कहेंगे।

शूर्पणखा ने श्रीरामजी के नाम, रूप, धाम, गुण और लीला का परिचय दिया; यथा—"राम अस नामा"—नाम, "दसरथ के जाये" और "सोभा धाम"—रूप, "अवधनृपति"—धाम, "परम धीर धन्वी गुन नाना।"—गुण और "समुझि परी मोहिं उन्हकै करनी। रहित निसाचर करिहहिं धरनी॥"—लीला है।

(६) 'सूपनखहिं समुझाइ करि···'—शूर्पणखा ने कहा था—"तोहि जियत···" उसी वचन से प्रेरित होकर रावण ने समझाया है और बहुत तरह से अपना पुरुषार्थ कहकर उसे धैर्य दिया। इसका बल वाल्मी० ३।३२।४-२३ में कहा गया है। रावण हृदय से तो डर गया है, पर ऊपर से बल कहता है; यथा—"सुनत सभय मन मुख मुसुकाई। कहत दसानन सबहि सुनाई॥" (सु० दो० ५१); इसके हृदय की व्यवस्था उत्तरार्द्ध में कही गई है—'अति सोच बस नींद···'—खर और दूषण का क्षण-भर में मारा जाना सुनकर शोच में पड़ गया है, वही आगे कहते हैं—

सुर नर असुर नाग खग माहीं। मोरे अनुचर कहँ कोउ नाहीं॥१॥
खर-दूषन मोहि सम बलवंता। तिन्हहि को मारइ बिनु भगवंता॥२॥
सुर-रंजन भंजन महि-भारा। जौं भगवंत लीन्ह अवतारा॥३॥
तौ मैं जाइ बैर हठि करऊँ। प्रभु-सर प्रान तजे भव तरऊँ॥४॥

होइहि भजन न तामस देहा। मन-क्रम-बचन मंत्र दृढ़ येहा ॥५॥
जौ नर-रूप भूप-सुत कोऊ। हरिहउँ नारि जीति रन दोऊ ॥६॥
चला अकेल जान चढ़ि तहवाँ। बस मारीच सिंधु-तट जहवाँ ॥७॥

अर्थ—देवता, मनुष्य, दैत्य, नाग और पक्षियों में मेरे सेवकों (की बराबरी) का भी कोई नहीं है ॥१॥ खर-दूषण (तो) मेरे समान बलवान् थे, उन्हें बिना भगवान् के और कौन मार सकता है? ॥२॥ देवताओं को आनन्द देनेवाले, पृथिवी के भार को भंजन (हरण) करनेवाले भगवान् ने, जो अवतार लिया है ॥३॥ तो मैं जाकर हठ-पूर्वक उनसे वैर करूँ और प्रभु के बाणों से प्राण छोड़कर भव (संसार) से तरूँ ॥४॥ (मेरे) तामसी शरीर से भजन न होगा, (अतः) मन, कर्म, वचन से दृढ़ मंत्र यही है ॥५॥ और जो मनुष्य रूप कोई राजपुत्र होंगे, तो दोनों को रण में जीतकर उनकी स्त्री को हर लूँगा ॥६॥ वह रथ पर चढ़कर अकेला ही वहाँ चला, जहाँ समुद्र के किनारे मारीच रहता था ॥७॥

विशेष—(१) 'सुर-नर असुर नाग खग माहीं।'—इनमें 'मुनि' को नहीं कहा, क्योंकि युद्ध का प्रसंग कह रहा है और मुनि युद्ध नहीं करते। शोभा आदि के वर्णन में प्रायः मुनि भी कहे गये हैं। 'अनुचर कहँ'—यहाँ 'कहँ' का तात्पर्य 'मारनेवाला' है, क्योंकि—"छन महँ सकल कटक उन्ह मारा।" यह शूर्पणखा ने कहा है और उसी पर रावण भी आगे कहता है—"तिन्हहि को मारइ ··।" 'कोउ नाहीं'; यथा—"कुमुख अकंपन कुलिस रद, धूम-केतु अतिकाय। एक एक जग जीति सक, ऐसे सुभट निकाय॥" (बा० दो० १८०); वाल्मी० ३।३१।४-७ में इन्द्र, काल, यम, विष्णु आदि के नाम गिनाकर उन्हें अपनी प्रतिद्वन्द्वता में असमर्थ कहा है और यहाँ 'कोउ' शब्द उनसे अधिक व्यापक है। पुनः यहाँ 'अनुचर' शब्द इसका वहाँ से अत्यधिक महत्व दिखाता है कि अनुचरों की समता का भी कोई नहीं है, तो मेरी समता की कौन बात?

(२) 'जौ भगवंत···तउ मैं जाइ··'—अवतार के निश्चय में संदेह है, इसी से 'जौं' कहा है। अवतार संबंध से 'भगवंत' कहा है, क्योंकि भगवान् शब्द का अर्थ उत्पत्ति, पालन और संहारकर्त्ता होता है। उसी सामर्थ्य से ईश्वर कार्य करता है; वह किसी से वैर नहीं करता, इसलिये हठ से वैर करना कहा है।

(३) 'प्रभु-सर प्रान···' यथा—"रघुबीर सर तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहहिं सही।" (सुं० दो० ३), ईश्वर से तो मुक्ति ही चाहता है।

(४) 'होइहि भजन न तामस देहा।' यथा—"तामस तन कछु साधन नाहीं। प्रीति न पद सरोज मन माँहीं॥" (सुं० दो० ६)। 'मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ येहा।'—इसने मुक्ति के लिये वैर और प्रीति इन दो मार्गों का निश्चय किया, उनमें प्रीति में अपना अनधिकार समझ वैर भाव के लिये दृढ़ मंत्र किया। प्रीति करने के लिये इससे १६ बार अनेक सहेतुक वचनों से कहा गया—अरण्यकाण्ड में २ बार, सुंदरकाण्ड में ६ बार, लंकाकाण्ड में ८ बार—पर इसने नहीं माना ऐसी दृढ़ता है।

(५) 'जौ नर-रूप भूप सुत कोऊ।'—अर्थात् नर तो कभी हमें जीत सकता ही नहीं, क्योंकि नर के हाथ मेरी मृत्यु हो नहीं सकती; यथा—"नर के कर आपन बध बाँची। हँसेउँ जानि बिधि गिरा असाँची॥" (लं० दो० २८); अतः, मैं ही उन्हें जीत लूँगा, खर और दूषण को मार ही लिया, तो क्या हुआ?

इसे न तो भगवंत के अवतार में ही निश्चय है और न नर-रूप ही में, इसीकी परीक्षा कंचन मृग के द्वारा करेगा, अतएव मारीच के पास चला।

महाभारत वन पर्व अ० २७८ में कहा गया है कि रावण त्रिकूट और काल पर्वत को लाँघता हुआ गोकर्ण क्षेत्र में गया। जहाँ उसका पुराना मंत्री मारीच श्रीरामजी के भय से तपस्वी वेष में रहता था। वाल्मी० ३।३५।३७ में भी—"तंतु गत्वा परं पारं समुद्रस्य नदी पतेः।" कहा गया है। पर वाल्मी० १।३०।१८ में—"सम्पूर्ण योजन शतं क्षिप्तः सागर सम्प्लुवे॥" कहा गया है, जैसा बा० दो० २०६ चौ० ४ में कहा है। परन्तु यहाँ 'जहवाँ' और 'तहवाँ' से दूर देश मात्र सूचित किया गया है। पूर्व बा० दो० २०६ चौ० ४ के अनुसार यह स्थल लंका के ही एक भाग में जान पड़ता है। 'अकेल' इसलिये कि जिससे यह भेद शत्रु को न मिल जाय, नहीं तो परीक्षा-विधि बिगड़ जायगी।

"पुनि माया सीता कर हरना"—प्रसंग

इहाँ राम जसि जुगुति बनाई। सुनहु उमा सो कथा सुहाई॥८॥

दोहा—लछिमन गये बनहिं जब, लेन मूल फल कंद।
जनक-सुता सन बोले, बिहँसि कृपा-सुख-वृन्द॥२३॥

अर्थ—यहाँ श्रीरामजी ने जैसी युक्ति बनाई, हे उमा! वह सुहावनी कथा सुनो।॥८॥ जब श्रीलक्ष्मणजी कंद-मूल-फल लेने गये, तब दया और सुख की राशि श्रीरामजी हँसकर श्रीजानकीजी से बोले॥२३॥

विशेष—(१) 'इहाँ राम जसि······'—"पंचवटी बसि श्रीरघुनायक। करत चरित सुर मुनि सुखदायक॥" (दो० २०); पर यहाँ का प्रसंग छोड़कर वहाँ (लंका-मारीच-आश्रम) की कथा कहने लगे थे। अब फिर 'इहाँ' का प्रसंग लेते हैं। यह भी सूचित किया कि जिस समय वहाँ के चरित हुए, उसी समय यहाँ के ये चरित हुए। एक ही समय दो स्थलों के चरितकथन के 'इहाँ-इहाँ' ही संकेत हैं। पुनः 'इहाँ' से कवि अपनेको इस पक्ष में भी सूचित करते हैं। 'सुनहु उमा'—अर्थात् यह कथा शिव पार्वती के ही संवाद की है, जहाँ होगी, इसी संवाद में मिलेगी। 'राम'—ये सबमें रमण करते हैं, इसीसे रावण का अभिप्राय सीता हरण का जानकर वैसी युक्ति पहले ही से कर रहे हैं। 'जुगुति'—उधर रावण कपट मृग लावेगा, पर आपको कपट नहीं भाता; यथा—मोहिं कपट छल छिद्र न भावा॥" (सु० दो० ४४); इससे उसके प्रतिकार में आप युक्ति बना रहे हैं कि उसी तरह यह 'माया-सीता' भी हैं। 'सोहाई'—क्योंकि यह गोप्य रहस्य है, श्रीलक्ष्मण को भी नहीं जनाया। इसमें ईश्वर के हृदय की अगाधता है। उमा के संबोधन का यह भी भाव है कि इसी चरित में पहले उन्हें मोह था, अब दिखाते हैं कि देख लो, पहले ही से जान करके हरण का प्रबंध कर रहे हैं। अतः, विलाप एवं खोजना सब लीला मात्र था, जो तुम्हें भ्रम था—"खोजइ सो कि अज्ञ इव नारी।" (बा० दो० ५०)।

(२) 'बिहँसि कृपा सुख वृन्द'—हँसकर श्रीजानकीजी को प्रसन्न कर रहे हैं, यह भी जनाया कि आगे की विरह-लीला आदि हमारे हँसी-खेल हैं। हँसने का यह भी भाव है कि रावण-वध के लिये एवं सबपर कृपा करने तथा सुख देने के लिये स्त्री को लंका भेजकर परोपकार के लिये अब लोक की हँसी

सुनहु प्रिया व्रत रुचिर सुसीला। मैं कछु करबि ललित नरलीला ॥१॥
तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा। जौ लगि करउँ निसाचर नासा ॥२॥
जबहिं राम सब कहा बखानी। प्रभु-पद धरि हिय अनल समानी ॥३॥
निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता। तैसेइ सील रूप सुबिनीता ॥४॥
लछिमनहूँ यह मरम न जाना। जो कछु चरित रचा भगवाना ॥५॥

अर्थ—हे प्रिय! हे सुन्दर पातिव्रत धर्म का पालन करनेवाली! हे सुशीले! सुनो, मैं कुछ ललित नर-नाट्य करूँगा ॥१॥ जबतक मैं निशाचरों का नाश करूँ, तबतक तुम अग्नि में निवास करो ॥२॥ जैसे ही श्रीरामजी ने सब बखान कर कहा, वैसे ही प्रभु के चरणों को हृदय में रखकर वे अग्नि में समा गईं ॥३॥ श्रीसीताजी ने वहाँ अपना प्रतिबिंब रक्खा, जिसमें वैसा ही शील, सुन्दरता और अत्यन्त विनम्रता थी ॥४॥ भगवान् ने जो कुछ चरित रचा, उस भेद को श्रीलक्ष्मणजी ने भी न जाना ॥५॥

विशेष—(१) 'सुनहु प्रिया व्रत रुचिर सुसीला।'—'प्रिया'—भाव यह कि इस नर-नाट्य में रावण वधतक पृथक् होने को कहना है, यह न मानना कि मैं अप्रिय हो गई, नहीं ; तुम तो सदा प्रिया हो। यदि यह कहो कि आप से पृथक् रहने में हमारा व्रत (पातिव्रत धर्म) भंग होगा, उसपर कहते हैं कि तुम 'व्रत रुचिर' हो, हमारी आज्ञा से जाने में तुम्हारा व्रत भी रहेगा। पुनः यह भी शंका नहीं कि खलों के सहवास में तुम्हारे शील का नाश हो, सो नहीं हो सकता ; क्योंकि तुम 'सुशीला' हो। 'व्रत'; यथा—"एकइ धर्म एक व्रत नेमा। काय बचन मन पति पद प्रेमा॥" (दो० ४) ; वा, प्रिया हो ; अतः, हमारा रुख रक्खो, व्रत-रुचिर हो ; अतः, आज्ञा मानो। सुशीला हो ; अतः, उत्तर न दो। श्रीसीताजी इन गुणों की खान हैं ; यथा—"हा गुन खानि जानकी सीता। रूप-सील व्रत नेम पुनीता॥" (दो० २९) ; 'मैं कछु करब···'—'कछु'—कवि उसे शब्दों से भी छिपाते हैं। नहीं तो 'यह' कहते। 'ललित'—जिसमें ऐश्वर्य का लेश भी न हो ; यथा—"मनहु महा बिरही अति कामी।" (दो० ११)।

(२) 'तुम्ह पावक महुँ···'—अग्नि में निवास कराते हैं। अंत में उसीकी साक्षी देकर उसीसे प्रकट करावेंगे ; यथा—"सीता प्रथम अनल महुँ राखी। प्रगट कीन्हि चह अंतर साखी॥" (लं० दो० १०९) ; साक्षी भी अग्नि की दी जाती है ; यथा—"पावक साखी देइकरि, जोरी प्रीति दृढ़ाइ।" (कि० दो० ४) ; भाव यह भी है कि तुम भी अपने ऐश्वर्य को अंतर्भूत रक्खो, उसके दुःख देने पर शाप न दे दो, नहीं तो हमारी प्रतिज्ञा ही जायगी। श्रीसीताजी ने रावण से कहा भी है ; यथा—"असंदेशात्तु रामस्य तपसश्चानुपालनात्। न त्वां कुर्मि दशग्रीव भस्म भस्मार्हतेजसा॥" (वाल्मी० ५।२२।२०)।

अग्नि में रखने पर ये भाव भी कहे जाते हैं—(क) अग्नि के दिये हुए पिंड से श्रीरामजी का जन्म है। अतएव अग्नि को पिता के समान मानते हैं। स्त्री पिता के यहाँ रखने में सुरक्षित रहती है। (ख) और सत्त्व में इनका तेज न छिपता (ग) सोने की लंका जलाना है। अतएव अग्नि में शक्ति को रक्खा। (घ) श्रीरामजी तपस्वी वेष में हैं। अग्नि भी तपः स्थान है। तपस् अग्नि का नाम भी है। श्रीजानकीजी उसमें रह सकेंगी, अन्यथा व्रतभंग की शंका करतीं ; यथा—"तुम्हहि उचित तप मो कहँ भोगू।" (अ० दो० ९६)।

(३) 'प्रभु-पद धरि हिय अनल समानी ।'—श्रीजानकीजी 'व्रत रुचिर' हैं, इससे इन्होंने पति-आज्ञा को शिरोधार्य किया । व्रत का स्वरूप; यथा—"काय वचन मन पति-पद प्रेमा ।"; अतएव पति-पद हृदय में रखकर उसे चरितार्थ किया । पुनः यह भी भाव है कि इन चरणों से गंगाजी प्रकट हुई हैं। अतः, इनके धारण से अग्नि में भी शीतलता बनी रहेगी ।

(४) 'निज प्रतिबिंब राखि···'—श्रीरामजी ने प्रतिबिंब रखने को नहीं कहा, पर उनका रुख जानकर यह कार्य किया गया, इससे—"पति रुख लखि आयसु अनुसरहू ।" (बा० दो० ३३१); इस शिक्षा का चरितार्थ हुआ । प्रतिबिंब व्यवहित (पृथक किये हुए) देश में कैसे रह सकता है ? उत्तर में कहा जाता है—(क) प्रतिबिंब से तात्पर्य अंश का है । (ख) अघट घटना पटीयसी सामर्थ्य से असंभव का संभव कर दिखाना ईश्वरता है । (ग) कोई-कोई यह भी कहते हैं कि वाल्मी० ७।१० में जो शक्ति श्रीसीतारूपा वेदवती नाम से कही गई है, उसमें ही श्रीसीताजी को आवेश प्राप्त हुआ और स्वयं श्रीसीताजी ने अग्नि में निवास किया ।

'तैसइ सील रूप सुबिनीता'—स्त्री में व्रत रुचिर, शील, रूप और नम्रता—ये चार गुण अवश्य चाहिये । वे सब इनके इस रूप में भी कहे गये हैं ।

(५) 'लछिमनहूँ यह मरम न जाना ।···'—श्रीलक्ष्मणजी प्रातःक्रिया करके कंद, फल आदि लेने गये और उसी समय उधर रावण मारीच-आश्रम को गया । वहाँ मारीच से बात हुई, यहाँ श्रीसीताजी से यह सम्मत् और अग्नि प्रवेश-लीला हुई । यहाँ श्रीलक्ष्मणजी लौटकर आये और उधर से मारीच मृग रूप में आवेगा । 'लछिमन गये बनहिं···'—उपक्रम है और यहाँ—'लछिमनहूँ यह मरम···' यह उपसंहार है । श्रीलक्ष्मणजी को भी यह मर्म न जनाया, क्योंकि उनके जान लेने पर विरह आदि की 'ललित नर-लीला' करते न बनती और न उनके समझाने की ही लीला होती । फिर श्रीनारदजी का शाप—"नारि बिरह तुम्ह होब दुखारी ॥" (बा० दो० १३६); यह कैसे सत्य होता ? भगवान् का रहस्य चरित उनकी ही कृपा से वह भी परिमित अंश में ही कोई भी जानता है ।

श्रीपार्वतीजी ने पूछा था—"औरउ राम रहस्य अनेका । कहहु नाथ···" (बा० दो० ११०); यहाँ भी उसका उत्तर है । श्रीजानकीजी के रहस्यात्मक चरित को श्रीरामजी ही जानते हैं ; यथा—"सिय महिमा रघुनायक जानी ।" (बा० दो० १०६); "लखा न मरम राम बिनु काहू ।" (अ० दो० २५१); वैसे ही यहाँ भी इस अंतरंग-लीला को वे ही जानते हैं । ऐसे ही श्रीरामजी के भी गुह्यतम रहस्य को श्रीजानकीजी ही जानती हैं ; यथा —"अनुज सेवक सचिव हैं सब सुमति साधु सखाउ । जान कोउ न जानकी बिनु अगम अलख लखाउ ॥ राम जोगवत सीय-मन प्रिय मनहिं प्रान प्रियाउ ।···" (गी० उ० २५); इत्यादि ।

दसमुख गयउ जहाँ मारीचा । नाइ माथ स्वारथ-रत नीचा ॥६॥
नवनि नीच कै अति दुखदाई । जिमि अंकुस धनु उरग बिलाई ॥७॥
भयदायक खल कै प्रिय बानी । जिमि अकाल के कुसुम भवानी ॥८॥

दोहा—करि पूजा मारीच तब, सादर पूछी बात ।
कवन हेतु मन ब्यग्र अति, अकसर आयहु तात ॥२४॥

शब्दार्थ—अकसर (एक + सर) = अकेले । त्रसित—घबड़ाया हुआ, भयभीत ।

अर्थ—दशमुख (रावण) वहाँ गया, जहाँ मारीच था और शिर नवाया, (क्योंकि) वह नीच स्वार्थ परायण था ॥६॥ नीच का नवना (नम्रता) अत्यन्त दुःखदायी होता है, जैसे अंकुश, धनुष, सर्प और बिल्ली का ॥७॥ हे भवानी ! दुष्ट की प्रिय वाणी भय देनेवाली होती है, जैसे बिना समय (ऋतु) के फूल ॥८॥ तब मारीच ने पूजा करके आदर-पूर्वक बात पूछी—हे तात ! किस कारण तुम्हारा मन अत्यन्त चिंतित है और क्यों अकेले आये हो ? ॥२४॥

विशेष—(१) 'दसमुख गयउ जहाँ···'—इसका उपक्रम—"चला अकेल जान चढ़ि तहवाँ। बस मारीच···" से हुआ था। बीच में इधर का रहस्य कहा गया, अब फिर वही प्रसंग लेकर यहाँ उपसंहार किया। 'दसमुख'—का भाव यह कि इसके आगे एक मुख वाले मारीच की कुछ न चलेगी।

'नाइ माथ स्वारथ-रत नीचा।'—रावण ने ऊपर से मामा मानकर भक्ति से प्रणाम करना जनाया, पर वह बात नहीं है, क्योंकि आगे मारने की धमकी देगा, इससे यह प्रणाम करना इसका स्वार्थ साधने के लिये है, इसीसे नीचता कही गई। मारीच इसका पुराना मंत्री है और इसके अधीन है, अभी भी राजा मानकर इसकी पूजा करेगा। रावण अभिमानी कैसा है—"रवि ससि पवन बरुन धन धारी।··· आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहिं आइ नित चरन बिनीता॥" (बा० दो० १८१); वह अपने अधीन को प्रणाम करे, यह नीचता है। इसे ही कहते हैं—

(२) 'नवनि नीच कै अति दुखदाई।···'—प्रिय मधुर बोलता हुआ शिर नवाकर प्रणाम किया, इसीलिये दोनों बातों को अंकुशादि और अकाल पुष्प की उपमाओं से दिखाते हैं। अंकुश नया कि तुरत हाथी के मस्तक पर धँसा, धनुष जैसे ही खींचकर विशेष नवाया गया कि उससे किसी पर बाण का घात हुआ। सर्प झुका कि लपक कर काटा, बिल्ली दबकी कि मूँसा आदि को लिया। ये सब दूसरों को दुःख देने ही को नवते हैं। इनमें अंकुश और धनुष दूसरे की प्रेरणा से दुःखद हैं और सर्प-बिल्ली स्वतः एवं प्रेरणा से भी दुःख देते हैं, वैसे ही रावण शूर्पणखा की प्रेरणा से और अपनी इच्छा से भी इस दुःखद-कार्य में प्रवृत्त हुआ है।

(३) 'भय दायक खल कै प्रिय बानी।···'—खल प्रायः कठोर ही वाणी बोलते हैं; यथा—"बचन बज्र जेहि सदा पियारा।" (बा० दो० ३); प्रिय बोलना उनकी प्रकृति के विरुद्ध है। जैसे अकाल के पुष्प प्रकृति के नियम के विरुद्ध होते हैं और भयदायक कहे गये हैं; यथा—"दुर्जनैरपि सूक्तानि सम्मतानि प्रियाणि च। अकाल कुसुमानीव भयं संजनयन्तिहि॥" (नीतिशास्त्र); इस रीति से खल का प्रिय बोलना भी भयंकर है। प्रिय वचन को फूल की उपमा दी जाती है; यथा—"मातु बचन सुनि अति अनुकूला। जनु सनेह सुरतरु के फूला॥" (अ० दो० ५२); पर खल की वाणी प्रिय होने पर भी भय दायक है। अतः, उसे अकाल-पुष्प की उपमा दी, क्योंकि ऋतु के विरुद्ध वृक्षों का फूलना उस देश के राजा और प्रजा को भयंकर होता है। वैसे इस वचन से भी मारीच का वध और इसके वंश-भर का नाश होगा; यथा—"सब तरु फरे राम हित लागी। रितु अरु कुरितु काल गति त्यागी॥" (लं० दो० ४); इससे रावण के लिये अपशकुन और श्रीरामजी को लाभ हुआ।

(४) 'करि पूजा मारीच···'—रावण ने स्वार्थ वश शिर नवाया, पर मारीच ने अपनी मर्याद-रक्षा के लिये उसकी पूजा करके आगमन का हेतु पूछा; यथा—"करि पूजा समेत अनुरागा। मधुर बचन तब

बोलेउ कागा ॥ नाथ कृतारथ भयउँ मैं, तव दरसन खगराज। आयसु होइ सो करउँ अब प्रभु आयउ केहि काज ॥" (उ० दो० ६३); इत्यादि।

दसमुख सकल कथा तेहि आगे। कही सहित अभिमान अभागे ॥१॥
होहु कपट-मृग तुम्ह छलकारी। जेहि बिधि हरि आनउँ नृप नारी ॥२॥
तेहि पुनि कहा सुनहु दससीसा। ते नर-रूप चराचर-ईसा ॥३॥
तासों तात बैर नहिं कीजै। मारे मरिय जियाये जीजै ॥४॥

अर्थ—अभागे दशानन ने अभिमान सहित सारी कथा उसके सामने कही ॥१॥ (फिर कहा कि) तुम छल करनेवाला कपट मृग बन जाओ, जिस प्रकार मैं राजा की स्त्री को हर लाऊँ ॥२॥ फिर मारीच ने कहा कि हे दशशीस! सुनो, वे मनुष्य रूप में चराचर के स्वामी हैं ॥३॥ हे तात! उनसे वैर न कीजिये, उनके मारने से मरना और जिलाने से जीना चाहिये ॥४॥

विशेष—'दसमुख सकल कथा ···'—अभिमान सहित बोलने से 'दसमुख' कहा कि मानों दसों मुखों से कह रहा है। 'अभागे'—क्योंकि श्रीरामजी से वैर ठान रहा है; यथा—"बेद पढ़ैं बिधि संभु सभीत पुजावन रावन ते नित आवैं। दानव देव दयावने दीन दुखी दिन दूरिहिं ते सिर नावैं ॥ ऐसेहु भाग भगे-दसभाल तें जो प्रभुता कवि कोविद गावैं। राम से बाम भये बिधि बामहि बाम सबै सुख संपति लावैं ॥" (क० उ० २)। 'तेहि आगे'— एकान्त में उसी के आगे कहा कि और कोई न जाने। 'सहित अभिमान'—हमने इन्द्रादि को छल से वश में कर लिया, तो इन राज पुत्रों की क्या गिनती है?

(२) 'होहु कपट-मृग···'—वे राजपुत्र हैं शिकार के लिये अवश्य दौड़ेंगे। इसलिये तुम कपट मृग बनो, छल करके उन्हें श्रीसीताजी से दूर कर दो और श्रीरामजी के स्वर में मिलाकर श्रीलक्ष्मणजी को भी पुकारो कि वे भी दूर हो जायँ बस, मैं यती बन कर उनकी स्त्री हर लूँगा, क्योंकि उन्होंने हमारी बहन को कुरूपा किया है। 'छलकारी' यथा—"प्रगटत दुरत करत छल भूरी। ··लछिमन कै प्रथमहि लै नामा।··· (दो० २६)।

(३) 'तेहि पुनि कहा···'—'पुनि' शब्द से वाल्मीकीय रामायण के मत से प्रथमबार का समझाना भी आ गया जो कि अकंपन के कहने से रावण मारीच के पास आया और इसके समझाने से लौट गया था। पीछे शूर्पणखा के कहने पर फिर आया और बहुत कुछ कह सुनकर इसे तैयार किया। 'पुनि' का दूसरा अर्थ फिर एव तत्पश्चात् भी है। 'दस सीसा'—संबोधन से सूचित किया कि तुम्हारे दसो शिर काटे जायँगे नहीं तो उनसे वैर न करो। 'ते नर रूप···'—तुमने भूल से उन्हें नर माना है, वे रूपमात्र में नर हैं, पर चराचर के स्वामी हैं।

(४) 'तासों तात वैर नहिं कीजै···'—प्रीति और वैर समान में ही हो सकता है, बड़े से वैर करने में हानि होती है; यथा—"प्रीति विरोध समान सन, करिय नीति असि आहि।" (लं० दो० २३), "नाथ वैर कीजै ताही सों। बुधि बल सकिय जीति जाही सों ॥ तुम्हहिं रघुपतिहिं अंतर कैसा। खलु खद्योत दिनकरहिं जैसा ॥···तासु विरोध न कीजिय नाथा। काल करम जिव जाके हाथा ॥" (लं० दो० ५); 'मारे मरिय जियाये जीजै।'—सुबाहु और खर-दूषण आदि उनके मारने से मरे और मैं जिलाने से ही जीता हूँ, नहीं तो कब मर गया होता। पुनः वे उत्पत्ति, पालन और संहार के कर्ता अर्थात् ईश्वर हैं।

मुनि-मख राखन गयउ कुमारा। बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा ॥५॥
सत जोजन आयउँ छन माहीं। तिन्ह सन बैर किये भल नाहीं ॥६॥
भइ मम कीट भृंग की नाई। जहँ तहँ मैं देखउँ दोउ भाई ॥७॥
जौ नर तात तदपि अति सूरा। तिन्हहि बिरोधि न आइहि पूरा ॥८॥

दोहा—जेहि ताड़का सुबाहु हति, खंडेउ हर-कोदंड।
खर-दूषन-तिसिरा बधेउ, मनुज कि अस बरिबंड ॥२५॥

अर्थ—कुमारावस्था में ही वे (विश्वामित्र) मुनि की यज्ञ-रक्षा करने को गये थे। तब उन श्रीरघुनाथजी ने मुझे बिना गाँसी (फल) का बाण मारा था ॥५॥ जिससे क्षण-भर में मैं सौ योजन (४०० कोस) पर आ गिरा, उनसे बैर करना अच्छा नहीं है ॥६॥ मेरी दशा भृङ्गवाले कीड़े की-सी हो गई, मैं जहाँ-तहाँ दोनों भाइयों को ही देखता हूँ ॥७॥ हे तात! यदि वे मनुष्य ही हैं, तो भी अत्यंत शूर-वीर हैं, उनसे वैर करके पूरा न पड़ेगा ॥८॥ जिन्होंने ताड़का और सुबाहु को मारकर श्रीशिवजी का धनुष तोड़ा, फिर खर-दूषण-त्रिशिरा का वध किया, क्या मनुष्य ऐसा बलवान् एवं प्रतापी हो सकता है?

विशेष—(१) 'बिनु फरसर…'—अबकी फल सहित मारेंगे, तो अपने भाई सुबाहु की तरह मर ही जाऊँगा। 'सत जोजन आयउँ…'; यथा—"सत जोजन गा सागर पारा।" (बा० दो० २०९); वहाँ (बकसर) से ४०० कोस दक्षिण समुद्र है और आगे सागर भी ४०० कोस चौड़ा है। (इसे वहाँ बा० दो० २०९ में भी देखिये); 'कुमारा'—भाव यह कि अब तो युवा अवस्था को प्राप्त हैं।

(२) 'भइ मम कीट भृंग की नाई।…'—भृङ्ग कीड़े को पकड़ता है, तब उसे चारों तरफ फिराता है और उसे शब्द सुनाता है, वैसे मुझे राम-बाण ने आकाश में फिराया और यहाँ लाकर फेंका। जो कीट भृंग से छूटता है, उसे फिर भय से चारों ओर भृङ्ग ही देख पड़ता है। वैसे भय से चारों ओर जहाँ-तहाँ मुझे वे दोनों भाई ही देख पड़ते हैं; यथा—"वृक्षे वृक्षे हि पश्यामि चीरकृष्णाजिनांबरम्। गृहीत धनुषं रामं पाशहस्तमिवांतकम्॥ अपि राम सहस्राणि भीतः पश्यामि रावण। रामभूतमिदं सर्वमरण्यं प्रतिभाति मे॥" (वाल्मी० ३।३९।१५-१६), भाव यह कि भय के मारे मैं उनके पास जा नहीं सकता।

(३) 'जौ नर तात…'—इसने स्वयं तो श्रीरामजी को ईश्वर ही निश्चय किया है, पर रावण ने नर कहा है; यथा—'हरि आनउँ नृप नारी' अतः उसका रुख लेते हुए श्रीरामजी को नर कहकर उनमें फिर प्रत्यक्ष प्रमाणों से अपना निश्चय ही सिद्ध करेगा कि वे मनुष्य से कोई विलक्षण ही हैं—

(४) 'जेहि ताड़का सुबाहु…'—इसने पहले अपना हाल कहा, फिर ताड़का सुबाहु की दशा की घटना क्रम से कही, क्योंकि पहले ताड़का का वध हुआ था, तब सुबाहु का और फिर धनुर्भंग हुआ। ये सब कार्य नर की शक्ति से बाहर के हैं; यथा—"मारग जात भयावन भारी। केहि बिधि तात ताड़का मारी॥ घोर निसाचर बिकट भट, समर गनहिं नहिं काहु। मारे सहित सहाय किमि खल मारीच सुबाहु॥ …कमठ पीठ पबि कूट कठोरा। नृप समाज महँ सिव धनु तोरा॥…सकल अमानुष करम तुम्हारे।" (बा० दो० ३५६), पुनः खर दूषण के वध पर तो रावण ने स्वयं भी ईश्वरावतार की कल्पना की थी। अभी उसीने मारीच से कहा भी है; यथा—"दसमुख सकल कथा तेहि…"

जाहु भवन कुल कुसल बिचारी। सुनत जरा दीन्हिसि बहु गारी ॥१॥
गुरु जिमि मूढ़ करसि मम बोधा। कहु जग मोहि समान को जोधा ॥२॥
तब मारीच हृदय अनुमाना। नवहि बिरोधे नहिं कल्याना ॥३॥
सस्त्री मर्मी प्रभु सठ धनी। बैद बंदि कवि भानस गुनी ॥४॥

शब्दार्थ—भानस गुनी=रसोई के काम में गुणवान्, मिथिला प्रान्त में रसोई के कार्य को 'भानस' कहते हैं। शस्त्री=आयुध-धारी एवं आयुधवाला। शठ=मूर्ख।

अर्थ—अपने कुल की कुशलता विचार कर घर लौट जाओ, यह सुनते ही रावण जल उठा और उसने बहुत गालियाँ दीं ॥१॥ अरे मूर्ख! गुरु की तरह मुझे ज्ञान सिखाता है। कह तो, संसार में मेरे समान कौन योद्धा है? ॥२॥ तब मारीच ने हृदय में विचार किया कि शस्त्री, भेदी, प्रभु (समर्थ राजा), मूर्ख, धनवान्, वैद्य, भाट, कवि और रसोइया—इन नव से वैर करने से कल्याण नहीं होता ॥३-४॥

विशेष—(१) 'सुनत जरा…'—रावण मानार्थी है, पर मारीच ने उसे न्यून कहकर बार-बार वैर छोड़ने को कहा और शत्रु की बड़ाई की, इसी से वह जल उठा, यथा—"तासों तात बैर नहिं कीजे।"; "तिन्ह सन बैर किये भल नाहीं।"; "तिन्हहि बिरोधि न आइहि पूरा।" इत्यादि; इस रीति से जो कोई भी वैर छोड़ने को कहता है, उसीपर खल उठता है, जैसे-"मृत्यु निकट आई खल तोहीं। …"—हनुमानजी पर, "बृद्ध भयसि नत मरतेउँ तोहीं।…"—माल्यवान् पर, "पुनि दसकंठ रिसान अति …"—कालनेमि पर, इत्यादि। शत्रु की बड़ाई पर भी बहुत चिढ़ता है; यथा—"रिपु उत्कर्ष कहत सठ दोऊ। दूरि न करहु इहाँ है कोऊ॥" (सुं० दो० ३१); "आन भीर बल सठ मम आगे। पुनि पुनि कहसि लाज पति त्यागे॥" (लं० दो० २८)।

(२) 'गुरु जिमि'—क्योंकि मंत्री का धर्म है कि राजा की बड़ाई करके सलाह दे। पर इसने तो उसकी लघुता ही कही, पुनः सलाह भी उसकी रुचि के विरुद्ध दी।

(३) 'नवहि बिरोधे…'; यथा—"शस्त्री मर्मभेदी नृपतिः शठो वैद्यो धनी कविः। बंदी गुणीति व्याख्यातैर्नवभिर्न विरुध्यताम्॥" (चाणक्यनीतिः); इससे भेद इतना ही मात्र है कि 'भानस गुनी' की जगह 'गुणी' मात्र कहा है। विरोध करने से शस्त्री मार डालेगा, मर्मी जो अपना गुप्त भेद जानता है, जैसे रावण के नाभिकुंड में अमृत की बात श्रीविभीषणजी जानते थे। विरोध करने पर उन्होंने रावण को मरवा दिया। नृपति समर्थ होता है। शठ हानि-लाभ जानता ही नहीं; सहसा कुछ अनर्थ कर सकता है। धनी धन देकर किसी से भी हानि करा सकता है। वैद्य विरुद्ध उपचार से रोग बढ़ा सकता है। भाट एवं कवि जगत् में अकीर्ति फैला सकते हैं। रसोइया भोजन में विष मिलाकर प्राण ही ले सकता है, इत्यादि।

यहाँ रावण शस्त्र लिये हुए अवज्ञा पर मारने को उद्यत है, इससे यही 'सस्त्री' प्रस्तुत विषय है, शेष नीति उसी की पुष्टि में कही गई है।

उभय भाँति देखा निज मरना। तब ताकेसि रघुनायक-सरना ॥५॥

उतर देत मोहि बधब अभागे। कस न मरउँ रघुपति सर लागे ॥६॥
अस जिय जानि दसानन-संगा। चला राम-पद-प्रेम अभंगा ॥७॥
मन अति हरष जनाव न तेही। आजु देखिहउँ परम सनेही ॥८॥

अर्थ—दोनों तरह से अपना मरण देखा, तब श्रीरघुनाथजी की ही शरण ताकी (वा, श्रीरामजी के बाणों को ही ताका, क्योंकि उनसे मरने पर मुक्ति होती है) ॥५॥ उत्तर देने से यह अभांगा मुझे मार डालेगा, (तो) श्रीरघुनाथजी का बाण लगने से ही क्यों न मरूँ? ॥६॥ हृदय में ऐसा जानकर रावण के साथ चला, उसका श्रीरामजी के चरणों में अचल प्रेम है ॥७॥ मन में अत्यन्त हर्ष है कि आज परम स्नेही को देखूँगा, परन्तु रावण को यह (हर्ष) नहीं जनाता ॥८॥

विशेष—(१) 'उभय भाँति देखा...'—यदि इससे प्रीति निबाहते हैं, तो श्रीरामजी के हाथ मरना होगा। वैर करके इसके ही हाथों से मरना होगा; यथा—"आसाद्यते जीवित संशयस्ते मृत्युर्ध्रुवो-ह्यद्य मयाविरुद्धयतः। एतद्यथावत्परिगण्यबुद्धया यदत्र पथ्यं कुरुतत्तथात्वम् ॥" (वाल्मी० ३।४०।२७); अर्थात् 'रामजी के विरोध से जीने में संशय है और मुझसे विरोध करने में आज ही मृत्यु निश्चय जानो' इसे ही—'उभय भाँति...' कहा। 'तब ताकेसि...'; यथा—"इत रावन, उत राम कर, मीच जानि मारीच। कपट कनक मृग-वेष तब, कीन्ह निसाचर नीच ॥" (रामाज्ञा० ३।२।६); वैर-भाव से शरण होने से भी मुक्ति होती है; यथा—"बैर भाव मोहि सुमिरत निसिचर ॥ देहिं परम गति..." (लं० दो० ४४)।

(२) 'उतर देत मोहि बधब अभागे।'—रावण ने प्रश्न किया था—"कहु जग मोहिं समान को जोधा।" इसका उत्तर मैं दे सकता हूँ कि बड़े योद्धा हो तो चोरी करने को क्यों कहते हो। रण में जीतकर श्रीसीताजी को ले आओ। यह भी कि धनुष तोड़कर पहले ही क्यों न ब्याह लाये? यथा—"जनक सभा अगनित भूपाला। रहे तुम्हउँ बल अतुल बिसाला ॥ भंजि धनुष जानकी बियाही। तब संग्राम जितेहु किन ताही ॥" (बा० दो० २५); 'अभागे'—श्रीरामजी के वैर करने से अब इसका भाग्य नष्ट हो गया।

(३) 'कस न मरउँ रघुपति सर लागे।'—श्रीरामजी के बाण से मरना श्रेयस्कर है, मुक्ति होगी; यथा—"रघुबीर सर तीरथ सरीरन्ह त्यागि गति पैहहि सही।" (सुं० दो० ३) तो इस अभागे के हाथ से क्यों मरूँ? श्रीरामजी के ही बाण से मरूँगा; यथा—"उभयोर्यदि मर्त्तव्यं वरं रामो न रावणः।" (हनुमन्नाटक)। श्रीरामजी के द्वारा ही मरने पर वाल्मीकीय रामायण से इसका कुछ और भी भाव मिलता है; यथा—"मां निहत्य तु रामो ऽसावचिरात्त्वां वधिष्यति। अनेन कृतकृत्योऽस्मि म्रिये चाप्यरिणा हतः॥ दर्शनादेव रामस्य हतं मामवधारय। आत्मानं च हतं विद्धि हृत्वा सीतां सबांधवम् ॥" (वाल्मी० ३।४१।१७-१८)। भाव यह कि मैं शत्रु के हाथ से मारा जाऊँगा और साथ ही तुम सपरिवार मारे जाओगे। इससे मैं प्रसन्न हूँ, अर्थात् तुम मुझे मारोगे, तो मैं बदला नहीं ले सकता और इस तरह तो मैं तुम्हें सपरिवार मारकर मानो मरूँगा। इसीका मुझे संतोष है। इसीसे इसने श्रीरामजी के प्रति स्नेह रखते हुए भी छल किया कि जिससे इस दुष्ट का सपरिवार नाश हो, तो मेरी दाह मिटे। श्रीरामजी के पुरुषार्थ का इसे दृढ़ निश्चय था। लौकिक स्वामी रावण से और पारलौकिक स्वामी श्रीरामजी से भी इसने आगे छल ही किया है, इसीसे इसे नीच एवं कपटी कहा गया है; यथा—"सुकृत न सुकृती परिहरइ, कपट न कपटी नीच। भरत सिखावन सो दियो, गीध राज मारीच ॥" (दोहावली २०१)।

(४) 'अस प्रिय जानि दसानन संगा ।'—"तब मारीच हृदय अनुमाना ।" से विचार का उपक्रम हुआ, यहाँ—'अस प्रिय जानि ···' पर उसका उपसंहार है। 'प्रेम अभंगा ।'—मरते तक इसका स्नेह बना रहा ; यथा—"प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा । सुमिरेसि राम समेत सनेहा ॥ ··अंतर प्रेम तासु पहिचाना ॥" (दो० २६) ।

(५) 'मन अति हरष जनाव न तेही ।'—श्रीरामजी के बाण से मरकर मुक्त होऊँगा, इसपर तो हर्ष है और 'आजु देखिहउँ परम सनेही ।' पर 'अति हर्ष' है, क्योंकि जीव के स्त्री-पुरुष आदि स्नेही हैं और ईश्वर परमस्नेही है, वह गर्भ में भी साथ देता है। 'जनाव न तेही'—अति हर्ष को यदि रावण जान पावेगा, तो संदेह करेगा कि दुःख के समय इसे हर्ष है। अत, इसके मन में मुझसे भी छल है, मेरा कार्य न करेगा—ऐसा समझकर वह यहीं पर मुझे मार डालेगा ।

रावण ने अपना मन्त्र, श्रीरामजी ने अपनी युक्ति और मारीच ने अपनी मुक्ति का योग—तीनों ने गुप्त ही रक्खा और इसीसे सफल हुए, कहा भी है—"जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ। फलइ तबहिं जब करिय दुराऊ॥" (बा० दो० १६७) ।

छंद—निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहउँ ।
श्रीसहित अनुज समेत कृपानिकेत-पद मन लाइहउँ ।
निर्बान-दायक क्रोध जाकर भगति अबसहि बस करी ।
निज पानि सर संधानि सो मोहि बधिहि सुख-सागर हरी ॥
दोहा—मम पाछे धर धावत, धरे सरासन बान ।
फिरि फिरि प्रभुहि बिलोकिहउँ, धन्य न मो सम आन ॥२६॥

अर्थ—अपने परम प्यारे को देख नेत्रों को सुफल करके सुख पाऊँगा। श्रीजानकीजी के साथ और भाई श्रीलक्ष्मणजी समेत कृपा के स्थान श्रीरामजी के चरणों में मन लगाऊँगा॥ जिसका क्रोध मोक्ष देनेवाला है और जिसकी भक्ति अवश्य ही उसे वश करनेवाली है। वे ही सुख सागर भगवान् अपने हाथों से धनुष पर बाण लगाकर मुझे मारेंगे एवं मेरा वध करेंगे॥ धनुष बाण धारण किये हुए मेरे पीछे-पीछे मुझे धरने (पकड़ने) को दौड़ते हुए प्रभु को मैं पीछे फिर-फिरकर देखूँगा—मेरे समान दूसरा धन्य नहीं है ॥२६॥

विशेष—(१) 'निज परम प्रीतम ···'—और स्नेही अपने नहीं हैं, ये सदा साथ रहनेवाले सहज सनेही हैं, यथा—"ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू ।" (बा० दो० २११) । अत, अपने हैं, इसीसे 'निज' कहा है। 'श्रीसहित ···'—पहले केवल श्रीरामजी के ही दर्शनों से सुख पाना कहा था अब तीनों को कहते हैं। यहाँ 'सहित' और 'समेत' पर्याय शब्द हैं और एक ही क्रिया में आये हैं, पर रचना क्रम में पुनरुक्ति नहीं है। भाव यह कि पहले जब मैंने देखा था, तब वे श्री (शक्ति) सहित न थे, अब शक्ति सहित देखूँगा, फिर साथ ही भाई समेत को भी देखने की लालसा हुई, जो कि पूर्व साथ थे। तब 'अनुज

समेत' भी कहा ; यथा —"तेहि अवसर नारद सहित अरु रिषि सप्त समेत।" (बा० दो० ६०) इसमें भी ऐसा ही प्रयोग है।

(२) 'निर्बान दायक क्रोध'''—क्रोध से मुक्ति होगी ; यथा–'निज पानि सर संधानि''' इससे मैं भव तर जाऊँगा; यथा— 'प्रभु-सर प्रान तजे भव तरऊँ।" (दो० २२); मुक्त होकर सुख सागर हरि को प्राप्त हूँगा। निर्वाण मुक्ति में प्रभु के साधर्म्य गुणों के द्वारा सुख-सागर ही हो जाऊँगा। जैसे चन्दन के साधर्म्य (गंध-गुण प्राधान्य) से आम आदि की लकड़ी भी चन्दन ही कहाती है। पहले दर्शनों से सुख की प्राप्ति कही थी, उसका भी फल कहा —'भगति अवसहिं बस करि'। 'अवसहिं' शब्द में 'व' होता, तो अवश अर्थात् किसी के वश में न होनेवाले, श्रीरामजी का अर्थ होता, पर 'व' है, जो श्रीगोस्वामीजी की भाषा में 'अवसि' में ही आता है। इस तरह रीझ और खीझ—दोनों का फल कहा; यथा—"रीझे बस होत खीझे देत निज धाम रे।" (वि० ७१); 'सुख सागर' के साथ 'हरी' कहा है, भाव यह कि इस निर्वाण मुक्ति से जन्म-मरण हर लेंगे;यथा—"उभय हरहिं भव संभव खेदा।" (उ० दो० ११४)।

(३) 'मम पाछे धर धावत '''; यथा—"कपट कुरंग संग धर धाये।" (सु० दो० ४१) अर्थात् पकड़ने को दौड़ेंगे। न पकड़ पाने पर बाण से मारेंगे, इसलिये 'धरे सरासन बान' कहा है। ऐसा ही गीता आ० ३ में कहा है—"पाये पालिबे जोग मंजु मृग मारेहु मंजुल छाला।" पुनः 'धर धावत' का यह भी अर्थ है—मेरा पीछा धरे (पकड़े) हुए दौड़ते—जो कि शिकार की रीति है।

(४) 'फिरि फिरि प्रभुहि बिलोकिहउँ'—दर्शनों का उत्साह बहुत है, इसीसे बार-बार कहा है; यथा—'आजु देखिहउँ'''परम प्रीतम देखि'' फिरि फिरि प्रभुहि बिलोकिहउँ', इत्यादि। 'धन्य न मोसम आन।' धन्य का अर्थ है—सुकृती; यथा—"सुकृती पुण्यवान् धन्य."। भगवान् के दर्शन बड़े सुकृत से होते हैं; यथा—"जिन्ह जानकी राम छबि देखी। को सुकृती हम सरिस बिसेषी॥" (बा० दो० ३०१), भाव यह कि श्रीशिवजी आदि को भी ध्यान में ही जिनके दर्शन होते हैं, वे ही प्रभु मेरे पीछे-पीछे दौड़ेंगे और मैं बार-बार फिर-फिरकर प्रत्यक्ष देखूँगा। पुनः शिवादि उनके पीछे दौड़ते हैं (प्राप्त्यर्थ यत्न करते हैं) और वे ही प्रभु मेरे पीछे धावेंगे, तो मेरे समान धन्य वे भी नहीं हैं। व्यासजी ने भी महापुरुषत्व के साथ इसी छटा का ध्यान किया है ; यथा—"त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्य लक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्यवचसाय-दगादरण्यम्। मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥" (भाग० ११।५।३४)।

तेहि बन निकट दसानन गयऊ। तब मारीच कपट-मृग भयऊ॥१॥
अति बिचित्र कछु बरनि न जाई। कनक-देह मनि-रचित बनाई॥२॥
सीता परम रुचिर मृग देखा। अंग अंग सुमनोहर बेखा॥३॥
सुनहु देव रघुबीर कृपाला। येहि मृग कर अति सुंदर छाला॥४॥
सत्य-संध प्रभु बध करि येही। आनहु चर्म कहति बैदेही॥५॥

अर्थ—जब रावण उस वन के निकट गया, तब मारीच कपट-मृग बन गया॥१॥ वह अत्यन्त विचित्र है, कुछ वर्णन नहीं किया जा सकता। उसने मणियों से जटित सोने की देह बनाई है॥२॥ श्रीसीता-जी ने परम सुन्दर हिरण को देखा, उसके अंग-अंग का वेष अत्यन्त मनोहर था॥३॥ वैदेही श्रीजानकीजी

कहती हैं कि हे देव ! हे रघुवीर ! हे कृपालु ! सुनिये, इस मृग का चर्म (खाल) बड़ा ही सुन्दर है ॥४॥ हे सत्य प्रतिज्ञ ! हे प्रभो ! इसे वध करके इसका चर्म लाइये ॥५॥

विशेष—(१) 'तेहि बन निकट'''—पूर्व कहा—"पंचवटी बसि श्रीरघुनायक।" (दो० २०); यहाँ उसे ही 'तेहि' कहा है। 'निकट' का भाव वाल्मी० अ० स० ४२।१३ में कहा गया है कि रावण ने जहाँ से श्रीरामजी का केले से घिरा हुआ आश्रम देखा, वहीं रथ से उतरकर मारीच को उसे दिखाया और तब वहीं पर मारीच कपट मृग बना। रावण ने कहा था—"होहु कपट मृग तुम्ह छलकारी।" अतएव वह मृग बना ; यथा—"तब मारीच कपट मृग भयऊ।" मृग ही बना, क्योंकि इस कला में वह कुशल था, इस रूप से श्रीसीताजी के निकट आ सकेगा। उन्हें इससे भय न होगा, तभी देखकर मोहित होंगी और इसका चर्म भी काम का होता है, शूकर आदि का नहीं।

(२) 'अति विचित्र कछु'''—मृग प्रायः सोने के रंग के होते हैं, अतः देह सोने की ही बनाई और उसमें रंग-बिरंग की मणियों की अत्यन्त विचित्रता रची। अत्यन्त विचित्र होता तो कुछ कहा भी जाता, यह तो 'अति विचित्र' है।

(३) 'सीता परम रुचिर मृग देखा।'—यद्यपि वह मृग आश्रम के सभी ओर फिरता था, तथापि उसे श्रीराम-लक्ष्मणजी ने नहीं देखा, सम्भवतः वे पर्णशाला के भीतर थे—"श्रीजानकीजी पुष्प तोड़ती थीं, उधर ही वह बार-बार गया, अतः, उन्हीं की दृष्टि पड़ी।" (वाल्मी० ३।४२।२१-२२)। यह भी कहा जाता है कि माया का मृग 'माया-सीता' की ही दृष्टि में पड़ा।

'परम रुचिर मृग'''; यथा—"उसके सींग इन्द्रनीलमणि के समान थे, मुख कहीं श्वेत और कहीं काला था, लाल कमल के समान मुख, नील-कमल के समान दोनों कान, गर्दन कुछ ऊँची थी, वैदूर्य मणि के समान खुर, इन्द्र-धनुष के समान उसकी पूँछ उठी थी। वह चाँदी के सैकड़ों बिन्दुओं से चित्रित था। सर्वांग नाना धातुओं से चित्रित दर्शनीय और मनोहर रूप था। इत्यादि" (वाल्मी० ३।४२); 'अंग अंग सुमनोहर वेषा।'; यथा—"अहो रूपमहो लक्ष्मीः स्वरसम्पच्च शोभना। मृगोऽद्भुतो विचित्राङ्गो हृदयं हरतीव मे॥" (वाल्मी० ३।४३।१५) अर्थात् अहा कैसा रूप है, कैसी शोभा है, कैसी सुन्दर बोली है ! विचित्रांग यह अद्भुत मृग मेरा मन हर रहा है। फिर इसी सर्ग में श्रीरामजी ने भी बहुत वर्णन किया है।

(४) 'सुनहु देव रघुबीर कृपाला।'''—'देव' अर्थात् दिव्य-दृष्टि हो इससे जानते ही हो कि यह राक्षस मृग बनकर आया है। 'रघुबीर' हो, अतः दुष्टों का वध करना ही है। 'कृपाला' हो, अतः दुष्टों को मारकर मुनियों पर कृपा करना ही है। यह मुनि-द्रोही है ; यथा—"लै सहाय धावा मुनि-द्रोही।" (बा० दो० २०६); अथवा इसपर कृपा करके मारकर इसे मुक्ति दीजिये। मुझे भी चर्म ला दीजिये।

(५) 'सत्य-संध प्रभु बध करि येही।''''''—आप सत्यप्रतिज्ञ हैं, निशाचर-वध की प्रतिज्ञा कर चुके हैं, उसे पूरा करें और इसका चर्म लाने की भी प्रतिज्ञा की है उसे पूरा करें। यदि आप कहें कि यह तो माया का है ; अतः, चर्म कैसे मिलेगा ? उसपर कहती हैं—'प्रभु' अर्थात् आप समर्थ हैं। अतः, उस चर्म को भी सत्य कर सकते हैं। 'कहति बैदेही'—वैदेही शब्द से लक्षित कराते हैं कि ये प्रतिबिंब-रूपा हैं, इसीसे आग्रह कर रही हैं। वास्तविक-रूप से पति से ऐसी हठ न की जाती ; यथा—"कामवृत्तमिदं रौद्रं स्त्रीणामसदृशं मतम्। वपुषा त्वस्य सत्त्वस्य विस्मयो जनितो मम॥" (वाल्मी० ३।४३।२१) अर्थात् अपनी इच्छा-पूर्ति के लिये मैं आपसे यह जो कह रही हूँ, यह कठोर है और

स्त्रियों के लिये अनुचित है, यह मैं जानती हूँ, फिर भी इस मृग के देखने से मुझे नितान्त कुतूहल उत्पन्न हो गया है। यह श्रीजानकीजी का ही वचन है।

तब रघुपति जानत सब कारन। उठे हरषि सुर-काज सँवारन ॥६॥
मृग बिलोकि कटि परिकर बाँधा। करतल चाप रुचिर सर साँधा ॥७॥
प्रभु लछिमनहि कहा समुझाई। फिरत बिपिन निसिचर बहु भाई ॥८॥
सीता केरि करेहु रखवारी। बुधि बिबेक बल समय बिचारी ॥९॥
प्रभुहि बिलोकि चला मृग भाजी। धाये राम सरासन साजी ॥१०॥
निगम नेति सिव ध्यान न पावा। माया-मृग पाछे सो धावा ॥११॥

शब्दार्थ—परिकर = कमर का फेंटा। साँधा = बाण को धनुष के रोदे पर चढ़ाया।

अर्थ—तब श्रीरघुनाथजी जो सब कारण जानते हैं, हर्षपूर्वक देव-कार्य बनाने के लिये उठे ॥६॥ मृग को देखकर कमर का फेंटा बाँधा और हाथों में सुन्दर धनुष लेकर उसपर सुन्दर बाण चढ़ाया ॥७॥ प्रभु ने श्रीलक्ष्मणजी से समझाकर कहा कि हे भाई! वन में बहुत-से निशाचर फिरते हैं ॥८॥ तुम बुद्धि, विवेक, बल और समय का विचार करके श्रीसीताजी की रखवाली करना ॥९॥ प्रभु को देखकर मृग भाग चला, श्रीरामजी ने धनुष सजा (रोदा चढ़ा) कर उसका पीछा किया ॥१०॥ वेद जिसे नेति कहते हैं, श्रीशिवजी जिसको ध्यान में नहीं पाते, वही प्रभु माया-मृग के पीछे दौड़े ॥११॥

विशेष—(१) 'जानत सब कारन'—प्रभु सब जानते हैं कि यह मारीच है और वहाँ रावण भी आया है। वाल्मीकीय रामायण में तो श्रीलक्ष्मणजी ने और श्रीरामजी ने भी स्पष्ट कहा है कि यह मारीच है, इसे तो मुझे मारना ही है, इत्यादि आगे भी कहा गया है; यथा—"जद्यपि प्रभु जानत सब बाता। राजनीति राखत सुर त्राता ॥" (कि० दो० २१)। 'उठे हरषि सुर···'—दूर जाने से रावण आवेगा और श्रीसीताजी का हरण करेगा, तब देव-कार्य सिद्ध होगा। इसलिये दूर तक दौड़कर जाने के लिये परिकर बाँधते हैं। 'रुचिर सर साँधा'—मृग रुचिर है; यथा—"सीता परम रुचिर मृग देखा।" कहा गया। उसके मारने को बाण भी रुचिर ही अनुसंधान करते हैं कि जिससे उसके मायिक शरीर समेत सत्य शरीर को भी वेध दे। श्रीरामजी रुचिर-प्रिय हैं ही, यह पहले लिखा गया है।

(२) 'प्रभु लछिमनहि·· बुधि बिबेक बल समय बिचारी।' श्रीलक्ष्मणजी को यही समझाया कि समय विचारना यही है कि हमसे रावण से वैर हो चुका है, छल रूप से कोई आवे, तो बुद्धि-विवेक से विचार लेना और सामना करे तो बल से काम लेना। इन बुद्धि आदि से विचार कर काम करने से कोई भी कठिन कार्य हो सकता है; यथा—"पवन तनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिज्ञान निधाना ॥ कौन सो काज कठिन जग माहीं। जो नहिं तात होइ तुम्ह पाहीं ॥" (कि० दो० २९)। ये इन बुद्धि आदि से रक्षा का कार्य करेंगे, आगे दो० २७ चौ० ६ पर लिखा जायगा।

(३) 'प्रभुहि बिलोकि चला···'—प्रभु ने मृग को देखा और मृग ने प्रभु को; यथा—"मृगबिलोकि कटि परिकर बाँधा।" तथा—"प्रभुहि बिलोकि चला मृग भाजी।" अर्थात् एक ने दूसरे को देख लिया

और दोनों सावधान हो गये। मारीच ने पहले कहे हुए—"फिरि फिरि प्रभुहि बिलोकिहउँ" को भी चरितार्थ किया। 'धाये राम सरासन साजी।' पहले—"करतल चाप रुचिर सर साँधा।" कहा गया था, पर श्रीलक्ष्मणजी को समझाने के समय उतार लिया था, क्योंकि अंगुल्यानिर्देश करना था, इसीसे अब फिर 'सरासन साजी' कहा गया।

(४) 'निगम नेति सिव…'—वेद की वाणी और शिवजी के मन के द्वारा भी ध्यान के विषय नहीं हैं। ध्यान मन से होता है; यथा—"मगन ध्यान रस दंड जुग, पुनि मन बाहेर कीन्ह।" (बा० दो० १११)। वेद की वाणी सर्वश्रेष्ठ है और श्रीशिवजी का मन भी परम स्वच्छ है, तब भी उन्हें दुर्लभ हैं; यथा—"यतो वाचो निवर्तन्ते॥ अप्राप्य मनसा सह॥" (तै० २।४)। तथा—"मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥" (बा० दो० ३४०)। भाव यह कि आप कृपा करके ही वाणी और मन के विषय होते हैं।

कबहुँ निकट पुनि दूरि पराई। कबहुँक प्रगटइ कबहुँ छपाई॥१२॥
प्रगटत दुरत करत छल भूरी। येहि बिधि प्रभुहि गयउ लै दूरी॥१३॥
तब तकि राम कठिन सर मारा। धरनि परेउ करि घोर पुकारा॥१४॥
लछिमन कर प्रथमहि लै नामा। पाछे सुमिरेसि मन महँ रामा॥१५॥
प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा। सुमिरेसि राम समेत सनेहा॥१६॥
अंतर-प्रेम तासु पहिचाना। मुनि-दुर्लभ-गति दीन्ह सुजाना॥१७॥

दोहा—बिपुल सुमन सुर बरषहिं, गावहिं प्रभु-गुन-गाथ।
निज पद दीन्ह असुर कहँ, दीनबंधु रघुनाथ॥२७॥

अर्थ—कभी समीप आ जाता और फिर दूर भागता, कभी प्रकट होता और कभी छिप जाता॥१२॥ इस तरह प्रकट होते, छिपते एवं बहुत छल करते हुए वह प्रभु को दूर ले गया॥१३॥ तब श्रीरामजी ने ताककर कठिन बाण मारा, (जिससे) वह जोरों से पुकार (चीत्कार) करता हुआ पृथिवी पर गिर पड़ा॥१४॥ पहले श्रीलक्ष्मणजी का नाम लेकर पीछे मन में श्रीरामजी का स्मरण किया॥१५॥ प्राण छोड़ते समय अपनी (राक्षसी) देह प्रगट की और स्नेह-सहित श्रीरामजी का स्मरण किया॥१६॥ सुजान प्रभु ने उसके अंतःकरण का प्रेम पहचान कर उसे मुनि-दुर्लभ मुक्ति दी॥१७॥ देवता (भी) बहुत फूल बरसाते हैं और प्रभु के गुणों की कथा गा रहे हैं, श्रीरघुनाथजी ऐसे दीनबंधु हैं कि असुर को अपना पद दिया॥२७॥

विशेष—(१) 'कबहुँ निकट पुनि दूरि पराई।'—यह काम शरीर का है और—'कबहुँक प्रगटै कबहुँ छपाई।'—यह माया से कर रहा है। निकट आ जाता है कि निराश होकर लौट दूर भागता है कि कहीं यहीं पर न मार दें। इसी तरह आशा देने को प्रकट होता है और

जाता है। 'करत छल भूरी'—क्योंकि रावण ने कहा था—"होहु कपट-मृग तुम्ह छलकारी।" वही चरितार्थ कर रहा है। इसी तरह प्रभु को दूर ले जाना था, वही—'गयो ले दूरी।' से कहा गया है।

(२) 'तब तकि राम कठिन ·····'—'तब' अर्थात् जब जान लिया कि इतना दूर आने पर रावण का कार्य भली भाँति हो जायगा, तब—'कठिन सर'—जिससे न बच सके। 'घोर पुकारा'—चीत्कार के साथ कौन शब्द कहा, वही आगे कहते हैं—

(३) 'लछिमन कर प्रथमहि ·····'—प्रभु ने श्रीलक्ष्मणजी को श्रीसीताजी की रखवाली में रक्खा था, इसलिये पहले उन्हीं का नाम लिया कि जिससे वे घबड़ाकर चले आवें। यह भी श्रीरामजी के स्वर से मिलते आर्त्त-स्वर में कहा; यथा—"रघुवर दूरि जाइ मृग मारयो। लखन पुकारि राम हरए कहि मरतहूँ बैर सँभारयो॥ सुनहु तात! कोउ तुम्हहिं पुकारत प्राननाथ की नाईं।" (गी० आ० ६) छल के लिये श्रीलक्ष्मणजी का नाम लेकर पुकारा और मुक्ति के लिये मन में श्रीराम-नाम का स्मरण किया; यथा—"जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमौ मुकुत होइ श्रुति गावा॥" (दो० ३०); 'प्रान तजत प्रगटेसि···'—स्वामी का कार्य साधकर छल छोड़ दिया, वा बेहोशी में छल छूट गया, तो उसका निज शरीर प्रकट हो गया। 'सुमिरेसि राम···'—अब केवल स्नेह से श्रीराम-नाम का स्मरण किया।

(४) 'अंतर-प्रेम तासु···'—इसने तन से छल किया—कपट मृग बना, फिर वचन से भी छल किया—श्रीलक्ष्मणजी को नाम श्रीरामजी के स्वर में पुकारा। केवल मन शुद्ध है, उसी में प्रेम है, उसे ही श्रीरामजी ने पहचाना और मुनि-दुर्लभ गति दी। कहा ही है—"रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सय बार हिये की॥" (बा० दो० २८); "बचन बेष से जो बनै, सो बिगरै परिनाम। तुलसी मन सों जो बनै, बनी बनाई राम॥" (दोहावली १५४); इत्यादि चरितार्थ हैं। 'सुजाना'—मन की शुद्ध भावना जान लेने के कारण 'सुजान' कहा है; यथा—"स्वामि सुजान जानि सबही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की॥" (अ० दो० ३१६)।

(५) 'बिपुल सुमन सुर···'—'गुनगाथ'—उत्तरार्द्ध में कहा है कि असुर को भी अधमोद्धारणादि गुणों से प्रेरित हो निज पद दिया। असुर था, इससे गो-ब्राह्मण द्रोही और हिंसक था, वैसे को भी मुक्ति दी। 'दीनबंधु'—वह परमार्थ-साधन-संपत्ति से रंक एवं दीन था, उसके सहायक हुए।

मृग-चर्म के लिये भेजते हुए श्रीसीताजी ने जो-जो विशेषण दिये थे, वे सभी चरितार्थ हुए हैं—
देव—"तब रघुपति जानत सब कारन। उठे हरषि सुरकाज सँवारन॥"
रघुबीर—"खल बधि तुरत फिरे रघुबीरा।"
कृपाला—"निज पद दीन्ह असुर कहँ, दीनबंधु रघुनाथ।"
सत्यसंध—"तब तकि राम कठिन सर मारा। धरनि परेउ···"

प्रभु—चर्म भी लाये, आगे वही बिछाया गया है—"तापर रुचिर मृदुल मृगछाला।" (लं० दो० १०); पुनः—"हेम को हरिन हनि फिरे रघुकुल मनि लखन ललित कर लिये मृगछाला।" (गी० आ० ६)।

खल बधि तुरत फिरे रघुबीरा। सोह चाप कर कटि तूनीरा॥१॥
आरत गिरा सुनी जब सीता। कह लछिमन सन परम सभीता॥२॥

जाहु बेगि संकट अति भ्राता । लछिमन बिहँसि कहा सुनु माता ॥३॥
भृकुटि-बिलास सृष्टि लय होई । सपनेहु संकट परइ कि सोई ॥४॥
मरम बचन जब सीता बोला । हरि-प्रेरित लछिमन मन डोला ॥५॥
बन दिसि देव सौंपि सब काहू । चले जहाँ रावन ससि राहू ॥६॥

अर्थ—दुष्ट को मारकर रघुवीर श्रीरामजी तुरत लौटे, उनके हाथों में धनुष और कमर में तर्कश शोभा पा रहे हैं ॥१॥ जब श्रीसीताजी ने आर्त्त-वाणी सुनी, तब वे अत्यन्त डरकर श्रीलक्ष्मणजी से बोलीं ॥२॥ शीघ्र जाओ, भाई पर अत्यंत संकट है, श्रीलक्ष्मणजी ने हँसकर कहा—हे माता ! सुनिये ॥३॥ जिसकी भौं फिरने से सृष्टि का नाश होता है, क्या उसे स्वप्न में भी संकट पड़ सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं ॥४॥ जब श्रीसीताजी ने मर्म वचन कहा, तब प्रभु की प्रेरणा से श्रीलक्ष्मणजी का मन डाँवाँडोल (अस्थिर) हो गया ॥५॥ वन और दिशा के सब देवताओं एवं और पशु-पक्षी आदि सब प्राणियों को सौंपकर श्रीलक्ष्मणजी वहाँ को चले, जहाँ रावण रूपी चन्द्रमा को (ग्रसनेवाले) राहु श्रीरामजी थे ॥६॥

विशेष—(१) 'खल बधि तुरत ···'—ऊपर कहा गया कि इसने मरने तक वचन और तन से छल नहीं छोड़ा। इसीसे यहाँ लोग मुक्त होने पर उसे खल ही कहते हैं, श्रीरामकृपा से मुक्ति हो जाती है, पर कुनाम रहता है। 'तुरत फिरे'—क्योंकि उसके पुकारने के शब्दों से आश्रम पर छल होने की शंका हुई; यथा—"हा सीते ! हा लक्ष्मण ! ऐसा जोर से चिल्लाकर यह राक्षस मरा है, यह सुनकर श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी की क्या दशा हुई होगी ? यह सोचकर श्रीरामजी के रोएँ खड़े हो गये। वे दुखी एवं भयभीत हुए।···" (वाल्मी० ३।४४।२४–२६)। इसीसे शीघ्र ही फिरे। खल का वध किया, इससे 'रघुबीरा' कहा और इसीसे चाप, बाण एवं तर्कश का सोहना कहा गया।

(२) 'आरत गिरा सुनी जब सीता।···'—'आरत गिरा' अर्थात् त्राहि-त्राहि लक्ष्मण,· यथा—"त्राहि त्राहि दयालु रघुराई॥···—सुनि कृपालु अति आरत बानी।" (दो॰ १); "प्रनत पाल रघुबंस मनि, त्राहि त्राहि अब मोहि। आरत गिरा सुनत प्रभु अभय करैंगे तोहि॥" (लं॰ दो॰ २०); यह भी श्रीरामजी के-से स्वर में कहा, यथा "आर्त्तस्वरं तु तं भर्त्तुर्विज्ञाय सदृशं वने। उवाच लक्ष्मणं सीता गच्छ जानीह राघवं॥" (वाल्मी० ३।४५।१); 'परम सभीता'—भर्त्ता के शब्द हैं और अति संकट के हैं, यह समझकर देह काँपने लगी, रोएँ खड़े हो गये। 'संकट अति'—जब जान लिया कि वे तुम्हारी सहायता बिना नहीं बच सकते, तब ऐसे आर्त्त स्वर से पुकार की है ; अतः, शीघ्र जाओ।

(३) 'लछिमन बिहँसि कहा सुनु माता।'—'बिहँसना श्रीसीताजी की असंभव बात पर है, क्योंकि श्रीलक्ष्मणजी जानते हैं कि श्रीरामजी पर संकट नहीं पड़ सकता और ये शब्द भी श्रीरामजी के नहीं; किन्तु राक्षस मारीच के हैं; यथा—"न स तस्य स्वरो व्यक्तं न कश्चिदपि दैवतः॥ गंधर्वनगरप्रख्या माया तस्य च रक्षसः।" (वाल्मी ३।४५।१६–१७), इनके हँसने पर श्रीसीताजी बुरा न मानें इसलिये'माता' कहा है।

(४) 'भृकुटि बिलास सृष्टि···' भौंह के इशारे मात्र से संसार भर नाश हो जाता है, तब उनके शरीर के बल का क्या कहना है ? यथा—"भृकुटि भंग जो कालहि खाई। ताहि कि सोहै ऐसि लराई॥" (लं॰ दो॰ ६४)। इस एक ही अर्द्धाली में वाल्मी० ३।४५।१०-१५ के भावों से अधिक भाव कह दिया गया।

(५) 'मरम वचन जब सीता बोला। ...'—मर्म वचन वाल्मी० ३।४५।२१-२७ में लिखे गये हैं, यहाँ श्रीगोसाईंजी ने उन्हें लिखना नहीं चाहा, इसीसे शब्द की ध्वनि मात्र से जना दिया कि श्रीलक्ष्मणजी के हँसने पर उन्होंने और भाँति की तर्कना की कि भर्त्ता के दुःख में इसे हर्ष हुआ, तो यह अवश्य उनका अनिष्ट चाहता है। मर्म वचन के शब्द से भी जनाया है कि वे वचन श्रीलक्ष्मणजी के कानों में बाण की तरह लगे हैं और हृदय में घाव कर दिये हैं, यथा—"न सहे हीदृशं वाक्यं वैदेहि जनकात्मजे॥ श्रोत्रयोरुभयोर्मध्ये तप्तनाराच संनिभम्।" (वाल्मी० ३।४५।३०-३१); उन परुष वचनों से श्रीलक्ष्मणजी के रोएँ खड़े हो गये; यथा—"इत्युक्तः परुषं वाक्यं सीतया रोमहर्षणम्।" (वाल्मी० ३।४५।२७), 'सीता बोला'—इन दिनों हिन्दी में 'बोलना' क्रिया के साथ ने चिह्न का प्रयोग नहीं है। परन्तु श्रीगोसाईंजी के प्रयोग 'सीता बोला' पर विचार करने से हिन्दी का उपर्युक्त नियम कट जाता है। यहाँ श्रीरामचरितमानस में 'ने' का प्रयोग कहीं भी नहीं मिला है, परन्तु इस जगह (जब श्रीसीताजी ने मर्म वचन बोला) यह ध्वनि निकलती है कि उस समय 'बोलना' में ने चिह्न का प्रयोग होता था। अभी भी कतिपय विद्वानों के लेखों में 'ने' का प्रयोग दीख पड़ता है। जैसे—श्रीरामचन्द्रजी ने झूठ नहीं बोला (रामजीलाल शर्मा), उन्होंने कभी झूठ नहीं बोला (बाल-विनोद); उसने कई बोलियाँ बोलीं। (पं० अ० प्र० वाजपेयी)।

'हरि-प्रेरित लछिमन मन डोला।'—प्रभु ने दृढ़ता-पूर्वक आज्ञा दी थी कि श्रीसीताजी की रखवाली करना और उन्हें श्रीरामजी की प्रभुता पर भी दृढ़ विश्वास था, तब क्यों गये ? वहीं पर आस-पास छिपे रहते—ऐसी शंका जो कोई करे, तो उसका यहाँ समाधान है कि स्वयं श्रीलक्ष्मणजी ने स्वामी की आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया, किन्तु लीलानुरोध से भगवान् ने ही उनसे ऐसा कराया। पुनः यह भी भाव है कि भक्तों पर औरों की माया नहीं लगती, प्रभु ही प्रेरणा करके उनसे कुछ भी कराते हैं। 'मन डोला'—प्रभु की आज्ञा पर अटल थे, उससे चलायमान हो गये। श्रीसीताजी को छोड़कर श्रीरामजी के पास जाने की इच्छा हुई।

(६) 'बन दिसि देव सौंपि ...'; यथा—"रक्षन्तु त्वां विशालाक्षि समग्रा वनदेवताः।" (वाल्मी० ३।४५।३४); श्रीरामजी ने आज्ञा दी थी—"सीता केरि करेहु रखवारी। बुधि बिबेक बल समय बिचारी॥" (दो० २६); समय पर इन्होंने वैसा ही किया भी; यथा—"बन दिसि देव सौंपि ..." में बुद्धि से रक्षा करना, "भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई।..."—में विवेक से और रेखा के भीतर श्रीसीताजी को रखना; यथा—"रामानुज लघुरेख खँचाई। सोउ नहिं लाँघेउ असि मनुसाई॥" (लं० दो० ३५); यह बल से रक्षा करना है।

शंका—तब बन और दिशा के देवताओं ने क्यों न रक्षा की ? यदि रावण से असमर्थ थे, तो श्रीलक्ष्मणजी ही को क्यों न जना दिया ? कि वे बीच से ही लौटकर बचा लेते और प्राणियों ने कुछ न किया ?

समाधान—देवता लोग रावण का सपरिवार नाश कराना चाहते थे। अभी कहते, तो केवल रावण ही मारा जाता, और चराचर प्राणी उससे डर गये।

(७) 'चले जहाँ रावन ससि राहू।'—रावण को चन्द्रमा कहा है, क्योंकि चन्द्रमा भी 'निशि चर' है और रावण की तरह 'कुल-कलंक' भी है; यथा—"रिपि पुलस्तिजस बिमल मयंका। तेहि ससि महँ जनि होहु कलंका॥" (सु० दो० २३); तथा—"दिन मलीन सकलंक" (बा० दो० २३७)। चन्द्रमा गुरु-तिय-गामी है, वैसे यह भी जगज्जनी का हरनेवाला है। पूर्ण चन्द्र को राहु ग्रसता है, वैसे ही अब

रावण का भी भोग पूरा हो गया। अतः इसे श्रीरामजी नाश करेंगे। राहु का अपराध पहले चन्द्रमा ने किया था, वैसे ही श्रीरामजी का अपराध रावण कर रहा है। इसीके फल-रूप में मारा जायगा।

सूर्य को भी राहु ग्रस लेता है, पर उसकी उपमा न दी, क्योंकि उपर्युक्त धर्म न आते और यह विरोध भी होता कि सूर्य-कुल के सूर्य श्रीरामजी ही इसे मारेंगे और इसका तेज हरेंगे ; यथा—"तासु तेज समान प्रभु आनन।" (लं० दो० १०१), सूर्य चन्द्रमा की छवि हरते हैं ; यथा—"प्रभु प्रताप रवि छबिहि न हरिही।" (अ० दो० २०८), "ससि छवि हर रवि ··" (दोहावली ३२३)।

सून बीच दसकंधर देखा। आवा निकट जती के बेखा ॥७॥
जाके डर सुर-असुर डेराहीं। निसि न नींद दिन अन्न न खाहीं ॥८॥
सो दससीस स्वान की नाईं। इत उत चितइ चला भड़िहाईं ॥९॥
इमि कुपंथ पग देत खगेसा। रह न तेज तन बुधि बल लेसा ॥१०॥

शब्दार्थ—सून (शून्य)=सूना, एकान्त, वा शून्याकार (०) की रेखा। बीच=अवसर, मौका।

अर्थ—इसी अवसर पर सूना आश्रम देखकर रावण यती के वेष में समीप आया ॥७॥ जिसके डर से देवता दैत्य डरते हैं, रात में नींद नहीं पड़ती और दिन में अन्न नहीं खा पाते ॥८॥ वही दस शिर-वाला रावण कुत्ते की तरह इधर-उधर ताकता हुआ चोरी के लिये चला ॥९॥ हे पक्षिराज गरुड़ ! इसी तरह कुमार्ग में पैर रखते ही तन में तेज, बुद्धि और बल लेश मात्र भी नहीं रह जाते ॥१०॥

विशेष—(१) 'सून बीच दसकंधर देखा'—देखा कि दोनों भाई अब दूर निकल गये, आश्रम पुरुषों से शून्य है। अतः, हरण करने का अवसर है, यथा—"सठ सूने हरि आनेहि मोही।" (सुं० दो० ८); वा, शून्य (०)=रेखा के बीच में देखा। अतः, उसमें से बाहर निकालने के लिये यति-वेष में आया ; यथा—"स व्याहरद्धर्मिणि देहि भिक्षामलंघयल्लक्ष्मणलक्ष्मलेखाम्। जग्राह ··" (हनुमन्नाटक अ० ४); अर्थात् रावण के भिक्षा माँगने पर श्रीसीताजी ने श्रीलक्ष्मणजी के धनुष के द्वारा चिह्नित रेखा का उल्लंघन किया, त्योंही रावण ने उनका हरण किया। तथा—"रामानुज लघु रेख ··" ऊपर कहा गया है। 'दसकंधर देखा'—अर्थात् दसों दिशाओं में दसों ग्रीवाओं को उठाकर देखता था। इससे यह भी जाना गया कि वह सूक्ष्म रूप से छिपा हुआ, कहीं पास से ही श्रीलक्ष्मणजी का रेखा-खींचना आदि सब देखता था और इसीसे वह श्रीसीताजी को वहाँ से निकालने के लिये यती बनकर आया कि भिक्षा माँगूँगा और रेखा के भीतर की भिक्षा को बँधी भिक्षा कहकर न लूँगा, तब वे बाहर निकलेंगी। और तप पर सन्देह से बाहर न होंगी। पुनः जिस कल्प में जलंधर रावण हुआ, उसमें वृंदा का भगवान् के प्रति ऐसा शाप भी था कि तुमने हमको यती-रूप से छला है। अतः, इसी वेष से हमारा पति भी तुम्हारी स्त्री को हरेगा।

(२) यती का वेष ; यथा—"श्लक्ष्णकाषायसंवीतः शिखी छत्री उपानही। वामे चांसेऽवसज्याथ शुभे यष्टिकमण्डलू॥ परिव्राजकरूपेण वैदेहीमन्ववर्तत।" (वाल्मी० ३।४६।२-४); अर्थात् उज्ज्वल काषाय (गेरुआ) वस्त्र पहने हुए था, शिर पर शिखा थी, छाता और जूता धारण किये हुए था। बाएँ कंधे पर उत्तम दंड और कमंडलु धारण किये हुए था। संन्यासी के रूप में वह श्रीसीताजी के पास गया। पुनः महाभारत वन-पर्व अ० २७९ में इसका यति वेष धारण करने में त्रिदंड-धारण करना भी लिखा है। इससे वैष्णव-संप्रदाय के संन्यासी सनातन से होते आ रहे हैं। कुछ श्रीरामानुजाचार्य प्रभृति आचार्यों से ही

इस प्रथा का मानना भारी भूल है। इससे भी पहले सत्ययुग में भी ध्रुव-प्रह्लादजी को मंत्र दीक्षा की प्राप्ति सुनी जाती है। श्रीरामतापनीयोपनिषद् में भी कहा है; यथा—"मुमूर्षोर्दक्षिणे कर्णे यस्य कस्यापि वा स्वयं। उपदेक्ष्यसि मन्मंत्रं स मुक्तो भविता शिव ॥" यह श्रीरामजी ने कहा है ; इत्यादि बहुत प्रमाण हैं।

(३) 'जाके डर सुर असुर डेराहीं।'—सुर से स्वर्ग और असुर से पाताल को कहा, मर्त्यलोक नहीं कहा गया। क्योंकि देवता और दैत्यों के समक्ष में नर की कोई गिनती ही नहीं ; यथा—"जितेहु सुरासुर तब श्रम नाहीं। नर बानर केहि लेखे माहीं ॥" (सुं० दो० २६)।

(४) 'सो दससीस स्वान की नाईं।···'—कुत्ते की चोरी को भँड़िहाई कहते हैं, वह चोरी करने चलता है, तो इधर-उधर भय से ताकता रहता है। रावण यती के वेष में कुत्ते का-सा काम करता है, इससे इसकी कीर्त्ति नष्ट हो जायगी और विजय न होगी ; यथा—"सादूल को स्वाँग करि कूकर की करतूति। तुलसी तापर चहत हैं, कीरति विजय विभूति ॥" (दोहावली ४१२)।

(५) 'इमि कुपंथ पग देत······'—'कुपंथ'—श्रीसीताजी की चोरी करना कुमार्ग पर चलना है; यथा—"रे त्रिय चोर कुमारग गामी।" (लं० दो० ३१), इससे रावण का तेज नाश हुआ, इसीसे डरता हुआ वह चोर की तरह जा रहा है; यथा—"सो दससीस स्वान की "। बल का नाश, यथा—"जानेउँ तव बल अधम सुरारी। सूने हरि आनेहि पर नारी ॥" (लं० दो० २६) ; बुद्धि का भी नाश हो गया, क्योंकि समझता है कि श्रीसीताजी का कोई पता ही न पावेगा; पुनः श्रीरामजी राजकुमार ही तो हैं, पता लेकर जायँगे भी तो उन्हें जीत लूँगा।

बुद्धि, बल और तेज के नष्ट हो जाने से इसे विजय नहीं मिल सकती ; यथा—"बुधि बल सकिय जीति जाही सों।"(लं० दो० ५),"देखि बुद्धि बल निपुन कपि, कहेउ जानकी जाहु।" (सुं० दो० १७ ; रावण प्रतापी राजा था, पर इस हीन कर्म से उसके तेज और बल नष्ट हो गये; अतः, चोर की तरह जा रहा है।

नाना बिधि करि कथा सुहाई। राजनीति भय प्रीति देखाई ॥११॥
कह सीता सुनु जती गोसाईं। बोलेहु बचन दुष्ट की नाईं ॥१२॥
तब रावन निज रूप देखावा। भई सभय जब नाम सुनावा ॥१३॥

अर्थ—अनेक प्रकार की सुन्दर कथाएँ रचकर कहीं, राजनीति, भय और प्रीति दिखाई ॥११॥ श्रीसीताजी ने कहा—हे यती गोसाईं! सुनो, तुम दुष्ट की तरह वचन बोल रहे हो ॥१२॥ तब रावण ने अपना रूप दिखाया और जब नाम भी सुनाया, तब वे डर गईं ॥१३॥

विशेष—(१) 'नाना बिधि करि ·····'—'कथा सुहाई' से शृंगार रस की कथाएँ सूचित कीं। श्रीसीताजी के अंगों की शोभा कही, फिर प्रेमी और प्रेमिकाओं की कथाएँ कहीं। फिर इन्हें राज्य-सुख भोग का प्रलोभन दिया।

(२) 'राजनीति भय प्रीति दिखाई।'—राजनीति की दृष्टि से राज्य मात्र का रत्न राजा का होता है। तुम स्त्रियों में उत्तम रत्न हो, इससे तुम्हारे पास हम आये हैं, हमारे साथ चलो। तुम्हारे भर्त्ता नीति नहीं जानते, तभी तो वहाँ राज्य से च्युत हो गये, तब वन आये। यहाँ भी तुम्हें अकेली छोड़कर चले गये, इत्यादि। भय—यह तो निशाचरों का स्थान है, यहाँ तुम्हारे लिये भ[illegible] ँ बाघ, सिंह

आदि भयंकर जीव रहते हैं। अतः, यह तुम्हारे रहने योग्य नहीं है। प्रीति—तुम तो राजमहलों में रहने के योग्य हो, चलकर हमारी लंका की स्वामिनी बनो। वहाँ का राज्य-तिलक पाकर हमारे साथ सुशोभित होओ, हमारी सब स्त्रियाँ तुम्हारी दासियाँ बनकर रहेंगी, हम सब प्रकार से रक्षा करेंगे, इत्यादि दोनों दिखाया; यथा—"भय अरु प्रीति नीति देखराई।" (कि० दो० १८)।

(३) 'कह सीता सुनु जती······'—'गोसाईं' अर्थात् यती तो इन्द्रियजित होते हैं, उनको तो पर-स्त्रियों में माता का भाव रहता है; पर तुम तो दुष्टों के-से वचन कह रहे हो। श्रीसीताजी साधु को इतना मानती हैं कि उसके दुष्ट वचन सुनकर भी वेष की मर्यादा रखती हुई उसके वचन-मात्र को 'दुष्ट के-से' कहती हैं, यह भी नहीं कहा कि तू दुष्ट है।

(४) 'तब रावन निज रूप ······'—जब हमारे यती-रूप के कारण से हमारे वचन को अयोग्य मानती हो, तब अब हम अपना वास्तविक रूप प्रकट करते हैं, इसे ग्रहण करो। इस रूप से हम तीनों लोक के राजा हैं। 'भई सभय जब नाम सुनावा'—नाम सुनने से अधिक भय हुआ, क्योंकि इसके नाम और दुष्टता को सुन चुकी थीं। इसका नाम रूप की अपेक्षा अधिक भयंकर भी था; यथा—"सीधैं श्रवन सुने नहिं मोहीं। देखउँ अति असंक सठ तोहीं॥" (सु० दो० १०)।

कह सीता धरि धीरज गाढ़ा। आइ गयउ प्रभु खल रहु ठाढ़ा॥१४॥
जिमि हरि बधुहि छुद्र सस चाहा। भयेसि कालबस निसिचर-नाहा॥१५॥
सुनत बचन दससीस रिसाना। मन महँ चरन बंदि सुख माना॥१६॥

दोहा—क्रोधवंत तब रावन, लीन्हिसि रथ बैठाइ।
चला गगन-पथ आतुर, भय रथ हाँकि न जाइ॥२८॥

अर्थ—श्रीसीताजी ने विशेष धैर्य धारण कर कहा कि अरे दुष्ट! खड़ा रह, प्रभु आ गये॥१४॥ सिंह की स्त्री को चाहनेवाले खरगोश के जैसे तुच्छ निशाचरराज! तू काल के वश हुआ है॥१५॥ वचन सुनते ही रावण क्रुद्ध हुआ, पर मन में चरणों की वंदना करके सुखी हुआ॥१६॥ तब क्रोध से भरे हुए रावण ने उन्हें रथ में बैठा लिया और वह आकाश-मार्ग से शीघ्रता एवं व्याकुलता के साथ चल दिया, भय के मारे उससे रथ हाँका नहीं जाता था॥२८॥

विशेष—(१) 'कह सीता धरि धीरज गाढ़ा।'—उसके रूप और नाम से अत्यंत डर गई हैं, इसीसे बहुत भारी धैर्य धरने पर बोल सकीं। 'आइ गये प्रभु'—अर्थात् तुम्हें दंड देने में वे पूर्ण समर्थ हैं। रावण ने इन्हें भय दिखाया था; यथा—"राजनीति भय प्रीति देखाई।" वैसे ये भी उसे भय दिखाती हैं; या—"आइ गये प्रभु ··" इसका प्रभाव भी पड़ा—"भय रथ हाँकि न जाइ।" तुरत कहा है। 'खल रहु ··'—साधु वेष छोड़ने पर अब उसे खल कहती हैं।

(२) 'जिमि हरि बधुहि छुद्र सस ···'—प्रभु कैसे दंड दे सकते हैं, यही दिखा रही हैं कि सिंह की स्त्री के चाहने पर खरगोश की जैसी दुर्दशा हो, वैसी ही तेरी दशा होगी। श्रीसीताजी ने पहले भी कहा था—"को प्रभु सँग मोहि चितवनिहारा। सिंह बधुहि जिमि ससक सियारा॥" (अ० दो०

६१); उन्हीं बातों को अवसर पर यहाँ भी कहा। 'निसिचर-नाहा'—भाव यह कि तू स्वजनों एवं आश्रितों के साथ नाश होगा; यथा—"काल राति निसिचर कुल केरी। तेहि सीता पर प्रीति घनेरी॥" (सुं० दो० ३१), "तव कुल कमल बिपिन दुखदाई। सीता सीत निसा सम आई॥" (सुं० दो० ३५)।

(३) 'सुनत बचन दससीस रिसाना।···'—श्रीसीताजी ने श्रीरामजी को 'सिंह' और इसे 'क्षुद्र शश' कहा। इस वचन पर उसे क्रोध हुआ; यथा—"आपुहि सुनि खद्योत सम, रामहि भानु समान। परुष बचन सुनि काढ़ि असि, बोला अति खिसियान॥" (सु० दो० ६); रावण मानी है, इससे मान-हानि पर उसे क्रोध हुआ।

(४) 'मन महुँ चरन बंदि सुख माना।'—श्रीसीताजी के पातिव्रत्य पर चकित होकर रावण ने मानसिक प्रणाम किया कि पतिव्रता को अपने धर्म का ऐसा ही गर्व होना चाहिये। यह—"डाटे पै नव नीच।" (सुं० दो० ५८); की रीति का प्रणाम है। मान-भंग की लज्जा से किया हुआ प्रणाम है। भक्ति-भाव का नहीं, क्योंकि सुष्ठु हृदय एवं भक्ति से प्रणाम करता, तो फिर देवी की शरण होकर क्षमा माँगता। तुरत ही क्रोध और भय कैसे होते? ये सकामता-विना नहीं हो सकते। आगे भी श्रीसीताजी को शिर काटने की धमकी देगा। पुनः श्रीरामजी से जीतने के लिये यज्ञ भी करेगा। सेतु-बंधन सुनकर घबड़ा गया, इत्यादि बहुत से मानसिक विकार हुए, जिससे उसकी मानसिक भक्ति खंडित हो जाती है।

(५) 'क्रोधवंत तब रावन, लीन्हेसि रथ···'—किस तरह रथ में बैठाया, इस विषय में मतभेद है, सर्वमत रखते हुए यहाँ रथ में बैठाना ही कहा गया है। 'भय रथ हाँकि न जाइ'—श्रीसीताजी ने कहा था—'आइ गयउ प्रभु···" उसीका भय है; यथा—"भय बस अगहुड़ परइ न पाऊ।" (अ० दो० २४); डर से सर्वांग शिथिल पड़ गये, हाथ काम नहीं देते। रथ यहाँ पहले न था, समय पर स्मरण करके मायामय रथ मँगा लिया; यथा—"स च मायामयो दिव्यः खरयुक्तः खरस्वनः। प्रत्यदृश्यत हेमाङ्गो रावणस्य महारथः॥" (वाल्मी० ३।४९।१६)।

सीता-हरण के हेतु

भगवान् के चरित के अनेक हेतु होते हैं। उनकी ही कृपा से सब कोई यथा-मति अनुमान करते हैं। श्रीसीताजी श्रीरामजी की आदि शक्ति हैं, तत्त्वतः उनसे अभिन्न हैं। माधुर्य में दोनों पति-पत्नी-भाव से विराजमान् हैं। वास्तविक दृष्टि से आप दोनों में कभी वियोग होता ही नहीं। पर नर-नाट्य में इन सती-शिरोमणि का भी हरण होता है और वियोग में श्रीरामजी रोते हैं, इत्यादि। यह चरित जान-बूझकर किया भी जाता है; यथा—"तब रघुपति जानत सब कारन। उठे हरषि सुर काज सँवारन॥" (दो० २६); वाल्मीकीय रामायण में भी श्रीलक्ष्मणजी ने बार-बार चेताया है कि यह मारीच की माया है, श्रीरामजी ने भी अपना जानना स्पष्ट कर दिया है। इस ग्रंथ में श्रीसीताजी से भी ऐकान्तिक-सम्मत करना स्पष्ट है। वाल्मी० सुं० सर्ग २२ में श्रीसीताजी ने रावण से कह भी दिया है कि मैं अपने तेज से तुझे जला सकती हूँ, पर श्रीरामजी की आज्ञा नहीं है, इत्यादि। तब हरण-लीला के कौन हेतु हैं? इसपर कुछ हेतु लिखे जाते हैं—

(क) दंडकवन के ऋषियों ने शरणागति की और अपने दुःख सुनाये। इसपर श्रीरामजी ने राक्षसों के वध की प्रतिज्ञा की, वाल्मी० ३।६।२५ तथा मानस में भी "भुज उठाय पन कीन्ह" कहा है। इसपर वाल्मी० अ० सर्ग ९ में—' श्रीसीताजी ने श्रीरामजी से कहा कि मनुष्यों को इच्छा से उत्पन्न तीन दोष होते हैं—एक तो मिथ्या वचन, पुनः इससे भी बड़े दो और हैं—पर-स्त्री में भार्या का भाव और बिना विरोध

के क्रूर कर्म करना। इनमें मिथ्या-भाषण और पर-स्त्री की चाह तो आपमें स्वप्न में भी नहीं है, पर तीसरे का संयोग आ बना है, जो आपने राक्षसों के वध की प्रतिज्ञा की है। राक्षस लोगों ने आपका अपराध नहीं किया, फिर भी उन्हें मारेंगे, तो आपका चरित्र दूषित होगा। अतः, आपका शस्त्र साथ रखना ही ठीक नहीं, तपस्वि-वेष के साथ यह अनुचित है, इसपर आपने एक इतिहास कहा। तब श्रीरामजी ने यही कहा कि मैं शस्त्रास्त्र साधुओं की रक्षा के लिये रखता हूँ कि वे दुःखद वचन सुनावें, तो इनसे उनकी रक्षा करूँ और इसीपर मैंने प्रतिज्ञा कर ली, अब उसे छोड़ नहीं सकता, इत्यादि"।

तब श्रीसीताजी ने हृदय से निश्चय किया कि ऐसा संघटन हो कि राक्षस लोग मेरा हरण करें और इससे दोषी बनें, क्योंकि परस्त्री-हरण आततायीपन है। फिर मुझे न छोड़ने के विचार से युद्ध का सामना करके लड़ेंगे तब मारे जाने पर भर्ता का यश निर्मल रहेगा। इसलिये जान-बूझकर श्रीमहारानीजी ने यह लीला की है।

इसी तरह दूसरी बार वाल्मीकि-आश्रम में जाने की लीला भी विस्तृत चरित निर्माण के लिये ही हुई है। क्योंकि लंका-विजय करके श्रीरामजी आये और १०००० वर्ष तक उन्होंने राज्य किया, तबतक तो किसीने कुछ नहीं कहा। पीछे श्रीसीताजी ने ही यह हेतु भी रच लिया कि पहले आपने श्रीरामजी से ऋषि-आश्रम को जाने और उनकी पूजा करने का वर माँग लिया और फिर श्रीरामजी जब बाहर आये, तब सखाओं से श्रीसीताजी के विषय में यह निंदा सुनी। जिससे उन्हें वन भेजा और वाल्मीकि के ही आश्रम में पहुँचाया। श्रीवाल्मीकिजी का इनमें पुत्री-भाव था। बिना कारण इनका दूषित होना और इनका रोना सुनकर वे न सह सके, तब उन्होंने ध्यानात्मक सारा चरित रचा। श्रीसीताजी के लंका रहने मात्र के चरित की सफाई देते तो लोग अपूर्ण ही समझते। इसलिये जो चरित पुरजनों ने देखा है उसे भी लिखा कि इसी तरह परोक्ष के चरित को भी सत्य जानें। इसीसे सम्पूर्ण चरित्र को सीता-चरित ही कहा है; यथा—"कृत्स्नं रामायणं काव्यं सीतायाश्चरितं महत्॥" (वाल्मी० १।४।७); क्योंकि श्रीसीताजी की शुद्धता प्रकट करने के लिये सब रचा गया है। बारह वर्ष में रचा गया, क्योंकि शत्रुघ्नजी मथुरा गये, तब प्रारंभ हुआ था और फिर १२ वर्ष बाद लौटे तब पूरा हुआ था। उसी बीच लव-कुश का यज्ञोपवीत होने पर उन्हें ही वह पढ़ाया गया। फिर यज्ञ में जहाँ संसार-भर के लोग एकत्रित थे वहाँ श्रीवाल्मीकिजी गये। बाहर ही रहते हुए बालकों से पहले नगर में गान कराया गया। तब पीछे राजा श्रीरामजी के यहाँ यह गान हुआ, उसे सभी ने सत्य माना। ब्रह्माजी ने भी आकर साक्षी दी कि इस रामायण के चरित अक्षरशः सब सत्य हैं; बस, वहीं पर श्रीसीताजी अपनी लीला का उपसंहार करती हैं। जबतक पृथिवी रहेगी, यह श्रीरामजी की कीर्ति भी अचल रहेगी, इसीके पठन-पाठन से संसार तरेगा, यह कृपामयी देवी के कृपासमुद्र की एक तरंग है।

(ख) रावण ने देव, यक्ष, गंधर्व आदि की कन्याओं को बलात् ला-लाकर उनसे विवाह किया। कितनी वहाँ कैद थीं। देवताओं ने बार-बार प्रभु के समक्ष दुःख रोये। उन देवियों की दारुण विपत्ति छुड़ाने के लिये करुणावश श्रीसीताजी ने उनकी सान्त्वना के लिये स्वयं भी कैद होना स्वीकार किया और फिर सबको मुक्त कराया।

(ग) रामायण में तीन जगह भागवतापराधों का होना और उनके कराल दंड लिखे गये हैं। (१) विभीषणजी को रावण ने लात मारी और उसके फलरूप में सपरिवार वह मारा गया; यथा—"तौ लौं न दाप दल्यो दसकंधर जौं लौं बिभीषन लात न मार्यो।" (क० उ० ३)। (२) लंका में राक्षसों ने हनुमानजी के बाँधे जाने पर उन्हें लातें मारी हैं। रावण ने तो तेलबोर पट बाँधकर आग लगाने एवं नगरमें फिराने को ही कहा था। उसके फल में उसके सोने के भी घर-बार राख कर दिये गये। (३)

यहाँ स्वयं श्रीमहारानीजी ने यह कार्य करके स्वयं उसका फल भोगा और संसार को शिक्षा दी। परम भागवत श्रीलक्ष्मणजी को जो अत्यन्त अयोग्य वचन कहा, उसके परिणाम में कठिन वियोग का महान् दु:ख भोगा।

हा जगदेक बीर रघुराया। केहि अपराध बिसारेहु दाया ॥१॥
आरति-हरन सरन-सुख-दायक। हा रघुकुल-सरोज-दिननायक ॥२॥
हा लछिमन तुम्हार नहि दोषा। सो फल पायउँ कीन्हेउँ रोषा ॥३॥
बिबिध बिलाप करति बैदेही। भूरि कृपा प्रभु दूरि सनेही ॥४॥
बिपति मोरि को प्रभुहि सुनावा। पुरोडास चह रासभ खावा ॥५॥
सीता कै बिलाप सुनि भारी। भये चराचर जीव दुखारी ॥६॥

शब्दार्थ—पुरोडास = हवि, यज्ञ का भाग, यज्ञ से बचा हुआ हवि का अवशिष्ट।

अर्थ—हा जगत् के एक ही (अद्वितीय) वीर रघुराज! किस अपराध से (आपने) दया भुला दी ॥१॥ हे आर्त्ति (दु:ख) हरनेवाले! हे शरणागत के सुख देनेवाले! हा रघुकुल कमल के सूर्य! हा लक्ष्मण! तुम्हारा दोष नहीं, मैंने क्रोध किया उसका फल पाया ॥२–३॥ वैदेही श्रीसीताजी अनेक प्रकार से विलाप कर रही हैं—कृपा के समूह और स्नेही प्रभु दूर निकल गये ॥४॥ मेरी विपत्ति उन प्रभु को कौन सुनावेगा? यज्ञ की हवि (खीर) को गधा खाना चाहता है ॥५॥ श्रीसीताजी का भारी विलाप सुनकर स्थावर-जंगम (जड़ चेतन) सभी जीव दुखी हो गये ॥६॥

विशेष—(१) 'हा जगदेक बीर······'; यथा—"हा राम हा रमण हा जगदेक वीर हा नाथ हा रघुपते किमुपेक्षसे माम् ॥" (हनुमन्नाटक अं० ४; 'जगदेक बीर'—यह धनुर्भंग और जयंत-प्रसंग एवं खरदूषण-वध में आँखों से देखकर कह रही हैं। किंचित् अपराध मेरा किया, उसपर तो जयंत को तीनों लोकों में शरण न मिली। वही मैं हूँ और आप वही वीर हैं, फिर अब मुझे क्यों नहीं बचाते? यह बात स्पष्ट रूप में श्रीहनुमान्जी से आपने सुंदरकाण्ड में कही है। 'रघुराया'—रघु महाराज के पराक्रम को रावण भी मान गया था और आप तो उस कुल के शिरमौर हैं; अत:, मेरी रक्षा कीजिये।

(२) 'आरति हरन······'—आप आर्त्ति-हरण हैं, मैं आर्त्त हूँ। आप शरणागत को सुख देनेवाले हैं; मैं शरणागत हूँ। आप रघुकुल-कमल के सूर्य हैं, मेरे-हरण से कुल संकुचित हो जायगा। अत:, अपने कुल को शीघ्र बचाइये और उसे प्रफुल्लित कीजिये। पहले 'केहि अपराध' कहा, अब स्वयं अपराध मानती हैं—

(३) 'हा लछिमन······'—यहाँ श्रीलक्ष्मणजी को निर्दोष बना अपना दोष मानकर फिर क्षमा चाहती हैं कि मैंने जो क्रोध किया था, उसका फल पाया; यथा—"कहे कटु बचन रेख लाँघी मैं तात छमा सो कीजै। परी बधिक बस राजमरालिनि लषनलाल छिनि लीजै ॥" (गी० आ० ७); "हा लक्ष्मण महाबाहो गुरुचित्तप्रसादक। ह्रियमाणां न जानीषे रक्षसा कामरूपिणा ॥" (वाल्मी० ३।४९।२९)।

(४) 'बिबिध बिलाप करति बैदेही।······'; यथा—"बिलपति भूरि बिसूरि दूरि गये मृग सग परम सनेही।" (गी० आ० ७); 'बैदेही' अर्थात् देह सुधि जाती रही। 'भूरि कृपा प्रभु'—आप सुन पाते तो अवश्य रक्षा करते, क्योंकि भूरि कृपावान् हैं और स्नेही हैं, पर आप दूर पड़ गये।

(५) 'बिपति मोरि को प्रभुहि ···'—'को' से यहाँ उनपर तात्पर्य है जिन्हें श्रीलक्ष्मणजी सौंप गये हैं; यथा—"बन दिसि देव सौंपि सब काहू।" इसे गी० आ० ७ में स्पष्ट किया है ; यथा—"बन देवनि सिय कहन कहति यों छल करि नीच हरी हौं। गोमर कर सुरधेनु, नाथ ! ज्यौं, त्यों पर-हाथ परी हौं॥" तथा—"दैवतानि च यान्यस्मिन्वने विविधपादपे। नमस्करोम्यहं तेभ्यो भर्त्तुः शंसत मां हृताम्॥ यानि कानिचिदप्यत्र सत्त्वानि विविधानि च। सर्वाणि शरणं यामि मृगपक्षिगणानपि॥" (वाल्मी० ३।४९।३२-३३); 'पुरोडास चह ··· '—इन्द्र का हवि-भाग गदहा चाहता है, पर पा नहीं सकता, चाहे मर भले ही जाय। वैसी ही रावण की गति होगी।

इन पाँच अर्द्धालियों में श्रीसीताजी का विलाप कहा गया। आगे—"हा गुन खानि···" से "मनहुँ महा बिरही अति कामी॥" तक की दस अर्द्धालियों में श्रीरामजी का विलाप कहा गया है। कारण यह है, इनके प्रेम के जाननेवाले एक श्रीरामजी ही हैं; यथा—"तत्त्व प्रेमकर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥" (सुं० दो० १४); सच्चा प्रेम प्रेम-पात्र के हृदय को दहला देता है, चाहे वह कितनी ही दूर क्यों न हो ? प्रेमी और प्रेम-पात्र अन्योन्याश्रित हैं, यह यहाँ चरितार्थ है, श्रीसीताजी की विरह-व्याकुलता पर श्रीरामजी उनसे दूना व्याकुल होते हैं। इनका 'बैदेही' शब्द से बेसुध होना कहा गया है, तो वहाँ 'लता तरु पाती' एवं 'खग मृग' से महा बिरही एवं प्रमत्त की तरह पूछना कहा है। महा स्त्रैण की तरह इनके रूप-गुण आदि का बखान करते और विलाप करते हैं। इससे—"तुम्ह ते प्रेम राम कर दूना।" (सुं० दो० १४); यह वचन चरितार्थ हुआ है।

भगवान् का श्रीमुख-वचन है—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११); अर्थात् भक्त लोग हमारे प्रति जितना व्याकुल होते हैं हम भी उनके लिये उतना ही व्याकुल होते हैं तथा—"तुलसी प्रभु सुभाव सुर तरु सों ज्यों दर्पन मुख कान्ति॥" (वि० ११३); परन्तु प्रेम-व्याकुली के प्रति तो श्रीरामजी दूने व्याकुल होते हैं, यह यहाँ पर भक्तों को दिखाया है। इस 'ललित नर लीला' से वियोग-शृंगार का यथार्थ भाव दिखाया है जो कि भक्ति का एक मुख्य अंग है।

(६) 'सीता कै बिलाप सुनि······'—जैसे श्रीरामजी के वियोग में चराचर का दुखी होना कहा गया था; यथा—"बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं।···हय गय कोटिन्ह केलि मृग···राम बियोग बिकल सब ठाढ़े।" (अ० दो० ८३); वैसे ही यहाँ श्रीजानकीजी के वियोग में भी चराचर का दुखी होना है। क्योंकि आप दोनों तत्त्वतः एक हैं और सबकी आत्मा हैं ; यथा—"अंतरजामी राम-सिय ···" (अ० दो० १५६); इससे इनका विरह सबको व्याप गया।

शंका—अचर जीवों ने कैसे सुना ? और वे कैसे दुखी हुए ?

समाधान—अचर से उनके अधिष्ठातृ-देवताओं का सुनना और उनके दुखी होने से उनके स्थूलांग में भी विकार का पहुँचना अभिप्रेत है ; यथा—"सैल सकल जहँ लगि जग माहीं।···गावहिं मंगल सहित सनेहा॥" (बा० दो० ६३); (—यह प्रसंग देखिये)।

चराचर सब दुखी ही हुए, पर कुछ कर न सके ; जिसने सुनकर पुरुषार्थ कर दिखाया, उसे आगे कहते हैं—

गीधराज सुनि आरत बानी। रघुकुल-तिलक-नारि पहिचानी॥७॥
अधम निसाचर लीन्हे जाई। जिमि मलेछबस कपिला गाई॥८॥

सीते पुत्रि करसि जनि त्रासा। करिहउँ जातुधान कर नासा ॥९॥
धावा क्रोधवंत खग कैसे। छूटै पवि पर्वत कहुँ जैसे ॥१०॥
रे रे दुष्ट ठाढ़ किन होही। निर्भय चलेसि न जानेहि मोही ॥११॥

अर्थ—गृध्रराज जटायु ने दुःख भरी वाणी सुनकर पहचाना कि ये रघुकुल-श्रेष्ठ श्रीरामजी की पत्नी हैं ॥७॥ अधम निशाचर इन्हें (इस तरह) लिये जाता है, जैसे म्लेच्छ के वश में कपिला गाय पड़ गई हो ॥८॥ (वे बोले) हे श्रीसीते ! हे पुत्रि ! डरो मत, मैं निशाचर का नाश करूँगा ॥९॥ क्रोध में भरा हुआ वह पक्षी कैसे दौड़ा, जैसे पर्वत के तोड़ने को वज्र छूटता है ॥१०॥ रे रे दुष्ट ! खड़ा क्यों नहीं होता ? निर्भय चला जाता है, क्या मुझे जानता नहीं ? ॥११॥

विशेष—(१) 'गीधराज सुनि'''—राजा रावण से लड़ने के सम्बन्ध से 'गीधराज' कहा है, क्योंकि राजा से राजा ही लड़ता है। पुनः राजकुमारी का छुड़ाना और म्लेच्छ से कपिला गाय का बचाना भी राजा का ही कार्य है। 'सुनि आरत बानी' ;—"हा जगदेक बीर ''" से "हा रघुकुल सरोज-दिन-नायक" तक आर्त वाणी सुनी और इसीसे उन्हें रघुकुल-तिलक की महारानी जाना।

(२) 'अधम निसाचर लीन्हें जाई।'''—कहाँ तो रघुकुल-श्रेष्ठ की धर्मपत्नी और कहाँ यह अधम राक्षस ? इसका यह कार्य बड़ा ही गर्हित है, जैसे कपिला गाय का म्लेच्छ द्वारा हरा जाना। अतएव रक्षा करना सभी का धर्म है, फिर मैं राजा हूँ, गृध्रराज हूँ, मुझे तो अवश्य ही रक्षा करनी चाहिये ; यथा—"गोमर कर सुरधेनु, नाथ ! ज्यों, त्यों पर हाथ परी हौं ॥ तुलसि दास रघुनाथ-नाम-धुनि अकनि गीध धुकि धायो। 'पुत्रि-पुत्रि' ! जनि डरहि, न जैहै नीच, मीच हौं आयो ॥" (गी० आ० ७)।

(३) 'सीते पुत्रि करसि'''—जटायुजी राजा श्रीदशरथजी के सखा हैं, इससे श्रीरामजी इनके पुत्र के समान हैं और ये श्रीसीताजी पुत्र-वधू हैं, इससे कन्या के समान वात्सल्य की अधिकारिणी हैं ; यथा—"अनुज बधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी ॥" (कि० दो० ८) ; इससे 'पुत्रि' कहा। राक्षस का नाश करूँगा' ऐसा कहकर अभय दिया और श्रीसीताजी को प्रसन्न किया।

(४) 'छूटै पवि पर्वत कहुँ जैसे।'—ऊपर से क्रोध-पूर्वक पंख समेटकर वज्र के समान वेग से चले, वज्र गिरने से पर्वत विदीर्ण हो जाता है, वैसे ही रावण पर भी बीती ; यथा—"चोचन्हि मारि बिदारेसि देही। दंड एक भइ मुरुछा तेही ॥" आगे कहा है।

(५) 'रे रे दुष्ट ठाढ़ किन होही।'''—रावण दुष्ट था, इसीसे प्रायः सभी ने उसे दुष्ट कहा है ; यथा—"बोलेहु बचन दुष्ट की नाईं।"—श्रीसीताजी, "यह दुष्ट मारेउ नाथ ''पर द्रोह रत अति दुष्ट।" (लं० दो० १११)—इन्द्र, वैसे ही यहाँ जटायुजी भी कहते हैं—रे रे दुष्ट'''।

(६) 'न जानेहि मोही।'—यह नहीं जानता कि मैं इनका रक्षक हूँ और वीर हूँ ; यथा—"जटायुर्नाम नाम्नाहं गृध्रराजो महाबलः।" (वाल्मी० ३।५०।३) ; क्या मुझे नहीं जानता ? इससे जान पड़ता है कि जटायु की शूरता प्रसिद्ध थी। राजा श्रीदशरथजी के साथ इन्होंने शनैश्चर को पराजित किया था, पूर्व कथा कही गई। जटायुजी ने श्रीसीताजी की रक्षा का भार लिया था ; यथा—"सीतां च तात रक्षिष्ये त्वयि याते सलक्ष्मणे ॥" (वाल्मी० ३।१४।३४) ; इसीसे यहाँ रक्षा में सन्नद्ध हुए।

आवत देखि कृतांत-समाना। फिरि दसकंधर कर अनुमाना ॥१२॥
की मैनाक की खगपति होई। मम बल जान सहित पति सोई ॥१३॥
जाना जरठ जटायू एहा। मम कर तीरथ छाड़िहि देहा ॥१४॥
सुनत गीध क्रोधातुर धावा। कह सुनु रावन मोर सिखावा ॥१५॥
तजि जानकिहि कुसल गृह जाहू। नाहित अस होइहि बहुबाहू ॥१६॥
राम-रोष-पावक अति घोरा। होइहि सकल सलभ कुल तोरा ॥१७॥

अर्थ—यमराज एवं मृत्यु के समान जटायु को आते हुए देखकर दशकंध रावण फिरकर मन में अनुमान (विचार) करने लगा ॥१२॥ कि यह या तो मैनाक पर्वत होगा या पक्षियों का स्वामी गरुड़ होगा, पर वह तो अपने स्वामी विष्णु-सहित मेरे बल को खूब जानता है ॥१३॥ फिर (पास आने पर) पहचाना कि यह बुड्ढा जटायु है, मेरे हाथ रूपी तीर्थ में शरीर छोड़ेगा ॥१४॥ यह सुनकर गृद्ध क्रोध से शीघ्र दौड़ा और बोला कि रावण ! मेरा सिखावन सुनो ॥१५॥ श्रीजानकीजी को छोड़कर कुशल पूर्वक घर चले जाओ, नहीं तो, हे बहुत भुजाओंवाले ! ऐसा होगा ॥१६॥ कि श्रीरामजी के क्रोध रूपी अत्यन्त भयंकर अग्नि में तेरा सारा वंश फतिंगा हो जायगा ॥१७॥

विशेष—(१) 'की मैनाक कि खगपति होई।...'—मैनाक तो इन्द्र के वज्र के डर से समुद्र में आ छिपा था और मेरे डर से इन्द्र भी भागा फिरता है, तब मैनाक मेरे सामने कैसे आवेगा ? कुछ और समीप आने पर पक्षिराज गरुड़ का अनुमान किया और जाना कि यह तो विष्णु सहित भी मेरा कुछ न कर सका था, तो अब अकेला कैसे आवेगा ; यथा—"ऐरावतविषाणाग्रैरापीडनकृतव्रणौ। वज्रोल्लिखितपीनांसौ विष्णुचक्रपरिक्षतौ ॥" (वाल्मी० ३।३०।१६)।

(२) 'मम कर तीरथ छाड़िहि देहा।'—रावण को पक्षी आदि से अमरत्व का वर मिला ही है; इससे ऐसा अभिमान का वचन कहा कि यह तो बुड्ढा है। जैसे लोग मोक्ष के लिये तीर्थों में प्राण छोड़ने जाते हैं, वैसे यह मेरे हाथों से मरकर बुढ़ापे के कष्टों से मुक्त होने आता है ; अर्थात् यह तो मानों मरा हुआ है ही।

(३) 'सुनत गीध क्रोधातुर धावा'—पहले रावण अनुमान ही करता था, मैनाक और गरुड़ तक का अनुमान तो मन में ही किया, पर पास आने पर जटायु को पहचाना, तब—'जाना जरठ...' यह इसने गर्व में आकर वचन से भी कहा—'अहा ! मैं जान गया...' इसीसे आगे 'सुनत गीध' कहा गया है। 'क्रोधातुर धावा'—जब रावण फिरकर अनुमान करता हुआ कुछ ठहर गया, तो जटायु भी धीमे वेग में हो गये थे, पर जब उसने ऐसे गर्व के वचन कहे, तब फिर ये क्रोधातुर हो दौड़े। रावण ने इन्हें जरठ कहा और जरठ लोग शिक्षा देते ही हैं; यथा—"मनहुँ जरठपन अस उपदेसा।" (अ० दो० १), इसीसे श्रीजटायुजी कहते हैं—'सुनु मोर सिखावा।'

(४) 'तजि जानकी कुसल गृह जाहू।'—भाव यह कि नहीं छोड़ोगे तो पहले हमसे ही कुशल न होगी; फिर—'राम रोष पावक...'। 'बहु बाहू'—रावण को अपने बाहुओं का बड़ा घमंड है; यथा—"चला भवन निरखत भुज बीसा।" (सुं० दो० ६); "मम भुज सागर बल जल पूरा। ...बीस पयोधि अगाध अपारा।" (लं० दो० २०); इत्यादि, इसीपर कहते हैं कि ये सब कट जायँगे।

(५) 'राम रोष पावक ······'—पतंग का संयोग दीपक से रहता है ; यथा—"दीप सिखा सम जुवति तन, मन जनि होसि पतंग।" (दो० ४६) ; पर यहाँ पावक कहा गया, क्योंकि बहुत पतंगों के पड़ने से दीपक बुझ भी जाता है, इसीलिये 'अतिघोर पावक' कहा है, जिसमें सब जल जायँ और श्रीरामजी की कुछ हानि न हो ; यथा—"निसिचर निकर पतंग सम, रघुपति बान कृसानु।" (सुं० दो० १५) ; "लखन रोष पावक प्रबल, जानि सलभ जनि होहु।" (बा० दो० २६६)।

उतर न देत दसानन जोधा। तबहिं गीध धावा करि क्रोधा ॥१८॥
धरि कच बिरथ कीन्ह महि गिरा। सीतहि राखि गीध पुनि फिरा ॥१९॥
चोंचन्ह मारि बिदारेसि देही। दंड एक भइ मुरुछा तेही ॥२०॥
तब सक्रोध निसिचर खिसियाना। काढ़ेसि परम कराल कृपाना ॥२१॥
काटेसि पंख परा खग धरनी। सुमिरि राम करि अद्भुत करनी ॥२२॥

अर्थ—योद्धा दशमुख (रावण) उत्तर नहीं देता, तब तो गृध्र क्रोध करके दौड़ा ॥१८॥ शिर के बाल पकड़कर उसे रथ-विहीन कर दिया, वह पृथिवी पर गिर पड़ा, (तब) गृध्र श्रीसीताजी को (पृथक्) रखकर फिर लौटा ॥१९॥ और चोंचों से मारकर उसके शरीर को विदीर्ण कर डाला, उसे एक दंड-भर मूर्च्छा आ गई ॥२०॥ तब खिसलाकर उस निशाचर ने क्रोध के साथ अत्यन्त भयंकर कृपाण (द्विधारा खड्ग) निकाली ॥२१॥ उससे उसने पत्ती के पत्त (पखने) काट डाले, तब वह (पत्ती) अद्भुत करनी करके श्रीरामजी का स्मरण करता हुआ पृथिवी पर गिर पड़ा ॥२२॥

विशेष—(१) 'उतर न देत···'—इसे वीरता का अभिमान है, इससे गृध्र को तुच्छ समझकर उत्तर ही न दिया कि हम करनी करके उत्तर देंगे ; यथा—"सूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहिं आपु।" (बा० दो० २७४)। इसीसे अपना अपमान समझकर गृध्रराज क्रोध करके दौड़े।

गृध्रराज का तीन बार क्रोध करके आक्रमण करना कहा गया, यथा—'धावा क्रोधवंत खग'; 'क्रोधातुर धावा'; 'धावा करि क्रोधा'; क्योंकि बीच-बीच में कारण पाकर रुक जाते थे। पहले सीता-हरण पर फिर उसके सगर्व वचन पर और फिर उसके उत्तर न देने पर क्रोध हुआ।

(२) 'धरि कच बिरथ···'—शिर पर मँड़राते हुए केश पकड़ा, क्योंकि यह मर्मस्थल है, इससे खींचने पर अत्यंत पीड़ा होती है और मनुष्य वश में हो जाता है। 'सीतहि राखि···'—हरि-इच्छा से उस समय जटायु की बुद्धि ऐसी न हुई कि वे श्रीसीताजी को श्रीरामजी के पास पहुँचा देते, क्योंकि रावण तो एक दंड तक मूर्च्छित ही रहा। माया-सीता को तो उसका विनाश करने के लिये लंका जाना ही था, नहीं तो वे स्वयं लौट चलतीं।

(३) 'चोचन्हि मारि बिदारेसि···'—पहले इनका कृतान्त के समान आना कहा गया था, इन्होंने वैसा ही कार्य भी किया कि रावण वर के कारण जीता रह गया, नहीं तो ऐसी दशा होने पर मृत्यु में संदेह न था। 'देही' का अर्थ देह, शरीर है; यथा—"दच्छ-सुक्र-संभव यह देही।" (बा० दो० ४६); अंतिम अनुप्रास मिलाने के लिये 'देह' का 'देही' किया गया है।

(४) 'तब सक्रोध निसिचर···'—रावण जब अपमानित होता है, तब इसी कृपाण (चन्द्रहास)

को निकालता है ; यथा—"सीता तैं मम कृत अपमाना । कटिहउँ तव सिर कठिन कृपाना ॥ ''चन्द्रहास हरु मम परितापं'''" (सुं० दो० ६); वैसे ही यहाँ जटायु से भी अपमानित होने पर इसे निकाला । यह श्रीशिवजी की दी हुई वरदानी कृपाण है, जब अपने बल से न जीता तब दैवबल से मारा ।

(५) 'काटेसि पंख परा खग'''— पक्षी का पंख ही द्वारा जीवन होता है, इसके बिना वह अत्यन्त दीन हो जाता है; यथा—"जनु बिनु पंख बिहँग अकुलाहीं ॥" (अ० दो० १२१); "जथा पंख बिनु खग अति दीना ॥" (लं०दो० ५१); पंख ही काटा कि जिससे कष्ट झेल-झेलकर मरे । पुनः हरि की इच्छा से भी ऐसा किया, क्योंकि श्रीसीताजी ने कहा था, यथा—"बिपति मोरि को प्रभुहि सुनावा ।" यदि सिर काटा होता, तो यह कार्य न हो सकता । 'सुमिरि राम'; यथा—"रटनि अकनि पहिचानि गीध फिरे करुनामय रघुराई ।" (गी० आ० ११) ; "ईषत्स्यिवासुरपतद्भुवि राम राम रामेति संभ्रमनिशं निगदन्मुमुक्षुः ॥" (हनुमन्नाटक) अर्थात् मोक्ष की इच्छावाला वह पक्षी जिसमें अब कुछ ही प्राण शेष हैं, निरंतर राम-राम कहता हुआ पृथिवी पर गिर पड़ा । 'करि अद्भुत करनी'— त्रिलोक-विजयी रावण को मृतप्राय कर दिया और जीते-जी श्रीसीताजी को न जाने दिया । इसपर गीता अ० ८ पूरा पद पढ़ने योग्य है ।

सीतहि जान चढ़ाइ बहोरी । चला उताइल त्रास न थोरी ॥२३॥
करति बिलाप जाति नभ सीता । ब्याध-बिबस जनु मृगी सभीता ॥२४॥
गिरि पर बैठे कपिन्ह निहारी । कहि हरि नाम दीन्ह पट डारी ॥२५॥
येहि बिधि सीतहि सो लै गयऊ । बन असोक महँ राखत भयऊ ॥२६॥

दोहा—हारि परा खल बहु बिधि, भय अरु प्रीति देखाइ ।
तब असोक पादप तर, राखिसि जतन कराइ ॥
जेहि बिधि कपट कुरंग सँग, धाइ चले श्रीराम ।
सो छबि सीता राखि उर, रटति रहति हरिनाम ॥२९॥

अर्थ—श्रीसीताजी को फिर रथ पर चढ़ाकर उतावली से (जल्दी-जल्दी चला,) उसे बहुत डर था (कि कहीं दूसरा सहायक न आ पड़े, अथवा कहीं श्रीरामजी ही न आ जायँ) ॥२३॥ आकाश-मार्ग में श्रीसीताजी विलाप करती हुई (इस तरह) जा रही हैं, जैसे व्याधा के वश पड़ी हुई सभीत मृगी हो ॥२४॥ पर्वत पर बैठे हुए वानरों को देख हरिनाम लेकर वस्त्र डाल दिया ॥२५॥ इस तरह उसने श्रीसीताजी को ले जाकर अशोक वन में रक्खा ॥२६॥ वह दुष्ट बहुत तरह से डर और प्रीति दिखाकर हार गया, तब अशोक-वृक्ष के नीचे उनको यत्न-पूर्वक रक्खा ॥ जिस प्रकार कपट-मृग के साथ श्रीरामजी दौड़े हुए चले थे, उसी छवि को श्रीसीताजी हृदय में रखकर हरिनाम रटती रहती हैं ॥२९॥

विशेष—(१) 'ब्याध बिबस जनु मृगी सभीता ।'—पहले—'जिमि मलेच्छबस कपिलागाई ।' कहा था, तब छुड़ानेवाले जटायु आये, क्योंकि म्लेच्छ से गाय को छुड़ानेवाले बहुत लोग होते हैं। अब व्याध-

वश मृगी की उपमा देकर सूचित करते हैं कि अब कोई छुड़ानेवाला न मिलेगा; क्योंकि प्रायः लोग व्याधा से मृगी को छुड़ाने नहीं दौड़ते।

(२) 'कहि हरि नाम दीन्ह पट डारी।'—यह प्रसंग कि० दो० ४ में कहा गया है; यथा—"गगन पंथ देखी मैं जाता। परबस परी बहुत बिलपाता॥ राम राम हा राम पुकारी। हमहिं देखि दीन्हेउ पट डारी॥" अतः, हरिनाम का अर्थ राम-नाम होगा। यद्यपि साधारणतया स्त्रियाँ पति का नाम नहीं लेतीं, तथापि आपत्काल में दोष नहीं है। वाल्मीकीय रामायण में बहुत जगह इनका 'राम' नाम लेना पाया जाता है।

(३) 'हरि-नाम' के श्लोकार्थी बहुत भाव कहे जाते हैं—हे हरि (वानरो)! यह वस्त्र-भूषण हरि (श्रीरामजी) को देना, जो भूभार हरने आ रहे हैं और वे ही तुम्हारे (वालि-संबंधी) दुःख भी हरेंगे। मेरा हरण कहना और यह भी ध्वनि है कि मैं सब दुःखों के हरनेवाले हरि (श्रीरामजी) की पत्नी हूँ, वे मेरा दुःख हरें।

(४) 'पटडारी'—वाल्मी० ४।५४।१-४ में कहा गया है—"पाँच बानरों को गिरिशृंग पर बैठे देखकर श्रीजानकीजी ने उत्तरीय वस्त्र में आभूषण लपेटकर गिरा दिया कि जिससे ये लोग मेरा पता श्रीरामजी को बतावें। घबराहट में रावण इनके इस कर्म को नहीं जान सका।" श्रीसीताजी उसके मरने के लिये उपाय करती जाती हैं, पर वह नहीं जान पाता।

(५) 'बन असोक महँ···'—यह वन रावण का सर्वश्रेष्ठ था, सम्मान के लिये उसमें रक्खा और इससे भी कि इसकी रमणीयता में लुभाई हुई जीवित रहेंगी, अन्यथा प्राण ही न त्याग दें। (पर श्रीसीताजी तो उसे शोकमय देखती थीं)।

(६) 'हारि परा खल···'—वाल्मी ३।५५।५६ से जान पड़ता है कि उसने इन्हें पहले दिव्य रमणीय महलों में रखना चाहा, दिखाने और लुभाने पर इन्होंने उसे कठोर वचन कहे। तब अशोक-वन के भी दिव्य स्थानों में उनकी रुचि न देखकर अशोक-वृक्ष के नीचे रक्खा। प्रीति—"यह कि सब राज्य-वैभव तुम्हारी ही है, मेरा जीवन तुम्हारे ही अधीन है। मेरी अनेक उत्तम स्त्रियों की तुम स्वामिनी बनो। तुम मुझे प्राणों से भी प्रिय हो, मेरी बात मानो", इत्यादि (वाल्मी० ३।५५।१३।१८)। भय—"मैथिली, सुनो, बारह महीने तक यदि तुम मेरी बात न मानोगी, तो मेरे रसोइया लोग प्रातःकाल के जलपान के लिये तुम्हें टुकड़े-टुकड़े काट डालेंगे।" इत्यादि (वाल्मी० ३।५६।२३।२५)। वनवास के अनुकूल समझकर श्रीजानकीजी वृक्ष के नीचे रहीं। 'जतन कराइ'—अनुकूल सेवा का प्रबंध करके और यह भी कि कोई उनके पास जा न सके।

(७) 'जेहि बिधि कपट······'—'बिधि'; यथा—"मम पाछे धर धावत धरे सरासन बान।" (दो० २१); कपट मृग के पीछे दौड़ते हुए आपकी छवि; यथा—"सोहति मधुर मनोहर मूरति हेम हरिन के पाछे। धावनि, नवनि, बिलोकनि, बिथकनि बसै तुलसि उर आछे॥" (गी० आ० ३); तथा गी० अ० ४-५ पूरे पद पढ़ने योग्य हैं, विस्तार-भय से यहाँ नहीं लिखा। 'श्रीराम'—भाव यह कि माया-मृग के पीछे आप परम शोभा को प्राप्त हैं; यथा—"माया मृगं···"(भाग० ११।५।३४) 'रटति रहति हरि नाम'—अपने क्लेश-हरण के उद्देश्य से राम नाम रटती रहती हैं; यथा—"देखी जानकी जब जाइ।·· रटति निसिबासर निरंतर राम राजिव नयन।" (गी० सुं० २); "रसना रटति नाम ··" (गी० सुं० १८); "नाम पाहरू राति दिन, ध्यान तुम्हार कपाट।" (सु० दो० ३०); "रामेति रामेति सदैव बुद्ध्या विचिन्त्य वाचा ब्रवती तमेव। तस्यानुरूपां च कथां तदर्थामेवं प्रपश्यामि तथा शृणोमि॥" (वाल्मी० ५।३२।११)।

श्रीरघुवीर विरह-वर्णन—प्रकरण

रघुपति अनुजहि आवत देखी । बाहिज चिंता कीन्हि बिसेखी ॥१॥
जनकसुता परिहरेहु अकेली । आयेहु तात बचन मम पेली ॥२॥
निसिचरनिकर फिरहिं बन माहीं । मम मन सीता आश्रम नाहीं ॥३॥
गहि पद-कमल अनुज कर जोरी । कहेउ नाथ कछु मोहि न खोरी ॥४॥
अनुज समेत गये प्रभु तहवाँ । गोदावरि-तट आश्रम जहवाँ ॥५॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी ने भाई को आते देखकर ऊपरी (दिखाव-मात्र की) बहुत चिन्ता की ॥१॥ हे तात ! तुमने श्रीजानकीजी को अकेली छोड़ दिया, मेरे वचन टालकर यहाँ चले आये ॥२॥ निशाचरों के झुंड वन में फिरते हैं, मेरे मन में ऐसा जान पड़ता है कि श्रीसीताजी आश्रम में नहीं हैं ॥३॥ भाई श्रीलक्ष्मणजी ने चरण पकड़कर और फिर हाथ जोड़कर कहा कि हे नाथ ! मेरा कुछ दोष नहीं है ॥४॥ भाई-समेत प्रभु वहाँ गये, जहाँ गोदावरी नदी के किनारे आश्रम था ॥५॥

विशेष—(१) 'रघुपति अनुजहि आवत···'—श्रीरामजी की दृष्टि पंचवटी की ओर ही है, क्योंकि मारीच के छल-वचन सुनकर पहले ही से चिन्ता करते आते थे; यथा—"खल बधि तुरत फिरे रघुबीरा ।" पर कहा गया। यहाँ जब देखते हैं कि सत्य ही श्रीलक्ष्मणजी अकेले चले आ रहे हैं ; तब विशेष चिन्ता हो गई। चिन्ता का कारण अगली अर्द्धालियों में कहते हैं। 'बाहिज'—यह बाह्य का अपभ्रंश है; अर्थात् ऊपर से ही; यथा—"बाहिज नम्र देखि मोहिं साईं।" (उ० दो० १०२); चिन्ता मन से होती है, पर श्रीरामजी में ऊपर से दिखाव-मात्र है, क्योंकि पहले ही कह चुके हैं; यथा—"मैं कछु करब ललित नर लीला ।" यह चिंता भी क्रीड़ा-रूप होने से दिव्य है ; यथा—"जन्म कर्म च मे दिव्यं ·" (गी० ४।८); दिव्य का अर्थ भी क्रीड़ा-रूप है, क्योंकि दिव-क्रीड़ार्थक धातु से दिव्य शब्द निष्पन्न होता है।

(२) 'जनक सुता परिहरेहु···'—भाव यह कि श्रीजानकीजी को अकेली छोड़कर उनका अहित और मेरी आज्ञा टालकर मेरा भी अपमान किया। श्रीजानकी के छोड़ने का दोष शब्दों से जनाया है—'जनकसुता' अर्थात् श्रीजनकजी से हम क्या कहेंगे ? यथा—"किं नु लक्ष्मण वक्ष्यामि समेत्य जनकं वचः ॥ मातरं चैव वैदेह्या विना तामहमप्रियम् ।" (वाल्मी० ३।६१।११-१२)।

(३) 'मम मन सीता आश्रम नाहीं ।' ; यथा—"मनश्च मे दीनमिहाप्रहृष्टं चक्षुश्च सव्यं कुरुते विकारम् । असंशयं लक्ष्मण नास्ति सीता हृता मृता वा पथि वर्तते वा ॥" (वाल्मी० ३।५७।२१) ; अर्थात् मेरा मन बहुत ही दीन और दुखी है, बाईं आँख फड़क रही है, लक्ष्मण, निस्संदेह श्रीसीताजी नहीं हैं—कोई उन्हें हर ले गया या मारी गईं अथवा कोई हरे लिये जाता है।

(४) 'कहेउ नाथ कछु मोहि न खोरी ।'—भाव यह कि इसमें दोष उन्हींका है; यथा—"हा लछिमन तुम्हार नहिं दोषा । सो फल पायेउँ कीन्हेउँ रोषा ॥" (दो० २८) ; देखिये, कैसा भोला-भाला उत्तर है। बड़े भाई और भावज के प्रति कैसा सम्मान है ? कि अपनी सफाई देने के लिये भी श्रीसीताजी के दोष नहीं कहते। 'मेरा दोष नहीं है' इसमें ही सब आ गया; यहाँ सुशीलता की सीमा है। श्रीगोसाईंजी ने जैसे प्रथम मर्म वचन को नहीं कहा ; वैसे यहाँ उसे कहने के अत्यावश्यक प्रसंग पर भी बहुत सँभाल किया है।

आश्रम देखि जानकी - हीना। भये बिकल जस प्राकृत दीना ॥६॥
हा गुनखानि जानकी सीता। रूप सील ब्रत नेम पुनीता ॥७॥
लछिमन समुझाये बहु भाँती। पूछत चले लता तरु पाँती ॥८॥

शब्दार्थ—पाँती = पंक्ति, कतार; यथा—"रहहु निरंतर गुनगन पाँती ॥" (उ० दो० १)।

अर्थ—आश्रम को श्रीजानकीजी से रहित देखकर व्याकुल हुए, जैसे साधारण मनुष्य दीन (व्याकुल) होते हैं ॥६॥ *हा गुणों की खान श्रीजानकि ! हा रूप - शील - व्रत - नियम-पवित्र सीते !* (तुम कहाँ हो ?) ॥७॥ श्रीलक्ष्मणजी ने बहुत तरह से समझाया, वे लताओं और वृक्षों की पंक्तियों (कतारों) से पूछते हुए चले ॥८॥

विशेष— (१) 'आश्रम देखि'''—सूने आश्रम के देखने का वर्णन गी० आ० ८ में विस्तार-पूर्वक है—'हेम को हरिन हनि'''—देखिये।

(२) 'जानकी सीता'—यहाँ विषाद में वीप्सा है, पुनरुक्ति नहीं। 'जानकी' कहकर श्रीजनकजी का संबंध और 'सीता' शब्द से अपनेको शीतल करनेवाली कहा है।

(३) 'लछिमन समुझाये बहु भाँती'—'बहु भाँती' ; यथा—(क) वाल्मी० ३।६१।१४-१८ के सब भाव जना दिये—"बुद्धिमान ! आप विषाद न करें, किन्तु मेरे साथ श्रीसीताजी के ढूँढ़ने का प्रयत्न करें। इस पर्वत में अनेक कंदराएँ हैं। श्रीसीताजी को वन में घूमना बहुत रुचता है, वन को वो देखकर वे पागल हो जाती हैं, वे वन में गई होंगी । कमल के तालाब पर अथवा नदी तीर-पर गई होंगी, जहाँ मछलियाँ हैं और बेंतों का वन है। अथवा हमलोगों को डराने के लिये कहीं वन में छिप गई होंगी। हमलोगों की ढूँढ़ने की गति देखना चाहती होंगी—अतएव हमलोग उनके ढूँढ़ने का ही प्रयत्न करें, जहाँ-जहाँ उनके होने की आशा हो।" (ख) वाल्मी० ३।६६।१-२० में भी बहुत समझाया है—यदि आप ऐसे दुःखों को न सहेंगे, तो अल्प शक्तिवाले सामान्य लोग कैसे सहेंगे। आपत्ति भी सब दिन नहीं रहती ; आती है और फिर चली भी जाती है। धैर्य धारण करना चाहिये। आप अपने पराक्रम का स्मरण कर शत्रु के नाश के लिये प्रयत्न करें, इत्यादि। (ग) वाल्मी० ४।१।११४-१२४ में भी समझाया है—रावण पाताल में वा दिति के गर्भ में चला जायगा; तब भी उसे मार कर श्रीसीताजी को प्राप्त करेंगे। आप सावधान हों। उत्साह को धारण करें, इत्यादि।

पर मानस में विशेष समझाना यहीं पर कहा गया है।

हे खग मृग हे मधुकर-श्रेनी। तुम देखी सीता मृगनैनी ॥९॥
खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुपनिकर कोकिला प्रबीना ॥१०॥
कुंद-कली दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि अहिभामिनी ॥११॥
बरुनपास मनोज - धनु हंसा। गज-केहरि निज सुनत प्रसंसा ॥१२॥
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं ॥१३॥

सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू ॥१४॥
किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं। प्रिया बेगि प्रगटसि कस नाहीं ॥१५॥
येहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी। मनहुँ महा बिरही अति कामी ॥१६॥
पूरन काम राम सुखरासी। मनुज-चरित कर अज अबिनासी ॥१७॥

शब्दार्थ—कपोत = बड़ा कबूतर, जिसकी गर्दन सुंदर होती है। दाड़िम = अनार। श्रीफल = बेल।

अर्थ—हे पक्षि-गणो! हे मृग वृंद!! हे भ्रमर-समूह!!! तुम सबने मृगलोचनी श्रीसीताजी को देखा है? ॥९॥ खंजन, तोता, कबूतर, हरिण, मछली, भ्रमर समूह, मधुर-कूक-कुशल कोयल ॥१०॥ कुंद-कली, अनार, बिजली, शरद्-ऋतु के कमल और चन्द्रमा, नागिन ॥११॥ वरुण की फाँस, कामदेव का धनुष, हंस, गज और सिंह, ये सब आज अपनी प्रशंसा सुन रहे हैं ॥१२॥ बेल, सोना (और) केला, ये सब प्रसन्न हो रहे हैं। जरा भी डर और संकोच इन सबके मन में नहीं है ॥१३॥ हे श्रीजानकीजी! सुनो आज तुम्हारे बिना ये सभी ऐसे प्रसन्न दीखते हैं, मानों उन्होंने राज्य पा लिया है ॥१४॥ तुमसे (इनकी) ईर्ष्या कैसे सही जाती है? हे प्रिये! क्यों नहीं शीघ्र प्रकट हो जाती? ॥१५॥ इस तरह (सर्व जगत् के) स्वामी खोजते और विलाप करते हैं, मानों महाविरही और अत्यन्त कामी हैं ॥१६॥ श्रीरामजी पूर्णकाम और आनंद की राशि हैं, अजन्मा और विनाश-रहित हैं वे मनुष्य के से चरित कर रहे हैं ॥१७॥

विशेष—(१) 'हे खग-मृग'''—खग मृग पहले कहे गये हैं। इन्हीं से समाचार मिलेगा। 'खग' जटायु और 'मृग' (वानर) सुग्रीव।

श्रीगोस्वामीजी ने श्रीजानकीजी के शोभा-वर्णन के विषय में कहा था—"सिय सोभा नहिं जाइ बखानी। जगदंबिका रूप गुन खानी॥" उपमा सकल मोहि लघु लागीं। प्राकृत नारि अंग अनुरागी॥ '''कुकवि कहाइ अजसु को लेई॥" (बा० दो० २४६; अर्थात् माता के अंगों का वर्णन पुत्र कैसे करे? दूसरी उपमाएँ सब प्राकृत स्त्रियों में लगकर जूठी हो चुकी हैं। अब यहाँ पति के मुख से ही पत्नी के अंगों की शोभा का वर्णन सुन्दर ढंग से रूपकातिशयोक्ति अलंकार के द्वारा मर्यादा-सहित कराया है। यह वियोग-शृंगार की ११ अवस्थाओं में 'गुण कथन' संज्ञक अवस्था है।

श्रीरामजी नर-नाट्य करते हुए वन में आ रहे हैं। कवि लोग स्त्रियों के जिन अंगों की उपमा जिन पशु, पक्षी, वृक्ष, फल, बिजली आदि से दिया करते हैं, मार्ग में उन्हें देखकर श्रीसीताजी के उन अंगों का स्मरण हो आता है और विरह का उद्दीपन होने से उपमानों के नाम कहकर उपमेय रूप अंगों का वर्णन करते हैं।

खंजन, हिरण, मीन और कमल की उपमायें प्रायः आँखों के लिये कवि लोग देते हैं; यथा— "अँखियाँ उपमा योग नहीं। कंज खंज मृग मीन होहि नहिं कवि जन वृथा कहीं॥" (सूर)। शुक-तुंड के समान नासिका; यथा—"चारु चिबुक सुकतुंड बिनिंदक सुभग सुउन्नत नासा॥" (गी० ब० १२); "नासिका सुभग सुक आननी।" (गी० ब० ५); कपोत से गर्दन की उपमा दी जाती है। भ्रमर-समूह से काले बालों की; यथा—"कच बिलोकि अलि अवलि लजाहीं।" (बा० दो० २११); "कुटिल केस जनु मधुप समाजा॥" (बा० दो० १४१)। कोयल से स्वर एवं मीठे वचन की; यथा—"बोली मधुर

वचन पिक बयनी।" (अ० दो० ११६); कुंद-कली और अनार के दानों से दाँतों की और दामिनी से (मुस्कान में) दाँतों की चमक की, यथा—"कुलिस कुंद कुडमल दामिनि दुति दसनन्हि देखि लजाई।" (वि० ६२); दामिनी से वर्ण की, यथा—"दामिनि बरन लखन सुठि नीके।" (अ० दो० ११४), शरद कमल और शशि से मुख की, यथा—"सरद सरबरी नाथ मुख ···" (अ० दो० ११६), "कज मुख" (वि० ४५) नागिन से लट (चोटी) को, वरुण-पाश से कंठ की रेखाओं की और स्त्रियों की मुसकान की उपमा दी जाती है। मनोज के धनुष से भौंह की; यथा—"भृकुटि मनोज चाप छबि हारी।" (बा० दो० १४६); हंस और गज (के चालों) से चाल की; यथा—"हंस गमनि तुम्ह नहि बन जोगू॥" (अ० दो० ६१), "गावत चलीं सिंधुरगामिनी।" (उ० दो० २); सिंह से कमर की, यथा—"केहरि कटि पट पीतधर" (बा० दो० २३३); श्रीफल से पयोधर की उपमा आकृति, गोलाई और कठोरता के लिये दी जाती है। कनक से वर्ण की ; यथा—"इन्हते लहि दुति मरकत सोने।" (अ० दो० ११५); कदली से जघा की, यथा—"जंघा जानु जानु केदलि उर···" (गी० उ० १६)।

नेत्रों की चचलता, सफेदी और श्यामता के लिये खजन की ; जल-भरी, विशाल और उभरी हुई आँखों के लिये मृग की; चमक में मीन की और आकार एवं कोमलता में कमल दल की उपमा दी जाती है। कुंदकली और अनार के दाने मिले हुए, पंक्तिवाले और कोर पर ललाई लिये भी होते हैं, इसीसे दाँतों की उपमा में आते हैं। दाँतों की कान्ति बिजली सी कही जाती है। बिजली की उपमा वर्ण से भी दी जाती है; यथा—"दुलहिनि तड़ित बरन तन गोरी।" (गी० बा० १०३)।

(२) 'नेकु न संक सकुच मन माहीं।'—ऊपर के उपमानों के प्रति—'निज सुनत प्रशंसा।' कहा गया और यहाँ 'श्रीफल कनक कदलि' के प्रति शका और सकुच न होने का आक्षेप किया गया; क्योंकि इन उपमानों के उपमेय (अंग) सदा आवरण में (ढँके) रहते हैं और ये सब निरावरण हैं। भाव यह कि इन्हें लज्जा और किसीका संकोच नहीं है, इसीसे बाहर देख पड़ते हैं। पुनः शंका इस बात की नहीं है कि श्रीजानकीजी फिर आवेंगी और संकोच इस बात का नहीं है कि हम श्रीसीताजी के अंगों के समान नहीं हैं। और सब उपमाएँ तुम्हारे रहते अपनी निन्दा सुना करती थीं। अब तुम्हारे न रहने पर प्रशंसा सुन रही हैं।

(३) 'सुनु जानकी तोहि बिनु ···'—पहले श्रीफल, कनक और कदली इन तीनों को ही हर्ष होना कहा था, अब 'सकल' (सब) का कहा। श्रीरामजी ने इन सबसे पूछा, पर कोई न बोला कि श्रीसीताजी कहाँ हैं? इसीपर कहते हैं कि मानों राज्य पा गये हैं, मारे घमंड के बोलते ही नहीं। 'आजू' आज ही से तुम नहीं हो, इसीसे राजा बन बैठे हैं, भाव यह कि उपमान उपमेय का नौकर है, वह आज उपमेय के न रहने पर राज्य करने लगा, यह अनख की बात है, इसी पर आगे कहते हैं—

(४) 'किमि सहि जात अनख···'—सहता तो वह है जो कमजोर होता है। तुम तो इन सबों से बहुत ही उत्कृष्ट हो, तब कैसे सहती हो? नौकर लोग राजा की गद्दी पर बैठकर घमड दिखावें—यह बड़े अनख की बात है। अतः, 'बेगि प्रगटसि कस नाहीं।' अर्थात् शीघ्र प्रकट होकर इनका राज्य छीन लो, तभी आपके योग्य हो। 'तोहि पाहीं'—भाव यह भी है कि तुम सर्वसहा (पृथिवी) की कन्या हो, इससे चाहे सह भी लो। पर हे प्रिये! हमसे तो नहीं सहा जाता (कि गुलाम लोग तुम्हारे पद का घमड करें) क्योंकि हम तो चक्रवर्ति कुमार हैं। अतः, हमारे प्यार से तुम शीघ्र प्रकट हो जाओ और इनका घमड छीन लो।

(५) 'येहि विधि खोजत बिलपत स्वामी ।'—"पूछत चले लता तरु पाती ॥" से "तुम्ह देखी सीता मृग नयनी ॥" तक 'खोजत' और—"हा गुनखानि जानकी सीता ।···खंजन सुक···" से "प्रगटसि कस नाहीं ॥" तक 'बिलपत' कहा गया है। 'स्वामी'; यथा—"सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी । रघुबर सब उर अंतरजामी ॥" (बा० दो० ११८); यह वक्ता लोग कहते हैं कि प्रभु सबके स्वामी हैं, पर यह 'ललित नर लीला' कर रहे हैं। 'मनहु महा बिरही अति कामी ।'—मानों जगत्-भर के बिरही और कामी लोगों से बढ़े हैं।

(६) 'पूरन काम राम···'—पूर्ण-काम ही हैं, तो इन्हें कामना किसकी ? तब वियोग-जन्य विरह कैसा ? आनन्द-राशि हैं तो दुःख कैसा ? 'अज अबिनासी'—अर्थात् जन्म और नाश-रहित हैं, आदि-अंत-रहित हैं; यथा—"आदि अंत कोउ जासु न पावा ।" (बा० दो० ११०); फिर भी मनुष्य के-से चरित कर रहे हैं। यह माधुर्य-लीला है।

(७) 'हा गुनखानि जानकी सीता ।' में नाम का, 'रूप सील ब्रत नेम पुनीता ।' में गुण का और 'खंजन सुक कपोत···' से 'सुनु जानकी तोहि बिनु आजू ।' तक रूप का स्मरण किया गया है।

"पुनि प्रभु गीध-क्रिया जिमि कीन्हीं"—प्रकरण

आगे परा गीधपति देखा । सुमिरत राम-चरन जिन्ह रेखा ॥१८॥

दोहा—कर-सरोज सिर परसेउ, कृपासिंधु रघुबीर ।
निरखि राम छबि-धाम मुख, बिगत भई सब पीर ॥३०॥

अर्थ—गृध्रराज को आगे पड़ा हुआ देखा, वह श्रीरामजी का स्मरण कर रहा था, जिनके चरणों में चिह्न हैं ॥१८॥ कृपासागर रघुवीर श्रीरामजी ने अपना कर-कमल उसके शिर पर फेरा, शोभाधाम श्रीरामजी का छविपूर्ण मुख देखकर उसकी सब पीड़ाएँ दूर हो गईं ॥३०॥

विशेष—(१) 'आगे परा गीधपति···'—मनुज-चरित करते हुए आगे बढ़े, तो गृध्र को पड़ा देखा, देखने का प्रकार ; यथा—"रटनि अकनि पहिचानि गीध फिरे करुनामय रघुराई । तुलसी रामहि प्रिया बिसरि गइ सुमिरि सनेह सगाई ॥" (गी० अ० ११); अर्थात् जब श्रीरामजी कुछ आगे बढ़ गये, तब जटायु के राम-नाम रटने के शब्द उनके कानों में पड़े, तब वे लौट पड़े और इनकी दशा देखकर प्रिया का विरह भूल गये।

'चरन जिन्ह रेखा ।'—श्रीरामजी के दोनों चरणों में २४-२४ चिह्न हैं। वे ही चिह्न श्रीजानकीजी के भी चरणों में हैं, केवल दाहिने-बायें का भेद है। इन्हीं २४ चिह्नों से २४ अवतारों के अंश भी कहे जाते हैं। अतः, ये पूर्ण ऐश्वर्य के बोधक हैं। महारामायण में इन चिह्नों का विशद वर्णन है। 'सुमिरत'—घायल होने के कारण आँखें बंद थीं, इससे जो चरण-चिह्न देखा था ; महत्त्व-विचारसहित उन्हींका स्मरण कर रहे थे। 'चरण-रेखा' पद से ध्वनि यह भी है कि चरणों का आगमन चाहते थे, क्योंकि श्रीसीताजी का समाचार सुनाना था ; यथा—"मेरे पकड़ हाथ न लागी ।···मरत न मैं रघुबीर बिलोके

तापस वेष बनाये। चाहत चलन प्रान पामर बिनु सिय सुधि प्रभुहि सुनाये ॥ बार-बार कर मीजि सीस धुनि गीधराज पछिताई। तुलसी प्रभुकृपाल तेहि अवसर आइ गये दोउ भाई ॥" (गी० आ० १२)।

(२) कर-सरोज सिर परसेउ, कृपासिंधु'''—श्रीरामजी ने कृपा करके कर-कमल से स्पर्श किया ; यथा—"परसा सीस सरोरुह पानी।" (कि० दो० २१); "कर सरोज प्रभु मम सिर धरेऊ। दीनदयाल दुसह दुख हरेऊ ॥" (उ० दो० ८२); पुनः—'निरखि राम छबि धाम मुख' ' कहकर भक्त की ओर से दर्शन करना कहा। भाव यह कि भगवान् कर-कमल फेरें अथवा भक्त उनके दर्शन करें। दोनों प्रकार से पीड़ा दूर होती है ; यथा—"कर परसा सुग्रीव सरीरा। तन भा कुलिस गई सब पीरा ॥" (कि० दो० ७); कर-कमल का प्रभाव ही ऐसा है ; यथा—"सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति पाप ताप माया। निसि बासर तेहि कर सरोज की चाहत तुलसिदास छाया ॥" (वि० १३८); जहाँ भक्तों पर कर फेरने का प्रसंग होता है, वहाँ कमल की उपमा भी देते हैं; अन्यथा युद्ध आदि की कठोरता के प्रसंग में कर-मात्र ही कहते हैं ; यथा—"बालि सीस परसेउ निज पानी।" (कि० दो० ६); और—"कर परसा सुग्रीव सरीरा।" आदि। 'सब पीर'—रावण के प्रहार को एवं काल, कर्म आदि की पीड़ा तो दूर हुई, पर सीता-हरण की पीड़ा तो रही ही, क्योंकि आगे करुण-स्वर से कहते हैं—

तब कह गीध बचन धरि धीरा। सुनहु राम भंजन भव-भीरा ॥ १ ॥
नाथ दसानन यह गति कीन्ही। तेहि खल जनकसुता हरि लीन्ही ॥ २ ॥
लै दच्छिन दिसि गयउ गोसाईं। बिलपति अति कुररी की नाईं ॥ ३ ॥
दरस लागि प्रभु राखेउँ प्राना। चलन चहत अब कृपानिधाना ॥ ४ ॥
राम कहा तनु राखहु ताता। मुख मुसुकाइ कही तेहि बाता ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—कुररी = कराकुल, टिटिहरी—यह एक जल-पक्षी है जो टीं-टीं की-सी ध्वनि करती है।

अर्थ—तब धैर्य धारण कर गृध्रराज बोले—हे भवभय-नाशक श्रीरामजी ! सुनिये ॥१॥ हे नाथ ! दसमुखोंवाले रावण ने मेरी यह दशा की है, उसी दुष्ट ने श्रीजनक-कुमारी को हर लिया है ॥२॥ हे गोसाईं ! वह उन्हें दक्षिण दिशा को ले गया है। श्रीजानकीजी टिटहरी की तरह अत्यन्त विलाप कर रही थीं ॥३॥ हे प्रभो ! आपके दर्शनों के लिये अभी तक प्राणों को रख रहा था, हे कृपानिधान ! अब वे चलना चाहते हैं ॥४॥ श्रीरामजी ने कहा—हे तात ! शरीर रखिये, तब उसने मुख से मुसुकाते हुए यह बात कही ॥५॥

विशेष—(१) 'तब कह गीध बचन' '—पीड़ा पहले ही दूर हो गई थी, किन्तु छवि देखकर शिथिलता और अधीरता आ गई, इससे धैर्य धरना पड़ा ; यथा—"मंजु मधुर मूरति उर आनी। भई सनेह सिथिल सब रानी ॥ पुनि धीरज धरि कुँवरि हँकारी।" (बा० दो० ३११); "पुलकित तन मुख आव न बचना। देखत रुचिर बेष कै रचना ॥ पुनि धीरज धरि अस्तुति कीन्ही।" (कि० दो० १); 'सुनहु राम भंजन भव भीरा।'—पहले मुखकमल के दर्शन किये, तब 'भंजन भव भीरा' कहते हैं, क्योंकि इसीसे भय छूटता है ; यथा—"देखि बदन पंकज भव मोचन ॥" (दो० ३)।

(२) 'नाथ दसानन यह गति कीन्ही। तेहि'''—उसके दस सिर और बीस बाहु थे, वह बड़ा वीर था; इसीसे उसने मुझे जीता। तब वह खल श्रीसीताजी को हर ले गया ; अर्थात् हमारे जीते-जी वह

नहीं ले जा सका ; यथा—"रामकाज खगराज आज लरो जियत न जानकि त्यागी। तुलसिदास सुर सिद्ध सराहत धन्य विहँग बड़ भागी ॥" (गी० आ० ८) ; अपनी गति पर उसे 'दसानन' कहा, उसकी वीरता कही और सीता हरण पर उसे खल कहा; क्योंकि संत लोग अपने अहित पर किसीको बुरा नहीं कहते, पर दूसरे के दुःख देने पर भले ही कुछ कहें। यह भी भाव है कि मुझे अपनी दुर्गति से अधिक श्रीसीताजी का ही दुःख है।

(३) 'लै दच्छिन दिसि · · '—'गोसाईं' अर्थात् आप पृथिवी-भर के स्वामी हैं, कहीं भी जाकर वह आपसे छिप नहीं सकता। 'निसपति अति···'—श्रीसीताजी ने विलाप में कहा था—"विपति मोरि को प्रभुहि सुनावा तदनुसार जटायुजी सुना रहे हैं। स्वयं पक्षी हैं, इससे टिटिहरी की उपमा दी है। वह बड़े करुण-स्वर से 'टीं टीं' करती हुई आकाश में उड़ती है। उसी तरह रोती हुई श्रीसीताजी को वह दुष्ट आकाश मार्ग से ले गया है ; इस तरह श्रीसीताजी का अत्यन्त विलाप सूचित किया।

(४) 'दरस लागि प्रभु ······'—भीष्म ने उत्तरायण सूर्य के लिये प्राण रोक रक्खे थे, वैसे इन्होंने दर्शनों के लिये प्राण रक्खे। 'कृपानिधाना'—आपने कृपा करके वह भी पूरा किया। गृध्रराज की दो लालसाएँ थीं—मरते समय श्रीरघुवीर के दर्शन और श्रीसीताजी की विपत्ति श्रीरामजी को सुनाना। गी० आ० १२ का प्रमाण ऊपर दिया गया। तथा—"न मैत्री निर्व्यूढा दशरथनृपे राज्यविषया न वैदेही त्राता हठहरणतो राक्षसपतेः। न रामस्यास्येन्दुर्नयनविषयोऽभूत्सुकृतिनो जटायोर्जन्मेदं वितथमभवद्धा-ग्यरहितम् ॥" (हनुमन्नाटक अं० ४) ; उन दोनों इच्छाओं को प्रभु ने पूरा किया।

(५) 'राम कहा तनु राखहु ताता।'; यथा—"मेरे जान तात ! कछू दिन जीजै। देखिय आप सुवन-सेवा-सुख मोहिं पितु को सुख दीजै॥ दिव्य देह इच्छा जीवन जग विधि मनाइ मँगि लीजै। हरि-हर-सुयश सुनाइ दरस दै लोग कृतारथ कीजै।" (गी० आ० १५) ; ये सब भाव यहाँ हैं कि आपके पुत्र नहीं और मेरे पिता नहीं—दोनों की अभिलाषाएँ पूरी हों।

'मुख मुसुकाइ···' यथा—"बोल्यो विहँग बिहसि रघुबर बलि कहउँ सुभाय पतीजै॥ मेरे मरिबे सम न चारि फल होंहि तो क्यों न कही जै। तुलसी उत्तर दियो मौनही परी मानों प्रेम सहीजै॥" (गी० आ० १५)। वही आगे यहाँ भी कहेंगे—'राखउँ देह नाथ केहि खाँगे।' इत्यादि। मुस्कुराये कि क्या आप मेरी परीक्षा ले रहे हैं ?

जा कर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा॥ ६॥
सो मम लोचन गोचर आगे। राखउँ देह नाथ केहि खाँगे॥ ७॥
जल भरि नयन कहहिं रघुराई। तात करम निज ते गति पाई॥ ८॥
पर-हित बस जिन्हके मन माहीं। तिन्ह कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥ ९॥
तनु तजि तात जाहु मम धामा। देउँ काह तुम्ह पूरनकामा॥ १०॥

दोहा—सीता-हरन तात जनि, कहेहु पिता सन जाइ।
जौं मैं राम त कुल-सहित, कहिहि दसानन आइ॥३१॥

अर्थ—जिनका नाम मरते समय मुख पर आ जाने से अधम भी मुक्त हो जाता है, यह वेद कहते हैं ॥६॥ वही आप मेरे नेत्रों के विषय होकर मेरे आगे प्राप्त हैं, (तो) हे नाथ ! किस कमी (पूर्ति) के लिये शरीर रक्खूँ ? ॥७॥ नेत्रों में जल भरकर श्रीरघुनाथजी कह रहे हैं—हे तात ! आपने अपने कर्म से सद्गति पाई ॥८॥ जिनके मन में पराये का हित बसता है, उनको संसार में कुछ दुर्लभ नहीं है ॥९॥ हे तात ! शरीर त्यागकर मेरे धाम को जाइये, आपको क्या दूँ, आप तो पूर्णकाम हैं ॥१०॥ हे तात ! सीता-हरण की बात पिता से जाकर न कहना। जो मैं राम हूँ ; तो दस मुखोंवाला रावण स्वय कुल-सहित आकर कहेगा ॥३१॥

विशेष—(१) 'जाकर नाम मरत '; यथा—"जाको नाम मरत मुनि दुर्लभ तुम्हहि कहाँ पुनि पैहौं ? ॥" (गी० आ० १३); तथा—"जन्म-जन्म मुनि जतन कराहीं । अंत राम कहि आवत नाहीं ॥" (कि० दो० ९); "अंतकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् । यः प्रयाति स मद्भाव याति नास्त्यत्र संशयः ॥" (गीता ८ ५); 'अधमउ मुकुति होइ' ' यथा—"अपत अजामिल गज गनिकाऊ । भये मुकुत हरि-नाम-प्रभाऊ ॥" (बा० दो० २५)। 'श्रुति गावा'—वेद भगवान् की साँस और गीता उनके वचन हैं। गीता का प्रमाण ऊपर दिया गया है।

(२) 'गोचर आगे'—'गोचर' पद-मात्र से दृष्टि की पहुँच तक का भाव रहता है, इसलिये 'आगे' भी कहा गया कि अत्यन्त समीप खड़े हैं। 'केहि खाँगे'—अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति से फिर कोई कमी नहीं रह जाती ; यथा—"यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ॥" (गीता ६।२२); तथा—"श्रवन वचन, मुख नाम, रूप चख, राम उछंग लियो हौं । तुलसी मो समान बड़ भागी को कहि सकै बियो हौं ॥" (गी० अ० १४); "मेरे मरिबे सम न चारि फल···" ऊपर लिखा गया। दोहावली में २२२ से २२७ तक इनकी मृत्यु सराही गई है, वहीं पर देखिये।

निषादराज ने कहा है—"समर मरन पुनि सुरसरि तीरा । राम काज छन भंग सरीरा ॥" (अ० दो० १८९); वे सब बातें यहाँ प्रत्यक्ष हैं, गंगाजी के मूलभूत ये चरण ही प्राप्त हैं, श्रीरामजी गोद में लिये हुए हैं, इत्यादि बातें बहुत अधिक हैं।

(३) 'जल भरि नयन कहत रघुराई।'—भक्त के दुःख पर करुणा से आँसू आ गये ; यथा—"सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना । भरि आये जल राजिव नयना ॥" (सुं० दो० ३१); 'रघुराई'—इतने बड़े रघुकुल के राजा होते हुए भी कृतज्ञता ऐसी है कि जटायु के उपकार पर कनौड़े बन रहे हैं। नेत्रों में आँसू भरे हैं। 'तात करम निज ते गति पाई।'—जटायु ने आपके नाम और रूप से मुक्ति कही है, उसपर कहते हैं कि तुम्हारी सद्गति मेरे नाम-रूप आदि से नहीं, किंतु तुम्हारे कर्म से ही हुई। उस कर्म को आगे कहते हैं—

(४) 'परहित बस जिन्हके ······'—'जग दुर्लभ कछु नाहीं' में अर्थ, धर्म और काम आ गये। 'गति पाई' से मोक्ष भी। पुनः यथा—"ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहितेरताः ॥" (गीता १२।४); अर्थात् सर्व जगत् भगवान् का शरीर है। अतः, सबका हित करना भी भगवदुपासना ही है ; यथा—"सदा सर्वगत सर्व-हित, जानि करेहु अति प्रेम ॥" (उ० दो० १६)।

भाव यह कि गति तो तुम अपने कर्म से पाते हो और जो हमारे लिये प्राण दिये—यह हमपर ऋण है।

(५) 'तनु तजि तात जाहु'' '—पहले प्रभु ने तन रखना कहा, जब उसने नहीं स्वीकार किया, तब कहते हैं—'तनु तजि···'। 'तुम्ह पूरन कामा'—देह के लिये ही सब कामनाएँ की जाती हैं, तुम देह भी

नहीं चाहते। देह को मेरी सेवा में लगाया, मुझे संदेशा कहने के लिये ही प्राण भी रक्खे थे। संसार में देह और प्राण ही प्रिय पदार्थ हैं; यथा—"देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।" (बा० दो० २०७); तो इसके बदले हम तुम्हें क्या दें ? अतः, मेरे धाम को जाओ। भगवान् का धाम उनका शरीर है। जटायु के शरीर-दान के बदले भगवान् अपना दिव्य धाम-रूप दिव्य शरीर दे रहे हैं, फिर भी आप कनौड़े बने हैं, यह आपकी उदारता है। सब कुछ देते हुए भी भक्तों के ऋणी रहना आपका स्वभाव है; यथा—"देवे को न कछू रिनियाँ हौं धनिक तु पत्र लिखाउ ॥" (वि० १००)।

(६) 'सीता हरन तात जनि '—जटायु ने रावण से कहा था—"राम रोष पावक अति घोरा। होइहि सकल सलभ कुल तोरा ॥" (दो० २८); इसे ही प्रतिज्ञा-द्वारा दृढ़ कर रहे हैं। 'जो मैं राम हूँ तो...' यह शपथ एवं प्रतिज्ञा की रीति है। ये पिता के सखा हैं और अर्चिरादि मार्ग से इन्द्रलोक होते हुए जायँगे, तो संभव है कि उनसे मिलते हुए यह प्रसंग भी उन्हें कहें, इसलिये मना करते हैं। इसका भाव गी० आ० १६ में स्पष्ट है; यथा—"मेरो सुनियो, तात ! सँदेसो। सीय-हरन जनि कहेहु पिता सों, ह्वै हैं अधिक अँदेसो ॥ रावरे पुन्यप्रताप अनल महँ अलप दिनन्हि रिपु दहि हैं। कुल समेत सुर सभा दसानन समाचार सब कहिहैं ॥" तथा—"तात त्वं निजतेजसैव गमितः स्वर्गं व्रज स्वस्ति ते, ब्रूमस्त्वेकमिमां वधूहृतिकथां तातान्तिके मा कृथाः ॥ रामोऽहं यदि तद्दिनैः कतिपयैर्व्रीडानमत्कंधरः, सार्धं बन्धुजनेन सेन्द्रविजयी वक्ता स्वयं रावणः ॥" (हनुमन्नाटक ५।१६)। ऐसा ही अंगदजी ने भी कहा है; यथा—"दिन दस गये...राम-विरोध..." (लं० दो० २०)। 'कहिहि दसानन' अर्थात् वह दसो मुखों से कहेगा क्योंकि उसके मुखों से कहे जाने में महत्त्व है।

गीध देह तजि धरि हरि-रूपा। भूषन बहु पटपीत अनूपा ॥१॥
स्यामगात बिसाल भुज चारी। अस्तुति करत नयन भरि बारी ॥२॥

अर्थ—गृध्रराज जटायु ने गृध्र-शरीर छोड़कर हरि-रूप धारण किया, वे बहुत-से आभूषण और उपमा-रहित (दिव्य) पीताम्बर पहने हुए हैं ॥१॥ उनका श्याम वर्ण शरीर है और विशाल चार भुजाएँ हैं। वे नेत्रों में जल भरे हुए स्तुति कर रहे हैं ॥२॥

विशेष—(१) 'हरि-रूपा'—यहाँ चतुर्भुज-रूप से तात्पर्य है, आगे स्पष्ट है। अर्चिरादि मार्ग से जाते हुए वैकुंठ तक इनका चतुर्भुज रूप रहेगा, उससे आगे साकेत-प्राप्ति में द्विभुज-रूप होकर जायँगे। उसी मार्ग में इन्द्रलोक पड़ता है, जिसपर उपर्युक्त संदेशा कहा गया है। किसी-किसी का यह भी मत है कि यहाँ कई कल्पों की मिश्रित कथाओं में से विष्णु-रूप के प्रसंग की प्रधानता है।

छंद—जय राम-रूप अनूप निर्गुन सगुन गुन प्रेरक सही।
दससीस - बाहु - प्रचंड - खंडन चंडसर मंडन मही।
पाथोद गात सरोज मुख राजीव आयत लोचनं।
नित नौमि राम कृपाल बाहु बिसाल भव-भय-मोचनं ॥१॥

बलमप्रमेयमनादिमजमव्यक्तमेकमगोचरं ।
गोबिंद गोपर द्वंद्वहर बिज्ञान-घन धरनीधरं।
जे राममंत्र जपंत संत अनंत जन-मन-रंजनं।
नित नौमि राम अकाम प्रिय कामादि खलदल-गंजनं ॥२॥

शब्दार्थ—मही=सत्य, शुद्ध। प्रचंड=प्रबल। चंड=तीक्ष्ण। अव्यक्त=अदृश्य। अप्रमेय=प्रमाण-रहित। द्वन्द्व=जन्म-मरण, शीत-उष्ण आदि परस्पर दो विरुद्ध वस्तुओं का जोड़ा। रंजन=चित्त प्रसन्न करना।

अर्थ—हे राम! आपका रूप उपमा-रहित है, आप निर्गुण, सगुण, हैं और सत्य ही शुभ गुणों के प्रेरक हैं, आपकी जय हो। दस शिरवाले रावण की प्रबल भुजाओं के खंड करने के लिये तीक्ष्ण बाण धारण करनेवाले, पृथिवी को भूषित करनेवाले। सजल (श्याम) मेघ के समान शरीर, कमल के समान मुख और लाल कमल के समान दीर्घ नेत्रवाले, आजानुबाहु, भव-भय के छुड़ानेवाले और कृपालु, हे श्रीरामजी! आपको मैं नित्य ही नमस्कार करता हूँ ॥१॥ प्रमाण-रहित बलवाले, अनादि, अजन्मा, अदृश्य, अद्वितीय, अगोचर, गोविन्द, इन्द्रियों से परे, जन्म-मरण आदि द्वन्द्वों के हरनेवाले, विज्ञान-समूह, पृथिवी के धारण करनेवाले, जो संत श्रीराम-मंत्र जपते हैं, उन अनन्त दासों के चित्त को आनंद देनेवाले, निष्कामता जिनको प्रिय है या निष्काम भक्तों के जो प्यारे हैं, काम आदि दुष्टों की सेना के नाश करनेवाले, हे श्रीरामजी! आपको मैं नित्य नमस्कार करता हूँ ॥२॥

विशेष—(१) 'जय राम रूप अनूप···'—'अनूप'; यथा—"निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै।" (उ० दो० ९२); 'निर्गुन सगुन'—आप गुणों के व्यापार-रूप जगत् के सम्यक् आधार हैं, यह सगुणत्व है और उनसे निर्लिप्त हैं, यही निर्गुणत्व है; यथा—"मयाततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥" (गीता ९।४); "जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने।" (उ० दो० १२); "जासु गुन रूप नहिं कलित निर्गुन सगुन संभु सनकादि सुक भगति दृढ़ करि गही।" (गी० उ० ६); सगुण होते हुए गुणों के प्रेरक हैं, जिससे त्रिदेवों के द्वारा जगद्व्यापार चलता है; यथा—"बिधि हरिहर बंदित पद रेनू।" (बा० दो० १४५); एवं शुभ गुणों के प्रेरक हैं, अतः ब्रह्म गायत्री के प्रतिपाद्य ब्रह्म आप ही हैं; क्योंकि ब्रह्म-गायत्री में परमात्मा से शुभ गुणों की प्रेरणा करने की प्रार्थना है।

(२) 'दससीस बाहु प्रचंड···'—रावण ने प्रचंड बाहुओं से मेरे पंख काटे हैं। उनके काटने के लिये ही आप तीक्ष्ण बाण धारण किये हुए हैं। जटायुजी को दिव्य शरीर के साथ ही दिव्य ज्ञान भी प्राप्त है, इसीसे भविष्य की बातें कह रहे हैं। पुनः इस दिव्य शरीर से 'जय' कहकर स्तुति-द्वारा अपने पितृ-भावसे आशीर्वाद भी दिया है। जिससे श्रीरामजी निशाचर-वध की प्रतिज्ञा में विजयी हों। इस तरह का भविष्य-वर्णन भाविक अलंकार भी कहा जाता है। 'मंडन मही'—रावण-वध से पृथिवी सुशोभित हुई, इसीसे आप पृथिवी के भूषणरूप हैं; यथा—"दससीस बिनासन बीस भुजा कृत दूरि महा महि भूरि रुजा॥" (उ० दो० १४)।

(३) 'पाथोद गात·· भव-भय-मोचनं'—सब अंगों को कह अंत में 'भव-भय-मोचनं' कहकर इसे सबके साथ सूचित किया है कि आपके सभी अंग भव-भय के छुड़ानेवाले हैं; यथा—"स्यामल गात

प्रनत भय मोचन ।" (सुं० दो० ४४); मुख —"देखि बदन पंकज भव-मोचन ।" (दो० ८); नेत्र— "राजीव बिलोचन भव-भय मोचन" (बा० दो० २१०); बाहु—"सुमिरत श्रीरघुबीर की बाहैं। होत सुगम भव उदधि अगम अति कोउ लाँघत कोउ उतरत थाहैं ॥" (गी० उ० १३); 'राजीव आयत लोचनं'—लाल कमल-दल के समान नेत्र कानों के पास तक लंबे हैं।

(४) 'गोविद गोपर'—गोविंद अर्थात् आप इन्द्रियों और उनके विषयों में भी अंतर्यामी रूप से प्राप्त हैं। साथ ही 'गोपर' भी कहा है कि आप इन्द्रियों से परे भी हैं; यथा—"मन गोतीत अमल अविनासी।" (उ० दो० ११०); अर्थात इन्द्रियों के विकारों से आप निर्लिप्त हैं। 'द्वंद्व हर', यथा— "द्वंद्व बिपति भव-फंद बिभंजय।" (उ० दो० ११), 'बिज्ञान घन'; यथा—"ज्ञान अखंड एक सीता-बर।" (उ० दो० ७७); 'धरनीधरं'—आप कमठ और बाराह रूप से पृथिवी के आधार हैं। 'अकाम प्रिय'; यथा—"ते तुम राम अकाम पियारे।" (दो० ५)। साथ ही 'कामादि खल दल गंजनं' भी कहा है। क्योंकि प्रभु कामी की तरह लीला करते हैं। अतः, उन्हें कोई कामी न समझे, कामी होते तो अकामियों के प्रिय न होते।

जेहि श्रुति निरंजन ब्रह्म ब्यापक बिरज अज कहि गावहीं।
करि ध्यान ज्ञान बिराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं।
सो प्रगट करुनाकंद सोभा-बृंद अगजग मोहई।
मम हृदय-पंकज-भृंग अंग अनंग बहु छबि सोहई॥
जो अगम सुगम सुभाव निर्मल असम सम सीतल सदा।
पश्यंति जं जोगी जतन करि करत मन गो-बस सदा।
सो राम रमानिवास संतत दास बस त्रिभुवन-धनी।
मम उर बसउ सो समन संसृति जासु कीरति पावनी॥

अर्थ—जिसे वेद निरंजन, ब्रह्म, व्यापक, निर्विकार और अजन्मा कहकर गाते हैं। जिसे मुनि अनेक प्रकार से ध्यान, ज्ञान, वैराग्य, योग (आदि साधन) करके पाते हैं॥ वही आप करुणा कंद (करुणा रूपी जल की वृष्टि करनेवाले मेघ), शोभा के समूह प्रकट होकर स्थावर-जंगम को मोहित कर रहे हैं। आपके अंग-अंग में बहुत-से कामदेवों की छवि शोभा दे रही है, वही आप मेरे हृदय रूपी कमल के भ्रमर हों ॥३॥ जो अगम और सुगम, निर्मल स्वभाव, विषम और सम एवं सदा शांत रहते हैं। जिनको योगी यत्न करके देखते हैं और सदा मन और इन्द्रियों को वश में किये हुए रहते हैं॥ सदा दासों के वश में रहनेवाले और तीनों लोकों के स्वामी रमानिवास वे ही श्रीरामजी, जिनकी पवित्र कीर्त्ति संसार के दुःख को नाश करनेवाली है, मेरे हृदय में बसें ॥४॥

विशेष—(१) 'जेहि श्रुति''करि ध्यान'''—इन दो चरणों में निर्गुन रूप कहा गया। 'मुनि जेहि पावहीं'—मुनि लोग जिसका अनुभव करते हैं।

(२) 'सो प्रगट करुनाकंद मम हृदय ···' इन दो चरणों में सगुण रूप कहते हैं। 'सो' अर्थात् वही निर्गुन ब्रह्म सगुन होता है, तब शोभा से चराचर को मोहता है; यथा—"फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भये जैसा॥" (कि० दो० १६); "देखत रूप चराचर मोहा।" (बा० दो० १०३)। 'करुनाकंद' अर्थात् भक्तों पर करुणा करके ही अवतार लेते हैं; यथा—"अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥" (बा० दो० ११५); "अवतरेउ अपने भगत हित ···" (बा० दो० ५१)।

(३) 'जो अगम सुगम सुभाव निर्मल'—कुयोगियों के लिये अगम्य हैं; यथा—"कुयोगिनां सुदुर्लभं" (दो० ३); और योगियों के लिये सुगम हैं; यथा—"पश्यंति जं जोगी जतन करि · " आगे कहा है। 'सुभाव निर्मल'—अगम सुगम होने में आपके स्वभाव में विकार नहीं है; किंतु साधकों के ही स्वभाव भेद से आपके दोनों भाव हैं; यथा—"तुलसी प्रभु सुभाव सुरतरु सों ज्यों दर्पन मुख कांति।" (वि० २३३)।

'असम सम सीतल सदा'—यहाँ भी भक्त-अभक्त-हृदय भेद से असम-सम कहे गये हैं; यथा—"जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पुन्य गुन दोषू॥···तदपि करहिं सम विषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥" (अ० दो० २१८)। आप तो सदा शीतल अर्थात् शांत एकरस ही हैं; यथा—"तुम चहुँ जुग रस एक राम ··" (वि० २६६); 'करत मन गो बस सदा'—क्योंकि मलिन मन और इन्द्रियों से रामरूप नहीं देखा जाता, यथा—"मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। राम रूप देखहि किमि दीना॥" (बा० दो० ११४); 'मम उर बसहु सो···'—श्रीरामजी ने कहा था—"देउँ काह तुम्ह पूरन कामा।" उसपर कहते हैं—"मम उर बसहु ··" फिर बसने का लाभ भक्ति-द्वारा होता है, इसलिये आगे भक्ति माँगते हैं—

यहाँ छंद में दो नियम-भंग हुए हैं—एक तो एक ही चौपाई (२ अर्द्धालियों) पर छंद अन्यत्र नहीं आया, पर यहाँ है। दूसरा—पिछली चौपाई के अंतिम शब्द को लेकर प्रायः छंद का प्रथम चरण लिखा जाता है, वह भी यहाँ नहीं है, क्योंकि गृध्रराज की मुक्ति भी तो औरों से विलक्षण हुई कि यहीं पर इन्हें दिव्यरूप मिल गया। प्रभु के कार्य में इन्होंने जीर्ण देह दी, तुरत प्रभु ने इन्हें दिव्य देह देकर सदा के लिये देहबंधन से मुक्त किया।

दोहा—अबिरल भगति माँगि बर, गीध गयउ हरि-धाम।
तेहि की क्रिया जथोचित, निज कर कीन्ही राम॥३२॥

अर्थ—अविरल भक्ति का वर माँगकर गृध्रराज भगवद्धाम को गये, उनकी क्रिया श्रीरामजी ने अपने हाथों से यथायोग्य (शास्त्रोक्त) रीति से की।

(२) वाल्मी० भा० स० ६८ में लिखा है कि प्रभु ने जटायु के गुणों पर श्रीलक्ष्मणजी के साथ शोच किया। कहा कि सीता-हरण की अपेक्षा मेरे लिये प्राण त्यागनेवाले इन गृध्रराज का दुःख मुझको अधिक है। मेरे लिये जैसे राजा दशरथ पूज्य और मान्य हैं वैसे श्रीजटायुजी भी; यथा—"राजा दशरथः श्रीमान्यथा मम महायशाः। पूजनीयश्च मान्यश्च तथायं पतगेश्वरः ॥" (श्लोक १९); हे लक्ष्मण! लकड़ी एकत्र करो, मेरे लिये प्राण देनेवाले इन गृध्रराज का मैं अग्निसंस्कार करूँगा। यज्ञ करनेवालों को, अग्नि-होत्रियों को, युद्ध में सामने लड़नेवालों को और भूमिदान करनेवालों को जो गति प्राप्त होती है—तुम उसीको प्राप्त हो। मैं तुम्हारा संस्कार करता हूँ। ऐसा कहकर उनके अपने बाँधवों के समान दुखी होते हुए श्रीरामजी ने दाह-क्रिया की। पिंडदान किया और उस मंत्र का जप किया, जो मृत प्राणी के लिये ब्राह्मण लोग जपते हैं। फिर दोनों भाइयों ने गोदावरी नदी में जाकर स्नान किया और उनके लिये तिलाञ्जलि दी।

इस स्तुति में नाम, रूप, लीला और धाम चारों का महत्त्व आया है। नाम—"जे राम मंत्र जपंत···"; रूप—"जय राम रूप अनूप ··"; लीला—"दससीसबाहुप्रचंडखंडन ··"; धाम—"गीध गयउ हरि धाम।"

कोमल चित अति दीन-दयाला। कारन बिनु रघुनाथ कृपाला ॥१॥
गीध अधम खग आमिष-भोगी। गति दीन्ही जो जाचत जोगी ॥२॥
सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय-अनुरागी ॥३॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी अत्यन्त कोमल-चित्त, अत्यन्त दीनदयालु और कारण-रहित कृपालु हैं ॥१॥ (उन्होंने) गृध्र अधम पक्षी, मांस के खानेवाले को वही गति दी, जिसको योगी लोग माँगा करते हैं ॥२॥ हे उमा! सुनो, वे लोग अभागे हैं, जो भगवान् को त्यागकर विषयों के अनुरागी होते हैं ॥३॥

विशेष—(१) 'कोमल-चित अति···'—'अति' दीपदेहली है, अत्यन्त कोमल चित्त हैं, इसीसे जटायु के दुःख पर अत्यंत दुखी हुए और शरीर रखने को कहा। अत्यन्त दीन दयालु हैं, इसीसे मुक्ति दी, अपने हाथ दाह-क्रिया की। और लोग कारण पाकर कृपा करते हैं, पर आप बिना कारण ही; यथा—"हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी ॥" (उ० दो० ४७); "अस प्रभु दीनबंधु हरि, कारन रहित दयाल।" (बा० दो० २११)।

शंका—जटायु ने श्रीसीताजी के लिये शरीर तक दे दिया और श्रीरामजी ने स्वयं कहा भी है, यथा—"तात करम निज ते गति पाई।" तब कारणरहित कृपालुता कैसी?

समाधान—जीवों में पुरुषार्थ एवं पुरुषार्थ की स्फूर्त्ति श्रीरामजी से ही होती है; यथा—"पौरुषं नृषु।" (गीता ७।८)। "सुनि संपाति बंधु कै करनी। रघुपति महिमा बहु बिधि बरनी ॥" (कि० दो० २६), इसीसे यहाँ वक्ता लोग प्रभु की कृपालुता आदि ही कह रहे हैं। गृध्रराज ने स्वयं भी अपनेको अधम आदि कहा है और सद्गति में प्रभु की कृपा ही को माना है। यहाँ उपदेश है कि अपनी करनी का अभिमान न होना चाहिये।

(२) 'गीध अधम खग आमिष भोगी।···'—यहाँ 'आमिष भोगी' को अधमता का लक्षण कहा और यह भी कि मांस भोजी को सद्गति नहीं मिलती; यथा—"यावन्ति पशुरोमाणि तावद्वर्षसहस्राणि।"

(भाग० ५।२६।१४) अर्थात् जो पशु की हत्या करते हैं—वे पशु की देह में जितने रोएँ हैं—उतने ही वर्षों तक नरक में रहते हैं। तथा—"यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वोह मारणम्। वृथा पशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि॥" (मनु० अ० ५); "यावन्ति पशुरोमाणि तावतो नरकान्व्रजेत्।" (कूर्म० पु० उ० अ० १७); "यो भुंक्ते च वृथा मांसं मत्स्यभोजी च ब्राह्मणः। हरेरनिवेद्यभोजी क्रिमिकुण्डं प्रयाति सः॥ स्वलोममान वर्षं च तद्भोजी तत्र तिष्ठति। ततो भवेन्म्लेच्छजातिस्त्रिजन्मनियतो द्विज॥" (ब्रह्मवै० पु० प्र० खं० अ० ३०)। 'गति दीन्ही···'; यथा—"खल मनुजाद द्विजामिष भोगी। गति पावहिं जो जाँचत जोगी॥" (ल० दो० ४४)। अर्थात् विधिवत् अष्टांग योग करके भी योगी लोग विनती करके माँगने से जो गति पाते हैं, वही गति दी।

(३) 'सुनहु उमा ते लोग···'—विषय को त्यागकर भगवान् का भजन करने से जीव भाग्यवान् होता है, परम गति पाता है ; यथा—"राम भजे गति केहि नहिं पाई।" (उ० दो० १२९) और विषयानुरागी होने से भगवान् से विमुख होकर नरक जाता है, अभागी कहा जाता है ; यथा—"अस प्रभु सुनि न भजहिं भ्रम त्यागी। नर मतिमंद ते परम अभागी॥" (ल० दो० ४१)। 'ते लोग'—गृध्र ने गति पाई, तो मनुष्य तो परम अधिकारी हैं ही ; यथा—"मानुष तनु गुन ज्ञान निधाना।" (अ० दो० १११); मनुष्य देह—"साधन धाम मोच्छ कर द्वारा।" है। इसे पाकर भी जिसने परलोक न बनाया, वह परम अभागी है।

"कबंध-वध"—प्रकरण

पुनि सीतहि खोजत दोउ भाई। चले बिलोकत बन बहुताई॥४॥
संकुल लता बिटप घन कानन। बहु खग-मृग तहँ गज पंचानन॥५॥
आवत पंथ कबंध निपाता। तेहिं सब कही साप कै बाता॥६॥
दुर्बासा मोहिं दीन्ही सापा। प्रभु-पद पेखि मिटा सो पापा॥७॥

शब्दार्थ—बहुताई = अधिकता, सघनता। संकुल = परिपूर्ण।

अर्थ—फिर दोनों भाई श्रीसीताजी को ढूँढ़ते हुए चले, वन की अधिकता (शोभा-सम्पन्नता) देखते जाते हैं॥४॥ लताओं और वृक्षों से परिपूर्ण वह वन सघन है, उसमें बहुत-से पक्षी, मृग, हाथी और सिंह हैं॥५॥ मार्ग में आते हुए कबंध को मारा, उसने सब शाप की बातें कहीं॥६॥ कि मुझे दुर्वासा मुनि ने शाप दिया था, प्रभु के चरणों के दर्शनों से वह पाप मिट गया॥७॥

विशेष—(१) 'पुनि सीतहि खोजत दोउ भाई।'—पहले खोजते थे—"येहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी।" से गृध्रराज का प्रसंग आ गया, वहाँ देर लगी और श्रीसीताजी का समाचार मिल गया, इससे विरह कुछ कम पड़ा। इसीसे अब केवल 'खोजत' कहते हैं, 'बिलपत' नहीं। पहले लता आदि से पूछते थे, किंतु अब उनकी शोभा ही देखते जाते हैं, पूछते नहीं। परन्तु 'खोजत' शब्द के अर्थ से खोजना अब भी सिद्ध हो रहा है, क्योंकि केवल दक्षिण दिशा को ले जाना ही मात्र तो जाना गया है ; यथा—"लै दच्छिन दिसि गयउ · " पर कहीं छिपा रक्खा हो ? अत, देखते जाते हैं। 'बन बहुताई' को आगे कहते हैं—'संकुल लता बिटप···'; यथा—"तां दिशं दक्षिणां गत्वा···गुल्मैर्वृक्षैश्च बहुभिर्लताभिश्च प्रवेष्टितम्।

आवृतं सवतो दुर्गं गहनं घोर दर्शनम् ॥" (वाल्मी० ३।६९।१–२); अर्थात् दोनों भाई दक्षिण दिशा की ओर गये। 'वह मार्ग गुल्मों [गुल्म वह पौधा है, जिसकी जड़ से कई पौधे निकलें, जैसे ईख, शर (सरपत) आदि] और लताओं, वृक्षों से भरा और घिरा हुआ था, वह देखने में भयानक और प्रवेश करने में कठिन था।'

(३) 'आवत पंथ कबंध···'— वहाँ से तीन कोस पूर्व क्रौंच वन मिला, फिर मार्ग में मतंगमुनि का भयानक वन मिला। इसके आगे फिर एक सघन वन मिला, उसमें मार्ग पर कबंध मिला। वह बहुत बड़ा था, उसके शिर और गर्दन न थे। वह कबन्ध था, उसके पेट में मुख था, तीखे रोम थे और पर्वत के समान वह ऊँचा था। वह नील मेघ के समान, भयानक और मेघ के समान गरजनेवाला था। ···उसकी छाती में भयानक आँख थी, जिससे वह बहुत देखता था। मुँह में बड़े-बड़े दाँत थे, उसके एक-एक योजन के लंबे हाथ थे जिनसे वह जानवरों को खींचता था।···वह इन दोनों भाइयों को खाने चला, त्योंही इन्होंने उसकी दोनों भुजाएँ काट डालीं। तब वह भूमि पर गिर पड़ा, फिर दीन होकर पूछा और परिचय पाकर प्रसन्न हुआ। तब उसने अपनी कथा कही—

मैं पहले बड़ा पराक्रमी था। सूर्य, चन्द्रमा और इन्द्र का-सा मेरा रूप था। पर मैं लोगों को डरवाने के लिये राक्षस बनता और ऋषियों को डरवाता था। अनन्तर स्थूलशिरा नामक ऋषि मुझपर अप्रसन्न हो गये। वे जंगली फल चुनते थे, तब मैंने उन्हें डरवाया था। इसपर उन्होंने क्रोध करके कहा कि तुम्हारा यही क्रूर और निन्दित-रूप सदा के लिये हो जाय। फिर मेरी प्रार्थना पर वे बोले कि जब श्रीरामजी तुम्हारे हाथ काटकर निर्जन वन में तुम्हें जलायेंगे; तभी तुम अपना सुन्दर रूप पाओगे। मैं दनु का पुत्र हूँ। पीछे मैंने तपस्या से ब्रह्मा को प्रसन्न किया और उनसे दीर्घायु पाई। तब मैंने अभिमान से इन्द्र को ललकारा। उन्होंने ऐसा वज्र मारा कि मेरा मस्तक और मेरे जंघे शरीर में घुस गये। मेरी प्रार्थना से उन्होंने मुझे मारा नहीं और ब्रह्माजी की बात रक्खी। मेरे जीवन-निर्वाह के लिये १–१ योजन लंबी भुजाएँ दीं और पेट में तीक्ष्ण दाँत दिये। इन्द्र ने कहा था कि जब श्रीरामजी को पकड़ोगे और वे तुम्हारी भुजाओं को काटेंगे, तब तुम स्वर्ग जाओगे। इसीसे मैं सुन्दर चीजें पकड़ता था कि कहीं श्रीरामजी मिल जायँगे। सलाह देकर मैं आपकी सहायता करूँगा। आप मेरा अग्नि-संस्कार कर दीजिये। यह सूर्यास्त से पहले ही हो जाय। तब मैं दिव्य-ज्ञान-युक्त होकर सलाह दूँगा।···शरीर के जलते ही अग्नि से उसका दिव्य-शरीर प्रकट हो गया, वह वस्त्राभूषण से युक्त था। वह हंसों के रथ पर सवार था, तेजस्वी एवं शोभायुक्त था। तब उसने श्रीसुग्रीवजी का और श्रीशबरीजी का परिचय दिया।" (वाल्मी० ३।७१–७२।)।

(४) 'तेहिं सब कही साप कै बाता ॥ दुर्बासा···'—दुर्वासाजी के विषय में इतना ही सुना जाता है कि यह किसी कारण उनपर हँसा था, तब उन्होंने इसे शाप दिया कि राक्षस हो जा। शेष कथा उपर्युक्त वाल्मीकीय रामायण की ही लेनी चाहिये। केवल दुर्वासा की जगह स्थूलशिरा मुनि का शाप देना मात्र भेद है। 'प्रभुपद पेखि···'—अर्थात् मुनि ने यही अनुग्रह भी किया था कि श्रीरामजी के चरण आने से ही तेरा उद्धार होगा।

सुनु गंधर्ब कहउँ मैं तोही। मोहि न सोहाइ ब्रह्मकुल-द्रोही ॥८॥

दोहा—मन क्रम बचन कपट तजि, जो कर भूसुर-सेव।

मोहि समेत बिरंचि सिव, बस ताके सब देव ॥३३॥

सापत ताड़त परुष कहंता। बिप्र पूज्य अस गावहिं संता ॥ १ ॥
पूजिय बिप्र सील गुनहीना। सूद्र न गुन गन ग्यान प्रबीना ॥ २ ॥

अर्थ—हे गंधर्व ! सुन, मैं तुझसे कहता हूँ—मुझे ब्राह्मण कुल से वैर करनेवाला नहीं सुहाता ॥८॥ मन कर्म वचन से कपट छोड़कर जो पृथिवी के देवता (ब्राह्मणों) की सेवा करता है, मुझ समेत ब्रह्मा शिव आदि सभी देवता उसके वश हो जाते हैं ॥३३॥ संत लोग ऐसा कहते हैं कि शाप देनेवाला, मारनेवाला और कठोर वचन कहनेवाला भी ब्राह्मण पूज्य है ॥१॥ शील और गुणों से रहित भी ब्राह्मण पूज्य है, किन्तु गुणगण और ज्ञान में निपुण भी शूद्र (पूज्य) नहीं है ॥२॥

विशेष—(१) 'मोहि न सुहाइ···'—मैं ब्रह्मण्यदेव हूँ, अतः ब्राह्मण-द्रोही मेरा द्रोही है, ब्राह्मण का भक्त मेरी प्रसन्नता का पात्र है।

(२) 'मन क्रम बचन कपट '—विप्र-सेवा में कपट का सर्वथा निषेध करते हैं, क्योंकि ब्राह्मण भगवान् की मूर्त्ति हैं; यथा—"मम मूरति महिदेव मई है।" (वि० १३१) और भगवान् को कपट नहीं भाता; यथा—"मोहि कपट छल छिद्र न भावा।" (सुं० दो० ४४); अर्थात् मन में उनकी भक्ति रहे, तन से सेवा कर्म करे और वचन से प्रिय बोले। उनसे स्वार्थ चाहना कपट है; यथा—"स्वारथ छल फल चारि बिहाई।" (अ० दो० ३००)। अथवा दिखाव के लिये ही सेवा करना छल है।

(३) 'मोहि समेत बिरंचि सिव···', यथा—"जौं बिप्रन्ह बस करहु नरेसा। तव तुम्ह बस बिधि बिष्णु महेसा ॥" (बा० दो० १६४); पर यहाँ दोहे में विष्णु की जगह अपनेको ही कहा है। इस तरह विष्णु भगवान् को अपने अभिन्नांश होने से अपृथक् जनाया। 'जो कर'—किसी भी वर्णाश्रम का हो।

(४) 'सापत ताड़त परुष कहंता।··'—कबंध ने दुर्वासा मुनि का शाप देना कहा था, इसलिये 'सापत' पहले कहा। शाप हृदय के क्रोध से लगता है; अतः, मन का विकार है। 'ताड़त' कर्म का और 'परुष कहंता' वचन-विकार है। ब्राह्मण तीनों से दोषी हों तब भी वे पूज्य ही हैं। ये तीनों बातें श्रीरामजी पर ही बीती हैं। श्रीनारदजी ने शाप दिया, श्रीभृगुजी ने लात मारी और श्रीपरशुरामजी ने परुष वचन कहे, पर आपने तीनों की पूजा ही की; यथा—"साप सीस धरि हरषि हिय, प्रभु बहु बिनती कीन्ह।" (बा० दो० १३७);—श्रीनारदजी से। "बिप्र चरन देखत मन लोभा।" (बा० दो० १९८); अर्थात् भृगु के चरण चिह्न को शोभा रूप में धारण किया है। "कर कुठार आगे यह सीसा···कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा।·· " (बा० दो० २८०–२८१);—श्रीपरशुरामजी से इस तरह निहोरा किया है। श्रीमद्भागवत में भी कहा है, यथा—"विप्रं कृतागसमपि नैव द्रुह्यत मामकाः। घ्नन्तं बहु शपन्तं वा नमस्कुरुत नित्यशः ॥ यथाहं प्रणमे विप्राननुकालं समाहितः। तथा नमत यूयं च योऽन्यथा मे स दण्डभाक् ॥" (१०।६४।४१–४२)।

(५) 'पूजिय बिप्र सील गुन हीना। ···'—इससे जनाया कि ब्राह्मण जाति से (जन्मना) ही पूज्य है, शूद्र जाति की दृष्टि से पूज्य नहीं। दोषों के होने से ब्राह्मण अपूज्य नहीं हो जाता। उसके सुधार का भार उसके जाति वर्ग एवं राज्य पर है ; निम्न वर्ग पर नहीं। निम्न वर्ग यदि श्रद्धा न रख सकें, तो भी लोक संग्रह के लिये अवश्य वर्तें। क्षत्रिय और वैश्य को न कहकर शूद्र ही को कहा क्योंकि शील-गुण हीन ब्राह्मण शूद्र के समान कहा गया है। इसपर कहा है कि ऐसा भी ब्राह्मण पूज्य है, पर शूद्र गुण गण एवं ज्ञान युक्त भी नहीं। तात्पर्य यह कि श्रेष्ठ ब्राह्मण के अभाव में उक्त गुणहीन ब्राह्मण ही पूजे जायँगे ; शूद्र श्रेष्ठ भी नहीं पूजे जा सकते। इसपर पूर्वोक्त दो० १४ चौ० ६ भी देखिये।

इसके लिये कोई-कोई श्रीगोस्वामीजी पर जातीय पक्षपात का दोष लगाते हैं। वे यह नहीं समझते कि उन विरक्त महापुरुष से जाति-पाँति का क्या संपर्क है, जो कहते हैं—"लोग कहैं पोच सुनि सोच न सँकोच मेरे, ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं।" (वि० ७६); "मेरे जाति पाँति न चहौं काहू की जाति-पाँति।" (क० उ० १०७) इत्यादि। श्रीगोस्वामीजी कट्टर मर्यादावादी थे। वे सनातन मर्यादा का भंग होना नहीं सह सकते थे। जैसे मर्यादा भंग देखकर ही श्रीबलरामजी श्रेष्ठ आसन पर बैठे हुए पुराण कहनेवाले सूत पर हल लेकर दौड़े थे। व्यास आदि महर्षियों ने भी ब्राह्मणों का महत्त्व बहुत कहा है।

कहि निज धर्म ताहि समुझावा। निज पद प्रीति देखि मन भावा॥ ३॥
रघुपति-चरन-कमल सिर नाई। गयउ गगन आपनि गति पाई॥ ४॥

अर्थ—अपना (खास, मुख्य) धर्म कहकर उसे समझाया, अपने चरणों में उसका प्रेम देखकर वह मन में भाया अर्थात् उसपर प्रसन्न हु ॥३॥ श्रीरघुनाथजी के चरण-कमलों में शिर नवा अपनी गति पाकर वह आकाश को गया ॥४॥

विशेष—(१) 'कहि निज धर्म···'—'निज धर्म'—ब्राह्मण भक्ति। पहले इसके पाप मिटे; यथा—"प्रभु पद देखि मिटा सो पापा।" ऊपर कहा है, तब धर्म की प्राप्ति हुई; यथा—"कहि निज धर्म ताहि समुझावा।" फिर धर्म-फल-रूप राम-पद-प्रीति कही गई; यथा—"जप जोग धर्म समूह ते नर भगति अनुपम पावई।" (दो० ६); तब कृतज्ञता एवं विदाई के रूप में प्रणाम किया। वा, निज धर्म से द्विजभक्ति प्राप्त हुई, उससे हरि-पद-प्रीति होती है; यथा—"भूत दया द्विज गुरु सेवकाई।···सब कर फल हरि भगति भवानी॥" (उ० दो० १२५); अतः, 'निज पद प्रीति देखि' कहा गया। 'मन भावा'—क्योंकि उपदेश का फल तुरत उसमें देखा। इससे प्रसन्न हुए; यथा—"उनके बचन प्रेम रस साने। सुनि रघुनाथ हृदय हरषाने॥" (उ० दो० ४१)।

(२) 'आपनि गति'—पूर्व में गंधर्व था, वही रूप पाया, यह रूप पाने पर अभी श्रीरामजी ने उसे—'सुनु गंधर्व···' कहा भी है। वाल्मीकीय रामायण में भी उसका पूर्व रूप गंधर्व का ही होना कहा गया है।

"सबरी गति दीन्हीं"—प्रकरण

ताहि देइ गति राम उदारा। सबरी के आश्रम पगु धारा॥ ५॥
सबरी देखि राम गृह आये। मुनि के बचन समुझि जिय भाये॥ ६॥
सरसिज-लोचन बाहु बिसाला। जटा-मुकुट सिर उर बनमाला॥ ७॥
स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। सबरी परी चरन लपटाई॥ ८॥
प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पद-सरोज सिर नावा॥ ९॥

अर्थ—उदार श्रीरामजी उसको गति देकर श्रीशबरीजी के आश्रम में पधारे॥५॥ श्रीशबरीजी ने

कर्म की दशा है। ये मन, वचन, कर्म से प्रेम में डूबी हैं। 'पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा।' यह अत्यन्त प्रेम के कारण है; यथा—"प्रेम विवस पुनि पुनि पद लागीं।" (बा० दो० ३३५)। यह सावों की प्रेम दशा है। "बार बार नावइ पद सीसा।" (कि० दो० ९) यह सुग्रीवजी की प्रेम-दशा है।

सादर जल लै चरन पखारे। पुनि सुंदर आसन बैठारे ॥१०॥

दोहा—कंद मूल फल सुरस अति, दिये राम कहँ आनि।
प्रेम-सहित प्रभु खाये, बारंबार बखानि ॥३४॥

अर्थ—आदर-पूर्वक जल लाकर (दोनों भाइयों के) चरण धोये, फिर सुन्दर आसन पर उनको बैठाया ॥१०॥ अत्यन्त रसीले और स्वादिष्ट कन्द, मूल, फल लाकर श्रीरामजी को दिये। प्रभु ने बार-बार उन (फलों) की प्रशंसा करते हुए प्रेमपूर्वक उन्हें खाया ॥३४॥

विशेष—(१) 'सादर जल लै चरन ···'—चरण धोना खड़े-खड़े ही हुआ, 'सुंदर आसन'—पुष्प आदि से सुसज्जित एवं पवित्र कुश का आसन।

(२) 'कंद मूल फल सुरस अति '—सुरस तो और मुनियों के कंद आदि भी थे, पर इनके 'अति सुरस' हैं। इन फलों में प्रधानतया प्रेम की ही माधुरी है ; यथा—"जानत प्रीति रीति रघुराई। "घर गुरु गृह प्रिय सदन सासुरे भइ जब जहँ पहुनाई। तब तहँ कहि सबरी के फलनि की रुचि माधुरी न पाई ॥" (वि० १६४)। भाव यह कि औरों के यहाँ अपनी श्रेष्ठता का कुछ मान रहा और शबरी नीच एवं मान रहित है ; अतः, इसने शुद्ध प्रेम से दिया। इसीसे वाल्मीकिजी ने भी इसीके यहाँ श्रीरामजी का सम्यक प्रकार से पूजित होना कहा है ; यथा—"शबर्या पूजितः सम्यग्रामो दशरथात्मजः।" (मूल रा०)। 'प्रेम सहित प्रभु खाये···'—बार-बार बखानते हैं, जितने कौर (ग्रास) लेते हैं, उतनी बार तो अवश्य ही बखानते हैं; यथा—"प्रभु खात पुलकित गात स्वाद सराहि···" (गी० आ० १०)। भोजन की प्रसंसा करने का शास्त्र में निषेध है, पर यहाँ तो प्रेम प्रधान है। प्रेम में नियम का उतना बंधन नहीं है, दूसरे बखान करनेवाले 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं—समर्थ को दोष नहीं होता ; यथा—"समरथ कहँ नहिं दोष गोसाईं। रबि पावक सुरसरि की नाईं ॥" (बा० दो० ६९)।

कुछ लोग कहते हैं कि यहाँ श्रीलक्ष्मणजी ने फल नहीं खाया। पर गीतावली में स्पष्ट लिखा है ; यथा—"प्रभु खात माँगत देत सबरी···बालक सुमित्रा कौसिला के पाहुने फल खात के ॥" (गी० आ० १०) ; गीतावली का यह पूरा पद पढ़ने ही योग्य है, विस्तार-भय से यहाँ नहीं लिखा जाता।

वाल्मीकीय रामायण और मानस रामायण में जूठे फल का खाना नहीं लिखा है। पर कुछ ग्रंथों में है ; यथा—"स्वावे वन बेर लागी राम की औसेर फल चाखे धरि राखे फिरि मीठे उन्हीं योग हैं ॥" (भक्तमाल टी० भ० र० बो० क० ३५) ; 'प्रेम्णानशिष्टमुच्छिष्ट भुक्त्वा फलचतुष्टयम्। कृता रामेण भक्तानां शबरी कबरीमणिः ॥" (प्रेमपत्तन) ; "फलमूलं समादाय परीक्ष्य परिभक्ष्य च। पश्चान्निवेदयामास राघवाय महात्मने ॥" (पद्मपुराण) ; अर्थात् बचे-खुचे जूठे चार फलों को प्रेम से भोजन करके श्रीरामजी ने शबरी को भक्तों की चूड़ामणि बना दी ॥ फल-मूल लाकर और खाकर उनको परीक्षा की तत्पश्चात् महात्मा श्रीरामजी को उन्हें निवेदन किया ॥

देखा कि श्रीरामजी घर में आये, तब वह मुनि के वचन स्मरण कर मन में प्रसन्न हुई ॥६॥ कमल के समान नेत्र, विशाल (आजानु) बाहु, शिर पर जटाओं का मुकुट और हृदय (छाती) पर वन-माला धारण किये हुए ॥७॥ सुन्दर श्याम गौर दोनों भाइयों के चरणों में श्रीशबरीजी लिपट गईं ॥८॥ प्रेम में डूबी हैं, मुँह से वचन नहीं निकलते, वे बार-बार चरण-कमलों में शिर नवा रही हैं ॥९॥

विशेष—(१) 'उदारा'—विराध, शरभंग, खर-दूषणादि, मारीच, जटायु और कबंध को गति दी। अब शबरी को भी गति देने जा रहे हैं—इससे उदार कहे गये। इनमें शरभंग ही एक मुनि थे, शेष सब अपात्र ही थे, पर उदार शिरोमणि ने सबको गति दी; यथा—"पात्रापात्र विवेकेन देशकाला द्यपेक्षणात्। वदान्यत्वं विदुर्वेदा औदार्यं वचसा हरे ॥" (श्रीभगवद्गुण दर्पण); 'पगु धारा'—जाने के अर्थ में आदर-सूचक मुहावरा है; यथा—"पुर पगु धारिय देइ असीसा।" (अ० दो० ११८); 'सबरी के आश्रम'—संतों के स्थान आश्रम कहाते हैं, श्रीशबरीजी तो श्रीरामजी की परम उपासिका हैं; यथा—"सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे।" (दो० ३५)। इसीसे इनकी कुटी को भी आश्रम कहा गया; यथा—"अपश्यतां ततस्तत्र शबर्या रम्यमाश्रमम् ॥" (वाल्मी० ३।७४।४), यह आश्रम मतंग ऋषि के आश्रम में ही है; यथा—"तेषां गतानामद्यापि दृश्यते परिचारिणी। श्रमणी शबरी नाम काकुत्स्थ चिरजीविनी ॥" (वाल्मी० ३।७३।२५)।

(२) 'मुनि के बचन समुझि जिय भाये।'—"जब श्रीरामजी चित्रकूट में थे, तभी मतंग मुनि परधाम जाते समय शबरीजी से कह गये थे कि तुम इसी आश्रम में रहो, तुम्हें श्रीरामजी के दर्शन प्राप्त होंगे। वे तुम्हारे अतिथि सत्कार को ग्रहण करेंगे और तुम उनके दर्शनों से कृतार्थ होकर अक्षय श्रेष्ठ लोकों को जाओगी। तब से श्रीशबरीजी वन के फल संचित करके श्रीरामजी की बाट देखा करती थीं।" (वाल्मी० ३।७४-१७); अब श्रीरामजी का आना उनके वचन (आशिष) से मान रही हैं, यह सोचकर कि मेरे भाग्य ऐसे कहाँ थे। यह भी भाव है कि मुनि के वचनों से इनके महत्त्व का भी ज्ञान हुआ कि ये ही परब्रह्म हैं; इससे भी अति-प्रीति है।

(३) 'सरसिज लोचन ···'—यहाँ लोचन से शृंगार का वर्णन होने से कोई यहाँ शृंगार-भावना को प्रधान कहते हैं। पर इनका श्रीरामजी में वात्सल्य भाव है; यथा—"सो जननि ज्यों आदरी सानुज राम भूखे भाय के।···तेहि मातु ज्यों रघुनाथ अपने हाथ जल अंजलि दई।" (गी० आ० १७); और माता की दृष्टि पुत्र के मुख पर पड़ती है; यथा—"जननिन्ह सादर बदन निहारे।" (बा० दो० ३५७); "जननी जियत बदन बिधु जोइहि।" (बा० दो० ६०)। नेत्र भी मुखमंडल में ही हैं, अतएव श्रीशबरीजी की दृष्टि के अनुसार कहा गया है। 'उर बन माला'—वनमाला प्रथम यहाँ नहीं कही गई थी, संभवतः यहाँ के मुनियों ने पहनाई हो। श्रीकौशल्याजी के समक्ष भी प्रकट होने पर वनमाला कही गई है; यथा—"भूषन बनमाला··" (बा० दो० १९१)। वैसे यहाँ भी, इससे भी इनका वात्सल्य भाव प्रकट है। वनमाल में—तुलसी, कुंद, मदार, पारिजात और कमल—ये पाँच दल-पुष्प होते हैं। उनमें तुलसी प्रधान है। इसके द्वारा श्रीशबरीजी को आश्वासन भी देते हैं कि हमने दैत्य (जलंधर) की स्त्री को पावन करके धारण किया है, फिर तुम्हें तो अवश्य ही धारण एवं आदर करेंगे।

(४) 'सबरी परी चरन लपटाई'—प्रेम की विह्वलता से चरणों में लिपटना कहा गया है। यथा—"बहु बिधि बिलपि चरन लपटानी।"(अ० दो० ५१)—यह श्रीकौशल्याजी के लिये भी कहा गया है।

(५) 'प्रेम मगन मुख ··'—'प्रेम मगन—मन की दशा, 'बचन न आवा'—वचन और 'सिरनावा'—

कर्म की दशा है। ये मन, वचन, कर्म से प्रेम में डूबी हैं। 'पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा।' यह अत्यन्त प्रेम के कारण है; यथा—"प्रेम विवस पुनि पुनि पद लागीं।" (बा० दो० ११५)। यह स्त्रियों की प्रेम दशा है। "बार बार नावइ पद सीसा।" (कि० दो० ९) यह सुग्रीवजी की प्रेम-दशा है।

सादर जल लै चरन पखारे। पुनि सुंदर आसन बैठारे ॥१०॥

दोहा—कंद मूल फल सुरस अति, दिये राम कहँ आनि।
प्रेम-सहित प्रभु खाये, बारंबार बखानि ॥३४॥

अर्थ—आदर-पूर्वक जल लाकर (दोनों भाइयों के) चरण धोये, फिर सुन्दर आसन पर उनको बैठाया ॥१०॥ अत्यन्त रसीले और स्वादिष्ट कन्द, मूल, फल लाकर श्रीरामजी को दिये। प्रभु ने बार-बार उन (फलों) की प्रशंसा करते हुए प्रेमपूर्वक उन्हें खाया ॥३४॥

विशेष—(१) 'सादर जल लै चरन···'—चरण धोना खड़े-खड़े ही हुआ, 'सुंदर आसन'—पुष्प आदि से सुसज्जित एवं पवित्र कुश का आसन।

(२) 'कंद मूल फल सुरस अति··'—सुरस तो और मुनियों के कंद आदि भी थे, पर इनके 'अति सुरस' हैं। इन फलों में प्रधानतया प्रेम की ही माधुरी है ; यथा—"जानत प्रीति रीति रघुराई। ··घर गुरु गृह प्रिय सदन सासुरे भइ जब जहँ पहुनाई। तब तहँ कहे सबरी के फलन की रुचि माधुरी न पाई ॥" (वि० १६४)। भाव यह कि औरों के यहाँ अपनी श्रेष्ठता का कुछ मान रहा और शबरी नीच एवं मान रहित है ; अतः, इसने शुद्ध प्रेम से दिया। इसीसे वाल्मीकिजी ने भी इसीके यहाँ श्रीरामजी का सम्यक् प्रकार से पूजित होना कहा है ; यथा—"शबर्या पूजितः सम्यग्रामो दशरथात्मजः।" (मूल रा०)। 'प्रेम सहित प्रभु खाये···'—बार-बार बखानते हैं, जितने कौर (ग्रास) लेते हैं, उतनी बार तो अवश्य ही बखानते हैं; यथा—"प्रभु खात पुलकित गात स्वाद सराहि···" (गी० आ० १७)। भोजन की प्रसंसा करने का शास्त्र में निषेध है, पर यहाँ तो प्रेम प्रधान है। प्रेम में नियम का उतना बंधन नहीं है, दूसरे बखान करनेवाले 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं—समर्थ को दोष नहीं होता ; यथा—"समरथ कहँ नहिं दोष गोसाईं। रवि पावक सुरसरि की नाईं ॥" (बा० दो० ६८)।

कुछ लोग कहते हैं कि यहाँ श्रीलक्ष्मणजी ने फल नहीं खाया। पर गीतावली में स्पष्ट लिखा है ; यथा—"प्रभु खात माँगत देत सबरी···बालक सुमित्रा कौसिला के पाहुने फल खाग के ॥" (गी० आ० १७) ; गीतावली का यह पूरा पद पढ़ने ही योग्य है, विस्तार-भय से यहाँ नहीं लिखा जाता।

वाल्मीकीय रामायण और मानस रामायण में जूठे फल का खाना नहीं लिखा है। पर कुछ ग्रंथों में है ; यथा—"ल्यावे वन बेर लागी राम की औसेर फल चाखे धरि राखे फिरि मीठे उन्हीं योग हैं ॥" (भक्तमाल टी० भ० र० बो० क० ३५) ; 'प्रेम्णावशिष्टमुच्छिष्टं भुक्त्वा फलचतुष्टयम्। कृता रामेण भक्तानां शबरी कबरीमणिः ॥" (प्रेमपत्तन) ; "फलमूलं समादाय परीक्ष्य परिभक्ष्य च। पश्चान्निवेदयामास राघवाय महात्मने ॥" (पद्मपुराण) ; अर्थात् बचे-खुचे जूठे चार फलों को प्रेम से भोजन करके श्रीरामजी ने शबरी को भक्तों की चूड़ामणि बना दी ॥ फल-मूल लाकर और खाकर उनकी परीक्षा की तत्पश्चात् महात्मा श्रीरामजी को उन्हें निवेदन किया ॥

श्रीशबरीजी श्रीरामजी को परब्रह्म जानती थीं, फिर भी उनका वात्सल्य भाव था। इस भाव से दोष नहीं होता। शबरीजी प्रेम से-विह्वल थीं, उन्हें देहाध्यास भी नहीं था। श्रीरामजी स्वयं भी कह रहे हैं—"मानउँ एक भगति कर नाता। जाति पाँति कुल धरम बड़ाई।···भगतिहीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिय जैसा॥" इत्यादि। यदि कहा जाय कि प्रभु तो मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं, तो उत्तर यह है कि शबरी की दृष्टि में वे राजकुमार नहीं हैं। प्रभु भक्तों के भाव के अनुसार वर्त्तते हैं। इस दृष्टि से वह पक्ष भी संगत हो सकता है।

श्रीगोस्वामीजी ने उस पक्षवालों के लिये भी 'सुरस' पद देकर अवकाश दे दिया है कि उसने स्वाद की परीक्षा करके 'सुरस' कन्द-मूल-फल दिये होंगे। पर स्वयं तो स्पष्ट नहीं लिखा है।

पानि जोरि आगे भइ ठाढ़ी। प्रभुहि बिलोकि प्रीति अति बाढ़ी॥१॥
केहि बिधि अस्तुति करउँ तुम्हारी। अधम जाति मैं जड़ मति भारी॥२॥
अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी॥३॥

अर्थ—हाथ जोड़कर आगे खड़ी हुई तथा प्रभु को देखकर प्रीति अत्यन्त बढ़ गई॥१॥ (और बोली—) मैं किस प्रकार आपकी स्तुति करूँ? क्योंकि मैं अधम जाति की हूँ और बड़ी ही जड़बुद्धि हूँ॥२॥ स्त्री अधम-से-अधम में भी अत्यन्त अधम होती हैं, उनमें भी हे पाप नाशक! मैं ओछी बुद्धि की हूँ॥३॥

विशेष—(१) 'पानि जोरि आगे···'—अभी तक बैठी-बैठी फल आदि खिला रही थी, प्रभु के भोजन कर लेने पर हाथ जोड़कर खड़ी हुई, अभी तक चित्तवृत्ति पूजा में भी बँटी थी। इससे सामान्य रूप में प्रीति बढ़ी थी, अब एकाग्र-चित्त से दर्शन करने लगी, तो अत्यन्त प्रीति बढ़ी। कैसी बढ़ी? इसे ध्वनि से जनाया कि वह खड़ी हुई शबरीजी नहीं हैं मानों अत्यन्त बढ़ी हुई उनकी मूर्तिमती प्रीति ही है।

(२) 'केहि बिधि अस्तुति···'—पूजा के पीछे स्तुति करनी चाहिये, उसपर कहती हैं कि स्तुति करने की योग्यता विद्या-बुद्धि से होती है, वह मुझमें नहीं है। अधम जाति की होने से विद्या नहीं पढ़ सकी और बुद्धि जड़ ही नहीं, किंतु अत्यंत जड़ है। स्त्रियों की बुद्धि स्वभावतः जड़ होती है; यथा—"अबला अबल सहज जड़ जाती॥" (उ० दो० ११४); मैं अधम जाति की हूँ, इससे भारी जड़मति हूँ। 'तुम्हारी'—कहाँ आप! कि जिसकी स्तुति में ब्रह्मादिक असमर्थ हैं और कहाँ मैं अधम जाति एवं भारी जड़मति! अर्थात् आप अपनी कृपा से ही प्रसन्न हों।

(३) 'अधम ते अधम···'—जाति की अधम तो पहले ही कह चुकी है कि भील की जाति अधम है। उन अधमों में भी मैं अधम हूँ; अर्थात् जाति से भी निकाली हुई भ्रष्ट हूँ; यथा—"जाति हीन अघ जन्म महि···" (दो० ३६); अथवा नारी होने से मैं अधम हूँ फिर मैं तो वर्णसंकर जाति में हूँ, इससे अति अधम हूँ। 'अघारी'—आप पाप के नाश करनेवाले हैं और मैं पापिनी हूँ; यथा—"मैं नारि अपावन प्रभु जग पावन रावनरिपु जन सुखदाई।" (बा० दो० २१०)।

भगवान् श्रीरामजी अपने नाम, रूप, लीला और धाम सभी से पापनाशक हैं नाम; यथा—"जासु नाम

पावक अघ-तूला।" (अ० दो० २४७) ; रूप ; यथा—"सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥" (सुं० दो० ४४) ; लीला ; यथा—"मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई॥" (उ० दो० १२५) ; धाम ; यथा—"देखत पुरी अखिल अघ भागा।" (उ० दो० २८)।

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥४॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥५॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिय जैसा॥६॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी ने कहा—हे भामिनि ! बात सुनो, मैं एक भक्ति का ही सम्बन्ध मानता हूँ॥४॥ जाति-पाँति, कुल, धर्म, बड़ाई, धन, बल, कुटुम्ब, गुण और चतुरता (इनके होते हुए भी) भक्ति से रहित मनुष्य कैसा सोहता है, जैसा बिना जल का मेघ (शोभा-रहित) देख पड़ता है॥५-६॥

विशेष—(१) 'मानउँ एक भगति कर नाता' ; यथा—"जानत प्रीति रीति रघुराई। नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई।" (वि० १६४) ; "अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही॥ सब मम प्रिय नहिं तुम्हहिं समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना॥" (उ० दो० १५) ; "ये भजंति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥" (गीता ९।२९) ; भक्ति के समक्ष जिन नातों को नहीं मानते, उन्हें आगे गिनाते हैं—

(२) 'जाति पाँति कुल··· भगति-हीन···'-शबरीजी ने अपनेको 'अधम जाति' कहा था, इसीसे नाता-निराकरण में पहले जाति ही कही। जाति-पाँति आदि जो १० गिनाई गई हैं, इनका गौरव भक्ति का बाधक है ; यथा—"सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥ ये सब राम भगति के बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक॥" (कि० दो० ६) ; ये दसों गुण बिना जल के बादल हैं ; अतः, व्यर्थ हैं। 'सोहइ'—का भाव यह कि इन गुणों से युक्त व्यक्ति इनसे अपनी शोभा मानता है, पर वह दूसरों की दृष्टि में वैसा ही शोभा-हीन है, जैसा बिना जल का बादल। भक्ति जल है ; यथा—"राम भगति जल मम मन मीना।" (उ० दो० ११०) ; इससे युक्त होने से उन गुणों की भी शोभा है। कहा भी है—"भक्त्या तुष्यति केवलैर्न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः॥"

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥७॥
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥८॥

दोहा—गुरु-पद-पंकज-सेवा, तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुनगन, करइ कपट तजि गान॥३५॥

अर्थ—मैं तुमसे नवधा-भक्ति कहता हूँ, सावधान होकर सुनो और (उसे) मन में धारण करो॥७॥ संतों की संगति (करना) प्रथम भक्ति है, मेरी कथाओं के प्रसंगों में प्रेम करना दूसरी भक्ति है॥८॥

अभिमान-रहित होकर गुरुजी के चरण-कमलों की सेवा करना तीसरी भक्तिजी है, कपट छोड़कर मेरे गुण-समूह का गान करना चौथी भक्ति है ॥३५॥

विशेष—(१) 'नवधा भगति कहउँ···'—जिस भक्ति के विना सब गुण व्यर्थ हैं, उसे कहते हैं—नवधा (नव = नौ, धा = प्रकार) अर्थात् वह नौ प्रकार की है। सुनकर उसे मन में धारण करो।

श्रीरामजी पहले भी श्रीलक्ष्मणजी से नवधा-भक्ति कह आये हैं ; यथा—"श्रवनादिक नव भगति दृढ़ाहीं ॥" (दो० १५); पर उससे यह नवधा भिन्न है। वह प्रवृत्ति-युक्त अधिकारियों की है और यह निवृत्तिवालों की है, क्योंकि यह तपस्विनी श्रीशबरीजी से कही जा रही है।

(२) 'संतन्ह कर संगा'—बहुत-से संतों से सत्संग करे, न जाने किससे पदार्थ की प्राप्ति हो।

(३) 'दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।'—पहले संतों का संग करना कहकर तब कथा-प्रसंग में रति कही, क्योंकि सत्संग से ही कथा-प्रसंग का मर्म जाना जाता है ; यथा—"बिनु सतसंग न हरि-कथा।" (उ० दो० ६१); कथा के प्रसंगों में प्रीति का होना यह कि कथाओं के सुनने में प्रेम करना और उनका तात्पर्य समझना।

(४) 'गुर-पद-पंकज-सेवा···'—अमान होकर अर्थात् उनका मान करे, स्वयं अमान रहे, दास बनकर उनकी सेवा करे। गुरु-भक्ति, यथा—"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥" (श्वेता० ६।२३); अर्थात् परमात्मा देव में जिसकी पराभक्ति है, जैसी भक्ति देव में है, वैसी ही गुरु में—ये अर्थ उस महात्मा के ही जानने में आते हैं। इस श्रुति का तात्पर्य यह कि गुरु-भक्ति से भगवत्तत्व हृदय में प्रकाशित होता है; अन्यथा सुनी अनसुनी हो जाती है। ऊपर कथा प्रसंग में रति कहकर तब गुरुभक्ति कहने का यही आशय है कि अमान होकर गुरुजी के द्वारा कथा के रहस्य को समझे, तब वह रहस्य हृदय में प्रकाशित होगा; यथा—"सूझहिं राम-चरित-मनि-मानिक···" (बा० दो० १) कहा ही है; यथा—"बिनु गुरु होइ कि ज्ञान।" (उ० दो० ८९); तथा—"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥" (गीता ४।३४); तथा—"तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्। शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥ तत्र भागवतान्धर्माञ्छिक्षेद्गुर्वात्मदैवतः। अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मात्मदो हरिः ॥" (भाग० ११।३।२१–२२), अर्थात् जिसको अपना परम कल्याण जानने की इच्छा हो, उसे वेद के ज्ञाता और परब्रह्म में स्थित शान्त-स्वरूप गुरु की शरण में जाना चाहिये। और गुरु को ही आत्मा एवं इष्टदेव समझकर निष्कपटभाव से उनकी सेवा करके उन भागवत धर्मों को सीखना चाहिये, जिनसे अपने-आपको दे डालनेवाले परमात्मा हरि प्रसन्न हो जाते हैं—यह प्रबुद्ध नाम योगीश्वर ने महाराजा निमि से कहा है।

(५) 'मम गुनगन, करइ कपट तजि गान।'—किसी को रिझाने एवं धन कमाने के लिये गुण-गान करना कपट-सहित है। पहले 'रति-कथा प्रसंग' में सुनकर विचारना कहा गया था। तब गुरु-निष्ठा द्वारा उसका साक्षात्कार करना कहा। अब स्वयं भी गान (कीर्त्तन) करने को कहते हैं। ग्रन्थकार ने भी ऐसा ही किया है; यथा—"मैं पुनि निज गुरु-सन सुनी, कथा सो सूकरखेत।···भाषाबद्ध करबि मैं सोई।" (बा० दो० ३०); कीर्त्तन-भक्ति का माहात्म्य श्रीमद्भागवत में लिखा है ; यथा—"सङ्कीर्त्यमानो भगवाननन्तः श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम्। प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं यथातमोऽर्कोऽभ्रमिवाति वातः ॥" (१२।१२।४७); अर्थात् कीर्त्तन के प्रभाव से भगवान् शीघ्र ही भक्तों के हृदयावशिष्ट हो जाते हैं और भक्तों के हृदय के सम्पूर्ण विकारों का विनाश कर देते हैं। जैसे सूर्य तम को और वायु बादलों को; अर्थात् पहले

ज्ञान-रूप सूर्य के द्वारा अज्ञानान्धकार हटाते हैं, फिर काम-क्रोधादि रूपी मेघपटल को छिन्न-भिन्न कर देते हैं और भक्तों के हृदयाकाश को निर्मल कर देते हैं; यथा—"य एतद्देवदेवस्य विष्णोः कर्माणि जन्म च। कीर्तयेच्छ्रद्धया मर्त्यः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतारवीर्याणि बालचरितानि च शन्तमानि। अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन्मनुष्यो भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत् ॥" (भाग० ११।३१।२७-२८); अर्थात् जो मनुष्य देवदेव भगवान् के दिव्य जन्म-कर्मों का श्रद्धा-पूर्वक कीर्तन करता है, वह समस्त पापों से छूट जाता है। भगवान् हरि के मनोहर कल्याणकारी अवतार, पराक्रम तथा बाल-लीलाओं को सुनने तथा उनका गान करने से मनुष्य परमहंसों की गति-स्वरूप भगवान् में पराभक्ति को प्राप्त होता है।

मंत्र-जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद-प्रकासा ॥ १ ॥
छठ दमसील बिरति बहु कर्मा। निरत निरंतर सज्जन-धर्मा ॥ २ ॥
सातवँ सम मोहिमय जग देखा। मोते संत अधिक करि लेखा ॥ ३ ॥
आठवँ जथालाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा ॥ ४ ॥
नवम सरल सब सन छल-हीना। मम भरोस हिय हरष न दीना ॥ ५ ॥

अर्थ—मेरे मंत्र का जप और मेरा दृढ़ विश्वास, यह पाँचवीं भक्ति वेदों में प्रसिद्ध है ॥१॥ दमशील (इन्द्रिय-दमन में तत्पर), बहुत कर्मों से वैराग्य और निरंतर सज्जनों के धर्म में तत्पर रहना छठी भक्ति है ॥२॥ जगत्-भर को एक समान मुझ मय (राम-मय) देखे और संतों को मुझसे अधिक देखे, यह सातवीं भक्ति है ॥३॥ जो कुछ प्राप्त हो, उसीमें संतुष्ट रहना, स्वप्न में भी पराये दोषों को न देखना, यह आठवीं भक्ति है ॥४॥ सरल (सीधा-सादा) स्वभाव, सबसे छल-रहित, हृदय में मेरा भरोसा एवं हर्ष-दीनता न होना, यह नवीं भक्ति है ॥५॥

विशेष—(१) 'मंत्र जाप मम···'—जप; यथा—"मनोमध्येस्थितो मंत्रो मंत्रमध्ये स्थितं मनः। मनोमंत्रसमायोगो जप इत्यभिधीयते ॥" अर्थात् मंत्र का अर्थ हृदय में स्थिर हो और मन मंत्र ही के आराधन में लगा रहे, इन दोनों की एकत्रता जप है। ऐसे ही नित्य जप करे; यथा—"मंत्रराज नित जपहिं तुम्हारा ॥" (अ० दो० १२८); साथ ही मंत्रार्थभूत मंत्र के देवता एवं उसके शब्दार्थ भूत उसके गुणों पर चित्त रहना चाहिये; यथा—"मननात्त्राणनान्मंत्रः।" तथा—"मंत्रोऽयं वाचको रामो वाच्यः स्याद्योग एतयोः। फलदश्चैव सर्वेषां साधकानां न संशयः ॥" (श्रीरामतापनीय उ०)। दृढ़ विश्वास भी चाहिये; क्योंकि बिना विश्वास के सिद्धि नहीं होती; यथा—"कवनिउँ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।" (उ० दो० ८९); बिना विश्वास के देवता का साक्षात्कार नहीं होता; यथा—"भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ। याभ्यां बिना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥" (बा० मं०)। 'वेद-प्रकासा'—ऋग्वेद की मंत्र-रामायण, रामतापनीय और रामोपनिषद् से राम-मंत्र विशेष प्रसिद्ध है।

(२) 'छठ दमसील···'—दमशील होना संत-लक्षण है; यथा—"सम-दम-नियम-नीति नहिं डोलहिं।" (उ० दो० ३७); 'बिरति बहु कर्मा'; यथा—"नर बिबिध कर्म अधर्म बहुमत सोक प्रद सब त्यागहू।" (दो० ३६); तथा—"अन्ये विहाय सकलं सदसत्कार्यं श्रीरामपंकजपदं सततं स्मरन्ति···" (महारामायण), तात्पर्य यह कि शरीर-निर्वाह-मात्र कर्म करे, बहुत न करे कि जिससे भजन

का अवकाश न मिले। 'सज्जन-धर्मा'; यथा—"जननी-जनक-बंधु-सुत-दारा।···सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी॥···अस सज्जन···" (सुं० दो० ४७)।

(३) 'सातवँ सम···'; "सरग-नरक-अपबरग समाना। जहँ-तहँ देख धरे धनु-बाना॥" (अ० दो० १३१)। भाव यह कि भगवान् सबमें समान भाव से हैं। जगत् का वर्त्ताव उन्हीं की प्रेरणा से प्रत्येक जीव के परस्पर कर्मानुसार हो रहा है। ऐसी दृष्टि से व्यवहार में राग-द्वेष न होगा। उसका जगद्व्यवहार ही भक्ति-रूप में हो जायगा; यथा—"सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थित.। सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगीमयि वर्तते॥" (गीता ६।३१)। 'मोते संत अधिक···'; यथा—"मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥···" से "अस बिचारि जोइ कर सतसंगा। राम-भगति तेहि सुलभ बिहंगा॥" (उ० दो० ११९) तक देखिये। संत श्रीरामजी को अत्यन्त प्यारे हैं, इससे भी उन्हें अधिक मानने को कहा। उनकी सेवा को श्रीरामजी अपनी सेवा की अपेक्षा अधिक मानते हैं। पहुँचे हुए संत शीघ्र श्रीरामजी को मिला देते हैं।

(४) 'आठवँ जथालाभ संतोषा···'—देह-निर्माण के साथ ही प्रारब्ध बन जाता है, तदनुसार निर्वाह होगा ही, अतएव संतोष रखना ही चाहिये। जिससे राग-द्वेष की बाधा न हो। पराया दोष देखने से अपना हृदय मैला होगा। उसकी बागडोर परमात्मा के हाथ है, वह सुधारेगा ही। किन्तु यह व्यवहार-रहित संतों के लिये है। पहले ही कहा गया कि यह नवधा-भक्ति निवृत्तिपरक है। व्यवहार-सहित संतों के लिये—"जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा।" (बा० दो० १); कहा गया है। वहाँ 'दुरावा' का अर्थ दूर करना, हटाना है, ढाँक देना नहीं, क्योंकि ढँकने में तो और उसे घूस मिलेगी, दुःख सहना क्यों कहा गया है?

(५) 'नवम सरल सब सन छल हीना।···'—सरलता संत-लक्षण है; यथा—"सरल सुभाव न मन कुटिलाई।" (उ० दो० ४५); 'मम भरोस···'—भगवान् सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् हैं और हमारे रक्षक हैं; ऐसा विचार रहने पर सब क्षर-भार उन्हीं पर रहेगा, इससे लाभ-हानि की रुचि ही न होगी, तब हर्ष एवं दीनता क्योंकर होगी; यथा—"यह क्षर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहै हौं।" (वि० १०१)।

नव महुँ एकउ जिन्हके होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥ ६॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरे। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे॥ ७॥
जोगि-बृंद दुर्लभ गति जोई। तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई॥ ८॥
मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥ ९॥

अर्थ—जिनको (हृदय में) नौ में से एक भी भक्ति होती है—स्त्री-पुरुष और चर-अचर कोई भी हो—वही मुझे अतिशय प्रिय है। हे भामिनि! तुममें तो सभी प्रकार की भक्तियाँ दृढ़ हैं॥६-७॥ योगी लोगों को जो गति दुर्लभ है, तुम्हें आज वह सुगमता से प्राप्त हो गई॥८॥ (क्योंकि) मेरे दर्शनों का परम उपमा-रहित फल यह है कि जीव अपना सहज स्वरूप पा जाता है॥९॥

विशेष—(१) 'सोइ अतिसय प्रिय···'—प्रिय तो सभी हैं, पर भक्त अतिशय प्रिय हैं; यथा—"सब मम प्रिय सब मम उपजाये।"; "पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥" (उ० दो० ८५); 'भामिनि'—क्योंकि श्रीशबरीजी भक्ति-संबंधी दिव्य गुणों से दीप्तिमती

है। 'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे'—औरों में एक प्रकार की भक्ति का होना, फिर भी उसका दृढ़ होना दुर्लभ है, पर तुममें तो सभी प्रकार की (नवधा, प्रेमा, परा) भक्तियाँ हैं और वे सब दृढ़ हैं।

(२) 'जोगिबृंद दुर्लभ गति '—योगी लोग योगशास्त्र की रीति से साधन करके भी कठिनता से मुक्ति पाते हैं; यथा—"जौ निर्बिघ्न पंथ निरबहई ··" (उ० दो० ११८)।

(३) 'मम दरसन फल परम'···'—जीव का सहज (स्वाभाविक) स्वरूप, यथा—"ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥" (उ० दो० ११६)। यह मायावश हुआ, तब योग-शास्त्र के कैवल्य ज्ञान के साधनों से फिर इसका मुक्त होना भी कहा गया है। वहाँ तीनों अवस्थाओं और तीनों गुणों से निर्मुक्त होने पर 'सोऽहमस्मि' यह वृत्ति प्राप्त हुई। तब ग्रन्थि निर्मुक्त होने पर उसका कृतार्थ (मुक्त) होना कहा गया है। वही अवस्था यहाँ दर्शन-मात्र से कैसे हुई? इसका उत्तर यह है कि ऊपर जो—"जोगिबृन्द दुर्लभ ··" में फल कहा गया, उसी का इस—"मम दरसन फल ·" से समाधान किया गया है कि इसने श्रीरामजी के दर्शनों के द्वारा ही उपर्युक्त फल प्राप्त किया है।

इस तरह कि ऊपर 'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे', से कहा गया कि इसमें सब प्रकार की नवधा, प्रेमा, परा भक्तियाँ दृढ़ हैं। यहाँ केवल नवधा ही के नवो प्रकार का अर्थ नहीं है, अन्यथा 'सकल प्रकार' की जगह नवो प्रकार कहा जाता। नवधा-मात्र कहने के लिये आपने प्रतिज्ञा की थी, इसलिये उतना ही कहा। "शबर्या पूजितः सम्यग्रामो दशरथात्मजः।" (वाल्मी० मू०); से भी इनमें सब भक्तियाँ सिद्ध होती हैं। इन तीनों भक्तियों के सहित इसने अच्छी तरह श्रीरामजी के दर्शन किये हैं, उसी का महत्त्व यहाँ श्रीरामजी ने कहा है।

स्थूल शरीराभिमानी जीव प्रथम नवधा-भक्ति के साथ श्रीरामजी के दर्शन करता रहता है। इसमें इन्द्रियों के विषय भगवान् ही रहते हैं। अतः, चित्तवृत्ति भगवान् में ही रहती है। फिर प्रेमा भक्ति-द्वारा सूक्ष्म शरीर के दोषों को शुद्ध करता हुआ, श्रीरामजी में चित्त रखता है और बुद्धि से उनके कृपा, सौहार्द आदि गुणों का विचार होने पर मन समग्र इन्द्रिय-वृत्तियों सहित प्रीति की उमंग में निमग्न रहता है। अत, दर्शनों में बाधा नहीं होती। पुनः पराभक्ति के दृढ़ अनुराग के प्रारंभ में विरहाग्नि से कारण-शरीर (वासनामय) के भस्म होने पर तुरीयावस्था में साधक स्वतः प्राप्त होता है, जो अवस्था वहाँ 'सोऽहमस्मि' इस वृत्ति पर कही गई है। इस पराभक्ति में भगवान् के प्रति इसकी स्वतः एकरस गाढ़ स्मृति रहती है; यथा—"सरग नरक अपबरग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनुबाना॥" (अ० दो० १३०); इसमें ग्रंथि छोड़ने की बाधाएँ (जो ज्ञान में कही गई हैं) कुछ नहीं कर पातीं; यथा—"भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥" (उ० दो० ११५)। अतः, यह उन ग्रंथियों से भी निर्मुक्त हो जाता है।

यहाँ तक के सब कार्य केवल श्रीरामजी के दर्शन-मात्र से हुए। अवस्थानुसार मन आदि इन्द्रियों के आधार के लिये नवधा आदि भक्तियाँ थीं। श्रुति भी यही कहती है; यथा—"भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥" (मुंडक० २।२।८)।

जनकसुता कइ सुधि भामिनी। जानहि कहु करिबर-गामिनी॥१०॥
पंपासरहि जाहु रघुराई। तहँ होइहि सुग्रीव-मिताई॥११॥
सो सब कहिहि देव रघुबीरा। जानतहूँ पूछहु मतिधीरा॥१२॥
बार बार प्रभु-पद सिर नाई। प्रेम-सहित सब कथा सुनाई॥१३॥

अर्थ—हे भामिनि ! करिवरगामिनी श्रीजनकसुता का कुछ समाचार जानती हो तो कहो ॥१०॥ हे रघुराई ! पंपासर पर जाइये, वहाँ सुग्रीव से मित्रता होगी ॥११॥ हे देव ! हे रघुवीर ! वह सब हाल कहेगा। हे मति धीर ! जानते हुए भी आप मुझसे पूछते हैं ॥१२॥ बार-बार प्रभु के चरणों में सिर नवाकर प्रेम पूर्वक सब कथाएँ सुनाईं ॥१३॥

विशेष—(१) 'जनक सुता कै······'—यहाँ श्रीजानकीजी को हुलिया भी सूचित करते हैं कि वे श्रीजनकजी की कन्या हैं, श्रेष्ठ हाथी की-सी उनकी चाल है। हंस-गामिनी नहीं कहा, क्योंकि संभवतः शबरीजी ने हंस न देखा हो, पर हाथी तो अवश्य देखा होगा, क्योंकि उसी वन के प्रति कहा है; यथा-"बहु खग मृग तहँ गज पंचानन ॥" (दो० ११)।

(२) 'पंपासरहि जाहु···सो सब···'—इसने मतंगजी से सुन रक्खा है, ऊपर लिखा गया कि वे इसे श्रीरामजी का महत्त्व और उनका आकर दर्शन देना आदि भविष्य बातें समझाकर परधाम गये थे। 'देव'— अर्थात् आप दिव्य ज्ञान से सब जानते ही हैं। 'रघुवीर' और 'मतिधीर' हैं, अतः, शत्रु को मारेंगे। क्योंकि बुद्धि और बल से ही विजय होती है; यथा-"बुधि बल सकिय जीति जाही सों।" (लं० दो० ५)।

(३) 'बार-बार प्रभु-पद सिर नाई'—अत्यन्त प्रेम के कारण बार-बार चरणों में शिर नवाती है; यथा—"पद अंबुज गहि बारहिं बारा। हृदय समात न प्रेम अपारा ॥" (सुं० दो० १८); "अंगद हृदय प्रेम नहिं थोरा।" बार-बार कर दंड प्रनामा ॥" (उ० दो० १८)। 'सब कथा सुनाई'—जो इससे गुरुजी कह गये थे कि श्रीरामजी पधारेंगे, तुम उनका आतिथ्य कर और दर्शन करके शरीर त्याग देना। कथा ऊपर सूक्ष्म रूप में दी गई। वा० आ० स० ७४ में विस्तार से है। श्रीजानकीजी के विषय की कथा तो सुग्रीवजी कहेंगे—यह शबरीजी पहले ही कह चुकी हैं।

विशेष—(१) 'हरि-पद लीन भइ······'—श्रीशबरीजी राम-पदानुरागिनी थीं, इसीसे 'पद लीन भइ' भी कहा गया ; यथा—"सबरी परी चरन लपटाई।"; "पुनि-पुनि पद सरोज सिर नावा।"; "सादर जल लै चरन पखारे।"; "बार-बार प्रभु पद सिर नाई।"; "हृदय पद पंकज धरे।" वैसे ही यहाँ—"हरि पद लीन भइ" कहा गया है। तथा—"छलिन की छोड़ी सो निगोड़ी छोटी जाति-पाँति, कीन्हीं लीन आपमें सुनारी भोड़े भील की।" (क० उ० १७); पद का स्वरूप और परम पद (धाम) भी अर्थ होता है। धाम भी भगवान् का शरीर एवं स्वरूप है। अतः, 'आपमें' और 'पद' में लीन होने का तात्पर्य यह कि भगवद्धाम को प्राप्त हुई, यही अर्थ 'जहँ नहिं फिरे' से भी सूचित किया; यथा—"यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।" (गीता ८।२१); सब प्रकार के मुक्त जीव परम धाम को ही जाते हैं, वे फिर संसार में नहीं आते। इसपर अनन्त श्रीस्वामी रामानन्दाचार्य-प्रणीत वेदान्त के आनंद भाष्य ४।४।२२ की व्याख्या देखिये। श्रीमदाचार्य चरण ने श्रुति, स्मृति, इतिहास के प्रमाणों के साथ विस्तार से कहा है।

(२) 'नर विविध कर्म···'—'नर'—यह संबोधन देकर उपदेश देते हैं कि ऐसी स्त्री को भी मुक्ति दी, तो तुम तो नर होने से उत्तम अधिकारी हो। 'बिस्वास करि'—क्योंकि बिना विश्वास के भक्ति नहीं होती ; यथा—"बिनु बिस्वास भगति नहिं" (उ० दो० ९०); विश्वास यह कि जब शबरी को मुक्ति दी, तब मुझे अवश्य स्वीकार करेंगे; यथा—"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।···किं पुन र्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।···भजस्व माम्॥" (गीता ९।३०।३३)। 'राम-पद-अनुरागहू।' यहाँ पदानुरागिनी का प्रसंग है, इससे वही कहते हैं। 'विविध कर्म'—भक्ति से भिन्न जो भाँति-भाँति के कर्म हैं, वे शोक-प्रद हैं ; यथा—"करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं। रक्त बीज सम बाढ़त जाहीं॥" (वि० १२८)। 'बहु मत'; यथा—"बहु मत सुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो।" (वि० १७३)।

(३) 'जाति हीन अघ जन्म महि······'—'जाति हीन' इससे लोक-नष्टता और 'अघ जन्म महि' से परलोक-नष्टता सूचित की। जाति हीनता यह कि शबर-जाति वर्णाश्रम में परिगणित है।

"बहुरि बिरह बरनत रघुबीरा। जेहि बिधि गये सरोवर-तीरा॥"—प्रकरण

चले राम त्यागा बन सोऊ। अतुलित बल नर-केहरि दोऊ॥१॥
बिरही इव प्रभु करत बिषादा। कहत कथा अनेक संबादा॥२॥
लछिमन देखु बिपिन कइ सोभा। देखत केहि कर मन नहिं छोभा॥३॥

अर्थ—श्रीरामजी ने उस वन को भी छोड़ा और आगे चले, वे दोनों भाई अतुल बलवान् और मनुष्यों में सिंह (के समान) हैं॥१॥ प्रभु विरही की तरह दुःख कर रहे हैं और (विरह-विषाद के) अनेक संवाद की कथाएँ कहते हैं॥२॥ हे श्रीलक्ष्मणजी! वन की शोभा देखो, इसे देखकर किसका मन चलायमान न होगा ? अर्थात् सभी का मन क्षुभित हो जायगा॥३॥

विशेष—(१) 'चले राम त्यागा बन सोऊ।'—'सोऊ' अर्थात् मतंग वन को छोड़कर, उससे भी आगे पंपासर के वन को चले। वनों के विभाग पृथक्-पृथक् हैं—

१. गंगातट से चित्रकूट एवं अत्रि-आश्रम तक एक वन है; यथा—"सखा-अनुज-सिय-सहित बन, गवन कीन्ह रघुनाथ॥" (अ० दो० १०४); पुनः—"कहेउ राम बन-गवन सुहावा।" (अ० दो० १२१)।

२ अत्रि के यहाँ से शरभंगाश्रम तक विराधवाला वन है ; यथा—"तब मुनि सन कह कृपानिधाना । आयसु होइ जाउँ बन आना ॥" (दो० ५) ।

३ शरभंगाश्रम से अगस्त्याश्रम तक एक वन है ; यथा—"पुनि रघुनाथ चले वन आगे ।" (दो० ८) ।

४. फिर पंचवटी और जनस्थान का वन है, यथा—"दंडक वन पुनीत प्रभु करहू ।" (दो० १३) ।

५. तब आगे क्रौंच-वन, कबंध-वाला वन और मतंग-वन आदि कई वन मिले । उन्हें—"चले बिलोकत वन बहुताई ।" (दो० ३२) ; से जनाया गया है ।

६. अब मतंग-वन से पंपातट के वन को जा रहे हैं अतः, 'चले राम त्यागा···' कहा गया ।

(२) 'अतुलित बल नर-केहरि दोऊ ।'—ऐसे घोर वन में क्रीड़ापूर्वक विचरना सिंह के समान बलवान् मनुष्य का ही काम है । जैसे, एक ही सिंह वन के लिये बहुत है, वैसे ये एक ही विश्व-भर की विजय कर सकते हैं, फिर भी दोनों हैं, तो क्या कहना ? सिंह की तरह गहर वन में आनंद क्रीड़ाकर रहे हैं ।

(३) 'बिरही इव प्रभु करत···'—'इव' पद से विरह की लीला-मात्र सूचित की गई । भीतर से तो क्रीड़ा ही है । श्रीजानकीजी का वियोग भी लीला-मात्र ही है, उन्होंने अग्नि में निवास किया है, तब भी श्रीरामजी में ही हैं, अग्नि भी श्रीरामजी का तेज ही है । पहले भी कहा गया—"मनहुँ महा बिरही अति कामी ।" (दो० ३१), तथा—"बिरह बिकल नर इव रघुराई । खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई ॥" (बा० दो० ४८) ।

(४) 'कहत कथा अनेक···'—नल, पुरुरवा आदि के अनेक विषाद के प्रसंग कहते हैं । 'देखत केहि कर मन नहिं छोभा ।'—किसे कामोद्दीपन नहीं होता ?

नारि-सहित सब खग-मृग-बृंदा । मानहुँ मोरि करतहहिं निंदा ॥४॥
हमहि देखि मृग-निकर पराहीं । मृगी कहहिं तुम्ह कहँ भय नाहीं ॥५॥
तुम्ह आनंद करहु मृग-जाये । कंचन-मृग खोजन ये आये ॥६॥
संग लाइ करिनी करि लेहीं । मानहुँ मोहि सिखावन देहीं ॥७॥
सास्त्र सुचिंतित पुनि-पुनि देखिय । भूप सुसेवित बस नहिं लेखिय ॥८॥
राखिय नारि जदपि उर-माहीं । जुवती-सास्त्र नृपति बस नाहीं ॥९॥

शब्दार्थ—राखिय = रक्षा किये जाने के योग्य ।

अर्थ—सब पक्षी और पशुओं के झुंड स्त्री-सहित हैं, मानों मेरी निंदा कर रहे हैं, (कि ऐसे ही तुम भी अपनी स्त्री को साथ लिये रहते, तो आज रोना क्यों पड़ता ?) ॥४॥ हमें देखकर मृगों के झुंड भागते हैं, तब मृगियाँ कहती हैं कि हे मृगपुत्र ! तुमको डर नहीं है, (तुम क्यों भागते हो ?), तुम आनंद करो, तुम तो मृग से पैदा हुए हो, ये तो सोने के मृग को खोजने आये हैं ॥५-६॥ हाथी हथिनियों को साथ लगा लेते हैं, मानों मुझे शिक्षा देते हैं, (कि इस तरह सदा स्त्री को साथ रखना चाहिये था) ॥७॥ अच्छी तरह मनन किये हुए शास्त्र को भी बार बार देखना चाहिये । अच्छी तरह से

सेवा किये हुए राजा को भी वश में न समझना चाहिये ॥८। स्त्री सदा रक्षा किये जाने के योग्य है, चाहे वह हृदय (गोद) में ही रहती हो, (क्योंकि) स्त्री, शास्त्र और राजा वश में नहीं रह सकते ॥९॥

विशेष—(१) यहाँ ६ अर्द्धालियों में अत्यन्त क्षोभपूर्ण आत्मनिन्दा है। प्रायः लोग औरों की निन्दा किया करते हैं, परन्तु कभी पश्चात्ताप एवं ग्लानिवश मनुष्य अपना भी उपहास स्वयं करता है। वह यहाँ श्रीरामजी दिखा रहे हैं, पशुओं के झुंड जोड़े-सहित रहते हैं। यह देखकर खीझते हैं कि ये पशु भी हमसे बुद्धिमान् हैं, ये जोड़ा सहित फिरते हुए मेरी निंदा प्रकट कर रहे हैं कि तुमसे तो हम ही लोग चतुर हैं।

(२) 'हमहि देखि मृग'''तुम्ह आनंद करहु''''''—मृग मनुष्यों को देखकर भागते हैं, कुछ दूरी पर जाकर खड़े हो जाते हैं और फिर पीछे देखने लगते हैं—यह उनका स्वभाव है। उनके भागने और खड़े हो जाने पर दो कल्पनाएँ करते हैं—'हमहि देखि '''—देखकर भागते हैं कि हमको मारेंगे। पुनः—'मृगी कहहिं'''—जब मृगी गण कहती हैं कि तुम न डरो, तब खड़े हो जाते हैं

मृगियाँ ताना मारती हैं कि हे मृगो ! तुम तो मृग से पैदा हुए हो, तुम्हें ये क्या करेंगे ? ये तो सोने का मृग खोजने आये हैं, भाव यह है कि भला कहीं सोने का भी मृग होता है ? ये इतना भी नहीं जानते, इसीसे कंचन के लिये स्त्री गँवा दी। कंचन देकर भी कंचनी (स्त्री) की रक्षा करनी चाहिये, पर इन्होंने तो उलटा ही किया। मृगियों को भय नहीं, क्योंकि शिकारियों की यह मर्यादा है कि वे मादा पर अस्त्र नहीं चलाते।

खग-मृग छोटे हैं। अतः, उनका ताना मारना एवं निन्दा करना कहा गया, पर हाथी बड़े और गंभीर होते हैं, अतः, उनका उपदेश करना कहते हैं—

(३) 'संग लाइ करिनी'''—सूड़ से इशारा करके साथ ले लेते हैं, इस प्रकार हाथी सिखाते हैं कि तुम्हारे तो हाथ हैं, हाथ से पकड़े रहते तो स्त्री कैसे जाती ? मृगियाँ स्त्री हैं इससे उन्होंने ताना मारा, पर ये हाथी पुरुष हैं, इससे शिक्षा देते हैं। शिक्षा का और स्वरूप आगे दो अर्द्धालियों में कहते हैं—

(४) 'सास्त्र सुचिंतित राखिय नारि '''; यथा—"शास्त्रं सुचिन्तितमपि परिचिन्तनीयमाराधितोऽपि नृपतिः परिशङ्कनीयः। क्रोडे कृतापि युवती परिरक्षणीया शास्त्रे नृपे च युवतौ च कुतो वशित्वम् ॥" (शुभाषित रत्नभाण्डागारम्); अर्थ चौपाइयों का ही है। 'बस नहिं लेखिय' का भाव 'परिशंकनीयः' से स्पष्ट हो जाता है कि सुसेवित राजा से भी शंकित ही रहना चाहिये। 'राखिय नारि''' का भाव भी 'क्रोडे कृतापि''' से स्पष्ट हो जाता है कि चाहे स्त्री गोद में भी बैठी हो, तब भी उसकी रक्षा करनी ही चाहिये।

ऊपर लोभी मानकर निंदा करने की और अनभिज्ञ मानकर शिक्षा देने की कल्पना की है। आगे वसंत की शोभा पर भय की भी कल्पना करते हैं—

देखहु तात बसंत सुहावा। प्रियाहीन मोहि भय उपजावा ॥१०॥

दोहा—बिरह-बिकल-बलहीन मोहि, जानेसि निपट अकेल।
सहित बिपिन मधुकर-खग, मदन कीन्हि बगमेल ॥

देखि गयउ भ्राता-सहित, तासु दूत सुनि बात।
डेरा कीन्हेउ मनहु तब, कटक हटकि मन जात ॥३७॥

अर्थ—हे तात! शोभायमान वसन्त-ऋतु को देखो, प्रिया के बिना मुझे उससे भय उत्पन्न हो रहा है ॥१०॥ मुझे विरह से व्याकुल, निर्बल और निपट (बिल्कुल) अकेला जानकर कामदेव ने (सुशोभित) वन, भ्रमरों और पक्षियों के साथ चढ़ाई की ॥ उसका दूत पवन मुझे भाई के साथ (अकेला नहीं) देख गया, तब मानों उसकी बात सुनकर कामदेव ने (सुसज्जित) कटक को रोककर डेरा डाल दिया ॥३७॥

विशेष—(१) 'बसंत सुहावा···भय उपजावा'—विरही को सुहावनी वस्तु अधिक दाहक होती है, इसीसे भय होता है कि मेरी क्या दशा होगी, वा प्रिया की क्या दशा होगी? यथा—"श्यामा पद्मपलाशाक्षी मृदुभाषी च मे प्रिया। नूनं वसंतमासाद्य परित्यक्ष्यति जीवितम् ॥" (वाल्मी० ४।१।५०)।

यहाँ कामोद्दीपक पदार्थों को देखकर भय होना कहा गया है, ऐसे ही वियोग-शृंगार की दस दशाएँ कही गई हैं; जैसे—(१) अभिलाषा, (२) चिंता, (३) स्मृति, (४) गुण-कथन, (५) उद्वेग, (६) संप्रलाप, (७) उन्माद, (८) व्याधि, (९) जड़ता और (१०) मृत्यु।

(२) 'बिरह बिकल बलहीन···'—विरही को वन की शोभा, भ्रमरों की गुंजार और पक्षियों की बोली एवं रूप-रंग आदि की शोभा विरह को अधिक उद्दीप्त करती हैं। इसीसे इन्हें लेकर काम की चढ़ाई करना कहते हैं। 'बगमेल' का अर्थ दो० १८ तथा बा० दो० ३०५ पर भी लिखा गया है। ऊपर बसंत कहकर तब काम की चढ़ाई कही, क्योंकि वसंत काम का सेनापति है, वह चढ़ाई करने में साथ रहता है; यथा—"तेहि आश्रमहि मदन जब गयऊ। निज माया बसंत निरमयऊ ॥" (बा० दो० १२५); "भूप बाग बर देखेउ जाई। जहँ बसंत रितु रही लोभाई ॥ ··मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्हीं।···" (बा० दो० २२६–२७)। पुनः वन-पक्षी आदि की शोभा भी सर्वत्र ऐसे स्थलों पर कही गई है। 'निपट अकेल'—भाव-प्रिया के बिना अकेला तो हूँ ही, पर उसने तो बिल्कुल ही अकेला जान लिया था (कि भाई भी नहीं हैं)।

(३) 'तासु दूत सुनि बात'—यहाँ 'बात' शब्द श्लिष्ट है, वचन और वायु दोनों अर्थों में है। वायु दूत है; यथा—"त्रिबिधि बयारि बसीठी आई।" आगे कहा है। यहाँ दूत को 'बात' पुँल्लिंग कहा है, क्योंकि 'देखकर लौटना' कहना है। आगे जब उसे सबको चुनौती देना कहेंगे, तब 'बयारी' स्त्रीलिंग कहेंगे, क्योंकि स्त्री पुरुषों को वश करनेवाली होती है। हमको निर्बल जानकर धावा तो किया, पर जब देखा कि उनके रक्षक बड़े प्रबल भाई भी साथ हैं, जिनसे वह जीत न सकेगा, तब रुक गया। तात्पर्य यह कि दूसरे के साथ रहने पर काम जोर नहीं करता, अकेले ही में अधिक प्रमाद करता है, क्योंकि 'मन जात' है, अर्थात् मन को दूसरा आधार न रहने से वह प्रकट होता है।

बिटप बिसाल लता अरुझानी। बिबिध बितान दिये जनु तानी ॥१॥
कदलि ताल बर ध्वजा-पताका। देखि न मोह धीर मन जाका ॥२॥
बिबिध भाँति फूले तरु नाना। जनु बानैत बने बहु बाना ॥३॥
कहुँ कहुँ सुंदर बिटप सुहाये। जनु भट बिलग बिलग होइ छाये ॥४॥

कूजत पिक मानहुँ गज माते । ढेक महोख ऊँट बिसराते ॥५॥
मोर चकोर कीर बर बाजी । पारावत मराल सब ताजी ॥६॥
तीतर लावक पदचर - जूथा । बरनि न जाइ मनोज-बरूथा ॥७॥
रथ गिरि सिला दुंदुभी झरना । चातक बंदी गुन गन बरना ॥८॥
मधुकर - मुखर भेरि सहनाई । त्रिविध बयारि बसीठी आई ॥९॥
चतुरंगिनी सेन सँग लीन्हे । बिचरत सबहि चुनौती दीन्हे ॥१०॥

शब्दार्थ—ढेक=पानी के किनारे रहनेवाली एक चिड़िया। महोख=कौए के बराबर का एक पक्षी, इसके पैर काले और पूँछ काली, आँखें लाल और शेष अंग खैरे रंग के या लाल होते हैं। बिसरात (सं० वेसर:)=खचर।

अर्थ—बड़े-बड़े वृक्षों में लताएँ लपटी हुई हैं, मानों अनेक चँदोवे तान दिये गये हैं ॥१॥ केले और ताल (ताड़ के वृक्ष) ध्वजा और पताका हैं, इन्हें देखकर जिसका मन मोहित न हो, वही धीर पुरुष है ॥२॥ अनेक वृक्ष अनेक प्रकार से फूले हुए हैं, मानों बहुत बानेवन्द (वीर) बहुत-से बाने धारण किये हुए सुशोभित हैं ॥३॥ कहीं-कहीं सुन्दर वृक्ष शोभायमान हैं, मानों योद्धा हैं जो (सेना से) अलग-अलग होकर छाये (ठहरे) हैं ॥४॥ कोयलें बोलती हैं वे ही मानों मतवाले हाथी (चिंघाड़ते) हैं, ढेक और महोख मानों ऊँट और खचर हैं ॥५॥ मोर चकोर, तोते, कबूतर और हंस—ये सब उत्तम ताजी घोड़े हैं ॥६॥ तीतर और लवा पैदल-सिपाहियों के झुंड हैं, कामदेव की सेना का वर्णन नहीं किया जा सकता ॥७॥ पर्वत की शिलाएँ रथ हैं, पानी के झरने नगाड़े हैं, पपीहा भाट हैं, जो गुण गण (विरुद) वर्णन करते हैं ॥८॥ भ्रमरों की गुंजार भेरी और शहनाई हैं, शीतल, मंद, सुगन्ध—तीनों प्रकार की हवा आ रही है, वही दूत का आना है ॥९॥ चतुरंगिनी सेना साथ में लिये हुए (काम) सबको चुनौती (ललकार) देता हुआ विचरता है ॥१०॥

विशेष—(१) 'कदलि ताल बर···'—केला वृक्ष छोटा और ताड़ बड़ा होता है, वैसी ही क्रमशः ध्वजा और पताका की ऊँचाई होती है। 'जनु बानैत···'—बानैत वीर तरह तरह के शस्त्र लिये हुए, यूथ-के-यूथ भिन्न-भिन्न रंग की वर्दियाँ पहने रहते हैं, वैसे ही वृक्षों के विविध रंग के पुष्प हैं। 'तीतर लावा पदचर जूथा'—इन्हें पैदल आदि न कहकर 'पदचर' कहा गया है, क्योंकि ये पक्षी अधिक पाँव से ही चलते हैं। 'कूजत पिक···'—वसन्त का समय है, फूल फूल रहे हैं, काली कोयलें बौरे (फूले) हुए आम के वृक्षों पर बैठी हैं। आम की बौरें ही मानों सोने की जंजीर (सीकड़) हैं। वायु लगने से पल्लव के साथ कोयल कुछ हिलती है, इसीसे उसे 'माते' कहा है। 'पारावत मराल सब ताजी'—ये झुंड-के-झुंड साथ रहते हैं, ऐसे ही घोड़सवार सेना के झुंड-के-झुंड भी साथ रहते हैं। 'रथ गिरि सिला'—यहाँ सेना पड़ी है, इसी से शिला (अचल) कहा है। 'चातक बंदी गुन गन बरना।'; यथा—"बंदी बेद पुरान गन, कहहिं बिमल गुन ग्राम।" (अ० दो० १०५); वैसे ही चातक काम के गुण-गण गाता है, 'पिय-पिय' इसके शब्द हैं, अर्थात् तुम सबको प्रिय हो; यथा—"समुझि कामसुख सोचहिं भोगी।" (बा० दो० ८६)। पुनः 'पिय' अर्थात् सबके पति हो, क्योंकि काम से सबकी उत्पत्ति होती है; यथा—"प्रजनश्चास्मि कंदर्पः।" (गीता १०।२८); 'त्रिविध बयारि बसीठी आई।' काम ने डेरा डाल दिया है, ऊपर कहा गया उसीकी ओर से त्रिविध बयारि दूत रूप में आई है। आकर मानों कहती है कि अभी काम की शरण हो; यथा—"चली सुहावनि त्रिबिधि बयारी।

कृसानु पदावनि हारी ॥" (बा० दो० १२५)। अर्थात् त्रिविध वायु से कामोद्दीपन होता है, जिससे हृदय उसके बश हो जाता है।

(७) 'चतुरंगिनी सेन ...'—'गज माते'—गज; 'बर बाजी'—घोड़े; 'पदचर जूथा'—पैदल और 'रथ गिरि सिला'—रथ; ये चारों चतुरंगिनी सेना हैं। 'बिचरत सबहि...'—सबको ललकारता फिरता है, प्रतिभट पाता ही नहीं; यथा—"रन मद मत्त फिरै जग धावा। प्रतिभट खोजत कतहुँ न पावा॥" (बा० दो० १८१)।

लछिमन देखत काम - अनीका। रहहिं धीर तिन्ह कै जग लीका ॥११॥
येहि के एक परम बल नारी। तेहि ते उबर सुभट सोइ भारी ॥१२॥

दोहा—तात तीनि अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि बिज्ञान-धाम मन, करहिं निमिष महँ छोभ॥
लोभ के इच्छा दंभ बल, काम के केवल नारि।
क्रोध के परुष बचन बल, मुनिबर कहहिं बिचारि ॥३८॥

अर्थ—हे श्रीलक्ष्मणजी ! काम की सेना देखकर जो धैर्यवान बने रह जाते हैं, उनकी संसार में साख (बंधी हुई मर्यादा) है ॥११॥ स्त्री इसका एक परम बल है, उससे जो बच जाय, वही बड़ा भारी योद्धा है ॥१२॥ हे तात ! काम, क्रोध और लोभ, ये तीन अत्यन्त प्रबल दुष्ट हैं। विज्ञान के धाम मुनियों के मन को भी पल-मात्र में ये विचलित कर देते हैं॥ चाह और दंभ लोभ के बल हैं, काम के स्त्रीमात्र बल हैं और क्रोध का बल परुष वचन है—मुनि श्रेष्ठ विचारकर यह कहते हैं ॥३८॥

विशेष—(१) 'लछिमन देखत '—वन और वसंत की शोभा-वर्णन में श्रीलक्ष्मणजी को प्रथम ही संबोधन किया; यथा—"लछिमन देखु बिपिन कै सोभा।" 'देखहु तात बसंत सुहावा।" पर काम की सेना वर्णन में पीछे यहाँ कहा—'लछिमन देखत...' इस तरह कामादि तीनों में विलक्षणता दिखाई। 'रहहिं धीर...'—इस सेना के आगे धैर्यवान् भी भाग जाते हैं; यथा—'भागेउ बिबेक सहाय सहित ·" (बा० दो० ८४) पर जो खड़े रह गये, उनकी संसार में सुभटों में गणना होती है। ऊपर कहा था—"देखि न मोह धीर मन जाका।" उसी को यहाँ कहते हैं कि वे लोक-प्रसिद्ध होते हैं; यथा—"विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः॥" (कुमारसंभव '; यह मानों श्रीलक्ष्मणजी की बड़ाई है।

(२) 'येहि के एक परम बल नारी'—चतुरंगिनी सेना बल है और नारी परम बल है। वा, काम स्वयं बली है, सेना द्वारा प्रबल है और नारी के द्वारा परम बली है। इसे जीते वह भट, सेना समेत को जीते वह सुभट और नारी सहित को जीते, वह भारी सुभट है। नारी के द्वारा ही इसके पाँचो बाण चलते हैं—स्त्री की चाल में आकर्षण, चितवन में उच्चाटन, हँसी में मोहन, बोलने में वशीकरण और रति में मारण।

(३) 'तात तीनि अति प्रबल ......'; यथा—"काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह के धारि।

तिन्ह महँ अति दारुन दुखद, माया रूपी नारि।" (दो० ४४)। पहले नारी को परम खल कहा था। अब तीन और भी कहते हैं। यहाँ काम का प्रकरण है; पर तीनों कहे गये, क्योंकि काम ही क्रोध और लोभ भी हो जाता है; यथा—"काम एष क्रोध एष···" (गीता ३।३७); "कामै क्रोध लोभ मनि दरसै तीनों एकै तन में (काष्ठजिह्वा स्वामी)। तीनों के तीन प्रकार के बल भी पृथक्-पृथक् कहे गये, क्योंकि तीनों अपने-अपने बलों से अति प्रबल हैं।

यहाँ काम का प्रसंग है, इसलिये 'काम' को पहले कहा है—'काम क्रोध मद लोभ।' ऐसे ही—"लोभ के इच्छा ····" इस अगले दोहे में 'लोभ' की प्रधानता है और—"क्रोध मनोज लोभ मद माया।···" आगे कहा है। उसमें 'क्रोध' की प्रधानता है। भाव यह कि तीनों एक-से-एक प्रबल हैं, कम कोई नहीं है।

(४) 'मुनि बिज्ञान धाम मन···'; यथा "नारद भव बिरंचि सनकादी। जे मुनि नायक आतम बादी॥···को जग काम नचाव न जेही।···केहिकर हृदय क्रोध नहिं दहा।···केहि के लोभ बिडंबना कीन्ह न यहि संसार॥" (उ० दो० ७०)—इसमें नारद का नाम पहले कहा है, क्योंकि वे विश्वमोहनी से काम वश हुए फिर क्रोध किया, इसकी कथा बालकाण्ड में विस्तार से है।

(५) 'लोभ के इच्छा दंभ बल··· ···'—जब किसी विषय की चाह होती है, साथ ही दंभ रचा जाता है; तब लोभ की जीत होती है। अपनेको श्रेष्ठ, जितेन्द्रिय एवं महात्मा आदि सूचित करने की चेष्टाएँ दंभ हैं। स्त्री से प्रीति-व्यवहार हुए कि काम की विजय हुई। क्रोध की जय भी कठोर वचन बोलने के साथ जानना चाहिये। अतः, इच्छा उठते ही उसे दबा दे, स्त्री की चाह न होने पावे और कठोर वचन सुनकर उत्तर न दे, ये तीनों से बचने के उपाय हैं।

गुनातीत सचराचर स्वामी। राम उमा सब अंतरजामी॥१॥
कामिन्ह कै दीनता दिखाई। धीरन्ह के मन बिरति दृढ़ाई॥२॥
क्रोध मनोज लोभ मद-माया। छूटहिं सकल राम की दाया॥३॥
सो नर इंद्रजाल नहिं भूला। जा पर होइ सो नट अनुकूला॥४॥
उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि-भजन जगत सब-सपना॥५॥

अर्थ—हे उमा! श्रीरामजी सत, रज, तम, इन तीनों गुणों से परे हैं, चराचर-मात्र के स्वामी और सबके अंत:करण के जाननेवाले एवं प्रेरक हैं॥१॥ उन्होंने कामी लोगों की दीन दशा दिखाकर धीर पुरुषों के मन में वैराग्य को दृढ़ किया है (कि स्त्रियों की आसक्ति से ऐसी दीन दशा होती है, अतएव इनसे वैराग्य ही रखना चाहिये)॥२॥ क्रोध, काम, लोभ, मद और माया—ये सब श्रीरामजी की कृपा से छूट जाते हैं॥३॥ (जैसे कि) जिसपर वह नट प्रसन्न होता है, वह मनुष्य इन्द्रजाल में नहीं भूलता॥४॥ हे उमा! मैं अपना अनुभव कहता हूँ कि हरि-भजन सत्य है और समस्त जगत् स्वप्नवत् (झूठ) है॥५॥

विशेष—(१) 'गुनातीत सचराचर·······'—जब ऐसे हैं, तो अज्ञान से रोते क्यों हैं, इसका समाधान करते हुए कहते हैं—'कामिन्ह कै दीनता देखाई।···'—ऊपर—"देखहु तात बसंत सुहावा।··· एवं—बिरह बिकल बल हीन मोहि···" इत्यादि कथन से कामियों की दीन दशा दिखाकर धीरों को

वैराग्य की शिक्षा दी। दीनता; यथा—"लछिमन देखत काम अनीका। रहहिं धीर तिन्ह कै जगलीका॥" धीरता; यथा—"देखि न मोह धीर मन जाका।" इत्यादि रीति से दोनों बातें दिखाई; यथा—"आत्रा वने कृपणवत्प्रियया वियुक्तः स्त्रीसंगिनां गतिमिति प्रथमञ्चचार।" (भाग० ९।१०।११)।

(२) 'क्रोध मनोज लोभ···'—ये सब श्रीरामजी की दया से छूट जाते हैं, तो उन्हें काम आदि विकार कैसे व्याप सकते हैं; यथा—"जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई।" (बा० दो० ११७)—"जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिय बिमोह प्रसंगा॥" (बा० दो० ११५); श्रीरामजी की दया से इनका छूटना; यथा—"अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जब दाया॥ नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा॥ लोभ पास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥ यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ-कोई॥" (कि० दो० २०); तथा—"तब लगि हृदय बसत खल नाना।" से "तुम्ह कृपालु जापर अनुकूला। ताहि न व्याप त्रिबिध भव सूला॥" (सु०दो०४६); इत्यादि अरण्य, किष्किंधा और सुंदर इन तीनों कांडों की वन-लीला में श्रीरामजी की दया से ही कामादि का छूटना कहा है। श्रीरामजी की दया कैसे हो? इसका उपाय उनकी भक्ति है; यथा—"कहहु सो भगति करहु जेहि दाया।" (दो० १३); अतः, आगे भक्ति कहते हैं—

(३) 'सो नर इन्द्रजाल नहिं भूला···'—इन्द्रजाल का खेल झूठा होता है, वैसे 'सुत-वित-देह-गेह-स्नेह' रूप नानात्व जगत् झूठा है। इसे ही आगे 'जगत सब सपना' कहकर स्पष्ट किया है। जिसे पूर्व अ० दो० ९१-९२ में विस्तार से कहा गया है। सुत-वित-देह-गेहादि भगवान् के शरीर हैं, इनके कार्य उन्हीं के खेल हैं जिसपर वे अनुकूल होते हैं, उसे यह बात जना देते हैं कि सारा जगत् मेरा ही शरीर है। तब उसकी दृष्टि में नानात्व सत्ता निवृत्त हो जाती है, फिर राग-द्वेष की जड़ ही नहीं रह जाती; यथा—"मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।" (गीता ११।४७); अर्थात् प्रसन्न (अनुकूल) होकर भगवान् ने अर्जुन को विराट् रूप दिखाया, तब उन्होंने सब जगत् को भगवान् के शरीर-रूप में ही देखा। पुनः, इस प्रसन्नता के कार्य को अनन्य भक्ति से ही होना कहा है; यथा—"भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥" (गीता ११।५४)। तात्पर्य यह कि भजन करने से श्रीरामजी अनुकूल हो जाते हैं तो वे नानात्व जगत् की स्वप्नवत् सत्ता निवृत्त करा देते हैं। तब कामादि विकारों की जड़ ही कट जाती है। उसी को श्रीशिवजी अनुभव से कहते हैं।

(४) 'उमा कहउँ मैं अनुभव··'—इसी कांड की लीला में उमा को सती तन में मोह हुआ था। इसलिये सीता-खोज-प्रसंग में यहाँ बार-बार 'उमा' के ही संबोधन आये हैं; यथा—"सुनहु उमा ते लोग अभागी" (दो० १३); "राम उमा सब अंतरजामी।" एवं—"उमा कहउँ मैं अनुभव ··" यहाँ कहा है। 'सत हरि भजन जगत सब सपना।'—जब जगत् की नानात्व सत्ता रूपी स्वप्न की सत्यता निवृत्त होती है तब चराचरात्मक जगत् रूप से सुख देनेवाले भगवान् ही साक्षात्कार होते हैं और फिर जगत् व्यवहार ही भजन रूप हो जाता है; यथा—"सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः। सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥" (गीता ६।३१); "सदा सर्बगत सर्बहित, जानि करेहु अति प्रेम।" (उ० दो० १९); नानात्व-सत्ता-निवृत्ति का उपाय भी श्रीमुख से कहा गया है; यथा—"जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥ सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी॥ समदरसी इच्छा···अस सज्जन मम उर बस···" (सुं० दो० ४७)।

पुनि प्रभु गये सरोवर-तीरा। पंपा नाम सुभग गंभीरा॥१॥

संत-हृदय जस निर्मल बारी। बाँधे घाट मनोहर चारी ॥७॥
जहँ-तहँ पिअहिं बिबिध मृग नीरा। जनु उदार-गृह जाचक-भीरा ॥८॥

दोहा—पुरइनि सघन ओट जल, बेगि न पाइय मर्म।
मायाछन्न न देखिये, जैसे निर्गुन ब्रह्म ॥
सुखी मीन सब एकरस, अति अगाध जल माहिं।
जथा धर्म-सीलन्ह के, दिन सुख-संजुत जाहिं ॥३९॥

अर्थ—फिर प्रभु पंपा नाम के सुन्दर और गहरे सरोवर के तट पर गये ॥६॥ सन्त के हृदय-जैसा उसका निर्मल जल है, उसमें मन को हरनेवाले चार घाट बाँधे गये हैं ॥७॥ तरह-तरह के पशु जहाँ-तहाँ जल पी रहे हैं, मानों दाता के घर भिक्षुकों की भीड़ लगी हो ॥८॥ घनी पुरइनि की ओट में शीघ्र जल का पता नहीं चलता, जैसे माया से ढँका रहने पर निर्गुण ब्रह्म नहीं देख पड़ता (नहीं अनुभव होता) ॥ सब मछलियाँ अत्यन्त गहरे जल में सदा एकरस सुखी रहती हैं, जैसे धर्मात्माओं के दिन सुख-सहित बीतते हैं ॥३९॥

विशेष—(१) 'पुनि प्रभु गये···'—'पुनि' शब्द से प्रसंग का बदलना सूचित किया। विरह-वर्णन करते हुए सरोवर तक आने का प्रसंग पूरा हुआ, अब आगे सर का वर्णन है। 'पंपा नाम'—'पंपानामक' नदी से यह सर हुआ है, इसीसे इसका नाम पंपा-सर है। 'संत-हृदय जस···'—तालाब के जल में काई की मलिनता और सेंवार-रूपी दोष रहते हैं, ये इसमें नहीं हैं, जैसे संतों के हृदय में विषय-रूपी काई और विषय-कथा-रूपी सेंवार नहीं रहते ; यथा—"काई-विषय मुकुर मन लागी।" (बा० दो० ११५); "संबुक भेक सेवार समाना। इहाँ न विषय-कथा-रस नाना ॥" (बा० दो० ३८); उनका हृदय विषयरस से नीरस होता है।

(२) 'जनु उदार-गृह···'—जैसे उदार के यहाँ से याचक सब कुछ पाते हैं, वैसे ही इसमें सभी प्रकार के जीवों के लिये जल का सुपास है।

(३) 'पुरइनि सघन ओट जल···'—यहाँ माया के आवरण को पुरइनि की और निर्गुण ब्रह्म को जल की उपमा दी गई है। 'मैं, मोर, तैं, तोर' इस तरह की भावना माया कहलाती है, यह भावना जगत् को ब्रह्म का शरीर न मानने से होती है। इसी से 'सुत-वित-देह-गेह-स्नेह' के रूप में नानात्व दृष्टि का विलास रहता है। जैसे पुरइन के बहुत-से पत्ते मिलकर आवरण-से बने रहते हैं, वैसे ही इस नानात्व के व्यष्टिभेद (चर-अचर) बहुत हैं। जैसे पुरइनि के हटने से जल प्रत्यक्ष हो जाता है, वैसे नानात्व-दृष्टि के हटने से जगत् ब्रह्म के शरीर-रूप में दिखलाई पड़ता है, यथा—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छां० ३।१४।१); अर्थात् यह सब (जगत्) निश्चय ही ब्रह्म है—यह सगुण का देखना होता है। पुनः ब्रह्म सर्व जगत् का आधार होता हुआ भी इन सबसे निर्लिप्त है, ऐसा निश्चय होना निर्गुण ब्रह्म का देखना है ; यथा—"कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव। अव्यक्त जेहि श्रुति गाव।" (लं० दो० ११२); "मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्त-मूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥" (गीता ९।४)। अर्थात् मुझ अव्यक्त-

मूर्ति ब्रह्म से यह सब जगत् व्याप्त है, (मैं सर्वत्र व्यापक हूँ) सब भूत मुझमें स्थित हैं; (मेरे आधार से ही उन की स्थिति है) किन्तु, मैं उनमें स्थित नहीं हूँ (उनसे निर्लिप्त हूँ)। अतः, भगवान् का सर्वाधार होना सगुणत्व और सबसे निर्लिप्त रहना उनका निर्गुणत्व है।

(४) 'सुखी मीन सब एकरस'''—'मीन सब' के जोड़ में 'धर्मशीलन्ह' यह बहुवचन कहा गया है। अनेक प्रकार की मछलियों की तरह अनेक प्रकार के धर्मात्मा हैं। धर्म अति अगाध जल है, इससे भी सुख होता है; यथा—"बरनाश्रम निज-निज धरम, निरत बेद-पथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहिं भय सोक न रोग॥" (उ० दो० २०)। 'दिन सुख-संजुत जाहिं' अर्थात् बीतते जाते हैं। जब पुण्य-भोग समाप्त होते हैं, तब फिर उन्हें स्वर्ग से मर्त्यलोक में आना पड़ता है; यथा—"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशंति।" (गीता ९।२१)। किष्किंधाकांड में कहा है—"सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरि-सरन न एकउ बाधा॥" (दो० १६); अर्थात् हरि-शरण में प्राप्त होने से फिर कोई बाधा नहीं रहती; यथा—"न मे भक्तः प्रणश्यति" (गीता ९।३१) यह धर्म और प्रपत्ति में भेद है।

पहले वियोग शृंगार कहकर तब यहाँ शांत-रस कहा, क्योंकि यहाँ आते ही काम के वेग का शांत होना दिखाना था।

बिकसे सरसिज नाना रंगा। मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा ॥१॥
बोलत जल-कुक्कुट कल हंसा। प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा ॥२॥
चक्रबाक - बक खग - समुदाई। देखत बनइ बरनि नहिं जाई ॥३॥
सुंदर खगगन गिरा सोहाई। जात पथिक जनु लेत बोलाई ॥४॥
ताल-समीप मुनिन्ह गृह छाये। चहुँ दिसि कानन बिटप सुहाये ॥५॥

अर्थ—अनेक रंग के कमल खिले हुए हैं, बहुत-से भौंरे मधुर शब्द से गुंजार कर रहे हैं ॥१॥ जल-मुर्ग और कलहंस ऐसे बोल रहे हैं, मानों प्रभु को देखकर उनकी प्रशंसा कर रहे हों ॥२॥ चकवा, बगुला आदि पक्षियों के समुदाय देखते ही बनते हैं, वर्णन नहीं किये जा सकते ॥३॥ सुंदर पक्षिगणों की बोलियाँ सुहावनी लगती हैं, मानों जाते हुए बटोही को बुलाये लेती हों ॥४॥ तालाब के पास मुनियों के आश्रम बने हुए हैं, चारों ओर वन के वृक्ष सुशोभित हो रहे हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'बिकसे सरसिज'''—पुरइन कहकर ही कमल कहना था, पर बीच में मछलियाँ कही गईं, क्योंकि जैसे पुरइनि की ओट में जल है, वैसे ही जल की ओट में मछलियाँ हैं। अतः, साथ ही उन्हें भी कहा। 'नाना रंगा'—कमल कई रंग के होते हैं। जैसे, राजीव और कोकनद लाल, पुण्डरीक श्वेत और नीलोत्पल श्याम रंग के होते हैं। पीत रंग के भी कमल अन्य देशों में सुने जाते हैं। बा० दो० ४० भी देखिये। भ्रमर कमल के पूर्णस्नेही होते हैं, इसलिये साथ ही उन्हें भी कहा। उनके पीछे जल-पक्षी भी कमल के स्नेही कहे जाते हैं। अतः, उन्हें भी कहते हैं—'बोलत जल-कुक्कुट कलहंसा।'''—प्रशंसा यह कि आपने कृपा कर हमें भी दर्शन दे कृतार्थ किया, ऐसे शील-स्वभाववाले आपकी जय हो।

(२) 'बिकसे सरसिज नाना रंगा।' से 'बरनि नहिं जाई।' तक सर के भ्रमर और पक्षी कहे गये हैं। 'सुंदर खगगन गिरा सुहाई।' से 'कोकिल धुनि करहीं।' तक बाग के; यथा—"बहु रंग कंज

अनेक खग कूजहिं मधुप गुंजारहीं। आराम रम्य पिकादि खग-रव जनु पथिक हंकारहीं ॥" (उ० दो० २१); 'देखत बनइ' अर्थात् स्वरूप से सुंदर हैं। 'जात पथिक जनु लेत बोलाई' से स्वर (वाणी) की सुंदरता कही गई है कि उसे सुनकर बटोही स्वयं आकर वहाँ बैठ जाते हैं; यथा—"आराम रम्य पिकादि···" ऊपर कहा गया है।

शंका—यहाँ 'कल हंसा' और 'बक' भी साथ कहे गये हैं, पर ऐसा तो नहीं होता; यथा—"जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत" (वि० १८५)।

समाधान—यहाँ पर पंपा-सर की उदारता है, उदार के यहाँ पात्रापात्र का विचार नहीं रहता; यथा—"जनु उदार-गृह जाचक-भीरा।"

चंपक बकुल कदंब तमाला। पाटल पनस पलास रसाला ॥६॥
नवपल्लव कुसुमित तरु नाना। चंचरीक-पटली कर गाना ॥७॥
सीतल मंद सुगंध सुभाऊ। संतत बहइ मनोहर बाऊ ॥८॥
कुहू-कुहू कोकिल धुनि करहीं। सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं ॥९॥

दोहा—फल-भारन नमि बिटप सब, रहे भूमि नियराइ।
पर-उपकारी पुरुष जिमि, नवहिं सुसंपति पाइ ॥४०॥

अर्थ—चंपा, मौलसिरी, कदम्ब, तमाल, पाटल (पाड़र), कटहल, ढूल (ढाक), आम ॥६॥ आदि के अनेक वृक्ष नये पत्तों और सुगंधित फूलों से युक्त हैं, भ्रमर-पंक्तियाँ गान कर रही हैं ॥७॥ शीतल, मंद और सुगंधित मन हरनेवाली सुन्दर हवा स्वाभाविक ही सदा चलती रहती है ॥८॥ कोकिलाएँ कुहू-कुहू ध्वनि कर रही हैं, उनके रसीले शब्द सुनकर मुनियों के ध्यान छूट जाते हैं ॥९॥ फल के बोझ से सभी वृक्ष नम्र होकर (झुककर) पृथिवी के पास आ रहे हैं (पृथ्वी को चूम रहे हैं); अर्थात् फलों से लदी हुई डालें झुक आई हैं, जैसे परोपकारी पुरुष श्रेष्ठ सम्पत्ति पाकर नम्र होते हैं ॥४०॥

विशेष—(१) 'नव पल्लव कुसुमित तरु ···'—से जनाया गया कि वसंत की बहार है। इसी से कोयलों का कूकना भी कहा गया है। 'सुसंपति'—जो सम्पत्ति धार्मिक वृत्ति द्वारा उपार्जित की गई हो; जो दूसरों को दुःख देकर संचित हो, वह नहीं।

(२) 'फल-भारन नमि···' यथा—"भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैर्नवाम्बुभिर्भूमिविलम्बिनो घनाः। अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥" (भर्तृहरि-नीति-शतक)।

देखि राम अति रुचिर तलावा। मज्जन कीन्ह परम सुख पावा ॥१॥
देखी सुंदर तरुबर-छाया। बैठे अनुज-सहित रघुराया ॥२॥
तहँ पुनि सकल देव-मुनि आये। अस्तुति करि निज धाम सिधाये ॥३॥
बैठे परम प्रसन्न कृपाला। कहत अनुज सन कथा रसाला ॥४॥

अर्थ—अत्यन्त सुन्दर तालाब देखकर श्रीरामजी ने (उसमें) स्नान किया और परम सुख पाया ॥१॥ एक सुन्दर, श्रेष्ठ वृक्ष की छाया देखकर (वहाँ) श्रीरघुनाथजी भाई के साथ बैठ गये ॥२॥ तब वहाँ सभी देवता और मुनि आये, स्तुति करके अपने-अपने स्थानों को चले गये ॥३॥ कृपालु श्रीरामजी परम प्रसन्नता से बैठे हुए भाई से रसीली कथाएँ कह रहे हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'देखि राम अति रुचिर तलावा।…'—इतने लक्षण कहकर तब उसे अति रुचिर कहा गया। 'पुनि प्रभु गये सरोवर-तीरा'—प्रभु ने तीर पर खड़े होकर उसकी शोभा देखी और भाई से प्रशंसा की, इतने समय में मार्ग-श्रम भी दूर हो गया, तब स्नान किया और परम सुख पाया। इस तरह वैद्यकशास्त्र के नियम का भी निर्वाह किया कि श्रम निवृत्त करके स्नान करना चाहिये।

(२) 'तहँ पुनि सकल देव-मुनि आये।…'—'पुनि'—अब दोबारा आये हैं, एक बार चित्रकूट में भी आये थे; यथा—"अमर नाग किन्नर दिसिपाला। चित्रकूट आये तेहि काला॥ राम प्रनाम कीन्ह सब काहू।…" (अ० दो० १३३); पर यहाँ श्रीरामजी का प्रणाम करना नहीं कहा गया, अभी श्रीनारदजी भी आकर स्वयं दंडवत् करेंगे। कारण यह है कि अयोध्या-कांड तक माधुर्य-लीला थी, तब आप मुनियों और देवताओं को प्रणाम आदि विशेष माधुर्य दृष्टि से करते थे, किन्तु इस कांड से ऐश्वर्य-प्रधान लीला चल रही है। इसी से श्रीरामजी को 'राम' 'प्रभु' 'देव' 'ईश' 'नाथ' आदि, श्रीजानकीजी को 'श्री' 'सीता' 'रमा' और श्रीलक्ष्मणजी को 'लछिमन' आदि ऐश्वर्यपरक नाम ही कहे गये हैं। 'सिय' और 'लषन' माधुर्यपरक नाम यहाँ नहीं हैं। मंगलाचरण ही में 'श्रीराम-भूप-प्रियम्' से जना दिया है। श्रीरामजी के लिये 'प्रभु' विशेषण तो बहुत आये हैं। श्रीसीताजी के लिये भी चार जगह 'जानकी', एवं 'जनकसुता' विशेषण कहे गये हैं, जहाँ माधुर्य के प्रकरण थे। इन सबोंके उदाहरण विस्तार-भय से नहीं लिखे गये।

(३) 'बैठे परम प्रसन्न कृपाला।…'—परम प्रसन्न बैठे, तब कथा कहने लगे। कथा सुख-पूर्वक ही कहना चाहिये; यथा—"एक बार प्रभु सुख आसीना। लछिमन बचन कहे…।" (दो० ११), तब कथा कही। पुनः; यथा—"फटिक-सिला अति सुभ्र सुहाई। सुख आसीन तहाँ दोउ भाई॥ कहत अनुज सन कथा अनेका।" (कि० दो० १२); वैसे ही यहाँ—'बैठे परम प्रसन्न…' कहा गया है। कथा—यहाँ पंपासर की उत्पत्ति, उसका माहात्म्य और नाम का हेतु, आदि; यथा—"मुनि सन मुदित कहत रिषिराऊ। हेतु नाम गुन पुन्य-प्रभाऊ॥" (अ० दो० ३११), "सचिवहिं अनुजहिं प्रियहिं सुनाई। बिबुध-नदी-महिमा अधिकाई॥" (अ० दो० ८६)। इत्यादि।

"प्रभु-नारद-संवाद"—प्रकरण

बिरहवंत भगवंतहि देखी। नारद-मन भा सोच बिसेखी ॥५॥
मोर साप करि अंगीकारा। सहत राम नाना दुख भारा ॥६॥
ऐसे प्रभुहि बिलोकउँ जाई। पुनि न बनिहि अस अवसर आई ॥७॥
यह बिचारि नारद कर बीना। गये जहाँ प्रभु सुख आसीना ॥८॥
गावत राम-चरित मृदु बानी। प्रेम-सहित बहु भाँति बखानी ॥९॥

करत दंडवत लिये उठाई। राखे बहुत बार उर-लाई ॥१०॥
स्वागत पूछि निकट बैठारे। लछिमन सादर चरन पखारे ॥११॥

दोहा—नाना विधि बिनती करि, प्रभु प्रसन्न जिय जानि।
नारद बोले बचन तब, जोरि सरोरुह पानि ॥४१॥

अर्थ—भगवान् को विरह युक्त देखकर श्रीनारदजी के मन में बड़ा शोच हुआ ॥५॥ कि मेरा शाप स्वीकार करके श्रीरामजी अनेक दुःखों के भार सह रहे हैं ॥६॥ ऐसे प्रभु को जाकर देखूँ, फिर ऐसा अवसर न बन आवेगा ॥७॥ यह विचार कर श्रीनारदजी हाथ में वीणा लिये वहाँ गये, जहाँ प्रभु सुख से बैठे थे ॥८॥ प्रेम-पूर्वक कोमलवाणी से बहुत तरह बखान करके राम-चरित गा रहे हैं ॥९॥ दंडवत् करते हुए उनको श्रीरामजी ने उठा लिया और बहुत देर तक छाती से लगा रक्खा ॥१०॥ स्वागत पूछकर पास बैठा लिया, श्रीलक्ष्मणजी ने आदर-पूर्वक उनके चरण धोये ॥११॥ अनेकों प्रकार से विनय (स्तुति) करके और प्रभु को प्रसन्न हृदय जानकर, श्रीनारदजी ने कमल-समान हाथों को जोड़ (ये) वचन कहे ॥४१॥

विशेष—(१) 'बिरहवंत भगवंतहिं······'—पहले जब भगवान् विरही की दशा दिखा रहे थे, तभी श्रीनारदजी का यह विचार हुआ था, फिर जब प्रभु सुख से बैठे, तब तक वे आ गये।

(२) 'मोर साप करि···'—वे ईश्वर हैं, समर्थ हैं, चाहते तो शाप न मानते, पर उन्होंने कृपा करके उसको स्वीकार किया कि मेरा ऋषित्व न जाय। शाप; यथा—"नारि-बिरह तुम्ह होब दुखारी॥ साप सीस धरि···" (बा० दो० १३७); वही यहाँ—"बिरहवंत भगवंतहिं देखी।" में चरितार्थ है।

(२) 'नाना दुख-भारा'; यथा—"अजिन बसन फल असन महि, सयन डासि कुस पात। बसि तरु-तर नित सहत हिम, आतप बर्षा बात॥" (अ० दो० २११); इन दुःखों के अतिरिक्त यह विरह की दशा और भी अत्यन्त दुःखद है।

(३) 'पुनि न बनिहिं अस अवसर आई'—इस समय एकान्त है, फिर तो वानरों की भीड़ हो जायगी। तब तो उत्तर-कांड में 'सीतल अमराई' में ही अवसर मिलेगा।

(४) 'गावत राम-चरित···'—प्रेम-पूर्वक चरित-गान से भगवान् बहुत शीघ्र ही प्रसन्न होते हैं, कहा भी है; यथा—"मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।" 'मृदु बानी'—वीणा से मिलती हुई कोमल-वाणी से। 'प्रेम सहित'—क्योंकि भगवान् की प्रसन्नता का मुख्य हेतु प्रेम ही है, यों तो वेश्या-कत्थक आदि भी गाते ही हैं, पर उनकी दृष्टि ताल स्वर ही पर विशेष रहती है। 'राम-चरित'—यहाँ 'हरि-चरित' 'प्रभु-चरित' आदि न कहकर 'राम-चरित' ही कहा गया है, इससे साकेत-विहारी नित्य द्विभुज श्रीरामजी के ही चरित को सूचित किया गया है।

शंका—शाप तो क्षीरशायी भगवान् को दिया गया था, तब उसकी संगति इस चरित के साथ कैसे होगी? क्योंकि यह मानस का चरित तो साकेत विहारी का ही है; यथा—"अपर हेतु सुनु···जेहि

कारन कवन असुन अरूपा। ब्रह्म भयेउ कोसलपुर भूपा ॥'''सो सब कहिहउँ ''" (बा० दो० ११०); श्रीनारदजी ने यहाँ कैसे कहा ?—"मोर साप करि अंगीकारा।'''" इत्यादि।

समाधान—यह समग्र चरित साकेत-विहारी का ही है, पर सब अवतारों में चरित एक ही होता है, अन्यथा नारद-शाप-जन्य सीता-हरण एवं विरह न हो, तो लीला अधूरी ही रहेगी। जैसे, श्रीभृगुजी ने विष्णु भगवान् को लात मारी थी, पर उस चिह्न को भगवान् सब अवतारों में धारण करते हैं। पुनः शालिग्राम होने का शाप भी विष्णु भगवान् को ही हुआ, पर सब विग्रह उसमें पूजे जाते हैं। इत्यादि। भगवान् के सब रूप में तत्त्वतः अभेद है। शाप अंगीकार करने पर यहाँ श्रीनारदजी उनकी कृपा का अनुभव कर रहे हैं और कृतज्ञता की दृष्टि से आये हैं। 'ऐसे प्रभुहिं' अर्थात् ऐसा कृपालु और कौन होगा ?

(५) 'लछिमन सादर चरन पखारे।'—श्रीनारदजी ने श्रीरामजी को स्वामी मानकर दंडवत् की इसीसे श्रीलक्ष्मणजी ने चरण धोये।

(६) 'नाना विधि बिनती'''—' सहब राम नाना दुःख-भारा।" अतएव—"नाना विधि बिनती करि।" अपराध-क्षमा के लिये बिनती की।

सुनहु उदार सहज रघुनायक। सुंदर अगम सुगम बरदायक ॥१॥
देहु एक बर माँगउँ स्वामी। जद्यपि जानत अंतरजामी ॥२॥
जानहु मुनि तुम्ह मोर सुभाऊ। जन सन कबहुँ कि करउँ दुराऊ ॥३॥
कवन बस्तु असि प्रिय मोहि लागी। जो मुनिबर न सकहु तुम्ह माँगी ॥४॥
जन कहुँ कछु अदेय नहिं मोरे। अस बिस्वास तजहु जनि भोरे ॥५॥

अर्थ—हे स्वाभाविक ही उदार रघुनायक ! सुनिये, आप सुन्दर, अगम और सुगम वर के देनेवाले हैं ॥१॥ हे स्वामिन् ! यद्यपि आप अंतर्यामि-रूप से जानते ही हैं तथापि मैं एक वर माँगता हूँ, मुझे दीजिये ॥२॥ (श्रीरामजी ने कहा) हे मुनि ! तुम मेरा स्वभाव जानते ही हो, क्या मैं अपने भक्त से कभी छिपाव करता हूँ ? ॥३॥ कौन-सी वस्तु मुझे ऐसी प्रिय लगती है, जिसे हे मुनिश्रेष्ठ ! तुम नहीं माँग सकते हो ? ॥४॥ मेरे पास भक्त के लिये कुछ भी अदेय (न देने योग्य पदार्थ जिसे मैं न दे सकूँ) नहीं है—ऐसा विश्वास तुम भूलकर भी न छोड़ना ॥५॥

विशेष—(१) 'सुनहु उदार सहज'''—'रघुनायक'—रघु महाराज भी बड़े उदार थे जिन्होंने अपना सर्वस्व ही दान कर दिया और आप तो उस कुल के 'नायक' हैं, राजा हैं; अतः माँगता हूँ। उदार एवं राजा कहकर माँगने की रीति है; यथा—"नृप नायक दे बरदानमिदं" (लं० दो० १०१); 'सुंदर अगम सुगम'' '—'सुंदर' अर्थात् आप परिणाम में दुःखद वर दास को नहीं देते। जैसे, मैंने विश्वमोहिनी की प्राप्ति के लिये आपका रूप माँगा, तो मेरे लिये कुपथ्य जानकर आपने मुझे नहीं दिया। 'अगम सुगम'; यथा—"तुम्हहिं देत अति सुगम गोसाईं। अगम लाग मोहिं निज कृपिनाईं ॥" (बा० दो० १४८)।

(२) 'देहु एक बर'''—आप 'स्वामी' हैं, इसीसे माँगता हूँ; यथा—"अरि जाउ सो जीह जो जाँचत औरहिं।" (क० उ० २६); 'एक बर'—यद्यपि आप अनेक वर भी दे सकते हैं, तथापि मैं एक ही

वर माँगूँगा। अथवा एक (मुख्य) वर ही मैं चाहता हूँ, उसे दीजिये। यह वरदान मुख्य है, क्योंकि इससे मैं राम-नाम का ऋषि बनूँगा।

(२) 'जन सन कबहुँ···'; यथा—"सुनहु सखा कपिपति लंकापति तुम्हसन कवन दुराव।" (गी० सुं० ४५)। 'मुनि'—आपने तो सब शास्त्रों का भी मनन किया है, इसीसे जानते हैं।

(३) 'कवन वस्तु···'—भाव यह कि मुझे वस्तु नहीं, किंतु जन ही प्रिय हैं।

(४) 'अस विश्वास तजहु जनि मोरे।'—ऐसा कहना साभिप्राय है, क्योंकि एक बार—"आपन रूप देहु···" यह वर माँगने पर न मिला था, इसी से यहाँ जोर देकर कहते हैं कि इस बार भूलकर भी विश्वास न छोड़ना।

तब नारद बोले हरषाई। अस बर माँगउँ करउँ ढिठाई ॥६॥
जद्यपि प्रभु के नाम अनेका। श्रुति कह अधिक एक ते एका ॥७॥
राम सकल नामन्ह ते अधिका। होउ नाथ अघ-खग-गन-बधिका ॥८॥

दोहा—राका-रजनी भगति तव, रामनाम सोइ सोम।
अपर नाम उडुगन बिमल, बसहु भगत-उर-व्योम॥
एवमस्तु मुनि सन कहेउ, कृपासिंधु रघुनाथ।
तब नारद मन हरष अति, प्रभु-पद नायउ माथ ॥४२॥

अर्थ—तब श्रीनारदजी ने प्रसन्न होकर कहा, मैं ऐसा वर माँगता हूँ, (यह) ढिठाई करता हूँ ॥६॥ यद्यपि प्रभु के अनेक नाम हैं और वेद ने एक-से-एक को अधिक कहा है ॥७। तथापि हे नाथ! 'राम' नाम सब नामों से अधिक (प्रभावशाली) है, (यह) पाप-रूपी पक्षि-समूह के लिये बधिक हो ॥८॥ आपकी भक्ति पूर्णिमा की रात है, राम-नाम उस पूर्णिमा का (पूर्ण) चन्द्र है, अन्य सब नाम निर्मल तारागण हैं, (यह उन सबों के साथ) भक्त के निर्मल हृदय-रूपी आकाश में बसे॥ दयासागर श्रीरघुनाथजी ने मुनि से 'एवमस्तु' (ऐसा ही हो) कहा, तब श्रीनारदजी के मन में अत्यन्त आनन्द हुआ। उन्होंने प्रभु के चरणों में शिर नवाया ॥४२॥

विशेष—(१) 'तब नारद बोले हरषाई।···'—'तब'—जब श्रीरामजी ने वचन दिया -'जन कहँ कछु अदेय नहिं मोरे।' तब उनकी रुचि जानकर हर्ष-पूर्वक बोले। इससे पहले संदेह था, अतएव हर्ष नहीं था; यथा—"नारद बोले बचन तब, जोरि सरोरुह पानि।" यही मात्र कहा गया है। 'करउँ ढिठाई'—ये सामान्य नियम से अधिक बात माँगते हैं, इससे अन्य ऋषित्व के वर पानेवाले ऋषियों की अपेक्षा इनकी ढिठाई होगी।

(२) 'जद्यपि प्रभु के नाम···'; यथा—"विष्णोरेकैकनामापि सर्ववेदाधिकं मतम्। तादृङ्नाम-सहस्रेण रामनाम समं मतम्॥ श्रीरामेति परं नाम रामस्यैव सनातनम्। सहस्रनामसदृशं विष्णोर्नारायणस्य च॥" (विष्णुपुराणे व्यासवाक्यम्), अर्थात् विष्णु भगवान् का प्रत्येक नाम सब वेदों में श्रेष्ठ है।

कारन मनुज अनुज अनुरूपा। मश भयेउ कोसलपुर भूपा ॥'''सो सब कहिहउँ'" (बा० दो० १४०); श्रीनारदजी ने यहाँ कैसे कहा ?—"मोर साप करि अंगीकारा।'''" इत्यादि।

समाधान—यह समग्र चरित साकेत-विहारी का ही है, पर सब अवतारों में चरित एक ही होता है, अन्यथा नारद-शाप-जन्य सीता-हरण एवं विरह न हो, तो लीला अधूरी ही रहेगी। जैसे, श्रीभृगुजी ने विष्णु भगवान् को लात मारी थी, पर उस चिह्न को भगवान् सब अवतारों में धारण करते हैं। पुनः शालिग्राम होने का शाप भी विष्णु भगवान् को ही हुआ, पर सब विग्रह उसमें पूजे जाते हैं। इत्यादि। भगवान् के सब रूप में तत्त्वतः अभेद है। शाप अंगीकार करने पर यहाँ श्रीनारदजी उनकी कृपा का अनुभव कर रहे हैं और कृतज्ञता की दृष्टि से आये हैं। 'ऐसे प्रभुहिं' अर्थात् ऐसा कृपालु और कौन होगा ?

(५) 'लछिमन सादर चरन पखारे।'—श्रीनारदजी ने श्रीरामजी को स्वामी मानकर दंडवत् की इसीसे श्रीलक्ष्मणजी ने चरण धोये।

(६) 'नाना विधि बिनती'''—' सहत राम नाना दुःख-भारा।" अतएव—"नाना विधि बिनती करि।" अपराध-क्षमा के लिये विनती की।

सुनहु उदार सहज रघुनायक। सुंदर अगम सुगम बरदायक ॥१॥
देहु एक बर माँगउँ स्वामी। जद्यपि जानत अंतरजामी ॥२॥
जानहु मुनि तुम्ह मोर सुभाऊ। जन सन कबहुँ कि करउँ दुराऊ ॥३॥
कवन बस्तु असि प्रिय मोहि लागी। जो मुनिबर न सकहु तुम्ह माँगी ॥४॥
जन कहँ कछु अदेय नहिं मोरे। अस बिस्वास तजहु जनि भोरे ॥५॥

अर्थ—हे स्वाभाविक ही उदार रघुनायक ! सुनिये, आप सुन्दर, अगम और सुगम वर के देनेवाले हैं ॥१॥ हे स्वामिन् ! यद्यपि आप अंतर्यामि-रूप से जानते ही हैं तथापि मैं एक वर माँगता हूँ, मुझे दीजिये ॥२॥ (श्रीरामजी ने कहा) हे मुनि ! तुम मेरा स्वभाव जानते ही हो, क्या मैं अपने भक्त से कभी छिपाव करता हूँ ? ॥३॥ कौन-सी वस्तु मुझे ऐसी प्रिय लगती है, जिसे हे मुनिश्रेष्ठ ! तुम नहीं माँग सकते हो ? ॥४॥ मेरे पास भक्त के लिये कुछ भी अदेय (न देने योग्य पदार्थ जिसे मैं न दे सकूँ) नहीं है—ऐसा विश्वास तुम भूलकर भी न छोड़ना ।५॥

वैसे ही और नामों से भगवान् के भिन्न-भिन्न गुण-कर्म जाने जाते हैं, जिनसे उनमें प्रीति बढ़ती है और श्रीराम नाम तो अपने प्रभाव से पाप का नाश कर प्रेमामृत टपकाता है और अपने मर्म-रूप-प्रकाश से अज्ञान-रूपी तम का भी नाश करता है; अन्य उपाय-रूपी ओषधियों का पोषण करता है। इस तरह (चन्द्रमा रूप) से यह भक्तों के हृदय में बसे। अथवा 'भगत' शब्द से मैं जो भक्त हूँ, उसके हृदय का अर्थ लेने से भाव यह है कि मेरे हृदय में इस तरह बसे। जैसे चन्द्रमा अमृत स्रवता है, तो ओषधियाँ सजीव होती हैं। वैसे ही मेरे द्वारा राम-नाम के प्रकाश से अमृत स्रवे, उससे लोग भक्ति-रूपी सञ्जीवता पावें। इस तरह माँगने में अपना भक्ति-स्थापित्व माँगना भी आ जाता है। 'होउ नाथ अघ-खग-गन-बधिका।' का स्थापित्व तो प्राप्त ही हुआ।

इस दृष्टान्त से और नामों से सम्बन्ध एवं अधिकता भी जना दी कि यह उन सबका स्वामी है। बड़ाई में अधिक और पाप-रूपी तम के नाश करने में अधिक है।

(४) 'एवमस्तु मुनि सन कहेउ' '—'कृपासिंधु'—क्योंकि श्रीरामजी ने मुनि पर अगाध कृपा की। अगेय वर दिया। 'हरष अति'—वर देने की स्वीकृति पर 'बोले हरषाई' कहा गया था, अब पा गये तब यहाँ 'अति हरष' हुआ। अतएव कृतज्ञता ज्ञापन 'प्रभु-पद नायउ माथ' कहा गया है।

जैसे श्रीमनुजी ने रूप के माधुर्य-भाव का स्थिरत्व माँगा था, वैसे ही श्रीनारदजी ने नाम के 'अघ-खग-गन-बधिका' भाव का स्थापित्व रूप में स्थिरत्व माँगा है। रूप और नाम तुल्य हैं, इसलिये दोनों के माँगने में शब्द भी समान आये हैं—

श्रीनारदजी	श्रीमनुजी
१—सुनहु उदार परम रघुनायक।	दानि सिरोमनि कृपानिधि···
२—सुंदर अगम सुगम बरदायक॥	सुगम अगम कहि जात···
३—देहु एक बर मागउँ स्वामी। जद्यपि जानत अंतरजामी॥	सो तुम्ह जानहु अंतरजामी। पुरवहु मोर मनोरथ स्वामी॥
४—जन कहुँ कछु अदेय नहिं मोरे। अस बिस्वास तजहु जनि भोरे॥	सकुच बिहाइ माँगु नृप मोही। मोरें नहिं अदेय कछु तोही॥
५—जस बर माँगउँ करउँ ढिठाई।	प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई।
६—एवमस्तु मुनि सन कहेउ,	एवमस्तु करुनानिधि बोले।

अति प्रसन्न रघुनाथहि जानी। पुनि नारद बोले मृदु बानी ॥१॥
राम जबहि प्रेरेहु निज माया। मोहेहु मोहि सुनहु रघुराया ॥२॥
तब बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा। प्रभु केहि कारन करइ न दीन्हा ॥३॥
सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा ॥४॥
करउँ सदा तिन्हकै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी ॥५॥
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई ॥६॥

उन सबसे अनन्त गुण फलदायक रामनाम है ॥ 'श्रीराम' यह नाम साकेत-विहारी नित्य द्विभुज श्रीरामजी का ही सनातन से है, यह विष्णु नारायण के अनन्त नामों के समान है।

(३) 'राम सकल नामन्ह ते अधिका', यथा—"राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे। सहस्र नामतातुल्यं रामनाम वरानने ॥" (पद्मपुराण); इसमें 'सहस्र नामता' कहा गया है, अर्थात् सहस्र नामों का समूह, जैसे, जनता का अर्थ जनसमूह होता है। अर्थात् विष्णु-सहस्रनाम, गोपाल-सहस्रनाम आदि अनेकों नाम समूह एक 'राम' नाम के तुल्य हैं।

तात्पर्य यह कि ब्रह्म सच्चिदानंद-स्वरूप है, उसका अर्थ श्रीराम-नाम ही में पूर्णरूप से है; यथा—"चिद्वाचको रकारः स्यात्सद्वाच्याकार उच्यते। मकारानंदवाच्यं स्यात्सच्चिदानंदमव्ययम् ॥" (महारामायणे) अर्थात् चिद्वाचक रकार है सद्वाचक आकार है और आनंदवाचक मकार है, इन तीनों से सच्चिदानंद सिद्ध होता है। वह एकरस अविनाशी है। और नाम जैसे, माधव, केशव, विष्णु, नारायण, ईश्वर आदि नाम ब्रह्म के गुण-कर्म द्वारा उसके वाचक हैं, साक्षात् स्वरूपवाचक नहीं हैं। गुण-कर्म स्वरूप (शरीर) से होते हैं, इस तरह राम-नाम सब भगवन्नामों का भी प्रकाशक है; यथा—"विष्णुर्नारायण कृष्णो वासुदेवो हरिः स्मृतः।" नाम्नामेव च सर्वेषां रामनाम प्रकाशकम् ॥" (महारामायण); "विष्णुनारायणादीनि नामानि चामितान्यपि। तानि सर्वाणि देवर्षे जातानि रामनामतः ॥" (पद्मपुराणब्रह्मवाक्य नारदं प्रति); इत्यादि।

जैसे, इस लोक में जन्म-समय के अनुसार नर-शरीर का नाम रक्खा जाता है, वह उसके स्वरूप का वाचक होता है, उसी नाम में उसकी कुंडली के अनुसार जन्मभर की व्यवस्था रहती है। फिर उसके गुण-कर्म से भी पंडित, वकील, कारीगर, रायबहादुर आदि नाम होते हैं और वे सब नाम उसी व्यक्ति के बोधक होते हैं। पर वे सब स्वरूपवाचक नाम के अधीन एवं आधार पर रहते हैं। इसका विशेष विचार 'श्रीरामतापनीयोपनिषद् भाष्य' और 'रामस्तवराज भाष्य' में है। विद्वानों को वहीं पर देखना चाहिये।

'होउ नाथ अघ-खग-गन-बधिका।'—यह, श्रीनारदजी श्रीराम-नाम के विषय में अधिकता इसी भाव की माँग रहे हैं कि यह व्याधा की तरह अपने व्यसन से ढूँढ़-ढूँढ़कर पाप-रूपी पक्षियों को निर्दय भाव से मारा करे। जापक का हृदय आकाश है और उसमें पाप-सम्बन्धी संकल्प पक्षियों की तरह उड़ा करते हैं, यह उन्हें ढूँढ़ ढूँढ़कर मारे, जापकों के अनुसंधान की अपेक्षा न करे।

तात्पर्य यह है कि और नाम एवं मंत्र अर्थानुसंधान सहित जप करने से पाप का नाश करते हैं। यथा—"तज्जपस्तदर्थ भावनम्" (योग सूत्र); "मननात्त्राणनान्मंत्र।" (रामतापनीय ४०)। अर्थात् मंत्रार्थानुसार देवता की शक्ति के समक्ष अपने पापों के नाश का अनुसंधान करते हुए मंत्र का जप करे, तब पाप नाश होते हैं। श्रीनारदजी माँगते हैं कि राम-नाम में यह नियम न रहे। चाहे किसी तरह भी जिह्वा से कहा जाय तो भी यह पापों का नाश करे; यथा—"भाय कुभाय अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ॥" (बा० दो० २७) "विवसहुँ जासु नाम नर कहहीं। जन्म अनेक रचित अघ दहहीं ॥" (बा० दो० ११८) "दंभहू कलि नाम कुंभज सोच सागर सोषु।" रामनाम प्रभाव सुनि तुलसिहुँ परम संतोषु ॥" (वि० १५६)। तथा—"प्रमादादपि संस्पृष्टो यथाऽनलकणो दहेत्। तथौष्ठपुटसंस्पृष्टं रामनाम दहेदघम् ॥" (ब्रह्मपुराणे ब्रह्मवाक्यं नारद प्रति) इत्यादि बहुत प्रमाण हैं। वाराह पुराण में यवन की कथा इसके चरितार्थ रूप में प्रसिद्ध है।

(५) 'राका-रजनी भगति तव....'—जैसे चन्द्रमा तारागणों के साथ रात को सुशोभित करता है।

वैसे ही और नामों में भगवान् के भिन्न-भिन्न गुण-कर्म जाने जाते हैं, जिनसे उनमें प्रीति बढ़ती है और श्रीराम नाम तो अपने प्रभाव से पाप का नाश कर प्रेमामृत टपकाता है और अपने अर्थ-रूप-प्रकाश से अज्ञान-रूपी तम का भी नाश करता है; अन्य उपाय-रूपी ओषधियों का पोषण करता है। इस तरह (चन्द्रमा रूप) से यह भक्तों के हृदय में बसे। अथवा 'भगत' शब्द से मैं जो भक्त हूँ, उसके हृदय का अर्थ लेने से भाव यह है कि मेरे हृदय में इस तरह बसे। जैसे चन्द्रमा अमृत स्रवता है, तो ओषधियाँ सजीव होती हैं। वैसे ही मेरे द्वारा राम-नाम के प्रकाश से अमृत स्रवे, उससे लोग भक्ति-रूपी सजीवता पावें। इस तरह माँगने में अपना भक्ति-ऋषित्व माँगना भी आ जाता है। 'होउ नाम अघ-खग-गन-बधिका।' का ऋषित्व तो प्राप्त ही हुआ।

इस दृष्टान्त से और-नामों से सम्बन्ध एवं अधिकता भी बता दी कि यह उन सबका स्वामी है। बड़ाई में अधिक और पाप-रूपी तम के नाश करने में अधिक है।

(४) 'एवमस्तु मुनि सन कहेउ ''—'कृपासिंधु'—क्योंकि श्रीरामजी ने मुनि पर अगाध कृपा की। अगम्य वर दिया। 'हरष अति'—वर देने की स्वीकृति पर 'बोले हरषाई' कहा गया था, अब पा गये तब यहाँ 'अति हरष' हुआ। अतएव कृतज्ञता ज्ञापन 'प्रभु-पद नायउ माथ' कहा गया है।

जैसे श्रीमनुजी ने रूप के माधुर्य-भाव का पितृत्व माँगा था, वैसे ही श्रीनारदजी ने नाम के 'अघ-खग-गन-बधिका' भाव का ऋषित्व रूप में पितृत्व माँगा है। रूप और नाम तुल्य हैं, इसलिये दोनों के माँगने में शब्द भी समान आये हैं—

श्रीनारदजी	श्रीमनुजी
१—सुनहु उदार परम रघुनायक।	दानि सिरोमनि कृपानिधि···
२—सुंदर अगम सुगम बरदायक॥	सुगम अगम कहि जात···
३—देहु एक बर मागउँ स्वामी। जद्यपि जानत अंतरजामी॥	सो तुम्ह जानहु अंतरजामी। पुरवहु मोर मनोरथ स्वामी॥
४—जन कहँ कछु अदेय नहिं मोरे। अस बिस्वास तजहु जनि भोरे॥	सकुच बिहाइ माँगु नृप मोहीं। मोरे नहिं अदेय कछु तोहीं॥
५—अस बर माँगउँ करउँ ढिठाई।	प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई।
६—एवमस्तु मुनि सन कहेउ,	एवमस्तु करुनानिधि बोले।

अति प्रसन्न रघुनाथहि जानी। पुनि नारद बोले मृदु बानी॥१॥
राम जबहिं प्रेरेहु निज माया। मोहेहु मोहि सुनहु रघुराया॥२॥
तब बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा। प्रभु केहि कारन करइ न दीन्हा॥३॥
सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥४॥
करउँ सदा तिन्हकै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥५॥
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥६॥

शब्दार्थ—सहरोसा=सहर्ष का अपभ्रंश है ; यथा—"सदेह देउँ माजु सहरोसा।" (बा० दो० १००)।

अर्थ—श्रीरघुनाथजी को बहुत ही प्रसन्न जानकर श्रीनारदजी फिर कोमल वचन बोले ॥१॥ हे श्रीराम ! हे रघुराज !! जब आपने अपनी माया प्रेरित करके मुझे मोहित किया था ॥२॥ तब मैंने विवाह करना चाहा था, हे प्रभो ! आपने किस कारण से नहीं करने दिया था ? ॥३॥ (प्रभु ने कहा—) हे मुनि ! सुनो, मैं तुमसे प्रसन्नतापूर्वक कहता हूँ कि जो सबका भरोसा छोड़कर मेरा भजन करते हैं ॥४॥ मैं सदा उनकी रक्षा करता हूँ, जैसे माता बालक की रक्षा करती है ॥५॥ जब शिशु (छोटा) बच्चा अग्नि या सर्प को दौड़कर पकड़ना चाहता है, तब वहाँ माता दौड़कर अलग करके उसे रखती (बचाती) है ॥६॥

विशेष—(१) 'अति प्रसन्न रघुनाथहि जानी ।'—पहले प्रभु प्रसन्न थे; यथा—"प्रभु प्रसन्न जिय जानि ।" कहा गया । भक्त का मनोरथ पूर्ण करने से अब 'अति प्रसन्न' हैं। भाव यह है कि प्रसन्न रहना तो उनका स्वभाव ही है । पर वे भक्तों के मनोरथ-सिद्ध करने में अत्यन्त सुख मानते हैं। 'पुनि नारद बोले · '—'पुनि' से अब दूसरा प्रसंग सूचित किया, ऐसे ही प्रभु 'सुनु' पद से प्रसंग बदलेंगे ; यथा—"सुनु मुनि तोहि कहउँ···" फिर—"सुनु मुनि कह पुरान···", इत्यादि ।

(२) 'राम जबहि प्रेरेहु···'—'निज माया' ; यथा—"श्रीपति निज माया तब प्रेरी ।" (बा० दो० १२८), वह विद्या माया है ; यथा—"हरि सेवकहि न व्याप अविद्या । प्रभु प्रेरित तेहि व्यापइ विद्या ॥" (उ० दो० ७८) ।

(३) 'भजहिं जे मोहिं तजि सकल भरोसा ।' ; यथा—"ये दारागारपुत्राप्तान्प्राणान्वित्तमिमं परम् । हित्वा मां शरणंयाताः कथंतांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥ मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः । वशी कुर्वन्ति-मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥ · साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् । मदन्यत्तेन जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥" (भाग० ९।४।६५-६८) ; 'जिमि बालक राखइ महतारी ।'—जैसे, और काम करते हुए भी मा का चित्त बच्चे पर ही रहता है, वैसे ही मैं सावधानी से अमानी भक्तों की रक्षा करता हूँ ; यथा—"खेलत बालक व्याल सँग, मेलत पावक हाथ । तुलसी सिसु पितु मातु ज्यों, राखत सिय रघुनाथ ॥" (दोहावली १११) ; इसी तरह यहाँ भी आगे कहते हैं—

(४) 'गह सिसु बच्छ अनल ··'—'अरगाई' का अर्थ यहाँ पर 'अलगाई' का है ; अर्थात् अलग करके, 'ल' की जगह पर 'र' आदेश हुआ है, क्योंकि—'रलयोरभेदः' कहा गया है ; यथा—"सरिता नभ धारा ।" (लं० दो० १४) । अरगाई को 'अलं गानं' का विकृत रूप मानकर 'चुप रहने' का अर्थ भी होता है, वह यदि यहाँ लें तो 'चुपके से' बचा लेती है, ऐसा अर्थ होगा । शिशु छोटी अवस्था के अर्थ में है और बच्छ, (वत्स) 'बच्चा' के अर्थ में है । 'अनल'—क्रोध की उपमा में है ; यथा—"रावण-क्रोध-अनल निज · " (सुं० दो० ४१) ; 'अहि' अर्थात् सर्प काम की उपमा में है ; यथा—"काम-भुजंग डसत जब जाही ।" (वि० १२७) । जैसे माता बच्चे को अग्नि और सर्प से बचाती है, वैसे ही मैं भक्त को क्रोध और काम से बचाता हूँ । इन्हीं दो बातों को आगे भी कहते हैं—"दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही ।"

प्रौढ़ भये तेहि सुत पर माता । प्रीति करइ नहि पाछिलि बाता ॥७॥
मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी । बालक सुत सम दास अमानी ॥८॥

जनहि मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही ॥९॥
यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पायेहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं ॥१०॥

दोहा—काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद, माया - रूपी नारि ॥४३॥

अर्थ—सयाना होने पर उस पुत्र पर माता प्रीति करती है, पर वह पिछली बात (अग्नि और सर्प से बचाना) नहीं करती, (क्योंकि जानती है कि प्रौढ़ पुत्र तो स्वयं अपनी रक्षा के लिये समर्थ है) ॥७॥ ज्ञानी मेरे सयाने पुत्र के समान हैं और अमानी (मान रहित) दास बालक (छोटे) पुत्र के समान हैं ॥८॥ दास को मेरा बल है और उस ज्ञानी को अपना बल है; काम और क्रोध (ज्ञानी और दास) दोनों के शत्रु हैं ॥९॥ यह विचार कर पंडित (बुद्धिमान्) लोग मुझे भजते हैं, ज्ञान पाने पर भी भक्ति नहीं छोड़ते ॥१०॥ काम, क्रोध, लोभ, मद आदि मोह की प्रबल सेनाएँ हैं, उनमें माया-रूपिणी स्त्री अत्यन्त कठिन दुःख देनेवाली है ॥४३॥

विशेष—(१) 'बालक सुत सम दास अमानी'—मान तो ज्ञानी में भी नहीं होता; यथा—"ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं।" (दो० १४); पर वह अपनी रक्षा में समर्थ रहता है। दास अमानी हैं और बालक सुत के समान भोरे एवं असमर्थ हैं। बालकों की तरह इन्हें मान नहीं होता; यथा—"सबहि मानप्रद आप अमानी।" (उ० दो० ३०); मान दोनों ही को बाधक है; यथा—"मान ते ज्ञान पान ते लाजा।···नासहिं बेगि···" (दो० २०); एवं—"परिहरि मान मोह मद, भजहु कोसलाधीस।" (सुं० दो० ३६)। 'दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही।'; यथा—"काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ॥" (गीता ३।३७); श्रीनारदजी जब पहले अमानी भक्त थे, तब भगवान् ने उन्हें दोनों से बचाया है; यथा—"काम-कला कछु मुनिहिं न ब्यापी।" (बा० दो० १२५), "भयउ न नारद मन कछु रोषा।" (बा० दो० १२६); भगवान् ने ही रक्षा की है; यथा—"बड़ रखवार रमापति जासू।" (बा० दो० १२५); यह कहा गया है। उसे न समझने से जब श्रीनारदजी को गर्व हुआ, तो माया के द्वारा भगवान् ने उन्हें काम-क्रोध के बश करके समझा दिया जिससे वे सदा के लिये समझ गये।

(२) 'यह बिचारि पंडित ···'—ज्ञान में अपनी रक्षा स्वयं करनी होगी और भक्ति में भगवान् समर्थ रक्षक रहते हैं; यथा—"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥" (गीता ९।२२); "ये तु सर्वाणि···तेषामहं समुद्धर्ता···" (गीता १२।६–७); इसलिये वे ज्ञान की पूर्णावस्था पर भी भजन करते ही रहते हैं; यथा—"सुक-सनकादि मुक्त बिचरत तेउ भजन करत अजहूँ।" "आत्मारामाश्च मुनयो···।"—बा० दो० १६, चौ० २ देखिये। पूर्व 'ज्ञानमान जहँ···' (दो० १४); पर सरस ज्ञान का भक्ति से अभेद कहा गया है। 'पंडित'—सदसद्विवेकिनी बुद्धि को पंडा कहा जाता है। अतः, पंडित वही है, जो असत रूप जगत्‌व्यवहार को छोड़कर भगवान् का भजन करे; यथा—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन···" (दो० ३८)।

(३) 'काम क्रोध लोभादि······'—'आदि' शब्द देकर छहों विकारों को जना दिया। उनमें काम, क्रोध, लोभ, मद और मोह ये पाँच कहे गये हैं, मत्सर को और भी ले लेना चाहिये। कामादि

दुःखद हैं। मोह दारुण दुःखद और नारि अति दारुण दुःखद है। इसीको आगे विस्तार से कहते हैं। काम का यहाँ प्रस्तुत प्रसंग है। इसीसे इसे आदि में कहा है और अंत में नारि के द्वारा भी उसीका वर्णन है। 'धारि'—लूटने को धाई हुई सेना धारि है और ये कामादि जीव के सद्गुणों को लूटनेवाले हैं।

सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता। मोह-बिपिन कहँ नारि बसंता ॥१॥
जप तप नेम जलासय झारी। होइ ग्रीषम सोषइ सब नारी ॥२॥
काम क्रोध मद मत्सर भेका। इन्हहिं हरषप्रद बरषा एका ॥३॥
दुर्बासना कुमुद - समुदाई। तिन्ह कहँ सरद सदा सुखदाई ॥४॥
धर्म सकल सरसीरुह - बृंदा। होइ हिम तिन्हहि दहइ सुख मंदा ॥५॥
पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहइ नारि सिसिर रितु पाई ॥६॥
पाप - उलूक - निकर सुखकारी। नारि निबिड़ रजनी अँधियारी ॥७॥
बुधि बल सील सत्य सब मीना। बनसी सम त्रिय कहहिं प्रबीना ॥८॥

दोहा—अवगुन - मूल सूल-प्रद, प्रमदा सब दुख खानि।
तातें कीन्ह निवारन, मुनि मैं यह जिय जानि ॥४४॥

शब्दार्थ—सुख मंदा = मंद सुख वाली। पलुहइ = हरा-भरा होता है।

अर्थ—हे मुनि! सुनो, पुराण, वेद और संत कहते हैं कि मोह-रूपी वन के लिये स्त्री वसन्त-ऋतु है ॥१॥ जप, तप, नियम रूपी सारे जलाशयों को स्त्री ग्रीष्म-ऋतु होकर सबको पूरा सोख लेती है ॥२॥ काम, क्रोध, मद और मत्सर मेढक हैं, इन्हें हर्ष देने में वर्षा की तरह यह एक ही है ॥३॥ सब दुर्वासनाएँ कुई के समुदाय (झुंड) हैं, उनको यह सदा सुख देनेवाली शरद्-ऋतु है ॥४॥ सब धर्म कमलों के झुंड हैं, यह मंद सुखवाली उन्हें हिम-ऋतु होकर जला डालती है ॥५॥ फिर ममता-रूपी यवास-समूह स्त्री-रूपी शिशिर-ऋतु को पाकर हरा भरा हो जाता है ॥६॥ पाप-रूपी उल्लुओं के समूह को सुखी करनेवाली, स्त्री घोर अँधेरी रात है ॥७॥ बुद्धि, बल, शील, सत्य ये सब मछलियाँ हैं और स्त्री बंसी के समान है—ऐसा प्रवीण लोग कहते हैं ॥८॥ अवगुण की जड़, पीड़ा देनेवाली और सब दुःखों की खान (मद भरी हुई) स्त्री है। अतएव हे मुनि! मैंने जी में ऐसा जानकर, तुमको रोका है ॥४४॥

विशेष—(१) 'सुनु मुनि कह पुरान श्रुति'''—'सुनु मुनि' शब्द से यह वर्णन मुनियों के लिये सूचित किया, क्योंकि उपसंहार में भी 'मुनि मैं यह जिय जानि' कहा है। किन्तु गृहस्थों के लिये तो अपनी लीला द्वारा पतिव्रता स्त्री की रक्षा एवं उसका ढूँढना ही दिखला रहे हैं; यथा—"पुनि सीतहिं खोजत दोउ भाई। चले बिलोकत बन बहुताई॥" (दो० ११); आगे भी कहा है—"सीतान्वेषण-तत्परौ" (कि० मं०) यहाँ उपक्रम में ही नारी को 'अति दारुन दुखद' कहा गया है और उपसंहार में भी 'प्रमदा सब दुखखानि' कहकर इसे दुखमय जनाया; यथा—"जन्म-पत्रिका बरति कै, देखहु हृदय बिचारि। दारुन बैरी मीच के,

बीच बिराजति नारि ॥" (दोहावली २६८); अर्थात् फलित ज्योतिष के अनुसार जन्म-कुण्डली का छठा शत्रु का और सातवाँ स्त्री का तथा आठवाँ मृत्यु का स्थान है, तदनुसार शत्रु और मृत्यु के बीच होने से यह दारुण है।

'मोह-बिपिन कहँ नारि बसंता।'—बसंत ऋतुराज है और मोह भी आसुरी सम्पत्ति में राजा है; यथा—"जीति मोह-महिपाल दल···" (बा० दो० ३३५); राजा के द्वारा राजा का बढ़ना कहा गया है। राजा अपने दल को बढ़ाया ही करता है, वैसे ही मोह भी अपनी सेना की वृद्धि में लगा रहता है। मोह ही सब विकारों का मूल भी है; यथा—"मोह सकल ब्याधिन कर मूला।" (उ० दो० १२०); इसीसे पहले इसीका वर्णन किया गया कि स्त्री के संग से पहले मोह की वृद्धि होती है। स्त्री को त्यागने का उपदेश देते हुए, उसका ऋतुओं से रूपक बाँधा गया है। ऋतु स्त्रियों के रजोधर्म को भी कहते हैं। ऋतुमती स्त्री सर्वथा त्याज्य है। उस समय उसका स्पर्श महान् पापों का भागी बनाता है। आयुर्वेद से भी अत्यन्त वर्जित है।

बसंत से वन शोभायमान हो जाता है, वैसे ही स्त्री के आने से मोह (देहाभिमान) के विलासी साज बढ़ने लगते हैं, जिसकी सीमा नहीं। ये मोहादि श्रीनारदजी में स्त्री की वासना होते ही बढ़े थे, आगे मिलान लिखा जायगा।

(२) 'जप तप नेम जलासय झारी।···'—'झारी' कहकर सूचित करते हैं कि ग्रीष्म-ऋतु में भी भारी जलाशय नहीं सूखते। पर स्त्री-रूप ग्रीष्म में तो जप, तप, नियम-रूपी सरित, कूप, तड़ाग नितान्त सूख जाते हैं। अर्थात् इनमें एक बूँद भी जल नहीं रह पाता। स्त्री झाड़-पोछकर सोख लेती है। जप आदि तीन ही कहे गये हैं, क्योंकि जलाशय भी प्रायः उपर्युक्त तीन ही प्रकार के कहे जाते हैं, जो सूख सकते हैं। 'झारी'—से पहले के किये हुए जप आदि का नष्ट करना सूचित किया।

(३) 'काम क्रोध मद मत्सर भेका।···'—कामादि चारों को मेढ़क कहा गया, क्योंकि मेढ़क चार तरह के होते हैं। ये ग्रीष्म में टुकड़े-टुकड़े होकर सूख जायँ, तो भी वर्षा पाते ही जी उठते हैं और मोटे होकर टर-टर करने लगते हैं। वैसे ही विरक्त के शुद्ध मन में भी स्त्री को पाकर कामादि जग उठते हैं; यथा—"देखि सुमेरु मन मनसिज जागा।" (बा० दो० ८५); तथा—"बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहुँ हृदय का नर बापुरे॥" (उ० दो० १२१)।

(७) 'पाप-उलूक-निकर···'—उल्लू रात में सुखी होता है, वैसे चोरी, व्यभिचार आदि पाप रात में होते हैं। स्त्री के संबंध से चोरी व्यभिचार आदि पाप होते हैं; इसीसे इसे अँधेरी रात कहा गया है।

(८) 'बुधि बल सील सत्य सब मीना।···'—इन चारों को मछलियाँ कहा गया है, क्योंकि मछलियाँ भी चार जातियों की होती हैं; यथा—"धुनि अवरेब कवित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती॥" (बा० दो० ३६); वंसी जल में निमग्न मछलियों को चारे के लोभ में फँसाकर मृत्यु को प्राप्त कराती है। वैसे ही स्त्रियाँ अपने मंद-सुख में फँसाकर विषय-वारि के मीन-रूप पुरुषों को मृत्यु-रूपी चौरासी लाख योनियों में भेजती हैं।

यहाँ तक का क्रमशः तात्पर्य यह है कि मोह होने से जप, तप, नियम का नाश होता है और काम, क्रोध, मद, मत्सर बढ़ते हैं। इनके बढ़ने में धर्म नाश हुए, तब ममता बढ़ी। फिर पाप की वृद्धि हुई और तब बुद्धि, बल, शील और सत्य नाश हुए। ये सब क्रमशः स्त्री-संग से होते हैं।

(९) 'प्रमदा सब दुख-खानि'—उपर्युक्त नारी शब्द का लक्ष्यार्थ यहाँ खोला गया है कि यहाँ उन्हीं नारियों से तात्पर्य है, जो सदा मद से भरी हुई रहती हैं, अन्यथा स्त्रियाँ तो ऐसी भी हैं कि जिनके स्मरण से पापों का नाश होता है। प्रमदा का सब दुःखों की खान होना भर्तृहरिशतक में भी कहा है; यथा—"सत्यं जना वच्मि न पक्षपातात्लोकेषु सर्वेश्वपि तथ्यमेतत्। नान्यं मनोहारि नितंबिनीभ्यो दुःखस्य हेतुर्नहि कश्चिदन्यः॥" 'ताते कीन्ह निवारन'—यह श्रीनारदजी के प्रश्न—"प्रभु केहि कारन करइ न दीन्हा।" का उत्तर है।

जो दोष यहाँ स्त्री की आसक्ति से कहे गये हैं, वे सब श्रीनारदजी में स्त्री की चाह होने से आये थे—

स्त्री की आसक्ति के दोष	श्रीनारदजी में (—बा० दो० १३४-१३८)
१—मोह-बिपिन कहँ नारि बसंता।	मुनिहि मोह मन हाथ पराये। मुनि अति बिकल मोह मति नाठी।
२—जप तप नेम जलासय झारी। होइ ग्रीषम सोषइ सब नारी॥	जप तप कछु न होइ तेहि काला।
३—काम क्रोध मद मत्सर भेका। इन्हहि हरष-प्रद बरषा एका॥	हे बिधि मिलइ कौन बिधि बाला।—काम सुनत बचन उपजा अति क्रोधा।—क्रोध हृदय रूप अहमिति अधिकाई।—मद मोहि तजि आनहिं बरिहि न भोरे।—मत्सर
४—दुर्बासना कुमुद समुदाई। तिन्ह कहँ सरद सदा सुखदाई॥	करउँ जाइ सोइ जतन बिचारी। जेहि प्रकार मोहि बरइ कुमारी॥ —यह योगी के लिये दुर्वासना है।
५—धर्म सकल सरसीरुह बृंदा। होइ हिम तिन्हहि दहइ सुखमंदा॥	"पर संपदा सकहु नहिं देखी।" से "सदा कपट ब्यवहार॥" तक के कठोर वचनों से इनके सेवक-धर्म का नाश हुआ।
६—पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहइ नारि सिसिर रितु पाई॥	मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी। —यह ममता है।

७—पाप-उलूक-निकर सुखकारी। नारि निबिड़ रजनी अँधियारी॥ } { मैं दुर्वचन कहे बहुतेरे। कह मुनि पाप मिटिहि किमि मोरे॥

८—बुधि बल सील सत्य सब मीना। बनसी सम तिय कहहिं प्रबीना॥ } { समुझि न परइ बुद्धि भ्रम सानी।—बुद्धि का नाश
अति आरत···करहु कृपा हरि···।—बल का नाश
मैं दुरबचन कहे बहुतेरे। —शील का नाश
कछुक बनाइ भूप सन भाखे। —सत्य का नाश

सुनि रघुपति के बचन सुहाये। मुनि-तनु पुलक नयन भरि आये॥१॥
कहहु कवन प्रभु कै असि रीती। सेवक पर ममता अरु प्रीती॥२॥
जे न भजहिं अस प्रभु भ्रम त्यागी। ज्ञान रंक नर मंद अभागी॥३॥
पुनि सादर बोले मुनि नारद। सुनहु राम बिज्ञान-बिसारद॥४॥
संतन्ह के लच्छन रघुबीरा। कहहु नाथ भंजन-भव-भीरा॥५॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी के सुन्दर वचन सुनकर मुनि का शरीर पुलकित हो गया और उनके नेत्र (आँसू से) भर आये॥१॥ (वे सोचने लगे कि) कहिये तो, किस स्वामी की ऐसी रीति है? किसकी सेवक पर ममता और प्रीति है॥२॥ जो लोग भ्रम छोड़कर ऐसे प्रभु को नहीं भजते वे ज्ञान के दरिद्र, मन्द (बुद्धि) और अभागे हैं॥३॥ फिर श्रीनारद मुनि आदरपूर्वक बोले—हे विज्ञानप्रवीण श्रीरामजी! सुनिये॥४॥ हे रघुवीर! हे भव-भय के दूर करनेवाले! हे नाथ! सन्तों के लक्षण कहिये॥५॥

विशेष—(१.) 'सुनि रघुपति के बचन सुहाये।'—यह उपसंहार है। इसका उपक्रम—'सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता।' है। 'कहहु कवन प्रभु कै असि रीती। सेवक पर ···'; यथा—"सब कें प्रिय सेवक यह नीती। मोरें अधिक दास पर प्रीती॥" (उ० दो० १५)। ऊपर कहा ही गया कि जैसे माता पुत्र की रक्षा करती है वैसे ही आप सेवक की रक्षा करते हैं। दूसरे स्वामी तो सेवक को हेय दृष्टि से देखते हैं। 'भ्रमत्यागी'—क्योंकि भ्रम भजन का बाधक है; यथा—"भ्रम तजि भजहु भगत-भय हारी।" (सुं० दो० २१), 'न भजहिं' से उपासना-रहित, 'ज्ञान रंक' से ज्ञान-रहित और 'मंद अभागी' से कर्म रहित कहकर कांडत्रयहीन कहा।

(२) 'पुनि सादर बोले···' अब दूसरा प्रसंग प्रारंभ हुआ। अत. 'पुनि' कहा गया। 'बिज्ञान बिसारद'—ये जो प्रश्न करेंगे, उसका उत्तर विज्ञान की दृष्टि से चाहते हैं। इसलिये ये विशेषण दिये गये हैं। प्रकृति-वियुक्त जीवात्मा के ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। जैसे—"तब बिज्ञान-निरूपिनी···" से "तेजरासि बिज्ञान मय" (उ० दो० ११७); तक से स्पष्ट है। यहाँ श्रीरामजी संत लक्षण कहेंगे। उन्हीं का ग्रहण करना विज्ञान-साधन है; यथा—"मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥" (गीता १४।२६)।

सुनु मुनि संतन के गुन कहऊँ। जिन्ह ते मैं उनके बस रहऊँ॥६॥
षट-बिकार-जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा॥७॥
अमित बोध अनीह मित-भोगी। सत्य सार कबि कोबिद जोगी॥८॥

(७) 'पाप उलूक-निकर ' '—उल्लू रात में सुखी होता है, वैसे चोरी, व्यभिचार आदि पाप रात में होते हैं। स्त्री के संबंध से चोरी व्यभिचार आदि पाप होते हैं, इसीसे इसे अँधेरी रात कहा गया है।

(८) 'बुधि बल सील सत्य सब मीना।...'—इन चारों को मछलियाँ कहा गया है, क्योंकि मछलियाँ भी चार जातियों की होती हैं; यथा—"धुनि अवरेब कवित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती॥" (बा० दो० ३६); वंशी जल में निमग्न मछलियों को चारे के लोभ में फँसाकर मृत्यु को प्राप्त कराती है। वैसे ही स्त्रियाँ अपने मद सुख में फँसाकर विषय-वारि के मीन-रूप पुरुषों को मृत्यु-रूपी चौरासी लाख योनियों में भेजती हैं।

यहाँ तक का क्रमशः तात्पर्य यह है कि मोह होने से जप, तप, नियम का नाश होता है और काम, क्रोध, मद मत्सर बढते हैं। इनके बढने में धर्म नाश हुए, तब ममता बढ़ी। फिर पाप की वृद्धि हुई और तब बुद्धि, बल, शील और सत्य नाश हुए। ये सब क्रमशः स्त्री-संग से होते हैं।

(९) 'प्रमदा सब दुख खानि'—उपर्युक्त नारी शब्द का लक्ष्यार्थ यहाँ खोला गया है कि यहाँ उन्हीं नारियों से तात्पर्य है, जो सदा मद से भरी हुई रहती हैं, अन्यथा स्त्रियाँ तो ऐसी भी हैं कि जिनके स्मरण से पापों का नाश होता है। प्रमदा का सब दुःखों की खान होना भर्तृहरिशतक में भी कहा है; यथा—"सत्यं जना वच्मि न पक्षपाताल्लोकेषु सर्वेष्वपि तथ्यमेतत्। नान्य मनोहारि नितंबिनीभ्यो दुःखस्य हेतुर्नहि कश्चिदन्य.॥" 'ताते कीन्ह निवारन'—यह श्रीनारदजी के प्रश्न—"प्रभु केहि कारन करइ न दीन्हा।" का उत्तर है।

जो दोष यहाँ स्त्री की आसक्ति से कहे गये हैं, वे सब श्रीनारदजी में स्त्री के चाह होने से आये थे—

स्त्री की आसक्ति के दोष	श्रीनारदजी में (—बा० दो० १२७-१३८)
१—मोह-बिपिन कहँ नारि बसंता।	मुनिहि मोह मन हाथ पराये। मुनि अति बिकल मोह मति नाठी।
२—जप तप नेम जलाश्रय झारी। होइ ग्रीषम सोषइ सब नारी॥	जप तप कछु न होइ तेहि काला।
३—काम क्रोध मद मत्सर भेका। इन्हहि हरष-प्रद बरषा एका॥	हे बिधि मिलइ कौन बिधि बाला।—काम सुनत बचन उपजा अति क्रोधा।—क्रोध हृदय रूप अहमिति अधिकाई।—मद मोहि तजि आनहिं बरिहि न भोरे।—मत्सर
४—दुर्बासना कुमुद समुदाई। तिन्ह कहँ सरद सदा सुखदाई॥	करउँ जाइ सोइ जतन बिचारी। जेहि प्रकार मोहि बरइ कुमारी॥ —यह योगी के लिये दुर्वासना है।
५—धर्म सकल सरसीरुह बृंदा। होइ हिम तिन्हहि दहइ सुखमंदा॥	"पर संपदा सकहु नहिं देखी।" से "सदा कपट ब्यवहार॥" तक के कठोर वचनों से इनके सेवक-धर्म का नाश हुआ।
६—पुनि ममता जवास अधिकाई। पलुहइ नारि सिसिर रितु पाई॥	मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी। —यह ममता है।

७—पाप - उलूक - निकर सुखकारी। नारि निबिड़ रजनी अँधियारी ॥	मैं दुर्बचन कहे बहुतेरे। कह मुनि पाप मिटिहि किमि मोरे ॥
८—बुधि बल सील सत्य सब मीना। बनसी सम तिय कहहिं प्रबीना ॥	समुझि न परइ बुद्धि भ्रम सानी।—बुद्धि का नाश अति आरत···करहु कृपा हरि···।—बल का नाश मैं दुरबचन कहे बहुतेरे। —शील का नाश कछुक बनाइ भूप सन भाखे। —सत्य का नाश

सुनि रघुपति के बचन सुहाये। मुनि-तनु पुलक नयन भरि आये ॥१॥
कहहु कवन प्रभु कै असि रीती। सेवक पर ममता अरु प्रीती ॥२॥
जे न भजहिं अस प्रभु भ्रम त्यागी। ज्ञान रंक नर मंद अभागी ॥३॥
पुनि सादर बोले मुनि नारद। सुनहु राम बिज्ञान - बिसारद ॥४॥
संतन्ह के लच्छन रघुबीरा। कहहु नाथ भंजन - भव - भीरा ॥५॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी के सुन्दर वचन सुनकर मुनि का शरीर पुलकित हो गया और उनके नेत्र (आँसू से) भर आये ॥१॥ (वे सोचने लगे कि) कहिये तो, किस स्वामी की ऐसी रीति है ? किसकी सेवक पर ममता और प्रीति है ॥२॥ जो लोग भ्रम छोड़कर ऐसे प्रभु को नहीं भजते वे ज्ञान के दरिद्र, मन्द (बुद्धि) और अभागे हैं ॥३॥ फिर श्रीनारद मुनि आदरपूर्वक बोले—हे विज्ञानप्रवीण श्रीरामजी ! सुनिये ॥४॥ हे रघुवीर ! हे भव-भय के दूर करनेवाले ! हे नाथ ! सन्तों के लक्षण कहिये ॥५॥

विशेष—(१) 'सुनि रघुपति के बचन सुहाये।'—यह उपसंहार है। इसका उपक्रम—'सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता।' है। 'कहहु कवन प्रभु कै असि रीती। सेवक पर···'; यथा—"सबके प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीती ॥" (उ० दो० १५)। ऊपर कहा ही गया कि जैसे माता पुत्र की रक्षा करती है वैसे ही आप सेवक की रक्षा करते हैं। दूसरे स्वामी तो सेवक को हेय दृष्टि से देखते हैं। 'भ्रमत्यागी'—क्योंकि भ्रम भजन का बाधक है ; यथा—"भ्रम तजि भजहु भगत-भय हारी।" (सुं० दो० २१), 'न भजहिं' से उपासना-रहित, 'ज्ञान रंक' से ज्ञान-रहित और 'मंद अभागी' से कर्म रहित कहकर कांडत्रयहीन कहा।

(२) 'पुनि सादर बोले···' अब दूसरा प्रसंग प्रारंभ हुआ। अतः 'पुनि' कहा गया। 'बिज्ञान बिसारद'—ये जो प्रश्न करेंगे, उसका उत्तर विज्ञान की दृष्टि से चाहते हैं। इसलिये ये 'विशेषण दिये गये हैं। प्रकृति-वियुक्त जीवात्मा के ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। जैसे—"तब बिज्ञान-निरूपिनी···" से - "तेजरासि बिज्ञान मय" (उ० दो० ११७) ; तक से स्पष्ट है। यहाँ श्रीरामजी संत लक्षण कहेंगे। उन्हीं का ग्रहण करना विज्ञान-साधन है ; यथा—"मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥" (गीता १४।२६)।

सुनु मुनि संतन के गुन कहऊँ। जिन्ह ते मैं उनके बस रहऊँ ॥६॥
षट-बिकार-जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा ॥७॥
अमित बोध अनीह मित-भोगी। सत्य सार कबि कोबिद जोगी ॥८॥

सावधान मानद मद-हीना। धीर धर्म गति परम प्रबीना ॥९॥

दोहा—गुनागार संसार - दुख - रहित बिगत संदेह।
तजि मम चरन-सरोज प्रिय, तिन्ह कहुँ देह न गेह ॥४५॥

अर्थ—हे मुनि ! सुनिये, सन्तों के गुण कहता हूँ, जिन गुणों से मैं उनके वश में रहता हूँ ॥६॥ छहों विकारों को जीते हुए, निष्पाप, निष्काम, स्थिरचित्त, निष्किंचन, पवित्र, सुख के स्थान ॥७। निःसीम ज्ञानवाले (अपरोक्ष ज्ञानवाले), चेष्टा-रहित, अल्पभोगी (थोड़े भोजन-वस्त्र आदि में निर्वाह करनेवाले), सत्य को सार रूप में ग्रहण करनेवाले, कवि (काव्यकर्त्ता), कोविद (व्याख्याकर्त्ता), योगी ॥८॥ (कर्त्तव्य में) सावधान, दूसरों को मान देनेवाले (स्वयं मान-रहित) मदों (गाँजा, भांग आदि) का सेवन नहीं करनेवाले, धीर, धर्म की व्यवस्था में बड़े निपुण ॥९॥ गुणों के घर, संसार-दुःख-रहित और संदेह से विशेष रहित होते हैं, उनको मेरे चरणकमल को छोड़कर न देह ही प्रिय है और न गेह ही ॥४५॥

विशेष—(१) 'गुन कहउँ ··बस रहउँ।'—भाव-गुण तो उनमें और भी बहुत होते हैं, पर मैं यहाँ उन्हीं गुणों को कहता हूँ जिनसे मैं उनके वश में हो जाता हूँ, यथा—"अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥ नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना। श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन्येषां गतिरहं परा ॥ ये दारागारपुत्राप्तान्प्राणान्वित्तमिमं परम्। हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥ मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः। वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥" (श्रीमद्भागवत ९।४।६३-६६)। गुण सूत्र एवं रस्सी को भी कहते हैं, मानों ये गुण ही मुझे बाँध लेनेवाले हैं।

(२) 'षट बिकार जित'—काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मत्सर—ये छः विकार शत्रु-रूप हैं, इन्हें संत जीत लेते हैं। 'अचल'—रागद्वेषादि से शुद्ध स्थिर चित्त। 'अकिंचन'—जिन्हें धन, बड़ाई एवं स्वर्ग आदि की चाह नहीं है और उनके संग्रह भी नहीं करते; यथा—"तेहि ते कहहिं संत श्रुति टेरे। परम अकिंचन प्रिय हरि केरे ॥" (बा० दो० १६०); 'सुचि'—मन, वचन और कर्म से पवित्र।

(३) 'अमित बोध अनीह···' 'अमित बोध'—भगवान् अमित एवं अप्रमेय हैं, उनका बोध प्राप्त रहने से संत अमित-बोध कहाते हैं, क्योंकि भगवान् के जानने पर फिर कुछ भी जानना शेष नहीं रहता; यथा—"यथा सौम्य एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥" (छां० ६।१।४)। अर्थात् हे सौम्य ! जिस प्रकार एक मृत्तिका के पिंड द्वारा सम्पूर्ण मृन्मय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है उसके विकार (घट आदि) केवल वाणी के आश्रयभूत नाममात्र हैं, सत्य तो केवल मृत्तिका ही है। 'मित भोगी', यथा—"युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।··" (गीता ६।१७); हरि-यश वर्णन से कवि, शास्त्रों के मर्म जानने से कोविद (पंडित), सदा भगवान् में चित्त रखने से योगी कहे जाते हैं।

(४) 'सावधान'—उचित व्यवहार एवं परमार्थ में चित्त से दृढ़ता रखनेवाले। 'धीर'; यथा—"ते धीर अछत विकार हेतु जे रहत मनसिज बस किये" (पार्वती-मंगल २०); 'धर्म गति परम प्रबीना'—धर्म की गति अत्यन्त सूक्ष्म है। अतः, उसका जानना परम प्रवीणता है।

(५) 'गुनागार'—उपर्युक्त गुण एवं और भी सद्गुणों के घर हैं। 'संसार-दुख-रहित'—वे देह से अपनेको भिन्न मानते हैं। संसार के दुःख कर्मानुसार देह को होते हैं, पर वे इनसे निर्लिप्त रहते हैं; यथा—"ताहि न ब्याप त्रिविध भव सूला।" (सुं० दो० ४६); 'बिगत संदेह'—सद्गुरु-द्वारा अपने 'ध्येय ज्ञेय' के विषय में संदेह निवृत्त किये रहते हैं। 'देह न गेह' अर्थात् मैं, मेरा—यह भावना त्यागे हुए हैं; यथा—"राम बिलोकि बंधु कर जोरे। देह गेह सब सन तृन तोरे॥" (अ० दो० ३६)।

निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं ॥१॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती ॥२॥
जप तप ब्रत दम संजम नेमा। गुरु-गोबिंद - बिप्र - पद - प्रेमा ॥३॥
श्रद्धा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया ॥४॥
बिरति बिबेक बिनय बिग्याना। बोध जथारथ बेद पुराना ॥५॥
दंभ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ ॥६॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु-रहित परहित-रत सीला ॥७॥
मुनि सुनु साधुन्ह के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते ॥८॥

शब्दार्थ—सम = समान-चित्त, (शम) = वासना त्याग। अमाया = निष्कपट, दिखाऊ नहीं। दंम = बाह्येन्द्रिय-निग्रह। हेतु-रहित = निःस्वार्थ, बिना कारण।

अर्थ—कानों से अपने गुण सुनते सकुचाते हैं, दूसरों के गुण सुनकर बहुत प्रसन्न होते हैं ॥१॥ सम-चित्त और शीतल-स्वभाववाले हैं, नीति को नहीं छोड़ते, सरल-स्वभाववाले होते हैं और सभी से प्रीति रखते हैं ॥२॥ जप, तप, व्रत, दम, संयम, नियम तथा गुरु-गोविंद और ब्राह्मण के चरणों में प्रेम है ॥३॥ श्रद्धा, क्षमा, मित्रता, दया, प्रसन्नता, मेरे चरणों में निष्कपट प्रेम ॥४॥ वैराग्य, विवेक, विशेष नम्रता, विज्ञान, वेद-पुराण का यथार्थ ज्ञान (ये गुण उनमें होते हैं) ॥५॥ वे दंभ, अभिमान और मद कभी नहीं करते, बुरे रास्ते पर भूलकर भी पाँव नहीं देते ॥६॥ सदा मेरी लीला कहते-सुनते हैं, बिना कारण एवं निःस्वार्थ परोपकार में तत्पर रहने का उनका स्वभाव होता है एवं शीलवान् होते हैं ॥७॥ हे मुनि! सुनिये, साधुओं के जितने गुण हैं, उन्हें शारदा और वेद भी नहीं कह सकते; अर्थात् कहकर पार नहीं पा सकते ॥८॥

विशेष—(१) 'निज गुन श्रवन···' गुणागार हैं; अतः, वह गुण-कथन यथार्थ ही है, तो भी सुनकर सकुचते हैं, भाव यह कि हर्ष से भी रहित हैं। 'पर गुन सुनत···'—जैसे जैसे सुनते हैं, हर्ष अधिक होता जाता है। 'सम'—शत्रु-मित्र के प्रति। 'सीतल'; यथा—"जो कोइ कोप भरइ मुख बैना। सनमुख हतइ गिरा सर पैना॥ तुलसी तऊ लेस रिसि नाहीं। सो सीतल कहिये जग माँही॥" (वैराग्य संदी० ३६); अर्थात् क्रोध-रूपी गर्मी नहीं आती। 'नहिं त्यागहिं नीती'—कैसा भी अवरेब आ पड़े, तो भी नीति का पालन करते ही हैं। 'जप तप···प्रेमा'—'प्रेमा' का अन्वय सबके साथ है। जप आदि के करने में और गुरु-गोविंद-विप्र के चरणों में प्रेम है। 'बिग्यान'—प्रकृति-वियुक्त आत्मा का ज्ञान—देखिये दो० ४४ चौ० ४। 'दंभ मान मद करहिं न काऊ।'—यहाँ 'मद' अतरंग कहा गया है और ऊपर—'सावधान मानद मद हीना।' में

मद जानना चाहिये, क्योंकि वह सावधानता आदि बहिरंग वृत्तियों के साथ है और यह मान आदि अंतरंग के साथ है, इससे यहाँ पुनरुक्ति नहीं है। बहिरंग मद भाँग, गाँजा, अफीम आदि हैं—ये उनका सेवन नहीं करते।

(२) 'गावहिं सुनहिं सदा मम लीला'''—'हेतु-रहित' शब्द दीपदेहली है। लीला कहने में स्वार्थ-साधन की दृष्टि नहीं रखते; जैसे कि कोई-कोई व्यास पहले ही द्रव्य की ठहरौनी करके कथा कहते हैं, किन्तु ये अपना कृत्य मानकर कथा कहते-सुनते हैं; यथा—"मम लीला रति अति मन माहीं।" (दो० १५) "कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।" (गीता १०।९) ; 'हेतु-रहित परहित-रत सीला ।'—अर्थात् परोपकार भी निःस्वार्थ-भाव एवं अपने सहज स्वभाव से करते हैं; यथा—"हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥" (उ० दो० ४६); "पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाव खग राया॥" (उ० दो० १२०), क्योंकि—"परहित सरिस धर्म नहिं भाई।" (उ० दो० ४०)। 'गावहिं' के साथ 'सुनहिं' भी कहा है, अर्थात् यह अभिमान नहीं करते कि हम तो स्वयं कथा जानते हैं तो दूसरे की क्यों सुनें ?

स्त्रियों में आसक्ति के जो जो दोष कहे गये हैं, सन्तों में उनके विपर्यय में गुण कहे गये हैं। जैसे कि वहाँ—'मोह बिपिन कहुँ नारि बसंता।' कहा, तो यहाँ—'अमित बोध' एवं 'बिरति बिवेक' कहा है। वहाँ जप-तप आदि का सोखना और यहाँ उनका किया जाना कहा गया है, इत्यादि। तात्पर्य यह कि स्त्री-त्याग से ही इनमें ये गुण हैं।

'सुनु मुनि साधुन के गुन जेते।'—यह उपसंहार है। इसका उपक्रम—"सुनु मुनि साधुन के गुन कहऊँ।" से हुआ था। 'प्रभु-नारद-संवाद' प्रकरण यहाँ पूरा हुआ।

छंद—कहि सक न सारद सेष नारद सुनत पद-पंकज गहे।
अस दीनबंधु कृपाल अपने भगत-गुन निज मुख कहे।
सिर नाइ बारहिं बार चरनन्हि ब्रह्मपुर नारद गये।
ते धन्य तुलसीदास आस बिहाइ जे हरि-रँग रये॥

दोहा—रावनारि-जस पावन, गावहिं सुनहिं जे लोग।
राम-भगति दृढ़ पावहिं, बिनु बिराग जप जोग॥
दीप-सिखा-सम जुवति-तनु, मन जनि होसि पतंग।
भजहि राम तजि काम-मद, करहि सदा सतसंग॥४६॥

इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने विमलवैराग्यसम्पादनो नाम

❀ तृतीयः सोपानः समाप्तः ❀

अर्थ—'शारदा शेष नहीं कह सकते'—यह सुनते ही श्रीनारदजी ने प्रभु के चरण-कमल पकड़े। (कि) ऐसे दीनबंधु और कृपालु प्रभु ने श्रीमुख से अपने भक्तों के गुणों (एव उनके महत्त्व) को ऐसा कहा है॥ बार-बार चरणों में शिर नवाकर श्रीनारदजी ब्रह्मलोक को गये। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि वे लोग धन्य हैं, जो आशा छोड़कर भगवान् के प्रेम रँग में रँग गये हैं॥ रावण के शत्रु श्रीरामजी के पवित्र यश को जो लोग गाते और सुनते हैं। वे विना वैराग्य, जप और योग के ही दृढ़ रामभक्ति पाते हैं॥ स्त्री का शरीर दीप की शिखा (लौ) के समान है, अरे मन! तू उसका फनगा न हो, काम और मद को छोड़कर श्रीरामजी का भजन कर और सदा सत्संग किया कर॥४६॥

विशेष—(१) 'कहि सक न सारद सेष'—शारदा ब्रह्मलोक की रहनेवाली है और शेष पाताल के हैं। शारदा अनन्त मुखों से और शेषजी सहस्र मुखों से कहनेवाले हैं। जब ये भी न कह सके, तो मर्त्य लोक का कोई भी कैसे कह सकता है; यथा—"बिधि हरि हर कबि कोबिद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी॥ सो मो सन कहि जात न कैसे। साक बनिक मनि गुन गन जैसे॥" (बा० दो० ३)। 'दीन बंधु कृपाल'—यह प्रभु की दीनबंधुता और कृपालुता है कि अपने मुख से भक्तों के गुण कहते हैं, उन्हें बड़ाई देते हैं। साधुओं के गुणों को अमित एवं अनन्त सिद्ध किया। कवि ने भी इसी अभिप्राय से 'कहि सक न' को दो बार कहा है। 'नारद सुनत पद पंकज गहे।'—भाव यह कि ये गुण भक्तों में आपके चरणों की भक्ति करते हुए इन्हीं की कृपा से प्राप्त होते हैं; यथा—"यह गुन साधन तें नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ-कोई॥" (कि० दो० २०); आप स्वयं गुण देकर फिर उन्हीं गुणों पर रीझते हैं।

(२) 'सिर नाइ बारहिं बार...'—विदाई के समय प्रणाम करना ही चाहिये। पुनः संत-लक्षण सुने, उसकी कृतज्ञता के लिये एवं अत्यंत प्रेम से बार-बार प्रणाम किया; यथा—"सोपहिं होइ न प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा॥" (उ० दो० १२२); "प्रेम बिबस पुनि-पुनि पद लागीं।" (बा० दो० ३३५); 'आस बिहाइ'—क्योंकि आशा रहते हुए हरि का प्रेम नहीं होता। 'रये'—रँगे के अर्थ में है।

(३) 'रावनारि जस पावन...'—सुर-मुनि की रक्षा के लिये रावण से निष्कपट युद्ध किया, जो क्षत्रिय का धर्म है; इसलिये इस यश को पावन कहा। इस कांड में रावण से वैर हुआ, उसके वर्ग के राक्षसों से युद्ध भी हुआ, इससे अभी से 'रावणारि जस...' कहा है। 'गावहिं सुनहिं'—वक्ता-श्रोता दोनों को आशीर्वाद देते हैं, यह तीन वक्ताओं की इति है। श्रीगोस्वामीजी की इति आगे लगी है। 'जो लोग'—कोई भी वर्णाश्रम के हों, सब अधिकारी हैं।

(४) 'राम भगति दृढ़ पावहिं, बिनु...' यथा—"जप जोग धर्म समूह तें नर भगति अनुपम पावई। रघुबीर चरित पुनीत निसि दिन दास तुलसी गावई॥" (दो० ६); यहाँ वही बात दृढ़ की गई है, केवल 'धर्म समूह' की जगह 'बिराग' कहा गया है, इसमें भी अंतर नहीं है; यथा—"धर्म तें बिरति..." (दो० १५); वहाँ कहा कि ये सब अनुपम भक्ति के साधन हैं, और यहाँ कहा कि विना उन साधनों के ही केवल इस चरित के कथन-श्रवण से दृढ़ भक्ति प्राप्त हो जाती है।

अयोध्याकांड की इति में—"सीयराम पद प्रेम, अवसि होइ भव रस बिरति।" कहा गया था और यहाँ कहते हैं कि विना वैराग्य आदि के ही दृढ़ भक्ति मिलती है, यह अधिकता है।

(५) 'दीप सिखा सम...'—श्रीरामजी ने कहा था—'प्रमदा सब दुख खानि' उसी को लेकर श्रीगोस्वामीजी अपनी इति लगाते हैं। दीप शिखा सुंदर होती है, पर फनगों को भस्म कर देती है। वैसे ही स्त्रियाँ तन से सुंदरी हैं, पर आसक्त होनेवालों के धर्म-कर्म को भस्म कर देती हैं। 'रावनारि

यस...' कहकर साथ ही यह दोहा भी कहकर यह भी जनाया कि इसी कारण रावण का नाश हो रहा है। 'जुवति' शब्द का भाव यह कि स्त्री का तन युवावस्था का ही दीप-शिखा के समान है। जैसे ऊपर 'प्रमदा' पर कहा गया था। 'भजहि राम तजि काम मद'—काम-मद में पड़ने से श्रीनारदजी की-सी दशा होगी। कामादि भक्ति के बाधक हैं और सत्संग भक्ति का साधक है। अतः, 'सदा सत्संग' करना कहा है ; यथा—"बिनु सतसंग न हरि कथा, तेहि बिनु मोह न भाग। मोह गये बिनु राम पद, होइ न दृढ़ अनुराग॥" (उ० दो० ६१) ; श्रीशिवजी ने भी ऐसा ही माँगा है ; यथा—"पद सरोज अनपायनी, भगति सदा सतसंग।" (उ० दो० १४) ; श्रीगोस्वामीजी ने कहा है—"यत्र कुत्रापि मम जन्म निज कर्म वश भ्रमत जग योनि संकट अनेकम्। तत्र त्वद्भक्ति सज्जनसमागम सदा भवतु मे राम विश्राममेकम्॥" (वि० ५७)। तथा—"न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च। न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥ व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः। यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्।" (श्रीमद्भाग० ११।१२।१-२) ; अर्थात् हे उद्धव! दूसरे समस्त सङ्गों के निवारण करनेवाले सत्सङ्ग से, मैं जैसा वशीभूत होता हूँ, वैसा योग, ज्ञान, धर्म, वेदाध्ययन, तप, त्याग, इष्टापूर्त, दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ, यम और नियम किसी से नहीं होता।

इस कांड में प्रथम ही जयंत को सींक के बाण से व्याकुल करना, खर, आदि का आपस में ही लड़ मरना, गृद्धराज का यहीं से चतुर्भुज रूप होना, सोने के मृग की कथा आदि अद्भुत हैं। अतः, इसमें अद्भुत रस प्रधान कहा जाता है।

इस कांड में काम मोहित शूर्पणखा को दंड देना, पर स्त्री चाहनेवाले राक्षसों का वध और अंत में विरक्तों को स्त्री त्याग की विशद शिक्षा दी गई है, इसीसे इस सोपान का नाम 'विमल-वैराग्य-संपादन' है।

श्रीरामचरितमानस

(सिद्धान्त-तिलक समेत)

चतुर्थ सोपान (किष्किन्धाकाण्ड)

कुन्देन्दीवरसुन्दरावतिबलौ विज्ञानधामावुभौ
शोभाढ्यौ वरधन्विनौ श्रुतिनुतौ गोविप्रवृन्दप्रियौ ।
मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ सद्धर्मवर्मौ हितौ
सीतान्वेषणतत्परौ पथिगतौ भक्तिप्रदौ तौ हि नः ॥ १ ॥

शब्दार्थ—इन्दीवर = नीलकमल । उभौ = दोनों । आढ्य = पूर्ण । नुत = स्तुत । वर्म = कवच ।

अर्थ—कुन्दपुष्प और नीलकमल के समान सुन्दर, अत्यन्त बलवान्, विज्ञान के धाम, शोभापूर्ण, श्रेष्ठ-धनुर्धर, वेदों से प्रशंसित, गौ और ब्राह्मणवृंद जिनको प्रिय हैं, माया से मनुष्य रूप धारण किये हुए, रघुकुल में श्रेष्ठ, सद्धर्म के लिये कवच रूप (रक्षक), हितकारी, श्रीसीताजी की खोज में तत्पर, मार्ग में प्राप्त दोनों रघुवर श्रीलक्ष्मणजी और श्रीरामजी हमको निश्चय भक्ति देनेवाले हैं ॥ १ ॥

विशेष—(१) कुन्द का पुष्प श्वेत होता है, वैसे स्वच्छ गौर वर्ण श्रीलक्ष्मणजी और नील कमल के समान श्याम वर्ण श्रीरामजी हैं; यथा—"गौर किसोर बेष बर काछें।···लछिमन नाम ··" (बा० दो० २२०); "स्याम सरोज दाम सम सुन्दर, प्रभु···" (सु० दो० १); दोनों सुन्दर हैं; यथा—"कहहु नाथ सुन्दर दोउ बालक।" (बा० दो० २१५); दोनों अतिबली हैं; यथा—"राजत राम अतुल बल जैसे । तेज निधान लखन पुनि तैसे ॥ कंपहिं भूप बिलोकत जाके।" (बा० दो० २४२); दोनों विज्ञान-धाम हैं; यथा—"सबगुन ज्ञान-विज्ञान सालो।" (वि० ५५)—श्रीरामजी। श्रीलक्ष्मणजी ने निषाद को विज्ञान की शिक्षा दी है; दोनों शोभा-पूर्ण हैं; यथा—"सोभा सींव सुभग दोउ बीरा।" (बा० दो० २२१); दोनों श्रेष्ठ धनुर्धर हैं; यथा—"कहँ कोसलाधीस दोउ भ्राता। धन्वी सकल लोक बिख्याता॥" (लं० दो० ४८); दोनों श्रुति से प्रशंसित हैं, यथा—"जय सगुन-निर्गुन रूप ··" (उ० दो० १२); अंशी श्रीरामजी की स्तुति में अंश रूप श्रीलक्ष्मणजी की भी स्तुति है, यथा—"अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। ···· " (बा० दो० १८६); 'गोविप्रवृन्दप्रियौ'; यथा—"भगत भूमि भूसुर सुरभि, सुर हित लागि कृपाल। करत चरित धरि मनुज तन···" (अ० दो० ९३); 'मायामानुषरूपिणौ'; यथा—"मायामनुष्यं हरिम्।" (सुं० मं०); "अंसन्ह सहित देह धरि ताता।" (बा० दो० १५१); 'सद्धर्मवर्मौ'; यथा—"धर्म वर्म नर्मद गुन-ग्रामः।"

शब्दार्थ—ब्रह्म = वेद; यथा—"वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म विधः प्रजापतिरित्यमरः। अम्भोधि = समुद्र। अव्यय = निर्विकार, अविनाशी। कृतिनः = सुकृती लोग।

अर्थ—जो वेद समुद्र से उत्पन्न, पापों का प्रकर्ष नाशक, अविनाशी, श्रीमान् शंभु भगवान् के सुन्दर श्रेष्ठ मुख चन्द्र में सदैव शोभायमान, भव-रोग की औषधि, सुख के करनेवाले और श्रीजानकीजी के जीवन-स्वरूप, सुन्दर श्रेष्ठ श्रीराम-नाम-रूपी अमृत को निरंतर पान करते हैं, वे सुकृती धन्य हैं ॥२॥

विशेष—(१) 'ब्रह्माम्भोधिसमुद्भवं'; यथा—"वेद प्रान सो" (बा० दो० १८); "यहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥" (बा० दो० ९); 'कलिमलप्रध्वंसनं'; यथा—"कलिमल विपुल विभंजन नामः।" (बा० दो० १०); श्रीशिवजी सदा जपते हैं—"तुम्ह पुनि राम-राम दिन राती। सादर जपहु अनंग अराती॥" (बा० दो० १०७); 'संसारामय भेषजं'; यथा—"जासु नाम भव भेषज, हरन घोर त्रयसूल।" (उ० दो० १२१); 'सुखकरं'; यथा—"आखर मधुर मनोहर दोऊ।" (बा० दो० १९); "जपहिं नाम जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥" (बा० दो० २१); 'श्रीजानकीजीवनं' यथा—"नाम पाहरू राति दिन, ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित, प्रान जाहिं केहि बाट॥" (सुं० दो० ३०); 'धन्यास्ते कृतिनः', यथा—"तेन तप्तं हुतं दत्तमेवाखिलं, तेन सर्वं कृतं कर्मजालं। येन श्रीराम-नामामृतं पानकृतमनिशमनवद्यमवलोक्य कालम्॥" (वि० ४६)।

यहाँ श्रीराम-नाम को अमृत रूप कहा गया है। अमृत समुद्र से निकला, यह वेद-रूपी समुद्र से; अर्थात् वेदों को मथन करने से सार-रूप राम-नाम निकला। विचार मंदराचल, मुनि और संत देवता हैं, श्रीशिवजी मथनेवाले हैं, क्योंकि वेदों का ही उपबृंहण रूप रामायण है, उसे मथकर श्रीशिवजी का राम-नाम ही लेना कहा गया है; यथा—"सत कोटि चरित अपार दधिनिधि मथि लियो काढ़ि वामदेव नाम घृत है॥" (वि० २५४), वेद के कर्म, ज्ञान, उपासना आदि और रत्न हैं, राम नाम अमृत है। वह अमृत देवताओं को अमर करने और दैत्यों को नाश करने के लिये निकाला गया। वैसे यह अमृत भी कलिमल को नाश करने और जापकों को अमर करने के लिये है। उस अमृत के पीनेवालों का पुनर्जन्म होता है, पर इसके पीनेवालों का आवागमन छूट जाता है। 'प्रध्वंसनं' का भाव यह है कि इससे कलिमल जड़ मूल से नाश हो जाता है। 'श्रीमत्—शंभु' का भाव यह कि ऐसे शोभायमान कल्याण करनेवाले ईश्वर भी इसे निरंतर जपते हैं। पुनः उन्हें ये दोनों विशेषणों के भाव राम नाम ही से प्राप्त हुए; यथा—"नाम प्रसाद संभु अविनासी। साज अमंगल मंगल रासी॥" (बा० दो० २५)। 'मुखेन्दु'—मुख को चन्द्रमा कहने का भाव यह कि वह अमृत चन्द्रमा में रहता है, वैसे यह श्रीशिवजी के मुख-चंद्र पर सदा सुशोभित रहता है; यथा—"तुम्ह पुनि राम-राम दिन राती। सादर जपहु अनग अराती॥" (बा० दो० १०७); इसीके सम्बन्ध से मुख-चंद्र की भी शोभा है। अतः, 'श्रीमत्' कहा गया है। किन्तु वह चंद्रमा सदा शोभित नहीं रहता। 'संसारामयभेषजं'—वह अमृत संसारी जीवन ही दे सकता है, भव-रोग से नहीं बचा सकता, पर यह भव-रोग से भी बचाता है। वह पीने से घटता है—यह 'अव्यय' है। इसकी महिमा सब देश काल में पूर्ण रहती है, घटती नहीं। 'श्रीजानकीजीवनं', कहकर इसका रहस्य बतलाया है कि श्रीजानकीजी ने इसका सेवन करके जीवन बनाया है। इसकी रीति उनसे सीखो; यथा—"जानकी जीवन जान न जान्यो तो जान कहावत जान्यो कहा है।" (क० उ० ३८); अर्थात् जिसने श्रीजानकीजी के जीवन के ज्ञान को नहीं जाना, तो उसका ज्ञान कहावत (कहानी) मात्र है, उसने क्या जाना अर्थात् कुछ नहीं।

(आ० दो० १०); 'हितौ', यथा—"तन धन धाम राम हितकारी।" (उ० दो० ४६); "लाड़ लाड़िले लखन हित हौ जन के।" (वि० ३७); 'सीतान्वेषणतत्परौ'; यथा—"पुनि सीतहि खोजत दोउ भाई। चले ·" (आ० दो० ३१); 'पथिगतौ'; यथा— "दोउ भाई। चले बिलोकत बन बहुताई।" (आ० दो० ३१); 'भक्तिप्रदौ'; यथा—"अबिरल भगति बिरति बिज्ञाना। होहु सकल गुन ज्ञान निधाना॥" (आ० दो० १०)—श्रीरामजी। "सखा समुझि अस परिहरि मोहू। सिय रघुबीर चरन रत होहू॥" (अ० दो० ९३)—श्रीलक्ष्मणजी।

(२) 'कुन्देन्दीवर'—में 'कुन्द' शब्द से श्रीलक्ष्मणजी की उपमा है और 'इन्दीवर' से श्रीरामजी की। यहाँ श्रीलक्ष्मणजी पहले क्यों कहे गये? उत्तर—(क) व्याकरण की यह रीति है कि जब छोटे-बड़े शब्दवाले दो नाम साथ आते हैं, तो छोटा प्रथम रक्खा जाता है, यहाँ 'कुन्द' छोटा और 'इन्दीवर' बड़ा है। (ख) यहाँ मार्ग में चलते हुए का ध्यान है, श्रीरामजी विरही हैं, श्रीलक्ष्मणजी सावधान हैं, इससे संभवतः आगे हैं।

विशेषणों के क्रम के भाव—पहले कुन्द और कमल के समान सुन्दर कहने में बल का संदेह रहा, इसलिये 'अतिबलौ' कहा। फिर बल के अहंकार में ज्ञान-विज्ञान होने में सन्देह रहा, अतः 'विज्ञानधामौ' भी कहा। विज्ञानी लोग प्रायः शोभा से युक्त नहीं होते, इसपर 'शोभाढ्यौ' कहा। शोभावालों में प्रायः मृदुता के कारण वीरता में संदेह रहता है; अतः, 'वरधन्विनौ' कहा। ये सब बातें मनुष्य में असम्भव हैं, इसलिये 'श्रुतिनुतौ' कहकर ईश्वरता कही। तब इस रूप में क्यों आये, अतः 'गोविप्रवृन्दप्रियौ मायामानुष रूपिणौ' कहा। पुनः 'सद्धर्मवर्मौ' से अवतार का कार्य कहा कि धर्म की मर्यादा-रक्षा के लिये आये। फिर 'सीतान्वेषणतत्परौ' से धर्म-रक्षा का कार्य चरितार्थ किया कि पतिव्रता स्त्री का खोजना धर्म है; अतः, खोज रहे हैं। कवि इतनी स्तुति क्यों कर रहे हैं? इसका कारण 'भक्तिप्रदौ' से कहा कि भक्ति पाने के लिये।

(३) 'मायामानुषरूपिणौ'—'माया वयुन ज्ञान' पर्याय वाचक शब्द हैं। अतः, अपने ज्ञान से, अपनी इच्छा से अर्थ होगा; यथा—"इच्छा मय नर बेष सँवारे। होइहउँ प्रगट ··" (बा० दो० १५१); माया का अर्थ कृपा भी है। अतः, अपनी कृपा से नर-वेष में लीला करते हैं। मनुष्य रूपता यह कि बाल, किशोर, युवा आदि अवस्थाएँ धारण कर मनुष्य की-सी लीला करते हैं।

इस चतुर्थ सोपान के चरित किष्किंधा देश में हुए, पुनः किष्किंधा पर्वत-श्रेणी का भी नाम है, जो किष्किंधा देश में है। वहाँ वालि-सुग्रीव की राजधानी है, इसीसे इस कांड का नाम 'किष्किंधा' पड़ा।

इस छंद का नाम शार्दूलविक्रीड़ित है, क्योंकि श्रीरामजी सिंह के सम न निर्भय विचर रहे हैं। अतः, इसी छन्द से उनकी स्तुति की गई।

ब्रह्माम्भोधिसमुद्भवं कलिमलप्रध्वंसनं चाव्ययं
श्रीमच्छम्भुमुखेन्दुसुन्दरवरे संशोभितं सर्वदा।
संसारामयभेषजं सुखकरं श्रीजानकीजीवनं
धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम्॥२॥

शब्दार्थ—ब्रह्म=वेद; यथा—"वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म विप्रः प्रजापतिरिश्वमरः।" अम्भोधि=समुद्र। अव्यय=निर्विकार, अविनाशी। कृतिनः=सुकृती लोग।

अर्थ—जो वेद समुद्र से उत्पन्न, पापों का प्रकर्ष नाशक, अविनाशी, श्रीमान् शंभु भगवान् के सुन्दर श्रेष्ठ मुख-चन्द्र में सदैव शोभायमान, भव-रोग की ओषधि, सुख के करनेवाले और श्रीजानकीजी के जीवन-स्वरूप, सुन्दर श्रेष्ठ श्रीराम-नाम-रूपी अमृत को निरंतर पान करते हैं, वे सुकृती धन्य हैं ॥२॥

विशेष—(१) 'ब्रह्माम्भोधिसमुद्भवं' ; यथा—"वेद प्रान सो" (बा० दो० १८); "यहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥" (बा० दो० ६); 'कलिमलप्रध्वंसनं' ; यथा—"कलिमल विपुल विभंजन नामः।" (बा० दो० १०); श्रीशिवजी सदा जपते हैं—"तुम्ह पुनि राम-राम दिन राती। सादर जपहु अनंग अराती॥" (बा० दो० १०७); 'संसारामय भेषजं' ; यथा—"जासु नाम भव भेषज, हरन घोर त्रयसूल।" (उ० दो० १२१); 'सुखकरं' ; यथा—"आखर मधुर मनोहर दोऊ।" (बा० दो० १६); "जपहिं नाम जन आरत भारी। मिटइ कुसंकट होहिं सुखारी॥" (बा० दो० २१); 'श्रीजानकीजीवनं' यथा—"नाम पाहरू राति दिन, ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित, प्रान जाहिं केहि बाट॥" (सुं० दो० ३०); 'धन्यास्ते कृतिनः' ; यथा—"तेन तप्तं हुतं दत्तमेवाखिलं, तेन सर्वं कृतं कर्मजालं। येन श्रीराम-नामामृतं पानकृतमनिशमनवद्यमवलोक्य कालम्॥" (वि० ४६)।

यहाँ श्रीराम-नाम को अमृत रूप कहा गया है। अमृत समुद्र से निकला, यह वेद-रूपी समुद्र से ; अर्थात् वेदों को मथन करने से सार-रूप राम-नाम निकला। विचार मंदराचल, मुनि और संत देवता हैं, श्रीशिवजी मथनेवाले हैं, क्योंकि वेदों का ही उपबृंहण रूप रामायण है, उसे मथकर श्रीशिवजी का राम-नाम ही लेना कहा गया है ; यथा—"सत कोटि चरित अपार दधिनिधि मथि लियो काढ़ि वामदेव नाम घृतु है॥" (वि० २५४), वेद के कर्म, ज्ञान, उपासना आदि और रत्न हैं, राम-नाम अमृत है। वह अमृत देवताओं को अमर करने और दैत्यों को नाश करने के लिये निकाला गया। वैसे यह अमृत भी कलिमल को नाश करने और जापकों को अमर करने के लिये है। उस अमृत के पीनेवालों का पुनर्जन्म होता है, पर इसके पीनेवालों का आवागमन छूट जाता है। 'प्रध्वंसनं' का भाव यह है कि इससे कलिमल जड़ मूल से नाश हो जाता है। 'श्रीमत्—शंभु' का भाव यह कि ऐसे शोभायमान कल्याण करनेवाले ईश्वर भी इसे निरंतर जपते हैं। पुनः उन्हें ये दोनों विशेषणों के भाव राम-नाम ही से प्राप्त हुए ; यथा—"नाम प्रसाद संभु अविनासी। साज अमंगल मंगल रासी॥" (बा० दो० २५)। 'मुखेन्दु'—मुख को चन्द्रमा कहने का भाव यह कि यह अमृत चन्द्रमा में रहता है, वैसे यह श्रीशिवजी के मुख-चंद्र पर सदा सुशोभित रहता है ; यथा—"तुम्ह पुनि राम-राम दिन राती। सादर जपहु अनग अराती॥" (बा० दो० १०७); इसीके सम्बन्ध से मुख-चंद्र की भी शोभा है। अतः, 'श्रीमत्' कहा गया है। किन्तु वह चंद्रमा सदा शोभित नहीं रहता। 'संसारामयभेषजं'—वह अमृत संसारी जीवन ही दे सकता है, भव-रोग से नहीं बचा सकता, पर यह भव-रोग से भी बचाता है। वह पीने से घटता है—यह 'अव्यय' है। इसकी महिमा सब देश काल में पूर्ण रहती है, घटती नहीं। 'श्रीजानकीजीवनं', कहकर इसका रहस्य बतलाया है कि श्रीजानकीजी ने इसका सेवन करके जीवन बनाया है। इसकी रीति उनसे सीखो ; यथा—"जानकी जीवन जान न जान्यो तो जान कहावत जान्यो कहा है।" (क० उ० ३६) ; अर्थात् जिसने श्रीजानकीजी के जीवन के ज्ञान को नहीं जाना, तो उसका ज्ञान कहावत (कहानी) मात्र है, उसने क्या जाना अर्थात् कुछ नहीं।

(२) 'जानकी-जीवन-ज्ञान'—श्रीजानकीजी ने अपनी प्रतिबिंब रूपा (अंश-भूता) विद्यामाया को लंका भेजकर श्रीराम-नामाराधन से संसार का ज्ञान और उससे निवृत्ति दिखाई है। वैसे ही मुमुक्षु को भी श्रीराम-कृपा से सदसद्विवेकिनी बुद्धि मिलती है ; यथा—"ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।" (गीता १०।१०) ; तब शरीरासक्ति रूपा अशोक वाटिका—जो मोह-रूपी रावण की क्रीड़ा-स्थली है—यह इसे शोकमय दीखती है और प्रवृत्ति (अविद्यात्मक जगत्) रूपा लंका—यद्यपि मोहा सक्तों के लिये स्वर्णमयी अर्थात् बहुमूल्य रूप से प्रिय है—तथापि इसे दुःख-रूपा एवं अप्रिय लगती है। प्रमाण—"वपुष ब्रह्मांड सुप्रवृत्ति लंका दुर्ग रचित मन दनुजमय-रूप धारी।···कुनप अभिमान सागर भयंकर घोर··· मोह दस मौलि···जीव भवदंघ्रि सेवक विभीषन बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिन्ता। ··प्रबल वैराग्यदारुन प्रभंजन तनय···" (वि० ५८)।

इस दुःख की निवृत्ति के लिये राम-नाम का जप करना चाहिये; यथा—"जेहि बिधि कपट कुरंग सँग, धाइ चले श्रीराम। सोइ छबि सीता राखि उर, रटति रहति हरिनाम॥"(अ० दो० ११); तब जैसे वहाँ रावण-प्रेरित राक्षसियाँ नाना प्रकार के भयंकर रूप धर-धरकर श्रीजानकीजी को डरपाती थीं। वैसे इसका हृदय ज्यों-ज्यों शुद्ध होता जायगा, प्रारब्धानुसार जो मोह प्रेरित नाना प्रकार के रजोगुणी प्राकृत संकल्प होंगे, उनसे इसे भय लगेगा। फिर कुछ काल में श्रीराम सम्बन्धी शुद्ध संकल्प होने लगेंगे; यथा—"रामेति रामेति सदैव बुद्ध्या विचिन्त्य वाचा ब्रवती तमेव। तस्यानुरूपां च कथां तदर्थामेवं प्रपश्यामि तथा शृणोमि॥" (वाल्मी० ५।३२।११); यहाँ राम-नाम-जप से संकल्पों का उसी के अनुरूप हो जाना और उसी से कथा सुनने की भ्रांति का अनुमान कहा गया है। तब वहाँ के श्रीहनुमानजी की प्राप्ति की तरह यहाँ श्रीराम-प्रेरित प्रबल वैराग्य प्राप्त होगा, उससे शरीरासक्ति उजाड़ और प्रवृत्ति राख के समान कुरूप एवं हेय हो जायगी। तब श्रीरामजी का तेज जानकर जीव श्रीविभीषणजी की तरह अनन्योपायत्वबुद्धिसहित (अन्य उपायों का भरोसा छोड़कर एक प्रभु-मात्र को अपना उपाय समझ) शुद्ध शरणागति प्राप्त करेगा। पुनः श्रीरामजी इसके देहाभिमान-रूपी सागर को बाँधकर मोह-परिवार-रूपी विकारों को दैवी संपत्ति रूपी वानरों के द्वारा नाश करेंगे और इसे (मुमुक्षु को) शुद्ध स्वरूप का राजा बनावेंगे, जिससे यह च्युत हुआ था; यथा—"निष्काज राज बिहाय नृप ज्यों स्वप्न कारागृह पर्यो॥" (वि० ११६) ; मुक्त होने पर जीव का राजा होना कहा गया है ; यथा—"स स्वराड्भवति" (छां० ७।२५।२) फिर श्रीविभीषणजी ने श्रीजानकीजी को लाकर श्रीरामजी को सौंपा और वे अग्नि-परीक्षा-द्वारा श्रीरामजी को नित्यश्री में लीन हुईं। वैसे जीव भी ज्ञानाग्नि द्वारा पूर्व कार्य श्रीरामजी की ही आदि शक्ति के द्वारा होना निश्चय करेगा। वे (विभीषणजी) श्रीअयोध्या आकर दिव्य रूप से श्रीरामजी के परिकर हुए। वैसे यह निवृत्त हृदय में दिव्यधाम-सहित भगवान् के दिव्य शेषत्व (सेवा) का अनुभव करेगा। श्रीविभीषणजी फिर श्रीलक्ष्मणजी के द्वारा वस्त्राभूषण पहनवाकर लंका भेजे गये, जिससे वे श्रीलक्ष्मणजी की तरह रात-दिन सेवायुक्त रहें, तो कल्पान्त में नित्य धाम को जायँगे। वैसे यह भी भजन-सहित अवशिष्ट प्रारब्ध (आयु) समाप्त कर नित्य-धाम को प्राप्त करेगा।

(३) 'धन्यास्ते कृतिनः'—भाव यह कि स्वर्ग-प्राप्ति के लिये सुकृत करनेवाले धन्य नहीं हैं, पुण्य क्षीण होने पर नीचे गिरते हैं, सदा भव-प्रवाह में गोते खाते रहते हैं। पर ये धन्य हैं, जो रामनामामृत पीते हैं। धन्य कहे जाने का कारण उपर्युक्त 'जानकी-जीवन ज्ञान' है।

'पिबंति सततं'—रात-दिन हर अवस्था में हर घड़ी जपा करते, जिह्वा खाली नहीं रहती। जैसे कि इस श्लोक में श्रीजानकीजी और श्रीमच्छंभु का रात-दिन जपना कहा गया है। ऊपर श्लोक में नामी की और इसमें नाम की वंदना है।

सो०—मुक्ति-जन्म-महि जानि, ज्ञान-खानि अघ-हानि-कर।
जहँ बस संभु-भवानि, सो कासी सेइय कस न ॥
जरत सकल सुरबृंद, विषम गरल जेहि पान किय।
तेहि न भजसि मन मंद, को कृपाल संकर-सरिस ॥

अर्थ—मुक्ति की जन्मभूमि, ज्ञान की खान, पापों का नाश करनेवाली और जहाँ श्रीशिव-पार्वतीजी सदा बसते हैं; यह जानकर उस काशी का सेवन कैसे न किया जाय; अर्थात् अवश्य उसमें वास करना चाहिये ॥ जिस कठिन हालाहल विष से सब देव-समूह जल रहे थे, उसे जिन श्रीशिवजी ने पी लिया, हे मन्द बुद्धि मन ! तू उनको क्यों नहीं भजता ? शंकरजी के समान कौन कृपालु है ? ॥

विशेष—(१) विशेषणों के क्रमशः भाव—'मुक्ति-जन्म-महि'; यथा—"काश्यां मरणान्मुक्तिः" यह श्रुति है, अर्थात् काशी में मरने से मुक्ति होती है। बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती; यथा—"ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः" यह श्रुति है, इसपर कहते हैं—'ज्ञान-खानि' है, परन्तु पापों के क्षय हुए बिना ज्ञान नहीं होता; यथा—"ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः।" इसपर कहा—'अघ हानि-कर' है। इस तरह तीनों श्रुतियों के भावों को कहकर शंका की जगह नहीं रक्खी। पहले काशी का माहात्म्य कहकर तब 'संभु-भवानि' का बसना कहा कि यह उनका स्थान है। 'संभु', अर्थात् कल्याण के कर्त्ता हैं; यथा—"कासी मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करउँ बिसोकी॥" (बा० दो० ११८)। 'भवानि' नाम से यह जनाया कि जब से श्रीशिवजी (भव) हैं, तभी से ये भी हैं, सती। पार्वती आदि नाम पीछे के हैं। तब ऐसी काशी तो अवश्य सेवन करने योग्य है। यहाँ वस्तु-निर्देशात्मक मंगलाचरण है।

जगत् में जीव तीन प्रकार के होते हैं; यथा—"बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥" (अ० दो० २७६); काशी तीनों के सेवन करने योग्य है—विषयी के लिये 'अघ हानि-कर' है; साधक (मुमुक्षु) के लिये सत्संग द्वारा 'ज्ञान खानि' है और सिद्धों के लिये 'मुक्ति-जन्म-महि' है। वा, सहज वास से पाप नाश करती है, सत्संग से ज्ञान देती है और वहाँ मरने पर मुक्ति देती है।

यहाँ काशी का माहात्म्य कहने का भाव यह कि मानस सप्त सोपान रूपी सात कांडों में है, उनमें यह चौथा कांड है। ऐसे ही मुक्ति देनेवाली सातो पुरी कही गई हैं; यथा—"अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवन्तिका। पुरी द्वारावती ज्ञेया सप्तैता मुक्तिदायिकाः॥" इनमें अयोध्या का नाम प्रथम आया है और काशी का चौथा। इसलिये पहले (बाल) कांड में श्रीअयोध्याजी का माहात्म्य कहा गया था, वैसे इस चौथे (किष्किंधा) कांड में काशी का माहात्म्य कहा गया। इसी रीति से सातों कांडों का मोक्षदायक होना जनाया।

पहले सोरठे में काशी वास करना कहा गया, ऐसा ही अन्यत्र भी कहा गया है; यथा—सेइय सहित सनेह देह भरि कामधेनु कलि कासी॥" (वि० २२); उसमें बसने से पाप नाश होकर ज्ञान का प्राप्त होना कहकर अधिकारी होने पर आगे काशी के स्वामी श्रीशिवजी की सेवा करने को कहते हैं। फिर श्रीराम-चरित कहेंगे, क्योंकि—"सिव सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति राम पद होई॥" (उ० दो० १०५)।

(२) 'जरत सकल सुरबृंद···'—'जरत सकल सुरबृंद' से विष की विषमता और 'जेहि पान

किये' से श्रीशिवजी का सामर्थ्य कहा। इसकी कथा—"नाम प्रभाव जान सिव नीको।" (बा० दो० १८); पर लिखी गई है। 'सकल सुरबृंद' का भाव यह कि देवताओं के कई भेद हैं—वसु-बृंद, रुद्र-बृंद, आदित्य बृंद आदि - वे सभी बृंद जलने लगे थे। 'तेहि न भजसि मतिमंद'—भाव यह कि श्रीशिवजी ने देवताओं को विष की ज्वाला से बचाया, वैसे भजन करने पर तुम्हें भी विषयाग्नि की ज्वाला से बचावेंगे; यथा—"मन करि विषय अनल बन जरई।" (बा० दो० ३२); 'को कृपाल संकर सरिस'—तुमपर भी कृपा करेंगे और शंकर (कल्याणकर्त्ता) होंगे।

प्रथम तीन कांडों में श्रीशिवजी को इस ग्रंथ के आचार्य मानकर पहले उनकी वंदना की थी, क्योंकि आचार्य का पद भगवान् से भी बड़ा है, किन्तु इस कांड से इन्होंने हनुमान् रूप से श्रीरामजी का प्रत्यक्ष दासत्व ग्रहण किया है। अतः, उनके स्वामी श्रीरामलक्ष्मणजी की वंदना पहले और वह भी देववाणी में करके तब भाषा में सेवक की वंदना करना उचित माना है; यथा—"जेहि सरीर रति राम सों, सोइ आदरहि सुजान। रुद्र देह तजि नेह बस, बानर भे हनुमान्॥"- (दोहावली १४१); आगे बराबर श्रीशिवजी की नीचे ही वंदना करेंगे, क्योंकि अब वे श्रीहनुमान् रूप से सेवक-भाव में हैं। सुंदरकाण्ड में श्रीहनूमान्जी ही वंदना करेंगे, क्योंकि उसमें उनका चरित प्रधान है।

ऐतिहासिक दृष्टिवाले यों भी कहते हैं कि शैव-वैष्णव-विरोध मिटाने के लिये दोनों के इष्ट की एक साथ वंदना करते हुए पहले तीन कांडों में श्रीशिवजी को प्रथम स्थान दिया, तब पीछे चार कांडों में श्रीरामजी को। पर इस ग्रंथ से उपर्युक्त आचार्य-भाव से एवं—"संकर भजन बिना नर, भगति न पावइ मोरि।" (उ० दो० ४५) की दृष्टि ही युक्त है।

ऊपर श्रीरामजी के विषय में नामी और नाम की वंदना है, वैसे यहाँ श्रीशिवजी के प्रसंग में धाम और धामी की वंदना है। इनके नाम की वंदना नहीं की, क्योंकि ये स्वयं श्रीराम-नाम जपते हैं। अतः, इष्ट की समता का दोष होता; यथा—"साम्यं नाम च शंकरस्य च हरेः" यह दस नामापराधों में एक अपराध कहा गया है।

"मारुति-मिलन"—प्रकरण

आगे चले बहुरि रघुराया। रिष्यमूक पर्वत नियराया॥१॥
तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा। आवत देखि अतुल बलसींवा॥२॥
अति सभीत कह सुनु हनुमाना। पुरुष जुगल बल - रूप - निधाना॥३॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी फिर आगे चले और ऋष्यमूक पर्वत निकट आ गया; अर्थात् उसके समीप पहुँच गये॥१॥ वहाँ (उस पर्वत पर) मंत्रियों के साथ श्रीसुग्रीवजी रहते थे। अतुलित बल की सीमा श्रीराम-लक्ष्मणजी को आते हुए देखकर॥२॥ वे अत्यन्त डरकर बोले कि हे हनुमान्! सुनो, ये दोनों पुरुष बल और रूप के निधान (समुद्र) हैं॥३॥

विशेष—(१) 'आगे चले बहुरि रघुराया।'—पहले कह चुके हैं—"पुनि सीतहि खोजत दोउ भाई। चले···" (आ० दो० ३१); फिर श्रीशबरीजी के यहाँ ठहरे, तब वहाँ से भी चले; यथा—"चले राम त्यागा

मन सोऊ।" (आ० दो० ३९)। तब पंपासर पर बैठ गये थे; यथा—"बैठे अनुज सहित रघुराया।" (आ० दो० ४०); वहीं पर श्रीनारदजी से सत्संग हुआ। उसी जगह से अब फिर आगे चले। इस तरह अरण्यकाण्ड से इस कांड का सम्बन्ध भी दिखाया—'रघुराया' शब्द से प्रसंग मिलाया। अभी श्रीनारदजी को स्त्री-त्याग की शिक्षा दी और स्वयं स्त्री को खोजने चले हैं, इसका भाव यह कि गृहस्थ को स्त्री का संग्रह उचित है और विरक्त को त्याग; 'रघुराया'—राजा हैं। अतः, नीति से काम लेंगे। पहले श्रीसुग्रीवजी से मित्रता करेंगे, उसके शत्रु को मारेंगे और उससे अपना कार्य करावेंगे।

(२) 'रिष्यमूक पर्वत नियराया।'—इस पर्वत का नाम लिखा गया, क्योंकि यहाँ पर श्रीरामजी का कुछ कार्य होगा। श्रीसुग्रीवजी मिलेंगे, फिर और कार्य होगा। इसका ऋष्यमूक नाम क्यों ?—(क) मृगों में गोकर्ण, वेन, ऋष्य-संज्ञक मृग होते थे, वे इस पर्वत पर मूक (चुप) रहते थे, इसी से यह नाम हुआ। (ख) ऋषि—अमूक अर्थात् इस पर्वत पर ऋषि लोग वेद-पाठ, नाम-जप और चरित-पाठ आदि करते थे—इससे ऐसा नाम था। (ग) इसपर सत्यवादी ही ऋषि रहते थे, झूठे और अधर्मी यहाँ जाकर मर जाते थे।

(३) 'तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा।'—राज्य के सात अंग हैं—राजा, मंत्री, कोष, देश, किला और सेना। इनमें श्रीसुग्रीवजी के पाँच अंग नष्ट हैं, केवल मंत्री और स्वयं (राजा) ही रह गये। किन्तु मंत्री प्रधान अंग है, इससे साथ रक्खा है; यथा—"सचिव संग लै नभ पथ गयऊ।" (सुं० दो० ४०); यह श्रीविभीषणजी के लिये कहा गया है, यहाँ श्रीसुग्रीवजी को राज्य मिलेगा और श्रीविभीषणजी को भी आगे मिला है। श्रीशबरीजी ने पंपासर पर ही सुग्रीव-मिताई को कहा था, पर यहाँ ऋष्यमूक पर श्रीसुग्रीवजी रहते हैं, भाव यह कि यहाँ तक पंपासर की ही भूमि है, उसीकी सीमा के भीतर यह भी है।

'आवत देखि अतुल बलसींवा।'—देखकर ही बल जान लिया; यथा—"सुचि सुजान नृप कहहिं हमहिं अस सूझई। तेज प्रताप रूप जहँ तहँ बल बूझई॥" (जानकी-मंगल ९९); बलवान् लोग देखकर ही बली का अंदाजा कर लेते हैं; यथा—"देखी मैं दसकंठ-सभा सब मोते कोउ न सबल तो।" (गी० सुं० ११)—यह श्रीहनुमान्‌जी ने रावण से कहा है।

(४) 'अति सभीत कह'''—सभीत तो सदा ही रहते थे; यथा—"इहाँ साप बस आवत नाहीं। तदपि सभीत रहउँ मन माहीं॥" (दो० ५); अब इन 'अतुल बलसींव' को देखकर अति सभीत हो गये। श्रीसुग्रीवजी को वीर का प्रयोजन है, इसलिये प्रभु ने उन्हें वीर-स्वरूप का बोध कराया; यथा—"तावृष्यमूकस्य समीपचारी चरन्ददर्शाद्भुतदर्शनीयौ॥ शाखामृगाणामधिपस्तरस्वी वितत्रसे नैव चिचेष्ट किञ्चित्॥'''दृष्ट्वा विषादं परमं जगाम चिन्तापरीतो भयभारभग्नः॥" (वाल्मी० ४।१।१२०-१२१); 'सुनु' यह अशांति गर्भित संबोधन भी श्रीसुग्रीवजी का सभीत होना सूचित करता है। 'बल-रूप-निधाना'—बल और रूप दोनों प्रायः साथ नहीं होते, पर इनमें हैं, इससे ये कोई अवश्य विलक्षण पुरुष हैं।

धरि बटु रूप देखु तैं जाई। कहेसु जानि जिय सैन बुझाई॥४॥
पठये बालि होहिं मन मैला। भागउँ तुरत तजउँ यह सैला॥५॥
बिप्र-रूप धरि कपि तहँ गयऊ। माथ नाइ पूछत अस भयऊ॥६॥

अर्थ—ब्रह्मचारी का रूप धारण करके तुम जाकर देखो और उनके हृदय का भाव अपने

से जानकर सकेत (इशारे) से हमको समझाकर कह देना ॥४॥ यदि वे वालि के भेजे हुए हों और मन के मैले (दुष्ट-चित्त) हों, तो मैं तुरत भागूँगा और इस पर्वत को छोड़ दूँगा ॥५॥ ब्राह्मण रूप धारण करके वानर श्रीहनुमान्‌जी वहाँ गये और शिर नवाकर इस तरह पूछने लगे ॥६॥

विशेष—(१) 'धरि बटु रूप देखु···'—'बटु' का अर्थ आगे कहा है; यथा—"विप्र-रूप धरि' यह रूप इसलिये धारण करने को कहा कि वानर शठ-बुद्धि होते हैं और उनसे प्रवीणता से बातचीत करनी है। इसलिये योग्य रूप को कहा; यथा—"कपिरूपं परित्यज्य हनुमान्मारुतात्मजः। भिक्षुरूपं ततो भेजे शठबुद्धितया कपिः॥" (वाल्मी० ४।३।२); पुनः ब्रह्मचारी अवश्य होते हैं, विद्याध्ययन के लिये वन में रहते हैं, शुद्ध-हृदय होते हैं। अतः, इनसे लोग अपनी बात कह देते हैं। भस्मासुर से भगवान् ने बटु-रूप से ही मर्म पूछा था और उसने कह दिया था। यदि विपक्ष के होंगे, तो बटु जानकर न मारेंगे। विद्यार्थी चपल-स्वभाववाले होते हैं। अतः, विना प्रयोजन भी इनका पूछना अनुचित न माना जायगा।

श्रीहनुमानजी श्रीविभीषणजी के यहाँ और श्रीभरतजी के यहाँ भी इसी रूप से जाकर मिले हैं। यह वेष मंगलकारी भी माना जाता है। इन कारणों से भी यही रूप धारण किया है।

'कहेसु जानि जिय···'—सभाषण एवं चेष्टाओं से उनके हार्दिक भाव जान लेना; यथा—"इङ्गितानां प्रकारैश्च रूपव्याभाषणेन च॥ लक्षयस्व तयोर्भावं प्रहृष्टमनसौ यदि।" शुद्धात्मानौ यदि त्वेतौ जानीहि त्वं प्लवगम। व्याभाषितैर्वा रूपैर्वा विज्ञेया दुष्टताऽनयोः॥" (वाल्मी० ४।२।२४-२७)। 'सैन बुझाई'—कहीं कराग्रभाग से संकेत करना कहा है, कहीं और तरह, इसलिये यहाँ संकेत को गुप्त ही रक्खा है।

(२) 'पठये वालि होहिं मन मैला'—वाली मन का मैला है, अतएव उसके भेजे होंगे, तो इनका भी मन मैला ही होगा। जो विना कारण दूसरे का वध करने जाता है, उसका हृदय प्रसन्न नहीं होता, बातों से लख पड़ेगा। 'पठये वालि होहिं'—इसका कारण वाल्मी० ४।२।२०-२३ में कहा गया है कि सुग्रीवजी कहते हैं कि इन दोनों पुरुष-श्रेष्ठों को वालि ने ही भेजा है, क्योंकि राजाओं के अनेक मित्र होते हैं। विश्वास करना उचित नहीं।" वाली बुद्धिमान् है, बड़ी योग्यता से काम करता है, हमें सावधान रहना चाहिये, इत्यादि। कहा भी है—"रिपु रिन रंच न राखब काऊ।" (अ० दो० २२८); इस दृष्टि से उसने दूसरे को अवश्य भेजा होगा।

'मन मैला'—यह सकेत में भी लिया जा सकता है कि जो वे वालि के पठाये हुए हों तो तुम मन से उदास हो जाना, तो हम जान लेंगे, क्योंकि श्रीसुग्रीवजी ने कहा है—"ममैवाभिमुखं स्थित्वा पृच्छ त्वं हरिपुंगव।" (वाल्मी० ४।२।२६); अर्थात् तुम हमारे सम्मुख खड़े होकर उनसे पूछना। अभिप्राय यह है कि तुम्हारी चेष्टा को हम लक्ष्य करते रहेंगे।

'भागउँ तुरत तजउँ यह सैला'—भाव यह कि पास आ जाने पर इनसे न बचेंगे। अभी भागने का अवसर है, श्रीसुग्रीवजी को भागने का बड़ा बल है, क्योंकि शीघ्रगामी सूर्य के अंश से उत्पन्न हैं। इसीसे चौदहों भुवनों में वालि ने पीछा किया, पर उन्होंने इन्हें नहीं पाया।

श्रीहनुमान्‌जी को ही भेजा, क्योंकि श्रीसुग्रीवजी के अति सभीत होने से और मंत्री भी घबड़ा गये थे। पर श्रीहनुमान्‌जी नहीं घबड़ाये और उन्हें समझाया है, वाल्मी० ४।२।१३-१८ में विस्तार से कहा है। श्रीसुग्रीवजी श्रीहनुमान्‌जी की बुद्धिमत्ता भी जानते हैं; यथा—"हनूमतीह विद्धिश्च मतिश्च मतिसत्तम॥

व्यवसायश्च शौर्यं च श्रुतं चापि प्रतिष्ठितम् ॥" (वाल्मी० ५।१२।१०); यह श्रीरामजी से श्रीसुग्रीवजी ने ही कहा है।

(४) 'माथ नाइ'—श्रीहनुमानजी विप्र-रूपमें गये, तब श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी को 'छत्री-रूप' में जानकर भी सिर क्यों नवाया ? इसका उत्तर यह है कि अत्यन्त तेजस्वी देखकर देव-बुद्धि से उन्हें प्रणाम किया, क्योंकि आगे इनके प्रश्नों से स्पष्ट है; यथा—"की तुम्ह तीनि देव महँ ·" इत्यादि। अर्थात् आपका रूप-मात्र क्षत्रिय का है, पर हैं, कोई देवता ही ; यथा—"अन्योन्यसदृशौ वीरौ देवलोकादिहागतौ ॥ ·· मानुषौ देवरूपिणौ ॥" (वाल्मी० ४।३।११-१२); इत्यादि। इनके तेज-प्रताप से चकित होकर बिना जाने ही राजा जनक ने, सतानंद-आदि के साथ इनका अभ्युत्थान किया; यथा—"उठे सकल जब रघुपति आये।" (बा० दो० २१४) ; वहाँ भी धनुष-बाण आदि इनके क्षत्रिय के चिह्न थे ही। उनके चित्त में भी देव-बुद्धि ही आई, यथा—"ब्रह्म जो निगम नेति···" (बा० दो० २१५); तब तो स्वतः सिर झुकाना अनिवार्य है; यथा—"ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति। अभ्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते ॥" (मनुस्मृति आचाराध्याय); अर्थात् बूढ़े के आने पर जवान के प्राण ऊपर को चढ़ जाते हैं, उठने और अभिवादन से फिर ज्यों-के-त्यों हो जाते हैं। जिनके किंचित् प्रताप को पाकर अंगद रावण की सभा में गये, तो शत्रु रावण की सभा ने इनका अभ्युत्थान किया; यथा—"उठे सभासद कपि कहँ देखी।" (लं० दो० १६); तब स्वयं उन्हें विप्र का प्रणाम करना कोई आश्चर्यजनक नहीं है।

> को तुम्ह स्यामल - गौर - सरीरा। छत्री - रूप फिरहु बन बीरा ॥७॥
> कठिन भूमि कोमल - पद - गामी। कवन हेतु बिचरहु बन स्वामी ॥८॥
> मृदुल मनोहर सुंदर गाता। सहत दुसह बन आतप बाता ॥९॥

अर्थ—साँवले और गोरे शरीरवाले आप (दोनों) कौन हैं ? जो वीर हैं और क्षत्रिय के रूप में वनमें फिर रहे हैं ॥७॥ हे स्वामी ! यह भूमि कठोर है और आप (दोनों) कोमल चरणों से चल रहे हैं। आप किस कारण से वन में विचर रहे हैं ? ॥८॥ (आप दोनों के) कोमल, मन को हरण करनेवाले और सुन्दर शरीर हैं और इनसे आप दोनों वन में कठिन घाम और हवा सह रहे हैं—यह किस लिये ? ॥९॥

विशेष—(१) 'को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा।···'—श्रीरामजी अधिक तेजस्वी हैं और आगे-आगे चल रहे हैं, इससे इन्हें बड़ा मानकर 'स्यामल' यह पहले कहा है; यथा—"यद्यपि सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुख सागर रामा ॥" (बा० दो० ११०)। 'छत्री रूप फिरहु बन बीरा'—अस्त्र-शस्त्र धारण किये हुए देखकर क्षत्रिय-रूप और वीर कहा; यथा—"देखि कुठार बान धनु धारी। भइ लरिकहि रिसि बीर बिचारी ॥" (बा० दो० २८१); पुनः वन में वीर ही निर्भय विचर सकते हैं। अस्त्र-शस्त्र की करालता देखकर भी वीर कहते हैं। वाल्मी० ४।३।१५-१६ में श्रीहनुमान्‌जी ने विस्तार से इनके शस्त्रों का वर्णन करते हुए इनकी वीरता सराही है। 'छत्री रूप'—आप (दोनों) क्षत्रिय नहीं हैं, देवता हैं, पर क्षत्रिय के रूप धारण किये हुए हैं।

(२) 'कठिन भूमि'—का भाव यह कि आप दोनों इसपर चलने योग्य नहीं हैं ; यथा—"जो

जगदीस इन्हहि बन दीन्हा। कस न सुमन मय मारग कीन्हा ॥" (अ० दो० १२०); 'कोमल पद गामी'— भाव यह कि इन कोमल चरणों से आप पैदल चलने के योग्य नहीं हैं, सवारी पर ही चलने योग्य हैं; यथा—"ये बिचरहि मग बिनु पद त्राना। रचे बादि बिधि बाहन नाना ॥" (अ० दो० ११९); 'बिचरहु बन'—का भाव यह कि आप तो महलों में विचरने के योग्य हैं; यथा—"तरुबर बास इन्हहिं बिधि दीन्हा। धवल धाम रचि रचि श्रम कीन्हा ॥" (अ० दो० ११८); 'स्वामी'—लक्षणों से तो आप स्वामी (राजा) जान पड़ते हैं; यथा—"राज लखन सब अंग तुम्हारे।" (अ० दो० ११२); यथा—"उभौ योग्यावहं मन्ये रक्षितुं पृथिवीमिमाम् ॥ ससागरवनां कृत्स्नां विंध्यमेरुविभूषिताम् ॥" (वाल्मी० ४।३।१५)।

(३) 'मृदुल मनोहर सुन्दर···'—आगे अभी थोड़े ही दिनों में कहेंगे—"गत ग्रीषम बरषा रितु आई।" (दो० ११); अतः, अभी ग्रीष्म ऋतु है, दो घड़ी दिनचढ़े पंपा सर पर आये, स्नान किया। फिर श्रीनारदजी से बातचीत करके चले, चार कोस चलकर दो पहर को यहाँ पहुँचे हैं, इसी से—'सहत दुसह बन आतप बाता।' कहते हैं। असह्य धूप और लू की लपट चल रही थी। श्रीभरतजी ने कहा है—"बसि तरु तर नित सहत हिम, आतप बर्षा बात ॥" (अ० दो० २११); पर यहाँ 'आतप बात' दो ही कहे गये हैं, क्योंकि श्रीहनुमान्‌जी यह नहीं जानते कि इन्हें ऐसे ही १२ वर्ष हो गये, वे तो प्रत्यक्ष की ही बात कहते हैं।

पुनः मृदुल आदि के भाव ये हैं कि ये तो कुंकुम-कस्तूरी आदि से लेपन के योग्य हैं, दर्शन करने योग्य हैं। यहाँ इन तीनों अर्द्धालियों में 'बन' शब्द आया है—'बिचरहु बन', 'दुसह बन', 'फिरहु बन' इससे जाना जाता है कि इन्हें वन में विचरते देखकर श्रीहनुमान्‌जी को बड़ा दुःख हुआ, इसीसे आगे कहा है—"लिये दुऔ जन पीठि चढ़ाई।" इसी तरह श्रीभरतजी को भी इनके वन के कष्ट सहने का ही दुःख था; यथा—"राम लखन सिय बिनु पग पनही। करि मुनि बेष फिरत बन बन ही ॥···येहि दुख दाह दहइ दिन छाती।" (अ० दो० २११); इत्यादि।

श्रीहनुमान्‌जी के प्रश्नों से भी इनमें उनकी ऐश्वर्य-भावना स्पष्ट है कि कठिन भूमि पर चलते हुए भी आपके चरण कोमल ही हैं और दुरसह धूप और लू सहने पर भी 'मृदुल मनोहर सुंदर गाता' बने हुए हैं, इससे आप कोई दिव्य तनवाले ही हैं, प्राकृत नहीं; अतः कौन हैं ?

की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ। नर-नारायन की तुम्ह दोऊ ॥१०॥

दोहा—जगकारन तारन भव, भंजन धरनी - भार।
की तुम्ह अखिल भुवनपति, लीन्ह मनुज-अवतार ॥१॥

अर्थ—क्या आप तीन देवों (ब्रह्मा, विष्णु और महेश) में से कोई हैं ? या आप दोनों नर-नारायण हैं ? ॥१०॥ या आप जगत् के कारण (पैदा करनेवाले), भव (सागर) से पार करनेवाले और पृथिवी का भार भंजन (नाश) करनेवाले हैं, जिससे सम्पूर्ण भुवनों (लोकों) के स्वामी होते हुए भी (आपने) मनुष्य का अवतार लिया है ? ॥१॥

विशेष—(१) 'की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ'—विशेष तेजस्वी होने से देवताओं में भी श्रेष्ठ जानकर त्रिदेव में होना पूछते हैं, 'कोऊ' अर्थात् आप शिव-विष्णु हैं या ब्रह्मा-विष्णु हैं। श्याम-गौर वर्ण

के अनुसार इस तरह कल्पना है, यथा—"कोउ कह नर-नारायन, हरि हर कोउ। कोउ कह बिहरत बन मधु मनसिज दोउ।" (बरवा ब० १२); फिर सोचा कि त्रिदेव तीन हैं, वे होते तो तीनों साथ ही होते। ये दो हैं, अतः नर-नारायण होंगे, क्योंकि उनकी भी जोड़ी ऐसी ही है, वे परस्पर ऐसे ही प्रीतिवाले भी हैं; यथा—"नरनारायन सरिस सुभ्राता।" (बा० दो० १६); वे अवतार भी लेते हैं। इसपर भी उत्तर न मिला, तब तीसरा प्रश्न करते हैं—

(२) 'जगकारन तारन भव···'—पहले तीन में प्रश्न किया, फिर दो में और अंत में 'अखिल भुवनपति'—इससे एक के ही दो होने का प्रश्न किया; यथा—"ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय वेष धरि की सोइ आवा॥" (बा० दो० २१५); स्थूल से अनुमान करते हुए सूक्ष्म में करना नियम है; यथा—"श्रुत्वा स्थूलं तथा सूक्ष्मं रूपे भगवतो यतिः। स्थूले निर्जितमात्मानं शनैः सूक्ष्मं धिया नयेत्॥" (श्रीमद्भागवत स्कंध ५); शुद्ध हृदय के भक्तों का अनुमान यथार्थ ही होता है; यथा—"बचन तुम्हार न होइ अलीका।" (बा० दो० २१५); अर्थात् जैसे श्रीजनकजी का अनुमान ठीक ही था, वैसे इनका भी यह तीसरा (निष्कर्ष-रूप) अनुमान ठीक ही है।

(३) 'अखिल भुवन पति'—का भाव यह कि सम्पूर्ण भुवन रावण-द्वारा पीड़ित है और उस भार से पृथिवी दबी हुई है; अतः, आपने मनुष्य का अवतार लिया है, क्योंकि रावण की मृत्यु मनुष्य ही के हाथ है, यथा—"रावन मरन मनुज कर जाँचा।" (बा० दो० ४८); "स हि देवैरुदीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभिः अर्थितो मानुषे लोके जज्ञे विष्णुः सनातनः॥" (वाल्मी० २।१।७); पुनः "अखिल भुवन पति" से "जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भयउ कोसलपुर भूपा॥" (बा० दो० ११०); 'का' और 'मनुज' से मनुसम्बन्ध से जायमान होनेवाले साकेत-विहारी के अवतार का भी लक्ष्य है।

'जगकारन' और 'तारन भव' से जगत् में जीवों का जन्म होना और जगत् से उनका छूटना दोनों ही कार्य श्रीरामजी के हाथों से होना सूचित किया; यथा—"बंध मोच्छ प्रद सर्ब पर, माया प्रेरक सीव॥" (आ० दो० १५); "तुलसिदास यह जीव मोहरजु जोइ बाँध्यो सोइ छोरै।" (वि० १०२), इससे भी परम तत्त्व ही कहा। "भंजन धरनी भार" से "हरिहउँ सकल भूमि गरुआई।" (बा० दो० १८६); पर और "लीन्ह मनुज अवतार" से "अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहउँ··" (बा० दो० १८६); पर लक्ष्य है कि आप वही हैं क्या?

ऐसे ही भक्त श्रीविभीषणजी का अनुमान भी सत्य ही था; यथा—"की तुम्ह हरिदासन्ह महँ कोई। मोरे हृदय प्रीति अति होई॥" (सुं० दो० ५), श्रीभरतजी ने ऐसा ही जाना भी है; यथा—"सेवक बचन सत्य सब जाने।" (अ० दो० २३७)।

कोसलेस दसरथ के जाये। हम पितु-बचन मानि बन आये॥१॥
नाम राम लछिमन दोउ भाई। संग नारि सुकुमारि सुहाई॥२॥
इहाँ हरी निसिचर बैदेही। बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही॥३॥
आपन चरित कहा हम गाई। कहहु बिप्र निज कथा बुझाई॥४॥

अर्थ—हम कोसल (श्रीअयोध्या) के राजा श्रीदशरथजी के पुत्र हैं, पिता का वचन मानकर वन में आये हैं॥१॥ हम दोनों का नाम राम-लक्ष्मण है, हम दोनों भाई हैं, साथ में सुंदरी सुकुमारी स्त्री,

भी ॥२॥ यहाँ (वन में) निशाचर ने वैदेही को हर लिया, हे विप्र ! हम उसे ढूँढ़ते-फिरते हैं ॥३॥ हमने अपना परिचय विस्तार से कहा, हे विप्र ! अब अपनी कथा समझाकर कहिये ॥४॥

विशेष—(१) 'कोसलेस दसरथ…'—श्रीहनुमान्‌जी ने पूछा था—"को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा।" 'छत्रीरूप फिरहु बन बीरा।' इसका यह उत्तर है—"कोसलेस दसरथ के जाये।'—'नाम राम-लछिमन दोउ भाई।"। "कवन हेतु बन बिचरहु स्वामी॥ मृदुल मनोहर सुंदर गाता। सहत…" का उत्तर—'हम पितु बचन मानि बन आये।'। का उत्तर—"संग नारि…" से "हम खोजत तेही॥" तक है।

शेष तीन प्रश्नों के उत्तर न दिये, जो—"की तुम्ह तीनि देव महँ…" से "कीन्ह मनुज अवतार॥" तक कहे गये हैं, क्योंकि अपने ऐश्वर्य को गुप्त रखना है; यथा—"गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु, गये जान सब कोइ।" (बा० दो० ४८)।

'कोसलेस' से धाम, 'दसरथ के जाये' से रूप 'नाम राम लछिमन' से नाम और 'इहाँ हरी निसिचर बैदेही।' से लीला सूचित की; ये चारो नित्य हैं; यथा—"रामस्य नाम रूपं च लीलाधाम-परात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानंदविग्रहम्॥" (वशिष्ठ-संहिता) इसी से चारों के द्वारा अपना परिचय दिया।

(२) 'संग नारि सुकुमारि सुहाई।'—भाव यह कि वह वन आने के योग्य न थी, पर स्नेह के कारण आई; यथा—"पुरते निकसी रघुबीर-बधू, धरि धीर दिये मग मैं डग द्वै। झलकीं भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गये मधुराधर वै॥ फिरि बूझति हैं चलनोऽब केतिक, पिय पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै? । तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै॥" (क० अ० ११)।

(३) 'इहाँ हरी निसिचर बैदेही।…'—सीता-हरण तो पंचवटी में हुआ, तो 'इहाँ' ऐसा क्यों कहते हैं? इसका उत्तर यह है कि श्रीरामजी ने उत्तर में कहा कि हम अयोध्या के राजा के पुत्र हैं, पिता की आज्ञा से वन आये, हमारे साथ यह भाई और स्त्री दोनों आये, पर 'इहाँ' वैदेही को निशाचर ने हर लिया। श्रीअयोध्या को 'वहाँ' मानकर वन को 'इहाँ' कहते हैं; अर्थात् वन में।

कोई-कोई 'इहाँ' से ऋष्यमूक का अर्थ लेकर 'हरी' से सुग्रीव, 'निसिचर' से रावण और 'वैदेही' से श्रीजानकीजी का अर्थ करते हैं और सीता-हरण को अध्याहार से लेते हैं। परन्तु 'खोजत तेही' इसमें 'तेही' यह एकवचन है, यदि तीनों के लिये होता, तो 'तिन्हहि' ऐसा बहुवचन का प्रयोग होता, अतः यह अर्थ ठीक नहीं है।

'वैदेही'—शब्द से श्रीजानकीजी के स्वभाव का भीरु होना भी सूचित किया कि वे निशाचर के डर से देह-रहित हो जायँगी, यह संभव है। पुनः विदेह का सम्बन्ध-सूचक नाम देकर विप्र से सहायता भी चाहते हैं, क्योंकि विप्र, मुनि आदि से विदेह का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। खोजने में उनका हुलिया भी कहा। पुनः 'वैदेही' शब्द से देह-रहित अर्थात् प्रतिबिंब-रूपा सीता का बोधक गूढ़ोक्ति भी है।

(४) 'आपन चरित कहा हम गाई।'—अर्थात् जो हमने कहा, यही हमारा चरित है—"कोसलेस दसरथ के जाये।"—बालकांड, 'हम पितु बचन मानि बन आये।'—अयोध्याकांड, 'इहाँ हरी निसिचर बैदेही।'—अरण्यकांड और 'बिप्र फिरहि हम खोजत तेही।" यह किष्किंधाकांड के वर्तमान चरित तक कहा है।

'कहहु विप्र निज कथा बुझाई।'—'बुझाई' शब्द से लक्षित करते हैं कि जैसे आपने कहा कि आप क्षत्रिय-रूप हो, पर नर नहीं हो, वैसे हम भी पूछते हैं कि आपके वचन सामान्य विप्र के से नहीं हैं, अतः आप कौन हैं ? समझाकर कहिये ; यथा—"नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः। नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम्। नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।...अनया चित्रया वाचा...' (वाल्मी० ४।३।२८-३४) ; अर्थात् इतने गुण मनुष्य रूप विद्यार्थी में नहीं हो सकते।

(४) 'आपन चरित...'—हमने तो अपना चरित कह दिया। 'गाई'—सरल भाव से एवं विस्तारपूर्वक कि विपत्ति के कारण हम वन में फिर रहे हैं। आप अपनी कथा समझा कर कहें कि आप कौन हैं और गुरु-सेवा छोड़कर वन में क्यों फिर रहे हैं ? या किसी के भेजने से आये हैं कि आपपर भी कोई विपत्ति है, जो ऐसे घोर वन में और दुस्सह 'आतप-वात' (लू) में विचर रहे हैं।

प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना। सो सुख उमा जाइ नहिं बरना ॥५॥
पुलकित तनु मुख आव न बचना। देखत रुचिर बेष कै रचना ॥६॥
पुनि धीरज धरि अस्तुति कीन्हीं। हरष हृदय निज नाथहि चीन्ही ॥७॥

अर्थ—प्रभु को पहचान श्रीहनुमान्‌जी चरण पकड़कर (भूमि पर) पड़ गये, अर्थात् उन्होंने साष्टाङ्ग दण्डवत् की। (शिवजी कहते हैं कि) हे उमा ! वह सुख वर्णन नहीं किया जा सकता ॥५॥ शरीर पुलकायमान हो गया है, मुख में वचन नहीं आता, वे सुन्दर वेष की रचना को देख रहे हैं ॥६॥ फिर धैर्य धरकर स्तुति की, अपने नाथ (इष्ट) को पहचान कर हृदय में आनन्द एवं प्रेम है ॥७॥

विशेष—(१) 'प्रभु पहिचानि...'—कैसे पहचाना ? (क) श्रीहनुमान्‌जी ने सूर्य भगवान् से वेद-शास्त्रों का अध्ययन किया है। रामचरित का बीज-रूप वेद में भी है, उससे यह सुनकर जान गये। (ख) इन्होंने सूर्य को गुरुदक्षिणा माँगने को कहा था, तब उन्होंने अपने अंशभूत श्रीसुग्रीवजी की रक्षा करना माँगा था कि उन्हें विपत्ति-पर्यंत रक्षा करना, इस-इस तरह से श्रीरामजी आवेंगे, तुम्हें बड़ा लाभ होगा, इत्यादि—उन्हीं बातों को प्रत्यक्ष घटित देखा, इससे जान गये। (ग) श्रीरामजी के जन्म से ही सब चरित श्रीनारदजी इन्हें सुनाया करते थे ; यथा—"राम-जनम सुभ काज सब, कहत देव ऋषि आइ। सुनि सुनि मन हनुमान के, प्रेम उमग न अमाइ॥" (रामाज्ञा-प्रश्न ४।४।१) ; इससे यहाँ चरित सुनकर जान गये, किन्तु इस समय तापस-वेष की रचना कुछ और है, इससे 'देखत रुचिर बेष की रचना।' कहा गया है। (घ) ये शिवरूप से आकाशवाणी के समय थे, वहाँ के वचनों से मिलाकर जान गये, जो वहाँ सुना था 'हम कोसलपुरी में श्रीदशरथजी के यहाँ प्रकट होंगे, नारद-वचन सत्य करेंगे। उन्हीं के अनुसार यहाँ चरित सुना, इससे जान गये। पुनः श्रीरामजी ने श्रीमुख से चरित सुनाया, इससे माया निवृत्त हुई, तुरत बोध हो गया। जैसे तारा को ज्ञान दिया, माया हरी और श्रीदशरथजी को 'चितइ' (देख) कर ही दृढ़ ज्ञान दिया, एवं करस्पर्श से श्रीसुग्रीवजी को बल दिया, इत्यादि।

'सो सुख उमा जाइ नहिं बरना'—शिवजी उस शरीर के सुख को अत्यन्त जानकर अवर्ण्य कह रहे हैं; यथा—"सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न..." (उ० दो० ५)। "सो सुख जानइ मन अरु काना। नहिं रसना पहिं जाइ बखाना॥" "प्रभु सोभा सुख जानहिं नयना। कहि किमि सकहिं तिन्हहि नहिं बयना॥" (उ० दो० ८९)।

श्रीहनुमान्जी की कथा

पुञ्जिकस्थला नाम की परम सुन्दरी श्रेष्ठ अप्सरा थी, वह शाप वश कुंजर वानर की कन्या अञ्जना नाम की वानरी हुई। वही केशरी वानर की स्त्री हुई। एक समय वह मनुष्य का रूप धरकर वस्त्राभरण से सुशोभित हो पर्वत के शिखर पर बैठी थी। वायुदेव प्रभाव से महा बलवान्, महापराक्रमी और महा तेजस्वी पवन के समान ही हनुमान्जी केशरी के क्षेत्रज और पवन के औरस पुत्र हुए। उसी अवस्था में ये महावन में सूर्य का उदय देखकर और उसे फल समझकर लेने के लिये कूदकर आकाश को उछले, उस दिन सूर्य ग्रहण का पर्व था। राहु ने इन्हें देखकर इन्द्र से पुकार की, इन्द्र ने आकर क्रोध पूर्वक इनपर वज्र चलाया, जिससे इनकी बाईं हनु टेढ़ी हो गई और उसीसे 'हनुमान्' नाम पड़ा। पुत्र पर आघात सुन वायु ने तीनों लोकों में अपनी गति रोक दी। सब घबड़ाये, देवताओं के सहित ब्रह्माजी वायु को मनाने आये। वायु के प्रसन्न होने पर ब्रह्मा-सहित सभी देवताओं ने इन्हें अपने-अपने अस्त्र शस्त्रों से अभय होने का वर दिया, इत्यादि। यह कथा वाल्मी० ४।६६।८-२८ के अनुसार सूक्ष्म रूप में है, वाल्मी० ७।३५-३६ में भी इनकी कथा विस्तार से है और प्रसिद्ध है।

(२) 'पुलकित तनु मुख''' '—श्रीहनुमान्जी मन, वचन, कर्म तीनों से निमग्न हो गये हैं; यथा—'सो सुख उमा जाइ नहिं बरना।'—यह सुख मन का धर्म है। 'पुलकित तन'—यह तन एवं कर्म और 'मुख आव न बचना' यह वचन की दशा है।

'देखत रुचिर बेष कै रचना।'—इस वेष का यथार्थ में इन्हीं ने अनुभव किया है, आगे लंका में श्रीजानकीजी के पूछने पर इन्होंने बड़ी सूक्ष्मता से श्रीराम-लक्ष्मण के सर्वांग का वर्णन किया है—वाल्मी० सुं० स० ३५ देखिये।

(३) 'पुनि धीरज धरि अस्तुति कीन्ही।'—श्रीरामजी की शोभा देखकर अधीर हो गये; यथा—"देखि भानु कुल भूषनहिं, बिसरा सखिन्ह अपान॥ धरि धीरज एक आलि सयानी।'''" (बा० दो० २३३); तथा आ० दो० १० भी देखिये। 'हरष हृदय निज नाथहि चीन्हीं।'—ऊपर 'सुख' कहा गया। यहाँ फिर 'हर्ष' कहा गया है। हर्ष का प्रीति भी अर्थ होता है; यथा—"आमोदः प्रीतिः प्रमदो हर्ष इत्यमरः" यही प्रीति का अर्थ यहाँ लेना चाहिये। पुनरुक्ति का बचाव यों भी है कि ऊपर—'सो सुख उमा''' में देखी हुई ऊपर की दशा कही गई है और यहाँ उनके हृदय का अनुभूत सुख कहते हैं। सुं० दो० ३२ भी देखिये।

मोर न्याउ मैं पूछा साईं। तुम्ह पूछहु कस नर की नाईं ॥८॥
तव माया बस फिरउँ भुलाना। ताते मैं नहि प्रभु पहिचाना ॥९॥

दोहा—एक मैं मंद मोहबस, कुटिल हृदय अज्ञान।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ, दीनबंधु भगवान ॥२॥

अर्थ—हे स्वामी ! मैंने जो पूछा, वह न्याय (उचित) था, (क्योंकि मैंने मायावश होने से नहीं

पहचाना था), पर आप कैसे मनुष्यों की तरह पूछते हैं ? (अर्थात् आप तो सर्वज्ञ ईश्वर हैं, अतएव मनुष्यों की तरह आपका पूछना अन्याय है) ॥८॥ मैं तो आपके मायावश भूला हुआ फिरता हूँ, इसी से मैंने प्रभु को नहीं पहचाना ॥९॥ एक तो मैं मंद हूँ, मोहवश हूँ, हृदय का कुटिल और अज्ञान हूँ। उसपर भी हे प्रभो ! हे दीनबंधु !! हे भगवान् !! आपने मुझे भुला दिया, (अन्यथा ऐसा हमसे प्रश्न ही न करते—'कहहु विप्र निज कथा बुझाई।') ॥२॥

विशेष—(१) 'तव माया बस'''—आपकी माया प्रबल है; यथा—"अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौं दाया॥" (दो० १०); उसने वश में कर लिया, इससे पाया गया कि न पहचानने में माया का ही दोष है, मैं निर्दोष हूँ, इसपर अपने दोष कहते हैं—'एक मैं मंद'''—ये मंदता आदि दोष वानर जाति के हैं, पर कार्पण्य भक्ति की रीति से अपने में कहते हैं; यथा—"कवित विवेक एक नहि मोरे।" (बा० दो० ८)—यह गोस्वामीजी ने कहा है। साथ ही प्रभु को दीनबंधु भगवान् भी कहा है; यथा—"गुन तुम्हार समुझै निज दोषा।" (अ० दो० १३०); आप दीनबंधु हैं, मुझ दीन के सहायक हों, भगवान् हैं, अतः मुझे सँभाल सकते हैं। पर आपने भुला दिया, यही मेरा अभाग्य है, इसी में जीव की हानि है; यथा—"तुलसी की बलि बार-बार ही सँभार कीबी, जद्यपि कृपानिधान सदा सावधान है॥" (क० ह० ८०)।

> जदपि नाथ बहु अवगुन मोरे। सेवक प्रभुहि परइ जनि भोरे ॥१॥
> नाथ जीव तव माया मोहा। सो निस्तरइ तुम्हारेहि छोहा ॥२॥
> ता पर मैं रघुबीर दोहाई। जानउँ नहिं कछु भजन-उपाई ॥३॥
> सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसे ॥४॥
> अस कहि परेउ चरन अकुलाई। निज तनु प्रगटि प्रीति उर छाई ॥५॥

अर्थ—हे नाथ ! यद्यपि मुझमें बहुत अवगुण हैं, तथापि (यह) सेवक प्रभु को भोरे न पड़े; अर्थात् अवगुणी होने पर भी मुझ सेवक को आप न भुलावें, क्योंकि हे नाथ ! जीव आपकी माया से मोहित है, वह आपकी ही कृपा से छूट सकता है ॥१—२॥ उसपर भी हे रघुबीर ! आपकी शपथ करके कहता हूँ कि मैं कुछ भी भजन का उपाय नहीं जानता ॥३॥ सेवक स्वामी के और पुत्र माता के भरोसे निश्चिन्त रहता है, तो हे प्रभो ! उन्हें पालन करते ही बनता है; अर्थात् ऐसे ही मैं सेवक आप प्रभु पर निर्भर हूँ, तो आप मेरा पालन ही करें ॥४॥ ऐसा कहकर अकुलाकर चरणों पर गिर पड़े, हृदय में प्रीति छा गई और श्रीहनुमान्‌जी ने अपना (वानर) शरीर प्रकट कर दिया ॥५॥

विशेष—(१) 'जदपि नाथ अवगुन''''''—पहले अपनेमें चार ही अवगुण कहे थे—मंद, मोहवश, कुटिल-हृदय और अज्ञान। अब कहते हैं कि इतने ही नहीं, किंतु बहुत-से अवगुण हैं और इन्हीं से मैं आपको भूल गया, पर हे प्रभो !—'सेवक प्रभुहि परइ जनि भोरे।' (यह प्रार्थना करते हैं) भाव यह कि आप मेरे अवगुणों पर दृष्टि न देकर मुझे सँभालिये, अपनाइये; क्योंकि—"जन अवगुन प्रभु मान न काऊ।" (ब० दो० १)।

(२) 'नाथ जीव तव''''''—पहले कहा था—'तव माया बस फिरउँ भुलाना।''' उसपर यहाँ कहते हैं कि यह आपकी ही कृपा से छूट सकता है, मैं माया-मोहित हूँ, कृपया छुड़ाइये; यथा—"दैवी

ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥" (गीता ७।१४)। "बंध मोच्छप्रद सर्ब पर, माया प्रेरक सींव ॥" (आ० दो० १५); "अतिसय प्रबल देव तव माया।···" ऊपर देखिये।

यहाँ पर ब्रह्म-स्वरूप, जीव-स्वरूप, उपाय-स्वरूप, फल-स्वरूप और विरोधि-स्वरूप—इन पाँचों स्वरूपों के ज्ञान भी समझाये गये हैं—

क—ब्रह्म-स्वरूप—'सो निस्तरइ तुम्हारेहि छोहा।'; 'पुनि प्रभु मोहिं···'।

ख—जीव-स्वरूप—"तव माया बस फिरउँ···मोर न्याउ मैं ··" अर्थात् माया के वश होना, फिर प्रभु की कृपा से छूटना जीव की व्यवस्था है।

ग - उपाय-स्वरूप—"सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसे॥" इसमें उपाय शून्य शरणागति ही कही गई है।

घ—फल-स्वरूप—'परेउ गहि चरना'; 'परेउ चरन अकुलाइ।' अर्थात् प्रभु की प्राप्ति ही फल-स्वरूपा है।

ङ—विरोधि-स्वरूप—'माया बस' 'माया मोहा' आदि माया।

इनके जानने को अर्थपञ्चक ज्ञान कहते हैं; यथा—"प्राप्यस्य ब्रह्मणो रूपं प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मनः। प्राप्त्युपायं फलंप्राप्तेस्तथा प्राप्ति-विरोधि च॥ ज्ञातव्यमेतदर्थानां पञ्चकं मंत्रवित्तमैः।" (रहस्यत्रय)।

(३) 'तापर मैं रघुबीर······'—भजन का उपाय (साधन); यथा—"भगति के साधन कहउँ बखानी।' (आ० दो० १५); 'कछु'—थोड़ा भी भजन हो, तब भी माया कुछ नहीं कर सकती; यथा—"तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥" (उ० दो० ११५); 'जानउँ नहिं'—जीव के तरने के दो उपाय हैं, एक भजन और दूसरा आपका छोह, सो एक को तो ये कहते हैं कि मैं जानता ही नहीं, दूसरे के लिये प्रार्थना करते हैं—

(४) 'सेवक सुत पति······'—सेवक कुछ सेवा-रूप पुरुषार्थ करता है, यह उपर्युक्त पहले में है और सुत पुरुषार्थ-हीन है, वह केवल माता के ही भरोसे रहता है, यही उपाय शून्य-शरणागति है। श्रीरामजी ने श्रीनारदजी से भी कहा है; यथा—"जिमि बालकहिं राख महतारी।" (आ० दो० ४२)। अंत में अपनी स्थिति इसीमें कहकर चरणों पर आकुल हो पड़ गये—

(५) 'अस कहि परेउ चरन······'—इसी से श्रीरामजी प्रसन्न होते हैं; यथा—"है तुलसी के एक गुन, अवगुन निधि कहैं लोग। भलो भरोसो रावरो, राम रीझबे जोग॥" (दोहावली ८५); यहाँ तन-मन-वचन से शरणागति हुई—'अस कहि'—में वचन की, 'परेउ चरन···'—में तन की, और 'प्रीति उर छाई'—में मन की शरणागति है।

प्रीति की विह्वलता में कपट-तन छूट जागया, तब श्रीरामजी हृदय से लगावेंगे, क्योंकि श्रीमुख वचन भी है; यथा—"मोहि कपट छल छिद्र न भावा।" (सुं० दो० ४३); बहुत स्तुति करने पर भी बिना कपट छूटे नहीं अपनाया—यह साधकों के लिये शिक्षा है।

'रहइ असोच······'—योग-क्षेम से निश्चिन्त रहता है; यथा—"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये ज नाः

पर्युपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥" (गीता ९।२२); उदाहरण—"लोकहुँ वेद विदित इतिहासा। यह महिमा जानहिं दुरवासा ॥" (अ० दो० २१०)।

श्रीहनुमान्‌जी भक्तों में आदर्श हैं, इनमें भक्ति के सब अंग हैं, पर फिर भगवान् की अपेक्षा में उन्हें कुछ न गिनते हुए वे कार्पण्य-शरणागति की रीति से स्तुति कर रहे हैं, जो भक्ति का परम आवश्यक अंग है।

तब रघुपति उठाइ उर लावा। निज लोचन जल सींचि जुड़ावा ॥६॥
सुनु कपि जिय मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना ॥७॥
समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक-प्रिय अनन्य गति सोऊ ॥८॥

दोहा—सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत ॥३॥

अर्थ—तब श्रीरघुनाथजी ने श्रीहनुमान्‌जी को उठाकर हृदय से लगाया और अपने नेत्रों के जल से सींचकर उन्हें शीतल किया ॥६॥ (और बोले—) हे कपि! सुनो, तुम अपने हृदय में अपनेको ओछा मत मानो, तुम मुझे श्रीलक्ष्मणजी से दूने प्रिय हो ॥७॥ सब कोई मुझे समदर्शी कहते हैं, पर मुझे सेवक प्रिय है, (क्योंकि) वह (सेवक) भी अनन्यगति होता है; अर्थात् उसका एक मैं ही प्रिय हूँ, दूसरा नहीं ॥८॥ हे हनुमान्! वही अनन्य है, जिसकी ऐसी बुद्धि न टले कि स्थावर-जंगमात्मक (सारा जगत्) स्वामी भगवान् का रूप है और मैं सेवक हूँ ॥३॥

विशेष—(१) 'तब रघुपति उठाइ उर लावा।'—'तब'—जब श्रीहनुमान्‌जी निष्कपट-शरीर द्वारा मन, वचन, कर्म से शरण हुए। यद्यपि प्रभु ब्रह्मण्यदेव हैं, तथापि कपटमय होने से विप्र-तन को भी हृदय से नहीं लगाया। अतएव निश्छल भाव पर ही प्रभु कृपा करते हैं—यह निश्चय हुआ। श्रीभरतजी के वचनों में भी यही ध्वनि है; यथा—"कपटी-कुटिल मोहिं प्रभु चीन्हा। ताते नाथ संग नहिं लीन्हा ॥" (उ० दो० १); 'सींचि जुड़ावा'—प्रेमाश्रु से श्रीहनुमान्‌जी का वह ताप दूर हुआ, जो 'मोहि बिसारेउ' इसमें था, जान गये कि मुझपर स्वामी अनुकूल हैं, प्रेमाश्रु उनकी हार्दिक प्रीति के प्रकाशक हैं।

(२) 'सुनु कपि जिय मानसि जनि ऊना।'—श्रीहनुमान्‌जी ने अपनेमें बहुत अवगुणों का होना और प्रभु के द्वारा अपना भुलाया जाना कहा था, वही उनके हृदय में अपने प्रति न्यूनता है।

'तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना।'—दूना कहने का भाव—(क) यह सर्व-साधारण का मुहावरा है, इससे अत्यन्त प्रेम प्रकट किया जाता है; यथा—"तुम्ह प्रिय मोहिं भरत जिमि भाई।" (दो० २०), "भरतहुँ ते मोहिं अधिक पियारे।" (उ० दो० ७); इत्यादि। (ख) श्रीलक्ष्मणजी का शरीर-सम्बन्धी नाता है, वे भाई हैं और श्रीहनुमान्‌जी का स्नेह का नाता है। स्नेह के नाते को श्रीरामजी अधिक मानते हैं; यथा—"नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई।" (वि० १६४); "अनुज राज संपति वैदेही। देह-गेह परिवार सनेही ॥ सब मम प्रिय नहिं तुम्हहि समाना।⋯मोरे अधिक दास पर प्रीती ॥" (उ० दो० १५)। (ग) जब एक बच्चे के पीछे दूसरा बच्चा होता है, तो माँ को यह नव-जात

शिशु बड़े की अपेक्षा अधिक प्यारा होता है, वैसे ही प्रभु भी नये शरणागत का अधिक प्यार करते हैं, इत्यादि ।

इस कथन से उनके हृदय का संकोच दूर किया, जिसे उन्होंने कार्पण्य में कहा था ।

(३) 'समदरसी मोहि कह······'—सब कोई कहते हैं, पर मैं सेवक के लिये उनका स्नेही हो जाता हूँ ; यथा—"समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः । ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥" (गीता ९।२९) ; अर्थात् मैं सब प्राणियों के प्रति समान हूँ, न मेरा कोई शत्रु है और न मित्र, परन्तु जो भक्ति से मेरा भजन करते हैं, वे मेरे चित्त में और मैं उनके चित्त में रहता हूँ । 'अनन्य गति सोऊ'—उनका भी मैं ही प्रिय हूँ, दूसरा नहीं ; यथा—"तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते । प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥" (गीता ७।१७) ; तथा—"साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् । मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥" (भाग० ९।४।६८) ; अर्थात् साधु मेरे हृदय हैं और मैं उनका हृदय हूँ, वे मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते, वैसे मैं भी उनसे भिन्न कुछ नहीं जानता । इसका मर्म ; यथा—"तुलसी प्रभु सुभाव सुरतरु सो ज्यों दर्पन मुख कांति" (वि० २३३) ; "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥" (गीता ४।११)

(४) 'मैं सेवक सचराचर रूप······'—सारा जगत् स्वामी का रूप है ; यथा—"जगत्सर्वं शरीरं ते···" (वाल्मी० ६।११७।२५) ; "खं वायुमग्निं सलिलं महीञ्च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् । सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किंचभूतं प्रणमेदनन्यः ॥" (भाग० ११।२।४१) ; "बिस्वरूप रघुबंस मनि ।" (लं० दो० १४) । मैं सेवक हूँ, यह बुद्धि सदा अचल रहे । बुद्धि टलने की संभावना है, क्योंकि यह मन में आवेगा कि मैं भी भगवान् का शरीर हूँ, तो भगवान् ही हूँ, इसलिये सेवक-भाव में दृढ़ बुद्धि रखना कहते हैं कि जैसे मनुष्य के शरीर ही में चरण, हस्त आदि सेवक-भाव से रहते हैं; यथा—"सेवक कर पद नयन से···" (अ० दो० ३०६) ; वैसे सचराचर रूप प्रभु का मैं सेवक हूँ । यही भाव सदा दृढ़ रहे ; यथा—"सीय राम-मय सब जग जानी । करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥" (बा० दो० ७) ; "निज प्रभु मय देखहिं जगत, केहि सन करहिं बिरोध ।" (उ० दो० ११२) श्रीमुख-वचन है—"अब गृह जाहु सखा सब,. भजेहु मोहि दृढ़ नेम । सदा सर्बगत सर्ब हित, जानि करेहु अति प्रेम ॥" (उ० दो० १६) । 'हनुमंत'—इस संबोधन से जाना गया कि रूप प्रकट होने के साथ ही श्रीहनुमान्जी ने अपना नाम भी कहा था । वाल्मीकीय रामायण में इन्होंने अपना पूरा परिचय दिया ही है, वा, यहाँ ऐश्वर्य-दृष्टि है । अतः, सर्वज्ञता से जानकर प्रभु ने कहा है ।

श्रीहनुमान्जी ने कहा था—"जानउँ नहिं कछु भजन उपाई ।" उसीपर प्रभु ने भजन के उपाय एवं भक्ति के स्वरूप कहे हैं ।

देखि पवनसुत पति - अनुकूला । हृदय हरष बीती सब सूला ॥१॥

अर्थ—स्वामी को अनुकूल देखकर श्रीहनुमान्जी हृदय में हर्षित हुए, उनके सब शूल (दुःख) जाते रहे ॥१॥

विशेष—'देखि'—पहले मन में मान लिया था कि प्रभु ने मुझे भुला दिया, अब प्रत्यक्ष देखते हैं कि प्रभु ने उन से हृदय लगाया है । 'तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना ।' कहकर अपने मन की दशा कही है

और वचन से अनन्य भक्ति की शिक्षा दी है, इस तरह तन-मन-वचन से उन्हें प्रसन्न देखा है। इसीसे श्रीहनुमान्‌जी के सब शूल मिट गये। शूल—मैंने प्रभु को न पहचाना, मायावश हो गया, प्रभु ने मुझे भुला दिया, इत्यादि। वा, जन्म, जरा और मरण—ये त्रिविध शूल भी निवृत्त हो गये; यथा—"तुम्ह कृपालु जा पर अनुकूला। ताहि न ब्याप त्रिबिधि भव सूला॥" (सुं० दो० ४६), "जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिबिध दुख ते निर्बहे।" (उ० दो० १२)। वा, प्रभु अर्थात् परम समर्थ स्वामी को अनुकूल पाकर बालि के द्वारा होनेवाले दुःखों की भी निवृत्ति समझी, जो कि इन्हीं (मन्त्री) लोगों ने बलात् श्रीसुग्रीवजी को राज्य देकर उसे बालि के कोप का भाजन किया था, जिससे श्रीसुग्रीवजी की बड़ी हानि हुई थी।

श्रीहनुमानजी पहले स्वयं कृतार्थ होकर अब श्रीसुग्रीवजी के हित का प्रयत्न करते हैं—

"सुग्रीव-मिताई"—प्रकरण

नाथ सैल पर कपिपति रहई। सो सुग्रीव दास तव अहई ॥२॥
तेहि सन नाथ मयत्री कीजे। दीन जानि तेहि अभय करीजै ॥३॥
सो सीता कर खोज कराइहि। जहँ तहँ मरकट कोटि पठाइहि ॥४॥
येहि बिधि सकल-कथा समुझाई। लिये दुऔ जन पीठि चढ़ाई ॥५॥

अर्थ—हे नाथ! इस पर्वत पर वानरों के स्वामी श्रीसुग्रीवजी रहते हैं, वे श्रीसुग्रीवजी आपके दास हैं ॥२॥ हे नाथ! उनसे मित्रता कीजिये और दीन जानकर उन्हें निर्भय कीजिये ॥३॥ वे श्रीसीताजी की खोज करावेंगे, जहाँ-तहाँ करोड़ों वानरों को भेजेंगे ॥४॥ इस तरह सब कथा समझाकर दोनों जनों (व्यक्तियों) को पीठ पर चढ़ा लिया ॥५॥

विशेष—(१) 'नाथ सैल पर कपिपति रहई।'—यद्यपि इस समय कपिपति बालि है, तथापि श्रीसुग्रीवजी भी पहले कपिपति होकर राज्य कर चुके हैं; यथा—"मोहिं राज दीन्हेउ बरि आई।" (दो० ५); यथा—"प्रभु समरथ कोसलपुर राजा।" (आ० दो० १६), यह श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीरामजी को कहा है। पुनः आगे मित्रता करानी है, मित्रता समान में होती है। अतः, श्रीरामजी नरपति हैं, तो श्रीसुग्रीवजी कपिपति हैं। 'कपिपति' कहने से नाम जानने की इच्छा होगी, इसलिये 'सुग्रीव' कहा। प्रभु को वहाँ ले जाने के लिये उनका सम्बन्ध भी कहा—'दास तव अहई' अर्थात् आपके चलने पर वे कृतार्थ होंगे।

शंका—अभी तो श्रीसुग्रीवजी ने श्रीरामजी को देखा भी नहीं, तो दास कैसे?

समाधान—श्रीसुग्रीवजी ईश्वर के भक्त हैं और श्रीरामजी ईश्वर हैं। वा, माता के वचन से वे श्रीरामजी का स्मरण करते हैं; यथा—"हरि मारग चितवहिं मति धीरा॥" (आ० दो० १८७); इस तरह वे दास हैं। 'सैल पर कपिपति रहई'—इस तरह कहकर श्रीसुग्रीवजी को दुखी सूचित किया कि राजा होकर पहाड़ पर रहते हैं, इसीसे आगे श्रीरामजी ने कहा है; यथा—"कारन कवन बसहु बन, मोहि कहहु सुग्रीव।" (दो० ५); और पूछकर फिर उसकी निवृत्ति का उपाय किया है।

(२) 'तेहि सन नाथ'''—पहले श्रीसुग्रीवजी को 'कपिपति' और 'तव दास' कहा था। कहते हैं—'तेहि सन नाथ मयत्री कीजे।' अर्थात् राजा को राजा से ही मित्रता करनी चाहिये;

"प्रीति विरोध समान सन, करिय नीति असि आहि।" (लं० दो० २१) ; पुनः वह आपका दास है। अतः,—'दीन जानि तेहि अभय करीजै।'—भाव यह कि वे शत्रुभय से दीन हैं और आप दासों के अभय-दाता हैं ; यथा—"सुमिरत सुलभ दास दुख सुनि हरि चलत तुरत पट पीत सँभार न।" (वि० २०६)। अतः, उसकी दीनता छुड़ाइये ; यथा—"कृत भूप विभीषन दीन रहा।" (लं० दो० १०६)।

(३) 'सो सीता कर खोज'''—पहले श्रीसुग्रीवजी को दास कहा था, अब 'दासत्व' कहते हैं ; यथा— 'सो सीता कर खोज कराइहि' श्रीसीताजी की खोज कराना सेवा है ; यथा—"सब प्रकार करिहउँ सेवकाई। जेहि विधि मिलिहि जानकी आई॥" (दो० ४) ; पहले कहा था—'तेहि अभय करीजै' तब कहते हैं—'सो सीता कर खोज कराइहि' भाव यह कि जब आप उसे शत्रु-रहित राजा बनावेंगे, तब वह आपका कार्य करने के योग्य होगा। 'जहँ-तहँ' अर्थात् चारों ओर सर्वत्र। 'कोटि' शब्द अनन्तवाची है।

(४) 'येहि विधि सकल कथा समुझाई।'—श्रीरामजी ने कहा था—"कहहु विप्र निज कथा बुझाई।" उत्तर देकर उपसंहार में कहते हैं—'येहि बिधि सकल'''। 'समुझाई'—क्योंकि श्रीरामजी ने ही बुझाकर कहने को कहा था। पुनः व्यवहार साफ चाहिये। दोनों में मैत्री करानी है इसलिये दोनों के कर्त्तव्य स्पष्ट कह दिये कि आप उन्हें शत्रु रहित कर दें और वे आपकी स्त्री की खोज करावें।

'लिये दुऔ जन पीठि चढ़ाई।'—श्रीरामजी को पैदल चलते देखकर श्रीहनुमान्‌जी को बड़ा दुःख हुआ था; यथा—'कठिन भूमि'''मृदुल मनोहर'''' पर कहा गया था, इसीसे यहाँ दोनों जनों को पीठ पर चढ़ा लिया। वानर-रूप में हैं, पैरों से पहाड़ पर चढ़ेंगे ; यथा—"भिक्षुरूपं परित्यज्य वानरं रूपमास्थितः। पृष्ठमारोप्य तौ वीरौ जगाम कपिकुंजरः॥" (वाल्मी० ४।४।३४)।

पीठ पर चढ़ाया कि देखते ही श्रीसुग्रीवजी जान लेंगे कि सुहृद् हैं। पीठ पर आगे श्रीरामजी और पीछे श्रीलक्ष्मणजी हैं।

जब सुग्रीव राम कहँ देखा। अतिसय जन्म धन्य करि लेखा॥६॥
सादर मिलेउ नाइ पद माथा। भेंटेउ अनुज-सहित रघुनाथा॥७॥
कपि कर मन बिचार येहि रीती। करिहहि बिधि मो सन ये प्रीती॥८॥

अर्थ—जब श्रीसुग्रीवजी ने श्रीरामजी को देखा, तब अपने जन्म को अत्यन्त धन्य माना॥६॥ वे चरणों में सिर नवाकर उनसे आदर-पूर्वक मिले। श्रीरघुनाथजी (भी) भाई-सहित उनसे गले लगकर मिले॥७॥ वानर श्रीसुग्रीवजी इस रीति से मन में विचार करते हैं कि हे विधि! क्या ये मुझसे प्रीति करेंगे? अर्थात् मैं इनकी प्रीति के योग्य नहीं हूँ, क्योंकि मैं दीन वानर और ये समर्थ मनुष्य हैं॥८॥

विशेष—(१) 'जब सुग्रीव राम कहँ देखा।'''—प्रभु के दर्शनों से उनके प्रताप में प्रतीति हुई और ऐश्वर्य समझ इनसे अपने भावी कल्याण का होना मानकर अपने जन्म को अत्यन्त धन्य माना। श्रीरामजी को ही देखा, क्योंकि ये प्रधान हैं, इसलिये आगे हैं और श्रीलक्ष्मणजी पीछे हैं।

(२) 'सादर मिलेउ नाइ पद माथा।'—श्रीहनुमान्‌जी ने कहा था—'सो श्रीसुग्रीवजी दास तव अहई।' तदनुसार श्रीसुग्रीवजी ने चरणों में मस्तक लगाकर (अर्थात् साष्टांग) प्रणाम किया। केवल शिर झुकाना ही

होता तो 'पद' शब्द न रहता ; यथा—"नाथ नाइ पूछत अस भयऊ।" (दो० १), "नाइ सीस करि विनय बहुता।" (सुं० दो० २१)। पुनः श्रीरामजी के लिये उन्होंने कहा था—"तेहि सन नाथ मयत्री कीजे।" तदनुसार प्रभु भाई-सहित श्रीसुग्रीवजी से मित्र-भाव से गले लगकर मिले; यथा—'भेंटेउ अनुज सहित रघुनाथा।' कहा है। 'सादर' का भाव यह कि श्रीसुग्रीवजी के मन से पूर्व की शंकाएँ जाती रहीं, पुनः कुछ फल-फूल आदि लेकर भी मिले।

(३) 'कपि कर मन विचार···'—श्रीरामजी के मन का विचार पहले से था, श्रीशबरीजी ने ही कह रक्खा था, यथा—"तहँ होइहि सुग्रीव मिताई।" (आ० दो० ३५); पुनः श्रीहनुमान्‌जी के कहने से भी ; यथा—"तेहि सन नाथ मयत्री कीजे।" इसपर श्रीसुग्रीवजी के मन में अब विचार हो रहा है, भाव यह कि दोनों ओर से प्रीति की स्फूर्ति हुई, क्योंकि पारस्परिक अभिलाषा से प्रीति दृढ़ होती है।

दोहा—तब हनुमंत उभय दिसि की सब कथा सुनाइ।
पावक साखी देइ करि जोरी प्रीति दृढ़ाइ ॥४॥

कीन्हि प्रीति कछु बीच न राखा। लछिमन रामचरित सब भाखा ॥१॥

अर्थ—तब श्रीहनुमान्‌जी ने दोनों ओर की सब कथाएँ सुनाईं और अग्नि को साक्षी देकर दोनों की प्रीति दृढ़ कराके जोड़ दी ; अर्थात् दृढ़ प्रतिज्ञा-पूर्वक प्रीति हुई ॥४॥ दोनों ने प्रीति की, कुछ अन्तर न रक्खा, तब श्रीलक्ष्मणजी ने सब श्रीरामचरित कह सुनाया ॥१॥

विशेष—(१) 'तब'—अब दोनों की उत्कृष्ट इच्छा देखी। दोनों ओर की कथा सुनाने का प्रयोजन यह कि जिससे दोनों के कर्त्तव्य पहले से निश्चित रहें कि किसे क्या करना होगा। श्रीरामजी की ओर से कहा—"ये श्रीरामजी श्रीअयोध्या के राजा दशरथजी के पुत्र हैं, अजेय और सत्य-संध हैं, पिता की आज्ञा से वन में आये हैं, वन में इनकी स्त्री को रावण ने हर लिया है, उसी को ढूँढ़ते हुए यहाँ आये हैं, आप (सुग्रीव) को इनकी स्त्री का पता लगाना होगा।" (वाल्मी० ४।५।१–७)। श्रीसुग्रीव की ओर से कहा—"सुग्रीव को इनके भाई वालि ने राज्य से हटा दिया है, वालि इनसे शत्रुता रखता है, उसने इनकी स्त्री भी हर ली है, इससे भागे-भागे फिरते हैं। ये सूर्य-पुत्र श्रीसुग्रीवजी श्रीसीताजी की खोज में आपको सहायता करेंगे। आपको इनकी सहायता करनी होगी।" (वाल्मी० ४।११–२८)।

(२) 'पावक साखी देइ करि'—"श्रीहनुमानजी ने लकड़ी रगड़कर अग्नि प्रकट की, वह बीच में रख दी गई, उसकी पुष्प आदि से पूजा की गई। फिर श्रीरामजी और श्रीसुग्रीवजी ने उस जलती हुई अग्नि की प्रदक्षिणा की। इस प्रकार दोनों आपस में मित्र बन गये और दोनों प्रसन्न हुए। एक दूसरे को देखते हुए तृप्त नहीं होते। 'आप मेरे मित्र हैं, हृदय से प्रिय हैं, हम दोनों के दुःख-सुख समान हैं।' ऐसा श्रीसुग्रीवजी ने कहा।" (वाल्मी० ४।५।१४–१७), अग्नि के समक्ष ही दोनों ने एक दूसरे की उक्त सहायता करने की प्रतिज्ञा की; यथा—"त्वत्प्रतिज्ञामवेक्षते।" (वाल्मी० ४।२१।११); अग्नि को साक्षी देकर प्रीति जोड़ने की उस समय रीति थी, यथा—"अहिंसकं सख्यमुपेत्य साग्निकं प्रणम्य तं ब्रह्मसुतं गृहं ययौ।" (वाल्मी० ७।३३।१८); अर्थात् अग्नि की साक्षी देकर दोनों (रावण और राजा अर्जुन) ने अहिंसक मैत्री स्थापित की।

तथा—"त्वया सह चिरं सख्यं सुस्निग्धं पावकाग्रतः ॥" (वाल्मी० ७। ३४।४०); यह रावण ने बालि से कहा है कि मैं अग्नि को साक्षी देकर स्नेह-पूर्ण मैत्री सदा के लिये चाहता हूँ।

अग्नि की साक्षी होने का प्रयोजन यह है कि मित्रता वाक्य-प्रतिज्ञा-द्वारा की जाती है। वाक् के देवता अग्नि हैं और सबके हृदय की गति भी जानते हैं, क्योंकि सबके हृदय में भी बसते हैं; यथा—"तौ कृपालु सब कै गति जाना।" (लं० दो० १०७)। अतः, प्रतिज्ञा के अन्यथा करनेवाले को वे भस्म कर डालने का दंड दें।

(३) 'कीन्हि प्रीति कछु बीच न राखा।'—'बीच रखना'—भेद रखना, छिपाव रखना—यह मुहावरा है। कुछ भेद न रक्खा, क्योंकि भेद रहने से विश्वास नहीं होता और विश्वास विना प्रीति दृढ़ नहीं होती। श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीरामजी के सब चरित कहे। श्रीहनुमान्‌जी ने दोनों ओर की तत्कालीन ही कथा कही थी, जिसमें दोनों की स्त्री-सम्बन्धी ही वार्त्ता थी, इससे वहाँ 'कथा' स्त्रीलिंग के रूप में कही गई और यहाँ 'चरित' इस पुँल्लिंग प्रयोग से जनाते हैं कि श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीरामजी की पुरुषार्थ-सम्बन्धी कथाएँ कहीं—ताटका, सुबाहु, मारीच, विराध, कबंध, खर-दूषण आदि के वध के चरित कहे, जिनसे श्रीरामजी में श्रीसुग्रीवजी का विश्वास हो। अपनी गुप्त बातें कहना और मित्र की पूछना नीति भी है; यथा—"ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति। भुंक्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम् ॥" (भर्तृहरि-शतक)।

कह सुग्रीव नयन भरि बारी। मिलिहि नाथ मिथिलेसकुमारी ॥२॥
मंत्रिन्ह-सहित इहाँ एक बारा। बैठ रहेउँ मैं करत बिचारा ॥३॥
गगन - पंथ देखी मैं जाता। परबस परी बहुत बिलपाता ॥४॥

अर्थ—श्रीसुग्रीवजी ने नेत्रों में जल भरकर कहा—हे नाथ ! श्रीमिथिलेश-कुमारीजी मिलेंगी ॥२॥ यहाँ एक बार मैं मंत्रियों के साथ बैठा हुआ (कुछ) विचार कर रहा था ॥३॥ पराये एवं शत्रु के वश में पड़ी बहुत विलाप करती हुई आकाश मार्ग से जाती (श्रीमिथिलेश-कुमारी को) मैंने देखा है ॥४॥

विशेष—(१) 'कह सुग्रीव···'—'नयन भरि बारी'—मित्र के दुःख में दुखी हुए, स्त्री विरह इनपर भी है, इससे वियोग-दुःख अच्छी तरह जानते हैं। कहा भी है—"जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी ॥" (दो० ९); 'मिलहिं'—यह इससे जाना कि श्रीसीताजी ने हमको देखकर सहिदानी डाल दी है और दैवात् श्रीरामजी भी आ गये, तो कार्य होने की सम्भावना है। श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीरामचरित कहते हुए धनुर्भंग और श्रीमैथिलीजी का ब्याह आदि सब कहा था, इसीसे मिथिलेश कुमारी' ऐसा श्रीसुग्रीवजी ने कहा है। यह नाम-कथन भी साभिप्राय है। भाव यह कि वे, पृथिवी भर मथने पर मिलेंगी, हम उनके लिये पृथिवी-भर मथ डालेंगे और दुष्टों का मान मथकर उन्हें ले आवेंगे।

(२) 'मंत्रिन्ह-सहित इहाँ···'—'इहाँ' इस पद से देश का निश्चय किया कि इसी जगह की बात है। 'एक बारा' इससे काल कहा, किन्तु इसका स्मरण नहीं है कि कौन दिन था। आगे वस्तु भी कहेंगे; यथा—'हमहि देखि दीन्हेंँ पट डारी।' इस तरह देश, काल और वस्तु तीनों से परिचय दिया। 'करत बिचारा'—क्या मुझे आयु-भर दुःख ही भोगना पड़ेगा ? न जाने, भगवान् मेरा दुःख कब छुड़ावेंगे, इत्यादि।

(३) 'परवस परी बहुत बिलपाता ।'; यथा—"लै दच्छिन दिसि गयउ गोसाईं । बिलपति अति कुररी की नाईं ॥" (आ० दो० ३०) । 'पर' इस शब्द का अर्थ यहाँ अन्य और शत्रु का है ।

राम राम हा राम पुकारी । हमहि देखि दीन्हेउ पट डारी ॥५॥
माँगा राम तुरत तेहि दीन्हा । पट उर लाइ सोच अति कीन्हा ॥६॥

अर्थ—राम ! राम !! हा राम !!! ऐसा पुकारती थीं, हमको देखकर उन्होंने अपना वस्त्र गिरा दिया ॥५॥ श्रीरामजी ने उसे तुरत माँगा और श्रीसुग्रीवजी ने तुरत ही (लाकर) दिया, वस्त्र को हृदय से लगाकर श्रीरामजी ने अति शोच किया ॥६॥

विशेष—(१) 'राम राम हा राम···'—इस तरह रोने का प्रयोजन यह कि सुननेवाले जान जायँ कि ये श्रीरामजी की पत्नी हैं और तब वे मुझको खोजते हुए श्रीरामजी को संदेशा कहें। वस्त्र भी गिराया कि यह चिह्न है। सामान्यतया पति का नाम लेना निषिद्ध है; यथा—"आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च । श्रेयस्कामो न गृह्णीयात् ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः ॥" यह स्मृति का वचन है कि 'कल्याण चाहनेवाला इनके नाम न ले, यह उक्ति सामान्य दशा के लिये है, यहाँ तो श्रीसीताजी आपद्दशा में हैं। इससे आत्मरक्षार्थ पति का नाम ले-ले रोती थीं ; यथा—"क्रोशन्ती राम रामेति लक्ष्मणेति च भामिनी ।··· तां तु सीतामहं मन्ये रामस्य परिकीर्तनात् ।" (वाल्मी० ४।५८।१६–१८); ये संपाति के वचन हैं कि राम-राम कहने से हम उन्हें सीता मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि परिचय कराने के लिये उन्होंने नाम लिया है, यही सुग्रीवजी ने भी इसी प्रसंग पर कहा है, यथा—"अनुमानाच्च जानामि मैथिली सा न संशयः । ··· क्रोशंती राम रामेति लक्ष्मणेति च विस्वरम् ।" (वाल्मी० ४।६।९–१०); इसपर आ० दो० २९ 'रटति रहति हरिनाम' यह भी देखिये। कुछ लोग 'राम राम हा राम' यह सुग्रीव का पुकारना अर्थ करते हैं, पर प्रमाणों से उक्तार्थ ही संगत जान पड़ता है।

(२) 'माँगा राम तुरत तेहि दीन्हा ।'—'तुरत' यह दीपदेहली है, श्रीरामजी ने तुरत माँगा और सुग्रीवजी ने तुरत लाकर दिया; यथा—"तमब्रवीत्ततो रामः सुग्रीवं प्रियवादिनम् । आनयस्व सखे <u>शीघ्रं</u> किमर्थं प्रविलम्बसे ॥ एवमुक्तस्तु सुग्रीवः शैलस्य गहनां गुहाम् । प्रविवेश ततः <u>शीघ्रं</u> राघवप्रियकाम्यया ॥ उत्तरीयं गृहीत्वातु स तान्याभरणानि च । इदं पश्येति रामाय दर्शयामास वानरः ॥" (वाल्मी० ४।६।१३–१५); अर्थात् श्रीरामजी ने शीघ्र माँगा और श्रीसुग्रीवजी ने शीघ्र ही लाकर दिखाया। 'पट उर लाइ सोच अति कीन्हा ।'—शोच तो पहले से ही था, किन्तु प्रिया के चिह्न पाने से अति शोच हो गया; यथा—"हा प्रियेति रुदन्धैर्यमुत्सृज्य न्यपतत् क्षितौ ।" (वाल्मी० ४।६।१०); अर्थात् हा प्रिये ! ऐसा कहकर रोते हुए श्रीरामजी पृथिवी पर गिर पड़े, धैर्य छूट गया। तथा—"भूषन बसन बिलोकत सिय के। प्रेम बिबस मन कंप पुलक तनु, नीरज नयन नीर भरे पिय के ॥···" (गी० कि० १) ; यह पूरा पद पढ़ने योग्य है, विस्तारभय से यहाँ नहीं लिखा गया।

कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा । तजहु सोच मन आनहु धीरा ॥७॥
सब प्रकार करिहउँ सेवकाई । जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई ॥८॥

दोहा—सखा-बचन सुनि हरषे, कृपासिंधु बलसींव।
कारन कवन बसहु बन, मोहि कहहु सुग्रीव ॥५॥

अर्थ—श्रीसुग्रीवजी ने कहा कि हे श्रीरघुवीर ! सुनिये, शोच का त्याग कीजिये और मन में धैर्य लाइये ॥७॥ मैं सब प्रकार आपकी सेवा करूँगा, जिससे श्रीजानकीजी आकर आपको मिलें ॥८॥ कृपा के सागर, बल की सीमा (सबसे बली) श्रीरामजी मित्र के वचन सुनकर प्रसन्न हुए (और बोले कि) हे सुग्रीव ! तुम किस कारण वन में बसते हो, हमसे कहो ॥५॥

विशेष—(१) 'सुनहु रघुबीरा।'—बीर कहकर सूचित करते हैं कि आपको अधीर न होना चाहिये; यथा—"बीर अधीर न होहिं।" (अ० दो० १११); शोच करते रहने पर धैर्य नहीं रहता, इसलिये शोच छोड़िये और धैर्य धारण कीजिये। पुनः 'रघुवीर' इस पद से वीरता सूचित करते हैं; यथा—"कालहु डरहिं न रन रघुबंसी।" (बा० दो० १८३); आप तो उस कुल में परम श्रेष्ठ हैं। अतः, आप को अपने पुरुषार्थ का भरोसा करना चाहिये। शोच वीर रस का नाशक है। अतः, इसे त्यागिये और धैर्य वीरता-वर्द्धक है, इसका आश्रयण कीजिये, तब आप शत्रु को जीतेंगे।

इस अर्द्धाली में वाल्मी० ४।७।५-१३ के सब भाव आ गये हैं।

(२) 'सब प्रकार करिहउँ सेवकाई।…'—यद्यपि श्रीरामजी ने इन्हें सखा बनाया है, तथापि श्रीरामजी के गुणों से वश होकर श्रीसुग्रीवजी अपनेको दास ही मानते हैं; इन्होंने ही रावण से कहा है; यथा—"लोकनाथस्य रामस्य सखादासोऽस्मि राक्षस। (वाल्मी० ५।५१।१०) इसीसे सहायता पद न कहकर 'सेवकाई' इस पद का प्रयोग करते हैं। 'सब प्रकार'—अर्थात् श्रीसीताजी का पता लगाना, शत्रु से लड़ना, श्रीजानकीजी को ले आकर आपको सौंपना। 'आई'—आपको जाना भी न पड़ेगा; यथा—"सत्यं तु प्रतिजानामि त्यज शोकमरिंदम। करिष्यामि तथा यत्नं यथा प्राप्स्यसि मैथिलीम्॥ रावणं सगणं हत्वा…" (वाल्मी० ४।७।३-४)। श्रीसुग्रीवजी ने अपना दुःख भूलकर श्रीरामजी की सेवा करने की प्रतिज्ञा की, वैसे श्रीरामजी भी अपना दुःख भूलकर श्रीसुग्रीवजी के दुःख-निवारण के लिये उन्हें पूछते और प्रतिज्ञा करते हैं; यथा—"तिय बिरही सुग्रीव सखा लखि प्रान-प्रिया बिसराई।" (वि० १६४)।

(३) 'सखा बचन सुनि हरषे…'—जो दुःख में सहायता करे, वह सखा है—'सहायं स्यातीति सखा।' श्रीसुग्रीवजी ने वैसा ही कहा है, इससे हर्षित हुए। 'कृपा-सिंधु बल-सींव'—श्रीसुग्रीवजी पर कृपा करेंगे और बल से उनके बलशाली शत्रु को मारेंगे। इसीलिये प्रश्न कर रहे हैं—"कारन कवन बसहु बन…" यह पूछ रहे हैं, यद्यपि श्रीहनुमान्‌जी ने 'उभय दिसि की कथा' में उन्हें कहा है, तथापि श्रीरामजी श्रीसुग्रीवजी से कहलाते हैं कि वह स्वयं बालि का अपराध कहें, तब हम उसे दंड दें—यह नीति है।

नाथ बालि अरु मैं दोउ भाई। प्रीति रही कछु बरनि न जाई ॥१॥
मयसुत मायावी तेहि नाऊँ। आवा सो प्रभु हमरे गाऊँ ॥२॥
अर्द्ध राति पुर-द्वार पुकारा। बाली रिपु-बल सहै न पारा ॥३॥

अर्थ—हे नाथ बालि और मैं दोनों भाई हैं, हम दोनों में ऐसी प्रीति थी कि उसका वर्णन नहीं

किया जा सकता ॥१॥ हे प्रभो ! मय दानव का पुत्र, जिसका नाम मायावी था, वह हमारे ग्राम में आया ॥२॥ और आधी रात के समय नगर के द्वार (फाटक) पर (आकर) उसने पुकारा (ललकारा), वालि शत्रु के बल को न सह सकता था ॥३॥

विशेष—(१) 'प्रीति रही'—अर्थात् पहले थी, अब प्रीति नहीं है। 'मायावी तेहि नाऊँ।'—वह माया से युक्त था और इसीसे उसका नाम भी मायावी था। 'हमरे गाऊँ'—जब वह आया, तब श्रीसुग्रीवजी किष्किंधा में ही रहते थे, इससे वही उनका ग्राम था। 'अर्द्धराति पुर-द्वार''''—रात में राक्षसों का बल बढ़ जाता है ; यथा—"जातुधान प्रदोष बल पाई।" (लं० दो० ४४) ; "पाइ प्रदोष हरष दसकंधर।" (लं० दो० ४६) ; अतः, आधी रात में पूरा बली होकर आया, उसने पुर के द्वार पर से ही पुकारा। भय के मारे भीतर न आ सका। द्वार पर खड़ा रहा कि जो निकलेगा उसे मारूँगा और वालि के निकलने पर युक्ति से लड़ूँगा, उसे प्रबल जानूँगा, तो भाग जाऊँगा। 'पुकारा' यथा—नर्देतिस्म सुसंरब्धो वालिनं चाह्वयद्रणे।" (वाल्मी० ४।९।५) ; अर्थात् क्रोध-पूर्वक वालि को युद्ध के लिये ललकारता हुआ गरजने लगा। रात में इससे भी आया कि वानर दिन के ही शूर हैं, रात में इन्हें सूझ नहीं पड़ता, अतः भागने में मुझे न पावेगा।

वालि और सुग्रीव

"एक समय सुमेरु पर्वत पर तपस्या करते हुए ब्रह्मा के अश्रु-बिंदु से एक बंदर उत्पन्न हुआ। उसका नाम ऋक्षराज था। एक बार वह पानी में अपनी छाया देखकर उसमें कूद पड़ा और गिरते ही एक सुंदर स्त्री बन गया। उस स्त्री से इन्द्र के अंश से वालि और सूर्य के अंश से सुग्रीव उत्पन्न हुए। पीछे उस (ऋक्षराज) ने उस स्त्री-रूप को छोड़ फिर अपना पूर्व रूप धारण कर लिया और ब्रह्मा की आज्ञा से किष्किंधा में आकर राज्य करने लगा।" (हिन्दी-शब्दसागर)।

"वालि महाबली था, वह चारों दिशाओं के समुद्रों पर नित्य संध्या करने के लिये जाता और लौट आता था। एक बार रावण छल से उसे जीतने गया, किन्तु, वालि ने उसे पकड़कर काँख में दबा लिया और शेष समुद्रों की संध्या करके किष्किंधा में लाकर छोड़ा। रावण ने हार मानकर संधि कर ली। गोलभ नाम के गन्धर्व से इसने १५ वर्ष तक युद्ध किया और उसे मार डाला"। —वाल्मी०

भी वानर यहाँ आवेगा, तो मेरे देखते ही वह पत्थर हो जायगा। बालि अनुग्रह कराने के लिये मुनि के पास आया, पर उन्होंने नहीं सुना" (वाल्मी० ४।११); "दुंदुभी के मारे जाने पर उसका छोटा भाई मायावी बालि से बदला लेने की घात में था और बालि से उसका, स्त्री के कारण भी वैर हो गया था" (वाल्मी० ४।६)।

धावा बालि देखि सो भागा। मैं पुनि गयउँ बंधु-सँग लागा ॥४॥
गिरिवर-गुहा पैठ सो जाई। तब बाली मोहि कहा बुझाई ॥५॥
परखेसु मोहि एक पखवारा। नहिं आवउँ तब जानेसु मारा ॥६॥
मास दिवस तहँ रहेउँ खरारी। निसरी रुधिर-धार तहँ भारी ॥७॥

अर्थ—बालि उसे देखकर दौड़ा और वह इसे देखकर भागा, मैं भी भाई (बालि) के संग लगा हुआ चला गया ॥४॥ वह एक बड़े पर्वत की बड़ी गुफा में जा घुसा, तब बालि ने मुझसे समझाकर कहा ॥५॥ कि पन्द्रह दिन तक मेरी राह देखना (इन्तिजारी करना), उतने दिनों में न आया, तो जानना कि बालि मारा गया, (आशय यह कि तब तुम यहाँ से चले जाना) ॥६॥ हे खारि! मैं वहाँ महीना भर रहा, उस (गुफा) से रुधिर की भारी धारा निकली ॥७॥

विशेष—(१) 'धावा बालि देखि···'—बालि बिना कुछ विचारे रात में ही दौड़ पड़ा, क्योंकि "बाली रिपु बल सहै न पारा।" कहा ही गया है। वह मायावी देखते ही भागा, उसका युद्ध का उत्साह न रह गया। 'मैं पुनि'—'पुनि' तत्पश्चात् के अर्थ में है। इसे मैं के पहले के चाहिये ; यथा—"मैं पुनि पुत्रवधू प्रिय पाई।" (अ० दो० ५८); "मैं पुनि करि प्रवान पितु बानी" (अ० दो० ६१); 'गयउँ बंधु सँग लागा'—मैं ही स्नेहवश साथ लग गया ; यथा—"ततोऽहमपि सौहार्दान्निःसृतो वालिना सह ॥" (वाल्मी० ४।९।८); यह श्रीसुग्रीवजी की प्रीति है। पुन आगे बालि ने इन्हें गुफा में नहीं घुसने दिया, स्वयं घुसा, यह उसकी प्रीति है, इस तरह उपर्युक्त 'प्रीति रही कछु बरनि न जाई।'—यह चरितार्थ हुआ।

(२) 'गिरिवर-गुहा पैठ सो···'—हम दोनों को देखकर वह भागा और उसी भय से बिल में भी पैठ गया ; यथा—"स तु मे भ्रातरं दृष्ट्वा मां च दूरादवस्थितम्। असुरो जातसंत्रासः प्रदुद्राव तदा भृशम्॥" (वाल्मी० ४।९।९); गुफा में घुसने का यह भी कारण हो सकता है कि वहाँ उसके और भी साथी थे, यथा—"निहतश्च मया सद्यः स सर्वैः सह बन्धुभिः ॥" (वाल्मी० ४।१०।२२); इससे भी कि वानर अँधेरे में न आ सकेगा, आयगा भी, तो साथियों के साथ मैं इसे वहाँ घेरकर मार दूँगा। 'कहा बुझाई'—बालि ने समझाकर कहा कि तुम यहीं पर रहो, ऐसा न हो कि इसके कुछ साथी बाहर से बिल को घेर लें, या इसे मूँद ही दें, इसलिये तुम यहीं पर सावधान हो कर रहो ; यथा—"इह तिष्ठाद्य सुग्रीव बिलद्वारि समाहितः। यावदत्र प्रविश्याहं निहन्मि समरे रिपुम् ॥" (वाल्मी० ४।९।१२); अर्थात् तुम सावधान होकर यहाँ रहो, जबतक मैं शत्रु को मारता हूँ।

उसको नियत अवधि से दूने दिनों तक वहाँ रहे। 'खरारी'-आप खर (दुष्ट) के शत्रु हैं, मेरी इसमें दुष्टता नहीं है, दुष्टता बालि की है। कोई मास दिवस के अर्थ १२ दिन का करते हैं, पर इसमें तो श्रीसुग्रीवजी ही दोषी होते हैं, और यहाँ वे अपनी सफाई और बालि के दोष दिखा रहे हैं, अतः उपर्युक्त भाव ही संगत है। 'रुधिरधार तहँ भारी'—क्योंकि विशालकाय मायावी अपने साथियों के साथ मारा गया, इससे बहुत रुधिर बहा।

बालि हतेसि मोहि मारिहि आई। सिला देइ तहँ चलेउँ पराई ॥ ८ ॥
मंत्रिन्ह पुर देखा बिनु साईं। दीन्हेउ मोहि राज बरिआईं ॥ ९ ॥
बाली ताहि मारि गृह आवा। देखि मोहि जिय भेद बढ़ावा ॥१०॥
रिपु-सम-मोहि मारेसि अति भारी। हरि लीन्हेसि सर्बस अरु नारी ॥११॥
ताके भय रघुबीर कृपाला। सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला ॥१२॥

अर्थ—उसने बालि को मार डाला, मुझे भी आकर मारेगा, (यह विचार) गुहा के द्वार पर एक शिला लगाकर मैं चला आया ॥८॥ मंत्रियों ने नगर को बिना स्वामी (राजा) का देखा, तो मुझे बरजोरी राज्य दिया ॥९॥ बालि उसे मारकर घर आया, मुझे (राजगद्दी पर बैठा) देखकर हृदय में बहुत बुरा माना ॥१०॥ उसने मुझे शत्रु के समान (जोरों से) मारा और मेरा सर्वस्व (सब पदार्थ) तथा स्त्री—दोनों हर लिये ॥११॥ हे रघुवीर! हे कृपालु! उसके भय से मैं समस्त लोकों में विह्वल होकर फिरता रहा ॥१२॥

विशेष—(१) 'बालि हतेसि'—यह इससे जाना कि उसकी नियत अवधि से दूने दिन बीत गये और रुधिर-प्रवाह के प्रथम असुरों के शब्द सुन पड़े, पर बालि के नहीं; यथा—"नदतामसुराणां च ध्वनिर्मे श्रोत्रमागतः। न रवस्य च संग्रामे क्रोशतोऽपि स्वनो गुरोः॥ अहं त्ववगतो बुद्ध्या चिह्नैस्तैर्भ्रातरं हतम्।" (वाल्मी॰ ४।९।१८-१९); 'मोहि मारिहि आई'—जब उसने बालि को मार डाला, तब मैं उससे कब बच सकता हूँ? 'सिला देइ'''—भारी शिला डाल दी कि इसके उठाने में मायावी दब जायगा, वा उठा ही न सकेगा; यथा—"शिला पर्वतसंकाशा बिलद्वारि मया कृता॥ अशक्नुवन्निष्क्रमितुं महिषो विनशिष्यति।" (वाल्मी॰ ४।१०।७-८)।

(२) 'मोहि देखि जिय भेद बढ़ावा।'—केवल सिंहासन पर बैठ जाने मात्र से जी में भेद न आता, क्योंकि उसने अवधि से दूने काल तक प्रतीक्षा की और इन्हें राज्य भी हठ से ही दिया गया था। पुनः बालि के राजा होने के साथ सुग्रीवजी युवराज पद पा चुके थे; यथा—"पित्र्ये पदे कृतो वाली सुग्रीवो वालिनः पदे।" (वाल्मी॰ १६।१८ इससे बालि के पश्चात् इनका राज्य पाने का अधिकार भी था ही। भेद इससे बढ़ाया कि इसने राज्य के लोभ ही से गुहा-द्वार पर शिला डाल दी कि बालि लौटने से मार्ग न पावे और मैं उसका राज्य और उसकी रानी तारा को भी प्राप्त करूँ; यथा—"ततोऽहमागां किष्किन्धां निराशस्तस्य जीविते॥ राज्यं च सुमहत्प्राप्य तारां च रुमया सह। मित्रैश्च सहितस्तत्र वसामि विगतज्वरः॥" (वाल्मी॰ ४।१०।८-९); 'देखि मोहि'—देखते ही क्रोध में भर गया, लोगों से पूछ-ताछ भी न की।

(३) 'रिपु सम मोहि'''—बालि ने समझा कि यह मेरा मारा जाना चाहता था। अतः, शत्रु है, इस बुद्धि से शत्रु की नाईं मारा। पुनः मेरा राज्य और सर्वस्व चाहता था, इससे सर्वस्व हर लिया और

मेरे जीते-जी मेरी स्त्री तारा को ग्रहण किया; यह समझकर मेरी स्त्री को भी हर लिया, जो कि उसके लिये अग्राह्य थी, इसलिये 'अरु नारी' को सर्वस्व से पृथक् कहा। 'ताके भय रघुबीर कृपाला'—आप वीरता से उसे मारें और कृपाकर मेरा भय निवृत्त करें। 'सकल भुवन'—समस्त पृथिवी के विभागों में; यथा—"तद्भयाच्च मही सर्वां क्रान्तवान्सवनार्णवाम् ॥" (वाल्मी० ४।१०।२७); अर्थात् वन-सागर-सहित पृथिवी-भर चारों दिशाओं की सीमा तक बालि ने पीछा नहीं छोड़ा।

इहाँ सापबस आवत नाहीं। तदपि सभीत रहउँ मन माहीं ॥१३॥

अर्थ—वह यहाँ शापवश नहीं आता, तो भी मैं मन में डरता रहता हूँ ॥१३॥

विशेष—जब कहीं भी बालि ने पीछा नहीं छोड़ा, तब श्रीहनुमान्जी ने मुझे इस ऋष्यमूक पर ठहरने की सलाह दी और मतंग के शाप का भी स्मरण कराया; यथा—"ततो मां बुद्धिसम्पन्नो हनुमान्वाक्यमब्रवीत्।···मतङ्गेन तदा शप्तो ह्यस्मिन्नाश्रममण्डले। प्रविशेद्यदि वै वाली मूर्धास्य शतधा भवेत् ॥" (वाल्मी ४।४६।२१-२२); 'तदपि सभीत···'—स्वयं नहीं आ सकता, पर औरों को भेजा करता है, मेरे मारने के उपाय में लगा रहता है; यथा—"यत्नवांश्च स दुष्टात्मा मद्विनाशाय राघव। बहुशस्तत्प्रयुक्ताश्च वानरा निहता मया ॥" (वाल्मी० ४।८।१७); अर्थात् उसने मेरे मारने के लिये बहुत वानर भेजे, मैंने उन सबों को मार डाला।

श्रीसुग्रीवजी ने तन, धन और मन—इन तीनों के दुःख कहे—'रिपु सम मोहि मारेसि···'—में तन का; 'हरि लीन्हेसि सर्बस···'—में धन का और 'सभीत रहउँ मन माहीं।'—में मन का दुःख है।

"बालि-मान-भंग"—प्रकरण

सुनि सेवक-दुख दीनदयाला। फरकि उठीं दोउ भुजा बिसाला ॥१४॥

दोहा—सुनु सुग्रीव मारिहउँ, बालिहि एकहि बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागत, गये न उबरिहि प्रान ॥६॥

अर्थ—सेवक का दुःख सुनकर दीनों पर दया करनेवाले श्रीरघुनाथजी की दोनों विशाल (आजानु) भुजाएँ फड़क उठीं ॥१४॥ हे श्रीसुग्रीवजी! सुनिये, मैं बालि को एक ही बाण से मारूँगा। ब्रह्मा और रुद्र की शरण जाने पर भी उसके प्राण न बचेंगे ॥६॥

विशेष—(१) 'फरकि उठीं दोउ भुजा···'—आश्रित का दुःख-निवारण करने के लिये दोनों विशाल भुजाएँ फड़क उठीं कि कब उसे मारें। 'दीन दयाला' कहकर साथ ही भुजाओं का फड़कना कहा गया, इससे दीन पर करुणा का पूर्ण उदय हो आया। श्रीहनुमान्जी ने कहा भी था—'दीन जानि तेहि अभय करीजे।' यहाँ श्रीसुग्रीवजी ने अपने मुख से अपना दुःख सुनाते हुए दीनता कही—"तदपि सभीत रहउँ मन माहीं।" इसी पर करुणा का उदय हुआ। करुणा; यथा—"आश्रितार्त्यभिना हेम्नो रक्षितुर्हृदयद्रवः अत्यंतमृदुचित्तत्वमश्रुपातादिकृद्द्रवत्। कथं कुर्यां कदा कुर्यामाश्रितार्त्तिनिवारणम्।

इवीच्छादु.खदु.खित्वमार्त्तानां रक्षणं त्वरा ॥ परदु:खानुसंधानाद्विह्वलीभवनं विभोः। कारुण्यात्मगुणस्त्वेष आर्तानां भीतिवारकः ॥" (श्रीभगवद्गुण दर्पण); अर्थात् आश्रित के दु:ख-रूपी अग्नि से जिसका हृदय बर्फ की तरह पिघल जाय, चित्त अत्यंत कोमल हो जाय, अश्रुपात आदि होने लगें। आश्रित के दुःख का निवारण कैसे करूँ? कब करूँ? इस इच्छा से आश्रित के दु.ख से दुखी होकर आर्तों के रक्षार्थ त्वरा का होना (भुजा आदि का फड़कना); दूसरे के दुःख के अनुसंधान से समर्थ भगवान् का विह्वल हो जाना, करुणा-रूप गुण है, यह आर्तों का भयनिवारक है।

यहाँ करुणा के पूर्ण अंग हैं—श्रीसुग्रीवजी आश्रित हैं, यह 'जोरी प्रीति दृढाय' इस प्रसंग से स्पष्ट है; यथा—"रोचते यदि मे सख्यं बाहुरेष प्रसारितः, गृह्यतां पाणिना पाणिर्मर्यादा बध्यतां ध्रुवा ॥···संप्रहृष्टमना हस्तं पीडयामास पाणिना ॥" (वाल्मी० ४।५।११–१२); अर्थात् श्रीसुग्रीवजी ने अपना हाथ फैलाया और श्रीरामजी ने उनका हाथ पकड़ा। जैसे पाणि-ग्रहण से भार्या का रक्षण-भार भर्ता पर हो जाता है, वैसे ही अब श्रीसुग्रीवजी के रक्षक श्रीरामजी हुए। उनकी रक्षा के लिये अत्यन्त त्वरा से श्रीरामजी की दोनों भुजाएँ भी फड़क उठीं; क्योंकि दोनों के द्वारा धनुष-बाण से बालि को मारना है। श्रीसुग्रीवजी ने अपना भय भी कहा, इसपर श्रीरामजी विह्वल हो गये, बाँहें फड़कने लगीं, बस, आपने सहसा प्रतिज्ञा ही कर ली कि मैं उसे एक ही बाण में मारूँगा। विह्वलता में भविष्य को न सोचा कि इसमें मुझे गाली सुननी होगी; यथा—"मारेहु मोहि ब्याध की नाईं।" (दो० ८); इसका उत्तर आपसे न बन पड़ा, तभी तो कहा गया है; यथा—"सहि न सके दारुन दु.ख जन के हत्यो बालि सहि गारी ॥" (वि० १६६)।

यदि विह्वलता न होती, तो करुणा गुण की पूर्णता ही न होती, परमात्मा में सब गुण पूर्ण होते हैं। अवतार लेकर आप अपने इन कृपा, सुशीलता, सौहार्द, करुणा आदि गुणों को प्रकाशित करते हैं। इस में कष्ट भी सहने पड़ते हैं; यथा—"राम. भगत हित नर तन धारी। सहि संकट किय साधु सुखारी ॥" (बा० दो० २४), वैसे ही इस गुण के प्रकट करने में गाली भी सहनी पड़ी। यह बालि-वध-औचित्य पर उत्तम समाधान है।

बालि को समझाते हुए भी आपने उसका यही दोष कहा है; यथा—"मम भुज बल आश्रित तेहि जानी। मारा चहेसि अधम अभिमानी ॥" (कि० दो० ८); बस, फिर बालि ने इसे स्वीकार कर लिया; यथा—"सुनहु राम··"

(२) 'सुनु सुग्रीव मारिहउँ ;··'— उक्त करुणा गुण से अति शीघ्र आश्रित के दु:ख निवारण करने के लिये एक ही बाण से वध की प्रतिज्ञा करते हैं, एक ही बाण से मारेंगे, भाव यह कि किंचित् भी विलंब न करेंगे। वा, श्रीसुग्रीवजी को अपना बल दिखाकर उनका विश्वास दृढ़ कराने के लिये भी एक ही बाण से वध की प्रतिज्ञा की। 'ब्रह्म रुद्र सरनागत···'; यथा—"जौ खल भयेसि राम कर द्रोही। ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोही ॥" (सु० दो० २१); उदाहरण—"ब्रह्म धाम सिव-पुर सब लोका। फिरा श्रमित ब्याकुल भय सोका ॥ काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकै राम कर द्रोही ॥" (आ० दो० १)। यदि कहा जाय कि वह तो श्रीरामजी का द्रोही नहीं है, उसपर आगे मित्र-धर्म कहते हैं जिससे मित्र द्रोही को आपना द्रोही सिद्ध करेंगे।

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी ॥१॥

निज दुख गिरि-सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु-समाना ॥२॥

जिन्हके असि मति सहज न आई । ते सठ कत हठि करत मिताई ॥३॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा । गुन प्रगटइ अवगुनन्हि दुरावा ॥४॥

अर्थ—जो मित्र के दुःख से दुखी नहीं होते, उन्हें देखने से भारी पाप लगता है ॥१॥ पर्वत के समान भारी अपने दुःखों को धूल के समान (अल्प) जाने और मित्र का दुःख धूल के समान (थोड़ा) भी हो, तो उसे सुमेरु पर्वत के समान जाने ॥२॥ जिनके (हृदय में) स्वाभाविक ही ऐसी बुद्धि नहीं है, वे मूर्ख क्यों हठ करके मित्रता करते हैं ? ॥३॥ (मित्र को) कुमार्ग से हटाकर सुमार्ग पर चलावे, उसके गुण प्रकट करे और अवगुणों को दूर करे ॥४॥

विशेष—(१) 'बिलोकत पातक भारी ।'—क्योंकि पापी के संसर्ग से भी पाप लगता है; यथा—"ब्रह्महा स्वर्णहा वापि सुरापी गुरुतल्पग । चत्वारो नरकं यान्ति तत्संसर्गी च पञ्चम ॥" (मनु० ?), देखने मात्र से भारी पाप लगता है, अर्थात् वे महापापी हैं। 'निज दुख गिरि सम ···'—भाव यह कि जब तक अपने दुःखों को अल्प न मानेगा, तब तक मित्र के दुःख भारी न जान पड़ेंगे। इसके आदर्श श्रीरामजी ही हैं—राज्य छूटा, वनवास हुआ, राक्षस द्वारा श्रीजानकीजी का हरण हुआ—इस तरह पर्वत के समान दुःखों को तृण के समान मानकर भुला दिया और श्रीसुग्रीवजी के दुःख को भारी मानकर शीघ्र ही दूर किया ; यथा—"तिय बिरही सुग्रीव सखा लखि प्रान प्रिया बिसराई ।" (वि० १६७)।

(२) 'सहज न आई'—जो बुद्धि स्वभावतः रहती है, वह सदा एकरस रहती है, वही 'सहज' है और जो देखा-देखी एवं सिखाने से आती है, वह चिरस्थायिनी नहीं होती। 'हठि'—शास्त्र मना करते हैं कि ऐसे लोग मित्रता न करें, तब भी मित्रता करके दोष के भागी बनते हैं, इसी से शठ हैं।

मित्रता के दोष कहकर आगे मित्र के धर्म (गुण) कहते हैं—

(३) 'कुपथ निवारि···'—पहले कुपथ का निवारण होता है, तब सुपथ की बुद्धि होती है। वैसे ही कहा गया है। 'गुन प्रगटइ···'—शिक्षा-द्वारा उनमें गुणों का विकाश करावे और अवगुण हों तो उन्हें दूर करने की शिक्षा दे एवं आग्रह करे, परलोक-हानि का भय दिखावे, इत्यादि परलोक सुधारना कहा। आगे उनसे बर्त्ताव की रीति कहते हैं।

देत-लेत मन संक न धरई । बल अनुमान सदा हित करई ॥ ५ ॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा । श्रुति कह संत मित्र-गुन एहा ॥ ६ ॥
आगे कह मृदु बचन बनाई । पाछे अनहित मन कुटिलाई ॥ ७ ॥
जाकर चित अहि-गति-सम भाई । अस कुमित्र परिहरेहि भलाई ॥ ८ ॥

अर्थ—देने-लेने के विषय की शंका मन में न रक्खे, बल के अन्दाज-भर (पुरुषार्थ-भर) सदा हित किया करे ॥५॥ विपत्ति के समय (सामान्य दशा से) सौगुना स्नेह करे—वेद और संत कहते हैं कि संत-मित्र (अच्छे मित्र) के (वा, संत और मित्र के) लक्षण ये ही हैं ॥६॥ सामने (मुख पर) तो कोमल वचन बनाकर कहे, पीछे बुराई (हानि) करे और मन में कुटिलता रक्खे ॥७॥ हे भाई ! जिसका चित्त साँप की चाल के समान (टेढ़ा) है, ऐसे कुमित्र के त्यागने में ही भलाई है ॥८॥

विशेष—(१) 'देत लेत मन ···'—अर्थात् अपना और मित्र का धन एक ही माने; यथा—"तोर कोस गृह मोर सब, सत्य बचन सुनु भ्रात।" (लं० दो० ११६); 'देत' शब्द प्रथम देकर सूचित करते हैं कि देने का विचार पहले रक्खे। 'बल, अनुमान'—बल से कम करने में कपट होगा और अधिक किसी आवेश से कर भी डालेगा तो पीछे पश्चात्ताप होगा और उसे दूषित मानने लग जायगा।

(२) 'बिपति काल कर·· ' कहा भी है; यथा—"धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपदकाल परखि-यहि चारी॥" (अा० दो० ४); तथा—"पापान्निवारयति योजयते हिताय गुह्यं निगूहति गुणान्प्रकटी करोति। आपद्गतं च न जहाति ददाति काले सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः॥" (भर्तृहरिशतक)।

(३) 'बनाई'—ऐसा बनाकर झूठ कहते हैं कि सत्य की प्रतीति हो। इनके मन, वचन और कर्म तीनों में कपट रहता है—'मन कुटिलाई'—में मन, 'आगे कह मृदु बचन बनाई।'—में वचन और 'पाछे अनहित'—में कर्म है। 'पाछे अनहित' में करना आदि क्रिया-सूचक शब्द गुप्त हैं, क्योंकि कुमित्र छिपाकर ही अहित करते भी हैं। 'परिहरेहि भलाई'—पहले उन्हें मित्रता करने से मना किया; यथा—'ते सठ कत हठि करत मिताई।' जो वे न मानें, उसपर कहते हैं कि उन्हें त्यागने ही से भलाई है, अन्यथा वे दुःख देंगे; यथा—"कपटी मित्र सूल सम चारी।" आगे कहते ही हैं। 'चित अहि गति सम'—इनके मन, मति और चित्त तीनों की मलिनता कही गई—'मन कुटिलाई' 'असि मति सहज न भाई।' 'जाकर चित अहि गति सम भाई।' सर्प सदा टेढ़ा ही चलता है, वैसे इनके चित्त में सदा कुटिलता ही रहती है।

सेवक सठ नृप कृपिन कुनारी। कपटी मित्र सूल-सम चारी॥ ९॥
सखा सोच त्यागहु बल मोरे। सब बिधि घटब काज मैं तोरे॥१०॥

अर्थ—मूर्ख सेवक, कृपण (कंजूस) राजा, कुत्सित (कर्कशा) स्त्री और कपटी मित्र ये चारों शूल के समान (दुःख देनेवाले) हैं॥९॥ हे सखा! मेरे बल (भरोसे) पर तुम शोच छोड़ो, मैं तुम्हारे काम सब प्रकार से करूँगा॥१०॥

श्रीसुग्रीवजी—	श्रीरामजी—
३. सब प्रकार करिहउँ सेवकाई।	सब विधि घटब काज मैं तोरे।
४. जेहि विधि मिलिहि जानकी आई।	सुनु सुग्रीव मारिहउँ, बालिहि एकहि बान।

कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा। बालि महाबल अति रनधीरा ॥११॥
दुंदुभि अस्थि ताल देखराये। बिनु प्रयास रघुनाथ ढहाये ॥१२॥
देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती। बालि बधब इन्ह भइ परतीती ॥१३॥

अर्थ—श्रीसुग्रीवजी ने कहा—हे श्रीरघुवीर! सुनिये, बालि महाबली और अत्यन्त रणधीर है ॥११॥ दुंदुभी की हड्डियाँ और ताड़ के वृक्ष दिखाये, श्रीरघुनाथजी ने उन्हें बिना परिश्रम ही गिरा दिया ॥१२॥ श्रीरामजी का अपरमित (निस्सीम) बल देखकर श्रीसुग्रीवजी की प्रीति बढ़ी, ये बालि को मारेंगे—ऐसा विश्वास हुआ ॥१३॥

विशेष—(१) 'बालि महाबल अति रनधीरा'—श्रीरामजी ने कहा था—"सखा सोच त्यागहु बल मोरे।" उसपर श्रीसुग्रीवजी कहते हैं कि आपके बल है और बालि के 'महाबल' है; आप वीर हैं और वह 'अति रनधीर' है, तब आप उसे कैसे मारेंगे? फिर श्रीसुग्रीवजी बालि के उक्त सामर्थ्य को प्रमाणित करने के लिये 'दुंदुभि अस्थि' को और 'सप्त ताल' इन वृक्षों को दिखाया कि देखिये! यह हड्डी का ढेर उस दुंदुभी का है, जिसे मारकर और फिर उठाकर इतनी दूरी पर बालि ने फेंक दिया है, जिसका सूखा पंजर भी उठाना औरों को कठिन है, फिर सातों ताल के वृक्षों को दिखाया कि जिन्हें बालि एक साथ ही हिलाया करता था।

"इसपर श्रीलक्ष्मणजी ने पूछा कि आपको कैसे विश्वास हो सकता है? कि श्रीरामजी उसे मार सकेंगे। तब श्रीसुग्रीवजी ने कहा कि यदि श्रीरामजी इन हड्डियों को एक पैर से दो सौ धनुष की दूरी पर फेंक दें और एक ही बाण से सातों ताल-वृक्षों में से एक को भी काट डालें, तो मैं समझूँगा कि श्रीरामजी उसे मार सकेंगे। तब श्रीरामजी ने पैर के अँगूठे से ही सम्पूर्ण हड्डियों को उठाकर उन्हें दश योजन की दूरी पर फेंक दिया। फिर श्रीसुग्रीवजी ने संशय किया कि बालि ने जब इसे फेंका, तब यह पंजर मांस-रक्त से भरा होने से बहुत भारी था, फिर वह युद्ध में थका हुआ भी था, अतः, केवल हड्डियों के फेंकने से विश्वास नहीं हो सका, अतएव कृपया वृक्ष काटने का कर्म भी करें।

तब श्रीरामजी ने धनुष चढ़ाकर एक बाण चलाया, वह सातों तालवृक्षों को फोड़ (काट) कर पर्वत और पृथिवी को फोड़ता हुआ पाताल को चला गया। एक ही मुहूर्त्त में वह बाण फिर लौटकर श्री-रामजी के तरकश में आ गया। तब पूर्ण विश्वासी होकर श्रीसुग्रीवजी परम हर्षित हुए।" (वाल्मी० ४।११-१२); यहाँ 'बिनुप्रयास' कहा गया, वही बाल्मीकिजी ने 'पादांगुष्ठेन <u>लीलया</u>' कहा है। दुंदुभी की कथा ऊपर दो० ५ की चौ० १-२ में दी गई है।

सप्तताल-वृक्षों के विषय में कहीं की कथा है कि एक समय बालि एक फल लाकर उसे सर के तट पर रख स्नान करने लगा; इतने में एक सर्प आकर उसपर गुंडरी लगा बैठ गया। बालि ने आकर देखा, तो उस सर्प को शाप दे दिया कि तूने हमारे भक्ष्य को मलिन कर दिया, अतः, तेरे शरीर से फूटकर यह वृक्ष हो जायगा। गुंडरी लगाये हुए सर्प के ऊपर इन वृक्षों की स्थिति होने से एक साथ इनका एक बाण से वेधना अत्यन्त कठिन था। पुनः हनुमन्नाटक अ० ५ में कहा गया है कि इनकी

जड़ शेषजी की पीठ तक थी और एक साथ ही यदि सातों न बेधे जायँ, तो ये मारनेवाले ही को मार डालते थे।

ऊपर जो कहा गया कि श्रीरामजी का बाण पाताल तक गया और लौटकर तरकश में आया, इस वाल्मीकिजी के वचन से भी शेषजी तक जड़ का होना सिद्ध है।

(२) 'देखि अमित बल···'— पहले जब श्रीलक्ष्मणजी ने सब रामचरित कहा था, तब इन्होंने सुना था कि धनुर्भंग एवं खरदूषणादि बहुत राक्षसों का बध श्रीरामजी ने किया है। स्वयं श्रीरामजी ने भी कहा था कि मैं वालि को एक ही बाण से मार दूँगा। पर सुनकर श्रीसुग्रीवजी को वालि-वध की प्रतीति न हुई थी। क्योंकि उसने कहा था ; यथा—"बालि महाबल अति रनधीरा।" यहाँ जब उसने आँख से देखा कि इनमें तो अमित बल है, जो कि 'बालि महाबल···' की अपेक्षा कहीं अधिक है। "तब तो सुग्रीवजी श्रीरामजी को हाथ जोड़ प्रणाम कर कहने लगे कि आप तो देवताओं के सहित इन्द्र को भी रण में मार सकते हैं, फिर वालि की कौन बात ?" (वाल्मी॰ ४।१२।८) ; मैं आप-सा मित्र पाकर परम भाग्यशाली हुआ, वही यहाँ 'भइ परतीती' का भाव है। 'बाढ़ी प्रीती'—प्रीति तो पहले से हो थी; यथा—"कीन्ह प्रीति कछु बीच न राखा।" अब पूर्ण प्रतीति होने पर वह प्रीति बढ़ चली।

बार-बार नावइ पद सीसा। प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा ॥१४॥
उपजा ज्ञान बचन तब बोला। नाथ कृपा मन भयउ अलोला ॥१५॥
सुख-संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई ॥१६॥
ये सब राम-भगति के बाधक। कहहिं संत तब पद-अवराधक ॥१७॥

अर्थ—बार-बार चरणों में सिर नवाते हैं, प्रभु को पहचानकर कपीश श्रीसुग्रीवजी मन में हर्षित हुए ।।१४।। अब ज्ञान उत्पन्न हुआ, तब ये वचन बोले—हे नाथ ! आपकी कृपा से अब मेरा मन अचल हुआ ।।१५।। सुख, संपति, परिवार और बड़ाई, इन सबको छोड़कर मैं आपकी सेवा करूँगा ।।१६।। हे श्रीरामजी ! आपके चरणों की आराधना करनेवाले संत कहते हैं कि ये सब राम-भक्ति के बाधक हैं।।१७।।

विशेष—(१) 'बार-बार नावइ पद सीसा।'—ऊपर 'बाढ़ी प्रीती' कहा गया, उसी से बार-बार प्रणाम करते हैं ; यथा—"प्रेम बिबस पुनि-पुनि पद लागीं।" (बा॰ दो॰ ३३५) ; ऐश्वर्य ज्ञान से भी बार-बार प्रणाम करते हैं ; यथा—"नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥" (गीता ११।३९)। यह भगवान् का ऐश्वर्य जानने पर अर्जुन ने कहा है।

श्रीसुग्रीवजी की क्रमशः कर्म, मन और वचन की प्रीति प्रकट हुई —'बार-बार नावइ पद सीसा।'— में कर्म की, 'प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा।'—में मन की और 'उपजा ज्ञान बचन तब बोला।'—में वचन की प्रीति है। प्रभु को जानने से क्रमशः प्रतीति, प्रीति और भक्ति होती है, यथा —"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती ॥ प्रीती बिना नहिं भगति दृढ़ाई।" (उ॰ दो॰ ८८)। वैसी प्रतीति यहाँ हुई; यथा—"बालि बधब इन्ह भइ परतीती।" फिर प्रीति हुई ; यथा—"देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती।" पुनः आगे भक्ति भी हुई ; यथा—"सब परिहरि करिहउँ सेवकाई।" सेवा करना भक्ति है।

(२) 'उपजा ज्ञान बचन···'—पहले वचन अज्ञान के थे कि वालि शत्रु है, इत्यादि। प्रभु को

जानना ही ज्ञान है, इसी से 'प्रभुहि जानि' कहकर तब 'उपजा ज्ञान' कहा है। जब प्रभु का ज्ञान होता है, तब प्रभु ही सर्व जगत् के शरीरी जाने जाते हैं। तब जगत् के द्वारा होनेवाले व्यवहार जड़-चेतन-रूप के द्वारा प्रभु ही का करना निश्चय होता है, वह भी अपने कर्मानुसार होता है। ऐसा जानने से किसी से भी शत्रु-मित्र का भाव नहीं रह जाता। पुनः सब रूपों से सुख देनेवाले प्रभु में प्रीति बढ़ती है। यही दशा श्रीसुग्रीवजी की हुई है। 'नाथ कृपा मन भयउ अलोला।'—प्रभु ने कृपा करके दर्शन दिये, पुनः अपना प्रभुत्व भी स्वयं जनाया। तब ऐश्वर्य-ज्ञान से उक्त रीति से समता आ गई और मन स्थिर हुआ। अतः, इस कार्य को ज्ञान-द्वारा न कहकर प्रभु-द्वारा ही होना कहते हैं। आगे भी इन्होंने हो कहा है; यथा—"यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ-कोई॥" (दो० २०)।

(३) 'सुख संपति परिवार बड़ाई।···' ये सब राम···'—श्रीसुग्रीवजी को प्रतीति हो गई कि अपनी प्रतिज्ञानुसार प्रभु बालि को मारकर मुझे सुख आदि देंगे, इसी से इन सुख आदि को त्यागकर भजन करने को कहते हैं कि ये सब श्रीराम-भक्ति के बाधक हैं। सांसारिक सुखों को पाकर लोग आलसी हो जाते हैं। पुनः विलासिता से ही इन्द्रियाँ खाली नहीं होतीं, भजन कैसे हो? संपत्ति होने से उसकी सँभाल में चित्त रहता और तत्सम्बंधी राग द्वेष से भी चित्त मलिन रहता है। परिवारवाले को भी भजन का अवकाश नहीं रहता, कभी कोई रोगी हुआ, कोई मरा और कोई पैदा हुआ, इत्यादि व्यवहारों से ही उसे छुट्टी नहीं रहती। बड़ाई प्राप्त होने पर अभिमान होता ही है और फिर श्रीठाकुरजी के मंदिरों और संतों को शिर झुकाने में लाज लगती है। भगवान् की सेवा-झाड़ू आदि में भी लज्जा लगती है, इत्यादि। इसीसे इन्हें छोड़कर भजन करने को कहते हैं। 'कहहिं संत···'—संत लोग भजन करते हैं, तो ये सब उन्हें बाधक जान पड़ते हैं, इसीसे वे ही ऐसा कहते हैं। और लोग तो इन चारों को पाकर अपने को कृतार्थ मानते हैं।

सुख-संपत्ति वित्तैषणा है, परिवार पुत्रैषणा और बड़ाई लोकैषणा है—ये तीनों एषणाएँ बुद्धि को मलिन करनेवाली हैं; यथा—"सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी॥" (उ० दो० ७०)। इसी से आत्मज्ञानी लोग भिक्षा से निर्वाह करके भजन करते हैं और तीनों एषणाओं का त्याग करते हैं; यथा—"एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति॥" (बृहदा० ३।५।१)।

इन सुख आदि को पाकर आगे श्रीसुग्रीवजी स्वयं भी प्रभु को भूल जायँगे; यथा—"सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी। पावा राज कोष पुर नारी॥" (दो० १७)।

सत्रु-मित्र सुख-दुख जग माहीं। माया-कृत परमारथ नाहीं॥१८॥
बालि परम हित जासु प्रसादा। मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा॥१९॥
सपने जेहि सन होइ लराई। जागे समुझत मन सकुचाई॥२०॥
अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजन करउँ दिन-राती॥२१॥

अर्थ—संसार में जितने शत्रु-मित्र और दुःख-सुख (आदि द्वन्द्व) हैं, वे सब माया के किये हुए हैं, परमार्थ (ज्ञान-दृष्टि) में वे कुछ नहीं हैं॥१८॥ हे श्रीरामजी! बालि तो मेरा परम हितैषी है कि जिसकी कृपा से दुःख के नाश करनेवाले आप मुझे मिले (अर्थात् उसके कोप ने मुझे प्रसाद का फल दिया, वह मुझे दीन बनाकर न निकालता, तो मैं यहाँ दीन होकर क्यों रहता और क्यों आपके दर्शन होते?)॥१९॥

और जिस से स्वप्न में भी लड़ाई हो तो जागने पर उसे समझकर संकोच हो (कि मैं ऐसे परमहित से स्वप्न में भी नाहक लड़ा) ॥२०॥ हे प्रभो ! अब आप इस तरह की कृपा करें कि सब छोड़कर मैं दिन-रात (आपका) भजन करूँ ॥२१॥

विशेष—(१) 'शत्रु-मित्र दुख-सुख···'—शत्रु-मित्र आदि भाव मायाकृत हैं, इसे ही लक्ष्मणगीता अ० दो० ६१ चौ० ८ में 'मोह-मूल' कहा है, वहाँ भी देखिये। अज्ञान से जगत् में नानात्व-दृष्टि होती है, उसी से मन शत्रु-मित्र आदि की कल्पना कर लेता है, इसी दृष्टि को द्वैत भी कहते हैं; यथा—"जौ निज मन परिहरइ बिकारा। तौ कत द्वैत जनित संसृत दुख संसय सोक अपारा ॥ सत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हें बरिआई। त्यागब गहब उपेच्छनीय अहि हाटक तृन की नाईं ॥" (वि० १२४)। इसी दृष्टि से 'मैं, मोर, तैं, तोर' यह मायिक वृत्ति है।

(२) 'बालि परम हित···'—सांसारिक उपकार करनेवाला हितैषी है और पारमार्थिक हित-कर्त्ता परम हितैषी।

(३) 'सपने जेहि सन···'—ऐसे हितैषी से यदि स्वप्न में भी मुझसे लड़ाई हो तो जागने पर मुझे संकोच हो—मैं ऐसा चाहता हूँ; अर्थात् अब मैं उससे लड़ना नहीं चाहता। 'समन बिषादा'—संसृति-दुःख हरनेवाले।

(४) 'अब प्रभु कृपा करहु येहि भाँती।'—यह चरण दीपदेहली है, ऊपर की अर्द्धाली के भी साथ है कि बालि से स्वप्न में भी लड़ाई हो, तो जागने पर मन में संकोच हो। अब इस तरह की कृपा करिये—यह पूर्व से सम्बन्ध है और सब छोड़कर भजन करूँ, अब इस प्रकार कृपा कीजिये—यह पर से सम्बन्ध है।

प्रभु ने जो कहा था—"सखा सोच त्यागहु···मैं मारिहउँ बालिहि···" वह कृपा अब मैं नहीं चाहता। इनके मत में कृपा से ही सब कुछ होता है। ऊपर भी लिखा गया। तथा—"अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु सदा सिव मन भावनी ॥" (सुं० दो० ४८); अर्थात् विभीषणजी का भी यही मत है। भजन के सम्बन्ध में तीन बार कहा—"सब परिहरि करिहउँ सेवकाई ··"; "ये सब राम-भगति···"; "सब तजि भजन करउँ···" तीनों बार 'सब' शब्द का प्रयोग किया है। तात्पर्य यह कि एक भी विकार रहने से भजन नहीं होता। यहाँ माया का आवरण हटने पर ज्ञान होने से वैराग्य एवं उसके फल रूप में भक्ति माँगी गई है। अतः, ज्ञान-विराग का फल भक्ति है; यथा—"ज्ञान बिराग नयन उरगारी ॥ भाव सहित खोजै जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी ॥" (उ० दो० ११९)।

सुनि बिराग-संजुत कपि-बानी। बोले बिहँसि राम धनु-पानी ॥२२॥
जो कछु कहेहु सत्य सब सोई। सखा बचन मम मृषा न होई ॥२३॥
नट-मर्कट-इव सबहि नचावत। राम खगेस बेद अस गावत ॥२४॥
लै सुग्रीव संग रघुनाथा। चले चाप-सायक गहि हाथा ॥२५॥

अर्थ—कपि की वैराग्य संयुक्त वाणी सुन धनुर्धर श्रीरामजी हँसकर बोले ॥२२॥ जो कुछ तुमने कहा वही सब सत्य है, पर हे सखा ! मेरा वचन झूठ न होगा; अर्थात् बालि मारा जायगा और

तुम्हें राज्य और स्त्री मिलेगी ॥२३॥ हे गरुड़ ! वेद ऐसा कहते हैं कि श्रीरामजी नट-मर्कट की तरह (जैसे मदारी बंदर को नचाता है वैसे ही) सभी को नचाते हैं ॥२४॥ श्रीसुग्रीवजी को साथ लेकर और हाथों में धनुष-बाण लेकर श्रीरघुनाथजी चले ॥२५॥

विशेष—(१) 'सुनि बिराग संजुत कपि बानी ।···'—यहाँ निर्वेद (वैराग्य) है, यथा—"जेहि तेहि बिधि संसार सुख, देखत उपजै खेद। उदासीनता जगत ते, सो कहिये निर्वेद ॥" इसीसे विराग संयुक्त वाणी कही गई है। 'कपि बानी'—कपि का चपल स्वभाव प्रसिद्ध है, वैसे इनकी यह वृत्ति स्थिर न रहेगी। अभी इन्हें ज्ञान, वैराग्य और भक्ति तीनों प्राप्त हैं, यथा—"उपजा ज्ञान", "सब परिहरि"; "भजन करौं दिन राती।" पीछे तीनों न रहेंगे, यथा—"बिषय मोर हरि लीन्हेउँ ज्ञाना।" (दो० १८)—यह ज्ञान न रहा। "पावा राज कोष पुर नारी।" (दो० १७)—यह वैराग्य न रहा। "सुग्रीवहु सुधि मोरि बिसारी।" (दो० १७)—यह भक्ति न रही।

'बोले बिहँसि राम धनु पानी।'—यहाँ बिहँसने के साथ श्रीरामजी को 'धनुपानी' कहा है। भाव यह है कि श्रीसुग्रीवजी का प्रथम से जो दुःख था उसे श्रीहनुमान्‌जी ने कहा, श्रीसुग्रीवजी ने स्वयं भी कहा। तब उनकी रुचि पूर्त्ति के लिये प्रभु ने प्रतिज्ञा की। अब ज्ञान होने पर वे उससे हटना चाहते हैं, पर श्रीरामजी के दर्शन जिस वासना से किये जायँ, उस वासना की सिद्धि अवश्य होनी चाहिये; यथा-"जदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मोर दरस अमोघ जग माहीं ॥" (सुं० दो० ४९); अर्थात् श्रीविभीषणजी ने भी कहा—"उर कछु प्रथम वासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही ॥" (सु० दो० ४८); इसपर श्रीरामजी ने अपने दर्शनों की सफलता के लिये उक्त वासना का भोग उन्हें दिया ही। ऐसे ही ध्रुव भी प्रथम राज्य-वासना सहित घर से चले, तो पीछे ज्ञान होने पर उन्हें ३६००० वर्ष राज्य-भोग कर लेने पर ही नित्य लोक की प्राप्ति हुई।

ऐसे ही श्रीसुग्रीवजी की वासना-पूर्त्ति के लिये आपने धनुष-बाण से बालि को मारने की प्रतिज्ञा की है, वह पूरी करेंगे। इसलिये बिहँसकर माया द्वारा उसे अपने अनुकूल किया। जैसे श्रीकौशल्याजी और श्रीविश्वामित्रजी पर हँसकर माया डाली है; यथा—"उपजा जब ज्ञाना प्रभु मुसकाना। चरित बहुत बिधि कीन्ह चहै।" (बा० दो० १९१), "ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी। मन मुसुकाहिं राम सुनि बानी ॥" (बा० दो० २१५)। इनके भाव प्रसंग पर लिखे जा चुके हैं। कृपा के द्वारा यह माया का प्रयोग नित्य पार्षदों पर करके लीला का विधान करते हैं। इसीसे हँसकर प्रयोग करते हैं; यथा—"माया हास···" (लं० दो० १४)। "हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा ॥" (बा० दो० ११०); अभियुक्तों ने कहा भी है—"त्वदाश्रितानां जगदुद्भवस्थितिप्रणाशसंसारविमोचनादय । भवंति लीलाविधयश्च वैदिकास्त्वदीयगंभीरमनोनुसारिणः ॥" (आलवंदार स्तोत्र)—अर्थात् भगवान् अपने आश्रितों पर अपनी इच्छा से ही उत्पत्ति-विनाश और फिर उन्हें मुक्त करने का बर्ताव लीला-विधान एवं कोई वैदिक विधान दृढ़ करने के लिये करते हैं। जैसे हो यहाँ श्रीसुग्रीवजी के कहे हुए विचारों को—"जो तुम कहेहु सत्य सब सोई।" रूप से स्वीकार करते हुए भी "सखा बचन मम मृषा न होई।" का विधान करेंगे और तुरत ही श्रीसुग्रीवजी बालि से लड़ने चलेंगे। 'सत्य सब सोई'—से श्रीसुग्रीवजी के उक्त विचारों का श्रीरामजी ने समर्थन किया कि शास्त्रोक्त दृष्टि तो यही है कि सब एषणाओं से रहित हो एवं राग-द्वेष छोड़कर भगवद्भजन करे।

(२) 'नट-मर्कट इव···'—श्रीसुग्रीवजी शीघ्र ही श्रीरामजी की इच्छा के अनुकूल हो गये और

वालि से प्रत्यक्ष लड़ने को प्रस्तुत हो गये। इसी पर श्रीभुशुंडीजी कहते हैं कि श्रीसुग्रीवजी ही नहीं, सारा जगत् श्रीरामजी की इच्छा के अनुसार कार्य करता है। मदारी (नट) बंदर को जैसा चाहता है, नचाता है; वैसे ही श्रीरामजी जीवों को नचाते हैं। सब जैसा चाहते हैं, वैसा ही काम कराते हैं। वानर नट के अधीन है वैसे जीव ईश्वर के अधीन हैं। प्रमाण—"राम कीन्ह चाहैं सोइ होई। करइ अन्यथा अस नहिं कोई॥" (बा० दो० १२७); "राम-रजाइ सीस सबही के।" (अ० दो० २५२); "उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत राम गोसाईं॥" (दो० १०); "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया॥" (गीता १८।६१); अर्थात् सब प्राणियों के हृदय में ईश्वर स्थित है, वह शरीर रूप यंत्र में आरूढ़ हुए सब जीवों को (उनके कर्मानुसार) अपनी माया से भ्रमाता है।

(३) 'लै सुग्रीव संग रघुनाथा।...'—ऊपर नट-रूप में श्रीरामजी की प्रधानता थी। 'नट' शब्द पहले था, वैसे ही यहाँ चलने में श्रीरघुनाथजी मुख्य हैं; क्योंकि अपनी इच्छाप्राधान्य में श्रीसुग्रीवजी को ले जा रहे हैं। श्रीरामजी मर्यादा के संस्थापक हैं; अतः, माधुर्य की दृष्टि से उपदेश देते हैं कि मित्र के कार्य में स्वयं अगुआ होकर उपस्थित रहना चाहिये, मित्र की प्रेरणा की राह देखने की आवश्यकता नहीं; 'रघुनाथा'—रघुवंशी सभी सत्य-संध होते आये; यथा—"रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचन न जाई।" (अ० दो० २८); ये तो उस कुल के नाथ हैं, फिर प्रतिज्ञा का निर्वाह क्यों न करें? 'चाप सायक' मात्र कहा है, तरकश नहीं, क्योंकि एक ही बाण से वालि-वध की प्रतिज्ञा की है। शेष शस्त्र और तरकश श्रीलक्ष्मणजी के पास हैं। वा, ऐसे भी प्रसंग हैं, जहाँ तरकश नहीं कहा गया, पर आगे उसके कार्य देखे गये हैं; यथा—"लछिमन चले सकोप तब, बान सरासन हाथ।" (लं० दो० ५१); इससे आगे—"नाना बिधि प्रहार कर सेषा।" कहा गया है। वैसे यहाँ भी आगे—'अरुन नयन सर चाप चढ़ाये।' कहा है, तो वह बाण कहाँ से आया? अतएव तरकश भी रहना संभव है।

तब रघुपति सुग्रीव पठावा। गर्जेसि जाइ निकट बल पावा॥२६॥
सुनत बालि क्रोधातुर धावा। गहि कर चरन नारि समुझावा॥२७॥
सुनु पति जिन्हहि मिलेउ सुग्रीवा। ते दोउ बंधु तेज बल सींवा॥२८॥
कोसलेस-सुत लछिमन-रामा। कालहु जीति सकहिं संग्रामा॥२९॥

दोहा—कह बाली सुनु भीरु प्रिय, समदरसी रघुनाथ।
जौं कदापि मोहि मारहिं, तौ पुनि होउँ सनाथ॥७॥

अर्थ—तब श्रीरघुनाथजी ने श्रीसुग्रीवजी को भेजा, वे बल पा पास जाकर गरजे॥२६॥ सुनते ही वालि क्रोध में भरकर शीघ्र दौड़ा, उसकी स्त्री (तारा) ने हाथ से (उसके) चरण पकड़कर समझाया॥२७॥ हे पति! सुनिये, जिनसे सुग्रीव मिला हुआ है (मित्रता की है), वे दोनों भाई तेज और बल की सीमा हैं॥२८॥ वे श्रीअयोध्या के राजा दशरथजी के पुत्र श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी हैं। जो काल को भी रण में जीत सकते हैं॥२९॥ वालि ने कहा—हे भीरु (स्वभावतः डरनेवाली)! हे प्रिये!! श्रीरघुनाथजी समदर्शी हैं। जो कदाचित् मुझे मारेंगे, तो मैं सनाथ हो जाऊँगा॥७॥

विशेष—(१) 'तब रघुपति सुग्रीव पठावा।···'—'तब'—जब किष्किंधा के निकट पहुँच गये। 'गर्जेसि आइ निकट'—किष्किंधा नगर भारी है, अतएव राजमहल के निकट जाकर गरजा कि जिससे यह गर्जन महल के भीतर भी वालि सुन सके। तभी वह लड़ने को आवेगा। 'बल पावा'—श्रीसुग्रीवजी के श्रीरामजी से पाया हुआ बल है और उसके महाबल है; यथा—"बालि महाबल अति रनधीरा।" यह कहा गया है। इससे अबकी युद्ध में श्रीसुग्रीवजी हारेंगे, फिर जब श्रीरामजी विशाल बल देकर इन्हें भेजेंगे, तब नाना विधि की लड़ाइयाँ होंगी; यथा—"पठवा पुनि बल देइ बिसाला"; "पुनि नाना विधि भई लड़ाई।" आगे कहा है। वा, वचन का बल पाकर, जो कि श्रीरामजी ने कहा है कि मैं उसे एक ही बाण से सत्य ही मारूँगा। अथवा प्रभु के निकट होने का बल पाकर।

(२) 'सुनत बालि क्रोधातुर धावा।'—क्योंकि—"बाली रिपु बल सहै न पारा।" कहा गया है। क्रोधातुर होने से विचार नहीं रहता, इसीसे 'नारि समुझावा' कहा है।

'गहि कर चरन···'—वाल्मी० ४।२५ में तारा का समझाना कहा गया है। तारा ने कहा कि सुग्रीव जैसे अहंकार से गरज रहा है, इसका विशेष कारण है। अंगद ने दूतों के मुख से सुना है कि सुग्रीव के हित करने के लिये प्रसिद्ध वीर श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी श्रीअयोध्या से आये हुए हैं। वे बड़े दुर्जय हैं। शत्रु-सेना के नष्ट करने में प्रलयाग्नि के समान हैं, साधुओं के आश्रयदाता और पीड़ितों के रक्षक हैं। दुःखियों के सहायक, यश के भाजन और ज्ञान-विज्ञान से युक्त हैं। अतः, उनसे मेल कर लीजिये, सुग्रीव को युवराज पद देकर उसका पालन कीजिये। इसीमें भलाई है, इत्यादि।

'गहि कर चरन' का भाव यह भी कहा जाता है कि पहले कर पकड़ा और समझाना चाहा, यथा—"कर गहि पतिहि भवन निज आनी।" (लं० दो० ५); पर उसने क्रोध में न सुना। तब चरण पकड़कर रोकने को बैठ गई और फिर समझाया।

(३) 'सुनु पति'—आप हमारे रक्षक हैं, इसलिये मेरी प्रार्थना सुनिये। 'तेज बल सींवा'—तेजस्वी देखने में छोटा भी हो, तो उसे लघु न जानना चाहिये; यथा—"तेजवंत लघु गनिय न रानी।" (बा० दो० २५५)। जहाँ तेज वहाँ बल भी है; यथा—"तेज-प्रताप-रूप जहँ तहँ बल बूझइ।" (जानकीमंगल ५१) 'कोसलेस सुत'—से अवतार सूचित किया, जैसे कि आकाशवाणी से सुना गया है; यथा—"कोसलपुरी प्रगट नर भूपा ॥···तिन्ह के गृह अवतरिहउँ जाई॥" (बा० दो० १८६)। इत्यादि। क्योंकि आगे वालि भी ईश्वर ही कहेगा; यथा—'समदरसी रघुनाथ' इत्यादि। 'लछिमन रामा'—श्रीलक्ष्मणजी को यहाँ छन्दानुरोध से आगे कहा है। यह भी हो सकता है कि यहाँ—'कालहु जीति सकहिं संग्रामा।' का प्रसंग है, युद्ध में छोटा भाई आगे रहता है; यथा—"त्रिसिरादि खर दूषन फिरे।" (आ० दो० २०)। 'कालहु जीति···'—योगी लोग भी काल को योग-बल से जीत सकते हैं, पर ये तो उसे संग्राम में भी जीत सकते हैं; यथा—"तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेस्वर कालहु कर काला॥" (सुं० दो० ३८); "तुम्ह कृतान्त भच्छक सुर त्राता।" (लं० दो० ८२)। तब तुम उनसे लड़ने के योग्य नहीं हो।

(४) 'कह बाली सुनु भीरु···'—तारा डर गई है, इससे उसे 'भीरु' कहा, किन्तु स्त्रियों के लिये यह आदरार्थ भी है। पुनः उसकी प्रसन्नता के लिये 'प्रिय' भी कहा है। 'जौं कदापि'—पहले तो वे समदर्शी हैं और रघुवंशी सद-सरल स्वभाव और नीतिमान होते हैं। ये तो उस कुल के नाथ हैं, तो किसी का पक्ष लेकर मुझे क्यों मारेंगे। कदाचित् मारें, क्योंकि भक्तों के लिये आप विषमदर्शी हो

जाते हैं ; यथा—"जद्यपि सम तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥" (अ० दो० २१८) ; तो मैं कृतार्थ हो जाऊँगा। श्रीरामजी के बाण से मरकर परम गति पाऊँगा ; यथा—"राम बालि निज धाम पठावा।" (दो० १०) ; "रघुबीर सर तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहहि सही।" (लं० दो० ३) 'तौ पुनि'=तो भी।

> अस कहि चला महा अभिमानी। तृन-समान सुग्रीवहि जानी॥१॥
> भिरे उभौ बाली अति तर्जा। मुठिका मारि महा धुनि गर्जा॥२॥
> तब सुग्रीव बिकल होइ भागा। मुष्टि-प्रहार बज्र-सम लागा॥३॥
> मैं जो कहा रघुबीर कृपाला। बंधु न होइ मोर यह काला॥४॥
> एक रूप तुम्ह भ्राता दोऊ। तेहि भ्रम ते नहि मारेउँ सोऊ॥५॥

अर्थ—महा अभिमानी बालि ऐसा कहकर और श्रीसुग्रीवजी को तृण के समान (तुच्छ) समझकर चला॥१॥ दोनों जुट पड़े (लड़ गये) बालि ने उसे बहुत डाँटा एवं धमकाया और वह घूँसा मारकर बड़े जोर से गरजा॥२॥ तब श्रीसुग्रीवजी व्याकुल होकर भागे, घूँसे की चोट उन्हें वज्र के समान लगी॥३॥ हे रघुवीर! हे कृपालु! मैंने जो आपसे कहा था कि यह मेरा भाई नहीं है, किन्तु काल है, (वही सत्य है)॥४॥ तुम दोनों भाई एकरूप हो, इसी भ्रम से मैंने उसको नहीं मारा (कि बाण कहीं तुम्हें न लग जाय)॥५॥

विशेष—'अस कहि चला महा अभिमानी।'—बालि क्रोधावेश में था, इससे तारा की शिक्षा का प्रभाव उसपर न पड़ा, यथा—"क्रोधिहि सम·· ऊसर बीज बये फल जथा॥" (सुं० दो० ५७)। कालवश है, इसीसे अभिमान हुआ है; यथा—"काल बरस उपजा अभिमाना॥" (लं० दो० ७) ; नारि शिक्षा न मानने से भी महा अभिमानी कहा गया ; यथा—"मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करेसि न काना॥" (दो० ८) ; 'चला'—पहले क्रोधातुर धाया। जब स्त्री के समझाने से क्रोध का वेग शांत हो गया। अतएव तब 'चला' कहा गया। 'तृन समान···'—श्रीसुग्रीवजी को तृण के समान मानने से 'अभिमानी' और आगे श्रीरामजी के आश्रित होने का चिह्न देखकर भी श्रीसुग्रीवजी को तुच्छ मानकर मारना चाहेगा, इससे 'महा अभिमानी' है ; यथा—"मम भुजबल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी॥" (दो० ८)।

(२) 'भिरे उभौ बाली ···'—श्रीरामजी के बल से श्रीसुग्रीवजी भी बराबर भिड़े, इन्होंने बालि का भय नहीं माना ; यथा—"उमा बिभीषन रावनहिं, सनमुख चितव कि काउ। सो अब भिरत काल ज्यों, श्रीरघुबीर प्रभाउ॥" (लं० दो० ९३)। 'बाली अति तर्जा'—सुग्रीव तर्जा, तब बालि अति तर्जा। सुग्रीव गरजा था; यथा—"गर्जेसि जाइ निकट बल पावा।" और बालि सुग्रीव को मारकर महा ध्वनि से गरजा, इससे अपनी जीत जनाई; यथा—"ताहि निपाति महाधुनि गर्जा।" (सुं० दो० १०)। अर्थात् अक्ष को मारकर श्रीहनुमान्‌जी भी ऐसे ही गरजे थे।

(३) 'तब सुग्रीव बिकल होइ···'—वज्रपात के पीछे गरजन होता है, वैसे ही मुष्टि-प्रहार करके यह गरजा। वज्रपात की ध्वनि सुनकर लोग व्याकुल हो जाते हैं, यहाँ श्रीसुग्रीवजी व्याकुल होकर भागे। वज्र इन्द्र चलाते हैं, वैसे यहाँ इन्द्र के अंशभूत बालि ने मुष्टि-प्रहार किया।

(४) 'मैं जो कहा रघुबीर कृपाला। ''—'मैं जो कहा'—यह पूर्व की बात पर लक्ष्य कराते हैं, यथा—"रिपु सम मोहि मारेसि अति भारी।" (दो० ५)। शत्रु के समान ही काल भी मारना चाहता है। 'रघुबीर कृपाला'—अर्थात् उससे लड़ने योग्य मैं नहीं हूँ, यथा—"ताके भय रघुबीर कृपाला। सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला॥" (दो० ५)। आप रघुबीर हैं, इससे काल को मारने में समर्थ हैं, यथा—"कालहु डरहिं न रन रघुबंसी।" (बा० दो० २८०)। कृपालु हैं, अतएव हमपर कृपा करके उसे मारें। चोट खाने पर भी श्रीसुग्रीवजी ने कोमल ही वचन कहा। यह मित्र के प्रति दृढ़ श्रद्धा दिखाई। श्रीसुग्रीवजी ने पहले बालि को शत्रु कहा, तब उसके वध के लिये श्रीरामजी ने प्रतिज्ञा की थी। पीछे वह उसे 'परम हित' कहने लगा। तब श्रीरामजी उसे कैसे मारते ? क्योंकि वे तो 'प्रनत कुटुम्ब पाल' हैं। अब एक ही चोट में इन्होंने उसे फिर काल कहा, तब मारेंगे। इसीसे पहले कम बल दिया था और अब विशाल बल देकर भेजेंगे। तब पीछे उसे मारेंगे।

(५) 'एक रूप तुम्ह भ्राता दोऊ। ''—श्रीरामजी नर-नाट्य कर रहे हैं। माधुर्य में जैसे रोना, खोजना आदि संभव है, वैसे भ्रम भी संभव है, यथा—"अन्योन्यसदृशौ वीरावुभौ देवाविवाश्विनौ॥ अलंकारेण वेषेण प्रमाणेन गतेन च। त्वं च सुग्रीव वाली च सदृशौ स्थः परस्परम्॥ स्वरेण वर्चसा चैव प्रेक्षितेन च वानर। विक्रमेण च वाक्यैश्च व्यक्तिं वा नोपलक्षये॥ ततोऽहंरूपसादृश्यान्मोहितो वानरोत्तम। नोत्सृजामि महावेगं शरं शत्रुनिबर्हणम्॥ त्वयि वीर विपन्ने हि अज्ञानाल्लाघवान्मया। मौढ्यं च मम बाल्यं च ख्यापितं स्यात्कपीश्वर॥" (वाल्मी० ४।१२।१६+३०—३४)। अर्थात् तुम दोनों वीर अश्विनी कुमार के समान एक-से थे। अलंकार, वेष, ऊँचाई तथा गमन से तुम दोनों समान थे। स्वर, तेज, दृष्टि, विक्रम और वचन से समान थे। इसी रूप-समता की आशंका से मैं रुक गया और मोहित हो जाने से शत्रुनाशक बाण नहीं चलाया। मेरे अज्ञान या शीघ्रता से यदि तुम मारे जाते तो मेरी मूर्खता और लड़काई समझी जाती।

आशय यह भी है कि अभी वह बालि को 'परम हित' कह चुका था। उसने कपि स्वभाव से ही कहा था। एक बार हराकर उससे 'बंधु न होइ मोर यह काला।' कहलाना था, जैसा ऊपर भी कहा गया। पुनः एक ही ओर की जीत में रण की शोभा नहीं, बालि ऐसे वीर को भी रण कर्म का यश देना था। पुन दोबारा अधिक बल सहित और चिह्न सहित भेजकर उसे अपना आश्रित होना भी दिखाना था कि जब वह भागवतापराध करेगा, तो वध-रूप दंड पावेगा। आगे कहा भी है—"मम भुज बल आश्रित तेहि जानी।''"

कर परसा सुग्रीव सरीरा। तनु भा कुलिस गई सब पीरा॥६॥
मेली कंठ सुमन कै माला। पठवा पुनि बल देइ बिसाला॥७॥
पुनि नाना बिधि भई लराई। बिटप-ओट देखहिं रघुराई॥८॥

दोहा—बहु छल-बल सुग्रीव करि, हिय हारा भय मानि।
मारा बाली राम तब, हृदय माँझ सर तानि॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी ने श्रीसुग्रीवजी के शरीर पर हाथ फेरा, उनका शरीर वज्र (के समान दृढ़ हो)

गया और सब पीड़ा चली गई ॥६॥ उनके गले में फूलों की माला पहना दी और फिर भारी बल देकर (लड़ने को) भेजा ॥७॥ फिर अनेक प्रकार से लड़ाई हुई, श्रीरघुनाथजी वृक्ष की आड़ से देख रहे हैं ॥८॥ जब श्रीसुग्रीवजी बहुत छल और बल करके भय मानकर हृदय से हार गये, तब श्रीरामजी ने धनुष चढ़ाकर और उसे जोर से खींचकर वालि के हृदय में बाण मारा ॥९॥

विशेष—(१) 'कर परसा सुग्रीव सरीरा।···'—आश्वासन करते हुए शरीर भर पर हाथ फेरा कि मित्र तुम्हें बड़ी चोट लगी, पर वस्तुतः इन्हें बल देने और तन वज्र के समान करने को ऐसा किया। पहले श्रीसुग्रीवजी का मन युद्ध से हट गया था कि वालि से अब न लड़ूँगा। तब उसके मन को उद्यत किया, तब कहा गया—'नट मर्कट इव···' और यहाँ तन से थक गया था, तब हाथ फेरकर उसे वज्र के समान किया। 'तन भा कुलिस···'—वालि ने इसे तृण के समान माना था; यथा—"तृन समान सुग्रीवहिं जानी।" कहा गया। उसे ही श्रीरामजी ने वज्र के समान बना दिया, इससे—"तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई।" (लं॰ दो॰ १३)। इस विरुद को चरितार्थ किया।

(२) 'बल देइ बिसाला'—विशाल बल उतना ही दिया कि वह वालि से लड़ सके, मारने भर को न दिया, अन्यथा अपनी प्रतिज्ञा जाती। बल दिया; यथा—"जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥ जा बल सीस धरत सहसानन। अंडकोस समेत गिरि कानन॥···" (सुं॰ दो॰ २०) ऐसे ही श्रीसुग्रीवजी के तन में बल दिया।

(३) 'मेली कंठ सुमन की माला'—गज-पुष्पी लता लेकर श्रीलक्ष्मणजी ने कंठ में पहना दी; यथा—"ततो गिरितटे जातामुत्पाट्य कुसुमायुताम्। लक्ष्मणो गजपुष्पीं तां तस्य कंठे व्यसर्जयत्॥" (वाल्मी॰ ४।१२।४०)। 'मेली कंठ'—कंठ में लगी हुई (कंठी की तरह) पहनाई, जिससे लड़ाई में टूट न जाय। वालि ने पहले श्रीरामजी को समदर्शी कहा था, इससे इन्होंने उसे नहीं मारा था। अब इसे अपने आश्रित होने का चिह्न देकर उसे संकेत करते हैं कि अब यह भागवत है। अतः इससे द्वेष बुद्धि न करो, अन्यथा मैं मारूँगा; यथा—"जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥" (अ॰ दो॰ २१७)। "सेवक बैर बैर अधिकाई।" (अ॰ दो॰ २१८)।

(४) 'पुनि नाना बिधि······'—'नाना बिधि'; यथा—"वृक्षैः सशाखैः शिखरैर्वज्रकोटिनिभैर्नखैः॥ मुष्टिभिर्जानुभिः पद्भिर्बाहुभिश्च पुनः पुनः। तयोर्युद्धमभूद्घोरं वृत्रवासवयोरिव॥" (वाल्मी॰ ४।१६।२८–२९)। अर्थात् शाखा युक्त वृक्षों, पर्वत शिखरों, वज्र के समान नखों, मुक्कों, लातों और बाहुओं से बार-बार दोनों का घोर युद्ध हुआ, जैसे इन्द्र और वृत्रासुर का हुआ था। 'बिटप ओट देखहिं'—खड़े होकर प्रकट देखते तो श्रीसुग्रीवजी की अधीरता होती कि हमें लड़ाकर आप कौतुक देखते हैं। पुन. ओट का यह भी भाव है कि वालि के हृदय में भक्ति भी है; यथा—"जेहि जोनि जनमौं···" आगे कहा है। सामने होने से कहीं प्रणाम आदि किया, तो प्रतिज्ञानुसार मारते न बनता और उसे बाण द्वारा शुद्ध करके परमगति देनी है, क्योंकि वह वीर है, उसे वीर गति ही चाहिये। कौतुक देखने से 'रघुराई' कहा है; यथा—"अस कौतुक बिलोकि दोउ भाई। बिहँसि चले कृपाल रघुराई॥" (लं॰ दो॰ ७); राजा लोग कौतुक देखते ही हैं।

(५) 'बहु छल बल सुग्रीव करि···'—युद्ध में छल भी एक प्रकार की रण-कला है। यह अनुचित नहीं माना जाता, क्योंकि दोनों पक्ष सावधान रहते हैं। यह एक प्रकार की चातुरी है, जो बुद्धि का युद्ध है। शारीरिक बल कम पड़ने पर योद्धा छल-कला से भी लड़ते हैं। इसे कूटनीति भी कहते हैं, इसमें अपने

कार्य की वास्तविक दशा प्रतिपक्षी को नहीं जान पड़ती। वह कुछ का कुछ समझता है। श्रीसुग्रीवजी ने छल, बल दोनों के द्वारा हृदय से हार मानी और अपने पुरुषार्थ का भरोसा छोड़ प्रभु की सहायता चाही तब श्रीरामजी ने खूब खींचकर बाण छोड़ा, क्योंकि महाबली को भी एक ही बाण से मारना है; यथा—"हीयमानमथापश्यत्सुग्रीवं वानरेश्वरम्। प्रेक्षमाणं दिशश्चैव राघवः स मुहुर्मुहुः॥ ततो रामो महातेजा आर्त्तं दृष्ट्वा हरीश्वरम्।...राघवेण महाबाणो वालि-वक्षसि पातितः॥" (वाल्मी० ४।१६।२१-२५)।

छाती में ही बाण मारा, क्योंकि उसके हृदय का अहंकार दूर करना है, बाण लगते ही उसके हृदय में प्रीति हुई भी; यथा—"हृदय प्रीति मुख बचन कठोरा।" आगे कहा है। पुनः शिर इसलिये नहीं काटा कि उसे बहुत कुछ कहना-सुनना है।

> परा बिकल महि सर के लागे। पुनि उठि बैठ देखि प्रभु आगे॥१॥
> स्याम गात सिर जटा बनाये। अरुन नयन सर-चाप चढ़ाये॥२॥
> पुनि पुनि चितइ चरन चित दीन्हा। सुफल जन्म माना प्रभु चीन्हा॥३॥

अर्थ—बाण के लगने से वालि व्याकुल होकर पृथिवी पर गिर पड़ा फिर प्रभु को आगे देखकर उठ बैठा॥१॥ श्रीरामजी श्याम शरीर हैं, शिर पर जटा बनाये हुए हैं, लाल नेत्र हैं, बाण लिये हुए हैं और धनुष को चढ़ाये हुए हैं॥२॥ वालि ने बार-बार दर्शन करके (श्रीरामजी के) चरणों में चित्त लगा दिया, उसने प्रभु को पहचानकर अपना जन्म सुफल (कृतार्थ) माना॥३॥

विशेष—(१) 'परा बिकल महि...'—इतना बड़ा वीर एक ही बाण के लगने से गिरकर व्याकुल हो गया, यह राम-बाण के अद्भुत प्रभाव का द्योतक है; यथा—"सो नर क्यों दसकंध, बालि बध्यो जेहि एक सर।" (लं० दो० ३३); 'पुनि उठ बैठि...'—यह प्रभु के दर्शन-प्रभाव से उत्पन्न वालि का साहस है कि ऐसा कठोर बाण लगने पर भी वह उठ बैठा। 'देखि प्रभु आगे'—श्रीरामजी दया करके उसे स्वयं दर्शन देने गये; यथा—"बहु मान्य च तं वीरं वीक्षमाणं शनैरिव। उपयातौ महावीर्यौ भ्रातरौ राम-लक्ष्मणौ॥" (वाल्मी० ४।१७।१३); अर्थात् दोनों भाई श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी ने वालि का सम्मान किया और उसके पास गये। प्रभु के उसके पास जाने का एक यह भी कारण था कि छिप कर मारने से वालि के हृदय में जो मेरे प्रति निंदा का भाव है उसका निराकरण वह प्रश्नोत्तर द्वारा कर ले।

वालि ने पहले ही कहा था—"जौं कदापि मोहि मारिहैं, तौ पुनि होउँ सनाथ।" इस के अनुसार वह अपनेको कृतार्थ ही मानता है और इसी से उसके हृदय में प्रीति भी है। पर उसने विचार किया कि इससे लोक में प्रभु की निन्दा होगी, अतएव मैं कठोर वचनों से पूर्व पक्ष करके उनके ही मुख से समाधान करा लूँ; अन्यथा प्रभु क्यों समाधान करेंगे? और इसका निराकरण न होने से नैतिक दृष्टिवाले प्रभु के चरित में दोष लगावेंगे।

(२) 'अरुन नयन सर चाप चढ़ाये'—वीर-रस एवं आर्त्त-दुःख-हरण-प्रसंगों में प्रभु के नेत्र लाल कहे गये हैं और साथ ही लाल कमल की उपमा भी दी गई है, परन्तु वध के प्रसंग में कठोरता का भाव होने के कारण प्रायः कमल की उपमा नहीं देते हैं, केवल लाल ही (लाल डोरे पड़े हुए) कहते हैं, यह श्रीगोस्वामीजी की सँभार है; यथा—"अरुन नयन उर बाहु बिसाला।" यह श्रीविश्वामित्रजी की रक्षा के एवं ताड़का आदि के वध के प्रसंग में कहा गया है। "भुज प्रलंब कंजारुन लोचन।"—श्रीविभीष-

गजी की रक्षा-प्रसंग में और "जलजारुन लोचन भूप वरं।" (लं० दो० १०१); यह पृथिवी-मात्र के भार उतारने पर ब्रह्माजी ने कहा है, इत्यादि। 'सर चाप चढ़ाये'—यहाँ श्रीरामजी ने धनुष पर वाण नहीं चढ़ाया है, केवल वे धनुष-मात्र चढ़ाये हुए हैं; यथा—"धनुष चढ़ाइ गहे कर बाना।" (दो० १७); "धनुष चढ़ाइ कहा तब, जारि करउँ पुर छार।" (दो० १६); जब रोदा पर वाण रक्खा जाता है, तब उसे संधानना कहते हैं; यथा—"संधानेउ प्रभु बिसिख कराला।" (सुं० दो० ५७); "सर संधान कीन्ह करि दापा।" (लं० दो० ७४)। इत्यादि, जहाँ संधानना कहा जाता है, वहाँ वह वाण अवश्य चलाया जाता है, निष्फल नहीं जाता। अतः, यहाँ केवल धनुष-मात्र का चढ़ाना कहा गया है।

प्रभु द्वंद्व-प्रविष्ट हैं, अतः, वालि-वध के लिये दूसरा वाण नहीं ले सकते। इस युद्ध-नीति से यह वाण हाथ में लिये हुए हैं कि यदि कोई वालि के पक्ष का आ जाय, तो उसे मारूँ।

(३) 'पुनि पुनि चितइ···'—श्रीरामजी का स्वरूप मनोहर है, इसलिये यह बार-बार देखता है; यथा—"पुनि पुनि रामहि चितव सिय, सकुचति मन सकुचै न।" (बा० दो० ३२६); दर्शनों से उसकी तृप्ति नहीं होती; यथा—"दरसन तृपिति न आजु लगि, प्रेम पियासे नैन।" (अ० दो० २६०); इसीसे बार-बार देखता है। यह तो उसकी हार्दिक प्रीति के अनुसार 'पुनि-पुनि चितइ' का भाव है।

पुनः बाहरी वृत्ति से जो वह कठोर वचन कहेगा, तदनुसार भी बार-बार देखता है कि ये तो सब उत्तम लक्षणों से युक्त हैं, फिर भी इन्होंने मेरे साथ विषमता क्यों की? नीति के अनुसार मुझसे क्यों न पूछ लिया? फिर देखता है कि सुग्रीव से इनका कौन कार्य होगा? "यदि हमसे कहे होते, तो हम तुरत रावण को बाँधकर श्रीसीताजी को ला देते।" (वाल्मी० ४।१७।४७-४८)। छिपे क्यों रहे? इत्यादि भावों का विचार करता हुआ बार-बार देखता है।

(४) 'चरन चित दीन्हा'—अंतरंग प्रीत्यात्मक दृष्टि से देखता है कि मैं इनके किस अंग का ध्यान करूँ? मन में निश्चय करके उसने चरणों में ही चित्त लगाया। बहिरंग-दृष्टि से भी सोचता है कि इन्होंने जो कुछ भी किया है वह यथार्थ ही होगा, क्योंकि लक्षणों से ये साक्षात् ईश्वर ही प्रतीत होते हैं और ईश्वर के सब कार्यों को जीव समझ भी तो नहीं सकता। अतएव उसके विधान न्यायपूर्वक ही होते हैं, ऐसा विश्वास करके उसमें प्रीति करनी चाहिये; यथा—"अस बिचारि जे तज्ञ बिरागी। रामहि भजहिं तरक सब त्यागी॥" (लं० दो० ७२)। इसी से उसने दास-भाव से चरणों में ही चित्त लगाया और इसी में अपने जन्म को सफल माना; यथा—"पावन प्रेम राम चरन जनम लाभ परम।" (वि० १३१); 'प्रभु चीन्हा'—वालि ने श्रीवत्स आदि प्रभु के चिह्नों से उन्हें ईश्वर जाना, अथवा मुझे एक ही वाण से मारकर व्याकुल कर दिया, अतएव ये नर नहीं हैं, ईश्वर ही हैं; यथा—"सो नर क्यों दसकंध, बालि बध्यो जेहि एक सर।" (लं० दो० ३२)।

हृदय प्रीति मुख बचन कठोरा। बोला चितइ राम की ओरा॥४॥
धर्म-हेतु अवतरेहु गोसाईं। मारेहु मोहि ब्याध की नाईं॥५॥
मैं बैरी सुग्रीव पियारा। अवगुन कवन नाथ मोहि मारा॥६॥

अर्थ—हृदय में प्रीति है, पर मुख में कठोर वचन लिये हुए हैं, वह श्रीरामजी की ओर देखकर बोला॥४॥ हे गोसाईं! आपने तो धर्म के लिये अवतार लिया है, पर मुझे व्याध की तरह (छिपकर

क्यों) मारा, (इससे आपको कौन सा धर्म का लाभ हुआ ?) ॥५॥ मैं वैरी हूँ ? सुग्रीव प्यारा है ? हे नाथ ! आपने किस अवगुण से मुझे मारा ? ॥६॥

विशेष—(१) 'मुख बचन कठोरा'—ऊपर कहा गया कि वालि बाह्य-वृत्ति से ही कठोर वचन कह रहा है, किन्तु प्रत्युत्तर से श्रीरामजी को निर्दोष सिद्ध करना चाहता है। पर साथ-ही साथ लोक-शिक्षा के लिये यह भाव भी है कि इसका कायिक अभिमान बाण लगने से ही न रहा, 'हृदय प्रीति' से मानसिक शुद्धि भी है ही, रह गई वाचिक, उसे भी श्रीरामजी इसको निरुत्तर करके तोड़ेंगे; यथा—"बधु बधू रत कहि कियो, बचन निरुत्तर बालि ॥" (दोहावली १५७), 'बोला चितइ ·'—श्रीरामजी की ओर देखकर अभिमान-पूर्वक बोला, क्योंकि बालि को बुद्धि का अभिमान है कि मानों श्रीरामजी उत्तर दे ही न सकेंगे।

(२) 'धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं'—'गोसाईं' शब्द व्यंग्यात्मक भी है कि आपने तो पृथिवी का भार उतारने के लिये अवतार किया है, आप गो (पृथिवी) के स्वामी अर्थात् क्षत्रिय हैं। पर व्याधे की तरह किसी वीर को अनजाने मारना क्षत्रिय का धर्म नहीं है, इससे तो आप स्वयं अधर्मी होकर पृथिवी का भार हो रहे हैं, तो आपको पाकर भी पृथिवी अनाथ ही रह गई, क्योंकि अधर्मी राजा के रहने से पृथिवी सनाथ नहीं होती; यथा—"त्वया नाथेन काकुत्स्थ न सनाथा वसुन्धरा। प्रमदा शीलसम्पूर्णा पत्येव च विधर्मणा ॥" (वाल्मी० ४।१७।४०)। धर्म के लिये ही आपने अवतार लिया, पर यह तो आपने उसके प्रतिकूल ही किया।

(३) 'मैं बैरी सुग्रीव पियारा।···'—आपने समदर्शी होते हुए भी मुझे वैरी और सुग्रीव को प्यारा समझा—यह अधर्म किया। 'नाथ' अर्थात् आप राजा हैं, मुझे बिना अवगुण के (सिद्ध किये) मारा, यह आपने नीति-विरुद्ध किया—यह भी अधर्म है। भाव यह कि भाई-भाई हम दोनों लड़ते थे, आपको दोनों का न्याय करना उचित था, न कि किसी एक का पक्ष लेना। (क) व्याध की नाईं मारना, (ख) विषम दर्शी होना, (ग) बिना अवगुण (दोष) सिद्ध किये मारना। यहाँ बालि इन तीन बातों के उत्तर चाहता है।

अनुज-बधू भगिनी सुत-नारी। सुनु सठ कन्या सम ये चारी ॥७॥
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई। ताहि बधे कछु पाप न होई ॥८॥
मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना ॥९॥
मम भुजबल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी ॥१०॥

अर्थ—अरे शठ ! सुन, छोटे भाई की स्त्री, बहन, पुत्र की स्त्री और कन्या ये चारों समान हैं ॥७॥ इन्हें जो बुरी दृष्टि से देखे, उसका वध करने से पाप नहीं होता ॥८॥ अरे मूर्ख ! तुझे अत्यन्त अभिमान है, तूने स्त्री की शिक्षा पर कान नहीं दिये, अर्थात् नहीं माना ॥९॥ मेरे बाहु बल के आश्रित जानकर भी उस सुग्रीव को, अरे अधम अभिमानी ! तूने मारना चाहा था ॥१०॥

विशेष—(१) 'अनुज-बधू भगिनी ·'—'अनुज बधू' ही पहले कहा गया, क्योंकि यहाँ उसी का प्रस्तुत प्रसंग है। इनपर कुदृष्टि-मात्र रखनेवालों का वध उचित है, फिर तूने तो भाई के जीते जी ही उसकी स्त्री को अपनी भार्या मानकर काम-भाव से ग्रहण किया। ऐसे दोष का दण्ड वध ही है और उचित दंड

वैसा मेरा धर्म है, इसी से मैंने तुझे मारा। यदि न मारता तो अधर्म होता; यथा—"न च ते मर्षये पापं क्षत्रियोऽहं कुलोद्गतः। औरसीं भगिनीं वापि भार्यां वाप्यनुजस्य यः॥ प्रचरेत नरः कामात्तस्य दंडो वधः स्मृतः।" (वाल्मी० ४।१८।२२-२३); अर्थात् कन्या, बहन और छोटे भाई की स्त्री के प्रति जो काम-भाव रक्खे, उसका दंड वध ही है। अतः, हम कुलीन क्षत्रिय होकर इस पाप को नहीं सह सके, इसलिये तुम्हें मारा है। पुनः—"अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्। अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति॥" (मनु०); अर्थात् जो राजा अपराधियों को दंड न दे और निरपराधियों को दंड दे, वह अपयश का भागी होता है और साथ ही नरक को जाता है।

(२) 'जोई'—यदि बालि कहे कि यह धर्म-विधान आपके समान श्रेष्ठ मनुष्यों के लिये है, किन्तु मैं तो वानर हूँ, तो कहते हैं कि 'जोई' इन्हें कुदृष्टि से देखे, वही दंडनीय है। पुनः यदि वह ऐसा कहे कि हम भाई-भाई लड़ते थे तो आपने मुझे क्यों मारा ? उसपर कहते हैं कि ऐसे पापी को 'जोई' (कोई भी) मारे तो उसे पाप नहीं होगा। क्योंकि पर-स्त्री हरनेवाला आततायी है और—"आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥ नाततायिवधो दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।" (मनु० ८।३५०-३५१), अनिष्ट करने को आते हुए आततायी को बिना विचारे ही मार डालने से मारनेवाले को दोष नहीं होता। आततायी के लक्षण; यथा—"अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदारापहर्त्ता च षडेते ह्याततायिनः॥" (वसिष्ठस्मृति ३।१९); अर्थात् आग लगानेवाला, विष देनेवाला, हाथ में शस्त्र लिये हुए मारने को उद्यत, धन-हरण करनेवाला, जमीन (खेत) छीननेवाला और स्त्री का हरण करनेवाला—ये छहों आततायी हैं। इनमें अन्तिम तीन प्रकारों से बालि आततायी है। 'अविचारयन्' में छिपकर मारने का भी उत्तर आ गया है कि बिना विचारे चाहे जैसे मारे, उसे दोष नहीं होता।

वाल्मी ४।१८।३२-३३ में दो श्लोक मनुस्मृति के हैं, जिनका भाव यह है कि पापी मनुष्य राजा के द्वारा पाप का दंड भोगकर निष्पाप हो जाता है और पुण्यात्माओं के समान स्वर्ग को जाता है। शारीरिक दंड एवं निर्वासन से चोर आदि पापी मुक्त हो जाते हैं। राजा यदि दंड न दे, तो वही उस पाप का भागी होता है॥

इस दृष्टि से एक ही बाण से मार मैंने तुम्हें शुद्ध करके परधाम के योग्य बनाकर धर्म किया है। इसमें पाप नहीं; यथा—"तदस्त्रं तस्य वीरस्य स्वर्गमार्गप्रभावनम्। रामबाणासनक्षिप्तमावहत्परमां गतिम्॥" (वाल्मी० ४।१७।८), अर्थात् वह अस्त्र उस वीर बालि को स्वर्ग में ले जानेवाला हुआ, श्रीरामजी के धनुष से छूटे हुए बाण ने उसे उत्तम गति दी। यह बालि के उपर्युक्त पहले प्रश्न का उत्तर हुआ। इसमें "धरम हेतु······" का उत्तर हो गया।

'मारेहु मोहि ब्याध की नाईं'।' का वाचिक उत्तर तो हुआ, परन्तु हृदय-ग्राही नहीं हो सका, नहीं तो श्रीगोस्वामीजी स्वयं ऐसा न कहते ; यथा—"हत्यो बालि सहि गारी।" (वि० १६६); "का सेवा सुग्रीव की, का प्रीति रीति निर्बाहु। जासु बंधु बध्यो ब्याध ज्यों सो सुनत सुहात न काहु।" (वि० १९१)। बालि ने भी इसे बरियाई का ही उत्तर माना है ; यथा—"सुनहु राम स्वामी सन···" इसका यथार्थ उत्तर वही है, जो पूर्व दो० ५ चौ० १४ पर करुणा-गुण-परक कहा गया है।

(३) 'मूढ़ तोहि अतिसय · मम भुज···'—'नारि'· (तारा) की शिक्षा में श्रीरामजी का ऐश्वर्य-कथन है। बालि 'समदरसी रघुनाथ'—जानकर भी उनके आश्रित को मारने चला, इसीसे 'महा-अभिमानी' कहा गया, फिर श्रीरामजी ने अपनी ओर से श्रीसुग्रीवजी को अपने आश्रित होने का चिह्न-रूप

'सुमन की माला' पहना और विशाल बल देकर अपनेको स्वयं भी जनाया, तो भी वालि ने उनके आश्रित को मारना चाहा, इससे उसका अभिमान चरम कोटि को पहुँच गया, इसी से उसे 'अधम अभिमानी' कहा गया है। अधम-अभिमानियों के वध के लिये ही प्रभु का अवतार है ; यथा—"जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हि असुर अधम अभिमानी ॥···तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ॥" (बा० दो० १२०) ; अर्थात् वालि अधम-अभिमानी है, अतः उसे मारकर प्रभु ने धर्म की ही रक्षा की है और साथ ही उन्होंने भक्तों की पीड़ा का भी हरण किया है। उसने स्त्री की शिक्षा नहीं मानी, इससे उसे 'मूढ़' कहा गया और प्रभु के आश्रित को मारना चाहा ; इससे 'अधम-अभिमानी' हुआ। श्रीरामजी तो भक्तों का अभिमान नहीं रहने देते, यहाँ तक कि श्रीनारदजी का भी अभिमान दूर करने में उन्होंने जो कठोर व्यवहार किया—प्रसिद्ध ही है।

'मैं बैरी सुग्रीव पियारा' का उत्तर यहाँ दिया है कि तू हमारे आश्रित को मारना चाहा था, इसी से तू 'मम बैरी' है ; यथा—सेवक बैर बैर अधिकाई।" (अ० दो० २१८) ; और 'सुग्रीव पियारा' है ; यथा—"रामहिं सेवक परम पियारा।" (अ० दो० २१८)। प्रभु के आश्रितों से द्रोह करना अवगुण है। इसमें 'अवगुन कवन' का भी उत्तर हो गया।

दोहा—सुनहु राम स्वामी सन, चल न चातुरी मोरि।
प्रभु अजहूँ मैं पापी, अंत काल गति तोरि ॥९॥

अर्थ—हे श्रीरामजी ! सुनिये, स्वामी से मेरी चतुराई चल नहीं सकती, हे प्रभो ! मुझे अंतकाल में आपकी गति (शरण) प्राप्त हुई, तो क्या अब भी मैं पापी हूँ ? (अर्थात् मैं आपकी शरण हूँ और इसी से अब मुझमें पाप नहीं रह गया।) ॥९॥

विशेष—'स्वामी सन चल न चातुरी'; यथा—"प्रतिवक्तुं प्रकृष्टे हि नापकृष्टस्तु शक्नुयात्।" (वाल्मी० ४।१८।४६), अर्थात् श्रेष्ठों के सामने छोटे बोल भी नहीं सकते। 'अंतकाल गति तोरि'; यथा—"मामप्यवगतं धर्माद्व्यतिक्रान्तपुरस्कृतम्। धर्मसंहितया वाचा धर्मज्ञ परिपालय ॥" (वाल्मी० ४।१८।५०); अर्थात् सबसे बड़ा धर्म-त्यागी मैं भी आपके यहाँ आया हूँ। हे धर्मज्ञ ! धर्मयुक्त वचनों से आप मेरी रक्षा करें। 'अजहूँ मैं पापी' ? अर्थात् आपकी शरण होते ही सब पाप नाश हो जाते हैं ; यथा—"सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥" (सुं० दो० ४४) ; पुनः ऊपर चौ० ७-८ के प्रसंग में मनुस्मृति के दो श्लोकों के भाव कहे गये हैं कि राज-दंड मिलने पर प्राणी पापों से मुक्त हो जाते हैं, उस दृष्टि से भी वालि ने कहा कि क्या आपके बाणों से दंडित होने पर भी मैं पापी ही हूँ ? अर्थात् अब मुझे पापी न कहिये। फिर जब अंत समय में आप मेरे सम्मुख प्राप्त हैं, तो मैं पापी कहाँ रहा ? यथा—"छली न होइ स्वामि सनमुख ज्यों तिमिर सात हयजान सों।" (गी० सुं० ४४)।

सुनत राम अति कोमल बानी। बालि-सीस परसेउ निज पानी ॥१॥
अचल करउँ तनु राखहु प्राना। बालि कहा सुनु कृपानिधाना ॥२॥

अर्थ—वालि की अत्यन्त कोमल वाणी सुनते ही श्रीरामजी ने वालि के शिर पर अपना हाथ

फेरा ॥१॥ (और बोले कि) मैं तुम्हारी देह को अचल करता हूँ, तुम प्राण रक्खो (जीने की इच्छा करो)। बालि ने कहा कि हे कृपानिधान ! सुनिये ॥२॥

विशेष—(१) 'अति कोमल बानी'—बालि ने अंत में दीन होकर कहा—"प्रभु अजहूँ मैं पापी, अंतकाल गति तोरि।" ये उसके अत्यंत कोमल शब्द हैं। श्रीरामजी के द्वारा बाण से मारे जाने पर भी उन्हें 'स्वामी' कहा और पूर्ण आदर का भाव रक्खा, इसी से 'अति कोमल बानी' यह कहा गया है। पहले उसने 'मुख बचन कठोरा' कहा था, उस वाग्दोष की भी निवृत्ति अब हो गई। 'बालि सीस परसा निज पानी।'—बालि के विशेष नम्र वचनों को सुनकर प्रभु ने आश्वासन देते हुए उसके शिर पर हाथ फेरा है। प्रायः भक्तों के शिर पर फेरे जानेवाले हाथ की कमल से उपमा दी जाती है; यथा—"परसा सीस सरोरुह पानी।" (दो० २२); "कर सरोज प्रभु मम सिर धरेऊ।" (उ० दो० ८१); किन्तु जहाँ युद्ध की कठोरता के प्रसंग हैं, वहाँ हाथ की उपमा कमल से नहीं रहती ; यथा—"कर परसा सुग्रीव सरीरा।" (दो० ७); इन दोनों भेदों के उदाहरण—"कबहूँ सो कर सरोज रघुनायक धरिहउ नाथ सीस मेरे···" (वि० १३८); इस पूरे पद में देखने योग्य हैं। यहाँ भी युद्ध-प्रसंग होने से कर के साथ कमल विशेषण नहीं है।

(२) 'अचल करउँ तनु······'—बालि ने कहा था—'मारेहु मोहि', 'नाथ मोहि मारा' इसपर कहते हैं कि मैंने तुम्हारे तन में बाण मारा है, सो उसे अचल किये देता हूँ, तुम प्राणों को रक्खो। भाव यह कि मेरी प्रतिज्ञा है ; यथा—"ब्रह्म रुद्र सरनागत, गये न उबरिहि प्रान।" पर मैं तो महा-रुद्र से परे हूँ। अतः, मेरी शरण आने पर तुम्हारे प्राण रह सकते हैं। इस तरह अचल तन से चिर-जीवित रहो। 'कृपा निधाना'—में बालि का कथन है कि मुझ पापी पर कृपा की, दर्शन दिये, शिर पर हाथ रक्खा, इत्यादि। वह शरीरत्याग को ही श्रेष्ठ मानता है, और इसी को आगे कहा है—

जन्म-जन्म मुनि जतन कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं ॥३॥
जासु नाम-बल संकर कासी। देत सबहि सम गति अबिनासी ॥४॥
मम लोचन गोचर सोइ आवा। बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा ॥५॥

अर्थ—मुनि जन्म-जन्म अभ्यास करते हैं, (तो भी) अंत समय 'राम' नहीं कह आता (यह ऐसा दुर्लभ है) ॥३॥ जिसके नाम के बल से श्रीशंकरजी काशी में सबको समान अविनाशिनी मुक्ति देते हैं ॥४॥ वही प्रभु मेरे नेत्रों के विषय-रूप में आकर प्राप्त हुए। हे प्रभो ! क्या फिर ऐसा (संयोग) बनाने से बनेगा ; अर्थात् ऐसी उत्तम मृत्यु फिर बनाने से नहीं बन सकेगी ॥५॥

विशेष—(१) 'जन्म-जन्म मुनि······'—अंतकाल आपके रूप की प्राप्ति तो दुर्लभ है ही, आपके नाम की प्राप्ति के लिये भी मुनि लोग जन्म-जन्म निरन्तर यत्न (अभ्यास) करते रहते हैं, जिससे वे मुक्त होकर आपको पावें ; यथा—"जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा ॥" (आ० दो० ३०); "जाकर नाम मरत मुनि-दुर्लभ तुम्हहि कहाँ पुनि पैहीं।" (गी० आ० १३)।

(२) 'जासु नाम-बल संकर कासी।···'—मुक्ति की एक अवस्था (जीवन्-मुक्ति) नाशशील भी होती है; यथा—"जे ज्ञान मान बिमत्त तव भव हरनि भगति न आदरी। ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी ॥" (उ० दो० १३); वैसी गति श्रीशिवजी नाम के द्वारा नहीं देते, किन्तु अविनाशिनी गति देते

हैं; यथा—"मुकुत भइ जहँ नहिं फिरे।" (आ० दो० ३१); "यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥" (गीता १५।६); 'समगति'; यथा—"जो गति अगम महा मुनि दुर्लभ कहत संत श्रुति सकल पुरान। सो गति मरन काल अपने पुर देत सदा सिव सबहि समान॥" (वि० ३); "जो गति अगम महा मुनि गावहिं। तव पुर कीट पतंगहु पावहिं॥" (वि० ७); शंकर=कल्याण-कर; भाव यह कि आप तो जीवमात्र को एक समान ऐसी उत्तम गति देकर उनका कल्याण करते हैं।

पहले कहा गया है कि अंतकाल में राम-नाम कहने से मुक्ति होती है, फिर कहते हैं कि श्रीशिवजी के द्वारा सुनने से मुक्ति होती है, अर्थात् कहने और सुनने दोनों ही से मुक्ति होती है।

(३) 'मम लोचन गोचर'''—भाव यह कि मुनि लोग और काशी वासी लोग आपके नाम ही को पाते हैं और उसके द्वारा मरने पर फिर कहीं नित्य-धाम में रूप को पाते हैं और मुझे तो यहीं आँखों के आगे आप स्वयं प्राप्त हैं, तो मेरा-सा भाग्य उन लोगों का भी नहीं है।

छंद—सो नयन-गोचर जासु गुन नित नेति कहि श्रुति गावहीं।
जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं।
मोहि जानि अति अभिमानबस प्रभु कहेउ राखु सरीरही।
अस कवन सठ हठि काटि सुरतरु बारि करिहि बबूरही॥

अर्थ—जिसका गुण 'नेति' (=यही नहीं, इतना ही नहीं जो मैंने कहा है) कहकर श्रुतियाँ सदा गाया करती हैं और जिन्हें, पवन और मन को जीतकर एवं मन और इन्द्रियों को नीरस (शब्दादि विषयों से विरक्त) करने पर मुनि लोग कभी, कहीं ध्यान में पाते हैं, वे ही आप मेरे नेत्रों का विषय हुए; अर्थात् मेरे आगे प्रत्यक्ष प्राप्त हैं॥ मुझे अत्यन्त अभिमान के वश जानकर, हे प्रभो! आपने कहा कि अपने शरीर को रख। ऐसा कौन शठ होगा, जो हठ-पूर्वक कल्प-वृक्ष को काटकर उससे बबूल की बारी बनायेगा, अर्थात् उससे बबूल को रूँधेगा॥

विशेष—(१) 'जिति पवन मन गो निरस करि ''''—प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान—ये पंच प्राण कहलाते हैं। इन्हें ब्रह्माण्ड पर चढ़ा लेना इनका जीतना है। मन को वश एवं एकाग्र करना उसे जीतना है। मन का जीतना और नीरस करना दोनों ही कहे गये हैं; यथा—"रे मन सबसों निरस ह्वै, सरस राम पद होहि।" (दोहावली ५१); "जीतहु मनहि सुनिय अस, रामचन्द्र के राज।" (उ० दो० २२)।

पहले पवन जीता जाता है, तब मन और फिर इन्द्रियाँ नीरस होती हैं, तब ध्यान किया जाता है, वैसे ही क्रम से कहे गये हैं। मन और पवन एक-दूसरे के सापेक्ष हैं, इसीसे साथ जीते जाते हैं। यथा—"दुग्धाम्बुवत्सम्मिलितावुभौ तौ तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि। यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः यतो मरुत्तत्र मनःप्रवृत्तिः॥" (हठप्रदीप); इसी से दोनों साथ लिखे गये हैं। 'मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं'; यथा—"जे हर हिय नयनन्हि कबहुँ निरखे नहीं अघाइ॥" (अ० दो० २०६)।

तात्पर्य यह है कि जिनका नाम मुनियों को दुर्लभ, गुणवेदों को दुर्लभ और ध्यानयोगियों को दुर्लभ है, वे ही आप मुझे प्रत्यक्ष प्राप्त हैं।

(२) 'मोहि जानि अति······'—प्रभु ने कहा था—"मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना॥" इसी पर बालि ने कहा—'मोहि जानि···' 'प्रभु' अर्थात् आप मेरे शरीर को अचल करने में समर्थ हैं।

(३) 'कौन सठ हठि काटि सुरतरु·· ···'—आपकी प्राप्ति कल्प-वृक्ष के समान चारों फलों को देनेवाली है, उससे इस नश्वर देह की अचलता चाहना मानों कल्पवृक्ष से बबूल रूँधना है। यहाँ शरीर को बबूल कहा गया है, क्योंकि इसमें सुख-दुःख-रूपी काँटे भरे हुए हैं। भगवान् से देह-सुख चाहना, कल्प-वृक्ष से बबूल रूँधना है, ऐसा तो शठ ही कर सकता है।

बालि किसी भी तन से भक्ति ही चाहता है, तो उसे यह तन भी रखना अनुकूल ही होता, पर इसको नाश करने की प्रभु-प्रतिज्ञा जानकर ही उसने तद्विरुद्ध इच्छा नहीं की।

अब नाथ करि करुना बिलोकहु देहु जो बर माँगऊँ।
जेहि जोनि जनमउँ कर्मबस तहँ राम-पद अनुरागऊँ।
यह तनय मम सम बिनय-बल कल्यानप्रद प्रभु लीजिये।
गहि बाँह सुर-नर-नाह आपन दास अंगद कीजिये॥

दोहा—राम-चरन दृढ़ प्रीति करि, बालि कीन्ह तनु-त्याग।
सुमन-माल जिमि कंठ ते, गिरत न जानइ नाग॥१०॥

अर्थ—हे नाथ! अब मुझपर करुणा करके देखिये और जो वर माँगता हूँ वह दीजिये। कर्म के वश जिस योनि में मेरा जन्म हो, वहाँ राम-पद में मेरा अनुराग हो॥ हे प्रभो! हे कल्याण-दाता! यह मेरा पुत्र विनय और बल में मेरे ही समान है। इसकी बाँह पकड़ लीजिये (अर्थात् इसे मैं आपको सौंपता हूँ) और, हे सुर-नर-नाह! अंगद को अपना दास बनाइये॥ श्रीरामजी के चरणों में दृढ़ प्रीति करके बालि ने (इस तरह) देह त्याग की, जैसे हाथी अपने गले से फूल की माला का गिरना न जानें; अर्थात् बालि को शरीर-त्याग का कुछ भी दुःख नहीं हुआ॥१०॥

विशेष—(१) 'अब नाथ करि करुना···'—श्रीरामजी ने तन अचल करने को कहा है, परंतु यह उनकी कृपा-दृष्टि नहीं है। वह सोचता है कि मैंने इनके आश्रित को मारना चाहा था, इसी से अभी तक प्रभु के नेत्र क्रोध से लाल हैं; यथा—"अरुन नयन सर चाप चढ़ाये।' ऊपर कहा गया है। इसलिये बालि ने विनती की कि हे नाथ! करुणा करके देखिये। 'देहु जो बर माँगऊँ'—का भाव यह है कि आपने जो—'अचल करउँ तन···' का वरदान देने को कहा है, यह मैं नहीं चाहता, किन्तु मैं जो वही वर मुझे दीजिये। प्रभु की दृष्टि को करुणापूर्ण कराके तब माँगा, क्योंकि उसे दुर्लभ वर .

(२) 'जेहि जोनि जनमउँ ···'—भाव यह कि तन कोई भी क्यों न हो, मुझे आपका पदानुराग रहे। भक्त लोग किसी भी रीति से भगवान् का संयोग ही चाहते हैं; यथा—"देलिये को खग मृग तरु किंकर है रावरो राम हौं रहिहौं। यहि नाते नरकहूँ सचु पैहौं या बिनु परमपदहूँ दुख दहिहौं॥" (वि०२३१); तथा—"पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशे विशन्तु स्फुटं धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम्। तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गनव्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः॥" अर्थात् विह्वल चित्त से एक भक्त विधाता से प्रार्थना करता है कि पाँचों तत्त्व तो अलग-अलग होंगे ही, हे प्रभो ! आप इतना कर दीजिये कि जल प्रियतम के कुंड में, अग्नि उनके दर्पण में, पृथिवी उनके मार्ग में, वायु उनके पंखे में और आकाश-तत्त्व उनके आँगन में जाकर मिल जायँ।

(३) 'यह तनय मम सम ···'—उसी समय अंगद भी वहाँ आ गये थे। 'मम सम विनय बल'—का भाव यह है कि अंगद आपके कार्य के योग्य है। 'कल्याणप्रद'—इसका भी कल्याण कीजिये। 'लीजिये गहि बाँह'—बाँह पकड़कर इसे अपनाइये; यथा—"तुलसी तृन जल कूल को, निरधन निपट निकाज। कै राखै, कै सँग चलै बाँह गहे को लाज॥" (दोहावली ५११); अर्थात् बालि के मन में यह भाव है कि अंगद को बाँह पकड़ने से इसकी रक्षा का पूर्ण भार इन्हीं के ऊपर रहेगा और श्रीसुग्रीवजी के बाद इसे ही राज्य मिलेगा। 'सुर-नर-नाह'—जैसे आप सुर-नर की रक्षा करते हैं, वैसे ही इसकी भी रक्षा करें। अथवा आपकी सेवा तो बड़े-बड़े देवता और मनुष्य करते हैं, यह कौन विशेष सेवा करेगा? पर मेरे वर माँगने से आप इसे अपना दास बना लीजिये।

(४) 'राम-चरन दृढ़ प्रीति करि···'—'दृढ़ प्रीति'; यथा—"*जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥ सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँधि बरि डोरी॥*" (सुं० दो० ४७); बालि ने पहले प्रभु से राम-चरण-अनुराग माँगा, तब पुत्र को उन्हें सौंपकर निश्चिन्त हो गया और अब सभी ओर से ममता खींचकर उसने राम-चरण में दृढ़ प्रीति की, इसीसे मरने का दुःख उसे नहीं हुआ। जैसे हाथी की सूँड़ से माला खिसक पड़े, वैसे ही अनायास शरीर छूट गया।

'सुमन माल जिमि ···'—यहाँ ध्वनि से वाल्मी० ४।२२।१५-१७ में वर्णित इन्द्र की दी हुई माला का देना भी जनाया गया, जिसे बालि ने अंत समय में श्रीसुग्रीवजी को दिया था। वह माला दिव्य थी, बालि के पहने हुए ही शरीर त्याग होने से वह प्रभा-हीन हो जाती। इसलिये सौहार्द से बालि ने पहले ही इन्हें माला दे दी।

मानस में पञ्चसंस्कार

इस ग्रंथ के सातों कांडों में किष्किन्धाकांड मध्य का है, अतएव यह समग्र ग्रंथ का हृदय-रूप कहा जाता है। इसके पहले के तीन कांड ऊपर के और पीछे के तीनों नीचे के ढकन हैं। इस तरह के बने डब्बे में यत्नपूर्वक रक्खे रत्न की तरह यह कांड है। पुनः"बालकांड प्रभु पाय अयोध्या कटि मन मोहै। उदर बन्यो आरण्य हृदय किष्किंधा सोहै।" ऐसा भी कहा गया है। इससे ग्रंथकार ने अपना (वैष्णवों का) परम रहस्य-रूप पंच संस्कार इसी में गुप्त रीति से सजा रक्खा है। नाम, कंठी, ऊर्ध्वपुण्ड्र, मुद्रा (धनुष-बाण) और मंत्र, ये ही पञ्च संस्कार हैं। नाम; यथा—"आपन दास अंगद कीजिये" इसपर श्रीरामजी ने अंगद को बाँह पकड़ी और उसे अपना दास माना। कंठी; यथा—"मेलो कंठ सुमन की

माला।"—इसमें 'सुमन को' पद श्लिष्ट है। 'मनका' माला के बड़े-बड़े दाने को कहते हैं, और 'मनकी' छोटे दाने को, जिनकी कंठी बनती है। सु उपसर्ग यहाँ उत्तम काष्ठ के अर्थ से तुलसी को 'मनकी' का बोधक है। उसकी माला जब कंठ में मेली जायगी, तो दोहरा होने पर ही कंठ से संलग्न रहेगी, अन्यथा हृदय पर लटक जायगी। ऊर्ध्वपुण्ड्र; यथा—"पुनि पुनि चितइ चरन चित दीन्हें। सुफल जनम माना प्रभु चीन्हें॥" ऊर्ध्वपुण्ड्र भी 'हरिपादाकृति' ही है, यहाँ बालि के प्रभु-चरणों में चित्त देने का वही भाव है। इसी ऊर्ध्वपुण्ड्र से वैष्णव लोग अपने जन्म की सफलता भी मानते हैं। इसे ही 'प्रभु चीन्हें' अर्थात् प्रभु का चिह्न भी मानते हैं। मुद्रा; यथा—बाण से प्रभु ने बालि के सब पापों का नाश किया और उसी से उसे परम पद भी दिया; यथा—"ददर्श तस्य वीरस्य स्वर्गमार्गप्रभावनम्। रामबाणासनक्षिप्तमावहत्परमां गतिम्॥" (वाल्मी० ४।१७।८); (अर्थ ऊपर कहा गया है।); बाण के माहात्म्य के साथ-साथ धनुष का भी है। मंत्र; यथा—"जन्म जन्म मुनि जतन कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं॥ जासु नाम बल संकर कासी। देत सबहिं सम गति अबिनासी॥" इसमें एक अर्द्धाली में मंत्र का जपना और दूसरी में शिवजी के द्वारा कान में मंत्र का सुनाया जाना कहा गया है। मंत्र और नाम अभेद हैं; यथा—"सर्वेषां राममंत्राणां श्रेष्ठं श्रीतारकं परम्। षड्क्षरमनुं साक्षात्तथा युग्माक्षरं वरम्॥" (मत्स्यपुराण); पुनः राम-नाम राममंत्र का बीज है, मंत्र का अवशिष्ट अंश बीज का विवरण (अर्थ) है। 'जन्म जन्म मुनि'…—'जन्म-जन्म' अर्थात् नित्य प्रातःकाल, क्योंकि सोकर जागना जन्म के समान माना जाता है, इसी से प्रातःकाल प्राण-प्रतिष्ठा और भूत-शुद्धि आदि विधियाँ की जाती हैं। 'मुनि' अर्थात् मंत्र का अर्थ मनन करते हुए। 'जतन कराहीं' अर्थात् गुप्त रूप से जप करते हैं। 'अंत राम कहि'—अंतकाल तक नित्य ऐसे 'राम' कहते (जपते) हुए। 'आवत नाहीं'—फिर संसार में नहीं आते। दूसरी अर्द्धाली में शिवजी का मंत्रोपदेश देना स्पष्ट ही है; यथा—"रुद्रो वा ब्रह्मणो वापि ये लभन्ते षडक्षरम्।" (रामतापनीय ४०); मंत्रोद्धार सर्वत्र गुप्त ही रहता है, वैसे यहाँ भी है, विस्तार-भय से सूक्ष्म में ही कहा गया। इन पाँचों संस्कारों का रहस्यात्मक वर्णन मेरे ग्रंथ 'श्रीमन्मानस-नाम-वन्दना' में देखें।

राम बालि निज धाम पठावा। नगर लोग सब ब्याकुल धावा॥१॥
नाना बिधि बिलाप कर तारा। छूटे केस न देह सँभारा॥२॥
तारा बिकल देखि रघुराया। दीन्ह ग्यान हरि लीन्ही माया॥३॥

अर्थ—श्रीरामजी ने बालि को निजधाम (परम गति) भेज दिया, नगर के सब लोग व्याकुल होकर दौड़े॥१॥ तारा अनेक प्रकार से विलाप कर रही है, उसके शिर के बाल छूटे हुए हैं, देह की सँभाल नहीं है॥२॥ तारा को व्याकुल देखकर श्रीरघुनाथजी ने उसे ज्ञान दिया और माया हर ली॥३॥

विशेष—(१) 'निज धाम'—बालि श्रीरामजी के बाण के प्रभाव से निष्पाप हो गया, फिर उसने श्रीरामजी के दर्शन पाये और उनके चरणों में दृढ़ प्रीति करके शरीर-त्याग किया। अतः, प्रभु के 'निज धाम' (साकेत धाम) को गया। श्रीरामजी यहाँ खड़े हैं, अतएव उनका ही निज (स्वकीय) धाम का अर्थ लेना होगा; यथा—"ददर्श तस्य वीरस्य स्वर्गमार्गप्रभावनम्। रामबाणासनक्षिप्तमावहत् परमां गतिम्॥" (वाल्मी० ४।१७।८); इसमें स्वर्ग शब्द नित्यधाम का वाचक है, क्योंकि आगे 'परमां गतिम्, स्पष्ट है। वाल्मीकीय रामायण की 'शिरोमणि' टीका में स्वर्ग शब्द का अर्थ, वैदिक प्रमाणों से, दशरथजी के सम्बन्ध में पर धाम का ही किया गया है। जब उसने श्रीराम-चरण में दृढ़ प्रीति करके

प्राण छोड़े, तब तो—"मद्भक्ता यान्ति मामपि" (गीता ७।२३); "यान्तिमद्याजिनोऽपि माम्।" (गीता ९।२५); के अनुसार परमधाम अर्थ करना ही पड़ेगा। 'नगर लोग सब···'—"लोगों के व्याकुल होने का कारण उनका भय है कि अब हमलोगों को बालि-पक्ष का मानकर श्रीसुग्रीवजी वैर का बदला लेंगे"—वाल्मी० ४।१६ में कहा है। अथवा बालि उन्हें विशेष रूप से पालन करता था, अतएव प्रिय था। इससे उसकी मृत्यु सुनकर सब व्याकुल होकर दौड़े।

(२) 'नाना बिधि बिलाप'' '—तारा का विलाप वाल्मी० ४।२०-२४ में विस्तार से कहा गया है, उसे ही *'नाना बिधि' से यहाँ सूचित किया गया। 'छूटे केस न देह संभारा'—से उसका शोक से व्याकुल* होना जनाया गया; यथा—"सोक-बिकल दोउ राज-समाजा। रहा न ज्ञान न धीरज लाजा॥" (अ० दो० २७५); ज्ञान न रहा, इसीसे नाना प्रकार से विलाप करती है। धैर्य न रहने से देह की सँभाल नहीं है और लाज न रहने से केश छूट गये हैं।

"तारा सुषेण वानर की कन्या और बालि की स्त्री है, बालि ने श्रीसुग्रीवजी से कहा है कि तारा सूक्ष्म विषयों के विवेचन करने तथा नाना प्रकार के उत्पात-सूचक विषयों के जानने में अत्यन्त पटु है। इसकी सम्मति से किये गये कार्य अवश्य सिद्ध होते हैं।" (वाल्मी० ४।२२।१३-१४); पुराणों के अनुसार यह पंच-कन्याओं में-से है, *जिनका स्मरण मांगलिक माना जाता है।* अहल्या, द्रौपदी, तारा, कुन्ती और मंदोदरी—ये ही पंच-कन्याएँ हैं।

(३) 'तारा बिकल देखि''''''—श्रीरघुनाथजी कोमल स्वभाव के हैं। अतः, इसकी व्याकुलता पर उन्हें दया आ गई। इसी से उसे ज्ञान देकर उसका शोक निवृत्त किया; यथा—"सोक निवारेउ सबहि कर, निज बिज्ञान प्रकास॥" (अ० दो० १५६); प्रभु ने पहले ज्ञान देकर माया दूर की और जब उसने प्रभु से भक्ति माँगी तो उन्होंने दया-दृष्टि से विचारा कि मेरे सम्मुख प्राप्त होकर इसका शोक एवं अज्ञान रहना ठीक नहीं; इससे उन्होंने अपनी अलौकिक वाक्शक्ति से ज्ञान देकर उसका अज्ञान हर लिया।

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच-रचित अति अधम सरीरा॥४॥
प्रगट सो तनु तव आगे सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥५॥

अर्थ—पृथिवी, जल, अग्नि, आकाश और वायु, इन पाँचो तत्त्वों से यह अत्यन्त अधम शरीर रचा गया है॥४॥ वह शरीर प्रत्यक्ष तेरे सामने सोया हुआ है और जीव नित्य है, तो तुम किसके लिये रो रही हो?॥५॥

विशेष—(१) 'छिति जल पावक''''''—यहाँ तत्त्वों का वर्णन शरीर-रचना के क्रम से है जो—'पंच रचित''' से स्पष्ट है। *भाव यह कि माता का रज पृथिवी-तत्त्व है और पिता का वीर्य जल-तत्त्व* है। इनका खौलकर पिंड बन जाना अग्नि तत्त्व से होता है, उसमें का पोला भाग आकाश-तत्त्व है और फिर उसमें प्राण का आना वायु-तत्त्व है। पुनः सुन्दरकांड दो० ५८ में—"गगन समीर अनल जल धरनी।" यह क्रम कहा गया है, क्योंकि वहाँ पाँचों तत्त्वों के उत्पत्ति-क्रम के वर्णन का प्रसंग है; यथा—"तव प्रेरित माया उपजाये। सृष्टि हेतु ''" (सुं० दो० ५८); और श्रुति में भी तत्त्वों की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार कहा गया है; *यथा—"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः॥* आकाशाद्वायुः॥

वायोरग्निः ॥ अग्नेरापः ॥ अद्भ्यः पृथिवी ॥ पृथिव्या ओषधयः ॥ ओषधीभ्योऽन्नम् ॥ अन्नात्पुरुषः ॥" (तैत्तरीय० २।१) ।

'अति अधम सरीरा ।'—जीव का सहज स्वरूप उत्तम है, वासनामय होने से कारण शरीर मध्यम है, सूक्ष्म-शरीर अधम है और पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर अति अधम है, क्योंकि वह सप्त धातुमय एवं अत्यंत विकारी है।

(२) 'प्रगट सो तनु तव आगे सोवा ।'—जिस तन के लिये तुम रोती हो, वह तो तुम्हारे सामने ही लेटा हुआ प्रकट है। इस देह का प्रकाशक जो जीव है, वह नित्य पदार्थ है। तब इस अनित्य पाञ्चभौतिक तन में नित्य पदार्थ सदा कैसे रह सकता है? इसीलिये इसमें से उसका पृथक् होना अनिवार्य ही है और यही मरण कहा जाता है। जो बात अनिवार्य है, उसके लिये रोना व्यर्थ है। तात्पर्य यह कि अनित्य देह की कितनी ही रक्षा की जाय, वह नाश होगी ही और नित्य जीव को कोई कितना ही मारे-काटे उसका नाश हो ही नहीं सकता। इसपर गीता २।११-३० में (बीस श्लोकों में) सुन्दर व्याख्या है, उसे अवश्य देखना चाहिये। विस्तार-भय से यहाँ नहीं लिखा गया।

'प्रगट'—देह प्रकट है और जीव अप्रकट है; यथा—"आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः। आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥" (गीता २।२९); अर्थात् जीव इतना सूक्ष्म है कि इसका देखना, कहना, सुनना और जानना सभी आश्चर्यजनक हैं।

'जीव नित्य'; यथा—"अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥" (गीता २।२०); वाल्मीकीय ४।२४।४२-४४ में श्रीरामजी ने तारा को समझाया है, जिसका सारांश यह है कि वालि की मृत्यु के लिये विधाता का विधान इसी तरह का है। समस्त संसार उसी के विधानानुसार चलता है, ऐसा ही वेद का विधान है, तुम भी उसके इस विधान से संतुष्ट रहो, वीर-स्त्रियाँ वीर-गति-प्राप्त पति के लिये शोच नहीं करतीं।

इतनी ही बातों से पति-शोक में छाती पीटती हुई व्याकुल तारा को ज्ञान प्राप्त हो गया, यह श्रीरामजी की वाणी का ही प्रभाव है; यथा—"आश्वासिता तेन महात्मना तु प्रभावयुक्तेन परंतपेन ॥" (वाल्मी० ४।२४।४४)।

उपजा ज्ञान चरन तब लागी। लीन्हेसि परमभगति बर माँगी ॥६॥
उमा दारु-जोषित की नाईं। सबहि नचावत राम गोसाईं ॥७॥
तब सुग्रीवहि आयसु दीन्हा। मृतक-कर्म विधिवत सब कीन्हा ॥८॥

अर्थ—जब ज्ञान उत्पन्न हुआ, तब चरणों में लगी और वर माँगकर परम भक्ति ले ली ॥६॥ (शिवजी कहते हैं कि) हे उमा! गोस्वामी श्रीरामजी सबको कठपुतली की तरह नचाते हैं; अर्थात् सब जीव श्रीरामजी की प्रेरणा से परस्पर वर्ताव करते हैं ॥७॥ (जब तारा ने ज्ञान-द्वारा परम भक्ति का वर माँगकर पति के साथ सहमरण का विचार छोड़ दिया) तब श्रीरामजी ने श्रीसुग्रीवजी को आज्ञा दी और उन्होंने विधिपूर्वक वालि के सब मृतक-कर्म किये ॥८॥

विशेष—(१) 'उपजा ज्ञान चरन तब···'—श्रीरामजी की वाणी के प्रभाव से तारा को उसी

त्पण ज्ञान उत्पन्न हो गया, तब उसने पति के साथ सहमरण-रूपी पति-भक्ति को त्यागकर श्रीरामजी की परम भक्ति माँग लो, क्योंकि ज्ञान आदि सभी साधनों का फल हरि-भक्ति ही है ; यथा—"जहँ लगि साधन वेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी॥" (उ० दो० १२५); तारा को ज्ञान तो श्रीरामजी ने स्वयं दिया, पर प्रभु-भक्ति उसे माँगने से मिली, क्योंकि भक्ति ज्ञान से भी दुर्लभ है; यथा—"सब ते सो दुर्लभ सुरराया। राम-भगति-रत गत मद माया॥" (उ० दो० ५१), "प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही॥" (उ० दो० ८२); इत्यादि।

(२) 'उमा दारु-जोषित की नाईं। ···'—श्रीरामजी गोसामी अर्थात् इन्द्रियों के प्रेरक स्वामी हैं। अंतर्यामी-रूप से उन्हें प्रेरित कर सबको कठपुतली की तरह नचाते हैं। जैसे कठपुतली नचानेवाला परदे की ओट से तार-द्वारा उसे नचाता है, वैसे ही श्रीरामजी नानात्व जगत् की ओट से गुण (सत्त्वादि एवं करुणा, वात्सल्य आदि) रूपी तार-द्वारा सबको नचाते हैं ; यथा—"सारद दारु नारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी॥" (बा० दो० १०४); "यथा दारमयी योषिन्नृत्यते कुहकेच्छया। एवमीश्वरतंत्रोऽयमीहते सुखदुःखयोः॥" (श्रीमद्भागवत); अर्थात् जैसे नट की इच्छानुसार कठपुतली नाचती है, वैसे ही यह जीव ईश्वराधीन होकर सुख-दुःख के लिये चेष्टा करता है।

श्रीरामजी जीवों के कर्मानुसार गुण-रूपी तार (डोर) के द्वारा स्वेच्छा से सभी को नचाते हैं और वह तार दूसरों को नहीं दिखाई पड़ता, इसी तरह अपना भविष्य कोई नहीं जान पाता। जीव चेतन होते हुए भी प्रभु की इच्छा के बिना कुछ नहीं कर सकता और न अपने यत्न से कुछ पाने ही में स्वतंत्र है, इससे यह जड़ के समान परतंत्र कहा गया है। ईश्वर की कृपा से ही ज्ञान, भक्ति आदि प्राप्त कर सकता है। श्रीसुग्रीवजी के विषय में भी कहा गया है; यथा—"नट मरकट इव सबहि नचावत। राम खगेस वेद अस गावत॥" श्रीसुग्रीवजी पुरुष थे, इससे वहाँ मर्कट पुरुष रूप कहे गये। तारा स्त्री है, इसलिये कठपुतली कही गई। कपीश की बात खगेश से और तारा (स्त्री) की उमा से कही गई। दोनों जगह नचानेवाले प्रभु को 'राम' शब्द से कहा गया। 'रमु क्रीड़ायां' धातु के अनुसार राम शब्द क्रीड़ा-सूचनार्थ है। 'सबहि' शब्द दोनों जगह है और उसका अर्थ समस्त जगत् है। एक जगह जगत् को मर्कट-रूप में चैतन्य कहा और दूसरी जगह उसे दारुयोषित के रूप में जड़ कहा है। इस भेद का कारण यह है कि खगेश उपासना-घाट के हैं और उमा ज्ञान-घाट की हैं। उपासना की दृष्टि से प्राकृत चेष्टाएँ जीवों की अपनी हैं, इसमें सदसद्विवेकिनी बुद्धि और उसके कार्य श्रीरामजी की कृपा से प्राप्त होते हैं। अतएव सब जीव मर्कट की तरह हैं; यथा—"गुन तुम्हार समुझै निज दोषा। (अ० दो० १३०); "निज अवगुन गुन राम रावरे लखि सुनि मति मन रूमै।" (वि० २११)। ज्ञान दृष्टि से उभय प्रकार की चेष्टाएँ परमात्मा की ही सत्ता से होती हैं; यथा—"बोले बिहँसि महेस तब, ज्ञानी मूढ़ न कोइ। जेहि जस रघुपति करहिं जब, सो तस तेहि छन होइ॥" (बा० दो० १२४)। अतः, सब जीव कठपुतली की तरह हैं; यथा—"सतरंज को सो साज काठ को सबै समाज महाराज बाजी रची प्रथम न हति। तुलसी प्रभु के हाथ हारिबो जीतिबो नाथ···" (वि० २५१)।

(३) 'तब सुग्रीवहि···'—"श्रीसुग्रीवजी बालि की मृत्यु और तारा आदि का रोना देखकर करुणार्द्र हो आत्महत्या करने पर उद्यत हो गये, तब श्रीरामजी ने समझाया और प्रेत-कर्म के लिये उन्हें आज्ञा दी।" (वाल्मी० ४।२५।१-११)। 'बिधिवत'—श्रीसुग्रीवजी ने बालि की अन्त्येष्टि क्रिया अंगद के द्वारा ही करवाई, क्योंकि पिता की क्रिया का श्रेष्ठ अधिकार पुत्र ही [illegible] शास्त्रोक्त विधियों से राजा के योग्य तैयारी से सभी विधान किये गये। वाल्मी० ४।२५ में [illegible] हैं।

सुग्रीव-राज्याभिषेक—प्रकरण

राम कहा अनुजहि समुझाई। राज देहु सुग्रीवहि जाई ॥९॥
रघुपति-चरन नाइ करि माथा। चले सकल प्रेरित रघुनाथा ॥१०॥

दोहा—लछिमन तुरत बोलाये, पुरजन - बिप्र - समाज।
राज दीन्ह सुग्रीव कहँ, अंगद कहँ जुवराज ॥११॥

अर्थ—श्रीरामजी ने भाई श्रीलक्ष्मणजी को समझाकर कहा कि जाकर सुग्रीव को राज्य दो ॥९॥ श्रीरघुनाथजी के चरणों में शिर नवाकर श्रीरघुनाथजी की प्रेरणा से सब चले ॥१०॥ श्रीलक्ष्मणजी ने पुरजन और विप्र-समाज को शीघ्र बुलाया। श्रीसुग्रीवजी को राज्य और श्रीअंगदजी को युवराज-पद दिया ॥११॥

विशेष—(१) 'समुझाई'—श्रीरामजी ने श्रीलक्ष्मणजी से श्रीअंगदजी को युवराज-पद देने के लिये कहा और समझाया कि यदि उसे यह पद नहीं देंगे, तो लोग कहेंगे कि वालि तो अपना पुत्र इन्हें सौंप गया, पर इन्होंने उसका कुछ भी उपकार नहीं किया और हो सकता है कि पीछे श्रीसुग्रीवजी भी उसकी अवहेलना करें। अतः, उसके युवराज होने से हमारा कृपापात्र समझकर उसे पुत्र के समान सुख से रक्खेंगे। आगे स्पष्ट है; यथा—"राज दीन्ह सुग्रीव कहँ, अंगद कहँ जुवराज॥" यहाँ गुप्त रूप से कहने का कारण यह है कि श्रीरामजी का स्वभाव संकोची है, श्रीसुग्रीवजी के सम्मुख शीलवश यह नहीं कह सके कि श्रीसुग्रीवजी का पुत्र उत्तराधिकारी नहीं होगा। श्रीगोस्वामीजी ने भी इसे गुप्त ही रक्खा और कार्य हो जाने पर खोला।

(२) 'रघुपति चरन···'—चरणों में प्रणाम करके विदा होना शिष्टाचार है। 'रघुपति'—का भाव यह है कि एक तो सभी रघुवंशी धर्मात्मा हैं, फिर आप तो उनमें श्रेष्ठ हैं, अतएव धर्म और नीति के अनुसार ही किया। इस कार्य में सुग्रीव और वालि के वंश की भी भलाई की। 'प्रेरित रघुनाथा'—वालि के मारे जाने पर सभी विकल थे कि हमें वालि के पक्ष का (विरोधी) मानकर सुग्रीवजी के पक्षवाले दुःख देंगे। उसपर संकेत से श्रीरामजी ने लक्षित करा दिया कि अंगद का यौवराज्य भी होगा, तब सब प्रसन्न होकर कृतज्ञता से चरणों में प्रणाम करके चले।

(३) 'लछिमन तुरत बोलाये···'—स्वामी के आज्ञा-पालन में शीघ्रता एवं श्रद्धा से शीघ्र ही अभिषेक में बुलाये जाने योग्य पुरजनों और विप्रों को बुलाया। संभवतः मुहूर्त भी शीघ्रता का था और लौटकर शीघ्र ही स्वामी की सेवा में आना भी था। सबके समक्ष ही श्रीसुग्रीवजी को राज्य और अंगदजी को युवराज-पद दिया।

उमा राम-सम हित जग माहीं। गुरु-पितु-मातु-बंधु-प्रभु नाहीं ॥१॥
सुर-नर-मुनि सबकै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती ॥२॥

अर्थ—हे पार्वती ! संसार में श्रीरामजी के समान हितकारी गुरु, पिता, माता, भाई

कोई नहीं है ॥१॥ देवता, मनुष्य और मुनि, सबकी यह रीति है कि स्वार्थ के लिये ही सब प्रीति करते हैं ॥२॥

विशेष—(१) 'उमा राम सम···' यह चौपाई वैदर्भी काव्य की रीति की है, जिसमें मधुर वर्णों द्वारा मधुर रचना की जाती है। इसमें दो-दो-दो अक्षरों के सब मधुर पद हैं।

इसमें कहा गया है कि श्रीरामजी सबसे बड़े हितकारी हैं, आगे अर्द्धाली—'सुर-नर मुनि···' से उसका हेतु भी कहा है कि सब स्वार्थ-दृष्टि से ही हित करते हैं, पर श्रीरामजी निर्हेतु कृपालु हैं; यथा—"अति कोमल करुनानिधान बिनु कारन पर उपकारी॥" (वि० १६६); सुर-मुनि स्वार्थी हैं; यथा—"जे सुर सिद्ध मुनीस जोग विद बेद-पुरान बखाने। पूजा लेत देत पलटे सुख हानि लाभ अनुमाने॥" (वि० २३६); नर; यथा—"सुहृद समाज दगाबाजी ही को सौदा सूत जब जाको काज तब मिलै पाय परिसो॥" (वि० २६४)।

श्रीसुग्रीवजी का हित करने में श्रीरामजी का वास्तव में कोई स्वार्थ नहीं है; यथा—"का सेवा सुग्रीव की, का प्रीति-रीति निर्वाहु। जासु बंधु बध्यो ब्याध ज्यों सो सुनत सुहात न काहु।" (वि० १९१); "कपि सुग्रीव बंधु-भय ब्याकुल आयो सरन पुकारी। सहि न सके दारुन दुख जन के हत्यो बालि सहि गारी॥" (वि० १६६); "दीन जानि तेहि अभय करीजै।" (दो० ४); यह श्रीहनुमान्‌जी ने कहा है।

शंका—यहाँ कहा गया कि श्रीरामजी के समान हितकारी गुरु भी नहीं हैं, तो—"तुम ते अधिक गुरहि जिय जानी।···" (अ० दो० १२८); एवं—"गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः। गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥" यह किस भाव से कहा है?

समाधान—गुरु का महत्त्व ईश्वर-प्राप्ति के सम्बन्ध से है, गुरु की कृपा से ईश्वर की प्राप्ति होती है। उनमें गुरुत्व-शक्ति ब्रह्म से ही प्राप्त रहती है, उस शक्ति-सम्बन्ध से उतने अंश में वे ही परब्रह्म हैं, दिव्य गुण उत्पन्न करने से ब्रह्मा, भक्ति-प्रदान-द्वारा शिष्य का पालन करने से विष्णु और मोहादि दुर्गुणों के संहार करने से गुरु शिव-रूप भी हैं। फिर भी वे अपने शिष्यों के लिये ही हैं। और ईश्वर का ऐश्वर्य सब पर है। भगवान् ने ही गुरु-सेवा को अधिक गौरव स्वयं दिया है कि जिससे जीव गण शीघ्र कृतार्थ हों, यह भी उनकी ही दया है। वास्तव में सब नातों द्वारा उन्हीं की प्रेरणा से कार्य होते हैं; यथा—"जासों सब नाते फुरैं तासों न करी पहिचान।" (वि० १९०); "पितु मातु गुरु स्वामी अपनपौ तिय तनय सेवक सखा। प्रिय लगत जाके प्रेम सों बिनुहेतु हित नहिं तैं लखा॥" (वि० १३५); इसी से कहा है—"गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोकहँ जानै दृढ़ सेवा॥" (आ० दो० १५); तथा—"राम हैं मातु पिता सुत बंधु औ संगी सखा गुरु स्वामि सनेही॥" (क० उ० ३६); "जननि जनक गुरु बंधु सुहृद पति सब प्रकार हितकारी।" (वि० ११३)।

यहाँ ईश्वरी सत्ता का महत्त्व कहा गया है। जहाँ गुरु को अधिक कहा है, वहाँ सौलभ्य गुण को लेकर कहा गया है; जैसे—"कहेउँ नाम बड़ ब्रह्म राम ते।" (बा० दो० २२); इसमें भी नाम जप का फल रूप की प्राप्ति है, पर सौलभ्य अंश में अधिक कहा है।

बालि-त्रास ब्याकुल दिन-राती। तनु बहु ब्रन चिंता जर छाती ॥३॥

सोइ सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ। अति कृपाल रघुबीर-सुभाऊ ॥४॥
जानतहूँ अस प्रभु परिहरहीं। काहे न बिपति-जाल नर परहीं ॥५॥

अर्थ—जो (सुग्रीव) रात-दिन बालि के भय से व्याकुल रहता था, जिसके शरीर में बहुत घाव हो गये थे और चिन्ता के मारे जिसकी छाती जला करती थी ॥३॥ उसी सुग्रीव को वानरों का राजा बना दिया, रघुवीर श्रीरामजी का स्वभाव अत्यन्त ही कृपालु है ॥४॥ जो मनुष्य जानते हुए भी ऐसे प्रभु को छोड़ देते हैं, वे विपत्ति के जाल में क्यों न फँसेंगे ? ॥५॥

विशेष—(१) 'बालि त्रास व्याकुल ···'—श्रीसुग्रीवजी ने स्वयं कहा है—"तदपि सभीत रहउँ मनमाहीं।"; "सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला।" (दो० ५) ; 'तनु बहु व्रन' ; यथा—"रिपु सम मोहि मारेसि अति भारी।" (दो० ५) ; इसी से तन में बहुत घाव हो गये थे। 'चिंता जर छाती'—यह भीतरी दुःख भी कहा।

(२) 'अति कृपाल'—श्रीरामजी ने किसी स्वार्थ दृष्टि से उसका हित नहीं किया, किन्तु दीन जानकर उसपर अत्यन्त कृपा की है, यथा—"बालि बली बल सालि दलि, सखा कीन्ह कपि राज। तुलसी राम कृपालु को बिरद गरीब निवाज ॥" (दोहावली १५८) ; अर्थात् बालि अत्यन्त बली था, स्वार्थ चाहते तो उसीको मित्र बनाते, उसने कहा भी है—"आप मुझे आज्ञा दिये होते, तो मैं रावण को एक ही दिन में गला बाँध कर ला देता, एवं श्रीजानकीजी को ला देता।" (वाल्मी० ४।१७।४९-५१) ; फिर उन्हें किसी से भी सहायता लेने की आवश्यकता ही क्या थी ? ; यथा—"काम खलु शरैः शक्तः सुरासुरमहोरगान्। वशे दाशरथी कर्तुं स्वत्प्रतिज्ञामवेक्षते ॥" (वाल्मी० ४।२६।२२) ; अर्थात् श्रीरामजी बाणों-द्वारा देवता, दैत्य और महानागों को अपने वश में कर सकते हैं, तो भी वे तुम्हारी (श्रीसुग्रीवजी की) प्रतिज्ञा को देख रहे हैं। जाम्बवान् ने भी कहा है—"तव निज भुज बल राजिव नयना। कौतुक लागि संग कपि सैना ॥···राम सोवहिं आनि हैं।" (दो० ३०)। 'रघुबीर' अर्थात् वे पंच वीरता युक्त हैं उन्हें किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है।

(३) 'जानत हूँ अस प्रभु···'—'जाल'—समूह तथा फँसानेवाला। 'प्रभु'—वे जाल काटने में समर्थ हैं। ऐसे कृपालु प्रभु को न भूलना चाहिये, यह उपदेश है। इस प्रसंग में यह भी भाव है कि आगे श्रीसुग्रीवजी कुछ भूल गये, इससे विषय जाल में फँस गये, तब श्रीलक्ष्मणजी के डाँटने से उन्हें चेत हुआ, इससे सबको सावधान रहना चाहिये।

पुनि सुग्रीवहि लीन्ह बोलाई। बहु प्रकार नृप-नीति सिखाई ॥६॥
कह प्रभु सुनु सुग्रीव हरीसा। पुर न जाउँ दस चारि बरीसा ॥७॥
गत ग्रीषम - बरषारितु आई। रहिहउँ निकट सैल पर छाई ॥८॥
अंगद-सहित करहु तुम्ह राजू। संतत हृदय धरेहु मम काजू ॥९॥

अर्थ—फिर श्रीरामजी ने श्रीसुग्रीवजी को बुला लिया और उन्हें बहुत प्रकार से राज-नीति की शिक्षा दी ॥६॥ फिर प्रभु ने कहा—हे कपीश सुग्रीव ! सुनो मैं चौदह वर्ष तक पुर (बस्ती) में नहीं

जाऊँगा ॥७॥ ग्रीष्म ऋतु बीत गई, वर्षा ऋतु आ गई, मैं आपके समीप ही पर्वत पर स्थिर निवास करूँगा ॥८॥ अङ्गदजी के साथ तुम राज्य करो, मेरा कार्य सदा हृदय से स्मरण रखना ॥९॥

विशेष—(१) 'पुनि सुग्रीवहिं···'—बुलाना पड़ा, क्योंकि राज्य पाते ही विषय के वश हो गये, श्रीरामजी के पास भी न आते थे। इसलिये उचित राजनीति की शिक्षा देने के लिये बुलाया। राज्य का योग कर दिया अब उसके क्षेम के लिये नीति सिखाते हैं। कहा भी है—"राज कि रहइ नीति बिनु जाने।" (उ० दो० ११२); नीति, यथा—"साम दाम अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा॥ नीति धरम के चरन सुहाये। अस जिय जानि नाथ पहिं आये॥ धरम हीन प्रभु-पद बिमुख, काल बिबस दस सीस। तेहि परिहरि गुन आये, सुनहुँ कोसलाधीस॥" (लं० दो० ३८); पुनः—"मुखिया मुख सों चाहिये, खान पान कहँ एक। पालइ पोषइ सकल अंग, तुलसी सहित बिबेक॥ राज धरम सरबस एत नोई। ······" (अ० दो० ३१५); "माली भानु किसानु सम, नीति निपुन नरपाल। प्रजा भागबस होहिं गे, कबहुँ कबहुँ कलिकाल॥" (दोहावली ५०७); इत्यादि राजनीतियाँ नीति के ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं।

(२) 'कह प्रभु सुनु···'—इससे जान पड़ता है कि श्रीसुग्रीवजी ने घर पर पधारने को प्रार्थना की थी। उसपर प्रभु कहते हैं—'दस चारि'=१४ वर्ष तक मैं पुर (बस्ती) में नहीं जा सकता। प्रभु ने पहले 'दश' कहकर तब 'चारि' कहा, क्योंकि अधिक वर्ष बीत गये, अब थोड़े ही रह गये हैं। 'पुर' आदि के भाव अ० दो० ५१ और ८८ में भी देखिये। 'हरीसा'—श्रीसुग्रीवजी राजा हुए हैं, अतः सम्मान के लिये प्रभु ने स्वयं भी कहा है।

प्रभु ने श्रीसुग्रीवजी को यहाँ 'हरीसा', श्रीविभीषणजी को 'भ्राता' (लं० दो० ११५) और निषादराज को 'सखा सुजाना' (अ० दो० ८७) कहा है। उत्तरोत्तर अधिक सम्मान भी दिया है, क्योंकि श्रीसुग्रीवजी बुलाने पर आये और श्रीविभीषणजी तो स्वयं आये और उन्होंने विनती भी विशेष की। निषाद-राज का प्रेम उन दोनों से भी अधिक है। इन्होंने तो अपना घरनि-धन आदि कुछ माना ही नहीं। इसी से विदाई के समय प्रभु ने इनका अधिक आदर किया है, इसी से कहा है—"सदा रहेहु पुर आवत जाता।" (उ० दो० १२)।

(३) 'गत ग्रीषम बर्षा ···'—ज्येष्ठ-आषाढ़ ग्रीष्म के ये दोनों महीने उद्योग के योग्य थे, पर वे बीत गये। वर्षा-ऋतु आ गई; अर्थात् श्रावण लग गया। वर्षा के चार महीने होते हैं, उन महीनों में जो जहाँ रहते हैं, वहीं रह जाते हैं। इस समय दुगम स्थानों में जाने के काम प्रायः बंद से रहते हैं; यथा—"पूर्वोऽयं वार्षिको मासः श्रावणः सलिलागमः। प्रवृत्ताः सौम्य चत्वारो मासा वार्षिकसञ्ज्ञिताः॥ नायमुद्योग-समयः प्रविश त्वं पुरीं शुभाम्। अस्मिन्वत्स्याम्यहं सौम्य पर्वते सहलक्ष्मणः॥" (वाल्मी० ४।२६।१४।१५), इससे शिक्षा भी है कि सब कार्य समय पर ही करना चाहिये; यथा—"समरथ कोउ न राम सों, तीय हरन अपराध। समयहि साधे काज सब, समय सराहहिं साधु॥" (दोहावली ७७८); इसका आशय यह है कि वर्षा के बाद वैसे वैसे काम करने चाहिये।

(४) 'रहिहउ निकट' का भाव यह कि तुम घर पर चलने को कहते हो, पर वहाँ तो मैं नहीं जा सकता, हाँ, वियोग का भय न करो, पास ही रहूँगा। साथ ही यह भी भाव है कि नवीन राज्य पर विघ्न आना भी संभव है, तो रक्षा के लिये मैं पास ही हूँ।

(५) 'अंगद सहित करेहु···'—अंगद की अवहेलना न करना, राज्य-कार्य में उसकी भी सम्मति

लेते रहना। इससे बालि के पक्ष की प्रजा भी तुम्हारे अनुकूल ही रहेगी। 'संतत हृदय'''—क्योंकि कार्य में बराबर चित्त रहने से वह भुलाता नहीं और तत्संबंधी बहुत सी युक्तियाँ भी सूझती रहती हैं। 'हृदय धरेहु'— भाव यह कि बिना उद्योग आरम्भ हुए प्रकट भी न हो, समय पर ही प्रकट हो।

शैल-प्रवर्षण-वास—प्रकरण

जब सुग्रीव भवन फिरि आये। राम प्रबरषन गिरि पर छाये ॥१०॥

दोहा—प्रथमहि देवन्ह गिरि-गुहा, राखेउ रुचिर बनाइ।
राम कृपानिधि कछुक दिन, बास करहिंगे आइ ॥१२॥

सुंदर बन कुसुमित अति सोभा। गुंजत मधुप-निकर मधु-लोभा ॥१॥
कंद मूल फल पत्र सुहाये। भये बहुत जब ते प्रभु आये ॥२॥

अर्थ—जब श्रीसुग्रीवजी घर लौट आये, तब श्रीरामजी ने प्रवर्षण पर्वत पर स्थिर निवास किया ॥१०॥ देवताओं ने पहले ही से पर्वत की एक गुफा को सुन्दर बना रक्खा था कि कृपासागर श्रीरामजी आकर यहाँ कुछ दिन निवास करेंगे ॥१२॥ फूला हुआ सुन्दर वन अत्यन्त सुशोभित है, मधु (पुष्परस) के लोभ से भ्रमर-समूह गुंजार कर रहे हैं ॥१॥ जब से प्रभु आये, तब से सुन्दर कंद, मूल, फल और पत्ते बहुत हुए (क्योंकि ये प्रभु के काम आवेंगे) ॥२॥

विशेष—(१) 'राम प्रबरषन गिरि पर छाये।'; यथा—"आजगाम सह भ्रात्रा रामः प्रस्रवणं गिरिम्।" (अ० रा० ४।२७।१)। प्रस्रवण प्रवर्षण का पर्याय है, अर्थात् जहाँ बहुत वर्षा होती है। यह पर्वत माल्यवान् गिरि का एक भाग है; यथा—"वसन्माल्यवतः पृष्ठे रामो लक्ष्मणमब्रवीत्॥" (वाल्मी० ४।२८।१); यह पर्वत किष्किंधा के पास ही है। इससे पूर्वोक्त—"रहिहउँ निकट सैल पर छाई।" यह चरितार्थ हुआ।

(२) 'प्रथमहि देवन्ह गिरि गुहा'''—यह देवताओं के द्वारा बनाई गई थी, इसी से 'गुहा' कही गई; यथा—"देवखात बिले गुहा गह्वरः" 'कृपानिधि'—क्योंकि इसमें रहकर श्रीरामजी हमारे श्रम को सफल करने की कृपा करेंगे।

प्रश्न—चित्रकूट में तो श्रीरामजी के पहुँचने पर कुटी बनाई गई। गोदावरी-तट पर भी कुटी में ही रहते थे। यहाँ गुहा क्यों बनी और पहले ही क्यों बनाई गई ?

उत्तर—पहले चित्रकूट से श्रीरामजी के लौटने का भी संदेह था, इससे उनके आने पर बनाई गई। वह संदेह यहाँ नहीं है, क्योंकि बहुत समय बीत चुका है। वहाँ प्रभु 'प्रिया' सहित रहते थे, इससे पर्णशाला ही बनाई गई। यहाँ कंदरा का अनुकूल होना विचारकर उसे ही बनाया। वर्षा में बनाने में कठिनाई होती, इसीलिये पहले ही से उसे बना रक्खा था।

(३) 'सुंदर बन कुसुमित''' — वाल्मी० ४।२७-२८ (इन सर्गों) में इस वन का विस्तृत वर्णन है। यही 'सुंदर' शब्द से जनाया। 'कुसुमित' है; अतः, 'अति सोभा' है। 'गुंजत मधुप-निकर'''— मधु पीने के लोभी हैं, इससे 'मधुप' कहा। मधुप = मधु पीनेवाले। यहाँ स्थावर की सेवा है।

आगे जंगम की सेवा कहते हैं — 'मधुकर खग-मृग''' इत्यादि।

देखि मनोहर सैल अनूपा। रहे तहँ अनुज-सहित सुरभूपा ॥३॥
मधुकर खग-मृग तनु धरि देवा। करहिं सिद्ध-मुनि प्रभु कै सेवा ॥४॥
मंगल-रूप भयउ बन तब ते। कीन्ह निवास रमापति जब ते ॥५॥
फटिक-सिला अति सुभ्र सुहाई। सुख आसीन तहाँ दोउ भाई ॥६॥

अर्थ—मन को हरनेवाला अनुपम (एवं जल पूर्ण) पर्वत देखकर देवताओं के सम्राट् श्रीरामजी भाई के साथ वहाँ रह गये ॥३॥ देवता, सिद्ध और मुनि—भ्रमर, पक्षी तथा वन्य-पशु (वा, हिरण) के शरीर धारण कर-करके प्रभु की सेवा करने लगे ॥४॥ जबसे रमापति श्रीरामजी ने यहाँ निवास किया, तबसे यह वन मंगल-रूप हो गया ॥५॥ स्फटिक की एक अत्यन्त उज्ज्वल शिला सुशोभित है, उसी पर दोनों भाई सुख पूर्वक विराजमान हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'देखि मनोहर सैल'''—पहले वन की शोभा कहकर तब शैल का वर्णन है। अतः, वह वन पहाड़ पर है, यह निश्चय हुआ। अनूप का अर्थ उपमा-रहित है। इसका कारण 'अनूप' के श्लेषार्थ से ही निकलता है ; यथा—"अनुगता आपो यस्मिंस्तदनूपम्। जलप्रायमनूपं स्यात्—इत्यमरः।" अर्थात् जलप्राय स्थान, जिसपर जल बहुत होता है, प्रवर्षण नाम से भी वही सिद्ध होता है।

'सुरभूपा'—क्योंकि देवांश रूप वानरों की रक्षा करते हुए यहाँ विराज रहे हैं। अपना रक्षक जानकर ही प्रत्यक्ष-रूप से देवताओं ने गुहा का निर्माण किया है। पुनः वे मधुकर आदि रूपों से सेवा भी कर रहे हैं।

(२) 'मधुकर खग-मृग'''—ये रूपान्तर से आये, क्योंकि प्रत्यक्ष रूप से सेवा करने से ऐश्वर्य खुलता और उससे ब्रह्माजी के वचन झूठे होते। पुनः मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामजी देवताओं से सेवा लेते भी नहीं। वे लोग चित्रकूट में भी कोल-किरातों के रूप से आये थे, क्योंकि वहाँ पर्णकुटी बनानी थी; यथा—"कोलकिरात बेष सब आये। रचे परन तृन सदन सोहाये ॥" (अ० दो० १३३); और यहाँ श्रीरामजी विरही हैं, और उनके मन को रमाना है, इसीलिये भ्रमरादि रूपों से आये। भ्रमर अपनी सुन्दर गुंजार से, पक्षी अपनी मधुर सुरीली बोली से और मृग अपने सुन्दर नेत्र दिखाकर स्वामी की सेवा करते हैं; यथा—"मृग बिलोकि खग बोलि सुबानी। सेवहिं सकल राम प्रिय जानी ॥"(अ०दो०११०)।

यहाँ मुनि मधुप हैं, वेद-पाठ आदि उनकी गुंजार हैं, फिर मनन करनेवाले की तरह मौन हो जाते हैं। सिद्ध लोग पक्षी हैं, इनका एक जगह से दूसरी जगह पर उड़कर जाना, सिद्धि बल से स्थानांतर को जाने की तरह है। देवता मृग हैं, विषयी होने से मृगवत् चंचल स्वभाववाले होते हैं। ऊपर जो मधुप कहे गये ; यथा—"गुंजत मधुप निकर मधु लोभा।" वे प्राकृत हैं और ये दिव्य हैं। वे मधु के लोभी हैं और ये सेवा के लोभी हैं।

'रमापति'—श्रीलक्ष्मीजी से मंगल होता है। यहाँ श्रीरामजी के निवास से वन मंगल-स्वरूप हो गया, अतएव इन्हें 'रमापति' कहा गया है। यह भी सूचित किया कि इनके निवास से वन मंगलमय हो गया। अब इन्हें किसी तरह का भी खेद नहीं है। विरह का नाट्य तो ऊपरी है। तथा—इनकी श्रीजी तो (गुप्त-रूप से) साथ ही हैं।

"बरनत बरषा"—प्रकरण

कहत अनुज सन कथा अनेका। भगति बिरति नृप-नीति बिबेका ॥७॥
बरषा-काल मेघ नभ छाये। गरजत लागत परम सुहाये ॥८॥

दोहा—लछिमन देखु मोर-गन, नाचत बारिद पेखि।
गृही बिरति-रत हरष जस, बिष्णु-भगत कहँ देखि ॥१३॥

अर्थ—(श्रीरामजी) छोटे भाई से भक्ति, वैराग्य, राजनीति और सदसद्विवेक (विचार) की अनेक कथाएँ कहते हैं ॥७॥ वर्षा-काल में मेघ आकाश में छाये (फैले) हुए हैं, (और) गरजते हुए बड़े ही सुहावने लगते हैं ॥८॥ हे श्रीलक्ष्मणजी! देखो, मोरों के समूह मेघ को देखकर नाचते हैं, जैसे वैराग्यवान् गृहस्थ विष्णु-भक्त को देखकर हर्षित होते हैं ॥१३॥

विशेष—(१) 'कथा अनेका'—वाल्मीकीय रामायण में इस प्रसंग पर वन का वर्णन करते हुए विरह तथा अन्य व्यवहारों की भी उपमाएँ दी गई हैं। श्रीमद्भागवत और विष्णु पुराण में वर्षा के वर्णन के साथ ही ज्ञान, वैराग्य और राजनीति की भी उपमाएँ हैं, वैसा ही विषय विस्तार-पूर्वक यहाँ भी कहा गया है। किंतु सर्वमतरक्षा के लिये 'कथा अनेका' भी कहा है। श्रीरामजी अपने आचरण से शिक्षा देते हैं कि ऐसी ही बातों में कालक्षेप करना चाहिये।

प्रथम भक्ति कही गई, क्योंकि अरण्य-कांड में श्रीलक्ष्मणजी ने इसी का मुख्य प्रश्न किया था और इसी पर वे अत्यंत सुखी हुए थे; यथा—"भगति जोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन···" (आ० दो० १६); वहाँ सब बातें समझा चुके हैं, यहाँ केवल कथा कहते हैं, क्योंकि इन्हीं बातों में कालक्षेप करना आपको प्रिय है।

(२) 'बरषा काल मेघ ···'—'परम सुहाये'—आकाश में छाये हुए मेघ सुहावने लगते हैं और गरजते हुए 'परम सुहाये' लगते हैं। पुनः 'वर्षा-काल' के योग से भी मेघ और गर्जन की शोभा है। समयानुकूल बातें सुहावनी होती ही हैं।

मेघ आठ महीने भूमि से जल खींचते हैं तब नहीं जान पड़ता, पर जब वर्षा ऋतु में बरसते हैं, तब उनकी शोभा होती है। ऐसे ही नीति से चलनेवाले राजा जब प्रजा से कर लेते हैं, तब किसी को नहीं जान पड़ता, और जब वे वही धन प्रजा को देते हैं, तब उनकी शोभा होती है—यहाँ नीति है।

आगे का—'लछिमन देखु' दोहे हली है, मेघ और मोर दोनों के नृत्य दिखाने में है।

(३) 'लछिमन देखु मोर-गन···' ; यथा—"मेघागमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनंदन् शिखंडिनः। गृहेषु तप्ता निर्विण्णा यथाच्युतजनागमे ॥" (भाग० १०।२०।२०) ; अर्थात् मेघों के आगमन-रूपी उत्सव से प्रसन्न होकर मोरगण आनंदित होते हैं (मेघों को देखकर नाचने लगते हैं) जैसे गृहस्थी में तपे एवं श्रान्त (दुखी) और वैराग्य को प्राप्त गृहस्थ विष्णु भक्त के आगमन से प्रसन्न होते हैं।

पहले सजल मेघों का गरजना कहकर तब मोरों का नाचना कहा गया है। क्योंकि मेघों का गर्जन सुनकर और इन्हें देखकर मोर नाचने लगते हैं। 'वारिद पेखि'—मोर समझते हैं कि ये हमको वारि+द= जल देंगे, इसीसे नाचते हैं। ऐसे ही 'बिरति-रत गृही' हर्षित रहते हैं कि हमें विष्णु-भक्त से श्रीराम-यश सुनने को मिलेगा।

गृही का धर्म पालन करने से वैराग्य होता है और तब वैष्णव धर्म में प्रीति होती है ; यथा—"निज निज कर्म निरत श्रुति-रीती ॥ यहि कर फल मन बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा ॥" (अ० दो० १५) ; 'गृही बिरति रत' के उदाहरण में मनु महाराज एवं श्रीजनकजी हैं।

विष्णु-भक्त वारिद और राम-यश जल ; यथा—"वेद पुरान उदधि घन साधू ॥ बरषहिं राम सुजस बर बारी।" (बा० दो० ३५) ; गृही संत के दर्शनों से सुखी होते हैं ; यथा—"संत मिलन सम सुख कछु नाहीं।" (उ० दो० १२०)। जैसे मेघ के गर्ज-गर्जकर बरसने पर मोर हर्षित हो नाचते हैं। वैसे ही संत गर्ज-गर्जकर राम-यश रूपी जल बरसाते हैं, जिससे गृही हर्षित होते हैं। जैसे मोर ग्रीष्म की ताप से तपे रहते हैं, वैसे ही गृही गृह-जाल एवं विषयाग्नि से तपे रहते हैं। इसी से दोनों शीतल होने से सुखी होते हैं। एक तो सामान्य मेघ से ही मोर सुखी होते हैं, पर गरजने बरसनेवाले से तो अत्यंत ही सुखी होते हैं। इसी तरह गृही सामान्य संत के दर्शनों से तो सुखी होते ही हैं, पर श्रीराम-यश वक्ता के दर्शनों से अत्यंत सुखी होते हैं। इस दोहे में भक्ति और वैराग्य कहा गया है। वर्षा के प्रारंभ में मोरों का हर्ष कहना कवियों की रीति है ; यथा—"वर्षा ही हर्षित कहहिं, केकी केसव दास।" (कवि-प्रिया)।

घन घमंड नभ गरजत घोरा। प्रिया-हीन डरपत मन मोरा ॥१॥
दामिनि दमक रह न घन माहीं। खल कै प्रीति जथा थिर नाहीं ॥२॥

अर्थ—मेघों के समूह आकाश में घोर गर्जन कर रहे हैं, प्रिया (श्रीसीताजी से) हीन होने से मेरा मन डरपता है ॥१॥ बिजली की चमक बादल में नहीं रहती (ठहरती नहीं), जैसे दुष्ट की प्रीति स्थिर नहीं रहती ॥२॥

विशेष—(१) 'घन घमंड नभ···'—'घमंड' का अर्थ समूह है और गर्व पूर्वक भी है। विरह में घन-गर्जन प्रतिकूल होने से यह उसके गर्व का द्योतक है। 'प्रिया-हीन'—ऊपर मोर का आनंद से नाचना कहा है, इसी से कहते हैं कि उसकी मयूरी को राक्षस ने नहीं हरण किया, इसी से वह नाचता है, पर मेरी प्रिया श्रीसीताजी तो हरण की गई हैं, अतएव मेरा मन डरपता है, मेघ का गरजना, बिजली की चमक और मोर का नाचना आदि शृंगार रस के उद्दीपक विभाव हैं, अतएव विरही को दुःखदायी हैं, इसी से प्रभु ने अपने मन का डरना कहा है। स्त्री की आसक्ति से वियोग का दुःख हुआ ; अतः, इससे वैराग्य रखना चाहिये, यह लोगों को शिक्षा है—यहाँ वैराग्य है।

कोई-कोई कहते हैं कि यहाँ की ४० अर्द्धालियों में कहीं भी श्रीरामजी ने अपने विषय में कोई बात

नहीं कही और प्रत्येक चौपाई में दो-दो बातें (दृष्टान्त और दार्ष्टान्त) कही गई हैं, यहाँ भी वैसा ही अर्थ करना चाहिये, अतएव 'मन मोरा' का 'मन मोड़े हुए' अर्थ होगा; अर्थात् विषयों से मन मोड़े हुए उदासीन लोगों को डर लगता है, क्योंकि मेघ कामदेव का समाज है और इसका गर्जन उसकी ललकार है।

(२) 'दामिनि दमक रह न····'—मेघ आकाश में है और मोर नीचे भूमि पर। फिर भी इसकी प्रीति उसमें है, इसी से उसे देखकर नाचता है और बिजली भी मेघ से ही उत्पन्न होती है, पर उसमें उसकी प्रीति नहीं है ; इसी से वह उसमें स्थिर नहीं रहती। तात्पर्य यह कि अच्छे लोग दूर रहकर भी प्रीति का निर्वाह करते हैं और चंचल स्वभाववाले दुष्ट लोग सगे सम्बन्धी के भी अपने नहीं होते। अतः, इनसे दूर ही रहना चाहिये—यहाँ नीति है।

बरषहिं जलद भूमि निअराये। जथा नवहिं बुध बिद्या पाये ॥३॥
बूँद-अघात सहहिं गिरि कैसे। खल के बचन संत सह जैसे ॥४॥

अर्थ—बादल पृथिवी के समीप आकर (नीचे झुककर) बरस रहे हैं, जैसे विद्वान् विद्या पाकर नम्र हो जाते हैं ॥३॥ बूँदों की चोट पहाड़ कैसे सहते, जैसे दुष्टों के वचन संत सहते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'बरषहिं जलद भूमि····'; यथा—"ज्यालम्बमाना जलदा वर्षन्ति स्फूर्जिताम्बराः। यथा विद्यामुपालभ्य नमन्ति गुणिनो जनाः ॥" (विष्णुपुराण); 'जलद'=जल देनेवाले, मेघ जल देते हैं और पंडित लोग विद्यार्थियों को विद्या दान देते हैं, जैसे मेघ जल के भार से नवते हैं, वैसे ही पंडित भी अधिक विद्या पाकर नम्र होते हैं। अबुध नहीं; यथा—"अधम जाति मैं बिद्या पाये। भयउँ जथा अहि दूध पियाये ॥" (उ० दो० १०५); अतः, विद्वान् को विनम्र होना चाहिये—यहाँ नीति है।

(२) 'बूँद अघात सहहिं····'—संत पर्वत हैं और दुष्टों के वचन बूँदों के समान हैं, जैसे बूँदें अनेक होती हैं, वैसे ही वचन भी अनेक हैं। गिरि जड़ हैं, उनमें जल प्रवेश नहीं कर पाता, वैसे ही संत लोग भी जड़ की तरह कुवचन सह लेते हैं, हृदय में क्षोभ नहीं हो पाता। यद्यपि वृक्ष-पशु भी बूँद सहते ही हैं, तथापि इन्हें कुछ क्षोभ तो होता ही है। इसी से पर्वत की ही उपमा दी गई है। इससे उपदेश है कि संतों को क्षमा चाहिये—यहाँ नीति है।

जो वचन औरों के लिये वज्र के समान हैं; यथा—"बचन बज्र जेहि सदा पियारा।" (बा० दो० ३); वे ही संतों के लिये पानी की बूँदों के समान शीतल हैं। मिलान ; यथा—"गिरयो वर्ष-धाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः। अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाऽधोक्षजचेतसः ॥" (भाग० १०।२०।१५)।

'सहहिं गिरि कैसे' में यह भी ध्वनि है कि वे कैसे सहते हैं? हमसे तो नहीं सहा जाता। भाव यह कि विरही को वर्षा दुःखद लगती है; यथा—"बारिद तपत तेल जनु बरिसा ॥" (सुं० दो० १४)।

छुद्र नदी भरि चलीं तोराई। जस थोरेहु धन खल इतराई ॥५॥
भूमि परत भा ढाबर पानी। जनु जीवहि माया लपटानी ॥६॥

शब्दार्थ—तोराई—त्वरा से, तेजी से, वेग से। इतराना=घमंड करना, ठसक दिखाना।

अर्थ—छोटी नदी भरकर वेग से चलने लगी, जैसे थोड़ा भी धन पाकर दुष्ट घमंड करने लगता है ॥५॥ पृथिवी पर पानी पड़ते ही मटमैला हो गया है, जैसे जीव को माया लिपट गई हो ॥६॥

विशेष—(१) 'छुद्र नदी भरि ······'—क्षुद्र नदी का पेट भारी नहीं है, इसी से थोड़े ही जल में वह सीमा के बाहर हो जाती है और लोगों के घर, वृक्ष, कृषी आदि को डुबाती हुई अंत में सूख जाती है। ऐसे ही दुष्ट थोड़े ही धन से फूला नहीं समाता, उसका धन भी उपद्रव में लगकर शीघ्र ही (त्वरा से) समाप्त हो जाता है। फिर सदा उनका पेट जलता ही रहता है। जैसे क्षुद्र नदी मूलरहित है, वैसे ही दुष्ट का धन भी हरि भक्ति-रहित है, इसी से शीघ्र नाश हो जाता है; यथा—"राम बिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई॥ सजल मूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं। बरषि गये पुनि तबहि सुखाहीं॥ (सुं० दो० २१)। दुष्ट की सम्पत्ति अन्याय से आती है, इसी से बुरे कर्मों में ही लगती भी है। मिलान, यथा—"ऊहुरुन्मार्गगामीनि निम्नगांभांसि सर्वतः। मनांसि दुर्विनीतानां प्राप्य लक्ष्मीं नवामिव॥" (विष्णुपुराण)—यहाँ नीति है।

दुष्ट के मन, वचन, कर्म तीनों नष्ट हैं, यथा—"खल कै प्रीति यथा थिर नाहीं।"—यह मन का दोष है और प्रीति मन का धर्म है। "खल के बचन संत सह जैसे।"—यह वचन का दोष है और—"जस थोरेहु धन खल इतराई।"—यह कर्म का दोष है।

पहाड़ों के पानी को नदी-द्वारा चलाकर आगे भूमि के जल का वर्णन करते हैं—

(२) 'भूमि परत भा ढाबर···'—पत्थर पर गिरा हुआ पानी कम गँदला होता है, पर भूमि पर पड़ने से बहुत ही मैला हो जाता है। गिरि की उपमा ऊपर संतों से दी गई; यथा—"बूँद अघात ··" और यहाँ भूमि की उपमा माया से दी जाती है। भाव यह कि जो जीव साधु-कुल में जन्म लेते हैं, उनमें माया कम व्याप्त होती है; यथा—"अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।···यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनंदन॥" (गीता ६।४२।४३); और जो मायिक जीवों के यहाँ जनमते हैं, वे पूर्ण-रूप से माया में लिप्त होते हैं। 'भूमि परत'—उपमान और उपमेय दोनों के साथ है। जल जब आकाश में था, तब निर्मल था, परन्तु भूमि में पड़ते ही धूल-सहित होकर गँदला हो गया। वैसे ही जीव जब गर्भ में था, तब तक इसे ज्ञान था; यथा—"तोहिं दियो ज्ञान विवेक जन्म अनेक की तब सुधि भई ··" से "अब लग जाइ भजउँ चक्रपानी॥" तक (वि० १३६)। और यह निर्मल था, पर भूमि पर पड़ते ही माया लिप्त हो गई, यह रजोगुणी नातों में ओत-प्रोत हुआ। रज और जल दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, प्रयत्न करने पर अलग-अलग हो जाते हैं, ऐसे ही मायिक नाते और जीव भी हरि-गुरु-कृपा-सहित प्रयत्न करने से पृथक् हो जाते हैं। इसपर वि० १३६ पूरा पद पढ़ने योग्य है।

समिटि समिटि जल भरहिं तलावा। जिमि सदगुन सज्जन पहिं आवा ॥७॥
सरिता-जल जलनिधि महँ जाई। होइ अचल जिमि जिव हरि पाई ॥८॥

दोहा—हरित भूमि तृन-संकुल, समुझि परहिं नहिं पंथ।
जिमि पाखंड-बाद ते, लुप्त होहिं सदग्रंथ ॥१४॥

अर्थ—जल एकत्र हो-होकर तालाबों में भर रहा है, जैसे सद्गुण (एक एककर) सज्जन के पास

आते हैं ॥७॥ नदी का जल समुद्र में आकर अचल (स्थिर) हो जाता है, जैसे जीव हरि को पाकर अचल हो जाता है ॥८॥ पृथिवी घास से परिपूर्ण होकर हरी हो गई है, (इससे) मार्ग नहीं समझ पड़ता जैसे पाखंड-वाद से श्रेष्ठ ग्रंथ लुप्त हो जाते हैं ॥१४॥

विशेष—(१) 'समिटि-समिटि जल ····'—पहाड़ों के जल का नदियों में और भूमि के जल का तालाबों में जाना कहा गया। 'समिटि-समिटि' का भाव यह है कि सज्जनों के हृदय में सद्गुण क्रमशः आते हैं। 'आवा' अर्थात् स्वयं आते हैं, सज्जनों को प्रयास नहीं करना पड़ता, जैसे कि तालाबों में सभी ओर के जल स्वतः चले आते हैं; यथा—"पुन्य पुरुष कहँ महि सुख छाई॥ जिमि सरिता सागर महँ जाहीं। यद्यपि ताहि कामना नाहीं॥" (बा० दो० २९२); "सत सहि साँसति पति लहत, सुजन कलेस न काय। गढ़ि-गुढ़ि पाहन पूजिये, गंडकि सिला सुभाय॥" (दोहावली) जैसे तालाब के जल से लोगों का उपकार होता है, उसी तरह सज्जन अपने सद्गुणों से परोपकार करते हैं और क्षुद्र नदी की तरह दुष्ट अपने धनरूपी जल की बाढ़ से सब को दुःख ही देता है।

(२) 'सरिता जल जलनिधि ····'—जो जल तालाब से निकलकर या, यों ही नालों के द्वारा सीधे नदी में गया, वह समुद्र को चला। 'सरिता' अर्थात् 'सरति गच्छति इति सरित्' आगे अचल होना है, अतः इसे अभी चल कहते हैं। सरिता-जल की तरह जीव भी हरि-प्राप्ति के पहले चल (जंगम) ही रहते हैं; यथा—"आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अविनासी॥ फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥" (उ० दो०४४)।

'जल निधि'—जैसे जल का अधिष्ठान समुद्र है, वैसे ही जीव-मात्र का अधिष्ठान ईश्वर है। 'होइ अचल'—जैसे जल नदियों में प्राप्त होकर भी अचल न हुआ, समुद्र में ही पहुँचकर अचल हुआ, वैसे ही अन्य देवी, देवताओं की उपासना से उन्हें प्राप्त होकर जीव अचल नहीं होता, किंतु इसका आवागमन बना ही रहता है, क्योंकि वे देवता तो स्वयं भव-प्रवाह (जन्म-मरण के चक्र) में पड़े हुए 'चल' हैं; यथा—"भव प्रवाह संतत हम परे। अब प्रभु पाहि सरन अनुसरे॥" (लं० दो० १०८)।

जल पहले समुद्र में ही था, मेघ-द्वारा आकर्षित होकर वृष्टि से भूमि पर आया। फिर संयोग से नदियों में प्राप्त हो समुद्र में पहुँचकर ही अचल हुआ। वैसे ही जीव भी माया के योग से हरि से पृथक् हुआ, फिर सत्संग से हरि को ही पाकर अचल हुआ अर्थात् जन्म-मरण से रहित हुआ। जो जीव महात्माओं के आश्रित नहीं हुआ वह भव-प्रवाह में ही पड़ा रहा। 'होइ अचला'; यथा—"यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम॥" (गीता १५।६); और भी कहा है; यथा—"राम सरूप सिंधु समुहानी।" (बा० दो० ३९)—यहाँ ज्ञान है। इसमें पूर्णोपमा है—सरिता-जल और जीव; जलनिधि और हरि, उपमेय-उपमान हैं; 'जिमि' वाचक और 'अचल होइ' धर्म है। यहाँ उपमा का तात्पर्य अचल होने ही से है। जैसे कि 'कमल सम कोमल चरण' में कोमलता धर्म है और उपमा का प्रयोजन कोमलता से ही है, कमल के रंग आदि चाहे जैसे हों।

(३) 'हरित भूमि तृन····'—पहले भूमि पर जल वर्षा होना कहा गया, अब उसके द्वारा उपजने-वाले तृण के विषय में कहते हैं। 'पाखंड-वाद'; यथा—"साखी सब्दी दोहरा, कहि कहनी उपखान। भगति निरूपहिं कलि भगत, निंदहिं बेद पुरान॥" (दोहावली ५५४); तृणों की तरह पाखंड-वाद वैदिक समीचीन मार्ग का आच्छादक है। जैसे तृण काटने से मार्ग खुल जाते हैं, वैसे ही पाखंडवाद के ग्रंथों का खंडन करने से वेद-मार्ग-प्रतिपादक सद्ग्रंथ प्रकाशित हो जाते हैं और समीचीन मार्ग खुल जाते हैं।

यथा—"मार्गा बभूवुः संदिग्धास्तृणैश्छन्ना ह्यसंस्कृताः। नाभ्यस्यमानाः श्रुतयो द्विजैः कालहता इव॥'''
जलौघैर्निरभिद्यन्त सेतवो वर्षतीश्वरे। पाखण्डिनामसद्वादैर्वेदमार्गाः कलौ यथा॥" (भाग० १०।२०।१६-२३)।

अवतरण—वर्षा के चार महीने होते हैं, इनमें ऊपर-'सरिता-जल जलनिधि महँ जाई।'''तक श्रावण मास का वर्णन किया गया है। इस दोहे से आगे भादों का प्रारंभ होना जनाया है; क्योंकि 'दादुर धुनि''' में सामवेदियों की श्रावणी का रूपक है, जो भादो में होती है। इससे आगे के दोहे में क्वार और फिर कार्त्तिक का भाव रहेगा। इसी तरह चारों दोहों में क्रमश कर्म, ज्ञान, उपासना और प्रपत्ति ये चारो कहे गये हैं। पहले दोहे में—'गृही विरति रत'''से निष्काम कर्म प्रारंभ करके 'होइ अचल जिमि ''' तक कर्ममार्ग सूचित किया गया है। पुनः इस दोहे में पाखंड खंडन, वेद-पाठ और विवेक साधन से प्रारंभ करके ज्ञान का साधन कहते हुए—"जिमि इन्द्रिय गन उपजे ज्ञाना।" तक ज्ञान-मार्ग कहा गया है। पुनः 'पाइ सुसंग' से प्रारंभ कर —'कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी।' तक भक्ति-मार्ग कहा गया है, फिर—'जिमि हरि सरन न एकउ बाधा।' से लेकर 'सद्गुरु मिले जाहि जिमि, संसय भ्रम समुदाइ।" तक शरणागति कही गई है।

दादुर-धुनि चहुँ दिसा सुहाई। बेद पढ़हिं जनु बटु-समुदाई॥१॥
नव पल्लव भये बिटप अनेका। साधक मन जस मिले बिबेका॥२॥

अर्थ—चारों ओर से मेढ़कों की ध्वनि ऐसी सुहावनी लगती है, मानों ब्रह्मचारियों के समुदाय (वृंद) वेद पढ़ रहे हों॥१॥ अनेक (तरह के) वृक्ष नवीन पत्तों से युक्त हो गये हैं, जैसे साधन करने वालों का मन विवेक-प्राप्त होने पर होता है॥२॥

विशेष—(१) 'दादुर-धुनि चहु दिसा सुहाई।'''—वेदध्वनि सुहावनी होती है, वैसी ही इस समय दादुर-ध्वनि भी सुहावनी लग रही है। श्रीरामजी जहाँ बैठे हैं उसके चारों ओर के जलाशयों में मेढ़क बोल रहे हैं और वह ध्वनि सुहावनी लग रही है। ब्राह्मण लोग भी ग्राम के चारों ओर तालाबों पर बैठकर श्रावणी किया करते हैं; अर्थात् वेद पढ़ते हैं। वेद ध्वनि सुहावनी तो सभी को लगती है, पर सब साधारण की समझ में नहीं आती। वैसे ही दादुर की ध्वनि सुहावनी तो लगती है, पर समझ में नहीं आती। सामवेदियों की श्रावणी भादो में होती है; यथा—"मासि प्रौष्ठपदे ब्रह्मब्राह्मणानां विवक्षताम्। अयमध्याय समयः सामगानामुपस्थितः॥" (वाल्मी० ४।२८।५४); अर्थात् भादो का महीना वेद पढ़नेवाले साम ब्राह्मणों के लिये अध्ययन का समय है; अर्थात् उपाकर्म काल है। मेघ-गर्जन सुनकर दादुर बोलते हैं। वैसे ही ऊँचे बैठे हुए पूर्णवैदिक आचार्य के वाक्य सुनकर बटुगण जोर से वेद-पाठ करने लगते हैं। मिलान; यथा—"श्रुत्वा पर्जन्यनिनदं मण्डूका व्यसृजन्गिरः। तूष्णीं शयानाः प्राग्यद्वद्ब्राह्मणा नियमात्यये॥" (भाग० १०।२०।९)।

(२) 'साधक-मन जस'''—साधकों का तन वृक्ष, साधन ग्रीष्म का ताप, श्रम धूप सहना और साधन से कामादि दूर होना पत्तों का झड़ना और विवेक होना नवीन पल्लव होना है। जैसे पल्लव स्वयं आ जाते हैं वैसे विवेक भी स्वयं ही आ जाता है। पर पहले वृक्ष के समान जड़ होकर साधन-कष्ट सहने में अचल रहना होता है। मिलान; यथा—"पीत्वापः पादपाः पद्भिरासन्नानात्ममूर्त्तयः। प्राक्क्षामास्तपसा श्रान्ता यथा कामानुसेवया॥" (भाग० १०।२०।२१)।

वर्षा में इतनी वातुओं का वर्णन होता है, यथा—"वर्षा हंस पयान बक, दादुर चातक मोर। केवक पुंज कदंब अल, क्यों दामिनी घन घोर॥" (कविप्रिया)।

अर्क जवास पात बिनु भयऊ। जस सुराज खल-उद्यम गयऊ ॥३॥

खोजत कतहुँ मिलइ नहि धूरी। करइ क्रोध जिमि धर्महि दूरी ॥४॥

अर्थ—मदार और जवासे बिना पत्ते के हो गये, जैसे सुन्दर राज्य में दुष्ट का उद्यम (धंधा) जाता रहा ।३॥ ढूँढ़ने पर भी कहीं धूल नहीं मिलती जैसे क्रोध धर्म को दूर कर देता है। (अर्थात् क्रोध करने से धर्म का पता भी नहीं रहता) ॥४॥

विशेष—(१) 'अर्क जवास पात बिन भयऊ।'''—ग्रीष्म-ऋतु में जब और-और वृक्ष-पौधे बिना पत्ते के हो गये थे, तब आक और जवासे में पत्ते हुए थे और वर्षा-ऋतु में जब सबों में पत्ते हुए, तब ये दोनों पल्लवहीन हुए। इसी तरह कुराज्य होने से जहाँ सब लोग दुखी होते हैं, वहाँ दुष्ट सुखी होते हैं। यहाँ ग्रीष्म कुराज्य और वर्षा सुराज्य हैं। मदार-(आक) के पत्ते बड़े और जवासे के छोटे होते हैं, इनसे वर्षा-ऋतु-रूपी सुराज्य में दुष्टों के छोटे-बड़े सभी उद्यमों का नाश होना कहा गया है। सुराज्य में दुष्ट तो रहते ही हैं, पर उनके उद्यम नहीं रह जाते। जैसे कि अर्क-जवासे के पौधे (धड़) मात्र वर्षा में भी बने रहते हैं। जैसे अर्क और जवास दो के नाम दिये गये, क्योंकि ये दो ही हैं, वैसे ही सुराज्य में दुष्ट विरल ही रहते हैं। जिस तरह वर्षा में पल्लववाले वृक्ष बहुत रहते हैं, उसी तरह सुराज्य में सज्जन भी बहुत होते हैं। अतः, उन्हें 'अनेका' से कहा गया; यथा—"नव पल्लव भये बिटप अनेका।" पुनः सुराज्य में जो दो-एक खल वर्षा में आक और जवासे की तरह होते हैं, वे प्रसिद्ध हो ही जाते हैं, इसी से कवि ने भी उनके नाम दे दिये हैं। सब कोई उन्हें जान लेते हैं, इससे उनका उद्यम भी नहीं चलता; यथा—"बभूवुर्निश्छदा वृक्षा अकयावासकास्तथा। सुराज्ये तु यथा राजन् न चलन्ति खलोद्यमाः॥" (विष्णुपुराण)—यहाँ नीति है।

(२) 'करइ क्रोध जिमि धर्महि दूरी।'—क्रोध तमोगुण से होता है, तमोगुण से किया हुआ धर्म भी व्यर्थ हो जाता है; यथा—"तामस धर्म करहिं नर, जप-तप व्रत मख दान। देव न बरषहिं धरनि पर, बये न जामहिं धान॥" (उ० दो० १०१)। धर्म को धूलि कहने का भाव—जैसे धूलि सूक्ष्म और अनन्त होती है, वैसे धर्म की गति भी बड़ी सूक्ष्म है और धर्म अनन्त प्रकार के हैं। जिस तरह वर्षा होने से कीचड़ की अधिकता होती है, वैसे ही क्रोध से अविवेक और अनीति बढ़ती हैं—यहाँ विवेक है।

ससि-संपन्न सोह महि कैसी। उपकारी कै संपति जैसी ॥५॥

निसि तम घन खद्योत बिराजा। जनु दंभिन्ह कर मिला समाजा ॥६॥

शब्दार्थ— ससि (सं० शस्य)=कृषी, नई घास, अन्न।

अर्थ—धान्य से लदी हुई पृथिवी कैसी शोभित हो रही है, जैसी परोपकार करनेवाले की सम्पत्ति (शोभित होती है) ॥५॥ रात में अंधकार और बादल होने से जुगनू प्रकाशित एवं शोभित होते हैं, मानों पाखंडियों का समाज आ जुटा हो ॥६॥

विशेष—(१) 'ससि सम्पन्न सोह'''—खेती पृथिवी की सम्पत्ति है, इससे पृथिवी की शोभा

है। क्योंकि खेती से समस्त जीवों का उपकार होता है। इसी से पृथिवी की गणना उपकारियों में है; यथा—"संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्हि कै करनी॥" (उ० दो० १२४)। यहाँ दृष्टान्त में उपकारी की सम्पत्ति की शोभा कही गई और दार्ष्टान्त में (उपकारी) पृथिवी की। इस तरह अन्योन्य-शोभा-सापेक्षत्व सूचित किया; अर्थात् सम्पत्ति से उपकारी की शोभा है और उपकारी से सम्पत्ति की; यथा—"मणिना वलयं वलयेन मणिर्मणिना वलयेन विभाति करः। पयसा कमलं कमलेन पयः पयसा कमलेन विभाति सरः॥ शशिना च निशा निशया च शशिः शशिना निशया च विभाति नभः।···(सुभाषित-रत्नभाण्डागारम्) इत्यादि। यहाँ नीति है; यथा—"क्षेत्राणि सस्यसंपद्भिः कर्षकाणां मुदं ददुः। धनिनामुपतापं च दैवाधीनमजानताम्॥" (भाग० १०।२०।१२)।

(२) 'निसि तम घन···'—दिन में भी कभी-कभी अंधकार हो जाता है; यथा—"कबहुँ दिवस महँ निबिड़ तम।" (दो० १५); पर उसमें जुगुनू की शोभा नहीं होती। इसलिये 'निसितम' कहा। 'बिराजा'—केवल अँधेरी रात में 'राजते' हैं और घन-घटाच्छादित अँधेरी रात में तो 'विशेष राजते' हैं। 'घन' का यह भी भाव है कि जब तारागण एवं चन्द्रमा आदि का प्रकाश नहीं रहता, तभी इनकी शोभा होती है। वैसे ही जहाँ अज्ञानियों की सभा-रूपी अँधेरी रात रहती है और तारागणों की तरह सामान्य विद्वान् और चन्द्रमा की तरह श्रेष्ठ विद्वान् नहीं होते, वहीं पर जुगनू रूपी दंभियों का समाज शोभा पाता है। दंभी अपने चमत्कार से अज्ञान-तम को नहीं दूर कर सकते; यथा—"निशामुखेषु खद्योतास्तमसा भान्ति नो ग्रहाः। यथा पापेन पाखण्डा न हि वेदाः कलौ युगे॥" (भाग० १०।२०।८)।

महा बृष्टि चलि फूटि किआरी। जिमि सुतंत्र भये बिगरहिं नारी॥७॥
कृषी निरावहिं चतुर किसाना। जिमि बुध तजहिं मोह-मद-माना॥८॥

अर्थ—अत्यधिक वर्षा होने से क्यारियाँ फूट चली हैं, जैसे स्वतंत्र होने से स्त्रियाँ बिगड़ जाती हैं॥७॥ चतुर किसान खेतों को निराते (घास आदि निकालते) हैं, जैसे पंडित लोग मोह, मद और मान का त्याग करते हैं॥८॥

विशेष—(१) 'महा बृष्टि चलि······'—स्त्रियों की मर्यादा ही क्यारी है और उनकी स्वतंत्रता महा वृष्टि है। जैसे अति वृष्टि के आघात से क्यारियाँ टूट-फूटकर बह जाती हैं, वैसे ही स्त्रियाँ स्वतंत्र होने से धर्म च्युत हो बिगड़ जाती हैं, अर्थात् नष्ट हो जाती हैं। जिस तरह महा वृष्टि होने से ही क्यारी फूटती है, उसी तरह अधिक स्वतंत्र होने से स्त्रियाँ भी बिगड़ती हैं। इसीलिये कहा है—"पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने। पुत्रस्तु स्थविरे भावे न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति॥" (हितोपदेश)।

(२) 'कृषी निरावहिं चतुर ····'—तृणों को पृथक् करके अन्न की रक्षा करना किसानों की चतुराई है। वैसे ही मोह, मद और मान को त्याग कर भक्ति-रूपी खेती की रक्षा करना बुद्धिमानों की चतुराई है। तृण आदि बोये नहीं जाते, स्वतः उपजते हैं। वैसे ही मोह, मद और मान स्वभाव ही से उपजते हैं, इन्हें न दबाने से ये ही शुभ गुणों को दबा देते हैं; यथा—"परिहरि मान मोह मद, भजहु कोसलाधीस।" (सुं० दो० ३९)—यहाँ ज्ञान है; यथा—"कृषिं संस्कृत्य शुंधन्ति पटीयांसः कृषीवलाः। यथा कामादिकं त्यक्त्वा बुधाश्चित्तं पुनन्ति च॥" (विष्णुपुराण)।

देखियत चक्रवाक खग नाहीं। कलिहि पाइ जिमि धर्म पराहीं ॥९॥
ऊषर बरषइ तृन नहिं जामा। जिमि हरिजन हिय उपज न कामा॥१०॥

शब्दार्थ—ऊपर = वह भूमि जहाँ रेह अधिक हो और कुछ उत्पन्न न हो। (हिन्दी-शब्दसागर)

अर्थ—चक्रवाक पक्षी नहीं देख पड़ते हैं, जैसे कलि को पाकर धर्म भाग जाते हैं ॥९॥ ऊसर में वर्षा होती है, पर घास नहीं जमती। जैसे हरिभक्त के हृदय में काम नहीं उत्पन्न होता ॥१०॥

विशेष—(१) 'देखियत चक्रवाक···'—जैसे चक्रवाक पक्षी कहीं रहते तो अवश्य हैं, पर दिखाई नहीं पड़ते, वैसे ही धर्म भी ग्रन्थों में ही लिखा रह जाता है, कलियुग में लोगों के द्वारा आचरित होते नहीं देखा जाता ; यथा—"सकल धर्म विपरीत कलि, कलपित कोटि कुपंथ। पुन्य पराइ पहार बन, दुरे पुरान सद्ग्रन्थ ॥" (दोहावली ५५६)। 'धर्म पराहीं'—यहाँ धर्म का भागना कहा गया; क्योंकि धर्म को वृषभ-रूप और कलि को कसाई का रूप कहा जाता है ; यथा—काशी कामधेनु कलि कुहत कसाई है।" (क० उ० १८१)—मिलान, यथा—"संप्रस्थिता मानसवासलुब्धाः प्रियान्विताः संप्रति चक्रवाकाः।" (वाल्मी० ४।२८।१६)—यहाँ नीति है।

(२) 'ऊपर बरषइ तृन नहिं जामा।···'—वर्षा से सर्वत्र भूमि में तृण जमते हैं, पर ऊसर में क्यों नहीं जमते ? इसका कारण यह कि वहाँ की जमीन इतनी ठोस (कठोर) और कंकरीली होती है, जिससे उसके नीचे जल प्रवेश ही नहीं कर पाता, ऊपर ही से बह जाता है। इसी से वह भूमि सरस नहीं होती, अतः उसमें तृण नहीं जमते। वैसे ही हरिजनों के हृदय में केवल हरि की ही कामना रहती है, उनकी सब इन्द्रियों के विषय हरि ही रहते हैं। जैसे नेत्रों से हरि के दर्शन और रसना से उन्हीं का प्रसाद-सेवन आदि। उसी सम्बन्ध से उनकी भीतर और बाहर की वृत्ति हरि में ही लगी रहती है। इससे उनके चित्त में काम का प्रवेश ही नहीं हो पाता ; यथा—"कन्दर्प नाग मृगपति मुरारि।" (वि० ६४); "आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्। तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ (गीता २।७०) 'हरिजन' शब्द से भी ध्वनित है कि वे हरि अपने जनों की रक्षा करते हैं, यथा—"बालक सुत सम दास अमानी ॥"; "करउँ सदा तिन्हकी रखवारी। जिमि बालकहि राख महतारी ॥" (आ० दो० ४२)—यहाँ ज्ञान है।

बिबिध जंतु संकुल महि भ्राजा। प्रजा-बाढ़ जिमि पाइ सुराजा ॥११॥
जहँ तहँ रहे पथिक थकि नाना। जिमि इंद्रियगन उपजे ज्ञाना ॥१२॥
दोहा—कबहुँ प्रबल बह मारुत, जहँ तहँ मेघ बिलाहिं।
जिमि कपूत के उपजे, कुल सद्धर्म नसाहिं।
कबहुँ दिवस महँ निबिड़ तम, कबहुँक प्रगट पतंग।
बिनसइ उपजइ ज्ञान जिमि, पाइ कुसंग सुसंग ॥१५॥

अर्थ—अनेक प्रकार के छोटे-छोटे जीवों से पूर्ण पृथिवी सुशोभित है, जैसे अच्छे राजा को पाकर प्रजा की वृद्धि होती है और फिर (प्रजा-वृद्धि से राजा की शोभा होती है ॥११॥ जहाँ-तहाँ अनेक बटोही ठहर गये

हैं, जैसे ज्ञान उत्पन्न होने से इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं ॥१२॥ कभी हवा बड़े जोर से चलती है, (जिससे) जहाँ-तहाँ मेघ नष्ट हो जाते हैं, जैसे कुपुत्र के पैदा होने से (उसके द्वारा) कुल के अच्छे धर्म नष्ट हो जाते हैं ॥ कभी दिन में घोर अँधेरा हो जाता है और कभी सूर्य प्रकट होते हैं। जैसे कुसंग पाकर ज्ञान का नाश होता है और सुसंग से ज्ञान उत्पन्न होता है ॥१५॥

विशेष—(१) 'प्रजा बाढ़ ···'; यथा—"धरनि धेनु चारितु चरत, प्रजा सुबच्छ पेन्हाइ।" (दोहावली ५१२); अर्थात् उत्तम राजा के सद्धर्माचरण से प्रजा बढ़ती है, फिर प्रजा की वृद्धि से राजा की शोभा होती है। यहाँ 'बिबिध जंतु' और 'प्रजा' एवं 'महि' और 'सुराजा'—उपमेय और उपमान हैं। 'जिमि' वाचक और 'भ्राजा' धर्म है। अतः पूर्णोपमा अलंकार है। 'जिमि इन्द्रिय गन ···'—यहाँ इन्द्रियाँ ही पथिक हैं, क्योंकि जहाँ तहाँ विषयों की ओर दौड़ा करती हैं। ज्ञान होने से जीव आप्तकाम हो जाता है और वह सर्वत्र ब्रह्म को ही देखता है। इससे इन्द्रियाँ निष्क्रिय होकर शिथिल हो जाती हैं; यथा—"जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं।" (दो० १०); "कर्म कि होंहि स्वरूपहि चीन्हें॥" (उ० दो० १११) कहा भी है—"बालम के संग सोइ गईं पाँचो जनी।" (कबीर)—यहाँ ज्ञान है।

(२) 'जहँ तहँ मेघ बिलाहिं'—जैसे पवन के एक ही झकोरे से कितने ही मेघ छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। वैसे ही एक कुपुत्र के होने से अनेक सद्धर्म नष्ट हो जाते हैं। वर्षा के आदि में—'मेघ नभ छाये' कहा और यहाँ अंत में 'मेघ बिलाहिं' कहा है।

(३) 'कबहुँ दिवस महँ···'—क्षण में सूर्य छिप जाते हैं और फिर क्षण ही में प्रकट हो जाते हैं, वैसे ही कुसंग से शीघ्र ही ज्ञान नष्ट हो जाता है और सुसंग से शीघ्र ही उसका विकास होता है। वर्षा के आदि में "गृही बिरति रत···" कहा गया था और अंत में "बिनसइ उपजइ ज्ञान जिमि" कहा गया है। ज्ञान के उदय पर प्रसंग की समाप्ति की है इसी से 'उपजइ' और 'सुसंग' को बाद में कहा है—यहाँ ज्ञान और नीति दोनों हैं।

शरद्-वर्णन—प्रकरण

बरषा बिगत सरद-रितु आई। लछिमन देखहु परम सोहाई ॥१॥
फूले कास सकल महि छाई। जनु बरषा-कृत प्रगट बुढ़ाई ॥२॥
उदित अगस्ति पंथ-जल सोषा। जिमि लोभहिं सोषइ संतोषा ॥३॥

अर्थ—हे लक्ष्मण ! देखो, वर्षा बीत गई और परम शोभायमान शरद्-ऋतु आ गई ॥१॥ फूले हुए कास से सब पृथिवी छा गई, मानो वर्षा-ऋतु ने अपना बुढ़ापा प्रकट किया है ॥२॥ अगस्त्य (तारा) का उदय हुआ और मार्ग का जल सोख लिया गया, जैसे संतोष लोभ को सोख लेता है ॥३॥

विशेष—(१) 'बरषा बिगत' से वर्षा-वर्णन-प्रकरण की इति हुई। 'सरदरितु आई' से शरद्ऋतु के वर्णन का प्रसंग प्रारंभ हुआ। जैसे वर्षा-वर्णन के प्रारंभ में 'लछिमन देखु मोरगन ···' कहा गया था, वैसे ही शरद के प्रारंभ में भी 'लछिमन देखहु' कहा है। वर्षा को—'गरजत लागत परम सुहाये।' कहा था, वैसे यहाँ भी—'देखहु परम सोहाई' कहते हैं। एक बात समाप्त करके दूसरी प्रारंभ करते हुए 'लछिमन देखहु' कहा है, ऐसी ही रीति भी है; यथा—"सुनु मुनि कह पुरान···" "सुनु मुनि संतन्ह···" इत्यादि आ० दो० ४३-४४ में श्रीरामजी ने श्रीनारदजी से कहा है। 'परम सोहाई'—वर्षा ऋतु सुन्दर तो थी, पर

उसमें कीच आदि के दोष थे और नदियों का जल भी मलिन था। शरद में ये दोष नहीं हैं, प्रत्युत स्वच्छता आदि गुण हैं और यह ऋतु श्रीसीताजी की शोध के उद्योग करने के योग्य है—यहाँ नीति है।

जैसे वर्षा के वर्णन में मेघ मुख्य हैं और वे श्यामता प्रकट करनेवाले हैं, वैसे शरद् के वर्णन में उज्ज्वलता प्रधान है। इसलिये इसके आदि में कास का फूलना कहा गया।

श्वेत केशों से बुढ़ापे का अनुमान होता है, वैसे ही कास के फूल श्वेत होकर मानों ऋतु का बुढ़ापा सूचित कर रहे हैं। शरद्-ऋतु के वर्ण्य विषय; यथा—"अमल-अकास प्रकास-ससि, मुदित कमल कुल कास। पथी पितर पयान नृप, सरद सुकेसव दास॥" (कविप्रिया)।

(२) 'उदित अगस्ति पंथ-जल···'—अगस्त्य महर्षि ने समुद्र सोख लिया था, उन्हीं के नाम का यह (अगस्त्य) तारा है। इसका भी प्रभाव है कि इसके उदय से वर्षा का अन्त और जल का शोषण होता है। इसमें तालाब आदि का भी जल सूखता है, पर मार्ग का तो बिल्कुल सूख जाता है, इसीसे यहाँ कहा गया। इसी प्रकार संतोष के उदय होने से कामना नहीं रह जाती, तब लोभ कहाँ रह सकता है? यथा—"बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहु नाहीं॥" (उ० दो० ८९)। जल रहने से कीचड़ के द्वारा मार्ग मलिन रहते हैं और उसके सूख जाने पर साफ हो जाते हैं। इसी तरह लोभ से हृदय मलिन रहता है, जिससे परमार्थ-मार्ग भी मलिन ही रहता है; यथा—"सुख हित कोटि उपाय निरंतर करत न पायँ पिराने। सदा मलीन पंथ के जल ज्यों, कबहुँ न हृदय थिराने॥" (वि० ११५) अर्थात् थिर हृदय से ही भजन होता है और फिर उससे सुख होता है। जैसे अगस्त्य का आकाश में उदय होता है, वैसे ही संतोष का आविर्भाव हृदयाकाश में होता है।

सरिता-सर निर्मल जल सोहा। संत-हृदय जस गत मद मोहा॥४॥
रस-रस सूख सरित-सर-पानी। ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी॥५॥
जानि सरद रितु खंजन आये। पाइ समय जिमि सुकृत सुहाये॥६॥

शब्दार्थ—रस रस = रसे रसे, धीरे-धीरे। ममता = अपनापन, मदीयत्व।

अर्थ—नदियों और तालाबों में निर्मल जल ऐसा सोहता है, जैसा मद और मोहरहित होने से संतों का हृदय॥४॥ नदियों और तालाबों का पानी धीरे-धीरे सूख रहा है, जैसे ज्ञानी धीरे-धीरे ममता का त्याग करते हैं॥५॥ शरद ऋतु जानकर खंजन-पक्षी आते हैं, जैसे समय पाकर सुन्दर सुकृत आते हैं। अर्थात् उनके फल दिखाई पड़ते हैं॥६॥

विशेष—(१) 'सरिता सर निर्मल ·····'—वर्षा का जल भूमि में पड़कर मैला हो गया था; यथा—"भूमि परत भा ढाबर पानी।" कहा गया है। वही जल नदी और तालाब में भी गया। इससे वे भी मैले हो गये और शरद में जब वे निर्मल हुए, तभी उनकी शोभा कही गई। वैसे ही पहले प्राकृतिक दोष के कारण सन्त मद और मोह से युक्त थे। उनमें विचरनेवाले संत सरिता-रूप और स्थायी रहनेवाले तालाब-रूप हैं। उनके हृदय जल एवं मद और मोह मल हैं। ये उभय प्रकार के संत भी भगवान् के ज्ञान से मद और मोह रहित होकर शोभा पाते हैं; यथा—"सर्वत्रातिप्रसन्नानि सलिलानि तथाभवन्। ज्ञाते सर्वगते विष्णौ मनांसीव सुमेधसाम्॥" (विष्णुपुराण-पंचमांश)। 'ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी।'—

'अहं-मम' अज्ञान से होते हैं, इनका ज्ञान से त्याग होता है, ज्ञान के साधनों में कहा भी गया है; यथा—"असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।" (गीता १३।९); तथा—"जासु ज्ञान रवि भव निसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा ॥···तेहि कि मोह ममता नियराई।" (अ० दो० २७६)—यहाँ ज्ञान है; यथा—"शनकैः शनकैस्तीरं तत्यजुश्च जलाशयाः। ममत्वं क्षेत्रपुत्रादिरूढं सर्वे यथा बुधाः ॥" (विष्णुपुराण-पंचमांश)।

(२) 'जानि सरद रितु खंजन···'—पहले दो प्रकार से धर्म का चला जाना कहा गया था, एक क्रोध से और दूसरा कलि से; यथा—"करहि क्रोध जिमि धरमहि दूरी।" और—"कलिहि पाइ जिमि धरम पराहीं।" इनमें जो धर्म क्रोध के कारण दूर चला गया, वह तो लौटकर नहीं आ सका और जो कलि के कारण भागा था, वह सुसमय पाकर (अच्छा काल पाकर) फिर आ गया। जिस तरह खंजन प्रायः निर्जन स्थानों एवं पहाड़ों में रहते हैं और जाड़े के दिनों में नीचे उतर आते हैं; वैसे ही सुकृत के फल समय पाकर प्राप्त होते हैं, यथा—"दसरथ सुकृत राम धरे देही। जनक सुकृत मूरति वैदेही ॥" (बा० दो० ३०१)। खंजन के विषय में ही कहा गया, क्योंकि यह नियमित समय पर आता है।

पंक न रेनु सोह असि धरनी। नीति निपुन नृप कै जसि करनी ॥७॥
जल संकोच बिकल भइँ मीना। अबुध कुटुंबी जिमि धन-हीना ॥८॥
बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा ॥९॥
कहुँ कहुँ बृष्टि सारदी थोरी। कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी ॥१०॥

अर्थ—न कीचड़ है और न धूल; इससे पृथिवी ऐसी शोभित है, जैसे नीति-निपुण राजा की करनी ॥७॥ जल के संकोच (कमी) हो जाने से मछलियाँ व्याकुल हुईं, जैसे धन-रहित होने से अज्ञानी कुटुम्बी व्याकुल होते हैं ॥८॥ बिना बादलों के आकाश निर्मल सोह रहा है, जैसे सब आशाओं को छोड़कर हरिभक्त शोभित होते हैं ॥९॥ शरद-ऋतु की वर्षा कहीं-कहीं और थोड़ी-थोड़ी होती है, जैसे कोई एक मेरी भक्ति पाते हैं ॥१०॥

विशेष—(१) 'पंक न रेनु सोह···' ग्रीष्म में धूल से और वर्षा में पंक से पृथिवी अशोभित थी अब दोनों के दूर होने से शोभित है। ऐसे ही 'नीति-निपुण नृप की करनी' होती है; अर्थात् राजा न किसी पर गर्म हो और न शीतल, किन्तु उसे तो नीति के अनुसार ही करना चाहिये। ऐसी करनी को धरणी की उपमा दी गई, क्योंकि यह करनी प्रजा को धरनी की तरह धारण करने में समर्थ होती है। नहीं तो प्रजा नष्ट हो जाय—यहाँ नीति है।

(२) 'जल संकोच बिकल भइँ मीना।···'—पहले जल का 'रस-रस सूखना' कहा गया था। अब जल इतना कम हो गया कि मछलियाँ विकल होने लगीं। 'अबुध' अर्थात् गुण हीन हैं, इसी से धन की प्राप्ति नहीं कर सकते और परिवार भारी है। अतः, पालने की चिन्ता में विकल होते हैं; यथा—"नहिं दरिद्र सम दुःख जग माहीं ॥" (उ० दो० १२०); जैसे मीन को आगे जल की आशा नहीं, वैसे इन्हें आगे धन मिलने की आशा नहीं, क्योंकि अबुध हैं। पाहुनों का सम्मान भी नहीं कर पाते, यही मीन के शरदातप का-सा दुःख है। मीनों का रहा-सहा जल सूर्य खींच लेते हैं, वैसे अबुधों का शेष धन भी महा-

जन आदि ले लेते हैं, इससे व्याकुलता बढ़ जाती है। 'अबुध' हैं, इससे सुख-दुःख के सहनेवाली सम-बुद्धि भी नहीं होती, जिससे कि दु:ख न व्यापे, यथा—"सुख हरषहि जड़ दुख बिलखाहीं। दुहुँ सम धीर धरहिं मन माँही ॥" (अ० दो० १५१); यहाँ नीति और ज्ञान है। मिलान ; यथा—"गाधवारिचरा स्तापमविंदन् शरदर्कजम्। यथा दरिद्रः कृपणः कुटुम्ब्यविजितेन्द्रियः ॥" (भाग० १०।२०।३८)।

(३) 'हरिजन इव परिहरि सब आसा।'—हरिजन एक हरि से आशा करते हैं और किसी से नहीं; यथा—"मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहाँ बिस्वासा ॥" (उ० दो० ४५); हरि से भी केवल हरि ही को चाहते हैं और सभी आशाओं का त्याग कर देते हैं, तभी वे शोभा पाते हैं, नहीं तो शोक से मलिन रहते हैं ; यथा—"तुलसी अद्भुत देवता, आसा देवी नाम। सेये सोक समर्पई, बिमुख भये बिश्राम ॥" (दोहावली १६)। जैसे घन से आकाश मलिन रहता, वैसे ही आशा से हरिजन मलिन रहते हैं—यहाँ वैराग्य है।

(४) 'कहुँ कहुँ बृष्टि···'—शारदी (शरद्-ऋतु की) वृष्टि कहीं-कहीं होती है और वह भी थोड़ी ही होती है। वैसे ही कोई एक मेरी (प्रभु) भक्ति पाते हैं, वह भी थोड़ी, पूर्ण नहीं, अर्थात् भक्ति अत्यंत दुर्लभ है; यथा—"नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक···" से "सब ते सो दुर्लभ सुर राया। राम भगति रत गत मद माया ॥" (उ० दो० ५३) तक, तात्पर्य यह कि भक्ति ज्ञान से भी दुर्लभ है, क्योंकि ज्ञान के पानेवाले अनेक कहे गये; यथा—"नव पल्लव भये बिटप अनेका। साधक मन जस मिले बिबेका ॥" जैसे शारदी वृष्टि से मुक्ता आदि बहुत पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वैसे भक्ति से भी मुक्ति आदि बहुत बातें सिद्ध होती हैं—यहाँ भक्ति है।

दोहा—चले हरषि तजि नगर नृप, तापस बनिक भिखारि।
जिमि हरिभगति पाइ श्रम, तजहिं आश्रमी चारि ॥१६॥

शब्दार्थ—श्रम=परिश्रम, दुःख ; यथा—"देखि बिभीषन प्रभु श्रम पायो।" (लं० दो० ११)।

अर्थ—राजा (विजय के लिये), तपस्वी (तप के लिये), व्यापारी (वाणिज्य के लिये) और भिखारी (भिक्षाटन के लिये) हर्षित होकर नगर छोड़कर चले। जैसे हरिभक्ति पाकर चारों आश्रमवाले (आश्रम के) दुःख को छोड़ देते हैं ॥१६॥

विशेष—(१) जब तक भक्ति प्राप्त न थी तबतक आश्रमों में रहकर उनके धर्मसेवन के क्लेश सहते थे और धर्म को नहीं छोड़ते थे, क्योंकि दूसरा आधार नहीं था। जब भक्ति प्राप्त हो गई, तब निर्भीक होकर हर्ष पूर्वक आश्रम-धर्म छोड़ दिया, क्योंकि उन्हें—"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।" (गीता १८।६६); एवं—"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥" (वाल्मी० ६।१८।३३); तथा—"देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किंकरो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम् ॥" (भाग० ११।५।४१) ; इत्यादि से हरि का भरोसा हो जाता है। भक्ति-प्राप्ति का तात्पर्य पूर्ण (परा) भक्ति से है। जो लोग ऐसे भक्त हैं, उन्हें कर्म छोड़ने के दोष नहीं होते; यथा—"तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता। मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥ (भाग० ११।२०।९) अर्थात् भगवान् कहते हैं कि साधक को कर्म तभी तक करना अति आवश्यक है जब उत्पन्न न हो ; अथवा मेरी कथा के श्रवण आदि में जब तक श्रद्धा नहीं पैदा हो।

(२) चार आश्रम—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास। इन आश्रमों में से जिसी में भक्ति प्राप्त हो जाय वह और उसके आगे के आश्रमों के साधन छूट सकते हैं। यों भी तो गृही होने पर ब्रह्मचर्याश्रम छूट जाता है, वानप्रस्थ में आने से गृहस्थाश्रम छूट जाता है और संन्यास में प्राप्त होने पर वानप्रस्थ छूट जाता है। वैसे ही जिस आश्रम से ही पूर्ण भक्ति प्राप्त हो जाय तो उसके आचार से वे आश्रम छूट जाते हैं। क्योंकि भक्ति सब साधनों का फल स्वरूप है; यथा—"जहँ लगि साधन वेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी॥" (उ० दो० १२५)—यहाँ भक्ति है।

पहले ही कहा गया है—"जहँ तहँ रहे पथिक थकि नाना।" अर्थात् वर्षा के कारण जहाँ-तहाँ पथिक ठहरे हुए थे। फिर क्रमशः वर्षा का बीतना, मार्ग के जल का सूखना, पंक और रेणु की निवृत्ति इत्यादि मार्ग की सभी कठिनाइयों का दूर होना कहा गया; तब पथिकों का चलना कहा। उनमें 'नृप' के विषय में पहले कहा गया, क्योंकि यही यहाँ का प्रस्तुत प्रसंग है कि सभी राजा तो चल दिये, पर सुग्रीव राजा हमारे कार्य के लिये नहीं चले अर्थात् श्रीसीताजी की खोज में वे प्रवृत्त नहीं हुए; यथा—"अन्योन्यबद्धवैराणां जिगीषूणां नृपात्मज। उद्योगसमयः सौम्य पार्थिवानामुपस्थितः॥ इयं सा प्रथमा यात्रा पार्थिवानां नृपात्मज। न च पश्यामि सुग्रीवमुद्योगं च तथाविधम्॥" (वाल्मी० ४ ३० ६०–६१)।

सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरि सरन न एकउ बाधा॥१॥
फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भये जैसा॥२॥
गुंजत मधुकर मुखर अनूपा। सुंदर खग-रव नाना रूपा॥३॥

अर्थ—जो मछलियाँ अथाह जल में हैं वे सुख से हैं। जैसे भगवान् की शरण में एक भी बाधा नहीं रहती॥१॥ कमलों के फूलने से तालाब कैसा शोभित है जैसे निर्गुण ब्रह्म सगुण होने से शोभित होता है॥२॥ भौंरे गूँजते हैं, उनके शब्द अनुपम हैं। सुन्दर पक्षी अनेक रूप के हैं। वे सुन्दर शब्द कर रहे हैं॥३॥

विशेष—(१) 'सुखी मीन जे···'—पहले 'संकोच जलवाली' मीनों की विकलता कही गई। उसी के समस्त अगाध जल की मीनों की निर्भयता कहते हैं। इससे यह भी जनाया कि जो हरि शरणागति छोड़कर परिवार ही का सेवन करते हैं, वे दुखी रहते हैं। हरि की शरण में बाधा नहीं होने पाती, हरि अपने आश्रितों की रक्षा करते ही हैं, उन्हीं की बाधा निवारण के लिये तो वे अवतार भी लेते हैं, इसी से आगे अवतार कहा गया है; यथा—'फूले कमल सोह···'। शरणागति का स्वरूप भी दिखलाया है कि जैसे मछली का 'जल जीवन जल गेह' है, वैसे ही भक्त के भी उपाय-उपेय (फल) भगवान् ही होते हैं; यथा—"उपायत्वमुपेयत्वमीश्वरस्यैव यद्भवेत्। शरणागतिरित्युक्ता शास्त्रमानाविवेकिभि.॥" (रहस्यत्रय); कहा भी है—"राम कबहुँ प्रिय लागिहौ जैसे नीर मीन को।" (वि० २६१)। मीन की एक मात्र गति जल ही है, वैसे हरिभक्त के भी हरि ही गति हैं; यथा—"आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥" (गीता० ७।१८); "परा त्वत्तो गतिर्वीर पृथिव्यां नोपपद्यते। परिपालय नः सर्वान्राक्षसेभ्यो नृपात्मज॥" (वाल्मी० ३।६।२०)।

'अबुध कुटुंबी' को इतना ज्ञान नहीं है कि जगत् मात्र के रक्षक प्रभु की शरण में जायँ, वे पूर्णतया सार-सँभार करेंगे ही। इसी से दुःखी भी रहते हैं। शरणागत होनेवालों का अपना कर्त्तव्य कुछ

रह ही नहीं जाता ; यथा—"सोवे सुख तुलसी भरोसे राम नाम के।" (क० उ० १०२) "त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया." (भाग १०।२।३३)। "सीम कि चापि सकै कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू ॥" (बा० दो० १२५)। शरणागत की भी सर्वात्मना स्थिति हरि ही में रहनी चाहिये। मन, वचन और कर्म से इन्हीं की सेवा में लगा रहे।

(२) 'फूले कमल सोह'''—यहाँ मल सगुण ब्रह्म है और जल निर्गुण ब्रह्म है, यथा—"मायाछन्न न देखिये, जैसे निर्गुन ब्रह्म।" (आ० दो० ३६); कमल के फूलने से जिस तरह सर की शोभा होती है उसी तरह सगुण होने से निर्गुण ब्रह्म की भी शोभा होती है ; यथा—"सरो: शोभते राजीवै: कथं विकसितैर्नृप। सत्त्वादिभिरथाच्छन्नं ब्रह्मेव सगुणं यथो ॥" (विष्णुपुराण)। मानस में कमल चार रंग के कहे गये हैं—श्वेत, पीत, रक्त और श्याम। वैसे ही सगुण ब्रह्म के भी चार रंग कहे गये हैं; यथा—"आसन्वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनू: ॥ शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः।" (भाग० १०।८।१३)—अर्थात् युगानुसार भगवान् श्वेत, लाल, पीत और श्याम रूप धारण करते हैं। इस समय श्यामता को प्राप्त हैं।

पहले आश्रम धर्म से भक्ति-प्राप्ति का वर्णन हुआ; यथा—"जिमि हरि भगति पाइ श्रम'''" तब भक्ति की रीति और भगवान् का रक्षकत्व कहा गया—"जिमि हरि सरन न एकउ बाधा।" फिर कहा गया कि इन्हीं के लिये हरि अवतार भी लेते हैं; यथा—"फूले कमल'''" पश्चात् उपमा द्वारा भक्तों का प्रभु-गुण-गाना कहते हैं; यथा—"गुंजत मधुकर मुखर'''"—जैसे क्वार के प्रारम्भ की सूचना कास के फूल द्वारा दी गई वैसे ही कार्तिक के आरंभ को यहाँ कमल के फूलने से सूचित किया। भ्रमर कमल का विशेष स्नेही होता है, तत्पश्चात् जल पक्षी। वैसे ही क्रम से इनका वर्णन भी करते हैं कि कमल के फूलने पर भ्रमर गूँजते हैं। ऐसे ही निर्गुण ब्रह्म के सगुण होने पर मुनि एवं दास लोग प्रभु का गुण-गान करते हैं; यथा—"विकसित कमलावली चले प्रपुंज चंचरीक गुंजत कल कोमल धुनि त्यागि कंज न्यारे। जनु विराग पाइ सकल सोक कूप गृह विहाइ भृत्य प्रेम म फिरत गुनत गुन विहारे ॥" (गी० बा० ३७)। मुनि लोग ही पक्षी रूप कहे गये हैं; यथा—"बोलत खग निकर मुखर'''मनहुँ बेद बंदी मुनिबृंद सूत मागधादि बिरद बदत जय-जय-जयति कैटभारे।" (गी० बा० ३७)। निर्गुण ब्रह्म का गान नहीं करते बनता उसका गान सगुणत्व में ही होता है—यही ज्ञान है।

> चक्रवाक मन दुख निसि पेखी। जिमि दुर्जन पर-संपति देखी ॥४॥
> चातक रटत तृषा अति ओही। जिमि सुख लहइ न संकर-द्रोही ॥५॥
> सरदातप निसि ससि अपहरई। संत-दरस जिमि पातक टरई ॥६॥

अर्थ—रात को देखकर चकवे के मन में दुःख होता है। जैसे दूसरे की सम्पत्ति को देखकर दुष्ट दुखी होते हैं ॥४॥ पपीहे रट लगाये हुए हैं। (क्योंकि) उन्हें अत्यन्त प्यास है। जैसे शंकरजी का द्रोही सुख नहीं पाता ॥५॥ शरद ऋतु की ताप (धूप) को रात में चन्द्रमा हर लेता है, जैसे संतों के दर्शनों से पाप दूर होते हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'चकवाक मन'''' सम्पत्ति जैसे सबको विश्राम और सुख देती है, जैसे रात। पर जैसे वही रात चकवे को दुखदायी होती है, वैसे ही पर-संपत्ति भी दुर्जनों को दुःखद होती है ;

यथा—"खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी॥" (उ० दो० १८); रात्रि के नाश से चकवे वैसे ही सुखी होते हैं, जैसे पर संपति के नाश से दुष्ट ; यथा—"परहित हानि लाभ जिन्ह केरे। उजरे हरष बिषाद बसेरे॥" (बा० दो० ३)।

(२) 'चातक रटत तृषा अति ···'—जैसे वर्षा के रहते हुए भी चातक को सुख नहीं, वैसे ही सुख-साज के रहते हुए भी शंकर-द्रोही को सुख नहीं होता। क्योंकि उसने शं+कर=कल्याणकर्त्ता से ही द्रोह किया—यहाँ विवेक है।

यहाँ से शंकर, संत, हरि, ब्राह्मण और सद्गुरु इन पाँचों की सेवा क्रम से कहते हैं। इन्हीं के मध्य में हरि की प्राप्ति लिखी गई है, जिसका भाव यह है कि उपर्युक्त पाँचों संसार-सागर से उद्धार करनेवाले हैं और शेष चारों की सेवा से हरि मिलते हैं ; यथा—"द्विज देव गुरु हरि संत बिनु संसार पार न पावई।" (वि० ११६)। तथा—"जनक-सुकृत-मूरति बैदेही। दसरथ-सुकृत राम धरे देही॥ इन्ह सम काहु न सिव अवराधे। काहु न इन्ह समान फल लाधे॥" (बा० दो० ३०१),—शिव-सेवा से; "भवसागर कहँ नाव सुद्ध संतन्ह के चरन। तुलसीदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दुख हरन॥" (वि० २०३)—संत-सेवा से, "मन क्रम बचन कपट तजि, जो कर भूसुर सेव। मोहि समेत बिरंचि सिव, बस ताके सब देव॥" (आ० दो० ३३)—द्विज-सेवा से ; और—"श्रीहरि गुरु पद कमल भजहु मन तजि अभिमान। जेहि सेवत हरि पाइये सुख निधान भगवान॥" (वि० २०३)—सद्गुरु सेवा से। अर्थात् जिसे हरि प्राप्ति की इच्छा हो, वह इन चारों उपायों को करे।

(३) 'सरदातप निसि ससि···'—'निसि ससि' अर्थात् चन्द्रमा तो कभी-कभी दिन में भी रहता है, पर उसकी आतप-हरण-शक्ति का विकास रात को ही होता है। यहाँ संत को और आगे हरि को चन्द्रमा के समान कहा गया है, क्योंकि दोनों अभिन्न हैं ; यथा—"संत भगवंत अंतर निरंतर नहीं।" (वि० ५७); जैसा सुख हरि के दर्शनों से संतों को मिलता है, वैसा ही सुख-संत के दर्शनों से इतर लोगों को होता है, परन्तु जैसे संत के दर्शनों से पाप का नाश होना कहा गया, वैसे हरि के दर्शनों से संतों का पाप हरना नहीं कहा गया, क्योंकि संत निष्पाप होते हैं—उनमें पाप होता ही नहीं। 'टरई' का भाव यह कि पाप टर जाता है, पर यदि संतों के-से आचरण न धारण किये जायँ तो फिर भी पाप होता है। जैसे प्रत्येक निशि में चन्द्रमा ताप हरण करता है और फिर भी नित्य ताप होता ही है—यहाँ संत-भक्ति है।

देखि इंदु चकोर-समुदाई। चितवहिं जिमि हरिजन हरि पाई॥७॥
मसक-दंस बीते हिम त्रासा। जिमि द्विज द्रोह किये कुलनासा॥८॥

दोहा—भूमि जीव संकुल रहे, गये सरद रितु पाइ।
सद्गुरु मिले जाहिं जिमि, संसय - भ्रम - समुदाइ॥१७॥

अर्थ—चकोरवृन्द चन्द्रमा को देखते हैं, जैसे हरिजन हरि को पाकर उनके दर्शन करते हैं॥७॥ मच्छड़ और डाँस (विषैली मक्खी) हिम (जाड़ा) के डर से नाश हो गये, जैसे ब्राह्मण से वैर करने से कुल का नाश होता है॥८॥ पृथिवी में जो जीव परिपूर्ण (व्याप्त) थे, वे शरद ऋतु को पाकर नाश हो गये, जैसे सद्गुरु के मिलने से संशय और भ्रम-समूह चले जाते हैं॥१७॥

विशेष—(१) 'देखि इंदु चकोर ···'—वर्षाकाल में चकोर घनघोर-घटाओं के कारण चन्द्रमा को नहीं देख पाते, अब देखते हैं। 'चितवहिं जिमि ···'—हरि की प्राप्ति दुर्लभ है, जो ऊपर अर्द्धाली ५ में भी कही गई है। संत जब प्रभु को पाते हैं, तब चकोर के समान एकटक देखते ही रहते हैं अर्थात् तैलधारावत् अच्छिन्न एकरस प्रेम करते हैं। जैसे अनन्त तारागणों को छोड़कर चकोर चन्द्रमा को ही देखता है, वैसे ही हरिजन अनन्त देवों को छोड़कर एक हरि ही से लौ लगाते हैं; यथा—"मुनि समूह महँ बैठे, सनमुख सबकी ओर। सरद इन्दु तन चितवत मानहु निकर चकोर॥" (बा० दो० ११); आह्लादमय हरि भी चन्द्रमा की तरह एक ही हैं और हरिजन चकोरों की तरह अनन्त हैं—यहाँ अनन्य-भक्ति है।

(२) 'मसक दंस बीते ·····'—मच्छड़ छोटे और डाँस बड़े होते हैं; अर्थात् छोटे-बड़े सभी द्विज-द्रोही मच्छर-डाँस की तरह नाश हो जाते हैं; यथा—"दहइ कोटि कुल भूसुर रोषू।" (अ० दो० १२५)—यहाँ विवेक है। 'हिम त्रासा' से कार्तिक का अंत कहा गया है।

(३) 'भूमि जीव संकुल रहे ···'—ऊपर जलचर और थलचर कह चुके; यथा—"सुखी मीन जे नीर अगाधा।"—जलचर; "गुंजत मधुकर ··" "सुंदर खगरव ···" "मसक दंस बीते ···" नभचर। अब यहाँ से "भूमि जीव··" इन थलचरों के विषय में कहा जाता है। 'संशय'—किसी वस्तु के विषय में तरह तरह का ज्ञान होना, जिससे यह न जान पड़े कि कौन ठीक है और कौन नहीं। भ्रम—जैसे नाव पर बैठकर चलें तो आप, और समझें कि तट के और-और वृक्ष आदि चल रहे हैं, ऐसे ही देहेन्द्रिय के धर्मों को आत्मा में मान लेना भ्रम है; यथा—"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते" (गीता ३।२७) सद्गुरु से ब्रह्मनिष्ठ गुरु का अर्थ है।

शरद ऋतु का उपक्रम—"बिनसइ उपजइ ज्ञान जिमि, पाइ कुसंग सुसंग।" से हुआ था, यहाँ—"सद्गुरु मिले जाहिं···" पर उसका उपसंहार हुआ।

वर्षा और शरदऋतु के वर्णन में विविध विषय

वर्ण धर्म—"वेद पढ़हिं जनु बटु समुदाई।"—में ब्राह्मण का; "प्रजा बाढ़ जिमि पाइ सुराजा।"—में क्षत्रिय का; 'उपकारी कै सम्पति जैसी।—में वैश्य का और "जिमि द्विज द्रोह किये कुल नासा।" में शूद्र का धर्म कहा गया है, यह चौपाई शूद्र के प्रति घटित होती है, क्योंकि द्विज-सेवा ही इनका मुख्य धर्म है।

आश्रम-धर्म—"सद्गुरु मिले जाहिं जिमि, संसय भ्रम समुदाइ।"—ब्रह्मचारी का। "गृही बिरति रत हरष जस···"—गृहस्थ का। "साधक मन जस मिले बिबेका।"—वानप्रस्थ का और "जिमि इन्द्रिय गन उपजे ज्ञाना।"—संन्यास का।

परमार्थ विधि—क्रोध-रहित कर्म करे; यथा—"करइ क्रोध जिमि धर्महि दूरी।" और साधन-सहित विवेक को प्राप्त करे; यथा—"साधक मन जस मिले बिबेका।'; निष्काम भक्ति करे; यथा "हरिजन इव परिहरि सब आसा।"

कांडत्रय के फल—कर्म के फल सुख-दुःख हैं; यथा—"जिमि सुख लहइ न संकर-द्रोही।" "जिमि द्विज द्रोह किये कुल नासा।"; ज्ञान का फल—"सरिता जल जलनिधि महँ जाई। होइ अचल जिमि जिव हरि पाई॥"; उपासना का फल—"चितवहिं जिमि हरिजन हरि पाई।"

माया, जीव और ब्रह्म के लक्षण—

माया—"जनु जीवहिं माया लपटानी।" अर्थात् जीव के स्वरूप पर आवरण रखना माया का लक्षण है। "होइ अचल जिमि जिव हरि पाई।" अर्थात् हरि से पृथक् होना और फिर उनमें प्राप्त होना ही जीव का लक्षण है। निगुन ब्रह्म सगुन भये जै सा ॥"—यह ब्रह्म का लक्षण है।

वर्षा के प्रदर्शन में इन्द्रधनुष का वर्णन नहीं किया गया, क्योंकि यह निषिद्ध है; यथा—"न दिवेन्द्रायुधं दृष्ट्वा कस्यचिद्दर्शयेद्बुधः ॥" (मनु०); अर्थात् इन्द्रधनुष को देखकर दूसरे को दिखाना मना है। वर्षा-वर्णन के पहले दोहे की अपेक्षा दूसरे में ड्योढ़ी चौपाइयाँ हैं, इससे दूसरे मास में महावृष्टि का होना सूचित किया गया है।

"राम-रोष कपित्रास"—प्रकरण

बरषा गत निर्मल रितु आई। सुधि न तात सीता कै पाई ॥१॥
एक बार कैसेहुँ सुधि जानउँ। कालहु जीति निमिष महुँ आनउँ ॥२॥

अर्थ—वर्षा बीत गई, निर्मल ऋतु आ गई। हे तात! श्रीसीताजी का समाचार न मिला ॥१॥ एक बार किसी प्रकार एवं कैसा भी समाचार पाऊँ तो काल को जीतकर निमेष-भर में ले आऊँ ॥२॥

विशेष—(१) 'बरषा गत …'—पहले भी—'बरषा बिगत सरद ऋतु आई' कहा गया था, उसका भाव यह था कि विशेष वर्षा तो बीत गई, किन्तु अब शरदऋतु आई है, जिसमें सामान्य वर्षा होती है, जैसा कि वहीं पर—"कहुँ-कहुँ बृष्टि सारदी थोरी।" से स्पष्ट है। वहाँ 'बि गत' 'बि' उपसर्ग विशेष के अर्थ में है और यहाँ 'गत' मात्र देकर वर्षा का नितान्त निवृत्त होना कहा है, अर्थात् चतुर्मास (वर्षा का चौमासा) बीत गया; यथा—"व्यतीतांश्चतुरोमासान्विहरन्नावबुध्यते।" (वाल्मी० ४।३०।७८)। इसी से आगे शरद-ऋतु न कहकर 'निर्मल रितु' कहा है; अर्थात् आकाश नितान्त साफ हो गया।

कोई-कोई यों भी कहते हैं कि वहाँ श्रीलक्ष्मणजी को दिखाने में 'बिगत' कहा था और यहाँ सीता-सुधि पाने के विषय में उसी को 'गत' कहा है।

(२) 'एक बार कैसेहुँ…'—'कैसेहुँ' अर्थात् मृत वा जीवित होने की। क्योंकि आगे इन्हीं दो प्रकारों की व्यवस्था कही गई है कि मृतक होंगी, तो काल के यहाँ होंगी, फिर निमिष अर्थात् अत्यन्त अल्प काल में ही काल को जीतकर श्रीजानकीजी को लाऊँगा। और यदि जीवि त होने का समाचार मिले, तो अन्य उपायों के द्वारा लाऊँगा, चाहे जहाँ कहीं भी होंगी। 'कैसेहुँ' शब्द से मरण का भाव जना दिया, पर प्रिया के विषय में असंगल शब्द का प्रयोग श्रीरामजी से नहीं होने पाया; जैसे—"देखी साधु आन अनुहारी ॥" (अ० दो० १२५); पर कहा गया है। यहाँ काल के जीतने में अपने बल का वर्णन किया।

कतहुँ रहउ जौ जीवति होई। तात जतन करि आनउँ सोई ॥३॥
सुग्रीवहु सुधि मोरि बिसारी। पावा राज-कोष-पुर-नारी ॥४॥

अर्थ—कहीं भी रहें, पर यदि वह जीती होंगी तो, हे तात! उन्हें यत्न करके लाऊँगा ॥३॥ श्रीसुग्रीवजी

ने भी मेरी सुधि भुला दी, (क्योंकि) वे सब राज्य, कोश, नगर और स्त्री पा गये, अर्थात् राज्यादि चार में यदि एक भी शेष रहता, तो वे न भूलते, या, उन्हें एक ही का मद बहुत था, पर चार एकत्र हो गये, तब तो कुछ कहना ही नहीं ? ॥४॥

विशेष—(१) 'कतहुँ रहउ जौं जीवित होई'''—पहले उन्होंने श्रीसीताजी के काल-वश होने की सम्भावना की, क्योंकि इसका कारण है कि निशाचरों ने खा लिया होगा ; यथा—"नर अहार रजनीचर चरहीं ।" (अ० दो० ६२) ; अथवा वे स्वयं राक्षसों के भय से नहीं जी सकी होंगी ; यथा—"चित्र लिखित कपि देखि डेराती ।" (सु० दो० ५२) ; वा, हमारे विरह में उन्होंने प्राण त्याग दिये होंगे ; यथा—"इदं हि हृदये बुद्धिर्मम संपरिवर्तते । नालं वर्तयितुं सीता साध्वी मद्विरहं गता ॥" (वाल्मी० ४।१।५१); अर्थात् मेरे विरह में श्रीसीताजी अच्छी तरह नहीं रह सकतीं। जीवित होने में 'जौं' दुविधा वाचक कहा। 'कतहुँ रहउ' का भाव यह है कि यह तो निश्चय है कि सब जीव मरने पर काल के यहाँ जाते हैं। पर जीवित रहने में ही संदेह है कि न जाने उस राक्षसने कहाँ ले जाकर रक्खा होगा। अतः, सर्वत्र उन्हें खोजने का यत्न करना पड़ेगा। इससे कुछ विलंब हो सकता है, पर काल के यहाँ से तो उसको जीतकर पल-भर में ले आऊँगा। यत्न से लाने में बुद्धि का गौरव कहा गया। बल और बुद्धि से ही जय प्राप्त होती है। भाव यह कि हम श्रीसुग्रीवजी ही के भरोसे नहीं हैं।

(२) 'सुग्रीवहु' का भाव यह है कि काल तो हमारे विपक्ष में है ही ; यथा—"कीन्ह मातु मिस काल कुचाली ।" (अ० दो० २५२) ; उसने ही हमपर विपत्ति डाली। उसपर श्रीसुग्रीवजी ने भी मेरी सुध भुला दी। भाव यह है कि जैसे हम काल को जीतेंगे, वैसे ही कृतघ्नी सुग्रीव को भी मारेंगे। 'बिसारी' अर्थात् जानकर मेरी सुधि भुला दी।

जेहि सायक मारा मैं बाली । तेहि सर हतउँ मूढ़ कहँ काली ॥५॥
जासु कृपा छूटहिं मद-मोहा । ता कहँ उमा कि सपनेहुँ कोहा ॥६॥

अर्थ—जिस बाण से मैंने वालि को मारा है, उसी बाण से मूढ़ को (क्या) कल मारूँ ? (तो सारी उसकी विलासिता खाक में मिल जाय ?) ॥५॥ हे उमा ! जिसकी कृपा से मद और मोह छूट जाते हैं, उसे क्या स्वप्न में भी क्रोध हो सकता है ? (अर्थात् कभी नहीं, यह तो विरहातुर नर का नाट्य है) ॥६॥

विशेष—(१) 'तेहि सर हतउँ मूढ़ कहँ काली ।'—यहाँ 'हतउँ' यह अपूर्ण क्रिया है, अर्थात् 'मारूँ'। पूर्ण क्रिया 'मारूँगा' के लिये 'मारिहउँ' होना चाहिये, पर ऐसा नहीं है। अतः, 'हतउँ' का अर्थ 'क्या मारूँ ?' एवं 'यदि मारूँ' यह है। श्रीरामजी विरह का नाट्य कर रहे हैं, अथवा विरह से पीड़ित मनुष्य की तरह कह रहे हैं। श्रीसुग्रीवजी से स्वार्थ-भाव से मित्रता तो थी नहीं, यदि स्वार्थ-साधन के लिये मित्रता करते तो वालि से ही करते। श्रीसुग्रीवजी आर्त्त एवं अर्थार्थी भक्त हैं। अत', उनकी रक्षा करना ही भगवान् का उद्देश्य है। उसने अग्नि की साक्षी देकर मित्रता की थी, प्रभु ने वचन-मात्र के दंड से उन्हें पाप-मुक्त किया, अन्यथा अग्निदेव ही उसे दंड देते। वचन-मात्र से भी इतना ही कहते हैं कि कल मारूँगा, पर ऐसा होगा नहीं, क्योंकि वह तो आज ही शरण में आ जायगा।

(२) 'जासु कृपा छूटहिं मद-मोहा ।'''; यथा—"क्रोध मनोज लोभ मद माया । छूटहिं सकल राम की दाया ॥" (अ० दो० ४८) ; यहाँ 'मद और मोह' दो ही कहे गये हैं, क्योंकि ये दोनों क्रोध के मूल

हैं। जब वे मूल ही उनकी कृपा से छूटते हैं, तो उन्हीं का कार्य-रूप क्रोध इन्हें कैसे हो सकता है? 'स्वप्न में भी न होगा' यह मुहावरा है, अर्थात् कभी नहीं हो सकता।

जानहिं यह चरित्र मुनि ज्ञानी। जिन्ह रघुबीर-चरन रति मानी ॥७॥
लछिमन क्रोधवंत प्रभु जाना। धनुष चढ़ाइ गहे कर बाना ॥८॥

दोहा—तब अनुजहि समुझावा, रघुपति करुना-सींव।
भय देखाइ लै आवहु, तात सखा सुग्रीव ॥१८॥

अर्थ—मुनि, ज्ञानी और जिन लोगों ने रघुवीर श्रीरामजी के चरणों में प्रीति मान ली है, वे ही इस चरित (के मर्म) को जानते हैं ॥७॥ श्रीलक्ष्मणजी ने प्रभु को क्रोधयुक्त जाना, (तब उन्होंने) धनुष चढ़ाकर बाण को हाथ में लिया; अर्थात् श्रीसुग्रीवजी को मारने के लिये उद्यत हो गये ॥८॥ तब करुणा की सीमा श्रीरघुनाथजी ने भाई को समझाया कि हे तात! सुग्रीव सखा है, उसे भय दिखाकर ही ले आओ; अर्थात् किसी को सखा बनाकर मारना उचित नहीं है ॥१८॥

विशेष—(१) 'जानहिं यह चरित्र···'—मुनि से अधिक ज्ञानी और ज्ञानी से अधिक उपासक प्रभु के चरित को जानते हैं। इसी प्रकार क्रम से कहा गया है। 'लछिमन क्रोध ···'—श्रीलक्ष्मणजी ने जाना, पर प्रभु क्रोधयुक्त हैं नहीं।

शंका—श्रीलक्ष्मणजी भी तो 'रघुबीर-चरन रति मानी' हैं ही; यथा—"मारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी॥" (बा० दो० १९७); फिर क्यों नहीं जान सके?

समाधान—श्रीरामजी ने यह मर्म उन्हें नहीं जनाया, इससे उन्होंने नहीं जाना; यथा—"लछिमन हूँ यह मरम न जाना।" (आ० दो० २३); श्रीरामजी को ललित नरलीला करनी है, नर-शरीर में क्रोध, भ्रम, आदि का होना संभव है, इसीलिये ये वैसा ही चरित्र करते हैं। प्रभु का रहस्य उन्हीं के जनाये से, वह भी परिमित अंश में ही कोई जानता है। यदि श्रीलक्ष्मणजी जान लेते तो प्रभु से विरह आदि की लीला नहीं करते बनती।

(२) 'तब अनुजहि समुझावा···'—'करुना-सींव'—श्रीसुग्रीवजी पर भी अत्यन्त करुणा है। इसलिये भाई को समझाया। 'अनुजहि' और 'सखा'—का भाव यह है कि तुम हमारे छोटे भाई हो और श्रीसुग्रीवजी सखा अर्थात् हमारे समान हैं। अतः, वे तुम्हारे द्वारा आदरणीय हैं। समझाना वाल्मी० ४।३१।६-८ में कहा गया है—"जब श्रीलक्ष्मणजी ने कहा कि मैं आज ही असत्यवादी सुग्रीव को मारता हूँ। रहा सीता-शोध, वह अंगद के द्वारा करा लूँगा। तब श्रीरामजी ने कहा कि तुम्हारे समान मनुष्य को ऐसा पाप नहीं करना चाहिये। जो कोप को विवेक से शान्त करते हैं, वे ही वीर पुरुषोत्तम कहे जाते हैं। हे श्रीलक्ष्मणजी! साधु-चरित्रवाले तुमको सुग्रीव के मारने की बात नहीं सोचनी चाहिये। पहले जो मैत्री की गई है, उसका स्मरण करो। काल बीत जाने के सम्बन्ध में कोमल वचनों से रुखाई दूर करके तुम सुग्रीवजी से कहना।"

यह भी समझाया कि अपने ही बनाये हुए को बिगाड़ना नहीं चाहिये; यथा—"आपने निवाजे

कोपे कीजे लाज महाराज, मेरी ओर हेरि कै न वैठिये रिसाइ कै। पालि कै कृपाल ब्याल बालको न मारिये, औ काटिये न नाथ विषहू को रूख लाइ कै॥" (क० उ० ९१)।

इहाँ पवनसुत हृदय बिचारा। राम-काज सुग्रीव बिसारा॥१॥
निकट जाइ चरनन्हि सिर नावा। चारिहु बिधि तेहि कहि समुझावा॥२॥

अर्थ—यहाँ (किष्किंधा नगर में) पवन के पुत्र श्रीहनुमान्‌जी ने हृदय में विचार किया कि श्रीसुग्रीवजी ने राम कार्य भुला दिया॥१॥ समीप जाकर उन्होंने चरणों में प्रणाम किया और साम, दाम, भेद और दंड, इन चारों तरह से उन्हें कहकर समझाया॥२॥

विशेष—(१) 'इहाँ पवन सुत '—भुला देना इससे जाना कि स्मरण होता, तो वर्षा के बीतते ही हमसे कार्य करने को कहे होते, पर कभी इन्होंने चर्चा भी नहीं की। श्रीहनुमान्‌जी नहीं भूले, क्योंकि इनका तो राम-कार्य के लिये अवतार ही है; यथा—"राम काज लगि तव अवतारा।" (कि० दो० २९)। पुनः इन्होंने ही बीच में पड़कर दोनों तरफ से प्रतिज्ञा सहित मैत्री कराई थी। इनके हृदय में सदा श्रीरामजी बसते हैं, इससे प्रमाद नहीं हो सका और ये सावधान रहे।

(२) यहाँ श्रीहनुमान्‌जी ने श्रीसुग्रीवजी में एवं श्रीरामजी में मन, वचन, कर्म की भक्ति प्रकट की—'हृदय विचारा'—मन; 'चरनन्हि सिर नावा'—कर्म और 'कहि समुझावा'—वचन है। 'निकट जाइ'—इसलिये कि जिससे दूसरा कोई न सुने। इस बात के प्रकट होने में राजा की लघुता है। प्रणाम करके मंत्र कहना नीति है। 'चारिहु बिधि'—श्रीरामजी परम श्रेष्ठ हैं, उन्होंने आपसे आकर प्रीति की और पहले आपका उपकार किया। अतः, आपको उन्हें प्रसन्न रखना चाहिये—यह साम है। उन्होंने आपको राज्य दिया, अतः बदले में उनका कार्य करना चाहिये—यह दाम है। बालि ने अंगद को सौंपा है, यदि अप्रसन्न होकर श्रीरामजी उसे ही राज्य दे दें तो आप क्या कर सकेंगे? अतः, उनका कार्य शीघ्र कीजिये—यह भेद है। फिर जिन्होंने बालि को मारा, उनके सामने आप क्या हैं?—यह दंड है।

वाल्मी० सर्ग २९ में श्रीहनुमान्‌जी का समझाना विस्तार से है। 'इहाँ' अर्थात् इस समय कवि की स्थिति परम भक्त श्रीहनुमान्‌जी की ओर है। 'बिचारा' श्रीरामजी ने कहा भी था—"संतत हृदय धरेहु मम काजू।" (दो० ११), तब भी इन्होंने भुला दिया। 'पवन सुत'; यथा—"पवन तनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिज्ञान निधाना।" (दो० २९); इसी से इन्होंने बुद्धि से विचार कर कहा।

सुनि सुग्रीव परम भय माना। बिषय मोर हरि लीन्हेउ ज्ञाना॥३॥
अब मारुत-सुत दूत-समूहा। पठवहु जहँ तहँ बानर-जूहा॥४॥
कहहु पाख महुँ आव न जोई। मोरे कर ता कर बध होई॥५॥

अर्थ—श्रीसुग्रीवजी ने श्रीहनुमान्‌जी के वचन सुनकर अत्यन्त भय माना (और कहा—) कि विषय ने मेरा ज्ञान हर लिया॥३॥ हे पवनपुत्र! अब जहाँ-जहाँ वानरों के यूथ (झुण्ड) हैं, वहाँ-वहाँ बहुत-से दूतों को भेजो॥४॥ और दूतों एवं सर्वत्र के वानर यूथों से कहो एवं कहला दो कि जो कोई एक पक्ष (१५ दिन) में नहीं आवेगा, उसका वध मेरे हाथों से होगा॥५॥

विशेष—'बिषय मोर हरि लीन्हेउ ज्ञाना।'—पहले ज्ञान था; यथा—"उपजा ज्ञान बचन तब बोला। नाथ कृपा मन भयउ अलोला। सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥ ये सब राम भगति के बाधक।" (दो० ६)। उसी पर यहाँ लक्ष्य है। विषय ज्ञान को हर लेता है; यथा—"इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते। तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥" (गीता २।६७); 'अब मारुत सुत···'—मारुत सुत शीघ्रता के लक्ष्य से कहा गया कि वायु-वेग से दूतों को भेजो, वैसे ही तेजी से वे सब जायँ और वैसे ही तेजी से आनेवालों को बुलावें। 'दूत समूहा'; यथा—"शतान्यथ सहस्राणि कोट्यश्च मम शासनात्। प्रयान्तु कपिसिंहानां निवेशे मम ये स्थिताः॥···आनयन्तु हरीन्सर्वांस्त्वरिताः शासनान्मम॥" (वाल्मी० ४।३७।१२-१५); अर्थात् सौ हजार करोड़ दूत शीघ्र जायँ और मेरे अधीन वानरों को शीघ्र ले आवें। 'जहँ-तहँ' वाल्मी० ४।३७।२२।२५ में कैलास, हिमालय, विन्ध्याचल आदि पर्वतों एवं क्षीरसमुद्र के तट के, तमाल वन के तथा और भी नदियों वनों के नाम दिये गये हैं, वे ही यहाँ 'जहँ तहँ' से कहे गये। इससे अन्य रामायणों के मतों का भी समावेश हो गया। 'जूहा' यूथा का अपभ्रंश है। 'मोरे कर'—दूसरे के हाथों से चाहे बच भी जाते।

तब हनुमंत बोलाये दूता। सब कर करि सनमान बहूता॥६॥
भय अरु प्रीति नीति देखराई। चले सकल चरननि्ह सिर नाई॥७॥
येहि अवसर लछिमन पुर आये। क्रोध देखि जहँ-तहँ कपि धाये॥८॥

दोहा—धनुष चढ़ाइ कहा तब, जारि करउँ पुर छार।
ब्याकुल नगर देखि तब, आयउ बालि-कुमार॥१९॥

अर्थ—(जब श्रीसुग्रीवजी ने आज्ञा दी) तब श्रीहनुमान्‌जी ने दूतों को बुलाया और सबका बहुत सम्मान करके॥६॥ सबको भय, प्रीति और नीति दिखाई, सब वानर चरणों में शिर नवाकर चले॥७॥ (दूतों के भेजे जाने पर) उसी समय श्रीलक्ष्मणजी नगर में आये, उनका क्रोध देखकर वानर जहाँ-तहाँ से दौड़े॥८॥ तब (जब अस्त्र धारण किये हुए वानरों को दौड़ते देखा, तब उन्हें लड़ने पर उद्यत जानकर) श्रीलक्ष्मणजी धनुष चढ़ाकर बोले कि (अग्निबाण से) नगर को जलाकर राख कर दूँगा। तब नगर-वासियों को व्याकुल देखकर बालि-पुत्र अंगदजी उनके पास आये॥१९॥

विशेष—(१) 'तब हनुमंत बोलाये···'—'तब' जब राजा की आज्ञा मिली। 'करि सनमान'—यथा—"लै लै नाम सकल सनमाने।" (अ० दो० १२०); सम्मान के द्वारा उनमें अपना प्रेम दिखाया। कहा कि तुम सब सुग्रीवजी के विश्वासी एवं मित्र हो, तुम्हारा उन्हें बड़ा भरोसा है, इत्यादि।

(२) 'भय अरु प्रीति नीति ···'—पक्ष-भर में जो न आवेगा, राजा उसे स्वयं मारेंगे—यह भय, शीघ्र आनेवाले एवं कार्य करनेवाले पर राजा प्रसन्न होंगे और तदनुसार पारितोषिक देंगे—यह प्रीति और दूतों को नीति बतलाई। नीति में यह भी कहा है कि सुग्रीव राजा का यह पहला कार्य है, इसमें त्रुटि करने-वाला पूर्व के विरोधी पक्ष का समझा जायगा। श्रीसुग्रीवजी ने केवल भय दिखाने की आज्ञा दी थी, इसी से भय को पहले कहा। नीति और प्रीति को इन्होंने अपनी ओर से कहा—यह इनकी स्वामि-भक्ति है।

(३) 'क्रोध देखि जहँ-तहँ···'—भय दिखाने के लिये श्रीलक्ष्मणजी क्रोध की चेष्टा किये हुए हैं, उनके नेत्र लाल और भौंहें चढ़ी हुई हैं, वे धनुष के रोदे से कठोर शब्द कर रहे हैं। 'जहँ-तहँ कपि धाये'—चारों तरफ मोरचेबंदी करने लगे कि किसी ओर से जाकर श्रीसुग्रीवजी को मारने न पावें। वरास लड़ने पर उद्यत देखकर श्रीलक्ष्मणजी का क्रोध और बढ़ गया।

(४) 'धनुष चढ़ाइ कहा···'—कहने मात्र पर नगर-भर व्याकुल हो गया, यह कथन भय-दर्शन के लिये ही है; यथा—"भय देखाय लै आवहु"-यह श्रीरामजी की आज्ञा है, इसका पूरा प्रभाव पड़ा। 'धनुष चढ़ाइ'—पहले धनुष चढ़ाना कहा गया था; यथा—"लछिमन क्रोधवंत प्रभु जाना। धनुष चढ़ाइ गहे कर बाना॥" पर यहाँ फिर चढ़ाना कहा गया, इससे जाना गया कि उस समय श्रीरामजी के समझाने पर धनुष उतार दिया था। यहाँ इन लोगों की मोरचेबंदी देखकर इन्हें लड़ने को उद्यत जान फिर धनुष पर रोदा चढ़ाया। 'करउँ पुर छार'—क्योंकि पुरवालों ने लड़ने की तैयारी की। इसी से सबको जलाना कहते हैं। 'बालि कुमार'—बालि ने सौंपा है, इससे हमपर कृपा ही करेंगे, यह जानकर अंगद आया। पुनः बालि के बसाये हुए पुर पर आपत्ति देखकर उसकी रक्षा करने के लिये आया तथा बालि की तरह धीर एवं विनीत है—इससे आया। इन कारणों के प्रकट करने को 'बालि-कुमार' कहा है।

चरन नाइ सिर बिनती कीन्ही। लछिमन अभय बाँह तेहि दीन्ही॥१॥
क्रोधवंत लछिमन सुनि काना। कह कपीस अति भय अकुलाना॥२॥
सुनु हनुमंत संग लै तारा। करि बिनती समुझाउ कुमारा॥३॥
तारा-सहित जाइ हनुमाना। चरन बंदि प्रभु-सुजस बखाना॥४॥
करि बिनती मंदिर लै आये। चरन पखारि पलँग बैठाये॥५॥

अर्थ—अंगदजी ने चरणों में शिर नवाकर विनती की। श्रीलक्ष्मणजी ने उसे अभय बाँह दी; अर्थात् उसे अपने कोप से निर्भय कर दिया॥१॥ श्रीलक्ष्मणजी क्रोधयुक्त हैं, ऐसा कानों से सुनकर श्रीसुग्रीवजी भय से अत्यन्त व्याकुल हो गये और बोले॥२॥ हे हनुमान्! सुनो, तारा को साथ ले जाकर प्रार्थना करके राजकुमार को समझाओ; अर्थात् शान्त करो॥३॥ तारा के साथ जाकर हनुमान्जी ने चरणों की वंदना करके प्रभु का सुयश वर्णन किया॥४॥ विनती करके महल में ले आये, चरणों को धोकर उन्हें पलँग पर बैठाया॥५॥

विशेष—(१) 'अभय बाँह'—यह मुहावरा है कि तुम्हें कोई भय नहीं है, हम नगर न जलायेंगे।

(२) 'सुनि काना'—ये महल के भीतर थे, इससे इन्होंने कानों से ही सुना। बाहरवाले वानरों ने उनका क्रोध देखा भी था; यथा—"क्रोध देखि जहँ-तहँ कपि धाये।" ऊपर अंगदजी का अभय होना कहकर श्रीसुग्रीवजी का सुनना कहा गया, इससे सूचित किया कि अंगदजी ने ही आकर कहा, जैसा कि वाल्मी० ४।३१–३२ में स्पष्ट कहा है।

(३) 'अति भय अकुलाना'—श्रीहनुमान्जी के ही समझाने से उन्होंने परम भय माना था, अब श्रीलक्ष्मणजी को क्रुद्ध सुनकर तो अत्यन्त ही व्याकुल हो गये। सोचते हैं कि श्रीरामजी होते तो उन्हें मित्र के नाते समझा भी लेते, इनपर तो मेरा वश नहीं है।

(४) 'संग लै तारा ।'—स्त्री पर बड़े लोग दया ही करते हैं. तारा बड़ी बुद्धिमती भी है, बालि ने कहा भी था—यह पूर्व कहा गया और श्रीहनुमान्‌जी बुद्धि, विवेक और विज्ञान के निधान हैं एवं श्रीरामजी के विशेष कृपापात्र हैं, इन्हीं ने मैत्री कराई थी। अतएव ये दोनों समझा सकेंगे। अंगद को अभय-बाँह दे चुके हैं। अतः, उसकी माता पर भी दया ही करेंगे। अतः, मेरा अपराध भी क्षमा करेंगे। समझाना यह कि आपने अपने हाथ से जिसका तिलक किया है, उसे स्वयं न मारना चाहिये, इस नीति से राजकुमार को समझाना। 'कुमारा'—श्रीरामजी राजा हैं, उन्होंने श्रीसुग्रीवजी को मित्र बनाकर बराबर का पद दिया है। अतः, आप (कुमार) के द्वारा वे सम्मान के पात्र हैं। 'बिनती'—जैसे कि नाग-पत्नी की विनती से श्रीकृष्ण भगवान् ने नाग को बचाया है।

(५) 'तारा सहित जाइ···'—श्रीलक्ष्मणजी द्वार पर ही थे। अतः, ये लोग वहीं तक गये। 'प्रभु सुजस' यथा—"जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥" (उ० दो० १); "अपनेहुँ देखे दोष, राम न सपनेहु उर धरेउ।" (दोहावली ४०); "न घटे जन जो रघुबीर बढ़ायो।" (क० उ० १०)। "सुजस सुनि श्रवन हौं नाथ आयों सरन। उपल केवट गीध सबरी संसृति समन, सोक-श्रम-सींव सुग्रीव आरति हरन।" (गी० सु० ४६); राम-भक्तों को प्रसन्न करने का यह सहज उपाय है कि उन्हें राम-यश सुनावे; क्योंकि यही उनका जीवन धन है, यथा—"राम भगत जन जीवन धन से।"; "सेवक सालि पाल जलधर से।" (बा० दो० ३१–३२)।

'तारा सहित' एवं 'संग लै तारा' से श्रीहनुमान्‌जी की प्रधानता है, वाल्मीकीय रामायण में तारा की ही प्रधानता है।

(६) 'करि बिनती मंदिर लै आये।'—श्रीलक्ष्मणजी भीतर नहीं आना चाहते थे, तब भीतर चलने के लिये विनती की; यथा—"तदागच्छ महाबाहो चारित्रं रक्षितं त्वया। अच्छलं मित्रभावेन सतां दारावलोकनम्॥" (वाल्मी० ४।३३।६१); अर्थात् तारा ने कहा, आइये, किसी के घर में जाकर स्त्रियों को देखना न चाहिये—इस मर्यादा का आपने पालन किया, पर मित्र-भाव से सज्जनों का पर स्त्री को देखना अनुचित नहीं है, अतएव आप भीतर चलिये। मंदिर में ले आने से श्रीलक्ष्मणजी का अधिक सम्मान हुआ। चरण धोये, पलँग पर बैठाया, एवं और भी सेवा की। श्रीसुग्रीवजी भीतर बुलाकर फिर भी कोप शांत कराके मिले, क्योंकि बाहर श्रीलक्ष्मणजी की डाँट-फटकार से प्रजा के सामने मान-हानि थी, यहाँ तो घर की बात घर में ही है।

श्रीलक्ष्मणजी यहाँ राम-कार्य में आये हुए हैं, सेवक की रुचि रखने के लिये सेवा-ग्रहण करके पलँग पर बैठना इनके लिये अनुचित नहीं है। उदासीन व्रत तो श्रीरामजी के लिये ही है। इसी से वे नगर में नहीं आते थे, पर ये सर्वत्र आते-जाते थे।

तब कपीस चरनन्हि सिरु नावा। गहि भुज लछिमन कंठ लगावा॥६॥
नाथ बिषय-सम मद कछु नाहीं। मुनि-मन मोह करइ छन माहीं॥७॥
सुनत बिनीत बचन सुख पावा। लछिमन तेहि बहुबिधि समुझावा॥८॥
पवन-तनय सब कथा सुनाई। जेहि बिधि गये दूत-समुदाई॥९॥

दोहा—हरषि चले सुग्रीव तब, अंगदादि कपि साथ।
रामानुज आगे करि, आये जहँ रघुनाथ ॥२०॥

अर्थ—(जब श्रीलक्ष्मणजी शान्त हुए) तब श्रीसुग्रीवजी ने उनके चरणों में सिर नवाया, श्रीलक्ष्मणजी ने हाथ पकड़कर उन्हें गले से लगा लिया ॥६॥ (श्रीसुग्रीवजी ने कहा—) हे नाथ! विषय के समान और कोई मद नहीं है, यह मुनियों (मनन-शीलों) के मन को भी क्षण-भर में मोहित कर लेता है ॥७॥ विनम्र वचन सुनकर श्रीलक्ष्मणजी ने सुख पाया और उनको बहुत प्रकार से समझाया ॥८॥ श्रीहनुमान्‌जी ने सब कथाएँ सुनाईं, जिस तरह दूत समूह गये; अर्थात् चारों तरफ भेजे जानेवाले दूतों की व्यवस्था कह सुनाई ॥९॥ तब अंगद आदि वानरों को साथ लेकर और श्रीरामजी के भाई श्रीलक्ष्मणजी को आगे कर श्रीसुग्रीवजी हर्षित होकर चले और जहाँ श्रीरघुनाथजी थे, वहाँ आये ॥२०॥

विशेष—(१) 'कपीस'—ये राजा हैं, अतएव इन्होंने नीति के अनुसार किया कि पहले अंगदजी आ मिले, फिर तारा एवं श्रीहनुमान्‌जी के द्वारा उनका क्रोध शान्त कराया, तब मिले और उनके चरणोंपर पड़े।

(२) 'नाथ विषय सम मद ˙ '—मद अज्ञानियों को ही मोहित करता है, पर यह (विषय-रूप) मद ज्ञानियों को भी मोहता है। यह मन को मलिन कर देता है; यथा—"काई विषय मुकुर मन लागी।" (बा० दो० ११४)। 'मुनि मन मोह करइ'; यथा—"सुदु लशयितः पूर्वं प्राप्येदं सुखमुत्तमम्। प्राप्तकाल न जानीते विश्वामित्रोयथा मुनिः॥ घृताच्यां किल संसक्तो दशवर्षाणि लक्ष्मण। अहो मन्यत धर्मात्मा विश्वामित्रो महामुनिः॥" (वाल्मी० ४।३५।६-७)। 'बहु बिधि समुझावा'—आप श्रीरामजी के सखा हैं, उनके तुल्य हैं, अतः सम्मान्य हैं, पर मैंने श्रीरामजी के विरह के दुःख से ही कुछ क्रोध किया था, अब कोई भय नहीं। हाँ, अब शीघ्र चलकर अपने सखा को समझाइये। 'बिनीत बचन'—वाल्मी० ४।३६ में विस्तार से दिये गये हैं कि पहले की नष्ट राज्यश्री, कीर्ति और निरंतर वानरों का राज्य श्रीरामजी को कृपा से ही मुझे पुनः प्राप्त हुए हैं। उनका बदला चुकाने एवं सहायता करने में कौन समर्थ हो सकता है। वे स्वयं श्रीसीताजी को प्राप्त करेंगे, रावण को मारेंगे।···मैं भी पीछे-पीछे जाऊँगा। विश्वास के कारण या स्नेह के कारण यदि इस दास से अपराध हो गया है, तो उसे क्षमा करें, क्योंकि दासों से अपराध हो ही जाते हैं, इत्यादि।

(३) 'पवन-तनय सब कथा···'—पहले उन्हें कुपित जानकर न कहा था, अब प्रसन्न जानकर सुनाते हैं। श्रीहनुमान्‌जी ने ही सब व्यवस्थाएँ की थीं, इससे उन्होंने ही कहा। ये मंत्री और परम वाक्य-विशारद भी हैं। 'पवन-तनय'—क्योंकि इनके वचन, भी श्रीलक्ष्मणजी को वायु की तरह शीतल करनेवाले हैं।

(४) 'हरषि चले सुग्रीव······'—हर्षित होकर चले, क्योंकि राम-कार्य प्रारम्भ कर चुके हैं और श्रीलक्ष्मणजी भी अनुकूल हो गये। श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामजी के अनुज हैं, इसलिये उन्हें आगे किया, तब स्वयं और फिर अंगद आदि हैं। अंगदजी का नाम स्पष्ट कहा गया है, क्योंकि श्रीरामजी ने कहा ही था—"अंगद सहित करहु तुम राजू।" (दो० ११); अत, इन्हें साथ रखने से श्रीरामजी प्रसन्न होंगे। चलने की रीति भी जनाई कि आगे श्रीलक्ष्मणजी हैं, फिर श्रीसुग्रीवजी और तब अंगद आदि।

नाइ चरन सिर कह कर जोरी। नाथ मोहि कछु नाहि न खोरी ॥१॥
अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौं दाया ॥२॥
विषय-बस्य सुर-नर-मुनि-स्वामी। मैं पामर पसु कपि अति कामी ॥३॥

अर्थ—श्रीरामजी के चरणों में शिर नवाकर श्रीसुग्रीवजी ने कहा—हे नाथ ! मेरा कुछ दोष नहीं है ॥१॥ हे देव ! आपकी माया अत्यन्त प्रबल है, हे श्रीरामजी ! जो आप कृपा करें तो छूटे ॥२॥ हे स्वामी ! सुर, नर, मुनि सभी विषय के वश हैं, (तो) मैं पामर (नीच) पशु अत्यन्त कामी कपि किस गणना में हूँ ? ॥३॥

विशेष – (१) 'नाइ चरन सिर कह ······'—हाथ जोड़कर शिर नवाना श्रीरामजी को प्रिय है ; यथा—"भलो मानि है रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइ है। ततकाल तुलसीदास जीवन जनम को फल पाइहै ॥" (वि० १३५) ; चरण के सम्बन्ध से शिर नवाना साष्टांग दंडवत् के अर्थ में है; अन्यथा केवल 'माथ नाइ' आदि कहते ; यथा—"माथ नाइ पूछत अस भयऊ।" (दो० १) ; अंगदजी एवं तारा और श्रीहनुमान्‌जी ने भी चरणों की वंदना और विनती ही की थी ; यथा—"चरन नाइ सिर विनती कीन्हीं।"–अंगदजी, "चरन बंदि प्रभु सुजस बखाना ॥"—तारा और हनुमान्‌जी, उसी भाँति सुग्रीवजी ने भी किया।

'नाथ मोहि कछु नाहिन खोरी····'—भाव यह कि माया आपकी ही है, आपही की प्रेरणा से बाँधना और छोड़ना ये दोनों ही कार्य होते हैं ; यथा—"बंध मोच्छ प्रद सर्व पर, माया प्रेरक सीव।" (आ० दो १५) ; "तुलसिदास यह जीव मोह रजु जोइ बाँधै सोइ छोरै।" (वि० १०२) ; भाव यह कि मैंने तो प्रथम ही माँगा था कि वैसी कृपा कीजिये, जिससे सब छोड़कर भजन करूँ पर आपने माया का सम्बन्ध कर दिया तो मैं क्या करूँ ? अतः, अब ऐसी कृपा कीजिये कि मोह से बचकर आपका भजन करूँ ; यथा—"काल करम गति अगति जीव की सब हरि हाथ तुम्हारे। सोइ कछु करहु रहहु ममता मम फिरहुँ न तुम्हहि बिसारे ॥" (वि० ११२)।

(२) 'अतिसय प्रबल देव ···' ; यथा—"सिव बिरंचि कहँ मोहै, को है बपुरा आन।" (उ० दो० ६२) ; "जाकी माया बस बिरंचि सिव नाचत पार न पायो।" (वि० ६८)। 'छूटइ नाथ करहु जौ दाया' ; यथा—"सो दासी···छूट न राम कृपा बिनु, नाथ कहउँ पद रोपि।" (उ० दो० ७१) ; "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥" (गीता ७।१४) ; तथा वि० ११६ और १२३ इन पूरे-पूरे पदों को भी पढ़िये।

(३) 'बिषय-बस्य सुर-नर मुनि···'—सुर में श्रेष्ठ इन्द्र अहल्या में आसक्त हुए, मनुष्यों में आदि पुरुष मनुजी ने स्वयं कहा है; यथा—"होइ न विषय विराग, भवन बसत भा चौथपन।" (बा० दो० १४२), मुनि नारदजी के विषय वश होने की कथा आ ही चुकी है। सुर सत्त्वप्रधान हैं ; अतः, ज्ञान-रूप ही होते हैं। 'मानुष तनु गुन ग्यान निधाना ॥" (अ० दो० २६४), यह नरों के लिये कहा ही है। मुनि मननशील एवं विज्ञान धाम होते हैं, जब वे विषय वश हो जाते हैं, तो वानर पशुजो कि अत्यन्त कामी होते हैं, उन्हें क्या कहना ? यथा—"महर्षयो धर्मतपोभिरामाः कामानुकामाः प्रतिबद्धमोहाः अयं प्रकृत्या चपलः कपिस्तु कथं न सज्जेत सुखेषु राजा ॥" (वाल्मी० ४।३३।५७)—ये तारा के वचन श्रीलक्ष्मणजी से हैं कि धर्म और तप से शोभित मोह रहित महर्षि भी विषयाभिलाषी हो जाते हैं। तो स्वभाव से ही चंचल वानर और फिर राजा यदि सुख में आसक्त हुआ तो क्या आश्चर्य है ? श्रीसुग्रीवजी ने ऐसा ही निश्छल भाव से श्रीलक्ष्मणजी से भी कहा है ; यथा—"नाथ विषय सम मद कछु नाहीं। मुनि मन मोह करइ छन माहीं ॥" (दो० २१)।

यहाँ तक बाह्येन्द्रिय-विषय शब्दादि कहे गये, आगे अन्तःकरण के आच्छादन करनेवाले कामादि विकारों को कहते हैं—

नारि-नयन-सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा ॥४॥
लोभ-पास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह-समान रघुराया ॥५॥
यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई ॥६॥
तब रघुपति बोले मुसुकाई। तुम्ह प्रिय मोहिं भरत जिमि भाई ॥७॥

अर्थ— स्त्री का नयन-बाण जिसको नहीं लगा, जो घोर क्रोधरूपी अँधेरी रात में जागता रहता है; अर्थात् क्रोध आने पर भी जो सावधान रहता है ॥४॥ लोभरूपी पाश (फंदा, बधन) से जिसने अपना गला नहीं बँधाया, अर्थात् जो लोभ में नहीं फँसा, हे श्रीरघुनाथजी ! वह मनुष्य आपके ही समान है ॥५॥ ये गुण साधनों से नहीं प्राप्त होते। आपकी कृपा से ही कोई-कोई पाता है ॥६॥ तब श्रीरघुनाथजी हँसकर बोले कि हे भाई ! तुम मुझे भरत जैसे (भरतजी की तरह) प्रिय हो ॥७॥

विशेष—'नारि नयन सर···' जैसे कि भौंहें कमान और नेत्र की पुतली बाण हैं और अंजन काजल आदि के सहित नेत्रों का होना बाणों का गाँसी लगे हुए एवं विष बुझे हुए होना है। कटाक्ष चलाना प्रहार करना है। श्रीसुग्रीवजी काम-वश हुए, इसीसे प्रस्तुत प्रसंग को पहले कहते हैं। 'घोर क्रोध तम निसि ···'—क्रोध अँधेरी रात की तरह है, क्योंकि इसमें भी लोगों को उचित-अनुचित नहीं सूझता; यथा—"लखन कहेउ हँसि सुनहु मुनि, क्रोध पाप कर मूल। जेहि बस जन अनुचित करहिं, चरहिं बिस्व प्रतिकूल ॥" (बा० दो० २७७)।

(२) 'लोभ-पास जेहि···'—लोभ नट रूप है, आशा पाश है; यथा—"लोभ मनहिं नचाव कपि ज्यों गरे आसा डोरि।" (वि० १५८); "लोभ सबै नट के बस ह्वै कपि ज्यों जग में बहु नाच न नाचे।" (क० उ० ११८)। 'गर न बँधाया' बन्दर स्वयं बँधता है, वैसे जीव भी आशा में स्वयं बँधता है।

काम, क्रोध और लोभ को क्रम से कहा, क्योंकि तीनों अत्यन्त प्रबल हैं; यथा—"तात तीनि अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ। मुनि बिज्ञान धाम मन, करहिं निमिष महुँ छोभ ॥" (अ० दो० ३८) तथा—"को न क्रोध निरदह्यो···भौंह कमान सँधान सुठान जे नारि बिलोकनि बान ते बाँचे।···" (क० उ० ११७-११८)—इन पूरे-पूरे पदों को पढ़िये।

'सो नर तुम्ह-समान ···'—भाव यह कि ईश्वर के बिना कोई भी इनसे सर्वथा अपनी शक्ति से नहीं बच सकता। इसीसे कोई भी जीव ईश्वर के समान नहीं हो सकता, यथा—"जीव कि ईस समान।" (उ० दो० १११); विकार छ हैं, पर तीन ही कहे गये, क्योंकि काम से मद, क्रोध से मोह और लोभ से ईर्ष्या होती है। अत, तीन के ही जीतने में छहों से विजयी हो सकता है।

(३) 'यह गुन साधन ते··'—और गुण क्रिया साध्य भी हैं; यथा—"धर्म ते बिरति जोग ते ज्ञाना।" (आ० दो० १५); पर यह गुण क्रिया साध्य नहीं है, केवल कृपासाध्य ही है। कृपा से भक्तों में ही ये गुण होते हैं, जैसे श्रीलक्ष्मणजी और श्रीहनुमान्‌जी इत्यादि में हैं। अन्यत्र भी कहा है—"क्रोध मनोज लोभ मद माया। छूटहिं सकल राम की दाया ॥" (आ० दो० ३८)।

(४) 'तब रघुपति बोले मुसुकाई।'—श्रीसुग्रीवजी काम के वश हो गये थे और कहते हैं कि कामादि आपकी कृपा से छूटते हैं, इससे सूचित किया कि मुझपर आपकी कृपा नहीं है। इसपर प्रभु

ने हँसकर अपनी कृपा सूचित की ; यथा—"हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचित किरन मनोहर हासा॥" (बा० दो० १९७)। हँसकर प्रसन्नता प्रकट करके श्रीसुग्रीवजी के हृदय की ग्लानि दूर की। इसपर भी हँसना कहा जाता है कि जीव जब भूलता है, तब किसी भी रीति से मुझपर ही दोष रखता है ; यथा—"दोष-निलय यह विषय सोक प्रद कहत संत श्रुति टेरे। जानत हूँ अनुराग तहाँ अति सो हरि तुम्हरेहि प्रेरे॥" (वि० १९०)।

'तुम्ह प्रिय मोहि भरत जिमि भाई'—श्रीहनुमान्‌जी श्रीसुग्रीवजी के मंत्री हैं, उन्हें श्रीलक्ष्मणजी के प्रियत्व की उपमा दी थी; यथा—"तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना।" (दो० ३) श्रीसुग्रीवजी राजा हैं, और श्रीहनुमान्‌जी से बड़े हैं, इसलिये राजा और श्रीलक्ष्मणजी से बड़े श्रीभरतजी के समान कहा है। श्रीभरतजी भाई हैं, वैसे श्रीसुग्रीवजी भी हैं; यथा—"त्वमस्माकं चतुर्णां वै भ्राता सुग्रीव पञ्चमः।" (वाल्मी० ६।१२७।४४) ; यह भी भाव है कि दासत्व संबंध से श्रीहनुमान्‌जी को श्रीलक्ष्मणजी के समान और सख्यत्व में इन्हें श्रीभरतजी के समान कहा है। हँसने से और श्रीभरतजी के समान प्रिय कहने से श्रीसुग्रीवजी का भय जाता रहा।

"जेहि बिधि कपिपति कीस पठाये"—प्रकरण

अब सोइ जतन करहु मन लाई। जेहि बिधि सीता कै सुधि पाई॥८॥

दोहा—येहि बिधि होत बतकही, आये बानर-जूथ।
नाना बरन सकल दिसि, देखिय कीस-बरूथ॥२१॥

अर्थ—अब मन लगाकर वही उपाय करो, जिस तरह श्रीसीताजी की खबर मिले॥८॥ इस तरह बात-चीत हो रही थी कि वानरों के यूथ (झुंड) आ गये। सब दिशाओं में अनेक रंगों और जातियों के वानरों के झुंड दिखाई देने लगे॥२१॥

विशेष—(१) 'अब सोइ जतन'''—अभी तक विषय में मन लगाये हुए थे, अब सीता-शोध में मन लगाओ, फिर न भूलना, जो हुआ सो हुआ। श्रीसुग्रीवजी ने तो कहा था; यथा—"सब प्रकार करिहउँ सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई॥" पर सर्वज्ञ प्रभु ने उतना ही कहा, जितना कि उनसे होना है, श्रीसीताजी का लाना तो प्रभु के अपने ही पुरुषार्थ से होगा।

(२) 'येहि बिधि होत बतकही'' '—'बतकही' शब्द का भाव बा० दो० ८ चौ० २ पर लिखा गया, वहीं देखिये। यहाँ वानरों के यूथों के आगमन से स्पष्ट है कि पहले जो श्रीहनुमान्‌जी ने दूतों को भेजा था और पक्ष भर की अवधि दी थी, वह पक्ष भर हो गया। उस समय के वचन से जान पड़ता है कि पक्ष के भीतर आना कठिन था। इससे पूर्वोक्त—"येहि अवसर लछिमन पुर आये।" का भाव पक्ष पूर्ति के लगभग करना होगा। 'नाना बरन'—वाल्मी० ४।३८।२७-३४ में इनका विशद वर्णन है। ये सब असंख्य कहे गये, इनकी कई जातियाँ और कई रंग भी थे। सब भयंकर, वीर और विशालकाय थे, क्योंकि राक्षसों से युद्ध के लिये ब्रह्मा की आज्ञा से पैदा हुए हैं।

वानर कटक उमा मैं देखा। सो मूरुख जो करन चह लेखा ॥१॥
आइ राम-पद नावहिं माथा। निरखि बदन सब होहिं सनाथा ॥२॥
अस कपि एक न सेना माहीं। राम-कुसल जेहि पूछी नाहीं ॥३॥
यह कछु नहिं प्रभु कइ अधिकाई। बिस्वरूप ब्यापक रघुराई ॥४॥

अर्थ—हे उमा! मैंने वानरी सेना देखी है, वह मूर्ख है जो उनकी गणना करना चाहे (अर्थात् वह असंख्य थी, तो गिनने का प्रयास करना मूर्खता ही है) ॥१॥ सब आ-आकर श्रीरामजी के चरणों में मस्तक नवाते हैं और उनके मुख के दर्शनों से कृतार्थ होते हैं ॥२॥ सेना में एक भी वानर ऐसा नहीं था कि जिससे श्रीरामजी ने कुशल न पूछी हो ॥३॥ प्रभु के लिये यह कुछ बड़ी बात नहीं है, (क्योंकि) रघुराई श्रीरामजी विश्व (विराट्) रूप और व्यापक हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'मैं देखा'—श्रीशिवजी भी वहाँ देवताओं के साथ थे; यथा—"मधुकर खग मृग तनु धरि देवा। करहिं सिद्ध मुनि प्रभु की सेवा ॥" (दो० १२); इसीसे कहते हैं कि मैं अपनी देखी बात कहता हूँ।

यहाँ सभी आकर श्रीरामजी के चरणों में मस्तक नवाते हैं, श्रीरामजी सबसे कुशल पूछते हैं और वे सब दर्शनों से अपनेको सनाथ मानते हैं, क्योंकि जिन स्वामी की राह देखते थे, वे ही प्राप्त हुए; यथा—"हरि मारग चितवहिं मतिधीरा।" (बा० दो० १४०); अभी तक अनाथ थे, अब नाथ को पाकर सनाथ हुए, इससे अपनेको कृतार्थ मानते हैं। सब परिचित की तरह श्रीरामजी को दंडवत् प्रणाम करते हैं और असंख्य वानरों में प्रत्येक से श्रीरामजी कुशल पूछते हैं, यह उनका रहस्य है। श्रीपार्वतीजी ने 'औरउ राम रहस्य अनेका।' का प्रश्न किया था। उसके उत्तर में यह भी एक रहस्य है। दंडवत् करना सेवक का धर्म है और सेवक का सम्मान करना यह स्वामी का धर्म है। श्रीरामजी स्वामित्व में बड़े सावधान हैं; यथा—"बड़ी साहिबी में नाथ बड़े सावधान हैं।" माधुर्य की दृष्टि में यह आश्चर्य बात है कि एक ही श्रीरामजी सबसे कैसे कुशल पूछते हैं, इसी से ऐश्वर्य कहकर उसका समाधान करते हैं।

(२) *'बिस्व रूप ब्यापक…'—अर्थात् व्यापक और व्याप्य दोनों वे स्वयं हैं। संसार भर उनका* शरीर है और सबमें वे ही परमात्मा रूप से व्याप्त हैं, तब सबसे कुशल पूछना उनके लिये कौन अधिकता है; यथा—"येह बड़ि बात राम कै नाहीं। जिमि घट कोटि एक रबि छाहीं ॥" (अ० दो० २९२)।

(३) 'सो मूरुख जो करन चह लेखा।'—महर्षि वाल्मीकिजी ने इनकी संख्या के विषय में जिन शब्दों से कहा है, उनसे इनका अनन्त होना ही सिद्ध है; यथा—"शतैः शतसहस्रैश्च वर्तन्ते कोटिभिस्तथा। अयुतैश्चावृता वीर शंकुभिश्च परंतप ॥ अर्बुदैरर्बुदशतैर्मध्यैश्चान्त्यैश्च वानराः। समुद्राश्च परार्धाश्च हरयो हरियूथपाः ॥" (वाल्मी० ४।३८।३२-३३); अर्थात् किसी यूथप के साथ सौ वानर, किसी के साथ सौ हजार एवं करोड़, दस हजार, शंकु (लाख करोड़), अर्बुद (हजार शंकु), सौ अर्बुद, मध्य अर्बुद (दस अर्बुद); अन्त्य अर्बुद (मध्य अर्बुद के दस गुने), समुद्र (अन्त्य के दस गुने) और किसी के साथ परार्द्ध (समुद्र के बीस गुने। वानर हैं। आगे ग्रन्थकार ने भी कहा है; यथा—"पदुम अठारह जूथप बंदर।" (सुं० दो० ५४); पर एक-एक यूथप के साथ उक्त रीति से ही वानर हैं, तब तो संख्या करना असंभव

ही है। इतने थे कहाँ ? इसपर भी कहा है; यथा—"गिरि कानन जहँ तहँ भरि पूरी। रहे निज निज अनीक रचि रूरी॥" (बा० दो० १८७)।

देश और काल के अनुरोध से सृष्टि के क्रम में परिवर्त्तन हुआ करता है। आजकल के वानरों के चिबुक नहीं होती। ये प्राकृत वानर भी उस समय थे, श्रीवाल्मीकिजी ने जहाँ तहाँ कहा है। पर श्रीहनुमान्‌जी के चिबुक थी, जिसपर इन्द्र के वज्र सहने से हनुमान् नाम हुआ। उसी जाति के सब वानर थे, वे बड़े वीर थे। उनका केवल मस्तिष्क मात्र मनुष्य की अपेक्षा कम होता था। मनुष्यों की अपेक्षा कुछ अधिक जंगलीपन होता था। उनसे पहले ही राक्षसों की सृष्टि बढ़ी थी, जिनके संहार के लिये इन वानरों की सृष्टि हुई थी। इनका विकाश हुआ और फिर काल पाकर लोप भी हो गया। इनका विकाश रामावतार के समय में पराकाष्ठा को पहुँच गया और फिर नाश का समय भी आ गया। कारण स्पष्ट ही है कि ये सब भगवान् के नित्य धाम के परिकर हैं, भगवान् के साथ ही इन्हें भी परधाम जाना था ; *यथा—"हम सब सेवक अति बड़ भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥'''सगुन उपासक संग तहँ,* रहहिं मोच्छ सब त्यागि॥" (दो० २६)।

ठाढ़े जहँ तहँ आयसु पाई। कह सुग्रीव सबहि समुझाई॥५॥
राम-काज अरु मोर निहोरा। बानर-जूथ जाहु चहुँ ओरा॥६॥
जनकसुता कहँ खोजहु जाई। मास दिवस महँ आयेहु भाई॥७॥
अवधि मेटि जो बिनु सुधि पाये। आवइ बनिहि सो मोहि मराये॥८॥

अर्थ—आज्ञा पाकर सब जहाँ-के-तहाँ खड़े हो गये। तब सुग्रीवजी ने सबको समझाकर कहा॥५॥ कि यह श्रीरामजी का कार्य है और मुझपर तुम्हारा उपकार (कृतज्ञता, एहसान) है। हे वानरों के समूहो! तुम चारों ओर जाओ॥६॥ और जाकर, हे भाई! जनक-पुत्री (सीताजी) का पता लगाओ और महीने-भर में वापस आ जाना॥७॥ जो कोई बिना पता लगाये (एक मास की) अवधि बिताकर आवेगा, मुझे उसका वध करवाना ही पड़ेगा ; अर्थात् मैं उसे अवश्य मारूँगा॥८॥

विशेष—(१) 'ठाढ़े जहँ तहँ आयसु पाई।'—'आयसु पाई' दीपदेहली है ; अर्थात् श्रीरामजी की आज्ञा पाकर वानर यूथ जहाँ-के-तहाँ खड़े रह गये, क्योंकि अत्यन्त भीड़ के कारण चलने का अवकाश नहीं था। पुनः श्रीरामजी की ही आज्ञा पाकर श्रीसुग्रीवजी ने सबको समझाकर कहा। वाल्मी० ४।४० में कहा है कि श्रीसुग्रीवजी ने सेना की प्रशंसा करते हुए श्रीरामजी से कहा कि ये सब आपके अधीन हैं, इच्छानुसार आज्ञा दीजिये। इसपर श्रीरामजी ने कहा कि हे सौम्य! वैदेही का पता लगाना चाहिये, श्रीसीताजी जीवित हैं कि नहीं, वे कहाँ हैं, रावण कहाँ हैं, इत्यादि। इस कार्य के कर्त्ता हम और श्रीलक्ष्मणजी नहीं हैं, किन्तु आप ही हैं, आप ही इनके स्वामी हैं। अतः, इन्हें आज्ञा दें। 'समुझाई'—वाल्मीकीय रामायण में पृथिवी-भर का हाल वानरों को समझाना लिखा है, वह भी आ गया, शेष समझाना आगे है—

(२) 'राम काज अरु मोर निहोरा।'''—राम-कार्य मुख्य है, क्योंकि उससे परलोक बनेगा, अतः, उसे प्रथम कहा। 'मोर निहोरा'—पीछे कहा, क्योंकि इससे हम प्रसन्न होंगे, तो लौकिक पदार्थ जो माँगोगे, वही देंगे। इससे लोक बनेगा। 'राम-काज' का स्वरूप आगे कहते हैं—

(३) 'जनक सुता कहँ खोजहु जाई।'''—'जनक-सुता'—का भाव यह कि श्रीसीताजी को अपने जनक (पिता) की पुत्री (सगी बहन) मानकर तत्परता से खोजना। यदि पता लगा दोगे, तो वही यश पावोगे जो श्रीजनकजी को सुता-प्रदान करने से प्राप्त हुआ है; यथा—"जो सुख सुजस लोक पति चहहीं।''' सो सुख सुजस सुलभ मोहिं स्वामी।" (बा० दो० १४१)।

'मास दिवस महँ आयेहु भाई।'—प्रीति और भय दोनों दिखाना है, इस अर्द्धाली में 'भाई' संबोधन से प्रीति दिखा रहे हैं, यह मित्र रूप से आज्ञा है। यह भी आशय है कि जो महीने के भीतर श्रीसीताजी का पता लगाकर आयेगा, वह हमारा भाई ही होगा, हमारे तुल्य ऐश्वर्य भोगेगा, भारी अपराध पर भी वह हमारा भाई (सम्मान का पात्र) ही होगा। यही भाव वाल्मी० ४।४१।४७-४८ का है।

(४) 'अवधि मेटि जो बिनु '''—अर्थात् पता लगने से यदि अवधि बीत जाने पर आवे, तब भय नहीं है। जो पता भी न लगावे और न अवधि बिताकर आवे; वही दंड के योग्य होगा, अर्थात् वह हमारे यहाँ मरने को ही आवेगा। यह प्रभु-रूप से आज्ञा है। इसी से तीन दिशाओं के बानर अवधि के भीतर ही आ गये हैं।

'मास दिवस' के श्लेषार्थ से चार प्रकार के सेवक (उत्तम, मध्यम, नीच, लघु) का भाव भी कहा जाता है। मास=१२, मास+दिवस (१२+७)=१९, मास= ३० दिन। जो १२ दिन में ही आवे, वह अत्यन्त शीघ्रगामी होने से उत्तम है; जो १९ दिन में आवे, वह मध्यम; जो ३० दिन में आवे वह नीच भक्त है, (पर जो पता लेकर अवधि बीते भी आवे, तो वह तीसमार अर्थात् बड़ा बहादुर है।) और जो अवधि भी बिताकर आवे और पता भी न लावे, वह लघु है और मेरा शत्रु है, यह वध होने के लिये ही आवेगा।

यद्यपि श्रीजटायुजी और श्रीसुग्रीवजी से भी जाना गया है कि रावण श्रीसीताजी को ले गया और दक्षिण दिशा को गया है और उधर ही रहता भी है। तथापि सब दिशाओं को बानर भेजे गये, क्योंकि चोरी की वस्तु लोग प्रायः अन्यत्र ही रखते हैं, न जाने किस दिशा में उन्हें छिपाकर रक्खा हो? इसीसे सर्वत्र खोज कराते हैं।

दोहा—बचन सुनत सब बानर, जहँ तहँ चले तुरंत।
तब सुग्रीव बोलाये, अंगद नल हनुमंत ॥२२॥

सुनहु नील - अंगद - हनुमाना। जामवंत मति-धीर सुजाना ॥१॥
सकल सुभट मिलि दच्छिन जाहू। सीता - सुधि पूछेहु सब काहू ॥२॥
मन क्रम बचन सो जतन बिचारेहु। रामचंद्र कर काज सँवारेहु ॥३॥

अर्थ—(जब) बचन सुनते ही सब बानर तुरत जहाँ-तहाँ चल दिये, तब श्रीसुग्रीवजी ने अंगद, नल और हनुमान्‌जी को बुलाया ॥२२॥ (और कहा—) हे नील, अंगद, हनुमान् और जाम्बवान्! सुनिये, आप लोग धीर-बुद्धि और चतुर हैं ॥१॥ आप सब सुभट मिलकर दक्षिण दिशा को जायँ और सब किसी से श्रीसीताजी का पता पूछें ॥२॥ मन, कर्म और वचन से वही उपाय विचारें और श्रीरामजी का कार्य अच्छी तरह से करें ॥३॥

विशेष—(१) 'जहँ-तहँ चले तुरंत'—"उत्तर दिशा में शतबलि, पूर्व में विनत और पश्चिम में सुषेण भेजे गये।" (वाल्मी० ४।४५); 'तुरंत' शब्द से इन सबका उत्साह सूचित किया। पर ये तीन दिशाओं के वानर चलते समय आतुरी में श्रीरामजी का प्रणाम करना भूल गये, क्योंकि इनके द्वारा कार्य-सिद्धि भी नहीं होगी। दक्षिणवाले प्रणाम करके चलेंगे; यथा—"आयसु माँगि चरन सिर नाई। चले सकल सुमिरत रघुराई॥" आगे कहा है। अतः, ये ही श्रीसीताजी का पता पावेंगे और यश के भागी होंगे। कहा भी है—"संग नील नल कुमुद गद, जामवंत जुवराज। चले राम पद नाइ सिर, सगुन सुमंगल साज॥" (रामाज्ञा ३-७ २)।

'सुनहुँ नील अंगद'''—इन वानरों के नाम भी लिये, क्योंकि ये सब प्रधान-प्रधान हैं। नील-सेनापति, अंगद युवराज श्रीहनुमान्‌जी मंत्री और श्रीजाम्बवान्‌जी ऋक्षराज एवं मंत्री भी हैं। सम्मान के लिये इनके नाम लिये गये; यथा—"देखि सुभट सब लायक जाने। लै-लै नाम सकल सनमाने॥" (अ० दो० ११०)।

(२) 'सकल सुभट मिलि दच्छिन जाहू।'—तीन दिशाओं में एक-एक मुख्य भट भेजे गये हैं, दक्षिण में समस्त सुभटों को भेजते हैं, क्योंकि जटायु से खबर मिल चुकी है कि रावण श्रीसीताजी को हर कर दक्षिण ले गया है। अतः, वहाँ युद्ध की संभावना है। 'मिलि'—सब वीर मिलकर भारी कार्य भी कर सकते हैं। 'सब काहू'—छोटे-बड़े सभी से पूछना, न जाने किससे समाचार मिल जाय।

इस दिशा में श्रीअंगदजी को प्रधान करके भेजते हैं, इसलिये बुलाने में उन्हें प्रथम कहा है। पुनः नील आदि के नाम छन्दानुरोध से हैं। श्रीअंगदजी के साथ मुख्य वानर गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गंधमादन, मैन्द, द्विविद, हनुमान्, जाम्बवान् और तार के नाम वाल्मी० ४।४०।४-६ में कहे गये हैं।

(३) 'मन क्रम बचन सो'''—यत्न, विचारना मन का कार्य, संचारना कर्म और सीता-सुधि पूछना वचन का कार्य है। आज्ञानुसार इन लोगों ने किया भी है; यथा—"इहाँ बिचारहिं कपि मन माहीं।" (दो० २५)—मन; "चले सकल बन खोजत''" (दो० २१)—कर्म; और—"सब मिलि कहहिं परस्पर बाता।" (दो० २५)—यह वचन है।

मन, कर्म और वचन के साक्षी क्रमशः चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि हैं। इनमें 'रामचन्द्र' में चन्द्र शब्द ध्वनि से लिया गया और सूर्य तथा अग्नि के नाम अगली अर्द्धाली में आये हैं। भाव यह कि मन आदि तीनों से छल न हो, नहीं तो अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा दंड देंगे।

भानु पीठि सेइअ उर आगी। स्वामिहि सर्ब भाव छल त्यागी॥४॥
तजि माया सेइअ परलोका। मिटहिं सकल भवसंभव सोका॥५॥
देह धरे कर यह फलु भाई। भजिअ राम सब काम बिहाई॥६॥
सोइ गुनग्य सोई बड़भागी। जो रघुबीर-चरन-अनुरागी॥७॥

अर्थ—सूर्य को पीठ से और अग्नि को उर (छाती) से सेवन करना चाहिये, (अर्थात् धूप तापना हो तो सूर्य की ओर पीठ करके बैठे और आग तापने में अग्नि के सम्मुख बैठे—यह वैद्यक का नियम है, इसके विरुद्ध में शारीरिक हानि होती है।) परन्तु स्वामी की सेवा सब छल छोड़कर सब भावों से करनी

चाहिये ॥४॥ माया (तन, धन, पुत्र, कलत्र की ममता) त्याग करके परलोक का सेवन करे, (तो) भव (संसारासक्ति) से उत्पन्न जितने शोक हैं, वे सब मिट जायँ ॥५॥ हे भाई ! देह धरने का यही फल है कि सब काम एवं कामनाएँ छोड़कर श्रीरामजी का भजन किया जाय ॥६॥ जो रघुवीर श्रीरामजी के चरणों का अनुरागी है, वही गुणवान् है और वही बड़भागी है; अर्थात् आप लोग श्रीरामजी के प्रेम से उनके कार्य में लग रहे हैं, अतएव बड़भागी हैं ॥७॥

विशेष—'भानु पीठि सेइय'''—सूर्य पीठ से सेवन करने से सुखदायी होते हैं, अग्नि उर से सेवन करने से और स्वामी सब भावों (माता, पिता, गुरु, स्वामि आदि सभी भावों) से सेवन करने से सुखदायी होते हैं। 'छल त्यागी'—भाव यह कि सूर्य और अग्नि के सेवन में स्वार्थ-साधन रूप छल रहता है; सेवा में स्वार्थ ही छल है; यथा—"स्वारथ छल फल चारि बिहाई।" (अ० दो० ३००), अर्थात् चार फलों तक का स्वार्थ ही छल है। सूर्य के सेवन में यह स्वार्थ है कि पीठ से सेवन करने से वह वात और शीत का नाशक है। सामने से सेवन करने से दृष्टि की हानि होती है। वैसे ही अग्नि को सामने से तापने से जठराग्नि बढ़ती है। पीठ से सेवन करने पर काम (वीर्य) की हानि होती है। यह समझकर स्वार्थ-दृष्टि से सेवन किया जाता है। पर यह दृष्टि स्वामी की सेवा में न होनी चाहिये, किन्तु उसका सब भावों से निःस्वार्थ होकर सेवन करना चाहिये।

यह भी भाव है कि सूर्य का लोग पीछे से सेवन करते हैं और अग्नि का आगे से; पर स्वामी की सेवा सब भावों से जैसे उनके आगे की सेवा करे वैसे ही परोक्ष (पीछे) की भी सेवा करनी चाहिये। ऐसा न करे; यथा—"आगे कह मृदु बचन बनाई। पाछे अनहित मन कुटिलाई॥" (दो० ६)। 'सर्व भाव' और 'छल त्यागी'; यथा—"पुरुष नपुंसक नारि वा, जीव चराचर कोइ। सर्व भाव भज कपट तजि, मोहिं परम प्रिय सोइ॥" (उ० दो० ८७)।

सारांश यह कि मन, तन और वचन से देह की ममता त्यागकर निःस्वार्थ भाव पूर्वक सब प्रकार से स्वामी की सेवा करनी चाहिये, ऐसा ही इन वानरों ने किया भी है; यथा—"राम काज लयलीन मन, बिसरा तनु कर छोह॥" (दो० २१)। यही यथार्थ अर्थ है, इसके लोग बहुत तरह से अर्थ करते हुए 'बस तेरही' कहते हैं, विस्तार भय से यहाँ वे अर्थ नहीं लिखे गये।

(२) 'तजि माया सेइय परलोका।'''—माया; यथा—"मैं अरु मोर तोर तें माया।" (आ० दो० १४); अर्थात् देह और तत्सम्बन्धियों की ममता ही माया है; यथा—"सुत दार अगार सखा परिवार बिलोकु महा कुसमाजहि रे। सबकी ममता तजि कै समता सजि संत-सभा न बिराजहि रे॥" (क० उ० ३०)।

(३) 'देह धरे कर यह फल भाई। भजिय राम'''—देह जड़-चेतन जगत् के द्वारा निष्पन्न हुआ है। इन सब रूपों से श्रीरामजी ने ही इसका पालन-पोषण किया है, अतएव इसे उनके ही काम में लगाना इसकी सफलता एवं कृतज्ञता है। अन्यथा इन्द्रियाँ विषयों की ओर ही रहेंगी, विषय सेवन इस देह का फल नहीं है, यथा—"एहि तन कर फल बिषय न भाई।" (उ० दो० ४३); "मनुज देह सुर साधु सराहत सो सनेह सिय-पीके।" (वि० १७५)। अर्थात् और शरीर प्रकृति-प्रवाह में नियमित विषय भोगने के लिये हैं, पर मनुष्य देह ही; "साधन धाम मोच्छ कर द्वारा।" है; अतः, इससे ही परलोक बनाना चाहिये, तभी इसकी सफलता है। 'भाई' यह मित्र संमित प्रिय सम्बोधन है।• इन प्रधान वानरों से प्रीति-मात्र दिखाते हैं और धर्मोपदेश द्वारा कार्य कराना चाहते हैं। पहले सामान्य वानरों के प्रति भय और

प्रीति दोनों दिखाये थे ; यह ऊपर कहा गया। किन्तु वह भय-प्रदर्शन भी इन वानरों के समक्ष ही समष्टि में कहा गया है, इसी से इन लोगों ने भी अपने पर माना है; यथा—"वहाँ गये मारिहि कपिराई।" (दो० १५); यह सर्वप्रधान अंगदजी का वचन है। बड़ों का उपदेश देने की यही रीति है कि सामान्यों के द्वारा बड़ों को भी लक्ष्य करा दिया जाता, जैसे श्रीशिवजी ने देववृन्द के उपदेश के द्वारा ब्रह्माजी को भी समझाया था; यथा—"बिधिहि भयो आचरज बिसेषी।···सिव समुझाये देव सब···" (बा० दो० ९१)।

(४) 'सोइ गुनग्य सोई···'—'सोइ' और 'सोई' का भाव यह कि इसके बिना चाहे कितने भी गुण क्यों न हो, वह गुणवान् नहीं और कितना भी ऐश्वर्य हो पर वह बड़भागी नहीं है; यथा—"ज्ञान बिराग जोग जप तप मख जग मुद-मग नहिं थोरे। राम प्रेम बिनु नेम जाय जैसे मृग-जल-जलधि हिलोरे॥" (वि० ११७); "बड़े भाग अनुराग राम-पद होइ।" (बरवा रा०)। राम-पदानुरागियों को ही सातो कांडों में बड़भागी कहा गया है; यह—"अतिसय बड़भागी चरनन्ह लागी···" (बा० दो० २१०); पर लिखा गया है। इसके प्रतिकूल अभागी हैं; यथा—"ते नर नरक रूप जीवत जग भव भंजन पद बिमुख अभागी॥" (वि० १४०)।

आयसु माँगि चरन सिर नाई। चले हरषि सुमिरत रघुराई॥८॥
पाछे पवन-तनय सिर नावा। जानि काज प्रभु निकट बोलावा॥९॥
परसा सीस सरोरुह - पानी। कर-मुद्रिका दीन्हि जन जानी॥१०॥
बहु प्रकार सीतहि समुझायेहु। कहि बल-बिरह बेगि तुम्ह आयेहु॥११॥

अर्थ—आज्ञा माँग चरणों में शिर नवा सब प्रसन्न होकर श्रीरघुनाथजी का स्मरण करते हुए चले॥८॥ (सबसे) पीछे श्रीहनुमान्जी ने शिर नवाया, (इनसे) कार्य का होना जानकर प्रभु ने उनको पास बुलाया॥९॥ अपना हस्त-कमल श्रीहनुमान्जी के शिर पर फेरा, अपना जन (भक्त) जानकर हाथ की अँगूठी दी॥१०॥ (और कहा कि) बहुत तरह से श्रीसीताजी को समझाना, हमारा बल और विरह कहकर तुम शीघ्र आना॥११॥

विशेष—(१) 'आयसु माँगि चरन···'—यहाँ आज्ञा श्रीरामजी से माँगनी है, श्रीसुग्रीवजी ने तो स्वयं आज्ञा दी है ; यथा—"सकल सुभट मिलि दच्छिन जाहू।" आगे के 'सुमिरत रघुराई' एवं 'पाछे पवन तनय सिर नावा।···' से भी स्पष्ट है। 'चले हरषि'—प्रयान के समय हर्ष होना कार्य-सिद्धि का शकुन है। पुनः राम-कार्य करने को मिला, इससे अपनेको बड़भागी मानने पर हर्ष हुआ।

ये लोग मन, वचन, कर्म से राम-कार्य में लगे ; यथा—"हरषि सुमिरत"—मन से, "सिर नाई। चले"—कर्म से और "आयसु माँगि" यह वचन से है। श्रीरामजी के स्मरण से कार्य की सिद्धि होती है, इसलिये 'सुमिरत' चले।

(२) 'पाछे पवन-तनय सिर नाया।··'—श्रीहनुमान्जी के पीछे प्रणाम करने का कारण यह कि और वानरों को समझाकर श्रीसुग्रीवजी इनसे कुछ बातें कर रहे थे, वे वचन वाल्मी० ४।४४।१-७ में कहे गये हैं, जिनसे श्रीहनुमान्जी के द्वारा कार्य होने का श्रीसुग्रीवजी का दृढ़ निश्चय जाना गया, तब—'जानि काज प्रभु निकट बुलावा।'—अर्थात् श्रीरामजी ने जान लिया कि इन्हीं से कार्य होगा ; यथा—"ज्ञानि सिरोमनि जानि जिय, कपि बल-बुद्धि निधान। दीन्हि मुद्रिका मुदित प्रभु, पाइ मुदित हनुमान॥"

(रामाज्ञा ३।३।६); वाल्मी० ४।३।३३-३५ से भी स्पष्ट है कि श्रीहनुमान्‌जी की बुद्धिमत्ता से श्रीरामजी बहुत ही प्रसन्न हुए थे। 'प्रभु निकट बुलावा'—क्योंकि कुछ गुप्त रहस्यात्मक विरह का संदेश कान में लग कर कहना था ; यथा—"कहँ हम पसु साखा मृग चंचल बात कहउँ मैं विद्यमान की। कहँ हरि सिव-अज-पूज्य ज्ञानघन नहिं बिसरति वह लगनि कान की॥" (गी० सुं० ११); यही सँदेश श्रीहनुमान्‌जी ने सुं० दो० १४ में कहा है।

(३) 'परसा सीस सरोरुह-पानी।···'—इन हस्तकमलों के स्मरण-मात्र से भव-सागर का तरना भी सुगम हो जाता है ; यथा—"सुमिरत श्रीरघुबीर की बाहैं। होत सुगम भव उदधि अगम अति कोउ लाँघत कोउ उतरत थाहैं॥" (गी० उ० १३); इसी से इनके शिर पर हाथ फेरा, क्योंकि इन्हें समुद्र-पार जाना है, जिससे वह सुगम हो जाय। प्यार की मुद्रा तो है ही। पुनः यथा—"सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति पाप ताप माया। निसि बासर सोइ कर सरोज की चाहत तुलसिदास छाया॥" (वि० १३८); इससे श्रीहनुमान्‌जी को लंकापुरी जलाने का पाप, अग्नि का ताप और सुरसा, सिंहिका एवं मेघनाद की माया न लगेगी। 'जन जानी'—श्रीरामजी ने—शिर पर हाथ फेरना, कान में गुप्त बात कहना और मुद्रिका देना आदि पर्याय—इन्हें अपना विश्वासी एवं कृपा-पात्र जानकर ही किये। 'कर मुद्रिका दीन्हि'—यह मुद्रिका श्रीसीताजी के विश्वास के लिये दी ; यथा—"अनेन त्वां हरिश्रेष्ठ चिह्नेन जनकात्मजा। मत्सकाशादनुप्राप्तमनुद्विग्नानुपश्यति।" (वाल्मी० ४।४४।१२), अर्थात् इससे श्रीसीताजी तुम्हें हमारे पास से आया हुआ जानेंगी और देखकर घबड़ायँगी नहीं; यथा—"दीन्हि राम तुम्ह कहँ सहिदानी।" (सुं० दो० १२); अर्थात् विश्वास के लिये यह मुद्रिका दी गई थी। मुद्रिका को मुख में रख लिया ; यथा—"गाल मेलि मुद्रिका मुदित मन पवन पूत शिर नायो॥" (गी० सुं० १)।

(४) 'बहु प्रकार सीतहिं समुझायेहु'—समझाना सुंदरकांड में कहा गया है, यहाँ श्रीरामजी ने कान में गुप्त कहा है, इसी से श्रीगोस्वामीजी ने भी यहाँ गुप्त ही रक्खा है। 'बेगि तुम्ह आयेहु'—शीघ्र आना, जिससे हम शीघ्र उनकी प्राप्ति के उपाय करें। पुनः यह भी भाव है कि तुम्हीं आना, श्रीसीताजी को साथ न लाना, यह श्रीहनुमान्‌जी के वचनों से सिद्ध होता है; यथा—"अबहिं मातु मैं जाउँ लेवाई। प्रभु आयसु नहिं राम दोहाई॥" (सुं० दो० १५); 'तुम्ह आयेहु', अर्थात् यह यश तुम्हीं को प्राप्त होगा। अतः, इस कथन में आशिष भी है। 'सीतहि'—ऐसा समझाना कि जिससे वे शीतल हों। 'बल' और 'विरह' दोनों कहना, केवल विरह कहने से बल-हीन समझेंगी; यथा—"तब प्रभु नारि बिरह बल हीना।" (सुं० दो० २१), और यदि बल ही कहोगे, तो समझेंगी कि हमारे लिये प्रयास ही क्यों करेंगे। अतः, दोनों कहने से आशा करेंगी। 'बल' के अर्थ में यहाँ सेना का भी अर्थ है कि पूरे दल-बल से आ रहे हैं, इससे उन्हें विश्वास होगा। बल तो श्रीसीताजी जानती ही हैं ; यथा—"तात सक-सुत कथा सुनायेहु। बान प्रताप प्रभुहि समुझायेहु॥" (सुं० दो० २६); यह उन्हीं का वचन है।

हनुमत जनम सुफल करि माना। चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना॥१२॥
जद्यपि प्रभु जानत सब बाता। राजनीति राखत सुरत्राता॥१३॥

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जी ने अपना जन्म सफल समझा और कृपानिधान श्रीरामजी को हृदय में धरकर वे चले॥१२॥ देवताओं के रक्षक प्रभु सब बातें जानते हैं, फिर भी वे राजनीति की रक्षा करते हैं॥१३॥

"बिवर-प्रवेस"—प्रकरण

लागि तृषा अतिसय अकुलाने। मिलइ न जल घन गहन भुलाने ॥३॥
मन हनुमान कीन्ह अनुमाना। मरन चहत सब बिनु जलपाना ॥४॥
चढ़ि गिरि-सिखर चहूँ दिसि देखा। भूमि बिवर एक कौतुक पेखा ॥५॥
चक्रबाक बक हंस उड़ाहीं। बहुतक खग प्रबिसहिं तेहि माहीं ॥६॥

अर्थ—अत्यन्त प्यास लगने से सब अत्यन्त व्याकुल हो गये, जल नहीं मिलता और वे सघन वन में भूल गये हैं ॥३॥ श्रीहनुमानजी ने मन में अनुमान किया कि सब वानर बिना जलपान के मरना चाहते हैं ॥४॥ पर्वत के शिखर पर चढ़कर चारों ओर देखा, (तो) पृथिवी के एक बिल में एक कौतुक दिखाई पड़ा ॥५॥ चकवे, बगले और हंस उड़ते हैं और बहुत-से पक्षी उसमें प्रवेश करते हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'लागि तृषा अतिसय अकुलाने।'''—ढूँढ़ने में अधिक श्रम हुआ, इससे अत्यन्त प्यासे हो गये, सबके कंठ, ओष्ठ और तालू सूख गये। यहाँ तक कि सघन वन में दिशा भूल गये।

(२) 'मन हनुमान कीन्ह अनुमाना'''—श्रीहनुमान्‌जी को प्यास न लगी, क्योंकि इनपर श्रीरामजी की विशेष कृपा हुई है। फिर रामनामांकित मुद्रिका मुख में है, राम-नाम अमृत-रूप है ही; यथा—"धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम्।" यह मंगलाचरण में कहा गया। ये सदा रामनाम जपते हैं और इनके हृदय में सदा धनुर्धर श्रीरामजी का ध्यान भी रहता है।

(३) 'चढ़ि गिरि सिखर'''—सघन वन था, इससे कुछ दिखाई नहीं पड़ता था, अत पर्वत पर चढ़े, उसपर भी वन था, अतः शिखर पर चढ़ना पड़ा। 'कौतुक'—रंग-बिरंग के नाना पक्षियों का प्रवेश करना और भीगे-पाँखों के साथ उनका निकलना कौतुक ही है। पुनः हंस और बक का एकत्र होना कौतुक (आश्चर्यजनक) ही तो है।

(४) 'चक्रबाक बक हंस उड़ाहीं।'''; यथा—"अवकीर्णं लतावृक्षैर्ददृशुस्ते महाबिलम्। तत्र क्रौञ्चाश्च हंसाश्च सारसाश्चापि निष्क्रमन्॥ जलार्द्राश्चक्रवाकाश्च रक्ताङ्गाः पद्मरेणुभिः।" (वाल्मी० ४।५०।३।१०)।

गिरि ते उतरि पवनसुत आवा। सब कहँ लै सोइ बिवर देखावा ॥७॥
आगे कै हनुमंतहि लीन्हा। पैठे बिवर बिलंब न कीन्हा ॥८॥

दोहा—दीख जाइ उपबन बर, सर बिकसित बहु कंज।
मंदिर एक रुचिर तहँ, बैठि नारि तप-पुंज ॥२४॥

अर्थ—पहाड़ से उतरकर श्रीहनुमानजी आये और सबको ले जाकर वह बिल दिखाया ॥७॥ सभी ने श्रीहनुमान्‌जी को आगे कर लिया और बिल में पैठ गये, देरी नहीं की, (क्योंकि सब अत्यन्त प्यासे

विशेष—(१) 'हनुमत जनम सुफल करि माना ।'—इनका अवतार ही राम-कार्य के लिये है ; यथा—"राम-काज लगि तव अवतारा ।" (दो० ११); इसी से जब राम-कार्य करने को मिला, तब इन्होंने जन्म की सफलता मानी, यद्यपि अभी कार्य सम्पन्न नहीं हुआ, पर जब श्रीरामजी ने शिर पर हाथ फेरा मुद्रिका दी और 'श्रीसीताजी को समझाकर शीघ्र लौटना'—यह कहा, तब इन्हें कार्य-सिद्धि का दृढ़ निश्चय हो गया। क्योंकि प्रभु के वचन अन्यथा नहीं हो सकते , यथा –"स्वयं सिद्ध सब काज, नाथ मोहि आदर दियो ।" (सुं० दो० १७) । हृदय धरि कृपा निधाना'– हृदय में विचारते जाते हैं कि प्रभु ने बड़ी कृपा की । आगे श्रीजानकीजी से भी कहा है—"कहँ हम पसु साखा मृग···" ऊपर लिखा गया है ।

(२) 'जद्यपि प्रभु जानत सब बाता ।···'—प्रभु अर्थात् समर्थ हैं, अत जानते हैं और संकल्प मात्र से रावण को मार भी सकते हैं, पर आपका अवतार देवता (ब्रह्मा) के वचन की रक्षा (सत्य करने) के लिये है, अतएव मनुष्य की तरह राजनीति से चल रहे हैं । ऐसी नीति है कि पहले दूत के द्वारा शत्रु का समाचार लेकर तब उससे युद्ध करना चाहिये । ऐसे ही पहले भी कहा गया ; यथा—"तब रघुपति जानत सब कारन । उठे हरषि सुर काज सँवारन ॥" (आ० दो० २९) ।

"सीता खोज सकल दिसि धाये"–प्रकरण

दोहा—चले सकल बन खोजत, सरिता सर गिरि खोह ।
राम-काज लयलीन मन, बिसरा तनु कर छोह ॥२३॥

कतहुँ होइ निसिचर सैं भेटा । प्रान लेहिं एक-एक चपेटा ॥१॥
बहु प्रकार गिरि-कानन हेरहिं । कोउ मुनि मिलइ ताहि सब घेरहिं ॥२॥

अर्थ– सब वानर सभी वनों, नदियों, तालाबों, पहाड़ों और कंदराओं को ढूँढ़ते चले जाते हैं। राम-कार्य में मन तन्मय है, शरीर का ममत्व भूल गया है ॥२३॥ जो कहीं निशाचर से भेंट होती है तो सब एक-ही-एक थप्पड़ लगाकर उसके प्राण ले लेते हैं ॥१॥ बहुत तरह से पर्वत और वन देखते हैं, कोई मुनि मिल जाते हैं, तो उन्हें सब घेर लेते हैं (क्योंकि मुनि सर्वज्ञ होते हैं, अतः प्रार्थना करने पर—श्रीसीताजी कहाँ होंगी—ध्यान कर के बतला देंगे ।) ॥२॥

विशेष—(१) 'चले सकल बन खोजत···'—पहले भी चलना कहा गया—'चले हृदय सुमिरत रघुराई ।' पर वह बिदाई के सम्बन्ध में है और यहाँ 'खोजते हुए' यह चलने के सम्बन्ध में कहते हैं, अत पुनरुक्ति नहीं है ।

(२) 'कतहुँ होइ निसिचर सैं भेटा ।···'—खर-दूषणादि के मारे जाने पर इधर से राक्षस भाग गये हैं, इससे कहीं-कहीं मिलते हैं, उसे रावण समझकर मारते हैं, श्रीरामजी ने कहा ही है—"इहाँ हरी निसिचर बैदेही ।" (दो० १); बाल्मी० ४।४८।१७–२१ में कहा गया है कि एक राक्षस को देखकर अंगदजी ने उसे रावण समझकर ऐसा मूका मारा कि वह मर गया ।

'कोउ मुनि मिलइ···'—निशाचरों के भय से वहाँ मुनि कम रहते हैं ।

"विवर-प्रवेस"—प्रकरण

लागि तृषा अतिसय अकुलाने । मिलइ न जल घन गहन भुलाने ॥३॥
मन हनुमान कीन्ह अनुमाना । मरन चहत सब बिनु जलपाना ॥४॥
चढ़ि गिरि-सिखर चहूँ दिसि देखा । भूमि बिबर एक कौतुक पेखा ॥५॥
चक्रबाक बक हंस उड़ाहीं । बहुतक खग प्रबिसहिं तेहि माहीं ॥६॥

अर्थ—अत्यन्त प्यास लगने से सब अत्यन्त व्याकुल हो गये, जल नहीं मिलता और वे सघन वन में भूल गये हैं ॥३॥ श्रीहनुमानजी ने मन में अनुमान किया कि सब वानर बिना जलपान के मरना चाहते हैं ॥४॥ पर्वत के शिखर पर चढ़कर चारों ओर देखा, (तो) पृथिवी के एक बिल में एक कौतुक दिखाई पड़ा ॥५॥ चकवे, बगले और हंस उड़ते हैं और बहुत-से पक्षी उसमें प्रवेश करते हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'लागि तृषा अतिसय अकुलाने ।···'—ढूँढ़ने में अधिक श्रम हुआ, इससे अत्यन्त प्यासे हो गये, सबके कंठ, ओष्ठ और तालू सूख गये । यहाँ तक कि सघन वन में दिशा भूल गये ।

(२) 'मन हनुमान कीन्ह अनुमाना···'—श्रीहनुमान्‌जी को प्यास न लगी, क्योंकि इनपर श्रीरामजी की विशेष कृपा हुई है । फिर रामनामाङ्कित मुद्रिका मुख में है, राम-नाम अमृत-रूप है ही ; यथा—"धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम् ।" यह मंगलाचरण में कहा गया । ये सदा रामनाम जपते हैं और इनके हृदय में सदा धनुर्धर श्रीरामजी का ध्यान भी रहता है ।

(३) 'चढ़ि गिरि सिखर···'—सघन वन था, इससे कुछ दिखाई नहीं पड़ता था, अत पर्वत पर चढ़े, उसपर भी वन था, अत शिखर पर चढ़ना पड़ा । 'कौतुक'—रंग बिरंग के नाना पक्षिगणों का प्रवेश करना और भीगे-पाँखों के साथ उनका निकलना कौतुक ही है । पुन. हंस और बक का एकत्र होना कौतुक (आश्चर्यजनक) ही तो है ।

(४) 'चक्रबाक बक हंस उड़ाहीं ।···'; यथा—"अवकीर्णं लताबृक्षैर्ददृशुस्ते महाबिलम् । तत्र क्रौञ्चाश्च हंसाश्च सारसाश्चापि निष्क्रमन् ॥ जलार्द्राश्चक्रवाकाश्च रक्ताङ्गाः पद्मरेणुभिः ।" (वाल्मी॰ ४।५०।१।१०) ।

गिरि तें उतरि पवनसुत आवा । सब कहँ लै सोइ बिबर देखावा ॥७॥
आगे कै हनुमंतहि लीन्हा । पैठे बिबर बिलंब न कीन्हा ॥८॥

दोहा—दीख जाइ उपबन बर, सर बिकसित बहु कंज ।
मंदिर एक रुचिर तहँ, बैठि नारि तप-पुंज ॥२४॥

अर्थ—पहाड़ से उतरकर श्रीहनुमानजी आये और सबको ले आकर वह बिल दिखाया ॥७॥ सभी ने श्रीहनुमान्‌जी को आगे कर लिया और बिल में पैठ गये, देरी नहीं की, (क्योंकि सब अत्यन्त प्यासे

थे)॥८॥ वहाँ जाकर देखा कि उत्तम उपवन और सुन्दर तालाब है, जिसमें बहुत-से कमल खिले हुए हैं और वहीं एक सुन्दर मन्दिर है, जिसमें एक बड़ी तपस्विनी स्त्री बैठी हुई है ।।२४।।

विशेष—(१) 'गिरि ते उतरि पवनसुत······'—शीघ्रता से उतरे, इससे 'पवनसुत' कहा। सबको ले जाकर दिखाया, क्योंकि अनुमान की वस्तु में दूसरों की भी सम्मति ले लेनी चाहिये। पुनः इस कौतुक को सभी देखना चाहेंगे और देखने से कुछ धैर्य होगा, जिससे वहाँ तक चलने का साहस करेंगे। जल का अनुमान इससे है कि पक्षी भीगे-पंख बाहर निकलते हैं।

(२) 'आगे करि हनुमंतहि लीन्हा।'''—बिल में अँधेरा है, भय लगता है। श्रीहनुमान्‌जी भारी पराक्रमी हैं और ये सावधान भी हैं। 'हनुमंत' शब्द का भाव यह कि इनकी चिबुक इन्द्र के वज्र को भी सहने में समर्थ है, आगे से कोई बाधा होगी, तो सह लेंगे। बिल के पैठने में वानरों की प्रधानता है, श्रीहनुमान्‌जी गौण हैं, क्योंकि प्यासे वे ही लोग हैं। पैठने का प्रकार; यथा—"अन्योन्यं संपरिष्वज्य जग्मुर्योजनमन्तरम्। ते नष्टसंज्ञास्तृषिताः संभ्रान्ताः सलिलार्थिनः॥'''आलोकं ददृशुर्वीरा निराशा जीविते यदा।" (वाल्मी० ४।५०।२१-२२); अर्थात् जल के प्यासे, जल चाहनेवाले, विवेक-रहित, चंचल वानर परस्पर पकड़े हुए एक योजन तक उस बिल में चले गये।'''जब वे जीवन से निराश हो गये, तब उन्हें प्रकाश देख पड़ा।

(३) 'दीख जाइ उपवन वर''' '—'उपवन वर'—श्रेष्ठ नजरबाग, जो मन्दिर के पास टहलने एवं जी रमाने के लिये था। इस श्रेष्ठ उपवन का वर्णन वाल्मी० ४।५०।२४-२७ में है। 'रुचिर मंदिर' का वहीं पर विस्तृत वर्णन है, वहाँ के वृक्षादि स्वर्ण के ही हैं और उनके फल-फूल आदि भी। यहाँ 'वर' और 'रुचिर' शब्द मात्र से लक्ष्य करा दिया गया है। 'नारि तप पुंज'; यथा—"ददृशुर्वानराः शूराः स्त्रियं कांचिददूरतः। तां च ते ददृशुस्तत्र चीरकृष्णाजिनाम्बराम्॥ तापसीं नियताहारां ज्वलन्तीमिव तेजसा।'''" (वाल्मी० ४।५०।३७-३८); अर्थात् शूर वानरों ने कुछ दूर पर एक स्त्री देखी, वह काले रंग की साड़ी पहने और नियमित आहार करनेवाली थी, अपने तेज से प्रकाशित उस तपस्विनी को देखकर वानर विस्मित हो गये। तप के कारण उसमें तेज था; यथा—"बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा।" (उ० दो० ८९)।

दूरि ते ताहि सबन्हि सिर नावा। पूछें निज वृत्तांत सुनावा ॥१॥
तेहि तब कहा करहु जलपाना। खाहु सुरस सुंदर फल नाना ॥२॥
मज्जन कीन्ह मधुर फल खाये। तासु निकट पुनि सब चलि आये ॥३॥

अर्थ—सबने उसे दूर से प्रणाम किया और उसके पूछने पर अपना-अपना समाचार सुनाया (श्रीहनुमान्‌जी ने सबकी ओर से कहा) ॥१॥ तब उसने कहा कि जलपान करो, अनेक रसीले सुन्दर फल खाओ ॥२॥ (आज्ञा पाकर) सबने स्नान किया, मीठे फल खाये और फिर उसके पास सब चले आये ॥३॥

विशेष—(१) 'दूरि ते ताहि''''''—डर के मारे पास न गये कि तपस्विनी है, कहीं ढिठाई करने से अपना अनादर समझकर शाप न दे दे। पुनः तपस्विनी ही जानकर भक्ति के साथ उसे प्रणाम भी किया। सबकी ओर से एक श्रीहनुमान्‌जी ने ही समाचार सुनाया है, वाल्मी० ४।५० में स्पष्ट लिखा है, क्योंकि ये ही अगुआ हैं।

(२) 'तेहि तब कहा करहु जल पाना। ·····'—पहले जल पीने ही को कहा, क्योंकि सुन चुकी है, ये सब प्यासे हैं। पीछे फल खाना कहा।

(३) 'मज्जन कीन्ह मधुर फल खाये। ··'—थके हुए थे, इससे उन वानरों ने पहले स्नान ही किया, स्नान के साथ ही जल भी पी लिया, क्योंकि पृथक् पीना नहीं कहा गया है। कपि-स्वभाव से एवं भक्त होने से स्नान पहले किया।

'तासु निकट पुनि'······'—श्रीहनुमान्‌जी ने अपना हाल कहकर उसकी व्यवस्था जानने का भी प्रश्न किया था, पर उसने कहा था कि आपलोग पहले जल-पान, भोजन कर लें, तब कहूँगी। वही बात सुनने के लिये उसके निकट आये। 'चलि आये'—चलकर धीरे-धीरे आये, दौड़कर नहीं, क्योंकि धृष्टता करने से डरते हैं।

तेहि सब आपनि कथा सुनाई। मैं अब जाब जहाँ रघुराई ॥४॥
मूँदहु नयन बिबर तजि जाहू। पैहहु सीतहि जनि पछिताहू ॥५॥

अर्थ—उसने अपनी सम्पूर्ण कथा सुनाई और कहा कि अब मैं वहाँ जाऊँगी, जहाँ रघुराई श्रीरामजी हैं ॥४॥ (इस बिल में जो चला आता है, उसका जीवित लौटना दुष्कर है। मैं तुम्हें अपने तपोबल से निकाल सकती हूँ, तुम सब बिना आँख मूँदे भी नहीं निकल सकते, अतएव) आँखें मूँदो और बिल को छोड़कर बाहर जाओ, श्रीसीताजी को पाओगे, पछताओ मत ॥५॥

विशेष—(१) 'तेहि सब आपनि कथा सुनाई।'—वाल्मी० ४।५१ में इस प्रकार कथा है—"उस तपस्विनी ने श्रीहनुमान्‌जी से कहा—महातेजस्वी मय नाम का एक महा मायावी राक्षस था। उसी ने इस समस्त वन को माया से बनाया है। पहले दानवों में श्रेष्ठ विश्वकर्मा हो गये हैं॥ उन्होंने ही यह सोने का उत्तम भवन बनाया है। हजार वर्ष तक उन्होंने बड़े घोर वन में बड़ी तपस्या की॥ ब्रह्मा से वर में उन्होंने शुक्राचार्य का समस्त धन (शिल्प-विद्या और शिल्प की सामग्री) पाया। इससे वे वशी होकर अपनी सृष्टि के उपभोग में समर्थ हुए॥ मयदानव ने इस वन में कुछ दिनों तक सुख-पूर्वक वास किया। पुनः वही हेमा नाम की अप्सरा पर अनुरक्त हुआ॥ इन्द्र ने वज्र से मयदानव को मार दिया, ब्रह्मा ने यह उत्तम वन हेमा को दे दिया।···मैं मेरु सावर्णि की कन्या हूँ, मेरा स्वयंप्रभा नाम है॥ मैं हेमा के इस घर की रक्षा करती हूँ। मेरी प्यारी सखी हेमा नाचने-गाने में निपुण है॥ मैंने हेमा को वर दिया है, इसलिये मैं उसके घर की रक्षा करती हूँ।"

हेमा जब ब्रह्म-लोक जाने लगी, तब मुझसे उसने कहा कि तुम यहीं रहकर तपस्या करो। त्रेतायुग में भगवान् अवतार लेंगे। वे भू-भार-हरण करने के लिये वन में आवेंगे। उनकी भार्या को ढूँढ़ते हुए वानर आवेंगे, तुम उनका पूजन करना और फिर भगवान् श्रीरामजी के पास जाकर स्तुति करना, तब तुम योगियों के प्राप्य विष्णु लोक को जाओगी।

'मैं अब जाब···'—मेरे यहाँ रहने की अवधि इतनी ही थी।

(२) 'पैहहु सीतहिं'—यह तपस्विनी की आशिष भी है। उसने और पता न कहा, क्योंकि वह दिव्य-दृष्टि से जानती है कि संपाती के द्वारा खबर मिलेगी। उसके पंख भी इन सबके स्पर्श से जमेंगे और चन्द्रमा मुनि के वचन भी सत्य होंगे। 'जनि पछिताहू'—वाल्मी० ४।५२ में कथा है कि जिस दिन

बिल में वानर लोग पैठे, उसी दिन श्रीसुग्रीवजी के द्वारा नियत अवधि समाप्त हो गई। तब सब वानर शोकवश हो गये। उन्होंने स्वयंप्रभा से प्रार्थना की कि हमें बिल के बाहर कर दीजिये। तब उसने आश्वासन देते हुए कहा कि मत पछताओ और उपर्युक्त रीति से बाहर कर दिया।

नयन मूँदि पुनि देखहिं बीरा। ठाढ़े सकल सिंधु के तीरा ॥६॥
सो पुनि गई जहाँ रघुनाथा। जाइ कमल पद नायेसि माथा ॥७॥
नाना भाँति बिनय तेहि कीन्हीं। अनपायनी भगति प्रभु दीन्हीं ॥८॥

दोहा—बदरी बन कहुँ सो गई, प्रभु - आज्ञा धरि सीस।
उर धरि राम-चरन जुग, जे बंदत अज - ईस ॥२५॥

अर्थ—आँखें मूंद करके फिर सब वीर देखते हैं कि वे सब समुद्र के तीर पर खड़े हैं ॥६॥ तब स्वयंप्रभा वहाँ गई, जहाँ श्रीरघुनाथजी हैं, जाकर उसने श्रीरघुनाथजी के चरण-कमलों में शिर नवाया ॥७॥ और उसने बहुत तरह से विनती की, प्रभु ने उसे अविनाशिनी भक्ति दी ॥८॥ प्रभु की आज्ञा शिरोधार्य करके उनके युगल-चरण-कमलों को—जिनकी वंदना ब्रह्मा और महेश करते हैं—हृदय में धरकर, वह (स्वयंप्रभा) बदरिकाश्रम को गई ॥२५॥

विशेष—(१) 'नयन मूँदि पुनि'''—बिल में खड़ा होकर आँखें मूँद ली थीं, पल-मात्र में आँखें खोलकर फिर देखा तो सब समुद्र के तट पर अपने को वैसे ही खड़ा पाया। 'बीरा'—वीरता से तप का प्रभाव अधिक जनाया।

(२) 'नाना भाँति बिनय'''—विनय भक्ति की प्राप्ति के लिये ही की, इसे तप के फल रूप में श्रीराम-भक्तों के दर्शन हुए, इनके दर्शन-फल रूप में श्रीराम-दर्शन और श्रीराम-दर्शन के भी फल-रूप में उनकी भक्ति प्राप्त हुई।

(३) 'प्रभु आज्ञा धरि सीस'—'प्रभु' हैं, अतएव इनकी आज्ञा अपेल है; यथा—"प्रभु आज्ञा अपेल श्रुति गाई।" (सुं० दो० ५८); "नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं॥ सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा॥ मातु-पिता गुरु प्रभु कै बानी। बिनहिं बिचार करिय सुभ जानी॥" (बा० दो० ७६); 'जे बंदत अज ईस'—चरणों को हृदय में धारण करते हुए इस महिमा को विचारती है कि जो जगत्-भर को उत्पन्न करते हैं और संहार करते हैं, ऐसे ईश्वर-कोटि के ब्रह्मा और शिवजी भी जिनकी वंदना करते हैं, उन्हीं के मैंने दर्शन किये, हमारे बड़े भाग्य हैं, यथा—"अहो भाग्य मम अमित अति, राम-कृपा सुख पुंज। देखे नयन बिरंचि सिव, सेव्य जुगल पद कंज॥" (सुं० दो० ४७)।

संपाति-मिलाप—प्रकरण

इहाँ बिचारहिं कपि मन माहीं। बीती अवधि काज कछु नाहीं ॥१॥
सब मिलि कहहिं परस्पर बाता। बिनु सुधि लिये करब का भ्राता ॥२॥

कह अंगद लोचन भरि बारी। दुहुँ प्रकार भइ मृत्यु हमारी ॥३॥
इहाँ न सुधि सीता कै पाई। उहाँ गये मारिहि कपिराई ॥४॥
पिता बधे पर मारत मोही। राखा राम निहोर न ओही ॥५॥

अर्थ—वहाँ वानर मन में विचारते हैं कि अवधि बीत गई, (बिल में पहुँचे तक १ मास की अवधि बीत गई,) पर कार्य कुछ न हुआ ॥१॥ सब मिलकर आपस में बातें करते हैं कि भाई ! सुधि लिये बिना क्या करेंगे ? अर्थात् बचने का कोई उपाय नहीं है ॥२॥ नेत्रों में जल भरकर अंगदजी ने कहा कि दोनों प्रकार से हमारी मृत्यु हुई ॥३॥ यहाँ तो श्रीसीताजी की सुधि न मिली और वहाँ जाने पर कपिराज मारेंगे ॥४॥ वे तो पिता के वध होने पर ही मुझे मार डालते, पर श्रीरामजी ने मेरी रक्षा की, इसमें उन (सुग्रीव) का कुछ एहसान (उपकार) नहीं है ॥५॥

विशेष—(१) वानरों को मन, वचन, कर्म से शोच है ; यथा—'इहाँ बिचारहिं कपि मन माहीं।···' "कहहिं परस्पर बाता", "बिनु सुधि लिये करब का भ्राता।" अर्थात् इनका शोच क्रमशः मन, वचन और फिर कर्म में आया।

(२) 'दुहुँ प्रकार भइ मृत्यु'—एक 'इहाँ' दूसरी 'उहाँ'—यहाँ सुधि न पाने पर प्रायोपवेशन करने से मरना होगा और वहाँ जाने पर श्रीसुग्रीवजी मारेंगे।

(३) 'पिता बधे पर मारत ···'—क्योंकि नीति है—"रिपु रिन रंच न राखब काऊ।" (अ० दो० २२८) ; अर्थात् शत्रु के वंश को ही निश्शेष कर देना चाहिये। 'राखा राम···'—वाल्मी० ४।५३।१७–१६ में कहा गया है कि श्रीसुग्रीवजी तो मुझसे पहले से ही वैर रखते थे, उन्होंने मेरा अभिषेक नहीं किया, किन्तु धर्मात्मा श्रीरामजी ने किया है। अपराध देखकर श्रीसुग्रीवजी तीव्र दंड दे मारेंगे, मेरे जीवन-नाश को देख मित्रों को भी दुःख होगा, मित्रगण कर ही क्या सकेंगे ? इससे यहीं पवित्र समुद्र-तीर पर मैं प्रायोपवेशन करूँगा।

पुनि पुनि अंगद कह सब पाहीं। मरन भयउ कछु संसय नाहीं ॥६॥
अंगद - बचन सुनत कपि बीरा। बोलि न सकहिं नयन बह नीरा ॥७॥
छन-एक सोच मगन होइ गये। पुनि अस बचन कहत सब भये ॥८॥
हम सीता कै सुधि लीन्हें बिना। नहिं जइहैं जुबराज प्रबीना ॥९॥
अस कहि लवन-सिंधु - तट जाई। बैठे कपि सब दर्भ डसाई ॥१०॥

विशेष—(१) 'पुनि पुनि अंगद'''—सबसे कहने का प्रयोजन यह कि सब लोग चतुर हैं। जीने का कोई उपाय बतायेंगे। 'अब संसय नाहीं'—भाव यह कि पिता के वध पर श्रीसुग्रीवजी के मारने में संशय था, क्योंकि श्रीरामजी रक्षक थे। अब तो हमने श्रीरामजी का ही कार्य नहीं किया, तब तो सुग्रीवजी निश्चय ही मेरा वध करेंगे।

(२) 'अंगद-बचन सुनत सब बीरा।'''—सब वीर हैं, इससे शोचवश होने पर इतने अधीर न थे। अंगदजी के वचन सुनकर सबके आँसू बहने लगे। सब अत्यन्त डर गये कि जब अंगदजी का ही वध श्रीसुग्रीवजी करेंगे, तब और कोई कैसे बच सकता है। 'बीरा'—वीर हैं, पुरुषार्थ का काम होता तो करते और युवराज का दुःख-निवारण करते, पर यहाँ कोई वश नहीं चलता।

(३) 'हम सीता कै सुधि'''—वाल्मी० ४५३ में तार वानर ने इस विषय पर सलाह दी थी कि हमलोग श्रीसुग्रीवजी के पास न जायँगे, और उसी स्वयंप्रभा के बिल में छिपकर सुख से पड़े रहेंगे। तब सर्ग ५४ में उस सम्मति का श्रीहनुमान्‌जी ने खंडन किया है कि इस बिल का एवं स्वयंप्रभा की माया का खंडन करना श्रीलक्ष्मणजी के लिये कुछ नहीं है। पुन. सब वानर भी इसमें सहमत न होंगे, तब अंगदजी ने प्रायोपवेशन (अनशन व्रत करके मरने) का ही निश्चय किया। यह भाव यहाँ के 'नहि जैहहिं' से सूचित कर दिया कि न जायँगे, तो इस जगह रहेंगे। 'प्रबीना'—भाव यह है कि आप चतुर हैं। जानते ही हैं और ऐसी नीति है कि जब राजा ऐसी कड़ी आज्ञा दे, तो कार्य करके ही उसके पास जाय। पुन. वाल्मी० ४।५४ में श्रीहनुमान्‌जी ने अंगद की प्रशंसा की है कि तुम तेज, बल, पराक्रम से पूर्ण हो, बुद्धि में बृहस्पति के समान और बल में बालि के समान हो, इत्यादि 'प्रबीण' शब्द में आ गये।

उपर्युक्त दो प्रकार की मृत्यु में एक प्रकार का समाधान तो वानरों ने किया। पर दूसरी प्रकार का न कर सके और सभी प्रायोपवेशन की विधि से आचमन करके कुश बिछाकर उसपर बैठे। 'तट'—पहले तीर पर थे; अर्थात् लहर से जल बढ़ने की सीमा तक थे, अब तट (जल के पास) जाकर बैठे। समुद्र तीर्थपति है उसके तट कुश पर बैठकर प्राण त्यागना श्रेष्ठ है।

वानर लोग मन, वचन, कर्म तीनों से शोक में हैं; यथा—"सोच सकल होइ गये'—मन, दर्भ डसाई'—कर्म और 'अस बचन कहत सब भये'—यह वचन है।

जामवंत अंगद-दुख देखी। कही कथा उपदेस बिसेखी ॥११॥
तात राम कहुँ नर जनि मानहु। निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु ॥१२॥
हम सब सेवक अति बड़ भागी। संतत सगुन ब्रह्म-अनुरागी ॥१३॥

दोहा—निज इच्छा प्रभु अवतरइ, सुर-महि-गो-द्विज लागि।
सगुन उपासक संग तहँ, रहहिं मोच्छ सब त्यागि ॥२६॥

अर्थ—जाम्बवान्‌जी ने अंगदजी का दुःख देखकर विशेष उपदेश की कथाएँ कहीं ॥११॥ हे तात!

श्रीरामजी को मनुष्य मत मानो, उन्हें निर्गुण ब्रह्म, अजित और अजन्मा समझो ॥१२॥ हम सब सेवक अत्यन्त बड़भागी हैं। जो कि सगुण ब्रह्म के निरंतर अनुरागी हैं ॥१३॥ प्रभु अपनी इच्छा से देवता, पृथिवी, गौ और ब्राह्मणों के लिये जहाँ अवतार लेते हैं, वहाँ सब मोक्षों को छोड़कर सगुण उपासक उनके साथ रहते हैं ॥२६॥

विशेष—(१) 'दुख देखो। कही कथा ···'—क्योंकि कथा से दुःख दूर होता है; यथा—"रामचन्द्र गुन बरनइ लागा। सुनतहिं सीताकर दुख भागा॥" (सुं॰ दो॰ ११); 'कथा उपदेस बिसेषी'—कथा के द्वारा जो उपदेश होता है, वह परमार्थ-संबंध-सहित होता है—इससे विशेष है।

(२) 'नर जनि मानहु'—भाव यह कि तुमने उन्हें नर मान रक्खा है, इसी से व्याकुल हो गये हो। पर वे नर नहीं हैं, ईश्वर हैं। तब हम लोगों की दुर्दशा कैसे होगी, जब कि उन्हीं की आज्ञा के अनुसार कार्य में तत्पर हैं—वे ही कल्याण का संयोग करेंगे।

'निर्गुन ब्रह्म अजित''''''—निर्गुण से सगुण हुए हैं, हम सब सेवक वानर हुए हैं। 'अजित'—काल, कर्म, गुण, स्वभाव से अजेय हैं। 'अज' जीवों की तरह कर्मवश उनका जन्म नहीं होता, किंतु स्वेच्छा से अवतार लेते हैं। 'अति बड़भागी'—वैराग्यवान् होने से 'भागी', ज्ञानवान् होने से 'बड़भागी' और सेवक होने से 'अति बड़भागी' हैं। 'नर जनि मानहु'; यथा—"सो नर क्यों दस सीस अभागा।···राम मनुज कस रे सठ बंगा। ······" (लं॰ दो॰ २५); "सो नर क्यों दस-कंध··· ···" (लं॰ दो॰ १२)।

(३) 'निज इच्छा प्रभु··· ···'—पहले निर्गुण ब्रह्म का सगुण होना आदि कहा था। उसका हेतु यहाँ कहते हैं; यथा—"इच्छामय नर बेष सँवारे। होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे॥" (बा॰ दो॰ १५१); 'सुर महि गो द्विज लागि'—यह अवतार लेने का प्रयोजन है। मोच्छ सब—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य आदि मुक्तियों को भी त्याग देते हैं और भक्ति के अनुरागी होते हैं; यथा—"जनम-जनम रति राम पद, यह बरदान न आन।" (अ॰ दो॰ २०४); इत्यादि।

> येहि बिधि कथा कहहिं बहु भाँती। गिरि - कंदरा सुनी संपाती ॥१॥
> बाहेर होइ देखि बहु कीसा। मोहि अहार दीन्ह जगदीसा ॥२॥
> आजु सबन्हि कहँ भच्छन करऊँ। दिन बहु चलेउ अहार बिनु मरऊँ॥३॥
> कबहुँ न मिल भरि उदर अहारा। आजु दीन्हि बिधि एकहिं बारा ॥४॥

अर्थ—इस तरह बहुत प्रकार की कथाएँ कह रहे हैं, (इनके वचन) पहाड़ की कंदरा में संपाती ने सुने ॥१॥ बाहर निकलकर बहुत-से वानरों को देखकर (वह बोला कि) मुझे जगदीश ने आहार दिया ॥२॥ आज सभी को खाऊँगा, बिना भोजन के बहुत दिन बीत गये, मैं मर रहा था ॥३॥ कभी पेट-भर भोजन नहीं मिलता था, आज विधाता ने एक ही बार (परिपूर्ण) दे दिया ॥४॥

विशेष—(१) 'कथा कहहिं बहु भाँती'—ऊपर कथा कहना केवल श्रीजाम्बवान्‌जी का ही लिखा गया है और यहाँ 'कहहिं' बहुवचन से सबका कहना कहा गया है, इसका भाव यह कि जाम्बवान्‌जी कहते हैं, शेष सब उसे अनुमोदन करते हैं, उन्हीं में कोई विषय लेकर दूसरे कुछ भिन्न प्रकार से भी इसी से 'बहु भाँती' भी कहा है। वाल्मी॰ ४।५६।२१–२२ में सब वानरों का परस्पर कथा

सब वीर व्याकुल हो गये हैं, पराक्रम की सुधि नहीं है, कहा ही है—"रहत न आरत के चित चेतू।" (अ० दो० २१८)।

(२) 'कपि सब उठे गीध कहँ देखी।....'—कुशासन पर बैठे थे, घबड़ाकर उठ पड़े। शोच तो सभी को है, जाम्बवान्‌जी के मन में विशेष शोच है कि हमारे देखते हुए क्या सब वानर खा लिये जायँगे? अंगदजी के दुःख को इन्होंने कथा कहकर दूर किया। किन्तु इस आपत्ति के हटाने का उपाय इन्हें नहीं सूझता था। किसी-किसी का यह भी मत है कि प्रायोपवेशन के नियमबद्ध होने से लड़ नहीं सकते थे, इससे भी विशेष शोच हुआ कि गृध्र के द्वारा अपमृत्यु होगी।

(३) 'कह अंगद......'—अंगदजी का दुःख देखकर जाम्बवान्‌जी ने उनको समझाया था, वैसे जाम्बवान्‌जी के शोच को अंगद दूर करेंगे, क्योंकि दोनों ही समान बुद्धियुक्त हैं। अंगद ने उसकी जाति की प्रशंसा करके उसे प्रसन्न करने का उपाय निश्चय किया और कहा—'धन्य जटायू सम कोउ नाहीं।' जाम्बवान्‌जी ने कहा था—"हम सब सेवक अति बड़भागी।" उसपर अंगदजी कहते हैं कि जटायुजी के समान धन्य कोई नहीं है, क्योंकि उन्होंने राम-कार्य में शरीर ही त्याग दिया और फिर वहीं पर दिव्य देह पाकर हरि-धाम को गये, अतएव वे 'परम बड़भागी' हैं। पुनः श्रीरामजी के लिये लड़े और उन्होंने उनकी गोद में बैठकर शरीर-त्याग किया। श्रीरामजी ने स्वहस्त से उनकी अन्त्येष्टि क्रिया की, इत्यादि कारणों से वे परम बड़भागी हैं। यहाँ अंगदजी की परम नीति-निपुणता है।

सुनि खग हरष-सोकजुत बानी। आवा निकट कपिन्ह भय मानी ॥९॥
तिन्हहिं अभय करि पूछेसि जाई। कथा सकल तिन्ह ताहि सुनाई ॥१०॥
सुनि संपाति बंधु कै करनी। रघुपति-महिमा बहु बिधि बरनी ॥११॥

दोहा—मोहि लै जाहु सिंधु-तट, देउँ तिलांजलि ताहि।
बचन - सहाइ करबि मैं, पैहहु खोजहु जाहि ॥२७॥

अर्थ—हर्ष-शोकयुक्त वाणी सुनकर जटायु पक्षी वानरों के समीप आया, वानर लोग डरे ॥९॥ उसने उन्हें निर्भय करके (समीप) जाकर (जटायु की) कथा पूछी, उन्होंने उसे सम्पूर्ण कथा सुनाई ॥१०॥ भाई की करनी सुनकर संपाती ने बहुत तरह से श्रीरघुनाथजी की महिमा का वर्णन किया ॥११॥ (और कहा—) मुझे समुद्र के किनारे ले चलो, मैं उसे तिलाञ्जलि दूँ, फिर मैं वचन से तुम्हारी सहायता करूँगा (अर्थात् बतलाऊँगा कि श्रीसीताजी कहाँ हैं), जिन्हें ढूँढ़ते हो उन्हें पाओगे ॥२७॥

विशेष—(१) 'हरष सोक जुत बानी'—जटायु का पुरुषार्थ और उसकी सद्‌गति हर्ष का कारण है और मृत्यु होने की बात शोक का हेतु है। 'आवा निकट'—अब वह जटायु का समाचार पूछने के लिये समीप आया, पर वानरों ने समझा कि खाने को ही आता है, इससे इन्होंने भय माना।

(२) 'तिन्हहि अभय करि....'—पहले अभय किया कि जिसमें वानर भाग न जायँ, तब समीप गया, इसलिये 'जाई' क्रिया पीछे दी गई है। 'कथा सकल'—पहले जटायु की कथा संक्षेप में कही गई थी। अब उसे विस्तार-पूर्वक कहा।

कि श्रीरामजी का वनवास, राजा दशरथजी का मरण, जनस्थान का युद्ध, श्रीजानकीजी का हरण, श्रीजटायुजी का वध, वालि-वध और श्रीरामजी का कोप कहते हुए वानर भयभीत हो गये। यह प्रसंग भी 'कहहिं' में आ गया। 'गिरि कंदरा सुनी संपाती'—कथा-श्रवण के प्रभाव से संपाती को श्रीराम-भक्तों के दर्शन हुए, उसके पंख जमे और सभी दुःख दूर हुए। वानर लोग सीता-शोध के लिये व्याकुल थे, कथा कहने के प्रभाव से बैठे-बैठे ही सम्पाती के द्वारा सुध मिल गई।

(२) 'मोहि अहार दीन्ह जगदीसा।'—जगदीश जगत् भर के ईश्वर (प्रेरक) हैं और पालक हैं, इसी से प्रेरणा करके इतने वानरों को इकट्ठा कर मरने पर उद्यत कर दिया और मेरे भोजन का प्रबंध कर दिया। नहीं तो अपने पराक्रम से मुझे इतने वानर कैसे मिलते ?

(३) 'आजु सबन्हि कहँ भच्छन करऊँ'—सब मरने को बैठे ही हैं, क्रमशः मरते जायँगे और मैं खाता जाऊँगा ; यथा—"परम्पराणां भक्षिष्ये वानराणां मृतं मृतम्। उवाचैतद्वचः पक्षी तान्निरीक्ष्य प्लवंगमान्॥" (वाल्मी॰ ४।५६।५); अर्थात् वह जीवित वानरोंको खाने के लिये नहीं कहता। 'दिन बहु चलेउ···'—यह पंख-हीन था, इसका पुत्र सुपार्श्व इसे आहार कभी-कभी ला देता था। पर गृध्रों को क्षुधा अधिक होती है, इसी ने कहा है—"तीक्ष्णकामास्तु गंधर्वास्तीक्ष्णकोपा भुजंगमाः। मृगाणां तु भयं तीक्ष्णं ततस्तीक्ष्णक्षुधा वयम्॥" (वाल्मी॰ ४ ५९।३); इसी से इसका पेट नहीं भरता था। 'आजु दीन्हि विधि एकहि बारा।'; यथा—"विधिः किल नरं लोके विधानेनानुवर्त्तते। यथायं विहितो भक्ष्यश्चिरान्मह्यमुपागतः॥" (वाल्मी॰ ४।५६।४) ; अर्थात् जिस तरह कर्म के अनुसार लोक में मनुष्यों को फल मिलता है, वैसे ही पूर्वार्जित कर्म से प्राप्त यह भोजन मेरे लिये आया है।

डरपे गीध - बचन सुनि काना। अब भा मरन सत्य हम जाना॥५॥
कपि सब उठे गीध कहँ देखी। जामवंत मन सोच बिसेषी॥६॥
कह अंगद बिचारि मन माहीं। धन्य जटायू - सम कोउ नाहीं॥७॥
राम - काज - कारन तनु त्यागी। हरिपुर गयउ परम बड़भागी॥८॥

अर्थ—गृध्र संपाती के वचन कानों से सुनकर सब डरे (और बोले—) हमने जान लिया, अब अवश्य ही हमारा मरण हुआ॥५॥ गृध्र को देखकर सब वानर उठ खड़े हुए, तब जाम्बवान् के मन में विशेष सोच हुआ॥६॥ श्रीअंगदजी ने मन में विचारकर कहा कि श्रीजटायुजी के समान कोई धन्य नहीं है॥७॥ वह परम बड़भागी राम-कार्य के लिये शरीर छोड़कर हरिपुर को गया॥८॥

विशेष—(१) 'डरपे गीध-बचन सुनि···' ; यथा—"ते प्रायमुपविष्टास्तु दृष्ट्वा गृध्रं प्लवंगमाः। चक्रुर्बुद्धिं तदा रौद्रां सर्वान्नो भक्षयिष्यति॥" (वाल्मी॰ ४।५७।२) ; अर्थात् प्रायोपवेशन में बैठे हुए वे सब वानर गृध्र को देखकर "यह हम सबको खा जायगा।" ऐसा भयानक विचार करने लगे। इसका स्वरूप और इसके वचन दोनों भयंकर हैं। 'अब भा मरन सत्य'—भाव यह कि प्रायोपवेशन से चाहे मृत्यु न भी होती, पर अब तो यह अवश्य ही सबको खा जायगा।

शंका—ये लोग ऐसे भारी-भारी वीर हैं, क्या सब मिलकर भी उससे न लड़ सकते थे ?

समाधान—श्रीसीताजी की शोध न पाने से और उपर्युक्त दोनों प्रकार की मृत्यु के भय से

सब वीर व्याकुल हो गये हैं, पराक्रम की सुधि नहीं है, कहा ही है—"रहत न आरत के चित चेतू।" (अ० दो० २१८)।

(२) 'कपि सब उठे गीध कहँ देखी।...'—कुशासन पर बैठे थे, घबड़ाकर उठ पड़े। शोच तो सभी को है, जाम्बवान्‌जी के मन में विशेष शोच है कि हमारे देखते हुए क्या सब वानर खा लिये जायँगे ? अंगदजी के दुःख को इन्होंने कथा कहकर दूर किया। किन्तु इस आपत्ति के हटाने का उपाय इन्हें नहीं सूझता था। किसी-किसी का यह भी मत है कि प्रायोपवेशन के नियमबद्ध होने से लड़ नहीं सकते थे, इससे भी विशेष शोच हुआ कि गृध्र के द्वारा अपमृत्यु होगी।

(३) 'कह अंगद......'—अंगदजी का दुःख देखकर जाम्बवान्‌जी ने उनको समझाया था, वैसे जाम्बवान्‌जी के शोच को अंगद दूर करेंगे, क्योंकि दोनों ही समान बुद्धियुक्त हैं। अंगद ने उसको जाति की प्रशंसा करके उसे प्रसन्न करने का उपाय निश्चय किया और कहा—'धन्य जटायू सम कोउ नाहीं।' जाम्बवान्‌जी ने कहा था—"हम सब सेवक अति बड़भागी।" उसपर अंगदजी कहते हैं कि जटायुजी के समान धन्य कोई नहीं है, क्योंकि उन्होंने राम-कार्य में शरीर ही त्याग किया और फिर वहीं पर दिव्य देह पाकर हरि-धाम को गये, अतएव वे 'परम बड़भागी' हैं। पुनः श्रीरामजी के लिये लड़े और उन्होंने उनकी गोद में बैठकर शरीर-त्याग किया। श्रीरामजी ने स्वहस्त से उनकी अन्त्येष्टि क्रिया की, इत्यादि कारणों से वे परम बड़भागी हैं। यहाँ अंगदजी की परम नीति-निपुणता है।

सुनि खग हरष-सोकजुत बानी। आवा निकट कपिन्ह भय मानी ॥९॥
तिन्हहि अभय करि पूछेसि जाई। कथा सकल तिन्ह ताहि सुनाई ॥१०॥
सुनि संपाति बंधु कै करनी। रघुपति-महिमा बहु बिधि बरनी ॥११॥

दोहा—मोहि लै जाहु सिंधु-तट, देउँ तिलांजलि ताहि।
वचन - सहाइ करबि मैं, पैहहु खोजहु जाहि ॥२७॥

अर्थ—हर्ष-शोकयुक्त वाणी सुनकर जटायु पक्षी वानरों के समीप आया, वानर लोग डरे ॥९॥ उसने उन्हें निर्भय करके (समीप) जाकर (जटायु की) कथा पूछी, उन्होंने उसे सम्पूर्ण कथा सुनाई ॥१०॥ भाई की करनी सुनकर संपाती ने बहुत तरह से श्रीरघुनाथजी की महिमा का वर्णन किया ॥११॥ (और कहा—) मुझे समुद्र के किनारे ले चलो, मैं उसे तिलाञ्जलि दूँ, फिर मैं वचन से तुम्हारी सहायता करूँगा (अर्थात् बतलाऊँगा कि श्रीसीताजी कहाँ हैं), जिन्हें ढूँढ़ते हो उन्हें पाओगे ॥२७॥

विशेष—(१) 'हरष सोक जुत बानी'—जटायु का पुरुषार्थ और उसकी सद्‌गति हर्ष का कारण है और मृत्यु होने की बात शोक का हेतु है। 'आवा निकट'—अब वह जटायु का समाचार पूछने के लिये समीप आया, पर वानरों ने समझा कि खाने को ही आता है, इससे इन्होंने भय माना।

(२) 'तिन्हहि अभय करि...'—पहले अभय किया कि जिसमें वानर भाग न जायँ, तब समीप गया, इसलिये 'जाई' क्रिया पीछे दी गई है। 'कथा सकल'—पहले जटायु की कथा संक्षेप [illegible] थी। अब उसे विस्तार-पूर्वक कहा।

पहले अभिमान किया, उसका फल दुःख मिला। अब श्रीराम भक्तों के दर्शनों से इसके पाप क्षीण हुए। नवीन पक्ष हुए और यह सुखी हुआ।

मुनि एक नाम चंद्रमा ओही। लागी दया देखि करि मोही ॥५॥
बहु प्रकार तेहिं ज्ञान सुनावा। देह-जनित अभिमान छुड़ावा ॥६॥

अर्थ—वहाँ एक मुनि थे, जिनका चन्द्रमा नाम था, मुझको देखकर उनको दया लगी ॥५॥ उन्होंने बहुत तरह से ज्ञान सुनाया और देह-जनित (देह-विषयक) अभिमान को छुड़ाया ॥६॥

विशेष—(१) 'मुनि एक नाम चन्द्रमा ओही। · '—चन्द्रमा मुनि अत्रिजी के पुत्र थे ये ब्रह्माजी के अवतार माने जाते हैं। इनका आत्रेय और निशाकर भी नाम है। 'लागि दया'—क्योंकि संत कोमल चित्त होते हैं; यथा—"नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता॥" (आ० दो० १)।

(२) 'बहु प्रकार तेहिं ज्ञान सुनावा।'—वाल्मी० ४।६२-६३ में कथा है—संपाती जब पक्ष जलने से गिरा, तब चन्द्रमा मुनि के दर्शन होने पर और उनके पूछने पर इसने अपना हाल कहा, तब ऋषि ने ध्यान किया और फिर इससे कहा कि तुम मरन की बुद्धि न करो, तुम्हारे पक्ष फिर जमेंगे। उन्होंने फिर श्रीरामजी के जन्म से यहाँ तक की कथा कही और यह भी कहा कि मैं तुम्हें अभी सपक्ष कर सकता हूँ। पर इससे तुम न जाने कहाँ चले जाओ, तो राम-कार्य में हानि होगी। अतः, तुम यहीं पर रहकर समय की प्रतीक्षा करो और यहाँ रहते हुए, लोक का कल्याण करो। उन्होंने और भी अनेक वाक्यों से मुझे समझाया, तब मैंने आत्मघात की इच्छा छोड़ दी। प्राणों की रक्षा के लिये मुनि ने जो बुद्धि दी थी। उसी से मेरे सब दुःख दूर होते हैं, जैसे प्रदीप्त अग्नि-शिखा से अंधकार दूर होता है।

(३) 'देह-जनित अभिमान छुड़ावा'।—देह जनित अभिमान छूटने का ज्ञान गीता २।११–३० में विस्तार से है, वहीं देखना चाहिये। तात्पर्य यह है कि देह अनित्य है, अतएव नाशवान् है, कितना भी प्रबंध किया जाय, पर कभी नाश होगा ही और जीवात्मा नित्य है, अतएव अविनाशी है, किसी भी बाधा से किसी तरह इसका नाश नहीं हो सकता। जीव और देह भिन्न-भिन्न स्वभाव के पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं। विवेकी लोग देह के धर्मों को जीवात्मा में नहीं मानते। आधि व्याधि, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों को देह का ही धर्म मानकर स्वयं उससे भिन्न रहते हैं।

त्रेता ब्रह्म मनुज तनु धरिही। तासु नारि निसिचरपति हरिही ॥७॥
तासु खोज पठइहि प्रभु दूता। तिन्हहि मिले तैं होब पुनीता ॥८॥
जमिहहिं पंख करसि जनि चिंता। तिन्हहि देखाइ दिहेसु तैं सीता ॥९॥
मुनि कइ गिरा सत्य भइ आजू। सुनि मम बचन करहु प्रभु-काजू ॥१०॥

अर्थ—त्रेता युग में ब्रह्म (श्रीरामजी) मनुष्य का शरीर धारण करेंगे, उनकी स्त्री को निशाचर राज हरण करेगा ॥७॥ उसकी खोज में प्रभु दूत भेजेंगे, उनके मिलने पर तू पवित्र हो जायगा ॥८॥ तेरे पक्ष जमेंगे, चिन्ता मत कर, तू उन्हें श्रीसीताजी को दिखा देना ॥९॥ मुनि की वाणी आज सत्य हुई, मेरा वचन सुनकर प्रभु का कार्य करो ॥१०॥

(३) 'बंधु कै करनी'—'करनी' शब्द श्लेषार्थी है, एक तो पुरुषार्थपरक है ; यथा—"जूझे सकल सुभट करि करनी।" (बा० दो० १७४); दूसरे उसकी मृतक-क्रियापरक है ; यथा—"पितु हित भरत कीन्हि जसि करनी।" (अ० दो० १७०)। दोनों प्रकार की करनी उसकी प्रशंसनीय हैं, जैसे कि रावण ऐसे वीर से संग्राम करके उसे मूर्च्छित कर दिया और श्रीसीताजी की रक्षा के लिये प्राण दिये। दूसरे श्रीरामजी ने स्वयं उसकी मृतक-क्रिया की और उसे परम उत्तम गति दी ; यथा—"गीध अधम खग, आमिष भोगी। गति दीन्ही जो जाँचत जोगी॥" (आ० दो० ३२); "दसरथ ते दसगुन भगति, सहित तासु कृत काज।" (दोहावली २२७); श्रीरघुनाथजी की महिमा वर्णन की कि उन्होंने ऐसे अधम को भी गति दी।

(४) 'मोहि लै जाहु सिंधु-तट'—संपाती पहले पहाड़ के ऊपर ही कंदरा में से निकलकर ऊँचे पर किन्तु वानरों के समीप आया था। ऊपर से ही कहता था कि ये मरने को तो बैठे ही हैं, क्रमशः मरते जायँगे और मैं खाता जाऊँगा। वानर लोग भयभय से स्वयं डर गये थे ; क्योंकि वह तो पंख हीन होने से नीचे उतर भी नहीं सकता था। भाई का मरन सुना है, अतएव अब उसे सूतक लगा, भाई को तिलांजलि देना चाहता था, इसलिये उतारने की प्रार्थना की और इन्हें श्रीसीताजी का समाचार बतलाने का वचन दिया।

इसमें उसका कुछ गुप्त आशय भी है कि जब इनके स्पर्श से मेरे पंख जम आवेंगे, तब समझूँगा कि ये रामदूत हैं और तब श्रीसीताजी की खबर बतलाऊँगा। चन्द्रमा मुनि ने यही पहचान कही थी। संपाती को श्रीहनुमान्‌जी उस पर्वत पर से उतारकर लाये थे; यथा—"जयति धर्मांसु-संदग्ध-संपाति-नवपक्ष-लोचन-दिव्यदेह-दाता।" (वि० २८)।

अनुज - क्रिया करि सागर-तीरा। कहि निज कथा सुनहु कपि बीरा॥१॥
हम दोउ बंधु प्रथम तरुनाई। गगन गये रवि निकट उड़ाई॥२॥
तेज न सहि सक सो फिरि आवा। मैं अभिमानी रवि-नियरावा॥३॥
जरे पंख अति तेज अपारा। परेउँ भूमि करि घोर चिकारा॥४॥

अर्थ—समुद्र के तीर पर भाई की क्रिया करके अपनी कथा कही—हे वीर वानरो! सुनो॥१॥ हम दोनों भाई पहली (एवं चढ़ती) जवानी में उड़कर सूर्य के निकट जाने के लिये गये॥२॥ वह तेज न सह सका, इससे लौट आया, मैं अभिमानी था, इससे सूर्य के समीप गया॥३॥ सूर्य के अत्यन्त अपार तेज से मेरे पंख जल गये, तब मैं घोर चिकार करके पृथिवी पर गिर पड़ा॥४॥

विशेष—(१) 'अनुज क्रिया करि···'—क्रिया करके पहले शुद्ध होकर तब कथा कही। अपनी वीरता की कथा कही, जिससे इन सब वीरों का भी उत्साह बढ़े और राम-कार्य में तत्पर हों। 'मैं अभिमानी ···'—मुझे बल का बड़ा अभिमान था, भाई से अधिक अपना बल दिखाने को और आगे बढ़ा। अभिमान का फल दुःख है, वही मुझे मिला। 'रवि तेज अपारा'—सूर्य का तेज भूमि पर भी नहीं सहा जाता, तो समीप का क्या कहना? 'करि घोर चिकारा'—पंख जलने का दुःख और फिर पृथिवी की भी ठोकर लगा, इससे चिल्ला उठा।

(२) जटायुजी की कथा अरण्यकांड में दी गई है, यह (संपाती) उसी का बड़ा भाई था। इसने

पहले अभिमान किया, उसका फल दुःख मिला। अब श्रीराम भक्तों के दर्शनों से इसके पाप क्षीण हुए। नवीन पंख हुए और यह सुखी हुआ।

मुनि एक नाम चंद्रमा ओही। लागी दया देखि करि मोही ॥५॥
बहु प्रकार तेहि ज्ञान सुनावा। देह-जनित अभिमान छुड़ावा ॥६॥

अर्थ—वहाँ एक मुनि थे, जिनका चन्द्रमा नाम था, मुझको देखकर उनको दया लगी ॥५॥ उन्होंने बहुत तरह से ज्ञान सुनाया और देह-जनित (देह-विषयक) अभिमान को छुड़ाया ॥६॥

विशेष—(१) 'मुनि एक नाम चन्द्रमा ओही। ...'—चन्द्रमा मुनि अत्रिजी के पुत्र थे, ये ब्रह्माजी के अवतार माने जाते हैं। इनका आत्रेय और निशाकर भी नाम है। 'लागि दया'—क्योंकि संत कोमल चित्त होते हैं; यथा—"नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता ॥" (आ० दो० १)।

(२) 'बहु प्रकार तेहि ज्ञान सुनावा।'—वाल्मी० ४।६२-६३ में कथा है—संपाती जब पंख जलने से गिरा, तब चंद्रमा मुनि के दर्शन होने पर और उनके पूछने पर इसने अपना हाल कहा, तब ऋषि ने ध्यान किया और फिर इससे कहा कि तुम मरन की बुद्धि न करो, तुम्हारे पंख फिर जमेंगे। उन्होंने फिर श्रीरामजी के जन्म से यहाँ तक की कथा कही और यह भी कहा कि मैं तुम्हें अभी सपक्ष कर सकता हूँ। पर इससे तुम न जाने कहाँ चले जाओ, तो राम-कार्य में हानि होगी। अतः, तुम यहीं पर रहकर समय की प्रतीक्षा करो और यहाँ रहते हुए, लोक का कल्याण करो। उन्होंने और भी अनेक वाक्यों से मुझे समझाया, तब मैंने आत्मघात की इच्छा छोड़ दी। प्राणों की रक्षा के लिये मुनि ने जो बुद्धि दी थी। उसीसे मेरे सब दुःख दूर होते हैं, जैसे प्रदीप्त अग्नि-शिखा से अंधकार दूर होता है।

(३) 'देह-जनित अभिमान छुड़ावा'।—देह जनित अभिमान छूटने का ज्ञान गीता २।११-३० में विस्तार से है, वहीं देखना चाहिये। तात्पर्य यह है कि देह अनित्य है, अतएव नाशवान् है, कितना भी प्रबंध किया जाय, पर कभी नाश होगा ही और जीवात्मा नित्य है, अतएव अविनाशी है, किसी भी बाधा से किसी तरह इसका नाश नहीं हो सकता। जीव और देह भिन्न-भिन्न स्वभाव के पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं। विवेकी लोग देह के धर्मों को जीवात्मा में नहीं मानते। आधि-व्याधि, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों को देह का ही धर्म मानकर स्वयं उससे भिन्न रहते हैं।

त्रेता ब्रह्म मनुज तनु धरिही। तासु नारि निसिचरपति हरिही ॥७॥
तासु खोज पठइहि प्रभु दूता। तिन्हहि मिले तैं होब पुनीता ॥८॥
जमिहहि पंख करसि जनि चिंता। तिन्हहि देखाइ दिहेसु तैं सीता ॥९॥
मुनि कइ गिरा सत्य भइ आजू। सुनि मम बचन करहु प्रभु-काजू ॥१०॥

अर्थ—त्रेता युग में ब्रह्म (श्रीरामजी) मनुष्य का शरीर धारण करेंगे, उनकी स्त्री को निशाचर राज हरण करेगा ॥७॥ उसकी खोज में प्रभु दूत भेजेंगे, उनके मिलने पर तू पवित्र हो जायगा ॥८॥ तेरे पंख जमेंगे, चिन्ता मत कर, तू उन्हें श्रीसीताजी को दिखा देना ॥९॥ मुनि की वाणी आज सत्य हुई, मेरा वचन सुनकर प्रभु का कार्य करो ॥१०॥

विशेष—(१) 'त्रेता ब्रह्म मनुज तनु···'—त्रेता कहने से यह वृत्तान्त सत्ययुग का सूचित किया। 'त्रेता ब्रह्म मनुज-तनु धरिही।'—बालकांड; 'तासु नारि निसिचर पति हरिही।'—अरण्यकांड ; तासु खोज पठइहि प्रभु दूता। तिन्हहिं मिले तैं होब पुनीता॥"—किष्किधाकांड, यहाँ तक की कथा चन्द्रमा मुनि ने कही थी, वही सम्पाती ने यहाँ कही। अयोध्याकांड नहीं कहा गया, क्योंकि वह भरत-चरित है और यहाँ राम-चरित ही के कहने का प्रयोजन था। 'पठइहि प्रभू दूता'—'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं, सब जानते हैं, फिर भी राजनीति की मर्यादा से दूत भेजेंगे। उन दूतों के मिलने (दर्शनों) से तू पवित्र होगा। 'करसि जनि चिंता'—पंख न होने की चिंता मत कर, ये जमेंगे। पहले पंख जमना कहकर चिन्ता दूर करके तब श्रीसीताजी का दिखाना कहा है, भाव यह कि पहले पंख जम जायँगे, तब तू श्रीसीताजी को दिखाना। इतना काल कैसे बीतेगा ? इस चिन्ता के निवारण के लिये ज्ञान कहा है।

(२) 'मुनि कइ गिरा सत्य भइ आजू।'—वाणी यों सत्य हुई कि मेरे पंख जम आये, तब शेष वचन भी सत्य ही होंगे। श्रीसीताजी तुम्हें मिलेंगी। अतएव मेरे वचनों पर विश्वास करके प्रभु का कार्य करो। 'प्रभु' अर्थात् वे समर्थ हैं, तुम्हें सामर्थ्य देंगे। पूर्व कहा था—"बचन सहाइ करबि मैं" वहीं कर रहा है—'सुनि मम बचन करहु प्रभु काजू' वाल्मी० ४।६३।१०—१३ में भी ऐसा ही कहा है कि मुनि के प्रसाद से हमारे जले हुए पंख फिर जम आये। अतः, विश्वास के साथ यत्न करो, श्रीसीताजी को पाओगे।

गिरि त्रिकूट ऊपर बस लंका। तहँ रह रावन सहज असंका॥११॥
तहँ असोक उपबन जहँ रहई। सीता बैठि सोच-रत अहई॥१२॥

दोहा—मैं देखउँ तुम्ह नाहीं, गीधहिं दृष्टि अपार।
बूढ़ भयउँ न त करतेउँ, कछुक सहाय तुम्हार॥२८॥

अर्थ—त्रिकूट पहाड़ पर लंका बसी हुई है, वहाँ स्वाभाविक निःशंक रावण रहता है॥११॥ वहाँ अशोक का उपवन है, जहाँ पर श्रीसीताजी शोक में निमग्न बैठी हैं॥१२॥ मैं देख रहा हूँ, पर तुम नहीं देख सकते, क्योंकि गृध्र की अपार दृष्टि होती है। मैं बुड्ढा हो गया, नहीं तो तुम्हारी कुछ सहायता करता॥२८॥

विशेष—(१) 'गिरि त्रिकूट ऊपर बस···'—जाम्बवान् ने पूछा था—"क्व सीता केन वा दृष्टा को वा हरति मैथिलीम्। तदाख्यातु भवान्सर्वं गतिर्भव वनौकसाम्॥" (वाल्मी० ४ ५८।६); अर्थात् श्रीसीताजी कहाँ हैं, किसने देखा और किसने उनका हरण किया है। यह सब आप कहें और वानरों के रक्षक हों। इसपर संपाती ने कहा है कि तीन कूटवाले पहाड़ पर लंका बसी है; अर्थात् वह गिरि-दुर्ग बड़ा दुर्गम है; यथा—"गिरि त्रिकूट एक सिंधु मझारी। बिधि निर्मित दुर्गम अति भारी॥" (बा० दो० १७७), 'रावन सहज असंका'—रावण स्वाभाविक निश्शंक है, कुछ दुर्ग (किले) के भरोसे पर नहीं; यथा—"सहज असंक लंकपति···" (सुं० दो० १६) "सुनासीर सत सरिस सो···परम प्रबल रिपु सीस पर, तदपि सोच न त्रास॥" (सुं० दो० १०)।

(२) 'तहँ असोक उपवन···'—श्रीसीताजी को 'असोक उपवन' में कहकर रावण के निवास से पृथक् सूचित किया। 'बैठि' अर्थात् सदा बैठी ही रहती हैं; यथा—"देखि मनहिं महँ कीन्ह प्रनामा। बैठेहि बीति जात निसि जामा॥" (सुं० दो० ७); यह अशोक उपवन भी उन्हें शोक-रहित नहीं कर सकता, प्रत्युत् शोक-रूप हो रहा है।

(३) 'मैं देखउँ तुम्ह नाहीं···'—वाल्मी० ४।५८।२९-३० में संपाती ने कहा है कि मैं यहीं से श्रीजानकीजी को देखता हूँ। हमलोगों को गरुड़ के समान शक्तिप्राप्त है। भोजन के बल से तथा स्वभाव से सौ योजन एवं इससे भी आगे तक हमलोग देख सकते हैं।

जो नाँघइ सत जोजन सागर। करइ सो रामकाज मति-आगर॥१॥
मोहि बिलोकि धरहु मन धीरा। राम-कृपा कस भयउ सरीरा॥२॥
पापिउ जाकर नाम सुमिरहीं। अति अपार भवसागर तरहीं॥३॥
तासु दूत तुम्ह तजि कदराई। राम हृदय धरि करहु उपाई॥४॥

अर्थ—जो चार सौ कोस का समुद्र लाँघे और बुद्धिमान् हो, वह श्रीराम-कार्य करे; अर्थात् उसे बल और बुद्धि दोनों की आवश्यकता है॥१॥ मुझे देखकर मन में धैर्य धरो, (यह देखते ही हो कि मैं कैसा था और श्रीराम-कृपा से कैसा हो गया, यह श्रीरामजी का ही प्रभाव है) कि श्रीराम-कृपा से मेरा शरीर कैसा हो गया ? ॥२॥ पापी भी जिनका नाम स्मरण करते हैं और अत्यन्त अपार भवसागर को तर जाते हैं॥३॥ तुम उनके दूत हो, कादरपना छोड़कर श्रीरामजी को हृदय में रखकर उपाय करो॥४॥

विशेष—(१) 'जो नाँघइ सत जोजन सागर···'—पहले संपाती ने सभी को श्रीराम-कार्य के लिये उत्साहित किया था ; यथा—"सुनि मम बचन करहु प्रभु काजू।" अब वह कहता है कि प्रस्तुत कार्य में एक ही व्यक्ति का काम है, जो ४०० कोस के समुद्र को लाँघ सके और वह बुद्धि का भी तीव्र हो। पहले गिरि त्रिकूट मात्र कहा था, यहाँ यह भी जनाया कि वह ४०० कोस के सागर के पार है।

(२) 'मोहि बिलोकि धरहु मन धीरा।'—इससे पहले वानरों का अधीर होना जानकर उन्हें धैर्य धरने को कहा। फिर आगे कायरता छोड़ने को भी कहा है।

(३) 'पापिउ जाकर नाम सुमिरहीं।···'—सम्पाती ने पहले अपना प्रत्यक्ष प्रमाण दिया। अब वे और पापियों का उदाहरण देते हैं, जो वेद-पुराणों में कहे गये हैं—यह शब्द-प्रमाण है। 'पापिउ'—पापी भवसागर तरने में असमर्थ हैं वे भी, 'अति अपार भव सागर'—भाव यह कि वे अत्यन्त असमर्थ भी अति अपार को पार कर जाते हैं, तुम्हारा तो श्रीरामजी से सम्बन्ध है, अतएव समर्थ हो, फिर इस १०० योजन के परिमित सागर के तरने में क्या है ?

(४) 'तासु दूत तुम्ह···'—भाव पापियों से प्रभु का सम्बन्ध नहीं है, तो भी वे नाम-स्मरण मात्र से भवसागर तरते हैं तुम तो उनके दूत हो। 'राम हृदय धरि'—जिनकी कृपा से मेरे पंख जमे, पापी भवसागर तरते हैं, उन्हीं को हृदय में धरकर उपाय करो तो अवश्य सिद्धि होगी।

"सुनि सब कथा समीर कुमारा"—प्रकरण

अस कहि गरुड़ गीध जब गयऊ। तिन्हके मन अति बिसमय भयऊ॥५॥
निज निज बल सब काहू भाखा। पार जाइ कर संसय राखा॥६॥

जरठ भयउँ अब कहै रिछेसा। नहिं तन रहा प्रथम बललेसा ॥७॥
जबहि त्रिबिक्रम भयउ खरारी। तब मैं तरुन रहेउँ बल भारी ॥८॥

दोहा—बलि बाँधत प्रभु बाढ़ेउ, सो तनु बरनि न जाइ।
उभय घरी महँ दीन्ही, सात प्रदच्छिन धाइ ॥२९॥

अर्थ—हे गरुड़ ! ऐसा कहकर जब गृध्र चला गया, तब उन सब वानरों के मन में अत्यन्त विस्मय हुआ, (कि इतना चौड़ा समुद्र कैसे लाँघा जायगा, पुनः गृध्र का पक्ष जमना आदि का विस्मय तो था ही) ॥५॥ अपना-अपना बल सब किसी ने कहा, पर समुद्र के पार जाने में संदेह ही रक्खा ॥६॥ ऋक्षराज जाम्बवान्‌जी ने कहा कि अब मैं बूढ़ा हो गया, शरीर में पहलेवाले बल का लेशमात्र भी नहीं रह गया (नहीं तो यह कार्य कुछ न था) ॥७॥ जब खर के शत्रु भगवान् वामन रूप हुए तब हमारी तरुण अवस्था थी और भारी बल था ॥८॥ बलि के बाँधने के समय प्रभु बढ़े, उस शरीर का वर्णन नहीं हो सकता, मैंने दो ही घड़ी में उस शरीर की सात प्रदक्षिणाएँ दौड़कर कीं (ऐसा मेरा बल था) ॥२९॥

विशेष—(१) 'निज निज बल सब···'—पूर्वार्द्ध में संदिग्ध रह गया कि किसने कितना कहा, उसका उत्तरार्द्ध में निर्णय कर दिया कि सौ योजन के भीतर ही में सभी रह गये। पहले वानरों ने कहा, तब जाम्बवान्‌जी ने कहा, फिर अंगदजी ने कहा। इस क्रम से निश्चय हुआ कि जब अंगदजी सौ योजन जा सकते हैं, तब जाम्बवान् नब्बे और शेष वानर अस्सी योजन के भीतर ही रह गये। ऐसा ही वाल्मी० ४।६५ में प्रमाण भी है कि अपना-अपना बल कहते हुए गज ने १०, गवाक्ष ने २०, शरभ ने ३०, ऋषभ ने ४०, गंधमादन ने ५०, मैन्द ने ६०, द्विविद ने ७० और सुषेण ने ८० योजन तक कूदना कहा। तब जाम्बवान्‌जी ने ९० योजन तक जाना कहा और यह भी कहा कि इस वृद्धावस्था में भी मैं इतना जा सकता हूँ।···पीछे अंगदजी ने कहा कि मैं १०० योजन जा सकता हूँ, पर लौटने की शक्ति मुझ में रहेगी कि नहीं इसमें संदेह है। इसपर जाम्बवान्‌जी ने अंगद की बहुत सराहना की और कहा कि आप हजारों योजन जा सकते हैं, पर स्वामी प्रेषक होता है प्रेष्य नहीं। इत्यादि सम्पूर्ण प्रसंग यहाँ मिलता है।

(२) 'खरारी'—अर्थात् खर राक्षस के शत्रु श्रीरामजी। विष्णु-नारायण आदि से श्रीरामजी का तत्त्वतः अभेद है, ये सब श्रीरामजी के अभिन्नांश हैं, इसीसे इनमें प्रत्येक के अवतार और उनसे विस्तार किये हुए गुण प्रत्येक में माने जाते हैं, जैसे कि अजामिल ने नारायण नाम लिया था, पर वह श्रीरामजी के नाम-प्रभाव में कहा गया है; यथा—"नाम अजामिल से खल कोटि अपार नदी भव-बूड़त काढ़े।···जोइ प्रभु स्वै सरिता तरिबे कहँ माँगत नाव करारे ह्वै ठाढ़े।" (क० उ० ५)। 'अस कहि गरुड़'—गरुड़ सम्बोधन इससे है कि संपाती इनके वंश का सम्बन्धी है, इनके भाई अरुण का पुत्र है।

(३) 'बलि बाँधत प्रभु बाढ़ेउ'—बढ़ने और बाँधने के सम्बन्ध से 'प्रभु' शब्द दिया गया। प्रभु का अर्थ समर्थ है, यह सामर्थ्य इन्हीं में था, इन्द्रादि देवता हार चुके थे। 'सो तनु बरनि न जाइ'—जिसकी विशालता का वर्णन करना भी अशक्य है उसकी मैंने दो ही घड़ी में सात प्रदक्षिणाएँ कीं, मुझमें ऐसा भारी बल था। 'उभय घड़ी'—का भाव यह कि वह रूप दो ही घड़ी रहा, इसी से दौड़कर प्रदक्षिणा की, नहीं तो दौड़कर प्रदक्षिणा नहीं की जाती।

अंगद कहइ जाउँ मैं पारा। जिय संसय कछु फिरती बारा ॥१॥
जामवंत कह तुम्ह सब लायक। पठइय किमि सबही कर नायक ॥२॥

कहइ रीछपति सुनु हनुमाना। का चुप साधि रहेहु बलवाना ॥३॥
पवन-तनय बल पवन-समाना। बुधि बिबेक बिग्यान-निधाना ॥४॥
कवन सो काज कठिन जग माहीं। जो नहिं होइ तात तुम्ह पाहीं ॥५॥
राम-काज लगि तव अवतारा। सुनतहिं भयउ पर्बताकारा ॥६॥

अर्थ—अंगदजी ने कहा कि मैं पार तो चला जाऊँगा, पर लौटती बार के लिये जी में कुछ संशय है ॥१॥ जाम्बवान्‌जी ने कहा—तुम सब लायक हो, पर तुम सबही के नायक (नेता, प्रेषक, स्वामी) हो, हम तुमको कैसे भेजें? ॥२॥ ऋक्षराज जाम्बवान्‌जी कहते हैं कि हे बलवान् हनुमान्! सुनो, तुम क्या चुप साधे हुए हो? ॥३॥ तुम पवन के पुत्र हो, (अतः) पवन के समान बली हो और बुद्धि, विवेक और विज्ञान का खजाना हो ॥४॥ संसार में कौन-सा काम कठिन है जो हे तात! तुमसे न हो सके ॥५॥ श्रीरामजी के कार्य के लिये तुम्हारा अवतार है, यह सुनते ही श्रीहनुमान्‌जी पर्वत के समान विशाल शरीरवाले हो गये ॥६॥

विशेष—(१) 'जिय संशय कछु फिरती बारा।'—श्रीसुग्रीवजी ने वानरों को चारों दिशाओं में वहाँ तक जाने को कहा है, जहाँ तक सूर्य का प्रकाश है। उसके बीच में ही सातों महासागर आ जाते हैं, वाल्मी० ४।४३-४४ में स्पष्ट कहा गया है। इससे निश्चित है कि सामान्य वानर भी सब समुद्र लाँघ सकते थे, और सेतु बाँधने पर भी बहुत आकाश मार्ग ही से गये हैं, पुनः श्रीहनुमान्‌जी ने अपनी अप्राकृत वानरी जाति का स्वभाव कहते हुए कहा भी है—"कामगं कामचारिणम्।" (वाल्मी० ४।१।११)। अर्थात् हम इच्छानुसार रूप धर सकते हैं और जहाँ चाहें जा सकते हैं। पुनः वाल्मी० ५।११।३५-३७ में भी कहा है कि हम लोग मन के संकल्प से काम करनेवाले हैं, ऊपर-नीचे और सामने कहीं भी हमलोगों की गति नहीं रुकती, इत्यादि-इत्यादि।

तब इन बड़े-बड़े सुभटों का इस सौ योजन के समुद्र के विषय में ऐसा कहना कुछ हेतु से है। जाम्बवान् आदि को मालूम है कि श्रीहनुमान्‌जी को अपने बल-विस्मृति का शाप है, उन्हें उत्साहित करके उनका वीर्य जगाना है। लंका जाने में बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ हैं, उनसे बचने की योग्यता श्रीहनुमान्‌जी में ही है, किसी और को उतने वरदान नहीं प्राप्त हैं। उन्हें सहिदानी भी प्राप्त है, अतएव उन्हींका वहाँ जाना योग्य है। इसलिये सबने योग्यतानुसार कुछ-कुछ पराक्रम अधिक कहते हुए, उतना ही कहा कि जितने में कार्य होने में संशय ही रहे, तो सबकी असमर्थता पर श्रीहनुमान्‌जी उत्साहित किये जायँगे। यथा—"जब अंगदादिन की मति गति मंद भई, पवन के पूत को न कूदिबेको पलुगो।" (क० कि० १); 'संशय राखा'—'राखा' शब्द में यह अभिप्राय गर्भित है कि इन लोगों ने जान-मानकर संशय रख छोड़ा था कि जिसपर श्रीहनुमान्‌जी प्रेरित किये जायँ। वही आगे कहते हैं—

(२) 'जामवंत कह तुम्ह सब लायक।……'—उपर्युक्त रीति से अंगदजी ने भी संशय रक्खा, उसपर अंगदजी की न्यूनता होती, क्योंकि वे बालि के समान बली हैं, इसलिये जाम्बवान्‌जी सँभालते हैं। वाल्मी० ४।६५।२०-२७ में जाम्बवान्‌जी ने ऐसा ही कहा है कि आपकी शक्ति हम जानते हैं, आप सौ या हजार योजन जा सकते हैं, पर आप स्वामी हैं, प्रेषक हैं, प्रेष्य नहीं। आप इस कार्य के मूलभूत हैं अतएव रक्ष्य हैं। इसपर फिर अंगदजी ने कहा कि फिर कार्य कैसे हो? तब जाम्बवान्‌जी ने श्रीहनुमान्‌जी को उत्साहित किया।

(३) 'कहइ रीछ पति सुनु ·····'—'रीछपति' कहकर बोलने का कारण जनाया कि ये बड़े और बूढ़े हैं, अतएव ये ही श्रीहनुमान्‌जी को प्रेरित कर सकते हैं। 'हनुमाना' और 'बलवाना' शब्द से बाल्यावस्था के बल का स्मरण कराते हैं कि तुमने इन्द्र के वज्र को भी सह लिया है, इसी से 'हनुमान्' नाम पड़ा है। तुमने वज्र के मद को चूर्ण कर दिया। बाल्यावस्था में ऐसे बलवान् थे और अब तो तरुण-अवस्था है। 'का चुप साधि रहेहु'—सभी ने अपना-अपना बल कहा है, पर तुम बलवान् होते हुए भी चुप क्यों हो ?

(४) 'पवन-तनय बल ·····'—यहाँ जाम्बवान्‌जी ने 'पवन तनय' शब्द से इनके जन्म की कथा का स्मरण कराया, जो कि वाल्मी० ७।३५–३६ में कही गई है। 'बल'; यथा—"जयति जय बाल-कपि-केलि-कौतुक-उदित-चंडकर-मंडल-ग्रास-कर्त्ता। राहु-रवि सक्र-पवि-गर्व-खर्वी करन सरन भय-हरन, जय भुवन-भर्त्ता ॥" (वि० २५); पवन के पुत्र हो, अतः, समुद्र के लाँघने में उन्हीं के समान बल है। आगे छली और बली राक्षसों से काम पड़ेगा। उसमें बुद्धि, विवेक और विज्ञान से काम लेना होगा वह भी तुममें पूर्ण है। बुद्धि से व्यवहार समझोगे, विवेक से उचित-अनुचित समझोगे और विज्ञान से कार्य का अनुभव करोगे।

(५) 'राम काज लगि तव अवतारा।'—अभी तक अपनी प्रशंसा थी, इससे चुप थे, जब श्रीराम-कार्य के लिये ही इनका अवतार कहा गया, तब बड़े और गरज उठे। "सुनतहिं भयउ पर्वताकारा।"—श्रीराम-कार्य के लिये अपना जन्म सुनकर हरषे और शरीर बढ़ाया, तो वे पर्वताकार हो गये; यथा—"राम-काज लगि जन्म सुनि, हिय हरषे हनुमान्।" (रामाज्ञा ५।१।४); पुनः—'का चुप साधि रहेहु' का उत्तर—'सिंह नाद करि बारहिं बारा।' से देंगे। जाम्बवान्‌जी ने पाँच बातें कहीं, उनके उत्तर हनुमान्‌जी ने भी वैसे ही दिये।

जाम्बवान्‌जी	हनुमान्‌जी
(१) का चुप साधि रहेहु बलवाना।	सिंहनाद करि बारहिं बारा।
(२) पवन तनय बल पवन समाना।	लीलहिं नाँघउँ जलनिधि खारा।
(३) बुधि बिबेक बिग्यान निधाना।	सहित सहाइ रावन ही मारी।
(४) कवन सो काज कठिन जगमाहीं।···	आनउँ इहाँ त्रिकूट उपारी।
(५) राम काज लगि तव अवतारा।	सुनतहिं भयउ पर्वताकारा।

कनक-बरन तन तेज बिराजा। मानहुँ अपर गिरिन्ह कर राजा ॥७॥
सिंहनाद करि बारहिं बारा। लीलहिं नाघउँ जलनिधि खारा ॥८॥
सहित सहाय रावनहि मारी। आनउँ इहाँ त्रिकूट उपारी ॥९॥
जामवंत मैं पूछउँ तोही। उचित सिखावन दीजहु मोही ॥१०॥

के साथ रावण को मारकर, त्रिकूट गिरि को उखाड़ कर यहाँ ले आऊँगा ? ॥९॥ हे जाम्बवान्‌जी ! मैं आपसे पूछता हूँ कि मेरे लिये उचित (कर्त्तव्य की) शिक्षा दीजिये ॥१०॥

विशेष—(१) 'कनक बरन तन···'—सुमेरु गिरि सोने का है, भारी है और सब पर्वतों का राजा है। वैसे ही श्रीहनुमान्‌जी स्वर्ण-वर्ण, शरीर से भारी और वानरों के राजा हैं, यथा—"वानराणामधीशम्।" (सुं॰ मं॰); "कबीश्वरकपीश्वरौ" (बा॰ मं॰); इत्यादि।

(२) 'उचित सिखावन दीजहु मोही।'—भाव यह कि आपकी प्रेरणा से मैंने अपना बल कहा। जैसा कि पूर्व औरों ने कहा है, पर मेरे लिये उचित कर्त्तव्य क्या है ? यह आप कहें। क्योंकि जो मैंने रावण वध आदि कहा था, उसमें श्रीरामजी का अपमान है ; यथा—"जौं न राम अपमानहि डरऊँ। तोहि देखत अस कौतुक करऊँ॥ तोहि पटकि महि सेन हति, चौपट करि तव गाँउ। तव जुवतिन्ह समेत सठ, जनकसुतहि लेइ जाउँ॥" (लं० दो॰ ३०); भाव यह कि श्रीरामजी अपनी मर्यादा को अपने ही बाहुबल से सुरक्षित रखना चाहते हैं। यही आगे जाम्बवान्‌जी कहेंगे—'तब निज भुज बल राजिव नयना।······' इत्यादि। उनकी स्त्री को रावण हर ले गया, उन्हें दूसरा कोई लौटा लावे यह उनके योग्य नहीं।

यद्यपि श्रीरामजी ने इन्हें कहा ही है—'कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयहु।' तथापि ये वीर-रस के आवेश में भूल गये और अधिक कह गये, जो कि सम्भवतः इनसे न हो सकता ; यथा—"रावन मरन मनुज कर जाँचा। प्रभु बिधि बचन कीन्ह चह साँचा॥" (बा॰ दो ४८)।

यहाँ जाम्बवान्‌जी के वचन उद्दीपन विभाव, प्रसन्नता एवं बल कथन आदि अनुभाव, चपला आदि संचारी और श्रीराम-कार्य का उत्साह स्थायी भाव है। अतः, वीर-रस है।

एतना करहु तात तुम्ह जाई। सीतहि देखि कहहु सुधि आई॥११॥
तब निज भुज-बल राजिव-नैना। कौतुक लागि संग कपि सेना॥१२॥

छंद—कपि-सेन संग सँहारि निसिचर राम सीतहिं आनिहैं।
त्रैलोक पावन सुजस सुर-मुनि-नारदादि बखानिहैं॥
जो सुनत गावत कहत समुझत परम पद नर पावई।
रघुबीर-पद-पाथोज-मधुकर दास तुलसी गावई॥

अर्थ—हे तात ! तुम जाकर इतना ही करो (अभी अधिक पराक्रम का काम नहीं है) कि श्रीसीताजी को देख-आकर खबर कहो ॥१२॥ राजीवलोचन श्रीरामजी अपने बाहु-बल से, कौतुक (लीला) के लिये वानरी सेना साथ लेंगे ॥११॥ वानरी सेना साथ लिये हुए, निशाचरों का नाश करके श्रीरामजी श्रीसीताजी को लावेंगे। तीनों लोकों के पवित्र करनेवाले इस सुन्दर यश को सुर, मुनि और श्रीनारदजी आदि बखान करेंगे॥ (और) जिसे सुनते, गाते, कहते और समझते हुए मनुष्य परम पद पाते हैं— जिसे रघुबीर-पद-कमल का मधुकर श्रीतुलसीदासजी गाते हैं॥

विशेष—(१) 'राजिव-नैना'—यह दीपदेहली है। प्रायः कृपा के प्रसंग में ही 'राजीव-नयन' विशेषण दिया जाता है; यथा—"राजिव नयन धरे धनुसायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक॥" (बा॰ दो॰ १७); "सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आये जल राजिव नयना॥" (सुं॰ दो॰ ३१)। भाव यह है कि भुजबल से राक्षसों को मारेंगे और मुक्त करेंगे, यह उनपर कृपा है और साथ में वानरों की सेना लेंगे, यह वानरों पर कृपा है; यथा—"उमा राम मृदु चित करुना कर। बैर भाव मोहि सुमिरत निसिचर॥ देहि परम गति सो जिय जानी। अस कृपालु को कहहु भवानी॥ (लं॰ दो॰ ४३)। "दीन आनि कपि किये सनाथा, तुम्ह त्रैलोक ईस रघुनाथा॥" (लं॰ दो॰ ११६)।

संपाती ने चन्द्रमा मुनि की कही हुई किष्किंधा कांड तक की कथा कही थी। चन्द्रमा मुनि ब्रह्माजी के अवतार हैं। ब्रह्माजी के ही अवतार जाम्बवान्‌जी भी हैं। वे आगे की कथा (सुंदरकाण्ड से उत्तरकाण्ड तक की) सुनाते हैं; यथा—"तुम्ह जाई। सीतहिं देखि कहहु सुधि आई॥"—यह सुंदरकांड है। "तब निज भुज बल••" से "राम सीतहिं आनि हैं।" तक—लंकाकांड और—"त्रैलोक पावन सुजस सुर मुनि नारदादि बखानिहैं॥" यह उत्तरकांड है; यथा—"बार-बार नारद मुनि आवहिं। चरित पुनीत राम के गावहिं॥" (उ॰ दो॰ ४१); "राजा राम अवध रजधानी। गावत गुन सुर मुनि बर बानी॥" (बा॰ दो॰ २४)।

(२) 'जो सुनत गावत कहत समुझत•••'—यहाँ सुयश का माहात्म्य कहते हैं। 'सुनत'=श्रोता, 'गावत'=राग से गानेवाले, 'कहत'=वक्ता, व्यास रूप से कहनेवाले और 'समुझत'=अर्थ एवं भाव को समझनेवाले। ये चारों क्रमशः सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्ति पाते हैं। श्रोता कुछ दूर से सुनते हैं, इससे सालोक्य पाते हैं। गायक के समीप भगवान् रहते हैं; यथा—"मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।" इससे सामीप्य पाते हैं। वक्ता (व्यास) भगवान् का रूप है अतएव वह सारूप्य पाता है और समझनेवाले सायुज्य के अधिकारी हैं; यथा—"जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई।" (अ॰ दो॰ १२६)।

इन चारों में से अपनेको श्रीगोस्वामीजी गानेवाला कहते हैं; यथा—'दास तुलसी गावई' और लोग परम पद पाते हैं, श्रीतुलसीदासजी 'रघुबीर-पद-पाथोज-मधुकर' हैं; अर्थात् श्रीराम-पद-प्रीति चाहते हैं। इससे सूचित किया कि इस चरित से परम पद और श्रीराम-पद-प्रीति, दोनों ही मिलते हैं; यथा—"राम चरन रति जो चहै, अथवा पद निर्बान। भाव सहित सो यह कथा, करउ श्रवन पुट पान॥" (उ॰ दो॰ १२८); 'पद पाथोज मधुकर'; यथा—"पद कमल परागा रस अनुरागा। मम मन मधुप करइ पाना॥" (बा॰ दो॰ २१०); भ्रमर मकरंद-पान करता है और फिर गुंजार करता है। वैसे ही मैं (तुलसीदास) राम-पद-कमल में अनुराग करता हूँ और चरित गाता हूँ। जाम्बवान्‌जी के मुख से अपना सम्बन्ध कहलाना—'भाविक अलंकार' है।

श्रीरामजी की शरण हुए, तब उन्हें वानर-रूप करके जितावेंगे और अपने भक्त-रूप वानरों के द्वारा पराजित होने से राक्षसगण अभिमान रहित होकर मुक्त होंगे ; यथा—"सतरंज को-सो साज काठ को सबै समाज महाराज बाजी रची प्रथम न हति। तुलसी प्रभु के हाथ हारिबो जीतिबो नाथ बहु बेष बहु मुख सारदा कहति ॥" (वि० २४९)। आप वानरों और निशाचरों के संग्राम का कौतुक करेंगे।

दोहा—भव-भेषज रघुनाथ-जस, सुनहिं जे नर अरु नारि।
तिन्हकर सकल मनोरथ, सिद्ध करहिं त्रिसिरारि॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी का यश भव-रोग की दवा है, इसे जो स्त्री-पुरुष सुनते हैं, उनके सब मनोरथ त्रिशिरा के शत्रु श्रीरामजी सिद्ध करते हैं॥

विशेष—(१) 'सकल मनोरथ सिद्धि' में इह लोक सुख और 'भव-भेषज' से परलोक-सुख की प्राप्ति सूचित की ; यथा—"जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं। सुख संपति नाना बिधि पावहिं॥ सुर दुर्लभ सुख करि जग माहीं। अन्त काल रघुपति पुर जाहीं॥" (उ० दो० १५); 'सिद्धि करहिं त्रिसिरारि'—शारदादि की वाणी में स्वतः प्रभाव है और हमारी वाणी त्रिशिरारि श्रीरामजी के द्वारा सिद्धि देगी।

(२) 'त्रिसिरारि'—पाठ की जगह 'त्रिपुरारि' पाठान्तर भी है। त्रिपुरारि पाठ माननेवालों का कहना है कि कांड के आदि में काशी-पुरी और शिवजी की वंदना की गई थी, तदनुसार यहाँ उपसंहार में भी शिवजी का ही फल-दातृत्व संगत है, क्योंकि यह चौथा कांड चौथी पुरी (काशी) के समान है। शिवजी का फल-दातृत्व भी युक्त है; यथा—"सपनेहु साँचेहु मोहि पर, जौ हर गौरि पसाउ। तौ फुर होउ जो कहेउँ सब, भाषा भनिति प्रभाउ॥" (बा० दो० १५)।

पर, और कांडों की फल श्रुति देखने से त्रिसिरारि पाठ के अनुसार श्रीरामजी का ही फल-दातृत्व ठीक है; यथा—"उपबीत ब्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं। बैदेहि राम प्रसाद ते जन सर्बदा सुख पावहीं॥"—बालकांड ; "समर-बिजय रघुबीर के चरित जे सुनहिं सुजान। बिजय बिबेक बिभूति नित, तिन्हहिं देहिं भगवान॥"—लंकाकांड; "सतपंच चौपाई मनोहर जानि जे नर उर धरे। दारुन अबिद्या पंच जनित बिकार श्रीरघुबर हरे॥"—उत्तरकांड ; वैसे ही यहाँ भी—"तिन्ह कर सकल मनोरथ, सिद्धि करहिं त्रिसिरारि।" कहा जाना ठीक है।

सो०—नीलोत्पल तनु स्याम, काम कोटि सोभा अधिक।
सुनिय तासु गुन-ग्राम, जासु नाम अघ-खग-बधिक॥३०॥

इति श्रीरामचरितमानसे सकल-कलिकलुष-विध्वंसने विशुद्ध-संतोष-संपादनो नाम
❀ चतुर्थ सोपान समाप्त ❀

अर्थ—नील-कमल के समान श्याम शरीर है, जिसमें करोड़ों कामों से भी अधिक शोभा है। जिनका नाम पाप रूपी पक्षियों के लिये बहेलिया-रूप है, उनके गुण- (चरित) समूह सुनिये॥३०॥

कलि के समस्त पापों का नाशक, विशुद्ध-संतोष प्राप्त करनेवाला श्रीरामचरित-मानस का यह चौथा सोपान समाप्त हुआ।

विशेष—(१) यहाँ 'तनु श्याम' से रूप, 'गुन-ग्राम' से कथा और 'जासु नाम' से नाम कहा गया। इनके सेवन की विधि—"श्रुति राम कथा मुख राम को नाम हिये पुनि रामहिं को थल है।" (क० उ० ३७); अर्थात् कानों से गुण-ग्राम सुनना, मुख से नाम-कीर्तन एवं जप करना और हृदय में रूप का ध्यान करना चाहिये ।

(२) 'नीलोत्पल तनु श्याम, काम कोटि सोभा अधिक।' से रूप का नियम किया कि जिस रूप से मनु-महाराज के सामने प्रकट हुए, उसी का ध्यान करो ; यथा—"*नील सरोरुह नील मनि, नील नीरधर स्याम। लाजहिं तनु-सोभा निरखि, कोटि-कोटि सतकाम॥*" (बा० दो० १४६)। यह मनु के सामने प्रकट होने पर कहा गया है। 'सुनिय तासु गुन ग्राम' से लीला का नियम किया कि उसी (मनु-प्रार्थित मूर्त्ति) का चरित्र मानसरामायण सुनो ; यथा—"लीला कीन्ह जो तेहि अवतारा। सो सब कहिहउँ मति अनुसारा॥" (बा० दो० १४०); और 'जासु नाम अघ खग बधिक' से नाम का नियम किया कि रामनाम ही जपो ; यथा—"राम सकल नामन्ह ते अधिका। होउ नाथ अघ-खग-गन-बधिका।" (आ० दो० ४१)।

इस कांड के उपक्रम में नाम, रूप और लीला तीनों कहे गये थे, वैसे ही यहाँ उपसंहार में भी तीनों का माहात्म्य कहा गया।

फलश्रुति के अनुसार ही सोपान का नाम होता है, जैसे कि बालकांड में 'उपबीत ब्याह उछाह मंगल' का वर्णन है, वे सब कर्म हैं, कर्म का फल सुख है, इसीसे प्रथम सोपान सुखसंपादन कहा गया है। अयोध्याकांड की फलश्रुति में 'प्रेम' और 'वैराग्य' की प्राप्ति कही गई है, इसी से द्वितीय सोपान का नाम 'प्रेम-वैराग्य-सम्पादन' है, अरण्यकांड की फलश्रुति में 'शुद्ध वैराग्य, कहा गया है, इसी से उसे 'विमल-वैराग्य-संपादन' कहा है। इस कांड में मनोरथ-सिद्धि कही गई है, मनोरथ-सिद्धि से संतोष होता है, इसलिये इसे 'विशुद्ध-संतोष सम्पादन' कहा है। सुंदरकांड में भव-सिंधु तरना कहा है, यह ज्ञान का कार्य है, इसीसे उसे ज्ञान सम्पादन कहा है। लंकाकांड में 'कामादि-हर विज्ञान-कर' कहा है; इसी से 'विज्ञान-सम्पादन' और उत्तरकांड की फलश्रुति में 'अविरल हरि-भक्ति' कही गई है ; यथा—"तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहि राम।" इसी से उस सातवें सोपान का नाम 'अविरल-हरि-भक्ति-सम्पादन' है।

कर्म प्रेम-वैराग्य, विमल-वैराग्य, संतोष, ज्ञान, विज्ञान और अविरल हरि-भक्ति की प्राप्ति भी इसी क्रम से होती है, कहा भी है—"येहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति भगति केर पंथाना।" (उ० दो० १२८); अर्थात् साधक को पहले निष्काम कर्म से प्रेम वैराग्य, फिर विमल वैराग्य, तब संतोष, फिर ज्ञान, तब विज्ञान और पीछे अविरल हरि-भक्ति मिलती है।

प्रश्न—यह कांड ३० ही दोहों का छोटा क्यों बनाया गया ?

उत्तर—यह कांड श्रीरामजी का हृदय है ; यथा—"बालकांड प्रभु पाय अयोध्या कटि मन मोहै। उदर बन्यो आरण्य हृदय किष्किधा सोहै॥ सुंदर ग्रीव मुखारविंद लंका कहि गायो। जेहि महँ रावन आदि निसाचर सर्व समायो॥ मस्तक उत्तर-कांड गनु, यहि बिधि तुलसीदास भनु। आदि अंत लौं देखिये, श्रीमन्मानस राम-तनु॥" यह छंद प्रसिद्ध है। शरीर के मध्य में हृदय-स्थल छोटा होता है, वैसे ही यह कांड भी छोटा है। हृदय में बहुत कुछ अभिप्राय रहते हैं, वैसे ही इस कांड में बहुत आशय भरे हुए हैं।

सुन्दरकाण्ड

लंकाकाण्ड

उत्तरकाण्ड (पूर्वार्द्ध)

सङ्केत-सूची

अ०—अयोध्याकांड तथा अध्याय
आ०—अरण्यकांड
उ०—उत्तरकांड
क०—कवितावली रामायण
कि०—किष्किंधाकांड
गी०—गीतावली रामायण
गीता— श्रीमद्भगवद्गीता
चौ०—चौपाई
तै० + तैत्त० तैत्तरीयोपनिषत्
दो०—दोहा
बा०—बालकांड
ब्र० सू०— ब्रह्मसूत्र (वेदान्त)
बृ०, बृह०— बृहदारण्यकोपनिषत्
का०, कठ०— कठोपनिषत्
छां०, छांदो०—छान्दोग्योपनिषत्
मुं०, मुड०—मुण्डकोपनिषत
भाग०, श्रीमद्भाग०—श्रीमद्भागवत
वाल्मी०—श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण
श्वे, श्वेता०—श्वेताश्वतरोपनिषत्
कौषी०—कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषत्
मं०— मङ्गल एवं मङ्गलाचरण
लं०—लङ्काकांड
सुं० —सुन्दरकाण्ड
सो०—सोरठा
मनु०—मनुस्मृति
स०—सर्ग
वि०—विशेष
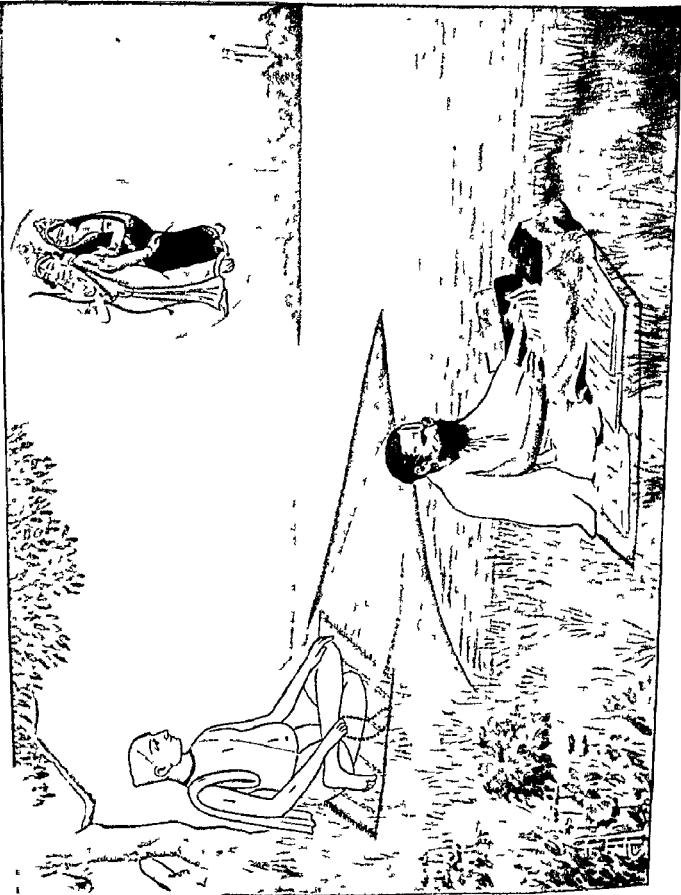
श्रीरामचरितमानस

(सिद्धान्त-तिलक-समेत)

पंचम सोपान (सुंदरकाण्ड)

शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं गीर्वाणशान्तिप्रदं
ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यमनिशं वेदान्तवेद्यं विभुम्।
रामाख्यं जगदीश्वरं सुरगुरुं मायामनुष्यं हरिं
वन्देऽहं करुणाकरं रघुवरं भूपालचूड़ामणिम् ॥१॥

अन्वय—शान्तं, शाश्वतम्, अप्रमेयम्, अनघं गीर्वाणशान्तिप्रदम्, अनिशं ब्रह्माशंभुफणीन्द्रसेव्यं वेदान्तवेद्यं, विभुं, जगदीश्वरं, सुरगुरुं, मायामनुष्यं हरिं, करुणाकरं, भूपालचूड़ामणिं, रामाख्यं रघुवरम् अहं वन्दे।

अर्थ—शान्त, निरन्तर, प्रमाण-रहित, निष्पाप, देवताओं को शान्ति देनेवाले, ब्रह्मा, शिव और शेषजी से निरन्तर सेवित, वेदान्त से जानने योग्य, व्यापक एवं शक्तिमान्, जगत् के ईश्वर, देवताओं के गुरु, माया अर्थात् अपने ज्ञान एवं इच्छा से मनुष्य-रूप धारण किये हुए हरि, करुणा की खान, राजाओं में शिरोमणि, रघुकुल में श्रेष्ठ, जिनका नाम राम है, उनकी मैं वन्दना करता हूँ ॥१॥

विशेष—(१) 'शान्तं'; यथा—"राज सुनाइ दीन्ह बनबासू। सुनि मन भयउ न हरष हरासू॥" (अ० दो० १४८); यह विशेषण ईश्वरता-सूचक है; यथा—"बैठे सोह कामरिपु कैसे। धरे सरीर सांत रस जैसे॥" (बा० दो० १०६)। निरंतर; यथा—"जो तिहुँ काल एक-रस अहई।" (बा० दो० ३४०); अप्रमेय; यथा—"आदि अंत कोउ जासु न पावा।" (बा० दो० ११७); अनघ; यथा—"अनघ अनेक एक करुनामय।" (उ० दो० ३३); "करम सुभासुभ तुम्हहि न बाधा।" (बा० दो० १३६); देवताओं को शान्ति देते हैं; यथा—"असुर मारि थापहिं सुरन्ह" (बा० दो० १२१); असुरों को मारने में पाप नहीं लगता; क्योंकि वे अपने पाप के द्वारा मारे जाते हैं; यथा—"बिस्व द्रोह रत यह खल कामी। निज अघ गयउ कुमारग गामी॥" (लं० दो० १०८); ब्रह्मा शंभु और शेषजी से निरन्तर सेवित; यथा—"सारद सेष महेस बिधि, आगम निगम पुरान। नेति नेति कहि जासु गुन, करहिं निरंतर गान॥" (बा० दो० १२); ब्रह्मा से ब्रह्मलोक (ऊपर), शम्भु से मर्त्यलोक (मध्य) और शेष से पातालतोक (नीचे), इस तरह तीनों लोकों से सेव्य जनाया। माधुर्य रूप की भी सेवा ये लोग रूपान्तर से करते हैं—ब्रह्माजी जाम्बवान्-रूप से,

शिवजी हनुमान-रूप से और शेषजी लक्ष्मण-रूप से सेवा में हैं। ये निरन्तर सेवा करते हैं; यथा—"हम सब सेवक अति बड़भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥" (कि० दो० २५); वेदान्त-वेद्य; यथा—"आगम जय रघुराई।" (बा० दो० ११०); विभु, यथा—"प्रभु समरथ कोसलपुर राजा।" (बा० दो० १६); रामाख्यं; यथा—"वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्॥" (बा० मं०); जगदीश्वर; यथा—"ते नर रूप चराचर ईसा।" (बा० दो० १४); सुर-गुरु; यथा—"जगद्गुरुं च शाश्वतम्" (अ०दो० ४); गुरु का अर्थ श्रेष्ठ भी होता है; यथा—"जय जय सुर नायक" (बा० दो० १८५); माया-मनुष्य; यथा—"सम्भवाम्यात्ममायया।" (गीता ४।६), "निज इच्छा प्रभु अवतरइ" (कि० दो० २६), "माया-मानुष रूपिणौ रघुवरौ" (कि० मं०); "भये प्रगट कृपाला।" (बा० दो० १९१); माया के अर्थ ज्ञान, कृपा इच्छा आदि हैं। तदनुसार उदाहरण दिये गये हैं। करुणाकर; यथा—"करुनाकर राम नमामि मुदा।" (लं० दो० १०६); भूपाल-चूड़ामणि; यथा—"भूप मौलि मनि मंडन धरनी।" (उ० दो० २४); हरि; यथा—"हरिरिन्द्रो हरिर्भानुः···" इत्यादि से 'हरि' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, पर यहाँ 'रघुवर' शब्द के साहचर्य से श्रीरामजी का ही भक्त-क्लेश-हरण करने का विशेषण है।

(२) 'भूपाल-चूड़ामणि' कहकर आगे श्लोक के माँगने का यहीं से प्रबंध बाँधा, क्योंकि राजा से ही याचना की जाती है; यथा—"नृपनायक दे वरदानमिदं" (उ० दो० १०१)। यह श्लोक शार्दूलविक्रीडित वृत्त का है, बा० मं० ६ देखिये।

यह पंचम सोपान सुंदरकांड भी कहा जाता है। इसका कारण यह है कि त्रिकूटाचल के तीन शिखर हैं—एक 'नील' है, जिसपर लंका बसी है, दूसरा 'सुवेल' है, वह युद्ध मैदान है और तीसरा शिखर 'सुंदर' है, जिसपर अशोक-वाटिका है, वहाँ पर इस कांड का चरित हुआ, इसी से इसका नाम 'सुंदर' पड़ा। ऐसे ही अरण्य, किष्किंधा और लंका भी स्थान-सम्बन्धी नाम हैं और बाल, अयोध्या और उत्तर ये चरित-सम्बन्धी नाम हैं।

नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे
कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च॥२॥

अन्वय—हे रघुपते! अस्मदीये हृदये अन्या स्पृहा न, सत्यं वदामि, भवान् च अखिलान्तरात्मा (अस्ति)। हे रघुपुङ्गव! मे निर्भरां भक्तिं प्रयच्छ, मानसं च कामादिदोषरहितं कुरु॥

अर्थ—हे श्रीरघुनाथजी! मेरे हृदय में और कोई इच्छा नहीं है। यह मैं सत्य कहता हूँ और फिर आप सबके अन्तरात्मा हैं। (अत, अंतर्यामी रूप से सबके हृदय की जानते ही हैं)। हे रघुकुलश्रेष्ठ! मुझे अपनी परिपूर्ण भक्ति दीजिये और मेरे हृदय को काम आदि (दर्पों) विकारों से रहित कीजिये॥२॥

विशेष—(१) 'नान्या स्पृहा'; यथा—"अर्थ न धर्म न काम रुचि, गति न चहउँ निर्बान। जन्म जन्म रति राम-पद,···" (अ० दो० २०४); "चहउँ न सुगति सुमति सम्पति कछु रिधि सिधि

बिपुल बड़ाई। हेतु रहित अनुराग राम-पद बढ़इ अनुदिन अधिकाई ॥" (वि० १०३); 'सत्यं वदामि'; यथा—"सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे।" (बा० दो० ८); 'अखिलान्तरात्मा'; यथा—"अंतरजामी प्रभु सब जाना।" (उ० दो० ३५); 'रघुपुंगव'; यथा—"रघुकुल तिलक जोरि दोउ हाथा।" (अ० दो० ५१); निर्भर भक्ति; यथा—"निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी।" (आ० दो० ६), "अबिरल भगति बिसुद्ध तव, श्रुति पुरान जो गाव। जेहि खोजत जोगीस मुनि, प्रभु प्रसाद कोउ पाव ॥" (उ० दो० ८४); 'कामादिदोष'; यथा—"काम आदि मद दंभ न जाके।" (आ० दो० १५)। कामादि=षड्विकार।

(२) पहले 'नान्या स्पृहा' कहकर 'सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा' से उसी की पुष्टि की। इस तरह से अपनेको भक्ति का अधिकारी सिद्ध किया, क्योंकि जो भक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता, वही भक्ति का पूर्ण अधिकारी है; यथा—"बहुत कीन्ह प्रभु लखन सिय, नहिं कछु केवट लेइ ॥ बिदा कीन्ह करुनायतन, भगति बिमल बर देइ ॥" (अ० दो० १०२); अधिकारी होने पर कहा—'मे निर्भरां भक्तिं प्रयच्छ' भक्ति ही माँगी, क्योंकि यही परम लाभ है; यथा—"लाभ कि कछु हरि भगति समाना। जेहि गावहिं श्रुति संत पुराना ॥" (उ० दो० १११)।

(३) 'कामादिदोषरहितं···'—क्योंकि काम आदि के रहते हृदय में श्रीरामजी नहीं बसते; यथा—"काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर बस मैं ताके ॥" (आ० दो० १५)। यह श्लोक 'वसन्ततिलका' वृत्त का है, बा० मं० ७ देखिये।

अतुलितबलधामं स्वर्णशैलाभदेहं
दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं
रघुपतिवरदूतं वातजातं नमामि ॥३॥

अर्थ—अतुल बल के स्थान, सोने के पर्वत के समान कान्ति एवं शोभा-युक्त शरीरवाले, दैत्य रूपी वन के लिये अग्नि-रूप, ज्ञानियों में अग्रगण्य (श्रेष्ठ), समस्त गुणों की खान, वानरों के स्वामी, श्रीरघुनाथजी के श्रेष्ठ दूत, पवन के पुत्र को मैं प्रणाम करता हूँ ॥३॥

विशेष—(१) 'अतुलितबलधामं'; यथा—"पवन तनय बल पवन समाना।" (कि० दो० २६); "तुम बल-बुद्धि-निधान।" (दो० २); 'स्वर्णशैलाभदेहं; यथा—"कनक भूधराकार सरीरा।" (दो० १५); 'दनुजवनकृशानुं'; यथा—"प्रनवउँ पवन कुमार, खल बन पावक ज्ञान-घन।" (बा० दो० १७); "उलटि पलटि लंका कपि जारी।" (दो० २५); 'ज्ञानिनामग्रगण्यम्'; यथा—"मिला हमहिं कपि गुरु बड़ ज्ञानी।" (दो० २१); "वंदे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ।" (बा० मं० ४); 'सकलगुणनिधानं'; यथा—"अजर अमर गुन निधि सुत होहू।" (दो० १६); "सुनु सुत सदगुन सकल तव, हृदय बसहु हनुमंत।" (लं० दो० १०६); 'वानराणामधीशं'; यथा—"नव तुलसिका बृंद तहँ, देखि हरष कपिराइ।" (दो० ५); यद्यपि वानरों के राजा श्रीसुग्रीवजी हैं।

हर्ष कहा गया है, इससे विशेष कार्य होगा ; यथा—"राम कृपा भा काज विसेषी।" (दो० २८)। पुनः वाल्मी० ४।६७।३४ में जाम्बवान्‌जी ने कहा है ; यथा—"त्वत्प्रसादात्प्रतीक्षामहे यावदागमनं तव।" इसपर उनके धैर्य के लिये भी कार्य होना कहा है।

> अस कहि नाइ सबन्हि कहँ माथा। चलेउ हरषि हिय धरि रघुनाथा ॥४॥
> सिंधु-तीर एक भूधर सुंदर। कौतुक कूदि चढ़ेउ ता ऊपर ॥५॥
> बार-बार रघुबीर सँभारी। तरकेउ पवनतनय बल भारी ॥६॥

शब्दार्थ—सँभारी=सँभालकर, स्मरण कर। तरकना=उछलना, कूदना।

अर्थ—ऐसा कह सबको शिर नवा (प्रणाम कर) हर्षित होकर और श्रीरघुनाथजी को हृदय में धारण करके श्रीहनुमान्‌जी चले ॥४॥ समुद्र के तट पर एक सुन्दर पर्वत था, उसके ऊपर श्रीहनुमान्‌जी अनायास ही कूदकर चढ़ गये ॥५॥ बार-बार रघुवीर श्रीरामजी का स्मरण करके अत्यन्त बल-पूर्वक पवन पुत्र श्रीहनुमान्‌जी कूदे ॥६॥

विशेष—(१) 'अस कहि नाइ ... ...'—इनकी मन, कर्म, वचन से श्रीराम-कार्य में तत्परता दिखाई गई। 'अस कहि'—वचन, 'नाइ सबन्हि कहँ माथा'—कर्म और 'चले 'हरषि हिय ...' यह मन है। ऐसा ही करने को श्रीसुग्रीवजी ने कहा है; यथा—"मन क्रम बचन सो जतन बिचारेहु। रामचन्द्र कर काज सँवारेहु॥" (कि० दो० २२); 'नाइ सबन्हि कहँ माथा'—भारी कार्य के लिये चलने के समय ऐसी ही रीति है ; यथा —"अस कहि चलेउ सबहिं सिर नाई। सुमन धनुष कर सहित सहाई॥" (बा० दो० ८३); तथा—"पदि चरन उर धरि प्रभुताई। अंगद चले सबहिं सिर नाई॥" (लं० दो० १७); सबको प्रणाम करना धर्म है; यथा—"सकल द्विजन्ह मिलि नायउ माथा। धर्म धुरन्धर रघुकुल नाथा॥" (उ० दो० ४)।

इस यात्रा में श्रीहनुमान्‌जी का हर्ष तीन बार कहा गया—(क) 'होइहि काज मोहि हरष बिसेषी।' (ख) 'चलेउ हरषि हिय धरि ...' (ग) "हरषि चलेउ हनुमान।" (दो० १)। इससे विशेष-रूप से कार्य होगा ; यथा —"हरषि राम तब कीन्ह पयाना। सगुन भये सुंदर सुभ नाना॥" (दो० ३४); 'चलेउ'—क्योंकि अभी महेन्द्र गिरि कुछ दूर है, जिसपर से चढ़कर कूदना है।

'हिय धरि रघुनाथा'—पहले भी कहा गया है—"चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना।" (कि० दो० २२), किन्तु अब शत्रु की पुरी को जाना है, इसलिये विशेष सहायता के लिये फिर से हृदय में धारण किया। हृदय में धरना स्मरण करना है। वा, पहले धारण किया था, वह शोकाकुल होने पर भूल गये, इसलिये फिर से हृदय में धारण करना कहा है। सम्पाती ने ऐसा ही कहा भी है, यथा—"राम हृदय धरि करहु उपाई।" (कि० दो० २८)।

(२) 'सिंधु-तीर एक सुंदर भूधर'—वाल्मीकिजी ने इस पर्वत की बहुत सुन्दरता कही है और इसका महेन्द्र नाम भी कहा है। उसीको 'सुन्दर' शब्द से कहा है। (इस सुंदर पर्वत से इस कांड का कार्यारंभ हुआ, इससे भी इसका 'सुन्दरकांड' नाम पड़ा।) 'सिंधु तीर' के पर्वत पर चढ़े, क्योंकि उसीपर से कूदना है। 'कौतुक'—अभी यत्न से नहीं कूदे, बलपूर्वक कूदना आगे कहा जायगा ; यथा—"जेहि गिरि चरन देइ हनुमंता। चलेउ सो गा पाताल तुरंता॥" यहाँ से कूदकर चढ़ना कहा है, क्योंकि अब

पहाड़ के पास आ गये। 'चढ़े' क्योंकि कूदना ऊँचे से बनता है। 'एक' अर्थात् प्रधान, कूदने के योग्य वीर पर यह एक ही था।

(३) 'बार-बार रघुबीर सँभारी।'—पहले कहा गया—"चले हरषि हिय धरि रघुनाथा।" अब अत्यन्त प्रेम के कारण बार बार स्मरण करते हैं। इससे प्रभु भी इनकी बार-बार सँभाल रक्खेंगे; यथा "तुलसी की बलि, बार-बारही सँभार कीबी···" (क० उ० ८०); यह आपकी रीति है, यथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११); 'रघुबीर'—वीर-रूप का स्मरण किया, क्योंकि यहाँ वीरता का प्रयोजन है; यथा—"संभारि श्रीरघुबीर धीर प्रचारि कपि रावन हन्यो।" (लं० दो० ८४); अर्थात् इस ध्यान से विजय प्राप्त होती है। यद्यपि उनके हृदय में श्रीरामजी सदा ही बसते हैं; यथा—"जासु हृदय आगार, बसहिं राम सरचाप-धर।" (बा० दो० १७); तथापि किसी कारण-विशेष पर फिर-फिर स्मरण करना कहा जाता है। 'पवन तनय बल भारी'—क्योंकि पवन के समान भारी बल है; यथा—"पवन तनय बल पवन समाना।" (कि० दो० २९); भारी बल से कूदने का प्रभाव आगे दिखाते हैं—

जेहि गिरि चरन देइ हनुमंता। चलेउ सो गा पाताल तुरंता ॥७॥
जिमि अमोघ रघुपति कर बाना। एही भाँति चलेउ हनुमाना ॥८॥

शब्दार्थ—अमोघ = निष्फल न होनेवाले।

अर्थ—जिस पर्वत पर चरण दे (रख) कर श्रीहनुमान्जी चले, वह पर्वत तुरत पाताल चला गया ॥७॥ जैसे श्रीरघुनाथजी के बाण अमोघ (चलते) हैं, इसी प्रकार श्रीहनुमान्जी चले ॥८॥

विशेष—(१) 'जेहि गिरि चरन···'—यह भारी बल का प्रभाव है; यथा—"तुलसी रसातल को निकसि सलिल आयो, कोल कलमल्यो, अहि कमठ को बल गो। चारिहू चरन के चपेट चाँपे चिपिटि गो, उचके उचकि चारि अंगुल अचलु गो ॥" (क० कि० १); 'चरन देइ' से कूदने की रीति दिखाई कि चारों चरणों से गिरि को दबाकर कूदे तो उसका नीचे का भाग तुरत पाताल पहुँच गया और ऊपर का भाग भूमि के बराबर चिपट गया, फिर इनके ऊपर उचकने के साथ वह चार अंगुल ऊपर को उठ आया। यहाँ कूदने के समय जोर से चरण का दबाव पड़ा तो धस गया। अन्यत्र पहाड़ों पर स्वाभाविक रूप में ही चढ़ते-उतरते थे, तब वे नहीं दबते थे।

(२) 'जिमि अमोघ···'—और वीरों के बाण व्यर्थ भी हो जाते हैं, पर श्रीरघुनाथजी के बाण सदा सफल ही होते हैं। छूटते ही लक्ष्य पर पहुँचकर कृतकार्य होकर ही लौटते हैं, मार्ग में उन्हें कोई रोक नहीं सकता। वैसे ही श्रीहनुमान्जी सुरसा, सिंहिका और लंकिनी के रोकने पर भी न रुकेंगे और सकुशल शीघ्र कार्य करके ही लौटेंगे; यथा—"यथा राघवनिर्मुक्तः शरः श्वसनविक्रमः।···सर्वथा कृतकार्योऽहमेष्यामि सह सीतया ॥" (वाल्मी० ५।१।३९-४२)। 'एही भाँति'—कवि लोग और भी उपमा देते हैं, पर वे यथार्थ नहीं हैं, यही उपमा ठीक है। 'हनुमाना'—बहुतों के मान-मर्दन करेंगे। 'अमोघ' यथा—"छत्र मुकुट ताटंक सब हते एक ही बान।···अस कौतुक करि राम सर, प्रबिसे आइ निषंग।" (लं० दो० १३), ऐसे ही श्रीहनुमान्जी भी कार्य करके श्रीरामजी को प्राप्त होंगे।

जलनिधि रघुपति-दूत बिचारी। तैं मैनाक होइ श्रम हारी ॥९॥

दोहा—हनूमान तेहि परसा, कर पुनि कीन्ह प्रनाम।
रामकाज कीन्हे बिनु, मोहि कहाँ बिश्राम ॥१॥

अर्थ—समुद्र ने श्रीहनुमान्‌जी को श्रीरघुनाथजी का दूत विचारकर कहा—हे मैनाक! तू इनका श्रमहारी हो जा; अर्थात् इन्हें अपने ऊपर विश्राम देकर इनकी थकावट दूर कर ॥८॥ श्रीहनुमान्‌जी ने उसे हाथ से स्पर्श किया, फिर उसको प्रणाम किया (और कहा कि श्रीरामजी का कार्य पूरा किये बिना मुझे विश्राम कहाँ?॥१॥

विशेष—(१) 'जल निधि'—यह समुद्र जल का खजाना है। ४०० कोसों तक जल से भरा है। कहीं श्रीहनुमान्‌जी थककर डूब न जायँ, इस भय से इसने श्रम हरने को कहा। 'रघुपति दूत बिचारी'—समुद्र ने विचारा कि मैं श्रीरघुनाथजी के ही वंशजों (पूर्वज सगर-पुत्रों) के द्वारा बढ़ाया गया हूँ। यदि मैं इनकी सहायता न करूँ तो निंदित होऊँगा। मुझे कृतघ्न समझकर कोई मेरा नाम तक न लेगा; यथा—"अहमिक्ष्वाकुनाथेन सगरेण विवर्धितः। इक्ष्वाकुसचिवश्चायं तन्नार्हत्यवसादितुम्॥ तथा मया विधातव्यं विश्रमेत यथा कपिः।" (वाल्मी० ५।१।८७-८८)।

(२) 'तै मैनाक होइ···'—मैनाक हिमालय का पुत्र माना जाता है और यह सुवर्णमय है, इसने स्वयं श्रीहनुमान्‌जी से अपना वृत्तान्त यों कहा है—"सतयुग में पर्वत पंखधारी होते थे और चारों तरफ गरुड़ की तरह उड़ा करते थे। इनके गिरने के समय देवताओं और मनुष्यों को दब जाने का भय होता था। अतएव क्रोधित हो देवराज इन्द्र ने हजारों पर्वतों के पंख काट डाले। वे इसी इच्छा से मेरे पास भी आये, किन्तु, तुम्हारे पिता वायु ने शीघ्र ही मेरी सहायता की और समुद्र में मुझे लाकर छिपा दिया, जिससे मैं इस विपत्ति से बच गया।" "इसे समुद्र ने पाताल का विशाल द्वार रोकने के लिये रक्खा है, जिससे उसमें से असुर निकलने न पावें।" (वाल्मी० १।११५-१२१, ९२-९२)।

मैनाक से इसीलिये कहा कि यह आकाशगामी है और श्रीहनुमान्‌जी तक पहुँच सकता है और उन्हें धारण करने में समर्थ भी है। पुनः यह पवनदेव का ऋणी भी है और उस ऋण से इसे उऋण भी बनाना है। अतः, श्रीहनुमान्‌जी की पूजा से वायु देवता सन्तुष्ट होंगे; यथा—"पूजिते त्वयि धर्मज्ञे पूजां प्राप्नोति मारुतः। तस्मात्त्वं पूजनीयो मे शृणु चाप्यत्र कारणम्॥" (वाल्मी०५।१।११४); यह मैनाक ने ही कहा है।

शंका—समुद्र ने स्वयं तो श्रीरामभक्त की सेवा की, पर श्रीरामजी को जब उससे काम पड़ा तब उनके धमकाने पर आया, ऐसा क्यों?

समाधान—(क) श्रीरामजी सबके प्रेरक हैं, अपनी अपेक्षा भक्त का मार्ग अधिक सुखदायी कर देते हैं; यथा—"किये जाहिं छाया जलद, सुखद बहइ बर बात। तस मग भयउ न राम कहँ, जस भा भरतहि जात॥" (अ० दो० २११); (ख) श्रीहनुमान्‌जी का पराक्रम प्रत्यक्ष है कि उनके उछलते ही पहाड़ दब गया; यथा—"जेहि गिरि चरन देइ···" इससे समुद्र जानता है कि ये लंका जाकर सकुशल आ सकेंगे। इसी से उन्हें विश्राम देता है। पर आगे श्रीरामजी के माधुर्य में मोहित हो गया, इससे ईश्वरता नहीं समझ सका, अतः उनका पराक्रम जानने के लिये नहीं आया। जब यश देख लिया, तब आया और हर्षित हुआ; यथा—"देखि राम बल पौरुष भारी। हरषि पयोनिधि भयो सुखारी॥"

(दो० ५१); फिर उसने उनकी सेवा भी की ; यथा—"मैं पुनि उर धरि प्रभु प्रभुताई। करिहउँ बल अनुमान सहाई ॥" (दो० ५१)। (ग) समुद्र के दक्षिण-तट पर राक्षस और उत्तर तट पर चोर आभीर बसते हैं, राक्षसों को मारने के लिये तो प्रभु जाते ही हैं। उत्तर तट के चोरों को भी मरवाना था, इसी से वह पहले नहीं आया। बाण संधान हो जाने पर आया और इसी युक्ति से उसने चोरों को मरवाया।

(३) 'हनूमान तेहि परसा ···'—"मैनाक ने मनुष्य-रूप धारण कर श्रीहनुमान्‌जी से विश्राम करने के लिये प्रार्थना की थी।" (वाल्मी० ५।१।१०४–१०५); इसी से श्रीहनुमान्‌जी ने अपने हाथों से स्पर्श करके उसका सम्मान किया। श्रीहनुमान्‌जी से सत्कृत जानकर इन्द्र ने भी इसे अभय दान दिया ; यथा—"उवाच वचनं धीमान्परितोषात्सगद्गदम्। सुनाभं पर्वतश्रेष्ठं स्वयमेव शचीपतिः ॥ हिरण्यनाभ शैलेन्द्र परितुष्टोऽस्मि ते भृशम्। अभयं ते प्रयच्छामि गच्छ सौम्य यथासुखम् ॥" (वाल्मी० ५।१।१३९–१४०); 'पुनि कीन्ह प्रनाम'—श्रीहनुमानजी ने पिता का मित्र जानकर पूज्य दृष्टि से उसे प्रणाम किया। 'मोहिं कहाँ बिश्राम'—जब तक समुद्र ने मैनाक से कहा और वह अत्यन्त वेग से उठा, इतनी ही देरी में श्रीहनुमान्‌जी ५० योजन आगे चले गये, क्योंकि वह समुद्र के बीच में ही मैनाक रहता था और वहीं से उठा। शीघ्रता दिखाने को ही ग्रंथकार ने मैनाक का चलना और पहुँचना नहीं लिखा। श्रीहनुमान्‌जी के कर-स्पर्श से ही जना दिया।

यहाँ यह भी दिखलाया गया है कि राम-भक्त को जल में भी ठहरने के स्थान मिल जाते हैं और हरि-विमुख स्थल में भी डूब मरते हैं। जैसे कि कर्ण का रथ स्थल में ही डूब गया (रथ का चक्का भूमि में नीचे धस गया)। 'राम काज कीन्हे बिना'—इस समय नहीं ठहर सके कि राम-कार्य हो जाने पर इसकी अभिलाषा पूर्ण करेंगे ; यथा—"पूछ बुझाइ खोइ श्रम, धरि लघु रूप बहोरि।" (दो० २६); 'कर' दीपदेहली है। कर से उसे स्पर्श किया और फिर कर से ही प्रणाम भी किया।

जात पवनसुत देवन्ह देखा। जानइ कहुँ बल-बुद्धि बिसेखा ॥१॥
सुरसा नाम अहिन कै माता। पठइन्हि आइ कही तेहि बाता ॥२॥
आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा। सुनत बचन कह पवन-कुमारा ॥३॥

अर्थ—देवताओं ने पवन के पुत्र श्रीहनुमान्‌जी को जाते हुए देखा। उनके विशेष बल और बुद्धि को विशेष करके जानने के लिये ॥१॥ उन्होंने सुरसा नाम की सर्पों की माता को (इनके बल और बुद्धि की परीक्षा करने के लिये) भेजा। (उसने (समीप) आकर श्रीहनुमान्‌जी से यह बात कही ॥२॥ कि आज देवताओं ने मुझे भोजन दिया, यह वचन सुनते ही पवन के पुत्र श्रीहनुमान्‌जी ने कहा ॥३॥

विशेष—(१) 'जात पवनसुत···'—जिसी समय समुद्र ने मैनाक से कहा था, उसी समय देवताओं ने भी सुरसा से परीक्षा के लिये कहा, यदि ऐसा न होता तो श्रीहनुमान्‌जी शीघ्र ही उस पार निकल जाते। वही 'जात' शब्द से सूचित किया गया है। पुनः यह भी कि देवता इसी पार हैं। 'पवनसुत'—क्योंकि ये वायु के समान बल और वेग से जा रहे हैं ; यथा—"चला प्रभंजन-सुत बल भाषी।" (लं० दो० ५४); 'देवन्ह'—इसमें सब देवता सहमत हैं।

'जानइ कहुँ बल बुद्धि बिसेखा'—सामान्य बल और बुद्धि तो ये लोग जानते ही हैं। बालपन में ही इन्होंने सूर्य का ग्रास किया है और इन्द्र के वज्र को भी निष्फल कर दिया है ; यथा—"जयति अब

बाल कपि केलि कौतुक उदित चंड-कर-मंडलग्रास-कर्ता। राहु-रवि-शक्र पवि-गर्व-खर्वी करन, सरन भय-हरन, जय भुवन भर्ता ॥" (वि० २५) ; पर इस समय ये उस रावण की पुरी को जा रहे हैं। जिसने इन्द्र, सूर्य आदि सभी देवताओं को जीत लिया है। अतः, उससे भी विशेष बल और बुद्धि की आवश्यकता है, वही देखना चाहते हैं। कूदना आदि तो वानरों का सहज कर्म है ही, इससे विजय का अन्दाजा नहीं हो सकता। बल और बुद्धि दोनों हों, तभी विजय हो सकती है ; यथा—"नाथ बैर कीजे ताही सों। बुधिबल सकिय जीति जाही सों ॥" (लं० दो० ५) ; "देखि बुद्धि बल निपुन कपि, कह्यो जानकी जाहु।" (दो० १०) ; इसीसे देवगण बुद्धि-बल की विशेषता देखना चाहते हैं।

(२) 'सुरसा नाम ...'—सुरसा ही क्यों भेजी गई ? उत्तर (क) स्वयं देवतागण इनके बल और बुद्धि की परीक्षा करने में असमर्थ हैं, इसलिये उन्होंने स्त्री को भेजा, कारण कि स्त्री अवध्य है। पुनः राक्षस बली और मायावी भी होते हैं। सुरसा माया और बल, दोनों से परीक्षा लेने में समर्थ होगी। (ख) यह सर्पों की माता है और सर्पों का आहार पवन है। अतः, यह पवन के पुत्र का भक्षण कर सकेगी।

'सुरसा' नाम कहकर 'अहिन कै माता' भी कहा। इस तरह अतिव्याप्ति दोष भी मिटाया। क्योंकि सुरसा और किसी का भी नाम हो सकता है और सर्पों की माता एक कद्रू नाम की भी है। पुनः 'अहिन कै माता' से क्रूर स्वभाव, भयानक और तमोगुण-युक्त भी बनाया। 'पठइन्हि आइ' सुरसा का भी आना-पहुँचना न कहा, क्योंकि यह बहुत ही शीघ्र आई। जिसी समय मैनाक से वार्तालाप हो रहा था उसी समय यह भी आ पहुँची ; क्योंकि श्रीहनुमानजी राम बाण की तरह वेग से जा रहे हैं।

(३) 'आजु सुरन्ह मोहि......'—'आजु'—का भाव यह कि मैं बहुत दिनों की भूखी हूँ ; यथा—"आजु सबन्हि कहँ भच्छन करऊँ। दिन बहु चले अहार बिनु मरऊँ॥ कबहुँ न मिल भरि उदर अहारा। आजु दीन्ह बिधि एकहि बारा॥" (कि० दो० २८); 'दीन्ह अहारा'—का भाव यह है कि यह राक्षसी बनकर आई है और राक्षस ही नर-वानर को खाते हैं ; यथा—"नर कपि भालु अहार हमारा।" (लं० दो० ७) ; देवताओं की भेजी हुई आई है, इसीसे देवताओं का आहार देना कहती है। पीछे परीक्षा हो जाने पर साफ कह देगी ; यथा—"मोहि सुरन्ह जेहि लागि पठावा।..." अभी से यदि कह देती कि मैं परीक्षा के लिये ही मुंह फैलाती हूँ, तो श्रीहनुमान्‌जी जान जाते और वह परीक्षा लेने में सफल न होती। परीक्षा के लिये ही असत्य कह रही है, वह भी परोपकार के लिये, इससे इसमें दोष नहीं।

'सुनत बचन कह पवन कुमारा।'—सुरसा कहती है कि देवताओं ने मुझे आहार दिया है और उस आहार को वह खाना चाहती है। देवताओं के दिये हुए भक्ष्य के प्रति श्रीहनुमान्‌जी नाहीं कैसे करें ? कहा भी है—"परहित लागि तजइ जो देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही ॥" (बा० दो० ८४), श्रीहनुमान्‌जी धर्मात्मा हैं। यदि अपना शरीर उसे खाने को दे दें, तो राम-कार्य नहीं बनता और न दें तो भी धर्म-संकट है। दोनों तरह से उत्तर देना कठिन था। पर आपको उत्तर देने में कठिनाई न पड़ी, तुरन्त बोले। इससे 'पवन कुमारा' कहा है, क्योंकि पवन की ही प्रेरणा से वचन निकलते हैं। यहाँ बुद्धि की चातुरी है।

> रामकाज करि फिरि मैं आवउँ। सीता कइ सुधि प्रभुहि सुनावउँ ॥४॥
> तब तुअ बदन पैठिहउँ आई। सत्य कहउँ मोहि जान दे माई ॥५॥
> कवनेहुँ जतन देइ नहिं जाना। ग्रससि न मोहि कहेउ हनुमाना ॥६॥

अर्थ—श्रीरामजी का कार्य करके मैं लौट आऊँ और श्रीसीताजी का समाचार प्रभु को सुना दूँ ॥४॥ तब आकर तेरे मुख में पैठूँगा ; (अर्थात् तब तू मुझे खा लेना) मैं सत्य कहता हूँ, हे माई ! मुझे जाने दे ।५॥ किसी भी यत्न से जाने नहीं देती, तब श्रीहनुमान्‌जी ने कहा कि मुझे खा न ले ! अर्थात् खा, देखूँ तो, तू कैसे मुझे खाती है ? ॥६॥

विशेष—(१) 'रामकाज करि······'—राम-कार्य होने का निश्चय है ; यथा—"होइहि काज मोहिं हरष बिसेषी ॥" (दो० १) ; इसी से कहते हैं—'फिरि मैं आवउँ' कार्य को उत्तरार्द्ध में कहते हैं —"सीता कै सुधि प्रभुहि सुनावउँ ॥" यही श्रीजाम्बवान्‌जी ने भी कहा है ; यथा—"सीतहि देखि कहहु सुधि आई ॥" अतः, यही राम-कार्य है । क्षुधातुर को भोजन देना धर्म है और राम-कार्य परम धर्म है । इसी से राम-कार्य करना पहले कहा गया है । 'प्रभुहि सुनावउँ' का भाव यह है कि प्रभु समर्थ हैं, समाचार पाकर अपने शत्रु को स्वयं ही मारेंगे । मेरी वैसी आवश्यकता नहीं ; यथा—"कपि सेन संग सँहारि निसिचर राम सीतहि आनि हैं ।" (कि० दो० ३०) । अतः, मैं अवश्य तुम्हारे भोजन के लिये आ जाऊँगा ।

(२) 'तब तुअ बदन पैठिहउँ आई ।'—सुरसा ने कहा था कि जो तुम जाना चाहते हो, तो मेरे मुख में पैठकर ही जा सकोगे ; यथा—"निविश्य वदनं मेऽद्य गन्तव्यं वानरोत्तम । वर एष पुरा दत्तो मम धात्रेति सत्वरा ॥" (वाल्मी ५।१।१५१) ; इसीलिये कहते हैं कि तब मैं आकर तेरे मुख में प्रवेश करूँगा । यह नहीं कहते कि तब तू मुझे खा लेना, क्योंकि इन्हें कोई खा नहीं सकता, कहते तो झूठ ही होता, तो ऐसा क्यों कहें ? यदि वह समझे कि श्रीहनुमान्‌जी अपने प्राण बचाने के लिये ही हमें धोखा दे रहे हैं, इसलिये शपथ करते हैं—"सत्य कहउँ···" 'माई'—संत जन पर-स्त्री को माता-तुल्य ही मानते हैं ; यथा—"जननी सम जानहिं परनारी ।" (आ० दो० १२६) ; अभी श्रीहनुमान्‌जी साम नीति बरत रहे हैं कि 'माई' सम्बोधन सुनकर वह अवश्य दयार्द्र होकर मुझे जाने देगी ।

(३) 'कवनेहुँ जतन देइ···'—साम, दाम, दंड, भेद ये चार यत्न हैं । इनमें पहले दाम का वर्त्ताव किया ; यथा—"तब तुअ बदन पैठिहउँ आई ।" शरीर देना यह दाम नीति है और यही उसका मुख्य प्रयोजन भी है । फिर साम नीति का वर्त्ताव किया; यथा—"जान दे माई ।" शेष दो दंड और भेद न किये, क्योंकि इसे माता कह चुके हैं । पुनः राम-कार्य होना, श्रीसीताजी का क्लेश छूटना आदि का कहना भी यत्न ही है । पर यह नहीं जाने देती है । अन्य रामायणों में कहे हुए यत्न भी 'कवनेहुँ जतन' में आ गये । ये बुद्धि के उपाय हैं ।

'ग्रससि न मोहि······'—यह बल है । नीति है कि बुद्धि से कार्य न चले, तब बल का प्रयोग करना चाहिये ; यथा—"जो मधु मरै न मारिये, माहुर देइ सो काउ ।" (दोहावली ४१३) ; 'माई' कहने पर भी इसे दया न आई, क्योंकि यह 'अहिन कै माता' है । सर्पिणी जब अपने ही अंडे-बच्चों को भी खा जाती है तब दूसरे की बात ही क्या ?

जोजन भरि तेहि बदन पसारा । कपि तनु कीन्ह दुगुन बिस्तारा ॥७॥
सोरह जोजन मुख तेहि ठयऊ । तुरत पवनसुत बत्तिस भयऊ ॥८॥
जस जस सुरसा बदन बढ़ावा । तासु दून कपि रूप देखावा ॥९॥

अर्थ—उसने योजन (चार कोस) भर का मुख फैलाया, तब कपि श्रीहनुमानजी ने अपने शरीर को उसका दुगुना विस्तृत कर दिया; अर्थात् दो योजन के हो गये कि जिससे उसके मुख में न समा सकें ॥७॥ सुरसा ने सोलह योजन का मुख किया, तब शीघ्र ही पवन के पुत्र श्रीहनुमान्‌जी बत्तीस योजन के हो गये ॥८॥ जैसे-जैसे सुरसा ने मुख बढ़ाया, कपि ने उसका दुगुना रूप दिखाया ॥९॥

विशेष—(१) 'जोजन भरि तेहिं···'—मुख तो उसने फैलाया, किन्तु खाने को नहीं दौड़ी, क्योंकि वह परीक्षा के लिये ही आई है। इन्होंने उसके शरीर से दूना शरीर करके सूचित किया कि ले, हम दूना भक्ष्य देते हैं, खा! सुरसा ने मुख ही फैलाया, क्योंकि वह इन्हें निगलना चाहती है और इन्होंने शरीर-भर बढ़ाया कि जिससे उसके मुख में समा न सकें और वह हार जाय।

(२) 'सोरह जोजन मुख···'—श्रीहनुमान्‌जी को दूना होते देखकर सुरसा ने एक बार ही सोलह योजन का मुख किया, तब शीघ्र ही श्रीहनुमान्‌जी ३२ योजन के हो गये। इससे उसने सहसा इनकी अत्यन्त बढ़ने की शक्ति भी देख ली। शीघ्रता की अपेक्षा से 'पवन सुत' कहा गया।

(३) 'जस जस सुरसा···'—अब सुरसा ने बदन बढ़ाने में कोई नियम नहीं रक्खा। पहले एक से सोलह पर पहुँची। अब २०, २२, ३०, ४०, आदि योजन का मुख करती गई और प्रत्येक बार श्रीहनुमान्‌जी उसका दूना होते गये। 'रूप देखावा'—उसे दिखाने-मात्र के लिये रूप करते गये, उसे मारना नहीं चाहते—यहाँ बल है।

सत जोजन तेहि आनन कीन्हा। अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा ॥१०॥
बदन पइठि पुनि बाहेर आवा। माँगा बिदा ताहि सिर नावा ॥११॥
मोहि सुरन्ह जेहि लागि पठावा। बुधि बल मरम तोर मैं पावा ॥१२॥

दोहा—राम-काज सब करिहहु, तुम बल-बुद्धि-निधान।
आसिष देइ गई सो, हरषि चलेउ हनुमान ॥२॥

अर्थ—जब सुरसा ने सौ योजन का मुख किया, तब पवन पुत्र ने अत्यन्त छोटा रूप धारण कर लिया ॥१०॥ उसके मुख में पैठकर फिर (शीघ्र ही) बाहर निकल आये और सिर नवाकर उससे बिदा माँगी ॥११॥ (सुरसा बोली) देवताओं ने मुझे जिस (कार्य) के लिये भेजा था, (उस) तुम्हारे बुद्धि और बल के भेद को मैं पा गई ॥१२॥ तुम बल और बुद्धि के खजाना हो, (अत) श्रीरामजी के सभी कार्य करोगे, आशिष देकर वह चली गई, तब हर्षपूर्वक श्रीहनुमान्‌जी चले ॥२॥

विशेष—(१) 'सत जोजन तेहिं···'—१०० योजन का ही समुद्र है, अत समुद्र-भर में उसका मुख-ही मुख दिखलाई पड़ा एक दाढ़ नीचे और एक ऊपर। सुरसा ने पहले मुख फैलाया, फिर बढ़ती ही गई और श्रीहनुमान्‌जी भी दूने-दूने बढ़ते ही गये। जैसे सौ योजन उसके बढ़ाव की अवधि है, वैसे ही श्रीहनुमान्‌जी का 'अति लघु रूप' भी सूक्ष्मता की अवधि है। अति शीघ्र लघु होने से 'पवनसुत' कहा गया। सुरसा को श्रीहनुमान्‌जी ने दूने रूप से न जीतकर छोटे रूप से जीता, इसमें यह उपदेश है कि अत्यन्त बड़े को छोटा होकर जीतना चाहिये—यहाँ बुद्धि है।

(२) 'बदन पइठि पुनि···'—उसने अपने मुख में पैठकर ही जाने के लिये कहा, उसपर श्रीहनुमान्‌जी ने जो 'पैठिहउँ आई' कहा था, यहाँ मुख में पैठकर उन्होंने उसी की पूर्त्ति की है। 'पुनि' का भाव यह कि जिधर से पैठे, उधर ही से निकल भी आये। 'माँगा बिदा ताहि सिर नावा।'—श्रीहनुमान्‌जी ने पहले ही इससे साम-नीति के अनुसार 'माई' कहकर मार्ग माँगा था, जब इसने शर्त्त रक्खी, तब आपने उसकी पूर्त्ति कर दी और फिर उसी भाव से शिर भी नवाया और विदा माँगी। इसपर सुरसा ने प्रसन्न होकर आगे वर दिया।

सुरसा ने ऐसी परीक्षा इसलिये की कि लंका में इन्हें अति लघु रूप से प्रवेश करके श्रीजानकीजी को खोजना होगा और विशाल रूप से उनको भरोसा देना और राक्षसों से युद्ध भी करना होगा।

(३) 'मोहि सुरन्ह जेहि···'—यहाँ सुरसा अपनी सफाई दे रही है कि मैं देवताओं के भेजने से आपकी बल-बुद्धि की परीक्षा के लिये ही आई थी, राम-कार्य में विघ्न डालने को नहीं। परीक्षा के लिये ही मैंने—'दीन्ह अहारा' आदि भयकारी वचन भी कहे थे।

(४) 'राम-काज सब करिहहु ···'—श्रीहनुमान्‌जी ने यही अपना अभीष्ट भी कहा था; यथा—"राम काज करि फिरि मैं आवउँ···" और उसी की आशिष भी इसने दी। 'तुम्ह बल-बुद्धि निधान'—भाव यह कि बल और बुद्धि के विना राम-कार्य नहीं हो सकता; यथा—"जो नाँघइ सत जोजन सागर। करइ सो राम काज मति आगर॥" (कि० दो० २८); इनके प्रणाम करने पर उसने आशिष दी और इसी से श्रीहनुमान्‌जी को हर्ष भी हुआ, क्योंकि वह देवी है, अतः उसके वचन सत्य ही होंगे। श्रीहनुमान्‌जी जब से समुद्र-किनारे से चले थे, बीच में केवल यहीं पर रुके थे, इसी से यहाँ से फिर चलना कहा गया है—'हरषि चले' हर्ष इससे और भी हुआ कि विघ्नकारिणी भी आशिष देनेवाली हो गई।

निसिचरि एक सिंधु महँ रहई। करि माया नभ के खग गहई॥१॥
जीव-जंतु जे गगन उड़ाहीं। जल बिलोकि तिन्हकै परिछाहीं॥२॥
गहइ छाँह सक सो न उड़ाई। येहि बिधि सदा गगनचर खाई॥३॥
सोइ छल हनूमान कहँ कीन्हा। तासु कपट कपि तुरतहि चीन्हा॥४॥

अर्थ—एक निशाचरी समुद्र में रहती थी, वह माया करके आकाश के 'खगों' को पकड़ा करती थी॥१॥ जो जीव-जन्तु आकाश में उड़ा करते, उनकी परछाँई जल में देखकर पकड़ लिया करती थी, जिससे वह उड़ नहीं सकता था; इसी तरह सदैव आकाश में चलनेवालों को खाया करती थी॥२-३॥ वही छल श्रीहनुमान्‌जी से किया, उसका कपट श्रीहनुमान्‌जी ने तुरत ही जान लिया; अर्थात् छाया पकड़ जाने पर उसका भेद जान गये॥४॥

विशेष—(१) 'निसिचरि एक···'—निशाचरी कहने का भाव यह है कि सुरसा देवी थी और यह राक्षसी है। इसी से आकाशचारी निशाचरों को ही केवल नहीं पकड़ती थी, वरन् सभी जीव-जन्तुओं को पकड़ लेती थी। 'सिंधु महँ रहई'—तीन स्थलों में जीव रहते हैं—नभ, जल और स्थल। इनमें सुरसा नभ से आई, यह (सिंहिका) जल में रहती थी और आगे लंकिनी स्थल में मिलेगी। यह सिंहिका राहु की माता थी।

श्रीगोस्वामीजी ने सुरसा, लंकिनी और त्रिजटा के नाम लिखे, पर इसका नाम न दिया, क्योंकि—

(क) ये तीनों रामकार्य-साधन करनेवाली हुईं; यथा—"रामकाज सब करिहहु"—सुरसा; "प्रबिसि नगर कीजे सब काजा।···"—लंकिनी; "सबन्हीं बोलि सुनायेसि सपना।···"—त्रिजटा और यह राक्षसी आदि से अंत तक कपट से ही भरी रही अर्थात् रामकार्य से विमुख ही रही, इसी से श्रीगोस्वामीजी ने इसका नाम नहीं लिखा; यथा—"काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकइ राम कर द्रोही॥" (बा॰ दो॰ १)। (ख) यह जल के भीतर गुप्त भाव में रहती थी, इसी से ग्रंथकार ने भी इसे गुप्त ही रक्खा।

श्रीगोस्वामीजी ने निशाचरी (सिंहिका), लंकिनी और त्रिजटा के साथ 'एक' विशेषण दिया है, पर सुरसा के साथ नहीं; क्योंकि तीनों अपने-अपने कार्य में अद्वितीय हैं। जैसे कि सिंहिका छाया पकड़ने में, लंकिनी लंका का चोर पकड़ने में और त्रिजटा विवेक-निपुणता में एक ही थीं। इनके समान दूसरी राक्षसी नहीं थी। सुरसा को एक इससे नहीं कहा गया कि इसके समान कद्रू नाम की दूसरी भी वैसी ही प्रसिद्ध थी। 'खग'—में यौगिक प्रयोग है; अर्थात् आकाश में गमन करनेवाले। 'गहई'—इसकी क्रिया आगे कहते हैं—

(२) 'जीव-जंतु जे···'—जीव बड़े को और जन्तु छोटे को कहते हैं। जीव; यथा—"आश्रम एक दीख मग माहीं। खग मृग जीव जंतु तहँ नाहीं॥" (बा॰ दो॰ २०१)। छोटे जन्तुओं के आहार से पेट तो नहीं भरता था, पर यह इन्हें अपनी माया की प्रबलता दिखाने के लिये पकड़ती थी कि मैं सूक्ष्म जीवों को भी पकड़ लेती हूँ। 'जल बिलोकि'—उसकी माया जल में ही चलती थी, स्थल की परछाईं से यह नहीं पकड़ सकती थी। 'सदा गगन चर खाई'—अर्थात् वह सदा जल में रहती थी और आकाशगामियों को ही खाती थी, जलचरों और थलचरों को नहीं।

(३) 'सोइ छल हनूमान कहँ···'—श्रीहनुमान्‌जी कपट के पहचानने में एक ही हैं; यथा—"कालनेमि कलि कपट निधानू। नाम सुमति समरथ हनुमानू॥" (बा॰ दो॰ २६), इसी से उन्होंने उसके कपट को तुरत ही पहचान लिया। अभी तक न जाने कितने को इसने खा लिया होगा, पर किसी ने इसे नहीं पहचाना था। माया, छल और कपट यहाँ पर्याय हैं, यथा—'करि माया', 'सोइ छल', 'तासु कपट'।

> ताहि मारि मारुतसुत बीरा। बारिधि पार गयउ मतिधीरा॥५॥
> तहाँ जाइ देखी बन-सोभा। गुंजत चंचरीक मधु लोभा॥६॥
> नाना तरु फल-फूल सुहाये। खग-मृग-बृंद देखि मन भाये॥७॥

अर्थ—उसको मारकर वीर और धीर-बुद्धि पवन-पुत्र समुद्र के पार गये॥५॥ वहाँ जाकर वन की शोभा देखी, मधु के लोभ से भ्रमर गुंजार कर रहे हैं॥६॥ अनेक तरह के वृक्ष फल फूलों से सुशोभित हैं, पक्षी और पशुओं के समूह देख मन प्रसन्न हुआ॥७॥

विशेष—(१) 'ताहि मारि मारुतसुत बीरा।'—वाल्मीकीय रामायण में लिखा है कि छाया पकड़ जाने पर श्रीहनुमान्‌जी ने सोचा कि मुझे किसी ने पकड़ लिया है, फिर नीचे जल की ओर देखकर इसे सुग्रीवजी के कहे हुए मर्म के अनुसार जाना। तब उसके मर्म स्थानों को देखकर अर्थात् श्रीहनुमान्‌जी उसपर छोटा बनकर गिरे। श्रीहनुमान्‌जी ने तीक्ष्ण नखों से उसके मर्म-स्थान को फाड़ डाला। इस तरह उसे मारकर वे मन के समान वेग से ऊपर उठे और फिर पूर्ववत् वेग से चलने लगे।

मायाविनी की माया में न फँसे, इसी से 'मारुत सुत' कहा गया, क्योंकि वायु किसी के ग्रहण में नहीं आता है। वायु से सब माया नाश होती है, इसी से लोग माया-टोना झाड़ते हुए फूँक देते हैं। कहा भी है—"हठि बहोरि कीन्हेसि बहु माया। जीति न जाइ प्रभंजन जाया॥" (दो० १८); 'धीरा'''मति धीरा'—श्रीहनुमान्‌जी ने प्रबल मायाविनी राक्षसी को बल और बुद्धि से जीता, इससे उन्हें वीर कहा गया और सौ योजन समुद्र लाँघ गये, श्रम न हुआ और न कहीं साँस ही ली, पुनः विघ्नों से घबड़ाये भी नहीं, प्रत्युत् उपाय-द्वारा उन्हें नाश किया, इससे मति-धीर कहा है; यथा—"अनिश्वसन् कपिस्तत्र न ग्लानिमधिगच्छति॥" (वाल्मी० ५।१।१)।

(३) 'वहाँ जाइ देखी……'—'वहाँ जाइ' से सूचित किया गया है कि समुद्र-तट से लंकापुरी कुछ दूर है। 'बन सोभा'; यथा—"सुंदरबन कुसुमित अति सोभा। गुंजत मधुप निकर मधु लोभा॥" (कि० दो० १२); यही शोभा आगे कहते हैं—'गुंजत'''नाना तरु फल'''—सब वृक्षों में फल-फूल दोनों हैं, वा, किसी में फूल और किसी में फल शोभायमान हैं। वन के आश्रित मृगवृंद, फलों के आश्रित खग और फूलों के आश्रित भ्रमर रहते हैं। श्रीहनुमान्‌जी के मन को वन की शोभा 'भाई' (प्रिय लगी) क्योंकि ये भी वनचर हैं; यथा—"बन चर देह धरी छिति माहीं।" (बा० दो० १८७)।

सैल बिसाल देखि एक आगे। ता पर धाइ चढ़ेउ भय त्यागे॥८॥
उमा न कछु कपि कै अधिकाई। प्रभु-प्रताप जो कालहि खाई॥९॥
गिरि पर चढ़ि लंका तेहिं देखी। कहि न जाइ अति दुर्ग बिसेषी॥१०॥
अति उतंग जलनिधि चहुँ पासा। कनक कोट कर परम प्रकासा॥११॥

अर्थ—आगे एक बड़ा भारी पर्वत देख उसपर भय छोड़कर दौड़कर चढ़ गये॥८॥ हे उमा! इसमें कुछ कपि श्रीहनुमान्‌जी की बड़ाई नहीं है, यह प्रभु का प्रताप है, जो काल को भी खा जाता है॥९॥ पर्वत पर चढ़कर उन्होंने लंकापुरी देखी, अत्यन्त विशेष दुर्ग है, कहा नहीं जा सकता॥१०॥ अत्यन्त ऊँचा है, चारों ओर समुद्र है, स्वर्ण-कोट परम प्रकाश कर रहा है॥११॥

विशेष—(१) 'सैल बिसाल देखि''' '''—पहले वन का वर्णन हुआ, वह समुद्र के तट का था और उससे आगे पर्वत है, वह सभी पर्वतों से भारी है, इसी से 'बिसाल' और 'एक' कहा गया है। पहाड़ के आस-पास सघन वन था, इससे लंका न दीख पड़ी। तब दौड़कर पहाड़ पर चढ़ गये। खड़े पर्वतों पर वानर-गण कूदकर चढ़ते हैं और जो पर्वत कुछ ढालू होते हैं, उनपर दौड़कर चढ़ते हैं। अतः, इसपर दौड़कर चढ़े। 'भय त्यागे'—इस पर्वत पर रावण की ओर से काल का पहरा रहता था, यह अगली अर्धाली से स्पष्ट होगा; यथा—"वेग जीत्यो मारुत प्रताप मार्तंड कोटि कालऊ करालता बड़ाई जीत्यो बावनो।" (क० सुं० ३)।

यहाँ यह भी भय था कि जब समुद्र में ही दो-दो विघ्न आये, तब यह पर्वत तो लंका के द्वार पर है। अतः, रावण की ओर से न जाने यहाँ कैसा प्रबंध हो, इसकी परवाह न की।

(२) 'उमा न कछु कपि……'—श्रीहनुमान्‌जी पर काल का भी प्रभाव क्यों न पड़ा? इसपर श्रीशिवजी कहते हैं कि यह प्रभु का प्रताप है; यथा—"प्रभु प्रताप ते गरुड़हिं, खाइ परम लघु ब्याल।"

(दो० १९); स्वयं श्रीहनुमान्जी ने कहा है—"पटकौं मीच नीच मूषक ज्यों सबहि को पाप बहावों ॥ तुम्हरिहि कृपा प्रताप तिहारेहि नेकु बिलंब न लावों।" (गी० लं० ८)।

(३) 'गिरि पर चढ़ि……'—'लंका तेहि देखी'—जो कपि काल को भी खा सकता है, उसी ने लंका को भी देखा, भाव यह कि लंका को भी नाश करेगा। 'कहि न जाइ'—'देखी' कहकर फिर कहते हैं कि 'कहि न जाइ' अर्थात् देखते ही बनता है, कहते नहीं बनता; यथा—"देखत बनइ न जाइ बखाना॥" (उ० दो० ४१); 'अति दुर्गबिसेषी'—दुर्ग का अर्थ किला होता है; यथा—"चढ़े दुर्ग पुनि जहँ-तहँ बानर।" (लं० दो० ४०); "उठयो बीर दुर्ग ते…."(लं० दो० ४८), यह लंका-रूप किला अत्यन्त भारी और दुर्गम था। वही दुर्गमता आगे कहते हैं—

(४) 'अति उतंग जल निधि ……'—लंकापुरी स्वयं ऊँची है और पहाड़ पर बसी है; यथा—"गिरि त्रिकूट ऊपर बस लंका।" (कि० दो० २०); किले की चारों ओर खाइयाँ होती हैं और यहाँ 'जलनिधि चहुँ पासा।' कहा गया है; यथा—"खाईं सिंधु गँभीर अति चारिहुँ दिसि फिरि आव। कनक कोट मनि खचित दृढ़, बरनि न जाइ बनाव।" (बा० दो० १७८); 'परम प्रकासा'—एक तो सोने का प्रकाश है और दूसरा उसमें मणि भी लगे हैं। अतः, उनका परम प्रकाश है।

छंद—कनक कोटि बिचित्र मनि-कृत सुंदरायतना घना।
चउहट्ट हट्ट सुबट्ट बीथीं चारु पुर बहु बिधि बना।
गज-बाजि-खच्चर-निकर पदचर-रथ-बरूथन्हि को गनै।
बहुरूप निसिचर-जूथ अति बल सेन बरनत नहिं बनै॥

अर्थ—सोने की चहारदीवारियाँ मणियों से विचित्र बनाई गई हैं, उसमें सुन्दर आयतन (घर) बहुत हैं। चौक, बाजार, सुंदर मार्ग (राज-मार्ग) और गलियाँ हैं। सुन्दर नगर (और भी) बहुत प्रकार से बनाया एवं सजाया हुआ है॥ हाथियों, घोड़ों और खच्चरों के समूहों को, पैदल और रथों के समूहों को कौन गिन सकता है? बहुत रूपों के निशाचरों के समूह हैं, वे अत्यन्त बलवान् हैं, अत्यन्त बलवती सेना का वर्णन करते नहीं बनता॥

विशेष—(१) 'कनक कोट बिचित्र……'—कोट की दीवारें सोने की हैं, उनमें रंग-बिरंग की मणियों के काम बनाये हुए हैं, इससे विचित्र हैं। 'घना'—दो अर्थों से श्लिष्ट है, एक अर्थ यह कि घर बहुत हैं, दूसरे, बस्ती घनी है। यहाँ तक कोट का वर्णन हुआ, आगे पुर का वर्णन है, इससे यह जाना कि कोट के भीतर नगर है।

(२) 'चउहट्ट हट्ट……' यथा—"राज दुआर सकल बिधि चारू। बीथी चौहट रुचिर बजारू॥" (उ० दो० २७); कोट का बनाव कनक मणि का कहा गया था, वैसा ही भीतर का भी जानना चाहिये; यथा—"सोइ मय दानव बहुरि सँवारा। कनक-भवन मनि रचित अपारा॥" (बा० दो० १७७); 'बहु बिधि बना' का अन्वय चौहट्ट आदि सभी के साथ है।

(३) 'गज-बाजि-खच्चर…'—इसी क्रम से नगर की रक्षा के लिये सेना खड़ी है—हाथी, घोड़े, रथ और पैदल क्रम-क्रम से सजाये हुए हैं, ये ही चतुरंगिनी सेना के अंग हैं। खच्चर मध्य में हैं, ये तोपखाने के हैं।

लंकापुरी छः प्रकार के दुर्गों से सुरक्षित है ; यथा—"गिरि त्रिकूट ऊपर बस लंका।" (कि० दो० २०) यह गिरि-दुर्ग है। "अति उतंग जलनिधि चहुँपासा।"—यह जल-दुर्ग है। "तहाँ जाइ देखी बन सोभा।"—यह वृक्ष-दुर्ग है। "गज बाजि खच्चर···"—यह नर-दुर्ग है। किले के भीतर जल का होना कहा गया है ; यथा—"बन बाग उपवन वाटिका सर कूप वापी सोहहीं।" पर किले से बाहर जलाशय का होना नहीं कहा गया। यही धन्व-दुर्ग है। धन्वा, (सं० धन्वन्) निर्जल देश (रेगिस्तान आदि) को कहते हैं। "कनक कोट बिचित्र ··"—यह मही-दुर्ग है। ये छः दुर्ग कहे गये हैं, ये छहों दुर्ग मनुस्मृति में कहे गये हैं; यथा—"धन्व-दुर्गं मही-दुर्गं अब्दुर्गं वार्क्षमेव वा। नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम्॥" ये ही छः भेद महाभारत (युधिष्ठिर-भीष्म संवाद) एवं अग्निपुराण में भी कहे गये हैं।

बन बाग उपबन बाटिका सर कूप बापी सोहहीं।
नर-नाग-सुर-गंधर्ब-कन्या-रूप मुनि-मन मोहहीं।
कहुँ माल देह बिसाल सैल समान अति बल गर्जहीं।
नाना अखारेन्ह भिरहिं बहु बिधि एक एकन्ह तर्जहीं॥

अर्थ—वन, बाग, उपवन (कृत्रिम वन, क्रीड़ा-वन), फुलवाड़ी, तालाब, कुँए और बावलियाँ (ये सभी) शोभा दे रहे हैं। नर, नाग, सुर और गंधर्वों की कन्याएँ अपने सौन्दर्य से मुनियों के मन को मोहित कर रही हैं॥ कहीं-कहीं पर्वत के समान विशाल शरीरवाले पहलवान् अत्यन्त बलपूर्वक गरज रहे हैं। *वे अनेक अखाड़ों में एक-दूसरे से भिड़ते (लड़ते) और एक दूसरे को ललकारते हैं॥*

विशेष—(१) 'बन बाग उपवन वाटिका···'—वन; यथा—"फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक सँग गज पंचानन॥" (उ० दो० २२) ; 'बाग'; यथा—"भूप बाग बर देखेउ जाई। जहँ बसंत रितु रही लुभाई॥" (बा० दो० २२६) ; 'उपवन'; यथा—"सुंदर उपवन देखन गये। सब तरु कुसुमित पल्लव नये॥" (उ० दो० ३१) ; 'वाटिका'; यथा—"सुमन वाटिका सबहि लगाई। बिबिधि भाँति करि जतन बनाई॥" (उ० दो० २७)।

इनमें वाटिका फूलती है, बाग फलता है और वन पल्लवित होता है ; यथा—"सुमन वाटिका बाग बन, बिपुल बिहंग निवास। फूलत फलत सुपल्लवत, सोहत पुर चहुँ पास॥" (बा० दो० २११) ; पहले वन तब बाग फिर आगे वाटिका है। इन सबके मध्य में जलाशय होते हैं, तभी ये शोभा पाते हैं और जलाशय भी इन्हीं से शोभा पाते हैं ; यथा—"मध्य बाग सर सोह सुहावा।" (बा० दो० २२६); इसी से इनके साथ-ही-साथ 'सर कूप वापी सोहहीं' यह भी कहा गया है।

यह सब नगर के बाहर की शोभा है ; यथा—"पुर सोभा कछु बरनि न जाई। बाहेर नगर ···बन उपवन वाटिका तड़ागा॥" (उ० दो० २८) ; सायंकाल में, कुछ दिन रहते श्रीहनुमान्‌जी यहाँ पहुँचे हैं, इसी से नर, नाग आदि की कन्याओं का वाटिका आदि में क्रीड़ा के लिये आना कहा गया है।

(२) 'नर-नाग-सुर-गंधर्ब-कन्या···'—ये सब तीनों लोकों की सुन्दरियाँ हैं, जिन्हें रावण हर कर लाया था ; यथा—"देव-जच्छ-गंधर्ब-नर, किन्नर-नाग-कुमारि। जीति बरीं निज बाहु बल, बहु सुंदर

बर नारि ॥" (बा० दो० १८२); 'रूप मुनि मन मोहहीं'— अर्थात् इनके रूप देखकर मुनियों के ज्ञान-वैराग्य छूट जाते हैं, उससे मोह होता है ; यथा—"सुनु मुनि मोह होइ मन ताके। ज्ञान बिराग हृदय नहिं जाके ॥" (बा० दो० ११८)। मुनियों के मन का मुग्ध होना कहने से उनके रूप की बड़ाई की।

अभी सब शोभा युक्त वस्तुओं का ही वर्णन किया गया है, इसीसे शोभा सूचक 'परम प्रकासा' 'सुंदर', 'चारु', 'सोहहीं', 'मोहहीं' आदि शब्द दिये गये हैं। राक्षस-राक्षसी और उनकी सेनाएँ तो भयानक कही ही जायँगे ; यथा—"गज-बाजि-खच्चर'''बहु रूप निसिचर जूथ अतिबल सेन बरनत नहिं बनै।" तथा—"कहुँ माल'''" से "निसाचर भच्छहीं।" तक।

(३) 'कहुँ माल'—हजारों में कोई एक पहलवान् होता है, इसी से इनके लिये 'कहुँ' कहा गया है। 'देह बिसाल सैल समान'—पहले कहा गया कि 'सैल बिसाल' पर श्रीहनुमान्जी निर्भय चढ़े, वैसे इनपर भी चढ़ेंगे, यहाँ यह भी ध्वनित है कि जैसे ये विशाल देहवाले हैं, वैसे ही इन्हें 'अति बल' भी है, इसी से अत्यन्त बल-पूर्वक गरजते हैं। 'नाना अखारन्ह'—नगर की चारों दिशाओं में रक्षक हैं और प्रत्येक दिशा में अखाड़े हैं। 'बहु बिधि'—अनेक दाँव-पेंच से। एक-एक को डाँटते हैं। यह मल्लों की रीति है ; यथा—"गर्जहिं तर्जहिं गगन उड़ाहीं। देखि बिकट भट अति हरषाहीं ॥" (बा० दो० १०)।

करि जतन भट कोटिन्ह बिकट तन नगर चहुँ दिसि रच्छहीं।
कहुँ महिष मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं।
येहि लागि तुलसीदास इन्हकी कथा कछु एक है कही।
रघुबीर-सर-तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहहिं सही ॥

अर्थ—भयंकर शरीरवाले करोड़ों योद्धा यत्न करके चारों दिशाओं में नगर की रक्षा करते हैं। कहीं भैंसा, कहीं मनुष्य, गाय, गधा और कहीं बकरा, दुष्ट राक्षस लोग खा रहे हैं ॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि इनकी कथा इसलिये कुछ थोड़ी-सी कही कि ये श्रीरघुबीरजी के बाण-रूपी तीर्थ में शरीर छोड़कर मोक्ष पायेंगे—यह निश्चय है ॥

विशेष—(१) 'करि जतन भट कोटिन्ह'''—पहले चतुरंगिनी सेना, मल्ल और यहाँ भट भी कहकर तब 'रच्छहीं' कहते हैं। अर्थात् पहले चतुरंगिनी सेना रक्षा करती है, फिर मल्ल हैं और फिर भट हैं, ये उत्तरोत्तर अधिक बली भी हैं। 'करि जतन'—यत्न यह कि कोई आकाश में रहकर गुप्त-रूप से देखा करते हैं, तो कोई भूमि में ही गुप्त-रूप से देखा करते हैं। चतुरंगिनी सेना व्यूह रचना करके रक्षा में उद्यत है। पूर्व दस हजार, दक्षिण एक लाख, पश्चिम दस लाख और उत्तर द्वार पर सौ करोड़ भट रक्षा के लिये नियत हैं—ऐसा श्रीवाल्मीकिजी ने लिखा है, और उसी को श्रीगोस्वामीजी ने एक 'कोटिन्ह' शब्द से ही लक्ष्य करा दिया। 'चहुँ दिसि'—यह एक दिशा का जैसा वर्णन किया गया है, वैसा ही सब दिशाओं में जानना चाहिये। जैसे पहले 'गर्जहीं' के साथ 'तर्जहीं' कहा गया है; अर्थात् गरज कर डाँटने से अधिक भय उत्पन्न करते हैं। वैसे यहाँ 'रच्छहीं' के साथ 'भच्छहीं' कहकर जनाते हैं कि स्वामी का कार्य करके भक्षण करते हैं। भक्षण का भाव यह कि वैसे ही जीते महिष-मानुष आदि को खा जाते हैं। इसी से ये 'खल' कहे गये हैं। यदि मारकर मांस खाते तो मांस खाना लिखा जाता।

यहाँ राक्षसों के आहार सामान्य रूप से कहे गये हैं। कोई-कोई ऐसा भी कहते हैं कि 'कहुँ' शब्द जैसे मल्लों के साथ है, वैसे यहाँ भी है। इसी से बताया कि वे सभी तरह अखाड़ों में कसरत करके महिष आदि का भक्षण करते हैं, जैसे प्रायः पहलवान लोग कसरत के पीछे दूध कलेजी आदि खाते हैं।

(२) 'येहि लागि तुलसीदास···'—'येहि लागि'—पापियों के चरित को नहीं कहना ही भला है। पर मैंने (श्रीगोस्वामीजी ने) जो कुछ कहा है, उसका कारण यही है कि इन्हें श्रीरामजी संग्राम में मारकर मुक्त करेंगे। इनसे और श्रीरामजी से इतना नाता है। सभी का वध करेंगे, इसी से श्रीरामजी 'रघुबीर' कहे गये हैं। 'कछु एक'—कोट, पुर, चतुरंगिणी सेना, निशाचर यूथ सेना, वनादि की शोभा, तीनों लोकों की सुंदरियाँ, मल्ल, मल्लों की कसरत, नगर की रक्षा और राक्षसों के भक्षण, ये सभी बातें एक ही-एक पंक्ति में कही गई हैं। और अंतिम चरण में राक्षसों की मुक्ति का निश्चय भी लिखा गया है। 'सही'—जैसे तीर्थ में मरने से मुक्ति अवश्य प्राप्त होती है, वैसे ही श्रीरामजी के बाणों से मरने पर अवश्य मुक्ति होती है; यथा—"तो मैं जाइ बैर हठि करऊँ। प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ॥" (आ० दो० २१); यह रावण की प्रतिज्ञा है और श्रीरामजी ने भी राक्षसों के वध की प्रतिज्ञा की है—"निसिचर हीन करउँ महि···" (आ० दो० ९); अतएव राक्षसों की अवश्य मुक्ति होगी।

अन्यत्र नगर-वर्णन में 'देव-मंदिर' कहे गये हैं, 'पर यहाँ नहीं'; क्योंकि देवता लोग तो यहाँ बंदीखाने में पड़े हैं, तो उन्हें पूजेगा कौन ?

लंका में प्रायः सभी बातें अद्भुत हैं, इसी से उन्हें कई जगह 'विचित्र', 'बरनि न जाइ', और 'अति' आदि शब्दों से व्यक्त किया गया है।

"लंका कपि प्रवेस जिमि कीन्हा"—प्रकरण

दोहा—पुर रखवारे देखि बहु, कपि मन कीन्ह बिचार।
अति लघु रूप धरउँ निसि, नगर करउँ पइसार ॥३॥

मसक समान रूप कपि धरी। लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी ॥१॥

शब्दार्थ—पइसार (प्रवेशण)=प्रवेश। मसक=मच्छड़।

अर्थ—नगर में बहुत-से रक्षक देखकर कपि श्रीहनुमान्‌जी ने अपने मन में विचार किया कि अत्यन्त छोटा रूप धारण करूँ और रात में ही नगर में प्रवेश करूँ॥३॥ कपि श्रीहनुमान्‌जी मशक (मच्छड़) के समान रूप धारण करके नृसिंहजी का स्मरण कर लंका को चले॥१॥

विशेष—(१) 'पुर रखवारे देखि बहु···'—बहुत-से रखवाले ऊपर कहे गये हैं; यथा—"करि जतन भट कोटिन्ह ··" रखवालों से इन्हें डर नहीं है; यथा—"तिन्ह कर भय माता मोहि नाहीं।" (दो० १६), आगे इन्होंने स्वयं हठ करके उनसे युद्ध किया है। विचार इसलिये कर रहे हैं कि अब तक राम-कार्य न हो जाय, राक्षसों से लड़ना ठीक नहीं। पहले श्रीसीताजी का हाल जानना है कि उनकी जीवन-वृत्ति कैसी है? स्वामी की आज्ञा है; यथा—"देखि दुर्ग, बिसेषि जानकि जानि रिपु गति आत।"

(गी० सुं० ४); यह बात गुप्त-रूप से ही ठीक होगी। आगे पर श्रीरामजी ने पूछा भी है ; यथा— "कहहु तात केहि भाँति जानकी। रहति करति रच्छा स्वप्रान की॥" (दो० २६)।

'अति लघु रूप धरउँ'—विशाल रूप से नगर में घुसने से निर्वाह कठिन होगा, लघु रूप से भी न छिप सकेंगे, अतएव श्रीहनुमान्‌जी ने 'अति लघु रूप' का निश्चय किया। 'निसि नगर करउँ पइसार'—अति लघु रूप से भी दिन में प्रवेश करना कठिन है, अतएव रात में ही पैठने का निश्चय किया कि कोई देख न पावे।

'पइसार' शब्द का ठीक रूप 'पैठार' है, पर श्रीगोस्वामीजी ने बदल दिया है, क्योंकि चरित-नायक (श्रीहनुमान्‌जी) ने भी अपनी स्मरण रीति बदल दी है। जो 'नर हरि' का स्मरण करने में स्पष्ट है। काल बदला—दिन में पहुँचे और स्वयं दिनचारी हैं, फिर भी रात में पैठने का निश्चय किया। रूप बदला—मशक (मच्छड़) समान हुए। अतएव ग्रन्थकार ने भी अपना शब्द बदल दिया। 'ठ' की जगह 'स' कर दिया। यहाँ श्रीहनुमान्‌जी के अति लघु रूप धरने और रात में प्रवेश करने से रत्तकों की परम सावधानी दिखाई गई है।

(३) 'मसक समान रूप कपि ...'—'मसक'-रूप छोटे रूप की अन्तिम सीमा है; यथा—"तुम्हहि आदि खग मसक प्रजंता।" (उ० दो० ६०); यह रात में दिखलाई भी नहीं पड़ता, इसी से श्रीहनुमान्‌जी ने इतना छोटा रूप धारण किया। रूप तो कपि का ही रहा, पर मच्छड़ के समान छोटे हो गये; यथा— "सूर्ये चास्तं गते रात्रौ देहं संक्षिप्य मारुतिः।" (वाल्मी० ५।२।४६); 'समान' शब्द से जनाया गया है कि मच्छड़ ही नहीं बन गये, किन्तु मच्छड़ के बराबर छोटे हो गये।

शंका—तब उन्होंने अँगूठी कहाँ रक्खी थी ?

समाधान—कपि के रूप के अनुसार अँगूठी भी छोटी हो गई; यथा—"बड़ो गहे ते होत बड़, ज्यों बामन कर दंड। श्रीप्रभु के सँग सों बढ्यो, गयो अखिल ब्रह्मंड॥" (दोहावली ५३१); यह अँगूठी प्रभु का भूषण है, इससे चिद्रूप है, प्रभु के अंग-संगवाले अस्त्र-शस्त्र, भूषण-वस्त्र सभी दिव्य एवं चिद्रूप होते हैं। इस अँगूठी ने श्रीजानकीजी से बातें की हैं ; यथा—"बोलि, बलि मूँदरी ! सानुज कुशल कोसल पाल। ''कियो सीय प्रबोध मुँदरी दियो कपिहि लखाव ..." (गीता सुं० ४)। तब उसका सूक्ष्म हो जाना कोई आश्चर्य-जनक नहीं है। पहले—"गिरि पर चढ़ि लंका तेहि देखी।" पर से प्रसंग छोड़ा था, उसे ही यहाँ—"लंकहि चलेउ ..." से मिलाया। 'सुमिरि नर हरी'—नृसिंहजी को स्मरण करने के भाव—(क) प्रह्लादजी राम-नाम के जापक थे, उसी जप से श्रीरामजी नृसिंह-रूप से प्रकट हुए थे। अतएव इनमें-उनमें कोई भेद नहीं है; यथा—"मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपु धरी॥ जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो॥" (लं० दो० १०८); आकृति-मात्र का भेद है। उस रूप का स्मरण भी साभिप्राय है, नृसिंह-रूप से श्रीरामजी भय-हरण करते हैं ; यथा—"सुनत आइ ऋषि कुस हरे नरसिंह मंत्र पढ़े जो सुमिरत भय भी के।" (गी०बा० १२)। यहाँ भयंकर राक्षसों के बीच प्रवेश करना है। अन्यत्र भी भयहरण प्रसंग में यही विशेषण कहा गया है ; यथा—"पुरुष सिंह दोउ बीर, हरषि चले मुनि भय हरन।" (बा० दो० २०८) ; "पुरुष सिंह बन खेलन आये॥ ''जिन्ह कर मृगयत पाइ दसानन। अभय भये बिचरत मुनि कानन।" (आ० दो० ११)। यहाँ मार्ग-भय-हरण के लिये स्मरण किया गया है (ख) लंका में निशाचरों को मारना, उनके गाल फाड़ना, मुँह तोड़ना और आँतें निकालना है। अतः, उसके योग्य नृसिंह-रूप का स्मरण किया, क्योंकि इन्हें रुधिर आदि से घृणा नहीं है; यथा—"धरि गाल

करहिं घर बिदारहिं गत्त जंवाधरि मेलहीं। प्रह्लाद-पति जनु बिबिध तनु धरि समर अंगन खेलहीं॥" (लं० दो० ८०)। (ग) यह भी सुना जाता है कि जब रावण सब वरदान पा चुका, तब सहसा उसके मन में एक शंका उठी कि कहीं हिरण्यकशिपु की भाँति मैं नृसिंह भगवान् ही से न मारा जाऊँ, क्योंकि वे मेरे पाये हुए वरदान से बाहर हैं। तब, उसने वेद-मंत्रों से नृसिंह भगवान् को आराधन कर वश करना चाहा। वे अपने सहज भयंकर रूप से प्रकट हुए, जिन्हें भय से रावण देख भी न सका। तब वह घबराकर श्रीविभीषणजी से उनकी पूजा करने को कहा, क्योंकि देवता पूजा न पाने से तत्क्षण लंका का नाश कर डालते। श्रीविभीषणजी ने वैष्णव रीति की सामग्री स्वीकार कराकर भगवान् की पूजा की और वे ही भगवान् नरहरि-रूप से वहाँ विराजमान हुए, हरि-मन्दिर, तुलसीवाटिका आदि इसी सम्बन्ध से लंका में रह पाये और श्रीविभीषणजी को स्वधर्माचरण का सुन्दर योग लग गया।

नाम लंकिनी एक निसिचरी। सो कह चलेसि मोहि निंदरी ॥२॥
जानेहि नहीं मरम सठ मोरा। मोर अहार जहाँ लगि चोरा ॥३॥
मुठिका एक महा कपि हनी। रुधिर बमत धरनी ढनमनी ॥४॥

अर्थ—एक राक्षसी लंकिनी नाम की (लंका की रक्षा में तत्पर) थी। उसने कहा कि मेरा निरादर करके (कहाँ) चला जा रहा है? ॥२॥ अरे शठ! तू मेरा मर्म (भेद, स्वभाव) नहीं जानता कि जहाँ तक (लंका में आनेवाले) चोर हैं, वे मेरे आहार हैं ॥३॥ महाकपि श्रीहनुमान्‌जी ने उसे एक मुष्टिका (घूँसा) मारी, जिससे वह खून उगलती हुई पृथिवी पर लुढ़क पड़ी ॥४॥

विशेष—(१) 'नाम लंकिनी'—यह स्वयं लंकापुरी है। निसिचरी'—राक्षसी-रूप में है; यथा—"पुनि संभारि उठी सो लंका।" आगे कहा गया है। "अहं हि नगरी लंका स्वयमेव प्लवंगम। सर्वतः परिरक्षामि अतस्ते कथितं मया॥" (वाल्मी० ५।३।२८); इसने पुर में घुसते ही श्रीहनुमान्‌जी को रोका, इससे जाना गया कि यह लंका-द्वार पर ही बैठी हुई उसकी रक्षा करती थी। रक्षक के बिना पूछे प्रवेश करना उसका निरादर करना है। श्रीहनुमान्‌जी ने न पुरी की पूजा की और न उसे प्रणाम ही किया, यों ही घुस पड़े, इसी से वह कहती है कि क्या तुझे मेरा डर नहीं है?

समुद्र-लंघन-रहस्य

श्रीहनुमान्‌जी को समुद्र-लंघन में नभ की, जल की और स्थल निवासिनी तीन स्त्रियाँ ही बाधक हुईं, और इन्होंने उन तीनों को जीता, तब लंका में प्रवेश कर श्रीसीताजी की खोज में प्रवृत्त हुए। ऐसे ही परमार्थ पक्ष में प्रबल वैराग्यवान् होकर पहले रसना को जीतना चाहिये। रसना के देवता जलाधिपति वरुण हैं, इससे इसका जीतना समुद्र-लंघन के समान है। रसना ही आहार देकर सब इन्द्रियों के सहित देह से प्रमाद कराती है, इसी से इसके जीतने के साथ-ही-साथ देहाभिमान भी जीता जाता है। देहाभिमान को सागर कहा भी गया है; यथा—"कुनप अभिमान सागर भयंकर घोर···प्रबल वैराग्य दारुण प्रभंजन तनय···" (वि० ५८); रसना जीतने में तीनों गुणों के सम्बन्धी तीन प्रकार के आहार कहे गये हैं। गीता १७।८–१० देखिये। देहाभिमान जीतनेवाले विरक्त को प्रथम रामनामांकित-मुद्रिका-रूप राम मंत्रोपदेश राम-रूप-गुरु से प्राप्त करना चाहिये। जैसे श्रीहनुमान्‌जी को मुद्रिकांकित राम-नाम के अर्थ-रूप सातों काण्ड

के चरित चन्द्रमा मुनि और जाम्बवान्-द्वारा प्राप्त हुए, वैसे ही मुमुक्षु भी गुरुमुख से मंत्रार्थ श्रवण करे। जैसे उसके बाद वे समुद्र-लंघन में तत्पर हुए, वैसे ही यह भी देहाभिमान जीतने में लगे। जैसे वहाँ पहले इन्हें सुरसा मिली, वैसे ही इसे भी विद्या रूपा सात्त्विकी माया का सामना करना पड़ता है। सात्त्विक आहार-सहित इसे विद्या पढ़ना एवं सत्संग करना चाहिये। जिस प्रकार सुरसा का मुँह बढ़ने लगा, उसी प्रकार इसे भी विद्या का अपेक्षा बढ़ती ही जाती है। जैसे सुरसा का मुख सौ योजन का हो गया वैसे विद्या का भी विस्तार अनंत है। अतः, यह दीनता-रूपी लघु-रूप से विद्या के हृदय का तत्त्व ब्रह्म-विद्या को जान उससे पृथक् हो जाय और साधन के लिये उद्यत हो, तब वह विद्या सुरसा की तरह आशिष देती है। फिर तमोगुणी माया का सामना करना पड़ता है। जल में सिंहिका रहती थी, उसने श्रीहनुमान्जी की छाया को खींचकर इनका गति-रोध किया। वैसे तामसाहंकार से शब्दादि विषय होते हैं, वे खार जल-रूप हैं; यथा—"विषय वारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।" (वि० १०२)। विषय-संबंध से राग द्वेष आदि मुमुक्षु का गति-रोध करते हैं। अत', यह इन्हें नाश ही करने का प्रयत्न करे। पुनः श्रीहनुमान्जी को आगे स्थल पर लंकिनी मिली। वैसे ही इसे भी रजोगुणी माया का सामना करना पड़ता है। इसका विकार देह-पोषण करना है। इस माया को प्रथम तो व्रतोपवास आदि से वश में करे, जिस प्रकार एक मुष्टिका मारकर श्रीहनुमान्जी ने लंकिनी को अधीन किया है। तब लंकिनी राम-कार्य में सहायक हुई, वैसे ही स्वाधीन इन्द्रियों के साथ देह भी परमार्थ साधन में सहाय होती है।

तात्पर्य यह कि सुरसा रूपी सत्त्वगुणी माया से मिलकर चलना अर्थात् सत्त्ववृत्ति रखनी चाहिये। सिंहिका-रूपी तमोगुणी माया; अर्थात् राग-द्वेषादि को नाश करना चाहिये और रजोगुणी माया-रूपी देह-पोषकता को निर्वाह-मात्र के लिये रखना चाहिये। तब भक्ति महारानी एवं ब्रह्म विद्या की प्राप्ति होती है।

(२) 'जानेहि नहीं मरम···'—श्रीहनुमान्जी की निर्भीकता देखकर कहती है कि क्या तू मेरा मर्म नहीं जानता, यथा—"निर्भय चलेसि न जानेहि मोही।" (मा० दो० २४); मर्म न जानना निरादर का कारण है। अतः, न जानने पर शठ कहा। अपना मर्म वह स्वयं कहती है; यथा—"मोर अहार जहाँ लगि चोरा।" 'जहाँ लगि' अर्थात् जितने में मेरा (लंका का) विस्तार है। वहाँ तक के चोरों को ही मैं खाती हूँ, अर्थात् वे मुझसे छूटकर नहीं जा पाते।

(३) 'मुठिका एक महा कपि हनी।···'—इसे श्रीहनुमान्जी ने मुष्टिका मारी, क्योंकि—(क) इसने चोर को पहचाना और उससे बातें कीं। जो चोर को पहचानता है और उससे बातें करता है, चोर उसे मारता ही है; यथा—"चीन्हों चोर जिय मारिहै तुलसी-सो कथा सुनि···" (वि० २६६); (ख) यह राम-कार्य में बाधक हुई। अतः, राक्षसी है। कहीं यह सचेत रहे, और औरों को मेरा आना जना देगी, तो अभीष्ट कार्य में विघ्न होगा। 'महाकपि'—लंकिनी के समक्ष पूर्ववत् पर्वताकार हो गये। इसी से आगे फिर लघु रूप का होना कहा गया है; यथा—"अति लघु रूप धरेउ हनुमाना।" इससे यह भी जाना गया कि लंकिनी का रूप भारी था। इसी से इन्हें भी भारी ही होना पड़ा।

श्रीहनुमान्जी के घूँसे से मेघनाद, कुंभकर्ण और रावण भी मूर्च्छित हो गये हैं, क्रमशः प्रमाण—"मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई। ताहि एक छन मुरछा आई॥" (दो० १८); "तब मारुतसुत मुठिका हन्यो। परयो धरनि ब्याकुल सिर धुन्यो॥" (लं० दो० ६५), "मुठिका एक ताहि कपि मारा। परेउ सैल जनु बज्र प्रहारा॥" (लं० दो० ८२)। पर यह मूर्च्छित नहीं हुई। इससे जाना गया कि वैसा घूँसा इसे नहीं लगा—"भी जानकर बायें हाथ के मूक्के से मारा और अत्यन्त कोप से भी नहीं मारा।"

(वाल्मी० ५।३।१०-३१); इसपे घूँसे से भी विह्वल होकर इस राक्षसी ने कई डुनमुनियाँ खाईं, पर तुरत सचेत हो गई और उसे ब्रह्मा का वरदान याद आ गया।

पुनि संभारि उठी सो लंका। जोरि पानि कर बिनय ससंका ॥५॥
जब रावनहि ब्रह्म बर दीन्हा। चलत बिरंचि कहा मोहि चीन्हा ॥६॥
बिकल होसि तैं कपि के मारे। तब जानेसु निसिचर संहारे ॥७॥
तात मोर अति पुन्य बहूता। देखेउँ नयन राम कर दूता ॥८॥

अर्थ—फिर वह लंका अपनेको सँभालकर उठी और डरती हुई हाथ जोड़कर बिनती करने लगी ॥५॥ कि ब्रह्माजी ने रावण को वर दिया था, तब चलते समय विरंचि (ब्रह्माजी) ने मुझसे (निशाचर-नाश का) यह चिह्न बतलाया था ॥६॥ कि जब तू कपि के मारने पर व्याकुल होगी, तब जान लेना कि निशाचरों का नाश होना है (और धर्मात्मा राजा होगा) ॥७॥ हे तात ! मेरा बड़ा भारी पुन्य (उदय हुआ) है कि मैंने श्रीरामजी के दूत को आँखों से देखा ॥८॥

विशेष—(१) 'पुनि संभारि उठी···'—'संभारि' से व्याकुल होना दिखलाया, जो आगे स्पष्ट है; यथा—"बिकल होसि तैं कपि के मारे। 'सो लंका'—श्रीगोस्वामीजी ने प्रथम इसे 'एक निसिचरी' कहा था, क्योंकि यह स्वयं अपनेको छिपाये हुए थी। अब यह अपनेको प्रकट करने लगी, तब आपने स्पष्ट कह दिया कि 'सो लंका' अर्थात् वही लंका नगरी है। यह मन, वचन और कर्म से नम्र हुई—'ससंका'—मन, 'जोरि पानि'—कर्म और 'कर बिनय' यह वचन है। सशंक है कि कहीं फिर न मारें। क्योंकि इसने उन्हें चोर कहा था, और उसके बदले में मारी गई। शठ भी कहा था, उसका बदला अभी शेष है।

(२) 'चलत बिरंचि कहा···'—वाल्मी० ५।३।४६-५१ में लंकिनी ने कहा है कि स्वयं ब्रह्माजी ने मुझे वर दिया था कि कोई वानर जब पराक्रम से तुम्हें जीत ले, तब समझ लेना कि निशाचरों पर विपत्ति आ गई। वह समय आ गया, श्रीसीताजी के कारण रावण का नाश होगा। तुम नगरी में प्रवेश करो और जो काम चाहते हो, करो। इस शापहत पुरी में पैठकर श्रीसीताजी को खोजो।

अग्निपुराण में यह भी कहा है कि जब ब्रह्मा ने रावण को ५ करोड़ वर्ष राज्य करने को कहा तब इसने ब्रह्माजी से प्रार्थना की कि मुझे दुष्टों का संग कब तक भोगना होगा, कभी धर्मात्मा का भी राज्य होगा या नहीं ? इसपर ब्रह्माजी ने उससे भी उपर्युक्त बातें कहीं और यह भी कहा कि पीछे धर्मात्मा का राज्य होगा।

ब्रह्मा का विधान कहकर अपनी सफाई भी दी कि मेरा दोष नहीं, होनी ही ऐसी थी; यथा—"स्वयंभूविहितः सत्यो न तस्यास्ति व्यतिक्रमः ॥" (वाल्मी० ५।३।४६)।

(३) 'मोर अति पुन्य बहूता'—राम-भक्त के दर्शन बड़े भाग्य से होते हैं; यथा—"पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। (उ० दो० ४४)। 'देखेउँ नयन'—आपको संत लोग ध्यान से देखते हैं, वही आप मेरी आँखों के सामने हैं; यथा—"देखेउँ नयन बिरंचि सिव, सेव्य जुगल पद कंज।" (दो० ४७); 'राम कर दूता'—से सिद्ध होता है कि इससे ब्रह्माजी ने संक्षेप में रामायण भी कही थी, जैसे चन्द्रमा मुनि ने संपाती से कही थी। नहीं तो "बिकल होसि तैं कपि के मारे।···" मात्र में इनका रामदूतत्व आदि यह कैसे जानती ? 'तात' शब्द यहाँ श्रेष्ठतापरक है।

दोहा—तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग ॥४॥

प्रबिसि नगर कीजै सब काजा। हृदय राखि कोसलपुर-राजा ॥१॥

अर्थ—हे तात ! स्वर्ग और मोक्ष के सुखों को तराजू के एक पलरे में रखिये और लव-मात्र सत्संग-सुख को दूसरे पलरे में रखिये, तो (वे) सब (स्वर्ग और अपवर्ग) सुख मिलकर भी उस सुख के बराबर नहीं हो सकते, जो लव-मात्र के सत्संग से होता है ॥४॥ कोशलपुर के राजा श्रीरामजी को हृदय में रखकर नगर में प्रवेश करके सब कार्य कीजिये ॥१॥

विशेष—(१) 'तात स्वर्ग अपवर्ग सुख ···'—संसार के सभी सुखों से स्वर्ग का सुख अधिक है और स्वर्ग-सुख से भी मोक्ष का सुख अधिक है। परन्तु उनसबों से सत्संग का सुख अधिक है। सकाम कर्म का फल स्वर्ग-सुख है ; यथा—"कामात्मानः स्वर्गपरा ···" (गीता २।४३); ज्ञान का फल मोक्ष है ; यथा—"ज्ञान मोच्छ प्रद बेद बखाना।" (आ० दो० १५); और उपासना का फल सत्संग है ; यथा—"मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई ॥" (बा० दो० २००); "जब द्रवै दीन दयालु राघव साधु संगति पाइये। जेहि दरस परस समागमादिक पाप रासि नसाइये ॥" (वि० १३६); कहीं-कहीं भक्ति का प्रथम अंग ही सत्संग कहा गया है ; यथा—"प्रथम भगति संतन्ह कर संगा ॥" (आ० दो० ३४); तात्पर्य यह है कि सामान्य संतों का संग साधन है और विशेष संतों का संग होना भक्ति का फल है।

शंका—सत्संग का फल अपवर्ग कहा गया है; यथा—"संत संग अपवर्ग कर" (उ० दो० ३३); तब यहाँ इसे अपवर्ग से भी अधिक क्यों कहा गया ?

समाधान—यहाँ तात्कालिक फल की अपेक्षा से विशेष कहा गया है; यथा—"मज्जन फल पेखिय ततकाला। काक होहिं पिक बकउ मराला ॥" (बा० दो० २); अर्थात् सत्संग से तुरत ही जीवन्मुक्ति-दशा आ जाती है और साधनों से मरने पर वह फल मिलता है। यहाँ अन्य साधनों से प्राप्य अपवर्ग का प्रसंग जानना चाहिये।

शंका—यहाँ तो लंकिनी ने श्रीहनुमान्‌जी को शठ और चोर कहा और उन्होंने इसे घूँसा मारा। इसमें सत्संग का कौन रहस्य ?

समाधान—यहाँ दर्शन और स्पर्श का प्रभाव है; यथा—"सत्संगति दुर्लभ संसारा। निमिष दंड भरि एकउ बारा ॥" (उ० दो० १२२); यहाँ निमिष भर का सत्संग तो दर्शन ही हो सकेंगे। 'जो सुख लव सतसंग'; यथा—"संत मिलन सम सुख कछु नाहीं।" (उ० दो० १२२)।

यहाँ भी घड़ी मात्र के सत्संग से ही लंकिनी तामसी वृत्ति को छोड़कर सात्त्विक वृत्तिवाली हो गई। कहा भी है—"तुलयाम लवेनापि न स्वर्ग नापुनर्भवम्। भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥" (भाग० १।१८।१३)।

(२) 'प्रबिसि नगर कीजै···'—भाव यह है कि तुम्हारे इस अति लघु रूप से मैं ही परिचित हो सकी हूँ, दूसरा नहीं जान सकता। अतः, निर्भय होकर प्रवेश करके सब कार्य करो। 'सब काजा'—

ब्रह्माजी ने सूक्ष्म रीति से चरित कहा था, उसी से यह जानती है कि ये श्रीसीताजी का शोध, अशोक वाटिका का उजाड़ना और बहुत-से राक्षसों का वध आदि कई कार्य करेंगे।

(३) 'हृदय राखि कोसलपुर राजा।'—यह कार्य-सिद्धि होने के उपाय बतला रही है; क्योंकि लंका में प्रवेश करना कठिन है; यथा—"नहि युद्धेन वै लङ्का शक्या जेतुं सुरैरपि॥" (वाल्मी० ५ २।२५); इसी से बार-बार हरि-स्मरण करना कहा जाता है; यथा—"लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी।" (दो० १); आगे भी—"पैठा नगर सुमिरि भगवाना।" कहा गया है। तथा—"रघुपति चरन हृदय धरि, तात मधुर फल खाहु॥" (दो० १७); इत्यादि। 'कोसलपुर राजा'—स्मरण से श्रीरामजी वैसे ही रक्षा करेंगे, जैसे कोशलपुर की रक्षा करते हैं। पुनः इनके आश्रित होकर जो राक्षस-वध, लंकादहन आदि करोगे, उसमें तुम्हें कोई दोष न देगा; यथा—"प्रभु समर्थ कोसलपुर राजा। जो कछु करहिं उन्हें सब छाजा॥" (बा० दो० १६); पुनः इस स्मरण से लंका का ऐश्वर्य देखकर श्रीहनुमान्‌जी को मोह न होगा, क्योंकि कोशलपुर का ऐश्वर्य लंका की अपेक्षा बहुत अधिक है।

गरल सुधा रिपु करइ मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई॥२॥
गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा जाही॥३॥

अर्थ—हे गरुड़! जिसको रामजी ने कृपा-दृष्टि से देखा, उसके लिये विष अमृत हो जाता है, उससे शत्रु मित्रता करता है, उसके लिये समुद्र गोपद के समान हो जाता है, अग्नि शीतल हो जाती है और सुमेरुपर्वत धूल के समान हो जाता है॥२-३॥

विशेष—'राम कृपा करि···'; यथा—"सकल विघ्न व्यापहिं नहिं तेही। राम सुकृपा बिलोकहिं जेही॥" (बा० दो० ३८); यहाँ विरोधी पदार्थों का अनुकूल होना कहकर राम-कृपा की महिमा कही गई। 'जाही' अर्थात् कोई भी हो, वही ऐसा हो जाय। इसका ठीक विपर्यय भी कहा गया है, यथा—"मातु मृत्यु पितु समन समाना। सुधा होइ बिष सुनु हरि जाना॥ मित्र करइ सत रिपु कै करनी। ता कहँ बिबुध नदी बैतरनी॥ सब जग ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥" (अा० दो० १); इन दोनों स्थानों में तथा अन्यत्र भी नीति के प्रसंग में प्रायः भुशुंडीजी की ही उक्ति रहती है, क्योंकि इन्होंने गुरुजी से नीति सीखी है; यथा—"एक बार गुरु लीन्ह बोलाई। मोहि नीति बहु भाँति सिखाई॥" (उ० दो० १०५)।

यहाँ पाँच बातों का विपर्यय होना कहा गया है, ये सब हनुमान्‌जी में ही चरितार्थ हैं—(१) 'गरल सुधा'—सुरसा सर्पों की माता होने से गरलमय है, वह इन्हें ग्रास करने को आई थी, यथा—"आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा।" और वही राम-कृपा से फिर आशिष देनेवाली हो गई; यथा—"राम काज सब करिहहु···" (२) 'रिपु करइ मिताई'—लंकिनी शत्रु पुर की अधिष्ठात्री-देवी थी, पहले उसने शत्रुता की बातें कीं, यथा—"जानेहि नहीं मरम सठ मोरा···" फिर मित्रता की बात करने लगी; यथा-"प्रबिसि नगर कीजै सब काजा।" (३) 'गोपद सिंधु', यथा—"बारिधि पार गयउ मति धीरा॥" (४) 'अनल सितलाई' यथा—"जरा न सो तेहि कारन गिरिजा॥" (दो० २५); (५) 'सुमेरु रेनु सम'; यथा—"जेहि गिरि चरन देइ हनुमंता। चलेउ सो गा पाताल तुरंता॥" (दो० १); "सहसा कपि उपारि गिरि लीन्हा॥ गहि गिरि निसि नभ धावत भयऊ।" (लं० दो० ५६)।

उपर्युक्त (४)-(५) भविष्य के हैं। इनमें सुरसा और लंकिनी को एक साथ कहा गया है, समुद्र लाँघने

पर लंकिनी मिली थी। अत, 'गोपद सिंधु' की व्यवस्था पहले की है, पर मद-भंग किया गया है। इसका कारण यह है कि सुरसा और लंकिनी में समानता है—दोनों के नाम कहे गये; यथा—'सुरसा नाम'...' और 'नाम लंकिनी'; दोनों के आहार भी समान ही हैं; यथा—"आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा।" और "मोर अहार लंक कर चोरा।", दोनों में देव-आज्ञा की भी समता है; यथा—"मोहि सुरन्ह जेहि लागि पठावा।" और "चलत बिरंचि कहा मोहि चीन्हा।"; दोनों ने राम-कार्य की अनुमति दी; यथा—"राम काज सब करिहहु···" और "प्रबिसि नगर कीजे सब काजा।"; दोनों प्रसन्न हुईं, यथा—"आसिष देइ गई सो··" और "तात मोर अति पुन्य बहूता, देखेउँ···" इत्यादि।

अति लघु रूप धरेउ हनुमाना। पैठा नगर सुमिरि भगवाना ॥४॥
मंदिर मंदिर प्रति करि सोधा। देखे जहँ तहँ अगनित जोधा ॥५॥

अर्थ—अत्यन्त छोटा रूप धरकर और भगवान् का स्मरण करके श्रीहनुमानजी ने नगर में प्रवेश किया ॥४॥ एक-एक करके सब मंदिरों को अच्छी तरह खोजा। जहाँ-तहाँ (या, जहाँ देखें तहाँ ही) अगणित योद्धा देखे ॥५॥

विशेष—(१) 'अति लघु रूप धरेउ हनुमाना'—पहले श्रीहनुमानजी ने मशक के समान अति-लघु रूप धारण किया था, फिर लंकिनी को मारने के समय उनका रूप विशाल हो गया और उस रूप को 'महाकपि' शब्द से व्यक्त किया गया। अब फिर पूर्ववत् मशक के समान हो गये। पहले जब वे लंका को चले थे, तब नृसिंहजी का स्मरण किया था, नगर के बाहर बहुत-से रक्षक थे और उनसे रक्षा पाने के लिये उस रूप का स्मरण उपयुक्त था, क्योंकि वह अवतार भक्त के रक्षा-के लिये ही हुआ। यहाँ भगवान् का स्मरण कहकर उनकी परैश्वर्य पूर्णता का ध्यान करते हैं कि लंका के ऐश्वर्य का मोह न हो जाय। या, लंका अति बंका दुर्ग है। अतः, उसमें प्रवेश पाने के लिये बार-बार नृसिंहजी का नाम स्मरण करते हैं।

(२) 'मंदिर-मंदिर प्रतिकरि सोधा।'—यद्यपि संपाती ने अशोकवाटिका में ही श्रीसीताजी का रक्खा जाना कहा था, तो भी मंदिर-मंदिर में खोजते हैं, इसके कारण ये हैं—(क) संपाती ने दिन की बात कही है, रात में सम्भवतः अशोकवाटिका में न रक्खी गई हों, महलों में हों; यथा—"मंदिर महँ न दीख बैदेही।" आगे कहा ही है। (ख) चोर की नीति है कि वह चोरी की वस्तु एक ही स्थान पर नहीं रखता। अतः, श्रीहनुमानजी नगर भर ढूँढ़ते हैं। (ग) अशोकवाटिका भी तो इन्हें अभी नहीं मालूम है, इसलिये सर्वत्र एक तरफ से ढूढ़ते हैं। श्रीरामजी ने यह कहा भी है, यथा—"देखि दुर्ग बिसेष जानकि जानि रिपु गति आव।" (गी० सुं० २)।

'देखे जहँ तहँ अगनित जोधा।'—जहाँ-तहाँ बहुत-से योद्धा ही दिखलाई पड़े, पर श्रीसीताजी न दिखाई पड़ीं। इन्होंने सभी योद्धाओं को देखा, पर इन्हें कोई भी न देख पाया। पहले जो योद्धा कहे गये हैं वे कोट के बाहर के थे; यथा—"करिसतन भट कोटिन्ह···" और ये योद्धा भीतर के हैं। अर्थात् ये भीतर के रक्षक हैं। मंदिरों में श्रीहनुमान्जी को और भी बहुत-सी वस्तुएँ दिखलाई पड़ीं, पर जो योद्धा हैं, इसी से योद्धाओं पर इनकी विशेष दृष्टि पड़ी, इसी लिये कहा गया।-

गयउ दसानन-मंदिर माहीं। अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं ॥६॥
सयन किये देखा कपि तेही। मंदिर महुँ न दीखि बैदेही ॥७॥

भवन एक पुनि दीख सुहावा। हरि-मंदिर तहँ भिन्न बनावा ॥८॥

दोहा—रामायुध अंकित गृह, सोभा बरनि न जाइ।
नवतुलसिका बृंद तहँ, देखि हरष कपिराइ ॥५॥

अर्थ—वे रावण के मंदिर में गये, वह (जैसा) अत्यन्त विलक्षण सुन्दर था, वैसा कहा नहीं जा सकता ॥६॥ श्रीहनुमान्‌जी ने उसे सोते हुए देखा, पर उस महल में विदेह कुमारीजी को नहीं देखा ॥७॥ फिर एक और सुन्दर घर देखा, उसमें एक हरि मंदिर पृथक् बना हुआ था ॥८॥ वह घर श्रीरामजी के आयुध (धनुष-बाण) से अंकित था; अर्थात् उसपर धनुष बाण के चिह्न बने हुए थे, (इससे एवं और भी सर्वांगपूर्णता से) उसकी शोभा वर्णन नहीं की जा सकती। वहाँ नवीन तुलसी के वृक्ष-समूह देखकर कपिराज श्रीहनुमान्‌जी हर्षित हुए ॥५॥

विशेष—(१) 'दसानन मंदिर'—जितने घर श्रीहनुमानजी ने देखे, उनके नाम नहीं जाने; पर इसके दस शिर देखकर समझे गये कि यही रावण है। इसी से गोस्वामीजी ने भी वैसा ही लिखा है। 'अति विचित्र'—पुर के और घर तो विचित्र हैं ही; यथा—"कनक कोट बिचित्रमनिकृत···" (दो० ३) पर यह तो राज-महल है, इसी से 'अति विचित्र' है; यथा—"सुनासीर सत सरिस सो, संतत करइ बिलास।" (लं० दो० १०)। वाल्मीकीय रामायण ५।४।२४-३० में विस्तार से कहा है, उसी को यहाँ 'अति विचित्र' से व्यक्त किया गया है।

(२) 'सयन किये देखा···'—अन्यत्र रक्षक का भी रहना कहा गया है, पर यह राजा का शयनागार है, इसी से यहाँ रक्षक नहीं हैं। यहाँ सीताजी का रहना संभव हो सकता था, पर वे यहाँ नहीं हैं। 'वैदेही' शब्द से ग्रंथकार श्रीहनुमान्‌जी का अनुमान करना प्रकट करते हैं कि श्रीजानकीजी रावण के भय से और रामवियोग में देह-रहित हो गई होंगी। इसमें यह भी भाव है कि उन्होंने और-और प्राकृत देहवाली देव-कन्याओं एवं मंदोदरी आदि को देखा; पर श्रीवैदेहीजी न दीख पड़ीं।

(३) 'भवन एक पुनि दीख सुहावा।···'—रावण के घर के समीप ही विभीषण का भी घर था, इसी से दोनों साथ ही कहे गये। स्नेह-वश रावण इन्हें अपने समीप ही रखता था। 'एक'—सात्त्विक साज से सजा घर लंका भर में यह एक ही था। 'हरि मंदिर तहँ···'—विभीषणजी ने ब्रह्माजी से निर्मल हरि-भक्ति माँगी थी। इसी से वह विना हरि-मंदिर एवं भगवत्पूजा के नहीं रह सकता था। अतः, रावण भ्रातृस्नेह से अपने विरोधी आचरण को भी सहता था। वह यह जानता ही था कि ब्रह्मा का वचन अन्यथा नहीं हो सकता। इसका एक कारण ऊपर दो० ३ चौ० १ में भी कहा गया है। 'भिन्न बनावा'—भगवान् का मंदिर घर से कुछ पृथक् होना चाहिये। जिससे सूतक आदि दोषों से बचा रहे। पर इतना दूर भी न हो कि जहाँ दूर होने के कारण हर समय की सेवा-पूजा में पहुँचना कठिन जान पड़े।

(४) 'रामायुध अंकित गृह···'—श्रीविभीषणजी रामरूप के ही उपासक थे, इसी से रामायुध का चिन्ह भी रखते थे। 'नव तुलसिका'—वैष्णव संत हरि-मंदिर के पास तुलसी अवश्य ही लगाते हैं; यथा—"तीर तीर तुलसिका सुहाई। बृंद बृंद बहु मुनिन्ह लगाई॥" (उ० दो० २८)। यहाँ ही सात्त्विक साज देखा, इसी से 'सुहावा' कहा नहीं तो 'विचित्र' आदि शब्दों से ही कहते। यह इन्हें प्रिय लगा,

इसी से यहाँ हर्ष होना कहा है। 'कपिराई'—का भाव मं० श्लोक के 'वानराणामधीशं' में देखिये। 'नवतुलसिका'—नवीन कोमल मंजरी सहित तुलसी पूजा में श्रेष्ठ है।

लंका निसिचर-निकर निवासा। इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा ॥१॥
मन महुँ तरक करइ कपि लागा। तेही समय बिभीषन जागा ॥२॥
राम राम तेहि सुमिरन कीन्हा। हृदय हरष कपि सज्जन चीन्हा ॥३॥

अर्थ—लंका में निशाचर-समूह का निवास है, यहाँ सज्जन का निवास कहाँ? ॥१॥ श्रीहनुमान्‌जी मन में तर्क करने लगे, उसी समय श्रीविभीषणजी जागे ॥२॥ उन्होंने (श्रीविभीषणजी ने) 'राम-राम' उच्चारण किया, कपि श्रीहनुमान्‌जी ने उन्हें सज्जन जाना और हृदय में हर्षित हुए ॥३॥

विशेष—(१) 'लंका निसिचर निकर···'—जहाँ एक भी दुष्ट होता है, वहाँ पर सज्जन का वास नहीं होता और यहाँ तो दुष्ट के समूह ही हैं, इनके बीच में एक सज्जन कैसे रह सकता है? यथा—"सुनहु असंतन केर सुभाऊ। भूलेहु संगति करिय न काऊ॥" (उ० दो० ३८); "खल परिहरिय स्वान की नाईं॥" (उ० दो० १०५)।

(२) 'मन महुँ तरक···'—तर्क करने के कारण ये हैं कि दुष्टों के बीच में सज्जन रह नहीं सकता। यदि मानें कि यह सज्जन नहीं, दुष्ट ही होगा तो भी यह तर्क होता है कि यह सज्जन के साज—हरि मंदिर बनाना और उसे रामायुध से अंकित करना एवं तुलसी लगाना आदि—क्यों सजाता?

(३) 'तेही समय बिभीषन जागा।'—सज्जन प्रहर-भर रात रहे जागते हैं; यथा—"पछिले पहर भूप नित जागा। आजु हमहिं बड़ अचरज लागा॥" (अ० दो० ३७), और इसी समय ब्रह्म-मुहूर्त में श्रीविभीषणजी भी जगे। इससे स्पष्ट है कि श्रीहनुमान्‌जी को खोजते हुए तीन पहर बीत गये। इसका एक यह भी कारण हो सकता है कि भक्त (हनुमान्‌जी) के तर्क-निराकरण के लिये ही श्रीरामजी ने इन्हें अपनी प्रेरणा से जगा दिया। जैसे—"सुनत निसाचर मारन धाये। सचिवन्ह सहित बिभीषन आये॥" (दो० ११) अर्थात् भक्त की रक्षा के लिये और शत्रु पुर-दहन के लिये भगवान् ने ही यह योग लगा दिया। वैसे यहाँ भी विभीषण का सद्भाव प्रकट करने के लिये—"तेही समय बिभीषन···"।

(४) 'राम राम तेहि···'—सज्जन जागने पर राम-नाम का स्मरण करते हैं; यथा—"राम-नाम सिव सुमिरन लागे। जानेउ सती जगतपति जागे॥" (बा० दो० ५८)। 'हृदय हरष'—यह दीपदेहली है। श्रीविभीषणजी ने हृदय से आह्लादपूर्वक (प्रेम से) राम-नाम का स्मरण किया, तब कपि को परम हर्ष हुआ। पहले बाहरी चिह्नों को देखकर जो तर्क उत्पन्न हुआ था, वह अब यहाँ हार्दिक प्रीति देखने से दूर हो गया; यथा—"कपि के बचन सप्रेम सुनि, उपजा मन बिस्वास। जाना मन क्रम बचन यह, कृपासिंधु कर दास॥" (दो० १३)। ऊपर चिह्नों से अंतःकरण का चिह्न विशेष है। ऊपरी बातें बनावटी भी होती हैं, पर हृदय का भाव कभी नहीं छिप सकता। पहले ऊपरी चिह्न को देखकर सामान्य हर्ष ही हुआ था। अब भीतरी चिह्न पाने से विशेष हर्ष हुआ कि इनसे हमारा कार्य हो सकेगा। 'सज्जन चीन्हा'—उपर्युक्त भीतरी और बाहरी चिह्न ही सज्जनों के परिचायक हैं। इससे यह भी सूचित किया गया कि श्रीहनुमान्‌जी इसी तरह कपटी के पहचानने में भी निपुण हैं; यथा—"तासु कपट कपि तुरतहिं चीन्हा।" (दो० २)।

येहि सन हठि करिहउँ पहिचानी। साधु ते होइ न कारज-हानी ॥४॥

विप्ररूप धरि बचन सुनाये। सुनत बिभीषन उठि तहँ आये ॥५॥
करि प्रनाम पूछी कुसलाई। बिप्र कहहु निज कथा बुझाई ॥६॥

अर्थ—इससे हठ करके जान-पहचान करूँगा, साधु से कार्य की हानि नहीं होती ॥४॥ यह विचार ब्राह्मण का रूप धारणकर वचन सुनाया, सुनते ही श्रीविभीषणजी उठकर वहाँ आये ॥५॥ और प्रणाम करके कुशल पूछी—हे विप्र ! अपनी कथा समझाकर कहिये ॥६॥

विशेष—(१) '''हठि करिहउँ पहिचानी।'—ये साधु हैं, और साधु प्रायः किसी से जान-पहचान नहीं करते; यथा—"सदा रहहिं अपनपौ दुराये। सब बिधि कुसल कुबेष बनाये॥" (बा० दो० १६०); पर मैं अपने कार्य के लिये हठ-पूर्वक (अर्थात् अपनी ओर से) जान-पहचान करूँगा। क्योंकि जैसे मैंने इन्हें पहचान लिया, वैसे ही यदि ये भी मुझे पहचान लें तो कार्य बन जाय, किन्तु अभी तो मैं सूक्ष्म (अप्रकट) रूप में हूँ, यदि प्रकट रूप में हो जाऊँ तो हानि होने की सम्भावना है, जैसा कि इसी ग्रन्थ में रुद्रगण और शुकसारन की हानि होना लिखा है। इसी पर कहते हैं—"साधु ते होइ न कारज हानी।" साधु तो पर-कार्य साधक होते हैं। ऊपर सज्जन कहा, उसे यहाँ साधु कहा। इस तरह दोनों को पर्यायवाचक जनाया।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में श्रीहनुमान्‌जी और श्रीविभीषणजी का यह संवाद नहीं है। पर आगे श्रीहनुमान्‌जी को वध-दंड से छुड़ाने के लिये श्रीविभीषणजी का रावण से पैरवी करना और लंकादहन के समय श्रीहनुमान्‌जी का श्रीविभीषणजी का घर बचा देना एवं शरण आने पर श्रीविभीषणजी को ग्रहण करने के लिये श्रीहनुमान्‌जी का प्रभु से पैरवी करना आदि देखने से इन दोनों की भेंट होना ही सिद्ध होता है। पुनः पूर्व-परिचय बिना एका-एक परम नीति निपुण श्रीविभीषणजी का श्रीरामजी की शरण में आना भी अस्वाभाविक है। यह संवाद श्रीविभीषण शरणागति का बीज है।

(२) 'बिप्ररूप धरि'' '—श्रीविभीषणजी को साधु जानकर भी विप्र-रूप धरने का प्रयोजन यह हुआ कि संत ब्राह्मणों से प्रेम करते हैं; यथा—"द्विज-पद-प्रीति धरम जनयत्री।'''ये सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर॥" (उ० दो० ३७)। श्रीहनुमान्‌जी अन्य रूपों के प्रसंग में प्रायः विप्र-रूप से ही मिलते हैं। जैसा कि श्रीरामजी से किष्किंधाकाण्ड में और श्रीभरतजी से उत्तरकाण्ड में मिले हैं। केवल श्रीजानकीजी के यहाँ ही विप्ररूप से नहीं मिले, क्योंकि रावण ने विप्र बनकर ही उनसे छल किया था। संभव था कि उन्हें अब उस रूप पर विश्वास न होता। ऐसी सँभाल करना श्रीहनुमान्‌जी की बुद्धिमानी है। 'बचन सुनाये'—श्रीविभीषणजी ने राम-नाम का स्मरण किया था। अतः, यह उन्हें प्रिय लगेगा और इसे सुनकर मेरे पास आवेंगे। इस विचार से रामनामोच्चारण रूपी वचन ही सुनाना जान पड़ता है। इसी से वे सुनते ही उठकर आये, और उन्होंने कहा भी—"मोरे हृदय प्रीति अति होई।" श्रीहनुमान्‌जी ने श्रीविभीषणजी को सुनाने के लिये राम-नाम कहा, इसीसे सुनाना कहा गया है। श्रीविभीषणजी ने स्वयं प्रेम से स्मरण किया है। अतः, यहाँ 'सुमिरन' कहा गया है।

(३) 'करि प्रनाम'''—विप्र को लक्षणों से पहचान कर प्रणाम किया, फिर कुशल पूछी। यह शिष्टाचार है। 'बुझाई'—अर्थात् यहाँ 'खल मनुजाद द्विजामिष भोगी।' रहते हैं। इनके बीच में और रात्रि के अवसर पर आप यहाँ कुशलपूर्वक आये, यह आश्चर्य का विषय है। अतः, समझाकर अपनी कथा कहिये।

की तुम्ह हरि-दासन्ह महँ कोई। मोरे हृदय प्रीति अति होई ॥७॥
की तुम्ह राम दीन-अनुरागी। आयहु मोहि करन बड़ भागी ॥८॥

दोहा—तब हनुमंत कही सब, राम-कथा निज नाम।
सुनत जुगल तन पुलक मन, मगन सुमिरि गुन-ग्राम ॥६॥

अर्थ—क्या आप हरिभक्तों में से कोई हैं? (क्योंकि) मेरे हृदय में (आपके प्रति) अत्यन्त प्रीति (स्वतः) हो रही है ॥७॥ या आप दीनों पर अनुराग रखनेवाले श्रीरामजी हैं, जो मुझे बड़ा भाग्यवान् बनाने आये हैं ॥८॥ तब श्रीहनुमान्‌जी ने सब राम-कथा और अपना नाम कहा, सुनते ही दोनों के शरीर पुलकित हो गये और श्रीरामजी के गुण समूह स्मरण कर दोनों के मन मग्न हो गये ॥६॥

विशेष—(१) 'हरि दासन्ह महँ कोई'—हरिदास नारदादि प्रायः सर्वत्र विचरा करते हैं। पुनः ऐसे ही समर्थ हरिदास यहाँ आ भी सकते हैं। इसी से 'कोई' यह मुख्य-वाचक कहा है। अपने अनुमान को पुष्ट करते हैं; यथा—"मोरे हृदय प्रीति अति होई"; एवं—"हरिजन जानि प्रीति अति बाढ़ी।" (दो० १३); यहाँ श्रीहनुमान्‌जी ब्राह्मण वेष में अर्थात् साधु हैं। इसी से इनपर स्वाभाविक प्रीति उमड़ रही है; यथा—"सहज बिराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा ॥...ताते प्रभु पूछउँ सतिभाऊ।" (बा० दो० २१५)। संत एवं विप्र में अति प्रीति होनी चाहिये; यथा—"प्रथमहि बिप्र चरन अति प्रीती। ...संत चरन पंकज अति प्रेमा।..." (अा० दो० १५)।

(२) 'की तुम्ह राम दीन अनुरागी।'—पहले संत मिलते हैं। तब उनमें अति प्रीति होती है। और तब दीनता आती है, तब श्रीरामजी मिलते हैं—यह सूचित किया गया; यथा—"भवसागर कहँ नाव सुद्ध संतन्ह के चरन। तुलसिदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दुख हरन ॥" (वि० २०३); "नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना ॥" (आ० दो० ७); 'राम दीन अनुरागी'; यथा—"दास तुलसी दीन पर एक राम ही की प्रीति।" (वि० २१७)।

(३) 'तब हनुमंत कही सब...'—'तब' जब उन्होंने कहा—"मोरे हृदय प्रीति अति होई।"; यथा—"कीन्हि प्रीति कछु बीच न राखा। लछिमन राम चरित सब भाखा ॥" (कि० दो० ४); श्रीविभीषणजी ने तो इनका परिचय पूछा था, पर इन्होंने रामकथा कही और उसी प्रसंग में अपना नाम भी कहा। 'सब रामकथा'—वन-गमन, सीता-हरण, सुग्रीव-मिताई और सीता-खोज की कथा सुनाई और उसी में अपना भी नाम कहा कि जो वानर लंका आया, वह मैं ही हूँ। मेरा नाम हनुमान् है। मैं पवन का पुत्र हूँ; यथा—"मारुत-सुत मैं कपि हनुमाना। नाम मोर सुनु कृपानिधाना ॥"—(कि० दो० १)। रामकथा उन्होंने इसलिये कही कि मेरा प्रयोजन जानकर ये कुछ सहायता करें। 'सुनत जुगल तनु पुलक...'—श्रीरामचरित के कथन-श्रवण में पुलक होना ही चाहिये; यथा—"सुनि न पुलकि तन कहे न मुदित मन किये जो चरित रघुबंस राय।" (वि० ८३)। यहाँ दोनों की तन, मन, वचन से प्रेम-मग्नता है; यथा—'तनु पुलक', 'मनमगन' और 'हनुमंत कही सब राम-कथा'।

सुनहु पवन-सुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्हि महँ जीभ बिचारी ॥१॥
तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानु-कुल-नाथा ॥२॥

अर्थ—हे पवन-पुत्र ! हमारी रहनि (आचरण) सुनो, जैसे दाँतों के बीच में बिचारी जिह्वा (रहती है, वैसे ही बच-बचकर इन दुष्टों में मैं रहता हूँ) ॥१॥ हे तात ! कभी मुझे अनाथ जानकर सूर्य-कुल के स्वामी श्रीरामजी कृपा करेंगे ? ॥२॥

विशेष—(१) 'सुनहु पवन-सुत···'—अब श्रीविभीषणजी को सत्संग का सुख मिला, तब कुसंग के दुःख स्मरण कर वे कहने लगे। 'रहनि हमारी'—अभीतक श्रीविभीषणजी ने अपने लिये एक ही वचन का प्रयोग किया है; यथा—"मोरे हृदय प्रीति···"; "आयहु मोहि···", "कबहुँ मोहिं जानि···"; "अब मोहि भा भरोस···" इत्यादि पर यहाँ 'हमारी' यह बहुवचन कहा है। इसका भाव यह है कि मैं परिवार समेत दुखी हूँ, यही आगे श्रीरामजी भी पूछेंगे, यथा—"कहु लंकेस सहित परिवारा। कुसल कुठाहर बास तुम्हारा॥" (दो० ४५)।

(२) 'जिमि दसनन्हि महँ जीभ बिचारी।'—दाँत यम रूप कहे गये हैं; यथा—"अधर जीभ जम दसन कराला।" (लं० दो० १४)। अतः, सूचित किया कि हमको यहाँ रहने में यम-यातना का-सा दुःख है। यही बात श्रीरामजी भी कहेंगे; यथा—"बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥" (दो० ४५)। जैसे जीभ और दाँत का सम्बन्ध विधाता का किया हुआ है। जीभ का वश नहीं कि दाँत से पृथक् हो सके। वैसे ही मेरा भी कुछ वश नहीं। इसी कुल में जन्म हुआ। अतः, इससे पृथक् जा नहीं सकता। जैसे अनेक दाँतों में जीभ अकेली है, वैसे ही बहुत-से राक्षसों में मैं भी अकेला ही हूँ। दाँतों के समूल उखड़ जाने पर भी जीवन पर्यन्त जीभ रहती है, वैसे ही दुष्ट राक्षसों के नाश हो जाने पर भी ब्रह्माण्ड-स्थिति (कल्प) पर्यन्त ये भी रहेंगे।

(३) 'तात कबहुँ मोहि जानि··'—'जानि अनाथा' अनाथ पर श्रीरामजी कृपा करते ही हैं; यथा—"सुंदर सुजान कृपानिधान अनाथ परकर प्रीति जो।" (उ० दो० १२१)। श्रीविभीषणजी पर श्रीरामजी की कृपा है, पर यह इनका कार्पण्य है, यथा—"कहु कपि कबहुँ कृपालु गोसाईं। सुमिरहिं मोहि दास की नाईं॥" (उ० दो० १)। 'भानु कुल नाथा'—सूर्य-कुलवाले सभी अनाथों पर कृपा करते आये हैं, और श्रीरामजी तो उस कुल के नाथ ही हैं, तो क्यों न कृपा करेंगे। जैसे भानु के उदय से तम का नाश होता है, वैसे ही श्रीरामजी के बाण-रूपी किरणों से तम-रूपी राक्षस नाश होंगे और हम सुखी होंगे; यथा—"राम बान रबि उये जानकी। तम बरूथ कहँ जातुधानकी॥" (दो० १५)। आगे यह दिखाते हैं कि जिन बातों से श्रीरामजी मिलते हैं, वे मुझमें नहीं हैं, वे सुसंग से मिलते हैं, मेरा संग अच्छा नहीं है—

तामस तनु कछु साधन नाहीं। प्रीति न पद-सरोज मन माहीं॥३॥
अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता॥४॥
जौ रघुबीर अनुग्रह कीन्हा। तौ तुम्ह मोहिं दरस हठि दीन्हा॥५॥

अर्थ—मेरा तामसी शरीर है, मुझ में कुछ साधन नहीं है और न मेरे मन में श्रीरामजी के चरण-कमलों में प्रीति ही है ॥३॥ हे हनुमान् ! अब मुझको विश्वास हुआ कि बिना भगवान् की कृपा के संत नहीं मिलते ॥४॥ अब रघुवीर ने कृपा की, तभी आपने मुझे हठ करके दर्शन दिये ॥५॥

विशेष—(१) 'तामस तनु कछु···'—'तामस तनु' का भाव यह है कि हम पापी हैं; यथा—

"सहज पाप प्रिय तामस देहा । यथा उलूकहिं तम पर नेहा ॥" (दो० ४४) । इसी से मैं ज्ञानहीन भी हूँ । 'कछु साधन नाहीं'—साधनों से ही भगवान् मिलते हैं; यथा—"सब साधन कर सुफल सुहावा । लखन-राम-सिय दरसन पावा ॥" (अ० दो० २०१) । मुझसे वह भी नहीं बनता । अतः, मैं कर्महीन हूँ, क्योंकि साधन करना कर्म है । 'प्रीति न पद सरोज मन माहीं' से उपासना-रहित सूचित किया ।

श्रीविभीषणजी ने पहले 'तामस तन' कहकर अपनेको विवेक-रहित बताया, फिर विवेक के फल-रूप शुभ साधनों से भी रहित कहा । पुनः उसकी भी फल-रूपा हरि-पद-प्रीति है, उससे भी हीनता कही; यथा-"तव पद पंकज प्रीति निरंतर । सब साधन कर फल यह सुंदर ॥" (उ० दो० ४८) । 'पद सरोज' का भाव यह है कि श्रीरामजी के चरण रूपी कमल में मन को मधुकर की तरह लुब्ध होना चाहिये; यथा—"राम चरन पंकज मन जासू । लुबुध मधुप इव तजइ न पासू ॥" (बा० दो० १६) तथा—"पद राजीव बरनि नहिं जाहीं । मुनि मन मधुप बसहिं जिन्ह माहीं ॥" (बा० दो० १४०) पर मुझ में तो यह भी नहीं है ।

(७) 'अब मोहि भा भरोस ···'—पहले श्रीविभीषणजी ने कहा था—"तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा ।···" इसका उत्तर यथार्थ यही संत का मिलना है, पर यह श्रीहनुमान्‌जी के मुख से शोभा देता । अतः, उन्होंने न कहा, तब स्वयं कहते हैं । अन्यत्र भी कहा है—"संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही । चितवहिं राम कृपा करि जेही ॥" (उ० दो० ६८) । इसी से भव-तरण एवं राम-प्राप्ति का भी भरोसा हुआ ; यथा—"भवसागर कहँ नाव सुद्ध संतन्ह के चरन । तुलसिदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दुखहरन ॥" (वि० २०३) ।

(३) 'जौ रघुबीर अनुग्रह···'—रघुबीर शब्द में पाँचों प्रकार की वीरता के भाव रहते हैं, यथा—"त्यागवीरो दयावीरो विद्यावीरो विचक्षणः । पराक्रम महावीरो धर्मवीरः सदास्वतः ॥ पंचवीराः समाख्याता राम एव स पंचधा । रघुवीर इति ख्यातः सर्ववीरोपलक्षणः ॥" (श्रीभगवद्गुणदर्पण) ।

श्रीरामजी में इन पाँचों के उदाहरण—

(१) त्यागवीर—"पितु-आयसु भूषन बसन, तात तजे रघुबीर ।" (अ० दो० १६५) ।

(२) दयावीर—"चरन-कमल-रज चाहती, कृपा करहु रघुबीर ।" (बा० दो० २१०) ।

(३) विद्यावीर—"श्रीरघुबीर प्रताप ते, सिंधु तरे पाषान ।" (लं० दो० ३) ।
जल में पत्थर तैराना भी एक विद्या है ।

(४) पराक्रमवीर—"सभय बिलोके लोग सब, जानि जानकी भीर ।
हरष न हरष बिषाद कछु, बोले श्रीरघुबीर ॥" (बा० दो० २७०) ।

(५) धर्मवीर—"श्रवन सुजसु सुनि आयउँ, प्रभु भंजन-भव-भीर ।
त्राहि त्राहि आरति हरन, सरन सुखद रघुबीर ॥" (दो० ४५) ।

ये पाँचों वीरतायें परिपूर्ण श्रीरामजी में ही हैं । यहाँ पर श्रीविभीषणजी ने अपने लिये प्रभु की दयावीरता का स्मरण किया है ; यथा—"जौ रघुबीर···" ऐसे ही श्रीहनुमान्‌जी ने भी आगे कहा है—"मोहू पर रघुबीर । कीन्हीं कृपा सुमिरि गुन···।"

'दरस हठि दीन्हा'; यथा—"तेहि सन हठि करिहउँ पहिचानी ॥"

सुनहु बिभीषन प्रभु कै रीती । करहिं सदा सेवक पर प्रीती ॥४॥

कहहु कवन मैं परम कुलीना। कपि चंचल सबहीं बिधि हीना ॥७॥

अर्थ—हे श्रीविभीषणजी ! प्रभु की रीति सुनिये, वे सेवक पर सदा ही प्रीति करते हैं ॥६॥ आप ही कहिये कि मैं कौन उत्तम कुलोत्पन्न हूँ ? कपि हूँ, चंचल हूँ और सभी प्रकार से गया बीता हूँ ॥७॥

विशेष—(१) 'सुनहु विभीषन ···'—विभीषणजी ने प्रणाम करते समय अपना नाम कहा था, जैसे ऊपर पवनसुत का कहना कहा गया है और ऐसी ही रीति भी है; यथा—"पितु समेत कहि कहि निज नामा। लगे करन सब दंड प्रनामा ॥" (बा० दो० ३१२); इसी से श्रीहनुमान्‌जी उनका नाम लेते हैं। 'प्रभु कै रीती'—वे प्रभु (समर्थ) हैं; अतः, सेवक से उन्हें कोई अपेक्षा नहीं। पर वे तो बिना कारण ही सेवक पर ममता और प्रीति करते हैं; यथा—"कहहु कवन प्रभु कै असि रीती। सेवक पर ममता अरु प्रीती ॥" (आ० दो० ४४); 'सदा'—सदा प्रीति का निर्वाह करना कठिन है, पर वे सदा एकरस निबाहते हैं; यथा—"को रघुबीर सरिस संसारा। सील-सनेह निबाहनिहारा ॥" (आ० दो० ११) 'प्रीति'—श्रीविभीषणजी कृपा चाहते हैं और श्रीहनुमान्‌जी कहते हैं कि वे तो प्रीति करते हैं; अर्थात् बराबर का पद देते हैं; यथा—"प्रीति बिरोध समान सन, करिय नीति असि आहि।" (लं० दो० २३); पुनः उन्होंने कहा था—"तामस तन कछु···" उसपर कहते हैं—

(२) 'कहहु कवन मैं परम कुलीना···'—भला, आपका तो केवल शरीर ही तामस है, पर कुल तो उत्तम है; यथा—"उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती।" (लं० दो० ११); भाव यह कि प्रभु कुल आदि की अपेक्षा नहीं रखते, केवल भक्ति पर ही रीझते हैं; यथा—"कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता ॥ जाति पाँति ··· भगति हीन नर सोहै कैसा। बिनु जल बारिद देखिय जैसा ॥" (आ० दो० ३४)। इसपर वे अपना ही उदाहरण देते हैं कि मैं पशु, चंचल और सभी प्रकार (जाति, कुल, स्वभाव) से गया-बीता हूँ; यथा—"असुभ होइ जिनके सुमिरे ते बानर रीछ बिकारी ॥" (वि० १६६); "मैं पाँवर पसु कपि अति कामी ॥" (कि० दो० २०); इत्यादि।

प्रात लेइ जो नाम हमारा। तेहि दिन ताहि न मिलइ अहारा ॥८॥

दोहा—अस मैं अधम सखा सुनु, मोहू पर रघुबीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन, भरे बिलोचन नीर ॥७॥

अर्थ—जो प्रातःकाल में हमारा नाम ले, उस दिन उसे भोजन न मिले ॥८॥ हे सखे ! सुनो, मैं ऐसा अधम हूँ, (तो भी) रघुबीर श्रीरामजी ने मुझपर भी कृपा की, (उनके) गुण स्मरण करके नेत्रों में जल भर आये ॥७॥

विशेष—(१) 'प्रात लेइ जो नाम हमारा। ··'—भाव यह कि आप तो परम भागवतों में हैं, आपका नाम तो प्रातःस्मरणीय है; यथा—"प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीकव्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्म-दाल्भ्यान्। रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीनेतानहम्परमभागवतान्नमामि ॥" (पांडवगीता); पर 'नाम हमारा' अर्थात् हम वानरों की जाति-मात्र का नाम प्रातःकाल लेना निषेध है, ऐसा तो मैं अधम हूँ।

यहाँ 'हमारा' बहुवचन शब्द देकर वानर जाति के दोषों को लेकर उन्होंने अपना कार्पण्य कहा है। पर वास्तव में इनका नाम तो प्रातःकाल में स्मरणीय ही है; यथा—"ॐ हनुमानञ्जनीसुनुर्वायु-

सुनुर्महाबलः। रामेष्टः फाल्गुनसखः पिंगाक्षोऽमितविक्रमः॥ उदधिक्रमणश्चैव सीताशोकविनाशनः। लक्ष्मणप्राणदाता च दशग्रीवस्य दर्पहा॥ एवद्द्वादशनामानि कपीन्द्रस्य महात्मनः। प्रातःकाले प्रदोषे च यात्राकाले च यः पठेत्॥ तस्य रोग-भयन्नास्ति सर्वत्र विजयी भवेत्॥" यह श्रीहनुमान्‌जी के द्वादश नामों का मंत्र है।

यहाँ अपने दोष और स्वामी के गुण कहे गये हैं; यथा—"गुन तुम्हार समुझइ निज दोषा।" (अ० दो० १३०)।

(२) 'अस मैं अधम सखा···'—यहाँ अपनेको अधम बताकर प्रभु के अधम-उद्धारण गुण का स्मरण किया गया है, इसीसे 'सुमिरि गुन' एकवचन पद दिया गया है। पहले बहुत-से गुणों का स्मरण किया था, इसलिये वहाँ, 'मन मगन सुमिरि गुन ग्राम' कहा गया था। वहाँ कथा कही थी और कथा में गुणसमूह होते ही हैं। श्रीविभीषणजी ने अपने तामस तन आदि दोषों को कहकर प्रभु की कृपा होने में संदेह प्रकट किया था। यहाँ श्रीहनुमान्‌जी ने अपनी अधमता और फिर भी श्रीरघुवीरजी का कृपा-पात्र होना कहकर श्रीविभीषणजी पर अवश्य प्रभु की कृपा होने की पुष्टि की। 'मोहू पर'—कहकर उनकी परम कुलीनता, शांत वृत्ति और सब प्रकार की योग्यता एवं उन्हें प्रातःस्मरणीय सूचित किया। 'भरे बिलोचन नीर'—प्रेम की दो दशाएँ—'तनु पुलक' और 'मन मगन' पूर्व के दोहे में कही गई हैं, अब यह तीसरी दशा यहाँ है। 'कीन्ही कृपा'; यथा—"तब रघुपति उठाइ उर लावा।···सुनु कपि जिय जनि मानसि ऊना। तै मम प्रिय लछिमन ते दूना॥" (कि० दो० २); "परसा सीस सरोरुह पानी।··" (कि० दो० २२); यहाँ उन्हीं बातों का स्मरण किया गया है।

जानत हूँ अस स्वामि बिसारी। फिरहिं ते काहे न होहिं दुखारी॥१॥
येहि बिधि कहत राम-गुन ग्रामा। पावा अनिर्बाच्य बिश्रामा॥२॥
पुनि सब कथा बिभीषन कही। जेहि बिधि जनकसुता तहँ रही॥३॥

अर्थ—जानते हुए भी जो ऐसे स्वामी श्रीरामजी को भुलाकर (दुःख-परिणामी विषयों के साधनों में) भटकते फिरते हैं, वे क्यों न दुखी हों॥१॥ इस तरह श्रीरामजी के गुण-समूह कहते हुए (दोनों भक्तों ने) अकथनीय विश्राम (शान्ति) पाया॥२॥ फिर श्रीविभीषणजी ने सम्पूर्ण कथा कही, जिस प्रकार वहाँ श्रीजानकीजी रहती थीं॥३॥

विशेष—(१) 'जानत हूँ अस···'—क्योंकि जानने से प्रतीति होती है, प्रतीति से प्रीति और फिर दृढ़ भक्ति होती है; यथा—"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥ प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।" (उ० दो० ८८)। स्वामी को परम कृपालु आदि जानते हुए भी उनको भुलाना प्रमाद है, फिर उनका दुखी होना योग्य ही है; यथा—"जानत हूँ अस प्रभु परिहरहीं। काहे न बिपति-जाल नर परहीं॥" (कि० दो० ११); "बहु रोग बियोगन्हि लोग हये। भवदंघ्रि निरादर के फल ये।" (उ० दो० १३); "महामंद मन सुख चहसि, ऐसे प्रभुहि बिसारि॥" (आ० दो० ३१), इत्यादि।

(२) 'येहि बिधि कहत राम गुन-ग्रामा।'—दोनों ने अपनी-अपनी अधमता और साथ ही राम गुन ग्राम कहा और परम संतोष का अनुभव किया, इसी से अनिर्वाच्य विश्राम पाना कहा गया है,

यथा—"कोउ विश्राम कि पाव, तात सहज संतोष बिनु।" (उ० दो० ८९); "तुलसी अपने रामसों, कहि सुनाव गुन दोष। होइ दूबरो दीनता, परम पीन संतोष॥" (दोहावली ९६)। 'अनिर्वाच्य विश्रामा'; यथा—"सो सुख जानै मन अरु काना। नहिं रसना पहिं जाइ बखाना॥" (उ० दो० ८०); गुण-ग्राम यथामति कहा जाता है, अतएव 'कहत' कहा गया है, पर तज्जन्य सुख नहीं कहा जा सकता, उसका अनुभव-मात्र ही होता है; यथा—"सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई।" (उ० दो० ७); इसी से 'अनिर्वाच्य' कहा है। श्रीहनुमान्‌जी को बिना राम-कार्य किये, विश्राम की रुचि न थी; यथा—"राम-काज कीन्हें बिना, मोहि कहाँ विश्राम।" (दो० १); पर रामकथा ने अपने स्वभाव (प्रभाव) से विश्राम दे ही दिया।

(३) 'पुनि सब कथा···' श्रीहनुमान्‌जी ने प्रथम ही 'राम-कथा निजनाम' कहा था। उसी में 'जनकसुता' का हरण और इन्हीं के ढूँढ़ने के लिये अपना आना भी कहा था। इसीलिये इन्होंने सब समाचार बतलाया—जबसे रावण श्रीजानकीजी को हरकर लंका में लाया और वे जैसे वहाँ रहती हैं; यथा—"हारि परा खल बहु बिधि, भय अरु प्रीति दिखाइ। तब असोक पादप तर, राखेसि जतन कराइ॥ जेहि बिधि कपट कुरंग संग, धाइ चले श्रीराम। सोइ छबि सीता राखि उर, रटति रहति हरि नाम॥" (आ० दो० २९); 'जनकसुता'-जैसे राजाओं की लड़कियाँ रहती हैं, वैसी ही मर्यादा से श्रीजानकीजी वहाँ रहती हैं। उनकी रक्षा में राक्षसियाँ नियुक्त की गई हैं, और पुरुष वहाँ नहीं जाने पाते। पुनः जैसे जनकजी प्रपंच में रहते हुए भी उससे निर्लिप्त हैं, वैसे ही श्रीजानकीजी लंका में रहती हुई यहाँ के ऐश्वर्यों से निर्लिप्त हैं।

श्रीहनुमान्‌जी ने श्रीविभीषणजी को राम-कथा सुनाई थी, और उन्होंने भी श्रीहनुमानजी को श्रीजानकीजी की कथा सुनाई। अतः दोनों ही अपने-अपने मनोभिलषित पा संतुष्ट हुए। जैसे यहाँ श्रीविभीषणजी श्रीहनुमान्‌जी को श्रीजानकीजी से मिला रहे हैं वैसे आगे श्रीहनुमान्‌जी भी श्रीविभीषणजी को श्रीरामजी से मिलाने की पैरवी करेंगे। शरणागति प्रसंग में स्पष्ट है।

तब हनुमंत कहा सुनु भ्राता। देखी चहउँ जानकी माता॥४॥
जुगुति बिभीषन सकल सुनाई। चलेउ पवनसुत बिदा कराई॥५॥
करि सोइ रूप गयउ पुनि तहवाँ। बन असोक सीता रह जहवाँ॥६॥

अर्थ—तब श्रीहनुमान्‌जी ने कहा कि हे भाई! सुनो, मैं श्रीजानकी माता को देखना चाहता हूँ॥४॥ विभीषणजी ने (मिलने की) सब युक्ति कह सुनाई। (सुनते ही) पवन के पुत्र श्रीहनुमान्‌जी विदा करा के चल दिये॥५॥ फिर वही (मशक समान) रूप धारण करके अशोक वन में गये, जहाँ श्रीसीताजी रहती थीं॥६॥

विशेष—(१) 'तब हनुमंत कहा···'—'भ्राता' शब्द से निहोरा व्यक्त करते हैं; यथा—"भाइहु लावहु धोख जनि, आजु काज बड़ मोहि।" (अ० दो० १९१); 'श्रीजानकीजी माता'—श्रीविभीषणजी यह न कहें कि जहाँ श्रीजानकीजी रहती हैं वहाँ पुरुष नहीं जाने पाते। इसी से पहले ही कहते हैं कि उनमें मेरा भाव माता का है। अब, इस भाव से मैं जा सकता हूँ; यथा—"देखहु कपि जननी की नाईं। बिहँसि कहा रघुनाथ गोसाईं॥" (लं० दो० १०९)।

(२) 'जुगुति बिभीषन'...'—जहाँ श्रीजानकीजी थीं वहाँ बाहर राक्षसगणों का और भीतर भीषण राक्षसियों का पहरा था। अतः, बिना युक्ति के वहाँ किसी का भी जाना कठिन था। 'पवनसुत'—से इनकी शीघ्रता सूचित की गई है। 'बिदा कराई'—बड़े एवं स्नेही से आज्ञा लेकर जाना शिष्टाचार का द्योतक है; यथा—"मुनि सन बिदा माँगि त्रिपुरारी। चले भवन" (बा० दो० ४०); "गयउ राउ गृह बिदा कराई॥" (बा० दो० ३१९)। श्रीहनुमान्‌जी ने बहुत खोजा, पर श्रीजानकीजी न मिलीं। परन्तु जब श्रीविभीषणजी ने युक्ति बतलाई, तब तो मिलेंगी ही, इससे यहाँ यह उपदेश भी है कि मर्मज्ञ महात्माओं की बतलाई हुई युक्ति से परमात्मा अवश्य मिलते हैं।

(३) 'करि सोइ रूप गयउ'' '—श्रीविभीषणजी से मिलने के समय एवं उनसे वार्तालाप के लिये श्रीहनुमान्‌जी विप्र रूप हो गये थे। अब फिर उन्होंने पूर्ववत् मशक समान रूप धारण कर लिया। 'तहवाँ'—अशोकवन भी बहुत विस्तृत है। उसमें जहाँ पर और जिस वृक्ष के नीचे श्रीसीताजी थीं, श्रीहनुमान्‌जी वहाँ गये। वहाँ इतने अन्तर पर हैं, जहाँ से श्रीजानकीजी का कृश-शरीर, जटा आदि दिखलाई पड़ती हैं। 'बन असोक'—पहले लंका में श्रीहनुमान्‌जी ने 'बन, बाग, उपबन, बाटिका' आदि को पृथक्-पृथक् देखा था। यहाँ एक ही अशोकवन में क्रमशः चार आवृत्तियों में चारों वर्त्तमान हैं। इसी से चारों नाम कहे गये हैं; यथा—"बन असोक सीता रह जहवाँ।"; "चलेउ नाइ सिर पैठेउ बागा।"; "तहँ असोक उपबन जहँ रहई।" (कि० दो० ३०); "तेहि असोक बाटिका उजारी।"

देखि मनहि महुँ कीन्ह प्रनामा। बैठेहि बीति जात निसि-जामा ॥७॥

कृस तनु सीस जटा एक बेनी। जपति हृदय रघुपति-गुन-श्रेनी ॥८॥

दोहा—निज पद-नयन दिये मन, राम चरन महँ लीन।

परम दुखी भा पवनसुत, देखि जानकी दीन ॥८॥

अर्थ—श्रीसीताजी को देखकर मन ही में प्रणाम किया, (देखा कि) उनको रात के पहर (चारों रात) बैठे ही बीत जाते हैं ॥७॥ उनका शरीर दुबला हो गया है और सिर पर जटाओं की एक वेणी (लट) हो गई है। वे हृदय में रघुपति के गुण-गणों के (स्मरण) सहित राम नाम जपती हैं ॥८॥ (श्रीजानकीजी) नेत्रों को अपने चरणों में लगाये हुई हैं और उनका मन श्रीरामजी के चरणों में लीन (निमग्न) है। श्रीजानकीजी को दीन (दशा में) देखकर पवन के पुत्र परम दुखी हुए ॥८॥

विशेष—(१) 'मनहि महँ'...'—इन्होंने मानसिक प्रणाम ही किया, यदि शरीर और वचन से करते, तो राक्षसियाँ जान जातीं। 'निसि जामा'—रात को कोई ३ पहर और कोई ४ पहर की मानते हैं, इसी से निसि के सब याम कहकर सबके मतों की रक्षा की गई। बैठे-ही-बैठे रात बिता देना विरह की दशा है।

(२) 'कृस तनु सीस जटा ...'; यथा—"देखी जानकी जब जाइ। परम धीर समीर सुत के प्रेम उर न समाइ॥ कृस सरीर सुभाय सोभित लगी उड़ि उड़ि धूरि। मनहुँ मनसिज मोहनी मनि गयउ भोरे भूलि॥ रटति निसि बासर निरंतर राम राजिव नैन। जात निकट न बिरहिनी अरि अकनि ताते

वयन ॥" (गी० सुं० २); 'कृस सरीर'; यथा—"अब जीवन कै है कपि आस न कोइ। कनगुरिया कै मुँदरी कंकन होइ ॥" (बरवा १८)। 'जटा एक बेनी'—शिर की तीनों चोटियाँ मिलकर एक हो गई हैं। शरीर का कृश होना और चोटी का एकलट हो जाना, बाहर की दशा है। अंतरंग वृत्ति को उत्तरार्द्ध में कहते हैं—'जपति हृदय '—वाणी से राम नाम जपती हैं और हृदय में तदर्थ भूत गुणों का चिंतन करती हैं। यही जप की विधि भी है; यथा—"तज्जपस्तदर्थभावनम्।" (यो० सू०१।२८), रामनाम के अर्थ श्रीरामजी एवं शाब्दिक अर्थ उनके गुण हैं। अतः, श्रीसीताजी उन्हीं गुणसमूहों को हृदय में विचारती रहती हैं। ऐसे ही श्रीभरतजी के जप-प्रसंग में भी कहा गया है; यथा—"राम राम रघुपति जपत···" इसी को श्रीहनुमान्जी वहीं पर कहते हैं; यथा—"जपहु निरंतर गुन गन पाँती।" (उ० दो० १); ऐसे ही श्रीजानकीजी के विषय में भी पहले—"रटति रहति हरि नाम" (आ० दो० २९) कहा गया था और फिर यहाँ कहते हैं—'जपति हृदय रघुपति गुन श्रेनी।' आगे साथ-ही-साथ रूप का ध्यान भी कहते हैं—'मन राम चरन महँ लीन'। अन्यत्र भी कहा गया है; यथा—"जपहिं राम धरि ध्यान उर, सुंदरस्याम सरीर।" (बा० दो० १९)।

तात्पर्य यह है कि मंत्र एवं नाम जपते हुए उसके देवता का ध्यान रखना चाहिये और साथ-ही-साथ मंत्रार्थ एवं नामार्थ से सिद्ध होनेवाले उस देवता के गुणों का स्मरण भी करना चाहिये, जिससे उसमें प्रेम हो और गुणों के अनुसार देवता की प्रवृत्ति हो। यही श्रुति भी कहती है; यथा—"मन्त्रोऽयं वाचको रामो वाच्यः स्याद्योग एतयोः। फलदश्चैव सर्वेषां साधकानां न संशयः॥" (रामतापनीय)।

(३) 'निज पद नयन दिये मन ···'—यह जप-विधि है; यथा—"मनोमध्ये स्थितो मंत्रो मंत्र-मध्ये स्थितं मनः। मनोमंत्रसमायोगो जप इत्यभिधीयते ॥" अर्थात् मन और मंत्र एक रहें। मन की बाह्य वृत्ति होने में नेत्र भी कारण होते हैं; यथा—"बालक वृंद देखि अति सोभा! लगे संग लोचन मन लोभा॥" (बा० दो० ११८) एवं—"रूप अनूप नयन मन लोभा।" (अ० दो० ११४)। इसी से दोनों साथ-ही-साथ संयत किये गये हैं। 'निज पद नयन दिये'—मन के विषय तो श्रीरामजी हो सकते हैं, पर नेत्रों के सामने तो वे नहीं हैं, इसलिये उन नेत्रों को अपने चरणों में लगाये हुई हैं कि इधर-उधर न जायँ। साथ ही श्रीरामजी के चरणों की रेखाओं को भी देखती हैं, क्योंकि जो २४-२४ चिह्न श्रीरामजी के चरणों में हैं, वेही सब चिह्न इनके भी चरणों में हैं। भेद केवल इतना ही है कि श्रीरामजी के दाहिने के चिह्न इनके बायें में और उनके बायें के चिन्ह इनके दाहिने चरण में हैं।

(४) 'परम दुखी भा पवनसुत···'—पहले बिना देखे ही दुखी थे। अब श्रीजानकीजी की दीन हीन दशा देखकर परम दुखी हुए। 'परम' तो शोभासूचक है, दुखी के साथ 'अति', 'विषम' आदि विशेषण चाहिये। यह शब्द यहाँ इसलिये दिया गया कि राम-विरह में दुखी होना इनकी शोभा है। यहाँ 'पवन-सुत' का भाव यह है कि ये परम बलवान् हैं; यथा—"पवन तनय बल पवन समाना।" (कि० दो० २९); पर स्वामी की आज्ञा के अनुसार इन्हें बल दिखाने का अवसर यह नहीं है; यथा—"सुवन समीर को धीर धुरीन बीर बड़ोइ। देखि गति सिय मुद्रिका की बाल ज्यों दियो रोइ॥ अकनि कटु बानी कुटिल की क्रोध बिंध्य बढ़ोइ। सकुचि सम भयो ईस-आयसु कलस-भव जिय जोइ॥ बुद्धि बल साहस पराक्रम अछत राखे गोइ। सकल साज समाज साधक समय कहै सब कोइ॥" (गी० सुं० ५)। यहाँ 'जानकी'—नाम का दिया जाना भी साभिप्राय है, क्योंकि राजा श्रीजनकजी योगी भी हैं; यथा—"जोगी जागबलिक प्रसाद सिद्धि लही है।" (गी० बा० ८५) और ये उनकी कन्या हैं; इसी से योग-मुद्रा से

बैठी हैं—रात्रोंदिन जागरण, एकासन पर निरंतर जप, नेत्रों का संयम और मन का राम-चरणों में लीन रहना—ये सब योग की रीतियाँ हैं।

"पुनि सीतहिं धीरज जिमि दीन्हा"—प्रकरण

तरु-पल्लव महँ रहा लुकाई। करइ बिचार करउँ का भाई ॥१॥
तेहि अवसर रावन तहँ आवा। संग नारि बहु किये बनावा ॥२॥

अर्थ—वृक्ष के पल्लव में छिप रहे और विचार करने लगे कि अरे भाई ! क्या करूँ ? (श्रीसीताजी नीचे दृष्टि किये हुई हैं और बहुत-सी राक्षसियाँ चारों ओर से उनकी रक्षा में हैं तो मैं इनका शोक कैसे दूर करूँ ?) ॥१॥ उसी समय रावण वहाँ आया। बहुत शृंगार की हुई स्त्रियों को साथ लिये हुए है ॥२॥

विशेष—(१) 'तरु-पल्लव महँ'''—श्रीहनुमान्जी इतने सूक्ष्म रूप में हैं कि एक पल्लव से भी छिप गये हैं, 'पल्लव' एकवचन है। छिप इसलिये रहे कि रावण न देख पावे। 'करइ बिचार' विचार कर कार्य करने से सिद्धि होती है, इसी से ये सदा विचार कर ही कार्य करते हैं ; यथा—"इहाँ पवन सुत हृदय बिचारा।" (कि॰ दो॰ १८)। "कपि करि हृदय बिचार, दीन्ह मुद्रिका डारि तब।" (दो॰ १२); "अस्त्र ब्रह्म तेहि साधा, कपि मन कीन्ह बिचार।" (दो॰ १९)। वैसे यहाँ भी विचार करते हैं। 'भाई'—मन के प्रति संबोधन है ; यथा—"भाई कैसो करौं डरौं कठिन कुफेरे।" (गी॰ सुं॰ २०)। मन में विचारने की यह भी एक रीति है।

(२) 'तेहि अवसर रावन तहँ'''—इसी समय दैवयोग से रावण का आना हुआ, जिससे उसका धमकाना आदि श्रीहनुमान्जी देखेंगे और श्रीरामजी से कहेंगे, तब वे यहाँ आने में और भी शीघ्रता करेंगे। 'संग नारि बहु'''—ये नारियाँ सब इसकी रानियाँ हैं। आगे यह स्वयं कहेगा ; यथा—"मंदोदरी आदि सब रानी।" पहले कहा गया था—"देव-जच्छ-गंधर्व-नर, किन्नर-नाग-कुमारि। जीति बरीं निज बाहु बल, बहु सुंदरि बर नारि (बा॰ दो॰ १८२) ; ये सब वे ही रानियाँ हैं। इन्हें सोलहों शृंगार से सुसज्जित किये हुए साथ लिये आया है कि जिससे श्रीजानकीजी समझें कि यह अपनी स्त्रियों को बड़ा सुख देता है और बड़ा ऐश्वर्यवान् है। स्वयं भी बहुत शृंगार किये हुए है कि जिससे देखकर मोहित हो जायँ। 'बहु किये बनावा'—दोनों के साथ है—अपने और रानियों के लिये।

बहु बिधि खल सीतहि समुझावा। साम दाम भय भेद देखावा ॥३॥
कह रावन सुनु सुमुखि सयानी। मंदोदरी आदि सब रानी ॥४॥
तव अनुचरी करउँ पन मोरा। एक बार बिलोकु मम ओरा ॥५॥

अर्थ—उस दुष्ट ने श्रीसीताजी को बहुत तरह से समझाया। साम, दाम, भय और भेद दिखाये ॥३॥ रावण ने कहा कि हे सुमुखी ! हे सयानी ! सुनो मंदोदरी आदि सब रानियों को तुम्हारी दासी कर दूँगा, यह मेरी प्रतिज्ञा है, तुम एक बार भी मेरी ओर देखो ॥४-५॥

विशेष—'बहु बिधि खल'''—पहले भी कहा गया था—"हारि परा खल बहु बिधि, भय अरु

प्रीति देखाइ। तब असोक पादप तर, राखेसि जतन कराइ॥" (बा० दो० ११); अब यहाँ 'बहु बिधि' और साथ ही 'खल' कहकर सूचित करते हैं कि उसने अपने दुष्ट स्वभाव के अनुसार बहुत प्रकार से श्रीसीताजी को समझाया कि जिस अधर्म-वार्ता को श्रीगोस्वामीजी लिखना भी नहीं चाहते, केवल संकेत से ही सूचित करते हैं। 'साम दाम भय भेद'—रावण राजा है और राजा के हृदय में राजनीति बसती है; यथा—"साम दाम अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह वेदा॥" (लं० दो० ३९); इसी से उसने इन चारों को दिखाया। उदाहरण क्रमशः—"कह रावन सुनु सुमुखि सयानी।"—साम; "मंदोदरी आदि सब रानी॥ तब अनुचरी करउँ पन मोरा।"—दाम; "कढ़िहउँ तव सिर कठिन कृपाना।"—दंड; "संग नारि बहु किये बनावा।"—भेद, इसमें भेद यों है कि हमारी इतनी रानियाँ हैं, इन्हें हम सब प्रकार देते हैं। तुम तो एक ही थी पर तो भी रामजी तुम्हारी रक्षा नहीं कर सके। 'देखावा'—दिखावा-भर है, मारना आदि बातें हृदय की नहीं हैं, क्योंकि रावण को श्रीसीताजी की ममता एवं आशा हो गई है।

(२) 'कह रावन सुनु सुमुखि सयानी।'—'सुमुखि'—का भाव यह है कि मैं तुम्हारे सुन्दर मुख पर मोहित हूँ और इसीसे मंदोदरी आदि पटरानियों को भी तुम्हारी दासियाँ बनाने को प्रस्तुत हूँ। पुरुष स्त्री के मुख ही पर मोहित होता है; यथा—"जानसि मोर सुभाव बरोरू। मन तव आनन चंद चकोरू॥" (अ० दो० २५); "सोउ मुनि ज्ञान निधान, मृग नैनी बिधु मुख निरखि। बिबस होइ हरि जान,…" (उ० दो० ११५); "सिय मुख ससि भये नयन चकोरा।" (बा० दो० २३१)। 'सयानी'—कहने का तात्पर्य यह है कि इस लाभ से चूको मत। तुम तो हानि-लाभ के समझने में 'सयानी' हो। लाभ भी समझ लो कि मंदोदरी आदि सब रानियाँ तुम्हारी दासियाँ बनकर रहेंगी, जो कि परम सुन्दरी हैं; यथा—"मय तनुजा मंदोदरि नामा। परम सुंदरी नारि ललामा॥" (बा० दो० १००)।

(३) 'तव अनुचरी करउँ पन मोरा।'—का भाव यह है कि ये सवति-भाव नहीं कर सकेंगी किन्तु दासियाँ बनकर रहेंगी। यदि कहो कि सवतियाँ कभी दासियाँ बनना नहीं चाहेंगी; यथा—"नैहर जनम भरब बरु जाई। जियत न करबि सवति सेवकाई॥" (अ० दो० २०); तो मैं अवश्य इन्हें दासियाँ बना दूँगा, फिर वह अपने इस वचन की पुष्टि के लिये प्रतिज्ञा भी करता है—'पन मोरा' इसका भाव यह कि प्रण को असत्य करने से सुकृत नाश हो जाते हैं; यथा—"सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ॥" (बा० दो० २५२)। सुकृत के नाश होने से लोग नरक के भागी होते हैं, इसीलिये श्रेष्ठ लोग सुकृत की रक्षा करते हैं और प्रण को पूरा करते हैं; यथा—"कह प्रभु हर तुम्हार पन रहेऊ।" (बा० दो० ७६)। यों भी राजा प्रण नहीं छोड़ते; यथा—"नृप न सोह बिनु बाद नाक बिनु भूषन।" (जानकीमंगल ७७); अतः, मैं अवश्य अपना प्रण पूरा करूँगा।

(४) 'एक बार बिलोकु…'—श्रीजानकीजी नीचे दृष्टि किये बैठी हैं और वह उन्हें अपना साज-शृंगार दिखाना चाहता है, इसी से कहता है कि एक बार भी तो इधर देखो। अथवा उपर्युक्त सब बातें एक बार देख लेने ही का मोल है।

> तृन धरि ओट कहति बैदेही। सुमिरि अवधपति परम सनेही॥६॥
> सुनु दसमुख खद्योत - प्रकासा। कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा॥७॥
> अस मन समुझु कहति जानकी। खल सुधि नहिं रघुबीर बान की॥८॥

अर्थ—तृण (तिनके) की ओट (परदा) करके और अपने परम स्नेही अवधपति श्रीरामजी का

स्मरण करके वैदेही श्रीजानकीजी कहती हैं ॥६॥ हे दशानन ! सुन, क्या जुगुनू के प्रकाश से कभी कमलिनी विकसित होती है ? ॥७॥ श्रीजानकीजी कहती हैं कि अरे दुष्ट ऐसा मन में समझ ! तुझे रघुवीर के बाण की खबर नहीं है ? ॥८॥

विशेष—(१) 'तृन धरि ओट···'—श्रीजानकीजी ने तृण का परदा करके रावण से बातें कीं, सम्मुख नहीं, यह मर्यादा की रक्षा है ; यथा—"तृणमन्तरतः कृत्वा प्रत्युवाच शुचिस्मिता ।···" (वाल्मी० ५।२१।३); श्रीसीताजी उसी तरह पर पुरुष की ओर दृष्टि नहीं करतीं, जैसे श्रीरामजी पर स्त्री की ओर नहीं देखते; यथा—"मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी । जेहि सपनेहु पर नारि न हेरी ॥" (बा० दो० २३०), "न रामः परदारान्स चक्षुर्भ्यामपि पश्यति ॥" (वाल्मी० ३।७२।१८) । 'वैदेही' और 'अवध पति···'—का भाव यह है—(क) अपने मायके और पतिकुल के महत्त्व को आगे करके बोलीं ; यथा—"अकार्यं न मया कार्यमेकपत्न्या विगर्हितम् ॥ कुलं संप्राप्तया पुण्यं कुले महति जातया । एवमुक्त्वा तु वैदेही रावणं तं यशस्विनी ॥" (वाल्मी० ५।२१।४-५); अर्थात् मैं सती हूँ, मेरा जन्म बड़े कुल में और ब्याह पवित्र कुल में हुआ है ; अतः, अकार्य मुझसे नहीं हो सकता । (ख) रावण ने अपने ऐश्वर्य का लोभ दिखाया है, उसके प्रति भी तृण-ओट द्वारा लक्षित किया कि अपने उभय कुल के ऐश्वर्य के आगे मैं तुम्हारे इस ऐश्वर्य को तृणवत् मानती हूँ ।

'सुमिरि अवधपति परम सनेही'—का भाव—(क) तू लंका-मात्र का ऐश्वर्य दिखाता है पर मेरे स्वामी अवध के पति हैं, जो चक्रवर्त्ति-पद हैं । तू स्नेह दिखाता है, मेरे स्वामी भी परम स्नेही हैं; अतः उनमें और तुममें बड़ा अन्तर है । वही आगे कहती हैं ; यथा—'सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा ।···' (ख) वे अवध के आश्रित-मात्र के रक्षक हैं और मेरे तो परम स्नेही ही हैं; अतः, मेरी रक्षा अवश्य करेंगे । (ग) भक्त जो कुछ कहते हैं अपने इष्ट के बल पर ही, यथा—"अस कहि नारद सुमिरि हरि, गिरिजहि दीन्हि असीस ।' (बा० दो० ७०); "करि प्रनाम बोले भरत, सुमिरि सीय रघुराज ॥" (अ० दो० २६७); वैसे ही यहाँ भी श्रीजानकीजी इष्ट के बल पर ही कहती हैं । 'कहति बैदेही'—का भाव यह है कि न बोलने से स्वीकृति समझी जायगी । कहा भी है—"मौनं सम्मतिलक्षणम्"; यथा—"चलेउ सुमंत्र राय-रुख जानी ।" (अ० दो० ३८) ।

(२) 'सुनु दसमुख खद्योत···'—रावण ने कहा था—'एक बार बिलोकु मम ओरा ।' उसका उत्तर श्रीजानकीजी यों देती हैं कि तू जुगुनू के समान है, तेरे प्रलोभन-रूप प्रकाश में मेरे नेत्र कमल नहीं खिल सकते, किन्तु भानु-रूप भानुकुल-भानु को देखकर ही वे प्रफुल्लित होंगे । पुनः जैसे जुगुनू का प्रकाश सूर्योदय से पहले ही रहता है, वैसे ही तेरी दुष्टता स्वामी श्रीरामजी के आने तक ही है । जैसे कमलिनी सूर्य की ही अनुवर्त्तिनी है, वैसे ही मैं श्रीरामजी की ही अनन्या पत्नी हूँ ; यथा—"अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा ।" (वाल्मी० ५।२१।१५); तथा—"उत्तम के अस बस मन माहीं । सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं ॥" (आ० दो० ५) ।

(३) 'अस मन समुझु कहति जानकी ।' –तू ऐसा मन में समझ ले कि मैं (रावण) खद्योत के समान हूँ और श्रीरामजी भानु हैं, उनमें और तुममें इतना अंतर है । पुन यह भी भाव है कि सूर्य के प्रति कमलिनी जैसा मेरा श्रीरामजी में भाव है । जुगुनू कम प्रकाशवालों की सीमा है और भानु पूर्ण प्रकाशवालों को—'अस मन समुझु' ।

(४) 'खल सुधि नहिं '—रघुवीर के बाण दुष्टों के नाशकारक हैं ; यथा—"सुनि पावक खल

बालक बालक।"; "हम छत्री···तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं॥" (आ० दो० १८); उनके बाणों को क्या तुम्हें खबर नहीं है ?

शंका–अभी उसने श्रीरामजी के बाण का प्रभाव कहाँ देखा-सुना ? जो सुधि करे।

समाधान—जयंत ने जो बिना फर के बाण से भी तीनों लोकों में शरण न पाई थी, उसे इसने सुना ही होगा। पुनः शूर्पणखा से सुना है; यथा–"परम धीर धन्वी गुन नाना।···खर दूषन सुनि लगे पुकारा। छन महँ सकल कटक उन्ह मारा॥" (आ० दो० २१); मारीच से भी उसने सुना है ; यथा—"बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा॥ सत जोजन आयउँ छन माहीं।" (आ० दो० २४); इसी से डरकर यती का वेष बना सीता-हरण के लिये आया था। श्रीसीताजी उन्हीं बातों का स्मरण कराती हैं।

सठ सूने हरि आनेहि मोही। अधम निलज्ज लाज नहिं तोही॥९॥

दोहा—आपुहि सुनि खद्योत सम, रामहिं भानु-समान।
परुष बचन सुनि काढ़ि असि, बोला अति खिसियान॥९॥

अर्थ—अरे शठ, तू मुझे सूने में हरकर लाया, तू अधम है, निर्लज्ज है, तुझे लज्जा नहीं आती ?॥९॥ अपनेको जुगनू के समान और श्रीरामजी को सूर्य के समान सुनकर तलवार निकाल अत्यन्त क्रोधित हो बोला॥९॥

विशेष–(१) 'सठ सूने हरि···'—इसका सम्बन्ध पूर्व वाक्यों से भी है कि जिस तरह सूर्य के अभाव में ही खद्योत का प्रकाश होता है, ऐसे ही श्रीरामजी के अभाव में ही तू मुझे हरकर ले आया। उन रघुवीर के बाणों की तुझे सुधि नहीं है कि जिनकी अनुपस्थिति में ही तू मेरा हरण करने गया। युद्ध में उनका सामना न कर सका और न उनकी खींची हुई रेखा ही को लाँघ सका, इसी से तूने मुझे सूने में हर लिया। अतएव तू अधम और निर्लज्ज है ; यथा—"जानेउँ तव बल अधम सुरारी। सूने हरि आनेहि परनारी॥" (लं० दो० २९); इसी कर्म के कारण उसे शठ, दुष्ट आदि भी कहा है ; यथा—"रे त्रिय चोर कुमारगगामी। खल मल-राशि मंद मति कामी॥" (लं० दो० ३१) ; "नारीचौर्यमिदं क्षुद्रं कृतं शौटीर्यमानिना।" (वाल्मी० ३।११।६८)।

'निलज्ज' और 'लाज नहिं तोही' में पुनरुक्ति नहीं है, किन्तु कोप की वीप्सा है। कोप, विषाद और विस्मय में प्रायः एक ही शब्द कई बार प्रयोग किया जाता है। ऐसा मुहावरा भी है; यथा—तू निर्लज्ज है, लज्जा भी नहीं आती ?

(२) 'आपुहि सुनि खद्योत सम···'—इसमें 'सुनि' का दो बार प्रयोग किया गया है; यथा—'आपुहि सुनि खद्योत सम' और 'परुष बचन सुनि'। कारण यह कि श्रीजानकीजी ने दो वचन कहे हैं—(१) 'सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा।···' (२) 'सठ सूने हरि आनेहि···' इनमें पहले का सुनना पूर्वार्द्ध में और दूसरे का उत्तरार्द्ध में कहा गया है। पहले पर 'खिसियान' और दूसरे पर 'अति खिसियान'। इसका कारण यह कि उससे उत्तर नहीं बन पड़ा। अपनी खीझ मिटाने के लिये तलवार से मारने की धमकी देता है। रावण का स्वभाव है कि वह अपने शत्रु की प्रशंसा और अपनी न्यूनता पर अत्यंत कोप करता है ; यथा—"तेहि

रावन कहँ लघु करसि, नर कर कहसि बखान। रे कपि बर्बर खर्ब खल,···" (लं० दो० २५); "आन बीर बल सठ मम आगे। पुनि पुनि कहसि लाज पति त्यागे॥" (लं० दो० २८); "हर गिरि मथन निरखि मम बाहू। पुनि सठ कपि निज प्रभुहि सराहू॥" (लं० दो० २७)।

सीता तैं मम कृत अपमाना। कटिहउँ तव सिर कठिन कृपाना॥१॥
नाहित सपदि मानु मम बानी। सुमुखि होति न त जीवन-हानी॥२॥
स्याम - सरोज - दाम-सम सुंदर। प्रभु-भुज करि-कर सम दसकंधर॥३॥
सो भुज कंठ कि तव असि घोरा। सुनु सठ अस प्रमान पन मोरा॥४॥

अर्थ—हे सीता! तुमने मेरा अपमान किया, (अतएव) मैं तुम्हारा शिर कठिन कृपाण (चन्द्रहास) से काटूँगा॥१॥ नहीं तो शीघ्र मेरा वचन मान लो, हे सुमुखि! अन्यथा जीवन की हानि होगी; अर्थात् तुम्हारे प्राण जायँगे॥२॥ (श्रीजानकीजी ने कहा।) हे दशकंधर! प्रभु की भुजा श्याम कमल की माला के समान सुन्दर और हाथी के सूँड़ के समान (चढ़ाव-उतार=युक्त एवं बलिष्ठ) है॥३॥ या तो वही भुजा मेरे गले में लगेगी, या तेरी घोर तलवार ही। रे शठ! सुन, ऐसा मेरा प्रामाणिक प्रण (सत्य प्रतिज्ञा) है॥४॥

विशेष—(१) 'सीता तैं मम कृत···'—अपमान मृत्यु के तुल्य माना जाता है; यथा—"संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥" (अ० दो० ९५)। तुमने कठोर वचनों से मेरा अपमान किया है, अतः मैं अपनी कठोर तलवार से तुम्हारा वध करूँगा। प्राण-दंड राजा स्वयं देता है। अतः, उसने 'कटिहउँ' कहा है। पहले अपराध सुनाकर तब दंड देना चाहिये, इसलिये पूर्वार्द्ध में उसने अपराध ठहराकर और तब उत्तरार्द्ध में उसका दंड कहा।

(२) 'नाहित सपदि मानु···'—राज-अपमान का दंड वध है और वह शीघ्र ही दिया जाता है; यथा—"सुनि कपि बचन बहुत खिसियाना। बेगि न हरहु मूढ़ कर प्राना॥" (दो० २३); इससे शीघ्र वचन मानने को कहता है कि आज्ञा मान लेने से अपमान का अपराध क्षमा हो जायगा।

'सुमुखि होत नत···'—मेरा वचन न मानने से पहले तुम्हें ऐश्वर्य की ही हानि थी। यदि अब भी नहीं मानोगी, तो तुम्हारे प्राण जायँगे। यहाँ उसने 'सुमुखि'-मात्र ही कहा, इससे पहले सयानी भी कहा था। उनके द्वारा अपना अपमान किये जाने से उन्हें अयानी माना, इसी से यहाँ सयानी नहीं कहा।

(३) 'स्याम-सरोज-दाम सम सुंदर।···'—भुजा की उपमा सर्प, कमल-नाल और करिकर से दी जाती है, यथा—"भुजग भोग भुज-दंड कंज दर चक्र गदा बनि आई।" (वि० ६२); "अरुन पराग जलज भरि नीके। ससिहि भूप अहि लोभ अमी के॥" (बा० दो० ११७); "करिकर सरिस सुभग भुज-दंडा।" (बा० दो० १९९); यहाँ प्रभु की भुजाओं की उपमा नील कमल की माला से देती हैं और साथ ही उन्हें 'करिकर सरिस' भी कहती हैं। भाव यह है कि हाथी की सूँड़ के समान बलिष्ठ होने से वे तुम्हारे दसों कंधों को काटेंगी और कमल की माला के समान मेरे कंठ को भी सुशोभित करेंगी। 'प्रभु-भुज'—अर्थात् समर्थ की भुजाएँ, बलवान् की भुजाएँ।

(४) 'सो भुज कंठ कि···'—या तो वे भुजाएँ मेरे कंठ को भूषित करेंगी, अथवा तेरी घोर

तलवार ही। कमल के समान कोमल भुजाओं के जोड़ में घोर कठोर तलवार कही गई है। भाव यह कि दोनों ही दशाओं में पातिव्रता की शोभा ही है, पातिव्रत्य की रक्षा में प्राण देने से उसकी शोभा है। पुनः दोनों प्रकार में दुःख दूर होगा। विरह-दुःख का तो संयोग में अन्त होगा ही, साथ ही प्राण जाने से भी निवृत्त ही होगा। 'प्रमान पन मोरा'—भाव यह है कि तेरा प्रण प्रमाण नहीं होगा, क्योंकि मैं तेरी ओर एक बार भी दृष्टि नहीं करूँगी। पर मेरा उपर्युक्त उभय प्रकार का शोभा-परक प्रण सत्य होगा ही।

चंद्रहास हरु मम परितापं। रघुपति-बिरह-अनल-संजातं ॥५॥
सीतल निसित बहसि बरधारा। कह सीता हरु मम दुख-भारा ॥६॥
सुनत बचन पुनि मारन धावा। मयतनयाँ कहि नीति बुझावा ॥७॥

अर्थ—श्रीसीताजी कहती हैं कि हे चन्द्रहास (रावण की तलवार)। रघुपति-विरहाग्नि से उत्पन्न मेरे परिताप (दुःख) को हरण कर (अर्थात् रावण को उत्तर देती हैं कि मुझे तेरी तलवार से मरना स्वीकार है, पर तेरे वचन नहीं) हे खड्ग ! तू शीतल, चोखा (तीक्ष्ण) और श्रेष्ठ धार धारण करता है, (उससे) मेरे दुःख के भार को हर ॥५-६॥ ये वचन सुनते ही फिर मारने दौड़ा (अर्थात् मारने पर उद्यत हुआ), तब मंदोदरी ने नीति कहकर समझाया ॥७॥

विशेष—(१) 'चंद्रहास हरु मम···'—रावण ने कहा ही है—'कटिहउँ तव सिर कठिन कृपाना।' और मुझे उसकी शर्त मंजूर नहीं है, तो फिर हे चन्द्रहास ! तू देरी क्यों कर रहा है ? मेरे कंठ से लगकर शीघ्र ही मेरा विरह-ताप हर ले। क्योंकि राम-विरह तलवार-जन्य दुःख से भी अधिक है, यथा—"माँगु माथ अबही देउँ तोहीं। राम-बिरह जनि मारसि मोही ॥" (अ० दो० ३१); 'चंद्रहास' का दूसरा अर्थ चन्द्र-किरण भी है, जो ताप हरण करती है, वैसे ही तू भी मेरे विरह-ताप को हर ले, ऐसे ही अशोक से भी उन्होंने आगे कहा है; यथा—"सत्य नाम करु हरु मम सोका।" पुनः 'बर धारा'—से तलवार की श्रेष्ठ धार और दूसरा अर्थ नदी की धारा के बहने (प्रवाहित होने) का भी होता है, जिस तरह जल शीतल होता है और ताप हरता है, वैसे ही तेरी धार मेरे विरह-ताप को हरेगी, अतः, यह मुझे शीतल ही लगेगी; यथा—"चन्द्रहास हर मे परितापं। रामचन्द्र विरहानल जातम् ॥ त्वं हि कान्तिजित मौक्तिक-चूर्ण धारया वहसि शीतलसंभः ॥" (प्रसन्न-राघव नाटक)। इस श्लोक का पूर्वार्द्ध तो चौपाई से मिलता-जुलता है, और उत्तरार्द्ध का अर्थ यह है—तू अपनी धारा से मोती के चूर्ण की कान्ति को जीतनेवाली शीतल जल (की धारा) को धारण करता है।

ऊपर की अर्द्धाली में चन्द्रमा का और इसमें नदी का रूपक भी आ जाता है। वाल्मी० ७।१६।४३-४४ में कहा गया है कि चन्द्रहास नामक महा खड्ग शिवजी ने रावण को दिया था और यह भी कहा था कि यदि इसका अपमान करोगे, तो यह मेरे पास लौटकर चला आवेगा। यह दिव्यास्त्र है और इसे स्त्री पर चलाना इसका अपमान करना है। अतः, रावण डराता ही है, इस तलवार को चलावेगा नहीं।

(२) 'मयतनया कहि नीति बुझावा।'—रावण अनीति कर रहा है और मंदोदरी नीति कहती है, इसी से उसे भिन्न स्वभाव की कहते हुए उसका पिता-सम्बन्धी नाम कहा गया है। नीति उसने यह कही कि स्त्री को स्त्री पर हाथ नहीं चलाना चाहिये। पतिव्रता स्त्री अपने मत के विरुद्ध वचन पर कोप करती ही है।

अतः, श्रीजानकीजी का अपराध नहीं है। किसी को भी उसके रुचि-विरुद्ध मार्ग पर एकाएक नहीं लाना चाहिये। क्रमशः उसे समझाने की चेष्टा करनी चाहिये, इत्यादि। 'बुझावा'—समझाया एवं उसकी क्रोधाग्नि को शान्त किया; ठंढा किया इसके ये दोनों अर्थ हैं।

कहेसि सकल निसिचरिन्ह बोलाई। सीतहि बहु बिधि त्रासहु जाई ॥८॥
मास दिवस महुँ कहा न माना। तौ मैं मारब काढ़ि कृपाना ॥९॥

दोहा—भवन गयउ दसकंधर, इहाँ पिसाचिनि - बृंद।
सीतहि त्रास देखावहिं, धरहिं रूप बहु मंद ॥१०॥

अर्थ—(रावण ने) सब राक्षसियों को बुलाकर कहा कि जाकर श्रीसीताजी को बहुत तरह से डराओ ॥८॥ यदि एक महीने में कहना न माना, तो मैं (उसे) तलवार निकाल कर मारूँगा ॥९॥ (ऐसा कहकर) रावण घर गया, यहाँ राक्षसियों के समूह श्रीसीताजी को भय दिखाती हैं और बहुत-से बुरे रूप धारण करती हैं ॥१०॥

विशेष—(१) 'कहेसि सकल ···'—'जाई' शब्द से सूचित किया कि मंदोदरी के समझाने पर रावण तुरत वहाँ से चल दिया और अलग जाकर राक्षसियों को बुलाया और कहा। शृंगार करके आया था कि श्रीजानकीजी देखेंगी, पर उन्होंने देखा नहीं और यहाँ तक कि गाली दी, तब कौन-सा मुँह लेकर वहाँ ठहरता? अतः, चल दिया।

(२) 'मास दिवस महुँ ···'—यह राक्षसियों से श्रीसीताजी के प्रति कहने को कहा है कि जिससे वे यह न समझें कि मंदोदरी के समझाने पर मान गया, अब न मारेगा।

(३) 'इहाँ पिसाचिनि-बृंद'—ऊपर 'सकल निसिचरिन्ह बोलाई' कहा था, ये वे ही हैं। उसने कहा था—'सीतहि बहुबिधि त्रासहु' अतएव यहाँ 'धरहि रूप बहु मंद' कहा है। 'बहु' शब्द दीपदेहली है।

त्रिजटा नाम राक्षसी एका। राम-चरन रति निपुन बिबेका ॥१॥
सबन्हौ बोलि सुनाएसि सपना। सीतहि सेइ करहु हित अपना ॥२॥

अर्थ—एक राक्षसी त्रिजटा नाम की थी, उसकी श्रीरामजी के चरणों में प्रीति थी और वह विवेक में निपुण थी ॥१॥ उसने सबको बुलाकर अपना स्वप्न सुनाया और कहा कि श्रीसीताजी की सेवा करके अपना हित करो ॥२॥

विशेष—(१) 'त्रिजटा नाम···'—यह राक्षसी-मात्र में अपने समान एक ही थी, इसी से 'एका' कहा गया है। त्रिजटा नाम था, क्योंकि यह तीन गुणों से जटित (विशिष्ट) थी—राम-चरन-रति, व्यवहार-निपुण और विवेक—इससे ये तीनों गुण कहे गये हैं। विवेक अर्थात् सत्-असत् का ज्ञान। इसे विवेक था, इसी से रामचरण-रति करती थी; यथा—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत सब सपना ॥" (आ० दो० ३८); इसने जगत्-व्यवहार को असत् जानकर त्याग दिया था और हरि-भजन को सत् मानकर ग्रहण किया था।

(२) 'सबन्हीं बोलि...'—रावण ने सभी को बुलाकर उन्हें श्रीसीताजी को दुःख देने की आज्ञा दी थी। इसलिये इसने भी सभी को बुलाकर अपना स्वप्न सुनाया कि जिससे अब कोई उन्हें दुःख न दे। 'बोलि'—से जाना गया कि यह कुछ दूर पर थी, पर इतनी दूरी पर अवश्य थी कि जहाँ से उसके वचन श्रीसीताजी भी सुन लें। क्योंकि आगे कहा है ; यथा—"मातु बिपति-संगिनि तैं मोरी।" यह श्रीसीताजी का वचन है, उन्होंने उसका वचन सुना है, तभी ऐसा कहा है। स्वप्न दैवयोग से हुआ और प्रातःकाल का स्वप्न शीघ्र ही फलीभूत होता भी है। इसलिये तुरत ही सबों से कहा। 'करहु हित अपना'—वे सब रावण के हित में लगी हैं। उसी पर कहती है कि उसे छोड़ो और अब अपना-अपना हित देखो। स्वप्न का सार-तत्त्व उसने पहले ही बतला दिया कि कुटुंब-सहित रावण का नाश होगा। तब उसके संबंध से तुमसब भी मारी जाओगी। हाँ, बचने का एक यही उपाय है कि श्रीसीताजी की सेवा करके उन्हें प्रसन्न करो, तो ये ही तुम्हारी रक्षा कर सकेंगी ; यथा—"प्रणिपातप्रसन्ना हि मैथिली जनकात्मजा। अलमेषा परित्रातुं राक्षस्यो महतो भयात् ॥" (वाल्मी० ५।२७।२१) ; इस तरह से सबों को निवारण कर इसने सबका हित किया। यह विवेक का कार्य है। आगे स्वप्न कहती है—

सपने बानर लंका जारी। जातुधान-सेना सब मारी ॥३॥
खर आरूढ़ नगन दससीसा। मुंडित सिर खंडित भुज बीसा ॥४॥
येहि बिधि सो दच्छिन दिसि जाई। लंका मनहु बिभीषन पाई ॥५॥
नगर फिरी रघुबीर दोहाई। तब प्रभु सीता बोलि पठाई ॥६॥

अर्थ—स्वप्न में (मैंने देखा है कि) एक वानर ने लंका जला डाली, राक्षसों की सारी सेना मार डाली गई ॥३॥ रावण नंगा है और गधे पर सवार है, उसका शिर मुँड़ा हुआ है और उसकी बीसों भुजाएँ कटी हुई हैं ॥४॥ इस प्रकार वह दक्षिण दिशा को जा रहा है और लंका मानो विभीषण ने पाई है ॥५॥ नगरभर में रघुवीर श्रीरामजी की दोहाई फिरी, तब प्रभु ने श्रीसीताजी को बुला भेजा ॥६॥

विशेष—(१) 'सपने बानर लंका जारी...'—यह आश्चर्य की बात है कि एक वानर ने रावण के देखते हुए लंका को जला डाला, यथा—"रावन नगर अल्प कपि दहई। सुनि अस बचन सत्य को कहई ॥" (लं० दो० २१); "कहु कपि रावन पालित लंका। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका ॥" (दो० ३१); "देखत तोहि नगर जेहि जारा।" (लं० दो० ५४) ; इसी से इसे प्रथम कहा।

(२) 'खर आरूढ़ नगन...'—ये सब लक्षण स्वप्न-विचार से रावण की मृत्यु के सूचक हैं। पहले 'सेना सब मारी' कहकर तब रावण का मरण कहा गया, क्योंकि आगे ऐसा होना ही है। 'मुंडित सिर' ही मृत्यु-सूचक है। 'खंडित सिर' कहा जाता तो दूसरे की मृत्यु का सूचक होता। 'दच्छिन दिसि जाई'- दक्षिण दिशा में यमपुरी है। मरने पर शव के पैर दक्षिण दिशा की ओर कर दिये जाते हैं, अतः दक्षिण दिशा को जाना 'मरने' का मुहावरा है। 'पाई'—लंका श्रीविभीषणजी हाथ से चली गई थी ; यथा—"करत राज लंका सठ त्यागी।" (दो० ५१); अब उसने उसे फिर पाया; यथा—"गइ मनि मनहुँ फनिक फिरि पाई।" (अ० दो० ९१) 'मनहुँ'—स्वप्न की बात कहने की रीति ही ऐसी है।

(३) 'नगर फिरी रघुबीर दोहाई।'—जिसका राज्य होता है, उसी की दोहाई फिरती है; यथा—"जय प्रताप रवि भयउ नृप, फिरी दोहाई देस।" (बा० दो० १५३); दोहाई (द्वि-आह्वान)=दुहरी पुकार

डंके की चोट के साथ पुकारना, विजय-घोषणा कि अमुक का राज्य हुआ, आदि। 'रघुबीर'—वीरता से विजय पाई। 'तब'—जब वे श्रीविभीषणजी को राज्य दे चुके, तब पीछे उन्होंने अपना स्वार्थ चाहा, यह श्रीरामजी का स्वभाव है, जैसे पहले श्रीसुग्रीवजी को राज्य देकर पीछे श्रीसीताजी की खोज कराई। ऐसे ही अयोध्या पहुँचकर पहले सखाओं को स्नान करा तब स्वयं स्नान करेंगे। 'तब प्रभु सीता बोलि पठाई'—ऐसा कहने का भाव यह है कि ये जाकर स्वामी से यहाँ का हाल कहेंगी, जो इन्हें दुःख देती हो। अतः, तुमलोगों की दुर्दशा होगी। हरि इच्छा से उसने जितना देखा उतना ही कहा। श्रीहनुमान्‌जी का आना और उनका वृक्ष पर रहना आदि उसने न देखा और न कहा। नहीं तो राक्षस लोग खोजने लगते, जिससे श्रीजानकीजी और श्रीहनुमान्‌जी की भेंट एवं बातचीत में बाधा होती।

यह सपना मैं कहउँ पुकारी। होइहि सत्य गये दिन चारी ॥७॥
तासु बचन सुनि ते सब डरीं। जनकसुता के चरननिह परीं ॥८॥

दोहा—जहँ तहँ गईं सकल तब, सीता कर मन सोच।
मास दिवस बीते मोहि, मारिहि निसिचर पोच ॥११॥

अर्थ—मैं पुकारकर कहती हूँ कि यह स्वप्न चार दिन बीते सत्य होगा ॥७॥ उसके वचन सुनकर सब डर गईं और श्रीजानकीजी के चरणों पर पड़ गईं ॥८॥ सब मिलकर जहाँ-तहाँ चली गईं। श्रीसीताजी मन में चिन्ता करने लगीं कि एक महीना बीतते ही नीच निशाचर मुझे मारेगा ॥११॥

विशेष—(१) 'यह सपना मैं ···'—और स्वप्न चाहे कुछ झूठे भी हों, पर प्रातःकाल में आनेवाला यह स्वप्न सत्य ही होगा। जैसे श्रीभरतजी ने स्वप्न देखा और वह सत्य हुआ। राम-भक्तों का स्वप्न प्रायः सत्य ही होता है। 'कहउँ पुकारी'—जिससे सबको भली भाँति विदित हो जाय, जिसमें फिर हमारा दोष न रह जाय; यथा—"कहउँ पुकारि खोरि मोहि नाहीं।" (बा॰ दो॰ २०२); 'गये दिन चारी'—चार दिन अल्पकाल का बोधक है; यथा—"बाँधि बारिधि साधि रिपु दिन चारि महँ दोउ बीर। मिलहिं गे कपि भालु दल सँग जननि उर धरु धीर॥" (गीता सुं॰ ६); 'जनकसुता के चरननिह परीं'—चरणों में पड़कर अपराधों को क्षमा कराया। इन्होंने क्षमा भी कर दी, क्योंकि ये महात्मा श्रीजनकजी की कन्या हैं; यथा—"ततः सा ह्रीमती बाला भर्तुर्विजयहर्षिता। अवोचद्यदि तत्तथ्यं भवेयं शरणं हि वः॥" (वाल्मी॰ ५।२७।५४)। अर्थात् पति के विजय-संवाद से प्रसन्न और लज्जित हो श्रीसीताजी बोलीं—यदि ऐसी बात हुई तो हम तुम सबकी रक्षा अवश्य करेंगी।

(२) 'जहँ-तहँ गईं सकल ··· '—त्रिजटा ने कहा था; यथा—"सीतहि सेइ करहु हित अपना।" इसपर सबने सम्मत किया कि हमें देखकर श्रीसीताजी दुःख पाती हैं। अतएव हमारा यहाँ से हट जाना ही उनकी सेवा है, इधर-उधर रहें, पर पास न रहें। एकदम छोड़कर घर भी न जा सकीं, क्योंकि रावण की आज्ञा यहाँ रहने की और साथ ही बहुत क्रूर रूपों से भय दिखाने की है। भय दिखाना छोड़कर अलग हट गईं। पास में चुप-चाप भी बैठी रहतीं, तो भी उनका भय रहता। परद्रष्टी का उपद्रव छोड़ देना ही उसकी सेवा है; यथा—"यह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न बासन बसन चोराई॥" (अ॰ दो॰ १५०)। यह संयोग भी हरि-इच्छा से हो रहा है, क्योंकि श्रीहनुमान्‌जी से भेंट होनी है।

'सीता कर मन सोच'—श्रीसीताजी को मरने का शोच नहीं है। मरना तो वे चाहती ही हैं; यथा—"चंद्रहास हरु मम परितापं।" कह आई और आगे भी कहेंगी—"तजउँ देह करु बेगि उपाई।" इन्हें शोच इस बात का है कि महीने-भर असह्य विरह-दुःख झेलना पड़ेगा और फिर मारेगा। पुनः 'निसिचर पोच' के हाथों मृत्यु होगी, क्योंकि नीच के हाथों मरने से सद्‌गति नहीं होती।

शंका—जो मरना चाहती हैं, तो 'आगे' क्यों कहा है; यथा—"मास दिवस महँ नाथ न आवा। तौ पुनि मोहि जियत नहिं पावा॥" (दो० ३१)।

समाधान—वहाँ इसलिये कहा है कि स्वामी मेरे लिये इतना कष्ट उठाकर आवेंगे और फिर उनका आना व्यर्थ ही होगा। अतएव शीघ्र हो आवें कि मुझे जीवित पा जायँ। रावण ने जैसी शर्त्त कही थी, उसके अनुसार ही उन्होंने कहा है।

(३) 'निसिचर पोच'—क्योंकि क्रो अवश्य है, फिर भी मारने पर उद्यत है, मारता भी शीघ्र नहीं, किन्तु महीने-भर की अवधि दे दी है, जिससे मुझे असह्य विरह दुःख झेलना पड़ रहा है।

त्रिजटा सन बोलीं कर जोरी। मातु बिपति संगिनि तैं मोरी॥१॥
तजउँ देह करु बेगि उपाई। दुसह बिरह अब नहिं सहि जाई॥२॥
आनि काठ रचु चिता बनाई। मातु अनल पुनि देहि लगाई॥३॥
सत्य करहि मम प्रीति सयानी। सुनइ को श्रवन सूल सम बानी॥४॥

त्रिजटा से हाथ जोड़कर बोलीं कि हे माता! तू मेरे दुःख की साथिन है॥१॥ शरीर छोड़ दूँ; इसका शीघ्र उपाय कर दे, विरह अत्यन्त कष्टदायक है, अब सहा नहीं जाता॥२॥ लकड़ी लाकर चिता रचो और फिर, हे माता! (उसमें) तुम आग लगा देना॥३॥ (हे) सयानी! मेरी प्रीति (जो श्रीरामजी में है उसको) सच्ची कर दे, कानों से शूल के समान वचनों को कौन सुने?॥४॥

विशेष—(१) 'त्रिजटा सन बोलीं···'—जो काम त्रिजटा से कराना चाहती हैं, वह अगम है, त्रिजटा उसे स्वीकार नहीं करेगी कि वह चिता बनाकर उसमें आग लगा दे। इसी से हाथ जोड़कर निहोरा करती हैं। अगम बात माँगने की यही रीति भी है; यथा—"मागहुँ दूसर बर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी॥" (अ० दो० २८), श्रीसीताजी मन, वचन, कर्म से आर्त्त हैं, यथा—"सीता कर मन सोच"—मन,—"त्रिजटा सन बोलीं"—वचन और "करजोरी"—यह कर्म है। अन्य राक्षसियों से नहीं कहा कि वे खा लें, क्योंकि वे तो केवल डरवाना चाहती थीं; खाने को तो ये नहीं हो सकतीं, क्योंकि मरना तो चाहती ही हैं।

'मातु बिपति संगिनि···'—जैसे तूने मेरी एक विपत्ति में सहायता की कि स्वप्न सुनाकर सबको भय दिखाने से रोका। वैसे ही इस विरहजन्य विपत्ति के निवारण में भी सहायता कर। इस दूसरी विपत्ति को आगे कहती हैं, यथा—'तजउँ देह करु···'—देह छोड़ना पहले कहा और उपाय पीछे, इसका भाव यह है कि उपाय की ही देर है, तन त्याग की नहीं। 'दुसह बिरह'—प्राकृतिक अग्नि का ताप सहना सुलभ है, पर विरह अग्नि का नहीं। 'अब'—का भाव यह है कि विरही के प्रतिकूल बात कही जाने से उसका विरह बढ़ जाता है, यथा—"सानो सरल रस मातु बानी, सुनि भरत व्याकुल भये।

लोचन सरोरुह स्रवत सींचत बिरह उर अंकुर नये।" (अ० दो० १०१)। इसमें श्रीभरतजी को राज्य करना कहा गया था और वह उनकी भक्ति के विरुद्ध था, वैसे ही यहाँ रावण के वचन—'एकबार बिलोकु मम ओरा।' यह इनके पातिव्रत्य के विरुद्ध है। इससे विरह बढ़कर दुःसह हो गया।

(२) 'आनि काठ रचु चिता'…—'रचु' और 'बनाई'—मंगलवाचक हैं, भाव यह कि पति के वियोग में सती का मरण होना मंगल है, अतएव उत्साहपूर्वक रचना होनी चाहिये ; यथा—"सरजु तीर रचि चिता बनाई। जनु सुर पुर सोपान सुहाई॥" (अ० दो० १६६) ; इसमें राम-विरह में ही दशरथ-मरण समझकर मंगलवाचक 'सुहाई' शब्द आया। ऐसे बड़भागी को चिता रचना में श्रीभरतजी को उत्साह था। चिता बनने पर उसमें मैं प्रवेश करूँगी ; यथा—"श्रीखंड सम पावक प्रवेश कियो सुमरि प्रभु मैथिली।" (लं० दो० १०८)।

'मातु अनल पुनि'…—चिता में अग्नि कोई सम्बन्धी ही लगाता है, इससे कहती हैं कि तुम माता हो, माता से शरीर मिलता है, वैसे तुमने मुझे राक्षसियों से बचाया है, यही नया जन्म दिया है। अतएव तुम्हें ही दग्ध करना उचित है।

(३) 'सत्य करहि मम प्रीति'…—यदि प्रिय के विरह में शरीर-त्याग न हो, तो प्रीति सत्य नहीं है ; यथा—"बंदउँ अवध भुआल, सत्य प्रेम जेहि राम-पद। बिछुरत दीन दयाल, प्रिय तन तृन इव परिहरेउ॥" (बा० दो० १६) ; "तुलसी एकै मीन को, है साँचिलो सनेह।" (दोहावली ३१८)। "राम गये अजहूँ हौं जीवत समुझत ही अकुलात। तुलसिदास तनु तजि रघुपति हित कियो प्रेम परवान॥" (गी० अ० ५२)। 'सयानी'—कहने का भाव यह कि तुम यह जानती हो कि पति के बिना स्त्री का जीवन ही व्यर्थ है।

'सुनै को श्रवन'…—दुष्ट के प्रतिकूल वचनों के सुनने से मरना ही अच्छा है ; यथा—"अरिबस दैव जियावत जाही। मरन नीक तेहि जीवन चाही॥" (अ० दो० २०)।

> सुनत बचन पद गहि समुझायेसि। प्रभु-प्रताप बल सुजस सुनायेसि॥५॥
> निसि न अनल मिल सुनु सुकुमारी। अस कहि सो निजभवन सिधारी॥६॥
> कह सीता बिधि भा प्रतिकूला। मिलिहि न पावक मिटिहि न सूला॥७॥
> देखियत प्रगट गगन अंगारा। अवनि न आवत एकउ तारा॥८॥
> पावकमय ससि स्रवत न आगी। मानहुँ मोहि जानि हतभागी॥९॥

अर्थ—वचन सुनते ही उसने चरण पकड़कर समझाया और प्रभु का प्रताप, बल और सुयश सुनाया॥५॥ हे सुकुमारी ! सुनो, रात में आग नहीं मिलती—ऐसा कहकर वह अपने घर चली गई॥६॥ श्रीसीताजी (अपने मन में) कहती हैं कि विधाता मुझे विपरीत हो गया है, (इससे) न अग्नि मिलेगी और न शूल मिटेगा।॥७॥ आकाश में अंगारे (चिनगारियाँ) प्रकट दिखाई पड़ते हैं, पर पृथिवी पर एक भी तारा नहीं आता॥८॥ चन्द्रमा अग्निमय है, पर मानों मुझे अभागिनी जानकर अग्नि नहीं गिराता॥९॥

विशेष—(१) 'सुनत वचन पद गहि'''—'पद गहि'—श्रीसीताजी ने उसे मातृ-पद का महत्त्व दिया। अतः, चरण पकड़कर उसने अपनेको दासी जनाया। पुनः उनकी दी हुई आज्ञा को न पाल सकने के अपराध को क्षमा कराने के लिये भी चरण पकड़े। पुनः शपथ की दृष्टि से भी चरण पकड़कर प्रभु के प्रताप आदि की सत्यता दृढ़ की। 'समुझायेसि'— श्रीरामजी अवश्य आयेंगे और शत्रु का मान मर्दन कर तुम्हें ले जायँगे, तब तक धैर्य रक्खो। धैर्य को दृढ़ करने के लिये प्रभु के प्रताप आदि सुनाये। 'प्रभु'—कहने का तात्पर्य यह कि वे समर्थ हैं। 'प्रताप'—जैसे कि तुम्हारे लिये थोड़ा अपराध करने पर सींक के बाण से जयन्त की क्या दशा हुई, उसे तुमने आँखों से देखा है। 'बल'—धनुर्भंग की व्यवस्था प्रभु के अपरिमित बल की परिचायिका है; यथा—"तब भुज-बल-महिमा उद्घाटी। प्रगटी धनु विघटन परिपाटी॥" (बा॰ दो॰ २२८); यह भी आपने देखा है। आश्रितों की रक्षा करने के श्रीरामजी के सुयश को भी आप जानती ही हैं; यथा—"सुनत सुनि श्रवन हौं नाथ आयौं सरन। उपल केवट गीध सबरी संसृत-समन, सोक श्रम सींव सुग्रीव आरति हरन॥" (गी॰ सुं॰ ४६); तथा—"निवासवृक्षः साधूनामापन्नानां परा गतिः॥ आर्त्तानां संश्रयश्चैव यशसश्चैकभाजनम्॥" (वाल्मी॰ ५।१।१९-२०); अर्थात् श्रीरामजी साधुओं के आश्रयदाता तथा पीड़ितों के रक्षक हैं। वे दुःखियों के आश्रय-स्थान हैं और यश के अद्वितीय पात्र हैं। तब वे तुम परम अनुरक्ता को कैसे भुला सकते हैं?

(२) 'निसि न अनल मिल सुनु'''—जब भारी विरह के कारण समझाने से भी धैर्य न हुआ, तब उसने अग्नि न मिलने का बहाना किया। 'सुकुमारी'—का भाव यह कि तुम्हारा शरीर अत्यन्त सुकुमार है। अतः, अग्नि का ताप सहन होना असंभव है; यथा—"अति सुकुमार न तनु तप जोगू।" (बा॰ दो॰ ७२)। 'निज भवन सिधारी'—वह समझती है कि ये तो सयानी हैं। यदि अग्नि मिलने का कोई उपाय बतलाकर उसे लाने को कहेंगी, तब आज्ञा-भंग करना अनुचित होगा, इससे घर को चल दिया। यह भी प्रभु की ही प्रेरणा है, क्योंकि उन्हें श्रीहनुमान्‌जी को श्रीसीताजी से भेंट का अवकाश देना है। इसके वहाँ रहते हुए यह ठीक न होता।

(३) 'कह सीता बिधि'''—'कह' शब्द वाणी से भी कहा जाना प्रकट करता है कि आगे की बातें मुख से भी कही गई हैं। तभी सुनकर ऊपर से श्रीहनुमान्‌जी ने अग्नि की जगह मुद्रिका गिराई है। *'बिधि भा प्रतिकूला'—क्योंकि हितैषिणी त्रिजटा भी यहाँ से चली गई; यथा—"भये बिधि बिमुख बिमुख सब कोऊ॥"* (अ॰ दो॰ १८१)। 'मिलिहि न पावक'''—भाव यह कि अग्नि के द्वारा शरीर-त्याग से ही दुःख दूर होगा। ऊपर कहा ही गया; यथा—"दुसह बिरह अब नहिं सहि जाई।" शूल; यथा—"सुनै को श्रवन सूल सम बानी।"

(४) 'देखियत प्रगट गगन'''—श्रीसीताजी विधाता की प्रतिकूलता को प्रकट कर रही हैं कि वह अंगारे दिखाता तो है, पर देता नहीं, भाव यह कि अंगारे नहीं दिखलाई पड़ते तो संतोष हो भी जाता कि अग्नि है ही नहीं, क्या करें? 'प्रगट'—भाव यह कि त्रिजटा ने झूठ ही कहा था कि अग्नि नहीं मिलती, पर हमें तो वह प्रत्यक्ष दिख रही है। अंगारे क्या हैं, उन्हें उत्तरार्द्ध में ग्रंथकार स्वयं कहते हैं कि वे तारे हैं। 'एकउ'—भाव यह कि अगणित हैं, पर मिलता एक भी नहीं, एक भी मिलने से काम चल जाता।

इससे जान पड़ता है कि अब ये स्वयं अपने लिये चिता बनाना चाहती हैं, केवल आग की ही खोज में हैं; लकड़ी तो यहाँ मिल ही जायगी, क्योंकि यह बाग है। इसी से त्रिजटा ने लकड़ी न मिलने का बहाना नहीं किया।

(५) 'पावकमय ससि···'—विरह में चन्द्रमा एवं तारे सभी अग्निमय ज्ञान पड़ते हैं ; यथा— "हहकु न है उँजियरिया निसि नहिं घाम । जगत जरत अस लाग मोहिं बिनु राम ॥" "सीतलता ससि की रहि सब जग छाइ । अगिनि ताप है हम कहँ सँचरत आइ ॥" (बरवा ३७-३२)। भाव यह है कि चन्द्रमा अग्नि से भरा हुआ है, पर थोड़ी-सी भी नहीं टपकाता । या एक भी तारा यदि भूमि पर आ जाता अथवा चन्द्रमा ही थोड़ी-सी अग्नि गिरा देता, तो इनमें किसी एक से ही काम चल जाता । 'हतभागी'— पति-वियोग होते ही मेरा भाग्य फूट गया, अतएव सभी विमुख हैं।

पहले विधाता को दोष दिया और उसके कार्य दिखाये, फिर यहाँ के 'हतभागी' शब्द से उसे भी निर्दोष किया कि मेरे कर्म के अनुसार ही तो ब्रह्मा ने भाग्य बनाया, जब कर्म में लिखा है ही नहीं, तब वह दे कहाँ से ? ब्रह्माजी सबकी बुद्धि के देवता तो हैं ही, साथ ही तारा और चन्द्रमा आदि के भी नियामक हैं।

सुनहि बिनय मम बिटप असोका । सत्य नाम करु हरु मम सोका ॥१०॥
नूतन किसलय अनल समाना । देहि अगिनि तनु करहि निदाना ॥११॥

अर्थ—हे अशोक वृक्ष ! मेरी विनती सुन, अपना नाम सत्य कर, मेरा शोक दूर कर ॥१०॥ तेरे नवीन कोंपल (पल्लव) अग्नि के समान हैं, अग्नि देकर मेरे शरीर का अंत कर दे ॥११॥

विशेष—(१) 'सुनहि बिनय मम···' श्रीसीताजी इस समय अत्यन्त व्याकुल हैं, इसी से जड़ वृक्ष से भी सुनने को कहती हैं ; यथा—"भये बिकल जस प्राकृत दीना ।···पूछत चले लता तरु पाती ॥" (आ० दो० ३१) ; 'बिटप असोका'—बिटप परोपकारी होते हैं ; यथा—"संत बिटप सरिता गिरि धरनी । परहित हेतु सबन्हि कै करनी ॥" (उ० दो० १२७)। इसीलिये अशोक के साथ बिटप भी कहा गया है। अपने नाम की लज्जा सभी को होती है। अतः, मेरा शोक नाश करके अपना अशोक नाम सत्य करो। चन्द्रमा की तरह मेरे दुर्भाग्य पर दृष्टिपात न करो। आगे शोक-हरण का उपाय यों कहती हैं—

'नूतन किसलय अनल समाना ।···'—भाव यह है कि तेरे पास अग्नि बहुत है, उसकी वृष्टि कर दे, जिससे मेरा शरीर भस्म हो जाय। मुझे लकड़ी जुटाकर चिता बनाना भी न पड़े।

शंका—मरने के और भी उपाय हैं ; यथा—"हृदय सहित गिरितें गिरउँ पावक जरउँ जलनिधि महँ परउँ ।" (बा० दो० ११) ; ये सबसे अग्नि ही क्यों माँगती हैं ?

समाधान—(क) सती स्त्री अग्नि में ही जल मरती है। (ख) अग्नि में इनके बिंब की स्थिति है, प्रतिबिंब वहीं जाकर मिलना चाहता है। (ग) हरि-इच्छा से ऐसी प्रवृत्ति हुई, श्रीहनुमान्‌जी अशोक पर अँगूठी लिये हुए बैठे हैं। विरहाग्नि से तप्त हो कर प्राकृत अग्नि में जलना सुगम मानकर तारा, चन्द्रमा आदि को अग्निमय मानती हुई, अशोक के लाल पल्लवों को भी अग्निमय देखती हुई, उससे भी अग्नि माँगती। तब श्रीहनुमान्‌जी को अँगूठी गिराने का अवसर मिलेगा और वे उसे अग्नि समझकर लेंगी।

देखि परम बिरहाकुल सीता । सो छन कपिहि कलप सम बीता ॥१२॥

सोरठा—कपि करि हृदय बिचार, दीन्हि मुद्रिका डारि तब।
जनु असोक अंगार, दीन्ह हरषि उठि कर गहेउ ॥१२॥

अर्थ—श्रीसीताजी को विरह से परम व्याकुल देखकर वह क्षण कपि को कल्प के समान बीत गया ॥१२॥ तब कपि श्रीहनुमानजी ने हृदय में विचारकर अँगूठी गिरा दी, मानों अशोक ने अंगारा दिया, श्रीसीताजी ने हर्षित हो उठकर उसे हाथ में ले लिया ॥१२॥

विशेष—(१) 'देखि परम बिरहाकुल सीता। ···'—पहले श्रीजानकीजी को दीन दशा में देख कर श्रीहनुमानजी परम दुखी हुए थे ; यथा—"परम दुखी भा पवन सुत, देखि जानकी दीन ॥" (दो० ८) ; अब विरह से परम व्याकुल देखकर उन्हें उस क्षण का बीतना कल्प के समान प्रतीत हुआ। जब देखने-वाले का ही क्षण कल्प के समान बीता, तब श्रीसीताजी की दशा कैसे कही जाय? क्षण=पल का चतुर्थांश, समय का सबसे छोटा भाग। कल्प=ब्रह्मा का एक दिन जिसमें १४ मन्वंतर होते हैं। श्रीसीताजी की वह दशा क्षण-भर ही रही कि श्रीहनुमान्जी ने देखा कि अब ये प्राण ही छोड़ना चाहती हैं। अत, उन्होंने शीघ्र ही मुद्रिका डाल दी।

(२) 'कपि करि हृदय बिचार···'—विचार पर प्रसंग छूटा था ; यथा—"करइ बिचार करउँ का भाई।" अब वहीं से फिर प्रसंग लेते हैं कि श्रीसीताजी अशोक से आग माँग रही हैं, उसकी जगह मुद्रिका दे दूँ, मुद्रिका में माणिक्य का नगीना था। सोने के साथ जड़ा होने से उसमें अधिक ललाई आ गई थी, जिससे वह मुद्रिका अंगार की तरह दिखलाई पड़ती थी। अशोक वृक्ष पर से मुद्रिका गिरी और उससे इनका शोक दूर होगा, इसी से मानों उसने अपना अशोक नाम सत्य किया। 'हरषि उठि कर···'—अग्नि पा कर श्रीसीताजी को हर्ष हुआ। अत', इससे विरह की सत्यता जानी गई। उन्होंने उसे उठकर ले लिया। इससे अँगूठी का गिरना कुछ दूरी पर सूचित किया गया, किंतु अधिक दूर पर भी नहीं गिरी, नहीं तो धाइ कर गहना कहा जाता। अभी तक जिस-जिस से अग्नि माँगी गई, किसी ने नहीं दी। यहाँ वायुपुत्र के द्वारा प्राप्त हुई, क्योंकि अग्नि की उत्पत्ति वायु से ही होती है ; यथा—"वायोरग्नि ॥" (तैत्त० २।१)।

तब देखी मुद्रिका मनोहर। राम-नाम अंकित अति सुंदर ॥ १ ॥
चकित चितव मुदरी पहिचानी। हरष बिषाद हृदय अकुलानी ॥ २ ॥
जीति को सकइ अजय रघुराई। माया ते असि रचि नहिं जाई ॥ ३ ॥

अर्थ—तब राम-नाम-अंकित अत्यन्त सुन्दर मनोहर अँगूठी देखी ॥ १ ॥ पहचानकर उसे चकित (विस्मित) होकर देखती हैं। हर्ष और विषाद से हृदय में व्याकुल हो गईं ॥२॥ श्रीरघु-नाथजी अजेय हैं, उन्हें कौन जीत सकता है? अर्थात् कोई नहीं और माया से ऐसी रची नहीं जा सकती ॥३॥

विशेष—(१) 'तब देखी मुद्रिका मनोहर···'—श्रीसीताजी ने पहले अग्नि के धोखे से अँगूठी को मुट्ठी में ले लिया, जब वह गर्म नहीं मालूम हुई, तब उन्होंने उसे खोलकर देखा, तो वह मुद्रिका थी, फिर अच्छी तरह देखा, तब उसमें रामनाम अंकित (लिखा) पाया। 'मनोहर'—रामनाम मनोहर है ; यथा—

"आखर मधुर मनोहर दोऊ।" (बा० दो० १९); उससे अंकित होने से यह मुद्रिका भी मनोहर है। एक तो इसकी बनावट ही सुन्दर है, उसपर रामनाम अंकित होने से 'अति सुन्दर' है।

(२) 'चकित चितव ...'—जहाँ चकित होकर चारों दिशाओं में देखना होता है वहाँ 'चहु दिसि' एवं 'सकल दिसि' भी साथ लिखते हैं। यहाँ विस्मित होकर मुँदरी के ही देखने का अर्थ है; यथा—"जहँ-जहँ जाहि कुँवर वर दोऊ। तहँ तहँ चकित चितव सब कोऊ॥" (बा० दो० २२१), 'हरष-विषाद ...'—हर्ष मुद्रिका मिलने का हुआ और विषाद इस लिये हुआ कि यह यहाँ पर आ गई कैसे? यही आगे कहती हैं—'जीति को सकै ...', 'हृदय अकुलानी'; यथा—"हृदय हरष विषाद अति पति मुद्रिका पहिचानि। दास तुलसी दसा सो केहि भाँति कहै बखानि॥" (गी० सुं० १); पहले विरह की व्याकुलता में कुछ कहती भी थीं, अब तो दंग रह गईं।

(३) 'जीति को सकै ...'—वाल्मी० ५।३७।१४-१७ में श्रीसीताजी ने स्वयं कहा है कि मैं अपने स्वामी के प्रभाव को जानती हूँ, उन्हें कोई जीत नहीं सकता। यथा—"सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहि समर न जीतनहारा॥" (अ० दो० १८८), ये प्रमाण माधुर्य के हैं; ऐश्वर्य-दृष्टि में तो—"भृकुटि विलास सृष्टि लय होई।" (आ० दो० १७); कहा गया है। 'रघुराई' का भाव यह कि सभी रघुवंशी अजेय होते आये हैं और ये तो उस कुल में श्रेष्ठ ही हैं; यथा—"रघुबंसिन्ह महँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहइ न कोई॥ कही जनक जस अनुचित बानी। विद्यमान रघुकुल मनि जानी॥" (बा० दो० २५२); 'माया ते असि रचि नहिं जाई'—'असि' का भाव यह है कि श्रीसीताजी और श्रीरामजी के भूषण सब दिव्य हैं, सायुज्य-मुक्त जीव हैं, चेतन हैं। गी० सुं० ३ में लिखा है कि श्रीजानकीजी ने मुद्रिका से बातें की हैं और उसने उत्तर में श्रीरामजी का समाचार कहा है। श्रीहनुमान्‌जी का भी परिचय दिया है, तो वह माया से नहीं हो रची जा सकती। वाल्मी० ३६।२४ में भी कहा है—"रामनामांकितं चेदं पश्य देव्यङ्गुलीयकम्॥ प्रत्ययार्थं तवानीतं तेन दत्तं महात्मना॥...गृहीत्वा प्रेक्षमाणा सा भर्तुः करविभूषितम्। भर्तारमिव संप्राप्तं जानकी मुदिताभवत्॥" इत्यादि।

सीता मन बिचार कर नाना। मधुर बचन बोलेउ हनुमाना॥ ४॥
रामचंद्र गुन बरनइ लागा। सुनतहिं सीता कर दुख भागा॥ ५॥
लागीं सुनै श्रवन मन लाई। आदिहु ते सब कथा सुनाई॥ ६॥

अर्थ—श्रीसीताजी मन में अनेक विचार कर रही हैं, (उसी समय) श्रीहनुमान्‌जी मधुर वचन बोले॥४॥ श्रीरामचन्द्रजी के गुण वर्णन करने लगे, (उन गुणों के) सुनते ही श्रीसीताजी का दुःख दूर हो गया॥५॥ कान और मन लगाकर सुनने लगीं, (तब) श्रीहनुमान्‌जी ने आदि ही से (जन्म से लेकर) सारी कथा सुनाई।६॥

विशेष—(१) 'सीता मन विचार...'—कि यह मुद्रिका यहाँ कैसे आई? इसपर कोई विचार नहीं ठहर पाता। क्या ऐसा हो सकता है कि श्रीलक्ष्मणजी कंद मूल लेने गये हों और श्रीरामजी सो गये हों, तो उसी समय कोई पक्षी ले आया हो, अथवा हमारे वियोग में उन्होंने प्राण ही छोड़ दिये हों और फिर इसी कारण श्रीलक्ष्मणजी ने भी प्राण छोड़ दिये हों, जिससे इसे कोई उठा लाया हो, इत्यादि विचार-पर-विचार उठते जाते हैं। 'मधुर वचन ...'—मीठे अमृत-समान एवं धीमे

स्वर से कि जिसे श्रीजानकीजी ही सुन सकें, दूसरा नहीं ; यथा—"श्रवनामृत जेहि कथा सुहाई।" आगे कहा है। कानों को प्रिय लगी, इसी से—"लागी सुनै श्रवन मन लाई।" आगे कहा है।

(२) 'रामचंद्र गुन ···'—चन्द्रमा ताप को दूर करता है, यथा—"सरदातप निसि ससि अपहरई।" (कि॰ दो॰ १६) ; और यहाँ राम-गुण से श्रीसीताजी शीतल हुईं, अतएव 'रामचंद्र' कहा गया। शीतल होने के सम्बन्ध से 'सीता' कहा गया है ; यथा—"सीता सीत निसा सम आई।" (दो॰ ३५)। गुण ; यथा—"दीनबंधु सुख सिंधु कृपाकर कारुनीक रघुराई।" (वि॰ ८१)।

(३) 'लागी सुनै श्रवन मन लाई ···'—जब तक किसी प्रकार का दुःख रहता है, तब तक कथा में मन नहीं लगता और यदि श्रोता का मन न लगे, तो उससे कथा न कहनी चाहिये ; यथा—"यह न कहिय सठही हठ सीलहिं। जो मन लाइ न सुनु हरि लीलहि॥" (उ॰ दो॰ १२८) ; इसलिये श्रीहनुमान्‌जी ने प्रथम राम-गुण सुनाकर श्रीसीताजी का दुःख दूर किया और जब नाना विचारों को छोड़ उनका मन एकाग्र हुआ तब आदि (बाल-कांड) से यहाँ (अरण्य-कांड) तक की भी कथा कही, जिसे वे जानती थीं। तब सीता-हरण की बातें, श्रीरामजी का विरह, जटायु की कथा, श्रीशबरीजी की प्रीति और श्रीसुग्रीवजी की मैत्री और फिर जैसे-जैसे चारों दिशाओं में वानर भेजे गये—ये सब कथाएँ कहीं। उसी सिलसिले में दक्षिण दिशा की सेना में अपना आना और समुद्र लाँघकर लंका में श्रीसीताजी का खोजना और उनको पहचानना, पुनः मुद्रिका गिराना पर्यन्त सभी बातें कही गईं।

शंका—श्रीहनुमान्‌जी आदि ही से सारी कथा कैसे जानते थे ?

समाधान—उन्होंने श्रीरामजी से सुनी थी, यथा—"आपन चरित कहा हम गाई।" (कि॰ दो॰ १), पुनः श्रीलक्ष्मणजी ने भी विस्तार से सुनाई थी, यथा—"लछिमन राम चरित सब भाखा॥" (कि॰ दो॰ ४) ; और ऋषियों से भी सुनी है, यथा—"राम जनम सुभ काज सब, कहत देव रिषि आइ। सुनि सुनि मन हनुमान के, प्रेम उमँग न अमाइ॥" (रामाज्ञा ४।४।१)।

श्रवनामृत जेहि कथा सुहाई। कही सो प्रगट होत किन भाई॥ ७॥
तब हनुमंत निकट चलि गयऊ। फिरि बैठीं मन बिसमय भयऊ॥ ८॥
राम-दूत मैं मातु जानकी। सत्य सपथ करुनानिधान की॥ ९॥
यह मुद्रिका मातु मैं आनी। दीन्हि राम तुम कहँ सहिदानी॥१०॥

अर्थ—जिसने कानों को अमृत के समान प्रिय सुन्दर कथा कही। हे भाई! वह प्रकट क्यों नहीं होता ?॥७॥ तब श्रीहनुमान्‌जी पास चले गये, श्रीसीताजी फिरकर (मुँह फेरकर) बैठ गईं, उनके मन में विस्मय हुआ॥८॥ हे माता श्रीजानकीजी! मैं श्रीरामजी का दूत हूँ, करुणानिधान की शपथ करके सत्य कहता हूँ॥९॥ हे माता! यह अँगूठी मैं ही लाया हूँ, श्रीरामजी ने यह आपको निशानी दी है (कि जिससे आप मुझे उनके पास से आया हुआ मानें)॥१०॥

विशेष—(१) 'सो प्रगट होत किन भाई'—श्रीहनुमान्‌जी ने जो श्रीसीताजी को रामकथा सुनाई, उसी सम्बन्ध से उन्हें प्रिय मानकर श्रीसीताजी ने 'भाई' कहा है ; यथा—"भैया कहहु कुसल दोउ बारे।" (बा॰ दो॰ २९०), जिसने कानों को तृप्त किया, वह नेत्रों को भी क्यों नहीं तृप्त करता। उसके

दर्शनों से नेत्र शीतल होंगे ; यथा—"तोहि देखि सीतल भइ छाती।" (दो० १६) ; तात्पर्य यह है कि श्रीरामकथा के वक्ता से श्रीमहारानीजी परदा नहीं रखती थीं।

(२) 'तब हनुमंत निकट···'—'तब' जब आज्ञा मिली, पहले तो दूर ही रहे ; यथा—"दूरि ते ताहि सबन्हि सिर नावा। पूछे निज वृत्तांत सुनावा॥" (कि० दो० १२) ; "दूरिहि ते प्रनाम कपि कीन्हा।" (लं० दो० १०५) ; 'चलि गयऊ'—दौड़कर या कूदकर नहीं, क्योंकि उससे ढिठाई होती ; यथा—"तासु निकट पुनि सब चलि आये।" (कि० दो० २४) ; 'फिरि बैठी'—उठकर मुद्रिका लेना कहा गया था; यथा—'हरषि उठिकर गहेउ' और अभी तक खड़ी-खड़ी उसे देखती और अनेकों विचार करती रहीं, खड़ी-ही-खड़ी कथा भी सुनी और वक्ता को भी निकट बुलाया। पर जब श्रीहनुमान्‌जी समीप गये, तब वे फिरकर बैठ गईं, क्योंकि कथा सुनाई पड़ी—मनुष्य की बोली में और प्रकट हुआ वानर। कहीं यह रावण ही न हो, इसी शंका से मुख फेर लिया और इसी से मन में विस्मय भी हुआ ; यथा—"यथायथा समीपं स हनूमानुपसर्पति। तथा तथा रावणं सा तं सीता परिशङ्कते॥" (वाल्मी० ५।३४।६) ; पहले भी एक बार रावण यती बनकर संस्कृत में बातें की थीं, इसीलिये संदेह हुआ कि कहीं हमें धोखा देने के लिये वही वानर बनकर न आया हो ; क्योंकि राक्षस मायावी होते हैं। अतः, उन्हें रूप बदलने में कुछ कठिनाई नहीं होती है।

(३) 'सत्य सपथ करुनानिधान की।'—शपथ का तात्पर्य यह कि मैं यदि झूठ कहता होऊँ, तो मुझपर श्रीरामजी की करुणा न रहे ; यथा—"तेहि पर राम सपथ करि आई। सुकृत सनेह अवधि रघुराई॥" (अ० दो० १७) ; इसमें भी वैसा ही भाव है कि मैं यदि झूठ कहता होऊँ, तो मेरे सुकृत और स्नेह नाश हो जायँ। एक यह भी भाव है कि मैं उनका दूत होने के योग्य न था, पर स्वामी ने करुणा करके यह पद मुझे प्रदान किया है ; यथा—"जाना मन क्रम बचन यह, कृपासिंधु कर दास॥" आगे कहा है। शपथ से अपने वचन को पुष्ट किया ; यथा—"तेहि पर राम सपथ करि आई।···बात दृढ़ाइ कुमति हँसि बोली।···" (अ० दो० १७)। इस शपथ से राम-दूत होने की प्रतीति हुई, उसमें नर-वानर की संगति में कुछ जानना है, वही जानने पर पूर्ण विश्वास करेंगी।

नर बानरहि संग कहु कैसे। कही कथा भइ संगति जैसे॥११॥

दोहा—कपि के बचन सप्रेम सुनि, उपजा मन बिस्वास।

जाना मन क्रम बचन यह, कृपासिंधु कर दास॥१३॥

अर्थ—नर और वानर का संग कैसे हुआ ? यह कहो, (श्रीहनुमान्‌जी ने) सारी कथा कही, जिस प्रकार संग हुआ था॥११॥ कपि श्रीहनुमान्‌जी के प्रेम-युक्त वचन प्रेम-सहित सुनकर श्रीसीताजी के मन में विश्वास हुआ और जान लिया (निश्चय हुआ) कि यह मन और वचन से कृपासागर श्रीरामजी का दास है॥१३॥

विशेष—(१) 'नर बानरहि संग···' ; यथा—"वानराणां नराणां च कथमासीत्समागमः॥" (वाल्मी० ५।१) ; पहले की कथा में मैत्रीमात्र का होना सुना था। अतः, उसी को विस्तार से सुनना चाहती हैं।

(२) 'कपि के बचन सप्रेम सुनि···'—कथा कहते हुए श्रीहनुमान्‌जी को बात-बात में प्रेम उमड़

आता था। श्रीराम-लक्ष्मण के स्वरूप-वर्णन में बहुत प्रेम दीखता था। श्रीसीताजी ने जो वस्त्र-भूषण डाल दिये थे, इन्होंने उनका ठीक-ठीक वर्णन किया। तब श्रीसीताजी के मन में पूर्ण विश्वास हुआ और उपर्युक्त विस्मय दूर हुआ। श्रीरामजी के प्रति उनका प्रेम देखकर मन, कर्म और वचन से उन्हें प्रभु का दास जाना, "राम दूत मैं मातु जानकी। सत्य सपथ···" से वचन-द्वारा, 'कपि के वचन सप्रेम···' से मन-द्वारा और "यह मुद्रिका मातु मैं आनी।" से कर्म- द्वारा श्रीरामजी का दास होना जाना। 'कृपासिंधु कर···' —भाव यह कि श्रीरामजी ने मुझपर कृपा करके इसे अपना दास बनाकर भेजा; यथा—"बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता।" (दो० ६)।

इस दोहे में श्रीसीताजी के मन का व्यापार अधिक व्यक्त किया गया है, 'मन' शब्द चार बार आया है। ऊपर के दोहे में—"तजउँ देह···आनि काठ···" आदि कर्म और "कह सीता बिधि भा प्रतिकूला।···" से "नूतन किसलय···" त वचन की प्रीति श्रीरामजी में कही गई है।

हरिजन जानि प्रीति अति बाढ़ी। सजल नयन पुलकावलि ठाढ़ी॥ १॥
बूड़त बिरह - जलधि हनुमाना। भयहु तात मो कहँ जलजाना॥ २॥
अब कहु कुसल जाउँ बलिहारी। अनुज-सहित सुख भवन खरारी॥ ३॥

अर्थ—भगवान् का सेवक जानकर अत्यन्त प्रीति बढ़ी, नेत्रों में जल भर आया, शरीर पुलकायमान हो गया और रोम खड़े हो गये॥१॥ (श्रीसीताजी श्रीहनुमानजी से बोलीं—) हे तात हनुमान्! मुझ विरह-समुद्र में डूबती हुई को तुम जहाज हुए॥२॥ मैं तुम्हारी बलिहारी जाती हूँ, अब भाई श्रीलक्ष्मण के साथ सुख के स्थान, खर के शत्रु श्रीरामजी का कुशल-क्षेम कहो॥३॥

विशेष (१)—'हरिजन जानि प्रीति अति बाढ़ी।···'—जैसे श्रीहनुमान्जी ने सज्जन (श्रीविभीषणजी) को पहचान लिया; यथा—"हृदय हरष कपि सज्जन चीन्हा।" और विभीषणजी ने भी इन्हें हरि-दास जाना; यथा—"की तुम्ह हरि दासन्ह महँ कोई।" वैसे ही यहाँ श्रीसीताजी ने भी श्रीहनुमान्जी को हरिजन जाना। 'प्रीति अति बाढ़ी'; यथा—"मोरे हृदय प्रीति अति होई।" यह विभीषणजी ने भी कहा है और यह संतों का लक्षण भी है; यथा—"संत चरन पंकज अति प्रेमा।" (आ० दो०· १५)। पहले 'प्रीति अति बाढ़ी'—यह मन की दशा हुई और फिर वही दशा तन की—'सजल नयन पुलकावलि ठाढ़ी।' से प्रकट हो गई; यथा—"बहु लालसा कथा पर बाढ़ी। नयनन्हि नीर रोमावलि ठाढ़ी।" (बा० दो० १०३); आगे वचन की दशा भी प्रकट है; यथा—"बूड़त बिरह जलधि···'—अभी श्रीहनुमान्जी ने ही नाव-रूप आधार हो कर उनके प्राण बचाये; यथा—"राम बिरह सागर महँ, भरत मगन मन होत। बिप्र रूप धरि पवन सुत, आइ गयउ जनु पोत॥" (उ० दो० १); किन्तु विरह-सागर अभी है ही, जब श्रीरामजी मिलेंगे, तब श्रीसीताजी उसके किनारे पहुँचेगी; यथा—"बूड़त बिरह बारीस कृपा-निधान मोहि कर गहि लियो॥" (उ० दो० ५); यह प्रभु से मिलाप होने पर श्रीभरतजी ने कहा है।

इसी तरह श्रीभरतजी एवं श्रीजाम्बवान् आदि के लिये और श्रीरामजी के लिये भी श्रीहनुमान्जी नाव रूप हुए हैं। श्रीभरतजी के प्रति ऊपर कहा गया है। जाम्बवान् आदि के लिये; यथा— "बूड़त जहाज बच्यो पथिक समाज मानो आज जाये जानि सब अंकमाल देत हैं। गगन निहारि किलकारी भारी सुनि हनूमान पहिचानि भये सानँद सचेत हैं॥" (क० सुं० २१); श्रीरामजी के लिये; यथा— "सिय सनेह सागर नागर मन बूड़न लग्यो सहित चित चैन। लही नाव पवनज प्रसन्नता, बरबस तहाँ गह्यो गुन मैन॥" (गी० सुं २१)।

(२) 'अब कछु कुसल'…—'अब' अर्थात् मेरी कुशल तो की, अब दोनों भाइयों की कुशल कहो। जब मारीच ने श्रीरामजी के समान स्वर में ही आर्त्त वचन कहा, श्रीसीताजी उसे सुनकर व्याकुल हो गई और श्रीसीताजी ने श्रीलक्ष्मणजी को उनकी रक्षा के लिये भेजा। तभी इनका हरण हो गया। अतः, उनका कुशल-क्षेम सुनना चाहती हैं और इसीके लिये बलिहारी जाती हैं। अपनी कुशल पर बलिहारी नहीं, पर स्वामी की कुशल सुनाने के लिये बलिहारी जाती हैं। इस बड़े उपकार पर यह कृतज्ञता है।

इसी तरह के उपकार पर श्रीरामजी और श्रीभरतजी ने भी इन्हें हृदय से लगाया है; यथा—"पुनि हनुमान हरषि हिय लाये।" (दो० ३१); "सुनत भरत भेंटेउ उठि सादर।" (उ० दो० १); पर श्रीसीताजी ने वैसा नहीं किया, किन्तु आगे अमोघ आशिष ही दी है, क्योंकि इनके लिये यही युक्तिसंगत भी है।

'सुख भवन खरारी'—प्रभु आश्रितों के लिये सुख-स्थान हैं और खर की तरह दुष्टों के शत्रु हैं। अतः, दुष्टों को मारकर मुझे सुखी करेंगे—इससे श्रीसीताजी ने अपनी यह अभिलाषा सूचित की। इसमें यह भी ध्वनि है कि खर ने तो इतना ही कहा था—'देहु तुरत निज नारि दुराई।' इसी पर प्रभु ने सेना-सहित उसे मार डाला था और अब रावण के प्रति वैसा रोष क्यों नहीं करते?

'अनुज सहित' का भाव यह है कि श्रीरामजी अपनी अपेक्षा अपने सेवक की कुशल चाहनेवाले पर अधिक प्रसन्न होते हैं। इसी से 'अनुज' शब्द पहले है।

कोमल चित कृपाल रघुराई। कपि केहि हेतु धरी निठुराई ॥ ४ ॥
सहज बानि सेवक सुखदायक। कबहुँक सुरति करत रघुनायक ॥ ५ ॥
कबहुँ नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि स्याम मृदु गाता ॥ ६ ॥
बचन न आव नयन भरि बारी। अहह नाथ हौं निपट बिसारी ॥ ७ ॥

अर्थ—हे कपि! श्रीरघुनाथजी तो कोमल-चित्त और कृपालु हैं, पुनः रघुकुल में श्रेष्ठ हैं। उन्होंने किस कारण से कठोरता धारण कर ली? ॥४॥ सेवकों को सुख देने का उनका सहज स्वभाव है, वे श्रीरघुनायक क्या कभी मेरी सुधि लेते हैं? ॥५॥ हे तात! कभी श्यामल कोमल-शरीर (स्वामी) को देखकर मेरे नेत्र शीतल होंगे? (अत्यन्त व्याकुलता से) वचन नहीं निकलता, नेत्रों में जल भर आया (और दुःख से कहा—) हा नाथ! मैं बिल्कुल ही भुला दी गई? ॥७॥

विशेष—(१) 'कोमल चित कृपाल……'—स्वामी सर्वदा कोमल-चित्त और कृपालु हैं, और उनसे तो निष्ठुरता का होना संभव नहीं। फिर रघुवंशी तो निष्ठुर होते ही नहीं, और श्रीरामजी तो उस कुल में भी श्रेष्ठ हैं। वे कैसे निर्दय होंगे? अतः, इसका कारण कहो; यथा—"श्रीरघुबीर की यह बानि…राम सहज कृपालु कोमल दीन हित दिन दानि।" (वि० २१५)।

(२) 'सहज बानि सेवक सुख दायक।…'—सुख-दायक तो सभी के लिये हैं, पर सेवक को सुख देने की उनकी स्वाभाविक टेव है। उस टेव के वश क्या कभी मेरी भी सुधि करते हैं? भाव यह कि मैं सेविका हूँ। अतः, किसी सेवा की आवश्यकता पर क्या मुझे स्मरण करते हैं? ऐसा ही श्रीभरतजी और श्रीविभीषणजी ने कहा है; यथा—"कहु कपि कबहुँ कृपालु गोसाईं। सुमिरहिं मोहि दास की नाईं ॥"

(उ० दो० २); "तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुल नाथा॥" (दो० ६)। ये वचन दीनता एवं विरह के सूचक हैं।

'कबहुँ नयन मम······'—स्वामी की वाणी को स्मरण कर विरह में अपनी मुख्य अभिलाषा कहती हैं; यथा—"कबहुँ कपि! राघव आवहिं गे। मेरे नयन चकोर प्रीति बस राकाससि मुख दिखरावहि गे॥ मधुप मराल मोर चातक ह्वै लोचन बहु प्रकार धावहिं गे। अंग-अंग छवि भिन्न-भिन्न सुख निरखि-निरखि तहँ-तहँ छावहिं गे॥···" (गी० सुं० १०)—यह पूरा पद देखिये। 'श्याम मृदु गाता' से शृंगार-दृष्टि सूचित की, शृंगार का वर्ण श्याम है। स्त्रियों में यह अभिलाषा सहज है; यथा—"नारि विलोकहिं···जनु सोहत शृंगार धरि, मूरति परम अनूप॥" (बा० दो० २४१); "सीता चितव श्याम मृदु गाता।" (बा० दो० २०)।

(३) 'वचन न आव नयन भरि······'—प्रभु के श्याम मृदु गात का स्मरण कर विरह-विह्वल हो गईं; यथा—"राम लखन उर कर बर चीठी। रहि गये कहत न खाटी मीठी।" (बा० दो० २८६); फिर धैर्य धारण कर कहने लगीं—'अहह नाथ···'; यथा—"पुनि धरि धीर पत्रिका बाँची।" (बा० दो० २८६); 'अहह' शब्द अत्यन्त दुःख का सूचक है। कहा भी है—'अहह इत्यद्भुते खेदे' हा नाथ! मुझे नितान्त ही भुला दिया! यह अत्यन्त आर्त्त वचन है।

देखि परम बिरहाकुल सीता। बोला कपि मृदु बचन बिनीता॥ ८॥
मातु कुसल प्रभु अनुज-समेता। तव दुख दुखी सुकृपा-निकेता॥ ९॥
जनि जननी मानहु जिय ऊना। तुम्ह ते प्रेम राम के दूना॥ १०॥

अर्थ—श्रीसीताजी को विरह से परम व्याकुल देखकर कपि श्रीहनुमान्‌जी कोमल और विनम्र वचन बोले॥८॥ हे माता! प्रभु भाई के साथ कुशल-पूर्वक हैं, अत्यन्त कृपा के स्थान प्रभु आपके दुःख से दुखी हैं॥९॥ हे माता! अपने मन में लघुता न लाइये, आपसे श्रीरामजी के (हृदय में) दुगुना प्रेम है॥१०॥

विशेष—(१) 'देखि परम विरहाकुल······'—इस अर्द्धाली का पूर्वार्द्ध पहले आ चुका है; यथा—"देखि परम विरहाकुल सीता। सो छन कपिहिं कलप सम बीता (दो० ११); इससे सूचित किया कि वही दशा फिर यहाँ भी हो गई। बोलने का अवसर वहाँ नहीं था, और यहाँ है। अतः,—'बोला कपि···' विरह की दसवीं दशा होनेवाली है। अतः, समझाने के लिये 'मृदु विनीत वचन' बोले। विरह (वियोग शृंगार) की ग्यारह दशाएँ होती हैं—(१) अभिलाषा, (२) चिन्ता, (३) स्मरण (स्मृति), (४) गुणकथन, (५) उद्वेग, (६) प्रलाप, (७) उन्माद, (८) व्याधि, (९) जड़ता, (१०) मूर्च्छा और (११) मरण। (काव्यप्रभाकर)

इस प्रसंग में श्रीहनुमान्‌जी का तीन बार तीन कारणों पर और तीन प्रकार से बोलना है—(१) जब श्रीसीताजी शरीर-त्याग करने को थीं, तब उन्हें जीवित रखने के लिये वे अमृत-सम मधुर वचन बोले; यथा—"श्रवनामृत जेहि कथा सुहाई। कहि ··" (२) वहाँ उनका विश्वास दृढ़ करने के लिये प्रेम-सहित वचन बोले थे; यथा—"कपि के वचन सप्रेम सुनि, उपजा मन विश्वास।" (३) और यहाँ उन्हें समझाने के लिये 'मृदु वचन विनीता' बोलते हैं; यथा—"कहि सप्रेम मृदु बचन सोहाये। बहु विधि राम लोग समुझाये॥" (अ० दो० ८४); "कृपा सिंधु फेरहि तिन्हहिं, कहि विनीत मृदु वचन॥" (अ० दो० ११२)।

तीन जगहों के तीन प्रकार के विशेषणों का यह भी भाव है कि इनके वचन सभी विशेषणों से युक्त

है। श्रीगोस्वामीजी ने प्रत्येक स्थान में विशेषण नहीं देकर जहाँ जिसकी प्रधानता देखी, वहाँ उसे लिख दिया। अतः, तीनों जगह सब विशेषणों को लेना चाहिये।

(२) 'मातु कुसल प्रभु···'—'कुसल' के साथ 'प्रभु' और 'तव दुख दुखी' के साथ 'कृपानिकेता' कहा है। इसका भाव यह है कि श्रीरामजी समर्थ हैं। अतः, उनपर कोई विघ्न आ नहीं सकता और आपपर उनकी अत्यन्त कृपा है, इसी से आपके दुःख से वे दुखी हैं। अनुज-समेत की कुशल कहने के लिये श्रीसीताजी का अनुरोध था, अतएव उन्होंने उनकी कुशल कही।

(३) 'जनि जननी मानहु···'—श्रीसीताजी ने जो कहा था—"अहह नाथ हौं निपट बिसारी।" उसी का यह उत्तर है। इसी तरह प्रश्नोत्तर श्रीहनुमानजी और श्रीरामजी में भी हुआ था; यथा—"पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ,···" इसपर प्रभु ने कहा था—"सुनु कपि जिय जनि मानसि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥" (कि० दो० ३), दोनों जगह बिसारने के प्रति 'ऊना' शब्द आया है। 'ऊना' का अर्थ न्यूनता, हानि है; यथा—"काहे को मानत हानि हिये हो?" (गी० अ० ७०); तथा—"अस कस कहहु मानि मन ऊना। सुख सोहाग तुम्ह कहँ दिन दूना॥" (अ० दो० १०)।

हानि-ग्लानि करना तो तब होता, जब श्रीरामजी का आपमें स्नेह न होता, सो बात नहीं है। श्रीरामजी का तो आपके प्रति आपसे भी दूना प्रेम है; यथा—"मातु काहे को कहति ऐसो बचन दीन।···ऐसे तो सोचहिं न्याय निठुर नायक रत सलभ खग कुरँग कमल मीन। करुनानिधान को तो ज्यों-ज्यों तन छीन भयो त्यों-त्यों मन भयो तेरे प्रेम पीन॥" (गी० सुं० ८)।

अरण्य-कांड में श्रीसीताजी के विलाप के प्रसंग की चौपाइयों से श्रीरामजी के विलाप-प्रसंग में दूनी चौपाइयाँ हैं। पुनः आगे के दोहे में श्रीरामजी के प्रेम को स्मरण करके श्रीहनुमान्‌जी स्वयं गद्गद हो गये। इससे उन्होंने श्रीरामजी का प्रेम श्रीसीताजी से दूना अनुमान किया।

समझाने की रीति के अनुसार और अपनी बुद्धि-भर श्रीहनुमान्‌जी ने कहा है, वस्तुतः इन दोनों के अन्योन्य प्रेम को तो ये ही दोनों जानते हैं, यथा—"तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥" यह आगे कहा है। तथा—"राम जोगवत सीय-मनु, प्रिय-मनहिं प्रानप्रियाउ। परम पावन प्रेम-परिमिति समुझि तुलसी गाउ॥" (गी० उ० २५)।

दोहा—रघुपति कर संदेस अब, सुनु जननी धरि धीर।
अस कहि कपि गदगद भयउ, भरे बिलोचन नीर॥१४॥

कहेउ राम बियोग तव सीता। मो कहुँ सकल भये बिपरीता॥ १॥
नव तरु किसलय मनहुँ कृसानू। कालनिसा सम निसि ससि भानू॥ २॥

अर्थ—हे माता! अब धैर्य धारण कर रघुपति का संदेश सुनिये, यह कहकर श्रीहनुमानजी गद्गद हो गये, उनके दोनों नेत्रों में जल भर आया। १४। श्रीरामजी ने कहा है—हे सीता! तुम्हारे वियोग में मुझे (सुखद पदार्थ) सभी उल्टे हो गये॥१॥ वृक्षों के नये कल्ले (कोंपलें) मानो अग्नि हैं, रात्रि कालरात्रि के समान और चन्द्रमा सूर्य के समान है॥२॥

विशेष—(१) 'रघुपति कर संदेस अब···'—पहले श्रीरामजी के गुण कहे, फिर कथा कही ; यथा—"रामचंद्र गुन बरनै लागा।···आदिहुँ ते सब कथा सुनाई।" अब संदेश कहते हैं। 'धरि धीर'—क्योंकि अभी-अभी अधीर हो गई थीं ; यथा—"वचन न आव नयन भरि बारी। अहह···" संदेश सुनने की अभिलाषा से धैर्य धारण करेंगी, इसी से ऐसा कहा गया है। किंतु श्रीरामजी के संदेशे को स्मरण कर श्रीहनुमान्जी स्वयं भी गद्गद हो गये ; यथा—"हर हिय रामचरित सब आये। प्रेम पुलक लोचन जल छाये।" (बा० दो० ११०) ; इस संदेशे को सुनकर श्रीसीताजी भी प्रेम-मग्न हो जायँगी ; यथा—"प्रभु संदेस सुनत बैदेही। मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही॥" इससे जनाया कि चरित के श्रोता और वक्ता दोनों का हृदय प्रेमपूर्ण होना चाहिये ; यथा—"कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं॥" (बा० दो० ४०)।

(२) 'कहेउ राम···मो कहँ सकल···'—श्रीजानकीजी का वचन है ; यथा—"प्रान नाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहँ सुखद कतहुँ कोउ नाहीं॥" (अ० दो० ६४) ; वैसे ही श्रीरामजी भी अपनी दशा कहकर उनका दुःख दूर करते हैं। 'सीता'—का भाव यह कि तुम्हारे संयोग से जो शीतल थे, वे ही सब तुम्हारे वियोग में तप्त हो रहे हैं। 'मो कहँ'—एकवचन है, इससे अपनी दीनता जनाई है। 'सकल'—सभी सुखद पदार्थ, इनमें कुछ को आगे गिनाते हैं। यह संदेश किष्किंधाकांड में नहीं लिखा गया, क्योंकि यह रहस्य की बात है। श्रीरामजी ने श्रीहनुमान्जी के कानों में लगकर इसे कहा था ; यथा—"कहँ हम पसु साखा मृग चंचल बात कहौं मैं विद्यमान की। कहँ प्रभु सिव अज पूज्य ज्ञान घन नहिं बिसरति वह लगनि कान की॥" (गी० सुं० ११) वह बात प्रभु ने गुप्त-रूप से कही थी, इससे श्रीगोस्वामीजी ने भी उसे गुप्त ही रक्खा था। जब वह यहाँ प्रकट हुई, तब इन्होंने भी खोल दी।

(३) 'नव तरु किसलय मनहुँ कृसानू।···'—नई कोंपलों के विषय में ही पहले कहा, क्योंकि ये वन में ही रहते हैं, और श्रीरामजी की दृष्टि इनपर बराबर पड़ा करती है। इसीपर सोते भी हैं ; यथा—"तहँ तरु किसलय सुमन सुहाये। लछिमन रचि निज हाथ डसाये॥" (लं० दो० १२) ; अर्थात् नीचे की कोमल साथरी जलाये डालती है और ऊपर से चन्द्रमा भी सूर्य की तरह तापदायक हो रहा है। रात भी नहीं बीतती, कालरात्रि के समान दुःखद हो रही है, 'कालराति' ; यथा—"मानहुँ कालराति अँधियारी।" (अ० दो०८१) ; जहाँ तक भी दृष्टि जाती है, वहाँ तक चारों ओर की नवीन कोंपलें जलाये डालती हैं। यह रात का दुःख कहा।

कुबलय बिपिन कुंत-बन-सरिसा। बारिद तपत तेल जनु बरिसा॥ ३॥

जे हित रहे करत तेइ पीरा। उरग स्वास-सम त्रिबिध समीरा॥ ४॥

कहेहू ते कछु दुख घटि होई। काहि कहउँ यह जान न कोई॥ ५॥

अर्थ—कमल का वन भाले के वन के समान है, मेघों ने मानों जलता हुआ तेल बरसाया॥३॥ (ऐसे ही) जो हित करनेवाले थे, वे ही पीड़ा दे रहे हैं, तीनों प्रकार की हवा सर्प की श्वासा के समान (विष-भरी हुई) है॥४॥ कह डालने से भी दुःख कुछ कम हो जाता है, भभक (उबाल) निकल जाती है, पर कहूँ किससे ? यह दुःख कोई जानता ही नहीं, (अनभिज्ञ से कहना व्यर्थ है)॥५॥

विशेष—(१) 'कुबलय-बिपिन कुंत-बन···'—कमल की नाल भाले की छड़ है, फूल ग्रंथि और फूल की नोक मानों भाले की नोक है, और उसका चलानेवाला काम है, क्योंकि कमल काम का बाण कहा

गया है, पचवाणों मे कमल भी एक है। 'वारिद तपत तेल '—विरही को वर्षा अत्यत दु:खद होती है। यहाँ दिन का दु ख वर्णन किया गया।

सीता-हरण चैत्र के महीने मे हुआ और यह सदेशा शरद्-ऋतु मे कहा गया। इसी से इतनी ऋतुओं के भी दु:ख लक्षित किये गये हैं; यथा—"नवतर किसलय मनहु कृसानू।"—यह वसन्त का दु ख है, इसमे वृक्षों के पुराने पत्ते झड़कर नये होते है जो विरही के लिये दु:खद हैं, यथा—"काल-निसा-सम निसि ससि भानू।" यह ग्रीष्म का दु ख है, क्योंकि ग्रीष्म के सूर्य दु:खदायक होते हैं, दिन में प्रचड सूर्य तो तपते ही है, रात में चन्द्रमा भी वैसा ही तापकर होता है। "कुवलय-बिपिन ··" यह शरद्-ऋतु का दु ख है, कमल की शोभा शरद्-ऋतु मे ही अधिक होती है और "वारिद तपत तेल ·"—यह वर्षा का दु ख है।

शरद्-ऋतु वर्षा के पीछे होती है, पर पहले ही कही गई है, इससे जनाया गया कि श्रीरामजी विरह विह्वल हैं, इसी से ऋतु-कथन मे भी व्यतिक्रम कर गये। 'मोरहेँ सकल भये बिपरीता' के अनुसार वर्णन मे भी व्यतिक्रम हुआ। अथवा, श्रीहनुमानजी ही वर्णन के उपक्रम मे गद्गद हो गये हैं, यथा—"अस कहि कपि गद्गद भयो ·" इसी से इनके कहने मे भी व्यतिक्रम हो सकता है।

(२) 'जे हित रहे करत ·'—भाव यह कि अहित करनेवाले का पीडा देना स्वाभाविक ही है। पर जो हितकर हैं, उनका पीडा देना स्मरण कर अधिक दु:ख होता है। त्रिविध समीर जो शीतल मद, सुगंधित होना था, वही गरम, तीव्रगति और दुर्गंधयुक्त हो रहा है (त्रिविध वायु ठढी, रोगहारक और सुखद होती है और सर्पश्वास गर्म, रोग वर्द्धक और दु:खद।) यहाँ तक नवतर किसलय, निशि, शशि, कमल, वर्षा और त्रिविध समीर—ये छ सुखद पदार्थों का दु:खद होना कहा गया है। पुन —'जे हित रहे ' से और भी अनुकूलों का प्रतिकूल होना कहा गया है; यथा—"सब बिपरीत भये माधव बिनु, हित जो करत अनहित की करनि॥" (कृष्ण गी॰ ३०)।

(३) 'कहेहूँ ते कछु ··'—'कछु'—पूरा दु:ख तो प्रिय के मिलने पर ही नाश हो सकता है। पर समझदार सहानुभूति रखनेवाले से कहने पर भी उसका कुछ अश निकल जाता है। भाव यह कि श्रीलक्ष्मणजी यद्यपि साथ मे हैं, तथापि ये बातें उनसे कहनी उचित नहीं है।

तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥ ६॥
सो मन सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रस एतनेहि माहीं॥ ७॥

अर्थ—हे प्रिये! मेरे और तुम्हारे प्रेम का तत्त्व एक मेरा मन ही जानता है, पर वह मन भी सदा तुम्हारे पास ही रहता है—इतने मे ही प्रीति का स्वाद एव उसका भेद जान लो॥६॥

विशेष—(१) 'तत्त्व प्रेम कर मम '—प्रेम का तत्त्व अर्थात् प्रेम की वास्तविक स्थिति। प्रेम की स्थिति अन्योन्य सापेक्ष होती है। मेरा मन तुम्हारे पास ही रहता है, ऐसा ही तुम्हारा मन भी मेरे पास है, यह निश्चय है, नहीं तो मेरे मन मे विक्षेप आदि विघ्न होते। इस बात को मेरा मन ही जानता है, दूसरा कोई कैसे समझ सकता है?

तात्पर्य यह कि तुम्हारे विना तन से दु:ख सहता हूँ, यथा—"जे हित रहे करत तेइ पीरा।" वचन का भी दु:ख है, यथा—'काहि कहउँ ·' और मन का दु:ख यह है कि उसने अपने तन-वदन की सुधि ही छोड़ दी, क्योंकि वह तो सदा तुम्हारे ही पास रहता है, यथा—'सो मन सदा रहत तोहि पाहीं ·"

(२) 'सो मन सदा रहत तोहिं पाहीं ।'—श्रीजानकीजी ने कहा था—"कबहुँक सुरति करत रघुनायक ।" उसका यहाँ उत्तर है कि मेरा मन सदा तुम्हारे ही पास रहता है, यही तो प्रीति का रस (स्वाद) है। जिसपर अत्यन्त प्रीति होती है, उसपर दिन-रात मन लगा रहता है; निरन्तर यह दशा रहनी ही प्रीति की पूर्णस्थिति है। इसी से कहा गया है—"जानु प्रीति रस···"; यथा—"नित्यं ध्यान परो रामो नित्यं शोक-परायणः। नान्यच्चिन्तयते किंचित्स तु कामवशं गतः॥ अनिद्रः सततं रामः सुप्तोऽपि च नरोत्तमः। सीतेति मधुरां वाणीं व्याहरन्प्रतिबुध्यते॥" (वाल्मी० ५।३६।४१-४४); अर्थात् श्रीरामजी सदा तुम्हारा ही ध्यान किया करते हैं, शोकपरायण रहते हैं, और कुछ भी चिंतवन नहीं करते। उन्हें नींद नहीं आती, कभी सो भी जाते हैं, तो मधुर वाणी से सीता-सीता कहकर जाग उठते हैं।

प्रभु - संदेस सुनत बैदेही। मगन प्रेम तनु सुधि नहिं तेही॥ ८॥
कह कपि हृदय धीर धरु माता। सुमिरु राम सेवक-सुख-दाता॥ ९॥
उर आनहु रघुपति - प्रभुताई। सुनि मम बचन तजहु कदराई॥१०॥

दोहा—निसिचर-निकर पतंग-सम, रघुपति-बान कृसानु।
जननी हृदय धीर धरु, जरे निसाचर जानु॥१५॥

अर्थ—प्रभु का संदेश सुनते ही वैदेही श्रीसीताजी प्रेम में मग्न हो गईं, उनको शरीर की सुधि न रह गई॥८॥ श्रीहनुमान्‌जी ने कहा—हे माता! धीरज धरो, सेवक को सुख देनेवाले श्रीरामजी का स्मरण करो॥९॥ श्रीरघुनाथजी की प्रभुता को हृदय में स्मरण करो और मेरा वचन सुनकर कायरता छोड़ो॥१०॥ निशाचर-समूह पतंग के समान हैं, रघुपति के बाण अग्नि हैं। हे माता! हृदय में धैर्य धारण करो, राक्षसों को जला हुआ ही समझो॥१५॥

विशेष—(१) 'प्रभु-संदेस सुनत बैदेही।···'—तन की सुधि न रहने से 'वैदेही' कहा है। 'तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा।···जानु प्रीति रस···' यह प्रेम का संदेश है, इसे सुनकर प्रेम में मग्न हो गईं। मन श्रीरामजी में तन्मय हो गया, इससे उन्हें अपनी देह की भी सुधि न रही; यथा—"मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन-दुख-सुख-सुधि केही॥" (अ० दो० २७४); 'धीर धरु माता'—विपत्ति में धैर्य धारण करना मुख्य है, इसलिये बार-बार कहते हैं; यथा—"रघुपति के संदेस अब सुनु जननी धरि धीर।" "कह कपि हृदय धीर धरु माता।"; "जननी हृदय धीर धरु।"; "कछुक दिवस जननी धरु धीरा।" इस प्रकार चारों हेतुओं के लिये, चारों बार धैर्य धरने के लिये कहा है। श्रीजानकीजी ने श्रीरामजी को सेवक-सुखदायक कहा है; यथा—"सहज बानि सेवक-सुखदायक।" श्रीहनुमान्‌जी भी वही विशेषण देकर कहते हैं; यथा—"सुमिरु राम···" इसी से दुःख दूर होगा; यथा—"जपहिं नाम जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥" (बा० दो० २१); 'उर आनहु रघुपति प्रभुताई।···'; यथा—"तासु दूत तुम्ह तजि कदराई। राम हृदय धरि करहु उपाई॥" (कि० दो० १८), 'प्रभुताई'; यथा—"भृकुटि भंग जो कालहि खाई।" (लं० दो० ६४); तब उनके आगे रावण क्या है? 'मम वचन'—जो आगे कहते हैं—

(२) 'निसिचर-निकर पतंग···'—एक दो पतंग दीपक में ही जल मरते हैं, पर समूह-के-समूह पतंगों के एक साथ टूट पड़ने से दीपक ही बुझ जाता है, यहाँ निशाचर के समूह हैं, इसलिये रघुपति के

बाण को कृशानु कहा गया है। क्योंकि पतंगों के समूह-के-समूह पड़ने पर भी अग्नि नहीं बुझती। 'निसिचर'—नाम भी सहेतुक है, पतंग मोहवश रात में ही जल मरते हैं, यथा—"जरहिं पतंग बिमोह बस···" वैसे ही निशाचर भी मोह-रूप ही हैं और स्वयं मोहवश नाश में प्रवृत्त हैं; यथा—"मोह दसमौलि···" (वि॰ ५८); "प्रभु समीप धाये खल कैसे। सलभ समूह अनल कहँ जैसे॥" (लं॰ दो॰ ८४); जैसे कि शूर्पणखा स्वयं आई, खर-दूषण आदि भी स्वयं आकर लड़े और रावण ने भी स्वयं नाश का उपाय रच डाला। 'जरे निसाचर जातु'—क्योंकि, प्रभु सत्यसंध हैं और इनके वध की प्रतिज्ञा कर चुके हैं—"निसिचर हीन करउँ महि···" (आ॰ दो॰ ९)।

जौं रघुबीर होति सुधि पाई। करते नहिं बिलंब रघुराई ॥१॥
राम-बान-रबि उयें जानकी। तम-बरूथ कहँ जातुधान की ॥२॥
अबहिं मातु मैं जाउँ लेवाई। प्रभु-आयसु नहिं राम-दोहाई ॥३॥
कछुक दिवस जननी धरु धीरा। कपिन्ह-सहित अइहहिं रघुबीरा ॥४॥

अर्थ—जो रघुवीर श्रीरामजी समाचार पाये होते तो वे विलंब न करते, (क्योंकि) वे रघुकुल के राजा हैं॥१॥ हे श्रीजानकीजी! राम-बाण-रूपी सूर्य के उदय होने पर राक्षस-समूह-रूपी अंधकार कहाँ रह जायगा?॥२॥ हे माता! मैं अभी तुमको लिवा ले जाऊँ; पर 'राम दोहाई' प्रभु की आज्ञा नहीं है॥३॥ हे माता! कुछ ही दिन धैर्य धरो, वानरों के साथ रघुवीर श्रीरामजी आयेंगे॥४॥

विशेष—(१) 'जौं रघुबीर होति सुधि···'—'रघुबीर' का भाव यह है कि यदि वे सुधि पाये होते, तो भारी पराक्रम करते; यथा—"एक बार कैसेहुँ सुधि जानउँ। कालहु जीति निमिष महँ आनउँ॥" (कि॰ दो॰ १०); 'रघुराई' अर्थात् रघुकुल के सभी राजा आश्रितों की रक्षा में तत्पर रहनेवाले हुए हैं और ये उनमें श्रेष्ठ हैं, तो विलंब कैसे करेंगे? समाचार पाते ही इसका उद्योग करेंगे; यथा—"अब बिलंब केहि कारन कीजे। तुरत कपिन्ह कहँ आयसु दीजे॥" (दो॰ ३२); "अब बिलंब केहि काम, करहु सेतु उतरइ कटक।" (लं॰ दो॰ १)—यह श्रीहनुमानजी के वचन का चरितार्थ है। 'रघुबीर' और 'रघुराई' में पुनरुक्ति नहीं है, दोनों दो भावों में और दो क्रियाओं के साथ कहे गये हैं।

(२) 'राम-बान रबि उये···'—यथा—"तव बियोग-संभव दारुन दुख बिसरि गई महिमा सुबान की। न तु कहु कहँ रघुपति सायक रबि तम अनीक कहँ जातुधान की॥" (गी॰ सुं॰ ११); जैसे सूर्योदय से बिना श्रम ही तम का नाश हो जाता है; यथा—"उयेउ भानु बिनु श्रम तम नासा।" (बा॰ दो॰ १२८); वैसे ही श्रीरामजी के बाण से बिना श्रम ही राक्षस-समूह नाश होंगे।

इस प्रसंग में राक्षसों का नाश दो बार कहा गया—(क) रघुपति-बाण-कृशानु से पतंग के समान जलना, (ख) राम-बाण-रवि से तम-रूपी निशाचर-समूह का नाश। पहला रात में मरने का और दूसरा दिन में मरने का दृष्टान्त है; यथा—"छीजहिं निसिचर दिन अरु राती।" (लं॰ दो॰ ७०); यह भी भाव है कि पहली उपमा से राक्षसों का निःशेष न हुआ, इसलिये दूसरी कही गई। उससे निःशेष का भाव है, क्योंकि सूर्योदय से सर्वत्र अंधकार का नाश हो जाता है।

(३) 'अबहिं मातु मैं जाउँ लेवाई।'''श्रीहनुमानजी छोटे रूप में हैं, इससे श्रीमहारानीजी

विश्वास कैसे करें कि ये मुझे ले जा सकते हैं, इसी की पुष्टि के लिये उन्होंने शपथ की। पुनः मनोरथ की सत्यता पर भी शपथ की कि यदि आज्ञा-भंग का डर मुझे न होता, तो अवश्य अभी ही लिवा ले चलता। स्वामी ने इतनी ही आज्ञा दी है; यथा—"बहु प्रकार सीतहिं समुझायेहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयेहु॥" (कि॰ दो॰ २१); 'प्रभु-आयसु'—का भाव यह है कि अपने अपराधी को दंड देने में वे स्वयं समर्थ हैं। लीला के लिये वानर-भालुओं को साथ रक्खेंगे : यथा—"तब निज भुज बल राजिव नैना। कौतुक लागि संग कपि-सेना॥ कपि सेन संग संहारि निसिचर राम सीतहिं आनिहैं॥" (कि॰ दो॰ ३०)। फिर भी श्रीमहारानीजी ने संदेह किया; यथा—"हैं सुत कपि सब तुम्हहिं समाना।···" तब इन्हें अपना विशाल रूप दिखाकर उन्हें विश्वास दिलाना पड़ा। प्रभु ने भी इसलिये आज्ञा नहीं दी कि वे स्वयं निशाचर-वध की प्रतिज्ञा कर चुके हैं, क्योंकि ब्रह्माजी का वचन भी रखना है।

(४) 'कछुक दिवस जननी···'; यथा—"बाँधि बारिधि साधि रिपु दिन चारि महँ दोउ बीर। मिलहिं गे कपि-भालु-दल संग जननि उर धरु धीर॥" (गी॰ सुं॰ १); कपिन्ह सहित अइहहिं रघुबीरा।'—पूर्व राम-बाण को कृशानु और भानु कहकर उससे निशाचरों का नाश होना कहा गया है। वहाँ यह नहीं जनाया गया था कि किस तरह श्रीरामजी निशाचरों को मारेंगे। वहीं से बाण छोड़ देंगे या कि लंका आवेंगे और यदि लंका आवेंगे भी, तो अकेले या दल-बल समेत? इसी सन्देह को यहाँ स्पष्ट करते हैं कि दल-समेत आवेंगे और वीरता से राक्षसों को मारकर तुम्हें ले जायँगे।

निसिचर मारि तोहि लै जइहहि। तिहुँपुर नारदादि जसु गइहहि॥५॥
हैं सुत कपि सब तुम्हहिं समाना। जातुधान अति भट बलवाना॥६॥
मोरे हृदय परम संदेहा। सुनि कपि प्रकट कीन्हि निज देहा॥७॥

अर्थ—निशाचरों को मारकर तुम्हें ले जायँगे, तीनों लोकों में नारदादि यश गावेंगे॥५॥ (श्रीसीताजी ने कहा—) हे पुत्र! सब वानर तो तुम्हारे ही समान हैं और राक्षस तो अत्यन्त योद्धा और बलवान् हैं॥६॥ मेरे मन में परम संदेह है, यह सुनकर कपि ने अपना शरीर प्रकट किया॥७॥

विशेष—(१) 'निसिचर मारि तोहि······'—श्रीहनुमान्जी ने प्रथम—"आदिहुँ ते सब कथा सुनाई।" किष्किंधाकांड तक और वर्तमान सुन्दरकांड तक की कथा कही थी, अब वहाँ से आगे की कथा कहते हैं; यथा—'"निसिचर मारि तोहि लेइ जइहहिं"—लंकाकांड और—"तिहुँपुर नारदादि···" —यह उत्तरकांड है; यथा—"राजा राम अवध रजधानी। गावत गुन सुरमुनि बर बानी॥" (बा॰ दो॰ २४); "बार-बार नारद मुनि आवहिं। चरित पुनीत राम के गावहिं॥ नित नव चरित देखि मुनि जाहीं। ब्रह्मलोक सब कथा कहाहीं॥" (उ॰ दो॰ ५१)।

(२) 'मोरे हृदय परम संदेहा।······'—श्रीरामजी को तो जानती हैं कि अजेय हैं; यथा—जीति को सकै अजय रघुराई।" यह ऊपर कहा ही है। पर वानरों के छोटे रूप पर परम संदेह करती हैं कि बड़े डील-डौलवाले वानर भी राक्षसों के आहार ही हैं; अतः, मुझे संदेह है। फिर तुम्हारी तरह के छोटे शरीरवालों को देखकर तो परम संदेह है। इसका अभिप्राय यह है कि व्यर्थ ही वानरों की ऐसी सेना प्रस्तुत कर राक्षसों के द्वारा इसका नाश कराके अयश क्यों लेंगे?

तब श्रीहनुमान्जी ने सोचा कि अपना बल वचन-मात्र के द्वारा कहने से इन्हें विश्वास नहीं होगा, इसलिये अपना वास्तविक शरीर प्रकट करके दिखाया।

कनक भूधराकार सरीरा। समर भयंकर अति बल बीरा ॥८॥
सीता मन भरोस तब भयऊ। पुनि लघु रूप पवनसुत लयऊ ॥९॥

दोहा—सुनु माता साखामृग, नहिं बल बुद्धि बिसाल।
प्रभु-प्रताप ते गरुड़हिं, खाइ परम लघु ब्याल ॥१६॥

अर्थ—स्वर्ण-पर्वत के आकार का वह शरीर था, जो युद्ध में (शत्रु को) अत्यन्त भय उत्पन्न करनेवाला, अत्यन्त बली और वीर था ॥८॥ (इसे देखा) तब श्रीसीताजी के मन में भरोसा आया, श्रीहनुमानजी ने पुनः लघु रूप धारण कर लिया ॥९॥ (और बोले) हे माता! सुनो, वानरों में बल और बुद्धि नहीं होती, (पर) प्रभु के प्रताप से परम लघु साँप भी गरुड को खा सकता है ॥१६॥

विशेष—(१) 'समर भयंकर अति बल बीरा।'—श्रीसीताजी ने कहा था—"जातुधान अति भट बलवाना॥" इसी लिये यह रूप दिखाया। भाव यह है कि उन 'अति भट' के लिये हम 'अति वीर' हैं और बलवानों के लिये हम 'अति बली' हैं। 'समर भयंकर' अधिक है, यथा—"हनुमान अंगद रन गाजे। हाँक सुनत रजनीचर भाजे॥" (लं० दो० ४५)। "जयति भीमार्जुन-व्याल सूदन गर्वहर धनंजय रथ त्रान केतू।" (वि० २८) "कौन के तेज बल सीम भट भीम से भीमता निरखि कर नयन ढाँके।" (क० सु० ४५)। 'भरोस तब भयऊ'—श्रीसीताजी ने श्रीहनुमान्जी के इस रूप को देखा तो उन्हें विश्वास हुआ कि अकेले ही ये सब राक्षसों को मार सकते हैं, फिर ऐसे-ऐसे और भी वानर हैं, तब तो कहना ही क्या? पहले 'परम सन्देह' था, अब भरोसा हो गया।

(२) 'सुनु माता साखा मृग'—इसका भाव यह है कि मैंने जो अपना विशाल शरीर एवं बल दिखलाया और बुद्धि से आपको समझाया-बुझाया, यह बल और बुद्धि वानरों में नहीं होती, यह तो प्रभु का प्रताप है, उसी से गरुड परम लघु व्याल के समान और लघु व्याल गरुड के समान हो जाता है। कहा ही है—"तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई।" (लं० दो० ३३), यहाँ यह वचन चरितार्थ भी है कि वानर राक्षसों के आहार हैं, यथा—"नर कपि भालु अहार हमारा।" (लं० दो० ७)। और वे ही राक्षसों के नाशक हो गये, यथा—"देखि प्रताप न कपि मन संका। जिमि अहि गन महँ गरुड असंका॥" (दो० १८) श्रीसीताजी ने कहा था कि वानर राक्षसों से कैसे लड़ेंगे? उसी का उत्तर है कि श्रीरामजी के प्रताप से वानर तो राक्षसों को खा जायँगे।

आगे श्रीरामजी ने भी इनसे इसी तरह पूछा है, यथा—"कहु कपि रावन पालित लंका। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका॥" (दो० ३२), वहाँ भी इसी तरह का प्रभु-प्रताप परक उत्तर है, यथा—"ता कहँ प्रभु कछु अगम नहिं, जापर तुम्ह अनुकूल। तब प्रभाव बड़वानलहिं, जारि सकै खलु तूल॥" (दो० ३३), खाने के प्रसंग में खाने का और जलाने में जलाने का दृष्टान्त कहा गया है।

मन संतोष सुनत कपि बानी। भगति-प्रताप-तेज बल-सानी ॥१॥
आसिष दीन्हि राम-प्रिय जाना। होहु तात बल-सील-निधाना ॥२॥
अजर-अमर-गुन-निधि सुत होहू। करहु बहुत रघुनायक छोहू ॥३॥

अर्थ—भक्ति, प्रताप, तेज और बल से सनी हुई (संयुक्त), कपि की वाणी सुनते ही (श्रीसीताजी के) मन को संतोप हुआ ॥१॥ (उन्होंने) श्रीरामजी का प्रिय जानकर आशिप दी— हे तात ! तुम बल और शील के खजाना होओ ॥२॥ हे पुत्र ! तुम अजर (बुढ़ापा रहित, नित्य एकरस युवावस्थावाले), अमर (मृत्यु रहित) और गुणों के खजाना होओ, श्रीरघुनाथजी तुमपर बहुत कृपा करें ॥३॥

विशेष—(१) 'मन संतोप सुनत कपि बानी ।'—वाणी की श्रेष्ठता उसीमें है कि श्रोता प्रसन्न हो जाय। इस प्रसंग मे चार बार श्रीहनुमान्‌जी ने भाषण किया, चारों बार की उत्तमता स्पष्ट है— (१) ऐसी कथा सुनाई कि "लागी सुनै श्रवन मन लाई ।" और उन्होंने वक्ता को प्रकट होने का अनुरोध किया , यथा—"श्रवनामृत जेहि कथा सुहाई । कहि सो प्रगट होत किन भाई ।" (२) ऐसी बातें कीं कि उन्हें प्रतीति हो गई ; यथा—"कपि के बचन सप्रेम सुनि, उपजा मन बिस्वास ॥" (३) ऐसा संदेश सुनाया कि वे प्रेम में मग्न हो गईं ; यथा—"प्रभु संदेस सुनत बैदेही । मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही ॥" (४) इस तरह समझाया कि उनके मन को संतोप हो गया , यथा—"मन संतोप सुनत कपि बानी ॥" अर्थात् श्रीहनुमान्‌जी ने श्रीसीताजी के प्रश्नों के समुचित और पूर्ण उत्तर दिये, इससे संतोप हुआ। मिलान—

प्रश्न	उत्तर
(१) 'अब कहु कुसल जाउँ बलिहारी ।······'	'मातु कुसल प्रभु अनुज समेता ।···'
(२) 'कोमल चित कृपाल रघुराई ।कपि···'	'जनि जननी मानहु जिय ऊना ।···'
(३) 'सहज बानि सेवक सुख दायक ।······'	'सो मन सदा रहत तोहिं पाहीं ।···'
(४) 'कबहुँ नयन मम सीतल ताता । ······'	'कछुक दिवस जननी धरु धीरा ।···'
(५) 'बचन न आव नयन भरि बारी ।······'	'जो रघुबीर होत सुधि पाई । करते···'

श्रीरामजी ने आज्ञा दी थी; यथा—"बहु प्रकार सीतहिं समुझायहु । कहि बल बिरह..." वह प्रसंग— "सुनि मम बचन तजहु कदराई ।" से "मन संतोप सुनत कपिबानी ॥" तक श्रीहनुमान्‌जी ने पूरा किया । समझाना तो सभी है । इसमे पहले बल और "कहेउ राम बियोग तव सीता ।" से "जानु प्रीतिरस येतनेहि माहीं ॥" तक विरह है ।

(२) 'आसिप दीन्हि राम प्रिय जाना ।'—उपर्युक्त गुणों से श्रीसीताजी ने इन्हें श्रीरामजी का प्रिय जाना । श्रीरामजी के प्रिय पर सभी प्रसन्न होते हैं; यथा—"राम सुहाते तोहिं जो तू सबहि सुहातो । काल करम कुल कारनी कोऊ न कुहातो ॥" (वि० १५१); इसी से श्रीसीताजी भी प्रसन्न हुईं और आशिप दीं । 'होहु तात बल-सील-निधाना ।'—बल की शोभा शील से होती है; यथा—"रिपुसूदन पद कमल नमामी । सूर सुसील भरत अनुगामी ॥" (बा० दो० १६) इसलिये बल के साथ शील भी दिया गया है। बुढ़ापे मे बल घट जाता है, इसलिये 'अजर' होने की आशिप दी । फिर अजर को भी मरने का भय रहता ही है, इसलिये अमर होना भी कहा । अजर-अमर होकर भी बैल सरीखे नहीं रहें, इसलिये 'गुननिधि' होना भी कहा । पुनः सब कुछ हो, पर विना श्रीरामजी की कृपा के सभी व्यर्थ हैं , यथा—"सूर सुजान सपूत सुलच्छन गनिय न गुन गरुआई । बिनु हरि भजन इँदारुन के फल तजत नहीं करुआई ॥ कीरति कुल करतूति भूति भलि सील सरूप सलोने । तुलसी प्रभु अनुराग रहित जस सालन साग अलोने ॥" (१७५)। इसलिये श्रीरामजी का कृपा-पात्र होना भी कहा ।

(३) "बहुत रघुनायक छोहू ।' का भाव यह है कि श्रीरामजी को तुम्हारे ऊपर छोह तो है ही ; यथा—"राम प्रिय जाना ।" अब मेरी आशिप से विशेप कृपा करें ।

श्रीहनुमान्‌जी ने श्रीसीताजी के छः उपकार किये हैं—(१) मुद्रिका दी, (२) श्रीरामजी के गुण वर्णन किये, (३) कथा कही, (४) वचनों से विश्वास उत्पन्न किया, (५) श्रीरामजी का संदेश कहा और (६) धैर्य दिया। इसपर श्रीसीताजी ने भी छः आशीर्वाद दिये—बलवान्, शीलवान, अजर, अमर और गुणनिधि होना, पुनः रघुनायक (तुम्हारे ऊपर) छोह करें। जबतक श्रीहनुमान्‌जी प्रसन्न नहीं हुए, तबतक उत्तरोत्तर आशिष देती ही गईं। 'रघुनायक छोहू' कहा, इसपर वे कृतार्थ हो गये। यह भी जनाया कि जीव जब कुछ नहीं चाहता तब श्रीरामजी की कृपा होती है; यथा—"बहुत कीन्ह प्रभु लखन सिय, नहि कछु केवट लेइ। बिदा कीन्ह करुनायतन, भगति बिमल बर देइ ॥" (अ० दो० १०२)।

करहु कृपा प्रभु अस सुनि काना। निर्भर प्रेम मगन हनुमाना ॥४॥
बार बार नायेसि पद सीसा। बोला बचन जोरि कर कीसा ॥५॥
अब कृतकृत्य भयउँ मैं माता। आसिष तव अमोघ बिख्याता ॥६॥

अर्थ—'प्रभु कृपा करें' ऐसा कानों से सुनकर श्रीहनुमान्‌जी पूर्ण प्रेम में डूब गये ॥४॥ कपि श्रीहनुमान्‌जी ने बार-बार चरणों में शिर नवाया और वे हाथ जोड़कर वचन बोले ॥५॥ हे माता! अब मैं कृतार्थ हो गया, आपकी आशिष अव्यर्थ (निष्फल न होनेवाली) प्रसिद्ध है ॥६॥

विशेष—(१) 'करहु कृपा प्रभु'—पहले कहा था—"करहु बहुत रघुनायक छोहू" उसी को यहाँ 'कृपा' कहा; क्योंकि छोह का अर्थ ही कृपा है। 'अस सुनि काना'—अर्थात् अलौकिक आशिष सुनकर श्रीहनुमान्‌जी प्रेम में मग्न हो गये। श्रीहनुमान्‌जी ने श्रीसीताजी को प्रभु का संदेश सुनाकर प्रेम मग्न कर दिया था; यथा—"प्रभु संदेस सुनत बैदेही। मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही ॥" वैसे ही श्रीसीताजी ने भी श्रीहनुमान्‌जी को आशिष देकर प्रेम-मगन कर दिया। 'निर्भर प्रेम'; यथा—"निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी ॥" (आ० दो० ३)।

(२) 'बार बार नायेसि पद सीसा।...'—अत्यन्त प्रेम के कारण बार-बार चरणों में शिर नवाया; यथा—"देखि राम छबि अति अनुरागी। प्रेम बिबस पुनि पुनि पद लागी ॥" (बा० दो० ११५); "प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिरनावा ॥" (आ० दो० ११)।

'बोला बचन जोरि करि कीसा।'—यह वचन है, पूर्वार्द्ध का 'नायेसि पद सीसा।'—कर्म और 'निर्भर प्रेम मगन हनुमाना।'—यह मन है; अर्थात् श्रीहनुमान्‌जी मन, वचन, कर्म तीनों से कृतार्थ हुए।

(३) 'अब कृत कृत्य भयउँ मैं माता।...'—'अब' अर्थात बलवान्, सीलवान्, अजर, अमर और गुणनिधि होने पर भी कृतार्थ न हुआ। जब राम-कृपा की आशिष पाई, तब मैं कृतार्थ हुआ। 'आसिष तव अमोघ...'—श्रीसीताजी आदि शक्ति हैं, इनकी आशिष श्रुतियों में अव्यर्थ प्रसिद्ध है। श्रीभरतजी के विषय में भी ऐसा ही कहा है; यथा—"सब निधि सानुकूल लखि सीता। भे निसोच..." (अ० दो० २११)।

"बन उजारि रावनहिं प्रबोधी।"—प्रकरण

सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा। लागि देखि सुंदर फल रूखा ॥७॥
सुनु सुत. करहिं बिपिन-रखवारी। परम सुभट रजनीचर भारी ॥८॥

तिन्ह कर भय माता मोहि नाहीं। जौं तुम्ह सुख मानहु मन माहीं ॥९॥

दो०—देखि बुद्धिबल निपुन कपि, कहेउ जानकी जाहु।
रघुपति-चरन हृदय धरि, तात मधुर फल खाहु ॥१७॥

अर्थ—हे माता ! सुनिये, सुन्दर वृक्षों में सुन्दर फल लगे हुए देखकर मुझे अत्यन्त भूख लग आई है। (अन्यथा भूख की सुधि न थी) ॥७॥ (श्रीसीताजी ने कहा—) हे पुत्र ! परम सुभट भारी-भारी राक्षस इस वन की रखवाली करते हैं ॥८॥ हे माता ! मुझे उनका भय नहीं है, यदि आप मन में सुख मानें ॥९॥ बुद्धि और बल में निपुण कपि को देखकर श्रीजानकीजी ने कहा—जाओ, हे तात ! श्रीरघुनाथजी के चरणों को हृदय में धारण करके मीठे-मीठे फल खाओ ॥१७॥

विशेष—(१) 'अतिसय भूखा। लागि'—स्वयं-प्रभा के स्थान में ही फल खाये थे, समुद्र तट पर अनशन-व्रत ही किया था। फिर वहाँ राम-कार्य करने की प्रतिज्ञा करके चले; यथा—"राम काज कीन्हें बिना, मोहिं कहाँ बिश्राम ॥" (दो० १); तथा—"त्वरते कार्यकालो मे अहश्चाप्यतिवर्त्तते। प्रतिज्ञा च मया दत्ता न स्थातव्यमिहान्तरा ॥" (वाल्मी० ५।१।१२२)। इसीसे लंका में समुद्र तट पर पहुँचने के पश्चात् ही फल देखे थे; यथा—"नाना तरु फल फूल सुहाये।" (दो० २); किन्तु भोजन नहीं किया था। अब श्रीरामजी का कार्य हो गया। श्रीसीताजी को देखा, समझाया और प्रभु का बल-विरह कह दिया। तब फलों को देखकर भूख लगी। कई दिन से न खाने का स्मरण करके अतिशय भूख से पीड़ित हुए। 'देखि सुंदर फल' से सूचित किया कि सवेरा भी हो गया।

भूख लगने का यह भी कारण है कि श्रीहनुमान्जी स्वामी की आज्ञा से विशेष भी कार्य करना चाहते हैं। शत्रु को अपना बल दिखा और उसके बल का अन्दाजा करके तब वापस जायँ। वाल्मी० ५।४१।१-५ में यह भाव है। तदनुसार भूख की ओट लेकर माता से आज्ञा भी ले रहे हैं कि क्षुधित बालक को खाने के लिये माता मना न करेंगी। फल खाने में मैं हठात् युद्ध का योग करके लड़ूँगा। बहुत आशिष पाने से यह भी निश्चय हो ही गया है कि माता ने मुझे पुत्र मान लिया है।

(२) 'सुनु सुत करहिं बिपिन······'—यद्यपि श्रीहनुमान्जी के विशाल रूप और पराक्रम को जान चुकी हैं, तथापि वात्सल्य दृष्टि से इनका बल भूल गया। पुनः इनके वचन मात्र के समझाने से समझ भी जायँगी। पूर्व देखा हुआ रूप स्मरण करेंगी।

(३) 'तिन्ह कर भय माता······'—'मोहि नाहीं' का भाव यह कि मुझे उनसे भय नहीं है, अपितु मुझसे ही उन्हें भय होगा। पहले ही—"समर भयंकर अति बल बीरा।" यह रूप श्रीसीताजी को दिखाकर और यह भी कह चुके हैं; यथा—"प्रभु प्रताप ते गरुडहिं, खाइ परम लघु ब्याल ॥" (दो० १६) 'जौं तुम्ह सुख मानहु···'—मन में सुख मानो। ये उत्तम दूत हैं, स्वामी को संकोच में डालकर स्वार्थ साधना नहीं चाहते; यथा—"जो सेवक साहिबहि संकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची ॥" (अ० दो० २६८)। सुख मानने में संदेह है कि कहीं माता यह न मानें कि यहाँ आकर उपद्रव करने लगा, हमारी आज्ञा नहीं मानी, इत्यादि। 'मन माहीं'—हमारी खातिर के लिये ऊपर से ही न कह दीजिये, किन्तु हृदय से कहिये तब खाऊँ।

(४) 'देखि बुद्धि बल निपुन''''''—जब तक बुद्धि और बल में पूर्णता न हो, शत्रु के पास नहीं जाना चाहिये ; यथा—"नाथ बैर कीजे ताही सों। बुधि बल सकिय जीति जाही सों॥" (लं० दो० ५)। यहाँ इनके बुद्धि-बल की पूर्णता प्रकट है ; यथा—"तिन्ह कर भय माता मोहि नाहीं।" यह बल है और "जौं तुम्ह सुख मानहु मन माहीं॥"—यह बुद्धि है। इसीसे माता ने आज्ञा दी। 'रघुपति चरन'''—'रघुपति' शब्द का दूसरा अर्थ 'जीव मात्र के रक्षक' का भी है—'रघु'=जीव, 'पति'=रक्षक। अतः, तुम्हारी भी रक्षा करेंगे। यह भी शिक्षा है कि इष्ट के भरोसे कोई भी कार्य प्रारम्भ करना चाहिये। 'मधुर फल खाहु'—माता पुत्र को मधुर वस्तु ही खिलाने की इच्छा रखती है ; यथा—"तात जाउँ बलि बेगि नहाहू। जो मन भाव मधुर कछु खाहू॥" (अ० दो० ५२) ; अथवा, वानर मधुर फल ही खाते हैं ; यथा—"मज्जन कीन्ह मधुर फल खाये।" (कि० दो० २४)। "खाहिं मधुर फल बिटप हलावहिं।" (लं० दो० ४)—यह भी जनाया।

चलेउ नाइ सिर पैठेउ बागा। फल खायेसि तरु तोरइ लागा॥१॥
रहे तहाँ बहु भट रखवारे। कछु मारे कछु जाय पुकारे॥२॥
नाथ एक आवा कपि भारी। तेहि असोक बाटिका उजारी॥३॥
खायेसि फल अरु बिटप उपारे। रच्छक मर्दि - मर्दि महि डारे॥४॥

अर्थ—(श्रीहनुमान्‌जी ने) श्रीसीताजी को मस्तक नवाकर बाग में प्रवेश किया, फल खाये और वे वृक्षों को तोड़ने लगे॥१॥ वहाँ बहुत योद्धा रक्षक थे, कुछ को (इन्होंने) मार डाला और कुछ ने (रावण से) जाकर पुकार की॥२॥ कि हे नाथ! एक भारी वानर आया है, उसने अशोक वाटिका उजाड़ डाली॥३॥ फल खाये और वृक्ष उखाड़ डाले, रक्षकों को मल-मलकर उसने पृथिवी पर डाल दिया॥४॥

विशेष—(१) 'चलेउ नाइ सिर''''''—'चलेउ' अर्थात् धीरे-धीरे चले कि जिससे फल खा लें, तब कोई जाने, नहीं तो खाते समय ही युद्ध होने लगेगा। इसीसे कूद-फाँद अभी तक नहीं की थी। 'नाइ सिर'—भीतर से श्रीरघुनाथजी के चरणों को हृदय में धारण किया और ऊपर से श्रीजानकीजी को प्रणाम किया। दोनों प्रकार से सुरक्षित होकर चले। श्रीहनुमान्‌जी को जाते और फल खाते समय किसी ने नहीं देखा। जब वानर-स्वभाव से वृक्ष तोड़ने लगे, तब रक्षकों ने देखा।

शंका—बाग में श्रीसीताजी के पास थे ही, फिर 'पैठेउ बागा' क्यों कहा गया ?

समाधान—इस एक ही में चार भाग हैं—वन, बाग, उपवन और वाटिका। ऊपर बतलाये गये हैं। अभी तक उपवन में थे ; यथा—"तहँ असोक उपवन जहँ रहई। सीता बैठि सोचरत अहई॥" (कि० दो० २७) ; अब बाग में पैठे, जिसमें फल विशेष थे, क्योंकि इन्हें फल ही तो खाना है।

'तरु तोरइ लागा'—अपने (वानरी) चंचल स्वभाव के कारण वृक्ष तोड़ने लगे ; यथा—"कपि सुभाव ते तोरेउँ रूखा।" (दो० २१) ; पुनः रावण से युद्ध करके उसकी बुद्धि और बल का अन्दाजा भी लेना है, क्योंकि स्वामी की यह भी आज्ञा है ; यथा—"दई हौं संकेत कहि कुसलात सियहि सुनाउ। देखि दुर्ग बिसेषि जानकि जानि रिपु गति आउ॥" (गी० सुं० ७) ; यह संदेश मुद्रिका ने कहा है यह बाग रावण को प्राण से भी प्यारा है, यथा—"मेघनाद ते दुलारो प्रान ते पियारो बाग अति अनुराग जिय जातुधान धीर को।" (क० सुं० १)। जब इसे उजाड़ेंगे, तब यह अपने उपाय और पुरुषार्थ में त्रुटि न

रक्खेगा। दंड ही एक मात्र उपाय है, क्योंकि राक्षस साम (प्रीति) जानते ही नहीं। दाम से भी काम चलने का नहीं, क्योंकि इनके द्रव्य की कमी नहीं है। ये बलवान् हैं; अतः, इनके आगे भेद भी नहीं चल सकता; यथा—"भेद लेन पठवा दससीसा। तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा। जग महँ सखा निसाचर जेते। लछिमन हनहिं निमिष महँ तेते॥" (दो० ४१)।

(२) 'रहे तहाँ बहु भट रखवारे।······'—पहले ही कहा जा चुका है कि यह वाटिका रावण को प्राण से भी प्रिय थी और इसीमें श्रीजानकी भी रक्खी गई थीं। इसलिये यहाँ बहुत-से रक्षक थे। वे रक्षक थे, इसलिये रक्षा के लिये लड़े। तब कुछ तो मारे गये और उनमें से कुछ बचे हुओं ने जाकर रावण के दरबार में पुकार की। शेष श्रीहनुमानजी के सामने हैं। 'कपि भारी'—जब फल खाने चले, तब विशाल शरीर (अपने वास्तविक रूप) में हो गये, क्योंकि उसी के योग्य इन्हें काम करना है। जैसे, बहुत फल खाना, बाग उजाड़ना और युद्ध करना। 'असोक वाटिका'—यह इसका नाम कहा गया, क्योंकि रावण के और भी बहुत-से बाग हैं, नाम न देने से संदेह रह जाता।

(३) 'खायेसि फल अरु बिटप उपारे।······'—अब श्रीहनुमान्जी का उपर्युक्त भारी कार्य करना दिखाते हैं। फल खा डाले, सब वृक्ष उखाड़ फेंके और रक्षकों को पीस डाला, उनको मारने के लिये इन्होंने वृक्ष आदि शस्त्र भी नहीं लिया। 'मर्दि डारे' का भाव यह है कि वे रक्षक-देह के द्वारा मर्दन (पीसने) करने योग्य भी न थे, इसलिये उन्हें हाथ ही से मसलकर पृथिवी पर फेंक दिया। आगे जब महाभट आवेंगे, तब उन्हें अंग से लगाकर उनका मर्दन किया जायगा; यथा—"रहे महाभट ताके संगा। गहि-गहि कपि मर्देसि निज अंगा॥" (दो० १८); ऊपर 'तरु तोरइ लागा' मात्र कहा गया था, यहाँ उखाड़ना भी कहा गया। भाव यह है कि जब रक्षक लोग लड़ने को दौड़े तब श्रीहनुमान्जी और क्रुद्ध होकर उखाड़ने भी लगे। अतः, इन्होंने जो देखा, वही कहा है। 'असोक वाटिका उजारी'—से यह भी ध्वनि है कि अब शोक-वाटिका उसने लगा दी। अर्थात् उसका उजड़ जाना रावण के लिये शोक-सागर हो गया।

सुनि रावन पठये भट नाना। तिन्हहि देखि गर्जेउ हनुमाना॥५॥
सब रजनीचर कपि संहारे। गये पुकारत कछु अधमारे॥६॥

अर्थ—यह सुनकर रावण ने अनेक योद्धा भेजे। उन्हें देखकर श्रीहनुमान्जी गरजे॥५॥ कपि श्रीहनुमान्जी ने सब निशाचरों को मार डाला। कुछ अधमरे रह गये, वे ही पुकार करते हुए गये॥६॥

विशेष—(१) 'सुनि रावन पठये भट नाना।···'—रक्षकों ने कहा था—'भारी' कपि है। इसलिये 'नाना भट' भेजे। इनमें वाल्मीकीय रामायण में कहे हुए किंकर, मंत्रीपुत्र, सेनापति और जम्बुमाली आदि आ गये। 'देखि गर्जेउ'—श्रीहनुमान्जी की सर्वत्र दृष्टि है, सावधान हैं, इसीसे देखा और युद्ध के उत्साही हैं; अतः, गरजे। गर्जन, यथा—"जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः। राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः॥ दासोऽहं कोशलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः। हनूमाञ्शत्रुसैन्यानां निहन्ता मारुतात्मज.॥ न रावणसहस्रं मे युद्धे प्रतिबलं भवेत्। शिलाभिश्च प्रहरतः पादपैश्च सहस्रशः॥ अर्दयित्वा पुरीं लंकामभिवाद्य च मैथिलीम्। समृद्धार्थो गमिष्यामि मिषतां सर्वरक्षसाम्॥" (वाल्मी० ५।४२।३३–३६); यह घोषणा गरज-गरजकर राक्षसों के आने पर वहाँ प्रत्येक बार की गई है, वही गर्जन यहाँ भी जानना चाहिये।

(२) 'सब रजनीचर कपि······'—मुख्य-मुख्य तो सब मारे गये, कुछ अध-मरे छोड़ दिये गये कि ये लोग जाकर रावण के यहाँ पुकार करें। 'संहारे'—यहाँ कोई अस्त्र-शस्त्र नहीं कहा गया और न मर्दन

करना ही कहा गया है। इससे यहाँ हाथी-से-हाथी, रथ-से-रथ और भटों-से-भटों को मारना समझना चाहिये; यथा—"हाथिन सों हाथी मारे घोड़े घोड़े सों सँघारे, रथनि सों रथ बिदरनि बलवान की" (क० लं० ४०); 'गये पुकारत'—यहाँ से गुहार मारते, चिल्लाते राज-दरबार को चले जाते हैं। 'कछु अधमारे'—रक्त बह रहा है, किसी का शिर फटा है, किसी के हाथ पैर टूट गये हैं, कोई पँजरी पकड़े हुए कराहते जाते हैं। पहले जो पुकारने आये हुए थे, उन्होंने ब्योरा सुना दिया है कि एक भारी वानर आया है, इत्यादि। इसीसे अब उन्हीं सब बातों को कहने की आवश्यकता नहीं है।

पुनि पठयउ तेहि अच्छ कुमारा। चला संग लै सुभट अपारा ॥७॥
आवत देखि बिटप गहि तर्जा। ताहि निपाति महाधुनि गर्जा ॥८॥

दो०—कछु मारेसि कछु मर्देसि, कछु मिलयेसि धरि धूरि।
कछु पुनि जाइ पुकारे, प्रभु मर्कट बल भूरि ॥१८॥

अर्थ—फिर रावण ने अक्षयकुमार को भेजा, वह अगणित सुन्दर योद्धाओं को साथ लेकर चला ॥७॥ इसे आता हुआ देख एक वृक्ष हाथ में लेकर उन्होंने उसको डाँटा और उसे मारकर महाध्वनि से गर्जन किया ॥८॥ कुछ को मारा, कुछ को मसल डाला और कुछ को पकड़कर धूल में मिला दिया, फिर कुछ ने पुनः पुकार की—हे प्रभो! वानर बड़ा बलवान् है ॥१८॥

विशेष—(१) 'पुनि पठयउ तेहि अच्छ कुमारा।'—पहले नाना भटों में क्रमशः किंकर, जम्बुमाली, सप्त मंत्रि-पुत्र और पंच सेनापति अपनी-अपनी सेनाओं के साथ आये हुए थे। अब अपने राजकुमार को भेजा और उसके साथ अपार सुभटों को भी भेजा। जैसा यह भारी शूरवीर है, वैसी ही भारी सेना भी लिये हुए है।

(२) 'आवत देखि बिटप गहि तर्जा।...'—'गहि तर्जा'—पहले वृक्ष उखाड़ फेंके थे, उन्हीं में से एक को लेकर इसका नाश किया। वीर को देखकर गरजना उत्साह का सूचक है; यथा—"सुनि रावन पठये भट नाना तिन्हहिं देखि गर्जेउ हनुमाना ॥" ऊपर कहा गया है 'ताहि निपाति महा...'—पहले जो मारे गये, वे साधारण वीर थे, इससे उनको मारने पर सामान्य गर्जना ही की थी यह भारी वीर था। अतः, इसे मारकर महाध्वनि से गरजन किया; यथा—"जयत्यति बलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ..." ऊपर कहा गया। इससे अपनी विजय-घोषणा करते हुए रावण को ललकारा कि वह इससे भी बली को भेजे।

(३) 'कछु मारेसि कछु मर्देसि...'—'कछु'—का भाव यह कि यद्यपि अपार सेना थी, तथापि श्रीहनुमानजी को यह सेना 'कछु' ही जान पड़ी पहले युद्ध में मर्दन करना कहा; यथा—"रच्छक मर्दि मर्दि महि डारे।" दूसरी बार संहार करना कहा गया; यथा—"सब रजनीचर कपि संहारे" इस बार तीन क्रियाएँ कही गईं—मारना, मर्दन करना और धूल में मिलाना। इसका भाव यह कि जब राजकुमार मारा गया और सेना अनाथ हो गई, तब सेना के उत्तम वीर सामने आकर लड़ने आये, तब इन्हें भी मारा। सामान्य सैनिकों को मर्दन किया और निकृष्टों को धूल में मिला दिया। 'कछु मिलयेसि

धरि धूरि'—पहले हाथ से पकड़कर मीजा, जब हाथ रुधिर से भर गये, तब अंजलि मे धूलि लेकर हाथ साफ किये, वा, मर्दन कर भूमि मे गिराकर पैर से कुचल कर उन्हे धूल मे मिला दिया।

अथवा, जो सैनिक दूर ही से वाण आदि प्रहार करते थे, उन्हें कूदकर मारा, जो शरीर में लिपटकर लड़ने लगे, उन्हें शरीर ही मे मर्दन कर दिया और जो दौड़ने में पैरों के नीचे पड़े, वे धूल में मिल गये।

(४) 'कछु पुनि जाइ...'—इस वार भारी योद्धा अक्षयकुमार मारा गया, इससे कहा कि वह वानर भूरि (बहुत) बलवाला है अतएव वैसा समर्थ योद्धा आप भेजें, क्योंकि आप भी 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं। अतः, योग्य भट ही भेजें।

सुनि सुत-वध लंकेस रिसाना। पठयेसि मेघनाद बलवाना ॥१॥
मारसि जनि सुत बाँधेसु ताही। देखिय कपिहि कहाँ कर आही ॥२॥
चला इंद्रजित अतुलित जोधा। बंधु-निधन सुनि उपजा क्रोधा ॥३॥
कपि देखा दारुन भट आवा। कटकटाइ गर्जा अरु धावा ॥४॥

अर्थ—पुत्र का वध सुनकर (लंकेश) रावण क्रोधित हुआ और बलवान् मेघनाद को भेजा, (उसे समझाया—) हे पुत्र! उसे मारना नहीं (प्रत्युत) बाँध लाना, देखें तो बंदर कहाँ का है? ॥१-२॥ इन्द्र को भी जीतनेवाला अतुलित योद्धा मेघनाद चला। भाई का नाश सुनकर उसे क्रोध उत्पन्न हो गया ॥३॥ कपि श्रीहनुमान्जी ने देखा कि यह बड़ा कठिन योद्धा आया है, तब दाँत कटकटाकर क्रोध करके गर्जे और दौड़े ॥४॥

विशेष—(१) 'सुनि सुत-वध लंकेस...'—और-और भटो के वध होने पर राजा ने ऐसा क्रोध नहीं किया, पर जब अपने पुत्र के वध का समाचार मालूम हुआ तब उसपर क्रोध किया कि मैं 'लंकेस' हूँ और लंका की रक्षा करनेवाला हूँ, फिर अपने पुत्र के मारनेवाले से बदला क्यों न लूँ? अभी शत्रु शिर पर है, इसलिये उसने पुत्र के वध पर शोक नहीं किया जब शत्रु को बाँधकर सामने लाया गया, तब सुत का वध स्मरण करके दुखी हुआ है; यथा—"सुत वध सुरति कीन्ह पुनि, उपजा हृदय विषाद ॥" (दो० २०)।

'पठयेसि मेघनाद बलवाना'—सुत के वध पर उसे अत्यंत क्रोध हुआ, और उसने यह भी समझा कि अनिप अकंपन आदि वीरों से काम नहीं चलेगा। अतः, यहाँ के सर्वश्रेष्ठ बलवान् मेघनाद को ही भेजा जाय।

(२) 'मारसि जनि सुत...'—रावण को मेघनाद के बल का बड़ा भरोसा है और उसे यह ज्ञात है कि यह सभी को जीत सकता है; यथा—"जे सुर समर धीर बलवाना जिनके लरिबे कर अभिमाना ॥ तिनहिं जीति रन आनेसु बाँधी।" (बा० दो० १८१) इसी से ऐसा कहा गया है

'देखिय कपिहिं कहाँ कर आही।'—तात्पर्य यह है कि तीनो लोकों मे हमारा वैरी तो कोई नहीं था; यथा—"सुर नर असुर नाग खग माहीं। मोरे अनुचर कहँ कोउ नाहीं ॥" (आ० दो० २१)। अतः,

देखना है कि ऐसा प्रबल शत्रु कहाँ पैदा हो गया, जिसने इसे भेजा है। उसे नष्ट करने का प्रयत्न तो करना ही होगा। यही आगे स्पष्ट है; यथा—"केहि के बल घालेसि बन खीसा॥" (दो० २०)।

(३) 'चला इंद्रजित अतुलित जोधा ....'—'इंद्रजित' का भाव यह है कि जिस तरह यह इन्द्र को बाँधकर रावण के आगे लाया था, उसी तरह श्रीहनुमान्‌जी को भी बाँधकर लायेगा। 'अतुलित जोधा'; यथा—"बारिद नाद जेठ सुत तासू। भट महँ प्रथम लीक जग जासू॥ जेहि न होइ रन सन्मुख कोई।" (बा० दो० १७१); 'बंधु निधन...'—उसे यह समझकर क्रोध हुआ कि मैं इन्द्र को जीतनेवाला हूँ और मेरे रहते हुए ही मेरे भाई को एक साधारण वानर मार दे और यह बचकर चला जाय, यह मेरे लिये बड़ी लज्जा की बात है। 'चला इंद्रजित' कहकर 'बंधु निधन' सुनना कहा गया, इससे जान पड़ता है कि इसने भाई के वध का समाचार अभी-अभी (मार्ग में) सुना है। 'चला इंद्रजित' का भाव यह है कि इसने और किसी को साथ नहीं लिया, क्योंकि यह अतुलित योद्धा है। अतः, दूसरों की सहायता नहीं चाहता, यथा—"मेघनाद सुनि श्रवन अस गढ़ पुनि छेंका आइ। उतर्‌यो बीर दुर्ग ते सन्मुख चला बजाइ॥" (लं० दो० ४८), और जो-जो महाभट इसके साथ आये हुए हैं, वे रावण की आज्ञा से ही। उसने स्वयं पुत्र की रक्षा के लिये इन्हें भेजा है; यथा—"इहाँ दसानन सुभट पठाये। नाना अस्त्र-सस्त्र गहि धाये॥" (लं० दो० ५१)।

(४) 'कपि देखा दारुन भट आवा।'—वीर लोग देखकर ही वीरों का बल जान लेते हैं। अतः, श्रीहनुमान्‌जी ने भी मेघनाद का बल जान लिया। 'कटकटाइ'—यह वानरों की क्रोध-मुद्रा है; यथा—"कटकटान कपि-कुंजर भारी। दोउ भुजदंड तमकि महि मारी॥" (लं० दो० ३०); "कटकटाहिं कोटिन्ह भट गर्जहिं। दसन ओठ काटहिं अति तर्जहिं॥" (लं० दो० ४६); 'अरु धावा'—'दारुन भट' समझ कर श्रीहनुमान्‌जी ने उसे अपने पास तक आने भी न दिया पहले ही दौड़कर उसके आगे पहुँच गये—यह युद्धोत्साह है।

अति बिसाल तरु एक उपारा। बिरथ कीन्ह लंकेस - कुमारा ॥५॥
रहे महाभट ताके संगा। गहि गहि कपि मर्दइ निज अंगा ॥६॥
तिन्हहि निपाति ताहि सन बाजा। भिरे जुगल मानहुँ गजराजा ॥७॥
मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई। ताहि एक छन मुरुछा आई ॥८॥

अर्थ—एक अत्यन्त विशाल वृक्ष उखाड़ा और रावण के पुत्र को बिना रथ का कर दिया, अर्थात् उसका रथ नाश कर दिया ॥५॥ उसके साथ में जो बड़े-बड़े योद्धा थे, उन्हें पकड़-पकड़कर कपि श्रीहनुमानजी अपने अंगों से मल देते हैं ॥६॥ योद्धाओं को मारकर फिर मेघनाद से मल्लयुद्ध किया, (ऐसा जान पड़ता है कि) मानों दो श्रेष्ठ हाथी (आपस में) भिड़े हों ॥७॥ श्रीहनुमानजी उसे एक घूँसा मारकर वृक्ष पर जा चढ़े, उसको क्षण भर के लिये मूर्च्छा आ गई ॥८॥

विशेष—(१) 'अति बिसाल तरु एक...'—श्रीहनुमानजी ने अक्ष की तरह इसे भी मारने के लिये इसपर वृक्ष फेंका, पर राक्षसी माया से आकाश में चले जाने पर यह बच गया, किन्तु इसके रथ, सारथी आदि नाश हो गये; यथा—"देखि पवन सुत फटक बेहाला। क्रोधवंत धायउ जनु काला। महा सैल एक तुरत उपारा। अति रिसि मेघनाद पर डारा॥ आवत देखि गयउ नभ सोई। रथ सारथी तुरँग

सब खोई ॥" (लं० दो० ४१) ; मेघनाद दारुण भट था, इसलिये श्रीहनुमान्‌जी ने इसके मारने के लिये 'अति बिसाल' वृत्त लिया। राजकुमार को विरथ करके उसकी शोभा नष्ट कर अपने तुल्य पैदल कर दिया।

(२) 'रहे महा भट ताके संगा···'—पहले मेघनाद से युद्ध होता था, अब दूसरे-दूसरे योद्धाओं से होने लगा, इससे यह जान पड़ता है कि वह माया के बल से अंतर्धान हो गया, जैसा कि उसका स्वभाव है, जब तक वह प्रकट नहीं हुआ था तब तक उतने ही क्षणों में श्रीहनुमान्‌जी ने उसकी सेना का नाश कर दिया। यदि मेघनाद मारा गया होता तो राक्षस लोग भाग खड़े होते जैसे कि इससे पहले भाग-भाग कर रावण से कहते थे ; यथा—"कछु मारे कछु जाइ पुकारे।" ऊपर कहा गया। पर मेघनाद तो अंतर्धान था, इसीसे ये लोग भाग नहीं सके और श्रीहनुमान्‌जी के हाथों मारे गये।

(३) 'तिन्हहिं निपाति···'—श्रीहनुमान्‌जी पहले प्रधान को मारकर तब उसकी सेना को मारते थे, किन्तु उन्होंने इस बार पहले सेना ही को मारा, क्योंकि मेघनाद छिप गया था। मेघनाद से उन्होंने मल्ल-युद्ध किया, क्योंकि इसे अपने बल का बहुत गर्व था ; यथा—"पठयेसि मेघनाद बलवाना।" यह श्रीहनुमान्‌जी के बल का मर्म नहीं जानता था, इसीसे उनसे भिड़ गया। यदि जानता तो अन्य उपाय अथवा माया से लड़ता; यथा—"बार बार प्रचार हनुमाना। निकट न आव मरम सो जाना॥" (लं० दो० ४१)। मल्लयुद्ध पशु-युद्ध है ; इसीलिये दोनों को गजराज कहा गया। फिर मत्त हाथी के समान दोनों बलवान् भी हैं।

(४) 'मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई।···'—मल्लयुद्ध में मुष्टिका मारने की भी रीति है ; यथा—"भिरे उभउ बाली अति तर्जा। मुठिका मारि महाधुनि गर्जा॥" (कि० दो० ७) ; मेघनाद मूर्च्छित हो गया था, इसलिये श्रीहनुमान्‌जी जाकर वृक्ष पर बैठ गये, क्योंकि मूर्च्छित को मारना अनीति है और उसके साथियों को पहले ही मार चुके थे। अब वे इसके सचेत होने की प्रतीक्षा में हैं और साथ ही यह भी देख रहे हैं कि कोई और तो नहीं आ रहा है।

उठि बहोरि कीन्हेसि बहु माया। जीति न जाइ प्रभंजन-जाया ॥९॥

दोहा—ब्रह्म-अस्त्र तेहि साधा, कपि मन कीन्ह बिचार।
जौं न ब्रह्मसर मानउँ, महिमा मिटइ अपार ॥१९॥

अर्थ—फिर उठकर उसने बहुत माया की, पर वायुपुत्र जीते नहीं जाते ॥९॥ मेघनाद ने ब्रह्मास्त्र का सन्धान किया, (तब) श्रीहनुमान्‌जी ने मन में विचार किया कि यदि मैं ब्रह्मास्त्र का मान न करूँ (अर्थात् सब माया की तरह इसे भी व्यर्थ कर दूँ) तो उसकी अपार महिमा मिट जायगी ॥१९॥

विशेष—(१) 'उठि बहोरि कीन्हेसि······'—फिर उसने मल्ल-युद्ध नहीं किया, क्योंकि इनके पराक्रम का मर्म वह पा गया कि इनसे लड़कर पार न पाऊँगा। जब शरीर से हार गया, तब माया करने लगा। फिर जब माया करने से भी हार जायगा, तब ब्रह्मास्त्र चलावेगा। 'बहु माया'—जितनी माया जानता था। इसकी माया लं० दो० ५० में कही गई है। यहाँ कहने का मुख्य प्रसंग नहीं है, इससे यहाँ नहीं कहा गया। 'प्रभंजन जाया'—प्रभंजन का अक्षरार्थ यह है—जो प्रकर्ष करके भंजन करे—ऐसे वायु के श्रीहनुमानजी पुत्र हैं, इसीसे उसकी सब माया को ये भंजन कर देते थे। जितने भूत-पिशाच आदि हैं, वे वायु से उड़ जाते हैं, इसीसे जादू-टोने आदि को लोग मंत्र से झाड़कर फूँक देते हैं।

(२) 'ब्रह्म-अस्त्र तेहि साधा '—और उपाय निरर्थक होते देखकर ही इसने ब्रह्मास्त्र चलाया है, इसीलिये जब सब प्रकार से हार गया, तब इसने ब्रह्मास्त्र का अनुसंधान किया, यथा—"रावन सुत निज मन अनुमाना। संकट भयउ हरिहि मम प्राना॥ बीर घातिनी छाँड़ेसि साँगी" (लं० दो० ५२)। 'कपि मन कीन्ह बिचार।'—पहले ही कहा गया है कि श्रीहनुमानजी सभी कार्य विचार-पूर्वक करते हैं, अत, यहाँ भी इन्होंने विचार किया। 'जौं न ब्रह्म '—इससे जाना गया कि ये श्रीहनुमान्‌जी ब्रह्मास्त्र को भी निष्फल कर सकते थे, यथा—"अस्त्रपाशैर्न शक्योऽहं बद्धुं देवासुरैरपि॥ पितामहादेष वरो ममापि हि समागत।" (वाल्मी० ५।५०।१९-१०)।

(३) 'महिमा मिटइ अपार'—तात्पर्य यह है कि ये उसके बल और माया से नहीं पराजित हुए, किन्तु ब्रह्मास्त्र की मर्यादा-रक्षा के लिये स्वयं बँध गये। तीनों लोकों के सभी जीव ब्रह्मास्त्र के वशवर्त्ती हैं। इसे मानने से इसकी मर्यादा बनी रहेगी। श्रीब्रह्माजी ने इसपर कृपा करके यह वरदान दिया है, उनकी मर्यादा रखनी ही चाहिये। सर्वशक्तिमान प्रभु ने भी ब्रह्मास्त्र की मर्यादा रक्खी है, तो उनका दास क्यों न रक्खे?

ब्रह्मबान कपि कहुँ तेहि मारा। परतिहुँ बार कटकु संघारा॥१॥
तेहि देखा कपि मुरुछित भयऊ। नागपास बाँधेसि लै गयऊ॥२॥

अर्थ—मेघनाद ने श्रीहनुमानजी को ब्रह्म बाण से मारा, गिरते समय भी इन्होंने (उसकी ओर से आई हुई) सेना का नाश किया, अर्थात् शरीर बढ़ाकर सेना भर के ऊपर गिरे॥१॥ (जब) उसने देखा कि वानर मूर्च्छित हो गया, (तब) नागपाश से बाँधकर ले गया॥२॥

विशेष—(१) 'परतिहुँ बार कटक संघारा'—युद्ध में गिरने से पहले श्रीहनुमान्‌जी ने कटकटा कर संहार किया ही था, गिरते हुए भी किया। मेघनाद की सेना का नाश एक बार कर चुके थे, यथा—"तिन्हहिं निपाति ताहि मन बाना।" यह कहा जा चुका है। फिर भी यहाँ दुबारा कहने का अभिप्राय यह है कि रावण ने यह सेना सहायता के लिये फिर से भेजी थी, यथा—"इहाँ दसानन सुभट पठाये। नाना अस्त्र-सस्त्र गहि धाये॥" (लं० दो० ५२)। यहाँ श्रीहनुमान्‌जी के द्वारा दबने से सेना का नाश कहा गया है। पर आगे कुम्भकर्ण और रावण के द्वारा वानरों की सेना दबना मात्र कहा गया है, यथा—"परे भूमि जिमि नभ ते भूधर। हेठ दाबि कपि भालु निसाचर॥" (लं० दो० ११), "धरनि परेउ द्वौ खंड बढ़ाई। चापि भालु मर्कट समुदाई॥" (लं० दो० १०१)। ये सब वानर और भालू पीछे निकल आये हैं।

(२) 'तेहि देखा कपि '—ये दिखाने-मात्र के लिये मूर्च्छित हैं, पर वास्तव में ये ब्रह्मास्त्र का मान रखते हुए हैं, यह मूर्च्छा भी ढाई घड़ी-मात्र में स्वयं छूट जायगी। ब्रह्माजी का वचन ऐसा भी है कि एक तो ब्रह्मास्त्र श्रीहनुमानजी को लगे नहीं, यदि लगे भी तो ढाई घड़ी-मात्र में छूट जाय। जब उसने अच्छी तरह देख लिया कि ये मूर्च्छित हो गये, तब इनके समीप गया, क्योंकि पहले की मुष्टिका से डरा हुआ है। 'नाग पास बाँधेसि '—मूर्च्छित दशा में इसलिये बाँध लिया कि कहीं चैतन्य होने पर उपद्रव न करे, नहीं तो फिर दुबारा ब्रह्मास्त्र भी नहीं लग सकता। 'लै गयऊ' अर्थात् श्रीहनुमान्‌जी स्वयं पीछे-पीछे चले गये, यथा—"कपिहि सभा दीख कपि जाई।" यह आगे 'जाइ' शब्द से स्पष्ट है।

इस युद्ध-रहस्य की चार आवृत्तियाँ—

(१) भट, सुभट, महाभट और दारुणभट, इन्हें क्रम से कहा गया—(क) यथा—"रहे तहाँ बहु भट रखवारे।"; "पुनि रावन पठये भट नाना॥" (ख) "चला संग लै सुभट अपारा " (ग) "रहे महाभट ताके संगा " (घ) "कपि देखा दारुन भट आवा।" यह प्रथमावृत्ति है।

(२) नहीं गर्जे, गर्जे, महाध्वनि गर्जे और कटकटाइ गर्जे, यह भी क्रमश: है जैसे पहली लड़ाई मे नहीं गरजे, दूसरी मे साधारणतया गरजे, तीसरी मे महाध्वनि से गरजे और चौथी मे कटकटाकर गरजे। उदाहरण—"रहे तहाँ बहु भट रखवारे।" इन्हें सामान्य जानकर नहीं गरजे। आगे क्रमशः विशेष जानकर गरजन मे भी विशेषता की; यथा—"पुनि रावन पठये भट नाना तिन्हहिं देखि गर्जा हनुमाना॥" "चला संग लै सुभट अपारा।···ताहि निपाति महाधुनि गर्जा॥", "कपि देखा दारुन भट आवा। कटकटाइ गर्जा अरु धावा॥" यह द्वितीयावृत्ति है।

(३) भटों के मारने के लिये वृक्ष नहीं लिये उसकी आवश्यकता ही नहीं हुई; यथा—"कछु मारे"; "सब रजनीचर कपि संहारे।" सुभटों को वृक्ष से मारा; यथा—"आवत देखि बिटप गहि तर्जा। ताहि निपाति..." और दारुण भट के लिये 'अति बिसाल तरु' उखाड़ लिया, यथा—"अति बिसाल तरु एक उपारा।" यह तृतीयावृत्ति है।

(४) पहली बार लड़ाई मे रक्षकों का मारा जाना पाँच अक्षरों मे कहा गया है, यथा—"कछु मारेसि" दूसरी से १२ अक्षरों मे—"सब रजनीचर कपि संहारे।" तीसरी मे ३२ अक्षरों मे—"ताहि निपाति महाधुनि गर्जा॥ कछु मारेसि कछु मर्देसि, कछु मिलयेसि धरि धूरि।' और चौथी बार मे समान से युद्ध हुआ—(क) दोनों क्रोधित होकर लड़े, यथा—"बंधु निधन सुनि उपजा क्रोधा।" और "कटकटाइ गर्जा अरु धावा।"—(ख) पुनः दोनों गजराजों के समान भिड़े, यथा—"भिरे जुगल मानहुँ गजराजा।" —(ग) दोनों ने दोनों को मारा; यथा—"ब्रह्मबान कपि कहँ तेहि मारा।" "मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई।"—(घ) दोनों ने एक-दूसरे को मारकर मूर्च्छित कर दिया, यथा—"ताहि एक छन मुरुछा आई।" "तेहि देखा कपि मुरुछित भयऊ।" यह चतुर्थावृत्ति है।

इन आवृत्तियों मे उत्तरोत्तर विशेषताएँ हैं।

जासु नाम जपि सुनहु भवानी। भव-बंधन काटहिं नर ज्ञानी॥३॥
तासु दूत कि बंध तर आवा। प्रभु कारज लगि कपिहि बँधावा॥४॥
कपि बंधन सुनि निसिचर धाये। कौतुक लागि सभा सब आये॥५॥
दसमुख-सभा दीखि कपि जाई। कहि न जाइ कछु अति प्रभुताई॥६॥

अर्थ—हे भवानी! सुनो, जिसका नाम जपकर ज्ञानवान् लोग संसार-बंधन काट डालते हैं॥३॥ उसका दूत क्या बंधन मे आ सकता है? (अर्थात् भवबंधन के आगे नागपाश अत्यत तुच्छ है) प्रभु के कार्य के लिये कपि ने ही अपनेको बँधाया था॥४॥ कपि का बँध जाना सुनकर राक्षस लोग दौड़े, (अभी तक भय से निकलते न थे,) कौतुक के लिये सब सभा मे आये॥५॥ श्रीहनुमान्‌जी ने जाकर रावण की सभा देखी, उसकी अत्यंत प्रभुता है, वह कुछ कही नहीं जा सकती; अर्थात् आश्चर्य साहिनी है॥६॥

विशेष—(१) 'जासु नाम जपि...'—ज्ञानी भी नामावलबन के विना भव-बंधन काटने मे असमर्थ होते है; यथा—"नाम जीह जपि जागहिं जोगी।...ब्रह्म सुखहिं अनुभवहिं अनूपा '..." (बा० दो० २१

ऐसा कठिन यह भव-बंधन है यहाँ नाम के द्वारा ज्ञानी अर्थात् जीवन्मुक्तों का भव तरना कहा है; "गिरिजा जासु नाम जपि, मुनि काटहिं भव पास" (लं० दो० ७१)। इसमें मुनि अर्थात् मुमुक्षु का भव-तरना वर्णित है और "भव बंधन ते छूटहिं, नर जपि जाकर नाम।" (उ० दो० ५८) इसमें नर अर्थात् विषयी का भव तरना है इस तरह मुक्त, मुमुक्षु और विषयी तीनों की सद्गति नाम द्वारा कही गई है। ये तीनों प्रकार के जीव एक साथ भी कहे गये हैं; यथा—"सुनहिं विमुक्त विरत अरु विषई।" (४० दो० १४)।

(२) 'प्रभु कारज लगि कपिहि बँधावा'; यथा—"मोहिं न कछु बाँधे कइ लाजा। कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा॥" (दो० २१) स्वयं इनका बंध जाना, इसलिये स्पष्ट है कि पहले तो ब्रह्मास्त्र की मर्यादा रक्षा के लिये बँधे। फिर थोड़ी ही देर के बाद छूट भी गये थे, किन्तु ये रावण की बुद्धि की थाह पाने के लिये उसके पास बँधे हुए गये हैं वाल्मी० ५। ५०। १७–१८ मे रावण के समक्ष इनके वचन हैं कि ब्रह्मा के वरदान से मैं किसी भी अस्त्र से बाँधा नहीं जा सकता, किन्तु राजा (रावण) को देखने के लिये ही मैंने इस अस्त्र को माना है। मैं तो मुक्त हूँ, पर मुझे बँधा समझ कर ही ये राक्षस तुम्हारे पास ले आये हैं। मैं श्रीरामजी के किसी कार्य के लिये तुम्हारे पास आया हूँ। यहाँ भी आगे स्पष्ट ही है; यथा—"निवुकि चढ़ेउ कपि..." तो क्या इससे पहले अस्त्र से नहीं मुक्त हो सकते थे? 'तासु दूत'—का भाव यह है कि इनका तो श्रीरामजी से साक्षात्संबंध है ही, जिन्हे उनसे कोई नाता नहीं है, वे भी केवल उनके नाम का जप करके भारी भव-बंधन से छूट जाते हैं, तो इनके लिये क्या कहना है?

"सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा।" से "प्रभु कारज लगि..." तक 'वन उजारि' प्रसंग है आगे—'रावनहिं प्रबोधी' प्रसंग चला।

(३) 'कपि बंधन सुनि...'—'सुनि' का भाव यह है कि राक्षस पहले मारे डरके घर से निकलते नहीं थे। 'धाये'—क्योंकि सभी को यह कौतुक देखने की प्रबल इच्छा है कि ऐसा बलिष्ठ वानर तो कभी सुना भी नहीं था, इसे चलकर देखना चाहिये। अतः, दौड़े; यथा—"धाये धाम काम-सब त्यागी, मनहुँ रंक निधि लूटन लागी॥" (बा० दो० २१४); तथा—"जे जैसेहिं तैसेहिं उठि धावहिं। बाल-वृद्ध कहँ संग न लावहिं॥" (३० दो० २)। यहाँ 'कौतुक' शब्द पर ही प्रसंग छोड़ रहे हैं। हनुमान-रावण संवाद समाप्त हो जाने पर फिर इसी 'कौतुक' शब्द से प्रसंग प्रारम्भ करेंगे; यथा—"कौतुक कहँ आये पुरवासी।"

(३) 'दससुख सभा दीख कपि...' दशमुख शब्द से ध्वनित होता है कि उसकी सभा की दसो दिशाओं में बहुत-से खंभे लगे हुए थे और सभी खंभों मे सिंहासन समेत रावण का प्रतिबिंब पड़ता था, जिससे वास्तविक रावण का पहचानना ही कठिन था। पर श्रीहनुमान्जी ने अपनी बुद्धि से सब समझ लिया कि इसी के शिर, हाथ आदि हिलाने से सभी खंभों मे वैसी चेष्टाएँ होती हैं। अतः, यही वास्तविक रावण है, यों देखकर जाना। 'अति प्रभुताई' आगे कही जाती है—

कर जोरे सुर दिसिप विनीता। भृकुटि विलोकत सकल सभीता॥७॥
देखि प्रताप न कपि-मन संका। जिमि अहिगन महँ गरुड़ असंका॥८॥

दो०—कपिहि बिलोकि दसानन, बिहँसा कहि दुर्बाद।
सुतवध सुरति कीन्ह पुनि, उपजा हृदय बिषाद॥२०॥

अर्थ—देवता और दिक्पाल हाथ जोड़े बड़ी नम्रता से भय-सहित सब रावण की भौं ताकते रहते हैं ॥७। यह प्रताप देखकर श्रीहनुमान्‌जी के मन में कुछ डर नहीं हुआ, (वे निश्शंक देख पड़ते हैं) जैसे सर्पों के बीच में गरुड़ निश्शंक रहते हैं ॥८॥ श्रीहनुमान्‌जी को देख रावण दुर्वचन कहकर खूब हँसा फिर पुत्र-वध का स्मरण किया, तो हृदय में शोक और दुःख उत्पन्न हुआ ॥२०॥

विशेष—(१) 'कर जोरे सुर दिसिप बिनीता '—'सुर' का अर्थ सामान्य देवता और 'दिसिप' का दसो दिक्पाल हैं इस तरह छोटे-बड़े सभी देवता सेवा में उपस्थित रहते हैं सभा में कौतुक के लिये केवल पुरवासियों का दौड़कर आना कहा गया है, पर देवताओं का नहीं, क्योंकि ये तो आठों पहर रावण के दरबार में उपस्थित ही रहा करते हैं, उसके बंदीखाने में हैं; यथा—"रावन नाम जगत जस जाना लोकप जाके बंदीखाना ॥"। (लं॰ दो॰ ८१) सभा के आरंभ होने के पहले ही ये आकर हाथ जोड़कर खड़े हो जाते हैं। उपर्युक्त 'अति प्रभुताई' यही है। 'भृकुटि बिलोकत···'—देवता लोग डरे हुए रावण की भ्रू-चेष्टा को देखा करते हैं, तब भी रावण की भौंहें चढ़ी ही रहती हैं। 'देखि प्रताप न···'—पहले 'दसमुख सभा दीख कपि जाई' से देखना कहकर अब रावण की प्रभुता का वर्णन करने लगे पुनः 'देखि' कहकर वहीं से प्रसंग लेते हैं। ऊपर 'अति प्रभुताई' कहा गया, उसी को यहाँ प्रताप कहकर दोनों का पर्याय भी सूचित किया।

देवता लोग भय-भीत होकर हाथ जोड़े रहते हैं, रावण का प्रताप सुनकर ही और लोग शंकित हो जाते हैं, पर श्रीहनुमान्‌जी को शंका क्यों न हुई ? इसका उत्तर यह है कि इनके हृदय में प्रभु का प्रताप है; यथा—"प्रभु प्रताप उर सहज असंका। रन बाँकुरा बालि सुत बंका।।" (लं॰ दो॰ १७); "प्रभुप्रताप ते गरुड़हिं, खाइ परम लघु ब्याल॥ (दो॰ १६)। यही उत्तरार्द्ध के 'जिमि अहिगन महँ गरुड़ असंका।" का भाव है।

अशंकता का दूसरा यह भी कारण है कि श्रीहनुमान्‌जी स्वयं सब सुर-असुर से अधिक प्रभावशाली हैं; यथा—"न कालस्य न शक्रस्य विष्णोर्वित्तपस्य च कर्माणि तानि श्रूयन्ते यानि युद्धे हनूमता ।।" (वाल्मी॰ ७।३५।८); इन्होंने रावण से कहा भी है; यथा—"देखी मैं दसकंठ सभा सब मोते कोउ न सबल तो।" (गी॰ सुं॰ १३)।

(२) 'कपिहिं बिलोकि···'—'कहि दुर्बाद'—दुर्बाद का स्वरूप श्रीगोस्वामीजी प्रायः नहीं लिखते, यथा—"लखन कहेउ कछु बचन कठोरा " (अ॰ दो॰ १५१) "कहि दुर्बचन क्रुद्ध दसकंधर।" (लं॰ दो॰ ८१); "तेहि कारन करुना निधि, कहे कछुक दुर्बाद।" (लं॰ दो॰ १०७) इत्यादि।

'कपिहि बिलोकि' यह रावण के तन की दशा, 'कहि दुर्बाद' वचन की दशा और 'उपमा हृदय बिषाद' मन की दशा है। वह ऊपर से तो हँसता है, पर भीतर हृदय में पुत्र-शोक का विषाद भरा हुआ है।

कह लंकेस कवन तैं कीसा। केहि के बल घालेहि बन खीसा ॥१॥
की धौं श्रवन सुनेहि नहिं मोही। देखउँ अति असंक सठ तोही ॥२॥
मारे निसिचर केहि अपराधा। कहु सठ तोहि न प्रान कै बाधा ॥३॥

अर्थ—लंकपति रावण ने कहा कि हे वानर! तू कौन है? किसके बल से तूने वन को नष्ट

किया।१॥ क्या तू ने कभी मुझे कानों से नहीं सुना? अरे शठ! मैं तुझे अत्यत निरशक देख रहा हूँ ॥२॥ निशाचरों को तूने किस अपराध से मारा? अरे शठ! कह, क्या तुझे प्राणों का भय नहीं है? ॥३॥

विशेष—'की धौं श्रवन सुनेहि नहिं मोही।'—भाव यह कि सुना होता, तो मेरे भय से ऐसा अन्याय न करता, यह रावण की चातुरी है वह अपनी मर्यादा की रक्षा करता है इसका यह भी भाव है कि इसके रूप की अपेक्षा इसका नाम अधिक भयकर है, यथा—"तब रावन निज रूप देखावा। भई सभय जब नाम सुनावा॥" (आ० दो० १०); 'देखउँ अति असक सठ'—भाव यह है कि तेरे सामने ही सब लोकपाल मुझे हाथ जोडे खड़े हैं और तू वानर और साथ ही अपराधी होता हुआ भी निशक है, इससे तू शठ है, यदि तू कुछ भी नीति जानता, तो इस तरह के पराक्रमी राजा के सामने यों निर्भय नहीं रहता। 'रावण को भीतर हृदय से तो पुत्र के लिये शोक है, पर और-और निशाचरों के ही मारने का कारण पूछता है। यह भी उसकी चातुरी ही है, अपने पुत्र के मारने का कारण पूछने से उसकी लघुता ज्ञात होती कि यह पुत्र वध का बदला भी नहीं ले सका।

सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया ॥४॥
जाकें बल बिरंचि हरि ईसा। पालत-सृजत-हरत दससीसा ॥५॥

अर्थ—हे रावण! सुन, जिसका बल पाकर ब्रह्माड समूह को माया रचती है ॥४॥ जिसके बल से विधि, हरि, हर उत्पन्न, पालन और सहार करते हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'सुनु रावन ब्रह्माड निकाया।'—यथा—"एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें॥" (आ० दो० १४), तथा—"लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया।" (बा० दो० २२५), "मयाऽध्यक्षेण प्रकृति सूयते सचराचरम्। हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥" (गीता ९।१०)। 'बिरचति'—का भाव यह है कि पल भर मे ही रचती है, तो भी विशेष-रचना से, यथा—"बिरचेउ मग महँ नगर तेइ, सत जोजन बिस्तार। श्रीनिवास पुर ते अधिक, रचना बिबिध प्रकार।" (बा० दो० १२९)।

रावण ने श्रीहनुमान्‌जी से पूछा था—तू कौन है और किसके बल पर तुमने मेरी वाटिका को उजाड डाला है। उसी के उत्तर मे श्रीहनुमान‌जी पहले अपने स्वामी श्रीरामजी का बल कहते है, इसीसे बराबर 'बल' शब्द का प्रयोग किया गया है पीछे वे अपना नाम एवं सम्बन्ध मे कहेंगे।

(२) 'जाकें बल बिरचि हरि ईसा।'—इसमे 'बिरचि हरि ईसा' के ही क्रम से 'सृजत, पालत, हरत' चाहिये। पर यहाँ क्रम-भग है। छद की गति बैठाने के लिये प्राय ऐसा हो जाता है। अत, अर्थ मे क्रम ठीक कर लेना चाहिये। अथवा, यों भी कहा जाता है कि ब्रह्माड अनंत है, उन सबके नियम एक ही नहीं रहते। ब्रह्मा विष्णु आदि के रूप मे और अधिकार मे भी हेर-फेर सुना जाता है, कहा भी है, यथा—"उद्भव पालन प्रलय कहानी। कहेसि अमित आचरज बखानी॥" (बा० दो० १६१)। अत, सभव है कि कहीं विष्णु ही उत्पत्ति करते है, ब्रह्मा पालन अथवा, कहीं तीनों कार्य एक ही के द्वारा होते हो, यथा—"जो सृजि पालइ हरइ बहोरी। बाल केलि सम बिधि मति भोरी॥" (अ० दो० २८१), इसमे तीनों कार्य ब्रह्मा के ही द्वारा सम्पादित होना कहा गया है। तथा "उत्पति पालन प्रलय समीहा" (ल० दो० १५), इसमे तीनों कार्य विष्णु के ही द्वारा सम्पादित है (विष्णु श्रीरामजी के अभिमानी हैं। अतएव अभिन्न हैं)।

विरंचि आदि का श्रीरामजी के बल से कार्य करने के प्रमाण, यथा—"हरिहि हरिता विधिहि विधिता, सिवहि सिवता जो दई। सोइ जानकीपति मधुर मूरति···" (वि० १३५); "सोऽहंसन्यस्त भारो हि त्वामुपास्य जगत्पतिम्। रक्षां विधत्स्व भूतेषु मम तेजस्करो भवान्॥" (वाल्मी० ७·१०४।८); यह काल के द्वारा श्रीब्रह्माजी का वचन श्रीरामजी के प्रति है कि आपसे सृष्टि रचने का भार पाकर मैंने आपकी उपासना की, आपसे प्राणियों के रक्षा-विधान की प्रार्थना की, क्योंकि मेरे तेज के कारण आप ही हैं, इत्यादि।

जा बल सीस धरत सहसानन। अंडकोस समेत गिरि-कानन॥६॥
धरइ जो विविध देह सुरत्राता। तुम्हँ-से सठन्ह सिखावन-दाता॥७॥

अर्थ—जिसके बल से सहस्र मुखवाले श्रीशेषजी पहाड़ और वन सहित ब्रह्मांड को अपने शिर पर धारण करते हैं, (रावण पर कटाक्ष भी है कि तुझे छोटा-सा कैलास ही उठा लेने का घमंड है)॥६॥ जो देवताओं की रक्षा के लिये तरह-तरह के शरीर धारण करता है और तुम्हारे ऐसे शठों को शिक्षा (दंड) देनेवाला है॥७॥

विशेष—(१) 'जा बल सीस धरत···'—ब्रह्मादि प्रभु के प्रभाव से केवल संकल्प द्वारा सृष्टि के कार्य करते हैं। पर श्रीशेषजी तो शरीर से कार्य करते हैं। श्रीरामजी के दिये हुए बल से वे ब्रह्मांड को बिना प्रयास ही धारण किये हुए हैं; यथा—"ब्रह्मांड भुवन बिराज जाके एक सिर जिमि रज-कनी॥" (लं० दो० ८१); 'सहसानन' का भाव यह है कि एक ही शिर पर चौदहों भुवनों समेत ब्रह्मांड धारण करते हैं, हजारों शिरों पर तो हजारों ब्रह्मांड को भी धारण करने की उनमें शक्ति है। ब्रह्मांड की गुरुता प्रकट करने के लिये 'समेत गिरि कानन' कहा गया है।

सारांश यह कि माया जिनके बल से ब्रह्मांडसमूह को रचती है, त्रिदेव उत्पत्ति, पालन और संहार करते हैं और श्रीशेषजी धारण करते हैं, उन्हीं के बल से मैंने भी यहाँ कुछ किया।

यहाँ तक उनसे पाये हुए बलवालों का वर्णन किया गया है। आगे उन्हीं के अवतार, उनके शरीर का बल एवं उनका संग्राम-बल कहते हैं—

(२) 'धरइ जो विविध देह···'; यथा—"मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपु धरी॥ जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो॥" (लं० दो० १०८); इसमें एक अर्द्धाली में 'विविध देह' और दूसरी में 'सुरत्राता' के भाव हैं। 'तुम्ह से सठन्ह'—यह रावण के लिये मुँहतोड़ उत्तर है, उसने 'कहु सठ' कहा था। अतः, वैसे ही शब्द का इन्होंने भी प्रयोग किया। 'सिखावन दाता'; यथा—"जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥ तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहि कृपानिधि सज्जन पीरा॥" (बा० दो० १२०)।

हर-कोदंड कठिन जेहि भंजा। तेहि समेत नृपदल-मद गंजा॥८॥
खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित बलसाली॥९॥

दोहा—जाके बल लवलेस ते, जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जा करि, हरि आनेहु प्रिय नारि॥२१॥

अर्थ—जिसने शिवजी का कठिन धनुष तोड़ा है, तुझ समेत सब नृप-समूह का गर्व नाश किया है ॥८॥ खर, दूषण, त्रिशिरा और बालि को मारा, जो सभी अतुलित बल से पूर्ण थे, (तब तू किस गिनती में है,) ॥९॥ जिसके बल के लवलेश-मात्र से चराचर-मात्र को तुमने जीता और जिसकी प्रिय स्त्री को तुम हर लाये हो, मैं उसी का दूत हूँ ॥२१॥

विशेष—(१) 'कोदंड कठिन'—जिस धनुष को तीनों लोक के वीर भी न उठा सके थे, दस हजार राजा एक साथ लगकर भी न उठा सके थे। उसे इन्होंने बिना प्रयास के ही तोड़ डाला। 'तोहि समेत', यथा—"जेहि कौतुक सिव सैल उठावा। सोउ तेहि सभा पराभव पावा॥" (बा० दो० २११), "जनक-सभा अगनित भूपाला। रहे तुम्हउँ बल अतुल बिसाला॥ भंजि धनुष जानकी बिआही। तब संग्राम जितेहु किन ताही॥" (लं० दो० १४)

ऊपर की चार अर्द्धालियों में अवतारी का बल कहा गया है। अब अवतार का बल कहते हैं। शिव धनुष तोड़ने में शरीर का बल और खर आदि के वध से युद्ध का बल कहा गया। रावण को अवतार के होने में संदेह है, यथा—"जौं भगवंत लीन्ह अवतारा॥ . जौं नर रूप भूप सुत कोऊ।" (आ० दो० २२), इसलिये पहले अवतार के होने की पुष्टि की कि यदि मनुष्य होते तो धनुर्भंग एवं खरादि वध कैसे कर पाते, यथा—"नृप समाज महँ सिव धनु तोरा। सकल अमानुष करम तुम्हारे।" (बा० दो० १५१), "खर दूषन मो सम बलवंता। तिन्हहिं को मारइ बिनु भगवंता॥" (आ० दो० २२), 'सो नर क्यों दसकंध, बालि बध्यो जेहि एक सर॥" (लं० दो० ११) पहले धनुर्भंग का उदाहरण दिया गया। जिसमें रावण स्वयं हार चुका था। फिर खर दूषणादि का मारना कहा, जो रावण के समान ही बली थे, यथा—"खर दूषन मो सम बलवंता।" (आ० दो० २२) तब बालि-वध का प्रमाण दिया, जो रावण से भी अधिक बलवान था, यथा—"एक कहत मोहि सकुच अति, रहा बालि की काँख।" (लं० दो० २४)।

(२) 'जाके बल लवलेस ' ब्रह्मादिक को प्रभु से बल मिला और तूने तपस्या करके ब्रह्मादि से बल पाया। अतएव तुझे उनका लवलेश अर्थात् किंचिन्मात्र ही बल मिला, जिससे तूने सम्पूर्ण चराचर को जीत लिया यथा—"ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनु धारी। दसमुख बसबर्त्ती नर नारी॥" (बा० दो० १८१), यह प्रभु ही का बल है, यथा—"यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽश सम्भवम्॥ (गीता १०।४१)।

(३) 'तासु दूत मैं '—जिसके बल का वर्णन ऊपर किया गया, मैं उसी का दूत हूँ, अर्थात् मुझे भी उसी का बल है। इस युक्ति से श्रीहनुमानजी ने अपना बल भी उसे जना दिया। 'प्रिय नारि' अर्थात् पतिव्रता स्त्री को। 'हरि आनेहु'—इससे रावण का अपराध सिद्ध किया गया।

श्रीरामजी के ऐश्वर्य को चारों प्रकार के (शब्द, अनुमान, प्रमाण और प्रत्यक्ष) प्रमाणों से सिद्ध किया गया है यथा—"सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया।" से "तुम्ह से सठन्ह सिखावन दाता।" तक शब्द है। "हर कोदंड कठिन जेहि भंजा। तोहि समेत "—यह अनुमान—"खर-दूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे "—यह प्रमाण और "जाके बल लव लेस ते " यह प्रत्यक्ष है।

यहाँ तक 'कौन तैं' और 'केहि के बल ' इन दो प्रश्नों के उत्तर हुए।

जानउँ मैं तुम्हारि प्रभुताई। सहसबाहु सन परी लराई॥१॥
समर बालि सन करि जस पावा। सुनि कपि-बचन बिहँसि बहरावा॥२॥

अर्थ—मैं तुम्हारी प्रभुता जानता हूँ कि सहस्रबाहु से लड़ाई पड़ी ॥१॥ बालि से युद्ध करके यश पाया, कपि के वचन सुनकर उसने हँस कर बहला दिया (टाल दिया)॥२॥

विशेष—(१) 'जानउँ मैं तुम्हारि प्रभुताई। '—रावण ने कहा था—"कीधौं श्रवन सुने नहिं मोही · " उसीका उत्तर यहाँ दे रहे हैं, श्रीहनुमानजी सन्त हैं, इससे इसके दोषों को ढँककर कहते हैं कि वह समझ भी जाय, और लोगों की दृष्टि में इसकी अप्रतिष्ठा भी न हो। इसी से व्यग्य से कहते हैं कि तुम्हारी प्रभुता वही है न? कि सहस्रबाहु से लड़ने गये, पर युद्ध लड़ भी न पाया और उसने तुम्हे बाँध लिया, फिर पुलस्त्य मुनि के छुड़ाने से तुम छूटे, यथा—"एक बहोरि सहस भुज देखा। धाइ धरा जनु जतु बिसेखा॥ कौतुक लागि भवन लेइ आवा सो पुलस्ति मुनि जाइ छोडावा॥" (ल० दो० ११), इससे सूचित किया कि तुम सहस्रबाहु से हार गये और वह परशुराम के द्वारा पराजित हुआ। परशुरामजी भी श्रीरामजी से हार गये अत, अपने मन मे समझ लो कि तुम श्रीरामजी से कितने तुच्छ हो, यथा—"सहसबाहु भुज गहन अपारा। दहन अनल सम जासु कुठारा॥ तासु गरब जेहि देखत भागा। सो नर क्यों दससीस अभागा॥" (ल० दो० २५) ' 'जानउँ' अर्थात् मैं भली भाँति जानता हूँ, यही तो है

(२) 'समर बालि सन करि जस पावा '—भाव यह है कि बालि से लड़ाई करने गये, और उसने काँख तले दबा लिया, तुमसे कुछ भी करते न बना अत, तुम्हें महान अपयश हुआ जिस बालि के द्वारा तुम्हारी यह दशा हुई, उसे श्रीरामजी ने एक ही बाण से मारा तो मैं उनका दूत होकर क्यों न अशक रहूँ? सहस्रबाहु और बालि से हारने की कथा वाल्मी० ७। ३२-३४ मे यों है—एक बार रावण सहस्रबाहु को जीतने के विचार से उसकी पुरी मे गया वहाँ वह नर्मदा मे स्नान करके श्रीशिवजी का पूजन करने लगा। संयोग से सहस्रबाहु भी उसी नदी मे जल-क्रीडा कर रहा था उसने अपनी भुजाओं से नदी की धारा रोक दी, जिससे नदी का प्रवाह उलटा हो गया और नदी रावण की पूजन-सामग्री को बहाकर ले गई रावण इसका पता पाकर सहस्रबाहु से लड़ने गया उसने इसे वनजन्तु की नाईं बाँध लिया और घर ले गया वहाँ पुलस्त्य मुनि ने दोनों मे सधि करवाकर इसे छुडा दिया।

एक दिन बालि समुद्र के किनारे सध्या-वन्दन कर रहा था। रावण ने चुपचाप जाकर उसे पीछेसे पकड़ना चाहा, पर बालि समझ गया। समीप पहुँचते ही उसने फिरकर इसे पकड लिया और काँख मे दबा लिया। वह सध्या शेष करके किष्किधा मे आया, तब उसने इससे सब बातें पूछीं? पीछे इसकी प्रार्थना सुन और सधि करके इसे कुछ काल तक रक्खा। उसके बाद यह लका आया।

'बिहँसि बहरावा'—रावण खूब हँसा। इस बात को उसने उडा दिया, दूसरी ओर देखने लगा कि जिससे और लोग मेरी बडाई ही समझें और वानर सब बातें खोलकर न कह दे। दूसरी ओर ताककर उसने अपनी गभीरता भी दिखाई कि मानो अपनी बडाई नहीं सुनना चाहता।

खायउँ फल प्रभु लागी भूखा। कपि-सुभाव तें तोरेउँ रूखा॥३॥
सबके देह परम प्रिय स्वामी। मारहिं मोहि कुमारग-गामी॥४॥
जिन्ह मोहि मारा ते मैं मारे। तेहि पर बाँधेउ तनय तुम्हारे॥५॥
मोहि न कछु बाँधे कइ लाजा। कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा॥६॥

अर्थ—हे प्रभो! मुझे भूख लगी थी, इसलिये मैंने फल खाये (भाव यह कि आपके नगर मे

आने पर भूख लगी, तो खाने के लिये कहाँ जाता ?) और वानर-स्वभाव से वृक्ष तोड़ा ॥३॥ हे स्वामी ! देह सबको परम-प्यारी होती है, कुमार्ग पर चलनेवाले निशाचर मुझे मारने लगे ॥४॥ तब जिन्होंने मुझे मारा, उन्हें मैंने भी मारा, उसपर भी तुम्हारे पुत्र ने मुझे बाँधा है ॥४॥ मुझे अपने बाँधे जाने की कुछ लाज नहीं है, मैं (तो) अपने स्वामी का कार्य करना चाहता हूँ ॥५॥

विशेष—(१) 'खायउँ फल प्रभु ' '—यह 'केहि के बल घालेहि बन खीसा।' का उत्तर है। ऊपर स्वामी का बल तो कहा, पर फल खाना और वन उजाड़ना स्वामी की ओर से नहीं कहते, नहीं तो स्वामी पर दोष सिद्ध होता। यह उत्तर बड़ी युक्ति से दे रहे हैं कि मैंने क्षुधा निवृत्ति के लिये फल खाये और कपि-स्वभाव से वृक्ष तोड़े। आप प्रभु (राजा) हैं। अत, विचार करें कि इसमे मेरा क्या दोष है ? यदि तुम कहो कि मैंने एक वानरी-देह की रक्षा के लिये करोड़ों राक्षसों को क्यों मार डाला, तो उत्तर यह है—

(२) 'सबके देह परम प्रिय '—जिसका जो शरीर होता है, वही उसे परम प्यारा होता है, यथा—"देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं " (बा० दो० २०७) भूखे को फल खाते हुए मारा, इससे वे रक्षक लोग 'कुमारगगामी' कहे गये वानर वृक्षों के फल खाते ही हैं मंदोदरी ने भी इन्हें निर्दोष कहा है ; यथा—"कानन उजार्‌यो तो उजार्‌यो न बिगार्‌यो कछू, • बानर बिचारो बाँधि आन्यो हठि हारसों।" (क० सुं० ११)।

'प्रभु' और 'स्वामी' शब्द यहाँ उचित ही हैं। श्रीहनुमान्‌जी जब स्वामी का बल कहते थे, उस संबंध से रावण को शठ कहने के प्रत्युत्तर मे इन्होंने भी उसे शठ कहा है अब वे अपने ऊपर बात लेकर दूत की हैसियत से उसे कहते हैं ये,श्रीसुग्रीवजी एवं श्रीरामजी के मन्त्री हैं श्रीसुग्रीवजी वानरराज हैं और रावण राक्षसराज है शत्रुता के भाव मे दोनों ही समान हैं प्रभु और स्वामी शब्द राजवाचक हैं इनका प्रयोग करना नीतिकुशल श्रीहनुमान्‌जी के लिये योग्य ही है, यथा—"श्रूयतामेव वचनं मम पथ्यमिदं प्रभो ॥" (वाल्मी० ५।५०।१६)। यह इसी प्रसंग मे महर्षिजी ने भी लिखा है।

(३) 'जिन्ह मोहि मारा ते मैं मारे।' '—भाव यह कि मैंने प्रमाद से किसी को नहीं मारा, किन्तु अपने प्राण बचाने के लिये मारा। पहले जो 'कपि सुभाव ते तोरेउँ रूखा' कहा था, उसपर यदि यह कहे कि वृक्षों की डाल, पत्ते तोड़ना ही वानर-स्वभाव है न कि वृक्षों को समूल उखाड़ फेंकना। इसका भी उत्तर इसी मे है कि मारनेवाले शस्त्र लेकर आये थे, तो मैं किस शस्त्र से अपनी रक्षा करता ? इसीलिये मुझे वृक्षों को भी उखाड़ना पड़ा। 'तेहि पर बाँधेउ '—हमको बिना दोष के ही कुमार्गगामी (रक्षक) मारते थे, उसपर तुम्हारे पुत्र ने अकारण मुझे ही बाँधा। राजपुत्र को न्याय-संगत कार्य करना चाहता था। 'तनय तुम्हारा' का भाव यह कि तुम अधर्मी हो, तो तुम्हारा पुत्र वैसा क्यों न हो ? मुझे जिन्होंने मारा था, उन्हें मारकर मैंने बदला चुका दिया। पर तुम्हारे पुत्र ने जो मुझे बाँधा है, इसका बदला अभी शेष है, इसका बदला भी मैं चुकाऊँगा। यह भाव—'कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा' में निहित है। इसीसे नगर जलाया गया, यथा—"भूयः स चिन्तयामास मुहूर्तं कपि कुञ्जरः। कथमस्मद्विधस्येह बन्धनं राक्षसाधमैः ॥ प्रतिक्रियास्य युक्तास्यात्सति मह्यं परात्मने। " (वाल्मी० ५।५३।३४ ३५)।

(४) 'मोहि न कछु बाँधे कइ लाजा।'—बाँधे जाने एवं पराजित होने से वीरों को लज्जा लगती है, यथा—"मेघनाद कै मुरछा जागी। पितहि बिलोकि लाज अति लागी॥" (ल० दो० ७४)। पर मुझे इसकी लज्जा नहीं है, क्योंकि मैं—'कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा।', यथा—"करइ स्वामि हित सेवक सोई। दूषन कोटि देइ किन कोई॥" (अ० दो० १८५)। इसमें श्रीहनुमान्‌जी का इस कहने मे रावण के

सामने आना और उसे उपदेश देकर सीता को सादर सौंपने को कहना—प्रभु का कार्य है। वही आगे—"विनती करउँ जोरि कर···" से स्पष्ट है; यथा—"काज हमार तासु हित होई। रिपुसन करेहु बतकही सोई ॥" (लं० दो० ११)। पुनः आगे का अग्नि लगाना भी प्रभु-कार्य में ही है प्रमाण—"हरि प्रेरित तेहि अवसर, चलेउ मरुत उनचास ॥" (दो० २५) अतः, यह भी हरिइच्छा है। यहाँ तक उसके प्रश्नों के उत्तर दिये आगे उसे शिक्षा देते हैं—

विनती करउँ जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन ॥७॥
देखहु तुम्ह निज कुलहि विचारी। भ्रम तजि भजहु भगत-भय-हारी ॥८॥
जाके डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई ॥९॥
तासों बैर कबहुँ नहिं कीजै। मोरे कहे जानकी दीजै ॥१०॥

अर्थ—हे रावण! मैं हाथ जोड़कर विनय करता हूँ, अभिमान छोड़कर मेरी शिक्षा सुनो ॥७॥ तुम अपने कुल ही को विचार कर देखो और भ्रम को छोड़कर भक्तों के भय को दूर करनेवाले प्रभु का भजन करो ॥८॥ जिसके डर से काल अत्यन्त डरता है, जो सुर, असुर एवं चराचर मात्र को खा लेता है ॥९॥ उससे कदापि वैर न कीजिये, मेरे कहने से श्रीजानकीजी को दे दीजिये ॥१०॥

विशेष—(१) 'विनती करउँ जोरि कर रावन।······'—बड़े लोग नम्रता एवं प्रार्थना-पूर्वक उपदेश देते हैं; यथा—"औरउ एक गुपुत मत, सबहि कहउँ कर जोरि।" (उ० दो० ४५); संत लोग भी; यथा—"कहै बिभीषन पुनिकर जोरी।" (दो० ३६); श्रीहनुमान्जी भी रुद्रावतार एवं महान् संत हैं, शत्रु रावण का भी ये भला ही चाहते हैं; यथा—"उमा संत कइ यहै बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई ॥" (दो० ४०); 'सुनहु'—अभी तक प्रश्नोत्तर और भय-दर्शन का प्रसंग था, तब प्रत्युत्तर में 'सुनु' आदि निरादर के शब्द कहे थे। अब उसे शिक्षा देना है, इसलिये हाथ जोड़ते हैं, विनती करते हैं और आदर के शब्द कह रहे हैं, इसी तरह उपदेश देने से श्रोता उसे धारण करता है। 'मान तजि'—क्योंकि मानी किसी की शिक्षा नहीं सुनते; यथा—"मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करेसि न काना ॥" (कि० दो० ८); रावण ने अभिमान नहीं छोड़ा, इसीसे उसने उपदेश भी नहीं माना; यथा—"बोला बिहँसि महा अभिमानी। मिला हमहिं कपि गुरु बड़ ज्ञानी ॥ (दो० २१); उल्टा क्रोधित हुआ; यथा—"लागेसि अधम सिखावन मोही।" (दो० २१)।

(२) 'देखहु तुम्ह निज कुलहिं······'—तुम अच्छे कुल के हो; यथा—"उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती।" (लं० दो० १९); अतएव ईश्वर का भजन करना तुम्हारा कर्त्तव्य है। 'भगत भय हारी।'—उनका भजन करने से वे भक्तों के भय को हरण करते हैं; यथा—"जो सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रान की नाई ॥" (दो० ४३); यदि रावण कहे कि मुझे किसका डर है? यथा—"पावक, पवन, पानी, भानु, हिमवान, यम, काल, लोकपाल मेरे डर डाँवाडोल हैं।" (क० सुं० २१); उसपर कहते हैं—'जाके डर अति काल डेराई। जो···'—भाव यह है कि तुम यह न समझो कि काल मेरे वश में है, वरन् वह तो तुम्हारे लिये अवसर की ताक में है, वह सभी सुर-असुर आदि को खाता है; यथा—"अंड कटाह अमित लयकारी। काल सदा दुरतिक्रम भारी ॥" (उ० दो० ९३); अतः, तुम्हीं उसके वश में हो। काल केवल श्रीरामजी से ही डरता है; यथा—"ऊमरि तरु बिसाल तव माया।···तव डर डरत सदा सोउ

काला ॥" (बा॰ दो॰ १२); तथा—"भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥" (कठो॰ २।३।३)। अर्थात् इस (ब्रह्म) के भय से अग्नि तपता, भय से सूर्य तपता और भय से ही इन्द्र, वायु और पञ्चम मृत्यु (काल) दौड़ता है। अतएव—'तासों बैर कबहुँ नहिं कीजे।' फिर वैर मिटने का उपाय भी कहते हैं—'मोरे कहे जानकी दीजै।'—भाव यह है कि इसमें तुम्हारा मान भी रहेगा कि श्रीरामजी के दूत ने आकर हाथ जोड़कर श्रीविनती की, तब रावण ने श्रीजानकी को लौटा दिया। 'जानकी दीजै' में ध्वनि यह है कि जैसे जनकजी ने उन्हें श्रीरामजी को समर्पण किया है, श्रीसीताजी के धनुष हटाने से और फिर उसे श्रीरामजी के भंग करने से श्रीजनकजी ने श्रीजानकीजी को श्रीरामजी की ही शक्ति जाना। अतः, उनकी शक्ति उन्हें सौंप दी वैसे आपके यहाँ अभी तक श्रीजानकीजी रहीं, अब उन्हें श्रीरामजी को सादर सौंप दीजिये; यथा—"हिमवंत जिमि गिरिजा महेसहिं हरिहिं श्री सागर दई। तिमि जनक रामहिं सिय समरपी बिस्व कल कीरति नई।" (बा॰ दो॰ ३२४); और-और लोगों ने भी इसी भाव से देने को कहा है; यथा—"जनक सुता रघुनाथहिं दीजै" (दो॰ ५६); "रामहिं सौंपि जानकी, नाइ कमल पद माथ।" (लं॰ दो॰ ६); "सादर जनक सुता करि आगे। येहि बिधि चलहु सकल भय त्यागे ॥" (लं॰ दो॰ १६)।

पहले श्रीरामजी से वैर करने की मनाई की कि यदि इस तरह के कारण भी आ जायँ कि उनसे शत्रुता करनी पड़े तो भी उनसे वैर न करो; यथा—"तिन्ह सन बैर किये भल नाहीं।" (आ॰ दो॰ २४); फिर वैर का कारण मिटाने के लिये श्रीजानकीजी को लौटा देने को भी कहा। मान शिक्षा सुनने का बाधक है, भ्रम भजन का बाधक और श्रीजानकी का नहीं लौटाना वैर न छोड़ने में बाधक है। इससे इन तीनों को छोड़ने को कहा कि मान छोड़कर शिक्षा सुनो, भ्रम छोड़कर भजन करो और वैर छोड़कर श्रीजानकीजी को लौटा दो।

दोहा—प्रनतपाल रघुनायक, करुनासिंधु खरारि।
गये सरन प्रभु राखिहैं, तव अपराध बिसारि ॥२२॥

राम-चरन-पंकज उर धरहू। लंका अचल राज तुम्ह करहू ॥१॥
रिषि पुलस्ति जस बिमल मयंका। तेहि ससि महँ जनि होउ कलंका ॥२॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी शरणागत के पालनेवाले हैं, करुणा के समुद्र हैं, खर के शत्रु हैं, शरण में जाने पर तेरा अपराध भुलाकर प्रभु शरण में रक्खेंगे ॥२२॥ श्रीरामजी के चरण-कमलों को हृदय में धारण करो और तुम लंका का अचल राज्य करो ॥१॥ पुलस्त्य ऋषि का यश निर्मल चन्द्रमा है, उस चन्द्रमा में कलंक (रूप) मत हो ॥२॥

विशेष—'प्रनतपाल रघुनायक......'—यहाँ 'रघुनायक' विशेष्य है, शेष तीनों विशेषण हैं। भाव यह है कि सभी रघुवंशी आश्रित के रक्षक हुए हैं और ये तो उनमें श्रेष्ठ हैं। इनकी शरण जाने पर पालेंगे—यह रजोगुण है, करुणा करेंगे—यह सत्त्वगुण है और आश्रितों के लिये खर आदि दुष्टों को मारते हैं—यह तमोगुण है। तात्पर्य यह कि आश्रितों की रक्षा में प्रभु तीनों गुण धारण करते हैं; यथा—

"निवासवृक्षः साधूनामापन्नानां परागतिः ॥ आर्त्तानां संश्रयश्चैव यशसश्चैकभाजनम्" (वाल्मी० ४।१५।(१९-२०)। 'राखि हैं'; यथा—"नाथ दीन दयाल रघुराई। बाघउ सनमुख गये न खाई ॥" (सुं० दो० ४) 'तव अपराध बिसारि'—यद्यपि तुम्हारा अपराध क्षमा-योग्य नहीं है, तथापि वे 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं, क्षमा ही नहीं करेंगे, वल्कि उसे भुला भी देंगे—यह श्रीमुख का वचन है; यथा—"कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आये सरन तजउँ नहिं ताहू ॥" (दो० ४४)।

(२) 'राम-चरन पंकज उर धरहू।···'—प्रभु के चरणकमल के आधार से लंका का तुम्हारा राज्य अचल रहेगा। अभी मान और भ्रम हृदय में भरे हैं, उन्हें मन से निकाल दो और उसके स्थान में राम-चरण-कमल को पधराओ, फिर तो तुम्हारा राज्य अचल रहेगा। यह इस तरह कि इन चरणों के सम्बन्ध से लक्ष्मीजी सदा रहेंगी; यथा—"जद्यपि परम चपल श्री संतत थिर न रहति कबहूँ। हरि-पद-पंकज पाइ अचल भइ करम बचन मनहूँ ॥" (वि० ८१) इससे तुम्हें काल भी न व्यापेगा; यथा—"कबहूँ काल न व्यापिहि तोहीं सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोही ॥" (उ० दो० ८०); पुनः—'राम-चरन पंकज उर धरहू' से परलोक बनेगा और 'लंका अचल राज तुम्ह करहू।' से यह लोक बनेगा।

(३) 'रिषि पुलस्ति जस बिमल मयंका ···'; यथा—"मुनि पुलस्ति के जस-मयंक महँ कत कलंक हठि होहि।" (गी० सु० १); भाव यह है कि इस कुल के लोग सदा से भगवद्भक्त होते आये हैं अतः, उस कुल में जन्म लेकर भगवान् का वैरी होना उसके लिये कलंक है। तुम्हारे इस कर्म से इस कुल को लोग कलंकी चन्द्र के समान त्याग देंगे। इसका नाम भी न लेंगे। ऊपर कहा था; यथा—"देखहु तुम्ह निज कुलहि बिचारी।" उसका भाव यहाँ स्पष्ट किया

राम नाम बिनु गिरा न सोहा। देखु बिचारि त्यागि मद मोहा ॥३॥
बसन-हीन नहिं सोह सुरारी। सब भूषन भूषित बर नारी ॥४॥
राम-बिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई ॥५॥
सजलमूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं। बरषि गये पुनि तबहिं सुखाहीं ॥६॥

अर्थ—राम-नाम के बिना वाणी शोभित नहीं होती, मद-मोह छोड़कर विचार देखो ॥३॥ हे सुरारि! सब भूषणों से भूषित सुन्दर श्रेष्ठ स्त्री वस्त्र-बिना (नंगी) नहीं शोभित होती ॥४॥ राम-विमुख की रही, पाई और बिना पाई, सभी सम्पत्ति और प्रभुता व्यर्थ हैं ॥५॥ जिन नदियों के मूल में कोई जलस्रोत (पहाड़ के झरने, सर एवं अगाध झील आदि) नहीं हैं, (वर्षा के जल से ही बहती हैं) वे वर्षा बीत जाने पर फिर तुरत ही सूख जाती हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'राम नाम बिनु गिरा···'—श्रीरामजी को शत्रु मानकर रावण कभी उनके नाम का उच्चारण नहीं करता था; उन्हें केवल तापस, भूप, नर आदि ही कहा करता था; यथा—"कहु तपसिन्ह के बात बहोरी।" (दो० ५२); "नर कर करसि बखान।" (लं० दो० २५); "हौं मारिहौं भूप दोउ भाई।" (लं० दो० ७७); इत्यादि। इसीलिये यहाँ श्रीहनुमान्जी कहते हैं कि राम-नाम के बिना वाणी शोभा नहीं पाती, क्योंकि वाणी, (जिह्वा) पर अग्नि, सूर्य, और चन्द्रमा के निवास हैं; यथा—"जिह्वा मूले स्थितो देवः सर्वतेजो मयोऽनलः। तदग्रे भास्करश्चन्द्रस्तालुमध्ये प्रतिष्ठितः ॥" (गायत्री भाष्य-योगि याज्ञवल्क्य); और श्रीरामजी का नाम इन तीनों का हेतु है; यथा—"हेतु कृसानु

भानु हिमकर के।" (बा॰ दो॰ १८)। अतः, राम-नाम के आराधन से अग्नि बीज रकार से वैराग्य, भानु बीज अकार से ज्ञान और चन्द बीज मकार से उपासना का साक्षात्कार होता है। बा० दो० १८ चौ० १ देखिये। 'देखु विचारि'—विचार करने पर परलोक का साधन ही जीव-मात्र का परम पुरुषार्थ है, वही श्रीरामनाम द्वारा कांडत्रय की सिद्धि से होता है, अतएव रामनाम से वाणी को कृतार्थ करो। मद और मोह भजन के बाधक हैं, इससे इन्हें छोड़ना कहा है। वाणी का एक अर्थ कविता भी है, इसके लिये बा० दो० ६ चौ० ४ देखिये।

(२) 'बसन-हीन नहिं ···'—जैसे सब भूषणों से भूषित श्रेष्ठ सौभाग्यवती स्त्री भी बिना वस्त्र के शोभा नहीं पाती; वैसे ही अलङ्कार, व्यञ्जना, ध्वनि आदि से युक्त होती हुई भी वाणी रामनाम के बिना शोभा नहीं पाती। 'बर नारी'—का भाव है श्रेष्ठ सौभाग्यवती और सुन्दरी युवती, क्योंकि सब भूषणों का अधिकार उसीको है। रावण विद्वान् भी है, इसीलिये कहते हैं कि राम-नाम से हीन होना अयोग्यता है। 'सुरारी' कहने का भाव यह है कि विद्वान् और उसमें भी ब्राह्मण को देवताओं का वैरी होना उसके लिये योग्य नहीं।

(३) 'राम-बिमुख संपति प्रभुताई'—सम्पति की शोभा उसे सत्कर्म में लगाकर श्रीरामजी के सम्मुख हो जाने में है, अन्यथा वह व्यर्थ है, इसीसे कहते हैं कि 'रही'=भूत काल की 'पाई' जो सम्पति वर्तमान में प्राप्त है 'बिनु पाई' जो भविष्य में मिलनेवाली है 'जाइ' व्यर्थ; यथा—"नतरु जनम जग जाय।" (अ॰ दो॰ ७०); "राम से प्रीतम की प्रीति रहित जीव जाय जियत।" (वि॰ १३३)। अथवा—'जाइ रही' -चली जायगी, 'पाई बिनु पाई'—पाई हुई भी बिना पाई-सी हो जायगी। जैसे कि आगे—'बरषि गये पुनि तबहिं सुखाहीं।' कहेंगे कि जैसे ही वर्षा का जल सूख गया कि वे नदियाँ सूख गईं, मानों वर्षा हुई ही नहीं थी।

पहले—"राम चरन पंकज उर धरहू।"—यह हृदय (मन) का भजन कहा गया, फिर "राम-नाम बिनु ··" से वचन का और फिर "राम बिमुख संपति···" से कर्म का भजन कहा गया, क्योंकि शास्त्र-विहित कर्म हरिभक्ति ही हैं; यथा—"यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्॥ स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥" (गीता १८ ४६); रावण मन, वचन, कर्म सबसे हरि-विमुख है। इसलिये उसे इन तीनों से हरि-सम्मुख होने का उपदेश दिया गया।

(४) 'सजलमूल जिन्ह···'—संपत्ति और प्रभुता नदी के समान हैं; यथा—"रिधि सिधि संपति नदी सुहाई।" (अ॰ दो॰ १); और सुकृत मेघ के समान; यथा—"सुकृत मेघ बरसहिं सुख बारी" (अ० दो॰ १); सुकृत के द्वारा संपत्ति और प्रभुता प्राप्त होती है। पर राम-विमुख होने से शीघ्र ही उनका नाश हो जाता है। राम-सम्मुखता संपत्ति-रूपी नदी का मूल (उद्गम) है, समूल नदी अचला रहती है; यथा—"जद्यपि परम चपल श्री संतत थिर न रहति कतहूँ। हरि-पद-पंकज पाइ अचल भइ कर्म बचन मनहूँ॥" (वि॰ ८१)। यहाँ तक उपदेश का प्रसंग था। अब आगे भय-प्रदर्शन है।

सुनु दसकंठ कहउँ पन रोपी। बिमुख राम त्राता नहिं कोपी॥७॥
संकर सहस बिष्नु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही॥८॥

दो०—मोह - मूल बहु - सूल-प्रद, त्यागहु तम अभिमान।
भजहु राम रघुनायक, कृपासिंधु भगवान ॥२३॥

अर्थ—हे दशग्रीव ! मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि श्रीरामजी से विमुख होने पर कोई भी रक्षक नहीं है, (तुम्हारे कुल, राज्य संपत्ति एवं शरीर सभी नष्ट होंगे,) ॥७॥ सहस्रों शङ्कर, सहस्रों विष्णु और सहस्रों ब्रह्मा भी श्रीरामजी के शत्रु की रक्षा नहीं कर सकते ॥८॥ मोह का मूल कारण बहुत शूल देनेवाला तमोगुणी अभिमान छोड दो, कृपा-सागर, रघुनायक, भगवान् श्रीरामजी का भजन करो ॥२३॥

विशेष—(१) 'सुनु दसकंठ···'—भाव यह है कि श्रीरामजी से विमुख होने पर तुम्हारे दसो शिर काट डाले जायँगे ; यथा—"सब जग ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता" (आ० दो० १); 'कहउँ पन रोपी'—का सम्बन्ध अगली अर्द्धाली 'संकर सहस···' से भी है। अतः, भाव यह हुआ कि तुम उनसे विमुख ही नहीं, किंतु उनका द्रोही भी हो। अतएव तुम्हारी रक्षा मे सहस्रों त्रिदेव भी समर्थ नहीं हो सकते, यथा—"ब्रह्मधाम सिवपुर सब लोका। फिरा श्रमित व्याकुल भय सोका॥ काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकै राम कर द्रोही॥" (आ० दो० १); त्रिदेवों मे भी श्रीरामजी का ही बल है और वे सभी श्रीरामजी के सेवक है ; यथा—"जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दस सीसा॥" (दो० १०); "देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका। अमित प्रभाव एक तें एका॥ बंदत चरन करत प्रभु सेवा। बिबिध बेष देखे सब देवा॥" (बा० दो० ५४)।

रावण की सारी सम्पत्ति श्रीशिवजी की दी हुई है ; यथा—"जो संपति सिव रावनहिं, दीन्हि दिये दस माथ।" (दो० ४९); और उसकी आयुवृद्धि भी श्रीशिवजी के द्वारा ही हुई है ; यथा—"सादर सिव कहँ सीस चढ़ाये। एक एक के कोटिन्ह पाये॥" (लं० दो० ९२); तथा—"वांछितं चायुपः शेपं······ आयुपश्चावशेपं च ददौ भूतपतिस्तदा॥" (वाल्मी० ७।१६।४१-४४)। इसीसे श्रीशिवजी का नाम उसके रक्षकों मे सबसे पहले है। तथा—"ब्रह्मा स्वयंभूश्चतुराननो वा रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा। इन्द्रो महेन्द्र सुरनायको वा स्थातुं न शक्ता युधि राघवस्य॥" (वाल्मी० ५।५१।४४); "सकल सुरा-सुर जुरहिं जुझारा। रामहिं समर न जीतनिहारा॥" (अ० दो० १८८)।

(२) 'मोह-मूल बहु-सूल-प्रद·· ···'—मोह सब मानसिक रोगों का मूल कारण है ; यथा—"मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥" (उ० दो० १२०); "संसृति मूल सूल प्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥" (उ० दो० ७१); यह 'तम अभिमान' का विकार है। अभिमान सात्विक भी होता है। इसलिये वह ग्राह्य है; यथा—"अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥" (अ० दो० १०); 'भजहु राम रघुनायक·····'—राम-मात्र कहने से निर्गुण का भी संदेह होता, इसलिये 'रघुनायक' कहकर सगुण कहा गया और फिर 'कृपासिंधु' इसलिये कहा गया कि उनका भजन करने से वे समुद्र के समान कृपा करते हैं। पुनः 'भगवान्' शब्द से उनमे ऐश्वर्य की पूर्णता भी कही गई कि वे सब कुछ कर सकते हैं और भक्तों पर ममता भी रखते हैं, यथा—"भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप।" (उ० दो० ७२); "अवतरेउ अपने भगत हित······" (बा० दो० ५१)।

रावण को श्रीरामजी के ईश्वरत्व मे संदेह है। इसीसे ईश्वरत्व कहते हुए उपक्रम और उपसंहार मे भी भ्रम और मोह का त्यागना कहा गया है ; यथा—"भ्रम तजि भजहु भगत-भय हारी" और "मोह मूल ··भजहु राम···"। अभिमान भजन का बाधक है, इसीसे आदि और अंत मे इसका त्यागना या ; यथा—"सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥" और "त्यागहु तम अभिमान।"

"पुर दहि नाँघेउ बहुरि पयोधी"–प्रकरण

जदपि कही कपि अति हित बानी। भगति बिबेक बिरति नय सानी ॥१॥
बोला बिहँसि महा अभिमानी। मिला हमहिं कपि गुरु बड़ ग्यानी ॥२॥

अर्थ—यद्यपि कपि ने अत्यन्त हितकर भक्ति, विवेक, वैराग्य और नीति से भरी हुई वाणी कही ॥१॥ तथापि वह महा अभिमानी रावण बहुत हँसकर बोला कि हमें बड़ा ज्ञानी वानर गुरु मिला (उसने निरादर पूर्वक हँसकर ऐसा कहा) ॥२॥

विशेष—(१) 'अति हित बानी'—वैराग्य और भक्ति में परलोक का हित और नीति और विवेक में लोक का हित है भक्ति आदि के विभाग—'भगति'—'देखहु तुम्ह निज कुलहि बिचारी' से 'राम चरन पंकज उर धरहू। ' तक। 'बिबेक'—'रिषि पुलस्ति जस बिमल मयंका।' से 'बसन हीन नहिं सोह सुरारी ' तक 'बिरति'—"राम बिमुख संपति प्रभुताई।' से 'बरषि गये पुनि तबहिं सुखाहीं।' तक। 'नय'—'सुनु दसकंठ कहउँ प्रन रोपी।' से 'भजहुँ राम रघुनायक ' तक। इसमें नीति यह है कि अपनेसे बड़ों से मेल कर लेना चाहिये।

(२) 'बोला बिहँसि महा अभिमानी।'—श्रीहनुमानजी की शिक्षापूर्ण वाणी के निरादरकरने के लिये रावण ठठाकर हँसा, क्योंकि वह महा अभिमानी है और अभिमानी लोग शिक्षा नहीं मानते, यथा—"मूढ़ तोहिं अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करेसि न काना ॥" (कि॰ दो॰ ८), पुनः यहाँ श्रीहनुमान्जी ने उपक्रमोपसंहार में उसे अभिमान त्यागने के लिये कहा, पर उसने न छोड़ा, इससे भी वह महा अभिमानी सिद्ध होता है। 'मिला हमहिं कपि गुरु बड़ ज्ञानी।'—भाव यह कि आज तक किसी को वानर (पशु) गुरु न मिला होगा 'गुरु बड़ ज्ञानी'—यह सरस्वती ने यथार्थ ही कहलाया है। श्रीहनुमान्जी त्रिभुवन-गुरु शिवजी के अवतार ही हैं, यथा—"तुम्ह त्रिभुवन गुरु बेद बखाना।" (बा॰ दो॰ ११०)।

"रुद्र देह तजि नेह बस, बानर भे हनुमान।" (दोहावली १११)।

मृत्यु निकट आई खल तोही। लागेसि अधम सिखावन मोही ॥३॥
उलटा होइहि कह हनुमाना। मतिभ्रम तोर प्रगट मैं जाना ॥४॥
सुनि कपि बचन बहुत खिसियाना। बेगि न हरहु मूढ़ कर प्राना ॥५॥
सुनत निसाचर मारन धाये। सचिवन्ह सहित बिभीषन आये ॥६॥

अर्थ—अरे दुष्ट! तेरी मृत्यु निकट आ गई है, अरे अधम! तू अधम होकर भी मुझे सिखाने लगा है ॥३॥ श्रीहनुमान्जी ने कहा—उलटा होगा (अर्थात् तेरी ही मृत्यु निकट है, मेरी नहीं) मैं प्रत्यक्ष जान गया कि यह तेरा मतिभ्रम है ॥४॥ कपि श्रीहनुमान्जी के वचन सुनकर बहुत खिसियाया (लज्जा से कुपित हुआ), और (राक्षसों से) कहा—इस मूर्ख के प्राण शीघ्र ही क्यों नहीं हरण करते? ॥५॥ सुनते ही राक्षस लोग मारने दौड़े (उसी समय) मन्त्रियों के साथ श्रीविभीषणजी आये ॥६॥

विशेष—(१) 'मृत्यु निकट आई···'—भाव यह है कि अयोग्य होते हुए भी तूने गुरु बन कर मुझे शिक्षा दी, इसलिये गुरु-दक्षिणा के रूप में मैं तुझे मृत्यु दूँगा ; यथा—"कह कपि मुनि गुरु-दछिना लेहू पाछे हमहिं मंत्र तुम्ह देहू ॥" (लं॰ दो॰ ५६) ; 'अधम' ; यथा—"अस मैं अधम सखा सुनु" (दो॰ ७) 'सिखावन मोहीं'—मैं तो स्वयं पंडित हूँ, तू मुझे क्या सिखाता है ? अभिमानी होने के कारण शिक्षा देने पर रावण क्रोध करता है ; यथा—"गुरु जिमि मूढ़ करसि मम बोधा। कहु जग मोहि समान को जोधा ॥" (आ॰ दो॰ २५)।

रावण के प्रश्नों में कहे हुए दोषों का जब श्रीहनुमान्‌जी ने खंडन कर दिया; तब उसने समझ लिया कि आगे और कुछ कहने से यह मुझे सभा में बेवकूफ़ बनावेगा। अतः, इतनी बात ही लेकर कि अयोग्य होकर तूने मुझे शिक्षा क्यों दी ?—उसने उनके वध की आज्ञा दे दी, पर वस्तुतः मृत्यु का हेतु शिक्षा देना नहीं है उत्तर नहीं दे सकने पर उसकी पूर्ति कोप से भी की जाती है, कहावत है—"शेषं कोपेन पूरयेत" यहाँ रावण ने वही किया है।

(२) 'उलटा होइहि कह हनुमाना ···'—भाव यह कि मरेगा तो यह स्वयं और कहता है मुझे। 'मतिभ्रम तोर···'—हित की शिक्षा दी जाती है और उसे अनहित मानता है, यही इसका मतिभ्रम होना है, इसीसे श्रीहनुमान्‌जी ने निश्चय किया कि यह अवश्य मरेगा ; यथा—"निकट काल जेहि आवइ साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहिं नाईं ॥" (लं॰ दो॰ १५) कहे जाने पर भी उसने अभिमान नहीं छोड़ा, किन्तु महा अभिमान प्रकट किया ; यथा—"बोला बिहँसि महा अभिमानी" और उलटे उपदेष्टा को ही मारने पर तुल गया। इससे भी उसकी मृत्यु का होना जाना गया ; यथा—"मंदोदरि मन महँ अस ठयऊ। पियहिं काल बस मति भ्रम भयऊ ॥" (लं॰ दो॰ १५) ; "मंदोदरी हृदय अस जाना। काल बश्य उपजा अभिमाना ॥" (लं॰ दो॰ ७)

(३) 'सुनि कपि-बचन ··'—वह खिसियाया तो तभी से था, जब उससे उत्तर नहीं बन पड़ा, अब प्रत्युत्तर पाकर और खिसियाया। प्रत्युत्तर भी कठोर वचनों से दिया गया, इससे अति खिसियाया ; यथा—"परुष बचन सुनि काढ़ि असि, बोला अति खिसियान ॥" (दो॰ ९) ; 'बेगि न हरहु मूढ़···'—भाव यह कि यदि यह शीघ्र नहीं मारा जायगा, तो फिर और कुछ कह बैठेगा 'मूढ़' है, क्योंकि यदि यह शास्त्र की मर्यादा जानता, तो राजा के समक्ष ही उसे अपमानजनक वचन न कहता। शरीर से अधम है, नीति न जानने से मूढ़ है और परुष वचन बोलने से वध के योग्य है, पुनः रावण पहले कह भी चुका है—"मृत्यु निकट आई···" अतएव शीघ्र मारने को कहा।

(४) 'सुनत निसाचर मारन धाये ···'—'धाये', राक्षस डर के मारे इनसे दूर ही बैठे थे, क्योंकि जानते थे कि 'परतिहुँ बार कटक संहारा।' यदि यहाँ कहीं करवट भी लेगा, तो कितनों को दबा मारेगा राक्षस श्रीहनुमान्‌जी के पास पहुँच भी नहीं पाये थे कि संयोग से श्रीविभीषणजी आ गये और इन्होंने उन राक्षसों को पहले निवारण कर दिया, तब रावण के पास पहुँचे। नहीं तो जब तक वे रावण से प्रार्थना करते, तब तक राक्षस इन्हें मारने लगते। 'सचिवन्ह सहित'—ये सदा मंत्रियों के साथ ही रहते हैं ; यथा—"सचिव संग लै नभ पथ गयऊ।" (दो॰ ४०)।

यहाँ यदि यह शंका हो कि श्रीविभीषणजी ठीक उसी समय कैसे आये ? तो इसका उत्तर यह है कि (क) वे इसका पता लगा रहे थे, जब सहायता की आवश्यकता समझी, तब आये और उचित सहायता की। (ख) श्रीरामजी के भक्तों को कुयोग में भी सुयोग हो जाता है, यह इन चौपाइयों में चरितार्थ है—(१) "लागि तृषा···" तब 'स्वयं प्रभा' मिली, और उसने समुद्र तट तक पहुँचा दिया ; यथा—"नयन

मूँदि पुनि देखहिं बीरा। ठाढ़े सकल सिंधु के तीरा॥" (२) समुद्र तट पर शोच करते थे कि संपाती मिला और उसने रामकार्य का संयोग लगा दिया; यथा—"जो नाँघै सत जोजन सागर ···" (३) श्रीहनुमान्‌जी मन में तर्क करते ही थे कि श्रीविभीषणजी मिले और उनसे श्रीसीताजी के समीप पहुँचने का संयोग लग गया, यथा—"जुगुति बिभीषन सकल ··" (४) फिर 'तरु पल्लव' में छिपकर विचार करते ही थे कि रावण आया और फिर पीछे मुद्रिका देने का संयोग लग गया। (५) वैसे ही यहाँ भी जब निशाचर मारने दौड़े, तब श्रीविभीषणजी आये, अब लंका-दाह का योग लगेगा।

नाइ सीस करि बिनय बहूता। नीति-बिरोध न मारिय दूता॥७॥
आन दंड कछु करिय गुसांई। सबही कहा मंत्र भल भाई॥८॥

अर्थ—रावण को शिर नवाकर बहुत विनती की कि दूत को न मारिये, यह (कर्म) नीति-विरुद्ध है॥७॥ हे गोस्वामी! कोई दूसरा (सामान्य) दंड दीजिये, यह सुनकर सभी ने कहा कि भाई! यह मंत्र (विचार-सम्मति) उत्तम है॥८॥

विशेष—(१) 'नाइ सीस करि बिनय···'—बड़ों के सामने शिर नवाकर बोलना शिष्टाचार है। 'बिनय बहूता'—बहुत विनय का स्वरूप वाल्मी० ५।५२ भर में विस्तार से बहुत सुंदर रीति से कहा गया है, इसीसे यहाँ श्रीगोस्वामीजी ने इसका संकेत-मात्र कर दिया है।

सारांश यह है कि श्रीविभीषणजी ने पहले रावण की स्तुति की और उसे प्रसन्न करना चाहा, यह भी कहा कि दूत का वध नीति-शास्त्र से बहुत निषिद्ध है, पर रावण का रुख न पाकर फिर कहा कि यद्यपि यह आपका वैरी है, फिर भी दूत है। अतः, इसका दंड इसे न देकर इसके मालिक को दिया जाय। यह तो पराधीन है, इसके मारने से कोई लाभ नहीं। जब यह लौटकर जाय और अपने मालिक को लावे, तब युद्ध की प्रवृत्ति भी बढ़े जो कि आपके सुभट सब चाहते ही हैं। इसे मार देने पर न उन राजपुत्रों को इसका समाचार न मिलेगा और न वे आ ही सकेंगे। अतः, आप इन शूर-वीर राक्षसों के उत्साह-कार्य में बाधा न करें, (इसपर सभी राक्षसों ने प्रसन्नता प्रकट की, अन्यथा वे कादर समझे जाते, रावण ने भी इस मत को मान लिया, अन्यथा वह भी डरपोक समझा जाता।) तब रावण ने भी कहा—हाँ, ठीक है, दूत का वध तो निन्दित है ही।

श्रीविभीषणजी ने खड़े-ही-खड़े विनती की, क्योंकि आने पर इनका बैठना नहीं कहा गया है; यथा—"अवसर जानि बिभीषन आवा। भ्राताचरन सीस तेहि नावा॥ पुनि सिर नाइ बैठ निज आसन" (दो० ४०); पर यहाँ ऐसा नहीं कहा गया। नहीं बैठने का कारण यह है कि वे एक महात्मा का दंड दिया जाना नहीं देखना चाहते थे। दूसरे सामान्य दंड की ओट से वध-दंड का निवारण कर वे वहाँ से चल दिये।

(२) 'आन दंड कछु...'—रावण ने दंड की आज्ञा दे दी है, वह सर्वथा भंग नहीं करना चाहिये, इसलिये और कोई दंड देने को कहा। 'कछु'—सामान्य; यथा—"वैरूप्यमङ्गेषु कशाभिघातो मौण्ड्यं तथा लक्षणसंनिपातः। एतान्हि दूते प्रवदन्ति दण्डान्वधस्तु दूतस्य न नः श्रुतोऽस्ति॥" (वाल्मी० ५।५२), अर्थात् अंगभंग कर देना, कोड़े लगवाना, भौं आदि मुँड़वा देना, मस्तक पर किसी गरम चीज से कोई चिह्न आदि बनवा देना, ऐसे ही दंड दूतों के लिये कहे गये हैं। दूत का वध तो हमने सुना भी नहीं है। (यह श्रीविभीषणजी का ही वचन है,) 'गोसाईं'—भाव यह है कि आप पृथ्वी के राजा हैं और ऐसे बहुत प्रकार के दंड-विधान को जानते ही हैं, कोई दूसरा दंड दीजिये।

शंका—श्रीविभीषणजी ने दूसरे दंड का नाम क्यों नहीं बतलाया ?

समाधान—(क) श्रीहनुमान्जी के प्राण बचाने के लिये दूसरा दंड देने को कहा, पर दंड का नाम नहीं लिया, नहीं तो उस पाप के संसर्गी होते। (ख) हरि की इच्छा से नहीं कहा, नहीं तो लंका-दहन की अपकीर्त्ति इन्हीं के शिर मढ़ी जाती, सभी दोष देते कि इन्हीं की मंन्त्रणा से हमारे घर जले।

'सबही कहा मंत्र भल भाई।'—ऊपर कहा गया कि ये सब यदि इस सलाह में हाँ नहीं करते, तो कायर समझे जाते। पुनः नीति-शास्त्र की अनुकूलता तो थी ही।

सुनत बिहँसि बोला दसकंधर। अंग भंग करि पठइय बंदर ॥९॥

दोहा—कपि क ममता पूँछ पर, सबहि कहउँ समुझाइ।
तेल बोरि पट बाँधि पुनि, पावक देहु लगाइ ॥२४॥

अर्थ—दशशीश रावण सुनते ही हँसकर बोला कि बंदर का अंग-भंग करके भेजो ॥९॥ सबको समझाकर कहा कि वानर की ममता पूँछ पर होती है, तेल में कपड़े को डुबाकर उसे पूँछ में बाँधकर फिर उसमें आग लगा दो ॥२४॥

विशेष—(१) 'सुनत बिहँसि बोला...' श्रीविभीषणजी की विनय और नीति पर अपनी प्रसन्नता प्रकट की, इसलिये हँसा। पुन. अभी पूँछ जलाने की आज्ञा देना चाहता है, इसलिये उस कौतुक को स्मरण कर खूब हँसा। इसने पहले स्वयं भी कहा था कि "मारेसि जनि सुत बाँधेसि ताही। देखिय कपिहिं कहाँ कर आही॥" भाव यह है कि इसे जिसने भेजा है, इसका बदला उसीसे चुकाऊँगा। वही संयोग बन गया, जली पूँछ लेकर यह वानर जायगा, तो अवश्य अपने स्वामी को ले आवेगा, और तब युद्ध का-आनंद मिलेगा, यह भाव प्रकट करने के लिये भी खूब हँसकर कहा।

'अंग भंग करि...'—भाव यह कि "देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं." (बा० दो० २०७); इनमें प्राण-भंग नीति-विरुद्ध है, तो देह ही का कोई अंग विकृत कर दें, यह आज्ञा दी। फिर स्वयं अंग और उसके भंग करने की युक्ति भी कहता है।

(२) 'कपि कै ममता पूँछ पर...'; यथा—"लेत पग धूरि एक चूमत लंगूल हैं" (क० सुं० १० ; सब समझाकर कहा कि पहले सूखा कपड़ा बाँध देने से तेल के द्वारा भिगोने पर तेल ऊपर ही रह जायगा, उससे पूँछ न जलेगी ; इसलिये पहले ही वस्त्र तेल में भिगो-भिगोकर लपेटो। तब आग लगा दो, जिससे पूँछ अवश्य जले।

पूँछ-हीन बानर तहँ जाइहि। तब सठ निज नाथहि लइ आइहि ॥१॥
जिन्हकै कीन्हिसि बहुत बड़ाई। देखउँ मैं तिन्हकै प्रभुताई ॥२॥
बचन सुनत कपि मन मुसुकाना। भइ सहाय सारद मैं जाना ॥३॥

अर्थ—वानर जब पूँछ हीन होकर जायगा, तब यह शठ अपने स्वामी को ले आयेगा ॥१॥ जिनकी इसने बड़ी बड़ाई की है, मैं उनकी प्रभुता देखूँ ॥२॥ वचन सुनते ही श्रीहनुमान्जी मन-ही-मन मुसुकराये कि शारदा (वाणी द्वारा) सहाय हुई, यह मैं समझ गया ॥३॥

विशेष—(१) 'पूँछ-हीन बानर तहँ जाइहि ···'—पूँछ जल जाने से यह जायगा और अवश्य जली पूँछ अपने स्वामी को दिखावेगा कि रावण के यहाँ मेरी यह दुर्गति हुई है। तब उनको ले आवेगा, क्योंकि यह हमसे बदला लेने को कह भी चुका है; यथा—"तेहि पर बाँधेउ तनय तुम्हारा" इसका एवं पुच्छ-हीनता का बदला यह स्वयं तो ले नहीं सकता। अपने स्वामी को अवश्य लेकर आवेगा 'निज नाथहि'; यथा—"कीन्ह चहेउँ निज प्रभु कर काजा" (दो० २१); वैसे तो चाहे इसके स्वामी नहीं भी आते; यथा—"की भइ भेंट कि फिरि गये, श्रवन सुजस सुनि मोर।" (दो० ५१); पर अब दंड मिलने पर यह उन्हें किसी प्रकार अवश्य लायेगा।

(२) 'जिन्हके कीन्हिसि बहुत बड़ाई ···'—पहले कहा था—'निज नाथहि लइ आइहि' इनके निज नाथ सुग्रीवजी भी हैं, इसलिये स्पष्ट कह दिया कि इसने जिनकी बड़ी बड़ाई की है; यथा—"जाके बल बिरंचि हरि ईसा ···" इत्यादि को रावण सत्य तो नहीं मानता, पर इसे झूठ भी नहीं कह सकता, जैसे शुक सारन से कहा है; यथा—"मूढ़ मृषा का करसि बड़ाई।···" इत्यादि, क्योंकि साथ ही में—"हर कोदंड कठिन जेहि भंजा तोहि समेत नृप-दल मद गंजा॥ खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली बधे सकल अतुलित बल साली॥" आदि बातें प्रत्यक्ष सत्य हैं, इससे झूठा भी नहीं कह सका अतएव 'बहुत बड़ाई' कहकर उसे टाल दिया। रावण श्रीरामजी का नाम नहीं लेता, क्योंकि उन्हें यह शत्रु मानता है; यथा—"जिन्हके बल कर गर्ब तोहि, ऐसे मनुज···" (लं० दो० ३०)।

(३) 'भइ सहाय सारद मैं जाना'—जब से श्रीजानकीजी ने विरहाग्नि से व्याकुल होकर अपने जल जाने के लिये अग्नि माँगी थी, तभी से श्रीहनुमान्‌जी की इच्छा हो आई थी कि मैं अग्नि से लंका-दाह करूँगा श्रीशारदाजी ने रावण की वाणी पर बैठकर उसका योग लगा दिया। अतः, ये मन-ही-मन प्रसन्न हुए, उसे प्रकट नहीं होने दिया, नहीं तो राक्षस लोग ताड़ जाते, फिर संभव था कि वे ऐसा न करते। अथवा राक्षसों की मूर्खता पर मुस्कराये; यथा—"जातुधान सुनि रावन बचना। लागे रचइ मूढ़ सोइ रचना॥" आगे कहते हैं, जब रावण के वचन माननेवाले भी मूढ़ हैं, तब वह स्वयं तो मूढ़ है ही।

रावण ने कहा था—'देखिय कपिहि कहाँ कर आही' और यह भी—"देखउँ मैं तिन्हकै प्रभुताई।" उसपर श्रीहनुमान्‌जी ने सोचा कि हमारी प्रभुता देख ले, तब पीछे स्वामी की भी देखेगा। इसपर भी मुस्कराये।

जातुधान सुनि रावन-बचना। लागे रचइ मूढ़ सोइ रचना॥४॥
रहा न नगर बसन-घृत-तेला। बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला॥५॥

अर्थ—रावण के वचन सुनकर मूर्ख राक्षस लोग वही रचना रचने लगे॥४॥ नगर में वस्त्र, घी और तेल—कुछ न रह गया कपि श्रीहनुमान्‌जी ने खेल किया, जिसमें पूँछ बढ़ गई॥५॥

विशेष—(१) 'रावन-बचना'—रावण नाम का यह भी अर्थ है कि जो सबको रुलावे। वही बात इसके इस वचन से होगी, सबके घर जलेंगे और सभी रोवेंगे। 'मूढ़'—क्योंकि सभी अपने ही हाथों अपनी हानि का उपाय रच रहे हैं। यह नहीं विचारते कि जलते हुए पूँछ को यदि वानर इधर-उधर फिरा कर भी पटकेगा, तो नगर भस्मसात् हो जायगा।

(२) 'रहा न नगर बसन-घृत···'—रावण ने केवल तेल ही कहा था, पर राक्षसों को श्रीहनुमान्‌जी

को दंड देने में उत्साह बहुत है, क्योंकि इन्होंने सबके भाई-बन्धुओं को मारा है। इसलिये वे लोग तेल चुक जाने पर घी भी लाने लगे और फिर उसकी भी इतिश्री हो गई। जैसे-जैसे घी-तेल और वस्त्र आता गया, श्रीहनुमान्जी अपनी पूँछ बढ़ाते गये। जब नगर-भर में घी, तेल इत्यादि नहीं रह गये, तब लोगों ने हारकर छोड़ दिया।

यह कैसे संभव है कि नगर-भर में घी, तेल और वस्त्र नहीं रह गये? श्रीगोस्वामीजी ने ही इसका उत्तर लिखा है, यथा—"बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला।" श्रीहनुमान्जी का पूँछ बढ़ाना और खेल करना सामान्य बात तो नहीं है यह श्रीहनुमान्जी की पूँछ की महिमा है।

शंका—तब क्या सभी लंका-निवासी नग्न हो गये?

समाधान—इस कार्य के योग्य केवल पुराने वस्त्र ही दिये गये, यथा—"तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राक्षसाः कोप कर्कशाः वेष्टन्ते तस्य लाङ्गूलं जीर्णैः कार्पासिकैः पटैः॥ सम्वेष्ट्यमाने लाङ्गूले व्यवर्धत महाकपिः।" (वाल्मी० ५।५३।६।७); नगर-भर से 'बसन घृत तेल' आये, इसीसे सबके घर जलाये गये। श्रीविभीषणजी के यहाँ से नहीं आये, अतएव उनका घर नहीं जलाया गया, यथा—"जारा नगर निमिष यक माहीं एक विभीषन कर गृह नाहीं॥" (दो० २५)।

इस तरह भी अर्थ किया जाता है कि इस अर्द्धाली का सम्बन्ध उपर्युक्त 'बचन सुनत कपि मन मुसुकाना' से है बीच में यातुधानों की मूर्खता एक अर्द्धाली में कही गई, फिर वहीं से प्रसंग लिया गया कि श्रीहनुमान्जी यही सोचकर मन में मुस्कुराये कि यहाँ न तो मेरा (किष्किंधा, अयोध्या) नगर था और न मेरे पास वस्त्र, घी और तेल ही थे, [कि जिससे मैं नगर (लंका) जलाता, भले ही योग लग गया, इसी आनन्द के मारे] कपि श्रीहनुमान्जी पूँछ बढ़ाते हुए खेल करने लगे।

कौतुक कहँ आये पुरवासी। मारहिं चरन करहिं बहु हाँसी॥६॥
बाजहिं ढोल देहिं सब तारी। नगर फेरि पुनि पूँछ प्रजारी॥७॥

अर्थ—कौतुक के लिये नगरवासी आये। वे श्रीहनुमान्जी को लात मारते और उनकी बहुत हँसी करते हैं॥६॥ ढोल बजाते और सब तालियाँ देते हैं। नगर में इनको फिराकर तब पूँछ में आग लगा दी॥७॥

विशेष—'कौतुक कहँ आये...'—लात मारना, हँसी उड़ाना यही कौतुक है। पहले भी—"कौतुक लागि सभा सब आये" कहा गया था। जब घर-घर से तेल-घी की उगाही होने लगी और जब सबने जाना कि इससे उस वानर की पूँछ जलाई जायगी, यह बड़ा कौतुक होगा, तब छोटे-बड़े सभी आये। रावण की आज्ञा लात मारने और हँसी उड़ाने की नहीं कही गई है। यह पुरजनों का अपराध है, अतएव इसी दोष से इनके घर जलेंगे। 'करहिं बहु हाँसी'—जब लात मारते हैं, तब श्रीहनुमान्जी शरीर ढीला करके डर जाते हैं, तब सभी हँसते हैं; यथा—"तैसो कपि कौतुकी डेरात ढीलो गात कै कै, लात के अघात सहै जीमें कहै कूर हैं॥" (क० सु० ३)।

(२) 'पूँछ प्रजारी'—'प्रजारी' का अर्थ प्रकर्ष करके जलाना है; अर्थात् बहुत जगह आग लगाई, कि जिससे किसी तरह हाथों से अग्नि बुझा न ले; यथा—"बालधी बढ़न लागी ठौर ठौर दीन्ही आगी बिंध की दवारि, कैधौं कोटि सत सूर हैं।" (क० सु० ४); "लाइ लाइ आगि भागे बाल जाल जहाँ

तहाँ " (क० सु० ४), 'बानहिं ढोल '—श्रीहनुमान्‌जी के इस कौतुक को नगरवासी वानर का तमाशा मानकर हँसी करते हैं और तालियाँ देते हैं। ढोल बजा-बजाकर पुकारते चलते हैं कि यह वही वानर है, जिसने वन को उजाड़ा और राक्षसों को मारा है। अब इसे दण्ड दिया जाता है। बाँधकर नगर में फिराना भी दण्ड ही है, यथा—"सुनि सुग्रीव वचन कपि धाये। बाँधि कटक चहुँपास फिराये॥ बहु प्रकार मारन कपि लागे।"(दो० ५१)।

पावक जरत देखि हनुमंता। भयउ परम लघु रूप तुरंता॥ ८॥
निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारी। भई सभीत निसाचर-नारी॥ ९॥

दोहा—हरि-प्रेरित तेहि अवसर, चले मरुत उनचास।
अट्टहास करि गर्जा, कपि बढ़ि लाग अकास॥२५॥

अर्थ—आग जलती हुई देखकर श्रीहनुमान्‌जी शीघ्र परम छोटे रूप हो गये, (पूँछ के अतिरिक्त और अंगों को छोटा कर लिया, पूँछ छोटा करते तो कपड़ा निकल जाता, जो लपेटा हुआ था,)॥८॥ (बँधे हुए अंगों को छोटा करके) कपि बन्धन से निकलकर सोने की अटारी पर चढ़ गये, यह देखकर निशाचरों की स्त्रियाँ भयभीत हो गईं॥९॥ भगवान् की प्रेरणा से उसी समय उनचासों पवन चलने लगे। श्रीहनुमान्‌जी अट्टहास करके गरजे (खिलखिलाकर हँसे और उच्च स्वर से गरजे) और बढ़कर आकाश से जा लगे॥२५॥

विशेष—(१) 'पावक जरत देखि '—श्रीहनुमान्‌जी ने देख लिया कि अब अच्छी तरह आग जलने लगी फूँद-फूँक से भी नहीं बुझेगी। तब शीघ्र ही अत्यन्त छोटे रूप हो गये, इससे बन्धन स्वयं ढीला पड़ गया और ये बन्धन से निकल गये, बंधन को तोड़ा नहीं, क्योंकि उससे देवता का अपमान होता। स्वयं निबुक कर निकल आने से उपर्युक्त—"प्रभु कारज लगि कपिहिं बँधावा।" का चरितार्थ हुआ। 'कनक अटारी' अर्थात् रावण का अंतःपुर, यथा—"कौतुकी कपीस कूदि कनक कँगूरा चढ़ि रावन भवन जाइ ठाढ़ो तेहि काल भो" (क० सु० ४), रावन ने ही पहले पूँछ जलाने की आज्ञा दी थी, इसीसे पहले उसीके महल पर चढ़े और रावण ने ही निशाचरियों के द्वारा श्रीजानकीजी को डरवाने का प्रबन्ध किया था, इसीसे पहले उसकी ही रानियों को डरवाया, यथा—"भई सभीत निसाचर नारी" ये स्त्रियाँ अँटारी पर चढ़कर वानर का तमाशा देख रही थीं, इसीसे इन्हीं का पहले डराया जाना लिखा गया है।

उस समय का ध्यान—त्रिकूटाचल स्वतः बहुत ऊँचा है, और उसपर बड़ी ऊँची लंकापुरी बसी हुई है। उसमें भी रावण का भवन अत्यंत ऊँचा है, उसके भी ऊँचे कँगूरे पर श्रीहनुमान्‌जी जा चढ़े और फिर बढ़कर आकाश से लग गये, यथा—"कपि बढ़ि लाग अकास"। फिर पूँछ को घुमाने के लिये जिससे सारा आकाश अग्निमय हो गया, यथा—"बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल-जाल मानों, लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है। कैधौं ब्योम बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु, बीर रस बीर तरवारि सी उघारी है॥ तुलसी सुरेस-चाप, कैधौं दामिनी कलाप, कैधौं चली मेरु ते कृसानु-सरि भारी है। देखे जातुधान जातुधानी अकुलानी कहैं, 'कानन उजार्‌यो अब नगर प्रजारी है'॥" (क० सु० ५)।

(२) 'हरि प्रेरित तेहि अवसर '—हरि के अर्थ इन्द्र आदि भी होते हैं, पर यहाँ उसका मुख्य अर्थ भगवान् ही मानते हैं, क्योंकि वायु के शासनकर्ता वे ही हैं यथा—"भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति

पञ्चमः।" (कठ॰ २ ६।४); 'मरुत उनचास'—ये कश्यप और अदिति के पुत्र हैं, इन्द्र ने एक ही गर्भ के प्रथम सात खंड किये, फिर एक-एक के भी सात-सात खंड किये। इसीसे वे उनचास मरुत हुए, ये उनचासों पवन इन्द्र के सहायक और वैमात्रिक भाई हैं।

(३) 'अट्टहास करि गर्जा—पहले श्रीहनुमान्‌जी ने शारदा की करनी पर मुस्कुरा दिया था, अब उनचासों मरुत की सहायता देखकर अट्टहास किया कि काम अच्छा बना। 'कपि बढ़ि लाग अकास'—पहले पूँछ ही बढ़ाई थी, यथा—"बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला" और अब इन्होंने शरीर भी उसी भाँति भारी कर लिया कि जिसमें राक्षस भयभीत हो समीप नहीं आवें।

राक्षसों के प्रतिकार में उसी भाँति ही श्रीहनुमान्‌जी ने भी किया है—

राक्षसगण	श्रीहनुमान्‌जी
१ कौतुक लागि सभा सब आये।	बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला।
२ मारहिं चरन	'जातुधान पुंगीफल जव तिल धान हैं'—(क॰ सु॰ ७)
३ करहिं बहु हाँसी	अट्टहास करि
४ बाजहिं ढोल	गर्जा
५ सबकी ममता घरों में	कपि कै ममता पूँछ पर।
६ नगर फेरि (प्रदक्षिणा कराई)	नगर जला कर सबको चारों ओर दौड़ाया।
७ पूँछ प्रजारी	घर-घर में आग लगाई।
८ कपि बंधन सुनि निसिचर धाये	मंदिर ते मंदिर चढ़ धाई।

देह बिसाल परम हरुआई। मंदिर ते मंदिर चढ़ धाई॥१॥
जरइ नगर भा लोग बिहाला। झपट-लपट बहु कोटि कराला॥२॥
तात मातु हा सुनिय पुकारा। येहि अवसर को हमहिं उबारा॥३॥

अर्थ—देह विशाल (भारी) और परम हलकी है, एक मंदिर से दूसरे पर दौड़कर चढ जाते हैं॥१॥ नगर जल रहा है, लोग व्याकुल हो गये, करोड़ों बहुत भयंकर लपटें झपट रही हैं॥२॥ हा तात! हा माता! इस समय हमें कौन बचानेवाला है, यही पुकार (चारों ओर से) सुनी जाती है॥३॥

विशेष—(१) 'देह बिसाल परम हरुआई'—जितना अत्यंत विशाल शरीर है, उतना ही वह परम हलका भी है, वृद्धि की अवधि और साथ ही हलकापन की भी सीमा है। इसी लिये एक से दूसरे घर पर शीघ्र दौड़-दौड़कर चले जाते हैं। कपि सर्वत्र दौड़ते जाते हैं, और आग स्वयं लगती जाती है, पूँछ से जलता हुआ तेल टपकता जाता है, घर (मणि-स्वर्ण के भी) जलते जाते हैं। 'धाई'—का भाव यह कि श्रीहनुमान्‌जी ने बड़ी तेजी से दौड़-दौड़कर निमिष मात्र में लंका भर को जलाया; यथा—"जारा नगर निमिषि एक माहीं॥" यह आगे कहा है। 'चढ धाई'—पहले रावण के भवन में आग लगा दी, फिर कूदकर बाहर के आवरण से जलाने लगे। एक आवरण चारों ओर जलाकर तब भीतर की ओर दूसरे आवरण में चढते हैं, वे आवरण उत्तरोत्तर ऊँचे हैं, इसीसे 'चढ धाई' कहा है, यदि ऊँचे न होते, तो 'चलि जाई' कहते।

(२) 'जरइ नगर भा लोग ···'—यहाँ आदि में 'जरइ नगर' और अंत में 'झपट-लपट···' कहा

(क० सु० २१),—यह गारी का गान है। और 'कूदि परा पुनि सिंधु मँझारी।' यह अवभृथ (यज्ञान्त) स्नान है।

(२) 'पूँछ बुझाइ खोइ श्रम '—पूँछ बुझाने और श्रम निवारण करने के साथ ही लघुरूप का धारण करना कहा गया। इससे जाना गया कि श्रीहनुमान्जी ने समुद्र के तट पर ही लघु रूप भी धारण कर लिया, तब श्रीजानकीजी के पास आये, मानो फल खाने की आज्ञा लेकर गये थे, अब खाकर आ गये। अपना पुरुषार्थ कुछ भी न कहा, क्योंकि शूर-वीर अपने मुख से अपनी करनी नहीं कहते। ये तो अभिमान रहित हैं, इसीसे लौटकर इन्होंने प्रणाम तक भी न किया कि जिससे कुछ करके आना समझा जाता। केवल दीन भाव से हाथ जोड़कर खड़े हो गये।

इस प्रसग मे श्रीहनुमान्जी की सेवा पाँचो तत्वों ने की—

(१) पवन—'हरि प्रेरित तेहि चले मरुत उनचास।' इनसे अग्नि बढी।

(२) आकाश—'अट्टहास करि गर्जा '—अवकाश देकर शब्द बढाया।

(३) पृथिवी—'देह बिसाल परम हरुआई।'—इनकी देह मे गुरुता नहीं रही।

(४) अग्नि—'ताकर दूत अनल जेहि सिरजा। जरा न सो '—इन्हें जलाया नहीं।

(५) जल—'कूदि परा पुनि सिंधु पूँछ बुझाइ खोइ श्रम'। पूँछ बुझाई और श्रम दूर किया।

श्रीहनुमान्जी को आठों सिद्धियाँ प्राप्त हैं—

(१) अणिमा (छोटा हो जाना)—भयउ परम लघु रूप तुरता।

(२) महिमा (बडा होना)—कपि जढि लाग अकास। •

(३) गरिमा (भारी होना)—जेहि गिरि चरन देइ चलेउ सो गा ।

(४) लघिमा (हलकापन)—देह बिसाल परम हरुआई।

(५) प्राप्ति (अलभ्य लाभ)—पावक जरत देखि । अग्नि वहाँ अलभ्य थी, वह प्राप्त हुई।

(६) प्राकाम्य (कामना पूर्त्ति)—उलटि पलटि लका सब जारी।

(७) ईशित्व (शासन सामर्थ्य)—देखि प्रताप न कपि मन सका , यथा—"जो मैं प्रभु आयसु लै चलतो। तौ येहि रिस तोहि सहित दसानन जातुधान दल दलतो॥ " (गी० सु० १९)।

(८) वशित्व—पाँचों तत्वों का वश मे करना, ऊपर कहा गया।

यहाँ तक पुर-दहन प्रसग है, आगे—'लाँघेउ बहुरि पयोधी' प्रसग है।

मातु मोहि दीजे कछु चीन्हा। जैसे रघुनायक मोहि दीन्हा ॥१॥
चूड़ामनि उतारि तब दयऊ। हरष-समेत पवनसुत लयऊ ॥२॥
कहेहु तात अस मोर प्रनामा। सब प्रकार प्रभु पूरन कामा ॥३॥
दीन-दयाल बिरद सभारी। हरहु नाथ मम सकट भारी ॥४॥

अर्थ—हे माता! मुझे कुछ चिह्न दीजिये, जैसे श्रीरघुनाथजी ने मुझे दिया था। (इस तरह से विदा होने की इच्छा भी प्रकट की) ॥१॥ तब चूड़ामणि उतार कर दिया। श्रीहनुमान्जी ने हर्ष के साथ

उसे लिया ॥२॥ हे तात ! मेरा इस प्रकार प्रणाम कहना (प्रणाम की मुद्रा करके बतलाया), प्रभु सब प्रकार से पूर्णकाम हैं (अर्थात् मेरे बिना आपको कुछ कमी नहीं है, पर) ॥३॥ आपका दीन दयालु बाना है, उसे स्मरण करके, हे नाथ ! मुझ दीन के भारी संकट को दूर करें। ४॥

विशेष—(१) 'मातु मोहि दीजे कछु चीन्हा ।'—चिह्न माँगा, पर आज्ञा न माँगी कि कहीं प्रेमवश जाने न दें, तो असमंजस में पड़ूँगा । ये तो विरह में व्याकुल हैं, समझाने से भी शीघ्र न समझेंगी और बिना शीघ्र वहाँ गये काम भी नहीं बनेगा, इसीलिये जाना अपने अधीन रक्खा । आगे श्रीसीताजी ने दीन होकर वैसा कहा भी है ; यथा—"कहु कपि केहि बिधि राखउँ प्राना । तुम्हहू तात कहत अब जाना ॥ तोहि देखि सीतलि भइ छाती । पुनि मो कहँ सोइ दिन सोइ राती ॥" 'कछु'—क्योंकि श्रीजानकीजी दीन हैं, उनके पास विशेष वस्तु नहीं है । 'जैसे रघुनायक...'—श्रीरामजी ने आपके विश्वास के लिये मुद्रिका दी थी, वैसे उनके विश्वास के योग्य आप भी कुछ दें ।

(२) 'चूड़ामनि उतारि...'—चूड़ामणि शिरोभूषण है, यह समुद्र से उत्पन्न है, और देवताओं द्वारा प्रशंसित है । यज्ञ में प्रसन्न होकर इन्द्र ने इसे जनक महाराज को दिया, उन्होंने विवाह में इन्हें दिया था । यह भूषण श्रीसीताजी शिर पर धारण करती थीं, इससे मणि की बड़ी शोभा होती थी । श्रीरामजी ने पाने पर कहा है कि मैंने इसे पाकर मानों श्रीसीताजी को ही पा लिया, इससे मुझे अपने पिता और श्वसुर का स्मरण हुआ—ऐसा वाल्मी० ५।६६।१-७ में कहा हुआ है । श्रीरामजी ने हाथ का भूषण देकर सूचित किया है कि मैं तुम्हें हाथ में ग्रहण किये हुए हूँ । श्रीजानकीजी ने शिर का भूषण देकर सूचित किया कि मैं अपना शिर आपके चरणों पर रक्खे हुई हूँ ; जैसे हाथ का धर्म ग्रहण करना है, वैसे शिर का धर्म प्रणाम करना ; यथा—"ते सिर कटु तुम्बरि सम तूला । जे न नमत हरि-गुरुपदमूला ॥" (बा० दो० ११२); 'हरष समेत'—क्योंकि यह लोकोत्तर वस्तु है, और इसे पाकर श्रीरामजी प्रसन्न एवं उत्साहित होंगे और शीघ्र श्रीजानकीजी का दुःख निवारण करेंगे ।

(३) 'कहेहु तात अस...'—श्रीराम-लक्ष्मण का ध्यान करके प्रणाम मुद्रा से आतुरता पूर्वक कहा है, जो आगे स्पष्ट है; यथा—"अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना । दीन बंधु प्रनतारति हरना ॥" (दो० ३०); 'प्रभु'—आप पूर्ण समर्थ है, फिर भी मैं आश्रित होती हुई भी दीनदशा में हूँ, यह उचित नहीं । 'पूरनकामा'—मेरा उद्धार करने में आपकी कोई स्वार्थसिद्धि नहीं; किन्तु आप अपने बाने की लाज रक्खें ।

(४) 'दीनदयाल बिरद संभारी ।...'; यथा—"जौं प्रभु दीन दयाल कहावा । आरत हरन बेद जस गावा ॥" (बा० दो० ५८) ; अर्थात् मेरी रक्षा से आपका 'दीन दयालु' नामक बाना स्थिर रहेगा, आपको यश होगा । अन्यथा यह बाना गिर जायगा । 'मम संकट भारी'—अर्थात् औरों की अपेक्षा मेरा संकट भारी है । अतः, इससे आपको बड़ा यश होगा । औरों के सामान्य संकट-हरण करने से आपको यश भी सामान्य ही हुआ है ; यथा—"सुजस सुनि श्रवन हौं नाथ ! आयेउँ सरन । उपल केवट गीध सबरि संसृति समन, सोकश्रम सीव सुग्रीव आरति हरन ॥" (गी० सुं० ४३) ।

यहाँ श्रीजानकीजी ने पहले चूड़ामणि को भेंट-रूप में दिया ; यथा—'चूड़ामनि उतारि तब दयऊ ।' फिर पाँव पड़ना कहा; यथा—'कहेहु तात अस मोर प्रनामा ।' तब दुःख हरण करने की प्रार्थना की ; यथा—'हरहु नाथ मम संकट भारी ।'—इत्यादि क्रम-सँभाल है ।

तात सक्रसुत कथा सुनायहु । बान-प्रताप प्रभुहि समुझायहु ॥५॥

है और मध्य में 'भा लोग बिहाला' कहकर सूचित किया गया है कि सब लोग अग्नि से घिरे हुए हैं, निकल नहीं पाते। 'भा लोग' में 'भा' एकवचन है, इससे सभी को एक प्रकार से व्याकुल होना सूचित किया गया है। उनचासों पवन चल पड़े हैं, इसीसे बहुत-सी झपट-लपट का उठना कहा गया है। 'कराला' से अग्नि को अप्राकृत भी सूचित किया गया है; यथा—"जुग पट भानु देखे प्रलय कृसानु देखे, सेष मुख अनल बिलोके बार-बार हैं। तुलसी सुन्यो न कान सलिल सर्पी समान, अति अचरज कियो केसरी कुमार हैं॥" (क॰ सुं॰ १०); अर्थात् इस अग्नि में जल के पड़ने से घी पड़ने की तरह यह और भी प्रज्वलित होती है।

यहाँ तक बड़ों की व्याकुलता कही गई आगे छोटों की कहते हैं।—

(३) 'तात मातु हा सुनिय पुकारा।'; यथा—"हा तात हा पुत्रक कान्त मित्र हा जीवितेशाङ्ग हतं सुपुण्यम्। रक्षोभिरेवं बहुधा ब्रुवद्भिः शब्दः कृतो घोरतरः सुभीमः॥" (वाल्मी॰ ५।५४) 'तात मात हा'—'हा अत्यंत' कष्टसूचक है। यहाँ इसका यह भी भाव है कि इस विपत्ति के समय जो रक्षा करे, वही 'तात-माता' है। 'तात' शब्द पिता-पुत्र, भाई, मित्र आदि सभी का बोधक है। कहा भी है—"धीय को न माय बाप पूत न सँभारहीं।" (क॰ सुं १५)। 'को···उबारा'—का भाव यह कि जिसे पुकारते हैं, वह स्वयं आपत्ति में पड़ा है, कोई किसी का रक्षक नहीं है।

हम जो कहा यह कपि नहिं होई। बानर-रूप धरे सुर कोई॥४॥
साधु-अवज्ञा कर फल ऐसा। जरइ नगर अनाथ कर जैसा॥५॥
जारा नगर निमिष एक माहीं। एक बिभीषन कर गृह नाहीं॥६॥
ताकर दूत अनल जेहिं सिरिजा। जरा न सो तेहि कारन गिरिजा॥७॥

अर्थ—हमने जो कहा था कि यह वानर नहीं है, कोई देवता वानर-रूप धारण किये हुए है (वही यथार्थ निकला)॥४॥ साधु की अवहेलना का ऐसा फल होता है कि यह नगर अनाथ (के नगर) का-सा जल रहा है (अर्थात् लंक-नाथ रावण के रहते हुए भी नगर की रक्षा नहीं हो रही है)॥५॥ नगर को निमेष मात्र में जला डाला, एक श्रीविभीषणजी का घर नहीं जलाया॥६॥ हे गिरिजे! जिसने अग्नि को पैदा किया, उसी के दूत श्रीहनुमान्जी हैं, इसी कारण वे (श्रीहनुमान्जी) न जले॥७॥

विशेष—(१) 'हम जो कहा यह कपि···'—क्योंकि वानरों में ऐसा पराक्रम होना असंभव है। रावण को देवताओं से वैर है ही; यथा—"हमरे बैरी बिबुध बरूथा।" (बा॰ दो॰ १८०); अतः, यह अनुमान भी ठीक ही है। यह अनुमान मंदोदरी का जान पड़ता है; यथा—"निपट निडर देखि काहू न लख्यो निमेपि दीन्हों न छुड़ाइ कहि कुल के कुठार सों॥······तुलसी मँदोवै रोइ-रोइ कै बिगोवै आपु बार-बार कह्यों मैं पुकारि दाढ़ीजार सों॥" (क॰ सुं॰ ११); 'साधु अवज्ञा'—श्रीहनुमानजी साधु हैं, इन्होंने साधु-भाव से ही रावण से सभा में बातें की हैं। इन्हें बाँधना, लात मारना, पूँछ में आग लगाना—इनकी अवज्ञा करना है। 'अनाथ कर जैसा'—सबके सामान जलते हैं, कोई रक्षक नहीं रक्षा के लिये 'तात-मातु' की पुकार निष्फल होती है। मानों किसी का कोई रक्षक है ही नहीं; यथा—"कै सीम लोचन बिलोकिये कुमंत्र फल, ख्याल लंका लाई कपि राँड़ की-सी झोंपरी॥" (क॰ लं॰ १०)।

(२) 'निमिष एक माहीं'—जलाने में अत्यन्त शीघ्रता की, जब तक लंका-भर को जला नहीं

डाला, तबतक पलक न मारो। अथवा, निमिष शब्द अल्पकाल का द्योतक है और ऐसा मुहावरा भी है। साधु अवज्ञा का फल अति शीघ्र ही मिलता भी है; यथा—"साधु अवज्ञा तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कै हानी॥" (दो० ४१)।

(३) 'एक बिभीषन कर गृह नाहीं।'—श्रीहनुमानजी विभीषण का घर जानते हैं, क्योंकि उनसे पहले ही संवाद हो चुका है। और, उन्होंने साधु-अवज्ञा भी नहीं की है, इसीसे उनका घर नहीं जला। अवज्ञा के परिणाम में सोने के घर भी जल गये और साधु विभीषणजी के समीप के सब घर जल गये, पर उनका घर न जला।

(४) 'ताकर दूत अनल···'—अग्नि भगवान् के मुख से उत्पन्न हुई है; यथा—"मुखादग्निरजायत।" (पुरुषसूक्त); तथा—"आनन अनल अंबुपति जीहा।" (लं० दो० १४); "हेतु कृसानु भानु हिमकर को।" (बा० दो० १८); 'गिरिजा'—गिरिजा को संदेह हुआ कि श्रीहनुमान्जी स्वयं कैसे बच गये—यह उसीका उत्तर है। इसमें ध्वनि से यह भी जनाया कि अग्नि तो उनके लिये तुम्हारे पिता हिमाचल के के समान शीतल हो गया; यथा—"दृश्यते च महाज्वालः करोति च न मे रुजम्। शिशिरस्येव संपातो लाङ्गूलाग्रे प्रतिष्ठितः॥" (वाल्मी० ५।५३।२५)। "गोपद सिंधु अनल सितलाई।" (दो० ४); कहा ही है। 'जाकर दूत···' इसमें श्रीरामजी का प्रभाव और 'साधु अवज्ञा कर फल···' में श्रीहनुमान्जी का प्रभाव है।

उलटि पलटि लंका सब जारी। कूदि परा पुनि सिंधु मँझारी॥८॥

दो०—पूँछ बुझाइ खोइ श्रम, धरि लघु रूप बहोरि।
जनक-सुता के आगे, ठाढ़ भयउ कर जोरि॥२६॥

अर्थ—उलट-पलटकर सारी लंका जलाकर तब समुद्र में कूद पड़े॥८॥ पूँछ बुझाकर, थकावट दूर करके और फिर छोटा रूप धारण करके श्रीजानकीजी के आगे हाथ जोड़कर आ खड़े हुए॥२६॥

विशेष—(१) 'उलटि पलटि'—एक बार ओर से छोर तक जला गये, फिर उधर से उलट पड़े और इस छोर तक दुबारा जलाते हुए आये। पुनः इधर से पलटे और उस छोर तक तिबारा जलाते हुए चले गये। इस तरह सभी जगहों में तीन बार आग लगाई।

'कूदि परा पुनि···'—पूँछ बुझाने और थकावट दूर करने के लिये समुद्र में कूद पड़े, यथा—"पूँछ बुझाइ खोइ श्रम ···" आगे कहा ही है। समुद्र ने कहा भी था; यथा—"तैं मैनाक होहि श्रम हारी।" उसी की यहाँ पूर्ति की और स्नान करने से श्रम दूर होता ही है। श्रम यह कि सौ योजन का समुद्र लाँघा, राक्षसों से युद्ध और लंका-दहन किया। 'मँझारी' = बीच में।

पुनः इस लंका-दहन को श्रीगोस्वामीजी ने यज्ञ का रूप भी कहा है, यथा—"तुलसी समिधि सौंज लंक-जज्ञकुंड लखि, जातुधान पुंगीफल जव तिल धान है। स्रुवा सो लंगूल बलमूल, प्रतिकूल हवि, स्वाहा महा हाँकि हाँकि हुनै हनुमान है॥" (क० सुं० ७); यह यज्ञ है। "हाट बाट हाटक पघिलि चल्यो घी सो घनो कनक कराही लंक तलफत ताय सों। नाना पकवान जातुधान बलवान सब पागि पागि ढेर कीन्ही भली भाँति भाय सों॥ पाहुने कृसानु पवमान सों परोसो हनुमान सनमान कै जेवायो चित चाय सों। (यह भोजन) तुलसी निहारि अरि नारि दै दै गारि कहैं बावरे सुरारि बैर कीन्हों राम राय सों॥"

मास दिवस महँ नाथ न आवा। तौ पुनि मोहि जियत नहिं पावा ॥६॥
कहु कपि केहि बिधि राखउँ प्राना। तुम्हहू तात कहत अब जाना ॥७॥
तोहि देखि सीतलि भइ छाती। पुनि मो कहँ सोइ दिन सोइ राती ॥८॥

अर्थ—हे तात ! इन्द्र के पुत्र जयन्त की कथा सुनाना और बाण का प्रताप प्रभु को समझाना ॥५॥ यदि महीने-भर में स्वामी न आये, तो फिर मुझे जीती न पायेंगे (क्योंकि महीने-भर में कहना न मानने पर रावण ने मेरे वध की प्रतिज्ञा की है, तब उनका आना व्यर्थ ही होगा। अथवा, उसकी दी हुई अवधि के प्रथम ही मैं प्राण छोड़ दूँगी,) ॥६॥ हे कपि ! कहो, किस प्रकार प्राण रक्खूँ ? हे तात ! तुम भी अब जाने को कहते हो, (भाव यह कि महीने के भीतर भी मैं कैसे प्राण रक्खूँ ? (क्योंकि) तुम्हें देखकर छाती ठंढी हुई थी, फिर मुझको वही दुःख के दिन और वही दुःख की रातें (काटनी पड़ेंगी) ॥७–८॥

विशेष—(१) 'तात सक्रसुन कथा...'—यह ऐकान्तिक रहस्य केवल श्रीसीतारामजी ही जानते हैं, इसीसे इसे संकेत रूप में कहती हैं कि जिससे श्रीहनुमान्जी के यहाँ आने का उन्हें विश्वास हो। साथ ही अपने स्वामी के पुरुषार्थ का उद्दीपन भी कराती हैं कि मेरे प्रति थोड़े-से अपराध पर तो आपने देवराज के पुत्र की दुर्दशा कर डाली और अब तो मैं भारी संकट में पड़ी हूँ, क्यों नहीं इसका उद्योग करते ? यथा—"मत्कृते काकमात्रेऽपि ब्रह्मास्त्रं समुदीरितम्। कस्माद्यो मां हरत्त्वत्तः क्षमसे तं महीपते ॥" (वाल्मी० ५।३८।३१)। यह कथा आ० दो० १ में आ गई है। 'बान प्रताप'—उस कथा में बाण का प्रताप प्रकट है कि सींकबाण में कोई वैसी शक्ति भी नहीं होती, पर उससे मारने पर जयंत को तीनों लोकों में शरण न मिली। 'समुझायहु'–समझाना कहते हैं, क्योंकि श्रीहनुमान्जी ने कहा है ; यथा—"तुम्ह बियोग-संभव दारुन दुःख बिसरि गई महिमा सुजान की। ननु कहु कहँ रघुपति सायकरबि तम बरूथ कहँ जातुधान की।" (गी० सुं० ११) ; 'सक्रसुत' का भाव यह है कि रावण के ब्रह्मकुल होने पर ध्यान न दें, शक्रसुत भी तो देवता ही था।

(२) 'मास दिवस महँ नाथ...'—मास के साथ-साथ दिवस शब्द देने का भाव यह है कि महीने की पूर्त्ति बीच में पूर्णिमा एवं संक्रान्ति पर भी हो जाती है, सो बात नहीं है, दिन गिनकर तीस दिन के कहने का तात्पर्य है, वा, मास दिन, वर्ष दिन आदि मुहावरे हैं, एक मास एवं एक वर्ष के अर्थ में कहे जाते हैं। यथा—"जीवितं धारयिष्यामि मासं दशरथात्मज ॥ ऊर्ध्वं मासान्न जीवेयं सत्येनाहं ब्रवीमिते ॥ (वाल्मी० ५।३८।६७)। 'तौ पुनि'—का भाव यह है कि एक बार अभी तुम जैसे मुझे जीवित पा गये, वैसे फिर मेरे स्वामी नहीं पायेंगे। 'आवा' और 'पावा' पद एकवचन अतएव हलका है, भाव यह कि एक मास पर यदि रावण ने मुझे मार ही डाला, तो आने पर स्वामी की हलकाई (अप्रतिष्ठा) होगी।

(३) 'केहि बिधि राखउँ प्राना'—श्रीजानकीजी प्राणों के रखने में यहाँ तीन बाधाएँ कह रही हैं— (क) नाथ का वियोग ; यथा—'मास दिवस महँ नाथ न आवा।' (ख) तुम्हारा बिछुड़ना, यथा—'तुम्हहू तात कहत अब जाना।' ; तथा—"बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं।" (बा० दो० ५) ; "अदर्शनं च ते वीर भूयो मां दारयिष्यति।" (वाल्मी० ५।५६।६)। (ग) राक्षसों की दिन-रात की साँसति; यथा—'पुनि मो कहँ सोइ दिन सोइ राती।' इन तीनों बातों से बचने की कोई विधि नहीं है कि जिससे प्राणों की रक्षा हो सके।

(४) 'तोहि देखि सीतलि भइ छाती।'—श्रीरामजी के दर्शन बिना, जो मेरी छाती जल रही थी,

यह तुम्हें देखकर ठंढी हुई ; यथा—"कपि तव दरस सकल दुख बीते। मिले आजु मोहि राम पिरीते ॥" (उ० दो० १)। 'सोइ दिन सोइ राती' ; यथा—"बैठेहि बीति जात निसि जामा।" (दो० ७) ; "देखि परम बिरहाकुल सीता। सो छन कपिहि कलप सम बीता॥" (दो० ११) ; भाव यह कि हमारा यह क्लेश भूलना नहीं, तुरत स्वामी को यहाँ लाना और यह भी ध्वनित करती है कि तुम्हारे दर्शन होने पर भी मेरा दुःख रह ही जाय, यह योग्य नहीं।

दोहा—जनकसुतहि समुझाइ करि, बहु बिधि धीरज दीन्ह।
चरन-कमल सिर नाइ कपि, गवन राम पहिं कीन्ह ॥२७॥

चलत महाधुनि गर्जेसि भारी। गर्भ स्रवहिं सुनि निसिचर-नारी ॥१॥

अर्थ—श्रीजानकीजी को समझाकर बहुत तरह से धैर्य दिया। चरण-कमलों में शिर नवाकर श्रीहनुमान्‌जी श्रीरामजी के पास चले ॥२७॥ चलते समय महाध्वनि से भारी गर्जन किया कि जिसे सुनकर निशाचरों की स्त्रियों के गर्भ गिर जायँ ॥१॥

विशेष—(१) 'जनकसुतहि समुझाइ...'—कपि के विदा होने के समय श्रीजानकीजी अधिक व्याकुल हो गईं, इसीसे उन्हें समझाना पड़ा। श्रीजानकीजी अधीर हो गईं ; यथा—"मास दिवस महँ...कहु कपि केहि बिधि..." अतएव 'बहु बिधि धीरज दीन्ह'—इसीसे श्रीगोस्वामीजी ने भी बहुत बार धैर्य का प्रयोग किया है। देखिये—'कह कपि हृदय धीर धरु माता' का प्रसंग भी ; तथा—"तौ लौं मातु आपु नीके रहिबो। जौं लौं हौं ल्यावौं रघुबीरहि दिन द्वै और दुसह दुख सहिबो॥ सोखि कै खेत कै बाँधि कै सेतु कै उतरिबो उदधि न बोहित चहिबो।..." (गी० सुं० १४) ; तथा—"दिवस छ सात जात जानवी न मातु धरु धीर...' (क० सुं० २७) ; इत्यादि पदों को पूरा पढ़ना चाहिये।

श्रीहनुमान्‌जी का प्रणाम करना तो कहा गया, परन्तु श्रीजानकीजी का आशिष देना नहीं। क्योंकि इनके विदा होते समय वे शिथिल हो गईं, अतएव कुछ बोल न सकीं, मन-ही-मन आशिष दी ; यथा—"कपि के चलत सिय को मन गहबरि आयो। पुलक सिथिल भयो सरीर नीर नयनन्हि छायो।... कै प्रबोध मातु प्रीति सों असीस दीन्हीं ह्वै है तिहारोइ मन भायो॥" (गी० सुं० १५)।

(२) 'चलत महाधुनि गर्जेसि भारी।...'—पहले भी 'महाधुनि' से गरजे थे, पर अब 'भारी' विशेषण और अधिक का द्योतक है। इसीसे राक्षसियों के गर्भ गिरते हैं और आगे भी इसका स्मरण करने पर गिरते ही रहेंगे। इसीलिये 'गिरहिं' वर्त्तमान काल की क्रिया दी गई है और भविष्य का अभिप्राय भी गर्भित है। इसका भी प्रयोजन था। श्रीरामजी ने—'निसिचर हीन करउँ महि...' की प्रतिज्ञा की है। वे केवल संग्राम में आनेवालों को ही मारेंगे। जो अभी गर्भ में ही हैं, अथवा भविष्य में होंगे, जिससे वे भी न रहें ; यथा—"समुझत जासु दूत कै करनी। गर्भ स्रवहिं रजनीचर घरनी॥" (दो० ३५)। तभी वह प्रतिज्ञा यथार्थ निबहेगी। इस गर्जन से यह भी सूचित किया गया कि हम चुपचाप चोरी से नहीं जा रहे हैं ; यदि लंका-दहन का बदला ले सको, तो हम उपस्थित हैं। श्रीहनुमान्‌जी ने सभी कार्य गरज-गरज कर किये हैं, यथा—'तिन्हहिं देखि गर्जेउ हनुमाना।' ; 'ताहि निपाति महाधुनि गर्जा।'; 'कटकटाइ गर्जा अरु धावा।'; 'अट्टहास करि गर्जा।' वैसे ही यहाँ भी 'चलत महाधुनि गर्जेसि भारी।' कहा गया है।

नाघि सिंधु येहि पारहि आवा। सबद किलकिला कपिन्ह सुनावा ॥२॥
हरषे सब बिलोकि हनुमाना। नूतन जनम कपिन्ह तब जाना ॥३॥
मुख प्रसन्न तन तेज बिराजा। कीन्हेसि रामचंद्र कर काजा ॥४॥
मिले सकल अति भये सुखारी। तलफत मीन पाव जिमि बारी ॥५॥

अर्थ—समुद्र लाँघकर इस पार आ गये और किलकिलाहट शब्द वानरों को सुनाया (यह वानरों की हर्ष ध्वनि है) ॥२॥ श्रीहनुमान्‌जी को देखकर सब हर्षित हुए और तब वानरों ने अपना नया जन्म समझा ॥३॥ मुख प्रसन्न है, शरीर में तेज विराजमान है (क्योंकि) श्रीरामचन्द्रजी का कार्य किया है ॥४॥ सब श्रीहनुमान्‌जी से मिले और अत्यन्त सुखी हुए, जैसे तड़पती हुई मछली जल मिल जाने से (अत्यन्त सुखी हो) ॥५॥

विशेष—(१) 'सबद किलकिला कपिन्ह सुनावा।'—भयंकर और भारी गर्जन से राक्षसियों के गर्भ गिराये और आनन्द की किलकारी से कपियों को सुखी किया; यथा—"गगन निहारि किलकारी भारी सुनि हनुमान पहिचानि भये सानँद सचेत हैं। बूड़त जहाज बच्यो पथिक-समाज, मानों आजु जाये जानि सब अंकमाल देत हैं।" (क० सुं० ११)। 'येहि पारहि आवा' का पहले उल्लेख कर तब 'सबद किलकिला···' कहा गया है। इसका भाव यह है कि अपने शब्द के पहुँचने से पहले ही ये इस पार आ गये। कहा ही है—"मारुत-नंदन मारुत को मन को खगराज को वेग लजायो।" (क० सुं० ५४); फिर इस बार तो मार्ग में कोई विघ्न भी नहीं है।

(२) 'हरषे सब बिलोकि···' यहाँ भी स्पष्ट ही है कि श्रीहनुमान्‌जी अपने शब्द से पहले ही आ गये, क्योंकि उनको देखकर सबका आनन्दित होना कहा गया है, शब्द सुनकर नहीं। 'नूतन जनम···' क्योंकि बिना सीता-सुधि पाये श्रीहनुमान्‌जी के लौटने से सब का मरना निश्चित था।

(३) 'मुख प्रसन्न तन तेज···'—तेज के सम्बन्ध से श्रीरामजी के लिये भी 'चंद्र' विशेषण है। श्रीसुग्रीवजी ने कार्य-सम्बन्ध में ऐसा ही कहा भी है; यथा—"रामचंद्र कर काज सँवारेहु।" (कि० दो० २२)।

(४) 'तलफत मीन पाव···'—इस उपमा से सूचित किया गया कि श्रीहनुमान्‌जी ने ही इनके प्राण बचाये; यथा—"नाथ काज कीन्हेउँ हनुमाना। राखे सकल कपिन्ह के प्राना" (दो० २८); पहले इनको देखकर सुखी हुए थे; यथा—"हरषे सब बिलोकि हनुमाना।" अब इनसे मिलकर भी सुखी हुए; यथा—'मिले सकल अति···' पहले श्रीहनुमान्‌जी ने कहा था; यथा—"तब लगि मोहि परिखेहु तुम्ह भाई।···" तदनुसार उन्होंने परखा था और आप आ गये।

"आये कपि सब जहँ रघुराई"—प्रकरण

चले हरषि रघुनायक पासा। पूछत-कहत नवल इतिहासा ॥६॥
तब मधुबन भीतर सब आये। अंगद संमत मधुफल खाये ॥७॥
रखवारे जब बरजन लागे। मुष्टि-प्रहार हनत सब भागे ॥८॥

दोहा—जाइ पुकारे ते सब, बन उजार जुवराज।
सुनि सुग्रीव हरष कपि, करि आये प्रभु - काज ॥२८॥

अर्थ—सब हर्ष-पूर्वक श्रीरघुनाथजी के पास चले, नवीन इतिहास पूछते और कहते जाते हैं ॥६॥ तब सब मधुवन के भीतर आये और श्रीअंगदजी के सम्मत से मीठे-मीठे फल खाये ॥७॥ जब रखवाले मना करने लगे, तब घूँसों का प्रहार करते ही वे सब (रखवाले) भाग गये ॥८॥ उन सबों ने जाकर पुकार की कि युवराज अंगदजी वन को उजाड़ रहे हैं, यह सुनकर श्रीसुग्रीवजी हर्षित हुए कि वानर प्रभु का कार्य करके आये हुए हैं ॥२८॥

विशेष—(१) 'चले हरषि ···'—यहाँ दर्शन, स्पर्श और समागम यथाक्रम कहा गया है; यथा—'हरषे सब बिलोकि हनुमाना।'—दर्शन, 'मिले सकल अति भये सुखारी।'—स्पर्श और यहाँ—'पूछत कहत' समागम है। कहा भी है—"जब द्रवहिं दीनदयालु राघव साधु-संगति पाइये। जेहि दरस परस समागमादिक पाप-रासि नसाइये॥" (वि० १३५), इन (संत-दर्शनादि)-से श्रीरामजी की प्राप्ति होती है, अतएव 'चले रघुनायक पासा' कहा गया है। ऐसा नहीं कहा गया कि श्रीसुग्रीवजी के पास चले, यद्यपि ये लोग पहले श्रीसुग्रीवजी से मिलकर तब श्रीरामजी के पास जायँगे। 'चले हरषि'—(क) राम-दर्शन की उत्कंठा से। (ख) इसलिये भी कि श्रीरामजी हम सबों पर प्रसन्न होंगे। (ग) यात्रा में हर्ष का होना शकुन भी है। 'नवल इतिहासा'—लंका का वर्त्तमान वृत्तान्त, यथा—"सीय को सनेह सील, तथा कथा लंक की, कहत चले चाय सों, सिरानो पंथ छन मे।" (क० सुं० ३१)। 'पूछत कहत'—जितना लोग पूछते जाते हैं, उतना ही ये कहते जाते हैं, क्योंकि श्रीहनुमान्‌जी अपना पुरुषार्थ स्वयं नहीं कहना चाहते।

वाल्मी० ५।५८।१–६ में जाम्बवान्‌जी का पूछना कहा गया है कि तुमने श्रीसीता देवी को कैसे देखा? वे वहाँ किस प्रकार रहती हैं? क्रूरकर्मा रावण उनके साथ कैसा वर्त्ताव करता है? हे महाकपि! हमसे सभी बातें ठीक-ठीक कहो। श्रीसीताजी को तुमने किस तरह ढूँढ़ा, उन्होंने क्या उत्तर दिया है? तब हमलोग शेष विचार करेंगे। श्रीरामजी से कौन बात कही जाय और कौन नहीं, यह सब निश्चय कर लें।

(२) 'तब मधुबन भीतर सब आये।'' ···'—कथा कहते-सुनते मार्ग शीघ्र समाप्त हो गया; 'सिरानो पंथ छन में' यह ऊपर कहा ही गया है; यथा—"बरनत पंथ बिबिध इतिहासा। बिस्वनाथ पहुँचे कैलासा॥" (बा० दो० ५७)। "पंथ कहत निज भगति अनूपा। मुनि आश्रम पहुँचे सुरभूपा॥" (आ० दो० ११)। इससे उपदेश भी है कि राम-कथा कहते-सुनते हुए मार्ग में चलना चाहिये।

'भीतर सब आये'—अर्थात् यह वन बहुत भारी था। 'अंगद संमत'—दीपदेहली है। वन-प्रवेश और उसके फल खाने में भी श्रीअंगदजी की सम्मति है; यथा—"कह्यो जुवराज बोलि बानर-समाज आज खाहु फल सुनि पेलि पैठे मधुवन में। मारे बागवान, ते पुकारत देवान गे, उजारे बाग अंगद दिखाये घाय तन मे॥" (क० सु० ३१), सभी वानरों ने समुद्र-तट पर अनशन व्रत किया था और तभी से भूखे थे, तो भी श्रीअंगदजी की आज्ञा से खाया, क्योंकि वे युवराज हैं, अतएव इसके मालिक ही हैं।

(३) 'रखवारे जब ·· ······'—'रखवारे' और 'लागे' शब्द से रक्षकों का बहुत होना सूचित किया गया है। वानरों ने उन्हें मारा, क्योंकि उन्होंने युवराज की आज्ञा नहीं मानी। इस सुरक्षित वन के भोगने

में वानरों को तीन प्रकार के बल हैं—(क) युवराज की आज्ञा। (ख) राम-कार्य करने का ; यथा—"जौ न होति सीता-सुधि पाई। मधुवन के फल सकहिं कि खाई॥" आगे कहा ही है। (ग) क्षुधार्त्त थे। अतः, धर्म-दृष्टि से भी फल खा सकते हैं।

(४) 'जाइ पुकारे ते सब······'—'ते सब' से वन के बहुत विभागों के बहुत रक्षकों का अपनी-अपनी हद में वानरों को मना करना और फिर उनसे मार खा-खाकर जा पुकारना जनाया गया। कोई यदि नहीं जाता तो उससे उत्तर माँगा जाता कि तुमने खबर क्यों नहीं दी। इन रखवालों का दारोगा दधिमुख था। उसे श्रीअंगदजी ने स्वयं ही पीटा। ऐसा वाल्मीकीय रामायण में कहा गया है। 'जुवराज'—पहले अंगद-सम्मत कहा गया था, यहाँ युवराज कहा गया, इससे सूचित किया गया कि सब दोष श्रीअंगदजी के ही हैं, जब उन्होंने मालिक (युवराज) होकर आज्ञा दी, तब सबने फल खाया ; यथा—"सर्वं चैवाङ्गदे दोषं श्रावयिष्याम पार्थिवे। अमर्षी वचनं श्रुत्वा घातयिष्यति वानरान्॥" (वाल्मी॰ ५।६१।१२); अर्थात् सभी दोष श्रीअंगदजी के विषय में ही कहूँगा, तो क्रोधी राजा वानरों को मारेंगे। 'सुनि सुग्रीव हरष······'—अभी तक श्रीसुग्रीवजी इसके लिये चिन्तित थे, अब अभीष्ट कार्य का होना समझकर उन्हें हर्ष हुआ। इसीसे उन्होंने अपने प्रिय उपवन के नाश पर भी इसे सुख ही माना।

जौ न होति सीता-सुधि पाई। मधुवन के फल सकहिं कि खाई॥१॥
येहि बिधि मन बिचार कर राजा। आइ गये कपि सहित समाजा॥२॥
आइ सबन्हि नावा पद सीसा। मिलेउ सबन्हि अति प्रेम कपीसा॥३॥
पूछी कुसल कुसल पद देखी। राम-कृपा भा काज बिसेखी॥४॥

अर्थ—जो श्रीसीताजी की सुधि नहीं पाये होते, तो मधुवन के फल क्या खा सकते थे ? अर्थात् कभी नहीं॥१॥ राजा मन में इस प्रकार विचार करते थे कि कपि अपने समाज सहित आ गये॥२॥ सबों ने आकर मस्तक नवाया, कपिराज सुग्रीव सबों से अत्यन्त प्रेम के साथ मिले॥३॥ और कुशल पूछी, (उन्होंने उत्तर दिया कि) आपके चरणों के दर्शनों से कुशल है, श्रीरामजी की कृपा से विशेष कार्य हुआ॥४॥

विशेष—(१) 'जौ न होति सीता-सुधि······'—इसका अनुमान इससे है कि यह वन श्रीसुग्रीवजी को बहुत प्रिय है; यथा—"नैवर्क्षरजसा राजन्न त्वया न च वालिना। वनं निसृष्टपूर्वं ते नाशितं तत्तु वानरैः॥" (वाल्मी॰ ५।६३।१५); ऐसे वन का उपभोग वानर लोग बिना राम-कार्य किये नहीं कर सकते।

वाल्मी॰ ५।६३ में श्रीसुग्रीवजी के विचार कहे गये हैं कि बिना कार्य किये वानरों को ऐसा साहस नहीं हो सकता। फिर जिस समाज में श्रीजाम्बवान्‌जी के समान संचालक, श्रीअंगदजी के समान नेता और श्रीहनुमान् जैसे बुद्धिवाले हों, वह दल अन्याय तो कर ही नहीं सकता। अवश्य ये वानर श्रीसीताजी का पता लगाकर आये हैं। श्रीहनुमान्‌जी ने ही पता लगाया होगा, क्योंकि ऐसी बुद्धि और शक्ति केवल उन्हीं में है। इस मधुवन पर देवता भी दृष्टि नहीं डाल सकते। इसका उपभोग बिना कार्य किये वानर कभी न करते, इत्यादि।

यद्यपि रक्षकों ने वन का नाम नहीं कहा, तथापि श्रीसुग्रीवजी उन्हें एवं उनमें प्रधान दधिमुख को पहचानते हैं, इसीसे मधुवन के परिचय देने की आवश्यकता नहीं हुई। उत्तम विचार के सम्बन्ध

से एवं प्रसन्नता से ही उपयुक्त शब्द 'राजा' का प्रयोग किया गया, क्योंकि श्रीसुग्रीवजी अभी अत्यन्त शोभा को प्राप्त हैं। 'राजृ-दीप्तौ' धातु से 'राजा' शब्द बनता है; अतएव प्रकाशित एवं सुशोभित व्यक्ति को राजा कहा जाता है। 'राजा' इसलिये भी कहा गया है कि आतुरता में स्वयं सिपाहियों के पास नहीं चले गये, किन्तु गंभीरता से बैठे विचार ही करते रहे, तब तक वानर-समाज आ गये। 'आइ गये' अर्थात् इन लोगों ने फल खाने और आने में शीघ्रता की।

(२) 'आइ सबन्हि नावा···'—चलते समय वानरों ने श्रीसुग्रीवजी को प्रणाम नहीं किया था, आतुरता में भूल गये थे; यथा—"वचन सुनत सब वानर, जहँ तहँ चले तुरंत।" (कि॰ दो॰ २२); प्रधान-प्रधान वानरों ने तो प्रणाम किया ही था; यथा—"आयसु माँगि चरन सिर नाई। चले···" (कि॰ दो॰ २३); इस समय सबने प्रणाम किया। 'मिलेउ सबन्हि अति प्रीति···'—भाव यह है कि बराबर का मानकर उन्हें आदर देते हुए सबसे गले लगकर मिले, क्योंकि ये राम-कार्य कर आये हैं, श्रीसुग्रीवजी ने कहा ही था; यथा—"यश्च मासान्निवृत्तोऽग्रे दृष्टा सीतेति वक्ष्यति। मत्तुल्यविभवो भोगैः सुखं स विहरिष्यति॥···'मम बन्धुर्भविष्यति।" (वाल्मी॰ ४।४१।४८–४९)। नीति है; यथा—"प्रीति विरोध समान सन, करिय नीति असि आहि।" (लं॰ दो॰ २३); अतः, बराबर मानने से ही 'अति प्रीति' से मिलना लिखा है।

'नावा'—एकवचन है, क्योंकि सबने एक साथ ही प्रणाम किया है। यद्यपि समुद्र-तट से सब श्रीरघुनाथजी के पास को चले थे; यथा—'चले सकल रघुनायक पासा।' ऊपर कहा गया है, तथापि यहाँ पहले श्रीसुग्रीवजी के पास इसलिये आये कि इससे श्रीसुग्रीवजी की कीर्त्ति बढ़ेगी कि इन्होंने समाचार मँगाकर श्रीरामजी की सेवा की। नहीं तो यही कहा जाता कि श्रीसुग्रीवजी ने क्या किया? कार्य तो केवल वानरों ने ही किया है। 'मिले सबन्हि अति···'—जैसे श्रीरामजी प्रायः अनन्त रूप से सबसे एक साथ मिल लेते हैं वैसा यहाँ कुछ कहा नहीं गया। इससे ऐसा समझना चाहिये कि सब सेना भीतर राजा के समीप नहीं गई, मुख्य-मुख्य परिमित संख्या में लोग गये और उन सबों ने एक साथ ही प्रणाम किया और श्रीसुग्रीवजी सबसे मिले।

(३) 'राम-कृपा भा काज बिसेषी'; यथा—"प्रभु की कृपा भयउ सब काजू।" यह आगे कहा है। 'सीतहि देखि कहहु सुधि आई।' यह कार्य है। राक्षसों का मारना, शत्रु का नगर जलाना आदि विशेष है। 'राम-कृपा' कहा गया, क्योंकि श्रीसुग्रीवजी राम-कृपा ही से सब कुछ होना मानते हैं; यथा—"नाथ कृपा मन भयउ अलोला।"; "अब प्रभु कृपा करहु येहि भाँती (कि॰ दो॰ ६); इत्यादि। यदि श्रीसुग्रीवजी से कहते कि आपकी कृपा से हुआ, तो वे इससे अप्रसन्न होते। प्रत्यक्ष भी है—स्वयंप्रभा, संपाती एवं विभीषण का मिलना आदि दैव-योग ही कहे जा सकते हैं। स्वयं रावण के द्वारा ही तेल-पट से आग का प्रबन्ध एवं उससे सोने की लंका का जलकर खाक होना भी वैसा ही है। हाँ, श्रीसुग्रीवजी के सम्मान के लिये 'कुसल पद देखी' कहा गया है।

(४) 'पूछी कुसल' में वचन, 'मिलेउ सबन्हि' में कर्म और 'मन विचार कर राजा' में श्रीसुग्रीवजी के मन की वृत्ति वानरों के प्रति कही गई है। इससे वानरों के प्रति श्रीसुग्रीवजी की प्रीति मन, वचन और कर्म से दिखलाई गई है।

नाथ काज कीन्हेउ हनुमाना। राखे सकल कपिन्ह के प्राना॥५॥
सुनि सुग्रीव बहुरि तेहि मिलेऊ। कपिन्हसहित रघुपति पहिं चलेऊ॥६॥

राम कपिन्ह जब आवत देखा। किये काज मन हरप बिसेखा ॥७॥
फटिकसिला बैठे दोउ भाई। परे सकल कपि चरनन्हि जाई ॥८॥

दोहा—प्रीति-सहित सब भेटे, रघुपति करुना-पुंज।
पूछी कुसल नाथ अब, कुसल देखि पद-कंज ॥२९॥

अर्थ—हे नाथ ! श्रीहनुमान्‌जी ने कार्य किया और सब वानरों के प्राणों की रक्षा की ॥५॥ यह सुनकर श्रीसुग्रीवजी उनसे फिर मिले और वानरों के साथ श्रीरघुनाथजी के समीप चले ॥६॥ श्रीरामजी ने वानरों को कार्य किये हुए (अतएव) मन में विशेष आनंदित आते देखा, तब (उनके) मन में विशेष हर्ष हुआ (या, वे लोग कार्य किये हुए हैं अतएव उनके (ही) मन में विशेष हर्ष है) ॥७॥ (गुफा से निकलकर) दोनों भाई स्फटिकशिला पर आकर बैठे, सब वानर जाकर चरणों पर पड़े ॥८॥ करुणा के समूह श्रीरघुनाथजी सबसे प्रीतिपूर्वक मिले और कुशल पूछी, (उन्होंने कहा कि) हे नाथ ! आपके चरण-कमलों के दर्शनों से अब कुशल है ॥२९॥

विशेष—(१) 'नाथ काज कीन्हेउ हनुमाना।···'—पूर्व इतना ही कहा था कि 'भा काज बिसेषी' अब कार्यकर्त्ता भी कहे जाते हैं कि श्रीहनुमान्‌जी ने कार्य किया। 'राखे सकल···'—"अवधि मेटि जो बिनु सुधि पाये। आवे··" इस प्रतिज्ञा से रक्षा की। और भी ; यथा—'मरन चहत सब बिनु जलपाना।' इस अवसर पर जल पिलाकर सबको बचाया था।

(२) 'सुनि सुग्रीव बहुरि तेहि···'—यह दोबारा मिलना, कृतज्ञता का द्योतक है कि इनके द्वारा हम सत्यप्रतिज्ञ हुए। सब वानर प्रिय हैं, इससे उनसे मिले और श्रीहनुमान्‌जी अति प्रिय हैं, इसलिये इनसे दोबारा मिले। 'कपिन्ह सहित···'—जैसे सब वानर समाज-सहित इनसे मिले, वैसे ही ये भी अपने समाज सहित श्रीरघुपति के पास चले, क्योंकि जैसे वानरों के स्वामी कपिपति श्रीसुग्रीवजी हैं, वैसे ही कपिपति के भी स्वामी रघुपति हैं। 'चलेऊ'; यथा—"हरषि चले सुग्रीव तब, अंगदादि कपि साथ।···" (कि॰ दो॰ १०)।

(३) 'राम कपिन्ह जब···'—श्रीरामजी तो वानरों की राह देख रहे थे कि कब सीता-शोध मिले और फिर इसका उपाय करूँ, इसलिये पहले उन्हीं का देखना कहा गया है। 'किये काज मन···'—यों तो श्रीरामजी सदा हर्षित ही रहते हैं, पर इस समय उन्हें विशेष हर्ष हुआ। कार्य-सिद्धि पर ऐसे ही सबको हर्ष हुआ है ; यथा—"हरषे सब बिलोकि हनुमाना। नूतन जन्म कपिन्ह तब जाना ॥" (दो॰ २७); "सुनि सुग्रीव हरष कपि, करि आये प्रभु-काज ॥" (दो॰ २८)।

(४) 'फटिकसिला बैठे···'—गुफा से निकलकर बैठे कि जिससे सबसे मिलने में कठिनाई न हो। इससे यह भी जनाया गया कि दिन एक पहर रह गया है ; यथा—"सिय संग·· बैठे प्रभु भ्राता सहित, दिवस रहा भरि जाम ॥" (बा॰ दो॰ २१७); 'परे···चरनन्हि' अर्थात् साष्टाङ्ग दंडवत् की। श्रीसुग्रीवजी को केवल शिर नवाया था ; यथा—"आइ सबन्हि नावा पद सीसा।" पुनः यहाँ चरणों का विशेषण 'कंज' भी है, यह अधिकता है। पहले जाते समय चरणों में शिर नवाना-मात्र कहा गया है; यथा—"आयसु माँगि चरन सिर नाई।" (कि॰ दो॰ २२); क्योंकि उस समय आतुरता में थे, अब सावधान हैं। 'जाई' शब्द से जान पड़ता है कि कवि भक्तों के पक्ष में हैं।

(५) 'प्रीति सहित सब भेंटे'...'—सबसे एक साथ ही अनंत रूप से मिले ; यथा—"अस कपि एक न'''यह कछु नहिं प्रभु कै अधिकाई। विश्वरूप व्यापक रघुराई ॥" (कि॰ दो॰ २१) ; 'भेंटे', क्योंकि सखा मानते हैं ; यथा—"ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे।" (उ॰ दो॰ ७) ; 'करुनापुंज'—क्योंकि जिनका ध्यान मुनियों को भी दुर्लभ है, वे ही करुणा करके वानरों को बराबर का पद देकर उनसे मिल रहे हैं ; यथा—"मुनि जेहि ध्यान न पावहिं'''कृपासिंधु सोइ कपिन्ह सन, करत अनेक विनोद ॥" (लं॰ दो॰ ११६)। 'कुसल देखि पद कंज' : यथा—"अब मैं कुसल'''देखि राम पद कमल तुम्हारे ॥" (दो॰ ४६)।

"वैदेही कै कुसल सुनाई"—प्रकरण

जामवंत कह सुनु रघुराया। जा पर नाथ करहु तुम्ह दाया ॥१॥
ताहि सदा सुभ कुसल निरंतर। सुर-नर-मुनि प्रसन्न ता ऊपर ॥२॥
सोइ बिजई बिनई गुन-सागर। तासु सुजस त्रैलोक उजागर ॥३॥

अर्थ—श्रीजाम्ववान्‌जी कहते हैं—हे रघुराज ! सुनिये, हे नाथ ! जिसपर आप कृपा करें ॥१॥ उसको सदा ही शुभ और निरंतर उसकी कुशल है, देवता, मनुष्य और मुनि सभी उसपर निरन्तर प्रसन्न रहते हैं ॥२॥ वही विजयी, विनयी एवं गुणसागर है और उसीका सुयश तीनों लोकों में प्रकाशित रहता है ॥३॥

विशेष—(१) 'जामवंत कह'''—ऊपर वानरों की उक्ति थी। अब श्रीजाम्ववान्‌जी कहते हैं। अतः, श्रीसुग्रीवजी के यहाँ—'नाथ काज कीन्हेउ हनुमाना।''' यह भी इन्हीं की उक्ति थी। 'जा पर नाथ'''—भाव यह है कि हमलोगों पर आपकी दया है। 'ताहि सदा सुभ'''—भाव यह कि औरों की प्रसन्नता में यह बात नहीं है ; यथा—"सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती ॥" (कि॰ दो॰ ११) ; पर श्रीरामजी की दया से सभी अनुकूल हो जाते हैं ; यथा—"राम सुहाते तोहिं जो तू सबहिं सुहातो ॥" (वि॰ १५२), तथा—"देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्त्तम् ॥" (भाग॰ ११।५।४१) ; अर्थात् शरणागत पर भगवान् प्रसन्न होते हैं, तब जीव सुर, नर, मुनि सम्बन्धी देव, पितृ और ऋषि-ऋण से मुक्त हो जाता है। 'सोइ बिजई बिनई'''—विजय की शोभा विनय से और गुणों की शोभा उनसे यश प्राप्त करने में है, ऐसे ही क्रम से कहे गये हैं ; तथा—विजयी, विनयी ही नहीं, किंतु वह तो सब गुणों का सागर हो जाता है। तात्पर्य यह है कि हम सबमें विशेषकर श्रीहनुमान्‌जी पर आपकी दया है ; यथा—"करं मुद्रिका दीन्हि जन जानी।'''" इसीसे उनमें सभी गुण आ गये। जैसे कि लंका में उन्होंने सबपर विजय पाई, उसपर भी अभिमान नहीं, प्रत्युत् विनयी हैं। मैनाक, सुरसा, लंकिनी एवं रावण-संवाद आदि प्रसंगों में इनकी गुण-सागरता प्रसिद्ध है और लंका-दहन आदि का सुयश तीनों लोकों में देदीप्यमान् है।

प्रभु की कृपा भयउ सब काजू। जनम हमार सुफल भा आजू ॥४॥
नाथ पवन-सुत कीन्हि जो करनी। सहसहु मुख न जाइ सो बरनी ॥५॥
पवन-तनय के चरित सुहाये। जामवंत रघुपतिहि सुनाये ॥६॥

अर्थ—प्रभु (आप) की कृपा से सब कार्य हुए, आज हमलोगों के जन्म सुफल हुए ॥४॥ हे नाथ ! पवनपुत्र श्रीहनुमान्‌जी ने जो करनी की है, उसका वर्णन हजारों मुखों से नहीं किया जा सकता ॥५॥ श्रीजाम्बवान्‌जी ने पवनपुत्र के सुन्दर चरित श्रीरघुनाथजी को सुनाया ॥६॥

विशेष—(१) 'प्रभु की कृपा भयउ ...'—आप 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं। अत, आपकी कृपा से ही सभी कार्य हुए। नहीं तो हमलोगों मे ऐसी योग्यता नहीं थी। पहले भी कहा था, यथा—"राम कृपा भा काज बिसेषी।" 'सब काजू'—श्रीहनुमानजी के द्वारा होनेवाले सब चरित। 'जनम हमार सफल ...'—यात्रा के समय श्रीसुग्रीवजी ने कहा ही था, यथा—"देह धरे कर यह फल भाई। भजिय राम सब काम बिहाई॥" (कि० दो० ११), तदनुसार अब हम जन्म की सार्थकता मानते हैं। 'आजू'—कार्य यह सौंपा गया था—"बहु प्रकार सीतहि समुझायहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयहु॥" (कि० दो० ११) उसकी पूर्ति आज ही हुई, क्योंकि श्रीसीताजी से समाचार लेकर आज स्वामी से कह रहे हैं।

(२) 'नाथ पवनसुत कीन्हि ...'—'करनी, अर्थात् पुरुषार्थ, यथा—"जूझे सकल सुभट करि करनी।" (बा० दो० १७४) पुरुषार्थ बल से होता है, इस सम्बन्ध मे 'पवन सुत' कहा है, यथा—"पवन-तनय बल पवन समाना।" (कि० दो० ११), 'सहसहुँ मुख ...'—क्योंकि भक्तचरित भी अनन्त हैं, यथा—"सुनु मुनि साधुन के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते" (बा दो० ४५), प्रभु के पराक्रम मे इससे भी अधिकता है, यथा—"राम-तेज-बल-बुधि बिपुलाई। सेष सहस सत सकहिं न गाई॥" (दो० ५५), यह श्रीगोस्वामीजी की सँभाल है।

(३) 'पवन-तनय के चरित ...'—रुद्रावतार वायुपुत्र के चरित्र हैं, ब्रह्मावतार श्रीजाम्बवान्‌जी वक्ता और स्वय भगवान् श्रीरामजी श्रोता हैं। अत, सभी अग योग्य है, यथा—"श्रोता वक्ता ज्ञाननिधि, कथा राम कै गूढ" (बा० दो ३०), रामचरित के समान ही भक्त-चरित भी गूढ है। 'जामवंत रघुपतिहि सुनाये ...'—श्रीजाम्बवान्‌जी ने पूछ-पूछकर जान लिया है, यथा—"पूछत कहत नवल इतिहासा।" (दो० २१), स्वामी के सामने सकोच से श्रीहनुमान्‌जी न कहते, इसीसे श्रीजाम्बवान्‌जी ने सुनाया।

सुनत कृपानिधि मन अति भाये। पुनि हनुमान हरषि हिय लाये॥७॥
कहहु तात केहि भाँति जानकी। रहति करति रच्छा स्वप्रान की॥८॥

दोहा—नाम पाहरू राति-दिन, ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित, जाहिं प्रान केहि बाट॥३०॥

अर्थ—सुनते ही व (चरित एव उनके कर्त्ता श्रीहनुमान्‌जी) कृपासागर श्रीरामजी को अत्यन्त प्रिय लगे और हर्षित होकर उन्होंने श्रीहनुमान्‌जी को फिर हृदय से लगाया। ७॥ (और कहा—) हे तात ! कहो, श्रीजानकीजी किस प्रकार रहती और अपने प्राणों की रक्षा करती है ? ॥८॥ (श्रीहनुमान्‌जी ने कहा—) आपका नाम रात दिन का पहरा देनेवाला और आपका ध्यान किंवाडा है। नेत्रों को अपने चरणों में लगाये हुई हैं यही ताला लगा हुआ है, (तब कहिये कि) प्राण किस मार्ग से जा सकते हैं ? ॥३०॥

विशेष—(१) 'सुनत कृपानिधि मन ...'—एक बार सब वानरों के साथ मिल चुके है यथा—"प्रीति सहित सब भेंटे, रघुपति करुनापुंज" यह ऊपर कहा गया है। अब श्रीहनुमान्‌जी के द्वारा अपना

उपकार होना मानकर श्रीरामजी उनसे पृथक् मिले, यह कृतज्ञता-ज्ञापन है; यथा—"हरषि राम भेंटेउ हनुमाना। अति कृतज्ञ प्रभु परम सुजाना॥" (लं० दो० ६०); पहली भेंट में श्रीरामजी को 'करुनापुंज' कहा गया था और अब 'कृपानिधि' कहा, क्योंकि इन लोगों के द्वारा जो कार्य हुए, वे आपकी ही शक्ति एवं प्रेरणा से हुए हैं; यथा—"पौरुषं नृषु।" (गी० ७।८); अर्थात् मनुष्यों में पुरुषार्थ भगवदंश से है। तथा—"मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥" (गी० ११।३३); अतः, वानरों को बड़ाई देना इनकी कृपा ही है। 'अति भाये'—पहले जो श्रीजाम्बवान्‌जी ने कहा था; यह—"जा पर नाथ करहु तुम्ह दाया।' से 'जनम हमार सुफल भा आजू॥" तक, वह 'भाया' और ये पवन-तनय के चरित 'अति भाये' क्योंकि आप अपने चरित की अपेक्षा भक्त-चरित को बहुत अधिक मानते हैं; यथा—"निज करुना करतूति भगत पर चपत चलत चरचाउ। सकृत-प्रनाम-प्रनत-जस बरनत सुनत कहत फिरि-गाउ॥" (वि० १००); पुनः इससे स्वामी और सेवक की अन्योन्य प्रीति भी दिखाई गई। जैसे श्रीहनुमान्‌जी को राम-चरित अति भाया था; यथा—"जामवंत के वचन सुहाये। सुनि हनुमंत हृदय अति भाये॥" (दो० १); वैसे ही यहाँ—'सुनत कृपानिधि मन अति भाये।' कहा है, क्योंकि "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११); ऐसा ही नियम श्रीमुख-कथित है।

(२) 'केहि भाँति जानकी। रहति करति···'—दुष्टों के बीच में वे कैसे रहती हैं? यथा—"खल-मंडली बसहु दिन राती। सखा धरम निबहै केहि भाँती॥" (दो० ४५); पुनः प्राणों की रक्षा कैसे करती हैं, श्रीअवध में तो कहती थीं—"राखिय अवध जो अवधि लगि, रहत जानियहि प्रान।" (अ० दो० ६६); अतः, मुझे तो विश्वास नहीं होता कि वे मेरे वियोग में जीती होंगी; यथा—"मद्विहीना वरारोहा हनुमन् कथयस्वमे॥ दुःखाद्दुःखतरं प्राप्य कथं जीवति जानकी।" (वाल्मी० ५।६६।१५)।

(३) 'नाम पाहरू राति-दिन···'; यथा—"जेहि बिधि कपट कुरंग सँग, धाइ चले श्रीराम। सो छबि सीता राखि उर, रटति रहति हरि नाम॥" (आ० दो० २६); श्रीहनुमान्‌जी ने श्रीसीताजी को ऐसी ही दीन दशा में देखा था; यथा—"निज पद नयन दिये मन रामचरन महँ लीन। परम दुखी भा पवनसुत, देखि जानकी दीन॥" (दो० ८); तथा—"रघुकुल-कमल बियोग तिहारे। मैं देखी जब जाइ जानकी मनहुँ बिरह मूरति मन मारे॥ चित्र से नयन अरु गढ़े से चरन कर, मढ़े से श्रवन नहिं सुनति पुकारे। रसना रटति नाम, कर सिर चिर रहै नित, निज पद कमल निहारे॥ दरसन-आस-लालसा मन महँ राखे प्रभु ध्यान प्रान रखवारे। तुलसिदास पूजति त्रिजटा नीके रावरे गुन-गन-सुमन सँवारे॥" (गी० सुं० १८)। 'राति दिन'—निरंतर इसी वृत्ति से रहती हैं; यथा—"बैठेहि बीति जात निसि जामा॥" (दो० ७); तथा—"रामेति रामेति सदैव बुद्धया विचिन्त्य वाचा ब्रुवती तमेव। तस्यानुरूपं च कथां तदर्थामेवं प्रपश्यामि तथा शृणोमि॥" (वाल्मी० ५।३२।१२), अर्थात् मैं सर्वदा श्रीरामजी ही को अपने मन में सोचा करती हूँ, मुँह से राम-राम ही कहा करती हूँ, इसी से अपने विचारों के अनुरूप यह वचन सुन रही हूँ और देख रही हूँ।

भाव यह है कि वे आपकी मूर्त्ति और नाम से निरंतर संयोग रखती हैं, उनका आपमें ऐसा प्रेम है कि क्षण-भर के वियोग में भी प्राण निकल जायँ, पर ऐसा होने नहीं पाता। आगे स्पष्ट है, यथा—"अवगुन एक मोर मैं जाना। बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना॥ नाथ सो नयनन्हि कर अपराधा। निसरत प्रान करहिं हठि बाधा॥" इत्यादि।

(४) 'प्रान जाहिं केहि बाट'—भाव यह कि प्राण कैदी की तरह देह में बने हैं। इसी विषय पर श्रीकौशल्याजी ने भी कहा है—"लगेइ रहत मेरे नयनन्हि आगे राम लखन अरु सीता। तदपि न मिटत

दाह या उर को विधि जो भयो बिपरीता ॥ दुख न रहै रघुपतिहिं बिलोकत तन न रहै बिनु देखे। करत न प्रान पयान सुनहु सखि अरुझि परी यहि लेखे ॥" (गी० सु० ५१)।

यहाँ मन, कर्म और वचन से श्रीजानकीजी की भक्ति दिखाई गई है—'नाम पाहरू'—वचन की, 'ध्यान तुम्हार'—मन की और 'लोचन निज पद जंत्रित' में कर्म की भक्ति है। इनमें क्रमशः वैराग्य, भक्ति और योग के भी अंग हैं।

वानरों का व्यवहार श्रीसुग्रीवजी और श्रीरामजी के साथ समान हुआ।

	श्रीसुग्रीवजी	श्रीरामजी
१	सुनि सुग्रीव हरप कपि, करि आये प्रभु-काज।	राम कपिन्ह जब आवत देखा। किये काज मन हरप विसेपा ॥
२	आइ सबन्हि नावा पद सीसा।	परे सकल कपि चरनन्ह जाई।
३	मिलेउ सबन्हि अति प्रेम कपीसा	प्रीति सहित सब भेंटे, रघुपति०।
४	पूछी कुसल कुसल पद देखी	पूछी कुसल नाथ अब, कुसल देखि पद कंज।
५	राम-कृपा भा काज विसेखी	प्रभु की कृपा भयउ सब काजू।
६	नाथ काज कीन्हेउ हनुमाना।	नाथ पवनसुत कीन्हि जो करनी।
७	सुनि सुग्रीव बहुरि तेहि मिलेऊ	पुनि हनुमान हरपि हिय लाये।

चलत मोहि चूड़ामनि दीन्ही। रघुपति हृदय लाइ सोइ लीन्ही ॥१॥
नाथ जुगल लोचन भरि बारी। बचन कहे कछु जनक-कुमारी ॥२॥

अर्थ—चलते समय मुझको चूडामणि दिया, (यह कहते हुए श्रीहनुमान्जी ने उसे श्रीरामजी को दे दिया) श्रीरघुनाथजी ने उसे हृदय से लगा लिया ॥१॥ हे नाथ ! दोनों नेत्रों में जल भरकर श्रीजानकीजी ने कुछ वचन कहे हैं ॥२॥

विशेष—(१) 'चलत मोहि चूड़ामनि दीन्ही।'—'चलत'—इनके चलते समय श्रीजानकीजी विह्वल हो गई थीं। इसीसे माँगने पर उन्होंने मणि दी थी। पर श्रीहनुमान्जी ने माँगने पर देना नहीं कहा, क्योंकि उससे उनके प्रेम में न्यूनता पाई जाती। सँभालकर कहा कि चलते समय उन्होंने इसे मुझे दिया है। 'मोहि दीन्ही' कहकर अपनेको उनका कृपा-पात्र जनाया; यथा—"कर मुद्रिका दीन्ह जन जानी।" (कि० दो० २२)।

'रघुपति हृदय लाइ सोइ लीन्ही।'—प्रिय का पदार्थ प्रिय के तुल्य होता है, ऐसा समझकर श्रीरामजी ने उसे हृदय से लगाया; यथा—"कनक-बिंदु दुइ चारिक देखे। राखे सीस सीय सम लेखे ॥" (अ० दो० १९८); पहले जब श्रीसुग्रीवजी ने वस्त्राभूषण दिये थे, उसे पाकर श्रीरामजी ने बहुत शोच किया था, क्योंकि उस समय श्रीजानकीजी की सुधि नहीं मिली थी। अब सुधि पा जाने से उतनी व्याकुलता नहीं है, इससे शोच नहीं हुआ, प्रत्युत् संतोष हुआ। अब अवसर पाकर चूड़ामणि दिया।

(२) 'नाथ जुगल लोचन भरि बारी।'—आगे श्रीजानकीजी का दुःख कहते हैं, इससे उनके हृदय का दुःख पहले आँसू द्वारा ही कहा, अब आगे वचन द्वारा उनका दुःख कहना और तन से प्रणाम करना भी कहेंगे।

'वचन कहे कछु'—'कछु' का भाव—(क) व्याकुलता के कारण विशेष नहीं कह सकीं ; यथा—"कहि प्रनाम कछु कहन लिय, सिय भइ सिथिल सनेह। थकित वचन लोचन सजल, पुलक पल्लवित देह॥" (अ० दो० १५१)। (ख) मणि देने के अतिरिक्त कुछ वचन भी कहा है, जो चिह्न-रूप है यह जयंत की कथा है—"तात सक्रसुत कथा सुनायहु ,···" उसे यहाँ कहा नहीं, क्योंकि वह गुप्त रहस्य है। संकेत से ही जना दिया। इस तरह कि जब 'जुगल लोचन भरि बारी' कहा, तब श्रीरामजी ने इनके नेत्रों की ओर देखा, क्योंकि समझा कि श्रीजानकीजी की दशा को स्मरण कर श्रीहनुमान्‌जी के भी नेत्रों में आँसू अवश्य ही आ गये होंगे। उस अवसर पर श्रीहनुमान्‌जी ने एक आँख मूँदकर इस संकेत से जयंत को एकाक्ष करने की कथा जना दी। यह इनकी परम बुद्धिमत्ता है, और भी जो कुछ वचन हैं, वे आगे कहते हैं—

अनुज-समेत गहेहु प्रभु - चरना। दीनबंधु प्रनतारति - हरना ॥३॥
मन क्रम बचन चरन - अनुरागी। केहि अपराध नाथ हौं त्यागी ॥४॥
अवगुन एक मोर मैं जाना। बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना ॥५॥
नाथ सो नयनन्हि कर अपराधा। निसरत प्रान करहि हठि बाधा ॥६॥

अर्थ—(कहना कि) अनुज-सहित प्रभु के चरण पकड़े हैं (इस प्रकार प्रणाम करते हुए कहा है कि प्रभो !) आप दीनबंधु हैं और शरणागतों के दुःख हरनेवाले हैं। (वा, हे दीनबन्धो ! हे प्रणतार्त्ति हरण !) ॥३॥ मैं मन, कर्म, वचन से आपके चरणों की अनुरागिणी हूँ, हे नाथ ! किस अपराध से मैं त्याग दी गई ? ॥४॥ मैं मानती हूँ कि मेरा यह एक अवगुण है कि आपसे वियोग होते ही मेरे प्राण नहीं निकल गये (यह दोष त्यागने के योग्य है) ॥५॥ (पर) हे नाथ ! वह अपराध नेत्रों का है (इन्हें दर्शनों की लालसा एवं आशा है, इसीसे ये) प्राण निकलने देने में बाधक होते हैं। ६॥

विशेष—'अनुज-समेत गहेहु प्रभु-चरना।'—श्रीलक्ष्मणजी भक्त एवं पार्षद हैं, प्रभु की पूजा पार्षदों सहित होती है, इस तरह प्रभु के अंग मानकर साथ में उनके भी चरण पकड़े हैं, जैसा श्रीभरतजी ने कहा है—"सोक समाज राज केहि लेखे। लखन-राम-सिय-पद बिनु देखे॥" (अ० दो० १७७); पुनः स्नेह की व्याकुलता से छोटे के भी चरण गहे ; यथा—"बहु बिधि बिलपि चरन लपटानी" (अ०.दो० ५६)। यह श्रीकौशल्याजी के विषय में कहा ही गया है।

'दीनबंधु प्रनतारति हरना'—ऐसा कहकर प्रणाम करने की रीति है—"त्राहि त्राहि आरति हरन, सरन सुखद रघुबीर॥ अस कहि करत दंडवत देखा" (दो० ४५)। भाव यह है कि मैं दीन हूँ, मेरी सहायता कीजिये। आर्त्त हूँ, अतः, मेरा दुःख निवारण कीजिये, इसके लिये मैं आपकी शरण हूँ।

(२) 'मन क्रम बचन चरन···'—मन, कर्म, वचन की भक्ति के उदाहरण ऊपर के दोहे मे लिखे गये हैं। 'केहि अपराध···'—भाव यह कि आप तो अपने जनों के अवगुण को मानते ही नहीं ; यथा—"जन अवगुन प्रभु मान न काऊ।" (उ० दो० १); फिर मेरा दोष क्यों दृष्टि में बसा है ? नाथ !

(३) 'अवगुन एक मोर'…'—पहले कहा था—"रहिय अवध जो अवधि लगि, रहत जानियहि प्रान।" (अ० दो० ६६) उसे मैंने चरितार्थ नहीं किया, यह मेरा अपराध हुआ। उसे मैं मानती हूँ। भाव यह है कि अपराध हो जाने पर उसे मानकर प्रभु से प्रार्थना करे, तो वे उसे क्षमा कर देते हैं। अपराध करके फिर न मानना ढिठाई एवं भारी दोष है। यहाँ 'अवगुन' कहकर इसे ही आगे 'अपराधा' कहा गया है। इस तरह दोनों को पर्याय वाचक जनाया।

(४) 'निसरत प्रान करहिं हठि बाधा।'—भाव यह कि वियोग में प्राण तन में रहना नहीं चाहते, पर नेत्रों ने ही उन्हें हठ करके रोक रक्खा है। आगे तन को भी कहती हैं। भाव यह है कि देह और प्राण दोनों अति प्रिय पदार्थ हैं; यथा—"देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।" (बा० दो० २०७)। पर आपके वियोग में मैं दोनों को नहीं रखना चाहती, पर नेत्रों ने इन्हें हठात् रक्खा है। तन को आगे कहती हैं—

बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माहिं सरीरा ॥७॥
नयन स्रवहिं जल निज हित लागी। जरइ न पाव देह बिरहागी ॥८॥
सीता कै अति बिपति बिसाला। बिनहिं कहे भलि दीनदयाला ॥९॥

दो०—निमिष निमिष करुनानिधि, जाहिं कलप सम बीति।
बेगि चलिय प्रभु आनिय, भुज-बल-खल-दल जीति ॥३१॥

अर्थ—विरह अग्नि है, शरीर रुई और श्वास वायु है (इनसे) शरीर क्षण भर में जल जाय ॥७॥ (पर) नेत्र अपने हित के लिये (दर्शनाकांक्षा से) जल गिराते रहते हैं, जिससे विरहाग्नि से देह जलने नहीं पाती ॥८॥ श्रीसीताजी की विपत्ति अत्यन्त विशाल है, उसे विना कहे ही भला है (भाव यह कि कहना भला नहीं, किंतु उपाय द्वारा उसका निवारण करना ही भला है) ॥९॥ हे करुणानिधि! उन्हें निमिष-निमिष कल्प के समान बीत रहे हैं। हे प्रभो! शीघ्र चलिये और भुजाओं के बल से दुष्टों के दल को जीत कर उन्हें ले आइये ॥३१॥

विशेष—(१) 'विरह अगिनि'……'; यथा—"पावक-विरह, समीर-स्वास, तनु-तूल मिले तुम्ह जारनि हारे। तिन्हहि निदरि अपने हित कारन राखत नयन निपुन रखवारे॥" (कृ० गी० ५६); "विरह आगि उर ऊपर जब अधिकाइ। ये अँखियाँ दोउ बैरिनि देहिं बुझाइ॥" (बरवा ३६); भाव यह है कि विरह की ताप से शरीर के रक्त-मांस सूख गये, केवल रुई के समान सूखा शरीर अवशिष्ट है। विरहाग्नि आहों से भरी स्वासा के सहित यह शरीर रुई की तरह जल सकता है। पर आँखें आपके दर्शनों की आशा से आँसू (पानी) द्वारा विरह को कम किया करती हैं, इसीसे प्राण बचे हुए हैं। रोने में आँसू गिरने से गर्मी शांत हो जाती है, नहीं तो मृत्यु हो जाय। यही प्राण बचाना है। अर्थात् विरहाग्नि से शरीर जलता है, ऊर्ध्वश्वास चलता है, निरंतर आँसू चलते हैं और प्राण निकलना चाहते हैं।

(२) 'नयन स्रवहिं जल'……'—दर्शनों के लिये ही प्राण रक्खे हुई हैं; यथा—"राम-दरस लगि लोग सब, करत नेम उपवास। तजि-तजि भूषन भोग सुख, जियत अवधि की आस॥" (अ० दो० ३२२)।

(३) 'सीता कै अति बिपति बिसाला।'—दुष्टों के बीच में रहना विपत्ति है, उसपर भी आपका वियोग तो विशाल विपत्ति है फिर रावण के द्वारा उपद्रव होते ही रहते हैं, यह अति विशाल विपत्ति है। विपत्ति के साथ 'कराला' उचित था, पर 'बिसाला' कहा गया, क्योंकि यह विपत्ति वियोग-शृंगार-रूप में राम-स्नेह के कारण है, इसी से शोभा-सूचक विशेषण है। जैसा कि राम-स्नेह में देह-त्याग के सम्बन्ध से राजा दशरथ की चिता को भी 'सुहाई' कहा गया है; यथा—"सरजु तीर रचि चिता बनाई। जनु सुर-पुर-सोपान सुहाई॥" (अ० दो० १६६); 'बिनहि कहे भलि···'—रावण ने जैसे-जैसे कटु वचन कहे हैं और मारने की धमकी दी है, यह सब कहने के योग्य नहीं। अतः, उन्हें न कहना ही अच्छा है। अथवा, दीन-दयाल विशेषण के साथ यह भी भाव है कि आप दीन-दयाल होने से अत्यन्त कोमलचित्त हैं, दीनता सुनकर उसे सह न सकेंगे। उन्हें देखकर मैं ही परम दुखी हो गया था; यथा—"परम दुखी भा पवन सुत, देखि जानकी दीन॥" (दो० ८); "देखि परम बिरहाकुल सीता। सो छन कपिहि कलप सम बीता॥" (दो० ११); इसीसे श्रीसीताजी ने भी कहा है; यथा—"सुनु हनुमंत अनंत-बंधु करुना सुभाव सीतल कोमल अति। तुलसिदास यहि त्रास जानि जिय बरु दुख सहौं प्रगट कहि न सकति॥" (गी० सुं० ८)।

(४) 'निमिष-निमिष करुनानिधि·······'—उनकी अति-व्याकुलता को देखकर श्रीहनुमान्‌जी को एक क्षण भी कल्प के समान व्यतीत हुआ था; यथा—"सो छन कपिहि कलप सम बीता।" (दो० ११); जब देखनेवाले के ही क्षण कल्प-समान बीते, तब भोगनेवाले को निमिष कल्प के समान बीतना युक्ति-संगत ही है। निमिष क्षण से भी कम होता है। 'बेगि चलिय'—भाव यह है कि चलने में विलम्ब करने से कहीं वे दसवीं दशा को न प्राप्त हो जायँ।

विरह की दस दशाएँ हैं—१—अभिलाष, २—चिन्ता, ३—स्मृति, ४—गुणकीर्तन, ५—उद्वेग, ६—प्रलाप, ७—उन्माद, ८—व्याधि (संताप), ९—जड़ता, १०—मरण। इनमें श्रीजानकीजी में नौ दशा तक देख आये हैं, इसीसे शीघ्र चलने को कहते हैं।

(५) 'भुजबल खलदल जीति'—भाव यह है कि वहाँ साम, दाम और भेद से काम न चलेगा, वहाँ दंड ही का काम है, यथा—"न साम रक्षः सुगुणाय कल्पते न दान मर्थोपचितेषु युज्यते न भेदसाध्या बलदर्पिता जनाः पराक्रमस्त्वेष ममेह रोचते॥" (वाल्मी० ५।४१।३)। शत्रु की इच्छा युद्ध की ही है; यथा—"जिन्हकै कीन्हेसि बहुत बड़ाई। देखउँ मैं तिन्हकै प्रभुताई।" (दो० १४); अतः, जीत कर ही श्रीसीताजी को लाने को कहते हैं। श्रीजाम्बवान्‌जी ने भी कहा है—"तव निज भुजबल राजिवनैना।···" (कि० दो० ३०) तदनुसार युद्ध ही के लिये इनका कहना भी युक्त है

सुनि सीता-दुख प्रभु सुख-अयना। भरि आये जल राजिव-नयना॥१॥
बचन काय मन मम गति जाही। सपनेहु बूझिय बिपति की ताही॥२॥
कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन-भजन न होई॥३॥
केतिक बात प्रभु जातुधान की। रिपुहि जीति आनिबी जानकी॥४॥

अर्थ—श्रीसीताजी का दुःख सुनकर प्रभु (समर्थ) और सुख के स्थान श्रीरामजी के कमल के समान नेत्रों में जल भर आया॥१॥ वचन, कर्म (देह) और मन से जिसे मेरी गति है, क्या स्वप्न में भी उसे विपत्ति समझ पड़ती है?॥२॥ श्रीहनुमान्‌जी ने कहा—हे प्रभो! विपत्ति वही है कि जब तब (कभी-

कभी उस दुष्ट की बाधाओं से) आपका स्मरण-भजन नहीं होता (अथवा, जब-तब सुमिरण भी नहीं हो पाता और भजन—सेवा—तो होती ही नहीं) ।३। हे प्रभो ! राक्षसों की बात ही कितनी है, शत्रु को जीतकर श्रीजानकीजी को ले आयेंगे ॥४॥

विशेष—(१) 'सुनि सीता-दुःख प्रभु···'—श्रीरामजी 'प्रभु'—अर्थात् समर्थ हैं, पर असमर्थ की तरह दुखी हो गये ; यथा—"क्षणं वीर न जीवेयं विना तामसितेक्षणाम् ।" (वाल्मी० ५।६६।१०) ! 'सुख अयना' हैं, पर भक्त के दुःख से अत्यंत दुखी हो गये ; यथा—"तव दुख दुखी सुकृपा निकेता ।" (दो० ११); 'राजिवनैना'—यह विशेषण कृपासूचक है और दुःखहरण के अर्थ में आता है ; यथा—"राजिवनयन धरे धनु सायक । भगत बिपति भंजन सुखदायक॥" (बा० दो० १७) । यहाँ श्रीसीताजी के दुःखहरण में कृपा करके प्रवृत्त होंगे ।

(२) 'सपनेहु बूझिय बिपति कि ताही ।'—भगवान् के दर्शन सुख रूप ही हैं, चाहे ध्यान से हों चाहे प्रत्यक्ष ; यथा—"जाग न ध्यान जनित सुख पावा ।" (आ० दो० ९) ; "कहँ दुख समय प्रानपति पेखे ।" (अ० दो० ६६) ; मन, कर्म और वचन से राम-गतिक होने से मन निरंतर श्रीरामजी में ही लगा रहता है, तब दुःख का अनुभव होता ही नहीं ; यथा—"मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही । बिनु मन तन दुःख सुख सुधि केही ॥" (अ० दो० २७४) ; 'सपनेहु' मुहावरा है, अर्थात कभी नहीं ।

(३) 'बिपति प्रभु सोई'—श्रीसीताजी मन, कर्म और वचन से आपमें अनुरक्त हैं, पर जब-तब राक्षसों के उपद्रव से उसमें विक्षेप पड़ता है, यही तो विपत्ति है ; यथा—"सा हानिस्तन्महच्छिद्रं स मोहः स च विभ्रमः । यन्मुहूर्त्तं क्षणं वापि वासुदेवं न कीर्तयेत् ॥" यह प्रसिद्ध है । पुनः—"कबहूँ काल न ब्यापिहि तोही सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोही ॥" (उ० दो० ८७) । यह भी कहा है । इसका एक यह भी भाव है कि जब तब स्मरण में भी बाधा डालता है और भजन (सेवा) तो होता ही नहीं, क्योंकि आपके प्रत्यक्ष चरणों से वियोग है ।

(४) 'केतिक बात प्रभु जातुधान की'—आप प्रभु (समर्थ) हैं । आपके समक्ष तो राक्षस कोई चीज ही नहीं हैं; यथा—"रामबान रबि उये जानकी । तम बरूथ कहँ जातुधान की ॥" (सुं० दो० १५) । 'आनबी' शब्द का प्रयोग श्रीहनुमान्‌जी ने अपने तईं भी किया है कि आपकी कृपा से मैं उन्हें लाऊँगा; यथा—"देखी मैं दसकंठ सभा सब मोते कोउ न सबल तो ।" (गी० सुं० १३) । अतः, उसका मारना कुछ बात नहीं है ।

सुनु कपि तोहि समान उपकारी । नहिं कोउ सुर नर मुनि तनु धारी ॥५॥
प्रति उपकार करउँ का तोरा । सनमुख होइ न सकत मन मोरा ॥६॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं । देखेउँ करि बिचार मन माहीं ॥७॥

अर्थ—हे कपि ! सुनो, तुम्हारे समान उपकारी सुर, नर और मुनि एवं कोई भी देहधारी नहीं हैं ॥५॥ मैं तेरा क्या प्रत्युपकार करूँ ? (उपकार के बदले मे क्या करूँ ?) मेरा मन सम्मुख नहीं हो सकता ॥६॥ हे पुत्र ! सुनो, मैं तुमसे उऋण नहीं, मैंने मन मे विचार कर देख लिया ॥७॥

विशेष—(१) 'सुनु कपि तोहि समान···'—(क) सुर-नर-मुनि-तनधारी उपकार करना विशेष जानते हैं, पर जो उपकार तुमने कपि-तन से किया, वैसा इन तीनों उत्तम शरीरवालों में से कोई करनेवाला

नहीं है। अन्य देहधारी जीव तो गौण ही हैं। श्रीमुख-वचन है; यथा—"हनूमान्यदि मे न स्याद्वानराधिपतेः सखा प्रवृत्तिमपि को वेत्तुं जानक्याः शक्तिमान्भवेत्।" (वाल्मी ७।५।१०)। (ख) सुर, नर और मुनि का ऋण जगत्-मात्र पर रहता है—देव-ऋण, पितृ-ऋण और ऋषि-ऋण—ये तीन ऋण हैं; यथा—"ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनोमोक्षे निवेशयेत्॥" (मनुस्मृति)। इस कार्य से वे सब भी तुम्हारे ऋणी हुए, क्योंकि ये सभी रावण से दुखी थे। अतः, उसके मान-भंग से सब सुखी हुए।

(२) 'प्रति उपकार करउँ का···'—तुम्हारे उपकार के योग्य प्रत्युपकार हमसे कुछ नहीं बन पड़ता, इसीसे मन लज्जित हो जाता है; यथा—"कपि सेवा बस भये कनौड़े कहेउ पवनसुत आउ। देबे को न कछू रिनियाँ हौं धनिक तु पत्र लिखाउ॥" (वि० १००)। मन लज्जित होने से सम्मुख नहीं हो सकता।

प्रभु ने यहाँ मन, वचन और कर्म से अपनी हार जनाई—'प्रति उपकार करउँ का'—'वचन'; 'सनमुख होइ न सकत मन मोरा।'—मन और 'पुनि पुनि कपिहि चितव'—यह कर्म है। तथा—"एकैकस्योपकारस्य प्राणान्दास्यामि ते कपे। शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥ मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे। नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥" (वाल्मी० ७।४०।२३-२४); अर्थात् हे वानर! तुम्हारे एक-एक उपकार के लिये मैं अपने प्राण दे सकता हूँ, शेष उपकारों के लिये मैं तुम्हारा ऋणी रहूँगा। तुमने जो उपकार किये हैं, वे मेरे शरीर में ही पच जायँ; क्योंकि प्रत्युपकार का समय है—उपकारी का विपत्ति-ग्रस्त होना—यह तो मैं चाहता ही नहीं।

(३) 'सुनु सुत तोहिं उरिन मैं नाहीं।···'; यथा—"येहि संदेस सरिस जग माहीं। देखेउँ करि बिचार कछु नाहीं॥ नाहिन तात उरिन मैं तोही।" (उ० दो० १)—श्रीभरतजी; यथा—"अति हरष मन तन पुलक लोचन सजल कह पुनि पुनि रमा। का देउँ तोहि त्रैलोक महँ कपि किमपि नहिं बानी समा॥" (उ० दो० १०७)—श्रीजानकीजी। ऐसे ही यहाँ भी विचार करके देख लिया। यहाँ कृतज्ञता की सीमा है।

पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता। लोचन नीर पुलक अति गाता॥८॥

दोहा—सुनि प्रभु-बचन बिलोकि मुख, गात हरषि हनुमंत।
चरन परेउ प्रेमाकुल, त्राहि त्राहि भगवंत॥३२॥

बार बार प्रभु चहइ उठावा। प्रेम मगन तेहि उठब न भावा॥१॥

अर्थ—देवताओं के रक्षक प्रभु बार-बार कपि को देखते हैं, उनके नेत्र सजल हैं, शरीर अत्यन्त पुलकित है (रोमाञ्च हो आया है)॥८॥ प्रभु के वचन सुनकर, उनके मुख एवं शरीर को देखकर श्रीहनुमान्‌जी शरीर से हर्षित एवं पुलकित और प्रेम से व्याकुल होकर "हे भगवन्! मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये" ऐसा कहते हुए प्रभु के चरणों पर पड़ गये॥३२॥ प्रभु बार-बार उठाना चाहते हैं, पर श्रीहनुमान्‌जी प्रेम में मग्न हैं, उन्हें उठना नहीं सुहाता॥१।

विशेष—(१) 'पुनि पुनि कपिहि चितव···'—(क) जैसे मन सम्मुख नहीं होता, वैसे नेत्र भी लज्जित हो जाते हैं। अतएव देखकर फिर दृष्टि नीची कर लेते हैं; इससे 'पुनि-पुनि' देखना कहा गया है।

(ख) अत्यन्त प्रेम है, उसकी दशा उत्तरार्द्ध में कही गई है। उससे भी बारम्बार देखते हैं; यथा—कौसल्या पुनि पुनि रघुबीरहिं। चितवति कृपासिंधु रनधीरहिं॥" (उ० दो० ६)। (ग) बारम्बार देखने से भी तृप्ति नहीं होती, इससे भी; यथा—"पुनि पुनि प्रभुहि चितव नरनाहू। पुलक गात उर अधिक उछाहू॥" (बा० दो० ११६)। 'सुरत्राता'—जो प्रभु देवताओं के उपकार करनेवाले हैं वे ही कपि के उपकार के वश हो रहे हैं। 'लोचन नीर पुलक अति गाता'—जैसे भगवान् में प्रीति होने से भक्त पुलकित हों, वैसी ही दशा आप भक्त के प्रेमवश इस समय प्रकट कर रहे हैं; यथा—"मारुत सुत तब मारुत करई। पुलक बपुष लोचन जल भरई॥" (उ० दो० ५१)। यह भक्त की दशा है।

जिसकी कृपादृष्टि के लिये इन्द्र, शिव और नारदजी आदि तरसते रहते हैं, वे ही प्रभु कनौड़े होकर श्रीहनुमान्‌जी को (लज्जित दृष्टि से) देख रहे हैं कि इसने हमारा बड़ा उपकार किया है, यथा—"अब करि कृपा बिलोकि मोहि···" (लं० दो० ११२)—इन्द्र; "महिपाल विलोकय दीनजनम्" (उ० दो० १३)—शिवजी; "मामवलोकय पंकज लोचन, कृपा बिलोकनि···" (उ० दो० ५०)—नारदजी, इत्यादि।

(२) 'सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख···'—प्रभु ने कहा था—'सुनु सुत', 'सुनु कपि' इसीसे उनका वचन सुनना कहा गया। 'प्रभु' का भाव यह है कि आप समर्थ होकर भी दीनता के वचन कह रहे हैं। 'बिलोकि मुख'—जब श्रीरामजी इनकी प्रशंसा करने लगे, इन्होंने शिर नीचा कर लिया था। सज्जनों की रीति यही है; यथा—"निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।" (आ० दो० ४५)। जब प्रभु के वचन समाप्त हुए, तब श्रीहनुमान्‌जी ने उनके मुख की ओर देखा कि वचनों के अनुसार ही प्रेम की दशा भी प्रत्यक्ष है, प्रभु का शरीर पुलकित हो गया है, इत्यादि।

तब अपने ऊपर प्रभु की निस्सीम कृपा समझकर श्रीहनुमान्‌जी को हर्ष हुआ और प्रभु के प्रशंसायुक्त वचनों के अनुसार कहीं अभिमान दबा न दे, इसलिये उत्तरार्द्ध में 'त्राहि त्राहि भगवंत' कहा है कि इस बाधा से रक्षा कीजिये, क्योंकि बड़ाई भक्ति में बाधक है; यथा—"सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥ ये सब राम भगति के बाधक।" (कि० दो० ६); 'भगवंत' अर्थात् आप षडैश्वर्यवान् ईश्वर हैं, षडैश्वर्यों से जगत्-भर की उत्पत्ति, पालन और प्रलय करनेवाले हैं। आपका उपकार कोई क्या कर सकेगा ? प्रत्युत् जो कोई कुछ करता भी है, वह आपकी ही सत्ता से।

यहाँ श्रीहनुमान्‌जी की—मन, कर्म और वचन तीनों से-शरणागति हुई; यथा—'हरषि'—मन, 'त्राहि त्राहि···'—वचन और 'परेउ चरन' यह कर्म है। इसीसे यहाँ प्रभु ने अभिमान से इनकी रक्षा की; यथा—"बोला बचन बिगत अभिमाना।" आगे कहा गया है। अन्यत्र अभिमान उपज आया है; यथा—"सुनि कपि मन उपजा अभिमाना।" (लं० दो० ५८)।

(३) 'बार बार प्रभु चहहिं उठावा।'; यथा—"परे भूमि नहि उठत उठाये। बर करि कृपासिंधु उर लाये॥" (उ० दो० ५); बारम्बार नहीं उठाने से प्रभु की निष्ठुरता समझी जाती। यदि श्रीहनुमान्‌जी तुरत उठ जाते, तो भगवद् प्रेम में इनकी भी न्यूनता होती। फिर सेवक अपने परम प्राप्य चरणों को पाकर कैसे छोड़े ? ऐसे सेवक को प्रभु हृदय से लगाते हैं। यही आगे कहा गया है; यथा—"कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा।" श्रीहनुमान्‌जी प्रेम में मग्न हैं, इस कारण से भी नहीं उठना चाहते। चरण पकड़े हुए हैं; यथा—"उत्तर न आवत प्रेम बस, गहे चरन अकुलाइ।" (अ० दो० ७१)।

प्रभु-कर-पंकज कपि के सीसा। सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा॥२॥

सावधान मन करि पुनि संकर। लागे कहन कथा अति सुंदर ॥३॥
कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा। कर गहि परम निकट बैठावा ॥४॥

अर्थ—प्रभु का कर-कमल श्रीहनुमान्‌जी के शिर पर है, उस प्रेम की दशा को स्मरण करके गौरीशजी उस दशा में मग्न हो गये ॥२॥ फिर मन को सावधान करके श्रीशङ्करजी अत्यन्त सुन्दर कथा कहने लगे ॥३॥ कपि को उठाकर प्रभु ने हृदय से लगाया, हाथ पकड़कर अत्यन्त समीप बिठा लिया (अर्थात् उठाकर अपनी बगल में शिला पर बैठा लिया और सब वानर नीचे बैठे हुए हैं।) ॥४॥

विशेष—(१) 'सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा।'–श्रीशिवजी श्रीहनुमान् रूप हैं, इन्हें उस रूप में वह आनन्द प्राप्त हुआ था। उसका स्मरण कर उसी प्रेम में मग्न हो गये। क्योंकि यह परम लाभ है, तभी तो भक्त लोग ऐसी अभिलाषा करते हैं; यथा—"कबहुँ सो करसरोज रघुनायक धरिहौ नाथ सीस मेरे।" (वि० १३८); श्रीहनुमान्‌जी के जाते समय भी—'परसा सीस सरोरुह पानी।' से उपक्रम है और आने पर यहाँ भी—"प्रभु-कर-पंकज कपि के सीसा।' से उपसंहार है।

'मगन गौरीसा'—शब्द से गौरी और ईश (श्रोता-वक्ता) दोनों की मग्नता ध्वनि से कही गई है। प्रधान तो श्रीशिवजी (गौरीपति) ही की मग्नता है, क्योंकि आगे श्रीशंकरजी का ही मन सावधान होना कहा गया है, साथ ही गौरीजी भी सचेत हो गई। कपि तो मग्न हैं ही, साथ ही ग्रन्थकर्त्ता भी। इसीसे विशेष्य (कथा) के अनुकूल अति सुंदरी न कहकर 'अति सुंदर' पुँल्लिंग विशेषण लिख दिया। इस प्रसंग के चरितनायक, श्रोता-वक्ता और कवि सभी प्रेममग्न हैं, इसी से इस कथा को 'अति सुंदर' कहा गया है।

(२) 'सावधान मन करि...'—पहले मग्न होने में मन का नाम नहीं है, क्योंकि वह तो मग्न हो चुका था, अब सावधान होने पर उसे प्रत्यक्ष पाकर कहा है। प्रेम मे मन मग्न हो जाता है; यथा—"परम प्रेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥" (अ० दो० २४०); जबतक प्रभु शिर पर हस्त-कमल रक्खे हुए थे, तब तक श्रीहनुमान् निमग्न थे और तभी तक श्रीशिवजी भी। उधर कपि को उठाकर प्रभु ने अपने पास बिठाया और इधर श्रीशिवजी भी सावधान होकर कथा कहने लगे; यथा—"मगन ध्यान रस दंड जुग, पुनि मन बाहेर कीन्ह। रघुपति चरित महेस तब, हरषित बरनै लीन्ह॥" (बा० दो० १११); 'संकर'—शब्द का भाव यह है कि जगत् के कल्याण के लिये वे कथा में प्रवृत्त हुए। 'अति सुंदर'—सुंदर तो ध्यान भी था, पर कथा अति सुंदर है, तभी तो ध्यान छोड़कर सावधान हुए और कथा कहने लगे; यथा—"जीवन्मुक्त ब्रह्मपर, चरित सुनहिं तजि ध्यान। जे हरि कथा न करहिं रति, तिन्ह के हिय पाखान॥" (उ० दो० ४२)। श्रीगोस्वामीजी ने भी इसे अति-प्रेम में निमग्न होकर कहा, इससे भी कथा अति सुंदरी हो गई।

(३) 'कपि उठाइ प्रभु...'—जब बहुत काल तक कपि नहीं उठे, तब प्रभु ने बलात् उठाकर उन्हें हृदय से लगाया; यथा—"बरबस लिये उठाइ उर, लाये कृपा निधान।" (अ० दो० २४०)। "परे भूमि नहिं उठत उठाये। बर करि कृपासिंधु उर लाये॥" (उ० दो० ४)।

इस प्रसंग में तीन बार प्रभु ने इन्हें हृदय से लगाया–(क) 'प्रीति सहित सब भेटे।' (ख) 'पुनि हनुमान हरषि हिय लाये।' (ग) 'कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा।' पहले आने पर, फिर जाम्बवान्‌जी से हाल जानने पर और यहाँ इनके प्रेमाकुल होकर चरण मे पड़ जाने पर यह तीसरी बार हृदय से लगाया।

'कर गहि परम निकट बैठावा।'—हाथ पकड़कर 'परम निकट' बैठाना अत्यन्त आदर का सूचक है; यथा—"सुनि सनेह बस उठि नर नाहा। बैठारे रघुपति गहि बाँहा॥" (अ० दो० ७६); "कर गहि प्रभु मुनिवर बैठारे।" (उ० दो० १२)।

कहु कपि रावन-पालित लंका। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका॥५॥
प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना। बोला बचन बिगत अभिमाना॥६॥

अर्थ—हे कपि! कहो, रावण से रक्षित लंका और उसके अत्यन्त विकट किले को तुमने कैसे जलाया? ॥५॥ श्रीहनुमान्‌जी ने प्रभु को प्रसन्न जाना, तब वे अभिमान रहित वचन बोले ॥६॥

विशेष—(१) 'केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका।'—लंका का रक्षक दिग्विजयी रावण है और उसका किला अत्यन्त बंका (टेढ़ा-मेढ़ा पेचीदा) है, इससे उसके जलाने की कोई विधि नहीं जान पड़ती, फिर तुमने उसे कैसे जलाया? यथा—"त्रिदशैरपि दुर्धर्षा लंका नाम महापुरी। कथं वीर त्वया दग्धा विद्यमाने दशानने॥" (हनुमन्नाटक); यद्यपि श्रीहनुमान्‌जी ने समुद्र का लंघन, अशोकवन का उजाड़ना और साथ ही भारी युद्ध भी किया है, तथापि श्रीरामजी ने लंका-दहन को ही आश्चर्य मानकर सर्व प्रथम पूछा, क्योंकि यह कार्य अत्यन्त कठिन है। इसी से राक्षस बहुत डर गये और सभी ने इसे आश्चर्यवत् माना है; यथा—"उहाँ निसाचर रहहिं ससंका। जबते जारि गयउ कपि लंका॥" (दो० ३४); "आवा प्रथम नगर जेहि जारा।" (लं० दो० ११); "जारि सकल पुर कीन्हेसि छारा।" (लं० दो० २४); "जारत नगर न कस धरि खाहू।" (लं० दो० ८)।

(२) 'प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना।'—प्रभु की प्रसन्नता समझने के कई कारण हैं—(क) नगर जलाना आततायी का काम है, इसपर कहीं प्रभु अप्रसन्न हुए हों, इनके मन में इसकी शंका थी; यथा—"सत्य नगर कपि जारेउ, बिनु प्रभु आयसु पाइ। फिरि न गयउ निज नाथ पहिं, तेहि भय रहा लुकाइ॥" (लं० दो० २३)। पर प्रभु इसी बात को आदरपूर्वक सबसे पहले पूछते हैं। अतः, इससे जाना गया कि प्रभु प्रसन्न हैं। (ख) हाथ से उठाकर परम निकट बैठाना भी प्रसन्नता का सूचक है। (ग) शिर पर हाथ रक्खा, प्रेम में मग्न हो, कृतज्ञता से कपि की सराहना कर रहे हैं, ऋणी बन रहे हैं, इत्यादि। 'बिगत अभिमाना'—अभिमान प्रभु को नहीं सुहाता; यथा—"सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥" (उ० दो० ७२)। इसीसे विगत अभिमान वचन कहे और उसी को देखकर वक्ताओं ने भी 'बोला' यह एकवचन क्रिया दी। यदि साभिमान बोलते, तो आदरसूचक 'बोले' इस बहुवचन शब्द का प्रयोग किया जाता।

साखामृग कै बड़ि मनुसाई। साखा ते साखा पर जाई॥७॥
नाघि सिंधु हाटक-पुर जारा। निसिचरगन बधि बिपिन उजारा॥८॥
सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू मोरि प्रभुताई॥९॥

दोहा—ता कहुँ प्रभु कछु अगम नहिं, जा पर तुम्ह अनुकूल।
तव प्रभाव बड़वानलहिं, जारि सकइ खलु तूल॥३३॥

अर्थ—वानर का यही बड़ा पुरुषार्थ है कि वह एक डाल पर से दूसरी डाल पर (कूद) जाता है ॥७॥ समुद्र को लाँघकर सोने का नगर जलाया, निशाचर समूह को मारकर वन को उजाड़ा ॥८॥ वह सब, हे रघुराई ! आपका प्रताप है (आपके प्रताप से हुआ है) हे नाथ ! इसमें मेरी कुछ भी प्रभुता नहीं है ॥९॥ हे प्रभो ! जिसपर आप प्रसन्न हो जायँ, उसे कुछ भी कठिन नहीं है, आपके प्रभाव से रुई वड़वानल (समुद्र में रहनेवाले अग्नि) को भी निश्चय जला सकता है ; अर्थात् ऐसा महान् असंभव कार्य भी हो सकता है, तब लंका-दहन कौन-सी बड़ी बात है ? ॥३३॥

विशेष—(१) 'साखामृग कै···'—इस शाखा से उस शाखा पर जाने एवं शाखा पर ही निवास करने के कारण वानरों का नाम ही शाखामृग है। यहाँ इसका प्रयोग उत्तम हुआ है। 'बड़ि मनुसाई'—बस, सारा पुरुषार्थ इतना ही है। आगे सब कार्यों का राम-प्रताप से होना कहेंगे, इसलिये अपना पुरुषार्थ इतने में ही कहकर समाप्त करते हैं।

(२) 'नाघि सिंधु हाटक पुर जारा।···'—एक डाल से दूसरी पर कूदनेवाला वानर समुद्र नहीं लाँघ सकता। सोने का नगर आग से नहीं जल सकता और जहाँ एक ही राक्षस समूह-के-समूह वानरों को खा सकता है, वहाँ केवल एक वानर निशाचरगण को भी नहीं मार सकता। रावण के जिस प्रिय बाग की ओर देवता तक नहीं भ्रूक्षेप कर सकते, तब एक साधारण वानर का क्या सामर्थ्य कि उसे उजाड़ डाले—अतः ये सब कार्य आपके प्रताप से ही हुए।

इस प्रसंग में नगर जलाना, बाग उजाड़ना आदि क्रम से नहीं कहे गये। क्रम-बद्ध कहने में कपि का वाचिक अभिमान समझा जाता। इसीलिये उल्टा-सीधा जैसे-जैसे याद पड़ता गया, कहते गये।

(३) 'सो सब तव प्रताप···'—श्रीरामजी ने श्रीहनुमान्‌जी से लंका-दहन-मात्र पूछा था, परन्तु इन्होंने और सभी कार्यों को गिनाकर उनका राम-प्रताप से होना कहा, नहीं तो शेष कार्यों का होना इनके पुरुषार्थ से ही समझा जाता। 'कछुक'—अर्थात् इसमें मेरा किंचित् भी कर्त्तव्य नहीं है ; यथा—"राम कोह पावक, समीर सीय स्वास, कीस ईस वामता बिलोकु, वानर को व्याज है।" (क० सु० २२)। रुई रूप श्रीहनुमान्‌जी हैं और सोने की लंका वड़वानल है। रुई अनल को जला दे, यह असंभव बात है; इसीसे 'खलु' कहा है; यथा—"नाम प्रभाव सही जो कहै कोउ सिला सरोरुह जामो॥" (वि० २२८)। अर्थात् प्रभु के प्रताप के समक्ष कुछ भी अगम नहीं है। श्रीहनुमान्‌जी की इतनी निरभिमानता भी श्रीप्रभु की प्रसन्नता का कारण है।

नाथ भगति अति सुखदायनी। देहु कृपा करि अनपायनी॥१॥
सुनि प्रभु परम सरल कपि-बानी। एवमस्तु तब कहेहु भवानी॥२॥
उमा राम-सुभाव जेहि जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥३॥

शब्दार्थ—अनपायनी (अन्-अपायिनी) = न नाश होनेवाली, अर्थात् स्थिर।

अर्थ—हे नाथ ! मुझे अपनी अत्यन्त सुख देनेवाली निश्चल भक्ति कृपा करके दीजिये॥१॥ श्रीशिवजी कहते हैं—हे भवानी ! कपि की परम सीधी वाणी सुनकर तब प्रभु ने एवमस्तु (=ऐसा ही हो) कहा॥२॥ हे उमा ! जिसने श्रीरामजी का स्वभाव जाना है ; उसे उनका भजन छोड़कर और कुछ नहीं सुहाता॥३॥

विशेष—(१) 'नाथ भगति अति···'—ज्ञान आदि सुख देनेवाले हैं और भक्ति अत्यन्त सुख देनेवाली है; यथा—"सब सुख खानि भगति तैं माँगी।" (उ० दो० ८४); प्रभु को अत्यन्त प्रसन्न पाकर श्रीहनुमान्‌जी ने उनसे भक्ति माँगी है, क्योंकि भक्ति अत्यन्त दुर्लभ है। श्रीरामजी बहुत प्रसन्न होने पर ही भक्ति देते हैं। प्रभु से उनकी भक्ति माँगने का एक यह भी कारण है कि इससे श्रीरामजी मेरे ऊपर सदा अनुकूल रहेंगे; यथा—"भगतिहि सानुकूल रघुराया।" (उ० दो० ११५)। एतदतिरिक्त यह भी कारण है कि श्रीरामजी ने कहा था; यथा—"प्रति उपकार करउँ का तोरा।···" उसी के उत्तर में भक्ति माँगकर चरितार्थ करते हैं कि मैं तो दास हूँ और यह दासता का भाव सर्वदा के लिये चाहता हूँ। आपकी सेवा करना तो मेरा स्वभाव ही है, फिर आपको प्रत्युपकार का क्या प्रयोजन ?

'देहु कृपा करि अनपायनी'—दास पर कृपा की जाती है, अतएव मुझपर आपकी कृपा हो और उससे मुझे आपकी भक्ति मिले। भक्ति सुकृत से भी मिलती है; यथा—"जप जोग धर्म समूह ते नर भगति अनुपम पावई।" (आ० दो० ६); पर मुझमें जप योग आदि कुछ भी नहीं हैं। अतः, एक कृपा का ही अवलंबन है। पुनः धर्म से जो भक्ति मिलती है, वह इतनी दृढ़ नहीं रह सकती, क्योंकि पुण्य क्षीण होने से उसके परिणाम-स्वरूप भक्ति भी नहीं रह जाती। परन्तु आपकी कृपा का कभी नाश नहीं होता; यथा—"जासु कृपा नहिं कृपा अघाती।" (बा० दो० २७); और इसीसे उस कृपा से प्राप्त भक्ति का भी नाश नहीं होता और सब लोग इसे ही चाहते हैं, यथा—"बाल बिनय सुनि करि कृपा, रामचरन रति देहु।" (बा० दो० ३);—श्रीगोस्वामीजी। "अब करि कृपा देहु बर येहू। निज पद सरसिज सहज सनेहू॥" (अ० दो० १०६);—श्रीभरद्वाजजी। "अब प्रभु कृपा करहु येहि भाँती। सब तजि भजन करउँ दिन-राती॥" (कि० दो० ६)—श्रीसुग्रीवजी। "अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु सदा सिव मन भावनी॥" (दो० ४८)—श्रीविभीषणजी। "परमानंद कृपायतन···प्रेम भगति अनपायनी, देहु हमहि श्रीराम॥" (उ० दो० ३४); —श्रीसनकादिक। "नाथ एक बर माँगउँ, राम कृपा करि देहु, जन्म जन्म प्रभु-पद-कमल, कबहुँ घटै जनि नेहु॥" (उ० दो० ४९)—श्रीवसिष्ठजी। "भगत कलपतरु प्रनत हित, कृपासिंधु सुखधाम। सोइ निज भगति मोहि प्रभु, देहु दया करि राम॥" (उ० दो० ८४)—श्रीभुशुंडीजी; इत्यादि।

(२) 'परम सरल कपि-बानी'—उपक्रम में—'बोला बचन बिगत अभिमाना।' और उपसंहार में—'परम सरल बानी' कहकर जनाया गया कि अभिमान रहित वाणी ही परम सरल है। 'एवमस्तु तब कहेउ'—'तब' का भाव यह है कि प्रभु ने इनको तीन बार हृदय से लगाया, शिर पर हाथ फेरा, इनके ऋणी बने; परन्तु स्वयं भक्ति देने को नहीं कहा, भक्ति ऐसी ही दुर्लभ वस्तु है; यथा—"मुनि दुर्लभ हरि भगति···" (उ० दो० १२६); "प्रभु कह देन सकल सुख सही, भगति आपनी देन न कही।" (उ० दो० ८३); जब श्रीहनुमान्‌जी ने परम सरल वाणी से अपनी दृढ़ श्रद्धा प्रकट की, तब उन्हें भक्ति मिली।

(३) 'उमा राम-सुभाव जेहि जाना।···'—श्रीशिवजी के इस कथन से यह भी सिद्ध होता है कि श्रीहनुमान्‌जी भी श्रीरामजी का स्वभाव जानते हैं; यथा—"राम रावरो सुभाव गुन सील महिमा प्रभाव जान्यो हर हनूमान लखन भरत। जिन्हके हिये सुथल राम प्रेम सुरतरु, लसत सरस सुख फूलत फरत॥" (वि० १५१); श्रीमुख वचन भी है; यथा—"तुम्ह जानहु कपि मोर सुभाऊ।" (उ० दो० १७); 'सुभाव' अर्थात् ऐसे उदार, कृतज्ञ एवं पतित पावन आदि विशेषणों से युक्त होना, जिनसे सेवक की श्रद्धा बढ़े; यथा—"आत्मारामाश्च..." (भाग० १।७।१०); अर्थात् भगवान् के स्वभावभूत गुण ही ऐसे हैं कि जिनकी चिज्जड ग्रंथिपर्यन्त निर्मुक्त हो गई है, साधन से कुछ भी प्रयोजन नहीं है, वे भी बिना प्रयोजन

उनका भजन करते हैं। तथा—"सुक सनकादि मुक्त विचरत तेउ भजन करत अजहूँ॥" (वि० ८६); "यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्। सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत॥" (गीता १५।१९); स्वभाव-ज्ञाता श्रीभुशुंडीजी भी हैं; यथा—"सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ॥" (दो० ४७); उन्होंने इसे यहाँ चरितार्थ करके दिखाया है; यथा—"प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही॥ भजन हीन सुख कौने काजा। अस बिचारि बोलेउँ खग राजा॥" (उ० दो० ८३); 'भाव न आना'—और ज्ञान-विवेक आदि गुण अन्य पदार्थ है, ये भी उसी प्रसंग में कहे गये हैं; यथा—"काकभुसुंडि माँग वर, अति प्रसन्न मोहि जानि। अनिमादिक सिधि अपर रिधि, मोच्छ सकल सुख खानि॥ ज्ञान बिवेक बिरति बिज्ञाना। मुनिदुर्लभ गुन जे जग जाना॥" (उ० दो० ८३); भक्त को भक्ति की माधुरी के आगे और सब कुछ फीका लगता है; यथा—"तवामृतस्यन्दिनि पादपंकजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति। स्थितेऽरविन्दे मकरंदनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरसं हि वीक्षते॥" (आलवंदारस्तोत्र)। तथा—"प्रेम भगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता···" (बा० दो० ३५)।

यह संवाद जासु उर आवा। रघुपति-चरन भगति सोइ पावा॥४॥
सुनु प्रभु-बचन कहहिं कपिबृंदा। जय जय जय कृपाल सुखकंदा॥५॥

अर्थ—यह संवाद जिसके हृदय मे आया (अर्थात् जिसने इसे समझा और प्रेम से धारण किया), उसी ने श्रीरघुनाथजी के चरणों की भक्ति पाई॥४॥ प्रभु के वचन सुनकर कपिवृंद कह रहे हैं कि कृपालु सुख कंद (सुख बरसानेवाले मेघ रूप) श्रीरामजी की जय हो, जय हो, जय हो॥५॥

विशेष—(१) 'यह संवाद···'–'प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना।' से 'देहु कृपा करि मम अनपायनी॥' तक यह संवाद है, उसकी फलश्रुति कहते हैं। 'जासु उर आवा'—जिसके हृदय में आवेगा, वह रामस्वभाव जानेगा और फिर उपर्युक्त रीति से भक्ति पावेगा। पुनः उसे भक्ति के समान ज्ञान आदि अन्य कुछ भी नहीं भावेंगे। 'सोइ' शब्द दीपदेहली रूप से 'पावा'=पानेवाले और 'भगति' के साथ है। जैसे श्रीहनुमान्जी ने भक्ति पाई और जो भक्ति पाई, वैसे ही और वही भक्ति वह भी पावेगा। 'आवा' कि 'पावा' अर्थात् किंचित् विलंब नहीं होगा। शरण-आने के साथ ही पावेगा।

संवादों में जैसा विषय होता है, वैसी ही उसकी फलश्रुति भी होती है; यथा—"यह उमा संभु बिबाह जे नर नारि सुनहिं जे गावहीं। कल्यान काज बिबाह मंगल सर्बदा सुख पावहीं॥" (बा० दो० १०३); इसमें विवाह मंगल का प्रसंग था, वैसा ही मंगल सुख आदि इसका फल भी कहा गया और सब कांडों की फलश्रुतियों में भी ऐसा ही लिखा जा चुका है। वैसे ही यहाँ श्रीहनुमान्जी को भक्ति मिली, संवाद के श्रवण-फल में भी वही बात कही गई है।

(२) 'सुनि प्रभु-बचन···'—श्रीहनुमान्जी को अनपायिनी भक्ति मिली। इसपर सब वानर प्रभु की जय-जयकार करने लगे। अपनी जाति की भलाई पर हरएक को हर्ष होता ही है; यथा—"रिपि निकाय मुनिवर गति देखी। सुखी भये निज हृदय बिसेषी॥" (आ० दो० ८); श्रीहनुमान्जी इन सभों के प्राण-रक्षक भी हैं। इससे इनके उत्कर्ष पर सभी प्रसन्न हैं। पुनः ये लोग तो इस संवाद को प्रत्यक्ष देख ही रहे हैं, अतएव राम-स्वभाव भी जान गये, इससे राम-चरण-भक्ति पाई और स्वामी की कृपा और भक्त-सुख-दातृत्व आदि गुणों पर उनकी जय-जयकार करने लगे।

एक यह भी भाव है कि 'प्रभु-बचन'—"सुनु कपि तोहि समान उपकारी।" से "देखेउँ करि बिचारि

मन माहीं।" को सुनकर श्रीहनुमान्‌जी चरणों पर पड़ गये और 'त्राहि-त्राहि' कहने लगे। शेष वानर प्रभु के ऐसे भक्त-वशीभूत स्वभाव की जय-जयकार करने लगे। इसीसे 'सुनि प्रभु-वचन' दोनों जगह रक्खा गया है; यथा—'सुनि प्रभु-वचन विलोकि मुख···' और यहाँ भी। 'जय जय जय'—तीन बार बहुवचन कहकर सूचित किया गया कि प्रभु का स्वभाव समझ-समझकर बार-बार सब वानर जय-जयकार करते हैं। 'कृपालु'; यथा—"चितइ सबनि पर कीन्हीं दाया।" (लं० दो० ११६); 'सुख कंदा'; यथा—"तब रघुबीर बोलि कपि लीन्हे। कहि प्रिय बचन सुखी सब कीन्हे॥" (लं० दो० १०४)।

"सेन समेत जथा रघुबीरा। उतरे जाइ बारिनिधि तीरा॥"—प्रकरण

तब रघुपति कपि-पतिहि बोलावा। कहा चलइ कर करहु बनावा॥६॥
अब बिलंब केहि कारन कीजै। तुरत कपिन्ह कहँ आयसु दीजै॥७॥
कौतुक देखि सुमन बहु बरषी। नभ तें भवन चले सुर हरषी॥८॥

दोहा—कपिपति बेगि बोलाये, आये जूथप जूथ।
नाना बरन अतुल बल, बानर - भालु - बरूथ॥३४॥

अर्थ—तब श्रीरघुनाथजी ने श्रीसुग्रीवजी को बुलाया और कहा कि चलने का प्रबंध कीजिये॥६॥ अब किस कारण से देर करते हैं, शीघ्र वानरों को आज्ञा दीजिये॥७॥ कौतुक देखकर बहुत फूल बरसा कर और हर्षित होकर देवता लोग आकाश मार्ग से अपने-अपने घरों को चले॥८॥ कपीश श्रीसुग्रीवजी ने सेनापतियों के समूहों को शीघ्र बुलाया, वे शीघ्र आये। वानरों और भालुओं के झुंड अनेक रंग एवं जाति के हैं, और उनमें अतोल बल है॥३४॥

विशेष—(१) 'तब रघुपति कपि-पतिहि बोलावा।···'—'तब' अर्थात् जब परमार्थ की बातें हो चुकीं, तब स्वार्थ की बातें चलीं। सब कपियों पर श्रीसुग्रीवजी की आज्ञा चलती है, इससे उन्हें 'कपिपति' कहा गया और उनपर भी श्रीरामजी की आज्ञा है, इससे यहाँ 'रघुपति' शब्द कहा गया, क्योंकि रघुवंशि-चक्रवर्ती हैं। 'बोलावा'—ये बहुत दूर नहीं हैं, पर वानरों के जय-जयकार-शब्द से कुछ सुनाई नहीं पड़ता, इससे उन्हें निकट बुलाया। 'बनावा'—व्यूह रचना; यथा—"तुलसी दास प्रभु सखा अनुज सों सैनहिं कह्यो चलहु सजि सैन।" (गी० सुं० २१); अर्थात् सब यूथपति अपने-अपने यूथों की व्यूह रचना करके चलें।

(२) 'अब बिलंब केहि······'—भाव यह है कि अभी तक तो विलंब करने का कारण भी था—सीता-सुधि नहीं मिली थी; अब तो सुधि मिल गई तो फिर क्यों देरी कर रहे हो? यथा—"जौं रघुबीर होति सुधि पाई। करते नहिं बिलंब रघुराई॥" (दो० १५); तात्पर्य यह है कि जब श्रीसीताजी की खबर मिलती तभी तैयारी करने। पुनः जब श्रीहनुमानजी ने कहा—'बेगि चलिय प्रभु···' तब प्रभु से आज्ञा लेकर चलने की शीघ्र तैयारी करना आवश्यक था। अब प्रभु को बुलाकर कहना पड़ा, यही विलंब है। 'तुरत कपिन्ह कहँ···'—क्योंकि श्रीहनुमानजी ने 'बेगि चलिय' कहा ही है।

(३) 'कौतुक देखि सुमन बहु बरषी।'—परम समर्थ प्रभु का वानरों की सेना साथ लेना—कौतुक है; यथा—"तब निज भुज बल राजिव नैना। कौतुक लागि संग कपि सेना॥" (कि० दो० २१); पुनः रंग-विरंग के वानरों का गर्जना-तर्जना आदि भी खेल ही है। देवताओं ने बहुत-से फूल बरसाये, क्योंकि वानरी सेना बहुत दूर में थी। अतः, सर्वत्र फूल बरसाये। यह प्रस्थान के समय मंगल के लिये देवताओं की सेवा है; यथा—"समय-समय सुर बरषहिं फूला।" (बा० दो० ३१८); "गगन सुमन झरि अवसर जानी।" (बा० दो० ३२३); यहाँ भी देवताओं की स्वार्थ-परता साफ प्रकट है कि जब श्रीसीताजी की सुधि मिली एवं जब श्रीहनुमान्जी को प्रभु-भक्ति मिली, तब इन्होंने फूल की वर्षा नहीं की और जब सेना प्रस्थान की आज्ञा हुई, तब बहुत फूल बरसाये, क्योंकि इससे रावण मारा जायगा, और ये सुखी होंगे। इसी लाभ को समझकर देवताओं ने फूल बरसाये। कहा भी है; यथा—"आये देव सदा स्वारथी।" (लं० दो० १०८); 'नभ ते भवन चले'—अभी तक वर्षा और शरत् में ये लोग भूमि पर भ्रमर आदि के रूपों में प्रभु की सेवा में लगे थे; यथा—"मधुकर खग मृग तनु धरि देवा। करहिं सिद्ध मुनि प्रभु की सेवा॥" (कि० दो० १२); प्रस्थान का समय निकट जानकर सब अपने-अपने स्वाभाविक रूपों में नभ को गये और फिर वहाँ से कौतुक देख-देखकर अपने-अपने घरों को चल दिये।

(४) 'कपिपति बेगि बोलाये···'—'बेगि बुलाये' अतएव सब तुरत ही आ गये। 'आये जूथप जूथ'—सेनापति बहुत हैं; यथा—"पदुम अठारह जूथप बंदर।" (दो० ५४); 'बानर भालु' से जाति और 'बरूथ' से सेना कही गई। श्रीरामजी ने श्रीसुग्रीवजी को आज्ञा दी, श्रीसुग्रीवजी ने यूथपों को और उन सबों ने अपनी-अपनी सेना को आज्ञा दी। तुरत सब आ गये, इसीसे 'बोलाये' और 'आये' साथ ही कहा गया।

प्रभु-पद पंकज नावहिं सीसा। गर्जहिं भालु महाबल कीसा॥१॥
देखी राम सकल कपि सैना। चितइ कृपा करि राजिव-नैना॥२॥
राम-कृपा-बल पाइ कपिंदा। भये पच्छजुत मनहुँ गिरिंदा॥३॥
हरषि राम तब कीन्ह पयाना। सगुन भये सुंदर सुभ नाना॥४॥

अर्थ—प्रभु के चरण-कमलों में शिर नवाते हैं, महाबली वानर-भालु गरज रहे हैं॥१॥ श्रीरामजी ने सब वानरी सेना देखी और कमल समान नेत्रों से उनपर कृपादृष्टि की॥२॥ श्रीरामजी की कृपा का बल पाकर वानर श्रेष्ठ मानों पक्ष समेत श्रेष्ठ पर्वत हो गये (अर्थात् वे शरीर से भारी हो गये और उनमें उड़ने का भी सामर्थ्य आ गया, आगे कहा ही है, यथा—'चले गगन महि इच्छा चारी।')॥३॥ तब श्रीरामजी ने प्रसन्न होकर प्रस्थान किया, अनेक सुन्दर और शुभदायक शकुन हुए॥४॥

विशेष—(१) 'प्रभु-पद पंकज···'—श्रीसुग्रीवजी जब अलग रहते, तब वानर लोग उन्हें भी प्रणाम करते हैं; यथा—"आइ सबन्हि नावा पद सीसा। मिले सबन्हि अति प्रीति कपीसा॥" (दो० २८); परन्तु यहाँ श्रीसुग्रीवजी श्रीरामजी के पास बैठे हैं। इससे श्रीरामजी को प्रणाम करने से समाज भर को प्रणाम करना हो गया, क्योंकि प्रभु अंगी और सब अंग रूप हैं। 'गर्जहिं'—क्योंकि शत्रु पर चढ़ाई करते हुए वीर रस का आवेश है। ऊपर के दोहे में 'नाना बरन अतुल बल' कहा गया है और यहाँ 'महाबल'। इससे जनाया गया कि कोई अतुल बलवाले और कोई महाबली हैं। 'नावहिं सीसा'—जहाँ-तहाँ से बैठकर प्रभुके चरणों मे शिर नवाते हैं, क्योंकि साष्टाङ्ग दंडवत् का अवकाश नहीं है, अत्यन्त भीड़ है।

(२) 'देखी राम सकल '—जब सब प्रणाम कर चुके तब श्रीरामजी ने पहले सामान्य दृष्टि से देखा कि सेना कैसी और कितनी है। फिर बली एवं विशालकाय बनाने के लिये कृपादृष्टि से देखा। वही आगे श्रीगोस्वामीजी लिखते भी हैं, यथा—'राम कृपा बल पाइ '। 'राजिव-नैना'—यह विशेषण कृपा सूचक है, यथा—"राजिव नयन धरे धनु सायक। भगत बिपति भंजन सुख दायक।।" (बा० दो० १७), "देखी राम निकल कटकाई मैं देखउँ खल बल दलहिं, बोले राजिव-नयन ।।" (लं० दो० ४४), जैसे राजा लोग सेना को पारितोषिक देकर उन्हें युद्ध में ले जाते हैं, वैसे यहाँ भी पारितोषिक-रूप कृपा का बल सबको मिला। 'भये'—दीपदेहली है, कपीन्द्र विशालकाय एवं बली हुए और पक्षयुत भी हुए। 'गिरिंदा'—सब गिरि श्रेष्ठ सुमेरु के समान हो गये। अब रावण और उसकी सेना से लड़ने योग्य हो गये। पहाड़ों के समान युद्ध में अचल रहेंगे और इन सबके शरीर में शस्त्र न छिदेंगे। श्रीहनुमान्‌जी ने श्रीसीताजी के सामने सुमेरु के समान रूप दिखाकर सान्त्वना देते हुए कहा था कि सब वानर ऐसे ही हैं, यह मानों प्रभु ने उनके वचन को सत्य किया है।

(३) 'हरषि राम तब कीन्ह पयाना। '—जब प्रभु ने सेना को योग्य और बलिष्ठ बना लिया, तब हर्ष-पूर्वक वहाँ से चले। प्रस्थान के समय हर्ष का होना श्रेष्ठ शकुन है। यह तो भीतर का शकुन हुआ। बाहर भी नाना प्रकार के शकुन हुए। भीतर का शकुन श्रेष्ठ है, इसीसे उसे पहले कहा गया है। शकुन बा० दो० ३०२–३०३ में देखिये। यह अर्द्धाली—'हरषि राम ' यात्रा में कार्य सिद्धि के लिये मन्त्र-रूप मानी जाती है। अतएव यात्रा के समय इसका स्मरण करते हुए प्रस्थान करना चाहिये, इससे अवश्य मनोरथ-सिद्धि होती है।

जासु सकल मंगलमय कीती। तासु पयान सगुन यह नीती ॥५॥
प्रभु - पयान जाना बैदेही। फरकि बाम अँग जनु कहि देहीं ॥६॥
जोइ जोइ सगुन जानकिहि होई। असगुन भयउ रावनहिं सोई ॥७॥

अर्थ—जिसकी कीर्त्ति सर्व मङ्गलमय है, उसके प्रस्थान में शकुन होना यह नीति है (धर्मात्मा के धर्म-कार्य में शकुन होना नीति है और अधर्मी के अन्याय कार्य में शकुन होना अनीति है) ॥५॥ प्रभु का प्रस्थान वैदेही श्रीजानकीजी ने जान लिया, उनके बायें अंग फड़ककर कहे देते हैं (कि प्रभु आ रहे हैं, तुम्हारे लिये मंगल है)। ६॥ जो-जो शकुन श्रीजानकीजी को होते हैं, वही-वही अपशकुन रावण को हुए, अर्थात् बाम अंग ही दोनों के फड़के, जो स्त्री के लिये शकुन और पुरुष के लिये अपशकुन हैं ॥७॥

विशेष—(१) 'फरकि बाम अँग ', यथा—"राम सीय तन सकुन जनाये।' से 'भरत आगमन सूचक अहहीं ॥" तक (अ० दो० ६), एवं—"सगुन होहिं सुन्दर जानि सगुन मन हर्ष अति " (उ० दो० १), देखिये। बायाँ अंग फड़कने से श्रीजानकीजी निश्चय-पूर्वक जान गईं कि प्रभु यहाँ के लिये प्रस्थान कर चुके—यही शकुन का कह देना है। 'बैदेही'—का भाव यह है कि वे विरह से व्याकुल होकर शरीर छोड़ना चाहती थीं कि उसी समय शकुनों ने उन्हें सान्त्वना दी कि घबड़ाओ नहीं, प्रभु आ रहे हैं। पुनः यह भी भाव है कि जब वे विदेह के समान देह-सुधि से रहित हो गईं, तब वे शकुन होने लगे कि जिनसे सचेत हों।

(२) 'असगुन भयउ रावनहिं सोई।'—श्रीसीताजी के शकुन के साथ मिलाकर रावण के

अपशकुन कहने के हेतु ये हैं कि उसके अपशकुन के हेतु श्रीसीताजी ही हैं, यथा—"जब ते तुम सीता हरि आनी। असगुन होहिं न जाहिं बखानी॥" (लं० दो० ४६), पुन ये ही हेतु उसके नाश के भी हैं; यथा—"कालराति निसिचर-कुल केरी। तेहि सीता पर प्रीति घनेरी॥" (दो० ३१); "तव कुल-कमल-बिपिन दुखदाई सीता सीत-निसा-सम आई॥" (दो० ३५)

चला कटक को बरनइ पारा। गर्जहिं बानर-भालु अपारा॥८॥
नख आयुध गिरि-पादप-धारी। चले गगन महि इच्छाचारी॥९॥
केहरि-नाद भालु-कपि करहीं। डगमगाहिं दिग्गज चिक्करहीं॥१०॥

अर्थ—कटक (सेना, दल) चला, उसका वर्णन कौन कर सकता है? अगणित वानर-भालू गरज रहे हैं॥८॥ नख (नाखून) उनके (मुख्य) हथियार हैं, वे पर्वत और वृक्ष धारण किये हुए हैं, इच्छा-चारी हैं, कोई आकाश में और कोई पृथिवी पर चल रहे हैं (जैसी जिसकी इच्छा है)॥९॥ रीछ और वानर सिंह का-सा गर्जन कर रहे हैं, दिशाओं के हाथी डगमगा रहे हैं और चिंघाड़ते हैं॥१०॥

विशेष—(१) 'चला कटक ....'—पहले श्रीरामजी का प्रस्थान करना कहा गया तब पीछे कटक का—इस तरह कि श्रीरामजी श्रीहनुमान्‌जी की और श्रीलक्ष्मणजी श्रीअंगदजी की पीठ पर सवार होकर आगे आगे चले और पीछे-पीछे कटक चला। 'को बरनइ पारा'; यथा—"बानर-कटक उमा मैं देखा। सो मूरुख जो करन चह लेखा॥" (कि० दो० २१); अर्थात् असख्य हैं।

(२) 'नख आयुध .....'—नख शस्त्र और गिरि-पादप अस्त्र हैं; यथा—"एक नखन्ह रिपु बपुष बिदारी॥" (लं० दो० ६६), "गहि गिरि तरु अकास कपि धावहिं।" (लं० दो० ७१)। 'इच्छा चारी'—से अव्याहत गति भी सूचित की गई। आकाशगामी ही बहुत हैं, इसीलिये पहले 'गगन' शब्द दिया गया है।

(३) 'केहरि-नाद भालु-कपि करहीं। ..'—वानर-भालू पारी-पारी से एवं बार-बार गरजते हैं, इसीसे प्रसग में चार बार गरजना लिखा गया है। (क), यथा—"गर्जहिं भालु महाबल कीसा।"—इसमें भालू ही पहले गरजे। (ख) "गर्जहिं बानर-भालु अपारा।"—इस बार वानर पहले हैं। (ग) "केहरि-नाद भालु-कपि करहीं।" यहाँ भालू पहले हैं। (घ) "कटकटहिं मरकट बिकट भट बहु " यहाँ वानर मुख्य हैं, इत्यादि। पुन पहले प्रभु के पास आने पर गरजे। फिर चलते समय गरजे। पुन मार्ग में सिंह-नाद करते हुए चलना कहा गया है और आगे कोटि-कोटि के धावा करने पर गरजना है, इस तरह क्रमश चारों बार चार हेतुओं से गरजना कहा गया है।

छंद—चिक्करहिं दिग्गज डोल महि गिरि लोल सागर खरभरे।
मन हर्ष दिनकर सोम-सुर-मुनि-नाग-किन्नर दुख टरे॥
कटकटहिं मर्कट बिकट भट बहु कोटि कोटिन्ह धावहीं।
जय राम प्रबल प्रताप कोसलनाथ-गुन-गन गावहीं॥

अर्थ—दिग्गज चिंघाड़ते हैं, पृथिवी हिलती है, पर्वत चंचल हो गये, समुद्र (के जल) में खलबली पड़ गई। सूर्य, चन्द्रमा, देवता, मुनि, नाग और किंपुरुषों के मन में हर्ष हुआ, उनके दुःख टले॥ भयङ्कर योद्धा वानर कटकटाते (क्रोध से दाँतों द्वारा शब्द करते) हैं और बहुत-से करोड़ों-करोड़ों मिलकर धावते हैं। श्रीरामचन्द्र की जय हो, जिनका प्रताप प्रबल है और जो कोशलपुरी के राजा हैं, इस तरह, कोसलनाथ श्रीरामजी के गुण-गण गा रहे हैं॥

विशेष—(१) 'चिक्करहिं दिग्गज···'—जब दिग्गज चिंघाड़ने लगे, तब पृथिवी डोल उठी और फिर उसपर के पर्वत और समुद्र हिलने लगे और उनमें खलबली पड़ गई। 'चिक्करहिं' और 'खरभरे' क्रियाएँ बहुवचन हैं, क्योंकि दिग्गज आठ और सागर सात हैं। 'मन हर्ष दिनकर-सोम-सुर···'—इनके मन में हर्ष है, क्योंकि रावण के अत्याचार से ये लोग बहुत दुखी थे ; यथा—"रवि ससि पवन बरुन धन धारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी॥ किंनर सिद्ध मनुज सुर नागा। हठि सबही के पंथहिं लागा॥" (बा० दो० १८१) ; सूर्य-चन्द्रमा के नामों के द्वारा पहले लोकपालों के नाम लिये गये। लोकपालों के नाम ही पहले कहे गये, क्योंकि इन्हें रावण अधिक दुःख देता था, यथा-"लोकप जाके बंदीखाना॥" (लं० दो० ८८) ; "कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥" (दो० ११) ; 'टरे'—अभी इनके दुख केवल हट गये हैं, पर उनका समूल नाश तो रावण के साथ ही होगा।

(२) 'कटकटहिं मर्कट बिकट भट···'—वानरों का कटकटाना भारी क्रोध का सूचक है ; यथा—"कपि देखा दारुन भट आवा। कटकटाइ गर्जा अरु धावा॥" (दो० १८) ; "कटकटाहिं कोटिन्ह भट गर्जहिं। दसन ओठ काटहिं अति तर्जहिं॥" (लं० दो० ३६) ; 'कटकटहिं' से शब्द की भयंकरता, 'बिकट भट' से देह की भीषणता और 'कोटिन्ह धावहीं' से उनके कर्म की भयंकरता दिखलाई गई है।

(३) 'जय राम प्रबल प्रताप···'—'प्रबल प्रताप'; यथा—"जब ते राम-प्रताप खगेसा। उदित भयो अति प्रबल दिनेसा॥" (उ० दो० ३०), जैसे सूर्य के उदय से अंधकार का नाश होता है वैसे ही श्रीराम-प्रताप से निशिचर नाश को प्राप्त होंगे। इस समय जो वानर प्रबल हो गये हैं यह भी श्रीरामजी के प्रताप से ही, यथा—"राम-प्रताप प्रबल कपि-जूथा।" (लं० दो० ४०); तात्पर्य यह है कि प्रबल प्रताप से श्रीरामजी रावण आदि को मारकर जय पावें और कोशलपुर के राजा होकर अपने गुण-गणों से प्रजा को सुखी करें। 'गुण-गण'; यथा—"अनुजातो हि मां सर्वैर्गुणैः श्रेष्ठो ममात्मजः।"; "दिव्यैर्गुणैः शक्रसमो···"; "दान्तैः सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसंजननैर्नृणाम्। गुणैर्विरोचते रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः॥" (वाल्मी० २।२।११, ४८, ४१)। 'राम' से नाम, 'प्रताप' से रूप, 'कोसलनाथ' से धाम और 'गुन-गन' से लीला का भी वर्णन है। सब उत्साहपूर्ण हैं, अतएव गुण गाते हुए जय-जयकार करते हैं।

सहि सक न भार उदार अहिपति बार बारहिं मोहई।
गह दसन पुनि-पुनि कमठ पृष्ठ कठोर सो किमि सोहई।
रघुबीर रुचिर प्रयान-प्रस्थिति जानि परम सुहावनी।
जनु कमठ खर्पर सर्पराज सो लिखत अबिचल पावनी॥

अर्थ—श्रेष्ठ और बड़े भारी शेषनाग भी इस भारी बोझ को नहीं सह सकते, बार-बार मोह (भ्रम

एवं चित्त-चिंता) को प्राप्त होते हैं। बार-बार कच्छप (भगवान्) की कठोर पीठ को दाँतों से पकड़ते हैं, वह कैसा शोभायमान हो रहा है ॥ कि मानों रघुवीर श्रीरामजी के सुन्दर प्रस्थान पर यात्रा-मुहूर्त्त को परम शोभायमान जानकर उसे अविचल और पवित्र रीति से कच्छप के खर्पर (पृष्ठ-भाग) पर सर्पराज शेषजी लिख रहे हैं ॥

विशेष—(१) 'सहि सक न भार···'—वे वानर-भालू पहले भी पृथिवी पर ही रहते थे, परन्तु वे पृथिवी पर सर्वत्र फैले हुए थे। अब सभी एकत्र हुए हैं, फिर श्रीरामजी की कृपा से अत्यन्त भारी और बली हो गये हैं। पुनः आवेश में भरे हुए 'कोटि कोटिन्ह धावहीं' कहा गया है, तब यह भार शेषजी से कैसे सहा जाय ; अतएव उनका गरजना दिग्गज नहीं सह सके और भार शेषजी भी नहीं सह सके। 'बार-बारहिं मोहहीं' अर्थात् सावधान होते हैं और फिर मोहित हो जाते हैं, वही आगे 'गह दसन···' से दिखाया गया है; यथा—"दिग्गज कमठ कोल सहसानन धरत धरनि धरि धीर। बारहिं बार अमरषत करषत करकैं परीं सरीर ॥" (गी० सुं० २२); इसमें उक्त 'मोहहीं' का अर्थ प्रकट है कि बार-बार आमर्ष (क्रोध) में भर जाते हैं कि आज यह क्यों हमारा अपमान हो रहा है, भार हमसे नहीं सहा जा रहा है और फिर बल लगाकर खींचते हैं, जिससे शरीर में पीड़ा हो आती है।

(२) 'गह दसन पुनि-पुनि···'—पृथिवी के नीचे पहले दिग्गज हैं, उनके नीचे शेषजी और शेषजी के नीचे आधारभूत कमठ भगवान् हैं, उसी क्रम से भार का अनुभव होना भी कहा गया है जब शेषजी के फण नीचे को झुकते हैं, तब वे दाँतों से कमठ-पृष्ठ का सहारा लेते हैं, फिर सावधान हो जाते हैं। जब कमठ-पृष्ठ पर दाँत नहीं ठहरता, तब वे मोहित हो जाते हैं और फिर से दाँत अड़ाते हैं। 'सो किमि सोहई'—राम-यश लिखना शोभा है और उससे सम्बन्धित मोहित होना भी शोभा ही है। यहाँ कमठ भगवान् की ही स्थिरता कायम रह सकी।

(३) 'रघुबीर रुचिर प्रयान-प्रस्थिति···'—त्रिलोक-विजयी रावण पर चढ़ाई करने के कारण से 'रघुबीर' शब्द का प्रयोग किया गया। 'प्रस्थिति'=यात्रा-मुहूर्त्त, एवं प्रकर्ष-स्थिति; अर्थात् जिससे प्रस्थान की स्थिति कि अमुक समय में अमुक भाँति से श्रीरामजी ने प्रस्थान किया है, इसकी कुंडली सदा बनी रहे—इसलिये लिख रहे हैं। 'जानि परम सुहावनी'—सुन्दर वस्तु प्रायः लिख (नोट कर) ली जाती है। पुनः सबको सुहावनी है और शेषजी की दृष्टि में परम सुहावनी है; क्योंकि मुख्यतया प्रभु उन्हीं का भार उतारने जा रहे हैं, इसलिये वे स्वयं लिख लेते हैं। कमठ-पृष्ठ वज्र से भी कहीं अधिक कठोर है, अतएव ये रेखाएँ कभी न मिटेंगी। जिससे यह कीर्त्ति सदा अचल रहेगी। यहाँ प्रयाण, कमठ और शेष इन तीनों की शोभा कही गई है।

(४) 'जनु कमठ-खर्पर···'—श्रीराम-यश पवित्र और अविनाशी है, इसीलिये उसे कठोर पृष्ठ पर लिख रहे हैं कि यह पावनी कीर्त्ति सदा अविचल रहे। दाँतों का एक बार कमठ-पृष्ठ पर से हट जाना मानों एक पंक्ति का पूरा होना है पुनः पीठ पकड़ना दूसरी पंक्ति का आरम्भ करना है। इस तरह के प्रसंग जिन कवियों ने—"असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिंधुपात्रे। सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।···" (शिवमहिम्न) इस रीति से वर्णन किया है, उनसे श्रीगोस्वामीजी का वर्णन कितनी उच्चकोटि का हुआ है, पाठक स्वयं विचार करें कि पृथिवी पर की रेखा शीघ्र मिटती है और काष्ठलेखनी की अपेक्षा शेषजी के दाँतों की लेखनी अत्यन्त कठोर है, इत्यादि।

दोहा—येहि बिधि जाइ कृपानिधि, उतरे सागर - तीर ।
जहँ-तहँ लागे खान फल, भालु बिपुल कपि बीर ॥३५॥

अर्थ—दयासागर श्रीरामजी इस तरह समुद्र-तट पर जाकर उतरे। बहुत वीर भालू-वानर जहाँ-तहाँ फल खाने लगे ॥३५॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि'—जैसे ऊपर—"देखो राम सकल कपि-सैना।" से "गह दसन पुनि-पुनि···" तक कहा गया। 'कृपानिधि'—क्योंकि प्रस्थान करते समय प्रभु ने वानरों पर कृपा की; यथा—"चितइ कृपा करि राजिवनैना।" और यहाँ समुद्र-तट पर पहुँचकर समुद्र पर भी कृपा की—उसकी मर्यादा-रक्षा के लिये तट पर ही उतर गये, नहीं तो बाणों से समुद्र को सोखते हुए चले ही जाते; यथा—"माँगत पंथ कृपा मन माहीं।" (दो० ५५); पुनः सेनाओं पर भी कृपा करके उतरे कि जिससे वे फल खा लें, क्योंकि वानर भूखे हैं और इन्हें अब चार सौ कोसों का समुद्र पार करना है 'उतरे' शब्द के दो अर्थ हैं—एक तो श्रीअंगदजी और श्रीहनुमान्जी की पीठ से उतरे; यथा—"यास्यामि बलमध्येऽहं बलौघमभिहर्षयन् । अधिरुह्य हनूमन्तमैरावतमिवेश्वरः ॥ अङ्गदे नैष संयातु लक्ष्मणश्चान्तकोपमः" (वाल्मी० ६।१८–१९)। दूसरा अर्थ 'उतरे' का—'डेरा डाला' है। प्रभु ने सोचा कि समुद्र तीर्थपति और अपना कुल-गुरु है। अतः, वे उसकी मर्यादा-रक्षा के लिये तट पर उतरे।

(२) 'जहँ-तहँ लागे खान फल···'—वानर-भालू बहुत हैं, सभी को एक ही जगह फल नहीं मिल सकते, इसलिये 'जहँ-तहँ' का प्रयोग किया गया है। उस पार भी कहा गया है; यथा—"सिंधु पार प्रभु डेरा कीन्हा। सकल कपिन्ह कहँ आयसु दीन्हा ॥ खाहु जाइ फल-मूल सुहाये। सुनत भालु-कपि जहँ-तहँ धाये ॥" (लं० दो० ४)। श्रीराम-लक्ष्मणजी का फल खाना नहीं कहा गया, क्योंकि इन्होंने यहाँ आज तीर्थ-व्रत किया है।

"मिला बिभीषन जेहि बिधि आई"—प्रकरण

उहाँ निसाचर रहहिं ससंका। जब ते जारि गयउ कपि लंका ॥१॥
निज-निज गृह सब करहिं बिचारा। नहिं निसिचर-कुल केर उबारा ॥२॥
जासु दूत-बल बरनि न जाई। तेहि आये पुर कवन भलाई ॥३॥

अर्थ—जबसे वानर लंका जलाकर गया, तबसे वहाँ निशाचर लोग सशंकित रहते हैं ॥१॥ सब अपने-अपने घरों में विचार करते हैं कि अब निशाचर-वंश का उबार (बचाव) नहीं है ॥२॥ जिसके दूत के बल का वर्णन नहीं हो सकता, उसके आने पर नगर की कौन भलाई होगी? ॥३॥

विशेष—(१) 'उहाँ निसाचर रहहिं ससंका।···'—लंका-दहन से राक्षसों का गर्व न रह गया; यथा—"जारि सकल पुर कीन्हेसि छारा। कहाँ रहा बल-गर्व तुम्हारा ॥" (लं० दो० २४); जलाने के समय का श्रीहनुमान्जी का वह भयंकर रूप सबके चित्त में बना रहता है, इसीसे वे सदा शंकित ही रहते हैं। 'रहहिं'—का यह भी भाव है कि रावण के डर से यहाँ बने हुए हैं। नहीं तो प्राण लेकर लंका से भाग जाते; यथा—"देखि निकट भट बड़ि कटकाई। जच्छ जीव लै गये पराई ॥"

(बा॰ दो॰ १७८), 'जारि गयउ'—का भाव यह है कि सोने के मकानों को जला डाला और फिर कुशल-पूर्वक यहाँ से चला भी गया, किसी से कुछ न बन पड़ा। इसमें वह कोई अप्राकृत सामर्थ्यवान् जान पड़ता है। 'इहाँ'—से श्रीगोस्वामीजी की स्थिति इस पार श्रीरामजी के पक्ष में है, यह जाना गया।

(२) 'निज-निज गृह '—रावण के डर से सब अपने-अपने घरों में ही विचार करते हैं, किसी से कुछ कहते नहीं। विचार आगे कहा गया है, यथा—'जासु दूत-बल ' और विचार करते हुए आपस में कहते भी हैं। तभी तो आगे मंदोदरी-द्वारा इस बात का सुनना भी कहा गया है, यथा—"दूतिन्ह सन सुनि पुरजन बानी। "

(३) 'जासु दूत-बल बरनि ', यथा—"नाथ पवनसुत कीन्हि जो करनी। सहसहुँ मुख न जाइ सो बरनी॥" (दो॰ ३१), पुन —"समुझत जासु दूत की करनी। गर्भ स्रवहिं रजनीचर-घरनी॥" आगे कहा गया है। 'बल'—वाटिका उजाड़ने और राक्षसों के मारने से प्रकट है। 'तेहि आये पुर'—वे उस पार आ गये हैं, इस पार पुरी में नहीं आवें, तभी सबकी भलाई है पुरजनों को पहले ही खबर मिल गई कि उस पार शत्रु-सेना आ गई। अब रावण को भी सभा में खबर मिलेगी।

मंदोदरी का उपदेश [१]

दूतिन्ह सन सुनि पुरजन-बानी। मंदोदरी अधिक अकुलानी॥४॥
रहसि जोरि कर पति-पद-लागी। बोली बचन नीति-रस-पागी॥५॥
कंत करष हरि सन परिहरहू। मोर कहा अति हित हिय धरहू॥६॥

अर्थ—दूतियों से पुरवासियों के वचन सुनकर मंदोदरी अधिक व्याकुल हुई॥४॥ एकान्त में हाथ जोड़कर पति के चरणों से लगकर वह नीति रस में पगी हुई वाणी बोली॥५॥ हे स्वामी! भगवान् से वैर छोड़ो, मेरा कहना अत्यन्त हितकर जानकर हृदय में धारण करो॥ ॥

विशेष—(१) 'दूतिन्ह सन सुनि पुरजन बानी'—जो वार्तालाप लोग घर घर करते थे, वे स्त्रियों के द्वारा प्रकट हुए, इसीसे दूतियों का सुनना कहा गया है। 'अधिक अकुलानी'–पुरवासियों की अपेक्षा मंदोदरी अधिक व्याकुल हुई, क्योंकि धर्मात्मा होने से यह प्रजा वत्सला है, यथा—"कोसल्यादि सकल महतारी। तेउ प्रजा सुख होंहि सुखारी॥" (अ॰ दो॰ १७४), इसीसे प्रजा के दुःख नहीं देख सकती। 'नीति-रस-पागी'—वचनों को नीति-रस में पागकर, अर्थात् मंदोदरी ने नीतिमय वचन कहे। 'रहसि'=एकान्त में, क्योंकि अभिमानी लोग किसी दूसरे के समक्ष शिक्षा नहीं मानते, परन्तु एकान्त में स्त्री के स्नेह से मान भी लेते हैं अथवा अपनी स्त्री द्वारा कही हुई एकान्त की बातें लोगों पर बहुत ज्यादा असर डालती हैं। 'जोरि कर पति पद लागी'—पाँव पड़कर समझाना स्त्री का धर्म है, यथा—"गहिकर चरन नारि समझावा।" (कि॰ दो॰ ६), 'बोली बचन नीति-रस पागी।' क्योंकि रावण अनीति कर रहा है। बड़ों से बैर करना अनीति है, श्रीरामजी बड़े हैं, इसी को आगे कहती है, यथा–'कंत करष हरि सन ।' उचित नीति यह है कि जो शत्रु अपनेसे अधिक बलवान् हो, उससे साम (मेल) कर लेना चाहिये, यथा—"सुभट-सिरोमनि कुठार पानि मारिबेहू लरी औ लराई इहाँ किये सुभ सामै।" (गी॰ सु॰ २५), प्रीति और वैर समान से ही उचित है, यथा—"प्रीति बिरोध समान सन, करिय नीति असि आहि॥" (लं॰ दो॰ २३)।

(२) 'कंत करष हरि सन...'—'कंत' संबोधन से मन्दोदरी अपने सौभाग्य-रक्षा को मुख्य दिखाती है। एवं यह भी कि प्रजा और कुटुम्ब के भी कान्त अर्थात् रक्षक हो। वैर करने से वे हरि (भगवान्) हैं, समर्थ हैं, सबरुद्ध हरण कर लेंगे। 'हिय धरहू'—क्योंकि अपने हित की बात रावण किसी के भी कहने से धारण नहीं करता; यथा—"हित मत तोहि न लागत कैसे। काल बिवस कहँ भेषज जैसे॥" (लं० दो० ६); इसी पर मन्दोदरी कहती है कि मैं आपकी प्रिया हूँ और मेरा कथन आपके लिये अति हितकर है, अतएव इसे धारण करो।

समुझत जासु दूत कइ करनी। स्रवहिं गर्भ रजनीचर-घरनी ॥७॥
तासु नारि निज सचिव बोलाई। पठवहु कंत जो चहहु भलाई ॥८॥
तव कुल-कमल-बिपिन दुखदाई। सीता सीत-निसा-सम आई ॥९॥
सुनहु नाथ सीता बिनु दीन्हे। हित न तुम्हार संभु-अज कीन्हे ॥१०॥

दोहा—रामबान अहिगन सरिस, निकर निसाचर भेक।
जब लगि ग्रसत न तब लगि, जतन करहु तजि टेक ॥३६॥

अर्थ—जिनके दूत की करनी समझते ही निशाचरियों के गर्भ गिर जाते हैं ॥७॥ हे स्वामी! जो भलाई चाहो, तो अपने मंत्री को बुलाकर उनकी स्त्री भेज दो ॥८॥ तुम्हारे कुल रूपी कमलवन को दुख देनेवाली सीता शरद्-रात्रि के समान आई हैं, [अर्थात् अभी लंका रूपी सर में निशाचर कमल के समान प्रफुल्लित हैं, शरद निशा के समान श्रीसीताजी के संयोग से चन्द्रमा रूप श्रीरामचन्द्रजी क्रोधरूपी हिम बरसा करके निशाचरों का नाश करेंगे; यथा—"प्रगटे जहँ रघुपति ससि चारू। बिस्व सुखद खल कमल तुषारू॥" (बा० दो० १५),] ॥९॥ हे नाथ! सुनिये, विना श्रीसीताजी को दिये, शिवजी और ब्रह्माजी के भी करने से तुम्हारा हित नहीं हो सकता ॥१०॥ श्रीरामजी के बाण सर्प के समूह के समान और राक्षसों के समूह मेढ़कों के समान हैं, जबतक वे इन्हें निगल नहीं लेते तभी तक हठ छोड़कर उपाय कर लो ॥३६॥

विशेष—'समुझत जासु दूत...'—भाव यह है कि पहले तो उसके गर्जन से ही निशाचरियों के गर्भ गिर गये थे; यथा—"चलत महाधुनि गर्जेसि भारी। गर्भ स्रवहिं सुनि निसिचर नारी॥" (दो० २७); अब भी जो गर्भ धारण करती हैं, उस वानर की करनी का स्मरण होते ही उनके गर्भ गिर जाते हैं। 'करनी'; यथा—"वीथिका बजार प्रति, अटनि अगार प्रति, पँवरि पगार प्रति, बानर बिलोकिये। अध-ऊर्द्ध बानर, बिदिसि दिसि बानर है, मानहु रह्यो है भरि बानर तिलोकिये॥ मूँदे आँखि हीय में, उघारे आँखि आगे ठाढ़ो धाइ धाइ जहाँ तहाँ और कोऊ कोकिये ..." (क० सुं० १७)। इससे अब वंश-वृद्धि न होगी। मंदोदरी ने यह भी सुना है कि 'निसाचर रहहिं ससंका' पर उसने केवल स्त्रियों का ही भय-भीत होना कहा है। क्योंकि वीरों एवं पुरुषों का डरना यदि रावण सुनता तो उन्हें खोज-खोज कर दंड देता; अतः, इसने संभालकर कहा।

(२) 'तासु नारि निज सचिव...'; यथा—"प्रथम बसीठ पठउ सुनु नीती। सीता देइ करहु पुनि प्रीती॥" (लं० दो० ८), "जो आपन चाहइ कल्याना।...सो परनारि लिलार गोसाईं। तजइ चौथि के चंद

कि नाईं ॥" (दो० १७); अर्थात भलाई सीता को दे देने में ही है। 'निज सचिव'—अपना खास मंत्री; यथा—"माल्यवंत अति जरठ निसाचर। रावन मातु पिता मंत्रीवर।" (लं० दो० ४६); इनके अतिरिक्त मंत्री दुष्ट एवं अयोग्य हैं; यथा—"कहहिं सचिव सब ठकुर सोहाती।" (लं० दो० ८); 'निज सचिव' के जाने से तुम्हारा ही जाना समझा जायगा। रावण को स्वयं जाने को नहीं कहती, क्योंकि वह अभिमानी प्रकृति का है, शत्रु से झुकना तो मानों वह जानता ही नहीं; यथा—"द्विधा भज्येयमप्येवं न नमेयं तु कस्यचित्। एष मे सहजो दोषः स्वभावो दुरतिक्रमः॥" (वाल्मी० ६।३६।११), अर्थात् मैं दो टुकड़े हो जाऊँगा, पर नम्र न होऊँगा, यह मुझ में स्वाभाविक दोष है, क्या करूँ स्वभाव का उल्लंघन तो हो ही नहीं सकता—यह रावण ने ही कहा है। विना नम्रता सहित जाने में उसे भय भी है; यथा—"दसन गहहु तृन कंठ कुठारी ...येहि विधि चलहु सकल भय त्यागे॥" (लं० दो० १९); 'बोलाई' और 'पठवहु' का भाव यह कि शीघ्र अभी बुलाकर ऐसा करो, नहीं तो यदि श्रीरामजी इस पार आ जायँगे, तो तुम्हारी भलाई नहीं है; यथा—"तेहि आये पुर कवनि भलाई।" अभी सुना ही गया है।

(३) 'तव कुल कमल विपिन दुखदाई ···'—'सीता' नाम यहाँ उनकी शीतलता पर दृष्टि रखकर कहा गया है। वे यदि चाहें तो क्रोध करके तुम्हें भस्म कर सकती हैं; यथा—"असंदेशात्तु रामस्य तपसश्चानुपालनात्। न त्वां कुर्मि दशग्रीव भस्म भस्मार्हतेजसा" (वाल्मी० ५।२२।२०); वे क्षमा-रूप शीतलता से तुम्हारे वंश भर का नाश कर देंगी 'आई' अर्थात् तुम्हारे नाश के लिये वे स्वयं आई हैं। तुम ले आये हो, ऐसा कहने से रावण क्रुद्ध होता है; यथा—"जब ते तुम्ह सीता हरि आनी।···ताके वचन बान सम लागे।···" (लं० दो० ४७–४८) इसीसे इस बात को मंदोदरी ने युक्ति से कहा है।

(४) 'हित न तुम्हार संभु अज कीन्हे'—रावण ब्रह्माजी का प्रपौत्र (परपोता) और श्रीशिवजी का सेवक है। पर श्रीरामजी का द्रोही होने से इसे वे भी नहीं बचा सकते, क्योंकि वे दोनों ही श्रीरामजी के सेवक हैं; यथा—"जासु चरन अज सिव अनुरागी। तासु द्रोह सुख चहसि अभागी॥" (उ० दो० १०५); तथा—"संकर सहस विष्णु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही॥" (दो० २२)।

(५) 'राम बान अहि गन ··'—श्रीरामजी के बाण सर्पों के समान चमकीले, विषैले, सपक्ष, ग्रासक एवं फुंकारयुक्त, भयंकर और मृत्युकर हैं। जैसे सर्प मेढ़कों को ढूँढ़-ढूँढ़कर खाते हैं, वैसे ही राम-बाण भी निशाचरों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर मारेंगे और मेढ़क की तरह निशाचर उनका कुछ भी नहीं कर सकेंगे। 'जतन करहु' अर्थात् बचने का ही यत्न करो, लड़ने का नहीं। यत्न पहले ही कह चुकी है कि श्रीसीताजी को लौटा दो। 'जब लगि ग्रसत न···'—राम-बाण अमोघ है, उनके छूटने के पहले ही यत्न कर लो; यथा—"जबहिं समर कोपिहिं रघुनायक। छुटिहहिं अति कराल बहु सायक॥ तब कि चलिहि अस गाल तुम्हारा।" (लं० दो० ११)

मंदोदरी ने पुरजनों की वाणी सुनी थी। अतः, उन्हीं को लेकर उसने रावण को समझाया।

श्रवन सुनी सठ ता करि बानी। बिहँसा जगत विदित अभिमानी॥१॥
सभय सुभाव नारि कर साँचा। मंगल महँ भय मन अति काँचा॥२॥
जौं आवइ मर्कट-कटकाई। जियहिं बिचारे निसिचर खाई॥३॥

अर्थ—शठ और जगत्-प्रसिद्ध अभिमानी रावण उसकी वाणी कानों से सुनकर बहुत हँसा॥१॥

(और गोला) स्त्रियाँ स्वभाव से ही डरपोक होती है, यह सत्य है, मङ्गल मे भी भय ! बड़ा ही कच्चा मन है ॥२॥ जो वन्दरों की सेना आवेगी, तो विचारे निशाचर उन्हें खाकर जियेंगे ॥३॥

विशेष—(१) 'श्रवन सुनी सठ ' —मदोदरी ने कहा था—'सुनहु नाथ ' ' अत , इसने कानों से तो सुना, परन्तु उसे माना नहीं, इसीसे वक्ता लोग उसे 'सठ' कहते है। कहा ही है— "सठ सन विनय ऊसर बीज बये फल जथा " (दो० ५७), मदोदरी ने श्रीरामजी की बड़ाई की थी, उसीके निरादर के लिये बहुत हँसा, क्योंकि रावण अभिमानी है - ऐसे लोग अपने आगे किसी को नहीं गिनते। जैसा कि उसके अगले वचनों से स्पष्ट है। 'जगत विदित ' , यथा—"रन मद मत्त फिरइ जग धावा। प्रति भट खोजत कतहुँ न पावा।" (बा० दो० १८१), अर्थात् जो (मैं) त्रिलोक विजयी है, उसे नर-वानरका भय दिखाती है। ऐसा कहने का कारण वह आगे स्वय कहता है—

(२) 'सभय सुभाव नारि कर साचा।'—स्त्रियों के आठ अवगुणों मे 'सभय होना' भी एक है , यथा—"साहस अनृत चपलता माया। भय अविवेक असौच अदाया॥" (ल० दो० १५), अभी तक यह कवियो से ही सुना जाता था। आज मैंने उसकी सत्यता प्रत्यक्ष पाई कि जिसे कहीं किसी से भी भय नहीं, वह मदोदरी भी डर रही है अत , यह नारि-स्वभाव ही है।

(३) 'मगल महँ भय '—विना प्रयास के आहार मिलना मगल है , यथा—"नर कपि भालु अहार हमारा " (ल० दो० ७), "गृह बैठे अहार विधि दीन्हा।" (ल० दो० ११)। शत्रु को देखकर भयभीत होना मन का कच्चा होना है और भक्ष्य को देखकर भय खाना तो मन का अति कच्चा होना है। उसी मगल विधान को आगे कहता है—

(३)'जौं आवइ मर्कट कटकाई। '—'जौं' अर्थात् आने मे अभी सदेह है, भय के मारे नहीं आवेंगे। यदि काल की प्रेरणा से सम्भवत आ भी जायँ, तो विचारे निशाचरों के पेट भरेंगे। 'मर्कट कटकाई'—एक-दो से तो एक निशाचर को भी पूरा न पड़ता। 'कटकाई' आवे, तभी सब निशाचर जियेंगे। जो भूख के मारे दीन (विचारे) हो रहे हैं, यथा—"आये कीस काल के प्रेरे। छुधावत सब निसिचर मेरे॥" (ल० दो० १८), श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी के नाम उसने नहीं लिये, क्योंकि यहाँ वह आहार का वर्णन कर रहा है और ये दो तो एक भी निशाचर के पेट भरने योग्य नहीं हैं।

मदोदरी ने जो 'निकर निसाचर भेक' कहकर इसकी सेना की निर्बलता कही थी, उसका उत्तर उसने यह दिया और जो उसने कहा था—'हित न तुम्हार सभु अज कीन्हे।' उसका उत्तर वह आगे— 'कपहि लोकप ' से देगा। पहले अपनी सेना का बल कहकर तब अपना कहता है—

कपहिं लोकप जाकीं त्रासा। तासु नारि सभीत बड़ि हासा॥४॥
अस कहि बिहँसि ताहि उर लाई। चलेउ सभा ममता अधिकाई॥५॥
मंदोदरी हृदय कर चिंता। भयउ कत पर बिधि बिपरीता॥६॥

अर्थ—जिसके डर से लोकपाल काँपते है, उसकी स्त्री डरनेवाली हो, यह बड़ी हँसी की बात है ॥४॥ ऐसा कह बिहँसकर उसे छाती से लगाया और अधिक स्नेह एव अभिमान दिखाकर सभा को चला ॥५॥ मदोदरी हृदय मे चिन्ता करने लगी कि स्वामी पर विधाता प्रतिकूल हो गये हैं ॥६॥

विशेष—'कंपहिं लोकप···' यथा—"कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥" (दो० १६); भाव यह कि तू हमें मनुष्य का भय दिखाती है, परन्तु मेरे डर से तो लोकपाल तक काँपते हैं। और निशाचरों की स्त्री नर-वानर से डरे, तो हँसी की बात है और उन निशाचरों के राजा रावण की रानी उनसे डरे, यह तो बड़ी हँसी की बात है।

(२) 'अस कहि बिहँसि···'—उपक्रम में भी रावण हँसा था ; यथा—'बिहँसा जगत बिदित अभिमानी।' और यहाँ उपसंहार में भी हँसा। तात्पर्य यह कि मंदोदरी की बात उसने हँसी में ही उड़ा दी। बिहँसकर हृदय से लगाया कि जिससे उसके वचन के निरादर का कष्ट उसे न हो। पुनः मंदोदरी पहले इसके पाँवों से लगी थी। उसीके प्रतिफल इसने भी चलते समय उसे हृदय से लगाया। 'चलेउ हृदय ममता अधिकाई'—मंदोदरी का ज्ञान-कथन यहाँ व्यर्थ हो गया, क्योंकि रावण के हृदय में ममता है ; यथा—"ममता-रत सन ज्ञान कहानी।···ऊसर बीज बये फल जथा।" (दो० ५७); ममतारूपी अंधकार से इसे कुछ सूझता ही नहीं ; यथा—"ममता तिमिर तमी अँधियारी। राग द्वेष उलूक सुख कारी॥" (दो० ४६); इसी ममता-वश इसने स्त्री से राग किया, अर्थात् उसे हृदय लगाया, श्रीरामजी के प्रति इसने द्वेष किया, यह यहाँ चरितार्थ है।

ममता के स्नेह और अभिमान दो अर्थ होते हैं। रावण ने अपनी स्त्री से स्नेह किया और साथ ही अपना अभिमान भी प्रकट किया कि लोकपाल तक मेरे डर से काँपते हैं, तो नर-वानर मेरे सामने क्या वस्तु हैं ? तीसरा अर्थ 'मेरापना' भी है, वह भी सभा जाते समय हृदय में जागरित है कि मेरे ऐसे-ऐसे कुटुंब एवं सुभट हैं, हमारा कोई क्या कर सकता है ; यथा—"कुंभ करन अस बंधु मम, सुत प्रसिद्ध सक्रारि। मोर पराक्रम नहिं सुनेहि,···" (लं० दो० २७)।

(३) 'मंदोदरी हृदय कर चिंता।···'—अब इसे अपने अहिवात की चिन्ता हुई कि मेरा उसके बचाने का उद्योग नष्ट हो गया, इससे स्पष्ट हो गया कि विधाता इसके विपरीत हैं। अब इसकी भलाई नहीं है ; यथा—"बिधि बिपरीति भलाई नाहीं।" (बा० दो० ५१) ; पहले इसने भलाई का उपाय किया ; यथा—"तासु नारि···पठवहु कंत जो चहहु भलाई।" पर विधि विपरीतता से वह व्यर्थ हो गया।

बैठेउ सभा खबरि असि पाई। सिंधु पार सेना सब आई॥७॥
बूझेसि सचिव उचित मत कहहू। ते सब हँसे मष्ट करि रहहू॥८॥
जितेहु सुरासुर तब श्रम नाहीं। नर-बानर केहि लेखे माहीं॥९॥

शब्दार्थ—मष्ट करना=चुप होकर रहना ; यथा—"मष्ट करहु अनुचित भल नाहीं।"—(बा० दो० २७७)।

अर्थ—सभा में बैठा, तब यह खबर पाई कि सब सेना समुद्र पार आ गई है॥७॥ मंत्रियों से पूछा कि जो मत (सलाह) उचित हो, वह कहो। वे सब हँसे कि चुप होकर बैठे रहिये॥८॥ जब सुर-असुर को आपने जीता, तब तो कुछ श्रम हुआ ही नहीं, ये नर-वानर किस गिनती में हैं ?॥९॥

विशेष—(१) 'बैठेउ सभा खबरि···'—ऐसी खबर देने का उचित स्थान सभा ही है, इसलिये रावण के वहाँ आ जाने पर दूतों ने कहा। पहले इन्हीं बातों को लेकर सभा की कार्यवाही प्रारम्भ हुई। इससे जान पड़ता है कि श्रीहनुमान्‌जी के लंका-दहन करके जाने के बाद से सबको यही चिंता लगी रहती थी, यथा—"उहाँ निसाचर रहहिं ससंका। जब ते··" ऊपर कहा ही गया है। अतः, सब इसीकी जासूसी

मे रहते थे। 'सिंधु पार' = इस पार, दूसरी ओर का किनारा। एक तट के लोग दूसरे तट को उस पार कहते हैं।

(२) 'बूझेसि सचिव उचित मत ...'- उसके मत में 'श्रीसीताजी को दे दो, शत्रु से मेल कर लो'—यह अनुचित मत है। शत्रु मारे जायँ, श्रीसीताजी को नहीं देना पड़े—यही उचित मत है, यथा—"अदेया च यथा सीता वध्यौ दशरथात्मजौ। भवद्भिर्मन्त्र्यतां मन्त्र सुनीतं चाभिधीयताम्।" (वाल्मी० ६।१२।२५), अर्थात् जिससे श्रीसीताजी को नहीं देना पड़े और दोनों दशरथकुमार मारे जायँ, ऐसा विचार आपलोग निश्चित करें और उसके लिये निश्चित कर्त्तव्य बतलावें। आगे भी इसने ऐसा ही पूछा है, यथा—"सभा आइ मंत्रिन्ह तेहि बूझा। करब कवन बिधि रिपु सें जूझा॥" (लं० दो० ७), यहाँ उचित मत पूछने का भाव यह है कि उस पार चलकर लड़ें कि उन्हें इस पार उतर आने दें, या कैसे लड़ें?

(३) 'ते सब हँसे मष्ट करि रहहू'—इसलिये हँसे कि ऐसी बात कहने के योग्य नहीं है जो सुनेगा, क्या कहेगा? कि राजा रावण लोकत्रय जीतकर आज नर-वानर से युद्ध करने के उपाय पूछते हैं? देखिये, रावण ने मंदोदरी की बात को हँसी में उड़ा दिया, और वही बात मंत्रियों ने भी इसके साथ की, परन्तु इसपर रावण प्रसन्न ही हुआ कि जो बात मैंने मंदोदरी से कही थी "जौं आवै मर्कट कटकाई ..." वही मंत्रियों का भी मत है। मंत्री लोगों ने हँसकर जनाया कि आप हमसे उचित कहने को कहते हैं और स्वयं अनुचित पूछते हैं, भला, नर-वानरों से लड़ाई के लिये भी सम्मति पूछी जाती है?

(४) 'जितेहु सुरासुर तब श्रम नाहीं। ..'—जो सुर-असुर लेखे में हैं, अर्थात् उनमें बड़े-बड़े वीर हैं, उन्हें तो आपने जीत ही लिया। सुर से स्वर्ग लोक और असुर से पाताल लोक जीतना कहा, उसमें श्रम न हुआ, यथा—"रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा॥ दिगपालन्ह के लोक सुहाये। सूने सकल दसानन पाये॥" (बा० दो० १८१)। तब ये मर्त्यलोक के नर-वानर किस गिनती में हैं, जिनके लिये उपाय सोचें।

दो०—सचिव बैद गुरु तीनि जौं, प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तन तीनि कर, होइ बेगिहीं नास॥३७॥

सोइ रावन कहुँ बनी सहाई। अस्तुति करहिं सुनाइ सुनाई॥१॥

अर्थ—मंत्री, गुरु और वैद्य ये तीन भय या आशा से, प्रिय बोलते हैं, तो राज्य, धर्म और शरीर, इन तीनों का शीघ्र ही नाश हो जाता है॥३७॥ ये ही बातें रावण को सहायक हुई हैं, सब सुना-सुनाकर स्तुति करते हैं॥१॥

विशेष—'सचिव बैद गुरु ...'—यही दोहा दोहावली ५२४ में भी है, पर वहाँ 'मंत्री गुरु अरु बैद ...' पाठ है। जिससे 'राज' धर्म, तन, तीनों के साथ क्रम ठीक बनता है। मंत्री भय से ठकुर-सुहाती कहे, तो राज्य का नाश, गुरु अधर्म से न रोके तो धर्म का नाश और वैद्य भय से संयम न करावे और रोगी की हाँ में-हाँ मिला दे, तो रोगी के तन का शीघ्र ही नाश होता है। पर यहाँ पाठ में वैसा यथासंख्य अलंकार नहीं है, यह भी भाव गर्भित है कि जब ये तीनों रावण के विपरीत ही हैं, तब श्रीगोस्वामीजी ने शब्दों से भी वैषम्य प्रकट कर ही दिया।

मंत्री लोग पीछे तो कहते हैं—"जासु दूत बल बरनि न जाई। तेहि आये पुर कवनि भलाई॥" "नहिं निसिचर कुल केर उबारा।" (दो० ३५)। और रावण के सामने भय से उसे सुना-सुनाकर स्तुति करते हैं, यथा—"ते सन हँसे...जितेहु सुरासुर..." अतः, रावण का राज्य नाश होगा, यथा—"संग ते जती कुमंत्र ते राजा।...नासहिं बेगि..." अ० दो० २०); गुरु शिवजी डर से नित्य ही पुजाने आते थे; यथा—"संभु सभीत पुजावन रावन ते नित आवें।" (क० उ० २)। उन्होंने भी डर से इसे अधर्म करने से नहीं रोका, यथा—"संभु सेवक जान जग बहु बार दियो दस सीस। करत राम-बिरोध सो सपनेहुँ न हटकेउ ईस॥" (वि० २१६), इससे रावण का धर्म नाश होगा। यह राम-विमुख हो रहा है। वैद्य सुषेण इसी के यहाँ पला, पर संजीवनी द्वारा शत्रु पक्ष का कार्य किया, इत्यादि रीति से इसके सभी विपरीत हो रहे हैं। वही ग्रंथकार कहते हैं, यथा—'सोइ रावन कहँ बनी सहाई ...'—'बनी सहाई' अर्थात् संयोग आ बना है। कहा ही है—"भये निधि बिमुख बिमुख सब कोऊ" (अ० दो० १८१)।

अवसर जानि बिभीषन आवा। भ्राता-चरन सीस तेहि नावा॥२॥
पुनि सिरनाइ बैठ निज आसन। बोला बचन पाइ अनुसासन॥३॥
जौ कृपाल पूछेहु मोहिं बाता। मति अनुरूप कहउँ हित ताता॥४॥

अर्थ—अच्छा अवसर जानकर श्रीविभीषणजी आये और भाई के चरणों में उन्होंने शिर नवाया॥२॥ फिर शिर नीचा करके (वा, शिर नवाकर) अपने आसन पर बैठे और आज्ञा पाकर वचन बोले॥३॥ हे कृपालु! जो आप मुझ से बात पूछते हैं तो हे तात! मैं अपनी बुद्धि के अनुसार हित की बात कहता हूँ॥४॥

विशेष—(१) 'अवसर जानि'—(क) उचित उपदेश देने के योग्य अच्छा अवसर जानकर; यथा—"मुनि पुलस्ति निज सिष्य सन, कहि पठई यह बात। तुरत सो मैं प्रभु सन कही, पाइ सुअवसर तात॥" यह आगे स्पष्ट है। (ख) अभी तक इस कारण नहीं आये थे कि और-और मंत्रियों के मतों का खंडन करना पड़ता, जो रावण को न रुचता। जैसे आगे लं० दो० ८ में प्रहस्त ने खंडन किया तब रावण क्रुद्ध हुआ। या (ग) अपने नित्य के आने का अवसर जानकर।

बुद्धिमान् लोग अवसर जानकर ही कार्य करते हैं, इस समय रावण ने उचित उपाय के संबंध में प्रश्न किया है। ऐसा अवसर विशेषकर सभा के मध्य में ये चाहते थे और इन्हें पुलस्त्यजी के संदेशे का बल भी है अतः, संभवतः मेरी बात लग जाय और रावण का कल्याण हो जाय, यही विचार कर आये। 'भ्राता चरन सीस ...'—सबलोगों ने राजा मानकर प्रणाम किया। इन्होंने ज्येष्ठ भ्राता को पिता के तुल्य मानकर विशेष भक्ति सहित प्रणाम किया। आगे—'तुम्ह पितु सरिस भले ...' कहा ही है।

(२) 'पुनि सिर नाइ ...'—सब के आसन नियमित हैं। बड़ों के सामने प्रणाम करके और शिर नीचा करके आसन पर बैठना चाहिये, वैसे ही ये बैठे और यह भी नीति है कि बिना पूछे न बोले, इससे ये आज्ञा पाकर बोले। 'पाइ अनुसासन'—और मंत्रियों के मत से रावण को संतोष नहीं हुआ था, इसीसे इनके आते ही वही प्रश्न इनसे भी किया गया। ये सब मंत्रियों में प्रधान थे, इससे भी सबके पीछे इनसे पूछा जाना योग्य ही था।

(३) 'जौ कृपाल पूछेहु मोहिं ...'—भाव आप बहुत कुछ जानते हैं, पर मुझसे पूछा, यह आपने

कृपा करके मुझे बड़ाई दी। भाव यह कि मैं उपदेश देने योग्य नहीं हूँ, केवल अपनी मति के अनुसार आपके हित की बात ही कहता हूँ। उपदेश देना नहीं कहा, क्योंकि उससे रावण चिढ़ता है; यथा—"मृत्यु निकट आई खल तोहीं। लागेसि अधम सिखावन मोहीं॥" (दो० २१) "गुरु जिमि मूढ़ करसि मम बोधा।" (आ० दो० २५); 'मति अनुरूप'—इस तरह कहने की रीति है; यथा—"मैं निजमति अनुसार, कहउँ उमा···" (बा० दो० १२०); इससे अपनी बुद्धिमत्ता का अभिमान नहीं पाया जाता

यह भी भाव है कि और लोगों की मति में—'नहिं निसिचर कुल केर उबारा।'; 'तेहि आये पुर कवनि भलाई।' है; पर आपके सामने आपकी मति के अनुरूप कहते हैं। मैं वैसा नहीं कहता, किन्तु अपनी ही मति के अनुरूप कहता हूँ। इनके वचन शुद्ध साधुता की रीति से हैं।

यही बात आगे शुक ने भी कही है; यथा—"नाथ कृपा करि पूछेहु जैसे। मानहु कहा क्रोध तजि तैसे॥" (दो० ५१); पर उसमें 'मानहु' और 'क्रोध तजि' से पहले ही उसने रावण को हठी और क्रोधी सिद्ध किया।

जो आपन चाहइ कल्याना। सुजस सुमति सुभ गति सुख नाना॥५॥
सो परनारि - लिलार गोसाईं। तजउ चौथि के चंद कि नाईं॥६॥

अर्थ—हे गोस्वामी! जो अपना कल्याण, सुन्दर यश, सुन्दर मति, शुभ गति और अनेक प्रकार के सुख चाहे; वह परस्त्री के ललाट को चौथ के चन्द्रमा की तरह त्याग दे; क्योंकि इसके देखने में कलंक है॥५–६॥

विशेष—(१) 'जो आपन चाहइ···ये सब सामान्य रीति से औरों पर लगाकर उपदेश देते हैं जिससे वह क्रोध न करे। रावण काम, क्रोध, लोभ तीनों के वश में है, इसलिये अभी उसे परोक्ष रीति से कहते हैं—'पर नारि लिलार' से काम, 'भूत द्रोह' से क्रोध और 'अलप लोभ' से लोभ को त्यागने के लिये कहते हैं; पर वह इस तरह के कथन को न समझने का ढोंग दिखाकर टाल देगा, क्योंकि वह अभिमानी है, अपनेमें दोष न मानेगा। तब दोहे में अपरोक्ष रीति से भी कहेंगे; यथा—"काम क्रोध मद लोभ···"

यहाँ प्रस्तुत प्रसंग में श्रीसीताजी के लौटाने की बात कहना है इसलिये 'पर नारि लिलार' प्रथम कहा है और दोहे में 'काम' दोष को। पर नारि लिलार (मुख देखना कामुकता-रूपी दोष है, इसको विस्तार से कहते हैं कि इससे पाँच बातों का नाश होता है—(१) सुयश का नाश; यथा—"कामी पुनि कि रहइ अकलंका।" (उ० दो १११); (२) सुमति का नाश; यथा—"मुनि अति बिकल मोह मति नाठी।" (बा० दो० १३४); (३) शुभगति का नाश; यथा—"सुभगति पाव कि परतिय गामी।" (उ० दो० १११) (४) नाना प्रकार के सुख का नाश, यथा—"अवगुन मूल सूल प्रद, प्रमदा सब दुख खानि।" (आ दो० ४४)। (५) कल्याण का नाश, यथा—"तासु नारि निज सचिव बोलाई। पठवहु कंत जो चहहु भलाई॥" (दो० ३५); इन पाँचों बातों का परस्त्री-अनुरक्ति से नाश होता है और ये पाँचों सत्संग से प्राप्त होती हैं, देखिये बा० दो० २ चौ० ५–६ भी। श्रीविभीषणजी संत हैं। उन्होंने पर-स्त्री-चिंतन को इस तरह त्याग दिया है कि मुख से उसका नाम तक नहीं लेते, किन्तु 'लिलार' से जनाते हैं। स्त्री के मुख की उपमा चौथ के चन्द्रमा से दी जाती है। उसमें ललाट मात्र चन्द्रमा के आकार का रह जाता है। उसे भी देखना कलंक है। अतः, उसका त्यागना ही उचित है। यहाँ काम से पाँच बातों का नाश होना कहा। आगे क्रोध

और लोभ पर कहते हैं। 'गोसाईं' का भाव यह है कि आप राजा हैं, राजा का आचरण ही प्रजा के लिये आदर्श होता है। अतः, आप स्वयं पर-स्त्री का त्याग करें और जो दूसरा पर-स्त्री ग्रहण करे उसे दंड दें।

चौदह भुवन एक पति होई। भूत-द्रोह तिष्ठइ नहिं सोई ॥७॥
गुन-सागर नागर नर जोऊ। अलप लोभ भल कहइ न कोऊ ॥८॥

दोहा—काम क्रोध मद लोभ सब, नाथ नरक के पंथ।
सब परिहरि रघुबीरहि, भजहु भजहिं जेहि संत ॥३८॥

अर्थ—जो चौदहो भुवनों का अकेला ही स्वामी हो, वह भी भूत (जीव) द्रोह से ठहर नहीं सकता (नष्ट हो जाता है) ॥७॥ जो मनुष्य गुणों का सागर (सर्व गुण-पूर्ण) और चतुर हो, उसको भी चाहे थोड़ा ही लोभ क्यों न हो, तो भी कोई अच्छा नहीं कहता। ८ हे नाथ ! काम, क्रोध, मद, लोभ—ये सब नरक के मार्ग हैं, इन सबको छोड़कर रघुवीर श्रीरामजी को भजो, जिन्हें संत भजते हैं। ३८।

विशेष—(१) 'भूत द्रोह'—से यहाँ जीव-मात्र के द्रोह का भाव है, भूत-द्रोही ईश्वर का भी द्रोही है, क्योंकि ईश्वर सर्व भूतमय है; यथा—"जेहि पूछउँ सोइ मुनि अस कहई। ईश्वर सर्वभूतमय अहई॥" (उ० दो ११६); "मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥" (गीता १६।१८) भूत द्रोह भारी पाप है; यथा—"सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्व द्रोह कृत अघ जेहि लागा॥" (दो० ३८) ऐसे पाप से नाश होता है; यथा—"बिस्व द्रोह रत यह खल कामी। निज अघ गयउ कुमारग गामी॥" (लं० दो० १०८)।

(२) 'गुन सागर नागर नर जोऊ।...'—उपर्युक्त काम और क्रोध समय टल जाने पर शान्त भी हो जाते हैं, परन्तु लोभ थोड़ा भी हो तो वह बढ़ता ही जाता है; यथा—"जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई" (लं० दो० १००); लोभ अल्प भी रहता है तो गुण-सागरों की भी निन्दा होती है; यथा—"लोभः स्वल्पोऽपि तान्हन्ति चित्रो रूपमिवोप्सितम्" (श्रीमद्भागवत); अर्थात् थोड़ा भी लोभ गुण-समूह को नष्ट कर देता है, जैसे थोड़ा-सा कुष्ट सुन्दर रूप को।

(३) 'काम क्रोध मद लोभ सब...'—अभी तक सबको पृथक्-पृथक् कहा गया था। अब एक साथ कहकर उनका त्यागना कहते हैं, अतएव युक्ति से रावण में इन सबका होना जना दिया। कहने का मुख्य प्रयोजन इनका त्याग कराने के लिये था। अतः, उसे प्रकट रूप से कहा। 'नरक कर पंथ'; यथा—"त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयंत्यजेत्॥" (गीता १६।२१); कामादि नरक के मार्ग हैं, इनका त्याग करो और हरि-भजन मोक्ष का मार्ग है, अतएव उसको ग्रहण करो; यथा—"संत-संग अपवर्ग कर, कामी भवकर पंथ।" (उ० दो० ३३); पहले कामादि से सुयश आदि का नाश होना कहा गया था और अब उन्हें नरक का मार्ग कहा जाता है। भाव यह है कि ये कामादि दोनों लोक का नाश करते हैं।

इसमें 'पंथ' और 'संत' में अनुप्रयास का मिलान नहीं है, क्योंकि नरक के मार्ग से संत का सम्पर्क भी नहीं रहता। अतः, इसी भाव से मिलान नहीं है। केवल एक ही मात्रा का मेल है। ऐसे ही—"चंद्रहास हर मम परितापं। रघुपति बिरह अनल संजातं॥" इत्यादि अन्यत्र भी हैं।

(४) 'सब परिहरि'''—संत जब विचार करके निश्चय कर लेते हैं, तब सबको त्याग कर श्रीरामजी का भजन करते हैं ; यथा—"एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथभिक्षाचर्यं चरन्ति।" (बृह० ३।५।१) ; अर्थात् उस आत्मा को जानकर ; पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा त्याग कर ब्राह्मण भिक्षाचरण करते हैं। तथा—"संत कहहिं असि नीति दसानन। चौथे पन जाइहि नृप कानन॥ तासु भजन कीजिय तहँ भरता।'''सुत कहँ राज समर्पि बन, जाइ भजिय रघुनाथ।" (लं० दो० ६)। यहाँ तक अपनी मति के अनुरूप ही कहा, अब आगे श्रीपुलस्त्यजी का सँदेशा कहते हैं—

तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेश्वर कालहु कर काला॥१॥
ब्रह्म अनामय अज भगवंता। व्यापक अजित अनादि अनंता॥२॥

अर्थ—हे तात ! श्रीरामजी मनुष्य रूप राजा नहीं हैं, वे (समस्त) भुवनों (ब्रह्मांडों) के स्वामी और काल के भी :काल हैं॥१॥ ब्रह्म हैं, अविद्या जन्य रोगों से रहित हैं, अजन्मा हैं, षडैश्वर्ययुक्त, व्यापक, जीतने के अयोग्य, आदि रहित और अन्त रहित हैं॥२॥

विशेष—(१) 'तात राम नहिं नर'''—श्रीविभीषणजी रावण को पहले विकारों का त्यागना कहकर तब उसे ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान कराते हैं, यही नियम भी है ; यथा—"करहु हृदय अति विमल बसहिं हरि कहि कहि सबहि सिखावौं। हौं निज उर अभिमान मोह मद खल मंडली बसावौं।" (वि० १४२)। रावण को श्रीरामजी के ईश्वरत्व में संदेह है, उसने श्रीरामजी को मनुष्य ही माना है ; यथा—"नर कर करसि बखान" (लं० दो० २५) ; इसी पर कहते हैं ; यथा 'राम नहिं नर भूपाला।' 'भुवनेश्वर'—भुवन का अर्थ ब्रह्मांड है ; यथा—"देखेउँ बहु ब्रह्मांड निकाया॥'''अवधपुरी प्रति भुवन निनारी।'''" (उ० दो० ७१-८०)। ब्रह्मांड अनेकों हैं, और श्रीरामजी इन सब के स्वामी हैं ब्रह्मांडों को भी काल खाता है ; यथा—"ऊमरि तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥'''ते फल भच्छक कठिन कराला। तव डर डरत सदा सोउ काला॥" (आ० दो० १२) ; परन्तु श्रीरामजी काल के भी काल (भक्षक) हैं ; यथा—"भृकुटि भंग जो कालहि खाई।" (लं० दो० ६७) ; इस तरह श्रीरामजी को भुवन (देश) और काल के भी प्रवर्तक एवं देश-कालातीत सिद्ध किया। अतः, उन्हें 'ब्रह्म' कहा गया है। फिर 'अनामय अज' ब्रह्म के विशेषण कहे गये हैं। प्रभु अनामय अर्थात् अविद्या आदि रोगों से रहित हैं, इसी से कर्मवश उनका जन्म नहीं होता, किन्तु अज हैं। जन्म तो देखा जाता है—इसका समाधान 'भगवंता' शब्द से करते हैं कि वे षडैश्वर्य से जगत् की उत्पत्ति, पालन और प्रलय करनेवाले हैं, अतएव स्वेच्छा से अवतार लेते हैं ; यथा—"भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप" (उ० दो० ७२) ; 'व्यापक' हैं, अर्थात् व्याप्य-भूत जगत्-मात्र के आधार होते हुए भी उससे निर्लिप्त हैं। इसी से 'अजित' हैं, उन्हें कोई जीतकर अधीन नहीं कर सकता। पुनः 'अनादि अनन्ता' हैं ; यथा—"आदि अंत कोउ जासु न पावा।" (बा० दो० ११७)।

गो - द्विज - धेनु - देव - हितकारी। कृपासिंधु मानुष - तनु - धारी॥३॥
जनरंजन भंजन खलब्राता। वेदधर्म रच्छक सुनु भ्राता॥४॥

अर्थ—पृथिवी, ब्राह्मण, गऊ और देवताओं के हित करने वाले हैं; कृपा के सागर हैं (कृपा से)

मनुष्य-शरीर धारण करते हैं ।३॥ हे भाई ! सुनिये, श्रीरामजी जनों के आनन्द देनेवाले, दुष्टसमूह के नाशक वेद और धर्म के रक्षक हैं ।४।

विशेष—(१) 'गो द्विज धेनु···' उपर्युक्त 'नहिं नर भूपाला' की पुष्टि में कहते हैं कि प्रभु ने इस समय पृथिवी आदि के हित के लिये कृपा करके मनुष्य का शरीर धारण किया है ; यथा—"तेहि धरि देह चरित कृत नाना ॥ सो केवल भगतन हित लागी । परम कृपाल प्रनत अनुरागी ” (बा० दो० १२); भाव यह है कि देखने में तो ये नर मालूम पड़ते हैं, परन्तु नर नहीं हैं, ब्रह्म हैं । गो-द्विज आदि के लिये कृपा करके इन्होंने अवतार लिया है । रावण ने भी पहले ऐसा अनुमान किया था; यथा—"सुररंजन भंजन महि-भारा । जौ भगवंत लीन्ह अवतारा ” (आ० दो० २२); पर जब वह कंचन-मृग द्वारा उनकी परीक्षा के लिये गया, तब उसने प्रभु का मनुष्य होना ही निश्चित किया ।

(२) 'जन रंजन भंजन खल ब्राता ।···'; यथा "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।" (गीता ४।८); यहाँ श्रीविभीषणजी ने युक्ति से जना दिया कि जिनके तुम विरोधी हो, श्रीरामजी ने उन्हीं की रक्षा के लिये अवतार लिया है । अतः, वैर रक्खोगे तो उनसे बच नहीं सकोगे—

श्रीरामजी	रावण—(बा० दो० १८२–१८३) ।
गो-द्विज धेनु देव हितकारी	जेहि जेहि देस धेनु द्विज···आगि लगावहिं
जन रंजन	साधुन्ह सन करवावहिं सेवा ।
भंजन खल ब्राता	बाढ़े खल बहु चोर जुआरा । जे···
वेद-रक्षक	तेहि बहु बिधि त्रासइ देस निकासइ जो कह वेद पुराना
धर्म-रक्षक	जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला । सो सब करहिं···

तात्पर्य यह है कि तुम्हारे मारने के लिये ब्रह्म ही नर-तन-धारण किये हुए है ; क्योंकि तुम्हारी मृत्यु मनुष्य के हाथ से निर्णीत है । अतः, इनसे वैर करोगे तो तुम्हारी मृत्यु निश्चित है ।

ताहि बैर तजि नाइय माथा । प्रनतारति - भंजन रघुनाथा ॥५॥
देहु नाथ प्रभु कहुँ बैदेही । भजहु राम बिनु हेतु सनेही ॥६॥

अर्थ—वैर छोड़कर उनको शिर नवाइये, श्रीरघुनाथजी शरणागत के दुःख नाश करनेवाले हैं ॥५॥ हे नाथ ! प्रभु को वैदेही दे दीजिये और बिना कारण ही स्नेह करनेवाले श्रीरामजी को भजिये ॥६।

विशेष—(१) 'नाइय माथा'—बस, केवल इसी की आवश्यकता है, कुछ भेंट-पूजा की आवश्यकता नहीं है ; यथा "बलि पूजा चाहै नहीं चाहै एक प्रीति ” (वि० १०७) । "भलो मानि हैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइ है । ततकाल तुलसीदास जीवन जनम को फल पाइ है ।” (वि० १३५); "सकृत प्रनाम किये अपनाये ।” (अ० दो० २९८), 'प्रनतारति भंजन'—आर्त्त-वाणी सहित प्रणाम करो ; यथा—"प्रनत पाल रघुबंसमनि, त्राहि त्राहि अब मोहिं । आरत गिरा सुनत प्रभु, अभय करैं गो तोहिं ॥” (लं० दो० २०); अर्थात् 'त्राहि त्राहि'. कहना ही आर्त्त-वाणी है, ऐसे ही श्रीविभीषणजी स्वयं

भी शरणागत हुए हैं ; यथा – "त्राहि त्राहि आरति हरन, सरन सुखद रघुबीर अस कहि करत दंडवत देखा।" (दो० ४५) ; 'रघुनाथा' पद से उपर्युक्त ऐश्वर्य को इन्हीं रघुकुलोद्भव श्रीरामजी में घटित किया गया है , यथा—"जेहि निधि रहा जाहि जस भाऊ। तेहि तस देखेउ कोसलराऊ॥" (बा० दो० २४१)।

(२) 'देहु नाथ प्रभु कहँ बैदेही'''—श्रीविभीषणजी ने हाथ जोड़कर याचना करते हुए 'नाथ' शब्द का प्रयोग किया है—'नाधृ-याचने' धातु से 'नाथ' शब्द निष्पन्न होता है 'प्रभु' अर्थात् वे समर्थ हैं, न दोगे, तो बल-पूर्वक ले लेंगे, फिर तुम्हारी कुछ न चलेगी 'राम बिनु हेतु सनेही' ; यथा – "अस प्रभु दीन बंधु हरि, कारन रहित दयाल " (बा० दो २११), "सहज सनेही राम सों ''" (वि १३५)। 'देहु · बैदेही'—भाव यह है कि जैसे विदेहराज ने इन्हें श्रीरामजी को अर्पण करके यश पाया है, वैसे ही तुम भी अर्पण करो। देखिये दो० २१ चौ० १० भी।

सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्व-द्रोह-कृत अघ जेहि लागा॥७॥
जासु नाम त्रयताप नसावन। सोइ प्रभु प्रगट समुझु जिय रावन॥८॥

अर्थ—शरण जाने पर प्रभु ने उसको भी नहीं त्यागा, जिसको संसार-भर से द्रोह करने का पाप लगा हो।७। जिनका नाम तीनों (दैहिक, दैविक, भौतिक) तापों का नाशक है, वही प्रभु प्रकट हुए हैं, हे रावण ! ऐसा हृदय में समझो।८॥

विशेष—(१) 'सरन गये प्रभु ''—यदि रावण को अपने पापों के कारण यह भय हो कि मुझ ऐसे पापी को वे शरण में न रक्खेंगे। तो कहते हैं—'सरन गये '' रावण भी विश्वद्रोही है ; यथा—"बिस्व द्रोह रत यह खल कामी " (ल० दो० १०८) ; 'प्रभु' अर्थात् शरण जाने पर ऐसे पापों को नष्ट करने में वे समर्थ हैं , यथा—"सनमुख होइ जीव मोहिं जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥" (दो० ४४) ; "जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही॥ ''करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥" (दो० ४७)।

(२) 'जासु नाम त्रय ताप नसावन। ''—रामनामाराधन से तीनों ताप नाश होते हैं ; यथा "राम-राम-राम जीह जौ लौं तू न जपि है। तौ लौं तू कहूँ जाय तिहूँ ताप तपि है॥" (वि० ६८), पुनः "हेतु कृसानु भानु हिम कर को " (बा० दो० १९) ; के अर्थ में राम-नाम से वैराग्य, ज्ञान और भक्ति का प्राप्त होना कहा गया है। उनमें वैराग्य से दैहिक ताप, ज्ञान से भौतिक और भक्ति से दैविक ताप दूर होते हैं।

'समुझु जिय रावन'—यह श्रीपुलस्त्यजी का कथन है, श्रीविभीषणजी तो तात, नाथ आदि ही कहते आये हैं।

दोहा—बार • बार पद लागउँ, बिनय करउँ दससीस।
परिहरि मान मोह मद, भजहु कोसलाधीस॥
मुनि पुलस्ति निज सिष्य सन, कहि पठई यह बात।
तुरत सो मैं प्रभु सन कही, पाइ सुअवसर तात॥२६॥

अर्थ—हे दशशीश ! मैं बार-बार चरणों में लगकर विनती करता हूँ कि मान, मोह और मद को छोड़कर कोशलाधीश श्रीरामजी का भजन करो। पुलस्त्य मुनि ने अपने शिष्य द्वारा यह बात कहला भेजी है हे तात ! सुन्दर अवसर पाकर उसे मैंने आप से कहा है ३६॥

विशेष—(१) 'बार-बार पद लागउँ ···'—संदेशा तो श्रीपुलस्त्यजी का कह रहे हैं, पर चरण-स्पर्श आदि नम्रता वे अपनी ओर से दिखाते हैं, क्योंकि नम्रता-युक्त उपदेश सफल होता है। अत, बडे लोग ऐसा ही करते हैं, यथा "औरउ एक गुपुत मत, सबहि कहउँ कर जोरि" (उ दो॰ ४५); 'परिहरि मान मोह मद' काम, क्रोध, मद और लोभ का त्यागना पहले कहा ही था, यहाँ मान और मोह का त्यागना भी कहकर षड्विकारों की पूर्त्ति की। मान त्रिलोक विजय का, मोह श्रीरामजी में नर-दृष्टि का और अपने बल आदि का मद। 'भजहु'—भजन करना ही इनका सिद्धान्त है, इसी से बार-बार इसे ही कहते हैं; यथा—'रघुबीर पद भजहु' 'भजहु राम' और यहाँ 'भजहु कोसलाधीस'। 'तुरत सो मैं · '—संदेशा शीघ्र कह देने का मुझे आदेश था, इसलिये शीघ्र मैंने सुना दिया संदेशा शीघ्र कह डालने की रीति भी है, यथा -"तुरत नाइ लछिमन पद माथा। चले दूत · " (दो॰ ५१); ये दूत श्रीलक्ष्मणजी का संदेशा रावण के लिये ले गये हैं। श्रीपुलस्त्यजी ने शिष्य के द्वारा श्रीविभीषणजी को और श्रीविभीषणजी ने स्वयं यहाँ संदेशा पहुँचाया, क्योंकि श्रीपुलस्त्यजी जानते हैं कि रावण दुष्ट है, कहीं मैं कहने जाऊँ और उसने नहीं माना तो इससे मेरा अपमान होगा। दूत के द्वारा कहने से भी मेरा अपमान ही करेगा, श्रीविभीषणजी सुअवसर देखकर और समझाकर कहेंगे, इसीलिये उन्होंने ऐसा किया।

इस प्रसंग में नाम, रूप, लीला और धाम ये चारों कहे गये हैं; यथा—"तात राम नहि नर भूपाला।" से 'मानुष तनु धारी" तक रूप, "जन रंजन भंजन खल ··"—लीला, "जासु नाम · "—नाम और 'भजहु कोसलाधीस'—में ध्वनि से धाम-माहात्म्य है।

माल्यवंत अति सचिव सयाना। तासु बचन सुनि अति सुख माना॥१॥
तात अनुज तव नीति-विभूषन। सो उर धरहु जो कहत विभीषन॥२॥

अर्थ—माल्यवान् वयोवृद्ध एवं अत्यन्त चतुर मंत्री है, उसने श्रीविभीषणजी के वचन सुनकर अत्यन्त सुख माना॥१॥ (और रावण से बोला—) हे तात ! तुम्हारे छोटे भाई नीति विभूषण हैं। अत, श्रीविभीषणजी जो कुछ कहते हैं, उसी को हृदय में धारण करो॥२॥

विशेष—(१) 'माल्यवंत अति ', यथा—"माल्यवंत अति जरठ निसाचर। रावन मातु पिता मंत्री बर॥" (लं॰ दो॰ ४६), यह वयोवृद्ध है और इसने देश-काल का बहुत अनुभव किया है और नीति शास्त्र को भी पढ़ा है यथा—"बोला बचन नीति अति पावन" (लं॰ दो॰ ४६), 'अति सयाना' है, अतएव 'अति सुख माना' और-और मंत्रियों के वचन से इसने अति दुःख माना था—यह भी इसमें गर्भित है। दूसरे-दूसरे मंत्रियों ने श्रीविभीषणजी के मत में 'हाँ' नहीं की, क्योंकि वे जानते हैं कि यह बात रावण की प्रकृति के विरुद्ध है और उन्होंने श्रीविभीषणजी को राजा के भाई एवं प्रधान मंत्री मानते हुए इनके मत का खंडन भी नहीं किया। हृदय से तो वे भी ऐसा चाहते ही थे, पर रावण के भय से उन्होंने इसमें अपनी सम्मति नहीं दी।

(२) 'तात अनुज तव नीति-विभूषन। ···'—माल्यवान् धर्म का ज्ञाता है, अत यदि इसका समर्थन

नहीं करता तो दोष का भागी होता। उसे रावण का उतना भय भी नहीं था, क्योंकि वह उसका नाना लगता था, इससे उसने इसका अनुमोदन किया। 'नीति विभूषन'—इनके द्वारा नीति शोभा पा रही है। यहाँ विभीषणजी ने उत्तम नीति कही है। बड़ों से वैर करना नीति-विरुद्ध है, इसी से इन्होंने श्रीरामजी की बड़ाई दिखाकर बार-बार वैर छोड़ने और उनसे प्रीति करने को कहा है। 'तव अनुज'—अर्थात् तुम्हारा छोटा भाई है, उत्तम नीति कहता है, इसका मान रक्खो, जैसा कि वे स्वयं भी आगे कहेंगे ; यथा —"तात चरन गहि मागउँ, राखहु मोर दुलार।"। 'सो उर धरहु' दूसरे-दूसरे मंत्रियों का मत त्यागकर विभीषण का ही मत हृदय में धारण करो।

रिपु उतकर्ष कहत सठ दोऊ। दूरि न करहु इहाँ हइ कोऊ ॥३॥
माल्यवंत गृह गयेउ बहोरी। कहइ बिभीषन पुनि कर जोरी ॥४॥

अर्थ—दोनों शठ शत्रु की बड़ाई करते हैं, इन्हें दूर नहीं करता, यहाँ कोई है ? ॥३॥ तब माल्यवान् तो घर चला गया, विभीषणजी हाथ जोड़कर फिर कहने लगे ॥४॥

विशेष—(१)' रिपु उतकर्ष कहत···'—भाव यह है कि ये दोनों (विभीषण और माल्यवान्) शत्रु से मिले हुए हैं, इसी से उसकी बड़ाई करते हैं, अतएव ये इस सभा के योग्य नहीं है। 'रिपु उतकर्ष' कहकर विभीषण के वचनों को उड़ा दिया कि उधर मिले हुए हैं, इसी से उसकी झूठी बड़ाई करते हैं, यथा—"जिन्ह के कीन्हेसि बहुत बड़ाई। देखउँ मैं तिन्ह के प्रभुताई।" (दो॰ २४); 'इहाँ है कोऊ'—मानों यहाँ कोई है ही नहीं कि सभी ऐसी बातें सुनते हैं और कुछ बोलते नहीं। जब दूसरे-दूसरे मंत्रियों ने हमारी प्रशंसा की, तब तो यह बूढ़ा मंत्री कुछ नहीं बोला और जब इसने शत्रु की बड़ाई सुनी, तब प्रसन्न हो उठा।

शत्रु की बड़ाई सुनने पर रावण को क्रोध होता है; यथा—"आन बीर बल सठ मम आगे · पुनि पुनि कहसि लाज पति त्यागे ॥" (लं॰ दो॰ २८), इतना क्रुद्ध इससे भी हुआ कि अभी तो ये दो ही हैं, कहीं इनकी संख्या और न हो जाय।

(२) 'माल्यवंत गृह गयउ बहोरी।···'—यह सयाना है, इससे स्वयं उठ गया कि दूसरा पकड़कर उठायेगा तो अपमान होगा। 'बहोरी' का भाव यह कि जब कुमंत्रियों ने सलाह दी थी, तब भी यह उठकर चला गया था, क्योंकि इसे वह सलाह नहीं रुची थी। श्रीविभीषणजी को आते देखकर आया था कि ये अच्छी सम्मति देंगे तो मैं भी इनका समर्थन करूँगा। अब फिर दूसरी बार उठकर घर चला गया। श्री-विभीषणजी संत हैं, ये रावण का हित ही चाहते हैं, इनको अपने मानापमान का ध्यान नहीं है, इसी से फिर हाथ जोड़कर बोले। 'पुनि' से जाना गया कि पहले भी हाथ जोड़कर ही बोले थे।

सुमति कुमति सबके उर रहहीं। नाथ पुरान निगम अस कहहीं ॥५॥
जहाँ सुमति तहँ संपति नाना। जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना ॥६॥
तव उर कुमति बसी बिपरीता। हित अनहित मानहु रिपु प्रीता ॥७॥
कालराति निसिचर कुल केरी। तेहि सीता पर प्रीति घनेरी ॥८॥

अर्थ—हे नाथ ! वेदपुराण ऐसा कहते हैं कि सुमति और कुमति सबके हृदय में रहती हैं ॥५॥ जहाँ

सुमति है, वहाँ अनेक प्रकार की सम्पत्ति रहती है और जहाँ कुमति है, वहाँ अन्त में विपत्ति ही है ॥६॥ तुम्हारे हृदय में कुमति बसी है, इसी से तुम उलटा ही मानते हो। हित को अनहित (शत्रु) और शत्रु को मित्र मानते हो ॥७॥ जो राक्षस कुल की कालरात्रि (नाश करनेवाली) है, उस सीता पर तुम्हें बहुत प्रीति है ॥८॥

विशेष—(१) 'सुमति कुमति सबके उर···'—रावण इन्हें (विभीषण और माल्यवान दोनों को) शठ कहकर कुमति कहा है। उसी पर कहते हैं कि कुमति-सुमति कहने-मात्र से नहीं होतीं, इनके ये चिह्न हैं। 'उर रहहीं' अर्थात् ऊपर से नहीं दिखलाई पड़तीं। 'बिपति निदाना' का दुःख और नाश भी अर्थ है, यथा—"देहि अगिनि तन करहि निदाना।" (दो॰ ११); यहाँ पहले विपत्ति पड़ेगी, फिर नाश होगा। आगे—'काल राति निसिचर कुल···' से नाश का भाव कहा भी गया है।

(२) 'तव उर कुमति बसी···'—सबके हृदय में तो सुमति-कुमति दोनों रहती ही हैं, पर आपके हृदय में कुमति ही आ बसी है, जिससे सब उलटा ही समझते हैं। मित्र को शत्रु और शत्रु को मित्र मान रहे हैं। हमलोग हित हैं, उन्हें आप अनहित समझते हैं और जो ठकुरसुहाती कहनेवाले कुमंत्री लोग हैं, उन्हें हित मानते हैं। इससे कुल-भर का नाश हो जायगा ; यथा—"हित पर बढ़ै बिरोध जब, अनहित पर अनुराग। राम बिमुख बिधि बाम गति, सगुन अघाइ अभाग॥" (दोहावली ४२०)।

(३) 'काल राति निसिचर···', यथा—"यां सीतेत्यभिजानासि येयं तिष्ठति ते गृहे। कालरात्रीति तां विद्धि सर्वलंकाविनाशिनीम्।" (वाल्मी॰ ५।५१।४४); भाव यह कि सब रातें निशाचरों को सुखदाइनी ही होती हैं, परन्तु काल-रात्रि में तो उनका नाश ही होता है। उसी तरह और स्त्रियों का हरण तुम्हें सुखदाई हुआ, पर सीताहरण से तो तुम्हारा नाश ही होगा। यथा—"तव कुल कमल बिपिन दुखदाई। सीता सीत निसा सम आई।" (दो॰ ३५); आगे नाश हुआ ही ; यथा—"रहा न कोउ कुल रोवनि हारा।" (लं॰ दो॰ १०२)।

दोहा—तात चरन गहि माँगउँ, राखहु मोर दुलार।
सीता देहु राम कहुँ, अहित न होइ तुम्हार ॥४०॥

बुध पुरान श्रुति-संमत बानी। कही बिभीषन नीति बखानी ॥१॥

अर्थ—हे तात ! मैं आपके चरण पकड़कर माँगता हूँ, मेरा दुलार (प्यार) रखिये, श्रीरामजी के लिये श्रीसीताजी को दे दीजिये, जिससे आपका अनहित नहीं हो ॥४०॥ श्रीविभीषणजी ने बुध (पंडित), पुराण और वेदों के अनुकूल वचनों के द्वारा उत्तम नीति बखान कर कही ॥१॥

विशेष—(१) 'राखहु मोर दुलार'—जब रावण ने पुलस्त्यजी का भी उपदेश नहीं सुना, तब विभीषणजी अपना दुलार ही आगे रखते हैं। रावण कठोर है, इसलिये चरण पकड़कर माँगते हैं कि यह भी तो कहने को होगा कि छोटा भाई मचल गया, इसीलिये रावण ने उसके प्यारवश श्रीसीताजी को दे दिया। महात्मा लोग पाँव पकडकर भी दूसरे की भलाई करते हैं—यही यहाँ चरितार्थ है।

ये प्रत्येक अवस्था में अपनी साधुता से रावण का हित ही करते रहे और इनके चित्त में विकार नहीं आया। जैसे कि आदर में—"भ्राता चरन सीस तेहि नावा।" और कहा—"मति अनुरूप कहउँ हित

ताता।" निरादर में—"तात चरन गहि मागउँ "सीता देहु अहित न होइ " मारने पर भी— "अनुज गहे पद " "राम भजे हित नाथ " यही इनकी साधुता आगे—'उमा संत कै ' से सराही जायगी।

(७) 'बुध पुरान श्रुति '—पहले के कथन की सराहना माल्यवान् ने की थी, इसबार कोई नहीं बोला, परन्तु यह वाणी भी प्रशंसा योग्य है। अत, वक्ता लोग ही सराहते हैं कि विभीषण की वाणी बुध आदि के अनुकूल है, इसके उपक्रम में—'नाथ पुरान निगम अस कहहीं।' कहा गया है। यह वाणी बुध, बृहस्पति, शुक्राचार्य आदि के भी अनुकूल है। रावण वेद पुराणों से चिढता है, यथा—"तेहि बहु बिधि त्रासै देस निकासै जो कह वेद पुराना।" (बा० दो० १८१), इसी से वह श्रीविभीषणजी पर भी चिढ गया और इन्हें मारा एव अपने देशसे भी निकाल दिया।

सब वाणी बुध आदि-सम्मत है। विभाग करके यों भी कहा जा सकता है—अनुकूल अवसर समझ कर आना और पूछे जाने पर कहना बुध-सम्मत है। 'जो आपन चाहै कल्याना।' से 'भजहिं जेहि संत।' तक पुराण सम्मत, 'तातराम नहिं नर भूपाला।' से 'सोइ प्रभु प्रगट ' तक श्रुति-सम्मत, क्योंकि ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन वेद-सम्मत है और 'सुमति कुमति सबके उर रहहीं।' से 'सीता देहु राम कहँ ' तक नीति-शास्त्र का मत है।

सुनत दसानन उठा रिसाई। खल तोहि निकट मृत्यु अब आई ॥२॥
जियसि सदा सठ मोर जियावा। रिपु कर पच्छ मूढ तोहि भावा ॥३॥
कहसि न खल अस को जग माहीं। भुज बल जाहि जिता मैं नाहीं ॥४॥
मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती। सठ मिलु जाइ तिन्हहि कहु नीती ॥५॥
अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा। अनुज गहे पद बारहि बारा ॥६॥

अर्थ—उसे सुनकर रावण क्रुद्ध हो उठा (और बोला—) अरे दुष्ट! अब तेरे समीप मृत्यु आ गई ॥२॥ अरे शठ! तू सदा से मेरे जिलाये जीता रहा (अर्थात् बचपन से मैंने ही तुझे पाला-पोसा), पर अरे मूढ! तुझे शत्रु का ही पक्ष प्रिय लगता रहा है ॥३॥ अरे दुष्ट! कहता क्यों नहीं कि संसार में ऐसा कौन है, अपनी भुजाओं के बल से जिसे मैंने न जीता हो ॥४॥ मेरे नगर में रहकर तपस्वियों से प्रीति रखता है, (तो) अरे शठ! उनसे ही जाकर मिल और उनसे ही नीति कह ॥५॥ ऐसा कहकर लात मारी, छोटे भाई श्रीविभीषणजी ने बारबार चरण पकड़े। ६॥

विशेष—(१) 'सुनत दसानन उठा रिसाई। '—इससे पहिले रावण ने सभासदों से भी कहा था—'दूरि न करहु इहाँ है कोऊ' परन्तु कोई उठा तक नहीं। इसीलिये अब की बार स्वयं मारकर निकालने के लिये उठा। 'सुनत'—जिन बातों से माल्यवान् आदि नीति निपुणों को हर्ष हुआ, वे ही बातें रावण के क्रोध का कारण हुई, क्योंकि यह काल-वश है, यथा—"हित मत तोहि न लागत कैसे। काल बिबस कहँ भेषज जैसे॥" (लं० दो० ६) 'उठा रिसाई'—क्योंकि उसका स्वभाव ऐसा हो गया है कि जो कोई उसे श्रीसीताजी को वापस देने को कहता है, उसी पर वह क्रुद्ध होता है और उसे मारने पर तुल जाता है, यथा—"मारै चहै जानकी दीन्हैं।" (दो० २१) यह श्रीहनुमान्जीने कहा था, उसपर भी इसने कहा—"मृत्यु निकट आई बेगि न हरहु मूढकर प्राना॥" पुन—"जब तेहि कहा देन बैदेही। चरन प्रहार कीन्ह सठ

तेही ।।" (दो० ५७)—शुक को, तथा—"परिहरि बैर देहु बैदेही ।...ताके वचन वान सम लागे ।...मूढ़ भयेसि न त मरतेहुँ तोही ।" (लं० दो० ४७)—माल्यवान् को, इत्यादि ।

पहले भी श्रीविभीषणजी ने कहा था—"देहु नाथ प्रभु कहँ बैदेही ।..." पर वह पुलस्त्यजी का वचन था, इसीलिये रावण ने इन्हें केवल अपने यहाँ से निकाल देने की आज्ञा दी थी और इस बार इन्होंने अपनी ओर से कहा, इसीसे वह इन्हें मारने चला । 'खल तोहि निकट मृत्यु...'—श्रीविभीषणजीने अभी ही कहा है; यथा—'तव उर कुमति बसी बिपरीता ।' वह अब प्रत्यक्ष हो रहा है कि मृत्यु इसकी निकट है, पर कहता श्रीविभीषणजी को है ।

(२) 'जियसि सदा सठ...'—मेरे ही जिलाने से जीता आया और मेरे मारने से मरेगा, तब मुझसे वैर करना तेरी मूढ़ता है, वैर का कारण रिपु का पक्ष लेना है, इसी से रावण ने इसके साथ ही 'मूढ़' कहा है ; यथा - "तासों तात वैर नहिं कीजै । मारे मरिय जियाये जीजै ।।" (आ० दो २४); रावण बुद्धि-विपर्यय से ऐसा कहता है, यथार्थतः श्रीविभीषणजी के द्वारा उसीका जीवन है; यथा "अस कहि चला विभीषन जबहीं । आयु हीन भये सब तबही ।।" (दो० ४१) । और 'खल' 'सठ' 'मूढ़' रावण स्वयं है, परन्तु कहता विभीषणजी को है ।

(३) 'कहसि न खल अस...' तू मेरे पराक्रम की अवहेलना करके शत्रु का पराक्रम बखानता है, कह तो मैंने किसे नहीं जीता ? वह भी सेना के बल से नहीं 'भुजबल' से ; यथा "भुजबल बिस्व बस्य करि, राखेसि कोउ न स्वतंत्र ।" (बा० दो० १८२), "भुजबल जितेउँ सकल दिगपाला ।।" (लं० दो० ७); इत्यादि ।

(४)'मम पुर बसि...'—मेरे राज्य में सुख से रहता है, परन्तु तपस्वियों पर प्रीति रखता है, जहाँ कुछ सुख नहीं । इससे तू शठ है, राज्यसुख भोगने के योग्य नहीं है । तू अभी भी छली है और आगे भी छल करेगा । अतः, यहाँ से जा और उन्हीं तपस्वियों से मिलकर उन्हें नीति सिखा ; क्योंकि वे नीति नहीं जानते, इसी से एक स्त्री के कहने से राज्य छोड़कर वन-वन फिर रहे हैं, मैं तो नीति जानता ही हूँ, इसी से बहुत काल से राज्य करता आया हूँ । उपर्युक्त 'कही विभीषन नीति बखानी ।' के उत्तर में यह वचन है—'तिन्हहिं कहु नीती ।' विभीषणजी के उत्तम भविष्य ने उससे ऐसा कहला दिया ।

(५) 'अस कहि किन्हेसि चरन प्रहारा···'—चरण प्रहार करने का भाव यह है कि शत्रु के पक्ष-समर्थन के लिये तू बार-बार चरण पकड़ता है, इससे तुझे उसी चरण से दंड देना चाहिये । श्रीविभीषणजी ने फिर भी बार-बार चरण पकड़ कर प्रणाम ही किया और आदि से अंत तक अपनी साधुता निबाही । देखिये दो० ४० भी ।

उमा संत कइ इहइ बड़ाई । मंद करत जो करइ भलाई ॥७॥
तुम्ह पितु सरिस भलेहि मोहि मारा । राम भजे हित नाथ तुम्हारा ॥८॥
सचिव संग लै नभ-पथ गयेऊ । सबहि सुनाइ कहत अस भयेऊ ॥९॥

दोहा—राम-सत्य संकल्प प्रभु, सभा काल-बस तोरि ।
मैं रघुबीर-सरन अब, जाउँ देहु जनि खोरि ॥४१॥

अर्थ—हे उमा ! सन्त की यही बड़ाई है कि जो बुराई करने पर भी भलाई करे ॥७॥ (श्रीविभीषणजी ने कहा) आप पिता के समान हैं, जो मुझे मारा, अच्छा ही किया, पर हे नाथ ! आपका भला श्रीरामजी के भजन से ही होगा ॥८॥ (ऐसा कहकर) मंत्रियों को साथ लेकर आकाश-मार्ग में गये और सबको सुना कर ऐसा कहने लगे ।.९॥ कि श्रीरामजी सत्यप्रतिज्ञ हैं, समर्थ हैं और तेरी सभा काल के वश है, (इससे) मैं अब रघुवीर श्रीरामजी की शरण में जाता हूँ, अब मुझे दोष न देना । ४१॥

विशेष—(१) 'उमा संत कइ इहइ बड़ाई ।···'— शत्रुता के बदले भलाई करने में औरों की निन्दा होती है ; यथा—"रिपु पर कृपा परम कदराई ।" (आ॰ दो॰ १८) ; परन्तु सन्त की इसी में बड़ाई है ; यथा—"भलो भलाइहि पै लहइ, लहइ निचाइहि नीच ।" (बा॰ दो॰ ५) ; तथा—"संत असंतन्हि कै असि करनी ।···काटइ परसु मलय सुनु भाई । निज गुन देइ सुगंध बसाई ॥ ताते सुर सीसन्ह चढ़त···" (उ॰ दो॰ ३६–३७) ; यहाँ पर रावण में खलता की और श्रीविभीषणजी में साधुता की सीमा निहित है । 'इहइ' अर्थात् यह निश्चय है, कि प्रतिकार में बड़ाई नहीं है, किंतु इसीमें है ।

(२) 'तुम्ह पितु सरिस···'—रावण ने कहा था कि मेरे जिलाये जीता है, इन्होंने उस बात को भी 'पितु सरिस' कहकर स्वीकार किया । 'भलेहि मोहि मारा' से यह सूचित किया कि इससे भी मेरा भला ही होगा ; यथा—"अंतहु भाय भलो भाई को कियो अनभलो मनाइ कै । भइ कूबर की लात बिधाता राखी बात बनाइ कै ॥···जो सुनि सरन राम ताके मैं बिधि बामता बिहाइ कै ॥" (गीता सुं॰ २८) ; 'राम भजे हित···'—फिर भी मैं यही कहता हूँ कि आपका हित श्रीरामजी के भजन से ही होगा । श्रीविभीषणजी उस जन्म में भी धर्मरुचि नामक मंत्री के रूप में इसके परम हितैषी थे ; यथा— "नृप-हितकारक सचिव सयाना । नाम धरम रुचि सुक्र समाना ।।" (बा॰ दो॰ १५३); इस जन्म में भी इनकी वही वृत्ति है, अतएव वहाँके हित को यहाँ खोला गया है; यथा—"राम भजे हित नाथ तुम्हारा ।' यही उस जन्म के हितोपदेश में भी समझना चाहिये । पुनः रावण को 'पितु सरिस' कहकर साथ ही अपना भी कर्त्तव्य दिखाया है कि पुन् नाम नरक से त्राण (रक्षा) करना पुत्र का धर्म है, अतएव नरक के देने वाले कामादिकों से रोका और 'राम भजे हित नाथ···' से रावण के उद्धारार्थ यत्न किया । 'मति अनुरूप कहउँ हित' उपक्रम और 'राम भजे हित···' यह उपसंहार है । शुद्ध भाव से परमार्थ-शिक्षा करके लंका त्यागने में श्रीविभीषणजी वेद रीति से निर्दोष हुए । आगे लोक-रीति से भी अपनी शुद्धता प्रकट करते हैं—

(३) 'सचिव संग लै···'—राज्य के सात अंग हैं ; यथा—"स्वाम्यमात्यसुहृत्कोपराष्ट्रदुर्गबलानि च ।" (अमरकोश) ; अर्थात् राजा, मंत्री, मित्र, खजाना, देश, किला और सेना । इनमें मंत्री प्रधान अंग है, यह अंग रहने से शेष अंग गये हुए भी आ जाते हैं ; यथा—"तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा ।" (कि॰ दो॰ १) ; इसीसे उसने—"पावा राज कोष पुर नारी ।" (कि॰ दो॰ १७) ; वैसे ही श्रीविभीषणजी के साथ भी चार मंत्री हैं ; यथा "तेचाप्यनुचरास्तस्य चत्वारो भीम विक्रमाः ।" (वाल्मी ६।१७।३) ; इन चारों के नाम अनल, अनिल, हर और सम्पाति थे, ये माली के पुत्र थे ; यथा "अनलश्चानिलश्चैव हरः सम्पातिरेव च । एते विभीषणामात्या मालेयास्ते निशाचराः ॥" (वाल्मी॰ ७।५।४३) । 'नभ पथ गयऊ'—(क) देवता और राक्षस प्रायः आकाश मार्ग से ही चला करते हैं और इन्हें तो समुद्र के पार जाना है, यह नभ-पथ ही से सुगम होगा । (ख) भारी सभा को ऊँचे से अपना अभिप्राय सुनाने के लिये भी ऊपर गये । (ग) रावण ने कहा—'मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती ।···' इसमें उसने अपने को सम्राट् और श्रीविभीषणजी को सामान्य प्रजा एवं 'तपसिन्ह' शब्द से श्रीरामजी को घर-बारहीन

कहकर सूचित किया कि तू भी वैसा ही हो जा। तब इनके मन में यह बात उत्पन्न हुई कि जो प्रभु जगत् भर के मालिक हैं, उन्हें घरहीन कहता है और अपने को राजा। अतः, इस हरि-विमुख का अवश्य त्याग करूँगा। यदि भगवान इस लंका को अपनी विभूति सिद्ध कर मुझ दास को देंगे, तभी मैं इसे प्रभु-प्रसाद-रूप मानकर इसमें अधिकारी होकर रहूँगा। इस वासना से प्रेरित हो मंत्रियों सहित आकाश मार्ग से चले, नहीं तो शरण जाने में राज्य-अंग रूप मंत्रियों को लेने की आवश्यकता नहीं थी। इसे ही आगे 'उर कछु प्रथम वासना रही।' से प्रकट किया गया है। तथा—"राम गरीब निवाज निवाजिहैं जानि हैं ठाकुर ठाउँगो।" (गी० सुं० ३०); इस पद से भी वही भाव निकलता है। पहले इन्होंने ब्रह्मा से 'भगवंत पद कमल अमल अनुराग' का वरदान ही माँगकर पाया है। फिर श्रीहनुमान्जी के संवाद एवं रावण को समझाने के समय इनमें लेश-मात्र भी राज्य-वासना नहीं थी, नहीं तो अपमान सह-सहकर रावण को श्रीसीताजी को लौटा देने और श्रीरामजी से प्रीति करने की शिक्षा न देते। अमोघ दर्शन प्रभु इस क्षणिक वासना को भी सत्य करेंगे। अभी इन्होंने 'प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्' शरणागति के नियम से लंका का त्याग किया है आकाश में ठहरे हुए हैं और वहीं से बातें करेंगे।

'सबहि सुनाइ···'—लोक-रीति से भी निर्दोष होने के लिये।

(४) 'राम सत्य संकल्प प्रभु···'—श्रीरामजी ने जो 'निसिचर हीन करउँ महि' की प्रतिज्ञा की है, वह अवश्य सत्य होगी, इसी से तुझे मेरा उपदेश नहीं भाता। पुनः मेरे उपदेश से सभा भी सहमत न हुई, यह भी ठीक ही है, क्योंकि श्रीरामजी का संकल्प अकेले रावण को ही मारने का नहीं है; वरन् राक्षस-मात्र के मारने का है, यही विचार कर 'सभा काल बस तोरि' भी कहा है। हमने तुमलोगों को बचाने का उपाय करना चाहा। पर इसमें निष्फलता ही हुई; यथा—"हितमत तोहि न लागत कैसे। काल बिबस कहँ भेषज जैसे॥" (लं० दो० ६); 'प्रभु' अर्थात् अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने में वे समर्थ हैं। पर उनकी प्रतिज्ञा तो निशाचर मात्र के लिये है और श्रीविभीषणजी भी निशाचर ही हैं। उसका उत्तर यों देते हैं; यथा—'मैं रघुबीर सरन अब, जाउँ...'—भाव यह है कि शरण जाने पर वे नहीं मारेंगे, क्योंकि शरणागत-पाल हैं; यथा—"सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्व द्रोह कृत अघ जेहि लागा॥" (दो० ३९); श्रीमुख वचन है; यथा—"आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया। विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्॥" (वाल्मी० ६।१८।३४); अर्थात् श्रीरामजी रावण के समान पापी को भी शरण में ले लेते हैं।

अस कहि चला बिभीषन जबहीं। आयूहीन भये सब तबहीं॥१॥
साधु-अवज्ञा तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कै हानी॥२॥
रावन जबहि बिभीषन त्यागा। भयेउ बिभवबिनु तबहि अभागा॥३॥

अर्थ—ऐसा कहकर जिसी समय श्रीविभीषणजी चले, उसी समय सब निशाचर आयुहीन हो गये (*अर्थात् 'सभा काल बस तोरि' यह श्रीविभीषणजी का कहना शाप-रूप हो गया,*)॥१॥ हे भवानी! साधु का अपमान तुरत ही सम्पूर्ण कल्याण की हानि करता है।२॥ रावण ने जिसी समय विभीषण का त्याग किया, उसी समय वह भाग्यहीन एवं वैभव-रहित हो गया॥३॥

विशेष—(१) 'आयूहीन भये सब तबहीं।'—पारमार्थिक दृष्टि से देह ब्रह्मांड, प्रवृत्ति लंका और श्रीविभीषणजी जीव-रूप कहे गये हैं—वि० ५८ देखिये। जीव की सत्ता से ही दैवी और आसुरी संपत्ति का विलास रहता है; यथा—"मिले रहैं मारयो चहैं कामादि सँघाती। मो बिनु रहहिं न मोरिये जारैं नित

छाती ॥" (वि०.१४७) ; अतः, जीव के निकल जाने से शेष आयुहीन कहे गये हैं। जीव जिस समय प्रभु शरणागत होने का दृढ़ संकल्प करता है, उसी समय भगवान् की ओर से उसके सब पापों के नाश का दृढ़ संकल्प हो जाता है। जैसे गीता ११।३३ में भगवान् ने पहले ही अर्जुन को दिखा दिया है कि इन सबों को मैंने पहले ही मार रक्खा है, तू निमित्त-मात्र होजा। यहाँ आगे कहा भी है—"सनमुख होइ जीव मोहिं जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥" (दो० ४३)। माधुर्य की रीति का समाधान ग्रंथकार स्वयं आगे कर रहे हैं—

(२) 'साधु अवज्ञा तुरत भवानी।...'—अखिल कल्याण में आयु प्रथम है; यथा—"आयुः श्रियं यशो धर्मं लोकानाशिष एव च। हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः॥" (श्रीमद्भागवत); 'तुरत' का भाव यह है कि और-और पापों का फल समय पाकर विलंब से मिलता है, पर इसका शीघ्र ही। पुनः अन्य पापों से एक-दो ही कल्याण नाश होते हैं और इससे सभी; अर्थात् यह भागवतापराध भारी पाप है। साधुओं के आदर का भी फल तुरत ही मिल जाता है; यथा—"देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ।" "मज्जन फल पेखिय ततकाला।" (बा० दो० १-२)। इसी शीघ्र फल-दातृत्व को ऊपर 'जबहीं' और 'तबहीं' इन शब्दों से कहा गया है।

(३) 'रावन जबहिं बिभीषन त्यागा।...'—पहले सभा-भर का आयुहीन होना कहा गया और बीच में उसका कारण कहा गया। अब रावण का अकल्याण कहते हैं; यथा—'भयउ बिभव बिनु...', 'अभागा'—क्योंकि बड़े भाग्य से साधु-संग मिलता है; यथा—"बड़े भाग पाइय सतसंगा।" (उ० दो० ४२); और इसने अपने घर के ही साधु को निकाल दिया। वा, विभव नाश से अभाग्यता होती ही है; यथा—"बेद-बिरुद्ध मही मुनि साधु ससोक किये, सुरलोक उजारो। और कहा कहौं तीय हरी, तबहूँ करुनाकर कोप न धारो॥ सेवक छोह ते छाँड़ी छमा, तुलसी लख्यो राम सुभाव तिहारो। तौ लौं न दाप दल्यो दसकंधर, जौ लौं बिभीषन लात न मारो॥" (क० उ० ३)।

चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं। करत मनोरथ बहु मन माहीं॥४॥
देखिहउँ जाइ चरन-जलजाता। अरुन मृदुल सेवक सुखदाता॥५॥
जे पद परसि तरी रिषि-नारी। दंडक-कानन पावनकारी॥६॥

अर्थ—मन में बहुत मनोरथ करते हुए हर्ष-पूर्वक श्रीरघुनाथजी के पास चले॥४॥ जाकर उन चरण-कमलों को देखूँगा, जो लाल, कोमल और सेवक को सुख देनेवाले हैं॥५॥ जिन चरणों को छूकर ऋषि-नारी अहल्या तर गई और जो दण्डकवन को पवित्र करनेवाले हैं॥६॥

विशेष—(१) 'चलेउ हरषि रघुनायक...'—सभी रघुवंशी उदार होते हैं और ये तो उस कुल में श्रेष्ठ ही हैं। अतः, सभी मेरे मनोरथ सिद्ध होंगे। इससे बहुत मनोरथ करते हुए चले। मनोरथ गी० सुं० २६-३० पदों में देखिये। कुछ मनोरथों को यहाँ भी कहते हैं। 'हरषि'—का भाव यह है कि पहले 'असकहि चला बिभीषन जबहीं।' में हर्ष का होना नहीं कहा गया था, पर जब माता के यहाँ गये और कुबेर के यहाँ भी आज्ञा पाई पुनः श्रीशिवजी ने दृढ़ कर दिया, तब चलने के समय शुभ शकुन भी हुए, जिनसे सिद्धि की आशा से हर्ष हुआ—जो गी० सुं० २६-२८ में कहा गया है, वही यहाँ (मानस में) 'हरषि' से सूचित किया गया है।

(२) 'देखिहउँ जाइ चरन···'—श्रीविभीषणजी ने पहले ही तपस्या करके ब्रह्माजी से वरदान पाया था, यथा—"तेइ माँगेउ भगवंत पद, कमल-अमल अनुराग।" (बा० दो० १७७); इसीसे प्रभु-चरण-सम्बन्धी मनोरथ ही करते जाते हैं। ऊपर 'हरषि' शब्द से मानसी शकुन द्वारा प्रभु-दर्शन पाने का विश्वास होना सूचित किया गया है। 'अरुन-मृदुल' से प्रभु-चरणों की शोभा कही गई और साथ ही यह भी कि दर्शनों से नेत्र सुखी होंगे और स्पर्श से त्वचा को आनंद मिलेगा। 'सेवक सुख दाता'—से फल कहा गया है। 'देखिहउँ' के साथ ही 'सेवकसुखदाता' कहा गया है; अर्थात् देखते ही शीघ्र सेवक को सुख मिलता है।

(३) 'जे पद परसि तरी···'—यहाँ स्पर्श का माहात्म्य कहते हैं, आगे दो अर्द्धालियों में ध्यान का और दोहे में पूजन का वर्णन है; यथा—"नित पूजत प्रभु पाँवरी।" (अ० दो० ३२५); अहल्या और दंडकवन साथ ही कहे गये हैं, क्योंकि ये दोनों व्यभिचार-दोष से शापित हैं, दोनों जड़ हैं और प्रभु ने जा-जाकर दोनों को तारा है; यथा—"सिला साप संताप विगत भइ परसत पावन पाउ।" (वि० १००); "दंडक वन पावन करन, चरन सरोज प्रभाउ।" (रामाज्ञा ३।१।१); यहाँ चरणों का पतित पावन गुण दिखाया गया।

जे पद जनकसुता उर लाये। कपट कुरंग संग धर धाये ॥७॥
हर - उर - सर - सरोज पद जेई। अहोभाग्य मैं देखिहउँ तेई ॥८॥

दो०—जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि, भरत रहे मन लाइ।
ते पद आजु बिलोकिहउँ, इन्ह नयनन्हि अब जाइ ॥४२॥

अर्थ—जिन चरणों को श्रीजानकीजी हृदय में लाईं (धारण किया), (जिन चरणों से)कपट मृग के साथ पकड़ने को दौड़े ॥७॥ जो चरण-कमल श्रीशिवजी के हृदय-रूपी सरोवर में निवास करते हैं, उन्हीं को मैं (प्रत्यक्ष) देखूँगा, अहो मेरा भाग्य धन्य है ॥८॥ जिन चरणों की पादुकाओं मे श्रीभरतजी ने मन को लगा रक्खा है, उन चरणों को आज अब जाकर इन नेत्रों से देखूँगा ॥४२॥

विशेष—(१) 'जे पद जनक सुता ··कपट कुरंग···'; यथा—"जेहि बिधि कपट कुरंग सँग, धाइ चले श्रीराम। सो छबि सीता राखि उर, रटति रहति हरि नाम ॥" (आ० दो० २९); "मम पाछे धर धावत, धरे सरासन बान। फिरि-फिरि प्रभुहिं बिलोकिहउँ, धन्य न मो सम आन ॥" (आ० दो०२६); यहाँ माया की सीता और माया का ही मृग भी है, अतएव दोनों साथ-साथ कहे गये हैं। पुनः आगे श्रीशिवजी और श्रीभरतजी को साथ रक्खा है, क्योंकि दोनों ही परम विरक्त और उच्च कोटि के भक्त हैं; यथा—"राम रावरो सुभाव गुन सील महिमा प्रभाव जान्यो हर हनूमान लखन भरत जिन्हके हिये-सुथरु राम-प्रेम-सुरतरु लसत सरस सुख फूलत फरत।" (वि०२५१); इससे इन्हें साथ रक्खा।

(२) 'हर उर सर···'—चरण कमल के समान कहे गये, यहाँ यह दिखाते हैं कि ये कमल इस सर के हैं और यह भी दिखाया कि राम-चरण की भक्ति मे सबका अधिकार है स्त्री, पुरुष, जड़, चेतन, छली, निश्छल इत्यादि, अहल्या और श्रीजानकीजी दोनों स्त्री हैं, इन दोनों से यह भी दिखाया कि चाहे व्यभिचारिणी हो चाहे पतिव्रता—दोनों को अधिकार है। मारीच छली है और श्रीशिवजी एवं श्रीभरतजी निश्छल हैं, किन्तु अधिकार दोनों को है। दंडकवन जड़ है और सब चेतन हैं, इत्यादि।

'भरत रहे मन लाइ'—श्रीभरतजी इसी आधार से जीवित रहे; यथा—"मो अवलं अदेय मोहि देई। अवधि पार पावउँ जेहि सेई॥" (अ० दो० ३०६); 'मन लाइ'—मन, वचन, कर्म से पादुका में भक्ति थी; यथा "नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदय समाति। माँगि-माँगि आयसु करत…" (अ० दो० ३२५); इसमें क्रमशः कर्म, मन और वचन कहे गये।

चरण-दर्शन में श्रीविभीषणजी की अत्यन्त श्रद्धा है, इसी से इसे बार-बार कहते हैं—(क) 'देखिहउँ जाइ चरन…' (ख) 'अहो भाग मैं देखिहउँ…' (ग) 'ते पद आजु बिलोकिहउँ…'। 'इन्ह नयनन्हि'—और सब ध्यान से देखते हैं, किन्तु मैं इन चर्मचक्षुओं से देखूँगा।

व्यासजी ने भी लिखा है; यथा—"मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥" (भाग० ११।५।३४)। चरणों के ध्यान का विशेष वर्णन वि० २१८ में भी है, वहीं देखिये।

'अहोभाग्य…'—कहाँ उपर्युक्त महान् लोग और कहाँ मैं अति तुच्छ, फिर भी मैं प्रभु को प्रत्यक्ष देखूँगा। अतः, मेरा परम धन्यभाग्य है।

येहि बिधि करत सप्रेम बिचारा। आयउ सपदि सिंधु येहि पारा॥१॥
कपिन्ह बिभीषन आवत देखा। जाना कोउ रिपुदूत बिसेखा॥२॥
ताहि राखि कपीस पहिं आये। समाचार सब ताहि सुनाये॥३॥

अर्थ—इस तरह प्रेम सहित विचार करते हुए शीघ्र ही समुद्र के इस पार आये॥१॥ वानरों ने श्रीविभीषणजी को आते हुए देखा, तो जान गये कि यह शत्रु का कोई विशेष (खास) दूत है॥२॥ उसे ठहराकर श्रीसुग्रीवजी के पास आये और उनको सब समाचार सुनाये॥३॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि करत…'—उपक्रम में 'करत मनोरथ' और उपसंहार में 'सप्रेम बिचारा' कहा गया है। अतः, यहाँ 'मनोरथ' और 'विचार' पर्याय हैं। उपर्युक्त मनोरथों में चरित क्रमबद्ध नहीं है, क्योंकि 'सप्रेम' विचार है, प्रेम में नेम नहीं भी रह पाता। 'आयउ सपदि'; यथा—"बहु बिधि करत मनोरथ, जात लागि नहि बार।" (बा० दो० २०६); विचार में जितनी देर लगी, उतनी ही में इस पार आ गये। राम-चरण-प्रेम तो भवसागर पार कर देता है, इस छोटे सागर की क्या बिसात ?

(२) 'कपिन्ह बिभीषन आवत…'—पहले वानरों ने ही देखा, क्योंकि ये लोग चारों ओर पहरे पर हैं। लंका की तरफ से आकाश-मार्ग से आये, समुद्र के इस पार भूमि में उतरकर वहाँ से पैदल चले, जब फाटक पर आये तब वानरों ने रोका। यद्यपि श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में आकाश से ही श्रीविभीषणजी से बात-चीत होना कहा गया है। पर यहाँ आगे 'ताहि राखि…' कहा गया है। पुनः प्रपत्ति स्वीकृत होनेपर भी उतरकर चलना नहीं कहा गया, इससे यहाँ पहले ही भूमि पर उतर आना लिखा गया है। 'जाना कोउ रिपुदूत बिसेषा'—चार मंत्रियों के साथ बड़ा तेजस्वी एवं सुसज्जित देखकर इन्हें कोई विशेष दूत जाना और दूत ही समझकर मारा नहीं, यथा—"तेचाप्यनुचरास्तस्य चत्वारो भीमविक्रमाः। तेऽपि सर्वायुधोपेता भूषणैश्च विभूषिताः॥" (वाल्मी० ६।१७।३), वानरों ने इन्हें लंका की ओर से आते देखकर रिपु-दूत जाना। 'कोउ' यद्यपि श्रीविभीषणजी ने अपना पूरा परिचय कह दिया कि मैं रावण का भाई हूँ, राघव श्रीरामजी के दर्शन एवं शरण में आया हूँ तथापि इन्हें विश्वास नहीं हुआ और इस से उन्हें बाहर ही रोका।

(३) 'ताहि राखि कपीस पहिं आये।'—श्रीरामजी और श्रीसुग्रीवजी बीच सेना में हैं, यह प्रसंग से सूचित होता है। वानरों ने समाचार पूछा और उन्होंने बतलाया, यही आगे सुग्रीवजी के भाषण में कहा जायगा।

कह सुग्रीव सुनहु रघुराई। आवा मिलन दसानन - भाई ॥४॥
कह प्रभु सखा बूझिये काहा। कहै कपीस सुनहु नरनाहा ॥५॥
जानि न जाइ निसाचर-माया। कामरूप केहि कारन आया ॥६॥
भेद हमार लेन सठ आवा। राखिय बाँधि मोहि अस भावा ॥७॥

अर्थ—श्रीसुग्रीवजी ने कहा—हे रघुराई! रावण का भाई मिलने आया है ॥४॥ प्रभु ने कहा, हे सखा! आपका विचार क्या है? श्रीसुग्रीवजी ने कहा—हे राजन्! सुनिये ॥५॥ निशाचर की माया जानी नहीं जाती, ये काम-रूप (इच्छानुसार रूपधारी) होते हैं, यह न जाने किस कारण से आया है ॥६॥ यह शठ हमारा भेद लेने आया है, (अतएव) इसे बाँधकर रखिये, मुझे तो यही अच्छा जान पड़ता है ॥७॥

विशेष—(१) 'कह सुग्रीव···'—श्रीसुग्रीवजी श्रीरामजी से कुछ हटकर बैठे हुए हैं, इससे वानरों ने इनसे कहा और इन्होंने श्रीरामजी के पास जाकर निवेदन किया। श्रीसुग्रीवजी का जाना अध्याहार से लेना होगा, नहीं तो प्रभु यदि पास होते तो वानरों के कहने पर ये भी सुनते ही, तब सुग्रीवजी के कहने की आवश्यकता ही न थी। 'रघुराई' संबोधन से श्रीसुग्रीवजी का अभिप्राय है कि आप नीति पर दृष्टि रक्खें। 'आवा मिलन···'—भाव यह है कि रावण ने इसे छल से भेजा होगा, इससे हमारा क्या हित हो सकता है? इससे जान पड़ता है कि श्रीविभीषणजी ने जो समाचार कहा था वही वानरों से सुनकर ये भी प्रभु से कह रहे हैं; यथा—"रावणो नाम दुर्वृत्तो राक्षसो राक्षसेश्वरः। तस्याहमनुजो भ्राता विभीषण इति श्रुतः॥ तेन सीता जनस्थानाद् धृता हत्वा जटायुषम्। रुद्धा च विवशा दीना राक्षसीभिः सुरक्षिता॥··· सोऽहं परुषतस्तेन दासवच्चावमानितः। त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः॥ निवेदयत मां क्षिप्रं राघवाय महात्मने। सर्वलोकशरण्याय विभीषणमुपस्थितम्॥" (वाल्मी० ६।१७।१२–१७)। तथा—"जातुधानेस भ्राता विभीषन नाम बंधु अपमान गुरु ग्लानि चाहत गरन। पतित पावन प्रनतपाल करुना सिंधु, राखिये मोहि सौमित्रि-सेवित-चरन॥" (गी० सुं० ४१)।

(२) 'कह प्रभु सखा···'—श्रीरामजी ने पूछा, तब श्रीसुग्रीवजी को उचित था कि श्रीरामजी की बड़ाई करके मंत्रणा कहते, यह नीति है; यथा—"अब सो मंत्र देहु प्रभु मोहीं।" (आ० दो० १२); तब अगस्त्यजी ने पहले प्रभु श्रीरामजी की बड़ाई की; यथा—"मुनि मुसुकाने सुनि प्रभु बानी।···ऊमरि तरु विशाल ··" इत्यादि ऐश्वर्य कहकर तब मंत्र कहा गया है; यथा—"है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ।···" इत्यादि। इससे पूर्व श्रीभरद्वाजजी एवं श्रीवाल्मीकिजी ने भी ऐसी ही प्रशंसा करके सलाह दी है। आगे श्रीविभीषणजी से भी समुद्र के पार करने का मंत्र पूछा गया है, तब उन्होंने भी पहले—"कोटि सिन्धु सोषक तव सायक। जद्यपि" कहकर तब कहा—"तदपि नीति असि···" इत्यादि। पुन लंका पहुँचकर प्रभु ने "पूछा मत सब सचिव बोलाई।" तब "जामवंत कह पद सिर नाई। सुनु सर्बज्ञ सकल उर बासी। बुधि बल तेज धर्म गुन रासी॥ मंत्र कहउँ निज मति अनुसारा। दूत पठाइय बालिकुमारा॥" इत्यादि, ऐसी नीति है। पर श्री-सुग्रीवजी श्रीरामजी को सरल प्रकृति का समझकर कि कहीं राक्षस के धोखे में न आ जायँ, आतुरता में पहले विभीषणजी के ही दोष कहने लगे। इससे इनका मत खंडित होगा, यथा—"सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत भय हारी॥

श्रीसुग्रीवजी नीति कह रहे हैं, इससे 'कपीस' राजा-सूचक नाम कहा गया है और उन्होंने श्रीरामजी को भी 'नरनाह' कहा कि आप राजनीति जानते हैं, अतएव नीति को आदर दें।

(३) 'जानि न जाइ'—शब्द सबके साथ है—न निशाचरों की माया जान पड़े, न उनके इच्छित रूप का मर्म ही मिले और न उसके प्रयोजन का ही भेद समझ पड़े कि यह किस लिये आया है 'काम रूप' का भाव यह है कि यदि प्रभु कहें कि श्रीहनुमान्‌जी के द्वारा मालूम हुआ है कि यह हमारा हितैषी है; यथा—"मैं जानउँ तुम्हारि सब रीती।···" (दो॰ ७५); तब श्रीसुग्रीवजी कहते हैं कि निशाचरों के इच्छित रूप धारण करने की क्षमता से मुझे इसमें भी तो संदेह है कि यह विभीषण ही है, हो सकता है कि रावण ने किसी अन्य राक्षस को विभीषणजी का रूप बनाकर प्रयोजन साधने के लिये भेजा हो। या यह उसका भ्राता बनकर मेरा भेद लेने आया हो कि मुझे रावण से तिरस्कृत जानकर भेद पाने के लोभ से अवश्य ग्रहण करेंगे और फिर विश्वास में डालकर यह न जाने क्या अनर्थ कर डाले ? हमारे दल के किसी का भी रूप धरकर न जाने कौन काम बिगाड़ दे, अथवा हमलोगों में फूट डाल दे। छली का विश्वास नहीं होता। अतएव 'राखिय बाँधि मोहिं अस भावा।'—बाँधकर रखने से इसकी माया नहीं लगेगी और इसका कामरूप होना भी कुछ काम न देगा। न भेद पावेगा, न तोड़-फोड़ ही करा सकेगा और न लौटकर रावण को ही सचेत कर सकेगा।

सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत - भयहारी ॥८॥
सुनि प्रभु बचन हरष हनुमाना। सरनागत - बच्छल भगवाना ॥९॥

दोहा—सरनागत कहुँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि।
ते नर पामर पापमय, तिन्हहिं बिलोकत हानि ॥४३॥

अर्थ—हे सखा ! तुमने नीति अच्छी विचारी, (पर) शरणागत का भय-हरण करना—मेरा प्रण है ॥८॥ प्रभु के वचन सुनकर श्रीहनुमान्‌जी हर्षित हुए कि भगवान् शरणागत-वत्सल हैं ॥९॥ जो लोग अपना अनहित विचार कर शरणागत को त्याग देते हैं, वे नीच हैं, पापमय हैं, उन्हें देखने से भी हानि होती है ॥ ४३ ॥

विशेष—(१) 'सखा नीति तुम्ह···'—'सखा'—सहायं ख्यातीति सखा, अर्थात् तुम हमारे सहायक हो, इसीसे हमारे कल्याण के लिये तुमने नीति-शास्त्र की दृष्टि से उत्तम विचार किया है। ऐसा कहकर शरणागति का धर्म समझाते हैं कि शरणागत के भय-हरण करने का मेरा प्रण है; यथा—"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥" (वाल्मी॰ ६।१८।३३); अर्थात् एक बार ही 'मैं आपका हूँ, इस प्रकार दीन होकर याचनेवाले सर्व प्राणियों के लिये एवं सब प्राणियों से मैं अभय देता हूँ—यह मेरा व्रत है। यह वचन सर्व तीर्थपति समुद्र के तट पर असंख्य वानर-भालू-रूप पार्षदों के समक्ष श्रीरामजी ने कहा है कि ऐसा मेरा व्रत है।

'सकृत् एव' से इसमें पुनरावृत्ति का निषेध है, "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" (ब्र॰ सू॰ ४।१।१) के अनुसार अन्य उपासनाओं के सदृश प्रपत्ति की आवृत्ति करने की आवश्यकता नहीं है। इसीलिये श्रीराघवेन्द्रजी ने 'सकृत्' पद का प्रयोग किया है। उसपर भी यदि कोई संदेह करे, उसकी निवृत्ति के लिये 'एव' भी स्वयं श्रीमुख से कहा है। और जैसे वर शास्त्र-विधि से कन्या का पाणिग्रहण एक ही बार करता है और

आजन्म उसका निर्वाह करता है, वैसे ही शास्त्र-विधि से शरणागत को ग्रहणकर भगवान् भी उसका निर्वाह करते हैं। वही आगे की 'ददामि' इस वर्त्तमान कालिक क्रिया से स्पष्ट किया गया है कि इसी जन्म की एक वार की ही प्रपत्ति से मैं रक्षा करता हूँ। 'प्रपन्नाय' के अनुसार दीन होगा तब हाथ जोड़ेगा ही—यह 'कायिकी' प्रपत्ति होगी। 'याचते' में 'याचकी' और 'तवास्मि' के अनुसंधान में 'मानसी' शरणागति का विधान है। सबसे अभय सबका स्वामी ही करेगा, इससे—'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः।" (बृ० ४।४ २२); इस श्रुति में कहा हुआ अपना ऐश्वर्य भी सूचित किया। 'सर्वभूतेभ्य': यहाँ चतुर्थी विभक्ति से सब प्राणियों के लिये, यथा—"पशुर्मनुष्यः पक्षी वा ये च वैष्णवसंश्रयाः। तेनैव साकं ते सर्वे प्रयान्ति परमां गतिम्।" (वाल्मी० भूषणटीका), 'सर्वभूतेभ्यः' यह पंचमी विभक्ति भी है, उससे सर्व प्राणियों से अभय देना सूचित किया। पुनः संसार के शत्रु, कामादि, यमराज आदि से और सब भय के भी भय-रूप अपने से भी अभय देना जनाया। 'अभय' शब्द मोक्षपरक है; यथा—"अथ सोऽभयं गतो भवति" (तै० २।०); यह श्रुति प्रमाण है। 'एतद्-व्रतं-मम'—यहाँ प्रभु ने अपने सामर्थ्य और व्रत का महत्व कहा है कि सामान्य मनुष्य भी अपना व्रत (प्रतिज्ञा) नहीं छोड़ता और मैं तो सत्यप्रतिज्ञ चक्रवर्त्ति-कुमार एवं सर्वशक्तिमान् ईश्वर हूँ। अतः, मेरा व्रत खंडित हो नहीं सकता। श्रीमुख का वचन है; यथा—"अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्॥ न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः।" (वाल्मी० ३।१०।१८); अर्थात् मैं प्राण छोड़ सकता हूँ, श्रीलक्ष्मणजी के साथ तुमको भी छोड़ सकता हूँ, पर विशेषकर ब्राह्मणों के सम्बन्ध की प्रतिज्ञा करके उसे नहीं छोड़ सकता। तथा च "रामो द्विर्नाभिभाषते।" (वाल्मी २।१८।३०); इस तरह अपना सर्वशरण्यत्व कहा है।

इसी प्रकार दंडकवन के ऋषियों की भी शरणागति कही गई है; यथा—"ते वयं भवता रक्ष्या भवद्विषयवासिनः। नगरस्थो वनस्थो वा त्वं नो राजा जनेश्वरः॥ न्यस्तदण्डा वयं राजञ्जितक्रोधा जितेन्द्रियाः। रक्षणीयास्त्वया शश्वद्गर्भभूतास्तपोधनाः॥" (वाल्मी० ३।१।२०-२१); अर्थात् ऋषियों ने श्रीरामजी को फल मूलादि अर्पण कर स्तुति करते हुए इस प्रकार प्रपत्ति की है कि हम लोग आपके हैं, क्योंकि आपके राज्य में बसनेवाले हैं; अतएव आपके द्वारा रक्षा किये जाने योग्य हैं। चाहे आप नगर में रहें और चाहे वन में, आप हमलोगों के राजा और सम्पूर्ण प्रजा के शासक हैं, एवं अपने जनों (भक्तों) के ईश्वर हैं। हमलोगों ने जितेन्द्रिय एवं क्रोधजित होने के कारण दंड एवं शाप देना छोड़ दिया है क्योंकि हमलोगों के पास तपस्या ही धन है इसी से हमलोग उसकी गर्भस्थ बालक की तरह रक्षा करते हैं (शाप देने में क्रोध करने से तप का नाश होता है।) अतएव हम लोग आपके द्वारा निरन्तर रक्षा किये जाने योग्य हैं।

इसपर श्रीरामजी ने सम्पूर्ण राक्षसों के वध करने की प्रतिज्ञा कर उन ऋषियों की रक्षा की है।

आगे प्रतिज्ञा-भंग के दोष को 'सरनागत कहँ जे तजहिं···' से कहा है। यदि कहा जाय कि नीति-विरुद्ध चलने से हानि होगी, उसका समाधान भी आगे करेंगे; यथा—"भेद लेन पठवा दससीसा। तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा॥ जग महँ सखा निसाचर जेते। लछिमन हनहिं निमिष महँ तेते॥"

(२) 'सुनि प्रभु बचन हरष हनुमाना।···'—श्रीहनुमान्जी ने श्रीविभीषणजी से प्रभु का भक्तवत्सल स्वभाव कहा था; यथा—"अस मैं अधम सखा सुनु, मोहू पर रघुबीर। कीन्ही कृपा।" (दो० ७); अतः, श्रीसुग्रीवजी के वचन पर ये दुखी हुए थे। जब श्रीरामजी ने उनका मत खंडन कर शरणागति-धर्म को मुख्य कहा, तब इन्हें हर्ष हुआ, क्योंकि ये श्रीविभीषणजी की साधुता जानते भी हैं। इस विषय का प्रभु-प्रतिज्ञा सुनकर आनंदित हुए।

(३) 'सरनागत कहुँ जे तजहिं '—इसमें यह भी ध्वनि है कि जो अपने हित की हानि भी करके शरणागत की रक्षा करते हैं, उनके दर्शनों से बड़ा पुण्य होता है। श्रीसुग्रीवजी ने नीति-दृष्टि से हित की हानि कही है, इसी पर कहते हैं कि यदि अनहित का अनुमान करके उसे शरण में नहीं रक्खें तो बड़ा भारी दोष होगा। रक्षा नहीं करनेवाले को देखने से भी पाप कहा गया है, सो शरणागत के त्यागनेवाले के पाप का तो अंदाजा ही नहीं हो सकता। इसीको उत्तरार्द्ध में कहते हैं कि ऐसे मनुष्य पामर और पापमय हैं। क्योंकि वह तो बड़ा समझकर रक्षा के लिये आया और इन्होंने रक्षा नहीं की, तो बड़प्पन कहाँ रहा और शरणागत का विश्वास व्यर्थ हुआ, यदि वह मारा गया, तो और भी भारी पाप हुआ। इसी को वाल्मी० ६।१८ में विस्तार से कहा गया है। 'ते नर' कहकर वहाँ की कपोत की कथा को सूचित किया, यथा—"श्रूयते हि कपोतेन ... किं पुनर्मद्विधो जनः ॥" (२४–२५); अर्थात् तिर्यग्योनि के पक्षी ने भी अपनी स्त्री के मारनेवाले शत्रु को, शरण में आने पर, अपना मांस दे उसकी रक्षा की। फिर मैं तो मनुष्य हूँ, उसमें भी धर्मज्ञ, कुलीन एवं चक्रवर्त्ति-कुमार हूँ कैसे न इसकी रक्षा करूँ ? 'पामर पापमय ...'—से वहाँ की कण्डु-गाथा का भाव ले लिया गया है, यथा—"बद्धाञ्जलिपुटं दीनं याचन्तं शरणागतम्।" से "एवं दोषो महानत्र प्रपन्नानामरक्षणे। अस्वर्ग्यं चायशस्यं च बलवीर्यविनाशनम् ॥" (२७—३१), तक अर्थात् हाथ जोड़ दीन होकर यदि शत्रु भी दया के लिये शरण में आवे, तो उसे नहीं मारना चाहिये। आर्त्त हो, चाहे अहंकारी हो, यदि शत्रु शरण में आ जाय, तो श्रेष्ठ मनुष्य को अपने प्राणों का भी मोह छोड़कर उसकी रक्षा करनी चाहिये। यदि वह भय से, मोह से अथवा किसी प्रकार की इच्छा से उस शत्रु की रक्षा अपनी शक्ति से नहीं करता, तो उसे पाप होता है और वह पाप सब लोकों में निंदित है। शरण में आया हुआ मनुष्य यदि रक्षक के सामने ही नाश को प्राप्त हो जाय, तो वह अरक्षित शरणागत उसके समस्त पुण्यों को लेकर चला जाता है। इस प्रकार शरण में आये की रक्षा न करने में बड़ा दोष है, उससे अपकीर्ति होती है, परलोक नाश होता है और बल वीर्य की हानि होती है'।

कोटि बिप्र-बध लागहिं जाहू। आये सरन तजउँ नहिं ताहू ॥१॥
सनमुख होइ जीव मोहिं जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥२॥

अर्थ—जिसे करोड़ों ब्राह्मणों का वध (हत्या) भी लगा हो, शरण आने पर मैं उसका भी त्याग नहीं करता ॥१॥ जीव जिस समय मेरे सम्मुख (शरण) होता है, उसी समय उसके करोड़ों जन्मों के पाप नाश हो जाते हैं ॥२॥

विशेष—(१) 'कोटि बिप्र बध '—शरणागत के त्यागनेवाले 'पामर पापमय' का तो मैं मुँह भी नहीं देखता, पर कोटि-विप्र-वध वाले भी शरणागत को ग्रहण कर लेता हूँ, उसके पाप छुड़ा सकता हूँ। इसपर गी० सु० ४५ पूरा पद देखिये।

शंका—रावण से तो आपने कहा है; यथा—"मोहिं न सोहाइ ब्रह्म कुल द्रोही।" (आ० दो० ३२), और यहाँ कोटि-विप्र-वध वाले को ग्रहण करते हैं, यह विरोध क्यों ?

समाधान—वहाँ सामान्य धर्म की दृष्टि से प्रवृत्ति-मार्ग पर कहा गया है और यहाँ सर्व धर्म-परित्याग-पूर्वक शरणागत के लिये कहा गया है। रावण तो शरणागत नहीं था अन्यत्र भी कहा है, यथा—"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥" (गीता ९।३०–३१); अर्थात् कैसा भी दुराचारी क्यों न हो जो मुझे अनन्य भाव से भजे उसे साधु ही समझना चाहिये, वह

तो सम्यक् प्रकार से व्यवसित है कि भगवान् के भजन के समान और शुद्ध नहीं है, ऐसा जिसने भलीभाँति जान लिया है वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है, और निरंतर शांति को पाता है, हे अर्जुन ! तू निश्चय पूर्वक जान कि मेरे भक्त का नाश नहीं होता। अनन्य भक्ति ही शरणागति है। अनन्य भक्त जगत् को निज प्रभुमय देखेगा; यथा—"मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।" (कि० दो० ३); तब फिर पाप नहीं होगा। पूर्व के पाप शरणागत होते ही नाश हो जायँगे। शरणागति पश्चात्तापपूर्वक प्रायश्चित का एक बृहद्रूप है।

(२) 'सनमुख होइ जीव···'—यहाँ शरणागति का सद्य. फल-दातृत्व कहा जाता है। ऊपर 'कोटि बिप्र बध' कहा गया था, उसमें 'अघ' शब्द नहीं था। किंतु यहाँ 'जन्म कोटि अघ नासहिं' भी कहा गया है। इस तरह दोनों को मिलाकर अर्थ करना चाहिये कि यदि कोटि जन्मों से कोटि-विप्र-वध के पाप करता आया हो तो वे सब पाप उसी क्षण नाश हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि शरणागत होने से पूर्व पापों का नाश हो जाने पर हृदय शुद्ध होगा, तब हरि-भजन में मन लगेगा, फिर प्रभु की प्राप्ति होगी।

पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ ॥३॥
जौं पै दुष्ट-हृदय सोइ होई। मोरें सनमुख आव कि सोई ॥४॥
निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा ॥५॥

अर्थ—पापी का यह सहज स्वभाव है कि मेरा भजन उसे कभी नहीं भाता ॥३॥ जो वह निश्चय ही वैसा दुष्ट हृदय होगा (जैसा तुमने कहा है ; यथा—'जानि न जाइ निसाचर माया।···') तो क्या वह मेरे सम्मुख आ सकता है ? ॥४॥ जो निर्मल मन का भक्त है, वही मुझे पाता है, मुझे कपट, छल, छिद्र अच्छे नहीं लगते ॥५॥

विशेष—(१) 'पापवंत कर सहज सुभाऊ।···'; यथा—"न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।" (गीता ७।१५); भाव यह है कि शरण आने पर मैं पापी को भी नहीं त्यागता, किंतु वह आता ही नहीं। क्योंकि पाप प्रेम का बाधक है और प्रेम बिना भजन नहीं होता; यथा—"तुलसी राम प्रेम कर बाधक पाप।" (बरवा ६४); अर्थात् विभीषण शुद्ध है, तभी आया है।

(२) 'जौं पै दुष्ट हृदय ···'—हृदय की दुष्टता क्या है, इसे आगे हृदय की निर्मलता के विपर्यय में 'कपट छल छिद्र' कहकर प्रकट किया है। कपट का अर्थ—स्वार्थ-साधन के लिये हृदय की बात को छिपाने की वृत्ति, छल-छिद्र का अर्थ—कपट व्यवहार, धोखेबाजी, धूर्त्तता। 'सनमुख होना' = शरणागत होना। शरणागत होने में अपने पापों को कहकर दीनतापूर्वक आत्म समर्पण करना पड़ता है। यह दुष्ट हृदय से नहीं हो सकता जब तक वह हृदय के 'कपट-छल-छिद्र' को न दूर कर दे ; यथा—"छली न होइ स्वामि सनमुख ज्यों तिमिर सातहयजान सों" (गी० सु० ३१)। इनके छोड़ने में विचार की ही आवश्यकता है। जब अपने पापों को समझकर पश्चात्ताप एवं ग्लानि होती है, तब यह दुष्टता दूर हो जाती है और तभी शरणागत होने की भी वृत्ति उदित होती है, फिर उस शरणागत के सब पापों को भगवान् उसके शरणागति परक सत्य-संकल्प के साथ ही नाश कर देते हैं। देखिये दो० ४१ भी।

(३) 'निर्मल मन जन सो मोहि पावा।···'—श्रीसुग्रीवजी ने उसे छली कहा था, उसी पर कहते हैं कि जब शरण में निःशंक भाव से आया है, तो उसमें छल नहीं है।

प्रसंग का सारांश यह कि कोटि जन्म के कोटि विप्र-वध के भी पाप हों, परन्तु यदि वह पापों से डरकर पश्चात्ताप-पूर्वक दीनता-सहित (निर्मल हृदय से) शरण में आवे, तो उसके पुराने पाप नाश हो जाते हैं, फिर उसे मेरे भजन में मन लगता है और अनंतर वह मुझे पाता है।

भेद लेन पठवा दससीसा। तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा ॥६॥
जग महँ सखा निसाचर जेते। लछिमन हनइ निमिष महँ तेते ॥७॥
जौं सभीत आवा सरनाईं। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं ॥८॥

अर्थ—रावण ने इसे भेद लेने को भेजा हो तो भी, हे कपीश! कुछ भय और हानि नहीं है ॥६॥ (क्योंकि) हे सखा! जगत्-भर में जितने भी निशाचर हैं, उन सबको श्रीलक्ष्मणजी निमेष-भर में मार सकते हैं ॥७॥ (अतएव) जो वह भयभीत होकर शरण में आया है, तो उसे प्राणों की तरह रक्खूँगा ॥८॥

विशेष—(१) 'भेद लेन पठवा...'—यह सुग्रीव के मत को लेकर कहते हैं कि जब जगत्-भरके निशाचरों को लक्ष्मणजी पल-भर में मार सकते हैं, तब भेद लेकर भी लंका-मात्र के राक्षस हमारा क्या बिगाड़ सकेंगे, यथा—"न भेदसाध्या बलदर्पिता जना' ।" (वाल्मी० ५।११।३)।

(२) 'लछिमन हनइ निमिष महँ तेते।'—यहाँ ऐश्वर्य दिखाते हैं; यथा—"लक्ष्मणस्तु ततः क्रुद्धो भ्रातरं वाक्यमब्रवीत्। ब्राह्मस्त्रं प्रयोक्ष्यामि वधार्थं सर्वरक्षसाम् ॥" (वाल्मी० ६।८०।३७), अर्थात् क्रोध-पूर्वक श्रीलक्ष्मणजी ने समस्त राक्षसों के वध के लिये भाई श्रीरामजी से ब्रह्मास्त्र प्रयोग करने को कहा। इसपर श्रीरामजी ने समझाकर मना किया है। तथा—"सुनु गिरिजा क्रोधानल जासू। जारै भुवन चारि दस आसू ॥" (लं० दो० ५३); दुष्ट-निशाचरों के वध के लिये ही श्रीलक्ष्मणजी का अवतार है; यथा—"जो सहस सीस अहीस महिधर लखन सचराचर धनी। सुरकाज धरि नरराज तनु चले दलन खल नसिचर अनी ॥" (अ० दो० १२६), तब राक्षसों से कोई भय नहीं है।

यहाँ प्रभु ने अपना पराक्रम नहीं कहा, एक तो उन्होंने आत्मश्लाघा दोष बचाया, दूसरे इनका पराक्रम तो बालि-वध आदि से श्रीसुग्रीवजी जानते ही थे, इसीसे अवसर पाकर प्रभुने श्रीलक्ष्मणजी का ही बल कहा।

(३) 'जौं सभीत आवा.. '—यदि भय-पूर्वक शरण में आया है, तो मैं उसका भय-हरण करूँगा, क्योंकि—"मम पन सरनागत भय हारी।" ऊपर कहा ही गया है। भय—चाहे शत्रुका, पापों का और चाहे संसार का हो। 'प्रान की नाईं'', यथा—"देह-प्रानते प्रिय कछु नाहीं।" (बा० दो० २०७), अर्थात् शरणागत मुझे अत्यन्त प्रिय है। प्रभु ने प्राणों से भी अधिक मानकर आगे इनकी रक्षा की भी है; यथा—"आवत देखि सक्ति अति घोरा। प्रनतारति भंजन पन मोरा ॥ तुरत बिभीषन पाछे मेला। सनमुख राम सहेउ सो सेला ॥" (लं० दो० ९३)।

वाल्मी० ६।१८।२२-२३, ३४ में यह प्रसंग कहा गया है, किन्तु वहाँ सम्पूर्ण राक्षसों के वध में प्रभु ने अपना ही पराक्रम कहा है, और शेष भाव ऐसे ही हैं।

दोहा—उभय भाँति तेहि आनहु, हँसि कह कृपानिकेत।
जय कृपाल कहि कपि चले, अंगद हनू समेत ॥४४॥

अर्थ—कृपालु श्रीरामजी ने हँसकर कहा कि दोनों प्रकार से उसे ले आओ (अर्थात् चाहे भेद लेने आया हो और चाहे ठीक शरण में आया हो)। 'जय कृपाल' (कृपालु श्रीरामजी की जय हो) ऐसा कहकर अंगद और श्रीहनुमान्जी के साथ सभी वानर चले ॥४४॥

विशेष—(१) 'कृपा निकेत' 'जय कृपाल' का भाव यह है कि श्रीविभीषणजी पर अत्यन्त कृपा देखकर वानर लोग जय-जयकार करने लगे, यथा—"सुनि प्रभु वचन कहहिं कपिबृंदा। जय जय जय कृपाल सुखकंदा॥" (दो० ३३), 'हँसि कह'—कि जिससे सुग्रीवजी को बुरा न लगे। हँसकर अपनी प्रसन्नता भी श्रीविभीषणजी पर प्रकट की; यथा—"हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥" (बा० दो० ११७)।

(२) 'अंगद हनू समेत'—श्रीविभीषणजी राजा रावण के छोटे भाई हैं, छोटा भाई पुत्र के समान होता है, अतएव उनके लाने के लिये श्रीसुग्रीवजी के पुत्र अंगद और श्रीरामजी के पुत्र के समान श्रीहनुमान्जी (यथा—'सुनु सुत तोहिं उरिन मैं नाहीं।') भेजे गये। यहाँ 'हनू' मात्र छन्दानुरोध से लिखा है। यह भाव भी है कि भक्त से मिलने चले, तो श्रीहनुमान्जी ने अपना मान नहीं रक्खा, अतएव अपने नाम से इन्होंने 'मान' शब्द तक निकाल दिया, इसीलिये गोस्वामीजी ने नहीं लिखा। 'कपि चले'—चलने में अप्रधान वानर प्रधान-रूप में कहे गये हैं, और अंगद-हनुमान्जी प्रधान हैं, पर ये गौण-रूप में कहे गये, क्योंकि अप्रधान श्रीविभीषणजी को प्रधान बनाना है। श्रीविभीषणजी को राजा बनाना है।

सादर तेहि आगे करि वानर। चले जहाँ रघुपति करुनाकर ॥१॥
दूरिहि ते देखे दोउ भ्राता। नयनानंद दान के दाता ॥२॥
बहुरि राम छबिधाम बिलोकी। रहेउ ठटुकि एकटक पल रोकी ॥३॥

अर्थ—आदर-सहित उसे आगे करके वानरगण वहाँ चले, जहाँ करुणा की खान श्रीरघुनाथजी हैं॥१॥ नेत्रों को आनंद-रूपी दान देनेवाले दोनों भाइयों को श्रीविभीषणजी ने दूर से ही देखा॥२॥ फिर छवि के स्थान श्रीरामजी को देखकर पलक रोक एकटक खड़े देखते रह गये॥३॥

विशेष—'सादर तेहि आगे करि...'—पहले श्रीविभीषणजी को अनादर-पूर्वक रोका था, अब उनपर रामजी की कृपा जानकर आदर-पूर्वक आगे करके ले चलते हैं, क्योंकि श्रीरामजी की अनुकूलता से सभी अनुकूल हो जाते हैं। यहाँ यह भी भाव है कि ये वानरगण देवताओं के अंश हैं। देवतागण पहले भगवान् की शरण होने में बाधा करते हैं, फिर प्रभु की प्रसन्नता जानकर सहायक भी हो जाते हैं। आदर से इसलिये भी ले जा रहे हैं कि जिससे इन्हें बाँधे जाने आदि की शंका न हो।

(२) 'दूरहि ते देखे दोउ भ्राता।...' वानरगण मार्ग से हट गये हैं, इससे सामने बैठे हुए दोनों भाइयों के दर्शन हो रहे हैं। 'नयनानंद दान के दाता'-नेत्रधारी-मात्र को इनके दर्शनों से आनद मिलता है। ये दर्शन किसी के भी सुकृत के फल-रूप में नहीं हो सकते। क्योंकि प्रभु अप्रमेय हैं और सबके सुकृत परिमित ही होते हैं, यथा—"नास्त्यकृतः कृतेन" (मुंडक ।।२।।१२)। प्रभु अपनी कृपा से दानरूप में दर्शन देते हैं; यथा—"नाहि त हम कहँ सुनहु सखि, इन्हकर दरसन दूरि। यह संघट तब होइ जब, पुन्य पुराकृत भूरि॥" (बा० दो० २२२)। "लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरे दरस आस सब पूजी॥" (अ० दो० १०६)। अनुकूल कृपामयी चितवनि से विभीषणजी को तृप्त करते हैं, यथा-"लोचनाभ्यां पिबन्निव" (वाल्मी० ६।१९।७)।

(३) 'बहुरि राम छवि धाम'''—पहले दोनों भाइयों को देखा, फिर श्रीरामजी को देखकर अपनी देह-दशा भूल गये, क्योंकि सब भाइयों में भी श्रीरामजी अधिक सुखसागर हैं; यथा—"चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुख सागर रामा ॥" (बा० दो० १९७); इसी तरह दोनों के दर्शनों की व्यवस्था और जगह भी कही गई हैं—

(१) "भये सब सुखी देखि दोउ भ्राता।'''मूरति मधुर मनोहर देखी।
भये बिदेह बिदेह बिसेषी ॥"—जनक समाज

(२) "लता ओट तब सखिन लखाये। स्यामल गौर किसोर सुहाये ॥
थके नयन रघुपति छबि देखे। पलकनिहूँ'''"—श्रीसीताजी

(३) "राम लखन दसरथ के ढोटा। दीन्ह असीस जानि भल जोटा ॥
रामहि चितइ रहे भरि लोचन। रूप अपार'''"—परशुरामजी

(४) "मरकत कनक बरन बर जोरी। देखि सुरन्ह भइ प्रीति न थोरी ॥
पुनि रामहि बिलोकि हिय हरषे'''"—देवगण

(५) "प्रेम बारि दोउ जन अन्हवाये॥ देखि राम छबि नयन जुड़ाने।"—अत्रिजी।

(६) 'रहे ठठुकि'''; यथा—"एकटक रहे निमेष न लावहिं।"—सनकादिक।
दोनों भाइयों के दर्शनों से आनन्द मिलता है, पर श्रीरामजी को देखकर तो लोग अत्यन्त आनन्द से विदेह दशा को प्राप्त हो जाते हैं।

भुज - प्रलंब कंजारुन - लोचन। स्यामल गात प्रनत-भय-मोचन ॥४॥
सिंह-कंध आयत उर सोहा। आनन अमित-मदन-मन मोहा ॥५॥
नयन नीर पुलकित अति गाता। मन धरि धीर कही मृदु बाता ॥६॥

अर्थ—भुजाएँ विशाल हैं, लाल कमल के समान नेत्र हैं, साँवला शरीर है, (ये सब) शरणागत के भय के छुड़ानेवाले हैं ॥४॥ सिंह के कंधे के समान कंधे हैं, छाती चौड़ी शोभित है, मुख असंख्य कामदेवों के मन को मोहित करता है ॥५॥ श्रीविभीषणजी के नेत्र सजल हैं और उनका शरीर पुलकित है, मन में धैर्य धरकर उन्होंने कोमल वचन कहे ॥६॥

विशेष—(१) 'भुज प्रलंब कंजारुन लोचन।'''—श्रीविभीषणजी रावण से रक्षा पाने के लिये रघुवीर-शरण में आये हैं, यथा—"मैं रघुबीर सरन अब जाउँ''" अतः, यहाँ उन्हें श्रीरामजी के वीर रस-प्रधान स्वरूप के दर्शन हुए। वे शत्रु से सभीत हैं और शत्रु का नाश भुज-बल से ही होगा, इसीलिये पहले उन्होंने 'भुज प्रलंब' ही देखा; यथा "पुरुष सिंह दोउ बीर, हरषि चले'''अरुन नयन उर बाहु बिसाला। नील जलद तन स्याम तमाला ॥" (बा० दो० २०८); तथा—"लछिमन चले क्रुद्ध होइ'''छतज नयन उर बाहु बिसाला। हिम गिरि निभ तनु कछुयक लाला ॥" (लं० दो० ५१); यहाँ प्रभु के आयुध का वर्णन नहीं किया गया है, क्योंकि—(क) यहाँ मिलने का प्रसंग है, अतः, प्रभु ने धनुष-बाण उतार दिये हैं। (ख) श्रीविभीषणजी भव-भय से डरे हुए हैं ; यथा —"श्रवन सुजस सुनि आयउँ, प्रभु भंजन भव भीर।" आगे कहा गया है। इनके लिये भुजाओं का ही प्रयोजन है; यथा—"सुमिरत श्रीरघुबीर की बाहैं। होत सुगम भव

उदधि अगम अति कोउ लाँघत कोउ उतरत थाहँ' ॥···सरनागत आरत प्रनतनि को दै दै अभय पद ओर निबाहँ । करि आई करिहँ, करती हैं, तुलसिदास दासनि पर छाहँ ॥" (गी॰ उ॰ १३)।

'कंजारुन लोचन'—से नेत्र कृपायुक्त सूचित किये गये; यथा—"राजिव नयन धरे धनुसायक। भगत बिपति भंजन सुख दायक ॥" (बा॰ दो॰ १७)।

'प्रनत भय मोचन'—अंत में कहे जाने से यह सबका विशेषण है, प्रभु के सब अंग भव-भय मोचन हैं; यथा—"पाथोद गात सरोज मुख राजीव आयत लोचनं। नित नौमि राम कृपालु बाहु बिसाल भव-भय मोचनं॥" (आ॰ दो॰ ३१)। यहाँ भी उपर्युक्त 'भय' का अर्थ भव-भय खुल गया है।

(२) 'सिंह कंध आयत उर'···'—सिंह के समान ऊँचे और सुडार कंधों से गज-गण के समान राक्षसों का नाश करेंगे—यह प्रकट होता है। 'आनन अमित'···'; यथा—"मुख छबि कहि न जाइ मोहि पाहीं जो बिलोकि बहु काम लजाहीं ॥" (बा॰ दो॰ २३२)।

(३) 'नयन नीर पुलकित अति गाता।'—श्रीरामजी की छवि को देखकर यह दशा हो गई, अधीरता आ गई। इसी से 'मन धरि धीर कही मृदु बाता ॥' कहा है; यथा—"देखि भानु कुल भूषनहि, बिसरा सखिन्ह अपान ॥ धरि धीरजु यक आलि सयानी। सीता सन बोली गहि पानी ॥" (बा॰ दो॰ २३३) "पुलकित तनु मुख आव न बचना।···पुनि धीरजु धरि स्तुति कीन्ही।" (कि॰ दो॰ १), इत्यादि बहुत उदाहरण हैं।

श्रीविभीषणजी तन, मन और वचन से प्रेम में मग्न हैं, यथा—"नयन नीर पुलकित अति गाता। मन धरि धीर कही मृदु बाता ॥"

नाथ दसानन कर मैं भ्राता। निसिचर-बंस जनम सुरत्राता ॥७॥
सहज पाप प्रिय तामस देहा। जथा उलूकहि तम पर नेहा ॥८॥

दोहा—श्रवन सुजस सुनि आयउँ, प्रभु भंजन भव-भीर।
त्राहि त्राहि आरति-हरन, सरन सुखद रघुबीर ॥४५॥

अर्थ—हे नाथ ! मैं रावण का भाई हूँ, हे देवताओं के रक्षक ! मेरा जन्म निशाचर-कुल में है ॥७॥ मेरा शरीर तामसी है, (अत.) मुझे पाप स्वाभाविक ही प्रिय है, जैसे उल्लू को अंधकार से स्नेह रहता है ॥८॥ कानों से आपका सुन्दर यश सुनकर आया हूँ कि प्रभु (आप) भव-भय के भंजन करनेवाले और समर्थ हैं। हे आर्त्तों के दुःख हरनेवाले ! हे शरणागत को सुख देनेवाले ! हे रघुवीर !!! मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये ॥४५॥

विशेष—(१) 'नाथ दसानन कर मैं भ्राता।···'—शरणागति में कार्पण्य मुख्य है। इससे अपनी अधमता दिखाने के लिये रावण का भाई कहकर अपना परिचय देते हैं। पिता के नाम-सहित प्रणाम करने की रीति है, परन्तु इनके पिता ऋषि श्रीविश्रवाजी हैं। अत, उस परिचय से कुलीनता पाई जाती। इसी कारण से बड़े भाई का नाम कहकर परिचय दिया, बड़ा भाई भी पिता के तुल्य है।

(उ० दो० ४); और श्रीहनुमान्‌जी भी—"प्रेम मगन तेहि उठन न भावा।" (दो० ३१); अर्थात् ये दोनों शीघ्र नहीं उठे, परन्तु यहाँ श्रीविभीषणजी तुरत उठ गये—यह क्यों? इसका उत्तर यह है कि उन दोनों के कारण उन प्रसंगों में कहे गये हैं, और यहाँ ये तो चाहते ही थे कि प्रभु मुझे अंगीकार करें, अतएव केवल भुजावलम्बन-मात्र से ही उठ आये।

(३) 'अनुज सहित मिलि...'—जिसे प्रभु जिस प्रकार अंगीकार करते हैं, उसे श्रीलक्ष्मणजी भी वैसा ही मानते हैं, इससे मिले, यथा—"सादर मिलेउ नाइ पद माथा। भेटेउ अनुज सहित रघुनाथा॥" (कि० दो० १), उनके आदर के लिये भाई के साथ मिले। 'ढिग बैठारी'—यह अत्यन्त आदर है; यथा "अति आदर समीप बैठारी। बोले बिहँसि..." (लं० दो० ११), तथा—"कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा। करगहि परम निकट बैठावा॥" (दो० ३३)। पास में ही अपनी दाहिनी ओर बैठाया; यथा—"उठि दाहिनी ओर ते सन्मुख सुखद माँगि बैठक लई।" (गी० सुं० ३८)। 'बोले बचन'—'हरष निसेषा' में मन, 'हृदय लगावा' में तन और यहाँ 'बोले बचन' में अपने वचन का प्रेम प्रकट किया है।

(४) 'कहु लंकेस...'—श्रीविभीषणजी को लंका का राजा बनाने की इच्छा है, इसी से प्रभु ने इन्हें अभी से लंकेश कहा। वचन से लंकेश बना दिया, प्रभु का वचन सत्य ही होता है; यथा—"सखा बचन मम मृषा न होई॥" (कि० दो० ५); ये लंकेश बनाये जायँगे। परिवार-सहित इनकी कुशल पूछी, क्योंकि "प्रनत कुटुंबपाल रघुराई" हैं। 'कुठाहर बास' अर्थात् तुम दुष्टों की मंडली में रहते हो, (उसी को आगे स्पष्ट करेंगे) जहाँ सज्जनों के लिये बहुत से विघ्न रहते हैं; यथा—"सुनहु पवन सुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्हि महँ जीभ बिचारी॥" (दो० ६)—यह श्रीविभीषणजी का ही वचन है।

खल-मंडली बसहु दिन-राती। सखा धरम निबहइ केहि भाँती॥५॥
मैं जानउँ तुम्हारि सब रीती। अति नयनिपुन न भाव अनीती॥६॥
बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥७॥

अर्थ—हे सखे! तुम दिन-रात दुष्टों की मंडली में रहते हो, तुम्हारे धर्मों का निर्वाह कैसे होता है? ॥५॥ मैं तुम्हारी सब रीति जानता हूँ, तुम नीति में अत्यन्त निपुण हो, तुम्हें अनीति नहीं अच्छी लगती ॥६॥ हे तात! नरक का वास चाहे हो भी, तो भला है, पर विधाता दुष्ट का संग नहीं दे ॥७॥

विशेष—(१) 'खल मंडली बसहु ...'—उपर्युक्त कुशल का अर्थ यहाँ खोला गया कि धर्म का निर्वाह कैसे होता है? श्रीहनुमान्‌जी ने भी ऐसा ही अनुमान किया है; यथा "लंका निसिचर निकर निवासा। इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा॥" (दो० ५); दुष्टों में धर्म सुनाई भी नहीं देता; यथा—"अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धरम सुनिय नहिं काना।" (बा० दो० १८३), "जेहि बिधि होइ धरम निर्मूला। सोइ सब करहिं बेद प्रतिकूला।" (बा० दो० १८२), 'दिन-राती'—कुछ भी अवकाश धर्म का नहीं मिलता। श्रीविभीषणजी न बोले, तो प्रभु स्वयं उत्तर में कहते हैं

(२) 'मैं जानउँ तुम्हारि सब रीती ...'—श्रीविभीषणजी लंका में रहते हुए भी श्रीरामजी की रीति जानते थे, जो रावण को उपदेश भी दिया है, वैसे ही श्रीरामजी भी उनकी रीति जानते हैं। 'सब रीति'—लोक-रीति, धर्म-रीति, वेद-रीति एवं राज-रीति आदि। पहले 'खल-मंडली' के बीच बास कह कर फिर 'न भाव अनीती' कहकर जनाया कि तुममें उनके दोषों का स्पर्श नहीं हुआ; यथा—"निधि बस

सुजन कुसंगति परहीं । फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं ॥" (बा० दो० २); "अहि अघ अवगुन नहि मनि गहई ।" (अ० दो० १८३); यह श्रीविभीषणजी के 'सहज पापप्रिय तामस देहा ।···' का उत्तर है कि तुम पापी नहीं, किन्तु धर्मात्मा हो ।

(३) 'बरु भल वास नरक···'—विधाता कर्म-फल के रूप मे दुष्ट-संग भी देता है, उसी पर कहते हैं कि उसके बदले में नरक का बास देकर कर्म-दंड चुका दे, परन्तु विधाता दुष्ट का संग नहीं दे। श्रीविभीषणजी ने अपनेको दशानन का भाई कहा था, उसी का समाधान श्रीरामजी विधि-वश कहकर करते हैं। श्रीहनुमान्जी से तो इन्होंने कहा था; यथा—"सुनहु पवन-सुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्हि महँ जीभ विचारी ॥" पर यहाँ ऐसा नहीं कहा, यहाँ यह उपदेश है कि स्वामी से प्रपंच की बात न कहनी चाहिये ; यथा—"सुहृद सुजान सुसाहिबहि, बहुत कहब बड़ि खोरि ॥" (अ० दो० ३००) ।

अब पद देखि कुसल रघुराया । जौ तुम्ह कीन्हि जानि जन दाया ॥८॥

दोहा—तब लगि कुसल न जीव कहँ, सपनेहु मन बिश्राम ।
जब लगि भजत न राम कहँ, सोक-धाम तजि काम ॥४६॥

अर्थ—हे रघुराज ! अब (आपके) चरणों के दर्शनों से कुशल है, जो आपने अपना जन जानकर मुझपर दया की (भाव—आप दया करते है, तो अपना जन जानते हैं, और फिर दर्शन देते हैं, तब कुशल होती है) ॥८॥ तब तक जीव की कुशल नहीं है और न स्वप्न में उसके मन को विश्राम है, जब तक शोक-धाम (शोकमय) काम (काम-विकार एवं कामनाओं) को छोड़कर वह श्रीरामजी को नहीं भजता ॥४६॥

विशेष—(१) 'अब पद देखि···'—क्योंकि आपके पद ही कुशल के मूल हैं ; यथा—"कुसल मूल पद पंकज देखी। मैं तिहुँ काल कुसल निज लेखी ॥" (अ० दो० १६४), यहाँ अपनी कुशल कही। 'जौ तुम्ह कीन्हि जानि जन···' से परिवार की भी ; यथा—"अब प्रभु परम अनुग्रह तोरे। सहित कोटि कुल मंगल मोरे ॥" (अ० दो० १६४); यदि शत्रु का भाई, एवं निशाचर जानकर आप मुझपर दया नहीं करते तो मेरी कुशल न थी, किन्तु 'अब' हुई। यह भाव 'जौ' मे है।

'अब पद देखि···' उपक्रम है और आगे 'देखेउँ नयन विरंचि···' उपसंहार है।

(२) 'सोक-धाम तजि काम'—काम भजन मे बाधक है , यथा—"करम वचन मन मोरि गति, भजन करहिं नि काम। तिन्ह के हृदय ··" (आ० दो० १६); जब तक निष्काम भजन नहीं हो, हृदय को विश्राम नहीं मिलता , यथा—"पाकारिजित-काम-विश्राम हारी।" (वि० ५८)। तथा—"भजिय राम सब काम तजि, अस विचारि मन माहिं ॥" (उ० दो० १०४); यहाँ वासनाएँ 'काम' शब्द से कही गई हैं, ये शोकमय हैं ; यथा—"तुलसी अद्भुत देवता, आसा देवी नाम। सेये सोक समर्पई, विमुख भये विश्राम ।" (दोहावली २५८)।

तब लगि हृदय बसत खल नाना । लोभ मोह मच्छर मद माना ॥१॥
जब लगि उर न बसत रघुनाथा । धरे चाप-सायक कटि भाथा ॥२॥

रूप भाग्य है कि ब्रह्माजी और श्रीशिवजी जिन चरणों की सेवा (ध्यान से) करते हैं, मैंने उन्हीं को आँखों से देखा ॥४७॥

यहाँ श्रीविभीषणजी अपना अहोभाग्य आदि कहकर प्रत्यक्ष चरण-दर्शनों की प्रशंसा करते हैं, भाव यह है कि चरणानुरागी 'बड़ भागी' कहाते हैं, देखिये—"अतिसय बड़ भागी चरनन लागी" (बा दो॰ २१०); मैंने उन्हीं चरणों को प्रत्यक्ष देखा, इससे मेरा 'अहोभाग्य' है; यथा—"अहो भाग्य मैं देखिहउँ तेई।" (दो॰ ४१); फिर उन्होंने सोचा कि मुनि लोग सर्व साधारण जीवों से ऊपर हैं, जो उनके ध्यान में भी दुर्लभ हैं, उन्होंने ही मुझे हर्ष-पूर्वक हृदय से लगाया है, अतः मेरा 'अमित अहोभाग्य' है। फिर सोचा कि ब्रह्मा और शिवजी ईश्वर हैं, जगत् की उत्पत्ति और प्रलय करनेवाले हैं, वे भी जिन्हें ध्यान से ही पाते हैं उन्हें मैंने प्रत्यक्ष देखा, तो मेरा 'अति अमित अहोभाग्य' है। 'राम कृपा-सुख-पुंज'—प्रभु कृपा के पुंज हैं, इससे उन्होंने अति कृपा की और सुख के पुंज हैं, इससे अमित सुख दिया। पुनः अति कृपा की, तभी अति सुख भी दिया। जो सुख मुझे दिया, वह अति सुकृत से भी नहीं मिल सकता—यह अति कृपा का ही फल है।

इस प्रसंग पर कुछ आवृत्तियाँ

१—शरणागति के अंग—प्रथमावृत्ति

भरताचार्य ने शरणागति के ये लक्षण कहे हैं; यथा—"अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्। तदेकोपायता याञ्चा प्रपत्तिः शरणागतिः॥" अर्थात् अपने अभीष्ट को अन्य उपायों से सिद्ध होता न देखकर महा विश्वासपूर्वक 'आप ही मेरे उपाय हैं' ऐसी प्रार्थना करना शरणागति है। इस प्रकार की प्रपत्ति से जीव माया से मुक्त होता है; यथा—"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरंति ते।" (गीता ७।१४) "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो···" (कठो॰ १।२।२२); एवं "नास्त्यकृतः कृतेन" (मुंडक॰ १।२।१२), इत्यादि श्रुतियाँ भी भगवत्प्राप्ति में भगवान् को ही उपाय कहती हैं। जीवों के पुरुषार्थ से इसे असाध्य कहती हैं। अतएव महा विश्वास-पूर्वक भगवान् को ही उपाय-रूप में वरण करना प्रपत्ति है। श्रुति भी कहती है—"यमेवैष वृणुते तेनैव लभ्यः···" (कठो॰ १।२।२२)। वही प्रपत्ति श्रीविभीषणजी ने भी की है। उन्होंने जब श्रीहनुमान्‌जी के द्वारा श्रीरामजी का प्रभाव सुना और फिर अपनी आँखों से भी देखा कि उनके भेजे हुए एक वानर ने सोने की लंका को राख कर दिया, इसे उन्हींका तेज समझकर श्रीरामजी की शरण में आये। शरणागति के छः अंग हैं; यथा—"आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा॥ आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥" ऐसा 'श्रीनारद-पंचरात्र' में कहा गया है; अर्थात् अनुकूलता का संकल्प, प्रतिकूलता का त्याग करना, प्रभु रक्षा करेंगे—ऐसा विश्वास रखना, प्रभु को रक्षक-रूप में वरण करना कि मैं असमर्थ हूँ आप मेरी रक्षा करें, अपनी आत्मा को प्रभु को अर्पण कर देना और दीनता निवेदन करना—ये छः हैं ये सब श्रीविभीषणजी में चरितार्थ हैं—

अनुकूलता का संकल्प—"चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं। करत मनोरथ···"
प्रतिकूलता का त्याग—"मैं रघुबीर सरन अब, जाउँ···अस कहि चला···"
रक्षा में विश्वास—"सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्व द्रोह कृत अघ···"
गोप्तृत्ववरण—"श्रवन सुजस सुनि···त्राहि त्राहि आरति हरन···"

आत्मनिक्षेप—"अस कहि करत दंडवत देखा।"
कार्पण्य—"नाथ बसानन कर मैं भ्राता।" से "जथा उलूकहि तम···" तक।

२—द्वितीयावृत्ति—दर्शन की सफलता

श्रीविभीषणजी ने तीन वार दर्शनों की अभिलाषा की थी, यथा—"देखिहउँ जाइ चरन ··" "अहो भाग्य में देखिहों तेई" "ते पद आजु विलोकिहउँ · "। अतः, तीन ही बार उसकी सफलता भी कही गई है; यथा—'अब पद देखि ··' 'देखि राम पद कमल तुम्हारे।' 'देखेउँ नयन विरंचि सिव···'।

३—तृतीयावृत्ति—अंग दर्शन और उनके प्रतिकृत्य

श्रीविभीषणजी ने प्रभु के छः अंग देखे— (१) भुज प्रलंब। (२) कंजारुन लोचन। (३) श्यामल गात। (४) सिंह कंध। (५) आयत उर। (६) आनन अमित मदन···। अतएव प्रभु ने छहों अंगों से उनपर कृपा की—

(१) लंबी भुजा से उठाया—'भुज बिसाल गहि...'
(२) कंजारुण लोचन से देखा—'अस कहि करत दंडवत देखा।'
(३) श्यामल गात से भय मिटाया—'श्यामल गात प्रनत भय मोचन।'
(४-५) सिंह कंध—आयत उर से भेंटे—'हृदय लगावा'
(६) आनन अमित मदन··से बोले—'बोले बचन भगत भय हारी।'

४—चतुर्थावृत्ति—प्रश्नोत्तर

प्रश्न	उत्तर
(१) कहु लंकेस सहित परिवारा। कुसल कुठाहर बास तुम्हारा॥	अब पद देखि कुसल रघुराया। जौं तुम्ह कीन्हि जानि जन दाया॥
(२) खल मंडली बसहु दिन राती।	तब लगि हृदय बसत खल नाना।···
(३) सखा धर्म निबहै केहि भाँती।	मैं निसिचर...सुभ आचरन ··'
(४) बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ विधाता॥	तुम्ह कृपाल जापर अनुकूला। ताहि न व्याप त्रिविध भव-सूला॥

सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ॥१॥
जौं नर होइ चराचर - द्रोही। आवइ सभय सरन तकि मोही॥२॥
तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥३॥

अर्थ—हे सखे! सुनो, मैं अपना स्वभाव कहता हूँ, जिसे भुशुंडीजी, शिवजी और गिरजाजी भी

जानते हैं ॥१॥ जो मनुष्य चराचर-मात्र का द्रोही हो, वह भी यदि भयभीत होकर मेरी शरण तककर आवे ॥२॥ तो उसके मद, मोह और अनेकों कपट छल को छोड़कर (अर्थात् उसके दोषों पर दृष्टि न देकर) मैं उसे शीघ्र साधु के समान कर देता हूँ ॥३॥

विशेष—(१) 'सुनहु सखा निज...'—मेरे स्वभाव से परिचित होने से अत्यन्त प्रीति बढ़ेगी, इसलिये प्रभु कहते हैं; यथा—"उमा राम सुभाउ जेहि जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥" (दो॰ ३३); 'जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ'—शिवजी को मध्य में कहा गया है, क्योंकि इन्हीं से दोनों ने मालूम किया है; यथा—"संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥ सोइ सिव काग भुसुंडिहि दीन्हा।" (बा॰ दो॰ ३१); श्रीरामजी के स्वरूप और स्वभाव जानने में ये लोग प्रामाणिक माने जाते हैं; यथा—"जो सरूप बस सिव मन माहीं।...जो भुसुंडि मन मानस हंसा।...देखहिं हम सो रूप भरि लोचन।" (बा॰ दो॰ १४५);—यह मनु ने कहा है। ये लोग श्रीरामजी के स्वभाव के भी ज्ञाता हैं; यथा—"उमा राम सुभाय जेहि जाना।..." (उपर्युक्त); "अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥" (उ॰ दो॰ ११३)। इसी तरह अन्यत्र भी प्रभु-स्वभाव-वर्णन किया गया है, यथा—"सत्य कहउँ मेरो सहज सुभाउ। सुनहुँ सखा कपिपति लंकापति तुम्हसन कौन दुराउ॥ सब विधि हीन दीन अति जड़मति जाकहुँ कतहुँ न ठाउँ। आये सरन भजौं...(गी॰ सुं॰ ४५)।

(२) 'जौ नर होइ चराचर द्रोही। आवइ...'—पहले कहा गया है; यथा—"सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्व द्रोह कृत अघ जेहि लागा॥" (दो॰ ३८); उसका अवशिष्ट रहस्य यहाँ खुल गया कि अपने पापों से डरकर शरण में आवे। 'तकि मोहीं'—अर्थात् विश्वासपूर्वक मुझमें ही अनन्य होकर आवे।

(३)'तजि मद मोह...'—मैं उसके पापों से घृणा करके उसे त्यागता नहीं, किंतु उसे शुद्ध करके साधु बना देता हूँ। 'छल नाना'—मन, वचन, कर्म के; यथा—"करम बचन मन छाँड़ि छल..." (अ॰ दो॰ १०७)।

(४) 'करउँ सद्य तेहि...', यथा—"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मंतव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।..." (गीता ९।३०-३१)। यहाँ शरण आने पर पापी को सुकृती बनाना कहा गया है। अतः, यहाँ कर्मकांड का फल आया।

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥४॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी॥५॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥६॥
अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसइ धन जैसे॥७॥

अर्थ—माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री, शरीर, धन, घर, मित्र (और) परिवार ॥४॥ इन सबके ममत्व रूपी तागे बटोर कर (इन सब को मिलाकर) डोरी बाँटकर उससे मन को मेरे चरणों में बाँधे ॥५॥ समदर्शी हो, कुछ इच्छा न हो और न मन में कोई हर्ष, शोक और भय हो ॥६॥ ऐसे सज्जन मेरे हृदय में कैसे बसते हैं, जैसे लोभी के हृदय में धन ॥७॥

विशेष—(१) 'जननी जनक बंधु...'; यथा—"सुत, दार, अगार, सखा, परिवार, बिलोकु महा

कुसमाजहि रे। सबकी ममता तजि कै, समता सजि, संत सभा न विराजहि रे।...तुलसी 'भजु कोशल-राजहि रे॥" (क० उ० ३०)। तथा—"या जग में जहँलगि या तनु की प्रीति प्रतीत सगाई। ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहि सिमिटि यकठाई॥" (वि० १०३)।

तात्पर्य यह है कि युपर्युक्त जननी आदि दशो श्रीरामजी के शरीर हैं, इन रूपों से श्रीरामजी ने ही उपकार किये हैं; यथा—"पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः" (गीता ९।१७); "गर्भवास दस मास पालि पितु मातु रूप हित कीन्हों।" (वि० १७१). अतएव जिन उपकारों के बदले जननी आदि की भक्ति की जाती है, वे उपकार श्रीरामजी ने ही किये हैं, ऐसा समझकर इनसे ममता हटाकर सर्वात्मना श्रीरामजी में ही ममता करे, उनके चरणों में 'दृढ़ प्रीति करे' और मनको उन्हीं में बाँध दे। श्रीलक्ष्मणजी ने ऐसा ही किया भी है; यथा—"जहँलगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निज गाई॥ मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी।" (अ० दो० ७१); और भी देखिये आ० दो० १५ चौ० १० इत्यादि।

(२) 'सबकै ममता ताग...'—जगत् की ममता को ताग (कच्चा धागा) कहा गया है, क्योंकि सब स्वार्थ के ही स्नेही हैं; यथा—"देह जीव जोग के सखा मृषा टाँचनि टाँचो।" (वि० २७७); अतएव विचार करने पर ये शीघ्र टूट जानेवाले हैं, इन सब रूपों से प्रभु ही सच्चे हितैषी हैं, इस ज्ञान से जो सर्वात्मना प्रीति प्रभु में होगी, वह रस्सी के दृढ़ बंधन के समान होगी।

(३) 'समदरसी इच्छा कछु नाहीं ...'—उपर्युक्त दृष्टि से जगत् श्रीरामजी का शरीर है, इस दृष्टि मे जगत् के सब जड़-चेतन रूपों द्वारा हुए एवं होनेवाले उपकार और अपकार हमारे कर्मानुसार श्रीरामजी ने किये एवं कर रहे हैं, ऐसा समझने से न किसी से राग होगा और न द्वेष, क्योंकि फिर शत्रु-मित्र कोई नहीं रह जायगा। सर्वज्ञ भगवान् यथायोग्य ही बर्त्ताव करते हैं। जैसे मनुष्य अपना शरीर पालता है, वैसे ही वे भी जगत् के अनेक रूपों एवं भावों से प्रत्येक जीवों को पालते हैं, जैसे मनुष्य शरीर के व्रण आदि को चिराता भी है, वैसे वे भी चेतनों के पाप कर्मों का दंड देते हैं, उसे शुद्ध करते हैं और भविष्य के लिये शिक्षा देते हैं कि फिर वह दुष्कर्म न करे। अतएव समदर्शिता भी रहेगी। जैसे शरीर की इच्छा-पूर्त्ति शरीरी (शरीरवाला) ही करता है, वैसे श्रीरामजी भी सबका पालन करते हैं और करेंगे तो इच्छा भी कुछ न होगी और न किसी घटना पर हर्ष अथवा शोक ही होगा। क्योंकि ये सभी कार्य प्रभु पर ही निर्भर रहेंगे।

(४) 'अस सज्जन मम उर बस...'—जिस तरह लोभी को धन अत्यन्त प्रिय होता है; यथा—"लोभिहि प्रिय जिमि दाम।" (उ० दो० १३०) उसी तरह यह मुझे प्रिय होता है। क्योंकि यह सर्वथा मेरी सत्ता को मानता हुआ उसी मे संतुष्ट है; यथा—"यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः। हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥" (गीता १२।१५)।

यहाँ ज्ञानी भक्त का वर्णन है, जो समदर्शिता और ममता-त्याग आदि लक्षणों से स्पष्ट है, समदर्शी; यथा—"समदरसी मुनि बिगत बिभेदा।" (उ० दो० ४१); "देख ब्रह्म समान सब माहीं। (आ० दो० १४); "आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं सयोगी परमो मतः॥" (गीता ६।३२); तथा—"ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी।" (कि० दो० १५)।

तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहि आन निहोरे॥८॥

दोहा—सगुन-उपासक पर-हित, निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान-समान मम, जिन्हके द्विज-पद-प्रेम॥४८॥

अर्थ—तुम्हारे ऐसे संत मेरे प्रिय हैं, दूसरे के निहोरे (कारण से) मैं शरीर नहीं धरता (अर्थात् संतों के लिये ही अवतीर्ण होता हूँ) ।८। जो सगुण ब्रह्म के उपासक हैं, परोपकार और नीति में तत्पर हैं, नियम के पक्के हैं और जिनका विप्र-चरणों में प्रेम है—ये मनुष्य मुझे प्राण के समान (प्रिय) हैं ॥४८॥

विशेष—(१) 'तुम्ह सारिखे संत···'—संत कहकर आगे के दोहे में उनके लक्षण कहे हैं—'सगुन उपासक···' और फिर 'सुनु लंकेस सकल गुन तोरे ।···' से सर्व-लक्षण-सम्पन्न इन्हीं को कहा है। ऐसे संतों का दुःख मैं देख नहीं सकता इसीसे देह धारण करता हूँ और उनकी रक्षा करता हूँ; यथा—"अंबरीष हित दयानिधि सोइ जनमे दस बार" (कि० ४८); "सो केवल भगतन हित लागी ।" (बा० दो० १२); भी देखिये । 'द्विज-पद-प्रेम'—को अंत में कहकर इसे सब साधनों की जड़ सूचित करते हैं । अन्यत्र इसे आदि में कहा है ; यथा—"प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती ।" (आ० दो० १५); अर्थात् इसे आदि से अंत तक निबाहना चाहिये—यहाँ उपासक का वर्णन हुआ ।

(२) यहाँ भक्ति की तीनि कोटियाँ कही गई हैं; यथा—(१) 'जौं नर होइ···साधु समाना ।' (२) 'जननि जनक···बसै धन जैसे ।' (३) 'तुम्ह सारिखे···द्विज-पद-प्रेम' इनमें क्रमशः कर्म, ज्ञान और उपासना की वृत्तियाँ कही गई हैं । पुनः क्रमशः निकृष्ट, मध्यम और उत्तम कोटि के भक्तों की वृत्तियाँ भी जाननी चाहिये । इन्हें क्रमशः साधारण प्रिय, अधिक प्रिय और प्राण समान प्रिय भी यहाँ के-'ते नर प्रान-समान' कहने से जनाया गया है । पहले को असाधु से साधु बनाया वह साधारण प्रिय है । दूसरे संत को लोभी के धन की तरह हृदय में बसाया, इससे अधिक प्रिय माना और तीसरे सर्व-लक्षण-सम्पन्न उपासक को प्राण-समान प्रिय कहा है, यह प्रियत्व की चरम सीमा है; यथा—"देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं ।" (बा० दो० २००) ।

सुनु लंकेस सकल गुन तोरे । ताते तुम्ह अतिसय प्रिय मोरे ॥१॥

अर्थ—हे लंकेश ! सुनो, तुममें सब गुण हैं, इसीसे तुम मेरे अतिशय प्यारे हो ॥१॥

विशेष—(१) उपर्युक्त सब गुण इनमें हैं, ये सबकी ममता त्याग करके आये हैं । समदर्शी हैं, इसीसे रावण के आदर, निरादर और मारने पर भी इन्होंने उसका हित ही कहा है । यह पहले ही कहा जा चुका है । इच्छा कुछ नहीं है; यथा—"जदपि सखा तव इच्छा नाहीं ।" आगे कहा गया है । लंका छूटने का शोक, लंकेश होने का हर्ष और विपक्ष से आने पर रावणादि का भय कुछ भी नहीं है । 'संत' हैं, इसीसे पराये हित के लिये कहने में अपमान का भी सामना करना पड़ा; यथा—"परउपकार बचन मन काया । संत सहज सुभाव खगराया ।" (उ० दो० १२०); सगुन उपासक हैं; यथा—"हरि-मंदिर तहँ भिन्न बनावा ।" (दो० ४); पर-हित-निरत हैं; यथा—"मति अनुरूप कहउँ हित ताता ।···राम भजे हित नाथ तुम्हारा ॥" (दो० ३७–४०); नियम में दृढ़ हैं; यथा—"तेही समय बिभीषन जागा । राम राम तेहि सुमिरन कीन्हा ।" (दो० ५); द्विज-पद-प्रेम है; यथा—"करि प्रनाम पूछी कुसलाई । बिप्र कहहु निज कथा बुझाई ॥" (दो० ५) ।

इन्होंने अपने को कांड-त्रय-हीन बतलाया था; यथा—'सुभ आचरन कीन्ह नहिं काऊ ।'—कर्म-हीन, 'तामस देहा'—ज्ञान-हीन, क्योंकि ज्ञान का उदय सत्त्वगुण से होता है । 'सहज पाप प्रिय' से उपासनाहीन, क्योंकि "पापवंत कर सहज सुभाऊ । भजन मोर तेहि भाव न काऊ ॥" (दो० ४३); इसपर यहाँ श्रीरामजी ने उपर्युक्त तीनों कोटि के गुण इनमें कहकर इन्हें कांडत्रययुक्त कहा ।

(२) आदि (उपक्रम) में 'कहु लंकेस सहित परिवारा।···' से इन्हें 'लंकेस' कहा था और यहाँ उपसंहार में भी 'सुनु लंकेस' कहकर इन्हें लंका का राज्य देना ध्वनित किया। इसी पर आगे श्रीविभीषणजी कहेंगे; यथा—'उर कछु प्रथम वासना रही।···' इत्यादि। साथ ही 'अतिसय प्रिय' कहकर समझाया भी कि यह न समझो कि मुझे प्रवृत्ति में फँसाते हैं, किन्तु मैं यह कार्य अत्यन्त प्रियत्व की दृष्टि से करता हूँ। मैं भक्त के हृदय की सूक्ष्म वासना भी शुद्ध कर देता हूँ, यही मेरा अभिप्राय है। अतः, मेरा यह अतिशय प्रियत्व तुम्हारे लंकेश होने पर भी रहेगा, सार-सँभार करूँगा।

राम - बचन सुनि बानर - जूथा। सकल कहहिं जय कृपा-बरूथा ॥२॥
सुनत बिभीषन प्रभु कै बानी। नहिं अघात श्रवनामृत जानी ॥३॥
पद - अंबुज गहि बारहिं बारा। हृदय समात न प्रेम अपारा ॥४॥

अर्थ—श्रीरामजी के वचन सुनकर सब वानरों के यूथ कह रहे हैं कि कृपा के समूह श्रीरामजी की जय हो ॥२॥ प्रभु की वाणी सुनकर, उसे कानों के लिये अमृत (समान) जानकर श्रीविभीषणजी तृप्त नहीं होते ॥३॥ बार-बार चरण कमल को पकड़ते हैं, उनके हृदय में अपार प्रेम है, इससे वह नहीं समाता ॥४॥

विशेष—(१) 'जय कृपा-बरूथा'—प्रभु ने अत्यन्त कृपा करके श्रीविभीषणजी को सर्व-गुण-सम्पन्न कहा, नहीं तो निशाचरों में सर्वगुण-सम्पन्नता कहाँ ? यथा—"रिपु को अनुज बिभीषन निसिचर कौन भजन अधिकारी ॥" (वि॰ १६६); कृपा करके सखा बनाया, उनका सम्मान किया, इत्यादि बातों पर सभी जय-जयकार करते हैं। पहले इनकी शरणागति-स्वीकृति पर सबने जय-जय शब्द कहा था; यथा—"जय कृपाल कहि कपि चले···" और अब प्रभु का शरणागत-वत्सल स्वभाव सुनकर जय-जयकार करते हैं। श्रीविभीषणजी इस जय-जयकार के रव में सम्मिलित नहीं हैं, क्योंकि उक्त प्रसंग में इनकी प्रशंसा है, इससे ये सकुच गये हैं, यह साधु-वृत्ति है; यथा—"निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।" (आ॰ दो॰ ४५)।

(२) 'नहिं अघात श्रवनामृत जानी'—जी नहीं भरता, इच्छा है कि सुनता ही रहूँ, क्योंकि तृप्ति नहीं होती। प्रभु के ये वचन अमृत के समान जन्म, जरा, मरण छुड़ानेवाले हैं, और साथ ही मीठे भी हैं; यथा—"प्रभु बचनामृत सुनि न अघाऊँ। तनु पुलकित मन अति हरषाऊँ ॥ सो सुख जानै मन अरु काना।" (उ॰ दो॰ ८७); तथा—"मृतक जियावनि गिरा सुहाई ···हृष्ट पुष्ट तनु भये सुहाये।··· श्रवन सुधा सम बचन सुनि, ··बोले मनु ··" (बा॰ दो॰ १४५)। 'पद अंबुज गहि बारहिं बारा।···'—प्रेम में मग्न हैं, इसीसे बार-बार चरण-कमल पकड़ते हैं; यथा—"प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा ॥" (आ॰ दो॰ ११); अपार प्रेम है, इससे रोमांच एवं अश्रुपात द्वारा मानों उमड़ा पड़ता है, हृदय में नहीं समाता। कृतज्ञता प्रकट करने की ऐसी रीति भी है; यथा—"सुनत सुधा सम बचन राम के। सबन्हि गहे पद कृपाधाम के ॥" (उ॰ दो॰ ४६); "मोपहिं होइ न प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा ॥" (उ॰ दो॰ १२४)।

सुनहु देव सचराचर स्वामी। प्रनतपाल उर अंतरयामी ॥५॥
उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु-पद-प्रीति-सरित सो बही ॥६॥

अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु सदा सिव - मन - भावनी ॥७॥

अर्थ—हे देव ! हे चराचर जगत् के स्वामी ! हे शरणपाल ! हे अंतर्यामी ! सुनिये ॥५॥ पहले कुछ वासना हृदय में थी, वह प्रभु के चरणों की प्रीति-रूपी नदी में बह गई ॥६॥ हे कृपालु ! अब सदा श्रीशिवजी के मन को रुचनेवाली अपनी पवित्र भक्ति मुझे दीजिये ॥७॥

विशेष—(१) 'सुनहु देव···'—आप दिव्यदृष्टि हैं, चराचर-मात्र के स्वामी हैं और शरणागत के पालनेवाले हैं ; यथा—"जग-पालक बिसेपि जन-त्राता।" (बा० दो० १६) ; अतएव मेरा भी पालन कीजिये। अंतर्यामी हैं अतः, सब जानते ही हैं कि मेरे हृदय में अब और वासना नहीं है, इसकी पुष्टि करके आगे भक्ति माँगेंगे ; यथा—"पेट भरि तुलसिहि जेवाइय भगति सुधा सुनाज।" (वि० २१६) ; इसीसे पालन कीजिये।

(२) 'उर कछु प्रथम बासना रही।···'—प्रभु ने आदि और अंत में इन्हें लंकेश कहा, इससे ये समझ गये कि प्रभु मुझे लंका का राज्य देंगे, इससे कहते हैं कि अब मेरे हृदय में इसकी वासना नहीं है। 'कछु' का भाव आगे श्रीरामजी खोलेंगे; यथा—"जदपि सखा तव इच्छा नाहीं।···" आगे—"अस कहि राम तिलक तेहि सारा।" इससे स्पष्ट होगा। राज्य को 'कछु' कहा, क्योंकि भक्ति-वैभव के आगे यह राज्य-वैभव अति तुच्छ है। भक्ति-सुख के आगे तो ब्रह्मानंद भी तुच्छ कहा गया है, तब राज्य-वैभव क्या चीज है ? इसपर ऊपर चौ० १ और दो० ४० चौ० ९ भी देखिये।

(३) 'अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु···'—'अब'—वासना-रहित होने पर ही भक्त उत्तम भक्ति का पात्र होता है ; यथा—"बहुत कीन्ह सिय लपन प्रभु, नहिं कछु केवट लेइ। बिदा कीन्ह करुनायतन, भगति बिमल बर देइ॥" (अ० दो० १०२) ; मं० श्लो० २ भी देखिये। तथा—"तुलसी जौं लौं बिषय की, मुधा, माधुरी मीठि। तौ लौं सुधा सहस्र सम, राम-भगति सुठि, सीठि॥" (दोहावली ८६)। 'कृपाल'—कृपा करके दीजिये, क्योंकि मैं साधनहीन हूँ। 'निज भगति'—अपनी अनन्य भक्ति, इसी (राम) रूप की भक्ति। शिवजी ने काम को भस्म कर दिया है अतः, उनके निर्विकार हृदय में जैसी पावन भक्ति है, वैसी ही मुझे भी दीजिये। 'सदा...भावनी'—अचल-रूप से एकरस रहनेवाली। शिवजी उत्तम भक्ति के आचार्य हैं; यथा—"रिषि पूछी हरि-भगति सुहाई। कही संभु अधिकारी पाई॥" (बा० दो० ४७); अतएव उन्हीं का प्रमाण दिया गया।

एवमस्तु कहि प्रभु रनधीरा। माँगा तुरत सिंधु कर नीरा ॥८॥
जदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मोर दरस अमोघ जग माहीं ॥९॥
अस कहि राम तिलक तेहि सारा। सुमन-बृष्टि नभ भई अपारा ॥१०॥

अर्थ—'ऐसा ही हो' कहकर रणधीर प्रभु श्रीरामचन्द्रजी ने तुरत समुद्र का जल माँगा (इच्छित वस्तु देकर फिर जो इच्छा पूर्व होकर निवृत्त हो गई थी, उसे पूरी करेंगे, क्योंकि आप 'गई बहोर' हैं,) ॥८॥ (और कहा—) हे सखा ! यद्यपि तुम्हारी इच्छा नहीं है, तथापि हमारे दर्शन संसार में निष्फल नहीं होते (उसे सफल करो, अब हमारी इच्छा से लो) ॥९॥ ऐसा कहकर श्रीरामजी ने उनका तिलक किया, आकाश से फूलों की अपार वृष्टि हुई ॥१०॥

विशेष—(१) 'एवमस्तु कहि...'—पहले श्रेष्ठ भक्ति का वरदान देकर, पीछे पूर्व की वासना-शुद्धि के लिये लंका का राज्य भी देंगे। 'प्रभु रनधीरा'—समर्थ हैं और रण में धीर हैं, अतः, दृढ़ विश्वास है कि हम अवश्य रावण को मारेंगे और इन्हें राज्य देंगे। इसी दृढ़ता पर रावण के मरने के पहले ही इन्हें तिलक देते हैं। 'तुरत'—क्योंकि आप की प्रसन्नता का फल शीघ्र ही मिलता है। 'सिंधु कर नीरा'—इसमें सभी तीर्थों के जल रहते हैं। इससे यह भी सूचित किया गया कि जहाँ तिलक के और सामान न भी हों, तो केवल तीर्थ-जल से भी कर सकते हैं।

(२) 'जदपि सखा तव इच्छा नाहीं।...'—हमारी शरण में चलते समय जो वासना अंकुरित हो आई, वह फलीभूत होकर ही रहेगी ; क्योंकि हमारे दर्शन सफल हैं, यथा—"अमोघं दर्शनं राम अमोघस्तव संस्तवः।" (वाल्मी ६।११७।३१) ; इससे दर्शनोद्देश्य के समय जो वासना हो आई, वह सफल होगी। अतः, मैं तिलक करूँगा। 'जगमाहीं—का भाव यह है कि यदि यह न दें, तो जगत् में यह भी प्रवाद होगा कि विभीषण रावण-द्वारा अपमानित होकर श्रीरामजी के यहाँ गया, परन्तु उन्होंने उसका कुछ उपकार नहीं किया। अतएव उक्त वासना की पूर्ति करके फिर मेरी भक्ति का फल-रूप मेरा धाम भी मिलेगा; यथा—"करहु कलप भरि राज तुम्ह,...पुनि मम धाम पाइहहु..." (लं० दो० ११५) ; यथा—"ये त्वां देवं ध्रुवं भक्ताः पुराणं पुरुषोत्तमम्। प्राप्नुवन्ति तथा कामानिह लोके परत्र च।" (वाल्मी० ६।११७।३२) ;

(३) 'अस कहि राम तिलक...'—सिंधु-जल लाना नहीं कहा, किन्तु तिलक करना ही कहा गया, इससे अत्यन्त शीघ्रता दिखाई गई। श्रीरामजी बहुत प्रसन्न हैं, इससे सभी कार्य तुरत हो गये; यथा—"जो मुनीस जेहि आयसु दीन्हा। सो तेहि काजु प्रथम जनु कीन्हा॥" (अ० दो० ६), श्रीविभीषणजी ने प्रभु को 'अंतरजामी' कहकर 'उर कछु प्रथम वासना रही' कहा था। अतः, अंतर्यामी ने हृदय की बात जानकर उसे खोल दिया कि 'कुछ' का अर्थ—लंका का राज्य—था। श्रीविभीषणजी ने इसे नहीं खोला था, क्योंकि जब उसकी इच्छा रह ही नहीं गई, तो व्यर्थ क्यों खोलकर कहें ?

'सुमन-वृष्टि नभ भई अपारा।'—क्योंकि देवताओं को निश्चय हो गया कि अब रावण अवश्य मारा जायगा, नहीं तो श्रीविभीषणजी को राज्य कैसे मिलेगा ? इसी से उन्होंने बहुत फूल बरसाये। आगे जब रावण मारा गया और इनका स्वार्थ सिद्ध हो गया, तब श्रीविभीषणजी का राज्याभिषेक लंका में विधान-पूर्वक किया गया, परन्तु वहाँ इनलोगों ने फूल नहीं बरसाये और न सुग्रीव के राज्य-तिलक पर ही पुष्पवर्षा की थी। इसी से तो कहा है—"आये देव सदा स्वारथी।" (लं० दो० १०८)।

परमार्थ-पक्ष में श्रीविभीषणजी जीवरूप हैं और रावण मोहरूप है, वि० ५८ देखिये। जीव के शरण होते ही भगवान् उसे संसार से अभय कर देते हैं, जैसे श्रीविभीषणजी को अभी से ही रावण से विजय पाने का तिलक कर दिया। फिर स्वयं उपाय-द्वारा सेतु बाँधकर वानरों के साथ रावण का नाश कर इन्हें राजा बनावेंगे। वैसे ही जीव का देहाभिमान बाँध (नाश) कर विवेक-विरागादि के सहित इसके मोह-परिवार को नाश कर इसे अपने शुद्धस्वरूप का राज्य देंगे, जिससे यह च्युत हुआ है; यथा—"निष्काज राज बिहाइ नृप ज्यों स्वप्न कारागृह पर्यो॥" (वि० १३६) ; तथा—"स स्वराड् भवति।" (छां० ७।२५।२) ; अर्थात् यह कर्म-बन्धनों से छूटकर स्वतन्त्र राजा हो जाता है। और फिर प्रारब्ध-भोग समाप्त कराकर अपना धाम भी देंगे। जैसे श्रीविभीषणजी श्रीरामजी के ही पक्ष में रहे, वैसे ही यह भी शरण होनेपर नाम, रूप, लीला, धाम की आराधना-द्वारा श्रीरामजी के पक्ष का बना रहे, (नहीं तो चित्तवृत्ति जगत् की ओर जायगी ही) यही श्रीरामजी का उपाय होना है, और अंत में अपना ही पार्षद बनावेंगे, तो फलरूप भी स्वयं हैं। उपाय और उपेय (फल) ईश्वर को ही मानना शरणागति है।

दो०—रावन क्रोध अनल निज, श्वास समीर प्रचंड।
जरत बिभीषण राखेउ, दीन्हेउ राज अखंड ॥
जो संपति सिव रावनहिं, दीन्हि दिये दस माथ।
सोइ संपदा बिभीषनहि, सकुचि दीन्हि रघुनाथ ॥४९॥

अर्थ—रावण का क्रोध अग्नि है, अपनी (श्रीविभीषणजी की) साँस प्रचंड वायु है, प्रभु ने श्रीविभीषणजी को जलने से बचाया और उन्हें अखंड राज्य दिया॥ जो सम्पत्ति श्रीशिवजी ने रावण को दस शिर चढा देने पर दी थी, वही संपत्ति श्रीरामजी ने श्रीविभीषणजी को सकुचकर दी।

विशेष—(१) 'निज श्वास'—रावण क्रोध से जला करता था; क्योंकि श्रीविभीषणजी को उसकी अनीति अच्छी नहीं लगती थी। जब मंत्री लोग रावण के अनीति-कार्य पर उसकी प्रशंसा करते थे, तब ये ऊर्ध्वश्वास ले-लेकर चुप रह जाते थे, यथा—"जिमि दसनन्ह महँ जीभ बिचारी।" (दो॰ ६);—यह इन्होंने अपने लिये कहा ही है। इसपर रावण का क्रोध इस तरह बढ़ता था, जैसे वायु से अग्नि। उसे यह भान होता था कि यह हमारा विभव नहीं देख सकता। जब श्रीरामजी के पक्ष का समर्थन करते देखता तो वह क्रोध से अधिक जल उठता कि मेरी प्रशंसा सुनकर मौन हो जाता है और शत्रु की प्रशंसा का वक्ता बन जाता है। 'जरत'—यदि श्रीरामजी शरण में न रखते, तो ये रावण की क्रोधाग्नि का शिकार हो जाते; यथा—"रावन-रिपुहि राखि रघुबर बिनु को त्रिभुवन पति पाइहै।" (गी॰ सुं॰ ४४); श्रीविभीषणजी पर उसने ब्रह्म-दत्त अमोघ-शक्ति भी आगे छोड़ी ही है। उसकी प्रतिज्ञा भी है; यथा—"होइहि जब कर कीट अभागी।" (दो॰ ५२), 'राज्य अखंड'—रावण का राज्य खंडित हो गया, पर इनका कल्पान्त-पर्यन्त रहेगा; यथा—"करेहु कलप भरि राज तुम्ह···" (ल॰ दो॰ ११५)।

(२) 'जो संपति सिव ···'; यथा—"जो संपति दससीस अरपि करि रावन सिव पहँ लीन्हीं। सो संपदा बिभीषन कहँ अति सकुच सहित हरि दीन्हीं॥" (वि॰ १६२); तथा—"या विभूतिर्दशग्रीवे शिरश्छेदेन शङ्करात्। दर्शनाद्रामभद्रस्य सा विभूतिर्विभीषणे॥" (हनुमन्नाटक), पुन —"बार कोटि सिर काटि साटि लटि रावन संकर पै लई। सोइ लंका लखि अतिथि अनवसर राम तृनासन ज्यों दई॥" (गी॰ सुं २८)।

तात्पर्य यह है कि इतनी बड़ी तपस्या के फल से भी शरणागति का महत्त्व अधिक है। श्रीविभीषणजी के एक प्रणाम के बदले में इतना देने पर भी श्रीरामजी को संकोच ही रहा कि यह देने योग्य नहीं है, अयोध्या में होते तो और बहुत देते, यथा—"बलकल भूषन, फल असन, तृन सज्या, द्रुम प्रीति। तिन्ह समयन लंका दई, यह रघुबर की रीति॥" (दोहावली १६२); यहाँ श्रीगोस्वामीजी किसी की छोटाई-बड़ाई नहीं कह रहे हैं, किंतु प्रपत्ति (सकृत प्रणाम) का फल कह रहे हैं, यथा—"एकोऽपि कृष्णस्य कृत. प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्य। दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥" (विष्णु-पुराण), भाव यह है कि दशाश्वमेध पुण्य है, इसका फल क्षीण होने पर जीव पुन मर्त्यलोक में जन्म लेता है, पर कृष्णप्रणामी का पुनर्जन्म नहीं होता, यथा—"सकृत प्रनाम किये अपनाये।" (अ॰ दो॰ २९९)। तथा - "त्वदङ्घ्रिमुद्दिश्य कदापि केनचिद्यया तथा वापि सकृत्कृतोऽञ्जलि.। तदैव मुष्णात्यशुभान्यशेषत. शुभानि पुष्णाति न जातु हीयते।"—(आलवंदार-स्तोत्र)

अस प्रभु छाड़ि भजहिं जे आना। ते नर पसु बिनु पूँछ बिषाना ॥१॥
निज जन जानि ताहि अपनावा। प्रभु सुभाव कपिकुल-मन भावा ॥२॥

अर्थ—ऐसे (शरणपाल एवं परम उदार) प्रभु को छोड़कर जो किसी दूसरे को भजते हैं, वे मनुष्य बिना सींग और पूँछ के पशु हैं [भाव यह कि वे पशु के समान (विचार-हीन) हैं, उनके सींग-पूँछ ही नहीं है, शेषांश में पशुता ही है] ॥१॥ अपना जन जानकर उन्हें अपना लिया, प्रभु का स्वभाव कपियों के मन में अच्छा लगा ॥२॥

विशेष—(१) 'अस प्रभु छाड़ि'''—'अस' अर्थात् निशाचर, शत्रु का भाई शरण में आया, उसे भी इतना आदर दिया, उसके लोक-परलोक दोनों बनाये। भक्तों के लिये परम उदार और शरणपाल एवं पतित-पावन ऐसा दूसरा नहीं है ; यथा—"*तुलसी जाके होइगी, अंतर-बाहर दीठि। सो कि कृपालुहि देइगो, केवटपालहि पीठि ?* ॥" (दोहावली ४६) "बालमीकि केवट कथा, कपि भील भालु सनमान। सुनि सनमुख जो न राम सों, तेहि को उपदेसिहि ज्ञान॥" (वि० १६१); इन्हें जानकर भी जो दूसरे को भजते हैं, वे बिल्कुल अज्ञानी हैं। जैसे बिना सींग-पूँछ पशु की अशोभा होती है, वैसे ही ज्ञान बिना मनुष्यों की अशोभा है। पुन: वे नर-पशु हैं, न केवल नर और न केवल पशु ही हैं। प्राकृत शोभाहीन हैं। क्योंकि नर-तनु का उद्देश्य परलोक-साधन है ; यथा—"बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सद्ग्रन्थन्ह गावा॥ साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सँवारा॥ सो परत्र'''" (उ० दो० ४२–४३); *अर्थात् हरि-भजन-विना नर-तन निन्दित ही है ; यथा—"नहिं सत्संग भजन नहिं हरि को* श्रवन न राम कथा अनुरागी।'''सूकर स्वान सृगाल सरिस जन जनमत जगत जननि दुख लागी॥" (वि० १४०)।

(२) 'निज जन जानि ताहि'''—'निज जन' अर्थात् अपना अनन्य भक्त ; यथा—"देखि दसा निज जन मन भावा।"—सुतीक्ष्ण, वे कैसे थे; यथा—"मन क्रम वचन राम-पद सेवक। सपनेहुँ आन भरोस न देवक॥" (आ० दो० ९)। इसी प्रसंग पर श्रीमुख-वचन है ; यथा—"जिन्ह के हौं हित सब प्रकार चित नाहि न और उपाउ। तिन्हहिं लागि धरि देह करउँ सब डरउँ न सुजस नसाउ॥" (गी० सुं० ४५)।

'प्रभु सुभाउ कपिकुल मन भावा।'—वानर-गण अपनेको धन्य मानते हैं कि हमलोग ऐसे शरणपाल, उदार एवं समर्थ स्वामी के सेवक हैं। ये लोग श्रीरामजी का स्वभाव ऐसा नहीं जानते थे, क्योंकि उसके ज्ञाता कोई-कोई हैं; यथा—"सुनहुँ सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरजाऊ॥" (दो० ४०); प्रभु ने श्रीमुख से अपने स्वभाव की सुलभता कही। इसपर गी० सु० ४५–४६ पद भी देखने योग्य हैं। सुनकर मन भाया कि हम सबके निर्वाह-योग्य स्वामी का सरल स्वभाव है, यथा—"तुलसी सुभाय कहे नहीं कछू पच्छपात, कौन ईस किये कीस भालु खास माहली ?॥" (क० उ० २३)।

'सुनहुँ सखा निज कहउँ सुभाऊ।' उपक्रम है और 'प्रभु सुभाव कपिकुल मन भावा।' यह उपसंहार है।

"सागर-निग्रह-कथा"—प्रकरण

पुनि सर्वज्ञ सर्व-उर-बासी। सर्वरूप सबरहित उदासी ॥३॥
बोले बचन नीति-प्रतिपालक। कारन मनुज दनुज-कुल-घालक ॥४॥

सुनु कपीस लंकापति बीरा। केहि बिधि तरिय जलधि गंभीरा ॥५॥
संकुल मकर उरग झष जाती। अति अगाध दुस्तर सब भाँती ॥६॥

अर्थ—फिर सब जाननेवाले, सबके हृदय में बसनेवाले, सर्वरूप (विश्वरूप) और सबसे रहित उदासीन ॥३॥ (प्रभु) नीति-प्रतिपालक वचन बोले। इसका कारण यह है कि वे मनुष्य-रूप धारण किये हुए हैं और राक्षस-कुल के नाश करनेवाले हैं (अर्थात् नर-राज-तनु के अनुरूप) नीति-परक वचन बोले, [यथा—"सोचिय नृपति जो नीति न जाना।" (अ० दो० १७१)] ॥४॥ हे वीर कपीश सुग्रीव ! हे वीर लंकेश विभीषण !! सुनो, यह गहरा समुद्र कैसे पार किया जाय ? ॥५॥ यह मगर, सर्प और अनेक जातियों की मछलियों से भरा हुआ है, अत्यन्त गहरा है (अतः) इसका पार करना सब प्रकार से कठिन है ॥६॥

विशेष—(१) 'पुनि सर्वज्ञ…'—'पुनि' शब्द से दूसरे प्रसंग का प्रारंभ सूचित किया। यह भी भाव है कि पहले भक्त का कार्य करके तब अपने स्वार्थ की बात करते हैं। जैसे कि पहले श्रीसुग्रीवजी का कार्य करके पीछे अपने कार्य की बात उनसे की। फिर श्रीहनुमान्‌जी को वर देकर पीछे से सेना-सहित लंका की चढ़ाई की बात की। रावण-वध पर श्रीविभीषणजी का अभिषेक करके श्रीसीताजी को बुलाया और अपने राज्याभिषेक पर पहले सखाओं को स्नान करा के स्वयं स्नान किया। भाव यह कि भक्त लोग भगवान् को अर्पण करके स्वयं कुछ ग्रहण करते हैं, उनके प्रति प्रभु भी वैसा ही बरतते हैं; यथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११); तथा—"अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतंत्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥" से "साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्। मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥" तक (भाग० ९।४।६३-६८)।

'सर्वज्ञ'—से बाहर की सब जाननेवाले और 'सर्व-उर-वासी' से अंतर्यामी अर्थात् सबके भीतर की भी जाननेवाले हैं; यथा—"अंतर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥" (नारायणोपनिषद् १); तथा—"ज्ञान हूँ गिरा के स्वामी बाहर-भीतर जामी यहाँ क्यों दुरैगी बात मुख की औ हीय की ॥" (वि० २५२); अर्थात जो कुछ आगे होनहार है, सब जानते हैं, मंत्री लोगों के भी भीतर की जानते हैं, जो वे कहेंगे। 'सर्व-रूप' अर्थात् सब उन्हीं के शरीर हैं, अतएव नियाम्य हैं, सागर भी उन्हीं का शरीर है, जिसे बाँधना है। यह भी नियाम्य है, जैसा चाहेंगे उससे करा लेंगे। इसपर कहा जा सकता है कि तब तो सागर का बाँधा जाना इन्हीं का बँधना होगा। उसपर कहते हैं, 'सर्व-रहित' हैं; अर्थात् सबसे निर्लिप्त हैं, अतः शरीर-रूप सागर के बँधने पर भी आपसे सम्पर्क नहीं है। पुनः समुद्र को बाँधने, रावण को मारने और श्रीविभीषणजी का हित करने से तो आप बड़े प्रपंची मालूम पड़ते हैं, इसपर कहते हैं कि वे 'उदासी' हैं, अर्थात् शत्रु-मित्र आदि भावों से रहित हैं यह तो नर-नाट्य कर रहे हैं, सर्वज्ञ एवं सर्व-उरवासी होकर पूछ रहे हैं, सर्वरूप होने से सागर-रूप भी हैं, मकर, सर्प, मीन आदि भी वे ही हैं। सब उन्हीं के शरीर एवं नियाम्य हैं, तब ग्रास कौन कर सकेगा ? सर्व-रहित होकर सबमें लिप्त की तरह पूछ रहे हैं, उदासी होकर भी प्रपंच की बातें कर रहे हैं, यह सब क्यों ? कारण आगे कहते हैं—

(२) 'बोले वचन नीति…'—रावण ने श्रीब्रह्माजी से वर पाया है कि वह मनुष्य के हाथ मरेगा। अतः, मनुष्य की तरह अज्ञानी बनकर राजनीति के अनुसार उपाय में प्रवृत्त हैं, यथा—"प्रभु विधि-वचन कीन्ह चह साँचा।" (बा० दो० ४८); "जद्यपि प्रभु जानत सब बाता। राजनीति राखत सुर-त्राता ॥" (कि० दो० २१)।

(३) 'सुनु कपीस लंकापति बीरा।…'—श्रीसुग्रीवजी पहले के सखा हैं, इससे इनका नाम पहले कहा है। 'बीरा'—आप दोनों वीर हैं, समुद्र-पार करना भी वीरता का काम है। इसी से उत्तर में श्रीविभीषणजी

पहले वीरता की बात कहेंगे; यथा—"कोटि सिंधु सोषक तव सायक।" सुग्रीवजी सेना का बलाबल जानते हैं कौन कैसे जा सकता है, कूदकर, तैरकर या पुलसे। श्रीविभीषणजी सागर की मर्यादा, उसकी दुर्गमता आदि जानते हैं, क्योंकि निकटवर्त्ती हैं। इससे इन्हीं दो से पूछा। 'गंभीरा'—गहराई ही दुःसाध्य है।

(४) 'संकुल मकर उरग झख···'—समुद्र मकर आदि हिंसक भयानक जीवों से भरा है। 'अति अगाध दुस्तर'—पहले 'गंभीरा' से अगाधता कही ही थी, फिर उसे 'अति' कहा, भाव यह कि गहराई ही अधिक बाधक है। 'सब भाँती'—गहराई से, चौड़ाई से और मकर आदि जीवों की बाधा से उतरकर जाना कठिन है, न पैदल, न कूदकर और न तैरकर ही जा सकते हैं।

कह लंकेस सुनहु रघुनायक। कोटि सिंधु सोषक तव सायक ॥७॥
जद्यपि तदपि नीति असि गाई। बिनय करिय सागर सन जाई ॥८॥

दोहा—प्रभु तुम्हार कुल-गुरु जलधि, कहिहि उपाय बिचारि।
बिनु प्रयास सागर तरिहि, सकल भालु-कपि-धारि ॥५०॥

अर्थ—श्रीविभीषणजी ने कहा—हे रघुनायक! सुनिये, यद्यपि आपका बाण करोड़ों समुद्रों का सोखनेवाला है; तथापि नीति ऐसी कही गई है कि [पराक्रम के पहले साम-नीति बरते; यथा—"जो मधु मरै न मारियै, माहुर देइ सो.काउ।" (दोहावली ४३३)*; अतः,] सागर से जाकर प्रार्थना कीजिये ॥७–८॥ हे प्रभो! समुद्र आपके कुल का गुरु (बड़ा एवं पुरुपा) है, वह विचारकर उपाय कहेगा, तो सब भालु-वानर की सेना बिना परिश्रम सागर के पार हो जायगी ॥५०

विशेष—(१) 'कह लंकेस···'—प्रश्न में पहले श्रीसुग्रीवजी का नाम है, उन्होंने क्यों न कहा? उत्तर—(क) श्रीसुग्रीवजी ने सोचा कि अभी श्रीविभीषणजी के विषय में मैंने बाँध रखने की सलाह दी थी, पर वह न मानी गई सागर में पुल बँधे बिना पार उतरना अशक्य है। यदि समुद्र से प्रार्थना करने को कहूँ, तो वीर के लिये शोभाप्रद नहीं है। फिर समुद्र रावण का एक जलदुर्ग है, उससे प्रार्थना रावण ही से प्रार्थना करनी है। अच्छा हो कि मैं न कुछ कहूँ। श्रीविभीषणजी अभी आये हैं, इनका भी मत देख लिया जाय। (ख) पहले श्रीसुग्रीवजी ने राय दी थी, अब पारी श्रीविभीषणजी की है, आगे सेतु बाँधने में जाम्बवान् की पारी होगी। इसी से श्रीविभीषणजी ही बोले। 'सुनहु रघुनायक'—आप रघुवंश में श्रेष्ठ हैं। अतः, कुल की मर्यादा रखते हुए कार्य करें, यह भाव है। 'कोटि सिंधु-सोषक···'—श्रीरामजी ने समुद्र को दुस्तर कहा था, श्रीविभीषणजी उसे अत्यन्त तुच्छ दिखा रहे हैं और प्रभु के बाण का महत्त्व कहते हैं। यह नीति है कि मंत्री प्रथम राजा की प्रशंसा करे, तब सलाह दे। देखिये दो० ४२ चौ० ५ भी। यह प्रशंसा यथार्थ है; यथा—"सक सर एक सोखि सत सागर।" (दो० ५५)।

(२) 'जद्यपि तदपि नीति···'—यद्यपि बाण से इसे आप सोख सकते हैं, तथापि पहले साम-नीति ही का पालन करें, सागर से विनय करें। विनय-रूपा साम-नीति अपने से बड़े के साथ की जाती है, मैं तुच्छ समुद्र से क्यों करूँ? इसका उत्तर 'सागर' शब्द में है कि आपके पूर्वज सगर के द्वारा यह खोदा गया है, तब इसका नाम सागर हुआ है, इससे यह आपका कुल-गुरु है; यथा—"समुद्रं राघवोराजा शरणं गन्तुमर्हति ॥ खानितः सगरेणायमप्रमेयो महोदधिः। कर्त्तुमर्हति रामस्य ज्ञातेः कार्यं महोदधिः॥"

(वाल्मी० ६।११।१०-२) यही आगे यहाँ भी कहते हैं, यथा—"प्रभु तुम्हार कुल गुरु जलधि,···" 'जाई'— उसके समीप तट पर जाकर, तभी उसपर भार पड़ेगा, नहीं तो वह समझेगा कि अपनी सेना में बैठे हैं, मुझे क्या पड़ी है ?

(३) 'प्रभु तुम्हार कुल गुरु· '—कुल-गुरु है। अत, उसे मान देना चाहिये, उल्लंघन करना या सोख लेना दंड है, यह उचित नहीं। वह अपने कुल का उपाय स्वयं समझकर करेगा। 'कहिहि उपाय बिचारि'—भाव यह कि मेरे विचार में कुछ नहीं आ रहा है। ये सत हैं, इससे न बाँधना कह सके और न सोखना, किंतु उसे मान देना ही कहा, क्योंकि सत "सबहि मान प्रद आप अमानी " (उ० दो० ३०), होते हैं। वह कहेगा, क्योंकि उसने श्रीहनुमान्‌जी के मार्ग मे मैनाक के द्वारा सहायता की है , यथा—"जलनिधि रघुपति दूत बिचारी। तैं मैनाक होहि श्रमहारी॥" (दो० १ की ४); की भी टीका देखिये। विचार कर कहेगा, भाव यह कि अभी उसने निश्चय नहीं किया, नहीं तो आकर कह देता। वह कुल-गुरु है, इससे वात्सल्य में मोहित हो गया है, पराक्रम देखकर सुख पूर्वक उपाय कहेगा। वह रावण के पराक्रम को जानता है, बिना समझे-बूझे अपने बालक को काल के पास नहीं जाने देगा, यह भी ध्वनि है।

(४) 'बिनु प्रयास·· '—उसके बतलाये हुए उपाय में परिश्रम न होगा, यथा—"राम प्रताप सुमिरि मन माँही। करहु सेतु प्रयास कछु नाहीं॥" (ल० दो० १); अन्य उपायों से पार करने में प्रयास होगा।

सखा कही तुम्ह नीकि उपाई। करिय दैव जौं होई सहाई॥१॥
मंत्र न यह लछिमन-मन भावा। राम-बचन सुनि अति दुख पावा॥२॥

अर्थ—हे सखा ! तुमने अच्छा उपाय कहा है, उपाय करें, देखें जो दैव सहायक हो ॥१॥ यह सलाह श्रीलक्ष्मणजी के मन मे न रुची, श्रीरामजी के वचन सुनकर उन्होंने अत्यन्त दुःख पाया ॥२॥

विशेष—(१) 'सखा कही तुम्ह· '—'सखा' अर्थात् 'सहायं स्यातीति सखा' आप हमारे सहायक हैं, अतएव वैसा ही उपाय कहा है। 'नीकि'—सात्त्विक भाव की साम-नीति ही कही। 'करिय दैव जौ ·'—'जौं' शब्द से दैव की सहायता में संदेह प्रकट करते हैं, क्योंकि आप सर्वज्ञता से जानते हैं कि बिना दंड-विधान के कार्य न होगा। आगे स्पष्ट है, यथा—"ऐसेइ करब धरहु मन धीरा।" माधुर्य की दृष्टि से ध्वनित किया कि साम-नीति से काम न होगा। जगत् के लिये उपदेश भी है कि विहित उपायों में प्रवृत्त हो और दैव का भरोसा रक्खे, यथा—"तदपि एक मैं कहउँ उपाई। होइ करइ जौं दैव सहाई॥" (बा० दो० ६८)।

शंका—श्रीरामजी को निश्चय था कि इससे कार्य न होगा, तब इस मत का खंडन क्यों न कर दिया ?

समाधान—भगवान् के चरित कई अभिप्राय से होते हैं—(क) श्रीविभीषणजी का यह पहला मत है, उन्होंने सात्त्विक भाव से कहा है। इनका मान भी रखना है और सागर का सन्देह भी मिटा देना है कि यह इनका बल-पौरुष देख ले। (ख) श्रीविभीषणजी की शरणागति से प्रपत्ति की उत्तम विधि कही गई। श्रीरामजी सागर की शरणागति से यह दिखाते हैं कि जो शरणागत की रक्षा न कर सके, ऐसे अयोग्य की शरण में न जाना चाहिये। यह भी जान लेने से लोग शरण्य-योग्यता देखकर उसकी शरण होंगे। (ग) सागर के उत्तर-तटवासी पापियों का भी इसी व्याज (बहाना) से वध करना है। (घ) सागर सोखनेवाला बाण-प्रताप भी प्रकट करना है, जो श्रीविभीषण जी ने कहा है—' कोटि सिंधु सोषक ''।

(२) 'मंत्र न यह लछिमन···'—जिस कार्य में श्रीरामजी की न्यूनता होती देखते हैं, उसे श्रीलक्ष्मणजी नहीं सह सकते। सागर के समीप धरना देने में उनकी न्यूनता है; यथा—"सहज भीरु कर मंत्र दृढ़ाई। सागर सन ठानी मचलाई॥" (दो ५५)—यह रावण ने उपहास किया है। ऊपर दो० ४९ चौ० ७ भी देखिये। श्रीरामजी के अपमान पर इन्होंने श्रीजनकजी को, श्रीपरशुरामजी को, श्रीपिताजी एवं श्रीभरतजी को भी कुछ नहीं समझा है। वैसे यहाँ पर भी श्रीविभीषणजी की और कुल-गुरु सागर की एवं दैव की भी अवहेलना की है, यथा—"मंत्र न यह लछिमन मन भावा।"—यह श्रीविभीषणजी की, "नाथ दैव कर कौन भरोसा।"—यह दैव की और "सोखिय सिंधु··"—यह कुलगुरु की अवहेलना है 'अति दुख पावा'- श्रीविभीषणजी का मत सुनते ही दुःख हुआ था। जब श्रीरामजी ने उसे स्वीकार कर लिया, तब उनके वचन पर अत्यन्त दुःख हुआ कि ऐसे परम समर्थ के लिये यह कार्य योग्य नहीं इसमें बल की हीनता पाई जाती है। फिर यह उपाय संदिग्ध भी है, इससे न सह सके, अतः कहते हैं—

नाथ दैव कर कवन भरोसा। सोखिय सिंधु करिय मन रोसा॥३॥
कादर मन कहँ एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा॥४॥
सुनत बिहँसि बोले रघुबीरा। ऐसेहि करब धरहु मन धीरा॥५॥
अस कहि प्रभु अनुजहि समुझाई। सिंधु-समीप गये रघुराई॥६॥

अर्थ—हे नाथ! दैव का क्या भरोसा है? मन में क्रोध कीजिये और समुद्र को सोख लीजिये। (भाव यह कि आप निश्चय कहते, तो दैव विवश होकर वैसा ही करता, पर आप स्वयं संदिग्ध कह रहे हैं तो उसका क्या भरोसा?) ॥३॥ कायर के मन का एक यही (दैव) आधार है और आलसी (अनुत्साही, सुस्त) लोग 'दैव! दैव!!' पुकारा करते हैं (इससे आलस प्रकट होने पर निन्दा नहीं होती,) ॥४॥ सुनते ही हँसकर रघुवीर श्रीरामजी बोले कि ऐसा ही करेंगे, मन में धैर्य रक्खो ॥५॥ ऐसा कहकर प्रभु ने भाई को समझाया, फिर वे रघुराज श्रीरामजी समुद्र के समीप गये ॥६॥

विशेष—(१) 'नाथ दैव कर ··'—श्रीरामजी ने दैव का आधार लिया है, इसी से श्रीलक्ष्मणजी प्रार्थना करके उसका खंडन करते हैं कि आप प्रार्थना न कीजिये, किन्तु क्रोध कीजिये और समुद्र को सोख लीजिये। यह वीरता ही आपके योग्य है। भाव यह कि वीर पुरुषार्थ करते हैं, कादर मन में दैव का भरोसा करते हैं और आलसी 'दैव! दैव!!' चिल्लाया करते हैं। यहाँ कर्म, मन और वचन तीनों कहे गये—"सोखिय सिंधु करिय मन रोसा।"—वीर-कर्म है। "कादर मन कहँ एक अधारा।"—मन और "दैव दैव आलसी पुकारा।"—वचन है।

शंका—श्रीरामजी ने यहाँ दैव का अवलंब लिया और उसे श्रीलक्ष्मणजी ने ऐसा दूषित किया, यह तो इष्ट की अवहेलना-सी है, जो कि श्रीलक्ष्मणजी ऐसे योग्य अनुचर के लिये अयोग्य है।

समाधान—श्रीलक्ष्मणजी श्रीमहारानीजी की व्यवस्था सुन चुके हैं; यथा—"निमिषि निमिषि करुनानिधि, जाहिं कलप सम बीति।" यह श्रीहनुमान्‌जी ने कहा है और "अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना। ··" यह प्रार्थना श्रीलक्ष्मणजी के हृदय में बिंध गई है कि इष्ट देवी ने मुझ से भी प्रार्थना की है और यहाँ व्यर्थ के काम में कई दिन धरना देकर बितायेंगे, माताजी के दुःख की ओर नहीं देखते। अतः, इस प्रणय के क्रोध से उन्होंने ऐसे कठोर वचन भी कह डाले, जिन्हें समझ हँसकर प्रभु ने इन्हें सांत्वना देकर समझाया है कि हम वही करेंगे।

(२) 'बोले रघुबीरा'—वीरता करने को कहते हैं, इससे रघुवीर कहा गया।

(३) 'अनुजहि समुझाई'—ऐसी नीति है कि कोई भी कार्य इष्ट-मित्रों का रुख रखकर करे। इसलिये श्रीलक्ष्मणजी को समझाया कि श्रीविभीषणजी की सम्मति के अनुसार करने में कुलगुरु समुद्र का मान रहेगा और श्रीविभीषणजी का भी। समुद्र न सुनेगा, तब उसे दंड देना भी योग्य होगा। फिर समुद्र के समीप गये, क्योंकि जल-स्वरूप सागर से प्रार्थना करनी है। पहले तीर पर उतरना कहा गया था; यथा—'उतरे सागर तीर' अब बिल्कुल जल के पास गये।

प्रथम प्रनाम कीन्ह सिर नाई। बैठे पुनि तट दर्भ डसाई ॥७॥
जबहिं बिभीषन प्रभु पहिं आये। पाछे रावन दूत पठाये ॥८॥

दोहा—सकल चरित तिन्ह देखे, धरे कपट कपि-देह।
प्रभु-गुन हृदय सराहहिं, सरनागत पर नेह ॥५१॥

अर्थ—(श्री रामजी ने) पहले तो शिर नवाकर प्रणाम किया, फिर कुशासन बिछाकर बैठ गये ॥७॥ जिस समय श्रीविभीषणजी प्रभु के पास आये, उसी समय उनके पीछे रावण ने दूत भेजे ॥८॥ माया से नकली वानर-देह धरे हुए उन्होंने सब चरित देखे। वे लोग शरणागत पर स्नेह एवं (और भी) प्रभु के गुण हृदय में सराह रहे हैं ॥५१॥

विशेष—(१) 'प्रथम प्रनाम कीन्ह…'—कुलगुरु हैं; इसलिये सागर को प्रणाम किया, तब पीछे प्रार्थना के लिये बैठे, ऐसी ही रीति है; यथा—"सीस नवहिं सुर-गुरु द्विज देखी। प्रीति सहित करि बिनय बिसेषी॥" (अ० दो० १२८); 'बैठे तट पुनि दर्भ डसाई।'—आयुध (धनुष-बाण) अलग श्रीलक्ष्मणजी के पास देकर अपने हाथों से कुशासन बिछाकर बैठे, मौन-व्रत धारण करके अनशन-व्रत-सहित बैठे हैं। निरायुध, यथा—"लछिमन बान सरासन आनू।" यह आगे कहा है। मौन-व्रत, क्योंकि शुक अपना मुनि-तनु पाकर श्रीरामजी के पास गया और बार-बार प्रणाम किया, पर वे कुछ नहीं बोले। यथा—"बंदि राम-पद बारहि बारा। मुनि निज आश्रम कहँ पगु धारा॥" (दो० ५६); उपवास; यथा—"तीसरे उपास बनवास सिंधु पास…" (क० सुं० ३१)। स्वयं दर्भ बिछाया, क्योंकि बड़ों के समक्ष निरभिमानता चाहिये। आसन पर बैठकर अनुष्ठान करना विधि है।

(२) 'दर्भ डसाई'—आसनों के भेद; यथा—"कृष्णाजिने धनं पुत्रा मोक्षः श्रीर्व्याघ्रचर्मणि। कुशासने ज्ञानवृद्धिः कम्बले चोत्तमा गतिः॥ काष्ठासने व्याधिभयं पाषाणे हानिरेव च। वस्त्रासने वृथा पूजा धरण्यां निर्धनो भवेत्॥"

(३) 'पाछे रावन दूत पठाये'—दूतों का चलना नहीं कहा गया था, जब वे यहाँ प्रकट हुए, तब ग्रन्थकार भी प्रकट करते हैं।

(४) 'सकल चरित तिन्ह देखे…'—जब से श्रीविभीषणजी यहाँ आये, तब से अब तक के सब चरित देखे। चरित—श्रीविभीषणजी को आदर से बुलाना, हृदय लगाना, अनुज-सहित मिलकर पास बैठाना, कुशल पूछना, अपना स्वभाव कहना, भक्ति देना, राज-तिलक करना और मंत्र पूछकर सागर से विनय करने

बैठना। 'प्रभुगुन हृदय···'—हृदय में ही सराहते हैं; क्योंकि कपट-रूप में हैं, प्रकट सराहने से कपट खुल जाता, जैसे आगे कहा ही है। ग्रन्थकार प्रभु के गुण अभी नहीं कह रहे हैं, जब दूत रावण से कहेगा, तब खोलेंगे; यथा—"राम तेज बल बुधि बिपुलाई।···माँगत पंथ कृपा मन माहीं।" आदि। 'सरनागत पर नेह'—सम्पूर्ण गुणों में 'शरणागत पर स्नेह' की प्रधानता है, इसी से इसे यहाँ प्रकट कहा है। शरणागत-स्नेह को कानों से सुना और आँखों से देखा; यथा—(१) मम पन सरनागत भय हारी। (२) कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आये सरन तजौं नहिं ताहू॥ (३) सनमुख होइ जीव मोहि··· (४) जौ सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं॥ इत्यादि, सुने। और—'अस कहि करत दंडवत देखा' से 'ग्ररु भल धास···' तक देखा।

प्रगट बखानहिं राम - सुभाऊ। अति सप्रेम गा बिसरि दुराऊ॥१॥
रिपु के दूत कपिन्ह तब जाने। सकल बाँधि कपीस पहिं आने॥२॥
कह सुग्रीव सुनहु सब बानर। अंग-भंग करि पठवहु निसिचर॥३॥

अर्थ—श्रीरामजी का स्वभाव प्रत्यक्ष (राक्षस-रूप से) अत्यन्त प्रेम से सराहते हैं, कपट भूल गया ॥१॥ तब वानरों ने जाना कि ये शत्रु के दूत हैं और वे इन सबको बाँधकर श्रीसुग्रीवजी के पास लाये ॥२॥ श्रीसुग्रीवजी ने कहा, हे सब वानरो सुनो, इन निशाचरों को अंग-भंग करके भेजो ॥३॥

विशेष—(१) 'अति सप्रेम गा बिसरि दुराऊ'—अत्यन्त प्रेम की विह्वलता में कपट नहीं रह जाता; यथा—"अस कहि परेउ चरन अकुलाई। निज तनु प्रगट प्रीति उर छाई।" (कि॰ दो॰ १); गुण सराहने में सँभाल रहा, किंतु स्वभाव सुनकर तो अत्यन्त प्रेम में मुग्ध हो गये, तब न रहा गया और प्रकट होकर सराहने लगे। स्वभाव; यथा—"सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ।" से "प्रभु सुभाउ कपि कुल मन भावा" तक। महा कपटी राक्षसों का भी कपट खुल गया—यह प्रभु-गुण का प्रभाव है। 'सकल बाँधि'—कई हैं, क्योंकि 'पाछे रावन दूत पठाये' 'तिन्ह देखे' आदि सर्वत्र बहुवचन में कहे गये हैं। वाल्मीकीय में एक बार शुक-सारण दो भेजे गये हैं और दूसरी बार शार्दूल के साथ और कई दूत भेजे गये हैं, उन सबको यहाँ एक ही बार में जना दिया पुनः वहाँ शुक का दो बार बाँधा जाना कहा गया है, यह भी यहाँ—'सकल बाँधि' और आगे 'बाँधि कटक चहुँ पास फिराये।' से सूचित कर दिया गया है। 'अंग-भंग करि'—श्रीसुग्रीवजी नीति के ज्ञाता है, इससे इन्होंने दूतों को मारना नहीं कहा। अंग-भंग का दंड भी इससे कहा कि वे गुप्त-रूप से चार बनकर आये थे, अतएव दंडनीय थे। कौन अंग भंग किया जाय, यह नहीं कहा, क्योंकि प्रथम से श्रीलक्ष्मणजी ने मार्ग खोल दिया है, उन्होंने शूर्पणखा के नाक-कान काटे थे, वही नियम हो गया; यथा—"जहँ कहुँ फिरत निशाचर पावहिं।···दसनन्हि काटि नासिका काना।···" (लं॰ दो॰ ४); "काटेसि दसन नासिका काना। गर्जि अकास चलेउ तेहि जाना॥" (लं॰ दो॰ ६४)। वही यहाँ भी करेंगे; यथा—"जो हमार हर नासा काना।···" आगे कहा है। 'पठवहु'—उसने जैसा मेरे दूत के साथ किया है, वैसा ही करके मैं भी इन्हें भेजूँगा।

सुनि सुग्रीव बचन कपि धाये। बाँधि कटक चहुँ पास फिराये॥४॥
बहु प्रकार मारन कपि लागे। दीन पुकारत तदपि न त्यागे॥५॥
जो हमार हर नासा काना। तेहि कोसलाधीस कै आना॥६॥

अर्थ—श्रीसुग्रीवजी के वचन सुनकर वानर दौड़े, उनको बाँधकर सेना के चारों ओर फिराया ॥४॥ वानर लोग उन्हें बहुत तरह से मारने लगे, वे दीन होकर पुकार रहे हैं, तो भी नहीं त्याग करते ॥५॥ (तब वे पुकारकर कहने लगे—) जो हमारे नाक-कान काटे, उसे कोशलाधीश की शपथ है ॥६॥

विशेष—(१) 'सुनि सुग्रीव बचन···'—श्रीसुग्रीवजी ने कड़ी आज्ञा दी, इससे वानर दौड़ पड़े। 'बाँधि'—पहले साधारणतः बाँधा, अब विशेष दृढ-रूप में बाँधा कि जिससे नाक-कान काटने के समय वेग करके छूट न जायँ। श्रीहनुमान्जी को भी उनलोगों ने दो बार बाँधा था। एक बार नागपाश से और दूसरी बार पटों से पूँछ बाँधी थी। 'बहु प्रकार', यथा—"जानुभिर्मुष्टिभिर्दन्तैस्तलैश्चाभिहतो भृशम्।" (वाल्मी॰ ६।२०।८), अर्थात् जानु, मुक्का, दाँत तथा थप्पड़ से क्रोधी वानरों ने बहुत मारा। 'दीन पुकारत···'—दीन को नहीं मारना चाहिये, पर कपट-रूप से आने के कारण तब भी मारा।

(२) 'जो हमार हर नासा काना।···'—जब दीन होकर आर्त्त स्वर से पुकार करने लगे, तब नाक-कान काटने में प्रवृत्त हुए, जो सुग्रीव की आज्ञा थी। वानर लोग नीति से कार्य कर रहे हैं, ये दूत छिपकर भेद लेने आये थे और पकड़े गये, तो दंड देना ही चाहिये। पर वे प्रेम में मग्न होकर राम-गुण-स्वभाव कीर्तन करने लगे, उसी में पकड़े गये। राम-प्रेम पर दृष्टि करके उन्हें दंड की आज्ञा नहीं देनी थी, पर अंग-भंग की आज्ञा हुई, इसी से यह आज्ञा भंग होगी। श्रीसुग्रीवजी की आज्ञा से राम-शपथ भारी है, इसपर श्रीलक्ष्मणजी छुड़ा देंगे।

'कोसलाधीस कै आना'—दोहाई राजा की ही दी जाती है। भाव यह कि जो इनकी शपथ न मानेगा, उसकी कुशल नहीं है। या, हमारी कुशल हो, नाक-कान बचें। यहाँ वानरों ने श्रीहनुमान्जी का बदला लिया है—

श्रीहनुमान्जी	राक्षसदूत
१. नाग पास बाँधेसि लै गयऊ।	सकल बाँधि कपीस पहिं आने।
२. अंग-भंग करि पठइय बन्दर।	अंग-भंग करि पठवहु निसिचर।
३. सुनत निसाचर मारन धाये।	सुनि सुग्रीव बचन कपि धाये।
४. मारहिं चरन करहिं बहु हाँसी।	बहु प्रकार मारन कपि लागे।
५ नगर फेरि पुनि पूँछ प्रजारी।	बाँधि कटक चहुँ···श्रवन नासिका काटन ··।
६. × × ×	दीन पुकारत तदपि न त्यागे।—यह अधिक है।

सुनि लछिमन सब निकट बोलाये। दया लागि हँसि तुरत छोड़ाये ॥७॥
रावन कर दीजहु यह पाती। लछिमन-बचन बाँचु कुलघाती ॥८॥

दोहा—कहेहु मुखागर मूढ़ सन, मम संदेस उदार।
सीता देइ मिलहु न त, आवा काल तुम्हार ॥५२॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी ने सुनकर सबको निकट बुलाया, दया लगी, इससे हँसकर (उन्हें) छुड़ा दिया ॥७॥ (और उनसे कहा—) रावण के हाथ में यह पत्रिका देना और कहना कि हे कुल के नाश करनेवाले! श्रीलक्ष्मणजी के वचनों को पढ़ो (अर्थात् यह चिट्ठी श्रीलक्ष्मणजी ने दी है, इसे पढ़ो) ॥८॥ उस मूर्ख से मेरा

श्रेष्ठ सँदेश मौखिक रूप में कहना कि श्रीसीताजी को देकर मिलो, नहीं तो तुम्हारा काल (मरण-काल) आ गया ॥५२॥

विशेष—(१) 'निकट बुलाये'—क्योंकि संदेश कहना है। 'दया लागि'—क्योंकि आर्त्त स्वर से श्रीरामजी की दोहाई सुनी। 'हँसि'—कृपा करके; यथा—"हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥" (बा० दो० १९७)। 'तुरत'—देरी करने में राम-शपथ का महत्त्व कम होता, इसलिये शीघ्र छुड़ा दिया। श्रीरामजी इस समय समुद्र-तट पर हैं, इससे उनकी जगह में ये ही हैं। अतः, इन्हीं ने छुड़ाया।

(२) 'रावन कर दीजहु···'—दूसरे के हाथ में देने से वह शत्रु की फटकार समझकर मानी रावण को उसके डर के मारे न देगा। 'बाँचु'—कहना कि वह स्वयं पढ़े, जिससे अच्छी तरह समझ जाय। 'कुल घाती'—भाव यह कि तेरे ही कृत्य से कुल का नाश होगा। अतः, ऐसा न कर, कुल की रक्षा का उपाय कर। आगे स्पष्ट पढ़ा जायगा, यथा—"बातन्ह मनहिं रिझाइ सठ, जनि घालसि कुल खीस" (दो० ५६), श्रीलक्ष्मणजी ने उपदेश दिया, ऐसे ही औरों ने भी समझाया है। श्रीहनुमान्‌जी, श्रीविभीषणजी और श्रीपुलस्त्य मुनि की बातें आ चुकीं। आगे जाम्बवान्‌जी और श्रीरामजी भी श्रीअंगदजी के द्वारा उसके बचने की शिक्षा देंगे, यथा—'तासु हित होई।' (लं० दो० १६), क्योंकि किसी की भी रक्षा करना धर्म है, उसका नाश देखते हुए न समझाते, तो इन्हें दोष होता।

(३) 'कहेहु मुखागर···'—कुल का नाश तो चिट्ठी में लिखा और रावण की मृत्यु मौखिक रूप से कहलाई, क्योंकि वह शत्रु की चिट्ठी दूसरे से पढ़ावेगा, तब वह डर से रावण की मृत्यु न बाँचेगा। 'मूढ़'—क्योंकि उसे अपनी भलाई नहीं सूझ रही है। 'संदेस उदार'—क्योंकि इससे सब के प्राण बचेंगे। पहले 'कुल घाती' कहा है और अब 'आवा काल तुम्हार' कहते हैं, भाव यह कि मैं मेघनाद को मारकर तेरा कुल (वंश) नाश करूँगा और सीताहरण के प्रतिकार में श्रीरामजी तुम्हें मृत्यु-वश करेंगे, आगे स्पष्ट है; यथा—"राम बिरोध न उबरसि, सरन बिष्णु अज ईस।" (दो० ५६)।

तुरत नाइ लछिमन-पद माथा। चले दूत बरनत गुनगाथा॥१॥
कहत राम-जस लंका आये। रावन-चरन सीस तिन्ह नाये॥२॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी के चरणों में शिर नवाकर गुण-समूह वर्णन करते हुए दूत तुरत चले॥१॥ श्रीरामजी का यश कहते हुए लंका आये और उन्होंने रावण के चरणों में शिर नवाया (क्योंकि राजा है और उसी के द्वारा श्रीरामजी के दर्शन हुए, जिससे इनका कल्याण हुआ, आगे स्पष्ट है)॥२॥

विशेष—(१) 'तुरत नाइ···'—तुरत चले, क्योंकि सँदेश तुरत कहना चाहिये; यथा—"तुरत सो मैं प्रभु सन कही···" (दो० ३१); लोक में भी प्रसिद्ध है कि लोग चिट्ठी लेकर शीघ्र चलते हैं 'तुरत' का सम्बन्ध 'चले' से है। 'गुन गाथा'—को आगे स्पष्ट किया है; यथा—'कहत राम जस···' पहले हृदय में सराहते थे, अब प्रकट कहते जाते हैं, क्योंकि अब कोई डर नहीं है। श्रीलक्ष्मणजी प्रधान हैं और श्रीसुग्रीवजी समाज से पृथक् हैं (अतः) उन्हीं को प्रणाम करके जाना कहा गया है।

(२) 'कहत राम जस लंका आये···'—कई हैं, एक दूसरे से कहते जाते हैं इसी से तुरत लंका पहुँच गये; यथा—"सीय को सनेह सील कथा तथा लंक की कहत चले चाप सों सिरानो पंथ छन में।" (क० सुं० ३१)।

विहँसि दसानन पूछी बाता। कहसि न सुक आपनि कुसलाता ॥३॥
पुनि कहु खबरि बिभीषन केरी। जाहि मृत्यु आई अति नेरी ॥४॥
करत राज लंका सठ त्यागी। होइहि जव कर कीट अभागी ॥५॥

अर्थ—रावण ने विहँस कर बात पूछी कि अपनी कुशल क्यों नहीं कहता? ॥३। फिर विभीषण का समाचार कह कि जिसकी मृत्यु अत्यन्त निकट आ गई है ॥४॥ राज्य करता था सो ऐसी लंकापुरी का राज्य उस सठ ने त्याग दिया, (अतः) भाग्यहीन है, वह अभागा अन जव का कीड़ा होगा; अर्थात शत्रु-रूपी अनाज (यव) को मैं पीसूँगा, उनमें मिला हुआ, वह भी पिस जायगा अर्थात् तपस्वियों के साथ वह भी मरेगा ॥५॥

विशेष—(१) 'विहँसि दसानन पूछी...'—हँसना शत्रु के निरादर के लिये है, आगे स्पष्ट है, यथा—"मूढ़ मृषा का करसि बड़ाई।" 'कहसि न सुक...'—अर्थात एकबार कुशल पूछने पर दूत न बोले थे, तब ऐसा कहा। दूत चाहते हैं कि इसे और जो कुछ पूछना हो, पूछले, तब हम उत्तर दें। दूतों में शुक प्रधान है, इससे उसे ही सम्बोधन करके पूछ रहा है।

(२) 'पुनि कहु खबरि...' श्रीविभीषणजी की कुशल नहीं पूछता, क्योंकि उनकी मृत्यु को तो अति निकट आना कह रहा है, तब कुशल कहाँ? मृत्यु निकट तो तभी आई थी, जब उसने शत्रु की बड़ाई की और श्रीसीताजी के देने को कहा था; यथा—"खल तोहिं निकट मृत्यु अब आई" (दो॰ ४०), अब वह शत्रु से जा मिला, तो उसकी मृत्यु 'अति नेरी' आगई 'अति नेरी' का स्वरूप आगे कहता है।

(३) 'करत राज लंका सठ त्यागी।...'—लंका-राज्य के समान तीनों लोक मे कोई राज्य नहीं है, इसे त्यागा, अतएव शठ है। राज्य-सुख तो उसने स्वयं छोड़ा, पर अब उसके प्राणों पर भी आ बनेगी। वैसे तो हम उसे न भी मारते, पर शत्रुओं से जा मिला है, तो अवश्य मारेंगे राज्य खोया और प्राण भी खोवेगा, इससे अभागा है।

वास्तव में रावण ही आयुहीन और अभागा हुआ है, यथा—"आयु हीन भये सब तबहीं ॥...रावन जबहि विभीषन त्यागा। भयउ विभव बिनु तबहि अभागा॥" (दो॰ ४१), और श्रीविभीषणजी ने तो अखंड राज्य पाया और उनके प्राण भी बचे, यथा—"रावन क्रोध अनल निज, स्वास समीर प्रचंड। जरत बिभीषन राखेउ, दीन्हेउँ राज अखंड॥" (दो॰ ४१)। रावण की मृत्यु निकट होने से उसे मति-भ्रम है, इससे उल्टा ही सूझता है।

पुनि कहु भालु कीस कटकाई। कठिन काल-प्रेरित चलि आई ॥६॥
जिन्हके जीवन कर रखवारा। भयउ मृदुल-चित सिंधु बिचारा ॥७॥
कहु तपसिन्ह कै बात बहोरी। जिन्हके हृदय त्रास अति मोरी ॥८॥

दोहा—की भइ भेंट कि फिरि गये, श्रवन सुजस सुनि मोर।
कहसि न रिपुदल तेजबल, बहुत चकित चित तोर ॥५३॥

अर्थ—फिर भालु-वानरों की सेना (का समाचार कि कितनी है) कह, जो कठिन काल की प्रेरणा

से चलकर आई है ॥६॥ जिनके प्राणों का रक्षक कोमल चित्तवाला बिचारा समुद्र हुआ है; अर्थात् समुद्र मार्ग दे सकता था, यथा—"अपर जलचरन्ह ऊपर, बिनु श्रम पारहिं जाहिं।" (लं० दो० ४); पर उस बेचारे को करुणा आ गई कि इन्हें उस पार जातेही राक्षस खा जायँगे, इससे वह मार्ग नहीं देता ७॥ फिर तपस्वियों की बात कह, जिनके हृदय में मेरा बड़ा डर है ॥८॥ उनसे भेंट हुई या वे कानों से मेरा सुयश सुनकर लौट गये ? शत्रु की सेना और उनका तेज-बल क्यों नहीं कहता ? तेरा चित्त बहुत चकित (आश्चर्यान्वित) देखता हूँ ॥५३॥

विशेष—(१) 'पुनि कहु भालु कीस···'—इनकी सेना कितनी है, जितनी अधिक हो, उतनी ही अच्छी, हमारे राक्षस बहुत भूखे हैं ; यथा –"आये कीस काल के प्रेरे। छुधावंत सब निसिचर मेरे।" (लं० दो० १८) ; 'कठिन काल'—सामान्य काल की प्रेरणा से आये होते, तो चाहे कुछ भागकर बच भी जाते, पर उन्हें कठिन काल लाया है, नहीं तो तपस्वियों को पृथिवी भर के वानर कैसे मिलते ? ; यथा—"देखो काल कौतुक पिपीलिकन्ह पंख लागो भाग मेरे लोगन के भई चित चही है ॥" (गी० सुं० २४)। 'चलि आई'—कठिन काल की प्रेरणा से राक्षसों के मुख में पैठने वे स्वयं चलकर आ रहे हैं, नहीं तो एक राक्षस को देखकर सहस्रों वानर भाग जाते थे।

(२) 'भयउ मृदुल चित सिंधु बिचारा।'—मृदुल-चित्त होने से करुणावश सागर ने अभी रक्षा की है, नहीं तो काल उन्हें सीधा यहीं लाता, पर वह भी तो बिचारा (अल्प सामर्थ्य का) है, काल के आगे उसकी क्या चलेगी, वह कब तक बचावेगा ? अतः, बचाना समुद्र की मूर्खता है। वा, कहीं हमारे राक्षस उसी पार जाकर उन्हें खा लें, तो सागर क्या करेगा ? वह तो बिचारा है।

(३) 'कहु तपसिन्ह कै बात ··'—बात में क्या आशय है, इसे आगे दोहे में स्पष्ट किया है कि 'की भइ भेंट···'। 'त्रास अति'—भाव यह कि त्रास तो सब तपस्वियों को है, पर उन्हें 'अति' है ; क्योंकि उनका मैं भारी शत्रु हूँ। श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी की बात अंत में पूछी, जिससे यह कोई न जाने कि उनका उसे भारी भय है, इसी से पहले पूछता है। 'त्रास अति मोरी'—यह उनपर डालकर कहता है, वस्तुतः इसीके हृदय में उनका अत्यन्त डर है ; यथा—"सुनत सभय मन मुख मुसुकाई। कहत दसानन सबहि सुनाई॥" (दो० ५६); यहाँ कुशल, खबर, कटक और बात, ये चार शब्द चार वर्गों के लिये कहे गये हैं, इनके भाव—हमने उनके दूत को दंड दिया था। इससे उन्होंने भी इन्हें मारा होगा, अतः, दूतों से कुशल पूछी। श्रीविभीषणजी की खबर पूछी, खबर जानकर वैसा विचार करेगा, इसीलिये दूतों को भेजा ही था। भालुओं और वानरों का भय है। अतः, कटक को पूछा कि कितना है और श्रीराम-लक्ष्मणजी का इसे अति त्रास है, इसलिये उनकी बात में कई भेद पूछे क्योंकि रिपु के दल और तेज-बल से उसे भय है।

(४) 'की भइ भेंट कि···'—पहले भी कहा था 'कहसि न सुक' और यहाँ भी—'कहसि न' कहता है, इससे जान पड़ता है कि दूत डर के मारे शत्रु का दल और तेज-बल कह नहीं सकते, क्योंकि शत्रु की बड़ाई पर रावण चिढ़ता है ; यथा—"रिपु उत्कर्ष कहत सठ दोऊ। दूरि न करहु इहाँ है कोऊ॥" (दो० ११) ; इसी से क्षमा माँगकर कहेगा; यथा—"नाथ कृपा करि पूछेहु जैसे। मानहु कहा···"। बार-बार प्रश्न पर प्रश्न करता जाता है, दूत कह नहीं पाते, इससे रावण के हृदय की घबड़ाहट भी जान पड़ती है। पहले शत्रु के दल को पूछा था, यहाँ भी दल को लेकर तेज-बल पूछ रहा है। दूतों को चकित देखकर दो प्रकार से कहता है कि या तो शत्रु मेरे डर से चले गये, इससे तू चकित है कि मैं किस का क्या हाल कहूँ, वहाँ तो कोई है ही नहीं। अथवा शत्रु का बहुत दल और उसका अत्यन्त तेज-बल देखकर तू चकित हो गया है। जो हो कह। अब उसे अवसर मिला, तो क्षमा माँगकर कहेगा।

नाथ कृपा करि पूछेहु जैसे। मानहु कहा क्रोध तजि तैसे ॥१॥
मिला जाइ जब अनुज तुम्हारा। जातहि राम तिलक तेहि सारा ॥२॥
रावन-दूत हमहिं सुनि काना। कपिन्ह बाँधि दीन्हे दुख नाना ॥३॥
श्रवन-नासिका काटइ लागे। राम-सपथ दीन्हे हम त्यागे ॥४॥

अर्थ—हे नाथ! जैसे आपने कृपा करके पूछा है, वैसे ही क्रोध छोड़कर मेरा कहना (यथार्थ) मानिये ॥१॥ जब आपका भाई जाकर मिला, तब जाते ही श्रीरामजी ने उसका तिलक कर दिया ।२॥ हमें रावण-दूत कानों से सुनकर वानरों ने बाँधकर अनेक दुःख दिये ॥३॥ कान और नाक काटने लगे थे, जब हमने राम-शपथ दी, तब उन्होंने हमें छोड़ा ।४॥

विशेष—(१) 'नाथ कृपा करि पूछेहु······'—पूछना यह है कि हमारी कुशल प्रसन्नता से (विहँसकर) पूछी, यह कृपा की। 'मानहु तैसे' अर्थात् जैसे कृपाकर कुशल पूछी, वैसे क्रोध छोड़कर मेरे वचन सत्य मानिये। आपके पूछने पर कहता हूँ, नहीं तो न कहता।

(२) 'मिला जाइ जब अनुज···'—रावण ने पहले दूतों की कुशल पूछी थी। पर वे जिस क्रम से वहाँ जो बातें हुईं, वैसे कहते हैं। पहले श्रीविभीषणजी का तिलक हो गया, तब दूत पहचाने गये और उन्हें दण्ड दिया गया। 'अनुज तुम्हारा' भाव यह कि श्रीविभीषणजी ने ऐसा ही कहा था; यथा—"नाथ दसानन कर मैं भ्राता।" (दो० ४४); शरण आया हुआ जानकर शत्रु के भाई का भी उन्होंने इतना आदर किया। शरणागत उन्हें अत्यन्त प्रिय हैं और उनका स्वभाव बड़ा कोमल है, भाव यह कि आप भी जाकर मिलें तो वैसी ही कृपा करेंगे। आगे स्पष्ट कहा है; यथा—"अति कोमल रघुबीर सुभाऊ।···मिलत कृपा तुम्ह पर प्रभु करि हैं।···" (दो० ५६); तिलक सारना = विधिवत तिलक करना; यथा—"तिलक सारि अस्तुति अनुसारी।" (लं० दो० १०४); इसके प्रथम 'सारेहु तिलक कहेहु रघुनाथा', कहा गया था, तब जाकर 'तिलक सारि अर्थात् तिलक करना कहा गया।

(३) 'रावन दूत हमहिं सुनि···'—भाव यह कि कपट खुलने पर राक्षस जानकर हमें पकड़ लिया, तब श्रीविभीषणजी के वर्ग से पूछा गया, उन्होंने कह दिया कि ये रावण के दूत हैं, बस, सुनते ही बाँध कर वानरों ने नाना दुःख दिये—तुम्हारे ऊपर इतना क्रोध है। हमने उनका कोई अपराध नहीं किया, केवल तुम्हारे दूत होने के सम्बन्ध से मारे गये। भाव यह कि छिपकर तुम्हारा दौत्य कार्य साधते हुए जानकर हमें मारा। नहीं तो तुम्हारा भाई भी तो गया, पर उसे राज्य दिया, क्योंकि वह अपने रूप से और फिर शरण होने गया था।

(४) 'श्रवन नासिका···'—भाव यह कि हमलोगों ने बहुत सहा, आपके निहोरे पहले राम-शपथ नहीं दी थी, जब नाक-कान काटने लगे तब राम-शपथ दी, जिससे उन्होंने छोड़ दिया।

पूछेहु नाथ राम-कटकाई। बदन कोटि सत बरनि न जाई ॥५॥
नाना बरन भालु कपि धारी। बिकटानन बिसाल भयकारी ॥६॥
जेहिं पुर दहेउ हतेउ सुत तोरा। सकल कपिन्ह महँ तेहि बल थोरा ॥७॥
अमित नाम भट कठिन कराला। अमित-नाग-बल बिपुल बिसाला ॥८॥

दोहा—द्विविद मयंद नील नल, अँगद गद विकटासि ।
दधिमुख केहरि निसठ सठ, जामवंत बलरासि ॥५४॥

अर्थ—हे नाथ ! आपने श्रीरामजी की सेना को पूछा । उसका वर्णन सौ करोड़ मुखों से भी नहीं किया जा सकता ।५। भालु-वानरों की सेना अनेक वर्ण (रंग एवं जाति) की है, उनके मुख विकट हैं, वे विशाल और भयंकर हैं ।६। जिसने आपका नगर जलाया और आपके पुत्र को मारा, उसका बल तो सब वानरों से थोड़ा है ।७। वे अमित नाम के संख्या-रहित भट हैं, (देह से) कठिन और भयंकर हैं, उनमें अमित हाथियों के बल से भी अत्यन्त भारी बल है एवं वे अत्यंत विशाल हैं ।८। (उनमें से कुछ के नाम) द्विविद, मयंद, नील, नल, अंगद, गद, विकटास्य, दधिमुख, केहरि, निसठ, सठ और जाम्बवान् हैं—ये सब बल की राशि हैं (ये सब वानर श्रीसुग्रीवजी के पास बैठे थे, वहीं इसे वानर लोग ले गये थे, इससे इसने सबके नाम कहे और उन्हें श्रीसुग्रीवजी के समान कहा) ।५४।

विशेष—(१) 'बदन कोटि सत···'—श्रीविभीषणजी का और अपना हाल मैंने कहा, पर वानरों की सेना कितनी है, यह मैं नहीं कह सकता, मेरे तो एक ही मुख है, करोड़ मुखों से भी यह नहीं कही जा सकती ; यथा —"वानर कटक उमा मैं देखा । सो मूरुख जो करन चह लेखा ।" (कि॰ दो॰ २१) ।

(२) 'नाना बरन···'—अनेक देशों के और अनेक जातियों के हैं । विशाल (भारी) शरीरवाले हैं और उनके मुख विकट हैं, इसी से भयंकर है । 'धारी'—लूट-मार करनेवाली सेना को धारि कहते हैं ।

(३) 'जेहि पुर दहेउ···'—इन दोनों कठिन कार्मों में भी पुर-दहन अत्यन्त कठिन था, इससे पहले कहा, क्योंकि इनका बल थोड़ा कह कर औरों का बल इनसे अत्यन्त अधिक दिखाना था ।

शंका—श्रीहनुमान्जी तो यहाँ प्रधान वीर हैं, फिर इन्हें थोड़े बल का क्यों कहा ?

समाधान—(क) जब उसने देखा तब श्रीहनुमान्जी दीनता-पूर्वक हाथ जोड़े हुए प्रभु के पास चुपचाप खड़े थे । वानरों में इनकी कुछ प्रधानता नहीं दीख पड़ी, न तो श्रीरामजी ने इनसे कोई राय पूछी, न ये गर्जते-कूदते देखे गये और न सब वानरों की तरह—"मर्दि गर्द मिलवहिं दससीसा ।" आदि अपनी वीरता ही कहते थे, इसी से उसने इन्हें थोड़ा बल कहा । औरों के बल इसने पूछ-ताछ करके जाने, पर इनका बल तो वह लंका में देख ही चुका था, इससे किसी से पूछा भी नहीं । (ख) श्रीरामजी के गुण और स्वभाव उसकी दृष्टि में बस गये हैं, वह चाहता है कि रावण भी इनकी शरण आ जाय, तो अच्छा हो । यह तभी होगा जब श्रीरामजी को एवं उनकी सेना को अत्यन्त अमित और दुर्जेय समझे, तब डरकर शरण में आवे । इसी में उसका हित होगा । अतः, राम-सेना का अपरिमित बल दिखाते हुए वैसा कहा ; यथा—"जो अति सुभट सराहेहु रावन । सो सुग्रीव केर लघु धावन ॥ चलै बहुत सो वीर न होई । पठवा खबरि लेन हम सोई ॥" (लं॰ दो॰ २२) ; इसमें भी वही अभिप्राय है ; यथा—"काज हमार तासु हित होई ।" (लं॰ दो॰ १६) ; यह श्रीरामजी की आज्ञा थी । श्रीसीताजी को धैर्य देने के लिये राम-सेना का अपरिमित बल दिखाते हुए श्रीहनुमान्जी ने भी ऐसा ही कहा है ; यथा—"मद्विशिष्टाश्च तुल्याश्च सन्ति तत्र वनौकसः । मत्तः प्रत्यवरः कश्चिन्नास्ति सुग्रीवसन्निधौ ॥ अहं तावदिह प्राप्तः किं पुनस्ते महाबलाः । नहि प्रकृष्टाः प्रेष्यन्ते प्रेष्यन्ते हीतरे जनाः ॥" (वाल्मी॰ ५।३९।१८–१९) ; अर्थात् श्रीसुग्रीवजी की सेना में मेरे तुल्य और मुझ से बड़े ही सब वानर हैं, मुझसे छोटा कोई नहीं । जब मैं ही यहाँ आ गया, तब उन महाबल वानरों का क्या कहना है ? मैं सबसे छोटा हूँ, तभी तो दौत्य में भेजा गया हूँ ।

(४) 'द्विविद मयंद नील···'—इनमें श्रीहनुमान्‌जी को नहीं कहा, क्योंकि उन्हें थोड़े बल का कह चुका है और यहाँ बल-राशि की गणना कर रहा है।

ये कपि सब सुग्रीव समाना। इन्ह सम कोटिन्ह गनइ को नाना ॥१॥
राम-कृपा अतुलित बल तिन्हहीं। तृन-समान त्रैलोकहि गिनहीं ॥२॥
अस मैं सुना श्रवन दसकंधर। पदुम अठारह जूथप बंदर ॥३॥
नाथ कटक महँ सो कपि नाहीं। जो न तुम्हहिं जीतइ रन माहीं ॥४॥

अर्थ—ये सब वानर श्रीसुग्रीवजी के समान (बलवान्) हैं, इनके समान करोड़ों हैं, अनेक हैं, उन्हें कौन गिन सकता है ? ॥१॥ राम कृपा से उनमें अतोल बल है, वे लोक-त्रय को तृन के समान गिनते हैं ॥२॥ हे दशानन ! मैंने कानों से ऐसा सुना है कि वानरों के यूथपतियों की संख्या अठारह पद्म है ॥३॥ हे नाथ ! उस सेना में ऐसा कोई एक भी वानर नहीं है कि जो तुमको रण में नहीं जीत सकता हो ॥४॥

विशेष—(१) 'ये कपि सब सुग्रीव···'—यहाँ 'कोटिन्ह' कहकर फिर 'नाना' भी कहा है। भाव यह कि इनके समान 'कोटिन्ह' हैं। फिर उन कोटिन्ह के समान 'कोटिन्ह' हैं। पुनः उनके समान 'कोटिन्ह' हैं। इस प्रकार नाना कोटिन्ह हैं। ऐसा कहने का अभिप्राय यह कि मुख्य यूथपों को श्रीसुग्रीवजी के समान कहा। उपमान से उपमेय में न्यूनता होती ही है, इस युक्ति से कुछ न्यूनता दिखाकर श्रीसुग्रीवजी की श्रेष्ठता भी रक्खी। इसी तरह क्रमशः न्यून भटों के लिये कहा गया है। पर सामान्य दृष्टि से सभी श्रीसुग्रीवजी के बराबर ही कहे जा रहे हैं, पर युक्ति से न्यूनाधिक्य का सँभाल है।

(२) 'राम कृपा अतुलित बल···'; यथा—"राम कृपा बल पाइ कपिंदा। भये पच्छजुत मनहुँ गिरिंदा।" (दो० १४); अतुलित बल का स्वरूप दिखाते हैं कि वे त्रयलोक को तृण के समान गिनते हैं। पहले इन्हें बल-राशि कहा था, अब राम-कृपा से अतुलित बल कहा। रावण के सुभटों से यहाँ इनकी अधिकता है; यथा—"कुमुख अकंपन···एक-एक जग जीति सक, ऐसे सुभट निकाय।" (बा० दो० १८); वे एक-एक जगत को जीत सकते हैं। पर ये वानर लोग तो तीनों लोकों को तृण के समान तुच्छ समझते हैं। जीतना-हारना तो कुछ ही न्यूनाधिक्य में कहा जाता है।

(३) 'पदुम अठारह जूथप···'—'पहले समूह वानरों को असंख्य कहा था कि 'बदन कोटि सत···' 'सो मूरुख जो···'और यहाँ मुख्य-मुख्य यूथपों की गणना है, उसने औरों से सुनी है। स्वयं इन्हें भी नहीं गिन सका। एक-एक यूथ में कितने-कितने हैं, यह तो जान नहीं सका अतः, सेना यहाँ के कथन में भी असंख्य ही है।

'अस कपि एक न···'—जो सबसे थोड़ा बलवाला है, वही तुम्हें जीतकर चला गया, तब उन विशाल बली वानरों के बल के सामने तुम क्या कर सकोगे ? दूत निर्भय होकर कह रहा है, रावण ने यहाँ क्रोध नहीं किया, क्योंकि उसने पहले ही विनय से निश्चित कर लिया है; यथा—"मानहु कहा क्रोध तजि तैसे।" (दो० ५२)।

परम क्रोध मीजहिं सब हाथा। आयसु पै न देहिं रघुनाथा ॥५॥
सोखहिं सिंधु सहित झख ब्याला। पूरहिं न त भरि कुधर बिसाला ॥६॥

मर्दि गर्द मिलवहिं दससीसा। ऐसइ वचन कहहिं सब कीसा ॥७॥
गर्जहिं तर्जहिं सहज असंका। मानहुँ ग्रसन चहतहहिं लंका ॥८॥

अर्थ—परम क्रोध से वे सब हाथ मीजते हैं, पर श्रीरघुनाथजी उन्हें आज्ञा नहीं देते ॥५॥ समुद्र को मछली और सर्प सहित हम सोख लेंगे, नहीं तो बड़े-बड़े पर्वतों से भरकर उसे पूर (पाट) देंगे ॥६॥ दशशीश को मसलकर धूल में मिला देंगे, ऐसे ही वचन सब वानर कह रहे हैं ॥७॥ सब स्वाभाविक ही निःशंक हैं, गरज रहे हैं, डाँट (फटकार) रहे हैं, मानों लंकापुरी को निगल जाना चाहते हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'परम क्रोध मीजहिं' —तुम्हें पा जायँ, तो जीत ही लें, पर नहीं पाते हैं, इसीसे सब हाथ मींजते हैं, क्योंकि बीच में अभी समुद्र है। उसके लिये भी अभी श्रीरघुनाथजी आज्ञा नहीं दे रहे हैं, नहीं तो—

(२) 'सोषहिं सिंधु ···'—सोख सकते हैं, पाट सकते हैं, पर क्या करें, प्रभु-आज्ञा बिना विवश हैं। रावण ने कहा था, यथा—"जिन्ह के जीवन कर रखवारा। भयेउ मृदुल चित सिंधु बिचारा॥" उसका यहाँ उत्तर है। पहले तो वे झष-व्यालों के सहित समुद्र को सोखना ही चाहते हैं, इससे उनके स्वरूप का अनुमान कर लो। सम्पूर्ण समुद्र को पर्वतों से पाट देना चाहते हैं, इससे उनके पराक्रम को समझ लो।

(३) 'मर्दि गर्द मिलवहिं ···'—जब तक इस पार नहीं आ पाते, तभी तक हाथ मलते हैं। वे कहते हैं कि जैसे ही प्रभु-आज्ञा मिली कि उस पार आकर हम रावण को मसल कर धूल में मिला देंगे। 'सब कीसा'—एक कहता है, हम रावण का मर्दन कर देंगे, तो दूसरा कहता है, नहीं, हम ही उसे धूल में मिला देंगे ऐसे ही सब कहते हैं।

(४) 'गर्जहिं तर्जहिं' —तुम्हारी शंका उन्हें कुछ नहीं है, जब लंका की ओर क्रोध करके मुख फैलाते हैं, तब जान पड़ता है कि वे लंका को निगल ही लेंगे। जब सैकड़ों योजन के झष-व्यालों के सहित समुद्र को सोख सकते हैं, तब लंका का निगलना उनके लिये कुछ अयुक्त नहीं।

दोहा—सहज सूर कपि भालु सब, पुनि सिर पर प्रभु राम।
रावन काल कोटि कहँ, जीति सकहिं संग्राम ॥५५॥

अर्थ—सब वानर-भालु स्वभाविक ही शूर-वीर हैं, फिर उनके शिर पर (सरक्षक) समर्थ श्रीरामजी हैं, जो रावण क्या करोड़ों कालों को भी संग्राम में जीत सकते हैं ॥५५॥

विशेष—(१) रावण ने कहा था—"पुनि कह भालु कीस कटकाई। कठिन काल प्रेरित चलि आई॥" उसका उत्तर दूत दे रहे हैं कि वे काल की प्रेरणा से नहीं आये, किन्तु उन श्रीरामजी की प्रेरणा से आये हैं कि जो करोड़ों कालों को भी जीत सकते हैं। रावण ने यह भी कहा था, यथा 'की भइ भेंट कि फिरि गये ··' यहाँ उसका उत्तर भी है कि वे डरकर फिर जानेवाले नहीं हैं, किन्तु उनके दलका एक-एक वानर भी रावण को जीत सकता है और वे तो करोड़ों कालों को भी संग्राम में जीत सकते हैं। 'संग्राम' का भाव यह कि काल ज्ञान और योग से भी जीता जाता है; यथा—"तुम्हहिं न व्यापत काल, अति कराल ज्ञान प्रभाव कि जोग बल॥" (उ० दो० ९४), उसका यहाँ निषेध करते हैं कि योग ज्ञान से नहीं, किंतु संग्राम में जीत

सकते हैं; यथा—"काल कोटि सत सरिस अति, दुस्तर दुर्ग दुरंत।" (६० दो० ४१); रावण ने कहा था, वे कठिन काल के वश होकर आये, उसपर दूत कहते हैं कि उनके ऐसे रक्षक हैं'। 'पुनि सिर पर प्रभु राम'—वे स्वयं शूर हैं; फिर समर्थ स्वामी को पाकर अत्यन्त शूर-वीर हो गये हैं।

आवृत्तियों द्वारा सिंहावलोकन

प्रथमावृत्ति

दूतवाक्य—	तात्पर्य—
(१) पूछेहु नाथ राम कटकाई। बदन कोटि सत'''	सेना की असंख्यता
(२) नाना बरन भालु कपि धारी।	सेना की विचित्रता
(३) बिकटानन बिसाल भय कारी।	वानरों की आकृति की भीषणता
(४) द्विविद मयंद नील ' बलरासि।	प्रसिद्ध वीरों के नाम
(५) अमित नाग बल बिपुल बिसाला।	वीरों का बल
(६) परम क्रोध मीजहिं सब हाथा।	वीरों का उत्साह
(७) पदुम अठारह जूथप बंदर।	यूथपों की संख्या
(८) सोखहिं सिंधु सहित झख ब्याला। पूरहिं ' '	वीरों के भारी रूप और पराक्रम
(९) मर्दि गर्द मिलवहिं दससीसा।	वानरों की शूरता
(१०) गर्जहिं तर्जहिं सहज असंका	वानरों की निःशंकता
(११) सिर पर प्रभु राम	वानरों की सनाथता

द्वितीयावृत्ति

प्रश्न	उत्तर
(१) कहसि न सुक आपनि कुसलाता	रावन दूत हमहिं सुनि काना। कपिन्ह'''
(२) पुनि कहु खबरि बिभीपन केरी। ''	जातहि राम तिलक तेहि सारा।
(३) पुनि कहु भालु कीस कटकाई।	'पूछेहु नाथ कीस कटकाई' से 'सहज सूर ' ' तक
(४) जिन्हके जीवन कर ''भयउ मृदुल ''	सोखहिं सिंधु सहित झख ब्याला। पूरहि ।
(५) कहु तपसिन्ह कै बात बहोरी।	राम तेज बल'''सेस सहस० रामानुज दीन्हीं ''
(६) 'जासु मृत्यु आई अति नेरी। कठिन काल प्रेरित चलि आई। जिन्हके हृदय त्रास अति मोरी।	'रावन काल कोटि कहँ, जीति सकहिं संग्राम।' तब उनके आश्रितों की मृत्यु क्यों होगी? वे तो निश्शंक हैं।

तृतीयावृत्ति

'सकल कपिन्ह महँ तेहि बल थोरा।' का शाब्दिक निर्वाह—

श्रीहनुमान्‌जी	अन्य वानर
समुद्र लाँघा—'बारिधि पार गयउ'	सोखहिं सिंधु सहित झख ब्याला।
कछु मारेसि कछु मर्देसि	मर्दि गर्द मिलवहिं दस सीसा।
इन्होंने प्रभु-आज्ञा पाई थी, अतः वैसा किया	इन्हें आज्ञा नहीं मिली, नहीं तो सत्य करें।
उलटि पलटि लंका सब जारी	मानहुँ ग्रसन चहतहहिं लंका।
इन्होंने लंका के वीरों को जीता	ये–'तृन समान त्रैलोकहि गिनहीं।'

राम - तेज - बल - बुधि - बिपुलाई। सेष सहस सत सकहिं न गाई ॥१॥
सक सर एक सोखि सत सागर। तब भ्रातहि पूछेउ नयनागर ॥२॥
तासु बचन सुनि सागर पाहीं। माँगत पंथ कृपा मन माहीं ॥३॥

अर्थ—श्रीरामजी के तेज, बल और बुद्धि की अधिकता को लाखों शेष भी नहीं कह सकते। १॥ वे एक बाण से सैकड़ों समुद्र सोख सकते हैं, पर नीति में चतुर हैं इससे तुम्हारे भाई से उन्होंने (सिंधु उतरने का उपाय) पूछा ॥२॥ उसका वचन सुनकर वे सागर से मार्ग माँग रहे हैं, उनके मन में कृपा है ॥३॥

विशेष—(१) 'राम तेज बल बुधि बिपुलाई।···' श्रीरामजी का तेज, यथा "यदादित्य गतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥" (गीता १५।१२); 'बल'; यथा—"मरुत कोटि सत बिपुल बल···"—'बुधि'; यथा—"सारद कोटि अमित चतुराई। बिधि सतकोटि सृष्टि निपुनाई॥" (उ० दो० ९१), ब्रह्मा बुद्धि के देवता हैं; यथा—"अहंकार सिव बुद्धि अज" (लं० दो० १५); अतः ब्रह्माजी से कोटि गुणी निपुणता में इनकी बुद्धि का वैभव है। 'सेष सहस सत ' उनके दूत की करनी को भी शेषजी नहीं कह सकते, यथा—"नाथ पवन सुत कीन्हि जो करनी सहसहुँ मुख न जाइ सो बरनी॥" (दो० २१), तब स्वामी के तेज आदि के वर्णन में लाखों शेषों का असमर्थ होना योग्य ही है।

(२) 'सक सर एक सोषि···'—श्रीविभीषणजी ने कहा था—"कोटि सिंधु सोषक तव सायक।" (दो० ४०); (सत और 'कोटि' पर्याय हैं अनेक वाची हैं।) वही सुनकर दूतों ने यहाँ कहा। भाव यह कि श्रीविभीषणजी से समुद्र उतरने का उपाय पूछा, तब यह न समझो कि वे समुद्र उतरने में असमर्थ हैं, वे तो एक बाण से ही करोड़ों सागर सोख सकते हैं। पर अपने कुल-गुरु सागर की मर्यादा रखते हैं। 'तब भ्रातहि पूछेउ···'—श्रीविभीषणजी से मंत्र पूछा है तो यह न समझो कि वे नीति नहीं जानते, किंतु वे तो नीत में निपुण हैं; यथा—"नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥" (अ० दो० २५१)। तुम्हारे भाई को प्रतिष्ठा देने के लिये उनसे मंत्र पूछा।

तेज, बल और बुद्धि की विपुलता के उत्तर क्रमशः—'सक सर एक सोषि सत सागर।' 'रावन काल कोटि कहँ जीति सकहिं संग्राम।' और 'तब भ्रातहि पूछेहु नयनागर।'—मंत्री से विचार करना बुद्धिमानी है।

(३) 'तासु वचन सुनि '—भाव यह कि जिससे पूछे, उसकी उचित बात को मानना चाहिये। इसी बात की प्रार्थना इसने भी पहले ही कर ली थी यथा—"नाथ कृपा करि पूछेहु जैसे। मानहु कहा क्रोध तजि तैसे॥"। 'माँगत पथ कृपा '—मन में कृपा है, उसका मान रखना है, नहीं तो उसे सोख लेते। श्रीविभीषणजी पर भी कृपा है, इसी से उनके वचन को आदर दिया, नहीं तो इसपर श्रीलक्ष्मणजी ने विरोध किया ही था कि सामर्थ्य से काम लीजिये।

सुनत वचन विहँसा दससीसा। जौं असि मति सहाय कृत कीसा॥४॥
सहज भीरु कर वचन दृढाई। सागर सन ठानी मचलाई॥५॥
मूढ मृपा का करसि वडाई। रिपु - वल - वुद्धि थाह मैं पाई॥६॥
सचिव सभीत विभीषन जाके। विजय - विभूति कहाँ जग ताके॥७॥

अर्थ—वचन सुनते ही रावण बहुत हँसा (और बोला) जब ऐसी बुद्धि है, तभी तो वानरों को सहायक बनाया॥४॥ स्वाभाविक ही डरपोक विभीषणजी के वचन को दृढ कर सागर से मचले हुए हैं (कि राह न देगा, तो डूब मरेंगे—इससे बाल-बुद्धि है)॥५॥ अरे मूर्ख ! झूठ ही क्या बडाई करता है ? मैंने शत्रु के बल-बुद्धि की थाह पा ली॥६॥ जिसके विभीषण-से डरपोक मन्त्री हैं, उसको संसार में विजय और ऐश्वर्य कहाँ ?॥७॥

विशेष—(१) 'सुनत वचन विहँसा '—अभी उसे बोलने की राह मिली, इसी को लेकर निरादरार्थ खूब हँसा। 'जौं असि मति' अर्थात् विभीषण को मन्त्री बनाया, इससे बुद्धि की थाह मिली। वानरों को सहायक बनाया, इससे बल की थाह मिली। अर्थात् उनमें बल-बुद्धि कुछ नहीं है, सागर से मचलने से भी बल-बुद्धि की हीनता सिद्ध की।

(२) 'सहज भीरु कर मत्र '—नीति है कि डरपोक को मन्त्री न बनावे, विभीषण डरपोक है, यथा—"अनुज हमार भीरु अति सोऊ।" (लं० दो २१)।

(३) 'मूढ मृपा का करसि वडाई। '—जिसमें कुछ भी बल-बुद्धि नहीं, उन्हें 'बलराशि' एवं 'तेन बल बुधि बिपुलाई' कहता है और मैं जो बल-बुद्धि में अगाध हूँ, उसे कुछ नहीं गिनता है, इससे तू मूढ है। 'थाह मैं पाई'—तू तो अथाह कहता था, पर मैंने अपनी बुद्धि से थाह ले ली (बल होता तो समुद्र सोख लेते, वानरों को सहायक न बनाते। बुद्धि होती तो विभीषण ऐसे डरपोक को मन्त्री न चुनते।)

(४) 'सचिव सभीत विभीषन जाके। '—डरपोक मन्त्री संग्राम से भगाता है, तब विजय कहाँ और फिर शत्रु सब ऐश्वर्य ले लेता है, तब विभूति कहाँ ? विभीषण वहाँ गया, तो उनसे भी कहा कि सागर से विनती करो। यहाँ रहा तो मुझ से कहता था कि शत्रु से विनती करो, इसी से तो उसे मैंने निकाल दिया। पर उन्होंने उस डरपोक को रक्खा है और उसकी मति पर चल रहे हैं, तब उनका पता लग गया। राजा को अच्छी सेना और अच्छे मन्त्रियों से विजय और विभूति मिलती हैं। उनमें ये दोनों बातें ठीक नहीं हैं।

सुनि खल - वचन दूत रिस बाढ़ी। समय विचारि पत्रिका काढ़ी॥८॥

रामानुज दीन्ही यह पाती। नाथ बँचाइ जुड़ावहु छाती ॥९॥
बिहँसि बाम कर लीन्ही रावन। सचिव बोलि सठ लाग बचावन ॥१०॥

अर्थ—दुष्ट रावण के वचन सुनकर दूत का क्रोध बढ़ा और समय विचार कर उसने पत्रिका निकाली (और बोला) ॥८॥ श्रीरामजी के छोटे भाई ने यह पत्रिका दी है, हे नाथ ! इसे पढ़ाकर छाती ठंढी कीजिये ॥९॥ हँसकर रावण ने उसे बायें हाथ में लिया और मंत्री को बुलाकर वह शठ उसे पढ़वाने लगा ॥१०॥

विशेष—(१) 'रिसि बाढ़ी'—श्रीरामजी की निन्दा सुनकर क्रोध बढ़ गया ; यथा—"जब तेइ कीन्ह राम कै निंदा। क्रोधवंत तब भयउ कपिंदा ॥" (लं॰ दो॰ ३०) ; रिस तो पहले से ही थी, जब उसने हँसकर प्रश्न किया था, अब क्रोध बढ़ गया। राम-निंदक को तलवार से मारना चाहिये। इस लिफाफे रूप म्यान से पत्रिका रूपी तलवार निकाली, इससे उसका हृदय विदीर्ण होगा ; यथा—"सुनत सभय मन···" आगे कहा है। 'समय विचारि'—जब उसने दूत के सब वचनों को काट दिया, तब इसने पत्रिका देने का अवसर देखा कि जिससे इसके वचन सत्य हों।

(२) 'रामानुज दीन्हीं यह पाती।···'—श्रीलक्ष्मणजी ने अपना परिचय-सहित पत्र देने को कहा था ; यथा—'लछिमन बचन बाँचु कुल घाती।' इसी से उनका नाम कहकर दिया। श्रीलक्ष्मणजी ने कहा था 'बाँचु', पर दूत कहता है—'बँचाइ' ; इसका अभिप्राय यह है कि वह जानता है कि दुष्ट ठीक-ठीक न बाँचेगा, इससे दूसरों से बँचवाना कहा कि सब सभावाले भी सुन लें, जिससे रावण को लज्जा भी हो। और मंत्री लोग भी सुनें तो लज्जित हों, जो कहते हैं—"नर बानर केहि लेखे माहीं।" ऊपर से यह भी दिखाया कि शत्रु की चिट्ठी है। अतः, आप दूसरे से पढ़ावें। 'जुड़ावहु छाती'—यह व्यंग्य है, इससे उसकी छाती जलेगी , यथा—"सुनत सभय मन···" आगे कहा है।

(३) 'बिहँसि बाम कर लीन्ही···'—वाम (शत्रु) की पत्री है, अतएव निरादर के लिये हँसकर और बायें हाथ से ली, पुनः उसको दूसरे से बँचवाया। पत्रिका की बात न मानेगा, किंतु शठता से उड़ा देगा, इसी से शठ कहा है।

दोहा—बातन्ह मनहि रिझाइ सठ, जनि घालसि कुल खीस।
राम-बिरोध न उबरसि, सरन बिष्णु अज ईस ॥

दोहा—की तजि मान अनुज इव, प्रभु - पद - पंकज - भृंग।
होहि कि राम सरानल, खल कुल - सहित पतंग ॥५६॥

अर्थ—अरे शठ ! बातों से ही मन को प्रसन्न करके कुल का नाश न कर। श्रीरामजी से विरोध करके ब्रह्मा, विष्णु और महेश की भी शरण जाने पर भी न बचेगा ॥ या तो अभिमान छोड़कर अपने छोटे भाई की तरह प्रभु के चरण-कमलों का भ्रमर बन और या तो, अरे दुष्ट श्रीरामजी के बाण-रूपी

अग्नि में कुल-सहित पतंग (शलभ) हो ; अर्थात् शरण न आने से कुल-समेत नाश होगा। अतः, दो में एक जो रुचे, कर ॥५६॥

विशेष—(१) 'बातन्ह मनहि रिझाइ···'—भाव यह कि वचन और मन से ही शूर बना बैठा है, कर्म (करनी) कुछ न हो सकेगा। कुल-सहित नाश हो। पुलस्त्य ऋषि का उत्तम कुल है। इसलिये कुल-नाश पर भी खेद होता है, इसी से कहते हैं। 'राम बिरोध न उबरसि···' यहाँ 'विष्णु अज ईस' कहा है। विष्णु को पहले कहा है, क्योंकि रक्षण-धर्म उन्हीं का मुख्य है। अन्यत्र रावण ही के प्रसंग में शिव-ब्रह्मा भी प्रथम कहे गये हैं ; यथा—"संकर सहस बिष्णु अज तोहीं। राखि न सकहिं···" (दो २२)। तथा—"ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोहीं॥" (लं० दो० २१); तीन बार में एक-एक को प्रधान लिखकर तीनों को समान भी सूचित किया। अन्यत्र भी कहा है ; यथा—"ब्रह्मा स्वयंभूश्चतुराननो वा रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा। इन्द्रोमहेन्द्रः सुरनायको वा स्थातुं न शक्ता युधि राघवस्य।" (वाल्मी० ५।५१.४४)।

(२) 'की तजि मान···'—या तो भ्रमर जैसे सुख रूपी मकरंद पानकर, अन्यथा पतंग बनकर ताप सह। भ्रमर के जोड़ में पतंग कहा है, दो ही गति हैं।

बातों में मन का रिझाना यह कि मैंने शिव-ब्रह्मा से ऐसे-ऐसे वर पाये हैं, हमारे अमुक-अमुक वीर हैं। दिक्पाल अधीन हैं, नर-वानर किस गणना में हैं ? मैंने कैलास तक को उठा लिया, त्रिदेव मुझसे डरते हैं, इत्यादि।

सुनत सभय मन मुख मुसुकाई। कहत दसानन सबहि सुनाई ॥१॥
भूमि परा कर गहत अकासा। लघु तापस कर बाग-बिलासा ॥२॥
कह सुक नाथ सत्य सब बानी। समुझहु छाड़ि प्रकृति अभिमानी ॥३॥
सुनहु बचन मम परिहरि क्रोधा। नाथ राम सन तजहु बिरोधा ॥४॥

अर्थ—सुनकर मन में डरा, पर (डर छिपाने के लिये) मुख से हँसकर और सबको सुनाकर रावण कहता है कि जैसे कोई पृथिवी पर पड़ा हुआ हाथ से आकाश को पकड़ता हो, वैसे इस छोटे तपस्वी की वाणी का विलास (वचन-चातुरी-मात्र) है। २। शुक ने कहा कि हे नाथ ! अभिमानी प्रकृति को छोड़कर समझिये, 'सब वाणी सत्य हैं ॥३॥ क्रोध छोड़कर मेरा वचन सुनिये, हे नाथ ! श्रीरामजी से वैर छोड़िये ॥४॥

विशेष—(१) 'सुनत सभय मन···'—मन का भय चेहरा से प्रकट हो जाता, उसे छिपाने के लिये मुख से मुसकुराया, किंतु मुसकुराना भी थोड़े ही लोगों ने देखा होगा, इसलिये सब को सुनाकर 'दशानन' दसों मुखों से बोल उठा ; यथा—"दसमुख बोलि उठा अकुलाना।" (लं० दो० ४); जहाँ घबड़ाकर बोलना कहा गया है, वहाँ ही इसप्रकार बोलना है।

(२) 'भूमि परा कर···'—पृथिवी पर से बैठकर या खड़े होकर तो कोई आकाश पकड़ ही नहीं सकता, फिर भूमि में पड़े हुए की क्या बात ? इसी तरह कोई समर्थ राजा अपनी सेना-सहित तो हमें जीत ही नहीं सकता, इन राज्य-भ्रष्ट तपस्वियों की क्या बात है, केवल बातों की डींग है। 'बातन्ह मनहि रिझाइ सठ' का उत्तर 'लघु तापस कर बाग बिलासा' है।

(३) 'सत्य सब बानी'—उसने वाग्विलास कह दिया, यह उसका खंडन करता है कि सब वचन सत्य हैं, ऐसा ही इस शुक ने भी मुखाग्र कहा था, उसे भी पुष्ट कर रहा है। 'समुझहु छांड़ि···' - अभिमानी किसी की शिक्षा नहीं मानता; यथा "मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना।" (कि० दो० ८); इसलिये अभिमान छोड़कर समझना कहा। वचन का आशय गंभीर है, इससे भी समझना कहा है।

अति कोमल रघुबीर सुभाऊ। जद्यपि अखिल लोक कर राऊ ॥५॥
मिलत कृपा तुम्ह पर प्रभु करिही। उर अपराध न एकउ धरिही ॥६॥
जनकसुता रघुनाथहि दीजे। एतना कहा मोर प्रभु कीजे ॥७॥
जब तेहि कहा देन बैदेही। चरन - प्रहार कीन्ह सठ तेही ॥८॥
नाइ चरन सिर चला सो तहाँ। कृपासिंधु रघुनायक जहाँ ॥९॥

अर्थ—रघुवीर श्रीरामजी का स्वभाव अत्यन्त कोमल है, यद्यपि वे सम्पूर्ण लोकों के राजा हैं ॥५॥ मिलते ही वे प्रभु तुमपर कृपा करेंगे, तुम्हारे एक भी अपराध वे अपने हृदय में नहीं धरेंगे ॥६। श्रीरघुनाथजी को जनक-सुता दे दीजिये, हे प्रभो ! इतना मेरा कहना कीजिये ॥७॥ जब उसने श्रीवैदेहीजी को देने के लिये कहा, तब उस शठ ने उसे लात मारी ॥८॥ वह चरणों में शिर नवाकर वहाँ चला गया, जहाँ दया-सागर रघुनायक श्रीरामजी (समुद्र-तट पर बैठे हैं) ॥९॥

विशेष—(१) 'अति कोमल रघुबीर सुभाऊ।···'—श्रीरामजी का स्वभाव दूतों के चित्त में प्रविष्ट हो गया है ; यथा—"प्रगट बखानहिं राम सुभाऊ। अति सप्रेम गा बिसरि दुराऊ॥" (दो० ५१); इसी से यहाँ भी कह रहे हैं। इन्होंने प्रत्यक्ष देखा और सुना है ; यथा—"जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै···" इत्यादि। थोड़ा भी आधिपत्य पाकर लोग रजोगुणी होकर निष्ठुर हो जाते हैं, पर वे सम्पूर्ण लोकों के राजा होते हुए अति कोमल स्वभाव के हैं।

(२) 'मिलत कृपा तुम्ह पर···'—इसने श्रीरामजी के श्रीमुख वचन सुने हैं ; यथा "कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आये सरन तजौं नहिं ताहू॥" वही कह रहा है। और राजाओं का अपराध करके उनसे मिलने जाय, तो वे बदले में क्रोध करते हैं, पर श्रीरामजी एक भी तुम्हारे अपराध न देखेंगे। अपराध बहुत हैं—सुर-मुनियों से द्रोह, चराचर-मात्र से द्रोह, श्रीसीताजी का हरण, जटायु-वध, श्रीहनुमान्जी की पूँछ जलाना, श्रीविभीषणजी का अपमान इत्यादि।

(३) 'जनक सुता रघुनाथहि दीजे।···'—यह संदेश श्रीलक्ष्मणजी का था ; यथा—'सीता देइ मिलहु' उन्होंने इसे मुखाग्र कहने को कहा था ! पर इसने अपनी ओर से कहा, क्योंकि जानता है कि जो कोई भी इससे श्रीसीताजी के देने की बात कहता है, उसी पर यह बिगड़ता है। श्रीलक्ष्मणजी की ओर से कहूँगा, तो यह उन्हें गाली देगा, जो मुझे न सुनना चाहिये ; यथा—"हरिहर निंदा सुनहिं जो काना। होइ पाप गोघात समाना॥" (लं० दो० ३०); इसलिये अपनी ओर से कहा ; यथा—'एतना कहा मोर प्रभु कीजे।' तब 'चरन प्रहार कीन्ह सठ तेही।' यह भी यदि वह श्रीलक्ष्मणजी की ओर से कहता तो न मारा जाता। जैसे श्रीविभीषणजी ने जब श्रीपुलस्त्यजी की ओर से श्रीसीताजी के देने को कहा था,

तब उसने नहीं मारा। जब अपनी ओर से कहा—'राखहु मोर दुलार। सीता देहु राम कहँ...' तब उसने मारा है।

(४) 'जब तेहि कहा देन...'—शत्रु की बड़ाई की, रावण की न्यूनता कही, यहाँ तक कि उस दल का एक वानर भी तुम्हें जीत सकता है, गर्द में मिला सकता है, पर उसपर क्रोध नहीं किया, क्योंकि पहले ही वचनबद्ध हो चुका था। पर जैसे ही इसने उधर की बात पूरी कर अपनी ओर से श्रीसीताजी के देने की बात कही कि 'चरन प्रहार कीन्ह सठ तेही।' यद्यपि इसने विनय पूर्वक कहा था तथापि उसने नहीं माना, इसी से शठ कहा गया। शठ से विनय करना व्यर्थ हो जाता है ; यथा—"सठ सन बिनय...ऊसर बीज..." यह आगे कहा है।

(५) 'नाइ चरन सिर...'—इसने पहले भी आकर प्रणाम किया था ; यथा—"रावन चरन सीस तिन्ह नाये।" और अपमान होने पर भी यहाँ 'नाइ चरन सिर' कहा गया है इसने अपना धर्म निबाहा है। जैसे श्रीविभीषणजी ने आदि-अंत में प्रणाम करते हुए लंका त्याग किया है। श्रीरामजी को 'कृपा-सिंधु' कहा, क्योंकि इसपर वे कृपा करेंगे।

करि प्रनाम निज कथा सुनाई। राम-कृपा आपनि गति पाई ॥१०॥
रिषि अगस्ति कि स्राप भवानी। राछस भयेउ रहा मुनि ग्यानी ॥११॥
बंदि राम-पद बारहि बारा। मुनि निज आश्रम कहँ पगु धारा ॥१२॥

दोहा—बिनय न मानत जलधि जड़, गये तीनि दिन बीति।
बोले राम सकोप तब, भय बिनु होइ न प्रीति ॥५७॥

अर्थ—प्रणाम करके अपनी कथा सुनाई और श्रीरामजी की कृपा से अपनी गति पाई, (अर्थात् अपने पूर्व के मुनि-स्वरूप को प्राप्त हुआ) ॥१०॥ हे भवानी ! यह ज्ञानी मुनि था, अगस्त्य ऋषि के शाप से राक्षस हो गया था ॥११॥ बार-बार श्रीरामजी के चरणों की वंदना करके मुनि अपने आश्रम को चला गया ॥१२॥ जड़ समुद्र विनती नहीं मानता, तीन दिन बीत गये, तब श्रीरामजी कोप-सहित बोले कि विना भय के प्रीति नहीं होती ॥५७॥

विशेष—(१) 'निज कथा सुनाई'—कथा यह कि मैं रावण का दूत हूँ, विभीषणजी के पीछे उसने मुझे भेजा था, वानरों ने यहाँ पहचान लिया और मेरे नाक-कान काटने लगे, तब मैंने आपकी शपथ दी। इसपर श्रीलक्ष्मणजी ने मुझे छुड़ा दिया और रावण के लिये मुझे पत्रिका दी और मुख से भी सँदेश कहा। मैंने जाकर उसे पत्रिका दी और विनती की कि श्रीसीताजी को दे दीजिये और श्रीरामजी की शरण हो जाइये। इसपर उसने मुझे लात मारी, तब मैं भागकर आपकी शरण में आया हूँ।

इतना कहते ही वह राम-कृपा से मुनि हो गया। प्रणाम-मात्र में प्रभु ने उसे कृतार्थ किया; यथा—"सकृत प्रनाम किये अपनाये।" (अ॰ दो॰ ११८), "मंगल मूल प्रनाम जासु जग मूल अमंगल को खनै।" (गी॰ सुं॰ ४०), "भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै।" (वि॰ १३५)।

(२) 'रिषि अगस्ति की स्राप...'—प्राचीन कथा है कि पूर्व जन्म में यह शुक ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण था। राक्षसों के नाश के लिये इसने वन में वसकर वहुत-से यज्ञ और तप किये, इसी से राक्षस इससे वैर रखते थे। वज्रदन्त राक्षस इसके पीछे पड़ा। एक दिन अगस्त्यजी इस (मुनि) के आश्रम में आये। मुनि ने उनको भोजन के लिये निमंत्रित किया। अगस्त्यजी स्नान करने गये। शुक मुनि ने भोजन वनाया। जव अगस्त्यजी आ गये और भोजन करने के लिये वैठे, तव उस राक्षस ने मुनि की स्त्री को मोहित कर दिया और स्वयं उसकी स्त्री वनकर मनुष्य का मांस भोजन में मिलाकर अगस्त्यजी के आगे परोस कर अंतर्धान हो गया। मुनि अगस्त्यजी ने अभक्ष्य देखकर शाप दे दिया कि तू राक्षस हो जा और मनुष्यों का मांस खाया कर। शुक मुनि ने प्रार्थना की कि मेरा दोष नहीं है, तव अगस्त्यजी ने ध्यान करके सव जान लिया और फिर अनुग्रह किया कि तुम राक्षस होकर रावण के सहायक होगे। वह तुम्हें गुप्तचर वनाकर भेजेगा, लौट कर तुम उसे तत्त्वोपदेश करोगे, तव तुम शाप से मुक्त होगे। यह कथा अध्यात्म रामायण में इसी प्रसंग पर है।

'रहा मुनि ज्ञानी'—ज्ञानका अभिमानी था, भक्त न था, इसी से इसका पतन हुआ; यथा—"जे ज्ञान मान विमत्त तव भव हरनि भगति न आदरी। ते पाइ..." (उ० दो०१२); मुनि-स्वरूप पा जानेपर ग्रंथकार अव उसे 'मुनि' कहते हैं। इसने वार-वार वंदना की, पर श्रीरामजी मुख से नहीं वोले, क्योंकि मौन-व्रत में हैं।

(३) 'विनय न मानत जलधि...'—तीन दिन का संकल्प करके वैठे थे। वीत जानेपर कोप किया। विनय न मानने से उसे 'जड़' कहा, क्योंकि वह जड़त्व करनी में ही स्थित है; यथा—"गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कै नाथ सहज जड़ करनी॥" (दो० ५८); 'वोले राम सकोप तव'—अव भी पहले वचन-मात्र का कोप प्रकट कर रहे हैं, क्योंकि मन में उसपर कृपा है; यथा—"माँगत पंथ कृपा मन माहीं।" (दो० ५५); नहीं तो ऐसा कहने की आवश्यकता न थी। जड़ प्राणी भय से प्रीति करते हैं, विनय से नहीं, यह भी जाना गया।

श्रीहनुमान्जी राम-दूत हैं, तव भी उनकी सेवा इसने की थी, क्योंकि उनका पुरुषार्थ पहले ही इसी किनारे देख लिया था। पर श्रीरामजी के माधुर्य में उसे मोह हो गया। जैसे गंगाजी का मोह होना कहा गया था, इसी से यह पुरुषार्थ देखना चाहता है। तव कालरूप रावण के समीप जाने देगा। इसी से आगे श्रीरामजी का भारी वल-पौरुष देखकर इसे हर्ष होना कहा गया है; यथा—"देखि राम वल पौरुष भारी। हरषि पयोनिधि भयो सुखारी॥" (दो० ५९); पहले भी इसपर लिखा जा चुका है। 'भय विनु होइ न प्रीति'—इस कथन से पाया गया कि प्रीति होने के लिये ऊपर से उसपर क्रोध करते हैं, भीतर से क्रोध नहीं है; यथा—"भय देखाइ लै आवहु, तात सखा सुग्रीव।" (कि० दो० १८)।

लछिमन वान - सरासन आनू। सोखउँ वारिधि विसिख कृसानू॥१॥
सठ सन विनय कुटिल सन प्रीती। सहज कृपन सन सुंदर नीती॥२॥
ममतारत सन ज्ञान - कहानी। अति लोभी सन विरति वखानी॥३॥
क्रोधिहि सम कामिहि हरि - कथा। ऊसर वीज वये फल जथा॥४॥

अर्थ—हे लक्ष्मणजी! धनुष-वाण ले आओ, अग्निवाण से समुद्र को सोख लूँ॥१॥ मूर्ख से विनय,

कुटिल से प्रीति, स्वाभाविक कृपण से सुन्दर नीति ॥२॥ जो ममता में अनुरक्त है उससे ज्ञान कहना, अत्यन्त लोभी से वैराग्य बखान करना ॥३॥ क्रोधी से समत्व और कामी से हरि-कथा कहने का वैसा ही फल होता है, जैसा ऊसर में बीज बोने का; अर्थात् व्यर्थ जाता है, जहाँ तृण नहीं जमता, वहाँ और बीज कैसे जमेगा ? ॥४॥

विशेष—(१) 'लछिमन बान सरासन आनू।...'—श्रीलक्ष्मणजी सदा सेवा में सन्नद्ध रहते हैं। अतः, श्रीरामजी के पास थे, श्रीरामजी का धनुष-बाण भी उन्हीं के पास था; क्योंकि वे निरायुध होकर व्रत में बैठे थे। वारि का सोखना कहना है, इसी से समुद्र को वारिधि कहा। यहाँ वचन-द्वारा भय दिखाते हैं।

(२) 'सठ सन बिनय'''—शठ से विनय करना यहाँ प्रस्तुत प्रसंग है, इससे इसे प्रथम कहा, शेष इसी की पुष्टि के लिये उदाहरण हैं। श्रीविभीषणजी की सम्मति से आपने तीन दिनों तक प्रार्थना की, पर इसने नहीं सुनी, इसी से इसे शठ कहते हैं; यथा—"बचन सुनी सठ ताकी बानी। बिहँसा'''" (दो॰ ५६); कुटिल से प्रीति व्यर्थ है; यथा—"मैं खल हृदय कपट कुटिलाई। गुरु हित कहहि न मोहि सुहाई॥" (उ॰ दो॰ १०५); सहज कृपण वह है, जिसकी कृपणता स्वतः स्वभाव से ही है, वह नहीं छूटती, उससे सुन्दर नीति कहना व्यर्थ है। जिसकी कृपणता किसी के संग से हुई रहती है, वह सुन्दर नीति से छूट जाती है।

(३) 'ममता रत सन'''—ममता अँधियारी-रूप है; यथा—"ममता तरुन तमी अँधियारी। राग द्वेष उलूक सुखकारी॥" (दो॰ ४६)। ज्ञान प्रकाश रूप है; यथा—"सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते। ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥" (गीता १४।११); इससे दोनों एकत्र नहीं रह सकते; यथा—"ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी।" (कि॰ दो॰ १५); पूर्ण ममतावाले से ज्ञान-कथन व्यर्थ हो जाता है। वैराग्यवान् को ज्ञानोपदेश लगता है; यथा—"बादि बिरति बिनु ब्रह्म बिचारू॥" (अ॰ दो॰ १७७), वैराग्य का बाधक लोभ है, वही—"अति लोभी सन बिरति बखानी।" यहाँ पर कहा गया है। ऊपर कृपण कहा गया और फिर यहाँ लोभी कहा गया, दोनों में यह अंतर है कि कृपण अपनी वस्तु दूसरे को नहीं देता और लोभी दूसरे की भी वस्तु ले लेता है। कृपणता न देने में और लोभ धन जुटाने में है। 'क्रोधिहि सम'—क्रोध द्वैत-बुद्धि से ही होता है; यथा—"क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान।" (उ॰ दो॰ १११); 'कामिहि हरि कथा'—कामी को हरि-कथा सुहाती ही नहीं; यथा—"इहाँ न बिषय कथा रस नाना॥ तेहि कारन आवत हिय हारे। कामी काक बलाक बिचारे।" (बा॰ दो॰ ३७), लोभी के साथ 'अति' विशेषण भी दिया है, क्योंकि यह अत्यंत बढ़ता जाता है; यथा—"जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई" (लं॰ दो॰ १००); लोभके विषय में 'निन्नानवे का फेर' प्रसिद्ध है। 'बखानी' क्रिया को सबोंके साथ लगा लेना चाहिये। अथवा, क्रिया न देकर कवि ने यह भी लक्षित किया है कि इनकी क्रिया करे ही नहीं, जैसे कि शठ से विनय करना। इसमें 'करना' क्रिया नहीं दी है, अतः, शठ से विनय करनी ही नहीं चाहिये। ऐसे ही औरों में भी लगा लेना चाहिये। ऊसर भूमि कठोर होती है, उसमें बीज उगानेवाला जल प्रवेश नहीं कर पाता। ऐसे ही शठता एवं ममता आदि हृदय में पूर्ण रहती हैं, तो तद्विरोधी बातों के उपदेश हृदय को रुचते ही नहीं।

यहाँ शठ, कुटिल, कृपण, ममतारत, अति लोभी, क्रोधी और कामी ये सात ऊसर भूमि हैं। विनय, प्रीति, सुनीति, ज्ञान-बखानी, विरति, सम और हरि-कथा ये सात बीज हैं। बीज सात कहे गये, क्योंकि सप्त धान्य प्रसिद्ध हैं। सात ही दृष्टान्त शठ आदि के इससे हैं कि सागर सात हैं। और ये सब सागर के प्रति ही कहे जा रहे हैं।

कवि लोग एक विषय की पुष्टि के लिये लोकशिक्षात्मक कई दृष्टान्त देते हैं, जैसे शूर्पणखा ने रावण के प्रति 'राजनीति त्रिनु' की पुष्टि में कई उदाहरण दिये हैं। यह आवश्यक नहीं कि सब बातें प्रस्तुत प्रसंग में ही घटित हों। इससे यहाँ पर सागर में ही शठता के अतिरिक्त सबों के घटाने का श्रम करना अनावश्यक है।

अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा। यह मत लछिमन के मन भावा ॥५॥
संधानेउ प्रभु बिसिख कराला। उठी उदधि - उर अंतरज्वाला ॥६॥
मकर उरग झखगन अकुलाने। जरत जंतु जलनिधि जब जाने ॥७॥
कनकथार भरि मनिगन नाना। बिप्ररूप आयेउ तजि माना ॥८॥

अर्थ—ऐसा कहकर श्रीरघुनाथजी ने धनुष चढ़ाया, यह मत श्रीलक्ष्मणजी के मन को अच्छा लगा। ॥५॥ प्रभु ने कठिन भयंकर बाण धनुष पर चढ़ाया, तब समुद्र के हृदय में अग्नि की ज्वाला उठी ।६॥ मगर, सर्प और मछलियों के समूह व्याकुल हो गये, जब समुद्र ने जीवों को जलते जाना ॥७॥ तब वह सोने के थाल में अनेकों मणियों को भरकर और अभिमान छोड़कर ब्राह्मण-रूप से आया ॥८॥

विशेष—(१) 'असकहि रघुपति चाप चढ़ावा।···'—प्रभु ने सागर पर मन, वचन कर्म से कृपा की, यथा—'बैठे तट प्रभु दर्भ डसाई।'—कर्म से उसे प्रतिष्ठा दी। 'माँगत पंथ कृपा मन माहीं।'—मन से कृपा है और यहाँ 'अस कहि' यह वचन से कृपा की कि डरकर अब भी मार्ग दे दे।

जब न आया, तब दंड देने पर उद्यत हुए। कराल बाण अभी छोड़ा नहीं, केवल अनुसंधानमात्र से उसमें ज्वाला प्राप्त कर दी कि जिससे घबडाकर आ जाय, अन्यथा बाण छूटते ही सागर सूख जायगा; यथा—"सक सर एक सोखि सत सागर।" (दो० ५५), यहाँ तक कृपा है।

यह मत श्रीलक्ष्मणजी को रुचा। श्रीलक्ष्मणजी के मन में तो यह भाव पहले ही से था; यथा—"सोषिय सिंधु करिय मन रोसा।" वही यहाँ घटित हुआ, इससे इनके मन को भाया। समुद्र ने श्रीरामजी का अपमान किया, विनय पर न आया। तब इन्हें क्रोध हुआ, पर प्रभु उसे मान दे रहे हैं। अतएव उनके विरुद्ध उसे दंड न दे सकते थे, जब प्रभु ने ही वैसा कहा तब प्रसन्न हुए। पूर्व कहा गया था यथा "मंत्र न यह लछिमन मन भावा।" उसी के जोड़ में यहाँ कहा गया; यथा "यह मत लछिमन···"।

(२) 'संधानेउ प्रभु बिसिख···'—यहाँ सामर्थ्य प्रदर्शन सम्बन्ध से प्रभु कहा गया है। 'कराला' कह कर उसका कार्य 'उठी उदधि उर··' से दिखाया। 'अंतर'—उसके सर्वांग में, समुद्र भर में।

(३) 'मकर उरग झखगन अकुलाने।···'—समुद्र का जल खौलने लगा, तब उसमें के जीव व्याकुल हो उठे। इन आश्रितों की पुकार से उसके कान खुले। जब श्रीरामजी ने व्रतपूर्वक विनय की, तब उसने नहीं सुना था।

(४) 'कनक थार भरि मनिगन नाना।···'—मणि गण अत्यन्त मूल्य वाले थे, इसीसे सोने के थाल में रखकर लाया। समुद्र में रत्न होते हैं; यथा—"डारहिं रतन तटन्हि नर लहहीं।" (उ० दो० २२)। इसी से वह इन्हें भेंट के लिये लाया, क्योंकि राजा के सामने खाली हाथ न जाना चाहिये; यथा "रिक्त

पाणिर्न गच्छेत राजानं देवतां गुरुम्।" यह प्रसिद्ध है। मणि ही लाया, क्योंकि १४ रत्न निकले थे, तब भगवान् ने कौस्तुभमणि और लक्ष्मी को ही लिया है। समझा कि हम नाना मणि देंगे तो अवश्य प्रसन्न होंगे। पर श्रीरामजी तो दीनता पर रीझते हैं, इससे इसके विनीत वचन पर ही प्रसन्न होंगे। 'बिप्र रूप आयउ'—क्योंकि इनका कुल ब्रह्मण्य है; यथा—"सुर महिसुर हरिजन अरु गाई। हमरे कुल इन्ह पर न सुराई॥" (बा० दो० २७२); भगवान् नररूप में हैं, इससे नररूप में आया।

'तजि माना'—क्योंकि मान छोड़कर शरण होने से प्रभु प्रसन्न होते हैं; यथा—"की तजि मान अनुज इव, प्रभु-पद-पंकज भृंग। होहि···" (दो० ५६); यह भी भाव है कि प्रभु मान देते थे, तब न सुना। अब मान गँवाकर आया।

दोहा—काटेहिं पइ कदरी फरइ, कोटि जतन कोउ सींच।
बिनय न मान खगेस सुनु, डाटेहि पइ नव नीच ॥५८॥

अर्थ—केला काटने ही पर फलता है, चाहे कोई करोड़ों यत्न से उसे सींचे। हे खगेश गरुड़जी! सुनिये, नीच विनय से नहीं मानता, वह तो डाँटने पर ही नम्र होता है। तात्पर्य यह कि नीचों से विनय न करे, डाँट कर काम ले। 'फरइ' का तात्पर्य उत्तम फल लगने का है, केले का वृक्ष जो फल जाय, उसे जड़ से खोदकर निकाल देने पर उसकी संतान रूप और वृक्षों में उत्तम फल पूर्व वृक्षवत् लगते हैं, अन्यथा छोटे होते हुए उसके दो तीन पुश्त में कुछ नहीं फलते। यहाँ 'आत्मा वै जायते पुत्र.' इस नियम को लेकर दृष्टान्त है कि सन्तानों का फलना उसी का फलना है ॥५८॥

विशेष—श्रीरामजी तीन दिनों तक बैठे रहे, विनती की, फिर वचन मात्र से डर भी दिखाया, पर सब उपाय व्यर्थ ही हुए। जब दंड देने पर तुल गये तब वह नम्र होकर आया। जब उपाय व्यर्थ हुए, तब ऊसर बीज की उपमा दी और जब दंड से सफलता देखी, तब सफल केले की भी उपमा दी।

'कोटि जतन कोउ सींच'—विनती और सेवा करना, मान देना यही सींचना है। साम नीति सींचना और दंड नीति काटना है। 'खगेस' सम्बोधन का भाव यह कि इस समुद्र ने एक पक्षी के अंडे भी बहा दिये थे। अगस्त्यजी के दंड देने पर इन्हें (सोखने पर) लौटाया, यही है। कहा भी है; यथा—"नीच निरादर ही सुखद, आदर सुखद बिसाल। कदरी बदरी बिटप गति, पेखहु पनस रसाल॥" (दोहावली ३५४)।

सभय सिंधु गहि पद प्रभु केरे। छमहु नाथ सब अवगुन मेरे ॥१॥
गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी ॥२॥
तव प्रेरित माया उपजाये। सृष्टि हेतु सब ग्रंथन्हि गाये ॥३॥
प्रभु-आयसु जेहि कहँ जस अहई। सो तेहि भाँति रहे सुख लहई ॥४॥

अर्थ—समुद्र ने डर से प्रभु के चरण पकड़ लिये (और बोला) हे नाथ! मेरे सब अवगुण क्षमा कीजिये ॥१॥ आकाश, पवन, अग्नि, जल और पृथिवी इन सब की, हे नाथ! स्वाभाविक ही जड़

करनी है (अर्थात् ये पाँचो जड़ हैं) ॥२॥ सब ग्रंथ कहते हैं कि सृष्टि के लिये आपकी प्रेरणा से माया ने इनको उत्पन्न किया है ॥३॥ हे प्रभो ! जिसको जैसी आपकी आज्ञा है, वह उसी प्रकार रहते हुए सुख पाता है ; अर्थात् पाँचो यदि अपना स्वभाव छोड़ दें तो सभी इन्हें दंड देने लगें कि हमें मार्ग दो, हमें न जलाओ, इत्यादि ॥४।

विशेष—(१) 'सभय सिंधु गहि पद प्रभु केरे।···'—अभी प्रभु बाण को संधान किये हुए हैं, इससे समुद्र डरा हुआ है कि कहीं छोड़ न दें और मैं सूख जाऊँ। इसलिये मन, वचन, कर्म से शरण हुआ। 'सभय'—मन की, 'गहि पद'—कर्म की और 'छमहु नाथ···' यह वचन की शरणागति है। 'सब अवगुन'–आपका गौरव न समझा, विनय न मानी, तीन दिन प्रतीक्षा कराई, सेवा में न आया, इत्यादि। अपराधों को स्वीकार करके क्षमा चाहता है, फिर आगे अपनी सफाई भी दी है कि मेरा दोष नहीं है—

(२) 'गगन समीर अनल जल···'—यहाँ ये पाँचो सृष्टि-क्रम से कहे गये हैं कि इस क्रम से पाँचो की उत्पत्ति होती है ; यथा—"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः ॥ आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः ॥ अग्नेरापः ॥ अद्भ्यः पृथिवी ॥ पृथिव्या ओषधयः ॥··· (तैत्त० २।१) उत्पत्ति-क्रम का विशेष वर्णन भूमिका में देखिये। इसीसे जल (समुद्र) का प्रसंग होते हुए भी उसे पहले नहीं कहा गया। 'सहज जड़ करनी'—पृथिवी पापी-धर्मात्मा सभी को धारण करती और समान गंधवती है, इसे यह विवेक नहीं कि कौन धारण किये जाने के योग्य है और कौन नहीं। ऐसे ही जल सभी को डुबा देता है,अग्नि जला देती है, वायु स्पर्श करता और आकाश अवकाश देता है, योग्यायोग्य का विचार ये सब कोई नहीं करते।

(३) 'तव प्रेरित माया उपजाये।···' ; यथा—"एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहि निज बल ताके॥" (आ० दो० १४) ; 'सृष्टि-हेतु', ये पाँचो ही सृष्टि के कारण हैं आपने इन्हें जड़ ही बनाया है।

(४) 'प्रभु आयसु जेहि···' ; यथा—"ईस रजाइ सीस सबही के। उतपति थिति लय विषहुँ अमी के॥" (अ० दो० २८१) ; आपकी आज्ञा से नियत मर्यादा को छोड़ दूँ तो सभी दंड देने लगेंगे, कोई मार्ग माँगेगा, कोई तरह-तरह के कार्य कराना चाहेगा, तब दुःख ही होगा। यों तो सदा एक रस जड़ रहने से कोई कुछ नहीं कहता।

प्रभु भल कीन्ह मोहि सिख दीन्ही। मरजादा पुनि तुम्हरिय कीन्ही ॥५॥
ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी ॥६॥

अर्थ—हे प्रभो ! आपने अच्छा किया जो मुझे शिक्षा दी, फिर रही मर्यादा, वह तो आपकी ही बनाई हुई है (भाव यह कि मेरे लिये जो मर्यादा आपने सदा से बाँध रक्खी है कि मैं अगाध रहूँ, जड़ बना रहूँ, किसी के उतरने में सहायक न होऊँ—इसे मैंने अभी तक पाला है, अब आप चाहे इसे रक्खें चाहे मिटा दें) ॥५॥ ढोल, गँवार, शूद्र, पशु और स्त्री, ये सब ताड़ना के अधिकारी हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'प्रभु भल कीन्ह मोहिं···'—आपने दंड देकर मुझसे सेवा कराई, सेवा से भला होता है। अतः, आपने मेरी भलाई की। दंड न कहकर शिक्षा कही है, क्योंकि यह मेरी भलाई के उद्देश्य से है। मर्यादा आपकी ही दी हुई है, इसकी रक्षा करनी ही चाहिये ; यथा—"काटिये न नाथ बिषहू को रूख लाइ कै।" (क० उ० ६१)। मैं ताड़ना के योग्य हूँ। अतः, आपने भले ही ताड़ना की। 'प्रभु भल कीन्ह···' की व्याख्या 'ढोल गँवार···' में और 'मरजादा पुनि···' की 'प्रभु प्रताप मैं जाब सुखाई···' में है।

(२) 'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी।···'—इसने अपने (जल-तत्त्व के) वर्णन में पाँचो तत्त्वों को कहा था। इसीसे अपनी गँवारता के साथ भी पाँच दृष्टान्त कहे हैं। इनमें ढोल पहले है, यह जड़ है, क्योंकि प्रस्तुत प्रसंग जड़तत्त्व जल का है। शेष चार चेतन हैं, इन्हें ढोल के पीछे कहकर ढोल के समान जड़ (अज्ञ) सूचित किया। अतः, ये भी ढोल की तरह ताड़ना के अधिकारी हैं। यहाँ ढोल को ताड़ना का नियत अधिकार और ताड़ना का स्वरूप समझना चाहिये। ढोल पहले चढ़ाया जाता है, कसा जाता है; जब तक ठीक स्वर नहीं देता, ठोंका-पीटा भी जाता है। जब वह ठीक ताल-स्वर में मिल गया, तब उसके बजाये जाने से (उसके गुण-विकाश से) लोगों को आनंद मिलता है। सब कहते हैं, बहुत अच्छा ढोल है, इत्यादि प्रशंसा होती है। अतः, बजाया जाना तो उसका गुण-विकाश है, वह ताड़ना नहीं है। ताड़ना चढ़ाये जाने के उपर्युक्त कृत्य हैं, बस, उतनी ही ताड़ना है, वह भी प्रयोजन भर की जाती है। जब ढोल ठीक मिला हुआ होता है तब उसे कोई भी हथौड़ी लेकर नहीं ठोकता। ऐसे ही गँवार, शूद्र, पशु और स्त्रियों में समझना चाहिये कि जब तक ये अपने योग्य गुण-विशिष्ट नहीं होते, इन्हें श्रेष्ठ बनाने की दृष्टि से उचित ताड़ना दी जा सकती है, जैसे पढ़नेवाले बच्चों को अध्यापक लोग समय पर ताड़ना देते हैं। बच्चे ताड़ना के अधिकारी हैं, पर कितने बच्चे ऐसे भी होते हैं कि जिन्हें पाठशाला से उत्तीर्ण होते समय अध्यापकों को कहना पड़ता है कि यह लड़का हमारे हाथ से कभी नहीं मारा गया, इत्यादि।

यहाँ गँवार, शूद्र और पशु के साहचार्य मे कही हुई नारि-समूह से मूर्ख स्त्री-वर्ग पर तात्पर्य है। गँवार शब्द से मूर्ख पुरुष-वर्ग भी साथ ही कहा गया है।

इसके जोड़ की चौपाई; यथा—"संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्हि कै करनी॥" (उ० दो० १२४); है, उसमें पहले 'संत' मात्र चेतन है, शेष चार जड़ हैं, उनका तात्पर्य यह कि परोपकार मे संत जड़ के समान कष्ट सहते हैं, और परोपकार करने से शेष चार जड़ होते हुए भी चेतन के समान हैं।

प्रभु - प्रताप मैं जाब सुखाई। उतरिहि कटक न मोरि बड़ाई॥७॥
प्रभु - आज्ञा अपेल स्रुति गाई। करउ सो बेगि जो तुम्हहिं सोहाई॥८॥

दोहा—सुनत-बिनीत बचन अति, कह कृपाल मुसुकाइ।
जेहि बिधि उतरइ कपि कटक, तात सो कहहु उपाइ॥५९॥

अर्थ—हे प्रभो! आपके प्रताप से मैं सूख जाऊँगा, सेना उतर जायगी, इसमें कुछ मेरी बड़ाई नहीं है॥७॥ (परन्तु) वेद ने आपकी आज्ञा को अपेल (अकाट्य) कहा है, जो आपको अच्छा लगे, वही शीघ्र कीजिये॥८। उसके अत्यन्त विनम्र वचन सुनकर कृपालु श्रीरामजी मुसकरा कर बोले, कि हे तात! जिस प्रकार वानर-सेना पार उतरे, वह उपाय कहिये॥५९॥

विशेष—(१) 'प्रभु प्रताप मैं जाब सुखाई।...प्रभु आज्ञा...'—प्रभो! आपकी आज्ञा पूर्व से मुझे जैसे रहने की थी, मैं वैसा ही जड़ बना। उस आज्ञा को अपेल मानकर भंग नहीं किया, अभी तक किसी को मार्ग नहीं दिया। अब आज्ञा दूसरी हो रही है कि नहीं मार्ग देगा, तो सोख लूँगा। तो जैसा रुचे वैसा कीजिये। चाहे पूर्व की आज्ञा को रखिये और चाहे मिटाइये। मैं दोनों का साथ ही कैसे पालन

कर सकता हूँ ? या तो जड़ ही रहूँगा और या तो चेतन ही। आपका प्रताप बड़वानल-रूप है, उससे मैं तुरत सुखा सकता हूँ; यथा—"प्रभु प्रताप बड़वानल भारी। सोखेउ प्रथम पयोनिधि बारी॥" (लं० दो० १); पर इसमें मेरी कुछ बड़ाई न रहेगी। भाव यह कि मेरी मर्यादा भी आपकी दी हुई है, वह भी रहे, ऐसी कुछ कृपा हो। 'श्रुति गाई'—; यथा—"भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥" (कठो० २।६।२ ; वेद मर्यादा की भी रक्षा करनी ही चाहिये। जिसमें उपर्युक्त बातें सब रहें, ऐसी कुछ कृपा हो : आपकी आज्ञा कोई मिटा नहीं सकता। मुझे भी अब जो आज्ञा हो, वह शीघ्र हो, क्योंकि हृदय में ज्वाला उठी है। इसीसे 'करौ सो बेगि' कहा है।

(२) 'सुनत बिनीत बचन अति...'—विनीत वचन से आप शीघ्र प्रसन्न होते हैं; यथा—"सुनत राम अति कोमल बानी। बालि सीस परसा निज पानी॥" (कि० दो० ८); 'मुसुकाइ'—से अपनी कृपालुता दिखाई; यथा—"हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥" (बा० दो० १९७); कि जिससे उसका भय दूर हो, क्योंकि शरणागत को अभय देना आपका व्रत है; यथा—"मम पन सरनागत भय हारी।" (दो० ४२); या, इसपर भी मुसकाये, कि कहता तो है अपनेको जड़ और काम पंडिताई का कर रहा है, श्रुति आदि के प्रमाणों को आगे कर मुझे ही निरुत्तर करना चाहता है। 'कृपाल'—पहले उसपर क्रोध किया था, अब कृपालु हो गये। 'जेहि बिधि उतरइ...' उसने कहा था—'उतरिहि कटक न मोरि बड़ाई।' उसपर कहते हैं कि ऐसा कोई उपाय कहो, जिसमें मुझे सोखना न पड़े और तुम्हारी बड़ाई बनी रहे, सेना उतर जाय। 'तात' शब्द विभीषण के वचनानुसार उसे कुलगुरु मानने में आदरार्थ है। इस दोहे के प्रथम चरण में एक मात्रा कम है, वह 'अति' के 'ति' को गुरु के रूप में पढ़ने से आ जाती है, ऐसा नियम है।

नाथ नील-नल कपि दोउ भाई। लरिकाईं रिषि-आसिष पाई॥१॥
तिन्हके परस किये गिरि भारे। तरिहहिं जलधि प्रताप तुम्हारे॥२॥

अर्थ—हे नाथ ! नील और नल दोनों वानर भाई हैं, इन्होंने लड़कपन में ऋषि से आशिष पाई है॥१॥ उनके स्पर्श करने से भारी पर्वत भी आपके प्रताप से समुद्र पर तैरेंगे॥२॥

विशेष—(१) 'नाथ नील नल···'—सम्यक प्रकार से परिचय बतलाया—'नील नल'—नाम, 'कपि'—जाति, 'दोउ भाई' से उनका परस्पर सम्बन्ध जनाया। नील को पहले कहकर ज्येष्ठ और नल को छोटा भाई सूचित किया; यथा—"नाम राम लछिमन दोउ भाई।" (कि दो० १); "नाथ बालि अरु मैं दोउ भाई।" (कि० दो० ५)। 'लरिकाईं' से सूचित किया कि इन्होंने लड़कपन से ऋषि का अपराध किया, उनके स्नान करने का पत्थर जल में डुबा दिया। तब ऋषि ने कहा कि आज से जो पत्थर तुम दोनों जल में डालोगे वह नहीं डूबेगा। यह आशिष हो गई। 'पाई'—अकस्मात् ही पा गये, कुछ करके नहीं प्राप्त किया। लड़कपन की बात है, अतएव नील-नल को भी स्मरण न होगी। पर मैं जल-रूप हूँ, मेरे ऊपर न डूबने की आशिष है, इसलिये मुझे मालूम है। ऋषि लोगों ने बालक जानकर इनपर क्रोध नहीं किया, किन्तु बाल-चपलता पर प्रसन्न होकर आशिष दी।

(२) 'तिन्ह के परस किये···'—छोटे-छोटे पत्थरों के उतराने का ही वरदान था, किन्तु भारी-भारी पर्वत उतरायेंगे, यह आपका प्रताप है। पुनः ऋषि की आशिष केवल तैरने की है, यह नहीं कि एक जगह स्थिर रहें एवं एक-दूसरे में मिलकर पुल बने तथा उनपर अपरिमित बोझे की वानरी सेना चले, यह सब प्रभु-प्रताप ही से होगा, इसलिये निमित्त मात्र ऋषि-आशिष रहेगी और सब कार्य राम-प्रताप से ही होगा;

यथा—"महिमा यह न जलधि कै बरनी। पाहन गुन न कपिन्ह कै करनी॥ श्रीरघुबीर प्रताप ते, सिंधु तरे पाषान। ते मति मंद जे राम तजि, भजहिं जाइ प्रभु आन॥" (लं॰ दो॰ ३)।

मैं पुनि उर धरि प्रभु-प्रभुताई। करिहउँ बल अनुमान सहाई॥३॥
येहि बिधि नाथ पयोधि बँधाइय। जेहि यह सुजस लोक तिहुँ गाइय॥४॥

अर्थ—फिर मैं भी हृदय में प्रभु (आप) की प्रभुता धारण करके अपने बल के अनुकूल सहायता करूँगा॥३॥ हे नाथ! इस प्रकार समुद्र बँधाइये जिससे तीनों लोकों में आपका यह सुन्दर यश गाया जाय॥४॥

विशेष—'करिहउँ बल अनुमान सहाई।'—सहायता यह कि ज्वार-भाटा में जल को स्थिर रक्खूँगा बड़े-बड़े जीव जल पर उतरायँगे, उनपर वानर लोग चढ़-चढ़कर पार जायँगे। यह भी मुझ में योग्यता नहीं, किन्तु आपकी प्रभुताई में से ही जितना अंश मुझे प्राप्त होगा उतने ही अंशों में सहायता करूँगा 'जेहि यह सुजस···' – समुद्र पर सेतु बाँधना यह अपूर्व बात होगी। तीनों लोक यश गावेगा; यथा—त्रैलोक पावन सुजस सुर मुनि नारदादि बखानि हैं।" (कि॰ दो॰ ३॰); इस कीर्ति से लोगों के लिये एक भव-सागर का भी सेतु हो जायगा। इसे गा-गाकर लोग तरेंगे; यथा—"जग पावनि कीरति बिस्तरिहहिं। गाइ-गाइ भव-निधि नर तरिहहिं॥" (लं॰ दो॰ ६७)।

येहि सर मम उत्तर तट बासी। हतहु नाथ खल नर अघरासी॥५॥
सुनि कृपाल सागर-मन पीरा। तुरतहि हरी राम रनधीरा॥६॥
देखि राम-बल-पौरुप भारी। हरपि पयोनिधि भयेउ सुखारी॥७॥
सकल चरित कहि प्रभुहि सुनावा। चरन बंदि पाथोधि सिधावा॥८॥

अर्थ—हे नाथ इस बाण से मेरे उत्तर तटवासी पाप की राशि दुष्ट मनुष्यों को मारिये, ॥५॥ सागर के मन की पीड़ा सुनकर कृपालु और रणधीर श्रीरामजी ने उसे तुरत हर लिया॥६॥ श्रीरामजी का भारी बल और पुरुषार्थ देखकर समुद्र हर्षित होकर सुखी हुआ॥७॥ सब (उत्तर तट के दुष्टों के एवं दक्षिण तट के रावण आदि के) चरित कहकर प्रभु को सुनाया और चरणों की वन्दना करके समुद्र चला गया।८॥

विशेष—(१) 'येहि सर मम···'—इससे जान पड़ता है कि श्रीरामजी ने पूछा है कि हम बाण अनुसंधान कर चुके, यह अमोघ है, इसको कहाँ छोड़ा जाय? क्योंकि यह व्यर्थ नहीं हो सकता। तब समुद्र ने उन दुष्टों को बतलाया। श्रीरामजी दुष्टों का वध करते ही हैं; यथा—"तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं॥" (आ॰ दो॰ १८)।

(२) 'सुनि कृपाल सागर···'—उसने अपना सब दुःख सुनाया, पर ग्रंथकार ने सूक्ष्म में जना दिया। सुनकर तुरत पीड़ा हरण की, इससे 'कृपालु' कहा; यथा—"करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइयहि पीर पराई॥" (अ॰ दो॰ ८७), 'तुरतहि हरी' - क्योंकि समुद्र ने शीघ्रता की प्रार्थना भी की थी; यथा—"करहु सो बेगि जो तुम्हहि सोहाई।" बाण का जब तक संहार नहीं किया गया, सम्पूर्ण समुद्र खौलता रहा। पुनः उन दुष्टों की पीड़ा भी उसे असह्य थी ही। श्रीरामजी ने दोनों पीड़ाएँ दूर कीं।

(३) 'रनधीरा' कहे जाने से पाया गया कि उन दुष्टों का मारना बड़ा दुष्कर था, वे दुष्ट प्रबल एवं बहुत थे; यथा—"उग्र दर्शन कर्माणो बहवस्तत्र दस्यवः। आभीरप्रमुखाः पापाः पिबन्ति सलिलं मम॥" (वाल्मी॰ ६।२२।३०)।

(४) 'देखि राम बल पौरुष भारी।···'—शरीर का बल धनुष के खींचने से जाना गया और पुरुषार्थ अग्नि-बाण के प्रयोग एवं उन दुष्टों के वध करने से देखा। सागर श्रीरामजी के माधुर्य में पहले मोहित हो गया था, अब भारी बल-पौरुष देखकर हर्षित हुआ और मन की पीड़ा मिटी, इससे सुखी हुआ। वा, हर्ष का अर्थ रोमांच होना भी होता है; अतः, सुखी हुआ और उसको रोमांच हो आया। वा, 'हरषि' प्रीति करके; यथा—"मत्प्रीती प्रमुदो हर्ष इत्यमरः।" अतः, श्रीरामजी की प्रीति करके सुखी हुआ। इसे अपनी पीड़ा मिटने पर हर्ष न हुआ, किन्तु श्रीरामजी का भारी बल-पौरुष देखकर हर्ष हुआ। यह पूर्व के भाव को प्रकट करता है कि जो पहले माधुर्य में मोहित हो गया था।

(५) 'सकल चरित कहि···'—उत्तर तट के दुष्टों का और रावण का। यह रावण को चारों तरफ से घेरे हुए है, इससे उसका भेद जानता है। अभी तक नहीं सुनाया था कि ये हमारे कुल के हैं, कहीं रावणादि इन्हें ही न जीत लें, जब इनका भारी बल-पौरुष देख लिया तब सुनाया। उपक्रम में—'सभय सिंधु गहि पद···' में इसकी मन, कर्म, वचन की भक्ति कही गई। वैसे यहाँ उपसंहार में भी है—'भयउ सुखारी'—मन की, 'चरित कहि'—वचन की और 'चरन बंदि' यह कर्म की भक्ति है।

छन्द—निज भवन गवनेउ सिंधु श्रीरघुपतिहि यह मत भायऊ।
यह चरित कलिमल-हर जथामति दास तुलसी गायऊ।
सुख-भवन संसय-समन दमन बिषाद रघुपति गुनगना।
तजि सकल आस भरोस गावहि सुनहि संतत सठमना।

अर्थ—समुद्र अपने घर गया, श्रीरघुनाथजी को यह मत अच्छा लगा, यह चरित कलि के पापों का हरने वाला है। श्रीतुलसीदासजी ने (अपनी) बुद्धि के अनुसार इसे कहा॥ श्रीरघुनाथजी के गुण-गण सुख के धाम संशय के निवृत करनेवाले और दुःखों के नाश करनेवाले हैं। अरे शठ मन! सब आशा-भरोसा छोड़कर इन्हें निरंतर गा और सुन॥

विशेष—(१) 'निज भवन गवनेउ···'—समुद्र के रहने का कोई नियत स्थान भी है, जहाँ को चला गया, इस प्रसंग से ऐसा जान पड़ता है। 'रघुपतिहि यह मत भायऊ'—पूर्व कहा गया था—"अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा। यह मत लछिमन के मन भावा॥" और यहाँ कहते हैं—'रघुपतिहि यह मत भायऊ' इसका भाव यह कि वह मत (चाप चढ़ाने का) रघुपति को न भाया था और यह मत भाया; क्योंकि समुद्र की मर्यादा रखने में आप शोभा मानते हैं, इसीसे 'श्री' विशेषण भी है। इसमें आपके भक्त नील-नल की भी कीर्त्ति होगी।

(२) 'यह चरित कलिमल हर···'—'जथामति' से चरित की अनंतता सूचित की; यथा—"हरि गुन नाम अपार, कथा रूप अगनित अमित। मैं निज मति अनुसार, कहउँ उमा सादर सुनहु॥" (बा० दो० १२०)। 'कलि मल हर' अर्थात् पापी लोगों के पाप हरता है और जिस तरह भक्तों का हितकारी है, वह आगे कहते हैं—

(३) 'सुख-भवन संसय-समन···'—ज्ञानी के लिये 'सुख-भवन' है; जिज्ञासु के लिये 'संसय-समन' है, आर्त्त के लिये 'दमन बिषाद' है और अर्थार्थी भक्त के लिये 'सकल सुमंगल दायक' आगे कहा गया है।

पुनः 'कलि-मल-हर'—कलियुग का फल कहा है। कलियुग का प्रधान धर्म राम-चरित-गान है और

कवि का भी वर्त्तमान युग है, इसीसे इसे प्रथम कहा है। 'सुख-भवन'—त्रेता का फल कहा है, क्योंकि—"सब विधि सुख त्रेता कर धरमा।" (उ० दो० १०२); 'संसय-समन' होना ज्ञान का कार्य है और यह सतयुग का धर्म है; यथा—"कृत युग सब जोगी विज्ञानी।" (उ० दो० १०२); 'दमन विषाद'—पूजा का फल है, इससे द्वापर का धर्म है; यथा—"द्वापर करि रघुपति पद पूजा।" (उ० दो० १०२); इस तरह चारों युगों का फल चरित से प्राप्त होना कहा गया है। 'तजि सकल आस भरोस'''अर्थात् सब कामना-पूर्ति की आशा और अन्य देवता का भरोसा छोड़कर निरन्तर अनध्याय-रहित चरित को कहना सुनना चाहिये; यथा—"और आस विश्वास भरोसो हरु जिय की जड़ताई।''हेतु रहित अनुराग राम पद बढ़उ अनुदिन अधिकाई॥" (वि० १०३)। 'संतत'; यथा—"रामहि सुमिरिय गाइय रामहि। संतत सुनिय राम गुन ग्रामहि।" (उ० दो० १२९); 'सठ मना'—क्योंकि बारम्बार उपदेश सुनकर भी मन मूढ़ता नहीं छोड़ता।

दोहा—सकल सुमंगलदायक, रघुनायक-गुन-गान।
सादर सुनहिं ते तरहिं भव-सिंधु बिना जलजान ॥६०॥

॥ इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने ज्ञानसम्पादनो नाम ॥

॥ पञ्चमः सोपानः समाप्तः ॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी का गुण-गान समस्त सुन्दर मङ्गलों का देनेवाला है, जो इसे आदर-सहित सुनते हैं, वे बिना किसी जलयान (नाव आदि जल की सवारियों) के भव-सागर तर जाते हैं॥६०॥

इस रामचरितमानस में कलि के सम्पूर्ण पापों का नाश करनेवाला ज्ञान-प्रापक नाम का पाँचवाँ सोपान समाप्त हुआ। ५।

विशेष—(१) यहाँ ग्रंथकार वक्ता लोगों की ओर से फल-श्रुति कहते हैं—'सकल सुमंगलदायक' अर्थात् अर्थ, धर्म और काम का देनेवाला है। पुनः 'तरहिं भव' अर्थात् मोक्ष भी देता है। इस प्रकार चारों फलों के द्वारा लोक-परलोक दोनों का सुख देता है। 'बिना जलजान'—क्योंकि श्रीरामजी ने समुद्र पर सेतु-निर्माण का निश्चय किया, जिससे बिना जलयान के लोग पैदल ही समुद्र पार कर लेंगे। इससे इस चरित के द्वारा भी लोग बिना किसी कर्म, ज्ञान आदि सवारियों पर आरूढ़ हुए ही भवसिंधु को तर जायँगे। वा, रघुनायक-गुणगान के समक्ष भवसिंधु को बिना जल का ही जानो, मानो उसमें जल है ही नहीं, वह ऐसा सूख जाता है; यथा—"नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं।" और इस कांड में नाम-माहात्म्य प्रधान है, महारानीजी इसी के आधार पर जीती हैं, यथा—'नाम पाहरु'''।' (दो० ३०)

पहले गाना और सुनना दोनों कहा था, यथा—"गावहिं सुनहिं संतत" अब क्रमशः पृथक्-पृथक् दोनों का फल कहते हैं कि गुणगान 'सकल सुमंगल दायक' है और सादर श्रवण 'तरहिं भव' के अनुसार भव-तारक है।

(२) इस कांड को ज्ञान-सम्पादक कहा है, क्योंकि ऊपर भव-तरण इसका फल कहा गया है। पुनः इस कांड में श्रीहनुमानजी के चरित के द्वारा श्रीरामजी का तेज प्रभाव जानकर श्री विभीषणजी दुःसंग छोड़कर श्रीरामजी की शरण हुए, यह ज्ञान का गुह्यतर तात्पर्य है; यथा—"तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया" (गीता १८।६२-६३)। इसीसे इसका माहात्म्य भी ज्ञान-प्रापक है, इसके द्वारा जीव श्रीरामजी की शरण होंगे—यही उन्हें ज्ञान-प्राप्त होना है।

—०—

श्रीरामचरितमानस

(सिद्धान्त-तिलक-सहित)

षष्ठ सोपान (लंकाकाण्ड)

दोहा—लव निमेष परमानु जुग, बरष कलप सर चंड।
भजसि न मन तेहि राम कहँ, काल जासु कोदंड ॥

शब्दार्थ—परमानु (परमाणु) अत्यन्त सूक्ष्म काल भेद, एक परमाणु पदार्थ अपनी गति में जितना समय लेता हो। पलक लगना भर निमेष कहा जाता है, ऐसे-ऐसे ३६ निमेषों का एक लव होता है, यथा—"अष्टादश निमेषास्तु काष्ठाद्वयं लवः" (इति हेमचन्द्रः) = १८ निमेषों की काष्ठाओं और दो काष्ठाओं का लव होता है। ब्रह्मा का एक दिन कल्प कहलाता है। चारों युगों के १००० बार बीतने पर ब्रह्मा का एक दिन पूरा होता है। चंड - तीक्ष्ण, काल यह संबंधसत्ता जिसके द्वारा भूत, भविष्यत् और वर्तमान की प्रतीति होती है। एक घटना दूसरी से आगे-पीछे समझी जाती है वेदान्त के मत से काल अनित्य और वैशेषिक मत से नित्य द्रव्य माना गया है। कोदंड = धनुष। युग = चार हैं—सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलि। सतयुग १७२८००० वर्षों का, त्रेता १२९६००० वर्षों का, द्वापर ८६४००० वर्षों का और कलि ४३२००० वर्षों का होता है। कलि के अब तक ५००० से कुछ अधिक वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।

अर्थ—लव, निमेष, परमाणु, युग, वर्ष और कल्प ही जिनके प्रचंड बाण हैं, और काल जिनका धनुष है, उन श्री रामजी को, हे मन! तू क्यों नहीं भजता?

विशेष—इस लंकाकांड में युद्ध होने के सम्बन्ध से श्रीरामजी की नित्य वीर-रस-मूर्ति का मंगलाचरण किया गया है। महत् (अखंड, समष्टि) काल प्रभु का धनुष है और उसके अंतर्गत परमाणु से कल्प तक के जो छोटे-बड़े काल-भेद हैं, वे उनके बाण हैं, जो उसमें (धनुष) से निकल-निकलकर कीट से ब्रह्मादि-पर्यंत को लगा करते हैं। इनमें परमाणु, निमेष और लव, ये छोटे-छोटे तथा वर्ष, युग और कल्प बड़े-बड़े बाण हैं। कीट पतंग आदि कोई-कोई तो जन्मते ही—परमाणु में ही मर जाते हैं, कोई निमेष में और कोई लव में; इसी तरह घड़ी, प्रहर, दिन, मास आदि को भी समझना चाहिये। कोई-कोई तो बड़े बाण से अर्थात् वर्षों, युगों एवं कल्पों की संख्या में मरते हैं। ये बाण निरन्तर चला ही करते हैं। कभी ब्रह्मांडों का भी नाश हो जाता है, यथा "उमरि तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥ जीव चराचर जंतु समाना। भीतर बसहिं न जानहिं आना॥ ते फल भच्छक कठिन कराला। तव डर डरत सदा सोउ काला॥" (आ० दो० १२)।

यहाँ 'काल' उपमान और 'कोदंड' उपमेय है, तथा 'चंड सर' उपमेय और लव, निमेष, परमाणु, युग, वर्ष और कल्प उपमान हैं। काल को कोदंड कहा गया है, क्योंकि दोनों का धर्म वक्रता और नाश

करना है। काल किसी पर दया नहीं करता अर्थात् इससे कोई बच नहीं सकता; यथा—"अंड कटाह अमित लयकारी। काल सदा दुरतिक्रम भारी॥" (उ० दो० ९३); यही इसकी वक्रता और नाश-कर्तृत्व है। जैसे महत् काल में अगणित लव एवं कल्प आदि बीतते हैं, वैसे ही धनुष से भी अगणित छोटे-बड़े बाण निकला करते हैं। 'सर चंड' क्योंकि ये बाण अव्यर्थ होते हैं; यथा—"जिमि अमोघ रघुपति के बाना।" (सुं० दो० १); कहा ही गया है।

काल ही समष्टि और व्यष्टि भेद से धनुष और बाण दोनों है; यथा—"काम कुसुम धनु सायक लीन्हें। सकल भुवन अपने बस कीन्हें॥" (बा० दो० २५६); आगे काल ही को तर्कश भी कहा गया है; यथा—"सरन्हि भरा मुख सनमुख धावा। कालत्रोन सजीव जनु आवा॥" (दो० ९१)।

काल से बचने के लिये यहाँ श्रीगोस्वामीजी राम-भजन करने का उपदेश देते हैं; यथा—'भजसि न मन···' अर्थात् श्रीरामजी के भजन करने से काल-रूपी बाणों से बार-बार नहीं छेदा जायगा, क्योंकि भजन से भय छूट जाता है; यथा—"कबहूँ काल न व्यापिहि तोहीं। सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोहीं॥" (उ० दो० ८७); श्रीरामजी ने लंका के और-और निशाचरों को काल के वश किया, परन्तु भजन के प्रभाव से भक्त श्रीविभीषणजी को बचा लिया।

यहाँ लव, निमेष आदि व्यष्टि काल यथाक्रम नहीं लिखे गये, जैसे 'जुग' कह कर 'बरष' कहा और फिर कल्प कहा गया है। क्रमानुसार युग के पहले वर्ष कहा जाना चाहता था। क्योंकि कालरूपी बाण नियमित एवं क्रम से नहीं चलते। जिसकी जभी आयु पूरी हो जाती है, तभी वह मारा जाता है। एक योनि के भी जीवों की आयु का निश्चित काल नहीं रहता कि वे अपने काल को जानें और तदनुसार ही मरें।

सब कांडों के आदि के मङ्गलाचरण श्लोकों में हैं, परन्तु इस कांड का दोहे में ही है। यह ग्रन्थ प्रेम-प्रधान है अतः, इसमें कोई नियम-निर्वाह नहीं पाया जाता है। बहुत-सी प्राचीन प्रतियों में यह दोहा श्लोकों के नीचे भी है और बहुतों में ऊपर। नीचेवालों का भाव यह है कि इस कांड को ग्रंथकार ने अग्निबीज 'रा' से संपुटित किया है। क्योंकि आदि में 'रामं कामारिसेव्यं' और अंत में 'आन अधार' है। श्लोक के ऊपर दोहे का पाठ माननेवालों का भाव यह है कि इस कांड के प्रारंभ में कवि के हृदय में शंका हुई कि श्रीरामजी ब्रह्मण्यदेव हैं, और रावण ब्राह्मण-कुल का है। अतः, इसका वध करना कैसे युक्ति-संगत होगा? इसी पर श्रीहनुमान्‌जी ने यह दोहा लिख दिया कि श्रीरामजी तो दिन-रात चराचर का नाश किया ही करते हैं, एक दुष्ट रावण के परिवार का नाश करने में संदेह की कौन बात है? अतएव श्रीगोस्वामीजी ने इसे अपने नियम से भिन्न आदि में रक्खा और आगे लिख चले। अथवा, यहाँ वीर-रस-प्रधान मंगलाचरण किया गया, क्योंकि युद्ध-कांड में यह आवश्यक है।

इस दोहे के ऊपर रहने से १ दोहा और उसके नीचे के १ श्लोक में श्रीरामजी का मंगलाचरण साथ ही में हो जाता है और इनके नीचे के दो श्लोकों में श्रीशिवजी का मंगलाचरण है। दोहे को श्लोकों के नीचे कर देने से यह क्रम भंग हो जाता है।

इस छठे सोपान की प्रसिद्धि लंकाकांड के नाम से भी है, क्योंकि इसमें लंकाक्रमण से चरित का उपक्रम है। वाल्मीकीय रामायण में इसे युद्ध-कांड कहा गया है, क्योंकि वहाँ युद्ध के उद्योग से चरित लेकर उपक्रम है। किष्किंधा से ही सेना सजाकर समुद्र-तट पर आना, श्रीविभीषणजी का लंका त्याग कर मिलना, शुक-सारन की कथा, समुद्र के ऊपर कोप आदि के प्रसंग की कथायें युद्ध की ही भूमिका-रूप में हैं।

राम॑ कामारिसेव्यं भवभयहरणं कालमत्तेभसिंहं
योगीन्द्रं ज्ञानगम्यं गुणनिधिमजितं निर्गुणं निर्विकारम् ।
मायातीतं सुरेशं खलवधनिरतं ब्रह्मवृन्दैकदेवं
वन्दे कन्दावदातं सरसिजनयनं देवमुर्वीशरूपम् ॥१॥

शब्दार्थ—मत्तेभ = मत्त + इभ = मतवाला हाथी। कंदावदातं = कंद + अवदातं (कं = जल, द = देनेवाले = बादल, बरसनेवाले श्याम मेघ, अवदात = शुभ्र, सुंदर) = श्याम मेघ के समान सुंदर; यथा—"सान्द्रानंदपयोद-सौभगतनुम् ।" (श्रा० मं०)।

अर्थ—काम के शत्रु श्रीशिवजी के द्वारा सेवा के योग्य, जन्म-मरण के भय हरनेवाले, काल-रूपी मतवाले हाथी के लिये सिंह-रूप, योगियों के स्वामी, ज्ञान से जानने योग्य, गुणों के सागर, किसी से न जीते जाने योग्य, सत्त्व, रज और तम से रहित, विकार-रहित, माया से परे, देवताओं के स्वामी, दुष्टों के वध मे तत्पर, ब्राह्मण-समूह के एकमात्र देवता, मेघ के समान (श्याम) सुन्दर, कमल-नयन, पृथिवीपति राजा के रूप मे देव श्रीरामजी की मैं वंदना करता हूँ ॥१॥

विशेष—(१) यह स्रग्धरावृत्त है, इसके चारों चरण २१-२१ अक्षरों के होते हैं, प्रत्येक चरण मे क्रमशः 'म र भ न य य य' गण होते हैं, आदि में मगण है, इसका देवता भूमि है और फल श्रीप्राप्ति है। इस कांड में श्रीरामजी निज श्रीजी को तथा विजय-श्री को प्राप्त करेंगे। यह वृत्त मानस-भर में केवल दो ही जगह है। एक यह और दूसरा उत्तर कांड के मंगलाचरण मे है।

(२) 'कामारिसेव्यं'; यथा—"सिव बिरंचि सुर जाके सेवक।" (दो० ६२); "ब्रह्मादि संकर सेव्य राम···" (दो० ११३); 'सेव्य' के योग से कामारि पद युक्ति-सिद्ध है। भाव यह है कि जीव कामनाओं का शत्रु हो जाय, उन्हें जीत ले, तब उसका हृदय भजन करने के योग्य होता है; यथा—"जब लगि भजत न राम कहँ, सोक धाम तजि काम।" (सुं० दो० ४६); "केहि प्रकार पाइय हरि हृदय बसहिं बहु काम।" (वि० २०१)।

'भव-भय-हरणं'—जन्म-मृत्यु का दुःख ही भव-भय है; यथा—"जनमत मरत दुसह दुख होई। यहि स्वल्पहु नहिं व्यापिहि सोई।" (उ० दो० १०८); अर्थात् हरिभक्त को जन्म-मृत्यु के दुःख व्याप्त नहीं होते। यथा—"राम-चरन दृढ़ प्रीति करि, बालि कीन्ह तनु त्याग। सुमन-माल जिमि कंठ ते, गिरत न जानै नाग ॥" (कि० दो० १०)।

'कालमत्तेभसिंहं'—जिस तरह मतवाला हाथी यदि किसी पर धावा करता है, तो किसी के भी फेरे नहीं फिरता। वैसे ही काल की गति भी अनिवार्य है; यथा—"अंड कटाह अमित लयकारी। काल सदा दुरतिक्रम भारी" (उ० दो० ९३); इसी से इसे मत्त गज कहा गया है। सिंह मत्त गज का भी नाश करनेवाला है, इसीसे श्रीरामजी को सिंह-रूप कहा गया, क्योंकि वे काल के भी काल हैं; यथा—"तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेश्वर कालहुँ के काला ॥" (सुं० दो० ३८); "काल व्याल कर भच्छक जोई।" (दो० ५०); तब श्रीरामजी के लिये रावण-वध कुछ भी कठिन नहीं है।

(३) 'योगीन्द्र'; यथा—"महायोगेश्वरो हरिः ।" (गीता ११।९); "योगेश्वरात्कृष्णात्"

(गीता १८।७५); 'ज्ञानगम्यं'; यथा—"ज्ञान गम्य जय रघुराई।" (बा० दो० २१०); 'गुणनिधिं'—श्रीरामजी करुणा, क्षमा, सौशील्य आदि दिव्य गुणों के सागर हैं; यथा—"विनय-सील-करुना-गुन-सागर।" (बा० दो० १८७); "गुन-सागर नागर वर वीरा।" (बा० दो० २४०); "गुणैर्विरोचते रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः॥" (वाल्मी० २।१।४०); 'अजितं'; यथा—"समदरसी अनवद्य अजीता॥" (उ० दो० ७१); 'निर्गुणं'; यथा—"जय सगुन निरगुन रूप···" (उ० दो० १२); 'निर्विकारं' अर्थात् षड्विकार-रहित; यथा—"सकल विकार-रहित गत भेदा।" "चिदानंदमय देह तुम्हारी। विगत विकार जान अधिकारी॥" (अ० दो० १२६)।

यहाँ के सभी विशेषण साभिप्राय हैं कि जिससे इस कांड के चरित में किसी को संशय नहीं हो और इन विशेषणों के द्वारा आगे की कथा का भी दिग्दर्शन करा दिया गया है।

'कमारि सेव्यं' का भाव यह है कि जिसे काम का जीतनेवाला सेवेगा, वह काम-वश कैसे हो सकता है? अतः प्रभु का सीता-विरह से पीड़ित होकर सेतु-बाँधने के लिये उतावली करना उनकी लीला-मात्र है। पुनः वे श्रीशंकरजी से सेवित हैं; तो लिंग-स्थापना पर शंका नहीं, यह तो उन्होंने माधुर्य-रूप से श्रीशिवजी को बड़ाई दी है; यथा—"गिरिजा रघुपति कै यह रीती। संतत करहिं प्रनत पर प्रीती॥" (दो० २); श्रीशिवजी ने अपना सेव्य मानकर ही रावण-वध पर आकर स्तुति की और वरदान माँगा है। 'भव भय हरणं' और 'कालमत्तेभसिंहं' से सूचित किया गया कि जो प्राणि-मात्र का भव-भय छुड़ाता है, उसे कोई भय में पड़ा हुआ प्राणी क्या भय दे सकता है? और जो काल का भी नाशक है, उसे काल के समान कोई भी प्राणी क्या दुःख दे सकता है? अतः, मेघनाद के द्वारा नागपाश-बंधन, काल के समान कुंभकर्ण का आक्रमण एवं मेघनाद की ब्रह्म-शक्ति-द्वारा उत्पन्न बाधा उन्हें क्या कर सकती है? आपने केवल रण-शोभा के लिये ही वैसा अभिनय किया है। ये सब ऊपर से खेल-मात्र हैं; यथा—"प्रभु कृत खेल सुरन्ह बिकलई।" (दो० ४४); "बेहि पापिहि मैं बहुत खेलावा।" (दो० ९५); "अब जनि राम खेलावहु येही।" (दो० ८५)। 'योगीन्द्रं'—परम योगीश्वर हैं, अतएव रावण के नाभिकुंड के अमृत की व्यवस्था भी जानते हैं, केवल श्रीविभीषणजी की प्रीति की परीक्षा के लिये आपने इसके विषय में उनसे पूछा है; यथा—"सो प्रभु कर जन प्रीति परीक्षा।" (दो० १०१); योगीन्द्र भी माधुर्य में हैं, नहीं तो ये तो स्वयं योगियों के ज्ञान के विषय हैं 'ज्ञान गम्य' हैं। 'अजितं' अजेय हैं, तो इन्हें कोई कैसे जीत सकता है? यथा—"सुनु गिरिजा क्रोधानल जासू।···सक संग्राम जीति को ताही।···यह कौतूहल जानइ सोई···" (दो० ५४)।

'निर्गुणं'—रण में क्रोध आदि लीला भी करेंगे, वह ऊपर से दिखावट-मात्र ही होगी, क्योंकि आप तो सभी गुणों से परे है। 'निर्विकारं'—श्रीलक्ष्मणजी के शक्ति लगने पर आपने जो प्रलापादि अभिनय किये हैं वे मोह आदि विकार से नहीं हैं, केवल नर-नाट्य दिखाने के लिये हैं। 'मायातीतं'—माया से अतीत (परे) हैं, तब आप पर मेघनाद और रावण की माया कैसे लग सकती है? यथा—"जासु प्रबल माया बस···ताहि दिखावै निसिचर···" (दो० ५१); 'सुरेशं'—देवताओं के स्वामी हैं। अतः, उनके शत्रु राक्षसों को मारेंगे और तब इन्द्रादि आकर इनकी स्तुति भी करेंगे। इसीसे 'सुरेशं' के साथ ही 'खलवध-निरतं' भी कहा गया है। पुनः 'ब्रह्मवृंदैकदेवं' भी कहा गया है, क्योंकि ब्राह्मण और देवताओं के लिये ही तो ये खलों का वध करते हैं। 'कंदावदातं सरसिजनयनं'—से अभयप्रद और कृपालु जनाये गये; यथा—"श्यामल गात प्रनत भय मोचन।" (सुं० दो० ४४); "कृपा दृष्टि करि वृष्टि प्रभु, अभय किये सुर वृंद।" (दो० १०३)।

'उर्वीश रूपं'—आप चक्रवर्ती राजा के रूप में हैं। अतः, रावण को दंड देकर श्रीविभीषणजी को राजा बनावेंगे। 'देवं'—इससे देवता ब्रह्मा, शिवजी एवं इन्द्रादि भी आकर स्तुति करेंगे और वरदान माँगेंगे।

इस श्लोक मे १६ विशेषण देकर श्रीरामजी को सोलहो कलाओं से पूर्ण ब्रह्म प्रकट किया गया है। 'ब्रह्म वृंदैकदेवं' से यह भी जनाया गया कि जो इन्हें इष्टदेव नहीं मानकर और देवों की आराधना करते हैं वे ब्राह्मण नहीं हैं।

शङ्खेन्द्वाभमतीवसुन्दरतनुं शार्दूलचर्माम्बरं
कालव्यालकरालभूषणधरं गङ्गाशशाङ्कप्रियम्।
काशीशं कलिकल्मषौघशमनं कल्याणकल्पद्रुमं
नौमीड्यं गिरिजापतिं गुणनिधिं कन्दर्पहं शङ्करम् ॥२॥

BHARATI(A) S N

शब्दार्थ—शार्दूल = सिंह, शशाक = चन्द्रमा, ओघ = समूह, ईड्यं = वंदनीय।

अर्थ—शंख और चन्द्रमा की कान्ति के समान अत्यन्त सुन्दर शरीरवाले, सिंह के चर्म जिनके वस्त्र हैं, काल के समान भयंकर सर्प एवं मुण्डमाल आदि भयंकर भूषण धारण करनेवाले, गंगा और चन्द्रमा जिनके प्रिय हैं, काशी के स्वामी, कलि के पाप-समूह को नाश करनेवाले, कल्याण के कल्पवृक्ष गुणों के समुद्र, काम को भस्म करनेवाले, (जगत्) वंदनीय, श्रीपार्वतीजी के पति श्रीशंकरजी को मैं नमस्कार करता हूँ ॥२॥

विशेष—(१) शंख स्वच्छ सचिक्कण होता है, चन्द्रमा उज्ज्वल और प्रकाशयुक्त होता है। इनसे सचिक्कण, कान्तियुक्त और गौर वर्ण कहा गया है; यथा—"कुंद इंदु दर गौर सरीरा॥" (बा० दो० १०५), 'शार्दूलचर्माम्बरं कालव्यालकरालभूषणधरं' से वैराग्यवान् और समर्थ भी जनाया, 'गंगाशशाङ्कप्रियम्'—गंगाजी श्रीरामजी के चरण से उत्पन्न हुई हैं। अत, चरणामृत-रूपा हैं, उन्हें शिर पर धारण करने से ये उच्च कोटि के राम-भक्त हैं। द्वितीया का चन्द्रमा क्षीण तथा कलाहीन है, अपने ललाट पर धारण करके उसे जगद्वन्द्य कर दिया। अतएव आश्रितपाल एवं दीनदयालु हैं; यथा—"यमाश्रितोहि वक्रोऽपि चन्द्र. सर्वत्र वंद्यते।" (बा० मं०); "जटा मुकुट सुर सरित सिर''सोह बाल बिधु भाल।" (बा० दो० १०६); तथा—"भाले बालविधुर्गले च गरलं यस्योरसि व्यालराट्।" (अ० मं०) भी देखिये। श्रीशिवजी को गंगाजी और चन्द्रमा दोनों प्रिय हैं, इसीसे काशी मे चन्द्रग्रहण का विशेष कर सोमवती अमावास्या मे गंगास्नान का अधिक माहात्म्य है।

इसमें श्रीशिवजी के बारह विशेषण दिये गये हैं, इससे इन्हें द्वादशांग-पूर्ण दिखाया गया है। शिवजी के लिंग-स्वरूप भी द्वादश ही हैं। अंग भी द्वादश माने गये हैं, इसी से वैष्णवों मे द्वादश-तिलक का विधान कहा जाता है। इसी तरह चन्द्रमा को सर्वांग-दूषित करते हुए प्रभु ने उसमे द्वादश अवगुण कहे हैं—देखिये बा० दो० २३७ भी। यह शार्दूलविक्रीड़ित छंद है।

यो ददाति सतां शम्भुः कैवल्यमपि दुर्लभम्।
खलानां दण्डकृद्योऽसौ शंकरः शं तनोतु मे ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—सतां=सत् (सज्जन) को। अपि=निश्चय। शं=कल्याण।

अर्थ—जो शङ्करजी सज्जनों को निश्चय ही दुर्लभ कैवल्य मुक्ति देते हैं और दुर्जनों को दंड देनेवाले हैं, वे मेरे कल्याण का विस्तार करें।

विशेष—कैवल्य मुक्ति अत्यन्त दुर्लभ है ; यथा—"अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद ॥" (उ० दो० ११८) ; यह बड़े सुकृत एवं साधनों का फल है ; अर्थात् श्रीशिवजी पुण्यों के फलदाता हैं। पुनः—'खलानां दण्डकृद्यो······' ; यथा—"जौ नहिं दण्ड करउँ खल तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा ॥" (उ० दो० १०६) ; अर्थात् पापी के फलदाता हैं। पुण्य-पाप दोनों के फल-दातृत्व से इनमें 'ईश्वरत्व' कहा गया है।

सेतुबंध-प्रकरण

सो०—सिंधु बचन सुनि राम, सचिव बोलि प्रभु अस कहेउ।
अब बिलंब केहि काम, करहु सेतु उतरइ कटक ॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामचन्द्रजी ने समुद्र के वचन सुनकर मंत्रियों को बुलाकर ऐसा कहा कि अब किस कार्य के लिये देर कर रहे हो ? (शीघ्र) पुल बाँधो, जिससे सेना पार उतरे।

विशेष—(१) 'सिंधु बचन' ; यथा—"*नाथ नील नल कपि दोउ भाई।*" से "जेहि यह सुजस लोक तिहुँ गाइय ॥" तक (सुं० दो० ५६) ; यह सुन्दरकांड के अन्त में है। इसे लंकाकांड के आदि में देकर इस कांड का उससे सम्बन्ध मिलाया गया है। 'राम' शब्द का भाव यह है कि भक्तों को रमानेवाले हैं, उन्हें बड़ाई देने के लिये उनसे भी पूछते हैं ; यथा—"संतत दासन्ह देहु बड़ाई। ताते मोहि पूछेहु रघुराई ॥" (आ० दो० १२) ; 'प्रभु' का भाव यह है कि आप स्वयं सभी कामों के लिये समर्थ होते हुए भी राजा हैं, अतएव राजनीति-रक्षा के लिये मंत्रियों से पूछकर कार्य करते हैं ; यथा—"जद्यपि प्रभु जानत सब बाता। राजनीति राखत सुर त्राता ॥" (कि० दो० १२), राजा को उचित है कि वह राजनीति के कार्य मंत्रियों की सम्मति से ही करे। 'प्रभु' से जानने में भी समर्थ जनाया, पर नर-नाट्य से ऐसा कहते हैं, मानों समुद्र के कहने से ही आपने जाना है।

(२) 'अब बिलंब केहि काम······'—जब तक समुद्र पार करने का कोई उपाय निश्चित नहीं हुआ था, तब तक तो देर हुई ही। अब तो उपाय का निश्चय हो गया, अतः, किस कार्य के लिये देर है ? भाव यह कि शीघ्र सेतु का कार्य प्रारंभ होना चाहिये। श्रीहनुमान्जी ने कहा था—"जौं रघुबीर होति सुधि पाई। करते नहिं बिलंब रघुराई ॥" (सुं० दो० १५) ; वे वचन यहाँ चरितार्थ हुए। आतुरता का कारण श्रीमहारानीजी की दशा की स्मृति है, यथा—"निमिषि निमिषि करुनानिधि, जाहिं कलप सम बीति ॥" (दो० ३१)।

'करहु सेतु उतरइ कटक'—भाव यह है कि ऐसा भारी सेतु रचो, जैसा कटक है, सेना बहुत भारी है ; यथा—"द्वितीय इव सागर." (वाल्मी० ६।१।१०४) ; अतएव वानरों ने वैसे ही सेतु की रचना भी की है—४० कोस चौड़ा और ४०० कोस लंबा।

सुनहु भानु-कुल-केतु, जामवंत कर जोरि कह।
नाथ नाम तव सेतु, नर चढ़ि भव-सागर तरहिं ॥

अर्थ—श्रीजाम्बवान्‌जी हाथ जोड़कर बोले, हे सूर्यकुल के ध्वजा-रूप (श्रेष्ठ) श्रीरामजी सुनिये, हे नाथ! आपका (तो) नाम (ही) पुल है, (उसपर) चढ़कर मनुष्य भवसागर पार होते हैं।

विशेष—(१) श्रीजाम्बवान्‌जी श्रीब्रह्माजी के पुत्र हैं, अतएव बुद्धि में ब्रह्माजी के तुल्य हैं, इसीसे बहुत-से मंत्रियों में से केवल इन्होंने ही कहा। मंत्री को हाथ जोड़कर राजा की स्तुति करके तब सलाह देनी चाहिये। इसलिये पहले हाथ जोड़कर बड़ाई करते हैं। रचना करना ब्रह्माजी का कार्य है, इससे भी इस विषय में ये ही प्रधान वक्ता हुए। 'भानु-कुल-केतु'—सूर्य-वंश तेज-प्रताप में प्रसिद्ध है, उस कुल के भी आप सुशोभित करनेवाले हैं; क्योंकि आपने धनुर्भंग एवं परशुराम-पराजय आदि कठिन कार्य किये हैं। फिर समुद्र पर सेतु रचने का उद्योग भी आप ही के योग्य है।

(२) 'नाथ नाम तव सेतु······'; यथा—"जासु नाम सुमिरत एक बारा। उतरहिं नर भव-सिंधु अपारा॥ सोइ कृपालु केवटहि निहोरा।" (अ॰ दो॰ १००); यह—'करहु सेतु उतरइ कटक' का उत्तर है कि जब आपका नाम ही ऐसा प्रभावशाली है, तब जहाँ आप स्वयं उपस्थित हैं, वहाँ इस छोटे-से समुद्र का पार करना कौन-सी बड़ी बात है। यही आगे कहते भी हैं; यथा—'यह लघु जलधि तरत कति बारा।'

इस कांड का उपक्रम नाम-माहात्म्य से हो रहा है, उपसंहार में भी कहेंगे; यथा—"श्रीरघुनाथ नाम तजि, नहिं कछु आन अधार।" इसका भाव यह है कि यह सोपान 'विमल विज्ञान-सम्पादन' है, उसके लिये नाम से बढ़कर दूसरा साधन नहीं है; यथा—"राम सकुल रन रावण मारा।···सेवक सुमिरत नाम सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोह-दल जीती॥ फिरत सनेह-मगन सुख अपने। नाम-प्रसाद सोच नहिं सपने॥" (बा॰ दो॰ २४); यही विमल विज्ञान की अवस्था है।

श्रीरामजी ने कहा था—देर क्यों हो रही है? उसपर श्रीजाम्बवान्‌जी ने आश्वासन दिया कि यह काम तो बहुत सहल है, अभी हुआ जाता है—

यह लघु जलधि तरत कति बारा। अस सुनि पुनि कह पवनकुमारा॥१॥

अर्थ—यह छोटा-सा समुद्र पार करने में कितनी देर लगेगी? (अर्थात् अति शीघ्र ही पार उतर जायँगे), ऐसा सुनकर फिर श्रीहनुमान्‌जी बोले॥

विशेष—(१) 'यह सागर' भव-सागर की अपेक्षा अत्यन्त छोटा है। इसे सगर के पुत्रों ने खोदा, और देवासुरों ने मथा, श्रीअगस्त्यजी ने इसे पी लिया और श्रीहनुमान्‌जी ने इसे लाँघा है, अतएव यह परिमित ही है। किंतु भवसागर का आदि-अंत अभी तक नहीं मिला; यथा—"विधि प्रपंच अस अचल अनादी॥" (अ॰ दो॰ २८१), इसके पार होने में अनेक मत हैं, ऐसा दुस्तर सागर भी आपके नाम से शीघ्र ही सूख जाता है; यथा—"नामलेत भव सिंधु सुखाहीं।" (बा॰ दो॰ २४)।

(२) श्रीजाम्बवान्‌जी ब्रह्माजी के अवतार हैं, अतएव दोनों सागर के विधाता हैं, यथा—"बंदउँ विधि पद रेनु, भवसागर जेहि कीन्ह जहँ।" (बा॰ दो॰ १४); इससे इन्होंने दोनों की सत्ता स्थिर रक्खी।

पर श्रीहनुमान्‌जी ज्ञानघाट के आचार्य और श्रीशिवजी के अवतार हैं, इनकी दृष्टि ब्रह्ममय है, ब्रह्म के शरीर-रूप में देखने से जगत की स्वतंत्र सत्ता रह ही नहीं जाती। ज्ञान-दृष्टि में जो वस्तु आगे नाश होने को होती है, वह ब्रह्म के सत्य-संकल्प से पहले ही नाश हो जाती है, जैसे गीता में भविष्य-नाश भगवान् ने अर्जुन को पहले ही दिखा दिया है; यथा—"मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा।" (गीता ११।३४); ये अपनी दृष्टि से कहते हैं। 'पवन-कुमारा'—क्योंकि बुद्धि-विवेक का विषय कहना है; यथा—"पवन तनय बल पवन समाना। बुधि विवेक विज्ञान निधाना॥" (कि० दो० २४); ज्ञानी श्रीशिवजी ने भी कहा है; यथा—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजनु जगत सब सपना॥" (आ० दो० ३८)।

प्रभु-प्रताप बड़वानल भारी। सोखेउ प्रथम पयोनिधि-बारी॥२॥
तव रिपु-नारि-रुदन-जल-धारा। भरेउ बहोरि भयउ तेहि खारा॥३॥
सुनि अति उक्ति पवनसुत केरी। हरषे कपि रघुपति तन हेरी॥४॥

शब्दार्थ—अति-उक्ति (अत्युक्ति)=बढ़ा-बढ़ाकर वर्णन करने की शैली, एक अलंकार जिसमें शूरता, उदारता आदि गुणों का अद्भुत वर्णन होता है। तन=ओर, तरफ। हेरी=देखकर।

अर्थ—प्रभु का प्रताप भारी बड़वानल है। उसने प्रथम ही समुद्र के पहले का जल सोख लिया॥२॥ आपके शत्रुओं की स्त्रियों के रोने की जलधारा से वह फिर भर गया, इसीसे खारा हो गया॥३॥ पवन-पुत्र श्रीहनुमान्‌जी की अत्युक्ति सुनकर वानरगण रघुपति श्रीरामजी की ओर देखकर हर्षित हुए॥४॥

विशेष—(१) 'प्रभु-प्रताप बड़वानल भारी।...'—"बड़वानल समुद्र के भीतर की अग्नि या ताप। भूगर्भ में जो अग्नि है, उसके ताप से कहीं-कहीं समुद्र का जल खौलता रहता है। बड़वा का अर्थ घोड़ी है, इसपर कालिका-पुराण की कथा है कि काम को भस्म करने के लिये श्रीशिवजी ने जो क्रोधानल उत्पन्न किया था, उसे ब्रह्माजीने घोड़ी के रूप में बनाके समुद्र के हवाले कर दिया, जिसमें इससे लोक की रक्षा हो। पर वाल्मीकीय रामायण में लिखा है कि बड़वाग्नि और्व ऋषि का क्रोध-रूपी तेज है, जो कल्पान्त में फैलकर संसार को भस्म करेगा"—(हिन्दी शब्द-सागर);

प्रताप-रूपी बड़वानल को 'भारी' कहा गया, क्योंकि इसने समुद्र को सोख ही लिया। 'पयोनिधिबारी'—का भाव यह है कि पहले का जल 'पय' दूध की तरह स्वादिष्ठ था, पर अब खारा हो गया; क्योंकि यह आँसू से भरा है और आँसू खारा होता ही है। 'तव रिपुनारि...'—जो-जो शत्रु मारे गये, उनकी स्त्रियाँ तो रोती ही हैं और जो अभी नहीं मारे गये, उनकी स्त्रियाँ भी भय से रोती हैं। 'जलधारा'—आँसू की बूँदे टपकती हैं, पर यहाँ तो धाराएँ बह चलीं, तभी तो इतना बड़ा समुद्र भरा। हजारों स्त्रियाँ रोईं, उन्हीं के आँसू से यह भर गया। यह तो आँसू का ही समुद्र है।

(२) 'सुनि अति उक्ति...'—अत्युक्ति अलंकार के लक्षण—"अत्युक्तिरद्भुतातथ्यशौर्यौदार्यादिवर्णनम्। त्वयि दातरि राजेन्द्र याचकाः कल्पशाखिनः॥ राजन् सप्ताप्यकूपारास्त्वत्प्रतापाग्निशोषिताः। त्वद्वैरिराजवनितावाष्पपूरेण पूरिताः॥" इति चन्द्रालोके। यहाँ यह अलङ्कार स्पष्ट-रूप में कहा गया है। कारण से पहिले ही कार्य के कहे जाने से कोई-कोई यहाँ 'अत्यन्तातिशयोक्ति' भी मानते हैं। सोख लिया तो यह जल से पूर्ण क्यों देख पड़ता है, इसे फिर युक्ति से समर्थन करना कि शत्रु की स्त्रियों के आँसू से भरा—यह 'काव्यलिंग' अलंकार है। उपमान-रूपी आँसू को ही खारे आदि लक्षणों से सत्य ठहराकर

उपमेय-रूपी समुद्र के जल का असत्य ठहराना—'हेत्वपह्नुति' अलंकार है। "देखियत प्रगट गगन अंगारा। अवनि न आवत एकउ तारा॥" (सुं॰ दो॰ ११) इसमें भी 'हेत्वपह्नुति' है।

'हरषे कपि रघुपति तन हेरी'—वानर-गण श्रीरामजी की ओर देखकर अपनी-अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हैं कि हमारे ऐसे प्रतापी स्वामी हैं, अतः हम धन्य हैं। ईश्वर के विषय में अत्युक्ति हो नहीं सकती, इसलिये 'रघुपति' माधुर्य-पूर्ण नाम दिया गया कि राजकुमार के भाव में यह अत्युक्ति कही गई है। 'तन' का अन्वय 'कपि' शब्द के साथ भी करने से और कपि का अर्थ श्लेपार्थ से श्रीहनुमान्‌जी का ही लेने से श्रीहनुमान्‌जी को भी देखकर हर्षित हुए कि ऐसे बुद्धिमान् मंत्री भी अपने स्वामी के योग्य ही हैं।

इस तरह इन दोनों मंत्रियों ने श्रीरामजी की आतुरता देखकर उन्हें आश्वासन दिया कि यह सेतु-बंधन का कार्य तो बना बनाया है। इससे उत्साह भी बढ़ाया।

जामवंत बोले दोउ भाई। नल-नीलहि सब कथा सुनाई॥५॥
राम-प्रताप सुमिरि मन माहीं। करहु सेतु प्रयास कछु नाहीं॥६॥

शब्दार्थ—बोले=बुलाया, यथा—"लिये बोलि अंगद हनुमाना।" (दो॰ ४६)।

अर्थ—जाम्बवान्‌जी ने नल-नील दोनों भाइयों को बुलाया और उन्हें सारी कथा सुनाई॥५॥ (और कहा—) मन में श्रीरामजी का प्रताप स्मरण करके सेतु की रचना करो, कुछ परिश्रम नहीं होगा॥६॥

विशेष—(१) 'सब कथा'—वही जो समुद्र ने श्रीरामजी से प्रार्थना की कि नल-नील को ऋषि की आशिष मिली है। उनके स्पर्श से पर्वत जल में तैरने लगेंगे और प्रभु की प्रभुता से मैं भी कुछ सहायता करूँगा, इत्यादि। इससे जान पड़ता है कि नील-नल सेना की रक्षा में बाहर नियुक्त थे, समुद्र के आने पर यहाँ उपस्थित नहीं थे, नहीं तो बुलाना और कथा सुनाना नहीं कहा जाता।

"नल विश्वकर्मा के पुत्र हैं, अपने पिता से इन्होंने वरदान पाया है, इससे पिता के समान ही कार्य में पटु हैं।" (वाल्मी॰ ६।२२।४०-४१); नील अग्नि के पुत्र हैं; यथा—"पुत्रो हुतवहस्यात्र नीलः सेनापतिः स्वयम्।" (वाल्मी॰ ६।३०।२४); नल और नील की माता एक ही हैं, सम्भवतः इसी से दोनों भाई कहे गये, अथवा, कल्प-भेद से मानस के कल्प में दोनों भाई हैं, और ऋषि की आशिष भी दोनों ने साथ-ही-साथ पाई है।

श्रीरामजी ने स्वयं नहीं कहा, किन्तु मंत्री से कहलाया, क्योंकि यह नीति है कि राजा मंत्रियों के द्वारा कार्य करवाते हैं। पुनः इस कार्य के आधार-रूप में राम-प्रताप कहना था, इसीसे श्रीजाम्बवान्‌जी ने कहा, इसे श्रीरामजी स्वयं न कहते।

(२) 'राम-प्रताप सुमिरि···'—क्योंकि समुद्र ने कहा था; यथा—"तिन्ह के परस किये गिरि भारे। तरिहहि जलधि प्रताप तुम्हारे॥" फिर श्रीहनुमान्‌जी ने भी राम-प्रताप ही कहा; यथा—'तव प्रताप बड़वानल भारी।' आदि। श्रीजाम्बवान्‌जी वही प्रताप इन्हें धारण करने के लिये कहते हैं, जिससे इस कार्य में कुछ भी परिश्रम नहीं होगा; यथा—"तव प्रताप बड़वानलहि, जारि सकै खलु तूल।" (सुं॰ दो॰ ११), यह श्रीहनुमान्‌जी ने सबके समक्ष कहा है, इसीसे प्रताप का समझाना नहीं कहा गया।

आगे श्रीअंगदजी भी प्रभु-प्रताप के बल से रावण की सभा में निःशंक जाकर अद्भुत कार्य करके लौटेंगे। ऊपर समुद्र और श्रीहनुमान्‌जी ने अभी राम-प्रताप कहा ही है।

यद्यपि श्रीविभीषणजी ने कहा था कि समुद्र के बतलाये हुए उपाय से बिना प्रयास ही सेना उस पार उतर जायगी—देखिये (सुं० दो० ५०); तथापि समुद्र ने उपाय कहते हुए श्रीराम-प्रताप ही को प्रधान कहा, जैसा कि ऊपर लिखा गया है। अतएव यहाँ श्रीजाम्बवान्‌जी राम-प्रताप के ही बल पर प्रयास-हीनता कह रहे हैं।

बोलि लिये कपि - निकर बहोरी। सकल सुनहु बिनती कछु मोरी ॥७॥
राम - चरन - पंकज उर धरहू। कौतुक एक भालु - कपि करहू ॥८॥
धावहु मर्कट बिकट बरूथा। आनहु बिटप-गिरिन्ह के जूथा ॥९॥

अर्थ—फिर वानर-समूह को बुला लिया और उनसे बोले कि आप सब मेरी कुछ विनती सुनिये ॥७॥ (विनती यह कि) अपने हृदय में श्रीरामजी के चरण-कमलों को धारण कीजिये और सब भालू-वानर एक कौतुक कीजिये ॥८॥ विकट वानरों के समूह ! दौड़ जाइये और वृक्षों और पर्वतों के समूह ले आइये ॥९॥

विशेष—(१) 'बोलि लिये कपि···'—पहले नल और नील दोनों कारीगरों को तैयार करके अब उन्हें सामान (मसाला) देने का प्रबंध करते हैं। 'बोलि लिये' अर्थात् समीप बुलाया; क्योंकि विनती करनी है। विनती करने का भाव यह है कि सब वानरों से पत्थर ढुलवाने का कार्य कराना चाहते हैं। यह मजदूरों का काम है, इसी से प्रार्थना-पूर्वक कहते हैं कि वे अप्रसन्न न हों। ये वृद्ध हैं और साथ ही भालू-मात्र के राजा भी हैं, इसी से ये ही कहते हैं कि सभी प्रसन्नता-पूर्वक बात मान लें। इन्होंने अपने वर्ग-भालुओं को ही पहले कहा है। यथा—"भालु कपि करहू।"। 'राम-चरन-पंकज उर धरहू।' श्रीरामजी के चरण-कमल हृदय में धारण करने से अगम कार्य भी सुगम हो जाते हैं; यथा—"रघुपति चरन हृदय धरि, तात मधुर फल खाहु" (सुं० दो० १७); रावण के बाग में फल खाना कठिन था वही श्रीहनुमान्‌जी को सुगम हो गया। पुनः; यथा—"राम-चरन-सरसिज उर राखी। चला प्रभंजन सुत बल भारी॥" (दो० ५५); यहाँ भी प्रभु-प्रताप से ६० लक्ष योजन से पर्वत ले आना सुगम हो गया।

(२) 'कौतुक एक···'='पत्थर और वृक्ष ढोओ'—यह कहना अशोभन होता, इसलिये इसे कौतुक करना कहते हैं कि जिस प्रकार गेंद आदि खेलने में उसे दौड़-दौड़कर उठा लेते और फिर फेंकते हो, उसी प्रकार ला-लाकर देते जाओ। इसी तरह इन उत्साही वानरों ने किया भी है; यथा—"लीलहिं लेहिं उठाइ" और "कंदुक इव नल नील ते लेहीं।" आगे कहा गया है।

(३) 'धावहु'=शीघ्रता होनी चाहिये, क्योंकि श्रीरामजी ने कहा है; यथा—"अब बिलंब केहि काम···"। 'मर्कट बिकट बरूथा'—तुम सब भारी-भारी पराक्रमवाले हो। अतः, बड़े-बड़े वृक्ष पर्वत ला सकते हो, इसलिये मुण्ड-के-मुण्ड मिलकर उत्साह-पूर्वक जाओ और समूह-के-समूह वृक्ष-पर्वत लाओ कि नल-नील के पास सामान घटने न पावे। वृक्षों को बीच-बीच में देंगे, इन्हीं के बंधन भी बनावेंगे और पर्वतों से पुल बाँधेंगे। फल-फूल से लदे वृक्ष शोभा एवं छाया के लिये भी पुल पर रोपते जायेंगे।

सुनि कपि - भालु चले करि हूहा। जय रघुबीर प्रताप-समूहा ॥१०॥

दोहा—अति उतंग गिरि-पादप, लीलहिं लेहिं उठाइ।
आनि देहिं नल-नीलहिं, रचहिं ते सेतु बनाइ॥१॥

शब्दार्थ—उतंग (उत्तुङ्ग)=ऊँचा; यथा—"कहि न जाइ अति दुर्ग बिसेषी॥ अति उतंग···" (सुं॰ दो॰ २) हूह=हर्ष-ध्वनि। पादप=पैर (जड़) से जल पीनेवाले=वृक्ष। लीलहिं=खेल-पूर्वक, क्रीडारूप में ही।

अर्थ—श्रीजाम्बवान्‌जी के वचन सुनकर वानर-भालु हूह (शब्द) करके चले, जिनका समूह प्रताप है, उन रघुवीर श्रीरामजी की जय हो (ऐसा कहते हुए चले)॥१०॥ अत्यन्त ऊँचे पर्वतों और वृक्षों को खेल में ही उठा लेते हैं और नल-नील को लाकर देते हैं। वे अच्छी तरह बनाकर सेतु रचते हैं॥१॥

विशेष—(१) 'करि हूहा'—वानर-भालुओं ने इसी हर्ष-ध्वनि से श्रीजाम्बवान्‌जी के वचन में श्रद्धा दिखाई; यथा "अभिषेतुर्महारण्यं हृष्टाः शतसहस्रशः।" (वाल्मी॰ ६।२२।५०), हर्ष-ध्वनि के साथ कहते हैं; यथा—'जय रघुबीर प्रताप समूहा।' अभी समूह प्रताप श्रीहनुमान्‌जी से सुन चुके हैं और समुद्र ने भी कहा है। प्रताप की जय-जयकार करते हैं कि जिससे पुरुषार्थ सिद्ध हो। ये सब वीररस से पूर्ण हैं, इसीसे 'रघुबीर' कहकर जय-जयकार करते हैं। रघुवीर-प्रताप से ही सब कार्य हुए भी; यथा—"श्रीरघु-बीर प्रताप ते सिंधु तरे पाषान।" यह आगे कहा गया है। पहले कहा ही है, यथा—"राम प्रताप सुमिरि मन माहीं। करहु सेतु···"।

(२) 'अति उतंग गिरि पादप···'—अत्यंत ऊँचे-ऊँचे पर्वत और वृक्ष लाते हैं कि एक ही बार में बहुत दूर तक पुल बँध जाय। 'रचहिं ते सेतु बनाइ' से अत्यन्त सुन्दर रचना सूचित की; यथा—"देखि सेतु अति सुंदर रचना।" आगे कहा गया है।

शंका—यहाँ चूना आदि मसाले नहीं कहे गये तो पत्थर एक दूसरे से किस तरह जोड़े गये? वृक्षों के बंधन-मात्र से वैसी दृढ़ता कैसे हो सकती है?

समाधान—आदि रामायण में कहा गया है कि श्रीहनुमान्‌जी ने वानरेश नल से कहा और वे पाषाणों पर राम-नाम लिखकर उन्हें सागर के जल में डालते गये, सेतु बँधता चला गया; यथा—"लिखित्वा दृषदां मध्ये नाम सीतापतेर्मुहुः। निचिक्षेप पयोराशौ बहूनुच्चावचान् गिरीन्॥ संतरन्तिस्म गिरयो रामनामांकिता जले।" (सीताराम-नाम-प्रताप-प्रकाश से उद्धृत), इत्यादि विस्तार से कहा गया है। श्रीगोस्वामीजी ने भी कहा है; यथा—"मोको तो राम को नाम कलपतरु···स्वारथ औ परमारथहू को नहि कुंजरो नरो। सुनियत सेतु पयोधि पषाननि करि कपि कटक तरो॥" (वि॰ २२६)।

सैल बिसाल आनि कपि देहीं। कंदुक इव नल-नील ते लेहीं॥१॥
देखि सेतु अति-सुंदर-रचना। बिहँसि कृपानिधि बोले बचना॥२॥

अर्थ—वानर लोग भारी-भारी पर्वत ला-लाकर देते हैं और नल-नील उन्हें गेंद की तरह लेते हैं॥१॥ सेतु की अत्यन्त सुन्दर रचना देखकर दयासागर श्रीरामजी हँसकर वचन बोले॥२॥

विशेष—(१) 'सैल बिसाल···'—ऊपर के दोहे में वानरों का पराक्रम कहा गया कि 'अति उतंग

गिरि पादप···' अब यहाँ नल-नील का पराक्रम कहते हैं कि ये उन्हें ऊपर-ही-ऊपर हाथ से गेंद की तरह रोक लेते हैं, कुछ भी श्रम नहीं होता। 'कंदुक इव' दीप-देहली-रूप से दोनों ओर लगता है।

शंका—उपर्युक्त दोहे की ही बातें प्रायः इस अर्द्धाली में हैं, तब इसका क्या प्रयोजन था ?

समाधान—श्रीजाम्बवान्‌जी ने नल और नील को पृथक् कहा था; यथा—'करहु सेतु प्रयास कछु नाहीं।' और फिर वानरों को भी पृथक् कहा था, यथा—'कौतुक एक भालु कपि करहू।' उसी रीति से यहाँ दो जगहों में दोनों की श्रम-हीनता भी पृथक्-पृथक् दिखानी थी, इसलिये ऊपर के दोहे में वानरों की श्रम-हीनता और यहाँ अर्द्धाली में नल और नील की प्रयास-हीनता दिखलाई है।

(२) 'देखि सेतु अति···'—'देखि' का भाव यह है कि वानरों ने इसी अभिप्राय से सेतु को सुन्दर रचकर बनाया ही था कि स्वामी देखकर प्रसन्न हों, आगे कहा भी है; यथा - "बाँधि सेतु अति सुदृढ़ बनावा। देखि कृपानिधि के मन भावा।" (दो॰ १) 'बिहँसि कृपानिधि'—प्रभु ने विहँसकर वानरों पर प्रसन्नता प्रकट की। इस तरह उनपर कृपा प्रकट की, क्योंकि जिनकी माया क्षण-भर में ही करोड़ों ब्रह्मांड रच डालती है उनके लिये यह अल्प रचना क्या वस्तु है ? केवल वानरों पर कृपा दिखलानी है, इससे इनपर अपनी प्रसन्नता दिखाई; यथा—"लव निमेष महँ भुवन···भगत हेतु सोइ दीन दयाला। चितवत···" (बा॰ दो॰ २२४)।

पुनः आगे जो वचन कहना चाहते हैं, उसके सम्बन्ध में भी बिहँसना और कृपा का भाव है, श्रीशिवजी की प्रतिष्ठा-वृद्धि में प्रसन्नता है। कृपा करके उन्हें माधुर्य-रूप से बड़ाई देनी है; यथा—"गिरिजा रघुपति कै यह रीती। संतत करहिं प्रनत पर प्रीती।" (दो॰ २)।

परम रम्य उत्तम यह धरनी। महिमा अमित जाइ नहिं बरनी॥३॥
करिहउँ इहाँ संभु-थापना। मोरे हृदय परम कलपना॥४॥

शब्दार्थ—थापना (स्थापना करना) = मूर्त्ति की प्रतिष्ठा करना। कलपना (कल्पना) भावना, संकल्प।

अर्थ—यह पृथिवी परम रमणीय है, परम उत्तम है। इसकी महिमा सीमा-रहित है, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता॥३॥ मैं यहाँ श्रीशिवजी की स्थापना करूँगा, (यह) मेरे हृदय में परम कल्पना है॥४॥

विशेष—(१) 'परम रम्य उत्तम ···'—प्रायः नदियों के तट—विशेष कर पुण्य नदियों के तट रमणीय माने जाते हैं और यह तो सर्व-नद-नदीपति समुद्र का तट है, सर्व-तीर्थमय है, इससे परम रम्य है। पुनः धरणी को परम उत्तम कहा गया है, क्योंकि द्राविड़-देश भक्ति की जन्मभूमि है; यथा "उत्पन्ना द्राविड़े साहं वृद्धिं कर्णाटके गता" (भाग॰ माहा॰ १।४८); तथा—"क्वचित्क्वचिन्महाराज द्रविडेषु च भूरिशः।" (भाग॰ ११।५।३९); अर्थात् द्राविड़ देश में भगवद्भक्त बहुत उत्पन्न होंगे। ऐसा श्रेष्ठ स्थल लोगों के निवास के योग्य होता है; यथा—"आश्रम परम पुनीत सुहावा। देखि देवरिषि मन अति भावा॥" (बा॰ दो॰ १२८), "है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ। पावन पंचवटी तेहि नाऊँ।" (आ॰ दो॰ १२); समुद्र का तट सर्वतीर्थमय होने से इसकी महिमा अमित है, इसी से अवर्ण्य है। यहाँ शिवजी का स्थापन करेंगे, इसलिये अभी स्थल का माहात्म्य कहते हैं, कि यह स्थल उनके योग्य है; यथा—"परमरम्य गिरिवर कैलासू। सदा जहाँ सिव उमा निवासू॥" (बा॰ दो॰ १०५); फिर स्थापन करके उनका भी माहात्म्य कहेंगे; यथा—"जे रामेस्वर दरसन करिहहिं। ते तनु तजि ममलोक सिधरिहहिं॥" (दो॰ २); ऐसे ही

सेतु-निर्माण करके उसका भी माहात्म्य कहेंगे; यथा—"मम कृत सेतु...।" यह देश भारतवर्ष की दक्षिण सीमा पर स्थित है, अतः, यहाँ कोई विशाल तीर्थ अवश्य ही होना चाहिये। जिससे भविष्य में लोग तीर्थाटन के साथ ही देशाटन का भी लाभ उठावें। इससे देश-देशके लोगों का पारस्परिक प्रीति-व्यवहार होगा। यह उद्देश्य भी साथ है।

'करिहउँ इहाँ संभु-थापना।...'—यह अर्द्धाली १५-१५ मात्राओं की है, यह चपला छंद है और प्रायः चौपाई ही कहा जाता है। ऐसे ही अन्यत्र भी है; यथा—"मुठिका एक महा कपि हनी। रुधिर बमत धरनी ढनमनी॥" (सुं० दो० १); मैं यहाँ शिव-स्थापन करूँगा, इसके कई हेतु हैं—(क) राजनीति की दृष्टि से पहले तो शत्रु के मर्मज्ञ मंत्री श्रीविभीषणजी को मिला लिया। अब शत्रु के इष्ट देव एवं प्रबल सहायक श्रीशिवजी की भी पूजा करके उन्हें मिलाते हैं कि और उसकी सहायता न करें, जैसे बाणासुर की सहायता के लिये श्रीशिवजी ने श्रीकृष्ण भगवान् से युद्ध किया है। (ख) श्रीशिवजी संहारकर्त्ता हैं और संग्राम के देवता हैं, इसलिये युद्ध के लिये चढ़ाई करते समय उनकी पूजा करते हैं। (ग) प्रभु भविष्य में शैव-वैष्णव विरोध को भी मिटाना चाहते हैं कि वैष्णव लोग शिवजी से और शैव लोग वैष्णवों से विरोध न करे। वैसा ही आगे माहात्म्य भी कहा गया है (घ) ऊपर भी कहा गया कि यह स्थान भारत की दक्षिणी सीमा और पुण्य-स्थल है, अतएव यहाँ एक प्रधान पुरुष द्वारा प्रतिष्ठित देवस्थल होना चाहिये।

'मोरे हृदय परम कलपना।'—मेरी बड़ी इच्छा है, बार-बार यह विचार उठता है।

सुनि कपीस बहु दूत पठाये। मुनिबर सकल बोलि लइ आये॥५॥
लिंग थापि बिधिवत करि पूजा। सिव-समान प्रिय मोहि न दूजा॥६॥
सिव-द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहु मोहि न पावा॥७॥
संकर-बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥८॥

शब्दार्थ—लिंग = चिह्न, शिवजी की एक विशेष प्रकार की मूर्त्ति नारकी = नरक जाने के योग्य कर्म करनेवाले, पापी।

अर्थ—श्रीरामजी के वचन सुनकर श्रीसुग्रीवजी ने बहुत-से दूत भेजे, जो सब श्रेष्ठ मुनियों को बुला लाये॥५॥ श्रीशिवजी की मूर्त्ति का स्थापन करके उनकी विधिपूर्वक पूजा की (और बोले—) शिवजी के समान मुझे दूसरा कोई प्रिय नहीं है॥६॥ जो शिवजीका द्रोही है और मेरा भक्त कहलाता है, वह मनुष्य मुझे स्वप्न में भी नहीं पाता॥७॥ शंकरजी से विमुख होकर जो मेरी भक्ति की चाहना करे, वह नरक जाने के योग्य (पापी) है, मूर्ख है और तुच्छ-बुद्धि है॥८॥

विशेष—(१) 'सुनि कपीस बहु दूत पठाये।...'—पहले 'बिहँसि कृपानिधि बोले...' कहा गया था। उसका भाव यहाँ खुला कि यह श्रीसुग्रीवजी से कहा गया है। बहुत-से दूत भेजे गये, क्योंकि 'सकल मुनिवर' को बुलाना है। शीघ्रता का प्रयोजन है, इसी से एक-एक मुनिवर के यहाँ कम-से कम एक-एक दूत भेजे गये। बहुत-से मुनि इसलिये बुलाये गये कि शिव-स्थापन में बहुत-से वेदपाठी ब्राह्मणों की आवश्यकता होती है। सबको इसलिये भी बुलाया कि उस वन के कोई मुनि यह न समझें कि मैं नहीं बुलाया गया, अतएव मेरा अपमान हुआ।

(२) 'लिंग थापि बिधिवत् करि पूजा।···'—'विधिवत' शास्त्र की विधि से स्थापना के सभी विधान किये गये, पूजा भी विधिवत की गई। यहाँ मन, वचन और कर्मसे शिवजी में श्रीरामजी की प्रीति है; यथा—"मोरे हृदय परम कलपना"—मन की, 'लिंग थापि बिधिवत् करि पूजा।'—कर्म को और 'सिव समान प्रिय मोहि न दूजा।'—यह वचन की प्रीति है।

'सिव समान प्रिय मोहि न दूजा'—इस उत्तरार्द्ध से पूर्वार्द्ध का मर्म खोलते हैं कि श्रीशिवजी को अपना परम प्रिय भक्त मानकर प्रभु ने अपने नृप्रिय राजकुमार-रूप से उन्हें प्रतिष्ठा दी है, जैसा कि आगे स्वयं श्रीशिवजी कहते हैं; यथा—"गिरिजा रघुपति कै यह रीती। संतत करहिं प्रनत पर प्रीती॥" अन्यत्र भी भक्त-दृष्टि से ही श्रीरामजी ने इन्हें प्रिय कहा है; यथा—"पनकरि रघुपति भगति दृढ़ाई। को सिव सम रामहि प्रिय भाई॥" (बा॰ दो॰ १०४); तथा—"कोउ नहि सिव समान प्रिय मोरे। असि परतीति तजहु जनि भोरे॥ जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥" (बा॰ दो॰ १३०); श्रीशिवजी को यहाँ तक प्रिय मानते हैं कि उन्हें अपनी भक्ति का अधिकारी (खजांची) तक बना दिया है। 'प्रिय' शब्द का व्यवहार अन्यत्र भी भगवान् ने भक्त के लिये ही किया है; यथा—"भक्तिमान्यः स मे प्रिय.।"; "भक्तिमान्मे प्रियो नरः" "मद्भक्तः स मे प्रियः"; "भक्तास्तेऽतीव मे प्रियः" (गीता अ॰ १२); गीता में और भी दो बार ऐसा ही कहा गया है। प्रिय शब्द छोटे के प्रति—पुत्र, शिष्य, भृत्य आदि में ही प्रायः प्रयुक्त होता है।

ऐसे ही श्रीसीताजी ने जब श्रीगंगाजी की स्तुति की है, तब गंगाजी ने कहा है; यथा—"सुनु रघुबीर-प्रिया बैदेही···। तुम्ह जो हमहि बडि बिनय सुनाई। कृपा कीन्हि मोहि दीन्हि बड़ाई॥" (अ॰ दो॰ १०३)।

श्रीगोस्वामीजी ने पहले ही सती-मोह-प्रसंग कहा और उसमें श्रीशिवजी की श्रीरामजी में अत्यन्त उच्च निष्ठा दिखलाई और सती की परीक्षा-द्वारा श्रीरामजी का पर-ब्रह्म-परत्व प्रकट किया। साथ ही श्रीशिवजी का जीवत्व भी; यथा—"तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सब जाना॥" (बा॰ दो॰ ५५), श्रीशिवजी को जिन सती का चरित जानने के लिये ध्यान धरना पड़ा उन्हीं सती के कपट रूप को देखते ही श्रीरामजीने स्पष्ट कह दिया कि आप सती हैं, शिव-पत्नी हैं, इत्यादि।

पुनः जहाँ-तहाँ श्रीरामजी का श्रीशिवजी के प्रणाम करने आदि का वर्णन है, वहाँ स्तुतिवाद है। स्तुति में छोटे को बड़ा कहकर प्रशंसा की जाती है। परन्तु, जहाँ प्रशंसा में अधिकता कही गई है, वहीं समाधान भी दे दिया गया है; जैसे कि वैदिक मुनि श्रीशिवजी के अनन्य भक्त थे, वे स्तुति में श्रीशिवजी को कहते हैं; यथा—"निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं। चिदाकाशमाकाशवासं भजेऽहम्। निराकार-मोंकारमूलं तुरीयं गिराज्ञानगोतीतमीशं गिरीशं॥" (उ॰ दो॰ १०७); इसमें उन्हें परब्रह्म कहकर स्तुति की गई है। इसी प्रसंग में पहले ही उन्हीं वैदिक मुनि ने कहा है; यथा—"सिव-सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति रामपद होई। रामहि भजहिं तात सिव धाता। नर पामर कर केतिक बाता॥ जासु चरन अज सिव अनुरागी। तासु द्रोह सुख चहसि अभागी॥" (उ॰ दो॰ १०५)। इन वचनों में श्रीशिवजी जीव हैं और श्रीरामजी के भक्त हैं। इसमें स्तुतिवाद नहीं है, क्योंकि मुनि अपने शिष्य को तत्त्वोपदेश दे रहे हैं।

वैसे ही यहाँ श्रीरामजी ने अपने परम भक्त श्रीशिवजी को प्रतिष्ठा देने के लिये माधुर्य रूप से—लिंग-स्थापन-विधि से उनकी पूजा की है पूजावाद भी स्तुतिवाद का-सा आदर के लिये होता है। इस युक्ति से लिंगपुराण आदि का मत भी लेकर श्रीशिवजी को ब्रह्मतत्त्व भी दिखलाया है। परन्तु इस बड़ाई को श्रीशिवजी कब स्वीकार कर सकते हैं! उन्होंने इसी प्रसंग में आगे साफ कह दिया है; यथा—"गिरिजा

रघुपति कै यह रीती। संतत करहिं प्रनत पर प्रीती॥" (दो० १); अर्थात् रघुपति मुझे शरणागत-भक्त जानकर ही मुझ पर प्रीति करते हैं (अतएव मुझे बड़ाई देते हैं।)।

श्रीगोस्वामीजी 'नानापुराणनिगमागमसम्मत' लेकर चल रहे हैं। अत, स्तुतिवाद एवं पूजावाद के रूप मे और पुराणों के मत भी दिखा देते हैं। कल्प-भेद से अन्य पुराणों के मत भी युक्ति-युक्त ही हैं। जैसे पूजावाद की दृष्टि से यहाँ लिंगपुराण का मत कह दिया है। वैसे ही स्तुतिवाद में ही शक्तिपरत्व कहकर देवीभागवत, कालिकापुराण आदि के भी मत कह दिये हैं। जैसे कि मनु-प्रसंग मे जहाँ तात्विक वर्णन है, वहाँ तो कहा है कि श्रीसीताजी के अंश से अगणित लक्ष्मी, उमा और सरस्वती उपजती हैं; यथा—"उपजहिं जासु अंस गुन-खानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥" (बा॰ दो॰ १४०); और स्तुतिवाद मे उमा का महत्व श्रीसीताजी से कहलाया है; यथा—"नहिं तव आदि अंत अवसाना। अमित प्रभाव वेद नहिं जाना॥ भव भव विभव पराभव कारिनि।···" (बा॰ दो॰ २३४)।

इसी प्रकार इन्हीं उमा को श्रीनारदजी ने भी मयना आदि से कहा है, यथा—"अजा अनादि सक्ति अविनासिनि॥ जग-संभव-पालन-लय-कारिनि।" (बा॰ दो॰ ९७); । यहाँ भी उमा का ऐश्वर्य कहना था। कल्पभेद से कभी श्रीशिवजी के द्वारा ही सृष्टि होती है, तब उनकी शक्ति को यह महत्व देना यथार्थ ही है। वही यहाँ 'सर्वदा सकरप्रिया' कहकर युक्ति से और कल्पों का भाव लेकर गिरिजा का महत्व भी दिखा दिया गया है। यह भी स्तुति-वाद ही है। पर अन्यत्र श्रीपार्वतीजी राम-नाम जपती हैं, रामकथा सुनने की भक्ति करती हैं।

शंका—यदि कहा जाय कि लिंग-स्थापन-विधि मे सच्चिदानंद ब्रह्म की ही प्रतिष्ठा लिंग-स्वरूप मे होती है और जब श्रीरामजी भी ब्रह्म हैं, तब उन्होंने श्रीशिवजी को ब्रह्म मानकर कैसे उनकी प्रतिष्ठा की ?

समाधान—प्रतिष्ठा विधान तो आप राजकुमार के रूप से ही कर रहे हैं। जैसे राजा एवं राजपुत्र सभी देवताओं को समय समय पर पूजते हैं, वैसे श्रीरामजी ने भी पूजा की। जैसे श्रीरामजी, माता-पिता एवं वशिष्ठ आदि को पूजते थे, उन्होंने गंगा, त्रिवेणी आदि की भी पूजा की है, वैसे ही श्री शिवजी की भी पूजा की। श्रीशिवजी आपकी एक विशिष्ट विभूति भी हैं। पुराणों में कल्पभेद से इनसे सृष्टि *का भी विधान है, प्रभु ने यह महत्व लेकर पूजा की और लोकों में अपने भक्त की प्रतिष्ठा बढ़ाई जैसाकि* ऊपर कहा गया है। जिस देवता का जो ऐश्वर्य किसी कल्प मे होता है, वह दूसरे कल्पों मे उसके उपासकों का विषय होता है। प्रमाण—"सर्वे शाश्वता नित्या देहास्तस्य परात्मन ।" (वाराहपुराण)। श्रीवाल्मीकिजी ने भी श्रीरामजी का अश्वमेध यज्ञ करना लिखा ही है और—"जेपतु परम जपम्" (वाल्मी॰ १।२३।१); अर्थात् किसी परम जप का जपना भी कहा है। यह सब राजकुमार-दृष्टि से ही सगत होगा।

ऐतिहासिक दृष्टिवालों का कहना है कि दक्षिण मे शिवकाञ्ची और विष्णुकाञ्ची की सीमा मिलती है। शैवों और वैष्णवों मे परस्पर विरोध चलता रहता है। वहाँ एक विष्णु-विग्रह के माधुर्य रूप से श्रीशिवजी की स्थापना होने से वह विरोध कम होने की संभावना है। इस रामायण (मानस) का ही प्रभाव है कि शैवों की मुख्य पुरी काशीजी मे शैवों और वैष्णवों मे कुछ विरोध नहीं है। श्रीअयोध्याजी की ही तरह वहाँ भी रामायण का पूर्ण आदर है और शैवो की अपेक्षा वैष्णव भी कम नहीं है।

यह भी श्रीगोस्वामीजी की ही दिव्यबुद्धि का प्रभाव है कि उन्होंने सर्व शास्त्र पुराणों का समन्वय करते हुए भी श्रीराम-रूप मे परब्रह्मपरत्व प्राय सम्पूर्ण जगत् के चित्त मे बैठा दिया।

(२) 'सिवद्रोही मम भगत कहावा।···'—वह मेरा भक्त कहलाता-भर है, परन्तु है नहीं, क्योंकि

शिव-द्रोही को मेरी भक्ति नहीं मिलती, वही आगे कहते हैं यथा—'संकर विमुख'। 'सो नर सपनेहुँ'—क्योंकि श्रीशिवजी मेरे भक्त हैं अत, उनका द्रोही मेरा भी द्रोही ही है, यथा—"मानत सुख सेवक सेवकाई। सेवक बैर बैर अधिकाई॥" (अ० दो० ११८); अन्यत्र भी कहा है, यथा—"सिव-पद-कमल जिन्हहिं रति नाहीं। रामहिं ते सपनेहुँ न सुहाहीं॥ बिनु छल विश्वनाथ-पद-नेहू। राम भगत कर लच्छन येहू॥" (बा० दो० १०४)।

'संकर विमुख भगति चह मोरी।'—ऊपर कहा है कि शिव विमुख मुझको नहीं पाता, यहाँ कहते हैं कि वह मेरी भक्ति भी नहीं पाता। 'सो नारकी मूढ़ मतिथोरी'—हमारे भक्त से विमुख है, इससे वह नरक में जायगा। यदि शास्त्र का ज्ञाता होता, तो ऐसा नहीं करता, अतएव उसे मूढ़ कहा। शिवजी परम वैष्णव हैं, यथा—"वैष्णवानां यथा शम्भुः" (भाग० १२।१३।१६) यदि उसने कुछ शास्त्र पढ़ा भी है, तो भक्त-द्रोह करनेवाला मनुष्य उस शास्त्र का भाव ही नहीं समझता, इससे उसे 'मतिथोरी' कहा गया है।

दोहा—संकर-प्रिय मम द्रोही, सिव-द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि, घोर नरक महँ बास॥२॥

अर्थ—जिनको शंकर प्रिय हैं और जो मेरे द्रोही हैं, तथा जो शिव-द्रोही हैं और मेरे दास हैं—वे मनुष्य कल्प भर घोर नरक में वास करते हैं॥

विशेष—पूर्व कहा गया था, यथा—"सो नारकी मूढ़ मतिथोरी।" उसे यहाँ स्पष्ट करते हैं कि वे कल्प भर नरक में रहते हैं। कल्प ब्रह्मा के एक दिन को कहते हैं, ब्रह्माजी का सोना प्रलय है। घोर नरक और वह भी कल्प भर का होता है, इससे इसे घोर पाप जनाया। यह सबके लिये शिक्षा है इसीलिये आपका अवतार है, यथा—"मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्य शिक्षणम्" (भाग० ५।१९।५) तब यदि कहा जाय कि राक्षस लोग तो श्रीरामजी के वैरी और श्रीशिवजी के पूजक थे, परन्तु वे तो मुक्त हुए। उसका समाधान यह है कि वे श्रीरामजी के हाथों से एवं उनके रामनामांकित बाणों से मरे। इससे उनके पाप शुद्ध हो गये, तब उन्हें मुक्ति हुई। वानरों में भी राम-प्रभाव ही था, और वे सब श्रीरामजी के पार्षद थे, इससे उनके द्वारा मारे जानेवाले भी वैसे ही मुक्त हुए।

जे रामेश्वर दरसन करिहहिं। ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं॥१॥
जो गंगाजल आनि चढ़ाइहि। सो साजुज्य मुक्ति नर पाइहि॥२॥
होइ अकाम जो छल तजि सेइहि। भगति मोरि तेहि संकर देइहि॥३॥

शब्दार्थ—साजुज्य (सायुज्य)=जिसका भगवान् से निरंतर संयोग रहे। यह मुक्ति दो प्रकार की होती है—(१) परिकर (२) परिच्छद। परिच्छद वे हैं, जो भूषण-वस्त्र रूप से नित्य संयुक्त रहते हैं। परिकर वे हैं, जो सेवा करते हैं, क्षण-भर के लिये भी प्रभु से पृथक होते ही व्याकुल हो जाते हैं।

अर्थ—जो रामेश्वर महादेव के दर्शन करेंगे वे शरीर छोड़कर मेरे लोक को जायँगे॥१॥ जो गंगाजल लाकर चढ़ावेगा, वह मनुष्य सायुज्य मुक्ति पावेगा॥२॥ जो निष्काम होकर, छल छोड़कर श्रीशिवजी की सेवा करेगा, उसे श्रीशिवजी मेरी भक्ति देंगे॥३॥

विशेष—(१) 'जे रामेस्वर दरसन···'—पहले 'संभु' नाम कहा गया था; यथा—'करिहउँ इहाँ संभु- थापना।' फिर 'लिंग थापि' से लिंग नाम भी कहा गया। अब यहाँ 'रामेस्वर' कहकर नामकरण होना भी सूचित कर दिया कि इनका नाम रामेश्वर है। इस नाम के अर्थ से; "सेवक स्वामि सखा सिय-पीके।" (बा० दो० १४); चरितार्थ होता है। इस नाम की व्याख्या वहीं पर (बा० दो० १४ चौ० ४ में) हो चुकी है।

'ते तनु तजि मम लोक···'—ऊपर दोहे के साहचर्य से इस प्रसंग का यह भी भाव है कि वे पापी भी श्रीरामेश्वर के दर्शन करके मेरा लोक पावेंगे। यही उक्त पाप का भी प्रायश्चित्त है। मेरे लोक में वे मेरे दर्शन पावेंगे, अर्थात् रामेश्वर-दर्शन का फल मेरा दर्शन है। भगवद्दर्शन एवं उनके धाम की प्राप्ति सब सुकृत एवं साधनों का फल है; यथा—"राम समीप सुकृत नहिं थोरे।" (गी० अ० ११); "सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसन पावा " (अ० दो० २०६); अतएव यहाँ कर्म-फल कहा गया है।

(२) 'जो गंगाजल आनि···'—कहीं से गंगाजल लावें, इसमें सबसे उत्तम तो गंगोत्तरी का गंगोदक ही कहा जाता है, अथवा जहाँ कहीं भी गंगाजी की धारा हो, वहीं से लाकर चढ़ावें। इससे सायुज्य मुक्ति मिलती है। गंगाजी ब्रह्मद्रव हैं। अतः, जो रामेश्वर को ब्रह्मद्रव की प्राप्ति करावे, उसे ब्रह्म-स्वरूप की प्राप्ति होगी। वह सच्चिदानंद रूप से—श्रीसीतारामजी के भूषण-वस्त्रादि रूप से उनके आनन्दमय विग्रह के स्पर्श-सुख का अनुभव करेगा। यह ज्ञान का फल है।

(३) 'होइ अकाम जो छल तजि···'—जबतक कुछ भी कामना रहती है, तब तक विमल भक्ति नहीं मिलती; यथा—"बहुत कीन्ह प्रभु लखन सिय, नहिं कछु केवट लेइ। बिदा कीन्ह करुनायतन, भगति बिमल बर देइ॥" (अ० दो० १०२)। 'छल तजि'—क्योंकि श्रीरामजी को छल नहीं भाता; यथा— "मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥" (सुं० दो० ४३); पुनः "बिनु छल बिस्वनाथ-पद-नेहू। राम-भगत कर लच्छन येहू॥" (बा० दो० १०३); अतः निष्काम हृदय से सरल भावपूर्वक सेवा करनी चाहिये। छल यह है कि श्रीशिवजी में पूरा प्रेम न हो—राम-भक्ति के लिये ऊपर से उनकी सेवा करे—ऐसा नहीं चाहिये, किन्तु श्रीशिवजी में भी प्रेम हो; यथा—"मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥" (बा० दो० २००)। तब श्रीशिवजी रामभक्ति देंगे; यथा—"सिव-सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति राम पद होई॥" (उ० दो० १०५), 'संकर देइहि'—श्रीशिवजी राम-भक्ति के भंडारी हैं। ऊपर दो (कर्म-ज्ञान के) प्रसंगों में फल देना कहा गया है। इसमें नहीं, क्योंकि उपासना फल-रूपा ही है इसका दूसरा फल नहीं है ; यथा—"परहुँ नरक फल चारि सिसु, मीचु डाकिनी खाहु.। तुलसी राम-सनेह की, जो फल सो जरि जाहु॥" (दोहावली ८२); तथा—"न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं, न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम्। न योग सिद्धि न पुनर्भवं वा, वाञ्छन्ति यत्पादरजः प्रपन्नाः॥" (श्रीमद्भागवत) ; अर्थात् जो भगवान् के चरण-रज के भिखारी हैं, वे स्वर्ग, सम्राट् पद, ब्रह्मदेव का पद, चन्द्रलोक , योग सिद्धि या संसार में (श्रेष्ठ) पुनर्जन्म नहीं चाहते। 'सेइहि'-कुछ काल तक पास रहकर उनकी सेवा करे। इसी अर्थ मे दूसरा भी श्लोक है ; यथा—"न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् । न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥" (भाग० ११।१४ १४)।

कर्म से ज्ञान और ज्ञान से उपासना श्रेष्ठ है, वैसे ही उत्तरोत्तर अधिक फलदातृत्व कहा गया है। भक्तिवाले मुक्तावस्था में भी भगवान् के परिकर-भाव से सेवा में ही ब्रह्मानन्द पाते हैं; यथा—"सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता॥" (तै० २।१); अर्थात् मुक्तात्मा, परमात्मा के साथ-साथ सब कामनाओं का भोक्ता होता है। यह भी उपर्युक्त सायुज्य मुक्ति का ही एक भेद है; यथा—"सायुज्यं प्रति-

पन्ना ये तीव्रभक्तान्तपरिचनः । किङ्करा मम ते नित्यं भवन्ति निरपद्रवाः ॥" (श्रीनारद पंचरात्र-परम संहिता) 'निरुपद्रवाः'—क्षुधा-पिपामादि उपद्रवों से रहित होकर'''। यही श्रीगोस्वामीजी का भी मत है; यथा— "सेलिबे को खग मृग तरु किंकर होइ रावरो राम हौं रहिहौं। येहि नाते नरकहुँ सचु पैहौं या बिनु परम पदहुँ दुख दहिहौं ॥" (वि० २३१); अर्थात् परम पद (मोक्ष) में भी किंकर-भाव से ही रहूँगा।

मम कृत सेतु जो दरसन करिही। सो बिनु श्रम भव-सागर तरिही ॥४॥
राम-बचन सब के जिय भाये। मुनिबर निज निज आश्रम आये ॥५॥
गिरिजा रघुपति कइ यह रीती। संतत करहिं प्रनत पर प्रीती ॥६॥

अर्थ—जो मेरे बनाये हुए सेतु के दर्शन करेगा, वह बिना परिश्रम भवसागर तर जायगा ॥४॥ श्रीरामजी के वचन सबके हृदय में अच्छे लगे, सुनकर मुनिश्रेष्ठ अपने-अपने आश्रमों को लौट आये ॥५॥ हे गिरिजे ! रघुपति की यह रीति है कि वे शरणागत पर सदा प्रीति करते हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'मम कृत सेतु''''''—पहले रामेश्वर पड़ते हैं, तब आगे चलने पर सेतुबंध तीर्थ है। वैसे ही क्रम से दोनों के माहात्म्य भी कहे गये हैं। पहले रामेश्वर-माहात्म्य कहकर फिर सेतु-दर्शन का फल कहते हैं कि जिस तरह इस सेतु पर चढ़कर लोग इस लवण-सिंधु के उस पार जाते हैं। उसी तरह इसके दर्शनों से बिना श्रम भवसागर के पार चले जायँगे। भाव यह है कि इसपर पैदल चलने में भी कुछ श्रम अवश्य है, पर इसके दर्शनों से भव-पार होने में कुछ भी श्रम नहीं होगा।

(२) 'राम बचन सबके मन भाये।''''''—अर्थात् दोनों तीर्थों के माहात्म्य को सबने माना। इससे सबने रामेश्वर-पूजन और सेतु दर्शन किये। 'मुनिबर निज निज''''''—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—'मुनिबर सकल बोलि लै आये।' है। 'आये' अर्थात् श्रीसुग्रीवजी ने अपने चरों-द्वारा सम्मानपूर्वक सबको पहुँचाया, श्रीगोस्वामीजी भी मन से मानों सबके साथ हैं। सब मुनि अपने-अपने स्थानों को पहुँच गये, तब सेना आगे चली।

(३) 'गिरिजा रघुपति कै''''''—इस मानस-रामायण की कथा का मूल कारण श्रीपार्वतीजी का मोह था कि श्रीशिवजी स्वयं जगत् के ईश्वर हैं, इन्होंने राजपुत्र को 'सच्चिदानंद परधाम' कहकर प्रणाम क्यों किया ? उसी मोह की यहाँ फिर शंका है कि राजा श्रीरामजी ने श्रीशिवजी की स्थापना की, पूजा की और रामेश्वर नामकरण किया। कहीं गिरिजा सचमुच ही न श्रीरामजी का ईश्वर मुझे मान बैठें, इसीलिये स्वयं श्रीशिवजी समाधान करते हैं कि राजा श्रीरामजी की यही रीति है कि वे अपने शरणागत पर प्रीति रखते हैं। भाव यह है कि मैं तो उनका दीन दास हूँ। श्रीपार्वती ने इसे सती-तन में स्वयं भी देखा है; यथा "देखे सिव बिधि बिष्णु अनेका। अमित प्रभाव एक ते एका॥ बंदत चरन करत प्रभु सेवा। बिबिध बेष देखे सब देवा ॥" (बा० दो० ५३); इससे श्रीरामजी ने अपना दास जानकर मुझे बड़ाई दी है, ऐसा उनका स्वभाव है; यथा—"संतत दासन्ह देहु बड़ाई।" (आ० दो० १२)।

बाँधा सेतु नील-नल नागर। राम-कृपा जस भयउ उजागर ॥७॥
बूड़हिं आनहिं बोरहिं जेई। भये उपल बोहित सम तेई ॥८॥
महिमा यह न जलधि कइ बरनी। पाहन गुन न कपिन्ह कइ करनी ॥९॥

अथ—'चतुर नील-नल ने सेतु बाँधा' (ऐसा) उज्ज्वल यश श्रीरामजी की कृपा से प्रसिद्ध हुआ ॥७॥ जो (पत्थर) स्वयं डूबते हैं और दूसरों को (जो उनमें लगे हुए घृत-तृण आदि हैं, अलग होने से न डूबते, उनको) भी डुबा देते हैं । वे ही पत्थर जहाज के समान हो गये ॥८॥ यह महिमा (कवियों ने) समुद्र की नहीं वर्णन की, न यह पत्थर का ही गुण है और न यह नल-नील वानरों का ही कर्त्तव्य है ॥९॥

विशेष—(१) 'बाँधा सेतु नील नल नागर। ······'—पहले 'देखि सेतु अति सुंदर रचना।' से सेतु का प्रसंग छूट गया था, बीच में रामेश्वर-स्थापन कहा गया, अब फिर 'बाँधा सेतु' कहकर वहीं से प्रसंग उठाया गया। 'नागर'—का भाव यह है कि सभी कहते हैं, नील-नल बड़े चतुर कारीगर हैं, तभी तो इन्होंने सेतु की ऐसी सुन्दर रचना की, समुद्र पर पुल बाँधा। इनकी प्रशंसा रावण ने भी की है ; यथा—"सिल्पि कर्म जानहिं नल नीला।" (लं० दो० २१); इन्हें यह बड़ाई राम-कृपा से प्राप्त हुई, नहीं तो पत्थर नहीं जुड़ते, झकोरों में बिखर जाते, सेना के चढ़ने पर तो डूब ही जाते, क्योंकि वे बिना आधार के हैं, श्रीगोस्वामीजी स्वयं इसे आगे कहते हैं।

श्रीरामजी ने कृपा करके सेतु बँधाया, इससे समुद्र को, नल-नील को और सब वानरों को भी यश प्राप्त हुआ ; यथा—"येहि विधि नाथ पयोधि बँधाइय। जेहि यह सुजस लोक तिहुँ गाइय॥" (सुं० दो० ५६)।

उपर्युक्त 'संतत करहिं प्रनत पर प्रीती।' का उदाहरण तो श्रीशिवजी को बड़ाई देने में कहा गया है। तटस्थ होने से दूसरा यह भी उदाहरण हो सकता है कि सेतु बँधाकर नील-नल को भी यश दिया। इनपर श्रीरामजी की कृपा है ; यथा—"जा पर नाथ करहु तुम्ह दाया।···सोइ निजई निनई गुन सागर। तासु सुजस त्रैलोक उजागर॥" (सु० दो० २१)।

(२) 'महिमा यह न जलधि कइ ······'—पानी के ऊपर शिलाओं का तैरना असम्भव बात है। इसमें समुद्र की महिमा नहीं कही जा सकती, क्योंकि यदि किसी अंश में उसकी सहायता भी है, तो वह प्रभु की ही प्रभुता है ; यथा—"मैं पुनि उर धरि प्रभु प्रभुताई। करिहउँ बल अनुमान सहाई॥" (सुं० दो० ५९) ; पाहन का भी गुण नहीं है, क्योंकि वह तो औरों को साथ लेकर डूब जाता है, जल पर उतराना उसका गुण नहीं है, पत्थर भी राम-प्रताप से ही जल पर उतराये हैं ; यथा—"तिन्ह के परस किये गिरि भारे। तरिहहिं जलधि प्रताप तिहारे॥" (सु० दो० ५९) ; नील-नल के भी कर्त्तव्य नहीं हैं, इन्होंने भी राम-प्रताप के द्वारा ही इसकी रचना की है ; यथा—"राम प्रताप सुमिरि मन माहीं। करहु सेतु प्रयास कछु नाहीं॥" (दो० १) ; ऋषि आशिष भी निमित्त-मात्र छोटे-छोटे पत्थर के टुकड़े तरने के लिये थी, भारी-भारी पर्वतों का तरना, आपस में जुड़ना, सेना के भार को भी थाम्हना इत्यादि नील-नल के कर्त्तव्य से बाहर की बातें हैं।

(३) 'भये उपल बोहित सम······'—वानरों की चंचल सेना पार उतर रही है, सामान्य नाव इनकी कूद-फाँद से डूब जाय, इसलिये जहाज के समान कहा गया है। इतना ही नहीं, इसके दर्शनों से लोग भवसागर भी पार हो जायँगे ; यथा—"मम कृत सेतु जो दरसन करिही। सो बिनु श्रम भवसागर तरिही॥" ऊपर कहा गया है।

दोहा—श्रीरघुबीर-प्रताप ते, सिंधु तरे पाषान ;
ते मतिमंद जे राम तजि, भजहिं जाइ प्रभु आन ॥३॥

बाँधि सेतु अति सुदृढ़ बनावा। देखि कृपानिधि के मन भावा ॥१॥

अर्थ—रघुवीर श्रीरामजी के प्रताप से पत्थर समुद्र पर उतराये, वे लोग मंदबुद्धि हैं, जो श्रीरामजी को छोड़, जाकर (वा, व्यर्थ) दूसरे स्वामी को भजते हैं ॥३॥ सेतु को बाँधकर अत्यन्त सुन्दर और दृढ़ बनाया, (सुदृढ़ बनावट) देखकर वह सेतु कृपा-निधान श्रीरामजी के मन को भाया ॥१॥

विशेष—(१) 'श्रीरघुबीर-प्रताप ते···'—ऊपर से सेतु-बंध के अन्य उपकरणों का निषेध किया। यहाँ उसके मुख्य साधक रघुवीर-प्रताप को स्पष्ट किया। आपके नाम के प्रभाव से पत्थर पर कमल पैदा हो सकता है; यथा—"नाम प्रभाव सही जो कहै कोउ सिला सरोरुह जामो।" (वि॰ २२८); तो रूप के प्रभाव से जल पर पत्थर का तैरना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

(२) 'ते मति मंद जे······'—मति के तुच्छ हैं, इसी से राम-प्रताप को नहीं जानते। अतः, श्रीरामजी में 'प्रतीति नहीं' है और सेतुबंध की व्यवस्था को समुद्र एवं नील और नल के द्वारा ही समझते हैं। इसीसे श्रीरामजी में उनकी प्रीति नहीं होती। अतः, दूसरे देवताओं को भजते हैं; यथा—"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती ॥" (उ॰ दो॰ ८८); ऐसे ही राम-प्रभाव को जानकर भजन करनेवालों को प्रवीण एवं चतुर कहा गया; यथा—"मसकहि करहिं बिरंचि प्रभु, अजहि मसक ते हीन। अस बिचारि तजि संसय, रामहि भजहिं प्रबीन ॥" (उ॰ दो॰ १२२); तथा—"रामहि भजहिं ते चतुर नर।" (आ॰ दो॰ ६)।

(३) 'बाँधि सेतु अति···'—पहले "देखि सेतु अति सुंदर रचना। बिहँसि कृपानिधि बोले बचना ॥" (दो॰ १); से सेतु-बंध प्रसंग छूट गया था। बीच में रामेश्वर की स्थापना कही, फिर सेतु बाँधने में राम-प्रताप ही को प्रधान कारण बतलाया। नल और नील को कृपा करके प्रभु ने सुयश दिया—यह सूचित किया।

श्रीशिवजी के कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे प्रभु ने लिंग-स्थापन-द्वारा मुझे बड़ाई दी, वैसे ही कृपा करके नल और नील को भी सुयश दिया। अब वहीं से पूर्व-प्रसंग फिर उठाया जाता है, इसीसे जैसे वहाँ—'देखि सेतु अति सुन्दर रचना। बिहँसि कृपानिधि···' कहा गया था, वैसे ही यहाँ भी—'सेतु अति सुदृढ़ सुहावा। देखि कृपानिधि···'पद कहे गये हैं।

'देखि कृपानिधि के मन भावा।'—सेतु देखकर मन प्रसन्न हुआ, इससे श्रीरामचन्द्रजी को कृपानिधि कहा गया, क्योंकि जिनकी माया क्षण-भर में करोड़ों ब्रह्मांड रच डालती है, उनको इस अल्प रचना से क्या हर्ष हो सकता है? यह तो आपने अपने भक्तों पर कृपा करके उनकी श्रम-सफलता के लिये प्रसन्नता प्रकट की है। पुनः 'सेतु अति सुदृढ़ बनावा' देखकर भी हर्षित हुए; यथा—"शुशुभे सुभगः श्रीमान्स्वातीपथ इवाम्बरे।···तमचिन्त्यमसह्यं च ह्यद्भुतं लोमहर्षणम् ॥" (वाल्मी॰ ६।२२।७०-७२); अर्थात् वह सेतु ऐसा सुन्दर था, जैसी आकाश में आकाश-गंगा। अचिंतनीय तथा अशक्य, आश्चर्यकारक और साथ ही रोमाञ्चकारक भी था।

सेतु पाँच दिनों में तैयार हुआ—"पहले दिन १४ योजन, दूसरे दिन २०, तीसरे दिन २१, चौथे दिन २२ और पाँचवें दिन २३ योजन बना; इस तरह वह १०० योजन लंबा और १० योजन चौड़ा था।" (वाल्मी॰ ६।२२।६६-७२)।

लंका-विजय हो जाने पर लौटते समय श्रीविभीषणजी की प्रार्थना से इस सेतु को श्रीरामजी ने तोड़ दिया। अपने धनुष से इसके १-१ योजन के टुकड़े कर दिये। ऐसा पद्मपुराण-सृष्टि-खंड अ० ३८ श्लोक २८-३२ में लिखा है।

"कपि सेन जिमि उतरी सागर पार"—प्रकरण

चली सेन कछु बरनि न जाई। गर्जहिं मर्कट-भट-समुदाई ॥२॥
सेतुबंध ढिग चढ़ि रघुराई। चितव कृपाल सिंधु-बहुताई ॥३॥
देखन कहँ प्रभु करुनाकंदा। प्रगट भये सब जल-चर-बृंदा ॥४॥

शब्दार्थ—बहुताई = अधिकता, प्रभाव, विस्तार। कंद = मेघ।

अर्थ—सेना चली, उसका कुछ वर्णन नहीं किया जा सकता, वानर-योद्धाओं के झुंड-के-झुंड गरजते हैं ॥२॥ सेतुबंध के पास (ऊँचे पर) चढ़कर कृपालु श्रीरामजी समुद्र की अधिकता देखने लगे ॥३॥ करुणा-कंद समर्थ स्वामी श्रीरामजी के दर्शनों के लिये सब जलचरों के झुंड-के-झुंड प्रकट हो गये ; अर्थात् जल के ऊपर उतराकर स्थिर हो गये ॥४॥

विशेष—(१) 'सेतुबंध ढिग चढ़ि···'—कौतुक देखने के सम्बन्ध से प्रभु को रघुराई कहा गया है, क्योंकि राजा लोग कौतुक देखते ही हैं ; यथा—"अस कौतुक बिलोकि दोउ भाई। बिहँसि चले कृपालु रघुराई ॥" (दो० ४) ; प्रभु ने जलचरों को कृपा करके दर्शन दिये, इससे इन्हें 'कृपाल' कहा गया है ; यथा—"देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारित मोचन ॥" (बा० दो० १४५) ; वानरों पर भी कृपा है कि इन्हीं जलचरों पर चढ़-चढ़कर वे उस पार जायँगे, यह आगे स्पष्ट है।

(२) 'देखन कहँ प्रभु···'—करुणा के मेघ हैं। मुसकान दामिनी है, भाई से गंभीर स्वर में बात करना गर्जन है ; यथा—"भाई सों करत बात कौसिकहिं सकुचात बोल घनघोर से बोलत थोर थोर हैं।" (गी० बा० ७१) ; कृपा-दृष्टि करना वृष्टि है। करुणा-कंद सामने हैं, इनकी कृपा-दृष्टि-रूपी मीठे जल की वृष्टि का सुख लेने के लिये सभी जलचर उतरा गये, क्योंकि प्रभु के सामने शत्रु का भय नहीं है। 'वृन्दा'—प्रत्येक जाति के—झुण्ड-के-झुण्ड जलचर एक साथ ही निकले हुए हैं।

मकर नक्र नाना झख ब्याला। सत जोजन तन परम बिसाला ॥५॥
अइसेउ एक तिन्हहि जे खाहीं। एकन्ह के डर तेपि डेराहीं ॥६॥
प्रभुहि बिलोकहिं टरहिं न टारे। मन हरषित सब भये सुखारे ॥७॥

शब्दार्थ—मकर = मगर, नक्र = घड़ियाल। झष = मछली।

अर्थ—अनेक जातियों के मगर, घड़ियाल, मछली, सर्प, जो सौ-सौ योजन के बड़े लंबे, चौड़े और ऊँचे शरीरवाले हैं ॥५॥ ऐसे भी कोई हैं जो उन्हें भी खा जाते हैं, एक कोई ऐसे हैं कि जिनके डर से वे (दूसरे) भी डरते हैं ॥६॥ (पर ये सब विषमता छोड़कर) प्रभु को देख रहे हैं, टाले नहीं टलते। सबके मन में हर्ष है, सभी सुखी हो गये ॥७॥

विशेष (१) 'अइसेउ एक तिन्हहिं जे खाहीं।···', यथा—"जलचर वृन्द जाल अंतर्गत होत सिमिटि यक पासा। एकहि एक खात लालच बस नहिं देखत निज नासा॥" (वि० ९१)। तीन जातियों की मछलियाँ बहुत विशाल कही गई हैं; यथा—"अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम शतयोजनविस्तरः। तिमिंगल गिलोऽप्यस्ति तद्गिलोऽप्यस्ति राघव.॥" (हनु० अं० ८), अर्थात् शतयोजन का तिमि नाम का मत्स्य है, उसको भी निगलनेवाला तिमिंगल है और उसे भी राघवमत्स्य निगल जाता है। इन्हीं तीनों का यहाँ भी वर्णन है।

'प्रभुहि बिलोकहिं टरहिं न टारे।'—श्रीरामजी के छवि-समुद्र-रूप के दर्शनों से सभी एकटक हो रहे हैं और इसीसे परस्पर की विषमता भी मिट गई है; यथा—"करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगत बैर बिचरहिं सब संगा॥" (अ० दो १३७); क्योंकि श्रीरामजी सब की आत्मा होने से सर्वप्रिय हैं; यथा—"ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी।" (बा० दो० २१५), इसीसे इनके दर्शनों से सभी को सुख होता है; यथा—"देखि लोग सब भये सुखारे। एकटक लोचन चलत न तारे॥" (बा० दो० २४३); यहाँ सभी जलचर परमानंद में निमग्न हैं, शरीर की सुधि भुला गई है। मन में हर्ष है, तन से सुखी हैं।

तिन्ह की ओट न देखिय बारी। मगन भये हरिरूप निहारी॥८॥
चला कटक प्रभु-आयसु पाई। को कहि सक कपि-दल-बिपुलाई॥९॥

दोहा—सेतबंध भइ भीर अति, कपि नभ-पंथ उड़ाहिं।
अपर जलचरन्हि ऊपर, चढ़ि चढ़ि पारहि जाहिं॥४॥

अर्थ—उन जलचरों की आड़ में जल नहीं दिखाई देता, वे भगवान् का रूप देखकर मग्न हो गये॥८॥ प्रभु की आज्ञा पाकर सेना चली, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, वानर सेना की बहुतायत अपार है; अतएव अवर्ण्य है॥९॥ सेतु-बंध पर बहुत ही भीड़ हुई। (इससे चलने को रास्ता नहीं मिलता, अतएव कुछ) वानर आकाश-मार्ग से उड़ते जा रहे हैं और कितने जलचरों के ऊपर चढ़-चढ़कर पार जा रहे हैं॥४॥

विशेष—(१) 'तिन्ह की ओट न···'—श्रीरामजी का रूप ऐसा ही मनोहर है कि उसे देखकर सभी मोह जाते हैं, देखने से तृप्ति नहीं होती; यथा—"खग मृग मगन देखि छबि होहीं। लिये चोरि चित राम बटोहीं॥" (अ० दो० १२३), "छबि-समुद्र हरि-रूप बिलोकी। एकटक रहे नयन-पट रोकी॥ ·· तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा॥" (बा० दो० १४७); तथा—"जाइ समीप राम छबि देखी। रहि जनु कुँवरि चित्र अवरेखी॥" (बा० दो० २६४)। ऐसे ही जलचर भी नहीं हिलते-डुलते।

(२) 'चला कटक प्रभु आयसु पाई।···'—पहले 'चली सेन कछु···' कहकर समुद्र की बहुतायत एवं जलचरों का हरि-दर्शन करना कहा गया, क्योंकि सेना के चलने में इनका भी प्रयोजन है। अब फिर वहीं (पूर्व) से प्रसंग उठाया—'चला कटक···'

(३) 'सेतुबंध भइ भीर अति···'—ऊपर सेना की अपारता कही गई है; यथा—"को कहि सक कपि दल बिपुलाई।" उसे ही यहाँ दिखाते हैं कि ४० कोस चौड़े और ४०० कोस लंबे सेतु पर भी तिल-

भर जगह नहीं है और सभी पहले पहुँचना चाहते हैं। इससे कितने आकाश मार्ग से ही उड़ चले और कितने जलचरों पर ही चढ़कर जा रहे हैं।

यहाँ सिंधु के पार जाने के तीन मार्ग कहे गये हैं—सेतु-द्वारा, नभ-मार्ग से और जलचरों पर चढ़कर। ऐसे ही संसार-सागर के भी पार जाने के तीन मार्ग हैं। कर्म जलचरोंवाला मार्ग है, क्योंकि इसमें देव-पितृ-सम्बन्ध से कर्म होते हैं, वे सब विषय-वारिचर हैं; यथा—"विषय वारि मन मीन···" (वि० १०२); "हम देवता···भव-प्रवाह संतत हम परे। (लं० दो० १०८); ज्ञान आकाश-मार्ग है, क्योंकि इसमें मन को कोई आधार नहीं रहता; यथा—"ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहँ टेका॥" (उ० दो० ४४); उपासना सेतु-मार्ग है, क्योंकि इसमें कोई भय नहीं, इसपर से बड़े छोटे सभी जा सकते हैं; इससे डूबने का भय नहीं रहता; अर्थात् कोई विघ्न नहीं है; यथा—"अति अपार जे सरित बर, जौं नृप सेतु कराहिं। चढ़ि पिपीलिको परम लघु, बिनु श्रम पारहि जाहिं॥" (बा० दो० १३); तथा—"कहहु भगति पथ कवनि प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥" (उ० दो० ४५); "सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान स्रुति गाई॥" (उ० दो० ४४)। "ताते नास न होइ दास कर" (उ० दो० ७८); "न मे भक्तः प्रणश्यति" (गीता ९।३१)

अस कौतुक बिलोकि दोउ भाई। बिहँसि चले कृपाल रघुराई॥१॥
सेनसहित उतरे रघुबीरा। कहि न जाइ कपि-जूथप-भीरा॥२॥

अर्थ—ऐसा कौतुक देखकर दोनों भाई हँसे और हँसकर कृपालु श्रीरामजी चले॥१॥ रघुवीर श्रीरामजी सेना-सहित समुद्र के पार उतरे, वानर यूथपों की भीड़ कही नहीं जा सकती; अर्थात् वे असंख्य हैं॥२॥

विशेष—(१) 'अस कौतुक बिलोकि···'—कौतुक का उपक्रम—"सेतुबंध ढिग चढ़ि रघुराई। चितव कृपाल सिंधु बहुताई॥" से हुआ और यहाँ—'अस कौतुक···' पर उपसंहार हुआ। 'दोउ भाई'—कौतुक देखने के लिये साथ ही श्रीलक्ष्मणजी भी चढ़े हुए थे। सेना का आगे और दोनों भाइयों का पीछे चलना कहा गया है, क्योंकि प्रभु के आगे चलने से संभव था कि उनके दर्शक जलचर चलायमान हो जाते जिससे उनके ऊपर चलनेवाले वानर जल में गिर जाते। पहले विशेष सेना को पार करके तब आप उतरे। आगे लिखते ही हैं; यथा - "सेन सहित उतरे रघुबीरा।" आपके उतरने का प्रकार यों है—"श्रीसुग्रीवजी ने प्रार्थना की कि आप श्रीहनुमान्‌जी की पीठ पर और श्रीलक्ष्मणजी श्रीअंगदजी की पीठ पर चढ़कर चलें। अतः, प्रभु ने वैसा ही किया"–(वाल्मी० ६।२२।७८ ८०)।

'सेन सहित उतरे'—'उतरे'-मात्र का यह भी भाव है कि श्रीहनुमान्‌जी और श्रीअंगदजी की पीठ पर से उतरे। पुन. सेना-समेत उतरे, अर्थात् समुद्र-पार हुए। जो आकाश-मार्ग से आये, वे भूमि पर उतरे। पुनः उतरने का अर्थ टिकने का भी है, वह इस प्रकार है—"रामजी ने कहा कि सेना (पुरुष) व्यूह के नियम से रहे। नील के सहित अंगदजी अपनी सेना-सहित उर (मध्य) की रक्षा करें। दाहिने ऋषभ और बायें गंधमादन रहें। आगे लक्ष्मणजी और मैं (रामजी) (शिर पर) रहूँगा। जाम्बवान्, सुषेण और वेगदर्शी कुक्षि-भाग की रक्षा करें और श्रीसुग्रीवजी इस सेना के जघन देश की रक्षा करें।" (वाल्मी० ६।२४।१३-१८)।

यहाँ तक कपि-सेना के उस पार उतरने का मुख्य प्रसंग पूरा हुआ।

सिंधु - पार प्रभु डेरा कीन्हा । सकल कपिन्ह कहँ आयसु दीन्हा ॥३॥
खाहु जाइ फल - मूल सुहाये । सुनत भालु-कपि जहँ तहँ धाये ॥४॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी ने समुद्र-पार डेरा डाला (ठहरे) और उन्होंने सब वानरों को आज्ञा दी ॥३॥ कि जाकर सुन्दर फल-मूल खाओ, यह सुनते ही भालू-वानर जहाँ-तहाँ दौड़ पड़े ॥४॥

विशेष—(१) 'सिंधु पार प्रभु'''—ऊपर जो डेरा का विधान लिखा गया है, वह समुद्र-तट का है और यहाँ 'डेरा कीन्हा' सुवेल पर्वत पर टिकने को कहा गया है ; यथा—"ततस्तमक्षोभ्यबलं लंकाधिपतयेचराः । सुवेले राघवं शैले निविष्टं प्रत्यवेदयन् ॥" (वाल्मी० ६।३०।१) ; यहाँ गरुड़-व्यूह से सेना टिकाई गई है ; यथा—"द्वारमाश्रित्य लङ्काया रामस्तिष्ठति सायुधः ॥ गरुड़व्यूहमास्थाय सर्वतो हरिभिर्वृतः ।" (वाल्मी० ६।३०।११-१२) ; 'प्रभु'—पूर्ण समर्थ हैं, इसीसे शत्रु के देश में भी वानरों को जहाँ-तहाँ फल-मूल खाने की आज्ञा दे दी, क्योंकि ये सर्वत्र उनकी रक्षा कर सकते हैं। समुद्र के उत्तर तट पर फल खाने के लिये आज्ञा देना नहीं लिखा गया, क्योंकि वहाँ शत्रु का देश नहीं होने से कोई भय नहीं था। ऐसे ही रावण के बाग में श्रीसीताजी से आज्ञा लेकर श्रीहनुमान्जी ने भी फल खाये हैं। 'धाये'—स्वामी की आज्ञा से निर्भय हो गये हैं, अतएव जिसने जिधर पाया उत्साह-पूर्वक दौड़ पड़ा।

समुद्र के उत्तर तट पर तो फल खाये ही थे ; यथा—"जहँ तहँ लागे खान फल, भालु बिपुल कपि बीर ॥" (सुं० दो० ३५) ; फिर सेतु बाँधकर इस पार आने में कुछ परिश्रम हुआ। अतः सभी भूखे होंगे यह जानकर प्रभु ने उन्हें फल खाने की आज्ञा दी, यह प्रभु का सेवकों पर स्नेह है। 'सुहाये' अर्थात् स्वादिष्ट, मधुर फल ; यथा—"रघुपति चरन हृदय धरि, तात मधुर फल खाहु ॥" (सुं० दो० १७) ।

सब तरु फरे राम - हित - लागी । रितु अरु कुरितु कालगति त्यागी ॥५॥
खाहिं मधुर फल बिटप हलावहिं । लंका सनमुख सिखर चलावहिं ॥६॥

अर्थ—सब वृक्ष श्रीरामजी के हित के लिये ऋतु और कुऋतु (फसल, बेफसल) तथा काल की गति (समय की चाल) को छोड़कर फले ।५॥ वानर और रीछ मीठे-मीठे फल खाते हैं, वृक्षों को हिलाते और लंका की ओर (पर्वतों के) शिखरों को फेंकते हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'सब तरु फरे राम-हित लागी ।'''—श्रीरामजी का हित यह कि उनकी सेना फल खाकर तृप्त हो। दूसरा यह भी हित है कि अकाल में फल-फूल का होना अनिष्टकारक है, ऐसा होने से उस देश के राजा का नाश होता है; यथा—"भय दायक खल कै प्रिय बानी । जिमि अकाल के कुसुम भवानी ॥" (आ० दो० २१) ; अतः, रावण का नाश होगा, इसमें श्रीरामजी का हित है। 'रितु'—जिस ऋतु में जितने फल पेड़ में लगने का नियम है, उनसे अधिक लगे, यह ऋतु-त्याग है। 'कुरितु'—जो वृक्ष जिस ऋतु में नहीं फलते, उसमें भी वे फलों से लद गये।

'काल गति त्यागी'—का भाव यह है कि कोई फल, जैसे इमली आदि वर्षा में पकते हैं, कोई दो-तीन महीने में इत्यादि, वे सब उसी समय परिपक्व हो गये, उन्होंने अपने नियत काल की प्रतीक्षा नहीं की।

ये सब बातें श्रीरामजी की कृपा-दृष्टि से हुईं; यथा—"बिनही रितु तरुवर फरैं, सिला द्रवैं जल जोर । राम लखन सिय करि कृपा, जब चितवहिं जेहि ओर ॥" (दोहावली १०६), क्योंकि सब स्थावर-जंगम-सृष्टि श्रीरामजी की आज्ञा में है; यथा—"ईस रजाइ सीस सबही के ।" (अ० दो० २८१) ।

(२) 'खाहिं मधुर फल···'—श्रीरामजी ने आज्ञा दी थी—'खाहु जाइ फल मूल सुहाये।' इससे सब मधुर फल ही खाते हैं, श्रीरामजी की कृपा से उनमें मधुर फल फले भी हैं। 'बिटप हलावहिं'—अपने चंचल स्वभाव से वृक्षों को हिलाते हैं, मानों अपने को प्रकट करते हुए खाते हैं, चोरी से नहीं। जब कोई रोकनेवाला नहीं आता, तब लंका की ओर पर्वतों के शिखर फेंक-फेंककर रावण को ललकारते हैं। इस तरह अपने-अपने बल और श्रीरामजी का आगमन जनाते हैं।

जहँ कहुँ फिरत निसाचर पावहिं। घेरि सकल बहु नाच नचावहिं ॥७॥
दसनन्हि काटि नासिका - काना। कहि प्रभु सुजस देहिं तब जाना ॥८॥

अर्थ—जहाँ-कहीं फिरते हुए निशाचर को पा जाते हैं, वहीं पर सब उसे घेरकर बहुत नाच नचाते हैं ॥७॥ दाँतों से उसके नाक-कान काट प्रभु का सुयश कहकर (वा प्रभु का सुयश उसके कहने पर) उसे जाने देते हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'जहँ कहुँ फिरत निशाचर···'—प्रायः निशाचर इधर नहीं आते, क्योंकि लंका-दहन के समय से ही उनके हृदय में वानरों का भय समा गया है; यथा—"जहाँ निसाचर रहहिं ससंका। जब ते जारि गयउ कपि लंका॥" (सुं० दो० १५); यदि कहीं कोई भूला-भटका निशाचर मिल भी जाता है तो उसे पकड़ लेते हैं। 'नाच नचाना' अर्थात् दिक करना, यह मुहावरा है।

(२) 'काटि नासिका काना।'—यह श्रीलक्ष्मणजी का चलाया हुआ चुनौती देने का नियम है कि जिससे नकटा-बूचा होने पर वह अपने जीवन की ग्लानि से अवश्य जाकर रावण से कहेगा; यथा—"तोहि जियत दसकंधर, मोरि कि असि गति होइ।" (आ० दो० २१), और रावण पहले-पहल नकटे-बूचे से ही शत्रु के आने का समाचार सुनेगा, यह भी उसके लिये अमङ्गल-जनक ही होगा। 'कहि प्रभु सुजस'; यथा—"कपि भालु चढ़ि मंदिरन्हि जहँ तहँ राम जस गावत भये।" (दो० ४१); सुयश में वालि-वध खर-दूषणादि-वध, शूर्पणखा की दुर्गति आदि कहते हैं। अथवा श्रीरामजी की जय बोलाकर उसे जीते छोड़ देते हैं।

जिन्ह कर नासा - कान निपाता। तिन्ह रावनहि कही सब बाता ॥९॥
सुनत श्रवन बारिधि - बंधाना। दसमुख बोलि उठा अकुलाना ॥१०॥

दोहा—बाँध्यो बननिधि नीरनिधि, जलधि सिंधु बारीस।
सत्य तोयनिधि कंपति, उदधि पयोध नदीस ॥५॥

शब्दार्थ—निपाता = काटकर गिराया। बन, कं, उद, पय, तोय—सबका अर्थ जल है।

अर्थ—जिनके नाक-कान काट डाले गये, उन्होंने रावण से सब बातें कहीं ॥९॥ समुद्र पर सेतु का बाँधा जाना कानों से सुनते ही रावण घबड़ाकर दशो मुखों से बोल उठा ॥१०॥ क्या सत्य ही बन-निधि, नीर-निधि, जलधि, सिंधु, वारीश, तोय-निधि, कंपति, उदधि, पयोधि और नदीश को बाँध लिया ॥५॥

विशेष—(१) 'सब बाता'—सेतु-बँधना, शत्रु का सेना-सहित सुवेल पर आना, अपार सेना, वानरों का वृक्ष तोड़ना, अपनी दुर्दशा, नाक-कान काटा जाना और रावण को चुनौती देना, इत्यादि।

(२) 'बोलि उठा अकुलाना ।'—क्योंकि उसकी दृष्टि में यह बात आश्चर्यजनक है, यथा—"समग्रं सागरं तीर्णं दुस्तरं वानरं बलम् । अभूतपूर्वं रामेण सागरे सेतुबन्धनम् ॥" (वाल्मी० ६।१५।२), ये रावण ही के वचन हैं कि सेतु बंधन का कार्य श्रीरामजी ने आश्चर्य कर दिया है। तथा "सुंदर सहज अगम अनुमानी कीन्हि तहाँ रावन रजधानी ॥" (बा० दो० १७८), अर्थात् रावण के अनुमान में दूसरों के लिये लंका अगम्य थी, इससे श्रीरामजी का यह कर्म उसे आश्चर्यजनक हुआ। एक साथ ही दशो मुखों से बोल उठा, इसीसे 'दसमुख' कहा गया ।

(३) 'बाँध्यो बननिधि···'— रावण के दस मुख थे, पर बात चीत सदा एक ही मुख से करता था। इस समय समुद्र पर पुल का बँधना सुनते ही इस आश्चर्य-जनक कार्य से घबड़ा गया, इससे कहनेवालों से यह घबड़ाहट में दसो मुखों से एक साथ ही बोल उठा। पूछने लगा, क्या यह सत्य है ? 'सत्य' शब्द से जाना जाता है, उसके हृदय में ऐसा विश्वास नहीं होता; यथा—"सागरे सेतुबन्धं तु न श्रद्ध्यां कथंचन ।" (वाल्मी० ६।१५।३)।

एक ही बात को दस बार कहे जाने में यहाँ व्याकुलता की वीप्सा है। प्राय, आश्चर्यजनक मरण आदि की बात सुनकर लोग ऐसे ही कहते हैं—अरे कौन ? अमुक के पुत्र, अमुक के भाई, अमुक जगह के मास्टर ? इत्यादि ।

निज बिकलता बिचारि बहोरी । बिहँसि गयउ गृह करि भय भोरी ॥१॥
मंदोदरी सुनेउ प्रभु आयउ । कौतुक हीं पाथोधि बँधायउ ॥२॥
करगहि पतिहि भवन निज आनी । बोली परम मनोहर बानी ॥३॥

शब्दार्थ—भोरी करना = भुलाना । पाथोधि = समुद्र ।

अर्थ—फिर अपनी व्याकुलता को विचार डर को भुला और हँसकर वह घर को चला गया ॥१॥ मंदोदरी ने सुना कि प्रभु आये हुए हैं और खेल ही में उन्होंने समुद्र बँधा लिया ॥२॥ हाथ पकड़कर पति (रावण) को अपने महल में लाकर अत्यन्त सुन्दर वाणी बोली ॥३॥

विशेष—(१) 'बिचारि बहोरी'–रावण एकाएक घबड़ा गया, जिससे वह दशो मुखों से एक बारगी बोल उठा। फिर पीछे विचारने लगा कि मेरी इस घबड़ाहट को लोग ताड़ गये होंगे। अत., वे अधिक भयभीत होंगे। इसीसे अपना भय छिपाने के लिये उसने ऊपर से हँस दिया कि इस छोटे-से सेतु के बाँधने से क्या होता जाता है ? इस प्रकार उसने शत्रु के इतने बड़े कार्य का भी निरादर किया, यथा—"यदि वानरसमुद्रे तु सेतुर्बद्धो यदृच्छया रामेण विस्मयः कोऽत्र येन ते भयमागतम् ॥" (वाल्मी० ६।३६।११), अर्थात् यदि पहले श्रीरामजी ने अकस्मात् सिंधु में पुल बाँध लिया, तो इसमें आश्चर्य क्या हुआ, जिससे तुम सभी डर गये। ऐसा कहकर वह घर चला गया कि ऐसा न हो कि भय की कोई और बात अनायास निकल पड़े। पुन यहाँ यह भी भाव है कि इतने प्रबल भय का कारण होने पर भी वह भय को भूल गया और निर्भय हो भोग विलास में निमग्न हो गया, यथा—"परम प्रबल रिपु सीस पर, तदपि न सोच न त्रास ॥" (दो० १०),'भय भोरी' यह भी सुना जाता है कि रावण को किसी तरह यह बात मालूम थी कि जब वह एक साथ ही दसों मुखों से एक ही बात के लिये बोल उठे, तब उसकी मृत्यु शीघ्र ही होगी।

(२) 'मदोदरी सुन्यो '—सुना, यथा–"दूतिन्ह सन सुनि पुरजन बानी। मदोदरी अधिक अकुलानी।" (सुं० दो ३५), इसने पहले सेना के साथ प्रभु का आना सुना, तब सेतु का बधन। अत, उसी प्रकार यहाँ भी यथाक्रम कहा गया है। वानरों की सेना को आकर फल खाते देख राक्षसों ने श्रीरामजी का आना कहा। कैसे आये ? इसका पता लगाने पर उन्होंने आ-आकर सेतु का बाँधा जाना, मन्दोदरी से कहा। 'कौतुकही पाथोधि. .'—सेतु-रचना में कुछ भी श्रम नहीं हुआ, खेल मे ही बँध गया, यथा—"करहु सेतु प्रयास कछु नाहीं।"। 'लीलहि लेहि उठाइ' 'कदुक इव नल नील ते लेहीं' इत्यादि रचना-प्रसग मे कहा ही गया है। खेल ही खेल में उन्होंने ऐसा दुष्कर कार्य वानरों के द्वारा कर डाला, इससे उन्हें 'प्रभु' कहा कि वे सब कुछ करने मे समर्थ हैं।

(३) 'कर गहि पतिहि भवन '—मन्दोदरी ने उपदेश का सुन्दर अवसर जानकर और यह विचारकर कि किसी और रानी के महल मे न चला जाय, उसका हाथ पकड (प्यार एव सम्मान के साथ) अपने घर मे ले आई। इस समय रावण के हृदय मे डर बना हुआ है, सम्भवत वह उपदेश मान ले, इसीलिये उसे एकान्त मे ले गई।

बालि वध, खरादि-वध, लका-दहन और सेतु-बधन आदि से भी इसने श्रीरामजी की प्रभुता नहीं देखी (समझी), इससे अधे की तरह हाथ पकडकर ले जाना योग्य ही है, श्रीगोस्वामीजी ने यह भी ध्वनित किया है, यथा –"तुलसीदास सो स्वामि न सूझ्यो नयन बीस मंदिर केसे मोखे।" (गी० सु० १२)

मंदोदरी का उपदेश [२]

चरन नाइ सिर अंचल रोपा। सुनहु बचन पिय परिहरि कोपा ॥४॥
नाथ बयर कीजै ताही सो। बुधि बल सकिय जीति जाही सो ॥५॥
तुम्हहि रघुपतिहि अंतर कैसा। खलु खद्योत दिनकरहि जैसा ॥६॥

शब्दार्थ—रोपना = फैलाना, पसारना। अतर = बीच। खलु = निश्चय।

अर्थ—चरणों मे मस्तक नवाकर आँचल पसारा (और बोली) हे प्राणप्रिय ! क्रोध छोडकर मेरे वचन सुनिये ॥४॥ हे नाथ ! वैर उसीसे करना चाहिये, जिससे बुद्धि और बल से जीत हो सकती हो ॥५॥ तुममे और श्रीरघुनाथजी मे कैसा बडा अन्तर है जैसा निश्चय ही जुगनू और सूर्य मे (अंतर होता है) ॥६।

विशेष—(१) 'चरन नाइ सिर . '– मन्दोदरी चरणों पर शिर रखकर माँग की रक्षा और अचल पसारकर कोख की कुशल चाहती है कि ये दोनों आपकी सुमति के अधीन हैं। यहाँ इसने पतिव्रताओं की-सी रीति भी दिखाई है कि वे ऐसे ही पति को प्रसन्न करें। 'प्रिय'–मदोदरी को अपने पत्नीत्व के स्वत्व पर पूरा विश्वास है, वह पति के भावों के उभाड़ने के लिये 'पिय' = प्यारे, शब्दों का प्रयोग करती है। 'सुनहु बचन' हमारा प्यार रखने के लिये भी इन वचनों को अवश्य सुनो। 'परिहरि कोपा'—मदोदरी देख चुकी है कि जो रावण से श्रीरामजी का उत्कर्ष एव सीता देने की बात कहता है, उसपर वह जल उठता है, यथा—"जब तेहि कहा देन बैदेही। चरन प्रहार कीन्ह सठ तेही॥" (सु० दो० ४१); "रिपु उत्कर्ष कहत सठ दोऊ। दूरि न करहु इहाँ हइ कोऊ॥.. सुनत दसानन उठा

रिमाई।" (सुं॰ दो॰ ३१-४०) । इसीसे यह पहले क्रोध छोड़ने के लिये उसे वाग्बद्ध कर लेती है, क्योंकि यही दोनों बातें इस समय भी कहनी हैं।

(२) 'नाथ बयर कीजे...'—'नाथ' कहने का भाव यह है कि मेरी प्रार्थना न मानने से आपका अमंगल होगा, तो अनाथ की-सी दशा होगी; यथा—"भुजबल जितेहु काल जम साईं। आजु परेउ अनाथ की नाईं ॥" (दो॰ १०३); और मैं तो आपके रहते हुए भी अनाथिनी के समान हो जाऊँगी, यथा—"धरि केस नारि निकारि बाहेर तेऽति दीन पुकारहीं।" (दो॰ ८५); 'बुधिबल...'—शत्रु से जय प्राप्त करने के लिये ये ही दो मुख्य हैं; इसीलिये सुरसा ने श्रीहनुमान्जी की इन्हीं दो बातों के लिये परीक्षा ली है; यथा—"जानें कहँ बल बुद्धि बिसेषा" एवं "बुधि बल मरम तोर मैं पावा।" कहा ही गया है। तथा "देखि बुद्धि बल निपुन कपि, कहेउ जानकी जाहु।" (सुं॰ दो॰ १७); अर्थात् बुद्धि और बल में अधिक जानकर शत्रु से मेल कर लेना चाहिये। बैर और प्रीति समान से ही करने योग्य है, यथा "प्रीति विरोध समान सन, करिय नीति असि आहि।" (दो॰ ११)।

(३) 'तुम्हहि रघुपतिहि···'—अंतर 'रघुपति' शब्द से जनाया है कि तुम जीव हो और वे ईश्वर हैं। तुमने जिनपर विजय प्राप्त की है वे सब भी जीव थे और ये रघुपति अर्थात् जीव-मात्र के रक्षक (स्वामी) हैं। रघु संज्ञा जीव की है; यथा—"रघुजीवात्मबुद्धिश्च भोक्ता भुक् चेतनस्तथा ॥" (विश्वकोश); जीव ईश्वर का अंश है, अतएव उसमें किंचित प्रकाश है। अतः, जुगनू के समान है, ईश्वर प्रकाश घन है, इससे सूर्य के समान कहा जाता है; यथा—"ईस्वर अंस जीव···" (उ॰ दो॰ ११६); "राम सच्चिदानंद दिनेसा।" (बा॰ दो॰ ११५); जीवों के प्रकाशक श्रीरामजी ही हैं; यथा—"विषय करन सुर जीव समेता।···सब कर परम प्रकाशक जोई। राम···" (बा॰ दो॰ ११६)। अतः, उन्हीं से किंचित् प्रकाश पाया हुआ यह जीव उनसे कैसे सामना कर सकता है? श्रीसीताजी ने भी कहा है; यथा—"सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा।···आपुहि सुनि खद्योत सम, रामहि भानु समान।" (सुं॰ दो॰ ९); यहाँ मंदोदरी उसीकी पुष्टि करती है। इसीलिये 'खलु'=निश्चय कहा है कि इसमें कुछ भी झूठ नहीं है। वहाँ श्रीसीताजी पर रावण कुपित हुआ था, पर यहाँ मन्दोदरी पर नहीं हुआ, क्योंकि इसने पहले ही उससे क्रोध नहीं करने की प्रतिज्ञा करा ली है। जैसे असंख्य खद्योत भी सूर्य की समता नहीं कर सकते; यथा—"जिमि कोटि सत खद्योत सम रवि कहत अति लघुता लहै।" (उ॰ दो॰ ९१)। वैसे ही तुम्हारे समान करोड़ों रावण भी श्रीरामजी की समता नहीं कर सकते। जैसे सूर्योदय से पहले ही जुगनुओं की चमक रहती है, वैसे ही तुम्हारा भी प्रकाश तभी तक है, जब तक श्रीरामजी सामने नहीं आते; यथा—"राम बान रबि उये जानकी। तम बरूथ कहँ जातुधान की ॥" (सुं॰ दो॰ १५); भाव यह है कि अभी अवसर है, उपाय कर लो, जिससे श्रीरामजी बाण नहीं चलावें। आगे श्रीरामजी के ईश्वर होने के प्रमाण देती है—

अति बल मधुकैटभ जेहि मारे। महाबीर दिति-सुत संहारे ॥७॥
जेहि बलि बाँधि सहसभुज मारा। सोइ अवतरेउ हरन महि-भारा ॥८॥

शब्दार्थ—मधुकैटभ—ये दोनों भाई दैत्य थे, मधु बड़ा और कैटभ छोटा था।

अर्थ—जिन्होंने अत्यन्त बलवान् मधु और कैटभ दैत्यों को मारा है और बड़े भारी वीर दिति के

पुत्र हिरण्याक्ष और हिरण्यकश्यप का नाश किया है ॥ ७ ॥ जिन्होंने बलि को बाँधा और सहस्रबाहु को मारा है, उन्होंने ही पृथिवी का भार हरने के लिये अवतार लिया है ॥८॥

विशेष—(१) 'अति बल मधु कैटभ'''—सृष्टि की आदि के महाबलवानों को क्रम से गिनाती है कि इन वीरों के तुल्य उनके अपने-अपने समय में दूसरा नहीं था, इसीसे उनके वध के लिये भगवान् को अवतार लेना पड़ा।

मधु-कैटभ—"ये दोनों दैत्य प्रलय के बाद हुए, श्रीमन्नारायण के नाभि-कमल पर विराजमान ब्रह्मा को देखकर उन्हें बार-बार डराने लगे। डरकर श्रीब्रह्माजी ने कमल को हिलाया, जिससे भगवान् योगनिद्रा से जग पड़े और उन दोनों दैत्यों से स्वागत-प्रश्न करके बोले कि मैं तुमपर प्रसन्न हूँ, मुझसे तुम इच्छित वरदान माँग लो। तब वे दोनों बोले कि हम स्वयं वरदान दे सकते हैं, तुम जो चाहो हमसे ही माँग लो। (अन्यत्र यों भी कथा है, कि ५००० वर्ष भगवान् के लड़ने पर मधु कैटभ प्रसन्न होकर बोले कि वर माँगो,) तब भगवान् ने लोक-हित के लिये उनसे वर माँगा कि तुम्हारी मृत्यु हमारे ही हाथों से हो। एवमस्तु कहकर उन्होंने भी भगवान् से वरदान माँगा कि आप हमें खुले मैदान में मारें और हम आपके पुत्र हों। भगवान् ने उन्हें अपनी जाँघों पर रखकर चक्र से उनका शिर काटा।" (महाभारत वनपर्व अ० १०३, इंडियन प्रेस)।

'दिति-सुत' की कथाएँ देखिये बा० दो० २७ और दो० १२२ चौ० ३–६।

(२) 'बलि'—इनकी कथा भी अ० दो० २६ चौ० ७ में आ गई है।

'सहसभुज'—इन्हें श्रीपरशुरामजी ने मारा है, जो दश अवतारों में एक हैं। इनकी कथा भी अ० दो० २७१ चौ० ८ में आ गई है।

'अति बल' और 'महावीर' शब्दों से सूचित किया गया कि तुम बली और वीर हो और वे लोग अतिबली और महावीर थे। तब उनके मारनेवाले को तुम कैसे जीत सकते हो? 'सहसबाहु' एक साथ ही ५०० धनुष चलाता था, प्रभु के सामने उसकी भी कुछ न चली। तब तुम बीस भुजाओं से दश धनुष का क्या गर्व रखते हो? सहस्रबाहु से भी तुम हार ही चुके हो, तब उसके जीतनेवाले से क्या लड़ोगे?

मधुकैटभ को नारायण रूप से, हिरण्याक्ष को वराह, हिरण्यकशिपु को नृसिंह, बलि को वामन और सहस्रबाहु को परशुराम अवतार लेकर मारा है। 'सोइ अवतरेउ हरन'''—उन्होंने ही अब पृथिवी का भार उतारने के लिये अवतार लिया है। यह मंदोदरी ने श्रीहनुमान्जी और श्रीविभीषणजी के कथन से जाना है; यथा—"धरइ जो बिबिध देह सुर त्राता। तुम्ह से सठन्ह सिखावनदाता॥" (सुं० दो० २०); तथा—"तात राम नहिं नर-भूपाला।'''कृपासिंधु मानुष तन धारी।'''सोइ प्रभु प्रगट समुझु जिय रावन॥" (सुं० दो० ३८), वर्त्तमान समय में भी राक्षस ही पृथिवी के भार हैं, यथा—"गिरि सर सिंधु भार नहिं मोही। जस मोहिं गरुअ एक पर द्रोही॥" (बा० दो० १८३); इस गरुआई के हरण के लिये ही यह अवतार हुआ है; यथा—"हरिहउँ सकल भूमि गरुआई।" (बा० दो० १८६), फिर इस रूप से प्रतिज्ञा भी कर ली है; यथा—"निसिचर हीन करउँ महि, भुज उठाइ पन कीन्ह।" (आ० दो० ९), बहुत से प्रमाण देकर इसने श्रीरामजी का ईश्वरत्व कहा, नहीं तो यह इसे हँसकर ही उड़ा देता। इसपर गी० लं० १ पूरा पद पढ़ने योग्य है।

तासु बिरोध न कीजिय नाथा। काल करम जिव जाके हाथा॥९॥

दोहा—रामहि सौंपि जानकी, नाइ कमल - पद माथ।
सुत कहुँ राज समर्पि बन, जाइ भजिय रघुनाथ ॥६॥

अर्थ—हे नाथ! उनसे विरोध न कीजिये कि जिनके हाथ में काल, कर्म और जीव (की व्यवस्था) है ॥८॥ श्रीरामजी के चरण-कमलों में शिर नवा उनको श्रीजानकीजी सौंपकर लड़के को राज्य दे वन में जाकर श्रीरघुनाथजी का भजन कीजिये ॥६॥

विशेष—(१) 'काल करम जिव जाके हाथा।'; यथा—"माया जीव काल के करम के सुभाव के करैया राम वेद कहैं साँची मन गुनिये।" (क० बाहुक ११); कालवश मनुष्य आदि सभी प्राणी मरते हैं और कर्मवश जन्म लेते हैं; यथा—"अंड कटाह अमित लयकारी। काल···" (उ० दो० ११); "जेहि जोनि जनमउँ कर्म बस···" (कि० दो० १०); अर्थात् चराचर जीवों की गति-अगति (सुगति-दुर्गति) प्रभु के ही हाथ में है, यथा—"काल करम गति अगति जीव की सब हरि हाथ तिहारे" (वि० ११२)। तथा—"परवस जीव स्ववस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥" (उ० दो० ७७), भाव यह है कि उनसे वैर करोगे, तो वे तुम्हें काल-वश करेंगे, शरण होगे तो तुम्हारे कर्म सुधार कर तुम्हें सद्गति दे देंगे। गीता अ० ६।३०–३१ देखिये।

(२) 'रामहि सौंपि जानकी···'—पहले उनसे विरोध करना रोका; यथा—"तासु विरोध न कीजिय···" अब विरोध मिटाने का उपाय कहती है कि उनकी जानकीजी उन्हें सौंप दो। 'सौंपि' से जनाया कि वे उन्हीं की शक्ति हैं, तुम्हारी नहीं हैं। अतः, उन्हें ही समर्पण करो; यथा—"हिमवंत जिमि गिरिजा महेसहिं हरहि श्रीसागर दई। तिमि जनक रामहि सिय समरपी बिस्व कल कीरति नई॥" (बा० दो० ३२१) इस तरह तुम्हें भी कीर्त्ति प्राप्त होगी, यह भाव 'जानकी' शब्द में है। 'नाइ कमल-पद माथ'—प्रणाम-मात्र से वे तुम्हारे अब तक के सब अपराध क्षमा करेंगे, यथा—"भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै।" (वि० १३५); तथा—"सकृत प्रनाम किये अपनाये।" (अ० दो० २९८); "मंगल मूल प्रनाम जासु जग मूल अमंगल को खनै।" (गी० सुं० ४०)।

(३) 'सुत कहुँ राज समर्पि···'—तुम्हारा चौथापन आ गया, अतएव यही उचित है; यथा—"संत कहहिं असि नीति दसानन। चौथे पन जाइहि नृप कानन। तासु भजन कीजिय तहँ भर्ता।" यह आगे कहा ही है। घर में रहते हुए विषयों से वैराग्य नहीं होता और बिना वैराग्य के भजन नहीं होता; यथा—"होइ न विषय विराग, भवन बसत भा चौथ पन। हृदय बहुत दुख लाग, जनम गयउ हरि भगति बिनु॥" (बा० दो० १४२); "राम प्रेम पथ पेखिये, दिये विषय तनु पीठि। तुलसी केंचुलि परिहरे, होति साँपहू डीठि॥" (दोहावली ७२); पुत्र अपना ही प्रतिरूप है, उसे राज्य देकर राज्य की ममता छोड़ो और वन जाकर कुटुम्ब की ममता छोड़ो। राज्य को पुत्र चलावेगा, वन प्रजा की भी चिंता तुम्हें नहीं रहेगी। 'भजिय रघुनाथ' अर्थात सगुण रूप का भजन करो।

नाथ दीन - दयाल रघुराई। बाघउ सनमुख गये न खाई ॥१॥
चाहिय करन सो सब करि बीते। तुम्ह सुर-असुर-चराचर जीते ॥२॥
संत कहहिं असि नीति दसानन। चौथेपन जाइहि नृप कानन ॥३॥

शब्दार्थ—सनमुख गये = शरण हुए, देखिये—"सनमुख होइ जीव···" (सुं० दो० ४४); करि बीते = कर चुके। पन = अवस्था।

अर्थ—हे नाथ ! श्रीरघुनाथजी दीनदयालु हैं, बाघ भी शरण होने (की मुद्रा से लंबा पड़ जाने) पर नहीं खाता। (वह तो स्वतः मरे हुए का माँस नहीं खाता, उसे छोड़ देता है, जानता है कि मरा हुआ है, पर कवियों के द्वारा शरण का यह भाव ग्रहण किया जाता है,) ॥१॥ जो कुछ भी करना चाहिये था; वह सब तुम कर चुके (अर्थात् यहाँ अब तुम्हारे लिये और कोई कर्त्तव्य शेष नहीं है, जिसके लिये भजन न कर सको,) तुमने सुर-असुर एवं चराचर-मात्र को जीत लिया ॥२॥ हे दशानन ! संत ऐसी नीति कहते हैं कि राजा चौथेपन में वन को जाय ॥३॥

विशेष—(१) 'नाथ दीन दयाल···'—यदि वह कहे कि मैं तो उनसे विरोध कर ही चुका और वे मेरे नाश की प्रतिज्ञा एवं श्रीविभीषणजी को तिलक भी कर चुके, तो कैसे क्षमा करेंगे ? उसीपर कहती है कि वे रघुराई दीनदयालु हैं ; यथा—"जद्यपि मैं अनभल अपराधी। भइ मोहिं कारन सकल उपाधी ॥ तदपि सरन सनमुख मोहिं देखी। छमि सब करिहहिं कृपा बिसेषी ॥ सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ। कृपा सनेह सदन रघुराऊ ॥ अरिहुँक अनभल कीन्ह न रामा।" (अ० दो० १८२); इसे रानी स्वयं दृष्टान्त से पुष्ट करती है।

'बाघउ सनमुख गये···'—कोई-कोई यहाँ बाघ का सिंह अर्थ करते हैं, सिंह, केसरी उसे कहते हैं, जिसकी गर्दन पर बड़े-बड़े बाल होते हैं, उसे शेरबबर भी कहते हैं यहाँ पर बाघ (सं० व्याघ्र) कहा गया है। यह नव हाथ तक लंबा होता है। नैपाल-राज्य मिथिला देश के पँड़ौल ग्राम में एक बार जमीन का सरकारी बंदोबस्त हो रहा था। लोगों ने दिन में पास में ही एक भारी बाँस की झाड़ में छिपे हुए दो बड़े-बड़े बाघों को देखा। शीघ्र ही उन्होंने बन्दूकवाले राज्य-कर्मचारियों से आकर कहा। उन्होंने आधे फर्लांग की दूरी से उनपर गोलियाँ चलाईं, पर बासों के कारण निशाना चूक गया। निदान दोनों बाघ उधर को ही वेग से टूट पड़े। वहाँ कुल ४–५ राज्य-कर्मचारी और करीब २५ मजदूर वगैरह थे। उनमें कुछ भागकर बच गये। दो, तीन मरे और छः-सात घायल हुए, परन्तु एक कुली मारे डर के घबड़ाकर चार अंगुल गहरी नाली में लंबा गिर पड़ा। बाघों ने औरों को झपट-झपटकर मार डाला। पीछे एक आकर इसकी पीठ पर अपने अगले पाँव (हलके से) रखकर खड़ा हो, हाँफने लगा। फिर दोनों जंगल की ओर (जो वहाँ से ५ मील दूर था) भाग गये। उस पड़े हुए मजदूर को एक नख भी नहीं गड़ा और न उसपर कुछ दबाव ही पड़ा। उसीने मुझसे कहा और वहाँ के रईसों ने भी कहा कि हमलोगों ने भी इसे प्रत्यक्ष देखा है।

जंगली वीर पशुओं के इस प्राकृतिक नियम से कवियों ने ये गुण ग्रहण किये हैं, जैसे चातक के विषय में श्रीगोस्वामीजी ने ३६ दोहे लिखे हैं।

(२) 'तुम्ह सुर असुर चराचर जीते।'—सुरों में श्रेष्ठ इन्द्र को जीत ही लिया, सभी दिक्पालों को भी जीता। श्रीब्रह्माजी और श्रीशिवजी भी आपके यहाँ नित्य हाजिरी बजाते हैं। असुरों में विद्युज्जिह्व को मारा, शेष ने आपको अपना स्वामी ही बनाया है। अचर में कैलास तक को उठा लिया। चर प्राणि-मात्र को वश में कर लिया ; यथा—"ब्रह्म सृष्टि जहँ लगि तनु धारी। दसमुख बसबर्त्ती नर नारी ॥" (बा० दो० १८१); ऐश्वर्य का भोग भी ऐसा किसी ने नहीं किया होगा ; यथा—"सुनासीर सत सरिस सो, संतत करइ बिलास।" (दो० १२); एक ही इन्द्र भोग-विलास में बहुत माना जाता है ; यथा—"सक्र कोटि सत सरिस बिलासा।" (उ० दो० ९०); आपने तो सैकड़ों इन्द्रों के समान भोग भोगा है। अब आपको केवल परमार्थ बनाना ही शेष रह गया है। यही आगे कहती है—

(३) 'संत कहहिं असि नीति'…'—संत=सत्पुरुष, जैसे कि मनु, पुलस्त्य, वाल्मीकि, याज्ञवल्क्य आदि। नीति; यथा—"गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वली पलितमात्मनः। अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥" (मनुस्मृति); अर्थात् गृहस्थ जब देखे कि सिर के बाल पक गये और बेटे (बेटी) के भी बच्चे हो गये, तब वह वन में रहकर हरि-भजन करे। 'संत कहहिं' का भाव यह है कि मैं अपने से यह बनाकर नहीं कहती हूँ।

तासु भजन कीजिय तहँ भरता। जो करता पालक संहरता॥४॥
सोइ रघुबीर प्रनत - अनुरागी। भजहु नाथ ममता सब त्यागी॥५॥

शब्दार्थ—भरता (भर्ता)=स्वामी, पति। करता (कर्त्ता)=उत्पन्न करनेवाला।

अर्थ—हे स्वामिन्! वहाँ (वन में जाकर) उनका भजन कीजिये, जो जगत् के उत्पन्न, पालन और संहार करनेवाले हैं॥४॥ हे नाथ! सब ममत्व छोड़कर उन्हीं (कर्त्ता, पालक, संहर्त्ता एवं) शरणागत पर प्रेम करनेवाले रघुवीर का भजन कीजिये॥५॥

विशेष—(१) 'करता पालक संहरता'—श्रीरामजी ही तीनों कार्य करते हैं; यथा—"जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दस सीसा॥" (सुं॰ दो॰ २०); तथा—"बिधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई॥ बिष्णु कोटि-सम पालन कर्त्ता। रुद्र कोटि सत सम संघर्त्ता॥" (उ॰ दो॰ ९१); जिससे ये तीनों कार्य होते हों, वही संसार का स्वामी एवं उपास्य है। जिस तरह खेत को जो बोता, सींचता एवं रक्षा करता है और जो उस अन्न को काटकर अपने घर ले जाता है, वही उसका स्वामी होता है, खेत का अन्न उसीका भोग्य है। उसी तरह संसार श्रीरामजी का ही भोग्य है-शेष है और श्रीरामजी ही जगत् के भोक्ता हैं। अतः, जगत् को उनके लिये ही रहना चाहिये। अतः, पदार्थों से एवं शरीर से जीव उनके लिये रहे; अर्थात् नेत्रों से उनके दर्शन, हाथों से कैंकर्य, पगों से प्रदक्षिणा आदि रीति से उनमें ही लगा रहे। पदार्थों को उनकी सेवा में लगावे, यही भक्ति है। इसीसे श्रीरामजी के द्वारा तीनों कार्य कहकर मंदोदरी ने भजन करने को कहा है। ऐसा ही श्रुतियाँ भी कहती हैं; यथा—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते॥ येन जातानि जीवन्ति॥ यत्प्रयंत्यभिसंविशंति॥ तद्विजिज्ञासस्व॥ तद्ब्रह्मेति॥" (तैत्त॰ ३।१)। यह ब्रह्म का असाधारण लक्षण कहा गया है, फिर इसीको उपास्य भी कहा गया है। यथा—"तज्जलानिति शान्त उपासीत" (छांदो॰ ३।१४।१); अर्थात् उसीसे जगत् उत्पन्न होता है और उसीमें लय होता है, उसीमें चेष्टा करता है, इसलिये शान्त होकर (उसकी) उपासना करे। राम-नामार्थ से भी ये तीनों कार्य श्रीरामजी के द्वारा होना लिखा गया है, देखिये बा॰ दो॰ १८ चौ॰ २)।

ब्रह्मा आदि देवता एक ही कार्य में नियुक्त हैं, क्योंकि परतंत्र हैं। दूसरे कार्य में उनका अधिकार कुछ भी नहीं है, इसी से वे स्वतंत्र-रूप से उपास्य नहीं हो सकते।

(२) 'सोइ रघुबीर प्रनत अनुरागी।'—ऊपर प्रभु का ऐश्वर्य कहा गया, यहाँ मन्दोदरी उनमें सौलभ्य गुण भी कहती हैं कि वे इतने बड़े होते हुए भी शरणागतों पर अनुराग रखते हैं; यथा—"प्रनतपाल रघुबंस मनि,…गये सरन प्रभु राखिहहिं, तव अपराध बिसारि॥" (सुं॰ दो॰ २२)—यह श्रीहनुमान्‌जी ने कहा है। तथा—"सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्व द्रोह-कृत अघ जेहि लागा॥" (सु॰ दो॰ ३९);—यह श्रीविभीषणजी ने कहा है।

'ममता सब त्यागी'—सब की ममता त्यागकर ; यथा—"जननी जनक बंधु सुत दारा। तन धन भवन सुहृद परिवारा॥ सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँधि बरि डोरी।" (सुं० दो० ४७); इन जननी आदि रूपों से श्रीरामजी ने ही हित किया है ; यथा—"जासों सब नातो फुरै तासों न करी पहिचानि।" (वि० १३०) ; "पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।" (गीता ९।१७)। यह जानकर श्रीरामजी की ही भक्ति करनी चाहिये ; यथा—"येहि जग में जहँ लगि या तनु की प्रीति प्रतीति सगाई। ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहु सिमिटि यक ठाईं॥" (वि० १०१)।

अतः, संसार के लोगों एवं पदार्थों की ममता छोड़कर श्रीरामजी का भजन करना चाहिये ; यथा—"सुत दार अगार सखा परिवार बिलोकु महा कुसमाजहि रे। सब की ममता तजि कै समता सजि संत सभा न बिराजहि रे।" (क० उ० ३०) ; इससे जीव श्रीरामजी का प्रिय होता है, श्रीरामजी उसके हृदय में बसते हैं और फिर कभी भी उसका त्याग नहीं करते ; यथा—"अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसै धन जैसे॥" (सुं० दो० ४०) ; "जाति पाँति धन धर्म बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई॥ सब तजि तुम्हहि रहै लौ लाई। तेहि के हृदय रहहु रघुराई॥" (अ० दो० १३०) ; "ये दारागारपुत्राप्त-प्राणान्वित्तमिमं परम्। हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥" (भाग० ९।४।६५) ; मन्दोदरी आगे इसके उदाहरण भी देती है—

मुनिवर जतन करहिं जेहि लागी। भूप राज तजि होहिं बिरागी॥६॥
सोइ कोसलाधीस रघुराया। आयउ करन तोहि पर दाया॥७॥

अर्थ—जिनके लिये बड़े-बड़े मुनि यत्न करते हैं और राजा लोग राज्य छोड़कर वैरागी हो जाते हैं॥६॥ वही कोशलराज के स्वामी श्रीरघुनाथजी तुमपर दया करने आये हैं॥७।

विशेष—'मुनिवर जतन करहिं···'—'मुनिवर'—शरभंग, वाल्मीकि, अगस्त्य आदि इन्हीं प्रभु के लिये यत्न (साधन) किया करते हैं (सामान्य मुनियों की कौन बात ?) जिनसे तुम भी डरते हो तब तुम्हें भी उन्हीं का भजन करना चाहिये। जतन ; यथा—"जनम जनम मुनि जतन कराहीं।" (कि० दो० ६) ; यत्न करने पर भी उनकी प्राप्ति दुर्लभ ही है ; यथा—"जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं" (कि० दो० १०)।

'भूप राज तजि होहिं बिरागी।'—मनु और सत्यकेतु आदि राजाओं ने भी यही किया है ; यथा—"होइ न बिषय बिराग, भवन बसत भा चौथपन।···बरबस राज सुतहि नृप दीन्हा। नारि समेत गवन बन कीन्हा॥" (बा० दो० १४१) ;—मनु। "जेठे सुतहि राज नृप दीन्हा। हरि हित आप गवन बन कीन्हा॥" (बा० दो० १५२)—सत्यकेतु। तुम भी राजा हो, अतः वैसा ही करो।

(२) 'सोइ कोसलाधीस रघुराया···'—जिनके लिये मुनिवर और वैराग्यवान् राजा लोग उपाय करते हैं, वे ही प्रभु कोशलाधीश के रूप में प्रकट हुए हैं। 'आयउ करन तोहि पर दाया।'—जो मुनियों को साधनों से भी ध्यान में दुर्लभ हैं, वे ही प्रभु तुम्हें कृतार्थ करने को घर बैठे साक्षात् दर्शन देने आये हैं। अतः, तुम्हारे बड़े भाग्य हैं; यथा—"मम लोचन गोचर सोइ आवा। बहुरि कि अस प्रभु बनिहिं बनावा॥" (कि० दो० ६) ; 'कोसलाधीस' का भाव यह है कि वे तुम्हारा लंका का राज्य लेने को नहीं आये हैं, क्योंकि वे कोशल के राजा हैं। केवल तुमपर दया करने के लिये ही आये हैं।

यदि रावण हठ छोड़ने में अपनी निन्दा समझता हो, तो उस पर कहती है—

जौं पिय मानहु मोर सिखावन। सुजस होइ तिहुँ पुर अतिपावन ॥८॥

दोहा—अस कहि नयन नीर भरि, गहि पद कंपित गात।
नाथ भजहु रघुनाथहि, अचल होइ अहिवात ॥७॥

अर्थ—हे प्राणप्रिय ! जो तुम मेरा कहा मानो तो तुम्हारा तीनों लोकों में अत्यन्त पवित्र सुंदर यश होगा ॥८॥ ऐसा कहकर नेत्रों में जल भर पति के चरण पकड़ लिये, उसका सारा शरीर काँपने लगा। (यह कहने लगी) हे नाथ ! श्रीरघुनाथजी को भजो, जिससे मेरा सोहाग (सौभाग्य, सधवापन) अचल हो जाय ॥७॥

विशेष—(१) 'जौं पिय मानहु···'—'जौं' शब्द से मन्दोदरी संदेह प्रकट करती है। रावण की चेष्टा से यह समझ रही है कि यह मेरा उपदेश नहीं मानेगा। 'सुजस होइ तिहुँ पुर'—भाव यह है कि प्रभु से मिलने पर वे तुमपर कृपा करेंगे; यथा—"मिलत कृपा प्रभु तुम्ह पर करिही। उर अपराध न एकउ धरिही॥" (सुं॰ दो॰ ५६); प्रभु जिसपर कृपा करते हैं, उसका सुयश तीनों लोकों में फैल जाता है; यथा—"जामवंत कह सुनु रघुराया। जापर नाथ करहु तुम्ह दाया॥ ताहि सदा सुभ...सोइ विजई विनई गुनसागर। तासु सुजस तिहुँ लोक उजागर॥" (सुं॰ दो॰ २९); 'अति पावन'—भाव यह कि उसे सुनकर और लोग तरेंगे, यथा—"जाको हरि दृढ करि अंग करेउ। सोइ सुसील पुनीत...उत्पति पांडुसुतनि की करनी सुनि सतपंथ डरेउ। ते त्रैलोक्य पूज्य पावन जस सुनि सुनि लोक तरेउ।" (वि॰ २३९); सब लोग कहेंगे कि रावण ने अपने प्रबल प्रताप से तीनों लोक-विजय करके राज्य किया और अंत में उसने प्रभु को अवतरित हुआ जानकर उनका शरणागत होकर अपना परलोक भी बना लिया, अतएव वह बड़ा ज्ञाता था, इत्यादि रीति से लोग तुम्हारी प्रशंसा करेंगे।

'अस कहि नयन नीर भरि...'—'असकहि'—पूर्व वचनों के साथ है और दोहे के उत्तरार्द्ध के साथ भी। मन्दोदरी इसलिये अधीर हो रही है कि यह नहीं मानेगा और मैं विधवा होऊँगी। इसीसे आँखों में आँसू भरे, पति के पैर पकड़े हुई काँप रही है; यथा—"कँप पुलक तन नैन सनीरा। गहे चरन अति प्रेम अधीरा॥" (अ॰ दो॰ ६९)—यह श्रीलक्ष्मणजी की अधीर दशा है।

इस तरह से दीन दशा ज्ञापन कर पतिदेव को प्रसन्न कर रही है कि आप श्रीरघुनाथजी का भजन कीजिये। जिससे मेरा अहिवात अचल होजाय, क्योंकि भगवान् के भक्तों का नाश नहीं होता, यथा—"कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।" (गी॰ ९ ३१), श्रीहनुमानजी ने भी कहा है; यथा—"राम चरन पंकज उर धरहू। लंका अचल राज तुम्ह करहू॥" (सुं॰ दो॰ २२)।

इन वचनों में यह भाव भी गर्भित है कि श्रीरामजी से वैर करने पर मेरा अहिवात नहीं रह सकता; यथा—"सुनु दसकंठ कहउँ पन रोपी। बिमुख राम त्राता नहिं कोपी। संकर सहस बिष्णु अज तोही। राखि न सकहिं राम कर द्रोही॥" (सुं॰ दो॰ २२); मंदोदरी इसे श्रीहनुमान्जी से सुन चुकी है।

तब रावन मयसुता उठाई। कहइ लाग खल निज प्रभुताई ॥१॥
सुनु तैं प्रिया बृथा भय माना। जग जोधा को मोहि समाना ॥२॥

वरुन कुबेर पवन जम काला। भुजबल जितेउँ सकल दिगपाला ॥३॥
देव दनुज नर सब बस मोरे। कवन हेतु उपजा भय तोरे ॥४॥

अर्थ—तब मय दानव की कन्या मंदोदरी को उठाकर दुष्ट रावण अपनी प्रभुता (महिमा) कहने लगा ॥१॥ हे प्रिये ! सुनो, तुमने व्यर्थ ही डर मान रक्खा है (कहो तो सही-) संसार भर में मेरे समान योद्धा कौन है ? ॥२॥ वरुण, कुबेर, पवन, यमराज, काल आदि सभी दिक्पालों को मैंने अपनी भुजाओं के बल से जीत लिया ॥३॥ देवता, दैत्य, मनुष्य सभी मेरे अधीन हैं, तब तुझे किस कारण डर पैदा हो गया ? ॥४॥

विशेष—(१) 'तब रावन मयसुता···'—'रावन' अर्थात् यह जगत-भर को रुलानेवाला है, यहाँ मंदोदरी को भी रुलावेगा, मानेगा नहीं। 'मय सुता' —जैसे मय-दानव नीति-कुशल था, वैसे ही यह भी नीति जानती है। अतः, इसने वही नीति कही है; यथा—"मय तनया कहि नीति बुझावा।" (सुं॰ दो॰ ३), पुनः रावण पर मय का बड़ा उपकार है, उसने इसे यह कन्या-रत्न और साथ ही एक अमोघ शक्ति भी दी है—वाल्मी॰ ७ १२ १८–२२ में लिखा है। अतः, संकोच से मंदोदरी का आदर कर रहा है, नहीं तो ऐसी ही बातों पर तो इसने श्रीविभीषणजी को लात मारकर निकाल दिया।

(२) 'कहइ लाग खल···'—अपने मुँह से अपनी बड़ाई कहता है, इसीसे निरादर के लिये वक्ता लोग उसे 'खल' कहते हैं; यथा—"इन्द्रोपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः।" तथा—"अपने मुँह तुम्ह आपनि करनी। बार अनेक भाँति बहु बरनी॥" (बा॰ दो॰ २७४)।

(३) 'बृथा भय माना'—तुमने अपने-आप डर की कल्पना कर ली है, नहीं तो तुम्हीं कहो कि जगत् में मेरे समान प्रतापी कौन है ? (यह मंदोदरी के—"तुम्हहि रघुपतिहि अंतर कैसा। खलु खद्योत दिनकरहिं जैसा॥" का उत्तर है)। आगे रावण इसे विस्तार से कहता है कि जब दिक्पाल आदि सब मेरे वश में हैं, तब एक असहाय तपस्वी-मनुष्य-मात्र से मुझे क्या डर है ? (रावण का कहना ठीक भी है, जगत् में तो इसके तुल्य कोई नहीं था, परन्तु श्रीरामजी तो इस जगत् से परे हैं)।

(४) 'बरुन कुबेर पवन···'—'भुजबल जितेउँ' भाव यह है कि इन्हें लोग मंत्र से भी वश में करते हैं। परन्तु मैंने तो अपनी भुजाओं के बल से इन्हें जीता है, यथा—"मंत्र परम लघु जासु बस, बिधि हरि हर सुर सर्व।" (बा॰ दो॰ २५६)। "भुज बल बिस्व बश्य करि, राखेसि कोउ न सुतंत्र। (बा॰ दो॰ १८२) 'सकल दिगपाला'; यथा—"रबि ससि पवन बरुन धन धारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी॥··· राखेसि कोउ न सुतंत्र।" (बा॰ दो॰ १८२); 'देव दनुज नर' से क्रमशः स्वर्ग, पाताल और मर्त्यलोक के विषय में कहा गया है।

शंका—रावण ने काल को भी जीता था, तो पीछे उसकी मृत्यु क्यों हुई ?

समाधान—रावण ने सब दिक्पालों में काल को भी जीता था; यथा "भुजबल जितेहु काल जम साँई।" (लं॰ दो॰ १०२)। परन्तु प्रभु तो काल के भी काल हैं; यथा—"भुवनेश्वर कालहुँ कर काला।" (सुं॰ दो॰ ३८); अतः, वरदान के कारण वह उन्हीं के हाथों से मरेगा।

नाना बिधि तेहि कहेसि बुझाई। सभा बहोरि बैठ सो जाई ॥५॥

मंदोदरी हृदय अस जाना। काल बश्य उपजा अभिमाना ॥६॥
सभा आइ मंत्रिन्ह तेहि बूझा। करब कवन बिधि रिपु सैं जूझा ॥७॥

अर्थ—अनेक प्रकार से उसने समझाकर कहा, फिर वह जाकर सभा में बैठ गया ॥५॥ मंदोदरी ने हृदय में ऐसा जान लिया कि काल के वश होने से पति को अभिमान उत्पन्न हो गया है ॥६॥ सभा में आकर उसने मंत्रियों से पूछा कि किस प्रकार शत्रु से युद्ध करना होगा ? (युद्ध का निश्चय तो है ही, वह किस प्रकार किया जाय—किलेबंदी करके अथवा व्यूह-रचना करके इत्यादि, जिसमें सीता नहीं देनी पड़े और शत्रु का नाश हो, वही उपाय सोचो) ॥७॥

विशेष—(१) 'सभा बहोरि बैठ सो जाई।'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"बिहँसि गयउ गृह करि भय भोरी।" (दो० ५); है। 'बहोरि'—का भाव यह है कि सभा से लज्जित होकर घर चला गया था, परन्तु वहाँ भी विश्राम नहीं मिला। अपनी ही स्त्री ने वाग्बाणों की वर्षा की। अतः, वहाँ अपनी दाल गलती न देख फिर सभा में चला आया, सत्य है—"राम-बिमुख थल नरक न लहहीं।" (अ० दो० २५१)।

(२) 'करब कवनि बिधि रिपु···'—रावण यहाँ साम, दाम, भेद आदि की सम्मति नहीं लेता, क्योंकि साम आदि पर तो यह चिढ़ता ही है। इसने युद्ध का निश्चय कर ही लिया है। इसीलिये युद्ध का ही विधान पूछता है ; यथा—"अदेया च यथा सीता वध्यौ दशरथात्मजौ। भवद्भिर्मन्त्र्यतां मंत्रः सुनीतं चाभिधीयताम् ॥" (वाल्मी० ६।१२।१५); अर्थात् आप लोग ऐसा सुन्दर निश्चित उपाय बतलायें कि मुझे सीताजी को नहीं देना पड़े और दशरथ के दोनों पुत्र मारे जाएँ। रावण हृदय से घबड़ाया हुआ है, इसीसे मंत्रियों से मंत्र पूछता है। साथ ही यह भी दिखाता है कि राजा को मंत्रियों की सम्मति से कार्य करना चाहिये। यह अपने मत के अनुसार ही सभी बातें सुनना चाहता है, तद्विरुद्ध चिढ़ता है।

कहहिं सचिव सुनु निसिचर नाहा। बार-बार प्रभु पूछहु काहा ॥८॥
कहहु कवन भय करिय बिचारा। नर-कपि-भालु अहार हमारा ॥९॥

दोहा—सब के बचन श्रवन सुनि, कह प्रहस्त कर जोरि।
नीति-बिरोध न करिय प्रभु, मंत्रिन्ह मति अति थोरि ॥८॥

अर्थ—यह सुनकर मंत्री बोले कि हे राक्षसराज ! सुनिये, आप बार-बार क्या पूछते हैं ? ॥८॥ कहिये तो क्या भय है जिसके लिये विचार किया जाय ? मनुष्य और वानर-भालु तो हमारे अहार (भक्ष्य) ही हैं ॥९॥ सबके वचन कानों से सुनकर प्रहस्त हाथ जोड़कर कहने लगा कि हे प्रभो ! नीति के विरुद्ध न कीजिये, मंत्रियों में अत्यन्त थोड़ी बुद्धि है (भाव यह कि ये मंत्र देने के योग्य नहीं हैं) ॥८॥

विशेष—(१) 'कहहिं सचिव सुनु···'—मंत्री लोग भय के मारे ठकुरसोहाती कहते हैं, क्योंकि देख चुके हैं कि नीति-युक्त मत कहने पर इसने परम पूज्य नाना का और परम प्रिय छोटे भाई का भी अपमान किया और उन्हें निकाल दिया, तब दूसरों की यह क्या सुनेगा ? श्रीगोस्वामीजी ने पहले ही सुं० दो० ३७ पर इसका समाधान किया है कि इसके राज्य का शीघ्र ही नाश होनेवाला है, इसीसे मंत्री लोग भय से

उसकी ही प्रिय बातें कहते हैं। 'निसिचर नाहा'—का भाव यह है कि आपके यहाँ ऐसे-ऐसे निशाचर हैं जो कि अकेले ही जगत्-भर को जीत सकते हैं; यथा—"कुमुख अकंपन कुलिस रद, धूम केतु अतिकाय। एक-एक जग जीति सक, ऐसे सुभट निकाय॥" (बा० दो० १८०); पुनः आप हम सब निशाचरों के नाथ हैं, इसलिये हमारे भले के लिये ही आप का विचार रहता है। इस समय यह वानरों की सेना मानों हमारे भोजन के लिये ही आ रही है; यथा—"आये कीस काल के प्रेरे। छुधावंत सब निसिचर मेरे॥" (दो० ३६); अतः, चुप ही रहिये, उन्हें आने दीजिये। 'प्रभु' का भाव यह कि आप स्वयं समर्थ हैं, कुछ हमलोगों के ही भरोसे नहीं हैं; यथा—"भुजबल बिस्व बस्य करि, राखेसि कोउ न सुतंत्र।" (बा० दो० १८२); 'बार-बार प्रभु पूछहु काहा'—भाव यह कि एक बार तो (सुं० दो० ३६ में) आपने पूछा था, तब भी हमलोगों ने जो उत्तर दिया था, वही उत्तर यहाँ भी है कि सुरासुर जीतने में हमें श्रम हुआ ही नहीं, तो भला नर-वानर किस गिनती में हैं ?

(२) 'कहहु कवन भय···'—सुरासुर से भय की संभावना थी, उसमें तो विचार की आवश्यकता ही नहीं हुई, तो नर-वानर के आने पर क्या भय है ? वे आते जायँगे और हम लोग उन्हें खाते जायँगे, बस।

(३) 'सबके बचन श्रवन सुनि···'—'कर जोरि'—सभा में बड़ों के समक्ष नीति-शिक्षा कहनी है, इसलिये हाथ जोड़ता है, यह शिष्टाचार है और ढिठाई क्षमा के लिये भी ; क्योंकि लड़का है और पिता को समझाता है।

(४) 'नीति बिरोध न करिय···'—श्रीरामजी का एक दूत आया, जिसे कोई नहीं जीत सका, तो उन सबसे कैसे जीतेंगे ? फिर वे समुद्र बाँधकर चढ़ आये, हमारे युद्ध मैदान (सुवेल) पर आ टिके हैं। अतएव वे प्रबल हैं, हमे उनसे मेल कर लेना चाहिये, यह नीति है। किंतु मंत्री लोग विरोध करने की ही सलाह दे रहे हैं, अतएव उनकी मति अत्यन्त थोड़ी है, सत्य है—"लोचन सहस न सूझ सुमेरू।" इतनी स्पष्ट बात भी इन्हें नहीं सूझती, अतएव इनकी मति अत्यन्त तुच्छ है।

मंत्री अत्यन्त बुद्धिमान् होना चाहिये ; यथा – "नृप हित कारक सचिव सयाना। नाम धरम रुचि सुक्र समाना॥···नृप हित हेतु सिखव नित नीती॥" (बा० दो० १५३–१५४); वैसे ही यहाँ माल्यवान् हैं; यथा—"माल्यवंत अति सचिव सयाना।···" (सुं० दो० ३६); भाव यह कि ऐसे मंत्रियों से सलाह लेनी चाहिये।

आगे रावण के मंत्रियों की बुद्धि-हीनता को प्रकट करता है—

कहहिं सचिव सब ठकुरसोहाती। नाथ न पूर आव येहि भाँती॥१॥
बारिधि नाँघि एक कपि आवा। तासु चरित मन महँ सब गावा॥२॥
छुधा न रही तुम्हहि तब काहू। जारत नगर न कस धरि खाहू॥३॥

शब्दार्थ—ठकुर सोहाती = लल्लो-चप्पो, खुशामद, चाटु, चापलूसी। पूर आव = पूरा पड़ना, कार्य सम्पन्न होना। चरित = करनी, लीला।

अर्थ—सब मंत्री मुँह-देखी (चाटु) बात कह रहे हैं, हे नाथ ! इस प्रकार (की चाटु बातों-मात्र से) कार्य सम्पन्न न होगा॥१॥ एक वानर समुद्र लाँघकर आया, सब कोई उसके चरित मन-ही-मन गाया

(सराहा) करते हैं ॥२॥ (सभा के समक्ष रुख करके बोला—) *तुममें से किसीको भी तब भूख नहीं थी ? नगर जलाते समय उसे पकड़कर क्यों नहीं खा लिया ? ॥३॥*

विशेष—'कहहिं सचिव सब ···'—'ठकुर सोहाती'—चाटु कहनेवाले बुद्धि-हीन हैं, ऐसा कहकर ठाकुर (रावण) को भी तुच्छ-बुद्धि जनाया, क्योंकि इसीका अभीष्ट वैसा जानकर डर के मारे मंत्री भी हाँ में हाँ मिलाते हैं। 'न पूर आव'; यथा—"जौं नर तात तदपि अति सूरा। तिन्हहिं बिरोधि न आइहि पूरा॥" (आ० दो० २४), न पूरा पड़ने को आगे कहता है—

(२) 'बारिधि नांघि एक···'—एक ही वानर आया, तब तो युद्ध कर ही न सके और जब वैसे असंख्य वानरों की सेना और फिर उनके स्वामी भी आकर युद्ध करेंगे, तब कोई क्या करेगा ? उस अकेले के कर्म को सब घर-घर में सराहते हैं ; यथा—"समुझि तुलसीस कपि कर्म घर-घर घैरु *बिकल सुनि सकल* पाथोधि बाँध्यो। बसत गढ़ लंक लंकेस नायक अछत लंक नहिं खात कोउ भात राँध्यो॥" (क० लं० ४)। 'कपि' शब्द छोटा सा देकर जनाया कि एक छोटा-सा वानर आया ; यथा—"जेहि पुर दहेउ हतेउ सुत तोरा। सकल कपिन्ह महँ तेहि बल थोरा॥" (सुं० दो० ५१); 'तासु चरित मन ···'—'सब' शब्द दीप-देहली-रूप से 'चरित' और 'गावा' दोनों के साथ है। सब चरित—समुद्र-लाँघना, अशोक-वन उजाड़ना, चौथाई सेना मारना, *अक्षय कुमार-वध एवं लंक-दहन आदि* और उसकी *निर्भीकता एवं* उसके दंड देने में रावण की असमर्थता। 'सब गावा'; यथा—"उहाँ निसाचर रहहिं ससंका। जब ते जारि गयउ कपि लंका॥ निज-निज गृह सब करहिं बिचारा। नहिं निसिचर कुल केर उबारा॥ जासु दूत बल बरनि न जाई। तेहि आये पुर कवनि भलाई॥" (सु० दो० ३५)। पुन सब मन में ही गाते हैं, डर के मारे आपके सामने प्रकट नहीं करते, इससे ये धूर्त भी हैं। अत, *विश्वास के योग्य नहीं।*

(३) *'छुधा न रही तुम्हहि ···'*—यह *मंत्रियों* से कहते हुए रावण के प्रति भी *कटाक्ष* है कि आप और आपके वीर-समूह ने उसे क्यों नहीं खा लिया ? 'जारत नगर'—जनाया कि उसने सबके सामने ललकारकर एवं गरज-गरजकर नगर जलाया, तब उसे क्यों न पकड़कर खा लिया कि नगर बच जाता। यह—"कहहु कौन भय ··नर कपि भालु अहार हमारा॥" का उत्तर है। औरों ने भी कहा है—"जारि सकल पुर कीन्हेसि छारा। कहाँ रहा बल गर्ब तुम्हारा॥" (दो० ३५);—मंदोदरी-वचन। "देखत तुम्हहिं नगर जेहि जारा।···" (दो० ५५);—कालनेमि-वचन।

भाव यह कि उस अकेले को न खा सके, तो औरों के साथ उसे कैसे खाओगे ?

सुनत नीक आगे दुख पावा। सचिवन्ह अस मत प्रभुहि सुनावा॥४॥
जेहि बारीस बँधायेउ हेला। उतरेउ सेन समेत सुबेला॥५॥
सो भनु मनुज खाब हम भाई। बचन कहहिं सब गाल फुलाई॥६॥

शब्दार्थ—हेला = खेल-पूर्वक। भनु (भणन = कथन) = कहते हो। गाल फुलाना = अभिमान-सूचक आकृति बनाना, गाल फुलाकर वचन कहना, डींग मारना, शेखी बघारना।

अर्थ—इन मंत्रियों ने प्रभु (आप) को यह मंत्र सुनाया है कि जो सुनने में अच्छा लगता है, पर उससे आगे दुःख प्राप्त होगा॥४॥ जिसने खेल-पूर्वक समुद्र बँधा लिया और जो सेना-समेत सुबेल पर्वत पर आ उतरा॥५॥ उसे मनुष्य कहते हो, हे भाइयो ! हम उसे खा जायँगे ? आप सब मंत्री लोग गाल फुला-फुलाकर डींग हाँकते हैं॥६॥

विशेष—(१) 'सुनत नीक आगे···'—यहाँ तक वानरों को अहार कहने का खंडन किया, आगे 'नर' के प्रति कहता है।

(२) 'जेहि वारीस बँधायेउ···'—समुद्र बाँधना मनुष्य की सामर्थ्य के बाहर का कार्य है। इससे रावण एवं उसकी सभा-भर को आश्चर्य हुआ है; यथा—"दसमुख बोलि उठा अकुलाना।" पर कहा गया। 'सो मनु मनुज' अर्थात् तुम सच कहते हो, पर वे मनुष्य नहीं हैं। 'सुबेला'—यह रावण का युद्ध-मैदान है, वहाँ आकर पहले ही उतरे अर्थात् अपना अधिकार उसपर जमा लिया।

तात बचन मम सुनु अति आदर। जनि मन गुनहु मोहि करि कादर ॥७॥
प्रिय बानी जे सुनहिं जे कहहीं। ऐसे नर-निकाय जग अहहीं ॥८॥
बचन परम हित सुनत कठोरे। सुनहिं जे कहहिं ते नर प्रभु थोरे ॥९॥
प्रथम बसीठ पठउ सुनु नीती। सीता देइ करहु पुनि प्रीती ॥१०॥

दोहा—नारि पाइ फिरि जाहिं जौं, तौ न बढ़ाइय रारि।
नाहि त सनमुख समर महि, तात करिय हठि मारि ॥९॥

अर्थ—हे तात! मेरे वचन अत्यन्त आदर से सुनिये। मुझे मन मे कादर एवं डरपोक न समझिये ॥७। संसार मे ऐसे मनुष्य बहुत हैं, जो प्रिय वाणी (चाटु वचन) सुनते हैं और जो कहते हैं ॥८॥ (किन्तु) हे प्रभो! सुनने मे कठोर, पर (परिणाम मे) परम हितकारी वचन जो सुनते हैं और जो कहते हैं—वे मनुष्य बहुत थोड़े हैं ॥९। नीति सुनिये, पहले दूत भेजिये, सीताजी को देकर फिर मेल कर लीजिये ॥१०॥ यदि वे स्त्री पाकर लौट जायँ तो झगड़ा न बढ़ाइये, नहीं तो हे तात! रणभूमि मे हठ-पूर्वक सम्मुख उनसे मार-काट कीजिये ॥९॥

विशेष—(१) 'जनि मन गुनहु···'—कादर के वचन न सुनने चाहिये; यथा—"सचिव सभीत बिभीषन जाके। बिजय बिभूति कहाँ जग ताके॥" (सुं० दो० ५५), रावण ने बार-बार विभीषणजी को कादर, भीरु एवं सभीत कहा है। वही वचन यह भी कहेगा, इसलिये पहले सँभाल करता है कि मेरे वचनों की अवहेलना न करिये, किन्तु आदर-पूर्वक सुनिये। यदि आप मेरा मत न भी मानेंगे, तो भी मैं कादर की तरह छोड़कर न भागूँगा, किन्तु आपका साथ दूँगा, शूरता-पूर्वक लड़ूँगा। रावण इसे कादर कहेगा ही, यथा—"बेनु मूल सुत भयेसि घमोई।" इत्यादि। पर यह तो नीति कहता है।

(२) 'प्रिय बानी जे सुनहिं ··बचन परम हित···', यथा—"सुलभाः पुरुषा राजन्सततं प्रियवादिन। अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥" (वाल्मी० ६।१६।२१), अर्थात् विभीषणजी ने कहा है कि हे राजन! सदा प्रिय बोलनेवाले पुरुष सुलभ हैं, पर अप्रिय हितकारी वचन कहनेवाले और सुननेवाले दोनों दुर्लभ हैं। भाव यह कि मंत्रियों के वचनों के परिणाम में दुःख है और मेरे वचन का परिणाम परम हितकर है, यद्यपि यह पहले सुनने मे आपके कानों को कठोर लगेगा।

(३) 'प्रथम बसीठ पठव···'—भाव यह कि पहले दूत जाकर अवसर देख शत्रु से संधि की

घात करें। यदि वे स्त्री पाकर लौटने पर प्रस्तुत हों, तो सीताजी को दे दें। फिर आगे के लिये प्रीत्यात्मक संधि कर लें।

आप मिलकर कहें कि आपसे शूर्पणखा की अवज्ञा हुई और मुझसे श्रीसीताजी की। अब परस्पर दोष क्षमा करें और सदा के लिये दोनों सुहृद् हो जायँ, काम पड़ने पर मैं आपकी और आप मेरी सहायता करें।

प्रीति करना साम और सीता देना दान-नीति है।

(४) 'नारि पाइ फिरि···'—यदि अपनी स्त्री पाकर भी वे न लौटने की इच्छा करें तो फिर हठ करके मार कीजिये कि जिससे उन्हें भी सदा स्मरण रहे कि कोई मिला था। दंड-नीति अंतिम उपाय कही गई है, इसलिये इसे अंत में बरतिये।

यह मत जौं मानहु प्रभु मोरा। उभय प्रकार सुजस जग तोरा ॥१॥
सुत सन कह दसकंठ रिसाई। असिमति सठ केहि तोहि सिखाई ॥२॥
अबहीं ते मन संसय होई। बेनु-मूल सुत भयहु घमोई ॥३॥

अर्थ—हे प्रभो! यदि आप मेरी यह सलाह मानें तो दोनों प्रकार से संसार में आपका सुयश ही होगा ॥१॥ दशानन क्रोधित होकर पुत्र से कहने लगा कि अरे शठ! तुझे ऐसी बुद्धि किसने सिखाई है ॥२॥ अभी से मन में संदेह होने लगा, हे सुत! तू तो बाँस की जड़ में 'घमोई' उत्पन्न हुआ है ॥३॥

विशेष—(१) 'उभय प्रकार···'—साम और दंड दोनों में आपका ही यश होगा, अर्थात् सीताजी को देकर मिलने में सुयश होगा—इस तरह कि पहले शत्रु ने दूत भेजा, उसने विनय की—"मोरे कहे जानकी दीजै।" (सुं० दो० ११), फिर उनके भाई ने संधि का सदेशा भेजा, यथा—"सीता देइ मिलहु ··" (सु० दो० ५२); और शास्त्र-दृष्टि से भी साम-नीति प्रथम है। इससे विचारवान् रावण ने सीताजी को देकर संधि कर ली।

लड़ने में भी सुयश यों होगा कि शत्रुता का कारण सीता-हरण था। श्रीसीताजी के लौटाने पर फिर युद्ध का कोई कारण नहीं रह गया था। पर श्रीरामजी ने नहीं माना, उसका राज्य छीनने पर तुल गये, तब अपने जान-माल की रक्षा के लिये रावण लड़ा, अन्यथा वह क्या करता? जीते तो अच्छा, श्रीरामजी को ही लोग दोष देंगे कि अपनी सीताजी को पाने पर भी उन्होंने नहीं माना, तो उसका फल पाया कि आप भी गये। यदि आप न भी जीतेंगे, तो भी लोग उन्हीं को दोष देंगे, कि उन्होंने नीति का आदर नहीं किया।

(२) 'अस मति सठ केहि···'—इसने नीति कही और फिर श्रीसीताजी के देने को कहा, इसी पर इसे 'सठ' कहा; यथा—"सठ मिलु जाइ तिन्हहिं कहु नीती।" (सुं० दो० ४०), "रिपु उतकर्ष कहत सठ दोऊ।" (सुं० दो० ११); रावण का ऐसा स्वभाव ही पड़ गया है। 'केहि तोहि सिखाई'—इसे शंका है कि माल्यवान् एवं श्रीविभीषणजी के पक्षवालों ने सिखाया होगा अथवा इसकी माँ ने अपनी बात सिद्ध करने के लिये सभा में कहलवाया होगा कि वहाँ औरों की लाज से भी कुछ प्रभाव-विशेष पड़ेगा। शठ शब्द सिखानेवाले के लिये भी है कि हमारे कुटुम्ब में ही भेद डालता है, अतएव वह शठ है।

(३) 'अबहीं ते उर संसय होई···'—अभी युद्ध का प्रारंभ भी नहीं हुआ, अभी से ऐसे वचन

कहता है तो लड़ेगा क्या ? तू कादर है। हमारे वंश का स्वभाव तुझमें नहीं है, उसे दृष्टान्त से पुष्ट करता है कि तू बाँस की जड़ में सत्यानाशी (कटीला या भडभड़ा) पैदा हुआ है। बाँस की जड़ के पास घासों में यह भी होता है। यह बहुत कोमल एवं तुच्छ होता है, छड़ी मार देने से ही कट जाता है। बाँस के कल्ले कठोर एवं दृढ़ होते हैं, पर इसमें बाँस के विपरीत ही बातें होती हैं। यही रावण के कहने का अभिप्राय है कि तू हमारे वंश के अनुकूल गुण-स्वभाव का नहीं है। घमोय का यही अर्थ अन्यत्र भी है; यथा—"बुद्धि बल साहस पराक्रम अछत राखे गोय। कहत मन तुलसीस लंका करउँ सघन घमोय॥" (गी॰ सुं॰ ५)। हिन्दी शब्द-सागर में 'घमोई' का यह भो अर्थ किया गया है—"कटंगी बाँस का एक प्रकार का रोग जिसके पैदा होने से उस बाँस में नये कल्ले नहीं निकलने पाते। इस बाँस की जड़ में बहुत से पतले और घने अंकुर निकलते हैं जो बाँस की बढ़ती और नये कल्लों की उत्पत्ति रोक देते हैं।" किन्तु उपर्युक्त अर्थ विशेष संगत है।

सुनि पितु-गिरा परुष अति घोरा। चला भवन कहि बचन कठोरा ॥४॥
हित मत तोहि न लागत कैसे। काल बिबस कहुँ भेषज जैसे ॥५॥
संध्या समय जानि दससीसा। भवन चलेउ निरखत भुज बीसा ॥६॥

अर्थ—पिता की अत्यन्त कड़ी और बुरी वाणी सुनकर वह यह कठोर वचन कहकर घर चला ॥४॥ कि तुम्हें हित की सलाह उसी तरह नहीं लगती, जैसे मरने वाले रोगी को दवा नहीं लगती ॥५॥ संध्या समय जानकर दशानन रावण अपनी बीसो भुजाओं को देखता हुआ घर को चला ॥६॥

विशेष—(१) 'परुष अति घोरा'—'अस मति सठ केहि तोहिं सिखाई' यह परुष है। 'अब हीं ते उर संसय होई।' यह घोर है और 'बेनु मूल सुत भयेहु घमोई।' यह अति परुष एवं अति घोर है। 'चला भवन'—कि जिससे फिर कुछ न कहे। जैसे माल्यवान् को कहा है; यथा—"करिया मुँह करि जाहि अभागे।" तब सुनकर—"सो उठि गयेउ कहत दुर्बादा।" वैसे यह भी कठोर वचन कहते हुए चल दिया। कठोर वचन आगे—'हित मत···' है।

(२) 'हित मत तोहि न लागत···'—दवा का असर करना—लगना कहाता है। काल विवश मनुष्य ओषधि को पीता है, पर वह उसे नहीं लगती। वैसे ही रावण वचनों को सुनता है, पर वे हितकर वचन भी उसके हृदय में असर नहीं करते; यथा—"स च न प्रतिजग्राह रावणः कालचोदितः। उच्यमानं हितं वाक्यं विपरीत इवौषधम् ॥" (वाल्मी॰ ६।१७।१५)।

(३) 'संध्या समय जानि···'—सभा सवेरे से शाम तक हुआ करती है। सवेरे सभा में आया, तब सेतु-बंधन आदि सुना, तब अपनी विकलता सँभालने के लिये घर चल दिया। वहाँ रानी ने भी बहुत-कुछ कहा, तब फिर सभा मे ही आया। अब संध्या समय सभा विसर्जन हुई। तब अखाड़ा देखने जायगा। 'निरखत भुज बीसा'—बीस भुजाओं को बीसों नेत्रों से देखता हुआ चला, इसी से 'दस सीसा' कहा है। अपने भुजबल का इसे बड़ा गर्व है; यथा—"मम भुज सागर बल जल पूरा। जहँ बूड़े बहु सुर नर सूरा॥ बीस पयोधि अगाध अपारा। को अस बीर जो पाइहि पारा॥" (दो॰ २७)। इसी से इनको देखता हुआ चला कि इनके आगे दो भुजावाला शत्रु हमारा क्या कर सकता है ? पुनः यह भी कि मैंने इन भुजाओं के बल पर बैर बढ़ाया है; यथा—"निज भुजबल मैं बैर बढ़ावा। देइहउँ उतर जो

रिपु चढ़ि आवा ॥" (दो॰ ७१); मुझे दो भुजावाले प्रहस्त की क्या परवाह है ? लोगों को यह भी दिखाता है कि मुझे शत्रु का कुछ भी भय नहीं है। यही दिखाने को नाच के अखाड़े में भी जायगा।

लंका सिखर उपर आगारा। अति बिचित्र तहँ होइ अखारा ॥७॥
बैठ जाइ तेहि मंदिर रावन। लागे किन्नर गुन-गन गावन ॥८॥
बाजहिं ताल पखाउज बीना। नृत्य करहिं अपछरा प्रबीना ॥९॥

दो॰—सुनासीर सत सरिस सो, संतत करइ बिलास।
परम प्रबल रिपु सीस पर, तदपि न सोच न त्रास ॥१०॥

शब्दार्थ—अखाड़ा = तमाशा दिखानेवालों और गाने बजानेवालों की मंडली। आगार = भवन, घर। ताल = मंजीरा। पखावज = मृदंग से कुछ छोटा एक बाजा। बीन = एक सितार की तरह का बाजा, इसमें दोनों ओर तुँबे होते हैं, प्रायः इसमें पाँच या सात तार होते हैं; यह प्राचीन एवं उच्चकोटि का बाजा है।

अर्थ—लंका के शिखर के ऊपर एक अत्यन्त विचित्र भवन था, वहाँ बड़ा ही विलक्षण नृत्य-गान हो रहा था ॥७॥ रावण उस मकान में जाकर बैठ गया, किन्नर लोग उसके गुण-गण गाने लगे ॥८॥ ताल, पखावज और वीणा बज रहे हैं, नृत्य में कुशल अप्सरायें नाच रही हैं ॥९॥ सौ इन्द्रों के समान वह (रावण) सदा भोग-विलास करता है। परम प्रबल शत्रु शिर पर है, तो भी उसे न सोच है और न डर ही ॥१०॥

विशेष—(१) 'लंका सिखर उपर···'—लंका में तीन शिखर हैं—सुन्दर, सुवेल और नील। इनमें से नील शिखर पर लंका बसी है, उसी के शिखर पर रावण का राज-प्रासाद है, वहीं पर ऊपर यह अखाड़ा भी लगा हुआ है। वहाँ पर गुणियों के गुणों की पहचान होती है। 'अति बिचित्र'—विचित्र उसके सभी भवन हैं; यथा—"कनक कोट बिचित्र मनिकृत···" (सुं॰ दो॰ २); पर रावण का यह निज भवन अति विचित्र है; यथा—"गयेउ दसानन मंदिर माहीं। अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं" (सुं॰ दो॰ ४)।

(२) 'लागे किन्नर गुन गन गावन।'—किन्नर लोग देवताओं की एक जाति हैं, ये गवैये होते हैं। देवता रावण के वश में हैं ही। 'गुन गन'—रावण के दिग्विजय आदि गुणों को सुनाते हैं।

(३) 'अपछरा प्रबीना'; यथा—"रंभादिक सुर नारि नबीना। सकल असम सर कला प्रबीना॥ करहिं गान बहु तान-तरंगा।···" (बा॰ दो॰ १२५); ये सब इन्द्र के यहाँ की हैं, अब इसी के यहाँ गाती-नाचती हैं, इसी से आगे इन्द्र के भोग-विलास की उपमा दी है।

(४) 'सुनासीर सत···'—सुनासीर शब्द इन्द्र के लिये रूढ़ है, यह मानस-भर में दो ही स्थलों पर आया है—एक यहाँ और दूसरा—"सुनासीर मन महँ अति त्रासा। चहत देवरिषि मम पुर बासा॥" (बा॰ दो॰ १२४); वहाँ त्रास में और यहाँ निःशंकता में प्रयुक्त हुआ है।

यह पूर्व का भानुप्रताप राजा है, उस जन्म में इसने सहस्र-सहस्र यज्ञ किये थे; यथा—"जहँ लगि कहे पुरान श्रुति, एक एक सब जाग। बार सहस्र सहस्र नृप, किये सहित अनुराग॥" (बा॰ दो॰ १५५); सौ यज्ञों से इन्द्र-पद प्राप्त होता है। इसे दश हजार यज्ञों के प्रतिफल में १०० इन्द्रों का भोग्य प्राप्त है। सब भोग करके मुक्त होगा। अब इसके विलास का अंत आ गया है, इसी से यहाँ श्रीगोस्वामीजी ने कहा है।

(५) 'परम प्रबल रिपु सीस पर'—'परम प्रबल' शब्द से बली, महाबली और परम प्रबल, इन तीनों का भाव निकलता है। वानर सब बली हैं ; यथा—"सहज सूर कपि भालु सब" (सुं० दो० ५५) ; श्रीहनुमान्‌जी महाबली हैं ; यथा—"है कपि एक महाबल सीला।" (दो० ११) ; और श्रीरामजी परम प्रबल हैं ; यथा—"खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित बल साली॥" (सुं० दो० २०)।

इनकी प्रबलता को रावण खर-दूषण-बध आदि से निश्चय कर चुका है ; यथा—"खर दूषन मोसम बलवंता। तिन्हहिं को मारै बिनु भगवंता॥" (आ० दो० ११) ; मारीच से भी सुना है—"जौ नर तात तदपि अति सूरा। तिन्हहिं बिरोधि न आइहि पूरा॥" (आ० दो० २४) ; तब भी इसे कुछ चिन्ता नहीं है ; क्योंकि मोह में फँसे हुए मनुष्य अपने भोग-विलास को अति अधिक मानते हैं और मृत्यु को शिर पर देखकर भी चिन्ता नहीं करते कि अपने उद्धार का यत्न करें। रावण तो महामोह का स्वरूप ही कहा गया है ; यथा—"महा मोह रावन बिभीषन ज्यों हयो हौं।" (वि० १४१)।

सुवेल पर्वत की झाँकी

इहाँ सुबेल सैल रघुबीरा। उतरे सेन सहित अति भीरा॥१॥
सिखर एक उतंग अति देखी। परम रम्य सम सुभ्र बिसेखी॥२॥

शब्दार्थ—उतंग = ऊँचा। सुभ्र (शुभ्र) = श्वेत। सम=समतल।

अर्थ—यहाँ रघुवीर श्रीरामजी सुवेल पर्वत पर सेना के साथ अत्यन्त भीड़ सहित उतरे।१। सुवेल पर्वत पर एक अत्यन्त ऊँचा, परम रमणीय, समतल और बहुत ही उज्ज्वल शिखर देखकर॥२॥

विशेष—(१) 'इहाँ सुबेल सैल···'—पूर्व—"सिंधु पार प्रभु डेरा कीन्हा।" (दो० ४) ; से प्रसंग छोड़ा था, वहीं से फिर प्रसंग लेते हैं। 'इहाँ'-शब्द के द्वारा श्रीगोस्वामीजी अपना ममत्व एवं अपनी स्थिति इस पक्ष में सूचित करते हैं। प्रायः वक्ता सर्वत्र अपनी स्थिति श्रीरामजी एवं राम-भक्त के पक्ष में रखते हैं। पर जहाँ रामभक्त का और श्रीरामजी का चरित एक ही समय पर दो जगह होता है, वहाँ भक्त ही के पक्ष में 'इहाँ' लिखते हैं और श्रीरामजी की तरफ के वर्णन में 'उहाँ' लिखते हैं ; यथा—"उहाँ राम रजनी अवसेषा। जागे······" (अ० दो० २२५) ; तथा—"इहाँ भरत सब सहित सहाये। मंदाकिनी पुनीत नहाये॥" (अ० दो० १३१)। जब एक ही समय में दोनों जगह के चरित होते हैं, तब दोनों के आगे-पीछे वर्णन करते हुए 'इहाँ' 'उहाँ' के प्रयोग होते हैं। रावण-पक्ष मे भी दोबार 'इहाँ' शब्दके प्रयोग आये हैं। वे भी साभिप्राय हैं; यथा—"इहाँ दसानन सुभट पठाये। नाना अस्त्र सस्त्र गहि धाये॥" (दो० ५२)। इस प्रसंग में मेघनाद और श्रीलक्ष्मणजी का द्वंद्व-युद्ध है, मेघनाद की सहायता के लिये रावण ने सेना भेजी है। जिनके साथ मेघनाद ने वैर-भाव की सेवा से श्रीलक्ष्मणजी को बाणोंसे तृप्त किया है और उसी से उसने परम लोक पायाहै, यथा—"गतः स परमाँल्लोकाञ्शरैः संतर्प्य लक्ष्मणम्।" (वाल्मी० ६।९२।३) अतः श्रीगोस्वामीजी ने उस पक्ष में भी निजत्व दिखाया है। पुनः—"इहाँ अर्ध निसि रावन जागा। निज सारथि सन खीझन लागा॥" (दो० ९६) इस प्रसंग मे भी रावण अपने पराक्रम से श्रीरामजी को प्रसन्न करना चाहता था; यथा—"शत्रोः प्रख्यातवीर्यस्य रञ्जनीयस्य विक्रमैः। पश्यतो युद्धलुब्धोऽहं कृतः कापुरुषस्त्वया॥" (वाल्मी० ६।१०४।६)। अर्थात् प्रख्यात पराक्रमी शत्रु को मैं अपने पराक्रम से प्रसन्न करना चाहता था, मैं उससे

दुहुँ कर-कमल सुधारत बाना। कह लंकेस मंत्र लगि काना ॥६॥
बड़ भागी अंगद हनुमाना। चरन-कमल चापत विधि नाना ॥७॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी ने कपीश श्रीसुग्रीवजी की गोद में अपना शिर रक्खा है। बाईं ओर धनुष और दाहिनी ओर तर्कश रक्खा हुआ है ॥५॥ (प्रभु) दोनों हस्त-कमलों से बाण सुधार रहे हैं। लंकेश श्रीविभीषणजी कानों से लगकर मंत्र कह रहे हैं ॥६॥ बड़े भाग्यवान् श्रीअंगदजी और श्रीहनुमान्‌जी अनेक प्रकार से प्रभु के चरण-कमलों को दबा रहे हैं ॥७॥

विशेष—(१) यह ध्यान इसी क्रम से अर्थात् श्रीसुग्रीवजी, श्रीविभीषणजी, श्रीअंगदजी, श्रीहनुमान्‌जी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ और इसी मृगचर्म पर प्रभु का लेटना आदि हनुमन्नाटक में भी कहा गया है, (वहीं देखें)।

श्रीसुग्रीवजी प्रथम के सखा हैं और सेनापति हैं। सीता-प्राप्ति के साधन का सारा भार इनपर है, इसीसे इन्हें कपीश कहा है और इनकी गोद में शिर रक्खा है कि इसकी रक्षा तुम्हारे हाथ है। अधिक सम्मान के लिये इनका नाम पहले दिया गया है। इनके बाद श्रीविभीषणजी का पद है, ये दाहिनी ओर कान के समीप बैठे हैं और उचित मंत्र कहते हैं। शत्रु के समाचार और तदनुसार उचित सलाह का भार इनपर है। ये भी राजा हैं। मंत्र गुप्त रखना चाहिये, इसलिये कान में लगकर कहते हैं, यथा—"श्रवन समीप भये सित केसा। मनहुँ जरठ पन अस उपदेसा॥" (अ० दो० १); कहा भी है—"जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ। फलइ तबहिं जब करिय दुराऊ॥" (बा० दो० १६७); इसीसे ग्रंथकार ने भी यहाँ उस मंत्र को प्रकट नहीं किया है।

(२) 'वाम दहिनि दिसि चाप निषंगा।'—यथासंख्यालंकार की रीति से बाईं तरफ धनुष और दाहिनी ओर तर्कश रक्खा हुआ है। बायें हाथ में धनुष और दाहिने हाथ से बाण का प्रयोग होता है, इसलिये दोनों वैसे क्रम से रक्खे हुए हैं।

(३) 'दुहुँ कर कमल सुधारत बाना।'—श्रीलक्ष्मणजी ने यह बाण प्रभु के हाथों में दे दिया है; यथा—"बाणं रक्ष कुलघ्नं प्रगुणितमनुजेनार्पितम्।" (हनुमन्नाटक), इस से उपर्युक्त रीति से श्रीलक्ष्मणजी की त्वरा स्पष्ट होती है। 'सुधारत बाना'—बाण का सीधापन नेत्रों के कोनों से देखते हैं, दोनों हाथों से उसे कान के समीप ले जाकर जाँच रहे हैं। एक हाथ से लिये हुए दूसरे से उसकी नोक आदि पोंछ रहे हैं।

(४) 'बड़ भागी अंगद हनुमाना।···'—जो श्रीराम पदानुरागी हैं, वे सातों कांडों में बड़भागी कहे गये हैं, देखिये—"अतिसय बडभागी चरनन्हि लागी" (बा० दो० २१०)। उपर्युक्त रीति से श्रीसुग्रीवजी की बगल में दाहिनी ओर श्रीविभीषणजी कहे गये। उसी क्रम से दाहिने चरण को अंगद और बायें को श्रीहनुमान्‌जी प्रेम की उमंग में अनेक प्रकार से दबा (सेवा कर) रहे हैं। प्रभु ने इन दोनों को चरण सौंपा है। चरणों का काम आगे बढ़ना है, वह इन दोनों के हाथ है, युद्ध में सहयोग देने की इन दोनों ने सेवा की है।

श्रीसुग्रीवजी को शिर देकर और श्रीविभीषणजी को कान देकर अधिकार दिया। इन दोनों को [illegible]ण दिये गये, इसपर लघुता समझी जाती, उसकी पूर्त्ति में इन्हें बड़भागी कहा गया है कि प्रभु के

समीप मे इनका सम्मान कम नहीं है, चरण ही सेवकों का सर्वस्व है। श्रीसुग्रीवजी और श्रीविभीषणजी राजा हैं, इससे उन्हें प्रथम कहा, तब युवराज अंगदजी और पीछे मंत्री श्रीहनुमान्‌जी कहे गये— यह भी क्रम है।

सख्य रस का मान

भगवान् के चरित अनेक आशय-गर्भित होते हैं। वे अपने भक्तों के साथ विविध प्रकार की क्रीड़ा करते हैं और उन्हें गौरव देते हैं। इस झाँकी मे एक रहस्यात्मक भाव भी है कि जब श्रीरामचन्द्रजी ने श्रीविभीषणजी को शरण में ग्रहण किया, तब श्रीसुग्रीवजी से मंत्र पूछा गया और उन्होंने नीति-दृष्टि से उनके स्वीकार करने मे विरोध किया। यह सब उस प्रसंग मे कहा गया। उसपर अंत मे प्रभु ने कहा; यथा—"जग महँ सखा निसाचर जेते। लछिमन हनहिं निमिषि महँ तेते॥"···उभय भाँति तेहि आनहु, हँसि कह कृपानिकेत।···" (सु० दो० ४३-४४)। इसपर श्रीसुग्रीवजी का कुछ अनुमोदन आदि रीति से बोलना नहीं कहा गया। प्रत्युत तब से अभी तक किसी सलाह मे उनका कुछ बोलना नहीं कहा गया। (यद्यपि श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण मे उसी समय श्रीसुग्रीवजी का अनुमोदन और फिर श्रीविभीषणजी से सलाह पूछना लिखा है, तथापि मानस में नहीं आया है,) इससे पाया गया कि वे मन मे उदास हो गये, कि इस दरबार मे मेरी क्या गिनती? श्रीलक्ष्मणजी ही पल मात्र मे सब कुछ कर सकते हैं। मेरी बात कुछ क्यों सुनी जायगी? खैर, मैं तो आज्ञानुसार सेवा करता ही हूँ, इत्यादि। प्रभु कैसी युक्ति से उन्हें प्रसन्न कर रहे हैं, यदि खोल कर कहते, तो श्रीसुग्रीवजी की लघुता पाई जाती। यहाँ प्रभु ने श्रीलक्ष्मणजी को तो पीछे कर दिया और अपने धनुष और तर्कश को दोनों दिशाओं में डाल दिया। फिर अपना शिर श्रीसुग्रीवजी की गोद मे रख दिया। भाव यह कि अब यहाँ शत्रु के देश मे आये हैं, न तो मुझे श्रीलक्ष्मणजी का भरोसा है और न अपने धनुष-बाण का, किंतु इस शिर की रक्षा तुम्हारे अधीन है।

इसपर श्रीसुग्रीवजी के हर्ष का पारावार न रह गया। यह समझकर कि जिन्होंने हमारे परम प्रबल शत्रु वाली को एक ही बाण से मारा वे हमे इस तरह मनाते हैं, मुझे इतनी बड़ाई देते हैं। (श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण मे तो श्रीसुग्रीवजी का यहीं से उछलकर रावण पर टूटना और उससे घोर संग्राम (द्वन्द्व युद्ध) करना लिखा है कि मैं ही रावण को मारकर आपके द्रोही का नाश कर दूँ।) इसपर श्रीविभीषणजी ने समझा कि यदि में न कुछ कहूँगा, तो प्रभु मुझे भी न मनाने लगें, इससे वे विना पूछे ही मंत्र कहने लगे और श्रीअंगदजी और श्रीहनुमान्‌जी चरण-सेवा से अपनी प्रसन्नता प्रकट करने लगे।

प्रभु पाछे लछिमन बीरासन। कटि निषंग कर बान-सरासन॥८॥

दोहा—येहि बिधि कृपा-रूप-गुन-धाम राम आसीन।
धन्य ते नर येहि ध्यान जे, रहत सदा लयलीन॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी कमर मे तर्कश कसे और हाथों मे धनुष-बाण लिये हुए वीरासन से प्रभु के पीछे विराजमान हैं।८॥ इस प्रकार कृपा, रूप और गुणों के धाम श्रीरामजी विराजमान् हैं। वे मनुष्य धन्य हैं, जो इस ध्यान मे सदा निमग्न रहते हैं॥

युद्ध करने के लिये उत्सुक था, पर तुमने उसके सामने मुझे कापुरुष (कायर, डरपोक) बना दिया। इसलिये यहाँ ग्रंथकार ने उस ओर भी निजत्व दर्शाया है। रण भी श्रीरामजी की क्रीड़ा है।

'रघुबीरा' श्रीरामजी पराक्रम में वीर हैं, तभी शत्रु के देश में भी निर्भय हैं। 'उतरे सेन सहित'— से सूचित किया कि वह शैल-शृंग बहुत बड़ा था; यथा—"ततो रामः सुवेलाग्रं योजनद्वयमण्डलम्। उपारोहत्ससुग्रीवो हरियूथैः समन्वितः॥" (वाल्मी० ६।४०।१); अर्थात् श्रीरामजी दो योजन विस्तारवाले सुवेल पर्वत पर श्रीसुग्रीव एवं अन्य सेनापतियों के साथ चढ़े। इस पर्वत पर से शत्रु के सब देश देख सकते हैं और उनपर निशाना भी लग सकेगा। अतः, इसका दखल करना बुद्धिमानी है। 'अति भीरा' का भाव यह कि छिपकर नहीं दखल किया, किंतु धूमधाम से उतरे, क्योंकि वीर हैं, इसी से 'रघुबीरा' भी कहा गया है। अति भीर शब्द सेतु-बंध पर उतरते समय कहा था; यथा—"सेतु बंध भइ भीर अति..." क्योंकि वहाँ उतरने के लिये सब एकत्र हुए थे। बीच में जहाँ तहाँ फल खाने लगे थे, अब यहाँ फिर एकत्र हुए हैं, इसी से 'अति भीरा' फिर कहा गया है। पूर्व—"सेन सहित उतरे रघुबीरा। कहि न जाइ कपि-जूथप भीरा॥" (दो० ४); कहा गया था, वही प्रसंग लेकर यहाँ भी 'उतरे सेन सहित अति भीरा।' कहा गया है। इस पूर्वापर-प्रसंग मिलान से यह जाना गया कि सुवेल के ऊपर केवल यूथपों की भीड़ है। सेना सुवेल की चारों ओर है।

(२) 'सिखर एक उतंग...'—दूसरी ओर भी ऊँचे शृंग थे, पर यह अति ऊँचा था। इसी के सामने नील कूट पर ऐसेही ऊँचे दूसरे शृंगपर लंका पुरी भी बसी थी; यथा—"अति उतंग जलनिधि चहुँपासा।" (सुं० दो० २), अतः सुवेल के अति उत्तंग शृंग से लंका पुरी को अच्छी तरह देखेंगे। इसलिये भी उसपर चढ़े। तथा—"सुवेलं साधुशैलेन्द्रमिमं धातुशतैश्चितम्। अध्यारोहामहे सर्वे वत्स्यामोऽत्र निशामिमाम्॥ लंकां चालोकयिष्यामो निलयं तस्य रक्षसः।" (वाल्मी० ६।३८।३-४); महर्षिजी ने भी इसे सुन्दर और सब धातुओं से विभूषित एवं चित्रित कहा है, वही यहाँ भी 'परम रम्य सम...' से कहा गया है। 'सम'—समतल भूमि दो योजन तक है। 'सुभ्र बिसेषी'—श्वेत स्फटिक-मणि का है, इसपर चाँदनी का प्रकाश भी अधिक पड़ेगा। इसपर कुश-कटक आदि भी नहीं हैं, यह भी शुभ्र शब्द से जनाया है। चित्रकूट और किष्किंधा में भी आपका स्फटिक-शिला पर ही बैठना कहा गया है। देखिये आ० दो० १ और सुं० दो० २८।

तहँ तरु-किसलय-सुमन सुहाये। लछिमन रचि निज हाथ डसाये॥३॥
ता पर रुचिर मृदुल मृगछाला। तेहि आसन आसीन कृपाला॥४॥

अर्थ—उसपर श्रीलक्ष्मणजी ने वृक्षों के नये कोमल पत्ते और सुन्दर फूल अपने हाथों से रचकर बिछाये (अर्थात् नीचे किसलय और ऊपर से पुष्पों की शय्या रची)॥३॥ फिर उसपर रुचिर कोमल मृगछाला बिछा दी, उसी आसन पर कृपालु श्रीरामजी विराजे॥४॥

विशेष—(१) 'तहँ तरु-किसलय...'—लंका में पूस-माघ में गर्मी पड़ती है, इसी से ठंढी शय्या बिछाई गई और संध्या-समय चाँदनी देखने बैठे। रामाश्वमेध के अनुसार पौष-पूर्णिमा को सुवेल पर निवास हुआ है, वाल्मी० ६।२८।१३-१४ से भी पूर्णिमा ही सिद्ध होती है, यथा—"ततोऽस्तमगमत्सूर्यः संध्यया प्रतिरञ्जितः। पूर्णचन्द्रप्रदीप्ता च क्षपा समतिवर्तते॥.. सुवेलपृष्ठे न्यवसद्यथासुखम्॥" यही

श्रीगोस्वामीजी का भी मत है, यथा—"पूरब दिसा बिलोकि प्रभु, देखा उदित मयंक।" आगे कहा गया है। पूर्ण चन्द्र संध्याकाल में और पूर्व दिशा में पूर्णिमा को ही उदित होता है।

मानसकारके मत में आज ही सेना उतरी। रावण को खबर मिली, उसकी दो बार सभा हुई और इधर श्रीरामजी सायंकाल सुबेल पर विराजे। क्योंकि बीच में प्रातः एवं संध्या-समय आदि शब्द नहीं आये। 'इहाँ' शब्द की ध्वनि से उधर रावण का संध्या-समय नाच-गान में जाना और इधर श्रीरामजी का सुबेल पर जाना एक ही समय का वर्णन किया गया है।

'लछिमन रचि······'—यह श्रीलक्ष्मणजी की नित्य-सेवा है, इसलिये इसे उन्होंने अपने ही हाथों से रचा। पहले सम किसलय डसाकर ऊपर से बराबर पुष्प बिछाये कि चौरस और गुलगुली हो।

(२) 'तापर रुचिर मृदुल मृग छाला।'—यह रुचिर मृगछाला माया-मृग मारीच की है, क्योंकि वही 'रुचिर' विशेषण यहाँ भी दिया गया है; यथा—"सीता परम रुचिर मृग देखा।···सत्यसंध प्रभु बध करि येही। आनहु चर्म कहति बैदेही॥" (आ० दो० २६); (इस प्रसंग में यहाँ भी यह लिखा जा चुका है कि यह मृगचर्म माया-मृग का ही है)। श्रीरामजी को 'सत्यसंध' और 'प्रभु' कहकर उसी मृगचर्म को लाने की प्रार्थना की गई थी। तब वह कैसे अन्यथा होती? कहा भी है; यथा—"राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करइ अन्यथा अस नहिं कोई॥" (बा० दो० १२७); प्रमाण भी है—"हेम को हरिन हनि फिरे रघुकुलमनि लखन ललित कर लिये मृग छाल।" (गी० आ० ८)। तथा—"भूसौ विस्तारितायां त्वचि कनकमृगस्यां-गशेषं निधाय।" "विष्टस्ते मातुलस्य त्वचि···" (हनुमन्नाटक); यह भी स्पष्ट है कि मानस में वनवास से अभी तक बराबर कुशासन ही का वर्णन है, इससे दूसरा मृगचर्म साथ रहा हो—इसका कोई प्रमाण नहीं। मारीच-वध के बाद वहाँ पहुँचकर श्रीलक्ष्मणजी ने वह मृगचर्म ले लिया है। फिर जिनके लिये वह मृगचर्म लाया गया था, उन श्रीजानकीजी से वियोग ही रहा। इसलिये यह कहीं बिछाया नहीं गया कि इसे देखकर प्रभु को विरह का उद्दीपन होगा। जैसे कि श्रीजानकीजी के पट-भूषण पाने पर शोक अत्यन्त हो गया था; यथा—"पट उर लाइ सोच अति कीन्हा।" (कि० दो० ४); पुनः 'कनकबिंदु' एवं 'सीय साथरी' देखने पर श्रीभरतजी का विरह बढ़ गया था।

जबसे श्रीसीताजी का समाचार मिला और उन्होंने 'अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना।' कहा है। तब से इसका प्रभाव श्रीलक्ष्मणजी के हृदय पर बहुत पड़ा, सेतुबंध प्रसंग पर—'नाथ दैव कर कवन भरोसा।··· कादर मन कहुँ एक अधारा।' पर कहा गया कि इन्होंने स्वामी को ही कैसा कठोर वचन कह डाला? क्योंकि वे समुद्र से राह माँगने का विलंब कर रहे थे। अब यहाँ शत्रु के देश में प्रभु पहुँच गये हैं, इस समय प्रभु रावण की निर्भीकता पर क्रुद्ध भी हैं; यथा—"एवं संमन्त्रयन्नेव सक्रोधो रावणं प्रति। रामः सुवेलमासाद्य चित्रसानुमुपारुहत्॥" (वाल्मी० ६।३८।६); अर्थात् ऐसा कहते हुए श्रीरामजी ने रावण पर क्रोध किया, वे सुबेल पर्वत के ऊपर जाकर उसके शिखर पर चढ़े, जो अनेक धातुओं से चित्रित था। बस, प्रभु का क्रोधावेश जानकर सीता-प्राप्ति के साधन में शीघ्रता कराने के लिये श्रीलक्ष्मणजी ने वही मृगचर्म बिछा दिया कि विरह उत्तेजित हो और शीघ्र रावण को मारें। वही प्रभु करेंगे भी अभी ही उसके छत्र, मुकुट आदि काटकर सबको उसके वध की प्रतीति करा देंगे।

'कृपाला'—विशेषण का भाव यह कि समीपवर्त्ती सखाओं पर यहाँ बड़ी कृपा करेंगे। वार्त्तालाप करके मनोरथ जानेंगे, फिर तदनुसार समय पर उनकी सुव्यवस्था करेंगे।

प्रभु कृत सीस कपीस उछंगा। बाम दहिन दिसि चाप निषंगा॥५॥

विशेष—(१) 'प्रभु पाछे लछिमन···'—पीछे की ओर पहले श्रीसुग्रीवजी हैं, उनसे कुछ ओर पीछे श्रीलक्ष्मणजी बैठे हुए हैं। वीरासन से रक्षा में सावधान हैं; यथा—"कछुक दूरि सजि बान सरासन। जागन लगे बैठि बीरासन ॥" (अ० दो० ८९);—इसमें के कहे हुए भाव यहाँ भी हैं। यहाँ जितने मुख्य-मुख्य सेवक हैं, उनका ध्यान प्रभु की ओर है और यहाँ पर शत्रु की पुरी है, राक्षस-गण रात में विशेष प्रबल हो जाते हैं, किसी ओर से एवं किसी प्रकार प्रभु पर आक्रमण न करें, इसलिये सावधान होकर सब ओर देखते हुए धनुष-बाण साजे हुए रक्षा करते हैं।

'वीरासन'; यथा—"वामपादे निधायैकं मूलं पादं च दक्षिणम्। वामाङ्कामे कृतं ह्येतद्वीरासन-मुदीरितम् ॥" (अगस्त्य सं० अ० १८)।

यहाँ सुवेल पर सखाओं के साथ श्रीरामजी की स्थिति और वहाँ लंका के शिखर पर अखाड़े में रावण की स्थिति दिखाकर दैवी संपत्ति और आसुरी संपत्ति—इन दोनों को दिखाया है कि एक शांत और दूसरी चंचल है।

(२) 'येहि विधि कृपा···'—यहाँ इस ध्यान का संपुट करते हैं, इसका उपक्रम—'तेहि आसन आसीन कृपाला।' है और यहाँ "येहि विधि कृपा रूप···" उपसंहार है। 'कृपा'—किसीको शिर, किसी को कान और किसी-किसी को चरण के अधिकार दिये हैं। यह इन सब पर कृपा ही है। इन सब को आपने अपने अंतरंग गोष्ठी में मिलाया; यथा—"को साहिब सेवकहि नेवाजी। आप समाज साज सब साजी ॥" (अ० दो० ११८); 'रूप गुन धाम'; यथा—"बल विनय विद्या सील सोभा सिंधु इन्ह सम एइ अहहिं।" (बा० दो० ३११); "भजहु प्रनत प्रति पालक रामहिं। सोभा सील रूप गुन धामहिं।" (उ० दो० २९)। ध्यान करते समय इन सबपर प्रभु की कृपा और प्रभु के रूप एवं उनके भक्तवत्सलतादि गुणों को विचारना चाहिये। इस ध्यान की प्रशंसा भी करते हैं—

(३) 'धन्य ते नर···'—जब ध्यान करनेवाले धन्य हैं, तब उस ध्यान के अंगभूत श्रीसुग्रीवजी आदि तो परम धन्य हैं।

पूरब दिसा बिलोकि प्रभु, देखा उदित मयंक।
कहत सबहि देखहु ससिहि, मृगपति-सरिस असंक ॥११॥

अर्थ—पूर्व दिशा की ओर देखकर, चन्द्रमा को उदित हुआ देखा, (तब) प्रभु सब से कहने लगे कि चन्द्रमा को देखो, कैसा सिंह के समान निःशंक है? ॥११॥

विशेष—यहाँ से उपर्युक्त ध्यान में दिशाओं की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। आज पूर्णिमा है, पूर्व में पूर्ण चन्द्रमा का उदय हुआ। तब श्रीरामजी की दृष्टि उसपर पड़ी। अतः, आपका शिर पच्छिम दिशा की ओर है, श्रीसुग्रीवजी भी पूर्व-मुख ही हैं। श्रीविभीषणजी दक्षिण ओर हैं, इनका मुख उत्तर है। श्रीअंगदजी और श्रीहनुमान्‌जी आमने-सामने (उत्तर-दक्षिण) मुख करके चरण-सेवा में हैं, इससे चन्द्रमा को ये भी देखते हैं। चन्द्रमा को निःशंक कहते हुए सिंह की उपमा दी। आगे पूरा रूपक कहेंगे?

भाव यह कि हमें विरही जानकर भी यह अपनी किरणें फैलाता है, हमें ताप पहुँचाता है; यथा—"काल निसा सम निसि ससि भानू।" (सुं० दो० १४); इसे हमारे बाणों का डर नहीं है, तभी तो निःशंक

होकर उदित हुआ है। उपर्युक्त रीति से रुचिर मृगछाला से विरह का आधिक्य उद्दीप्त हुआ, जिससे चन्द्रमा तप्त लगता है।

पूरब दिसि गिरि-गुहा-निवासी। परम-प्रताप-तेज - बल - रासी ॥१॥
मत्त - नाग - तम - कुंभ - बिदारी। ससि-केसरी गगन-बन - चारी ॥२॥
बिथुरे नभ मुकुताहल तारा। निसि सुंदरी केर सिंगारा ॥३॥

शब्दार्थ—कुंभ = हाथी के उमड़े हुए मस्तक का उभय भाग। हल = समूह।

अर्थ—यह (चन्द्रमा-रूपी सिंह) पूर्व दिशा-रूपी पर्वत की गुफा का रहनेवाला है, परम प्रताप, तेज और बल की राशि है ॥१॥ अंधकार-रूपी मतवाले हाथी के मस्तक के उभड़े हुए भाग को विदीर्ण कर यह चन्द्र-सिंह आकाश-रूपी वन में विचर रहा है ॥२॥ आकाश में छिटके हुए तारागण मुक्ता-समूह हैं, जो रात्रि-रूपी सुंदरी स्त्री के शृंगार-रूप हैं। ३॥

विशेष—(१) 'पूरब दिसि गिरि गुहा'''—चन्द्रमा को सिंह कहा, सिंह कंदरा में रहता है, वन में विचरता है और मत्त गजगण के मस्तक विदीर्ण करता है। इसी से यह प्रताप, तेज और बल की राशि कहाता है। वैसे ही चन्द्रमा पूर्व दिशा में रहता है, क्योंकि उधर से ही उसका उदय होता है। आकाश-रूपी वन में विचरता है और मत्त नाग-रूपी तम को नाश करता है। जिससे तारा-गण-रूपी मुक्ता-गणों से रात्रि-रूपी सुन्दरी (स्त्री) का शृंगार होता है। स्त्रियाँ मस्तक पर मोती गुहा करती हैं; यथा—"मनि मानिक मुक्ता छवि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥ नृप किरीट तरुनी तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥" (बा० दो० १०); वैसे तारागणों से रात की शोभा होती है।

कह प्रभु ससि महँ मेचकताई। कहहु काह निज निज मति भाई ॥४॥
कह सुग्रीव सुनहु रघुराई। ससि महँ प्रगट भूमि कै झाँई ॥५॥
मारेउ राहु ससिहि कह कोई। उर महँ परी स्यामता सोई ॥६॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी ने कहा कि हे भाइयो ! अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार कहो कि चन्द्रमा में जो श्यामता है, वह क्या है ? ॥४॥ श्रीसुग्रीवजी ने कहा कि हे रघुराज श्रीरामजी ! सुनिये, चन्द्रमा में पृथिवी की परछाईं प्रकट हो रही है ॥५॥ किसीने कहा कि चन्द्रमा को राहु ने मारा, वही काला धब्बा उसके हृदय पर पड़ा है, (गहरी चोट लगने पर चोट की जगह पर काला चिह्न पड़ जाता है) ॥६॥

विशेष—(१) 'कह प्रभु ससि महँ ''''''—उस तरफ रावण नाच-गान के विनोद में मग्न है। इधर प्रभु अपने भक्तों के साथ कुछ वाग्विनोद कर रहे हैं। ऊपर सख्य-रस का मान-प्रसंग भी कहा गया था, तदनुसार श्रीरामजी श्रीसुग्रीवजी की अनुकूलता जानने के लिये भी यह प्रश्न करते हैं, इसपर पहले ही श्रीसुग्रीवजी ने कहकर अपनी प्रसन्नता जनाई। चन्द्रमा सबके मन का देवता है, उसके लांछनविषयक प्रश्न से प्रभु सब के मन का भाव भी जानना चाहते हैं। इससे 'मति भाई'—के दो अर्थ हैं, एक तो भाई संबोधन-रूप में है, क्योंकि ये सब सखा हैं; यथा—"ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे।" (उ० दो० ७); दूसरा यह कि जिसकी बुद्धि में जो रुचता हो, वह कहे।

(२) 'कह सुग्रीव सुनहु'''—श्रीसुग्रीवजी अपने हृदय की परिस्थिति के अनुसार कहते हैं; इन्हें अपनी छिनी हुई भूमि प्राप्त हुई है। पुनः राजा की वृत्ति भूमि बढ़ाने पर रहती ही है। अतएव इनके हृदय पर भूमि की छाया पड़ी हुई है, वही चन्द्रमा में कहते हैं। यह पहला उत्तर हरिवंश के अनुसार है। भास्कराचार्य आदि प्राचीन ज्योतिषकारों का भी यही मत है, वे चन्द्रमा को जलमय मानते हैं, उसमें पृथिवी की अप्रकाशित (श्याम) छाया पड़ती है, वही श्यामता दीखती है।

(३) 'मारेहु राहु ससिहि'' '''—पहले श्रीसुग्रीवजी का नाम दिया गया है और अंत में श्रीहनुमान्जी को स्पष्ट कहा गया है। बीच में 'कोई' और 'कोउ' के द्वारा उपर्युक्त झाँकी के क्रमानुसार श्रीविभीषणजी और श्रीअंगदजी के मत उनके हृदय की परिस्थिति से भी कहे गये हैं। श्रीलक्ष्मणजी पीछे दूरी पर हैं। अतः, वे इस प्रश्नोत्तर में सम्मिलित नहीं हैं, परन्तु रक्षा में दत्त-चित्त हैं।

यहाँ 'कोई' से श्रीविभीषणजी का मत कहा गया है। रावण ने इन्हें लात मारी है; यथा—"तात लात रावन मोहि मारा।" (दो० ११), यह चोट इनके हृदय से नहीं गई है। इसे कुंभकरण के आने पर भी इन्होंने कहा है। आगे भी इसके बदले में उसकी छाती पर गदा का प्रहार करेंगे। इससे इनका यह वाक्य जान पड़ता है, राहु के प्रहार की ओट से इन्होंने अपने हृदय की बात कही है।

कोउ कह जब बिधि रतिमुख कीन्हा। सार भाग ससि कर हरि लीन्हा ॥७॥
छिद्र सो प्रगट इंदु - उर माहीं। तेहि मग देखिय नभ परिछाहीं ॥८॥

अर्थ—'किसी ने कहा कि जब ब्रह्मा ने कामदेव की स्त्री रति का मुँह बनाया (उसके योग्य सुन्दरता की सामग्री चन्द्रमा में ही पाई गई, अतएव) तब चन्द्रमा का सार भाग निकाल लिया ॥७॥ वही छेद चन्द्रमा के हृदय में दिखाई पड़ता है, उसकी राह से (उस पार) आकाश की (नीली) परछाईं उसमें देख पड़ती है ॥८॥

विशेष—झाँकी के क्रम से श्रीविभीषणजी के पश्चात् श्रीअंगदजी की पारी है। यहाँ की व्यवस्था भी उनमें घटित है। वालि के बाद उसके राज्य पर श्रीअंगदजी का हक था; यथा—"सत्कार्यो हरिराजस्तु अङ्गदश्चाभिषिच्यताम्। सिंहासनगतं पुत्रं पश्यन्ती शान्तिमेष्यसि॥" (वाल्मी० ४।२१।११), अर्थात् श्रीहनुमान्जी ने तारा को समझाते हुए कहा है कि वालि का संस्कार करना चाहिये, फिर तुम अंगदजी का अभिषेक करो और सिंहासन पर बैठे हुए पुत्र को देखकर शान्ति पाओगी। पर श्रीरामजी ने श्रीसुग्रीवजी को दिया। वह केवल युवराज ही बनाया गया। यही उसके सार भाग का हरा जाना है। इससे इसके हृदय में मानो छेद हो गया। उससे 'नभ परिछाहीं' अर्थात् शून्यता ही प्रतीत होती है कि जब कहीं श्रीसुग्रीवजी के पुत्र होगा, तब ये मेरा यौवराज्य क्यों रहने देंगे ?; यथा—"राज्ये पुत्रं प्रतिष्ठाप्य सगुणो विगुणोऽपि वा। कथं शत्रुकुलीनं मां सुग्रीवो जीवयिष्यति।" (वाल्मी० ४।५५।८)

प्रभु कह गरल बंधु ससि केरा। अति प्रिय निज उर दीन्ह बसेरा ॥९॥
बिष - संजुत कर - निकर पसारी। जारत बिरहवंत नर - नारी ॥१०॥

दोहा—कह हनुमंत सुनहु प्रभु, ससि तुम्हार प्रिय दास।
तव मूरति बिधु उर बसति, सोइ स्यामता अभास ॥

शब्दार्थ—संजुत (संयुक्त) = मिला हुआ। कर = किरण। अभास (आभास) = झलक।

अर्थ—प्रभु ने कहा कि विष चन्द्रमा का अत्यन्त प्यारा भाई है, इसी से उसने विष को अपने हृदय में ठहराया है ॥९॥ विष-संयुक्त अपने किरण-समूह को फैलाकर विरही स्त्री-पुरुषों को जलाता है ॥१०॥ श्रीहनुमान्‌जी ने कहा—हे प्रभो ! सुनिये, चन्द्रमा तो आपका प्यारा दास है, आपकी (साँवली) मूर्त्ति चन्द्रमा के हृदय में बसती है, वही श्यामता झलकती है ॥

विशेष—(१) 'कह प्रभु...'—श्रीअंगदजी के पीछे श्रीहनुमान्‌जी के बोलने की पारी थी, पर प्रभु बोल उठे। कारण यह कि प्रभु ने चन्द्रमा को निःशंक आदि कहकर उसमें मेचकताई की बात पूछी है; अर्थात् विरह के कारण वह प्रतिकूल भासता है, अतएव आप उसके दोष पूछ रहे हैं। पर तीन मंत्रियों ने उसे अमल, चोट खाया हुआ और सार छीना हुआ कहकर उसे दीन एवं निर्दोष कहा। अतएव अपना अभिप्राय प्रकट कहकर अवशिष्ट वक्ता श्रीहनुमान्‌जी को अपने अनुकूल करना चाहते हैं। इसलिये प्रभु बीच ही में बोल उठे—'कह प्रभु गरल बंधु ससिकेरा' अर्थात् विष चन्द्रमा का सहोदर भाई है, क्योंकि एक ही क्षीरसागर के मंथन से दोनों प्रकट हुए हैं; यथा—"जनम सिंधु पुनि बंधु विष..." (बा॰ दो॰ २३७); सहोदर भाई अतिप्रिय भी होता ही है; यथा—"मिलहिं न जगत सहोदर भ्राता।" (दो॰ ६०)। अति प्रिय वस्तु हृदय से नहीं जाती, इसी से विष इसके हृदय में है, बस, वही काला-सा देख पड़ता है। यह भी गर्भित है कि इसके पिता समुद्र पर मैंने सेतु बाँधा है। उसका ही वैर मानकर भाई को सहायक बना मुझे जला रहा है। चन्द्रमा अमृतमय है, पर विरह के कारण प्रभु को वह विषमय भासता है। इस तरह प्रभु ने भी अपने हृदय की स्थिति कही। अन्यत्र भी कहा है—"चन्द्रं वीक्ष्य जगाद चन्द्रवदनां श्रीरामचन्द्रः स्मरन्, चन्द्र त्वं विषसोदरो हि गरलोऽतिप्रच्चयि प्रेमतः। तच्छङ्के विषसंयुतैः स्वकिरणैः कान्ताविहीनान् जनान्, कष्टं संजनयत्यपि त्वयि ततस्सद्धर्मता स्यात्कुतः।" (सीतश्रृंगारचंपू)।

(२) 'कह हनुमंत सुनहु प्रभु...'—'प्रभु' का भाव यह कि आप समर्थ हैं, अमर को भी मारकर फिर उसे जिला सकते हैं; यथा—"प्रभु सक त्रिभुवन मारि जियाई।" (दो॰ ११३); पर चन्द्रमा तो आपका प्यारा दास है। इसी से वह आपकी मूर्त्ति (परमात्मभाव से) हृदय में बसाये रहता है, वही श्यामता झलकती है। श्रीहनुमान्‌जी के हृदय में श्रीरामजी सदा बसते हैं; यथा—"प्रनवउँ पवन कुमार...जासु हृदय आगार, बसहिं राम सरचापधर।" (बा॰ दो॰ १७) और ये प्रभु के प्रियदास हैं। वैसे ही ये दूसरों को भी प्रभु के प्रिय दास मानते हैं और उनके हृदय में प्रभु का निरन्तर निवास मानते हैं। श्रीहनुमान्‌जी ने वही कहा है। इनके ऐसा कहने का अभिप्राय यह है कि प्रभु हाथों से बाण सुधार रहे हैं और चन्द्रमा को निःशंक आदि कह चुके हैं, विरह के कारण उससे दुखी भी हैं। कहीं यह बाण उसी पर न छोड़ दें। (पर सर्वज्ञ प्रभु ऐसा करेंगे नहीं, केवल मंत्रियों का भाव ले रहे हैं) अतः, हमें उचित है कि राजा को उचित नीति का ही मत दें। दैवी संपत्ति की रक्षा के लिये आपका अवतार है, अतः, ऐसी बात कहें कि चन्द्रमा निर्दोष सिद्ध हो। इससे इन्होंने उसे प्रिय दास कहा कि जिससे उसकी रक्षा ही करें। साथ ही दक्षिण की ओर मुहँ करके ये बैठे ही हैं। अतः, उधर भी इशारा है कि विरह के कारण चन्द्रमा दाहक लग रहा है, उस विरह का कारण तो रावण है, चन्द्रमा बेचारा तो आपका दास है। श्रीविभीषणजी ने भी अपनी दुर्दशा का संकेत कर ही दिया था। बस, प्रभु ने दक्षिण की ओर दृष्टि फेरी और फिर श्रीविभीषणजी से पूछने लगे। लंका की ओर की इन्हीं दो की जानकारी थी। इनकी प्रेरणा से वह बाण उधर ही सार्थक किया जायगा।

चन्द्रमा श्रीरामजी का मन है; यथा—"अहंकार सिव बुद्धि अज, मन ससि चित्त महान।"

(दो॰ १५), ज्ञानी का मन इन्द्रियों के साथ उसका दास बना रहता है और प्रभु अखंड-ज्ञान हैं ही, इससे श्रीहनुमान्‌जी ने उसे उनका प्रिय दास कहा; क्योंकि ये भी तो 'ज्ञानघन' हैं, देखिये बा॰ दो॰ १७। प्रिय दास इससे भी कहा कि आपके दिव्य रास-विहार आदि में पुरुष-वर्गों में केवल चन्द्रमा ही रहता है, क्योंकि इसपर श्रीमहारानीजी का वात्सल्य है।

पवन-तनय के, बचन सुनि, बिहँसे राम सुजान।
दच्छिन दिसि अवलोकि प्रभु, बोले कृपानिधान॥१२॥

अर्थ—पवन-पुत्र श्रीहनुमान्‌जी के वचन सुनकर सुजान श्रीरामजी हँसे, और दक्षिण दिशा की ओर देखकर वे दयासागर प्रभु श्रीविभीषणजी से बोले॥१२॥

विशेष—(१) श्रीहनुमान्‌जी की परम चतुरता पर आपने विहँसकर अपनी प्रसन्नता प्रकट की; यथा—"परम चतुरता श्रवन सुनि, बिहँसे राम उदार।" (दो॰ ३८)। हँसकर इनके मत की स्वीकृति भी जनाई। 'राम सुजान', यथा—"स्वामि सुजान जान सबही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की॥" (अ॰ दो॰ ३११)। यहाँ श्रीहनुमान्‌जी और श्रीविभीषणजी के हृदय की वृत्ति जानकर तदनुसार कार्य कर रहे हैं, इससे 'सुजान' कहा गया है। 'पवन-तनय' शब्द का भाव यह कि इन्होंने बड़ी बुद्धिमानी के वचन कहे हैं; यथा—"पवन तनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिग्यान निधाना॥" (कि॰ दो॰ २९)।

(२) 'दच्छिन दिसि अवलोकि'''—पूर्व का विनोद समाप्त कर अब प्रभु ने दक्षिण दिशा की ओर रुख किया। चन्द्रमा पर से दृष्टि हटा ली। उसी ओर लंका नगरी है। यह बाण भी उसी के उद्देश्य से हाथ में लिया गया था, अथवा, श्रीलक्ष्मणजी ने दिया था। 'प्रभु' शब्द भी सूचित करता है कि जिस कार्य के उद्देश्य से बाण लिये हुए हैं और पूछ रहे हैं, उसमें आप पूर्ण समर्थ हैं। 'बोले कृपा-निधान'—क्योंकि श्रीविभीषणजी पर कृपा है, बाण-द्वारा रावण के छत्र आदि काटकर इन्हें सान्त्वना देंगे। पुनः रावण पर भी कृपा है कि बाण-प्रताप को समझकर और मंदोदरी आदि के कहने पर अब भी समझ जाय और शरण होकर वह बच जाय।

चन्द्र परीक्षा-रहस्य

यहाँ का यह विनोद गूढ़ अभिप्राययुक्त है। परमार्थ पक्ष में श्रीसुग्रीवजी ज्ञान स्वरूप हैं, इसीसे ज्ञानमय सूर्य के पुत्र कहाते हैं। विभीषणजी जीव-रूप और श्रीहनुमान्‌जी प्रबल वैराग्य-रूप हैं। सब वानर शम-दमादि साधन रूप एवं उनके नेता श्रीअंगदजी सत्वगुण रूप हैं—इनके प्रमाण—"ज्ञान सुग्रीव कृत जलधि सेतू।'''जीव भवदंघ्रि सेवक विभीषण ''प्रबल वैराग्य दारुन प्रभंजन तनय ''कैवल्य साधन अखिल भालु मर्कट''" (वि॰ ५८)। श्रीसुग्रीवजी ने अपने हृदय पर भूमि की छाया कही है। इससे रक्षा के लिये युद्धोपरान्त (उ॰ दो॰ १६ में) श्रीरामजी इन्हें श्रीभरतजी से भूषण वस्त्र पहनवाकर राज्य करने के लिये भेजेंगे। तब इन्हें शुद्ध कर इसका भय मिटावेंगे। पृथिवी के अंश सहित बुद्धि की उत्पत्ति कही गई है; यथा—"बुद्धिर्जाताक्षितेरपि" (जिज्ञासापंचके); बुद्धि के द्वारा ज्ञान होता है। बुद्धि का ज्ञातृत्वाभिमान ही यहाँ भूमि की छाया है। श्रीभरतजी परम विवेकी हैं, उनकी माता ने उनके लिये भूमि का भोग माँगा, पर अपनी वृत्ति से वे उसके वर को पूरा करके भी निर्विकार बने रहे। वैसी वृत्ति सहित रहने के लिये श्रीभरतजी का सारूप्य बनाकर श्रीसुग्रीवजी को किष्किंधा भेजेंगे। श्रीविभीषणजी जीव रूप हैं। इन्हें

पूर्व जन्म मे कालकेतु रूपी राहु ने हरण करके इस राक्षस योनि मे प्राप्त कराया ; यथा—"जनु वन दुरेउ ससिहि ग्रसि राहू।" (बा० दो० १५५); उसी काल-बाधा को राहु के प्रहार रूप में इन्होंने ऊपर कहा है। इनकी इस बाधा से रक्षा के लिये आगे (उ० दो० १६ में) श्रीरामजी श्रीलक्ष्मणजी से वस्त्राभूषण पहनवाकर श्रीलक्ष्मणजी की-सी वृत्ति से रहने के लिये इन्हें लंका भेजेंगे कि वहाँ अहर्निशि प्रभु-सेवा-परायण होकर रहें, तब काल-बाधा न व्यापेगी; यथा—"कबहूँ काल न व्यापिहि तोहीं। सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोहीं॥" (उ० दो० ८७); "न मे भक्त: प्रणश्यति।" (गीता ९।३१); पुनः सत्त्वगुण में प्रकाशकत्व श्रीरामजी का है; यथा—"सत्त्वं सत्त्ववतामहम्।" (गीता १०।३६); पर ज्ञानी यदि इसका अभिमानी होता है, तो उसमें विकार प्राप्त होता है। यही अंगदजी को सुग्रीवजी का भय है। इससे श्रीरामजी ने अंगदजी को अपना भूषण-वस्त्र स्वयं पहनाकर अपना-सारूप्य करके भेजा। उ० दो० १८ देखिये कि इससे सुग्रीवजी तुम्हें मेरा रूप देखेंगे, तब उक्त भय न होगा। पुनः ऊपर जो सार भाग हरण एवं राज्य से निराशता का संदेह था, उसे भी दूर करेंगे कि सुग्रीवजी तुम्हें मेरा रूप देखते हुए यौवराज्य हरण न कर सकेंगे। शेष जाम्बवान् नील आदि अंगदजी के अनुयायी हैं, ये भी सत्त्वांश हैं; यथा—"कैवल्य साधन अखिल भालु मर्कट···" (वि० ५८); इसीसे अंगदजी की तरह मानकर इन्हें भी श्रीरामजी ने स्वयं वस्त्राभूषण पहनाकर अपना सारूप्य करके भेजा—उ० दो० १७ देखिये। श्रीहनुमान्‌जी के हृदय में अनन्य भक्ति ही यहाँ पाई गई, इसीसे आगे उ० दो० १६-१६ मे प्रभु ने इन्हें विदा नहीं किया, सेवा में ही रक्खा है।

देखु बिभीषन दच्छिन आसा। घन घमंड दामिनी बिलासा॥१॥
मधुर मधुर गरजइ घन घोरा। होइ बृष्टि जनि उपल कठोरा॥२॥
कहत बिभीषन सुनहु कृपाला। होइ न तड़ित न बारिद-माला॥३॥
लंका-सिखर उपर आगारा। तहँ दसकंधर देख अखारा॥४॥

शब्दार्थ—आसा (आशा) = दिशा। दामिनी बिलासा = बिजली का चमकना।

अर्थ—हे विभीषणजी! दक्षिण दिशा की ओर देखो, बादल गर्व सहित उमड़े हुए हैं, बिजली चमक रही है॥१॥ भयंकर बादल मधुर-मधुर गर्ज रहे हैं, कहीं घोर वर्षा न हो और कठोर पत्थर (ओले) न पड़ें॥२॥ विभीषणजी कहते हैं कि हे कृपालु! सुनिये, यह न तो बिजली है और न मेघों का समूह॥३॥ (किन्तु) लंका के शिखर (कँगूरे) पर एक भवन है, वहाँ दशकंधर रावण अखाड़ा (नाच-गान-तमाशा) देख रहा है॥४॥

विशेष—'(१) देखु बिभीषन दच्छिन आसा।······'—श्रीविभीषणजी दक्षिण दिशा के मर्मी हैं। अत, उन्हीं से पूछा। प्रभु सर्वज्ञ हैं, पर अज्ञ की तरह पूछ रहे हैं, सखा को बड़ाई देते हैं। 'घन घमंड' अर्थात् उमड़े हुए काली घटावाले बादल; यथा—"धूप धूम नभ मेचक भयऊ। सावन घन घमंड जनु ठयऊ॥" (बा० दो० १४१); मेघ घमंड में भरे हैं कि हम वृष्टि करके भूमि को डुबा देंगे।

(२) 'मधुर मधुर गरजइ······'—पहले घनघमंड कहा, फिर गर्जना कहा। उसी क्रम से 'होइ वृष्टि' और 'उपल कठोरा' भी कहा है। भाव यह कि घनघमंड से बहुत वर्षा की संभावना है और भयंकर गर्जन से ओलों के गिरने की शंका है। 'होइ वृष्टि जनि'—का भाव यह कि हमलोग मैदान में ही पड़े हैं, यदि वर्षा की संभावना हो तो शीघ्र कोई उपाय करना चाहिये। फिर श्रीविभीषणजी अपने उत्तर से इसका निराकरण करते हैं—'होइ न तड़ित···'

(३) 'लंका-सिखर उपर आगारा।''''''—सुवेल के शिखर पर लेटे हुए प्रभु नील-शिखर पर रावण के महल का दृश्य देख रहे हैं, इससे जान पड़ता है कि ये दोनों शिखर ऊँचाई मे बराबर हैं।

छत्र मेघडंबर सिर धारी। सोइ जनु जलद घटा अति कारी ॥५॥
मंदोदरी:- श्रवन - ताटंका । सोइ प्रभु जनु दामिनी-दमंका ॥६॥
बाजहिं ताल - मृदंग अनूपा। सोइ रव मधुर सुनहु सुर भूपा ॥७॥
प्रभु मुसुकान समुझि अभिमाना। चाप चढ़ाइ बान संधाना ॥८॥

शब्दार्थ—मेघडंबर=बड़ा चँदोवा, दल बादल, यह मेघ के समान काला और विशाल होता है। जल-वृष्टि-निरोधक होने से इसका यह नाम पड़ा।

अर्थ—सिर पर मेघडंबर नामक छत्र धारण किया है, वही मानों बादलों की अत्यन्त काली घटा है ॥५॥ हे प्रभो ! मंदोदरी के कानों मे कर्णफूल है, वही मानों बिजली चमक रही है ॥६॥ हे देवताओं के स्वामी ! सुनिये, अनुपम ताल-मृदंग बज रहे हैं, (या, वे अनुपम ताल से बज रहे हैं) वही मधुर ध्वनि सुनाई पड़ती है ॥७॥ रावण के इस अभिमान को समझकर प्रभु ने मुस्कुराया (कि घमंड से इसे मेरा कुछ भी भय नहीं है) और धनुष चढ़ाकर उस पर बाण का अनुसंधान किया; अर्थात् निशाना लगाया ॥८॥

विशेष—(१) 'मंदोदरी श्रवन'''—काला रावण मंदोदरी को गोद में लिये हुए बैठा है। वह अत्यन्त काली घटा मे बिजली के समान शोभा दे रही है।

(२) 'सुर भूपा'—का भाव यह कि आप देवताओं के स्वामी हैं, देवता लोग ही दिव्य बुद्धिवाले होते हैं, आप तो उनके भी स्वामी हैं। अतः, सब कुछ जानते ही हैं; यथा—"सती कपट जानेउ सुर स्वामी। सब दरसी सब अंतरजामी।।" (बा० दो० ५२), तथा—"सो सब कहहि देव रघुबीरा। जानतहू पूछहु मति धीरा ॥" (आ० दो० ३५), पुनः देवता सब रावण के बंदीखाने मे हैं। आप उनके स्वामी हैं, उनकी रक्षा के लिये इसके गर्व का नाश कीजिये।

(३) 'समुझि अभिमाना।'—यह मुझे तृण के समान समझकर मेरे आने पर भी निडर है और नाच रंग के द्वारा मुझे गर्व दिखा रहा है। उसके निरादर के लिये मुस्कुराया। श्रीलक्ष्मणजी ने उसी रुख से शय्या बिछाई थी कि जिससे चन्द्रमा सामने पड़े और रुचिर (माया) मृगचर्म भी बिछाया कि विरह का उद्दीपन हो और बाण भी प्रभु के हाथों में क्रीड़ा के लिये दे दिया था। अब वह उनकी युक्ति सफल हुई, यह दुलराया हुआ बाण आज ही युद्ध का प्रारम्भ कर पूर्ण सफलता दिखायेगा।

दोहा—छत्र मुकुट ताटंक तब, हते एक ही बान।
सबके देखत महि परे, मरम न कोऊ जान ॥
अस कौतुक करि राम-सर, प्रबिसेउ आइ निषंग।
रावन - सभा ससंक सब, देखि महा - रस - भंग ॥१३॥

शब्दार्थ—रसभंग=आनन्द क्रीड़ा में विघ्न; यथा—"जेहि बिधि राम राजरस भंगू॥" (अ० दो० २११)।

अर्थ—तब (निशाना लगाकर) एक ही वाण से छत्र, मुकुट और कर्णफूल सब पर प्रहार किया। सबके देखते हुए वे सब पृथिवी पर गिर पड़े, परन्तु इसका भेद किसी ने नहीं जाना॥ ऐसा तमाशा (एवं आश्चर्य) करके श्रीरामजी का वाण आकर तर्कश में प्रवेश कर गया (समा गया)। इस बड़े आनन्द में बड़ा भारी विघ्न देखकर रावण की सभा में सब-के-सब शंका सहित एवं भयभीत हो गये ॥१३॥

विशेष—(१) 'छत्र मुकुट···'—क्षण-भर में सबको काट गिराया। इससे उसका अभिमान चूर्ण किया कि अब तुम्हारा छत्र भंग हुआ और मंदोदरी का अहिवात गया। अब लंका के राजा श्रीविभीषणजी हुए।

(२) 'कौतुक'—इधर के लोगों की दृष्टि में तमाशा है, उधरवालों को आश्चर्य हुआ। 'महारस भंग' एक तो रसराज शृङ्गार का आनंद नष्ट हुआ। उसके उद्दीपक नृत्य-गान आदि में विघ्न हुआ। दूसरे रावण के मुकुटों का गिरना उसके शिर गिरने के समान है; यथा—"आइगो कोसलाधीस तुलसीस जेहि छत्र मिस मौलि दस दूरि कीन्हों।" (क० लं० ११); मुकुट गिरने से रावण का शिर गिरना और मंदोदरी के ताटंक गिरने से उसका वैधव्य सूचित हुआ। छत्र-भंग से राज्य का नाश होना जाना गया। 'ससंक'—एक तो महारस-भंग से शंकित हुए, दूसरे यह भी भय है कि अभी और न जाने क्या हो ?

कंप न भूमि न मरुत बिसेखा। अस्त्र-सस्त्र कछु नयन न देखा ॥१॥
सोचहिं सब निज हृदय मँझारी। असगुन भयउ भयंकर भारी ॥२॥

शब्दार्थ—अस्त्र = जो फेंककर चलाये जाते हैं—वाण आदि। शस्त्र = जो हाथ से पकड़े हुए प्रहार किये जाते हैं—तलवार आदि। वा, अस्त्र जो मंत्र प्रयोग सहित छूटते हैं। शस्त्र जो विना मंत्र के चलाये जाते हैं।

अर्थ—न तो पृथिवी कँपी, न बहुत हवा ही चली और न कोई अस्त्र-शस्त्र आँखों से देखे गये; अर्थात् उक्त महारस-भंग का कोई कारण नहीं देखा गया ॥१॥ सभी अपने हृदय में सोच रहे हैं कि बड़ा भयंकर अपशकुन हुआ है ॥२॥

विशेष—(१) 'असगुन भयउ···'—इस विघ्न के कोई कारण देखे जाते, तब अपशकुन की कल्पना न होती। सब हृदय में ही शोक करते हैं, क्योंकि प्रकट करने मे रावण का डर है; यथा—"तासु चरित मन महँ सब गावा।" (दो० ८); 'ससंक' शब्द से निशाचर-मात्र के नाश की भी ध्वनि है; यथा—"उहाँ निसाचर रहहिं ससंका।···नहिं निसिचर कुल केर उबारा ॥" (सुं० दो० ३५)।

दसमुख देखि सभा भय पाई। बिहँसि बचन कह जुगुति बनाई ॥३॥
सिरउ गिरे संतत सुभ जाही। मुकुट परे कस असगुन ताही ॥४॥
सयन करहु निज निज गृह जाई। गवने भवन सकल सिर नाई ॥५॥

अर्थ—रावण ने देखा कि सभा भयभीत हो गई, तब उसने हँसकर युक्ति से बनाकर वचन कहे ॥३॥ कि जिसके शिरों का कटना भी सदा शुभ (शकुन) ही होता आया है, उसके लिये मुकुटों का गिरना कैसे अपशकुन हो सकता है ? ॥४॥ अपने-अपने घर जाकर शयन करो (चिन्ता की कोई बात नहीं है) तब सब लोग प्रणाम करके (अपने-अपने) घरों को गये ॥५॥

विशेष—(१) 'दसमुख देखि ···'—दसों मुखों के बीसों नेत्रों से चारों तरफ देखा और फिर दसों मुखों से खिलखिलाकर हँसा कि सबको मालूम हो जाय। हँसकर सभा को डरने से कायर सूचित किया और अपने प्रति अपशकुन का हँसकर स्वयं निराकरण किया कि लोग चिंता छोड़ दें कि जिसके लिये अपशकुन हुआ। जब वही प्रसन्न है तब हमलोग क्यों चिन्ता करें। युक्ति भी शीघ्र ही स्फुरित हो आई। इससे हँसकर कहा।

(२) 'सिरउ गिरे संतत ···'—भाव यह कि शिर काट-काटकर श्रीशिवजी को चढ़ाया, तब मुझे दिग्विजय कीर्त्ति, इन्द्र से कोटि गुणा ऐश्वर्य एवं भोग प्राप्त हुए, तो मुकुट आदि का गिरना कब अमंगलकारी हो सकता है ? प्रत्युत् अधिक लाभकारी होगा, क्योंकि यह तो शिर से भी ऊपर की वस्तु है, अर्थात् इससे श्रीरामजी से जय और श्रीसीताजी की प्राप्ति होगी—यह गर्भित है।

(३) 'सयन करहु ···'—यह भी लोगों की कायरता पर उनके निरादर के लिये ही कहा है। आशय यह भी है कि कोई प्रसन्न नहीं है, यहाँ रहेंगे तो अमङ्गल की ही कल्पना सुनायँगे, अच्छा हो कि सभा विसर्जन हो जाय। 'सिर नाई' के दो भाव हैं—प्रणाम करके और शोक की मुद्रा से, शोक में प्राय. लोग शिर नीचा कर लेते हैं।

मन्दोदरी का उपदेश [३]

मंदोदरी सोच उर बसेऊ। जब ते श्रवनपूर महि खसेऊ ॥६॥
सजल नयन कह जुग कर जोरी। सुनहु प्रानपति बिनती मोरी ॥७॥

शब्दार्थ—श्रवनपूर (श्रवणपूर)= कर्णफूल, ताटक, कान की तरकी।

अर्थ—जब से मंदोदरी के कानों की तरकी पृथिवी पर गिर पड़ी, तब से उसके हृदय में सोच बस गया, अब सोच न मिटेगा, बना ही रहेगा ॥६॥ नेत्रों में जल भरकर, दोनों हाथ जोड़कर वह रावण से कहने लगी कि हे प्राणपति ! मेरी विनती सुनिये ॥७॥

विशेष—(१) 'जब ते श्रवनपूर ···'—यह इसके वैधव्य का स्पष्ट सूचक है, यह न होता, तो मुकुट और छत्र के भंग से राज्य-मात्र का नाश समझा जाता तो भी इसका अहिवात तो रहता। 'बसेऊ' अर्थात् पहले कुछ समय पर भूल भी जाता था, किन्तु अब शोक स्थिर हो गया।

(२) 'सजल नयन कह ···'—सुहाग की चिन्ता से अति दीन हो गई है, यथा—"हृदय दाह अति बदन मलीना। कह कर जोरि बचन अति दीना।" (आ॰ दो॰ ११), 'प्रानपति बिनती मोरी'—आप मेरे प्राणों के रक्षक हैं। आपके बिना मैं मृतक तुल्य हो जाऊँगी। अतएव मैं अपने कल्याण के लिये प्रार्थना करती हूँ। कुछ आपको उपदेश नहीं देती।

कंत राम-बिरोध परिहरहू। जानि मनुज जनि हठ मन धरहू ॥८॥

दोहा—बिस्वरूप रघुबंस-मनि, करहु बचन बिस्वास।
लोक कल्पना बेद कर, अंग-अंग प्रति जासु ॥१४॥

शब्दार्थ—कंत (कान्त)=स्वामी। कल्पना=अनुमान, भावना। प्रति = में।

अर्थ—हे स्वामिन्! श्रीरामजी से वैर छोड़िये, उन्हें मनुष्य समझकर मन में हठ न धारण कीजिये ॥८॥ मेरे वचनों पर विश्वास कीजिये कि रघुकुल-श्रेष्ठ श्रीरामजी विश्व (विराट्) रूप हैं, (सारा जगत् उन्हीं का अंग या शरीर है, वे अंगी या शरीरी हैं) जिनके अंग-अंग में वेद लोकों की कल्पना करते हैं।

विशेष (१) 'राम-विरोध परिहरहू'—श्रीरामजी से वैर करने को रोकती है; क्योंकि जानती है कि उससे यह न बचेगा; यथा—"संकर सहस विष्णु अज तोही। राखि न सकहिं राम कर द्रोही ॥" (सुं० दो० २२), "राम-विरोध न उबरसि, सरन विष्णु अज ईस।" (सुं० दो० ५६)। 'जानि मनुज'—क्योंकि रावण ने कनक-मृग की परीक्षा से श्रीरामजी को मनुष्य ही निश्चय कर लिया है। इसपर मारीच, विभीषण, प्रहस्त, मंदोदरी और कुंभकरण ने बहुत कहा कि वे नर नहीं है, पर यह हठ नहीं छोड़ता और जीवन पर्यन्त नहीं छोड़ेगा। इसी हठ के कारण यह किसी की शिक्षा भी नहीं सुनता; यथा—"मन हठ परा न सुनइ सिखावा।" (बा० दो० ७७)।

(२) 'करहु बचन बिस्वास…'—रानी ने पहले दो वार समझाया, पर रावण ने नहीं माना। इससे वह जानती है कि इन्हें मेरे वचनों पर विश्वास नहीं है, इसीसे नहीं मानते ; यथा—"तजउँ न नारद कर उपदेसू।…गुरु के वचन प्रतीति न जेही।…" (बा० दो० ७९); भाव यह कि प्रतीति होती तो ये हठ-पूर्वक शिक्षा मानते। इसीलिये पहले ही प्रतीति करने को कहती है।

यदि रावण कहे कि स्त्री के वचन के विश्वास पर कितने नष्ट हुए ; यथा—"गयउँ नारि बिस्वास।" (अ० दो० २९) ; यह राजा श्रीदशरथजी ने कहा है। उसपर अपने इन वचनों पर वेद का प्रमाण देती है कि मेरा कथन वेद का कहा हुआ है। यजुर्वेद संहिता के ३१ वें अध्याय में और ऋग्वेद एवं उपनिषदों में भगवान् का विराट् रूप कहा गया है। वाल्मी ६।११७ में देवताओं के साथ ब्रह्मा ने भी कहा है। पर यहाँ का विराट् वर्णन भाग० स्कं० २ अ० १ श्लोक २३–३७ से बहुत अंशों में मिलता है। 'कल्पना' ; यथा—"मति॰ अनुमान निगम अस गावा।" (बा० दो० ११७); 'रघुबंस मनि'—भाव यह कि ये ही श्रीरामजी विश्व-रूप हैं, कोई दूसरे नहीं।

पद पाताल सीस अजधामा। अपर लोक अँग अँग विश्रामा ॥१॥
भृकुटि बिलास भयंकर काला। नयन दिवाकर कच घन-माला ॥२॥
जासु घ्रान अश्विनीकुमारा। निसि अरु दिवस निमेष अपारा ॥३॥

शब्दार्थ—अजधामा=ब्रह्मा का लोक। घ्राण=नासिका। अश्विनीकुमार=ये दोनों भाई हैं, सूर्य के यमज पुत्र हैं, देवताओं के वैद्य हैं—देखिये बा० दो० ३१ चौ० ३।

अर्थ—(विश्व-रूप का) चरण पाताल है, शिर ब्रह्मा का लोक है और अन्य सब लोकों का (ब्रह्मलोक और पाताल के मध्यवर्त्ती लोकों का) एक-एक अंग मे विश्राम (निवास-स्थान) है ॥१॥ भौं का फेरना भयंकर काल है। नेत्र सूर्य हैं, केश मेघमाला हैं ॥२॥ जिनकी नासिका अश्विनी कुमार हैं। रात और दिन अपार पलकों का मारना है ॥३॥

विशेष—'पद पाताल…'—चरण को पाताल कहा है, चरण का तल भाग सम्पूर्ण शरीर का आधार है। वैसे ही पाताल मे आप सूक्ष्म (वामन) रूप हैं, वह सूक्ष्म रूप व्यापक सत्ता का उपलक्षक है,

उसी सत्ता पर विश्व-रूप शरीर भी स्थित है। इसीसे सबके चरण के देवता वामन (विष्णु) अर्थात् व्यापक कहे गये हैं। (जो देवता भगवान् के जो अंग कहे गये हैं, वे ही और जीवों के उन-उन अंगों के देवता कहे जाते हैं जैसे नासिका के देवता अश्विनीकुमार और बुद्धि के ब्रह्मा, इत्यादि)। 'भृकुटी बिलास' को भयकर काल कहा है, यथा—"भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई।" (आ० दो० १७); तेज धर्म के सम्बन्ध से नेत्र को सूर्य कहा है; यथा—"भानु कमल कुल पोषनिहारा। बिनु जर जारि करइ सोइ छारा॥" (आ० दो० १६); "चक्षो सूर्यो अजायत।" (पुरुषसूक्त); बाल और मेघ श्याम हैं, और इनमें सघनता की भी समता है। नासिका मे दो छिद्र होते हैं, वैसे अश्विनीकुमार भी जोड़ुवा (दो) भाई हैं। पलकें बराबर खुलती-मुँदती हैं, वैसे ही लगातार दिन और रात हुआ करते हैं।

श्रवन दिसा दस बेद बखानी। मारुत श्वास निगम निज बानी ॥४॥
अधर लोभ जम दसन कराला। माया हास बाहु दिगपाला ॥५॥
आनन अनल अंबुपति जीहा। उतपति-पालन-प्रलय-समीहा ॥६॥

अर्थ—वेदों ने कहा है की कान दसो दिशाएँ हैं पवन श्वास है, वेद खास वाणी है ॥४॥ ओष्ठ लोभ है, कराल दाँत कठिन यमराज हैं, हँसी माया और बाहु दिक्पाल हैं ॥५॥ मुख अग्नि और जिह्वा वरुण हैं। उत्पत्ति, पालन और प्रलय उनकी चेष्टाएँ हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'बेद बखानी'—यह पद दीपदेहली रूप से दोनों ओर है। '*मारुत श्वास निगम निज बानी।*'; यथा—"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहास पुराण विद्या उपनिषद ..." (बृह० ४।५।११), अर्थात् चारों वेद, इतिहास पुराण आदि—ब्रह्म के श्वास हैं। 'माया हास'—हँसते ही आप सबको मोह लेते हैं। इसके उदाहरण इस ग्रन्थ में कई जगह दिखाये गये हैं कि आपने हँसकर माया-प्रयोग किया है।

(२) 'उतपति-पालन प्रलय-समीहा।'—ये तीनों काम आपके सकल्प मात्र से हो जाते हैं। इनके लिये श्रम नहीं करने पडते, यथा—"लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया॥" (बा० दो० २२४)। "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय ..." (छांदो० ६।२।३), "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।" (गीता १०।४२)।

रोम-राजि अष्टादस भारा। अस्थि सैल सरिता नस जारा ॥७॥
उदर उदधि अधगो जातना। जगमय प्रभु का बहु कलपना ॥८॥

दोहा—अहंकार सिव बुद्धि अज, मन ससि चित्त महान।
मनुज बास सचराचर, रूप राम भगवान ॥
अस बिचारि सुनु प्रानपति, प्रभु सन बयर बिहाइ।
प्रीति करहु रघुबीर-पद, मम अहिवात न जाइ ॥१५॥

शब्दार्थ—रोम राजि = रोमावलि। भार = यह १२ करोड़ ३० लाख १ हजार ६ सौ साठ वृक्षों की संख्या है। जाल (जाल) = समूह। अधगो = गुदा, यातना = नरक, यम के द्वारा तीव्र वेदना—"यातना तीव्र वेदना"—इत्यमरः।

अर्थ—अठारह भार वनस्पतियाँ उनकी रोमावलियाँ हैं। पर्वत हड्डियाँ हैं, नदियाँ नसों के समूह हैं ॥७॥ उनका पेट समुद्र है, नीचे की इन्द्रिय (गुदा) नरक है। (कहाँ तक कहा जाय ?) जगत्-मय प्रभु की (ऐसी ही) बहुत कल्पनाएँ हैं या, प्रभु जगन्मय हैं, तब बहुत कल्पना करने से क्या (प्रयोजन) है ? ॥८॥ श्रीशिवजी उनके अहंकार हैं, ब्रह्माजी बुद्धि हैं, मन चन्द्रमा और चित्त विष्णु हैं, चर-अचर सहित विश्वरूप भगवान् श्रीरामजी ने मनुष्य रूप में निवास किया है; अर्थात् सुर-मुनि की प्रार्थना से मनुष्य रूप हुए हैं॥ हे प्राणपति ! सुनिये, ऐसा विचार कर प्रभु से वैर छोड़िये और रघुवीर श्रीरामजी के चरणों में प्रीति कीजिये, जिससे मेरा सुहाग न जाय ॥१५॥

विशेष—(१) 'रोम राजि अष्टादस भारा।···'—६ भार कंटकवाले, ६ भार फूलवाले और ६ भार सब फलवाले वनस्पति हैं। नदियाँ बहुत हैं, कोई-कोई ७२००० कहते हैं। 'बहु कल्पना'—अर्थात् और भी बहुत-से अंगों के लिये भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ की गई हैं। शरीर भर में रोएँ होते हैं, वैसे ही वनस्पतियाँ पृथिवी भर में सर्वत्र हैं। हड्डियाँ बड़ी-बड़ी और दृढ़ होती हैं, वैसे ही पर्वत भी बड़े-बड़े लंबे-चौड़े और दृढ हैं। नदियाँ छोटी-बड़ी जाल की तरह फैली रहती हैं, वैसे ही शरीर में नसें भी रहती हैं, जिनसे खून शरीर भर में चला करता है। जैसे नदियों में जल बहा करता है। उदर में ही नाभि है, जिसकी गहराई की थाह ब्रह्माजी भी नहीं पा सके; यथा—"नाभि गँभीर जान जिन्ह देखा।" (बा० दो० १६६); समुद्र भी बहुत अगाध होता है। 'अधगो'—अर्थात् नीचे की मल-मूत्र की इन्द्रियों से शरीर की मल-शुद्धि होती है, वैसे नरक से जगत् के जीवों के पाप (मल) कर्मों की शुद्धि होती है। अधगो में मल-मूत्र, नरक में भी विष्टा-पीव आदि—यह समता है।

(२) 'अहंकार सिव···'—यद्यपि मन को इन्द्रिय ही बहुत स्थलों पर कहा गया है, तथापि अन्तःकरण चतुष्टय भी कहे जाते हैं; यथा—"चौथि चारि परिहरहु बुद्धि मन चित अहँकार।" (वि० २०३), इसीसे यहाँ साथ ही चारो कहे गये। अतः, मन अन्तःकरण में माना गया है, वेद में भी कहा गया है; यथा—"इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनः षष्ठानि मे हृदि।" (अथर्व वेद १६।६।५)। 'महान्' अर्थात् व्यापक, विष्णु।

(३) 'मनुज बास सचराचर···', यथा—"जग निवास प्रभु प्रगटे, अखिल लोक बिश्राम।" (बा० दो० १९१)।

(४) 'अस बिचारि सुनु···'—सारा जगत् भगवान् का शरीर है, सबके वे ही प्रवर्तक हैं। जीवों के कर्मानुसार अपने शरीर एवं नियाम्य रूप जीवों को व्यवहार में नियुक्त करते हैं अतएव सब रूपों से जीव मात्र के पालक-पोषक वे ही हैं। पाप कर्म निवृत्ति की शिक्षा के लिये नाना रूपों से दंड विधान भी करते हैं। उसमें भी उनकी दया-दृष्टि ही है। यह समझने से जीवों की जगत् के प्रिय वर्ग में जितनी प्रीति फैली हुई है, वह सर्वत्र से बटुरकर भगवान् में ही होती है। इसीसे दोहे के उत्तरार्द्ध में 'प्रीति करहु रघुबीर पद' भी कहा है। अन्यत्र भी कहा गया है, यथा—"सोउ महिमा खगेस जिन्ह जानी। फिरि यह चरित तिन्हहुँ रति मानी॥" (उ० दो० ९१); पर अभिमानी रावण ने इसे भी हँसी में उड़ा दिया।

'प्रभु सन बैर बिहाइ'—वे प्रभु = बलवान् हैं। अतः, वैर छोड़ो, क्योंकि बलवान् से वैर न करना चाहिये, देखिये दो० ५ चौ० ५ भी। 'प्रीति करहु रघुबीर पद···'; यथा—"नाथ भजहु रघुनाथहि, अचल होइ अहिवात।" (दो० ७)—यह बात मंदोदरी ने पहले भी कह दी है।

'सुनहु प्रानपति बिनती मोरी।' उपक्रम है और यहाँ—'अस बिचारि सुनु प्रानपति···' यह उपसंहार है।

बिहँसा नारि - बचन सुनि काना। अहो मोह - महिमा बलवाना ॥१॥
नारि - सुभाव सत्य कवि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं ॥२॥
साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया ॥३॥

शब्दार्थ—अनृत = झूठ। मोह = अज्ञान या प्राकृत प्रेम।

अर्थ—स्त्री के वचन कानों से सुनकर बहुत हँसा और कहा कि अहो (आश्चर्य की बात है) मोह की महिमा बड़ी बलवती है ॥१॥ कवियों ने स्त्री का स्वभाव सत्य ही कहा है कि उनके हृदय में आठ दोष सदा रहते हैं ॥२॥ साहस, झूठ, चंचलता, माया, भय, अज्ञान, अपवित्रता और निर्दयता ॥३॥

विशेष—(१) 'सुनि काना'—मंदोदरी ने विनती की—'सुनहु प्रानपति···' इससे उसने कानों से सुना। 'बिहँसा'—हँसकर उसके वचनों का निरादर किया। 'अहो मोह···'—मोह जीव को अंधा कर देता है; यथा—"मोह न अंध कीन्ह केहि केही।" (उ० दो० ११); वही बलात् हमारी रानी को भी अंधी बना दिया, आश्चर्य है कि मुझ दिग्विजयी की स्त्री को भी दबा लिया। देखो न, मुझ लोकत्रय के जीतनेवाले को तो जीव कहती है, असमर्थ मानती है और जो मनुष्य है, राज्य से भी निकाला हुआ है। वानर मात्र ही जिसके अधीन हैं, उन्हें ईश्वर एवं समर्थ कहती है। यह भी जानती है कि मैंने चराचर को जीता है, सब मेरे वश में हैं। उन्हीं चराचर को शत्रु का रूप भी कहती है, जिससे शत्रु का सर्वात्मना मेरे वश में होना स्पष्ट है, किन्तु फिर भी मुझे असमर्थ और शत्रु को समर्थ कहती है। यही तो अज्ञान की महिमा है।

(२) 'नारि सुभाव सत्य···'—कवि लोग प्रशंसा एवं अत्युक्ति आदि में झूठ भी कहा करते हैं। वैसे ही उनके कहे हुए स्त्री-स्वभाव के आठ दोषों को भी मैं झूठ ही समझता था, पर तुझे देखकर मुझे प्रतीति हो गई कि यह तो उन्होंने सत्य ही कहा है।

अपनी मति के अनुसार रावण ने आठों अवगुणों को मंदोदरी में समझा है। (१) साहस—किसी काम को कर ही डालने का जिद करना। यहाँ श्रीसीताजी को लौटाने का जिद कर रही है। (२) झूठ—राम मनुष्य हैं, उन्हें ईश्वर कहती है। (३) चपलता—कभी हाथ जोड़ती है, कभी पाँव पड़ती है, इत्यादि अभीष्ट सिद्धि के लिये अनेक उपाय करती है। (४) माया—आँचर पसारती है, रोती है, सौभाग्य का ममत्व दिखाती है, शत्रु का भय दिखाती है और कभी शत्रु का विराट् रूप कहती है, यह सब इसकी माया है। (५) भय—भक्ष्य रूप नर-वानरों से भी डरती है, (६) अविवेक—मेरे गुणों को नहीं मानती, किन्तु उलटा शत्रु में उन्हें आरोपण कर मुझे डरवाती है, (७) अशौच; यथा—"सहज अपावनि नारि।" (अ० दो० ५), और (८) अदाया—नर, वानर और भालु राक्षसों के आहार हैं, दैवयोग से वे स्वयं घर बैठे मिल रहे हैं, उन्हें पास से हटाना चाहती है, बिचारे भूखे राक्षसों पर इसे दया नहीं है।

रानी ने बार-बार उसके प्रति उसकी दृष्टि से बहुत कड़े-कड़े शब्दों का प्रयोग किया है। उसपर रावण ने यहाँ उन्हें परिहास के रूप में शुद्ध प्राकृत स्त्रियों के दोष कहकर उड़ा दिया है। पुन: आगे कोई मिस बनाकर रानीकी चतुराई की प्रशंसा कर उसका आश्वासन भी किया है।

रिपु कर रूप सकल तैं गावा। अति बिसाल भय मोहि सुनावा ॥४॥
सो सब प्रिया सहज बस मोरे। समुझि परा प्रसाद अब तोरे ॥५॥
जानिउँ प्रिया तोरि चतुराई। येहि बिधि कहेउ मोरि प्रभुताई ॥६॥

अर्थ—तूने शत्रु का अत्यन्त बड़ा (विराट्) सम्पूर्ण रूप विस्तार पूर्वक कहकर मुझे अत्यन्त बड़ा भय सुनाया ॥४॥ हे प्रिये! वह स्वाभाविक ही मेरे वश में है, अब तेरी कृपा से मुझे समझ पड़ा ॥५॥ हे प्रिये! तुम्हारी चतुरता मैं समझ गया, इस बहाने तूने मेरी प्रभुता कही है (कि विश्वरूप शत्रु मेरे वश में है) ॥६॥

विशेष—(१) 'रिपु कर रूप...सो सब प्रिया...'—इन्द्र, वरुण, कुवेर, ब्रह्मा, शिव आदि को शत्रु का अंग कहा। वे सब मेरे वश में हैं ही। तुम्हारे कहने से अब मैं यह भी जान गया कि शत्रु तो पहले ही से मेरे वश में है।

(२) 'समुझि परा'—गंभीर स्वभाव से मैं अपने गुणों पर ध्यान नहीं देता था, तेरे कहने से समझा। अतएव यह तुम्हारा प्रसाद (कृपा) है। यह भी समझा कि जिसका विराट् रूप मेरे वश में है, उसके नरतन को वश करना कौन बड़ी बात है?

(३) 'येहि बिधि'—मुख पर किसी की प्रशंसा करना अनुचित होता है, इसलिये तुमने इस युक्ति से शत्रु का विराट् रूप कहा कि जिससे मैं समझ जाऊँ कि वस्तुतः यह मेरा सुयश कह रही है। क्योंकि सभी चरा-चर जगत् मेरे वश है, यह सुस्पष्ट है। यह तुम्हारी गंभीरता एवं चातुरी है।

तव बतकही गूढ़ मृगलोचनि। समुझत सुखद सुनत भयमोचनि ॥७॥
मंदोदरि मन महँ अस ठयऊ। पियहि कालबस मतिभ्रम भयऊ ॥८॥

अर्थ—हे मृगनयनी! तेरी बतकही (वाणी) गूढ़ (गंभीर आशय युक्त) है। समझने में सुख देनेवाली और सुनने से भय छुड़ानेवाली है; अर्थात् शत्रु के गूढ़ स्वरूप कथन द्वारा तूने मुझे अत्यन्त प्रबल कहकर निर्भयता दी और उससे अपना प्रभावात्मक स्वरूप जानकर मुझे सुख मिला ॥७॥ मंदोदरी ने मन में ऐसा ठान लिया (निश्चय किया) कि काल-वश होने से पति को मतिभ्रम हो गया है, ('सो सब प्रिया सहज बस मोरे।' यह कहना उसकी बुद्धि का भ्रम है) ॥८॥

विशेष—(१) 'तव बतकही गूढ़...'—'बतकही' पर बा० दो० ८ चौ० १ देखिये। 'मृग-लोचनि'—मृगा के-से सुन्दर नेत्रवाली एवं मृगा के समान भय एवं भ्रमयुक्त नेत्रोंवाली; यथा—"चकित बिलोकति सकल दिसि, जनु सिसु मृगी सभीत।" (बा० दो० २२६), "मृग भ्रम बारि सत्य जिय जानी..." (वि० १३६)।

परमार्थ पक्ष में अर्थ है कि यह विराट् रूप समझने में सुख होगा और इसको सुनकर धारण करने से भव-भय न रहेगा।

दोहा—यहि बिधि करत बिनोद बहु, प्रात प्रगट दसकंध।
सहज असंक लंकपति, सभा गयउ मद अंध ॥

सो०—फूलइ फरइ न बेत, जदपि सुधा बरषहिं जलद ।
मूरुख हृदय न चेत, जौ गुरु मिलहिं बिरंचि सिव ॥१६॥

शब्दार्थ—मद अंध = गर्व के कारण विचार हीन । विनोद = क्रीड़ा, हँसी ।

अर्थ—इस प्रकार बहुत हास-विलास करते सवेरा हो गया, स्वाभाविक निडर मदांध लंका-पति रावण सभा में गया ॥ यद्यपि मेघ-जल (सर्वत्र ही) बरसते हैं, तथापि बेत फूलता-फलता नहीं, (ऐसे ही) मूर्ख के हृदय में चेत (ज्ञान) नहीं होता, चाहे ब्रह्मा और श्रीशिवजी ही उसे गुरु (क्यों न) मिल जायँ ? ॥१६॥

विशेष—(१) 'मूरुख हृदय न चेत'···'—पहले कहा गया है ; यथा—"सठ सुधरहिं सत संगति पाई ।" (बा० दो० ३) ; और यहाँ कहते हैं—'मूरुख हृदय न चेत ···'—भाव यह कि जो अनजान हैं, वे तो सत्संग से यथार्थ बोध प्राप्त होने पर सुधर जाते हैं । पर जो जान-मानकर अज्ञान-रत रहनेवाले मूर्ख हैं, वे श्रेष्ठ उपदेष्टा मिलने पर भी नहीं सुधरते ।

रावण श्रीब्रह्माजी का प्रपौत्र (परनाती) है और श्रीशिवजी उसके इष्ट एवं गुरु हैं । अतएव इनका प्रभाव उसपर विशेष पड़ना चाहिये । ये लोग यथार्थ-ज्ञाता भी हैं । ब्रह्माजी वेद के आदि वक्ता हैं और श्रीशिवजी ज्ञान के स्वरूप ही हैं । जब इसे हठी जानकर इन दोनों ने सुधारने का प्रयत्न नहीं किया ; यथा—"संभु सेवक जान जग बहु बार दियो दस सीस । करत राम बिरोध सो सपनेहुँ न हटक्यो ईस ॥" (वि० २१६) ; तब यह स्त्री की शिक्षा क्या सुनेगा ? इसे ही दृष्टान्त-द्वारा दिखाते हैं—

(२) 'फूलइ फरइ न बेत'···'—बेत दो प्रकार का होता है—(१) जल-बेत, (२) स्थल-बेत । जल-बेत को संस्कृत में 'अम्बु-वेतस्' कहते हैं । यह नदियों या तालाबों के किनारे पर होता है । यह फूलता-फलता है । किन्तु स्थल-बेत जिसे संस्कृत में 'वञ्जुल' कहते हैं, पर्वतों पर होता है; यह फूलता-फलता नहीं । श्रीगोस्वामीजी चित्रकूट के आस-पास विशेषतः रहे हैं, विशेषकर पहाड़ों पर स्थल बेत देखते थे ; इससे यहाँ उसीका वर्णन जानना चाहिये । इसकी पुष्टि में यह भी प्रमाण है कि 'बरषहिं जलद' से जल-वर्षा की आवश्यकता कहते हैं । यह स्थल-बेत के लिये ही विशेष संगत है ; क्योंकि जल-बेत के लिये तो नदी-तट की सर्दी भी पर्याप्त रहती है । स्थल-बेत की जीवन-रक्षा केवल मेघ के ही जल से होती है । दूसरे देश के कवि शेख शादी ने भी लिखा है ; यथा—"अब्र गर आबे जिन्दगी बारद । हरगिज अज शाखे बेद बर न खुरी ॥" अर्थात् यदि बादल अमृत भी बरसे तथापि बेत वृक्ष से कदापि फल खाने को न मिलेगा । शेखशादी फारस देश के कवि हैं । अलबुर्ज के पहाड़ों को नित्य देखते थे । उन्होंने भी स्थल-बेत ही को लिखा है । कुछ बेत ही में ऐसे भेद नहीं होते, किन्तु कमल में भी इस तरह के दो भेद होते हैं । जल-कमल विशेष प्रसिद्ध है, इसमें फल (कमलगट्टा) होता है । और, स्थल-कमल भी होता है, यह जल-कमल की अपेक्षा बड़ा होता है । उसमें फल नहीं होता । अशोक वृक्ष के भी दो भेद सुने जाते हैं । एक फूलता-फलता है और एक केवल फूलता है, फलता नहीं ।

इसका जो 'वियत' = आकाश अर्थ करते हैं, वह यहाँ संगत नहीं है, क्योंकि आकाश में फल-फूल होने का आकार ही नहीं है और न उसे मेघ की वर्षा का ही कोई प्रयोजन है । यहाँ रावण के मनुष्य के समान बुद्धि आदि इन्द्रियाँ हैं । फिर भी वह श्रीरामजी का ऐश्वर्य नहीं मानता । यद्यपि उपदेशों की वर्षा बराबर होती है । इसने मृग-परीक्षा करके जो निश्चय कर लिया कि श्रीरामजी राजा हैं, बस, यह

यही हठ पकड़े हुए है। जो अज्ञान को ही ज्ञान-रूप में निश्चय कर लेता है, फिर वह और की नहीं सुनता—यही मूर्खता है।

"गयउ बसीठी बीरबर, जेहि बिधि बालि कुमार।"—प्रकरण

इहाँ प्रात जागे रघुराई। पूछा मत सब सचिव बोलाई ॥१॥
कहहु बेगि का करिय उपाई। जामवंत कह पद सिर नाई ॥२॥
सुनु सर्बज्ञ सकल उर बासी। बुधि-बल-तेज-धरम-गुन-रासी ॥३॥

अर्थ—यहाँ प्रातःकाल श्रीरघुनाथजी जगे और उन्होंने सब मंत्रियों को बुलाकर सलाह पूछी ॥१॥ कि शीघ्र कहिये, क्या उपाय किया जाय, तब चरणों में शिर नवाकर श्रीजाम्बवान्‌जी ने कहा ॥२॥ हे सर्वज्ञ! हे सर्व-उर-वासी! हे बुद्धि, बल, तेज, धर्म और गुणों की राशि! सुनिये ॥३॥

विशेष—(१) 'इहाँ प्रात जागे···'—'इहाँ' के भाव दो० १० चौ० १ में देखिये। 'रघुराई'—शब्द से मंत्र बूझने का यह भाव कहा कि राजा हैं, अतएव मंत्रियों की सम्मति से कार्य करते हैं; यथा—"बोले बचन नीति-प्रतिपालक।" (सुं० दो० ४१); 'सब सचिव'—"सुग्रीव, हनुमान्, विभीषण, जाम्बवान्, अंगद, शरभ, परिवार-सहित सुषेण, मयन्द, द्विविद, गज, गवाक्ष, कुमुद, नल, पनस इत्यादि।" (वाल्मी० ६।३७।१-३)।

(२) 'कहहु बेगि का करिय उपाई।'—'बेगि'—क्योंकि शत्रु के देश में आ गये। अतः, शीघ्रता करनी ही चाहिये, जिससे शत्रु को विशेष प्रबंध का अवसर न मिले; यथा—"अब बिलंब केहि कामा" (दो० १); देखिये। 'का करिय उपाई'—किस तरह कार्य-सिद्धि हो; यथा—"कार्य-सिद्धि पुरस्कृत्य मंत्रयध्वं विनिर्णये।" (वाल्मी० ६।३७।५)।

(३) 'जामवंत कह ···'—यहाँ सबसे पहले जाम्बवान्‌जी ने कहा, क्योंकि श्रीरामजी के तीन प्रधान मंत्रियों में श्रीसुग्रीवजी का मत विभीषण-शरणागति पर और श्रीविभीषणजी का मत सेतु-बंध-प्रसंग में हो चुका। अबकी बार जाम्बवान्‌जी की पारी है, इसी से ये प्रथम बोले। पुनः इनके मत का सबने समर्थन भी किया, इससे यह सर्वमत हो जायगा।

(४) 'सुनु सर्बज्ञ···'—सर्वज्ञ हैं, इससे आप बाहर की बातें सब जानते हैं, 'सकल उरबासी' हैं, इससे सबके हृदय की भी जानते हैं; यथा—"सबके उर अंतर बसहु, जानहु भाउ कुभाउ।" (अ० दो० २५७); 'बुधि-बल' से जीत होती है—देखिये दो० ५ चौ० ५। 'तेज' से शत्रु को भय होता है। 'धर्म' से विजय होती है; यथा—"सखा धर्ममय अस रथ जाके। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके।" (दो० ७१); आप इन सब गुणों की राशि हैं, फिर आपके लिये शत्रु क्या है? आपने मर्यादा-पालन के लिये ही हम लोगों से पूछा है। यह नीति है कि मंत्री पहले राजा की स्तुति करके मंत्र कहे, उसी नीति का जाम्बवान्‌जी ने पालन किया है।

मंत्र कहउँ निज मति अनुसारा। दूत पठाइय बालि-कुमारा ॥४॥
नीक मंत्र सबके मन माना। अंगद सन कह कृपानिधाना ॥५॥

बालितनय बुधि-बल-गुन-धामा। लंका जाहु तात मम कामा ॥६॥

अर्थ—मैं अपनी बुद्धि के अनुसार सलाह कहता हूँ। बालि के पुत्र श्रीअंगदजी को दूत बनाकर भेजिये ॥४॥ मंत्र अच्छा है, यह सबके मन को अच्छा लगा, तब कृपासागर श्रीरामजी ने श्रीअंगदजी से कहा ॥५॥ कि हे बुद्धि, बल और गुणों के धाम बालिकुमार! हे तात! तुम मेरे कार्य के लिये लंका जाओ ॥६॥

विशेष—(१) 'दूत पठाइय बालिकुमारा।'—नीति है कि पहले दूत भेजकर प्रतिपक्षी से अपना प्रयोजन माँगे, जब वह न माने तब युद्ध करे; यथा—"प्रथम बसीठ पठव सुनु नीती।" (दो० ८); 'बालि-कुमारा'—बालि के साथ रावण की संधि थी, इससे श्रीअंगदजी को वह जानता है। उस सम्बन्ध से श्रीअंगदजी अपनी ओर से भी उसे समझा सकेंगे। दूत प्रभावशाली भी चाहिये, यह बालि के समान बली और विशेष नीति का ज्ञाता है; यथा—"यह तनय मम सम बिनय बल···" (कि० दो० १०); रावण बालि के प्रभाव को जानता है, उसके पुत्र को आपके दूत-कर्म में देखकर आपके प्रभाव को जानेगा और भयभीत होगा।

(२) 'नीक मंत्र सबके मनमाना।'—पहले श्रीसुग्रीवजी का मंत्र श्रीरामजी को और श्रीहनुमान्जी को नहीं भाया था; यथा—"सखा नीति तुम्ह···मम पन सरनागत-भय-हारी॥ सुनि प्रभु बचन हरष हनुमाना।" (सुं० दो० ४२); फिर श्रीविभीषणजी का मत श्रीलक्ष्मणजी को नहीं सुहाया था; यथा—"मंत्र न यह लछिमन मन भाया।" श्रीरामजी को भी हृदय से नहीं भाया था, तभी तो उन्होंने श्रीलक्ष्मणजी से सहमत होते हुए कहा था—"ऐसेइ करब धरहु मन धीरा।" पर जाम्बवान्जी का मत सबको अच्छा लगा। अतः, ये मंत्रियों में श्रेष्ठ हैं।

'अंगद सन कह कृपानिधाना।'—श्रीअंगदजी को भेजकर इन्हें यश देंगे। बालि ने रावण को अकेले में जीता था, ये उसके समाज में परिवार-समेत उसका मान-मर्दन करेंगे; यथा—"सभा माँझ जेहि तव बल मथा। करि बरूथ महँ मृगपति जथा॥" (दो० १६); इनकी कीर्त्ति फैलेगी—यह इनपर कृपा है। इन्हें दूत-रूप में भेजकर रावण पर भी कृपा कर रहे हैं; यथा—"कारुनीक दिनकर-कुल-केतू। दूत पठायउ तव हित हेतू॥" (दो० १६); पुनः "तासु हित होई" आगे कहा ही है। इन हेतुओं से 'कृपा निधाना' कहा गया है।

(३) 'बालितनय बुधि···'—श्रीअंगदजी में बालि के सब गुण हैं; यथा—"यह तनय मम सम बिनय बल···" (कि० दो० १०); इससे तत्सम्बन्धी नाम कहा गया है। 'बुधि बल गुन धामा'—दूत में ये सब गुण चाहिये, इनमें तुम पूर्ण हो, आगे भी कहते हैं; यथा—"परम चतुर मैं जानत अहऊँ।" यह मानों श्रीअंगदजी के लिये आशीर्वाद है। इसी से श्रीअंगदजी में इन गुणों की पूर्णता आ गई; यथा—"सोइ गुन सागर ईस, रामकृपा जापर करहु।" यह आगे स्वयं श्रीअंगदजी ने कहा है।

'लंका जाहु तात मम कामा।'—'तात' का भाव यह कि तुम मेरे पुत्र हो। अतः, यह काम तुम्हारा ही है। अपना काम अपने ही हाथों से ठीक बनता है, इसलिये तुम्हें कहता हूँ। अतः, इस दूत-कर्म से तुम्हारी मर्यादा-हानि नहीं है। 'मम कामा'—मेरे काम के लिये जाओ, अन्यथा दुष्ट के यहाँ न जाना चाहिये। 'लंका जाहु'—कहा है, क्योंकि केवल रावण से बात ही करना तो नहीं है, किन्तु गढ़ का समाचार लाना है और उसके पुत्र का वध भी करेंगे, इत्यादि ऐसा कहने में सभी कामों का समावेश है।

बहुत बुझाइ तुम्हहि का कहउँ। परम चतुर मैं जानत अहऊँ ॥७॥
काज हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई ॥८॥

अर्थ—तुम्हें बहुत समझाकर क्या कहूँ, तुम परम चतुर हो, यह मैं जानता हूँ ॥७॥ जिसमें हमारा कार्य बने और उसका हित हो, शत्रु से वही बातचीत करना ॥८॥

विशेष—(१) 'परम चतुर मैं···'—दूत में बुद्धिमत्ता, वाक्पटुता, पांडित्य, दूसरे की चित्त-वृत्ति का ज्ञान, धीरता और जैसा कहा जाय वैसी ही कहनेवाली वृत्ति होनी चाहिये। ये सब बातें तुममें हैं, यह मैं जानता हूँ। यह कैसे जाना ? उत्तर—(क) अपनी सर्वज्ञता से, (ख) बालि एवं तारा के पुत्र होने से बालि ने स्वयं कहा है कि यह पुत्र मेरे समान बली और विनयी है—देखिये कि० दो० १०। तारा की मति कभी अन्यथा नहीं होती, यह वाल्मीकीय रामायण में बालि ने ही कहा है। पुनः भगवान् का ऐसा कहना ही उसे परम चतुर बनाना है; यथा—"पुनि पठवा बल देइ बिसाला।" (कि० दो० ७); वैसे यहाँ इन्हें परम चातुर्य देकर भेजा, यही—'सोइ गुन सागर···' से श्रीअंगदजी ने आगे कहा है।

(२) 'काज हमार तासु हित होई···'—यदि सर्वान्तर्यामी प्रभु की इच्छा थी कि उसका हित हो; अर्थात् वह मारा न जाय, तब उसने संधि क्यों नहीं कर ली। जब कि ऐसा नियम अकाट्य है; यथा—"राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करइ अन्यथा अस नहिं कोई ॥" (बा० दो० १२७), इससे वाक्य में कुछ गूढ़ भाव अवश्य है, वह यह कि रावण ने स्वयं अपने हित का निश्चय किया है; यथा—"तौ मैं जाइ बैर हठि करऊँ। प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ॥ होइहि भजन न तामस देहा। मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ येहा ॥" (आ० दो० २२); श्रीरामजी का कार्य भी इसी रीति से होगा कि निशाचर-वध से भू-भार हरण हो, श्रीसीताजी प्राप्त हों और उनकी प्रतिज्ञा सत्य हो; यथा—"निसिचर हीन करउँ महि, भुज उठाइ पन कीन्ह।" (आ० दो० ९), इसी आशय से 'रिपु' शब्द दिया गया है, अन्यथा 'नृप' आदि कहते। वैसी ही शर्त्त श्रीअंगदजी रक्खेंगे, जिससे वह तामसी प्रकृति से कभी नहीं मान सकता। युद्ध ही करेगा; यथा—"अब सुभ कहा सुनहु तुम्ह मोरा।···दसन गहहु तृन कंठ कुठारी।···" (दो० १९–२०); यही वाल्मीकीय रामायण में भी कहा गया है—

"ब्रवीमि त्वां हितं वाक्यं क्रियतामौर्ध्वदेहिकम्।···निष्पत्य प्रतियुद्ध्यस्व नृशंस पुरुषो भव।···न चेत्सत्कृत्य वैदेहीं प्रणिपत्य प्रदास्यति ॥" (वाल्मी० ६।४१।७२+७८–८१), अर्थात् हे निशाचर! हम तुम्हारे हित के वचन कहते हैं, तुम अपना श्राद्ध कर डालो (भाव यह कि तुम्हारे वंश में कोई न बचेगा, जो तुम्हारे मरने पर श्राद्ध करे) तुम्हारा जीवन मेरे हाथ में है।···युद्ध करो, पुरुषार्थ दिखाओ। पुत्र, भाई, परिवार और मंत्रियों के साथ मैं तुम्हें मारूँगा और तीनों लोकों को सुखी करूँगा···लंका का ऐश्वर्य विभीषणजी पावेंगे; यदि सत्कार-पूर्वक चरणों पर गिरकर श्रीजानकीजी को न दोगे।

सो०—प्रभु अज्ञा धरि सीस, चरन बंदि अंगद उठेउ।
सोइ गुन-सागर ईस, राम कृपा जा पर करहु ॥
स्वयं सिद्ध सब काज, नाथ मोहि आदर दियउ।
अस बिचारि जुबराज, तन पुलकित हरषित हियउ ॥१७॥

अर्थ—प्रभु की आज्ञा शिरोधार्य कर चरणों की वंदना करके श्रीअंगदजी उठे (और बोले-) हे ईश श्रीरामजी ! आप जिसपर कृपा करें वही गुणों का समुद्र और समर्थ हो जाता है ॥ आपके सब कार्य स्वयं सिद्ध (स्वतः किये हुए हैं, हे नाथ ! यह तो आपने मुझे आदर दिया है—ऐसा विचारकर युवराज अंगदजी का शरीर पुलकित हो गया और वे हृदय में हर्षित हुए ॥१७॥

विशेष—(१) 'प्रभु आज्ञा धरि सीस···'—आप प्रभु (समर्थ) स्वामी हैं, आपकी आज्ञा शिरोधार्य है ; यथा—"प्रभु आज्ञा अपेल श्रुति गाई ।" (सुं० दो० ५८); एवं—"सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा । परम धरम यह नाथ हमारा ॥" (बा० दो० ७६); इससे आज्ञा शिरोधार्य की । 'चरन बंदि···' बड़ों को प्रणाम करके कार्यारम्भ करना एवं बोलना शिष्टाचार है ; यथा—"जामवंत कह पद सिर नाई ।" ऊपर कहा गया।

(२) 'सोइ गुन-सागर ईस···'—श्रीरामजी ने इन्हें 'गुन धामा' कहा था, ये कहते हैं कि आप जिसपर कृपा करें, वह तो गुणों का सागर हो जाता है, धाम तो छोटा ही शब्द है। 'ईस'-शब्द स्वामी का संबोधन और अपने लिये भी है कि आपकी कृपा से मैं 'बलधामा' ही नहीं, किन्तु ईश (परम समर्थ) हो जाऊँगा।

तात्पर्य यह कि आपने श्रीहनुमान्जी पर कृपा की थी, उनका यश हुआ, वैसे ही इस बार मुझपर कृपा है, आदर दे रहे हैं तो मुझे भी यश मिलेगा।

बंदि चरन उर धरि प्रभुताई। अंगद चलेउ सबहि सिर नाई ॥१॥
प्रभु-प्रताप-उर सहज असंका। रन बाँकुरा बालिसुत बंका ॥२॥

शब्दार्थ—बाँकुरा = चतुर, बंका = पराक्रमी।

अर्थ—चरणों की वंदना कर और हृदय में (प्रभु की) प्रभुता को धारण करके श्रीअंगदजी सबको शिर नवाकर चले ॥१॥ रण में बाँका पराक्रमी बालि-पुत्र प्रभु का प्रताप हृदय में रखकर स्वाभाविक निःशंक है ॥२॥

विशेष—(१) 'प्रभु प्रताप उर······'—प्रभु का प्रताप हृदय में आने से निर्भयता आ जाती है ; यथा—"प्रभु प्रताप कहि सब समझाये। सुनत कोपि कपि-कुंजर धाये ॥" (दो० १८); तथा—"नानव परम दुर्ग अति लंका। प्रभु-प्रताप कपि चले असंका ॥" (दो० ३८)। प्रताप; यथा—"जासु कीरति सुजस सुनि, होत सत्रु उर ताप। जग हैरान भव आपही, कहिये ताहि प्रताप ॥" इसीसे श्रीअंगदजी से भी सब डरेंगे। 'रन बाँकुरा बालि सुत बंका।'—यह बालि के समान बली है। अतः, बालि की तरह यह भी रावण को हरावेगा। ऐसा ही मंदोदरी ने भी कहा है; यथा—"अंगद हनुमत अनुचर जाके। रन बाँकुरे बीर अति बाँके ॥" (दो० ३६); निःशंकता के तीन हेतु हैं—राम-प्रताप हृदय में है, बालिपुत्र है और स्वयं रणबाँकुरा एवं बाँका है।

पुर पैठत रावन कर बेटा। खेलत रहा सो होइ गै भेटा ॥३॥
बातहि बात करष बढ़ि आई। जुगल अतुल बल पुनि तरुनाई ॥४॥
तेहि अंगद कहँ लात उठाई। गहि पद पटकेउ भूमि भँवाई ॥५॥

शब्दार्थ—कर्ष=लड़ाई का जोश; यथा—"एकहि एक बढ़ावहिं करषा।" (अ० दो० १६०); भँवाई=भ्रमाकर, घुमाकर।

अर्थ—नगर में प्रवेश करते ही (मार्ग में) रावण के बेटे से भेंट हो गई, जो वहाँ खेल रहा था ॥३॥ बातों-बात में कर्ष बढ़ गया, क्योंकि दोनों ही अतुलित बली और युवावस्थावाले थे ॥४॥ उसने अंगदजी पर लात उठाई (अंगदजी ने वही) पैर पकड़ उसे घुमा पृथ्वी पर पटककर मार डाला ॥५॥

विशेष—(१) 'बातहिं बात करष बढ़ि आई।'—मार्ग में रावण का पुत्र (प्रहस्त?) कुश्ती, दाव-पेंच आदि खेलता हुआ मिला। अंगदजी ने पूछा—अरे! रावण का दरबार किधर है? उसने कहा—अरे वानर! तू कौन है? अंगदजी ने कहा—मैं वालि-पुत्र एवं राम-दूत हूँ। उसने कहा—तेरे बाप को जिसने मार डाला, अरे, तू उन्हीं का दूत बनता है, तुझे धिक्कार है; यथा—"अंगद तहीं बालि कर बालक।···गर्भ न गयउ व्यर्थ तुम्ह जायहु। निज मुख तापस दूत कहायहु।" (दो० २०); यह रावण ने कहा है, तब अंगदजी ने कहा कि मैं उस वालि का पुत्र हूँ, जिसने तेरे बाप को काँख में दबा रक्खा था और जिन श्रीरामजी ने तेरी फूफू के नाक-कान काटे हैं, मैं उनका दूत हूँ। नकटी-बूची फूआ को देखकर तुझे लज्जा नहीं आती? तुझे धिक्कार है; यथा—"सूपनखा कै गति तुम्ह देखी। तदपि हृदय नहि लाज बिसेखी॥" (दो० ३५)—यह मंदोदरी ने कहा है। तब उसने कहा कि वे ही राम हैं न, जिनकी स्त्री को मेरा बाप हर लाया है? तब अंगदजी ने कहा—वे ही राम हैं, जिनके पास तुम्हारे बाप की बहन कामातुर होकर उन्हें खसम बनाने गई थी। जिनके रहते पर्णकुटी के पास भी जाने का साहस तेरे बाप को नहीं पड़ा, तब चोरी से कुत्ते की तरह यती बनकर छल से श्रीसीताजी-का हरण किया है। अरे, तू उसी का बेटा है? तुझे धिक्कार है, इत्यादि रीति की बातें अनुमान से जानी जाती हैं।

'जुगल अतुल बल······' अतुल बल ही बहुत था, ये तो तरुण भी हैं, फिर क्यों न लड़ पड़ें? कहा भी है; यथा—"यौवनं धन-संपत्तिः प्रभुत्वमविवेकता। एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥" (पंचतंत्र)। उसने पहले लात उठाई, क्योंकि वह अपने नगर में है।

(२) 'गहि पद पटकेउ····'—पूर्व कहा था—'जुगल अतुल-बल' तो अंगदजी की जीत कैसे हुई? उत्तर यह है कि अंगदजी के हृदय में प्रभु-प्रताप है, वह इस रीति से प्रकट हुआ। जिधर भगवान् का बल रहता है, उसी की जय होती है; यथा—"यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः। तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥" (गीता १८।७८)।

निसिचर - निकर देखि भट भारी। जहँ तहँ चले न सकहिं पुकारी ॥६॥
एक एक सन मरम न कहहीं। समुझि तासु बध चुप करि रहहीं ॥७॥
भयउ कोलाहल नगर मँझारी। आवा कपि लंका जेहि जारी ॥८॥
अब धौं कहा करिहि करतारा। अति सभीत सब करहिं बिचारा ॥९॥

अर्थ—निशाचर-समूह (जो उसके साथ के थे) भारी भट को देखकर जहाँ-तहाँ चल दिये, (भय से) पुकार भी नहीं सकते ॥६॥ एक दूसरे से भेद नहीं कहते, उसका वध (मन-ही-मन) समझ कर चुप साधकर रह जाते हैं ॥७॥ (यह देखकर) नगर में हल्ला और खलबली मच गई कि जिसने

लंका जलाई थी, वही वानर फिर आया है ॥८॥ अत्यन्त भयभीत होकर मन विचारते हैं कि न जाने अब विधाता क्या करेंगे ? ॥९॥

विशेष—(१) 'जहँ तहँ चले'''—'चले' भगे नहीं कि रावण-पुत्र के साथी जानकर कहीं वानर हमारा पीछा न करे। उधर पीठ देकर चुपचाप चल दिये, मानों ये कुछ जानते ही नहीं। 'न सकहिं पुकारी'—डरते हैं कि और बलवानों को पुकारने लगूँगा, तो यह वानर तुरत ही झपटकर मुझे भी मार डालेगा। यह भी डर है कि पुकारने से लोग कहेंगे कि तू रहा और देखा तो बचाया क्यों नहीं ? फिर रावण यह जानकर मार ही डालेगा कि मेरे पुत्र की रक्षा नहीं की। भय से चुप रहना ग्रंथकार स्वयं कहते हैं—'एक एक सन...'

(२) 'भयउ कोलाहल नगर मँझारी।...'; यथा—"आयो आयो आयो सोइ बानर बहोरि भयो सोर चहुँ ओर लंक आये जुवराज के।...सहमि सुखात बात-जात की सुरति करि, लवा ज्यों लुकात तुलसी लपेटे बाज के॥" (क० लं० ६); 'अति सभीत' – श्रीहनुमान्‌जी के लंका-दहन से सब सभीत थे, यथा—"जहाँ निसाचर रहहिं ससंका। जबते जारि गयउ कपि लंका॥" (सुं० दो० १५); अब वही वानर फिर आया, तो कुछ और भारी अनर्थ करेगा—यह समझकर सब 'अति सभीत' हो गये। पुनः प्रहस्त-वध से सभीत थे, आगे न जाने और क्या करे ? यह समझकर 'अति सभीत' हैं।

बिनु पूछे मग देहिं दिखाई। जेहि बिलोक सोइ जाइ सुखाई ॥१०॥

दोहा—गयउ सभा दरबार तब, सुमिरि राम - पद - कंज।
सिंह-ठवनि इत उत चितव, धीर बीर बलपुंज ॥१८॥

शब्दार्थ—दरबार = द्वार, जहाँ ड्योढ़ी लगती है या० दो० २०१ देखिये। ठवनि = अवस्थिति का ढंग।

अर्थ—बिना पूछे ही (लोग रावण-सभा का) मार्ग दिखा देते हैं, जिसकी ओर अंगदजी देखने लगते हैं, वही सूख जाता है ॥१०॥ तब अंगदजी श्रीरामजी के चरण-कमलों का स्मरण करके सभा-भवन के द्वार पर गये। धीर, वीर और बलराशि अंगदजी इधर-उधर सिंह के ढंग पर (निर्भयता-पूर्वक) देखने लगे ॥१८॥

विशेष—(१) 'बिनु पूछे मग ..'—लोग बिना पूछे मार्ग दिखा देते हैं कि सीधे रावण के यहाँ चला जाय, हमलोगों की हानि न करे। इसपर प्रसन्न होकर कृतज्ञता सूचक दृष्टि से जिसकी ओर अंगदजी देखते हैं, वह डरकर सूख जाता है कि कहीं मेरे प्राण लेने के लिये न देखना हो। क्योंकि पूर्व के कर्म अक्षवध, लंकादहन एवं अभी का प्रहस्त-वध सब देख चुके हैं। तब इस चितवन में प्रसन्नता का अनुमान कैसे कर सकते हैं ? यथा—"जेहि सुभाय चितवहिं हित जानी। सो जानइ जनु आइ खुटानी॥" (बा० दो० २६८), यहाँ भी परशुराम के पूर्व कर्म समझने से ऐसी ही शंका थी। 'जेहि बिलोक ..'—से अंगदजी का तेज दिखाया गया है, यथा—"तेज निधान लखन पुनि तैसे॥ कंपहिं भूप बिलोकत जाके। जिमि गज हरि किसोरके ताके॥" (बा० दो० २९१); यहाँ अंगदजी को भी सिंह कहा ही है, यथा—'सिंह ठवनि...'।

(२) 'गयउ सभा दरबार...'—'दरबार', यथा—"करि मज्जन सरजू जल, गयउ भूप दरबार।" (बा दो० ३०६)। वहाँ इसके उदाहरण भी देखिये। अभी द्वार पर हैं, सभा के भीतर तो रावण के बुलाने पर जायँगे। 'सिंह ठवनि'—सिंह थोड़ा चलता है, फिर अकड़कर खड़ा हो इधर-उधर देखकर फिर चलता है। निर्भयता पर यह दृष्टान्त है। इसी पर 'सिंहावलोकन' की ख्याति भी है। इधर-उधर इसलिये देखते हैं कि द्वारपालों में प्रधान कौन है जिसे रावण के पास भेजें। 'धीर'—क्योंकि अभी राज-पुत्र का वध करके आये हुए हैं, पर शंका नहीं है। 'वीर'—क्योंकि समर का उत्साह है कि कोई और बोले तो उसी की तरह इसे भी पटक मारूँ। 'बलपुंज'—क्योंकि अभी 'अतुल-बल' राजपुत्र को मार आये हैं।

तुरत निसाचर एक पठावा। समाचार रावनहि जनावा ॥१॥
सुनत बिहँसि बोला दससीसा। आनहु बोलि कहाँ कर कीसा ॥२॥
आयसु पाइ दूत बहु धाये। कपि-कुंजरहि बोलि लै आये ॥३॥

अर्थ—शीघ्र ही एक निशाचर भेजकर (अपने आने का) समाचार रावण को सूचित किया ॥१॥ सुनते ही दशशीस रावण ने (दूत के निरादर के लिये) हँसकर कहा कि उसे बुला लाओ, कहाँ का वानर है? ॥२॥ आज्ञा पाकर बहुत से दूत दौड़े और वानर श्रेष्ठ को बुलाकर ले आये ॥३॥

विशेष—(१) 'निसाचर एक' अर्थात् जो द्वारपालों में प्रधान था। पुन यह भी भाव है कि द्वार पर कई थे, उनमें से एक ही को भेजा। 'दूत बहु धाये' से रावण की आज्ञा के पालन में सावधानता एव आज्ञा की उत्कर्षता है। इस घटना से अगदजी का अधिक सम्मान भी हुआ।

अंगद दीख दसानन बैसे। सहित प्रान कज्जलगिरि जैसे ॥४॥
भुजा बिटप सिर शृंग समाना। रोमावली लता जनु नाना ॥५॥
मुख नासिका नयन अरु काना। गिरिकंदरा खोह अनुमाना ॥६॥

शब्दार्थ—बसे (स० वेशन)=बैठ हुए, यथा—"जाइ कपिन्ह सो देखा बैसा।" (दो० ७५), खोह=दो पहाड़ों के बीच का गहरा गड्ढा। अनुमाना=अदाजा।

अर्थ—श्रीअगदजी ने दशानन को बैठे हुए ऐसा देखा कि जैसे कोई प्राणों-समेत काजल का पहाड़ बैठा हो ॥४॥ भुजाएँ वृक्ष और शिर शिखर के समान हैं, शरीर की रोमावलियाँ मानों बहुत-सी लताएँ हैं ॥५॥ मुख, नाक, नेत्र और कान पर्वत की कदराएँ और खोह से लगते हैं ॥६॥

विशेष—'यहाँ रावण के शरीर से पहाड़ का साग रूपक है कज्जल गिरि अत्यत काला होता है, वैसे रावण भी बहुत काला है। पहाड़ पर वृक्ष, शिखर और लताएँ होती हैं। वैसे इसके भुजा, शिर और रोएँ हैं। मुख और नासिका भीतर की ओर गहरी होती हैं, इससे वे कदराओं के समान हैं। नेत्र और कान बाहर के गढे (खोह) के समान हैं। प्राण-सहित कहकर इसे चेतन कहा गया, अन्यथा जड़ ही समझा जाता। श्रीअगदजी उसे कज्जल गिरि के समान निस्सार समझते हैं कि थोड़े प्रहार से ही

छिन्न भिन्न हो जायगा, इसीसे निर्भय हैं—यह भी भाव है। पहाड़ों पर हाथी और सिंह विचरते हैं, वैसे निर्भय श्रीअंगदजी को भी यहाँ—'कुंजर' और 'पचानन' कहा गया है। रावण जड़ की तरह बैठा रहा, हाथ तक न उठाया; इससे भी जड़ की उपमा दी गई है।

गयउ सभा मन नेकु न मुरा। बालि-तनय अति बल बाँकुरा ॥७॥
उठे सभासद कपि कहुँ देखी। रावन उर भा क्रोध बिसेखी ॥८॥

दोहा—जथा मत्त-गज-जूथ महँ, पंचानन चलि जाइ।
राम-प्रताप सुमिरि मन, बैठ सभा सिर नाइ ॥१९॥

शब्दार्थ—मुरना = मुड़ना, दबना, डरना। पंचानन = सिंह, क्योंकि यह चार पञ्जों से भी मुख के चीड़-फाड़ आदि कार्य करता है। मत्त = मतवाला।

अर्थ—अत्यन्त बाँका, बली बालि-पुत्र अंगद सभा में गया, उसका मन (रावण का प्रभाव देखकर) कुछ भी न दबा ॥७॥ सभासद-गण कपि को देखकर उठ खड़े हुए, (यह देखकर) रावण के हृदय में बड़ा क्रोध हुआ ॥८॥ जैसे मतवाले हाथियों के झुण्ड में सिंह चला जाता है, (वैसे ही—'गयउ सभा मन नेकु न मुरा।') हृदय में श्रीरामजी के प्रताप का स्मरण कर श्रीअंगदजी सभा को शिर नवा (प्रणाम) कर बैठ गये ॥१९॥

विशेष—(१) 'गयउ सभा मन '—रावण की सभा, यथा—"दसमुख सभा दीख कपि जाई। कहि न जाइ कछु अति प्रभुताई ॥ कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता ॥" (सु० दो० ११), वैसी सभा में और पर्वताकार रावण के समक्ष भी श्रीअंगदजी का मन न मुड़ा, इसका कारण ग्रंथकार ने 'बालि तनय अति बल बाँकुरा।' कहकर सूचित किया कि यह बालि का पुत्र है, जिससे रावण हार चुका है। यह स्वयं भी बाँका, बली है। पुनः 'राम प्रताप सुमिरि उर बैठ' कहा गया है, इससे भी जनाया कि ये निःशंक हैं। श्रीहनुमान्जी भी ऐसे ही निःशंक थे, यथा—"देखि प्रताप न कपि मन संका। जिमि अहिगन महँ गरुड़ असंका ॥" (सुं० दो० ११)

'उठे सभासद '—सभासदों के उठने का कारण श्रीअंगदजी का तेज है। तेजस्वी को देखकर देखनेवालों के हृदय में सम्मान का भाव स्वतः आ जाता है, यथा—"राजन राम अतुल बल जैसे। तेज निधान लखन पुनि तैसे ॥" (बा० दो० २१२), इनका भी तेज देखकर जनक-समाज ने बिना जाने ही इन्हें उत्थापन दिया है, यथा—"उठे सकल जब रघुपति आये" (बा० दो० २१५)। इसपर रावण के हृदय में बड़ा क्रोध हुआ कि हमारे ही सभासदों ने हमारे सामने ही शत्रु के दूत का इतना सम्मान किया। यह हमारे तेज का अपमान हुआ, क्योंकि रावण अपने सामने दूसरे का उत्कर्ष नहीं सह सकता। इसपर भी क्रोध हुआ कि एक वानर को देखकर सब डर गये, तो युद्ध में ये लोग क्या करेंगे?

(२) 'जथा मत्त गज '—पहले सभा में प्रवेश करते समय 'कपि कुंजरहि' से हाथी के समान इनकी चाल की उपमा दी गई थी। यहाँ श्रीअंगदजी की निर्भीकता में सिंह की उपमा देते हैं कि मतवाले हाथियों से सिंह नहीं डरता, प्रत्युत् यह साहस रखता है कि यह सबों को अकेले ही चार-पञ्जों और मुख से भी

(=पाँचों अंगों से) चीड़-फाड़ डालेगा। वैसे ही श्रीअंगदजी का पराक्रम दिखाते हुए इन्हें 'पंचानन' कहा गया है। यथा—"जथा मत्त गज गन निररि, सिंह-किसोरहिं चोप।" (बा० दा० ११०)। पूर्व 'सिंह ठवनि' से निर्भय अकड़ की उपमा दी थी। जहाँ जो गुण दिखाना होता है, वहाँ वैसी ही उपमा देते हैं।

(३) 'राम प्रताप सुमिरि मन···'—शत्रु की सभा ने भी इनका तेज देखकर अभ्युत्थान दिया, इसे देखकर इन्होंने मन में इसे राम-प्रताप माना और ये उसी का बार-बार हृदय में स्मरण करते हैं, भक्तों की ऐसी ही धारणा होती है; यथा—"गुन तुम्हार समुझइ निज दोषा।" (अ० दो० १३०)।

'बैठ सभा सिरनाइ'—सभा ने इन्हें अभ्युत्थान देकर आदर दिया था, अतएव सभा को सम्मान देते हुए इन्होंने भी प्रणाम किया – यह शिष्टाचार है। रावण भी राज्य-सिंहासनासीन है, राजा का शरीर देवमय कहा गया है और अभी उसने इनका आह्वान ही किया है। इससे सबके साथ में उसे भी प्रणाम *किया है, आगे उसके वर्त्ताव के अनुसार स्वयं भी वर्त्तेंगे।*

कह दसकंठ कवन तैं बंदर। मैं रघुबीर - दूत दसकंधर ॥१॥
मम जनकहि तोहि रही मिताई। तव हित कारन आयउँ भाई ॥२॥

अर्थ—दशग्रीव रावण ने कहा—बंदर ! तू कौन है ? (श्रीअंगदजी ने कहा—) दशकंधर ! मैं रघुवीर का दूत हूँ ॥१॥ मेरे पिता से और तुमसे मित्रता थी, इससे, हे भाई ! मैं तेरी भलाई के लिये आया हूँ ॥२॥

विशेष—(१) 'कह दसकंठ कवन तैं···'—यह ज्यों-का-त्यों उत्तर है, रावण राक्षस है, उसी स्वभाव से बातें करता है। तब तदनुसार श्रीअंगदजी को भी बातें कहनी पड़ीं, क्योंकि ये श्रीरामजी की तरफ से पूर्ण अधिकार के साथ गये हुए हैं और रावण से इनका भी बराबरी का नाता है, क्योंकि युवराज हैं। फिर इनके दबने से श्रीरामजी के पक्ष की न्यूनता भी थी। इसलिये आगे भी उसके अनुसार ही उत्तर देंगे। 'रघुबीर दूत'—से दिखाया कि श्रीरामजी के समान वीर तीनों लोकों में नहीं है, मैं उन्हीं का दूत हूँ।

(२) 'तव हित कारन···'—हित के कारण अपना आना कहा, इससे 'भाई' कहा। मैत्री-सम्बन्ध में प्रायः ऐसा कहा जाता है। आगे तदनुसार रावण ने भी कहा है; यथा—'कहु निज नाम जनककर भाई।' भाव यह कि मैं श्रीरामजी का दूत हूँ, उनकी आज्ञा से आया हूँ। पर तू मेरे पिता का मित्र है। अतः, मैं स्वयं भी तेरा हित चाहता हूँ। मैं इसी से दूत बनकर आया कि तू मेरा कहा मानेगा। 'तव हित···' से यह भी कहते हैं कि इस मेरे दौत्य से न तो श्रीरामजी का प्रयोजन है और न मेरा, केवल तेरे ही हित के लिये मैं आया हूँ। यही मंदोदरी ने भी कहा है; यथा—"कारुनीक दिनकर-कुल-केतू। दूत पठायउ तब हित हेतू॥" (दो० ३६); हित के वचन आगे कहते हैं—

उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती। सिव बिरंचि पूजेहु बहु भाँती ॥३॥
बर पायहु कीन्हेहु सब काजा। जीतेहु लोकपाल सब राजा ॥४॥
नृप अभिमान मोहबस किंबा। हरि आनिहु सीता जगदंबा ॥५॥

शब्दार्थ—किंबा = अथवा, यदि वा, या, तो।

अर्थ—तुम्हारा उत्तम कुल है, तुम पुलस्त्य मुनि के नाती हो। तुमने श्रीशिवजी और श्रीब्रह्माजी की बहुत प्रकार से पूजा की (उन्हें प्रसन्न किया) ॥३॥ उनसे बहुत तरह के वर पाये और उनसे सब कार्य किये। सब लोकपालों और सब राजाओं को जीता ॥४॥ राज्य-मद अथवा मोह-वश तुम जगत् की माता श्रीसीताजी को हर लाये ॥५॥

विशेष—(१) 'उत्तम कुल ···'—ब्रह्माजी के मानसी पुत्र श्रीपुलस्त्यजी हैं, उनके पुत्र विश्रवा मुनि हैं, उनका पुत्र रावण है, यथा—"उपजे जदपि पुलस्ति कुल, पावन अमल अनूप।" (बा० दो० १७६)।

(२) 'सिव बिरंचि पूजेहु बहु भाँती।'—जप, तप, यज्ञ करके एवं शिरों का हवन करके, इत्यादि बहुत प्रकार से पूजा की। 'बहु भाँती' शब्द दीप-देहली-रूप पूजा और वर दोनों के साथ है। नर-वानर छोड़कर सबसे अभय एवं दीर्घायु तथा अमोघ खड्ग एवं शक्ति आदि बहुत प्रकार के वर भी पाये।

पहले कुल की श्रेष्ठता एक चरण में कही, फिर उसके निज कर्म की श्रेष्ठता तीन चरणों में कही है। 'सब काजा'—दिग्विजय की, चराचर को वश किया, इत्यादि।

कुल की श्रेष्ठता कहकर समझाने का भाव यह है कि उत्तम कुलवाले श्रेष्ठ ही कार्य करते हैं, इसी में उनकी शोभा होती है। अभी तक तुमने अच्छे ही कर्म भी किये, श्रीशिवजी आदि की पूजा की, उनसे वर पाये, बहुत काल अखंड राज्य किया, इत्यादि अच्छे ही काम करते आये। किन्तु, यही एक काम तुमसे छोटा हुआ कि छिपकर पर-स्त्री हरण किया, उसके भी कारण कहते हैं—

(३) 'नृप अभिमान मोहबस ···'—भाव यह कि यह छोटा काम तुमने जान-बूझकर नहीं किया होगा, किन्तु राज्य-मद से अथवा बुद्धि के मोहित हो जाने से तुमसे यह अयोग्य काम हो गया होगा, यथा—"श्रीमद नृप अभिमान मोह बस जानत अनजानत हरि लायो।" (गी० लं० २); राज्य-मद से अनुचित कार्य होते हैं; यथा—"सहसबाहु सुरनाथ त्रिसंकू। केहि न राज-मद दीन्ह कलंकू।" (अ० दो० २२८), मोह-वश भी; यथा—"बिषई जीव पाइ प्रभुताई। मूढ़ मोहबस होहिं जनाई॥" (अ० दो० २२७), तुमसे यह कार्य ऐसा हो गया कि इससे उत्तम कुल को कलंक लगेगा; यथा—"रिषि पुलस्ति जस बिमल मयंका। तेहि ससि महँ जनि होहि कलंका।" (सुं० दो० २२)।

'हरि आनेहु सीता जगदंबा।'—बस, यही अनुचित कार्य किया कि अपने आराध्य देव शिवजी और ब्रह्माजी की भी माता का तुमने हरण किया। यह भारी अधर्म है। सामान्य परस्त्री-हरण भी बहुत अयोग्य है, यथा—"जो आपन चाहइ कल्याना। सुजस सुमति सुभगति सुख नाना॥ सो परनारि लिलार गोसाईं। तजउ चौथि के चंद कि नाईं।" (सुं दो० ३८); तुम तो जगदंबा को हर लाये, यह महान् अपराध किया, यथा—"जगदंबा हरि आनि अब, सठ चाहसि कल्यान।" (दो० ६२)—यह कुंभकर्ण ने भी कहा है।

अब सुभ कहा सुनहु तुम्ह मोरा। सब अपराध छमिहि प्रभु तोरा॥६॥
दसन गहहु तृन कंठ कुठारी। परिजन-सहित संग निज नारी॥७॥
सादर जनकसुता करि आगे। येहि बिधि चलहु सकल भय त्यागे॥८॥

दोहा—प्रनतपाल रघुबंस-मनि, त्राहि त्राहि अब मोहि।
आरत गिरा सुनत प्रभु, अभय करैगो तोहि ॥२०॥

अर्थ—अब तुम मेरा कल्याणकारी वचन सुनो। प्रभु तुम्हारे सब अपराध क्षमा करेंगे ॥६॥ दाँतों तले तृण दाबो, कंठ में कुठार बाँधो, कुटुम्बियों सहित और अपनी स्त्रियों के साथ ॥७॥ श्रीजानकीजी को आदर-पूर्वक आगे कर इस तरह सब भय छोड़कर चलो ॥८॥ "हे शरणागत पाल! हे रघुवंशशिरोमणि! अब मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये।" (ऐसा कहने से) तुम्हारी आर्त्त-वाणी सुनते ही प्रभु तुमको अवश्य निर्भय करेंगे ॥२०॥

विशेष—(१) 'अब सुभ कहा सुनहु···'—'अब' का भाव कि अभी तक जो हुआ सो हुआ, अब भी काम सुधर सकता है। 'सुभ कहा'—का भाव यह कि इस कथन को सुनो, तो श्रीरामजी पौलस्त्य-वध के पाप से बचेंगे, मंदोदरी आदि का सोहाग रहेगा, तुम्हारा राज्य अचल होगा, श्रीसीताजी सुखी होंगी और मुझे भी यश होगा। 'सब अपराध' जैसे कि—सीता-हरण, जटायु वध, विभीषण का अपमान एवं ब्राह्मण, गौ, ऋषि और देवता आदि को दुःख देना इत्यादि। इस शर्त में—"काज हमार तासु हित" (दो० १६); की दोनों बातें हैं, देखिये दो० १६ चौ० ८ भी।

(२) 'दसन गहहु तृन ···'—दाँत-तले तृण दाबने का भाव यह कि मैं अज्ञ हूँ, पशुवत् हूँ, गो-रूप में आया हूँ। 'कंठ कुठारी' का भाव यह कि मैंने स्वयं अपना गला कटाने का काम किया है। अत, यह कुठारी है, मेरा गला काटिये और चाहे रखिये। ये हीनता-दीनता प्रकट करने की रीतियाँ हैं। अभिमानी लोग बाहर चाहे नम्र भी हों, पर अपने कुटुम्बियों के सामने विशेषकर स्त्रियों के आगे कसूरी बनकर दीनता नहीं प्रकट करते। इसलिये साथ ही ये दो बातें भी कही गई हैं, क्योंकि शरण होने को कहना है, उसमें तो मन, वचन, कर्म से अभिमान का सर्वथा त्याग होना चाहिये। वाचिकी अभिमान-त्याग के लिये आर्त्त-वचन कहने को दोहे में कहा है।

यह अपराधी के लिये शरण होने की रीति है, मंदोदरी ने भी कहा है, यथा—"चलु मिलु बेगि कुसल सादर सिय सहित अग्र करि मोहिं। तुलसिदास प्रभु सरन सब्द सुनि अभय करैगो तोहिं॥" (गी० लं० १) "रे कंत! तृन दंत गहि, सरन श्रीराम कहि, अजहुँ येहि भाँति लै सौंपु सीता॥" (क० लं० १०), स्त्रियों के सहित चलने का यह भी भाव है कि मैंने आपकी स्त्री का हरण किया है। अत, मेरी सब स्त्रियाँ उपस्थित हैं, इन्हें सेवा में लीजिये। परिजनों को साथ लेने में भी यह भाव है कि इनके सहित मैं दंडनीय हूँ, अत, सबके साथ आपकी शरण में आया हूँ, रक्षा कीजिये।

(३) 'सादर जनकसुता ···'—श्रीजानकीजी को सुसज्जित पालकी पर चढ़ाकर आगे करो। उनकी सेवा में अपनी स्त्रियों को रक्खो और उनके पीछे माता के साथ बालक की तरह तुम चलो। श्रीजानकीजी को आगे देखकर और तुम्हें स्त्रियों की ओट लिये हुए देखकर प्रभु का कोप शान्त हो जायगा। 'जनकसुता' का भाव यह कि ये जैसे श्रीजनकजी के यहाँ रहीं, वैसे ही मेरे यहाँ रहीं, अब मैं इन्हें आपको समर्पण करता हूँ। 'येहि बिधि'—जैसा क्रम ऊपर कहा गया। 'सकल भय त्यागे'—भाव यह कि फिर तुम्हें कोई भय न रहेगा, क्योंकि शरणागत को अभय देना प्रभु का विरद है, यथा—"मम पन सरनागत भय हारी।" (सु० दो० ४३)।

(४) 'प्रनतपाल'…'—यद्यपि मैं विश्व-द्रोही हूँ, तथापि आपकी शरण हूँ, आप सर्वलोक-शरण्य हैं, अतएव मेरी भी रक्षा करें, श्रीमुख-प्रतिज्ञा है; यथा—"जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही ॥…करउँ सद्य तेहि साधु समाना ॥" (सुं० दो० ४७)। 'रघुबंस मनि'—रघुवंशी सभी शरणपाल होते आये हैं, आप तो उस कुल मे शिरोमणि हैं, अतः मेरी रक्षा करें। 'आरत गिरा'—दोहे का पूर्वार्द्ध आर्त्त वाणी है ; यथा —"अब प्रभु पाहि सरन तकि आयउँ ॥ सुनि कृपाल अति आरत बानी।" (आ० दो० १)

रे कपिपोत बोलु संभारी। मूढ़ न जानेहि मोहि सुरारी ॥१॥
कहु निज नाम जनक कर भाई। केहि नाते मानिये मिताई ॥२॥

शब्दार्थ—पोत = पशु-पक्षी आदि का छोटा बच्चा।

अर्थ—अरे वानर के बच्चे ! सँभालकर बोल। अरे मूर्ख, तू मुझको नहीं जानता कि मैं देवताओं का शत्रु हूँ ॥१॥ अरे भाई ! अपना और अपने बाप का नाम बता, किस नाते से मित्रता मानता है ? ॥२॥

विशेष—(१) 'सुरारी'—भाव यह कि मैंने इन्द्रादि देवताओं को भी जीत लिया है। मेरी इस प्रभुता को नहीं जानता ? कि मुझे मनुष्य की शरण होने को कहता है ? भाव यह कि मनुष्य को तो मैं कुछ समझता ही नहीं। अंगदजी को अपने प्रभाव का अनभिज्ञ मानकर उन्हें मूढ़ कहा।

(२) 'कहु निज नाम …'—अंगदजी की बातें अपने प्रतिकूल समझकर पहले डाँट-फटकार दिखाकर फिर उनके वचनों के अनुसार पूछने लगा। 'मम जनकहि तोहि…' के अनुसार पूछता है कि अपना नाम, अपने बाप का नाम और मित्रता का स्वरूप यह। 'केहि नाते मानिये'—मित्रता अनेक हेतुओं से होती है। तेरे पिता की मित्रता किस हेतु को है ? ध्वनि यह कि तू वानर और मैं राक्षस हूँ, मित्रता कैसी ? 'मानिये'—प्रायः मित्र को मित्र जानता है, पर मैं नहीं जानता और तू मिताई माने हुए है; अतः, नाता कह।

अंगद नाम बालि कर बेटा। तासों कबहुँ भई ही भेटा ॥३॥
अंगद-बचन सुनत सकुचाना। रहा बालि बानर मैं जाना ॥४॥

अर्थ—मेरा नाम अंगद है, मैं बालि का पुत्र हूँ। उससे तेरी कभी भेंट हुई थी ? ॥३॥ अंगदजी का वचन सुनते ही वह सकुच गया और बोला—(हाँ) बालि वानर था, मैं उसे जानता हूँ ॥४॥

विशेष-(१) 'अंगद नाम …'—श्रीअंगदजी ने तीनों बातों के उत्तर दे दिये कि मेरा नाम अंगद है, बाप का नाम बालि है और 'भई ही भेटा' से उस घटना की स्मृति कराई कि जब तुमसे बालि की भेंट हुई थी। उसने तुझे काँख में दबा रक्खा था, तब हारकर तूने अग्नि को साक्षी देकर मित्रता की थी और एक मास तक किष्किन्धा में उनके छोटे भाई की तरह रहा था, यह सब याद है कि नहीं ; यथा—"अगन त्रिदिन अति वीर बालि बल जानत ही कियों अब बिसरायो ॥" (गी० छं० ४), बालि से इसके हारने की यह कथा वाल्मी० ७।३३ में है।

(२) 'अंगद वचन सुनत······'—सकुच गया कि यह मेरे उस भेद को पूरा जानता है। इसी से शीघ्र ही उत्तर दिया कि स्पष्ट में मेरी पराजय मेरी सभा में न कह दे। इसलिये अपनी जानकारी कहकर फिर भेद-नीति की बातें करने लगा। 'मैं जाना'—मानों बहुत थोड़ी बात है, अब इसे स्मरण हो आया। यह इसकी धूर्त्तबाजी है, यह श्रीहनुमान्‌जी से बालि-वध सुन चुका है, इससे उसकी ओर से निर्भय है, तभी उसके प्रतिकार का डर नहीं है। इसी से यहाँ गर्व के सहित केवल उससे जान-पहचान मात्र को स्वीकार करता है।

अंगद तहीं बालि कर बालक। उपजेहु बंस-अनल कुलघालक ॥५॥
गर्भ न गयहु व्यर्थ तुम्ह जायहु। निज मुख, तापस-दूत कहायहु ॥६॥
अब कहु कुसल बालि कहँ अहई। बिहँसि बचन तब अंगद कहई ॥७॥

अर्थ—अरे अंगद ! तू ही बालि का पुत्र है ? कुल का नाश करनेवाला तू वंश में कुलरूपी बाँस के लिये अग्निरूप पैदा हुआ है ? ॥५॥ तेरी माता का गर्भ न गिर गया ? अरे, तू व्यर्थ ही पैदा हुआ कि अपने मुख से तपस्वी का दूत बनता है ॥६॥ अब बालि की कुशल कह, वह कहाँ है ? तब हँसकर श्रीअंगदजी ने वचन कहा ॥७॥

विशेष—(१) 'अंगद तहीं······'—यहाँ 'वंस' शब्द के श्लेषार्थ-रीति से दो अर्थ हैं—कुल और बाँस। बाँसों में परस्पर रगड़ से ही अग्नि पैदा होती है, फिर वह सम्पूर्ण वन को जला देती है। वैसे ही तू अपने वंश-भर का नाशक हुआ। तेरे ही रहते हुए सुग्रीव राज्य पर बैठा, जिससे बालि ने उसे निकाला, वैर किया कि मेरे पुत्र के रहते हुए यह क्यों राजा बना ? उसी पर श्रीसुग्रीवजी ने श्रीरामजी से मित्रता की, और बालि मारा गया। अब तुम दोनों उन्हीं श्रीरामजी की सहायता करने आये हो, तो मेरे द्वारा सपरिवार मारे जाओगे। अतः, तुम कुल-घालक हो।

(२) 'गर्भ न गयउ······'—ऐसे कुल-घालक के होने से न होना ही अच्छा है कि तूने बालि की कीर्त्ति का नाश किया, उसके मारनेवाले का दूत बना। ऐसे कुपूत से तो बिना पुत्र ही अच्छा था। कुल की कीर्त्ति तो रहती ; यथा—"जिमि कुपूत के उपजे, कुल सद्धर्म नसाहिं।" (कि॰ दो॰ १५); भाव यह कि मुझसे मिल जा और बाप का बदला लेकर सुपूत बन। सुपूतपना इसी में है कि बाप की कीर्त्ति की रक्षा कर, किष्किंधा का राज्य ले।

(३) 'अब कहु कुसल···'—रावण ने 'कुल घालक' कहकर प्रकट कर भी दिया है कि मैं सब हाल जानता हूँ। श्रीहनुमान्‌जी से भी सुन चुका है यथा—"खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित बलसाली॥" (सुं॰ दो॰ २०); फिर भी अज्ञ की तरह व्यङ्ग से कुशल पूछता है और इसे अपने पक्ष में खींचने के लिये ऊपर से सौहार्द दिखाता है। इसकी इस धूर्त्तता को जानकर श्रीअंगदजी बिहँसे कि यहाँ तेरी माया न लगेगी। फिर वक्रोक्ति से उत्तर देते हैं।

दिन दस गये बालि पहिं जाई। बूझेहु कुसल सखा उर लाई ॥८॥
राम-बिरोध कुसल जसि होई। सो सब तोहि सुनाइहि सोई ॥९॥
सुनु सठ भेद होइ मन ताके। श्रीरघुबीर हृदय नहिं जाके ॥१०॥

अर्थ—दस दिन (कुछ दिन) बीतने पर वालि के पास जा अपने सखा को हृदय से लगाकर उससे ही कुशल पूछ लेना ।। भाव यह कि तुम भी थोड़े ही दिनों में राम-बाण से मरकर वहीं जाओगे, जहाँ वालि गया है ।।८।। श्रीरामजी से वैर करने से जैसी कुशल होती है वह सब तुम्हें वही सुनावेगा ।।९।। अरे शठ ! सुन, भेद उसके मन में होता है, जिसके हृदय में श्रीरघुवीर नहीं हैं ।।१०।।

विशेष—(१) 'दिन दस गये···'—यदि श्रीअंगदजी सीधे कह देते कि वालि को तो श्रीरामजी ने मार डाला तब यह बहुत हँसता और इन्हें धिक्कारता कि अपने बाप के शत्रु के तुम दूत बने, ऐसे निर्लज्ज हो। यदि छिपाते तो यह जानता तो है ही, इससे इन्हें झूठा कहता। इसलिये युक्ति से उत्तर देते हैं कि जब तुम्हारी ऐसी ही नियत है, तब जल्दी ही मारे जाओगे, तुम्हारी भी वही गति होगी; यथा—"राम बालि निज धाम पठावा।" (कि॰ दो॰ १०), और—"तुम्हहूँ दियो निज धाम राम···" (दो॰ १०२)।

'सखा'—क्योंकि दोनों समान पापी हैं। परस्त्री-हारी और राम-विरोधी दोनों हैं और अग्नि की साक्षी से सखा भी बने ही हैं।

(२) 'राम विरोध कुसल···'—श्रीरामजी से विरोध कर के वालि मारा गया, वैसे तुम भी उनसे वैर के कारण मारे जाओगे; यथा—"राम विरोध न उबरसि, सरन विष्णु अज ईस।" (सुं॰ दो॰ ५६); राम-विरोधी की कुशल होती ही नहीं; यथा—"राम विरोध विजय चह, सठ हठ बस अति अज्ञ ।।" (दो॰ ८४)।

(३) 'सुनु सठ-भेद होइ···'—रावण ने भेद-नीति से श्रीअंगदजी को फोड़ना चाहा, ऊपर लिखा गया। उसे श्रीअंगदजी स्पष्ट-रूप में कहते हैं कि यह भेद तेरा तब चलता, जब मेरी सत्य निष्ठा श्रीरघुवीर में न होती। मैं भीतर-बाहर दोनों प्रकार से श्रीरघुवीर का दास हूँ। वे रघुकुल-श्रेष्ठ परम वीर और शरण-पाल हैं और अपनी प्रतिज्ञा में पूर्ण हैं। उन्होंने मेरे पिता के सामने ही मुझे अपना दास बनाने की प्रतिज्ञा कर ली है, अत-एव उनमें मेरी सत्य निष्ठा है। मैं वीर का अनुयायी होकर कायर की बातों में कैसे आ सकता हूँ ? श्रीअंगदजी को श्रीरामजी ने 'परम चतुर मैं जानत अहऊँ।' इस वचन से चातुर्य-प्रदान कर दिया है, इससे वे इसकी माया को तुरत समझ गये।

दोहा—हम कुल-घालक सत्य तुम्ह, कुल-पालक दससीस।
अंधउ बधिर न अस कहहिं, नयन कान तव बीस ।।२१।।

सिव-बिरंचि-सुर-मुनि-समुदाई। चाहत जासु चरन-सेवकाई ।।१।।
तासु दूत होइ हम कुल बोरा। अइसिहु मति उर बिहर न तोरा ।।२।।

अर्थ—अरे दशशीस ! हम कुल के नाश करनेवाले हैं और तुम सत्य ही कुल के पालन-पोषण करने-वाले हो ! अंधे और बहरे भी ऐसा नहीं कहते, तेरे तो बीस नेत्र और बीस कान हैं ।।२१।। शिवजी, ब्रह्माजी, देवता और मुनियों का समुदाय जिसके चरणों की सेवा चाहते हैं ।।१।। उसका दूत होकर हमने कुल को डुबा दिया ? अरे ! ऐसी बुद्धि होने पर भी तेरी छाती फट नहीं जाती ! ।।२।।

विशेष—(१) 'हम कुल घालक···'—यहाँ काकु-द्वारा विपरीत अर्थ है कि हम राम-भक्त होने से कुल-रक्षक हैं; यथा—"धर्म परायन सोइ कुल त्राता। रामचरन जाकर मन राता ।।" (उ॰ दो॰

१६); तथा—"कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुंधरा भागवती च धन्या। स्वर्गे स्थिता ये पितरोऽपि धन्या येषां कुले वैष्णवनाम धेयम् ॥" (पद्मपुराण); और तुम सत्य ही कुलपालक नहीं हो, किन्तु कुलघालक हो; यथा—"राम बिमुख अस हाल तुम्हारा। रहा न कोउ कुल रोवनि हारा।" (दो० १०२); 'अंधउ बधिर ...'– जो अंधा होता है वह कान से सुनकर जान लेता है। जो बहिरा होता है वह देखकर जान लेता है, इस तरह वे भी ऐसे अनभिज्ञ की तरह नहीं कह सकते और तेरे तो आँख-कान बीस-बीस हैं, तब भी ऐसा कहता है। अतः, ये आँख-कान व्यर्थ ही हैं, यथा—"जासु प्रसाद जनमि जग पुरपनि सागर सृजे, खने अरु सोखे। तुलसिदास सो स्वामि न सूझ्यों नयन बीस मंदिर के से मोखे ॥" (गी० सुं० १२), "सो नर क्यों दसकंध, बालि बध्यो जेहि एक सर। बीसहु लोचन अंध, धिग तव जनम कुजाति जड़ ॥" (दो० ३२)।

(२) 'सिव बिरंचि सुर...'—ये सब उनके चरण की सेवा चाहते हैं; यथा—"बार बार बर मागउँ, हरषि देहु श्रीरंग। पद सरोज अनपायनी, भगति सदा सतसंग ॥" (उ० दो० १४)—शिवजी। "नृप नायक दे बरदानमिदं। चरनांबुज-प्रेम सदासुभदं ॥" (दो० ११०)—ब्रह्माजी। "मोहि जानिये निज दास। दे भक्ति रमा निवास ॥" (दो० ११२)—इन्द्रजी। "मधुकर खग मृग तनु धरि देवा। करहि सिद्धमुनि प्रभु की सेवा ॥" (कि० दो० १२); और भी अत्रि, भरद्वाज, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य आदि का भक्ति चाहना, इसी ग्रन्थ में जगह-जगह लिखा है।

यदि श्रीरामजी की भक्ति से कुल डूबता, तो शिवजी आदि उसकी चाहना क्यों करते ? 'ऐसिउ मति उर...'—हृदय फट जाना चाहता था, यथा—"जब ते कुमति कुमत जिय ठयऊ। खंड खंड होइ हृदय न गयऊ ॥" (अ० दो० १६१)।

सुनि कठोर बानी कपि केरी। कहत दसानन नयन तरेरी ॥३॥
खल तव कठिन बचन सब सहऊँ। नीति - धरम मैं जानत अहऊँ ॥४॥
कह कपि धर्मसीलता तोरी। हमहुँ सुनी कृत पर त्रिय चोरी ॥५॥
देखी नय न दूत रखवारी। बूड़ि न मरहु धरम - ब्रत-धारी ॥६॥

शब्दार्थ—तरेरना = नेत्रों से असंतोष प्रकट करना, घुड़कना। नय न = नीति न।

अर्थ—कपि की कठोर वाणी सुनकर रावण आँखें तरेर कर बोला ॥३॥ अरे खल! मैं तेरे कठोर वचन सहता हूँ, (क्योंकि) मैं नीति और धर्म जानता हूँ ॥४॥ कपि अंगदजी ने कहा कि तेरी धर्मशीलता हमने भी सुनी है कि तूने परस्त्री की चोरी की ॥५॥ और दूत की रक्षा में नीति न देखी। अरे धर्म व्रतधारी! तू डूब नहीं मरता ? ॥६॥

विशेष—(१) 'रावण कहता है कि तेरे कठोर वचन—'ऐसिउ मति उर बिहरु न तोरा।' सहता हूँ, क्या करूँ मैं नीति और धर्म का ज्ञाता हूँ, इसी से विवश हूँ। नीति में लिखा है कि दूत यथार्थ वादी चाहिये और वह अवध्य है। और धर्म-दृष्टि में क्षमाशीलता परम धर्म है। इससे मैं तुझे छोड़ता हूँ।

(२) श्रीअंगदजी धर्म-शीलता में तो 'पर तिय चोरी' का और नीति-शीलता में 'दूत रखवारी' का उदाहरण देते हैं। परस्त्री-हरण आततायी के छ: दोषों में है। अत:, भारी अधर्म है; यथा—"अग्निदो

गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः । क्षेत्रदारापहर्त्ता च षडेते ह्याततायिनः ॥" (वसिष्ठस्मृति ३।१९); पुनः 'दूत-रखवारी' की कथा वाल्मी० ७।१३।८-४० में है कि इसके अन्याय को सुनकर भाई समझकर कुबेरजी ने दूत-द्वारा सँदेशा भेजा कि हमारे कुल के विरुद्ध पापाचरण न करो, अन्यथा देवता और ऋषिगण तुम्हारे विरुद्ध उपाय कर रहे हैं। इसपर रावण क्रुद्ध होकर तीनों लोकों एवं चारों लोकपालों के जीतने की प्रतिज्ञा की और उस दूत को स्वयं तलवार से काट दिया और दुरात्मा ने राक्षसों को खाने के लिये दे दिया, तब त्रिलोक-विजय के लिये चला। उसी बात को लेकर श्रीअंगदजी कहते हैं कि आज तो तुम नीतिज्ञ बने हो, पर उस समय नीति नहीं देखी थी। इन दो उदाहरणों से तुम महा अधर्मी और महा अन्यायी हो, इस तरह सप्रमाण उत्तर पर यदि तुममें कुछ भी लज्जा होती, तो चुल्लू भर पानी में डूब मरते, किन्तु तुम तो महा निर्लज्ज हो। यहाँ 'धर्मव्रत धारी' में 'वक्रोक्ति' है।

कान नाक बिनु भगिनि निहारी। छमा कीन्हि तुम्ह धर्म बिचारी ॥७॥
धर्मसीलता तव जग जागी। पावा दरस हमहुँ बड़ भागी ॥८॥

अर्थ—बहन को नाक-कान-रहित देखकर तूने धर्म ही विचार कर तो क्षमा की है ? ॥७॥ तेरी धर्म-शीलता संसार-भर में जगमगा रही है, हम भी बड़े भाग्यवान् हैं कि तेरे दर्शन पाये ॥८॥

विशेष—भाव यह कि जहाँ तुम प्रतिकार में असमर्थ होते हो, वहाँ निर्लज्ज होकर अधर्म को धर्म मान लेते हो। शूर्पणखा के अपमान का बदला न ले सके, तो उसे क्षमा धर्म में प्रकट किया। पर जहाँ (उपर्युक्त) दूत-रक्षा में क्षमा की आवश्यकता थी, वहाँ नहीं की। परस्त्री-हरण को तो तुमने धर्म ही मान लिया है। तात्पर्य यह कि तुम महा अधर्मी और निर्लज्ज हो ; यथा—"सूपनखा कै गति तुम्ह देखी। तदपि हृदय नहिं लाज बिसेषी ॥" (दो० १७); 'पावा दरस हमहुँ बड़ भागी।'—इस व्यंगोक्ति का भाव यह कि तुम ऐसे पापी के देखने से मैं भी पाप का भागी हुआ ; यथा—"तत्संसर्गी च पंचमः" (मनु०); अतः, मैं हतभागी हुआ। यहाँ अत्यन्त गूढ़ उपहास है।

दोहा—जनि जलपसि जड़ जंतु कपि, सठ बिलोकु मम बाहु।
लोकपाल - बल - बिपुल-ससि, ग्रसन हेतु सब राहु ॥
पुनि नभ सर मम कर निकर, कमलन्हि पर करि बास।
सोभत भयउ मराल इव, संभु सहित कैलास ॥२२॥

शब्दार्थ—जल्पना = व्यर्थ बकवाद, डींग हाँकना। जंतु = छोटा कीड़ा, तुच्छ जीव।

अर्थ—अरे जड़ ! कीड़े ! वानर ! व्यर्थ बकवाद न कर, अरे शठ ! मेरी भुजाओं को देख, ये सब लोकपालों के भारी बल-रूपी बहुत-से चन्द्रमाओं को ग्रसने के लिये राहु-रूप हैं ॥ फिर (और सुन—) आकाश-रूपी तालाब में मेरे भुज-समूह-रूपी कमलों पर कैलास-समेत श्रीशिवजी वास करते हुए हंस के समान शोभित हुए थे ॥२२॥

विशेष—(१) 'जड़, जंतु, कपि' कहकर अंगदजी को अज्ञानी एवं पशु जनाया। 'बिलोकु'—का

भाव यह कि अभी भी इनपर चिह्न बने हैं ; यथा—"ऐरावतविषाणाग्रैरापीडनकृतव्रणम् । वज्रोल्लिखितपीनांसौ विष्णुचक्रपरिक्षतौ ॥" (वाल्मी ५।१०।१६); लोकपाल कई हैं, इसलिये कई चन्द्रमाओं को उपमा दी और फिर उनके ग्रसने के लिये भुजा-रूपी राहु भी बीस कहे गये हैं ।

(२) 'पुनि नभ सर मम···'—हंस और कैलास श्वेत-वर्ण हैं, इससे रूपक बाँधा है । हंस कमल-पत्र के वन पर सोहता है ; यथा—"सुर-सर-सुभग वनज वन चारी । डाबर जोग कि हंस-कुमारी ।" (बा० दो ५१); अन्यत्र कमल के फूल पर हंस नहीं ठहर सकता ;-पर मेरे कर-कमलों पर श्रीशिवजी के साथ कैलास ठहरा हुआ शोभित हुआ । (तब इन भुजाओं के आगे तुम्हारा स्वामी क्या चीज है ? यह ध्वनि है) ।

तुम्हरे कटक माँझ सुनु अंगद । मो सन भिरिहि कवन जोधा बद ॥१॥
तव प्रभु नारि - बिरह बलहीना । अनुज तासु दुख दुखी मलीना ॥२॥
तुम्ह सुग्रीव कूल - द्रुम दोऊ । अनुज हमार भीरु अति सोऊ ॥३॥

शब्दार्थ—बद = (१) कह, (२) बदकर, बाजी लगाकर । कूल द्रुम = तट के वृक्ष ।

अर्थ = अरे अंगद ! सुन, तेरे दल में कौन योद्धा है जो मुझसे बदकर लड़ेगा ? कह ॥१॥ तेरा स्वामी स्त्री-विरह से बल-हीन हो गया है । उसका भाई उसके दुःख से दुखी और मलिन (उदास) रहता है ॥२॥ तू और सुग्रीव दोनों तट के वृक्ष हैं और जो हमारा भाई विभीषण है, वह भी अत्यन्त डरपोक है ॥३॥

विशेष—'तासु दुख दुखी मलीना'—मलिनता से उसके चित्त का उत्साह जाता रहा, तब वह भी बल-हीन ही है । 'तुम्ह सुग्रीव कूल-द्रुम दोऊ ।'—नदी-तट के वृक्ष जड़-सहित उखड़कर बह जाते हैं ; यथा—"बिषम बिषाद तोरावति धारा ।···धीरज तट तरुवर कर भंगा ॥" (अ० दो० २७५); वैसे ही तुम दोनों संग्राम-रूपी नदी की धारा में समूल नाश हो जाओगे । भाव यह कि कगन के कारण नदी की धारा एक ओर ऊँची और दूसरे किनारे पर नीची देख पड़ती है, उसी किनारे के वृक्ष कटते हैं । वैसे भेद-नीति से मैं एक का पक्ष करके दूसरे को उखाड़ फेंकूँगा तुम दोनों मे हार्दिक भेद है ही ; यथा—"सुग्रीवोऽङ्गदशल्यभेदकतया निर्मूलकूलद्रुमः ॥" (हनुमन्नाटक ८।१) अर्थात् सुग्रीव शल्य (वृद्ध होने से) और अंगद भेद की शंका से उत्साह-रहित हो मूल-रहित नदी तट के वृक्ष के समान हैं । अंगदजी का पदारोपण भी इस भाव का पोषक है कि मैं निर्मूल हूँ, तो मेरा पैर उखाड़ दे, तब तो तेरी बात सत्य हो । 'अनुज हमार भीरु···'—वह तो नर-वानरों को आते ही देखकर डर गया, जिससे यहाँ से भाग गया तो वीर राक्षसों के समक्ष कब खड़ा हो सकेगा ?

जामवंत मंत्री अति बूढ़ा । सो कि होइ अब समरारूढ़ा ॥४॥
सिल्पि कर्म जानहिं नल - नीला । है कपि एक महा बलसीला ॥५॥
आवा प्रथम नगर जेहि जारा । सुनत बचन कह बालिकुमारा ॥६॥

अर्थ—जाम्बवान् मंत्री बहुत बूढ़ा है, वह क्या अब रण मे ठहर सकता है ? अर्थात् नहीं ॥४॥

नल-नील थवई का काम जानते हैं, (ईंटा-पत्थर जोड़नेवाले युद्ध क्या जाने ?) हाँ, सेना में एक वानर महा बलवान् है ॥५॥ जो पहले आया था और जिसने लंका जलाई थी—यह वचन सुनते ही बालि-कुमार श्रीअंगदजी बोले ॥६॥

विशेष—'जामवंत मंत्री...'—अत्यन्त वृद्ध मृतक-तुल्य होता है—देखिये दो० ३० चौ० २-४। श्रीहनुमान्‌जी के अद्भुत कर्म सब सभा के प्रत्यक्ष हुए। उन्हें ज्यों-के-त्यों कहकर अन्य लोगों की उपर्युक्त हीनता को सत्य दिखलाना चाहता है कि मैं झूठ नहीं कहता। इसी पर श्रीअंगदजी को उसकी सब बातों के काटने का अच्छा अवसर मिल गया, इससे वे तुरत ही बोले।

यहाँ इसने जिन-जिनकी निंदा की है, वे सब आगे पृथक्-पृथक् युद्ध में इसकी दुर्दशा करेंगे और अपना-अपना बल दिखलावेंगे।

> सत्य वचन कहु निसिचर-नाहा। साँचेहु कीस कीन्ह पुर-दाहा ॥७॥
> रावन नगर अलप कपि दहई। सुनि अस वचन सत्य को कहई ॥८॥
> जो अति सुभट सराहेहु रावन। सो सुग्रीव केर लघु धावन ॥९॥
> चलइ बहुत सो बीर न होई। पठवा खबरि लेन हम सोई ॥१०॥

अर्थ—हे राक्षसराज रावण ! सत्य वचन कह, क्या सत्य ही वानर ने नगर को जला दिया ? ॥७॥ रावण का नगर एक छोटा-सा वानर जलावे, यह वचन सुनकर भला इसे कौन सत्य कहेगा ? अर्थात् कोई विश्वास न करेगा ॥८॥ हे रावण ! तुमने अत्यन्त उत्तम योद्धा कहकर जिसकी प्रशंसा की है, वह तो श्रीसुग्रीवजी का एक छोटा दूत (हरकारा) है ॥९॥ जो बहुत चलता है, वह वीर नहीं होता, उसे तो हमने खबर लेने के लिये भेजा था ॥१०॥

विशेष—(१) 'सत्य वचन कहु...'—यह विश्वास योग्य बात नहीं है, इसी से बार-बार "साँचेहु कीस..." "सत्य को कहई", आदि से प्रकट किया है; यथा—"कहु कपि रावन पालित लंका। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका ॥" (सु० दो० ३२), श्रीअंगदजी ने श्रीहनुमान्‌जी से सुना था, पर इन्होंने आश्चर्य मानकर विश्वास नहीं किया था। जब रावण ने स्वयं कहा है, तब सत्य जानना कहा। 'अलप कपि'—एक तो वानर, दूसरे छोटा-सा, फिर वह ऐसा कार्य करे, तो महान् आश्चर्य की बात है। 'निसिचर-नाहा' - भाव यह कि सामान्य निशाचर भी वानरों को खा जाते हैं, तू तो उन सबका राजा एवं त्रय-लोक-विजयी है। तेरे नगर पर इन्द्रादि देवता भी दृष्टि नहीं डाल सकते। किन्तु, तेरे देखते हुए उसने कैसे उसे जला डाला और जीता हुआ लौट गया ? भाव यह कि तुझमें एक तुच्छ वानर के समान भी बल नहीं है। 'रावन' शब्द का भाव यह कि जो तीनों लोकों को रुलानेवाला है, उसे भी उसने रुला दिया।

यहाँ रावण-कृत व्यङ्गोक्ति-निन्दा का तदनुसार गूढ़ोत्तर है, नीति है कि 'शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्।' इस युक्ति से श्रीअंगदजी ने सम्पूर्ण राम-सेना की प्रशंसा की है। झूठ कथन का दोष यहाँ नहीं है; केवल वाग्युद्ध हो रहा है। श्रीअंगदजी तो आगे साफ कहते हैं; यथा—"सत्य पवन सुत मोहि सुनाई।" पुनः श्रीहनुमान्‌जी का महत्त्व भी आगे कहा है; यथा—"कस रे सठ हनुमान कपि, गयउ जो तव सुत मारि।" इत्यादि।

(२) 'लघु धावन'—उसने तो सौ योजन ही लाँघा है, यहाँ ऐसे-ऐसे वानर हैं, जिन्होंने दो ही

घड़ी में पृथिवी-भर की सात प्रदक्षिणाएँ की हैं। 'पठवा खबर लेन'—उसकी वीरों में गिनती नहीं है, केवल खबर लेने के लिये ही भेजा गया था। 'हम' अर्थात् उसे तो हमने भेजा था, श्रीसुग्रीवजी ऐसे लघु को न भेजते।

(३) 'चलइ बहुत सो···'—यह पवन का पुत्र है, इससे चलने में तेज है। इसलिये उसे हमने ही भेजा है। बहुत चलने से एवं समुद्र लाँघने से तुमने उसे वीर समझ लिया है, यह तो धावन (चलनेवाला) है, वीर नहीं है।

दोहा—सत्य नगर कपि जारेउ, बिनु प्रभु आयसु पाइ।
फिरि न गयउ सुग्रीव पहिं, तेहिं भय रहा लुकाइ॥
सत्य कहहि दसकंठ सब, मोहि न सुनि कछु कोह।
कोउ न हमारे कटक अस, तो सन लरत जो सोह॥

अर्थ—सत्य ही वानर ने विना प्रभु की आज्ञा पाये नगर जला डाला? इसी डर से वह लौटकर श्रीसुग्रीवजी के पास नहीं गया, छिप रहा॥ हे दशग्रीव! तुम सत्य कहते हो, मुझे सुनकर कुछ क्रोध नहीं है। हमारी सेना में कोई भी ऐसा नहीं है कि जो तुमसे लड़ने में शोभा पावे, (भाव यह कि तुम-ऐसे तुच्छ से लड़ने में सब अपनी हीनता समझेंगे)॥

विशेष—'बिनु प्रभु आयसु पाइ'—प्रभु ने तो उसे इतनी ही आज्ञा दी थी—"बहु प्रकार सीतहि समुझायहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयेहु॥" (कि॰ दो॰ २२); यह कार्य उसने अपनी ओर से कर डाला। इसी डर से वह श्रीसुग्रीवजी के सामने नहीं गया, छिप रहा था। सत्य ही श्रीहनुमान्‌जी इस कार्य से डरे हुए थे, तभी पहुँचने पर श्रीजाम्बवान्‌जी के पीछे थे, पीछे जब प्रभु ने उसी कार्य की प्रशंसा की, तब श्रीहनुमान्‌जी ने प्रभु की प्रसन्नता जानी; यथा—"··· प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना।···" (सुं॰ दो॰ ३२)—यह भी भाव है। 'मोहि न सुनि कछु कोह'—यद्यपि तुम्हारे वचन ललकार के हैं; यथा—'मो सन भिरिहि कौन जोधा बद' पर मुझे सुनकर क्रोध नहीं है, इसलिये कि तुमपर क्रोध करने से अपयश ही होगा। वही आगे कहते हैं—

प्रीति-बिरोध समान सन, करिय नीति असि आहि।
जौ मृगपति बध मेढ़कन्हि, भल कि कहइ कोउ ताहि॥
जद्यपि लघुता राम कहँ, तोहि बधे बड़ दोष।
तदपि कठिन दसकंठ सुनु, छत्र जाति कर रोष॥

अर्थ—प्रीति और विरोध बराबरवाले से करना चाहिये—ऐसी नीति है। यदि सिंह मेंढ़क को मारे तो क्या उसे कोई भला कहेगा?॥ यद्यपि तेरे वध में श्रीरामजी की लघुता और बड़ा दोष है, तथापि हे दशग्रीव! सुनो, क्षत्रिय-जाति का क्रोध कठिन होता है; अर्थात् क्रोधवश वे ऐसे अनुचित कार्य भी कर बैठते हैं॥

विशेष—(१) 'जौ मृगपति बध'''—अपने दल के वीरों को सिंह और रावण को मेढ़क कहा। क्योंकि उसने मारे डर के छिपकर परस्त्री की चोरी की है। तब वे आये ही क्यों ? इसपर कहते हैं—

(२) 'जद्यपि लघुता'''—तेरे वध में शोभा नहीं ही है, इसी से तुझे बार-बार समझाया गया, पर यदि तू नहीं ही मानेगा और चरणों पर पड़कर श्रीसीताजी को सादर समर्पण नहीं करेगा तो उन्हें क्रोध आयेगा, क्योंकि वे क्षत्रिय हैं फिर क्रोध आने पर यश-अपयश, उचित-अनुचित का विचार न रहेगा; यथा—"लखन कहेउ हँसि सुनहुँ मुनि, क्रोध पाप कर मूल। जेहि बस जन अनुचित करहिं, चरहिं बिस्व प्रतिकूल ॥" (बा० दो० २७७)। इस कार्य में उनको कोई भला न कहेगा, अपयश होगा—यही 'बड़ा दोष' है, पर वे क्रोधवश होने पर फिर विचार न करेंगे, तुझे मार ही डालेंगे। क्षत्रिय-जाति में क्रोध अधिक होता है।

बक्र उक्ति धनु बचन सर, हृदय दहेउ रिपु कीस।
प्रतिउत्तर सड़सिन्ह मनहु, काढ़त भट दससीस ॥
हँसि बोलेउ दसमौलि तब, कपि कर बड़ गुन एक।
जो प्रतिपालइ तासु हित, करइ उपाय अनेक ॥२३॥

शब्दार्थ—बक्र-उक्ति (वक्रोक्ति) = यह एक अलंकार है, जिसमें काकु या श्लेष से वाक्य का और का और अर्थ किया जाता है।

अर्थ—वक्रोक्ति-रूपी धनुष से वचन-रूपी बाण मारकर वानर अंगदजी ने शत्रु का हृदय जला दिया। योद्धा रावण प्रत्युत्तर-रूपी सँड़सियों से उन बाणों को मानों निकाल रहा है॥ तब रावण हँसकर बोला कि वानर का एक बड़ा गुण यह है कि जो उसका पालन करता है, उसका यह अनेक उपायों से हित करता है ॥ २३ ॥

विशेष—(१) वक्रोक्ति को धनुष कहा है, क्योंकि दोनों में टेढ़ाई होती है। धनुष से निकलकर बाण शत्रु का हृदय वेध डालता है, वैसे ही वक्रोक्ति ने भी शत्रु रावण के हृदय को जला दिया। यह वक्रोक्ति की प्रशंसा है। बाण-रूपी वचन सीधे हैं, पर वक्रोक्ति रूपी धनुष के द्वारा उनसे आघात हुआ है।

(२) 'प्रतिउत्तर'''—प्रबल उत्तर तो आता नहीं, केवल हँसी आदि के द्वारा हृदय की जलन निकालता है। 'भट' क्योंकि क्षुभित न होकर चुभे हुए बाणों को निकालता है।

(३) 'हँसि बोलेउ दसमौलि'''—हँसकर श्रीअंगदजी के वचनों का निरादर किया। 'कपि कर बड़ गुन एक।''' यही सँड़सी है, इससे उक्त वचन-रूपी बाणों को निकालता है। उसका भाव यह है कि इसने अपने स्वामी के हित के लिये बनाकर ये वचन कहे हैं—सत्य नहीं हैं। 'दसमौलि' का भाव यह है कि दसों मुखों से हँसा कि जिससे दसों दिशाओं के लोग जान लें कि श्रीअंगदजी के वचन व्यर्थ हैं।

धन्य कीस जो निज प्रभु काजा। जहँ तहँ नाचइ परिहरि लाजा ॥१॥
नाचि कूदि करि लोग रिझाई। पति - हित करइ धर्म निपुनाई ॥२॥
अंगद स्वामिभक्त तव जाती। प्रभु-गुन कस न कहसि येहि भाँती॥३॥

मैं गुनगाहक परम सुजाना। तव कटु रटनि करउँ नहिं काना ॥४॥

अर्थ—वानर धन्य हैं, जो अपने स्वामी के कार्य के लिये लज्जा छोड़कर जहाँ-तहाँ नाचते हैं ॥१॥ नाच-कूदकर लोगों को रिझाकर के स्वामी का हित करते हैं, यह उनकी धर्म की निपुणता है ॥२॥ रे अंगद ! तेरी ज़ाति ही स्वामि-भक्त है, तब तू अपने स्वामी का गुण इस प्रकार कैसे न कहे ? (अर्थात् स्वामिभक्त अपने स्वामी की प्रशंसा करते ही हैं) ॥३॥ मैं गुण-ग्राहक और परम सुजान हूँ इसी से तेरी कड़वी रटन पर कान नहीं देता; अर्थात् उपेक्षा कर देता हूँ कि यह तो इसका जातीय स्वभाव है, छूट नहीं सकता। प्राकृतिक दोष उपेक्षणीय कहा गया है ॥४॥

विशेष—(१) 'धन्य कीस···नाचि कूदि···'—यह उपर्युक्त 'स्वामि हित करइ उपाइ अनेक' का ही विस्तार है कि तू अपने स्वामी के हित के लिये यहाँ के लोगों को नाच-कूदकर रिझा रहा है। तुम्हारा स्वामी नट है, इशारा करके यहाँ तुम्हें नचा रहा है, अपना गुण कहवा रहा है, अच्छी जगह आया है, क्योंकि यहाँ मैं गुण-ग्राहक हूँ। अपनी न्यूनता आदि पर ध्यान न देकर केवल तेरे स्वामि-भक्ति-रूप गुण को देखकर प्रसन्न होता हूँ। व्यंग्य में 'धन्य' से धिक्कार का भाव है।

(२) 'परम सुजाना'—सुजान लोग व्यर्थ बातों पर ध्यान नहीं देते; यथा—"सुनहुँ नाथ तुम्ह सहज सुजाना। बालक बचन करिय नहिं काना ॥" (बा० दो० १७८), इसी से मैं तेरी कटु रटन पर कान नहीं देता। पुनः सुजान लोग सुजानता से सबके गुण जानकर उसका आदर करते हैं; यथा—"साधु सुजान सुसील नृपाला।···सुनि सनमानहिं सबहिं सुबानी।···" (बा० दो० २७); और मैं तो दिग्विजयी राजा हूँ, अतएव 'परम सुजान' हूँ, तो गुण का आदर क्यों न करूँ ? उसी गुण पर तेरी कटु रटन को क्षमा करता हूँ, यही गुण का आदर करना है। इस युक्ति से उसने अंगदजी को व्यर्थ बकवादी लक्षित किया।

कह कपि तव गुन-गाहकताई। सत्य पवनसुत मोहि सुनाई ॥५॥
बन बिधंसि सुत बधि पुर जारा। तदपि न तेहिं कछु कृत अपकारा ॥६॥
सोइ बिचारि तव प्रकृति सुहाई। दसकंधर मैं कीन्हि ढिठाई ॥७॥

अर्थ—वानर अंगदजी ने कहा कि तेरी गुण-ग्राहकता सत्य है, श्रीहनुमान्‌जी ने उसे हमें सत्य ही सुनाया है ॥५॥ कि अशोक वन को नाश कर, पुत्र को मारकर, उसने नगर को जलाया, तो भी (तुम्हारे विचार में) उसने तुम्हारा कुछ अपकार नहीं किया ॥६॥ वही तुम्हारी सुहावनी प्रकृति (स्वभाव) विचार करके, रे दशकंधर ! मैंने ढिठाई की ॥७॥

विशेष—(१) 'सत्य पवनसुत मोहि सुनाई।'—जब श्रीहनुमान्‌जी की लघुता कहते थे, तब उन्हें 'कपि', 'अल्प कपि', 'कीस' आदि छोटा नाम देते थे। यहाँ प्रशंसा में 'पवन-सुत' यह उनका बड़ा नाम दिया।

(२) 'तदपि न तेहि कछु कृत अपकारा।'- अब गुण-ग्राहकता दिखाते हैं कि श्रीहनुमान्‌जी ने अशोक-वन का विध्वंस किया। अक्ष को मारा और नगर को जलाया। तब तुमने उनके इन गुणों का आदर ही किया। उक्त कार्यों को अपकार नहीं माना, अन्यथा उन्हें दंड देते। व्यंग्य का भाव यह है कि अपने बस-भर तो तुमने सब कुछ किया। उस अकेले से लड़ने को उत्तरोत्तर पाँच-छः बार श्रेष्ठ योद्धा भेजे और उसका कुछ न कर सके। तब गुण-ग्राहक बनकर अपना गाल बजाते हो। वैसे ही मेरा भी कुछ कर तो सकते नहीं, तब गुण-ग्राहक बनकर परम सुजानता कहते हो।

(३) 'सोइ बिचारि तव ···'—भाव यह कि जब पवन-सुत के उक्त कार्यों को तुमने भलाई ही माना तो तुम्हारे उसी सुहावने-स्वभाव पर मैंने भी तुम्हारे एक पुत्र को मारा और तुम्हें भी सभा के बीच में खरी-खोटी सुनाई, यह सब ढिठाई की कि तुम कुछ प्रतिकार तो करोगे नहीं। 'सुहाई' का व्यंग्य में यहाँ 'असुहाई' अर्थ है कि तुम बड़े कायर और असमर्थ एवं निर्लज्ज हो। अत, मेरा भी कुछ न कर सकोगे, इसी से मैंने भी वैसा ही निश्शंक बर्त्ताव किया।

देखेउँ आइ जो कछु कपि भाखा। तुम्हरे लाज न रोप न माखा ॥८॥
जौं असि मति पितु खायहु कीसा। कहि अस बचन हँसा दससीसा ॥९॥

शब्दार्थ—माख = असहनशीलता, (यहाँ अमर्ष का अर्थ है)।

अर्थ—जो कुछ श्रीहनुमान्‌जी ने कहा था, वह आकर मैंने देखा कि तुम्हें न लज्जा है, न रोष है और न माष है ॥८॥ (तब रावण ने कहा) अरे वानर, ऐसी बुद्धि है तभी तो तूने अपने बाप को खा लिया (मरवा डाला), ऐसे वचन कहकर दशशीश रावण (दसों मुखों से) हँसा ॥९॥

विशेष—(१) 'देखेउँ आइ जो ···'—सुनकर मुझे विश्वास न होता था कि त्रिलोक-विजयी रावण लाज, रोष और माष से रहित है, पर आकर देखा तो सत्य ही पाया। परस्त्री-हरण कर्म लज्जाजनक है, इसपर तुम्हें डूब मरना था; यथा—"हमहुँ सुनी कृत पर तिय चोरी ॥ देखी नयन न दूत रखवारी। बूड़ि न मरहु धर्मव्रत धारी ॥" (दो० २१), पर तुम बैठे हुए हँसते हो। अत, निर्लज्ज हो। पुन 'रोष' होता तो बहन की नाक और कान काटे जाने का बदला लेते, चुपचाप घर में बैठे न रहते। श्रीहनुमान्‌जी के कर्मों का प्रतिकार करते, पर न कर सके। अत, तुम्हें रोष भी नहीं है। फिर 'माष' होता, तो मेरे कटु वचन न सुनते, पर तुम सुनते हो और कुछ करते नहीं हो।

(२) 'जौं अस मति ··'—रावण ने उलटकर उन्हीं दोषों को श्रीअंगदजी पर डाल दिया कि तुम्हें लज्जा होती तो अपनी माता को श्रीसुग्रीवजी की पत्नी देख डूब मरते। रोष होता तो बाप के मारने-वाले से बदला लेते और माष होता तो पितृ-घाती के दूत अपने मुख से न बनते। ये तीनों दोष तुम्हारे पिता के मरने से प्रकट हुए। इन्हीं दोषों के लिये तुमने पिता को मरवा डाला। 'हँसा'—प्रत्युत्तर की खुशी पर प्रसन्नता दिखाता हुआ हँसा।

पितहि खाइ खातेउँ पुनि तोही। अबही समुझि परा कछु मोही ॥१०॥
बालि बिमल जस भाजन जानी। हतउँ न तोहि अधम अभिमानी ॥११॥
कहु रावन रावन जग केते। मैं निज श्रवन सुने सुनु जेते ॥१२॥
बलिहि जितन एक गयउ पताला। राखेउ बाँधि सिसुन्ह हयसाला ॥१३॥
खेलहिं बालक मारहिं जाई। दया लागि बलि दीन्ह छोड़ाई ॥१४॥

अर्थ—(श्रीअंगदजी ने कहा—) पिता को खाकर फिर तुमको भी खाता, पर अभी-अभी कुछ मुझे समझ पड़ा (जिससे नहीं खाया) ॥१०॥ अरे अधम और अभिमानी! बालि के निर्मल यश का पात्र जानकर मैं तुझे नहीं मारता ॥११॥ अरे रावण! कह तो (सही) कि जगत् में कितने रावण हैं, मैंने जितने अपने

कानों से सुने हैं, उनको सुन ॥१२॥ एक तो बलि को जीतने के लिये पाताल गया था, तब बच्चों ने उसे घोड़साल में बाँध रक्खा था ॥१३॥ बालक खेलते थे और जा-जाकर उसे (लातों से) मारते थे। बलि को दया लगी, तब उन्होंने छुड़ा दिया ॥१४॥

विशेष—(१) 'खातेउँ पुनि तोही'—तुम पिता के सखा हो, इससे उसके बाद तुम्हें खाने को चाहता था। 'बालि बिमल जस···'—जब तक तू जीता है, तभी तक लोग मेरे पिता की कीर्त्ति बखान करते हैं कि यही दिग्विजयी पर्वताकार दशशीस और बीस भुजाओं का रावण है, जिसे बालि ने काँख मे दबा रक्खा था। अतः, बालि बल की सीमा है।

यदि तू मर जायगा, तो फिर यह यश न रह जायगा और न कोई बालि के भुज-बल का कुछ अन्दाजा ही कर सकेगा।

(२) 'रावन जग केते'—रावण तो यह एक ही है और इसी के ये सब चरित हैं। पर श्रीअंगदजी मर्यादा से ढँककर कहते हैं कि स्पष्ट कह देने से वह संकुचित होगा। 'सुनु ते ते' अर्थात् इनमें एक को भी स्वीकार करेगा, तो भी शूरता प्रकट हो जायगी। इसी युक्ति से उसके हारने ही के सब प्रसंग सभा में कहते हैं।

अंगद और रावण-संवाद के बहुत अंश हनुमन्नाटक से मिलते हैं। विस्तार-भय से वे यहाँ उद्धृत नहीं किये जा रहे हैं।

(३) 'बलिहि जितन······'—दिग्विजय के समय रावण ने सुना कि पाताल में बलि के यहाँ उनकी ड्योढ़ी पर एक बड़ा बली व्यक्ति रहता है। उसे जीत लेने से फिर बलि को जीत लूँगा। इसका अभिप्राय जानकर वामन भगवान् ने अपना बल छोटे बालकों को दे दिया, उन्होंने रावण को बाँध लिया, और घोड़साल मे रख दिया। इससे घोड़ों की लीद उठवाते थे। बालक लोग खेलते हुए नित्य इसे लात मारते थे। बलि ने देखा तो उन्हें दया लगी और फिर उन्होंने उसे छुड़ा दिया। श्रीअंगदजी का आशय यह कि तुम बच्चों से न जीत सके, तब बलि के जीतने की कौन बात ?

वाल्मीकीय रामायण उत्तरकांड के प्रक्षिप्त में यह कथा और प्रकार से है। मानसकार का यह प्रसंग कल्पभेद से है और कहीं अन्यत्र का है।

(४) 'दया लागि···'—का आशय यह भी है कि तुम्हारे पुत्र, सेना आदि भी तुम्हें नहीं छुड़ा सके। अतः, सभी पुरुषार्थ-हीन हैं। तभी तो तुम्हें बलि की दया का भिखारी बनना पड़ा।

एक बहोरि सहसभुज देखा। धाइ धरा जिमि जंतु बिसेखा ॥१५॥
कौतुक लागि भवन लै आवा। सो पुलस्ति मुनि जाइ छोड़ावा ॥१६॥

दोहा—एक कहत मोहि सकुच अति, रहा बालि की काँख।
इन्ह महँ रावन तैं कवन, सत्य बदहि तजि माख ॥२४॥

अर्थ—फिर एक रावण को सहस्रबाहु ने देखा, तब जैसे कोई विचित्र जन्तु को पकड़े, उसी तरह उसने उसको दौड़कर पकड़ लिया ॥१५॥ कौतुक के लिये उसे घर ले गया, तब उसे पुलस्त्य मुनि ने

जाकर छुड़ाया ॥१६॥ एक के कहने में मुझे अत्यन्त संकोच होता है, क्योंकि यह वालि की काँख में दबा रहा। इनमें से तू कौन रावण है? 'मारा' छोड़कर सत्य कह, (क्या ये सब घटनाएँ तुम्हारे ही सम्बन्ध की तो नहीं हैं?) ॥२४॥

विशेष—(१)—'एक बहोरि सहसभुज देखा।···'—'जंतु बिसेषा'—वर्षाकाल में प्रायः तरह-तरह के विचित्र जीव (कीड़े-मकोड़े) देखने में आते हैं। लड़के लोग खेल के लिये उन्हें पकड़ लेते हैं। वैसे ही इसे उसने दस शिर का विलक्षण जन्तु जानकर पकड़ लिया। इस तरह रावण को अत्यन्त तुच्छ जनाया; यथा—"सहसोत्पत्य जग्राह गरुत्मानिव पन्नगम्।" (वाल्मी॰ ७ ३१।१३); अर्थात् गरुड़ जैसे सर्प को पकड़ें, वैसे सहस्रार्जुन ने इसे पकड़ लिया। रावण ने श्रीअंगदजी को 'जंतु' कहा था; यथा—'जनि जल्पसि जड़ जंतु कपि' उसका यहाँ प्रत्युत्तर भी है। 'भवन लै आवा'—इसलिये कि लड़के लोग विचित्र जन्तु जानकर खेलेंगे। 'कौतुक लागि' से कोई यह भी भाव कहते हैं कि सभा में जब कोई कौतुक होता था तब इसके दस शिरों और बीसों हाथों पर ३० दीपक रक्खे जाते थे।

वाल्मीकीय उत्तर-कांड सर्ग ३१–३३ में सहस्रार्जुन की कथा है कि वह माहिष्मती का राजा था। एक दिन स्त्रियों के साथ नर्मदा में जल-विहार कर रहा था। उस समय रावण वहाँ समीप में पहुँचा और नर्मदा में स्नान करके श्रीशिवजी का पूजन करने लगा, इसके पास पुष्पों का ढेर रक्खा था। सहस्रार्जुन ने अपनी सहस्र भुजाओं के द्वारा जल के प्रवाह को रोक दिया, जिससे जल उलट पड़ा। रावण के पुष्प आदि भी बह गये। यह पता लगाकर उससे युद्ध करने के लिये गया। पहले इसने अर्जुन की सेना से युद्ध कर उनका नाश किया। पीछे सहस्रार्जुन आया उसने राक्षसों का नाश करना प्रारंभ किया। प्रहस्त के गिरने पर शेष भगे। तब रावण से युद्ध होने लगा। अंत में उसने रावण को ऐसी गदा मारी कि यह घायल होकर बैठ गया। इसी बीच में अर्जुन ने इसे पकड़कर बाँध लिया, पीछे घर लाया। फिर पुलस्त्य मुनि ने आकर सहस्रार्जुन से कहकरके इसे छुड़ाया।

(२) 'एक कहत मोहि सकुच अति···'—क्योंकि इसमें अपने ही घर की प्रशंसा है। यह आत्म-श्लाघा-रूप दोष है; यथा—"अपने मुँह तुम्ह आपनि करनी। बार अनेक भाँति बहु बरनी॥" (बा॰ दो॰ २७१); यह परशुरामजी की तुच्छता पर कहा गया है।

यह कथा वाल्मीकीय रामायण ७।३४ में है। वालि दक्षिण समुद्र-तट पर संध्या करता था। रावण दिग्विजय के समय उसे जीतने के लिये चुपके से पीछे से जा रहा था कि उसे पकड़ लूँ, पर वह लख गया। फिर इसके पहुँचने पर फिरकर फुर्ती से इसे ही पकड़कर काँख में दबा लिया और संध्या पूरी कर नभ-मार्ग से ले उड़ा, फिर शेष तीन दिशाओं के समुद्रों पर संध्या की और किष्किंधा पुरी में आ इसे छोड़कर इससे पूछने लगा कि तुम कौन हो, कहाँ से आये हो? इसने परिचय कहकर वालि के बल की प्रशंसा की और प्रार्थना कर अग्नि की साक्षी देकर उससे संधि कर ली। सखा बनकर श्रीसुग्रीवजी की तरह एक महीना रहा, तब लंका को गया।

'तजि मारा'—यहाँ 'मारा' का अर्थ 'मख' धातु के अनुसार है। जिसका अर्थ है—'दंभ या चातुरी से अपने दोष छिपाना'। उपर्युक्त—'तुम्हरें लाज न रोष न मारा' का 'मारा' दूसरे अर्थ में है। यों भी यह नहीं है कि जब उसमें मारा है ही नहीं, तब यहाँ 'तजि मारा' कैसे कहते? अतएव यहाँ का 'मारा' दूसरे ही अर्थ में है जो ऊपर लिखा है।

सुनु सठ सोइ रावन बलसीला । हर-गिरि जान जासु भुज-लीला ॥१॥
जान उमापति जासु सुराई । पूजेउँ जेहि सिर सुमन चढ़ाई ॥२॥
सिर - सरोज निज करन्हि उतारी । पूजेउँ अमित बार त्रिपुरारी ॥३॥
भुज - बिक्रम जानहिं दिगपाला । सठ अजहूँ जिन्हके- उर साला ॥४॥

शब्दार्थ—बिक्रम = पराक्रम · साल = कसक, पीड़ा ।

अर्थ—(रावण ने कहा—) अरे शठ ! सुन, मैं वही बल-पूर्ण रावण हूँ, जिसकी भुजाओं का चरित श्रीशिवजी और कैलास जानते हैं ॥१॥ जिसकी शूरता को उमापति जानते हैं कि जिनकी पूजा मैंने अपने शिर-रूपी पुष्प चढ़ा-चढ़ा कर की है ॥२॥ शिर-रूपी कमलों को अपने हाथों से उतार-उतारकर अगणित बार मैंने त्रिपुर दैत्य के शत्रु श्रीशिवजी की पूजा की है ॥३॥ अरे शठ ! मेरी भुजाओं का पराक्रम दिक्‌पाल जानते हैं कि जिनके हृदय में अब भी पीड़ा हो रही है ॥४॥

विशेष—(१) 'हर-गिरि जान...'—यहाँ 'हर' और 'हर-गिरि' दोनों का अर्थ है । 'भुज-लीला'—का भाव यह कि मैंने गेंद की तरह कैलास को उठा लिया । तब पीछे श्रीशिवजी प्रसन्न हुए और उन्होंने वर भी दिया । इसकी कथा वाल्मी॰ ७।१६ में है । आगे—'हरगिरि मथन निरखु मम बाहू ।' भी कहा है, वहाँ केवल कैलास का ही अर्थ है, और 'मथन' का अर्थ पीड़ा पहुँचाने का है; यथा—"तोलयामास तं शीघ्रं स शैलः समकंपत ॥" (वाल्मी॰ ७।१६।२५) ।

(२) 'जान उमापति जासु...'—'उमापति' का भाव यह कि मैंने श्रीशिवजी की शक्ति सहित पूजा की है । शिरों को अपने हाथों से काटने में अपनी शूरता समझता है; यथा—"सूर कौन रावन सरिस, स्वकर काटि जेहिं सीस ।" (दो॰ २८), अपने हाथ शिर काटते हुए उत्साह बना रहता था, फिर व्यथा-रहित स्वयं पूजा भी करता था । जैसे पुष्प उतारने में कष्ट नहीं होता, वैसे शिरों के उतारने में पीड़ा नहीं होती थी, इससे इसे अपनी शूरता कही है । विभीषणजी ने भी कहा है ; यथा—"सादर सिव कहँ सीस चढ़ाये ।" (दो॰ १३), 'जान' का भाव यह कि वे इस कर्म के साक्षी हैं, इसी पर उन्होंने वर दिया है ।

(३) 'सिर-सरोज निज करन्हि.. '—देवताओं को कमल विशेष प्रिय होता है । इससे शिरों को कमल कहा । पुन. पूजा का फूल अपने ही हाथों से उतारना श्रेष्ठ होता है और पुष्प तोड़ने को उतारना कहा जाता है । वैसे ही शब्द यहाँ दिये गये हैं । 'अमित बार'—क्योंकि जो शिर चढ़ाता था उसकी जगह फिर नवीन शिर हो जाता था । उत्साह की अधिकता से अगणित बार चढ़ाया । यही श्रद्धा-युक्त उत्तम धर्म है; यथा—"श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई ।" (उ॰ दो॰ ८९); 'सुमन'—का श्लेषार्थ से 'प्रसन्न मन' भी अर्थ है ।

(४) 'भुज बिक्रम जानहिं दिगपाला । ..'—दिक्पालों को भुजबल से जीता है; यथा—"भुजबल जितेउँ सकल दिगपाला ।" (दो॰ ७); 'अजहूँ जिन्हके उर साला'—क्योंकि अब भी देवता लोग दुखड़ा रोते हैं, यथा—"इहाँ देवतन्ह अस्तुति कीन्हीं । दारुन बिपति हमहि यहि दीन्हीं ॥" (दो॰ ८५) ।

जानहिं दिग्गज उर कठिनाई । जब जब भिरेउँ जाइ बरियाई ॥५॥
जिन्हके दसन कराल न फूटे । उर लागत मूलक इव टूटे ॥६॥

जासु चलत डोलति इमि धरनी । चढ़त मत्त गज जिमि लघु तरनी ॥७॥
सोइ रावन जग बिदित प्रतापी । सुनेहि न श्रवन अलीक प्रलापी ॥८॥

दोहा—तेहि रावन कहँ लघु कहसि, नर कर करसि बखान ।
रे कपि बर्बर खर्ब खल, अब जाना तव ग्यान ॥२५॥

शब्दार्थ—धँसे, छाती फोड़कर भीतर धँसे । अलीक = झूठा । प्रलापी = निरर्थक बकनेवाला । तरनी = नाव । बर्बर = जंगली, असभ्य ।

अर्थ—दिशाओं के हाथी मेरे हृदय की कठोरता को जानते हैं, (क्योंकि) जब-जब मैं उनसे जबर्दस्ती जा-जाकर भिड़ा हूँ ॥५॥ तब-तब उनके कराल (निकले हुए भीषण) दाँत मेरी छाती में नहीं धँसे, प्रत्युत् लगते ही मूली की तरह टूट गये ; अर्थात् मुझे कुछ श्रम न हुआ, लगते ही टूट गये जैसे मूली शीघ्र टूट जाती है ॥६॥ जिसके चलते समय पृथिवी इस तरह डोलती है जैसे मतवाले हाथी के चढ़ते समय छोटी नाव ॥७॥ मैं वही जगत्-प्रसिद्ध प्रतापी रावण हूँ। अरे झूठे, व्यर्थ बकवादी ! क्या तूने मुझे कभी कानों से नहीं सुना ? ॥८॥ उस रावण को तू छोटा कहता है और मनुष्य की बड़ाई करता है । अरे असभ्य तुच्छ वानर ! अरे दुष्ट ! अब मैंने तेरा ज्ञान जाना (बुद्धि की थाह पाली) ॥२५॥

विशेष—(१) 'जाइ बरियाई'—वे भागते थे, तब भी मैं घेरकर उनसे युद्ध करता था । 'फूटना'—गुजरात देश में धसने के अर्थ में बोला जाता है ।

(२) 'जासु चलत डोलति;...' यथा—"चलत दसानन डोलति धरनी । गरजत गर्भ स्रवहिं सुर-रवनी ॥" (बा॰ दो॰ १८१), "तव बल नाथ डोल नित धरनी ।" (दो॰ १०१), पृथिवी-भर के लोग इससे काँपते थे तथा यों भी कहा गया है कि इसके पाप के भार को पृथिवी नहीं सह सकती थी; यथा—"गिरि सरि सिंधु भार नहिं मोही । जस मोहि गरुअ एक परद्रोही ॥" (बा॰ दो॰ १८६), इसे रावण अपना बल एवं प्रताप कहता है, क्योंकि तामसी लोग पर-पीड़ा में ही गौरव मानते हैं।

श्रीअंगदजी ने कहा था, यथा-"मैं निज श्रवन सुने सुनु तेते ।" उसी का उत्तर है कि मैं उनमें नहीं हूँ । तेरी सुनी हुई बात का क्या ठिकाना ? यदि श्रीअंगदजी ने 'देखे' कहा होता, तो उनके वचन का यह उत्तर न होता ।

(३) 'रे कपि बर्बर...'—शरीर से पशु, वाणी से बर्बर, आकृति में छोटा अतएव खर्व (तुच्छ) और स्वभाव का दुष्ट है । इस तरह श्रीअंगदजी को सब तरह से दूषित कहा । यह प्रसंग गी॰ लं॰ ३ से मिलान करने योग्य है ।

सुनि अंगद सकोप कह बानी । बोलु सँभारि अधम अभिमानी ॥१॥
सहसबाहु - भुज गहन अपारा । दहन अनल-सम जासु कुठारा ॥२॥

अर्थ—रावण के वचन सुनकर श्रीअंगदजी ने क्रोधपूर्वक वचन कहा । अरे अधम ! अरे अभिमानी ! सँभालकर बोल ॥१॥ जिसका फरसा सहस्रबाहु की सहस्र भुजा-रूपी अपार वन को जलाने के लिये अग्नि के समान था ॥२॥

विशेष—(१) 'सुनि अंगद सकोप···'—रावण ने श्रीरामजी को नर कहा, यह भी हीनता की दृष्टि से, इसी से श्रीअंगदजी क्रुद्ध हुए। देखिये दो० ३० चौ० १-३। श्रीअंगदजी समर्थ हैं, इससे डाँटकर कहते हैं कि सँभालकर बोल, नहीं तो जीभ काट ली जायगी। पुनः प्रमाणों से उसकी वाणी को खंडन करते हैं। यह वाणी का खंडन करना भी जीभ काटना है।

रावण ने कहा था—'रे कपि पोत बोल संभारी।' वैसे श्रीअंगदजी भी कहते हैं; यथा—'बोलु सँभारि अधम···'। श्रीरामजी को नरमात्र मानने से अधम अभिमानी कहा गया है; यथा—"कहहि सुनहि अस अधम नर, ग्रसे जे मोह पिसाच।" (बा० दो० ११४); पहले एक दोहे में रावण ने अपना प्रभाव कहा। वैसे एक दोहे मे श्रीअंगदजी भी श्रीरामजी का प्रभाव कहते हैं।

(२) 'सहसबाहु भुज···'—सहस्र भुजा होने से उन्हें अपार वन कहा कि उनमे पड़कर कोई निकल नहीं पाया; अर्थात् वहाँ जो गया वह मारा ही गया। उसे कोई जीत नहीं सका था। पुनः वन के सम्बन्ध से परशु को अग्नि कहा कि उसने विना श्रम ही उसकी सारी भुजाएँ काट डालीं। परशु (कुठार) ही वन को काट सकता है, पर उसे अग्नि कहा, क्योंकि कुठार से कटे हुए वन का पुनर्विकाश हो सकता है, पर अग्नि से जलने पर नहीं।

जासु परसु-सागर खर धारा। बूड़े नृप अगनित बहु बारा ॥३॥
तासु गर्व जेहि देखत भागा। सो नर क्यों दससीस अभागा ॥४॥
राम मनुज कस रे सठ बंगा। धन्वी काम नदी पुनि गंगा ॥५॥
पसु सुरधेनु कल्पतरु रूखा। अन्न दान अरु रस पीयूषा ॥६॥

शब्दार्थ—बंगा (सं० वक्र) = टेढ़ा, उद्दंड। कस = क्यों, कैसे।

अर्थ—जिसके फरसा-रूपी समुद्र की तीव्र धारा मे अगणित राजा अनेक बार डूबे ॥३॥ उन श्रीपरशुरामजी का गर्व जिसे देखते ही भग गया, क्यों रे, अभागे दशशीस! वह (सामान्य) मनुष्य कैसे? ॥४॥ क्यों रे उद्दंड! श्रीरामजी मनुष्य कैसे? क्या कामदेव (जो पुष्पवाण और धनुष से संसार को वश कर लेता है, वह सामान्य) धनुर्धर है? और क्या गंगाजी (त्रिपथगामिनी एवं शिव-ब्रह्मा से भी पूज्य, परम पावनी सामान्य) नदी हैं? ॥५॥ क्या कामधेनु (अर्थ, धर्म, काम की देनेवाली सामान्य) पशु है? क्या कल्पवृक्ष (मनोवांछित-दाता सामान्य) रूख (वृक्ष) है? क्या अन्नदान (जिससे प्राणों की रक्षा होती है, वह सामान्य) दान है? और (प्राणियों को अमर कर देनेवाला) अमृत क्या सामान्य रस है? ॥६॥

विशेष—(१) 'जासु परसु-सागर···'—फरसा सागर है, उसकी धारा सागर की तीक्ष्ण धारा है। अगणित नृप अगणित जहाज हैं। 'बहु बारा' अर्थात् २१ बार; यथा—"जाके रोप दुसह त्रिदोप दाह दूरि कीन्हे पैयत न छत्री खोज खोजत खलक मे। माहिष्मती को नाथ साहसी सहसबाहु समर समर्थ, नाथ! हेरिये हलक मे॥ सहित समाज महाराज सो जहाज राज बूड़ि गयो जाके बल बारिधि छलक मे। टूटत पिनाक के मनाक वाम राम से, ते नाक बिनु भये भृगुनायक पलक मे॥" (क० छं० १५); 'जेहि देखत···'—युद्ध भी नहीं करना पड़ा, बात-ही-बात मे हार मानी; यथा—

"सुनि सरोप भृगुनायक आये। बहुत भाँति तिन्ह आँखि देखाये॥ देखि राम बल निज धनु दीन्हा। करि बहु बिनय गवन बन कीन्हा॥" (बा॰ दो॰ १११), हथियार धर देना और विनय करना पूरी हार है। 'गरब'''भागा'—क्षत्रियों के विनाश करने का गर्व तब से फिर नहीं हुआ, नहीं तो पहले रह-रह कर नाश करते थे। श्रीपरशुरामजी का चरित ही कहा गया, उनका नाम यहाँ नहीं खोला गया। कारण यह कि इनका चरित ही इतना प्रसिद्ध था कि नाम कहने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी।

यहाँ क्रम से दिखाया कि सहस्रबाहु श्रीपरशुरामजी से हारा और श्रीपरशुरामजी श्रीरामजी से हारे। तब तू श्रीरामजी के सामने क्या है ? जो सहस्रबाहु से ही हार गया था। 'दससीस अभागा'—तेरे हैं तो दस शिर, पर सभी भाग्य-रहित हैं। राम-विमुख होने से जीव अभागी होता है; यथा—"ते नर नरक रूप जीवत जग भव-भंजन पद विमुख अभागी।" (वि॰ १४०); "सुनहुँ उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं विषय अनुरागी॥" (अ॰ दो॰ ३२)।

(२) 'अन्न दान''''''—अन्न-दान की अधिकता वाल्मी॰ ७।७७ में विस्तार से कही गई है कि विदर्भ देश के राजा श्वेत ने अनेक दान किये थे, पर उन्होंने अन्न का दान नहीं किया था। इससे स्वर्ग प्राप्त होने पर भी वे क्षुधित होते थे और उन्हें अपना ही मास भक्षण करना पड़ता था। अगस्त्यजी के द्वारा उनका उद्धार हुआ।

बैनतेय खग अहि सहसानन। चिंतामनि पुनि उपल दसानन॥७॥
सुनु मतिमंद लोक बैकुंठा। लाभ कि रघुपति भगति अकुंठा॥८॥

दोहा—सेन-सहित तव मान मथि, बन उजारि पुर जारि।
कस रे सठ हनुमान कपि, गयउ जो तव सुत मारि॥२६॥

अर्थ—श्रीगरुड़जी (जो भगवान् के वाहन और सखा हैं, परम समर्थ हैं, जिनके पक्षों से सामवेद की ध्वनि होती है, वे क्या सामान्य) पक्षी हैं ? (एक ही फण पर सब ब्रह्माड को धारण करनेवाले) सहस्र मुखवाले शेषजी क्या (सामान्य) सर्प हैं ? और, अरे दशानन ! सुन, (मन-वांछित देनेवाला) चिन्तामणि क्या (सामान्य) पत्थर है ? ॥७॥ अरे मंदबुद्धि ! सुन, क्या वैकुंठ (जहाँ से जीवों की पुनरावृत्ति नहीं होती, वह सामान्य) लोक है ? क्या श्रीरघुनाथजी की अविचल (दृढ़) भक्ति (सामान्य) लाभ है ? ॥८॥ क्यों रे शठ ! जो सेना-सहित तेरा मान मथकर, अशोक वन उजाड़, लंका नगर जला और तेरे पुत्र को मारकर (सुख-पूर्वक गरजकर) यहाँ से लौट गया, वे श्रीहनुमान्जी क्या (सामान्य) वानर हैं ? ॥२६॥

विशेष—(१) 'सुनु मतिमंद'''—रावण इधर-उधर रार करके टालना चाहता है, इससे कहते हैं—'सुनु'। 'मति मंद'—का भाव यह कि तू लोगों के समझाने से भी नहीं समझता, यथा—"अति बिचित्र रघुपति चरित, जानहिं परम सुजान। जे मतिमंद बिमोह बस, हृदय धरहिं कछु आन॥" (बा॰ दो॰ ४१); 'लाभ कि रघुपति भगति'''; यथा—"लाभ कि कछु हरि भगति समाना।" (उ॰ दो॰ १११)। 'सुनु' शब्द को दीप-देहली-रूप से उपर्युक्त 'दसानन' के साथ भी लेना चाहिये।

(२) 'हनुमान कपि'—रावण ने लोक पाल आदि के जीतने का गर्व प्रकट किया था। उसपर कहते

हैं कि तुम ऐसे का भी गर्व चूर्ण करनेवाला क्या सामान्य वानर हो सकता है ? अर्थात् वे रुद्रावतार हैं, वैसे श्रीरामजी भी साक्षात् परब्रह्म रूपसे अवतीर्ण हैं। यहाँ तक 'नर कर करसि बखान' का ही उत्तर दिया। सर्वत्र काकु-द्वारा विपरीत अर्थ का बोध कराया। रावण अपनी हठ नहीं छोड़ता, इसपर उसे 'सठ' कहा है।

सुनु रावन परिहरि चतुराई। भजसि न कृपासिंधु रघुराई ॥१॥
जौं खल भयेसि राम कर द्रोही। ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोही ॥२॥

अर्थ—अरे रावण ! चतुराई (धूर्त्तता) छोड़कर सुन, चालाकी छोड़कर कृपा-सागर श्रीरघुनाथजी का भजन क्यों नहीं करता ? ॥१॥ अरे दुष्ट, यदि तू श्रीरामजी का द्रोही हुआ तो ब्रह्माजी और शिवजी भी तुझे नहीं रख सकते ॥२॥

विशेष—(१) 'सुनु'—डाँटकर फिर उसे अपनी ओर लाये कि इधर-उधर क्यों देखता है ? 'परिहरि चतुराई'—क्योंकि कपट-चतुराई सर्वथा त्यागने से ही राम-कृपा होती है; यथा—"मन क्रम वचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई ॥" (बा० दो० १११); राम-भजन करना ही शुद्ध चातुरी है; यथा—"रामहि भजहिं ते चतुर नर ॥" (अ० दो० ६); 'कृपासिंधु' का भाव यह कि वे अगाध कृपा से पूर्ण हैं, इससे आश्रितों के दोष भूल जाते हैं; यथा—"दास दोष सुरति चित रहति न दिये दान की।" (वि० ४१); 'रघुराई'—वे चक्रवर्त्ति-कुल में श्रेष्ठ हैं, इससे उनके आश्रित होने में तेरी लघुता न होगी।

(२) 'ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोही।'—क्योंकि इन सबमें श्रीरामजी से ही सामर्थ्य है; यथा—"जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दस सीसा ॥" (सुं० दो० २०); और ये सब श्रीरामजी के सेवक हैं; यथा—"देखे सिव विधि बिष्णु अनेका। अमित प्रभाव एक ते एका। बंदत चरन करत प्रभु सेवा।" (बा० दो० ५३); जबतक तू और चराचर प्राणियों से वैर करता रहा, वे लोग रक्षा करते थे, अब उनके स्वामी से ही द्रोह करता है, तो वे कैसे रक्षा करने का साहस करेंगे ? सुं० दो० २२ चौ० ८ भी देखिये। ब्रह्म-रुद्र का इसे विशेष बल है, तप करके उनसे वर पाया है, इससे इन्हें ही कहा गया।

मूढ़ मृषा जनि मारसि गाला। राम-बयर अस होइहि हाला ॥३॥
तव सिर-निकर कपिन्ह के आगे। परिहहिं धरनि राम-सर लागे ॥४॥
ते तव सिर कंदुक-सम नाना। खेलिहहिं भालु कीस चौगाना ॥५॥

शब्दार्थ—गाल मारना=व्यर्थ बकवाद करना, डींग हाँकना। चौगान=(१) एक खेल जिसमें लकड़ी के बल्ले से गेंद को मारते हैं, (२)=खेलने का मैदान।

अर्थ—अरे मूर्ख ! व्यर्थ डींग न हाँक, श्रीरामजी से वैर करने से ऐसा हाल होगा ॥३॥ कि तेरे शिर-समूह राम-बाण के लगने से आगे पृथिवी पर गिरेंगे ॥४॥ वानर-भालु उन गेंद के समान तेरे अनेक शिरों से चौगान खेल खेलेंगे ॥५॥

विशेष—(१) 'मूढ़ मृषा जनि'''' "मूढ़' कहा, क्योंकि यह अभिमान के कारण किसी की शिक्षा

नहीं सुनता; यथा—"मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना॥" (कि॰ दो॰ ८); और अभिमान एवं गर्व से गाल मारना भी होता है; यथा—"कहाँ रहा बल गर्व तुम्हारा॥ अब पति मृषा गाल जनि मारहु।" (दो॰ ३१); 'सिर-निकर' इसके दस शिर हैं, वे बार-बार कट-कटकर गिरेंगे, तब समूह होंगे, तभी वानरों को गेंद खेलने के लिये होंगे। शिर गेंद की तरह गोलाकार होते हैं। पुनः वे कट-कटकर वानरों के पैरों के पास गिरेंगे। तब वे लातों के प्रहार से खेलेंगे। वानरों के पैर ही बल्ले होंगे।

जबहि समर कोपिहि रघुनायक। छुटिहहिं अति कराल बहु सायक॥६॥
तब कि चलिहि अस गाल तुम्हारा। अस बिचारि भजु राम उदारा॥७॥
सुनत बचन रावन परजरा। जरत महानल जनु घृत परा॥८॥

दोहा—कुंभकरन अस बंधु मम, सुत प्रसिद्ध सक्रारि।
मोर पराक्रम नहिं सुनेहि, जितेउँ चराचर झारि॥२७॥

शब्दार्थ—परजरा = बहुत क्रुद्ध हुआ, अत्यन्त जल उठा।

अर्थ—जब श्रीरघुनाथजी समर में क्रोध करेंगे और फिर उनके अत्यन्त तीक्ष्ण बहुत-से बाण छूटेंगे॥६॥ तब क्या तुम्हारा इस तरह गाल चलेगा? (अर्थात् यह डींग भूल जायगी), ऐसा विचार कर उदार श्रीरामजी को भजो॥७॥ वचन सुनते ही रावण अत्यन्त जल उठा, मानों जलती हुई प्रचंड अग्नि में घी पड़ गया हो॥८॥ कुंभकर्ण ऐसा तो मेरा भाई है और इन्द्र का जीतनेवाला विख्यात इन्द्रजित् मेरा पुत्र है और क्या तूने मेरा पराक्रम नहीं सुना कि मैंने सारे चराचर जगत् को जीत लिया है?॥२७॥

विशेष—(१) 'तब कि चलिहि···'—तुम्हें प्रहार करने का अवकाश ही नहीं मिलेगा। 'अस बिचारि'; 'जौं खल भयेसि···' से यहाँ तक की बातों को विचारकर। भाव यह कि अभी शरण होने पर यह गाल बजारी (शेखी) रह भी जायगी। 'उदारा'—वे श्रेष्ठ एवं महान् दाता हैं। तुम्हारा राज्य अचल कर देंगे। अपराध भी क्षमा करेंगे; यथा—"तजि ब्यलीक भजु कारुनीक प्रभु दे जानकिहि सुनहि समुझायो। जाते तव हित होइ कुसल कुल अचल राज चलिहै न चलायो॥" (गी॰ लं॰ २)। तथा—"ऐसो को उदार जगमाहीं।" (वि॰ १६२)—यह पूरा पद पढ़िये।

इस कथन के उपक्रम में कहा; यथा—"भजसि न कृपासिंधु रघुराई।" और उपसंहार में भी यहाँ "भजु राम उदारा" कहा है। भाव यह कि वे समुद्र के समान कृपा करेंगे और सब कुछ देंगे, मान भी रक्खेंगे।

(२) 'सुनत बचन रावन परजरा।···'—जलता तो पहले से भी था; यथा—"हृदय दहेउ रिपु कीस।" (दो॰ २३)। इन वचनों से अब अधिक जल उठा। रावण का हृदय यज्ञकुंड है, उसका कोप महानल है और श्रीअंगदजी के वचन घृत की आहुतियाँ हैं; यथा—"लखन उतर आहुति सरिस, भृगुपति कोप कृसानु, बढ़त देखि ··" (बा॰ दो॰ २७६); 'सुनि अंगद सकोप कह बानी।' उपक्रम है और यहाँ 'सुनत बचन···' उपसंहार है।

(३) 'कुंभ करन अस बंधु'''', यथा—"अति बल कुंभकरन अस भ्राता । जेहि कहुँ नहि प्रति भट जग जाता ॥ · जागत होइ तिहूँ पुर त्रासा ।" (बा० दो० १७६), तथा—"भ्राता कुंभकरन रिपु घातक सुत सुर पतिहि बंदि करि लायो ।" (गी० छं० ९), 'जितेउँ चराचर झारि'; यथा—"ब्रह्म सृष्टि जहँ लगि तनु धारी । दसमुख बसबरती नर नारी ॥" (बा० दो० १८१) ।

सठ साखामृग जोरि सहाई । बाँधा सिंधु इहइ प्रभुताई ॥१॥
नाघहिं खग अनेक बारीसा । सूर न होहि ते सुनु सब कीसा ॥२॥
मम भुज - सागर बल - जल पूरा । जहँ बूड़े बहु सुर - नर सूरा ॥३॥
बीस पयोधि अगाध अपारा । को अस बीर जो पाइहि पारा ॥४॥

अर्थ—अरे शठ ! वानरों की सहायता जुटाकर समुद्र (में सेतु) बाँधा, यही शूरता है (क्या) ? ॥१॥ अनेकों पक्षी समुद्रों को लाँघ जाते हैं, पर, अरे शठ वानर ! वे (इस कर्म से) शूर नहीं हो सकते ॥२॥ मेरे भुजा-रूपी-सागर बल रूपी जल से पूर्ण हैं, जिनमें बहुत-से शूरवीर देवता और मनुष्य डूब गये ॥३॥ ऐसा कौन शूर-वीर है जो मेरे इन अगाध और अपार बीस समुद्रों को पार पावेगा ? ॥४॥

विशेष—(१) 'सठ साखामृग '''—पुरुषार्थ होता तो समुद्र को सोख लेते। वानरों से सहायता ली । तुच्छ, बुद्धि-हीन वानरों को सहायक बनाना बड़ी हीनता है ।

(२) 'नाघहिं खग '''—पक्षी समुद्र को लाँघ जाते हैं, तब भी वे शूर नहीं कहाते । तुम सब तो उनसे भी गये-बीते हो, तब तो सेतु के आश्रित होकर उतरे। यदि श्रीअंगदजी सेतु बाँधकर आने को ही शूरता कहें, तो उसपर दूसरा रूपक समुद्र का कहता है—

(३) 'मम भुज सागर बल '''—तुमको एक ही क्षुद्र समुद्र के बाँधने पर शेखी है। यहाँ अभी अगाध, अपार बीस सागर हैं। वह समुद्र परिमित था, इससे थोड़े पर्वतों, वृक्षों से बँध गया। पर इन बीस समुद्रों की अभी तक किसी ने थाह एवं अन्दाज ही नहीं पाया। अगणित सुर, नर, मुनि आये और डूब ही गये , यथा—"कहा भयो बानर सहाइ मिलि करि उपाय जो सिंधु बँधायो । जो तरिहै भुज बीस घोर निधि ऐसो को त्रिभुवन में जायो ॥" (गी० छं० ३)। श्रीअंगदजी ने श्रीपरशुरामजी के फरसे को सागर कहा था । यह उससे अधिकता दिखाते हुए अपनी भुजाओं को सागर कहता है । वहाँ 'नृप अगनित' का डूबना कहा गया है । यहाँ 'सुर नर सूरा' का डूबना कहा है । वहाँ फरसा एक और यहाँ भुजाएँ बीस हैं । वहाँ नर-मात्र डूबे, उन्हें भी शूर नहीं कहा गया और यहाँ सुर भी हैं और वे सब शूर भी कहे गये ।

दिगपालन्ह मैं नीर भरावा । भूप-सुजस खल मोहि सुनावा ॥५॥
जौं पै समर - सुभट तव नाथा । पुनि पुनि कहसि जासु गुनगाथा ॥६॥
तौ बसीठ पठवत केहि काजा । रिपु सन प्रीति करत नहि लाजा ॥७॥
हरगिरि मथन निरखु मम बाहू । पुनि सठ कपि निज प्रभुहि सराहू ॥८॥

दोहा—सूर कवन रावन - सरिस, स्वकर काटि जेहिं सीस ।
हुने अनल अति हरष बहु, बार साखि गौरीस ॥२८॥

अर्थ—अरे दुष्ट! मैंने लोकपालों से जल भरवाया और तू एक राजा का सुयश मुझे सुनाता है! अर्थात् मुझसे अधिक तेज-प्रतापवाले का यश सुनाता तो ठीक था ॥५॥ यदि तेरा स्वामी युद्ध में सुभट है, जिसका तू बार-बार यश कहता है ॥६॥ तो दूत किस कार्य के लिये भेजता है? शत्रु से प्रीति (संधि) करते लज्जा नहीं लगती? ॥७॥ अरे मूर्ख वानर! कैलास के मथन करनेवाली मेरी भुजाओं को देखकर फिर अपने स्वामी की सराहना करना; अर्थात् इनपर दृष्टि देने से इनके आगे उसकी प्रभुता युद्ध न ठहरेगी ॥८॥ रावण के समान कौन शूर है कि जिसने अत्यन्त हर्ष-पूर्वक बहुत बार अपने हाथों से अपने शिर काट-काटकर अग्नि में हवन कर दिये, गौरीपति श्रीशिवजी इसके साक्षी हैं ॥२८॥

विशेष—(१) 'दिगपालन्ह मैं नीर'…—मनुष्यों की अपेक्षा देवता बहुत अधिक बली होते हैं, उनमें भी श्रेष्ठ दिक्पाल-गण हैं, वे तो मेरे यहाँ नीच टहल करते हैं तो भूप किस गिनती में है, जिसका यश तू मुझे सुनाता है। मनुष्य तो हमलोगों का आहार है।

(२) 'पुनि पुनि कहसि'…; यथा—"सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥" (दो० ११); "जद्यपि लघुता राम कहँ, तोहि बधे बड़ दोष।" (दो० २१); "जौं खल भयेसि राम कर द्रोही। ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोही॥" (दो० २१)।

(३) 'जौं पै समर-सुभट'…—भाव यह कि शूर होते तो करनी करके दिखाते। दूत भेज-भेजकर प्रताप न कहलाते; यथा—"सूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहिं आपु। विद्यमान रन'… (बा० दो २७४); व्यंग्य से अपनेको शूर जनाता है कि मैंने न दूत भेजा और न संधि की बात की। संधि की बात अपनेसे प्रबल से की जाती है। मेरा बल अधिक मानकर ही तो बार-बार दूत भेजते हैं, नहीं तो एक दूत से पता ले लिया कि युद्ध-बिना कार्य की सिद्धि न होगी, तो फिर क्यों दूत भेजते हैं, इससे वे समर-सुभट नहीं हैं।

(४) 'रिपु सन प्रीति करत नहिं लाजा।'; यथा—"रन चढ़ि करिय कपट चतुराई॥ रिपु पर कृपा परम कदराई॥" (आ० दो० १८); यह श्रीअंगदजी के 'भजसि न कृपा सिंधु रघुराई।' इस कथन के प्रति है।

(५) 'हरगिरि मथन'…—मथन का तात्पर्य उठाने में है, उठाने पर पर्वत काँप उठा, इसी से मथन कहा। उपर्युक्त दो० २४ चौ० १–३ भी देखिये। पहले कहा था—'बिलोकु मम बाहु' तब श्रीअंगदजी ने नहीं देखा था, इसी से फिर देखने को कहता है।

(६) 'सूर कवन रावन-सरिस'…—इसके भाव दो० २४ चौ० १–३ में आ गये।

जरत बिलोकेउँ जबहिं कपाला। बिधि के लिखे अंक निज भाला॥१॥
नर के कर आपन बध बाँची। हँसेउँ जानि बिधि गिरा असाँची॥२॥
सोउ मन समुझि त्रास नहिं मोरे। लिखा बिरंचि जरठ मति भोरे॥३॥
आन बीर बल सठ मम आगे। पुनि पुनि कहसि लाज पति त्यागे॥४॥

अर्थ—जब शिरों के जलते समय ब्रह्माजी के लिखे हुए अक्षर अपने ललाटों पर देखे ॥१॥ तब मनुष्य के हाथों से अपना बध बाँचकर ब्रह्माजी की वाणी असत्य जानकर हँसा ॥२॥ वह भी समझकर मेरे मन

में डर नहीं है कि बुढ़ापे के कारण बुद्धि भोरी (बावली) हो जाने से बुड्ढे ब्रह्मा ने ऐसा लिख दिया होगा ॥३॥ अरे शठ ! तू लज्जा और प्रतिष्ठा छोड़कर मेरे आगे बार-बार दूसरे वीर का बल (क्या) कहता है ? ॥४॥

विशेष—(१) 'बिधि के लिखे अंक...'—ललाट पर की हड्डियों पर रेखाएँ होती हैं, वे ही ब्रह्मा की भविष्यवाणी हैं, इसी से इन्हीं अंकों को आगे 'विधि-गिरा' कहा है। 'हँसेउँ...'—इसपर हँसी आई कि काल जिसके वश और मृत्यु दासी है, तीनों लोक अधीन हैं। उस रावण की मृत्यु हो, वह भी उसके भक्ष्य-रूप मनुष्य के हाथ। ऐसी बावली बात का क्या ठिकाना ?

(२) 'सोउ मन समुझि...'—अंक पढ़ने पर भी मैं वैसा ही निर्भय हवन करता ही रहा, मैं ऐसा वीर हूँ।

(३) 'पुनि पुनि कहसि...'—जिसकी बात एक बार न सुनी जाय, उसे फिर न कहना चाहिये। फिर-फिर कहने से उसकी अप्रतिष्ठा होती है। जैसे कि "रिपु उत्कर्ष कहत सठ दोऊ। दूरि न करहु..." (सुं० दो० ३६); ऐसा रावण के कहने पर माल्यवान् अपनी प्रतिष्ठा बचाकर चला गया। विभीषणजी ने फिर-फिर से कहा, तो अपमानित होकर निकाले गये। तब उनकी लोक-लाज और प्रतिष्ठा की हानि हुई।

कह अंगद सलज्ज जग माहीं। रावन तोहि समान कोउ नाहीं ॥५॥
लाजवंत तव सहज सुभाऊ। निज मुख निज गुन कहसि न काऊ ॥६॥
सिर अरु सैल कथा चित रही। ताते बार बीस तैं कही ॥७॥
सो भुज-बल राखहु उर घाली। जीतेहु सहसबाहु बलि बाली ॥८॥

अर्थ—श्रीअंगदजी ने कहा कि अरे रावण ! तेरे समान लज्जावान् संसार में कोई नहीं है ॥५॥ तेरा सहज स्वभाव ही लाजवन्त है, (इसी से तो) तू अपना गुण अपने मुख से कभी कहता ही नहीं ॥६॥ अरे ! शिर (काटने) और पर्वत (कैलास उठाने) की कथा चित में रह गई, इससे वीसों बार उसी को कहा ॥७॥ वह अपना भुजबल (क्या) हृदय में डाल (छिपा) रक्खा था, जब सहस्रबाहु, बलि और बालि ने (तुमको) जीता था ॥८॥

विशेष—(१) 'लाजवंत तव सहज...'—अपने मुख से अपने गुण कहना निर्लज्जता है, इससे तू कभी कहता ही नहीं; यथा—"अपने मुँह तुम्ह आपनि करनी। बार अनेक भाँति बहु बरनी ॥" (बा० दो० २७३). यह धिक्कारते हुए श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीपरशुरामजी को कहा है। यह व्यंग्य है, इसे ही आगे स्पष्ट करते हैं।

(२) 'सिर अरु सैल कथा...'—बस, ये ही दो कथाएँ रह गई हैं, इन्हें ही हेर-फेरकर बीसो बार कहा है। बीस (२०) दो के आगे शून्य रखने से बनता है, भाव यह कि इन्हीं दो कथाओं के अतिरिक्त और कुछ कर्म तुम्हारे नहीं हैं, शून्य ही है। ये ही दो दिमाग में भरे हैं, उन्हीं को बार-बार कहता है। भाव यह कि एक बार भी अपना गुण कहना निर्लज्जता है, तू तो बार-बार कहता है। अतः,

महान् निर्लज्ज है। सुनते हुए कान झाँझर हो गये, अब बस कर। यदि दूसरा कोई पुरुषार्थ किया हो तो भले ही कह। यह 'पुनि पुनि कहसि लाज पति त्यागे।' का उत्तर है।

(३) 'सो भुज-बल राखेहु'''—इसका यों भी अर्थ किया जाता है कि जैसे शिर और शैल की कथाएँ बार-बार कही हैं, वैसे सहस्रबाहु, बलि और बालि के जीतने का महत्त्व नहीं कहा, हृदय में ही छिपा रक्खा। क्योंकि तुम लाजवंत हो, इसी से उक्त दो सामान्य बातों को तो कह दिया, पर भारी-भारी विजय के ये तीनों कर्म अपनी प्रशंसा विचारकर नहीं कहा। व्यंग्य यह है, तुम महान् निर्लज्ज हो, इससे हारनेवाली बातों को छिपाते हो, केवल अपनी प्रशंसा ही बढ़-बढ़ाते हो।

सुनु मतिमंद देहि अब पूरा। काटे सीस कि होइय सूरा ॥९॥
इंद्रजालि कहँ कहिय न बीरा। काटइ निज कर सकल सरीरा ॥१०॥

दोहा—जरहिं पतंग मोह - बस, भार बहहिं खर बृंद।
ते नहिं सूर कहावहिं, समुझि देखु मतिमंद ॥२९॥

शब्दार्थ—पूरा देना = उत्तर देना, प्रश्न की कांक्षा उत्तर से पूरी होती है, जैसे समस्या-पूर्ति। बहना = लादकर ले चलना। विमोह = अज्ञान, प्रेम।

अर्थ—अरे मंदबुद्धि! अब उत्तर दे, शिर काटने से क्या कोई शूर होता है? ॥९॥ इन्द्रजाली (जादूगर) को कोई वीर नहीं कहता, (यद्यपि) वह अपने ही हाथों से अपना सारा शरीर काट डालता है, (तब तू शिर-मात्र अपने हाथों काटकर शूर क्यों बनता है?) ॥१०॥ अरे मंदबुद्धि! मन में समझ देख कि मोहवश फतिंगे अग्नि में जल जाते हैं और गधों के झुंड (पत्थरों के) बोझा लादकर चलते हैं, पर वे शूर नहीं कहे जाते ॥२९॥

विशेष—रावण ने कहा था—"नाचहिं खग अनेक'''" और "सूर कवन रावन सरिस ''" उन्हीं का यहाँ उत्तर है। रावण ने शिरों का हवन करना कहा था, उसपर फतिंगे का, और कैलास उठाना कहा था उसपर गधों के पत्थर ढोने का उदाहरण दिया गया। पुन रावण ने—'सुनु जड कीसा' 'निरखु मम बाहु', के प्रति 'समुझि देखु मतिमंद' कहा है। 'मतिमंद'—मंदबुद्धि है, इसी से इस कर्म में शूरता मानी है।

अब जनि बतबढ़ाव खल करही। सुनु मम बचन मान परिहरही ॥१॥
दसमुख मैं न बसीठी आयउँ। अस बिचारि रघुबीर पठायउँ ॥२॥
बार बार अस कहइ कृपाला। नहिं गजारि जसु बधे सृकाला ॥३॥
मन महँ समुझि बचन प्रभु केरे। सहेउँ कठोर बचन सठ तेरे ॥४॥
नाहिं त करि मुख-भंजन तोरा। लै जातेउँ सीतहि बरजोरा ॥५॥

शब्दार्थ—बतबढ़ाव = बात को बढ़ाकर विवाद रूप कर देना, झगड़ा = बखेड़ा। सृकाला (शृगाल) = गीदड़। बसीठी = दौत्य-कर्म के लिये।

अर्थ—रे दुष्ट ! अब वाद-विवाद न बढ़ा, मेरा वचन सुन और मान छोड़ दे (कि मेरे भाई-पुत्र ऐसे हैं, मैं ऐसा हूँ इत्यादि के गर्व छोड़ ॥१॥ दशमुख ! मैं दौत्य-कर्म के लिये नहीं आया, रघुवीर श्रीरामजी ने यह विचार कर मुझे भेजा है—॥२॥ वे दयालु बारम्बार ऐसा कहते हैं कि गीदड़ को मारने में सिंह का यश नहीं होता ॥३॥ अरे शठ ! प्रभु के वचन मन में समझकर मैंने तेरे कठोर वचन सुने और सहे ॥४॥ नहीं तो तेरे मुँह तोड़कर श्रीसीताजी को जबरदस्ती ले जाता ॥५॥

विशेष—(१) 'मान परिहरही'—क्योंकि जबतक मान रहता है, किसी की शिक्षा नहीं धारण होती; यथा—"मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना ॥" (कि० दो० ८); इसी से श्रीहनुमान्‌जी ने भी कहा है ; यथा—"सुनहु मान तजि मोर सिखावन।" (सुं० दो० ११)।

(२) 'रघुबीर पठायउँ' और 'कृपाला' का भाव यह है कि वे पराक्रम-वीर हैं, निर्बल नहीं हैं कि दूत भेजकर संधि की बात करें। किंतु तुम्हारी तुच्छता पर उन्हें तरस आती है, वे कृपावीर भी हैं ही, इससे उन्होंने दया करके तुझे उपदेश देने के लिये मुझे भेजा है, मैं कुछ दौत्य-कर्म में नहीं आया। 'नहिं गजारि जस···'—भाव यह कि तू गीदड़ के समान और वे सिंह के समान हैं। तब तेरे वध पर भी उन्हें अपयश ही होगा। 'मन महँ समुझि···'—प्रभु ने अपने प्रतिकारी को स्वयं मारने की प्रतिज्ञा की है, नहीं तो मैं ही तुझे मार डालता। ये तेरे कठोर वचन न सहता। यह भी वचन का भाव है कि प्रभु ने तुझे गीदड़ के समान कहा है, तो गीदड़ को क्या मारूँ ?

जानेउँ तव बल अधम सुरारी। सूने हरि आनेहि परनारी ॥६॥
तैं निसिचर-पति गर्ब बहूता। मैं रघुपति सेवक कर दूता ॥७॥
जौं न राम अपमानहिं डरऊँ। तोहि देखत अस कौतुक करऊँ ॥८॥

दोहा—तोहि पटकि महि सेन हति, चौपट करि तव गाउँ।
तव जुवतिन्ह समेत सठ, जनकसुतहि लै जाउँ ॥३०॥

अर्थ—रे सुरारि, अरे अधम ! मैंने तेरा बल जान लिया कि जो तू सूने में पर-स्त्री चुरा लाया (भाव-बल होता तो श्रीरामजी से अथवा श्रीलक्ष्मणजी से ही छीनकर लाता) ॥६॥ तू राक्षसों का स्वामी है और तुझे बहुत गर्व है। मैं श्रीरघुनाथजी के दास का दूत हूँ ॥७॥ पर जो मैं श्रीरामजी के अपमान से न डरूँ, तो तेरे देखते हुए ऐसा तमाशा करूँ ॥८॥ कि तुझे पृथ्वी पर पटक, सेना को मार और तेरा गाँव चौपट (नष्ट-भ्रष्ट) करके, अरे शठ ! तेरी स्त्रियों के साथ जनक-सुता को लेकर जाऊँ ॥३०॥

विशेष—(१) 'तैं निसिचर पति···'—कहाँ तो तू राक्षसों का राजा और दिग्विजयी एवं सेना-समेत है और कहाँ मैं श्रीरामजी के दास का दास, जिसे अभिमान ही क्या ; अर्थात् मैं राम-दल का एक तुच्छ सेवक हूँ। और तू बल का अभिमानी है। तो भी तेरे वध में मैं अपनी हीनता समझता हूँ। (यह उपर्युक्त 'नहिं गजारि जस···' की पुष्टि में है) यदि कुछ करूँ तो इसमें श्रीरामजी का अपमान है, क्योंकि वे अपने कुल की मर्यादा की रक्षा स्वयं करना चाहते हैं। अपने स्त्री-हारी का वध अपने ही बाणों से करना चाहते हैं, इसकी प्रतिज्ञा भी कर चुके हैं। यदि मैं तुझे मारकर उनकी स्त्री को

ले आऊँ, तो इसमें उनका अपमान है ; यथा—"तव सोनित की प्यास, तृषित राम सायक निकर। तजउँ तोहि तेहि त्रास, कटु जल्पक निसिचर अधम॥" (दो० ११)। 'तोहि देखत···'—का भाव यह कि तू तो उनके सूने में चोरी से उनकी स्त्री का हरण किया और मैं तेरे देखते हुए तेरे समाज के सामने ही ऐसा करूँ। 'कौतुक'—का भाव यह कि इसमें मुझे कुछ श्रम न होगा। यह भी भाव है कि तू गुन-ग्राहक है ही ; यथा—"मैं गुन गाहक परम सुजाना।" (दो० २१)। अतः, यह भी कौतुक देख ले।

(२) 'तव गाउँ'—लंका की तुच्छता दिखाने के लिये उसे 'गाउँ' कहा। 'तव जुवतिन्ह समेत···'—तू एक को ही चुराकर लाया और मैं तेरे देखते हुए तुझे जीतकर तेरी भी सब स्त्रियों को श्रीजानकीजी की दासी बनाने के लिये ले जाऊँ। एक के हरण के बदले में तुम्हारी सब स्त्रियों को बलात् ले जाऊँ।

जौं अस करउँ तदपि न बड़ाई। मुयेहि बधे नहिं कछु मनुसाई॥१॥
कौल कामबस कृपिन बिमूढ़ा। अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा॥२॥
सदा रोग-बस संतत क्रोधी। बिष्नु-बिमुख श्रुति-संत-बिरोधी॥३॥
तनु-पोषक निंदक अघ-खानी। जीवत सव सम चौदह प्रानी॥४॥
अस बिचारि खल बधउँ न तोही। अब जनि रिस उपजावसि मोही॥५॥

शब्दार्थ—कौल = वाममार्गी ; यथा—"मद्यं मांसं तथा मुद्रा मैथुनं मत्स्यमेव च। मकाराः पंच विख्याताः कौलानां सिद्धिदायकाः॥" तथा—"तजि श्रुति पंथ बाम पथ चलहीं। बंचक बिरचि बेष जग छलहीं॥" (अ० दो० १६७); और भी कहा है; यथा—"अन्तः शाक्ताः बहिश्शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः। नानावेषधराः कौलाः विचरन्ति महीतले॥" सव = शव, मृतक।

अर्थ—जो ऐसा करूँ तो भी कुछ बड़ाई नहीं है, (क्योंकि) मरे हुए को मारने में कुछ पुरुषार्थ नहीं कहा जाता॥१॥ वाममार्गी, कामी, सूम (कंजूस), अत्यन्त मूढ़, अत्यन्त दरिद्र, कलंकी, अत्यन्त बुड्ढा॥२॥ सदा रोगी रहनेवाला, निरंतर क्रोध से भरा रहनेवाला, विष्णु-विमुख, श्रुति और संत का विरोधी॥३॥ और अपना ही शरीर (वा, शरीर को आत्मा मानकर) पोषण करनेवाला, निन्दा करनेवाला, (सब) पाप की खान है—ये चौदह प्राणी जीते ही मृतक के समान हैं॥४॥ अरे दुष्ट! ऐसा विचार कर मैं तेरा वध नहीं करता, (पर) अब मुझमें क्रोध न पैदा करवा॥५॥

विशेष—(१) 'जौं अस करउँ···'—यदि रावण कहे कि ऐसा समर्थ है, तो अपना पुरुषार्थ कर दिखा। इसपर कहते हैं कि मुए को मारने में कोई पुरुषार्थ नहीं।

(२) 'कौल कामबस कृपिन···'—ऐसे ही व्यासजी ने पाँच को गिनाया है ; यथा—"जीवितोपि मृताः पञ्च व्यासेन परिकीर्त्तिताः। दरिद्रो व्यथितो मूर्खो प्रवासी नृपसेवकः॥" (नीतिः) ; अर्थात् दरिद्र, व्यथित (रोगी), मूर्ख, परदेश में रहनेवाला और राजा का सेवक ये पाँचो जीते ही मरे के समान हैं। (राज सेवक से यहाँ उन सेवकों का तात्पर्य है। जिन्हें थोड़ी चूक हो जाने पर शूली का डर रहता है।)

कौल अपने कर्मों से नरक-गामी होंगे। कामी कलंकी होंगे, इन दोनों की अकीर्ति होती है, इससे मृतक-तुल्य हैं; यथा—"संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।" (गीता २।३४), कृपण'—कंजूस का संकुचित-हृदय रहता है, जिससे बुद्धि का विकाश नहीं होता। 'बिमूढ़ा'—ज्ञान-रहित। 'अति दरिद्र' सदा तृष्णा-

युक्त रहता है, चिंता में ही लगा रहता है, इससे वह पारमार्थिक विचार का अवकाश ही नहीं पाता। 'अजसी'—मरे से भी बदतर है, ऊपर प्रमाण दिया गया। 'अति बूढ़ा'— मरणोन्मुख होने से एवं नाना क्लेश-भाजन होने से मृतक-तुल्य है, सभी से अनादृत भी होता है। 'सदा रोग बस'; यथा—"असाध्यः स तु विज्ञेयस्तेन युक्तं मृतं वदेत्॥"—वाग्भट्ट। 'संतत क्रोधी'- क्रोध से सदा हृदय अंधा रहता है, इससे विवेक नहीं रहता। 'बिष्णु बिमुख श्रुति संत बिरोधी'—विवेक-धाम विष्णु के शत्रु हैं, तभी ऐसे हैं। विष्णु भगवान् ज्ञान-धाम हैं। श्रुति और संतों के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है। 'तनु पोषक' नरक के भागी हैं; यथा—"नरक प्रद उदर भरउँ" (वि० १४१); 'निंदक'; यथा—"सब कै निंदा जे नर करहीं। ते चमगादुर होइ अवतरहीं॥" (उ० दो० १२०); इससे ये शव के समान हैं। इनमें 'अघखानी' सबके साथ है। श्रुति-विरोधी और संत विरोधी को दो गिनने से १४ होते हैं।

मुख्य तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त दोषों में एक भी होता है, तो श्रीरामजी में सच्ची प्रीति नहीं होती और उसके विना जीव जीते ही मरे हुए के समान हैं; यथा—"जीयत राम मुये पुनि राम, सदा रघुनाथहि की गति जेही। सोइ जिये जग में तुलसी न तु डोलत और मुये धरि देही॥" (क० उ० ३६)।

श्रीअंगदजी के कहने का तात्पर्य यह है कि इनमें एक दोषवाला भी मृतक-तुल्य होता है। तुझमें तो सभी बातें हैं—

'कौल'; यथा—"करसि पान सोवसि दिन-राती।"—यह शूर्पणखा ने इसे कहा है। पुनः—"आवा निकट जती के वेषा।" (आ० दो० २७); 'काम बस'—इसीसे इसने पर-स्त्रियों का हरण किया है। 'कृपन' है, इसी से भोगैश्वर्य में आसक्त है और कर्म-फल की वासनावाला है; यथा—"कृपणाः फलहेतवः।" (गीता २।४९); तथा—मनुष्य-तन का मुख्य उद्देश्य है कि 'भगवान् को तत्त्वतः जानकर उन्हें प्राप्त कर ले' जो मनुष्य उन्हें भुलाकर विषय में ही आसक्त रहता है, वह भी कृपण है; यथा—"यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः।" (बृह० ३।८।१०); यह दोष भी पूर्णतया रावण में है ही। 'बिमूढ़ा'—मूढ़ है, क्योंकि श्रीरामजी को मनुष्य मानकर ही उनका अपमान करता है; यथा—"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥" (गीता ९।११), 'अति दरिद्र' है, क्योंकि ऋषियों से भी रक्त-रूपी कर लिया। 'अजसी' तो प्रत्यक्ष है, 'अति बूढ़ा'—बुढ़ापे में मति-भ्रम हो जाता है, वैसे इसकी बुद्धि भी भ्रमित है; यथा—"निकट काल जेहि आवत साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं॥" (दो० ३५); इसे बहुत काल तक राज्य करते भी हो गया, इससे अति बूढ़ा है ही। 'सदा रोगबस'—मानस रोग कामादि के वश सदा रहता ही है। मोह सब व्याधियों का मूल है, यह मोह-रूप है ही; यथा—"मोह दस मौलि···" (वि० ५८), 'संतत क्रोधी'—क्योंकि जो हित भी कहता है, उसे भी यह दुर्वचन ही कहता है। 'बिष्णु बिमुख'—विष्णु भगवान् के चक्राघात के दागों से प्रकट है; यथा—"विष्णुचक्र परिक्षतौ।" (वाल्मी० ३।१०।१६) | श्रुति-संत बिरोधी'; यथा—"तेहि बहु बिधि त्रासे देस निकासे जो कह बेद पुराना॥" (बा० दो० १८३); 'तनु पोषक'; यथा—"सुनासीर सत सरिस सो, संतत करइ बिलास।" (दो० १०); 'निंदक'; यथा—"जब तेहि कीन्हि राम कै निन्दा।" (दो० ३०); पुनः यह सब प्रकार से पाप की खान है; यथा—"आजन्म ते पर-द्रोह-रत पापौघ मय तव तनु अयं॥" (दो० १०३)।

सुनि सकोप कह निसिचर-नाथा। अधर दसन दसि मीजत हाथा॥६॥
रे कपि अधम मरन अब चहसी। छोटे बदन बात बड़ि कहसी॥७॥
कटु जल्पसि जड़ कपि बल जाके। बल-प्रताप बुधि तेज न ताके॥८॥

महान् निर्लज्ज है। सुनते हुए कान झाँझर हो गये, अब बस करो। यदि दूसरा कोई पुरुषार्थ किया हो तो भले ही कहु। यह 'पुनि पुनि कहसि लाज पति त्यागे।' का उत्तर है।

(३) 'सो भुज-बल राखेहु···'—इसका यों भी अर्थ किया जाता है कि जैसे शिर और शैल की कथाएँ बार-बार कही हैं, वैसे सहस्रबाहु, बलि और बालि के जीतने का महत्त्व नहीं कहा, हृदय में ही छिपा रक्खा। क्योंकि तुम लाजवंत हो, इसी से उक्त दो सामान्य बातों को तो कह दिया, पर भारी-भारी विजय के ये तीनों कर्म अपनी प्रशंसा विचारकर नहीं कहा। व्यंग्य यह है, तुम महान् निर्लज्ज हो, इससे हारनेवाली बातों को छिपाते हो, केवल अपनी प्रशंसा ही बढ़-चढ़ाते हो।

सुनु मतिमंद देहि अब पूरा। काटे सीस कि होइय सूरा ॥९॥
इंद्रजालि कहँ कहिय न बीरा। काटइ निज कर सकल सरीरा ॥१०॥

दोहा—जरहिं पतंग मोह - बस, भार बहहिं खर बृंद।
ते नहिं सूर कहावहिं, समुझि देखु मतिमंद ॥२९॥

शब्दार्थ—पूरा देना = उत्तर देना, प्रश्न की काँक्षा उत्तर से पूरी होती है, जैसे समस्या-पूर्ति। बहना = लादकर ले चलना। विमोह = अज्ञान, प्रेम।

अर्थ—अरे मंदबुद्धि! अब उत्तर दे, शिर काटने से क्या कोई शूर होता है? ॥९॥ इन्द्रजाली (जादूगर) को कोई वीर नहीं कहता, (यद्यपि) वह अपने ही हाथों से अपना सारा शरीर काट डालता है, (तब तू शिर-मात्र अपने हाथों काटकर शूर क्यों बनता है?) ॥१०॥ अरे मंदबुद्धि! मन में समझ देख कि मोहवश फतिंगे अग्नि में जल जाते हैं और गधों के झुंड (पत्थरों के) बोझा लादकर चलते हैं, पर वे शूर नहीं कहे जाते ॥२९॥

विशेष—रावण ने कहा था—"नाचहिं रांग अनेक···" और "सूर कवन रावन सरिस ··" उन्हीं का यहाँ उत्तर है। रावण ने शिरों का हवन करना कहा था, उसपर फतिंगे का, और कैलास उठाना कहा था उसपर गधों के पत्थर ढोने का उदाहरण दिया गया। पुन रावण ने—'सुनु जड कीसा' 'निरखु मम बाहु' के प्रति 'समुझि देखु मतिमंद' कहा है। 'मतिमंद'—मंदबुद्धि है, इसी से इस कर्म में शूरता मानी है।

अब जनि बतबढ़ाव खल करही। सुनु मम बचन मान परिहरही ॥१॥
दसमुख मैं न बसीठी आयउँ। अस बिचारि रघुबीर पठायउँ ॥२॥
बार बार अस कहइ कृपाला। नहिं गजारि जस बधे सृकाला ॥३॥
मन महँ समुझि बचन प्रभु केरे। सहेउँ कठोर बचन सठ तेरे ॥४॥
नाहिं त करि मुख-भंजन तोरा। लै जातेउँ सीतहि बरजोरा ॥५॥

शब्दार्थ—बतबढ़ाव = बात को बढ़ाकर विवाद रूप कर देना, झगड़ा = बखेड़ा। सृकाला (शृगाल) = गीदड़। बसीठी = दौत्य-कर्म के लिये।

अर्थ—रे दुष्ट! अब वाद-विवाद न बढ़ा, मेरा वचन सुन और मान छोड़ दे (कि मेरे भाई-पुत्र ऐसे हैं, मैं ऐसा हूँ इत्यादि के गर्व छोड़ ॥१॥ दशमुख! मैं दौत्य-कर्म के लिये नहीं आया, रघुवीर श्रीरामजी ने यह विचार कर मुझे भेजा है—॥२॥ वे दयालु बार-बार ऐसा कहते हैं कि गीदड़ को मारने में सिंह का यश नहीं होता ॥३॥ अरे शठ! प्रभु के वचन मन में समझकर मैंने तेरे कठोर वचन सुने और सहे ॥४॥ नहीं तो तेरे मुँह तोड़कर श्रीसीताजी को जबरदस्ती ले जाता ॥५॥

विशेष—(१) 'मान परिहरही'—क्योंकि जबतक मान रहता है, किसी की शिक्षा नहीं धारण होती; यथा—"मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना॥" (कि० दो० ८); इसी से श्रीहनुमान्‌जी ने भी कहा है; यथा—"सुनहु मान तजि मोर सिखावन।" (सुं० दो० ११)।

(२) 'रघुवीर पठायउँ' और 'कृपाला' का भाव यह है कि वे पराक्रम-वीर हैं, निर्बल नहीं हैं कि दूत भेजकर संधि की बात करें। किंतु तुम्हारी तुच्छता पर उन्हें तरस आती है, वे कृपावीर भी हैं ही, इससे उन्होंने दया करके तुझे उपदेश देने के लिये मुझे भेजा है, मैं कुछ दौत्य-कर्म मे नहीं आया। 'नहिं गजारि जस···'—भाव यह कि तू गीदड़ के समान और वे सिंह के समान हैं। तब तेरे वध पर भी उन्हें अपयश ही होगा। 'मन महँ समुझि···'—प्रभु ने अपने प्रतिकारी को स्वयं मारने की प्रतिज्ञा की है, नहीं तो मैं ही तुझे मार डालता। ये तेरे कठोर वचन न सहता। यह भी वचन का भाव है कि प्रभु ने तुझे गीदड़ के समान कहा है, तो गीदड़ को क्या मारूँ?

जानेउँ तव बल अधम सुरारी। सूने हरि आनेहि परनारी॥६॥
तैं निसिचर-पति गर्ब बहूता। मैं रघुपति सेवक कर दूता॥७॥
जौं न राम अपमानहिं डरऊँ। तोहि देखत अस कौतुक करऊँ॥८॥

दोहा—तोहि पटकि महि सेन हति, चौपट करि तव गाउँ।
तव जुवतिन्ह समेत सठ, जनकसुतहि लै जाउँ॥३०॥

अर्थ—रे सुरारि, अरे अधम! मैंने तेरा बल जान लिया कि जो तू सूने मे पर-स्त्री चुरा लाया (भाव-बल होता तो श्रीरामजी से अथवा श्रीलक्ष्मणजी से ही छीनकर लाता)॥६॥ तू राक्षसों का स्वामी है और तुझे बहुत गर्व है। मैं श्रीरघुनाथजी के दास का दूत हूँ॥७॥ पर जो मैं श्रीरामजी के अपमान से न डरूँ, तो तेरे देखते हुए ऐसा तमाशा करूँ॥८॥ कि तुझे पृथ्वी पर पटक, सेना को मार और तेरा गाँव चौपट (नष्ट-भ्रष्ट) करके, अरे शठ! तेरी स्त्रियों के साथ जनक-सुता को लेकर जाऊँ॥३०॥

विशेष—(१) 'तैं निसिचर पति···'—कहाँ तो तू राक्षसों का राजा और दिग्विजयी एवं सेना-समेत है और कहाँ मैं श्रीरामजी के दास का दास, जिसे अभिमान ही क्या; अर्थात् मैं राम-दल का एक तुच्छ सेवक हूँ। और तू बल का अभिमानी है। तो भी तेरे वध मे मैं अपनी हीनता समझता हूँ। (यह उपर्युक्त 'नहिं गजारि जस···' की पुष्टि में है) यदि कुछ करूँ तो इसमें श्रीरामजी का अपमान है, क्योंकि वे अपने कुल की मर्यादा की रक्षा स्वयं करना चाहते हैं। अपने स्त्री-हारी का वध अपने ही बाणों से करना चाहते हैं, इसकी प्रतिज्ञा भी कर चुके हैं। यदि मैं तुझे मारकर उनकी स्त्री को

ले जाऊँ, तो इसमें उनका अपमान है ; यथा—"तव सोनित की प्यास, तृषित राम सायक निकर। तजउँ तोहि तेहि त्रास, कटु जल्पक निसिचर अधम॥" (दो० ११)। 'तोहि देखत…'—का भाव यह कि तू तो उनके सूने में चोरी से उनकी स्त्री का हरण किया और मैं तेरे देखते हुए तेरे समाज के सामने ही ऐसा करूँ। 'कौतुक'—का भाव यह कि इसमें मुझे कुछ श्रम न होगा। यह भी भाव है कि तू गुन-ग्राहक है ही ; यथा—"मैं गुन गाहक परम सुजाना।" (दो० २२)। अतः, यह भी कौतुक देख ले।

(२) 'तव गाउँ'—लंका की तुच्छता दिखाने के लिये उसे 'गाउँ' कहा। 'तव जुवतिन्ह समेत…'—तू एक को ही चुराकर लाया और मैं तेरे देखते हुए तुझे जीतकर तेरी भी सब स्त्रियों को श्रीजानकीजी की दासी बनाने के लिये ले जाऊँ। एक के हरण के बदले में तुम्हारी सब स्त्रियों को बलात् ले जाऊँ।

जौं अस करउँ तदपि न बड़ाई। मुयेहि बधे नहि कछु मनुसाई॥१॥
कौल कामबस कृपिन बिमूढ़ा। अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा॥२॥
सदा रोग-बस संतत क्रोधी। बिष्णु-बिमुख श्रुति-संत-बिरोधी॥३॥
तनु-पोषक निंदक अघ-खानी। जीवत सव सम चौदह प्रानी॥४॥
अस बिचारि खल बधउँ न तोही। अब जनि रिस उपजावसि मोही॥५॥

शब्दार्थ—कौल = वाममार्गी ; यथा—"मद्यं मांसं तथा मुद्रां मैथुनं मत्स्यमेव च। मकाराः पंच विख्याताः कौलानां सिद्धिदायकाः॥" तथा—"तजि श्रुति पंथ बाम पथ चलहीं। बंचक बिरचि बेष जग छलहीं॥" (अ० दो० १६७); और भी कहा है; यथा—"अन्तः शाक्ताः बहिश्शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः। नानावेषधराः कौलाः विचरन्ति महीतले॥" सव = शव, मृतक।

अर्थ—जो ऐसा करूँ तो भी कुछ बड़ाई नहीं है, (क्योंकि) मरे हुए को मारने में कुछ पुरुषार्थ नहीं कहा जाता॥१॥ वाममार्गी, कामी, सूम (कंजूस), अत्यन्त मूढ, अत्यन्त दरिद्र, कलंकी, अत्यन्त बुड्ढा॥२॥ सदा रोगी रहनेवाला, निरंतर क्रोध से भरा रहनेवाला, विष्णु-विमुख, श्रुति और संत का विरोधी॥३॥ और अपना ही शरीर (वा, शरीर को आत्मा मानकर) पोषण करनेवाला, निन्दा करनेवाला, (सब) पाप की खान हैं—ये चौदह प्राणी जीते ही मृतक के समान हैं॥४॥ अरे दुष्ट! ऐसा विचार कर मैं तेरा वध नहीं करता, (पर) अब मुझमें क्रोध न पैदा करवा॥५॥

विशेष—(१) 'जौं अस करउँ…'—यदि रावण कहे कि ऐसा समर्थ है, तो अपना पुरुषार्थ कर दिखा। इसपर कहते हैं कि मुए को मारने में कोई पुरुषार्थ नहीं।

(२) 'कौल कामबस कृपिन…'—ऐसे ही व्यासजी ने पाँच को गिनाया है ; यथा—"जीवितोपि मृताः पञ्च व्यासेन परिकीर्त्तिताः। दरिद्रो व्यथितो मूर्खो प्रवासी नृपसेवकः॥" (नीतिः) ; अर्थात् दरिद्र, व्यथित (रोगी), मूर्ख, परदेश में रहनेवाला और राजा का सेवक ये पाँचो जीते ही मरे के समान हैं। (राज सेवक से यहाँ उन सेवकों का तात्पर्य है। जिन्हें थोड़ी चूक हो जाने पर शूली का डर रहता है।)

कौल अपने कर्मों से नरक-गामी होंगे। कामी कलंकी होंगे, इन दोनों की अकीर्ति होती है, इससे मृतक-तुल्य हैं; यथा—"संभावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते।" (गीता २।३४), कृपण'—कंजूस का संकुचित-हृदय रहता है, जिससे बुद्धि का विकाश नहीं होता। 'बिमूढ़ा'—ज्ञान-रहित। 'अति दरिद्र' सदा तृष्णा-

युक्त रहता है, चिंता में ही लगा रहता है, इससे वह पारमार्थिक विचार का अवकाश ही नहीं पाता। 'अजसी'—मरे से भी बदतर है, ऊपर प्रमाण दिया गया। 'अति बूढ़ा'– मरणोन्मुख होने से एवं नाना क्लेश-भाजन होने से मृतक-तुल्य है, सभी से अनादृत भी होता है। 'सदा रोग बस'; यथा—"असाध्यः स तु विज्ञेयस्तेन युक्तं मृतं वदेत्॥"—वाग्भट्ट। 'संतत क्रोधी'– क्रोध से सदा हृदय अंधा रहता है, इससे विवेक नहीं रहता। 'बिष्णु बिमुख श्रुति संत बिरोधी'—विवेक-धाम विष्णु के शत्रु हैं, तभी ऐसे हैं। विष्णु भगवान् ज्ञान-धाम हैं। श्रुति और संतों के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है। 'तनु पोषक' नरक के भागी हैं; यथा—"नरक प्रद उदर भरउँ" (वि॰ १७१); 'निंदक'; यथा—"सन्त के निंदा जे नर करहीं। ते चमगादुर होइ अवतरहीं॥" (उ॰ दो॰ १२०); इससे ये शव के समान हैं। इनमें 'अघखानी' सबके साथ है। श्रुति-विरोधी और संत विरोधी को दो गिनने से १४ होते हैं।

मुख्य तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त दोषों में एक भी होता है, तो श्रीरामजी में सच्ची प्रीति नहीं होती और उसके बिना जीव जीते ही मरे हुए के समान हैं; यथा—"जीयत राम मुये पुनि राम, सदा रघुनाथहि की गति जेही। सोइ जिये जग में तुलसी न तु डोलत और मुये धरि देही॥" (क॰ उ॰ १६)।

श्रीअंगदजी के कहने का तात्पर्य यह है कि इनमें एक दोषवाला भी मृतक-तुल्य होता है। तुममें तो सभी बातें हैं—

'कौल'; यथा—"करसि पान सोवसि दिन-राती।"—यह शूर्पणखा ने इसे कहा है। पुनः—"आवा निकट जती के बेषा।" (आ॰ दो॰ २७), 'काम बस'—इसीसे इसने पर-स्त्रियों का हरण किया है। 'कृपन' है, इसी से भोगैश्वर्य में आसक्त है और कर्म-फल की वासनावाला है, यथा—"कृपणाः फलहेतवः।" (गीता २।४९); तथा—मनुष्य-तन का मुख्य उद्देश्य है कि 'भगवान् को तत्त्वतः जानकर उन्हें प्राप्त कर ले' जो मनुष्य उन्हें भुलाकर विषय में ही आसक्त रहता है, वह भी कृपण है; यथा—"यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः।" (बृह॰ ३।८।१०); यह दोष भी पूर्णतया रावण में है ही। 'बिमूढ़ा'—मूढ़ है, क्योंकि श्रीरामजी को मनुष्य मानकर ही उनका अपमान करता है; यथा—"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥" (गीता ९।११), 'अति दरिद्र' है, क्योंकि ऋषियों से भी रक्त-रूपी कर लिया। 'अजसी' तो प्रत्यक्ष है, 'अति बूढ़ा'—बुढ़ापे में मति-भ्रम हो जाता है, वैसे इसकी बुद्धि भी भ्रमित है; यथा—"निकट काल जेहि आवत साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं॥" (दो॰ ३९), इसे बहुत काल तक राज्य करते भी हो गया, इससे अति बूढ़ा है ही। 'सदा रोगबस'—मानस रोग कामादि के वश सदा रहता ही है। मोह सब व्याधियों का मूल है, यह मोह-रूप है ही, यथा—"मोह दस मौलि··" (वि॰ ५८), 'संतत क्रोधी'—क्योंकि जो हित भी कहता है, उसे भी यह दुर्वचन ही कहता है। 'बिष्णु बिमुख'—विष्णु भगवान् के चक्राघात के दागों से प्रकट है; यथा—"विष्णुचक्र परिक्षतौ।" (वाल्मी॰ ३।३२।१६) 'श्रुति-संत बिरोधी', यथा—"तेहि बहु बिधि त्रासै देस निकासै जो कह बेद पुराना॥" (बा॰ दो॰ १८३); 'तनु पोषक', यथा—"सुनासीर सत सरिस सो, संतत करइ बिलास।" (दो॰ १०); 'निंदक'; यथा—"जब तेहि कीन्हि राम कै निन्दा।" (दो॰ ३०); पुन. यह सब प्रकार से पाप की खान है, यथा—"आजन्म ते पर-द्रोह-रत पापौघ मय तव तनु अयं॥" (दो॰ १०४)।

सुनि सकोप कह निसिचर-नाथा। अधर दसन दसि मीजत हाथा॥६॥
रे कपि अधम मरन अब चहसी। छोटे बदन बात बड़ि कहसी॥७॥
कटु जल्पसि जड़ कपि बल जाके। बल-प्रताप बुधि तेज न ताके॥८॥

शब्दार्थ—दसन दसि = दाँतों से काटकर। जल्पना = डींग हाँकना, व्यर्थ बकना।

अर्थ—श्रीअंगदजी के वचन सुनकर राक्षस-राज रावण क्रुद्ध हो दाँतों से होठों को काटकर हाथ मलता हुआ बोला ॥६॥ अरे नीच वानर! अब तू मरना ही चाहता है? (क्योंकि) छोटे मुँह बड़ी बात कहता है ॥७॥ अरे जड़ वानर! तू जिसके बल पर कड़वे वचन बकता है, उसमें बल, प्रताप, बुद्धि और तेज (कुछ भी) नहीं है ॥८॥

विशेष—सकोप कहकर फिर दूसरे चरण में उसका स्वरूप दिखाया कि वह हाथ मलता होंठ चबाता है, ये क्रोध के चिह्न हैं; यथा—"परम क्रोध मींजहि सब हाथा।···" (लं॰ दो॰ ५४); तथा—"कटकटाहिं कोटिन्ह भट गर्जहिं। दसन ओठ काटहिं अति तर्जहिं॥" (दो॰ ४०); दुरुक्तियों के उत्तर न आने से ओठ काटता है और दंड का वश नहीं चलता, इससे हाथ मलता है। किन्तु ऊपर से दिखाता है कि दूत अवध्य है, इसलिये मैं हाथ मलकर रह जाता हूँ।

दोहा—अगुन अमान जानि तेहि, दीन्ह पिता बनवास।
सो दुख अरु जुबती-बिरह, पुनि निसिदिन मम त्रास॥
जिन्हके बल कर गर्ब तोहि, अइसे मनुज अनेक।
खाहिं निसाचर दिवस-निसि, मूढ़ समुझु तजि टेक ॥३०॥

शब्दार्थ—अगुन = गुण-हीन, मूर्ख अथवा निर्गुन। अमान = अप्रतिष्ठित, आत्म गौरव-रहित अथवा ज्ञानी। टेक = हठ, जिद।

अर्थ—गुण-हीन और आत्म-गौरव-रहित जानकर उसे पिता ने वनवास दिया। एक तो वह दुःख, फिर उसपर भी युवती-स्त्री का विरह (दुःख) और फिर रात-दिन मेरा डर बना रहता है। जिनके बल का तुझे गर्व है, ऐसे अनेक मनुष्यों को तो रात-दिन राक्षस खाया करते हैं, अरे मूढ! जिद छोड़कर समझ ॥३०॥

विशेष—(१) 'अगुन अमान···'—राजा को स्वात्माभिमानी और गुणवान् होना चाहिये। ये गुण श्रीरामजी में न देखकर पिता ने उत्तराधिकारी होने पर भी उन्हें वनवास दे दिया। यदि आत्म-गौरव होता, तो लड़कर अपना हक ले लेते और गुण होता तो पिता को ही प्रसन्न कर लेते अथवा प्रजा को अनुकूल करके राज्य ले लेते। घर छूटने का दुःख तो था ही, फिर स्त्री-वियोग भी हो गया और उसपर भी मेरा डर रहता है। तब वे स्वयं मृतक के समान हो रहे हैं, मुझसे क्या लड़ेंगे? यह उसने श्रीअंगदजी के 'जीवत सव सम चौदह प्रानी।' के जोड़ में दोष बनाकर कहा है।

रावण तो निन्दा करता है, पर वाणी की अधिष्ठातृ-देवी सरस्वती दूसरा ही अर्थ मानकर कहती है—अगुण अर्थात् निर्गुण। अमान = देश-काल-वस्तु के प्रमाणों से रहित, अपरिमित। या, ज्ञान-पूर्ण; यथा—"ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं।" (आ॰ दो॰ १४); ऐसे जानकर पिता (जगत्पिता) ब्रह्मा ने वनवास की रचना कर दी कि भू-भार-हरण करेंगे। 'सो दुख'—इसमें अवधवासी भक्तों के वियोग का दुःख और 'युवती विरह'—परम अनन्या प्रियाजी का विरह, पुनः मुझे सपरिवार उद्धार करने की चिंता (डर) है।

(२) 'खाहिं निसाचर···'—स्तुति-पक्ष—वे रात-दिन निशाचरों का नाश करते हैं, यथा—"खोजहिं निसिचर दिन अरु राती।" (दो॰ ०१); 'मूढ़ समुझु तजी टेक'—मुझे मूढ़ समझकर सन्धि की हठ छोड़ दे।

वाल्मी ६।३६।४ में भी रावण ने माल्यवान् से कुछ ऐसा ही कहा है; यथा—"मानुषं कृपणं राममेव शाखामृगाश्रयम्। समर्थं मन्यसे केन त्यक्तं पित्रा वनाश्रयम्॥" अर्थात् राम मनुष्य हैं, दीन हैं, केवल वानरों के आश्रित हैं फिर भी पिता के द्वारा त्यागे गये हैं, जिससे वन-वन फिरते हैं, उन्हें किस कारण से समर्थ मानते हो?

प्राचीन प्रतियों में इस ३१वें दोहे पर ही अंक मिलता है और लंका-कांड के १२१ दोहों के होते हुए भी १२० ही संख्या दी हुई मिलती है। प्रतिलिपियों के लेखकों ने भी इसपर ध्यान न-देकर केवल पूर्व लेखकों की भूल समझकर इस दोहे की संख्या ३० को ३१ कर दिया, फिर वैसे ही बढ़ाते हुए अंत में १२१ रक्खा है। वस्तुतः इसे मानसकार ने ही परम भक्ति की दृष्टि से नहीं गिना, क्योंकि इसमें अपने इष्ट-देव श्रीरामजी की निन्दा है। आगे—"हरि हर निंदा सुनहि जे काना। होइ पाप गोघात समाना॥" कहा है। उससे बचने का उपाय भी कहा है, यथा—"काटिय तासु जीभ जो बसाई। श्रवन मूँदि नत चलिय पराई॥" (बा॰ दो॰ ६३); इसे ग्रंथकार ने स्वयं चरितार्थ भी करके दिखाया है कि इस प्रसंग को ग्रन्थ-संख्या से निकाल दिया है, मानों निन्दक की वाणी (जिह्वा) ही निकाल दी है।*

जब तेहिं कीन्हि राम कै निंदा। क्रोधवंत अति भयउ कपिंदा॥१॥
हरि-हर-निंदा सुनइ जो काना। होइ पाप गो-घात समाना॥२॥

अर्थ—जब उसने श्रीरामजी की निन्दा की, तब कपि-श्रेष्ठ श्रीअंगदजी अत्यन्त क्रोधित हो गये॥१॥ (क्योंकि) जो हरि और हर की निन्दा कानों से सुनता है उसे गो-वध के समान पाप होता है॥२॥

विशेष—'राम कै निंदा'—जो झूठ बनाकर किसी का दोष कहा जाय, वही अपवाद (निंदा) कहाता है और जो वास्तविक दोष कहा जाय, उसे परिवाद कहते हैं; यथा—"बहूनां स्त्रीसहस्राणां बहूनां चोपजीविनाम्। परिवादोपवादो वा राघवे नोपपद्यते॥" (वाल्मी॰ ४।१२।२७); अर्थात् बहुत हजारों स्त्रियाँ हैं, और बहुत उपजीवी हैं, पर श्रीरामजी के विषय में सकारण निन्दा और निष्कारण निंदा नहीं सुनी गई है।

यहाँ रावण ने झूठा दोष बनाकर कहा, इसी से निंदा करना कहा गया। पहले श्रीरामजी को प्राकृत नर कहा, क्रोध तो तभी से था। जब झूठ ही दोष भी लगाया, तब अति क्रोध हुआ। इससे इस पाप को गोहत्या के समान कहा, इसका प्रायश्चित्त भी कहा है, वह ऊपर कहा गया कि वश चले तो निंदक की वाणी का खंडन करे अन्यथा कान मूँदकर वहाँ से चल दे, तब पाप से बच सकता है।

यहाँ पर श्रीअंगदजी समर्थ हैं इसीसे 'कपिंदा', अर्थात् कपीन्द्र कहा है। अतएव ये उसके वचनों का सप्रमाण खंडन करेंगे; यथा—"राम मनुज बोलत · सो नर क्यों ··" इत्यादि।

कटकटान कपि-कुंजर भारी। दुहु भुजदंड तमकि महि मारी॥३॥
डोलत धरनि सभासद खसे। चले भाजि भय मारुत ग्रसे॥४॥

* कितने ही लोग अरण्य, किष्किंधा, सुन्दर, लंका और उत्तर इन पाँच कांडों में श्रीसद्गुरुसदन गोलाघाट, अयोध्या की प्रति का पाठ लेना तो लिखते हैं, पर वे उस प्रति को आँख से भी नहीं देखते। मैंने देखा तो उसमें भी इस निंदा के दोहे पर ३० अंक है और इस कांड के अंत तक में १२० ही संख्या है।

गिरत सँभारि उठा दसकंधर। भूतल परे मुकुट अति सुंदर ॥५॥
कछु तेहि लै निज सिरन्हि सँवारे। कछु अंगद प्रभु पास पवारे ॥६॥

शब्दार्थ—ग्रसना = दृढ़ पकड़ा जाना। पवारना = फेंकना, चलाना।

अर्थ—कपि श्रेष्ठ श्रीअंगदजी बहुत जोर से कटकटाये (क्रोध से दाँत पीसे जिससे कटकट शब्द हुआ,) और क्रोधित होकर अपने दोनों भुज-दंड पृथिवी पर दे मारे ॥३॥ पृथिवी के हिलते ही सभासद-गण गिर पड़े और भय-रूपी वायु से ग्रस्त होकर भाग चले ॥४॥ रावण गिरते गिरते सँभलकर उठा, (पर) उसके अत्यन्त सुन्दर मुकुट पृथिवी पर गिर पड़े ॥५॥ कुछ (छः) तो उसने लेकर अपने शिरों पर सजाया और कुछ (चार) श्रीअंगदजी ने (उठाकर) प्रभु के पास फेंक (चला) दिया ॥६॥

विशेष—(१) 'दुहु भुज दंड तमकि ···'—इष्टदेव की निन्दा पर श्रीअंगदजी क्रोध विवश हो गये। रावण उनके हाथों से अवध्य था। इस कारण क्रोध से दाँत पीसकर लाचारी प्रकट करते हुए अपने दोनों हाथ भूमि पर पटके। इसकी तात्कालिक घटना से इनका अभीष्ट भी सिद्ध हो गया। रावण का मुकुट गिरना, उसके शिर गिरने के समान हुआ। सभासदों पर भी धाक जमी।

(२) 'कछु तेहि लै ···'—बीस हाथों से भी उसने छः ही उठा पाये और श्रीअंगदजी ने दो ही हाथों से चार को उठा लिया। यह भी इनकी जीत हुई। कछु = चार, यथा—"तासु मुकुट तुम्ह चारि चलाये।" (दो० ३७), प्रभु के पास भेज दिये कि वहाँ वानर-गण प्रसन्न होंगे और इधर रावण के चार शिर नंगे रह जायँगे। तब वह अत्यन्त लज्जित होगा। इस कार्य पर प्रभु प्रसन्न होंगे।

आवत मुकुट देखि कपि भागे। दिन ही लूक परन बिधि लागे ॥७॥
की रावन करि कोप चलाये। कुलिस चारि आवत अति धाये ॥८॥
कह प्रभु हँसि जनि हृदय डेराहू। लूक न असनि केतु नहिं राहू ॥९॥
ये किरीट दसकंधर केरे। आवत बालितनय के प्रेरे ॥१०॥

शब्दार्थ—लूक = टूटा हुआ तारा, उल्का। कुलिस = वज्र, बिजली। असनि = वज्र।

अर्थ—मुकुटों को आते देखकर वानर भगे। (सोचते हैं कि) हे विधाता! क्या दिन में ही तारे टूटकर गिरने लगे? ॥७॥ या कि रावण ने क्रोध करके चार वज्र चलाये हैं जो बड़े वेग से दौड़े हुए आते हैं ॥८॥ प्रभु श्रीरामजी ने हँसकर कहा कि मन में न डरो, ये न लूक हैं, न वज्र हैं, न केतु और न राहु ॥९॥ ये दशानन रावण के मुकुट हैं और बालि कुमार श्रीअंगदजी के भेजे हुए आ रहे हैं ॥१०॥

विशेष—पहले तेजयुक्त और वेग से आते देखकर लूक का अनुमान किया, फिर सोचा कि दिन में तो लूक पड़ना असंभव है, तब वज्र की कल्पना की। इतने ही में प्रभु उनको सभीत देख समाधान करने लगे, तब तक उनके मन में केतु और राहु की भी कल्पना आ गई। तो उन्हें भी सर्वज्ञ प्रभु ने जान लिया और चारों बातों का निराकरण कर यथार्थ बात बतलाई कि ये रावण के मुकुट हैं। 'हँसि'—हँसना वानर-भालुओं के भागने पर विनोद के लिये एवं श्रीअंगदजी के श्रेष्ठ कर्म पर प्रसन्नता के लिये है।

दोहा—तरकि पवन-सुत कर गहे, आनि धरे प्रभु पास।
कौतुक देखहिं भालु - कपि, दिनकर - सरिस प्रकास ॥
उहाँ सकोप दसानन, सब सन कहत रिसाइ।
धरहु कपिहि धरि मारहु, सुनि अंगद मुसुकाइ ॥३१॥

अर्थ—पवन के पुत्र श्रीहनुमान्‌जी ने उछलकर उन्हें हाथों से पकड़ लिया और लाकर प्रभु के पास रख दिया। उनकी चमक सूर्य के प्रकाश के समान थी, रीछ और वानर तमाशा एवं आश्चर्य-रूप में देखने लगे॥ वहाँ (रावण की सभा में इसी समय) दशानन कुपित हो सबसे क्रोधित होकर कहने लगा कि वानर को पकड़ लो और पकड़कर मार डालो, यह सुनकर श्रीअंगदजी मुस्कुराने लगे ॥३१॥

विशेष—(१) श्रीहनुमान्‌जी ने उछलकर शीघ्र पकड़ लिया कि बली श्रीअंगदजी ने फेंका है, कहीं समुद्र के उस पार न चले जायँ। पुनः भूमि में गिरने से मुकुटों के कुछ अवयव टूट न जायँ, अतएव ऊपर से लोक कर श्रीअंगदजी की भेजी हुई भेंट को प्रभु के पास लाकर रख दिया।

(२) 'उहाँ कहत'—एक ही समय में दोनों जगहों के चरित्र हुए। वक्ता एक हैं, पहले यहाँ (सुवेल) का चरित कहकर तब वहाँ की बात कहते हैं। ग्रंथकार ने अपनी स्थिति 'इहाँ' के पक्ष में सूचित की। 'मुसुकाइ'—रावण की निर्लज्जता और डींग पर निरादर के लिये हँसे कि अभी भी मुझे निर्बल ही समझता है कि जिसके एक थपेड़े की चोट पर यह दशा हुई।

येहि विधि वेगि सुभट सब धावहु। खाहु भालु कपि जहँ जहँ पावहु ॥१॥
मर्कटहीन करहु महि जाई। जियत धरहु तापस दोउ भाई ॥२॥
पुनि सकोप बोलेउ जुवराजा। गाल बजावत तोहि न लाजा ॥३॥
मरु गर काटि निलज कुल-घाती। बल बिलोकि बिहरति नहिं छाती ॥४॥

शब्दार्थ—गर = गला, गर्दन। बिहरना = विदरना, विदीर्ण होना, फटना।

अर्थ—(इसे मार कर) इसी तरह शीघ्र ही सब योद्धाओ! शीघ्र धावा करो और जहाँ-जहाँ भी वानर-भालुओं को पाओ, खा लो ॥१॥ जाकर पृथिवी को वानर-रहित कर दो और तपस्वी दोनों भाइयों को जीता ही पकड़ लो; अर्थात् वे भागने न पावें और न मरने ही पावें। यहाँ मैं ही उनकी दुर्दशा करके उन्हें मारूँगा ॥२॥ युवराज श्रीअंगदजी फिर क्रोध के साथ बोले, अरे! तुझे गाल बजाते हुए लज्जा नहीं आती? ॥३॥ अरे निर्लज्ज! अरे कुलनाशक! (स्वयं अपना) गला काट कर मरजा, मेरा बल देखकर तेरी छाती भी नहीं फटती? ॥४॥

विशेष—(१) वानरों को मार डालने को कहा, क्योंकि वे सब श्रीअंगदजी की ही सेना हैं और श्रीअंगदजी ने इसका अपमान किया है। 'तापस दोउ भाई' को और अधिक शत्रु मानता है, क्योंकि उन्हीं ने इसे भेजा है, अतएव उन्हें विशेष दुःख देकर मारने का उपाय कर रहा है।

(२) 'कुलघाती'—का भाव यह कि तेरे ही कारण तेरे कुल-भर का नाश होगा; यथा—"बातन्ह

मनहिं रिझाइ सठ, जनि घालसि कुल खीस।" (सु० दो० ५६) भाव यह कि अभी भी तू आत्म-घात करके मर जा, तो तेरा कुल बच जाय।

'बल बिलोकि '—देख तो कि एक वानर के थपेड़े के धक्के से समाज सहित तेरी क्या दशा हुई? तू गिरा और तेरे मुकुट भी, और मैंने चार मुकुट भी छीन लिये। इसपर तो तुझे लज्जा से स्वयं गला काटकर मर जाना चाहता था कि अब संसार में कौन मुँह दिखावेगा?

रे त्रिय - चोर कुमारग - गामी। खल मल - रासि मंदमति कामी ॥५॥
सन्यपात जल्पसि दुर्बादा। भयेसि काल-बस खल मनुजादा ॥६॥
याको फल पावहिगो आगे। बानर - भालु चपेटन्हि लागे ॥७॥
राम मनुज बोलत असि बानी। गिरहिं न तव रसना अभिमानी ॥८॥
गिरिहहिं रसना संसय नाहीं। सिरन्हि समेत समर महि माहीं ॥९॥

अर्थ—अरे स्त्री-चोर! अरे कुमार्ग पर चलनेवाले! अरे दुष्ट, पापराशि, मन्द-बुद्धि और कामी! ॥५॥ तू त्रिदोष में दुर्वचन बक रहा है? अरे दुष्ट राक्षस! तू काल के वश हो गया ॥६॥ इसका फल भविष्य में पावेगा, जब वानर-भालुओं की चपेटें (थप्पड़ें) लगेंगी ॥७॥ श्रीरामजी मनुष्य हैं, ऐसा वचन बोलते ही, अरे अभिमानी! तेरी जीभें नहीं गिर पड़तीं? ॥८॥ तेरी जीभें गिरेंगी, इसमें संशय नहीं, (पर वे तेरे) शिरों को लेकर गिरेंगी और समर भूमि में गिरेंगी (इसी से विलंब हो रहा है। देर में पाप का फल मिलता है, तो अधिक मिलता है—यह नियम है।) ॥९॥

विशेष—(१) 'त्रिय चोर' कहकर साथ ही 'कुमारग गामी' भी कहा। भाव यह कि यही कुमार्ग गमन है, यथा—"सो दससीस स्वान की नाईं। इत उत चितइ चला भड़िहाई ॥ इमि कुपथ पग देत खगेसा। रह न तेज तन बुधि बल लेसा ॥" (आ० दो० २९); 'मल रासि', यथा—"आजन्म ते परद्रोह रत पापौघ मय तव तनु अयम्।" (दो० १०३), 'मनुजादा'—क्योंकि राक्षस मनुष्यों को खाते हैं, यथा—"खल मनुजाद द्विजामिष भोगी।" (दो० ७१), 'मंदमति', क्योंकि समझाने पर भी नहीं समझता, यथा—"सुनु खल मैं तोहिं बहुत बुझायो। पतो मान सठ भयो मोहबस जानत हूँ चाहत बिष खायो ॥" (गी० लं० ४)।

(२) 'सन्यपात जल्पसि'—से प्रलापक सन्निपात कहा। 'भयेसि काल बस'—से उसे असाध्य सूचित किया, यथा—"बातुल भूत बिबस मतवारे। ये नहिं बोलहिं बचन सँभारे ॥" (बा० दो० ११४)।

(३) 'गिरहिं न तव रसना ' कहने पर जीभें उसकी न गिरीं, तब वह कह सकता है कि मेरा कथन ठीक ही निकला। इसपर कहते हैं—'गिरिहहिं '।'

सोरठा—सो नर क्यों दसकंध, बालि बध्यो जेहिं एक सर।
बीसहु लोचन अंध, धिग तव जन्म कुजाति जड़ ॥

तव सोनित की प्यास, तृषित राम-सायक निकर।
तजउँ तोहि तेहि त्रास, कटु जल्पक निसिचर अधम ॥३२॥

अर्थ—अरे दशकंधर! वे मनुष्य कैसे हैं जिन्होंने एक बाण से बालि का वध किया? अरे कुजाति! अरे जड़! तू बीसों आँखों का अंधा है, तेरे जन्म को धिक्कार है॥ अरे कटुजल्पक! अरे अधम निशाचर! (मुझे) तेरे खून की प्यास है (पर उसके तो) श्रीरामजी के बाण समूह प्यासे हैं। इसी डर से पापी और कड़वे वचन बकनेवाले तुझ निशाचर को मैं छोड़े देता हूँ, (कि उनके बाणों की प्यास न बुझेगी, तो श्रीरामजी अप्रसन्न होंगे)॥३२॥

विशेष—(१) 'बालि बध्यो जेहि एक सर'; यथा—"एकहि बान बालि मारयो जेहि जो बल-उदधि अगाध॥" (गी० लं० १); "बालि एक सर मारेउ, तेहि जानहु दसकंध।" (दो० १५) अर्थात् बालि का मनुष्य के एक बाण से मारा जाना असंभव है। 'कुजाति' का भाव यहाँ 'कुजाती'=जिसका बुरी तरह से जन्म हो, इस तरह का लिया जायगा। इसकी माता विश्रवा मुनि के यहाँ कुसमय में पुत्र की इच्छा से गई, मुनि के समझाने से भी उसने नहीं माना। इसी से यह राक्षस पैदा हुआ। एक तो मातृपक्ष और फिर राक्षसों के आचरण से कुजाति कहा गया, नहीं तो यह उत्तम कुल का है।

(२) 'राम सायक निकर'—रावण को जीतनेवाले बालि को तो श्रीरामजी ने एक ही बाण से मारा। तब रावण के लिये उनके बाण-समूहों का प्यासा होना क्यों कहा? इसका समाधान यह है कि बालि एक श्रीसुग्रीवजी को ही दुःख देनेवाला था। इसने तो असंख्य जीवों को दुःख दिया है, इससे वैसे ही अनेकों बाणों से अनेकों बार दुःख देकर सबका बदला चुकाते हुए फिर इसे मुक्त करेंगे। वाल्मी० ६।१०७ में स्पष्ट कहा गया है कि जिन बाणों से मैंने बालि आदि को मारा है, उन्हीं बाणों से बार-बार प्रहार किया जाता है, पर क्या कारण है कि वे ही बाण मंद-तेज हो रहे हैं?

यदि इसपर रावण समझे कि इस युक्ति से यह बचना चाहता है, इसमें वैसी शक्ति नहीं है—इसपर आगे कहते हैं—

मैं तव दसन तोरिबे लायक। आयसु मोहि न दीन्ह रघुनायक॥१॥
असि रिस होति दसउ मुख तोरउँ। लंका गहि समुद्र महँ बोरउँ॥२॥
गूलरि-फल-समान तव लंका। बसहु मध्य तुम्ह जंतु असंका॥३॥
मैं बानर फल खात न बारा। आयसु दीन्ह न राम उदारा॥४॥

अर्थ—मैं तेरे दाँत तोड़ने के योग्य हूँ, पर श्रीरघुनाथजी ने आज्ञा नहीं दी॥१॥ ऐसा क्रोध आता है कि तेरे दसो मुखों को तोड़ डालूँ और लंका (नगरी) को पकड़कर समुद्र में डुबा दूँ॥२॥ तेरी लंका गूलर के फल के समान है, तुम सब जंतु (भुनगे, छोटे-छोटे कीड़े) हो, जो उसमें निर्भय बसते हो॥३॥ मैं बानर हूँ (अतएव) फल खाते देर नहीं, (पर क्या करूँ?) उदार श्रीरामजी ने आज्ञा नहीं दी॥४॥

विशेष—(१) 'मैं तव दसन...'; यथा—"हौं ही दसन तोरिबे लायक कहा करउँ जो न

आज्ञा-पालन ही सेवक का मुख्य धर्म है; यथा—"आज्ञा सम न
आयसु पायो ॥" (गी० ई० ४); अर्थात् तुझे मारने पर मैं अपने स्वामी से ही विमुख हो जाऊँगा।
सुसाहिब सेवा।" (अ० दो० ३००);

(२) 'अस रिस होति···'—इससे अपने क्रोध का कार्य कहा। पुनः - 'गूलर फल समान···'—
से अपना विलक्षण सामर्थ्य और अत्यन्त शीघ्रता से लंका का नाश करना कहा कि जिसमें तुम कुछ कर ही
न सकोगे। जैसे गूलर-फल का भुनगा वानर का प्रतिकार नहीं कर सकता। गूलर-फल खाना वानरों का
सहज स्वभाव है, उसके कीड़ों पर वानर को दया नहीं, वैसे ही समस्त लंका के निशाचरों का वध करना
मुझे स्वाभाविक इष्ट है। अतएव वध में दया न करूँगा।

पहले लंका को समुद्र में डुबाना कहा, फिर गूलर फल के समान भक्षण करना कहा, अर्थात् चाहे
समुद्र में डुबा दूँ और चाहे खा जाऊँ, दोनों में समर्थ हूँ।

(३) 'असंका'—तुम यह समझकर निर्भय थे कि यहाँ समुद्र के बीच में कोई आ ही न सकेगा।
'मैं वानर'—मनुष्य के लिये भले ही गूलर का फल अभक्ष्य हो, पर मैं तो वानर हूँ। 'उदारा'—उदार
चरित हैं, शीलवान् हैं, इसीसे वे आज्ञा नहीं देते। पुनः, उदार अर्थात् श्रेष्ठ हैं, तुझे मारने में हीनता सम-
झते हैं; यथा—"नहिं गजारि जस वधे सृकाला।" (दो० २१), उदारता यह भी है कि वे रण-लीला
करके तुझे मारेंगे, तो उस यश को गा-गाकर जगत्-भर के लोगों का उपकार होगा, सभी भव-सिंधु से
तरेंगे; यथा—"चरित करत नर अनुहरत, संसृति-सागर-सेतु।" (ल० दो० ८७)।

श्रीरामजी के नाम, रूप, लीला और धाम चारों उदार हैं—

नाम—"येहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन···" (बा० दो० ६)

रूप—"सुनहुँ उदार सहज रघुनायक।" (आ० दो० ४१)।

लीला—"कृपासिंधु मैं आउब देखन चरित उदार।" (दो० ११५)।

धाम—"नृप गृह कलस सो इंदु उदारा।" (बा० दो० ११४)।

जुगुति सुनत रावन मुसुकाई। मूढ़ सिखिहि कहँ बहुत झुठाई ॥५॥
बालि न कबहुँ गाल अस मारा। मिलि तपसिन्ह तैं भयसि लबारा ॥६॥
साँचेहु मैं लबार भुजबीहा। जौं न उपारिउँ तव दस जीहा ॥७॥

अर्थ—श्रीअंगदजी की युक्ति सुनकर रावण मुस्कुराया, (और बोला) अरे मूढ़ ! बहुत झूठ बोलना
कहाँ सीखा ? ॥५॥ वालि ने तो कभी ऐसा गाल नहीं मारा, (पर) तपस्वियों के साथ मिलकर तू लबार
(गप्पी) हो गया ॥६॥ अरे बीस भुजावाले ! मैं सत्य ही गप्पी हूँ, जो तेरी दसो जीभें न उखाड़ लीं ॥७॥

विशेष—(१) 'रावन मुसुकाई'—विलक्षण युक्ति सुन और उसकी व्यवस्था असंभव मानकर इस
कथन के निरादर के लिये हँसा, पुनः उसे वचन से भी झूठ कहा। 'बालि न कबहुँ···'—झूठ कविता की
अत्युक्ति आदि में होती है, वालि वैसा कवि नहीं था। "गूलर फल···' से 'फल खात न बारा।" तक कवि-
ताई है। रावण ने देखा कि बातों से इससे जीतना कठिन है, तब इसके पिता की प्रशंसा करते हुए उसका
गंभीर स्वभाव कहकर इसे अपने पक्ष में करना चाहता है कि जैसा वह था, वैसा ही तू भी गंभीर बन।
वह मेरा मित्र था, तू भी मित्र हो जा, जिनके संग-प्रभाव से यह दोष तुझमें आ गया, उनका संग छोड़ दे।

यह भी आशय है कि पिता के प्रतिकूल कहकर श्रीअंगदजी की, और उनके संग से तुझमें दोष हुए, यह कह कर उससे भी अधिक श्रीरामजी की निन्दा की।

समुझि राम-प्रताप कपि कोपा। सभा माँझ पन करि पद रोपा ॥८॥
जौं मम चरन सकसि सठ टारी। फिरहिं राम सीता मैं हारी ॥९॥

शब्दार्थ—रोपा = रोपना, जमाना, दृढ़ता के साथ रखना।

अर्थ—श्रीरामजी का प्रताप समझकर श्रीअंगदजी ने कोप कर सभा के बीच में प्रतिज्ञा करके पैर जमा दिया।॥८॥ अरे शठ! जो तू मेरा चरण टाल (हटा) सके तो श्रीरामजी लौट जायँगे, मैं श्रीसीताजी को हारता हूँ ॥९॥

विशेष—(१) 'समुझि राम-प्रताप···'—पूर्व कहा गया; यथा—"प्रभु प्रताप उर सहज असंका। रन बाँकुरा बालि सुत बंका ॥" (दो० १७)। इसमें अपना बल, पिता का सम्बन्ध और राम-प्रताप का हृदय में होना, ये तीन हेतु इनकी निर्भीकता के थे। इनमे अपना बल और पिता का सम्बन्ध तो इन्होंने दिखला दिया, अब राम-प्रताप का स्मरण करके उसका बल दिखाते हैं।

पुनः हाथ और पैर इनके विशेष आयुध हैं; यथा—"लागे मर्दइ भुज बल भारी॥ काहुहि लात चपेटन्हि केहू।···" (दो० ४१); इनमें हाथ का बल भूमि में पटक कर दिखा चुके। अब पैर का बल भी दिखाते हैं। यह भी भाव है कि योद्धाओं का बल भुजाओं में होता है, पैर मे कम ही बल होता है। पिता ने भुजा से जीता है, तो मैं पैर से ही तुझे जीतकर तेरी वह वाणी—'बालि न कबहुँ गाल···' को खंडन करूँगा कि मैं ठीक बालि का पुत्र हूँ और ठीक इसी तरह तेरी दसो जीभें उखड़ेंगी; क्योंकि तेरी वाणी सर्वथा मिथ्या होगी। पुनः मेरा उक्त कथन कि लंका को सर्वथा नाश कर सकता हूँ, सत्य ही निकलेगा कि जब तू मेरा पैर ही नहीं उठा सकता तब लड़कर मुझसे कब जीतेगा?

बाजी में लेना और देना दोनों होते हैं, यहाँ देना तो स्पष्ट कहा है कि मैं श्रीसीताजीजी को हारता हूँ। पर लेना इस प्रकार से जनाया है कि यदि तू मेरा चरण न हटा सका, तो लंका में मेरा चरण गड़ गया अर्थात् लंका मेरी ही होगी।

पैर रोपने पर यह भी कहा जाता है कि श्रीअंगदजी ने इसे बातों से बहुत समझाया, पर इसने गाल बजाना नहीं ही छोड़ा। अब इसे लात से हरावेंगे, फिर चुप हो, लज्जित होकर बैठ जायगा। कहावत है कि—"लातों के देवता बातों से नहीं मानते" एवं "तसि पूजा चाहिय जस देवता।" (अ० दो० २१२); इत्यादि।

(२) 'फिरहिं राम सीता मैं हारी।'—श्रीअंगदजी श्रीरामजी का प्रताप बालि-वध- प्रसंग, समुद्र पर कोप करने और सेतु-प्रसंग आदि से देख चुके हैं। उसी प्रताप को लक्ष्य करके बड़ा कठिन प्रण करते हैं; यथा—"तेहि समाज कियो कठिन पन, जेहि तौल्यो कैलास। तुलसी प्रभु महिमा-कहौं, सेवक को विश्वास॥" (दोहावली १६७); अर्थात् इस कठिन प्रतिज्ञा का कारण प्रभु के प्रताप की महिमा और उसमे श्रीअंगदजी का दृढ़ विश्वास है।

श्रीरामजी ने इन्हें अपनी ओर से प्रतिनिधि रूप में दूत बनाकर भेजा है और इनपर उन्हें पूर्ण विश्वास है कि इनसे कोई कार्य अन्यथा नहीं होगा; यथा—"बहुत बुझाइ तुम्हहि का कहऊँ। परम चतुर मैं जानत अहऊँ॥" (दो० १९); और इसी से इन्हें पूरा अधिकार भी दिया है; यथा—"काज हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥" (दो० १९)।

श्रीअंगदजी को दृढ़ विश्वास है कि श्रीरामजी के प्रताप से तृण भी वज्र हो सकता है; यथा—"तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई। तासु दूत पन कहु किमि टरई॥" (दो० ३४); इनके हृदय के व्यवस्था-कथन में श्रीशिवजी ने उमा से यह वचन कहा है। इसी विश्वास पर ऊपर दोहा भी कहा गया है। इसी निश्चय पर इन्होंने अत्यन्त कठिन प्रण कर डाला है और ऐसे भारी विजय से ही श्रीरामजी के प्रताप की महिमा भी अपरिमित-रूप में प्रकट होगी।

श्रीअंगदजी को यहाँ वैसा ही निश्चय है कि जैसे कोई दो बरस के बालक से कहे कि तू मेरा पैर हटा दे, तो मैं तुझे चन्द्रमा ला दूँगा। न वह पैर उठा सकेगा, और न उसे चन्द्रमा लाना पड़ेगा।

शंका—आगे जब रावण उठाने आया तब श्रीअंगदजी ने उसे बातों से क्यों लौटा दिया? जब कि इन्हें पक्का विश्वास था।

समाधान—श्रीअंगदजी पैर रोपे ही रहे और इन्होंने उसे वचन से लज्जित किया, वह यही किंचित् बहाना पाकर लौट गया, क्योंकि मेघनाद आदि के द्वारा हृदय में जान चुका था कि मुझसे भी न उठेगा, किन्तु श्रीअंगदजी के ललकारने से ही उठा था।

श्रीअंगदजी ने वैसा इसलिये कहा कि यदि यह मेरा पैर उठाकर हार जायगा तो फिर इसके मारने पर श्रीरामजी का कौन यश रह जायगा? सब यही कहेंगे कि जो रावण श्रीअंगदजी से ही हार गया, उसे मारने में श्रीरामजी की कौन बड़ाई है? श्रीअंगदजी के हृदय में राम-प्रताप है, यह तो गूढ़ बात है।

इस प्रण को ऊपर कठिन प्रण कहा गया है कि जिन श्रीसीताजी के लिये इतना प्रयास करके सेना लेकर, सेतु बाँध श्रीरामजी आये, उन्हीं को बाजी में रक्खा गया और फिर विभीषणजी को श्रीरामजी ने लंकेश पद का तिलक किया है, और राक्षस-मात्र के वध की प्रतिज्ञा की है। ये सब बातें श्रीअंगदजी के प्रण-विजय पर ही अवलंबित हैं। पुनः भक्त श्रीअंगदजी को जगन्माता की बाजी रखने की बुद्धि क्यों कर हुई? इन सबका एक-मात्र समाधान यही प्रतीत होता है कि सर्व-उर-प्रेरक रघुवंश-विभूषण ने ही श्रीअंगदजी को ऐसा दृढ़ विश्वास देकर कहलाया और फिर स्वयं उन्हें विजय देकर यश दिया। जिसके परिणाम को समझकर श्रीअंगदजी ने—'पुलक शरीर नयन जल, गहे रामपद कंज।' का वर्त्ताव किया है।

कोई प्रतिज्ञा के उक्त रूप को अयोग्य मानकर और प्रकार भी अर्थ करते हैं; यथा—"राम-सीता फिर जायँ, मैं (अपनेको) हारा; अर्थात् मैं तुझसे न लड़ूँगा।" इसमें पहले तो व्याकरण-विरोध पड़ता है। क्योंकि फिर हारना क्रिया के लिये कोई कर्म न रह जायगा। 'मैं' श्रीअंगदजी के लिये सर्वनाम है, वे ही हारनेवाले हैं, वे पुरुष हैं, तदनुसार 'हारा' ही क्रिया होगी।

यदि इस दोष को मान भी लें, तो सबसे भारी दोष यह होगा कि इसमें राम-प्रताप का कोई महत्त्व ही न रहेगा। न तो श्रीअंगदजी के हट जाने से श्रीरामजी के पक्ष की विशेष हानि ही है और न इससे रावण को कोई लाभ ही है, जब कि इधर श्रीहनुमान्-सुग्रीव आदि ऐसे बहुत योद्धा हैं, फिर रावण एवं उसके सब लोग पैर उठाने को क्यों उठेंगे? अतः, प्रतिज्ञा का कोई महत्त्व ही नहीं रहेगा और ग्रंथकार ने तो इसे कठिन प्रण कहा है; और इस प्रण को बहुत महत्त्व दिया है; अतः, उक्तार्थ ही युक्त है।

सुनहु सुभट सब कह दससीसा। पद गहि धरनि पछारहु कीसा ॥१०॥
इंद्रजीत आदिक बलवाना। हरपि उठे जहँ तहँ भट नाना ॥११॥
झपटहिं करि बल बिपुल उपाई। पद न टरइ बैठहिं सिर नाई ॥१२॥
पुनि उठि झपटहिं सुर-आराती। टरइ न कीस-चरन येहि भाँती ॥१३॥
पुरुप कुयोगी जिमि उरगारी। मोह-विटप नहि सकहि उपारी ॥१४॥

शब्दार्थ—पछारना (पछाड़ना) = पटकना, गिराना। आराती = शत्रु।

अर्थ—रावण ने कहा—हे सब सुभटो ! सुनो, पैर पकड़कर वानर को पृथिवी पर पछाड़ दो ॥१०॥ इन्द्रजित आदि अनेक बलवान् योद्धा जहाँ-तहाँ से प्रसन्न होकर उठे ॥११॥ बहुत बल और बहुत उपाय करके झपटते हैं, पर पाँव नहीं टलता, तब शिर नीचा करके बैठ जाते हैं ॥१२॥ वे देव-शत्रु (राक्षस) फिर उठकर झपटते हैं, (पर) हे सर्पों के शत्रु गरुड़जी ! वानर का चरण उनके द्वारा इस प्रकार नहीं टलता, जैसे कुयोगी पुरुप मोह-रूपी वृक्ष को नहीं उखाड़ सकता ॥१३–१४॥

विशेष—(१) 'हरपि उठे'—हर्पित होकर उठने के हेतु कई हैं—(क) अभी तक स्वामी को इसने बहुत बुरा-भला कहा, बातों से न हारता था। हमलोग बोल न सकते थे। अब सब बदला चुका लूँ, इसे पछाड़ मारूँ, यह है ही क्या ? (ख) जिन श्रीसीताजी के लिये बड़े भारी युद्ध की संभावना थी, वे सहज ही में प्राप्त हो जायँगी। क्योंकि हमलोगों के सामने बल में यह है ही क्या ? (ग) रावण मेरे इस कर्म से बहुत ही प्रसन्न होंगे।

(२) 'बिपुल उपाई'—बल से नहीं उठता, तब बहुत तरह के दाव-पेंच से काम लेते हैं। 'बैठहिं सिरनाई'—शिर नीचा कर लेते हैं, लज्जा से किसी की ओर नहीं देखते कि वह धिक्कारेगा। रावण एवं श्रीअंगदजी की ओर तो फिर भूलकर भी नहीं देखते कि धिक्कारेंगे। 'इन्द्रजीत' ने इन्द्र को भी जीत लिया था, जब वह भी हार गया, तब अब और कौन है ? इस तरह लंका के सब वीरों पर इनकी विजय हुई। 'पुनि उठि……'—दोबारा भी प्रयास के लिये उठते हैं। 'सुर आराती'—इन्हीं ने देवताओं को जीता है और बराबर उन्हें दुःख दिया करते हैं, ये सब ऐसे प्रबल हैं। 'पुरुप कुयोगी……'—यहाँ कुयोगी पुरुप निशाचर हैं। अंगद-चरण मोह-विटप है, चरण का हटाना वृक्ष-उखाड़ना है। कुयोगी = असंयमी, विपयी; यथा—"कविहि अगम जिमि ब्रह्म सुख, अह मम मलिन जनेपु।" (अ॰ दो॰ २२५); तथा—"सब नृप भये जोग उपहासी। जैसे बिनु बिराग संन्यासी ॥" (बा॰ दो॰ २५०); 'बैठहिं सिरनाई'; यथा—"नमित सीस सोचहिं सलज्ज सब श्रीहत भये शरीर।" (गी॰ बा॰ ८७)।

दोहा—कोटिन्ह मेघनाद-सम, सुभट उठे हरपाइ।
झपटहिं टरइ न कपि-चरन, पुनि बैठहिं सिर नाइ ॥
भूमि न छाँड़त कपि-चरन, देखत रिपु-मद भाग।
कोटि बिघ्न ते संत कर, मन जिमि नीति न त्याग ॥३३॥

अर्थ—मेघनाद के समान करोड़ों उत्तम योद्धा प्रसन्न होकर उठे और झपट रहे हैं, पर वानर का पैर नहीं टलता, तब फिर शिर नीचा करके बैठ जाते हैं ॥ वानर का चरण पृथिवी को नहीं छोड़ता, यह देखकर शत्रु का गर्व दूर हो गया। जैसे करोड़ों विघ्न होने पर भी संत का मन नीति को नहीं छोड़ता ॥३३॥

विशेष—(१) 'कोटिन्ह मेघनाद सम······'—पहले इन्द्रजित आदि एक-एक करके उठे थे। अब सब मिलकर करोड़ों एक साथ लगकर उठाने लगे, पर चरण न उठा। जैसे धनुष-भंग प्रसंग पर कहा गया था कि पहले एक-एक ने उठाया था, फिर दस हजार एक साथ ही उठाने में लगे, पर वह न उठा। दोनों प्रसंगों की व्यवस्था मिलती है, क्योंकि दोनों जगह श्रीसीताजी ही बाजी में हैं। वहाँ भी दो दृष्टान्त प्रवृत्ति-निवृत्ति के दिये गये थे—"कामी बचन सती मन जैसे"; "जैसे बिनु बिराग संन्यासी।" (बा० दो० २५०); वैसे यहाँ भी वैसे ही दो दृष्टान्त दो प्रकार के हैं—'पुरुष कुजोगी······' और 'कोटि बिघ्न ते······।' 'कोटिन्ह' यहाँ निश्चित संख्यावाची नहीं है। गणनातीत एवं बड़ी संख्या का बोधक है।

(२) 'भूमि न छाँड़त······'—यहाँ अंगद संत, चरण मन, भूमि नीति और कोटि निशाचर विघ्न हुए। संतों के पक्ष में कामादि कोटि विकार विघ्न हैं, नीति अर्थात् जिस धर्म पर वे आरूढ़ हैं। 'भूमि न छाँड़त······' पर क० लं० १५, १६ पद भी देखने योग्य हैं।

कपि-बल देखि सकल हिय हारे। उठा आपु कपि के परचारे ॥१॥
गहत चरन कह बालि-कुमारा। मम पद गहे न तोर उबारा ॥२॥
गहसि न राम-चरन सठ जाई। सुनत फिरा मन अति सकुचाई ॥३॥
भयउ तेज-हत श्री सब गई। मध्य दिवस जिमि ससि सोहई ॥४॥
सिंहासन बैठेउ सिर नाई। मानहुँ संपति सकल गँवाई ॥५॥

शब्दार्थ—उबार=बचाव। परचारना (सं०-प्रचारण)=ललकारना। श्री=शोभा।

अर्थ—कपि का बल देखकर सब हृदय से हार गये, (तब) वानर श्रीअंगदजी के ललकारने पर वह स्वयं उठा ॥१॥ चरण पकड़ते समय बालि-पुत्र श्रीअंगदजी ने कहा—"मेरा चरण पकड़ने से तेरा बचाव नहीं होगा, अरे शठ! तू जाकर श्रीरामजी के चरण क्यों नहीं पकड़ता?" यह सुनकर वह मन में अत्यन्त सकुचाकर लौट पड़ा ॥२-३॥ उसका तेज नष्ट हो गया, सब शोभा चली गई, जैसे मध्याह्न समय (या, दिन में) चन्द्रमा सोहता है ॥४॥ (जाकर) शिर नीचा करके सिंहासन पर बैठ गया, मानों सारी सम्पत्ति खो बैठा है ॥५॥

विशेष—(१) 'कपि के परचारे'—श्रीअंगदजी ने पहले इसी को कहा था, यथा—"जौं मम चरन सकसि सठ टारी।" पर इसने श्रीअंगदजी को तुच्छ समझकर और वीरों को कह दिया था। जब वे सब हार गये, तब इन्होंने उसको ही ललकारा कि अब मैं जाता हूँ, तुझमें कुछ साहस हो तो उठ, वह इसे नहीं सह सका, अतएव उठकर चला।

(२) 'गहत चरन कह ···'—श्रीअंगदजी जानते हैं कि यह सबको देखकर हृदय से हारा हुआ है, पर मेरे ललकारने से उठा है। राम-प्रताप के समक्ष यह हार तो जायगा ही, पर फिर श्रीरामजी की

कीर्त्ति की हीनता होगी कि जो श्रीअंगदजी के द्वारा ही हार गया था, उसे मारा तो श्रीरामजी ने क्या वीरता की ? फिर युद्ध की शोभा ही मिट जायगी। इस विचार से इसे बात ही से लजाकर लौटा दूँ, तो अच्छा है, थोड़ा भी बहाना पावेगा, तो लौट जायगा, क्योंकि उसके हृदय का उत्साह तो चला ही गया है, वैसा ही हुआ भी। यदि उसके हृदय में कुछ भी भरोसा होता तो वह कदापि न लौटता और न पीछे ऐसा लज्जित होता।

(३) 'मम पद गहे न तोर उबारा।'—पर यह भी भाव कहा जाता है कि यदि तू मेरा चरण पकड़ लेगा तब हार तो जायगा ही। फिर तुझ-सहित लंका हमारे स्वामी की हो जायगी। तब फिर तेरी पैरवी मैं नहीं कर सकूँगा, अभी तो जाकर श्रीरामजी के चरण पकड़, तो मैं भी कह दूँगा कि इसने मेरे चरण नहीं छुए।

(४) 'भयउ तेजहत···'; यथा—"श्री हत भये भूप धनु टूटे। जैसे दिवस दीप छवि छूटे॥" (बा॰ दो॰ २६१); वहाँ (धनुषयज्ञ में) राजाओं को दीपक कहा और यहाँ रावण को चन्द्रमा, क्योंकि वे सब मनुष्य राजा थे और यह दिग्विजयी और बड़ा प्रतापी है। 'सोहई' विपर्यय अर्थ में है; अर्थात् अपने वाच्यार्थ को छोड़कर 'अशोभ' को लक्षित करता है; यथा—"उदय केतु सम हित सब ही के।" (बा॰ दो॰ ४); यहाँ अंगद-रूपी सूर्य के समक्ष तेजहीन, नष्टश्री रावण चन्द्रमा की तरह अत्यंत फीका पड़ गया। यथा—"भ्रष्टश्रीकं गतैश्वर्यं मुमूर्षानष्टचेतनम्।" (वाल्मी॰ ६।४१।६१); यह श्रीरामजी ने श्रीअंगदजी से संदेशा में कहा था—वह यहाँ चरितार्थ है।

(५) 'सिंहासन बैठेउ सिर नाई।···'—सभासदों की-सी दशा इसकी भी हो गई। 'मानहुँ संपति सकल गँवाई।'—'सकल संपति'—दिग्विजय-द्वारा प्राप्त कीर्त्ति एवं तपस्या के द्वारा वर से पाये हुए बल, प्रताप आदि। 'गँवाई' का भाव यह है कि अपनी ही मूर्खता से खो बैठा। पछताता है कि मैं नाहक उठकर गया, यों ही बातों से टाल दिया होता, तो अच्छा था, श्रीसुमंत्रजी के पछताने से मिलान कीजिये; यथा—"फिरेउ बनिक जिमि मूर गँवाई।" (अ॰ दो॰ ८८), "मनहुँ कृपन धनरासि गँवाई॥··· चलेउ समर जनु सुभट पराई॥" (अ॰ दो॰ १४२)।

जगदातमा प्रानपति रामा। तासु बिमुख किमि लह बिश्रामा॥६॥
उमा राम की भृकुटि-बिलासा। होइ बिस्व पुनि पावइ नासा॥७॥
तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई। तासु दूत-पन कहु किमि टरई॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी जगत्-भर की आत्मा हैं और प्राणों के स्वामी हैं, उनसे प्रतिकूल होनेवाला कैसे विश्राम (आराम, सुख) पा सकता है ? ॥६॥ हे उमा ! श्रीरामजी के भ्रू-विलास (इच्छा-मात्र) से संसार उत्पन्न होता और फिर नाश को प्राप्त होता है ॥७॥ जो तृण को वज्र और वज्र को तृण कर देता है, कहो तो (भला) उसके दूत का प्रण कैसे टल सकता है ? ॥८॥

विशेष—(१) 'जगदातमा प्रानपति रामा।', यथा—"एष सर्वभूतान्तरात्मा" (मुं॰ २।१।४); "स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः···एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः॥" (बृह॰ २।५।१५); अर्थात् श्रीरामजी जगत्-भर की आत्मा

हैं, जगत्-भर उनका शरीर है, जगत्-भर से द्रोह करना उन्हीं से द्रोह करना है। फिर वे ही सबके प्राणों के पति हैं, अर्थात् उन्हीं से सबको पौरुष भी प्राप्त होता है, जिससे जय-पराजय भी उन्हीं के हाथ है; यथा – "पौरुषं नृषु" (गीता० ७।८)। रावण विश्व-द्रोह-रत है, इसी से इसकी ऐसी दुर्दशा हुई, यथा—"ताहि कि संपति सगुन सुभ, सपनेहु मन विश्राम। भूत द्रोहरत मोह बस, राम विमुख रति काम॥" (दो० ७८)। "प्रान प्रान के जीव के, जिय सुख के सुख राम।" (अ० दो० २९०)। 'प्रानपति'; यथा—"यस्य प्राण: शरीरम्" (बृ० ३।७।१७), तथा—"प्राणस्य प्राणम्" (बृ० ४।४।१८)।

'तासु बिमुख किमि···'; यथा—"राम बिमुख थल नरक न लहहीं।"—कैकेई। "सब जग ताहि अनलहुँ ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥"—जयंत-प्रसंग। "राम बिमुख सुख कबहुँ न सोवा।"—भुशुंडीजी।

ऐसे ही रावण को सेतुबंध-प्रसंग से रातोदिन विश्राम नहीं मिल रहा है। सभा में विभीषण, माल्यवान् और प्रहस्त आदि ने चैन नहीं लेने दिया और घर जाता है तो मंदोदरी वाग्बाणों से बेधती है—ये सब प्रसंग ऊपर लिखे गये।

(२) 'उमा राम की भृकुटि······'—उमा को संदेह हो सकता है कि सृष्टि में कोई भी उत्कृष्ट विभूति का सहसा ऐसा अपकर्ष दिखाना भी तो जगदात्मा के लिये युक्त नहीं प्रतीत होता। इसके लिये श्रीशिवजी स्वयं कहते हैं कि उमा, यह तो श्रीरामजी की नित्य-लीला है; यथा—"भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई।" (आ० दो० १०), जब देवता प्रमादवश हो जाते हैं, तब असुरों को वज्र के समान कर इन्हें तृण के समान कर देते हैं। फिर जब वे आर्त्त होकर शरण होते हैं, तब देवताओं को वज्र के समान और असुरों को तृण के समान करते हैं; यथा—"सतरंज कैसो राज काठ को सबै समाज महाराज बाजी रची प्रथम न हति। तुलसी प्रभु के हाथ हारिबो जीतिबो नाथ! बहु बेष बहु मुख सारदा कहति" (वि० २५१); श्रीअंगदजी इन्द्र के अंशभूत वालि के पुत्र होने से इन्द्ररूप ही हैं। आज इन्हें वज्र के समान बना कर पूर्व के पराभव का बदला दिलाया। ये ही पहले तृण के समान थे, अब वज्र हो गये। वज्र गिरने से पर्वत टूट जाता है। वैसे इनके हाथ के थप्पड़- द्वारा पृथिवी के हिलने से पर्वताकार भी रावण गिरने से बचा, सभासद् गिर पड़े, जैसे वायु के झकोर से तृण उड़ जाय, वैसे सब भग चले; यथा - "चले भाजि भय मारुत ग्रसे।" (दो० ३१); कारण यह है कि रावण की विमुखता से श्रीरामजी भी उसके विमुख हैं और श्रीअंगदजी की सम्मुखता से इनके सम्मुख हैं, कहा भी है, यथा—"तुलसी प्रभु सुभाव सुर तरु सों ज्यों दर्पन मुख कांति।" (वि० १११); अत —'तृन ते कुलिस ···· ' में सम्मुखता का फल और 'जगदातमा ' में विमुखता का फल कहा गया है।

और भी—वालि के समक्ष में श्रीसुग्रीवजी तृण के समान थे, यथा—"तृन समान सुग्रीवहिं जानी।" (कि० दो० ७), उन्हें भी श्रीरामजी ने वज्र के समान कर दिया, यथा—"तन भा कुलिस गई सब पीरा॥" (कि० दो० ९); श्रीविभीषणजी रावण के समक्ष तृण के समान थे, उन्होंने उससे काल के समान होकर युद्ध किया—देखिये दो० ९३। आगे वानर-राक्षस-युद्ध में कहा है; यथा—"जय राम जो तृन ते कुलिस कर कुलिस ते तृन कर सही।" (दो० ८०)।

पुनि कपि कही नीति बिधि नाना। मान न ताहि कालु नियराना॥९॥
रिपु-मद-मथि प्रभु-सुजस सुनायो। यह कहि चल्यो बालि नृप जायो॥१०॥

हतौं न खेत खेलाइ खेलाई। तोहि अबहि का करउँ बड़ाई ॥११॥

शब्दार्थ—जायो = उत्पन्न। खेत = रणक्षेत्र, रणभूमि। खेलाइ खेलाई = दौड़ा-दौड़ाकर, साँसति करके—इस अर्थ में यह मुहावरा है।

अर्थ—फिर वानर श्रीअंगदजी ने अनेक प्रकार की नीतियाँ कहीं, पर उसका (तो) काल समीप आ गया है, इससे उसने नहीं माना ॥९॥ शत्रु के गर्व को मथकर (नाशकर) प्रभु के सुयश सुनाये और राजा बालि के पुत्र श्रीअंगदजी यह कहकर चल दिये ॥१०॥ कि रणभूमि में खेला-खेलाकर जबतक मैं तुझे न मारूँ, तबतक अभी क्या बड़ाई करूँ ? ॥११॥

विशेष—(१) 'नीति विधि नाना'—जैसी नीति श्रीहनुमान्‌जी, मंदोदरी एवं श्रीविभीषण आदि ने कही है; यथा—"जदपि कही कपि अति हित बानी। · नय सानी ॥" (सुं॰ दो॰ २१); "बोली बचन नीति रस पागी।" (सुं॰ दो॰ ३५); "कही बिभीषन नीति बखानी ॥" (सुं॰ दो॰ ४०)। 'पुनि कपि कही'—यद्यपि पहले भी कह चुके थे, तथापि अब लज्जित हो गया है, सम्भवतः मान जाय, इससे इन्होंने फिर कहा। 'मान न ताहि···'; यथा—"सुनु सुत भयउ काल बस रावन। सो कि मान अब परम सिखावन ॥" (दो॰ ४१); शिक्षा न मानने पर माल्यवान् ने भी ऐसा ही अनुमान किया है; यथा—"तेहि अपने मन अस अनुमाना। बध्यो चहत येहि कृपा निधाना ॥" (दो॰ ४७); श्रीरामजी ही इसके काल हैं, वे समीप ही सुबेल पर आ गये हैं; यथा—"सीता देइ मिलहु नत, आवा काल तुम्हार।" (सुं॰ दो॰ ५१); "कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्त।" (गीता ११।३२)।

(२) 'रिपु मद मथि'—यहाँ समाज-सहित रावण मत्त-गज-समूह के समान है, अंगदजी सिंह-रूप हैं; यथा—"यथा मत्त गज जूथ महँ, पंचानन चलि जाइ।" (दो॰ १८), यह उपक्रम में ही कहा गया है। यहाँ उपसंहार में—'रिपु मद मथि ·····' से उन्हीं गज-गण के मद-मंथन (नाशन) का भाव है, यथा—"सभा माँझ जेहि तव बल मथा। करि बरूथ महँ मृगपति जथा ॥" (दो॰ ३५)—यह मंदोदरी ने इसी प्रसंग पर कहा है। 'प्रभु सुजस सुनायो'—श्रीरामजी का पराक्रम कहा कि उनके कोप से त्रिदेव भी तेरी रक्षा नहीं कर सकते; यथा—"संकर सहस बिष्णु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही ॥" (सुं॰ दो॰ २२); पुनः श्रीरामजी के पराक्रम के उदाहरण कहे; यथा—"खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित बल साली ॥" (सुं॰ दो॰ २०); इत्यादि। यह भी कहा कि शरण होने पर वे सब प्रकार से रक्षा करते हैं; यथा—"सुजस सुनि श्रवन हौं नाथ आयों सरन। उपल केवट गीध सबरी संसृति समन सोक श्रम सींव सुग्रीव आरति हरन ॥" (गी॰ सुं॰ ४२); इत्यादि।

'बालि नृप जायो'—श्रीअंगदजी ने प्रथम ही कहा था—"साँचेहु मैं लबार ··" अर्थात् मैं बालि के अनुरूप ही कार्य करके तेरे वचनों को खंडित कर दिखाऊँगा—देखिये दो॰ ३२ चौ॰ ८ भी। वही यहाँ तक चरितार्थ किया, बालि की तरह ही नहीं, प्रत्युत उससे अधिक पराजित किया, उसी बात का लक्ष्य कराते हुए—'बालि नृप जायो' कहा गया है।

(३) 'हतौं न खेत ··'—वीर लोग करनी करके अपना पौरुष दिखाते हैं, कहकर अपनेको प्रकट करने में लघुता मानते हैं; यथा—"देखि निजु करतूति कहिबो जानि हैं लघु लोइ।" (गी॰ सुं॰ ५); तथा—"सूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहिं आप।" (बा॰ दो॰ २७४), बिना कहे ही कर

दिखाना उत्तम है ; यथा—"एक कहहिं कहहिं, करहिं अपर, एक करहिं कहत न बाग हीं।" (दो० ८६); अर्थात् तूने बहुत कहा, पर कर्त्तव्य कुछ न बना और मैंने कर्त्तव्य कर दिखाया। इस तरह रावण को नीच और अपनेको उत्तम जनाया।

प्रथमहि तासु तनय कपि मारा। सो सुनि रावन भयउ दुखारा ॥१२॥
जातुधान अंगद-पन देखी। भय ब्याकुल सब भये बिसेखी ॥१३॥
दोहा—रिपु-बल धरषि हरषि कपि, बालि-तनय बलपुंज।
पुलक सरीर नयन-जल, गहे राम-पद-कंज ॥

शब्दार्थ—धरषि (सं० धर्षण) = दबाकर, मर्दन कर।

अर्थ—वानर श्रीअंगदजी ने पहले (सभा में आने के पूर्व) ही उसके पुत्र को मार डाला था, वह सुनकर रावण दुखी हुआ ॥१२॥ श्रीअंगदजी की प्रतिज्ञा देखकर सब राक्षस डर से बहुत व्याकुल हो गये ॥१३॥ बल की राशि बालि के पुत्र कपि श्रीअंगदजी ने शत्रु के बल को मर्दन कर हर्षित हो श्रीरामजी के (पास आकर उनके) चरण-कमल पकड़ लिये, उनका शरीर पुलकित है और नेत्रों में जल भरा है ॥

विशेष—(१) 'सो सुनि रावन···'—अभी तक किसी ने नहीं कहा था, इसका कारण दो० १७ चौ० ७ में कहा गया था। अब यह डर नहीं रह गया, इससे लोगों ने कह दिया। अब यदि रावण कहेगा भी कि तुमलोगों ने क्यों नहीं बचाया ? तो कह सकेंगे कि जिसपर सभा-समेत आपका भी वश नहीं चला, तो हमलोग उसका क्या कर लेते ? 'रावन' का भाव कि जो जगत् का रुलानेवाला था, उसने भी रो दिया। आगे 'बिलखाइ' कहा भी है। अक्ष-वध पर पहले क्रोध किया था, क्योंकि प्रतिकार का अवसर था और पीछे विषाद किया था। पर यहाँ तो अब कुछ कर नहीं सकता, अतएव केवल दुखी हुआ।

(२) 'जातुधान अंगद पन देखी।···'—'अंगद-पन'—'जौं मम चरन···' इससे सबको निश्चय हो गया कि जिस दल में ऐसे-ऐसे वीर हैं, उससे राक्षसों का बचना दुर्लभ है। फिर जिनके दूत ऐसे हैं उन स्वामी के बल का क्या ठिकाना ? ; यथा—"जासु दूत बल बरनि न जाई। तेहि आये पुर कवनि भलाई ॥" (सुं० दो० ३५); इस भय से सब विशेष व्याकुल हो गये। व्याकुल तो श्रीहनुमान्‌जी के ही कर्मों से थे, अब विशेष व्याकुल हो गये। पुनः व्याकुल तो अक्षरल-वध पर ही हुए थे ; यथा—"अब धौं काह करिहि करतारा। अति सभीत सब करहिं बिचारा ॥" (दो० १७); अब श्रीअंगदजी की प्रण-सफलता देखकर और भी व्याकुल हो गये। प्रण करके चरण रोप गये और कह भी गये—'हतौं न खेत···' अतः, बचना दुर्लभ मानकर राक्षस लोग विशेष डर गये।

(३) 'रिपु बल धरषि···; यथा—"व्यथयन्राक्षसान्सर्वान्हर्षयंश्चापि वानरान्। स वानराणां मध्ये तु रामपार्श्वमुपागतः ॥" (वाल्मी० ६।४१।९१); अर्थात् राक्षसों को व्यथित और वानरों को प्रसन्न करते हुए वे (अंगदजी) वानरों के बीच में श्रीरामजी के पास आये। 'रिपु बल धरषि' के सम्बन्ध से बालि तनय कहा ; यथा—"बालि तनय अति बल बाँकुरा।" (दो० १८); 'हरषि'—मनोरथ-सफलता से कहा है। 'पुलक सरीर···'—प्रेम की अधिकता से कहा गया है ; यथा—"अति प्रेम अधीरा पुलक सरीरा···जुगल

नयन, जलधार बही ॥" (बा॰ दो॰ २१०) ; जैसे उपक्रम में—"चरन बंदि अंगद उठेउ··· जुवराज, पुलकित तन हरषित हियेउ।" (दो॰ १७) ; कहा गया। वैसे ही लौटने पर उपसंहार में भी—'पुलक सरीर नयन जल, गहे राम पद कंज' कहा गया है। भक्त लोग कार्यारंभ में इष्ट को प्रणाम आदि प्रेम-पूर्वक करते हैं और कार्य-सिद्धि पर भी कृतज्ञता-रूप में वैसे ही प्रेम रखते हैं ; यथा—"आयेसु माँगि चरन सिर नाई। चले···" (कि॰ दो॰ ११) ; पुनः लौटने पर भी—"परे सकल कपि चरनन्हि जाई।" (सुं॰ दो॰ २८) ; कहा गया है।

मंदोदरी का उपदेश [४]

साँझ जानि दसकंधर, भवन गयउ बिलखाइ।
मंदोदरी रावनहि, बहुरि कहा समुझाई ॥३४॥

अर्थ—संध्या समय जानकर दशकंधर रावण रोकर घर गया। मंदोदरी ने रावण (रोनेवाले) को फिर समझाकर कहा ॥३४॥

विशेष—इस दोहे के पहले और तीसरे चरण में १२-१२ मात्राएँ हैं, अतएव यह 'दोही' छंद है। 'साँझ समय'—नित्य के सभा-विसर्जन समय पर। 'भवन गयउ बिलखाइ'—आज सभा के बीच में एक वानर के बालक ने मान-मर्दन कर दिया। इससे रावण ने रो दिया, उसे अत्यन्त दुःख हुआ। पुनः भवन में भी जाने से सुख न मिलेगा, जानता है कि रानी बेटे का वध और सभी की व्यवस्था सुन चुकी होगी, इससे वह भी वाग्बाणों से वेधेगी, श्रीअंगदजी से भी अधिक लज्जित करेगी। अतः, भवन जाते हुए रो दिया। इसपर भी रोया कि अब राक्षस-गण डर से वानरों का सामना कैसे करेंगे ?

पहले सभा से जाकर नाच-गान के अखाड़े में जाता था। पर जब से श्रीरामजी के अदृश्य बाण ने महारस भंग कर दिया, उसी दिन से (संभवतः) वह बंद हो गया, क्योंकि सब सभा डर गई थी; यथा—"रावन सभा ससंक सब, देखि महारस भंग।" (दो॰ १३); अथवा, यह भी हो सकता है कि आज भरी सभा में भारी अपमान हुआ है, इस शोक से वहाँ नहीं गया। 'बहुरि'—क्योंकि तीन बार समझा चुकी है, फिर समझाती है। 'समुझाइ' का भाव यह कि विस्तार से कहेगी।

कंत समुझि मन तजहु कुमतिही। सोह न समर तुम्हहि रघुपतिही ॥१॥
रामानुज लघु रेख खचाई। सोउ नहिं नाघेउ असि मनुसाई ॥२॥

अर्थ—हे स्वामिन्! मन में समझकर कुमति छोड़ दो। तुममें और श्रीरघुनाथजी में युद्ध नहीं शोभा देता; अर्थात् तुम उनसे सामना करने के योग्य नहीं हो ॥१॥ श्रीरामजी के छोटे भाई ने छोटी-सी लकीर खींची थी, वह भी तुम नहीं लाँघ सके, यही तो तुम्हारा पुरुषत्व है न ? ॥२॥

विशेष—(१) 'तजहु कुमतिही'—क्योंकि तुम्हारे हृदय में दुर्बुद्धि बस गई है, इसी से हितैषियों की शिक्षा नहीं मानते; यथा—"तव उर कुमति बसी बिपरीता। हित अनहित मानहु रिपु प्रीता॥" (सुं॰

दो० ३१), यह शिक्षा देना चाहती है, इसी से पहले कुमति छोड़ना कहती है। यह कुमति न छोड़ोगे तो समर-द्वारा विपत्ति पड़ेगी, यथा—"जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना।" (सुं० दो० ४०)। रघुपति से समर की इच्छा ही कुमति है।

(२) 'रामानुज लघु रेख खचाई। '—पहले जो कहा था कि तुम श्रीरामजी से लड़ने योग्य नहीं हो, उसी को प्रमाणों से पुष्ट करती है कि जब सीता-हरण के समय श्रीलक्ष्मणजी ने पर्णशाला की चारों ओर अपने धनुष से रेखा खींच दी थी कि इसके भीतर यदि कोई भी निशाचर प्रवेश करे, तो भस्म हो जाय। (यह घटना 'मरम बचन जब सीता बोला। '—आ० दो० २७ के समय की है, ग्रंथकार ने यहाँ कहकर जनाया है) तुम यती वेष से रेखा देखकर भीतर न जा सके और कहा कि मैं बँधी भिक्षा न लूँगा। जब वे बाहर निकलीं, तब उनका हरण किया। जब उनके छोटे भाई की खींची रेखा भी नहीं लाँघ सके तो उनके बड़े भाई के सामने शस्त्र प्रहार करने पर तुम कैसे ठहरोगे ? 'असि मनुसाई' अर्थात् बस, परीक्षा तो हो चुकी है, यही पुरुषार्थ है कि और कहीं से लाये हो ?

मंदोदरी रावण को अत्यन्त प्रिय थी, इससे उससे कुछ छिपाता न था। अथवा, हो सकता है कि दूतियों द्वारा श्रीजानकीजी से यह बात ज्ञात हुई हो।

पिय तुम्ह ताहि जितब संग्रामा। जाके दूत केर यह कामा ॥३॥
कौतुक सिंधु नाघि तव लंका। आयउ कपि - केहरी असंका ॥४॥
रखवारे हति बिपिन उजारा। देखत तोहि अच्छ तेहिं मारा ॥५॥
जारि सकल पुर कीन्हेसि छारा। कहाँ रहा बल - गर्ब तुम्हारा ॥६॥

अर्थ—हे प्राणप्रिय ! तुम उसे संग्राम में जीतोगे, जिसके दूत के ये काम हैं ॥३॥ कि खेल से ही समुद्र लाँघकर तुम्हारी लंका में कपि सिंह निर्भय आया ॥४॥ रखवालों को मारकर उसने अशोक वन उजाड़ डाला और तुम्हारे देखते हुए उसने अक्षयकुमार को मार डाला ॥५॥ सम्पूर्ण नगर जलाकर उसने राख कर दिया, तब तुम्हारा बल का घमंड कहाँ रहा ? अर्थात् उस समय उसे पकड़कर क्यों नहीं मारा ?॥६॥

विशेष—(१) 'पिय तुम्ह ताहि जितब '—एक प्रमाण लक्ष्मण रेखा का देकर फिर दूसरा देती है। यह चरित भी उसके पीछे का है, वैसे क्रम से कहती है कि तुम उस रेखा को उनके सूने में भी नहीं लाँघ सके और उनका दूत तुम्हारी तरफ की सिंहिका, लंकिनी और काल के रहते हुए भी तुम्हारे जल-दुर्ग-रूप विशाल समुद्र को खेल में लाँघ आया, यथा—'कौतुक सिंधु ' एक से रावण की निर्बलता और दूसरे प्रमाण से श्रीरामजी की प्रबलता कही। 'तव लंका'—तुम्हारी दृष्टि में जो लंका दुर्धर्ष थी, यथा—"सुंदर सहज अगम अनुमानी। कीन्हि तहाँ रावन रजधानी॥" (बा० दो० १७८), 'केहरी असंका'—पहले तो वह लंकिनी और काल आदि से ही नहीं डरा, फिर तुम्हारे सामने बँधे होने पर भी अशंक ही था, यथा—"देखि प्रताप न कपि मन संका। जिमि अहिगन महुँ गरुड़ असंका॥" (सु० दो० १९), 'आयउ'—जहाँ इन्द्र आदि नहीं आ सकते, वहाँ आकर निर्भीकता से सब कार्य कर गया।

(२) 'रखवारे हति '—अब उसकी अशक्तता के प्रमाण देती है कि तुम्हारा प्राण प्रिय वन उजाड़ा और उसके बहुत रक्षकों को मारा, सब भट मारे गये। पुनः इतने रक्षकों के भीतर भी वह कैसे

चला गया और श्रीजानकी को देखा, उनसे बातें भी कीं। 'देखत तोहिं' दीप-देहली-रूप से दोनों ओर है ; अर्थात् ये सब काम उसने तुम्हें ललकार-ललकारकर किये हैं। अक्ष तुम्हारा पुत्र आत्मा-रूप ही था, उसका वध भी तुम्हें ललकारकर किया और वैसे ही नगर भी जलाया। इन सब कर्मों का बदला लिये होते, तो भी तुम्हारा बल-गर्व रह गया होता, पर न ले सके। 'कीन्हेसि छारा'—घृत, तेल और वस्त्र से भी तुम उसकी पूँछ नहीं जला सके और उसने तुम्हारी सोने की लंका जलाकर राख कर दी।

(३) 'कहाँ रहा बल गर्व...'—भाव यह कि तुम्हारा गर्व भी नगर के साथ ही जल गया, अब व्यर्थ गाल न मारो, यथा "उदधि अपार उतरत नहिं लागी बार, केसरी कुमार सो अदंड कैसो डाँड़िगो। वाटिका उजारि अच्छ रच्छकनि मारि भट, भारी भारी रावरे के चाउर से काँड़िगो॥ तुलसी तिहारे विद्यमान जुवराज आजु, कोपि पाँव रोपि बस कै छोड़ाइ छाँड़िगो। कहे की न लाज पिय! अजहूँ न आये बाज, सहित समाज गढ़ राँड़ कैसो भाँड़िगो॥" (क० लं० १७)। पुनः 'कहाँ रहा बल गर्व...'; यथा— "सो भुजबल राखेउ उर घाली।..." (दो० २८)।

अब पति मृषा गाल जनि मारहु। मोर कहा कछु हृदय बिचारहु॥७॥
पति रघुपतिहि नृपति जनि मानहु। अग-जग-नाथ अतुल बल जानहु॥८॥

अर्थ—हे स्वामिन्! अब झूठ ही गाल न मारो (शेखी न बघारो) मेरे कहे हुए को कुछ हृदय में विचार करो॥७॥ हे पति! श्रीरघुनाथजी को नर-पति (ही) मत मानो (प्रत्युत्) चराचर के स्वामी और निस्सीम बलवाला जानो॥८॥

विशेष—(१) 'अब पति मृषा...'—जब कि उपर्युक्त प्रमाणों से तुम्हारा बलगर्व नाश हो गया, तो अब वृथा डींग न हाँको ; अर्थात् इसे कोई सत्य न मानेगा, तब कहना व्यर्थ ही है। 'कछु हृदय...'—भाव यह कि कुछ भी हृदय में सोचोगे तो निश्चय हो जायगा कि श्रीरामजी मनुष्य नहीं हैं। इसी से उनके पक्ष के सब अद्भुत कार्य हो रहे हैं, और इधर के सब कार्य बिगड़ते ही जाते हैं—यह ईश्वरी घटना ही हो सकती है।

(२) 'नृपति जनि मानहु'—रावण ने मृग-परीक्षा से नर निश्चय कर लिया, वही हठ वह पकड़े हुए है; यथा—"भूप सुजस खल मोहि सुनावा।" ; "नर कर करसि बखान" आदि श्रीअंगदजी से कहा है। रानी प्रमाणों द्वारा उसे छोड़ाना चाहती है। 'अग-जग-नाथ ..'—मनुष्य-मात्र के ही राजा नहीं हैं, किंतु चराचर के स्वामी हैं, और इसी से वे 'अतुल बल' हैं, क्योंकि सब जगत् के नियंता हैं। इसके और भी प्रमाण आगे देती है—

बान-प्रताप जान मारीचा। तासु कहा नहिं मानेहि नीचा॥९॥
जनक-सभा अगनित भूपाला। रहे तुम्हउ बल अतुल बिसाला॥१०॥
भंजि धनुष जानकी बियाही। तब संग्राम जितेहु किन ताही॥११॥

अर्थ—मारीच उनके बाण के प्रताप को जानता था, तुमने उसे नीच मानकर उसका कहा नहीं माना॥९॥ श्रीजनकजी की सभा में अगणित राजा थे, अतोल भारी बलवाले तुम भी (तो) वहाँ थे॥१०॥ धनुष तोड़कर उन्होंने श्रीजानकीजी को ब्याहा, तब तुमने रण में उन्हें क्यों नहीं जीत लिया?॥११॥

विशेष—(१) 'बान-प्रताप जान मारीचा ।'—श्रीरामजी को ऊपर 'अतुल बल' कहा था। उसे पहले बाण-प्रताप से कहती है, क्योंकि वह जानती है कि श्रीरामजी ने विराध, खर-दूषण और बालि आदि को बाण ही से मारा है, इसे भी उसी से मारेंगे। पहले भी इसने कहा है, यथा—"राम बान अहिगन सरिस ···" (सुं॰ दो॰ ३६); मारीच का बाण-प्रताप जानना मुनि-मख-रक्षा प्रसंग का है; यथा—"मुनि मख राखन गयउ कुमारा। बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा॥ सत जोजन, आयउँ छन माहीं। तिन्हसन बैर किये भल नाहीं॥ भइ मम कीट भृंग की नाईं। जहँ तहँ मैं देखउँ दोउ भाई॥" (आ॰ दो॰ २४); मुनि-मख-रक्षा के पीछे धनुर्भंग-प्रसंग हुआ था, इसी से आगे उसे भी कहेगी।

'तासु कहा नहिं मानेहि नीचा।'—इसमें 'मानेहि' शब्द को दीप-देहली-रूप मानना चाहिये। तब उपर्युक्त अर्थ बनता है। इस तरह 'नीचा' मारीच का विशेषण होता है, प्रमाण—"सुकृत न सुकृती परिहरै, कपट न कपटी नीच। मरत सिखावन सो दियो, गीधराज मारीच॥" (दोहावली ३३१); "कौतुक ही मारीच नीच मिस प्रगट्यो निसिप-प्रताप॥" (गी॰ सं॰ १); "लीन्ह नीच मारीचहिं संगा।" (बा॰ दो॰ ४८), (यह रावण में भी लग सकता है)।

'नीचा' रावण का भी विशेषण हो सकता है—हे नीच! प्रमाण—"रे नीच! मारीच बिचलाइ हति ताड़का, भंजि सिव चाप सुख सबहिं दीन्हेउँ।" (क॰ सं॰ १८); इस चौथी बार रानी कड़े शब्दों में सब बातें कह रही है। अत., यह भी युक्त हो सकता है।

(२) जनक सभा अगनित भूपाला।'; यथा—"दीप-दीप के भूपति नाना। आये सुनि हम जो प्रन ठाना॥" (बा॰ दो॰ २५०); वे सब एक-से-एक बली थे; यथा—"सीय स्वयंबर भूप अनेका। सिमिटे सुभट एक-ते-एका॥" (बा॰ दो॰ २११), 'रहे तुम्हउँ'; यथा—"जेहि कौतुक सिव सैल उठावा। सोउ तेहि सभा परा भव पावा॥" (बा॰ दो॰ २११); 'बल अतुल बिसाला'—रावण ने अपने भुज-बल को स्वयं कहा है, यथा "लोक-पाल बल बिपुल ससि, ग्रसन हेतु सब राहु।" (दो॰ २२), इससे अपनेको उनसे अधिक कहा है। पुन "निज भुज बल अति अतुल कहउँ क्यों कहुंक ज्यों कैलास उठायो।" (गी॰ सं॰ ३); उसी को यहाँ रानी व्यंग्य में कहती है, भाव यह है कि ऐसा अतुलित विशाल बल था, तो धनुष को क्यों नहीं उठा लिया? जिससे न्याय से ही श्रीजानकीजी को पाते। 'तब संग्राम जित्यो किन···'—यदि कहो कि मुझे संग्राम का ही बल है, तो उस समय तो श्रीरामजी कुमार ही थे, तब संग्राम से भी जीतकर श्रीजानकीजी को क्यों नहीं ब्याह लिया। अब तो वे अधिक प्रौढ़ हो गये हैं, तब कैसे लड़ोगे?
इस तरह रानी ने श्रीरामजी को इससे अधिक अतुल बलवाला सिद्ध किया।

सुरपति-सुत जानइ बल थोरा। राखा जियत आँखि गहि फोरा॥१२॥
सूपनखा कै गति तुम्ह देखी। तदपि हृदय नहिं लाज बिसेखी॥१३॥
दोहा—बधि बिराध खरदूषनहि, लीला हत्यौ कबंध।
बालि एक सर मारयो, तेहि जानहु दसकंध॥३५॥

अर्थ—इन्द्र के पुत्र जयन्त ने उनका कुछ बल जाना है, (जब) उन्होंने उसे पकड़कर (एक) आँख फोड़कर जीवित रक्खा है॥१२॥ शूर्पणखा की दशा भी तुमने देखी है, तब भी तुम्हारे हृदय में

विशेष लज्जा नहीं आई ॥१३॥ (खेल से) विराध और खर-दूषण का वध कर खेल से ही कबंध को मारा और वालि को एक ही बाण से मारा—हे दशकंध ! उसको तो तुम जानते ही हो (या, उसे जान लो) ॥३५॥

विशेष—(१) 'सुरपति सुत जानेउ ···'—मारीच को बिना फल का बाण मारा था, अब कुशास्त्र का प्रताप दिखाते हैं कि जो न बाण ही था और न फल-सहित। वह बल की परीक्षा लेने आया था; यथा "सठ चाहत रघुपति बल देखा।" (आ॰दो॰ ५); तब उसे सींक के बाण-द्वारा थोड़ा-सा बल दिखा दिया, जिससे उसे तीनों लोकों में ठौर नहीं मिली। 'राखा जियत ···'; यथा—"एक नयन करि तजा भवानी ॥ कीन्ह मोह बस द्रोह, जद्यपि तेहि कर वध उचित। प्रभु छाँड़ेउ करि छोह···" (आ॰ दो॰ २)। 'सुरपति सुत' का भाव यह कि वह उनके पिता के सखा का पुत्र था; यथा—"ससुर सुरेस सखा रघुराऊ।" (अ॰ दो॰ १०); "आगे होइ जेहि सुरपति लेई।" (अ॰ दो॰ १०), तब भी किंचित् भक्तापराध के कारण उसे कैसा कड़ा दंड दिया कि शरण होने पर भी उसकी एक आँख फोड़ दी। तब उनका द्रोही भारी भक्तापराध करके कब बच सकता है ? इस कथा से भी बाण-प्रताप ही दिखाया; यथा—"तात सक्र सुत कथा सुनायहु। बान प्रताप प्रभुहि समझायहु ॥" (सुं॰ दो॰ २६)।

(२) 'सूपनखा कै गति तुम्ह देखी।···' उसने ही सभा में आकर अपनी दशा दिखाते हुए कहा है; यथा—"तोहि जियत दसकंधर, मोरि कि असि गति होइ ॥" (आ॰ दो॰ २१); उसे स्त्री एवं अवध्य समझ कर नकटी-बूची करके छोड़ दिया। वह कुछ न कर सकी; यद्यपि बड़ी बलवती भी थी। तब कोई भी अनीति करके उनसे कैसे बच सकता है ? यह भी समझना चाहिये। 'तदपि हृदय नहिं लाज विसेखी'—भाव यह कि लज्जा होती, तो सम्मुख जाकर युद्ध करके बदला लेते। पर तुममें बल था नहीं, इससे युद्ध नहीं कर सके। अतः, कुछ भी लज्जा होती, तो डूब मरते। श्रीअंगदजी ने भी ताना मारा था; यथा—"नाक कान बिनु भगिनि निहारी। छमा कीन्ह तुम्ह धर्म विचारी ॥" (दो॰ २१)।

(३) 'बधि बिराध खरदूषनहि '—इसमें 'लीला' शब्द दीप-देहली है। विराध को एक ही बाण से लीला-पूर्वक मारा, यथा—"आवत ही रघुबीर निपाता" कहा गया है। खर-दूषन-वध भी लीला से ही हुआ; यथा- "माया नाथ अति कौतुक करयो।" कबंध वध पर भी—"आवत पंथ कबंध निपाता।" कहा है। 'बालि एक सर मार्‌यो'—देखिये दो॰ ३२ भी। इनमें सब एक-से-एक बली थे। खर-दूषन तुम्हारे समान और वालि तुमसे भी अधिक बली था। इन्हें मनुष्य इस तरह कैसे मार सकता ? तो उनकी पराजय के साथ तुम्हारी पराजय भी हो ही गई। वालि ने तो उनके मित्र का अपराध किया था, तुमने तो उन्हीं का अपराध किया है तो कैसे बचोगे ? 'तेहि जानहु'—इन प्रमाणों से जान लो कि वे मनुष्य नहीं हैं। फिर उनकी शरण होकर अपनी रक्षा करो। इसपर क॰ लं॰ १७–२१ भी देखिये।

जेहि जल नाथ बँधायउ हेला। उतरे प्रभु दल-सहित सुबेला ॥१॥
कारुनीक दिनकर - कुल - केतू। दूत पठायउ तव हित हेतू ॥२॥
सभा माँझ जेहि तव बल मथा। करि-बरूथ - महँ मृगपति जथा ॥३॥

अर्थ—जिसने खेल से ही समुद्र को बँधाया और जो प्रभु सेना-सहित सुवेल पर उतरे ॥१॥ उन दयालु सूर्य-कुल की ध्वजा-रूप श्रीरामजी ने तुम्हारे कल्याण के लिये दूत भेजा ॥२॥ जिसने बीच सभा में तुम्हारा बल इस तरह मथ डाला जैसे हाथियों के दल को सिंह मथ डालता है ॥३॥

विशेष—(१) 'जेहि जलनाथ ···'—समुद्र बंधन अद्भुत कार्य है, सुनकर रावण भी घबड़ा उठा था, दो० ५ देखिये। प्रहस्त ने भी कहा है, यथा—"जेहि वारीस बँधायेउ हेला। उतरे सेन समेत सुबेला॥" (दो० ८), इसे भी कहकर राम प्रताप ही दिखाया, यथा—"श्रीरघुबीर प्रताप ते, सिंधु तरे पापान।" (दो० ३), और सुबेल रावण का युद्ध-मैदान है, इसे शत्रु का दखल कर लेना भी राजनैतिक दृष्टि से लंका के लिये विशेष हानिकारक है। इसे कहकर भी प्रभु-प्रताप ही दिखाया। यह श्रीहनुमान्‌जी के विषय में कहा गया था, यथा—"सैल बिसाल देखि एक आगे। ता पर धाइ चढ़ेउ भय त्यागे॥ उमा न कछु कपि कै अधिकाई। प्रभु-प्रताप जो कालहि खाई॥" (सुं० दो० २), कहा जाता है कि इस पर्वत पर रावण की ओर से काल का पहरा रहता था, उसपर प्रभु प्रताप से ही श्रीहनुमान्‌जी को भय नहीं हुआ था और अब तो उसपर प्रभु स्वयं ठहरे ही हैं।

(२) 'कारुनीक दिनकर '—यह न समझो कि वे हमसे डरते हैं, इससे बार-बार दूत भेजते हैं, उन्होंने दया करके तुम्हारे हित के लिये ही दूत भेजा है, यथा—"तव हित कारन आयउँ भाई।" (दो० १६), "दसमुख मैं न बसीठी आयउँ। · बार-बार अस कहइ कृपाला। नहि गजारि जस बधे सृकाला॥" (दो० २६)।

(३) 'सभा माँझ जेहि '—श्रीहनुमान्‌जी ने तो बाहर बाहर ही तुम्हारे योद्धाओं का बल-मर्दन किया है। पर इसने तो बीच सभा में तुम्हें ललकार कर पराजित किया कि अब भी राम प्रताप समझकर उनकी शरण हो।

अंगद हनुमत अनुचर जाके। रनबाँकुरे बीर अति बाँके॥४॥
तेहि कहँ पिय पुनिपुनि नर कहहू। मुधा मान ममता मद बहहू॥५॥
अहह कंत कृत राम-बिरोधा। काल बिबस मन उपज न बोधा॥६॥

शब्दार्थ—बहहू = प्रवाह में बहना, वा वहन करना = धारण करना, बोझा ढोना।

अर्थ—रण में बाँके और अत्यन्त विकट वीर श्रीअंगदजी और श्रीहनुमान्‌जी जिनके सेवक हैं॥४॥ हे प्रिय! उनको बार-बार तुम मनुष्य कहते हो और झूठे ही मान, ममता और मद के प्रवाह में बह रहे हो एवं इनका बोझा ढो रहे हो॥५॥ हा कान्त! खेद की बात है कि तुमने श्रीरामजी से विरोध किया, काल के विशेष वश होने से तुम्हारे मन में ज्ञान उत्पन्न नहीं होता॥६॥

विशेष—(१) 'अंगद हनुमत '—इन दोनों के कर्म स्वामी के विशेष प्रताप बोधक हैं। इनमें भी अंगदजी के कर्म से तो रावण ने रो दिया था, यथा—'भवन गयउ बिलखाइ।' यह कहा ही है। इसीसे अंगदजी का नाम पहले कहती है।

(२) 'तेहि कहँ पिय '—भाव यह कि ऐसे बली दूत अपनेसे कमजोर की सेवा नहीं कर सकते इससे वे 'अगजग नाथ' ही हैं। ऐसा ही कुम्भकर्ण ने भी कहा है, यथा—"है दससीस मनुज रघुनायक। जाके हनूमान से पायक॥" (दो० ६१), 'पुनि पुनि , यथा—"नर कर करसि बखान।' 'भूप सुजस खल मोहि सुनावा।' इत्यादि अंगदजी से कहा है। भाव यह कि तुम नर कहते हो, पर वे 'अगजग नाथ' ही हैं।

'मुधा मान ममता मद बहहू।'—रावण इन तीनों में पड़ा हुआ है, यथा—"अति अभिमान त्रास सब भूलो।" (दो० ११), "चलेउ सभा ममता अधिकाई।" (सु० दो० ३६), "सहज असक सुलकपति, सभा गयउ मद अंध।" (दो० १६), "परिहरि मान मोह मद, भजहु कोसलाधीस।" (सु० दो० ३९) इत्यादि।

इसे मान है कि हम लोकत्रय के विजय करनेवाले हैं। चराचर हमारे वश है। हम मनुष्य से क्यों डरें? ममता यह कि मेरे कुंभकर्ण ऐसे भाई और मेघनाद आदि समर्थ पुत्र हैं, लोकपाल आदि मेरे वश में होने से मेरे पक्ष में हैं, तब मनुष्य से मेरी हार कैसे होगी? मद यह कि मेरी बीस भुजाएँ बल के अगाध अपार समुद्र हैं, इनका तरना शत्रु के लिये असंभव है तो मेरे समक्ष मनुष्य क्या हैं? इन्हीं बातों में यह चूर रहता है, उसीको रानी 'मुधा' कहती है।

(३) 'अहह कंत'' ' रानी ने रावण का रुख देख लिया कि मेरा कथन यह न मानेगा। अतएव खेद प्रकट करती हुई उसने 'अहह' कहा। 'कंत' का भाव यह कि आप ही से मेरा अहिवात है, वह राम-विरोध करने से नहीं रहेगा; यथा—"राम निरोध न उबरसि, सरन बिष्णु अज ईस।" सुं॰ दो॰ ५६), अतएव 'काल बिबस' कहा। और इसी से 'उपजन बोधा' भी कहा; यथा—"मरन काल बिधि मति हरि लीन्हीं।" (अ॰ दो॰ १६१) 'काल बिबस' कहने के और प्रमाण आगे देती है—

काल - दंड गहि काहु न मारा। हरइ धर्म - बल - बुद्धि बिचारा ॥७॥
निकट काल जेहि आवत साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं ॥८॥
दोहा—दुइ सुत मारे दहेउ पुर, अजहुँ पूर पिय देहु।
कृपासिंधु रघुनाथ भजि, नाथ बिमल जस लेहु ॥३६॥

अर्थ—काल किसी को दंड लेकर नहीं मारता, प्रत्युत् वह धर्म, बल, बुद्धि और विचार को हर लेता है ॥७॥ हे स्वामिन्! जिसके समीप काल आता है, उसे तुम्हारे ही समान भ्रम होता है, अर्थात् वह कुछ-का-कुछ समझने लगता है, जैसे तुम ईश्वर को मनुष्य समझ रहे हो ॥८॥ दो पुत्र मारे गये, नगर जल गया। हे प्राण प्रिय! अब भी (कमी की) पूर्ति कर दे सकते हो, हे नाथ! कृपा-समुद्र श्रीरघुनाथजी का भजन करके निर्मल यश लीजिये ॥३६॥

विशेष—(१) 'काल दंड गहि······'—यहाँ काल विवश के लक्षण कहती है कि काल सदेह नहीं है कि वह शस्त्र लेकर किसी का वध करने आवे। किन्तु उसका प्रभाव इसी तरह जाना जाता है—'हरइ धर्म···' रावण में चारों का हरण; यथा—"कह कपि धर्म सीलता तोरी। हमहुँ सुनी कृत पर-तिय चोरी॥ देखी नयन दूत रखवारी। बूड़ि न मरहु धर्म ब्रतधारी॥" (दो॰ २१) धर्म, "जानेउँ तव बल अधम सुरारी। सूने हरि आनेहि पर नारी॥" (दो॰ २८), "इमि कुपंथ पग देत खगेसा। रह न तेज तन बुधि बल लेसा॥" (आ॰ दो॰ २७)—बल, "तव उर कुमति बसी बिपरीता।" (सु॰ दो॰ ११)—बुद्धि और—"हित, अनहित मानहुँ रिपु प्रीता।" (सु॰ दो॰ ११)—यह विचार हरण है।

(२) 'साईं' और 'जेहि' एवं 'तेहि' से इसकी चतुरता प्रकट है कि कहती उसे ही है, पर इस तरह कि आप तो मेरे स्वामी हैं, जिसका काल आता है, उसे ऐसे ही भ्रम होता है। स्त्री पति के प्रति अमंगल शब्द स्पष्ट कैसे कहे?

यहाँ यह भी सूचित किया कि जिसकी धर्म आदि में निष्ठा बनी है और जिसे ईश्वर श्रीरामजी में मनुष्यत्व का भ्रम नहीं है, वह काल-धर्म से पृथक् है, यथा—"काल धर्म नहिं ब्यापहिं ताही। रघुपति

चरन प्रीति अति जाही ॥" (उ० दो० १०१); "जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥" (गीता ४।९)

(३) 'दुइ सुत मारे दहेउ पुर ···'—इस हानि की पूर्ति अब भी हो सकती है, पुत्र फिर भी हो सकते हैं, नगर भी सुधर सकता है, जब कि आप कृपालु श्रीरामजी की शरण होकर उनका भजन करें। 'कृपासिंधु'—वे बराबर तुम्हारे ऊपर कृपा करते ही आये। दो दूत भेजकर और सेतु-बंध दिखाकर एवं छत्र, मुकुट और ताटंक काटकर तुम्हें अपना प्रभाव जना दिया—यह कृपा ही है। आगे रावण-वध पर भी यह राम-कृपा ही का अनुभव करेगी; यथा—"अहह नाथ रघुनाथ सम, कृपासिंधु को आन। जोगिवृन्द दुर्लभ गति, तोहि दीन्हि भगवान ॥" (दो० १०४); 'विमल जस लेहु'—राम-विमुख होने से कुल-कलंक कहे जाते हो; यथा—"रिषि पुलस्ति जस बिमल मयंका। तेहि ससि महँ जनि होहु कलंका ॥" (सुं० दो० २२)। राम-भजन से सुयश होगा, यथा—"धन्य धन्य तैं धन्य बिभीषन। भयउ तात निसिचरकुल-भूषन ॥ बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर। भजेहु राम सोभा-सुख-सागर ॥" (दो० ९१)।

यहाँ तक मंदोदरी ने पति के हित के लिये चार बार उपदेश देकर उसकी रक्षा का प्रयत्न किया। सफलता न होने पर अब यह कुछ नहीं कहेगी, इसने निश्चय कर लिया कि पति कालवश है। अतः, प्रयत्न करना व्यर्थ है।

मंदोदरी ने पहले तीन बार रावण के वचनों के प्रत्युत्तर नहीं दिये थे। इस बार उसे काल से बचाने के लिये उसने तीनों बार के रावण के उत्तरों के प्रत्युत्तर दिये हैं—

उत्तर (१)—"जो आवइ मरकट कटकाई। जियहिं बिचारे निसिचर खाई ॥" (सुं० दो० ३६)।

प्रत्युत्तर —'दुइ सुत मारे दहेउ पुर' 'रखवारे हति बिपिन उजारा। 'अब पति मृखा गाल जनि मारहु।'

उत्तर (२)—"कंपहिं लोकप जाकी त्रासा।" (सुं० दो० ३६)।

प्रत्युत्तर —'आयउ कपि केहरी असंका।'; 'सभा माँझ जेहि तव बल मथा।'—भाव यह कि इन्हें क्यों न कँपाया ?

उत्तर (३)—"जग जोधा को मोहिं समाना।" (दो० ७)।

प्रत्युत्तर —'रामानुज लघु रेख खँचाई। सोउ नहिं नाघेहु असि मनुसाई ॥'; 'बधि बिराध······ तेहि जानहु दसकंध।'; 'मुधा मान ममता मद बहहू।'

उत्तर (४)—"भुजबल जितेउँ सकल दिगपाला।" (दो० ७)।

प्रत्युत्तर —'पिय तुम्ह ताहि जितब संग्रामा। जाके दूत······'; 'जनक सभा अगनित ·····तब संग्राम जितेहु किन ताही।'

उत्तर (५)—'अहो मोह महिमा बलवाना।' (दो० १५)।

प्रत्युत्तर —'निकट काल जेहि···तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं।' अर्थात् मुझे मोह नहीं है, तुम्हीं भ्रम में पड़े हो, इत्यादि।

मंदोदरी कृत उपदेश पर आवृत्तियाँ

प्रथम उपदेश श्रीहनुमान्‌जी के लौटने पर हुआ, उसमें श्रीहनुमान्‌जी के उपदेश की छाया है। दूसरा सेतु-बंधन पर हुआ, उसमें पूर्वोक्त विभीषण और शुकसारन के उपदेश की छाया है। तीसरा छत्र-

मुकुट-ताटंक गिरने के पीछे हुआ। उसमे सभा और मदोदरी आदि सभी डर गये थे, अत', उसमे भयानक रस विराट् रूप का उसने वर्णन किया और चौथी बार श्रीअगदजी के द्वारा मानमर्दन होने पर उपदेश दिया, उसमे अगद-रावण-सवाद की छाया है—प्रथमावृत्ति ।

मंदोदरी के बर्त्ताव मे भी क्रमश अतर पड़ता गया। पहली बार एकान्त मे पति के चरण मे लगकर उसने नीति-रस मे पागे हुए वचन कहे। दूसरी बार 'कर गहि पतिहि भवन निज आनी।' और वह 'परम मनोहर बानी' बोली। तब सगुण-रूप कहा और श्रीरामजी का भजन करना कहा। तीसरी बार केवल हाथ जोडे और नेत्र सजल हुए। चौथी बार सीधे-सीधे बातें करने लगी—द्वितीयावृत्ति।

रावण ने पहली बार समझाया कि स्त्री-स्वभाव से तू डरती है इसमें तेरी हँसी होगी। दूसरी बार अपनी प्रभुता कहकर आश्वासन दिया। तीसरी बार उसीके उपदेश को अपनी प्रभुताई मे लगाकर उसकी बात को हँसी मे उडा दिया। चौथी बार उत्तर ही न दिया, क्योंकि उत्तर की जगह नहीं थी। इसने सब बातें बीती हुई और देखी हुई कही हैं—तृतीयावृत्ति।

पहली बार इसके न मानने पर मदोदरी को चिंता हुई—"मदोदरी हृदय कर चिंता। भयउ कंत पर बिधि बिपरीता॥" दूसरी बार नहीं माना, तब—"मदोदरी हृदय अस जाना। काल बस्य उपजा अभिमाना॥" तीसरी बार पति के कालवश होने का निश्चय कर लिया, यथा—"मंदोदरि मन महँ अस ठयऊ। पियहिं कालबस मतिभ्रम भयऊ॥" चौथी बार रावण से कह भी दिया कि तुम कालवश हो। यह उसपर उत्तरोत्तर अधिक बुरा प्रभाव पड़ा—चतुर्थावृत्ति।

रावण ने भी उत्तरोत्तर इसका मान कम किया, पहली बार हँसकर हृदय लगाया; यथा—'अस कहि निहँसि ताहि उर लाई। चलेउ सभा ··।' दूसरी बार—'तब रावन मय सुता उठाई।' पर हृदय से नहीं लगाया। तीसरी बार स्त्रियों के अवगुण कहे और चौथी बार बोला भी नहीं, यथा—"नारि-बचन सुनि बिसिख समाना। सभा गयउ उठि होत बिहाना॥"—पचमावृत्ति।

नारि-बचन सुनि बिसिख समाना। सभा गयउ उठि होत बिहाना॥१॥
बैठ जाइ सिंहासन फूली। अति अभिमान त्रास सब भूली॥२॥

अर्थ—बाण के समान स्त्री के वचन सुनकर वह सवेरा होते ही उठकर सभा मे चला गया॥१॥ सारा डर भुलाकर अत्यन्त अभिमान से फूलकर सिंहासन पर जा बैठा॥२॥

विशेष—(१) 'नारि-बचन सुनि ···'—इस बार मदोदरी ने सब सच्ची-सच्ची घटनाएँ कहीं, जहाँ-जहाँ रावण के मान-मर्दन हुए। दोनों ही सब जानते थे। इससे उत्तर की राह नहीं थी। वे वचन इसे बाण के समान लगे, क्योंकि इनमें रावण के गर्व-चूर्ण करनेवाले भाव थे।

"मदोदरी रावनहि बहुरि कहा ··" (दो० १४) उपक्रम है और यहाँ—'नारि बचन सुनि ··' उपसहार है। 'भवन गयउ बिलखाइ' उपक्रम और 'सभा गयउ उठि' उपसहार है।

(२) 'अति अभिमान त्रास सब भूली।'—अगद संवाद पर मान मर्दन होने से भय हुआ था। फिर मदोदरी के वचनों से और बढ गया था। पर सभा में जाकर उस डरको भूल गया। उसका कारण 'अति अभिमान' है। अभिमान से शत्रु का भय हृदय मे नहीं रह पाता, यथा—"अस कहि चला महा अभिमानी। तृन-समान सुग्रीवहि जानी॥" (कि० दो० ७)।

इहाँ राम अंगदहि बोलावा। आइ चरन-पंकज सिर नावा ॥३॥
अति आदर समीप बैठारी। बोले बिहँसि कृपाल खरारी ॥४॥

अर्थ—यहाँ श्रीरामजी ने श्रीअंगदजी को बुलवाया। उसने आकर चरण-कमलों में शिर नवाया ॥३॥ बड़े ही आदर से पास बैठाकर कृपालु खरारि श्रीरामजी हँसकर बोले ॥४॥

विशेष—(१) 'इहाँ' शब्द से प्रसंग बदलना सूचित किया। रावण की सभा से श्रीअंगदजी का लौटना कहकर फिर उधर ही का प्रसंग मंदोदरी का समझाना कहने लगे थे। जब वहाँ रावण सभा को गया, तभी यहाँ श्रीरामजी ने श्रीअंगदजी को बुलवाया। सायंकाल को जब श्रीअंगदजी आये थे, उस समय रात में श्रीरामजी ने नहीं पूछा था, क्योंकि—(१) वार्त्ता में बहुत समय लगता। उधर श्रीअंगदजी दिन-भर के श्रमित थे और इधर श्रीरामजी के भी संध्या-वंदन आदि नित्य नियम का समय था। (२) प्रभु को शत्रु की वैसी चिंता भी नहीं है कि शीघ्र ही बूझकर उपाय विचारें; यथा—"जग महँ सखा निसाचर जेते। लछिमन हनहिं निमिष महँ तेते ॥" (सुं० दो० ४३); (३) रात में सब यूथप नियत स्थानों पर चले गये थे। उन्हें रात में बुलाना ठीक नहीं था और यह समाचार सबके सामने पूछा जाना चाहिये; क्योंकि साथ ही वैसा प्रबन्ध विचारा जायगा। पुनः उस समय श्रीअंगदजी को भी अपने नियत स्थान पर जाना चाहिये था।

'आइ चरन पंकज सिर नावा।'—यह सेवक धर्म के योग्य ही है।

(२) 'अति आदर···'—समीप बैठाना ही अति आदर है; यथा—"जानि प्रिया आदर अति कीन्हा। बाम भाग आसन हर दीन्हा ॥" (बा० दो० १०६); यह भी सूचित किया कि हाथ पकड़कर हृदय से लगाकर बगल में बैठाया; यथा—"कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा। कर गहि परम निकट बैठावा ॥" (सुं० दो० ३२) इत्यादि। 'बोले बिहँसि···'—हँसकर बोलना आपका स्वभाव है। श्रीअंगदजी के कार्य पर प्रसन्नता प्रकट करते हुए भी हँसकर बोले। साथ ही 'कृपाल' भी कहकर हँसने में अनुग्रह भी सूचित किया; यथा—"हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा ॥" (बा० दो १९७)। पुनः कृपालुता से श्रीअंगदजी को सम्मान दे रहे हैं। 'खरारी' हैं, इससे शत्रु के समाचार पूछकर दुष्टों के वध का उपाय विचारेंगे।

बालि-तनय कौतुक अति मोही। तात सत्य कहु पूछउँ तोही ॥५॥
रावन जातुधान - कुल - टीका। भुज-बल अतुल जासु जग लीका ॥६॥
तासु मुकुट तुम्ह चारि चलाये। कहहु तात कवनी बिधि पाये ॥७॥

शब्दार्थ—टीका = श्रेष्ठ, शिरोमणि। लीक = प्रसिद्धि, साख, यश।

अर्थ—हे बालिपुत्र ! मुझे बड़ा ही आश्चर्य है, इसी से, हे तात ! मैं तुमसे पूछता हूँ, तुम सत्य-सत्य कहो ॥५॥ जो रावण राक्षस कुल में शिरोमणि है और जिसके अतुल बल की संसार में प्रसिद्धि है ॥६॥ उसके चार मुकुट तुमने मेरे पास फेंके, हे तात ! कहो, तुमने उन्हें किस प्रकार पाया ? ॥७॥

विशेष—(१) 'बालि तनय' कहने का भाव यह कि तुमने बालि के समान ही आश्चर्य का कार्य किया है। 'कौतुक अति मोही'—पहले सेतुबंध कौतुक हुआ; यथा—"कौतुक ही पाथोधि बँधायो।"

(दो० ५); पानी पर पत्थरों का उतराना आश्चर्य कार्य हुआ। पुनः जलचरों का पानी पर स्थिर होकर पुल का काम देना भी वैसा ही कौतुक है; यथा—"अस कौतुक बिलोकि दोउ भाई।" (दो० ४); तीसरा कौतुक राम-बाण ने किया; यथा—"छत्र मुकुट ताटंक सब, हते···अस कौतुक करि राम सर···" (दो० १३); चौथा यह 'अति कौतुक' है; यथा—"बालि तनय कौतुक अति मोही।"

भाव यह कि और तो सब आश्चर्य ही थे, पर यह अत्यंत आश्चर्य का कार्य है। इस वचन से भी श्रीरामजी ने अपनी प्रसन्नता प्रकट की।

'तात सत्य कहु'—'तात'- शब्द प्रियत्व को बोधक है। 'सत्य कहु' कहा, क्योंकि यहाँ सत्य न कहने का अवसर है, सज्जन लोग तो अपनी बड़ाई दूसरों से सुनकर भी सकुचाते हैं; यथा—"निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।" (आं० दो० ४५); तब स्वयं कहेंगे कैसे? मुकुट गिराना और शीघ्र लेकर फेंकना श्रीअंगदजी का बड़ाई-सूचक कार्य है। इससे ये फिर भी नहीं ही कहेंगे। और ही कुछ कहकर टाल देंगे।

(२) 'रावन-जातुधान-कुल···'—रावण का नामार्थ ही जगत् का रुलानेवाला है, वह स्वयं अतुलित बली भी है। पुनः वह 'जातुधान-कुल-टीका' है, तब सम्पूर्ण राक्षस सेना उसका पराभव देख नहीं सकती। 'जासु जग लीका'—जगत् भर में उसकी प्रसिद्धि है। अतः, सभा में अपमान होना अपने पुरुषार्थ भर वह न सह सका होगा। फिर तुमने उसके शिर के चार मुकुट कैसे लेकर यहाँ फेंक दिये? यह अत्यन्त आश्चर्य है। 'कवनी बिधि पाये'—बिना युद्ध किये कैसे मिले होंगे? 'कहहु तात'—इसमें प्रिय भक्त की प्रशंसा है। इसलिये प्रभु इसे सुनना चाहते हैं; यथा—"निज करुना करतूति भक्त पर चपत चलत चर चाउ। सकृत प्रनाम प्रनत जस बरनत सुनत कहत फिरि गाउ॥" (वि० १००)।

सुनु सर्बज्ञ प्रणत - सुखकारी। मुकुट न होहिं भूप गुन चारी॥८॥
साम - दाम - अरु - दंड - बिभेदा। नृप-उर बसहिं नाथ कह बेदा॥९॥
नीति - धर्म के चरन सुहाये। अस जिय जानि नाथ पहिं आये॥१०॥

अर्थ—(श्रीअंगदजी ने कहा—) हे सर्वज्ञ! हे शरणागतों को सुखी करनेवाले! सुनिये, ये मुकुट नहीं हैं, किन्तु राजाओं के चार गुण हैं॥८॥ ये (चारों) साम, दान, दंड और भेद हैं, हे नाथ! वेद ऐसा कहते हैं कि ये चारों गुण राजा के हृदय में निवास करते हैं॥९॥ ये नीति-धर्म के सुन्दर (चार) चरण ऐसा जी में जानकर स्वामी के पास आये हैं॥१०॥

विशेष—(१) 'सुनु सर्वज्ञ प्रनत सुखकारी।'—उत्तर तो इतने ही में हो गया कि आप तो सब कुछ जानते हैं, इससे मुकुट आने की व्यवस्था भी जानते ही हैं। यदि वे कहें कि हम जानते तो पूछते क्यों? उसपर कहते हैं कि प्रणत सुखकारी हैं, शरणागतों की प्रतिष्ठा बढ़ाकर सुख देने के लिये पूछते हैं कि और लोग जानकर प्रशंसा करें; यथा—"संतत दासन्ह देहु बड़ाई। तातें मोहि पूछेहु रघुराई॥" (आ० दो० १२); वहाँ का कर्त्तव्य भी आपकी ही लीला है, मुझ प्रणत को यश देकर सुख देने के लिये की गई है।

(२) 'नृप-उर बसहिं'—भाव यह कि रावण अब राजा नहीं है, तब ये उसके पास कैसे रहते? आपने तो श्रीविभीषणजी को राजा बनाया, अतएव नीति-धर्म के चारों अंग भी आपकी ही शरण में सनाथ होने आये हैं।

रावण के यहाँ ये अनाथ थे, इनका निरादर होता था। क्योंकि नीति कहनेवालों पर रावण चिढ़ता है। जैसे कि श्रीहनुमान्‌जी, मंदोदरी, श्रीविभीषणजी, प्रहस्त आदि के नीति कहने पर वह बिगड़ गया। आप चक्रवर्त्ती राजा हैं, अपना नाथ जानकर ये चारों आपके पास आये हुए हैं।

दोहा—धर्महीन प्रभु-पद-बिमुख, कालबिबस दससीस।
तेहि परिहरि गुन आये, सुनहु कोसलाधीस॥
परम चतुरता श्रवन सुनि, बिहँसे राम उदार।
समाचार पुनि सब कहे, गढ़ के बालिकुमार॥३७॥

अर्थ—हे कोशलराज! सुनिये, दशशीस रावण धर्महीन, प्रभु (आपके) चरणों से विमुख और काल के विशेष वश है, (अतएव) ये गुण उसको छोड़कर आपके पास आये हुए हैं॥ उदार श्रीरामजी श्रीअंगदजी की परम चतुरता (की वाणी) सुनकर हँसे, फिर वालि-कुमार श्रीअंगदजी ने किले के सब समाचार कहे॥३७॥

विशेष—(१) 'धर्महीन प्रभु-पद-बिमुख...'—'धर्महीन'; यथा—"अतिसय देखि धरम कै हानी। परम सभीत धरा अकुलानी॥" (बा० दो० १८१); "अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धरम सुनिय नहिं काना।" (बा० दो० १८१); धर्म से वैराग्य और फिर उससे प्रभु-पद-प्रेम होता है; यथा—"धर्म ते बिरति...तेहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम चरन उपज अनुरागा॥" (आ० दो० १५)। वह धर्म-हीन है, इसीसे 'प्रभु-पद-बिमुख' हुआ ही चाहे। प्रभु-पद-विमुख होने ही से 'काल बिबस' भी है;' यथा—"बिमुख राम त्राता नहिं कोपी।" (सुं० दो० २२)। इसलिये क्रम से कहा गया है। 'कोसलाधीस'—राज-नीति वर्णन के प्रसंग से कहा गया है।

राजनीति के चारों गुणों ने रावण को त्याग दिया है, यह सत्य ही है। राजा को साम (संधि) तो सभी से चाहिये, पर विरोध आ पड़ने पर भी बड़े से तो साम ही करना चाहिये। पर वह परम समर्थ जानते हुए भी आपसे विरोध ही करता है। दाम (दान) दूसरा गुण है, कुछ देकर मिलाने की कौन कहे, वह आपकी श्रीसीताजी को भी देना नहीं चाहता। तीसरा गुण दंड है। श्रीहनुमान्‌जी और मुझ दास के द्वारा दंडित होने पर भी वह हम दोनों को दंड न दे सका। अतएव इस नीति ने भी उसे त्याग दिया। और विभीषण उसका भाई ही फूटकर यहाँ आकर मिला, यहाँ उसका भेद दे रहा है। इस प्रकार चारो नीतियों ने उसे त्याग दिया।

(२) 'परम चतुरता श्रवन सुनि '—वचन-रचना की चातुरी पर हँसे। 'परम' विशेषण इससे कहा गया कि इस युक्ति से इन्होंने अपना कर्तृत्वाभिमान दूर किया है। दूसरे के गुण पर प्रसन्न होने से श्रीरामजी को 'उदार' कहा है। भक्तों को विनोद से रमाते हैं, इससे 'राम' कहा है। गढ़ से समाचार लाकर कहने से 'बालि-कुमार' कहा है, क्योंकि यह राज्य-व्यवहार की निपुणता है। वालि इन बातों में बड़ा निपुण था। किले के समाचार यह कि उसमें किस प्रकार प्रवेश हो सकता है? किधर क्या प्रबंध है।

वाल्मी० ६।३७।८–८ में लिखा है कि श्रीविभीषणजी के चारों मंत्री पक्षी बनकर शत्रु सेना में गये थे। रावण के किये हुए प्रबंध को जानकर लौट आये। वही समाचार श्रीविभीषणजी ने श्रीरामजी से कहा

कि किले के पूर्व द्वार पर प्रहस्त रक्षा कर रहा है, दक्षिण द्वार पर महाबली, महापार्श्व और महोदर हैं। पश्चिम द्वार पर इन्द्रजित् है और उत्तर द्वार पर रावण स्वयं है। विरूपाक्ष मध्य गुल्म की रक्षा में नियुक्त है। इन सबके साथ असंख्य सेनाएँ हैं। वही समाचार यहाँ श्रीअंगदजी के द्वारा कहा जाना जान पड़ता है।

रावण की सभा एवं नगर सभी किले के भीतर हैं, अतएव सभा में जो कुछ बात-चीत हुई, वह भी समाचार में कही गई।

"निसिचर-कीस-लड़ाई"—प्रकरण

रिपु के समाचार जब पाये। राम सचिव सब निकट बोलाये ॥१॥
लंका बाँके चारि दुआरा। केहि बिधि लागिय करहु बिचारा ॥२॥
तब कपीस रिच्छेस बिभीषन। सुमिरि हृदय दिनकर-कुलभूषन ॥३॥
करि बिचार तिन्ह मंत्र दृढ़ावा। चारि अनी कपि कटक बनावा ॥४॥
जथाजोग सेनापति कीन्हे। जूथप सकल बोलि तब लीन्हे ॥५॥

शब्दार्थ—अनी (सं० अणि)=सेना, सेना का अग्र भाग; यथा="आगे अनी चली चतुरंगा।" (अ० दो० २११)। लागना=घेरना।

अर्थ—जब श्रीरामजी ने शत्रु के समाचार पाये, उन्होंने तब सब मंत्रियों को पास बुलाया ॥१॥ (और उनसे कहा कि) लङ्का में बड़े विकट चार फाटक हैं, उनको किस प्रकार घेरा जाय ? इसपर विचार करो ॥२॥ तब सुग्रीवजी, जाम्बवान्‌जी और विभीषणजी ने सूर्य-कुल-भूषण श्रीरामजी का हृदय में स्मरण किया ॥३॥ और उन्होंने विचार करके मंत्र निश्चित किया, (तब) वानर सेना के चार दल बनाये ॥४॥ जो जिस अनी (विभाग) के योग्य था, उसे सेनापति बनाया, तब सब यूथ-पतियों को बुला लिया ॥५॥

विशेष—(१) 'लंका बाँके चारि दुआरा।', यथा—"सासुरोरगगंधर्वैः सर्वैरपि सुदुर्जया॥" (वाल्मी० ६।३७।४); अर्थात् लंका देव, असुर, नाग, गंधर्व आदि सभी से दुर्जय है। 'केहि बिधि लागिय' जब समाचार मिल गया तो उसे घेरने का उपाय पूछते हैं।

(२) 'तब कपीस रिच्छेस बिभीषन। ...'—उधर के राक्षसों का बल श्रीविभीषणजी जानते हैं। इधर के वानरों का बल श्रीसुग्रीवजी और रीछों का बल श्रीजाम्बवान्‌जी जानते हैं। इसीसे ये विचार में प्रवृत्त हुए। 'सुमिरि हृदय दिनकर...'—श्रीरामजी के स्मरण से अत्यन्त गूढ़ विषय भी समझ में आ जाता है; यथा—"सुमिरत राम हृदय अस आवा।" (बा० दो० ५६) और दिनकर कुलभूषण उरप्रेरक भी हैं; यथा—"उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन।" (उ० दो० ११२); अतः, प्रेरणा करके योग्य विचार प्रकट कर देते हैं।

(३) 'करि बिचार...'—प्रभु ने कहा था—'करहु बिचारा' उसीपर 'करि बिचार' कहा गया। 'चारि अनी...'—प्रभु ने चार द्वार कहे थे, तदनुसार इधर की सेना के भी चार भाग किये गये।

(४) 'जथाजोग सेनापति कीन्हे।'—वाल्मी० ६।३७।२६-३५ में जो श्रीरामजी के विचार कहे गये हैं, वे ही यहाँ भी अभिप्रेत हैं कि पूर्व द्वार में प्रहस्त के जोड़ में श्रीनीलजी, दक्षिण में महापार्श्व औ

-महोदर के जोड़ में श्रीअंगदजी, पश्चिम में मेघनाद के जोड़ में श्रीहनुमान्‌जी और उत्तर में रावण के प्रति श्रीलक्ष्मणजी के साथ श्रीरामजी स्वयं रहेंगे। बीच गुल्म की रक्षा में श्रीसुग्रीवजी, श्रीविभीषणजी और श्रीजाम्बवान्‌जी रहेंगे। इनमें एक द्वार के प्रति स्पष्ट भी कहा है; यथा—"निज दल विचल सुना हनुमाना। पच्छिम द्वार रहा बलवाना॥ मेघनाद तहँ करइ लराई।" (दो० ४१); इसके पीछे वाल्मी० ६।४२।२१–३१ में कुछ परिवर्त्तन भी हुआ है। वाल्मी० ६।३६।१९ में रावण ने यह भी कहा है कि उत्तर द्वार पर शुक-सारण रहेंगे, मैं भी उसी द्वार पर रहूँगा। इधर भी उत्तर द्वार पर श्रीरामजी के न जाने पर कभी श्रीसुषेणजी वा श्रीसुग्रीवजी आदि रहते थे। 'मंत्र दृढ़ावा' में यह भी भाव है कि कोई युद्ध से न फिरे और—"वानर-भालु कोई दूसरा रूप नहीं धारण करें। हम दो भाई और श्रीविभीषणजी और उनके चार मंत्री, ये सात ही मनुष्य रूप में रहेंगे"—ऐसा वाल्मी० ६।३७।३४–३५ में श्रीरामजी ने कहा है।

प्रभु-प्रताप कहि सब समुझाये। सुनि कपि सिंहनाद करि धाये॥६॥
हरषित राम-चरन सिर नावहिं। गहि गिरि-सिखर बीर सब धावहिं॥७॥
गर्जहिं तर्जहिं भालु-कपीसा। जय रघुबीर कोसलाधीसा॥८॥
जानत परम दुर्ग अति लंका। प्रभु-प्रताप कपि चले असंका॥९॥

अर्थ—प्रभु का प्रताप कहकर सबको समझाया, यह सुनकर वानर सिंह के समान गर्जन करके दौड़े॥६॥ वे प्रसन्न होकर श्रीरामजी के चरणों में शिर नवाते हैं और सब वीर पर्वत शिखर लेकर धावा करते हैं॥७॥ रीछ और वानर श्रेष्ठ गर्जते और उछलते हैं, कोशलाधीश रघुवीर श्रीरामजी की जय पुकारते हैं॥८॥ वे जानते हैं कि लंका अत्यंत दुर्गम किला है, तो भी वे प्रभु के प्रताप से निर्भय चले॥९॥

विशेष—(१) 'प्रभु-प्रताप कहि···'—'प्रभु' अर्थात् श्रीरामजी समर्थ ईश्वर हैं, इनके प्रताप से राक्षसों को मरे ही समझो। श्रीरामजी की भृकुटि-विलास से तो सृष्टि और प्रलय होते हैं। ये जब राक्षस-वध का संकल्प कर चुके तब राक्षसगण मर चुके हैं, तुम सब निमित्त मात्र होकर यश के भागी बनो "मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्" (गीता० ११।३३) देखो प्रभु के प्रताप से श्रीहनुमान्‌जी और श्रीअंगदजी ने कैसे-कैसे आश्चर्य कर्म किये? देखो तो प्रभु के प्रताप से ही समुद्र में पहाड़ तरे, देखिये दो० ३।

'सुनि कपि सिंह···'—वानर सिंह हैं, उनका नाद गर्जन है, मत्तगज रूपी बली राक्षसों को विदीर्ण करेंगे।

(२) 'हरषित राम-चरन···'—उत्साह है, इससे हर्षपूर्वक प्रस्थान करते हैं, यह कार्य-सिद्धि का शकुन भी है; यथा—"होइहि काज मोहिं हरष बिसेषी॥" (सुं० चौ० ३)। श्रीरामजी के प्रणाम करने में भी हर्ष चाहिये ही; यथा—"रामहिं सुमिरत, रन भिरत, देत, परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहिं न हरष मन, ते जग जीवत जाय॥" (दोहावली ४२)।

(३) 'परम दुर्ग······'; यथा—"कहि न जाइ अति दुर्ग बिसेषी।" (सुं० दो० २); तथा—"यौपि कपिन्ह दुर्घट गढ़ घेरा।" (दो० ४०); अर्थात् दुर्गम ही दुर्घट है, जिसपर दुःख से भी पहुँचना कठिन हो। 'प्रभु-प्रताप कपि चले असंका।'—प्रभु-प्रताप के हृदय में आने से निर्भीकता आ जाती है। जैसे—"प्रभु-प्रताप तें गरुड़हि, खाइ परम लघु ब्याल।" (सुं० दो० १६); यह कहकर श्रीहनुमान्‌जी चले।

फिर रावण का प्रताप देखकर नहीं डरे ; यथा—"देखि प्रताप न कपि मन संका। जिमि अहिगन महँ गरुड़ असंका॥" (सुं॰ दो॰ ११) ; श्रीअंगदजी भी ; यथा—"प्रभु प्रताप उर सहज असंका।" कहे गये हैं। इसीसे ये वानर भी स्वाभाविक नि.शंक हैं।

घटाटोप करि चहुँ दिसि घेरी। मुखहि निसान बजावहिं भेरी॥१०॥

दोहा—जयति राम जय लछिमन, जय कपीस सुग्रीव।

गर्जहिं सिंहनाद कपि, भालु महाबल सींव॥३८॥

शब्दार्थ—घटाटोप = मेघघटा की तरह घेरकर। निसान (निःस्वन्)= जिससे ऊँचा शब्द हो = नगाड़ा। भेरी = बड़ा ढोल।

अर्थ—चारों ओर घिरे हुए मेघ घटा के समान चारों दिशाएँ घेरकर मुख से ही नगाड़े और भेरी बजाते हैं (उन बाजाओं के-से शब्द करते हैं)॥१०॥ महा बल की सीमा वानर-भालु सिंह के समान शब्द से—'श्रीरामजी की जय हो, श्रीलक्ष्मणजी की जय हो और वानरराज श्रीसुग्रीवजी की जय हो'—ऐसा गर्जन करते हैं॥३८॥

विशेष—(१) 'घटाटोप करि...' ; यथा—"सर्वतः संवृता लंका दुष्प्रवेशापि वायुना।" (वाल्मी॰ ६।४१।५३) अर्थात् लंका सब ओर से घिर गई, जिसमें वायु का भी गम-गुजर नहीं है। रावण के दल में नगाड़े आदि जुझाऊ बाजे बज रहे हैं; यथा—"बाजहिं ढोल निसान जुझाऊ।...बाजहिं भेरि नफीरि अपारा।..." (दो॰ १९), वैसे ही शब्द ये लोग मुख से ही करते हैं।

(२) 'जयति राम जय लछिमन...'—सुंदरकाण्ड में श्रीहनुमान्‌जी ने ऐसी ही गर्जना बार-बार की है। पुनः इस प्रसंग में भी महर्षिजी ने लिखा है, यथा—"जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः। राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः॥ इत्येवं घोषयन्तश्च गर्जन्तश्च प्लवंगमाः।" (वाल्मी॰ ६।४१।२०–२१)—यह इनके उत्साह का सूचक है।

लंका भयउ कोलाहल भारी। सुना दसानन अति अहँकारी॥१॥

देखहु बनरन्ह केरि ढिठाई। बिहँसि निसाचर-सेन बोलाई॥२॥

आये कीस काल के प्रेरे। छुधावंत सब निसिचर मेरे॥३॥

अस कहि अट्टहास सठ कीन्हा। गृह बैठे अहार बिधि दीन्हा॥४॥

अर्थ—लंका में भारी कोलाहल हुआ, उसे सुनकर अत्यंत अहंकारी रावण (बोला)॥१॥ कि वानरों की ढिठाई तो देखो, फिर हँसकर राक्षसी सेना बुलाई॥२॥ वानर काल की प्रेरणा से आये हुए हैं और मेरे राक्षस (भी) भूखे हैं॥३॥ ऐसा कहकर वह मूर्ख खिलखिला कर हँसा कि विधाता ने घर बैठे ही भोजन दिया॥४॥

विशेष—(१) 'कोलाहल भारी।'—पहले सामान्य कोलाहल हुआ था, यथा—"भयउ कोलाहल नगर मँझारी। आवा कपि लंका जेहि जारी॥" (दो॰ १७), अब 'भारी' हुआ, क्योंकि अब तो

करोड़ों वानर चारों तरफ से घेरे हुए हैं। उधर वानरों के गर्जने के शब्द और इधर लंका निवासियों की भय की खलबली थी, यथा—"हाहाकारमकुर्वन्त राक्षसा भयमागताः।" (वाल्मी॰ ६।४१।६४), 'अति अहँकारी'—का स्वरूप आगे प्रकट है।

(२) 'बिहँसि'—शत्रुसेना के निरादर के लिये हँसा कि जो हमारे भोजन हैं, वे क्या लड़ेंगे? और अपने पक्ष की उत्साह-वृद्धि के लिये भी हँसा।

(३) 'काल के प्रेरे'; यथा—"कठिन काल प्रेरित चलि आई।" (सु॰ दो॰ ५१)

(४) 'अट्टहास सठ कीन्हा'—जोर से हँसा कि मेरी निर्भीकता सब जान लें। शठ कहने का भाव यह कि अभी कल ही इसी सभा में एक वानर ने दुर्दशा की है, देख चुका है कि वानर ही राक्षसों के काल हैं, तब भी विपरीत बुद्धि नहीं छोड़ता।

सुभट सकल चारिहु दिसि जाहू। धरि धरि भालु कीस सब खाहू॥५॥
उमा रावनहि अस अभिमाना। जिमि टिट्टिभ खग सूत उताना॥६॥
चले निसाचर आयसु माँगी। गहि कर भिंडिपाल बर साँगी॥७॥
तोमर मुद्गर परसु प्रचंडा। सूल कृपान परिघ गिरि-खंडा॥८॥

शब्दार्थ—भिंडिपाल (भिंदिपाल)=ढेलबाँस, (१) रस्सी का एक फंदा जिससे ढेला फेंकते हैं; गोफना (२) एक छोटा डंडा जो प्राचीन काल में फेंककर मारा जाता था—संस्कृत शब्दार्थ-कौस्तुभ। साँगि=शक्ति। तोमर=शर्पला, शापत्र। परिघ=लोहाँगी, वह लाठी जिसके सिरे पर लोहा लगा रहता है।

अर्थ—सब योद्धाओ! चारों दिशाओं में जाओ और रीछों वानरों को पकड़ पकड़ कर खा लो॥५॥ (शिवजी कहते हैं—) हे उमा! रावण को ऐसा अभिमान है, जैसे टिट्टिभ (टिटिहरी) पक्षी को, जो पैर ऊपर करके सोता है॥६॥ आज्ञा माँगकर और हाथों में उत्तम ढेलवाँस, शक्ति, तोमर, मुग्दर, तीक्ष्ण फरसा, शूल, दुधारा खड्ग, परिघ और पर्वत के टुकड़े लेकर राक्षस लोग चले॥७-८॥

विशेष—(१) 'उमा रावनहि अस अभिमाना।' यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—'सुना दसानन अति अहँकारी।' है। इतने में उसका अति अहंकार कहा गया।

(२) 'जिमि टिट्टिभ खग सूत उताना।'—टिटिहरी जिसे कुररी भी कहते हैं, वह जलाशयों के पास रहती है और टीं टीं कड़वे शब्द बोलती है। इसके विषय में ऐसा प्रवाद है कि यह रात को पैर ऊपर उठाये हुए चित्त सोती है, इस भय से कि कहीं आकाश टूट पड़े तो मैं दोनों पैरों पर रोक लूँगी।

यहाँ श्रीरामजी का अपरिमित बल आकाश है, रावण टिट्टिभ है, उन्हें थाम्हेगा क्या? इसका डींग हाँकना मात्र है।

(३) 'आयसु माँगी'—रावण तो आज्ञा दे ही चुका है, पर इन लोगों के हृदय में भय है, क्योंकि श्रीहनुमान् के कर्म देख चुके हैं। इसी से फिर आज्ञा माँगते हैं। ऊपर से यह दिखाते हैं कि आपकी आज्ञा बिना ही हमलोग रुके थे, बस, आज्ञा पाते ही हमलोग वानर-भालुओं को खा लेंगे।

जिमि अरुनोपल-निकर निहारी। धावहिं सठ खग मांस-अहारी॥९॥

चोंच-भंग-दुख तिन्हहि न सूझा। तिमि धाये मनुजाद अबूझा ॥१०॥

दोहा—नाना-युध - सर-चाप-धर, जातुधान बलबीर।
कोट-कँगूरन्हि चढ़ि गये, कोटि - कोटि रनधीर ॥३९॥

शब्दार्थ—अरुनोपल = लाल पत्थर। अबूझ = नासमझ।

अर्थ—जैसे मांस खानेवाले मूर्ख पक्षी लाल पत्थरों का समूह देखकर उसपर टूटते हैं ॥९॥ चोंच के टूटने का दुःख उन्हें नहीं सूझता; वैसे ही नासमझ राक्षस दौड़े ॥१०॥ धनुष-बाण और अनेक अस्त्र-शस्त्र धारण किये हुए करोड़ों-करोड़ों (अगणित) बलवान और रण में धीर वीर निशाचर किले के कँगूरों पर चढ़ गये ॥३९॥

विशेष—(१) 'जिमि अरुनोपल···'—मांसाहारी हैं, इससे लाल-पत्थरों को मांस समझकर उनपर टूटते हैं। मांस लाल, वैसे लाल पत्थरों के समूह और वैसे लाल वानरों के समूह भी लंका भूमि भर में फैले हुए हैं। 'सठ'—श्रीहनुमान्‌जी अकेले ही चौथाई राक्षसों को मार गये हैं, यह सब देख चुके हैं, फिर भी भूल गये हैं और दौड़ रहे हैं। इसीसे इन्हें शठ (मूर्ख) कहा है।

(२) 'अबूझा'—यही शब्द परशुरामजी के प्रति भी कहा गया है; यथा—"अयमय खाँड़ न ऊख मय, अजहुँ न बूझ-अबूझ॥" (बा॰ दो॰ २७५), वहाँ वे ब्राह्मण हैं, इससे ऊख की खाँड़ का समझना कहा, क्योंकि ब्राह्मण मधुर-प्रिय होते हैं। यहाँ पर मांसाहारी राक्षस हैं, इससे मांस के प्रियत्व का रूपक है।

(३) 'कोट कँगूरन्हि चढ़ि गये'—कँगूरों पर इससे चढ़े कि ऊपर से मारने पर चोट अधिक पड़ेगी। वानर लोग बदले में प्रहार न कर सकेंगे और न मार के भय से ऊपर चढ़ने ही पावेंगे।

कोट-कँगूरन्हि सोहहिं कैसे। मेरु के शृंगन्हि जनु घन बैसे ॥१॥
बाजहिं ढोल - निसान जुझाऊ। सुनि धुनि होइ भटन्हि मन चाऊ ॥२॥
बाजहिं भेरि नफीरि अपारा। सुनि कादर उर जाहिं दरारा ॥३॥
देखिन्ह जाइ कपिन्ह के ठट्टा। अति बिसाल तनु भालु सुभट्टा ॥४॥
धावहिं गनहिं न अवघट घाटा। पर्बत फोरि करहिं गहि बाटा ॥५॥

अर्थ—किले के कँगूरों पर वे कैसे शोभित हो रहे हैं, मानों सुमेरु पर्वत के शिखरों पर बादल बैठे हुए हैं ॥१॥ ढोल, नगाड़े आदि युद्ध के बाजे बज रहे हैं जिनका शब्द सुनकर योद्धाओं के मन में उत्साह होता है ॥२॥ अगणित भेरी और नफीरी (तुरही) बाजे बज रहे हैं, सुनकर कादरों (डरपोकों) की छाती फट जाती है ॥३॥ अत्यन्त लंबे-चौड़े शरीरवाले वानर और रीछ योद्धाओं के समूहों को उन्होंने जाकर देखा ॥४॥ वे सब दौड़ रहे हैं, अवघट या घाट कुछ नहीं गिनते, पर्वतों को हाथ से पकड़ फोड़-कर मार्ग बना लेते हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'मेरु के शृंगन्हि जनु घन बैसे।'—सोने की लंका सुमेरु, कँगूरे, शिखर और

निशाचर काले मेघ के समान लगते हैं। 'भटन्हि मन चाऊ' क्योंकि जीतने से ऐश्वर्य पावेंगे और मर जायँगे तो स्वर्ग; यथा—"हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।" (गीता २।३७)। जुझाऊ बाजे उत्साह बढ़ानेवाले होते हैं; यथा—"भेरि नफीरि बाज सहनाई। मारू राग सुभट सुखदाई॥" (दो० ७७); "कहेसि बजावहु जुद्ध निसाना।" (दो० ८४); "कहेउ बजाउ जुझाऊ ढोलू।" (अ० दो० १९१); इत्यादि। बाजे उत्साह बढ़ाने के लिये ही बजाये जाते हैं, पर कादरों को सुनकर भय होता है कि अरे, अब तो मृत्यु के दिन आ गये।

(२) 'गनहिं न अवघट घाटा'—नदी-नद में भी जहाँ ही से पाते हैं, दवा लेते हैं, बीच में कहीं पहाड़ भी पड़ जाते हैं तो उन्हें तोड़कर मार्ग बना लेते हैं। लौटकर दूसरे मार्ग से नहीं जाते, क्योंकि युद्धोत्साह की आतुरी है।

कटकटाहिं कोटिन्ह भट गर्जहिं। दसन ओठ काटहिं अति तर्जहिं॥६॥
उत रावन इत राम-दोहाई। जयति जयति जय परी लराई॥७॥
निसिचर सिखर-समूह ढहावहिं। कूदि धरहिं कपि फेरि चलावहिं॥८॥

अर्थ—करोड़ों योद्धा कटकटाते (दाँतों से क्रोध-वश कट-कट शब्द करते) हैं, गर्जते हैं, दाँतों से ओठ काटते हैं और अत्यन्त उछलते हैं॥६॥ उधर रावण की और इधर श्रीरामजी की दुहाई हो रही है, जय हो, जय हो, जय हो (इस तरह जय-जयकार पूर्वक दोनों ओर से) लड़ाई छिड़ गई॥७॥ राक्षस लोग पहाड़ों के शिखर समूह-के-समूह गिराते हैं। वानर लोग कूदकर उन्हें पकड़ लेते हैं और उन्हीं को लौटाकर ऊपर को फेंकते हैं॥८॥

विशेष—'कटकटाहिं कोटिन्ह···'—निशाचर लोग ऊपर कँगूरों पर हैं, पकड़ में नहीं आते, इसीसे क्रोध के मारे दाँत पीसते हैं कि पावें तो चीड़-फाड़ फेंकें। 'जयति जयति···'—देखिये दो० ३८। तथा—"राजा जयति सुग्रीव इति शब्दो महानभूत्। राजञ्जय जयेत्युक्त्वा स्व-स्वनाम कथां ततः॥" (वाल्मी० ६।४२।४४), अर्थात् इधर वानरी सेना में श्रीसुग्रीव राजा की जय-ध्वनि होती है और उधर राक्षसी सेना में अपना-अपना नाम कहकर 'राजन्! आपकी जय हो' ऐसा कह रहे हैं।

छंद—धरि कुधर खंड प्रचंड मर्कट भालु गढ़ पर डारहीं।
झपटहिं चरन गहि पटकि महि भाज चलत बहुरि प्रचारहीं॥
अति तरल तरुन प्रताप तरपहिं तमकि गढ़ चढ़ि चढ़ि गये।
कपि-भालु चढ़ि मंदिरन्ह जहँ तहँ राम-जस गावत भये॥

दोहा—एक-एक निसचर गहि, पुनि कपि चले पराइ।
ऊपर आपु हेठ भट, गिरहिं धरनि पर आइ॥४०॥

अर्थ—प्रचंड वानर-भालू पहाड़ों के टुकड़े ले-लेकर किले पर डालते हैं। निशाचरों पर झपटकर उनके पैर पकड़कर पृथिवी पर पटक देते हैं और जब वे भाग चलते हैं, तब उनको ललकारते हैं॥ अत्यन्त फुर्तीले, पूर्ण प्रतापवाले वानर-भालू क्रोधपूर्वक तड़पकर किले पर चढ़-चढ़ गये और जहाँ-तहाँ घरों पर चढ़-चढ़कर राम-यश गाने लगे। फिर एक-एक राक्षस को पकड़कर वानर भाग चले, ऊपर आप और हेठ (नीचे) निशाचरभट—इस प्रकार पृथिवी पर आ गिरते हैं ॥४०॥

विशेष—(१) 'चरन गहि पटकि'— पहले जब रावण ने श्रीअंगदजी के चरण पकड़कर फेंकने की आज्ञा दी, तब सब निशाचर मिलकर भी न हटा सके थे और इधर एक-ही-एक वानर एक-एक राक्षस के पैर पकड़कर फेंकते हैं। यह श्रीरामजी का प्रताप है। 'राम-जस गावत भये'—युद्ध-स्थल में गाने से इनकी निर्भीकता और युद्धोत्साह दिखाया गया है। गान, यथा—"जय ताड़का-सुबाहु-मथन, मारीच-प्रान हर।···जय जयंत-जयकर, अनंत, सज्जन-जन-रंजन···जय माया-मृग-मथन, गीध-सबरी-उद्धारन···" (क० उ० ११२–११४) -ये तीनों पूरे पद इस प्रसंग के अनुकूल हैं।

(२) 'एक-एक निसिचर गहि···'—बड़े ऊँचे से, पथरीली भूमि पर राक्षसों को अपने नीचे करके गिरते हैं कि बिना श्रम ही राक्षस चूर्ण हो जायँ और उनके ऊपर होने से आप बच जाते हैं, यह वानरों की चातुरी है। 'चले पराइ'—किसी को पकड़ पाते हैं, तो शीघ्र ही कगारे पर भाग आते हैं, जहाँ से नीचे कूदना है। जिसमे उसके पक्ष का दूसरा उसे छुड़ाने के लिये न पहुँच जाय। पकड़ लाने और उन्हें अपने नीचे करके कूदने में वानरों की प्रबलता दिखलाई गई है; यथा—"राक्षसान्पातयामास समाप्लुत्य स्वबाहुभिः ॥" (वाल्मी० ६ ४४।१६); अर्थात् वानर आकाश में कूदकर, अपने बाहु से पकड़कर राक्षसों को भूमि में गिरा देते हैं। पर यहाँ (मानस में) उन्हें गिराकर मारने की रीति कही गई है।

राम-प्रताप प्रबल कपि - जूथा। मर्दहिं निसिचरसुभट - बरूथा ॥१॥
चढ़े दुर्ग पुनि जहँ तहँ बानर। जय रघुबीर - प्रताप - दिवाकर ॥२॥
चले निसाचर - निकर पराई। प्रबल पवन जिमि घन-समुदाई ॥३॥

अर्थ—श्रीरामजी के प्रताप से वानर-दल प्रबल है, वे राक्षस योद्धाओं के समूह को मर्दन करते हैं ॥१॥ फिर वानर जहाँ-तहाँ किले पर चढ़ गये और सूर्य के समान प्रतापवाले रघुवीर की जय बोलने लगे ॥२॥ निशाचर-समूह भाग चले, जैसे प्रबल वायु से मेघ-समूह (छिन्न-भिन्न हो जाते हैं) ॥३॥

विशेष—(१) 'राम-प्रताप प्रबल ···'; यथा—"प्रभु-प्रताप ते गरुड़हि, खाइ परम लघु ब्याल ॥" (सुं० दो० १६); 'रघुबीर-प्रताप-दिवाकर', यथा—"जब ते राम-प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा ॥" (उ० दो० ३०); प्रताप-सूर्य के समक्ष में निशाचरों को तम रूप जनाया; यथा—"राम-बान-रबि उये जानकी। तम-बरूथ कहँ जातुधान की ॥" (सुं० दो० १५)।

(२) 'चढ़े दुर्ग पुनि'—पहले जब चढ़े थे, तब एक-एक निशाचर को ले-लेकर गिरे थे, अब नीचे से फिर ऊपर को चढ़े। पुनः पहले जब चढ़े हुए थे, तब—'राम-जस गावत भये' कहा गया था और अब रघुबीर-प्रताप की जय बोलते हैं।

(३) 'चले निसाचर-निकर ···'—पहले कहा गया—'मर्दहिं निसिचर-निकर-बरूथा।' अब राक्षसों

का भागना कहते हैं कि प्रचंड मार देखकर शेष राक्षस भाग चले। यहाँ 'प्रबल पवन' वानर लोग हैं और 'घन-समुदाय' राक्षस लोग हैं ; यथा—"कोट कँगूरन्हि सोहहिं कैसे। मेरु के शृंगन्हि जनु घन बैसे॥" (दो॰ ३९); घन कहकर इन्हें असंख्य और काले एवं घना होना सूचित किया गया। क्षण-मात्र में सब इधर-उधर भाग गये, जैसे प्रचंड वायु से मेघ विलीन हो जाते हैं; यथा—"कतहुँ प्रबल बह मारुत, जहँ-तहँ मेघ बिलाहिं।" (कि॰ दो॰ १५)।

हाहाकार भयउ पुर भारी। रोवहिं बालक आतुर नारी॥४॥
सब मिलि देहिं रावनहिं गारी। राज करत येहि मृत्यु हँकारी॥५॥

अर्थ—नगर में भारी हा-हाकार मच गया, लड़के और स्त्रियाँ आर्त्त (अधीर) होकर रो रहे हैं॥४॥ सब मिलकर रावण को गाली देते हैं कि राज्य करते हुए इसने मृत्यु बुलाई है॥५॥

विशेष—(१) 'हाहाकार भयउ पुर ...'—हा! हमारा पुत्र मारा गया, हा! हमारा भाई मारा गया, हा! हमारा पति मारा गया, इत्यादि रो-रोकर स्त्रियाँ कह रही हैं। बच्चे भी हा! तात, हा! मातु, कह-कह कर रो रहे हैं, यथा—"तातमातु हा सुनिय पुकारा।" (सुं॰ दो॰ २५); तथा—"मम पुत्रो मम भ्राता मम भर्त्ता रणे हतः। इत्येव श्रूयते शब्दो राक्षसीनां कुले कुले॥" (वाल्मी॰ ६।१३।१२); 'रोवहिं बालक आतुर नारी।'—यहाँ उन छोटे बालकों का रोना कहा गया है, जिनके पिता-भ्राता आदि मारे गये हैं। और वे स्त्रियाँ रो रही हैं जिनके पति-पुत्र आदि मारे गये हैं। युवा वीर लोग नहीं रोते; यथा—"बीर अधीर न होहिं।" (अ॰ दो॰ १११), उन्हें तो उत्साह है।

(२) 'सब मिलि देहिं रावनहिं गारी।'—प्राकृत (नीच) स्त्रियों का स्वभाव होता है कि दुःख पड़ते ही गाली देने लगती हैं। वाल्मी॰ ६।९४ में राक्षसियों का एकत्र होकर रोना पूरे सर्ग-भर में लिखा है। वहाँ अरण्यकांड से लेकर यहाँ तक के चरित्रों का स्मरण करती हुई कहती हैं कि रावण श्रीसीताजी को नहीं पा सकता—वह अवश्य मारा जायगा, इत्यादि।

'मृत्यु हँकारी'; यथा—"तुम्ह तौ काल हाँकि जनु लावा।" (बा॰ दो॰ २७२)। श्रीसीताजी को हरकर लाना ही काल का बुलाना है; यथा—"तव कुल-कमल बिपिन दुखदाई। सीता सीत निसा सम आई॥" (सुं॰ दो॰ ३९); मृत्यु-रूपी श्रीसीताजी को यह जबरदस्ती हरकर लाया।

निज दल बिचल सुना तेहि काना। फेरि सुभट लंकेस रिसाना॥६॥
जो रन-बिमुख फिरा मैं जाना। सो मैं हतब कराल कृपाना॥७॥
सर्बस खाइ भोग करि नाना। समर-भूमि भये बल्लभ प्राना॥८॥

शब्दार्थ—बल्लभ = अत्यन्त प्रिय। भोग = सुख विलास। बिचलना = भागना।

अर्थ—रावण ने अपने दल को हारते हुए कानों से सुना, तब सुभटों को (भागने से) लौटाकर लंकापति रावण उनपर क्रोधित हुआ॥६॥ (और बोला कि) जिसे मैं रण से विमुख होकर लौटा हुआ जानूँगा, उसे मैं कठिन कृपाण से मारूँगा॥७॥ मेरा सर्वस्व (सारी संपत्ति) खाकर और तरह-तरह के भोग-विलास करके (भी) अब रण-भूमि में प्राण प्यारे लग रहे हैं॥८॥

विशेष—(१) 'रन-विमुख फिरा···'—भाव यह कि सन्मुख लड़ना जीतकर लौटना, विमुख अर्थात् पीठ दिखाकर (हारकर) न लौटना। मर जाना या तो जीतकर लौटना। 'कराल कृपाना' अर्थात् चन्द्रहास से; यथा—"तो मैं मारब काढ़ि कृपाना।"; "कटिहउँ तव सिर कठिन कृपाना।" (सुं॰ दो॰ ९); वैसे ही वहीं पर कहते हैं; यथा—"चंद्रहास हर मम परितापं।।" 'मैं हतब'—मैं स्वयं अपने हाथों से ही मारूँगा, जिसमें मुझे संदेह न रहे कि यह मारा गया कि नहीं।

(२) 'सर्बस खाइ···'—जिसकी संपत्ति से भोग और विलास किया, समय पड़ने पर उसे धोखा देना कृतघ्नता है। इसपर वह वध के योग्य है; यथा—"भाइहु लावहु धोख जनि, आजु काज बड़ मोहिं। सुनि सरोष बोले सुभट, बीर अधीर न होंहि॥" (आ॰ दो॰ १९१)।

उग्र बचन सुनि सकल डेराने। चले क्रोध करि सुभट लजाने॥९॥
सन्मुख मरन बीर कै सोभा। तब तिन्ह तजा प्रान कर लोभा॥१०॥

दोहा—बहु आयुध धर सुभट सब, भिरहिं प्रचारि प्रचारि।
ब्याकुल किये भालु कपि, परिघ त्रिसूलन्हि मारि॥४१॥

अर्थ—क्रोध भरे कठोर वचन सुनकर वे सब सुभट डर गये और लज्जित होकर क्रोध करके (लड़ने को) चले॥९॥ रण में सन्मुख लड़कर मरना वीर की शोभा है, (यह सोचकर) तब उन्होंने प्राणों का लोभ छोड़ा॥१०॥ बहुत-से आयुध धारण किये हुए वे सब सुभट ललकार-ललकार कर भिड़ने लगे और उन्होंने रीछ-वानरों को परिघों और त्रिशूलों से मारकर व्याकुल कर दिया॥४१॥

विशेष—(१) 'उग्र बचन सुनि···'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—'फेरि सुभट लंकेस रिसाना।' है। इसके बीच में उग्र वचन है। ऐसा ही खरदूषण ने भी कहा है; यथा—"भये क्रुद्ध तीनिउ भाइ। जो भागि रन ते जाइ॥ तेहि बधब हम निज पानि। फिरे मरन मन महँ ठानि॥" (अ॰ दो॰ १९); 'सकल डेराने'—डरे कि यह मारेगा। तब इसके हाथ क्यों मरें? रण में सन्मुख शत्रु के हाथ क्यों न मरें कि परलोक भी बने और वीर-शोभा को प्राप्त हों। 'फिरे'—पहले कहा गया था; यथा—"चले निसाचर निकर पराई।" अब उन्हीं का फिर लौटना कहा गया।

(२) 'सन्मुख मरन बीर···'—शूरता की शोभा भी हो और शरीर की कुशल भी रहे, यह नहीं हो सकता; यथा—"होइ कि खेम कुसल रौताई।" (अ॰ दो॰ ३४); यह सोचकर वे प्राण देने को उद्यत हो गये कि जीतेंगे तो ऐश्वर्य भोगेंगे, अन्यथा स्वर्ग को प्राप्त होंगे; यथा—"हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्॥" (गीता २।३७)।

रावण के वचन का प्रभाव सुभटों पर पड़ा—

रावण	सुभट
(१) जो रन बिमुख फिरा मैं जाना।	फिरे क्रोध करि सुभट लजाने।
(२) सो मैं हतब कराल कृपाना।	सन्मुख मरन बीर कै सोभा।
(३) समर भूमि भये बल्लभ प्राना।	तब तिन्ह तजा प्रान कर लोभा।

भाव यह कि हमलोग रण-विमुख न होंगे, किन्तु जीतकर आवेंगे अन्यथा नहीं। तुम्हारे हाथ मरकर नरक को न जायँगे, किन्तु वीर-शोभा को प्राप्त होंगे। हम नमकहराम नहीं हैं, किंतु तुम्हारे लिये प्राण दे देंगे।

(३) 'बहु आयुध धर '—प्रास, मुद्गर, परिघ, भिंडिपाल, पट्टिश, त्रिशूल, तोमर, ऋष्टि, मूशल, चाप, गदा, शक्ति, भाला, आयस, दंड, चक्र, बाण, खड्ग इत्यादि—वाल्मी० ६।४१-४२ में कहे गये हैं।

(४) 'व्याकुल किये भालु कपि ···'— भाव यह कि वे लोग शस्त्रों के प्रयोग में भी निपुण हैं, तभी तो उन्होंने भालु-वानरों को व्याकुल कर दिया, यथा—"बलवन्तो ऽस्त्रविदुषो नाना प्रहरणा रणे। जघ्नुर्वानर-सैन्यानि राक्षसा क्रोधमूर्च्छिता ॥" (वाल्मी० ६।५३।११), 'व्याकुल किये' - उपर्युक्त अस्त्र-शस्त्रों से नाना प्रकार से घायल किये गये, जैसा कि वाल्मी० ६ ५८।१२-१४ में विस्तार से कहा गया है। 'परिघ त्रिसूलन्हि मारि'—आयुध सभी चलाये गये, उनमें ये दो प्रधान रहे, इनसे बहुत वानर भालु मारे गये।

भय आतुर कपि भागन लागे। जद्यपि उमा जीतिहहिं आगे ॥१॥
कोउ कह कहँ अंगद-हनुमंता। कहँ नल-नील दुबिद बलवंता ॥२॥
निज दल बिकल सुना हनुमाना। पच्छिम द्वार रहा बलवाना ॥३॥
मेघनाद तहँ करइ लराई। टूट न द्वार परम कठिनाई ॥४॥
पवनतनय मन भा अति क्रोधा। गर्जेउ प्रबल काल-सम जोधा ॥५॥

अर्थ—हे उमा! यद्यपि वानर आगे जीतेंगे, तथापि (अभी) वे व्याकुल होकर भय से शीघ्र भागने लगे ॥१॥ कोई कहता है कि श्रीअंगदजी कहाँ हैं, कोई कहता है कि श्रीहनुमान्‌जी कहाँ हैं और कोई-कोई कहते हैं कि बलवान् नल, नील और द्विविद कहाँ हैं ॥२॥ श्रीहनुमान्‌जी ने अपने दल को व्याकुल सुना। वह बलवान् पश्चिम फाटक पर था ॥३॥ वहाँ मेघनाद युद्ध कर रहा था, द्वार टूटता नहीं था, अत्यन्त कठिनाई थी ॥४॥ तब पवनपुत्र के मन में अत्यन्त क्रोध उत्पन्न हुआ और वह योद्धा (श्रीहनुमान्‌जी) प्रबल काल के समान बड़े जोर से गर्जा ॥५॥

विशेष—(१) 'जद्यपि उमा '—पार्वतीजी को संदेह हुआ कि अभी तो आप कहते थे, यथा—"राम प्रताप प्रबल कपि जूथा।", "गर्जहिं सिंह नाद कपि " फिर यह दशा क्यों हो गई ? उसपर शिवजी कहते हैं कि इस समय अत्यन्त भारी मार से व्याकुल हो गये हैं, इससे डर गये हैं, फिर आगे जीतेंगे। बराबर एक ही ओर की जीत होने में रण-शोभा नहीं होती, यथा—"रन सोभा लगि प्रभुहि बँधायो।" (दो० ७१), आगे वानरों की दशा कहते हैं—

(२) 'कोउ कह कहँ '—इन वीरों के नाम से स्पष्ट है कि दक्षिण द्वार की सेना ने श्रीअंगदजी की दोहाई दी, पश्चिम की सेना ने श्रीहनुमान्‌जी की और पूर्व की सेना ने नल आदि की पुकार की। इनलोगों ने सहायता भी की। श्रीहनुमान्‌जी ने मेघनाद को मूर्च्छित किया, श्रीअंगदजी ने अपने प्रतिपक्षियों को मारा और नल आदि ने अपनी ओर रक्षा करते हुए शत्रुओं को मारा। तब पीछे अवकाश पाकर श्रीअंगदजी और श्रीहनुमान्‌जी ने जो कार्य किये, वे आगे कहे गये हैं।

(३) 'सुना हनुमाना'—इनका देखना नहीं कहा गया, क्योंकि ये सावधानी से इन्द्रजित् के साथ लड़ रहे थे। विस्तृत मोर्चे पर सर्वत्र दृष्टि नहीं थी, इससे सुनना ही कहा गया। आर्तस्वर सुनकर जाना।

(४) 'मेघनाद तहँ करइ लड़ाई।'—मेघनाद परम शस्त्रास्त्र कोविद, वली और मायावी है, इससे यह द्वार को रोके हुए है, तोड़ने मे बड़ी कठिनाई है। यदि उधर सहायता मे न जायँ, तो अपनी सेना मारी जाती है।

(५) 'पवनतनय मन···'– 'पवनतनय' कहकर उनकी शीघ्रता कही और बल भी कहते हैं। 'अति क्रोधा' 'परम कठिनाई' कहकर अति क्रोध कहने का कारण यह कि वीर को जितना ही अधिक क्रोध होता है, यह उतना ही भारी पुरुषार्थ कर दिखाता है। जैसे कि ऊपर कहा गया कि 'चले क्रोध करि सुभट लजाने।' तब 'व्याकुल किये भालु कपि, परिघ त्रिसूलन्हि मारि।' इसी तरह ये भी अति क्रोध से मेघनाद को पराजित करेंगे। पहले जब इनका मेघनाद से सामना हुआ था, तब सामान्य ही क्रोध किया था; यथा—"कटकटाइ गर्जा अरु धावा।" (सुं॰ दो॰ १८); पर इस बार यह गढ़ पर ऊपर है और ये नीचे हैं, अतः, सामान्य क्रोध से द्वार टूटता न देखकर इन्होंने अत्यन्त क्रोध किया। 'गर्जेउ प्रबल काल सम'—यहाँ पूर्णोपमा है। इनकी सेना भीतर चली गई थी, वहाँ राक्षसों की मार से व्याकुल थी, जब तक ये द्वार तोड़कर भीतर न जा पावें, तब तक उनकी रक्षा कैसे हो? और प्रथम ही दिन आज यदि हार हो तो सेना का उत्साह भंग होगा। अत., इन्होंने भारी वेग किया।

कूदि लंक गढ़ - ऊपर आवा। गहि गिरि मेघनाद कहँ धावा ॥६॥
भंजेउ रथ सारथी निपाता। ताहि हृदय महँ मारेसि लाता ॥७॥
दूसरे सूत बिकल तेहि जाना। स्यंदन घालि तुरत गृह आना ॥८॥

दोहा—अंगद सुना पवनसुत, गढ़ पर गयउ अकेल।
रनबाँकुरा बालि - सुत, तरकि चढ़ेउ कपि-खेल ॥४२॥

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जी कूदकर लंका-किले के ऊपर आ पहुँचे और एक पहाड़ लेकर मेघनाद की ओर दौड़े ॥६॥ इन्होंने उसका रथ चूर-चूर कर दिया, सारथी को मार डाला और मेघनाद के हृदय में लात मारी ॥७॥ दूसरा सारथी उसे व्याकुल जानकर रथ मे डालकर तुरत घर ले गया ॥८॥ श्रीअंगदजी ने सुना कि पवनपुत्र अकेले ही किले पर गये हुए हैं। (तब) वह रण मे बाँका वालि कुमार वानर क्रीडा से कूद-उछलकर किले पर चला गया ॥४२॥

विशेष—(१) उपर्युक्त 'अति क्रोधा' का कार्य दिखाते हैं कि पवन पुत्र हैं, इससे इन्होंने ऐसी शीघ्रता की कि एक ही पर्वत से सब काम साथ ही कर लिये। उसे रोकने एवं प्रतिकार का अवसर ही न मिला। सुंदरकाड के युद्ध मे सामान्य क्रोध था, इससे वहाँ 'महाबिटप' से मारा और उससे उसको एक क्षण ही मूर्च्छा रही। यहाँ 'अति क्रोध' है, इससे पर्वत से मारा, जिससे भारी आघात होने से उसकी मूर्च्छा देर तक रहेगी, यहाँ सारथी भी मारा गया।

(२) 'दूसरे सूत बिकल···'—सुंदरकांड के युद्ध में श्रीहनुमान्‌जी को उसने मूर्च्छित होने पर भी बाँधा था, इस डर से राक्षस लोग उसे शीघ्र लेकर भागे कि कहीं यह वानर पूर्व का बदला न ले। श्रीहनुमान्‌जी ने कहा भी था, यथा—"तेहि पर बाँधेउ तनय तुम्हारे।" (सु॰ दो॰ २१)। अर्थात् उसका बदला लेना

अभी शेष है। 'मेघनाद तहँ करइ लराई।' उपक्रम है और—'दुसरे सूत निकल तेहि जाना।' उपसंहार है। पाँच अर्द्धालियों में इनका युद्ध कहा गया, इसमें श्रीहनुमान्‌जी की जीत हुई।

(३) 'अंगद सुना...'—अब यहाँ दक्षिण द्वार को श्रीअंगदजी का तोड़ना कहते हैं। 'रनबाँकुरा'; 'बालिसुत' विशेषण देकर जनाया कि यह अपने मोरचे के महापार्श्व और महोदर को पराजित करके इधर आया है। क्योंकि यह बालि की तरह फुर्तीला है, रावण बालि के पकड़ने की घात में ही था कि बालि ने उसे पकड़कर काँख में दाब लिया था, वैसे ही आश्चर्य कार्यकर्त्ता यह भी है। तुरत उछलकर ऊपर चढ़ गया। सहज ही निःशंक भी है, यथा—"प्रभु-प्रताप उर सहज असंका। रनबाँकुरा बालि सुत बंका॥" (दो॰ १७), जैसे मायावी को मारने के लिये बालि निःशंक अँधेरी गुफा में चला गया, वैसे यह भी निःशंक शत्रु के किले के मध्य भाग की ओर चला गया। 'कपि-खेल' का भाव यह कि बिना परिश्रम इस डाल से उस डाल पर कूदने की तरह निकल गये। 'गढ़ पर गयउ'—किले के भीतरी आवरण में यह युद्ध हुआ है।

जुद्ध-बिरुद्ध क्रुद्ध दोउ बंदर। राम-प्रताप सुमिरि उर अंतर॥१॥
रावन-भवन चढ़े दोउ धाई। करहिं कोसलाधीस दोहाई॥२॥
कलस-सहित गहि भवन ढहावा। देखि निसाचरपति भय पावा॥३॥

अर्थ—दोनों वानर युद्ध में विरोध भाव से क्रोधित हो श्रीरामजी का प्रताप हृदय में स्मरण कर॥१॥ रावण के महल पर दोनों दौड़कर चढ़ गये और श्रीअयोध्याजी के स्वामी श्रीरामजी की शपथ करते हैं॥२॥ कलश समेत महल को पकड़कर ढहा (गिरा) दिया, यह देखकर निशाचर राज डर गया॥३॥

विशेष—(१) 'जुद्ध-बिरुद्ध...'—एक युद्ध क्रीड़ारूप में भी होता है, यहाँ वह नहीं है, किन्तु विरोध भाव का युद्ध है, क्योंकि अपनी सेना का विचलित होना सुन चुके हैं, यथा—"अन्योन्यं बद्ध-वैराणां" (वाल्मी॰ ६।७७।२); इसीसे दोनों क्रोध में भरे हैं; यथा—"दोउ भिरे अतिबल मल्लजुद्ध बिरुद्ध एक एकहि हनै।" (दो॰ ६३); तथा—"कुंभकरन रन रंग बिरुद्धा। सनमुख चला काल जनु क्रुद्धा॥" (दो॰ ६५)।

'राम-प्रताप सुमिरि उर अंतर'—श्रीरामजी का प्रताप स्मरण करके कार्य करने से सफलता होती है और उसमें निर्भीकता, बल और उत्साह बढ़ता है। जैसे—"राम-प्रताप समुझि कपि कोपा। सभा माँझ पन करि पद रोपा॥" (दो॰ ३३); इसका फल यह हुआ; यथा—"भयउ तेज-हत श्री सब गई।" (दो॰ ३४); पुनः "प्रभु प्रताप कहि सब समुझाये। सुनि कपि सिंहनाद करि धाये॥" (दो॰ ३८), इसका फल यह हुआ; यथा—"चले निसाचर निकर पराई।...हाहाकार भयो पुर भारी।" वैसे यहाँ भी; यथा—"राम-प्रताप सुमिरि उर अंतर।" कहा है, इसका फल भी आगे विस्तार से दो दोहों में कहा गया है। अभी ही राक्षसराज देखकर डर गया, यथा—"देखि निसाचर पति भय पावा।" कहा है।

(२) 'करहिं कोसलाधीस दोहाई।'—शपथ करके (प्रतिज्ञापूर्वक) जो कार्य करने को कहते हैं, वह कर ही डालते हैं। शपथ का भाव यह कि वे श्रीरामजी सत्य सङ्कल्प हैं, अतएव हमारे संकल्प भी सत्य करेंगे; यथा—"मोहिं राम राउरि आनि दसरथ सपथ सब साँची कहउँ।" (अ॰ दो॰ १००); "जौ न करउँ प्रभु पद सपथ, कर न धरउँ धनु भाय।" (बा॰ दो॰ २५३); दोहाई का यहाँ यही अर्थ

संगत है। दोहाई शब्द विजय-घोषणा सहित दखलदिहानी की पुकार का भी बोधक है, पर उसमें 'दोहाई फिरना' कहा जाता है ; यथा—"नगर फिरी रघुबीर दोहाई।" (सुं० दो० १०) ; "जब प्रताप-रवि भयो नृप, फिरी दोहाई देस॥" (बा० दो० १५२) ; और दोहाई सहायता के लिये कही जाती है, पर ये दोनों अर्थ यहाँ नहीं हैं।

(३) 'देखि निसाचर पति भय पावा।'—रावण अपने भवन से बाहर है, मोरचों की देख-भाल करता है, इसीसे पहले उसने भागनेवालों को ललकार कर लौटाया है और आगे भी कहा गया है कि अंगदजी और हनुमान्‌जी मुखिया राक्षसों को उसके आगे फेंकते हैं। अतः, यहाँ भी उसी का देखना और भय पाना कहा गया है, क्योंकि इन दोनों वानरों के पराक्रम से वह खूब परिचित है। अन्यत्र भी कहा है ; यथा—"हाँक सुनत दसकंध के भये बंधन ढीले।" (वि० ३२)।

नारि-बृंद कर पीटहिं छाती। अब दुइ कपि आये उतपाती॥४॥
कपिलीला कर तिन्हहिं डेरावहिं। रामचंद्र कर सुजस सुनावहिं॥५॥

शब्दार्थ—कपिलीला = घुड़कना, काटने को दौड़ना आदि। उत्पाती = उपद्रवी।

अर्थ—स्त्री-समूह हाथों से छाती पीटती हैं कि अब तो दोनों उपद्रवी वानर एक साथ ही आये हैं (न जाने क्या उपद्रव करें ?)॥४॥ दोनों कपि वानर-लीला करके उनको भय देते हैं और श्रीरामजी का सुन्दर यश सुनाते हैं॥५॥

विशेष—(१) 'नारि-बृंद कर ···'—यह रावन का रनिवास है। सब रानियाँ भय और व्याकुलता से छाती पीटती हैं। 'अब'—पहले श्रीहनुमान्‌जी अकेले ही आये थे, अब दो हो गये। 'दुइ कपि'—भाव यह कि पहले अकेले-अकेले ही आये थे, तब भारी-भारी उत्पात कर गये और अब तो दोनों मिलकर आये हुए हैं, तब न जाने क्या कर डालें ? दोनों के पूर्व-पूर्व आगमन से नगर में अत्यन्त भय से हाहाकार मचा था ; यथा—"तात मातु हा सुनिय पुकारा।" (सुं० दो० २५), "भयउ कोलाहल नगर मँझारी।···अति सभीत सब करहिं बिचारा॥" (दो० १७) ; इत्यादि। उन्हीं बातों को समझकर अत्यन्त डरी हुई हैं।

'कर पीटहिं छाती'—जब इन लोगों ने देख लिया कि इनको रावण भी निवारण नहीं कर सकता ; यथा—"देखि निसाचर पति भय पावा।" तब छाती पीटने लगीं कि जिससे आर्त्त जानकर वानर लोग कोई दुर्दशा न करें।

(२) 'कपिलीला करि···'—वीर लोग स्त्रियों और आर्त्तों पर प्रहार नहीं करते, ये स्त्रियाँ हैं और आर्त्त भी हैं। फिर भी कपि-लीला से डरवाते हैं, यह श्रीजानकीजी का बदला लेते हैं ; यथा—"इहाँ पिसाचिनि-बृंद। सीतहि त्रास देखावहिं, धरहि रूप बहु मंद॥" (सुं० दो० १०)।

'रामचंद्र कर सुजस सुनावहि।'—'सुजस' ; यथा—"जयत्यति बलो रामो···न रावण सहस्र मे···" ये वाल्मीकीय रामायण सुन्दरकांड के श्लोक श्रीहनुमान्‌जी के युद्ध-गर्जन प्रसंग में कहे गये हैं। उन्हीं को यहाँ यश-रूप मे भी सुनाते हैं। पुनः सुयश सुनाने के और प्रसंग भी देखिये ; यथा—"रिपु मद मथि प्रभु सुजस सुनायो।" (दो० ३३) ; "कपि भालु चढ़ि मंदिरन्हि जहँ-तहँ राम जस गावत भये।" (दो० ४०)।

पुनि कर गहि कंचन के खंभा। कहेन्हि करिय उतपात अरंभा ॥६॥
गर्जि परे रिपु कटक मझारी। लागे मर्दइ भुज बल भारी ॥७॥
काहुहि लात चपेटन्हि केहू। भजहु न रामहि सो फल लेहू ॥८॥

दोहा—एक एक सों मर्दहिं, तोरि चलावहिं मुंड।
रावन आगे परहिं ते, जनु फटहि दधि-कुंड ॥४३॥

अर्थ—फिर सोने के खंभे को हाथ से पकडकर (परस्पर) बोले कि अब उपद्रव प्रारम्भ करें ॥६॥ (यह सम्मत कर) वे शत्रु-सेना के मध्य गर्जन करके कूद पड़े और उसे अपने भारी भुजबल से मर्दन करने लगे ॥७॥ किसी को लात से, किसी को थप्पड़ों से मारकर कहते हैं कि श्रीरामजी का भजन नहीं करते, उसका फल लो ॥८॥ एक राक्षस को दूसरे से रगडकर मल देते हैं, फिर (मरने पर) सिर को धड से तोडकर फेंकते हैं, वे जाकर रावण के आगे गिरकर ऐसे फूटते हैं, जैसे दही के कुडे (भाँड़) फूटें ॥४३॥

विशेष—(१) पहले भवन गिराना कहा गया, उन्हीं में सोने के खंभे भी गिरे। उन्हीं खभों को पकडकर उत्पात आरंभ करना कहा है। 'कटक मँझारी'—यहाँ सेना के मध्य भागवाले गुल्म से तात्पर्य है। जहाँ का अध्यक्ष विरूपाक्ष था, वहीं से चारों ओर सेना भेजी जाती थी—यह वाल्मी० ६।३७।१४ में कहा गया है।

(२) 'रावन आगे परहिं ते ··'—रावण के आगे फेंकते हैं कि जिन सुभटों का तुझे बड़ा गर्व था, उनकी दशा देख, इन्हें पहचानता जा। इस कर्म से उसे ललकार भी है कि तू भी आ जा तो तेरी भी ऐसी ही दशा करूँ। दही के कुडे पृथिवी में गिरकर फूटने में शब्द करते हुए बिखर जाते हैं, वैसी ही इन शिरों की दशा होती है। यह देखकर रावण की छाती जलती है।

महा महा मुखिया जे पावहिं। ते पद गहि प्रभु पास चलावहिं ॥१॥
कहइ बिभीषन तिन्हके नामा। देहिं राम तिन्हहू निज धामा ॥२॥
खल मनुजाद द्विजामिष भोगी। पावहिं गति जो जाचत जोगी ॥३॥
उमा राम मृदु चित करुनाकर। बैर भाव सुमिरत मोहि निसिचर ॥४॥
देहिं परम गति सो जिय जानी। अस कृपाल को कहहु भवानी ॥५॥

अर्थ—जिन बड़े-बड़े प्रधान सरदारों को पाते हैं, उनको पैर पकड़कर प्रभु के पास फेंक देते हैं ॥१॥ श्रीविभीषणजी उनका नाम बतलाते हैं और श्रीरामजी उन्हें भी अपना धाम देते हैं ॥२॥ दुष्ट मनुष्यों के खानेवाले और ब्राह्मण-मांस-भोगी ये निशाचर वह उत्तम गति पाते हैं, जिसे योगी लोग माँगते हैं ॥३॥ हे उमा! श्रीरामजी कोमल चित्त और करुणा की खान हैं। निशाचर मुझे वैर भाव से स्मरण करते हैं ॥४॥ ऐसा जी में समझकर उन्हें परमगति (मुक्ति) देते हैं, हे भवानी! कहो तो, ऐसा कृपालु कौन है? ॥५॥

विशेष—(१) 'महा महा मुखिया जे···'—पहली कोटि के मुखिया थे, जिन्हें लातों और चपेटों से मर्दन किया, जिन्हें 'एक-एक सों' रगड़कर मारा और उनका सिर रावण के पास फेंका, वे महा मुखिया थे और जिनके पैर पकड़कर श्रीरामजी के पास फेंकते हैं, ये महा-महा मुखिया हैं। 'पद गहि···' इसलिये कि पैर की तरफ हलके और लंबे होते हैं, इससे फेंकने में सुभीता पड़ता है दूर तक जाते हैं।

(२) 'कहइ बिभीषन···'—प्रभु पूछते हैं, तब वे कहते हैं। यहाँ पूछना मुक्ति देने के सम्बन्ध में है। पर वाल्मीकीय रामायण में बड़े-बड़े योद्धाओं के आगमन पर उनसे युद्ध के प्रारम्भ में पूछना लिखा है, वहाँ प्रहस्त, कुंभकर्ण, अतिकाय आदि के नाम प्रभाव इत्यादि पूछे गये हैं। 'तिन्हहूँ' अर्थात् ऐसे-ऐसे महापापियों को भी—इन्हें ही अगली अर्द्धाली में कहा है। 'निज धामा'; यथा—"न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः। यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम॥" (गीता १५।६); अर्थात् वहाँ सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि का प्रकाश नहीं है (वह धाम स्वयं प्रकाश है।) जहाँ पहुँचकर जीव फिर संसार में नहीं आता, वही मेरा परम धाम है।

पूर्व कहा गया—'कहेन्हि करिय उत्पात अरंभा।' उसका कार्य 'गर्जि परे रिपु कटक मँझारी।' से 'ते पद गहि प्रभु पास चलावहिं।' तक कहा गया।

(३) 'खल मनुजाद···'—'खल'; यथा—"खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी॥" (उ० दो० १२०); दुष्ट अधम भी होते हैं; यथा—"ऐसे अधम मनुज खल, कृत जुग त्रेता नाहिं।" (उ० दो० ४०); ये सब दोष इनमें हैं। 'जो जाँचत जोगी'—योगी; यथा—"निर्मान मोहा जित संग दोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः। द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छंत्यमूढ़ाः पदमव्ययं तत्॥" (गीता १५।५), अर्थात् मान-मोह रहित, संग दोष को जीते हुए, अध्यात्म निष्ठ, कामना रहित, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से रहित ज्ञानी लोग उस अविनाशी पद को पाते हैं। ऊपर 'निज धाम' कहा, उसे ही यहाँ गति और आगे परम गति भी कहते हैं। अतः, ये नाम पर्यायवाचक हैं। 'जाँचत जोगी'; यथा—"जोगि बृंद दुर्लभ गति जोई। तो कहँ आजु सुलभ भइ सोई॥" (आ० दो० ३५); "जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं॥" (कि० दो० १०)।

यहाँ मांसाहारी महापापियों को गति देने में जो शब्द कहे गये हैं, प्रायः वही शब्द गृद्धराज के सम्बन्ध में भी आमिष भोगी को मुक्ति देने मे आये हैं; यथा—"गीध अधम खग आमिष भोगी। गति दीन्हीं जो जाँचत जोगी॥ कोमल चित अति दीन दयाला। कारन बिनु रघुनाथ कृपाला॥ सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥" (आ० दो० ३३)।

(४) 'बैर भाव सुमिरत मोहि···'—श्रीरामजी ही अपने मृदु एवं करुण स्वभाव से ऐसा मिस (बहाना) बना लेते हैं कि ये तो मुझे बैर भाव से स्मरण करते थे। यदि ऐसा न मानें तो इन अधमों को उत्तम गति कैसे देते ? अधर्मों की अधोगति होती है ; यथा—"रहु अधमाधम अध गति पाई।" (उ० दो० १०६) 'सो जिय जानी'—उस बैर भाव के स्मरण को ही जी मे जानकर (उनके पापों की ओर न देखकर)। 'कहहु भवानी'— भाव यह कि तुम भी दिव्य ज्ञानयुक्ता हो, कहीं कोई हो तो, कहो।

अस प्रभु सुनि न भजहिं भ्रम त्यागी। नर मतिमंद ते परम अभागी॥६॥
अंगद अरु हनुमंत प्रवेसा। कीन्ह दुर्ग अस कह अवधेसा॥७॥
लंका दोउ कपि सोहहिं कैसे। मथहिं सिंधु दुइ मंदर जैसे॥८॥

दोहा—भुजबल रिपुदल दलि-मलि, देखि दिवस कर अंत।
कूदे जुगल बिगत श्रम, आये जहँ भगवंत ॥४४॥

अर्थ—ऐसा सुनकर जो भ्रम छोड़कर ऐसे प्रभु को नहीं भजते, वे मनुष्य मंद बुद्धि और परम भाग्य हीन हैं ॥६॥ अवध-नरेश श्रीरामजी ने (सुग्रीव आदि से) कहा कि श्रीअंगदजी और श्रीहनुमान्‌जी किले में घुस गये ॥७॥ दोनों वानर लंका में कैसे शोभित होते हैं जैसे दो मंदराचल समुद्र को मथते हों ॥८॥ बाहुबल से शत्रु-सेना को दलमल (नष्ट) कर और दिन का अन्त (संध्या) समय देखकर दोनों बिना परिश्रम (खेल से) कूदे और वहाँ आये जहाँ भगवान् श्रीरामजी थे ॥४४॥

विशेष—(१) 'असप्रभु सुनि···'—'सुनि'—सन्तों एवं सद्ग्रंथों से सुनकर 'भ्रम त्यागी' क्योंकि भ्रम छूटने पर ही भजन होता है; यथा—"होइ विवेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥" (अ० दो० ९१), 'न भजहिं' ते 'मति मंद' और 'अभागी' हैं; यथा—"गिरिजा ते नर मंद मति जे न भजहिं श्रीराम।" (उ० दो० ७१); "सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं विषय अनुरागी॥" (आ० दो० ३२)। और जो प्रभु का स्वभाव सुनकर भी उन्हें नहीं भजते, वे ही यहाँ 'परम अभागी' कहे गये हैं। इसी तरह जिस अधम ने प्रभु के लिये शरीर दे दिया, प्रभु जिसके कनौड़े बने, वे 'परम बड़ भागी' हैं; यथा—"राम काज कारन तन त्यागी। हरिपुर गयउ परम बड़ भागी" (कि० दो० २६)।

(२) 'अंगद अरु हनुमंत प्रवेसा।···'—उधर कहा गया—"रावन-भवन चढ़े दोउ धाई। करहिं कोसलाधीस दोहाई॥" उसी को सुबेल पर से देखते हुए श्रीरामजी कहते हैं—'अंगद अरु···'। पुनः—"गर्जि परे रिपु-कटक मँझारी। लागे मर्दइ भुजबल भारी॥" को देखकर यहाँ कहते हैं—"लंका दोउ कपि सोहहिं कैसे।···"

(३) 'मथहिं सिंधु दुइ मंदर जैसे।'—यहाँ शोभा दिखाना उत्प्रेक्षा का विषय है। दुर्ग की गहराई सिंधु की गहराई है, शत्रु-सेना जल है, जैसे समुद्र-जल गहरा होने से काला देख पड़ता है, वैसे ही राक्षस-सेना काली है। अंगदजी और हनुमान्‌जी कनक वर्ण मंदराचल-रूप हैं। चारों ओर हाथ घुमाते हैं, यही मंदराचल का घूमना है। मंदराचल के आधार कच्छप भगवान् थे, यहाँ भी इन दोनों का आधार राम-प्रताप है; यथा—"राम-प्रताप सुमिरि उर अंतर।" ऊपर कहा गया है। सेना का मंथन समुद्र-मंथन है। मुख्य-मुख्य मुखिया रत्न-रूप निकले जिन्हें प्रभु ने ग्रहण किया। वहाँ केवल चौदह रत्न निकले और यहाँ अनेक। दोनों का मंथन सुर-साधु-हित ही हुआ।

यहाँ के 'मथहिं सिंधु' के भाव क० लं० ३९—४२ पदों के देखने से स्पष्ट हो जाते हैं, विस्तार-भय से यहाँ नहीं लिखे गये, वहीं पर देखें।

(४) 'भुजबल रिपुदल दलिमलि···'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—'लागे मर्दइ भुजबल भारी।' है। पुनः 'कूदि लंक गढ़ ऊपर आवा।' एवं 'तरकि चढ़ेउ कपि खेल' उपक्रम है और यहाँ—'कूदे जुगल बिगत श्रम' उपसंहार है। 'भुजबल रिपुदल दलिमलि' कर लौटे, नहीं तो समझा जाता कि किसी डर से चले आये; पुनः दूसरा कारण 'दिवस कर अंत' भी कहा गया है। संध्या से एवं रात में लड़ाई बंद रहती है; यथा—"दिन के अंत फिरीं दोउ अनी।" (दो० ७०); "संध्या भई फिरी दोउ बाहनी।" (दो० ५२)।

(५) 'बिगत श्रम'—यह कूदने का ही विशेषण है कि कूदने में श्रम नहीं हुआ, दिनभर के थके होने से कूदने में श्रम होना संभव था। क्योंकि सेना-मर्दन के श्रम का निवारण होना कहा है; यथा—"राम कृपा करि जुगल निहारे। भये बिगतश्रम परम सुखारे ॥" यह आगे कहा गया है।

प्रभु-पद-कमल सीस तिन्ह नाये। देखि सुभट रघुपति मन भाये ॥१॥
राम कृपा करि जुगल निहारे। भये बिगत श्रम परम सुखारे ॥२॥

अर्थ—प्रभु के चरण-कमलों में उन्होंने शिर नवाया, देखकर कि ये अच्छे योद्धा हैं, (वा, इन सुभटों को देखकर) वे श्रीरघुनाथजी के मन में अच्छे लगे ॥१॥ श्रीरामजी ने कृपा-दृष्टि से दोनों को देखा, वे श्रम-रहित और परम सुखी हुए ॥२॥

विशेष—(१) 'प्रभु-पद-कमल सीस···'—विशेष कार्य करने के लिये गये हुए थे, अतएव वहाँ से लौटने पर प्रणाम करना कहा गया। जब कभी युद्ध के बीच में किसी कार्य से जाते हैं और लौटते हैं, तब तो साथ ही रहते हैं। अतः, प्रणाम करना नहीं कहा जाता।

'देखि सुभट'—श्रीहनुमान्‌जी और श्रीअंगदजी के अभी तक के कार्य सुनने पर जाने गये थे, आज स्वयं अपनी आँखों देखा। अतः, इन्हें उत्तम योद्धा माना। वा, महा-महा-मुखिया लोगों को मार-मारकर इतनी दूर फेंकना देखकर इन्हें सुभट जानते हैं, पूछने की आवश्यकता नहीं है।

(२) 'राम कृपा करि···'- शत्रु-सेना के मर्दन की थकावट प्रभु की कृपा-दृष्टि से दूर हुई, पुनः परम सुखी भी हुए। कहा भी है; यथा—"राजिव नयन धरे धनु सायक। भगत-विपति-भंजन सुख-दायक ॥" (बा० दो० १७); अर्थात् आपकी कृपा-दृष्टि मे ये दोनों गुण सहज ही रहते हैं।

गये जानि अंगद हनुमाना। फिरे भालु-मर्कट भट नाना ॥३॥
जातुधान प्रदोष-बल पाई। धाये करि दससीस दोहाई ॥४॥
निसिचर-अनी देखि कपि फिरे। जहँ तहँ कटकटाइ भट भिरे ॥५॥
दोउ दल प्रबल प्रचारि-प्रचारी। लरत सुभट नहिं मानहिं हारी ॥६॥

शब्दार्थ—प्रदोष = संध्याकाल; यथा—"प्रदोषो रजनी मुख इत्यमरः।"

अर्थ श्रीअंगदजी और श्रीहनुमान्‌जी को (रणभूमि से) गये हुए जानकर अनेक भालू और वानर योद्धा लौट पड़े ॥३॥ राक्षस लोग संध्या-काल का बल पाकर दशशीस रावण की दोहाई करते हुए दौड़े ॥४॥ निशाचर-सेना को देखकर वानर लौट पड़े और जहाँ-तहाँ दाँत कटकटाकर (क्रोध से) वे योद्धा भिड़ गये ॥५॥ दोनों दल प्रबल हैं और ललकार-ललकारकर वे सुभट भिड़ते हैं, हार नहीं मानते ॥६॥

विशेष–(१) 'गये जानि अंगद···' पहले इन सुभटों का फिरना कहा गया; यथा—'देखि सुभट रघुपति मन भाये।' अब यहाँ भटों का फिरना कहते हैं यथा—'फिरे भट नाना' 'गये जानि' का भाव यह कि अभी तक ये इन्हीं के सहारे से लड़ते थे। नहीं तो पहले ही लौट आये होते; यथा—"भय-आतुर कपि भागन लागे।···कोउ कह कहँ अंगद हनुमंता।" (दो० ४१); जब ये दोनों सहायक हुए, तब सब डट गये थे।

(२) 'प्रदोप-बल पाई'—प्रदोप-काल में राक्षसों का बल बढ़ जाता है, इसीसे रावण का हर्षित होना कहा गया है ; यथा—"पाइ प्रदोष हरष दसकंधर।" (दो॰ ४६) ; राक्षस प्रदोप-बल पाकर दौड़े, इससे जान पड़ता है कि वे लोग वानरों से हार जाने पर प्रदोप-काल की प्रतीक्षा में थे कि कब प्रदोष आवे और हमलोग इनसे प्रबल हो जायँ ; यथा—"निहन्यमाना हरिपुंगवैस्तदा निशाचराः शोणित गंध-मूर्च्छिताः। पुनः सुयुद्धं तरसा समाश्रिता दिवाकरस्यास्तमयाभिकांक्षिणः ॥" (वाल्मी॰ ६।४१) ।

'धाये करि दससीस दोहाई।'—"रावन भवन चढ़े दोउ धाई। करहिं कोसलाधीस दोहाई॥" (दो॰ ४२) यहाँ उसीका उत्तर है।

रात में वानरों को कम दिखाई पड़ता है और काले राक्षस अँधेरे में मिल जाते हैं। अब वे वानरों के कमजोर पड़ने पर छल से काम लेना चाहते हैं।

(३) 'दोउ दल प्रबल···'—निशाचर प्रदोप-बल पाकर प्रबल हो गये हैं और वानर जयशील होने से प्रबल हैं। अतः, दोनों ओर से ललकारें होती हैं। 'नहिं मानहिं हारी।'—शूरता की उमंग में दोनों पक्ष अपनी-अपनी जय चाहते हैं ; यथा—"अन्योन्यं बद्धवैराणां घोराणां जयमिच्छताम्। संप्रवृत्तं निशायुद्धं तदा वानर रक्षसाम्॥ अन्योन्यं समरे जघ्नुस्तदस्मिंस्तमसि दारुणे॥" (वाल्मी॰ ६।४४।२–१) तथा क॰ लं॰ ३४–३५ भी देखिये।

महावीर निसिचर सब कारे। नाना बरन बलीमुख भारे ॥७॥
सबल जुगल दल समबल जोधा। कौतुक करत लरत करि क्रोधा ॥८॥
प्राविट - सरद - पयोद घनेरे। लरत मनहुँ मारुत के प्रेरे ॥९॥

शब्दार्थ—बलीमुख (सं॰ बलिमुख)= वानर ; यथा—"चली बलीमुखसेन पराई।" (दो॰ ४१)। प्राविट (प्रावृट्)= वर्षा-ऋतु। प्रेरे = चलाये हुए।

अर्थ—सब निशाचर महावीर और काले हैं। वानर भारी-भारी और नाना रंग के हैं ॥६॥ दोनों दल बलवान् हैं, योद्धा बराबर बलवाले हैं, (अतः) क्रोध करके लड़ते और कौतुक करते हैं ॥७॥ वानर और निशाचर परस्पर लड़ते हुए ऐसे मालूम होते हैं मानों वर्षा और शरद्-ऋतु के मेघ वायु से प्रेरित होकर लड़ते हैं ॥८॥

विशेष—(१) नाना बरन बली मुख भारे।'—'नाना बरन'—देखिये कि॰ दो॰ २१। 'बली-मुख'—वानरों का भारी आकार प्रकट करते हुए यह भारी शब्द कहा गया।

(२) 'सबल जुगल दल'—ये समष्टि में बलिष्ट कहे गये। पर इसमें यह संदेह रह ही गया कि प्रत्येक योद्धा बली है कि नहीं। इसपर 'सम बल' भी कहा गया—यह व्यष्टि-बल-कथन है।

(३) 'प्राविट सरद···'—जैसे वर्षा के मेघ काले होते हैं, वैसे सब निशाचर काले हैं। जैसे शरद के मेघ अनेक रंग के होते हैं, वैसे वानर अनेक रंग के हैं। जिस प्रकार मेघ बहुत होते हैं, उसी प्रकार दोनों दल के सैनिक भी बहुत हैं, इसीसे 'घनेरे' कहा गया है। जैसे मेघ पवन के झकोरे से आपस में लड़ते हैं, वैसे ही ये लोग भी वीर-रस की उमंगों से लड़ रहे हैं। दोनों ऋतुओं के समागम का रूपक देकर निशाचरों का अंत और वानरों का अभ्युदय सूचित किया गया है।

(२) 'प्रदोष-बल पाई'—प्रदोष-काल मे राक्षसों का बल बढ़ जाता है, इसीसे रावण का हर्षित होना कहा गया है , यथा—"पाइ प्रदोष हरष दसकधर।" (दो॰ ४६) ; राक्षस प्रदोष-बल पाकर दौड़े, इससे जान पडता है कि वे लोग वानरों से हार जाने पर प्रदोष-काल की प्रतीक्षा मे थे कि कब प्रदोष आवे और हमलोग इनसे प्रबल हो जायँ , यथा—"निहन्यमाना हरिपुङ्गवैस्तदा निशाचरा शोणित गंध-मूर्च्छिता । पुन सुयुद्ध तरसा समाश्रिता दिवाकरस्यास्तमयाभिकाङ्क्षिण ॥" (वाल्मी॰ ४४।४६) ।

'धाये करि दससीस दोहाई ।'—"रावन भवन चढे दोउ धाई । करहिं कोसलाधीस दोहाई ॥" (दो॰ ४२) यहाँ उसीका उत्तर है ।

रात मे वानरों को कम दिखाई पड़ता है और काले राक्षस अँधेरे में मिल जाते हैं । अब वे वानरों के कमजोर पडने पर छल से काम लेना चाहते हैं ।

(३) 'दोउ दल प्रबल ' '—निशाचर प्रदोष-बल पाकर प्रबल हो गये हैं और वानर जयशील होने से प्रबल हैं । अत , दोनों ओर से ललकारें होती हैं । 'नहिं मानहिं हारी ।'—शूरता की उमग मे दोनों पक्ष अपनी-अपनी जय चाहते हैं , यथा—"अन्योन्य बद्धवैराणा घोराणा जयमिच्छताम् । सम्प्रवृत्त निशा युद्ध तदा वानर रक्षसाम् ॥ अन्योन्य समरे जघ्नुस्तदस्मिंस्तमसि दारुणे ॥" (वाल्मी॰ ६।४४।२-३) तथा क॰ ल॰ ३४-३५ भी देखिये ।

महावीर निसिचर सब कारे । नाना बरन बलीमुख भारे ॥७॥
सबल जुगल दल समबल जोधा । कौतुक करत लरत करि क्रोधा ॥८॥
प्राविट - सरद - पयोद घनेरे । लरत मनहुँ मारुत के प्रेरे ॥९॥

शब्दार्थ—बलीमुख (स॰ बलिमुख)= वानर , यथा—"चली बलीमुखसेन पराई ।" (दो॰ ४४) । प्राविट (प्रावृट्)=वर्षा-ऋतु । प्रेरे = चलाये हुए ।

अर्थ—सब निशाचर महावीर और काले हैं । वानर भारी भारी और नाना रग के हैं ॥७॥ दोनों दल बलवान् हैं, योद्धा बराबर बलवाले हैं, (अत) क्रोध करके लड़ते और कौतुक करते हैं ॥८॥ वानर और निशाचर परस्पर लडते हुए ऐसे मालूम होते हैं मानों वर्षा और शरद् ऋतु के मेघ वायु से प्रेरित होकर लड़ते हैं ॥९॥

विशेष—(१) नाना बरन बली मुख भारे ।'—'नाना बरन'—देखिये कि॰ दो॰ २१ । 'बली-मुख'—वानरों का भारी आकार प्रकट करते हुए यह भारी शब्द कहा गया ।

(२) 'सबल जुगल दल'—ये समष्टि में बलिष्ट कहे गये । पर इसमें यह सदेह रह ही गया कि प्रत्येक योद्धा बली है कि नहीं । इसपर 'सम बल' भी कहा गया—यह व्यष्टि-बल-कथन है ।

(३) 'प्राविट सरद '—जैसे वर्षा के मेघ काले होते हैं, वैसे सब निशाचर काले हैं । जैसे शरद के मेघ अनेक रग के होते हैं, वैसे वानर अनेक रग के हैं । जिस प्रकार मेघ बहुत होते हैं, उसी प्रकार दोनों दल के सैनिक भी बहुत हैं, इसीसे 'घनेरे' कहा गया है । जैसे मेघ पवन के झकोरे से आपस मे लड़ते हैं, वैसे ही ये लोग भी वीर-रस की उमगों से लड़ रहे हैं । दोनों ऋतुओं के समागम का रूपक देकर निशाचरों का अत और वानरों का अभ्युदय सूचित किया गया है ।

अनिप अकंपन अरु अतिकाया। बिचलत सेन कीन्ह इन्ह माया ॥१०॥
भयउ निमिष महँ अति अँधियारा। बृष्टि होइ रुधिरोपल छारा ॥११॥

दोहा—देखि निबिड़ तम दसहु दिसि, कपि-दल भयउ खँभार।
एकहि एक न देखई, जहँ तहँ करहिं पुकार ॥४५॥

अर्थ—अनिप, अकंपन और अतिकाय ने अपनी सेना को विचलते (हारते) हुए देखकर माया की ॥९॥ पल-भर में अत्यन्त अँधेरा हो गया, खून, पत्थर और राख की वृष्टि होने लगी ॥१०॥ दसों दिशाओं में घोर सघन अंधकार देखकर कपिदल में खलबली पड़ गई। एक को एक (दूसरे) नहीं देख पाता, सब जहाँ-तहाँ पुकार करते हैं ॥४५॥

विशेष—(१) 'अति अँधियारा'—प्रदोप-काल होने से अँधेरा होता ही जा रहा था, माया के प्रभाव से 'अति अँधियारा' हो गया। राक्षसों ने माया से अत्यन्त अँधेरा किया कि वानरों को आँखों से नहीं सूझे। अंग में लगकर ग्लानि होने के लिये उन्होंने रुधिर की वर्षा की। चोट लगने के लिये पत्थर और नेत्र बंद हो जाने के लिये राख की वर्षा की।

(२) 'देखि निबिड तम···'—जब उपर्युक्त 'अति अँधियारा' और फिर राख आदि का संयोग हुआ, तब 'निबिड़ तम' हो गया। केवल शब्द-मात्र सुनाई पड़ता था, कुछ दिखलाई नहीं देता था, इसीसे अपने दलवालों ही से परस्पर लड़ जाते थे; यथा—"संवृतानि च भूतानि ददृशुर्नरणाजिरे।···शब्दश्च सुमहांस्तेषां नर्दतामभिधावताम्॥ श्रूयते तुमुले युद्धे न रूपाणि चकाशिरे। हरीनेव सु संरुष्टा हरयो जघ्नू राहवे॥· राक्षसा राक्षसांश्चापि निजघ्नुस्तिमिरे तदा।" (वाल्मी॰ ६।५५।११-११)—यह घटना अकंपन के युद्ध में कही गई है।

सकल मरम रघुनायक जाना। लिये बोलि अंगद-हनुमाना ॥१॥
समाचार सब कहि समुझाये। सुनत कोपि कपि-कुंजर धाये ॥२॥
पुनि कृपाल हँसि चाप चढ़ावा। पावक-सायक सपदि चलावा ॥३॥
भयउ प्रकास कतहुँ तम नाहीं। ज्ञान उदय जिमि संसय जाहीं ॥४॥

अर्थ—सब मर्म श्रीरघुनाथजी ने जान लिया, श्रीअंगदजी और श्रीहनुमान्जी को उन्होंने बुला लिया ॥१॥ और सब समाचार कहकर समझाया सुनकर दोनों कपिश्रेष्ठ कोप करके दौड़े ॥२॥ फिर कृपालु श्रीरामजी ने हँसकर धनुष चढ़ाया और शीघ्र ही अग्निबाण चलाया ॥३॥ जिससे उजाला हो गया, कहीं अँधेरा न रह गया, जैसे ज्ञान के उदय पर संदेह जाते रहते हैं ॥

विशेष—(१) 'सकल मरम···'—श्रीविभीषणजी से उनकी माया का भेद जानकर श्रीअंगदजी और श्रीहनुमान्जी को समझाया। इन्हीं दोनों को बुलाया, क्योंकि इनके पुरुषार्थ अभी-अभी देख चुके हैं। सम्भवतः यह पुकार दक्षिण-पश्चिम द्वार की थी, जिधर के युद्ध में ये दोनों नेता थे। क्योंकि इनके चले आने पर ही उधर हल्ला भी हुआ है। अकंपन का युद्ध श्रीहनुमान्जी के साथ पश्चिम

द्वार पर ही श्रीवाल्मीकीय रामायण में है भी। 'समाचार'—यही जो आगे करना है कि हम अग्निबाण से उजाला कर देते हैं, तुम दोनों जाकर वानरों की सहायता करो।

(२) 'पुनि कृपाल हँसि…'—राक्षसों की माया को तुच्छ दिखलाते हुए उनके निरादर के लिये हँसे। 'पावक सायक'—अग्नि देवता से अभिमंत्रित किया हुआ बाण। वानरों के दुःख निवारण के सम्बन्ध से 'कृपाल' कहा गया है।

(३) 'भयउ प्रकास…'—माया-कृत अंधकार को तो नाश किया ही प्रत्युत् रात के भी अंधकार को हटाकर प्रकाश कर दिया। साथ ही अंधकार के कारण जो राक्षसों का बल बढ़ा था, उसे भी नष्ट कर दिया। 'ज्ञान उदय जिमि…'यथा—"होइ विवेक मोह भ्रम भागा।" (अ॰ दो॰ ९२)।

भालु बलीमुख पाइ प्रकासा। धाये हरषि बिगत श्रम त्रासा ॥५॥
हनूमान अंगद रन गाजे। हाँक सुनत रजनीचर भाजे ॥६॥
भागत भट पटकहिं धरि धरनी। करहिं भालु-कपि अद्भुत करनी ॥७॥
गहि पद डारहिं सागर माहीं। मकर उरग झष धरि धरि खाहीं ॥८॥

शब्दार्थ—हाँक = ललकार, गर्जन, उत्साह दिलाने का शब्द।

अर्थ—रीछ और वानर प्रकाश पाकर श्रमरहित और भय-रहित होकर हर्ष-पूर्वक दौड़े ॥५॥ श्रीहनुमान्‌जी और श्रीअंगदजी रण में गरजे, उनकी हाँक सुनते ही राक्षस भागे ॥६॥ भागते हुए योद्धाओं को पकड़ कर वे पृथिवी पर धर पटकते हैं। रीछ और वानर अद्भुत करनी कर रहे हैं ॥७॥ उन्हें पाँव *पकड़कर समुद्र में डाल देते हैं, वहाँ मगर, सर्प और मीन पकड़-पकड़कर खाते हैं ॥८॥*

विशेष—(१) 'भालु बलीमुख पाइ…'—प्रकाश पाते ही, रीछ-वानर जो जहाँ-तहाँ खड़े थे, दौड़ पड़े। दुखी थे, हर्षित हो गये। डर गये थे, वह डर चला गया और उत्साह से कुछ भी श्रम नहीं रह गया।

(२) 'हनूमान अंगद रन गाजे।…'—पहले लोग दौड़े, तब प्रभु ने बाण चलाया जब उसने पहले पहुँचकर उजाला कर दिया, तब ये दोनों वहाँ पहुँच पाये और गरजे; इस तरह यहाँ बाण का अत्यन्त वेग दिखाया गया है। 'हाँक सुनत…'—क्योंकि इनके पुरुषार्थ को सब लोग कई बार देख चुके हैं।

(३) 'करहिं भालु-कपि अद्भुत करनी'; यथा—"स संप्रहारस्तुमुलो मांसशोणितकर्दमः। रक्षसां वानराणां च सम्बभूवाद्भुतोपमः ॥" (वाल्मी॰ ६।४२।४७) अर्थात् वानरों और राक्षसों का अद्भुत और भयानक युद्ध होने लगा, मांस और रुधिर का कीचड़ हो गया। पुन. जो वानर राक्षसों के आहार थे, वे ही आज उन्हें पाँव पकड़-पकड़कर समुद्र में फेंक रहे हैं, यही उनकी अद्भुत करनी है।

(४) 'मकर उरग झष धरि-धरि खाहीं।'—जलचरों ने समुद्र पार होने के समय पुल का काम दिया था। अत, उसी उपकार के बदले में वानर लोग उन्हें आहार दे रहे हैं कि धर-धरकर खायें, यह वानरों की कृतज्ञता है।

दोहा—कछु मारे कछु घायल, कछु गढ़ चढ़े पराइ ।
गर्जहिं भालु बलीमुख, रिपु-दल-बल बिचलाइ ॥४६॥

निसा जानि कपि चारिउ अनी । आये जहाँ कोसला-धनी ॥१॥
राम कृपा करि चितवा सबही । भये बिगतश्रम बानर तबही ॥२॥

अर्थ—कुछ मार डाले गये, कुछ घायल हुए और कुछ भागकर गढ़ पर चढ़ गये । शत्रु-सेना का तितर-बितर करके रीछ और वानर गरज रहे हैं ॥४६॥ वानरों की चारों सेनाएँ रात जानकर वहाँ आईं, जहाँ कोशल-पति श्रीरामजी थे ॥१॥ श्रीरामजी ने कृपा करके सबको ज्योंही देखा त्योंही वानर लोग थकावट-रहित हो गये ॥२॥

विशेष—(१) 'कछु मारे ···'—तीन प्रकार से शत्रुओं को हराया—मार डाला, घायल किया और कुछ को भगा दिया, इससे वानरों की जीत हुई । पूर्वोक्त—'जद्यपि उमा जीतिहहिं आगे ।' का यहाँ चरितार्थ हुआ ।

(२) 'गर्जहिं भालु···'—यह विजय की ललकार है कि और कोई हो तो आवे, हम खडे हैं । किस तरह गरजते हैं, यह आज के युद्ध के उपक्रम में ही कह दिया गया है ; यथा—"गर्जहिं तर्जहिं भालु कपीसा । जय रघुबीर कोसलाधीसा ॥" बस, यही—'जय रघुबीर कोसलाधीसा' कहकर गरजते हैं । कपि-दल का आदि-अंत दोनों में गरजना कहा गया है ।

(३) 'निसा जानि···'—अभी तक लड़ते ही थे, जब कोई शत्रु नहीं रह गया, तब रात होने के लक्षणों पर ध्यान दिया । अतः, रात का होना जानकर लौटे । बाण के प्रकाश से दिन की तरह उजाला हो गया था, इससे उन्होंने सहसा रात का होना नहीं जाना था ; यथा—"आँगन में निब तापै आदित दिखायो वाहि भोजन करायो पाछे निसि चिह्न पायो है ॥" (भक्तमाल-भक्ति-रस-बोधिनी टीका) ।

(४) 'भये बिगतश्रम बानर तबहीं ।'—पहले माया-रहित होने पर कहा गया था, यथा—"धाये हरषि बिगतश्रम त्रासा ।" फिर 'अद्भुत करनी' में भी श्रम हुआ, वह भी यहाँ निवृत्त हो गया, यथा—"राम कृपा करि जुगल निहारे । भये बिगतश्रम परम सुखारे ॥" (दो० ४४) ।

आज के युद्ध का उपक्रम; यथा—"चारि अनी कपि कटक बनावा ।" (दो० ३७) और यहाँ 'निसा जानि कपि चारिउ अनी । आये···' यह उपसंहार है—कुल नौ दोहों में आज का युद्ध कहा गया ।

द्वितीय दिन के युद्ध का प्रारम्भ

उहाँ दसानन सचिव हँकारे । सब सन कहेसि सुभट जे मारे ॥३॥
आधा कटक कपिन्ह संहारा । कहहु बेगि का करिय बिचारा ॥४॥
माल्यवंत अति जरठ निसाचर । रावन मातु पिता मंत्रीबर ॥५॥
बोला बचन नीति अति पावन । सुनहु तात कछु मोर सिखावन ॥६॥

अर्थ—वहाँ दशानन रावण ने मंत्रियों को बुलाया और जो सुभट मारे गये (उनके नामों को) सभी से बतलाया ॥३॥ (और कहा) वानरों ने (जो लड़ने गये हुए थे उनमें) आधी सेना का नाश कर दिया, शीघ्र कहो, क्या विचार करते हो ? ॥४॥ माल्यवान् जो अत्यन्त बूढ़ा राक्षस था और रावण की माता का पिता (उसका नाना) तथा श्रेष्ठ मंत्री था ॥५॥ वह अत्यन्त पवित्र नीति के वचन बोला कि हे तात ! कुछ मेरी शिक्षा सुनिये ॥६॥

विशेष—(१) 'सन सन कहेसि'' '—युद्ध के लिये रावण बड़ा सावधान था, इसीसे स्वयं देख-भाल करता था। युद्ध बन्द हुए अभी थोड़ी ही देर हुई और इसने सभी बातों का पता लगा लिया। कुछ सुभटों के शिर श्रीहनुमान्‌जी और श्रीअंगदजी ने फेंके थे, उन्हें भी जान गया और पीछे बड़े-बड़े मुखियों का भी पता लगा लिया।

(२) 'आधा कटक कपिन्ह'' '—अभी २७ दिन और युद्ध होना है, इससे आधे का अर्थ यही है कि जितनी सेना आज मोरचे पर गई थी, उसमें से आधी ही बच रही, इस तरह—"कछु मारे कछु घायल, कछु गढ चढे पराइ।" (दो० ४६), इनमें से आधे तो मरे हैं और आधे में घायल और भागकर आये हुए हैं। 'कहहु बेगि'—क्योंकि रात-भर में ही इसका उपाय करना है, इससे इसकी घबड़ाहट भी स्पष्ट जानी गई।

(३) 'माल्यवंत अति जरठ'' '—यहाँ माल्यवान् के लिये चार विशेषणों के प्रयोग किये गये हैं—(क) अति जरठ, (ख) निशाचर, (ग) रावण मातु-पिता और (घ) मंत्रीवर, इनसे उसकी नीति-योग्यता दिखलाई गई है—

(क) अति जरठ = उपदेश बूढ़े ही देते हैं; यथा—"मनहुँ जरठ पन अस उपदेसा।" (अ० दो० १); क्योंकि ये देश-काल की बहुत व्यवस्था देखे-सुने हुए होते हैं। इसीसे इधर भी—'जामवंत मंत्री अति बूढ़ा' है।

(ख) निशाचर—इससे सजातीय अतएव अपने पक्ष का जनाया।

(ग) वह रावण का नाना है। अतः रावण का हित ही कहेगा और निडर होकर भी कह सकेगा, डर के मारे ठकुरसुहाती नहीं कहेगा।

(घ) मंत्रीवर, इससे श्रेष्ठ मंत्री के गुण इसमें सूचित किये गये, यथा—"नृप-हितकारक सचिव सयाना। नाम धरम रुचि सुक्र समाना॥" (बा० दो० १५१); तथा—"माल्यवंत अति सचिव सयाना।" (सुं० दो० ३६), शुक्र की तरह यह भी एक बार अपमानित होने पर हितोपदेश करने के लिये फिर आया है। श्रीविभीषणजी के मत-का समर्थन करने।पर रावण ने इसका अपमान किया था, यथा—"दूरि न करहु इहाँ है कोऊ।" (सुं० दो० ३६)।

(४) 'बोला बचन नीति''''—रावण से तीन प्रकार की नीति कही गई—(क) अपावन, (ख) पावन और (ग) अति पावन—

(क) अपावन वह है जो नीति-शास्त्र के विरुद्ध ठकुरसुहाती कही जाय, यथा—"कहहु कवन भय करिय बिचारा। नर कपि-भालु अहार हमारा॥'''कहहिं सचिव सठ ठकुरसोहाती।" (दो० ७८)।

(ख) पावन वह है जो नीति-शास्त्र के अनुकूल हो, यथा—"प्रथम बसीठ पठउ सुनु नीती। सीता

देइ करहु पुनि प्रीती ॥ नारि पाइ फिरि जाहिं जौं, तौ न बढ़ाइय रारि। नाहित सन्मुख समर…” (दो० ८–६)—प्रहस्त ने यह नीति कही है।

(ग) अति पावन नीति वह है जिसमें परमार्थ सहित स्वार्थ-साधन की व्यवस्था हो; यथा—“सिख हमारि सुनि परम पुनीता। जगदंबा जानहु जिय सीता ॥ जगत पिता रघुपतिहि बिचारी। भरि लोचन छबि लेहु निहारी ॥” (बा० दो० १४५)। ऐसी ही अति पावन नीति यहाँ पर माल्यवान् भी कहेगा।

‘सुनहु तात…’—माल्यवान् ने स्नेहपूर्वक वात्सल्य से ‘तात’ कहा कि जिससे वह इसको सुने। ‘कछु मोर सिखावन’—भाव यह कि औरों से बहुत कुछ सुनकर ही इस परिणाम को पहुँचे हो, यदि मेरा भी कुछ सुनो अर्थात् धारण करो तो सभी बातें सुधर जायँ।

जब ते तुम्ह सीता हरि आनी। असगुन होहिं न जाहिं बखानी ॥७॥
बेद - पुरान जासु जस गायो। रामबिमुख काहु न सुख पायो ॥८॥

अर्थ—जब से तुम श्रीसीताजी को हरकर लाये हो, तब से (ऐसे, एवं इतने) अपशकुन हो रहे हैं कि वर्णन नहीं किये जा सकते ॥७॥ वेद-पुराणों ने जिनका यश गाया है, उन श्रीरामजी के प्रतिकूल होने से किसी ने सुख नहीं पाया है ॥८॥

विशेष—(१) ‘जब ते तुम्ह सीता…’—भाव यह है कि श्रीसीताजी के हरण के पूर्व कभी ऐसे-ऐसे अपशकुन नहीं हुए थे और न श्रीसीताजी के आने के बहुत दिन पीछे ही, किंतु उसी समय से ये अपशकुन होने लगे हैं। इससे स्पष्ट है कि कारण श्रीसीताजी ही हैं, उन्हीं के यहाँ आने से ये सब हो रहे हैं। तात्पर्य यह है कि श्रीसीताजी लौटा दी जायँ, तो ये अपशकुन भी नहीं होंगे।

‘असगुन होहिं ..’—इन अपशकुनों का वर्णन वाल्मी० ६।१०।१४–२१ में तथा ६।३५।२५–३४ में विस्तार से किया गया है। जैसे होम की खीर में चींटियाँ चढ़ती हैं। गायों के दूध सूख गये। हाथी मदविहीन हो गये।…गधे भयंकर शब्द से रेंकते हैं। मेघ रुधिर बरसाते और घोर शब्द से गरजते हैं। दिशाएँ और विदिशाएँ धूल से छाई हैं। महाकालीगण हँसती हुई चलती हैं, गाय से गधे और न्योले से चूहे पैदा होते हैं। इत्यादि। ‘न जाहिं बखानी’—ये अगणित होते हैं; और मृत्युसूचक एवं भयानक हैं, इससे कहे नहीं जा सकते।

(२) ‘रामबिमुख काहु न सुख पायो’; यथा—“रामबिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई ॥” (सुं० दो० २१)। तथा—दो० १०२ चौ० १०–१२ भी देखिये।

दोहा—हिरन्याच्छ भ्राता-सहित, मधु कैटभ बलवान।
जेहि मारे सोइ अवतरेउ, कृपासिंधु भगवान ॥
कालरूप खल-बन-दहन, गुनागार घनबोध।
सिव बिरंचि जेहि सेवहिं, तासों कवन बिरोध ॥४७॥

अर्थ—बलवान् मधुकैटभ और भाई हिरण्यकशिपु सहित हिरण्याक्ष को जिन्होंने मारा, उन्हीं दयासागर भगवान् ने अवतार लिया है ॥ जो कालरूप, दुष्ट रूपी वन के भस्म करनेवाले, गुणधाम, पूर्ण (सम्यक्) ज्ञानवाले हैं और जिनकी सेवा श्रीशिवजी और श्रीब्रह्माजी करते हैं, उनसे क्या वैर (करना)? ॥४७॥

विशेष—(१) 'पहले वेद-पुराणों का यश गाना कहा गया था, उसे ही कहते हैं कि मधुकैटभ आदि को जिन्होंने मारा है, वे ही भगवान् कृपासिंधु श्रीरामजी हैं। वेदादि *ब्रह्म का यश गाते हैं; यथा*— "हम तव सगुन जस नित गावहीं।" (उ० दो० १२); वही यहाँ कहते हैं कि वे 'भगवान्' अर्थात् षडैश्वर्ययुक्त हैं; *यथा—"ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः। भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥"* (विष्णुपुराण); अर्थात् ऐश्वर्य-वीर्य से उत्पत्ति, शक्ति-तेज से पालन और ज्ञान-बल से संहार करनेवाले हैं। वे ही 'कृपासिंधु' भक्तों के लिये अवतार लेते हैं; यथा—"कृपासिंधु जनहित तनु धरहीं।" (बा० दो० १२१); "भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप।" (उ० दो० ७२)। 'कृपासिंधु' का यह भी भाव है कि और नृसिंह आदि अवतारों में प्रभु ने शत्रु पर दया नहीं की। परन्तु श्रीरामजी तो तुमपर भी कृपा करने के लिये आये हैं; यथा—"कारुनीक दिनकर कुल केतू। दूत पठायउ तव हित हेतू ॥" (दो० २५)।

(२) 'कालरूप खल-बन-दहन...'—'कालरूप', यथा—"कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ करम-फल-दाता ॥" (उ० दो० ४०); तथा—"कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।" (*गीता* ११।३२); 'खल बन दहन'—जैसे वन में अग्नि स्वतः पैदा होकर वन को जला देती है, वैसे दुष्ट भी अपने कर्म से ही नाश होते हैं, पर उस कर्म के नियामक प्रभु हैं, इससे वे 'खल-बन-दहन' हैं।

'गुनागार'—प्रणतपाल, पतित पावन, सौशील्य, क्षमा आदि गुणों के एक-मात्र स्थान हैं। भाव यह है कि यदि तुम भी उनकी शरण हो जाओ तो वे स्वीकार करके तुम्हें पालेंगे, तुम्हारे अपराध को क्षमा कर देंगे। 'घनबोध', यथा—"ज्ञान अखंड एक सीता बर।" (उ० दो० ७७)।

तात्पर्य यह है कि वैरी के लिये वे काल-रूप हैं, खल-समूह के नाश करने में उन्हें कुछ भी श्रम नहीं होता। शरणागत-रक्षक हैं। अतः, उसके वैर को ये चित्त में नहीं रखते, क्योंकि 'घनबोध' हैं।

(३) 'सिव बिरंचि जेहि...'—तुम्हारे इष्ट भी जिनकी सेवा करते हैं, उनकी सेवा में तो तुम्हारी बड़ाई ही होगी। फिर शिव-ब्रह्मा भी जिनके सेवक हैं, वे मनुष्य कैसे हो सकते हैं ?

परिहरि बैर देहु बैदेही। भजहु कृपानिधि परम सनेही ॥१॥
ताके बचन बान-सम लागे। करिया मुँह करि जाहि अभागे ॥२॥
बूढ़ भयसि न त मरतेउँ तोही। अब जनि नयन देखावसि मोही ॥३॥

अर्थ—वैर छोड़कर वैदेही श्रीसीताजी को (श्रीरामजी को) दे दो और परम स्नेही कृपासागर श्रीरामजी का भजन करो ॥१॥ उनके वचन बाण के समान लगे, (वह बोला) अरे अभागे ! काला मुँह करके निकल जा ॥२॥ तू बुड्ढा हुआ नहीं तो तुझे मारता, अब मेरी आँखों के सामने अपनेको न दिखाना (सामने न आना) ॥३॥

विशेष—(१) 'देहु बैदेही'—विदेहजी की तरह श्रीसीताजी को उन्हें समर्पण करो।

'भजहु कृपानिधि···'—कृपानिधि हैं; अतः, मिलते ही तुमपर कृपा करेंगे और तुम्हारे अपराध भूल जायँगे, यथा—"मिलत कृपा तुम्ह पर प्रभु करिहीं। उर अपराध न एकउ धरिहीं॥" (सुं॰ दो॰ ५६), परम स्नेही हैं; यथा—"रामसनेही सों तैं न सनेह कियो।···दूरि न सो हितू हेरु हिये ही है। छलहि छाँड़ि सुमिरे छोह किये ही है।" (वि॰ १३५); इनका तो जीव-मात्र पर सहज स्नेह है; यथा—"ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू।" (बा॰ दो॰ २११)।

(२) 'ताके बचन बान सम लागे।···' – इसी तरह के अंतिम वचन मंदोदरी के भी हैं, वहाँ भी ऐसा ही कहा गया है; यथा –"कृपासिंधु रघुनाथ भजि, नाथ बिमल जस लेहु॥ नारि-बचन सुनि बिसिप समाना।" (दो॰ ३६); परन्तु वहाँ सवेरा होने पर उठकर चुपचाप चला गया और यहाँ इसे बहुत कड़ा दंड दिया। अपमान करके त्याग करना सज्जनों की दृष्टि में वध के तुल्य है। इसका कारण यह है कि मंदोदरी ने एकान्त में कहा है और इसने सभा के बीच में कहा है। ऐसा कड़ा दंड न देने से संभव था कि और भी मंत्री इसका पक्ष लेते। इसीसे श्रीविभीषणजी को भी ऐसा ही कड़ा दंड दिया है। पुन॰ एक बार इसे रावण ने मना कर दिया था कि रिपु-उत्कर्ष और फिर उसके समक्ष अपना अपकर्ष मैं नहीं सुनना चाहता। पर इसने फिर वही कहा, इससे रावण ने इसको ऐसा दंड दिया।

(३) 'बूढ़ भयेसि···'—बुड्ढों को रावण तुच्छ मानता था; यथा—"जाना जरठ जटायू एहा।" (आ॰ दो॰ २८); "जामवंत मंत्री अति बूढ़ा।···" (दो॰ २२), तुच्छ जानकर ही इसने युद्ध में जाम्बवान् पर बाण नहीं चलाया था। 'अब जनि ···'—फिर यदि दिखलाई पड़ा, तो नहीं छोड़ूँगा।

'बोला बचन नीति अति पावन।' उपक्रम है और यहाँ—'ताके बचन बान सम लागे।' उपसंहार है।

तेहि अपने मन अस अनुमाना। बध्यो चहत येहि कृपानिधाना॥४॥
सो उठि गयउ कहत दुर्बादा। तब सकोप बोलेउ घननादा॥५॥
कौतुक प्रात देखियहु मोरा। करिहउँ बहुत कहउँ का थोरा॥६॥
सुनि सुत बचन भरोसा आवा। प्रीति - समेत अंक बैठावा॥७॥
करत बिचार भयउ भिनुसारा। लागे कपि पुनि चहूँ दुआरा॥८॥

अर्थ—उसने अपने मन में ऐसा अनुमान किया कि इसे कृपानिधान श्रीरामजी अब मारना ही चाहते हैं॥४॥ वह दुर्वचन कहता हुआ, या कहते ही उठ गया, तब मेघनाद क्रोध-पूर्वक बोला॥५॥ प्रातःकाल ही मेरा कौतुक देखना, बहुत कुछ करूँगा, थोड़ा क्या कहूँ ? (भाव यह कि करके ही दिखा दूँगा, कहने में उसका अल्पांश ही कहा जा सकेगा)॥६॥ पुत्र के वचन सुनकर उसे भरोसा हुआ, पुत्र को प्रीति सहित गोद में बैठाया॥७॥ विचार करते-करते सवेरा हो गया, वानर फिर चारों द्वारों पर जा लगे॥८॥

विशेष—(१) 'कृपा-निधाना'—कृपा करके इसे वधकर शीघ्र मुक्ति देना चाहते हैं, क्योंकि श्रीविभीषणजी को भी कृपा करके राज्य दे चुके हैं।

(२) 'कहत दुर्बादा'—यह मन्त्रीवर और नाना भी था, अत, कठोर वचन कहते हुए चल दिया, यथा—"चला भवन कहि बचन कठोरा ॥ हित मत तोहि न लागत कैसे। काल बिबस कहँ भेषज जैसे ॥" (दो० ३),—यह प्रहस्त का वचन है। ऐसे ही मदोदरी ने भी कहा है, यथा –"काल दंड गहि · निकट काल जेहि · दुइ सुत मारेउ · " (दो० ३५-३६), कोई यों भी अर्थ करते हैं कि दुर्बाद कहते ही वह उठकर चला गया, क्योंकि प्रतापी रावण के सामने फिर उसे दुर्बाद कहने की हिम्मत कैसे हो सकती है? दोनों ही पक्ष सगत हैं। 'घननादा'—मेघ के समान गभीर वाणी से गरजकर कहा।

(३) 'सुनि सुत-बचन '—माल्यवान् के बाण-समान वचनों से जो हृदय मे घाव हो गया, उसे इसने मानों पूरा किया—भर दिया। क्योंकि निराशा आ गई थी, इसने भरोसा दिया। गोद मे बैठाकर उसे शाबाशी दी और अपना प्यार भी दिखाया।

(४) 'करत बिचार भयउ '— रात-भर विचार होता ही रहा। 'उहाँ दसानन कहहु बेगि का करिय बिचारा।' उपक्रम है और यहाँ—'करत बिचार ' यह उसका उपसहार हुआ।

'लागे कपि पुनि ' जैसे पहले चारों तरफ लगे हुए थे, वैसे 'पुनि' लगे, यथा—"घटाटोप करि चहुँ दिसि घेरी।" (दो० ३०)।

कोपि कपिन्ह दुर्घट गढ़ घेरा। नगर कोलाहल भयउ घनेरा ॥९॥
बिबिधायुध-धर निसिचर धाये। गढ ते पर्वत-सिखर ढहाये ॥१०॥

छंद—ढाहे महीधर सिखर कोटिन्ह बिबिध बिधि गोला चले।
घहरात जिमि पबि पात गर्जत जनु प्रलय के बादले।
मर्कट बिकट भट जुटत कटत न लटत तन जर्जर भये।
गहि सैल तेहि गढ़ पर चलावहिं जहँ सो तहँ निसिचर हये ॥

अर्थ—वानरों ने कोप करके दुर्धर्ष (दुर्गम) किले को जा घेरा। नगर में भी भारी कोलाहल हुआ ॥९॥ अनेकों प्रकार के हथियार धारण किये हुए राक्षस दौड़े और किले पर से पहाड़ों के शिखर गिराये ॥१०॥ अगणित पर्वत शिखर गिराये और अनेका प्रकार के गोले चले। उनमे वज्रपात का-सा शब्द होता है। ऐसे गरज रहे हैं, मानों प्रलयकाल के मेघ हों॥ भयकर वानर योद्धा भिड़ते हैं, उनके शरीर कट-कटकर छिन्न भिन्न होते हैं, शरीर जर्जर (झाँझर-चलनी सरीखे) होने पर भी वे लटपटाते नहीं (हटते नहीं)। पर्वत हाथों से पकडकर किले पर फेंकते हैं, उससे जो निशाचर जहाँ हैं, वहीं मरकर रह जाते हैं॥

विशेष—'दुर्घट गढ़', यथा—"कहु कपि रावन पालित लका। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बका॥" (सु० दो० ३३), "इय सा लक्ष्यते लका पुरी रावणपालिता। सा सुरोरगगन्धर्वैः सर्वैरपि सुदुर्नया॥" (वाल्मी० ६।३७।४) 'घहरात जिमि पबि '—तोपा से तरह-तरह के गोले छूटते हैं, उनका शब्द वज्रपात और प्रलय के मेघगर्जन के समान होता है, मानों अब प्रलय होना ही चाहता है। त्रेता-युग में भारी-

भारी तोपें थीं; यथा—"परिखाश्च शतघ्न्यश्च यन्त्राणि विविधानि च। शोभयन्ति पुरीं लङ्कां रावणस्य दुरात्मनः॥" (वाल्मी॰ ३।३३); अर्थात् दुरात्मा रावण की उस लंका नगरी में परिखाएँ, शतघ्नियाँ (तोपें) और अनेक प्रकार के यंत्र शोभित हैं। 'न कटत तनु जर्जर भये'—इसमें 'न' और 'तनु' दीपदेहली हैं। भाव यह कि तनु घावों से विंध जाने पर भी कटता नहीं है। 'जहँ सो तहँ···' अर्थात् निशाना चूकता नहीं।

यहाँ तक सेना-सेना का युद्ध कहा गया। उपक्रम—'लागे कपि पुनि···' और उपसंहार—'गढ़ पुनि छेंका आइ' यह आगे कहा है। जब सेना कुछ विशेष पुरुषार्थ न कर सकी तब आगे मेघनाद का बल दिखाते हैं।

मेघनाद-युद्ध [१]

दोहा—मेघनाद सुनि श्रवन अस, गढ़ पुनि छेंका आइ।
उतर्‌यो बीर दुर्ग ते, सन्मुख चल्यौ बजाइ॥४८॥

कहँ कोसलाधीस दोउ भ्राता। धन्वी सकल लोक बिख्याता॥१॥
कहँ नल नील दुबिद सुग्रीवा। अंगद हनूमंत बलसींवा॥२॥
कहाँ बिभीषन भ्राता-द्रोही। आजु सबहि हठि मारउँ ओही॥३॥

शब्दार्थ—छेंकना = घेरना बजाइ—यह मुहावरा है = डंका बजाकर, खुल्लमखुल्ला।

अर्थ—मेघनाद ने कानों से ऐसा सुना कि (वानरों ने) गढ़ को फिर आकर घेर लिया है तब वह वीर किले पर से उतरकर डंके की चोट सहित सामने चला॥४८॥ (और बोला) कोशलाधीश दोनों भाई जो सब लोकों में वीर और धनुर्धर प्रसिद्ध हैं, वे कहाँ हैं? ॥१॥ नल, नील, द्विविद, सुग्रीव और बल की सीमा अंगद और हनुमान् कहाँ हैं? ॥२॥ भाई का वैरी विभीषण कहाँ है? आज सबको और उसको तो हठ (प्रतिज्ञा) पूर्वक मारूँगा॥३॥

विशेष—(१) 'उतर्‌यो बीर दुर्ग ते···'—यह वीर है, पिता से प्रतिज्ञा भी कर चुका है। अतः, उसकी पूर्ति के लिये उतरा। सेना पीछे आवेगी, इसने साथ नहीं ली; क्योंकि इसे वीरता का मद है, इससे सहायक नहीं चाहता। सामने के कपि-दल को हटाता हुआ चला और ललकारकर कहने लगा।

(२) 'कहँ कोसलाधीस···'—यहाँ इसने नौ व्यक्तियों को नाम लेकर ललकारा है। कारण यह है कि पहले दिन के युद्ध में नाम सुनकर आठ को इसने मुख्य माना है; यथा—"जयति राम जय लछिमन, जय कपीस सुग्रीव।" (दो॰ ३८); अर्थात् श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसुग्रीवजी की तो सब जय बोलते थे और "कोउ कह कहँ अंगद हनुमंता। कहँ नल नील द्विविद बलवंता॥" (दो॰ ४१); इन पाँच को सहायता के लिये पुकारते थे। इस पुकार को पश्चिम द्वार पर श्रीहनुमान्‌जी ने सुना, तब इसने भी सुना था, क्योंकि साथ ही युद्ध करता था। श्रीविभीषणजी को तो 'भ्राता-द्रोही' कहकर ललकारने का कारण स्पष्ट कहता ही है।

'कोसलाधीस' का भाव यह कि श्रीअयोध्या के सभी राजा पराक्रमी होते आये हैं, ये भी वैसे

ही होंगे। 'दोउ भ्राता'— दोनों भाई प्रसिद्ध धनुर्धर हैं; यथा—"देखत बालक काल समाना। परम धीर धन्वी गुन नाना॥ अतुलित बल प्रताप दोउ भ्राता।" (आ॰ दो॰ २१) ; यह शूर्पणखा ने रावण की सभा में कहा है। इसने भी सुना ही है। पुनः विराध, कबंध, वालि एवं खर-दूषणादि के वध से सकल लोक की प्रसिद्धि भी स्पष्ट है। ऐसा कहकर ललकारने का भाव यह कि मैं अभी तक इन्द्रजित् ही प्रसिद्ध था, अब तुम सबको मारकर 'सकल लोक' - विजयी प्रसिद्ध हूँगा।...

शंका— दोनों भाई तो कोशलाधीश नहीं हैं, फिर क्यों कहा गया?

समाधान—पाठक्रम से अर्थ-क्रम बली होता है, यहाँ कोशलाधीश श्रीरामजी को कहा है, वे अकेले नहीं, किन्तु दोनों भाई साथ हैं और धन्वी भी दोनों ही तुल्य हैं। इसलिये 'दोउ भ्राता' कहा है। ऐसा ही और जगह भी कहा है; यथा—"हौं मारिहउँ भूप दोउ भाई।" (दो॰ ७७)। अर्थ में सँभाल करना। पहले और जगह भी दिखाया गया है; यथा—"हृदय सराहत सीय लोनाई। गुरु समीप गवने दोउ भाई॥" (बा॰ दो॰ २३६); स्यामल गौर किसोर सुहावे॥ देखि रूप लोचन ललचाने।" (बा॰ दो॰ २११)।

(३) 'कहँ नल नील'···—श्रीअंगदजी और श्रीहनुमान्‌जी को पीछे कहा, क्योंकि इनके बल की परीक्षा वह कर चुका है और नल आदि को अभी सुना ही है, इससे प्रथम कहा। 'बल सींवा'—श्रीअंगदजी और श्रीहनुमान्‌जी को कहा है, क्योंकि इन्हें उसने बल की सीमा स्वीकार किया है। शेष को लड़कर जानेगा। प्रशंसा करके ललकारने का भाव यह कि आज मैं सबके पराक्रम को भुला दूँगा। पुनः 'बल सींवा' शब्द अंत में होने से सबका विशेषण हो सकता है, क्योंकि इसने भी शुक से सुना ही है; यथा—"द्विविद मयंद नील नल अंगद गद विकटासि। दधिमुख केहरि निसठ सठ, जामवंत बल रासि। ये कपि सब सुग्रीव समाना।" (सुं॰ दो॰ ५४)।

(४) 'कहाँ बिभीषन'··· 'भ्राता-द्रोही' कहकर मानसकार ने वाल्मी॰ ६।८७।११-१८ के भाव जना दिये। वहाँ मेघनाद ने बहुत बातें कही हैं - 'तुममें जातित्व नहीं है, न सौहार्द्य···सत्पुरुषों में तेरी निंदा होगी। अपने वर्ग के (भाइयों) को छोड़कर शत्रु वर्ग में जाकर टहलुआ बना है,···अरे शत्रु गुणवान् भी हो और स्वजन निर्गुण भी हो, तो भी स्वजन ही अच्छा है। स्वजनों के नष्ट होने पर वह शत्रु के द्वारा मारा जाता है। अरे तू हमारा पितृव्य होकर भी हमारे साथ निर्दयता करता है, इत्यादि। इसपर वहाँ श्रीविभीषणजी ने फिर उत्तर देकर खंडन किया है। 'हठि मारउँ ओही'- कोई भी सहायता करे पर उसे नहीं छोड़ूँगा।

अस कहि कठिन बान संधाने। अतिसय क्रोध श्रवन लगि ताने॥४॥
सर-समूह सो छाँड़इ लागा। जनु सपच्छ धावहिं बहु नागा॥५॥
जहँ तहँ परत देखियहि बानर। सन्मुख होइ न सके तेहि अवसर॥६॥

अर्थ—ऐसा कहकर इसने कठिन बाणों का संधान किया और अत्यन्त क्रोध से धनुष को कान तक खींचा॥४॥ वह बाण समूह छोड़ने लगा जो चलते हुए ऐसे जान पड़ते थे मानों बहुत-से पंख-युक्त सर्प दौड़ते हों॥५॥ वानर जहाँ-तहाँ गिरते दिखाई पड़ते हैं, उस समय कोई उसके सम्मुख न हो सके॥६॥

विशेष—(१) 'श्रवन लगि ताने'—जिससे भारी आघात हो। 'जनु सपच्छ धावहिं बहु

नागा।'—सर्प यों ही तीव्र गति होते हैं, फिर पक्ष सहित हों, तो क्या कहना ? वाण पंख समेत हैं और सर्पों के तनु की तरह चमकीले भी हैं। लगते ही शीघ्र मूर्च्छित कर देते हैं, इससे सर्प की उपमा दी गई है। पक्ष-युक्त सर्प उड़कर मलयागिरि के चन्दन वृक्ष मे जा लपटते हैं। वैसे ही ये वाण भी वेग से जाकर लगते हैं, यथा—"संधानि धनु सर निकर छाँडेसि उरग जिमि उडि लागहीं।" (दो॰ ८१)।

(२) 'सन्मुख होइ न सके···'—उस समय लडने का अवसर ही नहीं पाते।

जहँ तहँ भागि चले कपि-रीछा। बिसरी सबहि जुद्ध कै ईछा ॥७॥
सो कपि भालु न रन महँ देखा। कीन्हेसि जेहि न प्रान अवसेखा ॥८॥

दोहा—दस दस सर सब मारेसि, परे भूमि कपि-बीर।
सिंहनाद करि गर्जा, मेघनाद बलधीर ॥४९॥

अर्थ—वानर और रीछ जहाँ-तहाँ (इधर-उधर) भाग चले, सबकी युद्ध की इच्छा ही भूल गई ॥७॥ रणभूमि मे ऐसा एक भी वानर-भालु न देखा गया कि जिसे उसने प्राणावशेष (मृततुल्य) न कर दिया हो ॥८॥ दस-दस वाण सबको मारे, वीर वानर पृथिवी पर गिर पड़े, तब प्रबल और धीर मेघनाद सिंह-समान शब्द करके गरजा ॥४९॥

विशेष—(१) 'भागि चले कपि रीछा' भाग चलने के सम्बन्ध से 'कपि रीछा' कहा, क्योंकि इन नामों का यही अर्थ है—'कपि-कम्पने' और 'रि-गतौ' इन धातुओं से ये शब्द बनते हैं।

(२) 'दस-दस सर ···'—असंख्य वानर हैं, किन्तु सबों को दस-दस वाण मारे कि वे दसों इन्द्रियों से अचेत हो जायँ। इससे उसके वाण सख्या-रहित हैं। 'सिंह नाद करि गर्जा, मेघनाद···'—मत्त गजगण रूपी वीर वानर-भालुओं को विदीर्ण करके विजय के गर्व से गरजा, साथ ही यह औरों को ललकारने का भी सूचक है। जय का गरजना ; यथा—"ताहि निपाति महाधुनि गर्जा।" (सु॰ दो॰ १७), ललकार का; यथा—"कपि देखा दारुन भट आवा। कटकटाइ गर्जा अरु धावा॥" (सु॰ दो॰ १८)। इसका मेघनाद नाम यहाँ चरितार्थ हुआ कि इसने मेघ के समान वाण की वृष्टि की और गरजा भी है।

देखि पवनसुत कटक बेहाला। क्रोधवंत धायउ जनु काला ॥१॥
महा-सैल एक तुरत उपारा। अति रिस मेघनाद पर डारा ॥२॥
आवत देखि गयउ नभ सोई। रथ-सारथी तुरग सब खोई ॥३॥
बार बार प्रचार हनुमाना। निकट न आव मरम सो जाना ॥४॥

अर्थ—सेना को व्याकुल देख पवनकुमार क्रोधित होकर दौडे, मानों काल ही दौडा हो ॥१॥ शीघ्र ही एक भारी पर्वत उखाड़ा और बहुत ही क्रोध से उसे मेघनाद पर डाल दिया ॥२॥ पर्वत को आते देखकर वह आकाश मे उड गया, रथ, सारथी और घोड़े, सब नष्ट हो जाने दिये (इन्हें बचा न सका) ॥३॥ श्रीहनुमान्‌जी बार-बार ललकारते हैं, पर वह मर्म जानता है, इससे इनके पास नहीं आता ॥४॥

विशेष—(१) 'क्रोधवंत, धायउ…'—श्रीहनुमान्‌जी काल (रुद्र) रूप हैं ही, पुनः उसके प्राणों का हरण करने के लिये दौड़े, इससे 'जनु काला' कहा गया। 'गयउ नभ'—पहले दुर्ग से उतर रथ पर चढ़कर युद्धभूमि में आया था। जब इनका भारी पर्वत शीघ्रता से आते देखा, तब प्राण लेकर भागा। आकाश में चला गया, रथ आदि की रक्षा पर ध्यान नहीं दिया। इस चातुरी का कारण ग्रंथकार आगे कहते हैं—'मरम सो जाना' मर्म (भेद) वह जानता था। पहले दो बार इनसे पाला पड़ चुका है। एक बार एक घूँसे से मूर्च्छित हो गया था। दूसरी बार लात खाने पर गहरी मुर्च्छा आई थी। इस बार जानता है कि भिड़ने पर यह प्राण ही ले लेगा। मल्लयुद्ध से बल देख चुका है और यह भी जानता है कि इसपर ब्रह्मास्त्र भी नहीं लगता और न कोई माया। 'बार-बार प्रचार…'—मेघनाद ने पहले इन्हें एक बार ललकारा था, वे उसे बार-बार प्रचारते हैं।

हनुमान्-मेघनाद-युद्ध तीन बार हुआ। तीनों में उत्तरोत्तर अधिकता है, यह आवृत्तियों से दिखाते हैं—
प्रथम बार का युद्ध अशोक-वाटिका (सुंदरकाण्ड) में हुआ। द्वितीय बार का, प्रथम दिवस के युद्ध में और तृतीय बार का यहाँ पर है। प्रथम बार में श्रीहनुमान्‌जी के प्रहार से वह रथ-हीन मात्र हुआ; यथा—"विरथ कीन्ह…" द्वितीय बार रथ और सारथी-रहित हुआ—"भंजेउ रथ सारथी निपाता।" और तृतीय बार में रथ, सारथी और घोड़े भी नाश हुए; यथा—"रथ सारथी तुरँग सब खोई।"—प्रथमावृत्ति।

इन्होंने उत्तरोत्तर मेघनाद पर अधिक आघात किये और उसका अपमान किया। प्रथम बार मुष्टिका मारी, तब उसे एक क्षण मूर्च्छा आई; यथा—"मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई। ताहि एक छन मुरछा आई॥" द्वितीय बार लात मारी, तब देर तक मूर्च्छा रही; यथा—"दुसरे सून विकल तेहि जाना। स्यन्दन…" तीसरी बार भागा; यथा—"निकट न आव मरम सो जाना।"—द्वितीयावृत्ति।

प्रथम बार सामान्य क्रोध और गर्जन था; द्वितीय बार प्रलय-काल के समान गरजे, पर वैसे धाये नहीं थे और तृतीय बार काल के समान क्रोध किया और वैसे ही धाये भी। प्रथम के गर्जन से मेघनाद वैसा नहीं डरा था, इसीसे द्वितीय बार भी सामने आया, पर तृतीय बार इन्हें रौद्र रस पूर्ण काल रूप देख कर ऐसा डरा कि बार-बार ललकारने पर भी सामने नहीं आया—तृतीयावृत्ति।

प्रथम बार—'अति विसाल तरु एक उपारा।' द्वितीय बार—'गहि गिरि मेघनाद पर धावा।' और तृतीय बार—'महा सैल एक तुरत उपारा। अति रिसि मेघनाद पर डारा॥"—यह उत्तरोत्तर प्रशस्त आयुध का प्रहार है - चतुर्थावृत्ति।

रघुपति निकट गयउ घननादा। नाना भाँति कहेसि दुर्बादा ॥५॥
अस्त्र-सस्त्र आयुध सब डारे। कौतुकहीं प्रभु काटि निवारे ॥६॥
देखि प्रताप मूढ़ खिसियाना। करइ लाग माया बिधि नाना ॥७॥
जिमि कोउ करइ गरुड़ सैं खेला। डरपावइ गहि स्वल्प सपेला ॥८॥

दोहा—जासु प्रबल माया बस, सिव-बिरंचि बड़-छोट।
ताहि देखावइ निसिचर, निज माया मति खोट ॥५०॥

अर्थ—मेघनाद श्रीरघुनाथजी के समीप गया और उसने अनेक तरह के दुर्वचन कहे ॥५॥ अस्त्र और शस्त्र-भेद के सब हथियार चलाये। प्रभु ने उन्हें खेल (सहज) में ही काटकर निवारण किया (पास तक भी नहीं आ सके) ॥६॥ वह मूर्ख प्रताप देखकर लज्जित हुआ और अनेक प्रकार की माया करने लगा ॥७॥ जैसे कोई गरुड़ से खेल करे और छोटा-सा सर्प का बच्चा लेकर उसे डरवाये ॥८॥ जिसकी अत्यन्त बलवती माया के वश शिव-ब्रह्मा (आदि) सभी बड़े-छोटे जीव हैं, उसीको क्षुद्र-बुद्धि राक्षस अपनी माया दिखाता है। (उसे डरवाना चाहता है) ॥५०॥

विशेष—(१) 'रघुपति निकट···'—'घननादा' शब्द से क्रोध सहित गरज-गरज कर दुर्वचन कहना जनाया; यथा—"तब सकोप बोलेउ घननादा॥" (दो० ४७); तथा "व्याकुल कटक कीन्ह घननादा। पुनि भा प्रगट कहै दुर्बादा॥" (दो० ७२); इसका दुर्वाद कथन वाल्मी० ६।८८।६-११ में कहा गया है। मानस में दुर्वादों को संकेत मात्र से कहा है; यथा—"आज बैर सब लेउँ निबाही। जौं रन भूप भाजि नहिं जाहीं॥ आजु करउँ खलु काल हवाले। परेहु कठिन रावन के पाले॥ सुनि दुर्बचन···" (दो० ८८)। दुर्वचनों के एक प्रकार का उदाहरण स्पष्ट कह दिया है।

पहली ललकार में इसने उत्तम विशेषण दिये थे और इस बार दुर्वाद कहा, इसका कारण यह है कि यह श्रीहनुमान्‌जी से हार जाने से खिसियाया हुआ है। वहाँ कुछ न चली तब यहाँ दुर्वचनों से मानों उसका बदला ले रहा है। प्रायः हारे हुए लोग ही गालियाँ बकते हैं।

(२) 'देखि प्रताप मूढ़···'—मूढ़ है, इसीसे अभिमानी है, यथा—"मूढ़ तोहिं अतिसय अभिमाना।" (कि० दो० ८), और इसीसे प्रताप देखकर भी प्रभु की शरण नहीं हुआ, किन्तु माया से उन्हें जीतना चाहता है।

(३) 'जिमि कोउ करइ गरुड़···'—श्रीरामजी गरुड़ हैं और मेघनाद की माया छोटा सपेला है। माया दिखाना डरवाना है। 'स्वल्प सपेला' मेघनाद की माया स्वल्प सपेला, त्रिदेवों की माया सपेला और *प्रभु की अपनी माया बड़ी नागिनि है। जब वही प्रभु से डरती है, तब छोटे सपेलों की क्या बात?* यथा—"जो माया सब जगहिं नचावा।···सोइ प्रभु भ्रू बिलास···" (उ० दो० ७१)।

श्रीरामजी का तो कहना ही क्या, उनके भक्तों पर भी त्रिदेवों तक की माया नहीं लगती; यथा "बिधि हरि हर माया बड़ि भारी। सोउ न भरत मति सकइ निहारी॥" (अ० दो० २१४)।

(४) 'जासु प्रबल माया बस ··', यथा—"*यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादि देवा सुरा।*" (बा० म० श्लोक)। मेघनाद को यह माया श्रीशिवजी और श्रीब्रह्माजी से मिली है और ब्रह्मा-शिव को वह सामर्थ्य श्रीरामजी ने दिया है। वे शिव-ब्रह्मा भी श्रीरामजी की माया से डरते हैं; यथा—"सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं॥" (उ० दो० ७०); उन श्रीरामजी को अपनी तुच्छ माया से मोहित करने का प्रयास करना मूर्खता है, इसीसे 'मति खोट' कहा है।

नभ चढ़ि बरष बिपुल अंगारा। महि ते प्रगट होहिं जल-धारा॥१॥
नाना भाँति पिसाच-पिसाची। मारु काटु धुनि बोलहिं नाची॥२॥
बिष्टा-पूय-रुधिर-कच-हाड़ा। बरषइ कबहुँ उपल बहु छाड़ा॥३॥
बरषि धूरि कीन्हेसि अँधियारा। सूझ न आपन हाथ पसारा॥४॥
कपि अकुलाने माया देखे। सब कर मरन बना येहि लेखे॥५॥

शब्दार्थ—विष्ठ=मल, मैला। पूय=पीव, मवाद। छार=राख।

अर्थ—आकाश में चढ़कर बहुत अंगारे बरसाने लगा। पृथिवी से जल की धाराएँ प्रकट होने लगीं (भाव यह कि वानर ऊपर जायँ तो आग में जलें और नीचे रहें तो जल धारा में डूबें)॥१॥ अनेक प्रकार की पिशाच-पिशाचिनियाँ नाच-नाचकर अनेक प्रकार से 'मारो, काटो' यह शब्द बोलती हैं॥२॥ कभी विष्ठा, मवाद, रुधिर, बाल और हड्डियाँ बरसाता है और कभी-कभी बहुत पत्थर और राख बरसाता है॥३॥ धूल बरसाकर ऐसा अँधेरा कर देता है कि अपना ही फैलाया हुआ हाथ नहीं सूझता (देख पड़ता)॥४॥ मेघनाद की माया देखकर वानर व्याकुल हो गये कि इस प्रकार से (ऐसा ही रहा तो) सबकी मृत्यु बनी-बनाई है॥५॥

विशेष—'करइ लाग माया···' कहकर फिर—'नभ चढ़ि···' से—"*कीन्हेसि अँधियारा।*" तक माया करना कहा है। पिशाच-पिशाचिनियाँ यक्षों और राक्षसों से भी हीन कोटि में हैं, ये अशुचि और गंदे होते हैं, रण-क्षेत्रों के बीभत्स कांडों में ही प्राय इनका वर्णन आता है—खोपड़ी में रक्त पीना आदि चरित्र इनके कहे जाते हैं। इन्हें मार-काट में आनन्द होता है। इसीसे यहाँ भी 'नाचौं' पद दिया गया है। '*मारु काटु* ···'—ध्वनि भय उत्पन्न करने के लिये बोलती हैं।

कौतुक देखि राम मुसुकाने। भये सभीत सकल कपि जाने॥६॥
एक बान काटी सब माया। जिमि दिनकर हर तिमिर-निकाया॥७॥
कृपादृष्टि कपि-भालु बिलोके। भये प्रबल रन रहहिं न रोके॥८॥

अर्थ—यह कौतुक देखकर श्रीरामजी ने मुस्कुरा दिया और वे जान गये कि सब वानर डर गये हैं॥६॥ उन्होंने एक बाण से सब माया काट दी, जैसे (एक) सूर्य अंधकार समूह को हर लेता है॥७॥ कृपा-दृष्टि से भालु वानरों को देखा, जिससे वे ऐसे प्रबल हो गये कि रण में रोकने से भी नहीं रुकते (अर्थात् उनमें इतना बल आ गया कि मेघनाद के प्रति युद्ध के लिये जाने में रोकने पर भी नहीं रुके)॥८॥

विशेष—(१) 'कौतुक देखि··'—उसने तो डरवाने के लिये माया की, पर प्रभु श्रीरामजी ने उसे खेल की तरह देखा, कुछ भय न माना। पुन निरादर के लिये मुस्कराये कि हमें अपनी माया से डरवाना चाहता है। झूठी माया पर वानरों के डरने पर भी हँसे। पुन वानरों पर अनुग्रह प्रकट करते हुए हँसे, यथा—"हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥" (बा० दो० १९७)। यही आगे कहते हैं—'कृपादृष्टि कपि भालु बिलोके।···'

(२) 'एक बान काटी...'—एक ही सूर्य सब प्रकार के अंधकार को हर लेते हैं, वैसे ही एक ही बाण ने उसकी 'माया बिधि नाना' को हर लिया। मेघनाद पर बाण न चलाया, क्योंकि यह रावण का पुत्र है। अत, इसके जोड़ में श्रीलक्ष्मणजी को भेजेंगे। प्रभु के जोड़ में रावण और कुम्भकर्ण ही लड़ेंगे।

(३) 'कृपादृष्टि कपि...'—पहले अकपन आदि की माया निवृत्त होने पर वानर और भालू तुरत लड़ने के लिये दौड़े थे, यथा—"भालु बलीमुख पाइ प्रकासा। धाये हरष बिगत श्रम त्रासा॥" (दो० ४५)। पर यहाँ नहीं दौड़े, क्योंकि पहली बार की लड़ाई में मेघनाद ने सबको प्राणावशेष कर दिया था और फिर माया से भी व्याकुल कर दिया था, इससे सबका उत्साह भग हो गया है। ऐसा देखकर श्रीरामजी

ने इन्हें कृपा- दृष्टि से देखा, जिससे प्रबल हो गये, फिर तो रोकने से भी नहीं रुकते, इतना युद्धोत्साह हो गया ; यथा—"रामकृपा बल पाइ कपिंदा। भये पच्छजुत मनहुँ गिरिंदा ॥" (सुं॰ दो॰ ६७)।

पूर्व अनिप और अकंपन आदि की माया अग्नि बाण से हरी गई थी, वैसे ही यहाँ भी वही बाण जानना चाहिये।

लक्ष्मण-मेघनाद का प्रथम युद्ध (शक्ति-बाधा-प्रकरण)

दोहा—आयसु माँगि राम पहिं, अंगदादि कपि साथ।
लछिमन चले क्रुद्ध होइ, बान सरासन हाथ ॥५१॥

छतज नयन उर बाहु बिसाला। हिम गिरि निभ तनु कछु एक लाला ॥१॥

शब्दार्थ—छतज = रक्त, लाल। निभ = समान, तुल्य। कछुएक = कुछ ही।

अर्थ - श्रीरामजी से आज्ञा माँग और अंगद आदि वानरों को साथ ले श्रीलक्ष्मणजी क्रोधित होकर हाथ में धनुष बाण लिये हुए चले ॥५१॥ उनके नेत्र लाल हैं, छाती चौड़ी और भुजाएँ लंबी हैं, शरीर हिमाचल के समान गौरवर्ण है, पर कुछ ललाई के साथ है ॥१॥

विशेष—(१) 'आयसु माँगि...'—यहाँ श्रीरामजी ने इन्हें जाने को नहीं कहा ; पर जब मेघनाद ने आकर प्रभु को दुर्वचन कहा, उसे ये नहीं सह सके, इससे इन्होंने आज्ञा माँगी। यह भी विचार कर आज्ञा माँगी कि मेरे रहते स्वामी को युद्ध का प्रयास क्यों करना पड़े ? जब आज्ञा मिली, तब गये।

पहले दो बार आज्ञा माँगने पर आज्ञा नहीं पाई थी तब उन कार्यों को नहीं किया था—जैसे कि धनुर्भंग की आज्ञा माँगी थी, यथा—"नाथ जानि अस आयसु होऊ।" पर वहाँ आज्ञा नहीं मिली। फिर चित्रकूट में श्रीभरतजी के प्रति भी—"उठि कर जोरि रजायसु माँगा।" पर वहाँ भी आज्ञा नहीं पाई थी।

'अंगदादि कपि साथ'—आगे इन्हें गिनाया है, यथा—"अंगद नील मयंद नल, संग सुभट हनुमंत।" (दो॰ ७४), यह इनके दूसरे युद्ध में स्पष्ट कहा गया है। इसी से यहाँ संकेत में ही कहा है। 'क्रुद्ध होइ'—स्वामी को राक्षस ने दुर्वचन कहे हैं, इसीसे उसपर अत्यन्त क्रुद्ध हैं। क्रोध में धर्म का ज्ञान नहीं रह जाता ; यथा—"करइ क्रोध जिमि धर्महि दूरी।" (कि॰ दो॰ १४), इसी से ये स्वामी को प्रणाम करना भूल गये, उसी का फल शक्ति का लगना है। साथ ही—'बान सरासन हाथ' भी पुरुषार्थभिमान का सूचक है। दूसरे युद्ध में प्रणाम करके जायेंगे, यथा—"रघुपति चरन नाइ सिर, चलेउ तुरंत अनत।" (दो॰ ७४) ; तब विजय सहित लौटेंगे। इस प्रसंग में श्रीलक्ष्मणजी का बार-बार क्रोध कहा गया है, क्योंकि प्रारंभ में ही क्रुद्ध होकर चले हैं।

किसी-किसी का यह भी मत है कि यहाँ रणभूमि में ही दोनों भाई थे, इससे प्रणाम करके जाना नहीं कहा गया। दूसरी बार के मेघनाद-युद्ध में अन्यत्र (निकुंभिला) की रणभूमि में जाना है, इससे वहाँ प्रणाम कर के जाना कहा गया है।

(२) 'छतज नयन उर...'—पहले 'क्रुद्ध होइ चले' कहा गया, यहाँ उस क्रोध के लक्षण कहते

है कि नेत्र लाल हैं, शरीर यद्यपि स्वच्छ गौर वर्ण है, तथापि कुछ लाल हो गया है, यथा—"रिसि बस कछुक अरुन होइ आवा। भृकुटी कुटिल नयन रिसि राते।" (बा० दो० २५०); धनुष-बाण भी लिये हुए हैं—यह वीर-शोभा है।

इहाँ दसानन सुभट पठाये। नाना अस्त्र-सस्त्र गहि धाये ॥२॥
भूधर नख बिटपायुध धारी। धाये कपि जय राम पुकारी ॥३॥
भिरे सकल जोरिहि सन जोरी। इत उत जय इच्छा नहिं थोरी ॥४॥
मुठिकन्ह लातन्ह दाँतन्ह काटहिं। कपि जयसील मारि पुनि डाँटहिं ॥५॥

अर्थ—यहाँ रावण ने बड़े-बड़े योद्धा भेजे, जो अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र लेकर दौड़े ॥२॥ पहाड़, नख और वृक्ष रूप आयुध धारण किये हुए वानर 'रामजी की जय हो' ऐसा पुकारते हुए दौड़े ॥३॥ सब (वानर और राक्षस) जोड़ी-से-जोड़ी भिड़ गये, इधर और उधर दोनों दलों में जीत की इच्छा थोड़ी नहीं थी, अर्थात् बहुत थी ॥४॥ घूसों-लातों से मारते और दाँतों से काटते हैं, वानर जयशील हैं (प्रथम दिन के युद्ध में जीते हुए हैं, वा उनमें राम-कृपा से जीतने की योग्यता प्राप्त है, इससे) वे मार कर और फिर डाँटते हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'इहाँ दसानन सुभट ···'—'इहाँ' शब्द राक्षसों की ओर क्यों कहा? इसपर दो० १० चौ० १ देखिये। रण की व्यवस्था जानने में चतुर रावण ने जब सुना कि उधर से अब श्रीलक्ष्मणजी प्रधान वानरों के साथ युद्ध के लिये आ रहे हैं, तब उसने मेघनाद की सहायता के लिये नाना सुभट भेजे। पहले यह भी कहा गया था कि मेघनाद चलते समय सेना की अपेक्षा नहीं की, पर रावण तो उसकी रक्षा के लिये सावधान है।

(२) 'भूधर नख बिटपायुध धारी। '—राक्षसों को तो रावण ने भेजा, पर इधर से वानरों का भेजा जाना नहीं कहा गया, क्योंकि ऊपर इन्हें कहा गया है—'भये प्रबल रन रहहिं न रोके।' उसीका यहाँ चरितार्थ है कि वे स्वयं उत्साह से दौड़े हैं। राक्षसों के अस्त्र शस्त्र कहे गये थे, इससे वानरों के भी आयुध 'भूधर, नख, बिटप' आदि कहे गये, यथा—"गिरि तरु नख आयुध सब बीरा।" (बा० दो० १८७)।

(२) 'भिरे सकल जोरिहि सन जोरी।'—ऊपर दोनों ओर से आयुध ले-लेकर दौड़ना कहा गया है। उसके अनुसार यहाँ जोड़ी-जोड़ी से मल्ल-युद्ध नहीं लिया जा सकता। यहाँ भाव यह है कि सेनापतियों से सेनापति, सुभटों से सुभट और सामान्य सैनिकों से सामान्य सैनिक युद्ध करने लगे।

(३) 'मुठिकन्ह लातन्ह '—घूँसा, लात और दाँत कहकर सभी अंगों से युद्ध करना दिखाया। मारकर फिर डाँटते हैं, यथा—"काहुहि लात चपेटन्हि केहू। भजेहु न रामहि सो फल लेहू।" (दो० ४२), अर्थात् मारकर डाँटते हैं कि श्रीरामजी का भजन नहीं किया, उसका फल लो।

मारु मारु धरु धरु धरु मारू। सीस तोरि गहि भुजा उपारू ॥६॥
असि रव पूरि रही नव खंडा। धावहिं जहँ तहँ रुंड प्रचंडा ॥७॥
देखहिं कौतुक नभ सुर-बृंदा। कबहुँक बिसमय कबहुँ अनंदा ॥८॥

दोहा—रुधिर गाड़ भरि भरि जम्यो, ऊपर धूरि उड़ाइ।
जनु अँगार रासिन्ह पर, मृतक धूम रह्यो छाइ ॥५२॥

शब्दार्थ—नव खंड = पुराणों के अनुसार द्वीप सात हैं और उन प्रत्येक के भी सात-सात खंड हैं, केवल इस जम्बू द्वीप में नव खंड हैं, उन्हीं में एक यह भरत खंड है। गाड़ = गड़े। मृतक धूम = राख, भस्म।

अर्थ—मारो, मारो, पकड़ो, पकड़ो, मार डालो, पकड़कर शिर तोड़ डालो, भुजा उखाड़ लो—ऐसी ध्वनि (शोर) द्वीप के नवो खण्डों मे व्याप्त हो गई है (पूर्ण भर गई है), रुंड (धड़) बड़े वेग से जहाँ तहाँ दौड़ रहे हैं ॥६-७॥ आकाश मे देव-वृन्द कौतुक देख रहे हैं, कभी (राक्षसों की जीत पर) विस्मित होते हैं और कभी (वानरों की जीत पर) आनंदित होते हैं ॥८॥ गड्ढों मे रुधिर भर-भरकर जम गया है और उसपर धूल उड़ रही है, मानों अंगार की ढेरियों पर राख छा रही है ॥५२॥

विशेष—(१) 'मारु-मारु…'—इससे योद्धाओं का पूर्ण उत्साह प्रकट होता है।

(२) 'पूरि रही नव खंडा'—युद्ध की उत्कर्षता प्रकट करने के लिये ऐसा कहा गया है, यह अत्युक्ति अलंकार है। 'धावहिं जहँ-तहँ रुंड प्रचंडा'—से रण-भूमि की भयंकरता कही गई है।

(३) 'देखहिं कौतुक नभ सुर बृंदा।…'—अभी तक सेना का साधारण युद्ध समझकर देवता नहीं आये थे। जब श्रीलक्ष्मणजी युद्ध में आये, तब ये लोग विशेष युद्ध देखने के लिये आये और इससे भी कि इनके सामने मेघनाद हम सबों पर आक्रमण नहीं कर सकेगा। परन्तु जब तक मेघनाद जीवित है, इसके युद्ध को देवता लोग छिपकर ही देखते हैं, इसीसे यहाँ विस्मय पर 'हा-हा' आदि शब्दों से दुःख प्रकट नहीं करते। जैसा आगे रावण-युद्ध मे कहा गया है; यथा—"हाहाकार सुरन्ह जब कीन्हा।" (दो॰ ९१); इत्यादि।

यहाँ दो बार मेघनाद का युद्ध हुआ, दोनों मे उसकी सफलता पर देवता डर गये, इससे तीसरे युद्ध में आवेंगे ही नहीं, उसके मरने पर आवेंगे और अत्यन्त हर्ष भी प्रकट करेंगे।

(४) 'रुधिर गाड़ भरि भरि…'—घोड़ों की टापों और रथों आदि से ये गड्ढे हो गये हैं। उनमे रुधिर जम गया, ऊपर से उड़कर पड़ी हुई धूल उसपर छाई हुई है, बीच-बीच मे रुधिर की लालिमा अंगार की चमक-सी दीखती है।

घायल बीर बिराजहिं कैसे। कुसुमित किंसुक के तरु जैसे ॥१॥
लछिमन मेघनाद दोउ जोधा। भिरहिं परस्पर करि अति क्रोधा ॥२॥
एकहि एक सकइ नहिं जीती। निसिचर छल-बल करइ अनीती ॥३॥

शब्दार्थ—किंसुक (किंशुक) = पलाश, टेसू। भिरना = समीप से लड़ना, सटकर लड़ना।

अर्थ—घायल वीर कैसे शोभित हो रहे हैं, जैसे फूले हुए टेसू (ढाक) का वृक्ष शोभित होता है ॥१॥ श्रीलक्ष्मणजी और मेघनाद दोनों योद्धा अत्यन्त क्रोध कर-करके एक-दूसरे से भिड़ते हैं ॥२॥ एक दूसरे को जीत नहीं सकते। निशाचर मेघनाद छल, बल और अधर्म युद्ध करता है ॥३॥

विशेष—(१) 'कुसुमित किंसुक...'—यहाँ वीर पलाश वृक्ष हैं, उनके शरीरों में घावों से जहाँ-तहाँ खून निकले हुए हैं, लाल रंग होने से वे टेसू के फूल के समान लगते हैं; यथा—"अंग-अंग दलित ललित फूले किंसुक से हने भट लाखन लखन जातुधान के।" (क० लं० ४८); तथा—"तयोः कृतव्रणौ देहौ शुशुभाते महात्मनो.। सुपुष्पाविव निष्पत्रौ वने किंशुक शाल्मली ॥" (वाल्मी० ६।८८।७३), (शाल्मली =सेमल वृक्ष)।

'इहाँ दसानन सुभट पठाये।' से यहाँ तक सेना-सेना का युद्ध हुआ, आगे मेघनाद-लक्ष्मण-युद्ध कहते हैं—

(२) 'निसिचर छल बल करइ अनीती।'—यहाँ छल और बल का अर्थ अदृश्य हो जाने और कभी प्रकट होने का है; यथा—"तकि तकि तीर महीस चलावा। करि छल सुअर सरीर बचावा॥ प्रगट दुरत जाइ मृग भागा।" (बा० दो० १५६), तथा—"निसिचर वेष धरि करइ लराई। कबहुँक प्रगट कबहुँ दुरि जाई॥" (दो० ७४), छिपकर आघात करना कि प्रतिपक्षी देख न सके, यह छल (अधर्म) है; यथा—"धर्म-हेतु अवतरेउ गोसाईं। मारेहु मोहि व्याध की नाईं॥" (कि० दो० ८), यहाँ मेघनाद छिपकर प्रहार करता था, जिसे श्रीलक्ष्मणजी देख नहीं सकते थे, यही अनीति थी, यथा—"अंतर्धानगतेनाजौ यत्त्वया-चरितस्तदा। तस्कराचरितो मार्गो नैष वीरनिषेवितः॥" (वाल्मी० ६।८८।१५), बुद्धि के उपाय को भी छल-बल कहते हैं, यथा—"सो मति मोरि भरत महिमाहीं। कहइ काह छलि छुअति न छाहीं॥" (अ० दो० २८७) तथा—"सोहहिं नभ छल-बल बहु करहीं। कज्जल गिरि सुमेरु जनु लरहीं॥ बुधि बल निसिचर परइ न पारा।" (दो० ९९), यह अनीति नहीं है, इसीसे यहाँ 'सोहहिं' कहा है।

क्रोधवंत तब भयउ अनंता। भंजेउ रथ सारथी तुरंता॥४॥
नाना विधि प्रहार कर सेषा। राक्षस भयउ प्रान अवसेषा॥५॥
रावनसुत निज मन अनुमाना। संकट भयउ हरिहि मम प्राना॥६॥

शब्दार्थ—अनंत = यह शेषजी और श्रीलक्ष्मणजी का भी एक नाम है।

अर्थ—तब श्रीलक्ष्मणजी क्रोधित हुए, उन्होंने तुरत उसके सारथी और रथ को तोड़ डाला॥४॥ शेष (श्रीलक्ष्मण) जी उसपर अनेकों प्रकार से वार करने लगे, उससे राक्षस प्राणावशेष (मृततुल्य) हो गया॥५॥ रावण-पुत्र ने मन में जान लिया कि संकट आ गया, ये मेरे प्राण हरेंगे॥६॥

विशेष—(१) यहाँ श्रीलक्ष्मणजी ने इससे वानरों का बदला चुकाया है—

मेघनाद—	श्रीलक्ष्मणजी
सो कपि भालु न रन महँ देखा।	राच्छस भयउ प्रान अवसेषा।
कीन्हेसि जेहि न प्रान अवसेषा।	
दस दस सर सब मारेसि।	नाना विधि प्रहार कर सेषा।
परे भूमि कपि बीर	भंजेउ रथ सारथी निपाता।
सब कर मरन बना	संकट भयउ हरिहि मम प्राना।
येहि लेखे	रावनसुत निज मन अनुमाना।

(२) 'रावन-सुत' का भाव यह कि जैसे रावण तीनों लोकों को रुलानेवाला है, वैसे यह भी अभी जो

कर्म करना चाहता है, इससे सेना के साथ श्रीरामजी तक को रोना पड़ेगा। पुनः श्रीअयोध्याजी में भी श्रीभरतजी और माताओं को भी इससे दु.ख पहुँचेगा। दूसरा यह भी भाव है कि लक्ष्मणजी यहाँ जैसी इसकी दशा कर रहे हैं और फिर जैसा इसने प्रतिकार किया है। वैसा ही (दो० ८१ में) रावण के साथ भी करेंगे, तब वह भी ऐसे ही व्याकुल होने पर वरदानी शक्ति छोड़ेगा।

बीरघातिनी छाँड़िसि साँगी। तेजपुंज लछिमन उर लागी ॥७॥
मुरुछा भई सक्ति के लागे। तब चलि गयउ निकट भय त्यागे ॥८॥

दोहा—मेघनाद सम कोटि सत, जोधा रहे उठाइ।
जगदाधार सेष किमि, उठइ चले खिसियाइ ॥५३॥

शब्दार्थ—साँगी=बरछी, शक्ति; यथा—"लागति साँग बिभीषन ही पर···" (गी० लं० ५)।

अर्थ—(ऐसा अनुमान कर) उसने वीरों को नाश करनेवाली शक्ति चलाई जो तेजोमय थी, वह श्रीलक्ष्मणजी की छाती में लगी ॥७॥ शक्ति के लगने से मूर्च्छा आ गई, तब वह भय छोड़कर समीप चला गया ॥८॥ मेघनाद के समान अगणित योद्धा उठाते रह गये (थक गये), पर जगत् के आधार शेष रूप श्रीलक्ष्मणजी कैसे उठ सकते ? (तब) लज्जित होकर चल दिये ॥५३॥

विशेष—(१) 'छाँड़िस साँगी' कहा और फिर उसे ही 'सक्ति के लागे' कहा है। अत, शक्ति को साँगी का अर्थ जनाया। 'भय त्यागे'—क्योंकि पहले भय था, यथा—"संकट भयउ हरिहि मम प्राना।" ऊपर कहा है। जब अमोघशक्ति के द्वारा मूर्च्छित अथवा मरा हुआ जान लिया, तब पास गया कि उठाकर लंका को ले जाऊँ और अपनी की हुई प्रतिज्ञानुसार पिता को प्रसन्न करूँ। पिता सीताजी को लाये, हम भाई को ले जायँ। अब दूने दुःख से श्रीरामजी भी प्राण छोड़ देंगे।

'तेज पुंज'—यह वज्र के समान तेजवाली थी, उससे प्रज्वलित अग्नि की-सी ज्वाला निकलती थी; यथा—"इत्येवमुक्त्वा तां शक्तिमष्टघण्टां महास्वनाम्। मयेन मायाविहिताममोघां शत्रुघातनीम्॥ लक्ष्मणाय समुद्दिश्य ज्वलन्तीमिवतेजसा। जिह्वेवोरगराजस्य दीप्यमाना महाद्युतिः॥" (वाल्मी० ६।१००।३०–३५) अर्थात् आठ घंटियोंवाली अतएव भारी शब्द करनेवाली, माया के द्वारा मय-राक्षस की बनाई हुई शत्रुघातिनी वह अमोघ शक्ति श्रीलक्ष्मणजी पर उसने चलाई, वह तेज से अग्नि की तरह प्रज्वलित थी।··· बड़े प्रकाशवाली चमकीली सर्पराज की जीभ के समान मालूम होती थी।

वाल्मी० ६। ५९ और १०० सर्गों में लक्ष्मण-रावण युद्ध है। दोनों जगह शक्ति प्रहार करना कहा गया है। सर्ग ५९ वाली शक्ति का कुछ अंश यहाँ से मिलता है, शेष दो० ८१–८३ से मिलता है। सर्ग १०० वाली में बहुत अंश यहाँ से मिलता है और कुछ दो० ८१–८२ से भी। मेघनाद द्वारा शक्ति से श्रीलक्ष्मणजी पर प्रहार मानसकार का ही मत है—यह कल्पभेद है।

(२) 'मेघनाद सम कोटि···'—सब योद्धा मेघनाद के समान थे, उन्होंने पहले पृथक्-पृथक् उठाया, फिर बहुत लोगों ने उसे मिल-मिलकर भी उठाया, पर नहीं उठा सके। क्यों न उठा सके ? इसका समाधान उत्तरार्द्ध में कहा है—'जगदाधार···' अर्थात् ये जगत्-भर के आधार हैं और साक्षात् शेषजी ही हैं जो

ब्रह्मांड को शिर पर धारण किये रहते हैं। इन्हें वही उठा सके, जो इनसे अधिक प्रभाववाला हो, अथवा, जिसपर इनकी कृपा हो।

(३) 'जगदाधार' और 'शेष' कहकर चारों कल्पों के श्रीलक्ष्मणजी के अवतार जना दिये; यथा—"लच्छन धाम राम प्रिय, सकल जगत आधार। गुरु बसिष्ठ तेहि राखा, लछिमन नाम उदार॥" (बा० दो० १९७); तथा—"जो सहस सीस अहीस महिधर लखन सचराचर धनी।" (अ० दो० १२६)। बा० दो० १६ चौ० ५–७ भी देखिये।

सुनु गिरिजा क्रोधानल जासू। जारइ भुवन चारिदस आसू॥१॥
सक संग्राम जीति को ताही। सेवहिं सुर-नर अग जग जाही॥२॥
यह कौतूहल जानइ सोई। जा पर कृपा राम कै होई॥३॥
संध्या भई फिरी दोउ बाहिनी। लगे सँभारन निज निज अनी॥४॥

शब्दार्थ—आसू (आशु) = शीघ्र, तुरत। अग = स्थावर, जड़। जग = जंगम, चेतन।

अर्थ - हे गिरिजे ! जिसका क्रोध रूपी पावक चौदहों भुवनों को शीघ्र जला डालता है॥१॥ और देवता, मनुष्य एवं चराचर मात्र जिसकी सेवा करते हैं, उसको रण में कौन जीत सकता है ? अर्थात् कोई नहीं॥२॥ इस खेल (एवं रहस्य) को वही जान सकता है, जिसपर श्रीरामजी की कृपा हो॥३॥ संध्याकाल होने पर दोनों ओर की सेनाएँ लौटीं, यूथपति लोग अपनी-अपनी सेना का सँभाल (गिनती) करने लगे (कि कितने धक्कर आये और कितने घायल हुए एवं कितने मरे)॥४॥

विशेष—(१) 'क्रोधानल जासू'; यथा—"जुग-पट भानु देखे, प्रलय कृसानु देखे, सेष मुख अनल निलोके बार-बार हैं।" (क० सु० २०): अर्थात् शेषजी के मुख से अग्नि प्रकट होने से प्रलय भी होता है। 'भुवन चारि दस'—भूः, भुवः, स्वः, मह, जनः, तपः, और सत्यम्—ये सात क्रमशः ऊपर के हैं और तल, अतल, वितल, सुतल, रसातल, महातल और पाताल—ये सात नीचे के हैं।

(२) 'यह कौतूहल······'—इस चरित में गूढ़ता क्या है ? इसपर वाल्मी० ६।७४ में श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी के मूर्च्छित होने पर जब श्रीसुग्रीवजी और अंगदजी आदि व्याकुल हुए तब श्रीविभीषणजी ने कहा है कि "ब्रह्मा का सम्मान करने, ब्रह्मा के अस्त्र की अमोघता रखने एवं मर्यादा रखने के लिये आप भूमिशायी हुए हैं, अर्थात् आपने स्वेच्छा से जान-बूझकर यह लीला की है।" जैसे श्रीहनुमान्जी ने ब्रह्मास्त्र को माना है; यथा—"जौं न ब्रह्म सर मानउँ, महिमा मिटइ अपार।" (सुं० दो० १९); ब्रह्मा के वरदान की रक्षा के लिये ऐसा नर-नाट्य करते हैं। नर-तन में शक्ति से घायल होना और प्रभु का भाई के स्नेह में व्याकुल होना और प्रलाप करना आवश्यक है। नहीं तो आपका ब्रह्म का अवतार स्पष्ट हो जायगा, क्योंकि इस शक्ति को मनुष्य क्या देवता भी व्यर्थ नहीं कर सकते। ब्रह्मा ने नर के हाथ से ही रावण-वध कहा है। पुनः इस लीला में कालनेमि और मकरी को भी शाप से मुक्त करना है। श्रीलक्ष्मणजी का अत्यन्त प्रेम सर्वत्र कहा गया, यहाँ स्वामी श्रीरामजी का भी अत्यन्त प्रेम उनमें प्रकट करना है कि जैसे श्रीलक्ष्मणजी प्रभु के बिना नहीं रह सकते, वैसे प्रभु भी श्रीलक्ष्मणजी के बिना नहीं रह सकते; यथा—"हौं पुनि अनुज सँघाती।" (गी० लं० ७); इस तरह—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११) की उक्ति को चरितार्थ करना है। पुनः साथ ही

श्रीहनुमान्‌जी को भी विशेष प्रेम की शिक्षा के लिये भरत-सुमित्रा आदि से समागम कराना है। इत्यादि रहस्य इस चरित्र के द्वारा ही प्रकट हुए हैं।

शंका—ऐसा दुर्लभ रहस्य फिर ग्रंथकार ने कैसे जाना ?

समाधान—गुरु-पद-रज-भक्ति से; यथा—"सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥" (बा॰ दो॰ १), रामकृपा से ; यथा—"जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कवि उर अजिर नचावहिं बानी॥" (बा॰ दो॰ १०४) ; "तस कहिहउँ हिय हरि के प्रेरे।" (बा॰ दो॰ ३०)।

यहाँ तक दूसरे दिन का युद्ध और लक्ष्मण-मेघनाद का प्रथम युद्ध समाप्त हुआ।

ब्यापक ब्रह्म अजित भुवनेश्वर। लछिमन कहाँ बूझ करुनाकर ॥५॥
तब लगि लै आयउ हनुमाना। अनुज देखि प्रभु अति दुख माना ॥६॥

अर्थ—व्यापक, ब्रह्म, किसी से न जीते जाने के योग्य, सब लोकों के स्वामी, करुणा की खान श्रीरामजी पूछने लगे कि श्रीलक्ष्मणजी कहाँ हैं ? ॥५॥ तब तक (त्योंही) श्रीहनुमान्‌जी उनको ले आये, छोटे भाई को देखकर प्रभु ने अत्यन्त दु:ख माना ॥६॥

विशेष—(१) 'ब्यापक ब्रह्म ···'—सर्वज्ञ प्रभु ने पूछकर क्यों जाना ? इसपर समाधान के लिये उन्हें चार विशेषण दिये गये हैं कि वे सर्वत्र व्यापक हैं ; यथा—"देस काल पूरन सदा बद बेद पुरान।" (वि॰ १०७) ; "जहँ न होहु तहँ देहु कहि···" (अ॰ दो॰ १२०), अतः, युद्ध स्थल पर भी थे। अतएव, जानते हैं। 'ब्रह्म' हैं, इससे सहज सर्वज्ञ हैं, उनका अखंड ज्ञान सदा एकरस रहता है। अतः, उनसे कुछ छिपा हुआ नहीं है। 'अजित' हैं। इससे उन्हें एवं उनके अंशभूत भाई को अमोघ शक्ति आदि से भी कोई कैसे जीत सकता है ? 'भुवनेश्वर' हैं। अतएव ब्रह्मा के स्वदत्त महत्व की भी रक्षा करनी है। 'करुणाकर' हैं, भाई के स्नेह में करुणा प्रकट करेंगे। स्नेह से ही पूछ भी रहे हैं। श्रीलक्ष्मणजी के आने में कुछ विलम्ब हुआ। इससे अनुमान किया कि उन्हें कुछ कष्ट हो गया होगा, इसीसे करुणा करके पूछने लगे।

(२) 'तब लगि'—पूछते ही श्रीहनुमान्‌जी उनको लेकर आ गये। अतः, किसी को बतलाने की आवश्यकता नहीं रह गई। पहले भी शोक-समाचार प्रभु के कान में डालना किसी ने उचित नहीं समझा था, इसीसे नहीं कहा था। जिससे प्रभु को पूछना पड़ा। 'करुनाकर' से यह भी जनाया गया कि करुणा-वश पूछा है, अज्ञता वश नहीं।

'अति दुख माना' ; यथा—"अयं स समरश्लाघी भ्राता मे शुभ लक्षण। यदि पञ्चत्वमापन्नः प्राणैर्मे किं सुखेन वा॥ लज्जतीव हि मे वीर्यं भ्रश्यतीव कराद्धनुः। सायका व्यवसीदन्ति दृष्टिर्बाष्पवशं गता॥ अवसीदन्ति गात्राणि स्वप्नयाने नृणामिव॥ चिन्ता मे वर्त्तते तीव्रा मुमूर्षा चोपजायते॥···परंविपादमापन्नो विललापाकुलेन्द्रियः॥" (वाल्मी॰ ६।१०१।५-६)। अर्थात् समरप्रिय ये मेरे शुभ लक्षणवाले भाई यदि मृतक हो गये, मेरे प्राण रहने से क्या और सुख से क्या है ? इनकी दशा देखकर मेरा बल लज्जित हो रहा है, हाथ से धनुष-बाण गिरे जाते हैं, आँसुओं से दृष्टि बंद हो जाती है। दु:स्वप्नवाले मनुष्य के समान सब अंग काँपते हैं, मुझे तीव्र चिंता उत्पन्न हुई है और मरने की इच्छा हो उठी है।··· इत्यादि कहते हुए परम दु:ख से व्याकुलेन्द्रिय होकर विलाप करने लगे। (वाल्मीकीय रामायण में समर-भूमि में ही श्रीरामजी थे, वहीं के ये वचन हैं।)

जामवंत कह बैद सुषेना। लंका रहइ को पठई लेना ॥७॥
धरि लघुरूप गयउ हनुमंता। आनेउ भवन समेत तुरंता ॥८॥

दोहा—रामपदारबिंद सिर, नायउ आइ सुषेन।
कहा नाम गिरि-औषधी, जाहु पवनसुत लेन ॥५४॥

अर्थ—श्रीजाम्बवान्‌जी ने कहा कि सुषेण वैद्य लंका में रहता है, उसे ले आने के लिये किसको भेजा जाय ? ॥७॥ श्रीहनुमान्‌जी छोटा रूप धरकर वहाँ गये और शीघ्र ही उसको घर समेत ले आये ॥८॥ सुषेण ने आकर श्रीरामजी के चरण-कमलों में शिर नवाया, उसने पर्वत और (उसपर की) ओषधि का नाम कहा, (तब श्रीरामजी ने अथवा उसी ने कहा कि) हे पवन-सुत ! ओषधि लेने जाओ ॥५४॥

विशेष—(१) 'जामवंत कह बैद···'—वाल्मीकीय रामायण में सुषेण वानर को ही वैद्य कहा गया है, परन्तु मानस के सुषेण वैद्य लंका के रहनेवाले हैं। श्रीजाम्बवान्‌जी ने जब नाम और स्थान बतलाया, तब श्रीरामजी ने श्रीहनुमान्‌जी को जाने और वैद्य को लाने की आज्ञा दी ; यथा—"सुनि हनुमंत वचन रघुबीर। सत्य समीर सुवन सब लायक कह्यो राम धरि धीर। चाहिय बैद, ईस आयसु धरि सीस, कीस बल ऐन। आन्यों सदन सहित सोवत ही जौं लौं पलक परै न ॥" (गी० लं० ६); 'धरि लघु रूप'—छोटा रूप ; यथा—"मसक समान रूप कपि धरी।" (सुं० दो० ३) ; छोटे रूप से गये कि जिससे कोई देखे नहीं, नहीं तो कार्य में विघ्न होगा। राक्षस युद्ध करने लग जायँ, और उतने समय में कहीं सुषेण को ही छिपा दें। लौटते समय जब उसे भवन समेत लाना पड़ा, तब बड़े रूप में हो गये, क्योंकि अब इन्हें दौड़कर कोई नहीं पा सकता, इनका वेग पवन और गरुड़ के समान हो गया। 'आनेउ भवन समेत'—क्योंकि चिकित्सा की वस्तु तो घर में थी ही, उनके लिये फिर दोबारा जाना पड़ता, तो सम्भवतः राक्षस सावधान हो जाते, युद्ध होने लगता और फिर वहाँ तक पहुँचना कठिन हो जाता।

(२) 'कहा नाम गिरि··' वाल्मी० ६।१०१।३० में तो सुषेण ने यही कहा है कि पूर्व जिस पर्वत को श्रीजाम्बवान्‌जी ने तुम्हें बतलाया है। वह प्रसंग वाल्मी० ६।७४।२६–३३ में है कि समुद्र के ऊपर दूर तक जाते हुए हिमवान् पर पहुँचोगे, तब स्वर्ण का ऋषभ पर्वत देख पड़ेगा, फिर वहाँ से कैलास पर्वत देखोगे। इन दोनों के बीच में सर्वौषधि युक्त प्रकाशित ओषधि-पर्वत देखोगे। उस पर्वत के शिखर पर चार ओषधियाँ हैं, जो अपने प्रकाश से दसों दिशाओं को प्रकाशित करती हैं। उनके नाम ये हैं—"मृत-संजीवनी (मरे हुए को जीवित करनेवाली), विशल्यकरणी (घाव भरनेवाली), सुवर्णकरणी (शरीर के रंग पूर्ववत् करनेवाली) और संधानी (टूटे अंगों को जोड़नेवाली), ये ही चारों महौषधियाँ हैं।"

'जाहु पवनसुत लेन'—पवनसुत कहने का भाव यह कि तुम वायु के समान तीव्र गति हो, अतएव तीव्र गति से जाओ कि तुम्हारे मार्ग को कोई रोक नहीं सके ; यथा—"ज्येष्ठः केशरिणः पुत्रो वातात्मज इति श्रुतः।···अनिवार्यं गतिश्चैव यथा सततगः प्रभुः ॥" (वाल्मी० ४।२८।१०–११) ; तथा—"तासु पंथ को रोकन पारा।" (दो० ५५) ; पुनः तुम्हारी सहायता पवन भी करेंगे ; यथा—"पवन राख्यो गिरि···" (गी० लं० १०)।

राम-चरन-सरसिज उर राखी। चला प्रभंजन-सुत बल भाखी ॥१॥
उहाँ दूत एक मरम जनावा। रावन कालनेमि-गृह आवा ॥२॥

अर्थ—श्रीरामजी के चरण-कमलों को हृदय में रखकर और अपना बल बखानकर श्रीहनुमान्‌जी चले ॥१॥ वहाँ एक दूत (गुप्तचर) ने रावण को यह भेद बता दिया, तब वह कालनेमि के घर आया ॥२॥

विशेष—(१) 'बल भाखी'—स्वामी करुणा रस में डूबे हुए हैं, उन्हें धैर्य देने के लिये पवनकुमार में वीररस जागृत हुआ, तब उन्होंने अपना बल कहा; यथा—"जौ हौं अब अनुसासन पावौं। तौ चन्द्रमहिं निचोरि चैल ज्यों आनि सुधा सिर नावौं॥ कै पाताल दलौं ब्यालावलि अमृत कुंड महि लावौं। भेदि भुवन करि भानु बाहिरो तुरत राहु दै तावौं॥ विबुध बैद बर बस आनउँ धरि तौ प्रभु अनुग कहावौं। पटकौं मीच नीच मूषक ज्यों सबहि को पाप बहावौं॥ तुम्हरिहि कृपा प्रताप तिहारेहि नेकु विलंब न लावौं। दीजै सोइ आयसु तुलसी प्रभु जेहि तुम्हरे मन भावौं॥" (गी० लं० ८); इसपर श्रीरामजी को धैर्य हुआ और उन्होंने कार्य करने की आज्ञा दी; यथा—"सत्य समीर सुवन सब लायक कह्यो राम धरि धीर।" (गी० लं० ९) श्रीहनुमान्‌जी इसी भावोद्वेग में और 'पवन सुत' संबोधन से शीघ्र कार्य सम्पन्न की आज्ञा का अनुमान कर चलते समय प्रणाम करना तक भूल गये जिसका फल यह हुआ कि मार्ग में कई विघ्न हुए और जैसी शीघ्रता से कार्य करना इन्होंने कहा है, वैसा नहीं होगा। परन्तु 'राम-चरन-सरसिज' को हृदय में रखकर चले हैं, इसलिये कार्य अवश्य सम्पन्न होगा, "रामचरन पंकज उर धरहू। ··" (दो० १); भी देखिये। यद्यपि बल का बखान करना स्वामी की सेवा के रूप में था, तथापि साथ ही प्रणाम नहीं करना गर्वसूचक अपराध हुआ। वैसा ही 'प्रभंजन-सुत' विशेषण दिया गया; अर्थात् प्रकर्ष भंजन करनेवाले का पुत्र। ऐसा ही इन्होंने 'दलौं', 'पटकौं', 'बरबस धरि आनौं' आदि से उपर्युक्त पद में कहा भी है।

पूर्व कहा गया है कि क्रोधावेश में श्रीलक्ष्मणजी भी युद्ध में जाते समय प्रभु को प्रणाम करना भूल गये थे, जिसके परिणाम-स्वरूप उन्हें शक्ति लगी। वैसे ही ये भी प्रणाम करना भूल गये, तो इन्हें भी कालनेमि आदि के विघ्नों को पार करने के बाद पीछे श्रीभरतजी की शक्ति (शक्ति के समान तीर) लगी और श्रीलक्ष्मणजी की तरह इनका भी नया जन्म हुआ, लक्ष्मणजी; यथा—"तुलसी आइ पवन सुत विधि मानौं फिरि निरिमये नये हैं।" (गी० लं० ५) हनुमान्‌जी, यथा—"जाइ भरत भरि अंक भेंटि निज जीवन-दान दियो है।" (गी० लं० १०)।

इन दोनों की अनवधानता भी स्वामी की लीला-विधायिनी-इच्छा से ही हुई है; यथा—"त्वदाश्रितानां ··· ··॥" मनोनुसारिणः (आलवंदारस्तोत्र)। लोक-शिक्षा के लिये ऐसी लीलाएँ होती रहती हैं।

(२) 'रावन कालनेमि-गृह आवा।'—जैसे मारीच मृग का रूप बनने में निपुण था, वैसे ही कालनेमि भी मुनि का रूप बनने में चतुर था, इस बात को रावण जानता था। अतः, वह उसी के पास गया। 'रावन' शब्द का भाव यह है कि यह कालनेमि को रुलावेगा; यथा—"पुनि-पुनि कालनेमि सिर धुना।" यह आगे कहा गया है। फिर पीछे उसके प्राण भी जायँगे।

दसमुख कहा मरम तेहि सुना। पुनि पुनि कालनेमि सिर धुना ॥३॥

देखत तुम्हहि नगर जेहिं जारा। तासु पंथ को रोकन पारा ॥४॥
भजि रघुपति करु हित आपना। छाँड़हु नाथ मृषा जल्पना ॥५॥
नीलकंज तनु सुंदर स्यामा। हृदय राखु लोचनाभिरामा ॥६॥

अर्थ—दशमुख रावण ने उससे सब मर्म कहा और उसने सुना, कालनेमि ने बार-बार अपना शिर पीटा ॥३॥ (और कहा कि) तुम्हारे देखते हुए जिसने नगर जला डाला, उसका मार्ग कौन रोक सकता है? अर्थात् कोई नहीं ॥४॥ (ऐसे बली से विरोध करना ठीक नहीं। अतः,) श्रीरघुनाथजी का भजन करके अपनी भलाई करो। हे नाथ! झूठा व्यर्थ का बकवाद छोड़िये ॥५॥ और, नेत्रों को आनन्द देनेवाले नील कमल के समान सुन्दर श्याम-शरीर को हृदय में रखिये ॥६॥

विशेष—(१) 'दससुख कहा मरम…'—'दससुख' का भाव यह है कि अभिमान सहित ऐसा कहा, मानों दसो मुखों से कहता हो; यथा—"दससुख सकल कथा तेहि आगे। कही सहित अभिमान अभागे॥" (आ० दो० २४)—यह मारीच से कहने का प्रसंग है। पुनः यह भी भाव है कि व्याकुलता से एक साथ ही दसो मुखों से बोल उठा; यथा—"दससुख बोलि उठा अकुलाना।" (दो० ४); 'मरम'—एक तो यह कि जो श्रीहनुमान्जी श्रीलक्ष्मणजी को अच्छा करने के लिये अमुक मार्ग से ओषधि लेने को जा रहे हैं। दूसरा यह कि तुम मुनि-वेष करके मंदिर आदि उपकरणों से उस भक्त-कपि को मोहित करो कि जिससे रात बीत जाय; क्योंकि वैद्य ने कहा है—"जियै कुँवर निसि मिलै मूलिका, कीन्ही बिनय सुषेन।" (गी० लं० ६); पुनः—"काज नसाइहि होत प्रभाता।" (दो० ५८)—यह भी कहा गया है।

'पुनि पुनि कालनेमि सिर धुना।'—बार-बार शिर पीटा कि कहाँ से यह मेरे प्राण लेने को आ गया। माया में निपुण होना ही मुझे प्राण-घातक हुआ, इस पश्चात्ताप से शिर पीटने लगा कि मेरे सिर पर काल आ गया। जिस प्रकार मारीच और सिंहिका के प्राण गये, उसी प्रकार मेरे भी प्राण जायँगे, इत्यादि समझकर उसने अत्यन्त दुःख से अपना शिर पीटा; यथा—"अति बिषाद पुनि-पुनि सिर धुनेऊँ।" (दो० ६१)—रावण।

(२) 'देखत तुम्हहि नगर…'—इसपर दो० ३४ चौ० ५ और दो० ५४ भी देखिये।

(३) 'भजि रघुपति…'—'रघु' संज्ञा जीव-मात्र की है, अतः 'रघुपति' का भाव यह है कि वे जीव मात्र के स्वामी एवं उपास्य हैं अतएव उन्हीं के भजन से आपका लोक और परलोक दोनों प्रकार का हित होगा। राज्य अचल रहेगा और अंत में मुक्ति भी मिलेगी। आगे भजन की विधि भी कहता है—

(४) 'नील कंज तनु…' अर्थात् वे नेत्रों और हृदय को आनंद देनेवाले हैं, अतः, उनके भजन-काल ही में परमानंद मिलेगा; यथा—"जेहि सुख लागि पुरारि…सोई सुख लवलेस…" (उ० दो० ८८)।

अहंकार ममता मद त्यागू। महा मोह-निसि सूतत जागू ॥७॥
काल ब्याल कर भच्छक जोई। सपनेहु समर कि जीतिय सोई ॥८॥

दोहा—सुनि दसकंठ रिसान अति, तेहि मन कीन्ह बिचार।
रामदूत कर मरउँ बरु, यह खल रत मल-भार ॥५५॥

अर्थ—अहंकार, ममता और मद को छोड़ो, महामोह रूपी रात्रि में सोने से जागो ॥७॥ जो काल-रूपी सर्प का खानेवाला है, उसे क्या स्वप्न में भी कोई युद्ध से जीत सकता है ? अर्थात् वे लड़कर जीते नहीं जा सकते, भक्ति ही से वश होते हैं ॥८॥ दशग्रीव रावण सुनकर बहुत ही क्रोधित हुआ, (तब) उसने मन में विचार किया कि यह दुष्ट तो पाप समूह में लिप्त है, (अतः, मरना ही है तो) भले ही राम-दूत के हाथों मरूँ ॥५५॥

विशेष—(१) 'अहंकार ममता मद···'—तुम्हें अहंकार है कि मैं त्रिलोक-विजयी हूँ। नर-वानर मेरे आगे क्या चीज हैं ? तुम्हें ममता है कि मुझे कुंभकर्ण के ऐसे भाई और मेघनाद के ऐसे पुत्र हैं और मद यह है कि मैंने कैलास उठा लिया, मेरे ऐसे भुजबल के सामने कोई प्राणी क्या कर सकता है ? इत्यादि इन सबका त्याग करो, तथा—"मुधा मान ममता मद बहहू।" (दो० १५); और "परि-हरि मान मोह मद, भजहु कोसलाधीस॥" (सुं० दो० २१)—भी देखिये।

'महा मोह-निसि···'– ईश्वर में मनुष्यत्व का भ्रम होना महा मोह है; यथा – "महा मोह उपजा उर तोरे।···" (उ० दो० ५८); "अवजानन्ति मां मूढ़ा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥" (गीता ९।११); देह-सम्बन्धी सुत-वित आदि में आसक्त रहना ही मोह रात्रि में सोना है और इनसे अनासक्त होकर श्रीरामजी का भजन करना जागना है; यथा—"मोह निसा सब सोवनि हारा। देखिय सपन अनेक प्रकारा॥ जानिय तबहि जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥ होइ बिबेक मोह भ्रम भागा। तब रघुबीर चरन अनुरागा॥" (अ० दो० ९२)—इसका तिलक देखिये, वही बातें यहाँ थोड़े में ही कही गई हैं।

(२) 'काल ब्याल कर···'—काल निर्दयता से सर्प की तरह सबको खा लेता है; यथा—"जाके डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई॥" (सुं० दो० २१); प्रभु उस काल के भी काल हैं; अतः, मनुष्य नहीं हैं। तब इनको कोई लड़कर कैसे जीत सकता है ?

(३) 'सुनि दसकंठ रिसान अति···'—उसने दसो मुखों से क्रोध की चेष्टा प्रकट की, उसके दसो मुख और बीसो नेत्र लाल हो गये। तब "क्रोध के परुष बचन बल" (अ० दो० ३८)—इस नियम से उसने गालियाँ भी दीं; यथा—"सुनत जरा दीन्हेसि बहु गारी॥ गुरु जिमि मूढ़ करसि मम बोधा।···" (आ० दो० २५); इत्यादि बातें यहाँ भी जना दीं।

(४) 'रामदूत कर मरउँ बरु···'—भाव यह है कि रावण ने यह भी कहा कि यदि मेरी आज्ञा नहीं मानेगा तो मैं अभी मारता हूँ, वहाँ से तो चाहे बच भी जाओ। इसी पर यह कहता है कि इस पापी के हाथों से क्यों मरूँ ? रामदूत के हाथ से ही मरना भला है। इसी तरह मारीच ने भी सोचा था; यथा—"उभय भाँति देखा निज मरना। तब ताकेसि···" राम-दूत के दर्शन भी पुण्य-प्रद और पाप-हरण करनेवाले हैं; यथा—"तात मोर अति पुन्य बहुता। देखेउँ नयन राम कर दूता॥" (सुं० दो० ६), "कपि तव दरस भयउँ निष्पापा।" (दो० ५६)।

अस कहि चला रचिसि मग माया। सर मंदिर बर बाग बनाया॥१॥
मारुतसुत देखा सुभ आश्रम। मुनिहि बूझि जल पियउँ जाइ श्रम॥२॥

अर्थ—ऐसा कहकर चला, मार्ग मे माया रची, सर पर सुन्दर मंदिर और बाग बनाये॥१॥ पवन-

पुत्र श्रीहनुमान्‌जी ने पवित्र एवं सुन्दर आश्रम देखा, तो मन में विचार किया कि मुनि से पूछकर जल पी लूँ, जिससे थकावट दूर हो ॥२॥

विशेष (१) 'अस कहि चला…' ऊपर विचार करना ही कहा गया है, परन्तु यहाँ के 'अस कहि' से स्पष्ट है कि इसने कहा भी कि अच्छा, जो आप नहीं मानते तो मैं चलता हूँ जैसा कहते हो, वही करूँगा। चला और श्रीहनुमान्‌जी से आगे पहुँचकर इसने माया भी रच ली। यह शीघ्रता दिखाने के लिये एक ही चरण में ग्रन्थकार 'कहना', 'चलना' और 'माया रचना' तीनों कहते हैं।

'सर-मंदिर वर बाग बनाया।'—सर प्राचीन था, जिसमें शापित मकरी भी रहती थी, यह तो कालनेमि को मालूम था ही और साथ ही उसे यह भी मालूम था कि वह जल में पैठनेवाले को पकड़ा करती है। वहीं पर इसने मुनि बनकर आसन जमाया और माया से मंदिर और बाग भी बनाये। मकरी माया की नहीं थी, नहीं तो मरते समय इसका भी राक्षसी तन छूटकर दिव्य तन होता, जैसा मारीच और कालनेमि का हुआ है। परन्तु इसका वैसा नहीं हुआ। पुनः इसने कालनेमि का भेद भी बतलाया है, इससे भी यह उसके पक्ष की नहीं प्रतीत होती। 'वर' शब्द कहकर उसे ही 'सुभ आश्रम' भी कहा गया है; यथा—"विश्वामित्र महामुनि ज्ञानी। बसहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी॥" (बा० दो० २०५); "राम दीख मुनि बास सुहावन। सुंदर गिरि कानन जल पावन॥...सुचि सुंदर आश्रम निरखि, हरषे राजिव नयन।" (अ० दो० ११४); यही सब रचनाएँ कीं।

(२) 'मारुतसुत देखा...'—प्रभु की इच्छा है, इसी से इन्हें प्यास और श्रम हो आये। देखिये, पहले इन्होंने ही कहा है—"राम-काज कीन्हे बिना मोहिं कहाँ बिश्राम।" (सुं० दो० १); वहाँ सबको प्यास लगी थी, पर इन्हें नहीं लगी और यहाँ थोड़ी ही देर में प्यास भी लग आई, पहले का भी इनका अपना बल-भाषण और साथ ही प्रणाम करना भूल जाना, यह सब लीला-विधान के लिये प्रभु की रचना है। कालनेमि और मकरी को शाप से मुक्त करना है। पुनः आगे भी श्रीभरतजी के यहाँ इन्हें बहुत कुछ लाभ कराना है।

(३) 'मुनिहि बूझि'—रात का समय था, इससे इन्होंने वहाँ तालाब को नहीं देखा, तब विचारा कि यहाँ कोई मुनि रहते हैं, तालाब आदि जलाशय भी अवश्य ही होंगे। अतः, उनसे पूछकर जल पी लूँ।

राच्छस - कपट बेष तहँ सोहा। मायापति - दूतहि चह मोहा॥३॥
जाइ पवनसुत नायउ माथा। लाग सो कहइ राम-गुन-गाथा॥४॥
होत महारन रावन - रामहिं। जितिहहिं राम न संसय या महिं॥५॥
इहाँ भये मैं देखउँ भाई। ज्ञान-दृष्टि - बल मोहि अधिकाई॥६॥

अर्थ—कालनेमि राक्षस वहाँ बनावटी मुनि-वेष से शोभित होता था। यह (अपनी माया से) माया के स्वामी श्रीरामजी के दूत को मोहित करना चाहता था॥३॥ पवनपुत्र ने जाकर सिर नवाया, वह श्रीरामजी के गुणों की कथा कहने लगा॥४॥ कि रावण और श्रीरामजी से घोर युद्ध हो रहा है, इसमें संदेह नहीं है कि श्रीरामजी ही जीतेंगे॥५॥ भाई! मैं यहाँ ही से देख रहा हूँ, (क्योंकि) मुझे ज्ञान-दृष्टि का अधिक बल है॥६॥

विशेष—(१) 'मायापति-दूतहि चह मोहा।'—मायापति का दूत कहते हैं, क्योंकि वह इनको मोहने की रचना करने से स्वयं मारा जायगा, यथा—"मायापति-सेवक सन माया। करइ त उलटि परइ सुरराया॥" (अ० दो० २१७), 'मायापति' अपने आश्रित की रक्षा करते हैं, उसपर और की माया नहीं लगने देते, यथा—"सीम कि चापि सकइ कोउ तासू। बड रखवार रमापति जासू॥" (बा० दो० १२५), 'चह'—चाहता है, पर सफल नहीं होगा।

(२) 'जाइ पवनसुत नायउ माथा।'—श्रीहनुमान्‌जी ने साधु-वेष देखकर प्रणाम किया; यथा—"लखि सुवेष जग वंचक जेऊ। वेष-प्रताप पूजियहि तेऊ॥" (बा० दो० ६), 'लाग सो कहइ .'—वह अपने वेष की महत्ता दृढ करने का और भक्त-कपि को 'राम-गुण-गाथा' मे मोहित करके रात-भर रोक रखने का उपाय करने लगा। श्रीहनुमान्‌जी राम-गुण के रसिक हैं; यथा—"जयति रामायण-श्रवण-सजात-रोमाच-लोचन सजल-सिथिल बानी।" (वि० २९); इसी से विना इनके पूछे ही स्वयं इन्हें राम-गुण सुनाने लगा कि कहीं प्रणाम करके चले न जायँ; यथा—"राम काज कीन्हे विना, मोहिं कहाँ विश्राम।" (सु० दो० १)।

(३) 'होत महारन रावन-रामहिं।'—उपर्युक्त राम-गुण-गान यहाँ कहते हैं कि वह युद्धारंभ से ही कथा कहने लगा। 'जितिहहिं राम न ..'—इसका अभिप्राय यह है कि तुम निश्चिंत होकर यहीं सो रहो, मैं तो सब जानता हूँ, इससे भविष्य की बात भी जानता हूँ कि श्रीरामजी ही जीतेंगे। श्रीहनुमान्‌जी राम-गुण सुनकर प्यास भूल गये थे। परन्तु उसने साथ ही, अपनी प्रशसा प्रारंभ की, और यह सत-स्वभाव के विरुद्ध है, यथा—"निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।" (आ० दो० ४५), अत, जब इसने 'मैं', 'मोहि' कहा, तब इनका चित्त हट गया।

माँगा जल तेहिं दीन्ह कमंडल। कह कपि नहि अघाउँ थोरे जल॥७॥
सर मज्जन करि आतुर आवहु। दिच्छा देउँ ज्ञान जेहि पावहु॥८॥

दोहा—सर पैठत कपि पद गहा, मकरी अति अकुलान।
मारी सो धरि दिब्य तनु, चली गगन चढ़ि जान॥५६॥

अर्थ—उससे इन्होंने जल माँगा, तब उसने कमंडल दे दिया। श्रीहनुमान्‌जी ने कहा कि मैं थोड़े जल से नहीं अघाऊँगा (न तृप्त होऊँगा)॥७॥ तब उसने कहा कि तालाब मे स्नान करके शीघ्र आ जाओ, मैं तुम्हें दीक्षा दूँ, जिससे तुमको ज्ञान हो जाय॥८॥ तालाब मे प्रवेश करते ही एक मकरी (मगरी) ने अकुलाकर (अति शीघ्रता से) कपि श्रीहनुमान्‌जी का पैर पकडा, उन्होंने उसे मार डाला। (तब) वह दिव्य देह धरकर विमान मे चढकर आकाश को चली॥५६॥

विशेष—(१) 'नहिं अघाउँ थोरे जल'—इतने थोडे जल से मेरी प्यास नहीं बुझेगी। अत, मुझे कोई जलाशय, तालाब आदि दिखलाइये। तब उसने तालाब बतला दिया, किन्तु सोचा कि कहीं जल पीकर ये उधर से ही चलें न जायँ, इसलिये स्नान कर आने और ज्ञान दीक्षा देने का लोभ सुनाकर लौट आने को कहा कि जिससे बातों में फँसाकर रात बिता दूँ। 'आतुर आवहु'—इससे कोई बड़ी दुर्लभ ब्रह्म-विद्या देने का लोभ ध्वनित किया। 'ज्ञान दृष्टि बल मोहिं अधिकाई।' पहले कह ही चुका है। भाव यह कि वैसा ही त्रिकाल का ज्ञान मैं तुम्हें भी दूँगा।

(२) 'सर पैठत कपि···'—'अकुलान'—श्रीहनुमान्‌जी का कहीं भी विघ्न से घबड़ाना नहीं पाया जाता। इससे अकुलाने का अर्थ मकरी में ही लगाना होगा। वह खाने के लिये अकुलाकर (आतुरता से) दौड़ी।

(३) 'मारी'—उसका मुँह पकड़कर फाड़ डाला; यथा—"मकरी ज्यों पकरि कै बदन बिदारिये।" (हनु० बाहुक); 'दिव्य तनु' अर्थात् देवताओं का-सा दिव्य शरीर (अप्सरा) धारणकर वह आकाश को चली गई।

कपि तव दरस भइउँ निष्पापा। मिटा तात मुनिवर कर सापा ॥१॥
मुनि न होइ यह निसिचर घोरा। मानहु सत्य बचन कपि मोरा ॥२॥
अस कहि गई अपछरा जबहीं। निसिचर निकट गयउ कपि तबहीं ॥३॥
कह कपि मुनि गुरु-दछिना लेहू। पाछे हमहि मंत्र तुम्ह देहू ॥४॥

अर्थ—हे कपि! आपके दर्शनों से मैं निष्पाप हुई, हे तात! मुनि-श्रेष्ठ का शाप मिट गया ॥१॥ हे कपि! यह मुनि नहीं है, घोर निशाचर है, आप मेरा वचन सत्य मानें ॥२॥ ऐसा कहकर ज्योंही वह अप्सरा गई, त्यों ही कपि निशाचर के समीप गये ॥३॥ (और उससे बोले कि) हे मुनि! पहले गुरु-दक्षिणा ले लीजिये, तब पीछे आप हमें मंत्र-दीक्षा दीजियेगा ॥४॥

विशेष—(१) 'कपि तव दरस ···'—संतों के दर्शनों से पाप दूर होते हैं; यथा—"संत दरस जिमि पातक टरई।" (कि० दो० १६), मुनिवर ने शापानुग्रह करते हुए कहा था कि राम-दूत के दर्शनों से तू निष्पाप होगी, फिर तुझे अपना दिव्य (अप्सरा) रूप मिल जायगा। वह चरितार्थ होने पर इसने कहा कि अब मुनिवर का शाप मिट गया। मुनिवर ने किसी अवज्ञा पर शाप दिया होगा, उसे यहाँ नहीं कहा गया।

(२) 'मानहुँ सत्य बचन कपि मोरा'—प्रायः लोग असंस्कृत स्त्रियों के वचन पर विश्वास नहीं करते; यथा—"गयउँ नारि बिस्वास।" (अ० दो० २१)। इसपर कहती है कि 'मोरा' अर्थात् मैं दिव्य तन से कहती हूँ, देवी-देवता झूठ नहीं बोलते। श्रीहनुमान्‌जी ने भी विश्वास कर लिया; क्योंकि पहले तो उस मुनि की बातों पर ही इन्हें उसके मुनि होने में सन्देह था, फिर इसने सामने ही दिव्य-तन पाया और इनका उपकार मानती हुई कृतज्ञता के रूप में इनसे सत्य वचन कहा।

(३) 'निसिचर निकट गयउ···'—अप्सरा की बातों से प्रतीति हो गई, इसीसे उसे अब निशाचर ही कहते हैं।

(४) 'कह कपि मुनि···'—उसकी बातों के अनुकूल ही श्रीहनुमान्‌जी ने कहा है। जब इन्होंने जल माँगा, तब उसने अपने कमंडल का जल देना चाहा। जब इन्होंने नहीं लिया तब उसने समझा कि वैष्णव साधु अपने ही कमंडल का जल शुद्ध मानते हैं, इससे देह-भेद की दृष्टि से इन्होंने नहीं लिया, तब उसने कहा कि तुम्हें अभी ब्रह्म-ज्ञान नहीं है। वह शुष्क ज्ञानी मुनि बना था, जिसमें साधक वाक्य-ज्ञान मात्र से जीवन्मुक्त होकर अपनेको ब्रह्म मानने लगते हैं और फिर किसी में देह-भेद नहीं रखते; यथा—'जे ब्रह्म मय देखत रहे।' उस ज्ञान-दीक्षा में मंत्र-दीक्षा के पश्चात् गुरु-शिष्य भाव नहीं रह जाता।

इसलिये गुरु-दक्षिणा पहले ही देना योग्य है। इस दृष्टि से श्रीहनुमान्‌जी उसे पहले ही गुरु-दक्षिणा देने को कहते हैं। वह इन्हें जीवन्मुक्त बनाने को दीक्षा देता, ये उसे पहले ही मुक्त कर देते हैं, यह योग्य दक्षिणा है, वह भी पीछे इन्हें 'राम राम' कहकर महामन्त्रोपदेश करेगा ही, जिससे सभी प्रकार की मुक्ति हो सकती है।

सिर लंगूर लपेटि पछारा। निज तनु प्रगटेसि मरती बारा ॥५॥
राम राम कहि छाँड़ेसि प्राना। सुनि मन हरषि चलेउ हनुमाना ॥६॥

अर्थ—उसका शिर पूँछ में लपेटकर उसको पछाड़ (पटक) दिया। मरते समय उसने अपना (राक्षसी) शरीर प्रकट कर दिया ॥५॥ 'राम-राम' कहकर उसने प्राण छोड़े, यह सुनकर श्रीहनुमान्‌जी मन में प्रसन्न होकर चल दिये ॥६॥

विशेष—(१) 'सिर लंगूर······'—यही गुरु-दक्षिणा दी। मरते समय जब वह व्याकुल हो गया, तब उसकी माया छूट गई और उसका असली रूप प्रकट हो गया। इससे वह छल-रहित हो गया। छल रहता तो मुक्ति नहीं होती। यह भी उत्तम संयोग बन गया।

(२) 'राम-राम कहि···'—अंत समय में राम नाम कहने से अवश्य मुक्ति होती है; यथा—"जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमौ मुकुति होइ श्रुति गावा ॥" (आ॰ दो॰ ३०); इसीसे यहाँ इसकी मुक्ति स्पष्ट नहीं लिखी गई। मारीच ने मन-ही-मन राम नाम का स्मरण किया था। इससे वहाँ उसका मुक्त होना स्पष्ट कहा गया है, नहीं तो लोगों को संदेह होता कि मुक्त हुआ या नहीं। मारीच की मुक्ति पर देवगण प्रसन्न हुए और यहाँ इसकी मुक्ति पर श्रीहनुमान्‌जी।

'सुनि मन हरषि ·····'—अंत में उसके मुख से राम नाम सुना। इसपर श्रीहनुमान्‌जी प्रसन्न हो गये। पुनः निशाचरों को और उनमें भी राम-कार्य बाधकों को मारना आपका अभीष्ट ही है, उसकी सिद्धि पर हर्षित हुए कि विघ्न निवृत्त हुआ, अब राम-कार्य के लिये चलें।

देखा सैल न औषध चीन्हा। सहसा कपि उपारि गिरि लीन्हा ॥७॥
गहि गिरि निसि नभ धावत भयऊ। अवधपुरी ऊपर कपि गयऊ ॥८॥

दोहा—देखा भरत बिसाल अति, निसिचर मन अनुमानि।
बिनु फर सायक मारेउ, चाप श्रवन लगि तानि ॥५७॥

अर्थ—जाकर पर्वत को देखा, पर ओषधि नहीं पहचान सके, तब श्रीहनुमान्‌जी ने एकदम पर्वत को ही उखाड़ लिया ॥७॥ पर्वत लेकर रात में ही आकाश में दौड़ते हुए श्रीहनुमान्‌जी श्रीअवधपुरी के ऊपर गये ॥८॥ श्रीभरतजी ने अत्यन्त विशाल स्वरूप आकाश में देखा, मन में यह अनुमान कर कि यह कोई बड़ा विशाल निशाचर है, उन्होंने कान तक धनुष तानकर बिना फर का एक बाण मारा ॥५७॥

विशेष—(१) 'देखा सैल······'—कालनेमि को मारकर बहुत वेग से गये और शीघ्र ही पर्वत को देखा। परन्तु इन्होंने ओषधियों को नहीं पहचाना। इसका कारण वाल्मी॰ ६।७४।५६-६५ में

कहा गया है—"सब प्रकाशमान ओषधियों से यह पर्वत प्रकाशित था, अग्नि के समान प्रकाशित उस पर्वत को देखकर श्रीहनुमान्‌जी विस्मित हुए। यह जानकर कि ये हमें लेने आये हैं, वे दिव्य ओषधियाँ अदृश्य हो गईं, तब श्रीहनुमान्‌जी ने क्रोध किया और उस पर्वत को फटकारकर अपने बाहु-बल से उसे उखाड़ लिया और नभ-मार्ग से द्वितीय सूर्य की नाईं चले।" तथा—"कालनेमि दलि वेगि बिलोक्यो द्रोनाचल जिय जानि। देखी दिव्य ओषधी जहँ-तहँ जरी न परी पहिचानि॥ लियो उठाय कुधर कंदुक ज्यों वेग न जाइ बखानि। ज्यों धायो गजराज उधारन सपदि सुदरसन पानि॥" (गी० लं० ९); इसमें दिव्य ओषधियों को जहाँ-तहाँ देखना (ढूँढ़ना) कहा गया है, पर वे तो इन्हें देख अदृश्य हो गईं तो कैसे पहचानी जायँ? क० लं० ५५ से यह भी जाना जाता है कि उसपर भट रखवाले थे, श्रीहनुमान्‌जी उन्हें मारकर ही पहाड़ उखाड़ सके; यथा—"रखवारे मारे मारे भूरि भट दलि कै।"

(२) 'अवधपुरी ऊपर कपि गयऊ।'—अवधपुरी जाने का हेतु हनुमन्नाटक आदि से जाना जाता है कि श्रीलक्ष्मणजी के घायल होने पर शोकातुर होकर श्रीरामजी ने कहा कि श्रीहनुमान्‌जी के रहते हुए भी तुम (लक्ष्मण) पर आपत्ति आई। यदि भाई भरत यहाँ होते तो वे अवश्य तुम्हारी रक्षा करते। इसपर श्रीहनुमान्‌जी के मन में गर्व हुआ कि न जानें श्रीभरतजी का बाहुबल कैसा है? तब सर्वज्ञ श्रीरामजी ने चलते समय यह भी कहा कि अवधपुरी का भी समाचार लेते आना; यथा—"वेग बल साहस सराहत कृपानिधान, भरत की कुसल अचल ल्यायो चलि कै॥" (क० लं० ५५); वहाँ जाने से इन्हें अपने बल का गर्व दूर हो गया। भगवान् अपने भक्त के हृदय में गर्व आदि विकार नहीं आने देते; यथा—"उर अंकुरेउ गर्व-तरु भारी॥ वेगि सो मैं डारिहउँ उखारी।" (बा० दो० १२८)।

(३) 'देखा भरत बिसाल अति…'—'बिसाल अति' का भाव यह है कि श्रीहनुमान्‌जी का सुमेरु-गिरि के समान कान्तिमान और विशाल शरीर है और वे प्रकाशित विशाल द्रोणगिरि को भी लिये हुए हैं, इसी से रात में भी दिखलाई पड़े। वेग से जा रहे थे। अतः, शब्द सुनकर भी श्रीभरतजी ने उधर देखा।

'देखा भरत'—आधी रात में श्रीभरतजी ने क्यों और किस तरह देखा? पुनः श्रीहनुमान्‌जी भी नंदिग्राम से श्रीअवधपुरी को रात में क्यों गये? इसका कारण भी हनुमन्नाटक आदि में कहा गया है कि उसी रात को श्रीसुमित्राजी ने स्वप्न देखा कि मेरी बाईं भुजा को सर्प निगल रहा है। तुरत उन्होंने यह बात श्रीकौशल्याजी से कही। पुनः गुरु-वसिष्ठजी से भी कहा गया, तब उन्होंने शान्ति के लिये यज्ञ करना निश्चित कर श्रीभरतजी को बुलाकर रक्षा करने के लिये बैठाया। ये धनुष-बाण लेकर पास में बैठ गये, तब वे यज्ञ करने लगे। इसी समय में उक्त रीति से श्रीहनुमान्‌जी दिखलाई पड़े। तब इन्हें विघ्न करनेवाला जानकर उन्होंने बिना फर का ही बाण चलाया कि हिंसा भी न हो और यहाँ विघ्न भी नहीं हो। अभी निशाचर का अनुमान मात्र था, इससे भी सफल बाण नहीं चलाया। अथवा, श्रीरामजी की प्रेरणा से भी बिना फर का ही बाण छोड़ा कि इसी से श्रीहनुमान्‌जी को श्रीभरतजी के बल की परीक्षा भी अच्छी तरह मिल जायगी। आगे दो० ५८ चौ० ५-६ भी देखिये।

परेउ मुरुछि महि लागत सायक। सुमिरत राम राम रघुनायक॥१॥
सुनि प्रिय बचन भरत तब धाये। कपि समीप अति आतुर आये॥२॥
बिकल बिलोकि कीस उर लावा। जागत नहिं बहु भाँति जगावा॥३॥
मुख मलीन मन भये दुखारी। कहत बचन भरि लोचन बारी॥४॥

शब्दार्थ—जागना = चैतन्य होना। जगाना = होश में लाना।

अर्थ—बाण लगते ही श्रीहनुमान्‌जी मूर्च्छित होकर 'राम राम, रघुनायक' का स्मरण करते हुए पृथिवी पर गिर पड़े ॥१॥ ये प्रिय वचन सुनकर श्रीभरतजी दौड़े और बहुत दुखी होकर बड़ी शीघ्रता से श्रीहनुमान्‌जी के समीप आये ॥२॥ वानर को व्याकुल देखकर उन्होंने हृदय से लगा लिया और बहुत तरह से उसे जगा रहे हैं, पर वह होश में नहीं आता ॥३॥ तब श्रीभरतजी मन में दुखी हो गये, उनका मुँह उदास हो गया, आँखों में वे आँसू भरकर ये वचन बोले ॥४॥

विशेष—(१) 'परेउ मुरुछि···'—यहाँ श्रीभरतजी के बाण का प्रताप और उनका बाहु बल प्रकट किया गया। बिना फर के बाण से मूर्च्छित होने में बाण का प्रताप है; यथा—"बिनु फर बान राम तेहि मारा।" (बा० दो० २०१); "बान प्रताप जानि मारीचा।" (दो० ३४), और श्रीहनुमान्‌जी ऐसे वीर भी थोथे बाण से गिर गये, यही बाहुबल है। 'सुमिरत राम राम रघुनायक' इससे श्रीभरतजी ने इन्हें सच्चा राम-भक्त जाना, क्योंकि व्याकुलता में सहसा वे ही शब्द निकलते हैं जो जिसके स्वाभाविक होते हैं।

(२) 'सुनि प्रिय बचन···'—अपने बड़े भाई का भक्त जानकर और उनके 'राम राम रघुनायक' इस नाम कीर्तन रूप प्रिय वचन को सुनकर श्रीभरतजी उठकर दौड़े। 'प्रिय बचन'; यथा—"राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जल जात।" (उ० दो० १), अर्थात् इसी नाम को श्रीभरतजी स्वयं भी जपते हैं। 'अति आतुर' के यहाँ 'अत्यन्त शीघ्र' और 'व्याकुल होकर' दोनों अर्थ हैं।

शंका—जब श्रीहनुमान्‌जी गिरे, तब पर्वत कहाँ रहा?

समाधान—पवनदेव ने अपने चक्र से उसे घुमाकर रक्खा था कि उनके मूर्च्छित पुत्र पर उसका दबाव न पड़े; यथा—"देख्यो जात जानि रचनीचर बिनु फर सर हयो हियो है। पर्यो कहि राम, पवन राख्यो गिरि पुर तेहि तेज पियो है॥" (गी० लं० १०); अर्थात् बाण ने श्रीहनुमान्‌जी का पूरा तेज पी लिया, वे जब राम-राम कहकर गिरे, तब पवन ने गिरि को रक्खा।

(३) 'बिकल बिलोकि···'—श्रीभरतजी ने इन्हें हृदय में लगाकर राम-भक्त में अपना प्रेम प्रकट किया। 'बहु भाँति जगावा'—मुख पर जल के छींटे दिये, ओषधि सुँघाई, ऐसे ही और भी उपाय किये जो वैद्यक शास्त्र में कहे गये हैं।

(४) 'मुख मलीन मन···'—भागवतापराध मुझसे हो गया, यह समझकर श्रीभरतजी के हृदय में विषाद हुआ, उसीसे उनके मुख पर भी उदासी छा गई। इसीसे आगे दीन वचन भी कहे हैं; यथा—"हृदय दाहु अति बदन मलीना। कहकर जोरि बचन अति दीना॥" (अ० दो० ६६); 'मुख मलीन' से तन, 'मन भये दुखारी' से मन और 'कहत बचन···' से वचन का दुःख प्रकट हुआ।

जेहि बिधि राम बिमुख मोहि कीन्हा। तेहि पुनि यह दारुन दुख दीन्हा॥५॥
जौं मोरे मन बच अरु काया। प्रीति राम-पद-कमल अमाया॥६॥
तौ कपि होउ बिगत श्रम-सूला। जौं मो पर रघुपति अनुकूला॥७॥
सुनत बचन उठि बैठ कपीसा। कहि जय जयति कोसलाधीसा॥८॥

सोरठा—**लीन्ह कपिहि उर लाइ, पुलकित तनु लोचन सजल।**
प्रीति न हृदय समाइ, सुमिरि राम रघुकुल-तिलक॥५८॥

अर्थ—जिस विधाता ने मुझे राम-विमुख किया, उसीने फिर यह मुझे कठिन दुःख दिया ॥५॥ यदि मन, वचन और शरीर से राम-चरण-कमल में मेरा निष्कपट प्रेम हो ॥६॥ और जो श्रीरामजी मुझपर प्रसन्न हों तो हे वानर ! तुम श्रम (मूर्च्छा) और पीड़ा से रहित हो जाओ ॥७॥ वचन सुनते ही कपिराज श्रीहनुमान्जी 'कोशलपति श्रीरामजी की जय हो, जय हो' ऐसा कहते हुए उठ बैठे ॥८॥ श्रीभरतजी ने कपि को हृदय से लगा लिया, उनका शरीर पुलकित हो गया और नेत्रों मे जल भर आया। रघुकुल शिरोमणि श्रीरामजी का स्मरण करके उनके हृदय में प्रीति नहीं समाती ॥५८॥

विशेष-(१) 'जेहि बिधि रामबिमुख···'; यथा—"बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा। नीच बीच जननी मिस पारा ॥" (अ० दो० २६०), अर्थात् सरस्वती के द्वारा ब्रह्मा का कर्त्तव्य तो मुझे राम-विमुख करने का था ही, परन्तु स्वामी ने अपनी भलाई से मुझे बचा लिया, फिर भी वियोग तो है ही। 'पुनि यह दारुन दुख'—भागवत-वध रूपी भारी पाप लगा।

(२) 'जौ मोरे मन बच···'—'जौ' का भाव यह है कि भक्त लोग अपनी निष्ठा आदि के अभिमानी नहीं होते, इसीसे ये यह संदिग्ध वचन कहते हैं।

यह शपथ करने की रीति भी है ; यथा—"जौं तेहि आजु बधे बिनु आवउँ। तौ रघुपति सेवक न कहावउँ ॥" (दो० ७१)—श्रीलक्ष्मणजी। "जौं मन बच क्रम उर मम माहीं। तजि रघुबीर आन गति नाहीं ॥ तौ कृसानु···" (दो० १०७)—श्रीसीताजी। वैसे ही यहाँ श्रीभरतजी ने भी दो शपथें कीं ; यथा "जौ मोरे मन ···"; "जौ मोपर रघुपति अनुकूला।" एक में अपनी निष्ठा को रक्खा और दूसरी में श्रीरामजी की कृपा को। 'तौ कपि होउ बिगतश्रम-सूला।' यह चरण दीपदेहली है, दोनों शपथें इसी के प्रति की गई हैं।

इन्हें अपनी निष्ठा पर विश्वास है जिसकी साक्षी अयोध्याकांड में त्रिवेणी आदि ने दी है। स्वामी की अनुकूलता पर भी हृदय मे दृढ़ता है ; यथा—"जानेउँ स्वामि सहज अनुकूला।" (अ० दो० २११); इसी से इन दो बातों को कपि के जीवनोद्देश्य मे शपथ पर रक्खा कि जिससे वे अवश्य स्वस्थ हो जायँ।

(३) 'सुनत बचन उठि···'—यहाँ 'सुनत' शब्द से कहा जाता है कि श्रीहनुमान्जी ने ऊपर से ही मूर्च्छा की चेष्टा की थी, किन्तु परीक्षा के लिये चुप थे, जब इनकी शपथ से निष्ठा देखी, तब उठ बैठे। अन्यथा यदि मूर्च्छा थी, तो सुना कैसे ? इस अर्थ पर न तो श्रीभरतजी के बाण का प्रभाव रह जाता है और न श्रीभरतजी को शपथ का ही कुछ मूल्य रहता है। यथार्थ अर्थ यह है कि श्रीहनुमान्जी पहले तो यथार्थ मूर्च्छित थे ही। जैसे ही श्रीभरतजी ने शपथ द्वारा जिलाने का मन मे संकल्प किया कि राम-कृपा से चैतन्यता आने लगी। फिर जो इन्होंने वचन से कहा, वह सुनते-सुनते श्रीहनुमानजी उठ बैठे ; यथा—"जाइ भरत भरि अंक भेंटि निज जीवन-दान दियो है।" (गी० लं० १०); अर्थात् श्रीभरतजी ने प्रार्थना की कि मेरी आयु इसको दी जाय। परन्तु यहाँ उक्त दो शपथ द्वारा जीवन देना कहा गया है।

(४) 'लीन्ह कपिहि उर लाइ···'—पहले कहा गया था 'बिकल बिलोकि कीस उर लावा।' बीच मे मूर्च्छा छुड़ाने का उपाय करने लगे, तब उन्हें लिटा दिया था। अब जागकर उठ बैठे तब फिर आनन्द से हृदय लगाया। तनु पुलकित होना और नेत्रों का सजल होना ये प्रीति की दशाएँ हैं। 'प्रीति न हृदय समाइ' के दो कारण हैं। एक श्रीहनुमान्जी का स्वस्थ होना और दूसरा रघुकुल शिरोमणि श्रीरामजी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना कि वे बड़े कृपालु हैं, उन्होंने मुझे भारी पाप से बचाया, नहीं तो मेरे द्वारा कुल ही कलंकित होता, पर वे तो 'रघुकुल तिलक' हैं। अतः, इस कुल में कलंक कैसे आने दें ?

तात कुसल कहु सुख-निधान की। सहित अनुज अरु मातु जानकी ॥१॥
कपि सब चरित समास बखाने। भये दुखी मन महँ पछिताने ॥२॥
अहह दैव मैं कत जग जायउँ। प्रभु के एकहु काज न आयउँ ॥३॥
जानि कुअवसर मन धरि धीरा। पुनि कपि सन बोले बलबीरा ॥४॥

शब्दार्थ—समास = संक्षेप, थोड़े में। कत = क्यों। बलवीर = जो बल में औरों से बढ़कर हो।

अर्थ—हे तात ! छोटे भाई और माता श्रीजानकीजी के साथ सुखसागर श्रीरामजी की कुशल कहो ॥१॥ (शीघ्रता के कारण) कपि ने सम्पूर्ण चरित संक्षेप में ही कहा, (सुनकर) वे दुखी हुए और मन में पछताने लगे ॥२॥ हा दैव ! मैं जगत् में (व्यर्थ ही) क्यों पैदा हुआ, जो प्रभु के एक (किसी) भी काम में नहीं आया ॥३॥ फिर कुसमय जानकर मन में धैर्य धरकर बलबीर श्रीभरतजी श्रीहनुमान्‌जी से फिर बोले ॥४॥

विशेष—(१) 'तात कुसल कहु सुख-निधान की।'—जब उन्हें सुख-निधान कहते हैं, तब कुशल पूछना कैसा ? पर यह प्रीति की रीति है ; यथा—"जद्यपि अवध सदैव सुहावनि। राम पुरी मंगल मय पावनि ॥ तदपि प्रीति कै रीति सुहाई। मंगल रचना रची बनाई ॥" (बा० दो० २९५) ।

(२) 'सब चरित'—श्रीसीताजी के हरण से लेकर इस शक्ति-प्रसंग तक। 'भये दुखी'—क्योंकि श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी की कुशल पूछी थी, उन्हीं पर विपत्ति है और इसी कारण श्रीरामजी भी दुखी ही हैं। यहाँ दुखी होने में श्रीभरतजी उपलक्षण-मात्र हैं, साथ में श्रीकौशल्याजी और श्रीसुमित्राजी आदि माताएँ भी हैं। गी० लं० १० से १४ तक देखिये। जिसके द्वारा यह दिखाया गया है कि जैसे कृष्ण भगवान् ने प्रिय भक्त उद्धवजी को गोपिकाओं के पास प्रेम की दीक्षा लेने के लिये ज्ञानोपदेश के मिस भेजा है। वैसे ही यहाँ श्रीरामजी ने इन्हें प्रेम की पराकाष्ठा प्राप्त कराने के लिये प्रेरणा करके श्रीअयोध्या भेजा है।

(३) 'प्रभु के एकहु···'—प्रभु तो स्वयं समर्थ हैं, उन्हें सहायक की अपेक्षा नहीं है, पर सेवक का काम है सेवा करना ; यथा—"सेवक सो जो करइ सेवकाई।" (अ० दो० २७०) ; स्वामी की सेवा से सेवक कृतार्थ होता है, अन्यथा उसका जन्म ही व्यर्थ है ; यथा—"कुरुष्व मामनुचरं वैधर्म्यं नेह विद्यते। कृतार्थोऽहं भविष्यामि तव चार्थः प्रकल्पते ॥" (वाल्मी० २।३१।१४) ; "स्वामि संकट हेतु हौं, जड़ जननि जायो जाय। समय पाइ कहाइ सेवक घट्यो तौ न सहाय ॥" (गी० लं० १४) ; इसपर श्रीभरतजी पछता रहे हैं और अधीर हो गये।

(४) 'जानि कुअवसर मन···'—'कुअवसर'—उधर श्रीलक्ष्मणजी घायल पड़े हैं, रात ही में ओषधि जानी चाहिये। मैं शोकमग्न रहूँगा, तो सभी शोक ही करेंगे और फिर श्रीलक्ष्मणजी के प्राण चले जायँगे। अतएव यह शोक का समय नहीं , किन्तु कर्त्तव्य करने का है ; यथा—"तात हृदय धीरज धरहु, करहु जो अवसर आजु।" (अ० दो० १६१) ; "धीरज धरेउ कुअवसर जानी। सहज सुहृद बोली मृदुबानी ॥" (अ० दो० ७३) ।

'पुनि कपि सन बोले बलबीरा।'—'पुनि' अर्थात् धैर्य धारण कर अथवा, एकबार पहले बोल चुके हैं, यथा—"तात कुसल कहु . " अब फिर बोले। 'बलबीरा'—का भाव आगे कहेंगे। यह अन्य वीर के सामर्थ्य से बाहर है कि बाण पर शैल समेत श्रीहनुमान्‌जी को क्षण-भर में लंका पहुँचा दे।

तात गहरु होइहि तोहि जाता। काज नसाइहि होत प्रभाता ॥५॥
चढ़ु मम सायक सैल समेता। पठवउँ तोहि जहँ कृपानिकेता ॥६॥
सुनि कपि-मन उपजा अभिमाना। मोरे भार चलिहि किमि बाना ॥७॥
राम-प्रभाव बिचारि बहोरी। बंदि चरन कह कपि कर जोरी ॥८॥

शब्दार्थ—गहरु (गहर) = देर, विलंब।

अर्थ—हे तात ! तुमको जाने में देर होगी और सवेरा हो जाने पर काम बिगड़ जायगा ॥५॥ पर्वत सहित मेरे बाण पर चढ़ जाओ, मैं तुमको वहाँ पहुँचाता हूँ, जहाँ कृपा के स्थान श्रीरामजी हैं ॥६॥ श्रीभरतजी के वचन सुनकर श्रीहनुमान्‌जी के मन में अभिमान उत्पन्न हुआ कि मेरे बोझ से बाण कैसे चलेगा ? ॥७॥ फिर श्रीरामजी का प्रभाव विचार कर वे हाथ जोड़कर और चरणों की वंदना करके बोले ॥८॥

विशेष—(ता गहरु होइहि...'—श्रीहनुमान्‌जी ने यह भी कहा था कि प्रभात हो जाने पर फिर यह दवा काम न देगी—ऐसा वैद्य ने कहा है ; यथा—"समाचार कहि गहरु भो तेहि ताप तयो है।" (गी॰ लं॰ १८) ; इसपर भरतजी कहते हैं—'चढ़ मम सायक...'। 'कृपानिकेता' का भाव यह है कि प्रभु ने मुझपर बड़ी कृपा की, तुम्हारे द्वारा समाचार दिया और मुझे भागवतापराध से बचाया। पुनः यह किंचित् सेवा भी इसी बहाने मुझे दी।

(२) 'सुनि कपि-मन...'—संजीवनी लेने के लिये चले, तब बलाबखान करने पर अभिमान उपजा था। वह कई विघ्नों से और एक ही बाण से मूर्च्छित होने पर चूर्ण हो गया। यहाँ वह फिर उपजा तब राम-प्रभाव के स्मरण से दूर हुआ।

(३) 'राम-प्रभाव बिचारि...'; यथा—"ता कहँ प्रभु कछु अगम नहिं, जा पर तुम्ह अनुकूल। तव प्रभाव बड़वानलहि, जारि सकइ खलु तूल ॥" (सुं॰ दो॰ ३३) ; और श्रीभरतजी पर श्रीरामजी की अनुकूलता अभी शपथ द्वारा देख चुके हैं और उसी से इनकी मूर्च्छा भी दूर हुई। अतएव निश्चय किया कि ये अवश्य मुझे पर्वत के साथ बाण पर वहाँ भेज सकते हैं।

गी॰ लं॰ ११ में गर्व होने पर तीर पर चढ़ना भी कहा है ; यथा—"कुधर सहित चढ़ौ बिसिष, बेगि पठवौं, सुनि हरि हिय गर्व गूढ़ उपयो है। तीर ते उतरि जस कह्यो चहै, गुन गननि जयो है ॥" इत्यादि। पर यहाँ ग्रंथकार ने परीक्षा की बात ध्वनि से ही जना दी है। श्रीहनुमान्‌जी का भक्ति-भाव भी बना रहा। 'बंदि चरन'—यह बिदाई माँगने का प्रणाम है।

दोहा—तव प्रताप उर राखि प्रभु, जैहउँ नाथ तुरंत।
असं कहि आयसु पाइ पद, बंदि चलेउ हनुमंत ॥
भरत-बाहुबल सील गुन, प्रभु-पद-प्रीति अपार।
मन महँ जात सराहत, पुनि पुनि पवनकुमार ॥५९॥

अर्थ—हे नाथ ! हे प्रभो ! आपका प्रताप हृदय में रखकर मैं तुरत जाऊँगा, ऐसा कहकर, आज्ञा पा, चरणों को प्रणाम कर श्रीहनुमान्‌जी चल दिये ॥ श्रीभरतजी के अपार बाहु बल, शील, गुण और प्रभु-पद-प्रेम को मन में बार-बार सराहते हुए पवनकुमार चले जाते हैं ॥५६॥

विशेष—(१) 'तव प्रताप उर···'—राम-प्रताप स्मरण से बड़े-बड़े कार्य सहज में ही हो जाते हैं। पूर्व कई जगह कहा गया है। वैसे श्रीहनुमान्‌जी भी कहते हैं कि आपका प्रताप स्मरण करते हुए तुरत चला जाऊँगा। 'पद बंदि'—यह आज्ञा पाने पर विदाई का प्रणाम है।

(२) 'भरत बाहुबल सील···'—'बाहुबल'; यथा—'बिनु फर सायक मारेउ···परेउ मुरछि···' 'चढ़ मम सायक···'। 'सील'; यथा—'कीस उर लावा'; 'आतुर धाये'; तात कहा ; यथा—'तात कुसल कहु'। 'प्रभु-पद-प्रीति'—यह शपथ से जाना, पुनः, यथा—'प्रीति न हृदय समाइ ··'।

(३) 'मन महँ जात सराहत' का भाव यह है कि श्रीभरतजी के अपार गुणगणों ने वाणी को जीत लिया है, वाणी हार गई है; यथा—"तीर ते उतरि जस कह्यो चहै गुन-गनन्हि जयो है। धनि भरत ! धनि भरत ! करत भयो मगन, मौन रह्यो मन अनुराग रयो है ॥ यह जलनिधि खन्यो, मथ्यो, लँघ्यो, बाँध्यो, अँचयो है। तुलसि दास रघुवीर बंधु महिमा को सिंधु तरि को कवि पार गयो है ॥" (गी॰ लं॰ ११)।

जब से श्रीहनुमान्‌जी श्रीअवधपुरी के ऊपर आये, तभी से ग्रन्थकार इन्हें कपि, कीस आदि संबोधन ही देते आये। मान दूर होने से यहाँ 'हनुमंत' शब्द दिया है। 'पवनकुमार'—शब्द भी अत्यन्त तेज चाल के सम्बन्ध से और बुद्धि, विवेक, विज्ञान-निधानता के सम्बन्ध से कहा गया है। नहीं तो और किसी की शक्ति नहीं कि श्रीभरतजी के यश में प्रवेश करे ; यथा—"और करिहि को भरत बड़ाई। सरसी सीप कि सिंधु समाई ॥" (अ॰ दो॰ १५६); 'सराहत पुनि पुनि'—से प्रेम की अधिकता जनाई गई है ; यथा—"राम तुम्हहिं प्रिय तुम्ह प्रिय रामहिं।···तेहि राति पुनि पुनि करहिं प्रभु सादर सरहना रावरी ॥" (अ॰ दो॰ २०१)।

श्रीरामजी का विलाप

उहाँ राम लछिमनहि निहारी। बोले बचन मनुज अनुसारी ॥१॥
अर्ध राति गइ कपि नहिं आयउ। राम उठाइ अनुज उर लायउ ॥२॥
सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ। बंधु सदा तव मृदुल सुभाऊ ॥३॥

शब्दार्थ—अनुसारी = समान, सदृश।

अर्थ—वहाँ श्रीलक्ष्मणजी को देखकर श्रीरामजी मनुष्यों के समान वचन बोले ॥१॥ आधी रात बीत गई, कपि नहीं आया (ऐसा कहते हुए) श्रीरामजी ने छोटे भाई श्रीलक्ष्मणजी को उठाकर छाती से लगा लिया ॥२॥ (और बोले—) हे भाई ! तुम्हारा स्वभाव सदा कोमल रहा है, इससे तुम मुझे कभी दुखी नहीं देख सकते थे ॥३॥

विशेष—(१) 'उहाँ राम लछिमनहि···'—'उहाँ' शब्द से ग्रन्थकार अपनी स्थिति भक्त श्रीहनुमान्‌जी के साथ सूचित करते हैं। और यह भी कि श्रीरामजी का स्थल यहाँ से दूर है एवं जिस समय यहाँ

तात गहरु होइहि तोहि जाता। काज नसाइहि होत प्रभाता ॥५॥
चढ़ु मम सायक सैल समेता। पठवउँ तोहि जहँ कृपानिकेता ॥६॥
सुनि कपि-मन उपजा अभिमाना। मोरे भार चलिहि किमि बाना ॥७॥
राम - प्रभाव बिचारि बहोरी। बंदि चरन कह कपि कर जोरी ॥८॥

शब्दार्थ—गहरु (गहर) = देर, विलंब।

अर्थ—हे तात ! तुमको जाने में देर होगी और सवेरा हो जाने पर काम बिगड़ जायगा ॥५॥ पर्वत सहित मेरे बाण पर चढ़ जाओ, मैं तुमको वहाँ पहुँचाता हूँ, जहाँ कृपा के स्थान श्रीरामजी हैं ॥६॥ श्रीभरतजी के वचन सुनकर श्रीहनुमान्जी के मन में अभिमान उत्पन्न हुआ कि मेरे बोझ से बाण कैसे चलेगा ? ॥७॥ फिर श्रीरामजी का प्रभाव विचार कर वे हाथ जोड़कर और चरणों की वंदना करके बोले ॥८॥

विशेष—(त गहरु होइहि...'—श्रीहनुमान्जी ने यह भी कहा था कि प्रभात हो जाने पर फिर यह दवा काम न देगी—ऐसा वैद्य ने कहा है ; यथा—"समाचार कहि गहरु भो तेहि ताप तयो है।", (गी॰ लं॰ १८) ; इसपर भरतजी कहते हैं—'चढ़ु मम सायक...'। 'कृपानिकेता' का भाव यह है कि प्रभु ने मुझपर बड़ी कृपा की, तुम्हारे द्वारा समाचार दिया और मुझे भागवतापराध से बचाया। पुनः यह किंचित् सेवा भी इसी बहाने मुझे दी।

(२) 'सुनि कपि-मन...'—संजीवनी लेने के लिये चले, तब बल।बखान करने पर अभिमान उपजा था। वह कई विघ्नों से और एक ही बाण से मूर्च्छित होने पर चूर्ण हो गया। यहाँ वह फिर उपजा तब राम- प्रभाव के स्मरण से दूर हुआ।

(३) 'राम-प्रभाव बिचारि...'; यथा—"ता कहँ प्रभु कछु अगम नहिं, जा पर तुम्ह अनुकूल। तब प्रभाव बड़वानलहि, जारि सकइ खलु तूल॥" (सुं॰ दो॰ ३३) ; और श्रीभरतजी पर श्रीरामजी की अनुकूलता अभी शपथ द्वारा देख चुके हैं और उसी से इनकी मूर्च्छा भी दूर हुई। अतएव निश्चय किया कि ये अवश्य मुझे पर्वत के साथ बाण पर वहाँ भेज सकते हैं।

गी० लं० ११ में गर्व होने पर तीर पर चढ़ना भी कहा है ; यथा—"भुधर सहित चढ़ो बिसिष, बेगि पठवौं, सुनि हरि हिय गर्व गूढ़ उपयो है। तीर ते उतरि जस कह्यो चहै, गुन गननि जयो है॥" इत्यादि। पर यहाँ ग्रंथकार ने परीक्षा की बात ध्वनि से ही जना दी है। श्रीहनुमान्जी का भक्ति-भाव भी बना रहा। 'बंदि चरन'—यह विदाई माँगने का प्रणाम है।

दोहा—तव प्रताप उर राखि प्रभु, जैहउँ नाथ तुरंत।
असि कहि आयसु पाइ पद, बंदि चलेउ हनुमंत॥
भरत-बाहुबल सील गुन, प्रभु-पद-प्रीति अपार।
मन महुँ जात सराहत, पुनि पुनि पवनकुमार ॥५९॥

अर्थ—हे नाथ ! हे प्रभो ! आपका प्रताप हृदय मे रखकर मैं तुरत जाऊँगा, ऐसा कहकर, आज्ञा पा, चरणों को प्रणाम कर श्रीहनुमान्‌जी चल दिये ॥ श्रीभरतजी के अपार बाहु बल, शील, गुण और प्रभु-पद-प्रेम को मन मे बार-बार सराहते हुए पवनकुमार चले जाते हैं ॥५६॥

विशेष—(१) 'तव प्रताप उर···'—राम-प्रताप स्मरण से बड़े-बड़े कार्य सहज में ही हो जाते हैं। पूर्व कई जगह कहा गया है। वैसे श्रीहनुमान्‌जी भी कहते हैं कि आपका प्रताप स्मरण करते हुए तुरत चला जाऊँगा। 'पद बंदि'—यह आज्ञा पाने पर विदाई का प्रणाम है।

(२) 'भरत बाहुबल सील···'—'बाहुबल'; यथा—'बिनु फर सायक मारेउ···परेउ मुरछि···' 'चढ़ मम सायक···'। 'सील'; यथा—'कीस उर लावा'; 'आतुर धाये'; तात कहा ; यथा—'तात कुसल कहु'। 'प्रभु-पद-प्रीति'—यह शपथ से जाना, पुनः, यथा—'प्रीति न हृदय समाइ···'।

(३) 'मन महँ जात सराहत' का भाव यह है कि श्रीभरतजी के अपार गुणगणों ने वाणी को जीत लिया है, वाणी हार गई है; यथा—"तीर ते उतरि जस कह्यो चहै गुन-गननि्ह जयो है। धनि भरत ! धनि भरत ! करत भयो मगन, मौन रह्यो मन अनुराग रयो है ॥ यह जलनिधि खन्यो, मथ्यो, लँघ्यो, बाँध्यो, अँचयो है। तुलसि दास रघुबीर बंधु महिमा को सिंधु तरि को कवि पार गयो है ॥" (गी॰ छं॰ ११)।

जब से श्रीहनुमान्‌जी श्रीअवधपुरी के ऊपर आये, तभी से ग्रन्थकार इन्हें कपि, कीस आदि संबोधन ही देते आये। मान दूर होने से यहाँ 'हनुमंत' शब्द दिया है। 'पवनकुमार'—शब्द भी अत्यन्त तेज चाल के सम्बन्ध से और बुद्धि, विवेक, विज्ञान-निधानता के सम्बन्ध से कहा गया है। नहीं तो और किसी की शक्ति नहीं कि श्रीभरतजी के यश मे प्रवेश करे ; यथा—"और करिहि को भरत बड़ाई। सरसी सीप कि सिंधु समाई ॥" (अ॰ दो॰ २५६), 'सराहत पुनि पुनि'—से प्रेम की अधिकता जनाई गई है ; यथा—"राम तुम्हहिं प्रिय तुम्ह प्रिय रामहिं।···तेहि राति पुनि पुनि करहिं प्रभु सादर सरहना रावरी ॥" (अ॰ दो॰ २०१)।

श्रीरामजी का विलाप

उहाँ राम लछिमनहि निहारी। बोले बचन मनुज अनुसारी ॥१॥
अर्ध राति गइ कपि नहिं आयउ। राम उठाइ अनुज उर लायउ ॥२॥
सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ। बंधु सदा तव मृदुल सुभाऊ ॥३॥

शब्दार्थ—अनुसारी = समान, सदृश।

अर्थ—वहाँ श्रीलक्ष्मणजी को देखकर श्रीरामजी मनुष्यों के समान वचन बोले ॥१॥ आधी रात बीत गई, कपि नहीं आया (ऐसा कहते हुए) श्रीरामजी ने छोटे भाई श्रीलक्ष्मणजी को उठाकर छाती से लगा लिया ॥२॥ (और बोले—) हे भाई ! तुम्हारा स्वभाव सदा कोमल रहा है, इससे तुम मुझे कभी दुखी नहीं देख सकते थे ॥३॥

विशेष—(१) 'उहाँ राम लछिमनहि···'—'उहाँ' शब्द से ग्रन्थकार अपनी स्थिति भक्त श्रीहनुमान्‌जी के साथ सूचित करते हैं। और यह भी कि श्रीरामजी का स्थल यहाँ से दूर है एवं जिस समय यहाँ

भरत-मंवाद हुआ उसी समय यहाँ श्रीरामजी का विलाप-प्रसंग भी प्रारंभ हुआ। 'लछिमनहि निहारी'—का भाव यह है कि ये शुभ लक्षणों के धाम हैं; यथा—"लच्छन धाम राम प्रिय···गुरु वसिष्ठ···" (बा० दो० १९७) उन्हीं गुणों को स्मरण करके विलाप करेंगे। 'निहारी' का भाव यह कि अभी तक सावधान रहे जब, आधी रात बीत गई और ओषधि लेकर श्रीहनुमान्‌जी नहीं आये, तब भाई की ओर देखकर विशेष दुःख बढ़ा।

'मनुज अनुसारी'—इससे आगे उठनेवाली शंकाओं की निवृत्ति होती है। मनुष्य अत्यन्त प्रिय के वियोग में विह्वल हो जाता है। उसके रोने में वचनों की सँभाल नहीं रहती। आप भी यहाँ वैसा ही नर-नाट्य कर रहे हैं; यथा—"जस काछिय तस चाहिय नाचा।" (अ० दो० १२१)।

(२) 'अर्ध राति गइ···'—भाव यह कि रात रहते यदि ओषधि न आई, तो भाई का जीवन नहीं रहेगा। 'कपि'—वानर चंचल स्वभाव के होते हैं; यथा—"कपि चंचल सबही विधि हीना।" (सुं० दो० ६); इससे कहीं रुक तो नहीं गया? क्योंकि उसने तो अत्यन्त शीघ्र आने को कहा था।

'अनुज' का भाव यह कि छोटे भाई को पीछे मरना चाहिये और बड़े को पहले, पर तुम यह विपरीत क्यों करते हो?

(३) 'सकहु न दुखित देखि···'—तुम कभी मेरा दुःख नहीं देख सकते थे, इसी से वन के दुःख-निवारण के लिये साथ आये। माता सुमित्रा का यही उपदेश भी था; यथा—"जेहि न राम वन लहहिं कलेसू। सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू॥" (अ० दो० ७४); वैसा ही इन्होंने समय-समय पर किया भी है; यथा—"आश्रम देखि जानकी-हीना। भये विकल जस प्राकृत दीना॥···लछिमन समुझाये बहु भाँती।" (आ० दो० ११) 'सकहु न दुखित देखि···' के साथ 'बंधु' कहा है—भाव यह कि ऐसे समय में भाई ही काम देते हैं; यथा—"होहि कुठाँय सुबंधु सहाये।···" (अ० दो० ३०५); दुखी नहीं देख सकने का कारण भी आगे कहा है—'सदा तव मृदुल सुभाऊ।'; मृदुल स्वभाव; यथा—"करुनामय रघुनाथ गोसाँई। वेगि पाइयहि पीर पराई॥" (अ० दो० ८४)।

मम हित लागि तजेउ पितु-माता। सहेहु विपिन हिम आतप वाता॥४॥
सो अनुराग कहाँ अब भाई। उठहु न सुनि मम बच बिकलाई॥५॥
जौं जनतेउँ वन बंधु-बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥६॥

अर्थ—मेरे हित के लिये तुमने पिता और माता का त्याग किया और वन में शीत (पाला), धूप और वायु, सभी सहन किये॥४॥ हे भाई! तुम्हारा वह प्रेम अब कहाँ है? मेरी व्याकुलता के वचन सुनकर उठते क्यों नहीं?॥५॥ जो मैं जानता कि वन में भाई का वियोग होगा तो पिता के उन वचनों को भी नहीं मानता॥६॥

विशेष—(१) 'मम हित लागि···'—तुम मेरे हित के लिये पिता-माता को त्याग कर वन में आये और विपत्ति के भागी हुए। ध्वनि यह है कि इसी तरह ही तुम्हारे लिये मैं भी सर्वस्व और प्राणों का त्याग करूँगा; यथा—"पुर पितु-मातु सकल सुख परिहरि जेहि बन बिपति बँटाई। ता सँग हौं सुरलोक सोक तजि सक्यों न प्रान पठाई॥" (गी० लं० ९); तथा—"यथैव मां वनं यान्तमनुयातो महाद्युतिः। अहमप्यनुयास्यामि तथैवैनं यमक्षयम्॥" (वाल्मी० ६।४९।१७); अर्थात् जैसे तुमने वन आते समय मेरा अनुगमन किया, वैसे ही परलोक जाते समय मैं तुम्हारा अनुगमन करूँगा (साथ दूँगा)।

'सहेहु विपिन हिम'''—इसमें 'बाता' शब्द अंत में दिया गया है, वह दोनों के साथ है। वायु के सम्बन्ध से जाड़ा और गर्मी दोनों अत्यन्त दु:खद होते हैं। यहाँ वर्षा नहीं कही गई, पर अन्यत्र कहा है; यथा—"बसि तरुतर नित सहत हिम, आतप बर्षा बात॥" (अ॰ दो॰ २११); तो यहाँ भी अध्याहार से लगा लेना चाहिये। अथवा यहाँ श्रीभरतजी का वर्षा के भी दु:खों का अनुमान करना है। पर श्रीरामजी वर्षा में प्रायः एकत्र पर्णकुटी आदि में रहते थे, इससे यहाँ इन्होंने नहीं कहा है।

(२) 'सो अनुराग कहाँ ''; यथा—"उत्तिष्ठ पश्य किं शेषे दीनं मां पश्य चक्षुषा। शोकार्त्तस्य प्रमत्तस्य पर्वतेषु वनेषु च॥ विषण्णस्य महाबाहो समाश्वासयिता मम।" (वाल्मी॰ ६।१०१।२१-२२); अर्थात् उठो! क्यों सो रहे हो? मुझ दीन को देखो। पर्वतों और वनों में जब मैं शोक से पीड़ित होकर उन्मत्त हो जाता था, तब हे महाबाहो! मुझ विषादयुक्त को, तुम्हीं धैर्य देते थे।

(३) 'जौं जनतेउँ वन ''—यहाँ आदि में कहा गया है—"बोले बचन मनुज अनुसारी।" और अंत में भी कहा है—"नर-गति भगति कृपाल देखाई॥ प्रभु-प्रलाप सुनि कान ''" अर्थात् इस प्रसंग में श्रीरामजी ने भाई को वियोग-संभावना से करुणा-वश होकर प्राकृत मनुष्य की तरह प्रलाप किया है। प्रलाप का अर्थ है निरर्थक वचन। किन्तु, यहाँ श्रीरामजी के मुख से कुछ ठीक और साथ ही कुछ निरर्थक वचन भी निकले हैं। वे उनकी विरह-व्याकुलता के सूचक हैं। यही कारण है कि इसी एक दोहे में तीन चार बातें ऐसी आ गई हैं कि जिनका ठीक-ठीक अर्थ शब्दों से नहीं बन पाता।

यहाँ पाठकों को विषय की सरलता पर ध्यान नहीं देकर श्रीरामजी के नर-नाट्य और काव्य के करुणा-रस के अंग पर ध्यान देना चाहिये। यदि ऐसे भाई के वियोग में भी मनुष्य को व्याकुलता नहीं आ जाय, तो वह 'आदर्श भ्राता' नहीं कहा जा सकता।

यहाँ 'ओहू' शब्द का अर्थ 'येहू' की तरह लगाना होगा। श्रीरामजी पिता के जिस वचन पर आरूढ़ हैं, यह सन्निकटवाचक 'येहू' में लिया जायगा। यह वचन १४ वर्ष वनवास का है। इसके अतिरिक्त पिता का दूसरा वचन भी है, यथा—"रथ चढ़ाइ देखराइ बन, फिरेहु गये दिन चारि।" (अ॰ दो॰ ८१); फिर इसी को सुमंत्रजी ने भी राजा की आज्ञा कही है, यथा—"लखन राम सिय आनेहु फेरी" (अ॰ दो॰ ९१); इस दूसरे वचन को 'ओहू' के अर्थ में लेना चाहिये। तब भाव यह होगा कि यदि हम जानते कि वन (जाने) में भाई का वियोग होगा, तो १४ वर्ष वनवासवाला यह वचन तो बहुत है, मैं उस (दूसरे) चार दिन की वन-यात्रा के वचन को भी नहीं मानता।

पिता के वचन को आपने चक्रवर्ति पद से, समस्त गृह-सुखोपभोग से और पिता-माता आदि स्वजनों के एवं भरत ऐसे आदर्श भाई के वियोग से कहीं अधिक महत्त्व दिया है। ऐसा महत्त्वपूर्ण धर्म भी मैं ऐसे भाई की वियोग-संभावना पर नहीं मानता। यहाँ बंधु-प्रेम की पराकाष्ठा दिखाने में एवं शोकावेश की पूर्णता प्रकट करने में पुरुषोत्तमता का पूर्ण आदर्श दिखाया गया है कि मर्यादा-पुरुषोत्तम बंधु प्रेम को किस तरह निबाहते हैं और वह शोक एवं प्रलाप में कैसे-कैसे आचरण एवं भाषण करते हैं?

ईश्वरत्व में प्रलाप युक्ति-युक्त नहीं है, इसी से आदि और अंत में भी 'मनुज' और 'नर' का अनुसरण करना कहा गया है। रावण की मृत्यु नर के हाथ से होना है। और, ब्रह्मा का यह वचन सत्य करना है, इसलिये प्रभु ने नर के समान प्रलाप किया है। पिता का वचन-पालन धर्म है और भ्रातृ-स्नेह स्वार्थ है, फिर भी इसे ही ऊपर कर रहे हैं, क्योंकि लक्ष्मण सामने हैं और उनपर करुणा है, इसकी प्रबलता से धार्मिक वृत्ति दब गई है। यही करुणा-रस का महत्त्व भी है।

आगे पिता के वचन न मानने के कारण-रूप में ऐसे भाई की दुर्लभता कहते हैं—

सुत बित नारि भवन परिवारा। होहिं जाहिं जग बारहिं बारा ॥७॥
अस बिचारि जिय जागहु ताता। मिलइ न जगत सहोदर भ्राता ॥८॥

शब्दार्थ—सहोदर=एक पेट से, एक माता से उत्पन्न; यथा—"समानोदर्ये सोदर्य सगर्भ्य सहजाः समाः"—इत्यमरः।

अर्थ—पुत्र, धन, स्त्री, घर, परिवार (कुटुंब) संसार में बार-बार होते और जाते हैं ॥७॥ पर, हे तात! जगत् में सहोदर भ्राता (बार-बार) नहीं मिलते—ऐसा जी में विचारकर चैतन्य हो जाओ (होश में आ जाओ) ॥८॥

विशेष—(१) 'मिलइ न जगत सहोदर भ्राता।' यथा—"देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बांधवाः। तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः॥" (वाल्मी० ६।१०१।१४); उपर्युक्त रीति से यहाँ भी व्याकुलता में ही यह भी कहा गया है; अन्यथा आप दोनों भाइयों की माताएँ दो हैं। कोई-कोई इसका ऐसे भी समाधान करते हैं कि इनके लिये पायस का भाग श्रीकौशल्याजी के द्वारा श्रीसुमित्राजी को मिला है, मुख्य भाग श्रीकौशल्याजी का ही है। इससे प्रभु ने इन्हें सहोदर भ्राता कहा है। इनमें (श्रीलक्ष्मणजी में) रामानुज पद की रूढ़ि भी पाई जाती है, जैसे कि भरत-शत्रुघ्न के साथ रहते हुए भी जब विश्वामित्रजी ने कहा; यथा—"अनुज समेत देहु रघुनाथा।" (बा० दो० २०६); तब श्रीलक्ष्मणजी ही अनुज के अर्थ में लिये गये। कोई-कोई एक पिता का पक्ष लेकर इन्हें श्रीरामजी का सहोदर कहते हैं कि यदि पिता जीते होते, तो सहोदर भ्राता हो सकते थे, परन्तु अब वे नहीं हैं, इससे ये अब नहीं मिल सकेंगे।

जथा पंख बिनु खग अति दीना। मनि बिनु फनि करिबर कर हीना ॥९॥
अस मम जिवन बंधु बिनु तोही। जौं जड़ दैव जियावै मोही ॥१०॥

अर्थ—जैसे पंख के बिना पक्षी, मणि के बिना सर्प और सूँड़ के बिना श्रेष्ठ हाथी अत्यन्त दीन दुखी रहते हैं ॥९॥ हे भाई! तुम्हारे बिना मेरा जीवन ऐसा ही होगा, जो कहीं जड़ विधाता ने मुझे जीता रक्खा ॥१०॥

विशेष—(१) 'जथा पंख बिनु खग···'—'पंख बिनु खग'; यथा—"कर मीजहिं सिर धुनि पछिताहीं। जनु बिनु पंख बिहँग अकुलाहीं॥" (अ० दो० ८५); "लेत सोच भरि छिन-छिन छाती। जनु जरि पंख परेउ संपाती॥" (अ० दो० १४७); 'मनि बिनु फनि'; यथा—"प्रान कंठगत भयउ भुआलू। मनि बिहीन जनु ब्याकुल ब्यालू॥" (अ० दो० १५६); "मनि बिना फनि जियै ब्याकुल बिहाल रे।" (वि० ६७); 'करिबर करि हीना' सूँड़ के बिना हाथी आहार ही नहीं पा सकता। अतः, मर जाता है।

(२) 'अस मम जिवन···'—अर्थात् मैं बिना तुम्हारे यदि जीता भी रहा, तो पक्ष-हीन पक्षी की तरह पराक्रम-हीन और व्याकुल रहूँगा। बिना मणि के सर्प की तरह तड़पता रहूँगा और सूँड़-रहित

हाथी की तरह पुरुषार्थहीन होकर आहार त्याग करके प्राण दे दूँगा ; यथा—"हों पुनि अनुज सँघाती ।" (गी० लं० ७) ; जैसे पक्ष-हीन जटायु पराक्रमहीन हो गया, वैसे ही संपाती की भी दशा थी। हाथी का भी सारा पुरुषार्थ सूँड़ से ही रहता है, इसीसे सूँड़ से भुजा की उपमा दी जाती है ; यथा—"काम कलभ कर भुजबल सीवाँ ।" (बा० दो० २१२) ; सूँड़ के बिना हाथी पुरुषार्थ-रहित हो जाता है, वैसे ही तुम्हारे बिना मैं पुरुषार्थ-हीन हो जाऊँगा ; यथा—"मेरो सब पुरुषारथ थाको। बिपति बँटावन बंधु बाहु बिनु करउँ भरोसो काको ॥" (गी० लं० ७) इत्यादि ।

'जौ जड़ दैव···'—मैं तो जीना नहीं चाहता, पर मरण अपने हाथ में नहीं कहा गया है ; यथा—"हानि लाभ जीवन मरन, जस अपजस बिधि हाथ ॥" (अ० दो० १७१) ; "जौ पै प्रिय बियोग बिधि कीन्हा। तौ कस मरन न माँगे दीन्हा ॥" (अ० दो० ८५) ; अतः, दैव के बलात् जीवित रखने पर उपर्युक्त रीति से ही रहूँगा। मुझे वैसी दशा में जीवित रखना उसे उचित नहीं है, पर यदि रक्खेगा भी, तो वह विवेक-शून्य ही है, यही समझकर दैव को जड़ कहा गया है। श्रीमयनाजी ने भी ऐसे ही कार्यों पर उसे जड़ कहा है ; यथा—"जेहि बिधि तुम्हहिं रूप अस दीन्हा। तेहि जड़ बर बाउर कस कीन्हा ॥" (बा० दो० ९५) ; यहाँ शोक की व्याकुलता से दैव को जड़ कहा गया है, नहीं तो दैव तो जीवों के कर्मानुसार ही विधान करता है। व्याकुलता का नर-नाट्य तो है ही।

जैहउँ अवध कौन मुँह लाई। नारि हेतु प्रिय भाइ गँवाई ॥११॥
बरु अपजस सहतेउँ जग माहीं। नारि-हानि बिसेष छति नाहीं ॥१२॥
अब अपलोक सोक सुत तोरा। सहिहि निठुर कठोर उर मोरा ॥१३॥

अर्थ—स्त्री के कारण प्यारे भाई को खोकर मैं कौन मुँह लेकर अवध जाऊँगा ? ॥११॥ मैं भले ही संसार में अपयश सहता (कि असमर्थ थे, नहीं तो रावण को जीतकर पतिव्रता स्त्री को ले आते) क्योंकि स्त्री की हानि (इसकी अपेक्षा) कुछ विशेष हानि नहीं है ॥१२॥ हे पुत्र ! अब मेरा निर्दय कठोर हृदय अपयश और तेरा शोक सहेगा ॥१३॥

विशेष—(१) 'जैहउँ अवध कौन मुँह लाई···'—ऐसा ही वाल्मी० ६।१०१।१६–१९ में भी कहा है, यथा—"किं नु राज्ये न दुर्द्धर्ष लक्ष्मणेन विना मम।" से "इहैव मरणं श्रेयो···" तक ; अर्थात् श्रीलक्ष्मणजी के बिना राज्य मेरे किस काम का ? सुमित्रा से मैं कैसे बात करूँगा ? पुत्र-नाश से सुमित्राकृत निंदा मैं कैसे सहूँगा ? पुनः श्रीकौशल्याजी, श्रीकैकेयीजी एवं श्रीभरतजी से क्या कहूँगा ? वे पूछेंगे कि श्रीलक्ष्मणजी के साथ गये और अकेले क्यों लौटे ? इससे तो यहाँ मर जाना ही अच्छा है ; किंतु भाईवर्ग की निन्दा सुनना अच्छा नहीं, इत्यादि ।

श्रीसुमंत्रजी का अवध लौटते समय का पछतावा भी ऐसा ही है ; यथा—"अवध काह मैं देखब जाई ॥ धाइ पूछिहहिं मोहिं जब, बिकल नगर नर नारि।" से "जाइ अवध अब यह सुख लेबा ॥" तक (अ० दो० १४५) ।

(२) 'अब अपलोक सोक···'—'सुत' शब्द यहाँ अत्यंत स्नेहपूर्ण वात्सल्य प्रकट कर रहा है, छोटा भाई पुत्र के समान होता ही है। कुंभकर्ण ने भी श्रीविभीषणजी को ऐसा ही कहा है ; यथा—"सुनु सुत भयो काल-बस रावन।" ((दो० ६२) ; श्रीसुमित्राजी ने कहा भी था ; यथा—"पिता राम सब

भाँति सनेही।" श्रीलक्ष्मणजी ने भी कहा है; यथा—"मोरे प्रभु तुम्ह गुरु पितु माता।" इन वचनों की स्वीकृति भी यहाँ जना दी गई है।

'अपलोक सोक'; यथा—"जानत हौं या उर कठोर ते कुलिस कठिनता पाई। सुमिरि सनेह सुमित्रा सुत को दरकि दरार न आई॥ तात मरन तिय हरन गीध बध भुज दाहिनी गँवाई। तुलसी मैं सब भाँति आपने कुलहि कालिमा लाई॥" (गी० लं० ६)।

तात्पर्य यह कि बिना तुम्हारे मैं पुरुषार्थ हीन हो गया। अतः, शत्रु से न जीत पाने पर मेरा कुल पर्यन्त कलंकित होगा; यथा—"रक्षता तु मया वृत्तमपवादं च सर्वतः। प्रख्यातस्यात्मवंशस्य न्यङ्गं च परिमार्जिता॥" (वाल्मी० ६।११५।१६), अर्थात् अपने चरित की रक्षा करते हुए, अपवाद को दूर करते हुए, तथा अपने प्रसिद्ध कुल का कलंक हटाते हुए, यह युद्ध मैंने मित्रों के पराक्रम से जीता है। यह श्रीरामजी ने लंका-विजय पर कहा है।

(३) 'नारि-हानि बिसेष···'; यथा—"सुत बित नारि···" ऊपर देखिये।

निज जननी के एक कुमारा। तात तासु तुम्ह प्रान-अधारा॥१४॥
सौंपेसि मोहि तुम्हहिं गहि पानी। सब बिधि सुखद परमहित जानी॥१५॥
उतर काह दैहउँ तेहि जाई। उठि किन मोहि सिखावहु भाई॥१६॥

शब्दार्थ—एक = प्रधान, मुख्य, अद्वितीय, एकलौता; यथा—"एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा। साधारणे समानेऽल्पे संख्यायां च प्रयुज्यते॥" (दिनकरी)।

अर्थ—हे तात! तुम अपनी माता के एक ही पुत्र और उसके प्राणाधार हो॥१४॥ सब प्रकार से सुख देनेवाले और परम हितकारी जानकर मुझे उसने तुम्हारा हाथ पकड़कर सौंपा था॥१५॥ उसे जाकर मैं क्या उत्तर दूँगा? हे भाई, तुम उठकर मुझे सिखाते क्यों नहीं॥१६॥

विशेष—(१) 'निज जननी के एक···'—श्रीसुमित्राजी के दो पुत्र हैं; यथा—"सुमिरि सुमित्रा नाम जग, जे तिय लेहिं सुनेम। सुवन लखन रिपुदमन से, पावहिं पति-पद-प्रेम॥" (रामाज्ञा ७।१।४), तथा गी० लं० १३ से भी स्पष्ट है (यहाँ माता के प्राणाधार होने के योग से एकलौता ही अर्थ मुख्य लिया जायगा तो यह भी उपर्युक्त रीति से प्रलाप में ही है। दूसरा अर्थ मुख्य (प्रधान) अर्थात् ज्येष्ठ का भी होता है, पर इसमें इनकी उतनी दुर्लभता नहीं रह जाती कि यह माता का एकमात्र प्राणाधार समझा जाय। जैसे कि श्रीसुमित्राजी स्वयं कहती हैं; यथा—"रघुनदन बिनु बंधु कुअवसर जद्यपि धन दुसरे है॥ तात! जाहु कपि सँग रिपुसूदन ···" (गी० लं० १३), अर्थात् माता कहती हैं कि अभी मेरे एक दूसरे धन भी हैं, ऐसा कहकर वे श्रीशत्रुघ्नजी को कपि के साथ जाने की आज्ञा देती हैं। उन्होंने जो श्रीलक्ष्मणजी के पुत्रत्व की प्रशंसा की है, वह उन्हें निष्ठा में दृढ़ करने के लिये है। कुछ उससे श्रीशत्रुघ्नजी की अवहेलना नहीं हुई। श्रीशत्रुघ्नजी भी परम-भागवत-नैष्ठिक हैं और माता को प्रिय हैं। इस दूसरे अर्थ में श्रीशत्रुघ्नजी की अवहेलना होगी। अतः, ठीक नहीं।

यहाँ अत्यन्त विह्वलता में स्मृति भूल गई है, यही करुणा की पूर्णता है और बहुत तरह से अर्थों की आवश्यकता नहीं है। नर-नाट्य ही प्रधान है।

(२) 'सौंपेसि मोहि'''—यहाँ श्रीसुमित्राजी के इन वचनों पर लक्ष्य है ; यथा—"तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही ॥ राम प्रानप्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सबही के ॥'''तुम्ह कहँ बन सब भाँति सुपासू। सँग पितु मातु राम सिय जासू ॥" (अ० दो० ७३-७४); इनमें श्रीरामजी को सब प्रकार सुख देनेवाला और परम हितैषी जानना भी कहा गया है। 'तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता राम'''; इन वचनों के द्वारा सौंपना ही हाथ पकड़कर सौंपना है, प्रत्यक्ष हाथ पकड़ाने से तात्पर्य नहीं है। क्योंकि वन-यात्रा के समय श्रीसुमित्राजी का श्रीरामजी के पास आना मानस में नहीं कहा गया है। यदि यह माना जाय कि उन्होंने आकर सौंपा होगा, परन्तु यह बात वहाँ नहीं लिखी जाकर यहाँ लिखी गई है, जैसे—"रामानुज लघु रेख खँचाई।" इस अरण्यकांड के कार्य को ग्रंथकार ने मंदोदरी द्वारा लंकाकांड में कहलाया है, तो इसमें विरोध यह पड़ता है कि जब श्रीसुमित्राजी ने उपर्युक्त वचन 'तात तुम्हारि मातु बैदेही।' द्वारा अपना मातृत्व रक्खा ही नहीं, तो फिर किस अधिकार को लेकर वे सौंपने आवेंगी। अतएव उपर्युक्त वचनों के द्वारा सौंपना ही यहाँ युक्ति-संगत है, व्याकुलता से प्रभु उसे ही हाथ पकड़कर सौंपने की भाँति कहते हैं। 'प्रलाप' की दृष्टि से तो सब युक्त ही है।

(३) 'उतर काह देहउँ तेहि जाई।'''; यथा—"कथमम्बां सुमित्रां च पुत्रदर्शनलालसाम् ॥ विवत्सां वेपमानां च वेपन्तीं कुररीमिव। कथमाश्वासयिष्यामि यदि यास्यामि तं विना ॥" (वाल्मी० ६।४९।८।१); अर्थात् पुत्र दर्शन की लालसावाली सुमित्रा माता से मैं क्या कहूँगा ? विना श्रीलक्ष्मणजी के श्रीअवध जाकर पुत्र-रहित कुररी के समान काँपती हुई माता को कैसे समझाऊँगा ?

बहु बिधि सोचत सोच-बिमोचन। स्रवत सलिल राजिव-दल-लोचन ॥१७॥
उमा एक अखंड रघुराई। नर-गति भगत कृपाल देखाई ॥१८॥

अर्थ—शोच के छुड़ानेवाले श्रीरामजी बहुत प्रकार से शोच कर रहे हैं, उनके कमल-दल के समान नेत्रों से जल (आँसू) गिर रहे हैं ॥१७॥ हे उमा ! रघुराई श्रीरामजी एक (अद्वितीय) हैं, अखंड हैं, भक्तों पर कृपा करनेवाले उन श्रीरामजी ने (प्राकृत) मनुष्यों की-सी दशा दिखाई है ॥१८॥

विशेष—(१) 'बहु बिधि सोचत'''—'बहु बिधि सोचत' कहकर वाल्मी० ६।४९।५-३०, एवं ६।१०१, १०२ के शोक प्रकट करने के सभी भाव सूचित कर दिये गये। गी० लं० ५-७ के भी सभी भाव इसमें अंतर्भूत हैं।

'बहु बिधि सोचत' कहने पर लोगों को प्रभु के प्राकृत होने का संदेह नहीं हो जाय, इसलिये साथ ही—'सोच-बिमोचन' पद भी कह दिया गया है कि जो औरों के शोक छुड़ानेवाले हैं, वे कब शोकवश हो सकते हैं ? फिर आगे ऐश्वर्य कहकर उसका समाधान करते हैं—'उमा एक''' प्रायः ग्रन्थकार की यह शैली है कि जहाँ अत्यन्त माधुर्य देखते हैं वहाँ कुछ ऐश्वर्य कहकर उसका समाधान कर देते हैं।

(२) 'उमा एक अखंड'''—'एक'; यथा—"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" (श्वे० ६।११); इसीसे उनमें किसी का शोक नहीं होता ; यथा—"तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥" (ईश० ७); अर्थात् एकत्व दृष्टि से शोक-मोह नहीं होता। 'अखंड'; यथा—ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥" (ईश० १), अर्थात् वह पूर्ण है, यह पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण निकलता है, पूर्ण का पूर्ण लेकर पूर्ण ही शेष रहता है। इस तरह के अखंड भगवान् में संयोग-वियोग का विकार कैसे आ सकता है। यह तो 'नर-गति' = मनुज-लीला है।

(३) 'भगत कृपाल' का भाव यह है कि यह लीला भी भक्त पर अपनी कृपालुता दिखाने के लिये की गई है कि भक्त समझें कि प्रभु हमारे दुःख से स्वयं दुखी होते हैं; यथा—"मातु कुसल प्रभु अनुज समेता। तव दुख दुखी सुकृपानिकेता॥" (सुं० दो० १३); यहाँ की भक्त-कृपालुता गी० लं० १५ में कही गई है; यथा—"हृदय घाव मेरे पीर रघुबीरै। पाइ सजीवन जागि कहत यों प्रेम-पुलकि बिसराय सरीरै॥ मोहिं कहा बूझत पुनि पुनि जैसे पाठ अरथ चरचा कीरै। सोभा सुख छति लाहु भूप कहँ, केवल कांति मोल हीरै॥ तुलसी सुनि सौमित्रि-बचन सब धरि न सकत धीरौ धीरै। उपमा राम-लखन की प्रीति की क्यों दीजै खीरै-नीरै॥"। अन्यत्र भी कहा है—"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥" (गीता ९।२२)।

सोरठा—प्रभु-प्रलाप सुनि कान, बिकल भये बानर-निकर।
आइ गयउ हनुमान, जिमि करुना महँ बीर-रस॥६०॥

अर्थ—प्रभु का प्रलाप कानों से सुनकर वानर-समूह विकल हो गये, उसी समय श्रीहनुमान्‌जी ऐसे आ गये, मानों करुणा में वीर रस आ गया हो॥६०॥

विशेष—(१) 'प्रलाप'; तथा—"बिनु समुझे कछु कहि उठे, कहिये ताहि प्रलाप। देह घटै मन में बढ़ै, बिरह-व्याधि-संताप॥" (भाषा-भूषण); यथा (१) वार्त्तालाप, (२) व्यर्थ की बकवाद और (३) विलाप, (संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ)। इस दोहे-भर में प्रलाप की प्रधानता है। इसीसे तीन चार बातें ऐसी आ गई हैं कि जिनके अर्थ ठीक नहीं बनते। जैसे किसी का अति प्रिय कोई मृततुल्य दशा में हो और वह बेसुध होकर रोवे, तो उसपर कोई ऐसा नहीं कहता कि तुम क्यों अशुद्ध रोते हो? वैसे ही यहाँ ऐश्वर्य-भाव लेकर कोई तर्क करे तो ठीक नहीं। ग्रन्थकार ने स्वयं उपक्रम में 'मनुज-अनुसारी' और उपसंहार में 'नर-गति' कहकर माधुर्य को ही प्रधान रक्खा है।

'प्रलाप' का अर्थ यदि ऊँचे स्वर से रोना लें, तो भी रोने की व्याकुलता में बेसुध-चित्त रहना स्वाभाविक है, जिससे उक्त बातों में हेरफेर हो जाना ठीक ही है। अन्यथा करुणा की पूर्णता ही नहीं समझी जायगी। अत्यन्त करुणा एवं विरह में प्रलाप-कथन स्वाभाविक है; यथा—"येहि बिधि करत प्रलाप कलापा। आये अवध भरे परितापा॥" (अ० दो० ८५); यह श्रीअवधवासियों के रोने का प्रसंग है।

'बिकल भये बानर-निकर'—श्रीरामजी का करुण-रुदन सुनकर सब वानर रोते-रोते व्याकुल हो गये, उनके हृदय में शोक समा गया, सबके मुख सूख गये। आँसू बह रहे हैं; यथा—"मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं, सोक न हृदय समाइ। मनहुँ करुनरस कटकई, उतरी अवध बजाइ॥" (अ० दो० ४६); यथा—"सर्वे ते वानरश्रेष्ठाः ससुग्रीवमहाबलाः। परिवार्य महात्मानौ तस्थुः शोकपरिप्लुताः॥" (वाल्मी० ६।१०१।२)।

यहाँ करुणा के स्थायी भाव शोक में सब मग्न हैं, उसी समय श्रीहनुमानजी आ गये, उनको देखकर सबके हृदय में उत्साह हुआ जो वीररस का स्थायी भाव है। साथ ही यह भी सूचित किया कि यहाँ सब करुणारस था, अब आगे वीररस कहा जायगा।

हरषि राम भेंटेउ हनुमाना। अति कृतज्ञ प्रभु परम सुजाना॥१॥

अर्थ—श्रीरामजी हर्षपूर्वक श्रीहनुमान्‌जी से गले लगकर मिले, क्योंकि प्रभु अत्यन्त कृतज्ञ और परम सुजान हैं ॥१॥

विशेष—(१) 'अति कृतज्ञ'—कृतज्ञ तो और लोग भी होते हैं, पर आप अति कृतज्ञ हैं, यथा—"प्रति उपकार करउँ का तोरा। सन्मुख होइ न सकत मन मोरा॥" (सुं० दो० ३१); "त्यों न राम सुकृतज्ञ जे सकुचत सकृत प्रनाम किये हूँ॥" (वि० १७०); "कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति। न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥" (वाल्मी० २।१।११); "एकैकस्योपकारस्य प्राणान्दास्यामि ते कपे। शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥..." (वाल्मी० ७।४०।२३); 'परम सुजाना'; यथा—"नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥" (अ० दो० २५३); "जान सिरोमनि कोसल राऊ।" (बा० दो० २७)।

(२) प्रायः अन्यत्र श्रीहनुमान्‌जी के चरण पड़ने पर उन्हें हृदय लगाना पाया जाता है; यथा—"अस कहि परेउ चरन अकुलाई।" (कि० दो० २)—"तब रघुपति उठाइ उर लावा।"; "चरन परेउ प्रेमाकुल" (सुं० दो० ३२)—"कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा॥" पर यहाँ श्रीहनुमान्‌जी प्रणाम भी नहीं कर सके, प्रभु ने तुरत उन्हें उठाकर हृदय से लगा लिया, क्योंकि इन्होंने उनका कार्य प्रत्यक्ष देखा है, किसी के बतलाने से जानने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ कृतज्ञता की हद है।

तुरत बैद तब कीन्हि उपाई। उठि बैठे लछिमन हरषाई॥२॥
हृदय लाइ प्रभु भेंटेउ भ्राता। हरषे सकल भालु-कपि-व्राता॥३॥
कपि पुनि बैद तहाँ पहुँचावा। जेहि बिधि तबहि ताहि लइ आवा॥४॥

अर्थ—तब शीघ्र ही वैद्य ने उपाय किया, श्रीलक्ष्मणजी प्रसन्न होकर उठ बैठे ॥२॥ प्रभु ने भाई को हृदय से लगाकर भेंट की, भालू-वानर के सब समुदाय हर्षित हुए ॥३॥ तब श्रीहनुमान्‌जी वैद्य को, जिस प्रकार जहाँ से पूर्व ले आये थे, उसी प्रकार उन्होंने उसे वहाँ पहुँचा दिया ॥४॥

विशेष—(१) 'तुरत बैद तब कीन्हि उपाई।'—उपाय में किसी का मत ओषधि को लेपन करने का, किसी का सुँघाने का है, सभी आ गये। वाल्मी० ६।१०१।४३ में चूर्ण बनाकर नास देना (सुँघाना) लिखा है; यथा—"लक्ष्मणस्य ददौ नस्तः सुषेणः सुमहाद्युतिः॥" 'हरषाई' मानों सोये हुए थे। अतः, सुखपूर्वक उठ बैठे।

(२) 'हृदय लाइ प्रभु भेंटेउ भ्राता।'; यथा—"एह्येहीत्यब्रवीद्रामो लक्ष्मणं परवीरहा। सस्वजे गाढ़मालिङ्ग्य बाष्पपर्याकुलेक्षणः॥" (वाल्मी० ६।१०१।४८), अर्थात् 'आओ, आओ' ऐसा कहकर शत्रुहंता श्रीरामजी ने श्रीलक्ष्मणजी का गाढ़ आलिंगन किया, उस समय उनकी आँखें आँसू से भरी हुई थीं।

'हरषे सकल भालु कपि व्राता', यथा—"तमुत्थितं तु हरयो भूतलात्प्रेक्ष्य लक्ष्मणम्। साधुसाध्विति सुप्रीता लक्ष्मणं प्रत्यपूजयन्॥" (वाल्मी० ६।१०१।४५); अर्थात् श्रीलक्ष्मणजी के उठ खड़े होने पर वानर साधु-साधु कहने लगे, प्रीति पूर्वक इनपर प्रसन्नता प्रकट की। तथा—"मुदित भालु-कपि कटक लख्यो जनु समर पयोनिधि पार॥" (गी० लं० ६)।

(३) 'कपि पुनि बैद'…'—जैसे भवन-समेत ले आये थे, वैसे ही उसे यहाँ (लंका में) पहुँचा आये। "धरि लघुरूप गयउ हनुमंता। आनेउँ भवन समेत तुरंता॥" उपक्रम है और यहाँ—"पुनि कपि बैद तहाँ पहुँचावा।" यह उपसंहार है। ऐसे ही दवा का पर्वत भी यथास्थान रख आये; यथा—"बहुरि ठौर ही राखि महीधर आयउ पवनकुमार।" (गी० लं० १)।

यहाँ सच्चे वैद्य का लक्षण भी कहा गया है कि वह शत्रु-मित्र के साथ समान व्यवहार रखता है। सुषेण रावण के यहाँ के राज-वैद्य हैं, परन्तु इस पक्ष में भी उन्होंने सच्चे भाव से ओषधि की है। जैसा श्रीजाम्बवान्‌जी और श्रीरामजी का इनपर पहले ही पूर्ण विश्वास था। वैसा ही इन्होंने कार्य भी किया। वैद्यक की सुषेण-संहिता इन्हीं की बनाई हुई कही जाती है—ये सुप्रसिद्ध वैद्य थे।

"कुंभकर्ण-बल-पौरुष संहार"—प्रकरण

यह बृत्तांत दसानन सुनेऊ। अति बिषाद पुनि-पुनि सिर धुनेऊ॥५॥
ब्याकुल कुंभकरन पहिं आवा। बिबिध जतन करि ताहि जगावा॥६॥

अर्थ—यह समाचार रावण ने सुना। वह अत्यंत दुःख से बार-बार अपना शिर पीटने लगा॥५॥ व्याकुल होकर कुंभकर्ण के पास आया और अनेक उपाय करके उसको जगाया॥६॥

विशेष—(१) 'दसानन सुनेऊ', यथा—"उहाँ दूत एक मरम जनावा।" दो० ५७)।

'अति बिषाद …', यथा—"जो जहँ सुनै धुनै सिर सोई। बड़ बिषाद नहि धीरज होई॥ मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं, सोक न हृदय समाइ।" (अ० दो० ४६), यही दशा रावण की हुई, आगे कहा भी है—"काहे तव मुख रहे सुखाई।" रावण ने समझा था कि स्त्री का विरह है ही, भाई से भी रहित होने पर शत्रु स्वयं प्राण छोड़ देगा, उसका वह मनोरथ नाश हुआ। इसीसे उसे अत्यन्त विषाद हुआ। पुनः इससे भी विषाद हुआ कि मेरे इतने सुभट मरे, कोई नहीं पुनर्जीवित हुआ, परन्तु उधर एक श्रीलक्ष्मणजी ही मरे थे, वे भी हमारे ही वैद्य द्वारा जिलाये गये। हम जानते तो सुषेण उधर जाने ही न पाता। अब तो उधर जो मरेगा, उसी दवा से जीवित कर लिया जायगा। अमोघशक्ति कृत बाधा व्यर्थ होने पर भी रावण को अत्यन्त विषाद हुआ।

(२) 'ब्याकुल कुंभकरन पहिं आवा। …'—व्याकुलता में कुंभकर्ण ही के द्वारा दुःख निवृत्ति की आशा है, यथा—"भविष्यति न मे शोकः कुंभकर्णे विबोधिते॥" (वाल्मी० ६।६०।१०) ; अर्थात् कुंभकर्ण के जागने पर मुझे शोक नहीं रह जायगा, तथा—"कुंभकरन अस बंधु मम॥" (दो० ३०) उसके जागने तक इसकी व्याकुलता बनी रही, इसी से उसने पूछा है—'काहे तव मुख रहा सुखाई।' यह आगे कहा गया है। व्याकुलता में इसने जो-जो कारण अनुमान किये हैं, वे वाल्मी० ६।६०।५-१२ में कहे गये हैं ब्रह्माजी ने कहा था कि मनुष्य से तुझे भय होगा, अनरण्य के शाप से ही श्रीरामजी का जन्म हुआ है। वेदवती ने ही मेरे नाश के लिये सीता रूप से जन्म लिया है। उमा, नदीश्वर, रम्भा और वरुणपुत्री ने भी मुझे शाप दिया है। उन लोगों ने जैसा कहा वैसा ही हो रहा है।

वाल्मीकीय रामायण में रावण का कुम्भकर्ण के पास स्वयं जाना नहीं कहा गया, पर मानस में इसका स्वयं जाना कहकर इसकी विशेष व्याकुलता जनाई गई है।

'विविध जतन करि···'—बहुत उपाय करना, वाल्मी० ६।६०।२२-६६ में विस्तार से कहा गया है। इतना उपाय करना पड़ा ; क्योंकि उसने तपस्या करके ब्रह्माजी से छः महीने की नींद माँगी है; यथा—"माँगेसि नींद मास पट केरी" (बा० दो० १७६) उसमें अभी कुछ ही दिन बीते हैं।

जागा निसिचर देखिय कैसा। मानहु काल देह धरि बैसा ॥७॥
कुंभकरन बूझा कहु भाई। काहे तव मुख रहे सुखाई ॥८॥
कथा कही सब तेहि अभिमानी। जेहि प्रकार सीता हरि आनी ॥९॥
तात कपिन्ह सब निसिचर मारे। महा महा जोधा संहारे ॥१०॥

अर्थ—राक्षस कुम्भकर्ण जागा, वह कैसा दीखता है ? मानों काल ही (विकराल) शरीर धरकर बैठा है ॥७॥ कुम्भकर्ण ने पूछा—हे भाई ! तुम्हारे मुख क्यों सूख रहे हैं ? ॥८॥ अभिमानी रावण ने उससे अभिमानपूर्वक सारी कथा कही, जिस प्रकार वह श्रीसीताजी को हर लाया था ॥९॥ (फिर कहा-) हे तात ! वानरों ने सब राक्षस मार डाले, महान्-महान् योद्धाओं का संहार हो गया ॥१०॥

विशेष—(१) 'कथा कही सब तेहि···'—'सब' अर्थात् विस्तार-पूर्वक कही ! शूर्पणखा से राम-लक्ष्मण का परिहास करना, उसकी नाक और कान काटा जाना और उसके प्रतिकार रूप में खर आदि का वध होना और फिर मारीच की सहायता से सीता-हरण विस्तार से कहा। और शेष (यहाँ तक की) कथा संक्षेप में कही। 'अभिमानी'—का भाव यह है कि यदि बहन के अपमान के बदले मैं उनकी स्त्री का हरण न करता, तो लोक में मेरा मान कैसे रहता ?

(२) 'तात कपिन्ह सब···'—ये दीनता के वचन—'काहे तव मुख रहा सुखाई।' के उत्तर में हैं कि हमारे मुख्य-मुख्य योद्धा मारे गये और प्रतिपक्षी सब बचे हुए हैं, उनके भय से मेरी यह दशा है, इससे तुम अपने पराक्रम से हमारी रक्षा करो, आज ही सबका बधकर मुझे सुखी करो। आगे उक्त महा-महा योद्धाओं के कुछ नाम कहता है—

दुर्मुख सुर-रिपु मनुज-अहारी। भट अतिकाय अकंपन भारी ॥११॥
अपर महोदर आदिक बीरा। परे समर महि सब रनधीरा ॥१२॥

दोहा—सुनि दसकंधर बचन तब, कुंभकरन बिलखान।
जगदंबा हरि आनि अब, सठ चाहत कल्यान ॥६१॥

अर्थ—दुर्मुख, देवान्तक, नरान्तक, भारी योद्धा अतिकाय और अकंपन ॥११॥ और भी महोदर आदि रणधीर वीर सभी रण क्षेत्र में मारे गये ॥१२॥ रावण के वचन सुन वह बहुत दुखी होकर बोला कि अरे शठ ! जगज्जननी श्रीसीताजी को हर लाकर अब तू कल्याण चाहता है ? अर्थात् अब तेरा कल्याण नहीं है ॥६१॥

(३) 'कपि पुनि बैद...'—जैसे भवन-समेत ले आये थे, वैसे ही उसे वहाँ (लंका में) पहुँचा आये। "धरि लघुरूप गयउ हनुमंता। आनेउँ भवन समेत तुरंता॥" उपक्रम है और यहाँ—"पुनि कपि बैद तहाँ पहुँचावा।" यह उपसंहार है। ऐसे ही दवा का पर्वत भी यथास्थान रख आये, यथा—"बहुरि ठौर ही राखि महीधर आयउ पवनकुमार।" (गी० ऍ० ९)।

यहाँ सच्चे वैद्य का लक्षण भी कहा गया है कि वह शत्रु-मित्र के साथ समान व्यवहार करता है। सुषेण रावण के यहाँ के राज-वैद्य हैं, परन्तु इस पक्ष में भी उन्होंने सच्चे भाव से ओषधि की है। जैसा श्रीजाम्बवान्‌जी और श्रीरामजी का इनपर पहले ही पूर्ण विश्वास था। वैसा ही इन्होंने कार्य भी किया। वैद्यक की सुषेण-संहिता इन्हीं की बनाई हुई कही जाती है—ये सुप्रसिद्ध वैद्य थे।

"कुंभकर्ण-बल-पौरुष-संहार"—प्रकरण

यह बृत्तांत दसानन सुनेऊ। अति बिषाद पुनि-पुनि सिर धुनेऊ॥५॥
ब्याकुल कुंभकरन पहिं आवा। बिबिध जतन करि ताहि जगावा॥६॥

अर्थ—यह समाचार रावण ने सुना। वह अत्यंत दुःख से बार-बार अपना शिर पीटने लगा॥५॥ व्याकुल होकर कुंभकर्ण के पास आया और अनेक उपाय करके उसको जगाया॥६॥

विशेष—(१) 'दसानन सुनेऊ', यथा—"उहाँ दूत एक मरम जनावा।" दो० ५४)।

'अति बिषाद...', यथा—"जो जहँ सुनै धुनै सिर सोई। बड़ बिषाद नहिं धीरज होई॥ मुख मुखाहिं लोचन श्रवहिं, सोक न हृदय समाइ।" (अ० दो० ११); यही दशा रावण की हुई, आगे कहा भी है—"*काहे तव मुख रहे सुखाई।*" *रावण ने समझा था कि स्त्री का विरह है ही, भाई से भी रहित* होने पर शत्रु स्वयं प्राण छोड़ देगा, उसका वह मनोरथ नाश हुआ। इसीसे उसे अत्यन्त विषाद हुआ। पुनः इससे भी विषाद हुआ कि मेरे इतने सुभट मरे, कोई नहीं पुनर्जीवित हुआ, परन्तु उधर एक श्रीलक्ष्मणजी ही मरे थे, वे भी हमारे ही वैद्य द्वारा जिलाये गये। हम जानते तो सुषेण उधर जाने ही न पाता। अब तो उधर जो मरेगा, उसी दवा से जीवित कर लिया जायगा। अमोघशक्ति कृत बाधा व्यर्थ होने पर भी रावण को अत्यन्त विषाद हुआ।

(२) 'ब्याकुल कुंभकरन पहिं आवा।...'—व्याकुलता में कुंभकर्ण ही के द्वारा दुःख निवृत्ति की आशा है, यथा—"भविष्यति न मे शोकः कुंभकर्णे विबोधिते॥" (वाल्मी० ६।६०।१०); अर्थात् कुंभकर्ण के जागने पर मुझे शोक नहीं रह जायगा, यथा—"कुंभकरन अस बंधु मम॥" (दो० १०) उसके जागने तक इसकी व्याकुलता बनी रही, इसी से उसने पूछा है—'काहे तव मुख रहा सुखाई।'यह आगे कहा गया है। व्याकुलता में इसने जो-जो कारण अनुमान किये हैं, वे वाल्मी० ६।६०।५-१२ में कहे गये हैं ब्रह्माजी ने कहा था कि मनुष्य से तुझे भय होगा, अनरण्य के शाप से ही श्रीरामजी का जन्म हुआ है। वेदवती ने ही मेरे नाश के लिये सीता रूप से जन्म लिया है। उमा, नंदीश्वर, रम्भा और वरुणपुत्री ने भी मुझे शाप दिया है। उन लोगों ने जैसा कहा वैसा ही हो रहा है।

वाल्मीकीय रामायण में रावण का कुम्भकर्ण के पास स्वयं जाना नहीं कहा गया, पर मानस में इसका स्वयं जाना कहकर इसकी विशेष व्याकुलता जनाई गई है।

'जाके हनूमान-से पायक ।'—कुंभकर्ण ने श्रीहनुमान्‌जी के कर्म सुने और अभी-अभी द्रोणाचल लाकर श्रीलक्ष्मणजी को जिलाया, जिससे व्याकुल होकर रावण यहाँ आया, इससे इनका नाम लिया, नहीं तो श्रीअंगदजी के विषय में भी कहता। 'कीन्हि खोटाई'—के प्रति आगे कहता है—

कीन्हेउ प्रभु बिरोध तेहि देवक। सिव बिरंचि सुर जाके सेवक ॥५॥
नारद मुनि मोहि ज्ञान जो कहा। कहतेउँ तोहि समय निर्बहा ॥६॥
अब भरि अंक भेंटु मोहि भाई। लोचन सुफल करउँ मैं जाई ॥७॥
श्याम गात सरसीरुह लोचन। देखउँ जाइ तापत्रय-मोचन ॥८॥

शब्दार्थ—निर्बहा = बीत गया। देवक = देव का। अंक = अँकवार, अंक भर भेंटना = प्रेम से हृदय लगाकर मिलना।

अर्थ—हे प्रभो! आपने उस देवता का विरोध किया, जिसके शिव-ब्रह्मा आदि देवता सेवक हैं ॥५॥ नारद मुनि ने मुझसे जो ज्ञान कहा, वह मैं तुमसे कहता (पर) अब समय जाता रहा ॥६॥ हे भाई! अब गले लगकर मुझसे मिल ले (भाव—अब जीता नहीं लौटूँगा, यह अंतिम भेंट है) मैं जाकर नेत्र सफल करूँ ॥७॥ जाकर (दैहिक, दैविक, भौतिक) तीनों तापों के नाश करनेवाले श्याम शरीर और कमल-नयन श्रीरामजी के दर्शन करूँ ॥८॥

विशेष—(१) 'कीन्हेउ प्रभु बिरोध···'; यथा—"जासु चरन अज सिव अनुरागी। तासु द्रोह सुख चहसि अभागी ॥" (उ॰ दो॰ १०५); अर्थात् श्रीरामजी से विरोध करते ही तुम्हारा भाग्य नष्ट हो गया।

(२) 'नारद मुनि मोहि···'—कहा जाता है कि एक समय विशाला पुरी में श्रीनारदजी इससे मिले। तब इसके पूछने पर उन्होंने कहा कि मैं देव-समाज से आ रहा हूँ। वहाँ तुम दोनों भाइयों से पीड़ित होकर देवताओं ने विष्णु भगवान् से प्रार्थना की। वे इनकी प्रार्थना मानकर राम-नाम से रघुकुल में अवतीर्ण हुए हैं, वे तुम सबका वध करेंगे। और यह भी किसी-किसी का मत है कि श्रीनारदजी ने कहा था कि जब तुम छः महीने की नींद पूरी होने के पहले जगाये जाओगे, तब निश्चय तुम सबका मरण होगा। वह घटना घट गई, तो अब कहना व्यर्थ है। न मैं असमय में जगाया जाता और न सबका नाश होता।

(३) 'अब भरि अंक···'—'अब' अर्थात् जो हुआ सो हुआ। मैं युद्ध करने जाता ही हूँ। वहाँ पर मुझे और भी लाभ होंगे, उन्हें आगे कहा है। 'भाई' का भाव यह है कि तुम्हारे अनीति रत होने पर भी मैं भाईपना निबाहूँगा; यथा—"सर्वंभुर्योऽपनीतेषु साहाय्यायोपकल्पते ॥" (वाल्मी॰ ६।६३।२७); यह रावण से कुंभकर्ण ही का वचन है।

'लोचन सुफल करउँ मैं जाई'—भाव यह कि श्रीरामजी के दर्शनों से ही नेत्र सफल होते हैं; यथा—"होइहहिं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन पंकज भवमोचन ॥" (आ॰ दो॰ ९)—श्रीसुतीक्ष्णजी; तथा—"निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करउँ उरगारी ॥" (उ॰ दो॰ ७४)—श्रीभुशुंडीजी।

(४) 'श्याम गात सरसीरुह लोचन···'—ये दोनों ही तापत्रय के नाशक हैं; यथा—"भुज-प्रलंब कंजारुन लोचन। श्यामलगात प्रनत-भयमोचन ॥" (सुं॰ दो॰ ४४)।

विशेष—(१) 'दुर्मुख सुर-रिपु···'—इन सबके युद्ध वाल्मीकीय रामायण में विस्तार से कहे गये हैं। प्रहस्त के मंत्री नरांतक को द्विविदजी ने मारा। देवान्तक और अकंपन को श्रीहनुमान्‌जी ने, अतिकाय को श्रीलक्ष्मणजी ने और महोदर को श्रीसुग्रीवजी ने मारा है। 'परे समर महि···'—ये रणधीर थे, इससे पीछे को पाँव नहीं दिये, परन्तु सभी मारे गये। 'परे' से यह भी सूचित किया कि इतने मारे गये कि उनका उठाकर फेंकना कठिन पड़ गया है, अभी भी कितने पड़े हुए ही हैं। इन सबके नाम गिनाकर रावण उसे उत्तेजित करना चाहता है।

(२) 'बिलखान'—रोने के कई हेतु हैं—(क) स्वजनों का नाश सुनकर, (ख) जगदंबा के प्रतिकूल वर्त्ताव पर, क्योंकि उनकी कृपा से 'सबका कल्याण होता है; यथा—"सर्वश्रेयस्करीं सीतां" (बा॰ मं॰), अब इसका नाश अवश्य होगा, यह समझकर और इसी कर्म पर मान्य होने पर भी इसे शठ कहा। (ग) भावी की प्रबलता पर रोया कि होनहार तो हुआ ही चाहे, नहीं तो पहले मैं जानता, तो श्रीनारदजी के दिये हुए ज्ञान से रक्षा करता, पर अब क्या होगा, समय चला गया। पूर्व विभीषण, मंदोदरी, माल्यवान् आदि ने श्रीरामजी का ही परत्व कहा था। इसने श्रीसीताजी का भी महत्व कहा।

भल न कीन्ह तैं निसिचर-नाहा। अब मोहि आइ जगायेहि काहा ॥१॥
अजहूँ तात त्यागि अभिमाना। भजहु राम होइहि कल्याना ॥२॥
हैं दससीस मनुज रघुनायक। जाके हनूमान-से पायक ॥३॥
अहह बंधु तैं कीन्हि खोटाई। प्रथमहि मोहि न सुनायेहि आई ॥४॥

अर्थ—हे राक्षसराज ! तूने अच्छा नहीं किया, अब आकर मुझे क्यों जगाया है ? ॥१॥ हे तात ! अब भी अभिमान छोड़कर श्रीरामजी का भजन कर, (तो) कल्याण होगा ॥२॥ हे दशानन ! जिनके श्रीहनुमान्‌जी सरीखे दूत एवं सेवक हैं, वे रघुनायक क्या मनुष्य हैं ? ॥३॥ अहह (खेद की बात है) ! हे भाई ! तूने बुरा किया कि पहले ही आकर मुझको यह बात नहीं सुनाई ॥४॥

विशेष—(१) 'अब मोहि आइ···'—भाव यह कि सीता-हरण के पूर्व जगाता और मुझसे सलाह पूछता, तो मैं तुम्हें रोक देता, जिससे इस कुल का नाश नहीं होता। यह तुमने भला नहीं किया।

(२) 'अजहूँ तात त्यागि अभिमाना।'—पहले उसकी मूर्खता पर उसे डाँटा था। 'शठ', 'तैं' इत्यादि कहा था, पर अब उपदेश देते समय 'तात' प्रिय संबोधन दिया, जिससे रावण उपदेश माने। उसे अभिमान है ; यथा—"कथा कही सब तेहि अभिमानी।" इससे 'त्यागि अभिमाना' कहा है। अभिमान ही से इसने श्रीविभीषणजी के वचन भी नहीं माने, इससे अभिमान त्यागना कहा कि जिससे मेरा कहा माने। 'अजहूँ'—अभी तक जो हानि हुई सो हुई, आगे नहीं होगी। अथवा, इतने पर भजन करने से श्रीरामजी कल्याण ही करेंगे। श्रीविभीषणजी ने भी कहा है, यथा—"राम भजे हित नाथ तुम्हारा ॥" (सु॰ दो॰ ४०)।

(३) 'हैं दससीस मनुज···' ; यथा—"लङ्घनं च समुद्रस्य दर्शनं च हनूमतः। वधं च रक्षसां युद्धे कः कुर्यान्मानुषो युधि ॥" (वाल्मी॰ ६।३७।२२) ; अर्थात् श्रीहनुमान्‌जी का समुद्र लाँघना, श्रीसीताजी का देखना और युद्ध में राक्षसों का मारना—कौन मनुष्य कर सकता है ?—अर्थात् दूत द्वारा ऐसा ईश्वर ही कर सकते हैं।

नहीं रहे। श्रीविभीषणजी यह भी जानते हैं कि यह यद्यपि रावण की भक्ति से युद्ध में प्रवृत्त हुआ है, तथापि वह राम-विमुख नहीं है। अतः, उससे मिलकर आशीर्वाद भी ले लें। जैसे भीष्म-द्रोण को शत्रु पक्ष के जानते हुए भी पांडव लोग सुहृद् भाव से प्रणाम करके आशीर्वाद लेते थे। और फिर अब उसका अंत समय है। अत', उन्होंने इससे मिल लेना उचित समझा।

(२) 'निज नाम सुनायेउ'—प्रणाम के समय परिचय देना उचित है, यद्यपि कुम्भकर्ण इन्हें जानता है, पर इस समय मतवाला है ; यथा—"जाहु न निज पर सूझ मोहि···" यह आगे इसने स्वयं कहा है। इसी से श्रीविभीषणजी ने अपना नाम कहा। 'परेउ चरन' से श्रीविभीषणजी की भक्ति और 'अनुज उठाइ···' से कुम्भकर्ण का प्रेम इनपर प्रकट हुआ।

(३) 'रघुपति भगत जानि···'—इसी से इसने आगे इनकी प्रशंसा की है ; यथा—"धन्य धन्य तैं···बंधु वंस तैं कीन्ह उजागर।···"

तात लात रावन मोहि मारा। कहत परम हित मंत्र बिचारा ॥५॥
तेहि गलानि रघुपति पहिं आयउँ। देखि दीन प्रभु के मन भायउँ ॥६॥

अर्थ—हे तात ! अत्यन्त हितकर सलाह विचारपूर्वक कहने पर रावण ने मुझे लात मारी ॥५॥ उसी ग्लानि से मैं श्रीरघुनाथजी के पास आया, दीन देख कर प्रभु के मन को भाया ; अर्थात् प्रभु को प्रिय लगा ॥६॥

विशेष—(१) 'कहत परम हित मंत्र विचारा।' ; यथा—"राम भजे हित नाथ तुम्हारा।" (सुं० दो० ४०) ; "सीता देहु राम कहँ, अहित न होइ तुम्हार।" (सुं० दो० ४०) ; इसे ही प्रहस्त ने भी परम हित कहा है ; यथा—"वचन परम हित सुनत कठोरे।" यह कहने की प्रतिज्ञा करके—"सीता देइ करहु पुनि प्रीती।" (दो० ८) ; कहा है। इसी से लोक-परलोक दोनों का सुख होता।

(२) 'तेहि गलानि···', यथा—"गरत गलानि जानि सनमानि सिख देति।" (गी० सुं० २६) ; उसने मुझे धिक्कारा और लात मारी, उसकी ग्लानि मैं नहीं सह सका, यथा—"ज्येष्ठो मान्यः पितृसमो न च धर्मपथे स्थितः। इदं हि परुषं वाक्यं न क्षमाम्यग्रजस्य ते ॥" (वाल्मी० ६।१६।१६)।

'देखि दीन प्रभु के मन भायउँ।' गृह, परिवार, कोश आदि छोड़कर प्रभु की शरण में आया, यही श्रीविभीषणजी की दीनता है, यथा—"दीन वचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज बिसाल गहि हृदय लगावा॥" (सुं दो ४५) ; "कृत भूप विभीषन दीन रहा।" (लं० दो० १०६), प्रभु दीनता से ही रीझते हैं, यथा—"येहि दरबार दीन को आदर रीति सदा चलि आई।" (वि० १६५)। जो भक्त श्रीरामजी को भाता है, वह औरों को भी भाता है, यथा—"राम सुहाते तोहि जो तू सबहि सुहातो।" (वि० १५१) ; इसीसे श्रीविभीषणजी कुम्भकर्ण को भी प्रिय लगे, यथा—"रघुपति भगत जानि मन भायो।" ऊपर कहा ही गया है।

सुनु सुत भयउ कालबस रावन। सो कि मान अब परम सिखावन ॥७॥
धन्य धन्य तैं धन्य विभीषन। भयउ तात निसिचर-कुल-भूषन ॥८॥
बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर। भजेहु राम सोभा-सुख-सागर ॥९॥

दोहा—राम-रूप-गुन सुमिरत, मगन भयउ छन एक।
रावन माँगेउ कोटि घट, मद अरु महिष अनेक ॥६२॥

महिष खाइ करि मदिरा पाना। गर्जा बज्राघात समाना ॥१॥
कुंभकरन दुर्मद रनरंगा। चला दुर्ग तजि सेन न संगा ॥२॥

शब्दार्थ—दुर्मद = उन्मत, गर्वपूर्ण। रनरंगा = युद्ध के उत्साह युक्त, रणधीर।

अर्थ—श्रीरामजी के रूप और गुणों को स्मरण करते हुए वह एक क्षण के लिये मग्न हो गया। रावण ने करोड़ों घड़े मदिरा के और अनगिनत भैंसे मँगाये ॥६२॥ भैंसे खा और मदिरा पीकर वह वज्र गिरने (के शब्द) के समान गर्जा ॥१॥ उन्मत्त, रणोत्सुक कुम्भकर्ण किला छोड़कर चला, उसने सेना भी साथ नहीं ली ॥२॥

विशेष—(१) 'रावन माँगेउ कोटि···'—रावण ने विचारा कि इसके हृदय में ज्ञान उदय हुआ है। कहीं इसे युद्ध से वैराग्य न हो जाय, अथवा, वहाँ जाने पर यह शत्रु से न मिल जाय। इसलिये उसने इसके ज्ञान को नष्ट करने का यह उपाय रचा। मांस और मदिरा ज्ञान के नाशक हैं, यह यहाँ चरितार्थ है। मद और महिष का वाल्मीकिजी ने भी विस्तार से वर्णन किया है। कुम्भकर्ण का सारा ज्ञान महिष और मदिरा से नष्ट हो गया। जो कोई इनका सेवन करते हुए भी राम-भक्ति चाहते हों, उनकी यह दुराशा व्यर्थ है।

(२) कुंभकरन दुर्मद रनरंगा।···'—और राक्षस लोग वरदान आदि से बली हैं, परन्तु यह प्रकृति से ही महाबली और तेजस्वी है, यथा—"प्रकृत्या ह्येष तेजस्वी कुम्भकर्णो महाबलः। अन्येषां राक्षसेन्द्राणां वरदान कृतं बलम् ॥" (वाल्मी॰ ६।६१।१२); यह श्रीविभीषणजी ने कहा है। वहीं पर और भी कहा गया है कि इसने इन्द्र को हराया और ऐरावत के दाँत उखाड़ लिये। जब यह युद्ध में सन्नद्ध होता है, तब इसे साक्षात् काल समझकर डर से देवता भी इसके सामने नहीं आते—इत्यादि। 'चला'-पैदल चला; यथा—"सलङ्घयित्वा प्राकारं पद्भ्यां पर्वतसन्निभः।" (वाल्मी॰ ६।६५।५१); 'सेन न संगा'—सेना को अपनी सहायता के लिये लेने में यह अपना अपमान मानता था, इसी से अकेले ही चल दिया; यथा—"कुम्भकर्णो महातेजा रावणं वाक्यमब्रवीत्। गमिष्याम्यहमेकाकी तिष्ठत्विह बलं महत् ॥" (वाल्मी॰ ६।६५।२१)।

देखि बिभीषन आगे आयउ। परेउ चरन निज नाम सुनायउ ॥३॥
अनुज उठाइ हृदय तेहि लायो। रघुपति-भगत जानि मन भायो ॥४॥

अर्थ—उसे देखकर श्रीविभीषणजी (मिलने के लिये) आगे आये और चरणों पर पड़कर (साष्टांग प्रणाम करके) अपना नाम बतलाया ॥३॥ छोटे भाई को उठाकर उसने हृदय से लगा लिया, श्रीरघुनाथजी का भक्त जान कर मन को प्रिय लगा ॥४॥

विशेष—(१) श्रीरामजी की शरण आते समय श्रीविभीषणजी ने अपनी माता और बड़े भाई कुबेर से सम्मति ली थी और यह भी बड़ा भाई है, परन्तु यह उस समय सोया हुआ था, अब उससे मिलकर अपनी निर्दोषता प्रकट करेंगे, जिससे रावण के कहने से उसके मन में इनके प्रति खेद

नहीं रहे। श्रीविभीषणजी यह भी जानते हैं कि वह यद्यपि रावण की भक्ति से युद्ध में प्रवृत्त हुआ है, तथापि वह राम-विमुख नहीं है। अतः, उससे मिलकर आशीर्वाद भी ले लें। जैसे भीष्म-द्रोण को शत्रु पक्ष के जानते हुए भी पांडव लोग सुहृद् भाव-से प्रणाम करके आशीर्वाद लेते थे। और फिर अब उसका अंत समय है। अतः, उन्होंने इससे मिल लेना उचित समझा।

(२) 'निज नाम सुनायेउ'—प्रणाम के समय परिचय देना उचित है, यद्यपि कुम्भकर्ण इन्हें जानता है, पर इस समय मतवाला है ; यथा—"जाहु न निज पर सूझ मोहि···" यह आगे इसने स्वयं कहा है। इसी से श्रीविभीषणजी ने अपना नाम कहा। 'परेउ चरन' से श्रीविभीषणजी की भक्ति और 'अनुज उठाइ···' से कुम्भकर्ण का प्रेम इनपर प्रकट हुआ।

(३) 'रघुपति भगत जानि···'—इसी से इसने आगे इनकी प्रशंसा की है ; यथा—"धन्य धन्य तैं···बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर।···"

तात लात रावन मोहि मारा। कहत परम हित मंत्र विचारा ॥५॥
तेहि गलानि रघुपति पहिं आयउँ। देखि दीन प्रभु के मन भायउँ ॥६॥

अर्थ—हे तात ! अत्यन्त हितकर सलाह विचारपूर्वक कहने पर रावण ने मुझे लात मारी ॥५॥ उसी ग्लानि से मैं श्रीरघुनाथजी के पास आया, दीन देख कर प्रभु के मन को भाया ; अर्थात् प्रभु को प्रिय लगा ॥६॥

विशेष—(१) 'कहत परम हित मंत्र विचारा।' ; यथा—"राम भजे हित नाथ तुम्हारा।" (सुं० दो० ४०) ; "सीता देहु राम कहँ, अहित न होइ तुम्हार।" (सुं० दो० ४०) ; इसे ही प्रहस्त ने भी परम हित कहा है ; यथा—"वचन परम हित सुनत कठोरे।" यह कहने की प्रतिज्ञा करके—"सीता देइ करहु पुनि प्रीती।" (दो० ८) ; कहा है। इसी से लोक-परलोक दोनों का सुख होता।

(२) 'तेहि गलानि···' ; यथा—"गरत गलानि जानि सनमानि सिख देति।" (गी० सुं० २६) ; उसने मुझे धिक्कारा और लात मारी, उसकी ग्लानि मैं नहीं सह सका, यथा—"ज्येष्ठो मान्यः पितृसमो न च धर्मपथे स्थितः। इदं हि परुषं वाक्यं न क्षमाम्यमजस्य ते ॥" (वाल्मी० ६।१६।१२)।

'देखि दीन प्रभु के मन भायउँ।' गृह, परिवार, कोश आदि छोड़कर प्रभु की शरण में आया, यही श्रीविभीषणजी की दीनता है ; यथा—"दीन वचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज विसाल गहि हृदय लगावा॥" (सुं दो० ४५) ; "कृत भूप विभीषन दीन रहा।" (छं० दो० १०६) ; प्रभु दीनता से ही रीझते हैं ; यथा—"येहि दरबार दीन को आदर रीति सदा चलि आई।" (वि० १६५)। जो भक्त श्रीरामजी को भाता है, वह औरों को भी भाता है, यथा—"राम सुहाते तोहि जो तू सबहि सुहातो।" (वि० १५१) ; इसीसे श्रीविभीषणजी कुम्भकर्ण को भी प्रिय लगे ; यथा—"रघुपति भगत जानि मन भायो।" ऊपर कहा ही गया है।

सुनु सुत भयउ कालबस रावन। सो कि मान अब परम सिखावन ॥७॥
धन्य धन्य तैं धन्य विभीषन। भयउ तात निसिचर-कुल-भूषन ॥८॥
बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर। भजेहु राम सोभा-सुख-सागर ॥९॥

दोहा—बचन कर्म मन कपट तजि, भजेहु राम रनधीर।

जाहु न निज पर सूझ मोहि, भयउँ काल-बस बीर ॥६३॥

शब्दार्थ—बीर = भाई ; यथा—"जो जैहउँ बीते अवधि, जियत न पावउँ बीर ॥" (दो० ११५) ।

अर्थ—हे पुत्र ! सुन, रावण कालवश हो गया है, इससे वह अब उत्तम शिक्षा क्या मान सकता है ? ॥७॥ विभीषण ! तू धन्य है ! धन्य है ! ! धन्य है !!! हे तात ! तुम निशाचर कुल के भूषण हुए हो ॥८॥ हे भाई ! तुमने वंश को प्रकाशित कर दिया, जो शोभा और सुख के सागर श्रीरामजी का भजन किया ॥९॥ मन, वचन और कर्म से कपट छोड़कर रणधीर श्रीरामजी का भजन करना ॥ हे भाई ! मैं काल के वश हो गया हूँ, (इससे) मुझे अपना-पराया नहीं सूझता । अतः, अब तुम जाओ ॥६३॥

विशेष—(१) 'सुनु सुत भयउ···'—छोटा भाई पुत्र के समान होता है ; यथा—"तुम्ह पितु सरिस भले मोहि मारा ।" (सुं० दो० ४०) ; इससे 'सुत' कहकर उसपर अपना वात्सल्य जनाया । 'भयउ कालबस रावन'—ऐसा ही औरों ने भी कहा है—"काल बिबस पति कहा न माना ।" (दो० १०२)—मंदोदरी; "सभा काल बस तोरि" (सुं० दो० ४१)—श्रीविभीषणजी, इत्यादि ।

(२) 'धन्य धन्य तैं धन्य···'—यहाँ प्रशंसा में वीप्सा है । तीन शब्द बहुवचन है, तीन बार कहकर बहुत-बहुत धन्यवाद सूचित किया गया ।

रावण ने इन्हें धिक्कारा था ; यथा—"त्वां तु धिक्कुलपांसन ।" (वाल्मी० ६।१६।१६) उसकी ग्लानि इनके हृदय में बनी हुई थी, 'धन्य धन्य···' कहकर कुम्भकर्ण ने उसे दूर किया । जिसके पक्ष के लिये ही रावण ने इन्हें धिक्कारा था, उसी के लिये कुम्भकर्ण ने प्रशंसा की ।

(३) 'बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर ।'—भाव यह है कि इस कुल में एक तुम ही महा भागवत हुए, इससे इस वंश की संसार में सराहना होगी, अन्यथा इसका कोई नाम भी न लेता । राम-भक्त का कुल-भर धन्य माना जाता है ; यथा—"सो कुल धन्य उमा सुनु, जगत पूज्य सुपुनीत । श्रीरघुबीर परायन, जेहि नर उपज बिनीत ॥" (उ० दो० १२७) ।

'भजेहु राम सोभा-सुख-सागर ।'—भाव यह है कि श्रीरामजी का भजन करते रहोगे, तो तुम्हारा सुख-साज बना रहेगा । श्रीरामजी अपनी शोभा से भक्त को अपनेमें आकर्षित किये रहते हैं और फिर उसके प्रेम पर प्रसन्न होकर उसे सुख भी देते हैं । शोभा, यथा—"सोभाधाम राम अस नामा ।" (बा० दो० २१) ; सुख—"तदपि अधिक सुखसागर रामा ।" (बा० दो० १६०) ।

(४) 'बचन कर्म मन कपट तजि···'—सुख की स्थिरता इसी तरह रहेगी ; यथा—"करम बचन मन छाँड़ि छल, जब लगि जन न तुम्हार । तब लगि सुख सपनेहुँ नहीं, किये कोटि उपचार ॥" (अ० दो० १००) ; प्रभु को कपट नहीं भावा ; यथा—"निर्मल मन जन सो मोहि पावा । मोहि कपट छल छिद्र न भावा ॥" (सुं० दो० ४४) ; इसीसे कपट छोड़कर भजन करना कहा गया । कपट = छल ; स्वार्थ ही छल है ; यथा—"स्वारथ छल फल चारि बिहाई ।" (अ० दो० ३००) । अतः, स्वार्थ-भावना का त्याग करना कहा गया है । 'राम रनधीर'—कहने का भाव यह है कि श्रीरामजी अवश्य रावण को मारेंगे, इसी विश्वास पर उनमें निष्ठा करना और रावण का भय नहीं करना ।

(५) 'जाहु न निज पर सूझ···'—एक तो मद का पान किया ही है, फिर कालवश भी है, इसीसे

इसे अपना और पराया नहीं सूझता ; यथा—"काल दंड गहि काहु न मारा। हरइ धर्म बल बुद्धि बिचारा ॥ निकट काल जेहि आवइ साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं ॥" (दो० ३५)।

बंधुबचन सुनि चला बिभीषन। आयउ जहँ त्रैलोक-बिभूषन ॥१॥
नाथ भूधराकार सरीरा। कुंभकरन आवत रनधीरा ॥२॥
एतना कपिन्ह सुना जब काना। किलकिलाइ धाये बलवाना ॥३॥
लिये उठाइ बिटप अरु भूधर। कटकटाइ डारहिं ता ऊपर ॥४॥

अर्थ—भाई के वचन सुनकर श्रीविभीषणजी चल दिये और जहाँ त्रैलोक के विभूषण श्रीरामजी थे, वहाँ आये ॥१॥ (और कहा) हे नाथ ! पर्वताकार देहवाला रणधीर कुम्भकर्ण आ रहा है ॥२॥ जैसे ही वानरों ने इतना सुना वे बलवान् किलकिलाकर दौड़े ॥३॥ वृक्षों और पर्वतों को उठा लिया, और क्रोध से दाँत कटकटाकर उसके ऊपर डालने लगे ॥४॥

विशेष—(१) 'बंधुबचन सुनि···'—'बंधु' कहा गया, क्योंकि इसने भाई के समान हितकर वचन कहे हैं। 'त्रैलोक बिभूषन'—क्योंकि रावण को मार तीनों लोकों को सुख सम्पन्न करके सुशोभित करेंगे।

(२) 'नाथ भूधराकार सरीरा।···'—वाल्मी० ६।६१।३-३३ में श्रीरामजी ने इसे आते देखकर पूछा है कि यह पर्वताकार कौन आ रहा है ? इसपर श्रीविभीषणजी ने इसकी रणधीरता विस्तार से कही है ; यथा—"कोऽसौ पर्वत संकाश.···" से "विभीषण वचः श्रुत्वा···" तक वही सब बातें यहाँ 'रनधीरा' कहकर जना दीं। मानस में बिना श्रीरामजी के पूछे ही श्रीविभीषणजी का कहना कहकर इनकी अधिक कार्य-तत्परता दिखलाई गई है, क्योंकि मंत्र-भाग इन्हें सौंपा गया है। उसकी रणधीरता कहकर उन्होंने सूचित किया कि इससे सँभलकर युद्ध किया जाय, यह और राक्षसों के समान सामान्य नहीं है।

(३) 'किलकिलाइ धाये···'—किलकिला शब्द वानरों के उत्साह का सूचक है ; यथा—"सबद किलकिला कपिन्ह सुनावा ॥ हरषे सब बिलोकि हनुमाना।" (सुं० दो० २७) ; प्रथम तो युद्ध में ये लोग जीते हुए हैं, इससे उत्साह है। पुनः इसे रावण का भाई और महाबली सुनकर उत्साह से दौड़े कि इसको जीतने से बड़ा यश होगा।

(४) 'लिये उठाइ···'—पूर्व के संग्राम के उखाड़े पड़े थे, उन्हीं में से जिसने जो पाया, उठा लिया। 'कटकटाइ डारहिं···'—कटकटाना वानरों की क्रोध-मुद्रा है ; यथा—"कटकटान कपि कुंजर भारी। दोउ भुजदंड तमकि महि डारी ॥" (दो० ३०)।

कोटि कोटि गिरि सिखर प्रहारा। करहिं भालु कपि एक एक बारा ॥५॥
मुर्‌यो न मन तनु टर्‌यो न टार्‌यो। जिमि गज अर्क फलनि को मार्‌यो ॥६॥
तब मारुतसुत मुठिका हन्यौ। पर्‌यो धरनि व्याकुल सिर धुन्यौ ॥७॥
पुनि उठि तेहि मारेउ हनुमंता। घुर्मित भूतल परेउ तुरंता ॥८॥

दोहा—बचन कर्म मन कपट तजि, भजेहु राम रनधीर।
जाहु न निज पर सूझ मोहि, भयउँ काल-बस बीर ॥६३॥

शब्दार्थ—बीर = भाई ; यथा—"जो जैहउँ बीते अवधि, जियत न पावउँ बीर ॥" (दो० ११५)।

अर्थ—हे पुत्र ! सुन, रावण कालवश हो गया है, इससे वह अब उत्तम शिक्षा क्या मान सकता है ? ॥७॥ विभीषण ! तू धन्य है ! धन्य है ! ! धन्य है !!! हे तात ! तुम निशाचर कुल के भूषण हुए हो ॥८॥ हे भाई ! तुमने वंश को प्रकाशित कर दिया, जो शोभा और सुख के सागर श्रीरामजी का भजन किया ॥९॥ मन, वचन और कर्म से कपट छोड़कर रणधीर श्रीरामजी का भजन करना ॥ हे भाई ! मैं काल के वश हो गया हूँ, (इससे) मुझे अपना-पराया नहीं सूझता । अतः, अब तुम जाओ ॥६३॥

विशेष—(१) 'सुनु सुत भयउ···'—छोटा भाई पुत्र के समान होता है ; यथा—"तुम्ह पितु सरिस भले मोहि मारा।" (सुं० दो० ४०) ; इससे 'सुत' कहकर उसपर अपना वात्सल्य जनाया। 'भयउ कालबस रावन'—ऐसा ही औरों ने भी कहा है—"काल बिबस पति कहा न माना।" (दो० १०२)—मंदोदरी; "सभा काल बस तोरि" (सुं० दो० ४१)—श्रीविभीषणजी, इत्यादि।

(२) 'धन्य धन्य तैं धन्य···'—यहाँ प्रशंसा में वीप्सा है। तीन शब्द बहुवचन है, तीन बार कहकर बहुत-बहुत धन्यवाद सूचित किया गया।

रावण ने इन्हें धिक्कारा था ; यथा—"त्वां तु धिक्कुलपांसन।" (वाल्मी० ६।१६।१६) उसकी ग्लानि इनके हृदय में बनी हुई थी, 'धन्य धन्य···' कहकर कुम्भकर्ण ने उसे दूर किया। जिसके पक्ष के लिये ही रावण ने इन्हें धिक्कारा था, उसी के लिये कुम्भकर्ण ने प्रशंसा की।

(३) 'बंधु बंस तैं कीन्ह उजागर।'—भाव यह है कि इस कुल में एक तुम ही महा भागवत हुए, इससे इस वंश की संसार में सराहना होगी, अन्यथा इसका कोई नाम भी न लेता। राम-भक्त का कुल-भर धन्य माना जाता है ; यथा—"सो कुल धन्य उमा सुनु, जगत पूज्य सुपुनीत। श्रीरघुबीर परायन, जेहि नर उपज बिनीत ॥" (उ० दो० १२७)।

'भजेहु राम सोभा-सुख-सागर।'—भाव यह है कि श्रीरामजी का भजन करते रहोगे, तो तुम्हारा सुख-साज घना रहेगा। श्रीरामजी अपनी शोभा से भक्त को अपनेमें आकर्षित किये रहते हैं और फिर उसके प्रेम पर प्रसन्न होकर उसे सुख भी देते हैं। शोभा , यथा—"सोभाधाम राम अस नामा।" (बा० दो० २१) ; सुख—"तदपि अधिक सुखसागर रामा।" (बा० दो० ११७)।

(४) 'बचन कर्म मन कपट तजि···'—सुख की स्थिरता इसी तरह रहेगी ; यथा—"करम बचन मन छाँड़ि छल, जब लगि जन न तुम्हार। तब लगि सुख सपनेहुँ नहीं, किये कोटि उपचार ॥" (अ० दो० १०७) ; प्रभु को कपट नहीं भावा ; यथा—"निर्मल मन जन सो मोहिं पावा। मोहिं कपट छल छिद्र न भावा ॥" (सुं० दो० ४४) ; इसीसे कपट छोड़कर भजन करना कहा गया। कपट = छल ; स्वार्थ ही छल है ; यथा—"स्वारथ छल फल चारि बिहाई।" (अ० दो० ३००)। अतः, स्वार्थ-भावना का त्याग करना कहा गया है। 'राम रनधीर'—कहने का भाव यह है कि श्रीरामजी अवश्य रावण को मारेंगे, इसी विश्वास पर उनमें निष्ठा करना और रावण का भय नहीं करना।

(५) 'जाहु न निज पर सूझ···'—एक तो मद का पान किया ही है, फिर कालवश भी है, इसीसे

इसे अपना और पराया नहीं सूझता ; यथा—"काल दंड गहि काहु न मारा। हरइ धर्म बल बुद्धि बिचारा ॥ निकट काल जेहि आवइ सांई। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं ॥" (दो॰ ३५)।

बंधुबचन सुनि चला बिभीषन। आयउ जहँ त्रैलोक - बिभूषन ॥१॥
नाथ भूधराकार सरीरा। कुंभकरन आवत रनधीरा ॥२॥
एतना कपिन्ह सुना जब काना। किलकिलाइ धाये बलवाना ॥३॥
लिये उठाइ बिटप अरु भूधर। कटकटाइ डारहिं ता ऊपर ॥४॥

अर्थ—भाई के वचन सुनकर श्रीविभीषणजी चल दिये और जहाँ त्रैलोक के विभूषण श्रीरामजी थे, वहाँ आये ॥१॥ (और कहा) हे नाथ ! पर्वताकार देहवाला रणधीर कुम्भकर्ण आ रहा है ॥२॥ जैसे ही वानरों ने इतना सुना वे बलवान् किलकिलाकर दौड़े ॥३॥ वृक्षों और पर्वतों को उठा लिया, और क्रोध से दाँत कटकटाकर उसके ऊपर डालने लगे ॥४॥

विशेष—(१) 'बंधुबचन सुनि···'—'बंधु' कहा गया, क्योंकि इसने भाई के समान हितकर वचन कहे हैं। 'त्रैलोक बिभूपन'—क्योंकि रावण को मार तीनों लोकों को सुख सम्पन्न करके सुशोभित करेंगे।

(२) 'नाथ भूधराकार सरीरा।···'—वाल्मी० ६।६१।३-३३ में श्रीरामजी ने इसे आते देखकर पूछा है कि यह पर्वताकार कौन आ रहा है ? इसपर श्रीविभीषणजी ने इसकी रणधीरता विस्तार से कही है ; यथा—"कोऽसौ पर्वत संकाशः···" से "विभीषण वचः श्रुत्वा···" तक वही सब बातें यहाँ 'रनधीरा' कहकर जना दीं। मानस में बिना श्रीरामजी के पूछे ही श्रीविभीषणजी का कहना कहकर इनकी अधिक कार्य-तत्परता दिखलाई गई है, क्योंकि मंत्र-भाग इन्हें सौंपा गया है। उसकी रणधीरता कहकर उन्होंने सूचित किया कि इससे सँभलकर युद्ध किया जाय, यह और राक्षसों के समान सामान्य नहीं है।

(३) 'किलकिलाइ धाये···'—किलकिला शब्द वानरों के उत्साह का सूचक है ; यथा—"सबद किलकिला कपिन्ह सुनावा ॥ हरषे सब बिलोकि हनुमाना।" (सुं॰ दो॰ २७) ; प्रथम तो युद्ध में ये लोग जीते हुए हैं, इससे उत्साह है। पुन. इसे रावण का भाई और महाबली सुनकर उत्साह से दौड़े कि इसको जीतने से बड़ा यश होगा।

(४) 'लिये उठाइ···'—पूर्व के संग्राम के उखाड़े पड़े थे, उन्हीं में से जिसने जो पाया, उठा लिया। 'कटकटाइ डारहिं···'—कटकटाना वानरों की क्रोध-मुद्रा है, यथा—"कटकटान कपि कुंजर भारी। दोउ भुजदंड तमकि महि डारी ॥" (दो॰ ३०)।

कोटि कोटि गिरि सिखर प्रहारा। करहिं भालु कपि एक एक बारा ॥५॥
मुर्‌यौ न मन तनु टर्‌यो न टार्‌यो। जिमि गज अर्क फलनि को मार्‌यो ॥६॥
तब मारुतसुत मुठिका हन्यौ। पर्‌यो धरनि ब्याकुल सिर धुन्यौ ॥७॥
पुनि उठि तेहि मारेउ हनुमंता। घुर्मित भूतल परेउ तुरंता ॥८॥

अर्थ—भालू और वानर एक-एक बार में ही कोटि-कोटि (अगणित) पर्वत-शिखरों को चलाकर मारते हैं ॥७॥ पर उसका न तो मन ही मुड़ा और न वह तन से ही टाले टला, जैसे मदार (अकवन) के फलों से मारे जाने पर हाथी (टस-से-मस न करे = चलायमान न हो) ॥६॥ तब श्रीहनुमान्‌जी ने घूँसा मारा, (तब) वह व्याकुल होकर पृथिवी पर गिर पड़ा और शिर पीटने लगा ॥७॥ फिर उठकर उसने श्रीहनुमानजी को मारा, जिससे वे चक्कर खाकर तुरत पृथिवी पर गिर पड़े ॥८॥

विशेष—(१) 'मुरो न मन···'—यहाँ इसकी उपर्युक्त 'रणधीरता' चरितार्थ है। जैसे रुईमय मंदार का फल हलका होने से हाथी को उसका स्पर्श मालूम ही नहीं पड़ता, वैसे ही इनलोगों का भी प्रहार उसे कुछ नहीं जान पड़ा। यहाँ उसके 'मन' और 'तन' की धीरता कही गई है। वचन की नहीं, क्योंकि वीर लोग कर्त्तव्य ही कर दिखाते हैं, अपना बल नहीं कहते ; *यथा*—"एक करहिं कहत न बागहीं।" (दो० ८१)।

(२) 'तब मारुत सुत···'—'तब' जब इनके सजातियों के प्रहार को उसने कुछ नहीं माना। 'व्याकुल सिर धुनेऊँ'—उसने अपने पराक्रम को धिक्कारते हुए शिर पीटा। 'घुर्मित भूतल···'—इससे कुम्भकर्ण के समान ही इनकी भी दशा हुई। दोनों बल में समान ही हैं। इन्हें मूर्च्छा से चैतन्य होने की प्रतीक्षा उसने नहीं की, वरन् नल-नील आदि वीरों की ओर चल पड़ा, इनका चैतन्य होना पीछे कहेंगे ; *यथा*—"मुरछा गइ मारुत सुत जागा। सुग्रीवहि तब खोजन लागा।"

पुनि नल-नीलहिं अवनि पछारेसि। जहँ तहँ पटकि पटकि भट डारेसि ॥९॥
चली बलीमुख-सेन पराई। अति भय त्रसित न कोउ समुहाई ॥१०॥

दोहा—अंगदादि कपि मुरछित, करि समेत सुग्रीव।
काँख दाबि कपिराज कहँ, चला अमित बलसींव ॥६४॥

अर्थ—फिर नल-नील को पृथिवी पर पछाड़ा (पटका) और योद्धाओं को जहाँ-तहाँ पटक-पटककर डाल दिया ॥९॥ वानर-सेना भाग चली, सब वानर डर से अत्यन्त डरे हुए हैं, इससे कोई भी सामने नहीं आते ॥१०॥ श्रीसुग्रीवजी के साथ सब वानरों को मूर्च्छित करके अपरिमित बल की सीमा कुम्भकर्ण वानर-राज श्रीसुग्रीवजी को काँख (बगल) में दबाकर ले चला ॥६४॥

विशेष—(१) 'चली बलीमुख-सेन पराई।'—यहाँ सारी सेना का भागना कहा गया, आगे इसकी दूसरी लड़ाई में व्यक्तिगत सुभट भी भागेंगे ; *यथा*—"मुरे सुभट सब फिरहिं न फेरे।" (दो० ६५); 'अति-भय-त्रसित न कोउ समुहाई'।—वाल्मी० ६।६६।१२-१७ में कहा है कि रुधिर से भीगकर वानर पृथिवी पर सो गये।···लाँघते और दौड़ते हुए वानर किसी ओर न देख सके। अतः, कई तो समुद्र में गिरे, कई आकाश में उड़ गये और पर्वत पर चले गये। कोई गुहा में छिप गये, कोई पृथिवी पर मृतक की तरह सो गये। यहाँ श्रीअंगद आदि भी मूर्च्छित हो गये हैं, इससे सेना का लौटना नहीं कहते। दूसरी लड़ाई में 'सब फिरहिं न फेरे' कहा जायगा।

(२) 'काँख दाबि कपिराज कहँ···'—उसने सबको मूर्च्छित करके छोड़ दिया, परन्तु श्रीसुग्रीवजी

को काँखों तले दबाकर ले चला। उसका अभिप्राय यह था कि वालि ने जैसे मेरे भाई को काँख में दाबा था, मैं वालि के भाई को वैसे ही दबाकर बदला चुका लूँ। इसपर रावण भी बहुत ही प्रसन्न होगा। पुनः वहाँ ले जाकर सुग्रीवजी को मार डालूँगा, जिससे श्रीरामजी प्राण छोड़ दें, फिर तो श्रीलक्ष्मणजी उनके बिना नहीं जियेंगे और फिर सारी सेना मरी हुई ही है; यथा—"अस्मिन्हते सर्वमिदं हतंस्यात्सराघवे सैन्यमितीन्द्रशत्रुः॥" (वाल्मी० ६।६७।७२); पुनः वाल्मी० ६।४१।४-८ में श्रीरामजी ने कहा भी है कि तुम्हारे (सुग्रीवजी के) शरीर त्याग करने से मैं भी शरीर त्याग देता। 'अमित बल सींव'—क्योंकि इसने श्रीहनुमान्‌जी, श्रीअंगदजी और श्रीसुग्रीवजी आदि को भी मूर्च्छित कर दिया।

उमा करत रघुपति नर-लीला। खेल गरुड़ जिमि अहिगन मीला॥१॥
भृकुटि भंग जो कालहि खाई। ताहि कि सोहइ ऐसि लराई॥२॥
जग पावनि कीरति बिस्तरिहहिं। गाइ गाइ भव-निधि नर तरिहहिं॥३॥

शब्दार्थ—भंग=टेढ़ा करने का भाव, भृकुटि-भंग=भौं फेरने मात्र से।

अर्थ—हे उमा! श्रीरघुनाथजी मनुष्य-लीला कर रहे हैं, जैसे गरुड़ सर्पों के समूह में मिलकर खेले॥१॥ जो भौंह के फेरने मात्र से काल को भी खाता है, क्या उसे ऐसी लड़ाई शोभा देती है? अर्थात् नहीं॥२॥ जगत् को पवित्र करनेवाली कीर्त्ति फैलावेंगे, जिसे गा-गाकर मनुष्य भवसागर पार होंगे॥३॥

विशेष—(१) 'उमा करत रघुपति नर-लीला।...'—श्रीरामजी के रहते हुए श्रीहनुमान्‌जी आदि मूर्च्छित कर दिये गये, श्रीसुग्रीवजी को दाबकर एक राक्षस ले चला, यह कैसे संभव है, श्रीशिवजी उसी का समाधान करते हैं कि हे उमा! जैसे गरुड़ छोटे सपेलों के साथ मिलकर खेले, और सर्प की फुफकार से डरे, तो कोई यह नहीं कह सकता कि गरुड़ डर गया किंवा हार गया, क्योंकि सर्प तो गरुड़ के भक्ष्य हैं, वैसे ही श्रीरामजी चाहें, तो भ्रू-क्षेप मात्र से काल को भी नाश कर दें; यथा—"जाके डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई॥" (सु० दो० ११): उसके आगे एक राक्षस क्या चीज है? 'ताहि कि सोहइ'—भाव यह है कि ऐश्वर्य दृष्टि से तो ऐसी लड़ाई नहीं सोहती, परन्तु रघुपति तो नर-लीला कर रहे हैं, मनुष्य को हारना और जीतना ये दोनों ही शोभा देते हैं। बराबर एक ही ओर की जीत होने से रण की शोभा नहीं होती और फिर इस लीला में भी लाभ है, वह आगे प्रकट होगा।

(२) 'जग पावनि कीरति बिस्तरिहहिं।...'—भाव यह कि इसे रोचक इतिहास की तरह लोग प्रेम पूर्वक गावेंगे और उससे भवसागर पार हो जायँगे, यथा—"जग बिस्तारहिं, बिसद जस, राम जनम कर हेतु॥ सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं॥" (बा० दो० १२१), यह कार्य योग-ज्ञान आदि कठिन साधनों से भी दुर्लभ है।

मुरुछा गइ मारुतसुत जागा। सुग्रीवहि तब खोजन लागा॥४॥
सुग्रीवहु कै मुरुछा बीती। निबुकि गयउ तेहि मृतक प्रतीती॥५॥
काटेसि दसन नासिका-काना। गर्जि अकास चलेउ तेहि जाना॥६॥
गहेउ चरन गहि भूमि पछारा। अति लाघव उठि पुनि तेहि मारा॥७॥
पुनि आयउ प्रभु पहिं बलवाना। जयति जयति जय कृपानिधाना॥८॥

शब्दार्थ—निबुकना = बंधन से छूटना। लाघव = फुर्ती से, शीघ्रता से।

अर्थ—मूर्च्छा जाती रही, तब श्रीहनुमान्‌जी सावधान हुए और वे श्रीसुग्रीवजी को ढूँढ़ने लगे ॥४॥ (वहाँ) श्रीसुग्रीवजी की भी मूर्च्छा निवृत्त हुई, वे बन्धन से छूट गये, उसने इन्हें मृतक जाना ॥५॥ दाँत से नाक-कान काट लिये और गरजकर आकाश को चले, तब उसे कुंभकर्ण ने जाना ॥६॥ उसने श्रीसुग्रीवजी का पैर पकड़कर भूमि पर दे पटका, फिर श्रीसुग्रीवजी ने बड़ी फुर्ती से उठकर उसे मारा ॥७॥ फिर बलवान् श्रीसुग्रीवजी प्रभु के पास आये और कृपासागर श्रीरामजी की जय हो, जय हो, जय हो (इस तरह जय-जयकार करने लगे) ॥८॥

विशेष—(१) 'सुग्रीवहि तब खोजन लागा।'—श्रीहनुमान्‌जी ने सूर्य से विद्या पढ़ी थी, तब इन्होंने उनसे गुरु-दक्षिणा माँगने को कहा, तो सूर्य ने अपने पुत्र श्रीसुग्रीवजी की रक्षा करना इनसे माँगा। इसीलिये ये श्रीसुग्रीवजी को खोजने लगे। वाल्मी० ६।६७ में इनका शोच करना लिखा है, फिर इन्होंने सोचा कि अभी यदि मैं पर्वताकार होकर कुंभकर्ण को मारकर श्रीसुग्रीवजी को छुड़ा लाऊँ तो वानर प्रसन्न होंगे। पर इससे श्रीसुग्रीवजी नाराज होंगे, क्योंकि इसमें उनके यश की हानि है, फिर चिन्ता क्या है? श्रीसुग्रीवजी अभी बेहोश हैं, चैतन्य होने पर वे स्वयं छूटकर आवेंगे। अतएव थोड़ी देर तक प्रतीक्षा कर लूँ। पर यहाँ मानस में श्रीहनुमान्‌जी के मूर्छित रहने पर कुंभकर्ण का श्रीसुग्रीवजी को ले जाना लिखा है और पीछे जागने पर इनका उक्त सोच करना एवं खोजना कहा गया है।

(२) 'सुग्रीवहु कै मुरुछा बीती ..'—जब इन्हें लेकर कुंभकर्ण लंका के राजमार्ग से चला, तब राक्षसों ने विजयी होने से उसपर फूल, अक्षत और चन्दन के साथ जल की धीमी-धीमी वर्षा ऊपर महलों से की, उससे एवं मार्ग की सीतल वायु के संयोग से शीतलता पाकर श्रीसुग्रीवजी की मूर्च्छा टूट गई—ऐसा वाल्मी० ६।६७।८३-८४ में कहा है।

'निबुकि गयउ तेहि मृतक प्रतीती।'—श्रीसुग्रीवजी चैतन्य होने पर देह ढीली कर भारी हो नीचे की ओर खिसलने को हुए, तब उसने जाना कि अब मर गया होगा, अतएव उसने काँख ढीली कर दी। ढीली काँख पाते ही श्रीसुग्रीवजी उसके कंधे पर चढ़ गये और शीघ्रता से अपने नखों और दाँतों से उसके नाक-कान काट गरजकर आकाश को चले, तब उसने जाना। वह इतना मतवाला हो रहा था कि नाक कान काटते समय भी उसने नहीं जाना, किंतु गरजने पर जाना।

(३) 'गर्जि अकास चलेउ...'—श्रीसुग्रीवजी ने गरज कर अपनी जीत सूचित की।

(४) 'गहेउ चरन गहि...'—जब उसे मालूम हुआ कि श्रीसुग्रीवजी अभी जीवित हैं, तब उसने इनका पैर पकड़कर पृथिवी पर दे पटका, पर इन्होंने 'अति लाघव' अर्थात् गेंद की तरह पृथिवी पर पड़ते ही शीघ्र उछलकर उसे मारा और फिर श्रीरामजी के पास आ गये; यथा—"स भूतले भीमबलाभिपिष्टः सुरारिभिर्मैरभिहन्यमानः। जगाम खं कन्दुकवज्जवेन पुनश्च रामेण समाजगाम ॥" (वाल्मी० ६।६७।८१)।

(५) 'पुनि आयउ प्रभुपहिं...'—ऐसे प्रबल शत्रु से छूटकर और उसके नाक-कान काटकर आये, इससे 'बलवाना' कहा गया है। 'कृपा निधाना' का भाव यह है कि आपकी ही कृपा से मैं शत्रु से बचकर और कुशल पूर्वक लौटा, ऐसे आपकी तीनों कालों में जय हो। तीन बहुवचन हैं, तीन बार जय से बहुत बार जय सूचित की।

नाक कान काटे जिय जानी । फिरा क्रोध करि भइ मन ग्लानी ॥९॥
सहज भीम पुनि बिनु श्रुति नासा । देखत कपिदल उपजी त्रासा ॥१०॥

दोहा—जय जय जय रघुबंसमनि, धाये कपि दै हूह ।
एकहि बार तासु पर, छाँड़ेन्हि गिरि-तरु-जूह ॥६५॥

शब्दार्थ—भीम = भयानक । हूह = हर्षध्वनि । जूह = झुंड ।

अर्थ—हमारे नाक-कान काट लिये गये । इस बात को समझकर उसके मन में ग्लानि हुई (कि नकटा-बूचा होकर जीवन को और ऐसे पुरुषार्थ को धिक्कार है,) और वह क्रोध करके (मार्ग से) लौट पड़ा ॥९॥ एक तो वह स्वाभाविक ही भयंकर था, फिर अब नकटा-बूचा भी हो गया । अतः, उसे देखते ही वानर-सेना में भय उत्पन्न हो गया ॥१०॥ 'जय, जय, जय रघुवंशमणि' ऐसा हर्षसूचक नाद करके वानर दौड़े और सबों ने उसपर पर्वतों और वृक्षों के समूह एक साथ ही छोड़ दिये ॥६५॥

विशेष—(१) 'फिरा क्रोध करि...'—पहले हर्ष पूर्वक विजयी होकर जा रहा था । अब श्रीसुग्रीवजी के द्वारा पराजय हुई, वह भी ऐसी कि जिससे प्रतिष्ठा ही चली गई । नकटा-बूचा जाकर किसी को कौन मुँह दिखाऊँगा, लोग हँसेंगे कि बड़ी डींग हाँक कर गया और नाक-कान कटाकर वापस आया । इससे अब तो सबको मार कर ही लौटूँगा, अथवा स्वयं मर जाऊँगा—ऐसी ग्लानि और क्रोध-सहित वह लौटा ।

(२) 'सहज भीम पुनि...'; यथा—"नाक कान बिनु भइ बिकरारा । जनु स्रव सैल गेरु कै धारा ॥" (आ० दो० १७), यह तो स्वाभाविक ही भयंकर था, अब विशेष विकराल हो गया । 'देखत...'—पहले बड़े-बड़े सुभट नल-नील आदि के पटके जाने पर और वानर लोग भागे थे, अब तो उसे देखते ही सब भयभीत हो गये ।

(३) 'रघुबंस मनि'—मणि के समान वज्रांग शरीर सूचित करते हुए 'मणि' कहा । 'एकहि बार'—सब डरे हुए हैं, इससे साथ मिलकर एक बारगी प्रहार किया ।

कुंभकरन रन रंग बिरुद्धा । सनमुख चला काल जनु क्रुद्धा ॥१॥
कोटि कोटि कपि धरि धरि खाई । जनु टिड्डी गिरि-गुहा समाई ॥२॥
कोटिन्ह गहि सरीर सन मर्दा । कोटिन्ह मीजि मिलव महि गर्दा ॥३॥
मुख नासा श्रवनन्हि की बाटा । निसरि पराहिं भालु-कपि-ठाटा ॥४॥

अर्थ—कुंभकर्ण वीररस में रँगा हुआ, विरोधभाव से सामने चला, मानों क्रोधित होकर काल आ रहा हो ॥१॥ करोड़ों-करोड़ों वानरों को पकड़-पकड़कर खाने लगा, मानों टिड्डियाँ पर्वत की गुफा में समा रही हों ॥२॥ करोड़ों को पकड़कर देह से मसल डाला, करोड़ों को हाथों से मलकर पृथिवी की धूल में मिला दिया ॥३॥ रीछों और वानरों के झुंड-के-झुंड उसके मुँह, नाक और कानों की राह से निकलकर भाग रहे हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'काल जनु क्रुद्धा' प्रलय के समय जैसे प्राणिमात्र को काल खा जाता है, वैसे ही यह भी क्रोध करके वानरों की ओर चला ; यथा—"यथैव मृत्युर्हरते युगान्ते स भक्षयामास हरीन्मुख्यान ।" (वाल्मी० ६।६७।१४)।

(२) 'कोटि कोटि कपि धरि धरि खाई।…'; यथा—"शतानि सप्त चाष्टौ च विंशत्त्रिंशत्तथैव च। संपरिष्वज्य बाहुभ्यां खादन्विपरिधावति ॥" (वाल्मी० ६।६७।१८); अर्थात् वह सौ, सात, आठ, बीस, तीस को अपने हाथों से पकड़-पकड़ कर खाता हुआ आगे दौड़ता है।

'जनु टिड्डी'—जैसे टिड्डियाँ पर्वत-गुफा में छिपकर बचती हैं, वैसे ही वानर-गण भी उसके मुख में जाकर नाक, कान आदि के द्वारा निकल-निकल कर बचेंगे।

(३) 'कोटिन्ह गहि सरीर…'—; यथा—"कछु मारेसि कछु मर्देसि, कछु मिलयेसि धरि धूरि।" (सुं० दो० १८), ऐसा श्रीहनुमान्‌जी ने किया था, वैसा ही इसने भी किया।

(४) 'मुख नासा श्रवनन्हि की बाटा।…'; यथा—"प्रक्षिप्ताः कुम्भकर्णेन वक्त्रे पातालसन्निभे। नासापुटाभ्यां संजग्मुः कर्णाभ्यां चैव वानराः ॥" (वाल्मी० ६।६७।१५)।

रन-मदमत्त निसाचर दर्पा। बिस्व-ग्रसिहि जनु येहि बिधि अर्पा ॥५॥
मुरे सुभट सब फिरहिं न फेरे। सूझ न नयन सुनहिं नहिं टेरे ॥६॥
कुंभकरन कपि-फौज बिडारी। सुनि धाई रजनीचर-धारी ॥७॥
देखी राम बिकल कटकाई। रिपु अनीक नाना बिधि आई ॥८॥

शब्दार्थ—दर्पा = गर्वित हुआ। अर्पा = अर्पण किया। टेरना = पुकारना।

अर्थ—रन-मद से मतवाला होकर कुंभकर्ण गर्वित हुआ, मानों संसार को विधाता ने इसे अर्पण कर दिया, अतः, उसे यह ग्रसेगा ॥५॥ सब बड़े-बड़े योद्धाओं ने मुँह मोड़ लिये, वे लौटाने से भी नहीं लौटते, उनके नेत्रों से देख नहीं पड़ता और वे पुकारने से भी नहीं सुनते ॥६॥ कुंभकर्ण ने वानर-सेना को बिडार (तितर-बितर कर) दिया, यह सुनकर राक्षसों की सेना दौड़ी ॥७॥ श्रीरामजी ने देखा कि सेना व्याकुल है और नाना प्रकार की शत्रु-सेना आ गई है ॥८॥

विशेष—(१) 'बिस्व-ग्रसिहि जनु…'—संसार-भर को विधाता की आज्ञा से सदा काल खाया करता है ; यथा—"काल बिलोकत ईस रुख…" (दोहावली ५०४); यह काल रूप है ही, यथा 'काल जनु क्रुद्धा'। इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि मानों विधाता ने आज इसे विश्व भर को खाने के लिये अर्पण कर दिया अर्थात् दे दिया है कि ले खा ले, इसीसे यह बेधड़क खाने को दौड़ रहा है।

'दर्पा'—पहले की जीत से घमंड है कि जिस तरह उस बार सबको मूर्च्छित किया था, उसी तरह अब भी मार लूँगा।

(२) 'मुरे सुभट सब…'—पहले की लड़ाई में केवल सेना भगी थी, इस बार सुभटों ने भी मुँह मोड़ दिये। 'फिरहिं न फेरे' पहले के युद्ध में प्रधान-प्रधान लोग सब मूर्च्छित हो गये थे, इससे सेना को कोई लौटानेवाला नहीं था, पर इस बार लौटाई जा रही है, बहुत समझाने पर लौटी है। वाल्मी० ६।६६। १८–३२ में श्रीअंगदजी का समझाना लिखा है। वही यहाँ संकेत-मात्र से कह दिया गया है।

विशेष—(१) 'काल जनु क्रुद्धा' प्रलय के समय जैसे प्राणिमात्र को काल खा जाता है, वैसे ही यह भी क्रोध करके वानरों की ओर चला ; यथा—"यथैव मृत्युर्हरते युगान्ते स भक्षयामास हरींश्च मुख्यान् ।" (वाल्मी० ६।६७।१४) ।

(२) 'कोटि कोटि कपि धरि धरि खाई ।'''; यथा—"शतानि सप्त चाष्टौ च विंशत्त्रिंशत्तथैव च । संपरिष्वज्य बाहुभ्यां खादन्विपरिधावति ॥" (वाल्मी० ६।६७।१८) ; अर्थात् वह सौ, सात, आठ, बीस, तीस को अपने हाथों से पकड़-पकड़ कर खाता हुआ आगे दौड़ता है ।

'जनु टिड्डी'—जैसे टिड्डियाँ पर्वत-गुफा में छिपकर बचती हैं, वैसे ही वानर-गण भी उसके मुख में जाकर नाक, कान आदि के द्वारा निकल-निकल कर बचेंगे ।

(३) 'कोटिन्ह गहि सरीर'''—; यथा—"कछु मारेसि कछु मर्देसि, कछु मिलयेसि धरि धूरि ।" (सुं० दो० १८) ; ऐसा श्रीहनुमान्‌जी ने किया था, वैसा ही इसने भी किया ।

(४) 'मुख नासा श्रवनन्हि की बाटा ।'''; यथा—"प्रक्षिप्ताः कुम्भकर्णेन वक्त्रे पातालसन्निभे । नासापुटाभ्यां संजग्मुः कर्णाभ्यां चैव वानराः ॥" (वाल्मी० ६।६७।१५) ।

रन - मदमत्त निसाचर दर्पा । बिस्व-ग्रसिहि जनु येहि बिधि अर्पा ॥५॥
मुरे सुभट सब फिरहिं न फेरे । सूझ न नयन सुनहिं नहिं टेरे ॥६॥
कुंभकरन कपि - फौज बिडारी । सुनि धाई रजनीचर - धारी ॥७॥
देखी राम बिकल कटकाई । रिपु अनीक नाना बिधि आई ॥८॥

शब्दार्थ—दर्पा = गर्वित हुआ । अर्पा = अर्पण किया । टेरना = पुकारना ।

अर्थ—रन-मद से मतवाला होकर कुंभकर्ण गर्वित हुआ, मानों संसार को विधाता ने इसे अर्पण कर दिया; अतः, उसे यह ग्रसेगा ॥५॥ सब बड़े-बड़े योद्धाओं ने मुँह मोड़ लिये, वे लौटाने से भी नहीं लौटते, उनके नेत्रों से देख नहीं पड़ता और वे पुकारने से भी नहीं सुनते ॥६॥ कुंभकर्ण ने वानर-सेना को विडार (तितर-बितर कर) दिया, यह सुनकर राक्षसों की सेना दौड़ी ॥७॥ श्रीरामजी ने देखा कि सेना व्याकुल है और नाना प्रकार की शत्रु-सेना आ गई है ॥८॥

विशेष—(१) 'बिस्व-ग्रसिहि जनु'''—संसार-भर को विधाता की आज्ञा से सदा काल खाया करता है ; यथा—"काल बिलोकत ईस रुख'''" (दोहावली ५०४) ; यह काल रूप है ही; यथा 'काल जनु क्रुद्धा' । इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि मानों विधाता ने आज इसे विश्व भर को खाने के लिये अर्पण कर दिया अर्थात् दे दिया है कि ले खा ले, इसीसे यह बेधड़क खाने को दौड़ रहा है ।

'दर्पा'—पहले की जीत से घमंड है कि जिस तरह उस बार सबको मूर्छित किया था, उसी तरह अब भी मार लूँगा ।

(२) 'मुरे सुभट सब'''—पहले की लड़ाई में केवल सेना भगी थी, इस बार सुभटों ने भी मुँह मोड़ दिये । 'फिरहिं न फेरे' पहले के युद्ध में प्रधान-प्रधान लोग सब मूर्च्छित हो गये थे, इससे सेना को कोई लौटानेवाला नहीं था, पर इस बार लौटाई जा रही है, बहुत समझाने पर लौटी है । वाल्मी० ६।६६। १८-३२ में श्रीअंगदजी का समझाना लिखा है । वही यहाँ संकेत-मात्र से कह दिया गया है ।

दोहा—सुनु सुग्रीव विभीषन, अनुज सँभारेहु सैन।
मैं देखउँ खलबल दलहि, बोले राजिव-नयन ॥६६॥

कर सारंग साजि कटि-भाथा। अरि-दल दलन चले रघुनाथा ॥१॥
प्रथम कीन्ह प्रभु धनुष - टँकोरा। रिपुदल बधिर भयउ सुनि सोरा ॥२॥

शब्दार्थ—देखना = प्रतिकार करना, दंड देना। टंकोर = धनुष की प्रत्यंचा का शब्द।

अर्थ—राजीवलोचन श्रीरामजी ने कहा—हे श्रीसुग्रीवजी, श्रीविभीषणजी और श्रीलक्ष्मणजी! सुनो, तुम सेना को सँभालना, मैं इस दुष्ट के बल और दल को तो देखूँ; अर्थात् बल और दल दोनों का नाश करूँ ॥६६॥ हाथ में शार्ङ्ग धनुष और कमर में तर्कश सजाकर श्रीरघुनाथजी शत्रु की सेना को नष्ट करने के लिये चले ॥१॥ पहले प्रभु ने धनुष का टंकोर किया, उस शब्द के हल्ले को सुनकर शत्रु का दल बहरा हो गया ॥२॥

विशेष—(१) 'मैं देखउँ खल···बोले राजिव नयन।'—ऊपर कहा गया—'देखी राम बिकल कटकाई।'—अपनी सेना को व्याकुल देखकर उनका दुःख निवारण करने के लिये बोले, इसलिये 'राजिव नयन' पद दिया गया है। यह विशेषण ऐसे ही कार्य के सम्बन्ध में दिया जाता है, यथा—"राजिव नयन धरे धनु सायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक॥" (बा० दो० १७)। श्रीसुग्रीवजी, श्रीविभीषणजी और श्रीलक्ष्मणजी पर भी करुणा है। ये लोग मेघनाद और कुंभकर्ण से युद्ध करके श्रान्त हैं और सेना भी श्रान्त है। अतएव सेना के साथ साथ इन्हें भी ठहरने को कहा। ये सेना की रक्षा भी करेंगे 'मैं मारउँ' न कहकर 'देखउँ' कहा, क्योंकि उसपर भी करुणा ही है, बाणों से पवित्र करके उसे मोक्ष देना है।

(२) 'कर सारंग ···'—शार्ङ्ग धनुष श्रीरामजी का मुख्य आयुध है, 'शार्ङ्गपाणि' श्रीरामजी का ही नाम है, यथा—"सुमिरत श्रीसारंगपानि छन में सब सोच गयो।" (गी० बा० ४५)। 'रिपुदल बधिर भयो ··'—क्योंकि धनुष टंकोर बड़ा कठोर एवं भयंकर था। 'प्रथम'—युद्धारंभ में पहले।

'अरिदल दलन चले रघुनाथा।'—यहाँ शूरता के सम्बन्ध से रघुवंश सम्बन्धी नाम कहा। 'प्रथम कीन्ह प्रभु धनुष टँकोरा।'—प्रतिपक्षी वीरों को सावधान करने के लिये प्रत्यंचा से शब्द किया जाता है; यथा—"रामस्य धनुषः शब्दं श्रोष्यसि त्वं महास्वनम्। शतक्रतुविसृष्टस्य निर्घोषमशनेरिव॥" (वाल्मी० ५।११।१४), यह श्रीसीताजी ने रावण से कहा है कि इन्द्र के द्वारा चलाये हुए वज्र के शब्द के समान ही श्रीरामजी के धनुष का महा शब्द तुम सुनोगे। 'रिपु दल बधिर भयो', यथा—"प्रभु कीन्ह धनुष टँकोर प्रथम कठोर घोर भयावहा॥" (आ० दो० १८)।

सत्यसंध छाँड़े सर लच्छा। काल सर्प जनु चले सपच्छा ॥३॥
जहँ तहँ चले बिपुल नाराचा। लगे कटन भट बिकट पिसाचा ॥४॥

शब्दार्थ—नाराच = वह तीर जो समूचा लोहे का बना हुआ होता है, इसमें पाँच पक्ष होते हैं, इसीसे इसका चलाना कठिन है और बाणों में चार ही पक्ष होते हैं।

अर्थ—सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामजी ने एक लाख बाण छोड़े, वे इस तरह चले मानों काल रूपी पक्षयुक्त सर्प चले हों ॥३॥ जहाँ तहाँ बहुत-से नाराच् बाण चले, उनसे विकट राक्षस कटने लगे ॥४॥

विशेष—'पिसाचा'—राक्षसों को पिशाच इससे कहा है कि ये बड़े भयंकर हैं। पुनः कटकर गिरते हैं और फिर उठ-उठकर लड़ते हैं, इससे भी पिशाच कहे गये हैं। 'सत्य संध'—श्रीरामजी ने प्रतिज्ञा की है—'मैं देखउँ खल बल दलहिं' इसे पूरा करेंगे, इसलिये लाख बाण छोड़े। एक साथ ही लाख बाण कैसे चलाये ? इसके समाधान में प्राचीन श्लोक है ; यथा—"तूणेनैकशराङ्करेण दशधा संधानकाले शतम्। चापेऽभूत सहस्र लक्ष गमने कोटिश्च कोटिर्वधे॥ अन्ते अर्विनिखर्वि बाणनिकरैस्सीतापतेः शोभितम्। एतद्बाणपराक्रमस्य महिमा सत्पात्रदाने यथा॥" अर्थात् जैसे सत्पात्र में दान देने से उसकी फल-वृद्धि होती है वैसे श्रीरामजी का बाण तर्कश में एक रहता है, हाथ में लेते ही दस हो जाता है, संधान के समय सौ हो जाता है और धनुष पर रखते ही हजार हो जाता है, चलते समय लाख और वध के समय कोटि-कोटि हो जाता है तथा अंत समय में वह अर्ब-खर्ब बाणों का समूह हो जाता है। यह उनके बाण की महिमा है। यहाँ तो ग्रंथकार ने 'छाँड़े' ही कहा है। भाव यह कि छोड़े जाने पर लक्ष हो जाते हैं।

कटहिं चरन उर सिर भुजदंडा। बहुतक बीर होहिं सत खंडा॥५॥
घुर्मि घुर्मि घायल महि परहीं। उठि संभारि सुभट पुनि लरहीं॥६॥
लागत बान जलद जिमि गाजहिं। बहुतक देखि कठिन सर भाजहिं॥७॥
रुंड प्रचंड मुंड बिनु धावहिं। धरु धरु मारु मारु धुनि गावहिं॥८॥

अर्थ—किसी के पैर, किसी की छाती, किसी का शिर और किसी के भुजदंड कटते हैं। बहुत-से वीरों के तो सौ-सौ टुकड़े हो रहे हैं॥५॥ घूम-घूम (चक्कर खा-खा) कर घायल पृथिवी पर गिरते हैं जो अच्छे योद्धा हैं, वे सँभलकर उठकर फिर लड़ते हैं॥६॥ बाण लगते ही वे मेघ की तरह गर्जते हैं और बहुत-से कठिन बाण देखकर भागते हैं॥७॥ बिना शिर के बड़े वेगवान एवं भयंकर धड़ दौड़ते हैं। 'धरो, धरो; मारो, मारो' शब्द कर रहे हैं (ऊँचे स्वर से अलाप रहे हैं)॥८॥

विशेष—'जलद, जिमि गाजहिं'—शब्द की गंभीरता दिखाने को मेघ की उपमा दी गई है। 'धुनि गावहिं'—इन शब्दों के उच्चारण में उत्साह के कारण उन्हें सुख होता है, इससे गाना कहा है। प्रतिपक्षियों को भय उत्पन्न करने के लिये 'धरु धरु…' आदि कहते हैं।

दोहा—छन महँ प्रभु के सायकन्हि, काटे बिकट पिसाच।
पुनि रघुबीर निषंग महँ, प्रबिसे सब नाराच॥६७॥

कुंभकरन मन दीख बिचारी। हति छन माँझ निसाचर-धारी॥१॥
भा अति क्रुद्ध महा बलबीरा। कियो मृगनायक नाद गँभीरा॥२॥

अर्थ—प्रभु के बाणों ने क्षण मात्र में विकट पिशाचों को काट डाला, फिर सब बाण आकर रघुवीर श्रीरामजी के तर्कश में प्रवेश कर गये॥६७॥ कुंभकर्ण ने मन में विचारकर देखा कि (मेरे देखते हुए) क्षण मात्र में निशाचर सेना मार डाली गई॥१॥ वह महा बलवीर बड़ा क्रुद्ध हुआ और उसने गंभीर सिंहनाद किया॥२॥

विशेष—(१) 'भा अति क्रुद्ध'—पहली वार आया, तब इसे क्रोध नहीं था, दूसरी वार इसे क्रोध हुआ; यथा—"नाक कान काटे जिय जानी । फिरा क्रोध करि-भइ मन ग्लानी ॥" (दो० ६४), तब इसे 'काल जनु क्रुद्धा' कहा गया था। अब उससे भी अत्यन्त अधिक क्रोध किया, क्योंकि अपने आश्रितों की रक्षा नहीं कर सका, तब 'अति क्रुद्ध' कहा गया—क्रोध उत्तरोत्तर बढ़ा।

(२) 'मृगनायक नाद'—वीर वानरों को मत्त गज मानकर उन्हें नाश करने का उत्साह दिखाते हुए सिंह की तरह गर्जा अर्थात् निर्भीकता से गर्जा।

अरण्यकाड के खरदूषण युद्ध और यहाँ कुंभकर्ण के युद्ध-वर्णन के भाव एवं शब्दों के प्रबन्ध एक-से हैं। वहाँ के 'धारि' 'विकट पिसाच' और 'विपुल नाराच' आदि शब्द यहाँ भी आये हैं, तात्पर्य यह कि यहाँ की सेना भी उन्हीं की तरह भयंकर एव मायावी है।

कोपि महीधर लेइ उपारी। डारइ जहँ मर्कट भट भारी ॥३॥
आवत देखि सैल प्रभु भारे। सरन्हि काटि रज सम करि डारे ॥४॥
पुनि धनु तानि कोपि रघुनायक। छाँड़े अति कराल बहु सायक ॥५॥
तनु महँ प्रबिसि निसरि सर जाहीं। जिमि दामिनि घन माँझ समाहीं ॥६॥

अर्थ—क्रोधित हो पर्वत उखाड लेता है और जहाँ भारी वानर योद्धा होते हैं, वहीं डाल देता है ॥३॥ भारी पर्वतों को आते देखकर उन्हें प्रभु ने बाणों से काटकर धूल के समान कर डाले ॥४॥ फिर धनुष को तानकर श्रीरघुनाथजी ने क्रोधित होकर बहुत-से अत्यन्त भयंकर बाण छोड़े ॥५॥ बाण उसके शरीर मे घुसकर (उसपार) निकल जाते हैं, जैसे बिजलियाँ मेघ मे समा रही हों ॥६॥

विशेष—(१) 'भट भारी'—भारी योद्धाओं पर पर्वत चलाता है, सामान्यों से नहीं लड़ता। 'सैल प्रभु भारे'—ऐसे भारी पर्वत हैं कि उनके गिरने पर दूर तक की सेना नाश हो जाती है। 'सरन्हि मारि'—पर्वतों को विदीर्ण करने के लिये वज्रास्त्र बाण चलाये। 'पुनि'—क्योंकि ऊपर—'सरन्हि काटि ···' मे प्रहार कहा गया है। 'अति कराल ···', यथा—"तब चले बान कराल। फुंकरत जनु बहु व्याल ॥··· अवलोकि खर तर तीर।" (आ० दो० १९)।

(२) 'जिमि दामिनि घन माँझ समाहीं।'—यहाँ कुंभकर्ण का काला शरीर मेघ है और श्रीरामजी के सुवर्ण भूपित बाण बिजली हैं, यथा—"नीलाञ्जनचयप्रख्य शरैः काञ्चनभूषणैः। आपीड्यमान शुशुभे मेघैः सूर्यइवांशुमान् ॥" (वाल्मी० ६।६७।१०४), अर्थात् सुवर्ण लगे हुए बाणों से पीड़ित अजन राशि के समान कुंभकर्ण मेघों से ढँके हुए सूर्य के समान शोभित होने लगा।

सोनित स्रवत सोह तन कारे। जनु कज्जलगिरि गेरु पनारे ॥७॥
बिकल बिलोकि भालु कपि-धाये। बिहँसा जबहि निकट कपि आये ॥८॥

दोहा—महा नाद करि गर्जा, कोटि कोटि गहि कीस।
महि पटकइ गजराज इव, सपथ करइ दससीस ॥६८॥

अर्थ—काले शरीर में रुधिर बहता हुआ ऐसा शोभा देता है, मानों काजल के पर्वत में गेरू के पनाले बह रहे हों ॥७॥ उसे व्याकुल देखकर वानर और भालू दौड़े, ज्योंही सब समीप आये, वह विशेष हँसा ॥८॥ बड़ा घोर शब्द करके गर्जा और करोड़ों-करोड़ों वानरों को पकड़-पकड़कर पृथिवी पर गजराज की तरह पटकता है और रावण की दोहाई देता है ॥८॥

विशेष—(१) 'जनु कज्जलगिरि…'—काला पर्वताकार कुंभकर्ण कज्जल गिरि के समान है। धारा प्रवाह खून बह रहा है, इससे पनाले की उपमा दी है और गेरू और रुधिर लाल रंग के होते हैं, यह समता है। कज्जल-गिरि की तरह यह शीघ्र ही नाश भी होगा।

(२) 'बिहँसा'—निरादर के लिये हँसा कि पहले भय से भगे थे, अब मुझे घायल एवं निर्बल जान कर फिर आये हैं, इसका फल चखाता हूँ। पहले कुंभकर्ण ने कपि-सेना को तितर-बितर किया, तब सुनकर निशाचर सेना दौड़ी थी। वैसे ही इधर श्रीरामजी ने कुंभकर्ण को घायल किया, तब देखकर कपि सेना दौड़ी। वे सुनकर आये थे, क्योंकि पास नहीं थे और ये देखकर आये, क्योंकि पहले के डरे हुए हैं, इससे वानरों ने जब उसे विकल देखा, तब वे दौड़ पड़े।

(३) 'गजराज इव'—इसका पुरुषार्थ क्रमशः घटता जाता है, जैसे कि पहले यह 'बज्राघात समान' गर्जा था, दूसरी बार 'मृगनायक नाद' कहा गया। यहाँ तीसरी बार 'गजराज इव' महानाद कहा गया। दशशीस की शपथ करके प्रतिज्ञा-पूर्वक प्रहार करता है और उसे सत्य करता है। इस तरह रावण में अपनी भक्ति भी दिखाता है।

भागे भालु बलीमुख - जूथा। बृक बिलोकि जिमि मेष-बरूथा ॥१॥
चले भागि कपि-भालु भवानी। बिकल पुकारत आरत बानी ॥२॥
यह निसिचर दुकाल सम अहई। कपि-कुल-देस परन अब चहई ॥३॥
कृपा-बारिधर राम खरारी। पाहि पाहि प्रनतारति हारी ॥४॥

शब्दार्थ—बृक = भेड़िया, हुँडार। मेष = भेड़। दुकाल (दुष्काल) = अकाल।

अर्थ—भालुओं और वानरों के यूथ ऐसे भगे जैसे भेड़ों का झुंड भेड़िये को देखकर भागता है ॥१॥ हे पार्वती! वानर और भालू व्याकुल होकर आर्त्त वाणी से पुकारते हुए भाग चले ॥२॥ (वे आर्त्त स्वर से कहते हैं कि) यह निशाचर अकाल के समान है जो वानर कुल-रूपी देश पर अब पड़ना चाहता है ॥३॥ हे कृपा रूपी मेघ! हे खर एवं दुष्टों के शत्रु श्रीरामजी !! हे शरणागत के दुःख हरनेवाले !!! हमारी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये ॥४॥

विशेष—(१) 'जिमि मेष-बरूथा'—भालू और वानर एक के पीछे एक एवं झुंड-के-झुंड भगे, इसलिये उन्हें भेड़ की उपमा दी, इधर-उधर देखते भी नहीं।

(२) 'आरत बानी'—यही है जो आगे कहते हैं—

(३) 'दुकाल'; यथा—"कलि बारहिं बार दुकाल परै, बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै।" (उ० दो० १००); "परेउ दुकाल बिपत्ति बस, तब मैं गयउँ बिदेस।" (उ० दो० १०४); कुंभकर्ण को अकाल कहा, तब 'कपि कुल' को देश कहा, जिसपर पड़ना चाहता है। अकाल में देश की प्रजा बहुत

मरती है, वैसे ही इससे वानर वंश ही नाश हो जायगा ; यथा—"ते भक्ष्यमाणा हरयो रामं जग्मुस्तदा-गतिम् । कुम्भकर्णो भृशं क्रुद्धः कपीन्खादन्प्रधावति ॥" (वाल्मी० ६।६७।१७) ; अर्थात् कुंभकर्ण के खाये जाने के भय से वानर श्रीरामजी की शरण गये, क्योंकि वह अत्यन्त क्रुद्ध होकर सब वानरों को खाता हुआ घूमता था ।

(४) 'कृपा-वारिधर राम खरारी ।'—मेघ वर्षा द्वारा अन्न उपजाकर लोगों को जिलाते हैं, वैसे आप कृपा-दृष्टि की वृष्टि करके हमें जिलाइये । मेघ सदा जल बरसाते हैं, वैसे आप सदा से आश्रितों के संकट पर कृपा करते आये हैं ; यथा—"कपि अकुलाने माया देखे ।···कृपा दृष्टि कपि भालु बिलोके । भये प्रबल रन रहहिं न रोके ॥" (दो० ५०) ; तथा—"देखि निबिड़ तम दसहुँ दिसि, कपि दल भयउ खँभारा ।···पुनि कृपाल हँसि चाप चढ़ावा ।···भालु बलीमुख पाइ प्रकासा । धाये हरषि···" (दो० ४५) ।

'खरारी' का भाव यह कि खर आदि महामायावी थे और बड़े-बड़े वर पाये थे, उन्हें भी आपने कौतुक मात्र में मार डाला, तो यह क्या है ? पुनः आप दुष्टों के नाशक हैं । अतः, इस दुष्ट को भी मारिये ।

'पाहि पाहि···'—आप शरणागत रक्षक हैं । आपने श्रीसुग्रीवजी, श्रीविभीषणजी आदि शरणागतों की भी रक्षा की है, वैसे हमारी भी रक्षा करें, यहाँ 'पाहि पाहि' में दुःख की वीप्सा है ।

सकरुन बचन सुनत भगवाना । चले सुधारि सरासन बाना ॥५॥
राम सेन निज पाछे घाली । चले सकोप महा बलसाली ॥६॥

अर्थ—करुणा भरे वचनों को सुनते ही धनुष-बाण सुधार कर भगवान् श्रीरामजी चले ॥५॥ महा बलवान् श्रीरामजी ने सेना को अपने पीछे कर दिया और क्रोध के साथ चले (आगे बढ़े) ॥६॥

विशेष—(१) 'सकरुन बचन सुनत···'—ऊपर 'बिकल पुकारत आरत बानी' कहा और यहाँ उसे 'सकरुन बचन' कहकर उपसंहार किया ; अर्थात् इनके बीच का आर्त्त वचन है । 'भगवाना'—क्योंकि दुकाल से भगवान् ही रक्षा करते हैं । 'चले सुधारि···'—यहाँ चलना सेना से आगे बढ़ने को कहा है । पहले भी वानरों ने प्रभु का स्मरण किया था, तब उन्होंने चल कर रक्षा की थी ; यथा—"अरि दल दलन चले रघुनाथा ।" (दो० ६६) ; पर इस बार आर्त्त होकर पुकार की, इससे 'चले सकोप···' कहा गया है । जब आश्रितों पर विपत्ति देखते हैं और वे पुकार करते हैं, तब आपको कोप होता है और आश्रितों पर तुरत कृपा करते हैं ; यथा—"सभय देव करुना निधि जान्यो ।···तब प्रभु कोपि तीव्र सर लीन्हा । धर ते भिन्न तासु सिर कीन्हा ॥" (दो० ६६) । तथा—"तब सत बान सारथी मारेसि । परेउ भूमि जय राम पुकारेसि ॥ राम कृपा करि सूत उठावा । तब प्रभु परम क्रोध कहँ पावा ॥" (दो० ८९) ।

'सेन निज पाछे घाली'—इसमें प्रणतपालकता है ; यथा—"आवत देखि सक्ति खर धारा । प्रनतारति हर बिरद सँभारा ॥ तुरत बिभीषन पाछे मेला । सन्मुख राम सही सो सेला ॥" (दो० ९२) ; 'महा बल-साली'—का यह भी भाव है कि महाबल (कुम्भकर्ण) के भी शालक (दुःख देनेवाले) हैं ; यथा—"खल सालक बालक ।" (आ० दो० १८) ।

(२) कुम्भकर्ण के तीन बार के युद्ध में यह दिखाया गया है कि जीव जब तक अपने बल के भरोसे रहते हैं, प्रभु उनसे बेपरवाह रहते हैं और जब वे शरण होकर रक्षा चाहते हैं, तब प्रभु सहायक होते हैं, जैसे कि पहले युद्ध में—'एतना कपिन्ह' सुना··किलकिलाइ धाये बल बाना ॥" (दो० ६३) ; तब—'अंगदादि कपि मुर्छित करि···" (दो० ६४) ; पर प्रभु रक्षा के लिये नहीं आये ।

दूसरी बार प्रभु की जय-जयकार करके चले—"जय जय जय रघुबंस मनि, धाये···" (दो॰ ६५), तब प्रभु ने स्वयं देखकर रक्षा की ; यथा—"देखी राम बिकल कटकाई।···मैं देखउँ खल बल दलहि, बोले राजिव नयन ॥" (दो॰ ६६)।

तीसरी बार कुंभकर्ण को व्याकुल जानकर फिर सब अपने बल पर दौड़े ; यथा—"बिकल बिलोकि भालु कपि धाये।" तब उसने सबको फिर पटका ; यथा—"महि पटकै गजराज इव···" तब देखते हुए भी प्रभु ने रक्षा नहीं की, जब फिर ये लोग अपने बल का भरोसा छोड़कर प्रभु की शरण गये और कहा—"पाहि पाहि प्रनतारति हारी।" तब शीघ्र ही प्रभु ने रक्षा की ; यथा—"राम सेन निज पाछे घाली। चले सकोप···"

खैंचि धनुष - सर सत संधाने। छूटे तीर सरीर समाने ॥७॥
लागत सर धावा रिस भरा। कुधर डगमगत डोलति धरा ॥८॥
लीन्ह एक तेहि सैल उपाटी। रघुकुल-तिलक भुजा सोइ काटी ॥९॥
धावा बाम बाहु गिरि धारी। प्रभु सोउ भुजा काटि महि पारी ॥१०॥
काटे भुजा सोह खल कैसा। पच्छ-हीन मंदर गिरि जैसा ॥११॥
उग्र बिलोकनि प्रभुहि बिलोका। ग्रसन चहत मानहुँ त्रैलोका ॥१२॥

शब्दार्थ—उपाटना (उत्पाटन)=उखाड़ना। पारना = डालना, गिराना।

अर्थ—धनुष खींचकर उसपर सौ बाण संधान किये, वे तीर छूट कर उसके शरीर में समा गये ॥७॥ बाणों के लगते ही वह क्रोध भरा हुआ दौड़ा (उससे) पर्वत डग मगाने और पृथिवी हिलने लगी ॥८॥ उसने एक पहाड़ उखाड़ लिया, रघुकुल शिरोमणि श्रीरामजी ने वह भुजा काट डाली ॥९॥ (तब वह) बायें हाथ में पहाड़ लेकर दौड़ा, प्रभु ने वह भुजा भी काटकर पृथिवी पर गिरा दी ॥१०॥ भुजाओं के कटने पर वह दुष्ट कैसा शोभित है, जैसे पक्ष हीन होने पर मंदराचल शोभा पावे ॥११॥ उसने कड़ी दृष्टि से प्रभु को देखा, मानों वह त्रैलोक्य को ग्रसना चाहता है ॥१२॥

विशेष—(१) 'रघुकुल तिलक···'—जिस अंग के द्वारा अपराध हुआ उसीको काटा ; अर्थात् उचित दंड दिया, इसपर कुल संबंधी नाम लिखा है ; क्योंकि यह कुल न्यायशील है। 'काटे भुजा सोह खल ··'—जब पर्वतों के पक्ष थे, तब वे उड़ा करते थे, जिससे सृष्टि में हानि पहुँचती थी, इसीसे इंद्र ने उनके पक्ष काट डाले, तब वे अचल हो गये, और हानिकर न रह जाने से वे शोभा को प्राप्त हुए। वैसे इसकी भुजा कट गई, तब यह कोई पुरुषार्थ न कर सकेगा और न सेना को हानि पहुँचेगी, इससे इसका सोहना कहा गया।

(२) 'उग्र बिलोकनि···'—महा तीक्ष्ण दृष्टि से। पहले लंका से चला था, तब भक्ति भाव से देखने की वृत्ति थी ; यथा—"लोचन सुफल करउँ मैं जाई।" (दो॰ ६३), अब इसके स्वभाव के अनुकूल वैर-भाव की दृष्टि आ गई, क्योंकि इसी भाव से इसे मुक्त होना है। 'त्रैलोका'—क्योंकि यह त्रिलोकीनाथ को ही निगलना चाहता है।

दोहा—करि चिक्कार घोर अति, धावा बदन पसारि।
गगन सिद्ध सुर त्रासित, हा हा हेति पुकारि ॥६९॥

सभय देव करुनानिधि जान्यो। श्रवन प्रजंत सरासन तान्यो ॥१॥
बिसिख निकर निसिचर मुख भरेऊ। तदपि महाबल भूमि न परेऊ ॥२॥
सरन्हि भरा मुख सन्मुख धावा। काल त्रोन सजीव जनु आवा ॥३॥
तब प्रभु कोपि तीव्र सर लीन्हा। धर ते भिन्न तासु सिर कीन्हा ॥४॥

अर्थ—अत्यन्त घोर चिक्कार करके मुँह फैलाकर दौड़ा। आकाश में सिद्ध और देवता डर कर 'हा, हा, हा' पुकार करने लगे ॥६९॥ करुणासागर श्रीरामजी ने देवताओं को भयभीत जानकर धनुष को कान तक तानकर ॥१॥ *बाण समूह से निशाचर का मुँह भर दिया, तब भी वह महा बलवान् पृथिवी पर नहीं गिरा ॥२॥* बाणों से मुख भरा हुआ वह प्रभु के सामने दौड़ा, मानों जीव सहित काल रूपी तर्कश आ रहा है ॥३॥ तब प्रभु ने कोप करके तीव्र बाण लिया और उसका शिर धड़ से अलग कर दिया ॥४॥

विशेष—(१) 'करि चिक्कार'—इसे पूर्व 'गजराज' कहा गया है, गज का गर्जन चिक्कार कहाता है, यथा—"चिक्करहिं दिग्गज डोल महि..." (सुं० दो० ३५), इसी से यहाँ 'चिक्कार' कहा है। 'हा, हा, हा-इति'—यह अत्यंत कष्ट सूचक है।

(२) 'महाबल'—क्योंकि इतने राम-बाणों से भी नहीं गिरा। 'काल त्रोन सजीव...'—श्रीरामजी के बाण कालरूप हैं, यथा—"सत्यसंध छाँड़े सर लच्छा। काल सर्प जनु चले सपच्छा ॥" (दो० ६६); और इसका मुँह बाणों से भरा हुआ है। अतः, उसे कालरूप बाणों से भरा तर्कश कहा है। 'तर्कश दौड़ता नहीं' पर यह दौड़ता हुआ आता है, इससे 'सजीव' भी कहा कि मानो प्राण युक्त है, इससे चल रहा है।

सो सिर परेउ दसानन आगे। बिकल भयउ जिमि फनि मनि त्यागे ॥५॥
धरनि धसइ धर धाव प्रचंडा। तब प्रभु काटि कीन्ह दुइ खंडा ॥६॥
परे भूमि जिमि नभ ते भूधर। हेठ दाबि कपि भालु निसाचर ॥७॥
तासु तेज प्रभु-बदन समाना। सुर मुनि सबहि अचंभव माना ॥८॥

अर्थ—वह शिर रावण के आगे गिरा, उसे देखकर रावण ऐसा व्याकुल हुआ, जैसा मणि के खो जाने से सर्प ॥५॥ धड बड़े वेग से दौड़ता था, जिससे पृथिवी धँसी जाती थी, तब प्रभु ने काटकर उसके दो टुकडे कर दिये ॥६॥ अपने नीचे वानरों, रीछों और निशाचरों को दबाते हुए दोनों टुकडे पृथिवी पर गिरे, जैसे आकाश से पर्वत गिरे ॥७॥ उसका तेज प्रभु के मुख मे समा गया, (देखकर) सुर-मुनि सभी ने आश्चर्य माना ॥८॥

विशेष—(१) 'सो सिर परेउ दसासन आगे।'—यहाँ श्रीलक्ष्मणजी पर लगी हुई शक्ति का

बदला चुकाया गया है कि तुमने हमारे भाई को मूर्च्छित करके हमें रुलाया है, वैसे ही अपने भाई की दशा देखकर तुम भी रो लो। भाई का बदला भाई से ही दिया गया, इसी से मेघनाद का शिर उसके आगे नहीं भेजा गया, केवल शरीर ही लंका-द्वार पर भेजा गया। क्योंकि अब बदला चुक गया है, अधिक क्यों करें ? 'धरनि धसे ..'— यह उसके पैर का बल है।

(२) 'तासु तेज प्रभु बदन समाना।'—यहाँ तेज से कोई-कोई जीवात्मा का अर्थ करते हैं, यह ठीक नहीं। 'तेजस्' अग्नि का नाम है, यहाँ अग्निलपट के समान उसके तेज-प्रताप आदि से तात्पर्य है। यह श्रीरामजी के तेज के अंश से था ; यथा—"यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥" (गीता १०।४१) ; अतः, उसका तेज अपने परम कारण रूप श्रीरामजी के मुख में प्रवेश कर गया, अग्नि का परम कारण श्रीरामजी का मुख है; यथा—"मुखादग्निरजायत।" (पुरुषसूक्त)।

जीवात्मा तेज से भिन्न वस्तु है, वह अणु है। अतः, यह किसी को भी दृष्टि का विषय नहीं हो सकता। बालाग्र (बाल की नोक) के सौ भाग करे, फिर एक-एक के भी सौ भाग करे, वैसा सूक्ष्म जीव का स्वरूप है; यथा—"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः।" (मुं० ३।१); "बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः सविज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥" (श्वे० ५।९।१), अर्थात् यह जीवात्मा अणु है, चित्त से जानने योग्य है। केश के अग्रभाग का सौ भाग करो, पुनः उस शतांश का सौ भाग करो, उतने ही परिमाण वाला, जीव को जानना चाहिये, जीव अनन्त हैं। इसका अनुभव ज्ञान-दृष्टि से होता है; यथा— "आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः। आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥" (गीता २।२९) ; और यहाँ तो 'सुरमुनि सबहिं अचंभव माना।' कहा गया है। ऐसा ही रावण के मरण-प्रसंग में भी—'हरषे देखि संभु चतुरानन' कहा गया है। इन सबों ने देखा और इनका आश्चर्य मानना लिखा है। अन्यत्र भी कहा है; यथा—"चैद्यदेहोत्थितं ज्योतिर्वासुदेवमुपाविशत्। पश्यतां सर्व भूताना-मुल्केव भुविखाच्च्युता ॥" (भाग० १०।७४।४५); अर्थात् शिशुपाल की देह से उठा हुआ तेज सब प्राणियों के देखते हुए वासुदेव भगवान् के मुख में प्रवेश कर गया, जैसे आकाश से गिरी हुई उल्का पृथिवी में प्रवेश करती है। तथा—"ज्याद्योपमकरोद्वीरो वीरस्यैवाग्रतस्तदा। ततः परशुरामस्य देहान्निष्क्रम्य वैष्णवम्। पश्यतां सर्वदेवानां तेजो राममुखे विशत् ॥" (नृसिंहपुराण); अर्थात् सब देवताओं के देखते हुए परशुरामजी का वैष्णव तेज उनकी देह से निकलकर श्रीरामजी के मुख में समा गया। इन दोनों जगह के प्रमाणों में भी 'सर्व भूतानां, और 'सर्व देवानां' का देखना कहा गया है। तब यह तेज जीवात्मा नहीं हो सकता। पुनः यह भी परशुराम प्रसंग से स्पष्ट है कि जब इनका तेज श्रीरामजी के मुख में चला गया, तब पीछे भी परशुरामजी जीते जागते रहे। तब तो उक्त तेज को जीव से भिन्न ही मानना होगा।

यदि कहें कि फिर सुर मुनि आदि को आश्चर्य क्यों हुआ, तो उत्तर यह है कि औरों का तेज प्राकृत तेज में ही मिलता है, पर इसका तेज परम कारण रूप रामजी के मुख में मिला, अतः, जीवात्मा भी अपने परम कारण (अंशी) के धाम को निस्संदेह प्राप्त हुआ; यथा—"ताहि दीन्ह निज धाम।" (दो० ७०) ; श्रीरामबाण से शुद्ध होकर इसका जीवात्मा अर्चिरादि मार्ग से परमगति (साकेतधाम) को गया; यथा—"तदस्त्रं तस्य वीरस्य स्वर्गमार्गप्रभावनम्। रामबाणासनक्षिप्तमावहत्परमांगतिम् ॥" वाल्मी० ३। ७।८) ; अर्थात् वह अस्त्र उस वीर को स्वर्ग (साकेत) में ले जानेवाला हुआ, श्रीरामजी के धनुष से छूटे हुए उस बाण ने उसको परम गति (मुक्ति) दी।

मुक्त जीवों की परधाम यात्रा अर्चिरादि मार्ग से होती है, वह आँख से नहीं देखी जाती, शास्त्र

द्वारा जानी जाती है। इसे भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजी ने निर्णय करके लिखा है; यथा—"ततश्चार्य क्रमः सम्पन्न. – नाड़ीरश्मिप्रवेशानन्तरमर्चिषमर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षादुत्तरायणमासांस्तेभ्यः संवत्सरं संवत्सराद्वायुं वायोरादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो वैद्युतं वैद्युताद्वारुणं वारुणादैन्द्रमैन्द्राद्धातृलोकं धातृलोकाद्विरजां (प्राप्य) तत्र स्नात्वा श्रीसाकेतलोकद्वारमिति (प्राप्नोतीति) ॥" (ब्रह्मसूत्र-आनंदभाष्य ४।३।१); अर्थात् इससे यह क्रम सिद्ध हुआ, कि नाड़ीरश्मि के प्रवेश के अनन्तर (१) अर्चिष= अग्निलोक में जीव जाता है, वहाँ से (२) दिन में, वहाँ से (३) शुक्लपक्ष में, वहाँ से (४) उत्तरायण मासों में, वहाँ से (५) संवत्सर में, वहाँ से (६) वायु मे, वहाँ से (७) आदित्य में, वहाँ से (८) चन्द्रमा में, वहाँ से (९) वैद्युत में, वहाँ से (१०) वरुण में, वहाँ से (११) इन्द्रलोक में, वहाँ से (१२) ब्रह्माजी के लोक में पहुँचकर उसके पश्चात् विरजा नदी में स्नान करके (सूक्ष्म शरीर छोड़ दिव्य देह प्राप्त कर दिव्यालङ्कारों से अलंकृत हो) श्रीसाकेत लोक को प्राप्त होता है।

अर्चिरादि शब्दअर्चिरादि अभिमानी देवताओं के अर्थ को कहते हैं; यथा—"अर्चिरादिशब्दानाञ्चार्चिराद्यभिमानिनिदेवतापरत्वमिति प्रागेवाभिहितम् ॥" (ब्रह्मसूत्र-आनंदभाष्य ४।२।१)।

विद्युत् लोक से आये हुए देव के साथ ही ज्ञानी ब्रह्मलोक पर्यन्त जाता है; यथा—"वैद्युतेन विद्युल्लोकादागतेनामानवेनैवातिवाहिकेन विद्युत उपरिष्टाद्ब्रह्मविदामाब्रह्मप्राप्तेर्गमनम् ।" (ब्रह्मसूत्र आनंदभाष्य ४।३ ५); अर्थात् अर्चि आदि अपने लोक पर्यन्त ही रहते हैं। विद्युत् लोक का देवता ब्रह्म प्राप्ति तक जीव के साथ जाता है। उसके आगे के वरुण और इन्द्र भी अपनी-अपनी सीमा से लौट आते हैं। अपने लोक से प्राप्त होकर ब्रह्माजी वैद्युत के साथ-साथ अंत तक जाते हैं।

यहाँ तेज मात्र का मुख में प्रवेश करना स्पष्ट कहा गया है, जीवात्मा की मुक्ति उपर्युक्त शास्त्रप्रमाण एवं अनुमान से जानी गई, स्पष्ट नहीं कही गई, क्योंकि चार कल्पों की कथा एक साथ चल रही है। उनमें जय-विजय के कल्पवाले कुंभकर्ण की मुक्ति अभी नहीं हुई, अगले जन्म में होगी।

कुंभकर्ण के साथ श्रीलक्ष्मणजी का युद्ध होना नहीं कहा गया। इसका कारण वाल्मी० ६।६७।१०७–११४ में कहा गया है कि श्रीलक्ष्मणजी ने युद्ध के लिये बाण चलाये, तब कुंभकर्ण ने इनकी प्रशंसा कर इनसे अनुमति लेकर श्रीरामजी से ही लड़ना चाहा, तब श्रीलक्ष्मणजी ने कहा, अच्छा, जाओ श्रीरामजी वहाँ स्थित हैं।

सुर दुंदुभी बजावहि हरषहिं। अस्तुति करहिं सुमन बहु बरषहिं ॥९॥
करि बिनती सुर सकल सिधाये। रुचिर बीररस प्रभु मन भाये ॥१०॥
गगनोपरि हरि-गुनगन गाये। तेही समय देवरिषि आये ॥११॥
बेगि हतहु खल कहि मुनि गये। राम समर-महि सोभत भये ॥१२॥

अर्थ—देवता नगाड़े बजाते और प्रसन्न होते हैं। स्तुति करते और बहुत फूल बरसाते हैं ॥९॥ विनती करके सब देवता चले गये, उसी समय देवर्षि नारदजी आये ॥१०॥ उन्हों ने आकाश में ऊपर से भगवान् के सुन्दर वीररस के गुण समूह का गान किया, वे प्रभु के मन को अच्छे लगे ॥११॥ मुनि यह कहकर चले गये कि दुष्ट को शीघ्र मारिये, श्रीरामजी समर भूमि में शोभित हो रहे हैं ॥१२॥

विशेष—'सुमन बहु बरषहिं'—प्रभु की जीत और अपने शत्रु-नाश के हर्ष में एवं अपनी सेवा प्रकट करने में फूल बरसते हैं। 'देव रिषि आये'—क्योंकि ये कुंभकर्ण के ज्ञानोपदेष्टा हैं और रुद्र-गण वाले कल्प के आशीर्वाद दाता भी हैं; यथा—"होइहउ मुकुत न पुनि संसारा।" (बा० दो० १२८); दो में एक यहाँ मुक्त हुआ, दूसरे के लिये भी कहकर जाते हैं—'बेगि हतहु खल...'। 'रुचिर बीररस...'—समय के अनुसार वीररस के गुण हैं, इससे प्रभु को प्रिय लगे। 'हरि गुन गन'—से जनाया कि इस समय जो पृथिवी के भार हरण एवं भक्तों के क्लेश हरणवाले गुण हैं उन्हीं को गाया है। 'बेगि हतहु खल'—यहाँ 'खल' से रावण और मेघनाद दोनों को लेना चाहिये। 'सोभत भये'—विजय श्री से शोभित हुए।

छंद—संग्राम-भूमि बिराज रघुपति अतुलबल कोसलधनी।
श्रम-बिंदु मुख राजीव-लोचन अरुन तन सोनित-कनी॥
भुज जुगल फेरत सर-सरासन भालु-कपि चहुँदिसि बने।
कह दास तुलसी कहि न सक छबि सेष जेहि आनन घने॥
दोहा—निसिचर अधम मलाकर, ताहि दीन्ह निज धाम।
गिरिजा ते नर मंदमति, जे न भजहिं श्रीराम॥७०॥

शब्दार्थ—श्रम = पसीना। सोनित (शोणित) = रक्त, खून। कनी (कण) = बहुत छोटा टुकड़ा, शोणित कण = खून के छींटे। फेरना = घुमाना।

अर्थ—अतुलित बलवाले कोशल राज रघुकुल के स्वामी रण-भूमि में विराजमान हैं। उनके मुख पर पसीने की बूँदें, नेत्र लाल कमल के समान और शरीर पर रक्त के छींटें हैं॥ दोनों हाथों से धनुप-बाण फेर रहे हैं और (उनके) चारों ओर बानर और भालू सुशोभित हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि प्रभु की छवि का शेष भी नहीं वर्णन कर सकते, जिनके बहुत-से मुख हैं॥ हे गिरिजे! निशाचर कुंभकर्ण अधम और पापों की खान था, उसे श्रीरामजी ने अपना धाम दिया, वे मनुष्य मंद बुद्धि हैं, जो श्रीरामजी का भजन नहीं करते॥७०॥

विशेष—(१) 'तन सोनित कनी'—ये रक्त बिन्दु कुंभकर्ण आदि के तन के हैं, बाण लगने पर उड़कर आ पड़े हैं। 'भुज जुगल फेरत...', यथा—"कर कमलन्हि धनु-सायक फेरत। जिय की जरनि हरत हँसि हेरत॥" (अ० दो० ११८); यह क्रीड़ा रूप में एवं विजय सूचक मुद्रा है।

(२) 'निज धाम'—यह शब्द चारों कल्पों में घटित होगा। धाम के लोक, तेज, स्वरूप आदि अर्थ हैं। जिस कल्प में अगले युग में मुक्त होना है, उसमें 'स्वरूप' अर्थ लेना चाहिये, अर्थात् उसने अपने उपयुक्त स्वरूप को पाया और तीन कल्पों के लिये बैकुंठ, साकेत आदि तो 'लोक' अर्थ में हैं ही।

दिन के अंत फिरीं दोउ अनी। समर भई सुभटन्ह श्रम घनी॥१॥
रामकृपा कपिदल - बल बाढ़ा। जिमि तृन पाइ लाग अति डाढ़ा॥२॥

अर्थ—दिन के अंत होने पर दोनों ओर की सेनाएँ फिरीं, (आज की) लड़ाई में सुभटों को बहुत बड़ी थकावट हुई ॥१॥ श्रीरामजी की कृपा से वानर सेना का बल ऐसा बढ़ा, जैसे तृण का सहारा पाकर डाढ़ा (आग) खूब लगती है ; अर्थात् ज्वाला सहित भभकती है ॥२॥

विशेष—(१) 'दिन के अंत फिरीं···'—कुंभकर्ण का वध कुछ दिन रहते ही हुआ, ऐसा जान पड़ता है। इसी से बाद में दिन का अंत होना कहा गया। उसके मरने के पीछे उसकी बची हुई सेना को वानर सेना हटाती रही। अथवा दोनों पक्ष अपनी-अपनी सेना सँभालते रहे, अब दोनों का-लौटना कहा गया। कुंभकर्ण की सहायता में जो सेना रावण ने भेजी थी उसमें से जो बची थी, उसका यहाँ लौटना कहा गया है। पुनः इधरवाली इधर लौटी।

पहले दिन की युद्ध-समाप्ति पर कहा गया था ; यथा—"निसा जानि कपि चारिउ अनी। आये जहाँ कोसला धनी॥" (दो॰ ४६) । उस दिन वानर-राक्षसों का युद्ध हुआ। उसमें अंत में वानर विजयी होकर लौटे, क्योंकि वे राम-प्रताप समझकर और श्रीरामजी के चरणों में प्रणाम करके गये थे।

दूसरे दिन की युद्ध-समाप्ति पर कहा गया था ; यथा—"संध्या भई फिरी दोउ बाहिनी।···" (दो॰ ५३) ; उसमें मेघनाद से युद्ध हुआ, जिसमें पहले वह श्रीहनुमान्जी से हारा था, क्योंकि श्रीहनुमान्जी के हृदय में सदा ही—'बसहिं राम सर-चाप-धर' की व्यवस्था है। पीछे उसने वरदानी शक्ति से श्रीलक्ष्मणजी को मूर्च्छित कर विजय के साथ गया, क्योंकि उस दिन युद्ध में प्रस्थान के समय क्रोधावेश में श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामजी को प्रणाम करना भूल गये थे।

आज तीसरे दिन के युद्ध की समाप्ति यहाँ—'दिन के अंत···' पर कही गई। आज तीन बार सेना लड़ने को दौड़ी, पर तीनों बार उसे पराजित नहीं कर सकी। क्योंकि एक बार भी प्रभु को प्रणाम करके जाना नहीं कहा गया है। अंत में प्रभु ने उसे मारा।

'समर भई सुभटन्ह श्रम घनी।'—क्योंकि कुंभकर्ण ऐसे महा बलवान् से तीन बार लड़ना पड़ा है, इन्हें अत्यन्त श्रम की प्रतीति इससे भी हुई कि इन लोगोंने उसे एक बार भी जीत नहीं पाया था।

(२) 'रामकृपा कपिदल बल बाढ़ा।···'—श्रीरामजी की कृपा से सब श्रम मिट गया और बल भी बढ़ा। जैसे कि मंद अग्नि तृण पाकर लहर उठती है, वैसे ही कुंभकर्ण के युद्ध से इनका उत्साह मंद पड़ गया था, पर राम-कृपा से फिर बल और उत्साह पूर्ण हो गये। यहाँ 'कपि दल बल' मंद आग और राम-कृपा तृण है।

छीजहिं निसिचर दिन अरु राती। निज मुख कहे सुकृत जेहि भाँती ॥३॥
बहु बिलाप दसकंधर करई। बंधु सीस पुनि पुनि उर धरई ॥४॥
रोवहिं नारि हृदय हति पानी। तासु तेज बल बिपुल बखानी ॥५॥

शब्दार्थ—छीजना = नाश होना, क्षीण होना ; यथा—"मारेहु तेहि बल बुद्धि उपाई। जेहि छीजइ निसिचर सुनु भाई॥" (दो॰ ७३)।

अर्थ—राक्षस दिन और रात इस तरह क्षीण होते (घटते) जाते हैं, जैसे अपने मुँह से कहने से अपना पुण्य घटता है ॥३॥ दशानन बहुत विलाप कर रहा है, भाई का शिर बार-बार छाती पर रखता है ॥४॥ स्त्रियाँ उसका विपुल बल और उसके विपुल तेज की बहुत प्रशंसा करके हाथों से छाती पीट-पीट कर रोती हैं (कि यह निष्ठुर छाती फट क्यों न गई ?) ॥५॥

विशेष—(१) 'छीजहिं निसिचर···'—रात की घटना इस तरह है कि दिन में कितने ही घायल होते हैं और रात में मर जाते हैं। निशाचरों के बढ़ने के विषय मे पहले कहा गया था ; यथा—"नित नूतन सब बाढ़त जाई। जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई।।" (बा० दो० १७१); और यहाँ घटने के विषय मे 'निज मुख कहे सुकृत जेहि भाँती।" कहा गया है। लाभ से लोभ बढता है, पर उसमे कुछ अधिक समय लगता है और सुकृत कितना भी क्यों न हो, अपनेसे कहने पर वह शीघ्र ही नाश हो जाता है। जैसे राजा ययाति को अनेक जन्मों के सुकृत के फल रूप में प्राप्त किया हुआ स्वर्ग-राज्य उनके अपने मुख से सुकृत-कथन से उसी क्षण मे नाश हो गया और वे भूमि पर आ गिरे।

(२) 'बहु बिलाप दसकंधर करई।'—वाल्मी० ६।६८।९-२४ में १६ श्लोकों मे इसका विलाप कहा गया है। पूर्व लिखा गया कि कुंभकर्ण का वध करके श्रीरामजी ने रावण से भ्रातृ-शोक का बदला चुकाया है। श्रीरामजी ने मानस की १६ चौपाइयों (अर्द्धालियों) मे विलाप किया है। वैसे ही रावण ने भी वाल्मीकीय रामायण के १६ श्लोकों में विलाप किया है। 'रामचरितमानस' के अनुसार वहाँ—'बहु बिधि सोचत सोच बिमोचन, और यहाँ—'बहु बिलाप दसकंधर करई।' तथा वहाँ—'राम उठाइ अनुज उर लायउ।' यहाँ—'बंधु सीस पुनि पुनि उर धरई।' कहा गया है।

'पुनि पुनि' का भाव यह है कि जब रावण मूर्च्छित हो जाता है, तब भाई का शिर गिर जाता है, फिर चैतन्य होने पर उसे उठाकर हृदय से लगाता है।

(३) 'रोवहिं नारि हृदय हति पानी।···'—राजाओं के मरने पर उनके तेज, प्रताप आदि कहकर रोने की रीति है ; यथा—"सोक बिकल सब रोवहिं रानी। रूप सील बल तेज बखानी।।" (अ० दो० १५५); परन्तु यहाँ 'तेज बल' ही कहा गया, क्योंकि राक्षसों में 'रूप सील' की विशेषता नहीं होती। छाती पीटना भी स्त्रियों का स्वभाव ही है ; यथा—"उर ताड़ना करहिं बिधि नाना। रोवत करहिं प्रताप बखाना।।" (दो० १०२)—यह रावण के वध होने पर और "मंदोदरी रुदन कर भारी। उर ताड़न बहु भाँति पुकारी।" (दो० ७५)—यह मेघनाद के वध पर कहा गया है।

मेघनाद-बल-पौरुष-संहार

मेघनाद तेहि अवसर आयउ। कहि बहु कथा पिता समुझायउ ॥६॥
देखेहु कालि मोरि मनुसाई। अबहिं बहुत का करउँ बड़ाई ॥७॥
इष्टदेव सैं बल रथ पायउँ। सो बल तात न तोहि देखायउँ ॥८॥

अर्थ—मेघनाद उसी समय आया और बहुत-सी कथाएँ कहकर उसने पिता को समझाया ॥६॥ कल मेरा पराक्रम देखिये, अभी मैं बहुत बड़ाई क्या करूँ ? ॥७॥ हे तात ! जो बल और रथ मैंने इष्टदेव से पाया था, वह बल तो मैंने आपको दिखाया ही नहीं (भाव यह कि अब उसके दिखाने का अवसर आया है। अतः, दिखाऊँगा) ॥८॥

विशेष—(१) 'अबहिं बहुत का करउँ बड़ाई ।'—भाव यह कि अब तो कर्त्तव्य रूप में करके ही दिखाने का अवसर है, तो कहूँ क्यों ? उससे शत्रु को सर्वात्मना नाश कर ही दूँगा ।

(२) 'इष्टदेव सें बल रथ पायउँ ।'—वाल्मी० ७।२५।७-१३ में कहा गया है कि जिस समय रावण दिग्विजय में था, उस समय शुक्राचार्य की सहायता से मेघनाद ने सात यज्ञ किये—अग्निष्टोम, अश्वमेध, बहुसुवर्णक, राजसूय, गोमेध, वैष्णव और माहेश्वर । इनसे उसे बहुत-से वरदान मिले—आकाशगामी अविनाशी कामगामी विमान पाया है और तामसी माया जिससे अंधकार फैलाया जाता है । उसके प्रभाव से यह सुरासुर से भी अदृश्य हो जाता है । और अक्षय तर्कश, अजीत धनुष और भी शत्रुघाती अस्त्र इसने पाये हैं । पुन वाल्मी० ७।३०।१-१५ में कहा है कि जब इसने माया करके इन्द्र को जीत लिया है, तब देवताओं के साथ ब्रह्माजी ने इन्द्र के छुड़ाने के बदले में इससे वरदान माँगने के लिये कहा, तब इसने अमरत्व माँगा, पर इसे ब्रह्माजी ने प्राकृत-नियम के विरुद्ध कहा, तब इसने यह माँगा—शत्रु से विजय के लिये जब मैं संग्राम में जाना चाहूँ, मंत्र एवं हाथों से अग्निदेव की पूजा करूँ । उस समय सदा घोड़ों के साथ अग्नि का रथ मेरे लिये प्राप्त हो, उसपर जब तक मैं बैठा रहूँ, अमर होऊँ, किसी से न मारा जाऊँ । युद्ध के उपयुक्त जप और होम के समाप्त किये विना ही यदि में युद्ध करूँ तो मेरा नाश हो ; अर्थात् मैं मारा जाऊँ । ब्रह्माजी ने यही वरदान दिया और इन्द्र को छुड़ाकर इसे इन्द्रजित् नाम देकर वे चले गये ।

इस होम का विधान वाल्मी० ६।७३।१७-२६ में कहा गया है । इस यज्ञ का नियमित स्थल निकुंभिला कहा जाता है । वहाँ एक वट-वृक्ष है, उसी के नीचे यह भूतों की बलि देकर युद्ध करने के लिये जाता है । यह वाल्मी० ६।८७।३-४ में कहा गया है ।

येहि विधि जल्पत भयउ बिहाना । चहुँ दुआर लागे कपि नाना ॥ ९ ॥
इत कपि-भालु काल सम बीरा । उत रजनीचर अति रनधीरा ॥१०॥
लरहिं सुभट निज निज जय-हेतू । बरनि न जाइ समर खग-केतू ॥११॥

दोहा—मेघनाद मायामय, रथ चढ़ि गयउ अकास ।
गर्जेउ अट्टहास करि, भइ कपि कटकहि त्रास ॥७१॥

अर्थ—इस प्रकार बड़बड़ाते हुए सवेरा हो गया, लंका के चारों द्वारों पर बहुत-से वानर जा लगे ॥९॥ इधर काल के समान वीर वानर-भालू और उधर राक्षस अत्यन्त रणधीर हैं ॥१०॥ योद्धा अपनी अपनी जय के लिये लड़ते हैं, हे गरुड़ ! वह समर वर्णन नहीं किया जा सकता ॥११॥ मेघनाद मायामय रथ पर चढ़कर आकाश में गया और जोर से ठठाकर हँसा, जिससे वानर सेना को भय हुआ ॥७१॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि जलपत भयउ बिहाना ।'—जल्पना व्यर्थ बकवाद को कहते हैं । यह जितना कहता है, वह पूरा नहीं हो सकेगा—इसी तरह रावण के बकने पर भी कहा गया है, यथा—"जनि जल्पना करि सुजस नासहि ···" (दो० ८८) ।

(२) 'इत कपि भालु काल सम बीरा ।···' पूर्व कहा गया है—'रामकृपा कपिदल बल बाढ़ा ।' वही यहाँ चरितार्थ है कि जो कल कुंभकर्ण के डर से भागते थे, वे आज काल के समान होकर पहले ही जाकर

युद्ध के लिये प्रस्तुत हैं। राक्षसों को 'अति रनधीरा' और वानरों को 'काल सम' कहने का भाव यह है कि राक्षस लोग बहुत पुरुषार्थ करेंगे, परन्तु काल-रूप वानरों के आगे उनका कुछ भी वश नहीं चलेगा। राक्षस रणधीर इससे भी कहे गये कि कितने जूझ गये, फिर भी लड़ने से मुँह नहीं मोड़ते।

'खगकेतू' का भाव यह है कि वही प्रसंग नाग पाशवाला आ रहा है, जिसमें गरुड़जी को मोह हुआ था, उसीसे पहले ही काकजी सावधान करते हैं कि देखना फिर न भूल जाना। ऐसे ही सीता-हरण प्रसंग के आदि में उमा को भी सावधान किया गया है—"उमा राम गुन गूढ़ " अरण्यकाण्ड के आदि में देखिये।

(२) 'मेघनाद मायामय ···'—'मायामय रथ' वही है जिसका उपर्युक्त यज्ञ द्वारा प्राप्त होना कहा गया है। निकुंभिला से प्राप्त करके आया और आकाश में अदृश्य रूप में स्थित हुआ, ऊपर से सारी सेना पर बाणवृष्टि करेगा। अट्टहास करके शत्रु का निरादर और अपने पुरुषार्थ पर विश्वास सूचित किया जो कि आगे दो० ७२ चौ० ३ पर चरितार्थ है। 'भइ कपि कटकहिं त्रास'—क्योंकि पूर्व "कपि अकुलाने माया देखे।" (दो० ५०), पर इसके कर्म से शंकित हैं कि इस बार तो यह दुष्ट प्रथम ही से अदृश्य होकर आया है, न जाने क्या करे ?

सक्ति सूल तरवारि कृपाना। अस्त्र - सस्त्र कुलिसायुध नाना ॥१॥
डारइ परसु परिघ पाषाना। लागेउ वृष्टि करइ बहु बाना ॥२॥
दस दिसि रहे बान नभ छाई। मानहुँ मघा मेघ झरि लाई ॥३॥
धरु धरु मारु सुनिय धुनि काना। जो मारइ तेहि कोउ न जाना ॥४॥

अर्थ—शक्ति, त्रिशूल, तलवार, कृपाण (दुधारा खड्ग), अस्त्र-शस्त्र आदि अनेक वज्र के समान हथियार; फरसे, परिघ और पत्थर फेंकने लगा और बहुत बाणों की भी वृष्टि करने लगा ॥१-२॥ आकाश में दसों दिशाओं में बाण छा रहे हैं, मानों मघा नक्षत्र के बादलों ने वर्षा की झड़ी लगा दी है ॥३॥ 'धरो, धरो, मारो' ये शब्द कानों से सुनाई देते हैं, पर जो मार रहा है, उसे किसी ने नहीं जान पाया ॥४॥

विशेष—(१) 'लागेउ वृष्टि करइ'—मेघनाद है। अतएव, मेघ के समान कर्म भी करता है, आकाश में ठहरा हुआ है और बाणों की वृष्टि भी करता है; यथा—"अदृश्यमानः शरजालमुग्रं ववर्ष नीलांबुधरो यथाम्बु ॥" (वाल्मी० ६।०३।५०)। अर्थात् अदृश्य होकर तीक्ष्ण बाण समूह बरसाने लगा, जैसे काले मेघ जल बरसावें।

(२) 'मघा मेघ झरि'—जैसे मघा की झड़ी लगातार ही लगी रहती है, वैसे ही यह एक क्षण भी बाणों की वृष्टि बन्द नहीं करता, एक साथ ही सभी दिशाओं में बाण बरसा रहा है। जैसे मघा की वृष्टि किसानों को लाभदायक होती है वैसे यह बाण-वृष्टि राक्षसों को सुखदायी है।

पहले दो० ५० में इसने जो माया की थी, उसे श्रीरामजी ने एक ही बाण में काट दिया था और फिर यह सबको दिखाई देने लगा था। इसलिये इसबार इसने दूसरी माया की और वरदानी रथ में अदृश्य होकर आया है। पुन वरदान से प्राप्त अमोघ आयुध डाल रहा है कि एक साथ ही सबको मारकर लंका को लौटूँ।

(३) 'जो मारइ तेहि कोउ न जाना ।'; यथा—"ते केवलं संददृशुः शिताग्रान्बाणान्रणे वानरवाहिनीषु। मायाविगूढं च सुरेन्द्रशत्रुं न चात्र तं राक्षसमभ्यपश्यन् ॥" (वाल्मी० ६।७३।५१); अर्थात् वे वानर अपनी सेना पर गिरते हुए केवल तीखे बाणों को ही देखते हैं, माया से छिपे हुए उस इन्द्रशत्रु मेघनाद को नहीं देख पाते ।

गहि गिरि तरु अकास कपि धावहिं । देखहिं तेहि न दुखित फिरि आवहिं॥५॥
अवघट घाट बाट गिरि-कंदर । माया-बल कीन्हेसि सर-पंजर ॥६॥
जाहिं कहाँ व्याकुल भये बंदर । सुरपति बंदि परे जनु मंदर ॥७॥

शब्दार्थ—अवघट = दुर्घट, अटपट । पंजर = पिंजड़ा ।

अर्थ—पर्वत, वृक्ष लेकर वानर आकाश में दौड़कर जाते हैं, परन्तु उसे नहीं देख पाते, तब दुखी होकर लौट आते हैं ॥५॥ मेघनाद ने माया के बल से अटपट मार्गों, घाटों और पर्वत-कंदराओं को बाणों से पिंजड़े बना दिये ॥६॥ अब कहाँ जायँ (मार्ग नहीं मिलता, इससे) वानर व्याकुल हो गये, मानों पर्वत इन्द्र की कैद मे पड़े हों ॥७॥

विशेष—(१) 'गहि गिरि तरु···'—श्रीरामजी की आज्ञा से वानरों ने उसे ढूँढ़ा, परन्तु नहीं पाया । वाल्मी० ६।४५।१-६ में कहा गया है कि प्रतापवान् श्रीरामजी ने दस वानर यूथपों को आज्ञा दी, वे प्रसन्नता से वृक्षादि आयुध लेकर आकाश में जाकर खोजने लगे। परन्तु अंधकार में उन्होंने उसे नहीं देख पाया, जैसे मेघ से ढँके हुए सूर्य नहीं दिखलाई पड़ते ।

(२) 'अवघट घाट···'—माया के बल से उसने यह सब क्षण-मात्र में कर डाला, उसे कोई रोक नहीं सका, तथा वानरों के बचने का कोई उपाय नहीं रह गया ।

(३) 'सुरपति बंदि परे जनु मंदर'—जैसे इन्द्र ने पर्वतों के पक्ष काटते समय पहले उन्हें सर-पंजर बनाकर रोक दिया कि कोई कहीं भाग न जायँ, तब पीछे उनके पक्ष काटे हैं । वैसे ही ये लोग भी डर गये हैं कि हमलोगों के बचने के मार्ग इसने रोक दिये । अब अवश्य यह तीक्ष्ण बाणों से हम सबों को मारेगा, इससे व्याकुल हो गये । 'मंदर' यहाँ पर्वत-मात्र का उपलक्षक है ।

मारुत-सुत अंगद नल-नीला । कीन्हेसि बिकल सकल बलसीला ॥८॥
पुनि लछिमन सुग्रीव बिभीषन । सरन्हि मारि कीन्हेसि जर्जर तन॥९॥
पुनि रघुपति सैं जूझै लागा । सर छाँड़इ होइ लागहिं नागा ॥१०॥
ब्याल-पास-बस भये खरारी । स्वबस अनंत एक अबिकारी ॥११॥

अर्थ—उसने हनुमान्‌जी, अंगदजी, नलजी, नीलजी आदि सभी बलवानों को व्याकुल कर दिया ॥८॥ फिर श्रीलक्ष्मणजी, श्रीसुग्रीवजी और श्रीविभीषणजी को बाणों से मारकर उनके शरीर को छेदकर झाँझर कर दिया ॥९॥ फिर श्रीरघुनाथजी से लड़ने लगा, जो बाण छोड़ता है, वे सर्प होकर लगते हैं ॥१०॥ स्वतंत्र, आदि-अंत-रहित, अद्वितीय, अखंड एवं सकल विकार रहित, खरारि श्रीरघुनाथजी नागपाश के वश हुए ॥११॥

विशेष—(१) 'सकल बलसीला'—ये सब भारी-भारी बलवान् हैं, तो भी उसने इन्हें विकल कर दिया, इन्हें कुछ करने का अवसर ही न मिला। पुनः बलवानों को ही मारा तथा औरों को हीन समझकर छोड़ दिया ; यथा—"बृद्ध जानि सठ छाँड़ेउँ तोहीं। लागेसि अधम प्रचारइ मोहीं॥" (दो० ७२)।

वाल्मी० ६।४६।१७–२१ में सब यूथपों पर प्रहार करना लिखा है, वही यहाँ 'सकल बलसीला' कहकर जनाया गया है। वहाँ जाम्बवान्‌जी को भी मार कर व्याकुल करना लिखा है।

यहाँ तक योद्धाओं की चार कोटियाँ दिखलाई गई हैं—(१) "जाहिं कहाँ व्याकुल भय बंदर।"—सामान्य भट ; (२) "मारुतसुत अंगद नल-नीला। कीन्हेसि बिकल सकल बलसीला॥"—सुभट ; (३) पुनि लछिमन सुग्रीव बिभीषन।···"—महाभट (क्योंकि ये राजा की कोटि में हैं) और (४) "पुनि रघुपति सैं जूझै लागा।"—दारुण भट।

ऐसे ही चार कोटियाँ सुं० दो० १७–१६ में दिखाई गई हैं।

उसने इन चारों कोटियों के भटों की गति रोकी, वे दसों दिशाओं में कहीं भी जा नहीं सकते। सुभटों को विकल किया। महाभटों को जर्जर तन कर दिया और दारुण भट को नागपाश से बाँध लिया। पुनः भटों को मारा नहीं, सुभटों को नाना आयुधों से व्याकुल किया, महाभटों को बाणों से छेदा और दारुण भट को नाग-बाणों से बाँधा।

(२) 'ब्याल-पास-बस भये खरारी ; यथा—"रामञ्च लक्ष्मणञ्चैव घोरैर्नागमयैः शरैः॥ बिभेद समरे क्रुद्धः सर्वगात्रेषु राघवौ।···बबन्ध शरबन्धेन भ्रातरौ राम-लक्ष्मणौ॥" (वाल्मी० ६।४४।३४।३६) ; अर्थात् घोर सर्पमय बाणों से क्रोधपूर्वक श्रीराम-लक्ष्मणजी के सारे शरीर को वेध डाला, दोनों भाइयों को बाण-बंधन से बाँध दिया।

इसपर शङ्का हो सकती है कि ब्रह्म तो बन्धन आदि की पीड़ाओं से रहित कहा गया है ; यथा—"असितो न व्यथते न रिष्यति" (बृह० ४।३।२१) ; अर्थात् वह ब्रह्म बन्धन-रहित है, क्योंकि वह पीड़ित नहीं होता और न हत होता है। इसलिये अर्द्धाली के उत्तरार्द्ध से उसका समाधान करते हैं—

'स्वबस अनंत एक अबिकारी।'—ऊपर कहा गया था ; यथा—"बरनि न जाइ समर खगकेतू।" उससे यहाँ भुशुंडि-गरुड़ संवाद प्रधान है, क्योंकि इस लीला में श्रीगरुड़जी को मोह हुआ था ; यथा—"भव-बंधन ते छूटहिं, नर जपि जाकर नाम। खर्ब निसाचर बाँधेउ, नागपास सोइ राम॥" (उ० दो० ५८) ; इसलिये यहाँ कई विशेषणों के द्वारा मोह-निवृत्ति कर रहे हैं—

'स्वबस'—जो स्वतंत्र हैं, किसी के वश नहीं हैं ; यथा—"परबस जीव स्वबस भगवंता।" (उ० दो० ७७) ; "परम स्वतंत्र न सिर पर कोई।" (बा० दो० १३१) ; "निज तंत्र नित रघुकुलमनी।" (बा० दो० ५०) ; अर्थात् जीव काल, कर्म, गुण, स्वभाव आदि के वश होते हैं, परन्तु भगवान् किसी के वश नहीं हैं। ऐसे स्ववश को कौन वश में कर सकता है ?

'अनंत'=जिसकी सीमा नहीं, जो देश, काल और वस्तु से अपरिच्छिन्न हो ; यथा—"देस काल दिसि बिदिसहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥" (बा० दो० १८४) ; "देस काल पूरन सदा बद बेद पुरान। सबको प्रभु सब में बसै सबकी गति जान॥" (वि० १०७) ; "राम अनंत अनंत गुन···" (बा० दो० ३३) ; "आदि अंत कोउ जासु न पावा॥" (बा० दो० ११७) ; ऐसे अनंत को कौन बाँध सकता है ?

'एक'—, यथा—"एको देवः सर्व भूतेषु गूढ़ः ···" (श्वे० ६।११); तथा—"सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।" (छां० ६।२।१); अर्थात् सारा जगत् उसी एक ब्रह्म का परिणाम-स्वरूप है, उसके अतिरिक्त दूसरा है ही नहीं, तो उसे बाँधेगा कौन ? पुन: जो बाँधना चाहेगा, उसमे भी तो व्यापक वे हैं ही, उन्हीं की सत्ता से उसकी वृत्ति का विकास है, तो वह उनको कैसे बाँधेगा ?

'अविकारी'—अर्थात् वे जन्म-मरण आदि सब विकारों से रहित हैं ; यथा—"सकल बिकार रहित गत भेदा।" (अ० दो० ९२); तब उन्हें बंधन की खिन्नता आदि विकार कैसे हो सकते हैं ? पुन. उनकी देह भी सच्चिदानंद-स्वरूप है अतएव अप्राकृत होने से विकार-रहित है ; यथा—"चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥" (अ० दो० १२६); अतः, व्यालपाशवश होने से रुधिर-प्रवाह आदि देह-विकार उन्हें नहीं हुआ।

'खरारी'—खर आदि महामायावी थे, उनकी माया तो इनपर लगी ही नहीं ; किंतु क्षणमात्र के कौतुक मे इन्होंने उन्हें नाश किया, तब इसकी माया इनपर कैसे लग सकती है ? इत्यादि।

यहाँ तक पाँच विशेषणों से इनका बँधना असंभव कहा गया है, तब फिर बँधे हुए क्यों पड़े हैं ? इसका उत्तर आगे स्वयं ग्रन्थकार दे रहे हैं।

नट-इव कपट चरित कर नाना। सदा स्वतंत्र एक भगवाना॥१२॥
रन-सोभा लगि प्रभुहि बँधायो। नाग-पास देवन्ह भय पायो॥१३॥

अर्थ—भगवान् श्रीरामजी सदा स्वतंत्र, एक और षड़ैश्वर्य पूर्ण हैं, वे नट की तरह अनेकों प्रकार के बनावटी (दिखाऊ) चरित करते हैं ॥१२॥ रण की शोभा के लिये प्रभु ने ही अपनेको नाग-पाश से बँधाया, (जिससे) देवताओं को भय प्राप्त हुआ ॥१३॥

विशेष—(१) 'नट इव कपट चरित···', यथा—"जथा अनेक बेष धरि, नृत्य करइ नट कोइ। सोइ सोइ भाव देखावै, आपुन होइ न सोइ॥ असि रघुपति लीला उरगारी। दनुज-बिमोहनि जन-सुखकारी॥" (उ० दो० ७२)।

अर्थात् जैसे दिखाने के लिये नट अपने सारे शरीर को काट देता है और वह देखनेवालों को सत्य मालूम होता है। पर वस्तुत. वह ज्यों-का त्यों रहता है, यह भेद उसके सेवक लोग ही जानते हैं ; यथा—"इंद्रजालि कहँ कहिय न बीरा। काटइ निज कर सकल सरीरा॥" (दो० २८); तथा "नट-कृत बिकट कपट खगराया। नट-सेवकहि न ब्यापइ माया॥" (उ० दो० १०३); अर्थात् भगवान् श्रीरामजी असुरों को मोहने के लिये यह नर-नाट्य करते हुए अपनेको बँधा हुआ दिखलाते हैं कि जिससे वे इन्हें नर मानकर ब्रह्मा के वचन को सत्य मानें। पर आपके भक्त लोग तो उन्हें 'सदा स्वतंत्र एक भगवाना।' ही मानते हैं।

(२) 'रन-सोभा लगि···'—रण मे मारना और मरना दोनों ही मे सुभटों की शोभा है, भागना ही निंदित है। एक ही ओर की जीत होने से भी रण की शोभा नहीं होती। बराबर हारनेवाले का उत्साह भंग हो जाता है। इसलिये यहाँ उसके तप से प्राप्त अस्त्रों को आपने माना है, जिन्हें देवताओं ने अमोघ कहकर दिया था। उन्हें मानकर उनके वचन सत्य किये हैं। इसलिये ऐसे कपट-चरित किये हैं। 'देवन्ह भय पायो'—स्वाँग की निपुणता अच्छी निबही कि देवताओं ने भी बंधन को सत्य मानकर भय किया,

क्यों न हो ? कहा ही है; यथा—"तुम्ह जो कहहु करहु सब साँचा। जस काछिय तस चाहिय नाचा॥" (अ० दो० १२६)।

दोहा—गिरिजा जासु नाम जपि, मुनि काटहिं भव-पास।
सो कि बंधतर आवइ, व्यापक विश्व - निवास॥७२॥

चरित राम के सगुन भवानी। तर्कि न जाहिं बुद्धि बल बानी॥१॥
अस बिचारि जे तज्ञ बिरागी। रामहि भजहिं तर्क सब त्यागी॥२॥

शब्दार्थ—तर्क = सोच-विचार, अनुमान करना। तज्ञ = तत्त्वज्ञाता, ज्ञानी।

अर्थ—हे गिरिजे! जिसका नाम जपकर मुनि जन्म-मरण रूपी बंधन को काटते हैं, क्या वे व्यापक और विश्वनिवास भगवान् बंधन में आ सकते हैं? (कभी नहीं)॥७२॥ हे भवानी! श्रीरामजी के सगुण रूप के चरित्र, बुद्धि के बल और वाणी से तर्क नहीं किये जा सकते; अर्थात् तर्क में नहीं आते॥१॥ ऐसा विचार कर जो तत्त्व-ज्ञानी और वैराग्यवान् हैं, वे सब तर्क छोड़कर श्रीरामजी को भजते हैं॥२॥

विशेष—(१) 'व्यापक' अर्थात् अखिल ब्रह्मांड का उनमें निवास है और 'विश्व निवास' अर्थात् सब जगत् में वे ही बसे हुए हैं, वे ही विराट् रूप हैं। इस प्रकार जगत् में भीतर-बाहर वे ही विराजमान् हैं। उनसे भिन्न कुछ नहीं है; यथा—"जगत प्रकास्य प्रकासक रामू।" (बा० दो० ११६); तथा—"मनुज वास सचराचर, रूप राम भगवान।" (दो० १५)।

(२) 'गिरिजा जासु···' ऊपर भुशुंडि-गरुड़-संवाद था, परन्तु यहाँ से बदल कर शिव-पार्वती का हुआ, क्योंकि आगे गरुड़ का आना और बंधन काटना कहा जायगा। यह भी भाव है कि संवाद वही है, उसे ही श्रीशिवजी भी पार्वतीजी से कहते हैं। 'नाम जपि'; यथा—"जासु नाम जपि सुनहु भवानी। भव बंधन काटहिं नर ज्ञानी॥ तासु दूत कि बंध तर आवा।" (सुं० दो० १९); जब उनका दूत भी बंधन में नहीं आ सकता, तब स्वयं उनकी क्या बात? जिसके नाम का ऐसा प्रभाव है, वे परमात्मा ही हैं; यथा—"सादर सुमिरन जे नर करहीं। भव वारिधि गोपद इव तरहीं॥ राम सो परमातमा भवानी। तहँ भ्रम अति अविहित तव बानी॥" (बा० दो० ११८); यहाँ भी 'जपि' से सादर स्मरण ही कहा गया है।

तात्पर्य यह कि व्यापक और विश्वनिवास परमात्मा का बंधन हो नहीं सकता। यह नाग-पाश-बंधन केवल दिखावा-मात्र एवं लीला है।

(३) 'चरित राम के सगुन···'—यहाँ सगुण के चरित को अतर्क्य कहा है। भगवान् के चरित अगाध हैं, उनके विषय में अपने तर्क से यह नहीं कहना चाहिये—'ऐसा करना था, ऐसा नहीं करना था'—क्योंकि उनकी अगाधता को कोई परख नहीं सकता।

अन्यत्र निर्गुण के भावों को भी अतर्क्य ही कहा है; यथा—"व्यापक ब्रह्म अलख ··मन समेत जेहि जान न बानी। तर्कि न सकहिं सकल अनुमानी॥ महिमा निगम नेति करि कहई। जो तिहुँ काल एक

रस अहई ॥ नयन विषय मोकहँ भयो,···" (बा० दो० ३४०); "राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहु भवानी ॥" (बा० दो० १२०); तथा—"यतो वाचो निवर्तन्ते ॥ अप्राप्य मनसा सह ॥" (तैत्त० २।४); इत्यादि। मनुष्य की बुद्धि और वाणी सब प्राकृत एवं परिमित हैं, इनमें अपरिमित ब्रह्म के अगाध चरित आदि कैसे आ सकते हैं ? व्यासजी ने इसपर सूत्र भी लिखा है ; यथा—"तर्काप्रतिष्ठानादपि···।" (ब्र० सू० २।१।११); अर्थात् उसके विषय में तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है, वह मनुष्यों के तर्क से बाहर है। "अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्" इत्येवं श्रौतार्थनिर्णये शुष्कतर्काणां पौराणिक निषेधोऽपि दृश्यते।" (ब्र० सू०-आनन्दभाष्य २।१।११); अर्थात् अपनी परिमित बुद्धि से अचिन्त्य वस्तु में तर्क-योजना नहीं करनी चाहिये। तथा—"नैषा तर्केण मतिरापनेया" (कठो० १।२।९); अर्थात् बुद्धि के तर्क से उस तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती। वह ब्रह्मतत्त्व तो शुद्ध-चित्त सात्विक उपासक के समक्ष स्वयं आविर्भूत होता है; यथा —"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।" (कठो० १।२।२३)।

यदि कहा जाय कि तर्क के बिना जिज्ञासा ही कैसे की जायगी ? कहा भी है—"वादे वादे जायते तत्त्वबोधः" इसका उत्तर यह है कि यह तर्क और ही है कि श्रद्धालु शिष्य गुरु के समक्ष तर्क उपस्थित करे और गुरुजी उसकी शङ्का का निवारण कर और भी प्रबल तर्क से उसे सिद्धान्त समझावें। गुरु वर्ग में श्रौत-परम्परा द्वारा आया हुआ ज्ञान परमात्मा का ही है। अतएव उनके ज्ञान से उन्हें प्राप्त करना युक्त ही है, यथा—"*तद्विज्ञानार्थं स गुरु मेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्*" (मुं० १।२।१२)।

सात्विक भाव से जिज्ञासु रूप में तर्क-द्वारा तत्त्व जानना चाहिये ; यथा—"प्रत्यक्षमनुमानञ्च शास्त्रञ्च विविधागमम्। त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥" (मनु० १२ १०५); इसमें 'अनुमान' भी स्पष्ट कहा गया है जो तर्क का ही पर्याय वाचक है।

(४) 'तज्ञ विरागी'—जो तत्त्वज्ञान पुरस्सर वैराग्यवान् हैं, वे तर्क त्याग कर श्रीरामजी को भजते हैं, क्योंकि तर्क से संशय उत्पन्न होता है, तब रहे-सहे ज्ञान-वैराग्य आदि भी चले जाते हैं; यथा—"अस संसय आनत उर माहीं। ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं ॥" (बा० दो० ११८); 'तर्क सब त्यागी'; यथा—"अस बिचारि मति धीर, तजि कुतर्क संसय सकल। भजहु राम रघुबीर, करुनाकर सुंदर सुखद ॥" (उ० दो० ९०)।

तात्पर्य यह है कि भजन करते हुए क्रमशः चित्त शुद्ध होता जायगा, तब संसय भी निवृत्त होते जायँगे यथा—"*राग राम-नाम सों बिराग जोग जागि है।*" (वि० ७०); केवल तर्क से पक्का निश्चय नहीं होगा।

ब्याकुल कटक कीन्ह घननादा। पुनि भा प्रगट कहे दुर्बादा ॥३॥
जामवंत कह खल रहु ठाढ़ा। सुनि करि ताहि क्रोध अति बाढ़ा ॥४॥
बूढ़ जानि सठ छाड़ेउँ तोही। लागेसि अधम प्रचारइ मोही ॥५॥
अस कहि तरल त्रिसूल चलायो। जामवंत कर गहि सोइ धायो ॥६॥

शब्दार्थ—तरल = कान्ति युक्त, बिजली की तरह द्युतिमान।

अर्थ—मेघनाद ने सेना को व्याकुल कर दिया, फिर प्रकट होकर वह दुर्वचन कहने लगा ॥३॥ (तब) जाम्बवान्जी ने कहा—अरे दुष्ट खड़ा तो रह ! यह सुनकर उसका क्रोध अत्यन्त बढ़ा ॥४॥ (और बोला) अरे मूर्ख ! मैंने बुड्ढा जानकर तुझे छोड़ दिया था ; अरे अधम ! तू मुझे ललकारने लगा ? ॥५॥ ऐसा कहकर प्रदीप्त त्रिशूल चलाया, जाम्बवान्जी उसी को हाथ से पकड़कर दौड़े ॥६॥

विशेष—(१) 'व्याकुल कटक···'—पूर्व सेना को व्याकुल करना कहकर श्रीरामजी का 'व्याल पास बस' होना कहा गया, फिर श्रीशिवजी उसपर समाधान करने लगे थे। अब पुनः वहीं से प्रसंग लिया। 'घननादा' का भाव यह कि मेघ की तरह यह गरज-गरजकर गर्व से दुर्वचन कहने लगा। 'भा प्रगट'—जब देख लिया कि अब कोई भी वीर मेरा सामना करने के योग्य नहीं है, तब प्रकट हुआ कि-प्रकट में कहकर मैं विजय-समेत लौटूँ। क्योंकि अभीतक तो वरदानी रथ से अदृश्य होकर उसने अधर्म युद्ध किया है। जब तक वह स्वयं न प्रकट होता, उसे कोई देख ही नहीं पाता। अब प्रकट हो गया तो जब तक पूर्व के समान फिर यज्ञ करके वैसा मायामय रथ न लावेगा, छिप नहीं सकता। 'कहत दुर्बादा'—इसपर दो० ४९ चौ० ४ भी देखिये। वाल्मी० ६।४७।१०-१२ में स्पष्ट कहा है—"मेघनाद ने राम-लक्ष्मणजी से कहा कि अदृश्य होकर युद्ध करते हुए मुझे इन्द्र भी नहीं देख सकते, तुम दोनों कौन होते हो ? कंकपत्र वाले बाणों से मैंने तुम दोनों को बाँध दिया है, अभी क्रोध करके तुम-लोगों को यमराज के घर भेजता हूँ।"

(२) 'जामवंत कह···'—पूर्व कहा गया—'कीन्हेसि बिकल सकल बलसीला।' उस समय उसने इन्हें बलशील नहीं माना था, बूढ़ा जानकर तिरस्कार की दृष्टि से छोड़ दिया था ; यथा—"बूढ़ जानि सठ···" यह स्वयं कहता है। रावण भी बूढ़े को वीर नहीं मानता था ; यथा—"जामवंत मंत्री अति बूढ़ा। सो कि होइ अब समरारूढ़ा ॥" (दो० ११); तथा—"जाना जरठ जटायू येहा। मम कर तीरथ छाड़िहि देहा ॥" (आ० दो० २८)। श्रीराम-लक्ष्मणजी को उसने जो दुर्वाद कहा, उस निंदा को ये नहीं सह सके ; यथा—"हरि-हर निंदा सुनै जो काना। होइ पाप गोघात समाना ॥" (दो० ३०); अतः, श्रीजाम्बवान्जी उसे उचित दंड देंगे।

(३) 'बूढ़ जानि सठ···'—'सठ' और 'अधम' इनकी कृतघ्नता समझकर कहा है। 'कर गहि सोइ धायो'—जाम्बवान्जी ने अपनी फुर्ती और बल दिखाया कि उसके आते हुए आयुध को पकड़ लिया और उसीसे उस दारुण भट को मूर्च्छित किया, फिर और भी उसकी दुर्दशा की। उसके तिरस्कार का बदला इन्होंने कर्म द्वारा दिया कि देख, इतनी फुर्ती और इतना बल क्या बूढ़े में होता है ? तब तुमने मुझे प्राकृत बूढ़ा मानकर मेरी क्यों निन्दा की है ?

मारेसि मेघनाद कै छाती। परा भूमि घुर्मित सुर-घाती ॥ ७ ॥
पुनि रिसान गहि चरन फिरायो। महि पछारि निज बल देखरायो ॥ ८ ॥
बर प्रसाद सो मरइ न मारा। तब गहि पद लंका पर डारा ॥ ९ ॥
इहाँ देवरिषि गरुड़ पठायो। राम समीप सपदि सो आयो ॥१०॥

अर्थ—मेघनाद की छाती में (वही) त्रिशूल मारा, वह देवताओं का घातक मेघनाद चक्कर खाकर पृथिवी पर गिर पड़ा ॥७॥ फिर जाम्बवान् ने क्रोध में होने से उसका पैर पकड़कर उसे घुमाया और पृथिवी पर पटक कर अपना बल दिखाया ॥८॥ वर के प्रभाव से वह इनके मारने से नहीं मरता था तब पकड़कर उसे लंका के ऊपर फेंक दिया ॥९॥ इधर देवर्षि नारदजी ने गरुड़जी को भेजा, वे श्रीरामजी के पास शीघ्र आये ॥१०॥

विशेष—(१) 'पुनि रिसान···'—एक बार उसके दुर्वाद पर क्रोधित हुए थे, तब उसे दुष्ट कहकर ललकारा था ; यथा—"क्रोध के पकर बचन बल।" (आ० दो० २८); फिर उसने इनका भी अप-

मान किया, तब इन्होंने उसे मारा और क्रोधित होने के कारण मूर्च्छा-निवृत्ति की प्रतीक्षा न करके उसे और भी दंड दिया, क्योंकि उसने अधर्म युद्ध से इधर के सभी वीरों को मूर्च्छित किया है। अतः, 'शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्' इस लोक-नीति के अनुसार इन्होंने उसे बेहोशी में भी मारा कि जिससे यह पापात्मा मर ही जाय।

(२) 'बर प्रसाद'—किसी-कसी का मत है कि जिसने १२ वर्ष निद्रा और भोजन छोड़ा हो, उसीके हाथों से मेघनाद मरे। मानस में शवरीजी के यहाँ श्रीलक्ष्मणजी का फल खाना स्पष्ट नहीं कहा गया। पर गीतावली में स्पष्ट कहा गया है कि दोनों भाइयों ने वहाँ फल खाये हैं। इससे यहाँ पर जो वाल्मी० ६।८५ १४-१५ में श्रीविभीषणजी ने कहा है—"हे इन्द्र शत्रो ! निकुम्भिला स्थान पर जाने एवं वहाँ हवन समाप्त होने के पहले, हे आततायी ! तुमसे जो शत्रु युद्ध करेगा, उसी के हाथ तुम्हारा वध होगा।"—उसे ब्रह्माजी ने यह वरदान दिया है। यहाँ वही वर-प्रसंग सगत है।

(३) 'इहाँ देवरिषि गरुड़…'—कुम्भकर्ण के वध पर श्रीनारदजी आये थे और कह गये थे कि दुष्टों को शीघ्र मारिये। इससे रणभूमि में ये आये भी थे; यथा—"देखि दसा देवन्ह दुख पायो।" कहा गया है, जब स-सैन्य श्रीरामजी को नाग-पाश में बँधा हुआ देखा, तब इन्होंने जाकर गरुड़जी से कहा और वे यहाँ आये। किन्तु गरुड़जी जाम्बवान्‌जी के द्वारा मेघनाद के फेंके जाने पर आये, नहीं तो पहले आते तो संभव था कि यह इनसे भी युद्ध करने लगता।

'इहाँ'—का भाव यह कि जब 'व्याल पास बस भये खरारी।' कहा गया, तभी उधर श्रीनारदजी गये और इधर जाम्बवान्‌जी का मेघनाद से युद्ध होने लगा। जैसे मेघनाद फेंका गया वैसे इधर श्रीगरुड़जी भी आ गये।

दोहा—खगपति सब धरि खाये, माया - नाग - बरूथ।
माया-बिगत भये सब, हरषे बानर - जूथ॥
गहि गिरि पादप उपल नख, धाये कीस रिसाय।
चले तमीचर बिकलतर, गढ़ पर चले पराइ॥७३॥

अर्थ—पक्षिराज गरुडजी ने सब माया के सर्प समूह को पकडकर खा लिया। सब माया रहित हो गये, वानर-यूथ प्रसन्न हुए॥ पर्वत, वृक्ष और पत्थर के टुकड़े लेकर एवं नख सहित वानर क्रोधित होकर चले। राक्षस अत्यन्त व्याकुल होकर भाग चले और किले पर चढ़ गये॥७३॥

विशेष—'हरषे वानर जूथ', यथा –"नीरुजौ राघवौ दृष्ट्वा ततो वानर यूथपाः। सिंहनादं तदा नेदुर्लांगूलं दुधुवुश्चते॥" (वाल्मी० ६।५०।६१), अर्थात् वानर-यूथप, श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी को नीरोग देखकर, सिंहनाद करने लगे, तथा पूँछ पटकने लगे।

मेघनाद कै मुरुछा जागी। पितहि बिलोकि लाज अति लागी॥१॥
तुरत गयउ गिरिबर कंदरा। करउँ अजय मख अस मन धरा॥२॥

इहाँ बिभीषन मंत्र बिचारा। सुनहु नाथ बल अतुल उदारा ॥३॥
मेघनाद मख करइ अपावन। खल मायावी देव-सतावन ॥४॥

अर्थ—मेघनाद की मूर्च्छा निवृत्त हुई, पिता (रावण) को देखकर उसे अत्यन्त लज्जा लगी ॥१॥ वह तुरत पर्वत की बड़ी गुफा में गया और मन में निश्चय किया कि अजेय-यज्ञ करूँ ॥२॥ यहाँ (राम-दल में) श्रीविभीषणजी ने विचारकर यह सलाह दी कि हे उदार एवं अतुल बलवाले स्वामी ! सुनिये ॥३॥ दुष्ट, मायावी और देवताओं को सतानेवाला मेघनाद अपावन यज्ञ कर रहा है ॥४॥

विशेष—(१) 'मेघनाद कै मुरछा जागी ।'—पहले इसने कहा था—'देखेहु कालि मोरि मनुसाई। अबहिं बहुत का करउँ बड़ाई॥' और आज देखने में आया कि एक बुड्ढे ने पछाड़ मारा और सूखी लकड़ी की तरह घुमाकर फेंक दिया, इससे इसको अति लज्जा लगी कि कहाँ तो पिता के सामने अपनी 'मनुसाई' दिखलाने को कहा था और उसके विपरीत दशा हो गई ।

(२) 'तुरत गयउ'—कि जिसमें शत्रु को पता न लगे, अभी सेना रणभूमि में ही है, और युद्ध हो ही रहा है, क्योंकि दिन का अंत होना एवं सेना का लौटना नहीं कहा गया, जैसे पूर्व से कहते आते हैं। 'गिरिवर कंदरा'—यह वही पूर्वोक्त निकुम्भिला स्थान है, जहाँ वट का वृक्ष है, और जिस स्थान पर यह यज्ञ करने से उक्त माया-मय-रथ पाता है; यथा—"निकुम्भिलामधिष्ठाय पावकं जुहवेन्द्रजित्" (वाल्मी० ६।८२।२४)।

(३) 'इहाँ बिभीषन मंत्र बिचारा ।'—वाल्मी० ६।३७।८ से स्पष्ट है कि श्रीविभीषणजी के चारों मंत्री पक्षी बनकर लंका के गुप्त समाचार ला-लाकर कहते थे। उनकी पत्नी सरमा भी गुप्तचरी का काम करती थी—यह वाल्मी० ६।३४।३-४ से स्पष्ट है।

'सुनहुँ नाथ बल अतुल उदारा ।'—मंत्री का धर्म है कि स्वामी की प्रशंसा करके मंत्रणा दे, इसलिये श्रीविभीषणजी कहते हैं कि आप अतुल बलवाले हैं, वह चाहे कितना ही यज्ञ आदि उपाय करे, पर आपको जीत नहीं सकता। फिर भी मैं अपने कर्त्तव्यरूप में शत्रु का समाचार सुनाता हूँ, कुछ आपको निर्बल जानकर नहीं।

(४) 'मख करइ अपावन'—क्योंकि उसमें भैंसा आदि जीवों की हिंसा होती है और वह औरों को छिपकर मारने के साधन रूप में है। अतः, अपवित्र है। 'खल, मायावी, देव सतावन'—दुष्ट है, इसीसे माया करके देवताओं को दुःख देता है। ऐसा कहने का कारण यह है कि आप दुष्टों को मारनेवाले और देवताओं की रक्षा करनेवाले हैं। अतः, इसे शीघ्र मारें। इसी प्रसंग पर वाल्मी० ६।८८।४ में भी ये ही विशेषण कहे गये हैं; यथा—"जहि वीर दुरात्मानं माया परमधार्मिकम्। रावणं क्रूरकर्माणं सर्वलोक भयावहम् ॥" यह श्रीविभीषणजी ने श्रीलक्ष्मणजी से कहा है।

यहाँ यह भी भाव है कि सम्भवतः यज्ञ को सत्कर्म समझकर उसे श्रीरामजी नष्ट करना नहीं चाहेंगे, इसलिये कहते हैं कि वह दुष्ट माया से छिपकर अधर्म युद्ध करने के उपाय में प्रवृत्त है, अतएव उसमें विघ्न डालना धर्मयुक्त ही है।

'मायावी' कहकर वाल्मी० ६।८४ में कहा हुआ माया-सीता के वध का प्रसंग भी संकेत से जना दिया, जो उसने इधर के लोगों को धोखा देकर अपने उक्त यज्ञ करने का अवसर निकाला था।

जौं प्रभु सिद्ध होइ सो पाइहि। नाथ बेगि पुनि जीति न जाइहि ॥५॥
सुनि रघुपति अतिसय सुख माना। बोले अंगदादि कपि नाना ॥६॥
लछिमन संग जाहु सब भाई। करहु बिधंस जग्य कर जाई ॥७॥
तुम्ह लछिमन मारेहु रन ओही। देखि सभय सुर दुख अति मोही ॥८॥
मारेहु तेहि बल बुद्धि उपाई। जेहि छीजै निसिचर सुनु भाई ॥९॥

अर्थ—हे प्रभो! यदि वह यज्ञ सिद्ध होने पावेगा, तो हे नाथ! वह (मेघनाद) शीघ्र पराजित नहीं किया जा सकेगा ॥५॥ श्रीरघुनाथजी ने सुनकर अत्यन्त सुख माना और अंगद आदि अनेक वानरों को बुलाकर कहा ॥६॥ कि हे भाइयो! सब भाई श्रीलक्ष्मणजी के साथ जाओ और जाकर यज्ञ का विध्वंस करो ॥७॥ लक्ष्मण! तुम संग्राम में उसे मारना, देवताओं को भयभीत देखकर मुझे अत्यन्त दुःख है ॥८॥ बल-बुद्धि के द्वारा उपाय से उसे मारना जिससे, हे भाई, निशाचर का नाश हो जाय ॥९॥

विशेष—(१) 'जौं प्रभु···'—'जौं' शब्द से सिद्ध होने में संदेह जनाया, उसका कारण 'प्रभु' शब्द से व्यक्त किया गया कि आप समर्थ हैं, उसका वह यज्ञ विध्वंस कर देंगे। 'नाथ बेगि पुनि जीति न जाइहि'—पहले 'बल-अतुल' और 'प्रभु' कह चुके हैं, इससे यह तो नहीं हो सकता कि वह उक्त यज्ञ से अजेय ही हो जाय, किंतु आप मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं, वरदान की मर्यादा भी रक्खेंगे। अतः, उसके जीतने में फिर देर लगेगी। पर वह 'खल' और 'देव सतावन, है। अतः, उसके वध में शीघ्रता होनी चाहिये। वाल्मी० ६।८५।१३ में कहा है; यथा—"स एष किल सैन्येन प्राप्तः किल निकुंभिलाम्। यद्युत्तिष्ठेत्कृतं कर्म हतान्सर्वांश्च विद्धि नः ॥" अर्थात् वह सेना के साथ निकुंभिला में गया है, यदि वहाँ वह निर्विघ्न यज्ञ समाप्त करके उठा तो हम सभी को मार डालेगा, यह आप निश्चित समझें।

(२) 'सुनि रघुपति···'—श्रीरामजी गुणग्राही हैं; अतः, श्रीविभीषणजी के इस उत्तम कृति पर इन्होंने अत्यंत सुख मानकर कृतज्ञता प्रकट की, क्योंकि उचित अवसर पर सँदेशा मिला है। अभी विघ्न डालने का उपाय हो सकता है।

'बोले अंगदादि कपि'—इन वानरों को आगे के दोहे में स्पष्ट कहा है। यहाँ श्रीअंगदजी को आदि में कहने का हेतु एक तो यह है कि कहीं श्रीहनुमान्जी को आदि में कहते हैं और कहीं श्रीअंगदजी को, इस तरह दोनों को तुल्य गौरव देते हैं। दूसरा यह भी कारण है कि मेघनाद ने इन्द्र को जीता है और श्रीअंगदजी इन्द्र के नाती हैं। अतः, इन्हें प्रधान करके इन्हीं के द्वारा उसे मारकर इन्द्र का बदला भी चुकाना है।

(३) 'लछिमन संग जाहु'—श्रीलक्ष्मणजी को प्रधान रक्खा। 'सब भाई'—यद्यपि वानर लोग अपनेको प्रभु का सेवक ही मानते हैं, तथापि प्रभु उन्हें 'सखा' एवं 'भाई' ही कहते हैं और वैसी ही प्रतिष्ठा भी देते हैं; यथा—"ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे।" (उ० दो० ७), "आप माने स्वामी कै सखा सुभाइ भाइ पति ते सनेह सावधान रहत डरत ॥" (वि० २५१); 'भाई'—इस संकट के समय में सहायता के लिये इन्हें भेजते हैं, इससे भी सबको भाई कहा है, क्योंकि संकट में भाई ही सहायक होते हैं; यथा—"होहिं कुठायँ सुबंधु सहाये।" (अ० दो० १०५)।

(४) 'तुम्ह लछिमन मारेहु···'—श्रीअंगद आदि को यज्ञ विध्वंस करने की और श्रीलक्ष्मणजी

को उसके वध करने की आज्ञा दी। 'रन'—का भाव यह है कि यज्ञ करते समय नहीं मारना, क्योंकि यज्ञ-दीक्षित को मारना अधर्म है, जब यज्ञ-विध्वंस हो जाने पर वह लड़ाई ठाने-तब मारना।

'देखि सभय सुर···'—श्रीविभीषणजी ने मेघनाद को 'मायावी-देव-सतावन' कहा था। अतः, 'देव-सतावन' के प्रति 'देखि सभय सुर···' कहते हैं और 'मायावी' के प्रति—'तेहि मारेहु बल बुद्धि उपाई'— कहा है।

(५) 'मारेहु तेहि बल···'—'तुम्ह लछिमन मारेहु' से ऐश्वर्य प्रकट होने का संदेह है, क्योंकि श्रीलक्ष्मणजी काल के भी भक्षक हैं; यथा—"तुम्ह कृतान्त भच्छक सुर त्राता।" (दो० ८१)। कहीं ऐश्वर्य रीति से न मार दें, इसीलिये कहते हैं कि मनुष्य की रीति से—बल-बुद्धि और उपाय से उसे मारना, क्योंकि—'जेहि छीजै निसिचर···'—अर्थात् रावण आदि की मृत्यु मनुष्य और वानरों के हाथों से होना है। अतः, ब्रह्मा का वचन भी सत्य होना चाहिये, और साथ ही निशाचर (रावण आदि) का वध भी हो जाय, क्योंकि मेघनाद ही रावण का परम सहायक है। इसके मरने पर सेना समेत वह मरा हुआ ही है; यथा—"निरमित्रः कृतोऽस्यय निर्यास्यति हि रावणः। बलव्यूहेन महता श्रुत्वा पुत्रं निपातितम्।" (वाल्मी० ६।६१।।१)

श्रीलक्ष्मणजी को ही उसे मारने के लिये क्यों कहा? उत्तर—(क) वह रावण का पुत्र है। अतः जोड़ में इधर से भी पुत्र के समान छोटे भाई ही हैं। (ख) उसने श्रीलक्ष्मणजी को शक्ति मारी थी। अतः, बदले में उसे इनसे ही मरवाना है। (ग) प्रभु जानते हैं कि इन्हीं के हाथों उसका वध होगा, इसी से इन्हें भेजा, जैसे श्रीहनुमान्‌जी को ही मुद्रिका दी थी। (घ) वाल्मीकीय रामायण में श्रीविभीषणजी ने श्रीलक्ष्मणजी को ही भेजने के लिये कहा है, यहाँ वह भाव भी हो सकता है।

जामवंत सुग्रीव बिभीषन। सेन समेत रहेहु तीनिउ जन ॥१०॥
जब रघुबीर दीन्हि अनुसासन। कटि निषंग कसि साजि सरासन ॥११॥

अर्थ—जाम्बवान्‌जी, सुग्रीवजी और विभीषणजी! आप तीनों व्यक्ति सेना-सहित (साथ) रहियेगा ॥१०॥ जब रघुवीर श्रीरामजी ने आज्ञा दी, तब कमर में तर्कश कसकर और धनुष पर रोदा सजकर ॥११॥

विशेष—(१) 'जामवंत सुग्रीव बिभीषन।···'—पहले 'अंगदादि' प्रधान-प्रधान वानरों के विषय में कहा गया। अब तीनों राजाओं के विषय में कहते हैं, तीनों क्रमशः रीछों, वानरों और राक्षसों के राजा हैं। वृद्ध जाम्बवान्‌जी मंत्री हैं। अतः, पहले उन्हें ही कहा, पुनः श्रीविभीषणजी से पहले के सखा श्रीसुग्रीवजी हैं, इसलिये उन्हें कहा। श्रीविभीषण को भी कहा, क्योंकि ये उसकी माया जानते हैं और यज्ञशाला आदि के भेद बतलायेंगे।

'सेन समेत रहेहु'—भाव यह है कि सेना से अलग रहने पर तुम लोगों पर वह पहले ही चोट करेगा; क्योंकि जाम्बवान्‌जी ने अभी-अभी उसे पछाड़कर फेंका है, श्रीसुग्रीवजी ने उसके चाचा के नाक-कान काट डाले हैं और श्रीविभीषणजी के मारने की उसने पहले ही से प्रतिज्ञा कर रक्खी है; यथा—"आजु सबहिं हठि मारउँ ओही।" (दो० ४८); इन तीनों को एक साथ इसी युद्ध में भेजा गया ऐसा और कहीं नहीं हुआ, इससे अनुमान होता है कि मेघनाद से युद्ध करना अत्यंत कठिन था, इसीसे सब तरह से इनलोगों को सावधान करते हैं। वाल्मी० ७।१ में श्रीअगस्त्यजी ने इसे रावण-कुंभकर्ण से भी अधिक बलवान् कहा है।

श्रीलक्ष्मणजी प्रधान हैं, उनपर चोट करने की विशेष संभावना है, इसलिये तीनों बगल की रक्षा के

लिये तीनों को नियुक्त किया है। इससे पूर्व इन्हें शक्ति लग चुकी है और फिर उसीसे युद्ध करने के लिये भेज रहे हैं। इसलिये उनकी रक्षा के लिये वात्सल्य भाव से इतना उपाय कर रहे हैं। कहा ही है; यथा—"जोगवहिं प्रभु सिय-लखनहिं कैसे। पलक बिलोचन गोलक जैसे॥" (अ० दो० १४१)।

(२) 'जब रघुबीर दीन्ह अनुसासन।…'—प्रभु की आज्ञा अकाट्य है; यथा—"प्रभु आज्ञा अपेल श्रुति गाई।" (सुं० दो० ५८); प्रभु ने जिसे जिस कार्य के लिये आज्ञा दी है, वह अवश्य सिद्ध हुआ है, जैसे श्रीहनुमान्‌जी को मुद्रिका देकर आज्ञा दी; यथा—"बहु प्रकार सीतहि समुझायेहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयेहु॥ हनुमत जनम सुफल करि माना।" (कि० दो० २३); वह कार्य सिद्ध हुआ। ऐसे ही श्रीअंगदजी को भी आज्ञा दी यथा—"लंका जाहु तात मम कामा।" और वह कार्य भी सिद्ध हुआ। अब श्रीलक्ष्मणजी को भी आज्ञा मिली, तो ये भी इस कार्य को 'स्वयं सिद्ध' मान रहे हैं और इसीसे मेघनाद के वध के लिये दृढ़ शपथ करके चल रहे हैं।

प्रभु प्रताप उर धरि रन धीरा। बोले घन इव गिरा गँभीरा॥१२॥
जौं तेहि आजु बधे बिनु आवउँ। तौ रघुपति सेवक न कहावउँ॥१३॥
जौं सत संकर करहिं सहाई। तदपि हतउँ रघुबीर दोहाई॥१४॥

दोहा—रघुपति-चरन नाइ सिर, चलेउ तुरंत अनंत।
अंगद नील मयंद नल, संग सुभट हनुमंत॥७४॥

अर्थ—रणधीर श्रीलक्ष्मणजी प्रभु का प्रताप हृदय में रखकर मेघ के समान गंभीर वाणी बोले॥१२॥ यदि आज उसे बिना मारे आऊँ तो श्रीरघुनाथजी का सेवक न कहाऊँ॥१३॥ जो सैकड़ों शंकर भी उसकी सहायता करें, तो भी उसे मार ही डालूँगा, रघुवीर की शपथ करता हूँ॥१४॥ श्रीरघुनाथजी के चरणों में शिर नवाकर श्रीलक्ष्मणजी तुरत चले। साथ में अंगदजी, नीलजी, मयंदजी, नलजी और श्रीहनुमान्‌जी, ये सब उत्तम योद्धा थे॥७४॥

विशेष—(१) 'प्रभु प्रताप उर धरि…'—भक्त लोग प्रभु-प्रताप के ही भरोसे पर सारा कार्य करते हैं। 'रनधीरा'—स्वयं रणधीर हैं, ऐसा नहीं कि भय से प्रभु का आश्रय लेते हों। 'घन इव'—वाणी की गंभीरता प्रकट करने के लिये यह उपमा दी जाती है। पुनः मेघनाद के जोड़ में वैसी (मेघ-गर्जन के समान गम्भीर) वाणी भी होनी ही चाहिये। इनकी वाणी वैसी ही गम्भीर है; यथा—"भाई सों करन बात कौसिकहि सकुचात बोल घनघोर से बोलत थोर थोर हैं।" (गी० बा० ७१)

(२) 'जौं तेहि आजु बधे…'—श्रीजनकपुर में श्रीजनकजी के द्वारा वीरता पर आक्षेप किया गया था; यथा—'बीर बिहीन मही मैं जानी।' तब वहाँ भी वैसी ही शपथ इन्होंने की थी; यथा 'जौं न करउँ प्रभु पद सपथ, कर न धरउँ धनु भाथ।' भाव यह है कि ऐसा न करूँ तो वीरता का चिह्न ही न धारण करूँ। और यहाँ आज्ञा रूपी सेवा मिली है; यथा—"आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।" (अ० दो० ३००); अतएव वैसी ही शपथ भी करते हैं; यथा—'तौ रघुपति सेवक न कहावउँ।' यह बड़ी भारी शपथ है, सेवक का सर्वस्व तो प्रभु-सेवा ही है; यथा—"अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥" (आ० दो० १०); आज ही श्रीमुख से सेवा की आज्ञा मिली है, यदि नहीं कर सकूँ तो फिर सेवक कैसा? क्योंकि—"सेवक सोइ जो करइ सेवकाई॥" (बा० दो० २७०) इसीसे इन्होंने शपथ की।

(३) 'जौं सत संकर करहिं सहाई।...'—'जौं' का भाव यह है कि शंकरजी आपके भक्त हैं। वे आपके विरोधी का पक्ष नहीं लेंगे, इसीसे संदेहात्मक शब्द 'जौं' कहा गया है। 'सत संकर'—श्रीभरतजी पर जब इन्होंने भ्रम से कोप किया था, तब एक ही शंकर की सहायता के विषय में कहा था; यथा—"जौं सहाइ कर संकर आई। तौ मारउँ रन राम-दोहाई॥" (अ० दो २११); क्योंकि वहाँ प्रभु की आज्ञा नहीं मिली थी और यहाँ तो पहले ही आज्ञा मिल चुकी है। इसीसे 'सत संकर' कहा है। मेघनाद श्रीशंकरजी के ही वरदान से दर्पित है। उससे, अथवा श्रीशंकरजी रण के देवता हैं और बड़े समर्थ संहारकर्त्ता हैं, इससे उन्हें कहा, इस तरह प्रभु-प्रताप का गौरव दिखाया कि उसके बल पर मैं ऐसा-ऐसा कार्य भी कर सकता हूँ।

ये श्रीरामजी के ऐसे अनन्य भक्त हैं कि सर्वत्र इन्होंने उन्हीं की शपथ की है; यथा—"जौं न करउँ प्रभु पद सपथ" (बा० दो० २५२)—धनुष यज्ञ में। "तौ मारउँ रन राम दोहाई।"—श्रीभरतजी के प्रति, तथा यहाँ भी—"तदपि हतउँ रघुबीर दोहाई।" कहा है।

(४) 'रघुपति-चरन नाइ सिर...'—श्रीरामजी के चरणों का प्रणाम सिद्धि देने में कल्पवृक्ष है; यथा—"प्रभु पद प्रेम प्रनाम कल्पतरु सद्य बिभीषन को फलो।" (गी० सुं० ४२)। जहाँ-जहाँ प्रणाम करके कार्यारंभ करना कहा गया है, वहाँ-वहाँ अवश्य सफलता मिली है।

जैसे कि पहले दिन के युद्ध में वानर लोग प्रभु को प्रणाम करके चले थे। अतः, अंत में विजय प्राप्त करके लौटे। दूसरे दिन के युद्ध में यों ही उन्होंने दौड़कर लंका को घेर लिया, तब उसमें सफलता नहीं पाई। श्रीलक्ष्मणजी ने भी प्रणाम नहीं किया था, अतएव शक्ति से घायल होकर लौट आये। तीसरे दिन तीन बार वानर लोग लड़ने के लिये गये, पर प्रभु को प्रणाम करके नहीं गये, इसलिये वे तीनों बार सफल नहीं हुए। चौथे दिन के युद्ध में भी प्रणाम करना नहीं कहा गया है, इससे—'ब्याकुल कटक कीन्ह घननादा' कहा गया है।

आज श्रीलक्ष्मणजी प्रणाम करके जा रहे हैं, अतएव अवश्य कार्य करके आवेंगे।

जाइ कपिन्ह सो देखा बैसा। आहुति देत रुधिर अरु भैंसा॥१॥
कीन्ह कपिन्ह सब जग्य बिधंसा। जब न उठइ तब करहिं प्रसंसा॥२॥

अर्थ—वानरों ने जाकर उसे देखा कि वह बैठा हुआ अग्नि में रुधिर और भैंसों की आहुति दे रहा है॥१॥ वानरों ने सब यज्ञ विध्वंस कर दिया (तब भी) जब वह नहीं उठा तब उसकी सराहना करने लगे॥२॥

विशेष—(१) 'जाइ कपिन्ह सो...'—पहले वानरों को ही यज्ञ-विध्वंस करने की आज्ञा मिली थी। इसीसे यज्ञ-स्थल में वे ही गये। श्रीलक्ष्मणजी कुछ सेना सहित बाहर ही रहकर रक्षक सेना का विध्वंस करते थे जैसा कि आगे के वचन से स्पष्ट है; यथा—"लै त्रिसूल धावा कपि भागे। आये जहँ रामानुज आगे॥" यज्ञ-विध्वंस की रीति आगे दो० ८३ में देखिये, वहाँ रावण-यज्ञ-विध्वंस का प्रसंग है।

(२) 'करहिं प्रसंसा'—कहते हैं कि अरे! तू तो वीरों में प्रसिद्ध है, तूने इन्द्र को जीता है, अरे! बड़ी लज्जा की बात है कि बलवान् रावण का बेटा होकर हमारे ललकारने पर भी कायर की तरह बैठा हुआ है उठता नहीं, इत्यादि प्रशंसा के वचन भी निन्दा रूप में ही कहे गये हैं।

तदपि न उठइ धरेन्हि कच जाई। लातन्हि हति हति चले पराई ॥३॥
लै त्रिसूल धावा कपि भागे। आये जहँ रामानुज आगे ॥४॥
आवा परम क्रोध कर मारा। गर्ज घोर रव बारहि बारा ॥५॥
कोपि मरुत-सुत अंगद धाये। हति त्रिसूल उर धरनि गिराये ॥६॥
प्रभु कहँ छाँड़ेसि सूल प्रचंडा। सर हति कृत अनंत जुग खंडा ॥७॥
उठि बहोरि मारुति जुवराजा। हतहिं कोपि तेहि घाव न बाजा ॥८॥

शब्दार्थ—बाजना = आघात पहुँचना, लगना। घाव न बाजा = घाव नहीं लगा।

अर्थ—प्रशंसा करने पर भी नहीं उठा तब जाकर उन्होंने उसके बाल पकड़े और उसे लातों से मार-मार कर भाग चले ॥३॥ वह त्रिशूल लेकर दौड़ा, वानर भागकर वहाँ आये जहाँ आगे श्रीलक्ष्मणजी खड़े थे ॥४॥ अत्यन्त क्रोध का मारा हुआ आया और भयंकर कठोर शब्द से बार-बार गरजने लगा ॥५॥ अंगदजी और हनुमान्‌जी कोप करके दौड़े। उसने छाती में त्रिशूल से मारकर (इन दोनों को) पृथिवी पर गिरा दिया ॥६॥ प्रभु श्रीलक्ष्मणजी पर प्रचंड त्रिशूल छोड़ा (चलाया)। अनंत श्रीलक्ष्मणजी ने बाण मार कर उसके दो टुकड़े कर दिये ॥७॥ श्रीहनुमान्‌जी और श्रीअंगदजी फिर उठकर उसे क्रोध करके मारने लगे, पर उसे घाव नहीं लगा ॥८॥

विशेष—(१) 'गर्ज घोर रव'—परम क्रोध के मारे आया। अत, वैसे ही घोर शब्द से प्रलय के मेघ की तरह गर्जता भी है।

(२) 'उठि बहोरि मारुति..'—इनके घूँसे से रावण और कुंभकर्ण भी गिर गये हैं, पर आज मेघनाद पर इनके प्रहार निष्फल हो रहे हैं, यह क्यों? इसका कारण यह है कि श्रीरामजी की यह रणलीला है। यदि एक ही ओर का उत्कर्ष रहे तो वीररस फीका-सा पड़ जाता है। निर्बल और सबल का संग्राम नीरस हो जाता है। इसलिये उस पक्ष का भी उत्कर्ष होना चाहिये, इसलिये प्रभु की इच्छा से वैसा ही होता है। आज श्रीलक्ष्मणजी इसके वध की प्रतिज्ञा करके आये हुए हैं, उन्हें सुयश भी देना है कि जिसे श्रीहनुमान्‌जी और श्रीअंगदजी ने भी नहीं गिरा पाया, उसे श्रीलक्ष्मणजी ने मारा। ऐसे ही आगे जब राम-रावण-समर होगा, तो वहाँ—"लछिमन कपीस समेत। भये बीर सकल अचेत॥" (दो० ९९); अर्थात् माया के प्रभाव से रावण ने श्रीलक्ष्मणजी को भी अचेत कर दिखाया। यह उसका उत्कर्ष होगा और फिर उसका भी वध करने पर सर्वोपरि श्रीरामजी का उत्कर्ष प्रसिद्ध होगा। यह वक्ताओं का भी अभीष्ट है।

फिरे बीर रिपु मरइ न मारा। तब धावा करि घोर चिकारा ॥९॥
आवत देखि क्रुद्ध जनु काला। लछिमन छाड़े बिसिख कराला ॥१०॥
देखेसि आवत पबि सम बाना। तुरत भयउ खल* अंतरधाना ॥११॥
बिबिध बेष धरि करइ लराई। कबहुँक प्रगट कबहुँ दुरि जाई ॥१२॥
देखि अजय रिपु डरपे कीसा। परम क्रुद्ध तब भयउ अहीसा ॥१३॥

लछिमन मन अस मंत्र दृढ़ावा। येहि पापिहि मैं बहुत खेलावा ॥१४॥

अर्थ—जब वीर लोग मुड़ चले कि शत्रु मारे नहीं मरता, तब वह बड़े जोर से चिंघाड़कर दौड़ा ॥९॥ मानों क्रोधित काल हो, उसे इस तरह आते देखकर श्रीलक्ष्मणजी ने काल के समान क्रुद्ध होकर कराल बाण छोड़े ॥१०॥ वज्र के समान बाण को आते देखकर वह दुष्ट तुरत अंतर्धान हो गया ॥११॥ अनेकों वेष बना-बनाकर लड़ाई करता था, कभी प्रकट होता और कभी छिप जाता था ॥१२॥ शत्रु को अजेय देखकर वानर डरे, तब शेष (श्रीलक्ष्मण) जी अत्यन्त क्रोधित हुए ॥१३॥ श्रीलक्ष्मणजी ने मन में ऐसा विचार निश्चय किया कि इस पापी को मैंने बहुत खेलाया (बढ़ने दिया) ॥१४॥

विशेष—(१) 'क्रुद्ध जनु काला।'—दीपदेहली है। 'अहीसा।—सर्प में क्रोध बहुत होता है, वैसे कोप के सम्बन्ध से यह नाम कहा गया। 'बहुत खेलावा'—उपर्युक्त 'अहीसा' विशेषण का यह भी भाव है, यथा—"ब्रह्मांड भुवन बिराज जाके एक सिर जिमि रजकनी।" (दो० ८१); उनका एक तुच्छ राक्षस के साथ युद्ध करना कौतुक ही है। उसे इतने काल तक अपने साथ लड़ने का गौरव दिया, यही खेलाना है। किंतु, अब न बढ़ने पावेगा, यह निश्चय किया, क्योंकि संध्याकाल समीप आ गया और इन्होंने आज ही प्रभु के समक्ष उसके वध की प्रतिज्ञा की है। यही समझकर वानर लोग डरे, वही 'डरपे कीसा' कहा गया है।

सुमिरि कोसलाधीस - प्रतापा। सर संधान कीन्ह करि दापा ॥१५॥
छाड़ा बान माँझ उर लागा। मरती बार कपट सब त्यागा ॥१६॥

दोहा—रामानुज कहँ राम कहँ, अस कहि छाँड़ेसि प्रान।
धन्य धन्य तव जननी, कह अंगद हनुमान ॥७५॥

अर्थ—श्रीअयोध्या के स्वामी श्रीरामजी के प्रताप का स्मरण करके दर्पित होकर बाण का निशाना किया ॥१५॥ छोड़ा, वह उसकी छाती के बीच में लगा। मरते समय उसने सारे कपट छोड़ दिये ॥१६॥ रामानुज कहाँ हैं ? श्रीरामजी कहाँ हैं ? ऐसा कहते हुए उसने प्राण छोड़े। श्रीअंगदजी और श्रीहनुमान्‌जी बोले कि तेरी माता धन्य है ! धन्य है ! ॥७५॥

विशेष—(१) 'सुमिरि कोसलाधीस-प्रतापा।'—राम-प्रताप स्मरण से दुर्गम कार्य भी सुगम हो जाता है। यह पूर्व में कई जगह लिखा गया है, यथा—"समुझि राम-प्रताप कपि कोपा। सभा माँझ..." (दो० ३१); तथा—"रामप्रताप सुमिरि उर अंतर।" (दो० ५२); इत्यादि प्रसंग देखिये। प्रताप स्मरण यथा—"धर्मात्मा सत्यसन्धश्च रामो दाशरथिर्यदि ॥ पौरुषे चाप्रतिद्वन्द्वस्तदेनं जहि रावणिम् ॥" (वाल्मी० ६।९०।७०), अर्थात् यदि दाशरथी श्रीरामजी धर्मात्मा, सत्यसंध और पौरुष में अद्वितीय हैं तो, हे बाण ! तू रावण के पुत्र इस मेघनाद का वध कर। 'करि दापा'—भक्तों का दर्प भी प्रभु-प्रताप के बल पर ही होता है। 'कपट सब त्यागा'—यदि कपट रहता तो प्रभु इसे नहीं अपनाते, इससे इसका एवं मारीच, और कालनेमि का भी अंत में कपट का त्याग करना कहा गया है। 'सब'—मन, वचन, कर्म का। रावण की तरह इसने शरीर नहीं बढ़ाया, यह कपट का त्यागना है। कपट हृदय से होता है, बाण ने हृदय को बेधकर उसे शुद्ध कर दिया।

(२) 'रामानुज कहँ राम कहँ···'—यह युद्धोत्साह से भरा था। इसीसे मरते समय उसी तरह के शब्द उसके मुख से निकले कि रामानुज कहाँ हैं? मैं उनको मारूँ। रामजी कहाँ हैं? मैं उनको मारूँ। ऐसा ही रावण ने भी कहा है; यथा—"कहाँ राम रन हतउँ प्रचारी।" (दो० १०१); इसको भी वैर-भाव से स्मरण करना मानकर प्रभु उत्तम गति देते हैं। क्योंकि यह अनख भाव का नाम जप है; यथा—"भाय कुभाय अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥" (बा० २७)।

(३) 'धन्य धन्य तव जननी'—इसकी माता को इसलिये धन्य कहा कि जिसने ऐसा पुत्र पैदा किया कि जो रामनाम कहते हुए वीरगति को प्राप्त करे। वीरों की माताएँ इसी में अपनेको धन्य मानती हैं। श्रीलक्ष्मणजी उसके सामने उपस्थित थे, इन्हीं से उसका युद्ध होता था और इन्हीं के द्वारा उसका वध भी हुआ। इससे पहले इन्हीं का नाम लिया। फिर अंत समय में रामनाम का उच्चारण होना परम श्रेयस्कर है; यथा—"जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमौ मुकुत होइ श्रुति गावा॥" (आ० दो० ३०); 'कह अंगद हनुमान'—ये दोनों उसकी वीरता को जानते हैं। इनसे उसका युद्ध हो चुका है और उसकी अंतिम गति भी प्रत्यक्ष देखी, इससे कहते हैं।

बिनु प्रयास हनुमान उठायो। लंका द्वार राखि पुनि आयो॥१॥
तासु मरन सुनि सुर गंधर्वा। चढ़ि बिमान आये नभ सर्वा॥२॥

अर्थ—बिना परिश्रम श्रीहनुमान्‌जी ने उसे उठा लिया और लंका के द्वार पर रखकर फिर लौट आये॥१॥ उसका मरण सुनकर देवता और गंधर्व सभी विमानों में चढ़-चढ़कर आकाश में आये॥२॥

विशेष—(१) 'बिनु प्रयास हनुमान उठायो।...'—स्वयं मेघनाद अपने बहुत-से सुभटों के साथ श्रीलक्ष्मणजी के मूर्च्छित शरीर को नहीं उठा सका था। पर श्रीहनुमान्‌जी ने उसके पर्वताकार शरीर को बिना परिश्रम उठा लिया और शत्रु के पुर-द्वार पर उसे रख आये। यह रावण को उसके कर्म का बदला दिया कि तू श्रीलक्ष्मणजी को ले जाना चाहता था। उनके बदले में इसे ले और इसकी दशा देखकर छाती ठंढी कर। इसका रावण को बड़ा गर्व था। इसकी यह दशा देखकर संभवतः मन में कुछ विचार आवेगा, इससे भी वहाँ रख आये। श्रीहनुमान्‌जी ही ले गये, क्योंकि ऐसा दुष्कर कर्म दूसरों से होना असंभव था, इनका और उसका मोर्चा भी रहता था। शत्रु के पुत्र को मारकर उसे उसके पुर-द्वार पर रख आना बड़े पराक्रम एवं निर्भीकता का ही काम है।

(२) 'सुर...सर्वा'—अभी तक उसके डर के मारे सब देवता प्रत्यक्ष रूप में कभी नहीं आये थे। 'सुनि' शब्द से भी जाना जाता है कि दो बार उसकी जीत देख इस बार छिपकर भी देखने नहीं आये थे, ऐसा उसका डर था।

बरषि सुमन दुंदुभी बजावहिं। श्रीरघुनाथ बिमल जस गावहिं॥३॥
जय अनंत जय जगदाधारा। तुम्ह प्रभु सब देवन्हि निस्तारा॥४॥
अस्तुति करि सुर-सिद्ध सिधाये। लछिमन कृपासिंधु पहिं आये॥५॥

शब्दार्थ—निस्तारा = उद्धार किया, छुड़ाया।

अर्थ—फूल बरसाकर नगाड़े बजाते हैं और श्रीरघुनाथजी का निर्मल यश गाते हैं ॥३॥ हे अनंत ! आपकी जय हो, हे जगत् के आधार ! आपकी जय हो। हे प्रभो ! आपने सब देवताओं का उद्धार किया ॥४॥ स्तुति करके देवता और सिद्ध सभी चले गये, तब श्रीलक्ष्मणजी कृपासागर श्रीरामजी के पास आये ॥५॥

विशेष—(१) 'श्रीरघुनाथ निमल जस गावहिं ।'—यहाँ श्रीरघुनाथ श्रीलक्ष्मणजी को ही कहा गया है ; यथा—"मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ" (कि॰ मं॰) ; यह स्तुति का प्रसंग है। अतः, इसमें श्रेष्ठ विशेषण ही दिया जाता है। साथ ही उन्हें 'प्रभु' भी कहा गया है। अथवा, मेघनाद के वध मे प्रभु-प्रताप ही मुख्य है, यथा—"सुमिरि कोसलाधीस-प्रतापा। सर संधान कीन्ह ···" कहा गया है, अतएव उसके वध का श्रेय श्रीरामजी को ही देते हैं। 'अनंत' और 'जगदाधारा' के भाव पूर्व दो॰ ७४ और दो॰ ५३ में आ गये हैं।

यहाँ 'अनंत' का यह भी भाव है कि आपकी महिमा भी अंत-रहित ही है, कोई कैसे कह सके ? 'जगदाधारा'—जगत् आपके ही आधार पर टिका हुआ है, इसीसे आपने इसका वध करके जगत् की रक्षा की। 'दिवन्ह निस्तारा, यथा—"अद्य देवगणा सर्वे लोकपाला महर्षय । हतमिन्द्रजितं दृष्ट्वा सुखं स्वप्स्यन्ति निर्भया ॥" (वाल्मी॰ ६।९१।१०) ; अर्थात् आज देवता, सब लोकपाल तथा महर्षि, इन्द्रजित् का मरण सुनकर सुख की नींद सोवेंगे।

(२) 'लछिमन कृपासिंधु पहिं आये'—वाल्मीकीय रामायण में तीन दिन और तीन रात युद्ध का होना लिखा है। पर मानस के कल्प मे केवल आज ही भर में युद्ध समाप्त हो गया, क्योंकि—"जौं तेहि आजु बधे बिनु आवउँ।" ऐसी प्रतिज्ञा की गई है। वैसा ही कार्य सम्पन्न हुआ। 'कृपासिंधु'—का भाव यह है कि श्रीलक्ष्मणजी उक्त स्तुति का श्रेय स्वामी की कृपा से ही मानते हैं कि आपकी ही कृपा से वह मारा गया और मैं सत्यप्रतिज्ञ हुआ। 'जौं तेहि आजु बधे बिनु आवउँ। ··' उपक्रम है और' लछिमन कृपा-सिंधु पहिं आये।' यह उपसंहार हुआ। वाल्मीकीय रामायण मे श्रीरामजी का बहुत प्रसन्न होना कहा गया है, वह भी एक 'कृपासिंधु' शब्द में जना दिया गया।

सुत-बध सुना दसानन जबहीं। मुरुछित भयउ परेउ महि तबहीं ॥६॥
मंदोदरी रुदन कर भारी। उर ताड़न बहु भाँति पुकारी ॥७॥
नगर लोग सब ब्याकुल सोचा। सकल कहहिं दसकंधर पोचा ॥८॥

अर्थ—रावण ने ज्योंही पुत्रवध का समाचार सुना त्योंही वह मूर्च्छित होकर पृथिवी पर गिर पड़ा ॥६॥ मंदोदरी बड़ा विलाप करने लगी, बहुत प्रकार से (उसका नाम) पुकार-पुकारकर एवं शोक से चिल्लाकर छाती पीटती है ॥७॥ सब पुरवासी शोक से व्याकुल हैं। सभी कहते हैं कि दशानन नीच है ॥८॥

विशेष—(१) 'सुतबध सुना···'—मन्त्रियों से सुना, ऐसा वाल्मी॰ ६।९३।१ में कहा है। अक्षकुमार और प्रहस्त छोटे पुत्र थे और उनपर रावण को ऐसी ममता नहीं थी। इससे उनके वध पर इसे उतना दुःख नहीं हुआ था ; यथा—"उपजा हृदय विषाद ।" (सु॰ दो॰ २०), "रावन भयउ दुखारी।" (दो॰ ५१) ; परन्तु यह तो माता-पिता दोनों को प्राणप्रिय था, इससे रावण तो सुनते ही मूर्च्छित हो गया और मंदोदरी ने बहुत विलाप किया और अपनी छाती पीटी। 'नगर लोग सब···' —यह लंका का

युवराज था। वाल्मी० ६।६२।१३ में कहा गया है। इसीसे इसके मरने पर पुरवासियों को भी बड़ा शोक हुआ। लोकोक्ति है कि पिता के ही पाप से उसके समस्त पुत्र मरता है, इसीसे सब रावण की निन्दा करते हैं; यथा—"रावणस्यापनीतेन दुर्विनीतस्य दुर्मतेः। अयं निष्टानको घोरः शोकेन समभिप्लुतः॥" (वाल्मी० ६।९४।१७); अर्थात् दुर्विनीत और मूर्ख राक्षस-राज रावण की दुर्नीति और शोक से युक्त यह घोर नाश हमलोगों पर आया।

दोहा—तब दसकंठ बिबिध बिधि, समुझाईं सब नारि।
नश्वररूप जगत सब, देखहु हृदय बिचारि॥७६॥

तिन्हहि ज्ञान उपदेसा रावन। आपुन मंद कथा शुभ पावन॥१॥
पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥२॥

अर्थ—तब रावण ने अनेक प्रकार से सब स्त्रियों को समझाया और कहा कि तुम मन में विचार कर देखो तो यह सारा जगत् ही नाशवान् है॥७६॥ रावण ने उन सबको ज्ञानोपदेश किया, वह स्वयं तो नीच है, परन्तु (उसकी कही) कथाएँ कल्याण-रूप और पवित्र हैं॥१॥ (कहावत है) दूसरों को उपदेश देने में बहुत लोग निपुण होते हैं पर जो (स्वयं) उसपर चलते भी हों, ऐसे लोग बहुत नहीं होते॥२॥

विशेष—(१) 'तब दसकंठ बिबिध बिधि···'—'तब'—जब स्त्रियों के विलाप के शब्द कानों में पड़ने पर उसकी मूर्च्छा दूर हुई। 'बिबिध बिधि'; यथा—"जनम-मरन सब दुख-सुख-भोगा। हानि-लाभ प्रिय-मिलन-बियोगा॥ काल-करम-बस होहिं गोसाईं। बरबस राति-दिवस की नाईं॥ सुख हरपहिं जड़ दुख बिलखाहीं।···" (अ० दो० १६१); तथा कि० दो० १० चौ० ४–५ भी देखिये और गीता २।११–३० के भाव भी इसके अनुकूल ही हैं। 'दसकंठ' का भाव यह है कि इसका यह ज्ञान-कथन कंठ किया हुआ तोता-रटन-सा है।

(२) 'तिन्हहि ज्ञान···'—यह दूसरों को तो उपदेश देता है कि देखो, अमुक-अमुक बड़े प्रतापी थे, वे भी अंत में नाश को ही प्राप्त हुए। एक दिन सभी के नाश होते ही हैं। अतः, इसके लिये शोच करना व्यर्थ है। 'आपुन मंद···' रावण अभिमान-वश अपनेको अमर माने हुए है; यथा—"नर के कर आपन बध बाँची। हँसेउँ···" (दो० २८); इत्यादि। इसीसे इसे 'मंद' कहा गया है। दोहा ७ चौ० ३–४ भी देखिये।

"रघुपति-रावन समर"—प्रकरण

निसा सिरानि भयउ भिनुसारा। लगे भालु-कपि चारिहु द्वारा॥३॥
सुभट बोलाइ दसानन बोला। रन सन्मुख जाकर मन डोला॥४॥
सो अबहीं बरु जाउ पराई। संजुग-बिमुख भये न भलाई॥५॥
निज भुज-बल मैं बयर बढ़ावा। देहउँ उतर जो रिपु चढ़ि आवा॥६॥

अर्थ—रात बीती, सवेरा हुआ, भालू-वानर चारों द्वारों पर जा लगे ॥३॥ सुभटों को बुलाकर रावण बोला कि जिसका मन रणभूमि में जाकर शत्रु के सामने डावाँडोल हो (डरे) ॥४॥ वह अभी भले ही भाग जाय, परन्तु रण से विमुख होने (लौटने) पर भला नहीं होगा ॥५॥ मैंने अपनी भुजाओं के बल पर वैर बढ़ाया है। अतः, जो शत्रु चढ़ आया है उसे मैं (अकेले) उत्तर दूँगा ॥६॥

विशेष—(१) 'निसा सिरानि भयउ···'—विलाप और उपदेश में सारी रात बीत गई। 'लगे भालु कपि ··' यह इनका नित्य का नियम-सा हो गया था; यथा—"करत बिचार भयउ भिनसारा। लागे कपि पुनि चहूँ दुआरा ॥" (दो० ४७), "येहि विधि जलपत भयउ विहाना। चहुँ दुआर लागे कपि नाना ॥" (दो० ७०); इत्यादि।

(२) 'सो अबहीं बरु···'—अभी भाग जाने से मैं स्वयं वध नहीं करूँगा, किंतु रणभूमि से भागने में मेरी हँसी होगी कि ऐसे ही कायरों को लेकर लड़ने आया है, इससे मैं उस समय अवश्य ही उसका वध करूँगा। रावण यहाँ इसलिये चेतावनी देता है कि बहुत-से बड़े-बड़े वीर मारे गये हैं, जिससे बहुतों के हृदय का उत्साह चला गया है। 'न भलाई'—का यह भी भाव है कि रणभूमि से भागनेवालों का इहलोक तो मेरे द्वारा ही बिगड़ेगा, किन्तु परलोक का भी नाश होगा।

(३) 'निज भुज-बल मैं···'—यह न समझो कि भाई, पुत्रों एवं सेनापतियों के मर जाने से मैं हताश हो गया हूँ। मैं स्वयं शत्रु-दमन में समर्थ हूँ। मैंने बहुत तपस्या करके अस्त्र-शस्त्र प्राप्त किये हैं, जिनके द्वारा युद्ध करने पर स्वयं इन्द्र भी मेरे सम्मुख नहीं हो सकेगा, तो औरों की बात ही क्या है ?—यही सब वाल्मी० ६।६२।२६–३० का सारांश है।

अस कहि मरुत-बेग रथ साजा। बाजे सकल जुझाऊ बाजा ॥७॥
चले बीर सब अतुलित बली। जनु कज्जल कै आँधी चली ॥८॥
असगुन अमित होहिं तेहि काला। गनइ न भुज-बल-गर्ब बिसाला ॥९॥

अर्थ—ऐसा कहकर वायु के समान तेज चलनेवाला रथ सजाया, सब लड़ाई के बाजे बजने लगे ॥७॥ अतुल बलवान् सब वीर योद्धा चले, मानों काजल की आँधी चली हो ॥८॥ उस समय अगणित अपशकुन होने लगे, पर उसे अपने भुजबल का बड़ा अभिमान है, इससे उन्हें कुछ नहीं गिनता ॥९॥

विशेष—(१) 'जुझाऊ बाजा' पर दो० ३६ चौ० २–३ देखिये। 'जनु कज्जल कै आँधी चली।' का भाव यह है कि सभी राक्षस अत्यन्त काले एवं विशाल शरीरवाले हैं और बड़े वेग से चल रहे हैं, पर युद्ध में शीघ्र ही नाश भी होंगे, क्योंकि काजल के समान निःसार हैं।

(२) 'गनइ न भुज-बल···'—रावण कालवश है, इसीसे इसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है और अभिमान भी उपज आया है; यथा—"काल दंड गहि काहु न मारा। हरइ धर्म बल बुद्धि बिचारा।" (दो० ३५), "काल बरय उपजा अभिमाना।" (दो० ७), तथा—"ततो नष्टप्रभः सूर्यो···" से "एतानचिन्तयन्घोरा मुत्पातान्समवस्थितान्। निर्ययौ रावणो मोहाद्वधार्थं कालचोदितः ॥" (वाल्मी० ६।९५।३१–४८) तक; अर्थात् रावण अज्ञानवश इन घोर उत्पातों की ओर दृष्टिपात न कर काल की प्रेरणा से मृत्यु के लिये चला। यहाँ आगे कुछ अपशकुनों को स्वयं ग्रंथकार भी लिखते हैं।

छंद—अति गर्ब गनइ न सगुन असगुन स्रवहिं आयुध हाथ ते।
भट गिरत रथ ते बाजि गज चिक्करत भाजहिं साथ ते।
गोमाय गीध कराल खर रव स्वान बोलहिं अति घने।
जनु काल दूत उलूक बोलहिं बचन परम भयावने॥

दोहा—ताहि कि संपति सगुन सुभ, सपनेहु मन बिश्राम।
भूतद्रोह-रत मोहबस, राम-बिमुख रति काम॥७७॥

शब्दार्थ—गोमायु = गीदड़, सियार। करार = कराल = कौआ; यथा—"ररहिं कुभाँति कुखेत करारा।" (अ० दो० १५७)।

अर्थ—अत्यन्त अभिमान के कारण वह शकुन-अपशकुन का विचार नहीं करता, हथियार उसके हाथ से गिरते हैं। योद्धा रथ से गिर पड़ते हैं, घोड़े और हाथी चिंघाड़ मारकर साथ से भाग जाते हैं॥ बहुत-से सियार, गृद्ध, कौए और गधे कठोर शब्द करते हैं और बहुत-से कुत्ते बोल रहे हैं। उल्लू अत्यन्त भयावने वचन बोल रहे हैं, मानों काल के दूत हों। (मृत्यु का सँदेशा लेकर आये हुए कह रहे हैं)॥ क्या उसको सम्पत्ति, शकुन, कल्याण और मन का विश्राम स्वप्न में भी हो सकता है जो मोहवश होकर जीव-मात्र से द्रोह करने को तत्पर है, राम विमुख और कामासक्त है? (कभी नहीं)॥७७॥

विशेष—(१) 'गनइ न सगुन असगुन···'-'सगुन-असगुन' ऐसा द्वंद्व बोलने का लौकिक मुहावरा है, तात्पर्य अपशकुन से ही है, यथा—"बाल दोष गुन गनहिं न साधू।" (बा० दो० २७४); इसमें तात्पर्य 'दोष' से ही है। "निसि दिन नहिं अवलोकहिं कोका।" (बा० दो० ८४) इसमें तात्पर्य 'निसि' से ही है; इत्यादि। यदि यथाश्रुत ही अर्थ लिया जाय तो रावण श्रीरामजी के पक्ष के शकुन और अपने पक्ष के अपशकुन को कुछ भी नहीं गिनता, अर्थात् नहीं देखता—ऐसा अर्थ होगा।

रावण अत्यन्त अभिमान में भरा हुआ है, इससे वह कुछ भी नहीं देखता कि शकुन हो रहे हैं कि अपशकुन—इधर वह ध्यान ही नहीं देता।

(२) 'गोमाय गीध···'—इन्हें एक पंक्ति में देकर सूचित किया कि ये सब एक साथ मिलकर अमंगल शब्द कर रहे हैं; यथा—"विनेदुरशिवा गृध्रा वायसैरभिमिश्रिताः॥" (वाल्मी० ६।६५।४७); अर्थात् गृद्ध और कौए मिलकर अमंगल शब्द करते हैं।

(३) 'जनु काल दूत···'—इनका बोलना निश्चय ही शीघ्र आसन्न मृत्यु का सूचक है।

(४) 'ताहि कि संपति···'— सब जीवों का द्रोही, मोहवश, राम-विमुख और कामी, इन चारों को संपत्ति, शकुन, शुभ और मनोविश्राम कभी नहीं होता, यथा—"चौदह भुवन एक पति होई। भूत द्रोह तिष्ठै नहिं सोई॥" (सुं० दो० ३७); "करहिं मोह बस द्रोह परावा।" (उ० दो० ३१); "राम-बिमुख सुख कबहुँ न सोवा।" (उ० दो० ६५); "सुभगति पाव कि परतियगामी।" (उ० दो० ११११)। "जौ आपन चाहइ कल्याना।···सो पर नारि लिलार गोसाईं। तजौ··" (सुं० दो० ३७) इत्यादि।

कामी हरि विमुख होते हैं, क्योंकि काम हरि-भजन का बाधक है, यथा—"जब लगि भजत न राम पद, मोक धाम तजि काम।" (सु० दो० ४६) हरि-विमुख मोह के वशीभूत होते हैं, यथा—"ग्रसे जे मोह पिसाच, पाखंडी हरि पद विमुख।" (बा० दो० ११४), और मोह से द्रोह होता है, यथा—"करहिं मोह बस द्रोह परावा।" (उ० दो० ३६), इस तरह सबका मूल काम है, क्रम से एक-दूसरे के कारण हैं।

कोई-कोई यथासंख्य से भी अर्थ करते हैं कि 'भूत-द्रोह-रत' को सम्पत्ति, 'मोहबस' को 'सगुन' 'राम विमुख' को 'सुभ' और 'रति काम' को 'मन विश्राम' स्वप्न में भी नहीं होते।

रावण में तो ये सब दोष हैं, यथा—"विश्व द्रोह रत यह खल कामी।" (दो० १०८), मोह का तो यह स्वरूप ही है, यथा—"मोह दस मौलि " (वि० ५८)। "राम विमुख अस हाल तुम्हारा।" (दो० १०१)। इससे इसको संपत्ति आदि स्वप्न में भी नहीं मिल सकते।

चलेउ निसाचर-कटकु अपारा। चतुरंगिनी अनी बहु धारा॥१॥
बिबिध भाँति बाहन रथ जाना। बिपुल बरन पताक ध्वज नाना॥२॥
चले मत्त-गज-जूथ घनेरे। प्राबिट-जलद मरुत जनु प्रेरे॥३॥
बरन बरन बिरदैत निकाया। समर सूर जानहिं बहु माया॥४॥

अर्थ—राक्षसों की अपार सेना चली, चतुरंगिनी सेना की बहुत धाराएँ (श्रेणियाँ) थीं॥१॥ अनेक प्रकार की सवारियाँ, रथ और विमान थे, रंग बिरंग की पताकाएँ और बहुत-सी ध्वजाएँ थीं॥२॥ मतवाले हाथियों के अनेकों झुंड चले, मानों पवन से प्रेरित होकर वर्षाऋतु के बादल चल रहे हों॥३॥ रंग बिरंग के बानेबन्द वीरों के समूह हैं, वे सब समर में शूर हैं और बहुत माया जानते हैं॥४॥

विशेष—(१) 'कटक अपारा', यथा—"चला कटक को बरनइ पारा।" (सु० दो० ३४), 'बहु धारा' का यह भी भाव है कि वे सेनाएँ नदी-प्रवाह की तरह उमड़ती हुई चलीं। तथा—वे अनेक गुल्मपतियों से युक्त हो-होकर कई विभागों में चलीं।

(२) 'बिपुल बरन पताक ध्वज नाना।'—अनी अनी की पताकाएँ और ध्वजाएँ भिन्न भिन्न रंगों की हैं कि जिससे युद्ध के समय भी पहचानी जा सकें और उनको बहादुरी के अनुसार उन्हें पदक प्रदान किये जायँ।

(३) 'प्राबिट-जलद मरुत जनु प्रेरे।'—जैसे वर्षा के मेघ काले और सघन होते हैं, वैसे ही हाथी एवं राक्षस भी काले और बहुत हैं। सब मत्त गजों की तरह बलवान् और अपने-अपने बल से मतवाले हैं। बड़े वेग से चल रहे हैं, इससे उनको पवन के झकोरे से उड़ाये हुए मेघों की उपमा दी गई है। यहाँ मारुत-रूपी रावण प्रेरक है। 'बरन-बरन बिरदैत'—सब रंग बिरंग की वर्दियाँ पहने हुए हैं, जिन में प्रत्येक ने बहादुरी करके अपना रंग निश्चित कर रक्खा है।

(४) 'समर सूर'—वे सब युद्ध के योद्धा हैं, बात के नहीं, यथा—"सूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहिं आपु।" (बा० दो० २०१), 'जानहिं बहु माया' अर्थात ये 'अहिप अकपन' आदि एवं 'खर दूषन' आदि से भी अधिक मायावी हैं।

अति बिचित्र बाहिनी बिराजी। बीर बसंत सेन जनु साजी ॥५॥
चलत कटक दिग-सिंधुर डगहीं। छुभित पयोधि कुधर डगमगहीं ॥६॥
उठी रेनु रबि गयउ छपाई। मरुत थकित बसुधा अकुलाई ॥७॥
पनव निसान घोर रव बाजहिं। प्रलय समय के घन जनु गाजहिं ॥८॥

अर्थ—सेना अत्यन्त विचित्र शोभित हो रही है, मानों वीर वसन्त ने अपनी सेना सजाई हो ॥५॥ सेना के चलने से दिशाओं के हाथी डिगने लगे, समुद्र खलबला उठा, पर्वत डगमगाने लगे ॥६॥ ऐसी धूल उठी कि सूर्य छिप गये। वायु रुक गया, पृथिवी व्याकुल हो उठी ॥७॥ ढोल और भारी नगाड़े बज रहे हैं, प्रलय-काल के बादल गरज रहे हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'बीर बसंत सेन जनु साजी।'—वीर वसंत की सेना को श्रीरामजी ने कहा है ; यथा—"बिबिध भाँति फूले तरु नाना। जनु बानैत बने बहु बाना ॥" आदि कहते हुए आगे इसे काम की सेना कही है; यथा—"लछिमन देखत काम अनीका। रहहिं धीर तिन्हकै जग लीका।" (आ० दो० ३७); ऊपर मेघनाद-वध कहा गया है, मेघनाद विनयपत्रिका में काम रूप कहा गया है ; यथा—"पाकारि जित काम···" (वि० ५८), और वसंत काम का सेनापति एवं सहायक है। अतः, मित्र का बदला लेने के लिये मानों वसंत आ रहा है। इसीसे इसे वसंत की उपमा दी गई है। इस सेना के सामने बड़े-बड़े वीरों के धैर्य छूट जाते हैं ; यथा—"रहहिं धीर तिन्ह कै जग लीका।" ऊपर कहा ही है। जैसे वसंत ऋतुराज है वैसे यह भी राज-सेना है।

(२) 'उठी रेनु···पनव निसान···'—यहाँ रावण सेना के द्वारा पाँचो तत्त्वों का क्षुब्ध होना कहा गया है; यथा—'दिग-सिंधुर डगहीं' से पृथिवी तत्व, 'छुभित पयोधि' से जल, 'उठी रेनु रबि गयउ छपाई' से तेज या अग्नि (क्योंकि रवि तेजोमय है), 'मरुत थकित' से पवन और 'घोर रव बाजहिं' से आकाश-तत्व का क्षुभित होना जाना गया, सारा आकाश गूँज उठा, शब्द आकाश का गुण भी है।

सेना इतनी अधिक और घनी है कि उनके पैरों की ठोकरों से धूल उड़कर आकाश में छा गई, पवन को मार्ग नहीं मिलता, इसीसे वह भी स्थगित हो गया, सेना के भार से पृथिवी अकुला उठी। 'प्रलय-समय के घन···'—यह युद्ध भी एक प्रकार का प्रलय ही है।

भेरि नफीरि बाज सहनाई। मारू राग सुभट सुखदाई ॥९॥
केहरि-नाद बीर सब करहीं। निज निज-बल-पौरुष उच्चरहीं ॥१०॥
कहइ दसानन सुनहु सुभट्टा। मर्दहु भालु कपिन्ह के ठट्टा ॥११॥
हौं मारिहउँ भूप दोउ भाई। अस कहि सन्मुख फौज रेंगाई ॥१२॥

शब्दार्थ—मारू राग = मारू श्रीराग का पुत्र माना जाता है, यह युद्ध के समय गाया जाता है।

अर्थ—भेरी, तुरही और शहनाई सुभटों को सुख देनेवाले मारू राग में बज रहे हैं ॥९॥ सब वीर सिंहनाद करते हैं और अपना-अपना बल-पुरुषार्थ कहते हैं ॥१०॥ रावण ने कहा—हे सुभटो ! सुनो, तुम भालू-वानर के समुदायों को मारो ॥११॥ और मैं दोनों भाई राजकुमारों को मारूँगा, ऐसा कहकर उसने अपनी सेना सामने चलाई ॥१२॥

विशेष—'भेरि नफीरि…'—लघु दुंदुभी, तुरही और शहनाई से मारू राग बजाया जाता है। इस राग के सुनने से सुभटों का उत्साह बढ़ता है; यथा—"बाजहिं ढोल निसान जुझाऊ। सुनि-सुनि होई भटन्ह मन चाऊ॥" (दो० १६)।

(२) 'निज-निज बल-पौरुष उच्चरहीं।'—इससे सबों का उत्साह बढ़ता है, एक दूसरे से अधिक पौरुष दिखाने को उत्सुक होता है; यथा—"एकहिं एक बढ़ावहिं करपा।" (अ० दो० ११०); एक कहता है कि मैं ऐसा-ऐसा करूँगा, दूसरा और बढ़-बढ़कर कहता है इत्यादि।

(३) 'हौं मारिहउँ भूप…'—रावण ने सेना से सेना को मारने के लिये कहा और स्वयं राजा है। अतः, भूप दोनों भाइयों को स्वयं मारने को कहा।

'रेंगाई'—चित्रकूट के आस-पास रेंगना चलने के अर्थ में व्यवहृत होता है। पर श्रीअवध-प्रांत में छोटे-छोटे कीड़ों के धीरे-धीरे चलने को रेंगना कहते हैं। इससे यह भी भाव होगा कि सेना बड़ी सघन है। अतः, धीरे-धीरे चल रही है। भूमि नहीं दिखाती। पुनः जैसे कीड़े शीघ्र नाश किये जा सकते हैं, वैसे ही ये राक्षस भी शीघ्र ही नाश को प्राप्त होंगे।

यह सुधि सकल कपिन्ह जब पाई। धाये करि रघुबीर दोहाई॥१३॥

छंद—धाये बिसाल कराल मर्कट-भालु काल समान ते।
मानहु सपच्छ उड़ाहिं भूधर-बृंद नाना बान ते।
नख दसन सैल महाद्रुमायुध सबल संक न मानहीं।
जय राम रावन-मत्तगज मृगराज सुजस बखानहीं॥

दोहा—दुहुँ दिसि जय-जयकार करि, निज निज-जोरी जानि।
भिरे बीर इत राम-हित, उत रावनहि बखानि॥७८॥

शब्दार्थ—बान (वर्ण) = रंग; यथा—"कनकहि बान चढ़इ जिमि दाहे।" (अ० दो० २०५)।

अर्थ—जब वानरों ने यह सारा समाचार पाया (कि रावण सेना सहित धूमधाम से आ रहा है,) तब श्रीरघुवीर की शपथ करके दौड़े॥१३॥ वे विशाल (शरीर) और काल के समान भयंकर वानर-भालू दौड़े। मानों अनेक रंगों के पक्षयुक्त पर्वत-वृन्द उड़ रहे हों॥ बड़े-बड़े नख, दाँत, पर्वत और वृक्ष उनके आयुध हैं, वे सब बलवान् हैं एवं वे बलवान् का डर नहीं मानते। रावण-रूपी मतवाले हाथी के लिये सिंह रूप श्रीरामजी की जय-जयकार करके उनका सुन्दर यश बखान करते हैं॥ दोनों ओर के वीर जय-जयकार करके अपनी-अपनी जोड़ी जानकर—इधर के वीर श्रीरामजी का और उधर के रावण का बखान करते हुए परस्पर भिड़ गये॥७८॥

विशेष—(१) 'नाना बान ते'—वानर और भालू अनेक रंगों के हैं; यथा—"नाना बरन सकल दिसि, देखिय कीस-बरूथ॥" (कि० दो० ११); "नाना बरन भालु कपि धारी।" (सुं० दो० ५१) वैसे ही

पर्वतों को भी नाना वर्णों का कहा गया है। पर्वत उड़ते नहीं, परन्तु ये उड़ते हुए जाते हैं, इसलिये 'सपन्छ' कहे गये हैं, पूर्व भी कहा गया है; यथा—"राम-कृपा बल पाइ कपिंदा। भये पच्छ-जुत मनहुँ गिरिंदा॥" (सुं० दो० ३४); उड़ते हुए विशाल पर्वत की तरह ये काल के समान भयानक लगते हैं, इससे इन्हें 'काल समान' कहा गया है।

(२) 'दुहुँ दिसि जय-जय···'—अपने-अपने स्वामी के बल प्रताप आदि का बखान करते हुए जय-जयकार करते हैं; यथा—"अन्योन्यमाह्वयानानां क्रुद्धानां जयमिच्छताम्।" (वाल्मी० ६।४५।५०); अर्थात् दोनों (वानर-राक्षस) दलवाले क्रोध से अपने-अपने प्रतिपक्षी को ललकार रहे थे और वे दोनों अपनी-अपनी विजय चाहते थे। 'निज निज जोरी जानि'; यथा—"भिरे सकल जोरिहि सन जोरी। इत उत जय इच्छा नहिं थोरी॥" (दो० ५१)।

"धर्ममय-रथ"—प्रकरण

(श्रीराम-गीता)

रावन रथी बिरथ रघुबीरा। देखि बिभीषन भयउ अधीरा॥१॥
अधिक प्रीति मन भा संदेहा। बंदि चरन कह सहित सनेहा॥२॥

अर्थ—रावण को रथ पर सवार और रघुवीर श्रीरामजी को बिना रथ के देखकर श्रीविभीषणजी अधीर हो गये (घबड़ा गये)॥१॥ बहुत प्रीति होने के कारण उनके मन में संदेह हो गया। अतः, वे चरणों की वंदना करके स्नेहपूर्वक बोले॥२॥

विशेष—(१) 'रावन रथी बिरथ रघुबीरा।'—ऊपर कहा गया—'निज निज जोरी जानि। भिरे बीर' वैसे ही यहाँ जोड़ी में रथारूढ़ रावण आ रहा है और इधर से श्रीरामजी पैदल ही उसके साथ युद्ध करेंगे, इस जोड़ी में यह विषमता है, यह श्रीविभीषणजी से नहीं देखा गया; अतः, वे अधीर हो गये।

यद्यपि कुंभकर्ण से भी पैदल ही युद्ध हुआ है, पर वहाँ विषमता नहीं थी, क्योंकि कुंभकर्ण भी पैदल ही था। श्रीविभीषणजी पहले से भी जानते थे कि इस सेना में रथ आदि सवारी कुछ भी नहीं है; किंतु फिर भी समरभूमि में देखने से वे अधीर हो गये। यह बात वानरों को भी खटकती थी; यथा—"रथारूढ़ रघुनाथहि देखी। धाये कपि बल पाइ बिसेषी।" यह आगे कहा गया है। परन्तु, वे लोग पैदल-युद्ध के अभ्यस्त हैं, इससे अधीर नहीं हुए और श्रीविभीषणजी रथ के अभ्यस्त हैं, वे रथी के सुभीते को जानते हैं, इससे अधीर हो गये। देवता लोग भी इस विचार से सहमत हैं; यथा—"देवन्ह प्रभुहिं पयादे देखा। उर उपजा अति छोभ बिसेखा॥ सुरपति निज रथ तुरत पठावा।···" (दो० ८०)।

इन सबके विचारों से भी श्रीविभीषणजी का विचार न्यायपूर्ण है। श्रीविभीषणजी युद्ध-विषयक प्रधान मंत्री हैं, इसीसे इस त्रुटि पर विशेषकर इन्हीं का ध्यान गया।

यद्यपि श्रीविभीषणजी श्रीरामजी का ऐश्वर्य जानते थे; यथा—"तात राम नहिं नर भूपाला।" से "जासु नाम त्रयताप नसावन। सोइ प्रभु प्रगट···" (सुं० दो० ३८); तक। ये सब इन्हीं के वचन हैं। पर इस समय की अधीरता एवं संदेह का कारण 'अधिक प्रीति' है। सरकार की माधुरी ऐश्वर्य-दृष्टि को दबा देती है। जैसे परम ज्ञानी श्रीजनकजी ने पहले श्रीरामजी को परब्रह्म कहा और श्रीविश्वामित्रजी से निश्चित भी

करा लिया, पर धनुर्भंग के समय सरकार पर माधुर्यदृष्टि से वात्सल्य हो आया और उन्होंने श्रीविश्वामित्रजी से अपनी दुविधा कही। गी० बा० ८४ देखिये। और भी कहा है, यथा—"नैर अध प्रेमहि न प्रबोधू।" (अ० दो० २६१) 'अधिक प्रीति' दीपदेहली-न्याय से 'अधीरा' और 'मन भा सदेहा' दोनों के साथ है। अधीरता के साथ मन का संदेह प्रकट करने से ये आर्त्त अधिकारी सिद्ध हुए, यथा—"गूढउ तत्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं॥" (बा० दो० १०१)।

(२) 'बंदि चरन कह सहित सनेहा।'—जिज्ञासा के पूर्व प्रणाम करना शास्त्र विधि है। सख्यभाव के स्नेह से बोले।

नाथ न रथ नहिं तनु पदत्राना। केहि बिधि जितब बीर बलवाना॥३॥
सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहि जय होइ सो स्यंदन आना॥४॥

अर्थ—हे नाथ! न तो रथ है, न शरीर की रक्षा करनेवाला (कवच) है और न चरण की रक्षा करनेवाली (जूती) ही है, तब वीर और बलवान् रावण को किस तरह जीतियेगा?॥३॥ कृपासागर श्रीरामजी ने कहा कि हे सखे! सुनो, जिस रथ से जय होती है, वह रथ तो और (दूसरा) ही है॥४॥

विशेष—(१) 'नाथ न रथ ''—'नाथ'—मैं लंका से बहिष्कृत होने से अनाथ हो गया था, तीनों लोकों में और कोई रक्षक नहीं हो सकता था, आपने नाथ होना स्वीकार किया, तब मैं सनाथ हुआ; यथा—"राखि बिभीषन को सकै अस काल गहा को।" (वि० १५१), "रावन रिपुहि राखि रघुबर बिनु को त्रिभुवनपति पाइहै।" (गी० सं० ३४), पुन श्रीलक्ष्मणजी के शक्ति लगने पर भी आप मेरी ही चिंता करते थे, ऐसा नाथ होना दुर्लभ है।

'केहि बिधि जितब'—युद्ध में जय प्राप्त करने के लिये रथ, कवच और जूती बहुत आवश्यक हैं। पहले तो रथ का भारी प्रचलन रहता है, सारथी रथी और रथ की रक्षा में सावधान रहता है। रथी को शत्रु से लड़ने का पूरा अवकाश रहता है। अस्त्र-शस्त्र भी रथ पर पर्याप्त रूप से रक्खे जा सकते हैं। यदि अचानक कोई आघात आ ही जाय, तो कवच से रक्षा होती है। पुन कहीं पैदल चलना हुआ तो पदत्राण भी आवश्यक है, क्योंकि रणभूमि में 'दृष्टिपूतं न्यसेत्पादम्' तो हो नहीं सकता, वहाँ तो दृष्टि शत्रु पर एवं उसके प्रहार के रोकने पर रहती है, तब भूमि के काँटे, कंकड़ एवं रुधिर आदि से बचाने के लिये पदत्राण भी आवश्यक है।

आपके इन सब में एक भी नहीं हैं, तब शरीर की रक्षा कैसे होगी? शत्रु तो ऊपर है और आप नीचे भूमि पर, यह विषमता है। 'बीर बलवाना'—फिर रावण कोई सामान्य वीर भी नहीं है, वह त्रिलोकविजयी है।

(२) 'सुनहु सखा कह कृपानिधाना।'' '—'कृपानिधान' का भाव यह है कि श्रीरामजी कृपा करके इसी बहाने श्रीविभीषणजी को धर्मोपदेश करेंगे, यथा—"येहि मिस मोहि उपदेसेहु, राम कृपा-सुख-पुंज।" (दो० ८१), 'सखा' का भाव यह है कि तुम सखा भाव के भक्त हो, इससे गूढ़ रहस्य जानने के भी अधिकारी हो, यथा—"सुनहु सखा कपिपति लंकापति तुम्ह सन कौन दुराउ।" (गी० सु० ४०), तथा "भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।" (गीता ४।३)।

'जेहि जय होइ सो स्यंदन आना।'—जो रथ तुम रावण के पास देखते हो, इस पार्थिव रथ से

जय नहीं होती। जय देनेवाला तो और ही रथ है, वह आध्यात्मिक है, उसका नाम धर्ममय रथ है; यथा—"सखा धर्ममय अस रथ जाके।" यह आगे कहा है। इसे ही साग-रूपक से कहते हैं—

इसी तरह निषादराजजी भी श्रीरामजी के माधुर्य मे भूलकर अधीर हो गये थे, उसका कारण भी अति-स्नेह ही था, यथा—"सोवत प्रभुहि निहारि निषादू। भयउ प्रेमवस हृदय विषादू॥" (अ० दो० ८६), "भयउ विषाद निषादहि भारी।" (अ० दो० ६१), तब उन्हें श्रीलक्ष्मणजी ने समझाया है, यथा—"बोले लखन मधुर मृदु बानी। ज्ञान-विराग-भगति-रस-सानी॥" से "सखा समुझि अस परिहरि मोहू। सिय-रघुबीर-चरन-रत होहू॥" (अ० दो० ६१–६३) तक क्योंकि उसने अपना दुःख उन्हीं से कहा है और श्रीविभीषणजी ने श्रीरामजी से कहा। अत, यहाँ इन्होंने ही समझाया है। अतएव उसका 'लक्ष्मण-गीता' नाम पड़ा और इसका 'राम-गीता'। यहाँ रथी-रूपी जीव का महा अजेय संसार रूपी शत्रु पर विजय करने का साधन दिखावेंगे।

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ ध्वजा-पताका॥५॥

शब्दार्थ—सौरज (शौर्य) = शूरता। चाका = पहिया, चक्र।

अर्थ—शौर्य और धैर्य उस रथ के पहिये हैं (अर्थात् ये ही धर्मरथ के आधार और गतिदाता हैं) सत्य और शील उसके दृढ ध्वजा और पताका हैं॥५॥

विशेष—(१) 'सौरज धीरज' और 'चाका' मे अचलता एवं दृढता सार है, इसी मे समता है। शूर और धीर रण में पीछे नहीं हटते और न अधीर होते हैं, यथा—"चला न अचल रहा रथ रोपी। रन दुर्मद रावन अति कोपी॥" (दो० ८०), "सुनि सरोष बोले सुभट, बीर अधीर न होहिं।" (अ० दो० १६१), धर्मरथ के चक्के पीछे नहीं हटते। इसका भाव यह है कि जिस रथ पर श्रीरामजी सवार हैं। वह अर्जुन, कर्ण आदि के रथ की तरह पीछे हटनेवाला नहीं है। युद्ध के रथ मे दो ही पहिये होते हैं, क्योंकि उसे इधर-उधर शीघ्रता से फिराना पडता है, इसी से यहाँ दो ही पहिये कहे गये हैं। परमार्थ पक्ष मे स्वभाव विजय ही शूरता है, यथा "स्वभाव विजय शौर्यम्" (श्रीमद्भाग० ११।१६।३७), अर्थात् स्वभाव को बलात् धर्म के अनुकूल रखना शूरता है। और चाहे कितना ही दुःख एवं विघ्न उपस्थित हो, पर धर्म से नहीं हटे—यह धीरता है।

'सत्यसील दृढ ध्वजा पताका।'—ध्वजा पताका दृढ होनी चाहिये, अन्यथा उनके कट जाने से पराजय समझी जाती है, यथा—"रथ विभंजि हति केतु पताका। गर्जा अति अंतर बल थाका।" (दो० ९०), वैसे ही धर्म रथ मे भी सत्य और शील मे दृढता चाहिये, अन्यथा इनके खंडित होने से संसार रूपी शत्रु से हार समझी जायगी। जैसे रथ मे ध्वजा पताका ऊँची रहती है, वैसे ही धर्म मे भी सत्य और शील श्रेष्ठ है, यथा—"धर्म न दूसर सत्य समाना।" (अ० दो० ९४), तथा—"धर्म सत्यपरो लोके मूलं सर्वस्य चोच्यते॥ सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः। सत्य मूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्॥ दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च। वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात्सत्यपरो भवेत्॥" (वाल्मी० २।१०९।१२–१४), अर्थात् लोक मे सत्य मे ही धर्म की स्थिति है, इसीसे सत्य सबका मूल कहाता है॥ सत्य ही ईश्वर है, सज्जनों के द्वारा आश्रित धर्म सत्य में वर्त्तमान है। सब जगत् का मूल सत्य (ईश्वर) ही है, सत्य से बढकर दूसरा श्रेष्ठ पद नहीं है॥ दान, यज्ञ, हवन, तपस्या, वेद, इन सबों का मूल सत्य ही है, अतएव मनुष्य को सत्यपरायण होना चाहिये।

सत्य और शील मुख (वाणी) और नेत्र द्वारा जाने जाते हैं (ये दोनों अंग शरीर में ऊँचे हैं) यथा—"करम बचन मानस बिमल, तुम्ह समान तुम्ह तात।" (अ० दो० ३०४), अर्थात् सत्य-निष्ठ होने से तुम सर्वश्रेष्ठ हो, यथा—"पुन्यसिलोक तात तर तोरे।" (अ० दो० २६२), यह श्रीरामजी ने श्रीभरतजी को कहा है। शील नेत्र द्वारा, यथा—"सुखमा-सुख-सील-अयन नयन निरखि निरखि नील कुंचित कच, कुंडल कल नासिक चित पोहै।" (गी० उ० ४), इस तरह उच्च-स्थलता की भी समता हुई (जैसे ध्वजा पताका देखकर रथ का अनुमान हो जाता है, वैसे ही सत्यवादी और शीलवान् होना धर्मात्मा का चिह्न है।

यहाँ पहले चक्र कहकर नीचे का भाग कहा गया और फिर शिरोभाग में ध्वजा और पताका कही गई। बीच के भाग धुरी, किंकिणी, घंटी आदि को भी प्रत्याहार की रीति से जना दिया गया। विस्तार-भय से सबको नहीं कहा।

बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥६॥

अर्थ—बल, विवेक, दम और पर-हित घोड़े हैं जो क्षमा, कृपा और समता रूपी डोरी से रथ में जोड़े गये हैं॥६॥

विशेष—(१) 'बल' से यहाँ देह बल अभिप्रेत नहीं, किन्तु प्रसंगानुसार आत्मबल का तात्पर्य है, यथा—"आत्मवान्कोजितक्रोध" (मूलरामायण), धर्म में आत्मबल नहीं होने से वह नहीं चलता, मनुष्य उसे अधूरा ही (किंचित् विघ्न आदि से) छोड़ बैठता है। आत्मबल बुद्धि आदि से परे जीवात्मा को अंतर्यामी से प्राप्त कर्त्तव्य-शक्ति को कहते हैं, यथा—"यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्। स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥" (गीता० ७।२१–२२)। कोई-कोई बल से प्राणायाम रूपी बल का अर्थ करते हैं, यथा—"प्राणायाम परं बलम्।" (भाग० ११।१६।३१)।

'बिबेक'—सत् और असत् को जानकर सत् का ग्रहण करना, यथा—"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥" (गीता २।१६), अर्थात् असत् वह है जिसकी सदा स्थिति नहीं है और सत् वह है जिसका कभी नाश नहीं हो, जीवात्मा नित्य सत्य होने से यहाँ सत् पदार्थ है और देह अनित्य होने से असत् है। धर्म में विवेक की आवश्यकता इसलिये है कि धर्म का तात्पर्य जीवोत्सर्ग में रहे न कि देह-सुख-वृद्धि में, अर्थात् निष्काम कर्म करे सकाम नहीं। निष्काम कर्म से हृदय शुद्ध होने पर ज्ञानोपासना द्वारा जीव का कल्याण होता है। यही सत्-ग्रहण रूपी विवेक है।

'दम'—वाह्यवृत्ति निग्रह, श्रवण आदि बाह्य इन्द्रियों को विषयों से रोकना इससे धर्म-कार्यों में सकामता नहीं आने पाती। इसीसे धर्म के अंगों में इसकी सराहना की गई, यथा—"दमेन सदृशो धर्मोनान्यो लोकेषु विश्रुतः॥" (भारत शांति पर्व)।

'परहित', यथा—"परहित सरिस धर्म नहिं भाई।" (उ० दो० ४०)।

यहाँ कोई-कोई—"आपने बय बल रूप गुन गति" से भी मिलान करते हैं। पर उनकी संगति लगाने में प्रसंग विस्तार होगा। उसकी उतनी आवश्यकता भी नहीं है।

प्रश्न—कौन घोड़ा किस रस्सी में बँधा हुआ है?

उत्तर—रथ मे दो घोड़े आगे और दो पीछे जोते जाते है। आगे के घोडे दो रसियों मे बंधे रहते हैं, उन्हीं से वे दाहिने बायें फेरे जाते हैं और पीछेवाले दोनों घोड़े एक ही रस्सी मे बँधे रहते हैं, क्योंकि ये आगेवालों के अधीन चलते हैं।

यहाँ बल और परहित आगे के घोडे हैं। क्षमा रूपी रस्सी से बल बँधा है और कृपा से परहित; क्योंकि बल क्षमा के अधीन है और परहित कृपा के अधीन है। विवेक और दम पीछे के घोड़े हैं, ये समता-रूपी रस्सी मे बँधे हैं। समता; यथा—"समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयो ॥" (गीता १२।१८); समता से ही विवेक और दम की वृत्ति रहती है। क्षमा, यथा—"क्षमा द्वन्द्व सहिष्णुत्वम्।" (भारत); बल के पीछे विवेक चलता है, क्योंकि आत्म-बल रहता है, तब विवेकवृत्ति भी रहती है और परहित के पीछे दम है; क्योंकि इन्द्रिय दमन से मनुष्य की दया वीरता बनी रहती है। जैसे पीछेवाले घोडों से आगे वालों को भी सहारा रहता है और आगे वालों के अनुसार पीछे वाले चलते हैं; अर्थात् वे अन्योन्य सापेक्ष रहते हैं; वैसे ही ये बल आदि भी उसी तरह अन्योन्य सापेक्ष हैं।

रस्सी स्त्रीलिंग है और बाँधना उसका धर्म है। स्त्री भी बंधन होती है। इसीसे यहाँ बाँधनेवाली अर्थात पुरुप वाचक बल, विवेक आदि को एकत्र करके धर्म रंग मे निमंत्रित रखनेवाली क्षमा, कृपा और समता, ये तीनों भी स्त्रीलिंग रूप मे ही कही गई हैं।

ईस - भजन सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोप कृपाना ॥७॥

अर्थ—ईश्वर का भजन चतुर सारथी है, वैराग्य ढाल है और संतोप द्विधारा खड्ग है ॥७॥

विशेप—(१) 'जैसे सारथी रथ को रथी के अनुकूल चलाता है, उसे लक्ष्य पर पहुँचाता है और सब काल में उसकी रक्षा करता है। वैसे ही ईश्वर का भजन सभी विघ्नों का नाश करता है यथा—"सकल विघ्न नहिं व्यापहिं तेही। राम सुकृपा बिलोकहिं जेही॥" (बा० दो० ३८); और उसके धर्म को परिणाम तक निवाह देता है। यही रथ का मनोनुकूल चलाना है। ईश-भजन ही बल-विवेक आदि को यथार्थ उद्देश्य मार्ग पर चलाता है। नहीं तो ये घोडे रथी, रथ और अपने को भो विपत्ति मे डाल दें। 'सारथी सुजाना'—जो सारथ्य-कर्म एवं रथी की रक्षा मे प्रवीण हो, जैसे सुमंत्र और मातलि क्रमश श्रीदशरथजी और इन्द्र के सारथी थे। वैसे ईश्वर भजन मे सुजानता यह है कि ईश्वर स्वयं जान-जानकर भक्त को बाधाओं से बचाता है। धर्म का निबाहना अनुकूल चलाना है।

(२) 'बिरति चर्म'—रथ, घोडे, सारथी आदि हुए, फिर भी रथी की रक्षा के लिये रथ पर ढाल तलवार आदि भी रक्खी रहनी चाहिये। जैसे ढाल से देह-रक्षा होती है, वैसे ही वैराग्य से रथी (जीव) की कामादि विघ्नों से रक्षा होती है। अन्यत्र भी कहा है, यथा—"बिरति चर्म असि ज्ञान···" (उ० दो० १२०); 'संतोप कृपाना'—संतोष का अर्थ इच्छा से रहित होना है, यथा—"गज धन रथ धन बाजि धन, चिंतामनि धन आन। जब आयो संतोप धन, सब धन धूरि समान॥" निकट आये हुए शत्रु पर कृपाण से चोट की जाती है। यहाँ संतोप कृपाण है, जितनी सामग्री अनायास अति निकट प्राप्त है, उसमें ही सतुष्ट रहना चाहिये; यथा—"आठवँ जथा लाभ सतोपा।" (आ० दो० ३५), जैसे कृपाण दाहिने, बाएँ और सामने, तीनों ओर प्रहार करती है। वैसे ही दाहिनी ओर का शत्रु लोभ है, क्योंकि लेन-देन लोभ का साधन है, वह दाहिने हाथ से होता है। काम बाईं ओर का शत्रु है, क्योंकि काम का बल स्त्री है, वह बायें रहती है, और क्रोध का बल परुप वचन है, वह सामने से कहा जाता है, यथा—"जो कोप

कोप भरइ मुख बैना । मन्मुख हृतइ गिरा सर पैना ॥" (वैराग्यसंदीपनी ४१); संतोष रूपी कृपाण से ये तीनों मारे जाते हैं ; यथा--"जिमि लोभहिं सोषइ संतोषा ।" (कि० दो० १५); "बिनु संतोष न काम नसाहीं ।" (उ० दो० ८६); "नहिं संतोष तौ पुनि कछु कहहू । जनि रिसि रोकि दुसह दुख सहहू ॥" (बा० दो० २७६) ।

यहाँ धोखे से प्रहार करनेवाले तीन ओर के शत्रु कहे गये । संसार प्रकट शत्रु है, उससे तो प्रत्यक्ष युद्ध हो ही रहा है । उसपर प्रहार के लिये उपयुक्त आयुध आगे कहते हैं ।

दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा । बर बिज्ञान कठिन कोदंडा ॥८॥

अर्थ—दान फरसा, बुद्धि प्रचंड शक्ति और श्रेष्ठ विज्ञान कठिन धनुष है ॥८॥

विशेष—(१) 'दान परसु'—धर्म के प्रकरण से यहाँ सात्विक दान ही का तात्पर्य है ; यथा—"दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे । देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम् ॥" (गीता १७।२०); अर्थात् दान देना ही कर्त्तव्य है, ऐसे भाव से जो दान देश (पुण्य स्थल), काल (पर्व आदि) और पात्र (सदाचारी ब्राह्मण एवं साधु आदि) के प्राप्त होने पर प्रत्युपकार नहीं करनेवालों के लिये दिया जाता है, वह दान सात्विक कहा गया है । जैसे फरसे से शत्रु के अंग एवं वन-पर्वत आदि कटते हैं, वैसे ही दान से भी पाप-रूपी वन-पर्वत कटते हैं ; यथा--"पाप पहार प्रगट भइ सोई ।" (अ० दो० ३३); "तौ क्यों कटत सुकृत नखते मो पै बिपुल बृन्द अघ बन के ।" (वि० ८६); पाप संसार शत्रु का अंग है । पाप से ही सांसारिक नाना क्लेश भोगने पड़ते हैं ।

'बुधि सक्ति'-बुद्धि भी यहाँ उक्त प्रसंग से सात्विक ही ली जायगी ; यथा-"प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्याकार्ये भयाभये । बन्धंमोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी ॥" (गीता १८।३०); अर्थात् हे पार्थ ! प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग को तथा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को एवं भय और अभय को तथा बंधन और मोक्ष को जो बुद्धि यथार्थ जानती है, वह सात्त्विकी है । ऐसी बुद्धि शक्ति रूपा है । शक्ति की अनी-पैनी होना उत्तम है, वैसे ही बुद्धि भी पैनी (तीक्ष्ण) ही उत्तम होती है ; यथा—"जनक जुवति मति पैनी ।" (गी० बा० ७१); बुद्धि के देवता ब्रह्मा हैं ; यथा—"अहंकार सिव बुद्धि अज ।" (दो० १५); इसी से ब्रह्मदत्त शक्ति की तरह यह भी अमोघ एवं प्रचंड है ; यथा—"सो ब्रह्म दत्त प्रचंड सक्ति अनंत उर लागी सही ।" (दो० ८२) ।

'बर बिज्ञान कठिन कोदंडा ।'—विज्ञान का स्वरूप उ० दो० ११७ के "तब विज्ञान निरूपिनी बुद्धि..." से "तेजरासि बिज्ञानमय" में कहा गया है । वहाँ तीन अवस्थाओं और उनके आधार भूत तीनों गुणों की वृत्तियों से अपनेको पृथक् करना विज्ञान कहा गया है । किंतु उस विज्ञान का विघ्नों से बचना वहीं पर असंभव-सा कहा गया है । वही त्रिगुणातीत अवस्था भक्ति से भी प्राप्त होती है ; यथा—"माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते । स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥" (गीता १४।२६); अर्थात् जो पुरुष अव्यभिचारी भक्ति योग के द्वारा मुझको निरंतर भजता है, वह इन तीनों गुणों को भली भाँति लाँघकर ब्रह्म को प्राप्त होने के योग्य बन जाता है । इस प्रकार की भक्ति के द्वारा जो विज्ञान प्राप्त होता है, वह 'बर बिज्ञान' है, क्योंकि इसमें भगवान् विज्ञानी भक्त की विघ्नों से रक्षा करते हैं; यथा—"अस बिचारि जे मुनि बिज्ञानी । जाँचहिं भगति सकल सुख खानी ॥" (उ० दो० ११५); भक्ति करने से शुक-सनकादि एवं नारदजी विज्ञानविशारद कहे गये हैं, यथा—"सुक सनकादि भगत

मुनि नारद । जे मुनिवर विज्ञान बिसारद ।।" (बा० दो० १७) ; श्रीशुकदेवजी ने स्वयं कहा है ; यथा— "देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किंकरो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥ स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः। विकर्म यच्चोत्पतितं कथंचिद्‌ धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः ॥" (भाग० ११।५।४१-४२) ; अर्थात् जो सब प्रकार से और सब कर्त्तव्य छोड़कर सर्वशरण्य भगवान् की शरण जाता है, वह देव, ऋषि, आप्त पुरुष और पितृगण का न किंकर ही रह जाता है और न ऋणी ही, परमेश्वर अपने अनन्य भक्तों के उन सब पापों को जो उनसे असावधानी से हो जाते हैं, उनके हृदय में बैठकर नाश कर देते हैं। यही बात श्रीरामजी ने स्वयं भी कहा है ; यथा—"मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी ।" से "करउँ सदा तिन्हकी रखवारी ।" (आ० दो० ४१) तक।

वर विज्ञान को यहाँ कठिन कोदंड (धनुष) कहा गया है । कोदंड श्रीरामजी का मुख्य आयुध है । इसीसे रावण आदि बड़े-बड़े शत्रु भी मारे गये हैं । यह दूर तक प्रहार करता है । यहाँ भी सम्मुख में महा अजय संसार शत्रु को मारना है । संसार मोह का विलास है, अतएव रावण-रूप है ; यथा—"मोह दसमौलि" वि० ५१) ; अतः, इससे यह भी अवश्य नाश को प्राप्त होगा। जैसे सामान्य कोदंड शत्रु-द्वारा काट दिया जाता है, वैसे ही सामान्य विज्ञान भी ऊपर सविघ्न कहा गया है । जैसे कठिन कोदंड सुदृढ़ होता है । वैसे ही यह वर विज्ञान भी विघ्नों से अकाट्य होता है ; यथा—"सोइ गुन गृह बिज्ञान अखंडित ।··· जाके पद सरोज रति होई ।।" (उ० दो० ४८) ।

अमल अचल मन त्रोन समाना । सम-जम-नियम सिलीमुख नाना ॥९॥

अर्थ—निर्मल अचल मन तर्कश के समान है, शम, यम और नियम अनेक बाण हैं ।।९।।

विशेष—'अमल अचल मन···'— विषय-रूपी मल से रहित मन अमल है ; यथा— "काई विषय मुकुर मन लागी ।" (बा० दो० ११४) ; "निर्मल मन अहीर निज दासा ।" (उ० दो० ११६); 'अचल'=चंचलता रहित ; यथा—"यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता । योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ।।" (गीता ६।१९) ; ऐसा मन तर्कश के समान है । जिस तरह तर्कश में बहुत-से बाण रहते हैं, उसी तरह शुद्ध मन में शम, यम और नियम के ही संकल्प हुआ करते हैं ; जैसे अशुद्ध मन में विषय सम्बन्धी मनोरथ हुआ करते हैं, यथा—"जिमि मन माँह मनोरथ गोई ।" (अ० दो० ३१५); शम का अर्थ संकल्पों का अभाव, अंतःकरण तथा बाह्य इन्द्रियों का निग्रह । यम ; यथा—"अहिंसा सत्येमस्तेयंब्रह्मचर्यापरिग्रहः" । नियम ; यथा—"शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि-नियमः । शुद्ध मन से ये सब बाण छूटा करते हैं, तब संसार शत्रु सामने खड़ा नहीं रह सकता । यहाँ तर्कश और बाण कहे गये हैं, धनुष उपर्युक्त 'वर विज्ञान' है । अतः , भक्ति मय विज्ञान सहित शुद्ध मन से शम आदि में ही प्रवृत्ति रहे, यही संसार शत्रु से संग्राम करना है ।

कवच अभेद बिप्र - गुरु - पूजा । येहि सम बिजय उपाय न दूजा ॥१०॥

शब्दार्थ—अभेद (अभेद्य)=जिसके भीतर आयुध न घुस सकें ।

अर्थ—ब्राह्मण और गुरु की पूजा अभेद्य कवच है, इसके समान विजय का दूसरा उपाय नहीं है ।।१०।।

विशेष—'विप्र-गुरु-पूजा'; यथा—"पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा । मन क्रम बचन विप्र-पद-पूजा ।।" (उ० दो० ४४)—यह कवच-रूप है; क्योंकि इससे इसके सब कोई रक्षक रहते हैं; यथा—"सानु-

मूल तेहि पर मुनि देया। जो तजि कपट करइ द्विज सेवा॥" (उ० दो० ४४); विष्णु भगवान् ने विप्र-पद चिह्न (भृगुलता) को हृदय में धारण किया, इससे उन्होंने समस्त दैत्यों को जीत लिया। प्रथम विप्र-पद की पूजा कर उनके प्रसाद से निष्काम कर्म द्वारा नैष्कर्म्यसिद्धि रूपी कवच प्राप्त करेगा। उसमें विषय-स्पृहा रूपी वाण न बेधेंगे। फिर गुरु-पद-पूजा से ज्ञानोपासना के द्वारा उसमें अभेदता प्राप्त करेगा। तब उसमें मोह आदि के प्रबल आघात नहीं व्यापेंगे।

'येहिसम विजय उपाय न दूजा।'—विजय के उपाय में दुर्ग, सेना और भौतिक रथ आदि बहुत हैं। पर वे इसके बराबर एक भी नहीं हैं। क्योंकि उन सबके रहते हुए भी पराजय होना देखा जाता है।

सखा धर्ममय अस रथ जाके। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके॥११॥

अर्थ—हे सखे! ऐसा धर्ममय रथ जिसके हो, उसके लिये जीतने को कहीं भी शत्रु नहीं हैं॥११॥

विशेष—'धर्ममय अस रथ'—इसमें जो-जो अंग कहे गये, सब धर्म ही हैं। 'जाके'—आशय यह है कि ये सब अंग मुझमें हैं, आगे दिखाये जायेंगे। 'जीतन कहँ न···'—कोई शत्रु रह ही नहीं जाता कि उसे जीतने का प्रयत्न करना पड़े। भाव यह है कि मेरे समक्ष रावण को मरा हुआ ही समझो।

वीरों के रथ में ये सब अंग होते हैं—

(१) दो पहिये। (२) ध्वजा-पताका। (३) घोड़े। (४) घोड़े रस्सी में जुते हुए। (५) सुजान सारथी। (६) ढाल। (७) कृपाण। (८) फरसा। (९) शक्ति। (१०) कोदंड (११) तर्कश। (१२) वाण। (१३) कवच।

वैसे ही क्रमशः धर्म-रथ के भी अंग होते हैं—

(१) शौर्य, धैर्य। (२) सत्य, शील। (३) बल, विवेक, दम, परहित। (४) क्षमा, कृपा, समता। (५) ईश-भजन। (६) वैराग्य। (७) संतोष। (८) दान। (९) बुद्धि। (१०) वर विज्ञान। (११) अमल अचल मन। (१२) शम, यम, नियम। (१३) विप्र-पूजा और गुरु-पूजा।

श्रीरामजी में ये सब अंग हैं—

(१) शौर्य—"जौ नर तात तदपि अति सूरा।" (बा० दो० २४), पुनः स्वभाव विजय रूपी शूरता; यथा—"मोहिं अतिसय प्रतीत मन केरी। जेहि सपनेहुँ···" (बा० दो० २३०)।
धैर्य—"जौ नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्य संध दृढ़ व्रत···" (अ० दो० ८१)।
(२) सत्य—"राम सत्य संकल्प प्रभु।" (सुं० दो० ३१)।
शील—"सील सिंधु सुनि गुरु आगमनू।" (अ० दो० २४२)।
(३) बल (आत्मबल)—"जौं मैं राम तो कुल सहित, कहहि दसानन आइ।" (आ० दो० ११); ईश्वर में सब प्रकार के बल स्वाभाविक हैं; यथा—"परास्य शक्तिर्विविधैवश्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च।" (श्वे० ६।८)।
विवेक—"गत क्रोध सदा प्रभु बोध मयं।" (दो० १०४)।
दम—"सब कोउ कहै राम सुठि साधू।" (अ० दो० ३१)।
परहित—"विप्र धेनु सुर संत हित, लीन्ह मनुज अवतार।" (बा० दो० १९२)।

(४) क्षमा—"छमहु छमा मंदिर दोउ भ्राता।" (बा० दो० २८४)।
कृपा—"कृपासिंधु मति धीर, अखिल बिस्व कारन करन।" (बा० दो० २०८)।
समता—"जद्यपि सम नहिं राग न रोषू।" (अ० दो० २१८)।
(५) ईस भजन—"पूजि पारथिव नायउ माथा।" (अ० दो० १०२)।
(६) बिरति—"नव गयंद रघुबीर मन, राज अलान समान। छूट जानि बन गमन सुनि, उर अनंद अधिकान॥" (अ० दो० ५१)।
(७) संतोष—"तुम्ह परिपूरन काम···" (बा० दो० १३६)।
(८) दान—"जो संपति सिव रावनहि, दीन्हि दिये दस माथ। सो संपदा बिभीषनहि, सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥" (सुं० दो० ४१)।
(९) बुद्धि "राम तेज बल बुधि बिपुलाई। सेष सहस सत···" (सुं० दो० ५५)।
(१०) बर बिज्ञान—"विज्ञान धामावुभौ" (कि० मं०)।
(११) अमल मन—"मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहु···" (उपर्युक्त)।
अचल मन—"हिमिगिरि कोटि अचल रघुबीरा। सिंधु कोटि···" (उ० दो० ११)।
(१२) शम, यम, नियम—"योगीद्रं ज्ञानगम्यं गुणनिधिमजितं" (मं०)।
श्रीरामजी के वनवास-चर्या में ये सब गुण स्वाभाविक हैं।
(१३) विप्रपूजा—"बंदि बिप्र गुरु चरन प्रभु, चले···" (अ० दो० ७६)।
गुरुपूजा—"गुरु आगमन सुनत रघुनाथा। द्वार आइ महि नायउ माथा॥
···सोरह भाँति पूजि सनमाने॥" (अ० दो० ८)।
'सुनहु सखा कह कृपा निधाना।' उपक्रम है और यहाँ—'सखा धर्ममय···' उपसंहार है।

दोहा—महा अजय संसार रिपु, जीति सकइ सो बीर।
जाके अस रथ होइ दृढ़, सुनहु सखा मति धीर॥
सुनि प्रभु-बचन बिभीषन, हरषि गहे पद-कंज।
येहि मिस मोहि उपदेसेहु, राम - कृपा-सुख-पुंज॥

अर्थ—जिस वीर के पास ऐसा दृढ़ रथ हो वह महा अजेय संसार शत्रु को (भी) जीत सकता है, (तब रावण का जीतना कौन बात है?) हे मति धीर! हे सखे! सुनिये॥ प्रभु के वचन सुन श्रीविभीषणजी ने हर्षित होकर उनके चरण-कमलों को पकड़ लिया और बोले कि हे कृपा और सुख के समूह श्रीरामजी! आपने इस बहाने मुझे (धर्म का) उपदेश किया॥

विशेष—(१) 'महा अजय संसाररिपु···'—रावण तो केवल अजेय है; यथा—"तात सकल तव पुन्य प्रभाऊ। जीतेउँ अजय निसाचर राऊ॥" (दो० ११०)। अतः, इसका जीतना कोई बड़ी बात नहीं। संसार रूपी शत्रु तो महा अजेय है; क्योंकि यहाँ तो देश के देश सब सेना ही है; यथा—"व्यापि रहेउ संसार महँ, माया कटक प्रचंड। सेनापति कामादि भट, दंभ कपट पाखंड॥" (उ० दो० ७१), 'सो बीर' अर्थात् जो संसाररूपी शत्रु को जीते, वही वीर है।

(२) 'जाके अस रथ होइ दृढ़'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—'सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।' है। दृढ़ का भाव यह कि ऐसा रथ हो भी, परन्तु यदि वह ढीला-ढाला हो तो ऐसे शत्रु के सामने नहीं ठहर सकेगा।

'सुनहु सखा मति धीर'—यह कहकर अधिकारी भी जनाया कि जो मेरे भक्त सखा हैं और बुद्धि के धीर हैं, वे ही इसे धारण कर सकेंगे। इससे भिन्न तो इसे सुनकर भी नहीं धारण कर सकेंगे। उपक्रम में कहा गया था—'देखि बिभीषन भयउ अधीरा।' अब उपदेश सुनने से उनकी वह अधीरता मिट गई, इससे वे 'मति धीर' कहे गये; यथा—"नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत। स्थितोऽस्मि गत-संदेह···" (गीता १८। ७३)।

(३) 'सुनि प्रभु-बचन'—प्रभु अर्थात् परम समर्थ हैं। अतः, संग्राम के जय-साधन का इन्हें यथार्थ निश्चय है। इसीसे ऐसा उपदेश देते हैं कि जिससे जीतने को कहीं शत्रु रह ही न जाय। 'बिभीषन हरषि गहे पद कंज'—इनका संदेह निवृत्त हो गया, इससे इन्होंने कृतज्ञता ज्ञापन के रूप में प्रणाम किया; यथा—"भगति जोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन प्रभु चरनन्हि सिर नावा॥" (आ॰ दो॰ १६)—श्रीलक्ष्मणजी। "सुनत सुधा सम बचन राम के। गहे सबन्हि पद कृपा धाम के॥" (उ॰ दो॰ ४९)—पुरवासी। ऐसे ही बहुत उदाहरण हैं—विस्तार-भय से यहाँ नहीं लिखे गये।

(४) 'येहि मिस'—रावण से विजय की विधि बतलाने के बहाने आपने मुझे उपदेश दिया। संसार से मुक्त होने का उपाय बतलाया। स्वयं कृपा करके सुख दिया, इससे 'कृपा-सुख-पुंज' कहा है। मिस करके उपदेश का यह भी भाव है कि श्रीविभीषणजी पहले कह चुके हैं; यथा—"उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु-पद-प्रीति सरित सो बही॥" फिर भी इन्हें रावण-विजय की ही चिंता है। अतः, इन्हें निवृत्ति धर्म में आरूढ़ किया। 'मोहि उपदेसेहु'—उपदेश की सब बातें धर्म के अंग ही हैं; यथा—"सत्यं दमस्तपः शौचं संतोषो ह्रीः क्षमार्जवम्। ज्ञानं शमो दया दानमेष धर्मः सनातनः॥" (भारत)। इस गीता में निवृत्ति-लक्षण-धर्म कहा गया है।

'अस रथ'—इस प्रसंग में रथ के अंग के अतिरिक्त ये सब आयुध भी कहे गये हैं। जो रथी के उपयोग के लिये रथ पर रक्खे जाते हैं कि एक आयुध टूट जाय, तो वह दूसरा ले ले। इससे ये सब रथ के अंग ही हैं।

ऐसा ही रथ श्रुतियों में भी कहा गया है—

आत्मान ँ रथिनं विद्धि शरीर ँ रथमेवतु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषया ँ स्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥" (क॰ १।३।३-४)। अर्थात्—आत्मा को रथी जानो, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथी और मन को बागडोर जानो। इन्द्रियों को घोड़े और विषयों को मार्ग कहते हैं। विवेकी पुरुष इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं॥ इसके आगे दो श्रुतियों में यह भी कहा गया है कि जिसकी बुद्धि भोरी होती है उसकी इन्द्रियाँ दुष्ट अश्वों की तरह इधर से उधर ले भागती हैं और जिसकी बुद्धि सयानी होती है और सबको वश में रखती है, तब वे इन्द्रियाँ अच्छे घोड़ों की तरह अनुकूल रहती हैं।

पुनः "यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः। स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥ विज्ञान सारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः। सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥" (क॰ १।३।८-९);

अर्थात् जो विज्ञानवान् होता है, जिसका मन वश में है, जो सदा पवित्र है। वही उस पद को पाता है, जहाँ से फिर जन्म न हो। जिसका सारथी बुद्धि और मन लगाम है, वह मनुष्य भगवान् के परम श्रेष्ठ धाम के, मार्ग के पार तक पहुँचता है।

BHARATIYA ... S N... ...

उत प्रचार दसकंधर, इत अंगद हनुमान।
लरत निसाचर भालु कपि, करि निज निज प्रभु आन ॥७९॥

सुर ब्रह्मादि सिद्ध मुनि नाना। देखत रन नभ चढ़े बिमाना ॥१॥
हमहू उमा रहे तेहि संगा। देखत राम-चरित रन रंगा ॥२॥

अर्थ—उधर से रावण ललकारता था और इधर से श्रीअंगदजी और श्रीहनुमान्‌जी ललकारते थे। निशाचर और भालू-वानर अपने अपने स्वामी की दोहाई कर-करके लड़ रहे थे ॥७९॥ ब्रह्मा आदि सब देवता और अनेक सिद्ध मुनि विमानों पर चढ़े हुए आकाश से युद्ध देख रहे थे ॥१॥ (शिवजी कहते हैं कि) हे उमा! मैं भी उन सबों के साथ था और श्रीरामजी के वीर-रस के चरित देख रहा था ॥२॥

विशेष—(१) 'इत अंगद हनुमान'—श्रीरामजी अभी मोरचे से दूर थे, श्रीविभीषणजी से उक्त गीता-संवाद हो रहा था, इसीसे रावण के समक्ष श्रीअंगदजी और श्रीहनुमान्‌जी कहे गये हैं। पूर्व 'भिरे बीर इत रामहि, उत रावनहि बखानि' से प्रसंग छोड़ा था, वहीं से रण-प्रसंग फिर उठाया जाता है। 'उत प्रचार···'; यथा—"तुलसी उत हाँक दसानन देत अचेत भे बीर को धीर धरै। बिरुझो रन मारुत को बिरुदैत, जो कालहु काल सों बूझि परै॥" (क० लं० ३१)।

(२) 'सुर ब्रह्मादि···'—जब तक मेघनाद का वध नहीं हुआ था, ये देवता लोग प्रत्यक्ष युद्ध देखने नहीं आते थे। अब राम-रावण युद्ध मे सभी आकर देख रहे हैं, क्योंकि पहले डर था कि कहीं रावण मेघनाद को भेजकर सतावे नहीं। अब तो रावण अकेला ही रह गया है। दूसरे राम-रावण युद्ध अप्रतिम है। अत., देखने की लालसा से सभी आये, यथा—"गंधर्वाप्सरसां सङ्घा दृष्ट्वा युद्धमनूपमम्। सागरं चाम्बरप्रख्यमंबरं सागरोपमम्॥ राम-रावणयोर्युद्धं राम-रावणयोरिव। एवं ब्रुवन्तो ददृशुस्तद्युद्धं राम-रावणम्॥" (वाल्मी० ६।१०७।५१–५२)।

(३) 'हमहू उमा रहे तेहि संगा।'—श्रीशिवजी 'उमा' से कहते हैं कि उस समय तुम सती-तन में कैलास पर थी, मैं तुम्हारा त्याग कर चुका था, इससे मैं अकेले ही वहाँ गया था। यहाँ यह शंका नहीं होनी चाहिये कि श्रीशिवजी तो उस समय ८७ हजार वर्ष की समाधि में थे, तो युद्ध देखने कैसे आये? क्योंकि देवता लोगों को अनेक रूप धरने की शक्ति होती है। जैसे श्रीहनुमान्‌जी एक रूप से नित्य श्रीरामजी की सेवा मे रहते हैं और अन्य रूपों से सर्वत्र श्रीरामजी की कथा भी सुना करते हैं। इसपर बा० दो० ५६ चौ० २ भी देखिये। अन्य तीन कल्पों का यह भी भाव होगा कि श्रीशिवजी उमा को उस चरित की स्मृति कराते हैं कि तुम्हें भी याद होगा। 'रहे तेहि संगा' ऐसा कहने में श्रीशिवजी गौण हुए और देवता लोगों की प्रधानता है, यह श्रीशिवजी की शिष्टता है, स्वयं कथा कहते हैं, इससे अपना लाघव कहना शोभा है, अन्यथा ये तो सभी देवताओं में प्रधान हैं। अन्यत्र भी ऐसा कहा गया है, यथा—"तेहि समाज गिरिजा मैं रहेऊँ।" (बा० दो० १८४)।

ब्रह्मादि के विषय में तो कहते हैं—'देखत रन नभ चढ़े बिमाना।' और अपने तईं 'देखत राम-चरित रन-रंगा।' कहा है। इसका भाव यह है कि और लोग ऊपरी बातों पर भी ध्यान देते हैं और श्रीशिवजी सर्वत्र केवल राम रूप एवं श्रीरामचरित पर ही दृष्टि रखते हैं। वैसे यहाँ भी देखते हैं कि प्रभु रण में कैसा नर-नाट्य कर रहे हैं? कभी मूर्च्छित हो जाते हैं और कभी क्रोध करते हैं। ऐश्वर्य का छींटा भी नहीं रखते, इत्यादि।

श्रीशिवजी विवाह आदि लीलाओं में भी देवताओं के साथ थे। वहाँ भी इनकी दृष्टि सबसे निराली ही थी, यथा—"देखि जनकपुर सुर अनुरागे। • निजहि भयउ आचरज बिसेखी। निज करनी कछु कतहुँ न देखी॥" से "राम रूप नख सिख सुभग, बारहिं बार निहारि। पुलक गात लोचन सजल, उमा समेत पुरारि॥" (बा॰ दो॰ ३१५) तक ऐसे ही जब ये बाल-लीला और राज्य लीलाओं में आये हैं, तब भी इनकी वृत्ति सबसे निराली ही रही है। ये केवल श्रीरामजी के रूप एवं लीलाओं में ही मुग्ध हुए हैं।

श्रीशिवजी रण के देवता भी हैं। अत, देखते हैं कि कैसा रण-रंग है?

सुभट समर रस दुहु दिसि माते। कपि जयसील राम बल ताते॥३॥
एक एक सन भिरहिं प्रचारहिं। एकन्ह एक मर्दि महि पारहिं॥४॥

शब्दार्थ—समर रस = वीर रस, यथा—"रन रस बिटप पुलक मिस फूला। मनहुँ बीर रस सोवत जागा॥" (अ॰ दो॰ २१८–२२१)। माते = मतवाले थे।

अर्थ—दोनों ओर के योद्धा वीर-रस में मतवाले थे, वानरों को श्रीरामजी का बल है, इससे वे जयशाली हैं॥३॥ एक-एक से भिड़ते और ललकारते हैं, और एक-एक (दूसरे) को मर्दन करके पृथिवी पर डाल देते हैं॥४॥

विशेष—(१) 'सुभट समर रस दुहु दिसि माते।'—ऊपर कहा था 'लरत निसाचर भालु कपि ' बीच में देवताओं की बात कहने लगे, वहाँ से फिर प्रसंग उठाते हैं कि दोनों तरफ के वीर रण रस मत्त थे। 'कपि जयसील • ', यथा—"कपि जयसील मारि पुनि डाँटहिं।" (दो॰ ५१), एवं—"राम प्रताप प्रबल कपि जूथा।" (दो॰ ४०)।

(२) 'एक एक सन भिरहिं • ', यथा—"भिरे सकल जोरिहि सन जोरी। इत उत जय इच्छा नहिं थोरी॥" (दो॰ ५१), पुन —"दोउ दल प्रबल प्रचारि प्रचारी। लरत सुभट नहिं मानहिं हारी॥" (दो॰ ८१)। 'एकन्ह एक मर्दि महि पारहिं'—अपने शरीर से रगड़ डालते हैं, यथा—"गहि-गहि कपि मर्दइ निज अंगा।" (सुं॰ दो॰ १८)। अथवा, सेना हाथों से मसल देते हैं, यथा—"लागे मर्दइ भुजबल भारी।" (दो॰ ४१)।

मारहिं काटहिं धरहिं पछारहिं। सीस तोरि सीसन्ह सन मारहिं॥५॥
उदर बिदारहिं भुजा उपारहिं। गहि पद अवनि पटकि भट डारहिं॥६॥
निसिचर भट महि गाड़हिं भालू। ऊपर ढारि देहिं बहु बालू॥७॥
बीर बलीमुख जुद्ध बिरुद्धे। देखियत बिपुल काल जनु क्रुद्धे॥८॥

अर्थ—मारते, फाटते, पकड़ते, पछाड़ते हैं और शिर तोड़कर उन्हीं शिरों से (औरों को) मारते हैं ॥५॥ पेट फाड़ डालते हैं, भुजाएँ उखाड़ते हैं और योद्धाओं के पैर पकड़ पृथिवी पर पटककर डाल देते हैं ॥६॥ निशाचर योद्धाओं को भालू (एवं वे इनको) पृथिवी में गाड़ देते हैं और ऊपर से बहुत-सी बालू डाल देते हैं ॥७॥ युद्ध में विरोध भाव में प्राप्त वानर ऐसे देख पड़ते हैं मानो बहुत-से मूर्त्तिमान् क्रोधित काल हों ॥८॥

विशेष—(१) 'मारहिं काटहिं···उदर बिदारहिं···'—पूर्व कहा गया था—"नख दसन सैल महाद्रुमायुध सबल संक न मानहीं।" (दो॰ ७१); उसका यहाँ चरितार्थ है। पर्वत, वृक्ष और घूँसों से 'मारहिं', दाँतों से 'काटहिं', भुजाओं से 'धरहिं पछारहिं। सीस तोरि··' और 'भुजा उपारहिं' एवं नखों से 'उदर बिदारहिं'।

'जुद्ध बिरुद्धे'; यथा—"जुद्ध बिरुद्ध क्रुद्ध दोउ बंदर।" (दो॰ ५२)।

(२) 'महि गाड़हिं'—जीता ही गाड़ देते हैं।

छंद—क्रुद्धे कृतांत समान कपि तनु स्रवत सोनित राजहीं।
मर्दहिं निसाचर कटक भट बलवंत घन जिमि गाजहीं॥
मारहिं चपेटन्हि डाँटि दाँतन्ह काटि लातन्ह मीजहीं।
चिक्करहिं मर्कट-भालु छल-बल करहिं जेहिं खल छीजहीं॥

अर्थ—काल के समान क्रोध को प्राप्त और रक्त बहते हुए शरीरों से वानर शोभित हैं। वे बली वानर-योद्धा बलवान् निशाचर सेना के योद्धाओं का मर्दन करते हैं, और फिर मेघ के समान गरजते हैं॥ चपेटों से मारते हैं, फिर डाँटकर दाँतों से काटकर लातों से मसलते हैं। वानर-भालू चिघाड़ते हैं और छलबल करते हैं, जिससे दुष्टों का नाश हो॥

विशेष—(१) 'स्रवत सोनित राजहीं'— अन्यत्र रक्त का बहना बीभत्स देख पड़ता है, पर युद्धभूमि में इससे शोभा होती है, यथा—"घायल बीर बिराजहिं कैसे। कुसमित किंसुक के तरु जैसे॥" (दो॰ ५२)।

(२) 'मर्दहिं निसाचर '—पहले मर्दन करते हैं और जीतने पर गरजते हैं; यथा—"गरजहिं भालु बलीमुख, रिपुदल बल बिचलाइ॥" (दो॰ ४६)। दो॰ ४९ भी देखिये। 'चिक्करहिं' गजराज की तरह मत्त होकर चिंघाड़ते हैं। 'छल बल करहिं'—पहले मेघनाद के प्रसंग में कहा था—"निसिचर छल बल करइ अनीती।" (दो॰ ५२) वह प्रसंग भी देखिये। पर यहाँ वानर-भालुओं के 'छल बल' को अनीति नहीं कहते हैं, क्योंकि इनके छल को यहाँ बुद्धि का बल कहा गया है और बल को शारीरिक बल माना गया है। बुद्धि का बल भी छल ही कहाता है; यथा—"सो मति मोरि भरत महिमाहीं। कहइ काह छलि छुवत न छाहीं॥" (अ॰ दो॰ २८७), बुद्धि का बल यह है कि शत्रु के अस्त्र-शस्त्र की चोट को युक्ति से बचा जाना और प्रशंसा कर उसे भुलावे में डालकर मार देना। ऐसा छल भी वीरों में विहित है; यथा—"बहु छल बल सुग्रीव करि, हिय हारा भय मानि॥" (कि॰ दो॰ ८)।

धरि गाल फारहिं उर बिदारहिं गल अँतावरि मेलहीं।
प्रह्लाद-पति जनु बिबिध तनु धरि समरअंगन खेलहीं।
धरु मारु काटु पछारु घोर गिरा गगन महि भरि रही।
जय राम जो तृन ते कुलिस कर कुलिस ते कर तृन सही॥
दोहा—निज दल बिचलत देखेसि, बीस भुजा दस चाप।
रथ चढ़ि चलेउ दसानन, फिरहु फिरहु करि दाप॥८०॥

शब्दार्थ—अँतावरि = आँतों का समूह, अँतरी। मेलना = डालना। बिचलना = तितर-बितर होना। दाप = गर्व, क्रोध।

अर्थ—पकड़कर गाल फाड़ते हैं, कलेजा चीरते हैं और उनकी आँतें (निकालकर) अपने गले में डाल लेते हैं। (तब ऐसे देख पड़ते हैं) मानों प्रह्लाद के स्वामी नृसिंह भगवान् अनेक देह धारण करके रण-आँगन में खेल रहे हैं॥ पकड़ो, मारो, काटो, पछाड़ो—ये भयंकर शब्द आकाश और पृथिवी में भर रहे हैं। श्रीरामजी की जय हो कि जो सत्य ही तृण को वज्र और वज्र को तृण कर देते हैं॥ अपने दल को बिचलते हुए देखकर दशानन रावण बीसों भुजाओं में दश धनुष लिये हुए रथ पर चढ़कर चला और गर्व एवं क्रोधपूर्वक बोला, लौटो, लौटो॥८०॥

विशेष—(१) 'धरि गाल फारहिं उर बिदारहिं'—गाल और उर बिदारते हैं, क्योंकि राक्षसों ने इन्हीं मुखों से *विप्रों और गायों को खाया है और इन्हीं पेटों में रक्खा है।*

(२) प्रह्लाद पति जनु '—नृसिंहजी की उपमा दी, क्योंकि उन्होंने भी हिरण्यकशिपु का हृदय नखों से ही बिदारा था और उसकी अँतड़ी को पहन लिया था और काल की तरह क्रोध के कारण दुष्प्रेक्ष्य भी थे। वे ही सब बातें वानरों में भी हैं। नृसिंह एक थे, परन्तु वानर बहुत और रंग बिरंग के हैं, इसलिये 'बिबिध तनुधरि' कहा गया है। 'खेलहीं'—अर्थात् सहज में ही मार लेते हैं।

(३) 'जय राम जो तृन ते '—रावण मनुष्य और वानर भालुओं को तुच्छ एवं अपना आहार समझकर उन्हें तृण के समान मानता था यथा—"नहि चिन्ता ममान्येषु प्राणिष्वमरपूजित। तृणभूता हि ते मन्ये प्राणिनो मानुषादय॥" (वाल्मी० ७।१०।१०) अर्थात् हे अमर पूजित ब्रह्माजी! हमें अन्य प्राणियों की कोई चिंता नहीं है। मनुष्य आदि को तो हम तृण के समान समझते हैं इसीसे इसने वरदान माँगते समय इन दो से अभयत्व नहीं माँगा है। वे ही तृणवत् आज वज्रवत् हो रहे हैं, यह प्रभु का प्रताप है। इसीसे वानर लोग एवं यह घटना देखकर वक्ता लोग श्रीरामजी की जय-जयकार कर रहे हैं। श्रीशिवजी ने भी *कहा है, यथा—"तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई तासु दूत पन कहु किमि टरई॥"* (दो० २१) का प्रसंग भी देखिये।

(४) 'रथ चढ़ि चलेउ दसानन '—क्रोधावेश में दसों मुखों से ललकारा, पहले मेघनाद का वध होने पर सेना के योद्धाओं को सचेत कर चुका है, इसीसे कहता है—'लौटो, लौटो, भागो मत खड़े होकर हमारा संग्राम देखो।' यह ललकार वानरों पर भी लगती है कि जरा हमारी ओर फिरो। यह 'करि दाप' के अर्थ एवं आगे के कृत्य से स्पष्ट है।

धायउ परम क्रुद्ध दसकंधर। सन्मुख चले हूह - दै बंदर ॥१॥
गहि कर पादप उपल पहारा। डारेन्हि ता पर एकहि बारा ॥२॥
लागहिं सैल बज्र - तन तासू। खंड खंड होइ फूटहिं आसू ॥३॥
चला न अचल रहा रथ रोपी। रन - दुर्मद रावन अति कोपी ॥४॥

शब्दार्थ—दुर्मद= गर्व से भरा हुआ, वीर रस में चूर। आसू (सं॰ आशु)= शीघ्र।

अर्थ—दशकंधर परम क्रोधित होकर दौड़ा, वानर हू-हू (आनंदसूचक) शब्द करके उसके सम्मुख लड़ने को चले ॥१॥ वृक्ष, पर्वत और पत्थर ले-लेकर उसपर एक साथ ही डाल दिये ॥२॥ उसके वज्र समान शरीर मे पर्वत लगते थे और शीघ्र ही फूटकर टुकड़े-टुकड़े हो जाते थे ॥३॥ रण के गर्व से भरा हुआ अत्यन्त क्रोधी रावण रथ रोककर अचल (जमकर खड़ा) रहा, हटा नहीं ॥४॥

इत उत झपटि दपटि कपि-जोधा। मर्दै लाग भयउ अति क्रोधा ॥५॥
चले पराइ भालु - कपि नाना। त्राहि त्राहि अंगद-हनुमाना ॥६॥
पाहि पाहि रघुबीर गोसाईं। यह खल खाइ काल की नाईं ॥७॥
तेहि देखे कपि सकल पराने। दसहु चाप सायक संधाने ॥८॥

अर्थ—इधर-उधर झपट-दपटकर वह वानर योद्धाओं का मर्दन करने लगा, उसे अत्यन्त क्रोध हुआ ॥५॥ अनेक वानर-भालू भाग चले—हे श्रीअंगदजी ! हे श्रीहनुमान्जी ! रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये ॥६॥ हे रघुवीर ! हे गोसाईं ! रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये, यह दुष्ट हमको काल की तरह खाता है ॥७॥ उसने देखा कि सब वानर उसे देखकर भाग चले, तब दसों धनुषों पर उसने वाणों का संधान किया ॥८॥

विशेष—(१) 'त्राहि त्राहि अंगद हनुमाना।' - ऊपर कहा गया कि 'इत अंगद हनुमान' अर्थात् इधर से ये ही दो प्रधान ललकारनेवाले हैं। अत, संकट मे इन्हीं की पुकार की। पुनः प्रथम दिन के युद्ध में इन्हीं दोनों ने इन सबकी पुकार सुनकर दो बार रक्षा की है।

(२) 'पाहि पाहि रघुबीर गोसाईं।'—जब वानर-भालुओं ने श्रीअंगदजी और श्रीहनुमान्जी के पहुँचने मे विलंब देखा तो उन्हों ने आर्त्त होकर रघुवीर गोसाईं को पुकारा, क्योंकि कुंभकर्ण के युद्ध में श्रीरामजी ने ही रक्षा की है। 'काल की नाईं' अर्थात इसका प्रहार अनिवार्य है।

(३) 'इत उत दपटि झपटि'''—इससे जान पड़ता है कि जब उसने देखा कि वानरों की मार से मेरा कुछ नहीं बिगड़ता, तब रथ से कूद पड़ा और इधर-उधर के वानर योद्धाओं को मारने लगा। इनके भागने पर फिर रथ पर चढ़कर धनुष-बाण चलाने लगा।

छंद—संधानि धनु सर निकर छाड़ेसि उरग जिमि उड़ि लागहीं।
रहे पूरि सर धरनी गगन दिसि बिदिसि कहँ कपि भागहीं ॥

भयो अति कोलाहल बिकल कपि-दल भालु बोलहिं आतुरे।
रघुबीर करुनासिंधु आरत-बंधु जन-रच्छक हरे॥

दोहा—निज दल बिकल देखि कटि, कसि निखंग धनु हाथ।
लछिमन चले क्रुद्ध होइ, नाइ राम-पद माथ॥८१॥

अर्थ—धनुष पर बाण साधकर उसने बाण-समूह छोड़े। वे साँप की तरह उड़कर जा लगते थे। बाण पृथिवी और आकाश में, दिशाओं और विदिशाओं में आच्छादित हो गये, वानर अब कहाँ भाग कर जायँ?॥ अत्यन्त हल्ला मच गया, व्याकुल होकर वानर-भालू आर्त्त वचन बोल रहे हैं—हे रघुवीर! हे करुणासागर! हे आर्त्त जनों के सहायक! हे अपने भक्तों की रक्षा करनेवाले! हे दुःख हरनेवाले!॥ अपनी सेना को व्याकुल देख, कमर में तर्कश कस और हाथ में धनुष ले श्रीरामजी के चरणों में मस्तक नवा श्रीलक्ष्मणजी क्रोधित होकर चले॥८१॥

विशेष—(१) वानर-भालू यहाँ कुंभकर्ण के युद्ध से भी अधिक पीड़ित हुए। जैसे कि वहाँ 'महि पटकइ गजराज इव' कहा गया था, यहाँ उस काय को भी रावण ने किया; यथा—'इत उत झपटि दपटि···' और साथ ही बाणों को भी छोड़ा जिससे कहीं भागकर भी नहीं बच सकें; यथा—'दिसि बिदिसि कहँ कपि भागहीं।' इसलिये यहाँ पुकार में श्रीरामजी के लिये चार ही विशेषण दिये गये हैं; यथा—"कृपा बारिधर राम खरारी। पाहि पाहि प्रनतारति हारी॥" और यहाँ—'रघुबीर करुनासिंधु···' में पाँच विशेषण हैं। वहाँ कुंभकर्ण को दुकाल सम कहा है; यथा—'यह निसिचर दुकाल सम अहई।' अतएव श्रीरामजी को 'कृपा बारिधर' कहा, क्योंकि वर्षा से दुकाल मिटता है। पुनः जैसे दुकाल में बहुत लोग बच भी जाते हैं, वैसे ही वहाँ इधर-उधर भाग कर वानर-भालू बच भी जाते थे। परन्तु यहाँ रावण को 'काल की नाईं' कहा गया है। जैसे काल किसी को नहीं छोड़ता, वैसे यह भागने पर भी वानरों को नहीं छोड़ता, बाणों से मारता है, दिशाओं में उनकी गति रोक देता है। हाँ, काल से रघुवंशी नहीं डरते; यथा—"कालहु डरहिं न रन रघुबंसी।" (बा० दो० २८१) इस कारण रक्षा के लिये श्रीरामजी को 'रघुबीर' मुख्य विशेषण दिया। श्रीरामजी तो काल के भी काल हैं; यथा—"कालहु कर काला" (सुं० दो० ३८); 'करुनासिंधु' कहा कि जिससे शीघ्र दुःख हरें; यथा—"करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइयहि पीर पराई॥" (अ० दो० ८७); 'आरतबंधु'—आप आर्तों के कुठायँ में सहायक होते हैं; यथा—"होहिं कुठायँ सुबंधु सहाये।" (अ० दो० १०५); हमलोग भी कुठायँ में पड़े हैं, रक्षा कीजिये। 'जन रच्छक'—आप अपने आश्रित जनों की सदा रक्षा करते हैं; यथा—"मम भुज बल आश्रित तेहि जानी। मारा चहेसि अधम अभिमानी॥" (कि० दो० ८); हम-जनों की भी रक्षा कीजिये।

'हरे'—आप अपने भक्तों के क्लेश हरते हैं। मेरा भी क्लेश हरण करें।

(२) 'लछिमन चले क्रुद्ध होइ···'—यद्यपि यहाँ वानरों ने रक्षा के लिये श्रीरामजी की पुकार की है, तथापि छोटे भाई का धर्म है कि रण आदि संकट कार्य में वह आगे रहे; यथा—"अवलोकि निज दल बिकल भट त्रिसिरादि खर-दूषन फिरे।" (आ० दो० ११); इनमें त्रिशिरा छोटा था, वह आगे बढ़ा। और भी; यथा—"कोसलेस सुत लछिमन रामा। कालहु जीति सकहिं संग्रामा॥" (कि० दो० १); इसमें रण-

प्रसंग-वश श्रीलक्ष्मणजी का नाम पहले कहा गया है। अन्यत्र श्रीलक्ष्मणजी को प्रभु से आज्ञा माँग कर युद्ध में जाना लिखा है; परन्तु यहाँ उन्होंने आज्ञा नहीं माँगी। इससे मालूम होता है कि दोनों भाई वहाँ पर साथ ही थे। केवल ये ही क्रुद्ध हो आगे बढ़कर युद्ध करने लगे; यथा—"लक्ष्मणेन सह भ्राता विष्णुना वासवं यथा।" (वाल्मी० ६।११। १); इसी से आज्ञा लेना नहीं कहा गया, दूर जाना होता तो आज्ञा माँगना कहा जाता। यह भी हो सकता है कि पहले प्रभु ने मेघनाद से युद्ध करने के लिये आज्ञा दे दी। वह उनके जोड़ का था और यहाँ आज्ञा नहीं मिली, क्योंकि यह श्रीरामजी के जोड़ का है और वानरों ने श्रीरामजी को ही पुकारा भी है। अतः, संभवतः आज्ञा नहीं दें और स्वयं ही युद्ध के लिये चल दें, इसलिये श्रीलक्ष्मणजी विना आज्ञा के ही चल दिये। सेवा विना आज्ञा के भी करना अच्छा ही है; यथा—"सेवक समय न ढीठ ढिठाई।" (अ० दो० ३११)।

'क्रुद्ध होइ'—क्रोधित होना कहा गया, परन्तु क्रोधका लक्षण नहीं कहा, क्योंकि पूर्व कह चुके हैं; यथा—"लछिमन चले क्रुद्ध होइ···छतज नयन उर बाहु बिसाला। हिम गिरि निभ तनु कछु एक लाला॥" (दो० ५१); पुनः यहाँ—"कटि, कसि निषंग धनु हाथ' कहा गया है, हाथ में बाण लेना नहीं कहा गया। और वहाँ—"बान सरासन हाथ" (दो० ५१) कहा गया है। 'निषंग' नहीं कहा गया। अतः, यहाँ का वहाँ और वहाँ का यहाँ मिलाकर अर्थ करना चाहिये। तब दोनों जगह धनुष-बाण और तर्कश लेकर जाना स्पष्ट हो जायगा।

'नाइ राम पद माथ'—यह यात्रा का मंगलाचरण है।

रे खल का मारसि कपि - भालू। मोहि बिलोकु तोर मैं कालू॥१॥
खोजत रहेउँ तोहि सुत - घाती। आजु निपाति जुड़ावउँ छाती॥२॥
अस कहि छाड़ेसि बान प्रचंडा। लछिमन किये सकल सत खंडा॥३॥
कोटिन्ह आयुध रावन डारे। तिल प्रमान करि काटि निवारे॥४॥

अर्थ—(श्रीलक्ष्मणजी रावण के सामने जाकर बोले) अरे दुष्ट! तू वानर-भालुओं को क्या मारता है, मुझे देख, मैं तेरा काल हूँ॥१॥ (रावण ने कहा—) अरे (मेरे) पुत्र (मेघनाद के) घातक! मैं तो तुझे ढूँढ़ता ही था, आज तुझे मारकर छाती ठंढी करूँगा॥२॥ ऐसा कहकर उसने तीक्ष्ण बाण छोड़े, श्रीलक्ष्मणजी ने सबके सौ-सौ टुकड़े कर दिये॥३॥ फिर रावण ने करोड़ों अस्त्र और शस्त्र चलाये, श्रीलक्ष्मणजी ने तिल के समान काटकर उनका निवारण किया॥४॥

विशेष—(१) 'रे खल का···'—श्रीलक्ष्मणजी का क्रुद्ध होकर चलना कहा गया, इसीसे यहाँ उनका परुष वचन कहना भी लिखा गया; यथा -"क्रोध के परुष बचन बल" (आ० दो० ३८); क्रोध बढ़ाने के लिये उसे खल कहा और इससे भी कि जो वानर-भालू दिव्यास्त्र नहीं जानते, उनपर भी तू अस्त्र चलाता है। 'का मारसि कपि भालू' अर्थात् इनका मारना तुझे शोभा नहीं देता।

'तोर मैं कालू'—भाव यह कि तू वानरों का काल है; यथा—"यह खल खाइ काल की नाईं।" और मैं तेरा काल हूँ।

(२) 'खोजत रहेउँ तोहि सुतघाती'—'सुतघाती' और 'जुड़ावउँ छाती' से स्पष्ट है कि रावण को जैसा मेघनाद-वध से दुःख हुआ है, वैसा और किसी के भी वध से नहीं हुआ। इस दुःख से अभी

तक इसकी छाती जल रही है। क्योंकि, इसने और योद्धाओं के मरने की बात भी श्रीरामजी से कही है, पर वहाँ छाती का जलना नहीं कहा गया (दो० ८८ चौ ७-८ देखिये।) तथा—"अवेहि मामद्य निशाचरेन्द्र न वानरास्त्वं प्रतियोद्धुमर्हसि ॥ ''दिष्ट्यासि मे राघव दृष्टिमार्गं प्राप्तोऽन्तगामी विपरीतबुद्धिः। अस्मिन्क्षणे यास्यसि मृत्युलोकं संसाद्यमानो मम बाणजाले. ॥" (वाल्मी० ५६।६२-६४), अर्थात् श्रीलक्ष्मणजी ने कहा—रावण! मैं आ गया, अब वानरों से युद्ध करना तुम्हें शोभा नहीं देता। रावण ने कहा राघव! हर्ष की बात है कि आज तुम हमारी दृष्टि के सामने आये हुए हो, तुम्हारा नाश निश्चित है, तुम्हारी बुद्धि उल्टी हो गई। इसी क्षण हमारे बाणों से यमलोक जाओगे।

पुनि निज बानन्ह कीन्ह प्रहारा। स्यंदन भंजि सारथी मारा ॥५॥
सत सत सर मारे दसभाला। गिरि स्रृंगन्ह जनु प्रविसहिं,ब्याला ॥६॥
पुनि सत सर मारा उर माहीं। परेउ धरनि-तल सुधि कछु नाहीं ॥७॥
उठा प्रबल पुनि मुरुछा जागी। छाड़िसि ब्रह्म दीन्हि जो साँगी ॥८॥

शब्दार्थ—सत = (शत); सहस्र आदि शब्द अगणित एवं अपरिमितवाचक हैं।

अर्थ—फिर अपने बाणों का प्रहार (आघात) किया, रथ तोड़कर सारथी को मारा ॥५॥ और उसके दसो शिरों में 'दस-दस बाण मारे' वे ऐसे घुस पड़ते हैं, मानों पर्वत के शिखरों में सर्प प्रवेश कर रहे हों ॥६॥ फिर सौ बाण उसकी छाती में मारे, तब वह पृथिवी पर गिर पड़ा, (उसे) कुछ होश नहीं रह गया ॥७॥ मूर्च्छा से जागने पर वह प्रबल रावण फिर उठा और उसने ब्रह्मा की दी हुई शक्ति चलाई ॥८॥

विशेष—(१) 'पुनि सत सर मारा उर माही।'—पहले शिरों में मारने से रावण मूर्च्छित नहीं हुआ, जब हृदय में बाण मारे गये तब मूर्च्छित हो गया, क्योंकि हृदय में ही उसका जीवनाधार अमृत रहता है; यथा—"नाभिकुंड पियूष बस याके। नाथ जियत रावन बल ताके ॥" (दो० १००)।

'परेउ धरनि-तल'...'—यह श्रीलक्ष्मणजी के बाणों का प्रभाव दिखाया गया और—'उठा प्रबल पुनि ...' से रावण का साहस दिखाया। यह बड़ी गहरी मूर्च्छा थी, बड़ी कठिनाई से छूटी; यथा—"स सायकार्तो विचचाल राजा कृच्छ्राच्च संज्ञां पुनराससाद ॥" (वाल्मी० ६।५९।१०६)।

(२) 'छाड़िसि ब्रह्म दीन्हि जो साँगी।'—जब उसके प्राणों पर आ बनी तब उसने दैवबल से काम लिया; यथा—"रावन सुत निज मन अनुमाना। संकट भये हरिहि मम प्राना ॥ बीर घातिनी छाड़िसि साँगी।" (दो० ५२)। 'ब्रह्म दीन्हि जो साँगी'; यथा—"जग्राह शक्तिं स्वयमुग्रशक्तिः स्वयंभुदत्तां युधि देवशत्रुः ॥ सतां मधूमानल सन्निकाशां वित्रासिनीं संयति वानराणाम्। चिक्षेप शक्तिं तरसा ज्वलन्तीं सौमित्रये राक्षसराष्ट्रनाथः ॥" (वाल्मी० ६।५९।१०७-१०८), अर्थात् देव शत्रु रावण ने ब्रह्मा की दी हुई उग्रशक्ति उठाई॥ सधूमअग्नि के समान वह शक्ति जल रही थी। युद्ध में वानरों को भय देनेवाली थी। रावण ने यह प्रज्वलित शक्ति श्रीलक्ष्मणजी पर चलाई॥

छंद—सो ब्रह्मदत्त प्रचंड सक्ति अनंत उर लागी सही।
परयो बीर बिकल उठाव दसमुख अतुल बल महिमा रही।

ब्रह्मांड भुवन बिराज जाके एक सिर जिमि रज-कनी ।
तेहि चह उठावन मूढ़ रावन जान नहि त्रिभुवन-धनी ॥
दोहा—देखि पवनसुत धायउ, बोलत बचन कठोर ।
आवत कपिहि हन्यो तेहि, मुष्टि-प्रहार प्रघोर ॥८२॥

शब्दार्थ—महिमा = भारीपन, गुरुता, महत्व ।

अर्थ—वह ब्रह्मा की दी हुई तीक्ष्ण शक्ति श्रीलक्ष्मणजी की छाती में निश्चय ही जा लगी । वीर श्रीलक्ष्मणजी व्याकुल होकर गिर पड़े, जिसकी अतुल बल महिमा थी, वह दशमुख रावण अकुलाकर उठाने लगा, पर (श्रीलक्ष्मणजी के) अपरिमित बल की महिमा (गुरुता-भारीपना) बनी रही (उसे न ब्रह्म दत्त शक्ति ही मिटा सकी और न रावण ही) ॥ जिनके एक ही शिर पर सब ब्रह्माडों के लोक रजकण की तरह विराजते हैं, उसे (एक पर्वत के उठानेवाले) मूर्ख रावण ने उठाना चाहा, वह यह नहीं जानता कि ये तीनों लोकों के स्वामी हैं ॥ (उठाते) देखकर श्रीहनुमान्‌जी कठोर वचन बोलते हुए दौड़े । आते ही कपि पर उसने बड़ा भयंकर घूँसे का प्रहार किया ॥८२॥

विशेष—(१) 'अतुल बल महिमा रही'—यह दोनों ओर लगाया जा सकता है । रावण श्रीलक्ष्मणजी को उठा ले जाना चाहता है कि जिससे इसबार ओषधि से नहीं जिलाये जा सकें । रावण की महिमा कैलास उठाने से थी, श्रीलक्ष्मणजी को न उठा सकने पर वह नहीं रह गई, पर श्रीलक्ष्मणजी की महिमा बनी रही । 'ब्रह्मांड भुवन···'—रावण ने तो कैलास ही मात्र उठाया है और ये तो शेष रूप से ब्रह्मांड के तीनों लोकों एवं चौदहो भुवनों के उठानेवाले हैं । तब इनका पराभव वह कैसे कर सकता है ? मेघनाद के प्रसग मे इन्हें 'जगदाधार' कहा गया था और रावण कैलास उठानेवाला है । अत , यहाँ 'ब्रह्माड भुवन' कहा है ।

वाल्मी० ६।५९।११०–१११ मे रावण के नहीं उठा सकने का कारण यह कहा गया है कि जिन श्रीरामजी को विष्णु भी ठीक-ठीक नहीं जानते, उनके भाग (अश) अपने (स्वरूप) को श्रीलक्ष्मणजी स्मरण करते थे, इसीसे इन्हें रावण नहीं उठा सका ।

'लागी सही'—का भाव यह है कि श्रीलक्ष्मणजी ने उसका बाणों से निवारण करना चाहा, पर वह ठीक-ठीक लग ही गई। जैसे-कि वाल्मी० ६।५९।१०७ मे लिखा है । अथवा, ब्रह्मा के वचन से उसकी अमोघता रखने के लिये इन्होंने उसे सह (मान) लिया । जानकर उसे मान लेना इस तरह से भी सिद्ध होता है कि रावण के उठाने पर ये नहीं उठे और श्रीहनुमान्‌जी के उठाने के लिये हलके हो गये । 'बिकल उठाव दसमुख'—घबड़ा कर रावण ने बीसों हाथों से उठाया, तब भी नहीं उठे । 'मूढ रावन'—एक पर्वत का उठानेवाला ब्रह्माड धारण करनेवाले का उठाने का प्रयास करे, तो यह उसकी मूर्खता ही है ।

(२) 'देखि पवन सुत धायउ ..'—श्रीहनुमान्‌जी कुछ दूर थे, इसे श्रीलक्ष्मणजी को उठाते देख बड़ी तेजी से दौडे, इसलिये 'पवन सुत' विशेषण है । कठोर वचन बोलते हुए इसलिये दौडे कि जिससे रावण का ध्यान इनकी ओर हो जाय और वह श्रीलक्ष्मणजी को और कोई कष्ट नहीं दे सके । श्रीलक्ष्मणजी को मूर्च्छित देखकर क्रोध हुआ, इससे कठोर वचन बोले । 'बचन कठोर'; यथा—

"देवदानवगन्धर्वैयक्षैश्च सह राक्षसैः। अवध्यत्वं त्वया प्राप्तं वानरेभ्यस्तु ते भयम्॥ एष मे दक्षिणोबाहुः पञ्चशाखः समुद्यतः। विधमिष्यति ते देहे भूतात्मानं चिरोषितम्॥" (वा मी॰ ६।५१।५४-५५); अर्थात् तुमने देव, दानव, गंधर्व, यक्ष और राक्षसों से ही अवध्यत्व पाया है, वानरों से तुझे भय है। यह हमारा उठा हुआ दाहिना हाथ पाँच अँगुलियों से युक्त, तेरी देह में चिरकाल से स्थित प्राणों को निकाल देगा।

(३) 'मुष्टि प्रहार प्रघोर'—इसकी करालता आगे दिखाते हैं—

जानु टेकि कपि भूमि न गिरा। उठा सँभारि बहुत रिस-भरा॥१॥
मुठिका एक ताहि कपि मारा। परेउ सैल जनु बज्र-प्रहारा॥२॥

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जी (उसके मुष्टि प्रहार प्रघोर से भी) घुटना टेक कर रह गये, भूमि पर नहीं गिरे, सँभलकर उठे और बहुत क्रोध में भरे हुए॥१॥ उन्होंने उसको एक घूँसा मारा, वह ऐसा गिर पड़ा मानों वज्र की चोट से पर्वत गिरा हो॥२॥

विशेष—'परेउ सैल जनु बज्र प्रहारा।'—श्रीहनुमान्‌जी ने वज्र के समान घूँसा मारा; यथा—"आजघानोरसि क्रुद्धो वज्रकल्पेन मुष्टिना।" (वाल्मी॰ ६।५१।११२) अर्थात् वज्र के समान घूँसा उसकी छाती में मारा। जैसे उसने भी 'मुष्टि प्रहार प्रघोर' से मारा था, वैसे ही इन्होंने भी उसे मारा। पर ये तो सँभल गये और वह भूमि में गिर पड़ा। वाल्मी० ६।५१।११३-११५ में कहा गया है कि श्रीहनुमान्‌जी के घूँसे के लगने पर वह पृथिवी पर गिर पड़ा, काँपने लगा, उसके मुँह, नेत्र और कानों से बहुत रुधिर निकला, वह घूमकर और बेहोश हो रथ पर पड़ गया, तथा—"जो दससीस...सो हनुमान हनी मुठिका गिरि गो गिरिराज ज्यों गाज को मार्यो॥" (क॰ लं॰ २८); 'बहुत रिस भरा'—पहले जब क्रोध हुआ था, तब बहुत कठोर वचन कहे थे, परन्तु जब उसने घूँसा भी मारा, तब बहुत क्रोध हुआ।

मुरुछा गै बहोरि सो जागा। कपि-बल बिपुल सराहन लागा॥३॥
धिग धिग मम पौरुष धिग मोही। जौं तैं जियत उठेसि सुर-द्रोही॥४॥

अर्थ—मूर्च्छा जाने पर वह फिर सचेत हुआ और कपि के बल की बड़ी प्रशंसा करने लगा॥३॥ (श्रीहनुमान्‌जी ने कहा) मेरे पौरुष को धिक्कार है, धिक्कार है और मुझे धिक्कार है, जो तू सुरद्रोही जीता ही उठ गया॥४॥

विशेष—'बहोरि' का भाव यह भी है कि एक बार अभी श्रीलक्ष्मणजी के बाणों से मूर्च्छित होकर सचेत हो चुका है; यथा—"परेउ अवनि तल...उठा प्रबल पुनि मुरुछा जागी।" 'कपि बल बिपुल...'; यथा—"साधु वानर वीर्येण श्लाघनीयोऽसि मे रिपुः॥ रावणेनैवमुक्तस्तु मारुतिर्वाक्यमब्रवीत्। धिगस्तु मम वीर्यस्य यत्त्वं जीवसि रावण॥" (वाल्मी॰ ६।५१।६१-६६)। शत्रु की सराहना भी एक प्रकार की निन्दा ही है, क्योंकि इससे वह अपने साहस की ही बड़ाई करता है।

अस कहि लछिमन कहँ कपि ल्यायो। देखि दसानन बिसमय पायो॥५॥
कह रघुबीर समुझु जिय भ्राता। तुम्ह कृतांत-भच्छक सुर-त्राता॥६॥

अर्थ—ऐसा कहकर श्रीहनुमान्‌जी श्रीलक्ष्मणजी को (श्रीरामजी के पास) ले आये, दशानन देखकर आश्चर्य को प्राप्त हुआ ॥५॥ रघुवीर श्रीरामजी ने कहा कि हे भाई ! जी में विचारो तो, तुम तो काल के भक्षक और देवताओं के रक्षक हो ॥६॥

विशेष—(१) 'कपि ल्यायो'—रावण से नहीं उठे, पर श्रीहनुमान्‌जी के सौहार्द और उनकी भक्ति से उठ आये। वाल्मी० ६।५९।११७ में ऐसा कहा गया है।

'तुम्ह कृतांत भच्छक'—तुम तो काल के भी भक्षक हो, तो फिर रावण-भक्ष्य कैसे हो रहे हो ? भाव यह है कि तुम काल का भी अंत करनेवाले एवं प्रलय करनेवाले हो और स्वयं अनंत अर्थात् अंत रहित हो। ब्रह्मदत्त शक्ति की मर्यादा-रक्षा हो चुकी, अब सचेत हो जाओ पुनः—'कृतांत भच्छक', यथा—"काल ब्याल कर भच्छक जोई। सपनेहुँ समर कि जीतिय सोई ॥" (दो० ५४); 'सुरत्राता', यथा—"सुर काज धरि नरराज तनु चले दलन खल निसिचर अनी।" (अ० दो० १२१)। अपने,इस स्वरूप का स्मरण करो और सचेत होओ। भाव यह है कि विधि-वचन रह गया, यह सुर-रक्षा हुई। अब काल-रूपी शक्ति को भक्षण कर जाओ ; अर्थात् इसकी मूर्च्छा को छोड़ दो। अथवा, काल का काल मैं हूँ। तुम मेरे अंश हो, इस अपने स्वरूप का स्मरण करके उठो—यही वाल्मी० ६।५९।११०–१११ में कहा है। ऊपर छंद के अर्थ में लिखा गया है।

सुनत बचन उठि बैठ कृपाला। गई गगन सो सकति कराला ॥७॥
पुनि कोदंड बान गहि धाये। रिपु सन्मुख अति आतुर आये ॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी के ये वचन सुनकर कृपालु श्रीलक्ष्मणजी उठकर बैठ गये, वह कराल शक्ति आकाश को चली गई ॥७॥ ये फिर धनुष बाण लेकर दौड़े और अति शीघ्र शत्रु के सामने आ पहुँचे ॥८॥

विशेष—(१) 'सुनत बचन उठि बैठ···'—पहले शक्ति लगी थी, तब उसमें माधुर्य दृष्टि से उपाय किये गये ; यथा—"नर गति भगत कृपाल देखाई।" यह उसी प्रसंग में कहा गया है, पूर्व की ओषधि पर्वत मानस में लौटाया जाना नहीं कहा गया, इससे रावण तो यही समझेगा कि उसी ओषधि से ये अच्छे हो गये। इससे वह ब्रह्माजी के वचन को सत्य ही मानेगा कि ये नर ही हैं। अतः, इस बार वैसे नर-नाट्य की आवश्यकता नहीं रह गई। इससे ऐश्वर्य दृष्टि से चैतन्य कर दिया।

(२) यह भी भाव है कि पूर्व में जाते समय प्रणाम करना भूल गये थे, यह वहीं पर कहा गया था, तदनुसार बाधा सहनी पड़ी, इस बार प्रणाम करके गये हुए हैं। इससे तुरत दुःख का नाश हुआ और तुरत जाकर रावण को पराजित कर कीर्त्ति सहित आवेंगे।

छंद—आतुर बहोरि बिभंजि स्यंदन सूत हति ब्याकुल कियो।
गिर्‌यो धरनि दसकंधर बिकलतर बान सत बेध्यो हियो।
सारथी दूसर घालि रथ तेहि तुरत लंका लै गयो।
रघुबीर-बंधु प्रताप-पुंज बहोरि प्रभु चरनन्हि नयो ॥

दोहा—उहाँ दसानन जागि करि, करइ लाग कछु जज्ञ।
राम - बिरोध बिजय चह, सठ हठबस अति अज्ञ ॥८३॥

अर्थ—शीघ्रता से फिर रावण के इस रथ को (भी) तोड़-ताड के सारथी को मारकर, उसे व्याकुल कर दिया। सौ बाणों से रावण का हृदय वेध दिया, जिससे वह अत्यन्त व्याकुल होकर पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ दूसरा सारथी उसे दूसरे रथ में डालकर तुरत लंका ले गया। रघुवीर श्रीरामजी के प्रताप-पुंज भाई ने फिर आकर प्रभु के चरणों में प्रणाम किया ॥ वहाँ (लंका में) रावण चैतन्य होकर कुछ यज्ञ करने लगा। (वक्ताओं का कथन है कि) वह शठ हठवश श्रीरामजी से विरोध करके भी जय चाहता है। अत, अत्यन्त नासमझ है ॥८३॥

विशेष—(१) 'बहोरि बिभंजि स्यंदन'—क्योंकि पहले एक बार ऐसा कर चुके हैं, यथा—"स्यदन भंजि सारथी मारा।" (दो॰ ८१), जब तक श्रीहनुमान्जी श्रीलक्ष्मणजी को यहाँ लाये और ये स्वस्थ हो कर फिर गये, इतनी ही देर में रावण दूसरा रथ मँगाकर उसपर सवार हो गया। पूर्व के भय से और भी रथ लाया है, जिसपर फिर मूर्च्छित होने पर उसे दूसरा सारथी उठाकर ले जायगा। आगे कहा भी है, यथा—'सारथी दूसर घालि रथ • '

'आतुर'—शीघ्र ही श्रीलक्ष्मणजी आये और उन्होंने यह सारा कार्य किया कि कहीं रावण अपनी विजय मानकर लौट न जाय। अभी तो वह रण-भूमि में ही था, क्योंकि यह शक्ति दिन में ही लगी थी।

(२) 'गिर्यो धरनि दसकधर'—भाव यह है कि वह दसों शिरों के बल भूमि पर गिर पडा। 'प्रताप पुंज'—क्योंकि इन्हों ने प्रतापी रावण को भी पराजित किया, यथा—"सोइ रावन जग बिदित प्रतापी।" (दो॰ २४)।

(३) 'बहोरि प्रभु चरनन्हि नयो'—पहले जब युद्ध के लिये चले थे, तब भी प्रणाम करके ही चले थे, यथा—"लछिमन चले क्रुद्ध होइ, नाइ राम पद माथ।" और यहाँ विजय करके आये, तब फिर प्रणाम किया—'प्रभु चरनन्हि नयो'—यह प्रणाम इस युद्ध के उपसहार में है।

(४) 'सारथी दूसर '—यह तुरत इसलिये ले भागा कि कहीं श्रीलक्ष्मणजी का बदला लेने के लिये वानर लोग उसे भी न उठा ले जायँ।

(५) 'कछु यज्ञ'—यह यज्ञ बहुत गुप्त है और वह बडे गोपनीय स्थल में कर भी रहा है, हारकर गया है, इससे यज्ञ करने लगा। अतएव जाना गया कि इससे विजय चाहता है। 'कछु' से यह भी जनाया कि वह बड़ा यज्ञ नहीं है, क्योंकि बड़ा यज्ञ करने का समय नहीं है।

(६) 'राम बिरोध बिजय '—राम विरोधी की कुशल नहीं होती; यथा—"राम बिरोध न उबरसि, सरन बिष्णु अज ईस॥' (सु॰ दो॰ ५६)। परन्तु यह चाहता है, इसीसे वक्ता लोग इसे—'सठ हठबस अति अज्ञ' ये तीन विशेषण देते हैं, शठ है, इसीसे किसी की बात ही नहीं मानता। *विभीषण, मन्दोदरी और माल्यवान् आदि ने सहेतु वचनों से समझाया, परन्तु इसने नहीं माना।* इसका भी कारण 'हठ बस' से जनाया कि इसने जो माया-मृग के द्वारा परीक्षा करके श्रीरामजी को नर निश्चय किया, वही हठ पकड़े हुए हैं, उसके विरुद्ध किसी की बात मानता ही नहीं, यथा—"कत राम बिरोध परिहरहू। जानि मनुज जनि हठ उर धरहू॥" (दो॰ ११)।

'अति अज्ञ'—क्योंकि श्रीरामजी का ईश्वर होना बहुत तरह के प्रमाणों से इसने श्रीअगद आदि से भी सुना, पर नहीं माना। जब श्रीरामजी के विरुद्ध है तब उन्हीं के अंग-भूत देवताओं के द्वारा यज्ञ करके सुखी कैसे होगा ? यह समझकर भी वक्ता लोग इस कार्य पर इसे 'अति अज्ञ' कहते हैं।

इहाँ बिभीषन सब सुधि पाई। सपदि जाइ रघुपतिहि सुनाई ॥१॥
नाथ करइ रावन एक जागा। सिद्ध भये नहि मरिहि अभागा ॥२॥

अर्थ—इधर श्रीविभीषणजी ने सब समाचार पाया और शीघ्र जाकर श्रीरघुनाथजी को सुनाया ॥१॥ हे नाथ ! रावण एक यज्ञ कर रहा है, उसके सिद्ध होने पर वह अभागा नहीं मरेगा ॥२॥

विशेष—पूर्व कहा गया कि श्रीविभीषणजी के चारों मंत्री और इनकी स्त्री भी गुप्तचर का काम करते हैं, उनसे इन्हें पता मिला। 'सिद्ध भये नहि मरिहि'—अनुमान से निश्चय किया कि सेना से और प्रभु से भी न मरने के लिये यज्ञ कर रहा है। इसीसे 'अभागा' कहा है, क्योंकि प्रभु के हाथ मरने से भी भव पार होता ; यथा—"प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ।" (आ० दो० ११) ; यह पूर्व रावण ही का विचार था , पर भ्रमवश अब वह उसके विरुद्ध कर रहा है।

पठवहु नाथ बेगि भट बंदर। करहिं बिधंस आव दसकंधर ॥३॥
प्रात होत प्रभु सुभट पठाये। हनुमदादि अंगद सब धाये ॥४॥

अर्थ—हे नाथ ! शीघ्र योद्धा वानरों को भेजिये, जो जाकर यज्ञ का विध्वंस करें, जिससे दशकंधर आवे ॥३॥ सवेरा होते ही प्रभु ने वीर योद्धाओं को भेजा, श्रीहनुमान् अंगद आदि (प्रधान) सब सुभट लोग दौड़ पड़े ॥४॥

विशेष—'प्रात होत'—समाचार सुनाते ही सवेरा हो गया। अथवा, यज्ञ होने का अनुमान कुछ दिन चढ़े तक का था। अथवा, रात मे राक्षस अति बली होते हैं और इन्हें रावण के घर के भीतर भेजना है, इससे सवेरा होने पर भेजा।

'हनुमदादि अंगद···'—पूर्व मेघनाद के यज्ञ-विध्वंस पर कहा गया था; यथा—"अंगद नील मयंद नल, संग सुभट हनुमंत।" (दो० ७४) ; वहाँ आदि मे श्रीअंगदजी और अंत मे श्रीहनुमान्जी कहे गये थे। आदि-अंत के नाम देनेसे पुन. 'आदि' शब्द से वहाँ के बीच मे कहे हुए भी सब आ गये।

मेघनाद-प्रसंग मे श्रीअंगदजी आदि के नाम आदि दिये गये थे ; यथा—"अंगदादि कपि साथ।" (दो० ५१), "बोले अंगदादि कपि नाना।" (दो० ७१) ; "अंगद नील मयंद नल, संग सुभट हनुमंत ॥" (दो० ७४) ; "धन्य-धन्य तव जननी कह अंगद हनुमान।" (दो० ७५) ; इत्यादि चार बार श्रीअंगदजी की प्रधानता कही गई थी, पर वहाँ कार्य करने मे श्रीहनुमान्जी की प्रधानता चार ही बार कही गई है यथा—"तब लगि लेइ आउ हनुमाना।" (दो० ५१), "कोपि मरुत सुत अंगद धाये।" (दो ७४), उठि "बहोरि मारुति जुब राजा।" (दो० ७४), "बिनु प्रयास हनुमान उठावा।" (दो० ७५) ; इत्यादि।

वैसे ही यहाँ 'हनुमदादि अगद···' कहकर श्रीहनुमान्जी को प्रधान करते हैं, पर कार्य करने मे श्रीअंगदजी प्रधान रहेंगे ; यथा—"अस कहि अगद मारेउ लाता।" यह आगे कहा गया है।

यहाँ श्रीअंगदजी को आदि में कहने का भाव दो० ७३ चौ० ६ में लिखा गया, यहाँ श्रीहनुमान्जी को आदि में कहकर प्रधानता देने का कारण यह है कि अभी ही रावण से इनका सामना हुआ था, इनके घूँसे से मूर्च्छित होकर वह विस्मित हो गया था ; यथा—"देखि दसानन बिसमय पायो ।"

इस राम-रावण-युद्ध में भी पाँच-पाँच स्थलों पर दोनों को प्रधानता दी गई है, जैसे कि श्रीहनुमान्जी—(१) "देखि पवनसुत धायउ, बोलत बचन कठोर ।" (दो० ८२) ; (२) "हनुमदादि अंगद सब धाये ।" (दो० ८१) ; (३) "देखा श्रमित बिभीषन भारी । धायउ हनूमान गिरि धारी ॥" (दो० ९३) ; (४) "हनुमंत अंगद नील नल···" (दो० ९५); (५) "हनुमदादि मुरुछित करि बंदर ।" (दो० ९६) ।

श्रीअंगदजी—(१) "उत प्रचार दसकंधर, इत अंगद हनुमान ।" (दो० ७९) ; (२) "त्राहि-त्राहि अंगद हनुमाना ।" (दो० ८०) ; (३) "अस कहि अंगद मारेउ लाता ।" (दो० ८३) ; (४) 'देखि बिकल सुर अंगद धायो ।' (दो० ९५) ; (५) "बालि तनय मारुति नल नीला ।···" (दो० ९६) ।

सर्वत्र युद्ध में दोनों को बराबर सम्मान दिया गया है, क्योंकि सुवेल की झाँकी में प्रभु दोनों को ही चरण सौंप चुके हैं । अतः, महत्व भी दोनों को तुल्य ही दिया गया है ।

कौतुक कूदि चढ़े कपि लंका । पैठे रावन - भवन असंका ॥५॥
जज्ञ करत जबहीं सो देखा । सकल कपिन्ह भा क्रोध बिसेखा ॥६॥
रन ते निलज भाजि गृह आवा । इहाँ आइ बक - ध्यान लगावा ॥७॥
अस कहि अंगद मारेउ लाता । चितव न सठ स्वारथ मन राता ॥८॥

अर्थ—क्रीड़ा पूर्वक कूदकर वानर लोग लंका पर चढ़ गये और रावण के महल में निर्भय घुस गये ॥५॥ ज्योंही उसे यज्ञ करते हुए देखा त्योंही सब वानरों को बहुत क्रोध हो आया ॥६॥ अरे निर्लज्ज ! तू रण-भूमि से भाग कर आया और यहाँ आकर बगले का-सा ध्यान लगाया है ॥७॥ ऐसा कहकर श्रीअंगदजी ने लात मारी, पर वह शठ इनकी ओर नहीं देखता, क्योंकि उसका मन स्वार्थ में लगा हुआ था ॥८॥

विशेष—(१) 'कूदि चढ़े'—क्योंकि उसने सब ओर से फाटक बंद कर रक्खे थे ।

(२) 'भा क्रोध बिसेखा'—क्योंकि वह इनके विरुद्ध में यत्न कर रहा था ।

(३) 'बक-ध्यान लगावा'—अपना स्वार्थ साधने के लिये आँखें मूँदे हुए है, कठोर वचन सुनता है, लात भी सहता है, पर आँखें नहीं खोलता । इसीसे उसके ध्यान को बक-ध्यान कहा, क्योंकि उसका अभिप्राय है कि इस यज्ञ को सिद्धकर अजेय हो जाऊँ । यदि वह यज्ञ से उठ पड़े अथवा क्रोध करे, तो यज्ञ निष्फल हो जाय । इसीसे भोले साधु की तरह बैठा है । बगले की तरह इसका उद्देश्य बुरा है, इसी से शठ भी कहा गया है ।

पूर्व कहा—'भा क्रोध बिसेखा' यहाँ क्रोध का कार्य रूप परुष वचन भी कहा ; यथा—'रन ते निलज भाजि ...' वानरों का क्रोध मन, वचन और कर्म से प्रकट हुआ । 'भा क्रोध बिसेखा'—मन, 'रन ते निलज...असकहि'—वचन और 'मारेउ लाता' यह कर्म है ।

छंद—नहिं चितव जब करि कोप कपि गहि दसन्ह लातन मारहीं।
धरि केस नारि निकारि बाहेर तेऽति दीन पुकारहीं।
तब उठेउ क्रुद्ध कृतांत सम गहि चरन बानर डारई।
येहि बीच कपिन्ह बिधंस कृत मख देखि मन महँ हारई॥

दोहा—जग्य बिधंसि कुसल कपि, आये रघुपति पास।
चलेउ निसाचर क्रुद्ध होइ, त्यागि जिवन कै आस॥८४॥

अर्थ—जब उसने आँखें न खोलीं, तब कोप करके उसे दाँतों से काटने और लातों से मारने लगे। उसकी स्त्रियों के बाल पकड़कर उनको बाहर निकाल लाये, वे अत्यन्त दीन होकर पुकारने लगीं॥ तब वह क्रोधित काल के समान उठा और वानरों के पैर पकड़ कर पटकने एव यज्ञ स्थल में डालने लगा। इसी बीच में वानरों ने यज्ञ विध्वस कर डाला, यह देखकर वह मन मे हारने लगा॥ यज्ञ विध्वस करके कुशल पूर्वक वानर लोग श्रीरघुनाथजी के पास आये। रावण जीने की आशा छोड़कर क्रोधित होकर चला॥८४॥

विशेष—(१) यहाँ वानरों ने उत्तरोत्तर प्रशस्त तीन उपाय किये। पहले तो श्रीअगदजी ने कठोर वचन कहे और लात मारी। फिर सभी वानरों ने क्रोध पूर्वक उसे लातें मारीं और दाँतों से काटा। जब इसपर भी वह नहीं उठा, तब उसकी मदोदरी आदि स्त्रियों की चोटियाँ पकड़कर घसीटते हुए उसके सामने बाहर निकाल लाये। वे अत्यत दीन होकर पुकारती थीं। यह इस विचार से किया कि कैसा भी निर्ल्लज्ज होगा, तब भी अपने सामने स्त्रियों की दुर्गति नहीं सह सकेगा, अवश्य उठ पड़ेगा। इसी उपाय मे वे लोग सफल भी हुए।

वीर लोग स्त्रियों पर हाथ नहीं चलाते, पर ये लोग क्रोधवश हैं, इससे इन्हों ने उचित-अनुचित का विचार नहीं किया। पुन रावण ने श्रीरामजी की स्त्री का इनके सूने मे अपमान किया। उसका बदला श्रीरामजी के सैनिकों ने उसके सामने लिया, क्योंकि स्वय तो श्रीरामजी पर-स्त्री को छूते तक नहीं।

ऐसे ही और बातों के भी बदले लिये गये हैं, जैसे कि रावण ने चोरी से सीताहरण किया और श्रीरामजी ने भी गुप्त बाण से उसके छत्र मुकुट आदि काट गिराये। उसने सब राजाओं से दड लिये और ऋषियों तक से रुधिर के कर लिये। इस राज दड के बदले में अकेले अस्त्र रहित श्रीअगदजो गये और समाज समेत वह इनकी 'लात' से हार गया, इनका पैर जम गया, मानों इन्हों ने उसका राज्य ले लिया। पुन रावण ने मरुत राजा आदि को यज्ञ करते समय जाकर ललकारा और विजय प्राप्त कर उनका अपमान किया। वैसे यज्ञ करते समय यहाँ इसका भी अपमान किया गया। उसने देव, यक्ष आदि की स्त्रियों को जीता एव उनका अपमान किया, वैसे उसकी स्त्रियों का भी यहाँ अपमान हुआ। जैसे उसने नगर, गाँव, पुर, आदि मे आग लगाई वैसे ही उसकी लका भी जलाई गई।

(१) 'करि कोप'—पहले 'भा क्रोध बिसेषा' कहा गया था। वह लात मारने एव कटुवचन

कहने से कुछ शांत हो गया था, इससे फिर कोप करना कहा गया। 'धरि केस नारि'''—यह कर्म श्रीहनुमान्जी ने किया ; यथा—"जयति मंदोदरी केस कर्षन नियमान दसकंठ भट मुकुट मानी ॥" (वि० ११)।

(३) 'तेऽति दीन पुकारहीं'—अत्यन्त दीन होकर पुकार करती हुई अपनी रक्षा चाहती हैं। दीनता से पुकार करती हैं ; यथा—"तोहि जियत दसकंधर, मोरि कि असि गति होइ ॥" (आ० दो० २१); अर्थात् ऐसा देखते हुए तो तुझे मर-मिटना चाहता था। अरे तूने श्रीरामजी की स्त्री का अपमान किया, उसी का फल हमलोगों को मिल रहा है ; यथा—"भूमिजा-दुःख-संजात रोषांत कृत जातना जंतु कृत जातुधानी।" (वि० ११)। इससे भी दीन होकर पुकारती हैं कि वानर लोगों को ही करुणा आ जाय और वे हमें छोड़ दें।

(४) 'जग्य बिधंसि'''—यज्ञ-विध्वंस करके तुरत लौट पड़े, नहीं तो उसके कारण सकुशल आना कठिन होता। 'त्यागि जिवन कै आस'—अभी तक तन से हारता था, जैसे कि श्रीलक्ष्मणजी ने दो बार मृततुल्य कर दिया है, परन्तु मन से नहीं हारा था, अब यज्ञ-नाश होने पर हृदय से भी जीने की आशा छूट गई। पुनः यह भी दिखाया कि अब यह जीने की आशा छोड़कर चला है। अतः, कहीं अधिक पुरुषार्थ कर दिखायेगा। जैसे प्रथम दिन के युद्ध में 'तब तिन्ह तजा प्रान कर लोभा' कहा गया, तब उन राक्षसों ने वानर सेना को व्याकुल कर दिया था।

चलत होहिं अति असुभ भयंकर। बैठहिं गीध उड़ाइ सिरन्ह पर ॥१॥
भयउ कालबस काहु न माना। कहेसि बजावहु जुद्ध निसाना ॥२॥
चली तमीचर-अनी अपारा। बहु गज रथ पदाति असवारा ॥३॥
प्रभु सन्मुख धाये खल कैसे। सलभ-समूह अनल कहँ जैसे ॥४॥

अर्थ—चलते समय उसको अत्यन्त भयंकर अशुभ (अपशकुन) होने लगे। उसके शिरों पर उड़कर गृद्ध बैठते हैं ॥१॥ वह काल के वश है, किसी (भी अपशकुन) को नहीं मानता, उसने युद्ध के डंके बजाने की आज्ञा दी ॥२॥ राक्षसों की अपार सेना चली, उसमें बहुत-से गज, रथ, पैदल और सवार थे ॥३॥ वे दुष्ट प्रभु के सामने कैसे दौड़े, जैसे फतिंगों का समूह अग्नि की ओर (जलने को) चले ॥४॥

विशेष—(१) 'अति असुभ भयंकर'—पहले जब रावण युद्ध के स्थल मे आया था, तब भी अपशकुन हुए थे, पर वे भयंकर मात्र थे ; यथा—"असकुन अमित होहिं तेहि काला''''''जनु काल दूत उलूक बोलहिं बचन परम भयावने।" (दो० ७७); पर अब 'अति भयंकर' अर्थात् प्राणघातक अपशकुन होते हैं, उनमे से उदाहरण रूप में एक कहते हैं; यथा—'बैठहिं गीध उड़ाइ सिरनि पर।' मानों अभी से मरा हुआ समझकर इसे खाने आते हैं। उड़-उड़कर शिरों पर आ बैठते हैं, दिखाते हैं कि यह अब हमारा भक्ष्य हो चुका। यथा—"ध्वजाग्रे न्यपतद्गृध्रो विनेदुश्चाशिवाः शिवाः ॥'''रणे निधनशंसीनि रूपाण्येतानि जज्ञिरे ॥''' एतानचिन्तयन्घोरानुत्पातान्समवस्थितान्। निर्ययौ रावणो मोहाद्वधार्थं कालचोदितः ॥" (वाल्मी० ६।९५।४७–४८), अर्थात् उसकी ध्वजा पर गृद्ध आ गिरते हैं, शृगालियाँ अमंगल शब्द करती हैं।'''रण मे उसे मृत्यु सूचक चिह्न दिखलाई दिये।'''परन्तु तो भी वह काल-प्रेरित मोहवश अपने वध के लिये चला।

पहले कहा गया था—'अति गर्व गनै न सगुन असगुन ···' दो बार श्रीलक्ष्मणजी के ही प्रहार से अब गर्व तो चूर्ण हो गया, पुन अभी श्रीरामजी का भय है ही। फिर भी अपशकुनों को नहीं मान रहा है, इसका कारण वक्ता लोग उसका 'कालवश होना, कहते हैं।

(२) 'काहु न माना' अर्थात् किसी को (किसी भी अपशकुनों को) न माना, इसपर कोई कोई 'किसी की न माना' यह अर्थ करते हैं, पर यहाँ किसी के उपदेश करने का प्रसंग नहीं है, सभी उपदेश-प्रसंग पहले ही हो गये।

'जुद्ध निसाना', यथा—"भेरि नफीरि बाज सहनाई। मारू राग सुभट सुखदाई॥" (दो॰ ७७); इत्यादि पहले युद्ध की तरह यहाँ भी बाजे बजे।

(३) 'बहु गज रथ···' अर्थात् चतुरंगिनी सेना चली; यथा—"चलेउ निसाचर कटक अपारा। चतुरंगिनी अनी बहु धारा॥" (दो॰ ७७); यह पूर्व के युद्ध की सेना थी। अब कटकर कुछ कम हो गई, इसीसे 'बहुधारा' शब्द नहीं है। शेष कटक के विशेषण वे ही हैं।

(४) 'सलभ-समूह अनल कहँ जैसे।'—फतिंगे रागवश अग्नि मे पड़ते हैं, ये द्वेषवश जा रहे हैं। फतिंगे साथियों को गिरते और जलते एवं मरते देखकर भी जा गिरते हैं, वैसे ये लोग बहुत वीर राक्षसों का मरना देख भी चुके हैं, फिर भी मरने जा रहे हैं। श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजटायुजी के वचन यहाँ चरितार्थ हुए, यथा—"होहि कि राम सरानल, खल कुल सहित पतंग॥" (सु॰ दो॰ ५६)—लक्ष्मण-वचन। "राम रोष पावक अति घोरा। होइहि सकल सलभ कुल तोरा॥" (आ॰ दो॰ २८)—जटायु-वचन। 'सलभ समूह' के अनुरोध से दीपक नहीं कहा, क्योंकि वह बहुत फतिंगों के एक साथ गिरने से बुझ जाता है। अग्नि तो इनसे बुझती नहीं, किंतु और बढ़ती ही जाती है।

इहाँ देवतन्ह अस्तुति कीन्ही। दारुनबिपति हमहिं येहि दीन्ही॥५॥
अब जनि राम खेलावहु एही। अतिसय दुखित होति वैदेही॥६॥
देव-बचन सुनि प्रभु मुसुकाना। उठि रघुबीर सुधारे बाना॥७॥
जटा-जूट दृढ़ बाँधे माथे। सोहहिं सुमन बीच बिच गाथे॥८॥

अर्थ—इधर देवताओं ने स्तुति की—हे श्रीरामजी! इसने हमलोगों को अत्यन्त असह्य दुःख दिया है॥५॥ अब आप इसे न खेलाइये, श्रीवैदेहीजी अत्यन्त दुखी हो रही हैं॥६॥ देवताओं के वचन सुनकर प्रभु मुस्कुराये, फिर श्रीरघुवीर ने उठकर बाण सुधारे॥७॥ शिर पर जटाओं की जूडा को दृढ़कर (कस के) बाँधा। बीच बीच मे गुँथे हुए फूल (जटा मे) शोभित हो रहे हैं॥८॥

विशेष—(१) 'इहाँ' का भाव यह है जिस समय वहाँ रावण की सेना सहित तैयारी हुई उसी समय इधर देवताओं ने भी आकर प्रार्थना की। पहले तो इन लोगों ने अपना दुःख सुनाया, फिर सोचा कि हम सभी स्वार्थ-रत हैं। अत, हमारे दुःख पर प्रभु शीघ्र ध्यान नहीं देंगे। इसीसे श्रीवैदेहीजी की विपत्ति कही कि जिससे भक्त के दुःख सुनकर आप शीघ्र रावण को मारने की तैयारी करें; यथा—"सहे सुरन्ह बहु काल बिषादा। नरहरि किये प्रगट प्रहलादा॥" (बा॰ दो॰ ११४)। पहले भी प्रभु ने श्रीहनुमान्‌जी से श्रीसीताजी का ही दुःख सुनकर लंका को शीघ्र प्रस्थान किया था, इसे देवता लोग जानते हैं। 'वैदेही' अर्थात् वे विदेह दशा को प्राप्त हैं, उन्हें इतना अधिक दुःख है।

(२) 'खेलावहु' के सम्बन्ध से 'राम' कहा गया है। भाव यह है कि अब क्रीड़ा नहीं कीजिये, किन्तु शीघ्र मारिये।

(३) 'प्रभु मुसकाना'—प्रभु ने हँसकर अपनी कृपा सूचित की; यथा—"हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥" (बा० दो० ११७)। हँसने का हेतु यह भी है कि देवता लोग स्वार्थसाधन के लिये चतुरता से श्रीसीताजी का दुःख सुनाते हैं। इन्हें उस समय दया नहीं आई थी, जब इन्होंने ग्रीष्म ऋतु में श्रीजानकीजी से घोर वन-यात्रा कराई थी।

(४) 'मुसुकाना' के प्रति 'प्रभु' कहा कि ये सहज ही सब करने में समर्थ हैं और वाण सुधारने के भाव में 'रघुवीर' कहा, क्योंकि यह वीरता का कार्य है।

(५) 'जटाजूट दृढ़···'—ऐसा ही खर-दूषण-युद्ध में भी कहा गया है; यथा—"सिर जट जूट बाँधत सोह क्यों।" (आ० दो० १८)। अन्यत्र ऐसा छवि-वर्णन भी नहीं है। इससे दोनों की समता दिखाई गई; यथा—"खर-दूषन मो सम बलवंता।" (आ० दो० २२)। 'सोहहिं सुमन···'—युद्ध में वीर लोग रँगे वस्त्र और कलँगी धारण करते हैं, श्रीरामजी वनवास में हैं, इससे उन वस्तुओं की जगह जटाओं में पुष्प ही धारण किये हुए हैं।

अरुन नयन बारिद तनु स्यामा। अखिल लोक लोचनाभिरामा॥९॥
कटि तट परिकर कस्यो निखंगा। कर कोदंड कठिन सारंगा॥१०॥

छंद—सारंग कर सुंदर निषंग सिलीमुखाकर कटि कस्यो।
भुज-दंड पीन मनोहरायत उर धरा-सुर-पद लस्यो।
कह दास तुलसी जबहिं प्रभु सर चाप कर फेरन लगे।
ब्रह्मांड दिग्गज कमठ अहि महि सिंधु भूधर डगमगे॥

अर्थ—लाल नेत्र और श्याम मेघ की तरह साँवला शरीर सब लोक (वासियों) के नेत्रों को आनंद देनेवाले हैं॥९॥ कमर में कटिबंधन से तर्कश कसा हुआ है, हाथ में कठिन सारंग धनुष है॥१०॥ सुन्दर हाथ में सुन्दर धनुष है, बाणों की खान (अक्षय) तर्कश कमर में कसे हुए हैं। भुज-दंड पुष्ट और सुंदर है, चौड़ी छाती पर ब्राह्मण (भृगुजी) का चरण शोभित है॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि ज्योंही प्रभु हाथों में धनुष-बाण फिराने लगे त्योंही ब्रह्मांड, दिशाओं के हाथी, कच्छप, शेष, पृथिवी, समुद्र और पर्वत सभी डगमगाने लगे॥

विशेष—(१) 'अरुन नयन'—यों तो आपके नेत्र सर्वदा ही कुछ-कुछ ललाई लिये हुए रहते हैं, इसीसे आप राजीवलोचन कहाते हैं; परन्तु आज अभी देवताओं ने अपना दुःख सुनाया है, इससे रावण पर रोष के कारण नेत्रों में कुछ अधिक लालिमा आ गई है, यथा—"कंज नयन···" (दो० ५१); "नयन रिस राते" (बा० दो० २६७)।

'अखिल लोक लोचनाभिरामा।'; यथा—"करहु सफल सबके नयन, सुंदर बदन देखाइ।··· चले लोक लोचन सुख दाता॥" (बा॰ दो॰ २१८)। प्रतिकूल पक्ष की शूर्पणखा और खर-दूषण भी इनका रूप देखकर मोहित हुए थे तो अनुकूलों की क्या बात।

(२) 'उर धरासुर पद लस्यो'—युद्ध के समय में इसके वर्णन का अभिप्राय यह है कि विप्र-चरण-भक्ति परम धर्म है; यथा—"धर्म एक जग महँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन विप्र-पद-पूजा॥" (उ॰ दो॰ ४४); और धर्म ही से जय होती है, यथा—"सखा धर्ममय अस रथ जाके। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके॥" (दो॰ ७८), इसीसे आगे रथ पर चढ़ते समय भी यही कहा गया है; यथा—"विप्र चरन पंकज सिर नावा।" (दो॰ ८८)। 'डगमगे'—इन सबका डगमगाना भय से है; यथा—"लखन सकोप बचन जब बोले। डगमगानि महि दिग्गज डोले॥ सकल लोक सब भूप डेराने।" (बा॰ दो॰ २५३)। प्रभु ने देवताओं को धैर्य देने के लिये यह लीला की। ब्रह्मांड आदि काँप उठे कि न जाने अब क्या अनर्थ हो? इससे देवता समझ गये कि अब रावण नहीं बच सकता।

दोहा—सोभा देखि हरषि सुर, बरषहिं सुमन अपार।
जय जय जय करुनानिधि, छबि बल गुन आगार॥८५॥

येही बीच निसाचर-अनी। कसमसात आई अति घनी॥१॥
देखि चले सन्मुख कपि भट्टा। प्रलय-काल के जनु घन-घट्टा॥२॥

अर्थ—शोभा देखकर देवता-गण प्रसन्न हो फूलों की अपार वर्षा करने लगे और—'हे छवि, बल और गुण के धाम करुणासागर! आपकी जय हो, जय हो, जय हो'—इस तरह जय-जयकार करने लगे॥८५॥ इसी बीच में बहुत घनी राक्षस सेना कस-मसाती हुई आई॥१॥ उसे देखकर वानर योद्धा सामने चले, (ऐसे उमड़ते हुए चले) मानों प्रलय काल के मेघों की घटा हो॥२॥

विशेष—(१) 'करुनानिधि' देवताओं की विनय सुनकर और उनपर करुणा करके प्रभु ने याणआदि सुधारे, इसी पर इन्हें 'करुनानिधि' कहा है। "अरुन नयन·· अखिल लोक लोचनाभिरामा॥" की छटा पर 'छबि आगार' और इनके धनुष फेरने मात्र से ब्रह्मांड आदि काँप उठे, इसपर 'बल आगार' एवं युद्धोपयोगी गुणों से पूर्ण देखकर इन्हें 'गुन आगार' कहा है।

(२) 'कसमसात आई··'—ऊपर कहा गया था; यथा—"चली तमीचर अनी अपारा" उसका स्वरूप यहाँ दिखाया कि वे इतने घने हैं कि एक दूसरे में रगड़ खाते हुए चल रहे हैं। वहीं से प्रसंग भी लिया है।

(३) 'प्रलय-काल के जनु घन-घट्टा'—गरजते-उमड़ते हुए चले, प्रलय की वर्षा की तरह गिरि-तरु-प्रहार-रूपी वर्षा करेंगे, कहा ही है; यथा—"बर्षा घोर निसाचर रारी।" (बा॰ दो॰ ४१)। आगे वर्षा का विस्तृत रूपक कहते हैं—

बहु कृपान तरवार चमंकहिं। जनु दहँ दिसि दामिनी दमंकहिं॥३॥
गज रथ तुरग-चिकार कठोरा। गर्जहिं मनहुँ बलाहक घोरा॥४॥

कपि लंगूर विपुल नभ छाये। मनहुँ इंद्रधनु उये सुहाये ॥५॥
उठइ धूरि मानहुँ जलधारा। बान बूँद भै बृष्टि अपारा ॥६॥

अर्थ—बहुत-से कृपाण (द्विधारा खड्ग) और तलवारें चमक रही हैं, मानों दसों दिशाओं में बिजली चमचमा रही हो ॥३॥ हाथियों, रथों और घोड़ों के कठोर चीत्कार ऐसे जान पड़ते हैं कि मानों घोर मेघ भारी गर्जन कर रहे हैं ॥४॥ वानरों की बहुत-सी पूँछें आकाश में छाई हुई हैं, मानों सुन्दर इन्द्र धनुष उदय हुआ है ॥५॥ ऐसी धूल उठ रही है, मानों जल की धारा हो। वाण-रूपी बूँदों की अपार वृष्टि हुई ॥६॥

विशेष—(१) 'जनु दहँ दिसि दामिनी दमकहिं।'—सीधी तलवारें टेढी हो-होकर चमकती हैं, इसीसे वे बिजली-चमकने के समान जान पडती हैं। तलवारें ऊपर को उठती हैं, तो आकाश में चमकती हैं और हाथ से गिरने पर नीचे की ओर आकर चमकती हैं, तो वह नीचे की चमक हुई, इस तरह दसों दिशाएँ हुईं।

(२) 'मनहुँ इंद्रधनु उये सुहाये।'—इन्द्रधनुष मे सात रग होते हैं—हरा, नारंगी, लाल, पीला, भूरा, नीला और वन शफई। वैसे ही वानर भी रग बिरंग के हैं और ये धनुपाकार पूँछें उठाये हुए हैं।

(३) 'उठइ धूरि मानहुँ ···'—धूल के कण जो निरंतर गिरते हैं, वे सघन और कोमल हैं, वे जल की बरसती हुई धारा की तरह जान पड़ते हैं और वाणों की वृष्टि उस वृष्टि के समान छेदनेवाली है।

दुहुँ दिसि पर्बत करहिं प्रहारा। बज्रपात जनु बारहिं बारा ॥७॥
रघुपति कोपि बान झरि लाई। घायल भै निसिचर-समुदाई ॥८॥
लागत बान बीर चिक्करहीं। घुर्मि घुर्मि जहँ तहँ महि परहीं ॥९॥
स्रवहिं सैल जनु निर्झर भारी। सोनित सरि कादर भयकारी ॥१०॥

अर्थ—दोनों ओर से पर्वतों का प्रहार किया जा रहा है, मानों बार-बार वज्रपात हो रहा हो ॥७॥ श्रीरघुनाथजी ने कोप करके वाणों की झड़ी लगा दी, जिससे राक्षस समूह घायल हो गये ॥८॥ वाणों के लगने से वीर चिंघाडते हैं, चक्कर खा-खाकर मूर्च्छित होकर जहाँ-तहाँ पृथिवी पर गिरते हैं ॥९॥ (वे ऐसे दिखते हैं) मानों पर्वत के भारी झरनों से पानी गिर रहा हो। रुधिर की नदी (वह चली, वह) कादरों को भय भीत करनेवाली है ॥१०॥

विशेष—(१) 'दुहुँ दिसि पर्बत ···'—यह सेना-सेना का युद्ध है। 'रघुपति कोपि ···'—यह श्रीरामजी का निशाचर सेना पर कोप है। वाल्मीकिजी ने लिखा है कि जब उभय सेनाओं के युद्ध में राक्षसों की प्रबलता पर वानर श्रीरामजी की शरण मे गये तब उन्होंने कोप करके राक्षसों पर वाण-वृष्टि की है, यथा—"ततो रामो महातेजा धनुरादाय वीर्यवान्। प्रविश्य राक्षसं सैन्यं शर वर्षं ववर्ष च ॥··· छिन्नं भिन्नं शरैर्दग्धं प्रभग्नं शस्त्रपीडितम्। बलं रामेण ददृशुर्न राम शीघ्रकारिणम् ॥" (वाल्मी॰ ६।९३।१०-२१), अर्थात् महा तेजस्वी, वीर श्रीरामजी धनुष लेकर राक्षस-सेना पर वाणवृष्टि करने लगे। श्रीरामजी के वाणों से निशाचर सेना छिन्न भिन्न हो गई, जल गई, टुकड़े-टुकड़े हो गई। शस्त्र से पीडित सेना ऐसी देख पड़ती है, पर श्रीरामजी को कोई नहीं देख पाता, वे ऐसे शीघ्र कार्य करते हैं। यही युद्ध यहाँ सूचित किया है। वाणों की झड़ी वर्षा की झड़ी है।

(२) 'घुर्मि घुर्मि'—मानो वर्षा से वृक्ष टूट-टूटकर गिरते हैं।

(३) 'सवहिं सैल जनु···'—यहाँ राक्षसगण पर्वत हैं, बाण-कृत घाव झरने हैं, उनसे रुधिर की धारा निकलना पानी गिरना है। वीरों के चीत्कार जो वे बाण लगने पर करते हैं, झरने के शब्द हैं। सबकी रुधिर-धारा जो पृथिवी में मिलकर बह चली, वह नदी है।

छंद—कादर भयंकर रुधिर - सरिता चली परम अपावनी।
दोउ कूल दल रथ रेत चक्र अवर्त बहति भयावनी।
जल-जंतु गज-पदचर तुरग खर बिबिध बाहन को गने।
सर सक्ति तोमर सर्प चाप तरंग चर्म कमठ घने॥

दोहा—बीर परहिं जनु तीर तरु, मज्जा बहु बह फेन।
कादर देखि डरहिं तहँ, सुभटन्ह के मन चेन॥८६॥

अर्थ—डरपोकों के लिये भय पैदा करनेवाली परम अपवित्र रक्त की नदी बह चली। दोनों दल इस नदी के दोनों किनारे हैं, रथ रेत हैं, पहिये भँवर हैं, यह नदी बड़ी भयावनी बह रही है॥ हाथी, पैदल, घोड़े, गधे आदि भाँति-भाँति की सवारियाँ हैं, जिनको कौन गिन सकता है? वे ही अनेक जलचर जीव हैं। बाण, शक्ति और तोमर सर्प है, धनुष तरंगें हैं, ढालें कछुओं के समूह हैं॥ वीर पृथिवी पर गिर रहे हैं, मानों किनारे के वृक्ष ढह रहे हैं, बहुत-सी चर्बी बह रही है, वही मानों फेन है, कादर मनुष्य देखकर इससे डरते हैं और उत्तम योद्धाओं के मन में सुख होता है॥८६॥

विशेष—(१) 'रुधिर-सरिता चली परम अपावनी।'—पूर्व बाण वर्षा से नदी का बहना कहा गया। अतः, यह नदी भी वर्षा की नदी की ही तरह हुई। वर्षा की नदी अपावनी समझी जाती है, यह तो रुधिर की नदी है, अतएव परम अपावनी है। वर्षा की नदी समुद्र के लिये चलती है और यह भी यम-सागर से संगम के लिये चली है; यथा—"शोणितौघमहातोयां यमसागरगामिनीम्॥" (वाल्मी॰ ६।५८।२१) जैसे चक्र (पहिये) मंडलाकार होते हैं, वैसे ही आवर्त भी बार-बार चक्कर लेते हैं। 'सर सक्ति तोमर सर्प'; यथा—"राम मारगन गन चले, लहलहात जनु ब्याल।" (दो॰ ९०), बाण सर्पवत् बूड़ते उतराते चलते हैं 'चाप तरंग'—इनमें टेढ़ाई की समता है। 'चर्म कमठ' में आकार की समता है।

(२) 'बिबिध बाहन को गने', यथा—"वायु वेगवान् रथों की दस हजार सेना, शीघ्रगामी हाथियों की अठारह हजार सेना, चौदह हजार घोड़े और घुड़सवार और पूरे दो सौ हजार पैदल राक्षसी सेना को एक श्रीरामजी ने दिन के आठवें भाग में अग्नि के समान बाणों से मारा।" (वाल्मी॰ ६।९३।३०–३१)।

(३) 'बीर परहिं जनु···'—सुभटों को आनंद होता है कि वीर गति से मरने पर भी परलोक बनेगा और जीतेंगे, तो ऐश्वर्य प्राप्त होगा, यश होगा। इस नदी में सामान्य वीरों का काम नहीं है कि इसे पार कर सकें; यथा—"लोथिन सों लोहू के प्रवाह चले जहाँ तहाँ, मानहुँ गिरिन गेरु झरना झरत हैं। सोनित सरित घोर कुंजर करारे भारे, कूल ते समूल बाजि-बिटप परत हैं॥ सुभट सरीर नीर चारी भारी भारी तहाँ, सूरनि उछाह कूर कादर डरत हैं। फेकरि फेकरि फेरु फारि फारि पेट खात, काक कंक बालक

कोलाहल करत है ॥" (क० लं० ४६), वाल्मी० ६।५८ से यह पूरा रूपक बहुत अंशों में मिलता है। यहाँ प्रहस्त के युद्ध का प्रकरण है।

मज्जहिं भूत पिसाच बेताला। प्रमथ महा झोटिंग कराला ॥१॥
काक कंक लै भुजा उड़ाहीं। एक ते छीनि एक लै खाहीं ॥२॥
एक कहहिं ऐसिउ सौंघाई। सठहु तुम्हार दरिद्र न जाई ॥३॥
कहरत भट घायल तट गिरे। जहँ तहँ मनहुँ अर्द्धजल परे ॥४॥

शब्दार्थ—झोटिंग = झोंटेवाला, जोटिंग संज्ञक श्रीशिवजी के गण। सौंघाई = सस्ती, यह समर्धता का प्राकृत रूप है। अर्द्धजल = आधा शरीर जल में रहना।

अर्थ—भूत, पिशाच, वैताल, महा कराल झोंटेवाले जोटिंग और प्रमथ आदि शिवगण इस नदी में स्नान करते हैं ॥१॥ कौए और चीलें भुजाएँ लेकर उड़ते हैं, एक से छीन दूसरा लेकर खाता है ॥२॥ एक कहता है—अरे शठो! ऐसी भी सस्ती में तुम्हारी दरिद्रता नहीं जाती? (कंगाली बनी ही है।) ॥३॥ तट पर गिरे हुए घायल योद्धा कराह रहे हैं, मानों जहाँ-तहाँ अर्द्धजल में पड़े हुए हैं ॥४॥

विशेष—(१) भूत, पिशाच, वैताल और प्रमथ ये सब प्रेतों के भेद हैं। इनमें वैताल अधिक जबरदस्त होते हैं। इन भूतों की करालता श्रीशिवजी की बरात वर्णन में देखिये बा० दो० ६२-६५ में विस्तार से कहा गया है।

(२) 'मनहुँ अर्द्धजल परे'—प्राण कण्ठगत होने पर लोगों को गंगा आदि पुण्य नदियों में लोग आधा शरीर जल में और आधा स्थल में कर देते हैं कि उसकी सद्गति हो। वही रूपक यहाँ है।

खैंचहिं गीध आँत तट भये। जनु बंसी खेलत चित दये ॥५॥
बहु भट बहहिं चढ़े खग जाहीं। जनु नावरि खेलहिं सरि माहीं ॥६॥
जोगिन भरि भरि खप्पर संचहिं। भूत पिसाच बधू नभ नंचहिं ॥७॥
भट कपाल करताल बजावहिं। चामुंडा नाना बिधि गावहिं ॥८॥

शब्दार्थ—नावरि = नाव-क्रीड़ा, नाव को धारा में ले जाकर चक्कर देते हैं। बंसी = मछली फँसाने की बाँस की लकड़ी और डोरी का औजार। संचना (संचयन) = एकत्र करना।

अर्थ—गृद्ध आँतें खींचते हैं मानों (मछली के शिकारी) नदी तट पर से चित्त लगाये हुए बंसी खेल रहे हैं ॥५॥ बहुत-से भट बह रहे हैं और पक्षी उनपर चढ़े चले जा रहे हैं, मानों नदी में नावरि खेल रहे हैं ॥६॥ जोगिनियाँ अपने-अपने खप्परों में रुधिर जमा कर रही हैं, भूतों और पिशाचों की स्त्रियाँ आकाश में नाच रही हैं ॥७॥ चामुंडाएँ योद्धाओं की खोपड़ियों का करताल बजाती हैं और नाना प्रकार से गाती हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'जनु बंसी खेलत'—गृद्ध बहते हुए निशाचरों की आँतें खींच रहे हैं, एक सिरा पकड़े हुए हैं, दूसरी ओर आँत का लोथड़ा मछली है। धारा में आगे आगे बढ़ती हैं, तब ये उन्हें अपनी

ओर खींचते हैं। इस तरह बार-बार खींचना और छोड़ देना खेलना है। 'चित दये'--कि मछली निकल न जाय, उसी प्रकार ये आँतों को नहीं जाने देते।

(२) 'जनु नावरि खेलहिं'—शव पर पक्षी बैठे हुए नोचते-खाते बहे जाते हैं; नोचने में एवं बहाव में कहीं-कहीं शव चक्कर खा जाते हैं, यही उनका नावरि खेलना है। योगिनियों का कौतुक क० लं० ५० में देखने योग्य है।

(३) 'करताल बजावहिं'—योगिनियाँ एक खोपड़ी एक हाथ में और दूसरी दूसरे हाथ में लेकर बजाती हैं और उसी से ताल देती हैं, जैसे करताल बजाया जाता है।

'चामुंडा'- चंड-मुंड को पकड़ लाने के कारण जिनका चामुंडा नाम पड़ा, उन मुख्या कालीजी का वर्णन यहाँ नहीं है; किंतु ये योगिनी, चामुंडा, आदि उन भगवती महामाया की सेना में छप्पन करोड़ की संख्या में रहती हैं, जैसे श्रीशिवजी की सेना में उनके गण। बहुवचन वर्णन से यहाँ उन्हीं को कहा गया है।

(४) 'खप्पर संचहिं'—इसलिये कि रात में फिर पियेंगी।

'भूत पिसाच बधू'—ये चुड़ैलें हैं, हर्ष से नाच रही हैं।

जंबुक-निकर कटक्कट कट्टहिं। खाहिं हुआहिं अघाहिं दपट्टहिं ॥९॥
कोटिन्ह रुंड मुंड बिनु डोल्लहिं। सीस परे महि जय जय बोल्लहिं ॥१०॥

छंद—बोल्लहिं जो जय जय मुंड रुंड प्रचंड सिर बिनु धावहीं।
खप्परन्हि खग्ग अलुज्झि जुज्झहिं सुभट भटन्ह ढहावहीं।
बानर निसाचर निकर मर्दहिं राम-बल दर्पित भये।
संग्राम अंगन सुभट सोवहिं राम-सर-निकरन्हि हये॥

दोहा—रावन हृदय बिचारा, भा निसिचर संहार।
मैं अकेल कपि भालु बहु, माया करउँ अपार ॥८७॥

शब्दार्थ—जंबुक = गीदड़, शृगाल। कटक्कट = दाँतों की रगड़ का शब्द। कट्टहिं = काटते हैं। हुआहिं = हुआँ हुआँ शब्द करते हैं। अलुझना = फँसना।

अर्थ—गीदड़ समूह कटकट शब्द करते हुए (शव को) काटते, खाते, हुआँते, अघाते और परस्पर एक-दूसरे को डाँटते हैं ॥९॥ करोड़ों धड़ बिना शिर के फिर रहे हैं, शिर पृथिवी पर पड़े जय-जय बोल रहे हैं ॥१०॥ मुंड जय जय बोलते हैं, बिना शिर के धड़ बड़े वेग से दौड़ते हैं। खोपड़ियों में पक्षी उलझ-उलझ कर आपस में जूझते (युद्ध करते) हैं (कि हम ही सब खायेंगे, दूसरे को इसमें नहीं खाने देंगे)। सुभट भटों को गिरा देते हैं॥ बानर श्रीरामजी के बल से दर्पित (गर्वित) होकर राक्षस समूह को मर्दित

करते हैं। श्रीरामजी के बाण समूह से मारे जाकर समूह-श्रेष्ठ योद्धा संग्राम रूपी आँगन में सो रहे हैं॥ रावण ने हृदय में विचारा कि राक्षसों का नाश हो गया, मैं अकेला हूँ और वानर-भालू बहुत हैं। अत, अपार माया करूँ (नहीं तो मैं अकेले किस-किस से लडूँगा ?) ॥८७॥

विशेष—(१) 'खाहिं हुआहिं ...'—हुआँना गीदड़ों की आनंद ध्वनि है, वे अघाकर हुआँते हैं और जो पहले पेटभर खा चुकते हैं, वे दूसरे को खाते देख डाँटते हैं, यह भी उनका स्वभाव है।

(२) 'कोटिन्ह रुंड ...'—शूरों के शिर कट जाने पर भी उनके धड़ मार काट करते हैं और युद्धोत्साह के शब्द कटे हुए शिरों से भी निकलते हैं, क्योंकि पूर्व से उनमें जो उत्साह भरा हुआ रहता है, शरीर कटने पर कुछ देर प्राणों के रहने से अभ्यास के कारण पूर्व के समान कार्य उनसे स्वत होता है।

(३) 'अलुज्झि जुज्झहिं' पर इसका यह भी भाव कहा जाता है कि खोपड़ियों में पक्षी शिर पैठा कर खाते हैं और उसीसे उलझकर मर जाते हैं।

यहाँ परिपूर्ण वीभत्स रस का वर्णन है, युद्ध वर्णन में इसी की शोभा है।

देवन्ह प्रभुहि पयादे देखा। उपजा उर अति छोभ बिसेखा ॥१॥
सुरपति निज रथ तुरत पठावा। हरष सहित मातलि लै आवा ॥२॥

अर्थ—प्रभु को पैदल देखकर देवताओं के हृदय में अत्यन्त क्षोभ उत्पन्न हुआ ॥१॥ इन्द्र ने तुरत अपना रथ भेजा और मातलि हर्षपूर्वक उसे ले आया ॥२॥

विशेष—(१) अभी तक सेना-सेना का युद्ध होता था, अब राम-रावण के युद्ध का संयोग हुआ, तब एक ओर रथ का होना और दूसरी ओर न होना यह देवताओं की दृष्टि में खटका और फिर इन्द्र के द्वारा रथ भेजवाया गया। इससे पहले युद्ध में कुंभकर्ण पैदल ही आया था और मेघनाद से श्रीलक्ष्मणजी का ही युद्ध हुआ, और वह भी थोड़े ही समय के लिये। इसमें रथ की उतनी आवश्यकता नहीं थी। पुन' यहाँ बराबर की रण क्रीडा करना है। अत, प्रभु की इच्छा से ही ऐसा हुआ, नहीं तो खर-दूषण-युद्ध में भी रथ नहीं ही था।

(२) 'हरष सहित मातलि लै आवा।'—हर्ष का कारण स्वामी की आज्ञा के पालन में उत्साह और प्रभु की सेवा एवं उनके दर्शनों की प्राप्ति है तथा यह इन्द्र सहित कई बार रावण से हारा था, अब प्रभु के साथ जीतने का भी श्रेय पावेगा, उसका यह भी एक हेतु है। हर्ष और उत्साह वीर रस के सम्बन्ध से भी है।

तेज - पुंज रथ दिब्य अनूपा। हरषि चढ़े कोसलपुर - भूपा ॥३॥
चंचल तुरग मनोहर चारी। अजर अमर मन सम गति कारी ॥४॥

अर्थ—उस दिव्य अनुपम, तेजोराशि रथ पर श्रीअयोध्याजी के राजा श्रीरामजी प्रसन्नता-पूर्वक चढ़े ॥३॥ उसमें सुन्दर एवं मन हरण, चंचल, अजर, अमर और मन की गति के समान शीघ्रगामी चार घोड़े जुते थे ॥४॥

विशेष—(१) 'तेज पुंज रथ दिब्य अनूपा।'—इसका वर्णन वाल्मी० ६।१०३ में इस तरह

है , यथा—"इन्द्र के उस रथ में सुवर्ण के चित्र बने हुए थे, छोटी-छोटी घंटियाँ लगी हुई थीं ॥९॥ वह रथ तरुण सूर्य के समान प्रकाशमान था, वैदूर्य का युगन्धर (जुआ रखने की लकड़ी) था। सुवर्ण के अलंकारवाले उत्तम घोड़े उसमें जुते थे और श्वेत चामर लगे थे ॥१०॥ घोड़े हरे रंग के थे, वे सूर्य के समान प्रकाशमान थे, सुवर्ण जाल से विभूषित थे, सुवर्ण दंड में ध्वजा लगी थी– ऐसा वह इन्द्र का उत्तम रथ था ॥११॥" यही सब 'तेज पुंज, दिव्य, अनूपा' से ग्रन्थकार ने यहाँ जना दिया है।

(२) 'हरषि चढ़ेउ कोसलपुर भूपा।'—हर्ष के कारण--(क) रथ के सब साज अनुकूल पाये। (ख) इससे विभीषणजी की इच्छा-पूर्ति भी होगी। (ग) हर्ष युद्धारंभ में शकुन भी है। 'कोसलपुर भूपा' का भाव यह है कि कोशलपुर के राजा श्रीदशरथजी इन्द्र के सखा थे। इन्द्र उन्हें अपने आधे सिंहासन पर बैठाते थे ; यथा—"आगे होइ जेहि सुरपति लेई। अरध सिंहासन आसन देई॥" (अ० दो० १७) ; तब उसके रथ पर बैठने के योग्य ये भी कोशलपुर भूप ही हैं। दूसरा इस रथ पर नहीं चढ़ सकता।

(३) 'चचल तुरग मनोहर चारी।···'—घोड़े में चार गुण होते हैं—वय, बल, रूप और गति ; यथा—"आपने वय बल रूप गुन गति सकल भुवन विमोहई।" (बा० दो० ३११), यहाँ चारों गुण हैं—'चंचल' ; यथा—"सुभग सकल सुठि चंचल करनी। अय इव जरत धरत पग धरनी॥" (बा० दो० २१०) ; "जाल नचावत चपल तुरगा।" (बा० दो० ३१५), इस चंचलता से नवीन अवस्था दिखाई गई, क्योंकि अवस्था ढल जाने से यह गुण नहीं रहता। 'मनोहर' से उत्तम रूप। 'अजर-अमर' से बल और वय और 'मन सम गति कारी' से उत्तम गति (चाल) दिखाई गई है। 'मन सम गति कारी' के दो शब्दार्थ हैं—सवार के मन के अनुसार चलना और मनोवेग (अत्यन्त तेज) से चलना।

रथारूढ़ रघुनाथहि देखी। धाये कपि बल पाइ बिसेखी ॥५॥
सही न जाइ कपिन्ह कै मारी। तब रावन माया बिस्तारी ॥६॥
सो माया रघुबीरहि बाँची। लछिमन कपिन्ह सो मानी साँची ॥७॥
देखी कपिन्ह निसाचर-अनी। अनुज सहित बहु कोसल धनी ॥८॥

शब्दार्थ—बाँची = अव्ययार्थ बचाकर, छोड़कर।

अर्थ—श्रीरघुनाथजी को रथ पर चढ़ा हुआ देख वानर विशेष बल पाकर दौड़े ॥५॥ जब वानरों की मार सही न गई, तब रावण ने माया फैलाई ॥६॥ उस माया को एक श्रीरघुनाथजी के अतिरिक्त श्रीलक्ष्मणजी और वानरों ने सच्ची ही मानी ॥७॥ वानरों ने राक्षसी सेना और भाई श्रीलक्ष्मणजी के साथ बहुत-से कोशलपति राम देखे ॥८॥

विशेष—(१) 'रथारूढ़ रघुनाथहि देखी ··।' इसपर वानरों को विशेष बल प्राप्त हुआ कि अभी तक पैदल रहकर भी श्रीरामजी ने बहुत राक्षसों को मारा है, अब तो रथारूढ हुए, तब क्या कहना! अवश्य जीतेंगे।

(२) 'सही न जाइ ···'—पूर्व—"मैं अकेल कपि भालु बहु, माया करउँ अपार।" पर प्रसग छोड़ा था, बीच में इन्द्र-रथ आने की बात कहने लगे थे, अब वहीं से फिर प्रसग लिया—'तब रावन माया।···'

(३) 'देखी कपिन्ह ···'—रावण की सेना कट गई थी, इससे उसने माया से 'निसाचर अनी' रची।

"इसकी देह से सैकड़ों सहस्रों राक्षस आयुध सहित प्रकट होते दिखलाई पड़े। उन सबको श्रीरामजी ने दिव्यास्त्र से मार डाला, तब उसने फिर माया रची कि श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी के बहुत-से रूप बनाकर उन रूपों से उन्हें मारने के लिये दौड़ा। तब श्रीलक्ष्मणजी ने कहा कि यह हमलोगों के समान अनेक रूप धारण किये हुए हैं, इन सब पापी राक्षसों को मारिये, तब श्रीरामजी ने उन सब अपने सदृश-रूपधारियों को मारा।"—यह महा भारत वन पर्व अ० २६०।५-११ में कहा गया है। वैसा ही प्रसंग यहाँ पर भी है।

छंद—बहु राम लछिमन देखि मर्कट भालु मन अति अपडरे।
जनु चित्र लिखित समेत लछिमन जहँ सो तहँ चितवहिं खरे॥
निज सेन चकित बिलोकि हँसि सर चाप सजि कोसलधनी।
माया हरी हरि निमिष महँ हरषी सकल मर्कट-अनी॥

दोहा—बहुरि राम सब तन चितइ, बोले बचन गँभीर।
द्वन्द्व-जुद्ध देखहु सकल, श्रमित भये अति बीर॥८८॥

अर्थ—बहुत-से श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी को देखकर वानर और रीछ मन में अत्यन्त (झूठे डर से) डरे। श्रीलक्ष्मणजी के साथ जो जहाँ हैं, वे वहीं खड़े रहकर इस तरह देखने लगे, मानों लिखे हुए चित्र ही हैं (टकटकी लगाये हुए हैं, हिलते-डोलते नहीं)॥ अपनी सेना को चकित देख दुःख हरनेवाले भगवान् कोशलपति श्रीरामजी ने हँसकर धनुष पर बाण सजकर क्षण मात्र में माया हर ली, तब सब वानर सेना हर्षित हुई॥ फिर श्रीरामजी सबकी ओर देखकर गंभीर वाणी बोले— तुम सब) वीर बहुत थक गये हो। अतः, (अब हमारा और रावण का) द्वन्द्व युद्ध देखो॥८८॥

विशेष—(१) 'अति अपडरे'—जहाँ डर का कारण नहीं हो, वहाँ डरना अपडर है; यथा—"अपडर डरेउँ न सोच समूले। रबिहि न दोष देव दिसि भूले॥" (अ० दो० ११६); "समुझि सहम मोहिं अपडर अपने।" (बा० दो० १८)।

यहाँ भाव यह है कि रावण-कृत सब रूप केवल दिखावा मात्र के थे। अतः, वानर-भालुओं को उनसे डरना नहीं चाहता था, परन्तु डर गये कि इधर तो श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी एक ही हैं और उधर बहुत हैं, तब तो हमलोग अब नहीं बचेंगे।

(२) 'हँसि, सर चाप सजि कोसलधनी।'—यहाँ हँसने के साथ 'कोसलधनी' कहा गया है, इसका भाव यह है कि राजा लोग कौतुक देखते हैं और देखकर हँसते हैं। पुनः 'कोसलधनी' कहकर हँसना कहने से शत्रु के निरादर के लिये भी हँसना सूचित किया; यथा—"कालहु डरहिं न रन रघुबंसी।" (बा० दो० २८३); 'हरि'—क्लेश हरण के सम्बन्ध से कहा गया है।

(३) 'हरषी सकल…'—यद्यपि अन्यत्र माया-हरण के साथ ही वानरों का हर्षित होना और फिर उत्साहपूर्वक लड़ने को दौड़ना कहा गया है तथापि यहाँ वानरों का युद्धोत्साह नहीं देखा जाता, क्योंकि रावण के पूर्व-कर्म से वे शंकित हैं। इसीसे आगे श्रीरामजी स्वयं कहते हैं कि अब तुम लोग श्रान्त हो गये हो, अतः, हमारा द्वन्द्व-युद्ध देखो।

यहाँ पर रावण ने श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी के भी रूप बना लिये, इसका कारण ब्रह्माजी का वरदान है, यथा—"छन्दतस्तव रूपं च मनसा यद्यथेप्सितम्। एवं पितामहोक्तं च दशग्रीवस्य रक्षसः॥" (वाल्मी॰ ७।१०।२५)। अर्थात् तुम जैसा अपना रूप बनाना चाहोगे, वैसा तुम्हारा रूप होगा, इस प्रकार राक्षस दशग्रीव से पितामह ने कहा है।

(४) 'बहुरि राम···'—'राम' का भाव यह है कि ये सबके भीतर रमते हैं, अतएव सबके भाव जान गये। साथ ही 'सब तन चितय' कहकर उनपर कृपा करके उनका श्रम हरना भी कहा गया है; यथा—"राम कृपा करि चितवा सब ही। भये बिगत श्रम बानर तब ही॥" (दो॰ ४६)।

'बचन गँभीर'—का भाव यह है कि यह नहीं कहा कि तुम सब डर गये हो, किंतु इतना ही कहा कि थक गये हो, अब हमारा युद्ध देखो। पुनः शब्द की गंभीरता भी जनाई कि वे शब्द सब सेना को सुन पड़े; यथा—"बोले घन इव गिरा गँभीरा।" (दो॰ ७१)।

अस कहि रथ रघुनाथ चलावा। बिप्र-चरन पंकज सिर नावा॥१॥
तब लंकेस क्रोध उर छावा। गर्जत तर्जत संन्मुख धावा॥२॥
जीतेहु जे भट संजुग माहीं। सुनु तापस मैं तिन्ह सम नाहीं॥३॥
रावन नाम जगत जस जाना। लोकप जाके बंदीखाना॥४॥

अर्थ—ऐसा कहकर श्रीरघुनाथजी ने रथ चलाया, विप्र चरण-कमल को शिर नवाया॥१॥ (रथ बढ़ाने पर) तब रावण के हृदय में क्रोध छा गया और वह गरजता-डाँटता हुआ सामने आया॥२॥ अरे तपस्वी! सुन, जिन योद्धाओं को तुमने युद्ध में जीता है, मैं उनके समान नहीं हूँ॥३॥ मेरा नाम रावण है, सारा जगत् मेरे यश को जानता है, जिसके यहाँ लोकपाल कैदखाने में पड़े हैं॥४॥

विशेष—(१) 'विप्र चरन पंकज सिर नावा।'—यह मंगलाचरण किया, यथा—"बंदि बिप्र गुरु चरन प्रभु, चले करि सबहि अचेत।" (अ॰ दो॰ ७१); यहाँ विप्र नहीं हैं, इससे उन्हें मानसिक प्रणाम किया है। कोई-कोई पूर्व दो॰ ८४ के ध्यान प्रसंग में कही हुई 'भृगुलता' को ही प्रणाम करना कहते हैं। इससे जगत् को धर्म-मर्यादा भी दिखाते हैं कि इन चरणों की वंदना से विजय होती है। 'तब लंकेस क्रोध उर छावा।'—शत्रु के आगे बढ़ने पर एवं अपने भाई एवं पुत्र के वध का स्मरण कर उसे क्रोध हुआ। वही आगे कहता है। पुन. उसकी माया इन्होंने हँसकर एक ही वाण से काट दी, इससे भी वह क्रोध से भर गया।

(२) 'जीतेहु जे भट ···'—पूर्व केवल उसका क्रोध करना कहा गया, अब उसका कार्य परुष वचन भी कहते हैं—'सुनु तापस' यह दिव्य रथ की सवारी पर कटाक्ष है कि मँगनी के रथ से मर्यादा नहीं होती, तुम अब भी तपस्वी ही हो।

(३) 'रावन नाम···' अर्थात् हम जगत् के रुलानेवाले हैं। इसी से मेरा यश जगत् जानता है। कैलास उठाने पर श्रीशिवजी ने मेरा यह नामकरण किया है। पुनः लोकपालों को बंदीखाने में रखने से जगत् मात्र मेरा यश जानता है।

खरदूषन बिराध तुम्ह मारा। बधेहु ब्याध इव बालि बिचारा॥५॥

निसिचर निकर सुभट संहारेहु। कुंभकरन घननादहि मारेहु ॥६॥
आजु बैर सब लेउँ निबाही। जौं रन-भूप भाजि नहि जाही ॥७॥
आजु करउँ खलु काल हवाले। परेहु कठिन रावन के पाले ॥८॥

शब्दार्थ—निबाहना = चुकाना। पाले पड़ना = यह मुहावरा है = काबू में, वश में आना। खलु = निश्चय।

अर्थ—तुमने खर-दूषण और विराध को मारा, बेचारे बालि को व्याध की तरह (छिपकर) मारा ।।५।। राक्षस योद्धाओं के समूह का तुमने संहार किया। कुंभकरण और मेघनाद को मारा है ॥६॥ यदि हे भूप! तुम रण से भाग नहीं गये तो आज मैं सबका वैर चुका लूँगा ॥७॥ आज निश्चय ही मैं तुम्हें काल के हवाले करूँगा (मार डालूँगा), आज कठिन रावण के पाले पड़े हो ।८॥

विशेष—(१) 'बालि बिचारा'—भाव यह है कि उसका चारा ही क्या था, तुमने उसे छिपकर मारा। सामने तो हुए नहीं—यह जीत जीत नहीं है।

(२) 'आजु बैर सब लेउँ निबाही।'; यथा—"रक्षसामद्य शूराणां निहतानां चमूमुखे। त्वां निहत्य रणश्लाघी करोमि तरसा समम्॥" (वाल्मी० ६।१०२।५०) अर्थात् इस रणभूमि में तुमने अनेक वीर राक्षसों को मारा है, रण को पसंद करनेवाला मैं आज तुमको मारकर बराबर करूँगा; अर्थात् बदला लूँगा।

'जौं रनभूप भाग नहिं जाही।' अर्थात् मैं भागे हुए को नहीं मारता; यथा—"समर बिमुख मैं हतौं न काहू।" (आ० दो० १८) यह श्रीरामजी ने कहा है। 'भूप'—निरादर के लिये कहा कि मनुष्यों के ही राजा तो हो, राक्षसराज के सामने क्या कर सकोगे? 'कठिन रावन'—अर्थात् मैं विष्णु आदि का भी जीतनेवाला हूँ; यथा—"यस्योल्लिखित पीनांसौ विष्णुचक्र परिक्षतौ।" (वाल्मी० ५।१०।१६)।

रावण ने कभी श्रीरामजी का नाम नहीं लिया, 'तापस', 'भूप' आदि ही कहता था। हाँ, अंत में मरते समय एक बार 'राम' नाम का उच्चारण किया है।

सुनि दुर्बचन कालबस जाना। बिहँसि बचन कह कृपानिधाना ॥९॥
सत्य सत्य सब तव प्रभुताई। जल्पसि जनि देखाउ मनुसाई ॥१०॥

अर्थ—दुर्वचन सुन उसे कालवश जान कृपासागर श्रीरामजी ने हँसकर ये वचन कहे ॥९॥ (कि) तुम्हारी प्रभुता सत्य है, सत्य है। व्यर्थ बको मत, अपना पुरुषार्थ दिखलाओ ॥१०॥

विशेष—(१) 'सुनि दुर्बचन'—"आजु करउँ खलु काल हवाले।···" यह दुर्वचन है। 'बिहँसि' का भाव यह कि अपनी निःशंकता प्रकट करना है, यथा—"छत्रिय तनु धरि समर सकाना। कुल कलंक तेहि पावँर आना॥" (बा० दो० २८४); पुनः उसका निरादर करने के लिये भी हँसे, तदनुसार आगे वचन भी कहते हैं। 'कृपानिधाना' का भाव यह है कि कालवश जानकर उसके दुर्वचन पर दया भी है, इससे क्रोध नहीं किया।

(२) 'सत्य सत्य···'—लोकपालों का जीतना सत्य है, पर हम कोई और हैं, लोकपाल नहीं हैं, किंतु योद्धा हैं, जरा अपना पुरुषार्थ तो दिखा। 'सत्य सत्य सब···' का व्यंग्यार्थ लें तो वाल्मी० ६।१०३।, १०–१८ के भाव आ जाते हैं कि तुम्हारी वीरता हम जानते हैं कि शून्य में परस्त्री का हरण किया। बस,

यही न ! इसी पर वीर बनते हो ! यही भाव 'जल्पसि जनि' से भी पुष्ट है कि व्यर्थ क्या बकता है ? लोकपाल आदि के जीतने की कीर्ति इसी एक कर्म से नाश हो गई। इसे देखकर उन सब बातों को कोई सत्य नहीं कहेगा ; यथा—"जानेउँ तव बल अधम सुरारी। सूने हरि आनेहि पर नारी ॥" (लं० दो० २१)।

छंद—जनि जल्पना करि सुजस नासहि नीति सुनहि करहि छमा।
संसार महँ पूरुष त्रिविध पाटल रसाल पनस समा।
एक सुमन-प्रद एक सुमन फल एक फलइ केवल लागहीं।
एक कहहिं कहहिं करहिं अपर एक करहिं कहत न बागहीं ॥

दोहा—राम-बचन सुनि बिहँसा, मोहि सिखावत ज्ञान।
बैर करत नहिं तब डरे, अब लागे प्रिय प्रान ॥८९॥

शब्दार्थ—पाटल = पाडर, पाडर का वृक्ष, इसके पत्ते बेल के-से होते हैं—इसके दो भेद हैं, (१) सफेद फूलवाला, (२) लाल फूलवाला। बागना = चलना, फिरना, बोलना।

अर्थ—व्यर्थ बकवाद करके अपना सुयश न नाश कर, ठहर जा, नीति सुन। संसार में पुरुष तीन प्रकार के होते हैं—पाटल, आम और कटहल के समान॥ एक (पाटल) फूल देता है, एक (आम) फूल और फल दोनों देता है और एक (पनस) में केवल फल ही लगते हैं। इसी तरह एक कहते भर हैं (करते नहीं), एक कहते हैं और वैसा करते भी हैं और एक करते हैं कहते नहीं फिरते, या करते हैं पर बाग (वाणी) से नहीं कहते॥ श्रीरामजी के वचन सुनकर वह बहुत हँसा (और बोला) कि मुझे ज्ञान सिखाते हो, पहले वैर करते हुए नहीं डरे, अब प्राण प्यारे लग रहे हैं ॥८९॥

विशेष—(१) 'जनि जल्पना करि सुजस नासहि।'; यथा—"छीजहिं निसिचर दिन अरु राती। निज मुख कहे सुकृत जेहि भाँती॥" (दो० ७०), तथा—"परै प्रोक्ता गुणा यस्य निर्गुणोऽपिगुणी भवेत्। इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः॥" (सुभाषितरत्नभाण्डागार); अर्थात् दूसरे के द्वारा बड़ाई करने से निर्गुण भी गुनी समझा जाता है, किन्तु अपने-आप बड़ाई करने से इन्द्र भी लघुता को प्राप्त होते हैं।

'नीति सुनहि करहि छमा'—रावण अपनी ही हाँकता है, इसपर कहते हैं कि क्षमा कर = ठहर जा, सब्र कर, नीति सुन ले। भाव यह है कि यहाँ तू नीति में भूल रहा है कि "सूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहि आपु।" (बा० दो० २७४), अत, मैं नीति कहता हूँ, इसे सुन।

(२) 'एक कहहिं ···'—निकृष्ट केवल कहते हैं करके नहीं दिखाते, मध्यम कहते हैं और फिर वैसा ही करके भी दिखाते हैं और उत्तम लोग कहते नहीं वे कर्त्तव्य द्वारा अपनेको प्रकट करते हैं (अतः, तू भी उत्तम की श्रेणी में आ)। तथा-"न वाक्यमात्रेण भवान्प्रधानो न कत्थनात्सत्पुरुषा भवन्ति।··· कर्मणा सूचयात्मानं न विकत्थितुमर्हसि। पौरुषेण तु यो युक्तः स तु शूर इति स्मृतः॥" (वाल्मी० ६।७१।५८-

५१) ; अर्थात् बातों से कोई प्रधान नहीं बनता, सज्जन अपनी प्रशंसा आप नहीं करते।'''कर्म से अपना पराक्रम दिखलाओ, झूठी शेखी नहीं बघारो। जो पुरुषार्थी है, वही शूर कहा जाता है--ऐसा श्रीलक्ष्मणजी ने अतिकाय से कहा है।

(३) 'राम बचन सुनि बिहँसा'''—श्रीरामजी ने 'बिहँस' कर वचन कहा था, उसी के जोड़ में यह भी 'बिहँसा' उसका भी हँसना निरादर के लिये ही है। श्रीरामजी के 'करहि छमा' वाक्य को स्वार्थ पक्ष में मरोड़कर रावण कहता है कि रणभूमि में आने पर प्राण प्यारे लगे, तब क्षमा माँगते हो, ऐसा ही था तो मुझ से वैर ही नहीं करते, अब डरकर कहाँ जाओगे ? पुनः जो श्रीरामजी ने कहा था—'जनि जल्पना करि'''' उसी के उत्तर में कहता है कि हमें ज्ञान सिखाते हो ? भाव यह कि नीति का पंडित मेरे समान दूसरा नहीं है। मुझे तुम क्षत्रिय होकर क्या ज्ञान सिखाओगे ?

कहि दुर्बचन क्रुद्ध दसकंधर। कुलिस समान लाग छाँड़इ सर ॥१॥
नानाकार सिलीमुख धाये। दिसि अरु बिदिसि गगन महि छाये ॥२॥
पावक सर छाँड़ेउ रघुबीरा। छन महँ जरे निसाचर तीरा ॥३॥
छाड़िसि तीव्र सक्ति खिसियाई। बान संग प्रभु फेरि चलाई ॥४॥

अर्थ—दुर्वचन कहकर क्रोधित दशानन रावण वज्र के समान बाण छोड़ने लगा ॥१॥ अनेकों आकार के बाण दौड़े, दिशाओं में, आग्नेयादि विदिशाओं में, आकाश में और पृथिवी में (अर्थात् दसों दिशाओं में) छा गये ॥२॥ श्रीरघुनाथजी ने अग्निबाण छोड़ा, (उससे) रावण के तीर क्षण-भर में भस्म हो गये ॥३॥ तब लज्जित होकर उसने तीक्ष्ण शक्ति चलाई। प्रभु ने अपने बाण के साथ (अर्थात् बाण चला कर उसके द्वारा) उसे लौटा कर चलाया (वह उलटकर उधर ही को लौट गई) ॥४॥

विशेष—(१) 'कहि दुर्बचन क्रुद्ध'''—उपर्युक्त 'बैर करत तब नहिं डरे'''' तो दुर्वचन कहा ही था, उसके अतिरिक्त उसने और भी दुर्वचन कहे, अन्यथा 'अस कहि' वाचक पद भी उसके साथ देते, जैसे कि अन्यत्र देते हैं; यथा—"धिग धिग मम पौरुष धिग मोहीं। जौ तैं जियत उठेसि सुर द्रोही ॥ अस कहि" (दो० ८२), "रन ते निलज भाजि गृह आवा। इहाँ आइ बक ध्यान लगावा ॥ अस कहि ''" (दो० ८१), "परबस सखिन लखी जब सीता।''' पुनि आउब'''अस कहि''''" (बा० दो० २११), इत्यादि, बहुत प्रमाण हैं। अतएव अन्य रामायणों में कहे हुए दुर्वचन भी आ गये और ग्रन्थकार ने अपनी लेखनी से उन्हें स्पष्ट लिखा भी नहीं।

दुर्वचन कहने का कारणरूप आगे 'क्रुद्ध' पद भी दिया गया है, क्रोध में परुष वचन निकलते ही हैं। पुनः 'दसकंधर' शब्द से क्रोध का भी कारण जनाया कि इसे दस शिर होने का गर्व है, फिर एक शिरवाले को सामने देखकर यह अपमान कैसे सह सकता है। साथ ही 'दसकंधर' शब्द का बाण छोड़ने से भी सम्बन्ध है कि दसों शिरों के साथ की बीसों भुजाओं से दस धनुष चढ़ाकर बाण छोड़ने लगा; यथा—"दसहु चाप सायक संधाने।" (दो० ८०)।

(२) 'नानाकार सिलीमुख धाये'—यहाँ वाल्मी० ६।९९।४२-४८ में कहे हुए सब प्रकार के बाण सूचित किये गये हैं—रावण क्रोधित होकर सिंहमुख, व्याघ्रमुख, कङ्कमुख, कोकमुख, गृध्रमुख, श्येनमुख, शृगालमुख, वृकमुख, मृगमुख और सर्पमुख बाण श्रीरामजी पर छोड़े, वे तीक्ष्ण बाण मुँह फैलाये हुए

अत्यन्त भयानक थे। गदहों, शूकरों, कुत्तों, कुक्कुटों, मगरों और सर्पों के समान फुफकारते हुए वाण रावण ने छोड़े। आसुरास्त्र, अग्निमुख, सूर्यमुख एवं अनेक ग्रहों और नक्षत्रों के रंगवाले, विद्युत्के समान जीभवाले वाण उसने चलाये।

(३) 'छाड़िसि तीव्र सक्ति···'—यहाँ वाल्मी० ६।१००।२-५ में कही हुई मयदानव की दिव्य शक्ति कही गई है, जिससे शूल, गदा और मूसल निकले थे और भी वायु वेग के मुद्गर, कूट, पाश, जलते हुए वज्र तथा और प्रकार के भी तीव्र अस्त्र निकले थे। फिर उन्हें श्रीरामजी ने परमास्त्र गांधर्वास्त्र से नष्ट किया है। एक ही 'तीव्र' शब्द से ये सभी बातें जना दीं। 'खिसियाई' क्योंकि पहले का पुरुषार्थ निष्फल कर दिया गया।

कोटिन्ह चक्र त्रिसूल पबारइ। बिनु प्रयास प्रभु काटि निवारइ ॥५॥
निफल होहिं रावन-सर कैसे। खल के सकल मनोरथ जैसे ॥६॥
तब सत बान सारथी मारेसि। परेउ भूमि जय राम पुकारेसि ॥७॥
राम कृपा करि सूत उठावा। तब प्रभु परम क्रोध कहँ पावा ॥८॥

अर्थ—करोड़ों चक्र और त्रिशूल चलाता है, विना परिश्रम ही श्रीरामजी उन्हें काटकर निवारण कर देते हैं॥५॥ रावण के वाण कैसे निष्फल होते हैं, जैसे दुष्ट के सभी मनोरथ॥६॥ तब उसने (श्रीरामजी के) सारथी को सौ वाण मारे, वह श्रीरामजी की जय पुकारता हुआ पृथिवी पर गिरा॥७॥ श्रीरामजी ने कृपा करके सारथी को उठाया, तब प्रभु परम क्रोध को प्राप्त हुए॥८॥

विशेष—(१) 'कोटिन्ह चक्र त्रिसूल पबारइ।···'; यथा—"ततश्चक्राणि निष्पेतुर्भास्वराणि महान्ति च। कार्मुकाद्भीमवेगस्य दशग्रीवस्य धीमतः ॥···तानि चिच्छेद वाणौघैश्चक्राणि तु स राघवः।" (वाल्मी० ६।१००।७-९); अर्थात् प्रचंड वेगवाले बुद्धिमान् रावण के धनुष से चमकीले और बड़े चक्र निकले। उनको वाणों से श्रीरामजी ने काट डाला। 'खल के सकल मनोरथ जैसे।'—जब सब धर्मों और सबके मनोरथों पर वाधा हो, तब दुष्ट के मनोरथ सिद्ध होते हैं, वैसे श्रीरामजी पर वाधा पहुँचे, तब रावण के वाणों की सफलता हो।

(२) 'रामकृपा करि सूत उठावा।'; यथा—"राम कृपा करि चितवा सवहीं। भये बिगत श्रम बानर तवहीं॥" (दो० ४६); वैसे यहाँ भी सूत को सुखी किया। 'तब प्रभु परम क्रोध कहँ पावा।'—भक्त पर आघात होने से आपको अत्यन्त क्रोध हुआ; यथा—"जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥" (अ० दो० २१७); यहाँ के परम क्रोध का स्वरूप आगे छन्द में दिखाते हैं। तथा वाल्मी० ६।१०२।३८-४२ में भी ऐसा ही कहा है। 'प्रभु' शब्द कहकर तदनुसार परम क्रोध का स्वरूप उसके कार्य द्वारा दिखाते हैं।

छंद—भये क्रुद्ध जुद्ध बिरुद्ध रघुपति त्रोन-सायक कसमसे।
कोदंड धुनि अति चंड सुनि मनुजाद सब मारुत ग्रसे।
मंदोदरी उर कंप कंपति कमठ भू भूधर त्रसे।
चिक्करहिं दिग्गज दसन गहि महि देखि कौतुक सुर हँसे॥

दोहा—तानेउ चाप श्रवन लगि, छाँड़े बिसिख कराल।
राम मारगन गन चले, लहलहात जनु ब्याल ॥९०॥

शब्दार्थ—मारगन (मार्गण) = बाण; यथा—"मार्गणस्तु शरेऽर्थिनी।" (हेम)।

अर्थ—श्रीरघुनाथजी युद्ध में विरोध भाव से क्रोधित हुए, तब उनके तर्कश में बाण कसमसाने लगे। उनके धनुष का अत्यन्त प्रचंड शब्द (टंकार) सुनकर सब मनुष्यों को खानेवाले (राक्षस) वायुग्रस्त हो गये (भय रूपी वायु से ग्रसित हो काँप उठे) ॥ मंदोदरी का हृदय काँप उठा; समुद्र, कमठ, पृथिवी और पर्वत भयभीत हो गये। दिग्गज पृथिवी को दाँतों से पकड़कर चिंघाड़ने लगे, यह कौतुक देखकर देवता हँसे (हर्षित हुए) ॥ धनुष को कान तक खींचकर कराल बाण छोड़े, श्रीरामजी के बाण समूह ऐसे चले मानों लहलहाते हुए सर्प जा रहे हों ॥९०॥

विशेष—(१) 'भये क्रुद्ध जुद्ध बिरुद्ध'''—अभी तक क्रीड़ायुद्ध करते थे अब विरोध भाव से युद्ध करने को उद्यत हुए; क्योंकि—"सेवक बैर बैर अधिकाई।" (अ० दो० २१८), यह आपका स्वभाव है। 'सायक कसमसे'—प्रभु के बाण आदि आयुध भी चेतन हैं, जैसे मुद्रिका का बात करना पूर्व कहा गया था। वे सब उत्साह से कसमसाने लगे कि प्रथम तर्कश से निकलकर मैं ही रावण का वध करूँ।

(२) 'मंदोदरी उर कंप'—अहिवात नष्ट हो जाने के भय से उसका हृदय काँप उठा; यथा—"गहि पद कंपित गात। नाथ भजहु रघुनाथहि, अचल होइ अहिवात।" (दो० ७), 'कंपित कमठ भू भूधर त्रसे'; यथा—"भरे भुवन घोर कठोर रव रबि बाजि तजि मारग चले। चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरम कलमले ॥" (बा० दो० २६१)।

(३) 'दसन गहि महि'—जिसमें पृथिवी गिर न पड़े; यथा—"दिसि कुंजरहु कमठ अहि कोला। धरहु धरनि धरि धीर न डोला ॥" (बा० दो० २५१), 'सुर हँसे'- इसलिये कि अब रावण मरा ही हुआ है, हमारे दु:ख दूर हुए; यथा—"चिक्करहिं दिग्गज डोल महि गिरि लोल सागर खरभरे। मन हरष दिनकर सोम सुर मुनि नाग किन्नर दुख टरे ॥" (सुं० दो० ३४)।

(४) लहलहात'—अर्थात् चमचमाते हुए; यथा—"चले बान सपच्छ जनु उरगा।" आगे कहते हैं। इससे अति वेग भी जनाया। 'मारगन'—यह मृग्-धातु से बना है; अर्थात् ये शत्रु को ढूँढ़कर मारनेवाले बाण हैं। मृग्=खोजना।

चले बान सपच्छ जनु उरगा। प्रथमहि हतेउ सारथी तुरगा ॥१॥
रथ बिभंजि हति केतु पताका। गर्जा अति अंतर बल थाका ॥२॥
तुरत आन रथ चढ़ि खिसियाना। अस्त्र सस्त्र छाँड़ेसि बिधि नाना ॥३॥
बिफल होहिं सब उद्यम ताके। जिमि परद्रोह-निरत मनसा के ॥४॥

अर्थ—बाण ऐसे चले मानों पक्ष युक्त सर्प हों, उन्होंने जाकर पहले सारथी और घोड़ों को मार डाला ॥१॥ फिर रथ को विशेष तोड़कर ध्वजा और पताका को गिरा दिया, तब रावण अत्यंत (जोर से)

गरजा पर भीतर से उसका बल थक गया था ॥२॥ लज्जित होकर तुरत दूसरे रथ पर चढ़कर उसने अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र छोड़े ॥३॥ उसके सब उपाय निष्फल हो रहे हैं, जैसे परद्रोह में रत मनवाले के उद्योग निष्फल होते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'सपच्छ जनु उरगा'—जैसे सर्पों के पर होते हैं, वैसे बाणों में भी पर होते हैं और चमकते हुए तेजी से जाते हैं और लगते ही प्राण ले लेते हैं। यह सर्पों से समता है। ऊपर दोहे में व्याल की तरह चलना कहा गया, यहाँ उसका कार्य दिखाते हुए उसे ही उरग और फिर सपक्ष भी कहा गया है।

(२) 'हति केतु पताका'; यथा—"ध्वजं मनुष्यशीर्षं तु तस्य चिच्छेदनेकधा ॥" (वाल्मी० ६।१००।१४); अर्थात् रावण की ध्वजा में मनुष्य के शिर का चिह्न था, उसे अनेक प्रकार से काट डाला—यह लक्ष्मण-युद्ध में कहा गया है।

'अंतर बल थाका'—उसने देखा कि मैंने तो इनके सारथी मात्र को मारा था, उसे भी इन्होंने जिला लिया और हमारे तो रथ घोड़े आदि सभी इन्होंने नष्ट कर डाले। पुनः यज्ञ नाश करके यहाँ ध्वजा और पताका भी काट डाली, ये सब अमंगल ही हुए। अतः, अब इनसे जीतना कठिन है, यह सोचकर रावण हृदय से हार गया।

(३) 'खिसियाना'—खिसियाने पर क्रोध और प्रतिकार की इच्छा होती है; यथा—"छाँड़िसि तीव्र सक्ति खिसियाई।" (दो० ८१);—"रावण, देखि प्रताप मूढ़ खिसियाना। करइ लाग माया बिधि नाना ॥" (दो० ५१); मेघनाद, "बोला, अति खिसियान। सीता तैं मम कृत अपमाना। कटिहउँ तव सिर कठिन कृपाना ॥" (सुं० दो० ९), इत्यादि, वैसे यहाँ भी इसने क्रोध करके नाना अस्त्र-शस्त्र छोड़े।

(३) 'बिफल होहिं सब उद्यम ताके।···'—ऊपर दोहे में भी कहा गया है—"निफल होहिं रावन सर कैसे। खल के सकल मनोरथ जैसे ॥" वहाँ मनोरथ और मनसा के उद्यम का नाश कहा गया। मनसा और मनोरथ एक ही बात है। इस तरह वहाँ मनोरथ का नाश और यहाँ उसके उद्यम का नाश कहकर दुष्टोंके साध्य और साधन दोनों के नाश कहे गये। दुष्ट के मनोरथ परद्रोह परक ही होते हैं। अतः, यहाँ के 'परद्रोह निरत मनसा' वाले भी खल ही हैं।

तब रावन दससूल चलावा। बाजि चारि महि मारि गिरावा ॥५॥
तुरग उठाइ कोपि रघुनायक। खैंचि सरासन छाँड़े सायक ॥६॥
रावन सिर - सरोज - बनचारी। चलि रघुबीर सिलीमुखधारी ॥७॥
दस दस बान भाल दस मारे। निसरि गये चले रुधिर पनारे ॥८॥

शब्दार्थ सिलीमुख (शिलीमुख) = बाण और भ्रमर; यथा—"भृंग· शिलीमुखः स्यात्तो नाराचोऽपिशिलीमुखः ॥"

अर्थ—तब रावण ने दस शूल चलाये, उनसे श्रीरामजी के चारो घोड़ों को मारकर पृथिवी पर गिरा दिया ॥५॥ घोड़ों को उठा श्रीरघुनाथजी ने कुपित हो धनुष खींच (तान) कर बाण छोड़े ॥६॥ रावण के शिर रूपी कमल वन में विचरण करनेवाली श्रीरामजी की बाण-पंक्ति रूपी भ्रमरों की पाँती

चली ॥८॥ श्रीरामजी ने उसके दसों शिरों में दस-दस बाण मारे, जो आर-पार होकर निकल गये और उन्हीं छिद्रों से रक्त के पनाले बह चले ॥८॥

विशेष—(१) 'तब रावन दस सूल चलावा।'''—रावण ने आगे के घोड़ों को तीन-तीन और पीछे वालों को दो दो शूल मारे। वे पृथिवी पर गिर पड़े, पर फिर श्रीरामजी ने करस्पर्श से उन्हें जिला लिया। इसी तरह पहले सारथी को भी उठा लिया था। क्योंकि इनके रथ, सारथी और घोड़े आदि सब दिव्य एवं अमर हैं और रावण के रथ आदि सभी अदिव्य हैं। अतः, कटते-मरते हैं। जैसे पहले सारथी पर प्रहार से श्रीरामजी को क्रोध हुआ था, वैसे ही यहाँ भी घोड़ों के प्रति प्रहार पर भी। वहाँ उसके रथ आदि का नाश किया और यहाँ उसके शिरों को ही काट कर बदला चुकाया।

(२) 'चलि रघुबीर सिलीमुख धारी।'—रावण के शिर दस हैं और वे बाणों के घावों से लाल दीखते हैं, इससे उन्हें कमलवन कहा गया। बाणों की पक्तियाँ शिरों में प्रवेश करती हैं, वैसे ही भ्रमरावली कमलवन में घुसती है। भ्रमर मकरंद पीते हैं, वैसे बाण रुधिर पीते हैं। भ्रमर और बाण दोनों के पर भी होते हैं, भ्रमर काले होते हैं, वैसे यहाँ के नाराच बाण निखालिस लोहे के हैं। अतः, काले और चमकीले हैं—यह समता है।

(३) 'दस दस बान भाल दस मारे।'—रावण बीस भुजाओं से भी दस ही शूल चला सका और श्रीरामजी ने दो ही भुजाओं से उससे दस गुने १०० बाण चलाये, यह उसके कर्म का प्रत्युत्तर है। इस तरह इन्होंने उसकी बीस भुजाओं का गर्व तोड़ा। 'चले रुधिर पनारे'—जैसे वर्षा के जल से पनाले वेग से बहते हैं, वैसे रुधिर बहुत और वेग से बहता है।

स्रवत रुधिर धायउ बलवाना। प्रभु पुनि कृत धनु सर संधाना ॥९॥
तीस तीर रघुबीर पबारे। भुजन्हि समेत सीस महि पारे ॥१०॥
काटतहीं पुनि भये नवीने। राम बहोरि भुजा सिर छीने ॥११॥
प्रभु बहु बार बाहु सिर हये। कटत झटिति पुनि नूतन भये ॥१२॥
पुनि पुनि प्रभु काटत भुज सीसा। अति कौतुकी कोसलाधीसा ॥१३॥
रहे छाइ नभ सिर अरु बाहू। मानहुँ अमित केतु अरु राहू ॥१४॥

शब्दार्थ—झटिति = झटपट, तत्काल। हए (हने) = काटे।

अर्थ—रुधिर बहते रहने पर भी बलवान् रावण दौड़ा, फिर प्रभु ने धनुष पर बाण का संधान किया ॥९॥ रघुबीर श्रीरामजी ने तीस बाण चला कर भुजाओं समेत शिरों को पृथिवी पर गिराया ॥१०॥ वे (भुजा और शिर) काटते ही फिर नये उत्पन्न हो गये, तब श्रीरामजी ने उन्हें फिर काट गिराया ॥११॥ प्रभु ने बहुत बार भुजाएँ और शिर काटे, वे कटते ही तत्काल फिर नये हो गये ॥१२॥ फिर-फिर प्रभु उसकी भुजाओं और शिरों को काट रहे हैं, (क्योंकि) कोशलाधीश श्रीरामजी अत्यन्त कौतुकी हैं ॥१३॥ आकाश में शिर और भुजाएँ छा गईं, मानों असंख्य केतु और राहु हैं ॥१४॥

विशेष—(१) 'स्रवत रुधिर धायेउ बलवाना।'—इतना घायल होने पर भी दौड़ना है, इसीसे

'बलवान' कहा गया है। 'पुनि कृत···'—पहले अभी १०० बाण चला चुके हैं, उनसे शिरों को घायल ही किया था, अब फिर ३० बाण छोड़ेंगे, क्योंकि १० शिरों और २० भुजाओं को भिन्न-भिन्न छेदना है।

(२) 'पुनि भये नवीने'—श्रीशिवजी के वरदान से ये नवीन होते हैं, यथा—"सादर सिव कहँ सीस चढ़ाये। एक एक के कोटिन्ह पाये॥" (दो॰ ९२)।

(३) 'पुनि पुनि प्रभु काटत भुज सीसा।'—रावण ने श्रीशिवजी के लिये स्वयं काट काट कर शिर चढ़ाया था, उन एक एक का अमित फल देना है, इसलिये बार बार काटते हैं। इस तरह उसके दान का प्रतिफल चुकाते हैं कि उसका पुण्य क्षीण हो जाय, तब मारें। अति कौतुकी···'—राजा लोग कौतुक देखते ही हैं, यहाँ शिरों के कौतुक करने के सम्बन्ध से 'कोसलाधीसा' कहा है।

छंद—जनु राहु केतु अनेक नभ-पथ स्रवत सोनित धावहीं।
रघुबीर तीर प्रचंड लागहिं भूमि गिरन न पावहीं।
एक एक सर सिर निकर छेदे नभ उड़त इमि सोहहीं।
जनु कोपि दिनकर-कर-निकर जहँ तहँ बिधुंतुद पोहहीं॥

दोहा—जिमि जिमि प्रभु हर तासु सिर, तिमि तिमि होहिं अपार।
सेवत बिषय बिबर्ध जिमि, नित नित नूतन मार॥९१॥

शब्दार्थ—बिधुंतुद = राहु। बिबर्ध = बढ़ता है। मार = काम, कामनाएँ।

अर्थ—मानों अनेक राहु और केतु रुधिर बहाते हुए आकाश मार्ग में दौड़ रहे हों। रघुवीर श्रीरामजी के तीक्ष्ण बाण उनमें लगते हैं, इससे वे पृथिवी पर गिरने नहीं पाते॥ एक एक बाण से छिदे हुए शिर-समूह आकाश में उड़ते इस प्रकार शोभित हो रहे हैं, मानों सूर्य कुपित होकर अपने किरण-समूह से जहाँ-तहाँ राहुओं को पिरो (गूँथ) रहे हैं॥ जैसे-जैसे प्रभु उसके शिरों को काटते हैं, वैसे-वैसे वे अपार होते (बढ़ते) जाते हैं। जैसे विषय के सेवन करने से काम (वासना) नित्य नया बढ़ता जाता है॥९१॥

विशेष—(१) 'जनु राहु केतु······'—यहाँ राहु और शिर, केतु और बाहु, सूर्य और श्रीरघुनाथजी, किरण और बाण परस्पर उपमान उपमेय हैं। एक एक बाण में कई-कई शिरों का छेदना पिरोना है। राहु शिर मात्र है, वैसे ही शिर हैं, भुजाएँ लंबी हैं, इससे वे केतु (धड़-रूप) की तरह कही गई, इनमें आकारों की समता है। स्वर्ण मढ़े हुए चमकीले बाण सूर्य किरणों के समान हैं।

पहले भुजाओं को काटते हैं, तब शिरों को, वैसे ही क्रम से 'भुजासिर' कहा है, किंतु आकाश के उड़ने में शिरों को प्रथम कहा गया, यथा—"रहे छाइ नभ सिर अरु बाहू।" ऊपर कहा है, क्योंकि शिर शरीर का उत्तमाग है, इससे उसे प्रधानता दी गई है।

श्रीअंगदजी ने कहा था—'तव सोनित की प्यास, तृपित राम सायक निकर।' उसीका यहाँ चरितार्थ प्रसंग है।

पहले बाहु और शिर की उपमा राहु और केतु से दी, उसमें उड़ने की उत्प्रेक्षा है। फिर 'रविकर निकर' की उपमा शिरों के पोहने पर दी कि माला की तरह पोये जाते हैं। सूर्य और राहु से वैर है, इससे सूर्य का कोप करके अनेकों राहुओं का पोहना कहकर अनेक सूर्य ग्रहणों का बदला चुकाना दिखाया गया।

(२) 'जिमि जिमि प्रभु हर तासु सुर···'—यहाँ कामी की जगह रावण है। शिर और मार, बाण और विषय, बाणों से शिरों का कटना और विषय सेवन—उपमेय उपमान हैं। जैसे कामी अपनेको अमर मानता है, वैसे ही आगे रावण को भी कहा गया—'बिसरा मरन'।

यहाँ केवल मस्तकों का ही काटना कहा गया है, क्योंकि पहले मस्तकों की दूनी बाहुओं को काटते थे, अब केवल मस्तक काटकर बाहुओं के बराबर करेंगे—कौतुक तो है ही। 'सेवत विषय विबर्ध···'; यथा—"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥" (भाग० ९। १९।१४) अर्थात् विषयों के उपभोग से 'काम (वासना)' कभी शान्त नहीं होता; बल्कि घृत से अग्नि की भाँति और अधिक ही बढ़ता जाता है।

दसमुख देखि सिरन्ह कै बाढ़ी। बिसरा मरन भई रिस गाढ़ी ॥१॥
गर्जेउ मूढ़ महा अभिमानी। धायउ दसहु सरासन तानी ॥२॥
समरभूमि दसकंधर कोप्यो। बरषि बान रघुपति रथ तोप्यो ॥३॥
दंड एक रथ देखि न परेऊ। जनु निहार महुँ दिनकर दुरेऊ ॥४॥

अर्थ—शिरों की बढ़ती देखकर दशमुख को अपना मरण भूल गया, प्रत्युत् भारी क्रोध हुआ ॥१॥ यह महा अभिमानी मूर्ख गरजा और दसों धनुषों को तानकर दौड़ा ॥२॥ रणभूमि में दशकंधर ने कोप किया और बाण बरसा कर श्रीरघुनाथजी का रथ ढँक दिया ॥३॥ एक दंड-भर रथ नहीं दिखाई पड़ा, मानों कुहरे में सूर्य छिप गये हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'बिसरा मरन···'—उसने इसे तो समझा ही नहीं कि मेरे पुण्य क्रमशः क्षीण हो रहे हैं, किंतु उल्टा ही समझा कि मेरे शिर सदा बढ़ते ही रहेंगे। अतः, मैं मर नहीं सकता, इससे उसका गर्व बहुत बढ़ गया और वह बड़े जोर से गरजा। 'बिसरा मरन' से यह भी स्पष्ट हुआ कि पहले उसे अपने मरने का भय था; यथा—"चलेउ निसाचर क्रुद्ध होइ, त्यागि जियन कै आस।" (दो० ८४); 'धायेउ दसौ सरासन तानी।'—पूर्व भी जब यह परम क्रोधित हुआ था, तब दसो धनुष तानकर इसी तरह दौड़ा था; यथा—"निज दल बिचलत देखेसि, बीस भुजा दस चाप। रथ चढ़ि चलेउ दसानन, फिरहु फिरहु करि दाप ॥ धायेउ परम क्रुद्ध दसकंधर।" (दो० ८०)।

(२) 'दंड एक रथ···'—जैसे सूर्योदय से कुहरा दंड भर ही रहता है और फिर नष्ट हो जाता है, तब सूर्य दिखलाई पड़ते हैं, वैसे रथ भी थोड़ी ही देर अदृश्य रहेगा।

हाहाकार सुरन्ह जब कीन्हा। तब प्रभु कोपि कारमुक लीन्हा ॥५॥
सर निवारि रिपु के सिर काटे। ते दिसिबिदिसि गगन महि पाटे ॥६॥

काटे सिर नभ-मारग धावहिं। जय जय धुनि करि भय उपजावहिं ॥७॥
कहँ लछिमन सुग्रीव कपीसा। कहँ रघुबीर कोसलाधीसा ॥८॥

अर्थ—जब देवताओं ने हाहाकार किया तब प्रभु ने कोप करके धनुष लिया ॥५॥ बाणों को हटाकर शत्रु के शिर काटे, उन शिरों से चारों दिशाएँ और चारों विदिशाएँ, आकाश एवं पृथिवी को पाट दिया; अर्थात् शत्रु के शिरों से सब जगह छा गई ॥६॥ कटे हुए शिर आकाश मार्ग में दौड़ते हैं और जय-जय की ध्वनि करके भय उत्पन्न करते हैं ॥७॥ श्रीलक्ष्मणजी कहाँ हैं? कपीश श्रीसुग्रीवजी कहाँ हैं? कोशलपति रघुवीर श्रीरामजी कहाँ हैं?

विशेष—(१) 'सर निवारि रिपु के ...'—पहले उसके बाणों को काट कर दिशाएँ साफ कर दीं, तब फिर उसके शिरों से सर्वत्र पाट दिया, जिनसे कोई दिशा और भूमि एवं आकाश कुछ नहीं दिखलाई पड़ते।

दिक्पालों को रावण ने बैठ कर दु:ख दिया था, उसके बदले में मानों श्रीरामजी बाण रूपी श्रुवा द्वारा उन्हें रावण के शिरों की बलि दे रहे हैं, यथा—"वितरसि दिक्षु रणे कमनीय, दशमुख मौलि बलिं रमणीय, केशवधृत राम शरीर जय जय देव हरे।" (गीतगोविंद)।

(२) 'कहँ लछिमन ...'—रावण श्रीलक्ष्मणजी का पुरुषार्थ देख चुका है, श्रीसुग्रीवजी वानर-राज हैं और बालि के भाई हैं। अत, इन्हें भी वीर समझता है और श्रीरामजी तो उसके प्रति-भट ही हैं, इससे इन्हीं के नाम लेता है। हृदय में जो कहने का उत्साह था, वह शिरों के कटने पर भी उच्चरित होता है, 'कहाँ' का भाव यह है कि पाऊँ तो मार ही डालूँ; यथा—"कहाँ राम रन हतउँ प्रचारी।" (दो० १०१); यह राजा है, इससे बड़े-बड़े से ही लड़ने का उत्साह रखता है। श्रीविभीषणजी को तो कुछ समझता ही नहीं; क्योंकि उनको तो इसने लात मारकर निकाल दिया है और ऋक्षराज जाम्बवान्‌जी को अति बूढ़ा मानकर कुछ भी नहीं गिनता।

छंद—कहँ राम कहि सिर निकर धाये देखि मर्कट भजि चले।
संधानि धनु रघुबंसमनि हँसि सरन्हि सिर बेधे भले।
सिर-मालिका कर-कालिका गहि बृंदबृंदन्हि बहु मिलीं।
करि रुधिर सरि मज्जन मनहुँ संग्राम बट पूजन चलीं॥

दोहा—पुनि दसकंठ क्रुद्ध होइ, छाँडी सक्ति प्रचंड।
चली बिभीषन सन्मुख, मनहुँ काल कर दंड ॥९२॥

अर्थ—'राम कहाँ हैं' यह कहते हुए शिरों के मुण्ड दौड़े, वानर उन्हें देखकर भाग चले। तब रघुकुलमणि श्रीरामजी ने हँसकर बाणों से, भली प्रकार शिरों को वेध दिया॥ कालिकाओं के बहुत-से

मुण्ड-के-मुण्ड हाथों में मुंडों की मालाएँ लिये हुए मिलकर चलती हुई ऐसी जान पड़ती हैं, मानों रक्त की नदी में स्नान करके संग्राम-रूपी वटवृक्ष को पूजने जा रही हों ॥ फिर दशानन ने क्रोधित होकर श्रीविभीषणजी पर प्रचंड शक्ति छोड़ी, वह श्रीविभीषणजी के सामने चली मानों यमराज का दंड हो (ऐसी भयंकर और अनिवार्य थी) ॥९२॥

विशेष—(१) 'कहँ राम कहि···'—कटे हुए शिर बोलते हुए दौड़े, तब वानर डरे कि कहीं हमें ही न निगल जायँ, इससे डरकर भग चले।

(२) 'संग्राम वट-पूजन'—ज्येष्ठ अमावस्या को स्त्रियाँ वटसावित्री की पूजा करती हैं। वट में बरोह-रूपी जड़ें बढ़ा करती हैं, इससे उसे 'अक्षय' मानकर पूजती हैं और तदनुसार अपने अहिवात की दिनो-दिन वृद्धि चाहती हैं। वैसे ही ये कालिकाएँ मानों संग्राम को पूजकर अक्षुण्ण रखना चाहती हैं। ये कालिका-रूपी योगिनियाँ हैं, जो मातृकाओं की सेना में करोड़ों की संख्या में रहा करती हैं। ये खप्परों में रोपकर रक्त पीती हैं।

(३) 'पुनि दसकंठ क्रुद्ध···'—'काल'=यमराज, दंड=यमराज का आयुध ; यथा—"काल दंड गहि काहु न मारा। हरै···" (दो॰ १५); श्रीरामजी से कुछ वश नहीं चला, तो इनकी बगल में श्रीविभीषण-जी को देखकर क्रोध किया कि हमारे सबके नाश से यह अपना हित चाहता है। भाई, पुत्र आदि के भेदों को बतलाकर उन्हें इसने ही मरवाया है। अतः, मेरे वंश नाश का हेतु भी यही होगा, इसीसे पहले इसीको मार डालूँ—यह विचारकर उसने अमोघ शक्ति छोड़ी। अन्य रामायणों में और-और प्रसंग में इस शक्ति का चलाना पाया जाता है, वह कल्पभेद से जानना चाहिये।

आवत देखि सक्ति अति घोरा। प्रनतारति भंजन पन मोरा ॥१॥
तुरत बिभीषन पाछे मेला। सन्मुख राम सहेउ सो सेला ॥२॥
लागि सक्ति मुरुछा कछु भई। प्रभु कृत खेल सुरन्ह बिकलई ॥३॥
देखि बिभीषन प्रभु श्रम पायो। गहि कर गदा क्रुद्ध होइ धायो ॥४॥

अर्थ—अत्यन्त भयानक शक्ति को आते देखकर—'हमारा प्रण है शरणागत के दुःख का हरण करना'—यह विचारकर तुरंत श्रीविभीषणजी को अपने पीछे कर दिया और स्वयं सामने आकर श्रीरामजी ने वह शक्ति सह ली ॥१-२॥ शक्ति के लगने से कुछ मूर्च्छा हुई ; प्रभु ने तो यह खेल किया, पर देवताओं को यह देखकर व्याकुलता हुई ॥३॥ श्रीविभीषणजी ने देखा कि प्रभु को श्रम (कष्ट) हुआ, तब वे हाथ में गदा लिये हुए क्रुद्ध होकर दौड़े। ४॥

विशेष—(१) 'प्रनतारति भंजन पन मोरा' ; यथा—"जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रान की नाई ॥" (सुं॰ दो॰ ४४) ; श्रीविभीषणजी प्रभु का प्रणत-आर्त्ति-हरण गुण कहकर शरण हुए थे ; यथा—"श्रवन सुजस सुनि आयउँ, प्रभु भंजन भव भीर। त्राहि त्राहि आरति हरन, सरन सुखद रघुबीर ॥" (सुं॰ दो॰ ४५) ; तदनुसार प्रभु की ओर से बर्त्ताव होना ही योग्य है। इससे उन्होंने श्रीविभीषणजी को अपने प्राणों से भी अधिक माना।

(२) 'पाछे मेला'- हाथ से उन्हें बलात् पीछे हटा दिया, क्योंकि यह इनके प्राण ले लेती। पहले 'सक्ति' और पीछे उसे ही 'सेला' कहकर दोनों नामों को पर्याय जनाया।

(३) 'प्रभु कृत खेल'—नर-नाट्य के अनुसार अमोघ शक्ति की मर्यादा रक्खी और इस खेल से भक्त पर स्नेह दिखाया। यह भी खेल है कि जिस विभीषणजी को रावण तुच्छ समझता था, आज हमारे आश्रित होने पर इसका भी बल देख ले - इसका अवसर कर दिया।

श्रीविभीषणजी अभी तक कहीं युद्ध में नहीं जाने पाये। प्रभु उनकी अपने प्राणों की नाईं रक्षा करते थे। इस समय अपने कारण उन्होंने प्रभु को श्रमित देखा, तो स्वयं दौड़ पड़े।

रे कुभाग्य सठ मंद कुबुद्धे। तैं सुर-नर-मुनि-नाग बिरुद्धे ॥५॥
सादर सिव कहुँ सीस चढ़ाये। एक एक के कोटिन्ह पाये ॥६॥
तेहि कारन खल अब लगि बाँच्यो। अब तव काल सीस पर नाच्यो ॥७॥
रामबिमुख सठ चहसि संपदा। अस कहि हनेसि माँझ उर गदा ॥८॥

अर्थ—अरे अभागा ! शठ ! नीच ! दुर्बुद्धे ! तूने सुर, नर, मुनि और नाग देव आदि सभी से विरोध किया ॥५॥ तूने आदर सहित श्रीशिवजी को शिर चढ़ाये (इससे) एक-एक के प्रति करोड़ों शिर पाये ॥६॥ उसी कारण, अरे खल ! अब तक तू बचता रहा, अब काल तेरे शिर पर नाच रहा है ॥७॥ अरे शठ ! तू श्रीरामजी से विमुख होकर संपत्ति चाहता है, ऐसा कहकर उसने रावण की बीच छाती में गदा मारी ॥८॥

विशेष—(१) 'रे कुभाग्य सठ···'—सुर नर आदि के विरोधी होने से कुबुद्धि, कुबुद्धि होने से मंद, मंद होने से शठ और शठ होने से अभागा है।

(२) 'अब तव काल सीस पर नाच्यो।'—भाव यह कि अब तेरे अमोघ अस्त्र समाप्त हो चुके, तपस्या के फल और वरदान की बातें निघट गईं। अतः, अब तू शीघ्र मारा जायगा।

(३) 'राम-बिमुख सठ चहसि संपदा।' राम-विमुख को सम्पत्ति नहीं प्राप्त होती ; यथा—"राम-बिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई ॥" (सुं॰ दो॰ १२) ; 'हनेसि माँझ उर गदा'—क्योंकि ये भेदिया हैं। इस बात को जानते हैं कि हृदय में ही चोट लगने से यह मूर्च्छित होगा। आगे 'नाभि-कुंड पियूष बस···' कहा इन्होंने भी है। त्रिजटा ने भी कहा है – "उर सर लागत मरिहि सुरारी।" (दो॰ ९९)।

छंद—उर माँझ गदा प्रहार घोर कठोर लागत महि पर्‌यो।
दस बदन सोनित स्रवत पुनि संभारि धायो रिस भर्‌यो।
दोउ भिरे अति बल मल्ल जुद्ध बिरुद्ध एक एकहि हनै।
रघुबीर बल दर्पित बिभीषन घालि नहिं ता कहँ गनै ॥

दोहा—उमा बिभीषन-रावनहिं, सनमुख चितव कि काउ।
सो अब भिरत काल ज्यों, श्रीरघुबीर प्रभाउ ॥९३॥

शब्दार्थ—घालि न गिनना = पसँगा बराबर भी न गिनना ; यथा, "बीर करि केसरी कुठार पानि मानी हार तेरी कहा चली, बिड ! तो सों गनै घालि को।" (क० लं० ११); मल्ल-युद्ध = कुश्ती, लड़ाई।

अर्थ—भयंकर कठोर गदा की चोट बीच छाती में लगते ही वह पृथिवी पर गिर पड़ा। उसके दसों मुखों से खून बहने लगा, फिर सँभलकर वह क्रोध में भरा हुआ दौड़ा॥ दोनों अत्यन्त बलवान् पहलवान् भिड़ गये, विरोध भाव से एक दूसरे को मारने लगे। श्रीरघुवीरजी के बल से विभीषण गर्वित हैं, उसको कुछ भी नहीं गिनते॥ हे उमा! श्रीविभीषणजी क्या कभी भी रावण के सामने उसे आँख से भी देख सकते थे? (कभी नहीं)। वे ही अब काल के समान रावण से भिड़ रहे हैं, यह श्रीरघुवीरजी का प्रभाव है॥९३॥

विशेष—(१) 'बिरुद्ध एक एकहि हनें'—भाव यह है कि मल्ल-युद्ध मित्र-भाव से भी होता है; परन्तु ये दोनों तो विरोध-भाव से लड़ रहे हैं, एक दूसरे को मार गिराने पर उद्यत हैं।

रावण ने श्रीअंगदजी से दो० २२ में जिन-जिनके नाम लेकर तुच्छ कहा है, उन सबने समय-समय पर इसे अपने-अपने बल दिखाये हैं ; यथा—'तुम्हरे कटक माँझ सुनु अंगद।' से 'सिल्प कर्म जानहिं नल नीला।' तक श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी, श्रीअंगदजी, श्रीसुग्रीवजी, श्रीविभीषणजी, श्रीजाम्बवान्जी, श्रीनलजी और श्रीनीलजी इन सब को उसने तुच्छ कहा है इनका बदला लेने के प्रसंग क्रमशः—श्रीरामजी ने तो उसका बध ही किया है, श्रीलक्ष्मणजी का दो० ८२, श्रीअंगदजी का दो० ६६, श्रीसुग्रीवजी का कुंभकर्ण के नाक-कान काटने में हो गया। श्रीविभीषणजी का यही प्रसंग है, श्रीजाम्बवान्जी का दो० ९७ और नल-नील का दो० ६६ देखिये।

(२) 'सन्मुख चितव कि काउ'—श्रीविभीषणजी रावण से सर्वदा डरा करते थे ; यथा—"नाइ सीस करि बिनय बहूता।" (सुं० दो० २३); "पुनि सिर नाइ बैठ निज आसन।" (सुं० दो० ३०); "तात चरन गहि माँगउँ।" (सुं० दो० ४०)। उसके लात मारने पर भी—"अनुज गहे पद बारहिं बारा।" (सुं० दो० ४०)। कहा गया है। इन्हीं बातों से रावण ने अंगदजी से कहा भी है—"अनुज हमार भीरु अति सोऊ।"

(३) 'काल ज्यों'—उसके प्राण लेने पर उद्यत होकर।

'श्रीरघुवीर प्रभाउ' ; यथा—"तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई।" (दो० ३३)।

देखा अमित बिभीषन भारी। धायउ हनूमान गिरि धारी॥१॥
रथ तुरंग सारथी निपाता। हृदय माँझ तेहि मारेसि लाता॥२॥
ठाढ़ रहा अति कंपित गाता। गयउ बिभीषन जहँ जन-त्राता॥३॥
पुनि रावन कपि हतेउ प्रचारी। चलेउ गगन कपि पूँछ पसारी॥४॥

अर्थ—श्रीविभीषणजी को बहुत थका हुआ देखकर पर्वत लिये हुए श्रीहनुमान्जी दौड़े॥१॥ (उसके) रथ, घोड़े और सारथी का नाश किया और उसके हृदय में लात मारी॥२॥ वह खड़ा तो रहा, पर उसका शरीर अत्यन्त काँपने लगा, तब श्रीविभीषणजी वहाँ गये, जहाँ जन-रक्षक प्रभु थे॥३॥ फिर रावण ने ललकार कर श्रीहनुमान्जी को मारा, वे पूँछ फैलाकर आकाश में चले गये ; अर्थात् उसके प्रहार से इनका कुछ नहीं बिगड़ा॥४॥

विशेष—(१) 'गिरि धारी'—ऐसा पहाड़ था कि उससे ही उसके रथ, सारथी और घोड़े सभी

नष्ट हो गये ; परन्तु रावण किसी युक्ति से बच गया, तब उसे इन्होंने लात मारी। हृदय उसका मर्म स्थल है, उसीमें इन्होंने भी मारा।

(२) 'गयउ बिभीषन जहँ'''—श्रीहनुमान्‌जी के पहुँचने से इन्हें अवकाश मिला, तब प्रभु के पास चले आये। 'जन त्राता'—का भाव यह कि अभी इन्होंने श्रीविभीषणजी को अमोघ शक्ति से बचाया है, फिर भी यदि रावण कुछ करे तो रक्षक हैं।

प्रभु के श्रम पाने से श्रीविभीषणजी दौड़े। श्रीविभीषणजी के भारी श्रमित होने पर श्रीहनुमान्‌जी दौड़े। श्रीहनुमान्‌जी पर संकट देखकर वानर-भालू क्रोधातुर होकर चले और फिर उनकी भी रक्षा श्रीरघुवीरजी ने की है, इससे यहाँ 'जन त्राता' के गुण का चरितार्थ भी है।

गहेसि पूँछ कपि सहित उड़ाना। पुनि फिरि भिरेउ प्रबल हनुमाना॥५॥
लरत अकास जुगल सम जोधा। एकहि एक हनत करि क्रोधा॥६॥
सोहहिं नभ छल बल बहु करहीं। कज्जल गिरि सुमेरु जनु लरहीं॥७॥
बुधि बल निसिचर परइ न पार्‌यो। तब मारुतसुत प्रभु संभार्‌यो॥८॥

अर्थ—रावण ने पूँछ पकड़ ली, कपि उसके समेत उड़ चले। फिर लौटकर प्रबल श्रीहनुमान्‌जी उससे भिड़े॥५॥ दोनों समान योद्धा आकाश में लड़ते हुए एक दूसरे को क्रोध करके मारने लगे॥६॥ दोनों बहुत छल-बल करते हुए आकाश में ऐसे शोभित होते हैं मानो कज्जल का पर्वत और सुमेरु लड़ रहे हों॥७॥ जब बुद्धि और बल से राक्षस गिराये न गिरा, तब श्रीहनुमान्‌जी ने प्रभु का स्मरण किया॥८॥

विशेष—(१) 'गहेसि पूँछ कपि'''—पूँछ पकड़ने पर उसको साथ लेकर श्रीहनुमान्‌जी उड़ चले, यह इनके पूँछ का बल है ऊपर इसलिये गये कि ऊपर ही से प्रहार करेंगे एवं आकाश-युद्ध करेंगे। 'पुनि फिरि भिरेउ'—का भाव यह है कि ऐसा कोई नहीं समझे कि उससे डरकर उड़े जाते हैं।

(२) 'जुगल सम जोधा'—क्योंकि दोनों आकार, बुद्धि और बल में समान हैं—दोनों पर्वताकार हैं ; यथा—"कज्जल गिरि सुमेरु जनु"। बल में समान हैं ; यथा—"महि परत पुनि उठि लरत" बुद्धि में भी समान हैं ; यथा—"बुधि बल निसिचर परइ न पार्‌यो।" वह भी इनसे नहीं जीत पाता, नहीं तो घायल करके चल देता।

मेघनाद से भी श्रीहनुमानजी का पहले समान युद्ध हुआ था, पर तीसरी बार की लड़ाई में श्रीहनुमान्‌जी के बार-बार ललकारने पर भी वह डर से सामने नहीं आया था; यथा—"बार बार प्रचार हनुमाना। निकट न आव मरम सो जाना॥" (दो॰ ४१) और रावण यहाँ ललकार-ललकार कर लड़ रहा है, यह उससे इसमें अधिकता है।

(३) 'सोहहिं नभ छल-बल बहु करहीं'—यहाँ 'छल' से बुद्धि-बल का अर्थ है और 'बल' से देह के बल का अर्थ है। आगे स्पष्ट है, यथा—"बुधि बल निसिचर परइ न पार्‌यो।" इसमें 'छल' की जगह 'बुधि' कहा है। बुद्धि के बल (युक्ति) से संग्राम की शोभा है, इससे 'सोहहिं' कहा है, इसपर "छल बल करहिं" (दो॰ ७९) ; तथा—"निसिचर छल बल करइ अनीती।" (दो॰ ५२) भी देखिये।

(४) "तब मारुत सुत प्रभु संभार्‌यो।"—यहाँ रावण का बल अधिक हुआ, तब श्रीहनुमान्‌जी ने

प्रभु का स्मरण किया, क्योंकि—"कपि जयसील राम-बल ताते।" (दो० ७१), "राम-प्रताप प्रबल कपि जूथा।" (दो० ७०) श्रीजाम्बवान्‌जी ने कहा ही था—"तब निज भुज-बल राजिव नयना। कौतुक लागि संग कपि सयना॥" (कि० दो० ३१) यह वचन यहाँ एवं सर्वत्र चरितार्थ है। कहा भी है—"तुलसी राम सुदीठि ते, निबल होत बलवान। बैर बालि सुग्रीव के, कहा कियो हनुमान॥" (दोहावली ११०)।

छंद—संभारि श्रीरघुबीर धीर पचारि कपि रावन हन्यो।
महि परत पुनि उठि लरत देवन्ह जुगल कहँ जय जय भन्यो।
हनुमंत संकट देखि मर्कट भालु क्रोधातुर चले।
रन मत्त रावन सकल सुभट प्रचंड भुज बल दलमले॥

दोहा—तब रघुबीर पचारे, धाये कीस प्रचंड।
कपि बल प्रबल देखि तेहि, कीन्ह प्रगट पाखंड॥९४॥

अर्थ—विजयश्री-युक्त धीर रघुवीर श्रीरामजी का स्मरण करके श्रीहनुमान्‌जी ने ललकार कर रावण को मारा। पृथिवी में गिरते और फिर उठकर लड़ते हैं, यह देखकर देवताओं ने दोनों की जय-जय कह-कर प्रशंसा की॥ श्रीहनुमान्‌जी का क्लेश देखकर रीछ और वानर क्रोधावेश से शीघ्र चले। (परन्तु) रण-मद मत्त रावण ने इन सब योद्धाओं को अपने प्रचंड भुजबल से मसल डाला॥ तब रघुवीर श्रीरामजी के ललकारने पर बड़े बलवान् (अंगद, नील आदि) वानर दौड़े, वानरों की प्रबल सेना देखकर उसने माया प्रकट की॥९४॥

विशेष—(१) 'देवन्ह जुगल कहँ जय जय भन्यो'—यद्यपि रावण शत्रु है, तथापि यहाँ उसके वीर्य-गुण की प्रशंसा देवताओं ने भी की, क्योंकि ये सत्यवादी होते हैं। दोनों की वीरता पर प्रसन्न होकर दोनों के गुणों की प्रशंसा की।

(२) 'रन मत्त रावन सकल सुभट '—श्रीहनुमान्‌जी का हटना नहीं कहा गया, इससे जाना जाता है कि रावण उनसे भी सावधान था और इन योद्धा वानर-भालुओं से भी लड़ता था, क्योंकि वह रण-रस में मत्त था।

(३) 'धाये कीस प्रचंड'—पहले वानर भालुओं का क्रोधातुर होकर 'चले' ही कहा गया, क्योंकि उन्हें रावण पर उतना अधिक साहस नहीं था, वे श्रीहनुमान्‌जी की सहायता भी नहीं कर सके, किंतु स्वयं मर्दे गये। तब श्रीरामजी ने प्रचंड वानरों को ललकारा, ये 'धाये', अत, ये उन वानरों से बहुत प्रबल हैं। इसीसे उत्साह-पूर्वक दौड़े।

(४) 'कपि बल प्रबल देखि '—वह हृदय से डर गया कि अभी तक एक श्रीहनुमान्‌जी से मैं पार नहीं पाता था, अब तो उनके समान अंगद आदि भी आ गये, तब इन सबसे मैं अकेले कैसे लड़ूँगा? इससे माया की, यथा—"मैं अकेल कपि भालु बहु, माया करउँ अपार।" (दो० ४०), यहाँ 'पाखंड'

कहा गया है और आगे इसे ही माया कहेंगे, यथा—"प्रभु छन महँ माया सब काटी।" (दो० ९५); अत., पाषंड का अर्थ माया है।

अंतर्धान भयउ छन एका। पुनि प्रगटे खल रूप अनेका ॥१॥
रघुपति कटक भालु कपि जेते। जहँ तहँ प्रगट दसानन तेते ॥२॥
देखे कपिन्ह अमित दससीसा। जहँ तहँ भजे भालु अरु कीसा। ३॥
भागे बानर धरहिं न धीरा। त्राहि त्राहि लछिमन रघुबीरा ॥४॥

अर्थ—क्षण-भर के लिये वह अदृश्य हो गया, फिर उस दुष्ट ने अनेक रूप प्रकट किये ॥१॥ श्रीरघुनाथजी की सेना मे जहाँ जितने भालू-वानर थे, वहाँ उतने ही रावण प्रकट हो गये (प्रत्येक योद्धा के प्रति एक-एक रावण हो गया) ॥२॥ वानरों ने असंख्य रावण देखे, सब रीछ और वानर जहाँ-तहाँ भागे ॥३॥ भागे हुए वानर धैर्य नहीं धरते, हे श्रीलक्ष्मणजी! रक्षा कीजिये, हे रघुवीर श्रीरामजी! रक्षा कीजिये (ऐसा पुकारते जाते हैं) ॥४॥

विशेष—(१) 'अंतर्धान भयउ···'—यह माया अंतर्धान होकर ही की जा सकती थी, अथवा, इसलिये अंतर्धान हुआ कि जिससे अमित-रूप होने पर असली रूप को कोई समझ न पावे, सभी रूपों से लोग डरें।

वाल्मी० ७।१०।२४–२५ मे लिखा है कि इसे ब्रह्मा ने वरदान दिया है कि जब जितने और जिस तरह के रूप चाहेगा, धर सकेगा। पूर्व भी लिखा गया है।

(२) 'देखे' और 'भागे' शब्द से सभी सामान्य वानरों का अधीर होना और भागना कहा गया। यहाँ लक्ष्मण रघुवीर का ही पुकारना कहा गया है, क्योंकि अभी वानरों ने श्रीहनुमान्‌जी का भी संकट देखा था, इससे वे समझते हैं कि और कोई इससे रक्षा नहीं कर सकेगा।

दहँ दिसि धावहिं कोटिन्ह रावन। गर्जहिं घोर कठोर भयावन ॥५॥
डरे सकल सुर चले पराई। जय कै आस तजहु अब भाई ॥६॥
सब सुर जिते एक दसकंधर। अब बहु भये तकहु गिरिकंदर ॥७॥
रहे बिरंचि संभु मुनि ग्यानी। जिन्ह जिन्ह प्रभु महिमा कछु जानी ॥८॥

अर्थ—दसो दिशाओं मे करोड़ों रावण दौड़ते हैं और घोर, कठोर और भयंकर गर्जन करते हैं ॥५॥ सब देवता डरकर (और यह कहते हुए) भाग चले कि हे भाइयो! अब जीत की आशा छोड़ो ॥६॥ एक ही रावण ने तो सब देवताओं को जीत लिया था और अब तो बहुत से हो गये। अत, अब पर्वत-कंदराओं को चलना चाहिये ॥७॥ ब्रह्मा, शिव और ज्ञानी मुनि लोग, जिन जिन ने प्रभु की कुछ भी महिमा जानी है, वे ही वहाँ रह गये ॥८॥

विशेष—(१) 'दहँ दिसि'—इसमे नीचे की दिशा भी कही गई, अर्थात् रथ आदि के नीचे एवं विवर आदि मे भी रावण दौड़ता हुआ दिखलाई पड़ता है।

(२) 'डरे सकल सुर'—औरों की अपेक्षा देवता अधिक सचेत होते हैं, जब वे ही डर गये, तो औरों की क्या बात ?

(३) 'तकहु गिरिकंदर'—जब एक ही रावण था, तब भी बचने का यही एक उपाय था, यथा—"रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तकेउ मेरु गिरि खोहा॥" (दो० १८१)। वही उपाय अब भी करना चाहते हैं।

(४) 'रहे बिरंचि संभु मुनि ग्यानी।...'—पहले समष्टि में सबका भागना कहा गया, तब समझा गया कि ब्रह्मा-शिव आदि भी भाग गये होंगे, क्योंकि ये लोग भी रण देखने के समय और-और देवताओं के साथ थे; यथा—"सुर ब्रह्मादि सिद्ध मुनि नाना। देखत रन नभ चढ़े बिमाना॥ हमहूँ उमा रहे तेहि संगा। देखत राम-चरित रन-रंगा॥" (दो० ७१), इससे समुदाय का भागना कहकर तब इन्हें उनसे पृथक् करते हैं।

(५) 'प्रभु महिमा' अर्थात् सामर्थ्य का महत्त्व, जो महिमा जयंत-प्रसंग एवं खर आदि के वध से देखने और जानने में आई थी। पुनः ऐश्वर्य की महिमा भी ; यथा—"तुम्हरेहि भजन प्रभाव अघारी। जानउँ महिमा कछुक तुम्हारी॥" (आ० दो० १२)—अगस्त्यजी, तथा—"बिधि हरि हर दिसिपति दिनराऊ। जे जानहिं रघुबीर-प्रभाऊ॥" (बा० दो० १२०); "प्रभु सक त्रिभुवन मारि जियाई।" (दो० ११२) इत्यादि। ब्रह्मा, शिव एवं अगस्त्य आदि महर्षि ही कुछ महिमा जानते हैं। श्रीशिवजी के साथ में 'मुनि ग्यानी' कहकर श्रीशिवजी के तुल्य ज्ञानी मुनि को ही सूचित किया गया है, जैसे अगस्त्यजी हैं कि जहाँ श्रीशिवजी भी सत्संग को जाते हैं।

छंद—जाना प्रताप ते रहे निर्भय कपिन्ह रिपु माने फुरे।
चले बिचलि मर्कट भालु सकल कृपाल पाहि भयातुरे।
हनुमंत अंगद नील नल अति बल लरत रनबाँकुरे।
मर्दहिं दसानन कोटि कोटिन्ह कपट भूभट अंकुरे॥

दोहा—सुर बानर देखे बिकल, हँस्यो कोसलाधीस।
सजि सारंग एक सर, हते सकल दससीस॥९५॥

अर्थ—जो प्रभु का प्रताप जानते हैं, वे निर्भय वहीं पर बने रहे। वानरों ने तो शत्रु (के मायिक रूपों) को सचा ही माना। सब वानर-भालू विचलित होकर चल दिये और भय से व्याकुल होकर सभी पुकारते हैं कि हे कृपालु ! रक्षा कीजिये॥ अत्यन्त बली रणबाँकुरे श्रीहनुमान्जी, अंगदजी, नीलजी और नलजी कपट-रूपी भूमि से अंकुर के समान उपजे हुए करोड़ों-करोड़ों भट रावणों से लड़ते और उनका मर्दन करते हैं॥ वानरों और देवताओं को व्याकुल देख कोशलपति श्रीरामजी हँसे और शार्ङ्ग धनुष पर एक बाण सजकर उन्होंने सब माया के रावणों को मार डाला॥९५॥

विशेष—(१) यहाँ पहले सब वानरों का विचलित होकर भागना कहा गया था; फिर

सँभाल की गई कि श्रीहनुमान्, अंगद, नील, नल आदि नहीं भगे, किंतु लड़ते ही रहे, क्योंकि ये प्रभु-प्रताप जानते हैं। 'कपट भू भट अंकुरे' का भाव यह है कि जैसे भूमि में बीज पड़ने से शीघ्र अंकुर जमता है और वह बहुत कोमल होता है वैसे ही रावण की माया-रूपी भूमि से अगणित रावण उत्पन्न हुए, पर उनमें बल कुछ भी नहीं है, इसी से हनुमानादि वानर गण कोटि-कोटि को मर्दित करते हैं, क्योंकि माया के रावण केवल देखने में भयानक थे।

(२) 'हँस्यो कोसलाधीस'—कौतुक पर हँसे, इसीसे राजा-वाचक शब्द 'कोसलाधीस' कहा गया, राजा लोग कौतुक देखते ही हैं। पुनः इससे भी हँसे कि साक्षात् सुर और उनके अंशभूत वानरों ने भी माया के कर्त्तव्य को सत्य ही जाना और डर से वे व्याकुल हो गये क्योंकि देवता भी सर्वांश में सर्वज्ञ नहीं होते।

प्रभु छन महँ माया सब काटी। जिमि रवि उयें जाहिं तम फाटी ॥१॥
रावन एक देखि सुर हरषे। फिरे सुमन बहु प्रभु पर बरषे ॥२॥
भुज उठाइ रघुपति कपि फेरे। फिरे एक एकन्ह तब टेरे ॥३॥
प्रभुबल पाइ भालु कपि धाये। तरल तमकि संजुग महि आये ॥४॥

अर्थ—प्रभु ने क्षण-भर में सब माया काट दी, जैसे सूर्य के उदय से अंधकार नष्ट हो जाता है ॥१॥ एक ही रावण रह गया यह देखकर देवता प्रसन्न हुए और लौटकर प्रभु पर बहुत फूल बरसाये ॥२॥ भुजा उठाकर श्रीरघुनाथजी ने वानरों को लौटाया, तब वे (सब) एक दूसरे को पुकारते हुए लौटे ॥३॥ प्रभु का बल पाकर भालू और वानर दौड़े एवं शीघ्रता से क्रोध करके रणभूमि में आये ॥४॥

विशेष—(१) 'जिमि रवि उये जाहिं तम फाटी।'—भाव यह कि विना प्रयास एक ही बाण से सब माया निवृत्त हो गई। यहाँ राम-बाण रवि, बाण का चलना रविउदय, माया के रावण तम-वरूथ और माया का कटना तम का फटना है; यथा—"राम बान रवि उये जानकी। तम बरूथ कहँ जातुधान की ॥" (सुं० दो० १५) देवता लोग आकाश में थे, इसी से पहले उन्होंने ही माया-रावणों का नाश देखा। अतः, पहले ही लौटे और वानरगण भूमि में हैं, इससे पुकारने से लौटे।

(२) 'भुज उठाइ'—प्रभु ने भुजा उठाकर सबको लौटने का संकेत किया, तब निकट के वानरों ने देखकर समझा कि माया निवृत्त हो गई प्रभु बुला रहे हैं, तब प्रत्येक ने अपनेसे पीछे वालों को पुकारा, फिर उन्होंने भी अपने पीछे वालों को उसी तरह पुकारा। इस तरह सभी जान गये और लौट आये।

भुजा उठाना धैर्य देने के लिये भी है कि मैं उसे भुजबल से मारूँगा, इत्यादि।

अस्तुति करत देवतन्हि देखे। भयउँ एक मैं इन्हके लेखे ॥५॥
सठहु सदा तुम्ह मोर मरायल। अस कहि कोपि गगन पर धायल ॥६॥
हाहाकार करत सुर भागे। खलहु जाहु कहँ मोरे आगे ॥७॥
देखि बिकल सुर अंगद धायो। कूदि चरन गहि भूमि गिरायो ॥८॥

शब्दार्थ—मरायल = लतमरुआ, पिटे हुए। घायल = घाव।

अर्थ—देवताओं को स्तुति करते देख (मन में चिढ़ा कि) इनकी समझ में मैं एक ही गया (भाव यह कि इनके लिये तो मैं अकेला ही बहुत हूँ, पर फिर भी ये निर्भय होकर शत्रु की स्तुति करते हैं, इसपर इनसे बोला)॥५॥ अरे शठो! तुम सदा ही मुझसे पिटते आये हो, ऐसा कहकर कोप करके वह आकाश की ओर दौड़ा॥६॥ हाहाकार करते हुए देवता लोग भागे, (वह बोला) अरे शठो! तुम मेरे सामने से कहाँ जा सकोगे?॥७॥ देवताओं को व्याकुल देखकर श्रीअंगदजी दौड़े और उछलकर उसका पैर पकड़ उसे पृथिवी पर गिरा दिया॥८॥

विशेष—(१) 'अस्तुति करत...'—देवताओं ने फूल बरसाने के साथ-साथ स्तुति भी की थी; यथा—"जय जय जय करुनानिधि, छबि बल गुन आगार।" (दो० ८५)। रावण अपने सामने इनके द्वारा शत्रु की स्तुति न सह सका, इसी से उसे क्रोध हुआ। तब उनपर दौड़ा कि इन्हें मैं इनके सहायकों के सामने ही मार कर साध मिटा लूँ। मैं तो मरूँगा ही, क्योंकि हमारे नाश के उपाय रचनेवाले ये ही हैं।

(२) 'अंगद धायो'—देवताओं के राजा इन्द्र हैं, उन्हें देवताओं की रक्षा करनी चाहिये। श्रीअंगदजी इन्द्र के पौत्र ही हैं। अतः, इन्हें दौड़कर रक्षा करनी ही चाहिये। श्रीअंगदजी ने रावण से प्रतिज्ञा भी की थी; यथा—"हतउँ न खेत खेलाइ खेलाई। तोहि अबहि का करउँ बड़ाई॥" (दो० ३३); उसकी पूर्त्ति का अवसर पाते ही वे दौड़ पड़े।

छंद—गहि भूमि पारयो लात मारयो बालिसुत प्रभु पहिं गयो।
संभारि उठि दसकंठ घोर कठोर रव गर्जत भयो।
करि दाप चाप चढ़ाइ दस संधानि सर बहु बरषई।
किये सकल भट घायल भयाकुल देखि निज बल हरषई॥

दोहा—तब रघुपति रावन के, सीस भुजा सर चाप।
काटे बहुत बढ़े पुनि, जिमि तीरथ कर पाप॥९६॥

अर्थ—पकड़कर पृथिवी पर गिरा दिया, लात मारी, फिर अंगदजी प्रभु के पास गये। रावण सँभल कर उठ भयंकर कठोर शब्द से गरजने लगा॥ क्रोध करके दसों धनुष चढ़ाकर उनपर बाण संधान कर बहुत बाण बरसाने लगा। सब योद्धाओं को घायल और डर से व्याकुल कर दिया और अपना बल देखकर प्रसन्न हुआ॥ तब श्रीरघुनाथजी ने रावण के शिर, बाहु, बाण और धनुष काटे। वे (शिर और बाहु) फिर बहुत बढ़े जैसे तीर्थों में किये हुए पाप बढ़ते हैं॥९६॥

विशेष—'बढ़े पुनि'—पहले बढ़े थे, वैसे फिर भी बढ़े।

'जिमि तीरथ कर पाप'—तीर्थ में किया हुआ पाप बढ़ता ही जाता है, वह प्रायश्चित्त से भी शीघ्र

नहीं मिटता; यथा—"अन्यत्र हि कृतं पापं तीर्थमासाद्य गच्छति। तीर्थे तु यत्कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति॥" (वाराह पुराण मथुरा माहात्म्य), क्योंकि तीर्थ पापों के प्रायश्चित्त रूप हैं, प्रायश्चित्त का तात्पर्य यह है कि—"अज्ञानाद्यदिवा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विगर्हितम्। तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीयं न समाचरेत्॥" अर्थात् जान-अजान में किसी भी प्रकार के निंदित कर्म करके जो उससे छूटने की इच्छा करे, वह फिर दूसरी बार वह कर्म न करे।

तीर्थ की शक्ति के भरोसे पाप में रत प्राणी तीर्थ को पाप का साधन बनाता है। यह तीर्थ के अपराध का महा पाप बढ़ाता है। क्योंकि तीर्थ का स्वभाव पाप-नाशक है, उसमें रहकर उसके प्रतिकूल आचरण करता है। अतः, तीर्थ के कोप से उसका वह पाप वज्रलेप हो जाता है।

किसी-किसी का यह भी भाव है कि तीर्थ जैसे दानादि के फल एक-एक के प्रति सहस्रों गुणा देते हैं, वैसे ही पापों को भी कोटि-कोटि गुणा बढ़ाकर उनका फल देते हैं। तीर्थ का कल्पवृक्ष के समान स्वभाव होता है।

तीर्थ में प्रायः विद्वान् सन्त इत्यादि का सत्संग सुलभ रहता है, फिर भी जो पाप करते हैं, वे धृष्टता से जान-बूझकर तीर्थ का अपराध करते हैं, इससे उनके पाप वज्रलेप हो जाते हैं। वज्रलेप का भाव यह कि शीघ्र नहीं मिटते, करोड़ों बार उचित प्रायश्चित्त करने से कहीं नाश होते हैं, जैसे रावण के शिर करोड़ों बार काटने पर तब समूल नाश हुए।

सिर भुज बाढ़ि देखि रिपु केरी। भालु-कपिन्ह रिस भई घनेरी॥१॥
मरत न मूढ़ कटेहु भुज सीसा। धाये कोपि भालु भट कीसा॥२॥
बालितनय मारुति नल-नीला। बानरराज दुबिद बलसीला॥३॥
बिटप महीधर करहिं प्रहारा। सोइ गिरि तरु गहि कपिन्ह सो मारा॥४॥
एक नखन्हि रिपु-बपुष बिदारी। भागि चलहिं एक लातन्ह मारी॥५॥
तब नल नील सिरन्ह चढ़ि गयऊ। नखन्हि लिलार बिदारत भयऊ॥६॥

अर्थ—शत्रु के शिरों और भुजाओं की बढ़ती देखकर रीछों और वानरों को बहुत क्रोध हुआ॥१॥ अरे! यह मूर्ख शिरों और भुजाओं के कट जाने पर भी नहीं मरता। (ऐसा कहते हुए) भालू और वानर योद्धा क्रोध करके दौड़े॥२॥ अंगदजी, हनुमान्जी, नलजी, नीलजी, वानरराज सुग्रीवजी और द्विविदजी, ये सब महाबलवान् वृक्षों और पर्वतों के प्रहार करते थे, उन्हीं वृक्षों और पर्वतों को पकड़कर वह वानरों को मारता था॥३-४॥ कोई तो शत्रु के शरीर को नखों से फाड़कर भाग चलते हैं और कोई लातों से मारकर भाग जाते हैं॥५॥ तब नल और नील उसके शिरों पर चढ़ गये और नखों से उसके ललाट को विदीर्ण करने लगे॥६॥

विशेष—(१) 'रिसि भई घनेरी'—प्रबलता पर भय नहीं हुआ, किंतु क्रोध एवं उत्साह हुआ, इससे ये लोग उसके मारने के और उपाय करते हैं।

(२) 'तब नल नील···'—नल-नील के विषय में रावण ने कहा था—"सिलिप कर्म जानहिं नल नीला।" (दो० १२) उसीका उत्तर वे अवसर पाकर दे रहे हैं, अपना बल दिखा रहे हैं। यह भी भाव

शब्दार्थ—मरायल = लतमरदया, पिटे हुए। घायल = घावा।

अर्थ—देवताओं को स्तुति करते देख (मन में विचारा कि) इनको समझ में मैं एक हो गया (भाव यह कि इनके लिये तो मैं अकेला ही बहुत हूँ, पर फिर भी ये निर्भय होकर शत्रु की स्तुति करते हैं, इसपर इनसे बोला) ॥५॥ अरे शठो! तुम सदा ही मुझसे पिटते आये हो, ऐसा कहकर कोप करके वह आकाश की ओर दौड़ा ॥६॥ हाहाकार करते हुए देवता लोग भागे, (वह बोला) अरे शठो! तुम मेरे सामने से कहाँ जा सकोगे? ॥७॥ देवताओं को व्याकुल देखकर श्रीअंगदजी दौड़े और उछलकर उसका पैर पकड़ उसे पृथिवी पर गिरा दिया ॥८॥

विशेष—(१) 'अस्तुति करत'—देवताओं ने फूल बरसाने के साथ-साथ स्तुति भी की थी; यथा—"जय जय जय करुनानिधि, छवि बल गुन आगार।" (दो॰ ८५)। रावण अपने सामने इनके द्वारा शत्रु की स्तुति न सह सका, इसी से उसे क्रोध हुआ। तब उनपर दौड़ा कि इन्हें मैं इनके सहायकों के सामने ही मार कर साध मिटा लूँ। मैं तो मरूँगा ही, क्योंकि हमारे नाश के उपाय रचनेवाले ये ही हैं।

(२) 'अंगद धायो'—देवताओं के राजा इन्द्र हैं, उन्हें देवताओं की रक्षा करनी चाहिये। श्रीअंगदजी इन्द्र के पौत्र ही हैं। अतः इन्हें दौड़कर रक्षा करनी ही चाहिये। श्रीअंगदजी ने रावण से प्रतिज्ञा भी की थी, यथा—"हतउँ न खेत खेलाइ खेलाई। तोहिं अबहिं का करउँ बड़ाई॥" (दो॰ ३३), उसकी पूर्ति का अवसर पाते ही वे दौड़ पड़े।

छंद—गहि भूमि पार्‌यो लात मार्‌यो बालिसुत प्रभु पहिं गयो।
संभारि उठि दसकंठ घोर कठोर रव गर्जत भयो।
करि दाप चाप चढ़ाइ दस संधानि सर बहु बरषई।
किये सकल भट घायल भयाकुल देखि निज बल हरषई॥

दोहा—तब रघुपति रावन के, सीस भुजा सर चाप।
काटे बहुत बढ़े पुनि, जिमि तीरथ कर पाप॥९६॥

अर्थ—पकड़कर पृथिवी पर गिरा दिया, लात मारी, फिर अंगदजी प्रभु के पास गये। रावण सँभल कर उठ भयंकर कठोर शब्द से गरजने लगा॥ क्रोध करके दसों धनुष चढ़ाकर उनपर बाण संधान कर बहुत बाण बरसाने लगा। सब योद्धाओं को घायल और डर से व्याकुल कर दिया और अपना बल देखकर प्रसन्न हुआ॥ तब श्रीरघुनाथजी ने रावण के शिर, बाहु, बाण और धनुष काटे। वे (शिर और बाहु) फिर बहुत बढ़े जैसे तीर्थों में किये हुए पाप बढ़ते हैं॥९६॥

विशेष—'बढ़े पुनि'—पहले बढ़े थे, वैसे फिर भी बढ़े।

'जिमि तीरथ कर पाप'—तीर्थ में किया हुआ पाप बढ़ता ही जाता है, वह प्रायश्चित्त से भी शीघ्र

नहीं मिटता; यथा—"अन्यत्र हि कृतं पापं तीर्थमासाद्य गच्छति। तीर्थे तु यत्कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति॥" (वाराह पुराण मथुरा माहात्म्य), क्योंकि तीर्थ पापों के प्रायश्चित्त रूप हैं, प्रायश्चित्त का तात्पर्य यह है कि—"अज्ञानाद्यदिवा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विगर्हितम्। तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीयं न समाचरेत्॥" अर्थात् जान-अजान में किसी भी प्रकार के निंदित कर्म करके जो उससे छूटने की इच्छा करे, वह फिर दूसरी बार वह कर्म न करे।

तीर्थ की शक्ति के भरोसे पाप में रत प्राणी तीर्थ को पाप का साधन बनाता है। वह तीर्थ के अपराध का महा पाप बढ़ाता है। क्योंकि तीर्थ का स्वभाव पाप-नाशक है, उसमें रहकर उसके प्रतिकूल आचरण करता है। अतः, तीर्थ के कोप से उसका वह पाप वज्रलेप हो जाता है।

किसी-किसी का यह भी भाव है कि तीर्थ जैसे दानादि के फल एक-एक के प्रति सहस्रों गुणा देते हैं, वैसे ही पापों को भी कोटि-कोटि गुणा बढ़ाकर उनका फल देते हैं। तीर्थ का कल्पवृक्ष के समान स्वभाव होता है।

तीर्थ में प्रायः विद्वान् सन्त इत्यादि का सत्संग सुलभ रहता है, फिर भी जो पाप करते हैं, वे धृष्टता से जान-बूझकर तीर्थ का अपराध करते हैं, इससे उनके पाप वज्रलेप हो जाते हैं। वज्रलेप का भाव यह कि शीघ्र नहीं मिटते, करोड़ों बार उचित प्रायश्चित्त करने से कहीं नाश होते हैं, जैसे रावण के शिर करोड़ों बार काटने पर तब समूल नाश हुए।

सिर भुज बाढ़ि देखि रिपु केरी। भालु-कपिन्ह रिस भई घनेरी॥१॥
मरत न मूढ़ कटेहु भुज सीसा। धाये कोपि भालु भट कीसा॥२॥
बालितनय मारुति नल-नीला। बानरराज दुबिद बलसीला॥३॥
बिटप महीधर करहिं प्रहारा। सोइ गिरि तरु गहि कपिन्ह सो मारा॥४॥
एक नखन्हि रिपु-बपुष बिदारी। भागि चलहिं एक लातन्ह मारी॥५॥
तब नल नील सिरन्ह चढ़ि गयऊ। नखन्हि लिलार बिदारत भयऊ॥६॥

अर्थ—शत्रु के शिरों और भुजाओं की बढ़ती देखकर रीछों और वानरों को बहुत क्रोध हुआ॥१॥ अरे! यह मूर्ख शिरों और भुजाओं के कट जाने पर भी नहीं मरता। (ऐसा कहते हुए) भालू और वानर योद्धा क्रोध करके दौड़े॥२॥ अंगदजी, हनुमान्‌जी, नलजी, नीलजी, वानरराज सुग्रीवजी और द्विविदजी, ये सब महाबलवान् वृक्षों और पर्वतों के प्रहार करते थे, उन्हीं वृक्षों और पर्वतों को पकड़कर वह वानरों को मारता था॥३-४॥ कोई तो शत्रु के शरीर को नखों से फाड़कर भाग चलते हैं और कोई लातों से मारकर भाग जाते हैं॥५॥ तब नल और नील उसके शिरों पर चढ़ गये और नखों से उसके ललाट को विदीर्ण करने लगे॥६॥

विशेष—(१) 'रिसि भई घनेरी'—प्रबलता पर भय नहीं हुआ, किंतु क्रोध एवं उत्साह हुआ, इससे ये लोग उसके मारने के और उपाय करते हैं।

(२) 'तब नल नील…'—नल-नील के विषय में रावण ने कहा था—"सिल्पि कर्म जानहिं नल नीला।" (दो॰ १२) उसीका उत्तर वे अवसर पाकर दे रहे हैं, अपना बल दिखा रहे हैं। यह भी भाव

कहा जाता है कि ये अग्नि एवं विश्वकर्मा के पुत्र हैं। श्रीअंगदजी से उसने कहा था कि मेरी मृत्यु ब्रह्मा ने नर के हाथों लिखी है। यही ये देखते हैं कि यह कब और कैसे मरेगा ? इसलिये लिलार फाड़कर देख रहे हैं।

रुधिर देखि बिषाद उर भारी। तिन्हहि धरन कहँ भुजा-पसारी ॥७॥
गहे न जाहिं करन्हि पर फिरहीं। जनु जुग मधुप कमल बन चरहीं ॥८॥
कोपि कूदि दोउ धरेसि बहोरी। महि पटकत भजे भुजा मरोरी ॥९॥
पुनि सकोप दस धनु कर लीन्हे। सरन्हि मारि घायल कपि कीन्हे ॥१०॥

अर्थ—रक्त देखकर उसके हृदय में बहुत विषाद हुआ, तब उनके पकड़ने के लिये उसने हाथ फैलाये ॥७॥ वे हाथों के ऊपर-ऊपर फिरते हैं, पकड़ में नहीं आते, मानों दो भ्रमर कमल-वन में विचर रहे हैं ॥८॥ फिर क्रोध करके कूदकर उसने दोनों को पकड़ लिया, पर ज्यों ही वह इन्हें पृथिवी पर पटकने को हुआ, त्यों ही ये उसकी भुजाओं को मरोड़कर भाग चले ॥९॥ फिर उसने कोप सहित दसों धनुष हाथों में लिये और बाणों से मारकर वानरों को घायल कर डाला ॥१०॥

विशेष—(१) 'रुधिर देखि बिषाद ...'—ऐसा साहसी एवं मदांध है कि इन महाबली वानरों का शिर पर चढ़ना और विदारना उसे मालूम ही नहीं पड़ा, रुधिर देखकर जाना। 'बिषाद उर भारी'—इन वानरों का कुछ कर नहीं पाता और उधर वानर गण देखकर हँसते हैं, इसपर उसे लज्जा और क्रोध सहित विषाद हुआ ; यथा—"नील लाघव संभ्रान्तं दृष्ट्वा रावणमाहवे ॥ वानराणां च नादेन संरब्धो रावण-स्तदा ।" (वाल्मी० ६।५९।८१–८२), अर्थात् नील के शीघ्र-कार्य कर्तृत्व से रावण युद्ध में घबड़ा गया ॥ पुनः वानरों के हर्षनाद से भी वह घबड़ा गया।

(२) 'गहे न जाहिं ...'—यहाँ नल और नील ये दो भ्रमर हैं, रावण की बीस भुजाएँ कमल के वन हैं। जैसे भौंरे कमलों पर उड़ते हैं, वैसे ही ये उसके हाथों पर ऊपर-ही-ऊपर विचर रहे हैं, पकड़े नहीं जाते।

(३) 'भजे भुजा मरोरी'—यह नल-नील की जीत हुई।

हनुमदादि मुरुछित करि बंदर। पाइ प्रदोष हरष दसकंधर ॥११॥
मुरुछित देखि सकल कपि बीरा। जामवंत धायउ रनधीरा ॥१२॥
संग भालु भूधर तरु धारी। मारन लगे पचारि पचारी ॥१३॥
भयउ क्रुद्ध रावन बलवाना। गहि पद महि पटकइ भट नाना ॥१४॥
देखि भालुपति निज दल घाता। कोपि माँझ उर मारेसि लाता ॥१५॥

अर्थ—श्रीहनुमान् आदि सब वानरों को मूर्च्छित करके संध्या का समय प्राप्त होने से रावण हर्षित हुआ ॥११॥ सभी वीर वानरों को मूर्च्छित देखकर रणधीर श्रीजाम्बवान्‌जी दौड़े ॥१२॥ श्रीजाम्बवान्‌जी के साथ वाले भालू पर्वत और वृक्ष धारण किये हुए उसे ललकार-ललकार मारने लगे ॥१३॥ बलवान् रावण

क्रोधित हुआ, और पैर पकड़-पकड़ कर अनेक योद्धाओं को पटकने लगा ॥१४॥ ऋक्षराज ने अपने दल को घायल देख क्रोध करके उसकी बीच छाती में लात मारी ॥१५॥

विशेष—(१) 'हनुमदादि' और 'अंगदादि' से इनके समान बलवान् योद्धा ही अभिप्रेत हैं। इनमें श्रीसुग्रीवजी, श्रीजाम्बवान्‌जी आदि नहीं लिये जायँगे, क्योंकि ये श्रीहनुमान् आदि से बड़े हैं ; यथा— "बोले अंगदादि कपि नाना ॥ ··जामवंत सुग्रीव बिभीषन। सेन समेत रहेहु तीनिउ जन ॥" (दो० ७१); इनमें अंगदादि के अतिरिक्त इन तीनों के पृथक् नाम दिये गये हैं। इसी प्रकार ग्रंथ में बहुत-से उदाहरण हैं।

ऐसे ही 'कपि दल' 'कपि बीर' 'कपि सकल' एवं 'सुभट' आदि कहे जाने से केवल सेना से तात्पर्य रहता है, उनमें श्रीअंगदजी और श्रीहनुमान्‌जी नहीं लिये जाते, जब तक कि इनके नाम न दिये जायँ। यथा—"चले बिचलि मर्कट भालु सकल कृपालु पाहि भयातुरे। हनुमंत अंगद नील नल अतिबल लरत रन बाँकुरे।" (दो० ८५)। इनमें और 'मर्कट भालु' से श्रीहनुमान् आदि पृथक् लिये गये हैं, इत्यादि।

'पाइ प्रदोष हरष···' प्रदोष काल में राक्षसों का बल बढ़ता है, इसीसे इसे हर्ष हुआ कि अब तो मैं और प्रबल होऊँगा। या, आज मैं विजयी होकर जा रहा हूँ ; क्योंकि अब तो युद्ध होगा नहीं, सायंकाल हो गया।

(२) 'गहि पद'—भालू अधिकतर लात से ही मारते हैं, उन्हीं पाँवों को पकड़-पकड़कर रावण पटकता था। 'घाना'—का यहाँ 'घायल' एवं 'मूर्च्छित होना' ही अर्थ है, नाश होना अर्थ नहीं है। क्योंकि आगे—"मुरछा बिगत भालु कपि, सब आये प्रभु पास।" (दो० ९७) कहा गया है।

छंद—उर लात घात प्रचंड लागत बिकल रथ ते महि परा।
गहे भालु बीसहु कर मनहुँ कमलन्हि बसे निसि मधुकरा।
मुरछित बिलोकि बहोरि पद हति भालुपति प्रभु पहिं गयो।
निसि जानि स्यंदन घालि तेहि तब सूत जतन करत भयो ॥

दोहा—मुरछा बिगत भालु कपि, सब आये प्रभु पास।
निसिचर सकल रावनहि, घेरि रहे अति त्रास ॥९७॥

अर्थ—छाती में लात की गहरी चोट लगते ही वह व्याकुल होकर रथ से पृथिवी पर गिर पड़ा। बीसों हाथों में भालुओं को पकड़े हुए वह ऐसा जान पड़ता था, मानों रात में भौंरे कमलों में बस रहे हैं ॥ मूर्च्छित देखकर फिर लात मारकर श्रीजाम्बवान्‌जी प्रभु के पास गये। रात जानकर सारथी उसे रथ में डालकर होश में लाने का उपाय करने लगा ॥ मूर्च्छा बीतने पर सब भालू और वानर प्रभु के पास आये, (उधर) सब राक्षस अत्यन्त भय से रावण को घेरे हुए खड़े हैं ॥९७॥

विशेष—(१) 'मनहुँ कमलन्हि बसे निसि मधुकरा'—यहाँ रावण के हाथ कमल हैं, मुट्ठी बँधना कमल का संकुचित होना है। काले भालू काले भ्रमर हैं। मुट्ठी में दबे हुए भालू ही कमलों में फँसे

हुए भ्रमर हैं। रात का समय भी है ही। कमल मे फँसे हुए भ्रमर फिर छूटकर उड़ जाते हैं, ऐसे ही ये भालू गण भी अभी सचेत होते ही निकल भागेंगे।

(२) 'बहोरि पद हति'—लात की चोट से व्याकुल होकर वह गिर पड़ा है, परन्तु अभी भालुओं को मुट्ठी में दाबे हुए है। इससे जान पड़ता है कि यह ठीक मूर्च्छित नहीं है, नहीं तो भालुओं को छोड़ देता, इसी से कुछ मूर्च्छा के लक्षण देखकर भी फिर लात मारी कि जिससे वह ठीक मूर्च्छित हो जाय और हमारे भालूगण छूट जायँ। वैसा ही हुआ भी—'मुरुछा बिगत भालु कपि···' आगे कहा गया है।

(३) 'निसि जानि स्यंदन···'—एक तो रात हो गई थी। अत, युद्ध बद होने का समय आ गया था और फिर इसके होश में लाने का यथार्थ उपाय भी लंका मे जाने से ही हो सकेगा, इसलिये वह ले गया।

(४) 'घेरि रहे अति त्रास'—बड़ी गहरी मूर्च्छा है, अनेकों प्रकार के उपाय करने से भी नहीं छूटी, कहीं रावण मर न जाय, इसका बहुत डर है। अत, सभी घेरे हुए हैं। यह भी डर है कि जैसे यज्ञ-विध्वंस के लिये वानर पहुँच गये वैसे कहीं इसे ले जाने को भी न आ जायँ, इसलिये सभी घेरे खड़े हैं।

राक्षस लोगों की ओर से ही ऐसे अनीति के व्यवहार हुए हैं कि मूर्च्छित दशा में श्रीलक्ष्मणजी को मेघनाद और रावण ने ले जाने के प्रयास किये हैं; परन्तु उठा ही न सके थे। कुंभकर्ण श्रीसुग्रीवजी को ले ही गया था। पर इधर से अभी तक ऐसा वर्त्ताव नहीं हुआ, प्रत्युत् कुंभकर्ण और मेघनाद के शव को यहीं पहुँचाया गया है। यह इस दल की उदारता है। ये सब वीर हैं। अत, मूर्च्छितों के ले जाने मे लघुता मानते हैं। पर राक्षस लोग अपने हृदय के अनुसार दूसरों से भी शंका करते हैं।

तेही निसि सीता पहिं जाई। त्रिजटा कहि सब कथा सुनाई ॥१॥
सिर भुज बाढ़ि सुनत रिपु केरी। सीता उर भइ त्रास घनेरी ॥२॥
मुख मलीन उपजी मन चिंता। त्रिजटा सन बोली तब सीता ॥३॥
होइहि कहा कहसि किन माता। केहि बिधि मरिहि बिस्व दुखदाता ॥४॥

अर्थ—उसी रात त्रिजटा ने श्रीसीताजी के पास जाकर सब हाल कह सुनाया ॥१॥ शत्रु के शिर और भुजाओं की बढ़ती सुनकर श्रीसीताजी के मन मे बड़ा डर हुआ ॥२॥ उनका मुख उदास हो गया, मन मे चिंता पैदा हुई, तब वे श्रीसीताजी त्रिजटा से बोलीं ॥३॥ कि हे माता! कहती क्यों नहीं हो कि क्या होगा? संसार भर का दु:खदाता रावण किस तरह मरेगा? ॥४॥

विशेष—(१) 'तेही निसि'—जिस रात में रावण को गहरी मूर्च्छा हुई और सब राक्षस उसे घेरे हुए चैतन्य करने के उपाय कर रहे थे, उसी रात को। यह भी भाव है कि जब से श्रीहनुमान्जी आकर श्रीसीताजी को देख गये, तब से रात में भारी पहरा रहता था, कोई वहाँ जाने नहीं पाता था, उसी रात में जब सब रावण की मूर्च्छा के कारण असावधान थे, तब अवसर पाकर यह आई।

(२) 'मुख मलीन···'—अनिष्ट संभावना से उदास हुईं और फिर इष्ट की प्राप्ति के लिये चिंता

हुई। 'विश्व दुखदाता'—भाव यह कि एक दो प्राणियों को दुःख देनेवाले का पुण्य क्षीण हो जाता है, पर यह संसार भर का दुःखदाता है, फिर इसका नाश क्यों नहीं हो रहा है। इसके नाश का क्या विधान है ?

रघुपति सर सिर कटेहु न मरई। बिधि बिपरीत चरित सब करई ॥५॥
मोर अभाग्य जियावत ओही। जेहिं हौं हरिपद-कमल बिछोही ॥६॥
जेहि कृत कपट कनक-मृग झूठा। अजहुँ सो दैव मोहि पर रूठा ॥७॥
जेहि बिधि मोहि दुख दुसह सहाये। लछिमन कहँ कटु बचन कहाये ॥८॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी के बाणों से शिर कटने पर भी वह नहीं मरता, विधाता सब उलटे ही चरित करते हैं ॥५॥ मेरा दुर्भाग्य ही उसको जिला रहा है, जिसके कारण मैं हरि-पद-कमल से बिछुड़ी हुई हूँ ॥६॥ जिसने माया से सोने का झूठा मृग बनाया था, वही दैव (विधाता) अब भी मुझपर रुष्ट है ॥७॥ जिस विधाता ने मुझसे असह्य दुःख सहाये और श्रीलक्ष्मणजी को कड़वे वचन कहलाये ॥८॥

विशेष—(१) 'रघुपति सर सिर···'—श्रीरामजी के बाण अमोघ (अव्यर्थ) हैं, अतएव उनसे शिर काटे जाने पर भी नहीं मरना आश्चर्यजनक है ; यथा—"जिमि अमोघ रघुपति के बाना।" (सुं॰ दो॰ १)। पहले उसके मरने के विधान पर चिंतित थीं, उसी की पुष्टि में कहती हैं कि श्रीरघुनाथजी के अमोघ बाणों से भी नहीं मरता, ऐसा क्यों ? तब स्वयं समाधान करती हैं कि विधाता ही यह विपरीत चरित कर रहा है। फिर विचार किया कि विधाता तो कर्म के अनुसार ही विधान करता है ; यथा—"कठिन करमगति जान विधाता। जो सुभ-असुभ सकल फल दाता॥" (अ॰ दो॰ १८१)। अतः, कहती हैं—

(२) 'मोर अभाग्य जियावत ओही।···'—मेरा अभाग्य उसे मरने नहीं देता, वह मर जाय तो हरि-पद-कमल का संयोग हो, दुःख हरण हो। अभाग्य किसी को एका-एक नहीं आ दबाता, इसलिये उसकी प्रवृत्ति पहले से कह रही है।

(३) 'जेहि कृत कपट ··'—वह मृग नहीं था, क्योंकि मरते समय राक्षस प्रकट हुआ। 'दुख दुसह सहाये'—घर से निकल वनवास कराया, फिर श्रीलक्ष्मणजी को कटु वचन कहला कर प्राण-पति से भी वियोग कराया।

रघुपति-बिरह सबिष सर भारी। तकि तकि मार बार बहु मारी ॥९॥
ऐसेहु दुख जो राख मम प्राना। सोइ बिधि ताहि जियाव न आना ॥१०॥
बहु बिधि करति बिलाप जानकी। करि करि सुरति कृपानिधान की ॥११॥
कह त्रिजटा सुनु राजकुमारी। उर सर लागत मरइ सुरारी ॥१२॥
प्रभु ताते उर हतइ न तेही। येहि के हृदय बसति बैदेही ॥१३॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी के विरह रूपी विषैले (विष मे बुझाये हुए) भारी बाणों से बहुत बार मार-

कर (अब भी) तक-तक कर मार रहा है ॥९॥ (और) ऐसे दुःख में भी हमारे प्राणों को रख रहा है (देह से निकलने नहीं देता), वही विधाता उसको जिला रहा है और कोई नहीं ॥१०॥ कृपासागर श्रीरामजी का बार-बार स्मरण करके श्रीजानकीजी बहुत प्रकार से विलाप कर रही हैं ॥११॥ त्रिजटा ने कहा, हे राजकुमारी ! सुनिये, देव-शत्रु रावण हृदय में बाण लगते ही मरेगा ॥१२॥ प्रभु उसके हृदय में बाण इसलिये नहीं मारते हैं कि इसके हृदय में श्री वैदेहीजी बसती हैं ॥१३॥

विशेष—(१) 'तकि तकि मार···'—श्रीरघुनाथजी के दर्शनों की कामना विषैले बाणों की तरह बार-बार मन को विह्वल कर देती है। यहाँ ऊपर और नीचे विधि का प्रसंग है, इसी से ऐसा अर्थ किया गया है।

(२) 'करि करि सुरति कृपानिधान की।'—वे सब पर कृपा करते हैं ; यथा—"आरज सुवन के तो दया दुवनहुँ पर मोहिं सोच मोतें सब विधि नसानि।" (गी॰ सुं॰ ७), 'सुरति'; यथा—"मधुप मराल मोर चातक ह्वै लोचन बहु प्रकार धावहिंगे। अंग-अंग छवि भिन्न-भिन्न सुख निरखि निरखि तहँ-तहँ छावहिंगे।···यह अभिलाष रैनि दिन मेरे···" (गी॰ सुं॰ १०)।

(३) 'सुनु राजकुमारी' का भाव यह कि राज-घराने के लोग धीर होते हैं। अतः, आपको भी धैर्य धरना चाहिये। 'उर सर लागत मरिहि सुरारी।'—यह श्रीसीताजी के-'केहि विधि मरिहि विस्व दुखदाता' का उत्तर है। यह सुनकर श्रीजानकीजी को धैर्य होगा। तब प्रभु उसके उर में मारते क्यों नहीं, इसका उत्तर देती है—'प्रभु ताते···'

छंद—येहि के हृदय बस जानकी जानकी उर मम बास है।
मम उदर भुवन अनेक लागत बान सब कर नास है।
सुनि बचन हरष बिषाद मन अति देखि पुनि त्रिजटा कहा।
अब मरिहि रिपु येहि बिधि सुनहि सुंदरि तजहि संसय महा।

दोहा—काटत सिर होइहि बिकल, छुटि जाइहि तव ध्यान।
तब रावनहि हृदय महँ, मरिहहिं राम सुजान ॥९८॥

अर्थ—इसके हृदय में श्रीजानकीजी बसती हैं, श्रीजानकीजी के हृदय में मेरा निवास है और मेरे उदर में अनेक भुवन हैं, (रावण के हृदय में) बाण लगते ही सब (भुवनों) का नाश होगा। यह वचन सुनकर श्रीसीताजी के मन में अत्यन्त हर्ष और खेद हुआ, देखकर फिर त्रिजटा ने कहा कि हे सुन्दरी ! सुनिये और महा संदेह छोड़िये, अब शत्रु इस तरह मरेगा ॥ कि शिरों के काटते-काटते वह व्याकुल हो जायगा (उसके हृदय से) तुम्हारा ध्यान छूट जायगा, तब सुजान श्रीरामजी रावण के हृदय में बाण मारेंगे ॥९८॥

विशेष—(१) 'सुनि बचन हरष बिषाद अति'—'जानकी उर मम बास है'—यह प्रभु की तरफ से जानकर अत्यन्त हर्ष हुआ कि मेरे भाव को स्वामी जाने हुए हैं। 'बिषाद' इस पर हुआ कि यदि रावण

मरेगा नहीं, तो मेरा प्रत्यक्ष वियोग तो रहेगा ही। यह देखकर त्रिजटा ने इस महा संशय-निवारण के लिये फिर कहा।

(२) 'काटत सिर होइहि निकल···'—'राम सुजान' अर्थात् वे सब जानते हैं कि कौन कार्य किस प्रकार और किस अवसर पर होगा ? यथा—"नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥" (अ० दो० २५२); अतः, वे स्वयं जब जान लेंगे कि अब तुम्हारा ध्यान उसके हृदय से छूट गया, उसी समय मार देंगे। उन्हें किसी के बतलाने की आवश्यकता नहीं है।

अस कहि बहुत भाँति समुझाई। पुनि त्रिजटा निज भवन सिधाई ॥१॥
राम सुभाव सुमिरि बैदेही। उपजी बिरह-बिथा अति तेही ॥२॥
निसिहि ससिहि निंदति बहु भाँती। जुग सम भई सिराति न राती ॥३॥
करति बिलाप मनहि मन भारी। राम-बिरह जानकी दुखारी ॥४॥
जब अति भयउ बिरह उर दाहू। फरकेउ बाम नयन अरु बाहू ॥५॥
सगुन बिचारि धरी मन धीरा। अब मिलिहहि कृपाल रघुबीरा ॥६॥

अर्थ—ऐसा कहकर बहुत तरह समझाकर फिर त्रिजटा अपने घर को चली गई ॥१॥ श्रीरामजी का स्वभाव स्मरण कर श्रीजानकीजी को विरह की अत्यन्त पीड़ा उत्पन्न हुई ॥२॥ वे रात्रि और चन्द्रमा की बहुत तरह से निंदा कर रही हैं कि यह रात्रि युग के समान भारी हो गई, सिराती ही नहीं ॥३॥ श्रीजानकीजी श्रीरामजी के विरह से दुखी होकर मन-ही-मन भारी विलाप करती हैं ॥४॥ जब हृदय में अधिक विरह से अत्यन्त ताप हुआ, तब उनके बायें नेत्र और बाहु ये दोनों फड़क उठे ॥५॥ शकुन समझकर मन में धैर्य धारण किया कि दयालु रघुवीर श्रीरामजी अब अवश्य मिलेंगे ॥६॥

विशेष—(१) 'बहुत भाँति समुझाई।' जब श्रीजानकीजी ने रावण-मरण कठिन समझा कि श्रीरामजी शिर ही काटेंगे, पर ध्यान छूटना तो उनके हाथ नहीं है, तब इसपर फिर त्रिजटा को बहुत तरह से समझाना पड़ा। 'बहुत भाँति'—(क) श्रीरामजी ब्रह्म हैं, क्षण-भर में ही उसे मार सकते हैं परन्तु श्रीब्रह्माजी और श्रीशिवजी के वचनों को सत्य दिखाने के लिये मनुष्य के समान लीला कर रहे हैं। (ख) उसने श्रीशिवजी को शिर चढ़ाये हैं, श्रीशिवजी की उदारता प्रकट करने के लिये एक-एक के बदले कोटि-कोटि शिर दे रहे हैं। (ग) अपने वनवास का समय भी पूरा कर रहे हैं, अभी उसके भी मरण का समय नहीं आया। (घ) अपना श्रम दिखा रहे हैं, जब श्रीविभीषणजी उसे मारने का उपाय स्वयं कहेंगे, तब प्रभु उसे मारेंगे, क्योंकि वे 'प्रनत कुटुंबपाल' हैं; इत्यादि बातों से रावण वध प्रभु के अधीन कहा, तब इन्हें संतोष हुआ।

(२) 'राम सुभाव सुमिरि···'—'राम-सुभाव'; यथा—"जन के दुख रघुनाथ दुखित अति सहज प्रकृति करुनानिधान की।" (गी० सुं० ११); "अति कोमल रघुबीर सुभाऊ।" (सु० दो० ५६); "करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइयहि पीर पराई॥" (अ० दो० ८४); इत्यादि स्वभाव के स्मरण पर जब श्रीजानकीजी ने यह जाना कि मेरे विरह में प्रभु अत्यन्त दुखी होंगे, तब उनके दु:ख को समझकर उनको विरह की अत्यन्त पीड़ा हुई कि कब उनसे मिलकर उन्हें सुखी करूँगी; यथा—"रामस्य शोकेन समान शोका" (वाल्मी० ५।१६।१७); अर्थात् श्रीरामजी को अपने निमित्त अति विरही सुनकर

श्रीजानकीजी उन्हींके समान दुखी हुईं। फिर इसीपर उन्होंने कहा है; यथा—"अमृतं विषसंपृक्तं त्वया वानर भाषितम्। यच्च नान्यमना रामो यच्च शोकपरायणः॥" (वाल्मी० ५।३७।२), अर्थात् हे वानर! तुम्हारे ये वचन विष मिले हुए अमृत के समान हैं जो तुमने कहा कि श्रीरामजी तुम्हारा सदा चिंतन किया करते हैं और वे शोकपरायण रहते हैं॥

(३) 'निसिहि ससिहि निंदति बहु भाँती।'—रात कटती ही नहीं, और फिर चन्द्रमा विरहिनी को अधिक तापदायक है; यथा—"घटइ-बढ़इ बिरहिनि दुखदाई।" (बा० दो० २३७), इससे दोनों की अनेकों भाँति निंदा करती हैं; यथा—"कोक सोक प्रद पंकज द्रोही। अवगुन बहुत चंद्रमा तोही॥" (बा० दो० २३७); 'करति बिलाप मनहिं मन'—कोई इस दुःख को जाननेवाला अधिकारी हो तो उससे कहा जाय और दुःख कुछ कम हो, परन्तु यहाँ वैसा कोई नहीं है, एक त्रिजटा थी वह भी चली गई; यथा—"कहेहूँ ते कछु दुख घटि होई। काहि कहउँ यह जान न कोई॥" (सु० दो० १४)।

(४) 'जब अति भयउ बिरह ···'—जब विरह की पराकाष्ठा हो गई; तब शकुन के द्वारा धैर्य मिला; यथा—"प्रभु पयान जाना बैदेहीं। फरकि बाम अंग जनु कहि देहीं॥" (सुं० दो० ३४), वे ही शकुन यहाँ भी हुए, यथा—'फरकेउ बाम नयन अरु बाहू।' कहा गया है। पहले शकुन होने पर प्रभु आये थे, यह सत्य हुआ था, तो इसबार का भी सत्य ही होगा कि प्रभु मिलेंगे; यथा—"सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी।" (अ० दो० ६)।

'अब मिलिहहिं कृपाल रघुबीरा।'—वीरता से शत्रु को मारेंगे और कृपा करके मुझे मिलेंगे, यहाँ के ये दोनों विशेषण इसीलिये हैं।

इहाँ अर्द्ध निसि रावन जागा। निज सारथि सन खीझन लागा॥७॥
सठ रनभूमि छँड़ाइसि मोही। धिग धिग अधम मंदमति तोही॥८॥
तेहि पद गहि बहु बिधि समुझावा। भोर भये रथ चढ़ि पुनि धावा॥९॥

अर्थ—इधर आधी रात को रावण जागा (चैतन्य हुआ) और अपने सारथी पर क्रोध के वचन कहने लगा॥७॥ अरे शठ! तूने मुझे रणभूमि से अलग कर दिया। अरे अधम! तुझे धिक्कार है, अरे मंद बुद्धि! तुझे धिक्कार है॥८॥ उस (सारथी) ने पैर पकड़कर बहुत प्रकार से समझाया और प्रातःकाल होते ही उसने फिर रथ पर चढ़कर धावा किया॥९॥

विशेष—(१) 'इहाँ' शब्द का भाव पूर्व दो० १२ चौ० १ में कहा गया कि सरसता देखकर ग्रन्थकार के अपनापन दिखाने का यह संकेत है, रावण यहाँ श्रीरामजी को वीर्य से प्रसन्न करने के प्रति खीझ रहा है, इस वैर भाव की भक्ति को देखकर ग्रन्थकार ने उसकी ओर भी अपनापन प्रकट किया है। 'अर्द्ध निसि'—से श्रीजाम्बवान्‌जी के पद-प्रहार की बड़ी गहरी चोट प्रकट हुई। क्योंकि इतनी गहरी मूर्च्छा अन्यत्र नहीं लिखी गई है। 'खीझन लागा'—उसके नेत्र क्रोध से लाल हो गये; यथा "क्रोधसरक्तनयनो रावणः सूतमब्रवीत्।" (वाल्मी० ६।१०४।१); 'लागा'—बड़ी देर तक कहेगा, वाल्मी० ६।१०४।१-८ में आठ श्लोकों में कहा गया है।

शंका—पहले भी तो सारथी इसे मूर्च्छित होने पर लंका ले गया था; यथा—"सारथी दूसर

घालि रथ तेहि तुरत लंका लै गयो ।" (दो० ८३), तब तो उसने क्रोध नहीं किया, परन्तु आज क्यों खीझ रहा है ?

समाधान—वहाँ इसने पहले श्रीलक्ष्मणजी को मूर्च्छित कर दिया था, वे भी रणभूमि से बाहर ले जाये गये, फिर स्वस्थ होकर उन्होंने सामना किया और इसे मूर्च्छित किया, तब यह भी बाहर लाया गया। स्वस्थ होकर गया। उस युद्ध में बराबरी की बात थी। पर आज के युद्ध में श्रीरामजी पर इसने शक्ति छोडी। वे वहीं पर मूर्च्छित होकर सचेत हो उठे, परन्तु यह मूर्च्छित होने पर बाहर लाया गया, इससे लज्जित हुआ ; क्योंकि इसने ही आज श्रीरामजी को कहा था—"जौं रन भूप भाजि नहिं जाही ।" (दो० ८८); वे तो मूर्च्छा में भी नहीं हटे और यह बाहर हटाया गया। इसीसे लज्जा और क्रोध से खीझने लगा।

(२) 'सठ रनभूमि छडाइसि मोहीं ।'—रणभूमि में पीठ देना वीरों के लिये निंदित है ; यथा—"अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्। ''भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथा'। ''" (गीता २।३४।३५) अपने यश की हानि समझकर उसे क्रोध हुआ, तब परुष वचन कहे हैं—'सठ' और 'अधम', क्योंकि सारथी ने वीर धर्म के विरुद्ध काम किया। 'मंदमति' कहा, क्योंकि यह नहीं समझा कि इससे रथी की अकीर्ति होती है और अंत में परलोक की हानि भी होगी।

'धिग धिग अधम ''' से वाल्मी० ६।१०४ के आठों श्लोकों के सब भाव जना दिये गये कि तुमने मेरे यश, वीर्य और तेज नाश कर दिये। वीर्य द्वारा प्रसन्न करने के योग्य शत्रु के सामने से हटाकर तुमने मुझे कायरों की श्रेणी में डाल दिया। अभी भी तुम रथ लेकर नहीं चल रहे हो। अत, जान पड़ता है कि तुमने शत्रु से घूस खाई है,' इत्यादि।

(३) 'तेहि पद गहि बहु बिधि समुझावा ।'—पैर पकडना दीनता की मुद्रा है ; यथा—"गहि पद बिनय कीन्हि बैठारी ।" (अ० दो० ३२) ; 'बहु बिधि' ; यथा—"सारथी ने कहा कि न मैं डरा हूँ, न मूढ हूँ और न शत्रु से मिला हूँ , न मतवाला हूँ और न आपके उपकारों को ही भूला हूँ। मैंने आपका हित ही किया है कि आपके यश की रक्षा हो। रथ लौटाने के कारण सुनिये। भयंकर युद्ध के कारण मैंने आपको थका हुआ देखा और शत्रु में वीर्य की अधिकता देखी। रथ के घोड़े भी थक गये थे। पुन अपने पक्ष के लिये अमंगलसूचक अपशकुन भी देखे। सारथी को चाहिये कि रथी के देश काल, शुभ-अशुभ, उत्साह-श्रम, शत्रु के छिद्र आदि देखता रहे। कब शत्रु के सामने जाना चाहिये और कब उससे हटकर रहना चाहिये—यह सब जानना चाहिये। इन सब बातों को देखकर और घोड़ों को श्रमित जानकर मैं रथ लौटा लाया हूँ। अब जो आप आज्ञा देंगे, वही करूँगा। युद्ध-लोभी रावण प्रसन्न हुआ और उसे अपना हस्ताभरण इनाम में देकर शीघ्र रथ ले चलने को कहा, इत्यादि।" (वाल्मी० ६।१०४।१०–२६)।

सुनि आगमन दसानन केरा। कपि-दल-खरभर भयउ घनेरा ॥१०॥
जहँ तहँ भूधर बिटप उपारी। धाये कटकटाइ भट भारी ॥११॥

छं०—धाये जो मर्कट बिकट भालु कराल कर भूधर धरा।
अति कोप करहिं प्रहार मारत भजि चले रजनीचरा ॥

बिचलाइ दल बलवंत कीसन्ह घेरि पुनि रावन लियो ।
चहुँदिसि चपेटन्हि मारि नखन्हि बिदारि तनु ब्याकुल कियो ॥

दोहा—देखि महा मर्कट प्रबल, रावन कीन्ह बिचार ।
अंतरहित होइ निमिष महँ, कृत माया बिस्तार ॥९९॥

अर्थ—रावण का आना सुनकर वानर-सेना में बड़ी खलबली मची ॥१०॥ भारी योद्धा क्रोध से दाँत कटकटाकर पर्वत और वृक्ष उखाड़-उखाड़कर जहाँ-तहाँ से दौड़े ॥११॥ विकट और भयंकर भालू-वानर हाथों में पहाड़ लिये हुए दौड़े। वे अत्यन्त क्रोध करके चोट करते हैं, उनके मरते ही राक्षस भाग चले ॥ बलवान् वानरों ने सेना को विचलित कर फिर रावण को घेर लिया। चारों ओर से चपेटे (थप्पड़) मार और नखों से देह विदीर्णकर वानरों ने उसे व्याकुल कर दिया ॥ वानरों को महाप्रबल देखकर रावण ने विचार किया और अंतर्धान होकर क्षण भर में उसने माया का विस्तार किया ॥९९॥

विशेष—(१) 'खर भर भयउ'—उत्साह से तैयारी का हल्ला हुआ, क्योंकि सभी पहले पहुँचना चाहते हैं। 'कटकटाइ'—यह इनका उत्साह है, वीरों को भारी भट देखकर लड़ने का उत्साह होता है; यथा—"कपि देखा दारुन भट आवा। कटकटाइ गरजा अरु धावा ॥" (सुं॰ दो॰ १८)।

(२) 'विकट' और 'कराल'—ये वानरों और भालुओं (दोनों) के विशेषण हैं; यथा—"नाना बरन भालु कपि धारी। बिकटानन बिसाल भयकारी ॥ अमित नाम भट कठिन कराला।" (सुं॰ दो॰ ५१); 'अति कोप…'—अत्यंत क्रोध से प्रहार किया कि राक्षस-सेना भाग जाय और वहो हुआ भी।

(३) 'चहुँ दिसि चपेटन्हि मारि…'—श्रीअंगदजी ने कहा था—"याको फल पावहुगे आगे। बानर भालु चपेटन्हि लागे ॥" (दो॰ ३१); यही यहाँ चरितार्थ है, यहाँ 'कीसन्ह' शब्द में उपर्युक्त प्रसंग से भालू भी हैं।

(४) 'रावन कीन्ह बिचार'—इसने विचार किया कि पहले दो बार मैंने जो माया की थी उसे इन्होंने काट डाला। अतः, अब उनसे भिन्न कोई और ही विलक्षण माया करनी चाहिये।

छंद—जब कीन्ह तेहि पाखंड। भये प्रगट जंतु प्रचंड।
बेताल भूत पिसाच। कर धरे धनु नाराच ॥१॥
जोगिनि गहे करबाल। एक हाथ मनुज-कपाल।
करि सद्य सोनित पान। नाचहिं करहिं बहुगान ॥२॥
धरु मारु बोलहिं घोर। रहि पूरि धुनि चहुँ ओर।
मुख बाइ धावहिं खान। तब लगे कीस परान ॥३॥

जहँ जाहिं मर्कट भागि। तहँ बरत देखहिं आगि।
भये बिकल बानर-भालु। पुनि लाग बरषै बालु ॥४॥

शब्दार्थ—करवाल = तलवार। सद्य = ताजा, तुरत का।

अर्थ—जब उसने माया रची, तब भयंकर जीव प्रकट हो गये। बेताल, भूत, पिशाच हाथों में धनुष-बाण लिये प्रकट हुए ॥१॥ योगिनियाँ एक हाथ में तलवार और एक हाथ में मनुष्यों की खोपड़ियाँ लिये हुई ताजा खून पान करके नाचती और बहुत तरह के गीत गाती हैं ॥२॥ धरो (पकड़ो), मारो, इत्यादि भयावने शब्द बोलती हैं, यह ध्वनि चारों ओर भर रही है। मुख फैलाकर खाने को दौड़ती हैं, तब वानर भागने लगे ॥३॥ वानर जहाँ कहीं भागकर जाते हैं, वहाँ ही जलती हुई आग देखते हैं। वानर-भालू व्याकुल हो गये, फिर वह रेत बरसाने लगा ॥४॥

विशेष—(१) 'करि सद्य सोनित पान'—तत्काल कटी हुई खोपड़ियों से रक्त बह रहा है, वही पीती हैं।

(२) 'धरु मारु बोलहिं घोर'—डराने के लिये ऐसा बोलती हैं, वही 'घोर' शब्द से स्पष्ट किया गया है ; यथा—"मारु मारु धरु धरु धरु मारु।" (दो० ५१) ; 'पुनि लागि बरषै बालु'—भाव यह कि जिससे सर्वत्र अँधेरा जान पड़े ; यथा—"बरषि धूरि कीन्हेसि अँधियारा। सूझ न आपन हाथ पसारा॥" (दो० ५०) ; 'तब लगे कीस परान'—कई बार के माया-प्रयोग से वानर सावधान हो गये हैं, इससे पिशाच आदि को देखकर नहीं डरे और उनके घोर शब्दों से भी नहीं घबड़ाये, क्योंकि कई बार देख चुके हैं कि ये झूठे हैं, परन्तु जब वे योगिनियाँ मुख फैलाकर खाने को दौड़ीं, तब भागे।

जहँ तहँ थकित करि कीस। गर्जेउ बहुरि दससीस।
लछिमन कपीस समेत। भये सकल बीर अचेत ॥५॥
हा राम हा रघुनाथ। कहि सुभट मीजहिं हाथ।
येहि बिधि सकल बल तोरि। तेहिं कीन्ह कपट बहोरि ॥६॥
प्रगटेसि बिपुल हनुमान। धाये गहे पाषान।
तिन्ह राम घेरे जाइ। चहुँ दिसि बरूथ बनाइ ॥७॥
मारहु धरहु जनि जाइ। कटकटहिं पूँछ उठाइ।
दह दिसि लँगूर बिराज। तेहि मध्य कोसलराज ॥८॥

अर्थ—वानरों को जहाँ-के-तहाँ स्थगित करके फिर दशानन रावण गरजा। श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसुग्रीवजी के साथ सब वीर वानर अचेत हो गये ॥५॥ हा राम ! हा रघुनाथ ! (अपना कष्ट प्रकट) कहते हुए

सुभट अपने हाथ मलते हैं। इस प्रकार सारी सेना का बल तोड़कर उसने और माया रची ॥६॥ उसने बहुत से हनुमान् प्रकट किये, वे सब पत्थर लिये हुए दौड़े। चारों ओर से झुंड बनाकर उन्होंने श्रीरामजी को जा घेरा ॥७॥ पूँछ उठाकर कटकटाकर कहते हैं कि मारो, पकड़ो, जाने न पाये। दसों दिशाओं में लंगूर और उनके बीच में कोशलराज श्रीरामजी विराजमान् हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'गर्जेउ—अपनी जय प्रकट करते हुए गरजा। 'लछिमन कपीस-समेत'—कहकर सूचित किया गया कि एक श्रीरामजी को छोड़कर कोई नहीं बचा।

(२) 'हा राम! हा रघुनाथ!'—श्रीरामजी के नाम के साथ कष्टसूचक 'हा' शब्द कहकर उनसे अपना कष्ट प्रकट करते हैं और साथ ही 'सब सुभट मींजहिं हाथ'—से यह भी प्रकट करते हैं कि हमारा कर्त्तव्य अब कुछ नहीं चलता। 'हाथ मींजना' मुहावरा है, भाव यह है कि अब इन हाथों के वश की बात नहीं है। कोई वश नहीं चलने पर लोग शोक, पश्चात्ताप और निराशा एवं क्रोध से हाथ मींजते हैं, यथा—"कर मींजहिं सिर धुनि पछिताहीं।" (अ० दो० ७५) "कर मींजहि पछिताहिं।" (अ० दो० १२१), "मींजि हाथ सिर धुनि पछिताई।" (अ० दो० १९१)।

(३) 'सकल बल तोरि'—अपनी माया से सेना को हरा दिया, सब हृदय से हार गये। रहे एक श्रीरामजी, अतएव उनके लिये दूसरी माया रचता है—

(४) 'प्रगटेसि बिपुल हनुमान'—रावण जानता है कि ये जैसे पहले माया-मृग पर मोहित हुए थे। वैसे यहाँ श्रीहनुमान्जी के रूपों का भी सत्य ही मानकर डर जायँगे। भक्त जानकर उनपर बाण भी नहीं चला सकेंगे।

छंद—तेहि मध्य कोसलराज सुंदर श्याम तनु सोभा लही।
जनु इंद्रधनुष अनेक की बर बारि तुंग तमाल ही ॥९॥
प्रभु देखि हरष बिषाद उर सुर बदत जय जय जय करी।
रघुबीर एकहि तीर कोपि निमेष महँ माया हरी ॥१०॥

शब्दार्थ—तुंग=ऊँचा। बारि=घाल्हा की हुँघान, बाग, खेत, वृक्ष आदि की रक्षा के लिये बनाया हुआ घेरा।

अर्थ—इनके मध्य में कोशलराज का सुन्दर श्याम शरीर किस प्रकार शोभायमान है, मानों अनेकों इन्द्र धनुषों की श्रेष्ठ ऊँची बारी के बीच में ऊँचा तमालवृक्ष हो ॥९॥ प्रभु को देखकर देवताओं के हृदय में हर्ष और विषाद दोनों हुए और वे जय-जय जय बोलते हैं। रघुवीर ने कोप करके एक ही बाण से पल भर में माया हर ली ॥१०॥

विशेष—(१) 'प्रभु देखि'—'प्रभु' शब्द से यहाँ श्रीरामजी को परम समर्थ देखना जनाया गया है, इसीसे इस माया पर देवताओं का भागना नहीं कहा गया। पूर्व भी जो देवता नहीं भागे थे, उनके विषय में ऐसा ही कहा गया था, यथा—"रहे बिरंचि संभु मुनि ग्यानी। जिन्ह जिन्ह प्रभु महिमा कछु जानी॥" (दो० ९९), इसी से यहाँ प्रथम हर्ष कहा गया है। पुन प्रभु को भक्त के रूपों से अवरुद्ध

देखकर विषाद भी साथ ही हुआ कि उन्हें भक्त के रूपों पर प्रहार करना पड़ेगा। 'बदत जय जय जय करी'—अब प्रभु की प्रभुता में दृढ़ता है, इससे रावण का डर छोड़कर प्रकट जय-जयकार कर रहे हैं। इससे भी निर्भय है कि पहले उसके धावा करने पर श्रीअंगदजी के द्वारा रक्षा की गई है।

(२) 'कोपि निमेष महँ माया हरी।'—पूर्व चार बार माया के काटने एवं हरने के प्रसंग आये हैं। सर्वत्र प्रभु का हँसकर माया हरण करना कहा गया है (१) 'पुनि कृपाल हँसि चाप चढ़ावा।" (दो० ४५); (२)"कौतुक देखि राम मुसुकाने।" (दो० ५०), (३) "निज सेन चकित बिलोकि हँसि सरचापसजि कोसलधनी। माया हरी···" (दो० ८८), (४) "सुर बानर देखे बिकल, हँसे कोसलाधीस। सजि सारंग···" (दो० ९५)।

परन्तु यहाँ कोप करके माया हरण करना कहा गया है, इसका भाव यह है कि अभी तक क्रीड़ा करना इनका अभीष्ट था, इससे हँसते आये। राक्षस माया करते थे और आप हँसते थे। पर इस बार श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसुग्रीवजी तक अचेत हो गये, इससे कोप किया। इसलिये भी कोप किया कि इस बार उसने प्रभु के हाथों से परम भागवत के रूपों पर भी बाण चलवाया। यह क्रीड़ा प्रभु को अभीष्ट नहीं है, इससे कोपकर उसकी माया का अंत कर दिया। माया-हरण की वीरता पर 'रघुबीर' कहा गया है।

माया बिगत कपि-भालु हरषे बिटप गिरि गहि सब फिरे।
सर-निकर छाँड़े राम-रावन बाहु सिर पुनि महि गिरे ॥११॥
श्रीराम - रावन - समर - चरित अनेक कल्प जो गावहीं।
सत सेष सारद निगम कबि तेउ तदपि पार न पावहीं ॥१२॥

अर्थ—माया रहित होने पर वानर-भालू प्रसन्न हुए और वृक्ष-पर्वत ले-लेकर सब लौट पड़े। श्रीरामजी ने समूह-बाण छोड़े और रावण की बाहु और शिर कट-कटकर फिर पृथिवी पर गिरे ॥११॥ श्रीरामजी और रावण के युद्ध-चरित यदि सैकड़ों शेष, शारदा, वेद और कवि अनेक-कल्पों तक गाते रहें तो भी ये उसका पार नहीं पा सकते ॥१२॥

विशेष—(१) 'बिटप गिरि गहि सब फिरे'—पहली बार के माया-हरण पर हर्षित होकर भी उत्साहहीन हो गये थे; यथा—"हरषी सकल मर्कट अनी।" (दो० ८८), पर लड़ने को नहीं दौड़े, तब प्रभु ने स्वयं युद्ध के लिये कहा कि मैं ही द्वन्द्व-युद्ध करूँगा। दूसरी बार माया छूटने से प्रभु के बल पर दौड़े, परन्तु आयुध नहीं लिया और न लड़े—देखिये दो० ९५। पर इस बार आयुध-सहित उत्साहपूर्वक लड़ने को दौड़े। इससे दिखाया गया कि उत्तरोत्तर उसकी माया का डर कम होता गया। 'फिरे'—'पहले भागे थे; यथा—'लगे कीस परान' अब वे फिरे।

(२) 'सत सेष सारद निगम कबि···'—ये सब समर्थ वक्ता हैं; यथा—"सारद सेष महेस बिधि आगम निगम पुरान। नेति-नेति कहि जासु गुन, करहिं निरंतर गान॥" (बा० दो० १२); शारदा सबकी वाणी की अधिष्ठात्री हैं। अतः, सबकी जिह्वा से गाती हैं। शेष के दो हजार जिह्वाएँ हैं, वेद भगवान् की ही श्वासभूत वाणी है। इस तरह से सभी समर्थ हैं, फिर भी ये सैकड़ों की संख्या में एकत्रित होकर भी नहीं गा सकते। इसका तात्पर्य यह है कि यह समर-चरित अपार है, यथा—"सागरं चाम्बर प्रख्यमम्बरं

सागरोपमम् ॥ रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ।" (वाल्मी० ६।१०७।५१-५२); अर्थात् समुद्र आकाश के समान हो सकता है और आकाश समुद्र के समान हो सकता है; अर्थात् इनकी तुलना की जा सकती है, परन्तु राम और रावण का युद्ध अपने ढंग का निराला है—यह अतुलनीय है ।

दोहा—ताके गुनगन कछु कहे, जड़मति तुलसीदास ।
जिमि निज बल अनुरूप ते, माछी उड़इ अकास ॥

अर्थ—उनके कुछ गुणगण मुझ मंद बुद्धि तुलसीदास ने कहे, जैसे अपने पुरुषार्थ के अनुसार मच्छड़ भी आकाश में उड़ते हैं ॥

विशेष—जब शेष, शारदा आदि नहीं पार पा सकते, तब तुम क्यों कहने लगे, उसपर कहते हैं कि मैं तो 'जड़ मति' हूँ, यथा—"मति अति नीच ऊँचि रुचि आछी ।" (बा० दो० ७), परन्तु फिर भी कुछ कहा । क्योंकि जैसे गरुड़ आदि भी आकाश में उड़ते हुए अंत नहीं पाते । पर पुरुषार्थ भर उड़ते ही हैं और मच्छड़ भी शक्ति भर उसी आकाश में उड़ते हैं, ये भी पार नहीं पाते । वैसे श्रीरामजी के गुण गणों में गरुड़ रूप शेष शारदा आदि भी पार नहीं पाते, परन्तु कहते हैं । वैसे मच्छड़ की तरह मैं भी पार नहीं पाता, परन्तु कहता हूँ । भाव यह है कि सब अपनी-अपनी वाणी पवित्र करने के लिये हरि यश कहते हैं, कुछ पार पाने के लिये नहीं । इसपर बा० दो० ११ चौ० ६-१२ और दो० १२ चौ० १ पर्यन्त के भाव देखिये । तथा—"निज निज मति मुनि हरि गुन गावहिं । निगम सेष सिव पार न पावहिं ॥ तुम्हहिं आदि खग मसक प्रजंता । नभ उड़ाहिं नहिं पावहिं अंता ॥ तिमि रघुपति महिमा अवगाहा । तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा ॥" (उ० दो० ९०) ।

"रावण-वध"—प्रकरण

काटे सिर भुज बार बहु, मरत न भट लंकेस ।
प्रभु क्रीड़त सुर सिद्ध मुनि, ब्याकुल देखि कलेसि ॥१००॥

अर्थ—शिरों और भुजाओं के बहुत बार काटे जाने पर योद्धा रावण मरता नहीं, प्रभु तो क्रीड़ा कर रहे हैं, पर सुर, सिद्ध और मुनि प्रभु को क्लेशयुक्त देखकर व्याकुल होते हैं ॥१००॥

विशेष—'प्रभु क्रीड़त', यथा—"प्रभुकृत खेल सुरन्ह बिकलई ।" (दो० ९९) ।

काटत बढ़हिं सीस समुदाई । जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई ॥१॥
मरइ न रिपु श्रम भयउ बिसेखा । राम बिभीषन तन तब देखा ॥२॥

अर्थ—काटने से शिरों का समुदाय बढ़ता ही जाता है, जैसे प्रत्येक लाभ पर लोभ बढ़ता है ॥१॥ शत्रु नहीं मरता, परिश्रम बहुत हुआ, तब श्रीरामजी ने श्रीविभीषणजी की ओर देखा ॥२॥

विशेष—(१) 'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई।'—कामनाएँ प्राप्त होने पर उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती हैं। एक की पूर्त्ति होने पर अधिक की कामना बढ़ती जाती है। निनानवे का फेर प्रसिद्ध ही है। इस तरह लोभ की वृद्धि ही होती जाती है; यथा—"कामस्यान्तं च क्षुत्तृड्भ्यां क्रोधस्यैतत्फलोदयात्। जनोयाति न लोभस्य जित्वा भुक्त्वा दिशोदश॥" (भाग०); अर्थात् काम का अंत भूख-प्यास से और क्रोध का किसी पर प्रहार से अथवा कठोर वचन कहने से हो सकता है, पर दसों दिशाएँ जीतने एवं उनके भोगों के प्राप्त होने पर भी लोभ का अंत नहीं होता।

(२) 'श्रम भयउ निसेषा'—बाहरी दृष्टि से रणक्रीड़ा में श्रम हुआ, क्योंकि वाल्मी० ६।१०७ में कई बार घोर युद्ध होना कहा गया है, वही यहाँ भी जानना चाहिये। न रात न दिन, न मुहूर्त्त और न एक क्षण ही युद्ध का विराम हुआ। 'राम बिभीषन तन तब देखा।'- इससे प्रभु ने सूचित किया कि इसके मारने का यदि कुछ उपाय तुम जानते हो, तो कहो। यद्यपि प्रभु अंतर्यामी हैं, फिर भी पूछते हैं, क्योंकि आप प्रणत-कुटुंब पाल हैं। श्रीविभीषणजी शरणागत हैं, जब वह स्वयं कहेंगे, तब रावण को मारेंगे। जैसे श्रीसुग्रीवजी ने जब कहा—"बंधु न होइ मोर यह काला।" तब श्रीरामजी ने वालि को मारा।

उमा काल मर जाकी ईछा। सो प्रभु कर जन प्रीति-परीछा॥३॥
सुनु सर्बज्ञ चराचर-नायक। प्रनतपाल सुरमुनि सुखदायक॥४॥
नाभि-कुंड पियूष बस याके। नाथ जियत रावन बल ताके॥५॥
सुनत बिभीषन-बचन कृपाला। हरषि गहे कर बान कराला॥६॥

अर्थ—हे उमा! जिसकी इच्छा-मात्र से काल मर जाय, वही प्रभु अपने जन की प्रीति-परीक्षा कर रहे हैं॥३॥ (विभीषणजी ने कहा) हे सर्वज्ञ! हे चराचर के स्वामी! हे शरणागत के पालन करनेवाले! हे देवता और मुनियों के सुख देनेवाले! सुनिये॥४॥ इसके नाभि-कुंड में अमृत बसता है, हे नाथ! रावण इसीके बल पर जीता है॥५॥ श्रीविभीषणजी के वचन सुनते ही कृपालु श्रीरामजी ने प्रसन्न होकर हाथ में भयंकर बाण लिया॥६॥

विशेष—(१) 'प्रीति-परीछा'—इसका प्रेम हमपर दृढ़ है कि भाई में भी स्नेह है, यदि भाई में स्नेह होगा, तो नाभि-कुंड के अमृत को नहीं बतलावेगा। हममें सत्य स्नेह होगा, तो शीघ्र ही कह देगा।

(२) 'सुनु सर्बज्ञ···'—भाव यह है कि आप जानते ही हैं कि यह कब और कैसे मरेगा, तो भी मुझे बड़ाई देने के लिये मुझसे पूछते हैं। 'चराचर नायक'—चराचर की व्यवस्था आपके हाथों में है। जिसे जैसा चाहें, दंड या प्रसाद करें। 'प्रनत पाल'- शरणागतों के पालक हैं और इसके वध के लिये ही देवता आदि आपकी शरण हुए हैं, यथा—"मन बच क्रम बानी छाँडि सयानी सरन सकल सुर जूथा॥" (बा० दो० १८५); तदनुसार आप निशाचर-वध की प्रतिज्ञा भी कर चुके हैं; यथा "निसिचर हीन करउँ महि, भुज उठाइ पन कीन्ह।" (आ० दो० ९); अतएव इसे मारिये। 'सुर मुनि सुखदायक'—भाव यह कि सुर मुनि क्लेशित हैं, इसे मारकर उन्हें सुख दीजिये; यथा—"प्रभु क्रीड़त सुर सिद्धि मुनि, ब्याकुल देखि कलेस।" यह ऊपर कहा गया।

(३) 'नाभि-कुंड पियूष बस···'—त्रिजटा ने श्रीजानकीजी के ध्यान छूटने की बात कही थी; वह बात पूरी हो गई, अर्थात् रावण का वह ध्यान छूट गया। तब गुह्यतम दूसरा हेतु भी श्रीविभीषणजी

(३) 'दस दिसि दाह...' यह छत्र-भंग का सूचक है ; यथा—"हाट बाट नहिं जाहि निहारी। जनु पुर दहँ दिसि लागि दवारी ॥" (अ० दो० १५८); तथा—"संध्यया चावृता लंका जपापुष्पनिकाशया। दृश्यते सम्प्रदीप्तेव दिवसेऽपि वसुन्धरा ॥" (वाल्मी० ६।१०६।२१) ; अर्थात् जपापुष्प के समान लाल संध्या से लंका छिप गई। पृथिवी दिन में भी जलती हुई-सी दिखलाई पड़ने लगी। 'अति लागा'—कई दिन से दाह होता था, आज अत्यन्त होने लगा।

(४) 'मंदोदरि उर कंपति भारी'—पहले भी इसका हृदय काँपता था ; यथा—"मंदोदरी उर कंप कंपति कमठ भू भूधर त्रसे।" (दो० ६०) ; यह श्रीरामजी के अत्यन्त क्रुद्ध होने पर होनेवाली घटना है और आज तो वह रावण के मृत्यु-सूचक निमित्तों को देख रही है, इससे 'कंपति भारी' कहा गया है।

छंद—प्रतिमा रुदहिं पविपात नभ अति बात बह डोलति मही।
बरषहिं बलाहक रुधिर कच रज असुभ अति सक को कही।
उतपात अमित बिलोकि नभ सुर बिकल बोलहिं जय जये।
सुर सभय जानि कृपाल रघुपति चाप सर जोरत भये॥

दोहा—खैंचि सरासन श्रवन लगि, छाँड़े सर एकतीस।
रघुनायक सायक चले, मानहुँ काल फनीस ॥१०१॥

अर्थ—प्रतिमाएँ रोती हैं, आकाश से बहुत-बहुत वज्रपात होते हैं, अत्यन्त प्रचंड वायु चलने लगी, पृथिवी हिलती है। बादलों से रुधिर, बाल और धूल बरस रहे हैं, इस तरह के अत्यंत अमंगल हो रहे हैं। उनको कौन कह सकता है ? अर्थात् वे सब अनगिनत हैं एवं अत्यंत करालता के कारण कहे नहीं जाते॥ अगणित उत्पातों को देखकर आकाश मे देवता व्याकुल होकर 'जय जय' बोल रहे हैं (यद्यपि व्याकुल हो रहे हैं तथापि स्वार्थ-सिद्धि की आशा से 'जय जय' कहते हैं)। देवताओं को भयभीत समझकर कृपालु श्रीरघुनाथजी धनुष पर बाण लगाने लगे॥ कानों तक धनुष को खींचकर श्रीरघुनाथजी ने एकतीस बाण छोड़े, उनके बाण ऐसे चले, मानों काल रूपी सर्पराज चल रहे हों ॥१०१॥

विशेष—(१) 'पविपात नभ'—वज्रपात को पहले चरण में और 'बरषहिं बलाहक' दूसरे चरण में कहा गया है। इसका भाव यह है कि बिना बादलो के ही वज्रपात हो रहे हैं; यथा—"निपेतुरिन्द्राशनयः सैन्ये चास्य समन्ततः। दुर्विषह्यस्वरा घोरं विनाजलधरोदयम् ॥" (वाल्मी० ६।१०६।२८) ; अर्थात् रावण की सेना पर चारों ओर से इन्द्र के वज्र गिरने लगे, जिनका शब्द असह्य था और ये वज्र बिना मेघ के ही गिरे। 'अति बात बह' ; यथा—"प्रतिलोमं ववौ वायुर्निर्घातसमनि स्वन. ।" (वाल्मी० ६।५१।३४) ; अर्थात् मेघों के टक्कर के समान शब्द करता हुआ प्रतिकूल वायु बहने लगा। तथा—"वाता मण्डलिनस्तीव्रा ह्यपसव्यं प्रचक्रमुः ।" (वाल्मी० ६।१०६।२०) ; अर्थात् बाईं ओर चक्कर काट कर तीव्र हवा चलने लगी।

कहते हैं, इसकी भी व्यवस्था पूरी होने पर उसकी मृत्यु होगी। कहा जाता है कि रावण योग की संजीवनी मुद्रा करता था, जिसमें ब्रह्मरंध्र से अमृत स्रवता है और नाड़ी के द्वारा नाभि-कुंड में आता है, बहुत कालों में नाभि-कुंड भर पाता है।

(४) 'कृपाला'—श्रीविभीषणजी पर एवं सुर-मुनि आदि पर कृपा करके रावण को मारेंगे। पुनः रावण पर भी कृपा करके उसे शाप-मुक्त करेंगे एवं अपना धाम देंगे। 'हरषि'— श्रीविभीषणजी के उपाय बतलाने पर हर्ष हुआ कि अब सरलता से रावण का वध हो जायगा।

'बान कराला'—बाण की करालता विस्तार-पूर्वक वाल्मी० ६।१०८।३-१३ में कही गई है कि यह फुफकारते हुए सर्प के समान दीप्तमान था। वह ब्रह्मा एवं अगस्त्यजी का दिया हुआ था, यह अमोघ था। उसके वेग में वायु और धार में अग्नि तथा सूर्य थे, शरीर आकाशमय था और वह मेरु तथा मंदराचल के समान भारी था। वह सोने से मढ़ा हुआ एवं सब तत्वों के तेज से बना था और सूर्य के समान उज्ज्वल था। इत्यादि बहुत रीति से कहा गया है।

असुभ होन लागे तब नाना। रोवहिं खर सृकाल बहु स्वाना ॥७॥
बोलहिं खग जग आरति हेतू। प्रगट भये नभ जहँ तहँ केतू ॥८॥
दस दिसि दाह होन अति लागा। भयउ परब बिनु रवि उपरागा ॥९॥
मंदोदरि उर कंपति भारी। प्रतिमा स्रवहिं नयन मग बारी ॥१०॥

शब्दार्थ—परब (पर्व) = पुण्य काल, एवं अमावस्या और पूर्णिमा आदि में प्रतिपद् की संधि में ग्रहण-काल। उपराग = सूर्य का चन्द्रग्रहण।

अर्थ—तब अनेकों अपशकुन होने लगे, बहुत-से गदहे, गीदड़ और कुत्ते बहुत जोर से रोने लगे ॥७॥ जगत् के दुःख के हेतु पक्षी बोल रहे हैं, जहाँ-तहाँ आकाश में केतु (पुच्छल तारा) प्रकट हो गये ॥८॥ दसो दिशाओं में अत्यन्त दाह होने लगा। बिना पर्व के ही सूर्य-ग्रहण होने लगा ॥९॥ मंदोदरी का हृदय बहुत काँप रहा है, मूर्त्तियाँ नेत्र-मार्ग से जल गिरा रही हैं ; अर्थात् रो रही हैं ॥१०॥

विशेष—(१) 'रोवहिं खर सृकाल बहु स्वाना।'—इन सबको साथ लिखकर इनका एक साथ मिलकर रोना सूचित किया ; यथा—"विनेदुरशिवा गृध्रावायसैरभिमिश्रिताः।" (वाल्मी० ६।६५। ४०) ; इनका एक साथ रोना परम भयावह है। 'बोलहिं खग···' ; यथा—"गोमायु गीध कराल खर रव स्वान बोलहिं अति घने। जनु काल दूत उलूक बोलहिं बचन परम भयावने॥" (दो० ७७) ; 'जग आरति हेतू'—खग का विशेषण है ; अर्थात् ये अपशकुन जगत् के दुःख के कारण हैं, जो आज रावण के प्रति हो रहे हैं।

(२) 'प्रगट भये नभ जहँ तहँ केतू।'—जहाँ केतु का उदय होता है, उस देश के राजा की मृत्यु और प्रजा को क्लेश होता है ; यथा—"उदय केतु सम हित सब ही के।" (बा० दो० ४) ; "दुष्ट उदय जग आरति हेतू। जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू॥" (उ० दो० १२०) ; 'जग आरति हेतू' को दीपदेहली के रूप में भी लेना चाहिये।

(३) 'दस दिसि दाह···' यह छत्र-भंग का सूचक है; यथा—"हाट घाट नहिं जाहिं निहारी। जनु पुर दहँ दिसि लागि दँवारी।।" (अ० दो० १५८); तथा—"संध्यायाचावृता लंका जपापुष्पनिकाशया। दृश्यते सम्प्रदीप्तेव दिवसेऽपि वसुन्धरा।।" (वाल्मी० ६।१०६।२१); अर्थात् जपापुष्प के समान लाल संध्या से लंका छिप गई। पृथिवी दिन में भी जलती हुई-सी दिखलाई पड़ने लगी। 'अति लागा'—कई दिन से दाह होता था, आज अत्यन्त होने लगा।

(४) 'मंदोदरि उर कंपति भारी'—पहले भी इसका हृदय काँपता था; यथा—"मंदोदरी उर कंप कंपति कमठ भू भूधर त्रसे।" (दो० १०); यह श्रीरामजी के अत्यन्त क्रुद्ध होने पर होनेवाली घटना है और आज तो यह रावण के मृत्यु-सूचक निमित्तों को देख रही है, इससे 'कंपति भारी' कहा गया है।

छंद—प्रतिमा रुदहिं पविपात नभ अति बात बह डोलति मही।
बरषहिं बलाहक रुधिर कच रज असुभ अति सक को कही।
उतपात अमित बिलोकि नभ सुर बिकल बोलहिं जय जये।
सुर सभय जानि कृपाल रघुपति चाप सर जोरत भये।।

दोहा—खैंचि सरासन श्रवन लगि, छाँड़े सर एकतीस।
रघुनायक सायक चले, मानहुँ काल फनीस।।१०१।।

अर्थ—प्रतिमाएँ रोती हैं, आकाश से बहुत-बहुत वज्रपात होते हैं, अत्यन्त प्रचंड वायु चलने लगी, पृथिवी हिलती है। बादलों से रुधिर, बाल और धूल बरस रहे हैं, इस तरह के अत्यंत अमंगल हो रहे हैं। उनको कौन कह सकता है? अर्थात् वे सब अनगिनत हैं एवं अत्यंत करालता के कारण कहे नहीं जाते।। अगणित उत्पातों को देखकर आकाश मे देवता व्याकुल होकर 'जय जय' बोल रहे हैं (यद्यपि व्याकुल हो रहे हैं तथापि स्वार्थ-सिद्धि की आशा से 'जय जय' कहते हैं)। देवताओं को भयभीत समझकर कृपालु श्रीरघुनाथजी धनुष पर बाण लगाने लगे।। कानों तक धनुष को खींचकर श्रीरघुनाथजी ने एकतीस बाण छोड़े, उनके बाण ऐसे चले, मानों काल रूपी सर्पराज चल रहे हों।।१०१।।

विशेष—(१) 'पविपात नभ'—वज्रपात को पहले चरण में और 'बरषहिं बलाहक' दूसरे चरण मे कहा गया है। इसका भाव यह है कि विना बादलों के ही वज्रपात हो रहे हैं; यथा—"निपेतुरिन्द्राशनयः सैन्ये चास्य समन्ततः। दुर्विषह्यस्वरा घोरं विनाजलधरोदयम्।।" (वाल्मी० ६।१०६।२८); अर्थात् रावण की सेना पर चारों ओर से इन्द्र के वज्र गिरने लगे, जिनका शब्द असह्य था और ये वज्र विना मेघ के ही गिरे। 'अति बात बह'; यथा—"प्रतिलोमं ववौ वायुर्निर्घातसमनिस्वनः।" (वाल्मी० ६।५१।३४); अर्थात् मेघों के टक्कर के समान शब्द करता हुआ प्रतिकूल वायु बहने लगा। तथा—"वाता मण्डलिनस्तीव्रा व्यपसव्यं प्रचक्रमुः।" (वाल्मी० ६।१०६।२०); अर्थात् बाईं ओर चक्कर काट कर तीव्र हवा चलने लगी।

स्त्री के सामने रावण के सच्चे शिर भेजे गये कि बदले में वह भी रोवे। पूर्व में कहा था—'ले सिर बाहु चले नाराचा।' अब यहाँ उसे स्पष्ट किया कि वे मंदोदरी के पास शिरों को लेकर चले थे। उन्हें वहाँ पहुँचा दिया तब आकर श्रीरामजी के निषंग में प्रवेश कर गये। कार्य करके ही बाण तर्कश में प्रवेश करते हैं—देखिये दो० १३ और दो० ६७ भी। इससे रावण की मृत्यु जानकर देवताओं ने हर्ष के नगाड़े बजाये।

तासु तेज समान प्रभु आनन। हरषे देखि संभु चतुरानन ॥९॥
जय जय धुनि पूरी ब्रह्मंडा। जय रघुबीर प्रबल भुजदंडा ॥१०॥
बरषहिं सुमन देव-मुनि-बृंदा। जय कृपाल जय जयति मुकुंदा ॥११॥

शब्दार्थ—मुकुंद=मुक्ति देनेवाले, विष्णु।

अर्थ—उसका तेज प्रभु के मुख में समा गया। श्रीशिवजी और ब्रह्माजी देखकर प्रसन्न हुए ॥९॥ ब्रह्मांड में जय-जयकार की ध्वनि भर गई, (सब कहते हैं कि) प्रबल-भुज दंडवाले श्रीरघुवीर की जय हो ॥१०॥ देव मुनि वृन्द फूल बरसाते हैं और कहते हैं कि हे कृपालो! आपकी जय हो, हे मुकुंद! आपकी जय हो ॥११॥

विशेष—(१) 'तासु तेज समान प्रभु आनन।'—इसके भाव और शंका समाधान—"तासु तेज प्रभु बदन समाना।" (दो० ४१) में देखिये।

'हरषे देखि संभु चतुरानन।'—ब्रह्माजी और श्रीशिवजी उसके वरदाता हैं। उनके वरके अनुसार ही कार्य भी हुआ। उसने इनकी सेवा की थी। पुन ब्रह्माजी का यह प्रपौत्र भी था, इसीसे इसकी मुक्ति का अनुमान कर इन्हें हर्ष हुआ। और देवता तो केवल उसके मरने पर ही आनंद के नगाड़े बजाये थे।

(२) 'प्रबल भुज दंडा'—क्योंकि इन्द्र आदि के जीतनेवाले को मारा है।

(३) 'जय कृपाल जय जयति मुकुंदा।'—'कृपालु का भाव यह कि हम सब पर कृपा करके इसे मारा और 'मुकुंदा' का भाव यह कि ऐसे पापी को भी मुक्ति दी।

छंद—जय कृपाकंद मुकुंद द्वंद्वहरन सरन-सुखप्रद प्रभो।
खल-दल-बिदारन परम कारन कारुनीक सदा बिभो ॥१॥
सुर सुमन बरषहिं हरष संकुल बाज दुंदुभि गहगही।
संग्राम अंगन राम अंग अनंग बहु सोभा लही ॥२॥

अर्थ—हे कृपा-रूपी मेघ! हे मोक्ष दाता! हे द्वन्द्व (हर्ष-शोक, राग-द्वेष आदि) के हरनेवाले! हे शरणागत के सुख देनेवाले! हे प्रभो! हे खल-दल के नाशक! हे परम कारण! हे सदा करुणा करने वाले! हे सदा समर्थ एवं व्यापक! आपकी जय हो ॥१॥ देव समूह आनंद में भरे हुए फूल बरसाते हैं और धमाधम नगाड़े बज रहे हैं। रणांगन में श्रीरामजी के शरीर में अनेक कामदेवों की शोभा प्राप्त है ॥२॥

विशेष—(१) 'परम कारन'—'अशेष कारण पर' बा० मं० श्लोक देखिये।

(२) 'कारुनीक सदा' का भाव यह है कि करुणा त्याग के कारणों पर भी करुणा नहीं छोड़ते; यथा—"अपनेहुँ देखे दोष, राम न सपनेहु उर धरेउ।" (दोहावली ४७); 'अनंग यहु सोभा लही'—यहाँ भी खर-दूषण-प्रसंग की तरह मोहिनी छटा है। जैसे काम पुष्प के ही धनुष-बाण से सकल भुवन को जीतकर शोभा पाता है, वैसे ही आपने भी परम सुन्दर सुकुमार शरीर से ही त्रिलोक विजयी को जीतकर शोभा पाई है।

सिर जटा मुकुट प्रसून बिच बिच अति मनोहर राजहीं।
जनु नीलगिरि पर तड़ित-पटल-समेत उडुगन भ्राजहीं॥३॥
भुजदंड सर कोदंड फेरत रुधिर कन तन अति बने।
जनु रायमुनीं तमाल पर बैठीं बिपुल सुख आपने॥४॥

दोहा—कृपादृष्टि करि वृष्टि प्रभु, अभय किये सुरबृंद।
भालु कीस सब हरषे, जय सुखधाम मुकुंद॥१०२॥

अर्थ—शिर पर जटाओं का मुकुट है, बीच-बीच में अत्यन्त मनहरण फूल शोभा दे रहे हैं। मानों नीलगिरि पर बिजली का समूह नक्षत्रों के साथ शोभा दे रहा हो॥ भुजदंडों से धनुष और बाण घुमा रहे हैं, रक्त की बूँदों की छींटें शरीर पर अत्यन्त सुन्दर लगती हैं। मानों तमाल वृक्ष पर बहुत-सी राय-मुनियाँ पक्षी अपने बड़े आनन्द में बैठी हैं॥ प्रभु श्रीरामजी ने कृपा-दृष्टि की वर्षा करके देव वृन्द को निर्भय किया सब वानर भालू प्रसन्न हुए (और बोले-) हे सुखधाम। हे मुक्तिदाता। आपकी जय हो॥१०२॥

विशेष—(१) 'जनु नीलगिरि पर ···'—यहाँ श्याम शरीर नील पर्वत है, जटा के बाल तड़ित-समूह हैं; यथा—"कोदंड कठिन चढ़ाइ सिर जट जूट बाँधत सोह क्यों। मरकत सैल पर लरत दामिनि कोटि सों जुग भुजग ज्यों॥" (आ० दो० १८); श्वेत फूल नक्षत्र हैं।

(२) 'भुजदंड सर कोदंड फेरत'—यह वीर रस की क्रीड़ा है।

(३) 'जनुराय मुनी तमाल पर···'—नील तमाल वृक्ष श्रीरामजी का श्याम शरीर है, रक्त के कण रायमुनियाँ पक्षी हैं। जैसे पक्षी बाहर से आकर वृक्ष पर बैठकर शोभा पाते हैं। वैसे ही ये रक्त-बिन्दु रावण के शरीर के हैं, बाण लगने पर रक्त की छींटें आकर शरीर पर पड़ी हैं। अन्यत्र रक्त कण घृणा उत्पन्न करते हैं, पर वीर रस में शत्रु से विजय होने पर ये सुशोभित होते हैं। श्रीरामजी का शरीर सच्चिदानद रूप है; यथा—"चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥" (अ० दो० ११६) इससे उसमे से रक्त का निकलना नहीं हो सकता।

यहाँ की छटा पर गी० लं० १६ और क० लं० ५१ पद्य देखने योग्य हैं।

(४) 'कृपा दृष्टि करि वृष्टि···'—देवता आकाश में थे, उन्होंने रावण वध पहले जाना, बाणों का शिर लेकर जाना, धड़ का गिरना आदि ऊपर ही से देखा, इससे पहले नगाड़े बजाये, तब वानरों ने जाना। इसीसे देवताओं का हर्ष एवं अभय होना पहले कहा गया है। 'सुखधाम' रावण-वध से सबको सुख दिया और 'मुकुन्द' का भाव यह है कि रावण को मुक्ति दी, देवता लोग रावण की कैद से मुक्त हुए। इसलिये इन विशेषणों से जय-जयकार कर रहे हैं। 'भालु कीस सब हरषे'; यथा—"ततो विनेदुः संहृष्टा वानरा जितकाशिनः। वदन्तो राघव जयं रावणस्य च तद्वधम्॥" (वाल्मी॰ ६।१०८।२६)।

"मन्दोदरी शोक"—प्रकरण

पति सिर देखत मंदोदरी। मुरुछित बिकल धरनि खसि परी ॥१॥
जुवति-बृंद रोवत उठि धाई। तेहि उठाइ रावन पहिं आई ॥२॥
पतिगति देखि ते करहिं पुकारा। छूटे कच नहिं बपुष सँभारा ॥३॥
उर ताड़ना करहिं बिधि नाना। रोवत करहिं प्रताप बखाना ॥४॥

अर्थ—पति के शिर देखते ही मंदोदरी व्याकुल और मूर्च्छित होकर पृथिवी पर गिर पड़ी ॥१॥ स्त्री-वृन्द रोती हुई उठकर दौड़ीं और उसको उठाकर रावण के पास आईं ॥२॥ पति की दशा देखकर वे चिल्ला-चिल्ला कर रोती हैं, उनके बाल खुले हुए हैं शरीर की सँभाल नहीं है ॥३॥ अनेकों प्रकार से छाती पीटती हैं और रोती हुई उसके प्रताप का बखान करती हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'जुवति बृंद रोवति उठि धाई'।···—मंदोदरी मूर्च्छित हो गई, तब उसकी और सौतों और दासियों ने देखा कि कहीं इनके भी प्राण न निकल जायँ, इसलिये वे उसे उठाकर (चैतन्य कर रावण के मृत-शरीर के पास ले आईं कि वहाँ उसे देखकर अश्रुपात आदि से हृदय का शोक कम हो जायगा। ये 'जुवति बृंद' उसकी रानियाँ हैं; यथा—"देव-जच्छ-गंधर्ब-नर-किन्नर-राजकुमारि। जीति बरीं निज बाहु बल, बहु सुंदर बर नारि॥" (बा॰ दो॰ १८२)। इनके साथ दासियाँ भी हैं।

(२) 'रावन पहँ आई'—शोक के कारण लज्जा छोड़कर उसकी अंतिम दशा देखने आईं कि जिसकी हम रानियाँ थीं, जब वही नहीं रहा, तब हम व्यर्थ इस जीवन से क्या करेंगी, वहीं रो-पीटकर प्राण छोड़ देंगी।

यह भी देखने आईं कि पूर्व के समान कहीं फिर न नये शिर-बाहु आदि हो गये हों।

मरने पर भी रुला रहा है, इससे ग्रन्थकार ने उसका 'रावन' नाम दूसरे नामों को छोड़कर दिया है।

(३) 'छूटे कच नहिं बपुष सँभारा'—शोक में लज्जा नहीं रह जाती; यथा—"सोक बिकल दोउ राज समाजा। रहा न ज्ञान न धीरज लाजा॥" (अ॰ दो॰ २७१); यही दशा इन लोगों की है। जो केश की चोटी अनेक रत्नों से सजाई जाती थी, वह खुलकर लथड़ रही है। देह की सँभाल नहीं है, वे गिरती-पड़ती रणभूमि में रावण के पास आईं। 'करहिं प्रताप बखाना'—यह श्रीगोस्वामीजी आगे लिखते हैं—

तव बल नाथ डोल नित धरनी। तेजहीन पावक ससि तरनी ॥५॥

सेष कमठ सहि सकहिं न भारा। सो तनु भूमि परेउ भरि छारा ॥६॥
बरुन कुबेर सुरेस समीरा। रन सन्मुख धरि काहु न धीरा ॥७॥
भुजबल जितेहु काल जम साईं। आजु परेहु अनाथ की नाईं ॥८॥

अर्थ—हे नाथ ! तुम्हारे बल से पृथिवी नित्य काँपती थी, अग्नि, चन्द्रमा और सूर्य तुम्हारे सामने तेजहीन (फीके) थे ॥५॥ शेष और कमठ जिसके भार नहीं सह सकते थे, वही तुम्हारा शरीर आज धूल में भरा हुआ पृथिवी पर पड़ा है ॥६॥ वरुण, कुबेर, इन्द्र और पवन—किसी ने भी तुम्हारे सामने रण में धैर्य धारण नहीं किया (अर्थात् वे अधीर होकर भाग जाते थे,) ॥७॥ हे स्वामी ! तुमने अपने बाहुबल से काल और यमराज को जीता। पर आज अनाथ की तरह पड़े हो ॥८॥

विशेष—(१) 'तव बल नाथ डोल नित धरनी।'—यह प्रताप है; यथा—"जासु चलत डोलत इमि धरनी। चढ़त मत्तगज जिमि लघु तरनी॥ सोइ रावन जग बिदित प्रतापी।" (दो० २४); 'तेज हीन पावक ससि तरनी।'—यह तेज है; क्योंकि तेजोमय अग्नि, चन्द्र और सूर्य से भी इसे अधिक कहा गया है। ये सब रावण की रुचि के अनुकूल तप्त एवं शीतल होते थे। ये एवं और भी लोकपाल रावण के यहाँ हाथ जोड़े खड़े रहते थे; यथा—"कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥ देखि प्रताप न कपि मन संका।" (सुं० दो० १९); तथा—"पावक पवन पानी, भानु हिमवान जम, काल, लोकपाल मेरे डर डाँवाडोल हैं।" (क० सुं० २१)।

(२) 'सो तनु भूमि परेउ...'—भाव यह कि ऐसे प्रतापी तेजस्वी को तो अमूल्य बिछौने पर सोना चाहिये था, सो धूल एवं रक्त की कीच से भरी भूमि पर क्यों पड़े हो; यथा—"शयनेषु महार्हेषु शयित्वा राक्षसेश्वर॥ इह कस्मात्प्रसुप्तोऽसि धरण्यां रेणु गुण्ठितः।" (वाल्मी० ६।१११।५६-५७)।

(३) 'बरुन कुबेर सुरेस समीरा...'—पहले अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, इन तीनों को कहा, अब शेष पाँच लोकपालों को यहाँ कहती हैं; यथा—"सब सुर जिते एक दसकंधर।" (दो० ३४); 'काहु न' से और भी ऋषि, गंधर्व, दानव आदि आ गये। रावण जब दिग्विजय के समय मरुत राजा की यज्ञ में पहुँचा, तो वहाँ इन्द्रादि आये थे, सबने इसके डर से पशु-पक्षियों के रूप में छिपकर अपने-अपने प्राण बचाये थे, इन्द्र मोर, वरुण हंस, कुबेर गिरगिट और यमराज कौआ बने थे—वाल्मी० ७।१८ में लिखा है। यमराज को आगे कहती है—'भुजबल जितेहु काल जम...'—इनको सबसे पृथक् कहा, क्योंकि काल और यम को कोई जीत नहीं सकता। कोई-कोई योगी काल को योगबल से जीतते हैं, पर भुजबल से नहीं, पर तुमने बाहुबल से जीता था; यथा—"बरुन कुबेर पवन जम काला। भुजबल जितेउँ सकल दिगपाला॥ देव दनुज नर सब बस मोरे।" (दो० ७); भाव यह है कि ऐसे तुम आज मृत्यु को कैसे प्राप्त हो गये; यथा—"त्वं मृत्योरपि मृत्युः स्याः कथं मृत्यु वशंगतः।" (वाल्मी० ६।१११।४८)।

(४) 'अनाथ की नाईं'—कोई सम्बन्धी सहायक उठानेवाला भी नहीं रह गया। लाश उठाना भी श्रीरामजी की आज्ञा से हो सकेगा।

जगत बिदित तुम्हारि प्रभुताई। सुत परिजन बल बरनि न जाई ॥९॥
राम-बिमुख अस हाल तुम्हारा। रहा न कोउ कुल रोवनिहारा ॥१०॥

अर्थ—तुम्हारी प्रभुता जगत्-भर में प्रसिद्ध थी, तुम्हारे पुत्रों और कुटुम्बियों का बल वर्णन नहीं हो सकता था ॥९॥ श्रीरामजी से प्रतिकूल होने से तुम्हारी ऐसी दशा हुई कि कुल में अब कोई रोने वाला तक नहीं रह गया ॥१०॥

विशेष—'रहा न कुल कोउ···'—रावण ने लंका भर के राक्षसों को लड़ाई में जुझवा दिया, तब स्वयं मरा, जिससे उनकी विधवा स्त्रियाँ ही रह गईं, कोई पुरुष अब उस कुल में ऐसा नहीं रह गया, जो उसके लिये अपनापन माने और रोवे; यथा—"त्वयाकृतमिदं सर्वमनाथं राक्षसंकुलम्।" (वाल्मी॰ ६।१११।७१); अर्थात् तुमने समस्त राक्षस कुल को अनाथ कर दिया। श्रीविभीषणजी हैं; परन्तु इस समय विपक्ष में होने से उन्हें अपना मानकर रोनेवाला नहीं मानतीं।

तव बस बिधि प्रपंच सब नाथा। सभय दिसिप नित नावहिं माथा ॥११॥
अब तव सिर भुज जंबुक खाहीं। राम-बिमुख यह अनुचित नाहीं ॥१२॥
काल बिबस पति कहा न माना। अगजग नाथ मनुज करि जाना ॥१३॥

अर्थ—हे नाथ! तुम्हारे वश में तो सब ब्रह्म-सृष्टि थी, सब लोकपाल भय-सहित नित्य प्रणाम करते थे ॥११॥ अब तुम्हारे शिरों और भुजाओं को गीदड़ खाते हैं, राम-द्रोही के लिये यह अनुचित नहीं है (उन्होंने स्वयं समाधान किया कि ऐसी दशा होना योग्य ही है,) ॥१२॥ हे पति! काल के विशेष वश होने से तुमने किसीका कहना नहीं माना और चराचर के स्वामी को मनुष्य करके समझा ॥१३॥

विशेष—(१) 'कहा न माना'—सुहृदों का, भाइयों का एवं मेरा कहना नहीं माना; यथा—"तेहि पुनि कहा सुनहु दससीसा। ते नर रूप चराचर ईसा॥" (आ॰ दो॰ २४)—मारीच, "तात राम नहि नर भूपाला। भुवनेश्वर कालहु कर काला॥" (सुं॰ दो॰ ३८)—श्रीविभीषणजी, "कंत राम-बिरोध परिहरहू। जानि मनुज जनि हठ उर धरहू॥ बिस्व-रूप रघुबंस-मनि।" (दो॰ १४)—मंदोदरी, "हिरन्याच्छ भ्राता सहित, मधुकैटभ बलवान। जेहि मारेउ सोइ अवतरेउ···" (दो॰ ४८)—माल्यवान्, "हैं दससीस मनुज रघुनायक। जाके हनूमान से पायक॥" (दो॰ ६१) कुंभकर्ण,इत्यादि सभी ने कहा, पर तुमने किसी की भी नहीं मानी। चराचर नायक को भी मनुष्य ही करके माना।

छंद—जानेउ मनुज करि दनुज-कानन दहन पावक हरि स्वयं।
जेहि नमत सिव ब्रह्मादि सुर पिय भजेहु नहिं करुनामयं॥
आजन्म ते परद्रोहरत पापौघमय तव तनु अयं।
तुम्हहूँ दियो निज धाम राम नमामि ब्रह्म निरामयं॥

दोहा—अहह नाथ रघुनाथ सम, कृपासिंधु नहिं आन।
जोगि-बृंद दुर्लभ गति, तोहि दीन्हि भगवान ॥१०३॥

अर्थ—दैत्य-रूपी वन के जलाने के लिये अग्नि रूप स्वय भगवान् को तुमने मनुष्य करके ही समझा। जिसको शिव ब्रह्मा आदि देवता नमस्कार करते हैं, उन करुणामय श्रीरामजी का, हे प्रिय ! तुमने भजन नहीं किया ॥ तुम्हारा यह शरीर जन्म के समय से (मरने के समय तक) पर-द्रोह में लगा हुआ और समूह पापमय रहा। ऐसे तुमको भी जिन निर्विकार ब्रह्म श्रीरामजी ने अपना धाम दिया। उनको मैं नमस्कार करती हूँ ॥ अहह ! (खेद की बात है,) हे नाथ ! श्रीरघुनाथजी के समान कृपासागर दूसरा कोई नहीं है, (क्योंकि) योगि समाज को भी जो गति दुर्लभ है, वह भगवान् श्रीरामजी ने तुम्हें दी है ॥१०३॥

विशेष—(१) 'दनुज कानन दहन ', यथा—"काल-रूप खल वन दहन, गुनागार घन बोध। सिव विरंचि जेहि सेवहिं, तासों कवन विरोध ॥" (दो० ४७), यहाँ दनुज को वन कहा गया है, इसीसे हरि को अग्नि कहा गया। 'हरि स्वय'—इन्हीं के आगे 'राम ब्रह्म अनामय' से स्पष्ट किया है। 'जेहि नमत सिव ब्रह्मादि'''—ब्रह्माजी सृष्टि करते हैं और श्रीशिवजी उसका संहार करते हैं। इस तरह के बड़े-बड़े देवता भी उनके सेवक हैं। तब तुम भी तो इन्हीं के वरदान से बढ़े हो, तुम्हें भी इनके स्वामी को अपना स्वामी ही मानना और भजन करना चाहता था। 'भजेहु नहिं करुनामय'—श्रीशिवजी आदि देवताओं के प्रणाम करने का कारण भी कहती है कि वे करुणामय हैं। अत, सेवक के दुःख से दुखी होकर शीघ्र ही द्रवित होते हैं, यथा—"करुनामय रघुनाथ गोसाँई। वेगि पाइयहि पीर पराई ॥" (अ० दो० ८४), इसीसे सब जीवों के दुःख हरने के लिये ही उन्होंने अवतार लिया है और सभी उन्हें भजते हैं।

(२) 'आजन्म ते परद्रोह रत पापौघमय '' '—उपर्युक्त करुणा गुण का ही कार्य इसमें भी दिखाते हैं कि तुम ऐसे पापी को भी उन्होंने मुक्ति दी, यथा—"उमा राम मृदु चित करुनाकर। वैर भाव मोहिं सुमिरत निसिचर ॥ देहि परम गति सो जिय जानी। अस कृपालु को कहहु भवानी ॥" (दो० ४३)। 'तुम्हहूँ दियो निज धाम' के सम्बन्ध से 'ब्रह्म निरामय' कहा गया है कि यदि उनमे राग-द्वेष आदि विकार होते तो तुम ऐसे पापी एव द्वेषी को प्रभु अपना धाम नहीं देते।

(३) 'अहह नाथ '—यहाँ उपर्युक्त करुणा के कार्य का ही सराहना की गई है। 'जोगि बृंद दुर्लभ गति '—योग-शास्त्र की रीति से योगी लोग कैवल्य मुक्ति पाते हैं, यह वही मुक्ति है जो उ० दो० ११६–११७ में ज्ञान दीपक के द्वारा कही गई है। उसे ही निर्वाणपद, परमपद एव भगवद्धाम प्राप्ति भी कहते हैं, क्योंकि वे कैवल्य मुक्त जीव भी पर विभूति में ही रहते हैं। गति देने के सम्बन्ध से 'भगवान्' कहा है, यथा—"उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥" इस तरह भगवान् कहकर उनका गति देने का सामर्थ्य भी जनाया।

मंदोदरी बचन सुनि काना। सुर मुनि सिद्ध सबन्हि सुख माना ॥१॥
अज महेस नारद सनकादी। जे मुनिबर परमारथबादी ॥२॥
भरि लोचन रघुपतिहि निहारी। प्रेम मगन सब भये सुखारी ॥३॥

अर्थ मंदोदरी के वचन कानों से सुनकर देवता, मुनि और सिद्ध सभी ने सुख माना ॥१॥ ब्रह्मा, महेश, नारद, सनकादि ऋषि और भी जो मुनि श्रेष्ठ परमार्थ के जाननेवाले हैं ॥२॥ वे सब श्रीरघुनाथजी को नेत्र भर देखकर प्रेम में डूब गये और बड़े सुखी हुए ॥३॥

विशेष—(१) 'मंदोदरी वचन सुनि···'—पहले मंदोदरी का मूर्च्छित होकर पृथिवी पर गिरना कहा गया था। पर चैतन्य होना स्पष्ट नहीं कहा गया था, जैसे कि अन्यत्र कहा गया है ; यथा "परेउ अवनि तल सुधि कुछ नाहीं ॥ उठा प्रबल पुनि मुरुछा जागी।" (दो० ८१); तथा—"मुरुछा गइ मारुत-सुत जागा।" (दो० ५४)। यहाँ पर 'मंदोदरी-वचन' कहकर इसका चैतन्य होकर आना और विलाप के वचन कहना स्पष्ट किया गया है, आगे भी 'मंदोदरी आदि सब, देइ तिलांजलि ताहि' कहा है। अतः, यहाँ 'तेहि उठाइ रावन पहिं आई।' में 'उठाइ' शब्द में 'चैतन्य करना' आ गया है, अन्यथा आगे 'आई' की जगह 'लाँई' कहा जाता। उठने में चैतन्य होना अन्यत्र भी कहा गया है ; यथा—"ताहि एक छन मुरुछा आई ॥ उठि बहोरि कीन्हेसि बहु माया।" (सुं० दो० १८)—मेघनाद।

आदि में सब रानियों का विलाप करना कहा गया ; यथा—'ते करहिं पुकारा।' और अंत में 'मंदोदरी वचन' कहा गया। इससे जनाया गया कि मंदोदरी पटरानी है, अतएव रोने में उसीकी प्रधानता है, शेष सब उसके साथ-साथ रोती हैं।

'सुर मुनि सिद्ध सबन्हि सुख माना।'—इनके सुख मानने के कारण ये हैं कि इसके विलाप में श्रीरामजी के गुणों का कथन है, वे गुण यथार्थ हैं। दुष्ट की संगति में भी इसका ज्ञान शुद्ध देखकर उन्होंने प्रसन्नता मानी। पुनः शत्रु की स्त्रियों के रुदन का उनके लिये सुखदायक होना युक्त ही है।

(२) 'अज महेस नारद···'—का भाव यह है कि सामान्य सुर, मुनि आदि मंदोदरी के रुदन पर चित्त लगाये सुख पाते थे और ये लोग प्रभु की शोभा देख-देखकर प्रेम में निमग्न हो सुखी होते थे कि ऐसे संग्राम में भी आपको तनिक भी क्षोभ नहीं हुआ, वरन् आपकी मनोहर छवि वैसी ही है।

रुदन करत देखी सब नारी। गयउ बिभीषन मन दुख भारी ॥४॥
बंधु-दसा बिलोकि दुख कीन्हा। तब प्रभु अनुजहि आयसु दीन्हा ॥५॥
लछिमन तेहिं बहु बिधि समुझायो। बहुरि बिभीषन प्रभु पहिं आयो ॥६॥

अर्थ—सब स्त्रियों को रुदन करते हुए देखकर श्रीविभीषणजी वहाँ गये, उनके मन में भारी दुःख है ॥४॥ भाई की दशा देखकर उन्होंने दुःख (शोक) किया, तब प्रभु श्रीरामजी ने छोटे भाई श्रीलक्ष्मणजी को आज्ञा दी ॥५॥ (तब) श्रीलक्ष्मणजी ने उसे बहुत तरह से समझाया, फिर श्रीविभीषणजी लौटकर प्रभु के पास आये ॥६॥

विशेष—(१) 'गयउ बिभीषन मन दुख भारी।'—सत्पुरुष कुसमय में वैर भाव नहीं रखते। इससे श्रीविभीषणजी ने जब स्त्रियों को रोते देखा तो उनके कोमल हृदय में करुणा उत्पन्न हो आई और वहाँ जाकर फिर भाई की दशा देखने पर भी दुःख (शोक) किया कि मैंने बहुत समझाया कि यह नाश से बच जाय, परन्तु भावी होकर ही रही। देखो, ऐसा प्रतापी मेरा भाई आज इस दशा में पृथिवी पर पड़ा है। 'दुख भारी'—इनका दुःख से विलाप करना वाल्मी० ६।१०९।१-१२ में विस्तार से कहा गया है, परन्तु यहाँ श्रीरामजी का स्वयं समझाना है।

(२) 'लछिमन तेहिं बहु बिधि समुझायो।'— समझाना वाल्मी० ६।१०९।१३-२४ में कहा गया है कि प्रचंड पराक्रमी रावण बड़ा तेजस्वी था। इसकी देह प्राण-रहित होने पर भी तेजपूर्ण है। जो क्षात्र-

धर्म पालन करते हुए रणांगन में लड़कर मरते हैं, वे शोचनीय नहीं हैं। जिसने इन्द्र सहित तीनों लोकों को जीता, वह आज वीर गति से कालवश हुआ, तो उसके लिये शोच क्या करना। युद्ध में सदा एक ही पक्ष की जीत तो होती नहीं। वीर या तो शत्रुओं को मारता है या स्वयं मारा जाता है। मनु आदि पूर्व के क्षत्रियों ने यही उत्तम माना है कि वीर-गति से मरा हुआ क्षत्रिय शोचनीय नहीं है। ऐसा निश्चय-कर अब तुम शोकरहित होकर आगे का कर्त्तव्य-कार्य देखो।

अन्य रामायणों में और तरह से समझाना लिखा है। यहाँ के 'बहु बिधि' में सबका समावेश है।

(३) 'बहुरि बिभीषन प्रभु पहिं आयो'—वहाँ गये थे, श्रीलक्ष्मणजी के समझाने से शोक रहित होकर श्रीविभीषणजी प्रभु के पास आये।

कृपादृष्टि प्रभु ताहि बिलोका। करहु क्रिया परिहरि सब सोका ॥७॥
कीन्हि क्रिया प्रभु आयसु मानी। बिधिवत देस काल जिय जानी ॥८॥

दोहा—मंदोदरी आदि सब, देइ तिलांजलि ताहि।
भवन गईं रघुपति गुन, गन बरनत मन माहिं ॥१०४॥

अर्थ—प्रभु ने उसको कृपादृष्टि से देखा और कहा कि सब शोक छोड़कर रावण की (दाह) क्रिया करो ॥७॥ प्रभु की आज्ञा मान देश और काल को मन में विचारकर उन्होंने विधि-पूर्वक रावण की दाह-क्रिया की ॥८॥ मंदोदरी आदि सब स्त्रियाँ उसे तिलांजलि देकर मन में श्रीरघुनाथजी के गुण-गण वर्णन करती हुई घर को गई ॥१०४॥

विशेष—(१) 'कृपादृष्टि प्रभु······'—कृपा दृष्टि करके उसे शोक से निवृत्त किया।

(२) 'कीन्हि क्रिया प्रभु आयसु मानी।'—भाव यह है कि श्रीविभीषणजी उसे राम-विमुख एवं क्रूर स्वभाव के मानकर उसकी क्रिया नहीं करना चाहते थे, यह वाल्मी० ६।१११।९२–९६ में कहा गया है, तब श्रीरामजी ने विभीषणजी से कहा कि हमारा वैर इसके जीवित काल तक था, मरने पर समाप्त हो गया। अब तुम इसका संस्कार करो, यह जैसा तुम्हारा है, वैसा ही मेरा है। इसका कृत्य करना तुम्हारा धर्म है, इससे तुम्हारा यश होगा, इत्यादि सुनकर विभीषणजी रावण की अन्त्येष्टि क्रिया करने पर उद्यत हुए। वाल्मी० ६।१११।९७–१०३ में कहा गया है। वही यहाँ 'आयसु मानी' से कहा है। 'प्रभु आयसु' कहकर उसका गौरव कहा; यथा—"प्रभु आज्ञा अपेल श्रुति गाई।" (सुं० दो० ५८)'; अर्थात् परम समर्थ की आज्ञा माननी ही चाहिये।

'बिधिवत'—विधि वाल्मी० ६।१११।१०३–१२१ में कही गई है। सारांश यह है कि माल्य-वान् सहित श्रीविभीषणजी ने रावण की देह को रेशमी वस्त्र से लपेटकर सोने की पालकी पर रोते हुए ब्राह्मण राक्षसों से रखवाया। वे रोते हुए उसे ले चले। रावण की सब स्त्रियाँ रोती हुई पीछे-पीछे चलीं। नगाड़े बजने लगे और स्तुतियाँ होने लगीं। सब दक्षिण दिशा को गये। उसे पवित्र स्थान पर रखकर श्रीविभीषणजी ने चन्दन की लकड़ी, पद्मकाष्ठ और खस की चिता रचवाई, उसपर दुशाला बिछाया। वैदिक विधि से रावण-पितृ-मेध यज्ञ करने लगे। दक्षिण-पूर्व के कोने पर वेदी बनाकर अग्नि-स्थापन किया

और उसपर मृतक को रक्खा। दधि-घृत से भरा हुआ ध्रुवा रावण के कंधे पर रक्खा, पैरों पर शकट, जंघों पर ओखल, अन्य लकड़ी के पात्र, अरणि, उत्तरारणि और मूसल, उन सबको यथास्थान रक्खा।''' विधिपूर्वक अग्नि दी।

'देस काल'—'देस' लंका देश एवं रणस्थल में जैसी रीति थी; 'काल' त्रेता-युग में रणभूमि में मरनेवाले के लिये जैसी रीति थी। अथवा, प्रभु को अभी बहुत कार्य करना है, अवधि (१४ वर्ष की पूर्त्ति) में समय थोड़ा रह गया है। तदनुसार उन्होंने शीघ्रता की।

बालि की क्रिया में 'आयसु मानी' पद नहीं है; यथा—"तब सुग्रीवहि आयसु दीन्हा। मृतक-कर्म विधिवत सब कीन्हा॥" (कि॰ दो॰ १०)। क्योंकि वहाँ श्रीसुग्रीवजी को उसकी क्रिया करने में कोई संकोच नहीं था। पुनः वहाँ काल का भी संकोच नहीं था, प्रभु को वर्षा-भर वहीं रहना था।

'देस काल जिय जानी।' का यह भी भाव है कि रावण वीर-गति से एवं प्रभु के हाथ से मरकर मुक्त हुआ, पर देश-काल के अनुरोध से लोक-संग्रह के लिये विधिवत् क्रिया की गई। अन्यथा इसकी आवश्यकता नहीं थी।

(३) 'तिलाजलि'—श्रीविभीषणजी ने उसका अग्नि-संस्कार करके स्नान कर गीले वस्त्र सहित, तिल कुश और जल से तिलांजलि दी। फिर उसकी रानियों को बार-बार समझाकर शांत किया और उन्हें घर जाने के लिये कहा। सुनकर वे नगर में आईं।

(४) 'रघुपति गुन, गन बरनत मन माहिं'—यह लोकरीति है कि दाह कर्म करके लोग भगवान् का स्मरण करते हुए चलते हैं, यहाँ सभी रानियाँ श्रीरामजी की प्रणत-पालकता आदि गुणों को स्मरण करती हुई चलीं। श्मशान का क्षणिक ज्ञान (श्मशान वैराग्य) लोक-प्रसिद्ध है। उस समय सभी लोग प्रायः ससार को अनित्य देखते हुए परमात्मा का चिंतन करते हैं।

विभीषण-राज्याभिषेक—प्रकरण

आइ बिभीषन पुनि सिर नायो। कृपासिंधु तब अनुज बोलायो॥१॥
तुम्ह कपीस अंगद नल नीला। जामवंत मारुति नयसीला॥२॥
सब मिलि जाहु बिभीषन साथा। सारेहु तिलक कहेउ रघुनाथा॥३॥
पिता बचन मैं नगर न आवउँ। आपु सरिस कपि अनुज पठावउँ॥४॥

अर्थ—(दाह-क्रिया करके) फिर श्रीविभीषणजी ने आकर (प्रभु को) प्रणाम किया, तब कृपासागर श्रीरामजी ने भाई श्रीलक्ष्मणजी को बुलाया (और कहा)॥१॥ तुम, श्रीसुग्रीवजी, श्रीअंगदजी, नीलजी, नलजी, जाम्बवान्‌जी और हनुमान्‌जी, सब नीति-निपुण लोग मिलकर श्रीविभीषणजी के साथ जाओ और तिलक (विधान) पूर्ण रूप से करना—ऐसा श्रीरघुनाथजी ने कहा॥२-३॥ पिता की आज्ञा के अनुरोध से मैं नगर में नहीं आऊँगा, पर अपने समान वानर और छोटे भाई को भेजता हूँ॥४॥

विशेष—(१) 'पुनि' का सम्बन्ध क्रिया से है, क्रिया करके फिर आये और शिर नवाया कि अब और क्या आज्ञा होती है। पुनः यहाँ कुछ काल लगा, इससे आने पर प्रणाम करना शिष्टाचार भी है।

'कृपासिंधु'—क्योंकि कृपा करके इन्हें राज्य देंगे। 'बोलायो'—क्योंकि अभी श्रीलक्ष्मणजी कुछ दूरी पर थे। श्रीसुग्रीवजी के तिलक के समय पास ही बैठे थे, इससे वहाँ—"राम कहा अनुजहि समुझाई।" मात्र कहा गया है, बुलाना नहीं कहा गया।

(२) 'तुम्ह कपीस अंगद···'—श्रीलक्ष्मणजी भाई हैं और ये ही तिलक करेंगे, इससे प्रथम इन्हें ही कहा है। 'नय सीला'—ये सब मंत्री हैं, ये नीति एवं यह भी जानते हैं कि कैसे राज्य-तिलक करना चाहिये। सुग्रीव-तिलक-प्रसंग से भी सब जानते ही हैं। यद्यपि श्रीरामजी ने श्रीविभीषणजी को पहले ही समुद्र-जल से स्वयं तिलक किया है। परन्तु उसे लंकावासी नहीं जानते। अतः, लोक-रीति के अनुसार उन सबके समक्ष भी इनका तिलक होना आवश्यक है, इसलिये किया गया।

पहले भी देवताओं के धैर्य के लिये और लोक-दृष्टि से श्रीविभीषणजी की पक्की स्वीकृति प्रकट करने के लिये तिलक करना भी आवश्यक था।

(३) 'पिता बचन मैं···'—पहले अपने हाथ से तिलक किया था, अब दूसरे के द्वारा क्यों करवाते हैं? इसका यहाँ समाधान करते हैं कि क्या करूँ? पिता की आज्ञा ही वैसी है। सुग्रीवजी के प्रति—"पुर न जाउँ दस चारि बरीसा।" (कि० दो० ११), परन्तु यहाँ वर्ष की संख्या नहीं देते, क्योंकि अब तो दो दिन ही शेष हैं, एक वर्ष भी शेष नहीं है, इससे संख्या नहीं कही गई।

'आपु सरिस कपि अनुज···'—कपियों को आपने सखा का पद दिया है; यथा—"ये सब सखा सुनहुँ मुनि मेरे।" (उ० दो० ७); इससे उन्हें 'आपु सरिस' कहते हैं, क्योंकि सखा समकक्ष होता ही है—'समानं ख्यातीति सखा' और 'अनुज' शब्द से तो भाई समान हैं ही। यहाँ 'कपि' को पहले कहा और 'तुम्ह कपीस···' में श्रीलक्ष्मणजी को, इससे दोनों को तुल्य जनाया।

वानर गण तो अपनेको सेवक ही मानते हैं, परन्तु प्रभु अपने शील स्वभाव से उन्हें अपने समान कहते हैं; यथा—"प्रभु तरु तर कपि डार पर, ते किय आपु समान। तुलसी कहूँ न राम से, साहिब सील निधान॥" (बा० दो० २९)।

तुरत चले कपि सुनि प्रभु बचना। कीन्ही जाइ तिलक की रचना॥५॥
सादर सिंहासन बैठारी। तिलक साजि अस्तुति अनुसारी॥६॥
जोरि पानि सबहीं सिर नाये। सहित बिभीषन प्रभु पहिं आये॥७॥
तब रघुबीर बोलि कपि लीन्हें। कहि प्रिय बचन सुखी सब कीन्हे॥८॥

शब्दार्थ—अनुसारी = अनुसरण करना, करना। रचना = विधान।

अर्थ—प्रभु के वचन सुनकर वानर तुरत चले, जाकर तिलक के विधान किये॥५॥ आदर सहित सिंहासन पर बैठाकर तिलक करके उनकी स्तुति की॥६॥ हाथ जोड़कर सभी ने प्रणाम किया, (फिर) श्रीविभीषणजी के साथ सब प्रभु के पास आये॥७॥ तब रघुवीर श्रीरामजी ने वानरों को (अपने पास) बुला लिया और (अमृत के समान) प्यारे वचन कहकर उन सबको सुखी किया॥८॥

विशेष—'तुरत चले कपि···'—यहाँ चलने में वानरों को प्रधान कहा गया, क्योंकि पहले तीर्थों के जल लाना इन्हीं का काम है। 'तुरत' शब्द तिलक-रचना के साथ भी है। 'तिलक की रचना'

अ० दो० ४ से दो० ६ तक में कही गई है, वही यहाँ लगा लेना चाहिये। पुनः श्रीसुग्रीवजी के राज्य-तिलक पर कुछ विधान कहा गया है; यथा—"लछिमन तुरत बोलाये, पुरजन विप्रसमाज॥" (कि० दो० ११); उसका भी यहाँ अध्याहार कर लें और यहाँ का विधान; यथा—"तिलक की रचना, सिंहासन पर बैठाना, तिलक करना और स्तुति करना तथा प्रणाम करना" वहाँ भी अध्याहार से लगाना चाहिये। यह ग्रन्थकार की रीति है कि जब एक ही विषय दो जगह कहना होता है, तब कुछ-कुछ दोनों जगह कहते हैं। दोनों स्थलों के वर्णनों को मिलाकर ही अर्थ करना चाहिये।

जब वेद-विधि से राजा का अभिषेक होता है, तब वह सब लोकपालों के अंश-युक्त होकर स्तुति और प्रणाम के योग्य होता है। श्रीविभीषणजी तो परम भागवत भी हैं।

प्रथम श्रीलक्ष्मणजी ने तिलक किया, तब श्रीसुग्रीव आदि ने और फिर लंका-निवासियों ने भी तिलक किया। 'सबही सिर नाये'—सभा में जो लोग उपस्थित थे।

छंद—किये सुखी कहि बानी सुधा-सम बल तुम्हारे रिपु हयो।
पायो बिभीषन राज तिहुँ पुर जस तुम्हारो नित नयो॥
मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जे गाइहैं।
संसार-सिंधु अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं।

दोहा—प्रभु के बचन श्रवन सुनि, नहिं अघाहिं कपिपुंज।
बार बार सिर नावहिं, गहहिं सकल पदकंज॥१०५॥

अर्थ—अमृत समान वाणी कहकर सबको सुखी किया। (वे वचन ये हैं—) तुम्हारे बल (सहायता) से शत्रु का नाश हुआ और श्रीविभीषणजी ने राज्य पाया—यह तुम्हारा यश तीनों लोकों में नित्य नया बना रहेगा॥ जो मुझ सहित तुम्हारी मंगल कीर्ति को परम प्रीति से गावेंगे, वे मनुष्य बिना परिश्रम ही अपार भव-सागर के पार हो जायँगे॥ प्रभु के वचन कानों से सुनकर वानर समूह नहीं अघाते, सभी बार-बार मस्तक नवाते और चरण-कमल पकड़ते हैं॥१०५॥

विशेष—(१) 'किये सुखी कहि बानी सुधा सम···'—वाणी अमृत के समान है, इससे सुनकर सब सुखी हुए; यथा—"श्रवन सुधा सम बचन सुनि, पुलक प्रफुल्लित गात। बोले मनु करि दंडवत, प्रेम न हृदय समात॥" (बा० दो० १४५); 'जस तुम्हारो नित नयो'; यथा—"उदित सदा अथइहि कबहूँ ना। घटिहि न जग नभ दिन-दिन दूना॥" (अ० दो० २०८)।

(२) 'मोहिं सहित सुभ कीरति···'—प्रभु ने वानरों को सखा मानकर समकक्ष माना है। प्रभु की कीर्त्ति शुभ (मंगलमय) है; यथा—"जासु सकल मंगलमय कीती। तासु पयान सगुन यह नीती॥" (सुं० दो० ३४); इसीसे वानरों की कीर्त्ति को भी 'सुभ' कहा है। प्रभु के कीर्त्ति-गान का फल भव-सागर तरण है; यथा—"कहहि सुनहिं अनुमोदन करहीं। ते गोपद इव भव निधि तरहीं॥" (उ० दो०

१२८); वैसे ही यहाँ वानरों के कीर्त्तिगान का भी फल श्रीमुख से कह रहे हैं—'संसार सिंधु अपार पार···'—भाव यह है कि योग-व्रत आदि के द्वारा बहुत प्रयास से भवसागर-तरण होता है और तुम्हारी कीर्त्ति के गाने से बिना प्रयास ही होगा।

माहात्म्य-कथन में अपनेको गौण और भक्तों को प्रधान कहते हैं, यह कृतज्ञता की पराकाष्ठा है और यही—"राम ते अधिक राम कर दासा।" (उ० दो० ११८) का चरितार्थ भी है। 'मोहिं सहित···' से किष्किंधा, सुंदर और लंका इन्हीं तीन कांडों के चरित का माहात्म्य कहा गया, क्योंकि इन्हीं में प्रभु-चरित के साथ वानर लोग भी मिले हैं। 'जे गाइहैं' और 'नर पाइहैं' से मनुष्य-मात्र को इसके गान का अधिकारी सूचित किया।

(३) 'प्रभु के वचन श्रवन सुनि···'—वचन ऊपर 'सुधा सम' कहे गये,-इससे यहाँ उनका गुण कहते हैं; यथा—"नाथ तवानन ससि स्रवत, कथा सुधा रघुबीर। श्रवन पुटन्हि मन पान करि, नहिं अघात मति धीर ॥" (उ० दो० ५२)।

(४) 'बार-बार सिर नावहिं' और 'गहहिं सकल पद-कंज' से प्रेम की दशा, कृतज्ञता और अपने में प्रत्युपकार की असमर्थता प्रकट की; यथा—"प्रेम बिबस पुनि-पुनि पद लागीं।" (बा० दो० ३३५); "सुनत सुधा सम बचन राम के। गहे सबन्हि पद कृपाधाम के॥" (उ० दो० ४६) "मो पहिं होइ न प्रति-उपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा॥" (उ० दो० ११४)।

'गहहिं पदकंज'—का यह भी भाव है कि यह वचन हमें मोह में डालनेवाला है, उस बाधा से मेरी रक्षा कीजिये, इन्हीं चरणों का आश्रित रहने दीजिये; यथा—"सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख, गात हरषि हनुमंत। चरन परेउ प्रेमाकुल, त्राहि-त्राहि भगवंत॥" (सुं० दो० ३२)—ऐसे ही वचनों पर श्रीहनुमान्‌जी भी चरणों पर पड़े थे।

पुनः यहाँ के—'बल तुम्हारे रिपु हयो।' आदि वचन आगे दो० ११६ में भी प्रभु ने कहे हैं। वहाँ के वचनों के उत्तर यहाँ भी युक्तियुक्त हैं; यथा—"बचन सुनत प्रेमाकुल बानर।' से 'मसक कहूँ खगपति हित करहीं॥" तक।

"सीता-रघुपति-मिलन"—प्रकरण

पुनि प्रभु बोलि लियउ हनुमाना। लंका जाहु कहेउ भगवाना॥१॥
समाचार जानकिहि सुनावहु। तासु कुसल लै तुम्ह चलि आवहु॥२॥
तब हनुमंत नगर महँ आये। सुनि निसिचरी निसाचर धाये॥३॥
बहु प्रकार तिन्ह पूजा कीन्ही। जनक-सुता देखाइ पुनि दीन्ही॥४॥

अर्थ—फिर प्रभु ने श्रीहनुमान्‌जी को बुलाया, भगवान् श्रीरामजी ने उनसे कहा कि 'तुम लंका जाओ, श्रीजानकीजी को समाचार सुनाओ और उनकी कुशल लेकर तुम चले आओ॥१-२'। तब श्रीहनुमान्‌जी नगर में आये, (उनका आगमन) सुनकर राक्षसियाँ और राक्षस (स्वागत के लिये) दौड़े॥३॥ उन्होंने इनकी बहुत तरह से पूजा की और फिर श्रीजानकीजी को दिखा दिया॥४॥

विशेष—(१) 'प्रभु' और 'भगवाना' कहने का भाव यह कि आगे प्रभुता एवं ईश्वरत्व के चरित करेंगे। श्रीसीताजी की अग्नि-परीक्षा लेंगे, तब ब्रह्मादि आकर स्तुति करेंगे। श्रीहनुमान्‌जी को ही भेजा, क्योंकि इन्हें वे पहचानती हैं। अपनी तरफ के समाचार सुनाना कहते हैं, इसमें अपने सबकी कुशल और रावण-वध आदि बहुत बातें हैं, श्रीहनुमान्‌जी के कहते समय ग्रन्थकार खोलेंगे। श्रीसीताजी की कुशल-मात्र पूछते हैं, अभी ले आने को नहीं कहते कि जिससे सुनकर पहले उन्हें धैर्य हो, फिर सुस्थिर होने पर उन्हें आदरपूर्वक स्नान आदि कराके बुलायेंगे। अभी तो इतना ही जानना है कि वे जीवित हैं कि नहीं।

(२) 'बहु प्रकार तिन्ह पूजा कीन्ही।'; यथा—"प्रविवेश पुरीं लंकां पूज्यमानो निशाचरैः।" (वाल्मी० ६।११३।१) अर्थात् श्रीहनुमान्‌जी लंका में गये और राक्षसों से पूजित हुए। 'बहु प्रकार' अर्थात् षोड़शोपचार से। यहाँ 'धाये' (दौड़ने) में निशाचरियों को पहले कहा है, क्योंकि ये ही अब बहुत रह गई हैं, जो राक्षस बचे हैं, वे अभी भी मारे डर के आगे नहीं जाते, निशाचरियों के पीछे-पीछे पूजा करने के लिये आये। अब श्रीविभीषणजी राजा हैं, तदनुसार प्रजा भी हो गई। अब सात्त्विक भाव से पूजा कर रहे हैं।

'जनक-सुता देखाइ पुनि दीन्ही।'—इसमें 'पुनि' का अर्थ तत्पश्चात् है अर्थात् पूजा करने के पीछे उन्होंने श्रीजानकीजी को दिखा दिया कि यहाँ विराजमान हैं। साथ नहीं गईं, इसलिये कि हमलोगों के सामने बात-चीत करने में कुछ सँकोच होगा।

दूरहि ते प्रनाम कपि कीन्हा। रघुपति-दूत जानकी चीन्हा ॥५॥
कहहु तात प्रभु कृपानिकेता। कुसल अनुज कपि सेन समेता ॥६॥
सब बिधि कुसल कोसलाधीसा। मातु समर जीतेउ दससीसा ॥७॥
अबिचल राज बिभीषन पायो। सुनि कपि-बचन हरष उर छायो ॥८॥

अर्थ—कपि ने दूर ही से प्रणाम किया, श्रीजानकीजी ने पहचान लिया कि ये रघुपति-दूत हैं ॥५॥ (तब बोलीं) हे तात ! कहो, कृपा के धाम प्रभु भाई और सेना के साथ कुशल से तो हैं ॥६॥ हे माता ! कोसलपति श्रीरामजी सब प्रकार कुशल से हैं, उन्होंने रण में दस शिरवाले रावण को जीत लिया ॥७॥ श्रीविभीषणजी ने अचल राज्य पाया, कपि के वचन सुनकर उनके हृदय में आनंद छा गया ॥८॥

विशेष—(१) 'दूरिहि ते प्रनाम···'—जहाँ से राक्षसियों ने दिखाया, और श्रीजानकीजी इनको देख सकती थीं, वहीं से प्रनाम किया। ऐसी विधि है कि पूज्य को जहाँ से देखे, वहीं से प्रणाम करे, यथा—"गिरिवर दीख जनकपति जबहीं। करि प्रनाम रथ त्यागेउ तबहीं॥" (अ० दो० २७४); 'गुरुहि देखि सानुज अनुरागे। दंड प्रनाम करन प्रभु लागे॥ ···मुनिवर धाइ लिये उर लाई।" (अ० दो० १४२); 'चीन्हा'—क्योंकि पहले एक बार देख चुकी हैं।

(२) 'कहहु तात प्रभु···'—'कृपानिकेता'—क्योंकि कृपा करके तुम्हें भेजा। 'कुसल अनुज कपि सेन समेता।'—इन सबकी कुशल श्रीरामजी ने कहला भेजी है, वही पूछती हैं; यथा—"वैदेह्या मां च कुशलं सुग्रीवं च स लक्ष्मणम्। आचक्ष्व वदतां श्रेष्ठ रावणं च हतं रणे।" (वाल्मी० ११२।२४)—अर्थात् श्रीजानकीजी से श्रीसुग्रीवजी और श्रीलक्ष्मणजी सहित मेरी कुशल और रावण का रण में वध होना कहो।

(३) 'सब बिधि'—भाव यह कि सेना, भाई और सुग्रीवादि के साथ एवं सब प्रकार से कुशल हैं। 'अबिचल राज···'—रावण के सभी पक्षपाती मारे गये। अतः, श्रीविभीषणजी के राज्य में कोई बाधक नहीं रह गया। पुनः कल्प तक की उन्हें आयु भी प्राप्त है; यथा—"करेहु कलप भरि राज तुम्ह, मोहि सुमिरेहु मन माँहिं।" (दो० ११५); यथा—"विभीषणाय भगवान्दत्वा रक्षोगणेशताम् ॥३२॥ लंकामायुश्चकल्पान्तं ययौ चीर्णव्रतः पुरीम् ॥३३॥"—(भाग० ९।१०); अर्थात् भगवान् श्रीरामजी श्रीविभीषणजी को राक्षसों का राज्य, लंका और कल्प भर की आयु दे, व्रत को पूरा कर पुरी को चले।

छंद—अति हरष मन तनु पुलक लोचन सजल कह पुनि पुनि रमा।
का देउँ तोहि त्रैलोक महँ कपि किमपि नहिं बानी समा।
सुनु मातु मैं पायो अखिल-जग-राज आजु न संसयं।
रन जीति रिपु-दल बंधु-जुत पश्यामि राममनामयं॥

दोहा—सुनु सुत सदगुन सकल तव, हृदय बसहु हनुमंत।
सानुकूल कोसलपति, रहहु समेत अनंत॥१०६॥

शब्दार्थ—किमपि = कुछ भी, समा = समान।

अर्थ—श्रीसीताजी के मन में अत्यन्त हर्ष है, तन पुलकित है, नेत्रों में जल भरा है, वे बार-बार कह रही हैं—हे कपि! तीनों लोकों में इस वाणी के समान कुछ भी नहीं है—तुमको क्या दूँ?॥ (श्रीहनुमान्‌जी ने कहा) हे माता! मैंने आज सम्पूर्ण जगत् का राज्य पा लिया, इसमें संदेह नहीं है। जो युद्ध में शत्रु-सेना को जीतकर भाई के साथ निर्विकार श्रीरामजी के दर्शन कर रहा हूँ॥ हे पुत्र! हे हनुमान्! सुनो, समस्त उत्तम (सात्त्विक) गुण तुम्हारे हृदय में बसें और श्रीलक्ष्मणजी के साथ कोशलाधीश तुमपर प्रसन्न रहें॥१०६॥

विशेष—(१) 'अति हरष मन तनु पुलक···कह पुनि पुनि रमा।'—इससे मन, वचन और कर्म का हर्ष प्रकट हुआ। 'कह पुनि पुनि' से प्रेम की दशा कही गई।

(२) 'का देउँ तोहिं···'—तीनों लोकों में इसके तुल्य कुछ नहीं है, मैं क्या दूँ? इससे ऐश्वर्य प्रकट होता है कि ये तीनों लोकों की अधीश्वरी हैं, तब तो ऐसा कहती हैं, इसीसे 'रमा' ऐश्वर्य-सूचक नाम भी साथ ही कहा गया।

ऐसे ही प्रसंग पर श्रीभरतजी ने भी इसी तरह कहा है; यथा—"येहि संदेस सरिस जग माहीं। करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥" (उ० दो० १)। श्रीभरतजी के हाथ जगत् भर का ऐश्वर्य है, क्योंकि वे चक्रवर्त्ती हैं, इससे 'जग माहीं' कहा और श्रीजानकीजी के हाथ में तीनों लोक हैं, इससे 'त्रैलोक महँ' कहा है। ऐसा ही श्रीरामजी ने भी सुंदरकाण्ड में इनसे कहा है; यथा—"सुनु सुत तोहिं उरिन मैं नाहीं।" (दो० ३१); अर्थात् श्रीहनुमान्‌जी के हाथ श्रीरामजी सपरिवार बिक-से गये हैं।

(३) 'मैं पायों अखिल जग-राज-आज…'—स्वामी की कुशल एवं सुख में सुखी होना सेवक का सर्वस्व है—यह यहाँ उपदेश है।

'का देउँ तोहि…'—यह राम-विजय और विभीषण राज्य तिलक-मात्र कथा सुनाने की पूजा है, सातो कांड चरित की पूजा में क्या देंगी ? यह पाठक स्वयं विचार लें कि कथा का क्या माहात्म्य है ?

(४) 'सुनु सुत सद्गुन सकल…'—पहले सुं० दो० १६ में सद्गुणों की प्राप्ति का आशीर्वाद मिल चुका है ; यथा—"होहु तात बल सील निधाना॥ अजर अमर गुन निधि सुत होहू। करहुँ बहुत रघुनायक छोहू॥" यहाँ उन गुणों की स्थिरता दी, यह अधिकता है और अनुकूलता यहाँ श्रीलक्ष्मणजी समेत की कही, यह भी अधिकता है।

श्रीहनुमान्‌जी को निष्काम जानकर पहले समस्त साधुगुण दिये, फिर उनका फल रूप स्वामी की अनुकूलता भी दी। यहाँ यह भी जनाया कि सकल सद्गुणों की स्थिति और प्रभु की अनुकूलता त्रैलोक्य-दुर्लभ है श्रीरामजी ने सुं० दो० ३३ में अपनी भक्ति इनके माँगने पर दी थी, यथा—"नाथ भगति अति सुखदायनी। देहु दया करि अनपायनी॥" परन्तु यहाँ माता ने बिना माँगे ही दी यह इधर विशेषता है। आगे समय का व्यवहार कहती हैं—

अब सोइ जतन करहु तुम ताता। देखउँ नयन स्याम मृदु गाता॥१॥
तब हनुमान राम पहिं जाई। जनकसुता कै कुसल सुनाई॥२॥
सुनि संदेस भानुकुल-भूषन। बोलि लिये जुबराज बिभीषन॥३॥
मारुतसुत के संग सिधावहु। सादर जनकसुतहि लै आवहु॥४॥

अर्थ—हे तात ! अब तुम वही उपाय करो जिससे मैं नेत्रों से कोमल श्यामल शरीर के दर्शन करूँ॥१॥ तब श्रीरामजी के पास जाकर श्रीहनुमान्‌जी ने श्रीजानकीजी की कुशल सुनाई॥२॥ सूर्य कुल-भूषण श्रीरामजी ने संदेश सुनकर श्रीअंगदजी और श्रीविभीषणजी को बुलाया॥३॥ (और कहा) श्रीहनुमान्‌जी के साथ जाओ और आदर के साथ श्रीजानकीजी को ले आओ॥४॥

विशेष—(१) 'अब सोइ जतन…'—जैसे पहले यत्न किया था कि तुरत स्वामी को लंका ले आये, वैसे ही अब भी शीघ्र उनके दर्शन कराइये—यह दर्शन की आतुरता कही।

'देखउँ नयन' का भाव यह है कि ध्यान से तो अब भी देखती हूँ, यथा—"नाम पाहरू दिवस निसि, ध्यान तुम्हार कपाट।" (सुं० दो० ३०), पर अब आँखों से देखूँ, यह लालसा है। 'तब हनुमान…' इससे ग्रंथकार श्रीहनुमान्‌जी की आतुरता शब्दों में भी प्रकट कर देते हैं कि न श्रीसीताजी को और न श्रीरामजी को ही श्रीहनुमान्‌जी का प्रणाम करना लिखा।

(२) 'सुनि संदेस…'—इधर से आपने कुशल-मात्र पूछी थी, परन्तु श्रीजानकीजी ने दर्शनाभिलाष का सँदेशा भी कहा, इसीसे 'सुनि सदेस' कहा।

'भानुकुल-भूषन' का भाव यह कि वंश की मर्यादा के अनुसार सादर लाने को भेजेंगे। श्रीविभीषणजी यहाँ के राजा हैं, वे निशाचरियों को आज्ञा देकर आदर के साथ स्नान आदि करवायेंगे और

श्रीअंगदजी अपने सखा के पुत्र एवं युवराज हैं, और श्रीजानकीजी के भी पुत्र के समान हैं। 'मारुत सुत के संग' कहा, क्योंकि वे इन्हें पहचानती हैं। अतः, सबको प्रभु के भेजे हुए मानेंगी।

(३) 'सादर' का अर्थ आगे स्पष्ट है कि स्नान करा शृङ्गार कराके पालकी पर लाइये।

तुरतहि सकल गये जहँ सीता। सेवहिं सब निसिचरी बिनीता ॥५॥
बेगि बिभीषन तिन्हहिं सिखायो। तिन्ह बहु बिधि मज्जन करवायो ॥६॥
बहु प्रकार भूषन पहिराये। सिबिका रुचिर साजि पुनि ल्याये ॥७॥
ता पर हरषि चढ़ी बैदेही। सुमिरि राम सुखधाम सनेही ॥८॥

अर्थ—शीघ्र ही सब वहाँ गये जहाँ सब निशाचरियाँ नम्रता सहित श्रीसीताजी की सेवा कर रही थीं ॥५॥ श्रीविभीषणजी ने शीघ्र ही उनको सिखाया, (तदनुसार) उन्होंने बहुत प्रकार से उनको स्नान कराया ॥६॥ बहुत तरह के गहने पहनाये, फिर सुन्दर पालकी सजाकर लाई गई ॥७॥ उसपर वैदेही श्रीजानकीजी सुख के धाम स्नेही श्रीरामजी का स्मरण कर हर्ष-पूर्वक चढ़ीं ॥८॥

विशेष—(१) 'बहु बिधि मज्जन'—शिर की वेणी सुलझा, उत्तम अंगराग फुलेल आदि लगाकर सुगंधित जल से स्नान कराया।

(२) 'बहु प्रकार भूषन···'; यथा—"भूषन सकल सुदेस सुहाये। अंग अंग रचि सखिन्ह बनाये ॥" (बा० दो० २४७); अर्थात् प्रत्येक अंग के अनुकूल सुन्दर-सुन्दर भूषण सजाकर पहनाये। 'सिबिका रुचिर' पालकी में कहार लगे हुए थे; यथा—"आरोप्य शिबिकां सीतां राक्षसैर्वहनोचितैः ॥" (वाल्मी० ६।११४।१५) 'हरषि चढ़ी'—अपने परम प्रियतम के पास बहुत दिनों पर जा रही हैं, अतएव हर्ष है, प्रस्थान के समय हर्ष का होना मंगल शकुन भी है। 'सुखधाम सनेही'—सुख के धाम हैं, उन्हें किसी की अपेक्षा नहीं, पर स्नेही हैं, अतएव स्नेह से भक्तों को सुख देते हैं। वा, 'सुखधाम' हैं, इससे मुझे सुख देंगे, स्नेही हैं, अतएव स्नेह करेंगे।

बेत-पानि रक्षक चहुँ पासा। चले सकल मन परम हुलासा ॥९॥
देखन भालु कीस सब आये। रच्छक कोपि निवारन धाये ॥१०॥
कह रघुबीर कहा मम मानहु। सीतहि सखा पयादेहि आनहु ॥११॥
देखहु कपि जननी की नाईं। बिहँसि कहा रघुनाथ गोसाईं ॥१२॥

अर्थ—चारों ओर हाथ में बेंत (छड़ी) लिये हुए रक्षक चल रहे हैं, उन सबके मन में परम उत्साह है ॥९॥ सब रीछ वानर देखने आये, तब रक्षक क्रोध करके उनको रोकने दौड़े ॥१०॥ रघुबीर श्रीरामजी ने कहा कि हे सखे ! हमारा कहना मानो, श्रीसीताजी को पैदल लाओ ॥११॥ वानर उन्हें माता की तरह देखें, गोस्वामी श्रीरघुनाथजी ने हँसकर ऐसा कहा ॥१२॥

विशेष—(१) 'बेत-पानि रक्षक ···'—प्रभु ने 'सादर' लाने की आज्ञा दी थी। वही—'तिन्ह

बहु बिधि मज्जन करवायो।' से यहाँ तक में दिखाया गया। 'परम हुलासा', क्योंकि महारानीजी की सेवा में परम भाग्य मानते हैं।

(२) 'देखन भालु कीस···'—ये लोग देखना चाहते हैं कि जिनके लिये हमलोगों ने इतना श्रम किया, वे कैसी हैं? पर रक्षक लोग रोकने लगे, क्योंकि वे सब मंदोदरी आदि की रक्षा में रहने से ऐसे कार्यों को जानते हैं।

(३) 'कहा मम मानहु' का भाव यह है कि यद्यपि यह बात उचित नहीं है तथापि हमारी बात मानो कि जिससे पैदल लाने से वानर देख सकें।

'बिहँसि कहा'—रक्षकों का मन रखने के लिये हँसकर कहा, अथवा हँसकर वानरों पर अत्यन्त कृपा दिखाई।

पैदल लाने के लिये कहा कि वानर सब देख सकें और 'देखहु कपि जननी की नाईं' कहकर उनका देखना भी उचित कहा; यथा—"न गृहाणि न वस्त्राणि न प्राकारास्तिरस्क्रिया। नेदृशा राजसत्कारा वृत्तमावरणं स्त्रियः॥ व्यसनेषु च कृच्छ्रेषु न युद्धेषु स्वयंवरे। न क्रतौ नो विवाहे वा दर्शनं दूष्यते स्त्रियः॥ सैषा विपद्गता चैव कृच्छ्रेण च समन्विता। दर्शनेनास्ति दोषोऽस्या मत्समीपे विशेषतः॥" (वाल्मी० ६।११४। १७-२१); अर्थात् स्त्रियों के लिये घर, वस्त्र, चहारदिवारी, परदा एवं राज-सत्कार (वेतपानि द्वारा रक्षा) आवरण नहीं हो सकते। उनके शुभ आचरण ही परदा हैं।' दुःख में, विपत्ति में, युद्ध में, स्वयंवर में, यज्ञ एवं विवाह में स्त्रियों का देखना दूषित नहीं समझा जाता। श्रीसीताजी इस समय विपत्ति में हैं और [illegible] करके मेरे समीप हैं, इससे इनके दर्शनों में दोष नहीं। 'जननी की नाईं'—माता के सामने जाने में पुत्रों को संकोच नहीं होता।

सुनि प्रभु बचन भालु कपि हरषे। नभ ते सुरन्ह सुमन बहु बरषे ॥१३॥
सीता प्रथम अनल महँ राखी। प्रगट कीन्हि चह अंतर साखी ॥१४॥

दोहा—तेहि कारन करुनानिधि, कहे कछुक दुर्बाद।
सुनत जातुधानी सब, लागीं करै बिषाद ॥१०७॥

(३) 'प्रगट कीन्ह चह अंतर सासी ।—भगवान् सबके अंतःकरण के साक्षी हैं ; यथा—"साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥" (श्वे॰ ६।११)। अतः, श्रीसीताजी के भी हृदय की शुद्धता को जानते हैं, श्रीसीताजी के चरित में इन्हें कुछ भी संदेह नहीं है। पर जिन श्रीसीताजी को पहले अग्नि मे रक्खा था, उन्हीं को इस शपथ के द्वारा प्रकट करना चाहते हैं।

अग्निदेव लोक-मात्र के साक्षी हैं ; यथा—"तौ कृसानु सबकी गति जाना।" आगे कहा है। उनकी शपथ द्वारा श्रीसीताजी की शुद्धता जगत् में प्रसिद्ध करेंगे। अग्निदेव सबके समक्ष कहेंगे; यथा— "अब्रवीत्तु तदा रामं साक्षी लोकस्य पावकः। एषा ते राम वैदेही पापमस्यां न विद्यते॥ नैव वाचा न मनसा नैव बुद्धया न चक्षुषा। सुवृत्ता वृत्तशौटीर्यं न त्वामत्यचरच्छुभा॥" (वाल्मी॰ ६।११८।५-६); अर्थात् लोक साक्षी अग्निदेव ने कहा कि ये श्रीसीताजी आपकी हैं, ये निष्पाप हैं, मन, वचन और कर्म से शुद्धा हैं, इन्होंने आपपर अत्याचार नहीं किया।

(४) 'तेहि कारन···'—दुर्वचन कहने में भी करुणा है, क्योंकि इससे श्रीसीताजी की महिमा प्रकट करेंगे, इसलिये 'करुना निधि' कहा है ; यथा—"रामेणेदं विशुद्धयर्थं कृतं वै त्वद्धितैषिणा॥" (वाल्मी॰ ६।११९।२४); अर्थात् राजा श्रीदशरथजी ने स्वर्ग से आने पर श्रीसीताजी से कहा है कि तुम्हारे हितैषी श्रीरामजी ने तुम्हारी विशुद्धता प्रसिद्धि के लिये ही यह परीक्षा ली है।

'कछुक दुर्बाद'—वाल्मी० ६।११५ में कहा गया है। मानसकार ने उसे नहीं कहा तो तिलक में भी नहीं लिखा जा रहा है, जिसे इच्छा हो, वहीं देख लें। राक्षसियाँ विषाद करने लगीं, क्योंकि ये दिन रात साथ रहती थीं, इससे श्रीसीताजी की शुद्धता जानती थीं।

किसी-किसी का यह भी मत है कि इन्हों ने (माया की सीता ने) श्रीलक्ष्मणजी को दुर्वचन कहे थे, उसके प्रतिकार रूप में यहाँ प्रभु ने भी दुर्वचन कहे।

प्रभु के बचन सीस धरि सीता। बोली मन क्रम बचन पुनीता॥१॥
लछिमन होहु धरम के नेगी। पावक प्रगट करहु तुम बेगी॥२॥

अर्थ—प्रभु के वचनों को शिरोधार्य करके मन, कर्म और वचन से पवित्र श्रीसीताजी बोलीं॥१॥ हे लक्ष्मण! धर्म के नेगी बनो, (हमारे धर्म-कार्य में भागी बनकर पुण्य लो) तुम शीघ्र अग्नि प्रकट करो॥२॥

विशेष—(१) 'प्रभु के बचन······'—ये समर्थ हैं, अतएव इनके वचनों में उचित-अनुचित के विचार का अवकाश नहीं ; यथा—"प्रभु समरथ कोसलपुर राजा। जो कछु करहिं उन्हें सब छाजा॥" (आ॰ दो॰ ११); अतएव आज्ञा शिरोधार्य कर ली ; यथा—"सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा॥ मातु पिता गुरु प्रभु कै बानी। बिनहि बिचार करिय सुभजानी॥" (बा॰ दो॰ ७१); 'मन क्रम बचन पुनीता' हैं, तीनों के प्रति शपथ करेंगी।

(२) 'नेगी'—शुभकार्य मे नियमित कार्य करनेवालों को कुछ नियमित वस्तु या द्रव्य मिलता है, उसे नेग और उसके पानेवाले अधिकारी को नेगी कहते हैं। वैसे इस शुभकार्य (दृढ़ पातिव्रत्य सिद्धि) में तुम भी भागी बनो, इसमे तुम्हें धर्म-रूपी द्रव्य मिलेगा।

श्रीलक्ष्मणजी को ही कहा, क्योंकि इन्हीं से अधिक परिचित थीं। पुनः इस तन से इन्हें दुर्वचन कहे थे, उसका प्रायश्चित्त भी इनके द्वारा चिता बनवाकर मानो कर रही हैं।

वाल्मीकीय रामायण में श्रीसीताजी ने कुछ वचनों द्वारा भी सफाई दी है, पर कल्पभेद-रीति से मानस में केवल शपथ द्वारा ही शुद्धता प्रकट की गई है।

सुनि लछिमन सीता कै बानी। बिरह बिबेक धरम निति सानी ॥३॥
लोचन सजल जोरि कर दोऊ। प्रभु सन कछु कहि सकत न ओऊ ॥४॥

अर्थ—श्रीसीताजी की विरह, विवेक, धर्म और नीति में सानी हुई वाणी सुनकर श्रीलक्ष्मणजी के नेत्रों में जल भर आया, वे दोनों हाथ जोड़े हुए हैं, प्रभु से वे भी कुछ नहीं कह सकते ॥४-४॥

विशेष—(१) 'बिरह बिबेक धरम निति सानी।'—श्रीसीताजी की वाणी इतनी ही है; यथा—"लछिमन होहु धरम के नेगी। पावक प्रगट करहु तुम्ह बेगी।।" इतने ही में विरह आदि सभी हैं, पति ने त्यागने के वचन कहे, उससे विरह हुआ। तब पातिव्रत्य में संदेह होने की अपकीर्त्ति को असह्य मानकर चिता में जलना निश्चय किया; यथा—"मिथ्यापवादोपहता नाहं जीवितुमुत्सहे ॥" (वाल्मी० ६।११६।१८), अर्थात् मिथ्या कलंक से दूषित होकर मैं जीना नहीं चाहती, यह विचार 'विवेक' है। 'धर्म के नेगी' हो, यह धर्म-युक्त वचन है, क्योंकि अग्नि-परीक्षा से धर्म की रक्षा होगी। 'पावक प्रगट करहु तुम्ह बेगी'—शीघ्र ही स्वामी की आज्ञा के पालन में रत होना नीति है।

(२) 'लोचन सजल जोरि कर दोऊ …'—वाल्मी० ६।११६।२०-२२ में लिखा है कि यह सुनकर श्रीलक्ष्मणजी ने क्रोध करके श्रीरामजी की ओर देखा, इसपर श्रीरामजी का अभिप्राय समझकर वे चिता बनाने को तैयार हुए। उस समय श्रीरामजी ने ऐसा प्रलयकाल के यमराज का-सा भयंकर आकार बना लिया था कि कोई मित्र उनसे कुछ बोल ही नहीं सकता था और न उनकी ओर कोई देख ही सकता था।

वही भाव यहाँ है कि श्रीलक्ष्मणजी हाथ जोड़कर कुछ प्रार्थना करना चाहते थे कि अत्यन्त अयोग्य बर्त्ताव हो रहा है, परन्तु कुछ नहीं कह सके। 'प्रभु' शब्द में उपर्युक्त यमराज की-सी भयंकरता जना दी।

पूर्व सीताहरण का दोष भी इन्हीं के शिर मढ़ा गया था; यथा—"जनक सुता परिहरेहु अकेली। आयहु तात बचन मम पेली ।।" (आ० दो० २६); अब उन्हें जलाने के लिये भी मैं ही चुना जाता हूँ, यह समझकर कुछ नहीं कर सकते।

देखि राम-रुख लछिमन धाये। पावक प्रगटि काठ बहु लाये ॥५॥
पावक प्रबल देखि बैदेही। हृदय हरष नहिं भय कछु तेही ॥६॥
जौं मन बच क्रम मम उर माहीं। तजि रघुबीर आन गति नाहीं ॥७॥
तौ कृसानु सबकै गति जाना। मो कहँ होउ श्रीखंड समाना ॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी का रुख (मुखाकृति से इशारा) देखकर श्रीलक्ष्मणजी दौड़े और आग प्रकट करके बहुत-सी लकड़ियाँ लाये ॥५॥ अग्नि खूब प्रज्वलित देखकर विदेह कुमारी श्रीसीताजी हृदय में हर्षित

हुईं, उनके मन में कुछ भी भय नहीं हुआ ॥६॥ (वे बोलीं) यदि मन, वचन और कर्म से मेरे हृदय में रघुवीर को छोड़कर दूसरे की गति (प्राप्ति एवं आश्रय) नहीं है तो, हे अग्निदेव ! आप तो सबकी गति (व्यवस्था) जानते हैं (अतः, मेरे हृदय की भी जानकर) मेरे लिये चंदन के समान (शीतल) हो जायँ ॥८॥

विशेष—(१) 'देखि राम-रुख···'; यथा—"स विज्ञाय मनश्छन्दं रामस्याकारसूचितम्। चितां चकार सौमित्रिर्मते रामस्य वीर्यवान् ॥" (वाल्मी० ६।११६।२१); अर्थात् इशारों से श्रीरामजी के मन का अभिप्राय जानकर पराक्रमी श्रीलक्ष्मणजी ने चिता बनाई।

'हृदय हरष नहिं भय कछु तेही।'—हृदय में हर्ष है कि आज मैं अपने सत्य पातिव्रत्य की प्रतीति स्वामी के समक्ष प्रकट करूँगी। अग्नि का कुछ भी भय नहीं है; यथा—"विवेश ज्वलनं दीप्तं निःशङ्केनान्तरात्मना।" (वाल्मी० ६।११६।२७); हर्ष-भय-रहित होने के संबंध से "वैदेही' कहा गया है कि विदेह ज्ञानी की कन्या हैं, इन्हें हर्ष और भय क्यों होंगे ?

(३) 'जौं मन बच क्रम···तौ कृसानु···'—"यथा मे हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात्। तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः ॥ यथा मां शुद्धचारित्रां दुष्टां जानाति राघवः। तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः ॥" (वाल्मी० ६।११६।२५-२६), अर्थात् यदि मेरा हृदय राघव से अतिरिक्त अन्यत्र नहीं गया हो, तो लोकसाक्षी अग्निदेव मेरी सब ओर से रक्षा करें। मुझ शुद्ध चरित्रवाली को राघव दुष्ट-चरित्रवाली जानते हैं, यदि मैं शुद्धा हूँ, तो अग्निदेव मेरी सब तरह से रक्षा करें।

छंद—श्रीखंड सम पावक प्रबेस कियो सुमिरि प्रभु मैथिली।
जय कोसलेस महेस बंदित चरन रति अति निर्मली ॥१॥
प्रतिबिंब अरु लौकिक कलंक प्रचंड पावक महुँ जरे।
प्रभु-चरित काहु न लखे नभ सुर सिद्ध मुनि देखहिं खरे ॥२॥

अर्थ—प्रभु का स्मरण करके चन्दन के समान शीतल अग्नि में मिथिलेश-नंदिनी श्रीसीताजी ने प्रवेश किया। कोशलपति की जय हो, जिनके चरणों की अत्यन्त निर्मल प्रीति शिवजी से वंदित है (आराध्य है) ॥१॥ प्रतिबिंब (चित्र में) जड़ गया (लीन हो गया) और लौकिक कलंक प्रचंड अग्नि में जल गये। प्रभु के इस चरित को किसी ने नहीं देखा, (यद्यपि) आकाश में देवता, सिद्ध और मुनि सब खड़े देख रहे थे ॥२॥

विशेष—(१) 'मैथिली' का भाव यह है कि अब पावक को मंथन करके प्रकट होंगी।

(२) 'जय कोसलेस···'—जिस निर्मल चरण रति की आराधना से शिवजी महान् ईश (समर्थ) हैं, जिन्होंने सर्व विकार-मूल काम को ही जला दिया, उसी चरण रति के प्रभाव से मैं भी मन, वचन और कर्म से निर्मल रही। अतः, उसकी जय हो, इस तरह यह श्रीजानकीजी का वचन है, यदि इसे वक्ताओं का कथन मानें, तब भी युक्तियुक्त ही है कि जब इन्होंने निःशंक अग्नि में प्रवेश किया, तब इनकी निर्मलता की कारणरूपा उक्त अति निर्मली चरण-रति की सब जय-जयकार करने लगे।

यहाँ मन, वचन और कर्म तीनों की वृत्तियाँ कही गईं—'सुमिरि प्रभु'—मन, 'पावक-प्रवेस कियो'—तन एवं कर्म और 'जय कोसलेस···' यह वचन है।

(३) 'प्रतिबिंब अरु लौकिक···'—'जरे' का अर्थ प्रतिबिंब के विषय में 'जड़े' अर्थात् लीन होने का होगा, क्योंकि इसी तन से पातिव्रत्य के सत्य होने में अग्नि के शीतल होने की प्रतिज्ञा है, यदि यह तन जल गया, तो फिर पातिव्रत्य की सत्यता कहाँ रहेगी ? और कलंक का जलना सिद्ध है, क्योंकि प्रतिज्ञा सत्य होने से लौकिक कलंक नहीं रह गया। अतः, इस पक्ष में 'जरे' का अर्थ जलने का होगा। 'जरे' शब्द अपने दो अर्थों से कर्म की क्रिया-रूप में प्रयुक्त हुआ, इससे बहुवचन 'जरे' कहा गया, क्योंकि भाषा में द्विवचन भी बहुवचन ही कहा जाता है। अथवा, 'जरे' क्रिया केवल 'लौकिक कलंक' इस अंतिम पद के साथ ही लें, तो लोगों के विभिन्न मनःकल्पित सभी विकार मिलकर बहुवचन हो जायँगे। रहा 'प्रतिबिंब' उसके लिये बिंब में विलीन होने की क्रिया अध्याहार से ली जायगी। जैसे—"मुठिकन्ह लातन्ह दाँतन्ह काटहिं।" (दो॰ ५२); इसमें अंतिम पद 'दाँतन्ह के साथ 'काटहिं' क्रिया ली गई है, शेष 'मुठिकन्ह' और 'लातन्ह' के साथ 'मारहिं' क्रिया अध्याहार से ली गई है।

कलंक का जलना यह है कि श्रीसीताजी ज्योंही अग्नि से निकलीं त्योंही लौकिक कलंक का नाश हुआ, उनकी कीर्त्ति-कौमुदी सर्वत्र फैल गई कि ये शुद्ध पतिव्रता हैं, इसीसे अग्नि इन्हें नहीं जला सकी ; यथा—"तीय सिरोमनि सीय तजी जेहि पावक की कलुषाइ दही है।" (क॰ उ॰ ६)।

धरि रूप पावक पानि गहि श्री सत्य श्रुति जग बिदित जो।
जिमि छीरसागर इंदिरा रामहि समर्पी आनि सो ॥३॥
सो राम बाम बिभाग राजति रुचिर अति सोभा भली।
नव नील नीरज निकट मानहुँ कनक-पंकज की कली ॥४॥

अर्थ—अग्नि रूप धारण करके हाथ से सत्य (माया-सीता नहीं) श्रीजानकीजी को, जो वेदों में और जगत् में प्रसिद्ध हैं, पकड़कर श्रीरामजी को इस तरह समर्पण किया, जैसे क्षीर-सागर ने श्रीलक्ष्मीजी को (विष्णु भगवान् के लिये) समर्पण किया था ॥३॥ वे श्रीरामजी के वाम भाग में सुंदर विराजमान अत्यन्त सुन्दर शोभा को प्राप्त हैं। मानों नवीन खिले हुए नील कमल के पास सोने की कली शोभित हो रही हो ॥४॥

विशेष—(१) 'सत्य श्री'—'श्री' शब्द में चारों कल्पों की कथा आ जाती है, यह श्रीजानकीजी का भी नाम है और श्रीलक्ष्मीजी का मुख्य नाम है। 'सत्य' शब्द पूर्व के प्रतिबिंब-रूपा (माया सीता) के प्रतिरोध में कहा गया। 'समर्पी'; यथा—"त्वदीयं वस्तु गोविंद तुभ्यमेव समर्पितम्।" अर्थात् ये सत्यश्री आपकी ही आदि शक्ति हैं, थातीरूप में मेरे यहाँ रहीं, इन्हें आप स्वीकार करें। ऐसा ही श्रीसीताजी के ब्याह के समय भी कहा गया है ; यथा—"हिमवंत जिमि गिरिजा···" (बा॰ दो॰ ३२१)—देखिये।

(२) 'नव नील नीरज···'—श्रीरामजी श्यामवर्ण और खुले वदन हैं, इससे खुले हुए नील कमल के समान कहा गया और श्रीजानकीजी स्वर्णवर्ण एवं सर्वांग आच्छादित तथा लज्जावश संकुचित हैं,

इसीसे सोने के कमल की कली की उपमा दी गई ; यथा—"लज्जया त्ववलीयन्ती स्वेषु गात्रेषु मैथिली ।" (वाल्मी० ६।११४।११), पुनः प्रभु पहले से ही प्रसन्नमुख थे, इससे उन्हें खिला हुआ कमल कहा गया और श्रीजानकीजी अभी-अभी शोक-सागर से निकली हैं, इससे इन्हें कली कहा गया है ।

दोहा—बरषहिं सुमन हरषि सुर, बाजहिं गगन निसान ।
गावहिं किन्नर सुर-बधू, नाचहिं चढ़ी बिमान ।
जनकसुता समेत प्रभु, सोभा अमित अपार ।
देखि भालु कपि हरषे, जय रघुपति सुख-सार ॥१०८॥

अर्थ—देवता हर्षित होकर फूल बरसाते हैं, आकाश में नगाड़े बज रहे हैं । किन्नर गा रहे हैं और और विमानों पर चढ़ी हुई देव वधूटियाँ (अप्सराएँ) नाच रही हैं ॥ श्रीजानकीजी के साथ प्रभु श्रीरामजी की अमित एवं अपार शोभा को देखकर भालू और वानर हर्षित हुए और सुख के सार (तत्त्व) श्रीरघुनाथजी की जय बोलने लगे ॥१०८॥

विशेष—(१) 'अमित अपार'—अमित का अर्थ परिमाण रहित, जिसका अंदाजा नहीं मिल सके ; यथा—"राम अमित गुन सागर, थाह कि पावइ कोइ ।" (उ० दो० ९१); अर्थात् श्रीसीतारामजी की शोभा इतनी अमित है कि उसका वर्णन करके कोई पार नहीं पा सकता, इसलिये साथ ही 'अपार' शब्द भी दे दिया गया है ।

(२) 'देखि भालु कपि हरषे'—युगल सरकार की पूर्ण शोभा देखकर और यह विचार कर प्रसन्न हुए कि जिनके लिये इतना परिश्रम किया गया, वे आज प्राप्त हुईं । इससे यह भी ध्वनित हुआ कि दुर्वचन कहने और अग्नि-प्रवेश पर उन्हें दुःख हुआ था ।

"सुरन्ह कीन्हि अस्तुति"—प्रकरण

तब रघुपति अनुसासन पाई । मातलि चलेउ चरन सिर नाई ॥१॥
आये देव सदा स्वारथी । बचन कहहिं जनु परमारथी ॥२॥
दीनबंधु दयाल रघुराया । देव कीन्ह देवन्ह पर दाया ॥३॥
बिस्व-द्रोह-रत यह खल कामी । निज अघ गयउ कुमारग-गामी ॥४॥

अर्थ—तब मातलि श्रीरघुनाथजी की आज्ञा पाकर चरण में शिर नवाकर चला ॥१॥ सदा के स्वार्थी देवता आये (पर) वचन ऐसे कहते हैं मानों परमार्थी हैं ॥२॥ हे दीनबन्धो ! दयालो ! रघुराज ! देव ! आपने देवताओं पर दया की ॥३॥ सारे संसार से द्रोह करने में तत्पर यह दुष्ट, कामी और कुमार्ग पर चलनेवाला (रावण) अपने पापों से नष्ट हुआ ॥४॥

विशेष—(१) 'सदा स्वारथी' ; यथा—"स्वारथ विवस विकल तुम्ह होहू। भरत दोष नहिं राउर मोहू॥" (अ० दो० २११) ; "बोली सुर स्वारथ जड़ जानी।" (अ० दो० २१४) ; "सुर स्वारथी मलीन मन···" (अ० दो० २१५)।

(२) 'बिस्व-द्रोह-रत यह खल कामी।'—यह कामी था ; यथा—"देव जच्छ गंधर्व नर, किन्नर-राजकुमारि। जीति बरीं निज बाहुबल, बहु सुंदर बर नारि॥" (बा० दो० १८२) ; इसीसे विश्व भर से द्रोह करता था और खल था। अतः कुमार्गगामी था। 'बिस्व-द्रोह-रत' कहकर बड़ा भारी पापी जनाया ; यथा—"बिस्वद्रोह कृत अघ जेहि लागा।" (सुं० दो० ३८)।

तुम्ह समरूप ब्रह्म अबिनासी। सदा एक रस सहज उदासी॥५॥
अकल अगुन अज अनघ अनामय। अजित अमोघ सक्ति करुनामय॥६॥

अर्थ—आप तो समरूप, ब्रह्म, नाश रहित, सदा एक रस, स्वाभाविक ही शत्रु-मित्र-भावरहित, कलारहित (पूर्ण), निर्गुण (गुणातीत), अजन्मा, निष्पाप, विकाररहित, अजेय, सत्य-सामर्थ्य और करुणामय हैं॥५-६॥

विशेष—'समरूप' ; यथा—"जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पुन्य गुन दोषू॥ करम प्रधान बिस्व रचि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥" (अ० दो० २१८) ; 'ब्रह्म' अर्थात् आप सबसे बृहत् हो, 'सदा एक रस' अर्थात् तीनों कालों में एक रस रहते हो ; यथा—"तुम्ह चहुँ जुग रस एक राम···" (वि० २६१) ; तथा—"अन्ते चादौ च मध्ये च दृश्यते च परंतप।" (वाल्मी० ६।११७।१) ; 'ब्रह्म' हो। अतः, 'अबिनासी' हो। 'सहज उदासी'—तपस्वी वेष को ही उदासीनता नहीं, किंतु आपका यह सहज स्वभाव है। 'अकल' यथा—"ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥" (ईश० १) ; अर्थात् वह पूर्ण है, यह पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण निकलता है, पूर्ण का पूर्ण लेने पर भी पूर्ण ही शेष रहता है। 'अगुन'; यथा—"अगुन अदभ्र गिरा गोतीता।" (उ० दो० ७१)।'अज' अर्थात् आप का जन्म रहित, कर्मवश जन्म नहीं होता। स्वेच्छा से असुरों के वध के लिये जन्म लेते हो, यथा—"वधार्थं रावणस्येह प्रविष्टो मानुषीं तनुम्।" (वाल्मी० ६।११७।२८); 'अनघ' से रावण-वध के दोष से रहित जनाया; यथा—"निज अघ गयउ कुमारग गामी।" (उपर्युक्त) ; 'अनामय' = आपका शरीर चिदानंदमय है ; यथा—"चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥" (अ० दो० १२६) ; अतएव रोग-रहित हो। 'अजित' ; यथा -"अजितः खड्गधृग्विष्णुः" (वाल्मी० ६।११७।१५) ; 'अमोघ सक्ति' ; यथा—"अमोघं देव वीर्यं ते" (वाल्मी० ६।११७।१६) ; 'करुनामय' भाव यह है कि हम सबों पर करुणा करके आपने अवतार लेकर रावण को मारा। करुणा से ही सब अवतार होते हैं, इससे 'करुनामय' कहकर आगे सब अवतार कहते हैं—

मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपु धरी॥७॥
जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो॥८॥
यह खल मलिन सदा सुरद्रोही। काम लोभ मद-रत अति कोही॥९॥
अधम सिरोमनि तव पद पावा। यह हमरे मन बिसमय आवा॥१०॥

अर्थ—आपने ही मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन और परशुराम के शरीर धारण किये ॥७॥ हे नाथ ! जब-जब देवताओं ने दुःख पाया, तब-तब अनेकों शरीर धारण कर आपने ही उनके दुःखों का नाश किया ॥८॥ यह दुष्ट, पापी, सदा देवताओं से द्रोह रखनेवाला, काम, लोभ और मद में तत्पर एवं अत्यन्त क्रोधी था ॥९॥ ऐसे अधम शिरोमणि ने आपका पद (परम पद) पाया, इससे हमारे मन को आश्चर्य हुआ ॥१०॥

विशेष—(१) 'मीन कमठ···'—क्रम से पूर्व सतयुग और त्रेता के छः अवतार कहे गये। 'नाना तनु धरि···'—भाव यह कि पूर्वोक्ति 'मीन कमठ' आदि मुख्य अवतार ही नहीं, प्रत्युत् आवश्यकता पर अंश-कला आदि से असंख्य अवतार होते हैं, यथा—"अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्व निधेर्द्विजाः। यथा विदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः ॥" (भाग० १।३।२६); अर्थात् जिस प्रकार महत् सरोवर से सहस्रों छोटे-छोटे सोते निकलते हैं उसी प्रकार सत्व मूर्त्ति भगवान् के अनेक अवतार होते हैं। भाव यह कि सर्वदा से आपकी कृपा हम सबों पर होती ही आई है।

(२) 'बिसमय आवा'—क्योंकि ऐसी पतित पावनता आज ही देखी है।

हम देवता परम अधिकारी। स्वारथरत प्रभु-भगति बिसारी ॥११॥
भव-प्रवाह संतत हम परे। अब प्रभु पाहि सरन अनुसरे ॥१२॥

दोहा—करि बिनती सुर सिद्ध सब, रहे जहँ तहँ कर जोरि।
अति सप्रेम तनु पुलकि बिधि, अस्तुति करत बहोरि ॥१०९॥

अर्थ—हम सब देवताओं ने (परम पद के) परम अधिकारी होकर भी स्वार्थ में तत्पर हो आपकी भक्ति भुला दी ॥११॥ इसीसे सदा संसार के प्रवाह मे पड़े हैं, हे प्रभो ! हम शरण में प्राप्त हुए हैं, अब हमारी रक्षा कीजिये ॥१२॥ देवता और सिद्ध विनती करके सब जहाँ-तहाँ (जो जहाँ थे वहीं) हाथ जोड़े खड़े रह गये। तब अत्यन्त प्रेम-सहित, पुलकित शरीर हो, ब्रह्माजी स्तुति करने लगे ॥१०९॥

विशेष—(१) 'हम देवता···'—हमलोगों की प्रकृति सत्त्व-प्रधान है, इसीसे ऊपर के लोकों में रहते हैं; यथा—"ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः" (गीता० १४।१८), फिर ज्ञान-प्रधान शरीर सहित अजर-अमर रहते हैं और आप सदा हमारा पक्ष लेते हैं ऐसे होकर भी हमलोग स्वार्थ (विषय) मे पड़कर भव प्रवाह में ही पड़े रहते है और इस खल तामसी परद्रोही ने आपका परम पद पाया, यह परम आश्चर्य की बात है। भाव यह है कि सत्त्व-प्रधान को मुक्तिकी प्राप्ति होनी चाहिये। वे तो भव मे पड़े हैं और तामसी को भव चाहिये, परन्तु वह मुक्त हुआ। इसका कारण भी स्वयं कहते है कि रावण ने तामसी शरीर से भी—वैर भाव से आपमे मन लगाया, अतः मुक्त हुआ, परन्तु हमलोग तो सदा स्वार्थ मे ही रत रहते हैं, इससे आपकी भक्ति भुला दी, तब ऐसा होना योग्य ही है, इसमे हमारा ही दोष है, आप तो भावानुसार सबके सम्मुख ही रहते हैं।

(२) 'अब प्रभु पाहि···'—भाव यह कि अभी तक जो हुआ सो हुआ, अब हमलोग शरण में प्राप्त हैं, भव-भय से रक्षा कीजिये, क्योंकि आप शरण मे आने पर अभय करते हैं; यथा—सकृदेव

प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥" (वाल्मी० ६।१८।३३)। इस तरह की प्रतिज्ञा का स्मरण कर हमारी रक्षा कीजिये।

(३) 'करि बिनती सुर सिद्ध सब'''—भीड़ बहुत है, साष्टांग दंडवत् की जगह नहीं है, इससे सब जहाँ थे वहीं से हाथ जोड़कर खड़े रह गये।

श्रीरामजी ने श्रीसीताजी से अग्नि-परीक्षा के सम्बन्ध में अति नर-नाट्य के वचन कहे, उससे देवताओं को भ्रम हो गया, अतएव स्वरूप का स्मरण कराने के लिये उन्होंने प्रभु की स्तुति की जो 'नाना तनु धरि तुम्हहि नसायो।' आदि से स्पष्ट है। ऐसे ही वाल्मी० ६।११७ में भी प्रथम देवताओं ने स्तुति की है, तब श्रीरामजी ने कहा है कि हम तो अपनेको राजा श्रीदशरथजी के पुत्र मानते हैं, मनुष्य मानते हैं, मैं यथार्थ में जो होऊँ और जहाँ से आया होऊँ, इसे आप कहें। इसपर और सब मौन हो गये, तब श्रीब्रह्माजी ने श्रीरामजी का परत्व कहा है। वैसे यहाँ भी 'सुर सिद्ध' का हाथ जोड़कर खड़ा रह जाना कहकर तब श्रीब्रह्माजी का स्तुति करना कहते हैं।

(४) 'अति सप्रेम ''—अत्यंत प्रेम के कारण तन में पुलकावली है; यथा—"अति प्रेम अधीरा पुलक सरीरा" (बा० दो० २१०)—अहल्या, "तनु पुलक निर्भर प्रेम पूरन" (अ० दो० ६)—अत्रि।

छंद—जय राम सदा सुखधाम हरे। रघुनायक सायक चाप धरे।
भव-बारन-दारन-सिंह प्रभो। गुनसागर नागर नाथ बिभो ॥१॥
तनु काम अनेक अनूप छबी। गुन गावत सिद्ध मुनींद्र कबी।
जस पावन रावन-नाग-महा। खगनाथ जथा करि कोप गहा ॥२॥

अर्थ—सदा सुख के निवास-स्थान, कष्टों के हरनेवाले भगवान्, धनुष-बाण-धारण किये हुए रघुकुल के स्वामी श्रीरामजी! आपकी जय हो। हे प्रभो! आप भव-रूपी हाथी को विदीर्ण करने के लिये सिंह-रूप हैं। हे नाथ! हे विभो!! आप गुणों के सागर और परम चतुर हैं ॥१॥ आपके शरीर में अनेकों कामदेवों के समान एवं अनुपम शोभा है। सिद्ध, मुनीश्वर और कवि आपके गुण गाते हैं। आपका यश पवित्र है, रावण रूपी महा सर्प को आपने गरुड़ की तरह क्रोध करके पकड़ लिया ॥२॥

विशेष—(१) यह तोटक छंद है, इसके प्रत्येक चरण में १२-१२ वर्ण अथवा चार-चार सगण होते हैं।

(२) 'बारन' का अर्थ हाथी है, यथा—"वारणं प्रतिषेधे स्याद्वारणस्तु मतं गजे इति विश्वप्रकाश।"

(३) 'गुनसागर'; यथा—"गुन सागर नागर बर बीरा।" (बा० दो० २४०)।

(४) 'तनु काम अनेक''''''—अनेक कामदेवों की उपमा देने पर भी न्यूनता जान पड़ी, क्योंकि उस छवि पर तो करोड़ों कामदेव निछावर हैं; यथा—"अंग अंग पर वारियहिं, कोटि कोटि सत काम॥" (बा० दो० २२०), इसलिये आगे 'अनूप छबी' कहा है। 'खगनाथ जथा'''' से आपका स्वाभाविक कृत्य दुष्टदलन कहा। 'जसपावन'; यथा—"पावन गंग तरंग माल से।" (बा० दो० ३१); "एकैकमक्षरं पुंसां महापातक नाशनम्।" (वाल्मी० माहात्म्य)।

जनरंजन भंजन-सोक-भयं । गत क्रोध सदा प्रभु बोधमयं ।
अवतार उदार अपार गुनं । महिभार बिभंजन ज्ञानघनं ॥३॥
अज व्यापकमेकमनादि सदा । करुनाकर राम नमामि मुदा ।
रघुवंस-बिभूपन दूषन हा । कृत भूप बिभीपन दीन रहा ॥४॥

अर्थ—आप भक्तों को आनंद देनेवाले और शोक एवं भय के नाशक हैं । हे प्रभो ! आप सदा क्रोध-रहित और ज्ञान-स्वरूप हैं । आपका अवतार उदार (श्रेष्ठ एवं महान दाता) है, अपार गुणोंवाला है । आप पृथिवी के भार उतारनेवाले और ज्ञानघन हैं ॥३॥ हे राम ! अजन्मा, व्यापक, एक, अनादि, नित्य और करुणाकर ! आपको मैं प्रसन्नतापूर्वक नमस्कार करता हूँ । आप रघुवंश के विशेष आभूषण हैं; अर्थात् रघुवंश को सुशोभित करनेवाले गुणों से पूर्ण हैं और दूषण नाम राक्षस के मारनेवाले एवं दूषणों (दोषों) के दूर करनेवाले हैं, विभीषण दीन था, उसे आपने राजा बना दिया ॥४॥

विशेष—(१) 'जन रंजन' कहकर 'भंजन-सोक-भयं' कहने का भाव यह है कि प्रभु भक्तों की भलाई के लिये उनके शोक और भय का नाश करते हैं । फिर उनके द्वारा अवज्ञा होने पर भी क्रोध नहीं करते, इससे 'गत क्रोध' भी कहा है और फिर 'गत क्रोध' का भी कारण 'बोधमयं' शब्द से कहा गया कि क्रोध तो अज्ञानमूलक द्वैत से होता है, आप तो ज्ञानमय हैं ।

(२) 'अवतार उदार'—यह अवतार मुख्य अवतारों में भी श्रेष्ठ है, क्योंकि दशावतारों में गिने जानेवाले परशुरामजी ने भी इन्हें आत्मसमर्पण किया है । पुनः महान् दातृत्व भी है वि० १६२, १६३ देखिये ।

'महि भार बिभंजन' कहने में विषमता पाई गई, उसपर ज्ञानघन कहा कि आप तो ज्ञान के समूह हैं । अतः, असुरों को उनके कर्मों के फल देते हैं, स्वयं राग-द्वेष रहित हैं; यथा—"बिस्व-द्रोह-रत यह खल कामी । निज अघ गयउ कुमारग गामी ॥" (उ० दो० १०८) ।

(३) 'रघुबंस-बिभूपन दूपन हा'—रघुवंश में राजा अनरण्य को रावण से पराजित होने से न्यूनता आ गई थी, उसे आपने दूर किया, इससे आपके कुल की शोभा बढ़ी । पुनः इस वंश में जो-जो दूषण थे, उन्हें आपने दूर किया, जैसे बहुपत्नीत्व के कारण (तीन मुख्य रानियों के कारण) राजा दशरथजी को बड़ा कष्ट झेलना पड़ा, उसे आपने दूर किया, एक-पत्नी-व्रत हुए । और दूसरा दूषण यह भी था कि ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य पाता था; यथा—"बिमल बंस यह अनुचित एकू । बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू ॥" (अ० दो० ९); इसे भी आपने दूर कर दिया, पहले तो देवताओं के षड्यंत्र द्वारा भरत को राज्य दिलाया, फिर अंत में चारों भाइयों के पुत्रों को राज्य बाँटकर परधाम यात्रा करेंगे । 'कृत भूप ···'—सभी रघुवंशी दीनों पर दया करते आये हैं, अतएव आपने भी दीन विभीषण को राजा बना दिया ।

गुन-ज्ञान-निधान अमान अजं । नित राम नमामि बिभुं बिरजं ।
भुज-दंड प्रचंड प्रताप बलं । खलबृंद निकंद महा कुसलं ॥५॥

बिनुकारन दीनदयाल हितं । छबिधाम नमामि रमासहितं ।
भवतारन कारन काजपरं । मन-संभव दारुन दोप-हरं ॥६॥

अर्थ—गुण और ज्ञान के खजाना, मान-रहित एवं परिमाण-रहित, स्वयंभू, विभु (समर्थ), रजोगुण-रहित, हे रामजी ! मैं आपको नित्य नमस्कार करता हूँ । आपके भुजदंडों का प्रताप और बल प्रचंड (विशेष तीक्ष्ण) है, दुष्ट-समूह के नाश करने में आप परम प्रवीण हैं ॥५॥ विना कारण ही दीनों पर दया करनेवाले, हितकारी और शोभा धाम, श्रीजानकीजी के साथ मैं आपको नमस्कार करता हूँ । आप भव (सागर से) तारनेवाले हैं, कारण और कार्य से परे और मन से उत्पन्न होनेवाले कठिन दोषों के हरनेवाले हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'गुन-ज्ञान निधान'—शील, संतोष आदि गुण और ज्ञान के खजाना हैं । 'अमान'—सारे जगत् के कर्त्ता होते हुए भी कर्तृत्व से निरभिमान रहते हैं, जीवों को निमित्त बनाकर उन्हें कर्तृत्व दे देते हैं । पुन ऐसे परिमाण रहित हैं कि शेष-शारदा आदि भी कहकर पार नहीं पा सकते । 'अजं'—पहले भी 'अज' शब्द छं० ४ में आया है, उसका अर्थ बार-बार कर्मवश जन्म के निषेध में है और यहाँ स्वयं ही प्रकट होने के अर्थ में है । अथवा अ = रहित, ज = जायमान, अर्थात् अपने से जायमान रूप जगत् से रहित (निर्लिप्त) हैं ।

(२) 'खल बृंद निकंद महा कुशलं' ; यथा—"खर दूषन विराध वध पंडित ।" (उ० दो० ५०); खरादि की मृत्यु किसी आयुध से नहीं थी । अत', आपने उन्हें युक्ति से मार डाला ।

(३) 'बिनु कारन दीन···'—और लोग कारण पाकर कृपा करते हैं, अपना स्वार्थ देखते हुए प्रीति एवं हित करते हैं, पर आप निर्हेतु कृपालु हैं ; यथा—"अस प्रभु दीनबंधु हरि, कारन रहित दयाल ।" (बा० दो० २११) ।

(४) 'भव तारन' ; यथा—"तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् । भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥" (गीता १२।७); 'कारन काज परं'—कारण माया और कार्य जगत् , इन दोनों से आप परे हैं ; अर्थात् इनके सम्यक् आधार होते हुए भी इनसे निर्लिप्त हैं ।

सर चाप मनोहर त्रोनधरं । जलजारुन लोचन भूपबरं ।
सुखमंदिर सुंदर श्रीरमनं । मद मार मुधा ममता-समनं ॥७॥
अनबद्य अखंड न गोचर गो । सब रूप सदा सब होइ न सो ।
इति बेद बदंति न दंतकथा । रवि आतप भिन्न न भिन्न जथा ॥८॥

अर्थ—सुन्दर धनुष-बाण और तर्कश धारण करनेवाले, लाल कमल के समान नेत्रवाले, राजाओं में श्रेष्ठ, सुख के स्थान, सुंदर, श्रीजी के पति, मद, काम और झूठे ममत्व के नाश करनेवाले हैं ॥७॥ आप अनिन्द्य हैं, अखंड (विभाग होने के अयोग्य अर्थात् परिपूर्ण) हैं, इन्द्रियों के विषय नहीं हैं, सदा सर्व रूप

(विश्वरूप) हैं, पर यह सब (जगत्) वह (ब्रह्म) नहीं है—ऐसा वेद कहते हैं, यह दंतकथा (कपोल-कल्पित, प्रमाणरहित बात) नहीं है। जैसे सूर्य और सूर्य का प्रकाश (धूप) अलग-अलग हैं और अलग नहीं भी है ॥८॥

विशेष—(१) 'श्री रमनं'—श्रीजानकीजी श्री (लक्ष्मीजी) की भी मूल-श्री हैं; यथा—"श्रियाः श्रीं भर्तृवत्सलाम् ।" (वाल्मी० ६।११।२१); उनमें रमण करनेवाले हैं। 'सब रूप सदा'; यथा—"जगत्सर्वं शरीरं ते" (वाल्मी० ६।११७।२७), अर्थात् सब जगत् आपका शरीर है। अतः, आप जगत् रूप हैं; यथा—"बिश्व रूप रघुवंसमनि" (लं० दो० १४) पर आपका शरीर रूप जगत् आप (ब्रह्म) नहीं है, क्योंकि इसकी स्थिति-प्रवृत्ति आपके अधीन है। इसीको दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं कि जैसे सूर्य की ही सत्ता से उनके प्रकाश की किरणें हैं, सूर्य के अधीन उनकी स्थिति-प्रवृत्ति है। इससे सूर्य नियामक और किरणें नियाम्य हैं; तब नियाम्य वस्तु नियामक नहीं हो सकती। प्रकाश सूर्य से भिन्न नहीं रह सकतावैसे जीव-समूह भी ईश्वर से पृथक् नहीं रह सकते। इस तरह जीवों का ब्रह्म के साथ अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध भी कहा गया है।

(२) 'इति बेद बदंति'—वेद कहते हैं, यथा—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छां० ३।१४।१), अर्थात् यह सब निश्चय ब्रह्म ही है। यह 'सब रूप सदा' का अर्थ है। पर वेद ने ही बृह० ३।७।३–२३ में पृथिवी आदि से मन तक सबको एवं जीवों को उस अंतर्यामी ब्रह्म का नियाम्य कहा है। ब्रह्म को सबका शरीरी एवं नियामक कहा है। यह 'सब होइ न सो' का भाव है कि सब उसके नियाम्य हैं और वह सबका नियामक है। अतः, वही बनना तो धृष्टता है।

पहले 'न गोचर गो' कहकर नेत्र आदि से परे कहा, तब संदेह हुआ कि उसके होने का क्या प्रमाण है ? अतएव कहते हैं कि 'सब रूप सदा', अर्थात् यह सब जगत् उसीके शरीर रूप में सदा स्थित है, अन्यथा यह नहीं रह सकता; यथा—"मत्स्थानि सर्वभूतानि" (गीता ९।४) अर्थात् सब प्राणी मुझमें ही स्थित हैं, तब फिर संदेह हुआ कि तब तो जगत् के विकार के साथ ब्रह्म भी विकारी होगा, उसपर भी 'सब रूप' के साथ 'सब होइ न सो' कहा है कि वह सब नहीं हो जाता अर्थात् सबमें लिप्त नहीं हो जाता। क्योंकि किसी वस्तु में श्रद्धा-निष्ठ होने से ही उसमें तद्रूपता होती है; यथा—"यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।" (गीता १७।३) अर्थात् जो जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है। भगवान् सबके सम्यक् आधार होते हुए भी सबसे निर्लिप्त हैं, यथा—"मत्स्थानि सर्व भूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥" (गीता ९।४); अर्थात् सब प्राणी मेरे आधार पर स्थित हैं, पर मैं उन सबसे निर्लिप्त हूँ।

कृतकृत्य बिभो सब बानर ये। निरखंति तवानन सादर ये।
धिग जीवन देव शरीर हरे। तव भक्ति बिना भव भूलि परे ॥९॥
अब दीनदयाल दया करिये। मति मोरि बिभेदकरी हरिये।
जेहि ते बिपरीत क्रियाकरिये। दुख सो सुखमानि सुखी चरिये ॥१०॥

अर्थ—हे स्वामिन् ! ये सब वानर कृतार्थ हैं जो आदर-सहित ये आपका मुख देखते हैं (आपके दर्शन करते हैं)। हे हरे ! हमारे जीवन (अमरत्व) और देव (दिव्य) शरीर को धिक्कार है, क्योंकि हमलोग आपकी भक्ति के बिना संसार में भूले पड़े हुए हैं ॥९॥ हे दीन दयालु ! अब दया कीजिये, मेरी भेद बुद्धि को हर लीजिये। जिससे उलटे कर्म करता हूँ और दुःख को सुख मानकर आनंद से विचरता हूँ ॥१०॥

विशेष—(१) 'कृतकृत्य' अर्थात् तन पाकर जो करना चाहिये, वह इन्होंने कर लिया, क्योंकि ये आपके दर्शन कर रहे हैं; यथा—"मुहूर्तमपि राम त्वां येऽनुपश्यन्ति केचन। पाविताः स्वर्गभूताश्च पूज्यास्ते त्रिदिवेश्वरैः॥" (वाल्मी० ७।८१।१०), "जड़ चेतन मग जीव घनेरे। जिन्ह चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥ ते सब भये परम पद जोगू।" (अ० दो० ११६)।

(२) 'मति मोरि बिभेदकरी हरिये'—'मोरि' शब्द सब देवताओं को लेकर कहते हैं। 'विभेदकरी मति'—जगत् को नानात्व रूप शत्रु-मित्र भाव से देखनेवाली बुद्धि। इसीसे आपके शरीर रूप जगत् के प्रति द्वैत बुद्धि होती है और फिर अनेकों विकार पैदा होते हैं; यथा—"जौ निज मन परिहरइ बिकारा। तौ कत द्वैत जनित संसृति दुख संसय सोक अपारा॥" (वि० १२४)।

(३) 'विपरीत क्रिया करिये…'—यह उक्त भेद-बुद्धि का कार्य है, भेद-बुद्धि से देहाभिमान भी होता है, उससे सकाम कर्म करके जीव बंधन में पड़ता है, मनुष्य शरीर भव से छूटने के लिये है, पर इसके सकाम कर्मों से बंधन होता है, यही विपरीत क्रिया है। जीव अज्ञान से इसी सांसारिक सुख में सुख मानते हैं।

खलखंडन मंडन रम्य छमा। पद-पंकज सेवित संभु-उमा।
नृपनायक दे बरदानमिदं। चरनांबुज प्रेम सदा सुभदं॥११॥

दोहा—बिनय कीन्हि चतुरानन, प्रेम पुलक अति गात।
सोभासिंधु बिलोकत, लोचन नहीं अघात॥११०॥

अर्थ—आप दुष्टों के मारनेवाले और पृथिवी के सुन्दर भूषण हैं, आपके चरण-कमल शिव-पार्वतीजी से सेवित हैं। हे राजाओं में श्रेष्ठ! मुझे यह वरदान दीजिये कि आपके चरण-कमलों में मेरा प्रेम हो जो सर्वदा कल्याण देनेवाला है॥११॥ श्रीब्रह्माजी ने स्तुति की। उनका शरीर प्रेम से अत्यन्त रोमांचित हो रहा है। वे छवि समुद्र श्रीरघुनाथजी के दर्शन कर रहे हैं, उनके नेत्र दर्शनों से तृप्त नहीं होते॥११०॥

विशेष—(१) 'मंडन रम्य छमा'—दुष्टों के द्वारा पाप से पृथिवी अशोभित हो गई थी। उनके मारे जाने से वह सुशोभित हुई, जैसे भूषण पहनने से शोभा होती है।

(२) 'नृपनायक'—श्रीसुग्रीवजी और श्रीविभीषणजी को राजा बनाया इससे आप राजाओं में श्रेष्ठ हैं, राजा दानी होते हैं और शिवजी को माँगना भी है, इसीसे यह विशेषण दे रहे हैं। 'चतुरानन'—अत्यन्त प्रेम से चारों मुखों से स्तुति करते हैं और आठो नेत्रों से दर्शन करते हैं, तो भी तृप्त नहीं होते; यथा—"आठइ नयन जानि पछिताने।" (बा० दो० ३१६)।

तेहि अवसर दसरथ तहँ आये। तनय बिलोकि नयन जल छाये॥१॥
अनुज-सहित प्रभु बंदन कीन्हा। आसिरवाद पिता तब दीन्हा॥२॥
तात सकल तव पुन्य प्रभाऊ। जीत्यौं अजय निसाचर-राऊ॥३॥
सुनि सुत-बचन प्रीति अति बाढ़ी। नयन सलिल रोमावलि ठाढ़ी॥४॥

अर्थ—उसी समय श्रीदशरथजी वहाँ आये, पुत्र को देखकर उनके नेत्रों में जल भर आया ॥१॥ भाई के साथ प्रभु ने उनको प्रणाम किया, तब पिता श्रीदशरथजी ने उनको आशीर्वाद दिया ॥२॥ (प्रभु ने कहा) हे तात ! यह सब आपके पुण्यों का प्रभाव है कि जो मैंने अजेय राक्षस-राज को जीता है ॥३॥ पुत्र के वचन सुनकर प्रीति अत्यन्त बढ़ गई, नेत्र सजल हो गये और रोयें खड़े हो गये ॥४॥

(२) 'तेहि अवसर···'—अन्य जीवों को स्वर्ग भोगने के लिये सूक्ष्म शरीर मिलता है। पर श्रीदशरथजी का नित्य स्वरूप है, इससे स्वर्ग जाने पर भी वैसा ही दिव्य शरीर रहा। पहले भी सदेह स्वर्ग जाया करते थे ; यथा—"आगे होइ जेहि सुरपति लेई। अरध सिंहासन आसन देई॥" (अ० दो० १०); 'तनय बिलोकि'—इनका ऐसा दृढ़ वात्सल्य है कि ब्रह्मादि को स्तुति करते देखकर भी भाव पूर्ववत् बना हुआ है। 'नयन जल छाये'—पुत्र को तापस वेप में देखते ही कैकेयीजी के वचन एवं वनवास के प्रसंग स्मरण हो आये, तो आँखों में आँसू भर आये। 'अनुज सहित प्रभु···'—भाई समेत प्रणाम किया, यद्यपि पहले श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीसुमंत्रजी के द्वारा पिता को भ्रम से राम-द्रोही समझकर कठोर वचन कहा था, तथापि उसी समय श्रीरामजी के मना करने और समझाने पर फिर उनके हृदय में पूर्ववत् पितृ-भक्ति आ गई थी। यह बात यहाँ स्पष्ट हुई।

(३) 'आसिरबाद पिता तब दीन्हा'—आशिष के सम्बन्ध से पिता पद दिया गया, क्योंकि ऐश्वर्य दृष्टि होती तो स्वयं प्रणाम ही करते।

(४) 'तात सकल तव···'—भाव यह कि आपने हमारा वियोग सहकर भी सत्य-धर्म का पालन किया, उसी के प्रभाव से अजेय रावण मारा गया। प्रभु ने अपने पुत्रत्व भाव के अनुसार यह वचन कहा, इससे अब प्रेम और भी उमड़ चला। तब 'प्रीति अति बाढ़ी' कही गई। फिर उसकी दशा कहते हैं— 'नयन सलिल रोमावलि ठाढ़ी।'

रघुपति प्रथम प्रेम अनुमाना। चितइ पितहि दीन्हेउ दृढ़ ज्ञाना ॥५॥
ताते उमा मोच्छ नहिं पायो। दसरथ भेद-भगति मन लायो ॥६॥

अर्थ-श्रीरघुनाथजी ने पहले का प्रेम अनुमान कर, पिता की ओर देखकर उन्हें दृढ़ ज्ञान दिया ॥५॥ श्रीशिवजी कहते हैं कि हे उमा ! श्रीदशरथजी ने अपना मन भेद-भक्ति में लगाया इसीसे मोक्ष नहीं पाया ॥६॥

विशेष—(१) 'प्रथम प्रेम अनुमाना'—पहले का वह प्रेम जिससे पुत्र के वियोग में इन्होंने प्राण छोड़े थे ; यथा—"सुत बिषयिक तव पद रति होऊ। मोहिं बड़ मूढ़ कहइ किन कोऊ॥" (बा० दो० १५०); 'चितइ पितहि···'—पिता-भाव में दृढ़ श्रीदशरथजी महाराज पर प्रभु ने कृपादृष्टि की और उन्हें दृढ़ ज्ञान दिया। जिसमें अपने (श्रीरामजी के) ऐश्वर्य का उन्हें ज्ञान हो और वे फिर श्रीरामजी को परब्रह्म जानें ; यथा—"इदानीं च विजानामि यथा सौम्य सुरेश्वरैः। वधार्थं रावणस्येहपिहितं पुरुषोत्तमम्॥" (वाल्मी० ६।११९ १७); अर्थात् मैंने अब आपको जाना कि हे सौम्य ! आप देवताओं के भी अज्ञात हैं, रावण-वध के लिये आप छिपे हुए पुरुषोत्तम हैं।

जब इस दृढ़ ज्ञान से प्रभु को सर्वत्र देखेंगे, तब वियोग का विचार ही असंभव हो जायगा, इसीसे तो आगे हर्षित होकर इनका सुरधाम जाना लिखा है। यदि ऐसा ज्ञान नहीं देते, तो फिर श्रीदशरथजी लौटकर जाते ही नहीं, जिससे लीला की मर्यादा के निर्वाह में विघ्न होता।

(२) 'दसरथ भेद-भगति मन लायो ।'—दृढ़ ज्ञान पर तुरत मोक्ष हो जाना चाहिये। परन्तु यहाँ ऐसा नहीं हो रहा है, इसका समाधान शिवजी करते हैं कि इन्होंने भेद-भक्ति में मन लगाया है। भक्ति दो प्रकार की होती है—(१) अभेद और (२) भेद। शान्त, सख्य और शृंगार भाव एवं दास्य भाव में स्वरूप एवं अवस्था साम्य रसरूप के अनुकूल है। शांत में बराबर आनंद अनुभव, शृंगार में रस-भाव-भोग-वृत्ति, सख्य में सारूप्य से बराबर रस क्रीडा-भोग-वृत्ति और दास्य मे अलंकार आदि रूप से सेवा मे रहना अभेद भक्ति है। वात्सल्य रस मे पुत्र, शिष्य, जामातृ आदि दृष्टि से अवस्था-भेद तो रहता ही है। उसमें भी श्रीदशरथजी ने अभी भेद-पूर्वक इसी भाव से श्रीरामजी की राज्य लीला देखने की अभिलाषा प्रकट की है। वाल्मी० ६।११६।१८-२० मे कहा है कि कौसल्या धन्य हैं और पुरवासी धन्य हैं, जो तुम्हें राज्य-तिलक सहित देखेंगे (इसमें अपनी भी देखने की लालसा छिपी हुई है) मैं तुम्हारा और श्रीभरतजी का समागम देखना चाहता हूँ, (इसमे स्पष्ट कहा है)। पुन. यह वासना इन्हें वनवास देने के पूर्व से ही थी ; यथा—'एक मनोरथ बड़······' कहा ही है।

श्रीरामजी के समक्ष भक्त के मनोरथ अवश्य सिद्ध होते हैं। जैसे कि श्रीविभीषणजी के विषय मे कहा गया था कि न इच्छा रहने पर भी पूर्व मनोरथ के अनुसार उन्हें राज्य का भोग करना पड़ा। ऐसे ध्रुवजी को भी पूर्व संकल्प के अनुसार राज्य का भोग करना पड़ा। वैसे ही श्रीदशरथजी दृढ़ ज्ञान सहित, किन्तु सुरलोक में ही रहकर प्रभु की राज्य-लीला देखेंगे। इसी लीला की पूर्त्ति पर इनकी वासना पूर्त्ति भी होगी। तब श्रीरामजी के साथ ही साकेत पधारेंगे। जैसे ध्रुव आदि ने नियमित अवधिपूर्त्ति पर नित्य धाम पाया है।

सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ राम भगति निज देहीं ॥७॥
बार बार करि प्रभुहि प्रनामा। दसरथ हरषि गये सुरधामा ॥८॥

अर्थ—सगुण रूप के उपासक (भक्ति हीन कैवल्य) मोक्ष नहीं लेते, उनको श्रीरामजी अपनी खास भक्ति देते हैं ॥७॥ बार-बार प्रभु को प्रणाम करके प्रसन्न होकर श्रीदशरथजी देवलोक को गये ॥८॥

विशेष—(१) 'सगुनोपासक······', यथा—"जिन्हके मन मगन भये हैं रस सगुन, तिन्हके लेखे अगुन मुकुति कवनि।" (गी० मा० ५); इस पद मे सगुन की अपेक्षा अगुण-मुक्ति की ही अवहेलना की गई है। जिस मुक्ति की प्राप्ति उ० दो० ११६ मे कही गई है ; उसे ही 'निर्गुन मत' भी स्पष्ट कहा है ; यथा—"निर्गुन मत नहिं मोहि सुहाई।" (उ० दो० १०१); यहाँ सगुण के धाम की प्राप्ति-रूपी मुक्ति का निषेध नहीं है ; यथा—"मद्भक्ता यान्ति मामपि" (गीता ७।२३), "यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥" (गीता ९।२५); इत्यादि प्रमाणों से भक्त भगवान् के ही धाम को जाते हैं और—"यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥" (गीता १५।६), की रीति से मुक्त होकर वे नित्य धाम मे ही रहते हैं। तथा—"मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।" (गीता ८।१६)।

यदि कोई कहे कि राजा श्रीदशरथजी की श्रीरामजी मे ऐश्वर्य दृष्टि नहीं थी, इससे वे मुक्त न होकर सदा स्वर्ग में ही रहे, तो यह उसकी बड़ी भूल है। राजा ने स्वयं श्रीलक्ष्मणजी से श्रीरामजी को परब्रह्म कहा है—वाल्मी० ६।११६।३१ देखिये और यही बात वहीं पर श्रीरामजी से भी कही है। और यहाँ मानस में तो अत्यन्त स्पष्ट शब्दों मे श्रीरामजी के द्वारा 'दृढ़ ज्ञान' प्राप्त होना कहा है। यदि राजा श्रीरामजी को सर्वव्यापक परब्रह्म नहीं जाने तो इस दृढ़ ज्ञान का क्या अर्थ है ?

पुन: कहते हैं—"तिन्ह कहँ राम-भगति निज देहीं।' अर्थात् उन्हें स्वयं श्रीरामजी अपनी भक्ति देते हैं। तब उपर्युक्त रीति से श्रीरामजी के भक्त श्रीरामजी के धाम को जाते हैं और फिर संसार में नहीं आते, यही मुक्ति है।

शंका—तब मोक्ष नहीं लेने की बात क्यों कही गई?

समाधान—भक्त लोग भक्ति का कोई फल नहीं चाहते, क्योंकि उसमे भगवान् और उनकी भक्ति साधन में आ जाते हैं और मुक्ति फल रूप मे हो जाती है। इसलिये भक्त लोग भक्ति ही को फल-रूपा मानते हैं; यथा—"फलरूपत्वात्॥" (नारदभक्तिसूत्र २६)। "तीर्थाटन साधन······सब कर फल-हरि भगति भवानी॥" (उ० दो० १२५)। क्योंकि नित्यधाम मे भी ये अपने भावानुसार सेवा सहित ही आनंदोपभोग करते हैं; यथा—"सोऽश्नुते सर्वान्कामान् सहब्रह्मणा विपश्चिता॥" (तैत्त० २।१)। यह मुक्ति ही है, क्योंकि इनका संसार मे आना नहीं होता।

(२) 'बार बार करि प्रभुहि प्रनामा।···'—जब दृढ़ ज्ञान प्राप्त हुआ तब श्रीरामजी में पर-ब्रह्म बुद्धि आई तब प्रणाम किया और उन्हें सर्व व्यापक देखते हुए वियोग की चर्चा तक न कर हर्ष-पूर्वक देवलोक गये। दृढ़ ज्ञान से राजा ने प्रभु का वह अभिप्राय भी जान लिया कि वहीं से मुझे राज्य-लीला देखकर अपनी पूर्व वासना की तृप्ति करनी होगी। अपनी अभिष्ट-सिद्धि होने से हर्ष-पूर्वक देवलोक को गये। दृढ़ ज्ञानवाले कभी हर्ष-पूर्वक स्वर्ग भोगने के लिये नहीं जा सकते। अतः, उपर्युक्त रीति से ही जाना युक्तिसंगत है।

दोहा—अनुज जानकी सहित प्रभु, कुसल कोसलाधीस।
सोभा देखि हरषि मन, अस्तुति कर सुर ईस॥१११॥

अर्थ—भाई श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी के साथ प्रभु कोशलपति श्रीरामजी कुशल-पूर्वक विराजमान हैं, शोभा देख मन में हर्षित होकर देवताओं के राजा इन्द्र स्तुति करने लगे॥१११॥

छंद—जय राम सोभाधाम दायक प्रनत बिश्राम।
धृत तोन बर सर चाप भुजदंड प्रबल प्रताप॥१॥
जय दूषनारि खरारि मर्दन निसाचर-धारि।
यह दुष्ट मारेउ नाथ भये देव सकल सनाथ॥२॥

अर्थ—शोभाधाम, शरणागतों को विश्राम देनेवाले, श्रेष्ठ (अक्षय) तर्कश, बाण और धनुष धारण किये हुए, जिनका भुजदंड प्रबल है और जो प्रबल प्रतापी हैं, उन श्रीरामजी की जय हो॥१॥ हे खर और दूषण के शत्रु! हे निशाचर सेना के मर्दन करनेवाले! आपकी जय हो। हे नाथ! आपने इस दुष्ट को मारा, जिससे सभी देवता सनाथ हुए (अर्थात् आप ऐसे नाथ की कृपा से हमें अपने घर मे रहने को मिला)॥२॥

विशेष—'भये देव सकल सनाथ'; यथा—"दसमुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिना ये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्हके जस अमर नाग नर सुमुखि सनाहैं॥" (गी० उ० १३)।

जय हरन धरनी-भार महिमा उदार अपार।
जय रावनारि कृपाल किये जातुधान बिहाल ॥३॥
लंकेस अति बल गर्ब किये बस्य सुर गंधर्ब।
मुनि सिद्ध नर खग नाग हठि पंथ सबके लाग ॥४॥

अर्थ—हे भूमि के भार हरनेवाले ! हे अपार श्रेष्ठ महिमावाले ! आपकी जय हो। हे रावण के शत्रु हे कृपालो ! आपकी जय हो। आपने निशाचरों को व्याकुल कर दिया ॥३॥ लंकापति रावण को बल का बड़ा भारी गर्व था। उसने देवता और गंधर्व को अपने वश में कर रक्खा था। (यही नहीं किंतु वह) मुनि, सिद्ध, मनुष्य, पक्षी, नाग आदि सभी के पीछे हठपूर्वक पड़ा था ॥४॥

विशेष—(१) 'महिमा उदार अपार'—इतनी भारी महिमा है कि कोई उसे वर्णन करके पार नहीं पा सकता; यथा—"भुवन अनेक रोम प्रति जासू।···सो महिमा समुझत प्रभु केरी॥" (उ० दो० ९१) तथा उ० दो० ६१-६२ भी देखिये।

(२) 'हठि पंथ सबके लाग'—पंथ लगना—मुहावरा है अर्थात् बराबर तंग करना, 'हठि' का भाव यह कि सज्जनों के मना करने से भी नहीं मानता था।

पर-द्रोह-रत अति दुष्ट पायो सो फल पापिष्ट।
अब सुनहु दीनदयाल राजीव-नयन बिसाल ॥५॥
मोहि रहा अति अभिमान नहिं कोउ मोहि समान।
अब देखि प्रभु-पद-कंज गत मान-प्रद दुखपुंज ॥६॥

अर्थ—वह पराये द्रोह में तत्पर, अत्यन्त दुष्ट और महापापी था, वैसा ही उसने फल पाया। हे कमल के समान विशाल नेत्रवाले ! हे दीनदयालु ! अब सुनिये ॥५॥ मुझे अत्यन्त अभिमान था कि मेरे समान कोई नहीं है। अब प्रभु के चरण-कमल को देखकर दुःख-समूह का देनेवाला मेरा अभिमान चला गया ॥६॥

विशेष—(१) 'पायो सो फल पापिष्ट'; यथा—"बिस्व-द्रोह-रत यह खल कामी। निज अघ गयउ कुमारग गामी॥" (दो० १०८); क्योंकि यह नीति है; यथा—"चौदह भुवन एक पति होई। भूत द्रोह तिष्ठइ नहिं सोई॥" (सुं० दो० ३७)।

(२) 'राजीव-नयन बिसाल'—रावण को देखकर हमलोगों का खून सूख जाता था, पर आपके दर्शनों से हम हृष्ट-पुष्ट हुए, ऐसा भाव कमल-नयन कहकर जनाया; क्योंकि कमल आह्लादकारक और रक्त-वर्द्धक है।

कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव अव्यक्त जेहि श्रुति गाव।
मोहि भाव कोसल भूप श्रीराम सगुन सरूप ॥७॥
बैदेहि अनुज समेत मम हृदय करहु निकेत।
मोहि जानिये निज दास दे भक्ति रमा-निवास ॥८॥

अर्थ—कोई निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करते हैं, जिनको वेद अव्यक्त कहते हैं। परन्तु मुझे आपका सगुण कोसलपति श्रीराम स्वरूप ही प्रिय लगता है ॥७॥ श्रीसीता-लक्ष्मणजी साथ मेरे हृदय मे अपना घर बनाइये। हे रमा-निवास ! मुझे अपना दास समझिये और (अपनी) भक्ति दीजिये ॥८॥

विशेष—(१) 'अव्यक्त जेहि श्रुति गाव'; यथा—"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।" (गीता ९।४); अव्यक्त का अर्थ है अलक्ष्य, जो नेत्र, श्रवण एवं मन आदि के द्वारा नहीं समझा जा सके; यथा—"न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो···" (केन० १।३); अर्थात् न उस तक नेत्र जाते हैं, न वाणी जाती है और न मन जाता है, अपनी बुद्धि से हम नहीं जानते, विशेष रूप से भी हम नहीं जानते। तथा—"मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी ॥" (बा० दो० ३४०) इत्यादि।

अव्यक्त कहने का तात्पर्य यह नहीं कि वह किसी तरह प्रकट ही नहीं होता, क्योंकि साधननिष्ठ सूक्ष्म बुद्धि से उसका साक्षात्कार होना भी कहा गया है, यथा—"नाम निरूपन नाम जतन ते। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन ते ॥" (बा० दो० २२), "अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई ॥" (बा० दो० ११५); "एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥" (कठ० १।३।१२); एवं बा० दो० ३४०–३४१ देखिये।

भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजी ने इसपर विचार किया है; यथा—"तर्हि ब्रह्मणः प्रत्यक्षाभावात्कदापि कस्यापि मोक्षो न स्यादित्याह—अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। (ब्र० सू० ३।२।२४)—संराधनं सम्यगाराधनं प्रीति-पूर्वकं तदेकचिन्तनं तस्मिन् सत्येवास्य साक्षात्कारो भवति नान्यत्रेति श्रुतिस्मृतिभ्यां ज्ञायते।" अर्थात जब ब्रह्म अव्यक्त ही है तब उसके साक्षात्कार के विना किसी का भी मोक्ष नहीं होगा; इसपर 'अपि ··' इस सूत्र का अर्थ करते हैं कि संराधन अर्थात् सम्यक् आराधन—प्रीति-पूर्वक अनन्य चिन्तन करने से उसमे सत्य की तरह इसका साक्षात्कार होता है—यह श्रुति और स्मृतियों से जाना जाता है—

श्रुतयस्तावद् "ज्ञानप्रसादेन विशुद्ध सत्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥" (मुं० ३।१।८); "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्।" (मुं० ३।१।३); "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।" (मुं० २।२।८); "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।" (मुं० ३।२।३); इत्यादयः। स्मृतयोऽपि भक्त्यात्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप।" (गीता ११।५४), इत्येवमाद्या। आभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामस्य परम पुरुषस्य साक्षात्कारो भवतीति ॥ (आनन्दभाष्य) इन श्रुति स्मृतियों के अनुसार इस परम पुरुष का साक्षात्कार होता है।

(२) 'मोहिं भाव कोसल भूप'; यथा—"जे जानहिं ते जानहु स्वामी।···जो कोसलपति···"

(आ० दो० १०)—सुतीक्ष्णजी। "यद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता।···अस तव रूप बखानउँ जानउँ···" (आ० दो० १२)—श्रीअगस्त्यजी। "जे ब्रह्म अज अद्वैत···ते कहहु जानहु नाथ···" (उ० दो० १२)—वेद, इत्यादि इन सभों ने दोनों में अधिकार प्रकट करते हुए भी सगुण में ही अपनी अपनी स्थिति माँगी है। 'श्रीराम सगुन सरूप'—सगुण स्वरूप भी आपके बहुत हैं, मुझे यही रूप अत्यन्त प्रिय है। 'दे भक्ति'—श्रीदशरथजी ने भक्ति ही माँगी है। अतः, इन्द्र भी वही माँगते हैं, क्योंकि ये उनके सखा हैं। 'रमा निवास'—रमा अर्थात् श्रीजानकीजी, उनके हृदय में आपका एवं आपके हृदय में उनका निवास है; यथा—"सो मन सदा रहत तोहि पाहीं।" (सुं० दो० १४); "जानकी उर मम बास है।" (दो० ४८)।

छंद—दे भक्ति रमानिवास त्रासहरन सरन सुखदायकं।
सुखधाम राम नमामि काम अनेक छवि रघुनायकं ॥९॥
सुरबृंद-रंजन द्वंदभंजन मनुज तनु अतुलित बलं।
ब्रह्मादि-संकर-सेव्य राम नमामि करुना कोमलं ॥१०॥

दोहा—अब करि कृपा बिलोकि मोहि, आयसु देहु कृपाल।
काह करउँ सुनि प्रिय बचन, बोले दीनदयाल ॥११२॥

अर्थ—हे रमानिवास! हे शरणागत के भय हरनेवाले और सुख देनेवाले! मुझे (अपनी) भक्ति दीजिये। सुख के स्थान, अनेक कामदेवों की छविवाले, रघुकुल के स्वामी श्रीरामजी! आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥९॥ हे देव-समूह के आनंद देनेवाले, (हर्ष-विषाद, मानापमान आदि) द्वन्द्वों के नाश करनेवाले, मनुष्य-शरीर-धारी, अतुलित बलवान्, ब्रह्मादि शंकर से सेवित होने के योग्य, करुणामय, कोमल (स्वभाव) श्रीरामजी! मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥१०॥ हे कृपालो! अब कृपा करके मुझे (कृपा दृष्टि से) देखकर आज्ञा दीजिये कि मैं क्या (सेवा) करूँ? ऐसे प्रिय वचन सुनकर दीन दयालु श्रीरामजी बोले ॥११२॥

विशेष—(१) 'सरन सुखदायकं'—भक्तों के लिये, सुखधाम; योगियों के लिये राम।

(२) 'अब करि कृपा···'—सेवा स्वीकृत कर कृतार्थ करना कृपा है, इसीसे कृपालु से कृपा-दृष्टि की याचना की गई है। प्रभु की सेवा उनकी कृपा से ही मिलती है; यथा—"प्रभु मुख कमल बिलोकत रहहीं। कबहुँ कृपालु हमहिं कछु कहहीं॥" (उ० दो० २४); 'बिलोकि मोहि'—इन्द्र स्तुति करते हैं, अपनी प्रशंसा पर प्रभु नीचे दृष्टि किये हुए हैं। यह श्रेष्ठ लोगों का स्वभाव ही है; यथा—"निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।" (आ० दो० ४५)। अतः, इन्द्र ने प्रार्थना की कि मेरी ओर दया-दृष्टि कीजिये। 'बोले दीन दयाल'—इन्द्र की दीनता पर बोले और वानरों पर भी दया है, इसीसे दीन-दयालु कहा गया है।

सुनु सुरपति कपि-भालु हमारे। परे भूमि निसिचरन्हि जे मारे ॥१॥
मम हित लागि तजे इन्ह प्राना। सकल जियाउ सुरेस सुजाना ॥२॥

अर्थ—हे देवराज ! सुनिये, हमारे वानर और भालू, जिन्हें राक्षसों ने मारा है, पृथिवी पर पड़े हैं ॥१॥ इन्होंने मेरी ही भलाई के लिये प्राण छोड़े हैं। अतः, हे सुजान इन्द्र ! इन सबको जिला दो ॥२॥

विशेष—(१) 'सुरपति'—का भाव यह कि तुम देवराज हो और ये सभी देवांश हैं। अतः, इनकी रक्षा करना तुम्हारा कर्त्तव्य भी है, पुनः सब 'हमारे' हैं, अतः मुझे भाई-बंधु के समान प्रिय हैं। 'परे भूमि···'—श्रीरामजी की कृपा से अभी ये लोग पड़े ही हैं, शृगाल आदि ने इनके शरीरों को नहीं बिगाड़ा है।

'निसिचरन्हि जे मारे'—भाव यह कि तुम्हारे शत्रुओं के द्वारा मारे गये हैं। अतः, इनका जिलाना तुम्हारा कर्त्तव्य है। 'मम हित लागि···'—हमारे कार्य के लिये इन्होंने प्राणों का लोभ नहीं किया—प्राण दे दिये, तो हमारा भी कर्त्तव्य है कि इन्हें पुनः जीवित करें, अतएव इनके जिलाने में मुझपर भी तुम्हारा निहोरा है।

(२) 'सुरेस सुजाना'—भाव यह कि ये देवांश हैं। अतः, ये जीवित होंगे और राक्षस मुक्त हो गये, वे नहीं जीवित हो सकते। अतः, यह शंका नहीं करो कि कहीं राक्षस भी न जी जायँ। पुनः यह भी भाव है कि हमारी इच्छा है, तो ये जियेंगे ही, पर तुम्हें बड़ाई मिलना है कि इन्द्र ने जिला दिया। अतः, समय पर कार्य में नहीं चूको।

सुनु खगेस प्रभु कै यह बानी। अति अगाध जानहिं मुनि ग्यानी ॥३॥
प्रभु सक त्रिभुवन मारि जियाई। केवल सक्रहि दीन्हि बड़ाई ॥४॥
सुधा बरषि कपि भालु जियाये। हरषि उठे सब प्रभु पहिं आये ॥५॥

अर्थ—हे गरुड़ ! सुनो, प्रभु के ये वचन अत्यन्त गंभीर हैं, ज्ञानी मुनि ही इसे जानते हैं ॥३॥ प्रभु श्रीरामजी तीनों लोकों को मारकर (फिर) जिला सकते हैं। (तब इन भालू-वानरों का जिलाना उनके लिये कुछ नहीं है), यहाँ उन्होंने इन्द्र को केवल बड़ाई दी है ॥४॥ इन्द्र ने अमृत बरसाकर वानर-भालुओं को जिलाया। वे सब प्रसन्न होकर उठे और प्रभु के पास आये ॥५॥

विशेष—(१) 'प्रभु कै यह बानी'; 'अति अगाध'—प्रभु ने इन्द्र से वानर-भालुओं के जिलाने के लिये कहा, इसपर गरुड़जी को संदेह होता कि क्या श्रीरामजी स्वयं नहीं जिला सकते थे ? जो उन्होंने इन्द्र से कहा, उसका समाधान स्वयं श्रीभुशुंडीजी कर रहे हैं कि इस वचन के आशय अगाध हैं। वानरों ने इस देह से प्रभु के कार्य किये हैं। अतः, उनके उन्हीं शरीरों को जिलाते हैं और राक्षसों ने इस देह से अकार्य (अनहित) किये हैं, इससे उनकी इन देहों को नहीं जिलाया। पुनः नर-लीला के निर्वाह के लिये प्रभु ने इन्द्र से यह कार्य कराया और इन्द्र को अभीष्ट वरदान भी दिया। इन्द्र ने सेवा माँगी थी, वह उन्हें दी, जिससे उन्हें बड़ाई मिली ; यथा—"संतत दासन्ह देहु बड़ाई।" (आ॰ दो॰ १२); इन्द्र को दास माना, इसीसे बड़ाई दी।

सुधा-बृष्टि भै दुहु दल ऊपर। जिये भालु-कपि नहिं रजनीचर ॥६॥
रामाकार भये तिन्ह के मन। मुक्त भये छूटे भव-बंधन ॥७॥
सुर अंसिक सब कपि अरु रीछा। जिये सकल रघुपति की ईछा ॥८॥

अर्थ—(वानर-राक्षस) दोनों सेनाओं के ऊपर अमृत की वर्षा हुई, पर भालू-वानर जिये और राक्षस नहीं जिये ॥६॥ (कारण यह कि) उनके मन रामाकार होने से वे मुक्त हो गये, उनका संसार-बंधन (आवागमन) छूट गया ॥७॥ सब वानर-भालू देवांश हैं, इससे एवं श्रीरघुनाथजी की इच्छा से सभी जीवित हो गये ॥८॥

विशेष—(१) 'रामाकार भये···'—यह राक्षसों की मुक्ति का हेतु कहा और 'सुर अंसिक···' ने वानर-भालुओं के जीवित होने का हेतु कहा।

देवांश-भूत वानर-भालू सगुणोपासक हैं, अतएव वे संतत प्रभु के साथ ही रहना चाहते हैं ; यथा—"हम सब सेवक अति बड़ भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी ॥ ··सगुन उपासक संग तहँ, रहहिं मोच्छ सब त्यागि ॥" (कि॰ दो॰ २६) ; यह श्रीजाम्बवान्‌जी ने सबकी ओर से कहा है, इससे इसी शरीर से जिला कर प्रभु ने सबको अपने संग रक्खा। और, राक्षसों के राजा रावण ने मुक्ति की चाहना की थी ; यथा—"प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ।" (आ॰ दो॰ २२) ; अतएव सब राक्षसों को मुक्त किया। कहा ही है—"तुलसी प्रभु सुभाव सुरतरु सों, ज्यों दर्पन मुख कांति।" (वि॰ ११३)। 'जिये सकल रघुपति की ईछा।'—श्रीरघुनाथजी की इच्छा यही है कि इन वानर-भालुओं ने इसी शरीर से हमारे कार्य किये हैं, अतएव इसी शरीर से ये लोग अपने-अपने बांधवों से मिलें। श्रीरामजी की इच्छा अमृत को विष और विष को अमृत कर सकती है ; यथा—"विषमप्यमृतायते क्वचित् क्वचिदमृतं विषमीश्वरेच्छया ॥" (रघुवंश) ; अर्थात् ईश्वर की इच्छा से कभी अमृत विष के समान और कभी विष अमृत के समान होता है। तथा—"ईस रजाय सीस सब ही के। उतपति थिति लय विषहुँ अमी के ॥" (अ॰ दो॰ २८१)।

दोनों दलों के वीर रण में सम्मुख मरे हैं, अतएव स्मृतियों की दृष्टि से दोनों को ही मुक्त हो जाना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं हुआ, यदि यह कहा जाय कि राक्षस श्रीरामजी के बाणों से मरे, तो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि कितने तो वानरों के द्वारा ही मारे गये हैं, यदि यह कहा जाय कि वे राम-नाम कहकर मरे हैं, तो भी यह निश्चित नहीं है, फिर वानर भी तो बराबर श्रीरामजी की जय बोलते थे और प्रभु के अनुरागी भी थे, इत्यादि। पुनः वाल्मीकीय रामायण में लिखा है कि रावण की आज्ञा से युद्धारंभ से ही जो राक्षस युद्ध में मरते थे, तुरत समुद्र में फेंक दिये जाते थे कि जिससे और राक्षसों का उत्साह बढ़ता रहे, बहुतों को मरा हुआ देखकर वे घबड़ा न जायँ। परन्तु यह समाधान भी युक्तियुक्त नहीं होगा, क्योंकि पिछले युद्ध में जो मरे हैं, वे तो पड़े हुए ही हैं ; यथा—"हनूमान् अंगद के मारे। रन महि परे निसाचर भारे।" (दो॰ ११७) यह आगे कहा गया है। इत्यादि बहुत-से तर्क हो सकते थे, उन सबका अंतिम सिद्धान्त-भूत समाधान 'रघुपति की इच्छा' है, इसपर कुछ भी तर्क नहीं रह जाता। ऊपर प्रमाण दिया ही गया कि अमृत और विष सभी पर श्रीरामजी की आज्ञा है, चाहे जिससे जैसा करावें।

राम-सरिस को दीन हितकारी। कीन्हे मुकुत निसाचर झारी ॥९॥
खल मल-धाम काम-रत रावन। गति पाई जो मुनिवर पाव न ॥१०॥

दोहा—सुमन बरषि सब सुर चले, चढ़ि चढ़ि रुचिर बिमान।
देखि सुअवसर प्रभु पहिं, आयउ संभु सुजान ॥

परम प्रीति कर जोरि जुग, नलिन-नयन भरि बारि।
पुलकित तनु गदगद गिरा, बिनय करत त्रिपुरारि ॥११३॥

अर्थ—श्रीरामजी के समान कौन दीनों का हित करनेवाला है ? सारे राक्षसों को उन्होंने मुक्त कर दिया ॥९॥ दुष्ट, पापों के घर और कामी रावण ने (वह) गति पाई, जो मुनिश्रेष्ठ भी नहीं पाते ॥१०॥ फूलों की वर्षा करके सब देवता सुन्दर-सुन्दर विमानों पर चढ़-चढ़कर चले, तब अच्छा अवसर देखकर सुजान शिवजी प्रभु के पास आये ॥ अत्यन्त प्रेम से दोनों हाथ जोड़कर कमल समान नेत्रों में जल भरे हुए, पुलकित शरीर और गद्गद वाणी से त्रिपुरारि श्रीशिवजी स्तुति करने लगे ॥११३॥

विशेष—(१) 'सुमन बरषि सब सुर चले'—ये लोग आये थे, तब भी फूल बरसाये थे; यथा—"बरषहिं सुमन हरषि सुर" (दो० १०८); और यहाँ चलते समय भी फूलों की वर्षा की। "आये देव सदा स्वारथी।" (दो० १०८); उपक्रम और यहाँ 'सब सुर चले' उपसंहार है। इनका स्वार्थी होना इससे भी सिद्ध होता है कि अब ये राम-राज्याभिषेक के अवसर पर पुष्प-वर्षा नहीं करेंगे। 'चढ़ि चढ़ि...'—आये थे तो उतरकर स्तुति की, अब फिर चढ़-चढ़कर चले।

(२) 'देखि सुअवसर प्रभु पहिं...'—अब सारी सेना भी जीवित हो गई, सम्पूर्ण समाज प्रसन्न है, देवता लोग भी चले गये, अभी पुष्पक विमान के आने तक प्रभु सुस्थिर हैं। अतः, अच्छा अवसर जानकर आये, यही सुजानता है; यथा—"दासी देखि सुअवसर आई॥ सावकास सुनि सब सिय सासू। आयो जनक राज रनिवासू॥" (अ० दो० २८०)।

मामभिरक्षय रघुकुल-नायक। धृत बर चाप रुचिर कर सायक ॥१॥
मोह महा घन-पटल प्रभंजन। संसय-बिपिन-अनल सुर-रंजन ॥२॥

अर्थ—हे रघुकुल श्रेष्ठ ! सुन्दर हाथों में श्रेष्ठ धनुष और दीप्तिमान बाण धारण किये हुए आप मेरी रक्षा करें ॥१॥ महा मोह-रूपी मेघ-समूह के (उड़ाने के लिये) आप प्रचंड पवन हैं, संशय रूपी वन के भस्म करने के लिये आप अग्नि रूप हैं, और देवताओं को आनंददाता हैं ॥२॥

विशेष—(१) शिवजी रक्षा चाहते हैं, तदनुसार ही उन्होंने 'रघुनायक' कहा है, क्योंकि रघुवंशी सभी शरणागत-पालक होते आये हैं। इसीलिये श्रेष्ठ धनुष का धारण करना कहा कि जिसे कोई काट नहीं सके। रक्षा शत्रु से की जाती है, यहाँ भी ये उन मोह, संशय आदि शत्रुओं के नाम कहते हैं—

मोह हृदयाकाश को आच्छादित कर देता है, जिससे ज्ञान-रूपी सूर्य छिप जाते हैं, इसी से इसे 'घन-पटल' कहा है। मेघों के समूह की तरह मोह-दल भी भारी है; यथा—"काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह कै धारि।" (आ० दो० ४३); संशय को वन कहा है, क्योंकि जैसे वन मे भटक जाने से निकलना कठिन होता है, वैसे ही संशय से बुद्धि का उबार होना कठिन होता है; यथा—"अस संसय मन भयउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा॥" (बा० दो० ५०)।

अगुन सगुन गुन-मंदिर सुंदर। भ्रम-तम प्रबल प्रताप-दिवाकर ॥३॥

काम-क्रोध - मद-गज पंचानन। बसहु निरंतर जन मन कानन ॥४॥

अर्थ—आप निर्गुण हैं, सगुण हैं, (दिव्य) गुणों के मंदिर है और सुंदर हैं। भ्रम रूपी अंधकार के लिये आपका प्रबल प्रताप सूर्य के समान है ॥३॥ काम, क्रोध और मद रूपी हाथियों के लिये सिंह-रूप आप मुझ दास के मन रूपी वन में निरंतर वास करें ॥४॥

विशेष— 'भ्रम-तम प्रबल प्रताप-दिवाकर'—जैसे सूर्य अनायास ही अंधकार को नष्ट करता है, वैसे ही आपका प्रबल प्रताप सब भ्रमों की कारण-रूपा अविद्या का ही पहले नाश करता है; यथा— *"जब ते राम प्रताप खगेसा। उदित भयो अति प्रबल दिनेसा ॥...प्रथम अविद्या निसा नसानी।"* (उ० दो० ३०); 'काम क्रोध मद गज...'—यहाँ तक ऊपर के मोह, संशय और भ्रम भी मिलाकर कुल छः शत्रु गिनाये। इनसे रक्षा के लिये पहले 'धृत बर चाप रुचिर कर सायक' कहा और यहाँ—'बसहु निरंतर...' से मन में निरंतर बसना भी कहा, यही उपाय है; यथा—"तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मत्सर मद माना ॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा ॥" (सुं० दो० ४६)।

बिषय मनोरथ-पुंज कंज बन। प्रबल तुषार उदार पार मन ॥५॥
भव-बारिधि मंदर परमंदर। बारय तारय संसृति दुस्तर ॥६॥

शब्दार्थ—परमंदर = परमं + दर = परम डर, बड़ा भय। बारय = निवारण करें।

अर्थ—विषय-मनोरथ-समूह रूपी कमल-वन के लिये आप प्रबल पाला-रूप हैं, आप उदार (महान् दानी) हैं और मन से परे हैं ॥५॥ भव सागर मंथन के लिये आप मंदर हैं, मेरे परम भय को निवारण करें और दुस्तर संसार सागर से पार करें ॥६॥

विशेष—'भव-बारिधि मंदर'; यथा—"भवाम्बु नाथ मंदरं" (अ० दो० ३)। पहले 'भवबारिधि मंदर' कहकर वैसा श्रीरामजी का स्वभाव कहा है, फिर 'परमंदर बारय' से अपने भय-निवारण की प्रार्थना की, फिर 'तारय संसृति दुस्तर' से उस भय को असाध्य कहते हुए प्रकट करके फिर उससे तारने की प्रार्थना की।

शंका—यहाँ भय का 'परम' विशेषण क्यों कहा गया, इसे तो कराल, विषम आदि कहना था।

समाधान—*मोह आदि शत्रुओं से डरना दैवीसंपत्ति का अधिकारी होना है,* अतएव इसे 'परम' कहा गया, यथा—"सीता कै अति बिपति बिसाला।" (सुं० दो० ३०)।

स्याम गात राजीव - बिलोचन। दीनबंधु प्रनतारति - मोचन ॥७॥
अनुज जानकी सहित निरंतर। बसहु राम नृप मम उर अंतर ॥८॥
मुनि-रंजन महि - मंडल - मंडन। तुलसिदास प्रभु त्रास-बिखंडन ॥९॥

अर्थ—हे दीनबंधु ! आपका श्याम शरीर और कमल (के दल समान विशाल) नेत्र शरणागत के दुःख छुड़ानेवाले हैं ॥७॥ हे राजा श्रीरामजी ! आप भाई श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी के साथ

मेरे हृदय मे निवास करें ॥८॥ आप मुनियों को आनंद देनेवाले, भूमि मंडल के भूषण, भय के नाशक और मुझ तुलसीदास के प्रभु हैं ॥९॥

विशेष–(१) 'श्यामगात' और 'राजीव विलोचन' ये दोनों ही भय-मोचन हैं, यथा—"भुज प्रलंब कंजारुन लोचन। श्यामल गात प्रनत भय मोचन॥" (सुं॰ दो॰ ४४); 'निरंतर' क्योंकि हृदय से प्रभु के हटते ही वहाँ कामादि डेरा डाल देते हैं। 'राम नृप'—'नृप' का अर्थ मनुष्यों की रक्षा करनेवाला है, श्रीशिवजी भी आदि से ही रक्षा चाहते हैं, इसीसे नृप कहा है। पुनः इससे सनातन द्विभुज रूप का ही निवास माँगा गया है। यहाँ नृप रूप का निवास माँगा है। इसीसे आगे राज्यासीन होने की झाँकी मे आने की प्रार्थना करेंगे।

(२) 'तुलसिदास प्रभु'—श्रीशिवजी श्रीगोस्वामीजी से लाखों वर्ष पहले स्तुति कर रहे हैं, फिर भी उनके मुख से 'तुलसीदास के प्रभु' इस भावी बात का कहा जाना भाविक अलंकार है श्रेष्ठ कवि महान् भक्तों के मुख से अपना संबंध भगवान् मे दृढ़ कराते हैं; यथा--"तव लगि न तुलसीदास-नाथ कृपाल पार उतारिहौं।" (अ॰ दो॰ १००); "तुलसी प्रभुहि सिख देइ···" (अ॰ दो॰ ७१); इत्यादि।

दोहा—नाथ जबहिं कोसलपुरी, होइहि तिलक तुम्हार।
कृपासिंधु मैं आउब, देखन चरित उदार ॥११४॥

अर्थ—हे नाथ ! श्रीअयोध्यापुरी मे जब आपका राज्य तिलक होगा तब, हे कृपासागर ! मैं आपके उदार चरित देखने के लिये आऊँगा ॥११४॥

विशेष–'चरित उदार'—क्योंकि सामान्य राजा भी अपने अभिषेक के समय बहुत कुछ दान करते हैं और आप तो उदार हैं अतएव उदारता के चरित देखने के लिये आऊँगा। वहाँ इन्हें भी भक्ति का वरदान माँगना है; यथा--"बार बार वर माँगउँ, हरषि देहु श्रीरंग। पद सरोज अन पायनी, भगति सदा सतसंग॥" (उ॰ दो॰ १४)। उसकी भूमिका यहीं से बाँध रहे हैं।

"पुनि पुष्पक चढ़ि···अवध चले"—प्रकरण

करि बिनती जब संभु सिधाये। तब प्रभु निकट बिभीषन आये ॥१॥
नाइ चरन सिर कह मृदु बानी। बिनय सुनहु प्रभु सारँग-पानी ॥२॥
सकुल सदल प्रभु रावन मार्यो। पावन जसु त्रिभुवन विस्तार्यो ॥३॥
दीन मलीन हीन मति जाती। मो पर कृपा कीन्हि बहु भाँती ॥४॥

अर्थ—जब बिनती करके श्रीशिवजी चले गये, तब श्रीविभीषणजी प्रभु के पास आये और चरणों मे प्रणाम करके कोमल वचन बोले—हे शार्ङ्गपाणि (शार्ङ्ग-धनुष धारण करनेवाले) प्रभो ! मेरी विनती सुनिये ॥१-२॥ हे प्रभो ! आपने सेना और वंश सहित रावण को मारा, इससे तीनों लोकों में

पवित्र यश फैलाया ॥३॥ मुझ दीन, मलीन (पापी), बुद्धि हीन और जाति हीन (अधम राक्षस) पर बहुत प्रकार से कृपा की ॥४॥

विशेष—'तब'—जब श्रीशिवजी भी चले गये, बाहर का कोई नहीं रहा, प्रभु को सावकाश देखा, तब। 'सकुल सदल प्रभु···'—दुष्टों का संहार करना और पावन यश का विस्तार करना, ये दोनों कार्य कर चुके, ये ही अवतार के मुख्य कार्य हैं ; यथा—"असुर मारि थापहिं सुरन्ह, राखहिं निज श्रुति सेतु। जग बिस्तारहिं बिसद जस, राम जनम कर हेतु॥" (बा० दो० १२१); 'मो पर कृपा कीन्हि बहु भाँती।'—औरों पर एक-दो प्रकार की कृपा की, परन्तु मुझपर तो बहुत तरह से कृपा की मुझे शरण में लिया, तिलक किया, सखा बनाया, शत्रु से रक्षा की, शत्रु को मारकर राजा बनाया, इत्यादि।

अब जन-गृह पुनीत प्रभु कीजे। मज्जन करिय समर-श्रम छीजे ॥५॥
देखि कोस मंदिर संपदा। देहु कृपाल कपिन्ह कहँ मुदा ॥६॥
सब बिधि नाथ मोहि अपनाइय। पुनि मोहि सहित अवधपुर जाइय ॥७॥
सुनत बचन मृदु दीनदयाला। सजल भये दोउ नयन बिसाला ॥८॥

अर्थ—हे प्रभो ! अब दास का घर पवित्र कीजिये और स्नान कीजिये, जिससे युद्ध की थकावट दूर हो ॥५॥ और, हे कृपालु ! खजाना, महल और संपत्ति देखिये। पुनः प्रसन्नता सहित वानरों को दीजिये ॥६॥ हे नाथ ! मुझे सब प्रकार से अपना लीजिये फिर मुझ सहित श्रीअवधपुरी को जाइये ॥७॥ श्रीविभीषणजी के कोमल वचन सुनते ही दीनदयालु श्रीरघुनाथजी के दोनों विशाल नेत्रों में जल भर आया ॥८॥

विशेष—(१) 'अब जन गृह···'—बहुत प्रकार से कृपा की, बस, अब यही एक शेष है, इसे भी कीजिये। 'अब' का यह भी भाव है कि अब चौदह वर्ष का व्रत पूरा हो रहा है। अतः, व्रत-बाधा नहीं होगी।

(२) 'मज्जन करिय···'—स्नान से थकावट दूर होती है ; यथा—"मज्जन पान समेत हय, कीन्ह नृपति हरषाइ॥ गै श्रम सकल सुखी नृप भयऊ।" (बा० दो० १५८); स्नान करने की प्रार्थना में वाल्मी० ६।१२१।२-३ की स्नान-सम्बन्धी सभी बातें आ गईं कि स्नान के लिये जल, अंगराग, वस्त्र, आभूषण, चन्दन, मालाएँ आदि विविध वस्तु सहित सेवा में निपुण सुन्दर स्त्रियाँ आपके स्नान कराने के लिये उपस्थित हैं।

पहले श्रम दूर करने का उपाय कहकर तब सावधानतापूर्वक कोष आदि की देख-रेख के लिये कहते हैं—

(३) 'देखि कोस मंदिर संपदा।···'—भाव यह है कि ये सभी आपके हैं, चाहे जिसे दें। वानरों ने बहुत परिश्रम किया है, इन्हें लूट भी नहीं मिली। अतः, इन्हें मुदा (संकोच रहित) दीजिये। मंदिर भी देने को कहते हैं कि इन्हें यहाँ निवास कराइये।

(४) 'जन गृह पुनीत' का भाव यह कि स्नान करने से और चरणोदक पड़ने से ही दास का घर पवित्र होगा। पुनः आप स्वामी-रूप से विराजें और मैं सेवा करूँ तो मेरा जन (दास) होना भी सिद्ध होगा और तभी घर भी 'जनगृह' होगा।

(५) 'सब विधि नाथ मोहिं···'—मुझे शरण में रखकर अपनाया; पर अभी हमारी वस्तुएँ नहीं अपनाईं, यही एक विधि रह गई है, इसे भी पूरी कीजिये। अतः, मेरा घर पवित्र कीजिये। फिर मुझे भी अपने साथ अपने घर ले चलिये, यही 'पुनि मोहि सहित···' से जनाया है। मित्रता की रीति है कि मित्र के घर जाय और उसे अपने घर लावे, इसी विधि की पूर्ति के लिये प्रार्थना करते हैं।

(६) 'सजल भये दोउ नयन बिसाला।'—असमंजस के कारण नेत्रों में आँसू भर आये कि उधर श्रीभरतजी हमारे निमित्त कठिन व्रत धारण किये हुए हैं उनके बिना हमें विशेष स्नान आदि उचित नहीं हैं। पुनः अवधि के भीतर किसी नगर में जा नहीं सकते। यदि अवधि यहीं बिताकर जायँ, तो वहाँ श्रीभरतजी सपरिवार प्राण ही छोड़ देंगे। पुनः इधर सखा के प्रीत्यात्मक उचित वचन कैसे अस्वीकार करें? इत्यादि दोनों ओर की बड़ी लज्जा के कारण नेत्रों को विशाल भी कहा गया है। यथा—"स तु ताम्यति धर्मात्मा मम हेतोः सुखोचितः। सुकुमारो महाबाहुर्भरतः सत्यसंश्रयः॥ तं विना कैकयीपुत्रं भरतं धर्मचारिणम्। न मे स्नानं बहुमतं वस्त्राण्याभरणानि च॥" (वाल्मी० ६।१२१।५-६)

दोहा—तोर कोस गृह मोर सब, सत्य बचन सुनु भ्रात।
भरत दसा सुमिरत मोहिं, निमिष कल्प सम जात॥
तापस बेष गात कृस, जपत निरंतर मोहि।
देखउँ बेगि सो जतन करु, सखा निहोरउँ तोहि॥

अर्थ—हे भाई! सुनो, तुम्हारा खजाना और घर सब मेरे ही हैं, मेरा वचन सत्य है। भरत की दशा स्मरण करते हुए मुझे पल-पल कल्प के समान बीत रहा है॥ तपस्वी वेष बनाये, शरीर से दुर्बल वे निरन्तर (अनुक्षण) मुझे जप रहे हैं। अतएव वह उपाय करो कि जिससे मैं उनको शीघ्र देखूँ, हे सखे! मैं तुम्हारी विनती करता हूँ, (भाव यह कि रोको नहीं; किन्तु शीघ्र वहाँ पहुँचाओ, इसके लिये मैं विनय करता हूँ)॥

विशेष—(१) 'तोर कोस गृह मोर सब'—यह श्रीविभीषणजी के 'देखि कोस मंदिर संपदा। देहु···' के प्रति कहा है। इसमें मित्रता का प्रणय-रूप प्रत्यक्ष है; यथा—"मम तव तव मम प्रणय यह" अर्थात् मेरा सब कुछ तुम्हारा है और तुम्हारा मेरा है—मित्रता में ऐसा भाव होना ही प्रणय है, इसी में प्रीति की पूर्णता होती है; यथा—"प्रीति प्रनय बिनु···नासहिं बेगि नीति असि सुनी॥" (आ० दो० २०); यही दोनों ओर का प्रणयत्व इस चरण में कहा गया है - 'तोर कोश गृह सब मोर है' तथा 'मोर सब कोश गृह तोर है' दोनों अर्थ स्पष्ट हैं। शुद्ध जीव का ब्रह्म के साथ ऐसा ही प्रणय श्रुति में भी कहा गया है; यथा—"त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि भगवो देवते॥" अर्थात् हे भगवन्! हे दिव्य ज्ञान विशिष्ट! आप मैं हैं और मैं आप हूँ। और भी कहा है—"देत लेत मन संक न धरई।" (कि० दो० ६); यहाँ श्रीविभीषणजी को अपनापन दिखाते हुए स्नेहपूर्वक 'भ्राता' और 'सखा' कहा है कि उन्हें उनकी प्रार्थना की अस्वीकृति का दुःख नहीं हो।

(२) 'भरत दसा सुमिरत···' कहकर आगे 'तापस बेष गात कृस···' से उनकी दशा का कुछ वर्णन भी किया है। देखिये अ० दो० ३२३-३२४ भी।

बीते अवधि जाउँ जौं, जियत न पावउँ बीर।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु, पुनि पुनि पुलक सरीर॥
करेहु कलप भरि राज तुम्ह, मोहि सुमिरेहु मन माहि।
पुनि मम धाम पाइहहु, जहाँ संत सब जाहिं॥११५॥

अर्थ—यदि अवधि के बीत जाने पर जाऊँगा, तो वीर भाई को जीता नहीं पाऊँगा। भाई की प्रीति का स्मरण कर प्रभु का शरीर बारम्बार पुलकित हो रहा है॥ तुम एक कल्प पर्यन्त राज्य करना और मुझे मन में स्मरण करते रहना, फिर तुम मेरे धाम को पाओगे, जहाँ सब संत जाते हैं॥११५॥

विशेष—'बीते अवधि जाउँ जौं ···'—श्रीभरतजी ने प्रण किया है; यथा—"पुलक सरीर नीर भरि लोचन कहत प्रेम पन कीन्हे॥ तुलसी बीते अवधि प्रथम दिन जो रघुबीर न ऐहौ। तो प्रभु चरन सरोज सपथ जीवत परिजनहिं न पैहौ॥" (गी० अ० ७६); "चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम॥ न द्रक्ष्यामि यदि त्वा तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्॥" (वाल्मी० २।११२।२५-२६); 'मम धाम' अर्थात् साकेत धाम, अथवा वैकुंठ।

सुनत बिभीषन बचन राम के। हरषि गहे पद कृपा-धाम के॥१॥
बानर-भालु सकल हरषाने। गहि प्रभु-पद गुन बिमल बखाने॥२॥

अर्थ—श्रीरामजी के वचन सुनते ही श्रीविभीषणजी ने प्रसन्न होकर कृपा के धाम श्रीरामजी के चरण पकड़ लिये॥१॥ सभी वानर और भालू हर्षित हुए और प्रभु के चरण पकड़ (उनके) निर्मल यश का वर्णन करने लगे॥२॥

विशेष—(१) 'हरषि गहे पद ···'—अपने ऊपर बहुत कृपा देखकर हर्ष हुआ कि कल्प पर्यंत राज्य भोग और फिर प्रभु के धाम की प्राप्ति भी। पुनः शील ऐसा कि पुष्पक पर श्रीअयोध्याजी पहुँचाने के लिये निहोरा करते हैं, क्योंकि दी हुई वस्तु पर अपना स्वत्व कुछ भी नहीं मानते, प्रभु का इतना त्याग है। तब कृतज्ञता प्रकट करते हुए श्रीविभीषणजी चरण पकड़े।

(२) 'बानर भालु सकल हरषाने'—शरणागत श्रीविभीषणजी पर कृपा, श्रीभरतजी पर स्नेह एवं उनका शीलमय स्वभाव देखकर इन्हें हर्ष हुआ और फिर इन्हीं गुणों को गाने लगे; यथा—"अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥" (उ० दो० १२१); एवं "तुलसी कहूँ न राम से, साहिब सील-निधान॥" (बा० दो० २१)।

(३) 'गहि प्रभु पद'—सभी ने चरण पकड़े, यह भी प्रभु का रहस्य है।

बहुरि बिभीषन भवन सिधायो। मनिगन बसन बिमान भरायो॥३॥
लै पुष्पक प्रभु आगे राखा। हँसि करि कृपासिंधु तब भाषा॥४॥

चढ़ि-बिमान सुनु सखा बिभीषन। गगन जाइ बरषहु पट-भूषन ॥५॥
नभ पर जाइ बिभीषन तबहीं। बरषि दिये मनि अंबर सबहीं ॥६॥

अर्थ—श्रीविभीषणजी फिर घर गये, मणि-समूह और वस्त्र विमान में भरवाये ॥३॥ (उन्होंने मणि-वस्त्र पूर्ण) पुष्पक विमान को लाकर प्रभु के आगे रक्खा, तब कृपासागर श्रीरामजी ने हँसकर कहा ॥४॥ कि हे सखे! हे विभीषणजी! सुनो, विमान पर चढ़कर आकाश में जा वस्त्रों और भूषणों की वर्षा कर दो ॥५॥ (आज्ञा पाते ही) उसी समय श्रीविभीषणजी ने आकाश में जाकर सब मणि और वस्त्र बरसा दिये ॥६॥

विशेष—(१) 'बहुरि बिभीषन···'—एक बार राज्य-तिलक कराने गये थे, अब फिर भेंट की सामग्री लाने के लिये घर गये।

(२) 'हँसि करि कृपासिंधु···'—हँसने के कारण ये हैं—(क) यद्यपि मैंने इच्छा नहीं की, फिर भी ये प्रेमवश भेंट ले आये, इससे हँसकर अपनी प्रसन्नता प्रकट की। (ख) प्रभु को इस समय हास्य-क्रीड़ा की रुचि है, वानरों के साथ विनोद करना चाहते हैं, इसलिये भी हँसे। (ग) वानरों पर एवं श्रीविभीषणजी पर भी कृपा है इससे हँसे। वानरों को यथारुचि वस्त्राभूषण दिलायेंगे और विभीषणजी का भी हित होगा कि इनसे सम्मानित होकर वानर गण यहाँ आते-जाते रहेंगे और सब मित्र बने रहेंगे—यह हेतु वाल्मी० ६।११२।३-६ में श्रीरामजी ने कहा है।

ऊपर से क्यों वर्षा कराई? इसके उत्तर ये हैं—(क) वानर कटक अपार है, हाथ से बाँटने में विलंब होता और प्रभु को शीघ्र श्रीअयोध्याजी की यात्रा करनी है। इस तरह से तुरत सबको मिल जायगा और जिसे जो रुचेगा, वह वही लेगा। सब जहाँ के तहाँ ही पा जायँगे। (ख) हाथ से बाँटने में आगे पीछे देने की बड़ी सँभाल करनी पड़ती कि किसी को मानापमान का प्रसंग नहीं आ जाय। (ग) इस तरह वानरों की लूट का विनोद भी देखने को मिलेगा।

प्रभु की इस लीला का तात्पर्य यह है कि वानरों के प्रति कृतज्ञता प्रकट हो एवं उनकी निष्कामता भी देखने में आये और इन राम-भक्तों के चरणों में लगकर श्रीविभीषणजी की संपत्ति भी चिरस्थायी हो।

जोइ जोइ मन भावइ सोइ लेहीं। मनि मुख मेलि डारि कपि देहीं ॥७॥
हँसे राम श्री-अनुज-समेता। परम कौतुकी कृपानिकेता ॥८॥

दोहा—**मुनि जेहि ध्यान न पावहिं, नेति नेति कह बेद।**
कृपासिंधु सोइ कपिन्ह सन, करत अनेक बिनोद ॥
उमा जोग जप दान तप, नाना मख ब्रत नेम।
राम कृपा नहिं करहिं तसि, जसि निष्केवल प्रेम ॥११६॥

(२) 'मसक कहूँ खगपति हित करहीं ।'—जैसे नभ-गामियों में गरुड़ सबसे बड़े और मच्छड़ अन्यन्त छोटे होते हैं, वैसे प्रभु के समक्ष हमलोग हैं, तब भला हम आपका क्या हित कर सकते हैं ? यह—'तुम्हरे बल मैं रावन मार्‌यो' का उत्तर है। आपने कृपा करके हमें युद्ध का यश दिया, यदि आप क्षण-क्षण पर रक्षा नहीं करते तो हममें से एक भी न बचता। मरने पर भी हमें कृपा करके जिला दिया। फिर भी आप ही उल्टे कनौड़े (आभारी) बनते हैं, यह कृपा की चरम अवस्था है। वानरों के वचन में प्रेम का ही पुट है—"सुनत वचन प्रेमाकुल बानर।" उपक्रम है और यहाँ—'प्रेम मगन ......' उपसंहार है। वियोग के वचन सुनते ही वानरगण प्रेम से व्याकुल हो गये।

दोहा—प्रभु-प्रेरित कपि-भालु सब, रामरूप उर राखि।
हरष-बिषाद सहित चले, बिनय बिबिधि बिधि भाखि॥
कपिपति नील रीछपति, अंगद नल हनुमान।
सहित बिभीषन अपर जे, जूथप कपि बलवान॥
कहि न सकहिं कछु प्रेमबस, भरि भरि लोचन बारि।
सन्मुख चितवहिं राम तन, नयन निमेष निवारि॥११७॥

अर्थ—प्रभु की प्रेरणा से सब वानर और भालू हृदय में (वनवासी) राम-रूप धारणकर अनेक प्रकार से प्रार्थना कर हर्ष शोक सहित चले ॥ सुग्रीवजी, नीलजी, ऋक्षपति जाम्बवान्‌जी, अंगदजी, नलजी, हनुमान्‌जी और विभीषणजी के साथ और जो बलवान् यूथपति हैं ॥ वे कुछ कह नहीं सकते, प्रेमवश नेत्रों में जल भर-भरकर, नेत्रों का पलक मारना छोड़ एकटक श्रीरामजी की ओर सम्मुख देख रहे हैं ॥११७॥

विशेष—(१) 'प्रभु प्रेरित'—वे स्वयं तो जाना चाहते नहीं थे, प्रभु की बलात् प्रेरणा से चले। 'बिनय बिबिध ·'—जैसे पूर्व कहा गया—'दीन जानि कपि किये सनाथा।' एवं और भी बहुत तरह की प्रार्थनाएँ करके चले।

'राम रूप उर राखि'—जैसी प्रभु की आज्ञा हुई है—'सुमिरेहु मोहिं···'

(२) 'हरष-बिषाद'—जय सहित घर जाने का हर्ष और ऐसे स्वामी के वियोग का विषाद है।

(३) 'सन्मुख चितवहिं······'—इस मुद्रा से साथ रहने एवं दर्शनों की अन्यन्त उत्कृष्ट अभिलाषा प्रकट करते हैं कि जो वाणी की प्रार्थना से कहीं बढ़कर है। वही आगे कहते हैं—

अतिसय प्रीति देखि रघुराई। लीन्हे सकल बिमान चढ़ाई॥१॥
मन महँ बिप्र-चरन सिर नायो। उत्तर दिसिहि बिमान चलायो॥२॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी ने उनका अन्यत प्रेम देखकर सबको विमान पर चढ़ा लिया ॥१॥ मन ही-मन ब्राह्मण के चरणों को प्रणाम किया और उत्तर दिशा को विमान चलाया ॥२॥

विशेष—(१) 'सकल'—इसमें ऊपर तटस्थ कहे हुए—'कपिपति नील...' आदि का ग्रहण है। पर वाल्मीकीय रामायण में सब वानरों को साथ लेना कहा गया है, वह भी इस तरह हो सकता है कि इन सबको साथ जाते हुए देखकर वे भी लौट पड़े और साथ ही विमान पर चढ़ गये। 'सकल' शब्द में सभी आ सकते हैं। 'विप्र चरन...' यह श्रीरामजी का मंगलाचरण है, दो० ८८ चौ० १ भी देखिये।

(२) 'उत्तर दिसिहि विमान चलायो।'—यह विमान कुवेर को दिया जायगा, केवल श्रीअयोध्या शीघ्र पहुँचाने-भर को श्रीरामजी ने लिया, वहाँ पहुँचते ही कुवेर के पास भेज देंगे।

"जेहि बिधि राम नगर निज आये"—प्रकरण

चलत बिमान कोलाहल होई। जय रघुबीर कहइ सब कोई ॥३॥
सिंहासन अति उच्च मनोहर। श्री-समेत बैठे प्रभु ता पर ॥४॥
राजत राम सहित भामिनी। मेरु स्रृंग जनु घन दामिनी ॥५॥
रुचिर बिमान चलेउ अति आतुर। कीन्ही सुमन-बृष्टि हरषे सुर ॥६॥

अर्थ—विमान चलते समय बड़ा हल्ला हो रहा है, सब कोई 'रघुवीर-श्रीरामजी की जय हो' ऐसा कहते हैं ॥३॥ अत्यन्त ऊँचे और मनोहर सिंहासन पर प्रभु श्रीसीताजी के साथ बैठे ॥४॥ पत्नी के साथ श्रीरामजी ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानों सुमेरु के शिखर पर बिजली सहित श्याम मेघ शोभित हो रहे हैं ॥५॥ सुंदर विमान अत्यंत वेग से चला, देवता प्रसन्न हुए और उन्होंने फूलों की वर्षा की ॥६॥

विशेष—(१) 'चलत बिमान कोलाहल......'—जय जयकार के शब्दों का कोलाहल है। 'सब कोई'—वानरगण और लंका-निवासी एवं जो देवतागण आकाश में थे। विमान पर सबसे उच्चासन पर सिंहासन है, 'श्रीसमेत'—श्रीलक्ष्मणजी का बैठना नहीं कहा गया, इससे जान पड़ता है कि श्रीरामजी के पीछे वे छत्र आदि लेकर खड़े ही रहे, अतएव उनका आसन खाली ही रहा।

(२) 'राजत राम सहित... ...'—'भामिनी' अर्थात् दीप्तिवाली स्त्री, श्रीसीताजी।

यहाँ सुमेरु के समान सोने का पुष्पक विमान है, सिंहासन उसका शृङ्ग है। श्याम वर्ण श्रीरामजी घन रूप और दामिनी वर्ण श्रीजानकीजी दामिनी रूपा हैं, बिजली स्थिर नहीं रहती, पर यहाँ मानों वह मेघ के साथ स्थिर है।

(३) 'रुचिर बिमान'—वाल्मी० ६।१२१।२३-३० में इसका वर्णन है—यह सूर्य के समान था, इसमें सुवर्ण के चित्र बने थे, वैदूर्य मणि की वेदिकाएँ थीं, जहाँ-तहाँ गुप्त गृह थे। यह चाँदी के समान चमकीला था, इसमें पीली पताकाएँ लगी थीं। सोने की अटारियाँ बनी थीं, सोने के कमल लगे थे, इधर-उधर घंटियाँ लगी थीं, खिड़कियों पर मोती टँगे हुए थे। यह विश्वकर्मा का बनाया हुआ था, सुमेरु के शिखर के समान ऊँचा था, इसमें बड़े-बड़े कमरे बने हुए थे। स्फटिक मणि का फर्श और वैदूर्य मणि के सुंदर आसन बने हुए थे, यह मन के वेग के समान चलनेवाला था और इच्छानुसार चलता था (यह इच्छानुसार बढ़ता भी था जितने ही लोग चढ़ते थे, बढ़ता जाता था)।

अर्थ—जिसके मन को जो-जो अच्छा लगता है, वह वही-वही लेता है। मणि को मुख में डालकर (भक्ष्य न समझकर) वानर उसे उगल देते हैं ॥७॥ परम खेलाड़ी कृपा के स्थान श्रीरामजी श्रीसीताजी और भाई के साथ (इस कौतुक पर) हँसे ॥८॥ जिसे मुनि ध्यान में नहीं पाते और जिसे वेद नेति-नेति कहते हैं, वही कृपासागर श्रीरामजी वानरों से अनेकों विनोद (क्रीड़ा हास्य) कर रहे हैं॥ हे उमा ! अनेक प्रकार के योग, जप, दान, तप, यज्ञ, व्रत और नियम करने पर भी श्रीरामजी वैसी कृपा नहीं करते, जैसी कृपा शुद्ध प्रेम होने पर करते हैं ॥११६॥

विशेष—(१) 'मनि मुख मेलि···'—कपि-स्वभाव से फल के धोखे में मणियों को मुख में डाल लेते हैं, स्वाद नहीं मिलने पर उन्हें कृत्रिम फल समझ उगल देते हैं। यहाँ कपि शब्द से सामान्य सैनिक वानरों का ही अर्थ है, सरदारों को इनमें नहीं गिनना चाहिये—ऐसा पहले भी लिखा जा चुका है।

(२) 'मुनि जेहि ध्यान···'—ऐसे ही पूर्व भी कहा गया है; यथा—"वेद वचन मुनि मन अगम, ते प्रभु करुना अयन। वचन किरातन्ह के सुनत, जिमि पितु बालक बयन ॥" (अ० दो० १३६); तथा—"मन समेत जेहि जान न बानी।" (बा० दो० ३४०); अर्थात् वेद भगवान् की निज वाणी है, उससे भी ब्रह्म अगम है, वह 'नेति-नेति' कहकर अपनी असमर्थता प्रकट करता है और मुनियों का मन अन्यान्य जीवोंके मन की अपेक्षा बहुत शुद्ध होता है, उससे भी वह अग्राह्य है; यथा—"स एष नेतिनेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यते।"(बृह० ३।९।२६); अर्थात् वही आत्मा 'नेति-नेति' शब्द करके अग्राह्य है, क्योंकि वह ग्रहण नहीं किया जा सकता। वहाँ तो मुनियों और वेदों को अगम और कहाँ इन वानरों को सुगम, यह क्यों ? इसीका समाधान आगे श्रीशिवजी करते हैं—'उमा जोग जप···'; यथा—"वेद वचन···मुनि मन वचन किरातन्ह के सुनत रामहि केवल प्रेम पियारा।" (अ० दो० १३६); ठीक वैसा ही प्रसंग यहाँ भी है।

(३) 'तसि'—योग आदि के साधकों पर भी कृपा करते हैं, पर प्रेमी की तरह नहीं। क्योंकि योग आदि साधन-विशेष हैं, उनमें कर्तृत्वाभिमान भी रहता है और सर्वात्मना मनोवृत्ति भी जगत् को भूलकर प्रभु में नहीं लगती। और 'निष्केवल प्रेम' अर्थात् भोलेपन के गाढ़ प्रेम में जगत् स्वतः भूल जाता है और चित्तवृत्तिस्वतः लुभाई हुई प्रभु में लगी रहती है। इससे प्रभु भी ऐसे भक्त के अधीन हो जाते हैं; यथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११); ऐसा प्रभु का कल्पवृक्ष की तरह स्वभाव है।

भालु-कपिन्ह पट-भूषन पाये। पहिरि-पहिरि रघुपति पहिं आये ॥१॥
नाना जिनिस देखि सब कीसा। पुनि-पुनि हँसत कोसलाधीसा ॥२॥
चितइ सबन्हि पर कीन्ही दाया। बोले मृदुल बचन रघुराया ॥३॥
तुम्हरे बल मैं रावन मार्यो। तिलक बिभीषन कहँ पुनि सार्यो ॥४॥
निज-निज गृह अब तुम्ह सब जाहू। सुमिरेहु मोहि डरपेहु जनि काहू ॥५॥

अर्थ—रीछ और वानर वस्त्र और आभूषण पाकर पहन-पहनकर श्रीरघुनाथजी के पास आये ॥१॥ सब वानरों को अनेक प्रकार देखकर कोसलपति श्रीरामजी बारम्बार हँस रहे हैं ॥२॥ श्रीरघुनाथजी ने सबकी ओर देखकर उनपर दया की और कोमल वचन बोले ॥३॥ तुम्हारे बल से मैंने रावण को मारा

और श्रीविभीषणजी का तिलक किया ॥४॥ अब तुम सब अपने-अपने घर जाओ, मेरा स्मरण करना और किसी से डरना नहीं ॥५॥

विशेष—(१) 'नाना जिनिस···'—एक तो वानरों के रूप ही विचित्र हैं, उसपर रंग-विरंग के भूषण-वस्त्र, वह भी उल्टे-सीधे पहन लिये हैं, हाथों के भूषण पाँवों में और पाँवों के भूषण हाथों में पहने हैं। हास्य-रस-उद्दीपक ठाठ देखकर प्रभु को हँसी आई। इससे 'कोसलाधीसा' विशेषण कहा गया, क्योंकि राजा लोग कौतुक पर हँसते ही हैं। जैसे-जैसे बन-ठनकर वानर-गण आते हैं, वैसे-वैसे बार-बार हँसी आती है, इससे 'पुनि-पुनि हँसत' कहा गया है।

(२) 'बोले मृदुल बचन'—यों तो आप सर्वदा ही मृदुभाषी हैं, परन्तु अभी वानरों से वियोग के वचन कहेंगे, इससे और भी कोमल वचन कहते हैं—

(३) 'तुम्हरे बल मैं···'—तुम सबने रावण की सेना मारी, उसके यज्ञों का विध्वंस किया, उसे भी मार-मारकर शिथिल कर दिया, तब सहज में ही मैंने उसे मारा।

(४) 'सुमिरेहु मोहि ··'—हमारे बल-प्रताप का स्मरण करते रहने से तुम्हें किसी से भी भय नहीं होगा ; यथा—"प्रभु प्रताप उर सहज असंका।" (दो० १७) हमारे बल पर निर्भर रहोगे, तो इन्द्र का भी तुम्हें भय नहीं हो सकता; यथा—"न त्वां धर्षयितुं शक्ताः सेन्द्रा अपि दिवौकसः।" (वाल्मी० ६।२२।१६)। तथा—"तुलसिदास रघुबीर बाहुबल सदा अभय काहू न डरै॥" (वि० १३७)।

सुनत बचन प्रेमाकुल बानर। जोरि पानि बोले सब सादर ॥६॥
प्रभु जोइ कहहु तुम्हहिं सब सोहा। हमरे होत बचन सुनि मोहा ॥७॥
दीन जानि कपि किये सनाथा। तुम्ह त्रैलोक ईस रघुनाथा ॥८॥
सुनि प्रभु बचन लाज हम मरहीं। मसक कहूँ खगपति हित करहीं ॥९॥
देखि राम-रुख बानर-रीछा। प्रेम-मगन नहिं गृह कै ईछा ॥१०॥

अर्थ—प्रभु के वचन सुनते ही वानर प्रेम से विह्वल हो गये, वे सब हाथ जोड़कर आदरपूर्वक बोले ॥६॥ हे प्रभो ! आप जो कुछ भी कहें, वह सब आपको सोहता है, परन्तु ये वचन सुनकर हमको मोह होता है ॥७॥ हे रघुनाथजी ! आप तो तीनों लोकों के स्वामी हैं, आपने हम सब वानरों को दीन जानकर सनाथ किया है (अपनाया और सब प्रकार का भरोसा दिया; यथा—'डरपेहु जनि काहू') ॥८॥ प्रभु के वचन सुनकर हमलोग लज्जा से मरे जाते हैं कि कहीं मच्छड़ भी गरुड़ की सहायता कर सकते हैं ? ॥९॥ वानर और भालू श्रीरामजी का रुख देखकर (कि वे उन्हें विदा करना ही चाहते हैं) प्रेम में डूब गये, उन्हें घर जाने की इच्छा नहीं है ॥१०॥

विशेष—(१) 'प्रेमाकुल बानर। जोरि पानि···'—प्रभु के वचन मोहक हैं, कहीं ऐसा न हो कि हमें अभिमान आ जाय कि हमने प्रभु की सहायता की है, तब तो हम सब नष्ट हो जायँगे। इसलिये हाथ जोड़ क्षमा एवं रक्षा चाहते हैं, ऐसी ही प्रशंसा पर श्रीहनुमान्‌जी ने 'त्राहि-त्राहि' कहकर रक्षा चाही है। सुं० दो० ३२ देखिये।

परम सुखद चलि त्रिबिध बयारी । सागर सर सरि निर्मल बारी ॥७॥
सगुन होहिं सुंदर चहुँ पासा । मन प्रसन्न निर्मल नभ आसा ॥८॥
कह रघुबीर देखु रन सीता । लछिमन इहाँ हत्यो इंद्रजीता ॥९॥
हनूमान अंगद के मारे । रन महि परे निसाचर भारे ॥१०॥
कुंभकरन रावन दोउ भाई । इहाँ हते सुर-मुनि-दुखदाई ॥११॥

अर्थ—अत्यन्त सुख देनेवाली, तीनों प्रकार की (शीतल, मंद सुगंध) हवा चल रही है। समुद्र, तालाब और नदियों का जल निर्मल हो गया है ॥७॥ चारों ओर सुन्दर शकुन हो रहे हैं, सबके मन प्रसन्न हैं, आकाश और दिशाएँ निर्मल हैं ॥८॥ रघुवीर श्रीरामजी ने कहा—हे सीते ! रणभूमि देखो, यहाँ श्रीलक्ष्मणजी ने इन्द्र के जीतनेवाले मेघनाद को मारा है ॥९॥ श्रीहनुमान्जी और अंगदजी के मारे हुए (ये) भारी-भारी राक्षस रणभूमि में पड़े हुए हैं ॥१०॥ सुर-मुनि को दुःख देनेवाले कुंभकर्ण और रावण यहाँ मारे गये हैं ॥११॥

विशेष—यहाँ श्रीलक्ष्मणजी, श्रीहनुमान्जी और श्रीअंगदजी के नाम ले-लेकर उनकी प्रशंसा की, परन्तु अपने कर्म को अपने मुख से नहीं कहा, केवल उनका मारा जाना कह दिया कि यहाँ दोनों भाई मारे गये हैं। कहते तो आत्मश्लाघा दोष होता। यह प्रभु की अभिमान-शून्यता है। विमान उड़ा तो पहले वह मंडल बाँधकर चारों ओर फिरा, इसी बीच में प्रभु ने चारों ओर की रणभूमि श्रीसीताजी को दिखा दी, तब वह उत्तर की ओर आगे बढ़ा।

दोहा—इहाँ सेतु बाँध्यों अरु, थापेउँ सिव सुखधाम ।
सीतासहित कृपानिधि, संभुहि कीन्ह प्रनाम ॥
जहँ जहँ कृपासिंधु बन, कीन्ह बास बिश्राम ।
सकल देखाये जानकिहि, कहे सबन्हि के नाम ॥११८॥

अर्थ—यहाँ पुल बाँधा और सुख के स्थान श्रीशिवजी की स्थापना की है, (यह कहकर) कृपानिधान श्रीरामजी ने सीताजी के साथ रामेश्वर महादेव को प्रणाम किया ॥ जहाँ-जहाँ वन में कृपासागर श्रीरामजी ने निवास एवं विश्राम किया था, उन्होंने उन सभी स्थानों को श्रीजानकीजी को दिखाया और सबके नाम कहे ॥११८॥

विशेष—(१) 'सिव सुखधाम'—क्योंकि इनके पूजन से सुख-संपदा मिलती है; यथा—"जिमि सुख लहइ न संकर द्रोही।" (कि॰ दो॰ १७)। श्रीशिवजी के स्थापन में आपको सुख हुआ था, इससे भी ऐसा कहा। रामेश्वर स्थापना के समय श्रीसीताजी नहीं थीं, इसीसे इन्हें दिखाया और इनके सहित प्रणाम किया। 'कृपानिधि'—कहा गया, क्योंकि आप कृपा कर श्रीशिवजी को प्रणाम कर उनको बड़ाई देते हैं।

पुनः जहाँ-जहाँ रात्रि निवास किया और जहाँ-जहाँ कुछ ही काल विश्राम किया (ठहरे)

थे, श्रीसीताजी को वे सभी स्थान दिखा दिये और सबके नाम भी कहे। इस सम्बन्ध में भी 'कृपासिंधु' कहा गया है, क्योंकि जहाँ-जहाँ वास-विश्राम किया वहाँ-वहाँ के प्राणियों को कृतार्थ करने ही के लिये वैसा किया, जैसे कि श्रीशबरीजी के यहाँ कृपा करके ही रहे। श्रीसुग्रीवजी के निकट चार महीने कृपा करके ही रहे, क्योंकि वे नवीन राजा हुए थे; अतः, उनकी रक्षा करने की आवश्यकता थी।

तुरत बिमान तहाँ चलि आवा। दंडक बन जहँ परम सुहावा ॥१॥
कुंभजादि मुनिनायक नाना। गये राम सबके अस्थाना ॥२॥

अर्थ—विमान चलकर बड़ी शीघ्रता से वहाँ आ गया, जहाँ परम सुहावन दंडक वन है ॥१॥ अगस्त्यजी आदि अनेक मुनि श्रेष्ठ (वहाँ) रहते हैं, श्रीरामजी उन सबके आश्रमों में गये ॥२॥

विशेष—विमान बड़ी तेजी से चल रहा है जितनी देर में एक स्थान बतलाते हैं, वह वहाँ पहुँच जाता है। 'परम सुहावा'—पहले वह भयावन था, प्रभु के आने से ही पावन एवं सुहावन हो गया; यथा—"जब ते राम कीन्ह तहँ बासा।···गिरि बन नदी ताल छबि छाये। दिन दिन प्रति अति होहिं सुहाये।" (आ० दो० १३)।

सकल रिषिन्ह सन पाइ असीसा। चित्रकूट आये जगदीसा ॥३॥
तहँ करि मुनिन्ह केर संतोखा। चला बिमान तहाँ ते चोखा ॥४॥
बहुरि राम जानकिहि देखाई। जमुना कलिमल-हरनि सोहाई ॥५॥
पुनि देखी सुरसरी पुनीता। राम कहा प्रनाम करु सीता ॥६॥

अर्थ—सब ऋषियों से आशीर्वाद पाकर जगत्पति श्रीरामजी चित्रकूट आये ॥३॥ वहाँ मुनियों को संतुष्ट किया फिर वहाँ से विमान और अधिक वेग से चला ॥४॥ फिर श्रीरामजी ने श्रीजानकी को कलि के पापों को नाश करनेवाली सुन्दर यमुना दिखाई ॥५॥ फिर पवित्र श्रीगंगाजी को देखकर श्रीरामजी ने कहा हे सीते ! (इन्हें) प्रणाम करो ॥६॥

विशेष—(१) 'राम कहा प्रनाम करु सीता।'—यह अंत में कहा गया है। अतः, इसे यमुना और गंगा, दोनों के साथ लगाना चाहिये। 'जमुना सुहाई'; यथा—"एषा सा यमुना रम्या दृश्यते चित्रकानना।" (वाल्मी० ६।१२३।५०), 'सुरसरी पुनीता; यथा—"इयं च दृश्यते गङ्गा पुण्या त्रिपथगानदी।" (वाल्मी० ६।१२३।५१)।

तीरथपति पुनि देखु प्रयागा। निरखत जन्म कोटि अघ भागा ॥७॥
देखु परम पावनि पुनि बेनी। हरनि सोक हरिलोक-निसेनी ॥८॥
पुनि देखु अवधपुरी अति पावनि। त्रिबिध ताप भवरोग नसावनि ॥९॥

अर्थ—फिर तीर्थराज प्रयाग को देखो जिसके दर्शनों से करोड़ों जन्म के पाप भाग जाते हैं ॥७॥

फिर परम पवित्र त्रिवेणी के दर्शन करो, जो शोकों को हरनेवाली और हरिलोक के मार्ग की सीढ़ी है ॥८॥ *फिर अत्यन्त पावनी श्रीअवधपुरी के दर्शन करो, जो तीनों प्रकार के (दैहिक, दैविक और भौतिक) तापों* और भव-रोगों का नाश करनेवाली है ॥९॥

विशेष—(१) 'निरखत'—देखने मात्र का यह फल है, तो स्पर्श एवं स्नान की महिमा कौन वर्णन कर सकता है ? 'हरनि सोक हरिलोक निसेनी'—हरिलोक-प्राप्ति के बिना शोक का हरण नहीं होता, इसलिये 'हरनि सोक' के साथ 'हरिलोक निसेनी' भी कहा गया है ।

(२) यमुनाजी को 'कलिमल हरनि सोहाई।'; गंगाजी को 'पुनीता'; प्रयाग राज को—'देखत जनम कोटि अघ भागा'; त्रिवेणी को 'परम पावनि' और 'हरनि सोक···' कहा और अंत में श्रीअवधपुरी को 'अति पावनि । त्रिविध ताप···'—कहा । इनमें उत्तरोत्तर एक से दूसरे की अधिकता कही गई है ।

दोहा—सीता-सहित अवध कहँ, कीन्ह कृपाल प्रनाम ।
सजल नयन तनु पुलकित, पुनि पुनि हरषित राम ॥
पुनि प्रभु आइ त्रिवेनी, हरषित मज्जन कीन्ह ।
कपिन्ह सहित बिप्रन कहँ, दान बिबिध बिधि दीन्ह ॥११९॥

अर्थ—कृपालु श्रीरामजी ने श्रीसीताजी के साथ श्रीअवधपुरी को प्रणाम किया, उनके नेत्रों में जल भर आया, शरीर पुलकित हो गया, वे बार-बार हर्षित हो रहे हैं ॥ फिर त्रिवेणी पर आकर प्रभु ने प्रसन्नता पूर्वक वानरों के साथ स्नान किया और वानरों के साथ ब्राह्मणों को अनेक प्रकार के दान दिये ॥११९॥

विशेष—(१) 'अवध कहँ कीन्ह···'—जब श्रीअवध से चले थे, तब भी श्रीअवध को प्रणाम किया था, यथा—"चले हृदय अवधहि सिरनाई ।" (अ० दो० ८१) ; परन्तु वहाँ हार्दिक ही प्रणाम किया था, उसका भाव वहीं पर देखिये । अब यहाँ प्रत्यक्ष प्रणाम करते हैं, क्योंकि अब वह शंका नहीं है । वहाँ का 'चले हृदय···' उपक्रम है और यहाँ—'अवध कहँ···'—उसका उपसंहार है ।

श्रीअवधपुरी का महत्त्व ऊपर कहा गया है, वही समझकर प्रणाम किया । 'कृपाल'—श्रीअवध एवं उसके वासी-मात्र पर कृपा करके आ रहे हैं और उसका महत्त्व प्रकट कर रहे हैं, अतएव 'कृपाल' विशेषण कहा गया है । 'सजल नयन तनु ···'—श्रीअवधपुरी आपको अत्यन्त प्रिय है, क्योंकि जन्म-भूमि है, उसे बहुत वर्षों के बाद देख रहे हैं, इससे प्रेम उमड़ पड़ा और ये सब दशाएँ हो रही हैं । साथ-ही श्रीभरतजी एवं पुरवासियों की दशा का भी स्मरण हो आया, इससे भी बार-बार पुलक एवं हर्ष हो रहा है ।

'सीता सहित'—क्योंकि विवाह-प्रतिष्ठा की रीति से वे सह धर्मचरी हैं । अत', धर्म-कार्य में उन्हें साथ रहना ही चाहिये ।

(२) 'दान बिबिध बिधि दीन्ह'—रावण-वध पर्यंत ब्रह्मा के वचन सत्य करने के लिये अत्यन्त माधुर्य का नर-नाट्य करना आवश्यक था । उसके वध होते ही देवताओं ने और श्रीब्रह्मा ने भी स्वयं

आकर प्रकट रूप में पूर्ण ऐश्वर्य कहा है। अतः, ऐश्वर्य-दृष्टि से प्रभु ने अपने सत्यसंकल्प से विविध वस्तुओं को प्रकट करके स्वयं उनका दान किया और सखाओं से भी कराया। आगे हनुमानादि सब वानर वीरों का भी सत्य-संकल्प-गुण से मनोहर मनुष्य शरीर से श्रीअवध में रहना कहा जायगा।

प्रभु हनुमंतहि कहा बुझाई। धरि बटु रूप अवधपुर जाई ॥१॥
भरतहि कुसल हमारि सुनायहु। समाचार लै तुम्ह चलि आयहु ॥२॥

अर्थ—प्रभु ने श्रीहनुमान्‌जी से समझाकर कहा कि ब्रह्मचारी का रूप धारण कर श्रीअवधपुर जा करके श्रीभरतजी से हमारी कुशल सुनाना और उनका समाचार लेकर तुम चले आना ॥२॥

विशेष—(१) 'बुझाई'—पहले शृंगवेरपुर जाना और निषादराज को मेरा समाचार देना, फिर अवधि के भीतर ही श्रीअवधपुरी पहुँचकर श्रीभरतजी से मिलना और अरण्यकांड से यहाँ तक के समाचार कहना। पुनः यह भी कहना कि श्रीभरद्वाजजी के यहाँ और निषादराज के यहाँ से होते हुए ठीक अवधि पूरी होने पर हम वहाँ आवेंगे, यह सब श्रीभरतजी से कहना, इत्यादि सब बातें एक 'बुझाई' शब्द में आ गईं।

'धरि बटु रूप…'—अवधि पूरी हो रही है अभी तक श्रीभरतजी को मेरे आने का कोई समाचार नहीं मिला। अतः, वे व्याकुल होंगे। इसपर वानर का देख पड़ना अमंगल है, कहीं सहसा निराश होकर प्राण ही न छोड़ दें, अतएव मांगलिक बटु रूप से जाने को कहा। यह रूप मंगल शकुन भी है, देखते ही उन्हें धैर्य हो जायगा। फिर समाचार सुनकर प्रसन्न होंगे। श्रीहनुमान्‌जी इसी रूप से श्रीरामजी और श्रीविभीषणजी से मिले थे, दोनों स्थलों में इनकी वाक्-चातुरी श्रीरामजी देख-सुन चुके हैं, उस रूप से ये श्रीभरतजी को सब चरित सुना-समझाकर उन्हें धैर्य देंगे, इससे भी इसी रूप से जाने के लिये कहा।

(२) 'कुसल हमार'—'हमार' शब्द बहुवचन है, सखाओं को और श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ अपनी भी कुशल सुनाना जना दिया। 'कुसल' में अरण्यकांड से यहाँ तक के चरित कहने का भाव है। बटु रूप से जा रहे हैं। इससे वहाँ तक के चरित कहेंगे, वानर रूप से तो लक्ष्मण-शक्ति-प्रसंग तक के चरित संक्षेप में कह ही चुके हैं।

'समाचार लै'—माताओं, भाइयों एवं पुरवासियों की कुशल और मेरे लिये उनकी अभिलाषा आदि समाचार लेकर तुम चले आना, तब हम यहाँ से चलेंगे।

वाल्मी० ६।१२५।२-१८ में यह भी कहा गया है कि तुम बटु रूप से जाकर उनके हृदय के भाव जान लो, यदि अब उनका राज्य में मन लग गया हो, तो हम वहाँ नहीं जावें, इत्यादि। वे भाव भी यहाँ के 'बुझाई' और 'समाचार लै…' में आ सकते हैं। परन्तु मानस के और प्रसंगों से यह बात नहीं मिलती, क्योंकि इसमें अयोध्याकांड के चित्रकूट दरबार के प्रसंग से भली भाँति निश्चय हो गया है कि श्रीभरतजी श्रीराम-प्रेम की मूर्त्ति ही हैं। पुनः अभी थोड़े ही दिन हुए लक्ष्मण-शक्ति-प्रसंग में श्रीहनुमान्‌जी उनकी दशा देख भी आये हैं और प्रभु ने भी अभी ही कहा है—"बीते अवधि जाउँ जौं जियत न पावउँ बीर। सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु, पुनि पुनि पुलक सरीर।।" (दो० ११५)। अतः, उपर्युक्त भाव ही युक्ति संगत हैं।

तुरत पवन-सुत गवनत भयऊ। तब प्रभु भरद्वाज पहिं गयऊ ॥३॥
नाना बिधि मुनि पूजा कीन्ही। अस्तुति करि पुनि आसिष दीन्ही ॥४॥

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जी शीघ्र चल दिये, तब वे प्रभु श्रीभरद्वाजजी के पास गये ॥३॥ मुनि ने अनेक प्रकार से (प्रभु की) पूजा की और स्तुति करके फिर आशीर्वाद दिया ॥४॥

विशेष—(१) 'तुरत पवन-सुत···'—वायु-वेग से उड़े, इससे 'पवन सुत' विशेषण कहा गया है। यथा—"गरुत्मानिव वेगेन जिघृक्षन्नुरगोत्तमम्॥" (वाल्मी॰ ६।१२५।२०), अर्थात् जैसे वेग से सर्पों को पकड़ने के लिये श्रीगरुड़जी दौड़ते हैं।

(२) 'नाना विधि'—षोड़शोपचार की एक-एक विधि में अनेकों प्रकार से पूजा की। इसमें अन्य ऋषियों के भी कहे हुए पूजन-विधान आ गये। ऐश्वर्य-दृष्टि से स्तुति की, इसपर जब श्रीरामजी को संकोच देखा, तब माधुर्य-दृष्टि से आशीर्वाद दिया।

वाल्मीकीय रामायण में श्रीभरद्वाजजी ने रात भर रहने की प्रार्थना की है और फिर आशीर्वाद भी दिया कि यहाँ से श्रीअयोध्या जाने में मार्ग के सब वृक्ष अकाल मे भी फलवाले हो जायँ, वे फल अमृत के समान मीठे और अधिक हों। सब वृक्ष पुष्पित एवं हरे-भरे हो जायँ, सबों से मधु चूने लगे। सर्वत्र तीन योजन तक ऐसा ही हो गया। वानर सब खाने-पीने लगे—प्रसन्न हुए।

मुनि-पद बंदि जुगल कर जोरी। चढ़ि बिमान प्रभु चले बहोरी ॥५॥
इहाँ निषाद सुना प्रभु आये। नाव नाव कहँ लोग बुलाये ॥६॥

अर्थ—दोनों हाथ जोड़कर मुनि के चरणों की वंदना करके प्रभु फिर विमान पर चढ़कर चले ॥५॥ घर निषादराज ने सुना कि प्रभु आ गये। 'नाव कहाँ है, नाव कहाँ है ?' इस प्रकार कहते हुए उसने लोगों को बुलाया ॥६॥

विशेष—(१) 'चढ़ि बिमान'—*यहाँ पर उतर त्रिवेणी स्नान कर श्रीभरद्वाजजी से मिले।* अब फिर विमान पर चढ़कर पूर्ववत् आकाश मार्ग से चले।

(२) 'निषाद सुना'—*वाल्मीकीय रामायण में प्रभु ने ही श्रीहनुमान्‌जी से गुह को समाचार* देते हुए श्रीअवध जाने को कहा है, उन्हीं से सुना, ऐसा जान पड़ता है। परन्तु इसने यह नहीं सुना कि प्रभु विमान पर आते हैं, इसीसे 'नाव-नाव' कहकर पुकारा। हर्ष की आतुरता में 'नाव-नाव' ही कहा, 'नाव लाओ' नहीं कह सका।

वाल्मीकीय रामायण में श्रीभरद्वाजजी के ही यहाँ आज की रात में प्रभु का निवास लिखा है, परन्तु मानस के कल्प में निषाद राज के यहाँ ही निवास किया गया है। इसका एक कारण तो दीन पर श्रीरामजी का अत्यन्त स्नेह है। भक्तमाल में यह भी लिखा है कि जब से निषादराज का प्रभु से वियोग हुआ, तब से उसने आँखों में पट्टी बाँध रक्खी थी कि लौटने पर प्रभु के दर्शनों के लिये ही आँखें खोलूँगा। यह सखा प्रेम देखकर भी प्रभु यहाँ आये। 'नाव-नाव' बुलाने से आँखें बंद रहने की भी संभावना हो सकती है, यदि आँखों से विमान देखता, तो क्यों नाव को बुलाता ? इससे भक्तमाल की कथा से भी मेल हो जाता है।

दूसरा कारण यह है कि प्रभु ने यहीं से मुनि-वेष धारण कर पैदल वन की राह ली थी, इससे लौटते समय भी यहाँ निवास किया।

वाल्मीकीय रामायण में आज के निवास की तिथि पंचमी लिखी है।

सुरसरि नाँघि जान तब आयो। उतरेउ तट प्रभु आयसु पायो ॥७॥
तब सीता पूजी सुरसरी। बहु प्रकार पुनि चरनन्हि परी॥८॥

अर्थ—(तब तक) गंगाजी को लाँघकर विमान (इस पार) आ गया और प्रभु की आज्ञा पाकर तट पर उतरा ॥७॥ तब श्रीसीताजी ने बहुत प्रकार से गंगाजी की पूजा की और फिर बहुत तरह से चरणों पर पड़ीं ॥८॥

विशेष—(१) 'प्रभु आयसु पायो'—यह विमान चेतन था, इससे वचन सुनता था और मन की बातें भी जानता था। उ० दो० ४ में भी प्रभु की आज्ञा सुनकर इसका कुबेर के यहाँ जाना कहा गया है। 'उतरेउ तट'—क्योंकि श्रीजानकीजी ने सकुशल लौटने पर गंगाजी की पूजा करने की मनौती की थी; यथा—"सिय सुरसरिहि कहेउ कर जोरी। मातु मनोरथ पुरउबि मोरी॥ पति देवर सँग कुसल बहोरी। आइ करउँ जेहि पूजा तोरी॥" (अ० दो० १०२); यह मनौती दक्षिण तट पर की गई थी, पर विधि है कि यदि सरस्वती नदी के अतिरिक्त और नदियों के पार जाना हो, तो उस पार उतरकर स्नान-पूजा आदि करनी चाहिये, इसलिये इस (उत्तर) तट पर आकर विमान उतारा गया।

(२) पतिव्रता पति के कल्याण के लिये ही अन्य देवताओं की पूजा कर सकती है। फिर यहाँ तो गंगाजी इनकी कुल की कन्या एवं मान्या भी हैं। वाल्मीकीय रामायण में यह पूजा अभी नहीं की गई, किन्तु इसीके बहाने सीता-त्याग का चरित दस हजार वर्ष पीछे किया गया है। यहाँ पर अभी ही पूजा लिखी गई, इसीसे इस ग्रन्थ में वह (सीता-त्याग) कथा भी उत्तर कांड में नहीं है। 'बहु प्रकार'— मन, वचन और कर्म से। 'चरनन्हि परी'—गंगाजी की मूर्त्ति का अनुसंधान कर पूजा की है, इसीसे चरण-पड़ना भी कहा है।

दीन्हि असीस हरषि मन गंगा। सुंदरि तव अहिवात अभंगा ॥९॥
सुनत गुहा धायउ प्रेमाकुल। आयउ निकट परम सुख संकुल ॥१०॥

अर्थ—गंगाजी ने प्रसन्न होकर आशिष दी कि हे सुन्दरी! तुम्हारा सौभाग्य (सोहाग) अचल हो ॥९॥ (श्रीरामजी का इस तट पर उतरना) सुनते ही गुह प्रेमातुर होकर दौड़ा और परमानंद से परिपूर्ण वह प्रभु के निकट आया ॥१०॥

विशेष—(१) 'दीन्हि असीस' यह आशिष भी पहले की तरह ही है अ०दो० १०२ चौ० ४-८, दो० १०३ तक देखिये। 'हरषि मन'—क्योंकि जितना ही हर्षपूर्वक आशीर्वाद दिया जाता है, उतना ही अधिक वह प्रभावशाली भी होता है। हर्ष का यह भी भाव है कि इनका सुहाग तो अचल है ही अतएव मेरी बात सत्य ही होगी और मुझे यश भी होगा। सर्वेश्वरी होकर मुझे बड़ाई दे रही हैं, इससे भी हर्ष है।

(२) 'प्रेमाकुल'—क्योंकि १४ वर्ष पर यह मिल रहा है। 'परम सुख संकुल'—क्योंकि सुना है कि प्रभु बड़े प्रताप सहित देव-विमान पर चढ़कर आये हैं।

प्रभुहि सहित बिलोकि बैदेही। परेउ अवनि तन सुधि नहि तेही ॥११॥
प्रीति परम बिलोकि रघुराई। हरषि उठाइ लियो उर लाई ॥१२॥

अर्थ—वैदेही श्रीजानकीजी के साथ प्रभु को देखकर वह पृथिवी पर पड़ गया (उसने साष्टाग दडवत् की) उसे शरीर की सुधि नहीं रह गई ॥११॥ उसकी परम प्रीति देखकर श्रीरघुनाथजी ने प्रसन्न होकर उसे हृदय से लगा लिया ॥१२॥

विशेष—'बिलोकि बैदेही'—से जान पडता है कि श्रीभरतजी के द्वारा इसे सीताहरण की सुधि भी मिल चुकी थी। 'परेउ अवनि··' मे निषाद के प्रेम का स्वरूप कहा गया और 'हरषि उठाइ लियो ··' में श्रीरामजी का योग्य वर्त्ताव कहा गया है, यथा—"ये यथा मा प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११), इसका यहाँ चरितार्थ है। हर्ष इनका प्रेम देखकर हुआ, यथा—"रामहि केवल प्रेम पियारा।" (अ० दो० १३६), भूमि से उठाकर हृदय से लगाया। भाव यह कि तुम तो हमारे हृदय में बसते हो।

छंद—लियो हृदय लाइ कृपानिधान सुजान राय रमापती।
बैठारि परम समीप बूझी कुसल सो कर बीनती ॥
अब कुसल पद-पंकज बिलोकि बिरंचि-संकर-सेव्य जे।
सुखधाम पूरन काम राम नमामि राम नमामि ते ॥
सब भाँति अधम निषाद सो हरि भरत ज्यों उर लाइयो।
मतिमंद तुलसीदास सो प्रभु मोहबस बिसराइयो ॥
यह रावनारि चरित्र पावन राम-पद-रति-प्रद सदा।
कामादि हर बिज्ञान कर सुर-सिद्ध-मुनि गावहिं मुदा ॥

अर्थ—कृपा के स्थान, सुजान शिरोमणि, रमापति श्रीरामजी ने निषादराज को हृदय से लगा लिया। फिर उसे अत्यन्त निकट बैठाकर कुशल पूछी, तब वह विनती करने लगा॥ जो चरण कमल ब्रह्माजी और शिवजी से सेवित हैं, उनको देखकर अब मैं कुशल से हूँ। हे सुख धाम ! हे पूर्ण काम श्रीरामजी ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ, नमस्कार करता हूँ, अर्थात् बार-बार प्रणाम करता हूँ॥ सब प्रकार से नीच उस निषाद को प्रभु श्रीरामजी ने भरतजी की तरह (सगे प्रिय भाई की तरह) हृदय से लगाया। श्रीतुलसीदासजी (अपने मन से) कहते हैं कि अरे मंद बुद्धि ! ऐसे प्रभु को मोहवश होकर तूने भुला दिया॥ रावण के शत्रु श्रीरामजी का यह पावन चरित्र इन श्रीरामजी के चरणों में सदा प्रेम का देनेवाला है, काम आदि (शत्रुओं) का नाशक और विज्ञान का उत्पन्न करनेवाला है। देवता, सिद्ध और मुनि इसे प्रसन्नतापूर्वक गाते हैं॥

विशेष—(१) 'लियो हृदय लाइ' का कारण 'कृपानिधान' पद से जनाया गया कि कृपा कर उस नीच को भी हृदय से लगाया। क्योंकि 'सुजान राय' हैं, यथा—"जानि सिरोमनि कोसल राऊ।"

(बा० दो० १७); इससे उसके हृदय की प्रीति को जानते हैं, इसी से 'रमापति' होते हुए भी अधम निषाद को उन्होंने हृदय से लगाया। 'परम समीप' बैठा कर अति आदर दिया।

(२) 'अब कुशल पद पंकज बिलोकि···'—का भाव यह है कि यदि अभी इन चरणों के दर्शन न होते, तो कुशल नहीं थी। भाव यह कि अवधि बीतते ही प्रान छूट जाते। यह भी जनाया कि आपके जाने से अभी तक कुशल नहीं थी। 'सुखधाम' हैं, इससे आपने आकर मुझे सुख दिया, 'पूरन काम' हैं इसीसे आकर मेरी कामना पूरी की। 'नमामि राम नमामि ते'—इसी पद से कांड के चरित की समाप्ति की, क्योंकि आगे ग्रंथकार की स्वकीय उक्ति है।

(३) 'सब भाँति अधम निषाद'; यथा -"लोक वेद सब भाँतिहि नीचा। जासु छाँह छुइ लेइय सींचा॥" (अ० दो० १९४); क्योंकि निषाद-जाति अन्त्यज है, इसके कर्म भी हिंसामय हैं। 'सो हरि भरत ज्यों···' अर्थात् निषाद राज और श्रीभरतजी के प्रति मिलने का बर्त्ताव समान है—

श्रीभरतजी—	*श्रीनिषादराज—*
भूतल परे लकुट की नाईं।	परेउ अवनि तनु सुधि नहिं तेही।
परम प्रेम पूरन दोउ भाई।	प्रीति परम बिलोकि···
बरबस लिये उठाइ···कृपानिधान।	हरषि उठाइ···लियो हृदय लाइ कृपानिधान।

यह चित्रकूट-भरत-मिलन से इसका मिलान है। ऐसे ही आगे उ० दो० ४ में भी मिलान हो सकता है। और भी कहा गया है; यथा—"तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता।" (उ० दो० १९)। 'भरत ज्यों' कहकर इसके प्रेम की बड़ाई भी की। 'मति मंद' कहा है, क्योंकि कहाँ तो प्रभु ब्रह्मादि सेव्य हैं और कहाँ इतने सुलभ भी कि निषाद को भी हृदय लगाते हैं, उन्हें भी तू मोहवश भूल गया है।

(४) 'कामादिहर बिज्ञानकर'—'कामादिहर' कहकर 'बिज्ञानकर'- कहा है, क्योंकि कामादि ज्ञान आदि के शत्रु हैं; यथा—"ज्ञानिनो नित्य वैरिणा। काम रूपेण······" (गीता ३।३९); "भक्तिं प्रयच्छ रघुपुंगव निर्भरां मे कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च॥" (सुं० मं० श्लो०); अर्थात् हृदय मे कामादि के रहते भक्ति सिद्ध नहीं होती।

यहाँ सुर-सिद्ध-मुनि तीन गानेवाले हैं। अतः, तीन ही फल भी कहे गये हैं—'कामादिहर', 'राम-पद-रति-प्रद', बिज्ञानकर' क्रम से जानना चाहिये। सुर विषयी होते हैं; यथा—"इंद्रिन्ह सुरन्ह न ज्ञान सुहाई। बिषय भोग पर प्रीति सदाई॥" (उ० दो० ११७); अतः उनके लिये 'कामादिहर' कहा है। सिद्धों के लिये 'राम-पद-रति-प्रद' और मुनियों के लिये 'बिज्ञानकर' कहा गया है। इन्हीं गुणों के लिये ये तीनों गाते और आनंदित होते हैं।

(५) 'रावनारि······' से लंकाकांड-भर का माहात्म्य कहा गया, चरित का महत्व भी जनाया कि जिसे विष्णु-शिव आदि भी न मार सके, उसे श्रीरामजी ने मारा है।

दोहा—समर बिजय रघुबीर के, चरित जे सुनहिं सुजान।
बिजय बिबेक बिभूति नित, तिन्हहिं देहिं भगवान॥

यह कलिकाल मलायतन, मन करि देखु बिचार।
श्रीरघुनाथ नाम तजि, नाहिन आन अधार॥१२०॥

इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने विमलविज्ञान सम्पादनो नाम
षष्ठः सोपानः समाप्तः ॥

अर्थ—जो प्रवीण लोग रघुवीर के रण (सम्बन्धी) विजय-चरित सुनते हैं। उन्हें भगवान् श्रीरामजी सदा एवं नित्य (अविनाशी) विजय, विवेक और ऐश्वर्य देते हैं॥ हे मन! विचारकर देख, यह कलिकाल पापों का घर है। इसमें श्रीरघुनाथजी का नाम छोड़कर (जीवों के लिये) और कोई आधार इससे बचने का नहीं है॥१२०॥ इस तरह कलि के समस्त पापों का नाश करनेवाला श्रीरामचरितमानस में विमलविज्ञान संपादन करनेवाला यह छठा सोपान समाप्त हुआ।

विशेष—(१) ऊपर छंद में और वक्ताओं की इतिश्री कहकर यहाँ से मुख्यतः अपने घाट की इति लगाते हुए फल कहते हैं। 'विजय'; 'विवेक' और 'विभूति' तीन हैं, ये तीन अधिकारियों को प्राप्त होते हैं, विषयी को विभूति, साधकों को विवेक और सिद्धों को भक्ति द्वारा संसार शत्रु से विजय प्राप्त होती है; यथा—"बिरति चर्म असि ज्ञान मद, लोभ मोह रिपु मारि। जय पाइय सो हरि भगति देखु खगेस बिचारि॥" (उ० दो० १२०); अथवा विवेक के द्वारा मोहमय संसार पर विजय प्राप्त करके जीव नित्य विभूति को प्राप्त होता है।

(२) 'नित' का भाव यह है कि कामादि से जीव का समर नित्य होता रहता है, चरित को नित्य सुनने से नित्य (अविनाशी) विजय प्राप्त होती रहेगी और अंत में नित्य विभूति को प्राप्त होगा।

वाल्मी० ६।१२८। १२१–१२२ में भी इस कांड का फल ऐसा ही कहा गया है।

(३) 'यह कलिकाल'—यहाँ ग्रंथकार अपने वर्तमान युग के लिये अंगुल्यानिर्देश करके कहते हैं। 'नहिं कछु आन अधार'; यथा—"येहि कलिकाल न साधन दूजा। जोग जज्ञ जप तप ब्रत पूजा॥" (उ० दो० १२९), 'रघुनाथ नाम'; यथा—"तद्रघुनाथ नाम निरतं" (उ० दो० १३०); अर्थात् राम नाम। पहले दोहे में चरित का माहात्म्य और इस दोहे में नाम का माहात्म्य कहा गया है। भाव यह है कि चरित के पठन-श्रवन करते हुए नाम जपना चाहिये।

इस कांड का प्रारंभ भी नाम-माहात्म्य से हुआ है; यथा - "नाथ नाम तव सेतु······" और यहाँ 'श्रीरघुनाथ नाम······' पर इसकी समाप्ति भी कही गई है। भाव यह कि परमार्थ-साधन का यही एक मात्र उपाय है; यथा—"कलिजुग जोग न जज्ञ न ज्ञाना।······नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं॥" (उ० दो० १०२)।

पुनः यह सोपान विज्ञान-प्रापक है, आगे कहते हैं, उसका साधन नाम ही है; यथा—"ज्ञान मार्ग च नामत" (रामतापनीय उ०)।
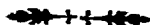
श्रीरामचरितमानस

(सिद्धान्त-तिलक-सहित)

सप्तम सोपान (उत्तरकाण्ड)

केकीकण्ठाभनीलं सुरवरविलसद्विप्रपादाब्जचिह्नं
शोभाढ्यं पीतवस्त्रं सरसिजनयनं सर्वदा सुप्रसन्नम् ।
पाणौ नाराचचापं कपिनिकरयुतं बन्धुनासेव्यमानं
नौमीड्यं जानकीशं रघुवरमनिशं पुष्पकारूढरामम् ॥१॥

अर्थ—मोर के कंठ की आभा (कान्ति) के समान (हरिताभ) नील वर्ण, देवताओं में श्रेष्ठ, विप्र (भृगुजी) के चरण-कमल के चिह्न से सुशोभित, शोभा से पूर्ण, पीताम्बर धारण किये हुए, कमल के *समान नेत्रवाले, सदैव अत्यन्त प्रसन्न, दोनों हाथों में नाराच बाण और धनुष (दाहिने हाथ में बाण और* बायें में धनुष) धारण किये हुए, वानर समूह के साथ, भाई श्रीलक्ष्मणजी से सेवित, स्तुति किये जाने योग्य, श्रीजानकीजी के पति, रघुकुल में श्रेष्ठ, पुष्पक विमान पर सवार श्रीरामजी को मैं निरंतर नमस्कार करता हूँ ॥१॥

विशेष—(१) यह स्रग्धरावृत्त है, लं० मं० श्लोक १ देखिये । इसमें 'केकिकण्ठ' की जगह 'केकीकण्ठ' शुद्ध होता ; क्योंकि यह स्रग्धरा वृत्त है, इसके आदि में मगण पड़ना ही चाहिये, जो उत्तम गण है । पहले के छहों कांडों के आदि के श्लोकों में पड़ता आया है । उसी की दृष्टि से ऐसा लिखा गया है । नहीं तो भाषा में भी इसका शुद्ध प्रयोग हुआ है ; यथा—"केकि कंठ दुति श्यामल अंगा ।" (बा० दो० ३१५); छन्द की दृष्टि से ऐसा करने का नियम भी है ; यथा—"अपिमापं मषं कुर्याच्छन्दो भङ्गं न कारयेत् ।"

मगण का देवता पृथिवी है, जो श्री देनेवाली है । यहाँ श्रीरामजी को भी राज्यश्री का लाभ होना है; यह सूचित किया गया ।

यहाँ पुष्पकारूढ श्रीरामजी का ध्यान है, क्योंकि अभी प्रभु उसी पर आ रहे हैं। आगे श्लोक में 'कोशलेन्द्र' पद से राज्य सिंहासनासीन रूप का ध्यान करेंगे।

(२) 'सुरवर' का भाव यह कि आप मनुष्य नहीं हैं, प्रत्युत् ब्रह्मादि देवताओं से भी श्रेष्ठ हैं, यथा—"अवधेस सुरेस रमेस विभो" (दो० १४), "मायातीत सुरेश देवसुर्वीश रूप" (ल० म०), 'सुरवर' के साथ ही 'विप्रपादाब्जचिह्न' कहने का भाव यह है कि भृगु परीक्षा से आप देवताओं में श्रेष्ठ कहे गये हैं, यह चिह्न इसे प्रमाणित करता है। 'निलसत्', यथा—"विप्र चरन देखत मन लोभा" (बा० दो० १९८), "उर धरासुर-पद लस्यो" (ल० दो० ८५), इससे क्षमा, सौशील्य और सौलभ्य गुण प्रकट होता है। एव हृदय की कोमलता भी प्रकट होती है, यथा—"उर निसाल भृगु चिह्न चारु अति सूचत कोमलताई।" (वि० ६२), इससे श्रीरामजी को ब्रह्मण्यदेव भी सूचित किया। 'शोभाढ्य पीतवस्त्र', यथा—"तड़ित निनिंदक बसन सुरगा।" (बा० दो० ३१५), 'सर्वदा सुप्रसन्न', यथा—"जय राम सदा सुख धाम हरे।" (ल० दो० १०४), यहाँ तक कि वन-यात्रा के समय भी "मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ।" कहा गया है। इससे यह भी सूचित किया गया कि आप ब्रह्म हैं, क्योंकि जीव का आनद सदा एक रस नहीं रहता। 'ईड्य' का भाव यह कि ब्रह्मा आदि देवता, वेद और गुरु श्रीवसिष्ठजी भी इस काड में आपकी स्तुति करेंगे। 'जानकीश' से श्रीजानकीजी का साथ होना भी सूचित किया गया।

प्रश्न—इस काड का उत्तरकांड क्यों नाम पड़ा?

उत्तर—(क) अयोध्याकाड के राज्य तिलक की तैयारी तक चरित का एक भाग है, वह पूर्व चरित है। पुन वन और रण की लीला करके राज्य पर विराजमान होने के पीछे के चरित उत्तर चरित हैं। (ख) महर्षिजी ने जो नियम कर दिया उसे सभी चरित रचयिताओं ने माना है। अत, सातवें काड का यही नाम रक्खा है, यही ग्रथकार ने भी कहा है, यथा—"मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई॥" (बा० दो० १२), अत, इनके मानस का भी सातवाँ सोपान उत्तरकांड कहा जाता है।

कोशलेन्द्रपदकञ्जमञ्जुलौ कोमलावजमहेशवन्दितौ।
जानकीकरसरोजलालितौ चिन्तकस्य मनभृङ्गसङ्गिनौ ॥२॥

अर्थ—कोशलपुरी के श्रेष्ठ स्वामी श्रीरामजी के सुन्दर और कोमल दोनों चरण-कमल श्रीब्रह्माजी और श्रीशिवजी से वदित हैं। श्रीजानकीजी के कर कमलों से दुलराये हुए हैं और चिंतन करनेवालों के मन रूपी भ्रमरों के (सदा) साथी हैं (अर्थात् ध्यान करनेवालों के हृदय से नहीं जाते, उन्हें सुखी किया करते हैं। अत, मेरा मन भी भ्रमर की तरह लगा रहे) ॥२॥

विशेष—(१) यह रथोद्धतावृत्त है, इसके प्रत्येक चरण मे ११-११ वर्ण होते हैं और क्रमशः र, न, र, लघु, गुरु (SIS, III, SIS, I, S) गण पड़ते हैं। ऊपर के 'केकीकण्ठाभ' की तरह इसमे भी छदोभग बचाने के लिये 'मनोभृङ्ग' शुद्ध शब्द को छोड़कर 'मनभृङ्ग' रक्खा गया है।

ऊपर के श्लोक मे रूप की वदना है, 'नौमि' से नमस्कारात्मक मगलाचरण है और इस श्लोक के आदि में ही 'कोशलेन्द्र' पद देकर इसे 'वस्तु निर्देशात्मक मगलाचरण' सूचित किया गया है, इसमें प्रभु के चरणों की वदना है।

(२) 'मञ्जुलौ', 'वन्दितौ' 'लालितौ', और 'चिन्तकस्य मनभृङ्ग सङ्गिनौ' से क्रमशः स्मरण, प्रणाम, भजन (सेवन) और ध्यान करने के योग्य सूचित किया गया है। इस तरह यहाँ इन चरणों के आराधन का प्रकार कहा गया है। बा० मं० श्लोक ६—"यत्पादप्लव एक एव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम्।" में इस आराधना का फल कहा गया है कि इससे भव पार हो जाओगे। बस, ग्रंथ के आदि और अंत के ही सोपानों में चरण-वंदना है, बीच में नहीं, इससे इन्हें उपक्रम और उपसंहार भी जनाया है।

इस श्लोक के चारों चरणों में चार क्रियाएँ—स्मरामि, वन्दे, भजामि और चिन्तयामि—निकलती हैं। उनको क्रम से लगाकर अर्थ करना चाहिये। ध्वनि से ही क्रियाएँ सूचित की गई हैं। कोई-कोई अंत में 'नौमि' क्रिया का अध्याहार करके भी अर्थ करते हैं।

कुन्दइन्दुदरगौरसुन्दरं अम्बिकापतिमभीष्टसिद्धिदम्।
कारुणीक कलकञ्जलोचनं नौमिशङ्करमनङ्गमोचनम्॥३॥

अर्थ—कुंद के फूल, चन्द्रमा और शंख के समान सुन्दर गौरवर्ण, जगज्जननी श्रीपार्वतीजी के पति, वांछित फल देनेवाले, दीनों पर दया करनेवाले, सुन्दर कमल के समान नेत्रवाले, काम (के मद को एवं उसके फंद से आश्रितों को) छुड़ानेवाले और कल्याणकरनेवाले श्रीशिवजी को मैं नमस्कार करता हूँ॥३॥

विशेष—(१) 'कुन्दइन्दुदरगौरसुन्दरं'—इसपर—"कुन्द इन्दु सम देह..." (बा० मं०) तथा—"कुंदु इंदु दर गौर सरीरा।" (बा० दो० १०५)—देखिये। 'गौर' के साथ 'सुन्दर' शब्द देकर जनाया गया कि वर्ण भी अच्छा है और सर्वांग सुठौर एवं शोभा सम्पन्न हैं। पुनः यह भी भाव है कि केवल श्वेत वर्ण ही नहीं; किन्तु कुछ ललाई लिये हुए गौर वर्ण हैं, इससे सुंदर हैं। 'अम्बिका पतिं' से श्रीपार्वतीजी को जगन्माता और श्रीशिवजी को जगत्-पिता सूचित किया। इस नाते से सबके अभीष्ट की सिद्धि देते हैं, अर्थात् अभिलाषा करने से भी दुःखद वस्तु नहीं देते, क्योंकि सबपर वात्सल्य हैं।

(२) 'कारुणीक' कहकर 'कल कंज लोचनं, कहने का भाव यह है कि करुणा आँखों से प्रकट होती है; यथा—"सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आये जल राजिव नयना॥" (सुं० दो० ३१) ; तथा—"निसिचर निकर सकल मुनि खाये। सुनि रघुनाथ नयन जल छाये॥" (आ० दो० ८) ; करुणा के सम्बन्ध से आँखों को 'कल' सुन्दर विशेषण दिया गया। यह भी जनाया कि जैसे-जैसे देते हैं, वैसे-वैसे हर्ष से उनके नेत्र प्रफुल्लित होते हैं। करुणा आनेपर शीघ्र आश्रित का दुःख नाश कर उसका कल्याण किया जाता है। इससे फिर 'शङ्कर' भी कहा है—शं=कल्याण, कर=करनेवाले। पुनः काम के रहते हुए सुख एवं कल्याण नहीं होता ; यथा—"काम अछत सुख सपनेहु नाहीं।" (उ दो० ८१) ; इससे 'अनङ्ग मोचनं' भी कहा है कि श्रीशिवजी अपने आश्रितों को काम से बचाते हैं ; यथा—"कह तुलसिदास सुनु सिव सुजान। उर बसि प्रपंच रचै पंचबान॥ करि कृपा हरिय भ्रमफंदकाम। जेहि हृदय बसहिं सुखरासि राम॥" (वि० १४) ; इसका यह भी भाव है कि श्रीशिवजी स्वयं काम का मद मोचन किये हुए हैं ; इससे इनका हृदय शुद्ध है जिससे सदा श्रीरामजी उसमें बसते हैं ; यथा—"शंकर-हृदि-पुंडरीक निवसत हरि चंचरीक, निर्व्यलीक मानस गृह संतत रहे छाई॥" (गी० उ० ३)।

यहाँ पुष्पकारूढ़ श्रीरामजी का ध्यान है, क्योंकि अभी प्रभु उसी पर आ रहे हैं। आगे श्लोक में 'कोशलेन्द्र' पद से राज्य सिंहासनासीन रूप का ध्यान करेंगे।

(२) 'सुरवर' का भाव यह कि आप मनुष्य नहीं हैं, प्रत्युत् ब्रह्मादि देवताओं से भी श्रेष्ठ हैं; यथा—"अवधेस सुरेस रमेस विभो" (दो॰ १४); "मायातीतं सुरेशं···देवमुर्वीश रूपं" (लं॰ मं॰); 'सुरवर' के साथ ही 'विप्रपादाब्जचिह्न' कहने का भाव यह है कि भृगु-परीक्षा से आप देवताओं में श्रेष्ठ कहे गये हैं, वह चिह्न इसे प्रमाणित करता है। 'विलसत्'; यथा—"विप्र चरन देखत मन लोभा" (बा॰ दो॰ १४८); "उर धरासुर-पद लस्यो" (लं॰ दो॰ ८५); इससे क्षमा, सौशील्य और सौलभ्य गुण प्रकट होता है। एवं हृदय की कोमलता भी प्रकट होती है; यथा—"उर विसाल भृगु चिह्न चारु अति सूचत कोमलताई।" (विं॰ ६२); इससे श्रीरामजी को ब्रह्मण्यदेव भी सूचित किया। 'शोभाढ्यं पीतवस्त्रं'; यथा—"तड़ित विनिंदक बसन सुरंगा।" (बा॰ दो॰ ११५); 'सर्वदा सुप्रसन्नं'; यथा—"जय राम सदा सुख धाम हरे।" (लं॰ दो॰ १०१); यहाँ तक कि वन-यात्रा के समय भी "मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ।" कहा गया है। इससे यह भी सूचित किया गया कि आप ब्रह्म हैं, क्योंकि जीव का आनंद सदा एक रस नहीं रहता। 'ईड्यं' का भाव यह कि ब्रह्मा आदि देवता, वेद और गुरु श्रीवसिष्ठजी भी इस कांड में आपकी स्तुति करेंगे। 'जानकीशं' से श्रीजानकीजी का साथ होना भी सूचित किया गया।

प्रश्न—इस कांड का उत्तरकांड क्यों नाम पड़ा ?

उत्तर—(क) अयोध्याकांड के राज्य-तिलक की तैयारी तक चरित का एक भाग है, वह पूर्व चरित है। पुनः वन और रण की लीला करके राज्य पर विराजमान होने के पीछे के चरित उत्तर चरित हैं। (ख) महर्षिजी ने जो नियम कर दिया उसे सभी चरित-रचयिताओं ने माना है। अतः, सातवें कांड का यही नाम रक्खा है, यही ग्रंथकार ने भी कहा है; यथा—"मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई॥" (बा॰ दो॰ १२), अतः, इनके मानस का भी सातवाँ सोपान उत्तरकांड कहा जाता है।

कोशलेन्द्रपदकञ्जमञ्जुलौ कोमलावजमहेशवन्दितौ।
जानकीकरसरोजलालितौ चिन्तकस्य मनभृङ्गसङ्गिनौ ॥२॥

अर्थ—कोशलपुरी के श्रेष्ठ स्वामी श्रीरामजी के सुन्दर और कोमल दोनों चरण-कमल श्रीब्रह्माजी और श्रीशिवजी से वंदित हैं। श्रीजानकीजी के कर-कमलों से दुलराये हुए हैं और चिंतन करनेवालों के मन रूपी भ्रमरों के (सदा) साथी हैं (अर्थात् ध्यान करनेवालों के हृदय से नहीं जाते, उन्हें सुखी किया करते हैं। अतः, मेरा मन भी भ्रमर की तरह लगा रहे) ॥२॥

विशेष—(१) यह रथोद्धतावृत्त है, इसके प्रत्येक चरण में ११-११ वर्ण होते हैं और क्रमशः र, न, र, लघु, गुरु (ऽ।ऽ, ।।।, ऽ।ऽ, ।, ऽ) गण पड़ते हैं। ऊपर के 'केकीकण्ठाभ' की तरह इसमें भी छंदोभंग बचाने के लिये 'मनोभृङ्ग' शुद्ध शब्द को छोड़कर 'मनभृङ्ग' रक्खा गया है।

ऊपर के श्लोक में रूप की वंदना है, 'नौमि' से नमस्कारात्मक मंगलाचरण है और इस श्लोक के आदि में ही 'कोशलेन्द्र' पद देकर इसे 'वस्तु निर्देशात्मक मंगलाचरण' सूचित किया गया है, इसमें प्रभु के चरणों की वंदना है।

(२) 'मञ्जुलौ', 'वन्दितौ' 'लालितौ', और 'चिन्तकस्य मनभृङ्ग सङ्गिनौ' से क्रमशः स्मरण, प्रणाम, भजन (सेवन) और ध्यान करने के योग्य सूचित किया गया है। इस तरह यहाँ इन चरणों के आराधन का प्रकार कहा गया है। बा० मं० श्लोक ६—"यत्पादप्लव एक एव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम्।" में इस आराधना का फल कहा गया है कि इससे भव पार हो जाओगे। बस, ग्रंथ के आदि और अंत के ही सोपानों में चरण-वंदना है, बीच में नहीं, इससे इन्हें उपक्रम और उपसंहार भी जनाया है।

इस श्लोक के चारों चरणों में चार क्रियाएँ—स्मरामि, वन्दे, भजामि और चिन्तयामि—निकलती हैं। उनको क्रम से लगाकर अर्थ करना चाहिये। ध्वनि से ही क्रियाएँ सूचित की गई हैं। कोई-कोई अंत में 'नौमि' क्रिया का अध्याहार करके भी अर्थ करते हैं।

कुन्दइन्दुदरगौरसुन्दरं अम्बिकापतिमभीष्टसिद्धिदम्।
कारुणीक कलकञ्जलोचनं नौमिशङ्करमनङ्गमोचनम्॥३॥

अर्थ—कुंद के फूल, चन्द्रमा और शंख के समान सुन्दर गौरवर्ण, जगज्जननी श्रीपार्वतीजी के पति, वांछित फल देनेवाले, दीनों पर दया करनेवाले, सुन्दर कमल के समान नेत्रवाले, काम (के मद को एवं उसके फंद से आश्रितों को) छुड़ानेवाले और कल्याणकरनेवाले श्रीशिवजी को मैं नमस्कार करता हूँ॥३॥

विशेष—(१) 'कुन्दइन्दुदरगौरसुन्दरं'—इसपर—"कुन्द इन्दु सम देह..." (बा० मं०) तथा—"कुंदु इंदु दर गौर सरीरा।" (बा० दो० १०५)—देखिये। 'गौर' के साथ 'सुन्दर' शब्द देकर जनाया गया कि वर्ण भी अच्छा है और सर्वांग सुठौर एवं शोभा सम्पन्न हैं। पुनः यह भी भाव है कि केवल श्वेत वर्ण ही नहीं; किन्तु कुछ ललाई लिये हुए गौर वर्ण हैं, इससे सुंदर हैं। 'अम्बिका पतिं' से श्रीपार्वतीजी को जगन्माता और श्रीशिवजी को जगत्-पिता सूचित किया। इस नाते से सबके अभीष्ट की सिद्धि देते हैं, अर्थात् अभिलाषा करने से भी दुःखद वस्तु नहीं देते, क्योंकि सबपर वात्सल्य हैं।

(२) 'कारुणीक' कहकर 'कल कंज लोचनं, कहने का भाव यह है कि करुणा आँखों से प्रकट होती है; यथा—"सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आये जल राजिव नयना॥" (सुं० दो० ३१) ; तथा—"निसिचर निकर सकल मुनि खाये। सुनि रघुनाथ नयन जल छाये॥" (आ० दो० ८); करुणा के सम्बन्ध से आँखों को 'कल' सुन्दर विशेषण दिया गया। यह भी जनाया कि जैसे-जैसे देते हैं, वैसे-वैसे हर्ष से उनके नेत्र प्रफुल्लित होते हैं। करुणा आनेपर शीघ्र आश्रित का दुःख नाश कर उसका कल्याण किया जाताहै। इससे फिर 'शङ्कर' भी कहा है—शं = कल्याण, कर=करनेवाले। पुनः काम के रहते हुए सुख एवं कल्याण नहीं होता; यथा—"काम अछत सुख सपनेहु नाहीं।" (उ दो० ८१); इससे 'अनङ्ग मोचनं' भी कहा है कि श्रीशिवजी अपने आश्रितों को काम से बचाते हैं; यथा—"कह तुलसिदास सुनु सिव सुजान। उर बसि प्रपंच रचै पंचबान॥ करि कृपा हरिय भ्रमफंदकाम। जेहि हृदय बसहिं सुखरासि राम॥" (वि० १४); इसका यह भी भाव है कि श्रीशिवजी स्वयं काम का मद मोचन किये हुए हैं; इससे इनका हृदय शुद्ध है जिससे सदा श्रीरामजी उसमें बसते हैं; यथा—"शंकर-हृदि-पुंडरीक निवसत हरि चंचरीक, निर्व्यलीक मानस गृह संतत रहे छाई॥" (गी० उ० ३)।

तीन श्लोकों में मंगला चरण किया, क्योंकि इस समय श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी तीनों विमान पर आ रहे हैं। इसपर आ० मं० भी देखिये।

"जेहि विधि राम नगर निज आये"—प्रकरण

दोहा—रहा एक दिन अवधि कर, अति आरत पुरलोग।
जहँ तहँ सोचहिं नारि नर, कृसतनु राम बियोग॥

शब्दार्थ—अवधि = १४ वर्ष का नियत समय। आरत = अत्यन्त जी लगा हुआ, बेचैन।

अर्थ—नगर के लोग अत्यन्त बेचैन (व्याकुल) हो रहे हैं, श्रीरामजी के वियोग में दुर्बल शरीर से स्त्री-पुरुष जहाँ-तहाँ (एकत्र होकर) सोच रहे हैं कि अब अवधि का एक ही दिन शेष रह गया है॥

विशेष—(१) 'रहा एक दिन अवधि कर'—श्रीवाल्मीकिजी के मत से भूषण आदि टीकाकारों ने बहुत तरह से तिथियों पर विचार किया है। पर मानस के प्रकरण से वे सब नहीं मिलते। क्योंकि इसमें चार कल्पों की कथाएँ एक साथ चल रही हैं। इसी से सब तिथियों का मेल नहीं देखकर ग्रन्थकार ने किसी चरित की तिथि का उल्लेख नहीं किया, केवल राम-जन्म तिथि निर्विवाद है अतएव चैत्र शु० ६ स्पष्ट लिखा है। वाल्मीकीय रामायण में राम-रावण युद्ध दो महीने में होना पाया जाता है और मानस में एक ही महीने की अवधि में हुआ है। इससे इस विषय में ग्रंथकार ने केवल अवधि में एक दिन शेष रह जाना-मात्र लिखा है, महीना और तिथि चाहे जो हों।

'अति आरत पुरलोग'—अवधि की ही आशा से जी रहे थे; यथा—"विषम वियोग न जाइ बखाना। अवधि आस सब राखहिं प्राना॥" (अ० दो० ८५); अवधि बीतने पर अवश्य आवेंगे, उन्हें यह आशा थी, परन्तु अभी तक प्रभु का कुछ पता नहीं। प्रयाग राज तक एवं निषादराज के यहाँ तक भी आये होते, तो निषादराज के द्वारा समाचार आया होता; अब कल कैसे आ सकते हैं? अतएव आने में संदेह होने से अत्यन्त व्याकुल हो गये कि अब अवधि बीतने पर भी नहीं आवेंगे और हमें प्राण छोड़ने ही होंगे। बिना श्रीरामजी के हम लोग जी नहीं सकते; यथा—"अवधि अंबु प्रिय परिजन मीना। तुम्ह करुना-कर धरम धुरीना॥" (अ० दो० ५६); इसी से 'अति आरत' हैं; यथा—"सखि हमरे अति आरति ताते। कबहुँक ये आवहिं येहि नाते॥" (बा० दो० २२१)।

(२) 'जहँ तहँ सोचहिं नारि नर'—जो जहाँ हैं वहीं शोच कर रहे हैं, क्योंकि कहीं चलने-फिरने की शक्ति रह नहीं गई कि किसी से जाकर अपने हृदय के दुःख सुनावें। सोचते हैं कि कोई कारण अवश्य हो गया। अवधि की ही आश पर चलते-फिरते थे, अब वह भी बीती जा रही है।

'कृस तनु राम बियोग'—शरीर ऐसा दुबला हो गया है कि अब वह अधिक दुःख नहीं सह सकता, छूटना ही चाहता है। इस दशा पर इनकी प्राण-रक्षा के लिये शकुन होने लगे—

सगुन होहिं सुंदर सकल, मन प्रसन्न सब केर।
प्रभु आगवन जनाव जनु, नगर रम्य चहुँ फेर॥

अर्थ—अब सुंदर शकुन हो रहे हैं, सबके मन प्रसन्न हैं, नगर चारों ओर रमणीक हो गया है; मानों सब शकुन प्रभु के आगमन को सूचित कर रहे हैं (पुरवासियों के मन में ऐसा स्फुरण होता है कि आज प्रभु आवेंगे)।

विशेष—(१) 'सगुन होहिं सुंदर सकल' ये सब बाहर के शकुन हैं, जैसे कि सुभग अंगों का फड़कना एवं जो अन्य जीवों के द्वारा होते हैं। वे देखने और सुनने से जाने जाते हैं। 'मन प्रसन्न सब केर'—ये भीतर के शकुन हैं, मन का हर्ष कार्य-सिद्धि का द्योतक है; यथा—"होइहि काज मोहि हरष बिसेषी" (सुं० दो० १); पहले मन में शोच था, अब हर्ष हो रहा है।

(२) 'प्रभु आगवन जनाव जनु'—ऐसे-ऐसे शकुन हुए कि जिनसे प्रभु के आगमन की प्रतीति होती है; यथा—"राम सीय तनु सगुन जनाये। फरकहिं मंगल अंग सुहाये॥ पुलकि सप्रेम परस्पर कहहीं। भरत आगमन सूचक अहहीं॥ भये बहुत दिन अति अवसेरी। सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी॥" (अ० दो० ६); यहाँ अंग फड़कने का शकुन नहीं कहा गया; क्योंकि आगे उसे श्रीभरतजी के लिये कहना है।

'नगर रम्य चहुँ फेर'—चारों ओर रमणीकता का अनुभव होता है कि जो जहाँ हैं वहीं से देखकर धैर्य धारण करें, क्योंकि सब कृश तनु हैं, इससे जहाँ के तहाँ पड़े हैं। यही नगर पहले राम-वियोग में भयानक लगता था; यथा—"लागति अवध भयावनि भारी। मानहुँ काल राति अँधियारी॥" (अ० दो० ८१); अब प्रभु के संयोग की संभावना से रम्य हो गया; यथा—"अवधपुरी प्रभु आवत जानी। भई सकल सोभा की खानी॥" (दो० २)।

कौसल्यादि मातु सब, मन अनंद अस होइ।
आयउ प्रभु श्रीअनुज-जुत, कहन चहत अब कोइ॥

अर्थ—श्रीकौशल्या आदि सभी माताओं के मन में ऐसा आनंद हो रहा है कि अब कोई ऐसा कहना ही चाहता है—'प्रभु श्रीरामजी श्रीजानकीजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ आ गये'।

विशेष—(१) 'कौसल्यादि मातु' कहने का भाव यह है कि सब माताओं की व्यवस्था श्रीकौशल्याजी के समान है। 'मन अनंद अस'—यह बाहरी शकुनों से श्रेष्ठ है। ऊपर पुरजनों को भी हुआ; यथा—'मन प्रसन्न सब केर' यहाँ भी—'मन अनंद···' और आगे श्रीभरतजी के प्रति भी—'मन हरष अति' कहा गया है।

(२) 'आयउ प्रभु···'—'प्रभु' शब्द कहनेवाले का है, श्रीकौशल्या आदि की मनोभावना नहीं है, उनके तो श्रीरामजी बालक हैं। 'श्रीअनुज-जुत'—क्योंकि श्रीसीताजी का हरण और श्रीलक्ष्मणजी के शक्ति-लगने का प्रसंग सुन चुकी हैं। इससे सबकी अभिलाषा यही है कि वे दोनों साथ-साथ आवें। वैसा ही मन का उत्साह हो रहा है कि कोई आकर कहना ही चाहता है कि—'आयउ प्रभु···' इनका मनोभिलाष अभी ही सिद्ध होगा, श्रीहनुमान्‌जी आकर श्रीभरतजी से ऐसा ही कहेंगे—'आयउ कुसल देव मुनि त्राता।···सीता सहित अनुज प्रभु आवत।" (दो० १)।

इस प्रसंग पर—"छेमकरी बलि बोलि सुबानी।" (गी० लं० १०) पद पढ़ने योग्य है।

भरत नयन भुज दच्छिन, फरकत बारहिं बार।
जानि सगुन मन हरष अति, लागे करन बिचार ॥

अर्थ—श्रीभरतजी के दक्षिण नेत्र और दक्षिण भुजा (ये दोनों) बार-बार फड़कते हैं, (इन्हें) शकुन जानकर उनके मन मे अत्यन्त आनन्द हुआ, तब वे विचार करने लगे ॥

विशेष—'फरकत बारहिं बार'—श्रीभरतजी श्रीराम-विरह मे अत्यन्त डूबे हुए हैं; इसीसे उन्होंने बार-बार अंग फड़कने से शकुन माना। नेत्र और भुजा ये दोनों ही फड़के, क्योंकि ये प्रभु की पाँवरी-पूजा मे लगे हुए हैं, उसमे विघ्न पड़ने से मन शकुनों की ओर जायगा। ये प्रिय-मिलाप के ही सूचक हैं; ऊपर प्रमाण लिखा गया, इसीसे ये ही शकुन हुए।

पहले शकुनों से प्रभु के आने की आशा हुई, पर अभी तक कोई समाचार नहीं मिला, जिससे पूरी आशा की जाय, इससे फिर विचार करने लगे।

यहाँ क्रमश: अधिक सुख कहा गया—पुरवासियों का हर्ष—'मन प्रसन्न' विषाद के पीछे कहा गया, माताओं का आनन्द मात्र 'मन अनंद अस' कहा गया, क्योंकि इन्हें अलौकिक विवेक प्राप्त है। और श्रीभरतजी को 'मन हरष अति' कहा गया है।

इन सबके आनंद प्राप्ति के इस क्रम के कारण—(क) पहले पुरजनों को वनवास की सूचना मिली थी, तब माताओं को और पीछे श्रीभरतजी को ; यथा—"नगर ब्यापि गइ बात सुतीछी।···" (अ॰ दो॰ ४५)—पुरवासी। "सहमि सूखि सुनि सीतल बानी।" (अ॰ दो॰ ५३)—श्रीकौशल्याजी। "भरतहि बिसरेउ पितु मरन, सुनत राम बन गौन।" (अ॰ दो॰ १६०)—श्रीभरतजी। (ख) उत्तरोत्तर प्रेम की अधिकता के कारण भी इस क्रम से वर्णन हुआ है।

रहा एक दिन अवधि अधारा। समुझत मन दुख भयउ अपारा ॥१॥
कारन कवन नाथ नहिं आयउ। जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ ॥२॥

अर्थ—(प्राणों का) आधार अवधि का अन्त एक ही दिन रह गया, यह समझते ही मन मे अपार दुःख हुआ ॥१॥ किस कारण से स्वामी नहीं आये ? क्या उन्होंने मुझे कुटिल जानकर भुला तो नहीं दिया ? ॥२॥

विशेष—(१) 'अधारा' का भाव यह है कि बस, यही एक दिन जीवन का आधार और है इसके आगे नहीं जी सकते, आगे कहते ही हैं, यथा—"बीते अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कौन जग मोहि समाना ॥" पहले हर्ष हुआ फिर जब विचार करने लगे कि शकुनों वाली बात अनुमान की है। अतः, प्रत्यक्ष की अपेक्षा निर्बल है। प्रत्यक्ष तो यह बात है कि निषादराज के यहाँ तक अथवा प्रयाग राज एवं श्रीचित्रकूट तक भी आये होते, तो निषादराज समाचार पहुँचाते। यदि उनसे आगे होंगे, तो अवधि के भीतर नहीं आ सकेंगे, फिर कैसे प्रतीति की जाय कि मेरे प्राण रहेंगे। यह समझकर मन में अपार दुख हुआ, फिर 'समुझत' से और भी हेतु कहते हैं—

(क) यदि मैं अवधि बिताकर भी जीता रहा ; तो भ्रष्ट-प्रतिज्ञ होऊँगा और पिताजीने, पुरवासियोंने

एवं प्रभु ने जो मेरी प्रशंसा की, उन सभी के वचन झूठे हो जायँगे। (ख) यदि प्राण छोड़ दिये और स्वामी आये, तो उन्हें अपने पिछड़ने का पश्चात्ताप होगा। अतः, क्या कारण है? वही आगे कहते हैं—

(२) 'कारन कवन नाथ नहि आयउ।'—कई कारणों का अनुमान होता है। 'नाथ' शब्द से सूचित करते हैं कि मेरी प्रार्थना पर आपने कहा था कि मैं ठीक अवधि पर आऊँगा; यथा—"तथेति च प्रतिज्ञाय।" (वाल्मी० २।११२।२६) 'नाथृ-याचने' धातु से नाथ शब्द बनता है। अतः, यह आशय आया। तब तो आना ही चाहिये, परन्तु जान पड़ता है कि कोई प्रबल कारण हो गया, जिससे नहीं आये। कुछ कारण तो ये भी हैं कि श्रीलक्ष्मणजी को शक्ति लगी थी, श्रीजानकीजी का हरण हुआ था। संभव है कि श्रीलक्ष्मणजी अच्छे न हुए हों, तो यह समझकर नहीं आते हों कि—"जैहउँ अवध कौन मुँह लाई।···" (लं० दो० ५६); अथवा स्त्री-हरण की लज्जा से नहीं आते हों। सम्भवतः अभी रावण नहीं मरा हो, इत्यादि, पर विशेषकर अपने विषय के जो कारण हैं, उन्हें ही प्रकट भी कहते हैं—

'जानि कुटिल किधौं···'—श्रीलक्ष्मणजी ने जो अनुमान किया था; यथा—"कुटिल कुबंधु कुअवसर ताकी।···" (अ० दो० २२७); वही बात मानकर प्रभु ने भी संभवतः मुझे भुला दिया हो। 'किधौं'—शब्द संदिग्ध-सूचक है, बिसराने का निश्चय नहीं होता, क्योंकि श्रीभरतजी श्रीरामजी का स्वभाव जाननेवाले हैं; यथा—"मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥" (अ० दो० ३५१)।

अहह धन्य लछिमन बड़भागी। राम पदारबिंद अनुरागी॥३॥
कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा। ताते नाथ संग नहिं लीन्हा॥४॥

शब्दार्थ—अहह—शब्द का प्रयोग आश्चर्य, खेद, शोक और प्रशंसा में भी होता है, *यहाँ खेद के अर्थ में है।*

अर्थ—अहह! लक्ष्मण धन्य हैं, बड़ भागी हैं, श्रीराम-चरण-कमल के अनुरागी हैं॥३॥ प्रभु ने मुझे कपटी और कुटिल पहचान लिया, इसीसे स्वामी ने (मुझे) साथ में नहीं लिया॥४॥

विशेष—(१) 'अहह' शब्द यहाँ दीपदेहली है, पिछली अर्द्धाली के साथ भी है। अतः 'मोहि बिसराये' पर खेद प्रकट करते हैं। पुनः श्रीलक्ष्मणजी छोटे हैं और अत्यन्त कष्ट सहकर प्रभु की सेवा कर रहे हैं। उनपर सहानुभूति प्रकट करते हुए भी 'अहह' शब्द से खेद प्रकट किया है; यथा—"लालन जोग लखन लघु लोने।···ते बन सहहिं बिपति सब भाँती। निदरे कोटि कुलिस येहि छाती।" (अ० दो० १११)।

'धन्य लछिमन बड़भागी'—का भाव यह है कि वे सुकृती हैं और प्रभु के चरणानुरागी हैं। इसी से उन्हें प्रभु ने अपने साथ रक्खा और मुझे कपटी-कुटिल आदि पहचान कर त्याग दिया। भाव यह कि मैं सेना आदि लेकर प्रभु के सम्मुख गया और उनकी स्वतंत्रता में बाधक हुआ। इससे प्रभु ने मुझे पहचान लिया कि मन तो राजसी ठाट में है और ऊपर से बातें बनाता है। 'पदारबिंद अनुरागी' के संबंध से 'बड़भागी' कहा है, इसपर बा० दो० २१०—'अतिसय बड़भागी···' तथा आ० दो० ६ चौ० २१ भी देखिये। बरवा रामायण में भी कहा है; यथा—"बड़े भाग अनुराग राम पद होइ।" (६३)।

(२) 'कपटी कुटिल मोहिं···'—पहले 'जानि कुटिल किधउँ मोहिं बिसरायउ' कहा था। यहाँ उसी को पुष्ट करते हैं। जो छिपकर बुराई करे, वह कपटी कुटिल है, मैंने माता के द्वारा वनवास कराया।

'ताते नाथ संग नहिं लीन्हा।'—ऊपर कहा गया कि 'नाथ' शब्द में याचना का भाव है, जब मैंने याचना की; यथा—'नाथ चलउँ मैं साथ' तब प्रभु ने मुझे साथ नहीं लिया।

जौं करनी समुझै प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी ॥५॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ ॥६॥

अर्थ—यदि प्रभु मेरी करनी (अपकार के कृत्य) समझें तो मेरा सौ करोड़ (असंख्य) कल्पों तक निर्वाह नहीं हो सकता ॥५॥ प्रभु सेवकों के अवगुण कभी भी नहीं देखते, वे दीनबंधु हैं, उनका स्वभाव अत्यन्त कोमल है ॥६॥

विशेष—(१) 'जौं करनी समुझै···'—यह भक्ति की कार्पण्य वृत्ति है ; यथा—"जौं अपने अवगुन सब कहऊँ। बाढ़इ कथा पार नहिं लहऊँ ॥" (बा॰ दो॰ ११) ; अथवा इसी वृत्ति में अपनी उस करनी का भी स्मरण करते हैं ; जो श्रीहनुमान्‌जी को संजीवनी ले जाने के समय बाण मारा था। यदि वे जीवित नहीं होते, तो श्रीलक्ष्मणजी के प्राण नहीं बचते। फिर उनके बिना श्रीरामजी नहीं जीते। तब तो श्रीसीताजी, सब माताएँ और अवधवासी, कोई भी नहीं जीते। मेरी इस करनी को यदि समझें, तो करोड़ों कल्पों तक मेरा निर्वाह नहीं हो। जब इससे उबार नहीं देखा तो प्रभु के स्वभाव की शरण गये—

(२) 'जन अवगुन प्रभु···'—वे दीनबंधु हैं और मैं दीन हूँ, तो अवश्य कृपा करेंगे ; यथा—"नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना ॥" (आ॰ दो॰ ७) ; 'अति मृदुल सुभाऊ।' कोमल स्वभाववाले दीनों पर दया करते हैं ; यथा—"कोमलचित दीनन्ह पर दाया।" (उ॰ दो॰ ३०) ; वे तो अति कोमल स्वभाव हैं। अतः, मुझ जन पर क्रोध नहीं करके दया ही करेंगे। ऐसा कहकर उपर्युक्त-'कपटी कुटिल मोहिं···' का निराकरण किया। पहले भी इन्होंने कहा था ; यथा—"देखि दोष कबहुँ न उर आने।" (अ॰ दो॰ २१८) ; उसी स्वभाव का यहाँ स्मरण करते हैं।

मोरे जिय भरोस दृढ़ सोई। मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई ॥७॥
बीते अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कवन जग मोहिं समाना ॥८॥

अर्थ—मेरे हृदय में यही भरोसा दृढ़ है कि श्रीरामजी (अवश्य) मिलेंगे (क्योंकि) शुभ शकुन हो रहे हैं ॥७॥ अवधि बीत जाने पर यदि प्राण रह गये तो मेरे समान संसार में कौन अधम होगा ? ॥८॥

विशेष—(१) 'भरोस दृढ़ सोई'—यही भरोसा कि जन के अवगुण प्रभु नहीं मानते, दृढ़ है। दृढ़ता का दूसरा कारण शकुन भी है। इससे जो सोचा था कि प्रभु ने भुला दिया होगा, उसका खंडन हो गया।

(२) 'बीते अवधि···'—भाव यह कि अवधि बीतने पर प्राण रहेंगे नहीं, कदाचित् रह भी जायँ, तो मैं महान् अधम कहाऊँगा। पहले तो दृढ़ भरोसा कहा, फिर विरह की प्रबलता से पिछली दुःख वार्तों को सोचकर संदेह हो गया कि इन प्राणों ने कई बार धोखा दिया है ; यथा—"मुनि बन गमन कीन्ह रघुनाथा। ···संकर साखि रहेउँ येहि घाये ॥" (अ॰ दो॰ २६१) ; अर्थात् इसपर प्राणों का निकल जाना चाहता था, पर नहीं निकले। फिर चित्रकूट पहुँचने पर भी नहीं निकले ; यथा—"अब सब आँखिन देखेउँ आई। जियत जीव जड़ सबइ सहाई ॥" (अ॰ दो॰ २६१) ; इत्यादि।

विरह का उपक्रम—'रहा एक दिन अवधि अधारा।' है और यहाँ—'बीते अवधि···' उपसंहार है। श्रीरामजी ने भी कहा है ; यथा—"बीते अवधि जाउँ जौं, जियत न पावउँ बीर।' (लं॰ दो॰ ११६) ; वही यहाँ श्रीभरतजी सोच रहे हैं।

'अधम कवन जग……'—स्वामी से विमुख होकर जीना अधमता है। पुनः प्रतिज्ञा-भ्रष्ट होकर जीना भी अधमता है। मैंने प्रतिज्ञा की थी; यथा—"तुलसी बीते, अवधि प्रथम दिन जो रघुबीर न अइहौ। तौ प्रभु चरन सरोज सपथ जीवत परिजनहि न पइहौं॥" (गी० अ० ७६)।

दोहा—राम-बिरह-सागर महँ, भरत मगन मन होत।
बिप्र-रूप धरि पवनसुत, आइ गयउ जनु पोत॥
बैठे देखि कुसासन, जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत, स्रवत नयन-जलजात॥१॥

अर्थ—श्रीरामजी के विरह-समुद्र में श्रीभरतजी का मन डूब रहा था, उसी समय पवन के पुत्र श्रीहनुमान्जी विप्ररूप धारण कर (इस तरह) आ गये; मानों नाव आ गई॥ (शिर पर) जटाओं का मुकुट, शरीर दुबला—राम, राम, रघुपति—जपते, कमल नेत्र से जल (प्रेमाश्रु) गिराते, कुशासन पर बैठे हैं (दूर से ही ऐसा) देखकर—॥१॥

विशेष—(१) 'राम बिरह सागर महँ……'—पहले कहा था—'समुझत मन दुख भयउ अपारा।' जब किनारा नहीं मिला, तो अब डूबने लगे। विरह को सागर कहा गया है, इसीसे 'पवनसुत' को 'पोत' कहा। क्योंकि समुद्र में डूबनेवाला नाव के सहारे बच जाता है। पवन के सम्बन्ध से नाव वेग से चलती है, ये पवन के पुत्र हैं, वैसे ही बड़े वेग से आये।

(२) जनु पोत ; यथा—"निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्। सन्तोब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम् ॥" (भाग० ११।२६।३२) अर्थात्—जल में डूबते हुए लोगों के लिये दृढ़ नौका के समान इस भीषण संसार-समुद्र में गोते खानेवालों के लिये ब्रह्मवेत्ता शान्तचित्त सन्तजन ही परम अवलम्बन हैं।

लं० दो० ११९ में कहा था—"धरि बटु रूप अवध पुर जाई॥……तुरत पवनसुत गवनत भयऊ।" वहीं से कथा का प्रसंग लेते हुए यहाँ कहा है—'बिप्र रूप धरि पवनसुत…'। पवन सबके प्राणों के रक्षक हैं ; यथा—"त्वयादत्तोऽयमस्माकमायुषः पवनः पतिः।……" (वाल्मी० ७।३५।५५)। पवनपुत्र भी यहाँ श्रीभरतजी के प्राणों की रक्षा करेंगे।

श्रीजानकीजी को भी इन्होंने इसी तरह बचाया है ; यथा—"बूड़त बिरह जलधि हनुमाना। भयउ तात मो कहँ जल जाना॥" (सुं० दो० १३)।

विप्र-रूप धारण करने के कारण—"धरि बटु रूप……" (लं० दो० ११९); में लिखे गये। विप्र-रूप देखकर श्रीभरतजी को कुछ सहारा मिला कि अनजाना ब्राह्मण है, कुछ कहेगा, इससे नाव-रूप कहे गये। यदि श्रीहनुमान्जी अपने रूप से आते, जिसे श्रीभरतजी पहचानते हैं, तो जहाज के समान होते, बड़ा भरोसा होता। समुद्र से पार करने की गति जहाज में ही है।

(३) 'बैठे देखि'—यह अपूर्ण क्रिया है, अभी दूर से ही देख रहे हैं, आगे की अर्द्धाली में निकट से देखना कहेंगे तब पूर्ण क्रिया देंगे ; यथा—'देखत हनूमान अति……'। 'देखि' कहकर दशा कहने

लगे कि कैसे देखा। तब फिर—'देखत' कहकर आगे की बात कहेंगे। यहाँ 'बैठे देखि' कहा है और आगे—'जासु बिरह सोचहु दिनराती।' कहेंगे। इससे जान पड़ता है कि रातो दिन बैठे ही रहते हैं, क्योंकि यहाँ लेटने-भर की भी जगह नहीं है। 'कुसासन'—जैसे श्रीरामजी कुशासन पर बैठते हैं, जटा-मुकुट धारण किये हुए हैं; वैसे ही ये भी करते हैं।

(४) 'कृस गात'—श्रीरामजी के वियोग से शरीर सूख गया है; यथा—"कृस तन श्रीरघुबीर बियोगा।" (उ० दो० ७); 'राम राम रघुपति जपत'—विरह की दशा में यह स्वाभाविक है; यथा—"रघुकुल कमल बियोग तिहारे।...रसना रटति नाम..." (गी० सुं० १८)। पुनः इससे भी कि नाम-जप शोकसमुद्र को सोखता है और कुसंकट को दूर करता है; यथा—"दंभहू कलि नाम कुंभज सोच सागर सोसु।" (वि० १५६); "जपहिं नाम जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥" (बा० दो० २१)। यहाँ नाम जप से इनके शोक और संकट निवृत्त हुए। तुरत श्रीहनुमान्‌जी आ गये। 'रघुपति'—कहने का भाव यह है कि आप रघुवंश के रक्षक हैं आपके दर्शनों के बिना रघुवंश- मरना ही चाहता है।

विनय ३६ वें पद में श्रीभरतजी का प्रेम पतिव्रता स्त्री के अनन्य प्रेम के समान कहा गया है; यथा—"रामचरणधारात्रती प्रथम रेखा प्रकट, शुद्ध-मति-युवतिवत-प्रेम-पागी।" अतएव पतिव्रता श्रीसीताजी की दशा से इनकी दशा का मिलान कीजिये—

श्रीभरतजी—	श्रीसीताजी (सुं० दो० ७+३०)—
(१) बैठे देखि कुसासन,	बैठेहि बीति जात निसि जामा।
(२) जटा मुकुट कृस गात।	कृस तन सीस जटा एक बेनी।
(३) राम राम रघुपति जपत,	जपति हृदय रघुपति गुन श्रेनी।
(४) स्रवत नयन जल जात।	नयन स्रवहिं जल........।

देखत हनूमान अति हरषेउ। पुलक गात लोचन जल बरषेउ॥१॥
मन महँ बहुत भाँति सुख मानी। बोलेउ श्रवन सुधा-सम बानी॥२॥

अर्थ—(निकट आकर) देखते ही श्रीहनुमान्‌जी अत्यन्त प्रसन्न हुए, उनका शरीर पुलकित हो गया और नेत्रों ने जल की वर्षा की; अर्थात् प्रेमाश्रु बह चले॥१॥ मन में बहुत तरह से सुख मानकर कानों के लिये अमृत के समान वचन बोले॥२॥

विशेष—(१) 'देखत...अति हरषेउ'—पहले 'जटा मुकुट कृस गात' आदि तन की दशा देख कर 'हर्ष' हुआ फिर 'श्रवत नयन जल जात' यह प्रेम की दशा देखकर 'अति हर्ष' हुआ। श्रीभरतजी की प्रेम दशा अत्यंत ऊँची देखकर इन्हें अत्यन्त हर्ष हुआ, क्योंकि ये भी परम भक्त हैं। अतः, इस दशा के महत्त्व के ज्ञाता हैं।

(२) 'पुलक गात लोचन जल बरषेउ।'—श्रीभरतजी की दशा देखकर इनकी भी वही दशा हो गई, श्रीभरतजी के प्रेम का ऐसा प्रभाव ही है; यथा—"जबहि राम कहि लेहिं उसासा। उमँगत प्रेम मनहुँ चहुँपासा॥ द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पखाना। पुरजन प्रेम न जाइ बखाना॥" (अ० दो० २१९)।

श्रीसीताजी की दशा देखकर श्रीहनुमान्‌जी दुखी हुए थे ; यथा—"परम दुखी भा पवन सुत, देखि जानकी दीन।" (सुं० दो० ८), पर यहाँ इन्हें हर्ष हुआ। इस भेद का कारण यह है कि वहाँ वे परतंत्र होकर दुखी थीं। राक्षसियों से घिरी हुई दीन दशा में थीं और ये स्वतंत्र हैं, परन्तु प्रेम में मग्न हैं।

(३) 'बहुत भाँति सुख मानी।'—इन्हें पिता के द्वारा दिया हुआ राज्य धर्म और न्यायपूर्वक प्राप्त था ; यथा—"वेद विदित संमत सबही का। जेहि पितु देइ सो पावइ टीका॥" (अ० दो० १७४); वह राज्य भी ऐसा है कि जिसकी इन्द्र और कुबेर लालसा करते हैं। इन्होंने उसे ग्रहण नहीं किया कि बड़े भाई के रहते हुए मेरा राजा होना अधर्म मूलक होगा। श्रीहनुमान्‌जी ने श्रीरामजी में इनके अत्यन्त प्रेम, भायप, त्याग और धर्म-विचार आदि प्रत्येक गुण के प्रति विचार-विचारकर बहुत प्रकार से सुख माना।

(४) 'बोलेउ श्रवन सुधा सम बानी।'; यथा—"मृतक जियावनि गिरा सुहाई। श्रवन रंध्र होइ उर जब आई॥ हृष्ट-पुष्ट तनु भये सुहाये।···श्रवन सुधा सम बचन सुनि, पुलक प्रफुल्लित गात॥" (बा० दो० १४५)—यही दशा यहाँ श्रीभरतजी की भी हुई। आगे कही गई है।

जासु बिरह सोचहु दिन-राती। रटहु निरंतर गुनगन पाँती॥३॥
रघुकुलतिलक सुजन सुखदाता। आयउ कुसल देव-मुनि-त्राता॥४॥

अर्थ—जिसके विरह में दिन-रात शोच करते हो और जिसके गुण समूह की पंक्ति निरंतर रटते हो॥३॥ वे रघुकुल में शिरोमणि अपने जनों को सुख देनेवाले और देवताओं तथा मुनियों के रक्षक कुशल-पूर्वक आ गये॥४॥

विशेष—(१) 'जासु बिरह सोचहु···'—श्रीहनुमान्‌जी ने देखा है, यथा—"राम बिरह सागर महँ, भरत मगन मन होत।"—वही कहते हैं। वहीं से प्रसंग भी लिया गया। यहाँ 'जासु बिरह सोचहु···' —यह कहना, वहाँ के अनुसार नाव का पास भिड़ना है। 'गुनगन पाँती'; यथा—"राम राम रघुपति जपत।" 'दिनराती' दीपदेहली है, अर्थात् दिन-रात शोचते हो और दिन-रात गुणगण रटते हो। दिन-रात का शोच, यथा—"निसि न नींद नहिं भूख दिन, भरत बिकल सुचि सोच।" (अ० दो० २५२)। 'रटहु'—जपहु नहीं कहकर रटहु कहने का अभिप्राय यह है कि विरह में कुछ नियम नहीं है। शुद्ध उच्चारण नहीं होता। कभी ऊँचे स्वर में और कभी धीमे स्वर में कहते हैं; यथा—"राम राम रटि भोर किय, कहइ न मरम महीस।" (अ० दो० ३८)।

(२) 'रघुकुल तिलक सुजन सुखदाता।'—कुल के धर्म किये, सुर-मुनि की रक्षा की और अपने पूर्वज अनरण्य को पराजित करनेवाले रावण को मारकर कुल की शोभा बढ़ाई, इससे 'रघुकुलतिलक' कहा गया। 'सुजन सुखदाता'—रावण-वध से सुजनों (सज्जनों) को सुख दिया। 'सुजन' में 'स्वजन' का भी भाव है, अर्थात् अपने जनों को सुख देनेवाले, यथा—"ये न मे सोऽनुज शीघ्रं सुखमेति सदागमात्।" (पद्म पु० पा० ३।६), अर्थात् प्रभु ने श्रीहनुमान्‌जी से कहा कि हमारे आगमन का संदेश देकर श्रीभरतजी को शीघ्र सुखी करो। 'आयउ कुसल···'—श्रीरामजी ने कहा था—"भरतहि कुसल हमारि सुनायेहु।" श्रीहनुमान्‌जी ने यहाँ वही कहा—'आयउ कुसल···' कैसे आये ? इसपर आगे कहते हैं—

रिपु रन जीति सुजस सुर गावत। सीता सहित अनुज प्रभु आवत॥५॥
सुनत बचन बिसरे सब दूखा। तृषावंत जिमि पाइ पियूखा॥६॥

अर्थ—शत्रु को रण में जीतकर श्रीसीता-लक्ष्मण सहित प्रभु आते हैं, देवता उनका सुन्दर यश गाते हैं ॥५॥ वचन सुनते ही सब दुःख ऐसे निवृत्त हो गये, जैसे प्यासे को अमृत पाने पर दुःख भूल जाय ॥६॥

विशेष—(१) 'रिपु रन जीति ··', यथा—"जित्वा शत्रुगणान् राम प्राप्य चानुत्तम यश। उपायाति समृद्धार्थ सह मित्रैर्महाबलैः ॥" (वाल्मी॰ ६।१२५।१३), अर्थात् शत्रुओं को जीतकर, उत्तम यश पाकर श्रीरामजी बड़ी सेना और मित्र गणों के साथ, पूर्ण मनोरथ होकर आ रहे हैं।

क्षत्रिय को विजय अत्यन्त प्रिय होती है, इससे पहले यही कहा। पुनः देवता लोग अपनी सत्य वाणी से सुयश गाते हैं, क्योंकि वे बंदीखाने से छूटे। ऊपर 'देव मुनि त्राता' कहा गया है, इससे यहाँ यश गाया जाना भी कहा, यथा—"दससुख निनस तिलोक लोकपति बिकल विनाये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्हके जस अमर नाग नर सुमुखि सनाहैं।" (गी॰ उ॰ १३), 'सीता सहित अनुज ··'—पूर्व माताओं के मनोत्साह कहे गये थे, यथा—"आयउ प्रभु सिय अनुज जुत, कहन चहत अस कोइ।" उसीका यहाँ चरितार्थ है। पहले 'आये कुसल' यह भूत कालिक क्रिया कही कि जिससे विरहातुर श्रीभरतजी को धैर्य हो जाय। अब 'आवत' यह वर्त्तमान कह रहे हैं कि अभी यहाँ आये नहीं, किन्तु आ रहे हैं। पहले सीता हरण सुना था, फिर श्रीलक्ष्मणजी के शक्ति लगना सुना। उसी क्रम से सकुशल आना कहते हुए पहले श्रीसीताजी का और तब श्रीलक्ष्मणजी का नाम कहा है। 'सहित' शब्द श्लेषार्थी है। एक अर्थ 'समेत' का और दूसरा स + हित अर्थात् सखाओं सहित, 'प्रभु' शब्द का भाव यह है कि प्रभुता-सहित आ रहे हैं।

(२) 'सब दूखा'—श्रीरामजी के आने में विलंब का दुःख, सीता-हरण का दुःख, श्रीलक्ष्मणजी के शक्ति लगने का दुःख, शत्रु से युद्ध होने का दुःख और देव-मुनि के बंदि में पड़े होने का दुःख, इत्यादि सभी भूल गये।

'तृषावंत जिमि पाइ पियूषा।'—'जल के प्यासे को अमृत मिल जाना' यह मुहावरा है, अर्थात् अभिलाषा से कहीं अधिक फल मिल जाना, जिससे उसके सुख का ठिकाना नहीं रहता कि कितना सुख हुआ। वैसे ही अत्यन्त सुख इन्हें हुआ। इन्हें श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी के सकुशल लौटने की प्यास १४ वर्षों से थी। इनके आगमन-मात्र से यह प्यास बुझ जाती। परन्तु यहाँ तो विजय, यश और बहुत से मित्रों के सहित बड़ी प्रभुता के साथ प्रभु विमान पर आ रहे हैं, यह अधिकता उसमें अमृत रूपा है।

को तुम्ह तात कहाँ ते आये। मोहिं परम प्रिय बचन सुनाये ॥७॥
मारुतसुत मैं कपि हनुमाना। नाम मोर सुनु कृपानिधाना ॥८॥
दीनबंधु रघुपति कर किंकर। सुनत भरत भेंटेउ उठि सादर ॥९॥

अर्थ—हे तात! तुम कौन हो और कहाँ से आये हो? तुमने मुझे परम प्रिय वचन सुनाये ॥७॥ (श्रीहनुमानजी ने कहा) हे कृपानिधान! सुनिये, मैं पवन का पुत्र हूँ, वानर हूँ और हनुमान् मेरा नाम है ॥८॥ मैं दीन बंधु श्रीरघुनाथजी का सेवक हूँ—यह सुनते ही श्रीभरतजी आदर के साथ उठकर गले लगाकर मिले ॥९॥

विशेष—(१) 'को तुम्ह' का उत्तर—"मारुत-सुत मैं···" और 'कहाँ ते आये' का उत्तर—"दीन बंधु रघुपति कर किंकर" से दिया है कि मैं उनके पास से आता हूँ। 'को तुम्ह' का भाव यह भी है कि आप देवता हैं या मनुष्य हैं, जो हमपर बड़ी दया करने के लिये यहाँ आये हैं ; यथा—"देवो वा मानुषो वा त्वमनुक्रोशादिहागतः। प्रियाख्यानस्य ते सौम्य ददामि ब्रुवतः प्रियम् ॥" (वाल्मी॰ १२५।२१) ; 'परम प्रिय वचन'—इसे ही पहले उपक्रमोपसंहार में अमृत के समान कहा है ; यथा -"बोलेउ श्रवन सुधा सम बानी।" यह उपक्रम है और "तृपावंत जिमि पाइ पियूषा।" यह उपसंहार है। पुनः परम प्यारे के आने का सँदेशा है, इससे भी 'परम प्रिय' कहा है। आगे भी कहते हैं ; यथा—"येहि संदेस सरिस जग माहीं। करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं ॥" श्रीहनुमान्‌जी विप्र-रूप धारण करके आये, परन्तु इनके प्रश्न के साथ-ही-साथ तुरत कपि रूप हो गये। क्योंकि मंगल शकुन के लिये ही विप्र-रूप से आये थे। इसीसे 'मैं कपि' कहा है। 'कृपानिधाना' का भाव यह कि वेषांतर देखकर बुरा न मानियेगा, किंतु कृपा कीजिये। कारण आगे कहा है कि मैं स्वामी का किंकर हूँ, जैसी आज्ञा हुई वैसे रूप से आया।

(२) 'दीनबंधु रघुपति कर किंकर'—'दीनबंधु' का भाव यह कि श्रीसुग्रीवजी, श्रीविभीषणजी एवं सभी वानर दीन थे, उनपर आपने दया की है ; यथा—"तेहि सन नाथ मयत्री कीजे। दीन जानि तेहि अभय करीजे ॥" (कि॰ दो॰ ३) - श्रीसुग्रीवजी, "कृत भूप बिभीषन दीन रहा।" (लं॰ दो॰ १०६)—श्रीविभीषणजी, "दीन जानि कपि किये सनाथा।" (लं॰ दो॰ ११६)—वानरगण, इसीप्रकार दीन जान कर ही मुझे भी अपना किंकर बनाया है।

'सुनत भरत भेंटेउ···'—श्रीहनुमान्‌जी के वचन पूरे होते ही श्रीरामजी के किंकर भाव को अधिक गौरव देते हुए श्रीभरतजी तुरत उठ बराबर मानकर मिले। किष्किंधा कांड में श्रीरामजी ने इनसे विप्र-रूप छोड़कर कपि होने पर हृदय से लगाया था। परन्तु यहाँ तो श्रीहनुमान्‌जी प्रथम ही कपि-रूप हो गये, इससे श्रीभरतजी तुरत मिले।

'कहाँ ते आये' में श्रीभरतजी का यह भी अभिप्राय था कि सुनी हुई बातें कहते हो कि उनके पास से आये हो। पास से आते तो वे कैसे पिछड़ते ? इसका समाधान 'मारुत सुत मैं कपि' से कर दिया है कि मैं वायु-वेग से चलता हूँ और वही कपि हूँ, जो संजीवनी लेकर राम-वाण की तरह गया था।

(३) 'मारुत सुत मैं कपि···'—यह नाम-कथन की रीति है कि पिता के नाम सहित अपना परिचय देते हुए प्रणाम करे. यथा—"पितु समेत कहि-कहि निज नामा। लगे करन सब दंड प्रनामा ॥" (बा॰ दो॰ २६८) ; "कोसलेस दसरथ के जाये। हम पितु बचन मानि वन आये ॥ नाम-राम लछिमन दोउ भाई।" (कि॰ दो॰ १)। यहाँ जैसे ही श्रीहनुमान्‌जी ने उत्तर दिया, वैसे ही तुरत श्रीभरतजी इनसे मिलने लगे।

मिलत प्रेम नहिं हृदय समाता। नयन स्रवत जल पुलकित गाता ॥१०॥
कपि तव दरस सकल दुख बीते। मिले आजु मोहिं राम पिरीते ॥११॥

शब्दार्थ—पिरीते = प्यारे ; यथा—"हा रघुनन्दन प्रान पिरीते।" (अ॰ दो॰ १५४)।

अर्थ—मिलते हुए हृदय में प्रेम नहीं समाता, (मानों उमड़कर प्रेमाश्रु द्वारा यह चला) नेत्रों से जल गिरता है और शरीर पुलकित हो गया है ॥१०॥ (श्रीभरतजी ने कहा) हे कपे ! तुम्हारे दर्शनों से सब दुःख जाते रहे, आज मुझे प्यारे श्रीरामजी मिले ॥११॥

में रहते थे, धर्म-निर्वाह कठिन था। कुसंगति हरि-कृपा से ही छूटती है, इसी से वे कृपा चाहते थे। श्रीहनुमान्‌जी ने ही तीनों को अपने यथार्थ उत्तर द्वारा सान्त्वना दी है।

यहाँ साधु के दर्शन, स्पर्श और समागम तीनों कहे गये—दर्शन; यथा—'कपि तव दरस सकल दुख बीते।' स्पर्श—'मिलत प्रेम नहिं हृदय समाता।' समागम—'कहे सकल रघुपति-गुन-गाथा।'—ये तीनों राम-कृपा से ही प्राप्त होते हैं; यथा – "जब द्रवै दीन दयाल राघव साधु संगति पाइये। जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइये॥" (वि० ११६)।

छंद—निज दास ज्यों रघुबंस-भूषन कबहुँ मम सुमिरन करयो।
सुनि भरत-बचन बिनीत अति कपि पुलकि तन चरनन्हि परयो॥
रघुबीर निज मुख जासु गुनगन कहत अगजग नाथ जो।
काहे न होइ बिनीत परम पुनीत सदगुन-सिंधु सो॥

अर्थ—रघुवंश के भूषण-रूप श्रीरामजी ने कभी अपने (खास) सेवक की तरह मेरा स्मरण किया है? श्रीभरतजी के ये अत्यन्त विनम्र वचन सुनकर श्रीहनुमान्‌जी पुलकित शरीर से उनके चरणों पर गिर पड़े॥ (मन में कहते हैं कि) जो चराचर जगत् के नाथ हैं वे श्रीरघुनाथजी अपने मुख से जिनके गुण-गण वर्णन करते हैं वे श्रीभरतजी (ऐसे) विनम्र, परम पवित्र और सद्गुणों के समुद्र क्यों न हों? (होना योग्य ही है)॥

विशेष—(१) 'निज दास ज्यों···'—अनन्य दास श्रीरामजी को बड़े प्रिय हैं'; यथा—"तिन्हते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥" (उ० दो० ८५). अतः, निज दास का अर्थ अनन्य दास—प्रिय दास है। इसके उत्तर में यही बात श्रीहनुमान्‌जी आगे कहेंगे—"राम प्रान प्रिय नाथ तुम्ह।"

'रघुबंस-भूषन'—जैसे भूषण से तन की शोभा होती है, वैसे श्रीरामजी से कुल-भर की शोभा है कि इस कुल में ऐसे-ऐसे प्रणतपाल हैं। यहाँ आश्रितों के पालन का प्रसंग है।

'मम सुमिरन करयो'—ऊपर कहा गया था; यथा—"सुमिरहिं मोहिं दास की नाईं।" उसे ही सिंहावलोकन रीति से फिर कहा है, यह इस ग्रन्थ में प्रायः सर्वत्र देखा जाता है। 'सुमिरहिं' शब्द का वर्त्तमान रूप भी बराबर से स्मरण होते आने के अर्थ में है। अतएव यहाँ के 'सुमिरन करयो' इस भूतकालिक क्रिया से विरोध नहीं है।

(२) 'सुनि भरत-बचन बिनीत अति···'—भाव यह है कि इतने बड़े होने पर भी ये अपनेको स्मरण योग्य भी नहीं मानते, यह निरभिमानता की परम सीमा है। यह समझकर श्रीहनुमान्‌जी पुलकित [illegible]ों पर गिर पड़े, साथ ही इस त्रुटि की भी क्षमा चाहते हैं कि यह बात इन्होंने पहले ही क्यों [illegible] थी कि आपको प्रभु परम प्रिय मानकर बराबर स्मरण करते हैं। श्रीहनुमान्‌जी ने सोचा कि [illegible]जी तो इन्हें अहर्निशि स्मरण करते हैं, परन्तु मैंने यह बात नहीं कही थी। इसपर ये सूख गये, [illegible] हृदय अत्यन्त कोमल है। इसपर इनकी भक्ति का महत्व मानकर भी प्रणाम किया।

(३) 'रघुबीर निज मुख '—रघुवीर ईश्वर हैं। अतः, सत्य ही बोलते हैं, यथा—"मृषा न कहउँ मोर यह बाना।" (उ० दो० १५); तथा—"मुधा बचन नहिं ईस्वर कहई।" (उ० दो० ६३)। अतः, वे बड़ाई करते हैं, तो यथार्थ ही कहते हैं। 'अग जग नाथ जो'—इतने बड़े भी जिनकी बड़ाई करते हैं और चराचर में इनके तुल्य और किसी को नहीं मानते; यथा—"सुनहुँ लखन भल भरत सरीसा। बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा॥" (अ० दो० २३०); तथा—"तीनि काल तिभुवन मत मोरे। पुन्यसिलोक तात तर तोरे॥" (अ० दो० २६२)।

(४) 'काहे न होइ बिनीत'···'—भाव यह है कि श्रीरामजी ईश्वर एवं सर्वज्ञ हैं, वे प्रशंसा के पात्र समझ कर ही प्रशंसा करते हैं और उसपर कृपा भी करते हैं। इनके अत्यंत नम्रता के वचन सुने, इससे 'बिनीत' प्रथम कहा है। 'परम पुनीत'; यथा—"परम पुनीत भरत आचरनू।" (अ० दो० ३२५); 'सदगुन सिंधु'; यथा—"तीर ते उतरि जस कह्यो चहे, गुन गननि जयो है·····यह जलनिधि खन्यो, मथ्यो, लँघ्यो, बाँध्यो, अँचयो है। तुलसिदास रघुबीर बंधु महिमा को सिंधु तरि को कवि पार गयो है॥" (गी० लं० ११); 'बिनीत' कहकर 'सदगुन सिंधु' कहने का भाव यह है कि बड़ों की बड़ाई नम्रता से ही होती है; यथा—"सन्नतिर्हि तवाख्याति भविष्यच्छुभयोग्यताम् ॥" (वाल्मी० ४।६४।१०)—अर्थात् अत्यंत नम्रता ही भावी शुभ योग्यता को सूचित करती है।

दोहा—राम प्रानप्रिय नाथ तुम्ह, सत्य बचन मम तात।
पुनि पुनि मिलत भरत सुनि, हरष न हृदय समात।

सोरठा—भरत-चरन सिर नाइ, तुरित गयउ कपि राम पहिं।
कही कुसल सब जाइ, हरषि चलेउ प्रभु जान चढ़ि ॥२॥

अर्थ—हे नाथ ! आप श्रीरामजी को प्राणों के समान प्रिय हैं, हे तात ! मेरा वचन सत्य है, यह सुनकर श्रीभरतजी बार-बार मिलते हैं, उनके हृदय में हर्ष नहीं समाता॥ श्रीभरतजी के चरणों में शिर नवाकर श्रीहनुमान्‌जी तुरत श्रीरामजी के पास गये और उन्होंने सारी कुशल जाकर कही, तब प्रभु प्रसन्न होकर पुष्पक विमान पर चढ़कर चले॥२॥

विशेष—(१) 'राम प्रान प्रिय नाथ तुम्ह'—यह इन्होंने सुना है और देखा है; यथा—"भरत-दसा सुमिरत मोहिं, निमिष कल्प सम जात।···सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु, पुनि पुनि पुलक सरीर॥" (लं० दो० ११५)। वही कह रहे हैं, इसीसे सफाई देते हैं; यथा—'सत्य बचन मम तात' कि जिससे श्रीभरतजी यह नहीं समझें कि मुझे प्रसन्न करने के लिये ये ठकुर-सुहाती कहते हैं। 'प्रानप्रिय'—भाव यह कि आपके बिना वे विकल हैं, आपसे मिलने के लिये आतुर हैं।

(२) 'पुनि पुनि मिलत भरत'—अत्यंत कृतज्ञता से एवं अत्यंत प्रेम के कारण बार-बार मिलते हैं। अपने ऊपर प्रभु की अनुकूलता सुनकर उन्हें अत्यंत हर्ष हुआ, जो हृदय में नहीं समाता। बार बार मिलने में सुख होता है।

(३) 'तुरित गयउ कपि···'—शीघ्र गये कि श्रीरामजी को लाकर शीघ्र मिला दें।···इधर

श्रीभरतजी श्रीरामजी से मिलने के लिये आतुर हैं और उधर श्रीरामजी श्रीभरतजी से मिलने के लिये आतुर हैं। इसीसे उधर से आते समय कहा गया, यथा—"तुरत पवन सुत गवनत भयऊ।" (लं० दो० १२१)। और इधर से जाते समय भी कहते हैं—'तुरित गयउ कपि राम पहिं।'

(४) 'हरषि चलेउ प्रभु'--(क) श्रीभरतजी की एवं सबकी कुशल सुनकर हर्ष हुआ। पहले सदेह था कि १४ वर्षों मे कितने जीवित होंगे और कितने नहीं। (ख) यात्रा मे हर्ष का होना शुभ सूचक है, हर्षित होकर चले। अतः, आगे शुभ होगा।

हरषि भरत कोसलपुर आये। समाचार सब गुरहिं सुनाये ॥१॥
पुनि मंदिर महँ बात जनाई। आवत नगर कुसल रघुराई ॥२॥
सुनत सकल जननी उठि धाईं। कहि प्रभु कुसल भरत समुझाईं ॥३॥

अर्थ—प्रसन्न होकर श्रीभरतजी कोशलपुर (श्रीअयोध्याजी) आये और (उन्होंने) गुरुजी को सब समाचार सुनाया ॥१॥ फिर राज-मदिर में बात जनाई कि श्रीरघुनाथजी कुशलपूर्वक श्रीअयोध्याजी आ रहे हैं ॥२॥ यह बात सुनते ही सब माताएँ उठ दौड़ीं, तब प्रभु के कुशल-समाचार कहकर श्रीभरतजी ने उन सबको समझाया ॥३॥

विशेष—(१) 'हरषि भरत'...'—पहले दुःख सहित आते थे, आज हर्षपूर्वक आये कि मेरे ही निमित्त सबको महा विपत्ति पड़ी थी, मैं ही चलकर सबके दुःख हरण करके सुख दूँ। नंदिग्राम से श्रीअयोध्याजी आये। उधर से श्रीरामजी हर्षित होकर चले और इधर श्रीभरतजी भी हर्ष सहित आये। 'कोसलपुर'—क्योंकि आज पुरी मे चारों ओर कुशल के चिह्न पाये जाते हैं, यथा—"मन प्रसन्न सब फेर" और "नगर रम्य चहुँ फेर" ऊपर कहे गये हैं।

'गुरुहि सुनाये'—गुरुजी यहाँ प्रधान हैं, वे ही श्रीरामजी का तिलक करेंगे। इसीसे पहले उन्हीं को यह आनन्द-समाचार सुनाया। वहाँ से सर्वत्र समाचार पहुँच जायगा। समाचार यह है कि मैं विरह में निमग्न था कि श्रीहनुमान्‌जी विप्र रूप से आ गये। उन्होंने रावण का सपरिवार-वध होना कहा और यह भी कहा कि प्रभु श्रीसीताजी, श्रीलक्ष्मणजी और बहुत-से सखाओं के साथ दिव्य विमान पर आ रहे हैं। शृङ्गवेरपुर तक आ गये होंगे, प्रातःकाल नियत अवधि पर यहाँ आकर प्राप्त होंगे।

(२) 'पुनि मंदिर महँ बात जनाई।'—गुरुजी के यहाँ से श्रीभरतजी माताओं से समाचार कहने के लिये कौशल्याजी के प्रधान मदिर में अथवा किसी प्रधान नियत जगह पर विराजमान हुए और सेवकों के द्वारा सब माताओं को सँदेशा पहुँचाया कि श्रीरामजी कुशल पूर्वक श्रीअवध को आ रहे हैं। वे सब आतुर होकर उठ दौड़ीं। क्योंकि सभी को श्रीरामजी प्राणप्रिय हैं। अतः, उनके आगमन के समाचार वे विस्तार से सुनना चाहती हैं।

(३) 'कहि प्रभु कुसल भरत समुझाई।'—'प्रभु कुसल' का भाव यह कि प्रभुता सहित कुसल-पूर्वक आ रहे हैं, यथा—"रिपु रन जीति सुजस सुर गावत। सीता सहित अनुज प्रभु आवत।" यह इन्होंने श्रीहनुमान्‌जी के द्वारा सुना था, वही माताओं को भी सुनाते हैं, जैसे गुरुजी के सुनाने में कहा गया। 'समुझाई' मे यह भी भाव है कि श्रीभरतजी ने कहा कि प्रभु विमान पर आ रहे हैं। आप लोग अभी मगल सजें, भीड़ में आगे नहीं मिलें। श्रीअवधवासियों के पीछे आप लोगों का प्रभु से मिलना अच्छा होगा। वैसे ही माताओं ने आगे किया भी है।

समाचार पुरबासिन्ह पाये। नर अरु नारि हरषि सब धाये ॥४॥
दधि दुर्बा रोचन फल फूला। नव तुलसीदल मंगल-मूला ॥५॥
भरि भरि हेम-थार भामिनी। गावत चलीं सिंधुर-गामिनी ॥६॥

अर्थ—पुरवासियों ने समाचार पाये, तब स्त्री-पुरुष सभी प्रसन्न होकर दौड़े ॥४॥ दही, दूब, गोरोचन या रोरी, फल (मांगलिक नारियल, सुपारी आदि), फूल और मंगल के मूल नवीन तुलसीदल आदि सब मंगल मूलक वस्तुएँ ॥५॥ स्वर्ण के थालों में भर-भरकर (सौभाग्यवती) हथिनी-सी चाल चलनेवाली स्त्रियाँ लेकर गाती हुई चलीं ॥६॥

विशेष—(१) 'नर अरु नारि'—पुरुष द्वार पर रहनेवाले हैं, इसलिये इन्होंने ही पहले यह संदेशा सुना और स्त्रियाँ घर के भीतर थीं, इससे उन्हें पीछे मालूम हुआ। वैसे दौड़ने में भी नर आगे हैं; पर स्त्रियों का कृत्य पहले कहते हैं—

(२) 'दधि दुर्बा रोचन···'—इनमें 'मंगल-मूला' पद अंत में है, इससे इन द्रव्यों के अतिरिक्त और भी मंगल द्रव्य सूचित किया; यथा—"हरद दूब दधि पल्लव फूला। पान पूगफल मंगल मूला॥ अच्छत अंकुर रोचन लाजा। मंजुल मंजरि तुलसि बिराजा॥" (बा० दो० ३४५)।

(३) 'भरि भरि हेम-थार भामिनी'—शकुन का थाल भरा हुआ चाहिये, खाली रहने से पूर्ण शकुन नहीं होता। उस समय श्रीअयोध्या में सब दिव्य विभूतियों का प्रादुर्भाव था, इससे सबके यहाँ सुवर्ण के थाल थे। 'गावत चलीं'—हाथ में मंगल थाल लिये गाती हुई राज-मंदिर को चलीं कि स्वागत में पहले माङ्गलिक पदार्थों के ही दर्शन हों, तो श्रीरामजी को शुभ हो। 'सिंधुर गामिनी'—पहले समाचार निश्चय करने के लिये धावना (दौड़ना) कहा गया था, जब निश्चय हो गया तब मंगल साज सजकर हाथी की-सी चाल से गाती हुई धीरे-धीरे चलीं।

'भामिनी' शब्द का अर्थ 'दीप्तिवाली' है, अर्थात् सहज शृङ्गार से ही चलीं पर वे स्वाभाविक ही सुन्दरी हैं। यहाँ तक स्त्रियों का हाल कहा, आगे पुरुषों का कहते हैं—

इस अर्द्धाली के उत्तरार्द्ध में 'सिंधुर-गामिनी' में विंदु को अर्द्धचंद्र के रूप में पढ़ने से दोनों चरण १५-१५ मात्राओं के हो जायँगे।

जे जैसेहिं तैसेहिं उठि धावहिं। बाल-वृद्ध कहँ संग न लावहिं ॥७॥
एक एकन्ह कहँ बूझहिं भाई। तुम्ह देखे दयाल रघुराई ॥८॥

अर्थ—जो जैसे हैं (जिस कार्य में लगे हैं) वे वैसे ही (उस कार्य को छोड़कर) उठ दौड़ते हैं, बालकों और बूढ़ों को साथ नहीं लाते ॥७॥ एक दूसरे से पूछते हैं, (कहो) भाई! तुमने दयालु श्रीरघुनाथजी को देखा है? ॥८॥

विशेष—(१) 'जे जैसेहिं तैसेहिं···'; यथा—"धाये धाम काम सब त्यागी। मनहुँ रंक निधि लूटन लागी॥" (बा० दो० २११), बाल-वृद्ध को साथ में लेने से पिछड़ जायँगे; अतः, उन्हें साथ नहीं लेते। बालकों के त्यागने में स्वार्थ का त्याग है और वृद्धों के त्यागने में धर्म एवं परमार्थ का त्याग है। इन्होंने श्रीराम-प्रेम में स्वार्थ-परमार्थ दोनों छोड़ दिये।

शंका—श्रीअवधवासियों ने तो १४ वर्षों के लिये भोगों का त्याग किया है, यथा—"राम दरस लगि लोग सब, करत नेम उपवास। तजि तजि भूषन भोग सुख, जियत अवधि की आस ॥" (अ० दो० ३१२), तब इनके सतानें तो नहीं हुई होंगी, फिर बालक आये कहाँ से ?

समाधान—(क) पुरवासी सुख की इच्छा से भोग नहीं करते थे, किन्तु धर्म-रक्षा के निमित्त उसका त्याग नहीं था। यथा—"ऋतुस्नाता सतीं भार्यामृतुकालानुरोधिनीम् अतिवर्तेत दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गत ॥" (वाल्मी० २।७५।५१), यह श्रीभरतजी ने शपथ में कहा है। यदि शास्त्र की यह आज्ञा मान्य न रक्खी जाती तो कुल क्षय का दोष होता। (ख) जो श्रीअवध की कन्याएँ हैं, किंतु अन्यत्र ब्याही हुई हैं, वे जानती हैं कि श्रीरामजी के आगमन के अवसर पर महान् उत्सव होगा। अत, वे सब आई हुई हैं, ये बालक उन्हींके रहे होंगे। (ग) राम वियोग मे वन-यात्रा के समय जो बाल-वृद्ध थे, सब जैसे के तैसे रह गये, बढ़े नहीं।

(२) 'एक एकन्ह कहँ बूझहिं '—श्रीभरतजी से श्रीहनुमान्‌जी ने कहा। उन्होंने गुरुजी से और माताओं से कहा। अत, इन सबको सच्ची खबर मिली, शेष लोगों ने यह खबर एक-दूसरे से सुनी, इससे दो एक जगह पूछ-ताछ करके प्रतीति दृढ करते हैं। 'दयालु रघुराई'—सभी रघुवशी प्रजा पर दया करते आये हैं। ये तो उन सबसे श्रेष्ठ हैं, इसीसे हम सबों पर दया करके दर्शन देकर हमें जीवन-दान देने के लिये आते हैं।

यहाँ तक श्रीअवधवासियों (चेतनों) का हाल (मंगल आदि सजना) कहा गया। आगे श्रीअवध (के जड़ पदार्थों) का आनन्दोत्साह से रम्य हो जाना कहते हैं—

अवधपुरी प्रभु आवत जानी। भई सकल सोभा कै खानी ॥९॥
बहइ सुहावन त्रिबिध समीरा। भइ सरजू अति निर्मल नीरा ॥१०॥

अर्थ—प्रभु का आगमन जान श्रीअवधपुरी समस्त शोभा की खान हो गई ॥९॥ तीनों प्रकार की (शीतल, मंद, सुगंधित) सुहावनी हवा चलने लगी, श्रीसरयूजी अत्यन्त निर्मल जलवाली हो गईं ॥१०॥

विशेष—(१) 'अवधपुरी प्रभु '—श्रीअवधपुरी सच्चिदानंद विग्रह है, इससे 'जानी' कहा गया है। अपने प्रभु के वियोग मे यह अशोभित हो गई थी, उन्हींके सयोग की सभावना से अब शोभा की खान हो गई, यथा—"लागति अवधि भयावनि भारी।" (अ० दो० ८३), यह वियोग में और 'नगर रम्य चहुँ फेर' यह अभी ऊपर सयोग सभावना में कहा गया है। 'सोभा कै खानी' से सूचित किया कि वियोग के दिनों में शोभा को इसने छिपा रक्खा था। अब अपने में से प्रकट कर दिया।

(२) 'भइ सरजू अति निर्मल नीरा।'—पहले श्रीसरयूजी का जल भी मलिन हो गया था, यथा—"सरित सरोवर देखि न जाहीं।" (अ० दो० ८३), अब निर्मल हो गया। श्रीअवधपुरी स्थल है, वह शोभा खान हुई, सरयूजी जल हैं, वे निर्मल हुईं, और आकाश में सुहावन त्रिविध वायु चल रही है, इससे नभ की शोभा हुई। इस तरह जल, थल और नभ इन तीनों की शोभाएँ कही गईं। 'सुहावन' का भाव यह कि पहले विरह में त्रिविध वायु नहीं सुहाता था, परन्तु आज सयोग-सबध से प्रिय लग रहा है।

दोहा—हरषित गुरु परिजन अनुज, भूसुर - बृंद - समेत।
चले भरत मन प्रेम अति, सन्मुख कृपानिकेत ॥

बहुतक चढ़ी अटारिन्ह, निरखहिं गगन बिमान।
देखि मधुर सुर हरषित, करहिं सुमंगल गान॥
राका ससि रघुपति पुर, सिंधु देखि हरषान।
बढ्यो कोलाहल करत जनु, नारि तरंग - समान॥३॥

अर्थ--गुरु श्रीवसिष्ठजी, कुटुम्बी, भाई शत्रुघ्न और ब्राह्मण वृन्द सभी हर्षित हैं, इन सबके सहित श्रीभरतजी मन में अत्यन्त हर्षित होकर अत्यन्त प्रेम-सहित कृपा के स्थान श्रीरामजी के सम्मुख (स्वागत के लिये) चले॥ (बहुत स्त्रियाँ तो नीचे हैं और) बहुत-सी अटारियों पर चढ़ी हुई आकाश में विमान को देखती हैं। देखकर प्रसन्न हो मीठे स्वर से सुन्दर मंगल-गीत गा रही हैं॥ श्रीरघुनाथजी पूर्णिमा के चन्द्रमा हैं श्रीअवधपुर समुद्र-रूप है। वह (पुर सिंधु--राकाससि रघुपति को) देखकर हर्षित हुआ। मानों वह कोलाहल करता हुआ बढ़ रहा है, स्त्रियाँ उसकी तरंगों के समान हैं॥३॥

विशेष--(१) 'प्रेम अति'--सभी के मन में प्रेम है और श्रीभरतजी के मन में तो अत्यन्त प्रेम है, इसी तरह सब हर्षित हैं, श्रीभरतजी अत्यन्त हर्षित हैं। 'सन्मुख'--कोई पूर्व दिशा में मिलाप कहते हैं और कोई दक्षिण में, यहाँ सम्मुख कहकर श्रीगोस्वामीजी ने सबके मत की रक्षा की। परन्तु आगे के रूपक के अनुरोध से पूर्व दिशा को सूचित किया है, क्योंकि पूर्ण शशि का उदय पूर्व से ही होता है। 'कृपा निकेत'--सब यही मानते हैं कि श्रीरामजी हम सबपर कृपा करने को ही आ रहे हैं।

आगे गुरुजी कहे गये हैं और अंत में भूसुर-वृन्द, क्योंकि ये मंगल करनेवाले हैं और सभी साथ में हैं, ऐसा ही बड़ों के प्रति अगवानी करने की रीति भी है; यथा--"संग सचिव सुचि भूरि भट, भूसुर वर गुरु ज्ञाति। चले मिलन मुनिनायकहिं, मुदित राउ येहि भाँति॥" (बा० दो० २१४)।

(२) 'बहुतक चढ़ी अटारिन्ह···'--ये परदे में रहनेवाली स्त्रियाँ हैं। 'निरखहिं'--विमान अभी दूर है, ये ऊपर अटारी पर से देखती हैं, इससे पहले इन्हीं को देख पड़ा; अतः, मधुर स्वर में गान करने लगीं, मधुर स्वर में गाना भी मंगल है।

(३) 'राका ससि रघुपति···'--यहाँ पूर्ण चन्द्रमा के उदय का सांग रूपक है, वह इस प्रकार है--

उपमान (राकाशशि)	उपमेय (रघुपति)
१--पूर्ण चन्द्र का चौदह तिथियों के बाद पन्द्रहवीं तिथि पर उदय होता है।	श्रीरामजी १४ वर्षों के बाद १५ वें वर्ष में आये
२--उसका आकाश में उदय होता है।	ये भी आकाश ही में विमान पर हैं।
३--वह तारा गणों के साथ।	ये सखाओं के साथ।
४--वह रोहिणी और बुध के साथ।	ये श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ।
५--वह कलापूर्ण।	ये शोभा पूर्ण।
६--वह ताप हरण करता है।	ये भी विरहताप हरते हैं।

७—उसे देखकर सिंधु बढ़ता है।	इन्हें भी देख पुर हर्षित हो रहा है।
८—समुद्र ऊँचा होकर तरंगें लेता है।	पुर में *स्त्रियाँ अटारियों पर तरङ्ग-सी फिरती हैं।*
९— तरंगों का कोलाहल शब्द।	स्त्रियों के गान का शब्द।
१०—तरंगें प्रकट होती हैं और फिर विलीन हो जाती हैं।	स्त्रियाँ प्रकट होती हैं, फिर लज्जा से छिप जाती हैं।
११—यह समुद्र से प्रकट हुआ।	ये अवधपुर सिंधु में प्रकट हुए।
१२—उसकी शोभा देखकर समुद्र हर्षित होता है।	इनकी शोभा देखकर पुर हर्षित हुआ।
१३—पूर्णचन्द्र का पूर्व से उदय होता है।	इस उपमा के अनुरोध से श्रीरामचन्द्र का आगमन श्रीअवध के पूर्व दिशा से हुआ।

यहाँ पूर्णोपमा है और उपमा-उपमेय में लिंग-साम्य भी है। जैसे कि चन्द्र और श्रीरघुनाथजी एवं पुर और सिंधु पुँल्लिंग हैं। नारि और तरंग स्त्रीलिंग हैं।

वनवास के पहले भी ऐसा रूपक दिया गया है; यथा—"रिधि सिधि संपति नदी सुहाई। उमँगि अवध अंबुधि कहँ आई॥'''सब बिधि सब पुर लोग सुखारी। रामचंद्र मुखचंद निहारी॥" (अ० दो० १); बीच में वनवास-रूपी अमावस्या से सन्नाटा था, अब कोलाहल हुआ।

इहाँ भानुकुल - कमल - दिवाकर। कपिन्ह देखावत नगर मनोहर॥१॥
सुनु कपीस अंगद लंकेसा। पावन पुरी रुचिर यह देसा॥२॥

अर्थ—यहाँ सूर्यवंश रूपी कमल को प्रफुल्लित करने के लिये सूर्य रूप श्रीरघुनाथजी वानरों को सुंदर नगर दिखाते हैं॥१॥ हे श्रीसुग्रीवजी, श्रीअंगदजी और श्रीविभीषणजी! सुनिये, यह पुरी पवित्र है (स्वयं पवित्र है औरों को भी पवित्र करनेवाली है) और यह देश (जिसमें यह पुरी है) सुंदर है॥२॥

विशेष—(१) 'इहाँ' शब्द से श्रीगोस्वामीजी ने अपनी स्थिति श्रीरामजी के साथ कही। पहले श्रीभरतजी के साथ भी कही थी; यथा—"गयउ कपि राम पहिं"; "हरपि भरत कोसलपुर आये।" इस तरह दोनों ओर बराबर भाव है।

'भानुकुल-कमल-दिवाकर'—श्रीरघुनाथजी आकाशमार्ग से विमान में आ रहे हैं। इसलिये वैसी ही उपमा भी आकाशगामी चन्द्रमा और सूर्य की दी। जैसे चन्द्रमा रात में और सूर्य दिन में जगत् का पालन-पोषण करते हैं, वैसे श्रीरामजी निरंतर सुख देनेवाले हैं, इसलिये इन्हें दोनों उपमाएँ दी गईं।

अभी तक यहाँ १४ वर्ष राम-रूपी सूर्य नहीं रहे, तबतक भानुकुल रूपी कमल संपुटित रहा; यथा—"राम दरस हित नेम ब्रत, लगे करन नरनारि। मनहुँ कोक कोकी कमल दीन बिहीन तमारि॥" (अ० दो० ८६); इनमें 'कोक कोकी' का दृष्टान्त तो—"चक्क चक्कि जिमि पुर नरनारी। चहत प्रात उर आरति भारी॥" (अ० दो० १८६); में चरितार्थ किया गया। शेष 'कमल' को यहाँ कहा है। 'नगर मनोहर'—राम-रूपी सूर्य के बिना नगर अंधकारमय था, अब सुशोभित होने से मनोहर है—दो० २ चौ० ९ देखिये।

नगर की मनोहरता देखकर मुनियों के वैराग्य भूल जाते हैं; यथा—"नारदादि सनकादि मुनीसा। ''''''देखि नगर बिराग बिसरावहिं॥" (दो० २६)। 'कपिन्ह देखावत'—वानर लोग श्रीरामजी का

नाम जपते हैं, रूप के दर्शन करते हैं और लीला में सम्मिलित हैं, रहा धाम, उसका परिचय श्रीमुख से श्रीरामजी दे रहे हैं। पुरी का प्रभाव श्रीरामजी की कृपा से ही मनुष्य जानते हैं; यथा—"अवध प्रभाव जान तब प्रानी। जब उर बसहिं राम धनुपानी॥" (दो॰ ९६)

(२) 'सुनु कपीस अंगद लंकेसा।'—श्रीसुग्रीवजी प्रथम के सखा हैं, इससे उनका नाम पहले ही दिया गया और साथ ही उनके युवराज को भी रक्खा। श्रीविभीषणजी पीछे के सखा हैं, इससे ये पीछे कहे गये। पहले 'कपिन्ह देखावत' कहा गया और फिर यहाँ श्रीसुग्रीव आदि के नाम कहे गये, भाव यह है कि इनके साथ वानरों को दिखाते और महत्व समझाते हैं।

(३) 'पावन पुरी रुचिर यह देसा।'—'पावन पुरी'; यथा—"देखत पुरी अखिल अघ भागा।" (दो॰ २८); 'पुरी' तीर्थवाचक शब्द है, इससे इसकी पावनता कही गई। ऊपर नगर कहकर सुंदरता की प्रशंसा की है। 'रुचिर यह देसा'—काशी से मथुरा तक और उधर हिमालय और विंध्याचल के बीच का यह देश बड़ा सुन्दर है। इसके बीच में पहाड़ नहीं हैं और भूमि समतल है। यह सब तरह के अन्न, फल, रस आदि की खान है। सरयू, गंगा, यमुना, सरस्वती आदि पवित्र नदियाँ इसी देश में हैं, अतएव ऐसा सुन्दर देश अन्यत्र नहीं है। अथवा 'यह देसा' से पूर्ण आर्यावर्त का भी अर्थ हो सकता है; यथा—"आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्राच्च पश्चिमात्। तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः॥" (मनुस्मृति); अर्थात् विंध्याचल और हिमालय एवं बंगाल की खाड़ी और अरब सागर के मध्य का देश आर्यावर्त है।

कोई तीर्थ यदि अच्छे होते हैं, तो वहाँ देश अच्छे नहीं होते; यथा—"मगह गयादिक तीरथ जैसे।" (अ॰ दो॰ ४२); परन्तु यहाँ दोनों उत्तम हैं और यह नगर चक्रवर्त्ति-राजधानी होने से अत्यंत सुंदर है, अतएव यह अवध, ब्रह्मांड भर में सर्वोपरि है। इसी से तो यह भगवान् का शिरोभाग कहा गया है; यथा—'अयोध्यापुरी मस्तके'।

जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद पुरान बिदित जग जाना॥३॥
अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ। यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ॥४॥

अर्थ—यद्यपि सब किसी ने वैकुंठ का वर्णन किया है, वेद-पुराणों में प्रसिद्ध है और जगत् जानता है॥३॥ पर श्रीअवधपुरी के समान मुझे वह भी प्रिय नहीं है, यह विषय कोई-कोई ही जानते हैं॥४॥

विशेष—(१) 'जद्यपि सब बैकुंठ बखाना।...'—'सब'—सुर-मुनि आदि, वैकुंठ को श्रेष्ठ कहकर उसे सराहते हैं और वेद-पुराणों में भी प्रसिद्ध है और सारा जगत् जानता है। क्योंकि लोकों के पालन करने की शक्ति भगवान् श्रीरामजी के विष्णु रूप में हैं, वैकुंठ उनका निवास है, इससे उसे सब कोई जानते हैं, राज-दरबार सबके लिये प्रसिद्ध होता ही है। परन्तु राजा को वह स्थान विशेष प्रिय नहीं होता, क्योंकि वह उसके परिश्रम का स्थान है। प्रयोजन पड़ने पर राजा राज-दरबार में आता है, सब काम दीवान आदि सदा करते रहते हैं। परन्तु जो मंदिर राजा का खास निवास-स्थान है, वह उसके विश्राम एवं आमोद-प्रमोद का स्थान है। वह उसे विशेष प्रिय होता है, उसे राजा के समीपी ही जानते हैं। इसी तरह अयोध्या (साकेत) आपका नित्य-विहार स्थान है। इसे भी श्रीरामजी के समीपी (उपासक) ही जानते हैं; यथा—"अवध-प्रभाव जान तब प्रानी। जब उर बसहि राम धनुपानी॥" (दो॰ ९६)।

(२) 'यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ।'—भाव यह कि परम गोप्य रहस्य है, सबकी समझ में नहीं आता। जिसपर श्रीरामजी की बड़ी कृपा होती है, वही इस के गुह्य रहस्य को समझ पाता है कि इस पुरी

से बढ़कर और पुरी नहीं है ; यथा—"पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते।" से "पुरं हिरण्ययीं ब्रह्माविवेशापराजिताम् ॥" (अथर्ववेद सं० १०।।१८–३३) ; इन साढ़े पाँच मंत्रों में विशद रूप से श्रीअयोध्यापुरी का अत्यंत स्पष्ट वर्णन है। इसमें बार-बार अयोध्या नाम आये हैं और अंत में 'अपराजिता' कहा गया है, जो श्रीअयोध्या का ही नाम है, इसका अर्थ यह भी है कि यह सर्व पुरियों में श्रेष्ठ है, इसकी तुलना कोई पुरी नहीं कर सकती है। (बा० दो० ३४ मे ये मंत्र पूरे दिये गये हैं वहाँ अवध वर्णन प्रसंग मे देखिये।)

जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिसि बह सरजू पावनि ॥५॥
जा मज्जन ते बिनहिं प्रयासा। मम समीप नर पावहिं बासा ॥६॥

अर्थ—यह सुहावनी पुरी मेरी जन्मभूमि है, इसकी उत्तर दिशा मे पवित्र एवं पवित्र करने वाली श्रीसरयूजी बहती है ॥५॥ जिसमे स्नान करने से विना परिश्रम ही मनुष्य मेरे समीप निवास पाते हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'जन्मभूमि मम पुरी···'—ऊपर पर-विभूति श्रीअयोध्या का वर्णन करके अब लीला विभूति श्रीअयोध्याजी को कहते हैं। आगे 'मम धामदा' कहकर स्पष्ट करेंगे दोनों श्रीअयोध्याजी में अभेद है, महत्व मे अंतर नहीं है, जो रचना आदि अंग यहाँ की श्रीअयोध्याजी में है, वे ही सब वहाँ भी हैं। इससे वर्णन मे स्पष्ट भेद नहीं किया गया है।

अब माधुर्य-दृष्टि से भी प्रियत्व का हेतु कहते हैं कि एक तो यह मेरी जन्मभूमि है, जन्मभूमि सबको प्रिय होती ही है। यह मेरी पुरी है, मेरे नाम से ख्यात है ; यथा—"जद्यपि अवध सदैव सुहावनि। रामपुरी मंगल मय पावनि।" (बा० दो० ११५) ; "जेहि विधि राम नगर निज आये।" (दो० ६०) इत्यादि। दूसरा, यह कि लोकोत्तर सुहावनी भी है; यथा—"पुर सोभा संपति कल्याना। निगम सेष सारदा बखाना॥ तेउ यह चरित देखि ठगि रहहीं। उमा तासु गुन नर किमि कहहीं॥" (दो० ८) ; इससे मुझे अति प्रिय है। तीसरा यह कि इसके ही एक देश में पावनी श्रीसरयूजी भी बहती हैं, जो मज्जन करनेवालों को मेरा सामीप्य प्राप्त कराती हैं। चौथा यह कि यहाँ के वासी मुझे अति प्रिय हैं और पाँचवाँ यह कि यह ममधामदा पुरी 'सुखरासी' है।

'उत्तर दिसि बह सरजू पावनि।'—श्रीअयोध्यापुरी के साथ ही श्रीसरयूजी का भी वर्णन होता है, क्योंकि इन दोनों का नित्य संबंध है। श्रीसरयूजी भी श्रीअयोध्याजी के एक अंग हैं।

(२) 'जा मज्जन ते···'; यथा—"मज्जहिं सज्जन बृंद बहु, पावन सरजू नीर। जपहिं राम धरि ध्यान उर, सुंदर स्याम सरीर॥" (बा० दो० ३४), यह मज्जन की विधि है। 'बिनहिं प्रयासा'—योग, यज्ञ आदि साधन बिना ही। 'मम समीप' अर्थात् श्रीरामजी के समीप जहाँ श्रीरामजी का नित्य निवास है, वहाँ, राम-धाम में परिकर भाव को प्राप्त होता है। यह पद बड़ा दुर्लभ है ; यथा—"विधिशिवसनकाद्यैर्ध्या-तुमत्यन्तदूरं तव परिजनभावं कामये कामवृत्त।" (आलवंदारस्तोत्र)। यह श्रीसरयूजी में स्नान-मात्र से प्राप्त होता है। अन्यत्र भी कहा है; यथा—"सरजू सरि कलि कलुष नसावनि।" (बा० दो० १५), "नदी पुनीत अमित महिमा अति। कहि न सकइ सारदा बिमल मति॥" (बा० दो० ३४)।

अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी। मम धामदा पुरी सुखरासी ॥७॥

हरषे सब कपि सुनि प्रभु-बानी। धन्य अवध जो राम बखानी ॥८॥

अर्थ—यहाँ के निवास करनेवाले मुझे अत्यन्त प्रिय हैं, यह पुरी सुख की राशि है और मेरे धाम को देनेवाली है ॥७॥ सब वानर प्रभु की वाणी सुनकर प्रसन्न हुए—यह अवध धन्य है, जिसका श्रीरामजी ने बखान किया ॥८॥

विशेष—(१) 'अति प्रिय मोहि ...'—जैसे वैकुंठ की अपेक्षा श्रीअयोध्याजी अति प्रिय हैं वैसे वैकुंठवासी की अपेक्षा श्रीअवधवासी भी अति प्रिय हैं। प्रभु ने श्रीअवधवासियों से यह अपना प्रीत्यात्मक सम्बन्ध कहा। इसी सम्बन्ध से ये पुरवासी जगत भर के वंदनीय हुए, यथा "प्रनवउँ पुर नर नारि बहोरी। ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी॥" (बा० दो० १५)।

अनन्त श्रीस्वामी युगलानन्य शरणजी महाराज साकेतवासी (श्रीलक्ष्मण किला श्रीअयोध्या) का श्रीमुख कथन है कि श्रीअवधवासी चार प्रकार के होते हैं—(क) पहले श्रेणी के तो वे हैं, जिनका श्रीअयोध्याजी में ही जन्म है। वे चाहे जहाँ रहें अपनी जन्म भूमि श्रीअयोध्या को ही कहेंगे और उनका इसी में अधिक स्नेह रहेगा। अन्यत्र रहने पर भी बातचीत में स्वभावत कह उठेंगे—हमारे यहाँ तो ऐसी रीति है। (ख) दूसरी श्रेणी के वे हैं, जिनका जन्म तो अन्यत्र हुआ, परन्तु सब छोड़कर यहीं रहने का नियम कर लिया है। (ग) तीसरी श्रेणी के वे हैं जो नियम से अवधवास तो नहीं कर सकते, पर नियमित रूप से आवागमन करते हैं, प्राय साल का बीच नहीं पड़ता। (घ) चौथी श्रेणी के वे हैं जो श्रीअवध आ नहीं सकते, परन्तु मन उनका यहाँ ही लगा रहता है। श्रीअयोध्या महारानी उन्हें भी श्रीअवधवासियों में मान लेती हैं, यह इनकी दयालुता है।

'मम धामदा पुरी सुखरासी।'—'सुखरासी' से लोक-सुख देनेवाली और 'मम धामदा' से परलोक-सुख देनेवाली सूचित किया गया है। 'मम धामदा' से ऐसा भी अर्थ होता है—मुझको और मेरे धाम को देनेवाली। 'पुरी सुखरासी' से पुरी सच्चिदानंद रूपा भी जनाई गई है, क्योंकि श्रीरामजी को भी 'सुखराशी' कहा गया है। इसपर "राम धामदा पुरी सुहावनि।" (बा० दो० ३४)—देखिये।

श्रुतियों और इतिहास पुराणों में श्रीरामजी का धाम श्रीअयोध्या ही कहा गया है। श्रीअयोध्या का ही पर्यायवाची नाम साकेत है जो कि पर विभूति की श्रीअयोध्या के अर्थ में प्राय कहा जाता है। महर्षि वाल्मीकिजी ने उसे 'सन्तानक लोक' लिखा है—वाल्मी ७।११०।१८–१९ देखिये। वेद के प्रमाण ऊपर दिये गये हैं।

जिनके मत में श्रीरामजी श्रीमन्नारायण के अवतार हैं, उन आचार्यों के मत में भी श्रीरामजी का नित्य धाम साकेत ही माना गया है। वहाँ श्रीरामजी नित्य द्विभुज नराकार रूप से ही रहते हैं। इससे चारों कल्पों की कथा में 'राम धामदा पुरी' इसी रूप में घटित होगी।

पुन यह भी हो सकता है कि—"उपासकाना कार्यार्थं ब्रह्मणो रूप कल्पना।" इस रामतापनीय श्रुति के अनुसार जिसकी दृष्टि में जो राम धाम है, वह भी यहाँ युक्त ही है, यथा—"*जिनकी रही भावना* जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी॥" (बा० दो० २४०)।

(२) 'हरषे सब कपि '—यह उपसंहार है। इसका उपक्रम—'कपिन्ह देखावत नगर मनोहर' है। यहाँ 'प्रभु बानी' का प्रभाव है कि सभी वानर श्रीअयोध्या के माहात्म्य को जान गये और इसीसे हर्षित

हुए ; यथा—"सुनी चहहिं प्रभु मुख कै बानी। जो सुनि होइ सकल भ्रम हानी ॥" (दो० ३५)। यहाँ वानरों का भी भ्रम-नाश हो गया।

'धन्य अवध जो राम बखानी।'—वैकुंठ की सराहना वेद आदि ही करते हैं, श्रीअवध की सराहना श्रीमुख से श्रीरामजी ने भी की, इससे यह धन्य है।

दोहा—आवत देखि लोग सब, कृपासिंधु भगवान।
नगर निकट प्रभु प्रेरेउ, उतरेउ भूमि बिमान ॥
उतरि कहेउ प्रभु पुष्पकहिं, तुम्ह कुबेर पहिं जाहु।
प्रेरित राम चलेउ सो, हरष बिरह अति ताहु ॥४॥

अर्थ—कृपासागर भगवान् श्रीरामजी ने सब लोगों को आते देख नगर के समीप विमान को प्रेरित किया (मानसिक आज्ञा दी) तब वह पृथिवी पर उतरा॥ प्रभु ने उतरकर पुष्पक से कहा कि तुम कुवेरजी के पास जाओ। श्रीरामजी की प्रेरणा से वह चला; परन्तु उसे हर्ष और अत्यन्त विरह है ॥४॥

(१) 'कृपासिंधु'—पुरवासियों पर कृपा है, उनसे मिलना चाहते हैं, नगर में एक साथ सबसे मिलते नहीं बनेगा, इसलिये बाहर ही—जहाँ ये लोग उपस्थित थे—वहीं विमान उतारा। 'भगवान'—यहाँ धर्म ऐश्वर्य की सँभाल कर रहे हैं कि मंत्री, ब्राह्मण, गुरु आदि भूमि पर खड़े हैं, हमें विमान पर रहना उचित नहीं, अतएव विमान उतारा, इससे भगवान् कहा गया है। भगवान् का अर्थ षडैश्वर्य युक्त है और षडैश्वर्य में एक 'धर्म' भी है—ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य ये छः ऐश्वर्य हैं। धर्म में दया प्रधान है, इससे 'कृसतनु' प्रजा का कष्ट नहीं देख सके। अतएव उनका दुःख दूर करने के लिये शीघ्र उतरे।

(२) 'उतरि कहेउ प्रभु···'—श्रीविभीषणजी ने पुष्पक विमान श्रीरामजी को नजर में दिया है, यद्यपि इन्हें उसकी चाह नहीं थी, आपने केवल श्रीअवध पहुँचाने मात्र के लिये निहोरा किया था, परन्तु उन्होंने उसे मणि-यत्न से पूर्ण करके लाकर भेंट किया। प्रभु ने मित्र के आदर के लिये उसे स्वीकार कर लिया। फिर प्रभु ने अपनी विजय के उपहार रूप में उसे कुवेरजी को लौटा दिया। क्योंकि कुवेरजी से रावण ने इसे बलात् छीना था, कुवेरजी के मन में इसका दुःख था। अतः, इसे लौटाकर उनका दुःख दूर किया। देवताओं के दुःख-हरण के लिये तो आपका अवतार ही है। पुनः अभी ही विमान लौटाकर उनके लिये अपने राज्याभिषेक पर सम्मानपूर्वक आने का संयोग भी कर दिया।

(३) 'प्रेरित राम चलेउ सो······'—उसे जाने की इच्छा नहीं थी। श्रीरामजी की प्रेरणा से विवश होकर गया, इससे जो थोड़ी भी प्रभु की सेवा मिली, उसका और अपने स्वामी कुवेरजी के मिलने का हर्ष उसे थोड़ा हुआ, पर प्रभु से अत्यन्त शीघ्र पृथक् होने का विरह उसे अत्यन्त हुआ।

आये भरत संग सब लोगा। कृसतनु श्रीरघुबीर-बियोगा ॥१॥
बामदेव बसिष्ठ मुनिनायक। देखे प्रभु महि धरि धनुसायक ॥२॥
धाइ धरे गुरु-चरन-सरोरुह। अनुज सहित अति पुलक तनोरुह ॥३॥

अर्थ—श्रीभरतजी के साथ सब लोग आये, सभी श्रीरामजी के वियोग में शरीर से दुबले हो गये हैं ॥१॥ श्रीवामदेवजी और श्रीवसिष्ठजी आदि मुनि-श्रेष्ठों को देख, पृथिवी पर धनुष-बाण रखकर, भाई श्रीलक्ष्मणजी के साथ प्रभु ने दौड़कर गुरुजी के चरण-कमल पकड़ लिये। दोनों भाइयों के शरीर अत्यंत पुलकित और रोमांचित हो रहे हैं ॥२-३॥

विशेष—(१) 'आये भरत संग······'—पूर्व—"हरषित गुरु परिजन अनुज, भूसुर-बृंद समेत। चले भरत······" से श्रीभरतजी का प्रसंग छूटा था, वहीं से प्रसंग लिया और वहीं पर कहे हुए 'गुरु-परिजन ···' को यहाँ 'सब लोगा' कहा है। 'कृस तनु' भी सभी हैं। श्रीरामजी के प्रेम और विरह में श्रीभरतजी सबसे अधिक हैं और राज्य पद के सम्बन्ध से उनकी प्रधानता कही गई। यहाँ पर 'कृस तनु' 'सब लोगा' का विशेषण है—श्रीभरतजी का नहीं, उन्हें तो पहले ही 'जटामुकुट कृस गात' कहा गया है। 'श्रीरघुबीर बियोगा' का भाव यह है कि रघुवीर के वियोग में सबकी श्री हत हो गई है; यथा—"श्रीहत सीय बिरह दुति हीना। जथा अवध नर नारि मलीना॥" (अ० दो० ११८)।

(२) 'बामदेव बसिष्ठ मुनि ······'—यद्यपि श्रीभरतजी आदि की यही लालसा है कि श्रीरामजी पहले हमसे मिलें, तथापि धर्म-मर्यादा के अनुसार मुनियों को आगे किये हुए हैं। श्रीरामजी भी मर्यादा के ही विचार से पहले श्रीवसिष्ठजी आदि से मिले। वामदेवजी के सम्मान के लिये उन्हें श्रीवसिष्ठजी से प्रथम कहा और श्रीवसिष्ठजी की श्रेष्ठता 'मुनि नायक' कहकर जनाई।

'महि धरि धनुसायक'—शस्त्रास्त्र सहित गुरु को प्रणाम नहीं करना चाहिये। इसलिये धनुष-बाण पृथिवी पर रख दिये, शीघ्रता में किसी को थमा नहीं सके। पुनः बड़ों से मिलने मे लोग टोपी या पगड़ी उतारकर मिलते हैं, क्योंकि ये अपनी श्रेष्ठता के चिह्न हैं। वैसे क्षत्रियों के शस्त्रास्त्र भी उनकी श्रेष्ठता के चिह्न हैं। इससे क्षत्रिय लोग प्रणाम एवं आत्म-समर्पण आयुध ही के द्वारा करते हैं। इन्हें उतारकर मिलने में गुरुजी को अति सम्मान दिया, जो कि भरद्वाज-वाल्मीकि आदि को भी नहीं प्राप्त हुआ था। 'देखे प्रभु'—जहाँ से देखा वहीं से आयुध रखकर दौड़े।

(३) 'धाइ धरे गुरु चरन ···'—'धाइ धरे' से चरणों में लगकर प्रणाम करना सूचित किया। इससे अत्यन्त उत्कंठा जानी गई। 'अति पुलक तनोरुह'—गुरु-चरणों के प्रणाम में पुलक होना ही चाहिये; यथा—"रामहि सुमिरत, रन भिरत, देत, परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तन, ते जग जीवत जाइ॥" (दोहावली ४१)।

भेंटि कुसल बूझी मुनिराया। हमरे कुसल तुम्हारिहि दाया॥४॥
सकल द्विजन्ह मिलि नायउ माथा। धरम-धुरंधर रघुकुल-नाथा॥५॥

अर्थ—मुनिराज श्रीवसिष्ठजी ने (उन्हें उठाकर हृदय से लगा) भेंट करके उनसे कुशल पूछी। उन्होंने कहा कि आपकी दया से हमारी कुशल है॥४॥ धर्म की धुरी धारण करनेवाले रघुकुल के नाथ श्रीरामजी ने सब ब्राह्मणों से मिलकर उनको शिर नवाया॥५॥

विशेष—(१) 'कुसल बूझी मुनि राया।'—कुशल पूछना लोक-व्यवहार है। श्रीरामजी को प्रेम से हृदय लगाकर कुशल पूछी, इससे 'मुनिराया' कहा है, क्योंकि राम-प्रेम से ही मुनियों की भी बड़ाई होती है; यथा—"राम सनेह सरस मन जासू। साधु सभा बड़ आदर तासू॥" (अ० दो० २०६)।

(२) 'हमरे कुसल' '—गुरु की दया में ही कुशल है; यथा—"राखइ गुरु जो कोप बिधाता।" (बा० दो० १६५), तथा—"बूझब राउर सादर साईं। कुसल हेतु सो भयउ गोसाईं ॥" (अ० दो० २६६)।

(३) 'सकल द्विजन्ह मिलि' '—ब्राह्मणों की भक्ति के सम्बन्ध से कुल श्रेष्ठ कहा है, क्योंकि पुण्य से कुल बढ़ता है और द्विज-भक्ति भारी पुण्य है, यथा—"पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा ॥" (दो० ४४); इसीसे 'धर्म धुरंधर' के साथ 'रघुकुलनाथा' भी कहा है। ब्राह्मणों से पहले (न मिलकर) गुरुजी से मिले, क्योंकि वे विप्रश्रेष्ठ और गुरु भी हैं।

गहे भरत पुनि प्रभुपद - पंकज। नमत जिन्हहि सुर मुनि संकर अज ॥६॥

परे भूमि नहिं उठत उठाये। बर करि कृपासिंधु उर लाये ॥७॥

स्यामल गात रोम भये ठाढ़े। नवराजीव - नयन जल बाढ़े ॥८॥

अर्थ—फिर श्रीभरतजी ने प्रभु के चरण-कमल पकड़े कि जिन्हें देवता, मुनि, शंकरजी और ब्रह्माजी प्रणाम करते हैं ॥६॥ वे पृथिवी पर (साष्टाङ्ग) पड़े हुए हैं, उठाये नहीं उठते, दयासागर श्रीरामजी ने बल-पूर्वक उनको उठाया और हृदय से लगा लिया ॥७॥ (दोनों के) श्यामल शरीर में रोएँ खड़े हो गये और नवीन-कमल के समान नेत्रों में जल की बाढ़ आ गई ॥८॥

विशेष—(१) 'नमत जिन्हहि सुर मुनि' '—चरण पकड़ते समय श्रीभरतजी इन चरणों का महत्व हृदय में विचारते हैं कि ये चरण तत्वज्ञ मुनियों के नमस्कार करने के योग्य हैं। समस्त लोक के कल्याण कर्त्ता एवं संहर्त्ता ईश्वर श्रीशिवजी और संसार के उत्पन्न करनेवाले श्रीब्रह्माजी भी उन्हें नमस्कार करते हैं। हमारा अहोभाग्य है कि आज हमें ये चरण प्राप्त हुए। अभी लङ्का में श्रीशिवजी और श्रीब्रह्माजी आकर स्तुति कर गये हैं। यह श्रीहनुमान्जी से श्रीभरतजी सुन चुके हैं।

(२) 'परे भूमि नहिं उठत उठाये।'—प्रेम में निमग्न हैं, क्योंकि इन्हीं चरणों की पादुकाओं की सेवा १४ वर्ष की है, आज वे चरण ही मिल गये, इससे उठाये नहीं उठते, यथा—"बार बार प्रभु चहहिं उठावा। प्रेम मगन तेहि उठब न भावा ॥" (सुं० दो० ३३), जब स्वय नहीं उठे, साधारणतः उठाने से भी न उठे तब बलात् उठाया। उठाने में 'कृपासिंधु' कहा है, क्योंकि श्रीभरतजी पर बड़ी कृपा है, उन्हें बलात् भूमि से उठा लिया और हृदय से लगाया।

(३) 'स्यामल गात रोम भये ठाढ़े।' '—श्यामलगात कहकर शरीर की शोभा कही और नवीन लाल कमल के समान कहकर नेत्रों की शोभा कही, यथा—"स्याम सरीर सुभाय सुहावन। सोभा कोटि मनोज लजावन ॥" (बा० दो० ३१६)। पुन. शरीर में रोमाञ्च होने से और नेत्रों में प्रेमाश्रु आने से प्रेम की शोभा कही गई। इस अर्द्धाली में दोनों भाइयों की दशा एक ही विशेषण से कही गई।

छंद—राजीव-लोचन स्रवत जल तनु ललित पुलकावलि बनी।
अति प्रेम हृदय लगाइ अनुजहि मिले प्रभु त्रिभुवन-धनी ॥
प्रभु मिलत अनुजहि सोह मो पहिं जाति नहिं उपमा कही।
जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि मिले बर सुखमा लही ॥

अर्थ—कमल के समान नेत्रों से जल चल रहा है, सुन्दर कोमल शरीर में सुन्दर पुलकावली शोभित हो रही है। त्रिलोक के स्वामी प्रभु श्रीरामजी भाई को अत्यन्त प्रेम से हृदय लगाकर मिले॥ भाई से मिलते हुए प्रभु (जैसे) शोभित हो रहे हैं, मुझसे (वैसी) उपमा कही नहीं जाती, (अर्थात् कहीं मिलती ही नहीं)। ऐसा जान पड़ता है मानों प्रेम और शृङ्गार शरीर धरकर मिलते हुए श्रेष्ठ शोभा को प्राप्त हुए हों॥

विशेष—(१) 'राजीव-लोचन स्रवत जल···'—पहले नेत्रों में जल का बढ़ना कहा गया—'नयन जल बाढ़े' अब यहाँ उनका श्रवना (बहना) कहते हैं। तनु रोमांच होने से ललित है। पुलकावली के साथ भी ललित शब्द है। पुलकावली दुःख की भी होती है, वह ललित नहीं कहाती; यथा—"सकल सखी गिरिजा गिरि मयना। पुलक सरीर भरे जल नयना॥" (बा॰ दो॰ ९७); परन्तु यहाँ सुख की पुलकावली है, इससे ललित कही गई।

(२) 'अति प्रेम हृदय···'—'त्रिभुवन धनी' से बड़प्पन कहा, उसी सम्बन्ध से 'प्रभु' भी कहा। फिर छोटे पर स्नेह करना कहा, यह योग्य ही है; यथा—"बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं।" (बा॰ दो॰ १६६)। यह भी भाव है कि जैसा श्रीरामजी का प्रेम श्रीभरतजी पर है, वैसा तीनों लोकों में किसी पर नहीं है।

(३) 'प्रभु मिलत अनुजहि···'—श्रीभरतजी प्रेम की मूर्त्ति हैं, श्रीरामजी ही उनसे मिल रहे हैं, अत्यंत प्रेम के कारण श्रीभरतजी मूर्त्तिवत् जड़ हो रहे हैं।

(४) 'जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि'—श्रीभरतजी प्रेम की मूर्त्ति हैं; यथा—"भरतहि कहहि सराहि सराही। राम प्रेम-मूरति तनु आही॥" (अ॰ दो॰ १८३); और श्रीरामजी शृंगार की मूर्त्ति हैं; यथा—"जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप।" (बा॰ दो॰ २४१); 'तनु धरि'—प्रेम और शृंगार के तनु नहीं होते, पर यहाँ मानों दोनों तनु धारण किये हुए हैं। 'बर सुखमा लही'—सुषमा का अर्थ परम शोभा है, यह 'बर' विशेषण उसमें भी विशेषता दिखाता है, इस तरह कि यों ही प्रेम और शृंगार के मिलने से परम शोभा होती है, यदि वे तनु धारण करके मिलें, तो अधिकता तो होगी ही; यथा—"मनहुँ प्रेम परमारथ दोऊ। मिलत धरे तनु कह सब कोऊ॥" (अ॰ दो॰ ११०); तात्पर्य यह है कि प्रेम की शोभा श्रीरामजी के सम्बन्ध से है और श्रीरामजी की शोभा प्रेमी से मिलने में है।

जैसे शृंगार और प्रेम दोनों का वर्ण श्याम है और दोनों अन्योन्य शोभा-वर्द्धक हैं। वैसे ये भी परस्पर शोभा-वर्द्धक हैं। शृंगार भी प्रेमरस है। रस स्वामी है और प्रेम उसका अनुचर है। वैसे ही शृंगार रस रूपी श्रीरामजी स्वामी हैं और प्रेमरूप श्रीभरतजी सेवक हैं। शृंगार रस का प्रेम स्थायी भाव है, स्थायी भाव रस का प्राण कहा जाता है। वैसे ही श्रीभरतजी श्रीरामजी के प्राणों के समान प्रिय हैं।

बूझत कृपानिधि कुसल भरतहि बचन बेगि न आवई।
सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई॥
अब कुसल कौसलनाथ आरत जानि जन दरसन दियो।
बूड़त बिरह - बारीस कृपानिधान मोहि कर गहि लियो॥

दोहा—पुनि प्रभु हरषि सत्रुहन, भेंटे हृदय लगाइ।
लछिमन भरत मिले तब, परम प्रेम दोउ भाइ॥५॥

अर्थ—कृपा के सागर श्रीरामजी श्रीभरतजी से कुशल पूछते हैं (पर श्रीभरतजी के मुख से) शीघ्र वचन नहीं निकलता। श्रीशिवजी कहते हैं कि हे शिवा (पार्वतीजी)! सुनो, वह सुख (जिसमें श्रीभरतजी निमग्न हैं) वाणी और मन से परे है, जो उस सुख को पाता है वही जानता है, (दूसरा न जाने और न कह सके)॥ (श्रीभरतजी ने कहा—) हे कोशलनाथ! आपने आर्त्त जानकर (मुझ) जन को दर्शन दिये, इससे अब कुशल है (नहीं तो कुशल न होती)। विरह-सागर में डूबते हुए मुझको, हे कृपासागर! आपने हाथ पकड़कर निकाल लिया॥ फिर प्रभु श्रीशत्रुघ्नजी को हर्ष-पूर्वक हृदय लगाकर उनसे मिले (जब श्रीरामजी श्रीभरत-शत्रुघ्न से मिल चुके) तब श्रीलक्ष्मणजी और श्रीभरतजी दोनों भाई परम प्रेम से मिले॥५॥

विशेष—(१) 'बचन बेगि न आवई'—क्योंकि कंठ गद्‌गद हो गया है। 'भरतहि' शब्द दीप-देहली है। 'सुनु सिवा सो सुख······'—वचन से भिन्न है, अर्थात् कहने में नहीं आता; यथा—"कहहु सो प्रेम प्रगट को करई। केहि छाया कवि मति अनुसरई॥ कविहि अरथ आखर बल साँचा। अनुहर ताल गतिहिं नट नाँचा॥" (अ० दो० २४०); मन से भिन्न; यथा—"अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधि हरि हर को॥ (अ० दो० २४०); 'जान जो पावई'—भाव यह है कि वह भी कह नहीं सकता, जैसे 'गूँगे का गुड़' यह प्रसिद्ध है। क्योंकि इसपर प्रेम में अंतःकरण निमग्न हो जाता है; यथा—"परम प्रेम पूरन दोउ भाई। मन बुद्धि चित अहमिति बिसराई॥ कहहु सो प्रेम प्रगट को करई।" (अ० दो० २४०)।

(२) 'अब कुसल कौसलनाथ······'—आपके आने पर अब मेरी और कोशला (अवध) वासियों की कुशल हुई (नहीं तो कोई नहीं जीता)। 'आरत जानि'; यथा—"रहा एक दिन अवधि कर, अति आरत पुर लोग। जहँ तहँ सोचहिं······" अपनी आर्त्त दशा आगे 'बूड़त बिरह बारीस···' से कही है। डूबनेवाले आर्त्त को जैसे कोई बाँह पकड़कर निकाल ले, वैसे ही दर्शन देकर आपने हम सबको बचा लिया। भाव यह कि हमारी कुशल आपकी कृपा से हुई; यथा—"अब पद देखि कुसल रघुराया। जो तुम्ह कीन्हि जानि जन दाया॥" (सुं० दो० ४५)।

(३) 'मोहि कर गहि लियो'—पहले राम-विरह-सागर में डूबते थे, तब श्रीहनुमान्‌जी का नाव-रूप से सहायक होना कहा गया। वहाँ नाव मिलने से भी विरह-समुद्र में ही रहे, बचने की आशा मात्र हो गई थी। अब साक्षात् श्रीरामजी ही आ मिले। तब मानों विरह-समुद्र से बाहर स्थल में आ गये।

'सो सुख बचन मन ते भिन्न'—जबतक मन संकल्प विकल्प की तरंगों में रहता है, तबतक उसे प्रेम के द्वारा चित्तस्थिरता का सुख नहीं मिलता और जबतक कंठकी गद्‌गद आदि दशाएँ नहीं हों, प्रेम की पूर्णता हो नहीं।

(४) 'पुनि प्रभु हरषि सत्रुहन······'—यहाँ श्रीशत्रुघ्नजी का प्रणाम करना नहीं कहा गया; क्योंकि इन्होंने श्रीभरतजी के साथ ही दंडवत् की है; यथा—"सीता चरन भरत सिर नावा। अनुज समेत परम सुख पावा॥" (उ० दो० ५); श्रीभरतजी का मिलाप विस्तार से कहा गया। वैसे ही और भाइयों का समझना चाहिये। श्रीगोस्वामीजी संक्षेप से लिख रहे हैं, इससे भेंट सब भाइयों की कहते हैं, पर प्रणाम करना और किसी का नहीं कहते। अतः, ऐसा जानना चाहिये कि श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीभरतजी को

प्रणाम किया, तब उन्होंने हृदय लगाकर उनसे भेंट की और श्रीशत्रुघ्नजी ने श्रीलक्ष्मणजी को प्रणाम किया, तब श्रीलक्ष्मणजी उनसे मिले। 'प्रभु हरषि'—अपने भक्त श्रीभरतजी का सेवक जानकर हर्ष है। 'परम प्रेम'—श्रीभरतजी श्रीलक्ष्मणजी को रामानुरागी, बड़भागी मानकर और श्रीलक्ष्मणजी उन्हें श्रेष्ठ रामभक्त और अपना बड़ा भाई मानकर परम प्रेम से मिलते हैं। श्रीलक्ष्मणजी का नाम पहले कहकर इनका प्रणाम करना सूचित किया गया है। जैसे प्रभु और श्रीभरतजी के मिलाप में प्रेम की दशा कही गई। वैसी ही यहाँ भी है, इसीसे 'परम प्रेम' कहा है।

भरतानुज लछिमन पुनि भेंटे। दुसह बिरह-संभव दुख मेटे ॥१॥
सीता-चरन भरत सिर नावा। अनुज समेत परम सुख पावा ॥२॥
प्रभु बिलोकि हरषे पुरबासी। जनित बियोग बिपति सब नासी ॥३॥

अर्थ—फिर श्रीलक्ष्मणजी श्रीशत्रुघ्नजी से गले लगकर मिले और कठिन विरह से उत्पन्न कठिन दु:ख निवृत्त किया ॥१॥ भाई श्रीशत्रुघ्नजी के साथ श्रीभरतजी ने श्रीसीताजी के चरणों में शिर नवाया और परम सुखी हुए ॥२॥ प्रभु को देखकर सभी पुरवासी प्रसन्न हुए, वियोग से उत्पन्न उनकी सब विपत्ति नाश हो गई ॥३॥

विशेष—(१) 'भरतानुज लछिमन···'—श्रीलक्ष्मणजी श्रीशत्रुघ्नजी से अपने सगे भाई के नाते से नहीं मिले, किंतु उनकी श्रीभरतजी में निष्ठा देखकर प्रीति पूर्वक मिले हैं। श्रीभरतजी का त्याग और परम प्रेम श्रीलक्ष्मणजी के चित्त मे बैठ गया है। अतः, इन्हें उनका सेवक जानकर प्रेम से मिलते हैं। ऐसे ही आगे श्रीसुमित्राजी श्रीलक्ष्मणजी से 'राम-चरन-रति जानि' मिलेंगी।

'भरतानुज'—श्रीशत्रुघ्नजी श्रीलक्ष्मणजी के सहोदर छोटे भाई हैं; यथा—"सुमिरि सुमित्रा नाम जग, जे तिय लेहिं सनेम। सुवन लखन रिपुदवन से, पावहिं पति-पद-प्रेम ॥" (दोहावली ११३) : पर श्रीभरतजी मे उनकी निष्ठा एवं बालपन से अत्यंत संसर्ग रहा, इसीसे वे भरतानुज कहे जाते हैं। इसी तरह श्रीलक्ष्मणजी भी रामानुज कहलाते हैं। इनकी निष्ठा ; यथा—"बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी॥ भरत सत्रुहन दूनौ भाई। प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई ॥" (बा० दो० १९७)।

'दुसह बिरह संभव दुख मेटे'—श्रीलक्ष्मणजी को शक्ति लगी थी; इसका दुःख श्रीशत्रुघ्नजी को था और श्रीशत्रुघ्नजी घर मे रहते हुए कहीं ऐश्वर्य मे लिप्त होकर स्वधर्म न भूल जाय, यह दुःख श्रीलक्ष्मणजी को था। यहाँ मिलने से दोनों के वे दु:ख जाते रहे। ये दोनों यमज (जोड़ा) भाई हैं, लोक-रीति से भारी वियोग दुःख होना युक्त ही है। अथवा यह चरण 'दुसह बिरह संभव दुख मेटे।' चारों भाइयों के मिलाप के अंत मे कहा गया है। अतः, सबमे लगता है, मिलने से सबके पारस्परिक दुःसह विरह दुःख दूर हुए।

(२) 'अनुज समेत परम सुख पावा।'—जैसे इन दोनों भाइयों ने चित्रकूट मे प्रणाम किया था और श्रीसीताजी ने आशिष दी थी। वैसे ही यहाँ भी जानना चाहिये ; यथा—"सानुज भरत उमँगि अनुरागा।" से "भे निसोच उर अपडर बीता॥" (अ० दो० १२४) ; तक देखिये।

(३) 'हरषे पुरबासी ; यथा—"समाचार पुरबासिन्ह पाये। नर अरु नारि हरषि सब धाये॥"

(दो॰ २); से प्रसंग लिया गया। 'बिपति सब नासी'—विपत्ति को रात्रि कहा है; यथा "तहँ तब रहिहि सुखेन सिय, जब लगि बिपति बिहान ॥" (अ॰ दो॰ ११); और ऊपर श्रीरामजी का आगमन सूर्योदय रूप कहा गया; यथा—"इहाँ भानुकुल कमल दिवाकर।" (दो॰ ३)। अतः, श्रीरामजी के दर्शनों से विपत्ति का नाश होना युक्त ही है।

प्रेमातुर सब लोग निहारी। कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी ॥४॥
अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथाजोग मिले सबहि कृपाला ॥५॥
कृपादृष्टि रघुबीर बिलोकी। किये सकल नरनारि बिसोकी ॥६॥
छन महँ सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहु न जाना ॥७॥
येहि बिधि सबहि सुखी करि रामा। आगे चले सील गुन धामा ॥८॥

अर्थ—सब लोगों की प्रेम-आतुरी (शीघ्र मिलने की उत्कृष्ट इच्छा) को देखकर (जानकर) खर के शत्रु कृपालु श्रीरामजी ने खेल किया ॥४॥ उसी समय कृपालु श्रीरामजी अमित रूप से प्रकट हो गये और सबसे यथा योग्य मिले ॥५॥ रघुवीर श्रीरामजी ने कृपादृष्टि से देखकर सब स्त्री-पुरुषों को शोक-रहित किया ॥६॥ भगवान् श्रीरामजी क्षण-मात्र ही में सबसे मिले, हे उमा! यह भेद किसी ने नहीं जान पाया ॥७॥ इस प्रकार शील और गुणों के धाम श्रीरामजी सबको सुखी करके आगे चले ॥८॥

विशेष—(१) 'प्रेमातुर···निहारी'—प्रभु ने देखा कि सब स्त्री-पुरुष दौड़े आ रहे हैं, मेरे दर्शनों के अत्यन्त लालायित हैं, सभी पहले मिलना चाहते हैं। प्रभु का उनमें अत्यंत प्रियत्व है ही; यथा—"अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी।" (दो॰ ३); इससे सबको एक साथ सुखी करने के लिये कृपा करके उन्होंने कौतुक किया। 'खरारी' का भाव यह कि वहाँ और यहाँ के कौतुक मिलते हैं। वहाँ माया से उन सबों को मोहित कर दिया था, जिससे वे परस्पर राम रूप देखते हुए लड़ मरे थे, इससे 'मायानाथ' कहे गये थे। पर यहाँ तो आप स्वयं 'अमितरूप' हुए हैं यह कृपा है, इससे यहाँ 'कृपालु' कहे गये हैं। वहाँ १४००० सुर मुनि को सभय देखकर कौतुक किया था और यहाँ सब लोगों को प्रेमातुर देखकर। वहाँ १४००० राक्षस नाश हुए और यहाँ १४ वर्ष की विरह-विपत्ति नाश हुई। वे राक्षस वरदान से प्रबल थे और यह वियोग दुःख पिता के वरदान से प्रबल था, वरदान के द्वारा उन राक्षसों का अन्य उपायों से नाश नहीं हो सकता था, वैसे ही यह वियोग दुःख भी किन्हीं उपायों से नहीं नाश हो सकता था।

(२) 'अमित रूप प्रगटे...'—श्रीरामजी प्रेम से प्रकट होते हैं; यथा—"प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।" (बा॰ दो॰ १८४); इसी से उन्होंने जब अमित लोगों को प्रेमातुर देखा, तब अमित रूप से प्रकट हो गये। 'तेहि काला'—तत्काल ही; अर्थात् अमित रूप धारण करने में कुछ भी विलंब नहीं हुआ। 'जथा जोग'—जो जिस प्रकार से मिलने के योग्य थे, उनसे उसी प्रकार मिले। किसी को प्रणाम किया, किसी से गले लगकर मिले, किसी की गोद में बैठे और किसी को गोद में लिया, इत्यादि। जो स्त्रियाँ आदि थीं एवं और लोग भी किसी प्रकार मिलने के योग्य नहीं थे, उन्हें कृपा-दृष्टि से देखा। सबको सुखी करना कृपालुता का द्योतक है। अतः, 'कृपाला' कहा गया है। जब भगवान् कृष्ण का आगमन द्वारकापुरी में हुआ था तब इसी प्रकार वहाँ भी मिलना कहा गया है; यथा—"भगवांस्तत्र बन्धूनां पौराणामनिवर्तिनाम्। यथा विध्युपसंगम्य सर्वेषां मानमादधे॥ प्रह्वाभिवादनाश्लेषकरस्पर्श-

रिमतेक्षणैः। आश्वास्य चाश्वपाकेभ्यो वरैश्चाभिमतैर्विभुः॥ स्वयं च गुरुभिर्विप्रैः सदारैः स्थविरैरपि। आशीर्भिर्युज्यमानोऽन्यैर्वन्दिभिश्चाविशत्पुरम्॥" (भाग० १।११।१२-२१)।

(३) 'कृपादृष्टि रघुबीर बिलोकी।...'—यहाँ 'दया-वीरता के सम्बन्ध से रघुबीर विशेषण दिया गया; क्योंकि 'कृपा-दृष्टि' के साथ 'रघुबीर' कहा गया है। पहले पुरवासियों ने श्रीरामजी को देखा था, तब उनको वियोग-विपत्ति नाश हुई थी; यथा—"प्रभु बिलोकि...जनित बियोग...' ऊपर कहा गया है और यहाँ श्रीरामजी का देखना और उससे सबका विशोक होना कहा गया है; अर्थात् सबका भव-शोक भी नाश हो गया; यथा—"जड़ चेतन मगजीव घनेरे। जिन्ह चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥ ते सब भये परम पद जोगू।" (अ० दो० २१६); तथा—"अमोघं दर्शनं राम अमोघस्तव संस्तवः।" (वाल्मी० ६।११७।३१)।

(४) 'छन महिं सबहि मिले भगवाना।...'—यहाँ ऐश्वर्य-रीति से गुप्तमिलन है। इसीसे प्रभु को भगवान् कहा गया है और इस मर्म को किसी का नहीं जानना भी कहा है। इसमें यह भी भाव है कि जो घरेलू जानवर मूसा, बिल्ली, मोर आदि थे, प्रभु उनसे भी मिले, यथा—"हय गय कोटिन्ह केलि मृग, पुर पसु चातक मोर। पिक रथांग सुक सारिका, सारस हंस चकोर॥ रामबियोग बिकल सब ठाढ़े।" (अ० दो० ८३); अर्थात् वन-यात्रा के समय ये सभी विकल हुए थे। अतः, इनसे भी मिलकर इन्हें सुखी किया। इन सबकी रुचि के अनुकूल मिले। यथा—"जो जेहि भाय रहा अभिलाखी। तेहि तेहि कै तसि तसि रुचि राखी॥" (अ० दो० २४२); यहाँ तीन प्रकार का मिलना हुआ—(क) मिलने के अधिकारी मनुष्यों से यथायोग्य मिले; यथा—"जथा जोग मिले सबहि कृपाला।" (ख) स्त्रियों एवं अन्य मिलने के अनधिकारियों से कृपा-दृष्टि से मिले; यथा—"कृपादृष्टि रघुबीर बिलोकी।" (ग) पुर-पशु आदि से भी मिले; यथा—"छन महँ सबहि मिले भगवाना।"

'उमा मरम यह काहु न जाना।'— श्रीशिवजी भगवान् हैं, इससे भगवान् श्रीरामजी के मर्म को जानते हैं। उन्होंने उमा से कहा और वही परंपरा द्वारा पूज्य ग्रन्थकार को भी प्राप्त हुआ। यह प्रभु का रहस्य है, श्रीपार्वतीजी ने पूछा था; यथा—"औरउ राम रहस्य अनेका। कहहु नाथ अति बिमल बिबेका॥" (बा० दो० ११०); उसका यहाँ उत्तर है।

'सुखी करि रामा'—सबको उनकी इच्छानुसार सुखी किया। इससे 'रामा' कहा गया है, क्योंकि सबमें रमते हैं, इससे सबकी रुचि जानकर तदनुसार उन्हें सुखी किया। 'आगे चले'—अभी औरों को एवं माताओं को भी सुखी करना है, इसलिये आगे चले, आगे तो चलना ही है। 'सील गुन धामा'—नीच-ऊँच सभी से मिले, इससे शील-धाम हैं, और सबकी रुचि पूरी की और किसी ने मर्म नहीं जाना, सबने यही जाना कि पहले हम ही से मिल रहे हैं, इससे गुण-धाम हैं।

कौसल्यादि मातु सब धाई। निरखि बच्छ जनु धेनु लवाई॥९॥

छंद—जनु धेनु बालक बच्छ तजि गृहचरन बन परबस गईं।
दिन अंत पुर रुख स्रवत थन हुंकार करि धावत भईं।
अति प्रेम प्रभु सब मातु भेटीं बचन मृदु बहु बिधि कहे।
गइ बिषम बिपति बियोग भव तिन्ह हरष सुख अगनित लहे॥

अर्थ—श्रीकौशल्या आदि सब माताएँ ऐसी दौड़ीं; मानों नई बियाई हुई गायें बछड़ों को देखकर दौड़ी हों ॥४॥ मानो नवीन बियाई हुई गायें छोटे बछड़ों को (जिसे अभी दूध का ही आधार है) घर में छोड़कर चरने के लिये परवश वन में गई थीं। वे दिन के अंत होने पर नगर की ओर हुँकार करती (रँभाती) थन से दूध गिराती हुई दौड़ी हों ॥ प्रभु सब माताओं से अत्यन्त प्रेम से मिले और इन्होंने बहुत प्रकार के कोमल वचन कहे। वियोग से होनेवाली सब कठिन विपत्ति दूर हुई और उन्होंने अगणित हर्ष और सुख पाये ॥

विशेष—(१) 'कौसल्यादि मातु सब धाई।...'—श्रीकौशल्याजी पटरानी हैं, इससे इनका नाम सबसे पहले दिया गया। 'सब धाई' क्योंकि श्रीरामजी सबको समान प्रिय हैं। 'धेनु लवाई'—धेनु शब्द में ही लवाई का भाव आ जाता है, 'धेनु' का अर्थ ही 'लवाई गऊ' है, पर स्पष्ट करने के लिये 'लवाई' भी लिखा गया है। 'निरखि'—जब श्रीराम-लक्ष्मणजी और श्रीसीताजी दिखलाई पड़े। यहाँ शुद्ध वात्सल्य-भाव है, गाय की उपमा दी गई, क्योंकि वात्सल्य गाय से अधिक किसी में नहीं होता।

तुरत की बियाई हुई गाय की उपमा इससे भी दी गई कि माताएँ श्रीराम-लक्ष्मणजी के नये जन्म मानती हैं। जो रावण ऐसे शत्रु से बचकर आये; यथा—"कवनि भाँति लंकापति मारा॥ निसिचर सुभट महा भट मारे॥" (दो० ६); वा, श्रीलक्ष्मणजी अमोघ शक्ति से पुनः जीवित होकर आये, इनके बिना श्रीरामजी भी प्राण त्याग देते। इससे दोनों के नये जन्म मानती हैं।

(२) 'जनु धेनु बालक बच्छ तजि…'—माताएँ चित्रकूट गई थीं; अतः, इनसे अंतिम वियोग वहीं से हुआ। जैसे लवाई गाय को उसका रक्षक जबरदस्ती रक्षा के लिये वन में चराने को ले जाता है और दिन के अन्त में ले आता है, तब वह गाय बछड़े की ओर दौड़ती है। वैसे गाय-रूपी माताओं को रक्षक-रूप श्रीभरतजी बछड़ा-रूप श्रीरामजी से छुड़ाकर जबरदस्ती चित्रकूट से उनकी रक्षा के लिये वन-रूपा श्रीअयोध्या को लाये हैं। वन ही श्रीअवधपुर है; यथा—"अवध तहाँ जहँ राम निवासू।" (अ० दो० ७३); पुर वन है; यथा—"नगर सफल वन गहवर भारी।" (अ० दो० ८१); जैसे गायों के थन से दूध टपकना है वैसे ही अत्यन्त प्रेम के कारण माताओं के स्तनों से दूध टपकता है; यथा—"गोद राखि पुनि हृदय लगाये। स्रवत प्रेम रस पयद सुहाये॥" (अ० दो० ५१)। अत्यन्त प्रेम से माताओं का दौड़ना यहाँ उत्प्रेक्षा का विषय है।

(३) 'अति प्रेम प्रभु सब मातु भेंटी।…'—दौड़ने में श्रीकौशल्याजी की ही प्रधानता थी; किंतु प्रभु ने पहले और माताओं से भेंट की, क्योंकि धर्मशास्त्र में अपनी माता की अपेक्षा विमाता का गौरव दस गुणा कहा गया है; यथा—"मातुर्दशगुणामान्या विमाता धर्म-भीरुणा।" (मनुस्मृति); श्रीकौशल्याजी से मिलना आगे कहा जायगा। 'अति प्रेम'—सब माताएँ अति प्रेम से दौड़ी थीं, वैसे ही प्रभु ने भी अति प्रेम से उनसे भेंट की। 'प्रभु' का भाव यह है कि माताएँ ७०० हैं, उनसे एक साथ ही प्रभुतापूर्वक मिले, सात सौ रूप धारण किये; यथा—"पालागन दुलहियन सिखावति सरिस सासु मन साता॥" (गी० बा० १०८)। जैसे पुरवासियों के लिये अमित रूप हुए वैसे यहाँ भी जानना चाहिये।

यहाँ श्रीरामजी ने मन, वचन और कर्म से माताओं में प्रेम दिखाया—

'अति प्रेम'—मन, 'भेंटी'—कर्म और 'बचन मृदु…'—यह वचन है।

'बचन मृदु बहु बिधि कहे'—मृदु भाषण तो आप सर्वदा करते ही हैं; परन्तु आज माताओं की विषम-वियोग की विपत्ति का हरण करना है, इससे और भी कोमल वचन कहे कि दैवात् आपसे वियोग

हुआ, १४ वर्षों तक मैं आपकी सेवा से वंचित रहा। पर वन में बराबर आपका स्मरण करता रहा। आपलोगों के ही धर्म-प्रभाव से मैं वन में भी सुखी रहा और बड़े भारी शत्रु से विजय पाई, मुनियों को सुखी किया, इत्यादि।

(४) 'हरष सुख अगनित लहे'—हर्ष मिलने में और सुख बहु विधि वचनों के सुनने में जानना चाहिये, क्योंकि दोनों का एक ही अर्थ है।

दोहा—भेंटेउ तनय सुमित्रा, रामचरन रति जानि।
रामहि मिलत कैकई, हृदय बहुत सकुचानि॥
लछिमन सब मातन्ह मिलि, हरषे आसिष पाइ।
कैकइ कहँ पुनि पुनि मिले, मन कर छोभ न जाइ॥६॥

शब्दार्थ—छोभ (क्षोभ) = खलबली, खेद; यथा—"भयउ ईस मन छोभ बिसेषी॥" (बा० दो० ८६)।

अर्थ—श्रीसुमित्राजी ने श्रीरामजी के चरणों में रत जानकर पुत्र (श्रीलक्ष्मणजी) से भेंट की। श्रीरामजी से मिलते हुए श्रीकैकेयीजी हृदय में बहुत सकुचा गईं॥ श्रीलक्ष्मणजी सब माताओं से मिल आशीर्वाद पाकर हर्षित हुए। श्रीकैकेयीजी से बार-बार मिले, परन्तु मन का क्षोभ नहीं जाता॥६॥

विशेष—(१) 'रामचरन रति जानि'—श्रीसुमित्राजी ने जैसा उपदेश दिया था, उसमें श्री-लक्ष्मणजी खरा निकले। इससे श्रीसुमित्राजी ने स्वयं पुत्र को बुलाकर उनसे भेंट की। श्रीलक्ष्मणजी माता से मिलने नहीं गये, क्योंकि श्रीसुमित्राजी ने ऐसा ही उपदेश दिया था, यथा—"तात तुम्हारि मातु बैदेही।" (अ० दो० ७३)। श्रीकैकेयीजी संकोच के मारे पीछे थीं, मिलते हुए भी उन्हें बहुत संकोच हुआ। इस संकोच को मिटाने के लिये फिर उनके महल में जाकर श्रीरामजी समझावेंगे। दो० ६ चौ० १ देखिये।

(२) 'कैकइ कहँ पुनि पुनि मिले…'—क्षोभ का नहीं जाना दोनों ओर लगता है। श्रीलक्ष्मणजी के मन में क्षोभ है कि इनका श्रीरामजी में कैसा सच्चा प्रेम था, परन्तु यह इन्होंने बहुत ही अनुचित किया जो उन्हें वनवास दिया। जैसे कि श्रीभरतजी के मन में क्षोभ रहा कि जन्म-भर उन्हें माता माना ही नहीं। कैकेयीजी के भी मन में क्षोभ है कि हमसे नहीं बना, जो श्रीरामजी को वनवास दिया। जिससे इन्हें महान् कष्ट भोगना पड़ा।

बार-बार मिलकर क्षोभ मिटाना चाहते हैं, परन्तु वह नहीं मिटता। पूज्य ग्रन्थकार ने जान बूझकर ऐसे शब्द रक्खे हैं जो दोनों ओर लगते हैं। बार-बार मिलने का कारण यह है कि सब माताओं ने आशिष दी है, पर श्रीकैकेयीजी संकोच के मारे आशिष न दे सकी थीं। इन्हें देखने में लज्जा लगती थी। अथवा, श्रीकैकेयीजी से आशीर्वाद नहीं पाने के कारण ये शुद्ध स्नेह से फिर-फिर से मिलते हैं कि जिससे यह हमें रूठा हुआ नहीं मानें, क्योंकि वनवास पर इन्होंने कैकेयीजी को परोक्ष में कठोर वचन कहे थे। जब तक उधर से आशिष नहीं मिली, तबतक इधर इनके हृदय से क्षोभ नहीं गया।

सासुन्ह सबनि मिली बैदेही। चरनन्हि लागि हरष अति तेही॥१॥
देहिं असीस बूझि कुसलाता। होइ अचल तुम्हार अहिवाता॥२॥

अर्थ—सब सासुओं से वैदेही श्रीजानकीजी मिलीं और उनके चरणों में लगकर (पालागन करने से) उनको अत्यन्त हर्ष हुआ ॥१॥ (सासुएँ) कुशल पूछ-पूछकर आशिष देती हैं कि तुम्हारा अहिवात अचल हो ॥२॥

विशेष—(१) 'सासुन्ह सबन्हि मिली वैदेही'—सासुएँ ७०० हैं, उन सबसे उतने रूपों से मिलीं ; यथा—"सीय सासु प्रति वेष बनाई। सादर करइ सरिस सेवकाई॥" (अ॰ दो॰ २५१) ; इसी ऐश्वर्य के अनुसार 'वैदेही' कहा गया कि विदेह योगि-शिरोमणि हैं, ये उनकी कन्या हैं। अतः, अनेक रूप धारण करना इनके लिये आश्चर्य नहीं है। 'चरनन्हि लागि'—यह स्त्रियों की रीति है। 'अति हर्ष' के कारण देह की सुध नहीं है इससे भी वैदेही कहा है। मिलने में हर्ष और चरण लगने में अतिहर्ष हुआ। श्रीरामजी ने मन, वचन, कर्म तीनों से भक्ति दिखाई थी—"अति प्रेम प्रभु सब मातु भेंटी।···" देखिये। श्रीसीताजी ने मन और कर्म की ही भक्ति दिखाई ; यथा—'हर्ष अति'—मन और 'चरनन्हि लागि'—कर्म है, और कुशल पूछने पर भी लज्जा-वश वचन नहीं बोल सकीं, क्योंकि श्रीरामजी साथ हैं। इसी संकोची स्वभाव पर सभी सासुएँ लोग प्रसन्न होकर आशिष देने लगीं—'होइ अचल तुम्हार अहिवाता।'—स्त्रियों का सर्वस्व यही है।

सब रघुपति मुख-कमल बिलोकहिं। मंगल जानि नयन जल रोकहिं॥३॥
कनकथार आरती उतारहिं। बार बार प्रभु गात निहारहिं॥४॥
नाना भाँति निछावरि करहीं। परमानंद हरष उर भरहीं॥५॥

अर्थ—सब माताएँ श्रीरघुनाथजी का मुख-कमल देखती हैं और मङ्गल समय जानकर नेत्रों के जल रोकती हैं ॥३॥ सोने के थाल में आरती उतारती हैं, बार-बार प्रभु के अंगों को देखती हैं ॥४॥ अनेकों प्रकार की एवं अनेकों तरह से निछावरें करती हैं, परमानंद और हर्ष से हृदय को भरती हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'सब रघुपति मुख कमल बिलोकहिं।'—यह वात्सल्य रस की रीति है ; यथा—"जननिन्हि सादर बदन निहारे।" (बा॰ दो॰ ३५७), "भये मगन देखत मुख सोभा।" (बा॰ दो॰ २०६), इत्यादि। 'मुख-कमल'—मुख कंजवत् प्रफुल्लित है, किसी तरह की विवर्णता नहीं है।

'नयन जल रोकहिं'—अश्रुपात होना अमंगल है, इसलिये रोकती हैं, क्योंकि यह मङ्गल का समय है।

(२) 'कनकथार आरती उतारहिं।'—पूर्व कहा गया था—"भरि भरि हेमथार भामिनी। गावत चलीं···" अब यहाँ उनके कार्य कहते हैं। 'बार बार प्रभु गात निहारहिं'—(क) प्रभु के अंग अत्यन्त सुन्दर हैं, एक बार देखने से तृप्ति नहीं होती, इससे बार-बार देखती हैं ; यथा—"मृदुल मनोहर सुंदर गाता।" (कि॰ दो॰ १) ; (ख) एक बार देखती हैं, फिर नजर न लग जाय, इस भय से दृष्टि हटा लेती हैं। पुनः मनोहर रूप देखे विना रहा भी नहीं जाता, इससे फिर देखती हैं। (ग) राक्षसों से घोर युद्ध हुआ है, अतएव किसी अंग में घाव तो नहीं है ? यह बार-बार देखती हैं; यथा—"कौसल्या पुनि पुनि रघुबीरहि। चितवति कृपासिंधु रनधीरहि॥" यह आगे कहा गया है।

(३) 'नाना भाँति निछावरि करहीं।'—'नाना भाँति' पद 'निछावरि' और 'करहीं' दोनों के साथ है। नाना भाँति की वस्तु निछावर करती हैं ; यथा—"करहिं निछावरि लोग सब, हय गय धन मनि चीर।" (बा॰ दो॰ ३११) ; पुनः अनेक प्रकार से करती हैं, कोई पदार्थ शिर पर, कोई भुजा पर और कोई और अंगों पर फिरा कर निछावर करती हैं।

'परमानंद' और 'हर्ष' दोनों शब्द समानार्थक हैं, भाव यह है कि दर्शनों से परमानंद होता है और निछावर से हर्ष। अथवा यहाँ आनंद की वीप्सा है। अतः, पुनरुक्ति दोष नहीं है; यथा—"विस्मये च हर्षे कोपे दैन्येऽवधारणे तथा। प्रसादे चानुकम्पायां पुनरुक्तिर्न दूष्यते॥"

कौसल्या पुन पुनि रघुबीरहि। चितवति कृपासिंधु रनधीरहि॥६॥
हृदय बिचारति बारहि बारा। कवन भाँति लंकापति मारा॥७॥
अति सुकुमार जुगल मेरे बारे। निसिचर सुभट महाबल भारे॥८॥

अर्थ—श्रीकौशल्याजी बार-बार रघुवीर, कृपासागर, रणधीर श्रीरामजी को देखती हैं॥६॥ वे बार-बार हृदय में विचार करती हैं कि इन्होंने किस प्रकार से लङ्केश्वर रावण को मारा?॥७॥ मेरे दोनों बालक अत्यन्त कोमल हैं और राक्षस भारी योद्धा, महा बलवान् और भारी शरीर के होते हैं॥८॥

विशेष—(१) 'कृपासिंधु रनधीरहिं'—श्रीरामजी ने श्रीसुग्रीवजी, श्रीविभीषणजी, मुनि-गण और देवताओं पर कृपा की, इसीसे इन्होंने रण में धीर होकर रावण को मारा है। पुनः श्रीलक्ष्मणजी पर शक्ति आदि बाधा आने पर भी अधीर नहीं हुए किंतु युद्ध किया।

(२) 'हृदय बिचारति बारहिं बारा।'—कोई विचार हृदय में नहीं ठहर पाता कि श्रीरामजी ने कैसे रावण-वध आदि कार्य किये। पहले ताडका, मारीच आदि के वध एवं धनुर्भंग और परशुराम-पराजय में तो समाधान हो गया था कि यह सब श्रीविश्वामित्रजी की कृपा से हुआ है; यथा—"सकल अमानुष करम तुम्हारे। केवल कौसिक कृपा सुधारे॥" (बा० दो० ३५९)। परन्तु यहाँ कुछ भी निश्चित नहीं होता कि 'कवनि भाँति लंकापति मारा।' 'लंकापति' का भाव यह कि वह कठिन दुर्ग का स्वामी है; यथा—"जानत परम दुर्ग अति लंका।" (लं० दो० ३७); उसका मारना बड़ा दुष्कर था।

(३) 'अति सुकुमार जुगल '—इनके जोड़ में उत्तरार्द्ध से कठोरता आदि विषमता कहती हैं कि ये 'अति सुकुमार' हैं और 'निसिचर सुभट महाबल' हैं ये 'जुगल' और वे अनेक थे और रावण अकेला ही दश शिरों का था। ये 'बारे' अर्थात् छोटे-छोटे बालक हैं और वे 'भारे' अर्थात् भारी-भारी शरीर के हैं। श्रीरामजी की रणधीरता श्रीभरतजी से सुन चुकी हैं, इसी से अंगों को बार-बार देखती हैं, पर कहीं भी कठोरता आदि योग्यता इनमें नहीं पातीं।

प्रभु उपासकों के भावानुसार कोमल और कठोर होते हैं; यथा—"मणिर्यथा विभागेन नीलपीता-दिभिर्युता। रूप भेदमवाप्नोति ध्यानभेदात्तथाच्युत॥" ऐसा स्मृतियों में लिखा है। वे ही प्रभु रावण के वज्र के समान आयुधों को शरीर पर लेते थे, वे ही कौशल्याजी को छोटे बालक (बारे) के समान भासते हैं, सच है—"जिन्हके रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी॥" (बा० दो० २४०), तथा—"त्व भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननुनाथ पुंसाम्॥ यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपु. प्रणयसे सदनुग्रहाय॥" (भाग० ३।९।११); अर्थात् आप अपने भक्तों के भावयोग से शुद्ध किये हुए हृदयकमल में सदा विराजते हैं और जिस भाव से वे आपकी भावना करते हैं; आप वेद से देखे हुए मार्ग द्वारा उसी तरह का रूप धारण करते हैं।

दोहा—लछिमन अरु सीता सहित, प्रभुहि बिलोकति मातु।
परमानंद मगन मन, पुनि पुनि पुलकित गातु ॥७॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी सहित प्रभु श्रीरामजी को माता (कौशल्याजी) देखती हैं, उनका मन परमानंद में डूबा हुआ है और शरीर बार-बार पुलकायमान होता है ॥७॥

विशेष—उपर्युक्त भावों से केवल श्रीरामजी का देखना पाया जाता था, यहाँ स्पष्ट हुआ कि वे साथ ही तीनों को देख रही हैं। 'प्रभुहि'—प्रभुता पर ही आश्चर्य है। 'परमानंद; यथा—"परमानंद मगन महतारी।" (बा० दो० १९८); परमानंद ब्रह्मानंद से भी उत्कृष्ट आनंद को कहते हैं। 'पुनि पुनि···'—जितनी बार देखती हैं, उतनी बार पुलकावलियाँ होती हैं।

लंकापति कपीस नल-नीला। जामवंत अंगद सुभ सीला ॥१॥
हनुमदादि सब बानर बीरा। धरे मनोहर मनुज सरीरा ॥२॥
भरत सनेह सील ब्रत नेमा। सादर सब बरनहिं अति प्रेमा ॥३॥
देखि नगरबासिन्ह कै रीती। सकल सराहहिं प्रभुपद प्रीती ॥४॥

अर्थ—लंकेश विभीषणजी, कपिपति सुग्रीवजी, नलजी, नीलजी, जाम्बान्जी, अङ्गदजी और हनुमान्जी आदि उत्तम स्वभाववाले वीर वानरों ने सुन्दर नर-शरीर धारण किये ॥१-२॥ सब अत्यन्त प्रेम से आदर-पूर्वक श्रीभरतजी के प्रेम, शील, व्रत और नियम का वर्णन करते हैं ॥३॥ और पुरवासियों की समस्त रीति (श्रीरामजी के प्रति बर्ताव) देखकर सब प्रभु के चरणों में उनके प्रेम की बड़ाई करते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'धरे मनोहर मनुज सरीरा।'—'सुभ सीला'—शुभ स्वभाववाले और शरीर से सुन्दर मनुष्य-शरीर धारण कर लिये। लीला के लिये वानर बने थे, अब वह कार्य हो गया। इससे ये लोग सुंदर मनुष्य रूप हो गये, क्योंकि इस समय मंगलमय रूप होने की आवश्यकता है और वानर और राक्षस शरीर अधम हैं। ये लोग पार्षद रूप से छत्र-चँवर आदि लेकर श्रीरामजी के साथ अभिषेक में रहेंगे। इन सबका मनुष्य रूप होना महर्षिजी ने भी लिखा है; यथा—"नव नागसहस्राणि ययुरास्थय वानराः। मानुष विग्रहं कृत्वा सर्वाभरण भूषिताः॥" (वाल्मी० ६।१२८।३२); अर्थात् नव हजार हाथियों पर चढ़कर वानर गये, वानरों ने मनुष्य का रूप बना लिया था और वे सब आभूषण पहने हुए थे।

श्रीअवधवासी भी सब सुन्दर रूप हैं; यथा—"अल्प मृत्यु नहिं कवनिहुँ पीरा। सब सुन्दर सब निरुज सरीरा॥" (दो० २०); वैसे ही समाज के अनुसार ये लोग भी मनुष्य रूप हो गये।

(२) 'भरत सनेह सील ब्रत नेमा।···'—श्रीभरतजी में असंख्य गुण हैं, पर इन लोगों ने अभी जो देखे हैं, उन्हीं का वर्णन करते हैं, श्रीजनकजी ने कहा है—"निरवधि गुन निरुपम पुरुष, भरत भरत-सम जानि।" (अ० दो० २८८); यहाँ श्रीभरतजी का स्नेह पुरवासियों से भी अधिक है, इसी से इसे पहले कहा गया। शील उनकी चेष्टा से जाना। व्रत और नेम शरीर देखकर जाना गया; क्योंकि शरीर सूख

गया है। 'व्रत नेम'; यथा—"मुनि मन अगम जम नियम सम दम विषम व्रत आचरत को॥" (अ० दो० ३११)।

(३) 'देखि नगरवासिन्ह कै रीती।'—श्रीरामजी की प्रीति पूर्व कही गई; यथा—"अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी।" (दो० ३); उसके जोड़ में यहाँ पुरवासियों की प्रीति कही गई। 'सकल' दीपदेहली है। सराहना यह कि इनके आगे हमारा स्नेह तुच्छ है; यथा—"सधन चोर मग मुदित मन···राम सराहे, भरत उठि मिले···" (दोहावली १०७-१०८)।

पुनि रघुपति सब सखा बोलाये। मुनिपद लागहु सकल सिखाये॥५॥
गुरु बसिष्ठ कुलपूज्य हमारे। इन्हकी कृपा दनुज रन मारे॥६॥
ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भये समर-सागर कहँ बेरे॥७॥
मम हित लागि जनम इन्ह हारे। भरतहु ते मोहि अधिक पियारे॥८॥
सुनि प्रभु-बचन मगन सब भये। निमिष निमिष उपजत सुख नये॥९॥

अर्थ—फिर श्रीरघुनाथजी ने सब सखाओं को बुलाया और सबको सिखाया कि तुम लोग मुनि के चरण लगो; अर्थात् चरणों पर शिर रखकर प्रणाम करो॥५॥ ये हमारे गुरु श्रीवसिष्ठजी हैं, हमारे कुलपूज्य हैं, इन्हीं की कृपा से रण में राक्षस मारे गये हैं॥६॥ हे मुनि! सुनिये, ये सब मेरे सखा हैं, ये लोग संग्राम-रूपी समुद्र में मेरे लिये बेड़े-रूप (सहायक) हुए हैं॥७॥ इन्होंने मेरे हित के लिये अपने जन्म हार दिये, (इसीसे) ये मुझे श्रीभरतजी से भी अधिक प्यारे हैं॥८॥ प्रभु के वचन सुनकर सब (प्रेम में) मग्न हो गये, पल-पल में उनको नये सुख उत्पन्न हो रहे हैं॥९॥

विशेष—(१) 'पुनि रघुपति सब सखा बोलाये।'—ये दूर देश के हैं, मुनि को एवं उनकी मर्यादा नहीं जानते, इसलिये श्रीरामजी ने सिखाया कि इस तरह इनको प्रणाम करना चाहिये। ये हमारे कुलपूज्य हैं और तुम सब हमारे सखा हो, हमारी तरह साष्टांग दंडवत् करो। जो बात भक्त नहीं जानते, उसे प्रभु उन्हें सिखा देते हैं।

(२) 'कुलपूज्य' अर्थात् हमारे कुल-भर के लोग इन्हें पूजकर मन वांछित प्राप्त करते आये हैं; यथा—"तुम्ह सुरतरु रघुबंस के देत अभिमत माँगे।" (गी० बा० १२)—यह कौशल्याजी ने कहा है। इक्ष्वाकु महाराज के समय से ये ही गुरु रह आये हैं।

(३) 'ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे।'—प्रणाम करनेवाले को भी प्रणाम करते समय अपना परिचय देना चाहिये, वह भी श्रीरामजी ही कहते हैं कि 'ये सब सखा···' 'ये' शब्द अंगुल्यानिर्देश है।

दोनों ओर के गुण कहने का कारण यह कि सखा लोग प्रेम से प्रणाम करें और मुनि कृपा करके आशिष दें।

'भये समर-सागर कहँ बेरे।'—बेड़े छोटी-छोटी नदियों में चलते हैं। वैसे समर भी सागर की तरह अथाह एवं अपार था, पर इन लोगों ने पुरुषार्थ कर के उसे छोटी नदी के समान कर दिया; अर्थात् सेना-समूहों को मारा। पुनः रहे-सहे रावण-कुंभकर्ण आदि को भी मारने में सहायक होकर उन्हें भी

मरवाया। अत, हम बिना श्रम पार हो गये। यही बेड़ा होना है, 'बेरे' बहुवचन है, क्योंकि वानरों के बहुत-से वृन्द हैं, इस तरह सबों की सहायता कही।

(४) 'मम हित लागि '—मेरे हित के लिये इन्होंने प्राणों का लोभ नहीं किया, मरना भी स्वीकार किया। इससे ये मुझे अत्यन्त प्रिय हैं, यह बात दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—'भरतहुँ ते ' श्रीभरतजी के समान श्रीरामजी को और कोई प्रिय नहीं है, यथा—"तुम्ह सम रामहिं कोउ प्रिय नाहीं।" (अ० दो० २०७), यह त्रिवेणी के वचन है। 'मम हित ', यथा—"ये दारागार पुत्राप्तान् प्राणान्वित्त मिम परम्। हित्वा मां शरणं याता कथं तास्त्यक्तुमुत्सहे ॥" (भाग० ९।४।६५)। अर्थात् जिन्होंने अपने स्त्री, घर, पुत्र, श्रेष्ठवर्ग, प्राण, धन आदि सब छोड़कर मेरी शरण ली, उन्हें हम कैसे छोड़ सकते हैं ?

श्रीभरतजी की तुलना का कारण यह है कि ये श्रीवसिष्ठजी के समीप हैं, उनका प्रेम और उनपर प्रभु के स्नेह को जानते हैं। पुन श्रीभरतजी ने धन एव राज्य की रक्षा की है और इन्होंने देह की रक्षा की है। श्रीभरतजी अपने सगे हैं, इनका स्नेह होना स्वाभाविक है और ये लोग विजातीय हैं, पशु योनि के हैं, इनका इतना स्नेह बहुत है, इससे अधिक कहा है, यथा—"नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई।" (वि० १६४), 'निमिष निमिष '—पहले इन्हें प्यार से बुलाया और पुत्रवत् मानकर मुनि के प्रणाम करना सिखाया, तब वानरों को सुख हुआ। पुन मुनि के प्रति इनका परिचय दे आशिष दिलाई, तब फिर सुख हुआ। वानरों का उपकार वर्णन किया तब भी सुख हुआ। श्रीभरतजी से भी अधिक प्रिय कहा, तब तो सुख मे निमग्न ही हो गये। ये ही नये नये सुख हैं।

दोहा—कौसल्या के चरनन्हि, पुनि तिन्ह नायउ माथ।
आसिष दीन्हे हरषि तुम्ह, प्रिय मम जिमि रघुनाथ॥
सुमन-वृष्टि नभ संकुल, भवन चले सुखकंद।
चढ़ी अटारिन्ह देखहिं, नगर नारि - नर - बृंद ॥८॥

अर्थ—उन्होंने फिर श्रीकौशल्याजी के चरणों मे शिर नवाया, इन्होंने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया कि तुम मुझे श्रीरघुनाथजी के समान प्रिय हो। आनन्द कद (सुख के मूल एव सुख वर्षा करनेवाले) श्रीरामजी घर को चले, आकाश फूल वर्षा से भर (पूर्ण हो) गया, नगर के स्त्री पुरुष के झुण्ड के झुण्ड अटारियों पर चढ़े हुए दर्शन कर रहे हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'कौसल्या के चरनन्हि '—गुरु वसिष्ठजी को प्रणाम करके अब माता को प्रणाम किया, क्योंकि ये गुरुजनों मे प्रधान हैं। 'आसिष दीन्हें '—श्रीरामजी ने इन सबको सखा माना है, सखा का पद बराबर का है, वैसा ही मानकर माता ने हर्ष पूर्वक आशिष दी। जैसे श्रीरामजी को देख कर हर्ष होता है, वैसे इन्हें देखकर भी हर्ष हुआ।

(२) 'सुमन वृष्टि नभ '—मिलाप का प्रसग यहाँ समाप्त हुआ अब श्रीरामजी भवन को चले, इससे मगल के लिये देवताओं ने फूलों की वर्षा की। 'भवन चले'—यहाँ चलना कहा गया, क्योंकि माताओं से मिलने के लिये खड़े हुए थे, इसी तरह पहले भी कहा गया था यथा—"आगे चले सील गुन

धामा।" (दो० ५); 'सुखकंद'—क्योंकि जैसे पहले सबको सुखी करके चले थे ; यथा—"येहि बिधि सुखी करि रामा। आगे चले···" वैसे यहाँ भी माताओं को सुखी करके चले।

(३) 'चढ़ी अटारिन्ह···'—पहले भी कहा गया था—"बहुतक चढ़ीं अटारिन्ह, निरखहिं गगन बिमान।" (दो० ३); यहाँ नरवृन्द भी कहे गये, क्योंकि नीचे सड़कों पर इतनी भीड़ हो गई है कि लोग सड़कों मे नहीं अमाते, इससे पुरुष लोग भी अटारियों पर चढ़ गये हैं।

कंचन कलस बिचित्र सँवारे। सबन्हि धरे सजि निज निज द्वारे ॥१॥
बंदनवार पताका केतू। सबन्हि बनाये मंगल-हेतू ॥२॥
बीथी सकल सुगंध सिंचाई। गज मनि रचि बहु चौक पुराई ॥३॥
नाना भाँति सुमंगल साजे। हरषि नगर निसान बहु बाजे ॥४॥

अर्थ—सोने के कलश विलक्षण रीति से (मणिमय चित्रामों से) सँवारकर और सजाकर सभी ने अपने-अपने द्वारों पर रक्खे ॥१॥ मङ्गल के लिये सभी ने (द्वारों पर) वंदनवार, पताकाएँ और ध्वजाएँ सजाकर लगाईं ॥२॥ सब गलियाँ अरगजा आदि सुगन्धित द्रव्यों सहित जल से सिंचाई गईं, गजमुक्ताओं से रचकर बहुत-सी चौकें पुरवाई गईं ॥३॥ हर्षित होकर अनेक प्रकार के सुन्दर मंगल नगर में सजाये गये। हर्ष से नगर में बहुत-से नगाड़े बजने लगे ॥४॥

विशेष—(१) 'कंचन कलस ···'—पहले दर्शनों की आतुरता में—"नर अरु नारि हरषि सब धाये।" (दो० २), अब दर्शनकर सावधान हुए, तब अपने-अपने द्वारों पर मंगल सजने लगे। यह पुरुषों का उत्साह दिखाते हैं, स्त्रियों की मंगल-रचना पहले ही कही गई ; यथा—"दधि दुर्बा रोचन फल फूला।··· भरि भरि हेम थार ···" (दो० २); 'कंचन कलस···'—इनमे रंग-बिरंग की मणियों के चित्राम बने हैं, उनमे जल भर, ऊपर से आम के पल्लव रख दीपक और जलाकर द्वार पर रक्खा है। निज-निज द्वारे'—सभी उत्साहित हैं,' इससे जितनी देर मे एक द्वार की सजावट हुई, उतनी ही देर मे सबों ने अपने द्वारों की रचना कर लीं कि चतुर चूड़ामणि देखकर प्रसन्न होंगे।

(२) 'वंदनवार पताका केतू।···'—पहले द्वार पर नीचे की व्यवस्था कही, अब ऊपर की रचना कहते हैं। पुनः द्वार से बाहर गली को कहते हैं—

(३) 'बीथी सकल···' —'सिंचाई' और 'पुराई' से सूचित किया कि सड़कें सरकारी होती हैं; अतएव सरकारी कर्मचारियों ने व्यवस्था की। 'सुगंध सिंचाई' ; यथा—"गली सकल अरगजा सिंचाई।" (बा० दो० १९६); 'गजमनि रचि बहु चौक पुराई।'—चौकों के पूरे जाने का कोई स्थान नहीं लिखा गया, क्योंकि ये एक ही नियत स्थान पर नहीं पूरी जातीं, किंतु घर, आँगन, गली और बाजार आदि कई स्थलों पर पूरी जाती हैं ; यथा—"सींचि सुगंध रचैं चौकें गृह आँगन गली बजार।" (गी० बा० १)।

(४) 'नाना भाँति सुमंगल साजे।···'—पहले कुछ मंगलों के नाम गिनाये, कहाँ तक गिनावें ? 'नाना भाँति' कहकर और भी सभी मङ्गल सूचित कर दिये, साथ ही—'हरषि नगर···' कहा गया ; अर्थात् हर्ष पूर्वक नगाड़ा बजाया जाना भी मङ्गल है। 'हरषि' शब्द दीपदेहली है। यहाँ तक पुरुषों का कृत्य कहा गया, आगे स्त्रियों का कहते हैं —

(४) 'कंचन कलस' को 'सवन्हि धरे···' कहकर सूचित किया कि उस समय भारतवर्ष पूर्ण उन्नति पर था, सभी के घर में सुवर्ण के सब बर्त्तन थे। अब तो मिट्टी के घड़ों पर गोबर से चित्रकारी की जाती है और आटे से चौकें पूरी जाती हैं।

जहँ तहँ नारि निछावरि करहीं। देहिं असीस हरष उर भरहीं ॥५॥

कंचन थार आरती नाना। जुवती सजे करहिं सुभ गाना ॥६॥

करहिं आरती आरति-हर के। रघुकुल-कमल-बिपिन दिनकर के ॥७॥

अर्थ—जहाँ तहाँ स्त्रियाँ निछावर करती हैं, आशिष देती हैं (वा, निछावर पानेवाले आशिष देते हैं, तब) हृदय में हर्ष भरती हैं ॥५॥ सौभाग्यवती युवती स्त्रियाँ सोने के थालों में अनेकों आरतियाँ सजे हुई मंगल गीत गा रही हैं ॥६॥ आर्त्ति (विपत्ति) के हरनेवाले रघुकुल रूपी कमल वन के सूर्य श्रीरामजी की आरती करती हैं ॥७॥

विशेष—(१) 'जहँ तहँ नारि '—भाव यह कि श्रीरामजी के पास आकर उनके शिर में उतार (फिरा) कर निछावर करने का अवकाश नहीं है। अतः, जो जहाँ हैं वहीं से निछावर करती हैं। निछावर करने एवं आरती उतारने में तन की भक्ति, 'हरष उर भरहीं' में मन की और 'देहिं असीस' में वचन की भक्ति प्रकट है।

'देहिं असीस···'; यथा—"नूनं नंदति ते माता कौसल्या मातृनन्दन ॥ पश्यन्ती सिद्धयात्रं त्वां पित्र्यं राज्यमुपस्थितम्। सर्वसीमन्तिनीभ्यश्च सीता सीमन्तिनी वरा ॥ अमन्यन्त हि ता नार्यो रामस्य हृदयप्रियाम्।" (वाल्मी॰ २।१६।२१-२१); अर्थात् हे मातृनंदन ! आपकी माता कौशल्या निश्चय ही भाग्यवती हैं। जिसकी यात्रा सफल हो गई है और जिसे पिता का राज्य प्राप्त हो रहा है, ऐसे पति को देखनेवाली श्रीसीताजी अवश्य स्त्रियों में बड़ी हैं। ऐसा उन स्त्रियों ने श्रीराम-प्रिया श्रीसीताजी को समझा।

(२) 'कंचन थार आरती नाना।···'—'नाना' शब्द थाल, आरती और युवती के भी साथ है। 'सजे करहिं कल गाना'—आरती बारी-बारी से करती हैं, जिनकी बारी अभी नहीं आई है, वे थाल सजे हुई मङ्गल गान कर रही हैं।

(३) 'करहिं आरती आरति हर के···'—यद्यपि श्रीरामजी ने वन में जाकर दुष्टों को मारा है, जिससे जगत् भर की आर्त्ति (विपत्ति) दूर हुई, तथापि लौटकर रघुकुल की विपत्ति दूर की, उन्हें प्रफुल्ल किया है। ये स्त्रियाँ उन्हीं श्रीरामजी की आरती करती हैं कि इनकी अलाय-बलाय दीपकों से उतारकर हमलोग ले लें। ये सुखी हों, क्योंकि ये रघुकुल भर को सुशोभित करनेवाले हैं। ये माधुर्य दृष्टि से राजा ही मानती हैं और उसी भाव से आरती कर रही हैं।

पुर-सोभा संपति कल्याना। निगम सेष सारदा बखाना ॥८॥

तेउ यह चरित देखि ठगि रहहीं। उमा तासु गुन नर किमि कहहीं ॥९॥

अर्थ—शिवजी कहते हैं कि हे उमा ! पुर की शोभा, सम्पत्ति और कल्याण का वेद, शेष और शारदा बखान करते हैं ॥८॥ वे (ऐसे योग्य वक्ता) भी यह चरित देखकर ठगे से रह जाते हैं, तब उनका गुण मनुष्य कैसे कह सकते हैं ? अर्थात् नहीं कह सकते ॥९॥

विशेष—(१) जब-जब श्रीरामजी का अवतार होता है, तब-तब पुर की शोभा, सम्पत्ति और कल्याण का वेद, शेष और शारदा बखान करते हैं, पर इस कल्प के चरित को देखकर वे भी ठगे से (दंग, भौचक्के से) रह जाते हैं कि जो हमने वर्णन किया है, वह तो कुछ भी नहीं है।

(२) कलश आदि भी स्वर्ण के हैं इनसे सम्पत्ति, वन्दनवार आदि से शोभा और लोगों की श्रीरामजी में श्रेष्ठ-दृढ़ निष्ठा से उनके अभ्युदय रूप कल्याण की निःसीमता है, इसपर सब वक्ता स्तब्ध से रह जाते हैं ; यथा-संख्यालंकार से यों भी अर्थ होता है—'पुर सोभा' का निगम, 'संपति' का शेष और कल्याण का शारदा बखान करती हैं और पुर का वर्णन तो स्वयं श्रीरामजी ने किया है ; यथा—"धन्य अवध जो राम बखानी ।" (दो० ३)।

(३) 'नर किमि कहहीं'—स्वर्ग की वक्ता शारदा, पाताल के शेष और साक्षात् ब्रह्म-वाणी वेद से भी यथार्थ नहीं कहा जाता, तो मर्त्यलोक के अल्प मति वक्ता मनुष्य कैसे कह सकते हैं ?

दोहा—नारि कुमुदिनी अवध सर, रघुपति - बिरह दिनेस।
अस्त भये बिगसत भईं, निरखि राम - राकेस ॥
होहिं सगुन सुभ बिबिध बिधि, बाजहिं गगन निसान ।
पुर-नर-नारि सनाथ करि, भवन चले भगवान ॥९॥

अर्थ—अवध रूपी तालाब की स्त्रियाँ रूपिणी कुमुदिनी (कुईं) श्रीरघुनाथजी के विरह रूपी सूर्य के अस्त होने पर राम रूपी पूर्णचन्द्र को देखकर खिल गईं ॥ भाँति-भाँति के मङ्गल शकुन हो रहे हैं, आकाश में अनेक प्रकार के नगाड़े बज रहे हैं। पुर के स्त्री-पुरुषों को कृतार्थ करके भगवान् श्रीरामजी महल को चले ॥९॥

विशेष—(१) 'नारि कुमुदिनी···'—पुरुषों का आनंद—"राकाससि रघुपति पुर सिंधु देखि हरषान।" (दो० ३); में कहा गया। यहाँ स्त्रियों का आनन्द कहते हैं। नर-नारियों का समान आनन्द दिखाने के लिये दोनों की दृष्टि में दोनों जगह श्रीरामजी 'राकाससि' और 'राकेस' ही कहे गये हैं। 'निरखि'का भाव यह कि जैसे माताएँ आरती करके श्रीरामजी के अंगों को देखती थीं ; यथा "कनक थार आरती उतारहिं। बार बार प्रभु गात निहारहिं ॥" (दो० ६); वैसे ये स्त्रियाँ भी आरती करके देखती हैं।

(२) 'होहिं सगुन सुभ···'—अब श्रीरामजी अपने भवन को चल रहे हैं, इसलिये शुभ शकुन हो रहे हैं और देवता लोग भी मंगल के लिये प्रसन्नता से नगाड़े बजा रहे हैं। ऊपर पुरवासियों का नगाड़ा बजाना कहा गया; यथा—"हरषि नगर निसान बहु बाजे।" अब यहाँ देवताओं का नगाड़ा बजाना भी कहा। 'सनाथ करि'—ये सभी पूर्व वनवास के समय से ही अनाथ हो रहे हैं; यथा—"चलत राम लखि अवध अनाथा ।" (अ० दो० ८२); आज प्रभु के आने से सब सनाथ हुए।

(३) 'भवन चले भगवान'—पहले भी भवन चलना कहा गया था ; यथा—"भवन चले सुख कंद।" (दो० ८); बीच में पुरवासियों के सम्बन्ध में रुकना कहा गया, इसीसे फिर चलना कहा गया है। यहाँ 'भगवान्' विशेषण भी दिया गया, क्योंकि सबसे एक ही समय में मिलना ऐश्वर्य-रीति से हुआ है।

प्रभु जानी कैकई लजानी। प्रथम तासु गृह गये भवानी ॥१॥
ताहि प्रबोधि बहुत सुख दीन्हा। पुनि निज भवन गवन हरि कीन्हा ॥२॥
कृपासिंधु जब मंदिर गये। पुर-नर-नारि सुखी सब भये ॥३॥

अर्थ—हे भवानी ! प्रभु जान गये कि श्रीकैकयीजी लज्जित हो गई हैं, (इसलिये) पहले उन्हीं के घर गये ॥१॥ उन्हें बहुत समझाकर बहुत सुख दिया, फिर सबके दुःख हरनेवाले भगवान् अपने महल को चले ॥२॥ जब कृपा के समुद्र श्रीरामजी महल में गये, तब स्त्री-पुरुष सभी सुखी हुए ॥३॥

विशेष—(१) 'प्रभु जानी कैकई लजानी।'—मिलते समय प्रभु ने देखा था ; यथा—"रामहि मिलत कैकई, हृदय बहुत सकुचानि।" (दो॰ ६) ; उसपर आपको दुःख हुआ था। अतः, उन्हें समझाकर प्रसन्न करने के लिये पहले उनके ही यहाँ गये, यह श्रीरामजी के स्वभाव की बड़ाई है : यथा—"ता कुमातु को मन जोगवत ज्यों निज तनु परम कुघाउ ॥" (वि॰ १००)।

(२) 'ताहि प्रबोधि बहुत सुख दीन्हा।'—'प्रबोधि' अर्थात् प्रकर्ष बोध कराया, क्योंकि वे हृदय से बहुत सकुचाई हुई थीं। श्रीरामजी के समझाने से उनके सभी संकोच मिट गये, इसी से बहुत प्रसन्न हुईं अतः 'बहुत सुख दीन्हा' कहा गया है।

समझाया कि काल, कर्म और दैव की गति अनिवार्य है, उसी के अनुसार जगत् की भी प्रवृत्ति है ; यथा—"काल करम बिधि सिर धरि खोरी।···अंब ईस आधीन जग।" (अ॰ दो॰ २४४) फिर इस कार्य का परिणाम बहुत ही श्रेष्ठ हुआ, आपकी कृपा से तीनों लोक सुखी हुए, मेरी भी प्रशंसा हो रही है। कार्य का परिणाम ही देखा जाता है। यह सब प्रपंच देवताओं का रचा हुआ था। उसे आप अपने ऊपर व्यर्थ ही मानकर क्षुभित होती हैं। लंका में पिताजी से मैंने आपके प्रति उनकी प्रसन्नता माँग ली है। अतः, अब उनके त्याग का भी भय नहीं है, इत्यादि।

'निज भवन'—श्रीकनक-भवन, जहाँ से पहले श्रीसुमंत्रजी के साथ श्रीकैकयीजी के महल को गये थे। 'हरि—क्योंकि यहाँ श्रीकैकयीजी का क्लेश हरण किया है।

(३) 'कृपासिंधु जब मंदिर गये।'—सबपर कृपा करते आते हैं, यहाँ श्रीकैकयीजी पर बड़ी कृपा की, इससे 'कृपासिंधु' कहा है।

'पुर-नर-नारि सुखी सब भये।'—प्रायः कहा जाता है कि श्रीकैकयीजी के महल में जाने पर लोग शंकित हो गये थे कि वहीं से वन को गये थे, कहीं यह फिर न इन्हें वन को भेज दें। जब वहाँ से आकर अपने महल को गये तब सब सुखी हुए। यह भाव ठीक नहीं, क्योंकि जब से चित्रकूट से आये। अब पुरवासी लोगों को उसपर शंका नहीं है सभी ने काल-कर्म ही को कारण मान लिया है। सुखी होने का कारण यह है कि यह महल १४ वर्षों से सूना था, आज उस भवन को सुशोभित देख सभी सुखी हुए। पुनः जिस कैकेयी ने ऐसा दुःखद वनवास दिया था, उसपर भी ऐसी कृपा की, श्रीरामजी के ऐसे कृपालु स्वभाव पर भी सब सुखी हुए।

पहले श्रीकैकयीजी के महल में जाने का यह भी गूढ़ हेतु है कि १४ वर्ष के वनवास का व्रत आपने वहीं से लिया था। इससे अवधि पूर्ण होने पर भी वहीं जाकर उसकी पूर्ति की, तब अपने भवन को गये, जहाँ से पहले कैकयी-भवन में श्रीसुमंत्रजी के साथ आये थे। यह सूक्ष्म धर्म-निर्वाह की निपुणता है।

"राज्याभिषेक"—प्रकरण

गुरु बसिष्ठ द्विज लिये बोलाई। आजु सुघरी सुदिन समुदाई ॥४॥
सब द्विज देहु हरषि अनुसासन। रामचंद्र बैठहिं सिंहासन ॥५॥

अर्थ—गुरु श्रीवसिष्ठजी ने ब्राह्मणों को बुला लिया (और बोले) आज सुन्दर घड़ी (मुहूर्त्त) है, सुन्दर दिन है और समुदाय (उत्तम योग सभी) हैं ॥४॥ सब ब्राह्मण प्रसन्नतापूर्वक आज्ञा दो, तो श्रीरामचन्द्रजी सिंहासन पर बैठें ॥५॥

विशेष—(१) 'गुरु बसिष्ठ द्विज ···'—ब्राह्मण लोग इनके समीप ही थे। अतः, उन्हें स्वयं बुला लिया। 'समुदाई' का भाव यह है कि घड़ी, दिन, नक्षत्र इत्यादि समुदाय-का-समुदाय उत्तम-ही-उत्तम सभी योग पड़े हैं।

(२) 'सब द्विज देहु हरषि...'—राजा दशरथजी श्रीवसिष्ठजी से आज्ञा लेकर कार्य किया करते थे, अब इस कार्य का भार श्रीवसिष्ठजी पर ही है; यथा—"बनहिं देब मुनि रामहि राजू।" (अ॰ दो॰ १८६); इससे वे स्वयं उतावली कर रहे हैं और ब्राह्मण-समूह से आज्ञा ले रहे हैं, यह इनकी शालीनता है जो बहुतों की सम्मति लेकर कार्य करते हैं। वास्तव में अनुशासन का तात्पर्य उन्हें उत्सव में शामिल करने का है कि आओ सब मिलकर यह कार्य करें। सब शकुनों के पीछे हर्ष सहित ब्राह्मणों की आज्ञा भी शुभ शकुन है। 'हरषि' का यह भी भाव है कि पूर्व गुरु श्रीवसिष्ठजी ने हर्ष पूर्वक राम-तिलक की आज्ञा नहीं दी, उसमें विघ्न हो गया, यथा—"सुदिन सुमंगल तबहि जब, राम होहिं जुवराज।" (अ॰ दो॰ ४)।

'आजु'—किस महीने में और किस तिथि को राज्याभिषेक हुआ, इसमें मतभेद है, पुनः श्रीगोस्वामीजी के अपने ही मानस में भी चार कल्पों की कथाएँ एक साथ हैं। अतः, तिथि आदि में मतभेद होना स्वाभाविक ही है, इसलिये किसी तिथि का नाम नहीं है। केवल इतना ही आशय है कि जिस दिन आये, उसी दिन तिलक किया जा रहा है; क्योंकि आगे तिलक हो जाने पर वानरों को वास दिलाना लिखा गया है।

चित्रकूट की बृहद् सभा में निर्णय किया जा चुका था; यथा—"बाँटी बिपति सबहि मोहि भाई। तुम्हहिं अवधि भरि बड़ि कठिनाई ॥" (अ॰ दो॰ ३०५), अर्थात् १४ वर्षों में कैकयीजी के दोनों वरदान पूरे हो जायँगे और फिर श्रीरामजी अपना राज्य सँभाल लेंगे। इससे यहाँ उसपर विचार करने की आवश्यकता नहीं है। अतः, गुरुजी द्विजों से केवल आज्ञा मात्र माँगते हैं।

मुनि बसिष्ठ के बचन सुहाये। सुनत सकल बिप्रन्ह अति भाये ॥६॥
कहहिं बचन मृदु बिप्र अनेका। जग अभिराम राम-अभिषेका ॥७॥
अब मुनिबर बिलंब नहिं कीजै। महाराज कहँ तिलक करीजै ॥८॥

अर्थ—वसिष्ठ मुनि के सुहावने वचन सुनते ही सब विप्रों को वे (वचन) अति प्रिय लगे ॥६॥ वे असंख्य ब्राह्मण कोमल वचन बोले कि श्रीरामजी का तिलक जगत्-भर को आनंद देनेवाला है ॥७॥ हे मुनिश्रेष्ठ! अब देर नहीं कीजिये, महाराज श्रीरामजी का तिलक कर दीजिये ॥८॥

विशेष—(१) 'मुनि बसिष्ठ के...'—'सुहाये' बहुवचन है, क्योंकि श्रीवसिष्ठजी के कई वचन हैं—ब्राह्मणों से सुदिन आदि कहा, उनसे आज्ञा माँगी, श्रीरामजी को राज्य देने के लिये कहा, इत्यादि सभी वचन सुहावने हैं।

'अति भाये'—आनंद से हृदय भर गया, इसी से आगे कोमल वचन कहते हैं। श्रीवसिष्ठजी ने हर्षपूर्वक आज्ञा माँगी थी, वही यहाँ 'अति भाये' से उनके हृदय का हर्ष कहा गया। आगे आज्ञा देना कहते हैं, यथा—'अब मुनिवर बिलंब...'

(२) 'जग अभिराम राम अभिषेका।'—भाव यह कि इनका राज्याभिषेक होने पर संसार भर आनंदित होगा। अत, ग्रह, तिथि, नक्षत्र, आदि स्वयं उत्तम-उत्तम आ जायँगे। उनके विचार की आवश्यकता नहीं है, अतएव—

(३) 'अब मुनिवर बिलंब नहिं कीजै।'—भाव यह कि पूर्व एक रात के विलम्ब करने में विघ्न हो गया। अत, अब शीघ्रता होनी चाहिये। शुभ कार्य में विलंब नहीं करना चाहिये। 'महाराज कहँ...'—'महाराज' यह बड़े लोगों के लिये सम्बोधन है, यह भी भाव है कि ये प्रथम ही श्रीसुग्रीवजी और श्रीविभीषणजी को राजा बना चुके हैं, अतएव महाराज तो पहले से हैं ही, अब तिलक भी कर दीजिये।

दोहा—तब मुनि कहेउ सुमंत्र सन, सुनत चलेउ हरषाइ।
रथ अनेक बहु बाजि गज, तुरत सँवारे जाइ॥
जहँ तहँ धावन पठइ पुनि, मंगल द्रव्य मँगाइ।
हर्ष समेत बसिष्ठ-पद, पुनि सिर नायउ आइ॥१०॥

अर्थ—तब (ब्राह्मणों के अनुमोदन करने पर) मुनि श्रीवसिष्ठजी ने सुमंत्रजी से कहा और वे सुनते ही हर्षित होकर चले, आकर अनेकों रथ और बहुत-से हाथी घोड़े तुरत सजाये॥ फिर जहाँ-तहाँ दूतों को भेजकर और मंगल द्रव्य (मांगलिक वस्तुएँ) मँगाकर हर्ष सहित आकर फिर श्रीवसिष्ठजी के चरणों में मस्तक नवाया कि आपकी आज्ञा के अनुसार सब कार्य कर आया, अब क्या आज्ञा है ?) ॥१०॥

विशेष—(१) 'तब मुनि कहेउ...'—श्रीसुमंत्रजी वहीं थे और यह भी सुन चुके थे कि 'बिलंब नहिं कीजै' अतएव सुनते ही हर्षित होकर उठे और ये सभी कार्य भी शीघ्रता से करेंगे।

(२) 'मंगल द्रव्य'—यहाँ गुरुजी ने वस्तुओं के नाम नहीं कहे, क्योंकि श्रीसुमंत्रजी स्वयं पंडित हैं और बहुत पुराने मंत्री हैं, इससे वे सब जानते हैं। यह भी हेतु है कि एक बार पूर्व कह चुके हैं, यथा—"हरषि मुनीस कहेउ मृदुबानी।" से "सजहु तुरँग रथ नाग।" तक (अ० दो० ६) देखिये।

(३) 'जहँ तहँ धावन पठइ ..'—शीघ्र चलनेवाला धावन कहाता है, यहाँ शीघ्रता का काम है, अत, श्रीहनुमान्‌जी ने सब एकत्र कर दिया, यथा—"संकट समाज असमंजस में राम राज काज जुग पूगनि को करतल पल भो।" "मन को अगम तनु सुगम किये कपीस काज महाराज के समाज साज साजे हैं।" (हनुमान् बाहुक १+१५)।

(४) 'हर्ष समेत'—अल्पकाल में ही सभी वस्तुएँ आ गईं, इससे हर्ष समेत आकर कहा कि आपकी चरण-कृपा से सब ठीक हो गया।

'पुनि सिर नायउ'—'पुनि' का अर्थ फिर है, वा, दूसरी बार भी, इससे यह भी सूचित किया कि आज्ञा पाकर चलते समय भी प्रणाम करके गये थे, अब लौटने पर फिर प्रणाम किया।

अवधपुरी अति रुचिर बनाई। देवन्ह सुमन-वृष्टि झरि लाई ॥१॥
राम कहा सेवकन्ह बुलाई। प्रथम सखन्ह अन्हवावहु जाई ॥२॥
सुनत वचन जहँ तहँ जन धाये। सुग्रीवादि तुरत अन्हवाये ॥३॥

अर्थ—श्रीअवधपुरी अत्यन्त सुन्दर सजाई गई, देवताओं ने पुष्प-वर्षा की झड़ी लगा दी ॥१॥ श्रीरामजी ने सेवकों को बुलाकर कहा कि पहले सखाओं को जाकर स्नान कराओ ॥२॥ वचन सुनते ही सेवक जहाँ-तहाँ दौड़ पड़े और (जाकर) उन्होंने श्रीसुग्रीवजी आदि (सखाओं) को तुरत स्नान कराया ॥३॥

विशेष—(१) 'अति रुचिर'—रुचिर तो स्वाभाविक है, रचना से अति रुचिर हो गई वा श्रीअवध सदैव शोभापूर्ण है, रचना करनी पुरवासियों की प्रीति की रीति है ; यथा—"जद्यपि अवध सदैव सुहावनि। रामपुरी मंगलमय पावनि ॥ तदपि प्रीति कै रीति सुहाई। मंगल रचना रची बनाई ॥" (बा० दो० २९५)।

मंगल-द्रव्य एकत्र होना और पुरी की रचना आदि मङ्गलकार्य देखकर देवताओं ने भी फूल बरसाये, यह भी मंगल ही है ; यथा—"पढ़हिं वेद मुनि मंगलबानी। गगन सुमन झरि अवसर जानी ॥" (बा० दो० ३२१) इससे देवताओं ने भी अपना हर्ष प्रकट किया। पहले अभिषेक की तैयारी पर विघ्न मनाते थे, क्योंकि स्वार्थ साधन करना था, अब तो वह सिद्ध हो गया है।

(२) 'राम कहा सेवकन्ह···'—यह बात अभिषेक-विधान से पृथक् है, इससे श्रीसुमंत्रजी आदि ने इसपर ध्यान ही नहीं दिया। पर श्रीरामजी ने सँभाल की और अपने से पहले उन्हें स्नान कराया। यह आपकी सावधानता है—कहा ही है—"बड़ी साहिबी में नाथ बड़े सावधान हौ।" (क० उ० १२६); 'कहा ···बोलाई'—आदर देने के लिये सेवकों को स्वयं बुलाकर सुग्रीवादि की सम्मान-शिक्षा समझाई। अतः, 'जहँतहँ जन धाये'—नाई, बारी, कँहार आदि सेवक सब सामग्री लेने के लिये जहाँ तहाँ दौड़े।

(३) 'तुरत अन्हवाये'—यद्यपि सखा बहुत हैं, तथापि सेवक इतने अधिक हैं कि एक-एक के प्रति कई-कई उपस्थित हैं, इससे उन्होंने शीघ्र ही स्नान करा दिया।

पुनि करुनानिधि भरत हँकारे। निज कर राम जटा निरुआरे ॥४॥
अन्हवाये प्रभु तीनिउ भाई। भगत - बछल कृपाल रघुराई ॥५॥
भरत भाग्य प्रभु कोमलताई। सेष कोटि सत सकहिं न गाई ॥६॥

अर्थ—फिर करुणा सागर श्रीरामजी ने श्रीभरतजी को बुलाया और अपने हाथों से उनकी जटाएँ

खोलीं ॥४॥ भक्तवत्सल, कृपालु, रघुकुल के राजा प्रभु ने तीनों भाइयों को स्नान कराया ॥५॥ श्रीभरतजी का भाग्य और प्रभु की कोमलता अगणित शेष भी नहीं वर्णन कर सकते ॥६॥

विशेष—(१)—पुनि करुनानिधि'''—भरत पर अत्यन्त करुना है, प्रभु ने सोचा कि यह जटा मेरे कारण ही रक्खी गई है। अतः, इसे मैं ही खोलूँ। सखाओं को इनसे पहले नहलाया, इससे उन्हें भाइयों से भी अधिक मान दिया; यथा—"अनुजराज सम्पति बैदेही।'''सब मम प्रिय नहिं तुम्हहिं समाना।'''" (दो० १५), इस समय तो सखा लोग पाहुन भी हैं। अतः, उनका विशेष मान होना ही चाहिये।

(२) 'अन्हवाये प्रभु तीनिउ भाई'''—श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी की भी जटाएँ स्वयं खोलीं और श्रीभरतजी के समान ही प्यार किया। शीघ्र ही कर लिया, इसीसे 'प्रभु' भी कहा है। भक्त-वत्सल हैं, इससे प्यार करते हैं, कृपालु हैं, अतः, कृपा करते हैं, और रघुराई हैं; अतः, प्रतिपाल करते हैं।

(३) 'भरत भाग्य प्रभु'''—जिनकी सेवा के लिये ब्रह्मा आदि तरसते हैं, वे ही प्रभु अपने हाथों से श्रीभरतजी का सेवाकार्य करते हैं, जैसे पिता पुत्र का करता है, यह श्रीभरतजी का भाग्य है। सेवकों की सेवा करना—यह प्रभु की कोमलता है। 'सेष सहससत'''—अर्थात् भरत-भाग्य और प्रभु की कोमलता निस्सीम है। श्रीरामजी के अनुराग से भरत-भाग्य है; यथा—"बड़े भाग अनुराग राम-पद होइ।" (बरवा रा० ११); पुनः जो श्रीरामजी श्रीभरतजी पर अनुराग करते हैं तो श्रीभरतजी का भाग्य निस्सीम है; यथा—"जे गुरु चरन रेनु अनुरागी।'''राउर जापर अस अनुरागू। को कहि सकै भरतकर भागू॥" (अ० दो० २५८)।

पुनि निज जटा राम बिबराये। गुरु-अनुसासन माँगि नहाये ॥७॥
करि मज्जन प्रभु भूषन साजे। अंग अनंग देखि सत लाजे ॥८॥

अर्थ—(भाइयों के स्नान करने पर) फिर श्रीरामजी ने अपनी जटाएँ खुलवाईं और गुरुजी से आज्ञा माँगकर स्नान किया ॥७॥ स्नान करके प्रभु ने अंगों में भूषण पहने, शरीर (की शोभा) देखकर अगणित कामदेव लज्जित हुए ॥८॥

विशेष—(१) 'पुनि निज जटा'''—प्रभु की जटाएँ भाइयों ने नहीं खोलीं, क्योंकि उससे बराबरी होती, ये उस महती कृपा का बदला नहीं दे सकते। श्रीरामजी ने सेवकों से अपनी जटाएँ खुलवाईं। 'गुरु-अनुसासन माँगि नहाये'—इनका यह स्नान अभिषेक के लिये विशेष विधि से है; अतः बिना गुरु आज्ञा के नहीं कर सकते थे। इसमें इनकी गुरु-भक्ति भी है। सबको स्वयं स्नान के लिये आज्ञा दी और आपने गुरुजी से आज्ञा माँगकर स्नान किया।

(२) 'प्रभु भूषन साजे'—ये भूषण पृथक् ही हैं, राज्याभिषेक समय धारण किये जाते हैं। वाल्मी० ६।१२८।६४-६५ में लिखा है कि किरीट ब्रह्माजी का बनाया हुआ है, इसीसे मनु का अभिषेक हुआ था, वही किरीट उनके अनुयायी सब राजाओं को अभिषेक के समय पहनाया जाता था, वही लाया गया। 'कोटि सत'—असंख्य वाची है।

दोहा—सासुन्ह सादर जानकिहि, मज्जन तुरत कराइ।
दिब्य बसन बर भूषन, अँग अँग सजे बनाइ ॥

राम बाम दिसि सोभित, रमा रूप-गुन-खानि।
देखि मातु सब हरषीं, जन्म सुफल निज जानि॥
सुनु खगेस तेहि अवसर, ब्रह्मा सिव-मुनि-बृंद।
चढ़ि बिमान आये सब, सुर देखन सुखकंद॥११॥

अर्थ—सासुओं ने श्रीजानकीजी को तुरत आदरपूर्वक स्नान कराकर उनके अंग-अंग में दिव्य वस्त्र और सुन्दर भूषण बनाकर सजाये (सजाकर पहनाये)॥ श्रीरामजी की बाईं ओर रूप और गुण की खानि श्रीजानकीजी सुशोभित हैं, सब माताएँ देखकर अपना-अपना जन्म कृतार्थ जानकर प्रसन्न हुईं॥ हे गरुड़! सुनिये, उस समय ब्रह्माजी, शिवजी, मुनिवृंद और सब देवता विमानों पर चढ़-चढ़कर आनंद-कंद श्रीरामजी के दर्शनों के लिये आये॥११॥

विशेष—(१) 'सासुन्ह सादर···'—जिस समय उधर श्रीरामजी एवं तीनों भाइयों के स्नान आदि हुए, उसी समय इधर सब सासुओं ने श्रीसीताजी को स्नान एवं उनके शृंगार आदि कराये। अत्यंत प्रेम के कारण स्वयं सब लग गईं। 'सादर'—चौकी पर उत्तम वस्त्र बिछाकर अंगराग-फुलेल आदि लगाकर स्नान कराया।

'तुरत' क्योंकि—'अब मुनिवर बिलंब नहीं कीजै' यह ब्राह्मणों की आज्ञा है। दिव्य बसन बर भूषन···'—यहाँ षोड़श शृंगार सूचित किया गया है, कोई यह नहीं समझे कि शीघ्रता के कारण सामान्य ही शृंगार हुआ हो, यह निवृत्त करने के लिये 'सजे बनाइ' कहा गया है। 'दिव्य' से वस्त्र की और 'वर' से भूषणों की श्रेष्ठता कही गई है। 'अंग-अंग'—जिस अंग के जो हैं, वे उसमें एवं प्रत्येक अंग में।

षोड़श शृंगार—"अंगशुची, मज्जन, वसन, माँग, महावर, केश। तिलक भाल, तिल चिबुक में, भूषण, अधर सुवेश॥ मिस्सी, काजल, अरगजा, बीरी और सुगंध। पुष्पकली युत होइ कर, तब नव सप्तनिबंध॥" अर्थात् अंगों में उबटन लगाना, स्नान करना, वस्त्र धारण करना, केश सँवारना, माँग पारना, महावर देना, भाल में तिलककरना, चिबुक पर तिल सजाना, द्वादसो आभूषण पहनना, ओष्ठ रँगना (अधर राग लगाना), दाँतों में मिस्सी लगाना, आँखों में काजल लगाना, अरगजा आदि गंध धारण, पान बीरी, सुगंध इतर आदि लगाना और फूलों की माला धारण करना। द्वादशाभूषण—नूपुर, किंकिणी, चूड़ी, अँगूठी, कंकण, बिजायठ, हार, कंठश्री, बेसर, बिरिया, टीका और शीशफूल। भूषण चार प्रकार से धारण किये जाते हैं—(१) आवेध्य, जो छिद्र द्वारा पहना जाय जैसे कर्णफूल, बाली आदि। (२) बंधनीय, जो बाँधकर पहना जाय जैसे बाजूबंद, पहुँची आदि। (३) क्षेप्य, जिसमें अंग डालकर पहना जाय, जैसे कड़ा, छड़ा आदि। (४) आरोप्य, जो किसी अंग में लटका कर पहना जाय जैसे हार, कंठ श्री आदि।

(२) 'राम बाम दिसि···'—जबतक श्रीवसिष्ठजी ने दिव्य सिंहासन नहीं मँगाया, तब तक सामान्य आसन पर ही शृंगार करके श्रीराम-जानकीजी को बैठाया गया, सब लोग शोभा देख रहे हैं।

(३) 'रमा रूप-गुन-खानि'—'रमा' शब्द श्रीजानकीजी के नाम का पर्यायी है, जैसे 'श्री' शब्द

श्रीजानकीजी का पर्याय वाचक बहुत जगह पर लिखा गया है, वैसे रमा शब्द भी बहुत जगह आया है। यहाँ श्रीरामजी के समान शोभा दिखाने के लिये 'राम' के जोड़ में 'रमा' कहा गया है। जैसे 'रमंते योगिनोऽस्मिन्' राम हैं, वैसी ही उनके साथ सबको कृपा द्वारा आनन्द देनेवाली श्रीजानकीजी भी हैं। ये रूप और गुणों की खान हैं।

(४) 'सुनु खगेस तेहि अवसर'''—यहाँ से राज्यासीन होने के ध्यान का प्रसंग है, यह उपासकों का सर्वस्व है, इसलिये उपासना घाट का सम्बोधन 'खगेस' कहा गया है, यहाँ २१ दोहों तक में ही ८ बार श्रीगरुड़जी के पर्याय नाम आये हैं। यह अंतिम संवाद है। अतः, अंतिम कांड में इसकी प्रधानता भी युक्ति-युक्त ही है।

'तेहि अवसर'—ब्रह्मा-शिव आदि अवसर के जाननेवाले हैं, सर्वत्र अवसर पर आ जाते हैं; यथा—"सो अवसर बिरंचि जब जाना। चले सकल सुर साजि बिमाना॥" (बा० दो० १९०); तथा—लं० दो० ११३ भी देखिये। 'आये' कहकर श्रीभुशुंडीजी ने अपना भी वहाँ उपस्थित होना लक्षित किया, नहीं तो 'गये' कहते। 'सुख कंद'—'कंद' का अर्थ मूल और मेघ होता है, यहाँ सभी को सुख की वर्षा कर रहे हैं। सबको समान रूप से सुख मिल रहा है, ऊँच-नीच का भेद नहीं है, जैसे मेघ सर्वत्र समान वृष्टि करता है, इसलिये सुखकंद कहा गया है।

प्रभु बिलोकि मुनि-मन अनुरागा। तुरत दिब्य सिंहासन माँगा॥१॥
रबि सम तेज सो बरनि न जाई। बैठे राम द्विजन्ह सिर नाई॥२॥
जनकसुता समेत रघुराई। पेखि प्रहरषे मुनि-समुदाई॥३॥

अर्थ—प्रभु को देखकर मुनि श्रीवसिष्ठजी का मन अनुरक्त हो आया, उन्होंने तुरत दिव्य-सिंहासन मँगाया॥१॥ जिसका तेज सूर्य के समान था, उसका वर्णन नहीं हो सकता। ब्राह्मणों को शिर नवाकर श्रीरामजी उसपर बैठे॥२॥ श्रीजानकीजी के साथ श्रीरघुनाथजी को देखकर सब मुनि-समूह अत्यंत हर्षित हुए॥३॥

विशेष—(१) 'मुनि मन अनुरागा'—यहाँ गुरु शब्द नहीं दिया गया कि जिस नाते से अनुराग होना स्वाभाविक होता। किन्तु 'मुनि' कहा है, मुनि मननशील होते हैं, उनमें राग कहाँ, यह प्रभु के अतिशय सौन्दर्य की महिमा है। 'मुनि' और 'मन' से अनुप्रास का भी मेल है।

'तुरत'—अभिषेक का मूहूर्त्त शीघ्रता का है और सबकी अत्यंत उत्कंठा भी है, इसीसे यह शब्द बार-बार आया है—"तुरत सँवारे जाइ।" (दो० १०); "सुग्रीवादि तुरत अन्हवाये।" (दो० ०); "मज्जनु तुरत कराइ" (दो० ११) और यहाँ—"तुरत दिव्य सिंहासन माँगा।"

यहाँ मुनि के मन का अनुराग और दिव्य सिंहासन माँगना कहा गया। ऐसे ही आगे मुनि-समुदाय का हर्ष और वेद-मंत्र-उच्चारण, माताओं का हर्ष और आरती उतारना एवं देवताओं का हर्ष और नगाड़ा बजाना कहा गया है। इस तरह क्रमशः सबके हर्ष और उनके कृत्य कहे गये हैं। 'दिव्य-सिंहासन' यह ब्रह्माजी का बनाया हुआ है। दिव्य का अर्थ तेजोमय भी है, वह भी आगे कहते हैं—'रबिसम तेज सो……' यह स्वर्ण का है और इसमें दिव्य-रत्न जड़े हुए हैं; यथा—"कनक सिंहासन सीय समेता। बैठहिं राम होइ चितचेता॥" (अ० दो० १०)।

(३) 'द्विजन्ह सिर नाई'—(क) प्रभु ब्रह्मण्य शिरोमणि हैं, ब्राह्मणों की मर्यादा-रक्षा के लिये बहुत स्थलों पर उनकी ब्राह्मणों में भक्ति कही गई है। (ख) ब्राह्मण भूदेव हैं और श्रीरामजी भूपाल होना चाहते हैं, पृथिवी की रक्षा धर्म से होती है, ब्राह्मणों की सेवा उत्तम पुण्य है; यथा—"पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्रपद पूजा॥" (दो॰ ४४)।

(४) 'जनक सुता समेत……'—युगल शोभा पर सभी को आनंद होता है, विवाह-प्रसंग में सुरमुनि का आनंदित होना कहा गया है; यथा - "भयो पानि गहन बिलोकि बिधि सुर मनुज मुनि आनंद भरैं।" (बा॰ दो॰ ३११); जब श्रीवसिष्ठजी ने इनसे सम्मति ली थी, तब इन्हें हर्ष हुआ था और यहाँ प्रभु को सिंहासनासीन देखकर प्रकर्ष हर्ष हुआ।

बेद-मंत्र तब द्विजन्ह उचारे। नभ सुर मुनि जय जयति पुकारे ॥४॥
प्रथम तिलक बसिष्ट मुनि कीन्हा। पुनि सब बिप्रन्ह आयसु दीन्हा ॥५॥
सुत बिलोकि हरषीं महतारी। बार बार आरती उतारी ॥६॥
बिप्रन्ह दान बिबिध बिधि दीन्हे। जाचक सकल अजाचक कीन्हे ॥७॥
सिंहासन पर त्रिभुवन साईं। देखि सुरन्ह दुंदुभी बजाईं ॥८॥

अर्थ—तब ब्राह्मणों ने वेद-मंत्र (स्वस्त्ययन आदि) उच्चारण किये। आकाश में देवता और मुनि 'जय हो, जय हो' ऐसा पुकारकर कहने लगे; अर्थात् ऊँचे स्वर से जय-जयकार करने लगे ॥४॥ पहले श्रीवसिष्ठ मुनि ने तिलक किया, फिर सब ब्राह्मणों को (तिलक करने की) आज्ञा दी ॥५॥ पुत्र को (अभिषिक्त) देखकर माताएँ प्रसन्न हुईं और बार-बार आरती उतार रही हैं ॥६॥ ब्राह्मणों को अनेकों प्रकार से दान दिये, सब याचकों को अयाचक (धनी) बना दिया, (उन्हें भीख माँगने की आवश्यकता नहीं रह गई) ॥७॥ तीनों लोकों के स्वामी श्रीरामजी को सिंहासन पर (विराजमान) देखकर देवताओं ने नगाड़े बजाये ॥८॥

विशेष—(१) 'बेद-मंत्र तब……'—श्रीरामजी ब्राह्मणों को प्रणाम करके सिंहासन पर बैठे, तब ब्राह्मणों ने भी वेद-मंत्रों से आशीर्वाद दिया और शांति-पाठ करने लगे। जब आकाश में शब्द पहुँचा तो सुर-मुनि जय-जयकार करने लगे। 'पुकारे' कि जिससे नीचे तक शब्द आवे, सब कोई सुनें और श्रीरामजी भी सुनें। पृथिवी के द्विज वेद पढ़ते हैं और आकाश के सुर-मुनि 'जय-जय' कहते हैं।

(२) 'प्रथम तिलक बसिष्ठ ……'—श्रीवसिष्ठजी पिता के स्थान पर हैं और कुल-गुरु हैं, इसीसे उन्होंने ही पहले तिलक किया। मुनियों में श्रेष्ठ हैं, इससे मुनियों को भी तिलक करने की आज्ञा दी। 'सब बिप्रन्ह' से यहाँ वामदेव, जाबालि आदि कहे गये हैं।

(३) 'सुत बिलोकि हरषीं……'—पहले शृंगार होने पर भी युगल-शोभा पर हर्षित हुई थीं; यथा—'देखि मातु सब हरषीं' यह ऊपर कहा गया है। पर वहाँ आरती नहीं उतारी थीं, यहाँ सिंहासन पर देखकर हर्ष से आरती करने लगीं, क्योंकि यहाँ इसकी विधि है।

(४) 'बिप्रन्ह दान बिबिध…'—भरत मिलाप पर निछावर पानेवालों को निछावर दे चुकी हैं; यथा—"नाना भाँति निछावर करहीं। परमानंद हरप उर भरहीं॥" (दो॰ १); रहे विप्र और याचक, उन्हें यहाँ दे रही हैं।

(५) 'सिंहासन पर···'—और राजा इस गद्दी पर चक्रवर्ती ही होते आये हैं, पर श्रीरामजी तो तीनों लोकों के स्वामी हैं; यथा—"दस मुख विवस तिलोक-लोकपति विकल बनाये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्हके जस अमर नाग नर सुमुखि सना हैं॥" (गी० उ १३)। ये तीनों लोकों का पालन करेंगे, इससे देवताओं ने प्रसन्न होकर नगाड़े बजाये; यथा—"राम राज बैठे त्रयलोका। हर्षित भये गये सब सोका॥" (दो० ११); इस प्रसंग पर गी० लं० २३ वाँ पूरा पद देखने योग्य है।

देवता लोग इससे भी हर्षित हैं कि अब विशेष यज्ञादि होंगे, तो हमलोग भाग पा-पाकर सुखी होंगे। पूर्व उपकार पर कृतज्ञता एवं सेवा तो है ही।

छंद—नभ दुंदुभी बाजहिं बिपुल गंदर्ब-किन्नर गावहीं।
नाचहिं अपछरा - बृंद परमानंद सुर - मुनि पावहीं॥
भरतादि अनुज बिभीषनांगद हनुमदादि समेत ते।
गहे छत्र चामर ब्यजन धनु असि चर्म सक्ति बिराजते॥१॥

अर्थ—आकाश में बहुत नगाड़े बज रहे हैं, बहुत-से गंधर्व और किन्नर गा रहे हैं। अप्सराओं के झुंड-के-झुंड नाच रहे हैं, देवता और मुनि परम आनन्द पा रहे हैं॥ श्रीभरतजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी—छोटे भाई, (श्रीसुग्रीवजी), श्रीविभीषणजी, श्रीअंगदजी (श्रीजाम्बवान्जी) और श्रीहनुमान्जी आदि वानरों के सहित वे (क्रम से) छत्र, चँवर, पंखा, धनुष (बाण), तलवार, ढाल और शक्ति लिये हुए विराजमान हैं॥१॥

विशेष—(१) 'नभ दुंदुभी···'—दुंदुभी बजाना और गंधर्व आदि का गाना साथ लिखकर सूचित किया कि दुंदुभी मधुर स्वर से इनके गाने में मिली हुई बज रही है और गान के साथ ही अप्सराएँ नाच रही हैं। श्रीरामजी के उत्सव संबंधी गान से सुर मुनि परमानंद पाते हैं। पुनः गंधर्वों का गाना और अप्सराओं का नाचना आकाश में हो रहा है, वहीं पर ये सुर मुनि भी हैं; यथा "नभ सुर मुनि जय जयति पुकारे।" यह ऊपर कहा गया। इसीसे इन्हें उससे अधिक आनंद मिलता है।

(२) 'भरतादि अनुज···'—यहाँ श्रीभरतजी आदि से तीन भाई और श्रीविभीषणजी, श्रीअंगदजी, श्रीहनुमान्जी, इन छः के नाम स्पष्ट कहे गये हैं और छत्र आदि सात वस्तुओं के नाम कहे गये हैं, जिन्हें धारण करना कहा गया है। यदि छः ही इनके भी नाम होते, तो यथासंख्यालंकार से लगा लिये जाते। ग्रंथकार का अभिप्राय शेष पार्षदों और आयुधों को अध्याहार से लिये जाने का है। यहाँ श्रीभरत आदि और श्रीहनुमान् आदि में शेष पार्षद लिये जायँगे।

श्रीशत्रुघ्नजी के पश्चात् श्रीसुग्रीवजी को कहने का कारण यह कि ये प्रथम के सखा हैं और सखों मे प्रधान हैं, ये भाइयो मे कहे भी गये हैं; यथा—"त्वमस्माकं चतुर्णां वै भ्राता सुग्रीव पंचमः।" (वाल्मी० ६।१२७।४९) और जाम्बवान्‌जी राजाओं में हैं, ऋक्षराज हैं। अतः, वानरराज, राक्षस राज और युवराज के साथ रहना योग्य है। श्रीअंगदजी के पश्चात् गिनने का कारण यह कि ये भी श्रीअंगदजी के मंत्री रूप में सीता-शोध के समय साथ भेजे गये थे। आयुधों में भी धनुष के पश्चात् बाण का अध्याहार करने से आठ हो जाते हैं, क्योंकि धनुष के साथ-साथ ही बाण भी अवश्य चाहिये।

क्रमश. सौज एवं आयुध धारण—श्रीभरतजी छत्र लिये हुए पीछे खड़े हैं, श्रीलक्ष्मणजी दाहिनी ओर चँवर करते हैं, श्रीशत्रुघ्नजी बाईं ओर पंखा झल रहे हैं, शेष पार्षद दोनों बगल हैं। श्रीसुग्रीवजी धनुष, श्रीविभीषणजी बाण, श्रीअंगदजी तलवार, श्रीजाम्बवान्‌जी ढाल और श्रीहनुमान्‌जी शक्ति लिये हुए खड़े हैं। शेष आठ पार्षद और भी अस्त्र-शस्त्र एवं सेवा-सौज लिये हुए हैं। अन्यत्र श्रीहनुमान्‌जी का सामने भी रहना पाया जाता है, किंतु यहाँ सामने भेंट देनेवालों के लिये मार्ग खुला चाहिये। अतः, इन्हें यहाँ सामने भी लिया जाय, तो एक बगल लिये हुए सामने भी ठीक है।

श्री-सहित दिनकर बंस-भूषन काम बहु छबि सोहई।
नव अंबुधर बर गात अंबर पीत सुर मन मोहई॥
मुकुटांगदादि बिचित्र भूषन अंग अंगन्हि प्रति सजे।
अंभोज-नयन बिसाल उर भुज धन्य नर निरखंति जे॥२॥

अर्थ—श्रीजानकीजी के साथ सूर्यकुल के भूषण श्रीरामजी के शरीर मे बहुत-से कामदेवों की छवि शोभा दे रही है। *नवीन सजल काले मेघों के समान सुंदर श्रेष्ठ शरीर मे पीताम्बर देवताओं के मन को* मोहित कर रहा है॥ मुकुट और बिजायठ आदि विचित्र भूषण अंग-अंग में सजे हुए हैं। कमलदल के समान विशाल-नेत्र हैं, छाती और भुजाएँ विशाल हैं (नेत्र बड़े, छाती चौड़ी और भुजाएँ लंबी हैं)। जो दर्शन कर रहे हैं वे मनुष्य धन्य हैं॥२॥

विशेष—(१) परिकरों के सहित श्रीरामजी की शोभा ऊपर छंद में कही गई, अब उनके स्वरूप की शोभा कह रहे हैं—'श्री-सहित···'—'श्री' मे यहाँ श्रीजानकीजी के अतिरिक्त राज्य-श्री का भी भाव है। दिनकर-वंश स्वयं प्रकाशमान् अर्थात् सुशोभित है। आप उसको भी शोभित करनेवाले हैं।

(२) 'सुर मन मोहई'—प्राय. देवतागण मेघ और बिजली देखा करते हैं, परन्तु यहाँ विलक्षणता है, मेघों से श्रीरामजी के श्याम तन मे विलक्षणता है और विद्युत्वर्णा श्रीजानकीजी एवं पीतांबर मे बिजली से विलक्षणता है, यथा—"पीत पुनीत मनोहर धोती। हरत बाल रवि दामिनि जोती॥" (बा० दो० ३२६); "साँवरे गोरे किसोर सुर मुनि चित चोर उभय-अंतर यक नारि सोही। मानहुँ बारिद बिधु बीच ललित अति, राजति तड़ित निज सहज बिछोही॥" (गी० अ० ११)। इसीसे देवता देखकर मोहित हो गये।

(३) 'मुकुटांगदादि बिचित्र भूषन···'—पूर्व कहा गया था—'करि मज्जन प्रभु भूषन साजे।' यहाँ उन भूषणों के नाम देते हैं; 'मुकुट-आदि' शब्द मे शिर से लेकर पैर तक के भूषण आ गये और 'अंगद-

आदि' में दोनों बाहुओं से अंगुलियों तक के सभी भूषण सूक्ष्म रीति से कह दिये गये। मुकुट का वर्णन पहले करके शृंगार-दृष्टि की प्रधानता सूचित की गई है, क्योंकि शृंगाररस में शिर से नायक का वर्णन होता है। 'विचित्र' का भाव यह है कि भूषणों में रंग-विरंग की मणियाँ जड़ी हुई हैं।

ये भूषण दिव्य हैं, ऊपर भी कहा गया कि किरीट ब्रह्माजी ने बनाया था, इनसे पहले के राजा इन्हें राज्य-तिलक के ही दिन धारण करते थे, परन्तु श्रीरामजी अप्राकृत होने के कारण इन्हें नित्य प्रति धारण करते थे।

(४) 'निरखंति जे'—यह वर्तमान क्रिया है, ग्रन्थकार का अभिप्राय यह है कि आज भी इस झाँकी को जो ध्यान से देखते हैं, वे धन्य हैं। उस समय के देखनेवाले तो धन्य हैं ही, यथा—"सिद्धार्थाः खलु ते राम नरा ये त्वा पुरीं गतम्। राज्ये चैवाभिषिक्तं च द्रक्ष्यन्ते वसुधाधिपम्॥" (वाल्मी० २।११२।१४); अर्थात् हे रामजी! वे श्रीअवधपुरवासी धन्य हैं जो तुम्हें राज्याभिषिक्त देखेंगे—यह श्रीदशरथजी ने दिव्य-रूप से कहा है।

दोहा—वह सोभा समाज सुख, कहत न बनइ खगेस।
बरनइ सारद सेष श्रुति, सो रस जान महेस॥
भिन्न भिन्न अस्तुति करि, गये सुर निज निज धाम।
बंदी बेष बेद तब, आये जहँ श्रीराम॥
प्रभु सरबज्ञ कीन्ह अति, आदर कृपानिधान।
लखेउ न काहू मरम कछु, लगे करन गुन - गान॥१२॥

अर्थ—हे गरुड़! वह शोभा, वह समाज और वह आनंद मुझसे कहते नहीं बनता। शारदा, शेष और श्रुति वर्णन करते हैं, परन्तु वह रस (स्वाद, सुख) महादेवजी ही जानते हैं॥ सब देवता पृथक्-पृथक् स्तुति करके अपने-अपने लोकों को गये (अर्थात् प्रत्येक देवता ने अपनी-अपनी बुद्धि से निराली ही स्तुति की। तब भाटों के वेष में वेद वहाँ आये जहाँ श्रीरामजी थे। दयासागर, सर्वज्ञ प्रभु ने उनका अत्यन्त आदर किया, किसी ने कुछ भेद नहीं लखा और वे गुणगान करने लगे॥१२॥

विशेष—(१) 'वह सोभा समाज सुख ···'—श्रीभुशुण्डीजी २७ कल्पों के पीछे यह चरित कह रहे हैं, इसीसे 'वह' पद से पुराने समय का कहा है। 'बरनइ सारद सेष श्रुति···'—यथासंख्यालंकार की रीति से शारदा शोभा, शेष समाज और श्रुति सुख का वर्णन करते हैं। शारदा कहती है कि सप्तांग-राज्य श्रीसहित दंपति एक आसन पर विराजमान हैं। अत., इस समय शृंगार-रस है। शेषजी कहते हैं कि सशस्त्र वीरों का समाज सिंहासनासीन है और धर्म, दान, दया आदि पर चित्तवृत्ति है, अतः यहाँ वीर-रस है। श्रुतियाँ कहती है कि इस समय पुरजन, देव, मुनि आदि सभी परमानंद में निमग्न हैं और प्रभु तो नित्यानंद रूप ही हैं। अत, इस समय शांत-रस है।

श्रीभुशुण्डीजी कहते हैं कि इस रीति से सभी कहते हैं, परन्तु ये सब यथार्थ नहीं समझ सके,

क्योंकि वस्तुतः यहाँ कोई रस नहीं है, यहाँ अद्भुत-रस है और उसको महादेवजी ही जानते हैं, क्योंकि ये स्नान के पश्चात् से ही शोभा में निमग्न हो गये हैं, इसी से उनका संवाद यहाँ नहीं आया।

अथवा, जो जितना अधिक राम-तत्त्व का ज्ञाता होता है, वह उतना ही अधिक रस जानता और पाता है। श्रीशिवजी राम-तत्त्व-ज्ञाताओं में शिरोमणि हैं, इसीसे जानते हैं कि यहाँ की शोभा, समाज और आनन्द तीनों अद्भुत और अप्राकृतिक हैं, इसीसे 'सो रस जान महेस' कहा गया है।

(२) 'भिन्न-भिन्न अस्तुति करि···'—इससे इनकी भक्ति और बुद्धिमानी प्रकट हुई। 'निज-निज धाम'—जाने का भाव यह है कि अभी तक ये लोग रावण के भय से सुमेरु गिरि की कंदराओं में रहते थे। अब अपने-अपने धाम को गये। 'बंदी वेष वेद तब···'— वेद भगवान् के भाट हैं; यथा "बंदी वेद पुरान गन, कहहिं बिमल गुन ग्राम।" (अ० दो० १०५); वेद श्रीरामजी के पास तक आना चाहते हैं, इसलिये भाट बनकर आये, क्योंकि भाट लोग राजा के समीप जाकर स्तुति करते हैं। 'आये जहँ श्रीराम' —इससे यह भी जनाया गया कि देवताओं ने आकाश से ही स्तुति की थी, यहाँ तक नहीं आये थे।

(३) 'प्रभु सर्वज्ञ कीन्ह अति···' वेद वेष बनाकर आये, तो भी प्रभु जान गये और इन्होंने उन्हें अत्यन्त मानसिक आदर दिया। इससे इन्हें सर्वज्ञ और कृपानिधान कहा गया है; यथा—"सुर लखे राम सुजान पूजे मानसिक आसन दिये।" (बा० दो० ३२१); 'लखेउ न काहू मरम कछु···'—वेदों ने ऐसा उत्तम बंदी-वेष बनाया था कि सब लोग उन्हें सत्य ही बंदी जानते थे, बनावटी वेष नहीं जान पाये। अथवा प्रभु के आदर करने का भेद कोई नहीं पा सका।

छंद—जय सगुन-निर्गुन-रूप रूप अनूप भूप-सिरोमने।
दसकंधरादि प्रचंड निसिचर प्रबल खल भुजबल हने॥
अवतार नर संसार-भार बिभंजि दारुन दुख दहे।
जय प्रनतपाल दयाल प्रभु संजुक्त सक्ति नमामहे॥१॥

अर्थ—हे भूप-शिरोमणे! आपकी जय हो, आप सगुण और निर्गुण दोनों रूप हैं। आपका यह भूप-रूप उपमा-रहित है (अर्थात् जो आनन्द इस रूप से मिलता है, वह और रूपों से नहीं मिलता)। दशानन आदि प्रचंड, प्रबल और दुष्ट राक्षसों को अपनी भुजाओं के बल से आपने मारा है॥ मनुष्य-अवतार लेकर संसार के भार को नष्ट करके किसी प्रकार नहीं छूटने योग्य कठिन दुःखों को आपने भस्म कर दिया है। हे शरणागत पाल! हे दयालो! हे प्रभो! आपकी जय हो, शक्ति सहित आपको मैं नमस्कार करता हूँ॥१॥

विशेष—(१) 'यह स्तुति हरिगीतिका छंद में है, यह इस ग्रंथ में पहले बहुत बार आ चुका है। यहाँ वेद चार हैं और छंद छः हैं, पुनः छन्दों में 'नमामहे' आदि क्रियाएँ एकवचन की आई हैं। इससे लोग एक-एक वेदों के गाने का पृथक्करण करते हैं, पर उससे कुछ यह नहीं सिद्ध हो सकता कि अमुक विषय ही अमुक वेद का लक्षण है। अतः, वह कल्पना मात्र है। छंदों में यह नहीं कहा जा सकता कि यह छंद अमुक वेद ने ही गाया है। यद्यपि वेद की चार संहिताएँ नित्य हैं, तथापि इनमें परस्पर वैमत्य तो है

नहीं। राजा के सामने गुण-गान करने के अनेक भेद हो सकते हैं। संभव है कि प्रत्येक छंद को पहले एक वेद ने एक चरण गाया और उसे ही शेष तीनों ने दुहराया हो, इस तरह तीन छंद गा गये। प्रथम वक्ता के अनुसार एकवचन क्रिया भी आती गई। चौथी स्तुति के चौथे चरण में सब ने मिलकर कहा, फिर पाँचवाँ पूर्ववत् कहा गया। पीछे छठा छंद सबों ने एकस्वर से साथ-साथ गाया हो, इसीसे 'हम अनुरागहीं, यह बहुवचन क्रिया दी गई हो।

(२) 'सगुन निर्गुन रूप'—भाव यह है कि आप सगुण भी हैं और निर्गुण भी, यथार्थ में आप कौन हैं, यह हम नहीं कह सकते ; यथा—"जासु गुनरूप नहिं कलित, निर्गुन सगुन संभु सनकादि सुक भक्ति दृढ़ करि गही।" (गी० उ० ६) ; अर्थात् शंभु, सनकादि और शुकदेव आदि ने जब देखा कि आपके रूप को न तो सगुण ही कह सकते हैं और न निर्गुण ही, यह तो अचिन्त्य है। अतः, मन-वाणी से अगोचर है। तब इस निर्णय के बखेड़े में नहीं पड़कर दृढ़ करके भक्ति ही ग्रहण की, क्योंकि भक्ति से ही वह ब्रह्म अपनेको यथार्थ रूप से जना देता है; यथा—"भक्त्यामामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।" (गीता १८।५५) ; "तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन।" (अ० दो० १२६) ; "जाने बिनु भगति न जानिबो तिहारे हाथ समुझि सयाने नाथ पगनि परत॥" (वि० २५१), इत्यादि, इसी से अंत में ये वेद भी भक्ति ही माँगेंगे ; यथा—"मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं।" इसी के अनुकूल 'भूप-सिरोमने' भी कहा है, क्योंकि राजा लोग ही याचकों को बहुत कुछ देते हैं।

एक ही ब्रह्म निर्गुण-सगुण दोनों कैसे हो सकता है? इसपर बा० दो० ११८ चौ० १–२ देखिये। सगुण रूप से प्रभु उपस्थित हैं, इससे 'सगुन' प्रथम कहा गया। आपका विराट् रूप सगुण रूप है, इसमें अखिल ब्रह्मांडों का सम्यक् आधारत्व है। पुनः अखिल ब्रह्मांड के सम्यक् आधार होते हुए भी आप सबसे निर्लिप्त हैं, यह निर्गुणत्व है। भूमिका में सगुण निर्गुण प्रसंग भी देखिये। जब भक्तों के प्रेमवश निर्गुणत्व में सगुणत्व आ जाता है, तब वह निर्गुण-मात्र नहीं कहा जा सकता और सगुण भी सम्यक् आधार होते हुए सबसे असग है, तो वह सगुण भी नहीं कहा जा सकता। इसीसे 'रूप अनूप' भी कहा गया है कि उसमें सगुण और निर्गुण कोई भी उपमा नहीं घटती। आगे का छठा छंद भी देखिये।

(३) 'दसकंधरादि प्रचंड···'—अब वर्तमान सगुण रूप के कार्य कहते हैं—रावण के दस शिर और बीस भुजाएँ थीं जिनका उसे बड़ा गर्व था ; यथा—"मम भुज सागर बल जल पूरा।···बीस पयोधि अगाध अपारा।···" (लं० दो० २७) ; इनसे उसे लड़ने का अभिमान था, यथा—"रन मद मत्त फिरै जग धावा। प्रतिभट खोजत कतहुँ न पावा।"—(बा० दो० १८१)। इससे राक्षसों को 'प्रचंड, प्रबल' कहा गया। उनका अभिमान तोड़ने के लिये आपने उन्हें भुजा के बल से लड़कर मारा। (अन्यथा संकल्प-मात्र से ही मार सकते थे,)। 'खल' कहकर उन्हें वध के योग्य कहा कि इसीलिये आपका अवतार है ; यथा—"जहँ प्रगटे रघुपति ससि चारू। बिस्व सुखद खल कमल तुसारू॥" (बा० दो० १५)।

(४) 'अवतार नर संसार भार···'—ऊपर 'दसकंधरादि' को मारना कहा गया है। वह कार्य मनुष्य-अवतार के बिना नहीं हो सकता था ; यथा—"हम काहू के मरहिं न मारे। बानर मनुज जाति दुइ बारे॥" (बा० दो० १७६) ; ऐसा वरदान उसने पाया था। इसीसे आपने मनुष्यावतार लिया। 'अवतार नर···' पृथिवी उसके भार से व्याकुल थी। अत, उसे मारकर उसका भार हरण किया। 'संसार भार निभंजि' उससे देवताओं को एवं संसार-भर को दारुण दुःख था, यथा—"इहाँ देवतन्ह अस्तुति कीन्हीं। दारुन बिपति हमहि येहि दीन्हीं॥" (लं० दो० ८४)। अतः, उसे मारकर सबके दुःख भस्म किये—'दारुन दुख दहे'।

(५) 'जय प्रनतपाल'...'—इस कार्य से आपने संसार-भर के दुःख दूर किये, पर अपने शरणागतों के पालने में दया गुण विशेष प्रकट किया, इसीसे 'प्रनतपाल दयाल' भी कहा गया है ; यथा—"जग पालक बिसेषि जन त्राता।" (बा० दो० ११)। 'संजुक्त सक्ति नमामहे'- (क) अपनी आदि शक्ति श्रीजानकीजी के साथ सिंहासन पर विराजे हुए हैं, इससे शक्ति सहित को नमस्कार किया। (ख) जिस कार्य के सम्बन्ध से यहाँ नमस्कार किया गया है, उस भू-भार-हरण में और प्रणतों के पालन में श्रीसीताजी मुख्य कारण हैं, इससे उनके साथ प्रभु को प्रणाम किया।

तव बिषम मायाबस सुरासुर नाग नर अगजग हरे।
भवपंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे॥
जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिविध दुख ते निर्बहे।
भव खेद-छेदन-दच्छ हम कहँ रच्छ राम नमामहे॥२॥

अर्थ—हे हरे! आपकी कठिन माया के वश सुर, असुर, नाग, नर, अचर और चर, काल, कर्म और गुणों से भरे हुए (अर्थात् इनमें प्रवृत्ति के अनुसार) अगणित दिन-रात भव-मार्ग में चक्कर खा रहे हैं॥ हे नाथ! जिन जीवों को आपने करुणा करके देखा, वे तीनों प्रकार के दुःखों से निबह (छूट) गये। संसार दुःख के नष्ट करने में प्रवीण, हे श्रीरामजी! हमारी रक्षा कीजिये, हम आपको नमस्कार करते हैं॥ २॥

विशेष—(१) 'तव बिषम माया'; यथा—"सो दासी रघुबीर कै, समुझे मिथ्या सोपि। छूट न राम कृपा बिनु,..." (उ० दो० ७१); यहाँ 'तव' कह कर ईश्वर सम्बन्ध कहा और 'बिषम' शब्द से उसे कठिन और दुस्तर कहा; यथा—"दैवीह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥" (गीता ७।१४); इस श्लोक में 'तव' का भाव 'मम माया' कहकर 'बिषम' का भाव 'दुरत्यया' से और 'माया' का अर्थ 'गुणमयी' कहकर स्पष्ट किया गया है कि यह त्रिगुणात्मिका है। और 'मामेव ये प्रपद्यन्ते...' में उपर्युक्त 'छूट न राम कृपा बिनु' भी आ गया है।

'सुरासुर नाग नर'...'—'सुर' से स्वर्ग, 'असुर-नाग' से पाताल और 'नर अगजग' से मर्त्यलोक सूचित किया गया है।

(२) 'भव पंथ भ्रमत'—त्रिगुणात्मिका माया के वश जीव ८४ लाख योनियों में भ्रमण किया करते हैं; यथा—"आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥" (दो० ४३), यही भव-पंथ-भ्रमण है। 'दिवस निसि'—जो दिन-भर चलता है, वह रात मे विश्राम करता है, परन्तु यहाँ यह बात नहीं है। रातों-दिन विश्राम नहीं लेने देती, ऐसी विषम माया है। 'अमित'—क्योंकि जीवों का यह भ्रमण अनादि काल से माना जाता है।

'काल कर्म गुननि भरे'; यथा—"फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥" (दो० ४३); काल, कर्म, और गुण तीनों अन्योन्य सापेक्ष हैं; अर्थात् एक दूसरे के कारण हैं, बीज-वृक्ष न्याय की तरह हैं। परन्तु यहाँ के लिखे हुए क्रम का भाव यह है कि जो मनुष्य जिस काल में जन्म लेता है, तदनुसार ज्योतिष-मत से उसका स्वभावज कर्म नियत हो जाता है, जो कुंडली द्वारा प्रकट

किया जाता है, फिर कालानुसार ही आयु पर पहुँचकर विद्या-अध्ययन आदि कर्म करता है, फिर वैसे ही गुण प्राप्त करता है। पुनः गुणानुसार कर्म होते हैं और कर्मानुसार ही दूसरे जन्म का काल (दुर्दिन, सुदिन आदि) बनता है, इत्यादि, रीति से इनके चक्कर में जीव भ्रमण करता रहता है। इसी को संसृति चक्र कहते हैं।

(३) 'जे नाथ करि करुना बिलोके'—ऊपर प्रमाण दिया गया है कि माया की प्रेरणा से भ्रमण करनेवालों के लिये राम कृपा ही उपाय है, उसी को यहाँ कहते हैं कि जिन्हें ही आप करुणा-दृष्टि से देखते हैं, वे ही इस त्रिगुणात्मिका माया की प्रेरणा से काल, कर्म, गुण के द्वारा होनेवाले त्रिविध दुःख से छूटते हैं। 'त्रिविध दुख'; यथा—"काल-कर्म सुभाव-गुन कृत दुख काहुहि नाहि।" (दो० २१), अथवा, जरा, जन्म, मरण तथा दैहिक, दैविक, भौतिक ताप आदि।

(४) 'भव खेद-छेदन-दच्छ'—भाव यह है कि भव-खेद की कारण-रूपा आसुरी सम्पत्ति है, उसे विविध उपायों से नाश करने में आप ही कुशल हैं; यथा—"खरदूषन बिराध बध पंडित।" (दो० ५०)। 'हम कहँ रच्छ'—वेद कहते हैं कि हमारी रक्षा कीजिये, भाव यह कि हम जो कहते हैं कि प्रभु की करुणा से त्रिविध दुःख छूटते हैं, उसे सत्य कीजिये, यही हमारी रक्षा करना है। हमारे रक्षक आप ही हैं, यथा—"श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह" (अ० दो० १२६), "राखहिं निज श्रुति सेतु" (बा० दो० १२१)।

जे ज्ञान मान बिमत्त तव भव-हरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुरदुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥
बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे।
जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो स्मरामहे॥३॥

अर्थ—जो ज्ञान के अभिमान से विशेष मतवाले हो रहे हैं और उसी से उन्होंने आपकी आवागमन छुड़ानेवाली भक्ति का आदर नहीं किया, हे हरि! वे देवताओं के दुर्लभ पद को भी पाकर उस पद से (नीचे) गिर पड़ते हैं, यह हम देखते हैं (वा, वे हमको देखते रहते हैं तो भी भव में पड़ते हैं)। जो सब (ज्ञानादि अन्य साधनों का) आशा-भरोसा छोड़कर विश्वास करके आपके दास हो रहे हैं (अर्थात् इसी वृत्ति में दृढ़ रहते हैं)। हे नाथ! वे आपका नाम जपकर बिना परिश्रम ही भव-पार हो जाते हैं, उन आप (स्वामी) को मैं स्मरण करता हूँ॥३॥

विशेष—'जे ज्ञान मान बिमत्त ...'—ज्ञान का अभिमान यह है कि हम तो अपने ही ज्ञान-बल से स्वयं मोह आदि विकारों के नाश करने में समर्थ हैं, हमें भक्ति-रूपा गुलामी करने की क्या आवश्यकता है? यहाँ ज्ञान से कैवल्यपरक ब्रह्मज्ञान से तात्पर्य है, जिसमें 'सोऽहमस्मि' ऐसा अनुसंधान होता है, जो आगे ज्ञान-दीपक में कहा गया है। ज्ञान का बाधक 'मान' है; यथा—"मान ते ज्ञान पान ते लाजा।" (आ० दो० २०)।

'तव भव हरनि भक्ति न आदरी'; यथा—"सुनु खगेस हरि भगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥ ते सठ महा सिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥" (दो० ११५), अर्थात् भक्ति सुगम रीति से भव से तारनेवाली है। 'सुर दुर्लभ पद' अर्थात् 'परम पद', यथा—"अति दुर्लभ कैवल्य

परम पद।" (दो० ११८), 'हम देखत' अर्थात् हम इसके साक्षी हैं। इसे दीप-देहली करके भी अर्थ करना चाहिये।

(२) 'बिस्वास करि···'; यथा—"प्रभु बिस्वास आस जीती जिन्ह तेइ सेवक हरि केरे।" (वि० १६८); 'जपि नाम तव···'; यथा—"नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु बिचार सुजन मन माहीं।" (बा० दो० २४)।

इस पूरे छंद के भाव का मिलान कीजिये; यथा—

"येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः। आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृत युष्मदङ्घ्रयः॥ तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः॥ त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥" (भाग० १०।२।३२-३३)। अर्थात् ज्ञान के अभिमानी जो भगवत्प्रीति-रहित हैं, वे परम पद की योग्यता पाकर भी गिर जाते हैं और भगवद्भक्त अपने सैकड़ों विघ्नों को लाँघते हुए निर्भय रहते हैं, मार्ग से च्युत नहीं होते, भगवान् उनकी रक्षा करते हैं। "नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्॥" (भाग० १।५।१२); अर्थात् भक्ति-हीन ज्ञान शोभा नहीं देता।

'भक्ति न आदरी'; यथा—"श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्यते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये। तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥" (भाग० १०।१४।४); अर्थात् आपकी कल्याण-कारिणी भक्ति को छोड़कर जो केवल ज्ञान ही के लिये क्लेश करते हैं, उन्हें श्रम ही हाथ लगता है जैसे भूसी कूटनेवाले को फफोले ही हाथ में होते हैं—चावल नहीं मिलता।

> जे चरन सिव अज पूज्य रज सुभ परसि मुनि-पतनी तरी।
> नख-निर्गता मुनि-बंदिता त्रैलोक - पावनि सुरसरी॥
> ध्वज-कुलिस-अंकुस-कंजजुत बन फिरत कंटक किन लहे।
> पद-कंज-द्वंद मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे॥४॥

शब्दार्थ—निर्गता = निकली हुई। किन = क्यों न, किन लोगों ने, (सं० किण) = घाव, चिह्न, दाग— "व्रणे चिह्ने घुने किणे"—इति हारावली।

अर्थ—श्रीशिवजी और श्रीब्रह्माजी के पूज्य, जिन चरणों की कल्याणकारी रज को स्पर्श करके गौतम मुनि की स्त्री अहल्या तर गई। जिनके नख से मुनियों से वंदित, त्रिलोक को पवित्र करनेवाली श्रीगंगाजी निकलीं और ध्वज, कुलिश, अंकुश और कमलयुक्त चरणों से (आपके अतिरिक्त) और किसने (कँटीले) वन में फिरकर काँटे प्राप्त किये हैं? अर्थात् आपके सिवा और किसी चक्रवर्त्ती ने ऐसे कष्ट नहीं झेले। उन मुक्ति के दाता दोनों चरण-कमलों को, हे राम! रमापति! हम नित्य भजते रहते हैं॥४॥

विशेष—(१) 'सिव अज पूज्य'—कहकर चरणों की बड़ाई की कि संसार-भर की उत्पत्ति और प्रलय करनेवाले भी इन्हें पूजते हैं। 'रज सुभ···' कहकर पदरज की बड़ाई की; यथा—"जे परसि मुनि

बनिता लही गति रही जो पातकमई।" (बा० दो० २११); 'नख-निर्गता मुनि-बंदिता'...' से चरणोदक की बड़ाई की और 'ध्वज-कुलिस'...'—इन चिह्नों के साथ कहकर साक्षात् चरणों की बड़ाई की है।

चरणों के सम्बन्ध से श्रीगंगाजी को चारों प्रकार की उत्तमता प्राप्त है—

(२) 'नख-निर्गता' से कुल एवं जन्म की उत्तमता, 'मुनि-बंदिता' से स्वरूप की, 'त्रैलोक-पावनि' से स्वभाव की और 'सुरसरी' से संग की उत्तमता कही गई है कि सदा देवताओं का संग रहता है। 'त्रैलोक-पावनि' अर्थात् अपनी तीन धाराओं से तीनों लोकों को पवित्र करती हैं, इसीसे 'त्रिपथगा' भी कही जाती हैं।

(३) 'ध्वज-कुलिस-अंकुस-कंजजुत'—श्रीरामजी के दोनों चरणों में २४-२४ चिह्न हैं। पर उनमें ये चार मुख्य हैं। ये जिसके चरणों में हों, वह चक्रवर्ती राजा होता है, उसका कँटीले वन में नंगे पावों से फिरना अयोग्य है, पर आपने कष्ट सहकर भी दया से सबके दुःख हरण किये हैं। ऐसा और कोई नहीं कर सकता। श्रीशुकदेवजी ने भी कहा है; यथा—"स्मरतां हृदि विन्यस्य विद्धं दंडककंटकैः। स्वपादपल्लवं राम आत्मज्योतिरगात्ततः॥" (भाग० ९।११।१९); अर्थात् प्रभु ने अपने उन कल्याणकारी चरणों को भक्तों के हृदय में स्थापित किया, जिनमें दंडकवन के कंटक-कंकड़ आदि गड़े थे।

(४) 'द्वंद मुकुंद'—दोनों चरण मुक्ति के दाता हैं एवं द्वंद्व, जो हानि-लाभ, मानापमान, हर्ष-शोक आदि हैं, उनसे मुक्त करनेवाले हैं।

'ध्वज-कुलिस'...' के भाव—ध्वजा चिह्न ध्याता को संसार-शत्रु से विजय देता है, वज्र चिह्न पाप-पहाड़ को विदीर्ण करता है। अंकुश-चिह्न ऐसा ज्ञान पैदा करता है कि जिससे मत्त-गज-रूप-मन वश-वर्ती रहता है। कमल अभीष्ट देता है। इनके माहात्म्य महारामायण में विस्तार से कहे गये हैं।

जब रूप की बड़ाई की, तब 'नमामहे', नाम की बड़ाई की तब 'स्मरामहे' और यहाँ चरणों की बड़ाई की तब 'भजामहे' कहा है।

यहाँ तक माधुर्य रूप कहा; आगे विराट् रूप का वर्णन करते हैं—

अव्यक्तमूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
षट कंध साखा पंचबीस अनेक पर्न सुमन-घने॥
फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार-बिटप नमामहे॥५॥

अर्थ—वेद-शास्त्र कहते हैं कि संसार-रूपी वृक्ष की जड़ अव्यक्त (ब्रह्म) है, यह (वृक्ष) अनादि काल से है, इसमें चार त्वचाएँ (छिलके अर्थात् बकले) और छः स्कंध हैं। पचीस शाखाएँ, अनेक पत्ते और सघन फूल हैं॥ कड़वे-मीठे दोनों प्रकार के फल हैं। ये (फल) जिसके आश्रित रहते हैं, वह बेलि एक ही है, (इस वृक्ष पर फैली है) नित्य नवीन पल्लव लेते और नित्य नवीन फूलते हुए नित्य नवीन हे संसार-वृक्ष-रूप! मैं आपको नमस्कार करता हूँ॥५॥

विशेष - (१) 'अव्यक्तमूलं'—वेदान्त-मत से जगत् का कारण ब्रह्म है; यथा—"सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" (छां० ६।२।१); अर्थात् इस सृष्टि से पहले सत् (ब्रह्म) ही था। उसे ही मूल (कारण) भी कहा है; यथा—"सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः।" (छां० ६।८।४); अर्थात् हे सौम्य! यह सब प्रजा सत्-मूलवाली, सत्-आश्रयवाली और सत्-समाप्ति (लय) वाली है। "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" (छां० ६।२।३); अर्थात् उस (सत् अर्थात् ईश्वर) ने संकल्प किया। कि मैं बहुत हो जाऊँ। इसी संकल्प को श्रीगोस्वामीजी ने 'समीहा' एवं 'अनुसासन' कहा है; यथा—"उतपति पालन प्रलय समीहा।" (लं० दो० १४); "लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया॥" (बा० दो० २२४), प्रभु के अनुशासन से विद्या माया जगत् को रचती है; यथा—"एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥" (आ० दो० १४); प्रभु की प्रेरणा से एवं उनके बल से रचना करने में माया का कारणत्व नहीं है, प्रभु ही का है। अतः, सिद्ध हुआ कि इस जगत् का मूल ब्रह्म ही है, वही अव्यक्त भी कहा गया है; यथा—"कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव। अव्यक्त जेहि श्रुति गाव।" (लं० दो० ११२); 'अनादि तरु'—यह जगत् कबसे है, यह नहीं जाना जाता, इससे इसे अनादि तरु कहा गया है। जगत् का कारण कर्म है। अतः, वह भी अनादि ही माना जाता है। कहा भी है—"बिधि प्रपंच अस अचल अनादी।" (अ० दो० २८१); "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।" (गीता १३।१६)।

(२) 'त्वच चारि'—तमोगुण, रजोगुण और सत्वगुण क्रमशः काले, लाल और श्वेत रंगों की त्वचाएँ हैं, चौथी बड़ी झीनी महीन त्वचा तीनों गुणों की साम्यावस्था सूक्ष्म, कारणावस्थापन्न प्रकृति है। यहाँ 'तना' जीव है, जिसपर ये चारों त्वचाएँ लिपटी हुई हैं, यह अध्याहार से लिया जायगा; यथा—"जीवभूता महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।" (गीता ७।५); 'षट कंध'—पाँच तत्त्व और मन, ये छः स्कंध हैं। 'साखा पंचबीस'—प्रत्येक तत्त्व की पाँच-पाँच प्रकृतियाँ होती हैं। मनरूपी स्कंध में शाखाएँ नहीं हैं, यह सीधा ऊपर को जानेवाला स्कंध है, इसके संकल्प-विकल्प अगणित हैं।

पाँचो तत्त्वों की प्रकृतियाँ—
- *पृथिवी-तत्त्व में—अस्थि, मांस, नाड़ी, त्वचा और लोम।*
- जल में—पित्त, वीर्य, स्वेद, लार और रक्त।
- अग्नि में—भूख, प्यास, आलस्य, निद्रा और जम्हाई।
- वायु में—धावन, उत्क्रमण, प्रसारण, संकोचन और स्पर्श।
- आकाश में—काम, क्रोध, लोभ, मद और मान।

(३) 'अनेक पर्न'—प्रारब्धानुसार शुभाशुभ कर्म अनेक पत्ते हैं।

'सुमन घने'—उन कर्मों में जो अनेक फलों की वासनाएँ हैं, उनके फल-भोग के समय की समीपता के काल ही फूल हैं।

(४) 'फल जुगल बिधि'—फल तो बहुत हैं, पर वे हैं दो ही प्रकार के—कटु फल अर्थात् दुःख और मधुर फल अर्थात् सुख हैं। ये ही अनेक प्रकार के होते हैं। किंतु ये बेलि में ही लगे हुए हैं। वही 'जेहि आश्रित रहे' से कही गई है। 'रहे' क्रिया बहुवचन पुँल्लिंग है। अतः, यह फलों के विषय में ही युक्ति संगत है। यही अविद्या माया बेलि है—जो समुदाय-कर्म-जनित वासना के द्वारा सम्पूर्ण वृक्ष को आच्छादित किये हुई है। यहाँ विलक्षणता यह है कि पत्ते और फूल तो आगे के चरण में वृक्ष में कहे गये हैं, यथा—'पल्लवत फूलत…' पर फल-मात्र बेलि में लगते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि ईश्वर की शरीर-रूपा प्रकृति के द्वारा शुभाशुभ कर्म होते हैं ; यथा—"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहंकार-विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥" (गीता ३।२७); अर्थात् प्रकृति के गुणों के द्वारा सब प्रकार के कर्म होते हैं, अज्ञानी अहंकार से अपनेको कर्त्ता मान लेते हैं । तथा—"कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ॥ पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥" (गीता १३।२०); अर्थात् कार्य (पंच तत्त्वों एवं पंच विषयों) और करण (मन, बुद्धि अहंकार तथा १० इन्द्रियों) की उत्पत्ति में हेतु प्रकृति है और फल भोगने में हेतु जीवात्मा है ; यथा—"देखी सुनी न आजु लौं अपनायति ऐसी। करैं सबै सिर मेरियै फिरि परै अनैसी ॥" (वि० १४८); अर्थात् कामादि में आसक्त होकर मन और इन्द्रियाँ सब कर्म करते हैं, परिणाम का दुःख मेरे शिर पर पड़ता है, फिर भी इनका साथ नहीं छूटता ऐसी अपनायत (आत्मीयता) पड़ गई है । पुनः कर्म-फल के समय का संयोग भी ईश्वर ही करते हैं ; यथा—"सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईस देइ फल हृदय बिचारी ॥" (अ० दो० ७६); इन प्रमाणों से पत्र और पुष्प भगवान् के शरीर-रूप वृक्ष में ही लगना निश्चित हुआ ।

फलों का भोक्तृत्व भी जीवों में ही सिद्ध हुआ । तथा—"द्वासुपर्णा···" (मु० ३।१।१) में भी जीव का ही फलभोक्ता होना स्पष्ट रूप से कहा गया है । यहाँ 'कटु मधुर' कहकर फल कहा गया है । इसका अनुभव भी भोगनेवाला जीव ही करता है । इससे जीवों की ही अविद्यात्मक वासना द्वारा फल लगना ठीक है । अतः, फल मात्र वेलि में लगना जानना चाहिये । वृक्ष में नहीं ; यथा—"न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्म फले स्पृहा ।" (गीता ४।१४); अर्थात् कर्मों के फलों में मेरी स्पृहा नहीं है इसीसे मुझे कर्म लिप्त नहीं करते, (यह श्रीभगवान् ने ही कहा है) ।

(५) 'नवल नित'—बहुत दिन का हो जाने से पदार्थ फीका पड़ जाता है । परन्तु इस वृक्ष में वह बात नहीं है । यह नित्य वैसा ही नया बना रहता है । कितने मर गये और छोड़कर चले गये, फिर भी यह नित्य हरा-भरा ही दिखलाई पड़ता है । इस तरह यहाँ जगत् को भगवान् के परिणाम-रूप में प्रवाहतः नित्य स्पष्ट कहा गया है, जैसा विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में माना जाता है ।

वेलि में जड़ नहीं कही गई, क्योंकि यह तो जीव के द्वारा अज्ञान से कल्पित है । इसमें जड़ कहाँ ? जैसे कि अमरवेलि बिना जड़ की ही होती है ।

'संसार बिटप नमामहे'—नित्य पल्लवित और फूलते हुए, हे संसार-वृक्ष ! (एक पाद विभूति विशिष्ट श्रीरामजी !) आपको मैं नमस्कार करता हूँ ।

आगे के छंद में सब एक साथ मिलकर एक स्वर से स्तुति करते हैं—

जे ब्रह्म अज अद्वैत अनुभवगम्य मन - पर ध्यावहीं ।
ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं ॥
करुनायतन प्रभु सदगुनाकर देव यह बर मागहीं ।
मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं ॥६॥

अर्थ—ब्रह्म अज है (वह जन्म नहीं लेता), अद्वैत है (वही सब कुछ है, उसके अतिरिक्त और कुछ

नहीं है), अनुभव से जाना जाता है (इन्द्रियों की गति से परे है) और मन से परे है, जो ऐसा ध्यान करते हैं। वे ऐसा कहा करें और जानें, हम तो, हे नाथ ! आपका सगुण यश नित्य गाते हैं ॥ हे करुणा के धाम ! हे सद्गुणों की खान ! हे प्रभो ! हे देव (दिव्य ज्ञान एवं शरीरवाले) ! हम यह वरदान माँगते हैं कि मन, वचन और कर्म के विकारों को छोड़कर हम आपके चरणों में प्रीति करें ॥६॥

विशेष—(१) 'जे ब्रह्म अज अद्वैत···'—ये ब्रह्म की निर्गुणता के विशेषण हैं: यथा—"न तत्र चक्षुर्गच्छति न वागगच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो ।" (केन १।३); अर्थात् उसमें न नेत्र जाते हैं, न वाणी जाती है, न मन जाता है, अपनी बुद्धि से हम उसे नहीं जानते। विशेष रूप से भी हम उसे नहीं जानते। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छा॰ ३।१४।१); अर्थात् यह सब निश्चय ब्रह्म ही है। 'ते कहहु जानहु' अर्थात् वह न कहने में आता है और न जानने ही में आता है, फिर भी उसमें जो माथा-पच्ची करें सो करें। हे नाथ ! हम तो आपके सगुण यश को नित्य गाते हैं; अर्थात् यह गाते बनता है, इसीसे हम गाते हैं।

इसपर आ० दो० १० "जे जानहिं ते जानहु स्वामी।···" तथा आ०दो० १२ "जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता।···" का तिलक भी देखिये।

(२) 'हम तव सगुन जस नित गावहीं'—यह वेदों ने अपना विषयीभूत सिद्धान्त कहा है; यथा—"बंदउँ चारिउ वेद, भव बारिधि बोहित सरिस। जिन्हहिं न सपनेहु खेद, बरनत रघुबर बिसद जस।" (बा॰ दो॰ १४); जैसे भगवान् ने गीता १८।६५–६६ में अपना एवं उपनिषदों का सिद्धान्त कहा है, वैसे ही यहाँ वेदों ने भी कहा है।

यहाँ के 'अज अद्वैत···' आदि विशेषण जन्मशीलता एवं द्वैत आदि की अपेक्षा विना सिद्ध नहीं हो सकते हैं। अतः, सगुण की अपेक्षा से ही निर्गुण की सिद्धि होती है ; यथा—"ज्ञान कहै अज्ञान बिनु, तम बिनु कहै प्रकास। निर्गुन कहै जो सगुन बिनु, सो गुरु तुलसीदास ॥" (दोहावली २५१); अर्थात् जैसे भारी अज्ञान कहे विना ज्ञान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भारी अज्ञान का निवृत्त करना ही ज्ञान का महत् स्वरूप है। तम का महत्त्व विना कहे प्रकाश का महत्त्व नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भारी तम का निवृत्त करना ही प्रकाश का महत्व है। उसी तरह से सगुण ब्रह्म के ऐश्वर्य-कथन के विना निर्गुण का महत्व जानना असंभव है। इस असंभव को यदि कोई संभव कर दे, तो उस पंडित को मैं गुरु मानने को तैयार हूँ।

तात्पर्य यह है कि जबतक सगुण ब्रह्म के स्वरूप "रोम रोम प्रति लागे, कोटि कोटि ब्रह्मंड।" (बा॰ दो॰ २०१) को नहीं जानेगा, तबतक उन अनंत ब्रह्मांडों के सम्यक् आधार होते हुए भी उनसे निर्लिप्त रहने का महत्व कोई कैसे जान सकेगा कि वह कितना बड़ा निर्लिप्त है। इसी निर्लिप्तता (निर्गुणता) के महत्व की भगवान् ने सराहना की है ; यथा—"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्। भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥" (गीता ९।४–५) ; अर्थात् सब प्राणी मुझमें ही स्थित हैं, पर मैं उन सबसे निर्लिप्त हूँ, देख, यह मेरा ऐश्वर्य योग है। मनुष्य अपने एक शरीर से भी निर्लिप्त नहीं रह सकता, परमात्मा अनन्त ब्रह्माण्डों का सम्यक् आधार होता हुआ भी उनसे वह निर्लिप्त है। तथा—"तत्र यः परमात्मासौ स नित्यो निर्गुणः स्मृतः। न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवांभसा ॥" (विष्णुपुराण); एवं "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥" (श्वे॰ ४।७); अर्थात् निर्लिप्तता ही परमात्मा की निर्गुणता है। स्पष्ट कहा गया है; यथा—"असङ्गो न हि सज्यते" (बृह॰ ४।४।२२), अर्थात् वह ब्रह्म असङ्ग है, क्योंकि वह किसी में आसक्त नहीं होता। इसपर बा॰ दो॰ ११५ चौ॰ १–३ भी देखिये।

(३) 'करुनायतन प्रभु···'—भाव यह कि हमपर करुणा करें ; क्योंकि आप समर्थ हैं। हम जो

माँगें वह आप दें। आप सद्‌गुण-खान हैं; अतः, हमें सद्‌गुण दें, जो हम आगे कहते हैं—'मन वचन कर्म...'—आपको छोड़ और को ब्रह्म मानना मन का विकार है। और को ब्रह्म कहना वचन का विकार है और दूसरे को ब्रह्म-बुद्धि से पूजना कर्म का विकार है। इन विकारों को छोड़कर आपकी अनन्य भक्ति करूँ, आप यही वरदान दें।

यही चारो वेदों का सिद्धांत है; यथा—"वेद-पुरान-संत-मत येहू। सकल-सुकृत-फल राम-सनेहू॥" (बा॰ दो॰ २६)।

'सगुन निर्गुन' कहकर वेदों ने स्तुति प्रारम्भ की थी। और इस छन्द में भी निर्गुण सगुण के ही वर्णन के साथ समाप्ति की; यथा—"जे ब्रह्म अज अद्वैत...सगुन जस नित गावहीं।"

दोहा—सबके देखत बेदन्ह, बिनती कीन्हि उदार।
अंतरधान भये पुनि, गये ब्रह्म - आगार॥
बैनतेय सुनु संभु तब, आये जहँ रघुबीर।
बिनय करत गदगद गिरा, पूरित पुलक सरीर॥१३॥

अर्थ—सबके देखते वेदों ने उदार श्रीरामजी की उदार (श्रेष्ठ, बड़ी) स्तुति की, फिर वे अंतर्धान हो गये और ब्रह्मलोक को गये॥ श्रीभुशुण्डीजी कहते हैं कि हे गरुड़जी! सुनिये, (जब वेद चले गये) तब श्रीशिवजी वहाँ आये, जहाँ श्रीरघुवीर हैं और स्तुति करने लगे, उनकी वाणी गद्‌गद है और शरीर पुलक से पूर्ण (भरा हुआ) है॥१३॥

विशेष—(१) 'सबके देखत बेदन्ह ...'—वेदों का कोई रूप नहीं है, वे वाणीमय हैं, किन्तु आज वे बंदी-वेष में आये हैं, इसीसे उन्हें सब कोई देखते हैं। पर ये वेद हैं, इन्हें किसी ने नहीं लखा, सब उन्हें बंदी ही जानते हैं; यथा—"लखेउ न काहू मरम कछु" (दो॰ १२)।

यहाँ 'सबके देखत' कहकर यह भी सूचित किया गया है कि और देवताओं की स्तुति के प्रसंग जो पहले आ चुके हैं एवं आगे आवेंगे, वे सब अप्रत्यक्ष रूप में हुए हैं। वेदों को प्रभु के समीप प्रत्यक्ष रूप में आना था, इसीसे बंदी का रूप धारण कर आये हैं। क्योंकि प्रभु अपना ऐश्वर्य गुप्त रखना चाहते हैं। नहीं तो वेद ही भाट क्यों बनकर आते? किसी श्रेष्ठ देव-रूप से आते—यह किसी-किसी का मत है। परन्तु ऐश्वर्य गुप्त रखने की विशेष आवश्यकता रावण-वध ही तक थी, वह रावण का वध होते ही नहीं रह गई। इसी से वाल्मीकीय रामायण में भी श्रीसीताजी की अग्नि-परीक्षा के प्रसंग पर सब देवताओं का प्रत्यक्ष आना कहा गया है। राजा दशरथ भी दिव्य-रूप से आये, उन्होंने श्रीरामजी को और श्रीलक्ष्मणजी को गोद में बैठाया है, बहुत-सी बातें की हैं, श्रीजानकीजी से भी बहुत कुछ कहा है। गोद में बैठाना तो अलक्ष्य भाव से नहीं कहा जा सकता। इस ग्रंथ में भी आगे पुरजनोपदेश में श्रीरामजी प्रकट शब्दों में श्रीमुख से अपना ऐश्वर्य कहेंगे।

(२) 'अंतर्धान भये...'—बंदी-रूप से आये थे, स्तुति कर जोहार की और जिधर से आये थे, पीछे की ओर वैसे ही चले गये, दरबार के लोगों की निगाहें सरकार पर हैं। वे बंदीजन-जैसे सामान्य

लोगों की तरफ क्यों देखने लगे ? दरबार से पृथक् होते ही अंतर्धान हो गये, क्योंकि उन्हें सबके समक्ष अंतर्धान होकर अपनेको तमाशा बनाना या चमत्कार दिखाना तो था नहीं, नहीं तो बंदी बनकर ही क्यों आते ? उनका उद्देश्य तो समीप में आकर प्रभु के दर्शन करने का था। उसे प्राप्त कर वे ब्रह्मलोक को गये। वेद सदा ब्रह्मलोक में रहते हैं, इससे वहीं गये।

'उदार'—वेदों ने वर माँगा, परन्तु उसका मिलना प्रकट रूप से नहीं कहा गया, वह इस विशेषण से गुप्त रीति से जना दिया गया; यथा—"उदारो दातृ महतः" 'उदार' का श्रेष्ठ एवं बड़ा भी अर्थ है, इससे यह भी जनाया कि ऐसी बड़ी स्तुति और किसी ने नहीं की।

(३) 'वैनतेय सुनु संभु तब···'—'जहँ रघुबीर' अर्थात् सिंहासन के पास आये, क्योंकि वेदों की तरह इन्हें भी समीप में आकर दर्शन करना और भक्ति-वर माँगना है। इस समय प्रभु राज्यासीन हुए हैं, सबको बहुत कुछ दे रहे हैं, इसीसे ये भी माँगेंगे। आगे 'महिपाल' और 'श्रीरंग' आदि विशेषण भी माँगने के उद्देश्य से कहेंगे। गद्गद वाणी और शरीर की पुलकावली प्रेम-दशा से है।

छंद—जय राम रमारमनं समनं। भवताप भयाकुल पाहि जनं।
अवधेस सुरेस रमेस बिभो। सरनागत मागत पाहि प्रभो ॥१॥
दससीस बिनासन बीस भुजा। कृत दूरि महा महि भूरि रुजा।
रजनीचर - बृंद - पतंग रहे। सर-पावक तेज प्रचंड दहे ॥२॥

अर्थ—हे राम ! हे रमारमण ! आपकी जय हो। हे भवतापों (संसार-दुःखों) के नाश करनेवाले भवताप के भय से व्याकुल (मेरी एवं सब) जन की रक्षा कीजिये। हे अवधपति ! हे देवताओं के स्वामी ! हे लक्ष्मी के स्वामी ! हे विभो ! हे प्रभो ! शरण में आकर आपसे माँगता हूँ कि (मेरी) रक्षा कीजिये ॥१॥ हे दस शिरों और बीस भुजाओंवाले रावण के नाश करनेवाले ! आपने पृथिवी के समूह महारोगों का नाश किया। राक्षस-समूह पतंग रूप थे, जो आपके बाण-रूपी अग्नि के तीक्ष्ण तेज में जल मरे ॥२॥

विशेष—(१) 'राम रमारमनं'—यहाँ श्रीरामजी श्रीजानकीजी के साथ सिंहासन पर विराजमान हैं, इसलिये 'रमारमनं' कहकर दोनों की जय बोलते हैं। रमा श्रीजानकीजी का नाम है और लक्ष्मीजी का भी। दोनों अर्थ बोध कराने के लिये यहाँ यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। राजा राज्यासीन होकर समस्त लक्ष्मी का पति होता है। यह लक्षित कराते हुए भी यह विशेषण दिया गया है, क्योंकि आगे इन्हें वरदान माँगना है। जो लक्ष्मीवान् होता है, वही औरों को भी दे सकता है।

श्रीसीताजी का बोधक यों है कि जैसे रमण क्रिया के सम्बन्ध से श्रीरामजी का रामनाम है; यथा—"रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि। इति राम पदेनासौ परम्ब्रह्माभिधीयते ॥" (रा० पू० ता० १।६); वैसे ही बृहद्ब्रह्मसंहिता ३।१।७१,८३ में श्रीसीताजी के लिये भी लिखा है—"वामाङ्के जानकी देवी किशोरी कनकोज्ज्वला। कैवल्यरूपिणी नित्या नित्यानन्दैकविग्रहा ॥ सेयं सीता भगवती ज्ञानानन्दस्वरूपिणी। योगिनां रमणे रामे ···।" महर्षि वाल्मीकिजी ने भी लिखा है—"श्रियाः श्रीं भर्तृवत्सलाम्।" (वाल्मी० ११०।११); अर्थात् श्रीसीताजी लक्ष्मी

की भी लक्ष्मी हैं, लक्ष्मी को भी प्रियत्व देनेवाली हैं। 'भवताप' शब्द दीपदेहली है। पहले शिवजी ने भवतापशमन कहा और फिर स्वयं अपनेको भवताप से डरा हुआ कहकर शरण हुए, क्योंकि श्रीरामजी सभीत शरणागत की रक्षा अवश्य करते हैं, यथा—"जौ सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रान की नाई॥" (सु॰ दो॰ ४१), "आवै सभय सरन तकि मोहीं॥ करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥" (सु॰ दो॰ ४७)।

(२) 'पाहि जन'—श्रीशिवजी जगत् के स्वामी हैं, इससे सबकी ओर से भी इनकी प्रार्थना है और स्वयं भी भव भय से मुक्त नहीं हैं, यथा—"नारद भव विरंचि सनकादी। जे मुनि नायक आतमवादी॥ मोह न अंध कीन्ह केहि केही।" (दो॰ ६१),

(३) 'अवधेस सुरेस'—आप अवध के राजा हैं, राजा लोग प्रजा की रक्षा करते हैं और हम आपकी प्रजा हैं। आप सुरेश हैं और हम सुर हैं। आप रमेश हैं और हम आपके उपासक हैं, सब अर्थार्थी हैं, कुछ माँगने आये हैं। आप विभु (सर्वव्यापक-ईश्वर) हैं और हम आपके जीव हैं, इन सब नातों से हम आपकी शरण में आकर रक्षा माँगते हैं।

यहाँ यह भी भाव है कि अवधेश कहकर प्रजा बनने पर यदि श्रीरामजी कहें कि हम तो मनुष्य-प्रजाओं के राजा हैं और आप तो सुर हैं, उसपर 'सुरेश' भी कहा कि इस नाते से तो रक्षा कीजिये। पुनः यदि कहें कि आप तो महादेव हैं, अर्थात् बड़े देवता हैं, तो 'रमेश' कहा कि विष्णु शिवजी से बड़े हैं। यदि कहा जाय कि विष्णु और शिव त्रिदेव होने से तुल्य हैं, तो 'विभु' भी कहा, अर्थात् सर्वव्यापक ईश्वर से त्रिदेव का भी आविर्भाव है। अतः, सब प्रकार से आप मेरी रक्षा करने के योग्य हैं।

(४) 'दससीस बिनासन बीस भुजा'—यहाँ रावण को पृथिवी का महारोग कहा है, यथा—"रावन सो राजरोग बाढ़त बिराट उर" (क॰ सु॰ २५), संसार में तीन शिरोंवाला ही ज्वर रोग अत्यन्त दुःसह होता है। परन्तु यह रावण-रूपी रोग तो दस शिरों और बीस भुजाओंवाला था, इसकी प्रबलता का क्या कहना? इसपर शंका हुई कि ऐसे प्रबल को सेना समेत बध करने में बड़ा श्रम हुआ होगा। उसपर आगे कहते हैं—'रजनीचर वृंद' अर्थात् वे सब मोहवश स्वयं लड़कर अनायास नाश हो गये, जैसे फतिंगे प्रचंड अग्नि में, यथा—"निसिचर निकर पतंग सम, रघुपति बान कृसानु। जननी हृदय धीर धरु, जरे निसाचर जानु॥" (सु॰ दो॰ १५), "होहिं कि राम सरानल खल कुल सहित पतंग॥" (सु॰ दो॰ ५६), 'तेज प्रचंड'—आपके प्रचंड तेज को उन असुरों ने नहीं जाना, वे मोह से आपको मनुष्य ही मानते थे, जैसे फतिंगे अग्नि के उष्णत्व को नहीं जानते।

महि-मंडल मंडन चारुतर। धृत सायक चाप निषंग बरं।
मद मोह महा ममता रजनी। तम-पुंज-दिवाकर तेज-अनी॥३॥
मन जात किरात निपात किये। मृगलोग कुभोग सरेन हिये।
हति नाथ अनाथनि पाहि हरे। विषया-बन पाँवर भूलि परे।४॥

सुंदर बाण, धनुष और तर्कश धारण किये हुए हैं। मद, महामोह और महा ममता-रूपी रात्रि के अंधकार-समूह के (नाश करने के) लिये आप सूर्य-किरण समूह हैं॥ कामदेव-रूपी किरात ने मनुष्य-रूपी मृगों को उनके हृदय में कुभोग-रूपी बाण मारकर उनका नाश किया है। हे दुःख हरनेवाले! हे नाथ! उस (काम) को मारकर विषय-रूपी वन में भूले पड़े हुए नीच अनाथों की रक्षा कीजिये ॥२॥

विशेष—(१) 'महि-मंडल मंडन···'—ऊपर रावण-रूप भूमि के महारोग का नाश कहा गया, उसी संबंध से यहाँ पृथिवी-मंडल का शोभित होना कहते हैं कि जैसे रोग से रोगी की शोभा नहीं रहती, वैसे ही उस रोग से पृथिवी शोभाहीन हो गई थी, उस रोग के नाश हो जाने से अब वह शोभित हुई। रोग ओषधियों से नाश होते हैं। आपने अपनी तर्कश रूपी झोली से बाण-रूपी ओषधि निकालकर उस का नाश किया, उसीको यहाँ—'धृतसायक···' कहा है। 'बरं'—क्योंकि रोग-नाश करने में सफल रोग हुए। 'मंडन चारु तरं'—का भाव यह है कि दुश्चरित्र राक्षसों का नाश किया और अब अपने सदाचार से पृथिवी को सुशोभित कर रहे हैं; यथा—"चारित्रेण च को युक्तः" इस प्रश्न पर "स च सर्वगुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्धनः।" (वाल्मी॰ मू॰ रा॰) कहा गया है।

(२) 'मद मोह महा···'—इन तीनों को रात कहा गया, क्योंकि रात भी त्रियामा कही जाती है। जैसे रात अंधकारमय होती है वैसे ही ये भी अज्ञानमय होते हैं; यथा—"ममता तरुन तमी अँधियारी।" (सुं॰ दो॰ ४६); "मोह निसा सब सोवनि हारा।" (अ॰ दो॰ ९२); 'महा'—का भाव यह कि रात का अंत है, पर इन मद-ममता आदि का अंत नहीं है।

(३) 'तम-पुंज दियाकर तेज अनी'—'तेज अनी' अर्थात् तेज का समूह, 'तम-पुंज' के लिये 'तेज अनी' कहा गया है। सूर्य सहस्रांशु कहाते हैं। भाव यह है कि हृदय में आपके आते ही अनायास ही मद आदि नष्ट हो जाते हैं।

(४) 'मन जात किरात...'—किरात लोग प्रायः मृगों को रात में मारते हैं, इसी से यहाँ भी पहले रात कहकर तब काम-रूपी किरात का कुभोग-रूपी बाणों से मृग-रूपी मनुष्यों को मारना कहा गया है। 'कुभोग'—अपनी स्त्री का सहवास भोग और पर-स्त्री-सहवास कुभोग है, क्योंकि यह नरक-मूल है। कुभोग से लोक में अपकीर्ति और परलोक-हानि होती है। विषयी लोग इसे नहीं समझते इसी से मृग (पशु) कहे गये।

(५) 'हति नाथ अनाथन्हि पाहि हरे'—हे नाथ! आपके से नाथ रहते हुए ये लोग अनाथ की तरह मारे जाते हैं, आप भक्तों के क्लेश हरने से हरि कहाते हैं। अतः, इन अनाथों के क्लेश हरण कर इनकी रक्षा करें। आपकी रक्षा से काम इन्हें नहीं मार सकता; यथा—"जे राखे रघुवीर, ते उबरे तेहि काल महँ।" (बा॰ दो॰ ८५); "तिन्हकी न काम सकै चापि छाँह। तुलसी जबसे रघुवीर बाँह॥" (गी॰ अ॰ ४६)।

(६) 'बिषया-बन...'—विषय को वन कहा गया, क्योंकि जैसे बन में अनेकों प्रकार के दुःख और भय हैं वैसे ही विषय-सेवन मे अनेकों दुख और भय हैं। जैसे वन में लोग प्रायः मार्ग भूल जाते हैं, वैसे ही विषय मे पड़कर लोग परमार्थ मार्ग को भूल जाते हैं। नरदेह का मुख्य उद्देश्य परमार्थ-साधन है, उसमें भूल जाने से विषयी पामर कहे गये। विषय में पड़कर महर्षि विश्वामित्रजी भी भूल गये, दस वर्षों को एक दिन की तरह जाना; यथा—"अहो रात्रापदेशेन गताः संवत्सरा दश।" (वाल्मी १।६३।११); अर्थात् दिनरात के बहाने मेरे दश वर्ष बीत गये। फिर सामान्य मनुष्यों को क्या बात है? 'नाथ'—शिवजी सबकी रक्षा माँगते हैं, इसी से याचनार्थक नाथ पद कहा गया।

बहु रोग बियोगन्हि लोग हये। भवदंघ्रि निरादर के फल ये।
भवसिंधु अगाध परे नर ते। पद-पंकज प्रेम न जे करते ॥५॥
अति दीन मलीन दुखी नितहीं। जिन्हके पद-पंकज प्रीति नहीं।
अवलंब भवंत कथा जिन्हके। प्रिय संत अनंत सदा तिन्हके ॥६॥

अर्थ—बहुत-से रोगों और वियोगों से लोग मारे गये, आपके चरणारविंद के निरादर के ये फल हैं। जो आपके चरण-कमलों में प्रेम नहीं करते वे मनुष्य अगाध (अथाह) भवसागर में पड़े हैं ॥५॥ जिनकी प्रीति आपके चरण-कमल में नहीं है, वे नित्य ही अत्यन्त दीन, मलिन और दुखी रहते हैं। आपकी कथा का जिन्हें आधार है, उनको सदा संत और भगवान् प्रिय लगते हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'बहु रोग बियोगन्हि...'—ऊपर कुभोग को पाप कहा गया है, उसी का फल-भोग यहाँ कहते हैं कि वे रोग और वियोग के द्वारा मारे जाते हैं, यथा—"करहिं पाप पावहिं दुख, भय रुज सोक बियोग।" (दो० १००); 'भवदंघ्रि निरादर के फल ये'—भाव यह है कि आपके चरणों में प्रेम कर भक्ति करते तो विषय में नहीं फँसते और न ये सब दुर्दशाएँ होतीं; यथा—"राम चरन पंकज प्रिय जिन्हहीं। विषय भोग बस करै कि तिन्हहीं॥" (अ० दो० ८१); "सुमिरत रामहि तजहिं जन, तृन सम विषय बिलास॥" (अ० दो० १४०)।

विषय-भोग से भाँति-भाँति के रोग होते हैं, विषय सामग्री के एवं पुत्र कलत्र आदि के वियोग के भी दुःख उसी से होते हैं।

(२) 'भवसिंधु अगाध परे नर ते'—भवसागर बड़ा गहरा है, इसमें निमग्न हुए जीव अपने उपाय-रूपी तैरने की क्रिया से नहीं निकल पाते। 'परे नर ते' अर्थात् इसमें वे पड़े ही रहते हैं। 'पद पंकज प्रेम न जे करते'—यदि चरणों में प्रेम करते तो तर जाते; यथा—"भव जलधिपोत चरनारबिंद" (वि० ६४), "यत्पादप्लव एक एव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावता" (बा० मं० ६) तथा गीता १२।६–७ भी देखिये।

(३) 'अति दीन मलीन...'—भाव यह कि अन्न-वस्त्र भी नहीं मिलता, यह अति दीनता है, इसी से मलिन चेष्टा से पाप करते हैं और फिर नित्य ही दुःख पाते हैं। 'जिन्ह के पद...'—भाव यह कि भजन करते तो दुःख मालूम ही नहीं पड़ता, यथा—"बचन काय मन मम गति जाही। सपनेहुँ बूझिय बिपति कि ताही॥" (सुं० दो० ११)।

(४) 'अवलंब भवंत कथा...'—ऊपर विमुखों की दुर्दशा कही गई, अब भक्तों का सुख कहते हैं कि वे नित्य दुखी, दीन एवं मलिन रहते हैं और ये सुखी रहते हैं। कथा सुननेवालों का स्वभाव कहते हैं कि उन्हें संत और भगवान् सदा प्रिय लगते हैं, क्योंकि संत के बिना हरिकथा नहीं होती; यथा—"बिनु सतसंग न हरिकथा" (दो० ६१) और कथा से भगवान् के गुण जाने जाते हैं, इससे उनमें प्रीति होती है।

नहिं राग न लोभ न, मान मदा। तिन्हके सम बैभव वा बिपदा।
येहि ते तव सेवक होत मुदा। मुनि त्यागत जोग भरोस सदा ॥७॥

करि प्रेम निरंतर नेम लिये। पद-पंकज सेवत सुद्ध हिये।
सम मानि निरादर आदरहीं। सब संत सुखी बिचरंति मही ॥८॥

अर्थ—उनके न राग (पदार्थों मे प्रेम) है, न लोभ (वस्तु के अधिक पाने की इच्छा) है, न अभिमान है और न मद। उनके लिये संपत्ति और विपत्ति एक-समान हैं, इससे आपके सेवक आनंदित होते हैं और मुनि लोग सदा योग का भरोसा छोड़ते हैं, अथवा, मुनि लोग योग का भरोसा छोड़ते और आपका सदा ही भरोसा रखते हैं ॥७॥ प्रेम करके निरंतर नियम लेकर शुद्ध हृदय से चरण-कमलों की सेवा करते हैं। निरादर और आदर को समान मानकर सब संत आनंद से पृथिवी पर विचरते हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'नहिं राग न लोभ···' पहले कथा का अवलंबन कहकर अब उसका फल कहते हैं कि उन्हें जो प्राप्त है, उसमे राग नहीं रह जाता और जो नहीं प्राप्त है, उसका लोभ भी नहीं रहता। जाति-विद्या आदि अपने मे उत्तम मानकर हृदय मे हर्ष करना 'मद' है और जाति-विद्या आदि से लोक मे बड़ाई की चाह से प्रसिद्ध व्यापार 'मान' है, ये दोनों उनमे नहीं रह जाते।

'तिन्हके सम वैभव वा बिपदा।'; यथा—"सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं॥" (आ॰ दो॰ ११६)। "समदुःखसुखःस्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।" (गीता १४ २४)।

(२) 'येहि ते तव सेवक होत मुदा।'—कथा सुनने से हर्ष होता है; यथा—"सुनत बिमल गुन अति सुख पावहिं।" (दो॰ १५), "येहि बिधि कहत राम गुन ग्रामा। पावा अनिर्बाच्य बिश्रामा॥" (सुं॰ दो॰ ७); संत के मिलने से सुख होता है; यथा—"संत मिलन सम सुख जग नाहीं।" (दो॰ १२०); इत्यादि उपर्युक्त सुख के कारण 'येहि ते' शब्द मे आ गये।

(३) 'नेम लिये'—प्रेमपूर्वक नियमित रूप से भजन करते हैं, उत्तरोत्तर वृद्धि भले ही हो, कम नहीं होने देते; यथा—"चातक रटनि घटे घटि जाई। बढ़े प्रेम सब भाँति भलाई॥" (अ॰ दो॰ २०४)।

'सुद्ध हिये'—हृदय मे दंभ आदि विकार नहीं आने पाते।

(४) 'सम मानि निरादर आदरहीं'—विचरने मे जहाँ-तहाँ आदर-निरादर होता है, उसे समान ही मानकर सुखी रहते हैं, क्योंकि उनका लक्ष्य आपके प्रेम विषयक तत्त्वों में ही रहता है, आदर-निरादर का तो देह से ही सम्बन्ध है। यह गुणातीत का लक्षण है। गीता १४।२५ भी देखिये।

ऊपर 'तिन्हके सम वैभव वा बिपदा।' से प्रवृतिवाले संत और यहाँ 'बिचरंति मही' कहकर इन्हें निवृत्ति मार्ग का संत सूचित किया। एक ही स्थान पर विशेष काल तक रहने से इन्हें राग-द्वेष का भय रहता है, इससे ये विचरा करते हैं, यह साधकों का उद्देश्य है। सिद्धों के विचरने पर कहा गया है—"जड़ जीवन्ह को करत सचेता। जग माहीं बिचरत येहि हेता।" (वैराग्यसंदीपनी ६)।

'जोग भरोस'—जोग मे ज्ञान-वैराग्य आदि सबके भाव हैं।

मुनि-मानस-पंकज भृंग भजे। रघुबीर महा रनधीर अजे।
तव नाम जपामि नमामि हरी। भव रोग महागद मान अरी ॥९॥

'सब निधि सुख प्रद बास'—जो सब काल में सुखद और सब ऋतुओं की उपभोग-सामग्री से पूर्ण हों ; यथा –"सुंदर सदन सुखद सब काला । तहाँ बास लै दीन्ह भुआला ॥" (बा॰ दो॰ २१६) ।

वाल्मी॰ ६।१२८।४७ में श्रीरामजी ने श्रीभरतजी से कहा है कि मेरा सुंदर सुसज्जित भवन श्रीसुग्रीवजी के रहने के लिये दो, तब श्रीभरतजी ने वैसा ही किया । पीछे श्रीभरतजी ने श्रीसुग्रीवजी से तिलक- सामग्री एकत्र करवाने के लिये भी कहा है ।

सुनु खगपति यह कथा पावनी । त्रिविध ताप भवभय दावनी ॥१॥
महाराज कर सुभ अभिषेका । सुनत लहहिं नर बिरति बिबेका ॥२॥

अर्थ—हे गरुड़ ! सुनो, यह कथा पवित्र है, तीनों प्रकार के तापों और भव-भय को नाश करने वाली है ॥१॥ महाराज श्रीरामजी का कल्याणकारी राज्याभिषेक सुनते ही मनुष्य वैराग्य और विवेक पाते हैं ॥२॥

विशेष—(१) यहाँ राज्य-तिलक का प्रसंग पूरा हुआ । अतः, उसका माहात्म्य कहते हैं । यह भी हो सकता है कि वाल्मीकीय रामायण में यहाँ पर लंकाकाण्ड की समाप्ति हुई है और विस्तृत माहात्म्य कहा गया है, वह भाव भी दिखा दिया गया ।

श्रीगोस्वामीजी ने अपना उत्तरकाण्ड अन्य रामायणों से कुछ विलक्षण रचा है । वाल्मीकीय रामायण के उत्तरकाण्ड का चरित इन्होंने इसमें नहीं ग्रहण किया । रावण की कथा तो इन्होंने बाल काण्ड में ही सूक्ष्म रीति से लिख दी है । लंकाकाण्ड में लंका से सम्बन्ध रखनेवाले ही चरित लिखे गये हैं । राज्याभिषेक और तत्सम्बन्धी राज्य-वैभव-वर्णन और विविध उपदेश एवं काक भुशुंडी और गरुड़जी के सत्संग द्वारा इन्होंने अपने उत्तरकाण्ड को सर्वोपरि सुशोभित किया है ।

(२) 'सुनु खगपति यह कथा पावनी' कहकर इसे स्वरूप से निर्मल और सबको पवित्र करने- वाली कहा । 'त्रिविध ताप .'—शरीर के सम्बन्ध से होनेवाले तीनों (दैहिक, दैविक और भौतिक) तापों को दमन करती है, ये ताप व्याप्त होने नहीं पाते ; यथा—"समन पाप संताप सोकके ।" (बा॰ दो॰ ३१) । 'भव भय दावनी , यथा—"करउँ कथा भव सरिता तरनी ।" (बा॰ दो॰ ३०) ।

(३) 'सुनत लहहिं नर बिरति बिबेका ।'—विरति प्राप्त कराती है जिससे त्रिविध ताप नहीं व्यापते और विवेक देती है, जिससे भव-भय नहीं रह जाता । इससे उपर्युक्त—'त्रिविधताप भव भय दावनी' को ही यहाँ स्पष्ट किया है । 'सुनत'—अर्थात् तत्काल फल देती है । यहाँ निष्कामों को कहा है—आगे सकाम श्रोताओं को कहते हैं—

जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं । सुखसंपति नाना बिधि पावहिं ॥३॥
सुर-दुर्लभ सुख करि जग माहीं । अंतकाल रघुपति-पुर जाहीं ॥४॥

अर्थ—जो मनुष्य किसी कामना सहित इसे सुनते हैं और जो गाते हैं, वे (श्रोता-वक्ता दोनों) अनेक प्रकार के सुख और संपत्ति पाते हैं ॥३॥ वे संसार में देवताओं को भी दुर्लभ सुख प्राप्त करके अंतकाल में श्रीरघुनाथजी के लोक को जाते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'जे सकाम नर '—'सकाम' का अर्थ भी स्पष्ट किया—'सुख संपति नाना विधि पावहिं।' अर्थात् सुख-संपति की कामना भी सिद्ध होती है। कथा से जानकर उनका उपभोग भक्ति के रूप में ही करते हैं, भक्ति के रूप में भोग ही परमार्थ-साधक हो जाते हैं। कान से राम-यश श्रवण करते हैं, मुख से वही गाते हैं, नेत्र से उनके दर्शन करते हैं। उनके कुटुंब और द्रव्य श्रीरामजी के हैं, वे परिकर रूप से श्रीरामजी की क्रीड़ा में सम्मलित रहते हैं, इत्यादि सुख देवताओं के लिये दुर्लभ हैं। क्योंकि स्वर्ग-सुख-भोग परिणाम में अधोगति देनेवाला है और इनका यह भोग अंत में परधाम देनेवाला है; यथा—"मद्भक्ता यान्ति मामपि।" (गीता ७।२३); अर्थात् मेरे भक्त अवश्य मुझको ही पाते हैं। गीतावली में भी कहा है; यथा—"श्रीराम-पद जल जात सबके प्रीति अबिचल पावनी। जो चहत सुक सनकादि संभु विरंचि मुनि मन भावनी॥ सब ही के सुंदर मंदिराजिर, राउ रंक न लखि परै। नाकेस दुर्लभ भोग लोग करहिं न मन बिषयनि हरै॥" (उ० ११); "जिमि हरिजन हिय उपज न कामा।" (कि० दो० १४)।

(२) 'अंतकाल रघुपति पुर जाहीं।'—पहले 'जग माहीं' कहकर इह लोक का सुख कहा, यह एक पाद विभूति का सुख कहा गया। पुनः 'रघुपति पुर जाहीं' से त्रिपाद विभूति की प्राप्ति कही गई है, जो जगत से भिन्न है। श्रीरघुनाथजी का पुर अयोध्या ही है, यहाँ लीला-विभूति की अयोध्या है और त्रिपाद-विभूति में भी अयोध्या है। दोनों नित्य हैं। लीला-विभूति की अयोध्या "जनम भूमि मम पुरी सोहावनि।" से ऊपर दो० ३ में कही गई और वहीं पर 'अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ।' पर त्रिपाद विभूति की अयोध्या भी वेद प्रमाण सहित कही गई है। वही श्रीरघुनाथजी का लोक है। 'रघुपति पुर' कहकर अयोध्या, साकेत इत्यादि का बोध कराया, श्रीरघुनाथजी की पुरी अयोध्या ही है। तात्पर्य यह है कि माधुर्य के उपासक भक्त यहाँ पर भगवान् के जिस रूप और भाव से जिस प्रकार के स्थल में अनुसंधान सहित उनकी उपासना करते हैं। भगवान् उसी रूप से एवं वैसी ही रीति से उन्हें आनन्दानुभव कराते हुए वहाँ नित्य सेवा प्रदान करते हैं; यथा—"यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत॥" (छां० ३।१४।१); इस श्रुति प्रमाण के 'तत्क्रतुन्याय' से उपर्युक्त बातें संगत हैं।

जो यहाँ जैसे परिकर-रूप से भावना करता है, दिव्य विभूति में भी वह वैसे ही ब्रह्म के साथ क्रीड़ा में सम्मिलित रहकर दिव्य सुख पाता है; यथा—"सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता।" (तैत्त० २।१); अर्थात मुक्तात्मा, परमात्मा के साथ-साथ सब कामनाओं का भोक्ता होता है। यही सायुज्य मुक्ति है; यथा—"सायुज्यं प्रतिपन्ना ये तीव्रभक्तास्तपस्विनः। किङ्करा मम ते नित्यं भवन्ति निरुपद्रवाः॥" (नारद पंचरात्र-परम संहिता); अर्थात् क्षुधा-पिपासा आदि उपद्रवों से रहित होकर ब्रह्म के साथ-साथ किंकर भाव से सब कामनाओं को भोगनेवाले सायुज्य मुक्त कहाते हैं। यही मुक्ति श्रीगोस्वामीजी की भी इष्ट है; यथा—"खेलिबे को खग मृग तरु किंकर होइ रावरो राम हौं रहिहौं। येहि नाते नरकहुँ सचु पैहौं या बिनु परमपदहुँ दुख दहिहौं॥" (वि० २३१); अर्थात् परमपद (नित्यधाम की मुक्तावस्था) में भी किंकर भाव से ही रहूँगा।

यहाँ सकामों के प्रसंग में यह महत्व कहा, तो निष्कामों का क्या कहना? वे तो विवेक-विराग सहित भक्ति करते हैं, तो मुक्त होंगे ही।

सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई। लहहिं भगति-गति संपति नई॥५॥
खगपति राम-कथा मैं बरनी। स्वमति बिलास त्रास दुखहरनी॥६॥
बिरति बिबेक भगति दृढ़ करनी। मोह-नदी कहँ सुंदर तरनी॥७॥

गुन सील कृपा परमायतनं प्रनमामि निरंतर श्रीरमनं।
रघुनंद निकंदय द्वंदघनं महिपाल विलोकय दीनजनं ॥१०॥

शब्दार्थ—महा गद (महा+अगद, गद=रोग, अगद=ओषधि)=महान् ओषधि; महा वाक्य।

अर्थ—आप रघुवंशी वीर, महा रणधीर और अजेय होकर भी मुनियों के मन-कमल के भ्रमर होकर उनको भजते हैं, अर्थात् उनके प्रेम-वश होकर उनके हृदय-कमल में वास करते हैं। हे हरि! मैं आपका नाम जपता हूँ और आपको प्रणाम करता हूँ। आप (एवं वह आपका नाम) भवरूपी महान् रोग की महान् ओषधि हैं और मान के शत्रु हैं ॥९॥ आप गुण शील और कृपा के परमस्थान हैं, श्रीपति हैं, मैं आपको निरंतर प्रणाम करता हूँ। हे रघुनंदन! मेरे द्वंद्व-समूह को नाश कीजिये। हे महिपाल! (मुझ) दीन जन की ओर देखिये (भाव यह कि आपकी कृपा-दृष्टि से ही दीनों का द्वन्द्व-दुःख नाश होता है) ॥१०॥

विशेष—(१) 'मुनि मानस···'—मुनि लोग सर्वात्मना वृत्ति सहित भगवान् का भजन करते हैं, उन्हीं को चाहते हैं। अतः, प्रेम से वश होकर भगवान् भी उनको भजते हैं। जैसे भ्रमर रस के लोभ से कमल को भजता है, वैसे ही भगवान् प्रेमरस के लोभ से मुनियों के हृदय-कमल को भजते हैं; यथा—"ते दोउ बंधु प्रेम जनु जीते। गुरु-पद-पदुम पलोटत प्रीते॥" (बा॰ दो॰ २२५); तथा "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्॥" (गीता ४।११)।

(२) 'भव रोग महागद मान अरी।'—ऊपर कहा गया—'कृत दूरि महा महि भूरि रुजा।'—वहाँ पृथिवी के महारोग रूप रावण का नाश करना कहा गया था। यहाँ भव-रोग का भी नाशक कहते हैं। 'मान अरी' पृथक् कहने का कारण यह है कि मान भवरोग का मूल रूप है; यथा—"संसृति मूल सूल प्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥" (दो॰ ७१) अर्थात् आप कारण और कार्य दोनों के नाशक हैं।

'भव रोग महागद···' यह पद नाम का भी विशेषण हो सकता है और उसमें महागद श्लेषार्थ से 'महा वाक्य' अर्थ से भी पृथक् विशेषण नाम ही का हो सकता है; अर्थात् वह नाम महा वाक्य-रूप है, भव-रूपी महा रोग की महती ओषधि है और वह मान का शत्रु है।

कहीं-कहीं 'गद' की जगह 'मद' भी पाठ है, उसमें 'महा' शब्द भव रोग, मद और मान तीनों के साथ लगेगा। फिर उसे नाम और रूप दोनों के साथ लगा सकते हैं।

(३) 'गुनसील कृपा···'—यद्यपि भगवान् में सभी गुण निस्सीम हैं; यथा—"स च सर्व गुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्द्धनः।" (वाल्मी॰ मू॰ रा॰) तथापि यहाँ पर श्रीशिवजी की दृष्टि इन तीनों गुणों पर विशेष है, इसी से श्रीरामजी को गुणों के परम स्थान कहा है। 'श्रीरमनं'—'श्री' शब्द श्रीजानकीजी का नाम है। अरण्यकांड में तथा अन्यत्र भी कई जगह आया है। श्रीसीता मंत्र का बीजाक्षर भी यही है। ऊपर 'रमा रमनं' में प्रमाण भी दिया गया है कि श्रीजानकीजी श्रीसमूह की भी श्री हैं। 'रमा' और 'श्री' श्रीसीताजी के ऐश्वर्य-द्योतक नाम हैं। इन नामों में श्रीलक्ष्मीजी के द्रव्य आदि अंश का भाव भी है और यहाँ श्रीशिवजी को कुछ माँगना है, इससे उपक्रम और उपसंहार में भी यही नाम दिया गया है कि श्रीमान् लोग ही आश्रितों को कुछ देते हैं। इसी से 'महिपाल' भी कहा है।

(४) 'द्वंदघनं'—अर्थात सुख-दुःख, मानापमान आदि द्वन्द्वों के समूह।

दोहा—बार बार बर माँगउँ, हरषि देहु श्रीरंग !
पद-सरोज अनपायनी, भगति सदा सतसंग ॥
बरनि उमापति रामगुन, हरषि गये कैलास ।
तब प्रभु कपिन्ह दिवाये, सब बिधि सुखप्रद बास ॥१४॥

शब्दार्थ—श्रीरंग = श्रीजी को रमानेवाले, श्रीरमण । अनपायनी = जिसका कभी विश्लेष (अलगाव) नहीं हो, अविरल, सदा एक रस रहनेवाली ।

अर्थ—हे श्री-रमण ! आपके चरण-कमलों की अविनाशिनी भक्ति और सदा सत्संग का वरदान आपसे मैं बार-बार माँगता हूँ, आप प्रसन्न होकर दीजिये ॥ श्रीरामजी के गुणों का हर्ष-पूर्वक वर्णन करके उमापति श्रीशिवजी हर्ष-पूर्वक कैलाश को गये, तब प्रभु ने वानरों को सब प्रकार सुख देनेवाले वास-स्थान दिलाये ॥१४॥

विशेष—(१) 'बार-बार' माँगने के सम्बन्ध से 'श्रीरंग' कहा गया है कि आप समस्त ऐश्वर्य के स्वामी हैं । अतः, सब कुछ दे सकते हैं, इससे बार-बार माँगने पर संकोच नहीं होगा और जो माँगूगा, अवश्य मिलेगा । 'हरषि देहु'—जो दोनों पदार्थ माँगते हैं, वे बड़े दुर्लभ हैं ; यथा –"सब ते सो दुर्लभ सुर राया । राम-भगति-रत गत-मद-माया ।" (दो० ५३) ; "सत्संगति दुर्लभ संसारा ।" (दो० १२२) ; इसी से इन्हें बार-बार माँगने पर भी प्रभु संकोच में पड़कर देते हैं ; यथा—"प्रभु कह देन सकल सुख सही । भगति आपनी देन न कही ॥" (दो० ८१) । यही विचारकर श्रीशिवजी ने बार-बार माँगा और श्रीरंग कहकर ऐश्वर्य एवं उदारता प्रकट की, फिर भी कहते हैं कि हर्ष-पूर्वक दे दीजिये ।

भक्ति माँगकर साथ ही सत्संग माँगने का अभिप्राय यह है कि निरंतर सत्संग रहने से भजन का उत्साह नित्य नवीन बना रहता है । भजन के उपाय भाँति-भाँति से श्रवणगोचर हुआ करते हैं । इसी से पूज्य ग्रंथकार ने स्वयं भी ऐसा ही माँगा है ; यथा—"यत्र कुत्रापि मम जन्म···तत्र त्वद्भक्ति सज्जन समागम सदा भवतु मे राम विश्राममेकम् ।" (वि० ५७) ।

(२) 'बरनि उमापति···'—इसमें 'हरषि' दीपदेहली है । हर्ष-पूर्वक जाने से वरदान का मिलना भी ध्वनित हुआ, लीला के अनुरोध से प्रकट-रूप में वरदान नहीं दिया, मानसिक रीति से दिया । उसे जानकर श्रीशिवजी प्रसन्न हुए ।

(३) 'तब प्रभु कपिन्ह दिवाये···'—अन्य रामायणों में तिलक के पहले वास दिलाना लिखा है । परन्तु श्रीगोस्वामीजी ने आते ही तिलक-रचना लिखी है । अतएव सभी उस कार्य में लगे थे । अब वह कार्य सम्पन्न हो गया, प्रभु को अवकाश मिला, तब उन्होंने वानरों के निवास का प्रबंध किया ।

प्रभु का चित्त इनके स्वागत में लगा था, इसी से श्रीशिवजी ने प्रार्थना में कहा है—'महिपाल विलोकय दीन जनं' अर्थात् मुझ दीन जन की ओर थोड़ा ध्यान दें, यद्यपि आप महिपाल हैं । अतः, आप को सभी का पालन करना है ।

'कपिन्ह' में रीछ और राक्षस भी आ गये । रीछ तो प्रायः कपियों में कहे ही जाते हैं, राक्षस बहुत थोड़े हैं, इससे वे भी उन्हीं में कहे गये ।

अर्थ—जीवन्मुक्त, वैराग्यवान् और विषयी सुनते हैं, तो भक्ति, गति और नई सम्पत्ति (श्रद्धा) पाते हैं ॥५॥ हे गरुड़जी ! मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार राम-कथा वर्णन की, जो भय और दुःख को हरनेवाली, वैराग्य, विवेक और भक्ति को दृढ़ करनेवाली और मोह-नदी के लिये सुन्दर नाव है ॥६-७॥

विशेष—(१) 'सुनहिं बिमुक्त···'—इसमें यथासंख्यालंकार से अर्थ होना चाहिये। विमुक्त को भक्ति मिलती है; यथा—"सुक सनकादि मुक्त बिचरत तेउ भजन करत अजहूँ ॥" (वि० ८६), मुक्तों को कुछ नहीं चाहिये। फिर भी वे भक्ति करते हैं, इसपर - "भगतिहि सानुकूल रघुराया।" से 'अस बिचारि जे मुनि बिज्ञानी। जाँचहिं भगति सकल सुखखानी ॥" (दो० ११५)—देखिये। वैराग्यवान् को गति मिलती है। गति का अर्थ है—भगवान् के अनन्य शरण होना, विरक्त सब ओर से वृत्ति खींच लेते हैं, तब वे भगवान् में अनन्य होकर शरणागति पाते हैं, यथा—"आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।" (गीता ७।१८), विषयी को नई संपत्ति मिलती है, 'नई' का अर्थ कोई-कोई दिन-दिन नई होनेवाली अर्थात् 'नित्य नई' करते हैं। पर मूल में 'नित्य' शब्द बिना यह अर्थ नहीं आता और 'नई' शब्द दोहराया भी नहीं गया कि जिससे उक्त अर्थ लिया जाता।

नई सम्पत्ति क्या है ? यह विचार करने का विषय है। विषयी के पास जो सम्पत्ति है, जिसे वह भोगता है वह पुरानी है, क्योंकि विषयोपभोग सामग्री का तो वह जन्म-जन्म से भोग करता ही आता है।

अब कथा के द्वारा जो उसे नई सम्पत्ति मिलती है, वह है श्रद्धा, साधन चतुष्टय में षट् संपत्ति भी है जिसके छः भेदों में श्रद्धा भी एक है—शम, दम, उपरम, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान। यही सात्विक श्रद्धा के नाम से दो० ११६ चौ० ६ में कही गई। भक्ति अथवा ज्ञान किसी भी साधन में श्रद्धा ही उत्तरोत्तर विकास की जड़ है। इससे उसका आगे बढ़ने का मार्ग खुल जाता है। कथा के द्वारा विषयोपभोग की अनित्यता समझ में आ जाती है और वह उपासना में प्रवृत्त होता है।

इस अर्थ से विमुक्त और विरत के समान इसका भी फल हो जाता है और फल में भी विषयी से विरति की और उससे विमुक्त की उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है। ये तीनों अन्यत्र भी कहे गये हैं - "बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिविध जीव जग बेद बखाने ॥ राम सनेह सरस मन जासू। साधु सभा बड़ आदर तासू ॥" (अ० दो० २७१) इसमें उपर्युक्त विमुक्त सिद्ध और विरत साधक कहे गये हैं। विषयी को इसमें भी राम-स्नेह में सरसता (श्रद्धा) ही कही गई है।

(२) 'स्वमति बिलास' अर्थात् अपनी बुद्धि की प्रवृत्ति भर, अपनी मति के अनुसार। त्रास अर्थात् यम साँसति, गर्भवास आदि के भय। दुःख अर्थात् दरिद्र, आधि व्याधि आदि।

(३) 'बिरति बिबेक भगति दृढ़ करनी।'—इनकी प्राप्ति ऊपर कही गई, यहाँ दृढ़ करनी कहते हैं। भाव यह कि प्राप्त कराके फिर उसे अचल भी कर देती है।

नित नव मंगल कौसलपुरी। हरषित रहहिं लोग सब कुरी ॥८॥
नित नइ प्रीति राम-पद-पंकज। सबके जिन्हहि नमत सिव मुनि अज ॥९॥
मंगन बहु प्रकार पहिराये। द्विजन्ह दान नाना बिधि पाये ॥१०॥

अर्थ—श्रीअयोध्यापुरी में नित्य नये मङ्गलोत्सव होते हैं, सब कुरी (जाति) के लोग प्रसन्न रहते हैं ॥८॥ श्रीरामजी के चरण-कमलों में—जिन्हें शिवजी, मुनि लोग और ब्रह्माजी नमस्कार करते हैं,

सबकी नित्य नई प्रीति है ॥९॥ याचकों ने बहुत प्रकार के पहिरावे पाये और ब्राह्मणों ने अनेक प्रकार के दान पाये ॥१०॥

विशेष—(१) 'नित नव मंगल···'—राज-मंदिर का उत्सव कहकर अब पुरवासियों का उत्साह कहते हैं कि श्रीरामजी के आगमन का उत्सव घर-घर, जाति-जाति के लोग करते हैं, इसीसे वे हर्षित रहते हैं। श्रीरामजी के सम्बन्ध में हर्ष का कारण आगे कहते हैं 'नित नइ प्रीति···'—अर्थात् श्रीरामजी में प्रीति थी, अब नित्य नये उत्सव द्वारा उस प्रीति को और बढ़ाते हैं। प्रीति बढ़ने का कारण भी कहते हैं—'जिन्हहि नमत सिव मुनि अज'—सब विचारते हैं कि जिन चरणों का आश्रय हमें प्रत्यक्ष प्राप्त है, वे इतने बड़े हैं कि उन्हें ब्रह्मा, शिव आदि नमस्कार ही कर पाते हैं। इन लोगों ने देखा और सुना है कि सब देवताओं ने लंका में आकर स्तुति और नमस्कार किये हैं और यहाँ भी शिवजी आये ही थे ; स्तुति कर गये।

(२) 'मंगन बहु प्रकार पहिराये।···'—किसने पहिराये और किसने दान दिये, यह नहीं लिखा गया। अत', सूचित किया कि सभी ने पहिराये और सभी ने दान दिये। याचकों को तो पहिरावा देते हैं, उनकी रुचि के अनुकूल वस्त्राभूषण पहनाये और दान ब्राह्मणों को दिया, क्योंकि दान सुपात्र को ही देना चाहिये ; यथा—"देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम् ॥" (गीता· १८।२०)। 'नाना बिधि' में हाथी, घोड़े, गौ, वस्त्र के दान एवं और भी नाना रामायणों में कहे हुए दानों के भेद आ गये।

पाहुनों की विदाई का प्रसंग

दोहा—ब्रह्मानंद मगन कपि, सबके प्रभुपद प्रीति।
जात न जाने दिवस तिन्ह, गये मास षट बीति ॥१५॥

अर्थ—सब वानर ब्रह्मानन्द में मग्न हैं, सबके हृदय में प्रभु के चरणों में प्रीति है, उन्होंने दिन जाते नहीं जाना, छः महीने बीत गये ॥१५॥

विशेष—(१) यहाँ का ब्रह्मानन्द भक्ति सम्बन्ध का है, क्योंकि 'सब के प्रभु-पद प्रीति' कही गई है, रूक्ष ब्रह्मानन्द मे ध्याता, ध्यान और ध्येय के भेद की वृत्ति नहीं रह जाती। यहाँ का ब्रह्मानन्द श्रीरामजी के दर्शनों से है, क्योंकि श्रीरामजी ब्रह्मानन्द की राशि हैं ; यथा—"मुनि मन मोद न कछु कहि जाई। ब्रह्मानन्द रासि जनु पाई ॥" (अ· दो· १०५)। इसी से राजा श्रीजनकजी का ब्रह्मानन्द इनके दर्शनों के समक्ष अति तुच्छ हो गया ; यथा—"इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा ॥" (बा· दो· २१५)।

(२) 'दिवस'—यह रात और दिन दोनों का उपलक्षक है।

बिसरे गृह सपनेहु सुधि नाहीं। जिमि परद्रोह संत मन माहीं ॥१॥
तब रघुपति सब सखा बोलाये। आइ सबन्हि सादर सिर नाये ॥२॥
परम प्रीति समीप बैठारे। भगत-सुखद मृदु बचन उचारे ॥३॥

अर्थ—उन्हें घर भूल गया, स्वप्न में भी घर की सुधि नहीं आती, जैसे कि संत के मन में परद्रोह (का स्मरण) नहीं आता ॥१॥ (जब वैसे ही छः मास बीत गये) तब श्रीरघुनाथजी ने सब सखाओं को बुलाया, सब ने आकर आदर सहित प्रणाम किया ॥२॥ बड़े प्रेम से प्रभु ने उनको पास बैठाया और भक्तों को सुख देनेवाले कोमल वचन कहे ॥३॥

विशेष—(१) 'बिसरे गृह···'—'सपनेहु' यह मुहाविरा है, अर्थात् कभी नहीं। पहले वानरों का यहाँ का सुख कहा कि सब ब्रह्मानंद में मग्न रहते हैं। अब कहते हैं कि इस सुख के आगे उन्हें अपने अपने घर भूल गये हैं। 'जिमि परद्रोह···'—अर्थात् जैसे मन में परद्रोह का रहना भक्ति का बाधक है, वैसे ही गृह आदि की ममता भी बाधक है; यथा—"परिहरि राम लखन वैदेही। जेहि घर भाव बाम बिधि तेही॥" (अ० दो० ७७)। यहाँ संतों का लक्षण भी कहा गया कि उन्हें परद्रोह को भुला देना चाहिये, क्योंकि उनकी दृष्टि में जगत् भगवान् का शरीर है। अतः, किसी के द्वारा भी उपकार एवं अपकार सबके कर्मानुसार भगवान् ही करते हैं, सबके प्रेरक वे ही हैं, तब किसी प्राणी का क्या दोष ?

(२) 'तब रघुपति सब···'—वानर लोग सीता-शोध के लिये आसिन महीने में बुलाये गये थे और चैत बीतने के लगभग श्रीअवध में राज्य-तिलक महोत्सव हुआ, फिर छः महीने यहाँ भी बीत गये। अतः, दूसरा आसिन आ गया। वर्ष भर पर इन्हें विदा करने की बात हो रही है।

'बोलाये'—अर्थात् वे सब अपने-अपने निवास-स्थानों पर थे। 'सादर सिर नाये'—सब ने चरणों पर शिर रखकर प्रणाम किया।

(३) 'परम प्रीति समीप···'—इनपर प्रभु का सौहार्द तो सब दिन से था, प्रीति भी सदा ही से थी; पर आज विदा करना चाहते हैं, इससे वियोग-भावना से और भी प्रीति उमड़ आई, इसलिये पास बैठाया।

श्रीरामजी ने तन से पास बैठाया, मन से परम प्रीति की, और वचन से कोमल वचन कहकर सुख दे रहे हैं, अर्थात् आपने मन, वचन और कर्म से वानरों पर स्नेह किया है।

तुम्ह अति कीन्हि मोरि सेवकाई। मुख पर केहि बिधि करउँ बड़ाई ॥४॥
ताते मोहिं तुम्ह अति प्रिय लागे। मम हित लागि भवन सुख त्यागे ॥५॥
अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही ॥६॥
सब मम प्रिय नहिं तुम्हहिं समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना ॥७॥
सबके प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीती ॥८॥

अर्थ—तुमने मेरी अत्यन्त सेवा की, मुख पर किस प्रकार से तुम्हारी बड़ाई करूँ? (भाव यह कि मुँह पर प्रशंसा करना अनुचित है, मैं तो व्यावहारिक रीति से तुम्हारे कृत्यों का अल्पांश कहता हूँ) ॥४॥ मेरे हित के लिये तुमने घर के सुख छोड़े, इसीसे तुम मुझे अत्यन्त प्रिय लगे ॥५॥ भाई, राज्य, संपत्ति, वैदेही, अपनी देह, घर, कुटुम्ब, और स्नेही मित्र, ये सब मुझे तुम्हारे समान प्रिय नहीं हैं; मैं झूठ नहीं कहता, यह मेरा स्वभाव प्रसिद्ध है (यह मेरी प्रतिज्ञा है) ॥६-७॥ यह नीति है कि सेवक सबको प्रिय होता है, पर मेरी तो दास पर अधिक प्रीति रहती है ॥८॥

विशेष—(१) 'तुम्ह अति कीन्हि···'—यहाँ प्रभु अपनी अत्यन्त कृतज्ञता प्रकट करते हैं। 'अति सेवकाई'—मेरे लिये शरीर और प्राणों तक की ममता नहीं की। 'भवन सुख'—भाई, राज्य, संपत्ति, स्त्री, देह, घर, परिवार, मित्र, पुत्र आदि। इन्हीं के प्रति आगे वे अपने 'अनुज राज संपति बैदेही।···' आदि से भी अधिक इन्हें प्रिय कहते हैं। यही 'अति प्रिय लागे' का अर्थ है।

(२) 'अनुज राज···'—श्रीभरत आदि तीनों भाई, चक्रवर्त्ति राज्य, खजाना, जिसकी स्पृहा कुबेर करते हैं; श्रीवैदेहीजी जो लक्ष्मी की भी लक्ष्मी हैं; देह जो अप्रतिम पराक्रमशाली है; गेह जहाँ ऋद्धि-सिद्धि दासियाँ हैं; ऐसे ही योग्य सब कुटुम्बी और मित्रगण हैं। (अभी पुत्र और भतीजे नहीं हैं, इससे इनके नाम नहीं कहे गये।)

(३) 'सब मम प्रिय नहिं···'—यह राज-सभा में कह रहे हैं, फिर भी अपनी सत्यसंधता को आगे रखते हैं—'मृषा न कहउँ···' यथा—"धर्मात्मा सत्यसंधश्च रामो दशरथिर्यदि।" (वाल्मी० ६।७०); "रामो द्विर्नाभिभाषते" (वाल्मी० १।१८।१०) अर्थात् मैं सत्य ही कहता हूँ, यह न समझो कि तुम्हें प्रसन्न करने के लिये कुछ बनाकर कहता हूँ।

ऐसा ही श्रीकृष्णजी ने उद्धवजी से कहा है; यथा—"न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः। न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥" (भाग० ११।१४।१५) अर्थात् मुझे ब्रह्मा, शिव, बलराम, लक्ष्मी और अपना शरीर भी वैसे प्रिय नहीं हैं, जैसे आप प्रिय हैं।

(४) 'सब के प्रिय सेवक यह नीती।' यथा—"सुचि सुसील सेवक सुमति, प्रिय कहु काहि न लाग। श्रुति पुरान कह नीति असि, सावधान सुनु काग॥" से "सत्य कहउँ खग तोहिं, सुचि सेवक मम प्रान प्रिय।" (दो० ८६–८७) तक। इसमें नीति कही गई है। 'मोरे अधिक···'—सब कोई दास को सेवा करने वाला और तदनुसार ही उसे प्रिय मानते हैं। पर मैं सेवक को अपने प्राण के समान प्रिय मानता हूँ। दूसरे स्वामी सेवक से अपराध होने पर क्रोध करते हैं, पर मैं नहीं करता; यथा—"साहिब होत सरोष, सेवक को अपराध सुनि। अपनेहु देखे दोष, राम न सपनेहु उर धरे॥" (दोहावली ४७)। यहाँ श्रीरामजीने अपना भक्त-वात्सल्य गुण प्रकट किया है।

दोहा—अब गृह जाहु सखा सब, भजेहु मोहि दृढ़ नेम।
सदा सर्बगत सर्बहित, जानि करेहु अति प्रेम॥१६॥

अर्थ—हे सब सखाओ! अब अपने-अपने घरों को जाओ, दृढ़ नियमपूर्वक मेरा भजन करते रहना। मुझे सदा सर्वव्यापक जानकर अत्यन्त प्रेम करके सब का हित करना। (वा, मुझे सर्वव्यापक और सर्वहितैषी जानकर मुझसे अत्यंत प्रेम करना)॥१६॥

विशेष—(१) 'अब'—मेरा जितना काम था, वह हो गया, कुछ शेष नहीं है। अतः, अब जाओ। 'गृह जाहु'—क्योंकि हम अपने घर आ गये, तब तुम सब अपने-अपने घर जाकर बाल-बच्चों से मिलो। 'सखा सब'—सखा हो, अपने-अपने भावानुसार वहीं से दृढ़तापूर्वक नियम निर्वाह करना, मेरा भजन करना। यदि वे कहें कि आप से तो वियोग रहेगा, हम वहाँ किसका भजन (सेवा) करेंगे? उस पर कहते हैं कि मुझे 'सर्वगत' समझो, मैं सदा ही सब प्राणि-मात्र में प्राप्त हूँ। ऐसा जानकर अर्थात् सब जीव-मात्र को मेरा रूप मानकर अत्यन्त प्रेमपूर्वक सब का हित करना, क्योंकि सखा का धर्म है हित करना। यही तुम

सब ने किया भी है ; मेरे हित के लिये प्राण तक दे दिये हैं। वैसा ही हित प्राणि-मात्र का करना, तब प्राणि-मात्र के रूप से मैं सर्वत्र तुम्हारे साथ ही हूँ। मन से स्मरण करना और तन-वचन से भी उक्त प्रकार से सेवा करना। 'दृढ़'—अर्थात् कैसा भी कष्ट पड़े, पर नियम न छूटे।

(२) जैसे श्रीहनुमान्‌जी से कहा था—"सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर-रूप स्वामि भगवंत ॥" (कि० दो० ३)। वहाँ दासभाव की अनन्यता कही थी ; यहाँ सख्य-भाव की कहते हैं। वहाँ श्रीरामजी सर्वरूप से स्वामी हैं और यहाँ वे सर्वगत एवं सर्वरूप से सखा हैं।

सुनि प्रभु बचन मगन सब भये। को हम कहाँ बिसरि तन गये ॥१॥
एकटक रहे जोरि कर आगे। सकहिं न कछु कहि अति अनुरागे ॥२॥
परम प्रेम तिन्हकर प्रभु देखा। कहा बिबिधि बिधि ज्ञान बिसेखा ॥३॥
प्रभु सन्मुख कछु कहन न पारहिं। पुनि पुनि चरन-सरोज निहारहिं ॥४॥
तब प्रभु भूषन-बसन मँगाये। नाना रंग अनूप सुहाये ॥५॥

अर्थ—प्रभु के वचन सुनकर सब मग्न हो गये, हम कौन हैं और कहाँ हैं यह देह-सुधि भूल गई ॥१॥ अत्यन्त अनुराग हो गया, इससे (कंठ गद्गद होने से) कुछ कह नहीं सकते, हाथ जोड़े टकटकी लगाये सामने देखते रह गये (पलकें नहीं गिरतीं) ॥२॥ प्रभु ने उनका अत्यन्त प्रेम देखा, तब अनेक प्रकार से विशेष ज्ञान कहा ॥३॥ वे प्रभु के सम्मुख कुछ कह नहीं सकते, बार-बार चरण-कमलों को देखते हैं (चाहते हैं कि इन चरणों से अलग न हों) ॥४॥ तब प्रभु ने रंग बिरंग के सुन्दर उपमारहित भूषण और वस्त्र मँगाये ॥५॥

विशेष—(१) 'सुनि प्रभु बचन ···'—प्रभु ने अपना अत्यन्त स्नेह प्रकट किया और फिर वियोग के वचन कहते हुए पराक्ष से भी इन्हें अत्यन्त प्रेम करना कहा। इसपर वानरगण तत्क्षण ही प्रेम में मग्न हो गये, प्रभु का स्नेह और उनकी कृतज्ञता ने इन सब के मन को मुग्ध कर दिया। पुन. वियोग स्मरण कर अत्यन्त प्रेम की दशा प्राप्त हो गई, वही 'को हम···' से कही गई है।

(२) 'परम प्रेम तिन्ह कर···'—प्रभु ने देखा कि परम प्रेम के कारण हमारा वियोग न सह सकेंगे, इसलिये विशेष प्रकार के ज्ञान का उपदेश किया। भाव यह कि सामान्य ज्ञान तो—'सदा सर्वगत···' में कह ही चुके थे। 'बिबिध बिधि ज्ञान' यह कि जीवों के जन्म से ही प्रारब्ध के संस्कार साथ लग जाते हैं। उनके अनुकूल उन्हें ईश्वर प्रारब्ध भोग कराता है। जीव का कर्त्तव्य है कि वह हर्ष सहित प्रारब्ध भोगते हुए ईश्वर का स्मरण किया करे। प्रभु कहते हैं कि विचारो तो हम से वियोग कहाँ है ? हम तुम्हारे साथ सर्वत्र उपस्थित हैं, हम एकदेशीय एवं परिच्छिन्न नहीं हैं ; यथा—"देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं ॥" (बा० दो० १८४)।

(३) 'प्रभु सन्मुख ···'—'प्रभु' का भाव यह कि प्रभु की आज्ञा अपेल है। अतः, उत्तर न देना चाहिये , यथा--"प्रभु आज्ञा अपेल श्रुति गाई।" (सुं० दो० ५८) ; "उतर देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई ॥" (अ० दो० २६८)। इससे कुछ कह नहीं सकते, पर बार-बार चरण ही देखते हैं। भाव यह कि हमारी इच्छा तो इन्हें छोड़ने की नहीं है। हमें इनकी भक्ति दीजिये, इन चरणों को हमारे हृदय में बसा दीजिये।

(४) 'तब प्रभु भूषन'''—जब वानरों ने आज्ञा पर उत्तर न दिया, आज्ञावश घर जाना स्वीकार किया, तब। 'नाना रंग'—चित्र-विचित्र मणियों से जटित। 'अनूप' अर्थात् उपमारहित; बहुमूल्य। 'सुहाये' से बनावट की सुन्दरता सूचित की।

सुग्रीवहि प्रथमहि पहिराये। बसन भरत निज हाथ बनाये ॥६॥
प्रभु-प्रेरित लछिमन पहिराये। लंकापति रघुपति मन भाये ॥७॥
अंगद बैठ रहा नहिं डोला। प्रीति देखि प्रभु ताहि न बोला ॥८॥

अर्थ—श्रीभरतजी ने अपने हाथ से बनाकर (सँवारकर) श्रीसुग्रीवजी को प्रथम ही वस्त्र पहनाये ॥६॥ (फिर) प्रभु की प्रेरणा से श्रीविभीषणजी को श्रीलक्ष्मणजी ने भूषण वस्त्र पहनाये। वे श्रीरघुनाथजी को अच्छे लगे ॥७॥ अंगद बैठा ही रहा, जगह से न हिला, न डोला। उसकी प्रीति देखकर प्रभु उससे न बोले (एवं उसे न बुलाया) ॥८॥

विशेष—(१) यहाँ पर सामान्य व्यवहार की दृष्टि से श्रीसुग्रीवजी और श्रीविभीषणजी को श्रीरामजी ही पहनाते, शेष वानरों को भाई लोग पहनाते, तो उचित होता। पर वैसा नहीं हुआ, इसमें कुछ रहस्य है। यह लं० दो० ११-१२ 'चन्द्र-परीक्षा रहस्य' में लिखा गया। वहीं देखिये। श्रीजाम्बवान्जी, श्रीनीलजी आदि युवराज श्रीअंगदजी के अनुवर्त्ती हैं, इसलिये श्रीअंगदजी की तरह इन्हें भी श्रीरामजी ने ही पहनाये हैं। इसका हेतु भी वहीं देखिये।

(२) 'रघुपति मन भाये'—लंका में सुवर्ण एवं मणि जटित मकान भी थे, ये भूषण वस्त्र ऐसे अद्भुत हैं कि वहाँ के रहने वाले श्रीविभीषणजी की भी शोभा बढ़ानेवाले हैं। इससे श्रीरामजी को अच्छे लगे।

(३) 'अंगद बैठ रहा'''—जब श्रीसुग्रीवजी और श्रीविभीषणजी को वस्त्राभूषण पहनाये गये, तब श्रीअंगदजी को उठकर वहाँ जाना था, पर ये अपनी जगह से हिले-डोले भी नहीं, अत्यन्त प्रीति में निमग्न बैठे ही रह गये। इनकी दशा देखकर प्रभु ने विचारा कि सबको विदा करके पीछे इसे समझावेंगे। अभी बोलने से यह प्रेमवश कुछ हठ करेगा, तो और सब भी वैसा ही करेंगे। इस लिये पहले इससे नहीं बोले। यह प्रभु का चातुर्यगुण है।

दोहा—जामवंत नीलादि सब, पहिराये रघुनाथ।
हिय धरि रामरूप सब, चले नाइ पद माथ ॥
तब अंगद उठि नाइ सिर, सजल नयन कर जोर।
अति बिनीत बोलेउ बचन, मनहुँ प्रेमरस बोरि ॥१७॥

अर्थ—श्रीजाम्बवान्जी और श्रीनीलजी आदि सबको श्रीरघुनाथजी ने वस्त्राभूषण पहनाये। वे सब हृदय में श्रीराम रूप को धारण कर चरणों में मस्तक नवाकर चले। तब श्रीअंगदजी ने उठकर मस्तक नवाकर नेत्रों में आँसू भरे हुए हाथ जोड़कर अत्यन्त नम्रता-पूर्वक मानों प्रेम रस में डुबाकर वचन कहे ॥१७॥

विशेष—(१) 'हिय धरि राम रूप'—अब बाहर से श्रीराम-रूप का वियोग होता है, यह विचार कर यह रूप हृदय में बसाया कि सदा इसी का ध्यान बना रहे। 'चले नाइ पद माथ'—यद्यपि श्रीरामजी इन्हें सखा-भाव से अपने समान आदर दे रहे हैं, सारूप्य बनाये हुए हैं, तब भी सब अपने सेवक-भाव में सावधान हैं। इससे चरणों पर शिर धर प्रणाम करके चले। इनके साथ श्रीसुग्रीवजी और श्रीविभीषणजी भी गये। श्रीअंगदजी कुछ कहेंगे, इसलिये ये लोग इन्हें अवसर देने के लिये कुछ दूर चलकर इनकी राह देखेंगे। फिर इनकी भी विदाई होने पर सब साथ चलेंगे और भाइयों के साथ श्रीभरतजी पहुँचाने भी जायँगे।

विदाई के वियोग से पहले भी वानरों का 'परम प्रेम' कहा गया। यहाँ भी 'हिय धरि राम-रूप सब चले' कहते हैं। पुनः आगे भी—'बिदा कीन्ह भगवान तब'···' कहा है। इससे सूचित किया है कि विदा होते हुए वानरों को बड़ा कष्ट हुआ है। वाल्मीकिजी लिखते हैं-"जग्मुः स्वं स्वं गृहं सर्वे देही देहमिव त्यजन।" (७।४०।९०) अर्थात् वे सब अपने-अपने घर गये, जिस प्रकार जीवात्मा शरीर को छोड़कर जाता है।

(२) 'तब अंगद उठि···'—जब सब चले गये 'तब' अवसर पाकर। 'सजल नयन' से मन की प्रेम-दशा प्रकट है। 'कर जोरि' से तन एवं कर्म की और 'अति विनीत बोले बचन' में वचन की प्रीति है। हाथ जोड़े हुए हैं एवं आँसू भरे हैं। यह अति नम्रता की मुद्रा है। वैसे ही वचन भी बोलते हैं। श्रीअंगदजी ने विचारा कि यदि प्रभु जाने की प्रकट आज्ञा दे ही देंगे, तो मुझे फिर कुछ कहने का अवसर न रह जायगा, क्योंकि आज्ञा-भंग का दोष मेरे सिर आवेगा। इसलिये स्वयं उठकर प्रार्थना करने लगे।

सुनु सरबज्ञ कृपासुख-सिंधो। दीन दयाकर आरत-बंधो ॥१॥
मरती बेर नाथ मोहि बाली। गयउ तुम्हारेहि कोछें घाली ॥२॥
असरन-सरन बिरद संभारी। मोहि जनि तजहु भगत-हितकारी ॥३॥

अर्थ—हे सर्वज्ञ! हे कृपा और सुख के सागर! हे दीनों के लिये दया की खान! हे दुखित जनों के सहायक भाई! सुनिये ॥१॥ हे नाथ! वालि मरते समय मुझे आप ही की गोद में डाल गये हैं ॥२॥ हे भक्तों के हित करनेवाले! अशरण-शरण (अनाश्रित को आश्रय देनेवाले) अपना बाना स्मरण कर मेरा त्याग न कीजिये ॥३॥

विशेष—(१) 'सुनु सर्वज्ञ···'-श्रीरामजी में असंख्य गुण हैं, पर यहाँ स्तुति करते हुए श्रीअङ्गदजी अपने प्रयोजन के अनुकूल ही गुणों को कहते हैं—आप 'सर्वज्ञ' हैं। अतः मेरी व्यवस्था भी जानते ही हैं। मैं सब प्रकार असमर्थ हूँ। अतः कृपा की आवश्यकता है और आप कृपा के समुद्र हैं। जो कृपालु हो और उसमें सुख देने का सामर्थ्य न हो, सो बात भी नहीं है। आप सुख के समुद्र हैं, आप अपने कण-मात्र सुख से तीनों लोकों को सुखी कर सकते हैं; यथा—"जो आनंद सिंधु सुखरासी। सीकर ते त्रैलोक सुपासी॥" (बा॰ दो॰ १९६), 'दीन दयाकर···'—भाव यह कि मैं दीन और आर्त्त हूँ, मुझ पर दया कीजिये और दुःख में सहायक होइये। पिता मर चुके हैं, माता भी श्री सुग्रीवजी के अधीन हैं, इससे अपने को दीन कहा है।

(२) 'मरती बेर···'—पहले समर्थ स्वामी के गुण श्रीरामजी में कहकर अब अपने में आश्रित के लक्षण कहते हैं कि मरते समय मेरे पिता ने मुझे आपकी गोद में डाला है, अर्थात् सब प्रकार से भरण-पोषण का भार आप पर दिया है। 'तुम्हारेहि' अर्थात् सुग्रीव के नहीं, यह बात "पिता बधे पर मारत मोही। राखा राम निहोर न ओही॥" (कि॰ दो॰ १५) से सिद्ध होती है।

(३) 'असरन सरन···'—पिता के मरने पर मैं अशरण था, तब आपने मुझे शरण में स्वीकार किया, गोद में लिया। अब शरण में लेकर त्यागें नहीं, कोछे रखकर गिरावें नहीं। मुझे त्यागने पर आप का अशरण-शरण बाना न रह जायगा। 'मोहिं जनि तजहु'—श्रीरामजी का रुख देखा कि रखना नहीं चाहते, तब ऐसा कहा। 'भगत हितकारी'—भाव यह कि मैं भक्त हूँ, वहाँ जाने में मुझे सुग्रीवजी से भय है। अतः, मेरा त्याग न कीजिये, वहाँ न भेजिये। सुग्रीवजी से भय का कारण यह कि अभी उनके पुत्र नहीं था, इससे और आपकी आज्ञा से उन्होंने मुझे युवराज बनाया है। उनके संतति होने पर वह मुझे क्यों जीता छोड़ेंगे?

मोरे तुम्ह प्रभु गुरु पितु माता। जाउँ कहाँ तजि पद-जलजाता ॥४॥
तुम्हहि बिचारि कहहु नरनाहा। प्रभु तजि भवन काज मम काहा ॥५॥
बालक ज्ञान-बुद्धि-बल-हीना। राखहु सरन नाथ जन दीना ॥६॥

अर्थ—मेरे आप ही स्वामी, गुरु, पिता और माता हैं; तब मैं इन चरण-कमलों को छोड़कर अब कहाँ जाऊँ? ॥४॥ (यदि आप कहें कि घर जाओ तो) हे राजन्! आप ही विचार कर कहें कि प्रभु को छोड़कर घर में मेरा कौन-सा कार्य है? ॥५॥ मुझ बालक, ज्ञान-बुद्धि-बल-हीन और दीन सेवक को हे नाथ! शरण में रखिये ॥६॥

विशेष—(१) 'मोरे तुम्ह प्रभु—'—भाव यह कि औरों के ये सब नाते पृथक्-पृथक् होते हैं, एक जगह निर्वाह नहीं हुआ तो दूसरी जगह चले जाते हैं। पर मेरे तो सब आप ही हैं, तब मैं अन्यत्र कहाँ जाऊँ? तात्पर्य यह कि और वानर-ऋक्ष तो अपने-अपने घर गये। वहाँ सबके गुरु, पिता, माता आदि हैं। पर मेरे तो गुरु, पिता, माता सब कुछ आप ही हैं। 'जाउँ कहाँ'— पहले कहा—'मोहि जनि तजहु'; जब उसपर वैसा रुख न पाया, तब कहते हैं कि मैं कहाँ जाऊँ? जो मेरा स्थान हो, उसे कहिये।

(२) 'नरनाहा'—विशेषण का भाव यह कि आप तो राजा हैं, राजाओं के व्यवहार को जानते हैं। विचार कर देखें कि एक राजा का पुत्र अपने पिता के वैरी राजा के आश्रित होकर कब सुखी रह सकता है? राजाओं की नीति ही यह है—"रिपु रिन रंच न राखब काऊ।" (अ० दो० २२८) यही विचारकर तो बालि ने मुझे आपकी गोद में डाला है।

'प्रभु तजि भवन काज मम कहा।'—भाव यह कि घर में मेरा क्या काम है, राजा श्रीसुग्रीवजी हैं, उनकी सहायता के लिये मंत्रिगण एवं सेना है। 'प्रभु तजि' का यह भी भाव है कि घर-बार छोड़कर प्रभु की सेवा करनी चाहिये, जो प्रभु को छोड़कर घर का सेवन करता है, उस पर तो विधि की वामता होती है; यथा—"परिहरि लखन राम बैदेही। जेहि घर भाव बाम बिधि तेही ॥" (अ० दो० २७१)।

(३) 'बालक ज्ञान···'—यदि कहिये कि माँ-बाप सबके सदा नहीं रहते, यह विचारकर संतोष करो, तो मैं तो बालक हूँ, मुझ में यह ज्ञान कहाँ? यदि कहिये कि श्रीसुग्रीवजी से मिलकर रहना, तो मुझ में वैसी बुद्धि कहाँ? अन्यथा उससे शत्रु-भाव से लड़कर रहने को मुझ में वैसा बल भी कहाँ?

आप मेरे पिता-रूप हैं, क्योंकि आपने मुझे गोद में लिया है, जो बालक, ज्ञान, बुद्धि और बल से हीन एवं दीन और अपना जन है, वह तो शरण में ही रखने योग्य है। ऐसा जानकर, हे नाथ! मुझे अपनी शरण में ही रखिये।

नीचि टहल गृह कै सब करिहउँ । पद-पंकज बिलोकि भव तरिहउँ ॥७॥
अस कहि चरन परेउ प्रभु पाही । अब जनि नाथ कहहु गृह जाही ॥८॥

अर्थ—आपके घर की सब नीच सेवा करूँगा और चरण कमल देखकर भवसागर पार होऊँगा ॥७॥ ऐसा कहकर वह प्रभु के चरणों पर गिर पड़ा और बोला, हे प्रभु ! मेरी रक्षा कीजिये, हे नाथ ! अब न कहिये कि घर जाओ ॥८॥

विशेष—(१) 'नीचि टहल गृह कै···'—पिता ने मुझे सौंपते समय कहा था—'आपन दास अंगद कीजिये'। तदनुसार मैं आपके घर की नीच सेवा करूँगा। भाव यह कि उच्च सेवा के अधिकारी तो श्रीभरतजी आदि हैं। नीच सेवा और साथ ही आपके चरण-कमल के दर्शन भी होते रहेंगे। इससे भव-सागर पार हो जाऊँगा और मेरे लोक-परलोक दोनों ही बनेंगे। आपकी सेवा से लोक में भी शोभा है; यथा—"करुना सिंधु भक्त चिंतामनि सोभा सेवत हूँ।" (वि॰ ८६) और भव तरना परलोक बनना है।

यह भी भाव है कि वहाँ जाकर भी राज्य तो करना है नहीं, किन्तु "राज्य का दूसर दासा खूसर" होकर व्यर्थ जीवन बिताना होगा। उससे स्वार्थ-परमार्थ दोनों ही से जाऊँगा। तब यहीं रहकर नीच टहल करना श्रेष्ठ है, इससे उभय लोक बनेंगे। यदि कहा जाय कि यहाँ रहकर पीछे तुम मुझसे राज्य की इच्छा करोगे, तो वह न होगा। मैं केवल चरणों के दर्शनों से ही प्रयोजन रक्खूँगा, जिससे भव-सागर पार होऊँ।

(२) 'अस कहि चरन···'—रक्षा के लिये चरणों का अवलंब लिया। प्रभु अर्थात् आप रक्षा करने में समर्थ हैं। सब वानरों के प्रति कहा गया था—'अब गृह जाहु सखा सब'—इस पर अंगदजी कहते हैं कि अब (मेरे इस तरह शरण होने पर) मुझे घर जाने को न कहिये। भाव यह कि आपकी आज्ञा हो जाने पर फिर उसके विरुद्ध कुछ भी कहने में अवज्ञा होगी। इसलिये मैं पहले ही प्रार्थना करता हूँ कि वैसी आज्ञा दी ही न जाय।

दोहा—अंगद बचन बिनीत सुनि, रघुपति करुनासींव।
प्रभु उठाइ उर लायउ, सजल नयन-राजीव ॥
निज उर-माल बसन मनि, बालि-तनय पहिराइ।
बिदा कीन्हि भगवान तब, बहु प्रकार समुझाइ ॥१८॥

अर्थ—श्रीअंगदजी के विनम्र वचन सुनकर करुणा की सीमा प्रभु श्रीरघुनाथजी ने उनको उठाकर हृदय से लगाया, (प्रभु के) नेत्र-कमलों में आँसू भर आये॥ अपने हृदय पर की माला, वस्त्र, भूषण, बालि-कुमार को पहनाकर और बहुत प्रकार से समझाकर तब भगवान् ने उनको विदा किया ॥१८॥

विशेष—(१) 'अंगद बचन बिनीत सुनि'—यह उपसंहार है। इसका उपक्रम—'अति बिनीत बोले बचन' ऊपर कहा गया है। 'करुनासींव' का भाव यह कि इनकी विनती सुनकर प्रभु को बहुत करुणा आ गई। करुणा की दशा यों कही गई कि प्रभु के नेत्र सजल हो गये। विनती करते समय श्रीअंगदजी भी सजल-नयन हो गये थे; यथा—'सजल नयन कर जोरि' यह कहा गया है, वैसे ही

उसे सुनकर प्रभु भी हो गये। 'प्रभु उठाइ उर लायेउ'—यह वात्सल्य भाव से किया। भाव यह कि बालि ने जिस भाव के लिये सौंपा है, हमारी ओर से वही है। हमने तुम्हें पुत्रवत् ही माना है।

(२) 'निज उर माल बसन मनि···'—यह बालि राजा का तनय है। अतः, उसके योग्य ही वस्त्राभूषण चाहिये। इसलिये अपने ही वस्त्राभूषण उसे पहनाये। यह उसे कृपा करके प्रसाद दिया। अपने वस्त्राभूषण पहनाकर उसे अभी से अपना सारूप्य पद दे दिया। श्रीअंगदजी ने कहा था कि यहाँ प्रभु-पद-कमल देखकर भव तरूँगा, उसपर अभी से ही उसे अपना सारूप्य करके मुक्ति का विश्वास देकर संतुष्ट किया। फिर भी घर भेजने के लिये बहुत समझाना पड़ा। इसपर 'भगवान' विशेषण दिया गया, क्योंकि इसपर श्रीरामजी को बहुत सामर्थ्य खर्च करना पड़ा।

(३) 'बहु प्रकार समुझाइ'—(क) बालि ने जो तुम्हें सौंपा है, उसका अभिप्राय यही था कि श्रीसुग्रीवजी के पीछे इसे यह राज्य और संपत्ति मिले और मेरे द्वारा तुम्हारी रक्षा हो। कुछ यह नहीं कि श्रीअवध ले जाकर इसे यहाँ के राज्य पद से वंचित कर दिया जाय। (ख) जब हमने तुम्हें युवराज बनाया था, उस समय तो तुमने स्वीकार कर लिया, यह नहीं कहा कि हम नहीं लेंगे। अब यदि न जाओगे तो हमें और श्रीसुग्रीवजी को भी कलंक लगेगा। सब कहेंगे कि श्रीसुग्रीवजी ने इसके पिता को मरवा डाला और उसे भी अयोध्या में ही छोड़ दिया। इस तरह बालि का वंश ही नाश किया (ग) हमने जो पद तुम्हें दिया है, उसे सत्य करो, अन्यथा हमारी प्रतिज्ञा जायगी। (घ) तुम्हें वहाँ कोई भय न होगा। हम अपनी माला पहनाकर तुम्हें भेजते हैं। पुष्पमाला श्रीसुग्रीवजी को पहनाकर भेजा था। उसपर आघात करने से बालि ऐसा वीर भी मारा गया। इसे श्रीसुग्रीवजी जानते हैं। तुम को वे कभी कड़ी निगाह से भी न देख सकेंगे। हमारे आश्रित को किसी से भय नहीं हो सकता, इत्यादि।

भरत अनुज सौमित्रि समेता। पठवन चले भगत-कृत चेता ॥१॥
अंगद हृदय प्रेम नहिं थोरा। फिरि फिरि चितव राम की ओरा ॥२॥
बार बार कर दंड प्रनामा। मन अस रहन कहहिं मोहि रामा ॥३॥
राम बिलोकनि बोलनि चलनी। सुमिरि सुमिरि सोचत हँसि मिलनी ॥४॥

अर्थ—भक्तों के उपकार को चित्त में रखकर भाई—श्रीसुमित्राजी के पुत्र श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी—के साथ श्रीभरतजी सबको पहुँचाने चले ॥१॥ श्रीअंगदजी के हृदय में थोड़ा प्रेम नहीं है (अर्थात् बहुत है)। वे बार-बार श्रीरामजी की ओर लौट-लौटकर देखते हैं ॥२॥ और बार-बार दंड-प्रणाम करते हैं, मन में ऐसी इच्छा है कि श्रीरामजी यहीं रहने को कह दें ॥३॥ श्रीरामजी की प्रिय चितवनि, उनकी बोलचाल और उनका हँस हँसकर मिलना स्मरण कर करके सोचते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'भरत अनुज···'—इस अर्द्धाली का सम्बन्ध पूर्वोक्त—"हिय धरि रामरूप सब, चले नाइ पद माथ।" से है। श्रीभरतजी अपने दोनों भाइयों के साथ पहुँचाने के लिये श्रीसुग्रीवजी आदि के साथ ही चले, पर कुछ दूर चलकर श्रीअंगदजी का मार्ग देखते हुए ठहर गये। श्रीअंगदजी को एकान्त प्रार्थना का अवसर देना था, थोड़ी ही देर में श्रीअंगदजी भी वहाँ पहुँच गये, तब और आगे चले। 'भगत कृत चेता' तीनों भाई श्रीभरतजी का विशेषण है। 'सौमित्रि' शब्द से यहाँ श्रीसुमित्राजी

के दोनों पुत्र लिये गये हैं दोनों श्रीभरतजी के अनुज (छोटे भाई) हैं ही। श्रीभरतजी के पीछे श्रीलक्ष्मणजी हैं, उनके पीछे श्रीशत्रुघ्नजी हैं।

(२) 'फिरि फिरि चितव राम की ओरा।'—लौट-लौटकर देखते हैं कि जिससे दया करके रहने को कह दें। जितनी बार लौट कर देखते हैं, उतनी ही बार दंड-प्रणाम भी करते हैं यही कहा गया है, यथा—'बार-बार कर दंड प्रनामा।...' 'मन अस'—आज्ञा हो चुकी है, इससे वचन से नहीं कह सकते, पर मन में ऐसी इच्छा है।

श्रीअंगदजी विदा कर दिये जाने पर भी कुछ देर तक प्रभु के समीप ही रहे और थोड़ा चल-चलकर दंडवत् आदि से प्रभु का रुख देखते रहे। जब यह निश्चय हो गया कि अब रहने को नहीं ही कहेंगे, तब विनती करते हैं कि अच्छा कृपा रखियेगा, कभी-कभी चरण-दर्शनों की आज्ञा देते रहियेगा, भुलाइयेगा नहीं। यह आगे कहा है—'प्रभु रुख देखि...'।

(३) 'राम बिलोकनि...'—श्रीरामजी अपने स्नेही से मिलने में प्रथम आप ही कृपा दृष्टि से देखते हैं, प्रथम आप ही मृदु वचन बोलते हैं उनकी ओर प्रथम आप ही चलते हैं और प्रथम आप ही हँसकर मिलते हैं। यह स्वभाव श्रीअंगदजी के चित्त में बेध गया है। अतः, वियोग के समय इसे ही स्मरण कर सोचते हैं कि ऐसे कृपालु स्वामी से फिर कब संयोग होगा, इत्यादि।

प्रभु-रुख देखि बिनय बहु भाखी। चलेउ हृदय पद-पंकज राखी ॥५॥
अति आदर सब कपि पहुँचाये। भाइन्ह सहित भरत पुनि आये ॥६॥
तब सुग्रीव-चरन गहि नाना। भाँति बिनय कीन्हे हनुमाना ॥७॥
दिन दस करि रघुपति-पद सेवा। पुनि तव चरन देखिहउँ देवा ॥८॥

अर्थ—प्रभु का रुख देखकर बहुत विनती की और हृदय में चरण-कमलों को रखकर चले ॥५॥ बड़े आदर से सब वानरों को पहुँचाकर भाइयों सहित श्रीभरतजी लौट आये ॥६॥ तब श्रीहनुमान्‌जी ने श्रीसुग्रीवजी के चरणों को पकड़कर अनेकों प्रकार से विनय की ॥७॥ दस दिन (थोड़े दिन) श्रीरघुनाथजी के चरणों की सेवा करके फिर, हे देव! आपके चरणों के दर्शन करूँगा ॥८॥

विशेष—(१) 'बिनय बहु भाखी'—इसपर कुछ ऊपर कहा गया है। पुनः यह कि मैंने अज्ञान से आपकी रुचि के विरुद्ध हठ की, उसे क्षमा कीजिये और मुझ बालक पर दया बनी रहे, इत्यादि। 'हृदय पद पंकज राखी'—पहले इन्होंने कहा था—'पद-पंकज बिलोकि भव तरिहौं'—जब बाहर से चरणों का वियोग होते देखा, तब हृदय में रख लिया कि ध्यान द्वारा ही इनके दर्शन किया करूँगा।

(२) 'अति आदर सब कपि...'—पूर्व—'भरत अनुज सौमित्रि समेता। पठवन चले...' से प्रसंग छूटा था। जब श्रीअंगदजी आकर समाज में मिले, तब 'सब कपि' का पहुँचाना लिखा गया। कुछ दूर भी पहुँचाना 'आदर' है। ये बहुत दूर तक गये, यह 'अति आदर' है।

(३) 'तब सुग्रीव चरन गहि...'—श्रीसुग्रीवजी की सेवा में रहने से ही इन्हें श्रीरामजी मिले हैं। इससे कृतज्ञता प्रकट करते हुए उनके चरण पकड़कर नाना भाँति से विनय की। अभिप्राय यह कि जिससे श्रीसुग्रीवजी प्रसन्न होकर मुझे श्रीरामजी की सेवा में रहने की आज्ञा दे दें। नाना भाँति की विनती में

एक यह भी है--'दिन दस करि···' अर्थात् थोड़े दिनों तक श्रीरघुनाथजी की सेवा कर फिर आपके चरणों के दर्शन करूँगा। भाव यह कि इस समय मुझे प्रभु की सेवा के लिये आज्ञा दीजिये। 'देवा'—आप दिव्य हैं और दिव्य-बुद्धि युक्त हैं, मेरे हृदय के भावों को भी जानते हैं।

श्रीहनुमान्‌जी कुछ दिनों पर दर्शन करने को कहते हैं और 'देवा' कहकर अपनी हार्दिक निष्ठा भी सूचित कर दी है। इसपर श्रीसुग्रीवजी प्रसन्न मन से स्वयं कह देंगे कि तुम सदा ही कृपालु श्रीरामजी की सेवा करो—इसका हनुमान्‌जी को दृढ़ विश्वास है। क्योंकि श्रीसुग्रीवजी ने भी देखा है कि श्रीरामजी ने इन्हें विदा नहीं किया। अतः, सेवा में रखने की उनकी इच्छा है।

पुन्य - पुंज तुम्ह पवन - कुमारा। सेवहु जाइ कृपा - आगारा ॥९॥
अस कहि कपि सब चले तुरंता। अंगद कहइ सुनहु हनुमंता ॥१०॥

अर्थ—हे पवनकुमार! तुम पुण्यपुञ्ज (बड़े सुकृती) हो, (क्योंकि तुम्हारे प्रारब्ध का अंत हो गया, इससे प्रभु ने तुम्हें रख लिया और हमारे संस्कार अभी प्रतिबंधक हैं। अतः, हम उनके भोग के लिये विदा किये गये) तुम जाकर कृपा के स्थान श्रीरामजी की सेवा करो ॥९॥ श्रीसुग्रीव आदि सब वानर ऐसा कहकर तुरत चल दिये। तब श्रीअंगदजी कहने लगे कि हे श्रीहनुमान्‌जी! सुनिये ॥१०॥

विशेष—(१) 'पुन्य पुंज तुम्ह···'—पुण्यपुंज से ही श्रीरामजी की समीपता प्राप्त होती है यथा—"कीजहु इहै उपाइ निरंतर राम समीप सुकृत नहिं थोरे॥" (गी॰ अ॰ ११); 'कृपा आगारा'—भाव यह कि सेवक पर वे अत्यन्त कृपा करते हैं।

श्रीरामजी ने श्रीहनुमान्‌जी को नहीं विदा किया, क्योंकि इनके सर्वस्व प्रभु ही हैं, लं॰ दो॰ १२ चंद्र-परीक्षा में निर्णय हो चुका है। पुनः परिवार भर प्रभु इनके ऋणी हैं, तो विदा कैसे करें? और श्रीसुग्रीवजी से इन्हें माँगा भी नहीं, क्योंकि वे मित्र की वस्तु को अपनी ही मानते हैं। इसी प्रणय से श्रीसुग्रीवजी ने स्वयं श्रीहनुमान्‌जी को कह दिया कि तुम अब सदा प्रभु की ही सेवा में रहा करो।

श्रीहनुमान्‌जी ने सूर्य भगवान् से विद्या पढ़ी थी, इनके कहने पर सूर्य ने गुरु-दक्षिणा में यह माँगा था कि तुम संकट पड़ने पर हमारे पुत्र श्रीसुग्रीव को रक्षा करना। वह कार्य अब पूरा हो गया। श्रीसुग्रीवजी का कष्ट निवृत्त हो गया, इससे भी इन्हें अब श्रीसुग्रीवजी के यहाँ रहने का कोई प्रतिबंध नहीं रह गया। पुनः इन्होंने श्रीसीताजी से और श्रीरामजी से भी यही वर प्राप्त किया है कि मेरा अनन्य प्रेम श्रीरामजी में हो, मैं उन्हीं की सेवा करूँ। इन कारणों से भी ये नहीं विदा किये गये।

(२) 'अस कहि कपि सब चले तुरंता।··'—जब तक श्रीरामजी के पास थे, घर की सुधि भूली हुई थी; यथा—"बिसरे गृह सपनेहु सुधि नाहीं।" यह कहा गया। अब विदा किये जाने पर घर की सुधि हो आई कि वर्ष दिन हो गये, चलकर अपने कुटुंबियों से मिलें। इस आतुरी में सब हैं, श्रीसुग्रीवजी के संकोच से खड़े थे, उनकी और श्रीहनुमान्‌जी की वार्ता समाप्त होते ही उनके चलने पर सब तुरत चल दिये। तब अवसर पाकर श्रीहनुमान्‌जी से श्रीअंगदजी बोले।

दोहा—**कहेहु दंडवत प्रभु सैं, तुम्हहिं कहउँ कर जोरि।**
बार बार रघुनायकहि, सुरति करायेहु मोरि॥

अस कहि चलेउ वालिसुत, फिरि आयउ हनुमंत ।
तासु प्रीति प्रभु मन कही, मगन भये भगवंत ॥
कुलिसहु चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहु चाहि ।
चित्त खगेस राम कर, समुझि परइ कहु काहि ॥१९॥

अर्थ—मैं आपसे हाथ जोड़ कर कहता हूँ, मेरी दंडवत प्रभु से कहियेगा, श्रीरघुनाथजी को बार-बार (प्रति दिन एवं निरंतर) मेरी सुधि कराते रहियेगा ॥ ऐसा कहकर वालि-कुमार चले और श्रीहनुमान्‌जी लौट आये । यहाँ उनका प्रेम प्रभु से कहा (सुनकर) भगवान् निमग्न हो गये ॥ हे गरुडजी ! श्रीरामजी का चित्त वज्र से भी बढकर अत्यंत कठोर और फूल से भी बढ़कर अत्यन्त कोमल है, (ऐसा अद्‌भुत है) तो भला कहिये, वह किसे समझ पड़े ? ॥१९॥

विशेष—(१) 'कहेहु दंडवत...'—दंडवत् तो अभी कहने को कहते हैं, और स्मरण कराने की प्रार्थना तो सब दिनों के लिये है । 'प्रभु' और 'रघुनायक' विशेषणों के भाव ये हैं कि प्रभुओं की चित्त-वृत्ति सामान्यों पर कम रहती है और 'रघुनायक' माधुर्य नाम का भाव यह कि राजाओं को सुधि दिलाई जाती है, तब वे स्मरण करते हैं । 'मोरि' शब्द से अपनी लघुता प्रकट की कि मेरे जैसों की वहाँ कौन गिनती है; आपके द्वारा भले ही स्मरण हो ।

(२) 'बालिसुत'—बालि बड़े वेग से चलता था, चारों दिशाओं के समुद्रों से संध्याकाल में ही घूम आता था, वैसे वेग से ये भी चले कि पहले के चले हुए वानरों के साथ ही ये भी घर पहुँचे ।

(३) 'मगन भये भगवत' – यद्यपि भगवान् हैं, तथापि अपनी प्रभुता को भुला कर श्रीअंगदजी के प्रेम में डूब गये । उनके प्रेम के वश हो गये ; यथा—"ऐसी हरि करत दास पर प्रीति । निज प्रभुता बिसारि जन के बस होत सदा यह रीति ॥" (वि० १८) ; तब उसकी प्रार्थना पर रख क्यों न लिया ? इसका समाधान—'कुलिसहु चाहि...' से करते हैं । 'चाहि' का अर्थ 'बढ़कर' है । यह संस्कृत के 'च एव' का अपभ्रंश भी हो सकता है । इसपर बा० दो० २५७ चौ० ४ और अ० दो० २० चौ० २ भी देखिये ।

(४) 'कुलिसहु चाहि कठोर अति'—श्रीअंगदजी की प्रार्थना पर पत्थर भी पिघल जाता, पर परम दयालु होते हुए भी श्रीरामजी ने उसकी नहीं सुनी और उसे विदा कर ही दिया । 'कोमल कुसुमहु चाहि'—श्रीहनुमान्‌जी के द्वारा उसके प्रेम को सुनकर भी निमग्न हो गये । देह की सुधि न रह गई ।

चित्त के परखनेवाले उपासक होते हैं, इससे भुशुंडीजी का यहाँ सम्वाद है । 'समुझि परै कहु काहि' अत्यन्त कठोर और फिर तुरत ही अत्यन्त कोमल होना, एक साथ दो विरोधी भावों का समावेश ईश्वरता-बोधक है, जीव में ऐसा नहीं होता । इसीसे समझना कठिन है ।

तात्पर्य यह है कि श्रीअंगदजी के हित के लिये आप वज्र से भी अधिक कठोर बन गये थे, नहीं तो वे न जाते । पूर्व दो० १८ में लिखा गया । अत , वह कठोरता प्रयोजन-मात्र थी ; यथा—"जिमि सिसुतन ब्रन होइ गोसाईं । मातु चिराव कठिन की नाईं ॥" (उ० दो० ७१) । मर्यादा-पालन के विचार से कठोर

हुए थे। पूर्व में चन्द्र-परीक्षा लं० दो० ११-१२ में लिखा गया कि इनके हृदय में पहले कुछ राज्याकांक्षा थी। भगवान् के समक्ष की हुई वासना अवश्य सफल होती है और उसे भोगने पर ही शुद्धि होती है। पूर्व श्रीविभीषणजी के-'उर कछु प्रथम बासना रही।' पर, एवं लंका-विजय पर श्रीदशरथजी महाराज के आने के समय इसपर लिखा जा चुका है। इस व्यवस्था पर भी दृष्टि रखकर इन्हें विदा करते समय आपको 'भगवान्' विशेषण दिया गया है। ऐसे ही मर्यादा-रक्षार्थ वन-यात्रा के समय भी श्रीअवधवासियों को दुखी छोड़कर भी चल ही दिये थे, पर वहाँ उनकी सुधि करके विकल हो जाया करते थे; यथा—"जब जब राम अवध सुधि करहीं।... कृपासिंधु प्रभु होहिं दुखारी।" (अ० दो० १२०) इत्यादि। प्रभु के चित्त में कोमलता सदा एक-रस रहा करती है। इसे उपासक ही कुछ-कुछ समझ पाते हैं।

उत्तर-रामचरित में भी ऐसा ही कथन है—"वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि। लोकोत्तराणां चेतांसि कोहि विज्ञातुमर्हति ॥"

पुनि कृपाल लियो बोलि निषादा। दीन्हे भूषन बसन-प्रसादा ॥१॥
जाहु भवन मम सुमिरन करेहू। मन-क्रम-बचन धरम अनुसरेहू ॥२॥

अर्थ—फिर कृपालु श्रीरामजी ने निषादराज को बुला लिया और उनको भूषण-वस्त्र प्रसाद दिये ॥१॥ (फिर बोले कि) घर जाओ, हमारा स्मरण करते रहना और मन, वचन, कर्म से धर्म पर चलते रहना ॥२॥

विशेष—(१) 'पुनि कृपाल...'—जब तीनों भाई और श्रीहनुमान्जी भी आ गये, तब निषाद-राज को विदा करने के लिये बुलाया। 'कृपाल—क्योंकि इसपर अत्यन्त कृपा कर रहे हैं; यद्यपि यह नीच है और छोटा-सा राजा है। अतः, इसे मंत्री आदि के द्वारा ही विदा करवा देते, पर कृपा करके स्वयं बुलाते हैं। उसे श्रीमुख से श्रीभरतजी के समान सखा कहते हैं और अपना पहना हुआ (बहुमूल्य) प्रसाद वस्त्राभूषण देते हैं और-और सखाओं को नई-नई वस्तुएँ ही दी थीं, प्रसाद नहीं।

निषाद-राज से मिलना लंका-कांड के अंत में कहा गया; यथा—"सब भाँति अधम निषाद सो हरि भरत ज्यों उर लाइयो।" वहाँ के पश्चात् यहीं पर इनकी चर्चा हुई है। वहाँ से चलते समय प्रभु का इनसे विदा होना नहीं कहा गया, जैसे श्रीकुंभज आदि ऋषियों और श्रीभरद्वाजजी के यहाँ से विदा होकर चलना कहा गया था। इससे जाना गया कि इन्हें प्रभु शृंगवेरपुर से ही साथ लाये थे।

निषाद राज कौन थे? इसपर शिवपुराण रुद्र संहिता अ० ४० श्लोक १८-१९, ८९-९२ में कथा है—"एक भील शिवरात्रि के दिन आहार न पाने से भूखा था। वह एक लोटा जल लिये एक वृक्ष पर चढ़कर मृगों को मारने की घात में छिपा हुआ बैठा था। इतने में एक मृगी आई। उसने हर्ष सहित उसे मारने के लिये धनुष पर बाण चढ़ाया, इसी शीघ्रता मे उसके लोटे का जल और कुछ उस बेल वृक्ष के पत्ते भी नीचे गिरे। वहीं श्रीशिवजी का एक ज्योतिर्लिंग था। वह जल और बेलपत्र उनपर पड़े। श्रीशिवजी प्रकट हो गये और हर्षसहित उसे दिव्य वर दिया—हे व्याध! सुन, तू वांछित भोगों को प्राप्त होकर शृंगवेरपुर में निषादों का राजा होगा। तेरे वंश की वृद्धि अविनाशी होकर देवताओं से प्रशंसित होगी। तेरे घर पर साक्षात् श्रीरामजी निश्चय पधारेंगे और तेरे साथ मित्रता करेंगे। वे मेरे भक्तों पर बड़ा स्नेह करते हैं।"

(२) 'जाहु भवन...'—जैसे वानरों को—'अब गृह जाहु सखा सब, भजेहु मोहि दृढ़ नेम।'

कहा था, वैसे यहाँ भी कहते हैं। किन्तु वहाँ 'भजेहु मोहिं' कहा है और यहाँ 'मोहिं सुमिरेहु' कहते हैं। इस भेद का कारण यह है कि वे सब देवांश हैं, सेवा पूजा के अधिकारी हैं। प्रभु की मूर्त्ति स्थापित करके भी सेवा-पूजा कर सकते हैं और ये निषाद जाति के हैं। अतः, मर्यादा की दृष्टि से इन्हें स्मरण ही करने को कहा।

'मन क्रम वचन धर्म अनुसरेहू।'—मन से प्राणी मात्र पर दया करना, कर्म से शौच, दान एवं परोपकार करना और वचन से प्रिय-सत्य बोलना—ऐसा धर्मोपदेश दिया; क्योंकि निषादों का कुल-धर्म हिंसात्मक होता है और भगवत्परायण होने पर साधु-वृत्ति एवं धर्मात्मा होना ही चाहिये, यथा—"अपि चेत्सु दुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।" (गीता ९।३०-३१)।

तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहेहु पुर आवत जाता॥३॥
बचन सुनत उपजा सुख भारी। परेउ चरन भरि लोचन बारी॥४॥
चरन नलिन उर धरि गृह आवा। प्रभु-सुभाव परिजनन्हि सुनावा॥५॥

अर्थ—तुम मेरे सखा हो और श्रीभरतजी के समान भाई हो, सदा अवध नगर को आते जाते रहना॥३॥ वचन सुनते ही उसे भारी सुख उत्पन्न हुआ, वह नेत्रों में जल भरकर चरणों पर पड़ गया॥४॥ चरण-कमल हृदय में धरकर घर आया और प्रभु का स्वभाव कुटुम्बियों को सुनाया॥५॥

विशेष—(१) 'भरत सम भ्राता'—पहले श्रीभरतजी के समान मानकर हृदय से लगाया था; यथा—"सब भाँति अधम निषाद सो हरि भरत ज्यों उर लाइयो।" (लं० दो० १२०)। अब उसे श्रीमुख से वही कहते भी हैं। 'उपजा सुख भारी'—श्रीरामजी की बड़ी कृपा अपने पर समझी, इससे भारी सुख हुआ कि इतने महान् प्रभु ने मुझे सखा कहा, भरत-समान कहा, प्रसाद दिया और सदा आने-जाने को भी कहा। इतनी अधिकता वानरों के प्रति भी न हुई थी। 'परेउ चरन भरि लोचन बारी।'—हर्ष से नेत्रों में जल भर आया, प्रेमानंद के साथ ही वियोग-सम्भावना भी आँसू का हेतु है। चरणों में पड़कर अपना भाव सूचित करता है कि मैं आपका सखा और श्रीभरतजी के समान भाई होने योग्य नहीं हूँ, मैं तो इन चरणों का सेवक हूँ।

(२) 'चरन नलिन उर धरि...'—प्रभु ने कहा था—'मम सुमिरन करेहू' तदनुसार चरण-कमलों को हृदय में धरकर आया कि सदा ध्यान किया करूँगा। 'प्रभु सुभाव...'—कुटुम्बियों को भी प्रभु के शील-स्वभाव सुना कर उन्हें भी वैसा ही सुख दिया, जिससे वे भी ऐसे स्वामी की आराधना कर जन्म-लाभ पावें; यथा—"उमा राम सुभाव जेहि जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥" (सुं० दो० ३४)। प्रभु-स्वभाव का सौष्ठव अपने सम्मान द्वारा कहा; यथा—"वाल्मीकि केवट कथ कपि भील भालु सनमान। सुनि सनमुख जो न राम सों तिहि को उपदेसिहि ज्ञान॥" (वि० १९३)।

निषादराज के लिये प्रभु ने यह भी कहा कि सदा पुर में आते-जाते रहना। इसके कारण ये हैं कि ये श्रीअयोध्याजी से समीप में रहते हैं। नित्य दरबार में आ जा सकता है और श्रीसुग्रीवजी आदि बहुत दूर के रहनेवाले हैं, स्वेच्छा से वे सब भी कभी-कभी आ सकते हैं। पुनः यह बालपने का सखा है और श्रीभरतजी के विपत्ति-काल में वन के समाचार भी बराबर यहाँ पहुँचता रहा है, इत्यादि।

श्रीराम-राज्य-वर्णन—प्रकरण

रघुपति-चरित देखि पुरबासी। पुनि पुनि कहहिं धन्य सुखरासी ॥६॥
राम राज बैठे त्रैलोका। हरषित भये गये सब सोका ॥७॥
बैर न कर काहू सन कोई। रामप्रताप बिषमता खोई ॥८॥

दोहा—बरनाश्रम निज निज धरम, निरत बेद-पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि, नहिं भय सोक न रोग ॥२०॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी के चरित देखकर पुरवासी बार-बार कहते हैं कि सुख की राशि श्रीरामजी धन्य हैं ॥६॥ श्रीरामजी के राज्य पर बैठने से (राजा होने से) तीनों लोक हर्षित हुए और उनके सब शोक दूर हो गये ॥७॥ कोई किसी से बैर नहीं करता, श्रीरामजी के प्रताप से विषम भाव जाता रहा (सबमें पारस्परिक समता आ गई) ॥८॥ सब लोग अपने-अपने वर्ण एवं आश्रम के (वैदिक) धर्मों में तत्पर रहते हैं, वेद-मार्ग पर चलते हैं और सदा सुख पाते हैं, उन्हें न भय है, न शोक और न रोग ॥२०॥

विशेष—(१) 'रघुपति-चरित देखि···'—वानरों के प्रति सौहार्द और निषादराज के प्रति बंधुत्व व्यवहार देख-देखकर पुरवासी बार-बार धन्य-धन्य कहते हैं। प्रभु के प्रत्येक चरित सुख उपजानेवाले हैं, इससे उन्हें 'सुखराशि' कहा है। 'देखि' का भाव यह कि शबरी-गीध आदि पर कृपा करना सुनते थे, अब औरों से भी देख रहे हैं। इनके अनुमोदन करने से यह भी जाना जाता है कि वैसे ही चरित का अनुकरण ये लोग भी करते हैं। पुरवासियों का प्रसंग—'हरषित रहहिं लोग सब कुरी॥ नित नइ प्रीति राम-पद-पंकज।' से छूटा था, बीच में पाहुनों की विदाई कही गई। अब वही प्रसंग फिर लेते हैं।

(२) 'राम राज बैठे···'—श्रीरामजी तीनों लोकों को सुखी करके राज्य पर बैठे, इससे तीनों लोक प्रसन्न और शोकरहित हुए ; यथा—"दससुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्ह के जस अमर-नाग-नर-सुमुखि सनाहैं॥" (गी० उ० १३)। पुनः आगे भी तीनों लोकों का पालन करेंगे, क्योंकि आप त्रयलोकपति हैं। अथवा, राम-राज्य-प्रभाव से तीनों लोकों को हर्ष प्राप्त हुआ, शोक किसी प्रकार का न रह गया। आगे ऐसे ही कथन का प्रसंग है।

(३) 'बैर न कर······'—श्रीरामजी में विषमता नहीं है, वे सम-रूप हैं। अतः, उनके प्रताप से उनकी प्रजा भी वैसी ही हो गई। 'यथा राजा तथा प्रजा' यह प्रसिद्ध है। प्रजा का अर्थ संतान होता है, माता-पिता के चरित्र का प्रभाव संतान पर पड़ता ही है। 'विषमता खोई' तो उसके विपर्यय रूप में समता आई। आगे कहेंगे; यथा—"दंड जतिन्ह कर···"

'बरनाश्रम निज निज धरम निरत...' —'वेद-पथ' वर्णाश्रम सम्बन्ध से वेद से यहाँ 'गृह्यसूत्र' लेना चाहिये, जिसमें सूक्ष्म रीति से वर्ण-आश्रम-धर्म कहे गये हैं। विस्तार से तो स्मृतियों में ही कहा है। मनुस्मृति आदि भी वेद की उपबृंहणरूपा ही हैं। उनका कहा हुआ मार्ग भी वेद-मार्ग है। इस ग्रंथ में भी सूक्ष्म रीति से कहे गये हैं—ब्राह्मण धर्म—"सोचिय बिप्र जो बेद बिहीना।...'; क्षत्रिय धर्म—"सोचिय

नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना ॥"; वैश्य धर्म—"सोचिय बैस कृपिन धनवानू।..."; शूद्र धर्म—"सोचिय सूद्र बिप्र अवमानी।..." इत्यादि मे विपर्यय से चारों वर्णों के धर्म-विधान जानने चाहिये। पुनः आश्रम धर्म—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ, वाणप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रम हैं। इनके धर्म—"सोचिय बटु निज ब्रत परिहरई। जो नहिं गुरु आयसु अनुसरई॥ सोचिय गृही जो मोह बस, करै करम पथ त्याग। सोचिय जती प्रपंच रत, बिगत बिबेक बिराग॥ बैखानस सोइ सोचन जोगू। तप बिहाइ जेहि भावै भोगू॥" यह सब अ० दो० १७१-१७२ मे श्रीवसिष्ठजी ने श्रीभरतजी से कहा है।

'निज निज धरम निरत'—राम-राज्य में सबके अपने-अपने धर्म पर चलने का कड़ा शासन था; यथा—"श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥" (गी० ३।३५)। इसी में शम्बूक शूद्र के तप की दंड व्यवस्था का समाधान भी आ गया कि वह अपना धर्म छोड़कर दूसरे का धर्म करता था, उसे यदि वैसा कड़ा दंड न दिया जाता, तो क्रमशः लोग राज्य-शासन की अवहेलना कर मनमानी चलने लगते, तो फिर श्रीरामजी 'श्रुति सेतु पालक' कैसे होते?

'चलहिं सदा पावहिं सुखहिं...'—धर्म का फल सुख है, यथा—"सुख चाहहिं मूढ न धर्मरता।" (दो० १०१)। इससे ये लोग धर्म-रत हो कर सुख पाते थे। परस्पर निर्वैर होने से भय नहीं था, धर्मिष्ठ होने से लोग शोकरहित भी रहते थे। सुखोपभोग नियमित रूप में करते थे, विषयी के समान भोगासक्त नहीं होते थे कि रोगों के शिकार हों; यथा—"भोगे रोग भयं" (भर्तृहरिः)।

दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज नहिं काहुहि ब्यापा ॥१॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती ॥२॥

अर्थ—श्रीरामजी के राज्य में दैहिक (आहार-विहार के दोष से एवं देह सम्बन्ध से होनेवाले रोग दुःख), दैविक (दैवयोग से होनेवाले दुःख) और भौतिक (अन्य जीव जन्तु एवं शत्रु, चोर आदि भूत-मात्र के द्वारा होनेवाले दुःख) ताप किसी को नहीं व्याप्त होते हैं ॥१॥ सब मनुष्य आपस मे प्रेम करते हैं, अपने-अपने धर्म पर चलते हैं, सब वेद की कही हुई नीति मे लगे रहते हैं ॥२॥

विशेष—(१) 'दैहिक दैविक भौतिक तापा।...'—ऊपर कहा गया कि अवध वासियों को 'भय, सोक, रोग' नहीं होते। भय से भौतिक, शोक से दैविक और रोग से दैहिक ताप का निषेध किया गया। उसी पर फिर कहते हैं कि धर्म-निरत प्राणियों की ही बात नहीं है, जड़-चेतन किसी भी प्राणी को ये तीनों ताप नहीं व्याप्त होते, यह श्रीराम राज्य का प्रभाव है।

ज्वर, अतिसार आदि देह सम्बन्धी कष्ट दैहिक ताप हैं। जीव-जन्तु (मच्छड़, सर्प आदि) के द्वारा और राजा, शत्रु, चोर आदि के द्वारा तथा भूत-पिशाच आदि के द्वारा दुःख पहुँचना भौतिक ताप है। आकाशस्थ ग्रहों की गति से, पंचतत्त्वों के उपद्रवों से अनेक संक्रामक रोगों से और देवयोनि के द्वारा जो कष्ट होते हैं, वे दैविक ताप कहाते हैं।

'सब नर करहिं परस्पर प्रीती।...'—पहले परस्पर वैर का निषेध किया; यथा—'बैर न कर काहू सन कोई।' अब परस्पर प्रीति करना भी कहते हैं। यह लोक-रीति में निपुणता कही गई। पुनः 'चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती।'—से परलोक-साधन एवं वेद-रीति मे निपुणता कही गई है। अर्थात् सब कोई लोक-वेद

रीति में निपुण एवं उनपर आरूढ़ हैं। ऊपर कहा गया है—'वरनाश्रम निज-निज···' में 'निरत वेद पथ लोग' और यहाँ भी—'चलहिं स्वधर्म···' में वही कहा गया। परन्तु पुनरुक्ति नहीं है, क्योंकि वहाँ 'पावहिं सुखहिं···' से सकाम धर्म कहे गये हैं और यहाँ वैसा कोई शब्द नहीं है। अतएव यहाँ निष्काम धर्म से तात्पर्य है। इस तरह दोनों जगह दो विषय कहे गये हैं।

दो बार कहकर यह भी पुष्ट किया गया है कि राम-राज्य में केवल वेद-मार्ग था, कल्पित मार्ग कहीं नहीं था।

चारिउ चरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा सपनेहु अघ नाहीं ॥३॥
राम-भगति रत नर अरु नारी। सकल परमगति के अधिकारी ॥४॥

अर्थ—धर्म अपने चारों चरणों से जगत् में परिपूर्ण बना हुआ है, स्वप्न में भी पाप (जगत् में) नहीं रहा है ॥३॥ स्त्री-पुरुष सब राम-भक्ति में तत्पर हैं, सब परमगति के अधिकारी हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'चारिउ चरन धर्म···'—धर्म के चार चरण ये हैं—सत्य, शौच, दया और दान; यथा—"सत्यं शौचं दया दानमिति पादाः प्रकीर्तिताः।" (मनु०)। सतयुग में धर्म के चारों चरण पूर्ण रहते हैं, त्रेता में तीन ही रहते हैं। पर राम-राज्य के समय त्रेता में भी सतयुग की-सी व्यवस्था हो गई, धर्म के चारों चरण पूर्ण रहे।

'सपनेहु अघ नाहीं'—पाप का अर्थ अधर्म है। अतः, उपर्युक्त चारों चरणवाले धर्म के प्रतिकूल वृत्ति को यहाँ अघ कहा—असत्य, अशौच, निष्ठुरता और लोभ, ये पाप के चारों अंग नहीं रह गये।

'सपनेहु'—यह मुहावरा है, अर्थात् बिल्कुल कहीं भी पाप नहीं रह गया। वा, दिन के समय जाग्रत् अवस्था में धर्ममय वृत्ति रहती थी, तो तदनुकूल ही स्वप्नावस्था की भी वृत्ति हुआ ही चाहे।

(२) 'राम-भगति रत ···'—पहले धर्ममय वृत्ति कही गई, तब भक्तिरत होना कहा, क्योंकि धर्म से भक्ति मिलती है; यथा—"जप जोग धर्म समूह ते नर भगति अनुपम पावई।" (आ० दो० ६)। स्त्रियाँ भी राम-भक्ति करती हैं; यथा—"जपति सदा पिय संग भवानी।" (बा दो० १८); 'राम भगति रत' के माधुर्य का यह भी भाव है कि सब अपना राजा मानकर श्रीरामजी को अपना धर्म-पिता मानते हुए उनकी सेवा, प्रीति एव आज्ञा पालन करते थे; यथा—"जुगोप पितृवद्रामो मेनिरे पितरं च तम्।" (भाग० ९।१०।५१) अर्थात् उनको पिता मानकर पितृवत् उनकी सेवा करते थे।

'सकल परमगति के अधिकारी।'—जीते ही मुक्ति के अधिकारी हो रहे हैं; इस दशा से उनकी मुक्ति में संदेह नहीं है; यथा—"मद्भक्ता यान्ति मामपि" (गीता ७।२३)। भक्ति शब्द में नवधा आदि भक्तियाँ एवं अपना प्रिय राजा मानकर उनकी भक्ति करना सर्वसंगत है।

अल्पमृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुंदर सब बिरुज सरीरा ॥५॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छनहीना ॥६॥

शब्दार्थ—लच्छन (लक्षण) = शुभ लक्षण, सामुद्रिक के अनुसार शरीर के शुभसूचक चिह्न।

अर्थ--थोड़ी (अवस्था में) मृत्यु नहीं होती (सब पूर्ण आयु का भोग करते हैं) और न किसी को कोई पीड़ा होती है। सबके शरीर सुन्दर और नीरोग रहते हैं ॥५॥ न कोई दरिद्र है, न दुखी है और न कोई दीन ही है। न कोई निर्बुद्धि है और न लक्षणों से रहित है ॥६॥

विशेष--(१) 'अल्प मृत्यु नहिं ···'—कोई पुत्र पिता के रहते नहीं मरता और कोई स्त्री पति के रहते नहीं मरती। पहले धर्म और भक्ति की व्यवस्था कहकर तब अल्पमृत्यु का न होना कहा, क्योंकि धर्म और भक्ति से जीवों को सब तरह के सुख ही मिलते हैं। 'नहिं कवनिउ पीरा' से आधि (मानसिक दुःख) और व्याधि (शारीरिक रोग) से रहित होना कहा है। 'अल्पमृत्यु नहिं' के साथ 'नहिं कवनिउ पीरा' कहने का यह भी भाव है कि मरण काल में भी किसी को कुछ पीड़ा नहीं होती।

यह अर्द्धाली 'अल्पमृत्यु···' मृत्यु जीतने का और 'नहिं दरिद्र ···' यह लक्ष्मी देने का मन्त्र है।

'सब सुंदर ···'—पीड़ा और रोग का निषेध करके सब सुन्दर कहा है, क्योंकि ये दोनों सुन्दरता के बाधक हैं।

(२) 'नहिं दरिद्र कोउ ·'--दरिद्रता का निषेध पहले किया गया है, क्योंकि यह दुःखों में भारी है, यथा—"नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।" (दो० ११०), 'लच्छनहीना'--कोई पापकर्म करता ही नहीं, इसीसे लक्षणहीन कोई नहीं है, क्योंकि शरीर में कुलक्षण होना पाप का फल है।

सब निर्दंभ धर्मरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी ॥७॥
सब गुनज्ञ पंडित सब ज्ञानी। सब कृतज्ञ नहिं कपट सयानी ॥८॥

दोहा—रामराज नभगेस सुनु, सचराचर जग माहिं।
काल कर्म सुभाव गुन, कृत दुख काहुहि नाहिं ॥२१॥

अर्थ—सब निर्दंभ हैं और धर्मपरायण हैं (अर्थात् दंभरहित धर्म करते हैं औरों को दिखाने के लिये नहीं) तथा सब पुनीत हैं। स्त्री और पुरुष सब चतुर और गुणवान् हैं (अपने-अपने गुणों में निपुण हैं) ॥७॥ सब गुणों के ज्ञाता हैं, सब पंडित हैं (शास्त्र के जाननेवाले हैं), सब ज्ञानी (तत्त्वज्ञान वाले) हैं। सब उपकार के माननेवाले हैं, किसी में कपट चातुरी नहीं है ॥८॥ हे गरुडजी! सुनिये, रामराज्य में संसार भर के जड़-चेतन में काल, कर्म, स्वभाव और गुणों के किये हुए दुःख किसी को नहीं होते ॥२१॥

विशेष—'पुनी' का अर्थ 'और' एवं 'पुण्यात्मा अर्थात् 'पुनीत' भी होता है। यहाँ पुनीत' अर्थ ऊपर दिया गया है। पुनीत के अर्थ से ये पूर्व कर्मानुसार सहज में पवित्र हृदय हैं और इसी से निर्दंभ धर्माचरण करते हैं।

कहीं-कहीं प्राचीन पाठ 'घृनी' भी है। उस पक्षवालों का कहना है कि 'घृणिन्' शब्द संस्कृत में दयाशील एवं करुणाशील के अर्थ में भी आता है। इसके गुह्याशय को न समझकर संभव है कि घृणा का तिरस्कारी अर्थ मानकर लोगों ने उसे हटाकर 'पुनी' कर दिया हो। 'धर्मरत' के एक ओर 'निर्दंभ' और दूसरी ओर 'घृनी' आवश्यक भी है कि दंभरहित धर्म करते हुए अन्य असमर्थों पर दया भी रहनी चाहिये।

किन्तु 'घृणी' शब्द इस अर्थ में अप्रसिद्ध अवश्य है और श्रीगोस्वामीजी की प्रतिज्ञा है—"सरल कवित कीरति बिमल···" (बा० दो० १४)

(२) 'सब गुनज्ञ'—सब गुणियों के गुण को जानते हैं, उनका उचित आदर करते हैं कि जिससे उत्साहपूर्वक वे अपने गुणों की वृद्धि करें। 'नहिं कपट सयानी'—धूर्त्तता किसी में नहीं है कि मीठी-मीठी बातें करके काम साध लें और फिर विमुख हो जायँ।

(३) 'नभगेस सुनु'—इन्हें चेतावनी देने का आशय यह कि तुम श्रीरामजी को दुखी समझते थे, यहाँ देखो कि जिनके प्रताप से संसार को सम्यक् प्रकार के सुख हों और कालादि बाधाएँ दूर हों, वह स्वयं कब दुखी होंगे ? 'काल कर्म सुभाव गुन···'—इनके परस्पर सापेक्षता आदि भाव पूर्वोक्त वेद स्तुति—'काल कर्म गुननि भरे' में देखिये। पुनः, शीत-उष्ण आदि दुःख काल द्वारा होते हैं; रोग आदि कर्म से, शस्त्र-प्रहार आदि का दुःख स्वभाव की क्रूरता से और मानापमान आदि दुःख रजस्-तमस् आदि गुणों से होते हैं। ये चारों जीवों को दुखदायी हैं; यथा—"काल कर्म गुन सुभाव सबके सीस तपत।" (वि० १३०); "फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल करम सुभाव गुन घेरा॥" (दो० ४४) और बा० दो० ६ चौ० २-४ भी देखिये।

प्रायः मीमांसक कर्म को, ज्योतिषी काल को और प्रकृतिवादी स्वभाव एवं गुण को दुःख का कारण कहते हैं। यहाँ चारों कहे गये, क्योंकि ये परस्पर सापेक्ष हैं और जीवों के कर्मानुसार इनके प्रवर्त्तक श्रीरामजी ही हैं; यथा—"माया जीव काल के करम के सुभाव के करैया राम वेद कहैं साँची मन गुनिये।" (हनु० बाहुक)। इसी से राम-राज्य में इनकी विषमता मिट गई है।

भूमि सप्त सागर मेखला। एक भूप रघुपति कोसला॥१॥
भुवन अनेक रोम प्रति जासू। यह प्रभुता कछु बहुत न तासू॥२॥
सो महिमा समुझत प्रभु केरी। यह बरनत हीनता घनेरी॥३॥
सोउ महिमा खगेस जिन्ह जानी। फिरि यह चरित तिन्हहु रति मानी॥४॥
सोउ जाने कर फल यह लीला। कहहिं महा मुनिबर दमसीला॥५॥
रामराज कर सुख संपदा। बरनि न सकइ फनीस सारदा॥६॥

शब्दार्थ—मेखला = करधनी, वह वस्तु जो किसी वस्तु को चारों ओर से घेरे हुई हो।

अर्थ—सातो समुद्र जिस पृथिवी की मेखला है, ऐसी सप्तद्वीपवाली पृथिवी के एक राजा कोशला (श्रीअयोध्या) में श्रीरामजी हुए॥१॥ जिनके एक-एक रोम में अनेक ब्रह्मांड हैं, उनकी यह (सप्तद्वीप के राजा होने की) महिमा कुछ बहुत नहीं है॥२॥ प्रभु की वह महिमा समझने पर (उन्हें) यह कहना (कि प्रभु सप्तद्वीप के एक मात्र राजा हैं) उनकी बड़ी भारी लघुता है॥३॥ (फिर कहते क्यों हो ? उस-पर कहते हैं कि) हे गरुड़! वह महिमा भी जिन्होंने जानी है (भाव यह कि उसे सब नहीं जान सकते) फिर वे भी इस (सगुण) चरित में प्रीति करने लगे॥४॥ (क्योंकि) उस महिमा के भी जानने का फल यह सगुण लीला है, दमन शील (इन्द्रिय दमन करनेवाले) महामुनि श्रेष्ठ ऐसा कहते हैं (इसी से कुछ मैंने भी कहा है)॥५॥ राम-राज्य की सुख-संपत्ति शेष-शारदा नहीं वर्णन कर सकते॥६॥

विशेष—(१) 'सो महिमा खगेस जिन्ह जानी।...'—ऊपर माधुर्य में श्रीरामजी को सप्तद्वीप का राजा कहा, फिर उस पद को ऐश्वर्य की अपेक्षा बहुत अल्प दिखाया। तब यह आशय निकला कि इस हीनता प्रकट करनेवाले चरित को न कहना चाहिये। उसपर कहते हैं कि जिन्होंने उस महिमा को जाना है कि रोम-रोम प्रति कोटि-कोटि ब्रह्मांड लगे हैं, सबके सम्यक् आधार एक मात्र प्रभु ही हैं, सबों की अनन्त प्रकार की व्यवस्था प्रभु ही करते हैं। तब तो उनके गुणों का पारावार नहीं है; यथा—"जल सीकर महि रज गनि जाहीं। रघुपति चरित न बरनि सिराहीं॥" (दो० ५१); फिर हम अपने कल्याणार्थ किन गुणों का गान करें, यह वे स्वयं नहीं निश्चय कर पाते। गीता में भी कहा है—"यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके। तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥" (२।४६); अर्थात् वेदों में भगवान् के असंख्य गुण हैं, पर ज्ञानी लोग प्रयोजन मात्र ग्रहण करते हैं। मुमुक्षु लोगों के प्रयोजन के वे ही गुण हैं कि जिन्हें भगवान् ने अवतार ले-लेकर अपने चरित द्वारा प्रकट किया है। जीवों के कल्याणार्थ अपने में लघुता स्वीकार करके अपने गुण प्रकट किये हैं; यथा—"जग बिस्तारहिं बिसद जस, राम जनम कर हेतु॥" (बा० दो० १२१); *अतः, वे बड़े समर्थ मुनि लोग भी उधर से फिर कर, अर्थात् अनन्त* महिमा को अगम जानकर इन्हीं चरित्रों में प्रीति करते हैं कि परम कृपालु प्रभु ने स्वयं हमारे योग्य गुणों को चरित-द्वारा प्रकट कर दिया है—हम उन्हीं गुणों को गा-गाकर भव पार हों।

(२) 'सोउ जाने कर फल यह लीला।...'—जब महामुनियों ने उस महिमा को जाना, तब साथ ही उनके अवतार लेकर चरित करने का प्रयोजन भी जाना कि जो प्रभु नाना साधन से योग समाधि द्वारा कभी ही ध्यान में आते हैं, वे ही सगुण चरित्र के प्रेम से सहज में प्राप्त हो जाते हैं। तब वे इसे फल रूप मानकर इसी में रत होते हैं।

दम शील महा मुनि वर श्रीअगस्त्य-सुतीक्ष्ण आदि ने कहा है—"जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता।... फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ॥" (आ० दो० १२)—श्रीअगस्त्यजी, "जे जानहिं ते जानहु स्वामी।... करउ सो राम हृदय मम अयना॥" (आ० दो० १०)—श्रीसुतीक्ष्णजी।

(३) 'राम राज कर सुख संपदा।...'—"राम-राज बैठे त्रैलोका। हरषित भये गये सब सोका॥" से "ससि संपन्न सदा रह धरनी।...." तक सुख का कुछ वर्णन है और "प्रगटीं गिरिन्ह बिबिध मनि खानी।...' से "डारहिं रतन तटन्हि नर लहहीं।" तक संपदा का लक्ष्य कराया गया है। इनका वर्णन करना अगम है। शेषजी के सहस्र मुख हैं और शारदा अनंत मुखों से सबकी वाणी द्वारा बोलती हैं, पर ये भी नहीं वर्णन कर सकते। तब कोई भी मनुष्य कवि कैसे कह सकेगा? इसमें 'सुख' शब्द के *'ख' को द्वित्व करके पढ़ना चाहिये तब मात्रा की कमी की पूर्त्ति आ जायगी।*

सब उदार सब पर उपकारी। बिप्र - चरन - सेवक नर - नारी॥७॥
एक नारिब्रत - रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति-हितकारी॥८॥

दो०—दंड जतिन्ह कर भेद जहँ, नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहि सुनिय अस, रामचन्द्र के राज॥२२॥

अर्थ—सब उदार हैं और सभी परोपकारी हैं। सभी स्त्री-पुरुष ब्राह्मणों के चरणों के सेवक हैं॥७॥ सभी पुरुष मात्र एक-पत्नी व्रत रखनेवाले हैं और वे (उनकी स्त्रियाँ भी) मन, वचन कर्म से पति का

हित करनेवाली हैं ॥८॥ श्रीरामजी के राज्य में दंड संन्यासियों के हाथ में था और जहाँ नाच-मंडली में नाचनेवाले होते थे वहीं भेद था और 'जीतो' (यह शब्द) मन ही के लिये (काम आदि विकारों को जीतने के प्रसंग में) था—ऐसा सुनने में आता था ॥२२॥

विशेष—(१) 'सब उदार···'—पहले सम्पदा कहकर तब उदार और परोपकारी कहा, क्योंकि इन्हीं कार्यों में सम्पत्ति की सफलता है। और राज्य में सब उदार और सब परोपकारी नहीं होते, पर राम-राज्य में सभी ऐसे हैं। परोपकारी कहकर निस्वार्थ ही दातृत्व कहा। 'विप्र चरन सेवक ··' जैसे कि स्त्री जल देती है और पुरुष विप्रों के चरण धोते हैं, इत्यादि रीति से स्त्री-पुरुष सभी विप्र-भक्त हैं। 'उदार' कहकर विप्र भक्ति कहने से ब्राह्मणों को बहुत दान देना भी सूचित किया गया है।

(२) 'एकनारि-ब्रत-रत···'—श्रीरामजी राजा हैं, वे एक नारि-व्रत हैं, अपनी विवाहिता भार्या से ही पत्नीत्व सम्बन्ध रखते हैं, यथा—"स्वदारनियतव्रतम्" (सनत्कुमार सं० रामस्तवराज); वही आचरण उनकी प्रजा ने भी धारण किया है; यथा—"एकपत्नीव्रतधरो राजर्षिचरितः शुचिः। स्वधर्मं गृहमेधीयं शिक्षयन्स्वयमाचरन् ॥" (भाग० ९।१०।५५), अर्थात् प्रजा को एक पत्नीव्रत बनाने के लिये आप स्वयं गृहस्थी में रहकर राजर्षियों का-सा आचरण करते हैं।

'ते मन बच क्रम···'—जब पुरुष ऐसे हैं, तो स्त्रियाँ भी अपने पातिव्रत धर्म में दृढ़ हैं; यथा—"एकै धर्म एक व्रत नेमा। काय-वचन-मन पति-पद-प्रेमा ॥" (आ० दो० ४); स्त्री के इस व्रत से पति का बड़ा हित होता है; यथा—"परम सती असुराधिप नारी। तेहि बल ताहि न जितहिं पुरारी ॥" (बा० दो० १२१)।

नर-नारियों मात्र के इस महाव्रत की रक्षा श्रीरामजी के प्रभाव से हो रही है। क्योंकि इस समय ये राजा हैं, प्रजा मात्र इनके बाहुबल के आश्रित है; यथा—"तिन्हकी न काम सकै चापि छाँह। तुलसी जे बसे रघुबीर बाँह ॥" (गी० उ० ४१)।

(३) 'दंड जतिन्ह कर ··'—राजनीति के चार अंग हैं; यथा—"साम दाम अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा ॥" (लं० दो० ३६); ये चारों शत्रु-जीतने में काम आते हैं। श्रीरामजी ने रावण पर विजय कर ही लिया, इससे सब पर विजय स्वतः हो गई। कोई शत्रु जीतने के लिये नहीं रह गया। तब साम और दाम तो प्रजा के पारस्परिक व्यवहार में रह गये; यथा—"सब नर करहिं परस्पर प्रीती।"—साम, "सब उदार सब पर उपकारी।" दाम (दान) शेष दंड और भेद (इन दो) का तो नाम मात्र ही जीता जागता रह गया। शत्रु के बीच में फूट करा देना 'भेद' नीति है और अपराधी को दंड देना 'दंड' नीति है। राम-राज्य में कोई अपराध करता ही नहीं था, संसार भर में चारों चरणों से धर्म पूर्ण था, सभी वेद रीति से स्वधर्माचरण करते थे। तब दंड किसे दिया जाय? दंड कहीं नहीं सुना जाता था, हाँ, दंड शब्द मात्र यतियों के सम्बन्ध में सुना जाता था कि अमुक यती त्रिदंड एवं दंड धारण किये हुए हैं, ये दंडी हैं और ये त्रिदंडी हैं, इत्यादि। इससे यह भी ध्वनित होता है कि सर्प-स्वान आदि के भी तामस भाव निवृत्त हो गये थे, जिससे कोई प्रजा भी छड़ी, डंडा, लाठी आदि शस्त्र न धारण करती थी, केवल आश्रम नियमानुसार यतियों के हाथ में 'दंड' होता था, जिससे वे दंडी कहाते थे।

'भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज'—जब शत्रु ही नहीं थे, तब भेद नीति कहाँ की जाय? अतः, उसका नाम मात्र नृत्य समाज में नर्तकों के द्वारा सुना जाता था कि अमुक राग के इतने 'भेद' हैं। इस ताल के इतने 'भेद' हैं। श्री भैरव आदि राग के भेद हैं, मयूरी, तांडव आदि नृत्य के भेद हैं।

(४) 'जीतहु मनहिं'—'जीतो' शब्द भी मन ही के विषय में सुना जाता था कि भाई मन को जीतो, यह बड़ा शत्रु है, इसे वश में रक्खो कि जिससे कामादि विकार पैदा न होने पावें।

इसपर—"सरल सुकोमल मंजु, दोष रहित दूषन सहित।" (बा॰ दो॰ १४) भी देखिये। वहाँ भी ऐसा ही अर्थ है।

फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक सँग गज-पंचानन ॥१॥
खग मृग सहज बैर बिसराई। सबन्हि परसपर प्रीति बढ़ाई ॥२॥
कूजहिं खग मृग नाना बृंदा। अभय चरहिं बन करहिं अनंदा ॥३॥
सीतल सुरभि पवन बह मंदा। गुंजत अलि लै चलि मकरंदा ॥४॥

अर्थ—वन में वृक्ष सदा ही (ऋतु अनुसार फूलने-फलने का नियम छोड़कर) फूलते-फलते हैं। हाथी और सिंह (सहज वैर छोड़कर) एक साथ रहते हैं ॥१॥ पक्षी और पशु (आदि) सभी ने स्वाभाविक वैर भुलाकर एक दूसरे पर प्रेम बढाया ॥२॥ वन में पक्षियों और मृगों के अनेक झुंड बोलते हैं, निर्भय चुगते हैं और आनन्द करते हैं ॥३॥ शीतल और सुगंधित वायु धीरे-धीरे चलता है, भौंरे पुष्पों का रस लेकर गुञ्जार करते हुए चलते हैं ॥४॥

विशेष—(१) पहले चैतन्य मनुष्यों पर राम-राज्य-प्रभाव कहा गया, अब जड़-चैतन्य-मिश्रितों पर कहते हैं—'फूलहिं फरहिं सदा ·'—पूर्व काल, कर्म, स्वभाव और गुण के प्रभाव का न व्याप्त होना कहा गया। उन्हीं को इस प्रसंग पर स्पष्ट करते हैं—

काल—"फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन।" यहाँ कालगति का त्याग है।

स्वभाव—"रहहिं एक सग गज पचानन ॥ खग मृग सहज · " यहाँ स्वभाव दोष त्याग है।

कर्म—"कूजहिं खग मृग अभय चरहिं · "—यहाँ कर्म गति रहित सब सुखी ही हैं।

गुण—स्वभाव में आ गये, इससे इनका पृथक् उदाहरण नहीं है।

(२) 'गज पचानन' से बड़ों-बड़ों को कहकर 'खग मृग' से छोटों को कहा है।

(३) 'खग मृग सहज ··'—इसके पूर्वार्द्ध में सहज वैर छोड़ना ही नहीं, प्रत्युत् भूल जाना कहा गया और उत्तरार्द्ध में सहज प्रीति भी कही गई।

पहले वन का वर्णन करके तब उसके आश्रित खग-मृगों को कहा। 'अभय चरहिं', क्योंकि बाधक जीवों का भय नहीं है।

(४) 'सीतल सुरभि '—त्रिविध वायु की शोभा कही गई, यथा—"सीतल मंद सुगंध सुभाऊ। संतत बहइ मनोहर बाऊ॥" (आ॰ दो॰ २१)।

लता बिटप माँगे मधु चवहीं। मनभावतो धेनु पय स्रवहीं ॥५॥
ससि-संपन्न सदा रह धरनी। त्रेता भइ कृतजुग कै करनी ॥६॥

प्रगटीं गिरिन्ह विविध मनि खानी। जगदातमा भूप जग जानी ॥७॥
सरिता सकल बहहिं बर बारी। सीतल अमल स्वादु सुखकारी ॥८॥

अर्थ—लता और वृक्ष माँगने से मधु (रस, शहद) टपका देते हैं, गायें (कामधेनु की भाँति) मन चाहा दूध देती हैं ॥५॥ पृथिवी सदा ही कृषि (खेती) से भरी पूरी रहती है, त्रेतायुग में भी सतयुग की करनी (व्यवस्था) हो गई (अर्थात् उपर्युक्त बातें सतयुग में स्वाभाविक थीं) ॥६॥ यह जानकर कि जगत् की आत्मा भगवान् जगत् के राजा हैं, पर्वतों ने अनेक प्रकार के मणियों की खानें प्रकट कर दीं ॥७॥ सब नदियाँ श्रेष्ठ शीतल, निर्मल, स्वादिष्ट और सुख देनेवाला जल बहा रही हैं ॥८॥

विशेष (१) 'लता विटप माँगे मधु चवहीं।'—ये जड़ हैं, पर चैतन्य का काम करते हैं। 'मधु' के साथ 'पय' को कहा, क्योंकि दोनों रस हैं।

(२) 'ससि संपन्न सदा रह धरनी।'—'सदा रह' से सूचित करते हैं कि पृथिवी विना बोये स्वयं अन्न उपजाया करती थी, एक तरफ काटते थे, दूसरी तरफ से फिर अंकुर निकलते आते थे। लोग एक बार बोने से बीस बार काटते थे। पृथिवी का खेती से पूर्ण रहना उसकी शोभा है; यथा—"ससि· संपन्न सोह महि कैसी।" (कि॰ दो॰ १४)।

'त्रेता भइ कृतजुग कै करनी।'—रावण के अधर्म से त्रेता में कलियुग हो गया था। अब सुधर्म के द्वारा श्रीरामजी ने सतयुग कर दिया। युग का प्रभाव धर्म और अधर्म पाकर बदल जाता है, यह भी प्रकट हुआ।

(३) 'प्रगटीं गिरिन्ह···'—पहले और राजाओं के समय में पहाड़ों में मणि की खानें गुप्त रहती थीं। पर जब जगत् की आत्मा ने ही भूप-रूप धारण किया है, तब उनसे दुराव कैसे करें? इससे मणियों को प्रकट कर दिया। 'गिरिन्ह'—शब्द से सब पहाड़ों में तरह-तरह की खानों का प्रकट होना सूचित किया। जब गुप्त परमात्मा प्रकट हुए और देहधारी हुए, तब गुप्त मणियाँ भी प्रकट हो गईं कि जिससे वे इसे अपने दिव्य विग्रह में धारण करें। 'बिबिध मनि खानी'—मणियाँ बहुत रंगों की होती हैं जैसे माणिक्य, नीलम, हीरा, पोखराज, पीरोजा आदि, इनकी पृथक्-पृथक् खानें प्रकट हुईं। 'जगदातमा भूप जग जानी।' यह दीप-देहली है; यथा—"स्वामिनं प्राप्तमालोक्य मत्तां वा सुतरामिह।" (भाग॰ १।११।२६); अर्थात् अपने स्वामी को ही यहाँ प्राप्त देखकर जगत् भर समृद्ध पूर्ण भाव से मत्त हो रहा है।

(४) 'सरिता सकल बहहिं बर बारी।'—नदियाँ प्रायः पहाड़ों से निकलती हैं, इसीसे पहले पहाड़ों को कहकर तब नदियों को कहा है। 'बर बारी' की श्रेष्ठता दूसरे चरण में दिखाई गई है—'सीतल अमल स्वादु सुखकारी।'—नदियों का जल कहीं एवं कभी गरम भी होता है और करार काटने से एवं वर्षा में मलीन हो जाता है। किसी का जल स्वादिष्ट नहीं होता और किसी के जल से रोग उत्पन्न हो जाते हैं, ये सब दोष राम-राज्य में नहीं थे। प्रत्युत् शीतलता आदि गुण थे। 'सुखकारी'—का भाव यह कि सब किसी की रुचि के अनुकूल सुखकारी थे। जल में ये ही उत्तम गुण अन्यत्र भी कहे गये हैं; यथा—"सीतल अमल मधुर जल, जलज बिपुल बहु रंग।" (दो॰ ५६); "भरेउ सुमानस सुथल थिराना। सुखद सीत रुचि चारु चिराना॥" (बा॰ दो॰ ३५)।

इस दोहे का सारांश श्रीशुकदेवजी ने भी कहा है—"त्रेतायां वर्तमानायां कालः कृत समोऽभवत्।

रामे राजनि धर्मज्ञे सर्वभूत-सुखावहे ॥ वनानि नद्यो गिरयो वर्षाणि द्वीपसिन्धवः। सर्वे कामदुघा आसन्प्रजानां भरतर्षभ ॥" (भाग० ९।१०।५२-५३); अर्थात् सब प्राणियों को सुख देनेवाले, राज-धर्म में निपुण श्रीरामजी के राज्य में त्रेतायुग में भी सतयुग के समान उत्तम समय हो गया। नदी, वन, पहाड़, समुद्र, द्वीप और खंड सभी प्रजा की मनचाही बातें पूर्ण करते थे।

सागर निज मरजादा रहहीं। डारहिं रत्न तटन्हि नर लहहीं ॥९॥
सरसिज संकुल सकल तड़ागा। अति प्रसन्न दस दिसा बिभागा ॥१०॥

दोहा—बिधु महिपूर मयूखन्हि, रबि तप जेतनेहि काज।
माँगे बारिद देहिं जल, रामचंद्र के राज ॥२३॥

अर्थ—समुद्र अपनी मर्यादा (हद) में रहते हैं। (अर्थात् उपद्रव नहीं करते, प्रत्युत् लोगों का उपकार करते हैं कि) किनारों पर रत्न डाल देते हैं और मनुष्य उन्हें पाते हैं ॥९॥ सब तालाब कमलों से परिपूर्ण हैं; दसो दिशाएँ अपने-अपने विभागों में (पृथक्-पृथक्) अति प्रसन्न (निर्मल) हैं ॥१०॥ श्रीरामचन्द्रजी के राज्य में चन्द्रमा अपनी किरणों से पृथिवी को पूरित करते हैं। (अर्थात् अमृत वर्षाकर कृषि आदि को पुष्ट करते हैं) और सूर्य उतना ही तप्त होते हैं, जितने का जहाँ काम होता है (खेती के परिपक्व करने भर को ही तपते हैं), मेघ माँगने से (उतना) जल देते हैं ॥२३॥

विशेष—(१) 'सागर निज...'—पहले नदियों का वर्णन करके अब नदी-पति समुद्र का वर्णन करते हैं। नदी के जल के गुण कहे; फिर सागर में रत्न के देने की शोभा कहते हैं, क्योंकि सागर के जल में कोई वैसा गुण नहीं होता। 'डारहिं'—लहरों द्वारा स्वयं निकाल कर तट पर डाल देंगे। श्रीरामजी चक्रवर्ती हैं और वह जलाधिपति है, मानों कर देता है, यद्यपि श्रीरामजी नहीं चाहते पर वह डाल ही देता है। सब तालाबों में प्रायः कमल नहीं होते, पर राम-राज्य में सबमें कमल परिपूर्ण रहते हैं। यहाँ तक नदी, समुद्र और सर तीनों प्रकार के जलाशय कहे गये। इससे जल-तत्त्व की अनुकूलता कही गई। तथा—"ससि संपन्न सदा रह धरनी।"—पृथिवी, "रबि तप जेन नहि काज।"—अग्नि, "सीतल सुरभि पवन वह मंदा।"—पवन और "अति प्रसन्न दस दिसा बिभागा।"—आकाश तत्त्व की अनुकूलता है; अर्थात् पाँचो तत्त्व अनुकूल हैं।

(२) 'बिधु महिपूर मयूखन्हि...'—इसमें चन्द्रमा, सूर्य और मेघ तीनों की अनुकूलता कही गई। ये तीनों जगत् के पोषण करनेवाले हैं; यथा—"जग हित हेतु बिमल बिधु पूषन।" (बा० दो० १९); "होइ जलद जग जीवन दाता।" (बा० दो० ६)। 'रामचंद्र'—'चदि-आह्लादने' धातु से चंद्र शब्द निष्पन्न होता है, अर्थात् जो सबको आह्लाद द्वारा रमावें, वे राम हैं। ऐसा आनंद और राज्य में नहीं हुआ कि चर-अचर सभी आनन्द रूप हो गये हों।

सपरिवार प्रभु का आदर्श व्यवहार

कोटिन्ह बाजि-मेध प्रभु कीन्हे। दान अनेक द्विजन्ह कहँ दीन्हे ॥१॥
श्रुति-पथ-पालक धर्म-धुरंधर। गुनातीत अरु भोग पुरंदर ॥२॥

पति अनुकूल सदा रह सीता। सोभाखानि सुसील बिनीता ॥३॥
जानति कृपासिंधु प्रभुताई। सेवति चरन-कमल मन लाई ॥४॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी ने असंख्य अश्वमेध यज्ञ किये और ब्राह्मणों को अनेक दान दिये ॥१॥ वेद-मार्ग के पालनेवाले, धर्म रूपी धुरी के धारण करनेवाले, सत्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों से परे हैं और भोग में इन्द्र के समान हैं ॥२॥ श्रीसीताजी सदा ही पति के अनुकूल रहती हैं, वे शोभा की खानि, सुशीला और विनम्रभावयुक्ता हैं ॥३॥ वे कृपासागर श्रीरामजी की प्रभुताई को जानती हैं, और मन लगाकर उनके चरण कमलों की सेवा करती हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'कोटिन्ह बाजिमेध प्रभु कीन्हें।'—राजा लोग युद्ध में विजयी होकर यज्ञ करते हैं। श्रीरामजी ने भी लंका विजय की है, अतएव उन्होंने भी यज्ञ किया। 'कोटि' शब्द यहाँ बहुत का वाचक है ; यथा—"कहि कहि कोटिक कपट कहानी।" (अ० दो० १६) ; यहाँ मंथरा रात ही भर में करोड़ों कहानियाँ नहीं कह सकती। तथा—"कहि कहि कोटिक कथा प्रसंगा। राम बिलोकहिं गंग तरंगा॥" (अ० दो० ८६) ; बहुत अश्वमेध भी श्रीरामजी ने कैसे किये होंगे, इसके समाधान के लिये 'प्रभु' कहा है कि वे समर्थ हैं, सब कुछ कर सकते हैं। यथा—"कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थः प्रभुः" पुनः यज्ञ में दान अवश्य ही अधिक दिया जाता है, इससे उत्तरार्द्ध में ब्राह्मणों को अनेकों प्रकार के दान देना कहा गया है।

शंका—श्रीरामजी तो स्वयं ब्रह्म हैं, तो यज्ञ में उन्होंने किसकी पूजा की ? पुनः उसमें सब देवताओं की भी पूजा होती है। जो श्रीरामजी से छोटे हैं उन्होंने अपनेसे छोटों की पूजा क्यों की ?

समाधान—सब देवता श्रीरामजी के अंग हैं ; यथा—"अहंकार सिव बुद्धि अज, मन ससि चित्त महान। मनुज वास सचराचर, रूप राम भगवान॥" (लं० दो० १५)। भगवान् ने अपना ही पूजन स्वयं किया है ; यथा—"भगवानात्मनात्मानं राम उत्तमकल्पकैः। सर्वदेवमयं देवमीज आचार्यवान्मखैः॥" (भाग० ९।११।१) ; अर्थात् सर्व देवमय देव भगवान् ने यज्ञों के द्वारा आचार्य की बतलाई हुई विधि से अपना ही पूजन किया है। इस कर्म से आपने लोक को ऐसा ही करने की शिक्षा दी है ; यथा—"मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षो वधायैव न केवलं विभोः॥" (भाग० ५।१९।५) ; अर्थात् परम समर्थ श्रीरामजी का मनुष्यावतार जगत् को शिक्षा देने के लिये है, केवल राक्षस वध के लिये ही नहीं। तथा—"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।" (गीता ३।२१) ; अर्थात् बड़े लोगों को देखकर सामान्य लोग भी वैसे आचरण करते हैं। पुन. माधुर्य में गुरु, मुनि आदि की पूजा करते हैं, वैसे यज्ञ में देवताओं की भी पूजा की।

'दान अनेक···'—सब रामायणों के मत 'अनेक' मे आ गये। भाग० ९।११।२-४ में सम्पूर्ण पृथिवी का देना लिखा है कि आपके शरीर के वस्त्राभूषण मात्र ही रह गये। तब ब्राह्मणों ने ब्रह्मण्यदेव प्रभु को ही अपनी ओर से सौंप दिया कि आप ही इसे पालें।

(२) 'श्रुति-पथ-पालक ···'—वेदोक्त नियमों का पालन करते हैं, यज्ञ आदि धर्म करते हैं। वास्तव मे आप गुणातीत (अलिप्त) हैं, पर भोग इन्द्र का-सा करते हैं। इन्द्र ने सौ यज्ञ किये हैं। आपने 'कोटिन्ह' किये।

(३) 'पति अनुकूल सदा रह सीता।···'—पहले श्रीरामजी के गुण वर्णन कर अब श्रीसीताजी के गुण वर्णन करते हैं। पति-अनुकूलता स्त्री के लिये मुख्य है, इससे इसे पहले कहा। 'सोभा खानि' से

पर मद नहीं है। अतः, सुंदर शील स्वभाव से नम्रता सहित स्वामी की सेवा करती हैं; यथा—"प्रेम्णाऽनुवृत्या शीलेन प्रश्रयावनता सती। धिया ह्रिया च भावज्ञा भर्त्तुः सीताहरन्मनः॥" (भाग० ९।१०।५९); अर्थात् भाव को जाननेवाली श्रीसीता देवी, विनयावनत भाव, प्रणय, अनुसरण, सुशीलता, बुद्धि और लज्जा से अपने स्वामी को प्रसन्न रखती हैं।

(४) 'जानति कृपासिंधु प्रभुताई।'—वे कृपा के सागर हैं, बड़े शीलवान् हैं, भक्तों को बड़ी भाग्य से इनकी सेवा मिलती है, ऐसा जानकर उत्साह से सेवा करती हैं; यथा—"अब जानी मैं श्री चतुराई। भजी तुम्हहिं सब देव बिहाई॥" (आ० दो० ५)।

जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। बिपुल सकल सेवा बिधि गुनी॥५॥
निज कर गृह-परिचरजा करई। रामचंद्र आयसु अनुसरई॥६॥
जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवा-बिधि जानइ॥७॥
कौसल्यादि सासु गृह माहीं। सेवइ सबन्हि मान मद नाहीं॥८॥
उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता। जगदंबा संततमनिंदिता॥९॥

दोहा—जासु कृपाकटाच्छ सुर, चाहत चितवन सोइ।
राम-पदारबिंद-रति, करति सुभावहि खोइ॥२४॥

अर्थ—यद्यपि घर में बहुत सेवक और सेवकिनियाँ हैं वे सब सेवा करने की विधि में गुणी हैं॥५॥ तथापि (अपने पति की सेवा जानकर) घर की टहल वे अपने हाथों से करती हैं और श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा का पालन करती हैं॥६॥ कृपासागर श्रीरामजी जिस प्रकार में सुख मानते हैं, श्री जी वही करती हैं (क्योंकि) वे सेवा-विधि जानती हैं॥७॥ श्रीसीताजी घर में श्रीकौशल्या आदि सब सासुओं की सेवा करती हैं इन्हें (रूप आदि का) अभिमान और (राज्य आदि का) मद नहीं है॥८॥ उमा, रमा, शारदा आदि (शक्तियों) एवं ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि (देवताओं के) द्वारा वंदिता हैं, (या, हे उमा! रमा श्रीजानकीजी ब्रह्मादि देवों से वंदिता हैं) जगत् भर की माता हैं, सदैव अनिन्दिता हैं॥९॥ जिन श्रीसीताजी की कृपा भरी तनिक चितवन को देवता चाहते हैं वे ही अपने (महत्त्व पूर्ण) स्वभाव को छोड़ कर श्रीरामजी के चरण कमलों में प्रेम करती हैं॥२४॥

विशेष—(१) 'जद्यपि गृह···निज कर···'—घर के कार्य को पति-सेवा मानकर पतिव्रता शिरोमणि श्रीसीताजी अपने हाथों से करती हैं, इससे कोई समझे कि घर में सेवक-सेवकिनी कम होंगी अथवा वे उत्तम सेवा का विधान न जानती होंगी। उसका निराकरण करते हैं और यह भी लोक को शिक्षा देते हैं कि स्त्री को घर का कार्य स्वयं सँभालना चाहिये, चाहे वह कितनी ही बड़े धनवान् घर की हो।

(२) 'जेहि बिधि कृपासिंधु···'—श्रीजानकीजी स्वामी का रुख देखकर वैसा ही कार्य करती हैं। उसपर स्वामी सुख मानते हैं तो इसे वे उनकी कृपा ही मानती हैं; अर्थात् इन्हें उत्तम सेवा करने का भी मान नहीं है। यह भी भाव है कि श्रीजानकीजी अपने धर्म को देखकर सेवा ही करना चाहती हैं, पर कृपासिंधु की इनपर अत्यन्त कृपा है, ये क्षणिक विश्लेष नहीं चाहते, इनके संयोग में ही सुख मानते हैं; जो

उनकी रुचि रखने के लिये पति के साथ-साथ रहती हुई सखियों से सेवा कराती हैं, क्योंकि आज्ञापालन सर्वोपरि सेवा है ; यथा—"आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।" (अ० दो० १००)। 'श्री' ऐश्वर्य सम्बन्धी नाम कहा है, क्योंकि यहाँ ऐश्वर्य वर्णन का प्रसंग है।

(३) 'कौसल्यादि सासु···'—ये पति की भी पूज्या हैं, इनकी सेवा से स्वामी अधिक प्रसन्न होंगे, यह विचार कर वे सासुओं की भी सेवा करती हैं, मान-मद से सेवा व्यर्थ हो जाती है, इससे इतने भारी ऐश्वर्य पर भी इन्होंने उन्हें दूर कर दिया है।

(४) 'उमा रमा ब्रह्मादि...'– इसमें उमा-रमा आदि और ब्रह्मा आदि, ऐसा अर्थ है। आदि का अन्वय दोनों के साथ है। 'वंदिता' कहकर इन सबकी प्रार्थना से अवतार लेना सूचित किया। 'जगदंबा' कहकर लव-कुश का जन्म भी सूचित किया। 'संततमनिन्दिता'—से सूचित किया कि इनके सभी चरित उज्ज्वल हैं, इसीसे त्रिदेव और उनकी शक्तियों से वंदिता हैं। ध्वनि से प्रकट किया कि राज्य पर बैठने पर दस हजार वर्ष के बाद धोबी ने जो निंदा की है, वह झूठी निंदा थी। श्रीसीताजी 'संतत' अर्थात् निरंतर तीनों कालों में शुद्धा हैं।

(५) 'सुर चाहत चितवन'; यथा—"लोकप होहिं बिलोकत तोरे। तोहिं सेवहिं सब सिधि कर जोरे॥" (अ० दो० १०२) ; 'सुभावहि खोइ' अपने बड़ाई के स्वभाव को मिटाकर सेवा करती हैं, क्योंकि बड़ाई भक्ति में बाधक है; यथा—"सुख संपति परिवार बड़ाई।...ये सब राम-भगति के बाधक।" (कि० दो० ६); जैसे प्रभु अपना ऐश्वर्य छिपाये हुए राजकुमार रूप से वर्त्ताव कर रहे हैं, वैसे आप भी राजकुमारी बनी हुई पत्नी धर्म से पति-सेवा करती हैं। लोक को शिक्षा देती हैं कि स्त्रियों को इस तरह रहना चाहिये।

सेवहिं सानुकूल सब भाई। राम-चरन-रति अति अधिकाई॥१॥
प्रभु मुख-कमल बिलोकत रहहीं। कबहुँ कृपाल हमहिं कछु कहहीं॥२॥
राम करहिं भ्रातन्ह पर प्रीती। नाना भाँति सिखावहिं नीती॥३॥

अर्थ—सब भाई श्रीरामजी की अनुकूलता सहित उनकी सेवा करते हैं, श्रीरामजी के चरणों में उनका अत्यन्त अधिक प्रेम है॥१॥ वे सब प्रभु का मुख कमल देखते रहते हैं कि कृपालु श्रीरामजी हमें (कृपा करके सेवा करने को) कुछ कहें॥२॥ श्रीरामजी भाइयों पर प्रेम करते हैं, अनेक प्रकार से नीति सिखाते हैं॥३॥

विशेष—(१) 'सेवहिं सानुकूल...'—भाव यह कि राजा मानकर भय से सेवा नहीं करते ; किन्तु इनका प्रभु पद में अत्यंत प्रेम है, इससे सेवा करते हैं।

भाई लोग कुल धर्म का अनुसरण करते हैं ; यथा—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥" (अ० दो० १४); और प्रभु उनको अपने बराबर ही मानते हैं ; यथा—"बिमल वंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥" (अ० दो० ६); इसीसे वे 'भ्रातन्ह पर प्रीती' करते हैं, बराबरी के भाव से स्नेह करते हैं और उन्हें राजाओं के योग्य नीति (राजनीति) सिखाते हैं। भाइयों की रुचि के अनुकूल सेवाधर्म नहीं सिखाते, किन्तु अपने विचारानुसार राजनीति ही सिखाते हैं। 'नाना भाँति नीति' में सब नीति शास्त्रों के मत आ गये।

(२) 'कबहुँ कृपाल हमहिं कछु कहहीं।'—सेवा प्राप्ति की अभिलाषा करते हुए मुख देखा करते हैं। क्योंकि इसी से नरतन की सफलता है, यथा—"देह धरे कर यह फल भाई। भजिय राम सब काम बिहाई॥" (कि० दो० २२); सेवा पाने पर श्रीहनुमान्‌जी ने जन्म सफल माना भी है,, यथा—"हनुमत जनम सुफल करि माना। चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना॥" (कि० दो० २१), इसीसे तीनों भाई अहर्निशि सेवा के लिये लालायित रहते हैं, कितनी भी सेवा मिले, तृप्ति नहीं होती।

(३) 'राम करहिं भ्रातन्ह पर प्रीती।'—'प्रीती' शब्द से ही उनका बराबर मानना सिद्ध है, यथा—"प्रीति विरोध समान सन, करिय नीति असि आहि॥" (ल० दो० २३); अत्यंत प्रेम के कारण शिक्षा देते हैं, वह भी राजधर्म की।

हरषित रहहिं नगर के लोगा। करहिं सकल सुर दुर्लभ भोगा॥४॥
अहनिसि बिधिहि मनावत रहहीं। श्री रघुबीर-चरन रति चहहीं॥५॥
दुइ सुत सुंदर सीता जाये। लव-कुस बेद पुरानन्ह गाये॥६॥
दोउ बिजई बिनई गुन-मंदिर। हरि प्रतिबिंब मनहुँ अति सुंदर॥७॥
दुइ दुइ सुत सब भ्रातन्ह केरे। भये रूप गुन सील घनेरे॥८॥

अर्थ—नगर के निवासी प्रसन्न रहते हैं और देवताओं को भी कठिनता से प्राप्त होनेवाले भोगों को भोगते हैं॥४॥ रघुवीर श्रीरामजी के चरणों में प्रेम चाहते हैं, इसके लिये वे दिन रात ब्रह्माजी को मनाते रहते हैं (कि वैसी बुद्धि हो, क्योंकि ब्रह्मा बुद्धि के देवता हैं,)॥५॥ श्रीसीताजी के दो सुंदर पुत्र लव और कुश हुए, जिनकी कथा वेद-पुराणों ने विस्तार से कही है॥६॥ दोनों विजयी, विनयी (विशेष नम्र एवं नीतिवान्) और गुणों के धाम हैं, दोनों अत्यन्त सुन्दर हैं, मानों भगवान् श्रीरामजी की छाया ही हैं॥७॥ दो-दो पुत्र सब भाइयों के हुए, जो बड़े सुन्दर, गुणवान् और सुशील थे॥८॥

विशेष—(१) 'नगर के लोगा'—ऊपर—'राम राज बैठे त्रैलोका।' से 'बिधु महि पूर मयूखन्हि...' तक तीनों लोकों एवं जगत् भर का सुख कहा गया, यहाँ श्रीअवध नगर के लोगों का सुख-विलास कहते हैं। 'सुरदुर्लभ भोगा', यथा—"श्रीराम पद जलजात सबके प्रीति अविचल पावनी।... नाकेस दुर्लभ भोग लोगन्ह करैं न मन बिषयन्हि हरे।" (गी० उ० ११); इसपर—"सुर दुर्लभ सुख करि जग माहीं। अंतकाल रघुपति पुर जाहीं॥" (दो० १४) भी देखिये। भक्ति सम्बन्धी भोग परमार्थ साधक होते हैं। इसी से यहाँ भी आगे विधाता से राम-पद-प्रीति माँगना कहा गया है—'अहनिसि बिधिहि ..'—यदि इन भोगों से विषयासक्ति होती, तो ये लोग ऐसी अभिलाषा कैसे करते? यह भी कहा जाता है कि श्रीअवधवासियों का भोग त्रिपाद विभूति का है, वह दिव्य और अप्राकृत है, उससे विकार नहीं होता। वही देवताओं को दुर्लभ है (क्योंकि स्वर्ग का भोग प्राकृत है इसी से वह परिणाम में दुःखद है)।

(२) 'दुइ सुत सुंदर सीता जाये। · '—जो संतान कन्या के मायके में उत्पन्न होते हैं वे माता के नाम से कहे जाते हैं। 'सीता जाये' कहकर लव-कुश का जन्म श्रीवाल्मीकिजी के आश्रम में सूचित किया, क्योंकि श्रीवाल्मीकिजी श्रीसीताजी को कन्या और श्रीसीताजी उन्हें पिता की भाँति मानती थीं, इसी से वहाँ जन्म होने पर लव-कुश की प्रसिद्धि श्रीसीताजी के नाम से करते हैं। जो संतान पिता के यहाँ होते हैं,

वे पिता के नाम से कहे जाते हैं, तीनों भाइयों के पुत्र श्रीअयोध्या में ही हुए, इसीसे—"दुइ दुइ सुत सब भ्रातन्ह केरे।" कहा गया है। 'लव-कुश'—कुश ज्येष्ठ हैं, पर इनका नाम लव के पीछे कहा गया, ऐसे ही बा० दो० १६६ नाम करण प्रसंग में श्रीशत्रुघ्नजी के पीछे श्रीलक्ष्मणजी का नामकरण किया गया है। इससे यह भी जान पड़ता है कि यमज के नाम कथन की यही रीति है। यमज में गर्भाधान के क्रम से जो पीछे पैदा होता है, वही ज्येष्ठ माना जाता है। वा, सुख-मुखोच्चारणार्थ लव शब्द प्रथम कहा गया है।

(३) 'दोउ बिजई बिनई गुन मंदिर।'—रामाश्वमेध के अनुसार श्रीरामजी की सारी सेना को इन्होंने जीत लिया है, फिर जब जाना कि ये सब हमारे पितृव्य आदि हैं, तब बड़े विनम्र हुए। इससे साथ ही 'बिनई' भी कहा गया है। वीरता की शोभा नम्रता से होती है। 'गुन मंदिर' कहकर 'हरि प्रतिबिंब' भी कहा है, बिंब के ही गुण प्रतिबिंब में देखे जाते हैं; यथा—"निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता। तैसइ रूप सील सुबिनीता॥" (आ० दो० २३)। श्रीरामजी के गुण; यथा—"स च सर्व गुणोपेतः कौशल्यानन्द वर्द्धनः।" (वाल्मी० मू० रा०); वे ही गुण इनमें हैं; यथा "विम्बादिवोत्थितौ विम्बौ राम देहात्तथापरौ॥" (वाल्मी० १०।४।११)।

'दुइ-दुइ सुत सब भ्रातन्ह केरे'—श्रीभरतजी के पुत्र श्रीतक्षजी और श्रीपुष्कलजी, श्रीलक्ष्मणजी के श्रीअंगदजी और श्रीचन्द्रकेतुजी, और श्रीशत्रुघ्नजी के श्रीसुबाहुजी और श्रीशत्रुघातीजी हैं—इनका वर्णन वाल्मी० ७।१०१, १०२ और १०८ में देखिये।

(४) 'भये रूप गुन सील धनेरे'—भाइयों के गुण; यथा—"चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुख सागर रामा॥" (बा० दो० १९७); वे ही गुण पुत्रों मे भी हैं। जैसे ऊपर प्रतिबिंब में कहे गये।

श्रीसीताजी के त्याग की कथा मानस में नहीं कही गई, 'सीता जाये' के संकेत से लक्ष्य मात्र करा दी गई, यह क्यों? इसके कई कारण हैं—(क) मानस में चार कल्पों की कथाएँ साथ चल रही हैं, किन्तु मुख्य मनु-शतरूपावाले कल्प की कथा है, वही श्रीशिवजी ने पार्वती से विस्तार-पूर्वक कही है। इसमे सीता-त्याग के हेतु रूप गंगा पूजन और ऋषियों के दर्शन पुष्पक पर आने के समय ही करा दिये गये हैं। अतः, इस कल्प में यह लीला नहीं हुई होगी। अन्य तीन कल्पों की भी संगति लगाने के लिये 'सीता जाये' से यह लीला भी जना दी गई है। (ख) उपासकों को सामान्य दृष्टि से वह कथा नीरस होगी, इस विचार से उसे नहीं कहा। लक्ष्य मात्र करा दिया है। पर विचार करने पर वह लीला भी बड़े महत्व की है, यह मैं आगे 'सीता-वनवास-मीमांसा' से यथा मति प्रकट करता हूँ। (ग) इस ग्रन्थ की समाप्ति शोक पर न हो, यह भी हेतु है।

सीता-वनवास-मीमांसा

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण उत्तरकांड के श्रीसीतावनवास (उनकी वाल्मीकि-आश्रम-यात्रा) पर कोई-कोई श्रीरामजी पर निर्दयता आदि दोष लगाते हैं। पर विचार करने पर जैसे श्रीमहारानीजी की लङ्का यात्रा स्वेच्छा से हुई, वैसे और उसी अभिप्राय से यह दूसरी यात्रा भी है। जैसे कि—अरण्यकांड सर्ग ८-९ में श्रीजानकीजी ने श्रीरामजी से राक्षस-वध-प्रतिज्ञा पर कहा है कि मिथ्या भाषण, परस्त्री की अभिलाषा और निर्वैर-पर-रौद्रता। ये तीन भारी दोष हैं। इनमें दो तो आपमे नहीं ही हैं, तीसरे का संयोग हो रहा है कि राक्षसों ने आपका कोई अन्याय नहीं किया, उन्हें मारने पर आपको उक्त दोष लगेगा। फिर इसे

बहुत तरह से मना करते हुए इसपर इतिहास भी कहा है कि आपका शस्त्र धारण करना ठीक नहीं। जब श्रीरामजी ने ऋषि-ब्राह्मण-रक्षा का अपना दृढ़व्रत कहा और उसे त्यागने में अपनी असमर्थता दिखाई। तब श्रीजानकीजी ने अपने स्वामी के धवल-यश-रक्षणार्थ लंका यात्रा की लीला की, क्योंकि मृग-मोहित होने पर श्रीलक्ष्मणजी ने बार-बार माया मृग के मारीच राक्षस होने का स्मरण कराया है, पर आपने नहीं माना। यह इसलिये कि मुझे हर कर रावण दोषी होकर वैर करके सपरिवार लड़ने से मारा जाय, तो स्वामी को उक्त दोष न लगे और उनकी कीर्त्ति उज्ज्वल हो।

उसी प्रकार यह दूसरी यात्रा भी अपने स्वामी के चरित्र को प्रकाशित करके भविष्य में जीवों के उद्धार के लिये है। जैसे कि प्रथम तो आपने श्रीरामजी से स्वेच्छा से ही वन जाने का वर माँगा और उसी समय निन्दा की बात भी श्रीरामजी को सुनाई दी। यह दूसरा हेतु पुरवासियों को प्रेरणा करके इसलिये रचा गया कि जिससे इसीके शमन करने के लिये महर्षि वाल्मीकि द्वारा रामायण रची जाय, क्योंकि दस हजार वर्ष पीछे पुरवासियों का वैसा कहना स्वाभाविक नहीं हो सकता, लङ्का से आने पर उसी समय उन्हें कहना था। पुनः श्रीसीताजी ने वाल्मीकि-आश्रम जाकर अपने आर्त्त रुदन द्वारा वात्सल्यनिष्ठ महर्षिजी के हृदय में अत्यन्त करुणा प्रकट कर निन्दा शमन करने के लिये आवेश कराया। तब क्रौंच प्रसंग आदि हेतुओं द्वारा रामायण रची गई।

यदि लङ्का का श्रीसीता-चरित्र मात्र ही ध्यानात्मक बनाते तो उसमें लोगों की प्रतीति होने में संदेह था। अतः, जो-जो चरित्र पुरजनों के सामने हुए थे, उन्हें भी ध्यानात्मक ही लिखा कि जिससे इन सब बातों की सत्यता से लंका का सीता-चरित भी सत्य जाना जाय। इसी आशय पर कहा है—"काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्।" (वाल्मी० १।४।७); अर्थात् समस्त रामायण काव्य में परम महत्व गुणवाला सीता-चरित है, क्योंकि सीता-चरित के प्राधान्य में सब बना। श्रीमहर्षिजी का मुख्य उद्देश्य श्रीसीताजी के लंका में शुद्ध रहने की सफाई देना था, वह कार्य बिना सब चरित बनाये हो नहीं सकता था।

यदि यह शंका हो—"प्राप्तराज्यस्य रामस्य वाल्मीकिर्भगवानृषिः। चकार चरितं कृत्स्नं विचित्र-पदमर्थवत्।" (वाल्मी० १।४।१); अर्थात् श्रीरामजी के राज्यासीन होने पर समस्त रामायण बनी। तो इसका समाधान यह है कि यहाँ पर राज्यासीन पर कुछ वर्षों की संख्या नहीं दी गई कि कितने वर्षों के पीछे बनी। पर सम्पूर्ण चरित रचना की पूर्त्ति पर तो स्पष्ट कहा है कि महर्षिजी के चित्त में चिन्ता हुई कि इतने बड़े काव्य को धारण करने को कौन समर्थ होगा? त्योंही कुश-लव दोनों ने आकर चरण गहे। तब महर्षिजी ने इन्हें ही धारण को समर्थ विचार कर पढ़ाना प्रारंभ किया; जब श्रीशत्रुघ्नजी मथुराजी से लौटे, (जो कि इन बालकों के जन्म दिन मथुरा जाते समय यहाँ थे और श्रीजानकीजी को प्रणाम करके मथुरा गये थे, फिर १२ वर्ष पीछे आये हैं।)

तब उन्होंने समाज सहित वाल्मीकिजी के आश्रम में निवास किया, वहाँ लव-कुश को करुणामय चरित (अयोध्याकांड) गाते हुए सुना, रात-भर सैनिकों समेत आश्चर्य में रहे कि जो-जो चरित हमने देखे हैं, उन्हें ही यहाँ सुनते हैं, भय से महर्षिजी से पूछ न सके और प्रातःकाल आज्ञा ले श्रीअयोध्याजी आये। (यह मथुरा संबंधी चरित वाल्मी० ७।६६-७१ में है।

इससे स्पष्ट हुआ कि श्रीमहारानीजी के आने पर महर्षिजी ने चरित रचने का प्रारंभ किया। दस-ग्यारह वर्षों में बना। यज्ञोपवीत संस्कार संपन्न होने पर लव-कुश को पढ़ाने लगे। एक वर्ष में अयोध्याकांड तक पढ़ा चुके थे, जो बारहवें वर्ष लौटने पर श्रीशत्रुघ्नजी ने सुना था। चरित करुणामय थे, इसीसे श्रीशत्रुघ्नजी आदि रोते हुए सुनते थे, इससे अयोध्याकांड तक का अनुमान है। फिर शेष चरित भी पढ़ाये।

तत्पश्चात् जब श्रीरामजी अश्वमेध यज्ञ करने लगे थे और वहाँ द्वीप-द्वीप के सब राजा लोग भी एकत्रित हुए थे। तब महर्षिजी अयोध्या आये और पृथक् रहते हुए कंद-मूल-फल (अपना, राजा की ओर से न लेकर) खाते हुए, उन्होंने लव-कुश के द्वारा सब चरित प्रथम नगर में सर्वत्र गवाया कि जिससे ये लोग अपने देखे हुए चरित्रों की सत्यता पर परोक्ष के सीता-चरित को भी सत्य माने तथा प्रजाओं के चित्त में ऋषि के राजा से मिले हुए होने का भी संदेह न हो कि राजा ने कुछ देकर अपना चरित सुन्दर बनवा लिया होगा।

पीछे जब पुरवासियों ने ही प्रशंसा की, तब श्रीरामजी ने सब राजाओं, ऋषियों एवं और यज्ञ-मंडल के लोगों को एकत्र कर इनका गाना प्रारंभ कराया कि जिससे सब लोग सीता-चरित सहित सब चरित सत्य जाने और फिर सबके सामने ब्रह्माजी की भी साक्षी हुई कि ये सब चरित अक्षरशः सत्य हैं, इस तरह महर्षिजी का सीता-निन्दा-शमन का अभीष्ट पूरा हुआ एवं श्रीमहारानीजी का अभिप्राय—स्वामी की कीर्त्ति जगद्विख्यात और चिरस्थायी हो, इसे गा-सुनकर भविष्य के लोग श्रीरामजी के वर्त्तमान का लाभ उठावें, भवपार हों—यह पूरा हुआ। (यह यज्ञ सम्बन्धी चरित वाल्मी० ७।९३-९६ के अनुसार है)।

अब निश्चय हुआ कि जैसे रावण-वध के लिये श्रीजानकीजी का लंका जाना और श्रीरामजी के विलाप आदि कार्य लीला की मर्यादा से ही हुए, नहीं तो रावण-वध तो संकल्प मात्र से ही हो सकता था। वैसे ही श्रीसीताजी की यह लीला भी दुःखद एवं हृदयद्रावक घटना से की गई कि महर्षिजी का हृदय इस ओर ढरे और चरित बने। अतः, श्रीमहारानीजी की यह यात्रा उनकी स्वेच्छा से और कल्याण मनोरथ युक्त हुई थी, इससे किसी का कुछ व्यतिक्रम नहीं है।

इस विषय में और भी हेतु हैं, क्योंकि भगवान् के चरित अनेकों आशयों से होते हैं; यथा—"हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाइ न सोई॥" (बा० दो० १२०); कुछ हेतु और कहे जाते हैं—(क) जैसे श्रीसीताजी की निष्ठा ऊपर कही गई, वैसे ही श्रीरामजी की भी प्रीति एवं निष्ठा श्रीसीताजी में है, इनका यश निर्मल और जगद्विख्यात करने के लिये ही आपने इन्हें दुर्वाद कहकर लंका में अग्नि-परीक्षा की लीला की है, यह उस प्रसंग में कहा भी गया; किन्तु वह परीक्षा ऐसे स्थल में हुई थी कि जहाँ पर देवता और वानर-भालू एवं कुछ राक्षसों के अतिरिक्त मनुष्य नहीं थे। इसलिये स्वामी ने इस लीला द्वारा सभा में सातों द्वीपों की उपस्थित जनता में श्रीसीताजी के निर्मल यश की स्थापना की और ब्रह्माजी से भी साक्षी दिलाई। (ख) गी० उ० २५ के अनुसार श्रीरामजी ने सोचा कि पिताजी ने हमारे वियोग में अपनी पूर्ण आयु का भोग नहीं किया; यथा—"जौं बिनु अवसर अथव दिनेसू।" (अ० दो० १०४); अतः, हम उनकी शेष आयु को उनकी ओर से पूरी कर दें। पर धर्म की सूक्ष्मता से एक अड़चन पड़ती है कि उनकी आयु सहित रहते हुए श्रीसीताजी को साथ रखना धर्म विरुद्ध है। क्योंकि जब हम श्रीदशरथजी की जगह पर तद्रूप होकर रहेंगे, तो श्रीसीताजी उनकी पुत्र-वधू होंगी, फिर साथ कैसे रहेंगी? इसलिये भी यह लीला की गई, इत्यादि।

दोहा—ज्ञान गिरा गोतीत अज, माया-मन-गुन पार।
सोइ सच्चिदानंद घन, कर नर-चरित उदार॥२५॥

अर्थ—जो ज्ञान, वाणी और इन्द्रियों से परे, अजन्मा, माया, मन और गुणों के पार हैं, वे ही (प्रभु) सत् चित् और आनन्द के समूह उदार-चरित करते हैं॥२५॥

विशेष—मनुष्य का ज्ञान बुद्धि से होता है, बुद्धि परिमित है। अतः, उसके द्वारा अपरिमित ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो सकता; यथा—"नास्त्यकृतः कृतेन" (मुण्ड० १।२।१२); अर्थात् (जीव की) बुद्धि द्वारा कृत (उपायों) से वह स्वयंभू ब्रह्म प्राप्त नहीं हो सकता। वह शब्द रूप नहीं है कि वाणी का विषय हो। पुनः रूप, स्पर्श आदि विषय रूप भी नहीं है कि इन्द्रियों का विषय हो। अजन्मा है, इससे जन्म शील उपमाओं से भी लखाया नहीं जा सकता। वह माया से परे है इसीसे अच्युत कहाता है। माया से पर होने से माया सम्बन्धी (अशुद्ध) मन का विषय नहीं है। गुणों से परे है, इसीसे वह निर्गुण कहाता है। 'सच्चिदानंद घन'—वह सदा एक रस रहनेवाला ज्ञानानंद स्वरूप है; यथा—"ज्ञान अखंड एक सीता बर।" (दो० ७७); 'सोइ···कर नर चरित उदार'—अर्थात् उसका चरित भी सच्चिदानंद स्वरूप है; यथा—"रामस्य नामरूपञ्च लीला-धाम परात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्द विग्रहम्॥" (वासिष्ठ सं०), 'उदार' अर्थात् इसे गाकर नीच-ऊँच सभी भव तरते हैं; यथा—"सुनहिं विमुक्त बिरत अरु बिषई। लहहिं भगति गति संपति नई॥" (दो० १४); 'नर चरित' से यहाँ विशेष कर संतान पैदा करना आदि से तात्पर्य है। पुनः उदार कह उपर्युक्त 'राम राज बैठे त्रैलोका।' से 'बिधु महि पूर मयूखन्हि ···' का समाधान भी है कि उदार शिरोमणि सभी को एक रस सुखी करते हुए चरित कर रहे हैं। काल, कर्म आदि की विषमता किसी को नहीं व्याप्त होने देते।

* श्रीरामजी के नाम, रूप, लीला और धाम चारों उदार कहे गये हैं, इनके उदाहरण पूर्व दिये जा चुके हैं। लं० दो० ३२ चौ० ४ देखिये।

दिनचर्या—प्रकरण

प्रातकाल सरजू *करि मज्जन। बैठहिं सभा संग द्विज-सज्जन॥१॥
बेद-पुरान बसिष्ठ बखानहिं। सुनहिं राम जद्यपि सब जानहिं॥२॥
अनुजन्ह संजुत भोजन करहीं। देखि सकल जननी सुख भरहीं॥३॥
भरत सत्रुहन दोनउ भाई। सहित पवनसुत उपवन जाई॥४॥
बूझहिं बैठि राम-गुन गाहा। कह हनुमान सुमति अवगाहा॥५॥

अर्थ—प्रातःकाल (ब्रह्ममुहूर्त में) सरयूजी में स्नान करके ब्राह्मणों और सज्जनों के साथ सभा में बैठते हैं॥१॥ वसिष्ठजी वेद-पुराण कहते हैं और श्रीरामजी सुनते हैं यद्यपि वे सब जानते हैं॥२॥ भाइयों के साथ भोजन करते हैं, सब माताएँ देखकर आनन्द से भर जाती हैं॥३॥ श्रीभरतजी और श्रीशत्रुघ्नजी दोनों भाई पवन-कुमार श्रीहनुमान्‌जी के साथ कृत्रिम वन (नजर बाग) में जाकर॥४॥ वहाँ बैठकर श्रीरामजी के गुणों की कथा पूछते हैं और श्रीहनुमान्‌जी अपनी सुन्दर बुद्धि से मंथन करके (अच्छी तरह समझकर) उसे कहते हैं॥५॥

विशेष—(१) 'प्रातकाल सरजू...'—प्रभु परम पावन हैं, फिर भी लोकशिक्षार्थ और तीर्थ को गौरव देने के लिये श्रीसरयूजी में बड़े भोर में स्नान करते हैं और विप्रों और संतों को साथ लेकर कथा सुनते हैं। 'संग द्विज सज्जन'—का सम्बन्ध 'करि मज्जन' और 'बैठहिं सभा' दोनों के साथ है। 'बेद पुरान बसिष्ठ बखानहिं'—वेदों की कठिनता पुराणों के इतिहासों द्वारा स्पष्ट करते हैं। 'जद्यपि सब जानहिं'—

जानी हुई बातों के सुनने में मन नहीं लगता, पर लोक-संग्रह के लिये रामजी मन लगाकर सुनते हैं; यथा—"वेद पुरान सुनहिं मन लाई। आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई ॥" (बा० दो० २०४), यह भी राजनीति है कि राजा लोग नीति और धर्म की कथा श्रवण करें।

पुराणों के विषय में कहा जाता है कि व्यासजी ने इन्हें द्वापर में बनाया है, पर इनका वर्णन मनुस्मृति और उपनिषदों में भी है, इससे ये अनादि हैं। अतः, त्रेता युग में वसिष्ठजी का कहना संगत है।

(२) 'अनुजन्ह संजुत भोजन करहीं।'—सभा से उठने पर भोजन करते हैं। भाइयों के साथ भोजन करना आपका बचपन से ही स्वभाव है; यथा—"अनुज सखा संग भोजन करहीं। मातु पिता आज्ञा अनुसरहीं॥" (बा० दो० २०४); 'देखि सकल जननी...'—माताओं को पुत्रों के भोजन करने में बड़ा सुख होता है, सब भाइयों को एक साथ भोजन करते देख वे बहुत सुख पाती हैं। ऐसे ही पुत्र के गुण देखकर पिता को हर्ष होता है; यथा—"आयसु माँगि करहिं पुरकाजा। देखि चरित हरषइ मन राजा॥" (बा० दो० २०४)।

श्रीरामजी का ब्राह्मणों और सज्जनों के साथ श्रीसरयू स्नान करना और उस शोभा का वर्णन गी० उ० ३, ४ में देखने योग्य है।

(३) 'भरत सत्रुहन दोनउ भाई। ..'—ऊपर सब भाइयों की एक साथ चर्या कही गई। अब केवल इन दो भाइयों की कहते हैं। भोजन के उपरान्त यह तीसरे प्रहर की चर्या है। वेद-पुराण के वक्ता वसिष्ठजी थे, श्रीरामचरित के वक्ता श्रीहनुमान्‌जी हैं, इन्होंने वन और रण के चरित देखे-सुने हैं, वही कहते हैं, ये दोनों भाई वन में साथ नहीं थे, इससे पूछते हैं। उपवन रमणीक एवं एकान्त स्थल है, इसलिये वहीं जाकर गूढ़ श्रीराम चरित सुनते हैं, जहाँ कोई विक्षेप न हो। यहाँ श्रीलक्ष्मणजी का नाम नहीं आया, क्योंकि वे भोजन के बाद प्रभु की ही सेवा में रहते हैं।

'सुमति अवगाहा'; यथा—"अस मानस-मानस चख चाही। भइ कवि बुद्धि बिमल अवगाही।" (बा० दो० ३८); अर्थात् सुन्दर मति से विचारकर कहने से कथा अच्छी होती है।

सुनत बिमल गुन अति सुख पावहिं। बहुरि बहुरि करि बिनय कहावहिं॥६॥
सबके गृह गृह होहिं पुराना। राम-चरित पावन बिधि नाना॥७॥
नर अरु नारि राम-गुन-गानहिं। करहिं दिवस-निसि जात न जानहिं॥८॥

दोहा—अवधपुरी बासीन्ह कर, सुख-संपदा समाज।
सहस सेष नहिं कहि सकहिं, जहँ नृप राम बिराज॥२६॥

अर्थ—श्रीरामजी के निर्मल गुणों को सुनकर अत्यन्त सुख पाते हैं और फिर-फिर प्रार्थना करके बार-बार कहलाते हैं॥६॥ सबके घर-घर पर पुराण और अनेक प्रकार के पवित्र श्रीराम चरित होते हैं॥७॥ स्त्री और पुरुष राम-गुण का गान करते हैं और (इस सुख में) दिन-रात का बीतना नहीं जानते॥८॥ जहाँ श्रीरामचन्द्रजी राजा होकर विराजमान हैं, उस अवधपुरी में रहनेवालों के सुख, संपत्ति और समाज हजारों शेष नहीं कह सकते॥२६॥

विशेष—(१) 'बिमल गुन'—श्रीरामजी के गुण छल और अधर्म से रहित हैं, उन्होंने छली राक्षसों के साथ भी छल एवं अधर्म से युद्ध नहीं किया। 'बहुरि-बहुरि करि ··' क्योंकि अत्यन्त श्रद्धा है, तृप्ति नहीं होती, इससे बराबर सुनना ही चाहते हैं। 'करि बिनय कहावहिं'—विनय से श्रोता की श्रद्धा जानी जाती है, तभी वक्ता को कहना चाहिये, अन्यथा श्रीराम-चरित का निरादर होता है। इसीसे श्रीराम-चरित अत्यन्त गोप्य कहा गया है। ब्रह्मलोक में ब्रह्माजी भी अपने पुत्र नारदजी से भी बार-बार पूछकर सुनते हैं; यथा—"नित-नव चरित देखि मुनि जाहीं। ब्रह्म लोक सब कथा कहाहीं॥ सुनि बिरंचि अतिसय सुख मानहिं। पुनि-पुनि तात करहु गुन गानहिं॥" (दो० ४१)।

(२) 'सनके गृह गृह···'—यहाँ 'वेद' न कहा, क्योंकि सब उसके अधिकारी नहीं होते। पूर्व—'वेद पुरान बसिष्ठ बखानहिं।' कहा गया, क्योंकि वहाँ द्विज-सज्जन समेत श्रीरामजी अधिकारी श्रोता थे। पंडित लोग पुराण कहते हैं और सब सुनते हैं, राम-गुण गान के अधिकारी स्त्री पुरुष सभी हैं, इससे सब सुनते हैं और गाते हैं। 'दिवस निसि जात न जानहिं' से पुरवासियों का सुख और प्रेम कहा गया। यथा—"प्रेम मगन कौसल्या, निसि दिन जात न जान।" (बा० दो० २००), "जात न जाने दिवस तिन्ह, गये मास षट बीत।" (दो० १५)।

(३) 'अवधपुरी बासीन्ह कर ···'—श्रीरामजी के राज्य में जगत्-भर का सुख अकथ्य है, यथा—"राम-राज कर सुख संपदा। बरनि न सकइ फनीस सारदा॥" (दो० २१); तब 'जहँ नृप राम बिराज' अर्थात् राजधानी के सुख आदि का क्या कहना? उसे तो 'सहस सेष नहिं कहि सकहिं' जगत्-भर के विषय में एक-एक शेष-शारदा कहे गये, राजधानी के विषय में सहस्र, यह सँभाल है।

अयोध्या नगर का वर्णन

नारदादि सनकादि मुनीसा। दरसन लागि कोसलाधीसा॥१॥
दिन प्रति सकल अजोध्या आवहिं। देखि नगर बिराग बिसरावहिं॥२॥
जातरूप-मनि-रचित अटारी। नाना रंग रुचिर गच ढारी॥३॥
पुर चहुँ पास कोट अति सुंदर। रचे कँगूरा रंग रंग बर॥४॥

अर्थ—नारद आदि और सनकादि मुनीश्वर लोग श्रीरामजी के दर्शनों के लिये प्रत्येक दिन सब अयोध्या आते हैं और नगर देखकर वैराग्य भुला देते हैं॥१-२॥ अटारियाँ स्वर्ण और मणि से रच कर बनी हैं। अनेक रंगों की सुंदर गचें सोने और मणि से ढली हुई हैं॥३॥ नगर के चारों ओर अत्यन्त सुन्दर कोट (घेरा) है, (जिसपर) रंग बिरंग के श्रेष्ठ कँगूरे रचकर बनाये गये हैं॥४॥

विशेष—(१) 'नारदादि सनकादि मुनीसा।···'—सनकादि से सनक, सनंदन, सनातन और सनत्कुमार चार भाई ही समझे जाते हैं, इससे नारद के साथ भी 'आदि' शब्द देकर वैसे बड़े-बड़े मुनियों को सूचित किया है। 'मुनीसा' के जोड़ में 'कोसलाधीसा' कहा गया है कि बड़े लोग बड़े के ही दर्शनों को आते हैं। या, नारदादि से मंत्रज्ञ और सनकादि से तत्त्वज्ञ मुनियों को कहा गया है।

(२) 'देखि नगर बिराग बिसरावहिं'—नगर की रचना अलौकिक है, यहाँ के गृहस्थ नाना दुर्लभ भोग करते हुए श्रीरामजी के पूर्ण अनुरागी हैं, यह नगर का प्रभाव है। वैराग्य वृत्तिवालों को

नगर देखना मना है, पर ये लोग इस नगर की रचना देखने के लिये वैराग्य भुला देते हैं, क्योंकि यह तो भगवान् का धाम है, अतएव सच्चिदानंद रूप है, ब्रह्म के दर्शनों के समान दर्शनीय है, ऊपर प्रमाण दिया गया। इससे इसके दर्शनों के लिये वैराग्द के उस नियम को भुला देते हैं। क्योंकि वैराग्य तो इन्द्रिय विषय-रूप प्राकृत पदार्थों से *किया जाता है।*

नगर रचना पर यह पद पढ़ने योग्य है—"देखत अवध को आनंद। हरपि बरपत सुमन दिन-दिन देवतनि को बृंद॥ नगर-रचना सिखन को बिधि सिखत बहु बिधिवंद। निपट लागत अगम ज्यों जल चरन्हि गमन सुछंद॥ मुदित पुर लोगनि सराहत निरखि सुखमाकंद। जिन्हके सुअलि चख पियत राम-मुखारविंद-मरंद॥ मध्य व्योम बिलंबि चलत दिनेस उडुगन' चंद। रामपुरी बिलोकि तुलसी मिटत सब दुख-द्वंद॥" (गी० उ० ११)।

(३) 'जात रूप मनि...'—मुनियों की दृष्टि से वर्णन हो रहा है, उन्हें दूर से पहले अटारी देख पड़ती है, फिर कोट, तब भूमि, उसी क्रम से लिखा गया है। सोने का काम करके उसमें मणियों के भाँति-भाँति से जड़ाव की रचना की गई है। इसलिये पहले सोना कहकर तब मणि कही गई है। 'नानारंग रुचिर...'—रंग-विरंग की मणियों के चूर्ण और काँच से गच्ची ढाली गई है, उसीको आगे—'महि बहु रंग रचित गच काँचा' कहा है।

(४) रचे कँगूरा...'—आगे इन्हीं की उत्प्रेक्षा करते हैं—

नवग्रह-निकर अनीक बनाई। जनु घेरी अमरावति आई॥५॥
महि बहु रंग रचित गच काँचा। जो बिलोकि मुनिवर मन नाँचा॥६॥
धवल धाम ऊपर नभ चुंबत। कलस मनहुँ रबि-ससि-दुति निंदत॥७॥
बहु मनि रचित झरोखा भ्राजहिं। गृह गृह प्रति मनि-दीप बिराजहिं॥८॥

अर्थ—मानों नवग्रहों ने बड़ी सेना बनाकर अमरावती को आ घेरा हो॥५॥ पृथिवी बहुत रंग के काँच की गच से सँवारकर बनाई हुई है, जिसे देखकर श्रेष्ठ मुनियों का मन नाचने लगता है॥६॥ उज्ज्वल धाम ऊपर आकाश को चूम रहे हैं; अर्थात् अत्यन्त ऊँचे हैं। (महलों पर के) कलश (अपनी द्युति से) सूर्य और चन्द्रमा की कान्ति की निन्दा करते हैं; अर्थात् उनसे अधिक कान्तिमान् हैं॥७॥ महलों में मणियों से रचे हुए बहुत-से झरोखे प्रकाशित हैं, प्रत्येक घरों में मणियों के दीपक शोभित हैं॥८॥

विशेष—(१) 'नवग्रह-निकर...'—यहाँ रंग-रंग के कँगूरों पर उत्प्रेक्षा है। कोट को अमरावती और कँगूरों को नवग्रह कहा है। नवग्रह भी अमर (देवता) हैं, अमरावती के ही देश विशेष में रहते हैं, वैसे कँगूरे भी कोट के ही ऊपर जहाँ तहाँ हैं। नवग्रह नव रंगों के होते हैं, वैसे कँगूरे भी कहे गये हैं। अभी श्रीअयोध्यापुरी की उपमा नहीं है, क्योंकि अमरावती इसकी उपमा के योग्य नहीं है। सैनिक वीर रंग-बिरंग के बाने धारण करते हैं; यथा—"अति बिचित्र बाहनी बिराजी। बीर बसंत सेन जनु साजी॥" (बं० दो० ७७); वैसे ही वीर रूप नवग्रह भी रंग-रंग के हैं। यहाँ आकर घेरना उसकी रक्षा के लिये है। कोट में जहाँ-तहाँ देवताओं के चित्र बने हैं, यही अमरों का उसमें निवास है।

(२) 'मुनिवर मन नाँचा'—भाव यह कि जहाँ पृथिवी पर विशेष रचना की आवश्यकता नहीं, वहाँ भी विचित्र रचना है, उसे देखकर मुनियों का मन उछल पड़ता है, हर्ष से नाच उठता है। मुनियों का मन नीरस होता है, जब वही नाच उठता है, तब औरों के मोहित होने को क्या कहना ?

(३) 'नभ चुंबत'—ये धाम इतने ऊँचे थे कि प्रयाग से (प्रायः १०० मील से) देख पड़ते थे, तभी तो पुष्पक पर प्रयाग से ही देखकर श्रीसीतारामजी ने श्रीअवधपुरी को प्रणाम किया है।

'रबिससि···'—आकाश में रवि-शशि एक-एक ही हैं, ये अनेक हैं और अधिक कान्तिवाले होते हुए शीतल भी हैं।

झरोखों मे लगी हुई मणियाँ सामान्य हैं और उनके समीप में रक्खे हुए मणि दीप विशेष रत्नों के हैं। (दीपक कहकर अब रात की शोभा कहते हैं) झरोखों में जटित मणियाँ वहीं जगमगा रही हैं और दीपों का प्रकाश बाहर निकल रहा है।

छंद—मनि-दीप राजहिं भवन भ्राजहिं देहरी विद्रुम रची।
मनि खंभ भीति विरंचि बिरची कनक मनि मरकत खची॥
सुंदर मनोहर मंदिरायत अजिर रुचिर फटिक रचे।
प्रति द्वार द्वार कपाट पुरट बनाइ बहु बज्रन्हि खचे॥

दोहा—चारु चित्रसाला गृह; गृह प्रति लिखे बनाइ।
राम-चरित जे निरख मुनि, ते मन लेहिं चोराइ॥२७॥

अर्थ—महलों में मणियों के दीपक सोह रहे हैं, महल (दीपों से) सोह रहे हैं और उनकी देहरियाँ मूँगों से रची हुई प्रकाशित हैं। मणियों के खंभे हैं, सोने की दीवारें नील मणियों से जड़ी हुई हैं (मानों) ब्रह्माजी ने इन्हें विशेष सँवारकर सुन्दर बनाया है॥ मंदिर सुन्दर मनोहर और विस्तृत हैं। आँगन सुन्दर स्फटिक मणियों के बने हुए हैं। प्रत्येक द्वार में बहुत-से एवं बहुत प्रकार के हीरों से अच्छी तरह जड़े हुए सोने के किवाड़े लगे हुए हैं॥ घर-घर सुन्दर चित्रशालाएँ हैं। जिनमें अच्छी तरह सँवार कर श्रीरामचरित लिखे हैं, जो मुनि देखते हैं, उनके मन को ये चरित्र-चित्र चुरा लेते हैं, अर्थात् चरित-चित्र लिखे हुए नहीं जान पड़ते; किन्तु साक्षात्-से लगते हैं, इससे उनका मन मुग्ध हो जाता है।

विशेष—'बिरंचि बिरची'—रंग-बिरंग के रत्नों से जटित दीवारें हैं, उनमें कहीं जोड़ आदि नहीं जान पड़ते, मानों ऐसी ही रचना संकल्प मात्र से ब्रह्माजी ने की है। ब्रह्माजी की रचना कहकर अलौकिक एवं अतिशय सौन्दर्य कहा है, वस्तुतः श्रीअयोध्या की रचना तो ब्रह्माजी के विचार से भी बाहर है। ऊपर चौ० २ में प्रमाण दिया गया है। अवतार काल में नित्य धाम की विभूति का ही पूर्णाविर्भाव होता है; यथा—"निज इच्छा प्रभु अवतरइ,···सगुन उपासक संग तहँ रहहिं···" (कि० दो० २६); यहाँ पर 'मुनिवर मन नाँचा' 'जे निरख मुनि' आदि कई बार आये हैं, क्योंकि यहाँ मुनियों की दृष्टि से वर्णन का उपक्रम हुआ है—"नारदादि ·" और आगे 'सो पुर बरनि कि जाइ' पर उपसंहार है।

सुमन वाटिका सबहिं लगाई। विविध भाँति करि जतन बनाई ॥१॥
लता ललित बहु जाति सुहाई। फूलहिं सदा बसंत की नाईं ॥२॥
गुंजत मधुकर मुखर मनोहर। मारुत त्रिविधि सदा बह सुंदर ॥३॥
नाना खग बालकन्हि जियाये। बोलत मधुर उड़ात सुहाये ॥४॥

अर्थ—सभी लोगों ने तरह-तरह के फूलों की वाटिकाएँ अनेकों प्रकार से यत्न करके बनाकर लगाई हैं ॥१॥ बहुत जाति की ललित सुहावनी वेलें सदा वसन्त की तरह फूला करती हैं ॥२॥ भौंरे मन हरण करनेवाले शब्द गुंजार रहे हैं, तीनों प्रकार की सुन्दर वायु सदा चला करती है ॥३॥ बालकों ने अनेक पक्षी पाले हैं जो मधुर शब्द बोलते हैं और उड़ते हुए सुन्दर लगते हैं ॥४॥

विशेष—'सुमन वाटिका···'—वाटिका सभी लगाये हुए हैं, क्योंकि सबके घरों में देवपूजन होता है। 'बिबिध भाँति···'—यत्न उनके बढ़ाने और रक्षा के उपाय—सींचना, तारी लगाना आदि। तथा एक पेड़ में और कई फूलों के रंग कर देने के भी बहुत यत्न हैं, वे सब आ गये। 'लता ललित बहु जाति···' वृक्षों के अनुरूप रंगवाली लताएँ उनपर चढ़ाई गई हैं, वे सदा ही वसन्त की तरह फूला करती हैं, यह भी उपर्युक्त यत्नों में से एक यत्न है।

(२) 'गुंजत मधुकर···'—वाटिका कहकर यहाँ उसके आश्रित को कहते हैं। मनोहर का मधुर अर्थ में तात्पर्य है, मधुरता में ही भौंरों की गुंजार की शोभा है; यथा—"मधुप मधुर गुंजत छवि लहहीं।"

'मारुत त्रिविध सदा बह'—अन्यत्र कभी-कभी त्रिविध वायु बहती है, पर यहाँ सदा बहती है। 'बसंत की नाईं'—'की' को ह्रस्व पढ़ना चाहिये। 'नाना खग बालकन्हि···'—यह बालकों का ही व्यसन है।

मोर हंस सारस पारावत। भवननि पर सोभा अति पावत ॥५॥
जहँ तहँ देखहिं निज परिछाहीं। बहु बिधि कूजहिं नृत्य कराहीं ॥६॥
सुक-सारिका पढ़ावहिं बालक। कहहु राम रघुपति जन-पालक ॥७॥
राज दुआर सकल बिधि चारू। बीथी चौहट रुचिर बजारू ॥८॥

अर्थ—मोर, हंस, सारस और कबूतर घरों के ऊपर अत्यन्त शोभा पाते हैं (बोली, नृत्य और उड़ान से शोभा पाते हैं) ॥५॥ पक्षिगण जहाँ-तहाँ (मणिमय गची एवं दीवारों में) अपना प्रतिबिंब देखकर (अपना सजातीय दूसरा पक्षी जानकर उससे) बहुत प्रकार बोलते और नाचते हैं ॥६॥ बालक लोग तोता-मैना को पढ़ाते हैं कि जीव मात्र के एवं अपने जनों के पालन करनेवाले रघुकुल के राजा का 'राम' नाम कहो (अथवा 'राम रघुपति जन पालक' ऐसा कहो) ॥७॥ राज द्वार सब प्रकार सुन्दर है, गलियाँ, चौराहे और बाजार सुन्दर हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'सोभा अति पावत' पहले 'उड़ात सुहाये' कहा गया था, अब उनमें कुछ के नाम कहते हैं कि मोर आदि भवनों पर बैठते हैं तो अत्यन्त शोभा पाते हैं, क्योंकि उड़ने में उतनी शोभा नहीं देख पड़ती। भवनों पर मणियों में प्रतिबिंब भी पड़ता है, तो शोभा बढ़ जाती है। 'सुक सारिका···'

वर्णात्मक वाणी इन्हीं दो पक्षियों की होती है। 'राम' मात्र से निर्गुण का भी संदेह रहता, इससे 'रघुपति' भी कहा, फिर उनके गुणों का सारांश भूत गुण 'जन पालकता' को कहा। इस तरह पक्षियों को भी रामायण पढ़ाते हैं। बालकों का स्वाभाविक प्रेम श्रीरामजी में है।

(२) 'राज दुआर ' '— अब नारदादि राज द्वार तक देखते हुए पहुँच गये। जब पुर की सुरसंपदा आदि को सहस्र शेष नहीं कह सकते तो यह तो राज-द्वार है, इसका क्या कहना है? यथा—"सोभा दसरथ भवन कै, को कवि बरनै पार।" (बा० दो० २९७)।

छंद—बाजार रुचिर न बनइ बरनत बस्तु बिनु गथ पाइये।
जहँ भूप रमानिवास तहँ की संपदा किमि गाइये॥
बैठे बजाज सराफ बनिक अनेक मनहुँ कुबेर ते।
सब सुखी सब सच्चरित सुंदर नारि नर सिसु जरठ जे॥

दोहा—उत्तर दिसि सरजू बह, निर्मल जल गंभीर।
बाँधे घाट मनोहर, स्वल्प पंक नहिं तीर॥२८॥

अर्थ—बाजार सुन्दर है, उसका वर्णन करते नहीं बनता, वस्तु बिना मूल्य मिलती है। जहाँ लक्ष्मीपति राजा हैं वहाँ की सम्पत्ति कैसे कही जा सकती है? अनेकों बजाज (कपड़ा बेचनेवाले), सराफ (सोना, चाँदी, मणि आदि के व्यापारी), वणिक (अन्न, किराना आदि के व्यापारी) बैठे हुए ऐसे जान पड़ते हैं मानों वे कुबेर (समस्त धन के अधिष्ठातृ देवता) ही हैं। स्त्री-पुरुष, बच्चे, बूढ़े जो भी हैं, वे सब सुखी हैं, सब सदाचारी हैं और सब सुन्दर हैं॥ नगर की उत्तर दिशा में श्रीसरयूजी बह रही हैं, उनका जल निर्मल और गंभीर (अथाह-गहरा) है। सुन्दर घाट बने हुए हैं, किनारे पर थोड़ा भी कीचड़ नहीं है॥२८॥

विशेष—(१) राज-द्वार के पास ही चौक है, इससे साथ कहा गया। बाजार बड़ा सुन्दर है, वहाँ सब चीजें मिल सकती हैं, पर बिना दाम के ही मिलती हैं। यह आजकल की दृष्टि से अद्भुत बात है। आजकल का अर्थ-शास्त्र स्वार्थ पर निर्भर है। इससे सिक्के (दाम) से ही वस्तुओं का मिलना होता है। यह तो राम-राज्य था, धर्म पर ही अवलंबित था, सभी अपने वर्णाश्रम धर्म पर अवलंबित थे। वहाँ साम्यवाद नहीं था और न कंगाल और धनियों का वैषम्य ही था। राजा के शासन और धर्म शास्त्र की दृष्टि से लोग चलते थे। धर्म-शास्त्र की आज्ञा है—"यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥" (गीता १८।४६): अर्थात् जिस परमात्मा के द्वारा जीवों की संसार में प्रवृत्ति हुई और जिससे सब जगत् व्याप्त है। अपने कर्म से उसे पूजकर मनुष्य सिद्धि पाता है। भाव यह है कि परमात्मा ने जीवों के पूर्व कर्मानुसार मनुष्यों को अमुक-अमुक जातियों में पैदा किया है, साथ ही शास्त्रों द्वारा उन जातियों का विहित कर्म उनके लिये कर्त्तव्य कहा है, यह उसकी आज्ञा है। पुनः उन कर्मों के द्वारा जिन-जिनकी पूजा होती है, उन सबमें भी वही व्याप्त है। अतः, वह पूजा उसीकी होती है। जीव अपने-अपने कर्मों से उसे पूजकर सिद्धि पाते हैं। सिद्धि को वहीं पर आगे 'नैष्कर्म्य सिद्धि' भी कहा है। जिसका अर्थ है—चित्त में पूर्ण संतोष आ जाना और संसार के किसी कर्म की ओर प्रवृत्ति न रह जाना।

यही भगवान् का जीवों को जगत् के ऋणों से मुक्त करना है। फिर आगे—"सिद्धिं प्राप्तो···ब्रह्म भूयाय कल्पते।" तक ज्ञान की परानिष्ठा कहकर—"ब्रह्मभूता प्रसन्नात्मा···" इस श्लोक में परा भक्ति कही गई है और फिर—"भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।···" इसमें भक्ति से ही सम्यक् प्रकार से अपनी प्राप्ति भगवान् ने कही है।

इसका मूलमंत्र भगवान् ने पहले ही कह दिया है—"स्वे-स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।" (गीता १८।४५); अर्थात् अपने-अपने कर्म पर आरूढ़ लोग सम्यक् सिद्धि को पाते हैं।

बस, इसीके लिये राजा का शासन था और भव-सागर तरने का यह राज-मार्ग प्रजा-मात्र को अभीष्ट था। इस नियम के विरुद्ध चलने से शम्बूक शूद्र को श्रीरामजी ने कड़ा दंड दिया था, क्योंकि वह शूद्र होते हुए ब्राह्मण के कर्म पर आरूढ़ था, जो वैदिक कानून के विरुद्ध था, इसीसे कानून भंग का कड़ा दंड दिया गया कि जिससे फिर कोई वैसा करने का साहस न करे। नहीं तो कर्त्तव्य-परायणता नष्ट हो जायगी। यही श्रीरामजी का 'श्रुति सेतु रक्षकत्व' है।

अब मैं अपने प्रस्तुत प्रसंग के—'वस्तु बिनु गथ पाइये' पर आता हूँ। उक्त नियम से उस समय प्रजा में पाँचों अँगुलियों का-सा तारतम्य था। ब्राह्मण तपोधन होते थे, क्षत्रिय रक्षा करते थे, शूद्र सेवा करते थे और वैश्य सबके भरण-पोषण का प्रबन्ध करते थे। वैश्य लोग बिना दाम वस्तु देते थे और साथ ही बिना दाम ही शिक्षा, रक्षा और परिचर्या पाते थे। वैश्य भी बिना दाम के किसानों से वस्तु पाते थे, जोलाहों से कपड़ा इत्यादि सब बिना दाम के ही पाते थे।

इस तरह राम-राज्य धर्म-शास्त्र के परमार्थवाद पर अवलंबित था। ऐसी व्यवस्था में कोई भी दरिद्र और कर्त्तव्य हीन नहीं रहता था, इसी पर तो कहा है कि 'रमा निवास' भूप की सम्पदा अवर्ण्य थी। उक्त नियम के कारण ही कुवेर के समान भी धनवान् होते हुए महाजन लोग दूकान का काम करते थे।

(२) 'सब सुखी···'—सब सुखी थे, पर प्रमाद नहीं हो पाता था, क्योंकि 'सचरित' भी होते थे। ऐसे राम-राज्य में कोई भी दोष कहीं भी किसी प्रजा में नहीं था।

दूरि फराक रुचिर सो घाटा। जहँ जल पियहिं बाजिगज ठाटा॥१॥
पनिघट परम मनोहर नाना। तहाँ न पुरुष करहिं अस्नाना॥२॥
राजघाट सब बिधि सुंदर बर। मज्जहिं तहाँ बरन चारिउ नर॥३॥
तीर तीर देवन्ह के मंदिर। चहुँ दिसि तिन्हके उपवन सुंदर॥४॥

अर्थ—दूर, सबसे अलग और विस्तृत सुन्दर वह घाट है। जहाँ घोड़े और हाथियों के समूह जल पीते हैं॥१॥ पानी भरनेवाले जनाने घाट अनेकों हैं, वे परम सुन्दर हैं, वहाँ पुरुष स्नान नहीं करते हैं॥२॥ राजघाट सब प्रकार सुन्दर और श्रेष्ठ है जहाँ चारों वर्णों के लोग स्नान करते हैं॥३॥ श्रीसरयूजी के तीर-तीर देवताओं के मंदिर हैं उनके चारों ओर सुन्दर उपवन हैं॥४॥

विशेष—'दूरि फराक'—यह शहर से बाहर बहुत विस्तृत है कि बहुत-से हाथी-घोड़े आदि आ जा सकें। 'पनिघट···नाना'—प्रत्येक महल्ले के अनेक पनिघट हैं। पुरुषों के स्नानार्थ पृथक् घाट है, उसे राजघाट नाम से आगे कहा गया है। 'तीर-तीर देवन्ह···'—'देवन्ह' से यहाँ पंचदेव एवं और भी देवताओं

को कहा है। गृहस्थों में स्मार्त धर्म प्रधान रहता है, वैसे अयोध्या वासियों में भी है, पर ये सबको पूजकर राम प्रेम ही माँगते हैं; यथा—"करि मज्जन पूजहिं नर नारी। गनप गौरि त्रिपुरारि तमारी॥ रमा-रमन-पद बंदि बहोरी। बिनवहिं अंजुलि अंचल जोरी॥ राजा राम जानकी रानी। आनंद अवधि अवध रजधानी॥" (अ० दो० १७२)। मंदिरों के पास ही उपवन हैं, जिनमें पूजा के लिये सुन्दर फूल-फल मिल सकें। तात्पर्य यह कि सब श्रीसरयूजी के घाट पर स्नान कर देव-पूजन करके और कार्य में लगें।

कहुँ कहुँ सरिता-तीर उदासी। बसहिं ज्ञानरत मुनि - संन्यासी॥५॥
तीर तीर तुलसिका सुहाई। बृंद - बृंद बहु मुनिन्ह लगाई॥६॥
पुर-सोभा कछु बरनि न जाई। बाहेर नगर परम रुचिराई॥७॥
देखत पुरी अखिल अघ भागा। बन उपबन बापिका तड़ागा॥८॥

अर्थ—कहीं-कहीं नदी के किनारे उदासी, मुनि और संन्यासी निवास करते हैं, जो ज्ञान में रत (लगे रहते) हैं॥५॥ सुन्दर तुलसी वृक्ष के झुंड-के-झुंड बहुत-से मुनियों ने श्रीसरयूजी के तीर-तीर पर लगाये हैं॥६॥ (जहाँ) नगर के बाहर परम सुन्दरता है (वहाँ) पुर की शोभा तो कुछ कहते ही नहीं बनती॥७॥ श्रीअयोध्यापुरी के दर्शनों से निर्दोष (सम्पूर्ण) पाप भाग जाते हैं, वन, उपवन, बावली और तालाब (शोभा दे रहे हैं)॥८॥

विशेष—(१) 'कहुँ कहुँ ···'—उदासी आदि ये एकान्तवासी होते हैं, इसीसे नगर के पास कहीं-कहीं हैं, यहाँ तो अधिक रामोपासक ही बसते हैं। 'ज्ञान रत'—यहाँ ज्ञानी कहे गये। "तीर तीर देवन्ह के मंदिर।···" के प्रसंग में उपासकों का वर्णन है, क्योंकि देवाराधन उपासना है और "मज्जहिं तहाँ बरन चारिउ नर।" यह कर्मकाड की व्यवस्था है। इस तरह यहाँ वैदिक कांडत्रय के स्वरूप दिखाये गये हैं।

(२) 'तीर तीर तुलसिका सुहाई।···'—'बहु मुनिन' से यहाँ उपासक मुनि कहे गये हैं, ये श्रीअयोध्यापुरी के सम्बन्ध से बहुत हैं, इनके भगवत्-पूजन के पदार्थों में तुलसी मुख्य है, इससे उसे लगाये हुए हैं।

'पुर सोभा कछु ···'—यहाँ तक भीतर को शोभा कही गई। आगे बाहर की शोभा कहते हैं।

'देखत पुरी अखिल ···'—ऊपर सुन्दरता कथन में नगर कहा और पाप नाशक कहने में पुरी (तीर्थ वाचक) शब्द कहा है। क्योंकि नगर की सुन्दरता और तीर्थ की पावनता सराही जाती है: यथा—"पहुँचे दूत राम पुर पावन। हरषे नगर बिलोकि सुहावन॥" (बा० दो० २८६); तथा—"कपिन्ह देखावत नगर मनोहर॥···पावनि पुरी रुचिर यह देसा॥" (दो० ३)। 'देखत' भाव यह कि बाहर से दर्शन होते ही पाप भाग जाते हैं और भीतर प्रवेश करने पर क्रमश. कल्याण गुण आने लगते हैं।

छंद—बापी तड़ाग अनूप कूप मनोहरायत सोहहीं।
सोपान सुंदर नीर निर्मल देखि सुर-मुनि मोहहीं।
बहु रंग कंज अनेक खग कूजहिं मधुप गुंजारहीं।
आराम रम्य पिकादि खग रव जनु पथिक हंकारहीं॥

दोहा—रमानाथ जहँ राजा, सो पुर बरनि कि जाइ ।
अनिमादिक सुख संपदा, रहीं अवध सब छाइ ॥२९॥

अर्थ—बावलियाँ, तालाब और कुएँ सब जल भरे एवं उपमा रहित, मनोहर और चौड़े हैं, शोभा दे रहे हैं। सीढ़ियाँ सुंदर हैं, सबमें जल निर्मल है, देखकर देवता और मुनि मोह जाते हैं ॥ (तालाबों में) बहुत रंग के अनेकों कमल (खिले) हैं, अनेक पक्षी अपनी-अपनी बोली बोल रहे हैं और भौंरे गुंजार कर रहे हैं। बाग रमणीक हैं, उनमें कोयल आदि पक्षी शब्द करते हैं, मानों वे बोल कर राह चलनेवालों को बुलाते हैं (भाव यह कि मधुर शब्द सुनने के लिये पथिक लौटकर उधर आ जाते हैं) ॥ रमा के स्वामी जहाँ राजा हैं, वह नगर क्या वर्णन किया जा सकता है ? अर्थात् नहीं। अणिमा आदि अष्ट सिद्धियाँ, सुख और संपत्ति (नवो निधियाँ) सब श्रीअवध में छा रही हैं (कि रमानाथ राजा हैं, जिनके आश्रित ही हमारी सत्ता है, सो हम कहाँ जायँ) ॥२९॥

विशेष—(१) 'अनूप' जलप्राय देश एवं अधिक जल स्थल को भी कहते हैं; यथा—"देखि मनोहर सैल अनूपा।" (कि० दो० १२); उस पर्वत का नाम ही प्रवर्षण था। 'सुर-मुनि'—सुर प्रवृत्ति-वाले स्वर्गवासी हैं और मुनि निवृत्तिवाले हैं, दोनों ही मोह जाते हैं, क्योंकि इसमें सुन्दरता और पावनता दोनों हैं और अलौकिकता तो है ही।

(२) 'बहु रंग कंज···'—इसमें 'खग' से जल पक्षी कहे गये हैं, क्योंकि इनका कमल के साथ वर्णन है और 'आराम रम्य' के साथ 'पिकादि खग' बाग आदि स्थल के पक्षी हैं।

(३) 'तड़ाग'—सूर्यकुंड, विद्याकुंड, हनुमान्कुंड, वसिष्ठकुंड, सीताकुंड आदि। 'कूप'—सीता-कूप, सरयूकूप आदि।

(४) 'अनिमादि'—बा० दो० २१ चौ० ४ देखिये। नव निधियाँ—पद्म, महापद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकुंद, कुंद, नील और वर्च्च।

'जात रूप मनि रचित अँटारी।'— से यहाँ तक ३ दोहों में पुर-वर्णन हुआ।

पुरजनों का राम-गुण-गान

जहँ तहँ नर रघुपति गुन गावहिं। बैठि परस्पर इहइ सिखावहिं ॥१॥
भजहु प्रनत प्रतिपालक रामहि। सोभा-सील-रूप-गुन धामहि ॥२॥
जलज-बिलोचन श्यामल गातहि। पलक नयन इव सेवक त्रातहि ॥३॥
धृत सर रुचिर चाप तूनीरहि। संत-कंज-बन-रवि रनधीरहि ॥४॥

अर्थ—मनुष्य जहाँ-तहाँ श्रीरामजी के गुण गाते हैं, बैठकर एक दूसरे को यही सिखाते हैं ॥१॥ कि शरणागत को पालन करनेवाले श्रीरामजी को भजो। शोभा, शील, रूप और गुणों के धाम श्रीरामजी को भजो ॥२॥ कमल-नयन, श्यामल शरीर, पलक नेत्र की तरह सेवक की रक्षा करनेवाले श्रीरामजी

को भजो ।।३।। सुन्दर धनुष, वाण और तर्कश धारण करनेवाले, संत रूपी कमल वन के सूर्य रूप, रण धीर श्रीरामजी को भजो ।।४।।

विशेष—(१) 'बैठि परस्पर ···'—श्रीरामजी में अतिशय प्रेम होने के कारण परस्पर ऐसी शिक्षा देते हैं। शिक्षा रूप में ही गुणगान करते हैं।

(२) 'भजहु प्रनत ···'—श्रीरामजी में शरण्य गुण प्रधान हैं, इसी से इसे पहले कहा; यथा—"सकृत प्रनाम किये अपनाये।" (अ॰ दो॰ ११८), यही सुनकर बालक लोग भी शुक-सारिकाओं को पढ़ाते हैं, यथा—"सुक सारिका पढ़ावहिं बालक। कहहु राम रघुपति जन पालक ॥" (दो॰ २७), 'सोभा सील रूप गुन धामहि'—उपर्युक्त 'भजहु' क्रिया आगे के सब पदों के साथ है। शोभा; यथा—"राम सीय सोभा अवधि" (बा॰ दो॰ ३०६), सील—"सीलसिंधु सुनि गुरु आगवनू।" (अ॰ दो॰ २४२), रूप—"रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा।" (बा॰ दो॰ ११८), गुन—"गुन सागर नागर बर बीरा।" (बा॰ दो॰ २४०), शोभाधाम श्रीरामजी के ध्यान करने से और सब फीके लगेंगे, यथा—"देव देखि तव बालक दोऊ। अब न आँखि तर आवत कोऊ।" (बा॰ दो॰ ११२), शील गुण से सेवकों के दोष नहीं देखते और भक्तों के थोड़े से भजन से उनके हाथ बिक जाते हैं। रूपवान् हैं, क्योंकि नित्य किशोरावस्था में ही रहते हैं, अंग-अंग की गढ़नि सुडौल है। गुणधाम हैं, उनके स्मरण से अनुराग बढ़ेगा, यथा—"समुझि समुझि गुन ग्राम राम के उर अनुराग बढ़ाउ ॥" (वि॰ १००)।

(३) 'जलज बिलोचन स्यामल गातहि।'—इन विशेषणों से सेवकों का रक्षकत्व प्रकट करते हैं; यथा—"राजिव नयन धरे धनु सायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक ॥" (बा॰ दो॰ १७)। "स्यामल गात प्रनत भय मोचन।" (सु॰ दो॰ ४४)। 'पलक नयन इव सेवक त्रातहि', यथा—"जोगवहिं प्रभु सिय लखनहि कैसे। पलक बिलोचन गोलक जैसे ॥" (अ॰ दो॰ १४१), इसके साथ ही 'धृत सर ···' कहा है, भाव यह कि भक्त-रक्षार्थ आयुध सहित सावधान रहते हैं। 'रुचिर' का भाव यह कि ये आयुध भी आपके शृंगाराग हैं। 'संत कंज बन रबि', यथा—"उदित उदय गिरि मंच पर, रघुपति बाल पतंग। बिकसे संत सरोज सब, हरषे लोचन भृंग ॥" (बा॰ दो॰ २५४)। 'रन धीरहि'—आश्रितों की रक्षा के लिये मोहादि के निवारण में धीरता सहित सावधान रहते हैं। असुरों को मारकर संतों को प्रफुल्लित करते हैं।

> काल कराल ब्याल खगराजहि। नमत राम अकाम ममता- जहि ॥५॥
> लोभ-मोह मृग-जूथ किरातहि। मनसिज-करि-हरि जन सुखदातहि ॥६॥
> संसय सोक निबिड़ तम भानुहि। दनुज गहन घन दहन कृसानुहि ॥७॥
> जनकसुता समेत रघुबीरहि। कस न भजहु भंजन भव-भीरहि ॥८॥

शब्दार्थ—जहि (जहन)=नाश करना, त्याग करना। निबिड़=सघन।

अर्थ—काल रूपी कराल सर्प के (भक्षण करने के) लिये श्रीराम रूपी गरुड़ को भजो। निष्काम होकर भजन करते ही ममता के नाश करनेवाले श्रीरामजी को भजो ॥५॥ लोभ, मोह रूपी मृग समूह के (नाश के) लिये श्रीराम रूपी किरात को भजो। कामदेव रूपी हाथी के लिये सिंह रूप जन को सुख देनेवाले श्रीरामजी को भजो ॥६॥ संशय और शोक रूपी सघन अंधकार के लिये श्रीरामरूप सूर्य को भजो। राक्षस रूपी सघन वन को जलानेवाले श्रीराम रूपी अग्नि को भजो ॥७॥ भव-भय के नाश करनेवाले श्रीजनकसुता के साथ श्रीरघुवीर को क्यों नहीं भजते ? ॥८॥

विशेष—(१) 'लोभ-मोह' को मृग कहा और 'मनसिज' को हाथी कहकर उसे सबों से भारी जनाया। संशय-शोक हृदय के और दनुज बाहर के विकार हैं। 'काल कराल व्याल', यथा—"जाके डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई॥" (सु० दो० २१), "काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं।" (दो० २१)। 'नमत''ममता जहि'—विभीषणजी की ममता शरण होते ही चली गई; यथा—"उर कछु प्रथम वासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥" (सु० दो० ४८), ऐसे ही श्रीसुग्रीवजी ने भी कहा है—"सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परि हरि करिहउँ सेवकाई॥" (कि० दो० ७), 'मनसिज करि हरि' नारदजी की काम से रक्षा की। श्रीभरतजी के संशय और शोक नाश किये, इत्यादि।

(२) 'जनकसुता समेत ''—श्रीजानकीजी निर्मल मति देकर जीवों में रक्षा पाने की योग्यता देती हैं, तब श्रीरामजी उसकी भव-भीर से रक्षा करते हैं, यथा—"जनकसुता जग जननि जानकी। ''जासु कृपा निर्मल मति पावउँ॥ पुनि मन बचन रघुनायक। भगत विपति भंजन सुखदायक॥" (बा० दो० १७) 'समेत' कहकर दोनों का नित्य संयोग सूचित किया। 'कस न भजहु'—यह उत्साह बढ़ाते हैं।

बहु बासना मसक हिम-रासिहि। सदा एकरस अज अविनासिहि॥९॥

मुनिरंजन भंजन महि-भारहि। तुलसिदास के प्रभुहि उदारहि॥१०॥

दोहा—येहि बिधि नगर-नारि-नर, करहिं राम-गुनगान।

सानुकूल सब पर रहहिं, संतत कृपानिधान॥३०॥

अर्थ—बहुत सी वासनाओं रूपी मच्छड़ों के लिये श्रीराम रूपी बर्फ-समूह को, सदा एक रस अज अविनाशी को, मुनियों को आनन्दित करनेवाले और पृथिवी के भार हरनेवाले, तुलसीदास के उदार प्रभु को भजो॥९-१०॥ इस प्रकार नगर के स्त्री-पुरुष श्रीरामजी के गुण गाते हैं और वे दयासागर सबपर सदा अनुकूलता सहित (प्रसन्न) रहते हैं॥३०॥

विशेष—(१) 'बहु बासना मसक हिम-रासिहि', यथा—"उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥" (सु० दो० ४८), 'सदा एकरस '—और स्वामी थोड़े ही में शीतल और थोड़े ही में गर्म होते हैं। पर ये सदा एक रस रहते हैं। पुनः अज अविनाशी होते हुए तीनों काल में एक रस रहते हैं, यथा—"जो तिहुँ काल एक रस अहई।" (बा० दो० ३४०), "आदि अंत मध्य राम साहिबी तिहारी।" (वि० ७८), 'मुनि रंजन', यथा—"सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि, जाइ जाइ सुख दीन्ह॥" (आ० दो० ६); 'प्रभुहि उदारहि'—सब कुछ देने में समर्थ हैं, यथा—"जन कहँ कछु अदेय नहिं मोरे।" (आ० दो० ४१), तुलसीदास को भी अपना लिया यह भी उदारता है। पुरवासियों के मुख से अपना भविष्य नाता पुष्ट करने में भाविक अलंकार है।

(२) 'येहि बिधि नगर '—उपक्रम में—'नर रघुपति गुन गावहिं' कहा था, पुनः गुण-गान की विधि एक दोहे में कहते हुए यहाँ 'करहिं राम-गुन-गान' पर उपसंहार किया। 'सब पर'—जो गुण-गान नहीं भी करते उनपर भी अनुकूल ही रहते हैं, जैसे कि "सिय निंदक अघ ओघ नसाये। " (बा० दो० १५), यह अनुकूलता की सीमा है। 'कृपानिधान'—अपनी कृपा से ही भजन करवाकर स्वयं प्रसन्न होते हैं, यथा—"अति हरि कृपा जाहि पर होई। पाउँ देइ येहि मारग सोई॥" (दो० १२८)।

श्रीराम-प्रताप-सूर्य

जब ते राम - प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा ॥१॥
पूरि प्रकास रहेउ तिहुँ लोका। बहुतेन्ह सुख बहुतन मन सोका ॥२॥
जिन्हहिं सोक ते कहउँ बखानी। प्रथम अविद्या निसा नसानी ॥३॥

अर्थ—हे गरुड़! जब से राम प्रताप रूपी अत्यन्त प्रचंड सूर्य उदय हुआ ॥१॥ तब से तीनों लोक प्रकाश पूर्ण हो गये, उससे बहुतों के मन में शोक हुआ और बहुतों को सुख हुआ ॥२॥ जिन्हें शोक हुआ उन्हें बखान कर कहता हूँ। पहले तो अविद्या रूपी रात का नाश हुआ; अर्थात् सबके अज्ञान का नाश हो गया ॥३॥

विशेष—(१) यहाँ से श्रीरामजी के प्रताप का वर्णन सूर्य के रूपक से करते हैं—

(२) *'अति प्रबल दिनेसा'*—सूर्य प्रबल है और प्रताप अति प्रबल है। सूर्य बाहर का तम नाश करता है, यह प्रताप भीतर का अज्ञान तम नाश करता है।

(३) *'पूरि प्रकास रहेउ'*—सूर्य का प्रकाश अस्त भी होता है, पर यह प्रताप सदा एक रस प्रकाशित रहता है। सूर्य का प्रकाश एक ही काल में सर्वत्र नहीं रहता, पर प्रताप का प्रकाश एक ही काल में तीनों लोकों में फैला हुआ है। सूर्य के प्रकाश से बहुतों को सुख और बहुतों को शोक होता है, वैसे ही श्रीराम-प्रताप से भी होता है, वही कहते हैं—

(४) *'जिन्हहिं सोक ते कहहुँ बखानी'*—उत्तम बातों को पीछे कहना चाहिये, जिससे परिणाम में हर्ष रहे। इसलिये शोकवालों को पहले कहते हैं। तम कहकर प्रकाश कहने की रीति है, क्योंकि तम निवृत्ति के लिये प्रकाश की प्रवृत्ति होती है और उसीके नाश करने में उसके प्रभाव का ज्ञान होता है। विरोधी स्वरूप का ज्ञान पहले अर्थ पंचक में भी कहा जाता है। यहाँ से अविद्या आदि १२ को विरोधी वर्ग में कहते हैं। अविद्या माया वही है जिसे आ० दो० १४ में कहा गया है।

अघ - उलूक जहँ तहाँ लुकाने। काम क्रोध कैरव सकुचाने ॥४॥
बिबिध कर्म गुन काल सुभाऊ। ये चकोर सुख लहहिं न काऊ ॥५॥
मत्सर मान मोह मद चोरा। इन्हकर हुनर न कवनिहुँ ओरा ॥६॥

अर्थ—(अविद्या नाश होने से) पाप-रूपी उल्लू जहाँ-तहाँ छिप गये (अर्थात् लोगों में पाप की प्रवृत्ति नहीं रह गई) और काम, क्रोध रूपी कुईं पुष्प सिकुड़ गये (अर्थात् काम-क्रोध की प्रवृत्ति में लोगों को संकोच होता था) ॥४॥ अनेक कर्म, गुण, काल और स्वभाव, ये सब चकोर हैं जो कभी सुख नहीं पाते (क्योंकि अविद्या रात अब नहीं है) ॥५॥ मत्सर, मान, मोह और मद रूपी चोरों का हुनर (गुण) किसी भी दिशा में नहीं चल पाता (ये दोष किसी में प्रवेश नहीं कर पाते; क्योंकि सबके हृदय में राम प्रताप है) ॥६॥

विशेष—(१) पहले अविद्या का नाश कहकर तब उसके परिवार का नाश कहते हैं, उल्लू रात

में सुख पाते हैं, वैसे पाप भी अविद्या में ही होते हैं। अब राम-प्रताप रूप सूर्य के सम्मुख दृष्टि भी नहीं कर सकते। काम-क्रोध की प्रफुल्लता गई। विविध कर्म—कायिक, वाचिक और मानसिक एवं राजस, तामस आदि भेदों से नाना प्रकार के कर्म, और गुण काल, स्वभाव आदि जीवों के दुःख दाता हैं; यथा—"काल कर्म गुन सुभाव सब के सीस तपत।" (वि० १३०); चकोरों का सुख चन्द्रमा के सम्बन्ध से रहता है। पर यहाँ मन रूपी चन्द्रमा राम-प्रताप रूपी सूर्य के समक्ष में मंद पड़ गया है, प्राकृत चेष्टा रूपी किरणें नहीं फैलतीं। मन की स्वतंत्रता मिट गई है। सबका मन अधीन है।

(२) 'मत्सर मान मोह मद चोरा।...'—ये सत्यता से छिपकर प्रवृत्त होते हैं, इसलिये चोर कहे गये हैं। चोरी भी भारी कला है, बड़ा हुनर है। परन्तु राम-प्रताप सूर्य के उदय में इनकी कला काम नहीं देती; यथा—"काम कला कछु मुनिहि न व्यापी।" (बा० दो० १२५)। 'कवनिहुँ ओरा'—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, इनमें से किसीके द्वारा इनका प्रवेश नहीं होता।

धरम तड़ाग ज्ञान विज्ञाना। ये पंकज विकसे विधि नाना ॥७॥
सुख संतोष विराग विवेका। बिगत सोक ये कोक अनेका ॥८॥

दोहा—यह प्रताप-रवि जाके, उर जब करइ प्रकास।
पछिले बाढ़हिं प्रथम जे, कहे ते पावहिं नास ॥३१॥

अर्थ—धर्म रूपी तालाब में ज्ञान और विज्ञान रूपी अनेक प्रकार के कमल खिल उठे हैं ॥७॥ सुख, संतोष, वैराग्य और विवेक रूपी अनेक चक्रवाक शोक-रहित हो गये ॥८॥ यह राम-प्रताप रूपी सूर्य जिसके हृदय में जब प्रकाश करता है, तब (धर्म, ज्ञान आदि) जिन्हें पीछे कहा है, वे बढ़ते हैं और (अविद्या आदि) जिन्हें प्रथम कहा है, वे नाश को प्राप्त होते हैं ॥३१॥

विशेष—(१) 'धरम तड़ाग···'—तालाब में कमल उपजते हैं, वैसे ही धर्म करने से ज्ञान-विज्ञान आदि होते हैं। कमल चार प्रकार के होते हैं, वैसे ज्ञान आदि के भी कई भेद हैं। सुख, संतोष आदि अविद्या रात के नाश से शोक रहित हो गये हैं।

(२) 'यह प्रताप-रवि···'—'जाके' और 'जब' का भाव यह कि कोई भी हो और कोई भी समय हो। प्रताप रवि के लिये कोई नियम नहीं है। प्राणी मात्र इसका अधिकारी है और सभी समयों में इसकी प्रवृत्ति है।

यहाँ प्रताप के ध्यान का माहात्म्य कहा गया, क्योंकि राज्य-लीला का पूर्व चरित समाप्त हो गया। आगे सत्संग आदि के रूप में राज्य-लीला का उत्तर चरित कहते हैं। अभी तक भुशुंडि-संवाद प्रधान था, अब आगे शिव-पार्वती-संवाद प्रधान है।

सनकादिक-समागम

भ्रातन्ह-सहित राम एक बारा। संग परम प्रिय पवन-कुमारा ॥१॥
सुंदर उपवन देखन गये। सब तरु कुसुमित पल्लव नये ॥२॥

विशेष—(१) 'रूप धरे जनु ···'—चारों वेदों के अभिप्राय इन्हें सब ज्ञात हैं, इससे वेद रूप कहे गये, यथा—"जनु तनु धरे सकल श्रुति छंदा।" (बा॰ दो॰ १११), इससे इनका पांडित्य और ज्ञान कहा गया।

'समदरसी मुनि ···'—सब प्राणि-मात्र में आत्म तत्त्व को समान देखते हैं; यथा—"आत्मौपम्येन सर्वत्र सम पश्यति योऽर्जुन। सु खं वा यदि वा दुखं स योगी परमो मत ॥" (गीता ६।३२), "विद्या विनय-सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च. पण्डिता समदर्शिन ॥" (गीता ५।१८); 'बिगत बिभेदा'—जीव मात्र भगवान् के ही शरीर हैं और मैं भी, यह समझ कर—एक शरीर मे स्थित हस्तपादादि में जैसे वैमत्य नहीं होता—वैसे इनका प्राणि-मात्र से भेद-भाव नहीं होता।

(२) 'आसा बसन ···'—देह सुख मे इन्द्रियों का सपर्क नहीं है, दिगम्बर हैं, पर यह बडा भारी व्यसन पड गया है कि जहाँ राम चरित हो, वहीं सुनते हैं, चाहे वक्ता कोई एव कैसा भी हो। यह व्यसन उत्तम है, यथा—"राम चरित जे सुनत अघाहीं। रस विशेष जाना तिन्ह नाहीं ॥" (दो॰ ५२); चरित-श्रवण भक्ति है, इससे ब्रह्मानंद एक रस निर्बाध बना रहता है, अन्यथा विघ्न होने का भय है, जैसे कपिल देव को सगर पुत्रों पर और लोमश को भुशुंडी पर क्रोध हो आया।

तहाँ रहे सनकादि भवानी। जहँ घटसंभव मुनिवर ज्ञानी ॥७॥
राम-कथा मुनिवर बहु बरनी। ज्ञान-जोनि पावक जिमि अरनी ॥८॥

दोहा—देखि राम मुनि आवत, हरषि दंडवत कीन्ह।
स्वागत पूँछि पीतपट, प्रभु बैठनह कहँ दीन्ह ॥३२॥

अर्थ—हे भवानी! सनकादिक मुनि वहाँ थे जहाँ ज्ञानी मुनि-श्रेष्ठ अगस्त्यजी थे ॥७॥ मुनि-श्रेष्ठ ने श्रीराम-कथा बहुत कही, जो ज्ञान को उत्पन्न करनेवाली है जैसे अरणी लकड़ी अग्नि पैदा करनेवाली होती है ॥८॥ मुनियों को आते देखकर (कुछ दूर से ही) श्रीरामजी ने हर्ष-पूर्वक दडवत् की। स्वागत पूछकर प्रभु ने अपना पीताम्बर उन्हें बैठने के लिये (बिछा) दिया ॥३२॥

विशेष—(१) 'तहाँ रहे सनकादि ···'—श्रीअगस्त्यजी बराबर अपने यहाँ कथा कहा करते हैं। वहीं पर सनकादि थे। जब कथा में सुना कि इस समय श्रीरामजी उपवन में विराजे हैं और अभी कुछ दिन शेष है। एकान्त अवसर भी है, तब आये। 'मुनिवर ज्ञानी'—सनकादिक ज्ञानी हैं, उनके प्रति कथा के द्वारा ज्ञान का निरूपण करेंगे, इससे ज्ञानी कहा है। सनकादि भी मुनिवर कहे जाते हैं, यथा—"नारदादि सनकादि मुनीसा।" (दो॰ २६), "सुक सनकादि ··जे मुनिवर ··" (बा॰ दो॰ १७); पर यहाँ श्रोता बन के आये थे, इससे वे 'मुनि' कहे गये और ये 'मुनिवर', क्योंकि वक्ता हैं।

(२) 'ज्ञान-जोनि पावक जिमि अरनी।'—अरणी लकडी के परस्पर रगड़ने से अग्नि प्रकट होती है। वैसे ही कथा के श्रवण-मनन से ज्ञान होता है। कथा के द्वारा ज्ञान प्रकट करने का भाव यह कि सनकादिक ज्ञानी हैं और कथा के व्यसनी हैं। अतः, उनके अनुकूल कहा। पुन. लकड़ी और अग्नि दो पदार्थ नहीं हैं। अग्नि संसर्ग से सब लकड़ी अग्नि ही हो जाती है। वैसे ही ज्ञान-दृष्टि से विचारने पर सारी

अर्थ—एक बार भाइयों के साथ श्रीरामजी परम प्रिय श्रीहनुमान्‌जी को संग लिये हुए सुन्दर उपवन देखने गये। वहाँ के सब वृक्ष फूले हुए और नवीन पत्तों से युक्त थे ॥१-२॥

विशेष—(१) 'परम प्रिय'—श्रीहनुमान्‌जी भाइयों से भी अधिक प्रिय हैं, यथा—"अनुज राज सब मम प्रिय नहिं तुम्हहि समाना ॥" (दो॰ १५), श्रीहनुमान्‌जी ने सपरिवार श्रीरामजी को सेवा से वश कर रक्खा है, इसीसे ये परम प्रिय हैं, यथा—"एकैकस्योपकारस्य प्राणान्दास्यामि ते कपे। शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम् ॥ मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे। नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम् ॥" (वाल्मि॰ ७।४०।२३ २४), अर्थात् श्रीरामजी ने श्रीहनुमान्‌जी से कहा—हे वानर ! तुम्हारे उपकारों में से एक एक उपकार के लिये हम अपने प्राण दे सकते हैं और शेष उपकारों के लिये हम तुम्हारे ऋणी रहेंगे। तुम्हारे कृत उपकार हमारे शरीर में ही पच जायँ, क्योंकि प्रत्युपकार का समय है उपकारी का दुखी होना।

'पवन-कुमारा'—भाव यह कि ये पवन के समान बुद्धि विवेक और विज्ञान के निधान हैं।

(२) 'सब तरु कुसुमित ...'—वसन्त ऋतु चैत का समय है, इसीसे उपवन देखने चले, कहा भी है—'चैत्रे तु भ्रमणं पथ्यम्।'

जानि समय सनकादिक आये। तेज-पुंज गुन सील सुहाये ॥३॥
ब्रह्मानंद सदा लयलीना। देखत बालक बहुकालीना ॥४॥

अर्थ—अच्छा समय (अवसर) जानकर सनकादिक (चारों भाई) मुनि आये, जो तेज राशि (तेजस्वी) हैं और गुणों और शील स्वभाव से शोभित हैं ॥३॥ सदा ही ब्रह्मानन्द में लवलीन रहते हैं (ब्रह्म में एक रस लय लगी रहती है) देखने में बालक हैं, परन्तु बहुत काल के हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'जानि समय ...'—यों तो दर्शनों के लिये प्रतिदिन आया ही करते थे, दो॰ २६ चौ॰ १-२ देखिये। आज एकान्त स्थल और सुअवसर देखकर वर माँगने के लिये आये हैं। साकेत-यात्रा का भी समय निकट जानकर आये हैं, 'तेज पुंज ...'—तेज-पुंज कहकर तपस्वी जनाया, क्योंकि तप से ही तेज की वृद्धि होती है, यथा—"बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा।" (दो॰ ८९), और गुण और शील से तेजस्वी की शोभा है।

(२) 'बहुकालीना'—ये ब्रह्मा के मानसिक आदि-पुत्र हैं, ये सदा ५ वर्ष की ही आयु में रहते हैं कि जिससे माया से बचे रहें, क्योंकि विकारों के मूल काम की प्रवृत्ति ५ वर्ष अवस्था के बाद होती है। ऐसे ही मार्कण्डेय मुनि सदा २५ वर्ष के और श्रीशिवजी बूढ़े ही रहते हैं।

रूप धरे जनु चारिउ बेदा। समदरसी मुनि बिगत बिभेदा ॥५॥
आसा बसन ब्यसन यह तिन्हहीं। रघुपति-चरित होइ तहँ सुनहीं ॥६॥

अर्थ—मानों चारो वेद रूप धारण किये हुए (मूर्त्तिमान होकर) आये हैं, समदर्शी हैं, मुनि हैं और भेद रहित हैं ॥५॥ दिशाएँ ही उनके वस्त्र हैं (अर्थात् नंगे रहते हैं) और उनका यह व्यसन (विशेष प्रवृत्ति) है कि जहाँ श्रीरघुनाथजी का चरित होता है, वहाँ (जाकर) सुनते हैं ॥६॥

के दर्शन करे अथवा वे इसे देखें, दोनों प्रकार से भव छूटता है ; यथा—"जड़ चेतन जग जीव घनेरे। जिन्ह चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे ॥ ते सब भये परम पद जोगू।" (अ० दो० २१६)।

'सुंदरता मंदिर'—तीनों लोकों का सौन्दर्य इन्हें ही प्राप्त है। प्राकृत सुंदरता पर आसक्त होने से भव में पड़ना होता है, पर इनका रूप तो दिव्य है, अतएव इनके दर्शनों से भव छूटता है, इसीसे साथ ही 'भवमोचन' भी कहा है।

एकटक रहे निमेष न लावहिं। प्रभु कर जोरे सीस नवावहिं ॥४॥
तिन्हकै दसा देखि रघुबीरा। स्रवत नयन जल पुलक सरीरा ॥५॥
कर गहि प्रभु मुनिबर बैठारे। परम मनोहर बचन उचारे ॥६॥

अर्थ—मुनि एकटक देखते रह गये, पलक नहीं मारते (क्योंकि पलक गिरने से दर्शनों में किंचित् विक्षेप पड़ेगा) और (इधर) प्रभु श्रीरामजी हाथ जोड़े हुए शिर नवा रहे हैं ॥४॥ उनकी (स्रवत नयन जल पुलक सरीरा) दशा देखकर श्रीरामजी के नेत्रों से आँसू चलने लगे और शरीर पुलकित हो गया ॥५॥ प्रभु ने हाथ पकड़कर मुनीश्वरों को बैठाया और उनसे अत्यन्त सुन्दर बचन बोले ॥६॥

विशेष—(१) 'प्रभु कर जोरे···'—प्रभु अपने नर-नाट्य की रक्षाके लिये ऐसा करते हैं। पुनः पीताम्बर पर बैठने के लिये भी इस तरह मुद्रा से प्रार्थना करते हैं। यह मुद्रा शीघ्र प्रसन्न करने की है ; यथा—"भलो मानि है रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइ है।" (वि० १३५)।

(२) 'तिन्हकै दसा देखि···'—मुनियों की प्रेम-दशा देखकर श्रीरामजी स्वयं भी उसी दशा को प्राप्त हो गये। 'स्रवत नयन जल पुलक सरीरा' यह दोनों में लगता है। पहले श्रीरामजी को 'श्यामल गात सरोरुह लोचन' कहा था, अब उसी रूप में प्रेम की शोभा कहते हैं कि उस गात में पुलक है और नेत्रों में प्रेमाश्रु चल रहे हैं। मुनियों में यह दशा पराभक्ति की है, क्योंकि ब्रह्मानंद की लय लीनता के पश्चात् प्राप्त हुई है ; यथा—"ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।" (गीता १८।५४); यही दशा श्रीसुतीक्ष्णजी को प्राप्त हुई थी, वहाँ उपाय करके उनका ध्यान छुड़ाया गया, वैसे यहाँ भी 'कर गहि···' कहा है।

(३) 'कर गहि प्रभु···'—पीताम्बर बिछाया हुआ है, पर मुनि प्रेम की दशा में निमग्न हैं। अतः, बैठे नहीं। प्रभु ने जाना कि हमारा ओढ़ने का वस्त्र जानकर मुनि इसपर नहीं बैठ रहे हैं। अतः, उनका संकोच छुड़ाने के लिये उनके हाथ पकड़ कर बैठाया। इसमें प्रभु का पूर्ण वात्सल्य है। प्रेम दशा में भी मुनियों ने अपनी मर्यादा निबाही कि स्वयं प्रभु के पीताम्बर पर नहीं बैठे।

(४) 'परम मनोहर बचन उचारे।'—मुनियों का मन छवि द्वारा हरा गया है, इससे बैठाने पर भी अभी कुछ नहीं बोल पाते हैं। इसीलिये उधर से मन हरण करने के लिये आपने 'परम मनोहर' वचन कहे। अतुल छवि मनोहर थी, उससे उनके मन को अलग करने के लिये वचन 'परम मनोहर' बोले, नहीं तो वे सचेत न होते, फिर उन्हें अभी सत्संग का भी सुख देना है।

आजु धन्य मैं सुनहु मुनीसा। तुम्हरे दरस जाहिं अघ खीसा ॥७॥
बड़े भाग पाइय सतसंगा। बिनहिं प्रयास होहि भव भंगा ॥८॥

कथा ज्ञान-रूपा ही है। कहा भी है—"सद्गुरु ज्ञान बिराग जोग के।" (बा० दो० ३१); यहाँ सनकादिक को वेद पाठी, समदर्शी, ब्रह्म लीन और विरक्त कहकर कथा का व्यसनी कहा। इसपर पार्वतीजी को शंका हो सकती थी, इन गुणों सहित मुनियों को कथा से क्या लाभ है। इसपर श्रीशिवजी ने कहा—'ज्ञान-जोनि···।'

(३) सनकादि कथा सुनते थे फिर रूप के दर्शन पाये, इससे जाना गया कि कथा श्रवण से रूप की प्राप्ति होती है; यथा—"सुनत फिरउँ हरि गुन अनुवादा ·एक लालसा उर अति बाढ़ी॥ राम-चरन वारिज जब देखउँ। तब निज जन्म सुफल करि लेखउँ॥" (दो० १०१)।

(४) 'हरपि दंडवत कीन्ह'—क्योंकि—"संत मिलन सम सुख जग नाहीं।" (दो० १२०); पीत पट प्रभु बैठन कहँ दीन्ह'—प्रभु बाग में टहलने आये थे, वहाँ उनके योग्य उत्तम आसन न देखकर अपना पीताम्बर ही बिछा दिया, यह सबसे अधिक सम्मान है, परम सात्त्विक मुनियों के लिये यह योग्य सत्कार है; यथा—"नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥" (दो० २५१)। श्रीरामजी भी संत चरण रज के व्यसनी हैं, इसीलिये इन्होंने पीतांबर बिछा दिया।

कीन्ह दंडवत तीनिउ भाई। सहित पवनसुत सुख अधिकाई॥१॥
मुनि रघुपति छवि अतुल बिलोकी। भये मगन मन सके न रोकी॥२॥
श्यामल गात सरोरुह-लोचन। सुंदरता-मंदिर भव-मोचन॥३॥

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जी के साथ तीनों भाइयों ने दंडवत् की और सबों को बड़ा सुख हुआ॥१॥ मुनि श्रीरघुनाथजी की अतुलित छवि को देखकर (उसमें) डूब गये, मन को रोक न सके॥२॥ (श्रीरामजी का) श्यामल शरीर है, कमल समान नेत्र हैं, वे सुन्दरता के घर और आवागमन के छुड़ानेवाले हैं॥३॥

विशेष—(१) 'कीन्ह दंडवत तीनिउ भाई।···'—श्रीरामजी के पीछे भाइयों का दंडवत् करना कहने से क्रम से दंडवत करना सूचित किया। श्रीरामजी ने, श्रीभरतजी ने, श्रीलक्ष्मणजी ने, श्रीशत्रुघ्नजी ने और फिर श्रीहनुमान्‌जी ने दंडवत् की।

'सुख अधिकाई'—श्रीरामजी को हर्ष (सुख) होना कहा गया, इन्हें अधिक सुख हुआ, क्योंकि इनके आने से सत्संग का आनन्द मिलेगा। पुनः भक्तों की दृष्टि में श्रीरामजी से भी उनके भक्त अधिक हैं; यथा—"राम ते अधिक राम कर दासा।" (दो० ११९); 'मुनि रघुपति छवि ·'—श्रीरामजी की अतुल छवि को देखकर मुनियों का मन ब्रह्मानंद छोड़कर अनुराग पूर्वक इनमें लग गया। वे रोक रखने का प्रयास करते हुए भी मन को नहीं रोक सके; यथा—"मूरति मधुर मनोहर देखी। भये बिदेह बिदेह बिसेखी॥" से "इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा॥" (बा० दो० २१५); 'अतुल'—क्योंकि इस छवि के सुख के आगे ब्रह्मानंद भी नहीं तुलता; यथा—"ब्रह्मानंद हृदय दरस सुख लोयननि अनुभये उभय सरस राम जाने हैं।" (गी० बा० ५१)। वा, श्रीभरतजी आदि की छवि इनके समान नहीं तुली; यथा—"तदपि अधिक सुख सागर रामा।" (बा० दो० ११७)।

(२) 'भये मगन'—यह स्पष्ट है, क्योंकि दंडवत् करने पर आशीर्वाद नहीं दिया और न कुशल प्रश्न ही किया।

(३) 'श्यामल गात···'—'श्यामल गात' से मुनियों का देखना और 'सरोरुह लोचन' कहकर श्रीरामजी का इन्हें देखना सूचित किया। ये दो कारण कहकर तब 'भव मोचन' कहा है। जीव श्रीरामजी

के दर्शन करे अथवा वे इसे देखें, दोनों प्रकार से भव छूटता है ; यथा—"जड़ चेतन जग जीव घनेरे। जिन्ह चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे ॥ ते सब भये परम पद जोगू।" (अ० दो० २१६)।

'सुंदरता मंदिर'—तीनों लोकों का सौन्दर्य इन्हें ही प्राप्त है। प्राकृत सुंदरता पर आसक्त होने से भव में पड़ना होता है, पर इनका रूप तो दिव्य है, अतएव इनके दर्शनों से भव छूटता है, इसीसे साथ ही 'भवमोचन' भी कहा है।

एकटक रहे निमेष न लावहिं। प्रभु कर जोरे सीस नवावहिं ॥४॥
तिन्हकै दसा देखि रघुबीरा। स्रवत नयन जल पुलक सरीरा ॥५॥
कर गहि प्रभु मुनिबर बैठारे। परम मनोहर बचन उचारे ॥६॥

अर्थ—मुनि एकटक देखते रह गये, पलक नहीं मारते (क्योंकि पलक गिरने से दर्शनों में किंचित् विक्षेप पड़ेगा) और (इधर) प्रभु श्रीरामजी हाथ जोड़े हुए शिर नवा रहे हैं ॥४॥ उनकी (स्रवत नयन जल पुलक सरीरा) दशा देखकर श्रीरामजी के नेत्रों से आँसू चलने लगे और शरीर पुलकित हो गया ॥५॥ प्रभु ने हाथ पकड़कर मुनीश्वरों को बैठाया और उनसे अत्यन्त सुन्दर बचन बोले ॥६॥

विशेष—(१) 'प्रभु कर जोरे···'—प्रभु अपने नर-नाट्य की रक्षाके लिये ऐसा करते हैं। पुनः पीताम्बर पर बैठने के लिये भी इस तरह मुद्रा से प्रार्थना करते हैं। यह मुद्रा शीघ्र प्रसन्न करने की है ; यथा—"भलो मानि है रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइ है।" (वि० १३५)।

(२) 'तिन्हकै दसा देखि···'—मुनियों की प्रेम-दशा देखकर श्रीरामजी स्वयं भी उसी दशा को प्राप्त हो गये। 'स्रवत नयन जल पुलक सरीरा' यह दोनों में लगता है। पहले श्रीरामजी को 'श्यामल गात सरोरुह लोचन' कहा था, अब उसी रूप में प्रेम की शोभा कहते हैं कि उस गात में पुलक है और नेत्रों में प्रेमाश्रु चल रहे हैं। मुनियों में यह दशा पराभक्ति की है, क्योंकि ब्रह्मानंद की लय लीनता के पश्चात् प्राप्त हुई है ; यथा—"ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।" (गीता १८।५४); यही दशा श्रीसुतीक्ष्णजी को प्राप्त हुई थी, वहाँ उपाय करके उनका ध्यान छुड़ाया गया, वैसे यहाँ भी 'कर गहि···' कहा है।

(३) 'कर गहि प्रभु···'—पीताम्बर बिछाया हुआ है, पर मुनि प्रेम की दशा में निमग्न हैं। अतः, बैठे नहीं। प्रभु ने जाना कि हमारा ओढ़ने का वस्त्र जानकर मुनि इसपर नहीं बैठ रहे हैं। अतः, उनका संकोच छुड़ाने के लिये उनके हाथ पकड़ कर बैठाया। इसमें प्रभु का पूर्ण वात्सल्य है। प्रेम दशा में भी मुनियों ने अपनी मर्यादा निबाही कि स्वयं प्रभु के पीताम्बर पर नहीं बैठे।

(४) 'परम मनोहर बचन उचारे।'—मुनियों का मन छवि द्वारा हरा गया है, इससे बैठाने पर भी अभी कुछ नहीं बोल पाते हैं। इसीलिये उधर से मन हरण करने के लिये आपने 'परम मनोहर' बचन कहे। अतुल छवि मनोहर थी, उससे उनके मन को अलग करने के लिये बचन 'परम मनोहर' बोले, नहीं तो वे सचेत न होते, फिर उन्हें अभी सत्संग का भी सुख देना है।

आजु धन्य मैं सुनहु मुनीसा। तुम्हरे दरस जाहिं अघ खीसा ॥७॥
बड़े भाग पाइय सतसंगा। बिनहिं प्रयास होहि भव भंगा ॥८॥

दोहा—संत-संग अपवर्ग कर, कामी भव कर पंथ।
कहहिं संत कवि कोविद, श्रुति पुरान सद्ग्रंथ ॥३३॥

अर्थ—हे मुनीश्वर! सुनिये, आज मैं धन्य हूँ। आपके दर्शनों से पाप नष्ट हो जाते हैं ॥७॥ बड़े भाग्य से सत्संग प्राप्त होता है। उससे बिना परिश्रम के ही भव (जन्म-मरण) का नाश होता है ॥८॥ "संत का संग मोक्ष का मार्ग है और कामी का संग भव का मार्ग है।" ऐसा संत, कवि, पंडित, वेद, पुराण एवं सभी सद्ग्रंथ कहते हैं ॥३३॥

विशेष—(१) 'आजु धन्य मैं '—संत-दर्शनों से पाप छूटते हैं; यथा—"मुख देखत पातक हरैं; परसत कर्म निलाहिं॥" (वैराग्यसंदीपनी १४), "वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च। विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥" (भाग० ११।१४।२४)। अर्थात् प्रेम से जिसकी वाणी और चित्त द्रवीभूत हो जाता है। जो प्रेमावेश में बार-बार रोता है, कभी हँसता है, कभी लाज छोड़कर ऊँचे स्वर से गाने और नाचने लगता है—ऐसा मेरा परम भक्त त्रिलोकी को पवित्र कर देता है। श्रीभगीरथजी ने श्रीगंगाजी से कहा है, यथा—"साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः। हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः॥" (भाग० ९।९।६); अर्थात् हे माता! समस्त विश्व को पवित्र करनेवाले, विषयों के त्यागी, शान्त स्वरूप, ब्रह्मनिष्ठ साधु आकर तुम्हारे प्रवाह में स्नान करेंगे, उनके अंग-संग से तुम्हारे सारे पाप धुल जायँगे, क्योंकि उनके हृदय में समस्त पापों के नाशक भगवान् निवास करते हैं। तथा—"भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो। तीर्थी कुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥" (भाग० १।१३।१०); अर्थात् श्रीयुधिष्ठिरजी श्रीविदुरजी से कहते हैं—हे प्रभो! आप-सरीखे भगवद्भक्त स्वयं तीर्थ रूप हैं, (पापियों द्वारा कलुषित हुए) तीर्थों को आपलोग अपने हृदय में विराजित भगवान् श्रीगदाधर के प्रभाव से पुनः तीर्थत्व प्राप्त करा देते हैं। हमें आज बिना प्रयास के आपके दर्शन मिले, इससे हम धन्य हैं। दर्शनों से पाप नाश होते हैं, तब सत्संग मिलता है। इससे आगे सत्संग की महिमा कहते हैं—

(२) 'बड़े भाग पाइय सत्संगा।···'—पाप नाश होकर भाग्य उदय हुआ तो सत्संग मिला, उससे भव नाश होता है; यथा—"सतसंगति दुर्लभ संसारा।···आजु धन्य मैं धन्य अति, जद्यपि सब बिधि हीन, निज जन जानि राम मोहि, संत समागम दीन॥" (दो० १२३); "गिरिजा संत समागम, सम न लाभ कछु आन।" (दो० १२५)। 'होइ भव भंगा', यथा—"सतसंगति संसृत कर अंता।" (दो० ४४)।

(३) 'संत संग अपवर्ग कर ···'—संत लोग हरि चरित सुनाते हैं, उससे मोह दूर होता है, फिर श्रीरामजी में प्रेम होता है, तब मनुष्य भव पार होता है; यथा—"बिनु सतसंग न हरि कथा, तेहि बिनु मोह न भाग। मोह गये बिनु राम पद, होइ न दृढ़ अनुराग॥" (दो० ६१); "बिनु हरि भजन न भव तरिय॥" (दो० १२२)।

(४) 'कामी भव कर पंथ'—कामी अपने संग से विषय वार्त्ता द्वारा विषय में प्रवृत्ति बढ़ाते हैं और हरि कथा आदि से मन हटा देते हैं; यथा—"क्रोधिहि सम कामिहि हरि कथा। ऊसर बीज बये फल जथा॥" (सुं० दो० ५७)। इस तरह विषयासक्त होने से और हरि-विमुखता से जीव जन्म-मरण के चक्र में पड़ा रहता है। श्रीमद्भागवत में भी कहा है, यथा—"न तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्य प्रसङ्गतः।

योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः ॥" (३।३१।३५) ; अर्थात् स्त्रियों के सङ्ग करनेवालों के सङ्ग से मनुष्य को जैसा मोह और बन्धन प्राप्त होता है, वैसा अन्य किसी के भी सङ्ग से नहीं होता।

(५) 'कवि'—व्यास आदि, 'कोविद' शुकदेव आदि, 'सद्ग्रंथ'—मुनियों की सात्विक संहिताएँ।

सुनि प्रभु-वचन हरषि मुनिचारी। पुलकित तनु अस्तुति अनुसारी ॥१॥
जय भगवंत अनंत अनामय। अनघ अनेक एक करुनामय ॥२॥

अर्थ—प्रभु के वचन सुनकर चारों मुनि हर्षित हुए और पुलकित शरीर होकर स्तुति करने लगे ॥१॥ हे भगवन्! हे करुणामय! आपकी जय हो। आपका अन्त नहीं है, आप (अविद्या आदि) रोगों से रहित हैं, निष्पाप हैं, अनेक हैं और एक भी हैं ॥२॥

विशेष—(१) 'सुनि प्रभु-वचन ···'—प्रभु के परम मनोहर वचन सुनकर मुनियों को हर्ष हुआ कि प्रभु ऐसे कृपालु हैं कि सदा दासों को बड़ाई देते हैं। फिर स्वय भी प्रभु की स्तुति करने लगे। स्तुति मे मन से हर्षित हैं, तन से पुलकित हैं और वचन से स्तुति करते ही हैं, इस तरह मन, वचन, कर्म तीनों लगाये हुए हैं।

(२) 'जय भगवत'—मुनि भक्ति भाव से स्तुति करते हैं, इससे 'भगवंत' कहा है। श्रीरामजी को कर्मकाण्डी परमात्मा और ज्ञानी ब्रह्म कहते हैं। पहले भगवत कहकर षडैश्वर्य पूर्ण कहा, जिन छहों ऐश्वर्यों से संसार की उत्पत्ति, पालन और संहार की व्यवस्था होती है। इससे ईश्वर कहा। पुनः 'अनंत' कहकर जनाया कि आपमे छः ही गुण नहीं हैं, किन्तु अनन्त हैं। यह भी भाव है कि अनन्त ब्रह्मांडों का कार्य भी आप ही के अनन्त षडैश्वर्यों से होता है। 'अनामय'—आपमे अविद्या आदि रोग नहीं हैं, इसीसे आप पाप रहित (अनघ) हैं। तथा आपका विग्रह दिव्य है, इससे वह रोग रहित है। आप जगत के व्यष्टि रूप से अनेक हैं; यथा—"बिस्व रूप रघुबंस मनि" (लं॰ दो॰ १४); और समष्टि रूप से एक हैं। 'करुनामय'—'अनेक-एक' कहकर सम्यक् आधार कहा, इसका कारण आपकी करुणा ही है; अन्यथा जगत् से आपका कोई स्वार्थ नहीं है आप तो जगत् से निर्लिप्त हैं।

जय निर्गुन जय जय गुनसागर। सुख-मंदिर सुंदर अति नागर ॥३॥
जय इंदिरा-रमन जय भूधर। अनुपम अज अनादि सोभाकर ॥४॥

अर्थ—हे निर्गुण (निर्लिप्त रूप, श्रीरामजी)! आपकी जय हो, हे सद्गुण सागर (सगुण रूप श्रीरामजी)! आपकी जय हो, जय हो। आप सुख के स्थान, अत्यन्त सुन्दर और अत्यन्त नागर (प्रवीण) हैं ॥३॥ हे लक्ष्मीपति! आपकी जय हो। हे पृथिवी के धारण करनेवाले (रक्षक)! आपकी जय हो। आप उपमा रहित, अजन्मा, अनादि और शोभा की खान हैं ॥४॥

विशेष—'जय निर्गुन ···'—निर्गुण के साथ एक बार जय शब्द कहा और सगुण के साथ दो बार, क्योंकि सनकादिक ने अभी ही अनुभव किया है कि निर्गुण के आनन्द को छोड़कर उनका मन बरबश इनके सगुण रूप मे अनुरक्त हो गया है। 'सुख-मंदिर'—दोनों रूपों से आप सबको सुख देते हैं। पुनः सगुण रूप से सुन्दर और नागर भी हैं। 'नागर' से सभी प्रकार की चातुरी सूचित की गई; यथा—

"जयति वचन रचना अति नागर।" (बा० दो० २८४), "खर दूषन विराध बध पंडित।" (दो० ५०), 'भूधर' अर्थात् वाराह रूप से पृथिवी की रक्षा करनेवाले। 'अज'—आप स्वेच्छा से प्रकट होते हैं, यह जन्म नहीं कहाता। कर्म वश जन्म लेने का ही आपमें निषेध है। 'इंदिरा रमन'—यहाँ इन्हें आगे वर माँगना है, इससे सब प्रकार की लक्ष्मी से युक्त होने का विशेषण दिया गया है। इंदिरा, रमा, श्री ये सब श्रीजानकीजी के ही नाम हैं, ऐश्वर्य प्रसंग में आते हैं।

ज्ञान-निधान अमान मानप्रद। पावन सुजस पुरान वेद वद ॥५॥
तज्ञ कृतज्ञ अज्ञता-भंजन। नाम अनेक अनाम निरंजन ॥६॥

अर्थ—आप ज्ञान के समुद्र, मान-रहित और औरों को मान देनेवाले हैं। आपका पवित्र सुन्दर यश वेद और पुराण गाते हैं ॥५॥ आप तत्त्व के जाननेवाले, उपकार के माननेवाले और अज्ञान के नाशक हैं। आपके अनेक नाम हैं, फिर भी आप नाम रहित हैं (यह विलक्षता है), आप माया विकार से रहित हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'ज्ञान-निधान अमान मानप्रद'—ज्ञान के खजाना कहकर अमान कहने का भाव यह कि आपका ज्ञान शुद्ध है, यथा—"ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं।" (आ० दो० १५), स्वयं अमान हैं, पर दूसरे को मान देते हैं, यथा—*"अमानी मानदो मान्यो लोक स्वामी त्रिलोक धृक्।" (विष्णु सहस्रनाम ४३)*, 'पावन सुजस पुरान वेद वद।'—आपका यश ऐसा पवित्र है कि उसे गाकर वेद-पुराण भी अपनी वाणी पवित्र करते हैं, यथा—"निज गिरा पावनि करन कारन राम जस तुलसी कह्यो।" (बा० दो० ३११)।

(२) 'तज्ञ कृतज्ञ ...'—'तज्ञ' सब शास्त्रों के तत्त्वार्थ के ज्ञाता हैं। 'नाम अनेक ...'—जगत् भर आपका शरीर है। अतः, सब व्यक्तियों और वस्तुओं के नाम आपके ही हैं, पर आप सबसे अलिप्त हैं, सबके नामाभिमान से रहित हैं, इसीसे अनाम हैं।

सर्व सर्वगत सर्व उरालय। बससि सदा हम कहँ परिपालय ॥७॥
द्वंद विपति भव-फंद-विभंजय। हृदि बसि राम काम मद गंजय ॥८॥

दोहा—परमानंद कृपायतन, मन परिपूरन काम।
प्रेम-भगति अनपायनी, देहु हमहि श्रीराम ॥३४॥

अर्थ—यह सब जगत् रूप आप ही हैं, आप सबमें व्याप्त हैं और आप ही सबके हृदय रूपी घरों में सदा बसते हैं, सदा हमारा पालन करें ॥७॥ मानापमान, हर्ष शोक आदि द्वन्द्वों की विपत्ति और जन्म-के फंदे (जाल) को काटें। हे श्रीरामजी! हृदय में बसकर काम और मद का नाश करें ॥८॥ आप परमानन्द और कृपा के स्थान हैं, आप मन से पूर्ण काम हैं। हे श्रीरामजी! आप हमें अपनी अविनाशिनी (निश्चल) प्रेम भक्ति दें ॥३४॥

विशेष—(१) 'सर्व सर्वगत ...'—विराट् रूप से सब कुछ आप ही हैं, सत्ता रूप से सबमें व्याप्त हैं और सगुण रूप से सबके हृदय में बसकर सबका पालन करते हैं, वही आप मेरा पालन करें।

(२) द्वंद विपति···'—द्वंद्वों के कारण रूप, काल, कर्म, गुण और स्वभाव हैं, ये ही भव-फंद रूप हैं। वा, अहंता, ममता भव-फंद हैं। इनका नाश करें। 'हृदि बसि राम···'—यहाँ सगुण रूप श्रीरामजी को सम्बोधित करके हृदय में बसाते हैं, जिससे काम और मद का नाश हो ; यथा—"तब लगि हृदय बसत खल नाना ।।लोभ मोह मच्छर मद माना ।। जब लगि उर न बसत रघुनाथा । धरे चाप सायक कटि भाथा ।।" (सुं० दो० ४६); निर्गुण रूप से तो सबके हृदय में बसते ही हैं, पर उससे विपत्ति नहीं छूटती ; यथा—"अस प्रभु हृदय अछत अविकारी । सकल जीव जग दीन दुखारी ।।" (बा० दो० २२)।

(३) 'परमानंद कृपायतन···'—पहले काम-मद का नाश करना माँगकर तब यहाँ प्रेमाभक्ति माँगी है, यह भक्ति बड़ी दुर्लभ है ; यथा—"सबते सो दुर्लभ सुरराया । राम भगति रत गत मद माया ।।" (दो० ५४) ; इसीलिये 'कृपायतन' कहकर माँगते हैं, और 'परमानंद' कहकर अपना उसी भक्ति में परम आनंदित होना सूचित करते हैं, क्योंकि अभी दर्शनों के समय इस छवि के दर्शनों से प्राप्त परमानंद के समक्ष ब्रह्मानंद का फीका पड़ना देख चुके हैं। 'कृपायतन'—कहकर कृपा से प्राप्त होनेवाली भक्ति माँगते हैं, जिसका कभी नाश न हो ; यथा—"जासु कृपा नहिं कृपा अघाती ।" (बा० दो० २७) ; सुकर्म से भी भक्ति मिलती है ; यथा—"जप जोग धर्म समूह ते नर भगति अनुपम पावई ।" (आ० दो० ६) ; किंतु सुकर्म साध्य भक्ति सुकर्म की मर्यादा भर ही रहती है, कभी अनवधानता से एक रस नहीं भी रहती। पर कृपासाध्य मे वह भय नहीं है। 'हमहि' से अपने चारों भाइयों के लिये यही वर माँगा है।

'मन परिपूरन काम'—का भाव यह कि आप पूर्ण काम है, इससे इसके प्रति हमसे कुछ कामना न करेंगे, अन्यथा हमलोग उसके योग्य नहीं हैं।

देहु भगति रघुपति अति पावनि । त्रिविध-ताप-भव-दाप-नसावनि ॥१॥
प्रनत-काम सुरधेनु कलपतरु । होइ प्रसन्न दीजै प्रभु यह बरु ॥२॥

अर्थ—हे श्रीरघुनाथजी ! आप अपनी अत्यन्त पवित्र, तीनों तापों और भव के दर्प को नाश करनेवाली भक्ति दीजिये ॥१॥ शरणागतों की कामनाओं के लिये कामधेनु और कल्पवृक्ष रूप, हे प्रभो ! प्रसन्न होकर यह वरदान दीजिये ॥२॥

विशेष—(१) 'देहु भगति···'—ऊपर दोहे में भक्ति माँगी थी, उसीको लेकर यहाँ उसके गुण कहते हैं। यहाँ स्तुति का प्रसंग होने से छन्दों का नियम रखते हुए दोहे की बात लेकर प्रारंभ किया है। 'अति पावनि'—क्योंकि यह महा पापियों को भी पवित्र करती है ; यथा—"अपि चेत्सु दुराचारो भजते मामनन्यभाक् । साधुरेव स मन्तव्यः ।" (गीता ९।३०); "भक्तिः पुनातिमन्निष्ठा स्वपाकानपि सम्भवात् ।" (भाग० ११।१४।२१) ; अर्थात् मेरी भक्ति चांडाल आदि को भी पवित्र हृदय बनाने में समर्थ है। पवित्रता के कार्य आगे कहते हैं कि वह तीनों तापों को नाश करती है और संसार को जो दर्प है कि मुझे जीतकर कोई कैसे जा सकता है, उसे नाश कर देती है।

(२) 'प्रनत काम सुरधेनु···'—कामधेनु और कल्पवृक्ष कहकर सूचित किया कि जो भक्त सेवा करते हैं, उनके आप कामधेनु हैं, और जिन्होंने सेवा भी नहीं की, केवल आपका आश्रय-मात्र ग्रहण किया है, शरण हैं, उनके लिये कल्पवृक्ष हैं। आप दोनों प्रकार के आश्रितों के काम पूरक हैं।

(३) 'होइ प्रसन्न···'—विना अति प्रसन्न हुए प्रभु ऐसा दुर्लभ वर नहीं देते। 'प्रभु' अर्थात् आप सब कुछ देने में समर्थ हैं। 'यह बरु'—बार-बार माँग कर इसमें अपनी परम अभिलाषा प्रकट करते हैं।

भव-बारिधि कुंभज रघुनायक। सेवत सुलभ सकल सुखदायक ॥३॥
मन-संभव-दारुन-दुख दारय। दीनबंधु समता बिस्तारय ॥४॥
आस-त्रास-इरिषादि - निवारक। बिनय-बिबेक-बिरति-बिस्तारक ॥५॥
भूप-मौलि-मनि मंडन धरनी। देहि भगति संसृति-सरि-तरनी ॥६॥
मुनि मन मानस हंस निरंतर। चरन-कमल बंदित अज-संकर ॥७॥

अर्थ—हे श्रीरघुनायक! भव-सागर के सोख लेने को आप अगस्त्य रूप हैं। सेवा करने में आप सुलभ हैं और सब सुखों के देनेवाले हैं ॥३॥ मन से उत्पन्न कठिन दुःख का नाश करें। हे दीनबन्धो! हमारे (हृदय में) समता का विस्तार करें (कि शत्रु-मित्र और उदासीनों में हमारी समदृष्टि रहे) ॥४॥ आप आशा, भय और ईर्ष्या आदि के निवारण करनेवाले हैं और विनम्रता, विवेक, एवं वैराग्य के विस्तार करनेवाले हैं ॥५॥ हे राजाओं के शिरोमणि! हे पृथिवी के भूषण रूप! (हमें) अपनी भक्ति दें जो संसार नदी के लिये नाव रूपा है ॥ ६ ॥ हे मुनियों के मन रूपी मानसरोवर में निरन्तर वास करनेवाले हंस! आपके चरण कमल ब्रह्माजी और शिवजी से निरंतर वंदित हैं ॥७॥

विशेष—(१) 'भव-बारिधि कुंभज'—तुच्छ घट की तरह तुच्छ हृदय से भी भक्ति किये जाने पर मुमुक्षु के भव समुद्र को आप सोख लेते हैं। सेवा भी सुलभ है और उसी से सब सुख देते हैं। अन्यत्र ये बातें नहीं हैं, जो सेवा में सुलभ हैं, वे सब फल नहीं दे सकते, पर आपमें दोनों बातें हैं। 'मन संभव दारुन दुख'—मन ही के विकृत होने से शत्रु, मित्र, मध्यस्थ आदि भाव होते हैं, फिर उसीसे नाना प्रकार के दुःख होते हैं; यथा—"जौ निज मन परि हरइ बिकारा। तौ कत द्वैत जनित संसृति दुख संसय सोक अपारा ॥ सत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हें बरियाईं ॥" (वि॰ १२४)—यह पूरा पद देखिये। इन शत्रु-मित्र आदि भावों के नाश होने से ही समता की प्रवृत्ति हो सकती है। मन के प्रसाद भय से दीन होकर दीनबंधु कहा है। 'समता'; यथा—"समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं ॥" (सुं॰ दो॰ ४७)। तथा उपर्युक्त द्वैत-जनित विकारों के प्रतिकूल गुणों की प्रवृत्ति।

(२) 'आस त्रास इरषादि···'—आशा मित्रों की, भय शत्रु का और ईर्ष्या बराबरवालों की। ये दोष समता के विस्तार से नाश होते हैं।

(३) 'भूप मौलि मनि···'—आपने राक्षसों का नाश कर सब राजाओं को सुख से बसाया है, इससे उन सबों ने आपको शिरोमणि माना है। यहाँ यह विशेषण देकर माँगने का भाव यह कि सामान्य राजा लोग भी द्वार पर आये हुए याचक की अभिलाषा पूरी करते हैं, आप तो उनके शिरोमणि हैं। अतः, मेरे मनोरथ अवश्य पूर्ण करेंगे।

'संसृति सरि तरनी'—भक्ति के समक्ष भव-सागर नदी के समान तुच्छ हो जाता है, फिर भक्त भक्ति रूपी नौका पर चढ़े हुए की तरह उसे अनायास पार कर जाता है।

भक्ति के चार विशेषण कहे गये—'अति पावनि' पापी के लिये, 'त्रिविध ताप भव दाप नसावनि' आर्त्त के लिये, 'संसृति सरि तरनी' मुमुक्षु के लिये और 'प्रनत काम सुर धेनु कलपतरु'—यह प्रभु का स्वभाव भक्ति सम्बन्ध से प्रणत अर्थार्थी का काम पूरक है।

रघुकुल-केतु सेतु श्रुति-रच्छक। काल करम सुभाव गुन-भच्छक॥८॥
तारन तरन हरन सब दूषन। तुलसिदास प्रभु त्रिभुवन-भूषन॥९॥

दोहा—बार बार अस्तुति करि, प्रेम सहित सिर नाइ।
ब्रह्म-भवन सनकादि गे, अति अभीष्ट बर पाइ॥३५॥

अर्थ—आप रघुकुल (को शोभित करनेवाले) पताका रूप हैं, वेद मर्यादा के रक्षक और काल-कर्म-स्वभाव-गुण के भक्षण करनेवाले हैं ॥८॥ आप सबको तारनेवाले हैं और स्वयं तरे हुए (मुक्त रूप) हैं, सब दोषों के दूर करनेवाले हैं, त्रैलोक्य भूषण हैं और तुलसीदास के स्वामी हैं ॥९॥ प्रेम समेत बार-बार स्तुति करके और शिर नवाकर, अत्यन्त अभीष्ट वर पाकर सनकादि मुनि ब्रह्मलोक को गये ॥३५॥

विशेष—(१) 'रघुकुल केतु···'—ऊपर कहा गया कि मुनियों के हृदय के हंस हैं और विधि-शिव से वन्द्यचरण हैं। फिर ऐसे दुर्लभ आप रघुकुल में क्यों अवतीर्ण हुए ? इसका कारण कहते हैं कि श्रुति-सेतु-रक्षा के लिये; अर्थात् प्रमादी राक्षसों ने वरप्रभाव प्राप्त कर श्रुति-सेतु को तोड़ दिया था, उन्हें मारकर श्रुतियों के अनुकूल मार्ग को स्थापित किया और फिर काल, कर्म, स्वभाव और गुण कृत दोषों को नाश किया; यथा—"काल कर्म सुभाव गुन, कृत दुख काहुहि नाहिं।" (दो॰ २१); यह सुधर्माचरण का फल भी चरितार्थ कर दिया।

(२) 'तारन तरन'—तारण अर्थात् केवट और तरण अर्थात् नाव रूप। आप अपने आचरण से सुधर्म का स्वरूप दिखाते हैं, यह नाव रूप होना है और तदनुसार चलनेवालों को भव पार करते हैं, यह केवट रूप होना है। इस तरह से 'हरन सब दूषन' हैं। 'त्रिभुवन भूषन'—राक्षसों को मारने से पृथिवी के भूषण कहे गये थे—'मंडन धरनी' एवं 'खल खंडन मंडन रम्य छमा।' (लं॰ दो॰ १०१); और राज्य पर बैठकर त्रैलोक को भूषित किया; यथा—"राम. राज बैठे त्रैलोका। हरषित भये गये सब सोका॥" (दो॰ ११); 'तुलसिदास प्रभु'—त्रेतायुग में सनकादि के मुख से अपना सम्बन्ध पुष्ट करने में 'भाविक अलंकार' है।

(३) 'बार बार अस्तुति करि···'—स्तुति करना वचन की भक्ति, प्रेम करना मन की और शिर नवाना कर्म की भक्ति है। मन, वचन और कर्म से भक्ति करके गये। 'बार बार' – चार बार भक्ति के लिये स्तुति करना और वर माँगना इस एक ही दोहे के एक ही प्रसंग में हैं—(१) प्रेम भगति अनपायनी, देहु हमहिं श्रीराम। (२) देहु भगति रघुपति···। (३) होइ प्रसन्न दीजै प्रभु यह बरु। (४) देहु भगति संसृति···। यहाँ जब वर मिल गया, तब स्तुति समाप्त की। 'अति अभीष्ट'– क्योंकि इसे चार बार माँगने से पाया। यह वही 'प्रेम भगति अनपायनी' है। वर मानसिक ही दिया गया और उसे सनकादि ने जान लिया। इससे यह भी दिखाया गया कि सनकादि ऐसे जीवन्मुक्तों को भी प्रेम-भक्ति की अत्यन्त कांक्षा रहती है; यथा—"आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥" (भाग॰ १।७।१०); अर्थात् चिज्जड़ ग्रंथि निर्मुक्त आत्मा राम मुनि लोग भी निर्हेतुकी भक्ति करते हैं, क्योंकि भगवान् में गुण ही ऐसे हैं।

इनके चार बार स्तुति करने और वर माँगने का यह भी हेतु है कि ये चार भाई हैं।

संत-असंत भेद और उनके लक्षण

सनकादिक बिधि लोक सिधाये। भ्रातन्ह राम-चरन सिर नाये ॥१॥
पूछत प्रभुहि सकल सकुचाहीं। चितवहिं सब मारुतसुत पाहीं ॥२॥
सुनी चहहिं प्रभु-मुख कै बानी। जो सुनि होइ सकल भ्रम हानी ॥३॥

अर्थ—जब सनकादि मुनि ब्रह्मलोक को चले गये, तब भाइयों ने श्रीरामजी के चरणों में शिर नवाया ॥१॥ प्रभु से पूछने में सब भाई सकुचाते हैं और सब श्रीहनुमान्‌जी की ओर देखते हैं ॥२॥ सब प्रभु के मुख की वाणी सुनना चाहते हैं जिसे सुनने से सब भ्रम दूर हो जाते हैं ॥३॥

विशेष—(१) 'सनकादिक बिधि···'—इनका ब्रह्म लोक जाना तो ऊपर दोहे में ही कहा गया था, यहाँ भाइयों की जिज्ञासा का समय बतलाते हुए उसे फिर कहा है कि जब ये चले गये, तब भाइयों ने प्रणाम किया। प्रणाम का कारण आगे कहते हैं—'पूछत प्रभुहिं सकल सकुचाहीं'—सामने प्रश्न करने में ढिठाई समझते हैं, इसीसे प्रश्न करने में संकोच करते हैं; यथा—"करउँ कृपानिधि एक ढिठाई।" यह आगे कहा ही है। 'चितवहिं सब मारुत सुत पाहीं।'—सब श्रीहनुमान्‌जी को प्रभु का परम कृपा पात्र जानकर उन्हीं के द्वारा प्रश्न कराना चाहते हैं, क्योंकि प्रभु ने उनसे बार बार कहा है कि मैं तेरा ऋणी हूँ।

श्रीभरतजी संकोची हैं; यथा—"महूँ सनेह सकोच बस, सन्मुख कहे न बैन।" (अ॰ दो॰ २६०); श्रीशत्रुघ्नजी उनके भी अनुगामी हैं, तो वे कैसे पूछ सकते हैं? और श्रीलक्ष्मणजी सेवा के विषय में ढीठ हैं, पर प्रश्न करने में वे भी सकोची ही हैं, यथा—"बिनु पूछे कछु कहउँ गोसाईं। सेवक समय न ढीठ ढिठाई॥" (अ॰ दो॰ २२६); अर्थात् सेवा विना बोलने में इन्हें भी सकोच होता है।

(२) 'सुनी चहहिं प्रभु मुख कै बानी। ···'—यद्यपि शास्त्रों के द्वारा सत लक्षण आदि सुने हैं, पर फिर भी श्रीमुख की वाणी सुनना चाहते हैं कि जिससे निस्सदेह हो जायँ। वेद भी आपकी श्वास हैं। अत., वाणी का महत्व उससे भी अधिक है। वाणी का महत्व, यथा—"जनु इन्ह बचनन्हि ते भये सुरतरु तापस त्रिपुरारि।" (गी॰ बा॰ १६); यह भी हेतु है कि सनकादि की प्रेम दशा देखी और फिर भी उनका बार-बार भक्ति माँगना देखा, इसपर यह सदेह हुआ कि क्या इनसे भी उच्च कोटि के भक्त होते हैं? यदि होते हैं तो उनके कौन लक्षण हैं? यह श्रीमुख से जानना चाहते हैं। श्रीरामजी ने भी अभी कहा है—'संत संग अपवर्ग कर' अब ये लोग वैसे सतों के लक्षण सुनना चाहते हैं।

अंतरजामी प्रभु सब जाना। बूझत कहहु काह हनुमाना ॥४॥
जोरि पानि कह तब हनुमंता। सुनहु दीन-दयाल भगवंता ॥५॥
नाथ भरत कछु पूछन चहहीं। प्रश्न करत मन सकुचत अहहीं ॥६॥

अर्थ—अन्तर्यामी प्रभु सब जान गये और पूछते हैं कि हे श्रीहनुमान्‌जी! कहिये, क्या बात है? ॥४॥ तब श्रीहनुमान्‌जी ने हाथ जोड़कर कहा—हे दीन दयालु! हे भगवन्! सुनिये ॥५॥ हे नाथ! श्रीभरतजी कुछ पूछना चाहते हैं, पर प्रश्न करते हुए मन में संकोच करते हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'अंतरजामी प्रभु···'—अन्तर्यामित्व यहाँ स्पष्ट है कि भाई लोग सम्मुख बात करने में संकोच करते हैं—यह, और श्रीहनुमान्‌जी द्वारा प्रश्न कराने की उनकी इच्छा है—यह जान गये। जब श्रीहनुमान्‌जी भी संकोच से शीघ्र न बोल सके, तब प्रभु ने श्रीहनुमान्‌जी से स्वयं पूछा कि जिससे उन्हें बोलने का अवसर प्राप्त हो जाय और उत्तर-रूप में वह सब कहें। भाई लोग संकोच करते हैं, इससे उनसे नहीं कहा।

(२) 'जोरि पानि कह तब···'—हाथ जोड़कर बोलना सेवकों की रीति है। 'दीन दयाल भगवंता'—आप षडैश्वर्यवान् हैं, इसीसे दीनों पर दया है। मुझे दीन जानकर बड़ाई देते हुए मेरे द्वारा भाइयों को उपदेश देंगे। 'भरत कछु'—श्रीभरतजी तीनों भाइयों में बड़े हैं। अतः, इन्हीं का पूछना कहा, क्योंकि इनके रहते हुए छोटों का प्रश्न करना अनुचित है।

तुम्ह जानहु कपि मोर सुभाऊ। भरतहि मोहि कछु अंतर काऊ ॥७॥
सुनि प्रभु-बचन भरत गहे चरना। सुनहु नाथ प्रनतारति हरना ॥८॥

दोहा—नाथ न मोहि संदेह कछु, सपनेहु सोक न मोह।
केवल कृपा तुम्हारिहि, कृपानंद - संदोह ॥३६॥

अर्थ—हे वानर ! तुम मेरा स्वभाव जानते हो, क्या कभी श्रीभरतजी से और मुझसे कुछ भेद भाव है ? अर्थात् उनसे मैं कुछ भेद नहीं रखता ॥७॥ प्रभु के वचन सुनकर श्रीभरतजी उनके चरण पकड़े और बोले—हे नाथ ! हे शरणागत के दुःख हरण करनेवाले ! सुनिये ॥८॥ हे नाथ ! मुझे स्वप्न में भी न कुछ संदेह है, न शोक है और न मोह है। हे कृपा और आनंद के समूह ! यह केवल आपकी ही कृपा से है ॥३६॥

विशेष—(१) 'तुम्ह जानहु कपि ··'—श्रीहनुमान्‌जी यद्यपि यहाँ मनुष्य-रूप में रहते हैं, तथापि जाति तो वही वानर की ही कही जायगी, इससे 'कपि' कहे गये।

'कछु अंतर काऊ'; यथा—"जानहु मुनि तुम्ह मोर सुभाऊ। जन सन कबहुँ कि करउँ दुराऊ ॥" (आ॰ दो॰ ४१); अथवा, श्रीभरतजी मेरे भाई हैं, बराबर के हैं, तब संकोच क्यों करते हैं ? संकोच तो छोटे को होता है।

(२) 'भरत गहे चरना'—प्रभु की बहुत कृपा समझ कृतज्ञता से चरण गहे। अथवा, प्रभु ने मुझे अपने तुल्य कहा, इससे चरण गहे कि मैं तो चरणों का दास हूँ। 'प्रनतारति हरना'—भाव यह कि मुझ आर्त्त पर भी कृपा करें और प्रश्नोत्तर देकर मेरा दुःख हरण करें।

(३) 'नाथ न मोहि सदेह···'—इस पूर्वार्द्ध से पाया जाता है कि इन्हें अपने ज्ञान-विज्ञान का अभिमान है कि जिससे संदेह-शोक मोह नहीं है। उत्तरार्द्ध मे उसका निवारण करते हैं कि यह सब केवल आपकी कृपा से ही है।

करउँ कृपानिधि एक ढिठाई। मैं सेवक तुम्ह जन-सुखदाई ॥१॥

संतन्ह कै महिमा रघुराई। बहु बिधि बेद-पुरानन्ह गाई ॥२॥
श्रीमुख तुम्ह पुनि कीन्हि बड़ाई। तिन्ह पर प्रभुहि प्रीति अधिकाई ॥३॥
सुना चहउँ प्रभु तिन्हकर लच्छन। कृपासिंधु गुन-ज्ञान-बिचच्छन ॥४॥
संत - असंत - भेद बिलगाई। प्रनतपाल मोहि कहहु बुझाई ॥५॥

अर्थ—हे कृपासागर ! मैं एक ढिठाई करता हूँ, मैं आपका सेवक हूँ और आप अपने दास को सुख देनेवाले हैं (भाव यह कि मेरे प्रश्न को समझकर मुझे सुख दें) ॥१॥ हे श्रीरघुराज ! वेद-पुराणों ने संतों की महिमा बहुत प्रकार से गाई है ॥२॥ फिर आपने भी अपने मुख से उनकी बहुत बड़ाई की है और उनपर प्रभु (आप) का प्रेम भी बहुत है (क्योंकि उनके बैठने के लिये अपना पीताम्बर भी बिछा दिया है) ॥३॥ हे प्रभो ! मैं उनके लक्षण सुनना चाहता हूँ, आप कृपा के समुद्र हैं और गुण-ज्ञान में प्रवीण हैं ॥४॥ हे शरणपाल ! संत और असंत के भेद अलग-अलग करके मुझे समझा कर कहें ॥५॥

विशेष—(१) 'करउँ कृपानिधि एक ढिठाई।...'—आप कृपा के सागर हैं, दासों पर कृपा रखते हैं, इसीसे उनके अनुचित कार्य पर भी क्रोध नहीं करते , यथा—"जेहि जन पर ममता अति छोहू। जेहि करुना करि कीन्ह न कोहू ॥" (बा० दो० १२) , इसी बल पर एक ढिठाई करता हूँ। ढिठाई यही कि स्वामी के सम्मुख बातें करता हूँ। जो स्वामी स्वतः सेवक की रुचि रखते हैं, उनसे कुछ स्वयं कहना ढीठता है।

(२) 'रघुराई'—आप राजा हैं , अत', वेद-पुराण नित्य आपके यहाँ हुआ ही करते हैं, इससे जानते ही हैं। वेद की उपनिषदों में और पुराणों एव महापुराण श्रीमद्भागवत मे संतों की महिमा बहुत कही गई है। पुन' महाभारत आदि भी वेद के उपबृंहण रूप ही हैं।

(३) 'श्रीमुख तुम्ह पुनि कीन्हि बड़ाई।', यथा—"आजु धन्य मैं ..." से "संत संग अपबर्ग कर ..." तक ऊपर कहा गया। 'गुन-ज्ञान-बिचच्छन'—भाव यह कि आप संतों के गुण और ज्ञान आदि जानने में प्रवीण हैं, अतएव उत्तम रीति से कहेंगे। लक्षण सुनना चाहते हैं, जिससे जानकर उनमे निष्ठा करें। 'बुझाई'—समझाकर कहिये जिससे समझ मे आ जाय। (जिज्ञासु को अज्ञ की तरह ही पूछना चाहिये)।

संतन्ह के लच्छन सुनु भ्राता। अगनित श्रुति पुरान बिख्याता ॥६॥
संत असंतन्हि कै असि करनी। जिमि कुठार-चंदन-आचरनी ॥७॥
काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई ॥८॥

दोहा—ताते सुर सीसन्ह चढ़त, जग-बल्लभ श्रीखंड।
अनल दाहि पीटत घनहिं, परसु बदन यह दंड ॥३७॥

शब्दार्थ—सुगंध बसाई (सुगंध = उत्तम गंध, बसाना = महँका देना) = सुगंध महँका देता है, कुल्हाड़े को अपनी सुगंध से महँका देता है।

अर्थ—हे भाई ! सुनो, संतों के लक्षण अगणित हैं और वे वेद-पुराणों में प्रसिद्ध हैं ॥६॥ संतों और असंतों की करनी ऐसी है कि जैसे चन्दन और कुल्हाड़े का आचरण (रहनी, करनी) है ॥७॥ हे भाई ! सुनो, (उनके आचरण कहता हूँ) कुल्हाड़ा मलय चंदन को काटता है (जैसे वह और वृक्षों को काटता है) और चंदन अपना गुण देकर उसे सुगंध से महँका देता है ॥८॥ उसी (अपने साधु गुण) से चन्दन देवताओं के मस्तक पर चढ़ता है और जगत् को प्रिय है और कुल्हाड़े के मुख को अग्नि में तपाकर फिर घनों से पीटा जाता है, यह उसे दंड मिलता है। (ऐसे ही संत जगत् प्रिय होते हैं और देवताओं के सिर पर चढ़कर अर्थात् देवलोक लाँघकर परधाम को जाते हैं और खल नाना प्रकार अपमानों से तपकर फिर कठिन राज दंड पाते हैं) ॥३७॥

विशेष—(१) 'संतन्ह के लच्छन···'—श्रीभरतजी ने संतों के लक्षण और संत-असंत के भेद पूछे हैं। श्रीरामजी दोनों के लक्षण साथ-साथ कहते हैं, फिर पृथक्-पृथक् भी कहेंगे। 'भ्राता'—श्रीभरतजी आपको स्वामी ही मानते हैं, पर आप उन्हें भाई (बराबर वाला) ही मानते हैं। 'अगनित श्रुति पुरान बिख्याता'—यह कहकर श्रीभरतजी के वचन—'संतन्ह कै महिमा रघुराई। बहु बिधि बेद पुरानन्हि गाई ॥" का समर्थन करते हैं।

(२) 'काटइ परसु मलय···'—कुठार अपने स्वभावानुसार सब वृक्षों की तरह चंदन को भी काटता है। वैसे खल सबको दुःख देते हैं, वैसे संतों को भी दुःख देते हैं। सन्त सबको सुख देते हैं वैसे खलों को भी सुख देते हैं ; यथा—"उमा संत कै इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई ॥" (सुं॰ दो॰ ४॰)।

(३) 'ताते सुर सीसन्ह चढ़त···'—उपर्युक्त बातों से पाया गया कि खलों को तो इस कर्म में लाभ ही होता है, उसपर कहते हैं कि वह लाभ नहीं है; किन्तु उसके प्रतिफल रूप में उन्हें लोक में अपमान होता है, राज दंड पाते हैं और अंत में यमराज के यहाँ भी यातना होती है। संत अपनी सहनशीलता से जगत् मात्र से पूजित होते हैं और अंत में परधाम को जाते हैं।

आगे केवल संतों के लक्षण कहते हैं—

बिषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर ॥१॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी ॥२॥

शब्दार्थ—अभूतरिपु = उनका कोई शत्रु पैदा ही नहीं हुआ, अजातशत्रु। अमर्ष = असहनशीलता, असहिष्णुता। बिमद = सब प्रकार के मद से हीन।

अर्थ—विषयों में लिप्त नहीं होते, शील और श्रेष्ठ गुणों की खान होते हैं। पराया दुःख देखकर दुखी और सुख देखकर सुखी होते हैं ॥१॥ वे सबमें समान भाव रखते हैं (शत्रु-मित्र, उदासीन में भेद नहीं रखते), उनका कोई शत्रु नहीं है, वे मद रहित और वैराग्यवान् होते हैं। वे लोभ, असहिष्णुता, हर्ष और भय को त्याग किये हुए हैं ॥२॥

विशेष—(१) 'बिषय अलंपट'—विषयों का संसर्ग रहने पर भी वे उनका निर्वाह मात्र के लिये ग्रहण करते हैं, उसमें लिप्त नहीं होते। (अतः, राग-द्वेष से बचे रहते हैं) इसीसे वे शील आदि गुणों की खान होते हैं। 'पर दुख दुख···'—सबमें अपनपौ मानते हैं, इसीसे सबके दुःख में दुखी और सुख में सुखी होते हैं। इसीसे आगे 'सम' भी कहा है ; यथा—"आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं यदि वा

दुःखं स योगी परमो मतः ॥" (गीता ६।३२), अर्थात् जो योगी अपनी सादृश्यता (समान अपनापन होने) से सब प्राणियों में सम देखता है और सुख अथवा दुःख को भी (सबमें सम देखता है) वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है। भक्तमाल में कथा है कि श्रीकेवलराम (श्रीकूवा) जी को बैल के मारे जाने का दुःख ऐसा व्याप्त हुआ कि उनके शरीर पर सोंटे का दाग उपट आया। यह स्वभाव की कोमलता है।

(२) 'सम अभूतरिपु···'—अपनी हार्दिक समता के कारण उनका कोई शत्रु रह ही नहीं जाता। लोभ नहीं है, क्योंकि संतोष है। 'अमर्ष' जैसे कि प्रतिष्ठित जगह में अपमानित होने पर, एवं अपनी बात कटने पर प्रायः लोगों को क्रोध हो आता है, वह नहीं होता, उसे त्यागे हुए रहते हैं। अत्यन्त आदर एवं विषय प्राप्ति पर हर्ष नहीं होता और अपने प्रभु को ही सर्वत्र सबमें देखते हैं, इससे किसी से भय नहीं करते कि प्रभु किसी के भी रूप से जो कुछ करेंगे, वह हमारे कर्मानुसार न्याय ही होगा। उसमें भी हमारी प्रीति के अनुरूप प्रभु भी चराचर रूप से मुझसे प्रीत्यात्मक ही भाव रक्खेंगे, तब भय क्यों करें ?

कोमलचित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया ॥३॥
सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रानसम मम ते इ प्रानी ॥४॥
बिगत काम मम नाम-परायन। सांति बिरति बिनती मुदितायन ॥५॥
सीतलता सरलता मयत्री। द्विजपद प्रीति धरम जनयत्री ॥६॥

शब्दार्थ—मुदिता = आनंद वृत्ति। जनयत्री = पैदा करनेवाली, माता।

अर्थ—वे कोमल-चित्त होते हैं, उनकी दीनों पर दया रहती है और वे मन, वचन और कर्म से निष्कपट होकर मेरी भक्ति करते हैं ॥३॥ वे सबको मान बड़ाई देते हैं और स्वयं मान रहित होते हैं। हे भरत ! वे प्राणी मुझे अपने प्राणों के समान (प्रिय) हैं ॥४॥ वे कामनारहित हैं और निष्काम भाव से मेरे नाम (आराधन) में लगे रहते हैं। शान्ति, वैराग्य, विनम्रता और मुदिता के घर हैं ॥५॥ शीतलता (कारण पर भी क्रोध न करना), सीधापन (सरल स्वभाव अर्थात् छल रहित होना), मित्रता और ब्राह्मणों के चरणों में प्रीति है, जो सब धर्मों को पैदा करनेवाली है ॥६॥

विशेष—(१) 'कोमलचित···'—चित्त कोमल होने से ही दीनों पर दया होती है ; यथा—"नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता ॥" (अ॰ दो॰ १); 'अमाया'—दिखाने के लिये नहीं, वा, अर्थ आदि की चाह अर्थात् स्वार्थ ही छल एवं माया है ; यथा—"स्वारथ छल फल चारि बिहाई।" (अ॰ दो॰ ३००); अमाया अर्थात् स्वार्थ रहित।

(२) 'सबहि मानप्रद···'—सबको निज प्रभु मय मान कर बड़ाई देते हैं और अपनेको सेवक मानकर स्वयं अमानी रहते हैं। 'तेइ प्रानी'—वास्तव मे वे ही प्राणी हैं अन्यथा मुझसे विमुख तो शव (मुर्दा) के समान हैं।

यहाँ मुदिता, विरति, मैत्री और 'कोमल चित्त दीनन्ह पर दाया।' अर्थात् करुणा, ये चारो कहे गये। ये चारो योगशास्त्र में समाधि योग्यता के परकर्म कहे गये हैं, यथा—"मैत्री करुणा मुदितोपेक्षाणां सुखदुःख पुण्यापुण्य विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।" (यो॰ सू॰ १।३३)। इसमें 'उपेक्षा' में उपर्युक्त 'विरक्ति' का भाव है।

यहाँ के उपर्युक्त लक्षण गीता अ० १२।१३-१६ में भी मिलते हैं।

ये सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर ॥७॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं ॥८॥

दोहा—निंदा अस्तुति उभय सम, ममता मम पद-कंज।
ते सज्जन मम प्रान-प्रिय, गुन-मंदिर सुख-पुंज ॥३८॥

अर्थ—हे तात! जिसके हृदय में ये सब लक्षण बसते हों, उसे निरंतर सत्य ही संत जानना ॥७॥ शम (अंतःकरण की वासना त्याग), दम (बाह्य-इन्द्रिय-विषय-त्याग), नियम (शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरभक्ति) और नीति से कभी नहीं डगते (चूकते)। कठोर वचन कभी नहीं बोलते ॥८॥ उन्हें निंदा और प्रशंसा, दोनों ही समान हैं। मेरे चरण-कमलों में उनका ममत्व है। वे सज्जन गुणों के स्थान और सुखराशि हैं, वे मुझको प्राणों के समान प्रिय हैं ॥३८॥

विशेष—(१) 'ये सब लच्छन...'—जिस किसी में भी ये लक्षण हों, वही सच्चा संत है चाहे वह किसी भी जाति एवं कुल का हो। जैसे जिस पात्र में गंगाजल रक्खा हो, वही गंगाजल का पात्र कहा जाता है। चाहे वह पात्र मिट्टी का हो और चाहे स्वर्ण का। 'संत संतत फुर'; यथा—"नीके तो साधु सबै तुलसी पै तेई रघुबीर के सेवक साँचे।" (क० उ० ११८)।

(२) 'ममता मम पद-कंज'—यही सब साधनों का फल है; यथा—"तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल यह सुंदर॥" (दो० ४८), ऐसे ही भक्त 'गुन-मंदिर सुख-पुंज' भी हो जाते हैं।

इस एक दोहे में संतों के लक्षण कहते हुए उन्हें तीन बार कहा गया—'प्रान सम ममते प्रानी' 'जानेहु तात संत संतत फुर' और 'ते सज्जन मम प्रान-प्रिय' इनमें भक्तों का कोई विभाग नहीं है किंतु कहने की रीति है, ऐसे ही गीता १२ वें अध्याय में ६ बार कहा गया है, पर वहाँ कोई विभाग नहीं है।

आगे इनके विपर्यय में असंतों के दोष दिखाते हैं—

सुनहु असंतन केर सुभाऊ। भूलेहु संगति करिय न काऊ ॥१॥
तिन्ह कर संग सदा दुखदाई। जिमि कपिलहि घालइ हरहाई ॥२॥
खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर-संपति देखी ॥३॥

अर्थ—(अब) असन्तों का स्वभाव सुनो, भूलकर भी उनका कभी संग न करना चाहिये ॥१॥ (क्योंकि) उनका संग सदा दुखदायी है, जैसे कि हरहाई (चुराकर दूसरे का खेत खानेवाली) गऊ कपिला (धूम्रवर्णा सुलक्षणा सीधी सादी) गऊ को साथ में लेकर नष्ट कर डालती है (वैसे असंत भी सूधे मनुष्यों को दोषी कर देते हैं,) ॥२॥ खलों के हृदय में अत्यन्त अधिक जलन बनी रहती है, वे परायी संपत्ति देखकर सदा जला करते हैं ॥३॥

विशेष—(१) 'भूलेहु संगति करिय न काऊ।'—कोई यह न समझे कि हम खलों से भी मिलकर अपना काम निकाल लें, फिर अलग हो जायँगे। उसे भी निषेध करते हैं कि कभी भी उनका संग नहीं करना चाहिये। जैसे हरहाई सो साथ और कपिला उसके बदले में मारी जाय। अन्यत्र भी कहा है; यथा—"दुःसङ्गः सर्वथैव त्याज्यः।" (नारदभक्तिसूत्र); अर्थात् दुःसङ्ग का सर्वथा ही त्याग करना चाहिये। तथा—"यद्यसद्भिः पथि पुनः शिश्नोदरकृतोद्यमैः। आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत्॥ सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिः श्रीर्ह्रीर्यशः क्षमा। शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति सङ्क्षयम्॥ तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु। सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीडामृगेषु च॥" (भाग० ३।३१।३२-३४)। अर्थात् जो मनुष्य शिश्नोदर परायण (स्त्री और पेट-साधन एवं धन में ही आसक्त) दुष्ट मनुष्यों का संग करके उन्हीं के आचरण भी करने लगता है। वह उन्हीं की भाँति अंधकार रूप नरकों में जाता है। क्योंकि दुष्टों के सङ्ग से सत्य आदि सब गुण नष्ट हो जाते हैं। अतएव उन अशान्त चित्त, मूर्ख, नष्ट-बुद्धि, स्त्रियों के हाथ के खिलौने रूप, शोचनीय, दुष्ट मनुष्यों का सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये।

(२) 'खलन्ह हृदय अति ताप···'—वे ऊपर से शीतल बने दिखते हैं, पर हृदय से जला करते हैं। संत—'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर' कहे गये हैं। ये उसके विरुद्ध हैं; यथा—"जब काहू कै देखहिं बिपती। सुखी भये..." (दो० ३९)।

जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई॥४॥
काम - क्रोध - मद - लोभ-परायन। निर्दय कपटी कुटिल मलायन॥५॥
बैर अकारन सब काहू सों। जो कर हित अनहित ताहू सों॥६॥

अर्थ—जहाँ कहीं दूसरे की निंदा सुनते हैं, वहाँ ऐसे प्रसन्न होते हैं, मानों नवो निधियाँ उनको (मार्ग में) पड़ी हुई मिल गई हों॥४॥ काम, क्रोध, मद और लोभ में तत्पर रहते हैं, दयारहित, कपटी, कुटिल और पापों के स्थान हैं (पापी हैं)॥५॥ विना कारण ही सब किसी से वैर रखते हैं, जो उनका हित करता है उससे भी बुराई ही करते हैं॥६॥

विशेष—(१) 'परी निधि पाई'—निधि पाने से लोगों की जीविका होती है, वैसे निन्दा ही इनकी जीविका है, इसीसे हर्षित होते हैं। 'पाई' का भाव यह कि निन्दा का मसाला ढूँढा करते हैं, उपाय से जाना तो वह कमाया हुआ धन हुआ और संयोगतः कहीं चलते-फिरते सुन लिया तो मानों पड़ा हुआ धन पा गये। 'जहँ कहुँ'—का भाव यह कि ये उसके लिये फिरा करते हैं। पर निंदा भारी पाप है। अतः, प्रायः लोग नहीं करते, इससे कहीं-कहीं सुन पाते हैं।

(२) 'काम-क्रोध-मद-लोभ...'—'कामी' होने से 'मलायन' हैं; अर्थात् नरक रूप हैं। 'क्रोधी' होने से 'निर्दय' मदांध होने से 'कुटिल' और 'लोभी' होने से 'कपटी' हैं। यहाँ यथासख्य नहीं है, अर्थ की संगति के अनुसार पाठ क्रम मानना चाहिये। यहाँ 'काम' को आदि में कहा; क्योंकि इसी से क्रोध, मद और लोभ होते हैं; यथा—"काम एष क्रोध एष···" (गीता ३।३७); "कामात्क्रोधोऽभिजायते।" (गीता २।६२); गुण, बल आदि की कामना पूर्त्ति पर उनके मद होते हैं और धन की कामना पूर्त्ति पर लोभ होता है।

(३) 'बैर अकारन सब काहू सों।...'—संत 'अभूतरिपु' होते हैं और असंत विना कारण

ही वैर करते हैं। संत शत्रु का भी हित ही करते हैं, खल हितैषी का भी अहित करते हैं। पुन. संत दयालु और सरल होते हैं, असंत निर्दय और कपटी होते हैं। संत 'निगत काम मम नाम परायन' और खल 'काम क्रोध मद लोभ परायन', सत 'साति निरति बिनती मुदितायन' और खल 'मलायन' इत्यादि भेद हैं।

झूठइ लेना झूठइ देना। झूठइ भोजन झूठ चबेना ॥७॥
बोलहिं मधुर वचन जिमि मोरा। खाइ महा अहि हृदय कठोरा ॥८॥

दोहा—परद्रोही परदार-रत, परधन परअपवाद।
ते नर पाँवर पापमय, देह धरे मनुजाद ॥३९॥

अर्थ—उनका लेना झूठ ही और देना भी झूठ ही है (अर्थात् उनके सब प्रकार के लेन-देन आदि व्यवहार झूठ से भरे हुए होते हैं)। उनका भोजन झूठ और चबेना भी झूठ ही ॥७॥ जैसे मोर बहुत मीठा बोलता है, पर उसका हृदय ऐसा कठोर होता है कि वह महा विषधर सर्प को खा जाता है, (उसे विष भी नहीं व्यापता) वैसे ही खल भी ऊपर से मीठे वचन बोलते हैं (पर हृदय के बड़े कठोर होते हैं)॥८॥ दूसरे से द्रोह करते हैं, पराये की स्त्री, पराये धन और पराई निंदा में आसक्त रहते हैं, ऐसे मनुष्य नीच और पापमय हैं (पाप ही के पुतले हैं), खल देह धारण किये हुए राक्षस ही हैं ॥३९॥

विशेष—(१) 'झूठइ लेना झूठइ देना ·'—जहाँ उनका भाग नहीं, वहाँ भी झूठा भाग दिखा-कर लेते हैं। देना झूठ करते हैं, लिखे हुए कागज पर भी उसे झूठा कर देते हैं। अथवा झूठा ही कहते हैं कि हमें अमुक से इतना लेना (पाना) है और झूठा ही कहते हैं कि हम इतना दान देते हैं, इत्यादि रीति से झूठी प्रतिष्ठा बढाते हैं। 'झूठइ भोजन···'—झूठा ही कहा करते हैं कि हम अमुक-अमुक उत्तम वस्तुएँ खाते हैं और ऐसी-ऐसी उत्तम वस्तुएँ चबाते हैं, इत्यादि कह-कहकर प्रतिष्ठा चाहते हैं। तात्पर्य यह कि उनके सभी व्यवहार झूठ से भरे हुए होते हैं।

(२) 'बोलहिं मधुर बचन ··'—मीठी बातें कहकर लोगों को धोखा देते हैं। हृदय में स्वार्थ साधन के लिये कठोरता एव खोटे कर्म साधने की प्रवृत्ति रहती है।

(३) 'परद्रोही परदार-रत ··'—पहले परद्रोही कहकर फिर उसके कारण कहे कि परस्त्री, पर-धन एव पराई निंदा के सम्बन्ध से सबसे द्रोह करते हैं। पूर्व काम और लोभ परायण कहे गये थे, वह अपनी स्त्री और अपने धन के सम्बन्ध में लग सकता है। यहाँ 'परदार' और 'परधन' मे रत होना कहकर दूसरी बात कही गई है। अत, पुनरुक्ति नहीं है।

धर्म के चार अग 'सत्य, शौच, दया, दान' कहे गये हैं, दो० २० चौ० ३ देखिये। वैसे ही यहाँ अधर्म के भी चारों अंग कहे गये है—असत्य, अशौच (संग), निष्ठुरता और लोभ, ये चार इनमें पूर्ण हैं यथा—"झूठइ लेना झूठइ देना।"—असत्य, 'परदार-रत'—संग, "बोलहि मधुर" हृदय कठोरा ॥"—निष्ठुरता और 'परधन-रत'—यह लोभ है। ये चारों, धर्म के चारों अंगों के विरोधी हैं।

(४) 'देह धरे मनुजाद'—राक्षस मनुष्यों को खाते है और ये मनुष्यों के धन, कर्म और धर्म को नाश करते हैं।

लोभइ ओढ़न लोभइ डासन। सिस्नोदर-पर जमपुर त्रास न ॥१॥
काहू की जौं सुनहिं बड़ाई। स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई ॥२॥
जब काहू कै देखहिं बिपती। सुखी भये मानहुँ जग-नृपती ॥३॥

अर्थ—लोभ ही उनका ओढ़ना और लोभ ही बिछौना है, लिङ्ग और पेट इन्हीं दो की तृप्ति में तत्पर रहते हैं, इन्हीं के लिये परस्त्री और परधन हरण आदि के पाप करते हैं, इन पापों से यमपुर में कड़े दंड दिये जाते हैं, पर इन्हें उनकी परवा नहीं है, (भाव यह कि लोग इन्हें शास्त्र दृष्टि से भय दिखाते हैं, पर ये नहीं मानते) ॥१॥ जब किसी की बड़ाई सुनते हैं तब ऐसी लंबी साँस लेते हैं, मानों इन्हें जूड़ी आई है ॥२॥ और जब किसी की विपत्ति सुनते हैं, तब सुखी होते हैं, मानों जगत भर के राजा हो गये ॥३॥

विशेष—(१) 'लोभइ ओढ़न···'—इनका सर्वाङ्ग लोभ ही में ओत-प्रोत है। दिन रात सोते-जागते लोभ ही के व्यापार में लगे रहते हैं।

(२) 'जनु जूड़ी आई'—जाड़ा देकर ज्वर आने पर जैसे श्वास चलती है वैसे श्वास लेते हैं, उस दिन भूख भी नहीं रह जाती। 'जौं सुनहिं'—उनके डर से कोई दूसरे की बड़ाई उनसे नहीं करता। अचानक कहीं कान में पड़ जाती है, तब यह दशा होती है। पर-निंदा-श्रवण में तो 'जहँ कहुँ' कहा गया था; अर्थात् उसे तो खोजा करते हैं। पर दूसरे की प्रशंसा घर पर आकर भी कोई सुनावे, तो नहीं सुनते।

(३) 'जब काहू कै देखहि बिपती।···' पूर्व कहा था—'जरहिं सदा पर संपति देखी।' अब कहते हैं कि परायी विपत्ति पर इन्हें *बड़ा सुख होता है, मानों ये जगत् भर के राजा हो गये।* भाव यह कि मानों इन्हीं की आज्ञा से उसे विपत्ति आई है, इस बहादुरी से सुखी होते हैं।

स्वारथ-रत परिवार-बिरोधी। लंपट काम लोभ अति क्रोधी ॥४॥
मातु पिता गुरु बिप्र न मानहिं। आपु गये अरु घालहिं आनहिं ॥५॥
करहिं मोह-बस द्रोह परावा। संत संग हरिकथा न भावा ॥६॥

अर्थ—स्वार्थ-साधन में तत्पर रहते हैं, अपने कुटुम्बियों से विरोध रखते हैं, काम और लोभ में अत्यन्त आसक्त रहते हैं और अत्यन्त क्रोधी हैं ॥४॥ माता, पिता, गुरु और ब्राह्मण को नहीं मानते। आप तो गये बीते हैं ही, दूसरों को भी नष्ट करते हैं ॥५॥ मोहवश दूसरों से शत्रुता करते हैं, संतों का साथ और भगवान् की कथा इन्हें नहीं रुचती (क्योंकि सत्संग और कथा से मोह का नाश होता है और वह इनकी प्रकृति के प्रतिकूल है) ॥६॥

विशेष—(१) 'स्वारथ-रत परिवार-बिरोधी।···'—पहले 'बैर अकारन सब काहू सों' कहा गया था उससे इतना ही जाना गया था कि बाहरवालों से विरोध करते हैं। यहाँ और अधिकता दिखाते हैं कि ये स्वार्थ-वश परिवार से भी विरोध करते हैं।

'लंपट काम लोभ ···'—ऊपर कहा गया था—'काम क्रोध मद लोभ परायन' यहाँ उसमें 'अति लंपट' कहकर अधिकता कही गई है। 'अति' दीपदेहली है। यह भी भाव है कि कुटुम्बगण में भी काम लोभ और क्रोध का अति बर्त्ताव करते हैं, यह पूर्व से विशेषता है।

(२) 'मातु पिता गुरु विप्र न मानहिं ।'– मानने के विषय में माता का पद सबसे बड़ा है, फिर क्रमशः पिता, गुरु (उपाध्याय) और विप्र का पद है ; यथा—"उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता । सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते ॥" (मनु०) ; वैसे ही क्रम से यहाँ लिखा गया है। 'आपु गये …'—स्वयं नहीं मानते, दूसरे को भी बहकाकर नहीं मानने देते कि दूसरा मानेगा, तो लोग मुझे नीचा दिखायेंगे कि अमुक-अमुक माता आदि के भक्त हैं, पर यह नहीं है।

(३) 'करहिं मोह बस…'—मोह यह कि अपनेको तो अमर माने हुए हैं और इसीसे सबसे द्रोह करते हैं कि मेरा कोई क्या करेगा ?

अवगुन - सिंधु मंदमति कामी । बेद - बिदूषक पर - धन - स्वामी ॥७॥
बिप्र - द्रोह पर - द्रोह बिसेषा । दंभ कपट जिय धरे सुबेषा ॥८॥

दोहा—ऐसे अधम मनुज खल, कृतजुग त्रेता नाहिं ।
द्वापर कछुक बृंद बहु, होइहहिं कलिजुग माहिं ॥४०॥

अर्थ—अवगुणों के समुद्र हैं (अर्थात् जितने कहे गये, उतने ही अवगुण नहीं हैं, किन्तु इनके अवगुणों की थाह नहीं है), मंद बुद्धि और कामी हैं, वेदों के उपहास करनेवाले हैं और पराये धन के स्वामी हैं ॥७॥ (द्रोह तो सभी से करते हैं पर) ब्राह्मणों से और पर (परमेश्वर) से विशेष द्रोह करते हैं। उनके हृदय में पाखंड और कपट हैं और ऊपर से वे सुंदर वेष धारण किये हुए रहते हैं ॥८॥ ऐसे अधम और दुष्ट मनुष्य सतयुग और त्रेता में नहीं होते । द्वापर में कुछ होंगे और कलियुग में तो इनके बहुत समूह होंगे ॥४०॥

विशेष—(१) 'अवगुन सिंधु…'—समष्टि में सब अवगुणों की अगाधता कही गई उनमें जो कुछ गिनाये गये हैं, उनकी भी अगाधता यहाँ जना दी। 'बेद बिदूषक'—वेदों के अगाध आशय को न समझ कर उनके वाक्यों को असम्बद्ध आदि दोषों से युक्त कहकर हँसी उड़ाते हैं। 'परधन स्वामी'—दूसरे के धन पर अधिकार जमा बैठते हैं, ऐसा प्रकट करते हैं मानों वह उन्हीं का है —'कामी'—अपनी मंद बुद्धि के अनुसार अनेकों कामनाएँ किया करते हैं—गीता १६।१२-१५ देखिये।

(२) 'बिप्र-द्रोह पर-द्रोह …'—ब्राह्मण और ईश्वर की भी द्रोह-भाव से निन्दा करते हैं ; यथा—"बिप्र द्रोह जनु बाँट पर्‍यो हठि सब को बैर बढ़ावउँ ।" (वि० ११२) । 'दंभ कपट' मन का और 'धरे सुबेषा' तन का दोष कहा गया है । दंभ और कपट के भाव छिपाने के लिये सुवेष धारण किये रहते हैं। पहले 'बिप्र न मानहिं' कहा गया था । अब यह भी कहते हैं कि उनसे वैर भी रखते हैं।

(३) 'ऐसे अधम'—उपर्युक्त लक्षणों से युक्त, 'मनुज खल'—दैत्य और राक्षस खल तो सतयुग और त्रेता में भी होते हैं, पर मनुष्य-खल वैसे द्वापर में कुछ और विशेष कलियुग में ही होते हैं।

शंका—जो त्रेता में वैसे खल न थे तो श्रीभरतजी ने उनके लक्षण क्यों पूछे ?

समाधान—भविष्य के लोगों के लिये ; यथा—"संत असंतन्ह के गुन भाखे । ते न परहिं भव जिन्ह लखि राखे ॥" यह आगे कहा गया है ।

परहित-सरिस धर्म नहि भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥१॥
निर्नय सकल पुरान बेद कर। कहेउँ तात जानहि कोविद नर ॥२॥
नर-सरीर धरि जे पर पीरा। करहि ते सहहि महाभव भीरा ॥३॥
करहि मोहबस नर अघ नाना। स्वारथ-रत परलोक नसाना ॥४॥
कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ करम फल दाता ॥५॥

अर्थ—हे भाई! परोपकार के समान दूसरा धर्म नहीं है और दूसरों को दुःख देने के समान अधमता (नीचता, पाप एव अधर्म) नहीं है ॥१॥ हे तात! सब पुराणों और वेदों का यह निर्णय (फैसला) मैंने तुमसे कहा है, इसे पंडित लोग जानते हैं ॥२॥ जो लोग मनुष्य शरीर धरकर दूसरों को पीड़ित करते हैं वे अत्यन्त भव भय सहते हैं ॥३॥ मनुष्य मोहवश अनेकों पाप करते हैं और स्वार्थ में लगे रहते हैं, (इसीसे) उनका परलोक नष्ट हो गया है ॥४॥ हे भाई! उनके लिये मैं काल रूप होकर उनके शुभ और अशुभ कर्मों के भले और बुरे फलों को देनेवाला हूँ ॥५॥

विशेष—(१) 'परहित-सरिस धर्म नहिं भाई'—यह संत धर्म और 'पर पीड़ा सम नहि अधमाई।' यह असंत का धर्म (लक्षण) है।

(२) 'निर्नय सकल ', यथा—"अष्टादशपुराणानां व्यासस्य वचनद्वयम्। परोपकारः पुण्याय पापाय परपीड़नम्॥"

'जानहिं कोविद नर'—पंडितों ने सबको पढ़कर निश्चय किया है, वे इस बात के साक्षी हैं।

(३) 'नर-सरीर धरि '—पर पीड़ा का फल अन्य योनिवालों को भी मिलता है, वे अज्ञानी होने के कारण भव भीर ही पाते हैं। परन्तु नर शरीर गुण ज्ञान का निधान है, वह यदि पर पीड़ा करता है तो उसे महा-भव-भीर सहनी पड़ती है। बार-बार जन्म-मरण के कष्ट एवं चौरासी लक्ष योनियों में भ्रमण करते हुए महा दुःख भोगने पड़ते हैं, यथा—"जन्मत मरत दुसह दुख होई।" (दो॰ १०८), और अन्य योनियों के दुःख प्रकट ही हैं

अन्य शरीरवाले प्राकृत नियमानुसार प्रतिकार रूप में उतना ही दंड पाते हैं।

(४) 'करहि मोहबस '—मोहवश देह को ही आत्मा मान लेते हैं, फिर उसके पोषण-रूप स्वार्थ में अंधे होकर नाना प्रकार के पाप करते हैं। विश्वास घात, जीव घात, चोरी, झूठ, आदि करने से उनका परलोक नाश होता है, अर्थात् वे परधाम प्राप्ति से वंचित रह जाते हैं, जो कि नर-शरीर का चरम लक्ष्य है।

(५) 'काल-रूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। '—अब उनके कर्मों की फल-प्राप्ति कहते हैं। इतना ही नहीं है कि परलोकहानि-मात्र सह कर वे बच जायँगे। उन्हें कर्मों के फल भी भोगने पड़ेंगे। जो जैसा कर्म करता है, उसके फल भोगने का समय उसका सुदिन दुर्दिन कहा जाता है, यह जीवों के कर्मानुसार भगवान् की इच्छा से होता है यथा—"भृकुटि विलास भयंकर काला।" (छ॰ दो॰ १४), "कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।" (गीता ११।३२)।

अस बिचारि जे परम सयाने। भजहिं मोहि संसृत दुख जानें ॥६॥
त्यागहिं कर्म सुभासुभ-दायक। भजहिं मोहि सुर-नर-मुनिनायक ॥७॥
संत-असंतन्ह के गुन भाखे। ते न परहिं भव जिन्ह लखि राखे ॥८॥

दोहा—सुनहु तात मायाकृत, गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखियहिं, देखिय सो अविवेक ॥४१॥

अर्थ—ऐसा विचारकर जो लोग परम प्रवीण हैं, वे जन्म मरण के दुःखों को जानकर मेरा भजन करते हैं (क्योंकि मेरी भक्ति से भव दुःख छूटता है) ॥६॥ देवता, मनुष्य और मुनीश्वर शुभाशुभ देनेवाले (अर्थात सकाम) कर्मों को त्यागकर मेरा भजन करते हैं। [निष्काम कर्म तो भगवद्भजन ही है ; यथा—"यतः प्रवृत्ति भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥" (गीता १८।४६)] ॥७॥ संतों और असंतों के जो गुण कहे गये, उनको जिन्होंने लख (जान-बूझ) रक्खा है वे भव में नहीं पड़ते ॥८॥ हे तात ! सुनो, माया के रचे हुए अनेक गुण और दोष हैं। लाभ इसीमें है कि दोनों को न देखे, जो देखते हैं, वह उनका अज्ञान है ॥४१॥

विशेष—(१) 'त्यागहिं कर्म …'—शुभाशुभ कर्मों के साथ 'दायक' शब्द बड़े सँभाल का है। कर्म का सर्वथा त्याग निषिद्ध है, उसके फल का ही त्याग शास्त्र सम्मित है ; यथा—"कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन। सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥…न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः। यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥" (गीता १८।६–११)।

निष्काम बुद्धि से तत्त्व ज्ञान पूर्वक जो कर्म किये जाते हैं, वे विश्व-रूप भगवान् की पूजा-रूप में ही हैं, देव, पितृ, ऋषि आदि सभी भगवान् के शरीर हैं। ऊपर कहा गया था कि शुभाशुभ कर्म के फल भगवान् काल-रूप से देते हैं। उससे बचने का उपाय यहाँ कहा गया।

कर्म-त्याग पूर्वक भगवदाराधन की यह भी रीति है कि मैं विहित कर्मों को भगवान् की ही प्रेरणा एव उनकी शक्ति से निमित्तमात्र होकर कर रहा हूँ। इस तरह ममता और आसक्ति का त्याग करना समस्त कर्मों का भगवान् मे अर्पण करना है और मेरे सर्वस्व भगवान् ही हैं, ऐसा समझकर नि स्वार्थ भाव तथा श्रद्धा सहित अनन्य प्रेम करना उनकी भक्ति है ; यथा—"ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परा। अनन्येनैव योगेन मा ध्यायन्त उपासते ॥ तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।" (गीता० १२।६–७)।

(२) 'संत-असंतन्ह के …' ; यथा—"तेहिते कछु गुन दोष बखाने। संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने ॥" (बा० दो० ५)—देखिये। वहाँ ग्रंथकार का स्वयं कथन है और यहाँ श्रीमुख वाणी है।
"संत-असंत भेद बिलगाई। प्रनतपाल मोहि कहहु बुझाई ॥" यह उपक्रम है और यहाँ—'संत-असंतन्ह के गुन भाखे। ते न …' यह उपसंहार है।

(३) 'सुनहु तात माया कृत …'—उपर्युक्त बातों का निष्कर्ष रूप सूक्ष्म बात कहना है, इसलिये 'सुनहु' कहकर सावधान किया। 'तात'—प्रियत्व का संबोधन है। भाव यह कि तुम अति प्रिय हो, इससे

यह परम रहस्य तुमसे कहता हूँ। 'माया कृत'''— ऊपर जो 'संत-असंतन्ह के गुन' कहे गये। उनमें संतों के गुणों को यहाँ 'गुन' कहा है और असन्तों के गुणों को 'दोष' कहा है। इन्हें यहाँ 'लखि राखे' कहा है, वही इस दोहे से स्पष्ट करते हैं कि जो संतों के गुण हैं, वे भगवान् की कृपा से उनकी विद्या माया के द्वारा हुए हैं और जो असंतों के दोष हैं वे उन्हीं की अविद्या दृष्टि के अनुसार भगवान् की सत्ता से होते हैं। इनमें जीवों का स्वातंत्र्य नहीं है; यथा—"यन्मायावशवर्त्तिविश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुराः।" (बाल्मी॰ मं॰ श्लो॰ ६); अतएव गुण-दोष दृष्टि छोड़कर इनके कर्त्ता भगवान् को ही देखना चाहिये कि वे ही सब कुछ हैं। अतएव दृढ़ करके उन्हीं की शरणागति करनी चाहिये तब वे अविद्या कृत अवगुणों को दबा कर विद्या माया द्वारा गुणों की प्राप्ति करावेंगे, यही विवेक है; यथा—"सतरंज कैसो राज काठ की सबै समाज महाराज बाजी रची प्रथम न हति। तुलसी प्रभु के हाथ हारिबो जीतिबो नाथ! बहु बेष बहु मुख सारदा कहति॥" (वि॰ २४६)।

ऊपर 'मायाकृत' गुण और दोषों को भगवान् का समझना कहा गया है, वह इससे कि माया की सत्ता भगवान् से ही है; यथा—"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।" (गीता ७।१४)। ऐसा ही श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है; यथा—"किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुणदोषयोः। गुणदोष दृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः॥" (११।१९।४५)।

श्रीमुख बचन सुनत सब भाई। हरषे प्रेम न हृदय समाई॥१॥
करहिं बिनय अति बारहिं बारा। हनूमान हिय हरष अपारा॥२॥
पुनि रघुपति निज मंदिर गये। येहि बिधि चरित करत नित नये॥३॥

अर्थ—श्रीरामजी के मुख के बचन सुनते ही सब भाई हर्षित हुए, उनके हृदय मे प्रेम नहीं समाता (अर्थात् पुलक और प्रेमाश्रु द्वारा बाहर भी निकल पड़ा)॥१॥ बार-बार अत्यन्त विनय कर रहे हैं। श्रीहनुमान्जी के हृदय में अपार हर्ष है॥२॥ फिर श्रीरघुनाथजी अपने महल को गये। इस प्रकार नित्य नये चरित करते हैं॥३॥

विशेष—(१) 'श्रीमुख'—बड़ों की वाणी सराहने का यह मुहावरा है। तात्पर्य यह कि प्रवीणता के बचन कहने में मुख की श्री अर्थात् शोभा है।

(२) 'करहिं विनय अति बारहि बारा।'—ऊपर प्रेम का होना कहा गया, यहाँ उसकी दशा कहते हैं कि मारे प्रेम के बार-बार विनय करते हैं कि बड़ी कृपा की जो हमें ऐसे सदुपदेश से कृतार्थ किया। 'हनूमान हिय हरष अपारा।' इनका हर्ष भाइयों से भी अधिक कहा गया, क्योंकि इनके द्वारा प्रश्न और उत्तर का संयोग हुआ था। सबके हर्ष का कारण—प्रभु के हृदय में दासों का पक्ष है। 'येहि विधि चरित'''—यह तो एक दिन का चरित कहा गया है, इसी तरह नित्य नये और चरित होते हैं।

'सुंदर उपवन देखन गये।' उपक्रम है और 'पुनि रघुपति निज मंदिर गये।' यह उपसंहार है।

बार बार नारद मुनि आवहिं। चरित पुनीत राम के गावहिं॥४॥
नित नव चरित देखि मुनि जाहीं। ब्रह्मलोक सब कथा कहाहीं॥५॥

सुनि बिरंचि अतिसय सुख मानहिं । पुनि पुनि तात करहु गुन-गानहिं ॥६॥
सनकादिक नारदहि सराहहिं । जद्यपि ब्रह्म-निरत मुनि आहहिं ॥७॥
सुनि गुनगान समाधि बिसारी । सादर सुनहिं परम अधिकारी ॥८॥

दोहा—जीवन - मुक्त ब्रह्मपर, चरित सुनहिं तजि ध्यान ।
जे हरि-कथा न करहिं रति, तिन्हके हिय पापान ॥४२॥

अर्थ—नारद मुनि बार-बार (प्रति दिन) श्रीअयोध्यापुरी में आते हैं और श्रीरामजी के पवित्र चरित गाते हैं ॥४॥ मुनि (नारद) नित्य नये चरित देखकर ब्रह्मलोक को जाते हैं और वहाँ सब कथा कहते हैं ॥५॥ सुनकर ब्रह्माजी अत्यन्त सुख मानते हैं और कहते हैं कि हे तात ! फिर-फिर (बार-बार) राम-गुण गान करो ॥६॥ सनकादिक नारद मुनि की प्रशंसा करते हैं यद्यपि वे मुनि ब्रह्म (ज्ञान) में अनुरक्त रहते हैं (भाव यह कि ब्रह्मानंद से श्रीरामचरित में अधिक आनन्द है) ॥७॥ गुण-गान सुनकर समाधि को भुला करके आदर के साथ श्रीरामचरित सुनते हैं (क्योंकि) वे श्रीरामचरित के परम अधिकारी हैं ॥८॥ सनकादिक मुनि जीवन्मुक्त और ब्रह्मपरायण हैं, वे भी ध्यान छोड़कर चरित सुनते हैं । (यह जानकर भी) जो हरि-कथा में प्रीति नहीं करते, उनके हृदय पत्थर (के समान कठोर) हैं ॥४२॥

विशेष—(१) 'सब कथा'—वहाँ सब कथा कही जाती है । 'सुनि बिरंचि अतिसय···'—देवता लोग भी सुख मानते हैं, पर श्रीब्रह्माजी अत्यन्त सुख मानते हैं, क्योंकि वे इस रहस्य के अधिक ज्ञाता हैं । जैसे राज्य-तिलक में कहा गया—'सो रस जान महेस' ।

(२) 'पुनि पुनि तात···'—यह श्रीब्रह्माजी की अत्यन्त श्रद्धा का सूचक है कि सुनने से उन्हें तृप्ति नहीं होती ।

(३) 'सुनि गुनगान समाधि बिसारी ।···'—सनकादि बराबर समाधि लगाया करते हैं । पर चरित गान सुनकर बराबर सुनते ही रह जाते हैं, इसके आनन्द के आगे समाधि के आनन्द की सुधि भी नहीं करते ; यथा—"मम गुन ग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह । ताकर सुख सोइ जानइ, परानंद संदोह ॥" (दो॰ ४६); 'सादर सुनहिं' —मन, बुद्धि और चित्त लगाकर सुनते हैं ; यथा—"सुनहुँ तात मति मन चित लाई ।" (आ॰ दो॰ १४); इसीसे वे 'परम अधिकारी' हैं ; यथा—"सदा सुनहिं सादर नर नारी । तेइ सुर बर मानस अधिकारी ॥" (बा॰ दो॰ ३७) । ये भी सदा सुना करते हैं; यथा—"आसा बसन व्यसन यह तिन्हहीं । रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं ॥" (दो॰ ३१), ये ध्यान समाधि छोड़कर सुनते हैं, इससे भी परम अधिकारी कहे गये, क्योंकि इसके रहस्य के विशेष ज्ञाता हैं, तब तो इन्हें चरित में ब्रह्मानन्द से अधिक रस मिलता है । कथा के अधिकारी दो० १२७ चौ० ६–८ में भी कहे गये हैं ।

श्रीमद्भागवत में भी ऐसा ही कहा गया है ; यथा—"इति मे छिन्नसंदेहा मुनयः सनकादयः । सभाजयित्वा परया भक्त्या गृणत संस्तवैः ॥" (११।१३।४१); अर्थात् सन्देह रहित सनकादिक मुनि लोग इस तरह परम भक्ति से मेरे गुणों की स्तुति करते हुए प्रणाम करते एवं मुझे पूजते हैं ।

समाधि—योग का परम फल, इस अवस्था में जीव सब प्रकार के क्लेशों से मुक्त हो जाता है और

उसे अनेक प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है और अंत में कैवल्य परम पद प्राप्त होता है।

(४) 'जीवनमुक्त ब्रह्मपर···'—जीवन्मुक्ति की व्यवस्था इस प्रकार है कि जिन्हें अब मुक्ति का उपाय शेष नहीं है, मुक्त रूप हैं, वे केवल प्रारब्ध भोग के लिये शरीरधारी हैं। जीते जी संसार से 'पद्मपत्रमिवांभसा' अलिप्त हैं; यथा—"देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम्। दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः॥ देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षित एव सासुः। तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः॥" (भाग० ११।१३।३६-३७) अर्थात् नश्वर देह रहे चाहे जाय, सिद्ध पुरुष उसे नहीं देखता, क्योंकि वह अपने स्वरूप को पा चुका है, भाग्य से वह प्राप्त हो चाहे न हो, जैसे मतवाला वस्त्र को। प्रारब्ध-वश देह भी तबतक स्वारंभक कर्म की प्रतीक्षा करते हुए रहती है; अर्थात् छूटती नहीं। परंच समाधि योग में आरूढ़ पुरुष प्रपंच सहित भी उसे नहीं देखता, जैसे जागा हुआ फिर निद्रा का अनुभव नहीं करता।

इसी अवस्था को भगवान् श्रीरामानन्दाचार्य ने ब्र० सू० आनन्दभाष्य ४।२।७ में—"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिस्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥" (का० २।३।१४), इस श्रुति की सार्थकता दिखाते हुए प्रतिपादित किया है कि सुख का कारण पुण्य और दुःख का कारण पाप है, हृदय से इन दोनों का त्याग हो जाता है, तभी अमृतत्व अर्थात् मोक्ष सुख मिलता है, ऐसा कहा गया है। इस तरह जो उपासना काल में ब्रह्म का अनुभव (ब्रह्मानन्द) प्राप्त करना है, वही जीवन्मुक्ति है। दो० ११७ चौ० ५ भी देखिये।

देह से जीवन्मुक्त हैं, अर्थात् देह धर्म से अलिप्त हैं और हृदय से ब्रह्म निरत हैं। तब भी चरित के आगे ब्रह्मानन्द को भूल जाते हैं। जैसे राजा जनक का ब्रह्मानन्द श्रीराम रूप के देखते ही भुला गया था इस तरह रूप और लीला की समानता भी देखी गई। पुनः पूर्वोक्त 'सोउ जाने कर फल यह लीला।' का यहाँ चरितार्थ भी है। 'तिन्हके हिय पापान'—देखने मात्र को उनमें प्राण हैं, पर विचारने से वे पत्थर के समान जड़ हैं।

यहाँ यह उपदेश है कि प्राणि-मात्र को चरित सुनना चाहिये।

पुरजन-उपदेश—प्रकरण

(श्रीरामगीता)

एक बार रघुनाथ बोलाये। गुरु - द्विज - पुरबासी सब आये॥१॥
बैठे गुरु मुनि अरु द्विज सज्जन। बोले बचन भगत-भव-भंजन॥२॥

अर्थ—एक दिन श्रीरघुनाथजी ने गुरु, ब्राह्मण और पुरवासियों को बुलाया, वे सब आये॥१॥ जब समस्त गुरुजन एवं गुरु वसिष्ठजी, मुनि, ब्राह्मण और सज्जन बैठ गये, तब भक्तों के भव (जन्म-मरण) के नाश करनेवाले श्रीरघुनाथजी मन-मंजन वचन बोले॥

विशेष—(१) 'एक बार रघुनाथ बोलाये ।···'—ऊपर कहा गया कि 'येहि विधि चरित करत नित नये' उनमें एक दिन का चरित उपवन जाना और वहाँ सत्संग होना लिखा गया और फिर वहाँ से लौटकर मंदिर में आना कहकर उस चरित का उपसंहार किया गया। अब दूसरे 'एक बार' का चरित लिखते हैं। रघुनाथ बोलाये'—सबको बुलाने का प्रयोजन यह कि श्रीरामजी सबको मुक्त करना चाहते हैं और मुक्ति के लिये ज्ञानोपासना आवश्यक हैं; यथा—"ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः।" यह श्रुति है, तथा—"भक्त्याहमेकया ग्राह्य." (भाग० ११।१४।११); इत्यादि। इसलिये वेद-शास्त्र की मर्यादा रखने के लिये सबको बुलाकर उपदेश करते हैं।

(२) 'गुरु-द्विज-पुरवासी सब आये'—गुरु शब्द से यहाँ सभी गुरुजन को लेना चाहिये, यथा—"गुरु जन लाज समाज बड़ ···" (बा० दो० २४८); और गुरु वसिष्ठजी तो हैं ही। यदि कहा जाय कि गुरु वसिष्ठ जी का यहाँ कोई प्रणाम आदि सत्कार करना नहीं कहा गया तो उत्तर यह है कि ग्रंथकार सूक्ष्म रीति से यह प्रसंग कह रहे हैं। प्रणाम-अभिवादन तो यहाँ किसी का भी नहीं लिखा गया। जिसका जैसा व्यवहार है, वह उस तरह आया और सत्कार पूर्वक बैठाया गया। यहाँ 'थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई' की रीति से कथन हो रहा है। 'सब' शब्द का भी यही भाव है कि सब कोई आये। प्रमुख व्यक्ति तो अवश्य ही सब आये थे।

यदि शंका की जाय कि जिस तरह प्रभु अपना स्वामित्व और सबको अपनी भक्ति करना कहेंगे। वह वसिष्ठजी के समक्ष लीलानुरोध से अनुचित है। तो समाधान यह है कि गुरुजन सभी वहाँ हैं, पर बातें पुरजनों के प्रति संबोधन करके कही गई हैं; यथा—'सुनहुँ सकल पुरजन मम बानी।' इत्यादि। वसिष्ठजी के होने का यह भी प्रमाण है कि यहाँ श्रीरामजी ने अपना ऐश्वर्य प्रकट कर दिया है, तब आगे 'एक बार वसिष्ठ मुनि आये।' का उपक्रम इसी आधार पर है कि जब प्रभु ने अपना ऐश्वर्य प्रकट किया है तो मेरे स्तुति आदि करने में उन्हें संकोच न होगा, पुनः आगे 'सबहि कहउँ कर जोरि' आदि वाक्य भी गुरुवर्ग के यहाँ होने को सूचित करते हैं।

(३) 'बैठे गुरु मुनि···'—पहले तो गुरु आदि के नाम कहे ही गये, यहाँ उनके नामों की आवृत्ति फिर की गई। क्योंकि पहले उन सबका आना कहा गया था। और फिर 'बैठे' के साथ भी उनके नाम देकर उनका यथायोग्य सत्कार द्वारा बैठाया जाना भी सूचित किया गया, इसमें प्रणाम-अभिवादन सब बर्त्ताव आ जाते हैं। नहीं तो एक बार के यों कथन से काम चल जाता—"सभा देखि गुरु मुनि द्विज सज्जन। बोले बचन···"।

सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहउँ न कछु ममता उर आनी ॥३॥
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई ॥४॥
सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानइ जोई ॥५॥
जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहिं बरजहु भय बिसराई ॥६॥

अर्थ—हे सब पुरवासियो! मेरे वचन सुनो, मैं हृदय में कुछ ममत्व लाकर नहीं कहता हूँ (अर्थात् मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि मैं राजा हूँ और ये मेरे हैं तो जो मैं कहूँगा अवश्य करेंगे।) ॥३॥ न तो कुछ अनीति कहता हूँ और न इस कथन में कुछ प्रभुता का भाव है (कि राजाज्ञा समझकर मान ही

लेना, प्रत्युत् मेरी प्रभुता का भय न रख कर,) सुनो और जो तुम्हें रुचे तो करो ॥२॥ (इसमें संदेह नहीं कि) मेरा वही सेवक है और वही अत्यन्त प्यारा है जो मेरी आज्ञा माने ॥३॥ हे भाई ! यदि मैं कुछ अनीति कहूँ तो भय भुलाकर मुझे रोक देना ॥४॥

विशेष—(१) 'सुनहु सकल पुरजन···'—यहाँ पर 'सुनहुँ सभासद' नहीं कहा, जैसे कि—'सुनहुँ सभासद भरत सुजाना ।'—एवं 'सुनहुँ सभासद सकल मुनिंदा ।' आदि प्रसंगों पर कहा गया है। क्योंकि सभा में गुरु विप्र भी हैं, जिन्हें उपदेश देना सामान्य रीति से माधुर्य भाव के प्रतिकूल है। 'पुरजन' कहने में सब आ भी जाते हैं और बात भी अशोभित नहीं होती। पुरजन कहा है, प्रजा जन नहीं कहा कि जिसमें जानपद सभी आ जाता। क्योंकि एक तो इसमें पुरवासी ही बुलाये गये हैं, दूसरे यह कि श्रीरामजी स्वयं भी पुरवासी हैं। अतएव सबसे बंधुत्व भाव प्रकट करते हैं कि भाई के नाते से हम उपदेश करते हैं, कुछ राजा भाव से नहीं।

'कहउँ न कछु ममता उर आनी ।'—उपर्युक्त भाव यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि मुझे यह ममत्व नहीं है कि श्रीअयोध्यापुरी मेरी है और तुम मेरी प्रजा हो। अतः, तुम्हारे लिये यह मेरी आज्ञा ही है।

(२) 'नहिं अनीति' अर्थात् शास्त्र विरुद्ध बात नहीं है। 'नहिं कछु प्रभुताई' अर्थात् यह राजाज्ञा नहीं है। 'सुनहु करहु···'—सुन लो, फिर जो तुम्हें अनुकूल हो तो करो, अर्थात् मेरे वचनों पर आप लोगों को समालोचना करने का पूर्ण अधिकार है। (राजाओं के लिये यह आदर्श नीति है।) भाव यह कि यदि मेरा कथन शास्त्रोक्त नीति के अनुसार हो और कोई प्रभुताई के दबाव का न हो, तो आप लोगों को रुचि पूर्वक करना चाहिये। फिर यह बात निस्संदेह है कि—

(३) 'सोइ सेवक प्रियतम मम सोई।···'—उपर्युक्त रीति से मेरी शुद्ध आज्ञा जो कोई मानता है, वही मेरा अत्यन्त प्यारा है और वही सच्चा सेवक है; यथा—"आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।" (अ॰ दो॰ ३००)। "कोउ पितु भगत···सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना।" (दो॰ ८६)। अन्यत्र भी कहा है—"श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञा तामुल्लंघ्य यो वर्तयेत्। आज्ञाछेदी मम द्वेष्टा मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः ॥" (पांचरात्र); अर्थात् श्रुति स्मृति मेरी ही आज्ञा हैं, इनका उल्लंघन करके जो आचरण करता है, वह आज्ञा भंग करनेवाला मेरा भक्त भी हो तो वैष्णव नहीं कहा जा सकता।

(४) 'जौं अनीति कछु···'—'जौं' का भाव यह कि मैं धर्मशास्त्र की नीति ही कहूँगा, यदि कहीं भूल से कुछ अनीति मेरे मुख से निकल जाय। वा, मैं तो नीति ही कहूँगा, पर उसे नीति वा अनीति समझना श्रोताओं की बुद्धि पर निर्भर है। 'भाई' यहाँ तुल्यता के भाव में कहा गया है, यह ऊपर भी कहा गया कि आप स्वयं भी पुरवासी हैं और सबसे बंधुत्व दृष्टि से कह रहे हैं। आगे भी तीन बार 'भाई' शब्द आया है—"सुलभ सुखद मारग यह भाई।"; "यहि तन कर फल बिषय न भाई।" और "यहि आचरन बस्य मैं भाई।" तात्पर्य यह है कि हम और आप लोग समान हैं, राजा होने से हम बड़े भाई के समान और आप लोग छोटे भाई के समान हैं। इस नाते से हमारी अनीति पर आप लोगों को समालोचना का अधिकार है और आप लोगों का सेवक भाव भी रहेगा। (जैसे श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामजी के छोटे भाई हैं और सेवक भी, वनगमन समय वाल्मीकीय रामायण में उन्होंने समालोचनात्मक संवाद किया है और वैसे ही कुछ श्रीभरतजी ने भी श्रीचित्रकूट में बात-चीत की है।) पुनः 'भाई' प्रिय संबोधन भी है इसलिये कि मधुर भाव से कहा हुआ उपदेश लगता है।

यहाँ तक उपदेश की भूमिका है आगे उपदेश प्रारंभ करते हैं—

बड़े भाग मानुष - तनु पावा। सुर - दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा ॥७॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सँवारा ॥८॥

दोहा—सो परत्र दुख पावइ, सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि, मिथ्या दोष लगाइ ॥४३॥

अर्थ—बड़े भाग्य से (सब किसीने) मनुष्य शरीर पाया है, यह देवताओं को भी दुर्लभ है—ऐसा सभी ग्रंथों ने कहा है ॥७॥ (अर्थ, धर्म और काम के) साधन का (नर तन) घर है और मोक्ष का दरवाजा है (अर्थात् इसी शरीर के द्वारा मोक्ष मिल सकता है)। इसे पाकर भी जिसने परलोक न बना लिया ॥८॥ वह दूसरे लोक में दुःख पाता है, शिर पीट-पीटकर पछताता है। काल, कर्म और ईश्वर को वह झूठा ही दोष लगाता है ॥४३॥

विशेष—(१) 'बड़े भाग मानुष तनु पावा।...'—मनुष्य शरीर बड़ा दुर्लभ है। भगवान् ने जब सृष्टि का आरंभ किया, तब अनेक शरीर बनाये पर किसी से उनका चित्त प्रसन्न न हुआ। जब मनुष्य शरीर बनाया, तब उनका मन प्रसन्न हुआ।

यह अपने कर्मों का फल नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस शरीर से पहले जब हम तिर्यक्-योनि आदि में थे, तब कर्म की योग्यता ही न थी। ईश्वर ने अपनी कृपा से इस शरीर का संयोग कर दिया है। अतः, यह हमे बड़े भाग्य से मिला है; यथा—"कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥" यह आगे कहा ही है। 'सुर दुर्लभ'—देव-शरीर भोग-शरीर है, साधन-शरीर नहीं, इसीसे देवताओं ने कहा है—"धिग जीवन देव सरीर हरे। तव भक्ति बिना भव भूलि परे॥" (लं० दो० १०९); भाव यह कि देव-शरीर से उसका परिमित भोग भोगने के पीछे फिर चौरासी में ही आना पड़ता है और मनुष्य शरीर से भक्ति करके जीव संसार से छूट जाता है। इससे देवता भी चाहते हैं कि जिस सुकृति से हमे ब्रह्मलोक मिला, उसीसे नर-शरीर ही मिलता तो अच्छा था। कहा भी है—"दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्।" (भाग० ७।६।१)।

(२) 'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। ..'—जिन साधनों से अर्थ आदि तीनों फल मिलते हैं और मोक्ष भी प्राप्त होता है, वे सब नर-शरीर ही से होते हैं। जिन्हें तिर्यग्योनि में मोक्ष मिला है उन्हें प्रभु की असीम करुणा से अथवा उनके पूर्व शरीर के एवं इसी शरीर से स्वभावतः कोई वैसा कर्म बन गया, जिससे भगवान् रीझ गये और उन्होंने उसे मुक्ति दे दी। मोक्ष साध्य वस्तु है और नर-शरीर ही उसका साधक है, द्वार है। इसका पाना मोक्ष के समीप पहुँच जाना है। यदि इसे पाकर भी भव में पड़ा तो वह महा अभागा है।

मोक्ष प्राप्त करना परलोक सँवारना है। यह नर-शरीर द्वारा ही भगवान् की भक्ति से बनता है; यथा—"मद्भक्ता यान्ति मामपि" (गीता ७।२३)। जिसने यह नहीं किया वह मूर्ख है; यथा—"मानुष्यं प्राप्य ये नाथ नार्चितो हरिरीश्वरः। काकविप्रासिता तेन हारितो कामदोमणिः॥" अर्थात् हे नाथ ! मनुष्य होकर जिसने आपका भजन नहीं किया, वह उस मूर्ख के समान है कि जिसने कौआ उड़ाने के लिये चिन्तामणि फेंक दी हो।

(३) 'सो परत्र दुख पावइ'…'—'परत्र' अर्थात् परस्मिन्, यह परलोक (दूसरे लोक) का वाचक है। इस लोक में भक्ति करके परलोक न बनाया तो पीछे दूसरे लोक में वह पछताता है।

(४) 'कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ'—प्रायः लोग कोई काम बिगड़ने पर उसे काल, कर्म और ईश्वर पर धरते हैं कि मैं क्या करूँ। समय ऐसा खराब था। मेरे कर्मों का फेर है और मुझपर ईश्वर का कोप है; यथा—"काल करम विधि सिर धरि खोरी।" (अ० दो० २४१)।

सामान्य दृष्टि से यह ठीक है कि इन्हीं तीनों के द्वारा जीवों की प्रत्येक कार्य में प्रवृत्ति होती है; यथा—"अंब ईस आधीन जग'…" (अ० दो० २४२); "काल सुभाव करम बरियाई। भलेउ प्रकृति बस चुकइ भलाई॥" (बा० दो० ७); परन्तु जीवों को भगवान् ने नर-शरीर में इन तीनों के अनुकूल करने का ज्ञान दिया है। जैसे कि अत्यन्त शीत, अत्यन्त ताप और बहुत वर्षा आदि काल की कठिनाइयाँ हैं। परन्तु मनुष्य चाहे तो इन्हें जीतकर अपनी इच्छानुकूल काम कर सकता है। प्रारब्ध कर्म मानव शरीर की परिस्थिति की रचना करता है। दरिद्र होना, अंग हीन होना और हीन समाज में पैदा होना, शरीर रोगी होना आदि कर्म के दोष हैं। पर इन अवस्थाओं में भी जीव सभी तरह के क्रियमाण कर्म करता रहता है; यथा—"न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्" (गीता ३।५); तब परलोक सुधारने के कर्म भी कर सकता है। ईश्वर जीवों के कर्मानुसार ही सब कामों में उन्हें प्रवृत्त करता है और तदनुसार फल भी देता है। परन्तु मनुष्य चाहे तो शास्त्र-दृष्टि से परलोक साधन एवं और भी कर्मों के लिये दृढ़ श्रद्धा करके ईश्वर से शक्ति प्राप्तकर उस ईश्वर की विषमता को दबा सकता है; यथा—"यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥" (गीता ७।२१।२२); अर्थात् जीवों की श्रद्धा के अनुसार भगवान् उन्हें शक्ति देकर कार्य करवाते हैं और वैसा ही फल देते हैं।

इन रीतियों से उद्योग द्वारा जीव सबको अनुकूल करके नर-शरीर से परलोक साधन कर सकता है। जब स्वयं नहीं करता तो किसी को भी दोष लगाना मिथ्या ही है। कहा भी है—"काल कर्म गुन सुभाव सबके सीस तपत। राम नाम महिमा की चरचा चलें चपत॥" (वि० १३०); शास्त्र बार-बार जीवों को सचेत करते हैं; यथा—"यह भरत खंड समीप सुरसरि थल भलो संगति भली। तेरी कुमति कायर कल्पबल्ली चहति विष फल फली।" (वि० १३५)। तब क्या करना चाहिये इसपर शास्त्र की आज्ञा है, यथा—"बेगि बिलंब न कीजिये लीजिय उपदेस। महामंत्र जपिये सोई जो जपत महेस॥" (वि० १०८); ये सब शास्त्र भी ईश्वर की ही आज्ञा हैं, तब ईश्वर का क्या दोष ?

भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजी ने इसपर लिखा है; यथा—"जीवेन स्वबुद्ध्या कृतं शुभाशुभं प्रयत्नमपेक्ष्यान्तर्यामी परमात्मा तादृशीमेव जीवप्रयत्नानुगुणां स्वकीयामनुमतिं प्रदाय तथा जीवं प्रवर्तयति।'…यः परमपुरुषाराधनं कुर्वन् स्वयं तु निर्ममः कर्मानुतिष्ठति तं तत्कर्मण्यभिरुचिं जनयन् सद्बुद्धिप्रदानद्वारा परमात्मैव प्रेरयति। यश्च स्वयमभिमानवान् हिंसादिरूपनिषिद्धकर्माण्याचरति तत्र तथा भूतेष्वेव कर्मसु प्रीतिमुत्पादयन् तत्रैव प्रवर्तयतीतिभाव.। तथा च न परमात्मनो दोषलेशोऽपि न वा विहितप्रतिषिद्धानां कर्मणामपि वैयर्थ्यमिति सर्वं निरवद्यम्॥" (ब्र० सू०-आनन्द भाष्य २।३।४१); अर्थात् जीवों के अपनी बुद्धि के द्वारा किये हुए शुभाशुभ उपायों के अनुकूल अन्तर्यामी परमात्मा उस प्रकार ही जीवों के उपायानुकूल अपनी अनुमति देकर उसी प्रकार जीवों से बर्ताव कराता है। ''जो परम पुरुष का आराधन करता हुआ स्वयं ममत्व रहित कर्मानुष्ठान करता है। उसे उस कर्म में रुचि उत्पन्न करते हुए सद्बुद्धि देने के द्वारा परमात्मा ही प्रेरणा करता है। और जो स्वयं अभिमानी होकर

हिंसादि रूप निषिद्ध कर्मों का आचरण करता है। उसे उसी प्रकार के कर्मों में प्रीति उत्पन्न करते हुए उसी में प्रवर्तित करता है - यह भाव है। इस रीति में न तो परमात्मा का ही कुछ दोष है और न विधान किये हुए एवं निषेध किये हुए कर्मों की व्यवस्था ही व्यर्थ होती है, सभी ठीक है। इस विषय पर वि० २०१–२०३ पदों को भी देखिये।

पुनः मनुष्य शरीर का प्राप्त होना ही काल, कर्म और ईश्वर की अनुकूलता है। जिससे शास्त्रों एवं सत्संग के द्वारा जीव उद्योग करके सहज मे ही परलोक बना सकता है। यदि नहीं करता तो इन सबको दोष लगाना झूठा ही है।

येहि तनु कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई ॥१॥
नर तनु पाइ बिषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिप लेहीं ॥२॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परसमनि खोई ॥३॥

अर्थ—हे भाई! इस शरीर (के पाने) का फल विषय नहीं है। स्वर्ग (का भोग) भी (इस शरीर के योग्य फल नहीं है; क्योंकि वह तो) अत्यन्त थोड़ा है और अंत मे दुःख देनेवाला है ॥१॥ जो मनुष्य शरीर पाकर विषयों में मन लगा देते हैं, वे मूर्ख अमृत से बदलकर विष लेते हैं ॥२॥ जो पारस मणि गँवाकर गुंजा (घुँघुची) को ग्रहण करता है उसको कभी कोई भला नहीं कहता ॥३॥

विशेष—(१) 'येहि तनु कर फल बिषय न'—पूर्व लिखा भी गया है कि मनुष्य शरीर सब शरीरों से उत्तम है, तथा—"नर तनु सम नहिं कवनिहुँ देही। जीव चराचर जाँचत जेही॥" (दो० १२०); विषय भोगों की प्राप्ति तो पशु-पक्षी आदि सभी योनियों में समान होती है। एक शूकर को मलिन आहार के खाने में जो सुख मिलता है। वहीं सुख बड़े भारी अमीर को मोहन भोग आदि उत्तम पदार्थों के खाने में प्राप्त होता है। ऐसे ही सभी विषयों को जानना चाहिये; यथा—"जो पै रहनि राम सों नाहीं। तौ नर खर कूकर सूकर से जाय जियत जग माहीं॥ काम, क्रोध, मद, लोभ, नींद, भय, भूख, प्यास सब ही के। मनुज देह सुर-साधु सराहत सो सनेह सिय-पीके॥" (वि० १७५)। अतः, इस देह का फल विषय-सेवन नहीं है।

यदि कहा जाय कि इसी देह के साधन से देवताओं का भोग स्वर्ग का सुख भी तो मिलता है, वह विषय तो योग्य है? वहाँ के भोग मे व्याधि का भी भय नहीं रहता और नित्य तरुण अवस्था भी रहती है। उसपर कहते हैं—'स्वर्गौ स्वल्प'—अर्थात् जो स्वर्ग सुख मर्त्य-लोक के सुखों की अपेक्षा बहुत अधिक है। वह भी तो स्वल्प ही है, परिमित रूप मे एवं परिमित काल के लिये प्राप्त होता है और नियत भोग पूरा हो जाने पर फिर वह जीव मर्त्य लोक को ही आता है। तब इसे महान् दुःख होता है। पुन. यहाँ जन्म-मरण का दुःख असह्य होता है। अतः, 'अंत दुखदाई' कहा है।

स्वर्ग का सुख इससे भी स्वल्प कहा गया है कि वहाँ भी दूसरे का अधिक सुख देखकर जलन होती है; यथा—"सरगहु मिटत न सावत" (वि० १८५)।

राजा ययाति ने इस लोक के विषय को अच्छी तरह अनुभव करके कहा है; यथा—"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥" (महाभारत आदि पर्व अ० ७५); अर्थात् जैसे हवि देने से अग्नि बढ़ती ही जाती है। वैसे ही विषय भोगने से उसकी तृष्णा बढ़ती ही

जाती है। तथा—"बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ विषय भोग बहु घीते।" (वि० १९८); अतः, यह भी सोचना नहीं चाहिये कि इन्द्रियों को भोग देकर शान्त करके परमार्थ में लगूँगा। परमार्थ साधन में भी सामान्यतया प्रयास की आवश्यकता है। अतः, पहले से ही लगकर जीव शुद्ध कर सकता है।

(२) 'नर तनु पाइ विषय मन देहीं। ..'—मनुष्य शरीर हरि-भजन के लिये मिला है। भक्ति ही सुधा (अमृत) है; क्योंकि जीवों के जन्म-मरण को छुड़ानेवाली है। विषय सेवन से बार-बार जन्म-मरण होता है, यही विषय की विष रूपता है। इस शरीर से भजन न करके विषय भोगना अमृत को गिरा कर विष लेना है; यथा—"तुलसिदास हरि नाम सुधा तजि सठ हठि पियत विषय विष माँगी।" (वि० १४०)। अमृत को गिराकर उसी पात्र में माँगकर विष लेना मूर्खता है। वैसे जिन इन्द्रियों से भक्ति की जा सकती है उनसे विषय भोग के लिये प्रयास करना मूर्खता है, इसीसे 'ते सठ' कहा गया है।

(३) 'ताहि कबहुँ भल...'—विषय गुंजा के समान है, गुंजा लाल और काली होती है। वैसे विषय रजोगुणी और तमोगुणी होते हैं। गुंजा तुच्छ वस्तु है, वैसे विषय भी तुच्छ है। जैसे कोई मूर्ख गुंजा की ऊपरी सुंदरता पर रीझकर उसके बराबर तौलकर पारस मणि उसे दे दे और गुंजा को ले ले तो उसे कोई भला नहीं कहेगा। वैसे ही भक्ति करने के योग्य इन्द्रियों से विषय भोगनेवाले को भी कोई भला नहीं कहता।

भक्ति पारसमणि है। पारस कुधातु (लोहे) को सोना करती है। वैसे ही भक्ति दुराचारी को साधु बनाती है; यथा - "अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ क्षिप्रं भवति धर्मात्मा..." (गीता ९।३०-३१); पारसमणि बहुमूल्य पदार्थ है, वैसे भक्ति भी अमूल्य है, क्योंकि इसके द्वारा भगवान् भी भक्त के अधीन हो जाते हैं, यथा—"भगति अवसहि बस करी।" (आ० दो० ११); "अहं भक्त पराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।" (भाग० ९।४।६३)। अत, इसकी हानि माल (धन) का हानि है और उपर्युक्त 'पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं।'—में 'जान' (जीव एव जीवन) की हानि कही गई है, क्योंकि विष से जान जाती है, वैसे ही विषय सेवन से जीव मृत्युमय चौरासी लक्ष योनियों को जाता है। इस तरह भक्ति बिना 'जान-माल' दोनों की हानि कही गई।

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अविनासी॥४॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥५॥
कबहुँक करि करुना नर-देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥६॥

अर्थ—चार खान एवं चौरासी लाख योनियों में यह अविनाशी जीव भ्रमण करता रहता है॥४॥ माया की प्रेरणा से काल, कर्म, गुण और स्वभाव के घेरे में पड़ा हुआ सदा फिरा करता है॥५॥ ईश्वर करुणा करके कभी मनुष्य शरीर देते हैं, क्योंकि वे बिना कारण ही स्नेह करनेवाले हैं॥६॥

विशेष—(१) 'आकर चारि लच्छ चौरासी।...'—चराचर सृष्टि में दो विभाग हैं—जड़ और चेतन। जीव जीवन-सत्ता से जड़ में अव्यक्त और चेतन में व्यक्त है। व्यक्त चेतनों की चार खानें कही गई हैं—अण्डज, स्वेदज, उद्भिज और जरायुज। इनमें सब मिलाकर ८४ लाख योनियाँ हैं। इनका वर्णन बा० दो० ७ चौ० १ में देखिये।

'यह जिव अविनासी'—ऊपर जिन्हें सुधा और पारस-रूपा भक्ति छोड़ विषय ग्रहण करना कहा

गया, वे ही जीव ८४ लक्ष योनियों में फिरा करते हैं। जीव उन योनियों के दुःख भोगते हुए भी नाश नहीं होते; किन्तु इन्हीं को सब क्लेश सहने पड़ते हैं; यथा—"जनमत मरत दुसह दुख होई।" (दो० १०८)।

(२) 'फिरत सदा माया कर प्रेरा।···'—माया की प्रेरणा से काल, कर्म, स्वभाव और गुण जीवों से भव में पड़ने योग्य कर्म कराते हैं—दो० २१ भी देखिये। इसीसे ८४ लक्ष योनियों का भ्रमण होता है, यथा—"तव विषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे। भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे॥" (दो० १२)।

(३) 'कबहुँक करि करुना ···'—'कबहुँक'—इसका कोई नियम नहीं है कि अमुक योनि तक पहुँचने पर एवं अमुक काल तक नर-शरीर देते हैं। उनकी करुणा जब कभी हो जाय। तात्पर्य यह कि जीव अपने कर्म से नर-शरीर को नहीं पाता। भगवान् की करुणा से ही पाता है। यथा—"जीवे दुःखाकुले तस्य कृपा काप्युपजायते।" अर्थात् जीव के दुःख से व्याकुल होने पर भगवान् कभी अपनी कृपा से नर देह दे देते हैं। काकभुशुंडीजी के कथन से अनुमान किया जा सकता है; यथा—"एक एक ब्रह्मांड महँ, रहेउँ कल्प सत एक। येहि बिधि देखत फिरेउ मैं ··" (दो० ८०); 'बिनु हेतु सनेही'—ईश्वर की जीवों से कुछ स्वार्थसिद्धि नहीं होती, यथा—"मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।" (गीता० ९।४); अर्थात् सर्व प्राणी मेरे आधार पर हैं, पर मैं सबसे अलिप्त हूँ, मेरा उनसे स्वार्थ नहीं है। तथा—"हेतु रहित जग-जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥" (दो० ४६); "राम प्रान प्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सब ही के॥" (अ० दो० ७१); वह सहज स्वभाव से जीवों पर स्नेह रखता है; यथा—"सहज सनेही राम सों तैं कियो न सहज सनेह···" (वि० १९०)—यह पूरा पद देखिये। तथा—"ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू।" (बा० दो० २१६)।

नर-तनु भव-बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥७॥
करनधार सदगुरु दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥८॥

दोहा—जो न तरइ भव-सागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति, आतमाहन गति जाइ॥४४॥

शब्दार्थ—कृत निंदक = कृतघ्न, जो किये हुए उपकार को न माने। आतमाहन = आत्मघाती, जो अपने को स्वयं मार डाले।

अर्थ—मनुष्य शरीर (मात्र) भवसागर के लिये बेड़ा है, मेरी कृपा सम्मुख-वायु है॥७॥ सद्गुरु दृढ़ नाव का कर्णधार (माँझी) है। सब दुर्लभ सामान सुगमता से पा गया॥८॥ जो मनुष्य ऐसा समाज पाकर भव-सागर न तरे, वह कृतघ्न है, मंद बुद्धि है, वह आत्मघातियों की गति को जाता है॥४४॥

विशेष—(१) 'नर-तनु भव-बारिधि ···'—बेड़ा (घरनई) मात्र से सागर पार किया नहीं जाता। वैसे नर-तन मात्र की प्राप्ति से ही भव पार जाना नहीं होता। उसके लिये अनुकूल वायु और माँझी आदि चाहिये, इसीसे उन सबको भी साथ ही कहते हैं। 'सन्मुख मरुत' का भाव अनुकूल वायु

का है। भगवान् के अनुग्रह से शरीर की आरोग्यता, पुरुषार्थ और सत्संग आदि का संयोग होता है; यथा—"यो-यो यां यां तनुं भक्तः... स तया श्रद्धया युक्तः..." (गीता ७।२१-२२); ऊपर भी यह प्रमाण दिया गया है। यों भी कहा जाता है कि जीव ईश्वर की ओर पीठ देकर संसार की ओर बहा जाता है। उसे सम्मुख वायु की तरह कृपा फिराकर ईश्वर की ओर ले चलती है। यह कृपा इसे भगवत् की ओर बढ़ाती है।

(२) 'करनधार सद्गुरु...'—जब तक मनुष्य शरीर मात्र था, तब तक बेड़ा कहा गया था। जब भगवान् का अनुग्रह हुआ और सद्गुरु भी प्राप्त हुए, तब यह दृढ़ नाव हुआ। अब भव-सागर पार जाने के योग्य हुआ।

'दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।'—मनुष्य शरीर की प्राप्ति, भगवान् का अनुग्रह और फिर सद्गुरु की प्राप्ति—इन तीनों का संयोग बनना दुर्लभ है; यथा—"हरि तुम बहुत अनुग्रह कीन्हो। साधन धाम विबुध दुर्लभ तन हमहिं कृपा करि दीन्हो॥" (वि० १०२)।

कोई-कोई बेड़े से कर्मकांड का भाव लेते हैं कि मनुष्य मात्र अपना कर्म करने का स्वतः अधिकारी है। ईश्वराज्ञा मान कर कर्म करता रहे, तो भगवान् की कृपा रूपी वायु उसे पार कर देती है। पुनः इस भवसागर से तरने को नर-तन नाव है। सद्गुरु के द्वारा जानकर ज्ञान साधन करे, तो भव पार हो जाय। यह दुर्लभ साज है, पर सुलभ में प्राप्त हो गया। पुनः तीसरा उपाय 'सुलभ सुखद मारग' रूपा भक्ति कहा गया। यह सेतु है, इसपर पैदल लोग चले जाते हैं। इससे इसे मार्ग कहा है। यही तीन उपाय सागर पार जाने के हैं। तीनों कांडत्रय के रूप में कहे गये हैं। भक्ति को कर्म-ज्ञान की अपेक्षा सुलभ और सुखद कहा गया है। इसमें कांडत्रय का क्रम भी गीता १८।४५-५५ के अनुसार ठीक आता है। जो ज्ञान आगे अगम कहा गया है वह कैवल्यपरक है।

(३) 'जो न तरइ भव-सागर...'—'कृत निंदक'—भगवान् ने इसका उपकार किया, दुर्लभ साज सुलभ कर दिया। पर इसने उसका सदुपयोग नहीं किया, यही उस उपकार का न मानना है। 'आत्माहन'—इसने अपनी आत्मा का ही हनन किया। उसे मृत्यु रूप चौरासी को फिर लौटाया, उसकी दुर्गति की। 'मंद मति' है; क्योंकि इस तन की दुर्लभता को नहीं समझा।

बुद्धिमान् को मनुष्य तन की प्राप्ति को और इसकी आयु के एक-एक क्षण को दुर्लभ समझकर कल्याण-साधन में लगना चाहिये; यथा—"यावत्स्वस्थमिदं कलेवर गृहं यावच्च दूरे जरा यावच्चेन्द्रिय-शक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः। आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान् प्रोद्दीप्ते भवने च कूप-खननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥" (भर्तृहरि-वैराग्य शतक) अर्थात् जब तक शरीर स्वस्थ है, बुढ़ापा दूर है, इन्द्रियों की पूरी शक्ति बनी है, आयु बनी हुई है, तभी तक बुद्धिमानों को अपने कल्याण के लिये अच्छी तरह उपाय कर लेना चाहिये। घर में आग लग जाने पर कुआँ खोदना कैसा ?

इसी पर श्रेष्ठ भक्तों के उद्गार हैं; यथा—"कृष्णत्वदीयपदपङ्कजपञ्जरान्ते अद्यैव मे विशतु मानस-हंसराजः। प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते॥" अर्थात्—हे कृष्ण ! आपके चरण-कमल रूपी पिंजरे में मेरा यह मन रूपी राजहंस आज ही प्रवेश कर जाय। प्राण निकलने के समय जब कफ, वायु और पित्त के बढ़ने पर कण्ठ रुक जायगा, उस समय आपका स्मरण कहाँ से होगा ? तथा—"सा हानिस्तन्महच्छिद्रं स मोहः स च विभ्रमः। यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवं न कीर्तयेत्॥" अर्थात् जो घड़ी या एक क्षण भी भगवान् के कीर्तन बिना बीत गया, उसी को बड़ी हानि, चूक, मोह और भ्रम जानना चाहिये।

आत्मघाती की जो गति होती है, वह वेद मे कही गई है ; यथा—"असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः । ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥" (यजु० ४०।३)—अर्थात् जो आत्मघाती लोग हैं, वे मरने पर 'असुर्या' नाम लोक को जाते हैं, जो आसुरी संपत्तिवालों के लिये प्रेत लोक हैं और जो घोर अंधकार से ढँके रहते हैं।

श्रीमद्भागवत में भी ऐसा ही कहा गया है ; यथा—"नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं, प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्। मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान्भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा ॥" (११।२०।१७) ; अर्थात् मनुष्य शरीर सबसे आदि (श्रेष्ठ) है, दुर्लभ होते हुए भी सुलभ हो गया है। भगवान् कहते हैं कि मेरी कृपा रूपी पवन से प्रेरित इसे पाकर भी जो पुरुष भव-सागर नहीं तरता, वह आत्मघाती है।

जौं परलोक इहाँ सुख चहहू । सुनि मम बचन हृदय दृढ़ गहहू ॥१॥
सुलभ सुखद मारग यह भाई । भगति मोरि पुरान श्रुति गाई ॥२॥

अर्थ—जो परलोक और यहाँ का भी सुख चाहते हो तो मेरा वचन सुनकर हृदय मे दृढ करके धारण करो ॥१॥ हे भाई ! यह मेरी भक्ति का मार्ग सुगम और सुखदायक है, ऐसा वेद और पुराण कहते हैं ॥२॥

विशेष—'जौं परलोक इहाँ ...'—कोई साधन परलोक ही का सुख देते हैं और कोई इस लोक का ही, पर मेरी भक्ति से दोनों लोकों के सुख मिलते हैं ; यथा "कामतरु राम नाम जोई जोई माँगिहै। तुलसि दास स्वारथ परमारथ न खाँगिहै ॥" (वि० ७०)। इससे इसे ही दृढ करके पकड़ लो। यहाँ परमार्थ-साधन प्रसंग है, इसलिये पहले 'परलोक' कहा गया है। 'सुनि' अर्थात् सुनो अवश्य, फिर यदि उभय लोक सुख चाहो, तो दृढ़ता से धारण करो।

(२) 'सुलभ सुखद मारग ...'—उपर्युक्त लाभ से संदेह हुआ कि यह साधन दुर्लभ और दुःखद होगा। उसपर कहते हैं यह भक्ति मार्ग कर्म की अपेक्षा सुखद और ज्ञान की अपेक्षा सुलभ है। कुछ मैं ही नहीं कहता, ऐसा वेद पुराण कहते हैं। यह माधुर्य के अनुकूल कथन है, अन्यथा आपके वचनों के लिये वेदादि प्रमाणों की अपेक्षा नहीं है। 'भगति मोरि' यहाँ अपना ऐश्वर्य खोलकर कहते हैं, क्योंकि ये पुरवासी आपके नित्य पार्षद हैं। लीला के अनुरोध से अभी तक इनसे अपने ऐश्वर्य को छिपाये हुए थे। अब प्रकट कर देने की आवश्यकता जानकर प्रकट करते हैं ; यथा—"सगुन उपासक संग तहँ, रहहिं मोच्छ सब त्यागि।" (कि० दो० २६)।

यदि कहा जाय कि आपने शरीर को मोक्ष का द्वारा कहा है। मोक्ष-देनेवाला तो कैवल्यपरक ज्ञान भी है ; यथा—"ज्ञान मोच्छ प्रद बेद बखाना।" (आ० दो० १५) उसपर उसकी कठिनता कहते हैं फिर उसकी अपेक्षा भक्ति की महिमा को अधिक कहना है—

ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका । साधन कठिन न मन कहुँ टेका ॥३॥
करत कष्ट बहु पावइ कोऊ । भक्तिहीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ ॥४॥
भक्ति सुतंत्र सकल सुख-खानी । बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी ॥५॥

अर्थ—ज्ञान कठिन है, उस (की सिद्धि) में (ज्ञान-दीपक प्रसंग में कहे हुए) अनेकों विघ्न हैं, उसका साधन कठिन है, (क्योंकि) उसमें मन के लिये कोई आधार नहीं है ॥३॥ बहुत कष्ट करने पर कोई (उसे) पाता है, पर भक्ति रहित होने से वह मुझको प्रिय नहीं होता ॥४॥ भक्ति स्वतंत्र है (किसी अन्य साधन के अधीन नहीं है) और वह सब सुखों की खान है, (पर) बिना सत्संग के लोग इसे नहीं पाते ॥५॥

विशेष—(१) 'ज्ञान अगम'''—उसमें मन के लिये किसी उपास्य का आधार नहीं है; इससे और साधन कठिनता एवं बहुत विघ्नों से वह अगम है। उसी को आगे ज्ञान-दीपक में घुणाक्षर न्याय की सिद्धिवाला कहा है। 'पावइ कोऊ'—बहुत कष्ट पर भी कोई ही पाता है। ज्ञान को अगम आदि कहकर भक्ति को इसकी अपेक्षा सुगम, निर्विघ्न और सुख साध्य आदि लक्षित किया है।

(२) 'भक्ति सुतंत्र'''—यह योग आदि की सहायता नहीं चाहती, यथा—"सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ज्ञान विज्ञाना।" (आ॰ दो॰ १५), 'बिनु सत्संग न पावहिं प्रानी।'—पहले तो कहा कि इसे किसी की सहायता से प्रयोजन नहीं, पर यहाँ सतसंग की बड़ी भारी अपेक्षा कहा है। यह विरोध नहीं है, सत्संग भी एक भक्ति ही है; यथा—"प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।" (आ॰ दो॰ ३५)। "अस बिचारि जोइ कर सतसंगा। राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा॥" (दो॰ १२१)।

पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता ॥६॥
पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा। मन क्रम- बचन बिप्र-पद-पूजा ॥७॥
सानुकूल तेहि पर मुनि-देवा। जो तजि कपट करइ द्विज-सेवा ॥८॥

दोहा—औरउ एक गुपुत मत, सबहि कहउँ कर जोरि।
संकर-भजन बिना नर, भगति न पावइ मोरि ॥४५॥

अर्थ—बिना पुण्य समूह के संत नहीं मिलते, सत्संग संसार के जन्म-मरण का अंत (नाश) करनेवाला है ॥६॥ मन, वचन और कर्म से ब्राह्मणों के चरणों की पूजा करना, यह जगत् में एक ही पुण्य है, (इसके समान) दूसरा नहीं है ॥७॥ जो कपट छोड़कर ब्राह्मणों की सेवा करे, उसपर मुनि और देवता प्रसन्न रहते हैं ॥८॥ और भी एक गुप्त मत सब से हाथ जोड़कर कहता हूँ कि शंकरजी के भजन बिना मनुष्य मेरी भक्ति नहीं पाता ॥४५॥

विशेष—(१) 'नहिं दूजा'—अर्थात् इसकी समानता को कोई पुण्य नहीं पहुँच सकता। ब्राह्मणों के पूजन से सब धर्म पूर्ण होते हैं। जब उन्हीं के चरण की पूजा हो, तो वह सर्वश्रेष्ठ होगा ही।

(२) 'सानुकूल तेहि पर'' '—क्योंकि ब्राह्मणों ही के द्वारा देवता और मुनि पूजा-भाग पाते हैं, किंतु विप्र सेवा कपट छोड़कर करनी चाहिये। कपट सहित सेवा करने से उसका कड़ा दंड भी मिलता है, यथा—"तेहि सेवउँ मैं कपट समेता। द्विज दयाल अति नीति निकेता॥" (दो॰ १०४); शूद्र तन में श्रीभुशुंडीजी ने कपट से विप्र सेवा की, उससे उन्हें दारुण शाप मिला। जिससे हजारों जन्म दुःख भोगने पड़े। ब्राह्मणों से निष्कपट होना यह कि उन्हें ईश्वर भाव से माने; यथा—"मम मूरति महिदेव मई है।" (वि॰ १३६); और सरल हृदय से उनकी सेवा करे।

इसी तरह भाग० ४।२१ में भी विप्र सेवा का महत्व कहा गया है; यथा—"ब्रह्मण्यदेवः पुरुषः पुरातनो नित्यं हरिर्यच्चरणाभिवन्दनात्। अवाप लक्ष्मीमनपायिनीं यशो जगत्पवित्रं च महत्तमाग्रणीः ॥३८॥ यत्सेवयाशेषमहाशयः स्वराड्विप्रप्रियस्तुष्यति काममीश्वरः। तदेव तद्धर्मपरैर्विनीतैः सर्वात्मना ब्रह्मकुलं निषेव्यताम् ॥३९॥

(३) 'औरउ एक गुपुत मत···'—'गुपुत मत'—क्योंकि यह लोक में प्रसिद्ध नहीं है कि राम-भक्ति के लिये शिव-भक्ति की इतनी अपेक्षा है। पुनः यह गोपनीय रहस्य है। मैं इसे किसी को नहीं बतलाता, क्योंकि शिवदत्त भक्ति से शीघ्र मुझे उस भक्त के वश में हो जाना पड़ता है। 'सबहि कहउँ'—पहले विप्र-सेवा को अपनी भक्ति का साधन कहा, पर उसमें विशेषकर तीन वर्णों का अधिकार है। ब्राह्मणों को उतना युक्त नहीं, क्योंकि वे परस्पर सजातीय हैं। उनकी ब्राह्मणों में वैसी निष्ठा नहीं होगी। इसलिये यहाँ महादेवजी की सेवा के लिये कहते हैं। 'कर जोरि'—क्योंकि यह उपदेश मुख्यकर ब्राह्मणों के लिये है। पुनः बड़े लोग नम्रता से उपदेश देते हैं। श्रीरामजी ने प्रारंभ से ही इन्हें भाई कहकर उपदेशारंभ किया है, अतएव इन सबसे भी हाथ जोड़ना संगत है।

(४) 'संकर भजन बिना नर···'—श्रीशिवजी श्रीरामजी की भक्ति देकर जगत् का कल्याण करते हैं। इससे शंकर कहा है। श्रीशिवजी वैष्णवों में शिरोमणि हैं; यथा—"सिव सम को रघुपति ब्रत धारी। बिनु अघ तजी सती असि नारी॥" (बा० दो० १०३); "वैष्णवानां यथा शंभुः।" (भाग० १२। १३। १६)। इससे भागवत-सेवा से अपनी भक्ति की प्राप्ति कही है; यथा—"मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा।"; "महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।" (नारदभक्ति सूत्र ३८–३९); अर्थात् परन्तु मुख्यतया महत्पुरुषों की कृपा से अथवा भगवत्कृपा के लेशमात्र से (भक्ति प्राप्त) होती है। महात्माओं का संग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है। इसीसे शिव-भक्ति के लिये जगह-जगह कहा गया है; यथा—"जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥" (बा० दो० १३७); "बिनु छल बिस्वनाथ पद नेहू। राम-भगत कर लच्छन येहू॥" (बा० दो० १०३)। इत्यादि बहुत स्थलों पर कहा गया है।

श्रीमद्भागवत में भी महात्माओं की भक्ति से भगवद्भक्ति की प्राप्ति कही गई है; यथा—"रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद्गृहाद्वा। न छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥" (५।१२।१२) अर्थात् महात्मा जड़भरत राजा रहूगण से कहते हैं—हे रहूगण! यह भगवत्तत्त्व का ज्ञान और भगवान् का प्रेम तप, यज्ञ दान, गृहस्थाश्रम द्वारा परोपकार, वेदाध्ययन और जल, अग्नि एवं सूर्य की उपासना से नहीं मिलता। यह तो महापुरुषों के चरणों की धूल में स्नान करने अर्थात् उनकी चरण सेवा से ही मिलता है। तथा—"नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः। महीयसां पादरजोभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्॥" (७।५।३२)—अर्थात् प्रह्लादजी कहते हैं कि हे पिता! जिन भगवान् के चरणों का स्पर्श समस्त अनर्थों की निवृत्ति करनेवाला है, उनके श्रीचरणों में तब तक प्रेम नहीं होता, जब तक अकिञ्चन साधु महात्माओं की चरण-धूलि से मस्तक का अभिषेक न किया जाय। "यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम्। शीतं भयं तमोऽप्येति साधून्संसेवतस्तथा॥ निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्। सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥" (११।२६।३१–३२)—अर्थात् जैसे अग्निदेव का आश्रय लेने पर शीत, भय और अंधकार इन तीनों का नाश हो जाता है, वैसे सन्तों के सेवन से पाप रूपी शीत, जन्म-मृत्यु-रूपी भय और अज्ञान-रूपी अंधकार का नाश हो जाता है। जल में डूबते हुए लोगों के लिये दृढ़ नौका के समान इस भयङ्कर संसार-सागर में गोते खानेवालों के लिये ब्रह्मवेत्ता शान्त चित्त सन्तजन ही परम अवलम्बन हैं, इत्यादि।

-यहाँ भक्ति प्राप्ति के दो प्रकार के उपाय कहे गये—(१) विप्र-सेवा रूपी पुण्य द्वारा संतों की संगति प्राप्त होती है, उससे श्रीराम-भक्ति प्राप्त होती है। (२) श्रीशिवजी का भजन करने से श्रीशिवजी के द्वारा भी श्रीराम-भक्ति मिलती है।

कहहु भगति-पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा ॥१॥
सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई ॥२॥
मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहा बिस्वासा ॥३॥

अर्थ—कहो तो, भक्तिमार्ग में कौन परिश्रम है? न तो उसमें योग है, न यज्ञ, न जप, न तप और न उपवास करने पड़ते हैं ॥१॥ सरल स्वभाव हो, मन में कुटिलता न हो और जो मिल जाय उसी में सदा ही संतोष रहे ॥२॥ मेरा दास कहलाकर और मनुष्यों की आशा करे तो, कहो, उसको (मेरा) क्या विश्वास है? ॥३॥

विशेष—(१) 'कहहु भगति-पथ...'—'कवन प्रयासा' अर्थात् कुछ भी प्रयास नहीं है। आगे प्रयासवाले साधनों को गिनाकर उनका इसमें निराकरण करते हैं। 'जोग न मख जप...'—योग के आठों अंगों के साधन कठिन हैं, उसमें शारीरिक कष्ट हैं। यज्ञों में द्रव्य-व्यय और शरीर से श्रम भी करने पड़ते हैं। जप, तप और उपवास में भी शरीर को कष्ट झेलने पड़ते हैं। भक्ति में ये सब श्रम के कार्य एक भी नहीं हैं।

(२) 'कहहु' का भाव यह कि जो साधन ऊपर कहे गये हैं, वे सब 'सुलभ सुखद' ही हैं। विप्र सर्वत्र सुलभ हैं; सत्संग; यथा—"सबहि सुलभ सब दिन सब देसा।" (बा॰ दो॰ १); और श्रीशिवजी; यथा—"सकत न देखि दीन कर जोरे।" (वि॰ ६) इत्यादि।

(३) 'मोर दास कहाइ नर आसा।...'—ऊपर 'जथा लाभ संतोष' कहकर यहाँ उसका कारण कहते हैं कि मेरा दास होकर मुझे और मनुष्यों के समान भी नहीं माना। तब तो मुझको छोड़कर उनकी आशा करता है। इससे वह मेरा दास कहाता भर है, पर है नहीं। भगवान् तो विश्वभर का पोषण करने से विश्वंभर कहाते हैं, तब अपने भक्त का पोषण क्यों न करेंगे, कहा है—"भोजनाच्छादने चिन्ता वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः। योऽसौ विश्वम्भरो देव. सं किं दासानुपेक्षते॥" तथा—"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥" (गीता ९।२२); अर्थात् जो अनन्य भक्त निरंतर चिन्तवन करते हुए मेरी निष्काम उपासना करते हैं, उन नित्य मुझमें लगे रहनेवाले भक्तों का योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ।

बहुत कहउँ का कथा बढ़ाई। येहि आचरन बस्य मैं भाई ॥४॥
बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा ॥५॥
अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिज्ञानी ॥६॥

अर्थ—बहुत कथा बढ़ाकर क्या कहूँ? हे भाइयो! मैं इस आचरण के वश हूँ ॥४॥ किसी से वैर और झगड़ा न करे, किसी से कुछ आशा न रक्खे और न किसी का भय करे, उसको सब दिशाएँ सदा सुख-

मयी हैं ॥५॥ (सकाम कर्म के) उद्योग का छोड़नेवाला, जिसका कोई घर नहीं है; अर्थात् गृह ममता रहित, मान रहित, निष्पाप, क्रोध रहित, प्रवीण और विज्ञानी (हो) ॥६॥

विशेष—(१) 'येहि आचरण ...'—ऊपर प्रवृत्ति मार्ग के भक्तों के आचरण कहे गये। आगे निवृत्तिवालों के आचरण कहते हैं—

(२) 'बैर न विग्रह ...'; यथा—"निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्। अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥" (भाग० ११।१४।१६), बैर गाढ़ होता है, विशेषकर मन से होता है और इसमें एक दूसरे की हानि करने की धारणा रहती है। विग्रह सामान्य झगड़े को कहते हैं। इसमे कर्म की प्रधानता होती है और यह शीघ्र मिट जाता है।

'आस न त्रासा', यथा—"जे लोलुप भये दास आस के ते सबही के चेरे। प्रभु बिस्वास आस जीती जिन्ह तेइ सेवक हरि केरे ॥" (वि० १६८)। "तुलसिदास रघुनाथ बाहु बल सदा अभय कबहूँ न डरै ॥" (वि० १३७)। 'सुखमय ताहि ...'—सब दिक्पाल उसकी सहायता करते हैं। सर्वत्र उसे सुख-ही-सुख है आशा छोड़ने से सुख होता है; यथा—"तुलसी अद्भुत देवता आसा देवी नाम। सेये सोक समर्पई, बिमुख भये बिश्राम ॥" (दोहावली २५८), "हरिजन इव परिहरि सब आसा।" (कि० दो० १५)। अन्यत्र भी कहा है; यथा—"अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः। मया सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः ॥" (भाग० ११।१४।१३), अर्थात् अकिंचन, जितेन्द्रिय, शान्त, समदर्शी और मेरी प्राप्ति में संतुष्ट मनवाले के लिये सब दिशाएँ सुख से पूर्ण हैं।

(३) 'अनारंभ अनिकेत ...'—'अनारंभ'; यथा—"यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः। ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥" (गीता ४।१९); अर्थात् जिनके संपूर्ण कार्य (उद्योग) कामना और संकल्प से रहित हैं, (ऐसे) उस ज्ञान रूप अग्नि द्वारा भस्म हुए कर्मोंवाले पुरुष को ज्ञानी जन भी पंडित कहते हैं। 'अनिकेत' का अर्थ भी सर्वथा घर रहित करना इससे ठीक नहीं है कि जिस दिन वृक्ष के नीचे भी रहे, वही उसका निकेत होगा। अत, स्थान की ममता से रहित ही ठीक अर्थ है।

कोई-कोई गृह न बनाने का अर्थ भी करते हैं, जैसे श्रीलोमशजी ने घर ही नहीं बनाया। श्रीदत्तात्रेयजी ने सर्प से यह शिक्षा ली है कि वह बिल नहीं बनाता, दूसरे के बिल में रहता है। वैसे संत कहीं खाली पड़ा मकान देखे रह गये, फिर चल दिये। 'अनघ'—किसी को दुःख नहीं देते। 'अरोष'—क्रोध नहीं करते, क्योंकि क्रोध पाप का मूल है। 'दच्छ'—शास्त्र ज्ञान मे प्रवीण हैं। 'विज्ञानी'—अनुभव ज्ञान से युक्त हैं एवं प्रकृति वियुक्त जीवात्मा के ज्ञान से युक्त हैं।

प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तृन-सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा ॥७॥
भगति-पच्छ हठ नहि सठताई। दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई ॥८॥

दोहा—मम गुनग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह।
ताकर सुख सोइ जानइ, परानंद संदोह ॥४६॥

अर्थ—सज्जनों के संसर्ग में सदा प्रीति रहती है, अर्थात् सदा उनसे लगाव रखते हैं, उनका सत्संग

किया करते हैं। स्वर्ग तक के विषय सुख और मोक्ष उनको तृण के समान तुच्छ हैं ॥७॥ भक्ति के पक्ष में हठ करते हैं, शठता नहीं करते, (उन्होंने) सब कुतर्कों को दूर हटा दिया है ॥८॥ जो मेरे गुण-समूह और नाम में प्रीति सहित लगा रहता है, ममता-मद-मोह-रहित है, उसका सुख वही जानता है (पर कह नहीं सकता, क्योंकि यह सुख अनिर्वाच्य है), वह परानंद के समूह को प्राप्त है ॥४६॥

विशेष—(१) 'तृन सम विषय स्वर्ग अपवर्गा'—सत्संग की अपेक्षा यह कहा जाना युक्त ही है ; यथा—"तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला एक अंग। तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग ॥" (सुं० दो० ४); तथा—"तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्। भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥" (भाग० ११४१११)।

शंका—पूर्व कहा गया था—"संत संग अपवर्ग कर···पंथ" (दो० ३३); अर्थात् सत्संग का फल अपवर्ग कहा गया था और यहाँ सतसंग की अपेक्षा उस मोक्ष को तुच्छ कहा है, यह क्यों ?

समाधान—यहाँ भक्त की भावना कही गई है कि वे सत्संग के आगे मुक्ति के सुख को तुच्छ मानते हैं, अर्थात् सत्संग से भक्त लोग श्रीरामजी का स्नेह चाहते हैं, कोई फल नहीं चाहते। उससे जब अंत में वे भक्त भगवद्धाम को ही जाते हैं, तब वही मुक्ति का पद है, वह अनायास प्राप्त हो जाता है। क्योंकि वह जीव फिर कर जगत् में तो आता नहीं। भक्ति में किसी फल की वासना का रखना ही दोष है, क्योंकि फल चाहने से भगवान् और उनकी भक्ति दोनों उस फल के साधन हो जाते हैं, इसीसे कहा है—"नरक परहु फल चारि सिसु, मीच डाकिनी खाउ। तुलसी राम सनेह को, जो फल सो जरि जाउ ॥" (दोहावली ९१)।

(२) 'भगति पच्छ हठ···'—भक्ति के पक्ष का हठ करना उचित है, जैसे श्रीभुशुंडीजी ने शाप भी सह लिया; पर भक्ति का पक्ष नहीं छोड़ा ; यथा—भगति-पच्छ हठ करि रहेउँ, दीन्हि महारिषि साप। मुनि दुर्लभ वर पायेउँ, देखहु भजन-प्रताप ॥" (दो० ११४); ऐसे ही भक्ति के पक्ष की हठ श्रीप्रह्लादजी ने भी की है। 'सठताई' अर्थात् चालाकी न करे, क्योंकि भक्त का सरल स्वभाव होना चाहिये। 'दुष्ट तर्क···'—जिस तर्क में किसी की निन्दा और किसी की उपासना का खंडन हो ऐसा तर्क नहीं करना चाहिये। क्योंकि विविध-रुचिवाले जीवों के लिये सब मार्ग वेद ही से प्रतिपादित हैं और सबके प्राप्य भगवान् ही हैं; यथा—"रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्। नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ।" (शिव-महिम्न स्तोत्र); अर्थात् रुचि-विचित्रता से सीधी टेढ़ी राह से भजन करनेवाले मनुष्यों के प्राप्य एक (ईश्वर) आप ही हैं जैसे सब नदियों का प्राप्य स्थान समुद्र होता है। तथा—"येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधि पूर्वकम् ॥" (गीता ९।२३); अर्थात् जो (मेरे शरीर रूप) अन्य देवताओं की श्रद्धा-पूर्वक उपासना करते हैं, वे भी मुझे ही भजते हैं। ऐसा विचारकर कुतर्क नहीं करना चाहिये।

(३) 'मम गुन ग्राम नाम रत···'—'गत ममता मद मोह'—ममत्व संसारी पदार्थों में। मोह-देह में अहं बुद्धि और मद-विद्या, धन, यौवन रूप, बल आदि का—इन सबसे रहित हो। ममता-रहित होने में स्थूल शरीर की शुद्धि; मद-रहित होने में सूक्ष्म शरीर की और मोह रहित होने में कारण शरीर की शुद्धि जाननी चाहिये। पहले 'मम गुन ग्राम नाम रत' कहा गया है, तब 'गत ममता मद मोह' कहा है। भाव यह कि गुण और नाम के आराधन से ही ये दोष भी छूटेंगे। फिर जब शुद्धभाव से इन (गुण-नाम) का आराधन होने लगेगा तब परानन्द समूह को प्राप्त होगा। यह 'परानंद' ब्रह्मानन्द से श्रेष्ठ है, क्योंकि सनकादिक 'ब्रह्मानन्द सदा लयलीना' कहे गये हैं। फिर भी वे ध्यान छोड़कर चरित सुनते थे, इससे यह सुख उससे बहुत बढ़कर है; यथा—"जेहि सुख लागि पुरारि,···ते नहिं गनहिं खगेस, ब्रह्म सुखहिं सज्जन सुमति ॥" (दो० ८८)।

तात्पर्य यह कि गुण-ग्राम और नाम के आराधन से श्रीरामजी की गाढ़-स्मृति प्राप्त होगी; यथा—"यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥" (गीता ६।३०) अर्थात् जो मुझे सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है, न कभी मैं उसकी आँखों से ओझल होता हूँ और न वह मेरी आँखों से ओझल होता है। यही पराभक्ति का स्वरूप है; यही महान् भूमानन्द है, इसी सर्वव्यापी भूमानन्द के साथ अल्प सुख का तारतम्य दिखलाती हुई श्रुति कहती है; यथा—"यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्, यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम् ॥" (छां० ७।२४।१), अर्थात् जहाँ दूसरे को नहीं देखता, दूसरे को नहीं सुनता, दूसरे को नहीं जानता, वही भूमा है और जहाँ दूसरे को देखता है, दूसरे को सुनता है, दूसरे जानता है, वह अल्प है। जो भूमा है वह अमृत है और जो अल्प है, वह मरा हुआ है।

सुनत सुधा-सम बचन राम के। गहे सबनि पद कृपाधाम के ॥१॥
जननि जनक गुरु बंधु हमारे। कृपानिधान प्रान ते प्यारे ॥२॥
तनु धन धाम राम हितकारी। सब बिधि तुम्ह प्रनतारति हारी ॥३॥
असि सिख तुम्ह बिनु देइ न कोऊ। मातु-पिता स्वारथरत ओऊ ॥४॥
हेतुरहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी ॥५॥

अर्थ—श्रीरामजी के अमृत समान वचन सुनकर सबों ने उन कृपानिधान के चरण पकड़े ॥१॥ (और बोले) हे कृपानिधान! आप हमारे माता, पिता, गुरु, भाई एवं बंधुवर्ग और प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं ॥२॥ हे श्रीरामजी! आप हमारे तन, धन, धाम सभी तरह से हितकारी हैं और शरणागत के दुःख हरनेवाले हैं ॥३॥ ऐसी शिक्षा आपके बिना और कोई नहीं देता। माता-पिता (शिक्षा देनेवाले एवं हितकारी) हैं, पर वे भी स्वार्थ-रत हैं (और सब विधि के हित भी वे नहीं कर सकते) ॥४॥ हे असुरारी! जगत् मे दोनों लोकों के बिना प्रयोजन हित करनेवाले दो ही हैं—एक आप और दूसरे आपके सेवक ॥५॥

विशेष—(१) 'सुनत-सुधा-सम बचन राम के'—यह उपसंहार है। इसका उपक्रम "सुनहु सकल पुरजन मम बानी।" (दो० ४२), से हुआ है। 'सुधा-सम'—प्राय. औरों के हितकर वचन कठोर होते हैं। पर श्रीरामजी के वचन हितकर होते हुए अमृत के समान मधुर हैं अर्थात् श्रवण प्रिय हैं। उनके सुनने से तृप्ति नहीं होती; यथा—"प्रभु बचनामृत सुनि न अघाऊँ।" (दो० ८७); "नाथ तवानन ससि··· श्रवन्ह पुटन्ह ···" (दो० ५२)। 'सबनि गहे पद'—जो जहाँ हैं उन्होंने वहीं से प्रणाम किया, यह प्रणाम उपदेश सुनने की कृतज्ञता एवं अपनी कृतकृत्यता प्रकट करने में है यथा—"मो पहिं होइ न प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा ॥" (दो० १२४), "मैं कृत कृत्य भइउँ अब, तव प्रसाद बिस्वेस।" (दो० १२१) 'गहे सबनि पद' यह रहस्य भी हो सकता है कि सब किसीने श्रीरामजी को अपने समीप पाया और उनके चरण पकड़े। 'कृपा धाम'—क्योंकि स्वयं पुरवासियों को बुलाया और उनके प्रश्न बिना ही ऐसा सदुपदेश दिया।

(२) 'जननि जनक गुरु···'—माता आदि गौरव के अनुसार क्रमश. कहे गये हैं। आप माता-पिता के समान उत्पन्न-पालन करनेवाले, गुरु के समान सदुपदेष्टा और बंधु वर्ग के समान सहायक हैं। आप एक

ही सब प्रकार से हितकारी हैं, यथा—"जननि जनक गुरु बंधु सुहृद पति सब प्रकार हितकारी। द्वैत रूप तम कूप परउँ नहिं " (वि० ११३), अ० दो० ७३ चौ० २-६ भी देखिये।

यहाँ पुरवासियों ने मन, वचन और कर्म से कृतज्ञता प्रकट की—'गहे सबन्हि पद'-कर्मवृत्ति, 'जननि जनक ···'—वचन वृत्ति और 'सबके बचन प्रेम रस साने' यह इनकी मनोवृत्ति भी आगे कही गई है।

(३) 'मातु पिता स्वारथ रत ओऊ।'—संसारी नातों में माता, पिता सबसे अधिक हितकारी होते हैं, शिक्षा भी देते हैं। पर ऐसी शिक्षा वे भी नहीं देते हैं, क्योंकि उन्हें अपने स्वार्थ पर दृष्टि रहा करती है कि बड़ा होकर यह तन, धन और गुणों से मेरी सेवा करे। इससे तदनुसार ही शिक्षा भी देते हैं, यथा—"जननि जनक सुत दार बंधु जन भये बहुत जहँ जहँ हौं जायो। सब स्वारथ हित मीत कपट चित काहू नहिं हरि भजन सिखायो ॥" (वि० १४१), "गृह वनिता सुत बंधु भये बहु मातु पिता जिन्ह जायो ॥ जाते निरय निकाय निरंतर सोइ इन्ह तोहिं सिखायो। तव हित होइ कटै भव बंधन, सो मगु तोहिं न बतायो ॥" (वि० ११६), इत्यादि।

(४) 'हेतु रहित जग जुग '—श्रीरामजी का जगत् से कोई स्वार्थ नहीं है, क्योंकि आप तो आप्त काम हैं। ऐसे ही आपके भक्त भी पूर्ण काम होते हैं, यथा—"हरि जन इव परिहरि सब आसा।" (कि० दो० १५), फिर भी आप और आपके सेवक जगत् का उपकार करते हैं। भव दुःख निवृत्त करते हैं। 'असुरारी'—आप असुर रावण आदि को जीतकर जगत् का कल्याण करते हैं। वैसे आपके भक्त, मोह आदि हृदय के विकारों को जीतकर निःस्वार्थ भाव से जगत् का हित करते हैं। वि० ५८ में मोह आदि से रावण आदि के रूपक विस्तार से कहे गये हैं।

स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहु प्रभु परमारथ नाहीं ॥६॥
सबके बचन प्रेमरस साने। सुनि रघुनाथ हृदय हरषाने ॥७॥
निज निज गृह गये आयसु पाई। बरनत प्रभु बतकही सुहाई ॥८॥

दोहा—उमा अवधबासी नर, नारि कृतारथ रूप।
ब्रह्मसच्चिदानंद - घन, रघुनायक जहँ भूप ॥४७॥

शब्दार्थ—कृतार्थ = मनुष्योचित कृत्य का संपादन किये हुए, मोक्ष साधन सम्पन्न, जिन्हें अब कुछ करना नहीं है, मुक्त रूप।

अर्थ—जगत् में सब स्वार्थ के मित्र हैं, हे प्रभो! परमार्थ (के मित्र) स्वप्न में भी (कभी) नहीं हैं, अर्थात् ऐसे परमार्थ साधक उपदेश वे कोई कभी नहीं करते ॥६॥ सबके प्रेम रस सने हुए वचन सुनकर श्रीरघुनाथजी हृदय में प्रसन्न हुए ॥७॥ आज्ञा पाकर सब प्रभु की सुंदर वाणी को वर्णन करते (सराहते) हुए अपने-अपने घर गये ॥८॥ हे उमा! ब्रह्म सच्चिदानंद घन श्रीरघुनाथजी जहाँ के राजा हैं, उस अवध के वासी स्त्री पुरुष कृतार्थ रूप हैं ॥४७॥

विशेष—(१) 'स्वारथ मीत सकल जग माहीं।'—ऊपर कुछ उदाहरण दिये गये, तथा—"सुर-नर मुनि सबकै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती ॥" (कि० दो० ११) "अवनि, रवनि

धनधाम, सुहृद सुत को न इन्हहिं अपनायो। काके भये गये सँग काके सब सनेह छल छायो॥" (वि० २००) : "सुहृद समाज दगाबाजी ही को सौदा सूत जब जाको काज तब मिलै पायँ परिसो। बिबुध सयाने पहिचाने कै धौं नाहीं नीके देत एक गुन लेत कोटि गुन करिसो॥" (वि० २६४)। यथा—"अन्येष्वर्थकृता मैत्री यावदर्थविडम्बनम्। पुम्भिः स्त्रीषु कृता यद्वत्सुमनः स्विव षट्पदैः॥ निःस्वं त्यजन्ति गणिका अकल्पं नृपतिं प्रजाः। अधीतविद्या आचार्यमृत्विजो दत्तदक्षिणम्॥ खगा वीतफलं वृक्षं भुक्त्वा चातिथयो गृहम्। दग्धं मृगास्तथारण्यं जारो भुक्त्वा रतां स्त्रियम्॥" (भाग० १०।४७।६–८); अर्थात् औरों मे प्रयोजन के लिये ही मैत्री होती है जैसे पुरुषों की स्त्रियों में और भौरों की फूलों मे। धन हीन को गणिका, नीति हीन राजा को प्रजा, विद्या पढ़ चुकने पर आचार्य को विद्यार्थी, दक्षिणा दिये हुए यजमान को ऋत्विज, फल रहित वृक्ष को पक्षी, भोजन कर लेने पर घर को अतिथि लोग, जले हुए वन को मृग लोग और अनुरक्त स्त्री को जार लोग स्वार्थसिद्ध हो जाने पर छोड़ देते हैं।

'परमारथ नाहीं'—सांसारिक पदार्थ अर्थ हैं, परधाम प्राप्ति एवं उसकी साधनीभूत भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि परमार्थ हैं। इनमें प्रायः—सांसारिक लोग सन्तान को नहीं लगाते; किन्तु संसार वृद्धि ही की शिक्षा देते हैं।

(२) 'हृदय हरषाने'- उपदेश की सफलता देख हृदय मे हर्ष हुआ, क्योंकि वे पहले ही कह चुके थे—"सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानइ जोई॥" (दो० ४२); ऊपर से हर्ष नहीं प्रकट किया, क्योंकि उनके वचनों मे अपनी स्तुति भी थी।

(३) 'निज निज गृह गये···'—प्रभु की वाणी मे ही उनके चित्त लगे हुए हैं, इसीसे प्रभु की आज्ञा पालन करने के लिये घर जाते हुए भी हृदय को सुहानेवाली प्रभु बतकही का ही वर्णन करते जाते हैं।

प्रभु का कथन करना कहा गया, फिर पुरवासियों ने जो कृतज्ञता प्रकट की, वह उनका सुनना प्रकट करना है और यहाँ 'बरनत प्रभु बतकही सुहाई' कहा है, यह अनुमोदन है, उसी वाणी के प्रति आनंद प्रकट करते हुए उसीका अनुकथन करते जाते हैं। कहा भी है—"कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं। ते गोपद इव भव निधि तरहीं॥" (दो० १२८)।

'बतकही' पर बा० दो० ८ चौ० २ देखिये।

सब आज्ञा से ही आये थे, फिर आज्ञा पाकर ही घर गये।

(४) 'उमा अवधवासी नर···'—उमाजी को शंका हो सकती है कि अवधवासी तो साक्षात् श्रीरामजी को प्राप्त हैं, फिर भी क्या उनके लिये मुक्ति के उपाय की आवश्यकता है? उसका उत्तर श्रीशिवजी ने स्वयं दिया है कि वे तो सब स्वयं मुक्त-स्वरूप है, नित्य पार्षद हैं, लीला के लिये प्रभु के साथ ही आविर्भूत हुए हैं। यह शिक्षा तो वस्तुतः लोक कल्याण के लिये हुई है, जैसे श्रीअनसूयाजी ने श्रीसीताजी को निमित्त बनाकर संसार के लिये उपदेश दिया है; यथा—"तोहि प्रानप्रिय राम, कहेउँ कथा संसार हित॥" (आ० दो० ५); जहाँ के राजा साक्षात् ब्रह्म श्रीरामजी हैं वहाँ की प्रजा मायिक कैसे होगी? सब उनके नित्य पार्षद हैं। 'ब्रह्म सच्चिदानंद घन'—ब्रह्म मात्र कहने से बृहदाकार होने से प्रकृति का भी अर्थ होता, इसलिये 'सच्चिदानंद' कहा, सच्चिदानंद स्वरूप जीव भी है, इसलिये 'घन' भी कहकर यहाँ परात्पर ब्रह्म का ही अर्थ जनाया।

वसिष्ठ-राम-मिलन—प्रकरण

एक बार बसिष्ठ मुनि आये। जहाँ राम सुखधाम सुहाये ॥१॥
अति आदर रघुनायक कीन्हा। पद पखारि पादोदक लीन्हा ॥२॥
राम सुनहु मुनि कह कर जोरी। कृपासिंधु बिनती कछु मोरी ॥३॥
देखि देखि आचरन तुम्हारा। होत मोह मम हृदय अपारा ॥४॥

अर्थ—एक दिन श्रीवसिष्ठजी वहाँ आये, जहाँ सुख के धाम सुन्दर श्रीरामजी थे ॥१॥ श्रीरघुनाथजी ने उनका अत्यन्त आदर (सत्कार) किया, चरण धोकर चरणामृत लिया ॥२॥ मुनि ने हाथ जोड़कर कहा—हे राम! हे कृपा सागर! मेरी कुछ विनती सुनिये ॥३॥ आपके चरित देख देखकर मेरे हृदय में अपार मोह होता है ॥४॥

विशेष—(१) 'एक बार'—जैसे एक बार की उपवन यात्रा और फिर एक बार का पुरजन उपदेश कहा गया। वैसे एक बार (किसी दिन) की यह भी लीला है। 'राम सुख धाम'—श्रीवसिष्ठजी ने नामकरण में ऐसा ही कहा था—"सो सुख धाम राम अस नामा।" (बा० दो० ११६); वैसा ही भाव यहाँ उनके सम्बन्ध में कहा गया है। एकान्त में आये, क्योंकि विनय करना है। जब सभा में श्रीरामजी ने श्रीमुख से ही अपना ऐश्वर्य खोल दिया, तब श्रीवसिष्ठजी को निश्चय हो गया कि अब ऐश्वर्य प्रकट करने में कोई रुकावट नहीं है। यों तो ये पहले भी जानते थे और श्रीदशरथजी से श्रीरामजी का ऐश्वर्य कहा भी है, यथा—"सुनहुँ राम तुम्ह कहँ मुनि कहहीं। राम-चराचर नायक अहहीं॥" (अ० दो० ७६), पर अभी तक उनकी रुचि देखकर गुप्त रखते थे।

(२) 'अति आदर रघुनायक · '—श्रीगुरुजी के मन का अभिप्राय जानकर श्रीरामजी ने अपना ऐश्वर्य भाव छिपाने के लिये उनका अति आदर किया, इसी माधुर्य के अनुसार ग्रंथकार ने यहाँ 'रघुनायक' कहा है कि जैसे सब रघुवशी गुरुजी का आदर करते थे, वैसे ही आपने भी किया है, यथा—"गुरु आगवन सुनत रघुनाथा। द्वार आइ पद नायउ माथा ॥ · सादर अरघ देइ घर आने। सोरह भाँति पूजि सनमाने ॥" (अ० दो० ८), इत्यादि गुरु भाव से अति आदर किया।

(३) 'राम सुनहु मुनि कह · '—मुनि इन्हें परमात्मा ही मानकर हाथ जोड़कर स्तुति करते हैं। 'सुनहुँ'—मुनि कुछ ऐश्वर्य लेकर स्तुति करते हैं, पर श्रीरामजी अपनी महिमा सुनते ही नहीं, सकुच जाते हैं, यथा—"सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई।" (वि० १६४), तब गुरुजी के मुख से कब सुनेंगे? इसीसे सुनने के लिये मुनि ने हाथ जोडकर प्रार्थना की। 'कृपासिंधु'—भाव यह कि कृपा कीजिये, बहलाइये नहीं, मुझे मोह में न डालिये।

(४) 'देखि देखि आचरन '—सबके स्वामी होकर आप मेरे चरणोदक लेते हैं, यह देखकर मुझे मोह होता है, माधुर्य पर दृष्टि आ जाती है। सुलझने के उपाय करने पर और भी उलझाव ही पड़ता है, यथा—"देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि॥" (बा० दो० १०८), भाव यह कि ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे अब मोह न हो, आपकी महिमा पर दृष्टि बनी रहे।

महिमा अमिति बेद नहिं जाना। मैं केहि भाँति कहउँ भगवाना ॥५॥
उपरोहित्य कर्म अति मंदा। बेद - पुरान - सुमृति कर निंदा ॥६॥

जब न लेउँ मैं तब विधि मोही। कहा लाभ आगे सुत तोही ॥७॥
परमातमा ब्रह्म नर रूपा। होइहि रघुकुल-भूषन भूपा ॥८॥

दोहा—तब मैं हृदय विचारा, जोग जज्ञ व्रत दान।
जा कहँ करिय सो पैहउँ, धर्म न येहि सम आन ॥४८॥

अर्थ—आपकी महिमा निस्सीम है। अतः, उसे वेद भी नहीं जानते, तब, हे भगवन्! मैं उसे किस प्रकार कह सकता हूँ? (भाव यह कि मेरी जानकारी वेद से ही है, वह भी अल्प, तब कैसे कहूँ?) ॥५॥ पुरोहिती कर्म अत्यन्त नीच है, वेद, पुरान, स्मृति सभी इसकी निंदा करते हैं ॥६॥ जब मैं रघुकुल की पुरोहिती अस्वीकार करने लगा, तब ब्रह्माजी ने मुझसे कहा कि, हे पुत्र! इससे आगे तुम्हें लाभ होगा ॥७॥ (वह लाभ कहते हैं)—परमात्मा ब्रह्म नर रूप से (वा, नर रूप ब्रह्म) रघुकुल के भूषण राजा होंगे ॥८॥ तब मैंने हृदय में विचार किया कि जिसके लिये योग, यज्ञ, व्रत और दान किये जाते हैं, उसे मैं पा जाऊँगा। तब इसके समान दूसरा धर्म नहीं है ॥४८॥

विशेष—(१) यहाँ 'भगवाना' और 'परमात्मा' एवं 'ब्रह्म' ये तीन नाम कहे गये हैं, भाव यह कि जिन्हें कर्मकांडी परमात्मा, ज्ञानी ब्रह्म और उपासक भगवान् कहते हैं, वे ही नर रूप में तुम (श्रीवसिष्ठजी) को प्राप्त होंगे।

(२) 'अति मंदा'—और भी बहुत-से कर्म मंद कहे गये हैं, पर यह अत्यन्त मंद है; क्योंकि इसमें ब्रह्मतेज ही नष्ट हो जाता है, इसलिये पग-पग पर सावधानता चाहिये। यजमानों के व्यवहारों की चिन्ता रहती है। प्रतिग्रह लेना और उनके पाप कर्मों का भागी होना पड़ता है। क्योंकि यजमानों के पापों और भूल चूक की जिम्मेदारी कर्म कराकर दक्षिणा लेनेवाले पर आती है। इससे ब्राह्मण का पुरोहित बन जाना उसके ब्राह्मणत्व और तपस्या में हानिकारक होता है। न लेने पर ब्रह्माजी ने समझाया है, इससे उस कर्म के देनेवाले वे (विधि) ही हैं। 'सुत' कहकर ब्रह्माजी ने सूचित किया कि हम तुम्हारे कल्याण की ही भावना से ऐसा कहते हैं, क्योंकि पिता पुत्र के लिये कल्याण कार्य की योजना करता है।

(३) 'तब मैं हृदय बिचारा…'—अष्टाग योग, अश्वमेध आदि यज्ञ, चान्द्रायण आदि व्रत और अन्न, वस्त्र, वाहन आदि के दान, ये सब ब्रह्म के जानने एवं प्राप्त करने के साधन हैं; यथा—"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन ॥" (बृह० ४।४।२२); तथा—"करहिं जोग जोगी जेहि लागी।" (बा० दो० ३४०), "सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसन पावा ॥" (अ० दो० २०६); भाव यह कि आपकी प्राप्ति ही के लोभ से मैंने अभी तक यह भार वहन किया है।

जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुति-संभव नाना सुभ कर्मा ॥१॥
ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन ॥२॥
आगम निगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका ॥३॥

तव पद-पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुंदर ॥४॥

अर्थ—जप, तप, नियम, योग, अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्म वेदों से प्रकट अनेक शुभ कर्म ॥१॥
ज्ञान, दया, दम, तीर्थ स्नान आदि जहाँ तक धर्म वेदों और सज्जनों ने कहे हैं ॥२॥ हे प्रभो! अनेक
शास्त्रों एवं तंत्र शास्त्रों, वेदों और पुराणों के पढ़ने और सुनने का (मुख्य) फल एक ही है ॥३॥ सब साधनों
का (भी) यह एक ही सुन्दर फल है कि आपके चरणों में निरंतर (अविच्छिन्न तैल धारवत् एक रस)
प्रेम हो (भाव यह कि अन्य फल भी प्राप्त होते हैं, पर वे सुन्दर नहीं हैं) ॥४॥

विशेष—(१) 'सज्जन'—मनु, याज्ञवल्क्य आदि। 'अनेका' में उपपुराण आदि और भी ग्रंथ
आ गये, यथा—"नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्…" (बा० म० श्लो० ७); भी देखिये।

(२) 'सब साधन कर फल यह सुंदर'—भाव यह कि धर्म-कर्म करते हुए इसी सुन्दर फल की
वासना रखनी चाहिये। स्वर्ग आदि फल सुन्दर नहीं हैं। ऊपर कहा गया था—'जा कहँ करिय सो पइहौ'
यहाँ भी उन्हीं साधनों के फल रूप में 'तव पद पंकज प्रीति निरंतर' कहा है। भाव यह कि प्रभु के प्राप्त
होने पर भी भक्त लोग भक्ति सहित ही उनका अनुभव करते हैं। अतः, भक्ति साधन और फल रूप
में एक ही है; यथा—"फल रूपत्वात्।" (नारदभक्ति सूत्र २६); अर्थात् वह भक्ति फल रूपा है।

छूटइ मल कि मलहि कि धोये। घृत कि पाव कोउ बारि बिलोये ॥५॥
प्रेम-भगति-जल बिनु रघुराई। अभिअंतर-मल कबहुँ न जाई ॥६॥
सोइ सर्बज्ञ तज्ञ सोइ पंडित। सोइ गुनगृह बिज्ञान अखंडित ॥७॥
दच्छ सकल लच्छनजुत सोई। जाके पद-सरोज रति होई ॥८॥

दोहा—नाथ एक बर माँगउँ, राम कृपा करि देहु।
जन्म जन्म प्रभु-पद-कमल, कबहुँ घटै जनि नेहु ॥४९॥

अर्थ—क्या मैले से धोने से मैला छूट सकता है? (कभी नहीं), क्या जल को मथने से कोई
घी पा सकता है? (कभी नहीं पाता) ॥५॥ हे श्रीरघुराज! बिना प्रेमभक्ति रूपी जल के अंतःकरण
का मैल कभी नहीं जाता ॥६॥ वही सर्वज्ञ है, वही तत्त्वज्ञ है, वही पंडित है, वही सब गुणों का घर है,
वही अखंड विज्ञानी है ॥७॥ वही चतुर है और वही सब सुलक्षणों से युक्त है, जिसकी प्रीति आपके चरण
कमलों में है (भाव यह कि आपकी भक्ति उक्त सर्व गुणों से सम्पन्न करनेवाली है,) ॥८॥ हे नाथ!
मैं एक वरदान माँगता हूँ, हे श्रीरामजी! कृपा करके दीजिये कि आपके चरण-कमलों में मेरा प्रेम जन्म-
जन्म में कभी न घटे ॥४९॥

विशेष—(१) 'छूटइ मल कि…'—ऊपर भक्ति को ही सुन्दर फल कहा गया, उसपर शंका
हो सकती है कि क्या कर्म-ज्ञान आदि फल सुंदर नहीं हैं? मनु-याज्ञवल्क्य आदि ने वर्णाश्रम धर्मों और
उनके फलों का वर्णन किया है और पतंजलि आदि ने कैवल्यज्ञान को भी उत्तम कहा है। क्या ये फल
सुन्दर नहीं हैं? उसपर 'छूटइमल…' और 'घृत कि पाव…' ये दो दृष्टान्त दिये हैं कि कर्म से कर्म विकार

शुद्ध करना मल से मल छुड़ाना है; यथा—"करम कीच जिय जानि सानि चित चाहत मूढ़ मलहि मल धोयो।" (वि० २४५) और शुष्क ज्ञान से मोक्ष चाहना जल मथकर घी निकालना है; यथा—"सीतल मधुर पियूष सहज सुख निकटहि रहत दूरि जनु खोयो। बहु भाँतिन श्रम करत मोह बस वृथहि मंदमति बारि बिलोयो।" (वि० २४५)।

कर्म से कर्म निर्मूल नहीं होता। पाप करना कर्म है और व्रत आदि प्रायश्चित्त भी कर्म ही हैं। शुभ कर्मों से जो प्रायश्चित्त किये जाते हैं, उनसे यथाविधि पहले के पाप शुद्ध होते हैं, किन्तु साथ ही उनके कर्तृत्वाभिमान, ममता और फलेच्छा रूप मैल लपटते जाते हैं, यदि कहा जाय कि इन दोषों को बचाकर कर्म किये जायँ, तब तो मल रूप न होंगे, तो उत्तर यह है कि वैसा निर्दोष निष्काम कर्म है, वह तो भक्ति ही है, यथा—"यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥" (गीता १८।४६); इसमें स्वकर्म से भगवच्छरीर रूप जगत् के देव, पितृ, ऋषि आदि की पूजा भगवद्भक्ति कही गई है। पुनः सत्त्वादि गुणों के विवेक आदि द्वारा राजस-तामस विकारों को शुद्ध कर जो कैवल्य ज्ञान का साक्षात करना है। उसमें गुणों के द्वारा गुणों का संघर्ष होना जल का मंथन है। क्योंकि प्राकृत पदार्थ विषय मूलक होने से जल रूप हैं; यथा—"बिषय बारि मन मीन ··" (वि० १०२); भगवान् एवं उनका दिव्य धाम शुद्ध सत्त्व मय होने से दूध के समान हैं। उनकी उपासना करना दूध मथना है, इससे मुक्ति रूपी घृत प्राप्त होना युक्त है।

(२) 'प्रेम भगति जल बिनु···'—जैसे साबुन आदि स्थूल ही पदार्थों से जल के द्वारा धोने से मल साफ होता है। वैसे ही भगवदुपासनात्मक कर्म जो प्रेम सहित किये जाते हैं, उनसे अंतःकरण का मल छूटता है; यथा—"धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता। मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि॥ कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना। विनानन्दाश्रुकलया शुध्येद्भक्त्या विनाशयः॥ वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च। विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥" (भाग० ११।१४।२२–२४); अर्थात् भगवान् उद्धवजी से कहते हैं कि सत्य-दया युक्त धर्म अथवा तप सम्पन्न ज्ञान, मेरी भक्ति से शून्य जीव को पूर्ण रीति से शुद्ध नहीं कर सकते। विना रोमांच हुए, विना चित्त द्रवीभूत हुए, विना नेत्रों से आनंदाश्रु बहे कैसे भक्ति का ज्ञान हो सकता है? और ऐसी भक्ति के विना चित्त कैसे शुद्ध हो सकता है? मेरी भक्ति से जिसकी वाणी और हृदय गद्गद हो जाते हैं, जो वार-वार उच्च स्वर से मेरे नाम लेकर पुकारता है, कभी हँसता, कभी रोता है, कभी लज्जा छोड़कर नाचता है और कभी मेरे गुण गाता है। वह मेरा भक्त तीनों भुवनों को पवित्र करता है।

मल के विविध स्वरूप और उनकी शुद्धि विनय-पत्रिका के इस पद मे स्पष्ट है; यथा—"मोह जनित मल लाग विविध विधि कोटिहुँ जतन न जाई। जनम जनम अभ्यास निरत चित अधिक अधिक अरुझाई॥ नयन मलिन पर नारि निरखि मन मलिन विषय सँग लागे। हृदय मलिन वासना मान मद जीव सहज सुख त्यागे॥ पर निंदा सुनि श्रवन मलिन भये बचन दोष पर गाये। सब प्रकार मल भार लाग निज नाथ चरन बिसराये॥ तुलसि दास व्रत दान ज्ञान तप सुद्धि हेतु श्रुति गावै। राम चरन अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै॥" (वि० ८२)। तथा गीता में भी कहा है—"रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।" (२।५९); अर्थात् जीवों का सूक्ष्म विषयानुराग भगवान् के ध्यान से ही छूटता है। तथा—"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः॥ क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥" (मुं० २।८)

अन्यत्र विमल विवेक से भी चित्त की शुद्धि कही गई है; यथा—"जनम अनेक किये नाना विधि

कर्म-कीच चित सान्यो। होइ न विमल विवेक नीर बिनु, वेद पुरान बखान्यो ॥" (वि० ८८), इससे विरोध नहीं है, क्योंकि विमल ज्ञान का परिणाम ही प्रेमाभक्ति है; यथा—"बिमल ज्ञान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई ॥" (दो० १२१); "होइ बिवेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा ॥" (अ० दो० ९२)।

(३) 'नाथ एक बर माँगउँ...'—'कृपा करि देहु'—भाव यह कि इसके योग्य सुकृत मैंने नहीं किया। 'जन्म जन्म प्रभु-पद...'—भाव यह कि हम यह नहीं चाहते कि मेरे जन्म का अभाव हो, किन्तु आपमे प्रीति एक रस बनी रहे, यही चाहता हूँ, यथा—"अर्थ न धर्म न काम रुचि, गति न चहउँ निर्वान। जन्म जन्म रति रामपद, यह वरदान न आन ॥" (अ० दो० २०४)—यह श्रीभरतजी ने माँगा है। तथा—"जेहि जोनि जन्मउ कर्मबस तहँ राम-पद अनुरागऊँ ॥" (कि० दो० १०)—यह बालि ने माँगा है।

भक्त लोग सेवा ही चाहते हैं; यथा—"खेलिबे को खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहि हौं। येहि नाते नरकहुँ सचु पैहौं या बिनु परमपदहुँ दुख दहिहौं ॥" (वि० २३१)।

अस कहि मुनि बसिष्ठ गृह आये। कृपासिंधु के मन अति भाये ॥१॥

अर्थ—ऐसा कहकर वसिष्ठ मुनि घर आये, वे कृपासिंधु श्रीरामजी के मन को बहुत अच्छे लगे ॥१॥

विशेष—(१) 'कृपासिंधु के मन अति भाये'—से मानसिक वर देना सूचित किया गया। उन्होंने कहा था—'राम-कृपा करि देहु' तदनुसार 'कृपासिंधु' कहा गया। मर्यादा विचार कर गुरुजी को प्रकट में वर नहीं दिया, 'मन अति भाये' से सूचित कर दिया गया। लीला के विरुद्ध जानकर प्रकट में वर देना नहीं कहा गया। पुन उनके वचन यथार्थ है, इससे वे श्रीरामजी के मन को अच्छे लगे। प्रभु ने सभा मे कहा था कि मेरी भक्ति करो, वही इन्होंने माँगा, इससे भी ये 'अति भाये।'

(२) 'गृह आये' से किसी-किसी का मत है कि आगे परधाम यात्रा का प्रसग है। वसिष्ठजी ने ऐसा वर माँगा है, इससे इनका घर आना कहा गया है; अर्थात् ये भक्ति सहित यहीं बने रहे, साथ नहीं गये। ब्रह्माजी के साथ परधाम को जायँगे।

पर यह निश्चित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वाल्मी० ७।१०९।१-३ मे स्पष्ट रूप से पर धाम यात्रा में इनका साथ होना पाया जाता है। इससे 'गृह आये' को उस दिन की यात्रा का उपसहार रूप मानना चाहिये, यथा—"एक बार वसिष्ठ मुनि आये।" यह उपक्रम है और "अस कहि मुनि बसिष्ठ गृह आये।" यह उपसहार है।

हनूमान भरतादिक भ्राता। संग लिये सेवक-सुख-दाता ॥२॥
पुनि कृपाल पुर बाहेर गये। गज रथ तुरग मँगावत भये ॥३॥
देखि कृपा करि सकल सराहे। दिये उचित जिन्ह जिन्ह तेइ चाहे ॥४॥

अर्थ—सेवकों को सुख देनेवाले श्रीरामजी ने श्रीहनुमान्जी और श्रीभरत आदि सब भाइयों को

साथ लिया ॥२॥ फिर कृपालु श्रीरघुनाथजी नगर के बाहर गये और हाथी, रथ और घोड़े मँगाये ॥३॥ कृपादृष्टि से देखकर सबकी सराहना की, जिस-जिसने उनको चाहा एवं जिसके लिये जो उचित था, दिया ॥४॥

विशेष—(१) 'हनूमान भरतादिक भ्राता ।...'—श्रीपार्वतीजी ने सम्पूर्ण चरित विषयक प्रश्न करते हुए यह भी पूछा था; यथा—"बहुरि कहहु करुनायतन, कीन्ह जो अचरज राम । प्रजा सहित रघुबंस मनि, किमि गवने निज धाम ॥" (बा० दो० ११०) ; श्रीशिवजी ने उसका उत्तर यहाँ दिया है । वाल्मी० ७।१०९-११० के भाव सूक्ष्म रीति से यहाँ ले लिये गये हैं । गुप्त रूप में कहने का भाव यह कि भक्त लोग श्रीअयोध्या में ही प्रभु का नित्य ध्यान करते हैं । उनके चित्त के प्रतिकूल भी न हो और उत्तर भी हो जाय । उपासकों की भावना के अनुसार प्रभु यहाँ ही उन्हें नित्य प्राप्त हैं ; यथा—"चित्रकूट सब दिन बसत, प्रभु सिय लखन समेत । राम नाम जप जापकन्ह, तुलसी अभिमत देत ॥" (दोहावली ४) ; यह श्रीगोस्वामीजी ने अनुभव करके लिखा है, इन्हें कलिकाल में भी वहाँ श्रीरामजी के दर्शन हुए थे ।

यहाँ श्रीहनुमान्जी और श्रीभरतजी आदि की चर्चा है, पर श्रीसीताजी की नहीं, इससे सूचित किया गया है कि वाल्मीकीय रामायण के अनुसार उनका परधाम-गमन प्रथम ही हो चुका है। पर यहाँ श्रीहनुमान्जी का नाम प्रथम और स्पष्ट कहा गया है । यह वाल्मीकीय रामायण के अनुसार नहीं है, यह कल्पभेद है । 'सेवक सुख दाता'—क्योंकि सेवक एवं आश्रित वर्ग मात्र को सुखमय परधाम के लिये साथ लेते हैं । इससे वाल्मी० ७।१०७।११-१६ के भाव ले लिये कि वसिष्ठजी ने पुरवासियों एवं प्रजाओं की ओर से प्रार्थना की, फिर प्रभु ने सब की रुचि साथ जाने में ही देखी, तो उन्हें सुख देने के लिये साथ लिया ।

श्रीहनुमान्जी आपके मुख्य पार्षद हैं, इससे इनका नाम प्रथम दिया गया है । भाइयों के साथ कहे गये, क्योंकि श्रीरामजी इन्हें भाइयों के समान ही मानते हैं ; यथा—"तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना ।" (कि० दो० ३); इसी से ग्रन्थकार ने साथ ही वंदना भी की है—बा० दो० १६-१७ देखिये ।

(२) 'पुर बाहेर'—आधा योजन पच्छिम (गोप्तार घाट) समझना चाहिये, वाल्मी० ७।११०।१ में कहा गया है ।

'गज रथ तुरग मँगावत भये'—प्रत्यक्ष अर्थ तो यह है कि गजादि लोगों को देकर बाग में (चन्दन वन में) विश्राम करने गये । गुप्त भाव यह है कि गज, रथ, तुरंग आदि के आकार के दिव्य विमान मँगाकर उनकी सराहना की । प्रजा की वासनानुसार देकर उन्हें सवार कराया ।

हरन सकल श्रम प्रभु श्रम पाई । गये जहाँ सीतल अमराई ॥५॥
भरत दीन्ह निज बसन डसाई । बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई ॥६॥
मारुतसुत तब मारुत करई । पुलक बपुष लोचन जल भरई ॥७॥

अर्थ—समस्त श्रमों के हरनेवाले प्रभु ने (गज-रथ, तुरंग आदि के बाँटने में) श्रम पाया । उस श्रम के निवृत्त करने के लिये वे शीतल अमराई में गये ॥५॥ श्रीभरतजी ने अपना वस्त्र बिछा दिया, प्रभु उसपर बैठ गये, सब भाई सेवा कर रहे हैं ॥६॥ तब पवन-पुत्र श्रीहनुमान्जी पवन (पंखा से हवा) करने लगे । उनका शरीर पुलकित हो गया है और नेत्रों में जल भर-भर आता है ॥७॥

विशेष—(१) प्रभु जब सदा भ्रमण करते हैं, तब थकान भासित होना कहा जाता है, तब उस थकान की शान्ति के लिये वे शेष शय्या पर सोते हैं। वैसे ही यहाँ पर भी वर्णन है कि सभासियों बाँटने में श्रम हुआ, उसे दूर करने के लिये श्रीराम अमराई गये। यहाँ से लौटकर आना नहीं लिखा गया। जैसे कि पहले उपवन आदि जाने पर लौटना कहा गया है। इससे यह परधाम यात्रा है। अयोध्या नित्य और नैमित्य दो हैं, दोनों नित्य हैं। भगवान् को परोक्षवाद प्रिय है यथा—"परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं च मम प्रिय" कहा जाता है। इसी से परोक्ष रीति से परधाम यात्रा कही गई। शीतल अर्थात् शुद्ध सत्त्वमय, अमराई अर्थात् अमर लोगों (दिव्य देहवाले पार्षदों) का निवासस्थान अर्थात् नित्यधाम, इसे ही वाल्मीकि रामायण में सन्तानक लोक कहा गया है, जो अयोध्या एवं साकेत-लोक का पर्याय है। दूसरे नाम के लोक को जाते तो उसका नाम दिया जाता। द्विभुज श्रीराम रूप का श्रीअयोध्या ही धाम है।

(२) पुरवासी सब स्थावर जंगम श्रीसरयूजी के जल मे प्रवेश करके शरीर त्याग दिये और दिव्य विमानों पर सबको साकेत भेजकर आप भी वहीं गये। श्रीभरत आदि पार्षद-रूप से सेवा करने लगे। 'निज बसन डसाईं' का भाव उन्होंने वस्त्र नहीं बिछाया मानों अपना शरीर ही बिछा दिया, यह श्रीभरतजी के हृदय का भाव है। श्रीभरतजी छत्र लिये हुए हैं, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी दाहिने बायें चँवर लिये हुए हैं। श्रीहनुमान्‌जी पंखा लिये सम्मुख से पवन कर रहे हैं और रूप-माधुरी पर मुग्ध हैं, जिससे उनकी पुलक और प्रेमाश्रु की दशा है।

यह परधाम यात्रा प्रसंग है, नहीं तो ग्रन्थ के चरित प्रकरण की समाप्ति मंदिर मे अथवा कल्प-वृक्ष के नीचे प्रभु का ध्यान दिखाकर वर्णन करते।

हनूमान सम नहिं बडभागी। नहिं कोउ राम-चरन अनुरागी ॥८॥
गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार बार प्रभु निज मुख गाई ॥९॥

दोहा—तेहि अवसर मुनि नारद, आये करतल बीन।
गावन लगे राम कल, कीरति सदा नवीन ॥५०॥

अर्थ—हे गिरिजे! श्रीहनुमानजी के समान न कोई बड़ा भाग्यवान् है और न कोई राम-चरणानुरागी ही है कि जिनकी प्रीति और सेवा को बार-बार प्रभु ने अपने मुख से बखान किया है ॥८-९॥ उसी अवसर पर नारद मुनि हाथ मे वीणा लिये हुए आये और श्रीरामजी की सुन्दर और नित्य नवीन कीर्त्ति गाने लगे ॥५०॥

विशेष—(१) 'हनूमान सम नहिं बड भागी।'—श्रीराम-चरणानुराग से जीव बड़ भागी होता है। "अतिसय बड भागी चरनन्हि लागी।" (बा० दो० ११०) मे उदाहरण दिये गये हैं। श्रीहनुमान्‌जी दासता के आदर्श हैं, यथा—"सेवक भयो पवनपूत साहिब अनुहरत।" (वि० ११४) 'प्रीति सेवकाई', सुनु कपि तोहिं समान उपकारी। नहिं कोउ सुर-नर मुनि तनु धारी॥ प्रति उपकार करउँ का तोरा। सन्मुख होइ न सकत मन मोरा॥" (सु० दो० ३१), ऐसे ही इनके प्रत्येक कार्य पर जानना चाहिये।

इस समय प्रभु के साथ में चार ही के नाम आये हैं, उनमें तीन तो प्रभु के भाई अंश-रूप ही हैं, सेवकों में श्रीहनुमान्‌जी का ही नाम है। इससे श्रीशिवजी इनका भाग्य और इनकी सेवा सराहने लगे।

श्रीहनुमानजी की प्रीति अन्यत्र भी कही गई है ; यथा—"एकैकस्योपकारस्य प्राणान्दास्यामि ते कपे। शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥ मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे। नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥" (वाल्मी० ७।४०।२३।२४) ; अर्थात् हे वानर ! तुम्हारे एक-एक उपकार के लिये मैं अपने प्राण दे सकता हूँ और शेष उपकारों के लिये हम सब तुम्हारे ऋणी रहेंगे। तुमने जो उपकार किये हैं, वे मेरे शरीर में ही पच जायँ, क्योंकि प्रत्युपकार का समय है उपकारी का विपत्ति ग्रस्त होना। तथा—"पुत्रवत्पितृवद्रामो मातृवन्मम सर्वदा। श्यालवद्भ्रामवद्रामः श्वश्रूवच्छ्वशुरादिवत्॥ पुत्रीवत्पौत्रवद्रामो भागिनेयादिवन्मम। सखावत्सखिवद्रामः पत्नीवदनुजादिवत्॥...यः प्रीतिः सर्वभावेषु प्राणिनामनपायनी। रामे सीतापतावेव निधिवन्निहितामुने॥" (शिवसंहिता) यह श्रीहनुमान्जी ने स्वयं कहा है।

(२) 'तेहि अवसर मुनि ...'—'आये करतल बीन'—श्रीनारदजी सदा वीणा लिये रहते हैं, इसीसे इनका वीणाधर नाम भी है। ये मधुर स्वर से सदा श्रीरामजी की नवीन कीर्त्ति ही गाया करते हैं, कीर्त्ति इतनी अधिक है कि एक बार गाई हुई को दोहराना नहीं पड़ता। इससे इनका अपनी बनाई हुई राम-कीर्त्ति का भी गाना सूचित किया। कीर्त्ति नदी-रूपा कही गई है ; यथा—"कीरति सरित छहूँ रितु रूरी।" (बा० दो० ४१) ; नदी-प्रवाह का जल सदा नया ही रहता है।

यहाँ श्रीनारदजी का आने पर और जाते समय भी प्रणाम करना नहीं कहा गया। इसका एक कारण तो यह है कि आ० दो० ४०–४६ में आने और जाने के समय पर दंडवत् का बर्त्ताव कह दिया गया, इससे यहाँ नहीं कहा गया, वैसा ही बर्त्ताव यहाँ भी जान लेना चाहिये। कुंभकर्ण-वध पर लंका कांड में भी श्रीनारदजी का आना और आकाश से गुण-गान करके जाना लिखा गया है, वहाँ भी प्रणाम का बर्त्ताव नहीं कहा गया।

मामवलोकय पंकज - लोचन। कृपा-बिलोकनि सोचबिमोचन॥१॥
नील तामरस श्याम काम अरि। हृदय - कंज - मकरंद-मधुप हरि॥२॥
जातुधान - बरूथ - बल - भंजन। मुनि - सज्जन-रंजन अघ-गंजन॥३॥

अर्थ—हे शोच के छुड़ानेवाले ! हे कमल-लोचन ! कृपादृष्टि से मुझे देखिये॥१॥ हे भक्तों के क्लेश हरनेवाले हरि ! आप नील कमल के समान श्याम वर्ण हैं और काम के शत्रु श्रीशिवजी के हृदय-कमल के (प्रेम-रूपी) मकरंद के पान करनेवाले भ्रमर हैं॥२॥ आप निशाचर समूह के बल के तोड़नेवाले हैं, मुनियों और सज्जनों के आनंद देनेवाले और पापों के नाशक हैं॥३॥

विशेष—(१) 'कृपा विलोकनि'—भाव यह कि मुझे रक्ष्य जानकर कृपा-दृष्टि से मेरी रक्षा कीजिये, क्योंकि साधन से मेरा शोच दूर नहीं हो सकता। शोच इन्हें वही है जो अरण्यकांड में लिखा गया है, यथा—"बिरहवंत भगवतहि देखी। नारद मन भा सोच बिसेखी॥ मोर साप करि अंगीकारा। सहत राम नाना दुख भारा॥" (आ० दो० ४०), यहाँ अवतार कार्य पूरा हुआ और अंतमें 'प्रभु श्रम पाई' कहा भी गया है। वे शोच करते हैं कि यह सारा श्रम हमारे ही शाप के कारण हुआ है। उस शोच की निवृत्ति चाहते हैं। शोच भीतर का विकार है, इसीसे श्रीशिवजी के हृदय में बसनेवाले रूप का स्मरण किया कि जिससे मेरे हृदय में भी काम विकार न आ सके ; यथा—"हृदि बसि राम काम मद गंजय॥" (दो० १२) ; यहाँ तक हृदय की बात कही गई, आगे बाहर के कार्य कहते हैं—

(२) 'जातुधान-बरूथ…'—राक्षसों को नाश करके मुनि सज्जनों को सुख देते हैं; यथा—"जय रघुनाथ समर रिपु जीते। सुर-नर मुनि सबके भय बीते॥" (ल० दो० १०); 'अघ गंजन'—पाप नाशक भी आप ही हैं, अन्यथा कितनी ही सुकृत की जाय, पाप नहीं जाते; यथा—"करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं। रक्तबीज जिमि बाढ़त जाहीं॥ हरनि एक अघ असुर जालिका। तुलसीदास प्रभु कृपा कालिका॥" (वि० १२८)।

भूसुर ससि नव बृंद बलाहक। असरन सरन दीनजन गाहक ॥४॥
भुजबल बिपुल भार महि खंडित। खरदूषन - बिराध - बध पंडित ॥५॥
रावनारि सुखरूप भूप बर। जय दसरथ-कुल-कुमुद-सुधाकर ॥६॥

अर्थ—ब्राह्मण-रूपी नई खेती के (पोषण के) लिये आप नवीन मेघ समूह के समान हैं। जिसको कोई शरण देनेवाला नहीं है उसके लिये आप शरण्य (रक्षक) हैं और दीन-जनों को ग्रहण करनेवाले हैं ॥४॥ अपनी भुजा के बल से आपने पृथिवी का भारी बोझा उतारा (नाश किया)। आप खर-दूषण और विराध के वध करने में पंडित (प्रवीण) हैं ॥५॥ हे रावण के शत्रु! हे सुख-रूप! हे राजेन्द्र! हे दशरथ महाराज के कुल-रूपी कुईं के लिये चन्द्र-रूप श्रीरामजी! आपकी जय हो ॥६॥

विशेष—(१) 'नव बृंद बलाहक'—'नव' शब्द दीपदेहली है। नवीन ही खेती मेघ के जल को पाकर बढ़ती है, पकी हुई नहीं बढ़ती। वर्षा के प्रारम्भ से कृषी का भी प्रारम्भ होता है, उस समय के मेघ नवीन मेघ कहाते हैं।

(२) 'भूसुर ससि नव…'—राज्य भर के ब्राह्मण श्रीरामजी के भरोसे अपने-अपने धर्म का निर्वाह करते थे। उनका भरण-पोषण आप मेघ के समान पदार्थों की वृष्टि से करते थे। वन यात्रा समय भी नियत वृत्तिवालों का प्रबंध कर गये थे; यथा—"गुरु सन कहि बर्षासन दीन्हें।" (अ० दो० ७६)। 'भुजबल बिपुल…' कहकर उसे ही उत्तरार्द्ध में प्रकट करते हैं; यथा—'खर दूषन बिराध बध पंडित'—किसी को भुजबल से मारा और किसी को पंडिताई (युक्ति) से, जैसे कि खर-दूषण आदि बल से न मर सकते थे, उन्हें युक्ति से मारा; यथा—"देखहिं परस्पर राम करि संग्राम रिपु दल लरि मर्यो।" वैसे ही विराध को पृथिवी में गाड़ दिया, अन्यथा वह भी न मरता।

(३) 'रावनारि सुख रूप भूपबर' कह कर तब 'जय दसरथ…' कहा गया, क्योंकि रावण वध होने पर अनरण्य का बदला लिये जाने से यह कुल प्रफुल्ल हुआ। 'सुखरूप' कहकर आनन्द रूप ब्रह्म कहा। साथ ही 'भूप बर' से दिखाया कि ऐसा सुख देनेवाला कोई राजा नहीं हुआ।

सुजस पुरान बिदित निगमागम। गावत सुरमुनि संत समागम ॥७॥
कारुनीक ब्यलीक-मद-खंडन। सबबिधि कुसल कोसलामंडन ॥८॥
कलिमलमथन नाम ममता-हन। तुलसिदास प्रभु पाहि प्रनत जन ॥९॥

दोहा—प्रेम-सहित मुनि नारद, बरनि राम - गुन - ग्राम।
सोभासिंधु हृदय धरि, गये जहाँ बिधि-धाम ॥५१॥

शब्दार्थ—व्यलीक = अपराध, दुःख, कपट, लंपट, दुःख देनेवाले।

अर्थ—आपका सुन्दर यश पुराणों, वेदों और शास्त्रों में प्रकट है, समागम होने पर देवता, मुनि और संत उसे गाते हैं ॥७॥ आप करुणायुक्त हैं, व्यलीक और मद के नाश करनेवाले, सब प्रकार से कुशल और श्रीअयोध्याजी के भूषण हैं ॥८॥ आपका नाम कलि के पापों का नाश करनेवाला और ममत्व का नाश करनेवाला है। हे तुलसीदास के प्रभु! शरणागत की रक्षा कीजिये ॥९॥ प्रेम सहित श्रीरामजी के गुण समूह वर्णन करके श्रीनारद मुनि शोभा सागर श्रीरामजी को हृदय में रखकर जहाँ ब्रह्माजी का धाम था, वहाँ (ब्रह्मलोक) को गये ॥५१॥

विशेष—(१) 'सुजस पुरान···'—ऊपर कीर्त्ति का गान हुआ, यहाँ से सुयश गाते हैं।

(२) 'सब बिधि कुसल'—जिस विधि से जिसकी सुविधा हो सकती है, उन सब तरह के विधान करने में आप प्रवीण हैं; यथा—"नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ।" (अ० दो० २५३); 'तुलसीदास प्रभु' में भाविक अलंकार है, क्योंकि ग्रन्थकार ने पहले के परम भक्त के मुख से अपना सम्बन्ध पुष्ट किया है। 'पाहि' अर्थात् मेरी भव से रक्षा कीजिये; यथा—"पाहि कहे काहि कीन्हों न तारन तरन।" (गी० सुं० ४२)।

'कलिमल मथन नाम···'; यथा—"साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोमं हेलनमेव वा। वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥ अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्। सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेन्धो यथानलः॥" (भाग० ६।२।१४-१८); अर्थात् पुत्र आदि के नाम-संकेत से, परिहास से, स्तोम (अप्रतिष्ठा) या अवहेलना से भी भगवान् का नाम लेने से समस्त पाप नष्ट होते हैं। अज्ञान अथवा ज्ञान पूर्वक लिया हुआ भगवान् का नाम पाप को उसी तरह जला देता है, जैसे किसी प्रकार भी डाले हुए ईंधन को अग्नि। तथा—"पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्त्वा वा विवशो ब्रुवन्। हरये नमइत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात्॥ (भाग० १२।१२।४६); अर्थात् कोई भी मनुष्य गिरते, पड़ते, छींकते और दुःख से पीड़ित होते समय परवश होकर भी यदि ऊँचे स्वर से 'हरये नमः' ऐसा पुकार उठता है। वह सब पापों से छूट जाता है।

(३) 'प्रेम सहित मुनि नारद···'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—'तेहि अवसर मुनि नारद···' यह दोहा था। उपक्रम में 'गावन लागे' कहा था और उपसंहार में 'बरनि राम गुन ग्राम' कहा गया है। इसके बीच में नव अर्द्धालियाँ हैं, नव संख्या की हद है, इससे निरंतर गुण-गान सूचित किया, यह इनका नित्य का नियम है कि अयोध्या आते हैं और गुणगण देखकर गाते हैं। उन गुणों को ब्रह्मलोक में जाकर सुनाते हैं।

यहाँ शीतल अमराई में चरित की समाप्ति की, जैसा कि आगे के वचनों से स्पष्ट है। यहाँ तक क्रम से जन्म से लेकर राज्य तक के चरित कहे गये।

श्रीराम-चरित का उपसंहार

गिरिजा सुनहु बिसद यह कथा। मैं सब कही मोरि मति जथा ॥१॥
राम-चरित सत कोटि अपारा। श्रुति सारदा न बरनइ पारा ॥२॥
राम अनंत अनंत गुनानी। जन्म-कर्म अनंत नामानी ॥३॥

जल-सीकर महि रज गनि जाहीं। रघुपति-चरित न बरनि सिराहीं ॥४॥

शब्दार्थ—गुनानी (गुण + अनी) = गुण-समूह। नामानी = नाम-समूह।

अर्थ—हे गिरिजे! सुनो, मैंने यह उज्ज्वल कथा सब कही, जैसी कुछ कि मेरी बुद्धि है ॥१॥ श्रीरामचरित सौ करोड़ और अपार हैं, श्रुति और शारदा नहीं वर्णन कर सकतीं ॥२॥ श्रीरामजी अनन्त हैं और उनके गुण समूह अनन्त हैं, जन्म और कर्म अनन्त हैं और उनके नामों के समूह अनन्त हैं ॥३॥ जल के कण और पृथिवी की रज चाहे गिने जा सकें, पर श्रीरघुनाथ जी के चरित वर्णन करने से नहीं समाप्त हो सकते ॥४॥

विशेष—(१) 'मोरि मति जथा' कहकर आगे कारण कहते हैं कि चरित अपार हैं, इससे मेरी बुद्धि से जितना बन पड़ा उतना ही कहा गया। "हरि गुन नाम अपार, कथा रूप अगनित अमित। मैं निज मति अनुसार, कहउँ उमा सादर सुनहुँ ॥" (बा० दो० १२०); उपक्रम है और यहाँ—'गिरिजा सुनहु बिसद यह कथा। मैं सब कही मोरि मति जथा ॥" यह उपसंहार है।

(२) 'राम-चरित सत कोटि अपारा। ..', यथा—"चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ॥" ऐसा प्रसिद्ध है कि श्रीवाल्मीकिजी ने सौ करोड़ श्लोकों का रामायण नाम ग्रंथ रचा था। उसमें से जितना लव कुश को पढ़ाया था, उतना ही रह गया, जिसमें ५०० सर्ग और २४००० श्लोक कहे जाते हैं। इसके अतिरिक्त १८ पुराणों में भी रामायण की कथाएँ हैं। महाभारत में भी रामायणी कथा बहुत प्राचीन कही गई है और जहाँ तहाँ कही गई है। और भी मुनियों ने जहाँ-तहाँ संहिताओं में गान किया है। अठारह पदम यूथप वानरों ने भी जा-जाकर अपने-अपने यहाँ कथा कही होगी, वे सब रामायण हैं, उनकी भी संख्या अवर्ण्य ही है। महारामायण भी स्वतंत्र सुनी जाती है जिसमें साढ़े तीन लाख श्लोक हैं।

'श्रुति सारदा न बरनइ पारा।'—कहकर अनंत एवं अपार कहा है।

(३) 'राम अनंत···', यथा—"राम नाम गुन चरित सुहाये। जनम करम अगनित श्रुति गाये॥ जथा अनंत राम भगवाना। तथा कथा कीरति गुन नाना॥" (बा० दो० ११३); जन्म की अनंतता यह कि आपके अवतार असंख्य हैं, यथा—"अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्वनिधेर्द्विजा। यथा विदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः ॥" (भाग० १।३।२६), अर्थात् जैसे महत्सरोवर से अनेकों नाले निकलते हैं, वैसे भगवान् से असंख्य अवतार होते हैं। जब जन्म अनंत हैं तब गुण और नाम भी अनंत होने ही चाहिये। उसी अनंतता को आगे दृष्टान्त से समझाते हैं—

(४) 'जल-सीकर महिरज ···'—संसार में बरसते हुए बूँदों के जल-कण चाहे कोई गिन ले। पृथिवी भर के रज कण चाहे गिने जा सकें, पर श्रीरघुनाथजी के चरित गिनने से नहीं समाप्त हो सकते।

बिमल कथा हरि - पद - दायनी। भगति होइ सुनि अनपायनी ॥५॥
उमा कहिउँ सब कथा सुहाई। जो भुसुंडि खगपतिहि सुनाई ॥६॥
कछुक राम गुन कहेउँ बखानी। अब का कहउँ सो कहहु भवानी ॥७॥

अर्थ—यह विशद कथा हरि-पद देनेवाली है, इसके सुनने से अविनाशिनी भक्ति होती है ॥५॥ हे

उमा ! मैंने वह सब सुंदर कथा कही, जो भुशुंडिजी ने गरुड़जी को सुनाई थी ॥६॥ मैंने कुछ श्रीरामगुण बखान करके कहा, हे भवानी ! अब क्या कहूँ ? वह कहो ॥७॥

विशेष—(१) 'हरि-पद-दायनी'—हरि-पद से भगवान् के चरणों की प्रीत्यात्मक सेवा रूपा मुक्ति और कैवल्य पद दोनों का अर्थ है, जैसे कि पूर्व बैर भाववाले रावण आदि के प्रसंगों में कहा गया कि उन्होंने निर्वाण पद (कैवल्य मुक्ति) पाया। उसे ही हरि-पद प्राप्ति भी कहा है; यथा—"अधम सिरोमनि तव पद पावा।" (लं० दो० १०८)। कथा से दोनों की प्राप्ति होती है ; यथा—"राम चरन रति जो चहै, अथवा पद निर्बान। भाव सहित सो येहि कथा, करउ श्रवन पुट पान ॥" (उ० दो० १२८); 'उमा कहेउँ सब कथा सुहाई'—वह सब कथा कही, जो भुशुण्डीजी ने गरुड़जी से कही थी। यह सब कथा भी राम-गुण का कुछ (अंश) ही है। वही आगे 'कछुक राम गुन कहेउँ' से सूचित किया है। पूर्व कथा को अनन्त कह आये, यहाँ उस कथा की पूर्त्ति कहते हुए भी उसकी सँभाल है। 'जो भुसुंडि खगपतिहि सुनाई'—उपसंहार है। इसका उपक्रम—"कहा भुसुंडि बखानि, सुना विहँग नायक गरुड़।" (बा० दो० १२०); यहाँ भुशुंडिजी का बखानना कहकर गिरिजाजी को अपनी पूर्व प्रतिज्ञा का भी स्मरण कराते हैं कि जो उपक्रम के समय कहा था—"सो संवाद उदार जेहि बिधि भा आगे कहब।" (बा० दो० १२०); इसपर श्रीपार्वतीजी श्रद्धा-पूर्वक उसके कहने की प्रार्थना करेंगी, तब उसे भी कहेंगे।

(२) अब का कहउँ···'—भाव यह कि तुम्हारे सब प्रश्नों के उत्तर तो मैंने कह दिये। श्रीपार्वतीजी के नवें प्रश्न तक के उत्तर तो क्रमशः चरित भाग में आये हैं। शेष तीन 'बिज्ञान तत्त्व' 'भक्ति-ज्ञान-विराग आदि के विभाग' और 'अपर राम रहस्य' ये सब उन्हीं नव प्रश्नों के उत्तर में बीच-बीच में आ गये हैं। इसीसे ऊपर कथा के विषय में कहा—'मैं सब कही', 'कहेउँ सब कथा सुहाई' इत्यादि। यहाँ 'अब का कहउँ' कहकर उसी अवशिष्ट प्रतिज्ञा के प्रति श्रीगिरिजाजी को पूछने का अवसर देते हैं।

वही आगे गिरिजाजी पूछेंगी, तब भुशुंडीजी के संवाद की कथा कही जायगी। अभी उमाजी अपना सुनना और तत्सम्बन्धी अनुमोदन प्रकट करती हैं। आगे ८ वीं चौ० से वह प्रसंग पूछेंगी।

सुनि सुभ कथा उमा हरषानी। बोली अति बिनीत मृदु बानी ॥८॥
धन्य धन्य मैं धन्य पुरारी। सुनेउँ राम-गुन भव-भय-हारी ॥९॥

दोहा—तुम्हरी कृपा कृपायतन, अब कृतकृत्य न मोह।
जानेउँ रामप्रताप प्रभु, चिदानंद संदोह ॥
नाथ तवानन ससि श्रवत, कथा सुधा रघुबीर।
श्रवन पुटन्हि मन पान करि, नहिं अघात मतिधीर ॥५२॥

अर्थ—कल्याणकारी कथा सुनकर श्रीपार्वतीजी हर्षित हुईं और अत्यन्त नम्रता पूर्वक कोमल वाणी बोलीं ॥८॥ हे पुरारि ! मैं धन्य हूँ, धन्य हूँ, धन्य हूँ कि मैंने भव-भय के हरण करनेवाले राम-गुण सुने ॥९॥ हे कृपा के स्थान ! आपकी कृपा से अब मैं कृतार्थ हुई, अब मुझे कुछ भी मोह नहीं है। हे प्रभो ! मैंने सच्चिदानंद घन प्रभु श्रीरामजी का प्रताप जाना ॥ हे नाथ ! हे मतिधीर ! आपका मुखचन्द्र

रघुवीर कथा रूपी अमृत टपकता है। मेरा मन उसे कर्ण छिद्र रूपी दोने के द्वारा पीकर तृप्त नहीं होता ॥५२॥

विशेष—(१) 'सुनि सुभ कथा···'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"सुनु सुभ कथा भवानि, रामचरित मानस बिमल।" (बा॰ दो॰ १२०); अर्थात् यह कथा आद्योपांत शुभ (कल्याण) रूपा ही है। पुनः "बैठीं सिव समीप हरषाई।" (बा॰ दो॰ १०९) उपक्रम है और यहाँ—'सुनि सुभ कथा उमा हरषानी।' उपसंहार है। 'अति बिनीत···'—महा उपकार समझकर अत्यंत विनीत हुई; इसीसे वाणी कोमल हो गई है।

(२) 'धन्य धन्य मैं···'—यहाँ हर्ष और आदर में वीप्सा है। तीन बहुवचन हैं, यहाँ तीन बार धन्य कहकर अपनेको अत्यन्त धन्य कहा। कथा के उपक्रम में श्रीशिवजी ने इन्हें दो बार धन्य कहा था—"धन्य धन्य गिरिराज कुमारी।" (बा॰ दो॰ १११); उपसंहार में यहाँ इन्होंने स्वयं अपनेको धन्य माना और अधिक बार धन्य कहा। इसका कारण राम-गुण-श्रवण कहती हैं। 'पुरारी'—आपने त्रिपुरासुर को मार कर तीनों लोकों को सुखी किया, वैसे ही इस कथा से भी जीवों के स्थूल, सूक्ष्म और कारण, इन तीनों शरीरों की आसुरी प्रकृति नाश होती है। पुनः मेरा त्रैलोक्यनाथ विषयक मोह कथा से नाश किया और मुझे सुखी किया।

(३) 'अब कृतकृत्य'—जब तक मोह निवृत्त नहीं होता, तब तक जीव कृतार्थ नहीं कहाता, अर्थात् इस शरीर से जो करना था, वह मैं कर चुकी। 'चिदानंद संदोह'—यहाँ सच्चिदानन्द की जगह चिदानंद मात्र कहा गया है सत् को अध्याहार से लेना चाहिये। संदोह अर्थात् पूर्ण। 'न मोह'—कथा के प्रारंभ में कुछ मोह था; यथा—"तब कर अस बिमोह अब नाहीं।" (बा॰ दो॰ १०८)। वह भी कथा सुनने पर अब जाता रहा। 'मति धीर'—कथा कहने में आपकी मति धीर है। ऐसा कहकर और सुनने का अभिप्राय प्रकट करती हैं कि जिससे कथन में आलस्य न करें। 'कथा सुधा'; यथा—"निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्। पिबत भागवतं रसमालयं मुहुर्हो रसिका भुवि भावुकाः॥" (भाग॰ १।१।३); सुधा से भी तृप्ति न होना दोष है, क्योंकि वह तृप्ति के लिये ही पिया जाता है—इसका समाधान आगे करती हैं; यथा—"रामचरित जे सुनत···"

(४) 'जानेउँ राम प्रताप'—कैलास-प्रकरण सुनकर स्वरूप का ज्ञान हुआ; यथा—"राम सरूप जानि मोहि परेऊ।" (बा॰ दो॰ ११९); फिर कथा पूछी, उसे यहाँ तक सुना, तब प्रताप भी जाना।

रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं ॥१॥
जीवनमुक्त महामुनि जेऊ। हरिगुन सुनहिं निरंतर तेऊ ॥२॥
भव - सागर चह पार जो पावा। राम - कथा ता कहँ दृढ़ नावा ॥३॥
बिषयिन्ह कहँ पुनि हरि-गुन-ग्रामा। श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा ॥४॥

अर्थ—जो श्रीरामचरित सुनकर अघा जाते हैं, उन्होंने उसका विशेष रस नहीं जाना है ॥१॥ जो महामुनि जीवन्मुक्त हैं, वे भी बिना अंतर पड़े (सदा) हरि-यश सुना करते हैं ॥२॥ जो भव-सागर पार पाना चाहता है उसके लिये राम-कथा दृढ़ नाव है (उसे काल, कर्म आदि के दोष रूप लहरों से डूबने का भय नहीं है) ॥३॥ फिर विषयी लोगों के लिये हरियश कानों को सुख देनेवाला और मन को प्रिय है ॥४॥

विशेष—(१) 'रस बिसेष जाना'''—प्रभु की रूप माधुरी और उनके—कृपा सौहार्द आदि—गुण ही रस रूप हैं, इनके सुनने में प्रेमानंद बढ़ता जाता है।

(२) 'सुनहिं निरंतर तेऊ'—सुनने से तृप्ति नहीं होती, स्वाद मिलता है, यही चाहते हैं कि सदा सुना ही करें ; यथा—"जिन्हके श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥ भरहिं निरंतर होहिं न पूरे।" (अ० दो० १२७) ; जीवन्मुक्तों को ध्यान समाधि से इसमें अधिक सुख मिलता है, तभी तो इसे निरंतर सुनते हैं, दो० ४२ भी देखिये।

यहाँ अर्द्धाली २, ३, और ४ में क्रमशः मुक्त, मुमुक्षु और बद्ध, तीनों प्रकार के जीवों को श्रीरामचरित सुखदायी कहा गया है। भाव यह कि कथा सबको सुख देनेवाली है। अतः, सबको सुनना चाहिये।

श्रवनवंत अस को जग माहीं। जाहि न रघुपति-चरित सोहाहीं॥५॥
ते जड़ जीव निजात्मक घाती। जिन्हहिं न रघुपति कथा सुहाती॥६॥
हरि - चरित्र मानस तुम्ह गावा। सुनि मैं नाथ अमित सुख पावा॥७॥

अर्थ—जगत् में कौन कानवाला ऐसा है कि जिसको श्रीरघुनाथजी के चरित न अच्छे लगते हों ? ॥५॥ जिन्हें श्रीरघुनाथजी की कथा नहीं अच्छी लगती, वे जीव जड़ हैं और अपनी आत्मा की हत्या करनेवाले हैं॥६॥ आपने श्रीरामचरितमानस कहा, हे नाथ ! उसे सुनकर मैंने निस्सीम सुख पाया॥७॥

विशेष—(१) 'श्रवनवंत अस को'''—भाव यह कि जिसे भगवच्चरित नहीं सुहाते उसके कान कान ही नहीं हैं ; यथा—"जिन्ह हरि-कथा सुनी नहिं काना। श्रवनरंध्र अहि-भवन समाना॥" (बा० दो० ११२)। 'ते जड़ जीव निजात्मक घाती।'''—भाव यह कि कथा सुनकर आत्मा के तारने का योग था, पर नहीं सुनी जिससे आत्मा (जीव) को फिर भव में पड़ना होगा, यही उसका मारना है। इसे अंधतामिस्र नरक होगा, दो० ४४ देखिये। सहज उपाय श्रीराम-कथा भी इसे अच्छी नहीं लगती, इससे जड़ कहा गया है। मिलान कीजिये—

"निवृत्ततर्षैरुपगीयमानात् भवौषधात् श्रोत्रमनोभिरामात्। क उत्तमश्लोक गुणानुवादात्पुमान्विरज्येत् विनापशुघ्नात्॥" (भाग० १०।१।४) ; १—"जीवन मुक्त महामुनि जेऊ। हरि गुन सुनहिं निरंतर तेऊ॥" २—"भव सागर चह पार'''दृढ़ नावा॥" ३—"बिषयिन्ह कहँ पुनि'' मन अभिरामा॥" ४—"श्रवनवंत अस को'''सुहाहीं॥" ५—"ते जड़ जीव निजात्मक घाती। जिन्हहि न'''।"

(२) 'हरि-चरित्र मानस तुम्ह गावा'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"सुनु सुभ कथा भवानि, रामचरित मानस बिमल॥" (बा० दो० १२०) ; इससे 'हरि-चरित्र मानस' का अर्थ ही 'श्रीरामचरित-मानस' है, यह सिद्ध हुआ। "रामाख्यमीशं हरिम्।" (बा० म० श्लोक ६)—भी देखिये।

इस कथा से इनका मोह हरण हुआ, इससे भी हरिचरित्र मानस कहा है।

उपर्युक्त 'विनापशुघ्नात्' का अर्थ पशुघातक कसाई के बिना है, अर्थात् वह बड़ा कठोर हृदय का है। श्रीमद्भागवत में श्रीधरजी ने दूसरी तरह अर्थ किया है—जिसमें शोक न हो, वह 'अपशुक' अर्थात् आत्मा उसका नाश करनेवाला 'अपशुघ्न' अर्थात् आत्मघाती है—यह अर्थ यहाँ विशेष संगत है।

यहाँ मानस के चरित भाग की समाप्ति हुई—उत्तरकांड का पूर्वार्द्ध समाप्त।

उत्तरकाण्ड उत्तरार्द्ध

भुशुंडि-गरुड़-संवाद—प्रकरण

तुम्ह जो कही यह कथा सुहाई। कागभुसुंडि गरुड़ प्रति गाई ॥८॥

दोहा—बिरति ज्ञान बिज्ञान दृढ़, रामचरन अति नेह।
बायसतनु रघुपति - भगति, मोहि परम संदेह ॥५३॥

अर्थ—आपने जो यह कहा था कि यह सुन्दर कथा काकभुशुंडीजी ने गरुड़जी से कही थी ॥८॥ भुशुंडीजी वैराग्य, ज्ञान और विज्ञान में दृढ़ हैं, उनका श्रीरामजी के चरणों में अत्यन्त प्रेम है। "कौए के सरीर में श्रीरघुनाथजी की भक्ति ?" यह मुझे बड़ा भारी सदेह हो रहा है ॥५३॥

विशेष—(१) 'तुम्ह जो कही···'; यथा—"उमा कहेउँ सब कथा सुहाई। जो भुसुंडि खगपतिहि सुनाई॥" (दो० ५१); यह ऊपर श्रीशिवजी ने कहा था।

(२) 'मोहि परम सदेह'—यहाँ काक-शरीर में ही हरि-चरित्रमानस, वैराग्य, ज्ञान-विज्ञान और श्रीराम प्रेम आदि कई वस्तुओं की प्राप्ति देखने में आई। इनमें एक वस्तु की भी प्राप्ति में संदेह होता, सबकी प्राप्ति में तो परम सदेह है। कौआ पक्षियों में चांडाल, सर्वभक्षी, चंचल स्वभाव और कुटिल होता है। चांडाल में राम प्रेम एवं श्रीराम-चरितमानस की प्राप्ति असंभव, सर्वभक्षी में वैराग्य, चंचल में ज्ञान और कुटिल में विज्ञान असंभव है, वे सब कैसे प्राप्त हुए ?

इसका उत्तर विस्तार से प्रबंध बाँधकर श्रीशिवजी देंगे। सूक्ष्मतया इतना ही है कि श्रीरामजी के आशीर्वाद से ये सब प्राप्त हुए, यथा—"भगति ज्ञान-बिज्ञान बिरागा। जोग चरित्र रहस्य बिभागा॥ जानब तैं सबही कर भेदा। मम प्रसाद नहिं साधन खेदा॥" (दो० ८४)।

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक होइ धर्म-ब्रत-धारी ॥१॥
धर्मसील कोटिक मँह कोई। बिषय बिमुख बिरागरत होई ॥२॥
कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई। सम्यक ज्ञान सकृत कोउ लहई ॥३॥
ज्ञानवंत कोटिक महँ कोऊ। जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ ॥४॥
तिन्ह सहस्र महँ सब सुखखानी। दुर्लभ ब्रह्मलीन बिज्ञानी ॥५॥

अर्थ—हे पुरारी ! सुनिये, हजारों मनुष्यों में कोई एक धर्म व्रत का धारण करनेवाला होता है ॥१॥ करोड़ों धर्मात्माओं में कोई कोई विषय से विमुख होकर (शब्दादि विषयों से मन फेरे हुए) वैराग्य निष्ठ होते हैं ॥२॥ श्रुति कहती है कि करोड़ों वैराग्यवानों में कोई एक पूर्ण ज्ञान पाता है ॥३॥ करोड़ों ज्ञानियों में कोई ही जीवन्मुक्त होता है, वह भी संसार भर में कोई एक ही होता है ॥४॥ उन ऐसे हजारों जीवन्मुक्तों में से सब सुखों की खान ब्रह्म लीन विज्ञानी होना दुर्लभ है ॥५॥

विशेष—'धर्म व्रत धारी'—धर्म की रक्षा में शरीर सुख एवं मानापमान पर दृष्टि न देकर उसका निवाहनेवाला ; यथा—"सिबि दधीचि बलि जो कछु भाखा। तनु धन तजेउ बचन पन राखा॥" (अ० दो० ३३); 'विषय बिमुख बिराग रत'—बाह्य विषयों से इन्द्रियों को पृथक् करना विषय विमुखता है और सूक्ष्म विषयानुराग से भी अंतःकरण को पृथक् रखना वैराग्य निष्ठा का निवाहना है। 'सम्यक् ज्ञान' वह है जो किसी विघ्न से खंडित नहीं होता। 'ब्रह्मलीन'—जिसकी वृत्ति ब्रह्म से पृथक् नहीं होती। ऐसा विज्ञानी सब सुखों की खान होता है, भाव यह कि यह उपर्युक्त धर्म, वैराग्य, ज्ञान और जीवन्मुक्ति का सुख भी पा चुका है और अब श्रेष्ठ विज्ञान सुख में है। 'दुर्लभ'—क्योंकि इस अवस्था की प्राप्ति कठिन है।

धर्मसील बिरक्त अरु ज्ञानी। जीवन-मुक्त ब्रह्म पर प्रानी॥६॥
सब ते सो दुर्लभ सुरराया। राम-भगति-रत गत-मद-माया॥७॥
सो हरिभगति काग किमि पाई। बिश्वनाथ मोहि कहहु बुझाई॥८॥

दोहा—राम-परायन ज्ञानरत, गुनागार मतिधीर।
नाथ कहहु केहि कारन, पायउ काक सरीर॥५४॥

अर्थ—हे सुरराज ! धर्मशील, वैराग्यवान्, ज्ञानी, जीवन्मुक्त और ब्रह्मलीन विज्ञानी, इन सब प्राणियों में से वह प्राणी मिलना दुर्लभ है, जो मद-माया रहित श्रीरामभक्ति में परायण हो॥६–७॥ ऐसी वह हरि-भक्ति कौए ने कैसे पाई ? हे विश्वनाथ श्रीशिवजी ! मुझे समझाकर कहिये॥८॥ हे नाथ ! कहिये कि श्रीरामजी मे अनुरक्त, ज्ञान में नैष्ठिक, गुणों के धाम और धीर बुद्धि (भुशुण्डीजी) ने किस कारण काक-शरीर पाया ? (भाव यह कि इन गुणों के रहते हुए काक देह पाने का हेतु उपस्थित होना असंभव-सा है)॥५४॥

विशेष—(१) 'धर्मसील···सब ते···'—पहले धर्मसील और विरक्त आदि का उत्तरोत्तर अधिक होना कहा गया है। फिर यहाँ पाँचो को एकत्र भी कहकर इनसे भक्ति की दुर्लभता कहने का हेतु यह कि जैसे ऊपर के क्रम में एक से दूसरे की उत्पत्ति के भाव हैं, यथा—"धर्म ते बिरति जोग ते ज्ञाना। ज्ञान मोच्छ प्रद बेद बखाना॥" (आ० दो० १५); वैसे सर्व श्रेष्ठ विज्ञानी होने ही पर भक्ति हो, यह नियम नहीं है, उपर्युक्त पाँचों में किसी भी अवस्था में भक्ति मिल सकती है। कि० दो० १६ भी देखिये।

(२) 'सब ते सो दुर्लभ···'—दुर्लभ तो वे पाँच गुण भी हैं, पर यह भक्ति सबसे अधिक दुर्लभ है। 'सुर राया'—देवता दिव्य दृष्टि वाले होते हैं, आप तो उनमे श्रेष्ठ हैं, इससे जानते हैं कि मद-माया रहित भक्ति कितनी दुर्लभ है। 'बिश्वनाथ'—आप संसार भर की व्यवस्था जानते हैं। 'कहहु बुझाई' जिसमें समझ पड़े, इस तरह अज्ञ की तरह पूछना जिज्ञासा की रीति है।

भुशुण्डीजी के भक्ति पाने के पाँच हेतु आगे श्रीशिवजी कहेंगे—(१) (अवध) पुरी के प्रभाव से। (२) श्रीशिवजी के अनुग्रह से; यथा—"पुरी प्रभाव अनुग्रह मोरे। राम भगति उपजिहि उर तोरे॥" (दो० १०८)। (३) स्वाभाविक; यथा—"करउँ सदा रघुनायक लीला।" (दो० १०१)। (४) लोमसजी के वरदान से; यथा—"राम भगति अबिरल उर तोरे। बसिहि सदा प्रसाद अब मोरे॥" (दो० ११२)। (५) श्रीरामजी के वरदान से ; यथा—"सोइ निज भगति मोहि प्रभु, देहु दया करि राम॥ एवमस्तु कहि···" (दो० ८४)।

(३) 'राम परायन ज्ञान रत'···'—उपर्युक्त 'सो हरि भगति काग किमि पाई।' पर यदि कहा जाय कि जब भक्ति प्राप्त हुई थी, तब काक-शरीर नहीं था, तब फिर संदेह होगा कि भक्त को यह चांडाल शरीर कैसे मिला ?

यदि कहा जाय कि किसी का अपराध करने पर उसके शाप से यह शरीर पाया होगा। उसपर कहती हैं कि राम-परायण आदि गुणोंवाला किसी का अपराध कर ही नहीं सकता। राम भक्त—"मंद करत जो करइ भलाई।" (सुं॰ दो॰ ४०)। ज्ञानरत—"देख ब्रह्म समान सब माहीं।" गुणागार—"जिमि सदगुन सज्जन पहिं आवा।" (कि॰ दो॰ १६); सज्जन किसी का अपकार करते ही नहीं; यथा—"साधु ते होइ न कारज हानी।" (सुं॰ दो॰ ५)। 'मति धीर'—काम क्रोध आदि के उद्वेग से भी किसी का अनिष्ट नहीं कर सकते।

काक-शरीर उन्हें लोमश मुनि के उपदेश पर तर्क करने एवं उनके ज्ञान पक्ष के खंडन करने पर मुनि के शाप से मिला; यथा—"सपदि होहि पच्छी चंडाला॥" (दो॰ १११)। इसे आगे विस्तार सहित श्रीशिवजी कहेंगे।

यह प्रभु - चरित पवित्र सुहावा। कहहु कृपाल काग कहँ पावा॥१॥
तुम्ह केहि भाँति सुना मदनारी। कहहु मोहि अति कौतुक भारी॥२॥
गरुड़ महाज्ञानी गुनरासी। हरि-सेवक अति निकट निवासी॥३॥
तेहि केहि हेतु काग सन जाई। सुनी कथा मुनि-निकर बिहाई॥४॥
कहहु कवन बिधि भा संवादा। दोउ हरि-भगत काग उरगादा॥५॥

अर्थ—हे कृपालो ! कहिये, प्रभु का यह सुन्दर पवित्र चरित्र कौए ने कहाँ पाया ? ॥१॥ हे कामारि ! कहिये, आपने किस प्रकार सुना ? यह मुझे बहुत भारी आश्चर्य है॥२॥ गरुड़जी परम ज्ञानी, गुणों की राशि, हरि के सेवक और हरि के अत्यन्त समीप रहनेवाले (उनके वाहन ही) हैं॥३॥ उन गरुड़जी ने किस कारण मुनियों का समूह छोड़कर कौए के पास जाकर कथा सुनी ? ॥४॥ कहिये कि काकभुशुंडी और गरुड़, इन दोनों हरि-भक्तों का संवाद किस प्रकार हुआ ? (हरि-भक्तों का संवाद सुनने योग्य है) ॥५॥

विशेष—(१) 'यह प्रभु चरित पवित्र···'—चरित श्रवण-मनन से पाप नाश करनेवाला है और इसकी रचना सुहावनी है। 'काग कहँ पावा'—भाव यह कि इसकी प्राप्ति तो मुनियों को भी दुर्लभ है। कौए को इसका मिलना असंभव-सा है। 'कृपाल'—कृपा करके कहिये और मेरे आश्चर्य को दूर कीजिये। प्रभु का चरित पवित्र और शोभायमान है, कौआ अपवित्र और अशोभित है। अत., इसके योग्य नहीं है।

श्रीरामचरित प्राप्त होना आगे दो प्रकार से कहा गया है—(१) श्रीशिवजी के देने से, यथा—"सोइ सिव काग भुसुंडिहि दीन्हा।" (बा॰ दो॰ २९); (२) लोमशजी के पढ़ाने से; यथा—"मुनि मोहिं कछुक काल तहँ राखा। रामचरितमानस तब भाखा॥" (दो॰ ११२)।

(२) 'तुम्ह केहि भाँति सुना···'—'केहि भाँति'—मैं तो सदा साथ ही रहती हूँ, उस समय मैं कहाँ थी। 'मदनारी'—आपने काम को भस्म कर दिया, इससे आप अत्यन्त स्वच्छ हृदयवाले हैं। कामनाओं की गंध भी आपके हृदय में नहीं है। कौए तो सर्वभक्षी और मलिन हृदयवाले होते हैं, फिर ईश्वर होकर आपने ऐसे को वक्ता क्यों बनाया ? यह तो मुझे भारी आश्चर्य है।

(३) 'गरुड़ महाज्ञानी गुनरासी।·· '—'महाज्ञानी' क्योंकि इनके पत्तों (परानों) से सामवेद की ध्वनि होती है, तब इनके ज्ञान को क्या कहना ?

श्रीभुशुंडीजी को राम परायण, ज्ञानरत, गुणागार और मतिधीर, ये चार विशेषण दिये थे। वैसे ही चार ही विशेषण यहाँ गरुड़जी को भी देकर सूचित करती हैं कि ये कौए से किसी गुण में कम नहीं, फिर इन्होंने ऐसे को क्यों गुरु बनाया ? तीन विशेषण तो दोनों के मिलते ही हैं, चौथा 'मतिधीर' की जगह 'हरि के अति निकट निवासी' कहा गया है। भाव यह कि वे मतिधीरता से कामादि विकारों से बचे हैं, तो ये हरि के सान्निध्य से।

(४) 'केहि हेतु'—भाव यह कि इसमें कोई भारी कारण होगा, नहीं तो उस समय मुनियों के समूह थे, फिर उन्हें कौए को गुरु करने की क्या आवश्यकता थी ?

(५) 'कवनि विधि'—दोनों हरिभक्त कैसे मिले और कैसे उनके प्रश्न और उत्तर हुए ?

यहाँ तक श्रीपार्वतीजी के प्रश्न कहे गये। आगे श्रीशिवजी के उत्तर के प्रसंग हैं—

गौरि - गिरा सुनि सरल सुहाई। बोले सिव सादर सुख पाई ॥६॥
धन्य सती पावनि मति तोरी। रघुपति-चरन प्रीति नहि थोरी ॥७॥
सुनहु परम पुनीत इतिहासा। जो सुनि सकल सोक भ्रम नासा॥८॥
उपजइ राम - चरन बिस्वासा। भवनिधि तर नर बिनहिं प्रयासा ॥९॥

दोहा—ऐसिय प्रश्न बिहंगपति, कीन्हि काग सन जाइ।
सो सब सादर कहिहउँ, सुनहु उमा मन लाइ ॥५५॥

अर्थ—श्रीपार्वतीजी की सरल सुन्दर वाणी सुनकर श्रीशिवजी सुख पाकर आदर सहित बोले ॥६॥ हे सती ! तुम धन्य हो, तुम्हारी बुद्धि पवित्र है और श्रीरघुनाथजी के चरणों मे तुम्हारी अत्यन्त प्रीति है ॥७॥ परम पवित्र इतिहास सुनो, जिसे सुनकर सब शोक और भ्रम नाश हो जाते हैं ॥८॥ श्रीरामजी के चरणों मे विश्वास उत्पन्न होता है और मनुष्य विना परिश्रम ही भव सागर तर जाता है ॥९॥ ऐसे ही प्रश्न पक्षिराज गरुड़जी ने काकभुशुंडीजी से जाकर किये थे वे सब मैं आदर पूर्वक कहूँगा, हे उमा ! मन लगाकर सुनो ॥५५॥

विशेष—(१) 'गौरि गिरा सुनि ··'—वाणी सरल है, अर्थात् छल रहित है और सुहाई है, अर्थात् एक साथ ही उन्होंने कई रहस्यात्मक प्रश्न किये हैं, जिनके कहने मे बड़ा आनद होगा। यह समझकर श्रीशिवजी को सुख हुआ, छल युक्त प्रश्नों से वक्ता का हृदय कुढ़ जाता है। अन्यत्र भी कहा है ; यथा—"प्रश्न उमा कै सहज सुहाई। छल बिहीन सुनि सिव मन भाई ॥" (बा० दो० ११०)।

उपक्रम मे कहा गया था—"बोली अति बिनीत मृदुबानी।" (दो० ५१), यहाँ—"गौरि गिरा सुनि ··" उपसंहार है। अत:, 'अति बिनीत' और 'मृदु' होने से 'सरल सुहाई' कहा गया है। प्रश्न का

की प्राप्ति। (२)—काक-शरीर की प्राप्ति। (३)—श्रीराम-चरित की प्राप्ति। (४)—श्रीभुशुंडीजी से श्रीशिवजी का कथा सुनना (५) श्रीभुशुंडीजी से ही श्रीगरुड़जी ने क्यों सुना? (६) दोनों भक्तों का संवाद कैसे हुआ?

यहाँ पहले श्रीशिवजी चौथे प्रश्न का उत्तर देते हैं, शेष सब प्रश्नों के उत्तर एक साथ भुशुंडि-गरुड़-संवाद में आ जायँगे। अपनी कथा पृथक् प्रसंग की है, इसलिये इसे प्रथम कहते हैं।

'सुमुखि'—क्योंकि सुन्दर प्रश्न किया है। 'सुलोचनि' कहने का भाव यह कि मैं जो कहता हूँ, इसपर दृष्टि दो।

(२) 'तब रहा'—भाव यह कि अब वह नाम नहीं है।

(३) 'दच्छ जज्ञ तव ···'—उस यज्ञ में हमारा भाग नहीं देखा, तो पति के अपमान में अपना भारी अपमान माना। अपमान तो दक्ष के कुशल नहीं पूछने से और किसी के द्वारा भी सम्मान नहीं होने से भी तुम्हारा हुआ था, पर पति के अपमान को ही तुमने भारी अपमान माना; यथा—"प्रभु अपमान समुझि उर दहेऊ।" "सिव अपमान न जाइ सहि।" (बा० दो० ६१-६१); उसी क्रोध से प्राण छोड़े।

(३) 'जानहु तुम्ह सो···'—बा० दो० ६४ में यह प्रसंग आ चुका है।

तब अति सोच भयउ मन मोरे। दुखी भयउँ बियोग प्रिय तोरे ॥५॥
सुंदर बन गिरि सरित तड़ागा। कौतुक देखत फिरउँ बिरागा ॥६॥
गिरि सुमेरु उत्तर दिसि दूरी। नील सैल एक सुंदर भूरी ॥७॥
तासु कनकमय सिखर सोहाये। चारि चारु मोरे मन भाये ॥८॥
तिन्ह पर एकएक बिटप बिसाला। बट पीपर पाकरी रसाला ॥९॥
सैलोपरि सर सुंदर सोहा। मनि-सोपान देखि मन मोहा ॥१०॥

दोहा—सीतल अमल मधुर जल, जलज बिपुल बहु रंग।
कूजत कलरव हंसगन, गुंजत मंजुल भृंग ॥५६॥

अर्थ—हे प्रिये! मैं तुम्हारे वियोग से दुखी हुआ, तब मेरे मन में बड़ा शोच हुआ ॥५॥ सुन्दर वनों पर्वतों, नदियों और तालाबों का कौतुक विरक्तवृत्ति से देखता फिरता था (कि कहीं जी बहल जाय, पर कहीं मन नहीं लगता था,) ॥६॥ उत्तर दिशा में सुमेरु पर्वत से बहुत दूरी पर एक अत्यन्त सुन्दर नील पर्वत था ॥७॥ उस नील पर्वत पर स्वर्णमय चार सुन्दर एवं दीप्तिमान् शिखर थे, वे मेरे मन को बहुत अच्छे लगे। (भाव यह कि वहीं चित्त को शांति मिली) ॥८॥ उन शिखरों पर एक-एक भारी वृक्ष थे—बरगद, पीपल, पाकरि और आम (ये उनके नाम हैं, वे वृक्ष एक-एक शिखर पर एक-एक थे) ॥९॥ उस पर्वत पर एक सुन्दर तालाब शोभित था, मणियों की सीढ़ियाँ देखकर मन लुभा गया ॥१०॥ शीतल, निर्मल और मीठा जल था, कमल बहुत और बहुत रंगों के (उसमें खिले) थे, हंस गण सुन्दर (मीठे) शब्द बोलते थे और भौंरे बहुत सुन्दर गुंजार कर रहे थे। ५६॥

उपक्रम - "तुम्ह जो कही यह कथा सुहाई। कागभुसुंडि गरुड़ प्रति गाई ॥" है और यहाँ—'गौरि गिरा···' उपसंहार है।

(२) 'धन्य सती पावनि मति···'—इसमें तीनों कांडों की योग्यता कही गई है—'धन्य' से कर्म-कांड ; यथा—"सुकृती पुण्यवान् धन्य इत्यमरः", 'पावनिमति' से ज्ञान, क्योंकि ज्ञान से बुद्धि पवित्र होती है और 'रघुपति चरन प्रीति···' यह उपासना है। उपर्युक्त 'बोले सिव सादर' का यहाँ चरितार्थ है। सती तन में मोह हुआ था, तब मति अपावन थी, अब मोह निवृत्त होकर राम-चरण में प्रेम है, इससे उसी नाम से 'मति पावनता' भी कहते हैं, क्योंकि इनकी जिज्ञासा का अंकुर उसी तन का है। पहले सती की मति को पावन कह कर उनकी योग्यता प्रकट करके अब 'परम पुनीत इतिहासा' सुनने को कहा है कि यह पवित्र को भी पवित्र करनेवाला है। 'सती' यहाँ पतिव्रता के अर्थ में भी है। क्योंकि अब तो इनके पार्वती, एवं उमा नाम हैं।

पहले शोक-भ्रम का नाश होने पर राम-चरण में विश्वास का होना कहा, तब भव तरना कहा गया, यही क्रम है।

(३) 'पूँछिय प्रश्न···'—जैसे प्रश्न तुमने किये हैं, वैसे ही श्रीगरुड़जी ने भी किये हैं। मिलान—

श्रीपार्वतीजी	श्रीगरुड़जी, दो॰ ६३
रामपरायन ज्ञान रत···	तुम्ह सर्वज्ञ तज्ञ···कारन कौन देह यह पाई ॥
केहि कारन, पायेउ काग सरीर।	
यह प्रभु चरित पवित्र सुहावा।	राम-चरित सर सुंदर स्वामी।
कहहु कृपाल काग कहँ पावा ॥	पायेहु कहाँ कहहु नभ गामी ॥

कहिहउँ—भविष्य क्रिया देकर जनाया कि इन्हें पीछे कहूँगा, अभी पहले अपने सुनने का प्रसंग कहता हूँ।

"तुम्ह केहि भाँति सुना मदनारी।" का उत्तर

मैं जिमि कथा सुनी भवमोचनि। सो प्रसंग सुनु सुमुखि सुलोचनि ॥१॥
प्रथम दच्छ-गृह तव अवतारा। सती नाम तब रहा तुम्हारा ॥२॥
दच्छ-जज्ञ तव भा अपमाना। तुम्ह अति क्रोध तजे तब प्राना ॥३॥
मम अनुचरन्ह कीन्ह मख-भंगा। जानहु तुम्ह सो सकल प्रसंगा ॥४॥

अर्थ—मैंने जिस प्रकार भव छुड़ानेवाली यह कथा सुनी, हे सुमुखे! हे सुलोचने! वह प्रसंग सुनो ॥१॥ पहले जब तुम्हारा अवतार दक्ष के घर में हुआ था, तब तुम्हारा सती नाम था ॥२॥ दक्ष के यज्ञ में तुम्हारा अपमान हुआ तब तुमने अत्यन्त क्रोध में आकर प्राण छोड़ दिये ॥३॥ मेरे सेवकों ने यज्ञ विध्वंस किया, वह सब प्रसंग तुम जानती ही हो ॥४॥

विशेष— (१) 'मैं जिमि कथा सुनी···'—श्रीपार्वतीजी ने छः प्रश्न किये थे—(१)—भक्ति

की प्राप्ति। (२)—काक-शरीर की प्राप्ति। (३)—श्रीराम-चरित की प्राप्ति। (४)—श्रीभुशुंडीजी से श्रीशिवजी का कथा सुनना (५) श्रीभुशुंडीजी से ही श्रीगरुड़जी ने क्यों सुना? (६) दोनों भक्तों का संवाद कैसे हुआ?

यहाँ पहले श्रीशिवजी चौथे प्रश्न का उत्तर देते हैं, शेष सब प्रश्नों के उत्तर एक साथ भुशुंडि-गरुड़-संवाद में आ जायँगे। अपनी कथा पृथक् प्रसंग की है, इसलिये इसे प्रथम कहते हैं।

'सुमुखि'—क्योंकि सुन्दर प्रश्न किया है। 'सुलोचनि' कहने का भाव यह कि मैं जो कहता हूँ, इसपर दृष्टि दो।

(२) 'तब रहा'—भाव यह कि अब वह नाम नहीं है।

(३) 'दच्छ जज्ञ तव···'—उस यज्ञ मे हमारा भाग नहीं देखा, तो पति के अपमान मे अपना भारी अपमान माना। अपमान तो दक्ष के कुशल नहीं पूछने से और किसी के द्वारा भी सम्मान नहीं होने से भी तुम्हारा हुआ था, पर पति के अपमान को ही तुमने भारी अपमान माना; यथा—"प्रभु अपमान समुझि उर दहेऊ।" "सिव अपमान न जाइ सहि।" (बा॰ दो॰ ६२–६३); उसी क्रोध से प्राण छोड़े।

(३) 'जानहु तुम्ह सो···'—बा॰ दो॰ ६४ में यह प्रसंग आ चुका है।

तब अति सोच भयउ मन मोरे। दुखी भयउँ बियोग प्रिय तोरे ॥५॥
सुंदर बन गिरि सरित तड़ागा। कौतुक देखत फिरउँ बिरागा ॥६॥
गिरि सुमेरु उत्तर दिसि दूरी। नील सैल एक सुंदर भूरी ॥७॥
तासु कनकमय सिखर सोहाये। चारि चारु मोरे मन भाये ॥८॥
तिन्ह पर एकएक बिटप बिसाला। बट पीपर पाकरी रसाला ॥९॥
सैलोपरि सर सुंदर सोहा। मनि-सोपान देखि मन मोहा ॥१०॥

दोहा—सीतल अमल मधुर जल, जलज बिपुल बहु रंग।
कूजत कलरव हंसगन, गुंजत मंजुल भृंग ॥५६॥

अर्थ—हे प्रिये! मैं तुम्हारे वियोग से दुखी हुआ, तब मेरे मन में बड़ा शोच हुआ ॥५॥ सुन्दर वनों पर्वतों, नदियों और तालाबों का कौतुक विरक्तवृत्ति से देखता फिरता था (कि कहीं जी बहल जाय, पर कहीं मन नहीं लगता था,) ॥६॥ उत्तर दिशा में सुमेरु पर्वत से बहुत दूरी पर एक अत्यन्त सुन्दर नील पर्वत था ॥७॥ उस नील पर्वत पर स्वर्णमय चार सुन्दर एवं दीप्तिमान् शिखर थे, वे मेरे मन को बहुत अच्छे लगे। (भाव यह कि वहीं चित्त को शांति मिली) ॥८॥ उन शिखरों पर एक-एक भारी वृक्ष थे—बरगद, पीपल, पाकरि और आम (ये उनके नाम हैं, वे वृक्ष एक-एक शिखर पर एक-एक थे) ॥९॥ उस पर्वत पर एक सुन्दर तालाब शोभित था, मणियों की सीढ़ियाँ देखकर मन लुभा गया ॥१०॥ शीतल, निर्मल और मीठा जल था, कमल बहुत और बहुत रंगों के (उसमें खिले) थे, हंस गण सुन्दर (मीठे) शब्द बोलते थे और भौंरे बहुत सुन्दर गुंजार कर रहे थे। ५६॥

विशेष—(१) 'तव अति सोच भयउ ···'—तुमने हमारे अपमान पर प्राण छोड़ दिये, इसीसे तुम्हारे वियोग में मुझे भी अति शोच हुआ। यह नियम है, यथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥" (गीता ४।११); 'प्रिय' सम्बोधन से भक्त-वत्सलता भी दिखाई, यथा—"जदपि अकाम तदपि भगवाना। भगत बिरह दुख दुखित सुजाना ॥" (बा० दो० ७५); 'गिरि सुमेरु'—यह इलावर्त्त खंड में है, यह कमल कर्णिका के समान नीचे पतला और ऊपर चौड़ा है। इसपर देवता लोग जाया करते हैं, इससे इसको पार्वतीजी भी जानती हैं, नील गिरि का पता बतलाने के लिये इसको भी कहा है।

(२) 'मोरे मन भाये'; 'मन मोहा'—सती के वियोग के कारण कैलास पर मन न रमा। वहाँ 'सिव बिश्राम बिटप' भी विश्राम नहीं दे सका, क्योंकि वहाँ की वस्तुओं से विरह का उद्दीपन होता था, प्रत्येक के सम्बन्ध से सती का स्मरण हो आता था।

यहाँ माया कृत विकार एवं किसी प्रकार विकार नहीं व्यापते ; यथा—"माया कृत गुन दोष अनेका। मोह मनोज आदि अबिबेका ॥ · तेहि गिरि निकट कबहुँ नहिं जाहीं ॥" (दो० ५६); इस दिव्य स्थल के योग से मन लग गया। 'बिटप बिसाला'—भाव यह कि इन चार के अतिरिक्त और सब छोटे-छोटे वृक्ष थे।

(३) 'बट पीपर पाकरी रसाला।'—ये क्रमशः पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण में हैं। इन चारों के मध्य में आश्रम है।

(४) 'देखि मन मोहा'—भाव यह कि सर और सीढ़ियों की शोभा तो विचित्र थी।

(५) 'सीतल अमल ···'—ऊपर सर कहा, फिर यहाँ क्रम से जल, कमल, हंसगण और भ्रमर कहे गये हैं।

तेहि गिरि रुचिर बसइ खग सोई। तासु नास कल्पांत न होई ॥१॥
मायाकृत गुन - दोष अनेका। मोह मनोज आदि अबिबेका ॥२॥
रहे ब्यापि समस्त जग माहीं। तेहि गिरि निकट कबहुँ नहि जाहीं ॥३॥
तहँ बसि हरिहि भजइ जिमि कागा। सो सुनु उमा सहित अनुरागा ॥४॥

अर्थ—उस सुन्दर पर्वत पर वही पक्षी बसता है, उसका नाश कल्प के अंत होने पर भी नहीं होता ॥१॥ मोह, काम आदि अज्ञान और माया के किये हुए अनेक गुण और दोष सारे संसार में व्याप रहे हैं, पर उस पहाड़ के समीप कभी नहीं जाते ॥२-३॥ वहाँ बसकर जिस प्रकार यह कौआ भगवान् का भजन करता है, हे उमा ! वह सब प्रेम सहित सुनो ॥४॥

विशेष—(१) 'तासु नास कल्पांत न होई'—ऊपर 'गिरि सुमेरु उत्तर दिसि···' से 'तेहि गिरि ···' तक नील गिरि का वर्णन है। यहाँ 'तासु' से उसके निवासी श्रीभुशुण्डीजी को कहा है कि इनका नाश कल्प के अन्त (महाप्रलय) में भी नहीं होता, यथा—"नाथ सुना मैं अस सिव पाहीं। महा प्रलयहु नास तव नाहीं ॥" (दो० ९४), सब सब लोकों के नाश होने पर ये कहाँ रहते हैं ? इसका उत्तर यह सुना जाता है कि ये श्रीभुशुण्डीजी और मारकण्डेयजी सशरीर परमात्मा में प्रवेश कर जाते हैं।

(२) 'रहे व्यापि समस्त जग माहीं ।'; यथा—"व्यापि रह्यो संसार महँ, माया कटक प्रचंड ।" (दो० ७१), 'तेहि गिरि निकट···'—क्योंकि लोमशजी की ऐसी ही आशिष है; यथा—"जेहि आश्रम तुम्ह बसब पुनि, सुमिरत श्रीभगवत । व्यापिहि तहँ न अविद्या, जोजन एक प्रजंत ।।" (दो० ११३); जब उनके पर्वत के निकट भी माया नहीं जा पाती तब भुशुंडीजी के निकट उसका जाना तो बहुत दूर है। माया कृत काल भी है। अतः, यह भी नहीं व्यापता। 'कबहुँ नहि'—कलियुग में भी वहाँ किसी के मन में विकार नहीं आता। इससे भजन निर्वाध होता है, आगे भजन का प्रकार कहते हैं—

पीपर तरु तर ध्यान सो धरई । जाप - जज्ञ पाकरि तर करई ॥५॥
आँब छाँह कर मानस - पूजा । तजि हरि-भजन काज नहिं दूजा ॥६॥
बर तर कह हरिकथा प्रसंगा । आवहिं सुनहिं अनेक बिहंगा ॥७॥
रामचरित बिचित्र बिधि नाना । प्रेमसहित कर सादर गाना ॥८॥
सुनहिं सकल मति बिमल मराला । बसहिं निरंतर जे तेहि ताला ॥९॥

अर्थ—वे पीपल वृक्ष के नीचे (इष्ट बालक रूप श्रीरामजी का) ध्यान धरते हैं, पाकर के नीचे जप-यज्ञ करते हैं ॥५॥ आम की छाया में मानसी पूजा करते हैं, भगवान् का भजन छोड़कर और काम नहीं करते ॥६॥ बरगद के नीचे भगवान् की कथा का प्रसंग कहते हैं, वहाँ अनेकों पक्षी आते और सुनते हैं ॥७॥ अनेक प्रकार के विलक्षण श्रीरामचरित प्रेमपूर्वक आदर के साथ गान करते हैं ॥८॥ सब निर्मल बुद्धिवाले हंस सुनते हैं जो सदैव उस तालाब पर रहते हैं (ये वहाँ के निवासी हैं और नियम से सुननेवाले हैं) ॥९॥

विशेष—(१) 'पीपर तरु तर···'—पीपल भगवान् का रूप है; यथा—"अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां" (गीता १०।२६); इससे उसके नीचे भगवान् का ध्यान करते हैं। पाकर ब्रह्मा का रूप है, ये कर्मकांडी हैं, इससे इसके नीचे जप-यज्ञ करते हैं, (शाप से चांडाल पक्षी का शरीर पाये हुए हैं, इससे द्रव्य यज्ञ में अपना अधिकार भी नहीं मानते)। यह राज वृक्ष भी कहा गया है और यज्ञ का सम्बन्ध भी राजाओं से है। आम कामदेव का वृक्ष है, काम रसमय और सुन्दर है, मानस पूजा में भी शोभामय द्रव्य एवं सुन्दर शृंगार किया जाता है। इससे उसके नीचे मानस पूजा करते हैं। वट शिव रूप है; यथा—"प्राकृतहूँ बट-बूट बसत पुरारी हैं" (क० उ० १४०); "लसै जटाजूट मानों रूख वेष हरु हैं।" (क० उ० १३६)। श्रीशिवजी रामायण के आचार्य हैं और भुशुंडीजी के गुरु लोमशजी के गुरु भी हैं; यथा—"सोइ सिव काग भुसुंडिहि दीन्हा। राम भगति अधिकारी चीन्हा ॥" (बा० दो० २१)। इससे इनके आश्रित होकर रामायण की कथा कहते हैं।

ध्यान, यज्ञ, पूजन और कथा, क्रमश. सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग के धर्म हैं। श्रीभुशुंडीजी चिरजीवी हैं, उनको चार युगों की चौकड़ी एक दिन के समान बीतती है। इसी से इस तरह कालक्षेप कहा गया है कि दिन के चार प्रहर के समान उनके लिये चारो युग हैं।

प्रायः मनुष्यों के भी प्रातः काल से शाम तक के चार प्रहर क्रमशः सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग की वृत्ति प्रधान होते हैं, उनकी दशा भी कही गई है, यथा—"नित जुग धर्म होहिं सब केरे ।" से "तामस बहुत रजोगुन थोरा। कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा ॥" (उ० दो० १०३); तक इन वृत्तियों की प्रधानता में

मनुष्यों को भी विचार कर युग का धर्म करना चाहिये। सतयुग की वृत्ति में चित्त की प्रधानता रहती है, चित्त के देवता वासुदेव हैं। अतः, चित्त ही पीपल रूप है। त्रेता की वृत्ति में बुद्धि की प्रधानता रहती है, बुद्धि के देवता ब्रह्मा हैं, वे ही ऊपर पाकर रूप कहे भी गये हैं। ध्यान चित्त प्राधान्य में और जप बुद्धि के प्राधान्य में होता भी है। पूजा शरीर एवं इन्द्रियों से होती है, इनमें अहंकार की प्रधानता है, इसमें द्वापर वृत्ति की प्रधानता रहती है। यह आमरूप है। आम कामदेव रूप कहा गया है, काम से सृष्टि होती है, वैसे अहंकार से भी सृष्टि होती है। मानसी पूजा में भी संकल्पों से सृष्टि के समान पदार्थों की उत्पत्ति करके पूजा की जाती है। कलि की वृत्ति में मन की प्रधानता रहती है। मन के देवता चंद्रमा हैं जो श्रीशिवजी के आश्रित हैं, इससे इसे शिव रूप वट कहा गया है। इस अवस्था में कथा एवं नामकीर्तन ही उपाय हैं।

श्रीभुशुंडीजी को काल नहीं व्यापता, इससे उन्हें रात्रि का विक्षेप नहीं होता है, निरंतर भजन में लगे रहते हैं, उनका शरीर दिव्य है, इससे आलस आदि की सम्भावना नहीं।

प्रभु ने वर देकर इन्हें कहा था—"काय बचन मन मम पद, करेसु अचल अनुराग।" (दो० ८५); वही ये सदा करते रहते हैं, ध्यान और मानस पूजा मन की भक्ति, जाप-यज्ञ तन की और चरित्र वर्णन वचन की भक्ति है।

'जाप यज्ञ'; यथा—"मनोमध्ये स्थितो मन्त्रो मन्त्रमध्येस्थितं मनः। मनोमन्त्रसमायोगो जप इत्यभिधीयते॥" अर्थात् मंत्रार्थ विचार में मन को लीन किये हुए मंत्र-जप होता है। जप-यज्ञ के और भी अंग; यथा—"बीज मंत्र जपिये सोई तो जपत महेस। प्रेम बारि तर्पन भलो घृत सहज सनेहु। संसय समिधि अगिनि छमा, ममता बलि देहु॥" (वि० १०८)।

(२) 'रामचरित बिचित्र'—नाम, रूप, लीला, धाम का वर्णन चरित है। उसमें अनेकों रसों का सम्मिश्रण विचित्रता है। पुनः एक-एक चरित के अनेक हेतु होना भी उनमें विचित्रता है।

(३) 'मति बिमल मराला'—वहाँ अविद्या नहीं व्यापती, इससे सब निर्मल मति के हैं, पुनः निरंतर कथा श्रवण भी निर्मल मति का हेतु है।

जब मैं जाइ सो कौतुक देखा। उर उपजा आनंद बिसेखा॥१०॥

दोहा—तब कछु काल मराल तनु, धरि तहँ कीन्ह निवास।
सादर सुनि रघुपति-गुन, पुनि आयउँ कैलास॥५७॥

गिरिजा कहेउँ सो सब इतिहासा। मैं जेहि समय गयउँ खग-पासा॥१॥

अर्थ—जब मैंने जाकर वह तमाशा देखा, तब (मेरे) हृदय में विशेष आनंद पैदा हुआ॥१०॥ तब मैंने कुछ काल हंस-शरीर धारण करके वहाँ निवास किया और श्रीरघुनाथजी के चरित आदर पूर्वक सुनकर फिर कैलास लौट आया। वहाँ मन शांत हो गया, फिर कहीं जाने की आवश्यकता नहीं रह गई)॥५७॥ हे गिरिजे ! मैंने यह सब इतिहास कहा—जिस समय मैं श्रीभुशुंडीजी के पास गया॥१॥

विशेष—(१) 'सो कौतुक देखा'—'गिरि सुमेरु उत्तर दिसि...' से यहाँ तक जो कहा गया, यही कौतुक (आश्चर्य) है। पुनः पक्षी ही श्रोता, पक्षी ही वक्ता, पक्षी जापक, वही पुजारी, ध्यानी, इत्यादि कौतुक देखा।

'उर उपजा आनंद बिसेषा ।'—श्रीशिवजी के हृदय का विषाद दूर हो गया, इस नील गिरि के कौतुक से उन्हें विशेष आनंद उपजा । विषाद, ; यथा—"सती कीन्ह सीता कर बेषा । सिव उर भयउ बिषाद बिसेषा ॥" (बा० दो० ५५) ; वह यहाँ दूर हुआ ।

(२) 'तब कछु काल मराल तनु...'—भाव यह कि कुछ काल सत्संग के बिना कथा का आनंद नहीं मिलता । यहाँ एक आवृत्ति पूरी सुनने का तात्पर्य है । 'मराल तनु धरि' वहाँ हंसों का ही समाज था, इसलिये हंस तन धारण किया । समाज के अनुरूप वेष चाहिये ; यथा—"देव दनुज धरि मनुज सरीरा । बिपुल बीर आये रनधीरा ॥" (बा० दो० २५१) ; "रहे असुर छल छोनिप बेषा ।" (बा० दो० २४०) । पुनः अपने रूप से जाते तो उन्हें कहने में संकोच होता, क्योंकि ये (श्रीशिवजी) ही मानस के आचार्य हैं, इन्हीं से लोमश ने चरित पाया और फिर उनसे श्रीभुशुंडीजी ने पाया । अतः, गुरु के भी गुरु के सामने कैसे वक्ता बन कर कहते ?

'सादर सुनि रघुपति गुन···'—श्रीभुशुंडीजी सादर गान करते थे ; यथा—"प्रेम सहित कर सादर गाना ॥" इससे मैंने भी उसे सादर सुना । भाव यह कि श्रीरामचरित आदर करने ही योग्य है, इसी से ऐसी रीति है—बा० दो० ४६ चौ० ५ एवं "सादर सुनहुँ सुजन मन लाई ।" (बा० दो० ३४) देखिये । 'पुनि आयउँ कैलास'—श्रीरामगुण से ही शांति पाकर यहाँ फिर आया ।

(३) 'गिरिजा कहेउँ सो···'—यहाँ 'तुम्ह केहि भाँति सुना मद नारी ।' का उत्तर पूरा हुआ । आगे श्रीगरुड़जी के वहाँ जाने का हेतु कहेंगे—

'तेहि केहि हेतु काग सन जाई । सुनी कथा' का उत्तर—

अब सो कथा सुनहु जेहि हेतू । गयउ काग पहिं खगकुल-केतू ॥२॥
जब रघुनाथ कीन्ह रन - क्रीड़ा । समुझत चरित होत मोहि ब्रीड़ा ॥३॥

अर्थ—अब वह कथा सुनो, जिस कारण पक्षी कुल के ध्वजा रूप गरुड़जी काकभुशुंडीजी के यहाँ गये ॥२॥ जब श्रीरघुनाथजी ने रण-लीला की—प्रभु का वह चरित समझकर मुझे लज्जा लगती है ॥३॥

विशेष—(१) 'गयउ काग पहिं खग कुल केतू'—'काग' कहकर श्रीभुशुंडीजी की न्यूनता और 'खगकुल केतू' कहकर गरुड़ की बड़ाई प्रकट की कि एक पक्षियों में चांडाल (अति नीच) और दूसरा सब पक्षियों में श्रेष्ठ । पर कोई-कोई हेतु ऐसे भी होते हैं कि बड़े-छोटे के पास जाते हैं, उन्हें सुनो ।

(२) 'जब रघुनाथ कीन्ह···'—'रघुनाथ' शब्द से वैसी रण-लीला का हेतु कहा कि रण में मनुष्य-कुल वाले की ऐसी भी दशा होती है, रण की शोभा तभी होती है, जब दोनों ओर बराबर वीरों का युद्ध हो, इसलिये इधर का भी कुछ पराभव दिखाना आवश्यक था। ऐसा ही कहा है ; यथा—"रन सोभा लगि प्रभुहि बँधायो ।" (लं० दो० ७१) ।

'होत मोहिं ब्रीड़ा'—लज्जा लगने का कारण यह कि जिसके भौंह-भंग से काल का भी नाश हो जाता है, उसे तुच्छ राक्षस बाँध ले, इसमें स्वामी की बड़ी लघुता होती है ।

इंद्रजीत कर आपु बँधायो । तब नारद मुनि गरुड़ पठायो ॥४॥
बंधन काटि गयो उरगादा । उपजा हृदय प्रचंड बिषादा ॥५॥

प्रभु - बंधन समुझत बहु भाँती । करत बिचार उरग - आराती ॥६॥

अर्थ—इन्द्र-विजयी मेघनाद के हाथों से जब प्रभु ने अपनेको बँधाया, तब नारद मुनि ने (जाकर) गरुड़जी को भेजा ॥४॥ सर्पों के खानेवाले गरुड़जी नागपाश काटकर गये, तब उनके हृदय में प्रचंड खेद उत्पन्न हुआ ॥५॥ सर्पों के शत्रु गरुड़जी प्रभु का (यथार्थ) बंधन समझकर बहुत प्रकार विचार करते हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'इंद्रजीत कर आपु बँधायो ।'—श्रीरामजी ने सेना के साथ अपनेको बँधाकर उसे बड़ाई दी, तब उसका 'इंद्रजीत' नाम दिया गया कि उसने इन्द्र को ही जीतकर बाँध लिया था, तब श्रीरामजी का भी बाँध लेना योग्य ही है। 'आपु बँधायो'—अर्थात् वह बल करके प्रभु को नहीं बाँध सकता था, इन्होंने रण-शोभा के लिये स्वयं अपनेको बँधा लिया। यह भी भाव है कि निर्बल के हाथ बँधाते तो संदेह नहीं होता, बली के हाथ से बँधने से लोगों को वह नर-नाट्य सच्चा ही दीखता है।

'तब नारद मुनि '—'तब' का भाव यह कि जब प्रभु का नर नाट्य दिखाने का अभिप्राय जाना कि जब स्वयं बँधवाया है, तो अपने आप छूट जाने में उनका वह खेल झूठा हो जायगा, ऐश्वर्य खुल जायगा, इसलिये श्रीगरुड़जी को जाकर भेजा और उनसे छुड़वाया।

(२) 'बंधन काटि गयउ उरगादा।'—उरगाद का अर्थ सर्पों को खानेवाला है, अर्थात् सर्पों से श्रीरामजी बँधे थे, गरुड़जी ने आकर उन्हें खा लिया, यथा—"खगपति सब धरि खाये, माया नाग बरूथ।" (लं० दो० ७१), 'उपजा हृदय प्रचंड बिषादा।' सर्पों को पचा गये, पर विषाद को न पचा सके, इससे उसे प्रचंड कहा है।

(३) 'प्रभु बंधन समुझत···'—'बहु भाँती' का विस्तार आगे है, समझते हैं कि जिसका दास सर्पों को खा लेता है, वह स्वामी उन्हीं तुच्छ सर्पों से बँध जाय और फिर छुड़ा न सके, यह तो नहीं हो सकता।

ब्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा। माया - मोह - पार परमीसा ॥७॥
सो अवतार सुनेउँ जग माहीं। देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं ॥८॥

दोहा—भव - बंधन ते छूटहिं, नर जपि जाकर नाम।
खर्ब निसाचर बाँधेउ, नाग - पास सोइ राम ॥५८॥

अर्थ—जो सर्वत्र व्यापक है, ब्रह्म है, रजोगुण रहित और वाणीपति है, माया मोह से परे और परमेश्वर है ॥७॥ उसका अवतार जगत् में मैंने सुना था, पर उस (ब्रह्म) का प्रभाव कुछ भी नहीं देखा (भाव यह कि उन्हें बंधन में विवश देखा था) ॥८॥ मनुष्य जिसका नाम जपकर भवपाश से छूट जाते हैं। उन्हीं श्रीरामजी को तुच्छ राक्षस ने नागपाश से बाँध लिया ॥५८॥

विशेष—(१) 'ब्यापक' अर्थात् विश्व-व्याप्य है और श्रीरामजी उसके व्यापक है, भीतर-बाहर पूर्ण हैं। तो वे कैसे बाँधे जा सकते हैं? ब्रह्म अर्थात् अत्यन्त बृहद् है, कोटि-कोटि ब्रह्मांड उनके रोम-रोम में हैं, तो वे कैसे बँध सकते हैं? 'बिरज' है, उनमें माया के गुणों का स्पर्श नहीं हो सकता, तब

माया-नाग के बंधन में कैसे आ सकते हैं ? वे माया-मोह से परे हैं, तब माया के नाग से कैसे मोहित हो सकते हैं ? वागीश हैं, फिर बोल नहीं सकते थे, यह क्यों ? परमेश्वर हैं, इत्यादि। 'परमीसा' का शुद्ध-रूप 'परमेशा' होना चाहता था, पर प्रथम चरण के 'वागीसा' से तुकान्त नहीं मिलता ; इसलिये वैसा लिखा गया। भाषा में यह ग्रन्थ बना है, इसमें ऐसे शब्द प्रायः कहे जाते हैं।

'बागीसा' ; यथा—"सारद दारु नारि सम स्वामी। राम सूत्र धर अंतरजामी।" (बा० दो० १०४) ; 'सो अवतार सुनेउ···' ; यथा—"सोइ राम व्यापक ब्रह्म भुवननिकायपति माया धनी। अवतरेउ अपने भगत हित निज तंत्र नित रघुकुल मनी।" (बा० दो० ५१)। श्रीनारदजी से अभी सुना होगा।

(२) 'भव-बंधन ते छूटहिं···'— जिसके नाम का ऐसा प्रताप है, वह कैसे बंधन में पड़ सकता है ?; यथा—"जासु नाम जपि सुनहु भवानी। भव-बंधन काटहिं नर ज्ञानी ॥ तासु दूत कि बंध तर आवा। प्रभु कारज लगि कपिहिं बधावा ॥" (सुं० दो० ११) ; 'सर्व निसाचर'—जिसे श्रीहनुमान्‌जी ने भगाया, श्रीजाम्बवान्‌जी ने मूर्च्छित कर दिया। उसने बाँध लिया, तब बड़ाई कहाँ रह गई ? प्रभु तो बड़े-बड़े दैत्यों को नाश करनेवाले हैं। वे ही श्रीरामजी हैं ?

नाना भाँति मनहिं समुझावा। प्रगट न ज्ञान हृदय भ्रम छावा ॥१॥
खेदखिन्न मन तर्क बढ़ाई। भयउ मोहबस तुम्हरिहि नाँई ॥२॥
व्याकुल गयउ देवरिषि पाहीं। कहेसि जो संसय निज मन माहीं ॥३॥
सुनि नारदहि लागि अति दाया। सुनु खग प्रबल राम कै माया ॥४॥
जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआई विमोह मन करई ॥५॥

अर्थ—श्रीगरुड़जी ने अनेकों प्रकार से मन को समझाया, पर ज्ञान न हुआ (किन्तु), हृदय में भ्रम छा गया ॥१॥ दुःख से क्षीण (उदास) होकर मन मे तर्क बढ़ाकर वे तुम्हारी ही तरह मोह के वश हो गये (कि ये ईश्वर नहीं हैं, नर हैं, तभी बँध गये) ॥२॥ व्याकुल होकर वे देवर्षि श्रीनारदजी के पास गये और जो संशय उनके मन मे था, वह उन्होंने कह सुनाया ॥३॥ सुनकर श्रीनारदजी के मन में अत्यन्त दया लगी, (वे बोले—) हे गरुड़ ! सुनो, श्रीरामजी की माया अत्यन्त बलवती है ॥४॥ जो ज्ञानियों के चित्त को अपहरण करके बलात् उनके मन मे विशेष मोह उत्पन्न कर देती है ॥५॥

विशेष—(१) 'नाना भाँति' समझाना ऊपर के विशेषणों के भावों को कहा है, जो ऊपर कहे गये कि वे विशेषण यथार्थ हैं और इन्हीं के हैं। और भी—ईश्वर के चरित्रों की अगाधता जीव नहीं जान सकते। अतः, संदेह न करना चाहिये। 'प्रगट न ज्ञान'—भ्रम से ज्ञान आच्छादित हो गया है, जैसे सूर्य मेघ से ढँके हुए दिखाते हैं ; यथा—"अस संसय मन भयउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा ॥" (बा० दो० ५०) ; भ्रम यह है कि महर्षियों ने कहा है कि श्रीरामजी ब्रह्म ही हैं, रघुकुल में अवतार लिया है, उन्हें झूठा कैसे कहें ; यथा—"मृषा न होइ देवरिषि भाषा।" (बा० दो० ६०), और यदि सत्य मानें तो ब्रह्म माया के बंधन मे कैसे आ सकता ? इनमे तो कुछ भी प्रभाव देखा नहीं जाता।

(२) 'खेदखिन्न···'—दुविधा के कारण दुःख से खिन्न हो गये। तर्कणा करने लगे, पर कोई तर्क

प्रभु - बंधन समुझत बहु भाँती । करत बिचार उरग - आराती ॥६॥

अर्थ—इन्द्र-विजयी मेघनाद के हाथों से जब प्रभु ने अपनेको बँधाया, तब नारद मुनि ने (जाकर) गरुड़जी को भेजा ॥४॥ सर्पों के खानेवाले गरुड़जी नागपाश काटकर गये, तब उनके हृदय में प्रबल खेद उत्पन्न हुआ ॥५॥ सर्पों के शत्रु गरुड़जी प्रभु का (यथार्थ) बंधन समझकर बहुत प्रकार विचार करते हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'इंद्रजीत कर आपु बँधायो ।'—श्रीरामजी ने सेना के साथ अपनेको बँधाकर उसे बड़ाई दी, तब उसका 'इंद्रजीत' नाम दिया गया कि उसने इन्द्र को ही जीतकर बाँध लिया था, तब श्रीरामजी का भी बाँध लेना योग्य ही है। 'आपु बँधायो'—अर्थात् वह बल करके प्रभु को नहीं बाँध सकता था, इन्होंने रण-शोभा के लिये स्वयं अपनेको बँधा लिया। यह भी भाव है कि निर्बल के हाथ बँधाते तो संदेह नहीं होता, बली के हाथ से बँधने से लोगों को वह नर-नाट्य सचा ही दीखता है।

'तब नारद मुनि···'—'तब' का भाव यह कि जब प्रभु का नर-नाट्य दिखाने का अभिप्राय जाना कि जब स्वयं बँधवाया है, तो अपने आप छूट जाने में उनका वह खेल झूठा हो जायगा, ऐश्वर्य खुल जायगा, इसलिये श्रीगरुड़जी को जाकर भेजा और उनसे छुड़वाया।

(२) 'बंधन काटि गयउ उरगादा ।'—उरगाद का अर्थ सर्पों को खानेवाला है, अर्थात् सर्पों से श्रीरामजी बँधे थे, गरुड़जी ने आकर उन्हें खा लिया ; यथा—"खगपति सब धरि खाये, माया नाग बरूथ ।" (लं० दो० ७४); 'उपजा हृदय प्रचंड बिषादा ।' सर्पों को पचा गये, पर विषाद को न पचा सके, इससे उसे प्रचंड कहा है।

(३) 'प्रभु बंधन समुझत···'—'बहु भाँती' का विस्तार आगे है, समझते हैं कि जिसका दास सर्पों को खा लेता है, वह स्वामी उन्हीं तुच्छ सर्पों से बँध जाय और फिर छुड़ा न सके, यह तो नहीं हो सकता।

ब्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा । माया - मोह - पार परमीसा ॥७॥
सो अवतार सुनेउँ जग माहीं । देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं ॥८॥

दोहा—भव - बंधन ते छूटहिं, नर जपि जाकर नाम ।
खर्ब निसाचर बाँधेउ, नाग - पास सोइ राम ॥५८॥

अर्थ—जो सर्वत्र व्यापक है, ब्रह्म है, रजोगुण रहित और वाणीपति है, माया-मोह से परे और परमेश्वर है ॥७॥ उसका अवतार जगत् में मैंने सुना था, पर उस (ब्रह्म) का प्रभाव कुछ भी नहीं देखा (भाव यह कि उन्हें बंधन में विवश देखा था) ॥८॥ मनुष्य जिनका नाम जपकर भवपाश से छूट जाते हैं। उन्हीं श्रीरामजी को तुच्छ राक्षस ने नागपाश से बाँध लिया ॥५८॥

विशेष—(१) 'ब्यापक' अर्थात् विश्व-व्याप्य है और श्रीरामजी उसके व्यापक है, भीतर बाहर पूर्ण हैं। तो वे कैसे बाँधे जा सकते हैं ? ब्रह्म अर्थात् अत्यन्त बृहद् है, कोटि-कोटि ब्रह्मांड उनके रोम-रोम में हैं, तो वे कैसे बँध सकते हैं ? 'बिरज' हैं, उनमें माया के गुणों का स्पर्श नहीं हो सकता, तब

माया-नाग के बधन में कैसे आ सकते हैं ? वे माया मोह से परे हैं, तब माया के नाग से कैसे मोहित हो सकते हैं ? वागीश हैं, फिर बोल नहीं सकते थे, यह क्यों ? परमेश्वर हैं, इत्यादि। 'परमीसा' का शुद्ध-रूप 'परमेशा' होना चाहता था, पर प्रथम चरण के 'बागीसा' से तुकान्त नहीं मिलता ; इसलिये वैसा लिखा गया। भाषा मे यह ग्रन्थ बना है, इसमे ऐसे शब्द प्राय कहे जाते हैं।

'बागीसा', यथा—"सारद दारु नारि सम स्वामी। राम सूत्र धर अतरजामी।" (बा० दो० १०४); 'सो अवतार सुनेउ ··', यथा—"सोइ राम व्यापक ब्रह्म भुवननिकायपति माया धनी। अवतरेउ अपने भगत हित निज तत्र नित रघुकुल मनी।" (बा० दो० ५१)। श्रीनारदजी से अभी सुना होगा।

(२) 'भव-बधन ते छूटहिं ···'— जिसके नाम का ऐसा प्रताप है, वह कैसे बधन मे पड सकता है ?, यथा—"जासु नाम जपि सुनहु भवानी। भव-बंधन काटहिं नर ज्ञानी॥ तासु दूत कि बंध तरु आवा। प्रभु कारज लगि कपिहिं बधावा॥" (सु० दो० १६), 'खर्ब निसाचर'—जिसे श्रीहनुमान्‌जी ने भगाया, श्रीजाम्बवान्‌जी ने मूर्च्छित कर दिया। उसने बाँध लिया, तब बडाई कहाँ रह गई ? प्रभु तो बडे-बडे दैत्यों को नाश करनेवाले हैं। वे ही श्रीरामजी हैं ?

नाना भाँति मनहि समुझावा। प्रगट न ज्ञान हृदय भ्रम छावा॥१॥
खेदखिन्न मन तर्क बढ़ाई। भयउ मोहबस तुम्हरिहि नाँई॥२॥
ब्याकुल गयउ देवरिषि पाहीं। कहेसि जो संसय निज मन माहीं॥३॥
सुनि नारदहि लागि अति दाया। सुनु खग प्रबल राम कै माया।४॥
जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआई बिमोह मन करई॥५॥

अर्थ—श्रीगरुड़जी ने अनेकों प्रकार से मन को समझाया, पर ज्ञान न हुआ (किन्तु), हृदय में भ्रम छा गया॥१॥ दुःख से क्षीण (उदास) होकर मन मे तर्क बढाकर वे तुम्हारी ही तरह मोह के वश हो गये (कि ये ईश्वर नहीं हैं, नर हैं, तभी बँध गये)॥२॥ व्याकुल होकर वे देवर्षि श्रीनारदजी के पास गये और जो सशय उनके मन मे था, वह उन्होंने कह सुनाया॥३॥ सुनकर श्रीनारदजी के मन मे अत्यन्त दया लगी, (वे बोले—) हे गरुड़ ! सुनो, श्रीरामजी की माया अत्यन्त बलवती है॥४॥ जो ज्ञानियों के चित्त को अपहरण करके बलात् उनके मन मे विशेष मोह उत्पन्न कर देती है॥५॥

विशेष—(१) 'नाना भाँति' समझाना ऊपर के विशेषणों के भावों को कहा है, जो ऊपर कहे गये कि वे विशेषण यथार्थ हैं और इन्हीं के हैं। और भी—ईश्वर के चरित्रों की अगाधता जीव नहीं जान सकते। अत, सदेह न करना चाहिये। 'प्रगट न ज्ञान'—भ्रम से ज्ञान आच्छादित हो गया है, जैसे सूर्य मेघ से ढँके हुए दिखाते हैं, यथा—"अस ससय मन भयउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा॥" (बा० दो० ५०), भ्रम यह है कि महर्षियों ने कहा है कि श्रीरामजी ब्रह्म ही हैं, रघुकुल में अवतार लिया है, उन्हें झूठा कैसे कहें, यथा—"मृषा न होइ देवरिषि भाषा।" (बा दो० ६०), और यदि सत्य मानें तो ब्रह्म माया के बधन मे कैसे आ सकता ? इनमें तो कुछ भी प्रभाव देखा नहीं जाता।

(२) 'खेदखिन्न ···'—दुविधा के कारण दुःख से खिन्न हो गये। तर्कणा करने लगे, पर कोई तर्क

ठीक नहीं होता, तर्क पर तर्क बढ़ते जाते हैं। तर्क, जैसे कि धुएँ से अग्नि होने का अनुमान होता है। पर कहीं बिना धूम के भी अग्नि होती है। वैसे ऐश्वर्य देखकर ईश्वरता मानी जाती है। पर यदि वे अपना ऐश्वर्य न दिखायें तो क्या ईश्वर नहीं हैं ? दिखाना उनके अधीन है। अतः, तर्क से ही ईश्वर का निर्णय नहीं हो सकता। कहा भी है—"अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।" (ब्र० सू० आनन्द भाष्य १।१।११)।

'भयउ मोह बस तुम्हरिहि नाईं।'—तुम भी 'नर या ब्रह्म' के भ्रम में पड़ी थीं; यथा—"जौं नृप तनय तो ब्रह्म किमि, नारि बिरह मति भोरि।" (बा० दो० १०८); पुनः "संभु गिरा पुनि मृषा न होई।" (बा० दो० ५०); वैसी ही दशा श्रीगरुड़जी की भी हुई।

(३) 'गयउ देवरिषि पाहीं'—श्रीनारदजी ने ही इन्हें नाग पाश काटने को भेजा था और श्रीरामजी को ईश्वर भी कहा था। इससे उन्हीं से समाधान कराने के लिये गये। 'लागि अति दाया'—संत स्वभाव से उन्हें दया लग आई; यथा—"नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता॥" (आ० दो० १); 'सुनु खग'—शिष्य भाव से मोहित होकर आये, इससे हलका नाम 'खग' ही कहा है।

(४) 'जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई।'—श्रीनारदजी और सनकादिक ज्ञानी मुनियों के मोह प्रसंग मानस में ही कहे गये हैं। तथा—"नारद भव बिरंचि सनकादी। जे मुनि नायक आतम बादी॥ मोह न अंध कीन्ह केहि केही।" (दो० ६१); 'बरिआईं…'—श्रुति-स्मृति के प्रमाणों को देते हैं, पर वे प्रमाण हृदय में नहीं जमते।

जेहिं बहु बार नचावा मोही। सोइ ब्यापी बिहंगपति तोही॥६॥
महामोह उपजा उर तोरे। मिटिहि न बेगि कहे खग मोरे॥७॥
चतुरानन पहिं जाहु खगेसा। सोइ करेहु जेहि होइ निदेसा॥८॥

दोहा—अस कहि चले देवरिषि, करत राम-गुन-गान।
हरिमाया-बल बरनत, पुनि पुनि परम सुजान॥५९॥

अर्थ—जिस (हरिमाया) ने मुझे बहुत बार नचाया है, हे पक्षिराज! वही माया तुमको व्यापी है॥६॥ तुम्हारे हृदय में महा-मोह उत्पन्न हुआ है, हे खग! मेरे कहने से शीघ्र न मिटेगा॥७॥ हे खगराज! तुम चतुर्मुख श्रीब्रह्माजी के पास जाओ, और वही करोगे, जिसकी आज्ञा हो॥८॥ ऐसा कहकर देवर्षि श्रीनारदजी श्रीरघुनाथजी का गुणगान करते हुए चले। परम-सुजान श्रीनारदजी बार-बार भगवान् की माया का बल वर्णन करते हुए जा रहे हैं॥५९॥

विशेष—(१) 'जेहि बहु बार नचावा मोही।'—बहुत बार में एक बार की चर्चा बा० दो० १२४-१४० में आ गई है। 'नचाया'—वहाँ बंदर का-सा रूप मिला था, बंदर नचाया जाता ही है। पर नचाना यहाँ दिक करने के अर्थ में है; यथा—"घेरि सकल बहु नाच नचावहिं।" (लं० दो० ७); 'महामोह उपजा…'—मोह मात्र होता तो मिट भी जाता, पर महामोह है और दक्ष शाप के कारण मुझे बेगि (शीघ्रता) में ही कुछ कहना होगा। इससे मिट नहीं सकता। 'खग'—का भाव यह कि तुम भी आकाश में उड़ा करते हो, इस वृत्ति में बिना स्थिर होकर सत्संग किये समाधान न होगा।

(२) 'चतुरानन पहिं जाहु ...'—उनके चारों मुखों से चारों वेदों का आविर्भाव हुआ है। अत, वे ईश्वर तत्त्व के अच्छे ज्ञाता हैं। 'जेहि होइ निदेसा'—सम्भवत. यदि वे उपदेश न करें और दूसरी आज्ञा दें, तो वही करना, भाव यह कि उनकी आज्ञा अन्यथा नहीं होती।

(३) 'करत राम गुनगान'—यह श्रीनारदजी का स्वभाव है। पुन यहाँ गरुड़जी पर माया का प्रभाव देख रहे हैं। इससे अपने विषय मे भी डर हो आया। अत, उससे बचने का उपाय रूप राम-गुण-गान कर रहे हैं; यथा—"हरन मोह तम दिन कर कर से।" (बा० दो० ३१); माया के बल को बार-बार स्मरण करते जाते हैं, जिससे उससे सावधानता बनी रहे। माया पर दृष्टि रखते हुए उससे डर कर हरि-भजन करना, यही परम सुजानता है—यहाँ पर यह शिक्षा भी हुई।

तब खगपति बिरंचि पहिं गयऊ। निज संदेह सुनावत भयऊ॥१॥
सुनि बिरंचि रामहि सिर नावा। समुझि प्रताप प्रेम उर छावा॥२॥
मन महँ करइ बिचार बिधाता। मायावस कवि कोबिद ज्ञाता॥३॥
हरि - माया कर अमित प्रभावा। बिपुल बार जेहि मोहि नचावा॥४॥
अग-जग-मय जग मम उपराजा। नहिं आचरज मोह खगराजा॥५॥

अर्थ—तब खगराज गरुड़जी श्रीब्रह्माजी के पास गये और उन्होंने अपना सदेह कह सुनाया॥१॥ सुनकर श्रीब्रह्माजी ने श्रीरामजी को शिर नवाया, श्रीरामजी का प्रताप समझकर उनके हृदय में प्रेम छा गया (वे प्रेम में लीन हो गये)॥२॥ श्रीब्रह्माजी मन मे विचार करने लगे कि कवि, कोविद और ज्ञानी सभी माया के वश हैं॥३॥ भगवान् की माया का प्रभाव अतोल है कि जिसने मुझको बहुत बार नाच नचाया है॥४॥ यह स्थावर-जगम मय जगत् मेरा ही पैदा किया हुआ है (भाव यह कि गरुड़जी भी मेरी ही सृष्टि मे हैं, जब मुझे ही मोह हुआ तो) पक्षिराज को मोह होने मे कुछ आश्चर्य नहीं है॥५॥

विशेष—(१) 'बिरचि पहिं गयऊ'—भाव यह कि ये सब के एवं मेरे भी रचयिता हैं, तो मेरे सदेह का अवश्य निराकरण करेंगे। 'निज सदेह' जो ऊपर कहा गया—दो० ५७ चौ० ७–८ और दो० ५८ देखिये।

(२) 'सुनि बिरचि रामहि ...'—माया का भय मानकर श्रीरामजी को प्रणाम किया और फिर उनके प्रताप को समझकर प्रेम हुआ कि वे आश्रित की रक्षा अवश्य करते हैं। प्रणाम का यह भी हेतु है कि आप और आपकी माया धन्य है कि गरुड़ तक को भी तमाशा बना लिया—यह समझकर प्रेम हुआ कि जिनका उल्टा पल्टा नाम लेनेवाला भी माया-मोह को जीत लेता है, यथा—"नाम प्रभाव सही जो कहै कोउ सिला सरोरुह जामो। 'उल्टे पलटे नाम महातम गुजनि जितो ललामो।" (वि० २२८), वे ही प्रभु ऐसा नर नाट्य कर रहे है कि जिसमे ऐश्वर्य का छींटा भी नहीं है, देखकर गरुड ऐसों को भी भ्रम हो गया।

(३) 'मन महँ करइ बिचार '—सोचते हैं कि कवि आदि सभी तो माया के वश हैं, तब वे दूसरे को कब छुड़ा सकते हैं?

(४) 'हरि माया कर अमित प्रभावा।', यथा—"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।" (गीता ७।१४), 'मोहि नचावा' अर्थात् निर्लज्ज बना दिया। यहाँ ज्ञानियों को शिक्षा भी है कि दूसरे को

मायावश देखकर दोष न देकर उसपर दया ही करें और प्रभु को प्रणाम करें कि वे समर्थ हैं, बद्ध को मुक्त और मुक्त को बद्ध बना सकते हैं। अतः, उनकी शरणागति ही मात्र इससे बचने का उपाय है।

तब बोले बिधि गिरा सुहाई। जान महेस राम - प्रभुताई ॥६॥
बैनतेय संकर पहिं जाहू। तात अनत पूँछहु जनि काहू ॥७॥
तहँ होइहि तव संसय - हानी। चलेउ बिहंग सुनत बिधि-बानी ॥८॥

दोहा—परमातुर बिहंगपति, आयउ तब मो पास।
जात रहेउँ कुबेर - गृह, रहिहु उमा कैलास ॥६०॥

अर्थ—तब (विचार कर चुकने पर) ब्रह्माजी सुन्दर वाणी बोले कि महादेवजी श्रीरामजी की प्रभुता जानते हैं ॥६॥ हे विनता के पुत्र गरुड़ ! तुम शंकरजी के पास जाओ, हे तात ! और कहीं किसी से मत पूछो ॥७॥ वहाँ तुम्हारे सन्देह का नाश होगा, ब्रह्माजी की वाणी सुनते ही पक्षी चला ॥८॥ तब पक्षिराज गरुड़ अत्यन्त शीघ्रता एवं व्याकुलता से मेरे पास आये, हे उमा ! उस समय मैं कुबेरजी के यहाँ जाता था और तुम कैलास पर थीं ॥६०॥

विशेष—(१) 'गिरा सुहाई'—वाणी में गरुड़जी पर प्रेम और दया है उनके हित का विधान है, श्रीशिवजी की प्रशंसा है और वह गरुड़जी के अनुकूल है—इससे उसे 'सुहाई' कहा है। 'जान महेस राम प्रभुताई'—कैलास प्रकरण में श्रीशिवजी ने राम-प्रभुता कही भी है। तथा—"नाम प्रभाव जान सिव नीको।" (बा० दो० १८) ; पुनः अवतार के लिये स्तुति के विषय में इन्हीं की बात मानी गई; यथा—"मोर वचन सबके मन माना।" विवाह के समय भी; यथा—"सिव समुझाये देव सब···" इत्यादि। जानने के महान् सामर्थ्य पर 'महेस' और उनसे गरुड़जी का कल्याण होगा, इससे इन्हें 'संकर' कहा है। 'वैनतेय' कहने का भाव यह कि ये इस समय विनता की तरह चिंतित हैं। 'अनत पूछेहु जनि'—भाव यह कि और कोई तुम्हारा संशय दूर नहीं कर सकेगा, तरह-तरह की बातों से और मोह बढ़ता जायगा। यहाँ श्रीपार्वतीजी के उस वचन का उत्तर भी हो गया जो कहा गया था—"तेहि केहि हेतु काग सन जाई। सुनी कथा मुनि निकर बिहाई ॥" (दो० ५४) ; अर्थात् ब्रह्माजी के मना करने से अन्यत्र नहीं गये।

(२) 'चलेउ बिहंग···'—शीघ्रता से उड़ चलने पर बिहंग कहा गया, 'बिधि बानी'—इस वाणी में कार्य साधन की विधि भी है। उसपर चलना कर्त्तव्य है। 'तब बोले बिधि गिरा सुहाई।' उपक्रम है और यहाँ—'सुनत बिधि बानी।' उपसंहार है।

(४) 'परमातुर बिहंग पति···'—पहले व्याकुल (आतुर) थे ; यथा—"व्याकुल गयउ देव रिषि पाहीं।' जब वहाँ से श्रीब्रह्माजी के यहाँ भेजे गये फिर भी समाधान न हुआ, तब 'परम आतुर' हो गये। तथा यहाँ परमातुर का अत्यन्त शीघ्रता भी अर्थ है। 'चलेउ बिहंग' 'बिहंग पति आयउ' से भी शीघ्रता स्पष्ट होती है। 'कुबेर गृह'—अलका पुरी। इससे जना दिया कि उस समय तुम साथ नहीं थी, नहीं तो उमा अवश्य कहती कि मैं तो नहीं जानती और सदा साथ ही रहती हूँ।

तेहि मम पद सादर सिर नावा। पुनि आपन संदेह सुनावा ॥१॥
सुनि ता करि विनती मृदुबानी। प्रेम-सहित मैं कहेउँ भवानी ॥२॥
मिलेहु गरुड़ मारग महँ मोही। कवन भाँति समुझावउँ तोही ॥३॥
तबहिं होइ सब संसय भंगा। जब बहु काल करिय सत्संगा ॥४॥

अर्थ—उसने आदर सहित मेरे चरणों में शिर नवाया, फिर अपना संदेह सुनाया ॥१॥ हे भवानी! उसकी विनती और कोमल प्रेमयुक्त वाणी सुनकर मैंने उससे प्रेम से कहा ॥२॥ हे गरुड़! तुम मुझे मार्ग में मिले हो (मैं कुबेरजी के यहाँ जा रहा हूँ, तब) तुम्हें किस प्रकार समझाऊँ? ॥३॥ सब संदेह तो तभी नाश होते हैं जब बहुत काल तक सत्संग किया जाय ॥४॥

विशेष—(१) 'सादर सिर नावा'—इससे पाया गया कि पहले श्रीनारदजी और श्रीब्रह्माजी के यहाँ इन्होंने सामान्य प्रणाम कर लिया था, जिसे नहीं लिखा गया, क्योंकि तब तक इनके मन में कुछ अहंकार था, जब मोह से परम व्याकुल हुए, तब महत्ता का अभिमान छूटा और शुद्ध जिज्ञासु की वृत्ति प्राप्त हुई। तब यहाँ आदर के साथ प्रणाम किया। यह बात—'सुनि ता करि बिनती…' इस अगली अर्द्धाली से भी पुष्ट होती है।

(२) 'सुनि ताकरि बिनती…'—औरों ने टाल दिया था, जब श्रीशिवजी में इनकी गुरु-बुद्धि आई और इन्होंने सादर प्रणाम किया, तब श्रीशिवजी ने भी प्रेम के साथ कहा। दुखी देखकर दया से भी प्रेम के साथ कहा है।

(३) 'तबहिं होइ सब…'—गरुड़जी ज्ञानी हैं, इनका संदेह मिटाना सुगम नहीं, इसीसे बहुत काल सत्संग करना कहते हैं। प्रभु के विषय के संदेह उनके सांगोपांग चरित सुनने से ही दूर होंगे। उसके लिये बहुत काल की आवश्यकता है। 'बिनती मृदुबानी'—आगे भुशुंडीजी से संवाद होने मे कही जायगी। वैसी ही वाणी यहाँ भी कही गई है, वहाँ मुख्य प्रसंग है, इसलिये वहीं लिखी गई है। संवादारंभ में भरद्वाज और पार्वतीजी ने भी मृदुवाणी से विनती की है—बा० दो० ४४-४६ और १०६-११० देखिये।

सुनिय तहाँ हरि-कथा सुहाई। नाना भाँति मुनिन्ह जो गाई ॥५॥
जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना ॥६॥
नित हरिकथा होति जहँ भाई। पठवउँ तहाँ सुनहु तुम्ह जाई ॥७॥
जाइहि सुनत सकल संदेहा। रामचरन होइहि अति नेहा ॥८॥

दोहा—बिनु सतसंग न हरि-कथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु राम-पद, होइ न दृढ़ अनुराग ॥६१॥

शब्दार्थ—प्रतिपाद्य = प्रमाण पूर्वक कथन का विषय, वर्ण्य।
अर्थ—वहाँ (सत्संग में रहकर) सुंदर हरि-कथा सुनिये, जो अनेक प्रकार से मुनियों ने गाई

है ॥५॥ और जिसके आदि, मध्य और अंत में भगवान् श्रीरामजी ही प्रतिपाद्य प्रभु हैं ॥६॥ हे भाई ! जहाँ नित्य भगवान् की कथा होती है, वहाँ मैं तुमको भेजता हूँ, जाकर सुनो ॥७॥ सुनते ही सब संदेह दूर हो जायगा और श्रीरामजी के चरणों में अत्यन्त स्नेह होगा ॥८॥ विना सत्संग के हरिकथा नहीं (सुनने को मिलती), विना हरिकथा के मोह नहीं दूर होता और विना मोह के निवृत्त हुए श्रीरामजी के चरणों में निश्चल प्रेम नहीं होता ॥६१॥

विशेष (१) 'नाना भाँति मुनिन्ह जो गाई।'; यथा—"कलप भेद हरि चरित सुहाये। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाये॥" (बा० दो० ३२); नाना भाँति की कथाएँ सुनने का तात्पर्य यह कि एक भाँति की ही सुनने से दूसरी प्रकार की कथा सुनने पर संदेह हो जाता है कि ऐसी क्यों? मैंने तो वैसी सुनी थी।

(२) 'जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु...'—ग्रंथ-रचयिताओं का नियम है कि वे आदि में जो विषय लेकर ग्रंथारंभ करते हैं, मध्य में भी जहाँ-तहाँ उसका ही प्रतिपादन करते हुए अंत में उसे ही सिद्ध करते हुए ग्रंथ की पूर्ति करते हैं। वैसे ही इस ग्रंथ में भगवान् श्रीरामजी का ही प्रभुत्व मुख्य विषय है; यथा—"वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्।" इस श्लोक से ग्रंथारंभ में ही इस ग्रंथ में श्रीरामजी का सर्वोपरि प्रभुत्व प्रतिपादन किया गया है और ग्रंथ के अंत में भी—"राम समान प्रभु नाहीं कहूँ।" कहा गया है। उसके पीछे दो दोहों में शरणागति करके उन्हीं प्रभु में अनन्य-भक्ति-निष्ठा माँगी गई है। फिर श्लोकों में रामायण का महत्व कहा गया है। ग्रंथ के मध्य में सर्वत्र त्रिदेवों का श्रीरामजी के अंश से होना और उनका श्रीरामजी की ही उपासना करना विविध प्रसंगों से कहा गया है। यही श्रीरामजी का प्रभुत्व प्रतिपादन है। श्रीभुशुंडीजी यही कथा कहा करते थे, इसी से शिवजी ने गरुड़जी को वहीं पर भेजा अन्यत्र भी ऐसा ही कहा गया है; यथा—"वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा। आदावन्ते तथा मध्ये हरिः सर्वत्र गीयते॥"

(३) 'नित हरिकथा होति जहँ...'—'भाई'—यह बोलचाल का मुहाविरा है। वहाँ नित्य ही कथा होती है। अतः, तुम्हें प्रश्न करने की भी आवश्यकता नहीं होगी। यह वहाँ का नित्य नियम है। अन्यत्र प्रायः माघ, कार्तिक, वैशाख आदि विशेष अवसरों पर ही कथा अधिक होती है।

(४) 'जाइहि सुनत सकल संदेहा।'—क्योंकि यह कथा—"निज संदेह मोह भ्रम हरनी।" (बा० दो० ३०); है। जिसके संदेह, मोह और भ्रम इसे सुनकर न निवृत्त हों, उसे यही समझना चाहिये कि उसने सत्संग के द्वारा कथा को ठीक से सुना ही नहीं। क्योंकि यह वचन श्रीशिवजी का श्रीगरुड़जी के लिये आशीर्वाद-रूप है। दूसरा यह फल है—'राम-चरन होइहि अति नेहा।' यही इस ग्रन्थ का तात्पर्य है, यह आगे ग्रन्थ की समाप्ति पर 'सतपंच चौपाई' के अर्थ में कहा जायगा।

कथा श्रवण के दो फल हैं—संदेहों की निवृत्ति और श्रीराम-स्नेह।

(५) 'बिनु सतसंग न हरिकथा ...'—उपर्युक्त बातों को कारण माला अलंकार से यहाँ एकत्र कहते हैं कि सत्संग से हरिकथा और उससे मोह निवृत्ति और फिर श्रीरामजी में दृढ़ अनुराग होता है।

ऊपर 'राम-चरन होइहि अति नेहा।' कहा गया था, उसमें यह भी भय होता है कि स्नेह होकर यह दृढ़ न हुआ तो कुछ दिन में नहीं रह जाता। उस त्रुटि की पूर्ति यहाँ दोहे में की गई है क्योंकि 'दृढ़ अनुराग' होना कहा गया है। सत्संग से हरिकथा; यथा—"हरिहर कथा विराजति बेनी।" (बा० दो० १)। कथा से मोह निवृत्ति; यथा—"हरन मोह तम दिनकर कर से।" (बा० दो० ३१); मोह निवृत्ति से राम-पद-अनुराग; यथा—"होइ विवेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥" (अ० दो० ९२)।

. उपर्युक्त वार्तों के दुबारा कहने में यह भी हेतु है कि सत्संग और कथा से ही मोह निवृत्ति और राम-[प]द-अनुराग होता है। अन्य रीति से श्रीराम-स्नेह हो भी तो दृढ़ नहीं रहता। पुनः गरुड़ को दृढ़ विश्वास होने के लिये भी दोहराकर कहा गया है।

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किये जोग तप ज्ञान बिरागा ॥१॥
उत्तर दिसि सुंदर-गिरि नीला। तहँ रह काकभुशुंडि सुसीला ॥२॥
राम-भगति-पथ परम प्रबीना। ज्ञानी गुनगृह बहुकालीना ॥३॥
राम-कथा सो कहइ निरंतर। सादर सुनहिं बिबिध बिहंगबर ॥४॥

अर्थ—योग, तप, ज्ञान और वैराग्य के करने पर भी बिना अनुराग के श्रीरघुनाथजी नहीं मिलते ॥१॥ उत्तर दिशा में एक सुन्दर नील पर्वत है, वहाँ सुशील काक-भुशुंडीजी रहते हैं ॥२॥ वे श्रीराम-भक्ति के मार्ग में अत्यन्त निपुण हैं, ज्ञानी हैं, गुणधाम हैं और बहुत काल के (पुराने) हैं ॥३॥ वे निरंतर श्रीरामजी की कथा कहते हैं और तरह-तरह के अनेक सुन्दर श्रेष्ठ पक्षी आदर के साथ सुनते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा।'; यथा—"रामहि केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जाननि हारा॥" (अ० दो० १३६)।

यहाँ भुशुण्डीजी को 'सुशील, राम-भक्ति-पथ-परम प्रवीण, ज्ञानी, गुण गृह और बहुकालीन' इन पाँच गुणों से विशिष्ट कहा गया, ये गुण कथावाचक में अवश्य होने चाहिये। सुशील वक्ता से श्रोता का मन उदास नहीं होने पाता, वह अपने संशय ठीक से कहता है। (गरुड़जी को यह भी सूचित करते हैं कि वह तुम्हारा आदर करेगा, क्योंकि सुशील है)। राम-भक्ति मार्ग में प्रवीण वक्ता, नवधा, प्रेमा, परा आदि के भेदों को समझा देता है। ज्ञानी होने से संशय निवृत्त कर देता है, यथा—"ज्ञान उदय जिमि संसय जाहीं।" गुण-गृह होने से उसके श्रोता में भी गुण प्राप्त होते हैं। बहुकालीन होने के कारण बहुत सत्संग करने से उसे तत्त्व का विशेष बोध रहता है और वह बहुत-सी अनुभवी बातें भी कहता है। श्रीशिवजी से यहाँ 'बहुकालीना' सुना है, इसी को आगे गरुड़जी कहेंगे—"नाथ सुना मैं अस सिव पाहीं। महा प्रलयहु नास तव नाहीं॥" (दो० ९३); इससे यह भी जनाया है कि उसने बहुत कल्पों की व्यवस्था देखी सुनी है, वह बहुत अवतारों के भेदों को भी जानता है और उसने उनके चरित्र देखे हैं। इन सब गुणों को आगे गरुड़जी भुशुण्डीजी में पायेंगे।

ऐसे ही श्रोता के भी पाँच लक्षण कहे गये हैं; यथा—"श्रोता सुमति सुसील सुचि, कथा-रसिक हरिदास। पाइ उमा अति गोप्यमपि, सज्जन करहिं प्रकास॥" (दो० ६९)। 'बिबिध बिहंग बर'; यथा—"सुनहिं सकल मति बिमल मराला। बसहिं निरंतर जो तेहि ताला॥" (दो० ५६); "वृद्ध वृद्ध बिहंग तहँ आये। सुनहिं राम के चरित सुहाये।" (दो० ६३), अर्थात् सब वृद्ध, बहु कालीन और विमल मति हैं।

जाइ सुनहु तहँ हरिगुन भूरी। होइहि मोहजनित दुख दूरी ॥५॥
मैं जब तेहि सब कथा बुझाई। चलेउ हरषि मम पद सिरनाई ॥६॥
ताते उमा न मैं समुझावा। रघुपति-कृपा मरम मैं पावा ॥७॥

अर्थ—वहाँ जाकर भगवान् के गुण समूह सुनो, मोह से उत्पन्न दुःख दूर हो जायगा ॥५॥ मैंने जब उसे सब समझाकर कहा, तब वह मेरे चरणों में शिर नवा हर्षित होकर चला ॥६॥ हे उमा! मैंने उसे इसलिये (स्वयं) नहीं समझाया कि श्रीरघुनाथजी की कृपा से मैं मर्म पा गया, (उस मर्म को आगे कहते हैं) ॥७॥

विशेष—(१) 'जाइ सुनहु'—भाव यह कि जिज्ञासु बनकर वहीं पर जाओ, यह नहीं कि हम पक्षिगणों के राजा हैं। अतः, उसे अपने ही यहाँ बुलवाकर सुने। बड़प्पन का मान भुला कर जाओ।

'हरि गुन भूरी'—पूर्व कहा गया—'बहु काल करिय सतसंगा' उसी को यहाँ 'हरि गुन भूरी' सुनो, ऐसा कहा है। भाव यह कि बहुत काल सुनने पर ही 'नाना भाँति मुनिन्ह जो गाई' कथाएँ सुनने को मिलेंगी और सब संशय एवं मोह जनित दुःख दूर होंगे। इनका मोह जनित दुःख; यथा—"खेद खिन्न मन तर्क बढ़ाई।" कहा गया था, उसके दूर होने का उपाय यहाँ कहा है।

(२) 'मैं जब तेहि सब...'—'सब' में वे सब बातें भी आ गईं जिन्हें श्रीभुशुण्डीजी के सम्बन्ध में श्रीशिवजी ने पूर्व उमा से कहा है।

(३) 'चलेउ हरषि' श्रीशिवजी ने कहा है कि वहाँ जाते ही मोह निवृत्त हो जायगा। वे झूठ नहीं कहते; यथा—"मुधा बचन नहिं ईस्वर कहई।" (दो० ६३); यह श्रीगरुड़जी ने ही आगे कहा है। अतः, विश्वास हो गया कि वहाँ जाते ही दुःख दूर होगा, इससे हर्ष कर चले। पहले 'व्याकुल' एवं 'परमातुर' होकर चलते थे, वह व्याकुलता अब नहीं रह गई। 'मम पद सिर नाई' यह कृतज्ञता के साथ विदाई का प्रणाम है।

(४) 'रघुपति कृपा मरम मैं पावा।'; यथा—"सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।" (अ० दो० १२६). बिना श्रीरामजी की कृपा से उनकी लीला का मर्म कोई नहीं जान पाता, यथा—"लछिमनहूँ यह मर्म न जाना।" (आ० दो० २३); श्रीब्रह्माजी ने इन्हें भेजा था कि श्रीशंकरजी के यहाँ ही संदेह दूर हो जायगा। पर श्रीशिवजी ने नहीं समझाया। उसके कई कारण हैं—(क) एक ऊपर कहा गया कि तुम मार्ग में मिले हो और तुम्हें महामोह है, यह शीघ्रता से नहीं छूटेगा। (ख) दूसरा यहाँ मर्म में कह रहे हैं कि इसने कभी अभिमान किया होगा, अतः, श्रीरामजी इससे नीच के द्वारा उपदेश कराके उसे दूर करेंगे। (ग) तीसरा यह कि पक्षी पक्षी की ही भाषा में अच्छी तरह समझ सकता है। (घ) भुशुण्डीजी ने श्रीशिवजी से श्रीरामचरित पाया है, उसी (श्रीशिवजी की ही) कथा से इन्हें उपदेश करेंगे। अतः, शिष्य द्वारा संदेह दूर करना श्रीशिवजी का ही माना जायगा। इस तरह श्रीब्रह्माजी का वचन भी निबह गया है।

होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवइ चह कृपानिधाना ॥८॥
कछु तेहि ते पुनि मैं नहिं राखा। समुझइ खग खग ही कै भाषा ॥९॥
प्रभु - माया बलवंत भवानी। जाहि न मोह कवन अस ज्ञानी ॥१०॥

अर्थ - कभी इसने अभिमान किया होगा, कृपासागर श्रीरामजी उस अभिमान को नाश किया चाहते हैं ॥८॥ और, फिर कुछ इससे भी मैंने उसे नहीं रक्खा (अपने पास रखकर नहीं समझाया) कि पक्षी-पक्षी की ही बोली ठीक समझते हैं ॥९॥ हे भवानी! प्रभु की माया बड़ी बलवती है। ऐसा कौन ज्ञानी है जिसे वह न मोह ले? ॥१०॥

विशेष—(१) 'होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना ।'—'कबहुँ' का भाव यह कि हम यह नहीं जानते कि यह अभिमान कब का है, पर श्रीराम-कृपा से इतना अवश्य जाना हुआ है कि यह व्यवस्था इनके अभिमान दूर करने के लिये है । यदि रण-बंधन काटने का अभिमान कहा जाय, तो उसे तो श्रीशिवजी जानते ही हैं, वही प्रसंग कह ही रहे हैं । तब 'कबहुँ' क्यों कहते ? जैसे श्रीनारदजी को काम के जीतने का अभिमान था, तो माया के द्वारा कामोद्दीपन कराके उन्हें नीरोग किया । वैसे इन्हें भक्ति और ज्ञान का अभिमान हो गया होगा और यह भी कि हम भगवान् के परम कृपा-पात्र होने से बड़े हैं इत्यादि, ऐसा अनुमान किया जा सकता है । इसीसे स्वामी में ही मनुष्यत्व आरोपण रूप मोह हुआ और फिर जाति में अति-नीच को गुरु बनाकर छुड़ानेवाले का प्रबंध किया गया । यह बात आगे के—'ज्ञानी भगत सिरोमनि···' से पुष्ट होती है ।

'कृपानिधाना'—भक्त के अभिमान निवारण में भी भगवान् को गर्व प्रहारी आदि नहीं कहकर कृपानिधाना कहने का भाव यह कि भगवान् अपने भक्तों का गर्व-निवारण भी उनकी प्रतिष्ठा रखते हुए करते हैं, इसीसे श्रीगरुड़जी को भक्तों के यहाँ ही फिराया है । ऐसे ही श्रीनारदजी के गर्व-हरण की व्यवस्था भी औरों को नहीं ज्ञात हुई ; यथा—"सो चरित्र लखि काहु न पावा । नारद जानि सबहि सिर नावा ॥···काहु न लखा सो चरित बिसेषा ।" (बा० दो० १३२–१३३) ; यह भक्तों पर कृपा की विशेषता है । भगवान् का स्वभाव ही ऐसा है कि वे—'जन अभिमान न राखहिं काऊ ।' इससे श्रीशिवजी ने ऐसा अनुमान किया है ।

लीला-विधि में एवं किसी वैदिक धर्म स्थापन के लिये भगवान् अपने नित्य पार्षदों को भी अपनी इच्छा (माया) से वश कर देते हैं और फिर वे स्वयं उन्हें मुक्त भी करते हैं, किंतु दूसरों की माया उनके भक्तों पर नहीं लगती ; यथा—"त्वदाश्रितानां जगदुद्भवस्थितिप्रणाशसंसारविमोचनादयः । भवन्ति लीलाविधयश्च वैदिकास्त्वदीयगंभीरमनोनुसारिणः ॥" (आलवंदार स्तोत्र २१) ; यही बात यहाँ—"प्रभु माया बलवंत भवानी । जाहि न मोह कवन अस ज्ञानी ॥" से कही गई है । 'प्रभु-माया' का भाव यह कि माया प्रभु की है, उसमें प्रभु का बल है, इससे वह परम समर्थ है ।

दोहा—ज्ञानी भगत सिरोमनि, त्रिभुवन-पति कर जान ।
ताहि मोह माया नर, पाँवर करहिं गुमान ॥
सिव बिरंचि कहुँ मोहइ, को है बपुरा आन ।
अस जिय जानि भजहिं मुनि, मायापति भगवान ॥६२॥

अर्थ—(जो) ज्ञानियों और भक्तों के शिरमौलि और लोकत्रय-पति के वाहन (श्रीगरुड़जी) हैं, उन्हीं को (जब) माया ने मोहित कर लिया (तब) नीच मनुष्य क्या घमंड करते हैं ? (वे तो किसी गिनती में नहीं हैं, उनके इस घमंड से कि माया हमारा क्या करेगी ? उनकी नीचता प्रकट होती है,) ॥ (माया) श्रीशिवजी और श्रीब्रह्माजी को भी मोह में डाल देती है, तब दूसरा बेचारा कौन है ? (किस गिनती में है ?) ऐसा हृदय में समझकर मुनि लोग माया के स्वामी भगवान् का भजन करते हैं ॥६२॥

विशेष—(१) 'ज्ञानी भगत सिरोमनि···'—ऊपर कहा गया—"प्रभु माया बलवंत भवानी। जाहि न मोह कवन अस ज्ञानी ॥" इसी को यहाँ पुष्ट करते हैं कि ज्ञानी और भक्त को अभिमान नहीं होता; यथा—"ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं।" (अ॰ दो॰ १४); "सबहि मान प्रद आप अमानी।" (दो॰ ३७); श्रीगरुड़जी तो ज्ञानियों और भक्तों में शिरोमणि हैं और फिर भगवान् के साक्षात् वाहन ही हैं, सदा उनके चरण स्पर्श का सौभाग्य भी उन्हें प्राप्त रहता है। जिस चरण के ध्यान मात्र से एवं रज स्पर्श से महा पापी भी शुद्ध हो जाते हैं। जब ऐसे श्रीगरुड़जी को भी माया ने मोह-लिया, तब प्राकृत मनुष्यों का यह अभिमान करना कि हम ज्ञानी हैं। हमारी दृष्टि में सब ब्रह्म ही है, हम ब्रह्म ही हैं। अत:, माया हमारा क्या करेगी? उसे तो हमने मिथ्या सिद्ध कर लिया है। वह हमारा क्या कर सकती है? इत्यादि गुमान करना उनकी नीचता है।

विचारवान् तो यही मानते हैं—"बंधमोच्छ प्रद सर्व पर, माया प्रेरक सीव।" (आ॰ दो॰ १५); अर्थात् जीव मात्र पर प्रभु की माया का स्वामित्व है।

(२) 'सिव विरंचि कहुँ मोहइ···'—इसका विस्तार आगे—"नारद भव विरंचि सनकादी।" से "सोइ प्रभु भ्रू-बिलास खग राजा। नाच···" (दो॰ ६१–७१) तक देखिये। शिव-ब्रह्मा संसार भर की उत्पत्ति प्रलय करनेवाले हैं, जब ऐसे-ऐसे समर्थ भी मायावश होकर मोहित हो जाते हैं, तब और बेचारे किस गणना में हैं?

(३) 'अस जिय जानि भजहिं मुनि···'; यथा—"सुक सनकादि मुक्त विचरत तेउ भजन करत अजहूँ॥" (वि॰ ८६); "यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पायहुँ ज्ञान भगति नहि तजहीं॥" (आ॰ दो॰ ४१)। 'मायापति भगवान'—भगवान् माया के स्वामी हैं, माया में भगवान् का ही बल है, जो भजन के द्वारा भगवान् को ही अपने अनुकूल बना लेगा, माया उसका कुछ न कर सकेगी। यथा—"भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अतिमाया॥" से "अस बिचारि जे मुनि बिज्ञानी। जाचहिं भगति सकल सुख खानी॥" (दो॰ ११५); तक। नारद-मोह-प्रसंग में भी कहा है, यथा—"सुर नर मुनि कोउ नाहिं, जेहि न मोह माया प्रबल। अस बिचारि मन माँहि, भजिय महामायापतिहि॥" (बा॰ दो॰ १४०); वहाँ 'सुर नर मुनि' का और यहाँ ईश्वरों का भी मोहित होना कहा है। तात्पर्य यह कि माया से बचने का एक मात्र उपाय हरि-भजन ही है। भजन में त्रुटि हुई कि माया ने आ घेरा।

'सिव बिरंचि कहुँ ···' यह वाक्य श्रीशिवजी का नहीं है। अन्य तीन वक्ताओं का हो सकता है। 'मुनि' को श्लेपार्थी लें तो श्रीयाज्ञवल्क्यजी का वचन स्पष्ट है। श्रीभुशुंडिजी इस कांड में प्रधान ही हैं। भजन के पक्ष में स्वयं भी ग्रंथकार प्रायः रहते ही हैं। अत:, इसमें सबका एक मत कहा जा सकता है।

गयउ गरुड़ जहँ बसइ भसुंडी। मति अकुंठ हरि भगति अखंडी ॥१॥
देखि सैल प्रसन्न मन भयऊ। माया मोह सोच सब गयऊ ॥२॥
करि तड़ाग मज्जन जलपाना। बटतर गयउ हृदय हरषाना ॥३॥
वृद्ध वृद्ध विहंग तहँ आये। सुनै राम के चरित सुहाये ॥४॥

अर्थ—अचल हरि भक्ति और कुंद न होनेवाली बुद्धिवाले श्रीभुशुंडिजी जहाँ रहते थे; वहाँ

श्रीगरुड़जी गये ॥१॥ पर्वत देखकर उनका मन प्रसन्न हो गया और सब माया, मोह और शोच जाते रहे ॥२॥ तालाब में स्नान और जलपान करके वे बरगद के नीचे गये और हृदय में हर्षित हुए ॥३॥ वहाँ बुड्ढे-बुड्ढे पक्षी श्रीरामजी के सुन्दर चरित सुनने आये हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'गयउ गरुड़ जहँ···'—पहले—'चलेउ हरषि ···' से चलना कहा गया था, यहाँ पर उनका वहाँ पहुँचना भी कहा। 'जहँ बसै भसुंडी'—अभी आश्रम की सीमा तक पहुँचे हैं, वहाँ तक आश्रम ही कहलाता है ; यथा—"बालमीकि आश्रम प्रभु आये।" से "सुनि रघुबर आगमन सुनि, आगे आयउ लैन ॥···करि सन्मान आश्रमहि आने ॥" (अ॰ दो॰ १२३–१२४) ; इसमें प्रथम आश्रम की सीमा को फिर उनके वासस्थल को आश्रम कहा गया है। 'मति अकुंठ' अर्थात् निश्चला बुद्धि ; यथा—"लाभ कि रघुपति-भगति अकुंठा।" (लं॰ दो॰ १५) ; निश्चला बुद्धि है, इसीसे अखंड भक्ति होती रहती है।

(२) 'प्रसन्न मन भयऊ' कहकर उसका कारण भी कहा गया है; यथा—'माया मोह सोच सब गयऊ।' पहले माया-मोह से 'खेद खिन्न' थे। अब प्रसन्न मन हो गये। यह आश्रम का प्रभाव है, क्योंकि एक योजन तक वहाँ अविद्या न व्याप्त होने का लोमशजी का वरदान है। दो॰ ५६ चौ॰ २-३ भी देखिये।

(३) 'करि तडाग मज्जन जल पाना।'—तीर्थ में जाकर पहले स्नान करने की विधि है। पूर्व ही मनुजी और विश्वामित्रजी के प्रसंग में लिखा जा चुका है। 'हृदय हरषाना'—मन की प्रसन्नता पहले ही से है, कुछ स्नान और जलपान से नहीं हुई। यह प्रसन्नता आगामी सत्संग के लाभ की है कि जिसके आश्रम का ऐसा प्रभाव है उसके सत्संग से बड़ा लाभ होगा। 'बट तर गयउ'—इससे जाना गया कि इन्हें श्रीशिवजी ने सत्संग का स्थान और कथा का समय बतला दिया था ; यथा—"मैं जब तेहि सब कहा बुझाई।" में यह भी संगत है। 'हरषाना'—वहाँ का समाज देखकर भी हर्ष हुआ।

(४) 'बृद्ध बृद्ध बिहग तहँ आये'—बृद्ध से बहु कालीन और ज्ञान वृद्ध का अर्थ है, शरीर वृद्ध का नहीं, क्योंकि वहाँ अविद्या का प्रभाव नहीं व्यापता और वृद्धता आदि दुःख अविद्या से होते हैं। श्रीशिवजी ने कहा भी है—"सुनहिं सकल मति बिमल मराला।" उसी को यहाँ वृद्ध कहकर जनाया है।

कथा अरंभ करइ सोइ चाहा। तेही समय गयउ खग-नाहा ॥५॥
आवत देखि सकल-खग-राजा। हरषेउ बायस सहित समाजा ॥६॥
अति आदर खगपति कर कीन्हा। स्वागत पूछि सुआसन दीन्हा ॥७॥
करि पूजा समेत अनुरागा। मधुर बचन तब बोलेउ कागा ॥८॥

शब्दार्थ—स्वागत = अतिथि सत्कार, अगवानी, कुशल।

अर्थ—वह कथा प्रारंभ करना ही चाहता था कि उसी समय श्रीगरुड़जी वहाँ पहुँचे ॥५॥ समस्त पक्षियों के राजा को आते देखकर, पक्षि-समाज सहित काकभुशुंडीजी हर्षित हुए ॥६॥ और उन्होंने पक्षि-राज का अत्यन्त आदर सत्कार किया, कुशल पूछकर (बैठने के लिये) सुन्दर आसन दिया ॥७॥ अनुराग पूर्वक पूजन करके तब काकभुशुंडीजी मीठे वचन बोले ॥८॥

विशेष—(१) 'कथा अरंभ करइ सोइ चाहा ।···'—श्रीगरुड़जी अच्छे समय पर पहुँचे। इससे पूर्व दिन कथा पूर्ण हो चुकी थी। आज फिर आदि से आरंभ होने को थी, उसी समय ये आ गये। यदि बीच में आते तो कथा छोड़कर इनका सत्कार न करते बनता। पुनः कथा भी अधूरी छोड़कर इनके लिये आदि से कैसे कहते ? उसमें कथा का और अन्य श्रोताओं का भी अपमान होता। बीच से कथा सुनने में श्रीगरुड़जी को भी पछताया रहता, भगवान् की प्रेरणा से सब सुयोग बन गया।

(२) 'हरषेउ बायस सहित समाजा ।'—राजा के आने से हर्ष हुआ, कहा ही है—"सेवक सदन स्वामि आगमनू। मंगल मूल अमंगल दमनू ॥" (अ० दो० ८), पुनः ये भगवान् के परम कृपापात्र हैं, इनके आगमन से अपने बड़े भाग्य की भावना की और हर्षित हुए। उधर से श्रीगरुड़जी का भी हर्ष कहा ही गया है।

(३) 'अति आदर'—सब खड़े हो गये और आगे बढ़कर लिया और अपना भाग्य सराहा, इत्यादि। आदर तो भक्त लोग सभी का करते हैं; यथा—"राम के गुलामनि की रीति प्रीति सूधी सब, सब सों सनेह सब ही को सनमान है।" (क० उ० ११०), श्रीगरुड़जी राजा और परम भागवत हैं, इससे इनका अति आदर किया।

(४) 'करि पूजा समेत अनुरागा ।···'—अत्यन्त श्रद्धा है, इसीसे अनुराग से पूजा की और अनुराग होने ही से मधुर वचन भी निकले।

दोहा—नाथ कृतारथ भयउँ मैं, तव दरसन खगराज।
आयसु देहु सो करउँ अब, प्रभु आयहु केहि काज ॥
सदा कृतारथ रूप तुम्ह, कह मृदु बचन खगेस।
जेहि कै अस्तुति सादर, निज मुख कीन्हि महेस ॥६३॥

अर्थ—हे नाथ ! हे खगराज ! आपके दर्शनों से मैं धन्य हूँ। हे प्रभो ! आप किस कार्य के लिये आये हैं, उसकी आज्ञा दीजिये, उसे अब मैं करूँ ॥ पक्षिराज श्रीगरुड़जी कोमल वाणी बोले कि आप तो सदा ही कृतार्थ रूप हैं कि जिसकी प्रशंसा आदर पूर्वक अपने मुख से महादेवजी ने की है ॥६३॥

विशेष—(१) 'नाथ कृतारथ भयउँ मैं ···'—स्वामी के आगमन से सेवक का कल्याण होता है। उसके अमंगल दूर हो जाते हैं, ऊपर प्रमाण लिखा गया।

(२) 'आयसु देहु ···'—यह भुशुण्डीजी की सुशीलता है और शिष्टाचार की रीति भी है। 'सदा कृतारथ रूप तुम्ह ···' यह भुशुण्डीजी के ही शब्दों में उनका उत्तर है। भाव यह कि आप मेरे दर्शनों से क्या कृतार्थ होंगे, आप तो स्वयं कृतार्थ रूप हैं। आपके दर्शनों से और लोग भी कृतार्थ होते हैं। इसके प्रमाण में कहते हैं कि महान् ईश श्रीशिवजी क्या सामान्य व्यक्ति की सादर स्तुति करते ? स्तुति ; यथा—"तहँ रह काग भुसुंडि सुसीला ॥ राम भगति पथ परम प्रबीना। ज्ञानी गुनगृह बहु कालीना ॥ राम कथा सो कहइ निरंतर ।···" (दो० ६१)।

(३) 'कृतारथ रूप'—जिस लिये संसार में जन्म हुआ, वह कर्तव्य सब कर चुके।

सुनहु तात जेहि कारन आयउँ। सो सब भयउ दरस तव पायउँ ॥१॥
देखि परम पावन तव आश्रम। गयउ मोह संसय नाना भ्रम ॥२॥
अब श्रीराम-कथा अति पावनि। सदा सुखद दुख-पुंज-नसावनि ॥३॥
सादर तात सुनावहु मोही। बार बार बिनवउँ प्रभु तोही ॥४॥
सुनत गरुड़ कै गिरा बिनीता। सरल सुप्रेम सुखद सुपुनीता ॥५॥
भयउ तासु मन परम उछाहा। लाग कहइ रघुपति-गुन-गाहा ॥६॥

अर्थ—हे तात ! सुनिये, जिस कारण से मैं आया था, वह सब (कार्य पूर्ण) हो गया और आपके दर्शन (भी) पाये ॥१॥ आपका परम पवित्र आश्रम देखकर मेरे मोह, संशय और नाना प्रकार के भ्रम जाते रहे ॥२॥ हे तात ! अब आप मुझे अत्यन्त पवित्र, सदा सुख देनेवाली और दुःख समूह को नाश करनेवाली श्रीरामजी की कथा आदर पूर्वक सुनाइये। हे प्रभो ! मैं बार-बार आपसे विनती करता हूँ ॥३-४॥ श्रीगरुड़जी की बहुत नम्र, सरल, सुन्दर एवं अत्यन्त प्रेमयुक्त, सुख देनेवाली और अतिशय पवित्र वाणी सुनते ही भुशुण्डीजी के मन में अत्यन्त उत्साह हुआ और वे श्रीरघुनाथजी के गुणों की कथा कहने लगे ॥५-६॥

विशेष—(१) 'सुनहु तात जेहि कारन···'—यह 'प्रभु आयउ केहि काज' का उत्तर है। क्या कार्य हुआ, यह आगे 'देखि परम ··' से कहते हैं कि आपके दर्शनों के पहले ही वह कार्य हो गया, यथा—"देखि सैल प्रसन्न मन भयऊ। माया मोह सोच सब गयऊ ॥" 'परम पावन'—स्वयं पवित्र है और दूसरों को भी पवित्र करता है। 'अब श्रीरामकथा अति पावनि'—यह भुशुण्डीजी के 'आयसु होइ सो करउँ ··' के उत्तर में फिर से कहा है। साथ ही 'अति पावनि ··' आदि से कथा का महत्त्व कहकर उसमे अपनी दृढ़ श्रद्धा प्रकट करते हैं। श्रीशिवजी ने आज्ञा भी दी थी, यथा—'जाइ सुनहुँ तहँ हरिगुन भूरी।' इससे भी चरित सुनाने के लिये 'बार बार बिनवउँ ··' कहा है। पहले 'गयउ मोह संसय नाना भ्रम।' कहकर तब रामकथा सुनने की रुचि प्रकट की, भाव यह कि मोहादि छूटने पर कथा मे उत्तम रुचि होती है; यथा—"तव कर अस बिमोह अब नाहीं। राम कथा पर रुचि मन माहीं ॥" (बा॰ दो॰ १०८); 'तात' शब्द से प्रियत्व और 'प्रभु' से स्वामित्व एवं आचार्यत्व प्रकट किया।

(२) 'सुनत गरुड कै गिरा बिनीता।···'—स्वामी-सेवक भाव सहित होने से विनीत, बनावट रहित सीधे-सीधे अपने संदेह कह देने में सरल, कथा में रुचि होने से सुप्रेम, विनीत होने से सुखद और राम-गुण-परक होने से सुपुनीत है।

(३) 'भयउ तासु मन परम उछाहा।...'—पहले इनके आने पर समझा था कि न जाने किस कार्य से आये हैं, वह कार्य कर लें। तब कथा कहेंगे। जब जाना कि इनकी भी वही इच्छा है, तब परम उत्साह से कहने लगे। राम-कथा ऐसी वस्तु है कि इसके कहने में उत्साह होता ही है; यथा—"रघुपति चरित महेस तब, हरपित बरनइ लीन्ह ॥" (बा॰ दो॰ १११); "कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं ॥" (बा॰ दो॰ ४०)।

प्रथमहिं अति अनुराग भवानी। राम-चरित-सर कहेसि बखानी ॥७॥

पुनि नारद कर मोह अपारा। कहेसि बहुरि रावन-अवतारा ॥८॥
प्रभु-अवतार-कथा पुनि गाई। तब सिसु-चरित कहेसि मन लाई ॥९॥

अर्थ - हे भवानी! पहले ही भुशुण्डीजी ने अत्यन्त अनुराग से श्रीराम-चरित सर (मानस सर का रूपक) विस्तार से वर्णन किया ॥७॥ फिर श्रीनारदजी का अपार मोह और तत्पश्चात् रावण का अवतार कहा ॥८॥ पुन प्रभु के अवतार की कथा वर्णन की, तब उनका शिशु-चरित मन लगाकर कहा ॥९॥

विशेष—(१) 'प्रथमहि अति अनुराग ...'—सब वक्ता लोगों ने श्रीरामजी को प्रणाम करके कथा प्रारंभ की है। पर भुशुण्डीजी बिना प्रणाम किये ही कथा कहने लग गये, यह क्यों? इसका उत्तर यह है कि वे मंगलाचरण कर चुके थे, कथा कहने की इच्छा की थी, उसी समय गरुड़जी पहुँच गये, तब इनसे बात-व्यवहार करके कथा कहने लगे। दूसरा यह भी समाधान है कि उत्साह पूर्वक श्रीरामजी की कथा कहते हुए अति अनुराग में भर गये, इससे प्रणाम करना भूल गये। इसी लिये कथा पूर्ति पर पीछे इन्होंने बार-बार प्रणाम किया है, यथा—"तरहिं न बिनु सेये मम स्वामी। राम नमामि नमामि नमामी। 'नमामि अविनासी।" (दो० १२१)।

'राम चरित-सर कहेसि बखानी।'—इस सर के विषय में रामायणी लोगों में बहुत-से मत हैं। उनमें जो अपने विचार से सिद्धान्त भूत अर्थ है, वह लिखता हूँ। 'राम-चरित सर' जैसा कि श्रीगोस्वामीजी ने मानस मुखबन्ध में सर के रूपक में पहले सम्पूर्ण ग्रन्थ का भाव कहा है। मानस सर के सर्वांग को उपमान में देकर श्रीरामचरितमानस के सर्वांग को उपमेय करके कहा है। श्रीगोस्वामीजी की मानस-प्रस्तावना से स्पष्ट है, यथा—"राम चरित मानस येहि नामा। सुनत श्रवन पाइय बिश्रामा॥ मन करि विषय अनल बन जरई। होइ सुखी जो येहि सर परई॥ राम चरित मानस मुनि भावन। बिरचेउ संभु सुहावन पावन॥ रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमय सिवा सन भाषा॥ तातें राम चरित मानस वर। धरेउ नाम हिय हेरि हरषि हर॥ कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई॥" (बा० दो० ३५), इसमें स्पष्ट कहा है कि श्रीरामचरितमानस की रचना श्रीशिवजी ने मन में कर रक्खी थी। इसका नाम श्रीरामचरितमानस उन्होंने रक्खा है। मानस से मानस सर का अभिप्राय था। जिसे इस रूपक से जनाया गया है कि मन रूपी हाथी विषयाग्नि वन में जलता हुआ यदि इस सर (तालाब) में पड़ जाय, तो सुखी हो। नामकरण के पूर्व ही सर का रूपक कहा गया है। श्रीगोस्वामीजी ने उसी के अनुसार चार घाट और साङ्गोपाङ्ग मनोहर सर बनाया है। जो "सुमति भूमि थल हृदय अगाधू।" से "अस मानस मानस चख चाही।" (बा० दो० ३५-३८) तक कहा गया है। वहाँ सर का रूप चरित के साथ विस्तार से कहा जा चुका था, इसलिये यहाँ कथोपकथन में नहीं लाया गया।

शिव पार्वती का संवाद श्रीरामचरित के विषय में—"सुनु सुभ कथा भवानि, राम चरित मानस बिमल। कहा भुसुंडि बखानि, सुना बिहँग नायक गरुड़॥" से प्रारम्भ होता है। इससे लोगों को संदेह होता है कि श्रीरामचरित सर उसका कोई अंग नहीं है। इसलिये यहाँ भुशुण्डीजी के द्वारा आरम्भ करने में श्रीरामचरित सर से ही आरम्भ करते हैं और यह सूचित करते हैं कि श्रीशिवजी ने भी इसे सर (तालाब) के ही रूप में रचा था।

मानस सर के पश्चात् कीर्ति सरयू का रूपक ग्रन्थकार का निराला है। फिर परापर अवतार का कथा के कारण रूप सती मोह का कथा याज्ञवल्क्यजी ने कहा है, उसे उन्होंने आरम शम्भु चरित कहा है,

पर वह श्रीरामचरित का ही एक विशिष्ट अंग है। यह शिव रचित मानस मे नहीं है। कैलास-प्रकरण के श्रीपार्वतीजी के प्रश्न से शिव रचित मानस को जानना चाहिये। उसमे रावण और श्रीरामजी के अवतार के कारणों का उल्लेख करते हुए पाँच कारणों के होते हुए भी मध्य का नारद मोह प्रसंग उस सूची में कहा गया है। रावण और श्रीरामजी के चारों अवतारों की कारण-भूता पाँच कथाएँ कही गई हैं, वे क्रमश इस प्रकार हैं—१—जय-विजय, २—जलंधर, ३—नारद-मोह, ४—मनु-शतरूपा, ५—भानु प्रताप, इन पाँचों प्रसंगों के मध्य मे नारद-मोह प्रसंग है। उसे कहकर सबो को सूचित किया है। आगे भी 'रिषि आगमन' कहकर 'सिय रघुबीर निवाह' कहा गया है। बीच के मखरत्ता, अहल्योद्धार, जनकपुर-प्रवेश, पुष्पवाटिका, धनुषयज्ञ और परशुराम संवाद के प्रसंग नहीं कहे गये। इनके आदि और अंत के प्रसंग कहकर बीच के सबों का सन्निवेश कर दिया है। ऐसे ही आगे 'राम-लछिमान संवादा' मध्य का कहकर उसके पहले और पीछे के सब प्रसंग जना दिये हैं। इत्यादि रीति से इस सूक्ष्म सूची मे सभी कथाओं को समझना चाहिये। कुछ यह बात नहीं है कि जो प्रसंग इस सूची मे नहीं लिखा गया, वह श्रीभुशुंडीजी ने कहा ही नहीं।

कुछ लोग—"संभु चरित सुनि सरस सुहावा।" (बा० दो० १०२) के पश्चात् से श्रीरामचरित मानते हैं और उसके पीछे शिव पार्वती संवाद से सर का रूपक मानते हैं। 'विश्वनाथ मन नाथ पुरारी।' (बा० दो० १०९), से पार्वतीजी के प्रश्न हैं। "झूठउ सत्य जाहि बिनु जाने" से "सुनि सिव के भ्रम भंजन बचना॥" (बा० दो० १११–११८), तक शिवजी के उत्तर हैं। इनमें पाँच बार 'सोई-सोई' कह कर जो उत्तर दिये गये हैं। उसी प्रसंग को श्रीरामचरित सर मानते हैं, क्योंकि इसी के आगे फिर नारद मोह प्रसंग भी है। इसमे प्रत्यक्ष अड़चनें ये हैं कि सर का अर्थ तालाब का होता है जो श्रीरामचरित के साथ मे जहाँ-तहाँ उसी अर्थ मे आया है। दूसरे इस प्रसंग के पश्चात भुशुंडीजी का संवाद प्रारंभ होना कहा गया है; यथा—"कहा भुसुंडि बखानि, सुना बिहंग नायक गरुड़।" (बा० दो० १२०)।

कोई—"सुनु सुभ कथा भवानि, रामचरित मानस बिमल। कहा भुसुंडि बखानि, सुना बिहंग नायक गरुड़॥" (बा० दो० १२०) से शिव चरित मानस मे भुशुंडि-गरुड संवाद का उपक्रम मानते हैं। और आगे —"नारद स्राप दीन्ह एक बारा।" (बा० दो० १२१), से नारद मोह प्रसंग का प्रारंभ है। तब इसके बीच के तीन दोहों को रामचरित सर कैसे कहा जा सकता? उसमे सर शब्द की सार्थकता किसी प्रकार से नहीं हो सकती। इसलिये उपर्युक्त-अर्थ ही ठीक है।

(२) 'मोह अपारा'—नारदजी ने उससे पार होने का बहुत प्रयास किया, पर भगवान् की कृपा बिना पार नहीं पाया; यथा—"जब हरि माया दूरि निवारी।" (बा० दो० १३७); अपने इष्टदेव से विवाह के लिये सुंदरता माँगी, उनके गूढ़ वचन और हर गणों के कूढ़ वचन नहीं समझे, भगवान् को दुर्वचन कहा, शाप दिया, यह सब मोह की अपारता है। "नारद स्राप दीन्ह एकबारा।" से "सुरनर मुनि कोउ नाहिं, जेहि न मोह ·" (बा० दो० १२३–१४०) तक नारद-मोह प्रसंग है।

'कहेसि बहुरि रावन अवतारा।'—"सुनु गिरिजा हरिचरित सुहाये।" से "यह सब रुचिर चरित मैं भाखा।" (बा० दो० १२०–१८७) तक रावण-अवतार प्रसग है। इसी में चारों कल्पों के रावण प्रसंग हैं, क्रम से जय-विजय, जलंधर, हरगण और भानुप्रताप रावण हुए हैं।

'कहेसि' अर्थात संक्षेप से कहा और 'गाई' अर्थात् विस्तार एव प्रेम पूर्वक कहा।

(३) 'सिसु चरित कहेसि मन लाई।'—"सुनि सिसु रुदन परम प्रिय बानी।" से "कर सिसु चरित

पुनीत"; "येहि विधि सिसु विनोद प्रभु कीन्हा।" (बा० दो० ११२- ११) तक शिशु-चरित है। इसे मन लगाकर कहा, क्योंकि बालरूप इनका इष्ट है।

'प्रभु अवतार कथा'—"सुनु गिरिजा हरि चरित सुहाये।" (बा० दो० ११०) से "विप्र धेनु सुर संत हित, लीन्ह मनुज अवतार।" (बा० दो० ११२), तक श्रीरामजी के चारों कल्पों के प्रसंग आ गये हैं।

दोहा—बाल-चरित कहि बिबिधि बिधि, मन महँ परम उछाह।
रिषि - आगमन कहेसि पुनि, श्रीरघुबीर - बिवाह ॥६४॥

अर्थ—मन में उत्साह पूवक अनेक प्रकार की बाल-लीलाओं को अनेक प्रकार से कहकर विश्वामित्र ऋषि का आगमन कहा, फिर श्रीरघुवीर-विवाह कहा ॥६४॥

विशेष—(१) "सुत सनेह बस माता, बाल-चरित कर गान॥" (बा० दो० २००) से "यह सब चरित कहा मैं गाई।" (बा० दो० २०५) तक बाल-चरित है। 'बिबिधि बिधि'—तरह-तरह के बालचरित गीतावली में विशेष दिये गये हैं। शिशु-अवस्था पाँचवें वर्ष तक होती है, फिर १४ वें वर्ष तक बाल-अवस्था कही जाती है। 'परम उछाह'—उत्साह आदि से ही है; यथा—"भयउ तासु मन परम उछाहा।" यह ऊपर कहा गया। ये चरित इनके बार-बार के देखे हुए भी हैं, शेष कुछ देखे और कुछ सुने हुए हैं और कुछ अनुभव के भी हैं।

(२) 'श्री रघुवीर-बिवाह'—धनुषयज्ञ में तीनों लोकों के सुभटों की तथा परशुरामजी की भी श्री हत हुई; यथा—"श्रीहत भये भूप धनु टूटे।" (बा० दो० २१२); "परसुराम मन बिसमय भयऊ।" (बा० दो० २६१), सब विजयश्री श्रीरामजी को ही प्राप्त हुई। इनकी ही श्री रह गई। "आगिल कथा सुनहु मन लाई।" से "तब मुनि सादर कहा बुझाई।" (बा० दो० २०५—२०६) तक ऋषि आगमन प्रसंग है और "चरित एक प्रभु देखिय जाई।" से "सिय रघुबीर-बिवाहु, जे सप्रेम गावहिं सुनहिं।" (बा० दो० २०६ से ३६१) तक ब्याह-प्रसंग है।

बहुरि राम - अभिषेक - प्रसंगा। पुनि नृप-बचन राज-रस-भंगा ॥१॥
पुरबासिन्ह कर बिरह बिषादा। कहेसि राम - लछिमन-संबादा ॥२॥
बिपिन - गवन केवट - अनुरागा। सुरसरि उतरि निवास प्रयागा ॥३॥
बालमीक - प्रभु - मिलन बखाना। चित्रकूट जिमि बसे भगवाना ॥४॥

अर्थ—फिर राम-राज्याभिषेक प्रसंग कहा, फिर राजा दशरथ का वचन (हारना) और राज्य-रस (राम-राज्य-तिलक-संबंधी आनंद) का खंडित होना ॥१॥ पुरवासियों का विरह दुःख पुनः श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी का संवाद कहा ॥२॥ वन-गमन, केवट का अनुराग, गंगापार उतरकर प्रयाग में निवास करना ॥३॥ वाल्मीकिजी से प्रभु श्रीरामजी की भेंट और जिस प्रकार भगवान् श्री चित्रकूट में बसे, सब कहा ॥४॥

विशेष—(१) "जब ते राम ब्याहि घर आये।" से "सकल कहहिं कब होइहि काली।"

(अ० दो० १-११) तक अभिषेक प्रसंग है। "बिघन मनावहिं देव कुचाली।" से "भूप सोक-बस उतर न दीन्हा।" (अ० दो० ११-४५) तक नृप वचन राजरसभंग प्रसंग है। "नगर ब्यापि गइ बात सुतीछी।" से "अति बिषाद बस लोग लुगाई।" तक एवं "चली नाइ पद पदुम सिर, अति हित बारहिं बार॥" (अ० दो० ४५—६६) तक पुरवासिन्ह कर बिरह-बिषाद-प्रसंग है। "समाचार जब लछिमन पाये।" से "बिदा मातु सन आवहु माँगी।" (अ० दो० ६६—७२) तक श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी का संवाद है। "राम तुरत मुनि-बेष बनाई। चले..." से "सुद्ध सच्चिदानंदमय .." (अ० दो० ७८—८७) तक वन-गमन-प्रसंग है। "येह सुधि गुह..." से "मुदित गयउ लै पार॥" (अ० दो० ८७—१०१) तक केवट-अनुराग-प्रसंग है।

इसी तरह क्रमशः सब प्रसंग पाठक लगा लें, टीका में भी इनका प्रारंभ लिखा गया है। विस्तारभय से आगे नहीं लिखते।

अभिषेक-प्रसंग से श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी के संवाद तक चार प्रसंगों में एक बार 'कहेसि' शब्द है ; अर्थात् इन्हें शीघ्रता में कहा। 'बिपिन-गवन' में 'कहेसि' भी नहीं है, क्योंकि इसे बहुत शीघ्रता से कहा है। 'केवट अनुरागा' से 'चित्रकूट जिमि बस भगवाना।' तक को 'बखाना' अर्थात् विस्तार से कहा। 'बखाना' दीपदेहली है। 'भगवाना'—क्योंकि चित्रकूट में ऐश्वर्य प्रकट हुआ, जयंत-प्रसंग से सब लोकों में ख्याति हुई।

(२) 'राज-रस' जैसे-प्रेम-रस, रण रस, इत्यादि। 'बिरह बिषादा'–विष+अद अर्थात् विष खाने पर जैसे दुःख हो, उदाहरण—"छुवत चढ़ी जनु सब तन बीछी।" (अ० दो० ४५)। इसमें विष चढ़ने के समान दुःख कहा गया है।

सचिवागमन नगर नृप-मरना। भरतागमन प्रेम बहु बरना॥५॥
करि नृप-क्रिया संग पुरवासी। भरत गये जहँ प्रभु सुखरासी॥६॥
पुनि रघुपति बहुबिधि समुझाये। लै पादुका अवधपुर आये॥७॥
भरत-रहनि सुरपति-सुत-करनी। प्रभु अरु अत्रि भेंट पुनि बरनी॥८॥

दोहा—कहि बिराध-बध जेहि बिधि, देह तजी सरभंग।
बरनि सुतीछन-प्रीति पुनि, प्रभु-अगस्ति-सतसंग॥६५॥

अर्थ—मंत्री श्रीसुमंत्रजी का नगर में लौटकर आना, राजा दशरथ की मृत्यु, श्रीभरतजी का (ननिहाल से) आगमन और उनका भारी प्रेम बहुत वर्णन किया॥५॥ राजा की क्रिया करके पुरवासियों को साथ लिये हुए श्रीभरतजी वहाँ गये, जहाँ सुख की राशि प्रभु श्रीरामजी थे॥६॥ फिर (वहाँ पर) श्रीरघुनाथजी के बहुत तरह से समझाने पर वे उनकी खड़ाऊँ लेकर श्रीअवधपुरी को लौट आये॥७॥ फिर श्रीभरतजी की रहनी (नंदिग्राम में रहने की वृत्ति), इन्द्रपुत्र जयंत की करतूत, फिर प्रभु श्रीरामजी और श्रीअत्रिजी का मिलाप वर्णन किया॥८॥ विराध का वध जिस प्रकार हुआ और जिस प्रकार शरभंग ऋषि

ने तन त्याग किया, यह कहकर फिर श्रीसुतीक्ष्णजी का प्रेम वर्णन करके प्रभु और श्रीअगस्त्यजी का सत्संग कहा ॥६५॥

विशेष—(१) 'प्रभु सुखरासी'—प्रभु के समीप पहुँचते ही श्रीभरतजी के दुःख निवृत्त हो गये और उन्हें बड़ा सुख मिला ; यथा—"करत प्रवेस मिटे दुख दावा। जनु जोगी परमारथ पावा॥" (अ० दो० २३८)।

'लै पादुका...'—बहुत समझाने पर भी बिना पादुका का आधार पाये नहीं लौटे, इस तरह अपनी सेवा की निष्ठा रक्खी। 'अत्रि-भेंट' के साथ 'बरनी' कहा है, क्योंकि श्रीअत्रिजी प्रेम से पुलकित होकर दौड़े थे और उन्हों ने प्रेमाश्रु से दोनों भाइयों को नहला दिया था।

'बहुरि राम अभिषेक प्रसंगा' से 'भरत रहनि' तक अयोध्याकांड है।

कहि दंडकवन पावनताई। गीध मइत्री पुनि तेहि गाई॥१॥
पुनि प्रभु पंचवटी कृत बासा। भंजी सकल मुनिन्ह की त्रासा॥२॥
पुनि लछिमन उपदेस अनूपा। सूपनखा जिमि कीन्ह कुरूपा॥३॥
खरदूषन - बध बहुरि बखाना। जिमि सब मरम दसानन जाना॥४॥

अर्थ—दंडकवन का पवित्र करना कहकर फिर उसने गृध्रराज की मित्रता कह सुनाई॥१॥ फिर प्रभु ने (जो) पंचवटी में वास किया और सब मुनियों का भय नाश किया (वह कहा)॥२॥ फिर श्रीलक्ष्मणजी को (जो) उपमा-रहित उपदेश किया और जिस प्रकार शूर्पणखा को कुरूपा किया (यह सब कहा)॥३॥ फिर खर-दूषण वध और जिस प्रकार रावण ने सब मर्म जाना, वे सब वर्णन किये॥४।

विशेष—(१) 'दंडकवन पावनताई' ; यथा—"दंडक बन पुनीत प्रभु करहू।" (आ० दो० १२), "दंडक पुहुमि पाय परसि पुनीत भइ उकठे बिटप लागे फूल न फरन।" (वि० २४७) ; 'भंजी सकल मुनिन्ह कै त्रासा।' ; यथा—"जब ते राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भये मुनि बीती त्रासा॥" (आ० दो० १३) ; 'लछिमन उपदेस अनूपा'—उसमें सम्पूर्ण साधनों का एवं गीता का सारांश बहुत थोड़े में कहा गया है। ऐसी विशेषता इस ग्रन्थ की भी अन्यत्र की चार गीताओं मे नहीं है। 'कुरूपा' ; यथा—"नाक कान बिनु भइ बिकरारा। जनु स्रव सैल गेरु कै धारा॥" (आ० दो० १७) ; 'खरदूषन बध बहुरि बखाना।'—'बखाना' अर्थात् विस्तारपूर्वक कहा, क्योंकि इसमे मायानाथ प्रभु का अति कौतुक है, उन रावण के समान बलवानों को खेल में मार डाला। जिससे प्रभु का सामर्थ्य एवं ऐश्वर्य प्रकट हुआ। 'सब मरम'—खर-दूषण के मारे जाने का मर्म कि शूर्पणखा का बदला लेने गये थे—मारे गये और यह भी कि उनकी प्रियतमा स्त्री हर ली जाय, तो वे स्वयं शोक में नहीं जियेंगे। इस तरह सहज में ही वे जीते जायँगे।

दसकंधर - मारीच - बतकही। जेहि बिधि भई सो सब तेहि कही॥५॥
पुनि माया - सीता कर हरना। श्रीरघुबीर - बिरह कछु बरना॥६॥
पुनि प्रभु गीध-क्रिया जिमि कीन्ही। बधि कबंध सबरिहि गति दीन्ही॥७॥
बहुरि बिरह बरनत रघुबीरा। जेहि बिधि गये सरोवर तीरा॥८॥

अर्थ—जिस तरह रावण और मारीच की बातचीत हुई, उन सबको उसने कहा ॥५॥ फिर माया-सीता का हरण और श्रीरामजी का विरह किंचित् वर्णन किया ॥६॥ फिर जैसे प्रभु ने गृध्रराज जटायु की क्रिया की, कबंध का वध करके श्रीशबरीजी को सुगति दी ॥७॥ और फिर जिस तरह विरह वर्णन करते हुए रघुवीर पंपासर के तीर गये (यह सब कहा) ॥८॥

विशेष—(१) 'सब तेहि कही'—इसमें मारीच का सदुपदेश है, इससे सब कहा।

(२) 'माया सीता…'—श्रीजानकीजी ने तो अग्नि में निवास किया था, हरण-लीला तो उनके प्रतिबिम्ब-रूपा माया की सीताजी के द्वारा ही हुई।

'श्रीरघुबीर-बिरह कछु बरना।'—विरह की कथा बहुत है, पर उपासक एवं ऋषि लोग उसका किंचित्-अंश ही कहते हैं, हृदय की कोमलता से कहा नहीं जाता। 'श्रीरघुबीर' का भाव यह है कि आप नित्य श्रीयुक्त एवं पंचवीरता-युक्त हैं। विरह-दशा में भी वीरताएँ आपमें हैं और श्रीजी का आपसे नित्य संयोग है; यथा—"कबहूँ जोगबियोग न जाके। देखा प्रगट बिरह दुख ताके॥" (बा० दो० ४८), "पूरन काम राम सुखरासी। मनुज चरित कर अज अबिनासी॥" (आ० दो० ३१)।

(३) 'गीध-क्रिया'—गीध ऐसे अधम को भी पिता के समान माना और अपने हाथों से उसकी क्रिया की। 'सबरिहिं गति दीन्हीं'—वह जाति की अधम थी, उसे भी गति दी; यथा—"जाति हीन अघ जन्म महि, मुकुत कीन्हि असि नारि।" (आ० दो० ३६)।

दोहा—प्रभु-नारद - संवाद कहि, मारुति - मिलन - प्रसंग।
पुनि सुग्रीव - मिताई, बालि - प्रान कर भंग॥
कपिहि तिलक करि प्रभु-कृत, सैल प्रबरषन बास।
बरनन बर्षा सरद अरु, राम - रोष कपि - त्रास॥६६॥

अर्थ—प्रभु और श्रीनारदजी का संवाद कहकर श्रीहनुमान्‌जी के मिलने का प्रसंग कहा, फिर श्री-सुग्रीवजी से मित्रता और बालि के प्राणों का नाश कहा॥ कपि श्रीसुग्रीवजी का राज्याभिषेक करके जो प्रभु ने प्रवर्षण गिरि पर वास किया, वह एवं वर्षा और शरद्‌ऋतु के वर्णन, श्रीरामजी का (श्रीसुग्रीवजी पर) क्रोध और (श्रीसुग्रीवजी आदि) वानरों का भयभीत होना (वर्णन किया) ॥६६॥

विशेष—(१) 'प्रभु-नारद-संवाद' पर्यन्त में अरण्यकांड की कथा है।

(२) 'सैल प्रबर्षन बास'—वर्षा का समय जानकर वहाँ पर रहे; यथा—"राम प्रबर्षन गिरि पर छाये।" (कि० दो० ११), वहाँ पर वर्षा का वर्णन किया। 'राम-रोष'; यथा—"जेहि सायक मारा मैं बाली। तेहि सर हतउँ मूढ़ कहँ काली॥…लछिमन क्रोधवंत प्रभु जाना।" (कि० दो० १७)।

(३) 'कपि-त्रास'; यथा—"क्रोध देखि जह तहँ कपि धाये।"; "ब्याकुल नगर देखि तब आयउ बालि-कुमार।"; "कह कपीस अति भय अकुलाना।" (कि० दो० १८–१९)।

जेहि बिधि कपिपति कीस पठाये । सीता खोज सकल दिसि धाये ॥१॥
बिवर प्रवेस कीन्ह जेहि भाँती । कपिन्ह बहोरि मिला संपाती ॥२॥
सुनि सब कथा समीरकुमारा । नाघत भयउ पयोधि अपारा ॥३॥
लंका कपि प्रवेस जिमि कीन्हा । पुनि सीतहि धीरजु जिमि दीन्हा ॥४॥

अर्थ—जिस प्रकार कपिराज श्रीसुग्रीवजी ने वानरों को भेजा और वे श्रीसीताजी को ढूँढने के लिये सब दिशाओं में दौड़े गये ॥१॥ जिस प्रकार वानरों ने बिल मे प्रवेश किया, फिर जैसे सपाती वानरों को मिला ॥२॥ और सब कथा सुनकर पवनसुत श्रीहनुमान्‌जी ने अपार सागर का लंघन किया ॥३॥ वानर श्रीहनुमान्‌जी ने जैसे लंका मे प्रवेश किया और फिर जैसे श्रीसीताजी को धैर्य दिया वह सब कहा ॥४॥

विशेष—(१) 'जेहि बिधि कपिपति ···'—श्रीसुग्रीवजी ने चारों दिशाओं के वानरों को जिस तरह समझाकर भेजा; यथा—"राम काज अरु मोर निहोरा । बानर जूथ जाहु चहुँ ओरा ॥" (कि॰ दो॰ २१)।

(२) 'बिवर प्रवेस ···'; यथा—"आगे कै हनुमंतहि लीन्हा । पैठे बिबर बिलंब न कीन्हा ॥" (कि॰ दो॰ २३); प्यासे होकर बिल में पैठना, वहाँ स्वयंप्रभा के दर्शन और फिर समुद्र तट पर पहुँचना कहा।

(३) 'सुनि सब कथा ···'—आधी कथा चन्द्रमा मुनि की कही हुई सपाती ने कही और आधी आगे की जाम्बवान्‌जी ने कही थी।

"मारुति-मिलन-प्रसंग" से "सुनि सब कथा" तक किष्किंधाकांड है।

'नाघत भयउ पयोधि अपारा' सुरसा और सिंहिका के विघ्नों को जीतकर उसपार पहुँच गये।

(४) 'लंका कपि प्रवेस ···'—'अति लघु' रूप से पैठना, लंकिनी का क्रोध और फिर आशीर्वाद होना, सारी लंका ढूँढना और श्रीविभीषणजी से बातचीत कर उनकी कही हुई युक्ति से श्रीसीताजी के पास तक पहुँचना।

(५) 'धीरज जिमि दीन्हा'—वचनों से समझाया, फिर अपना रूप दिखाया, श्रीरामजी का सदेश और विरह कहकर दुःख निवृत्त होने का भरोसा दिया।

बन उजारि रावनहि प्रबोधी । पुर दहि नाघेउ बहुरि पयोधी ॥५॥
आये कपि सब जहँ रघुराई । बैदेही की कुसल सुनाई ॥६॥
सेन समेत जथा रघुबीरा । उतरे जाइ बारिनिधि-तीरा ॥७॥
मिला बिभीषन जेहि बिधि आई । सागर-निग्रह-कथा सुनाई ॥८॥

शब्दार्थ—निग्रह=अवरोध, बंधन, दमन, नाराजी, विरोध।

अर्थ—(जिस तरह) अशोक वन उजाड़ के, रावण को बहुत समझा के और लंका नगर जलाकर फिर समुद्र का लंघन किया ॥५॥ सब वानर वहाँ आये जहाँ रघुकुल के राजा श्रीरामजी थे, और विदेह-कुमारीजी की कुशल सुनाई ॥६॥ जिस तरह सेना सहित श्रीरघुनाथजी जाकर समुद्र तट पर उतरे ॥७॥ और जिस तरह श्रीविभीषणजी आकर मिले (वह) और समुद्र का विरोध एवं उसके बंधन की कथा सुनाई ॥८॥

विशेष—(१) 'बन उजारि'—इसमें फल खाना, बाग उजाड़ना, युद्ध करना और फिर ब्रह्मास्त्र से गिरने पर नागपाश बन्धन तक की कथा है।

'रावनहि प्रबोधी'; यथा—"बिनती करउँ जोरिकर रावन" से "भजहु राम रघुनायक···" तक (सु० दो० २१–२३); 'पुर दहि'; यथा—"उलटि पलटि लंका सब जारी।" (सुं० दो० २५); 'नाघेउ बहुरि···'; यथा—"नाघि सिंधु येहि पारहि आवा।" (सुं० दो० २७)।

(२) 'सेन समेत जथा···'—कोई आकाश मार्ग से कोई भूमि मार्ग से व्यूह रचकर चले, अपने भार से शेषादि को मोहित करते हुए सिंधु तट पर उतरे; यथा—"येहि बिधि जाइ कृपानिधि, उतरे सागर तीर।" (सुं० दो० ३५)।

(३) 'मिला बिभीषन···'—समझाने पर रावन ने क्रोध करके लात मारी, ये मन्त्रियों के साथ आकाश मार्ग से आकर प्रभु की शरण हुए।

'सागर-निग्रह-कथा'—श्रीरामजी ने समुद्र के तट पर तीन दिन तक उससे विनती की। जब वह नहीं आया, तब रोष किया, फिर जैसे भेंट लेकर आया और उसने बान-चोत को, वह सब कथा सुनाई। यहाँ तक सुंदरकांड की कथा है।

दोहा—सेतु बाँधि कपि-सेन जिमि, उतरी सागर पार।
गयउ बसीठी बीरबर, जेहि बिधि बालिकुमार॥
निसिचर - कीस - लराई, बरनिसि बिबिधि प्रकार।
कुंभकरन घननाद कर, बल - पौरुष - संहार॥ ६७॥

अर्थ—पुल बाँधकर जिस प्रकार वानरों की सेना समुद्र पार उतरी और जिस प्रकार वीर श्रेष्ठ बालि-कुमार अंगद दौत्य कर्म के लिये (दूत बनकर) गये (वह सब कहा)। निशाचर और वानरों का युद्ध अनेक प्रकार से वर्णन किया। कुंभकर्ण और मेघनाद का बल, पौरुष और नाश होना कहा ॥६७॥

विशेष—(१) 'सेतु बाँधि ···'—नल-नील द्वारा पुल बाँधा जाना, पुल से और आकाश से एवं जलचरों के ऊपर से वानरों का उस पार उतरना कहा।

(२) 'बीरबर'; यथा—"गयउ सभा मन नेकु न मुरा। बालि तनय अति बल बाँकुरा॥" (लं० दो० १८)।

निसिचर-निकर-मरन बिधि नाना। रघुपति - रावन - समर बखाना॥१॥

रावन - बध मंदोदरि - सोका । राज बिभीषन देव असोका ॥२॥
सीता - रघुपति - मिलन बहोरी । सुरन्ह कीन्हि अस्तुति कर जोरी ॥३॥
पुनि पुष्पक चढ़ि कपिन्ह समेता । अवध चले प्रभु कृपा-निकेता ॥४॥

अर्थ—राक्षस-समूह का नाना प्रकार से मरना और श्रीरघुनाथजी और रावण के अनेकों प्रकार के युद्ध का वर्णन किया ॥१॥ रावण-वध, मंदोदरी का शोक, श्रीविभीषणजी को राज्य प्राप्त होना और देवताओं का शोक-रहित होना (कहकर) ॥२॥ फिर श्रीसीताजी और श्रीरघुनाथजी का मिलाप और जो देवताओं ने हाथ जोड़कर स्तुति की थी, वह कहा ॥३॥ फिर वानरों के साथ पुष्पक पर चढ़कर दया के स्थान प्रभु श्रीरामजी श्रीअवधपुरी को चले, यह कहा ॥४॥

विशेष—(१) 'निसिचर-निकर मरन बिधि नाना ।'—कोई घूँसों से, कोई लातों-चटकनों से और कोई परस्पर टकराकर मारे गये । किसी का शिर तोड़ डाला गया, कोई घायल होने पर जीते-जी ही गाड़ दिये गये और कोई जीते ही समुद्र में फेंक दिये गये । और बहुत-से बाणों से मारे गये; यथा—"लागे मर्दइ भुजबल भारी ।। काहुहि लात चपेटन्हि केहू ।'''एक-एक सो मर्दहिं, तोरि चलावहिं मुंड''' महा महा मुखिया जो पावहिं । ते पद गहि प्रभु पास चलावहिं ।।" (लं० ४१-४२); "भागत भट पटकहिं धरि धरनी ।'''गहि पद डारहिं सागर माहीं । मकर उरग झख धरि धरि खाहीं ।।" (लं० दो० ४५) । "सत्य संध छाँड़े सर लच्छा ।" से "छन महँ प्रभु के सायकन्हि, काटे बिकट पिसाच ।।" (लं० दो० ६०) तक, इत्यादि रीति से मारे जाते हैं ।

(२) 'सीता-रघुपति-मिलन'—श्रीहनुमान्‌जी का श्रीसीताजी को समाचार देना, श्रीविभीषणजी आदि का श्रीसीताजी को पालकी में चढ़ाकर लाना, वानरों का श्रीसीताजी के दर्शन करना, श्रीसीताजी का अग्नि-प्रवेश और फिर सत्य श्रीसीताजी का प्रकट होना, उनसे श्रीरामजी का मिलना, एक साथ बैठना, इत्यादि ।

(३) 'पुष्पक चढ़ि'—श्रीभरतजी से नियत समय पर मिलने की आतुरता से पुष्पक पर चढ़कर आये । 'कृपा-निकेता'—कृपा करके श्रीविभीषणजी की सेवा स्वीकार की, वानरों को साथ लिया और श्रीभरतजी पर कृपा करके ही आये । यहाँ तक लंकाकांड की कथा हुई ।

जेहि बिधि राम नगर निज आये । बायस बिसद चरित सब गाये ॥५॥
कहेसि बहोरि राम - अभिषेका । पुर बरनन नृप नीति अनेका ॥६॥
कथा समस्त भुसुंडि बखानी । जो मैं तुम्ह सन कही भवानी ॥७॥

अर्थ—जिस प्रकार श्रीरामजी अपने नगर को आये, वह सब उज्ज्वल चरित श्रीकाकभुशुंडिजी ने वर्णन किये ॥५॥ फिर श्रीरामजी का तिलक (राज्याभिषेक) कहा । पुर का वर्णन किया और अनेकों प्रकार की राजनीति का वर्णन किया ॥६॥ हे भवानी ! श्रीभुशुंडिजी ने वह सारी कथा कही जो मैंने तुमसे कही है ॥७॥

विशेष—(१) 'जेहि बिधि राम '''—लंका से चल प्रयाग पहुँचकर श्रीहनुमान्‌जी को

श्रीअयोध्याजी भेजा। आप श्रीभरद्वाजजी से मिलकर शृंगवेरपुर में ठहरे। श्रीहनुमान्‌जी श्रीभरतजी को समाचार दे और उनका समाचार लेकर प्रभु के पास आये, तब प्रभु विमान पर बैठकर श्रीअवध आये।

'निसद चरित'''—देवता लोग सुयश गाते हैं, यही उज्ज्वलता है; यथा—"रिपु रन जीति सुजस सुर गावत।" (दो० १); तथा—"गिरिजा सुनहु निसद यह कथा।" (दो० ५१)। 'बहोरि' अर्थात् तत्पश्चात्, दूसरा अर्थ 'दोबारा' का भी हो सकता है कि एक बार के अभिषेक पर रसभंग हो गया था, यह दूसरी बार का श्रीराम-अभिषेक कहा।

(२) 'कथा समस्त भुसुंडि बखानी।'—यहाँ तक ग्रन्थकार ने ग्रन्थ की सूक्ष्म सूची दे दी है। बहुत प्रसंग छूट भी गये हैं, वे भी यहाँ के 'कथा समस्त' पद में आ सकते हैं। "कथा समस्त भुसुंडि बखानी।" उपसंहार है। इसका उपक्रम—"सुनु सुभ कथा भवानि, रामचरित मानस बिमल। कहा भुसुंडि बखानि।" (बा० दो० १२०) है।

यहाँ तक कुल ९३ प्रसंग कहे गये हैं, बा० के ८, अ० के १८, आ० के २२, कि० के १४, सुं० के १२, लं० के १५, और उ० के ४ प्रसंग हैं।

सुनि सब राम-कथा खगनाहा। कहत बचन मन परम उछाहा ॥८॥

सोरठा—गयउ मोर संदेह, सुनेउँ सकल रघुपति-चरित।
भयउ राम-पद-नेह, तव प्रसाद बायस-तिलक ॥
मोहि भयउ अति मोह, प्रभु-बंधन रन महँ निरखि।
चिदानंद-संदोह, राम बिकल कारन कवन ॥६८॥

अर्थ—सारी रामकथा सुनकर पक्षिराज मन में परम उत्साहित होकर वचन बोले ॥८॥ श्रीरघुनाथजी के सब चरित सुने, मेरा संदेह जाता रहा और श्रीरामजी के चरणों में प्रेम हुआ—हे काकशिरोमणि! यह आपकी कृपा से हुआ॥ युद्ध में प्रभु का बंधन देखकर मुझे अत्यंत मोह हुआ था कि श्रीरामजी तो चित् और आनद की राशि हैं, ये किस कारण से व्याकुल हैं? ॥६८॥

विशेष—(१) 'कहत बचन मन परम उछाहा।'—यहाँ श्रोता का परम उत्साह कहा गया, वक्ता का पूर्व ही कहा गया है, यथा—"भयउ तासु मन परम उछाहा।" (दो० ११), 'तव प्रसाद बायस-तिलक'—यह श्रोता की ओर से कृतज्ञता है। 'गयउ मोर संदेह'—श्रीशिवजी ने कहा ही था, यथा—"जाइहि सुनत सकल संदेहा। राम चरन होइहि अति नेहा॥" (दो० ६०), वह सब यहाँ चरितार्थ हुआ। कथा सुनने पर यदि संदेह नहीं गया और श्रीरामजी के चरणों में स्नेह नहीं हुआ, तो जानना चाहिये कि उसने कथा ठीक से मन लगाकर नहीं सुनी। 'मोहि भयउ अति मोह'—अति मोह का स्वरूप उत्तरार्द्ध में कहते हैं। 'चिदानंद संदोह'''—अर्थात् इनका आनंद कम हो नहीं सकता, फिर व्याकुल क्यों थे? 'प्रभु-बंधन'—भाव यह कि वे ऐसे समर्थ हैं कि लोग जिनका नाम जपकर भव तरते हैं, वे ही बंधन में पड़ें, यह आश्चर्य है, यथा—"भव-बंधन ते छूटहिं, नर जपि जाकर नाम। खर्ब निसाचर बाँधेउ, नागपास सोइ राम॥" (दो० ५८)।

देखि चरित अति नर अनुसारी। भयउ हृदय मम संसय भारी ॥१॥
सोइ भ्रम अब हित करि मैं माना। कीन्ह अनुग्रह कृपानिधाना ॥२॥
जो अति आतप व्याकुल होई। तरु - छाया - सुख जानइ सोई ॥३॥
जौं नहिं होत मोह अति मोही। मिलतेउँ तात कवन बिधि तोही ॥४॥
सुनतेउँ किमि हरिकथा सुहाई। अति बिचित्र बहु बिधि तुम्ह गाई ॥५॥

अर्थ—मनुष्यों के अत्यन्त सदृश चरित देखकर मेरे हृदय में भारी संदेह हुआ ॥१॥ अब उसी भ्रम को मैं अपना हित करके मानता हूँ, यह कृपासागर प्रभु ने मुझपर बड़ी कृपा की है ॥२॥ जो अत्यन्त (सूर्य की) धूप से व्याकुल होता है, वृक्ष की छाया का सुख वही जानता है ॥३॥ यदि मुझे अत्यन्त मोह नहीं होता तो हे तात ! मैं तुमसे किस प्रकार मिलता ? ॥४॥ (फिर) यह सुहावनी अत्यन्त विचित्र भगवान् की कथा कैसे सुनता ? जो तुमने बहुत प्रकार से कही है ॥५॥

विशेष—(१) 'देखि चरित अति···'—भाव यह है कि ऐसा कोई मनुष्य नहीं मिलेगा, जिसके चरित इनके चरित से कमजोर हों। 'अति नर अनुसारी' चरित देखे, तो 'अति मोह' हुआ और इसी से 'भारी संसय' हुआ, यही 'अति आतप' की व्याकुलता है। इसका नाश भी 'अति विचित्र बहु बिधि तुम्ह गाई' से हुआ, इत्यादि सब में 'अति' की आवृत्ति है।

(२) 'कीन्ह अनुग्रह कृपा-निधाना।'—मोह में डालना कौन कृपा है ? इसी का समाधान करते हैं कि 'जो अति आतप···'—अर्थात् जिसे मोह-भ्रम न हो, उसे कथा की न उतनी आवश्यकता रहती है और न उससे उसको उतने सुख का ही अनुभव होता है। इसमें प्रभु-कृपा का अनुमान श्रीशिवजी ने भी किया था; यथा—"होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवै चह कृपानिधाना॥" (दो॰ ६१); भारी संशय से जीव का नाश होता है; यथा—"अस संसय आनत उर माहीं। ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं॥" (बा॰ दो॰ ११८); प्रभु ने कृपा करके उससे बचाया। प्रभु कृपा से आप (संत) के दर्शन हुए, आपके द्वारा कथा से मोह-संशय का नाश हुआ। श्रीशिवजी ने कहा था—"बिनु सतसंग न हरि-कथा, तेहि बिनु मोह न भाग।" (दो॰ ६१), वही यहाँ चरितार्थ हुआ।

यहाँ अभी ये वट वृक्ष के तले आये ही हैं, इससे छाया की उपमा भी उपयुक्त ही है। 'मिलतेउँ तात कवन बिधि तोहीं।'—भाव यह कि लोक-व्यवहार-दृष्टि से तुम्हारे यहाँ मेरा आना अनुचित होता, राजा होने के अभिमान से जिज्ञासु बनकर यहाँ क्यों आता ? 'अति मोह' से ही आया। सामान्य मोह होता तो अपनी ही बुद्धि से निपटा लेता। दृष्टान्त में 'अति आतप' है, वैसे ही दार्ष्टान्त में 'अति मोह' भी है। तदनुकूल ही 'अति विचित्र···' कथा भी कही गई है। सत्संग के सुख की अपेक्षा पूर्व के मोह को हित माना है।

निगमागम पुरान मत येहा। कहहिं सिद्ध मुनि नहिं संदेहा ॥६॥
संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही ॥७॥
राम - कृपा तव दरसन भयऊ। तव-प्रसाद सब संसय गयऊ ॥८॥

शब्दार्थ—परि = निश्चय ही, परित = चारों ओर से ।

अर्थ—वेद, शास्त्र और पुराणों का मत यही है, सिद्ध और मुनि ऐसा ही कहते हैं, इसमें संदेह नहीं है ॥६॥ (कि) विशेष शुद्ध संत निश्चय करके उसी को मिलते हैं, जिसे श्रीरामजी कृपा करके देखते हैं ॥७॥ श्रीरामजी की कृपा से आपके दर्शन हुए और आपकी कृपा से सब संदेह नाश हुए ॥८॥

विशेष—'निगमागम पुरान मत येहा ।···'—जो मैंने कहा कि श्रीरामजी के अनुग्रह से आप मुझे मिले, यह मैंने स्वयं बनाकर नहीं कहा, किन्तु निगम आदि का असंदिग्ध मत है कि जब प्रभु कृपा करते हैं, तब विशुद्ध संत को मिला देते हैं । प्रथम कहा था—"कीन्ह अनुग्रह कृपानिधाना ।" (दो० ९८); यह उपक्रम है और यहाँ—"राम-कृपा तव दरसन भयऊ ।" यह उस कृपा-प्रसंग का उपसंहार है ।

यहाँ कहते हैं—'तव प्रसाद सब संसय गयऊ ।' और ऊपर कहा है—"भयउ राम-पद-नेह, तव प्रसाद बायस तिलक ।" अर्थात् आप ही की कृपा से संशय नाश हुए और श्रीराम-पद-स्नेह भी हुआ ।

दोहा—सुनि बिहंगपति बानी, सहित बिनय अनुराग ।
पुलक गात लोचन सजल, मन हरषेउ अति काग ॥
श्रोता सुमति सुसील सुचि, कथा - रसिक हरिदास ।
पाइ उमा अति गोप्यमपि, सज्जन करहिं प्रकास ॥९९॥

अर्थ—पक्षिराज गरुड़जी की विनम्र और अनुरागयुक्त वाणी सुनकर काकभुशुंडिजी का शरीर पुलकित हो गया, नेत्रों मे जल भर आया और वे मन में अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ हे उमा ! सुन्दर बुद्धिवाले, सुशील, पवित्र (निश्छल), कथा के प्रेमी और हरि-भक्त श्रोता को पाकर सज्जन अत्यन्त छिपाने योग्य रहस्य को भी प्रकट कर देते हैं ॥९९॥

विशेष—(१) 'बिनय अनुराग'—'मन परम उछाहा' मे अनुराग प्रकट है और 'तव प्रसाद बायस तिलक ।' से 'तव प्रसाद सब संसय गयऊ ।' तक विनय प्रधान है । 'कहत बचन मन परम उछाहा ।' उपक्रम है और 'सुनि बिहगपति बानी, सहित बिनय अनुराग ।' यह उपसंहार है । 'मन हरषेउ अति'—श्रीगरुड़जी के आने पर हर्ष हुआ था, यथा—'हरषेउ बायस सहित समाजा ।' और अब उनकी कथा में निष्ठा भी देखी, तब अत्यन्त हर्ष हुआ । रोगी को दवा दी जाय और वह स्वयं ही अपनी नीरोगता कहे, तो वैद्य प्रसन्न होता ही है ।

(२) 'श्रोता सुमति सुसील ··'—'सुमति'—जिसकी बुद्धि ससार से अलिप्त है, बुद्धि से विचारता हुआ सुनता है, कुतर्क नहीं करता । 'सुसील'—उत्तम स्वभाव का है, वक्ता में आदर बुद्धि रखता है, उसकी बात मानता है । 'सुचि'—हृदय का शुद्ध है, वक्ता की परीक्षा के लिये वा अपनी योग्यता दिखाने के लिये ही नहीं आता, 'कथा-रसिक'—कथा में आनंद मानता है, उसे सुनने से तृप्ति नहीं होती ; यथा—"राम-चरित जे सुनत अघाहीं । रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं ॥" (दो० ५०) ; 'हरि दास'—भक्त होगा, तो इष्ट के चरित में अति प्रीति होगी । गीता १८।६७ में भी कहा है ; यथा—'नाभक्ताय कदाचन···वाच्यं' अर्थात् अभक्त को तत्त्व-ज्ञान नहीं देना चाहिये । कहा भी है; यथा—"आत्मा देयं शिरो देयं न देयं

रामतत्त्वकम् ।" ऋषियों ने श्रीसूतजी से भी कहा है; यथा—"ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत ।" (भाग० १।१।८); तथा—'राम कृपा भाजन तुम्ह ताता । हरि गुन प्रीति मोहि सुख दाता ॥ ताते नहिं कछु तुम्हहि दुरावउँ । परम रहस्य मनोहर गावउँ ॥" (दो० ७१); 'अति गोप्यमपि'—रहस्य की बातें छिपानी ही चाहिये । कहा भी है—"गोप्यातिगोप्यं परम गोप्यं न देयं रामतत्त्वकम् ।" बिना अधिकारी के कभी न कहना चाहिये ।

ये सुमति आदि पाँचों गुण श्रीगरुड़जी में हैं, इसीसे आगे काकभुशुंडिजी इनसे बहुत से अपने अनुभूत गुप्त रहस्य भी कहेंगे ।

इस ग्रन्थ के मुख्य श्रोता श्रीभरद्वाजजी, श्रीपार्वतीजी और श्रीगरुड़जी हैं । ग्रन्थकार ने इन तीनों में ये लक्षण दिखलाये हैं—

	श्रीभरद्वाजजी	श्रीपार्वतीजी	श्रीगरुड़जी
सुमति—	'चतुराई तुम्हारि मैं जानी ।' (बा० दो० ४६)	'धन्य सती पावनि मति तोरी ।' (दो० ५४)	'धन्य-धन्य तव मति उरगारी ।' (दो० ११४)
सुशील—	'मैं जाना तुम्हार गुन-सीला ।' (बा० दो० १०४)	'सुंदर सहज सुसील सयानी ।' (बा० दो० ६६)	'सरल सुप्रेम सुखद…।' (दो० ६२)
शुचि—	'सुचि सेवक तुम्ह राम के,' (बा० दो० १०४)	'अति पुनीत गिरिजा कै करनी ।' (बा० दो० ७५)	'सुपुनीता' (दो० ६१)
कथा रसिक—	'चाहहु सुनइ राम गुन गूढ़ा । कीन्हेहु प्रस्न …'—(बा० दो० ४६)	'अति आरति पूछउँ…।' 'रघुपति कथा कहहु…'	'अब श्रीराम कथा…' 'बिनवउँ प्रभु तोहीं ।'
हरिदास—	'राम-भगत तुम्ह मन-क्रम बानी ।' (बा० दो० ४६)	'तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी ।' (बा० दो० १११)	'रघुनायक के तुम्ह प्रिय दासा' (दो० ६२) ।

बोलेउ काकभसुंडि बहोरी । नभग - नाथ पर प्रीति न थोरी ॥१॥
सब बिधि नाथ पूज्य तुम्ह मेरे । कृपा - पात्र रघुनायक केरे ॥२॥
तुम्हहि न संसय मोह न माया । मो पर नाथ कीन्हि तुम्ह दाया ॥३॥
पठइ मोह मिस खगपति तोही । रघुपति दीन्हि बड़ाई मोही ॥४॥

अर्थ—काकभुशुंडिजी फिर बोले, श्रीगरुड़जी पर उनका प्रेम थोड़ा नहीं (अर्थात् बहुत) है ॥१॥ हे नाथ ! आप सब प्रकार से मेरे पूज्य हैं, आप श्रीरघुनाथजी के कृपापात्र हैं ॥२॥ आपको न संशय है, न मोह है और न माया, हे नाथ ! आपने मुझपर दया की है ॥३॥ हे पक्षिराज ! मोह के बहाने आपको श्रीरघुनाथजी ने यहाँ भेजकर मुझे बड़ाई दी है ॥४॥

विशेष—(१) 'बहोरी'—प्रथम बार कथा सुनाने में बोले थे, अब फिर बोले ।

(२) 'सब बिधि नाथ पूज्य …'—खगराज होने से, पक्षि जाति की श्रेष्ठता से और श्रेष्ठ गुणवान्

होने से एवं पूज्य श्रीरघुनाथजी के कृपापात्र होने से आप 'सब बिधि पूज्य' हैं; यथा—"जाको हरि दृढ़ करि अंग कर्यो। सोइ सुसील पुनीत बेदविद'''ते त्रैलोक्य पूज्य'''" (वि० १११)।

(३) 'तुम्हहिं न संसय मोह न माया।'—इस तरह कहना शिष्टाचार है।

(४) 'पठइ मोह मिस'''—यदि मोह को मानें भी, तो यह श्रीरघुनाथजी ने मुझे बड़ाई देने के लिये निमित्त-मात्र कर दिया है। आप कहते हैं कि श्रीरघुनाथजी ने मुझे भ्रम में डालकर मुझपर कृपा की है, सो बात नहीं है, यह तो मुझपर कृपा हुई है, आपके सम्बन्ध में मोह का बहाना-मात्र है। यहाँ आपके आने से मुझे बड़ाई मिली कि पक्षिराज श्रीगरुड़जी का मोह कौए ने दूर किया है।

पहले कहा कि आपने मुझपर दया की, फिर पीछे कहा कि श्रीरघुनाथजी ने कृपा करके मुझे बड़ाई दी है। ऐसे ही श्रीगरुड़जी ने भी पहले भुशुंडिजी का प्रसाद अपने ऊपर कहा, तब कृपानिधान श्रीरामजी का अनुग्रह कहा है। तात्पर्य यह है कि पहले भागवत-कृपा होती है, तब भगवत्-कृपा होती है, इससे भागवत-कृपा ही मुख्य है।

यदि यह मान भी लें कि आपको मोह हुआ, तो इसमें भी कोई आश्चर्य नहीं है—

गरुड़-मोह का समाधान

तुम्ह निज मोह कही खग-साईं। सो नहिं कछु आचरज गोसाईं ॥५॥
नारद भव - बिरंचि - सनकादी। जे मुनि - नायक आतमबादी ॥६॥
मोह न अंध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही ॥७॥
तस्ना केहि न कीन्ह बौराहा। केहि कर हृदय क्रोध नहिं दाहा ॥८॥

अर्थ—हे पक्षियों के स्वामी! आपने अपना मोह कहा सो, हे गोसाईं! कुछ आश्चर्य नहीं है ॥५॥ श्रीनारदजी, श्रीशिवजी, श्रीब्रह्माजी और श्रीसनकादिजी मुनिश्रेष्ठ और आत्मतत्व के कहनेवाले एवं अधिकारी हैं ॥६॥ इनमें से मोह ने किस-किस को अंधा नहीं कर दिया? जगत् में कौन है जिसे काम ने नहीं नचाया हो? अर्थात् सभी मोह और काम के वश हुए ॥७॥ तृष्णा ने किसे पागल नहीं कर दिया? क्रोध ने किसका हृदय नहीं जलाया? ॥८॥

विशेष—(१) 'तुम्ह निज मोह कहा...'—पहले कहा था कि आपमें मोह है ही नहीं और अब उसे मानकर समाधान करते हैं। भाव यह है कि पहले श्रोता का आश्वासन करना चाहिये, उसे प्रसन्न करके उपदेश देने पर वह मानकर वैसा ही करता है। यदि पहले ही फटकार कर उसका चित्त दुखी कर दिया गया, तो उपदेश नहीं लगता। मोह सब व्याधियों का मूल है; यथा—"मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला।" (दो० १२०); इसलिये इससे ही वर्णन प्रारंभ किया। पुनः यहाँ मोह ही प्रस्तुत प्रकरण है; यथा—"मोहि भयउ अति मोह, प्रभु-बंधन रन महँ निरखि।" (दो० ५८); तथा मोह (अज्ञान) होने पर तब काम, क्रोध आदि होते हैं, इससे भी मोह पहले कहा गया है।

श्रीनारदजी की कथा इसी ग्रंथ में है, श्रीशिवजी मोहिनी रूप को देखकर लज्जा छोड़ कामातुर

होकर दौड़े थे, यह कथा भाग० ८।१२ में है। श्रीब्रह्माजी अपनी कन्या पर ही आसक्त हो गये—यह कथा भाग० ३।२१।३६-३७ में है। सनकादिक को वैकुंठ में भी क्रोध हुआ, जय-विजय को शाप दिया—बा० दो० १२१ चौ० ५ में इनकी कथा दी गई है।

तृष्णा को 'उदर वृद्धि अति भारी' कहा गया है, यह नित्य नई बनी रहती है। भर्तृहरि ने कहा भी है—"तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।" अर्थात् हम जीर्ण हो चले, पर तृष्णा जीर्णा नहीं हुई। तथा—"सो प्रगट तनु जर्जर जरावस व्याधि सूल सतावई। सिर कंप इन्द्रिय सक्ति प्रतिहत बचन काहु न भावई॥ गृहपाल हू ते अति निरादर खान पान न पावई। ऐसिहु दसा न बिराग तहँ तृष्णा तरंग बढ़ावई॥" (वि० १३६)। तृष्णा के नशा में मनुष्य पागल-सा निमग्न रहता है।

दोहा—ज्ञानी तापस सूर कवि, कोविद गुन-आगार।
केहि कै लोभ बिडंबना, कीन्हि न येहि संसार॥
श्री-मद बक्र न कीन्ह केहि, प्रभुता बधिर न काहि।
मृगलोचनि के नैन-सर, को अस लाग न जाहि॥७०॥

अर्थ—ज्ञानी, तपस्वी, शूरवीर, कवि, कोविद और गुणों का स्थान, ऐसा इस संसार में कौन है कि लोभ ने जिसकी दुर्दशा न की हो ?॥ लक्ष्मी के मद ने किसे टेढ़ा और प्रभुता ने किसे बहरा नहीं कर दिया ? ऐसा कौन है जिसे मृगनयनी (स्त्री) के नेत्र कटाक्ष-रूपी बाण न लगे हों ? ॥७०॥

विशेष—'केहि कै लोभ बिडंबना...'; यथा—"लोभ पास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥" (कि० दो० २०); तथा—"को न क्रोध निर्दह्यो काम बस केहि नहिं कीन्हो ? को न लोभ दृढ़ फंद बाँधि त्रासन करि दीन्हो ? कवन हृदय नहिं लाग कठिन अति नारि नयन-सर ? लोचन जुत नहिं अंध भयउ श्री पाइ कवन नर ? सुर नाग लोक महि मंडलहु को जु मोह कीन्हों जय न ? कह तुलसिदास सो ऊबरै जेहि राख राम राजिवनयन॥" (क० उ० ११७)।

लोभ के वश होकर मनुष्य पूज्य माता-पिता एवं सुहृद्वर्ग को भी मार डालते हैं। धनान्ध मनुष्य की भौंहें सदा टेढ़ी ही रहती हैं। कड़वे वचन बोलने का स्वभाव होता है। सम्पत्ति के मद में न सीधे चलें और न सीधे बोलें। प्रभुता अर्थात् अधिकार पाकर लोग किसी की आर्थिक आवश्यकता पर कान ही नहीं देते, मानों बधिर हैं। अभिमानवश किसी को कुछ गिनते ही नहीं, यथा—"बड़ अधिकार दच्छ जब पाया। अति अभिमान हृदय तब आयो॥" (बा० दो० ५१); दक्ष ने सती की बात नहीं सुनी, ऐसे ही रावण ने भी किसी की शिक्षा नहीं सुनी।

गुन-कृत सन्यपात नहिं केही। कोउ न मान मद तजेउ निबेही॥१॥
जोबन-ज्वर केहि नहि बलकावा। ममता केहि कर जस न नसावा॥२॥
मच्छर काहि कलंक न लावा। काहि न सोक-समीर डोलावा॥३॥
चिंता-साँपिनि को नहिं खाया। को जग जाहि न ब्यापी माया॥४॥

कीट - मनोरथ दारु - सरीरा। जेहि न लाग घुन को अस धीरा ।५॥

शब्दार्थ—निवेहो—विना छेद डाले। (वेह=वेध, छेद, यथा—"उर भयउ न बेहू।"—अ॰ दो॰ २६१), वा, निर्व्यथी (= पीड़ा रहित) का अपभ्रंश भी निवेहो हो सकता है। बलकाना=उबालना, उत्तेजित करना, खौलाना, अहंकार रूपी अग्नि से तप्त होना।

अर्थ—गुणों का किया हुआ सन्निपात किसे नहीं हुआ? कोई ऐसा नहीं है जिसे मान-मद ने विना छेद डाले अथवा पीड़ा रहित छोड़ा हो ॥१॥ युवावस्था रूपी ज्वर ने किस को नहीं खौला दिया अर्थात् उत्तेजित किया। ममत्व ने किसके यश का नाश नहीं किया? ॥२॥ मत्सर (डाह) ने किसको कलंक नहीं लगाया और शोक-रूपी पवन ने किसको नहीं हिला दिया? ॥३॥ चिन्ता-रूपी साँपिनि ने किसको नहीं खाया (डसा)? संसार मे ऐसा कौन है, जिसे माया नहीं व्याप्त हुई हो? ॥४॥ मनोरथ-रूपी घुन कीड़ा जिसके शरीर-रूपी लकड़ी मे नहीं लगा हो, ऐसा धैर्यवान् पुरुष कौन है? ॥५॥

विशेष—(१) 'गुन कृत सन्निपात···'—सन्निपात हो जाने पर रोगी उछलता-कूदता है, अंडबंड बकता है, वही बड़बड़ाता है, जो उसके दिमाग में भरा रहता है। उसका चित्त भ्रान्त रहता है। वैसे ही गुणवान् होने पर प्रायः लोगों को मद हो जाता है जिससे वे अपनी ही प्रशंसा बड़बड़ाया करते हैं, क्योंकि वही उनके दिमाग मे रहती है। अपने आगे दूसरे के गुण को समझते ही नहीं; यथा—"सन्निपात जल्पसि दुर्बादा।" (लं॰ दो॰ ३१); सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीन गुण हैं। वैसे ही वात, कफ और पित्त तीन होते हैं जिनके प्रकोप से सन्निपात होता है। जबतक तीन गुणों में एक (सत्त्व) भी अपने स्थान पर ठीक है, तबतक सँभल जाने की आशा रहती है, जब सत्त्व भी बिगडा, तब मनुष्य किंकर्त्तव्य विमूढ हो जाता है। यही सन्निपातावस्था है।

(२) 'जोबन ज्वर ··'—युवावस्था में काम-क्रोध आदि सभी विकारों का प्राबल्य रहता है, इस उमंग मे लोग किसी को कुछ नहीं गिनते। भर्तृहरिजी ने कहा ही है; यथा—"रागस्यागारमेकं नरकशतमहादु खसंप्राप्तिहेतुर्मोहस्योत्पत्तिबीजं जलधरपटलं ज्ञानताराधिपस्य। कंदर्पस्यैकमित्रं प्रकटितविविधस्पष्टदोषप्रबंधं लोकेऽस्मिन्नह्यनर्थं निजकुल दहनं यौवनादन्यदस्ति ॥" (शृंगारशतक), अर्थात् युवावस्था राग का घर है, अगणित नरकों के महान् दु खों की प्राप्ति का कारण है, मोह की उत्पत्ति की बीज-रूपा है। ज्ञान-रूपी चन्द्रमा के छिपाने के लिये मेघ-समूह-रूप है। कामदेव का एक ही मित्र है, नाना प्रकार के दोषों को प्रकट करनेवाला, अपने कुल (सद्गुणों) को जलानेवाला इसके समान संसार में दूसरा अनर्थ नहीं है। 'जवानी दीवानी' यह मुहावरा भी है।

'ममता केहि कर ··'—ममतावश लोग अनुचित करते हैं, जिससे यश का नाश होता है, लोग थू-थू करते हैं। ममत्व स्वार्थ है और यश तो परमार्थ से होता है। साथ ही मत्सर का कलंक लगाना भी कहते हैं। भाव यह है कि ममता तो प्राप्त यश का नाश करती है और मत्सर से और अपयश की प्राप्ति होती है। मत्सर अर्थात् किसी को दबाकर उससे अधिक होने की इच्छा, डाह। इसपर कलंक लगता है, लोग कहते हैं कि इतना होने पर भी इन्हें संतोष नहीं है, ऐसी हीन वृत्ति है, धिक्कार है।

(३) 'काहि न सोक समीर डोलावा।', यथा—"सोक बिकल दोउ राज-समाजा। रहा न ज्ञान न धीरज लाजा॥" (अ॰ दो॰ २७५)।

(४) 'चिंता साँपिनि···'—जैसे सर्पिणी के काटने से विष की जलन होती है, वैसे ही चिन्ता से छाती जलती रहती है, यथा—"बालि त्रास ब्याकुल दिन-राती। तनु बहु व्रन चिंता जर छाती॥" (कि॰

दो॰ ११) चिता तो मरने पर जलाती है, पर चिन्ता जीते हुए मनुष्यों को जला डालती है। कहा भी है—"चिता चिन्ता समाख्याता किन्तु चिन्ता गरीयसी। मृतमेव दहत्येका द्वितीया जीवितं दहेत् ॥" 'को नहिं खाया' अर्थात् सर्पिणी से कोई बच भी जाता है, पर चिंता से नहीं बच पाता। 'खाया' अर्थात् काटा-डसा।

(५) 'कीट-मनोरथ···'—घुन कीड़ा अनाज और लकड़ी आदि में लगता है। भीतर-ही-भीतर खाते-खाते उसे सार-हीन खोखला कर देता है। वैसे ही अनेक वासनाएँ मनुष्य को भीतर-ही-भीतर क्षीण कर देती हैं, वह सार (उत्साह) हीन हो जाता है। 'को अस धीरा'—बड़े-बड़े धीरों के भी व्यर्थ मनोरथ होते हैं, रोकने पर भी नहीं जाते।

सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी ॥६॥
यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमित को बरनइ पारा ॥७॥
सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं ॥८॥

शब्दार्थ—ईषना (एषणा)=प्रबल इच्छा, लोक=यश, कीर्ति।—

अर्थ—पुत्र, धन और लोक (में प्रतिष्ठा) हो, इन तीन इच्छाओं ने किसकी बुद्धि को मलिन नहीं कर दिया ? ये सब माया के कुटुम्ब हैं, जो बड़े बलवान् और असंख्य हैं, इनका कौन वर्णन कर सकता है ? ॥७॥ जिससे श्रीशिवजी और चतुर्मुख श्रीब्रह्माजी भी डरते हैं, उसके समक्ष और जीव किस गिनती में हैं ? अर्थात् वे तो डरे-डराये हैं ही ॥८॥

विशेष—(१) 'सुत बित लोक ईषना···'—पुत्रैषणा परिवार बढ़ाने की प्रबल कांक्षा, वित्तैषणा धन बढ़ाने की प्रबल इच्छा और लोकैषणा लोक में प्रतिष्ठा की प्रबल कांक्षा इन तीन प्रकार की इच्छाओं में लोग लीन रहते हैं। जिससे जाग्रत होना कठिन है; यथा—"सुत बित नारि भवन ममता निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी ॥" (वि॰ १४०); इन तीनों के उपाय में बुद्धि का लगा रहना उसकी मलिनता है। इसीसे मुमुक्षु को इनका त्याग करना कहा है; यथा—"एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथभिक्षाचर्यं चरन्ति ॥" (बृह॰ ३।५।१); अर्थात् उस इस आत्मा को जानकर पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा त्यागकर ब्राह्मण भिक्षाचरण करते हैं।

'यह सब माया कर परिवारा।···'—उपर्युक्त मोह से लेकर त्रिविध एषणा तक सब माया के परिवार हैं। ये अमित हैं और प्रबल हैं; यथा—"तात तीनि अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ। मुनि बिग्यान धाम मन, करहिं निमिष महँ छोभ ॥" (आ॰ दो॰ ३८); "काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह कै धारि। तिन्ह महँ अति दारुन दुखद, माया-रूपी नारि ॥" (आ॰ दो॰ ४३), 'अमित'; यथा—"गो-गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानहु भाई ॥" (आ॰ दो॰ १४)।

(२) 'सिव चतुरानन···'—ये ईश्वर-कोटि में हैं और माया के फंदे में पड़ चुके हैं, तो इतर जीवों की क्या गणना है ?

दोहा—ब्यापि रहेउ संसार महँ, माया-कटक-प्रचंड।
सेनापति कामादि भट, दंभ कपट पाषंड ॥

सो दासी रघुबीर कै, समुझे मिथ्या सोपि।
छूट न राम - कृपा बिनु, नाथ कहउँ पद रोपि।७१॥

अर्थ—माया की भारी एवं बलिष्ठ सेना संसार-भर में व्याप्त हो रही है (सर्वत्र फैली हुई है)। काम आदि (तीनों) उसके सेनापति हैं और दंभ, कपट और पाषंड योद्धा हैं॥ वह (माया) रघुवीर श्रीरामजी की दासी है, जिसने उसे (उसके नानात्व-रूप अविद्या कल्पित भाव को) मिथ्या समझ भी लिया है, वह (मनुष्य) भी श्रीराम-कृपा-बिना नहीं छूटता, हे नाथ ! मैं यह पैर रोपकर (प्रतिज्ञापूर्वक) कहता हूँ ॥७१॥

विशेष—(१) 'प्रचंड'—इसका जीतना अत्यन्त दुष्कर है, इसकी ओर ताकना भी भयंकर है।

(२) 'सो दासी ···'—इसका दासीत्व आगे कहते हैं कि यह उनकी भौं के इशारे पर समाज-सहित नटी की तरह नाचती है, वे नाच देखते हैं। इसका मिथ्यात्व समझना पूर्व बा० मं० श्लोक ६— "रज्जौयथाऽहेर्भ्रम." एवं "रजत सीप महँ भास जिमि ···" (बा० दो० ११७) में देखिये।

(३) 'छूट न राम-कृपा बिनु···', यथा—"सुनिय, गुनिय, समुझिय, समुझाइय, दसा हृदय नहिं आवै। जेहि अनुभव बिनु मोह-जनित दारुन भव-बिपति सतावै॥···ज्ञान भगति साधन अनेक सब सत्य झूठ कछु नाहीं। तुलसिदास हरि कृपा मिटै भ्रम, यह भरोस मन माहीं॥" (वि० ११६), कृपा का उपाय भी एक विशेष प्रकार का भजन ही है; यथा—"मन-क्रम बचन छाँडि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥" (बा० दो० १११); तथा—"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।" (गीता ७।१४)।

रघुवीर की दासी कहकर उसमें रघुवीर की सत्ता का बल सूचित किया; यथा—"जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥" (बा० दो० ११६)।

'कपट दंभ पाषंड' तीनों में क्रमश मन, कर्म और वचन के भेद हैं; यथा—"मैं खल हृदय कपट कुटिलाई।" (दो० १०५); "गुरु नित मोहिं प्रबोध, दुखित देखि आचरन मम। मोहिं उपजै अति क्रोध, दंभिहि नीति की भावई॥" (शे० १०५), "जिमि पाखंड बाद ते, गुप्त होहिं सद्ग्रन्थ।" (कि० दो० १७)।

जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥१॥
सोइ प्रभु भ्रू-बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥२॥
सोइ सच्चिदानंद - घन रामा। अज बिज्ञान रूप बल धामा॥३॥

अर्थ—जिस माया ने सब जगत् को ही नचा रक्खा है, जिसके चरित किसी ने नहीं लख पाये॥१॥ हे खगराज! वही माया प्रभु श्रीरामजी की भृकुटी (भौंह) के इशारे पर अपने समाज सहित नटी की तरह नाचती है॥२॥ वही सच्चिदानंद घन अजन्मा, विज्ञान, रूप और बल के धाम श्रीरामजी हैं॥३॥

विशेष—(१) पहले माया के परिवार को अमित-प्रबल कहा, फिर माया कटक को प्रचंड कहा, तब उसके सेनापतियों को सुभट कहकर सराहा, फिर यहाँ स्वय माया की प्रबलता कही। 'जो माया सब जगहि नचावा। ··ऐसी प्रबला माया भी रघुवीर की दासी है और समाज सहित उनको नृत्य दिखलाती है।

ऐसी प्रबला माया को भी उनकी भौंह ताकना पड़ता है। तब उनके सामर्थ्य का अनुमान कैसे किया जा सकता है ? इसीसे उन्हें 'प्रभु' कहा गया है।

(२) 'जो माया···सोइ प्रभु भ्रूबिलास···'; यथा—"जीव चराचर बस कै राखे। सो माया प्रभु सों भय भाखे ॥ भृकुटि-बिलास नचावै ताही। अस प्रभु छाँड़ि भजिय कहु काही ॥" (बा० दो० २००)।

(३) 'सोइ सच्चिदानंद घन रामा।···'—सत् अर्थात् सम्पूर्ण सत्ता-रूप, चित् अर्थात् सम्पूर्ण चेतन रूप, आनन्द अर्थात् सम्पूर्ण आनंद रूप। श्रीरामजी का दिव्य विग्रह सच्चिदानंद घन रूप है; यथा—"चिदानंद मय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी ॥" (अ० दो० १२१); 'अज' अर्थात् कर्म-वश आपका जन्म नहीं होता। श्रुति भी है—'अजायमानः' 'विज्ञानरूप'; यथा—"विज्ञानं ब्रह्मेति व्याजानात्।" (तैत्त० ३।५)।

> व्यापक व्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघ-सक्ति भगवंता ॥४॥
> अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता ॥५॥
> निर्मम निराकार निरमोहा। नित्य निरंजन सुख-संदोहा ॥६॥
> प्रकृति पार प्रभु सब उर-बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी ॥७॥
> इहाँ मोह कर कारन नाहीं। रबिसन्मुख तम कबहुँ कि जाहीं ॥८॥

शब्दार्थ—व्याप्य = जिसका ब्रह्म व्यापक है, वह विश्व, जैसे घड़े में आकाश है, तब घड़े व्यापक और आकाश व्याप्य कहायेगा। इस तरह जगत् उस व्यापक में स्थित है, गीता ९।४ देखिये। अदभ्र = बृहत्, बहुत, अपार, अनंत। निरीह = ईहा (चेष्टा) रहित। बिरज = माया-विकार-रहित, निर्मल, निर्दोष।

अर्थ—(वही प्रभु) व्यापक और व्याप्य, अखंड (पूर्ण), अनंत (आदि-अंत रहित), सम्पूर्ण, अव्यर्थ शक्ति, षडैश्वर्य पूर्ण ॥४॥ निर्गुण, बहुत बृहत्, वाणी और इन्द्रियों से परे, सब कुछ देखनेवाले, निन्दा एवं दोषों से रहित, अजित ॥५॥ ममता-रहित, निराकार (प्राकृत आकार-रहित), मोह-रहित, नित्य, माया-रहित, सुख-राशि ॥६॥ प्रकृति से परे, समर्थ, सबके हृदय में रहनेवाले, ब्रह्म, चेष्टा-रहित, विरज (निर्मल) और अविनाशी हैं ॥७॥ यहाँ मोह का (कोई) कारण ही नहीं है, क्या तम कभी सूर्य के सामने जा सकता है ? (कभी नहीं) ॥८॥

विशेष—(१) 'व्यापक व्याप्य'—आप जगत् में व्यापक हैं, अर्थात् व्याप्य-रूप जगत्-मात्र के सम्यक् आधार हैं, जगत् आपका शरीर है, इससे आप ही जगत् रूप भी हैं; यथा—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म।" (छां० दो० ३।१४।१)। अतः, व्याप्य भी आप ही हैं। 'अखंड'—सब ब्रह्मांड व्याप्य हैं; आप सबके व्यापक हैं। पुनः व्यापक और व्याप्य की एकता से अखंड हैं। 'अनंत' जो देश, काल एवं वस्तु—अवच्छिन्न न हो, वह अनंत है; यथा—"देस काल पूरन सदा बद बेद पुरान। सबको प्रभु सब में बसै सबकी गति जान ॥" (वि० १००); "देस काल दिसि बिदिसहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं ॥" (बा० दो० १८४); इत्यादि। 'अखिल' अर्थात् कोई सामर्थ्य ऐसा नहीं है, जो इसमें न हो। 'अदभ्र'—ब्रह्म बहुत बड़ा है; यथा—"ज्यायान् आकाशात् ज्यायान् पृथिव्या ज्यायान् एभ्यः सर्वेभ्यः लोकेभ्यः।" यह श्रुति है, अर्थात् यह ब्रह्म आकाश से, पृथिवी से तथा सब लोकों से बड़ा है। 'नित्य'

जो सदा एकरस रहे। 'निरंजन' अर्थात् माया जिसके रूप को बदल नहीं सकती। 'प्रकृति पार'''— प्रकृति से परे होते हुए भी 'सर्व उर वासी' है, इससे 'प्रभु' कहा है, अर्थात् सबके हृदय में रहते हुए भी निर्लिप्त रहने में परम समर्थ है। 'नित्य' और 'अविनासी' में भेद यह है कि नित्य पदार्थ भी किसी प्रलय में नष्ट होते हैं, पर अविनाशी का कभी नाश नहीं होता। 'सुख-संदोहा'; यथा—"जो आनंद सिंधु सुखरासी।" (बा० दो० ११६)।

यहाँ पर कहे हुए विशेषण पूर्व भी आ चुके हैं, वहाँ भी देखें–बा० दो० १९८, १९९, २०५, इत्यादि।

(२) 'रवि सन्मुख तम कबहुँ कि जाहीं।'—सूर्य के उदय होने के पूर्व ही तम दूर हो जाता है। इसी तरह परब्रह्म का आविर्भाव जिसके हृदय में होनेवाला होता है, उसके हृदय से अविद्यादि तम पूर्व से ही नष्ट हो जाते हैं, तब भला स्वयं उस ब्रह्म को मोह कैसे हो सकता है? देखिये बा० दो० ११५ चौ० ४–५ भी।

तब लीला में तो प्रत्यक्ष देखा जाता है, इसका समाधान करते हैं—

दोहा—भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप।
किये चरित पावन परम, प्राकृत - नर - अनुरूप॥
जथा अनेक बेष धरि, नृत्य करइ नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावइ, आपुन होइ न सोइ॥७२॥

अर्थ—भगवान् प्रभु श्रीरामजी ने भक्तों के लिये नृप-शरीर धारण किया और सामान्य मनुष्यों के सदृश अनेक (किन्तु) परम पावन चरित किये॥ जैसे कोई नट अनेकों वेष धारण कर नाच करता है और वही-वही (अर्थात् जो-जो वेष धारण करता है, उस-उसके अनुरूप) भाव दिखाता है, परन्तु स्वयं वही नहीं हो जाता (अर्थात् वह स्त्री, भिक्षुक, राजा, पशु आदि के जो-जो स्वाँग करता है वह स्त्री आदि हो नहीं जाता। वैसे भगवान् भी प्राकृत नर का स्वाँग धारण करके वैसा ही चरित करने से प्राकृत नर ही नहीं हो गये)॥७२॥

विशेष—(१) 'भगवान प्रभु राम' कहकर फिर 'धरेउ तनु भूप...प्राकृत नर अनुरूप' कहकर सूचित किया कि जो परात्पर ब्रह्म रामजी नित्य द्विभुज रूप हैं। उन्होंने भक्तों के हितार्थ लीला करने के लिये 'प्राकृत नर अनुरूप, भाव धारण किया है। आपका परात्पर द्विभुज रूप श्रुति-स्मृति से प्रतिपादित है, पूर्व में बहुत स्थलों पर प्रमाण दिये जा चुके हैं।

(२) 'चरित पावन परम'—अधर्ममय चरित अपावन हैं, धर्ममय पावन और भगवान् के चरित परम पावन हैं। यह भी भाव है कि प्राकृत नर के चरित अपावन भी होते हैं, प्रभु प्राकृत नर के से चरित करते हैं, पर इनके चरित परम पावन है, जिसे कह-सुनकर और लोग भी पवित्र हो जाते हैं। 'भगत हेतु...'; यथा—"सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी॥" (बा० दो० १३); तथा बा० दो० २०५ भी देखिये।

(३) 'जथा अनेक वेष...'—उपर्युक्त "इहाँ मोह कर कारन नाहीं ।" पर यह दृष्टान्त दिया गया है। भाव यह कि मोह का कारण माया है, वह बात यहाँ नहीं है। जैसे नट अनेक वेष धरकर तदनुसार दुख-सुख के भाव दिखाता है और आप जैसे का तैसा ही रहता है। दुःख सुख से भिन्न रहता है, परन्तु दूसरों को—अज्ञान से— वे दुःख सुख नट में ही प्रतीत होते हैं। किन्तु नट के सेवकों को ज्ञान रहता है कि ये दुःख-सुख नट में नहीं हैं। ऐसे ही प्रभु की लीला के विषय में भी समझना चाहिये, वही आगे—'असि रघुपति लीला...' से कहते हैं।

श्रीरामजी ने नर-नाट्य करते हुए स्त्री के लिये विलाप आदि किये हैं, रणशोभा दिखाने के लिये नागपाश में बँधना भी स्वीकार किया है। इन लीलाओं के दुःख आपमें नहीं थे, आप तो सच्चिदानंद रूप एवं निरंजन आदि बने ही रहे। लीला तो भक्तों के हितार्थ करते हैं; यथा—"सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपा सिंधु जन हित तनु धरहीं ॥" (बा० दो १२१)।

अर्जुनजी ने युधिष्ठिरजी से कहा है—"यथामत्स्यादिरूपाणि धत्ते जह्याद्यथा नटः। भूभारः क्षपितो येन जहौ तच्च कलेवरम् ।" (भाग० १।१५।३५); अर्थात् जैसे नट वेष धर कर अभिनय करता है, और फिर उसे त्याग देता है, वैसे भगवान् अनेक कार्यों के लिये मत्स्यादि रूप धारण करते हैं और फिर उन्हें त्याग देते हैं। तथा—"नट इव कपट चरित कर नाना। सदा स्वतंत्र एक भगवाना ॥" (लं० दो० ७१); का प्रसंग भी देखिये।

'आपुन' अर्थात् स्वयं; यथा—"आपुन चलेउ गदाकर लीन्हीं ॥" (लं० दो० १८१)।

असि रघुपति - लीला उरगारी। दनुज-विमोहनि जन-सुखकारी ॥१॥
जे मति मलिन विषय-बस कामी। प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी ॥२॥
नयन - दोष जा कहँ जब होई। पीत बरन ससि कहँ कह सोई ॥३॥

शब्दार्थ—धरना = आरोपण करना, ठहराना। नयन-दोष = कमल रोग, पीलिया रोग।

अर्थ—हे उरगारि श्रीगरुड़जी ! ऐसा ही श्रीरघुनाथजी का नर-नाट्य है, जो दैत्यों (आसुरी प्रकृति वालों) को विशेष मोहित करनेवाला और भक्तों को सुख देनेवाला है ॥१॥ हे स्वामी ! जो मलिन बुद्धि, विषय-वश और कामी लोग हैं, वे ही प्रभु पर इस प्रकार का मोह आरोपण करते हैं ॥२॥ जब जिसे नेत्र-दोष होता है, तब वह चन्द्रमा को पीले रंग का कहता है ॥३॥

विशेष—(१) 'असि रघुपति-लीला···'—'असि' उपर्युक्त नटवत्। नट का दृष्टान्त उपर्युक्त दोहे के साथ भी कहा गया था। अतः, दीपदेहली है।

(२) 'दनुज विमोहनि···'—इसपर—"राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे ॥" (अ० दो० १२६); तथा—"उमा राम गुन गूढ़···" (आ० मं० सो०), आदि प्रसंग देखिये। यहाँ दनुज से आसुरी संपत्तिवालों को और जन से दैवी सम्पत्तिवालों को कहा है। असुर कहते हैं, ये ईश्वर नहीं हो सकते। जन कहते हैं कि प्रभु स्वतंत्र होकर भी कैसी लीला करते हैं।

(३) 'इमि' कहकर इसका दृष्टान्त आगे की अर्द्धाली में देते हैं—

(४) 'नयन-दोष जा कहँ···'—जिसके नेत्र में कमला रोग हो जाता है, उसे स्वच्छ वस्तु भी पीत दिखलाई पड़ती है। चंद्रमा उज्ज्वल है, पर उसे यह पीत देख पड़ता है। वैसे ही जिसके बुद्धि और

चित्त-रूपी गोलक में ज्ञान-विराग-रूपी नेत्र की पुतली पर मोह और विषय-वासना-रूपी रोग लग गया है। उसे निर्मल सच्चिदानंदरूप श्रीरामजी में मोह एवं काम-विकार देख पड़ते हैं।

यहाँ रूप विपर्यय कहा गया है, आगे दूसरे दृष्टान्त में विरुद्ध स्थानापत्ति और तीसरे चौथे में और धर्माध्यास कहा गया है।

जब जेहि दिसि-भ्रम होइ खगेसा। सो कह पच्छिम उयउ दिनेसा ॥४॥
नौकारूढ़ चलत जग देखा। अचल मोहवस आपुहि लेखा ॥५॥
बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी। कहहिं परस्पर मिथ्यावादी ॥६॥

अर्थ—हे गरुड़ ! जब जिसे दिशा का भ्रम होता है, तब वह कहता है कि सूर्य पच्छिम में उदय हुआ है ॥४॥ नाव पर चढ़ा हुआ जगत् को चलता हुआ देखता है और मोह वश अपनेको अचल (स्थिर) समझता है ॥५॥ बालक घूमते हैं, (कुछ) घर आदि नहीं घूमते, पर वे आपस में झूठावाद कहते हैं (कि घर आदि घूमते हैं) ॥६॥

विशेष—(१) जैसे भ्रम वश पूर्व दिशा मे पच्छिम का भ्रम हो जाय, वैसे परब्रह्म श्रीरामजी को मनुष्य मानना है। स्वयं तो संसार के विषय प्रवाह में अज्ञान रूपी नौका पर चढ़ा चला जा रहा है, आयु बीती जा रही है, पर मोहवश अपनेको सचेत एवं अमर मान रहा है और श्रीरामजी अचल (नित्य एक रस स्थितिवाले) हैं, उनको भ्रम वश चल (विविध स्थितिवाला) मानता है कि कभी रोते हैं, कभी क्रोध करते हैं, इत्यादि। पुनः अज्ञानी जीव बालक हैं, सुख के उपाय करना उनका भ्रमण करना है, अचल मकान आदि की तरह श्रीरामजी अचल हैं। बालक स्वयं भ्रमण से दुखी होते हैं। वैसे ही अज्ञानी संसारी धंधों में स्वयं दुखी होते हैं, पर कहते हैं कि श्रीरामजी तो वन-वन में दुःख उठा रहे हैं।

हरि बिषइक अस मोह बिहंगा। सपनेहुँ नहिं अज्ञान प्रसंगा ॥७॥
मायाबस मतिमंद अभागी। हृदय जमनिका बहु बिधि लागी ॥८॥
ते सठ हठबस संसय करहीं। निज अज्ञान राम पर धरहीं ॥९॥

शब्दार्थ—जमनिका (यवनिका) = परदा, काई। बिषइक = विषय का, सम्बन्धी। प्रसंगा = सम्बन्ध, लगाव।

अर्थ—हे गरुड़ ! भगवान् के विषय का मोह ऐसा ही है, (वहाँ तो) स्वप्न मे भी अज्ञान का लगाव नहीं है ॥७॥ माया के वश, मन्द बुद्धिवाले, भाग्य हीन और जिनके हृदय पर बहुत प्रकार के परदे पड़े हुए हैं एवं काई लगी हुई है ॥८॥ वे ही मूर्ख हठ (आग्रह) के वश संदेह करते हैं और अपना अज्ञान श्रीरामजी पर आरोपित करते हैं ॥९॥

विशेष—(१) 'हरि बिषइक···माया बस मति मंद···'; यथा—"उमा राम बिषइक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा॥ अज्ञ अकोविद अंध अभागी। काई विषय मुकुर मन लागी ॥" (बा॰ दो॰ ११६–११४)

(२) 'ते सठ हठ बस···'; यथा—"निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी ॥" (बा॰ दो॰ ११६)।

पहले कहा था—'इहाँ मोह कर कारन नाहीं' उसकी पुष्टि में दो दृष्टान्त दिये—एक रवि-तम का दूसरा नट और उसके वेष-भाव का। पहले से दिखाया कि मोह इनके पास जा ही नहीं सकता। तब स्त्री-विरह और नाग-पाशबंधन आदि क्यों स्वीकार किये? इसे दूसरे दृष्टान्त से समझाया कि नर का वेष धारण किया है, नर काम-क्रोध आदि के वश होते हैं, हारते-जीतते हैं। वैसा ही इन्होंने अपने में दिखाया है, पुद्ध प्राकृत नर हो नहीं गये।

पुनः यह शंका हुई कि लोग इन्हें मोहवश कहते क्यों हैं, उसपर फिर 'नयन दोष' आदि चार दृष्टान्त दिये कि वे स्वयं मोह में पड़े हुए हैं, पर अज्ञान से वे प्रभु में मोह कहते हैं।

दोहा—काम क्रोध मद लोभ रत, गृहासक्त दुख-रूप।
ते किमि जानहिं रघुपतिहि, मूढ़ परे तम-कूप॥
निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि-मन भ्रम होइ॥७३॥

अर्थ—जो काम, क्रोध, मद और लोभ में तत्पर, घर में आसक्त और दुःख रूप हैं (वा दुःख रूप गृह एवं गृह के जंजाल में पड़े हुए हैं), वे श्रीरघुनाथजी को कैसे जानें? वे मूर्ख तो अंधकार रूपी कुँए में पड़े हुए हैं॥ निर्गुण रूप अत्यन्त सुगम है और सगुण रूप को कोई जानता ही नहीं। सुगम और अगम उसके अनेक चरित्रों को सुनकर मुनियों के भी मन में भ्रम हो जाता है॥७३॥

विशेष—(१) 'काम क्रोध मद लोभ रत···'—काम आदि चार के नाम यहाँ दिये गये और साथ ही 'गृहासक्त' भी कहा गया। इसका भाव यह कि ये चारों नरक के मार्ग हैं; यथा—"काम क्रोध मद लोभ सब, नाथ नरक के पंथ।" (सुं० दो० ३८); वैसे गृही में आसक्त पुरुष भी नाना पापों से दुःख रूप जीवन बिताकर अन्त में नरक को जाते हैं; यथा—"यस्त्वासक्तमतिर्गेहे पुत्रवित्तैषणातुरः। स्त्रैणः कृपणधीर्मूढो ममाहमिति बध्यते॥ अहो मे पितरौ वृद्धौ भार्या बालात्मजात्मजाः। अनाथा मामृते दीनाः कथं जीवन्ति दुःखिताः॥ एवं गृहाशयाक्षिप्तहृदयो मूढधीरयम्। अतृप्तस्ताननुध्यायन्मृतोऽन्धं विशते तमः॥" (भाग० ११।१७।५६-५८); अर्थात् जो घर में लीन बुद्धिवाला, पुत्र धन की एषणाओं में आतुर, स्त्रैण, दीन, 'मैं मेरा' में बँधता है। अहो! मेरे माता-पिता वृद्ध हैं, स्त्री, पुत्र, नाती हैं ये सब मुझ बिना अनाथ होकर मूढ़ दीन और दुखी कैसे जीवेंगे? गृहासक्त मूढ़बुद्धि इस प्रकार उन सबका ध्यान करता हुआ अतृप्त मरता है वह अंधकारमय नरक को जाता है। गृही धर्म भी उत्तम है, यदि अनासक्त भाव से उसका निर्वाह किया जाय; किन्तु ये गृहासक्त इस भेद को नहीं जानते, इसीसे 'मूढ़' कहे गये।

दोहे के पूर्वार्द्ध की व्यवस्था ही उत्तरार्द्ध के 'तमकूप' का अर्थ है। गृहासक्त को परमार्थ नहीं सूझता; यथा—"ममता रत सन ज्ञान कहानी। अति लोभी सन बिरति बखानी॥ क्रोधिहि सम कामिहि हरि कथा। ऊसर बीज बये फल जथा॥" (सुं० दो० ५७); इसी तरह कुँए में पड़े हुए को बाहर का कुछ नहीं सूझता। 'ते किमि जानहिं···'—भाव यह कि ये कामादि हरि भजन के बाधक हैं; यथा—"सब परि हरि रघुबीरहि भजहु भजहिं जेहि संत॥" (सुं० दो० ३८), और बिना भजन एवं हरि-कृपा के भगवान् को कोई जान नहीं सकता; यथा—"तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥" (अ० दो० १२६)।

'गृहासक्त दुख रूप' का विस्तृत वर्णन भाग० ३।३०।६–१८ में है।

(२) 'निर्गुन रूप सुलभ अति'''—निर्गुण मे प्रकट व्यापार, माधुर्य-चरित आदि नहीं हैं कि जिनके जानने में कठिनता हो। निराकार, निरवधि, नाम रहित, रूप रहित, आदि-अंत रहित आदि निषेधात्मक विशेषणों से उसका निर्देश होता है। वह सदा एक रस रहता है, सर्वत्र एक अखंड रूप से परिपूर्ण है। उसके विषय मे भ्रम होने का डर नहीं रहता। इस तरह उसका जानना अति सुगम है, किन्तु उसका साधन कठिन है। सगुण के सुगम-अगम नाना चरित होते हैं, जैसे कि धनुर्भंग, परशुराम पराजय, बालि आदि के वध से उसका जानना सुगम होता है और स्त्री-विरह मे विलाप, नाग पाश बंधन आदि अति माधुर्य के चरित्रों से उसका ऐश्वर्य जानना अति अगम हो जाता है। इन चरित्रों में श्रीभरद्वाजजी, श्रीसतीजी एवं श्रीवशिष्ठजी तक को भ्रम हो जाता है। इस तरह सगुण के जानने में कठिनता है। पर जान लेने पर महाविश्वासपूर्वक शरणागति से उसकी प्राप्ति अति सुगम हो जाती है; यथा— "जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥" (गीता ४।६); अर्थात् हे अर्जुन! मेरे दिव्य जन्म और कर्म को जो यथार्थ रूप से जान लेता है, वह शरीर त्यागकर फिर जन्म नहीं लेता, किन्तु मुझको प्राप्त होता है।

'मुनि मन भ्रम होइ'—दिन-रात मनन करनेवाले भी भ्रम मे पड़ जाते हैं। तब औरों को भ्रम हो जाना कौन आश्चर्य है ?

इस प्रसंग का उपक्रम—"तुम्ह निज मोह कहा खग साईं। सो नहिं कछु आचरज गोसाईं॥" से हुआ है और यहाँ समाप्त हुआ। 'गोसाईं' का भाव यह कि आप भी इन्द्रियजित् हैं, पर मोह में पड़ गये, यह आश्चर्य नहीं, क्योंकि मुनि लोग भी तो इन्द्रियजित् होते हैं, फिर उन्हें भी तो भ्रम होता ही है। उपक्रमोक्त वचन की पुष्टि करते हुए उपसंहार किया गया है। उपक्रम मे 'जे मुनिनायक' पद दिया था, वैसे उपसंहार मे 'मुनि मुनि मन' कहा गया।

सुनु खगेस रघुपति - प्रभुताई। कहउँ जथामति कथा सुहाई॥१॥
जेहि बिधि मोह भयउ प्रभु मोही। सोउ सब कथा सुनावउँ तोही॥२॥
राम - कृपा - भाजन तुम्ह ताता। हरि-गुन-प्रीति मोहि सुखदाता॥३॥
ताते नहि कछु तुम्हहि दुरावउँ। परम रहस्य मनोहर गावउँ॥४॥

अर्थ—हे गरुड़! श्रीरघुनाथजी की प्रभुता सुनिये, मैं अपनी बुद्धि के अनुसार सुहावनी कथा कहता हूँ॥१॥ हे प्रभो! जिस प्रकार मुझे मोह हुआ, वह सब कथा भी तुम्हें सुनाता हूँ॥२॥ हे तात! आप श्रीरामजी के कृपापात्र हैं, भगवान् के गुणों में आपका प्रेम है, (इसीसे) मुझे सुख दाता है (भाव यह कि सजातीय के साथ से सुख होता ही है)॥३॥ इससे मैं कुछ भी आपसे नहीं छिपाता, परम गुप्त और मनोहर चरित वर्णन करता हूँ॥४॥

विशेष—(१) 'सोउ सब कथा सुनावउँ तोही।'—ऊपर ईश्वरों का, विषयी लोगों का और मुनियों का मोह कहकर 'रघुपति प्रभुताई' को समझाया। अब अपने मोह की कथा से भी समझाते हैं। अपनी बीती प्रत्यक्ष प्रमाण होती है। इसका प्रभाव श्रोता पर बहुत पड़ता है। मोह होने पर प्रसंगत. रघुपति ने अपनी प्रभुता स्वयं इन्हें दिखाई है, वही कहेंगे। 'सोउ' का भाव यह कि अपनी कथा न कहनी चाहिये,

पर इसमें रघुपति प्रभुताई का ही उद्घाटन हुआ है, यही प्रधान है, अपना तो दोष मात्र ही है, जिसके कारण यह प्रभुता देखने में आई है, इसलिये कहने में दोष नहीं है। अपनी बड़ाई का प्रसंग कहना दोष होता है। पर इसमें श्रीरामजी का अत्यन्त गुप्त रहस्य है, जो मनोहर अर्थात् मन के विकारों का हरनेवाला है।

(२) 'तातें नहिं कछु ...'—तुम श्रीरामजी के कृपा पात्र होने से हरिगुण रसिक हो और इसीसे हमें सुखदाता हो, यही सजातित्व और अनुकूलता देखकर परम रहस्य भी मैं तुमसे कहता हूँ, यथा—"इष्टोऽसि दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।" (गीता १८।६४)। 'परम रहस्य' कहकर सूचित करते हैं कि इसे मैंने अभी तक गुप्त ही रक्खा है। तुम्हें अधिकारी पाकर कहता हूँ। उपर्युक्त 'रघुपति प्रभुताई' ही 'परम रहस्य' है। यह स्वभाव वर्णन के द्वारा प्रारंभ करेंगे। स्वभाव के ज्ञाता निरंतर समीपी उपासक ही होते हैं, दूसरे नहीं जान सकते, इससे भी 'परम रहस्य' कहा है। 'जथामति'—क्योंकि अपार है।

श्रीराम-स्वभाव वर्णन

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ ॥५॥
संसृत - मूल सूल - प्रद नाना। सकल सोकदायक अभिमाना ॥६॥

अर्थ—श्रीरामजी का सहज स्वभाव सुनिये, वे भक्त में अभिमान कभी नहीं रहने देते ॥५॥ (क्योंकि) अभिमान संसार (अर्थात् बार-बार जन्म-मरण) का मूल (कारण) है, अनेकों प्रकार के दुःखों और समस्त शोकों का देनेवाला है ॥६॥

विशेष—(१) 'सुनहु'—सावधान करने एवं नवीन बात प्रारंभ के सम्बन्ध से कहा है। 'राम कर'—भाव यह कि श्रीराम ही का ऐसा स्वभाव है, दूसरे का नहीं। 'सहज सुभाऊ।'—क्योंकि बिना कारण ही जनों का हित करते हैं, यथा—"राम सहज कृपाल कोमल दीन हित दिन दानि।" (वि० २१५), "बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर " (वि० १६२)। श्रीभुशुंडिजी श्रीराम स्वभाव के यथार्थ ज्ञाता हैं, यथा—"सुनहुँ सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ॥" (सु० दो० ४७), 'जन अभिमान '—औरों के अभिमान पर उतनी चिन्ता नहीं करते, जैसे कि रावण के अभिमान पर बहुत काल तक उन्होंने ध्यान नहीं दिया, यथा—"तौं लौं न दाप दल्यो दसकंधर जौं लौं बिभीषन लात न मार्यो।" (क० उ० ३)। भक्त श्रीरामजी को प्रिय हैं, इससे उनका नाश वे नहीं देख सकते, सदा उनकी रक्षा करते हैं। अभिमान ही संसार का मूल है। सृष्टि का बीज अहंकार ही कहा गया है। वर्णाश्रम के अभिमान, भक्ति वैराग्य आदि के अभिमान; ये सब भी शोक दायक हैं, यथा—"मोह मूल बहु सूल प्रद, त्यागहु तम अभिमान।" (सु० दो० २३)।

(२) 'जन अभिमान न राखहिं काऊ।'—से सूचित करते हैं कि मुझे भी कभी अभिमान हुआ था, जिसपर प्रभु ने कृपा करके अपनी प्रभुता दिखाई है। और फिर आपको भी अभिमान हुआ, तब प्रभु ने आपके साथ भी कृपा कर यह चरित किया कि यहाँ भेजा है, यथा—"होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवै चह कृपा निधाना॥" (दो ६१), यह श्रीशिवजी ने कहा है।

भक्तों की सब कामनाएँ पूरी करते हैं, पर अभिमान कभी नहीं रहने देते, यह अपने परम प्रिय

भक्त श्रीनारदजी के मोह प्रसंग में दिखाया है; यथा—"करुना निधि मन दीख बिचारी। उर अंकुरेउ गर्व तरु भारी॥ बेगि सो मैं डारिहउँ उपारी। पन हमार सेवक हितकारी॥" (बा॰ दो॰ १२८)।

(३) 'सूल प्रद नाना'—शूल कई प्रकार के हैं; यथा—"विषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना॥"; "मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥" (दो॰ १२०); अभिमान को ऊपर मोह-मूलक कहा ही गया है। 'सकल सोक'—इष्ट हानि, अनिष्ट प्राप्ति एवं और भी किसी दुर्घटना से जो मन में विकार होता है, वह शोक है।

श्रीगरुड़जी को मोह से अभिमान हुआ, इससे अभिमान ही के अवगुण कहते हैं। ऐसे ही श्रीनारदजी के प्रसंग में उन्हें मोह से स्त्री की चाह हुई, तब वहाँ स्त्री में ही बहुत अवगुण कहे गये हैं।

ताते करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥७॥
जिमि सिसु-तन व्रन होइ गुसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥८॥

अर्थ—इसीसे (कि भक्त अभिमान से भव में न पड़े) दयासागर श्रीरामजी उसे दूर करते हैं, (क्योंकि) भक्तों पर उनका अत्यन्त भारी ममत्व है॥७॥ हे गोस्वामी! जैसे बच्चे के शरीर में फोड़ा होता है तो माता उसे कठोर हृदयवाले के समान चिरवाती है॥८॥

विशेष—(१) 'ताते करहिं कृपानिधि दूरी···'—सेवक पर अधिक ममत्व होने के कारण वे उसका क्लेश नहीं देखना चाहते। इससे उसका अभिमान दूर करते हैं। श्रीनारदजी के मोह प्रसंग में इसका उदाहरण है। ममता सांसारिक सम्बन्धों में पुत्र पर सबसे अधिक होती है; यथा—"सुत की प्रीति प्रतीति मीत की··" (वि॰ २६८); प्रभु सेवक को भी शिशु के समान ही मानते हैं; यथा—"बालक सुत सम दास अमानी।" (आ॰ दो॰ ४२); अतएव इसपर अत्यन्त ममता करके इसकी रक्षा करते हैं; यथा—"करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालकहि राख महतारी॥" (आ॰ दो॰ ४२); यही 'ममता अति भूरी' है।

श्रीनारदजी के प्रसंग में 'तहँ राखइ जननी अरगाई।' कहा है और यहाँ व्रण चिराने का भाव कहा है। भाव यह कि वहाँ नारद कुपथ्य के लिये दौड़े जा रहे थे, इससे वहाँ रोकने का भाव कहा गया, वे उसे ग्रहण नहीं कर सके पाये। और, यहाँ रोग का हो जाना कहा गया, यथा—"महामोह उपजा उर तोरे।" (दो॰ ५८), यह व्रण का होना है। अतः, व्रण का चिराना कहा गया।

श्रीगरुड़जी को जहाँ तहाँ दौड़ाना, काक को गुरु बनाना, यही चिराना है, मोह वश दौड़ने का कुछ दुःख हुआ, पर सदा के लिये नीरोग हो गये। यदि भक्त धोखे में कोई पातक कर डालते हैं, तो भगवान् तुरत फल देकर शुद्ध कर लेते हैं, भावी कर्म विपाक का झगड़ा नहीं रहने देते, यह तात्पर्य है।

(२) 'कठिन की नाईं' का भाव आगे दोहे में कहते हैं—

दोहा—जदपि प्रथम दुख पावइ, रोवइ बाल अधीर।
व्याधि-नास-हित जननी, गनति न सो सिसु-पीर॥

तिमि रघुपति निज दास कर, हरहिं मान हित लागि।
तुलसिदास ऐसे प्रभुहि, कस न भजहु भ्रम त्यागि ॥७४॥

अर्थ—यद्यपि बालक पहले (फोड़ा चिराते समय) दुःख पाता है और अधीर होकर रोता है तथापि रोग को नाश करने के लिये माता बालक के रोने की पीड़ा को कुछ नहीं गिनती ॥ इसी प्रकार श्रीरघुनाथजी दास के हित के लिये उसका अभिमान दूर करते हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि ऐसे प्रभु को भ्रम छोड़कर क्यों नहीं भजते हो ? ॥७४॥

विशेष—(१) 'जदपि प्रथम दुख पावइ …'—पहले ही थोड़ी देर चिराने के समय-भर दुःख रहता है, फिर यह सुखी हो जाता है। 'रोवै बाल अधीर'—बालक को एक माता का ही आधार रहता है, वही निष्ठुर होकर बच्चे के हाथ पकड़कर नश्तर दिलाती है, उसके रोने की पर्वाह नहीं करती। तब बालक का धैर्य छूट जाता है, क्योंकि वह और किसकी शरण ले?

(२) 'तिमि रघुपति निज दास कर…'—यहाँ श्रीरामजी माता हैं, अभिमान फोड़ा है। विषैले फोड़े के न चिरवाने से विष फैल जाने से बालक की मृत्यु का भय रहता है। वैसे ही भक्त का अभिमान बढ़ने से उसके भव (जन्म-मरण) का भय रहता है। फोड़ा चिराने में बालक रोता है। वैसे ही अभिमान नाश के उपाय में दास को भी दुःख होता है, उसका धैर्य छूट जाता है। अभिमान की दवा अपमान है। सत्कार पाकर यह रोग बढ़ता है, भगवान् ऐसे संयोग कर देते हैं कि जिससे उसका तिरस्कार हो।

'हित लागि'—इसमें उनका लाभ नहीं है, भक्त का ही हित है, भक्त के हित को ही अपना हित समझते हैं, क्योंकि भक्तों में 'अपनापन' है। श्रीनारदजी से कहा भी है, यथा—"जेहि विधि होइहि परम हित…सोइ हम करब"; "मुनि कर हित मम कौतुक होई। अवसि उपाय करबि मैं सोई।।" यहाँ श्रीनारदजी ने कठोर वचन कहे, शाप दिया, यही उनका रोना है। और "बोले मधुर वचन सुरसाई।… साप सीस धरि…" इत्यादि शिशु पीर का न गिनना है। व्याधि नाश से शिशु को सुख होता है। वैसे मोह छूटने से नारदजी भी सुखी हुए; यथा—"बिगत मोह मन हरष विसेषी।।" यहाँ कहा है।

ऐसे ही और सांसारिक कष्ट भक्त जनों को पड़ते हैं, तब वे यही समझते हैं कि भगवान् कृपा करके हमारे भारी पापों को थोड़े में शुद्ध कर रहे हैं एवं धीरे-धीरे विषयोपभोग से उदासीन कर रहे हैं।

यहाँ तक श्रीराम-स्वभाव कहकर आगे अपनी कथा का प्रारम्भ करते हैं—

राम-कृपा आपनि जड़ताई। कहउँ खगेस सुनहु मन लाई ॥१॥
जब जब राम मनुज-तनु धरहीं। भक्त-हेतु लीला बहु करहीं ॥२॥
तब तब अवधपुरी मैं जाऊँ। बाल-चरित बिलोकि हरषाऊँ ॥३॥

अर्थ—हे गरुड़ ! मैं श्रीरामजी की कृपा और अपनी मूर्खता कहता हूँ, मन लगाकर सुनिये ॥१॥ जब-जब श्रीरामचन्द्रजी मनुष्य देह धारण करते हैं और भक्तों के लिये एवं उनके स्नेह वश बहुत-सी लीलाएँ करते हैं ॥२॥ तब-तब मैं अवधपुरी जाता हूँ और बाल चरित देखकर प्रसन्न होता हूँ ॥३॥

विशेष—(१) 'राम-कृपा आपनि जड़ताई। ' श्रीरामजी कृपा करके भक्त के लिये ही लालो

करते हैं। इससे 'राम कृपा' को प्रथम कहा ; यथा—'भक्त हेतु लीला बहु करहीं।' आगे कहते ही हैं। पर उसमें उसको मोह हो जाता है, इसीसे अपनी जड़ता को भी साथ ही कहा।

'आपनि जड़ताई' कहते हैं इससे संभव है कि श्रीगरुड़जी मन लगाकर न सुने और विना मन लगाये, उसमे जो श्रीराम-कृपा की प्रधानता है, वह समझ मे न आवेगी। मेरी जड़ता पराकाष्ठा की है, वैसे ही प्रभु कृपा भी पराकाष्ठा की है। जड़ता होने पर ही कृपा का अनुभव होता है; यथा—"जो अति आतप व्याकुल होई। तरु छाया सुख जानइ सोई॥ (दो॰ ६८)। जड़ता मे मैंने कृपा को देखा है, इसीसे वह भी कहूँगा।

(२) 'जब जब राम मनुज तनु धरहीं।···' यथा—"जब जब अवध पुरी रघुवीरा। धरहिं भगत हित मनुज सरीरा॥" (दो॰ ११३); 'राम मनुज तनु धरहीं'—श्रीराम नामक परब्रह्म साकेताधीश स्वयं आकर नरतन से लीला करते हैं। 'मनुज तनु' में मनुवाले कल्प की ओर संकेत है। श्रीभुशुंडिजी और श्रीशिवजी का ध्यान उसी रूप का है; यथा—"जो सरूप बस सिव मन माहीं।···जो भुसुंडि मन मानस हंसा।···देखहिं हम सो रूप भरि लोचन।" (बा॰ दो॰ १४५)—यह मनु ने ही कहा है।

'भक्त हेतु'—अर्थात् जो लीला कहता हूँ, यह मेरे लिये की गई थी, पर अपनी जड़ता से मुझे उसमें मोह हो गया।

(३) 'हरपाऊँ'—का कारण आगे कहते हैं—

जन्म - महोत्सव देखउँ जाई। बरष पाँच तहँ रहउँ लुभाई॥४॥
इष्टदेव मम बालक रामा। सोभा बपुष कोटिसत कामा॥५॥
निज प्रभु - बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करउँ उरगारी॥६॥
लघु बायस-बपु धरि हरि-संगा। देखउँ बाल - चरित बहु रंगा॥७॥

अर्थ—जाकर मैं जन्म-महोत्सव देखता हूँ और लुब्ध होकर वहाँ पाँच वर्ष रहता हूँ॥४॥ बालक रूप श्रीरामजी मेरे इष्टदेव हैं, उनके तन मे असंख्यों कामदेवों की शोभा है॥५॥ हे सर्पों के शत्रु श्री-गरुड़जी! अपने प्रभु का मुख देख-देखकर मैं अपने नेत्रों को सुफल करता हूँ॥६॥ छोटे कौए का शरीर धरकर भगवान् के साथ-साथ उनके बहुत प्रकार के बाल-चरित देखा करता हूँ॥७॥

विशेष—(१) 'जन्म-महोत्सव···'—जन्म से पहले ही वहाँ पहुँच जाता था, उस समय प्रभु के दर्शन नहीं होते थे; क्योंकि वे सूतिकागार मे रहते थे, केवल जन्म महोत्सव के ही दर्शन होते थे। इस अवसर पर विप्र बालक रूप से श्रीशिवजी के साथ जाते थे—बा० दो० १९५ चौ० ४–५ देखिये। आगे यह भी कहा है कि 'लघु बायस बपु' धरकर वहाँ के बाल-चरित का आनन्द देखता हूँ। 'जाई'—अवतार के समय यहाँ से जाता हूँ, उससे पहले बराबर यहीं पर रहता हूँ।

'बरष पाँच तहँ रहउँ लुभाई।'—बाल्यावस्था पाँच वर्ष की मुख्य है, वही रूप मेरा इष्ट है, इससे उतने समय तो लुभाया हुआ रहता हूँ। दिन-रात जाते नहीं जान पड़ते; यथा—"बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले।" (बा॰ दो॰ १९५); शेष चरित मे सामान्य भाव से आता जाता हूँ, यह भी गर्भित है, अन्यथा अन्यत्र के प्रसंगों से विरोध होगा; यथा—"सुनु खगेस तेहि अवसर, ब्रह्मा सिव मुनि बृंद। चढ़ि

तिमि रघुपति निज दास कर, हरहिं मान हित लागि ।
तुलसिदास ऐसे प्रभुहि, कस न भजहु भ्रम त्यागि ॥७४॥

अर्थ—यद्यपि बालक पहले (फोड़ा चिराते समय) दुःख पाता है और अधीर होकर रोता है तथापि रोग को नाश करने के लिये माता बालक के रोने की पीड़ा को कुछ नहीं गिनती ॥ इसी प्रकार श्रीरघुनाथजी दास के हित के लिये उसका अभिमान दूर करते हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि ऐसे प्रभु को भ्रम छोड़कर क्यों नहीं भजते हो ? ॥७४॥

विशेष—(१) 'जदपि प्रथम दुख पावइ···'—पहले ही थोड़ी देर चिराने के समय-भर दुःख रहता है, फिर वह सुखी हो जाता है। 'रोवँ बाल अधीर'—बालक को एक माता का ही आधार रहता है, वही निष्ठुर होकर बच्चे के हाथ पकड़कर नश्तर दिलाती है, उसके रोने की पर्वाह नहीं करती। तब बालक का धैर्य छूट जाता है, क्योंकि वह और किसकी शरण ले ?

(२) 'तिमि रघुपति निज दास कर···'—यहाँ श्रीरामजी माता हैं, अभिमान फोड़ा है। विषैले फोड़े के न चिरवाने से विष फैल जाने से बालक की मृत्यु का भय रहता है। वैसे ही भक्त का अभिमान बढ़ने से उसके भव (जन्म-मरण) का भय रहता है। फोड़ा चिराने में बालक रोता है। वैसे ही अभिमान नाश के उपाय में दास को भी दुःख होता है, उसका धैर्य छूट जाता है। अभिमान की दवा अपमान है। सत्कार पाकर यह रोग बढ़ता है, भगवान् ऐसे संयोग कर देते हैं कि जिससे उसका तिरस्कार हो।

'हित लागि'—इसमें उनका लाभ नहीं है, भक्त का ही हित है, भक्त के हित को ही अपना हित समझते हैं, क्योंकि भक्तों में 'अपनापन' है। श्रीनारदजी से कहा भी है; यथा—"जेहि विधि होइहि परम हित···सोइ हम करब"; "मुनि कर हित मम कौतुक होई। अवसि उपाय करबि मैं सोई॥" यहाँ श्रीनारदजी ने कठोर वचन कहे, शाप दिया, यही उनका रोना है। और "बोले मधुर वचन सुरसाईं।·· साप सीस धरि···" इत्यादि शिशु पीर का न गिनना है। व्याधि नाश से शिशु को सुख होता है। वैसे मोह छूटने से नारदजी भी सुखी हुए; यथा—"बिगत मोह मन हरष बिसेषी॥" यहाँ कहा है।

ऐसे ही और सांसारिक कष्ट भक्त जनों को पड़ते हैं, तब वे यही समझते हैं कि भगवान् कृपा करके हमारे भारी पापों को थोड़े में शुद्ध कर रहे हैं एवं धीरे-धीरे विषयोपभोग से उदासीन कर रहे हैं।

यहाँ तक श्रीराम-स्वभाव कहकर आगे अपनी कथा का प्रारम्भ करते हैं—

राम - कृपा आपनि जड़ताई। कहउँ खगेस सुनहु मन लाई ॥१॥
जब जब राम मनुज-तनु धरहीं। भक्त - हेतु लीला बहु करहीं ॥२॥
तब तब अवधपुरी मैं जाऊँ। बाल-चरित बिलोकि हरषाऊँ ॥३॥

अर्थ—हे गरुड़ ! मैं श्रीरामजी की कृपा और अपनी मूर्खता कहता हूँ, मन लगाकर सुनिये ॥१॥ जब-जब श्रीरामचन्द्रजी मनुष्य देह धारण करते हैं और भक्तों के लिये एवं उनके स्नेह वश बहुत-सी लीलाएँ करते हैं ॥२॥ तब-तब मैं अवधपुरी जाता हूँ और बाल-चरित देखकर प्रसन्न होता हूँ ॥३॥

विशेष—(१) 'राम-कृपा आपनि जड़ताई।··' श्रीरामजी कृपा करके भक्त के लिये ही लालो

करते हैं। इससे 'राम कृपा' को प्रथम कहा; यथा—'भक्त हेतु लीला बहु करहीं।' आगे कहते ही हैं। पर उसमें उसको मोह हो जाता है, इसीसे अपनी जड़ता को भी साथ ही कहा।

'आपनि जड़ताई' कहते हैं इससे संभव है कि श्रीगरुड़जी मन लगाकर न सुने और विना मन लगाये, उसमें जो श्रीराम-कृपा की प्रधानता है, वह समझ में न आवेगी। मेरी जड़ता पराकाष्ठा की है, वैसे ही प्रभु कृपा भी पराकाष्ठा की है। जड़ता होने पर ही कृपा का अनुभव होता है; यथा—"जो अति आतप व्याकुल होई। तरु छाया सुख जानइ सोई॥ (दो॰ ६८)। जड़ता में मैंने कृपा को देखा है, इसीसे वह भी कहूँगा।

(२) 'जब जब राम मनुज तनु धरहीं।···' यथा—"जब जब अवध पुरी रघुवीरा। धरहिं भगत हित मनुज सरीरा॥" (दो॰ ११३); 'राम मनुज तनु धरहीं'—श्रीराम नामक परब्रह्म साकेताधीश स्वयं आकर नरतन से लीला करते हैं। 'मनुज तनु' में मनुवाले कल्प की ओर संकेत है। श्रीभुशुंडिजी और श्रीशिवजी का ध्यान उसी रूप का है; यथा—"जो सरूप बस सिव मन माहीं।···जो भुसुंडि मन मानस हंसा।···देखहिं हम सो रूप भरि लोचन।" (बा॰ दो॰ १४५)—यह मनु ने ही कहा है।

'भक्त हेतु'—अर्थात् जो लीला कहता हूँ, यह मेरे लिये की गई थी, पर अपनी जड़ता से मुझे उसमें मोह हो गया।

(३) 'हरषाऊँ'—का कारण आगे कहते हैं—

जन्म - महोत्सव देखउँ जाई। बरष पाँच तहँ रहउँ लुभाई॥४॥
इष्टदेव मम बालक रामा। सोभा बपुष कोटिसत कामा॥५॥
निज प्रभु - बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करउँ उरगारी॥६॥
लघु बायस-बपु धरि हरि-संगा। देखउँ बाल - चरित बहु रंगा॥७॥

अर्थ—जाकर मैं जन्म-महोत्सव देखता हूँ और लुब्ध होकर वहाँ पाँच वर्ष रहता हूँ॥४॥ बालक रूप श्रीरामजी मेरे इष्टदेव हैं, उनके तन में असंख्यों कामदेवों की शोभा है॥५॥ हे सर्पों के शत्रु श्री-गरुड़जी! अपने प्रभु का मुख देख-देखकर मैं अपने नेत्रों को सुफल करता हूँ॥६॥ छोटे कौए का शरीर धरकर भगवान् के साथ-साथ उनके बहुत प्रकार के बाल-चरित देखा करता हूँ॥७॥

विशेष—(१) 'जन्म-महोत्सव···'—जन्म से पहले ही वहाँ पहुँच जाता था, उस समय प्रभु के दर्शन नहीं होते थे; क्योंकि वे सूतिकागार में रहते थे, केवल जन्म महोत्सव के ही दर्शन होते थे। इस अवसर पर विप्र बालक रूप से श्रीशिवजी के साथ जाते थे—बा० दो० १९५ चौ० ४-५ देखिये। आगे यह भी कहा है कि 'लघु बायस बपु' धरकर वहाँ के बाल-चरित का आनन्द देखता हूँ। 'जाई'—अवतार के समय यहाँ से जाता हूँ, उससे पहले बराबर यहीं पर रहता हूँ।

'बरष पाँच तहँ रहउँ लुभाई।'—बाल्यावस्था पाँच वर्ष की मुख्य है, वही रूप मेरा इष्ट है, इससे उतने समय तो लुभाया हुआ रहता हूँ। दिन-रात जाते नहीं जान पड़ते; यथा—"बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले।" (बा॰ दो॰ १९५); शेष चरित में सामान्य भाव से आता जाता हूँ, यह भी गर्भित है, अन्यथा अन्यत्र के प्रसंगों से विरोध होगा; यथा—"सुनु खगेस तेहि अवसर, ब्रह्मा सिव मुनि बृंद। चढि

बिमान आये सब..." (दो॰ ११); "वैनतेय सुनु संभु तब, आये जहँ रघुबीर।" (दो॰ ११), इनमें 'आये' शब्द से कहनेवाले श्रीभुशुंडिजी का वहाँ रहना सिद्ध होता है, नहीं तो 'गये' कहते।

(२) 'इष्ट देव मम बालक रामा।..'—भाव यह कि मेरे गुरुजी ने मुझे इसी प्रकार के रूप की भावना बतलाई है, यथा—"हरषित राम मंत्र मोहि दीन्हा॥ बालक रूप राम कर ध्याना। कहेउ मोहि गुर कृपानिधाना॥" (दो॰ १११); जो जिस रूप के ध्यान में रत हो, वही उसका इष्ट है।

(३) 'निज प्रभु बदन...'—'सुफल' अर्थात् सुंदर फल युक्त, श्रीरामजी के दर्शन ही नेत्रों के सुंदर फल हैं। नेत्रों का फल रूप है, पर वह फल सुंदर नहीं है। भगवान् का रूप सुंदर फल है, यथा—"होइहहिं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन पंकज भव मोचन॥" (आ॰ दो॰ ९)-श्रीसुतीक्ष्णजी, तथा—"निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहउँ।" (आ॰ दो॰ २६)-मारीच, इत्यादि।

(४) 'लघु बायस बपु धरि...'—इससे जान पड़ता है कि इनका रूप बड़ा भारी है, पर ये छोटे कौए के रूप से दर्शन के लिये आते हैं। सत्योपाख्यान २६।२४-२६ में लिखा है कि इनका पर्वताकार शरीर है, भयानक भारी चोंच, महादीर्घ पक्ष, ताल वृक्ष के समान महा दीर्घ पैर और उनमें बड़े-बड़े अंकुश के समान नख हैं। 'हरि संगा'—जब शिशु रामजी आँगन में लाये जाने लगते हैं तथा घुटनों और हाथों के बल चलने लगते हैं तब मैं छोटे काक रूप से साथ-साथ रहता हूँ।

यहाँ बाल-चरित देखने में लघुबायस रूप से आना कहा है। इसके पहले श्रीशिवजी के साथ मनुष्य रूप से आया करते हैं। ऊपर लिखा भी गया, तथा—"अवध आजु आगमी एक आयो।..." (गी॰ बा॰ १४); में भी कहा गया है। 'बाल चरित बहु रंगा'—'बहु रंग' कहकर बहुत प्रकार के अनेक रसों के चरित्र जना दिये। रंग अर्थात् रस; जैसे कि रणरंग अर्थात् वीररस; यथा—"देखत राम चरित रन रंगा॥ सुभट समर रस दुहुँ दिसि माते।" (लं॰ दो॰ ७१), पुनः—"मुनिजन धन सर्वस सिव प्राना। बाल केलि रस तेहि सुख माना॥" (बा॰ दो॰ १९७), तथा—"बाल चरित चहुँ बंधु के, बनज बिपुल बहुरंग।" (बा॰ दो॰ ४०) भी देखिये। आगे कहा है—"भोजन करहिं बिबिध बिधि क्रीड़ा।", "नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी॥" (दो॰ ७६)—ये ही अनेक रंग हैं।

दोहा—लरिकाईं जहँ जहँ फिरहिं, तहँ तहँ संग उड़ाउँ।
जूठनि परइ अजिर महँ, सो उठाइ करि खाउँ॥
एक बार अतिसय सब, चरित किये रघुबीर।
सुमिरत प्रभु लीला सोइ, पुलकित भयउ सरीर॥७५॥

अर्थ—बालकपन में जहाँ जहाँ फिरते हैं, वहाँ वहाँ मैं साथ-साथ उड़ता हूँ और आँगन में जो जूठन पड़ती है वही उठाकर खाता हूँ॥ एकबार श्रीरघुबीर ने अत्यन्त अधिकाई से सब चरित किये (अर्थात् अन्य बालक वैसा चरित कर ही नहीं सकते,)। प्रभु की वह लीला स्मरण करते ही श्रीभुशुंडिजी का शरीर (प्रेम से) पुलकित हो आया॥७५॥

विशेष—(१) 'लरिकाईं जहँ जहँ..'—पूप आदि पकान्न हाथ में लिये हुए आँगन में फिरते और खाते जाते हैं, उनकी जूठन जहाँ-तहाँ गिरती है, वही मैं खाता हूँ। यहाँ तक नित्य का एक तरह का चरित्र

कहा। आगे—'एकबार अतिसय...' से वह चरित्र कहते हैं, जो एक ही बार हुआ। 'अतिसय' अर्थात् बहुत अद्भुत। 'रघुबीर'—से दयावीरता जनाई कि मुझपर बड़ी दया थी; यथा—"भक्त हेतु लीला बहु करहीं।" पूर्व कहा गया। 'सुमिरत प्रभु-लीला ..'—स्मरण करते ही वह मनोहर बाल रूप सम्मुख आ गया है, जिससे उनकी आँखें बंद हो गई, रोमांच हो आया, उनकी वाणी रुक गई, तब शिवजी उनकी यह दशा कहने लगे। सावधान होने पर फिर भुशुंडिजी कहने लगे, इसी से आगे—'कहइ भुसुंडि' कहा है।

कहइ भुसुंडि सुनहु खगनायक। राम - चरित सेवक सुखदायक ॥१॥
नृप - मंदिर सुंदर सब भाँती। खचित कनकमनि नाना जाती ॥२॥
बरनि न जाइ रुचिर अँगनाई। जहँ खेलहिं नित चारिउ भाई ॥३॥

शब्दार्थ—खचित = खींचा हुआ, जटित, जड़ा हुआ।

अर्थ—श्रीभुशुंडिजी कहते हैं कि हे पक्षिराज! सुनिये, श्रीरामजी का चरित सेवकों को सुख देनेवाला है ॥१॥ राजा का महल सब प्रकार सुंदर है, वह अनेक प्रकार की मणियों से जड़े हुए सोने का है ॥२॥ कान्तिमान् सुंदर आँगन का वर्णन नहीं किया जा सकता कि जहाँ चारो भाई नित्य खेलते हैं ॥३॥

विशेष—(१) 'कहइ भुसुंडि···'—सावधान होने पर जहाँ से छोड़ा था, वहीं से प्रसंग कहते हैं—'सब चरित किये रघुबीर' पर छोड़ा था, फिर—'राम-चरित सेवक···' से उठाया। सेवक उस चरित के रस को जानते हैं, इससे उन्हें उसका यथार्थ सुख मिलता है, अन्यत्र भी कहा है; यथा—"सेवक सालि-पाल जलधर से।"; "राम-चरित राकेस कर, सरिस सुखद सब काहु। सज्जन कुमुद चकोर चित्त, हित बिसेषि बड़ लाहु॥" (बा॰ दो॰ ३१–३२); "बालचरित हरि बहु बिधि कीन्हा। अति अनंद दासन्ह कहँ दीन्हा॥" (बा॰ दो॰ २०३); भाव यह कि मुझे उससे बड़ा सुख मिला।

(२) 'बरनि न जाइ रुचिर अँगनाई।···'—अँगनाई रुचिर है फिर वह चारों भाइयों की क्रीड़ा-स्थली है इनके सम्बन्ध से उसकी रुचिरता अत्यन्त हो गई है; यथा—"*मनि-खंभन्हि प्रतिबिंब झलक, छबि-छलकि है भरि अँगनैया।*" (गी॰ बा॰ ६); इस अत्यन्त विचित्रता के कारण वह नहीं कही जा सकती। उसमें नित्य नवीन रुचिरता प्रकट होती है। जहाँ एक बार श्रीरामजी के चरणों का स्पर्श होता है, वहीं की शोभा नहीं कही जा सकती, यथा—"परसि चरन रज अचर सुखारी। भये परमपद के अधिकारी॥··· महिमा कहिय कवनि बिधि तासू। सुख सागर जहँ कीन्ह निवासू॥ पय पयोधि तजि···कहि न सकहिं सुखमा जसि कानन। जौं सत सहस होहिं सहसानन॥" (अ॰ दो॰ १३८); और यहाँ तो चारो भाई नित्य खेलते हैं।

बाल - बिनोद करत रघुराई। बिचरत अजिर जननि-सुखदाई ॥४॥
मरकत मृदुल कलेवर स्यामा। अंग अंग प्रति छबि बहु कामा ॥५॥

अर्थ—माता को सुख देनेवाले श्रीरघुनाथजी बाल-क्रीड़ा करते हुए आँगन में विचरते हैं ॥४॥ मरकत मणि के समान स्याम-शरीर कोमल है, अंग-अंग में अनेक कामदेवों की छबि है ॥५॥

विशेष—(१) 'जननि-सुखदाई'—माताओं को बड़ी लालसा थी कि ये कब बड़े हों और घुटनों एवं पैरों से ठुमुक-ठुमुक कर चलें ; यथा—"है हो लाल कबहिं बड़े बलि मैया।...", "चलनि कब चलिही प्यारी मैया।..." (गी॰ बा॰ ८-९) ;—इन पूरे पदों को पढ़िये। उसकी पूर्ति पर माताओं को सुख हो रहा है। 'जननि' से सब माताओं का अर्थ है ; यथा—"छगन-मगन अँगना खेलत चारु चारी भाई। सानुज भरत लाल लषन राम लोने-लोने लरिका लखि मुदित मातु समुदाई॥" (गी॰ बा॰ २०) ; 'बिचरत'—आनंद-पूर्वक चलते-फिरते (क्रीड़ा करते) हैं। अभी बाहर नहीं निकलते, इससे माताओं के समक्ष रहते हैं। अतः, उन्हींके सुख की प्रधानता है।

(२) 'मरकत मृदुल कलेवर स्यामा।...'—अब मणि के फर्श पर खेलने लगे, उसके साहचर्य से मरकत की उपमा भी सुन्दर है। इससे पहले गोद और हिंडोल के समय शरीर अत्यन्त कोमल था, इससे भी कठोर मरकत की उपमा वहाँ नहीं दी गई। कमल और मेघ ही की उपमा दी गई है; यथा—"काम-कोटि छबि स्याम सरीरा। नील कंज बारिद गंभीरा॥" (बा॰ दो॰ १६७) ; अब कुछ पुष्ट हुए और आँगन में खेलने लगे तब यह उपमा दी गई, यह सँभाल है।

'अंग-अंग प्रति छबि बहु कामा।'—कामदेव अत्यन्त सुन्दर है, इससे असंख्यों को एकत्र करके उपमा में रखना चाहा, पर वे सब एक-एक अंग के समान भी नहीं हुए ; यथा—"नील कंज जलद पुंज मरकत मनि सरिस स्याम, काम-कोटि सोभा अंग-अंग उपरवारी॥" (गी॰ बा॰ १२) ; "अंग अंग पर वारियहि कोटि-कोटि सत काम।" (बा॰ दो॰ २१०)।

नव राजीव अरुन मृदु चरना। पदज रुचिर नख ससि-दुति-हरना॥६॥
ललित अंक कुलिसादिक चारी। नूपुर चारु मधुर रवकारी॥७॥
चारु पुरट मनि-रचित बनाई। कटि किंकिनि कल मुखर सोहाई॥८॥

दोहा—रेखा त्रय सुंदर उदर, नाभी रुचिर गँभीर।
उर आयत भ्राजत बिबिध, बाल-बिभूषन चीर॥७६॥

अर्थ—नवीन (प्रफुल्ल) लाल-कमल के समान कोमल लाल चरण हैं, अँगुलियाँ सुन्दर हैं, नखों की चमक चन्द्रमा की कान्ति को हरनेवाली है॥६॥ (चरण तलवों में) वज्र आदि चार अंक (चिह्न) हैं, सुन्दर नूपुर सुन्दर मधुर शब्द करनेवाले हैं॥७॥ मणियों से जड़ी हुई उत्तम सोने की बनाई हुई सुन्दर किङ्किणी का सुन्दर शब्द शोभायमान लग रहा है, वा, सुन्दर शब्दवाली सुन्दर किंकिणी कमर में शोभा दे रही है॥८॥ पेट में सुन्दर तीन रेखाएँ (त्रिवली) हैं, नाभी सुन्दर और गहरी है, विशाल वक्षःस्थल पर अनेक प्रकार के बालकों के भूषण और वस्त्र शोभा दे रहे हैं॥७६॥

विशेष—(१) 'नव राजीव'—चरण अन्यत्र प्रायः राजीव के समान ही कहे गये हैं, यहाँ नवीन-अवस्था के सम्बन्ध से 'नव' विशेषण और भी दिया गया है। 'अरुन मृदु'—चरण तो सदा ही मृदु कहे गये हैं ; यथा—"जानकीकरसरोजलालितौ।" (म॰ श्लोक १), पर यहाँ अभी चरणों के बल पर चल नहीं पाते, गिर-गिर पड़ते हैं ; यथा—"परसपर खेलनि अजिर उठि चलनि गिरि-गिरि-परनि।" (गी॰ बा॰ २५) ; इससे विशेषकर मृदु कहे गये हैं।

(२) 'ललित अंक कुलिसादिक चारी।···'—चरणों में चिह्न तो २४-२४ हैं, पर उनमें ध्वजा, वज्र, अंकुश और कमल, ये चार विशेष प्रकाशित सुन्दर और भक्तों के हितकारी हैं, इससे इन्हें 'ललित' कहा है ; यथा—"अरुन-चरन अंकुस धुज कंज कुलिस चिह्न रुचिर भ्राजत अति।" (गी० बा० २२)।

'नूपुर चारु ···'—नूपुर का रुनझुन शब्द मोहक है ; यथा—"नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहइ।" (बा० दो० ११८)। "रुचिर नूपुर किंकिनी मन हरति रुनझुनु करनि।" (गी० बा० २४)। 'मुखर' अर्थात् शब्द, यथा—"नूपुर मुखर मधुर कवि बरनी।" (अ० दो० ५७)।

(३) 'नाभी रुचिर गँभीर'; यथा—"नाभि गँभीर जान जिहि देखा।" (बा० दो० १९८)—देखिये। 'रुचिर' अर्थात् सुंदर आवर्तयुक्त है ; यथा—"नाभि मनोहर लेति जनु जमुन भँवर छवि छीनि।" (बा० दो० १४७)।

अरुन पानि नख करज मनोहर। बाहु बिसाल बिभूषन सुंदर ॥१॥
कंध बाल-केहरि दर ग्रीवा। चारु चिबुक आनन छबि सींवा ॥२॥
कलबल बचन अधर अरुनारे। दुइ दुइ दसन बिसद बर बारे ॥३॥
ललित कपोल मनोहर नासा। सकल सुखद ससिकर सम हासा ॥४॥

शब्दार्थ—कलबल = अस्पष्ट, गिलबिल, जो शब्द पृथक्-पृथक् न जान पड़ें। तोतले वचन वे हैं जो रुक-रुककर टूटे-फूटे शब्दों में उच्चारण किये जाते हैं, दोनों में थोड़ा ही अंतर है, यथा—"कल बल वचन तोतले मंजुल कहि 'मा' मोहि बुलैहौं॥" (गी० बा० ८); "बाल बोल बिनु अरथ के सुनि देत पदारथ चारि।" (गी० बा० ११)।

अर्थ—लाल हाथ (की हथेली), नख और हाथ की अँगुलियाँ मन को हरण करनेवाली हैं। भुजाएँ लंबी हैं और उनमे सुन्दर भूषण हैं ॥१॥ कंधे बाल (अवस्था के) सिंह के समान हैं, गर्दन शंख के समान (सुडौल और त्रिरेखा युक्त) है, सुन्दर ठोढ़ी और मुख छवि की सीमा है ॥२॥ गिल बिल वचन है, ओष्ठ लाल हैं, उज्ज्वल, श्रेष्ठ और छोटे-छोटे दो-दो दाँत (ऊपर नीचे के) हैं ॥३॥ गाल सुन्दर और नासिका मन को हरनेवाली है, समस्त सुखों एवं सबको सुख देनेवाली चन्द्रमा की किरण के समान हँसी (मुसक्यान) है ॥४॥

विशेष—(१) 'नख करज'—ऊपर 'पदज नख' कहा गया था, यहाँ करज भी कहा गया। बा० दो० १९८ मे जो ध्यान कहा गया है, वहाँ 'करज नख' का वर्णन नहीं है। वहाँ माता की गोद का ध्यान है और यहाँ भुशुण्डिजी के साथ क्रीडा का। इसी से यहाँ बकैयाँ चलने मे हाथ का काम पड़ रहा है। भुशुण्डिजी को पूप दिखाते हैं। हाथों से ही उन्हें पकडने दौडते हैं और इनके शिर पर भी इन्हीं कर-कमलों का स्पर्श हुआ है, इससे ये इन्हें कब भूल सकते हैं। 'बाहु बिसाल' कहकर आजानुबाहु सूचित किया। इन भुजाओं की विशालता भी भुशुंडिजी को खूब मालूम है ; यथा—"राम गहन कहँ भुजा पसारी॥ ······ब्रह्मलोक लगि गयउँ मैं · 'सप्तावरन भेद करि ·····" (दो० ७९)। इससे विशाल कहा है। 'बिभूषन सुंदर'—यहाँ पर 'विभूषण' मे 'वि' उपसर्ग को पृथक् करके उसका विशेष एवं बहुत अर्थ लेना चाहिये, क्योंकि अन्यत्र बाहुओं मे बहुत भूषण कहे गये हैं ; यथा—"भुज बिसाल भूषन जुत भूरी।" (बा० दो० ११८) ; हाथ के भूषण अगद, पहुँची, कड़ा, कंकण आदि हैं।

(२) 'कंध बाल केहरि''''''—अभी बाल अवस्था है, इसलिये सिंह के बच्चे की उपमा दी गई है, इस उपमा से कंधों को सुगढ़, पुष्ट और उन्नत (उठे हुए) जनाया है; यथा—"सुगढ़ पुष्ट उन्नत कृकाटिका कंबु कंठ सोभा मनं मानति ॥" (गी० ४० १०)। बड़े होने पर सिंह की उपमा दी गई है ; यथा "केहरि कंधर बाहु बिसाला।" (बा० दो० ११८) ; "सिंह कंध आयत उर सोहा।" (सुं० दो० ४४)।

'दर ग्रीवा' ; यथा—"रेखें रुचिर कंबु कल ग्रीवा। जनु त्रिभुवन सुखमा की सींवा ॥" (बा० दो० २४२)—देखिये।

(३) 'दुइ दुइ दसन बिसद वर बारे।' ; यथा—"मनहुँ अरुन कंज कोस मंजुल जुग पाँति प्रसव, कुंद कली जुगल जुगल परम सुभ्रवारी ॥" (गी० बा० २४) ; बारे अर्थात् छोटे ; यथा—"भ्रूपर अनूप मसि बिंदु बारे बारे बार बिलसत सीस पर हेरि हरे हियो है ॥" (गी० बा० १०)।

(४) 'ललित कपोल' ; यथा—"सुंदर श्रवन सुचारु कपोला।" कपोल की दर्पण से उपमा दी जाती है, पर यहाँ उसे ठीक न मानकर ललित कहकर ही छोड़ दिया।

'सकल सुखद ससिकर सम हासा।'—चन्द्र किरण शीतल, ताप हारक और सुखद होता है, अमृत श्रवता है, पर वह सबको सुखद एवं सब प्रकार के सुख नहीं देता, परन्तु यह 'सकल सुखद' है।

प्रभु की हँसी कृपा का द्योतक है; यथा—"हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा ॥" (बा० दो० १४०) ; यहाँ तो भुशुंडिजी के इस चरित में हास ही का सब खेल है, आदि अंत मध्य में हास से ही सब किया गया है, जिससे इन्हें सब सुख मिला है।

आदि में—"बिहँसे सो सुनु चरित बिसेषा।" (दो० ७८) ; मध्य में—"बिहँसत तुरत गयउँ मुख माहीं।" (दो० ७९) ; और अंत में—"बिहँसत ही मुख बाहेर आयउँ ।" (दो० ८२) ; इसी लीला में इन्हें आगे ज्ञान, विवेक, विरति, विज्ञान और अविरल भक्ति आदि प्राप्त होंगे, इसीसे 'सकल सुखद' कहा है, हँसी से ही ये सब सुख मिले हैं।

नीलकंज लोचन भव - मोचन। भ्राजत भाल तिलक गोरोचन ॥५॥
विकट भृकुटि सम श्रवन सुहाये। कुंचित कच मेचक छवि छाये ॥६॥
पीत झीनि झगुली तन सोही। किलकनि चितवनि भावति मोही ॥७॥

शब्दार्थ—गोरोचन = पीले रंग का एक द्रव्य जो सुगंधित होता है और गौ के हृदय के पास पित्त में से निकलता है, यह मांगलीक, कान्तिदायक और वशीकरण माना जाता है। कुंचित = टेढ़े और बल खाये हुए, छल्लेदार।

अर्थ—नील कमल के समान नेत्र हैं, वे भव बंधन छुड़ानेवाले हैं। ललाट पर गोरोचन का तिलक शोभित है ॥५॥ टेढ़ी भौंहें हैं, कान सम और सुन्दर हैं, घुघुराले काले बालों की छवि छा रही है ॥६॥ पीली महीन अँगरखी शरीर पर सोह रही है, किलकारी और चितवन मुझे भाती है (भाव किलकारी भर कर मेरी ओर देखते हैं, वह मुझे अत्यन्त प्रिय लगता है) ॥७॥

विशेष—(१) 'नील कंज लोचन'''—प्रायः नेत्रों की उपमा लाल कमल (राजीव) से दी जाती है, किन्तु यहाँ पर माता ने नेत्रों में काजल लगाया है, इसीसे वे नीले देख पड़ते हैं, गीतावली में यह उपमा कई जगह आई है ; यथा—"लोचन नील सरोज से, भ्रू पर मसि बिंदु बिराज।" (बा० ११);

"नील नलिन दोउ नयन सुहाये।" (बा॰ २०) ; तथा—"तुलसी मन रंजन रंजित अंजन नयन सु खंजन-जातक से। सजनी ससि मे समसील उभै नव नील सरोरुह से बिकसे॥" (क॰ बा॰ १)। 'भव मोचन'; यथा—"नील जलज-लोचन हरि मोचन भय भारी॥" (गी॰ बा॰ २२) "राजीव बिलोचन भव-भय मोचन।" (बा॰ दो॰ २१०)। कमल की उपमा से नेत्रों में करुणा रस की पूर्णता भी लक्षित की गई है; यथा—"भ्रू सुन्दर करुना रस पूरन लोचन मनहुँ जुगल जल जाये।" (गी॰ बा॰ ११), अतः, करुणादृष्टि से आश्रितों के भव-भय को नाश करते हैं।

'भ्राजत भाल तिलक गोरोचन।'—श्याम ललाट पर पीला कांति-युक्त तिलक मेघ में बिजली एवं सूर्य किरण की-सी शोभा देता है; यथा—"रंजित अंजन कंज बिलोचन। भ्राजत भाल तिलक गो-रोचन॥" (गीता बा॰ २१); "चिर रुचि तिलक गोरोचन को कियो है।" (गी॰ बा॰ १०)। इसमे 'चिर रुचि' का अर्थ बहुत काल कान्ति युक्त रहने का है।

(२) 'बिकट भृकुटि सम स्रवन सुहाये।'—भौंहों की टेढ़ाई ही उनकी शोभा है; यथा—"मुकुर निरखि मुख राम भ्रू, गनत गुनहिं दै दोप। तुलसी से सठ सेवकन्हि, लखि जनि परइ सरोप॥" (दोहावली १८७), इसलिये इसकी शोभा वर्णन मे टेढ़ाई ही कही जाती है। 'सम' अर्थात् भौं और कान दोनों के जोड़े समान (बराबर) हैं, यह दीपदेहली है। भौंहे कान पर्यन्त हैं, इसीसे भौं के साथ ही कान को भी कहा है।

(३) 'पीत झीनि झगुली···'—श्याम शरीर की छटा झीनी झगुली से देख पड़ती है, मानों मेघ पर स्थिर होकर बिजली छाई हो, यह अद्भुत छटा है; यथा—"उपमा एक अभूत भई तब जब जननी पट पीत ओढ़ाये। नील जलद पर उडुगन निरखत तजि सुभाव मनु तड़ित छपाये॥" (गी॰ बा॰ २३)।

'किलकनि चितवनि भावति मोहीं।'—भाव यह कि मुझे पकड़ने के लिये बार-बार किलकारी भरते और बार-बार मेरी ओर देखते थे, इन दो बातों से मुझे बहुत सुख मिला है, इससे ये भावती हैं; यथा—"किलकत मोहि धरन जब धावहिं। चलउँ भाजि तब पूप देखावहिं॥···जाउँ समीप गहन पद, फिरि फिरि चितइ पराहिं॥" यह आगे कहते हैं।

'भावति मोहीं'; यथा—"झुकनि झाँकनि, छाँह सों किलकनि, नटनि हठि लरनि। तोतरी बोलनि बिलोकनि मोहनी मन हरनि॥" (गी॰ बा॰ २५); अर्थात् इनसे मन ही मोह जाता है। अतः, कहते नहीं बनतीं, केवल मन को भाती हैं।

रूप-रासि नृप - अजिर - बिहारी। नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी॥८॥
मोसन करहिं बिबिधि बिधि क्रीड़ा। बरनत मोहि होति अति ब्रीड़ा॥९॥
किलकत मोहि धरन जब धावहिं। चलउँ भागि तब पूप देखावहिं॥१०॥

अर्थ—राजा श्रीदशरथजी के आँगन में विचरण रूप क्रीड़ा (एवं सभी बालक्रीड़ा) करनेवाले रूप की राशि श्रीरामजी अपनी परछांई देखकर नाचते हैं॥८॥ मुझसे भाँति-भाँति की अनेक बाल-क्रीड़ा करते हैं जिनका वर्णन करते मुझे अत्यन्त लज्जा लगती है॥९॥ जब किलकारी मारते हुए मुझे पकड़ने

दौड़ते और मैं (पक्षी स्वभाव से) भाग चलता तब मुझे मालपुआ दिखाते (पूप का लोभ दिखाते हैं कि ले) ॥१०॥

विशेष—(१) 'रूप रासि'; यथा—"अनुपम बालक देखिन्ह जाई। रूप रासि गुन कहि न सिराई॥" (बा॰ दो॰ ११२); रूप रासि बिरची बिरंचि मनो, सिला लवनि रति-काम लही री।" (गी॰ बा॰ १०४), "अंग-अंग पर मार निकर मिलि छबि समूह ले ले जनु छाये।" (गी॰ बा॰ २३)।

आप रूप के खजाना हैं, इनकी सौन्दर्य-राशि के छिटके हुए दानों से यह सारी शोभा है, जो संसार में दिखती है। 'नृप अजिर बिहारी'; यथा—"मंगल भवन अमंगल हारी। द्रवउ-सो दसरथ अजिर-बिहारी॥" (बा॰ दो॰ १११); 'बिचरत अजिर जननि सुखदाई।' उपक्रम है और यहाँ नृप अजिर बिहारी' उपसंहार है।

(२) 'नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी।'; यथा—"कबहूँ करताल बजाइ कै नाचत।" (क॰ बा॰ ४) आँगन और उसके खंभे मणिमय हैं, उनमें खड़े होने पर प्रतिबिंब में अपना सा दूसरा बालक देख पड़ता है। उसे देखकर नाचने लगते हैं और फिर प्रतिबिंब को भी वैसा ही नाचते देखकर और भी नाचते हैं। प्रतिबिंब की लीला सत्योपाख्यान अ० २५० में बहुत कही गई है। तथा—"लसत कर प्रतिबिंब मनि आँगन घुटुरुवनि चरनि।" (गी॰ बा॰ २४), "गहि मनि-खंभ डिंभ डगि डोलत।···किलकत झुकि झाँकत प्रतिबिंबनि। देत परम सुख पितु अरु अंबनि॥" (गी॰ बा॰ २८)। "एक टक प्रतिबिंब निरखि पुलकत हरि हरषि हरषि···" (गी॰ बा॰ १२)।

(३) 'बरनत चरित होति मोहि ब्रीड़ा।'—लज्जा का कारण यह कि सच्चिदानंद विग्रह प्रभु में प्राकृत बालक के-से चरित कहने में लज्जा लगती है कि लोग इसे अयोग्य कहेंगे। जैसे कि आगे स्वयं कहते हैं यथा—"कवन चरित्र करत प्रभु, चिदानंद संदोह।" यही समझकर सकुच लगती है। यह भी भाव है कि प्रभु तो मुझे पकड़ने को दौड़ते और मैं मूर्ख उनसे भागता था, यह लज्जा की बात है कि जिसकी समीपता के लिये लोग प्रयत्न करते हैं, मैं मूर्ख उनके स्वयं प्राप्त होते हुए भी उनसे दूर भागता था; यथा—"किलकत मोहि धरन जब धावहिं। चलउँ भागि तब पूप दिखावहिं॥" यह आगे कहा ही है। तथा—"राज मराल बिराजत बिहरत जे हर हृदय तड़ाग। ते नृप अजिर जानु कर धावत धरन चटक चल काग॥" (गी॰ बा॰ २३)।

श्रीशिवजी ने भी कहा है—"जब रघुनाथ कीन्ह रन क्रीड़ा। समुझत चरित होति मोहि ब्रीड़ा॥" (दो॰,५७), पर यहाँ 'बरनत' और वहाँ 'समुझत' का भेद है। भेद का आशय यह है कि वहाँ श्रीशिवजी ने चरित का आवश्यक अंग मानकर कहा है, न कहते तो चरित अधूरा ही रह जाता। परन्तु उन्हें समझकर लज्जा लगती थी कि कहाँ प्रभु सच्चिदानंद हैं, यथा—"भृकुटि भंग जो कालहि खाई।" (दो॰ ६४), और कहाँ तुच्छ राक्षस के हाथ उनका बँधना, बड़ी लज्जा की बात है और यहाँ परम अधिकारी श्रोता श्रीगरुड़जी के सामने इन्हें कहना पड़ता है।

श्रीशिवजी के प्रसंग में 'ब्रीड़ा' है और यहाँ 'अति ब्रीड़ा' है। क्योंकि वहाँ एक ही चरित वैसा था। पर यहाँ तो सब बाल-चरित 'अतिशय' के हैं और यहाँ स्वयं वक्ता के साथ की क्रीड़ा हुई और वहाँ दूसरे के साथ की क्रीड़ा है, श्रीशिवजी को कहना भर है।

दोहा—आवत निकट हँसहिं प्रभु, भाजत रुदन कराहिं।
जाउँ समीप गहन पद, फिरि फिरि चितइ पराहिं॥

प्राकृत सिसु इव लीला, देखि भजउ मोहि मोह ।
कवन चरित्र करत प्रभु, चिदानंद संदोह ॥७७॥

अर्थ—समीप आने पर प्रभु हँसते हैं, भागने पर रोते हैं और जब (रोने पर उनके) चरण पकड़ने के लिये पास जाता हूँ, तब वे (मेरी ओर) फिर-फिरकर देखते हुए भागते हैं (भय से भागते हैं और घूम-घूमकर देखते हैं कि मैं आता हूँ कि नहीं), ऐसे साधारण बच्चों के समान चरित देखकर मुझे मोह हुआ कि चित-आनन्द पूर्ण प्रभु यह कौन चरित करते हैं ? ॥७७॥

विशेष—(१) 'आवत निकट हँसहिं प्रभु···'—मुझे अपना खेलौना समझते थे, इसीसे भाग जाने से रोते थे। रोकर माता आदि को जनाते थे कि इसे वे ला दें, हम इसके साथ खेलेंगे और न मिलने से रोते थे। पूप दिखाने पर यदि समीप आ गया तो प्रसन्न होकर हँसने लगते और यदि भागता था तो दूसरा उपाय रोने का करते थे। 'चितय पराहिं'—डरकर भागते थे कि चोंच से कहीं काट न खाय, फिर-फिरकर देखते हैं, इससे भी कि उदास होकर चला न जाय।

(२) 'प्राकृत सिसु इव लीला···'—इनका चरित प्राकृत बालक के समान देखा कि पकड़ने दौड़ते हैं, भागने पर पूप दिखाते हैं, पास आने पर हँसते और भागने पर रोते हैं। चरण-स्पर्श के लिये पास जाने पर डरकर भागते हैं, इत्यादि देखकर मोह हो गया कि वे प्रभु तो सच्चिदानन्द घन हैं, उनका तो ऐसा चरित नहीं होना चाहिये। क्या कहीं प्राकृत बालक में मेरी ईश्वर बुद्धि तो नहीं हो गई ?

ऐसे ही संदेह श्रीगरुड़जी को भी हुआ; यथा—"चिदानंद संदोह, राम बिकल कारन कवन।" (दो० ५८); वैसा ही यहाँ भुशुण्डिजी का भी संदेह है; यथा—"कवन चरित्र करत प्रभु, चिदानंद संदोह।" इससे यह भी जान पड़ता है कि भुशुण्डिजी को प्रभु के चरित के ज्ञान का कुछ अभिमान हो गया था, जिससे इन्होंने इस माधुर्य को उनके अयोग्य जाना और तर्क किया।

"हरिमाया जिमि मोहि (भुशुंडि को) नचावा"—प्रकरण

एतना मन आनत खगराया। रघुपति प्रेरित ब्यापी माया ॥१॥
सो माया न दुखद मोहि काहीं। आन जीव इव संसृत नाहीं ॥२॥
नाथ इहाँ कछु कारन आना। सुनहु सो सावधान हरिजाना ॥३॥

अर्थ—हे पक्षिराज श्रीगरुड़जी ! इतना (संदेह) मन में लाते ही श्रीरघुनाथजी की प्रेरणा से मुझे माया व्याप्त हो गई ॥१॥ (परन्तु) वह माया मुझे दुःखदायिनी नहीं हुई और न अन्य जीवों के समान मुझे संसार में डालनेवाली ही हुई ॥२॥ हे नाथ ! यहाँ कुछ और ही कारण है, हे हरि वाहन श्रीगरुड़जी ! उसे सावधान होकर सुनो ॥३॥

विशेष—(१) 'रघुपति प्रेरित...'—भगवान् के अनन्य भक्तों पर दूसरे की माया नहीं लगती, यथा—"बिधि हरि हर माया बड़ि भारी। सोउ न भरत मति सकइ निहारी॥" (अ० दो० २९५);

वे अपने भक्तों के अभिमान छुड़ाने एवं अपना विशेष ऐश्वर्य का ज्ञान कराने के लिये अपनी ही माया नियुक्त करते हैं।

(२) 'सो माया न दुखद मोहि काहीं।'—भाव यह कि ऐसे प्रसंगों पर भी औरों को दुःखद हुई है, जैसे कि श्रीनारदजी को श्रीपति की माया दुःखद हुई थी; यथा—"श्रीपति निज माया तब प्रेरी। सुनहु कठिन करनी तेहि केरी॥" (बा० दो० १२८); मारकण्डेय मुनि को भी इससे दुःख हुआ था—अ० दो० २८५ चौ० ६–७ देखिये। पर मुझे प्रभु-कृपा से माया दुःखद नहीं हुई। इसका कुछ और ही कारण है उसे भुशुंडिजी, आगे स्वयं कहेंगे।

'आन जीव इव संसृत नाहीं।'—संसृत दुःख; यथा—"तव विषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे। भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्मगुननि भरे।" (दो० ११); भगवदाश्रितों को यह माया-दुःख नहीं होता, यह भी आगे स्वयं भुशुंडिजी ही कहेंगे।

(३) 'सुनहु सो सावधान...'—बार-बार 'सुनहु' कहकर सचेत करते हैं। 'हरिजाना' कहकर अधिकारी सूचित किया।

ज्ञान अखंड एक सीतावर। मायावश्य जीव सचराचर॥४॥
जौं सबके रह ज्ञान एकरस। ईश्वर-जीवहिं भेद कहहु कस॥५॥

अर्थ—केवल एक श्रीसीतापति श्रीरामजी ही अखंड ज्ञान स्वरूप हैं और जड़ चेतन सहित जितने भी जीव हैं, वे सब माया के वश हैं॥४॥ यदि सब जीवों का एक-सा अखंड ज्ञान रहे तो कहिये ईश्वर और जीव में भेद कैसा॥५॥

विशेष—(१) 'ज्ञान अखंड' के जोड़ में 'ज्ञान एक रस' कहकर दोनों का एक अर्थ जनाया। यह भी सूचित किया कि ईश्वर का सदा एक रस ज्ञान रहता है और जीव का ज्ञान किसी संयोग से खंडित भी हो जाता है। ऐसा कहने का कारण यह कि जो श्रीभुशुंडिजी ने कहा—"रघुपति प्रेरित व्यापी माया।" उसपर श्रीगरुड़जी को संदेह हो सकता है कि आप ऐसे चुने-चुने भक्तों को भी क्या माया व्यापती है? उसका समाधान स्वयं श्रीभुशुंडिजी करते हैं कि अखंड-ज्ञान तो एक सीतावर का ही है और चराचर जीव सभी मायावश हैं; यथा—"जीव चराचर बस कै राखे। सो माया प्रभु सों भय भाखे॥" (बा० दो० १९९); 'माया वश्य जीव'; यथा—"ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥ सो माया बस भयो गोसाईं। बँध्यो कीर मर्कट की नाईं॥" (उ० दो० ११६); तथा—"माया ईस न आपु कहँ ·" (आ० दो० १५)। में भी जीव को अल्पज्ञ और ब्रह्म को सर्वज्ञ कहा गया, वहाँ भी देखिये। जीव-ईश्वर के इस भेद का कारण आगे कहते हैं—

(२) 'जौं सब के रह ज्ञान···'—अर्थात् ईश्वर सच्चिदानंद रूप है और जीव भी, यही अखंड और सखंड ज्ञान को ही तो भेद है। यदि जीव का भी सतत एक रस ज्ञान का स्वभाव होता, तो दोनों की दो संज्ञाएँ क्यों होतीं? जीव का ज्ञान ईश्वर की सम्मुखता से एक रस रहता है, उसमें त्रुटि होने पर वह माया वश हो जाता है और उसका ज्ञान खंडित हो जाता है। ऊपर 'ईश्वर अंस जीव···' लिखा गया, उसका अर्थ यह है कि जीव सच्चिदानंद स्वरूप है और यह ईश्वर का अंश है। जिसका अंश जो पदार्थ होता है, वह उसके लिये होता है। अंश का अर्थ भाग, हिस्सा होता है, जो वस्तु जिसके भाग की होती है, वह उसीके

उपभोग के लिये होती है। वैसे ही अंश रूप जीव ईश्वर के लिये हैं, उसका भोग्य है। जैसे हमारे छाता, जूता आदि हमारे उपभोग के लिये हैं। वैसे सब जीव ईश्वर के भोग्य अर्थात् शेष हैं। इन्हें अपना शेषत्व सँभाले रहना चाहता था। परन्तु भूल गये, इसीसे माया वश हुए, यह भी उसी 'ईश्वर अंस···' के साथ ही कहा गया है।

जैसे कि श्रीलक्ष्मणजी शेषत्व सँभाले रहे तब शूर्पणखा के नाक-कान काटने की बाधा रूप खरादि का युद्ध श्रीरामजी ने ही ले लिया और लंका में मेघनाद के युद्ध में, इन्हें उसपर क्रोध था, इससे अज्ञान से श्रीरामजी के शिर नहीं नवाकर यों ही चले गये, यही स्वतंत्रता रूपा स्वभाव बाधा हुई। जिससे मूर्च्छित हुए, यही मोह है। पर श्रीरामजी ने करुणा करके फिर रक्षा (दवा से) की। ऐसे ही इस बाधा पर अन्य जीवों की भी विद्या माया रूपा दवा से रक्षा करते हैं। इस प्रसंग में भी विद्या माया से आगे भुशुंडिजी की रक्षा करना स्पष्ट कहा गया है।

माया वश होने पर जीवों का जो भेद अभिमान के द्वारा अज्ञान से दुःखद होता है, उसे आगे कहते हैं—

मायावश्य जीव - अभिमानी। ईस - वश्य माया गुन-खानी ॥६॥
परवस जीव स्ववस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता ॥७॥
मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया ॥८॥

अर्थ—माया के वशीभूत जीव (तज्जन्य कर्मों का) अभिमानी होता है (पर इसका अभिमान भ्रम से है, क्योंकि जिसके गुणों के द्वारा कर्म हुए हैं वह) गुणखानि (सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों की मूर्त्ति) माया ईश्वर के वश है, अर्थात् उसका ईशन (प्रेरण) श्रीरामजी ही करते हैं ॥६॥ जीव पराधीन (माया के वश) है और भगवान् स्वतंत्र हैं, जीव अनेक हैं और श्रीपति (भगवान्) एक हैं ॥७॥ यद्यपि माया कृत भेद असत्य है, तथापि विना भगवान् (की कृपा) के करोड़ों उपायों से भी नहीं जा सकता ॥८॥

विशेष—(१) 'मायावश्य जीव···'—अज्ञान से ही जीव प्रकृति-परिणाम शरीर का अभिमानी होकर फिर तज्जन्य कर्मों का अभिमानी होता है। पर विचार करने से इसका अभिमान भ्रम से है, क्योंकि प्रकृति के गुणों से कर्म होते हैं ; यथा—"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥···प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।" (गीता ३।२७–२९) ; अर्थात् प्रकृति के गुणों से ही सब प्रकार के कर्म होते हैं, अज्ञानी जीव अहंकार से अपनेको कर्त्ता मानते हैं।···प्रकृति के गुणों में मोहित हुए जीव ही गुण-कर्म में आसक्त होते हैं। प्रकृति के गुणों का व्यापार ईश्वर के बल एवं प्रेरणा से होता है ; यथा—"प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके।" (आ॰ दो॰ १४) ; "मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।" (गीता ९।१०) ; तब उन कर्मों का कर्त्ता ईश्वर ही हो सकता है, पर वह तो निर्लिप्त रहता है ; यथा—"न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।" (गीता ४।१४)। जड़ा प्रकृति नियाम्य है। अतः, कर्त्री नहीं हो सकती। जीव भी ईश्वर का नियाम्य है ; यथा—"एष ह्येवैनं साधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो नुनुत्सत···" साधुकर्म कारयति तं यमन्वानुनेपत्येष एवैनमसाधुकर्म कारयति तं (कौषी १३।१)" यह श्रुति है कि भला-बुरा कर्म ईश्वर ही कराता है। अतः, कर्म संकल्प करके निमित्त मात्र होने ही पर यह अज्ञान से कर्म का अभिमानी बन गया, इसीसे परवश हुआ, यही आगे कहते हैं—

(२) 'परवस जीव स्ववस भगवंता' ; यथा—"तैं निज कर्म डोरि दृढ़ कीन्हीं। अपने करन

गाँठि गहि दीन्हीं ॥ ताते पर बस परो अभागे ।" (वि० १३१), यथा—"एष एव साधु कर्म कारयति त यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति एष एवासाधु कर्म कारयति न यमधो निनीषति ॥" भगवान् स्ववश हैं, यथा—"परम स्वतंत्र न सिर पर कोई ।" (बा० दो० १३६), "निजतंत्र नित रघुकुलमनी ।" (बा० दो० ५१) । जीव अभिमान करने से मायावश होता है, यथा—"चले हृदय अहमिति अधिकाई ॥ श्रीपति निज माया तब प्रेरी ।" (बा० दो० १२८) ।

'जीव अनेक एक श्रीकंता ।'—जीव अपने-अपने कर्मानुसार अनेक प्रकार की देहवाले होते हैं और श्रीकंत (उपर्युक्त 'ज्ञान अखंड एक सीता बर') एक ही, ऐसे ही आगे (इसी प्रसंग में) विद्या माया द्वारा देखे भी जाते हैं ; यथा—"लोक लोक प्रति भिन्न विधाता ।" से "भिन्न भिन्न मैं दीख सब, अति बिचित्र हरि जान । अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु, राम न देखा आन ॥ सोइ सिसुपन सोइ सोभा, सोइ कृपाल रघुबीर । भुवन भुवन देखत फिरेउँ, प्रेरित मोह समीर ॥" (उ० दो० ८१), अर्थात् अनंत जीव अनंत ब्रह्मांडों में कर्माभिमानी होने से अनंत प्रकार की देहवाले होते हैं । जीव स्वरूप से भी परस्पर अनन्त हैं, यथा—"स चा नन्त्याय कल्पते ।" (श्वे ५।९) । पर श्रीकंत नहीं, क्योंकि वे अखंड ज्ञान वाले हैं । ईश्वर की अनेक देहों में भेद नहीं है, उसके सभी स्वरूप षडैश्वर्य पूर्ण हैं । यहाँ जीव और ईश्वर में 'अज्ञ-सर्वज्ञ' भेद पुष्ट हुआ ।

जीवों के इसी कर्माभिमान जन्य देह भेद के प्रति आगे कहते हैं कि—

(३) 'मुधा भेद जद्यपि कृत माया । · ·'—यह भेद मिथ्या ही है—माया कृत है, अर्थात् माया (प्रकृति) के गुणों से हुए कर्मों के अज्ञान से अभिमानी होने पर हुआ है । एक ही तरह का चेतन, अनेक देहों में अनेक प्रकार से देख पड़ता है । तथापि भगवान् के बिना यह अज्ञान जन्य दोष निवृत्त नहीं हो सकता, क्योंकि—"जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई । जदपि मृषा छूटति कठिनई ॥" (उ० दो० ११६), इस कठिनाई का उपाय उत्तरार्द्ध में कहते हैं—

'बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया ।' वे हरि कैसे मिटाते हैं, इसीको आगे कहते हैं, यथा—"रामचंद्र के भजन बिनु · ·" अन्यत्र भी कहा है यथा—"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥" (गीता ७।१४) ।

दोहा—रामचंद्र के भजन बिनु, जो चह पद निर्बान ।
ज्ञानवंत अपि सो नर, पसु बिनु पूँछ बिषान ॥
राकापति षोडस उअहिं, तारागन समुदाइ ।
सकल गिरिन्ह दव लाइय, बिनु रबि राति न जाइ ॥७८॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी के भजन बिना जो कोई कैवल्य मुक्ति चाहे, वह मनुष्य ज्ञानवान् होने पर भी बिना पूँछ और सींग का पशु है ॥ सोलहो कलाओं से पूर्ण चन्द्रमा का उदय हो और समस्त तारागण के समुदाय का भी उदय हो तथा जितने पर्वत हैं, उनमें दवाग्नि लगा दी जाय, तब भी बिना सूर्य के रात नहीं जा सकता ॥७८॥

विशेष—(१) 'पसु बिनु पूँछ बिषान'—निर्वाण पद श्रीरामजी के भजन से सुगम में प्राप्त हो जाता है, यथा—"राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं । अनइच्छित आवइ बरिआईं ॥" (दो० ११८), पर

वे मनुष्य ऐसे सुलभ साधन को छोड़कर घुणाक्षर न्याय की सिद्धिवाले अत्यन्त दुःखद साधनों को करते हुए उस पद को चाहते हैं। उस रीति से (ज्ञान-दीपक के साधन की रीति से) यदि वे उस पद को प्राप्त भी हों तो वह भगवान् को प्रिय नहीं हैं; यथा—"ज्ञान अगम ··करत कष्ट बहु पावइ कोऊ। भगति हीन मोहि प्रिय नहि सोऊ॥" (दो० ४५); इससे उस व्यर्थ प्रयास से वे विना सींग-पूँछ के पशु कहे गये हैं। विना सींग-पूँछ के पशु ढूँडा-बाँड़ा होने से शक्ति-हीन और शोभा-हीन कहे जाते हैं। वैसे वे ज्ञानी भी अशोभित हैं और भगवान् के आश्रित न होने से सामर्थ्यहीन भी हैं; यथा—"सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू। करनधार बिनु जिमि जल जानू॥" (अ० दो० २७६)। पशु-चेतन होते हुए भी अज्ञानी होते हैं, वैसे ही ज्ञान होते हुए भी वे मनुष्य अज्ञानी की तरह हैं। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा गया है; यथा—"अस प्रभु छाँड़ि भजहि जे आना। ते नर पसु बिनु पूँछ बिषाना॥" (सुं० दो० ४१)।

(२) 'राकापति षोड़स···'—चन्द्रमा में १६ कलाएँ हैं—१ अमृता, २ मानदा, ३ पूषा, ४ पुष्टि, ५ तुष्टि, ६ रति, ७ धृति, ८ शशनी, ९ चंद्रिका, १० कान्ति, ११ ज्योत्सना, १२ श्री, १३ प्रीति, १४ अंगदा, १५ पूर्णा और १६ पूर्णामृता—(हिन्दी-शब्दसागर)। अन्यत्र कुछ भेद से भी कही गई हैं; यथा—"अमृतां मानदां पुष्टिं तुष्टिं प्रीतिं रतिं तथा। लज्जां श्रियं स्वधां रात्रिं ज्योत्स्नां हंसवतीं ततः॥ छायां च पूरणीं वामाममा चन्द्रकला इमः॥" (शारदातिलक); ये कलाएँ क्रमशः कृष्णपक्ष में क्षीण होती हैं और शुक्लपक्ष की १५ तिथियों में क्रमशः एक-एक कला प्राप्त होती हैं। अमृत कला चन्द्रमा में स्वाभाविक है।

यहाँ पूर्ण चन्द्रमा के समान योग साधन, तारागण रूप शम, दम आदि गुण और सकल गिरि रूप सारे सद्ग्रंथ हैं; यथा—"सद्ग्रंथ पर्वत कंदरन्हि महँ···" (बा० दो० ८४); उनके अभ्यास से ज्ञान रूपी प्रकाश होना, पहाड़ों की अग्नि का प्रकाश है।

ऐसेहि बिनु हरि भजन खगेसा। मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा॥१॥
हरि - सेवकहि न ब्याप अबिद्या। प्रभु-प्रेरित ब्यापइ तेहि बिद्या॥२॥
ताते नास न होइ दास कर। भेद - भगति बाढ़इ बिहंगबर॥३॥

अर्थ—ऐसे ही, हे श्रीगरुड़जी! विना हरि-भजन के जीवों का दुःख नहीं मिटता॥१॥ भगवान् के सेवक को अविद्या माया नहीं व्यापती। प्रभु की प्रेरणा से उसे विद्या माया व्यापती है॥२॥ इसीसे दास का नाश नहीं होता, हे पक्षि-श्रेष्ठ! (उससे) भेद-भक्ति बढ़ती है॥३॥

विशेष—(१) 'ऐसेहि बिनु हरि भजन ··'—'ऐसेहि' अर्थात् जैसे पूर्ण चन्द्र आदि से रात नहीं जाती, वैसे ही योग रूपी पूर्ण चन्द्र और शम दमादि रूपी तारागण एवं शास्त्रोक्त ज्ञान (तत्त्वमस्यादि वाक्य जन्य ज्ञानमात्र) से जीवों का क्लेश नहीं मिटता। वह तो हरि भजन-रूपी सूर्य से ही नाश होता है; यथा—"जप, जोग, बिराग, महामख-साधन, दान, दया, दम कोटि करै। मुनि, सिद्ध, सुरेस, गनेस, महेस से सेवत जन्म अनेक मरै॥ निगमागम ज्ञान, पुरान पढ़ै, तपसानल में जुग-पुंज जरै। मन सों पन रोपि कहै तुलसी रघुनाथ विना दुख कौन हरै॥१?" (क० उ० ५५)। इस छंद के तीन चरणों को भी क्रमशः चन्द्र, तारागण और गिरि-दव ले सकते हैं।

'बिनु हरि भजन' की जगह पुरानी प्रतियों में 'हरि बिनु भजन' भी पाठ मिलता है। जिसका अर्थ होगा—'हरि विना और उनके भजन विना' अर्थात् भगवान् की कृपा होने से भजन होता है, तो

क्लेश मिटता है। पर विनोक्ति को मध्य में रखकर ऐसा कथन अन्यत्र नहीं देखा जाता और यह सरल भी नहीं है। ग्रंथकार की प्रतिज्ञा है—"सरल कवित कीरति बिमल···" इससे 'बिनु हरि भजन' ही समीचीन पाठ है। यहाँ अन्य साधनों की अपेक्षा हरि-भजन की श्रेष्ठता कहने का प्रसंग है, कुछ भजन का साधनांग भी दिखाने की उतनी आवश्यकता नहीं है।

'कलेसा'; यथा—"अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।" (यो॰ सू॰ २।३); अर्थात् अविद्या अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश (मृत्यु शंका)—ये सब दुःख हरि भजन से मिट जाते हैं।

आगे हरि भजन से निश्चय ही दुःख मिटने का कारण कहते हैं—

(२) 'हरि सेवकहि न···'—ऊपर कहा गया था—"सो माया न दुखद मोहि काहीं।" (दो॰ ७४); उसका कारण यहाँ कहते हैं कि हरि-सेवक को कहीं अभिमान आदि दोष होने पर माया भी व्यापती है, सो विद्या ही, वह भी हरि की प्रेरणा से। स्वयं नहीं, क्योंकि वह भक्ति से डरती है; यथा—"राम भगति निरुपम निरुपाधी। बसै जासु उर सदा अबाधी॥ तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥" (दो॰ ११५)

विद्या माया का व्यापार यह है कि वह जीव के प्रति भगवान् के शरीर रूप में जगत् की स्थिति-प्रवृत्ति दृढ़ कर देती है। इसका स्वरूप आ॰ दो॰ १४ चौ॰ ६ एवं बा॰ दो॰ ११७–११८ पर कहा गया है। उससे यह निश्चय हो जाता है—"मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत।" (कि॰ दो॰ ३)। यह सेवक स्वामि भाव की भेद भक्ति नित्य बढ़ती है। इससे भक्त का नाश नहीं होता, यही कहते हैं—'ताते नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़ै बिहंग बर॥' अन्यत्र भी कहा है—"सोइ है खेद जो बेद कहै न घटै जन जो रघुबीर बढ़ायो।" (क॰ उ॰ ६॰); तथा—"कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।" (गीता ९।३१)।

यहाँ दास का नाश होना क्या है ? इसका उत्तर गीता २।६३–६४ में समझाया गया है कि भक्ति से रहित होने पर जीव की इन्द्रियाँ विषयों की ओर दृष्टि करती हैं, तब उससे काम उत्पन्न होता है, उसकी असिद्धि पर क्रोध होता है, क्रोध से सम्मोह और उसमें कर्त्तव्याकर्त्तव्य की स्मृति नहीं रहती। पहले की सोची-समझी बातें भी भूल जाती हैं। तब वह कर्त्तव्य को छोड़कर अकर्त्तव्य मे प्रवृत्त हो जाता है। उसके व्यवहार में कटुता, कायरता, हिंसा, दीनता, जड़ता आदि दोष आ जाते हैं। वह अपनी पूर्व की स्थिति से गिर जाता है और फिर मरने के पीछे नीच योनियों में अथवा नरक में पड़ता है, यही उसका नाश होना है।

"सो माया न दुखद मोहि काहीं। आन जीव इव संसृति नाहीं॥" (दो॰ ७७), उपक्रम है और यहाँ—'ताते नास न होइ दास कर।···' उपसंहार है।

भ्रम ते चकित राम मोहि देखा। बिहँसे सो सुनु चरित बिसेखा॥४॥
तेहि कौतुक कर मरम न काहू। जाना अनुज न मातु-पिताहू॥५॥
जानु पानि धाये मोहि धरना। श्यामल गात अरुन कर चरना॥६॥
तब मैं भागि चलेउँ उरगारी। राम गहन कहँ भुजा पसारी॥७॥
जिमि जिमि दूरि उड़ाउँ अकासा। तहँ भुज हरि देखउँ निज पासा॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी ने मुझे भ्रम से चकित (आश्चर्यान्वित) देखा, तब जो हँसे, वह विशेष चरित सुनो ॥४॥ उस कौतुक का भेद किसी ने नहीं जाना, भाइयों और माता-पिता ने भी नहीं जाना ॥५॥ श्याम शरीर और लाल-लाल हथेली और तलवेवाले प्रभु मुझे पकड़ने के लिये घुटनों और हाथों के बल दौड़े ॥६॥ हे सर्पों के शत्रु श्रीगरुड़जी ! तब मैं भाग चला और श्रीरामजी ने मुझे पकड़ने के लिये भुजा फैलाई ॥७॥ जैसे-जैसे मैं आकाश में दूर उड़ता वैसे-वैसे वहाँ अपने पास ही हरि-भुजा को देखता था ॥८॥

विशेष—(१) 'जानु पानि धाये···'; यथा—"ते नृप अजिर जानु कर धावत धरन चटक चल काग।" (गी० बा० २६); पहले कौआ भूमि पर ही चलता था, जब वह उड़कर भागा तब आपने भुजा फैलाई। प्रभु तो जहाँ के तहाँ ही रहे, केवल भुजा ही बढ़ती चली जाती थी।

(२) 'उरगारी' का भाव यह कि मैं वैसे ही भय से एवं जोर से भाग चला जैसे आपके दौड़ने पर प्राण-रक्षा के लिये सर्प भागता है।

'भ्रम ते चकित राम···'—पूर्व कहा गया था—"देखि भयउ मोहि मोह। कवन चरित्र करत प्रभु, चिदानंद संदोह॥ एतना मन आनत खग राया। रघुपति प्रेरित ब्यापी माया॥" (दो० ७७); वहीं से प्रसंग ले रहे हैं, वहाँ का 'कवन चरित्र करत प्रभु···' का प्रसंग ही भ्रम से चकित होना है।

'बिहँसे सो सुनु···'—ऊपर कहा था—"रघुपति प्रेरित ब्यापी माया।" और यहाँ उसी को 'बिहँसे सो सुनु···' से कहा है; अर्थात् श्रीरामजी का हँसना ही माया को प्रेरित करना है, कहा भी है—"माया हास बाहु दिगपाला।" (लं० दो० १४); ऐसे ही कौशल्याजी के प्रति भी हँसकर माया की प्रेरणा की थी; यथा—"प्रभु हँसि दीन्हि मधुर मुसुकानी॥ देखरावा मातहि निज अद्भुद रूप अखंड।" (बा० दो० २०१)।

माधुर्य में हँसने का भाव यह भी है कि जो लोमशजी से भी भक्ति पक्ष में न हारनेवाला है, वह भी आज इष्ट के विषय में ही संदेह कर रहा है कि यह चरित्र कैसा ? इनके योग्य तो नहीं है। क्या ये कोई प्राकृत मनुष्य तो नहीं हैं ? 'मोहि देखा' इनकी चेष्टा से श्रीरामजी का जानना ही उनका देखना है। प्रभु का देखना और जानना एक ही है।

ऊपर 'बिहँसे सो सुनु चरित बिसेषा।' कहा है, उसे ही यहाँ 'तेहि कौतुक' कहकर जनाया कि माया का चरित आपका खेल है; यथा—"मुनि कर हित मम कौतुक होई।" (बा० दो० १२८)।

'सो सुनु चरित' कहकर यहाँ से माया का विशेष चरित प्रारंभ करते हैं। पूर्व "सुनहुँ सो सावधान हरि जाना।" (दो० ७७); से यहाँ तक 'सो माया न दुखद मोहिं काहीं।' का कारण कहते थे, अब माया का चरित प्रारंभ करते हैं।

'तेहि कौतुक कर मरम···'—मर्म किसी के न जानने का कारण यह कि जिस रूप से खेल करते थे और हँसे थे, वह वहीं पर रहा, दूसरे रूप से काकजी के साथ अदृश्य रूप में जाते थे; यथा—"जहासैवैक रूपेण द्वितीये न च दुद्रुवे।" (सत्योपाख्यान); जिसे श्रीभुशुंडिजी ही जानते थे, जैसे नारद-मोह प्रसंग में उनके वानर रूप को और सब लोगों ने नहीं देखा, केवल नृप-कन्या और हरगणों ने ही देखा था, जिनका लीला में प्रयोजन था।

'न काहू'—माता, पिता और भाइयों के अतिरिक्त और भी जो दर्शक लोग थे, वे परिजन और सुर सिद्ध मुनि आदि थे, उन्हें 'काहू' शब्द से कहा गया है; यथा—"ते नृप अजिर जानु कर धावत धरन चटक चल काग॥ सिद्ध सिहात सराहत मुनिगन बड़े भूप के भाग।...परिजन सहित राय रानिन्ह कियो मज्जन

प्रेम-प्रयाग।" (गी० बा० ३१), "देखत नभ घन ओट चरित मुनि जोग समाधि बिरति बिसराये।" (गी० बा० ३१)।

'राम गहन कहँ...'—पूर्व इन्होंने कहा था—'राम कृपा आपनि जड़ताई। कहउँ खगेस...।' उसे यहाँ दिखाते हैं कि श्रीरामजी तो कृपा करके मुझे ग्रहण करना चाहते हैं, उनके हाथों में तो सहर्ष चला जाना था, पर मैं उन्हीं से डरा कि कहीं पकड़ न लें, यही अपनी जड़ता है।

(३) 'जिमि जिमि दूरि उड़ाउँ...' यह चरित सत्योपाख्यान २६।६–२२ में विस्तार से कहा गया है, वहीं देखना चाहिये।

दोहा—ब्रह्मलोक लगि गयउँ मैं, चितयउँ पाछ उड़ात।
जुग अंगुल कर बीच सब, राम-भुजहि मोहि तात॥
सप्तावरन भेद करि, जहाँ लगे गति मोरि।
गयउँ तहाँ प्रभु भुज निरखि, ब्याकुल भयउँ बहोरि॥७९॥

अर्थ—मैं ब्रह्मलोक तक गया फिर उड़ते हुए ही पीछे की ओर देखा तो, हे तात! श्रीरामजी की भुजा में और मुझमें कुल दोही अंगुल का बीच था॥ सातों आवरणों को भेद कर जहाँ तक मेरी गति थी, वहाँ तक गया। वहाँ भी प्रभु की भुजा को देखकर फिर मैं व्याकुल हो गया।।७९॥

विशेष—(१) 'ब्रह्मलोक लगि गयउँ मैं...'—भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः और तपः लोक को पार करने पर सातवाँ सत्य (ब्रह्म) लोक मिलता है। सत्यलोक ही में सनकादिक लोक, उमा लोक और शिव लोक हैं। सत्यलोक से ब्रह्मांड के आवरण तक १६२ कोटि योजन का अन्तराया है, जिसके बीच में ये तीनों लोक हैं। शिवलोक के बाद फिर सप्तावरण प्रारंभ होते हैं।

पहले 'राम भुजहि' कहा, फिर जब अपनी गति उस भुजा के समक्ष थक गई, तब उसे 'प्रभु भुज' इस समर्थ वाचक पद से कहा है।

(२) 'ब्याकुल भयउँ बहोरि'—पहले जब ब्रह्मलोक तक जाकर पीछे की ओर देखा था, तब भी मैं व्याकुल हुआ, अब फिर व्याकुल हो गया। यह भाव 'बहोरि' का दुबारा अर्थ लेने पर होगा।

'जुग अंगुल कर बीच सब'—अंगुल देश की सबसे छोटी एकाई है और घड़ी काल की एकाई है। इस विद्यामाया के कौतुक में सेवक-सेव्य भाव की दृढ़ता रहने से प्रभु का नित्य अपने समीप ही रहना जनाया, प्रभु किंचित् भी अलग नहीं हुए, सदा साथ ही रहते हैं। यथा—"तू निज कर्म जाल जहँ घेरो, श्रीहरि संग तज्यो नहि तेरो॥" (वि० १३६।१); प्रभु सहायक रूप से साथ ही रहते हैं; यथा—"ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती।" (बा० दो० १४)।

'सप्तावरन भेद करि...'—सात आवरण ये हैं—पृथिवी, जल, अग्नि, पवन, आकाश, अहंकार और महत्तत्व। इन आवरणों की मोटाई और रंग पृथक्-पृथक् हैं। पृथिवी का आवरण ५०कोटि योजन मोटा, पीतरंग का है, उसपर जल का आवरण ५०० कोटि योजन मोटा, जमे हुए पाले की तरह, श्वेत रंग

का है। ऐसे ही शेष आवरण भी उत्तरोत्तर दश गुणे अधिक होते गये हैं। अग्नि के लाल, वायु के हरित, आकाश के नील, अहंकार के श्वेत-पीत-काला-मिश्रित और महत्तत्व के श्वेत में कुछ लाल रंग हैं। इन सातों आवरणों से ब्रह्मांड गोला है। इनके भी भेदन होने पर जीव ब्रह्मांड के पार होते हैं। इनके बाद फिर कुछ लोक हैं, तब विरजा नदी है।

'जहाँ लगे गति मोरि' कहकर जनाया कि विरजा तक पहुँचा। इसके बाद फिर जीव की गति नहीं है कि और आगे जाकर लौट आवे। विरजा पार प्रभु का नित्य धाम (परमधाम) साकेत है। वहाँ प्राप्त होकर फिर जीवों की संसार में पुनरावृत्ति नहीं होती; यथा—"यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।" (गीता १५।६); "सखल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते॥" (छां० ८।१५।१); "हरिपद लीन भइ जहँ नहि फिरे।" (आ० दो० ३६)।

इन आवरणों के भेदन का साधनक्रम—क्रमशः गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द गुण के जीतने से प्रथम के पाँच आवरण भेदन होते हैं। फिर अहंकार और महत्तत्व के जीतने से शेष दो का भी भेदन होता है।

यहाँ प्रभु के छोटे शिशु रूप के मुख में छोटा रूप श्रीभुशुंडिजी का प्रवेश किया। प्रभु के इस छोटे रूप में भी अनंत ब्रह्मांडों में सौ कल्पों तक काकजी घूमते-घूमते थक गये। फिर भी पार नहीं पाया। कौए की इतनी छोटाई में इतना सामर्थ्य और धैर्य, प्रभु की छोटाई में ऐसा बड़ा विराट् रूप, दो घड़ियों की छोटाई में अनन्त काल और दो अंगुल की छोटाई मे अनंत देश समाया हुआ है, क्या आश्चर्य लीला है? इसी से तो कहा गया है—"सगुन जान नहि कोइ" (दो० ७३) इसी दृश्य का वर्णन आगे करेंगे—

मूँदेउँ नयन त्रसित जब भयउँ। पुनि चितवत कोसलपुर गयऊँ॥१॥
मोहि बिलोकि राम मुसुकाहीं। बिहँसत तुरत गयउँ मुख माहीं॥२॥
उदर माँझ सुनु अंडजराया। देखेउँ बहु ब्रह्मांड-निकाया॥३॥
अति बिचित्र तहँ लोक अनेका। रचना अधिक एक ते एका॥४॥

अर्थ—जब मैं भयभीत हो गया तब मैंने नेत्र बंद कर लिये, फिर आँख खोलते ही श्रीअवधपुरी पहुँच गया॥१॥ मुझे देखकर श्रीरामजी मुस्काते हैं, उनके हँसते ही मैं तुरत उनके मुख में चला गया॥२॥ हे पक्षिराज! सुनिये, मैंने उनके पेट में बहुत-से ब्रह्मांड समूह देखे॥३॥ वहाँ अत्यन्त विलक्षण अनेकों लोक देखे, एक-से-एक की रचना बढ़कर थी॥४॥

विशेष—(१) 'मूँदेउँ नयन···'—डरे इससे कि अपनी शक्ति-भर तो भागा, अब क्या करूँ, कहाँ जाऊँ? इस तरह वे बचने से निराश हो गये; यथा—"भा निरास उपजी मन त्रासा। जथा चक्र भय रिषि दुर्बासा॥" (आ० दो० १); डर से नेत्र मूँद लिये कि वह दृश्य अब न देख पड़े; यथा—"देखि सती अति भई सभीता॥······नयन मूँदि बैठी मगमाहीं॥" (बा० दो० ५४); 'पुनि चितवत कोसल पुर गयऊँ।'—डरकर नेत्र बंद कर लेने पर प्रभु ने वह लीला समाप्त कर दी। जैसे सती मोह-प्रसंग में भी उनके डरकर नेत्र बंद करने के पीछे कहा गया है—"बहुरि बिलोकेउ नयन उघारी। कछु न दीख तहँ दच्छकुमारी॥" श्रीभुशुंडिजी के नेत्र बंद करते ही प्रभु ने इन्हें फिर श्रीअयोध्याजी पहुँचा दिया। जैसे स्वयंप्रभा

ने वानरों को समुद्र तट पर पहुँचा दिया है ; यथा—"नयन मूँदि पुनि देखहि बीरा। ठाढ़े सकल सिंधु के तीरा ॥" (कि॰ दो॰ ११), निराशा के बाद पुनः आशा का संयोग कर दिया।

(२) 'मोहि बिलोकि राम मुसुकाहीं।'—मुस्काने का माधुर्य रीति में भाव यह कि हम से भागकर कहाँ जाओगे ? अंत में फिर यहीं आये न ? अपने पुरुषार्थ-भर भागे, पर हमसे पृथक् कहाँ जाओगे ?

ऐश्वर्य पक्ष में श्रीरामजी का हास ही माया है। अतः, अब और माया दिखायेंगे। 'माया दंभे कृपायां च' इस कोश-वचन से माया का अर्थ कृपा है, प्रभु कृपा करके इन्हें अपना ऐश्वर्य दिखाकर सदा के लिये इनका मोह निवृत्त करेंगे ; यथा—"मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्"। (गीता ११।४७) ; पहले हँसकर अभी तक के चरित दिखाये ; यथा—"निहँसे सो सुनु चरित बिसेषा।" और अब यहाँ फिर हँसकर आगे अपना 'अखंड अद्भुत रूप' दिखायेंगे। अतः, यह हँसना चरित बदलने के प्रति भी है, यथा—"प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी ॥ देखरावा मातहि निज, अद्भुत रूप अखंड।" (बा॰ दो॰ २०१); यहाँ भी माता को एक चरित दिखाकर हँसे थे, फिर दूसरा चरित दिखाया था।

श्रीभुशुंडिजी छोटे काक रूप में हैं और अव्याहत गति हैं, इससे इन्हें और कोई नहीं देख पाता। जहाँ जाते हैं वहीं पर बालक राम रूप को पीछे साथ ही देखते हैं। इससे इन्हें कहीं किसी और के पास जाना एवं उससे रक्षा चाहना नहीं लिखा गया। जैसा जयंत-प्रसंग में कहा है। इस तरह इनकी अनन्यता बनी ही रही।

(३) 'बिहँसत तुरत गयउँ मुख माहीं।' यथा—"तावच्छिशोर्वै श्वसितेन भार्गव. सोऽन्तः शरीरं मशको यथा विशत् ॥" (भाग॰ १२।९।२०) ; अर्थात् मारकंडेय ऋषि बालक भगवान् के पास जाते ही बरबस उनकी श्वास के साथ मच्छड़ के समान उड़ते हुए उनके मुख में घुस गये। वहाँ उदर में ही सारा विश्व देखकर वे पुनः श्वास ही के साथ बाहर निकल आये। श्रीरामजी ऊपर से बार-बार हँसकर बाल भाव दिखा रहे हैं।

(४) 'उदर माँझ सुनु ······'—यहाँ 'सुनु' कहकर नया प्रसंग प्रारंभ करना सूचित किया। 'अंडज राया'-यहाँ बहुत-से ब्रह्मांडों का चरित कहते हैं, इससे यह विशेषण दिया कि तुम एक अंडे से उत्पन्न हो और वहाँ तो करोड़ों ब्रह्मांड हैं। अंड और ब्रह्मांड में शब्दमैत्री है।

(५) 'लोक अनेका'—इस ब्रह्मांड में तीन लोक और चौदह भुवन हैं, वैसे वहाँ अनेकों लोक हैं ; अर्थात् यहाँ गिनती में हैं, वहाँ अनेक हैं। सब ब्रह्मांडों में तरह-तरह के और अगणित-अगणित लोक हैं, उनकी रचना भी एक दूसरे से अधिक हैं, एक तरह के सब नहीं हैं।

कोटिन्ह चतुरानन गौरीसा। अगनित उड़गन रबि रजनीसा ॥५॥
अगनित लोकपाल-जम-काला। अगनित भूधर भूमि बिसाला ॥६॥
सागर सरि-सर बिपिन अपारा। नाना भाँति सृष्टि-बिस्तारा ॥७॥
सुर मुनि सिद्ध नाग नर किन्नर। चारि प्रकार जीव सचराचर ॥८॥

अर्थ—करोड़ों ब्रह्मा और शिव, अगणित तारागण, सूर्य और चन्द्रमा ॥५॥ अगणित लोकपाल, अगणित यमराज, अगणित काल (समयाभिमानी देवता), अगणित विशाल पर्वत और विस्तृत पृथिवी ॥६॥

अगणित समुद्र, नदी, तालाब और वन, जिनका पारावार नहीं, तथा और भी अनेक प्रकार की सृष्टि का फैलाव देखा ॥७॥ देवता, मुनि, सिद्ध, नाग, नर, किन्नर और जड़ चेतन सहित चारों प्रकार के जीव देखे ॥८॥

विशेष—(१) 'कोटिन्ह···'—ऊपर 'बहु ब्रह्मांड निकाया' कहा गया है, उसी के सम्बन्ध से ब्रह्मा आदि सभी के विषय में 'अगनित' आदि वैसे शब्द आये हैं। एक-एक ब्रह्मांड में तो एक-एक ही ब्रह्मा-शिव-सूर्य आदि होते हैं। 'जम काला'—यहाँ यम से यमराज और काल से समयाभिमानी एवं सर्व-नाश के देवता का तात्पर्य है। लं० दो० १४ के विश्व रूप में काल को 'भृकुटि बिलास' और यम को 'दसन कराला' कहा है। दोनों के नाम साथ-साथ बहुत जगह आये हैं, यथा—"अगिनि काल जम सब अधिकारी।" (बा० दो० १८१); "भुज बल जितेउ काल जम साईं।" (लं० दो० १०२), इत्यादि।

(२) 'नाना भाँति सृष्टि बिस्तारा।'—इसमें अन्य ऋषियों के मतों के साथ-साथ भाग० १२।९।२८-२९-मारकंडेय-प्रसंग में कहा हुआ सृष्टि विस्तार भी आ गया।

(३) 'सुर मुनि सिद्ध नाग नर किन्नर' कहकर पुनः 'चारि प्रकार जीव' कहा; इससे सुर आदि को चार खानों के जीवों की गणना से पृथक् जनाया। बा० दो० ७ चौ० १ और बा० दो० ४५ चौ० ४ भी देखिये।

दोहा—जो नहिं देखा नहिं सुना, जो मनहूँ न समाइ।
सो सब अद्भुत देखेउँ, बरनि कवनि बिधि जाइ॥
एक एक ब्रह्मांड महँ, रहउँ बरष सत एक।
येहि बिधि देखत फिरउँ मैं, अंडकटाह अनेक॥८०॥

अर्थ—जो कभी न देखा था, न सुना था और जो मन में भी नहीं समा सके, उन सबको अद्भुत (आश्चर्य मय) देखा (तब उनका) कैसे वर्णन किया जाय ?॥ एक-एक ब्रह्मांड में मैं एक-एक सौ वर्ष रहता; इस प्रकार मैं अनेकों ब्रह्मांड देखता-फिरता था ॥८०॥

विशेष—'जो नहिं देखा नहिं सुना···'; यथा—"काल करम गुन ज्ञान सुभाऊ। सोउ देखा जो सुना न काऊ॥" (बा० दो० २०१); इत्यादि कौशल्याजी, अर्जुनजी और यशोदाजी आदि के प्रसंग में कही हुई सब बातें जना दीं। 'देखा' आँखों से, 'सुना' सर्वज्ञ ऋषियों से और सद्ग्रंथों से विद्वानों के द्वारा। 'मनहूँ न समाय'—अनुमान से भी बाहर की बातें। भाव यह कि सब रचना एक-से-एक विलक्षण देखी।

एक-एक सौ वर्ष रहा, इससे सबों की व्यवस्था अच्छी तरह देखी।

लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिष्णु सिव मनु दिसित्राता॥१॥
नर गंधर्ब भूत बेताला। किन्नर निसिचर पसु खग व्याला॥२॥
देव - दनुज - गन नाना जाती। सकल जीव तहँ आनहि भाँती॥३॥
महि सरि सागर सर गिरि नाना। सब प्रपंच तहँ आनइ आना॥४॥

अर्थ—लोक-लोक में भिन्न-भिन्न ब्रह्मा, भिन्न भिन्न विष्णु, शिव, मनु, दिक्पाल ॥१॥ मनुष्य, गंधर्व, भूत, बेताल, किम्पुरुष, राक्षस, पशु, पक्षी, व्याल ॥२॥ अनेक जातियों के देवता और दैत्यगण एवं अनेक जातियों के और भी सभी जीव वहाँ दूसरे-ही-दूसरे प्रकार के थे ॥३॥ अनेक पृथिवी, नदी, समुद्र, तालाब, पर्वत और सभी (भौतिक) सृष्टि वहाँ और-ही-और थी ॥४॥

विशेष—(१) 'भिन्न'—प्रत्येक लोक में भिन्न-भिन्न थे और वे सब लोकों में एक-से ही नहीं थे, प्रत्युत भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार के भी थे। जैसे कि कहीं ब्रह्मा चतुर्मुख और कहीं पंचमुख, विष्णु और श्रीशिवजी भी वैसे ही आकारों के एवं रंगों में भी भिन्न-भिन्न थे। 'आनहिं भाँती' और 'आनहिं आना' के भी ये ही भाव है।

(२) 'नाना जाती' एवं 'आनहिं भाँती' पर यह भी कहा जाता है कि देश भेद से प्रायः आकृति, भाषा एवं स्वभाव में भेद होते हैं। शीत देशवाले पशुओं के अधिक लोम और गर्मी के देशों में रहनेवाले के कम लोम होते हैं। गर्म देश के मनुष्य प्राय. कृश श्याम और शीत देश के गौर इत्यादि भेद भी यहाँ आ गये। कहीं की भूमि काली, कहीं की पीत एवं कहीं का जल मीठा, कहीं का खारा इत्यादि—'महि सरि सागर' आदि में भी भिन्नता होती है।

अंडकोस प्रति-प्रति निज रूपा। देखेउँ जिनिस अनेक अनूपा ॥५॥
अवधपुरी प्रति भुवन निनारी। सरजू भिन्न भिन्न नर नारी ॥६॥
दसरथ कौसल्या सुनु ताता। विविध रूप भरतादिक भ्राता ॥७॥
प्रति ब्रह्मांड राम अवतारा। देखउँ बाल-बिनोद अपारा ॥८॥

शब्दार्थ—निनारी=पृथक्, न्यारी। अंडकोस=ब्रह्मांड के भीतर का भाग, ब्रह्माड; यथा—"अंडकोस समेत गिरि कानन।" (सुं॰ दो॰ २॰)।

अर्थ—प्रत्येक ब्रह्मांड में अपना रूप देखा और अनेक अनुपम पदार्थ देखे ॥५॥ प्रत्येक भुवन में पृथक्-पृथक् श्रीअवधपुरी, भिन्न भिन्न सरयू और भिन्न भिन्न स्त्री-पुरुष थे ॥६॥ हे तात! सुनिये, श्रीदशरथजी, श्रीकौशल्याजी और श्रीभरतजी आदि भाई अनेक रूप के थे ॥७॥ प्रत्येक ब्रह्मांड में मैं रामावतार और अपार बाल-क्रीड़ा देखता फिरता ॥८॥

विशेष—(१) 'जिनिस अनेक'—जिंस फारसी शब्द है, इसका अर्थ यहाँ वस्तु, पदार्थ का है। ये पदार्थ जहाँ-तहाँ के हैं।

श्रीअवधपुरी भी प्रत्येक ब्रह्माड की पृथक्-पृथक् प्रकार की है, वैसे ही श्रीसरयूजी की भी रचना और दिशा आदि में भेद हैं।

(२) 'विविध रूप भरतादिक भ्राता।'—यद्यपि भाइयों का रूप नित्य एक रस साकेत में रहता है तथापि यहाँ भुशुंडिजी का राम रूप में ही मोह है, इससे उसीको एक रूपता दिखानी है, अन्य सब में अनेक रूपता दिखाने से ही उनका ऐश्वर्य जाना जायगा। इस लीला विधान के लिये श्रीभरतजी आदि को भी अनेक रूपों में कहा है। लीला विधान एव कोई वैदिक धर्म संस्थापन के लिये भगवान् अपनी माया से नित्य जीवों को भी मोहित कर देते हैं और फिर स्वयं उनके साथ क्रीडा करते हुए उन्हें मुक्त करते

हैं; यथा—"त्वदाश्रितानां···।"—देखिये बा० दो० १२७। इसी प्रकार के विधान में गरुड़ मोह और जय-विजय के प्रसंग हैं।

(३) 'अपारा' के दो अर्थ हो सकते हैं, एक तो बहुत तरह के; यथा—"देखेउँ बाल चरित बहु रंगा।" (दो० ७४); दूसरा यह कि उनका पार पाना, समझना आदि कठिन हैं; यथा—"एक बार अतिसय सब, चरित किये रघुबीर।" (दो० ७५)।

दोहा—भिन्न भिन्न मैं दीख सब, अति बिचित्र हरिजान।
अगनित भवन फिरेउँ प्रभु, राम न देखेउँ आन॥
सोइ सिसुपन सोइ सोभा, सोइ कृपाल रघुबीर।
भुवन भुवन देखत फिरउँ, प्रेरित मोह समीर॥८१॥

अर्थ—हे श्रीगरुड़जी! मैंने सब को भिन्न-भिन्न और अत्यन्त विचित्र देखा, हे प्रभो! मैं अगणित भुवनों में फिरा; पर प्रभु श्रीरामजी को अन्य तरह (की आकृति में) नहीं देखा॥ मोह रूपी पवन से प्रेरित मैं भुवन-भुवन में वही बालपन, वही शोभा और उन्हीं कृपालु रघुवीर को देखता फिरता था॥८१॥

विशेष—(१) 'हरिजान'--आप साक्षात् उनके वाहन हैं, निकटवर्त्ती हैं, अतएव इस रहस्य के सुनने के अधिकारी हैं। वा, आप तो सदा निकटवर्त्ती हैं कहीं और प्रकार का रूप देखा हो, तो कहें।

(२) 'प्रेरित मोह समीर'--मोह ही के कारण यह सब लीला हुई; यथा--"प्राकृत सिसु इव लीला, देखि भयउ मोहिं मोह।" (दो० ७७); उसी पर माया ने इतना चक्कर दिया, जैसे वायु के झकोरे में कोई वस्तु इधर-उधर उड़ती फिरे।

भ्रमत मोहि ब्रह्मांड अनेका। बीते मनहुँ कलप सत एका॥१॥
फिरत फिरत निज आश्रम आयउँ। तहँ पुनि रहि कछु काल गँवायउँ॥२॥
निज प्रभु जन्म अवध सुनि पायउँ। निर्भर प्रेम हरषि उठि धायउँ॥३॥
देखेउँ जन्म-महोत्सव जाई। जेहि बिधि प्रथम कहा मैं गाई॥४॥

अर्थ—अनेक ब्रह्मांडों में घूमते हुए मुझे मानों एक सौ कल्प बीत गये॥१॥ फिरता-फिरता अपने आश्रम मे आया और वहाँ फिर रहकर कुछ समय बिताया॥२॥ श्रीअवध मे अपने प्रभु का जन्म सुन पाया तब परिपूर्ण प्रेम पूर्वक हर्षित हो कर मैं उठ दौड़ा॥३॥ वहाँ जाकर जन्म-महोत्सव देखा, जिस तरह कि मैंने पहले गाकर (विस्तार से) कहा है॥४॥

विशेष—(१) 'बीते मनहुँ'—यथार्थ में वैसा नहीं था, माया से उतने अधिक काल की प्रतीति हुई थी। आगे श्रीअवधपुरी में आने पर इन्हें सब खेल दो ही घड़ी का जान पड़ा है। इसका तात्पर्य यह कि नित्य लोक की दो ही घड़ी में मायिक लोकों के अनन्त कल्प बीत जाते हैं। इस समय काकजी अपने नित्य रूप की दृष्टि से कह रहे हैं।

(२) 'कछु काल गवायउँ' –श्रीभुशुण्डिजी चिरजीवी हैं, एक-एक युग इन्हें प्रहर के समान बीतता है। इससे इन्होंने दूसरे अवतार तक के समय को कुछ ही काल कहा है। 'काल गवायउँ' का भाव यह कि मोहित मति के कारण यहाँ भी ठीक विश्राम नहीं मिला। जैसे-तैसे काल बिताया। यह समय व्यर्थ-सा गया।

(३) 'निज प्रभु जन्म '—मोह में भी इनकी अनन्यता बनी रही। इसीसे कहा है—"सो माया न दुखद मोहि काहीं।" श्रीनारदजी ने मोहवश होने पर इष्ट को दुर्वचन कहे थे, इसीसे वहाँ—'सुनहुँ कठिन करनी तेहि केरी।' कहा है। 'उठि धायउँ'—से इनका पूर्ण उत्साह सूचित किया गया। तथा यह भी जान पड़ता है कि मनुष्य रूप से दौड़े, यथा—"मनुज रूप जानइ नहिं कोऊ।" (बा० दो० १२५)। नहीं तो पक्षि रूप से तो उड़कर जाना कहा जाता।

'सुनि पायउँ'– किससे सुना? ब्रह्मादि देवताओं से, यथा—"सो अवसर बिरंचि जब जाना।' चले सकल सुर साजि बिमाना॥ *गगन बिमल संकुल सुर जूथा। गावहिं गुन-गंधर्ब बरूथा॥'* (बा० दो० ११०)।

(४) 'जेहि बिधि प्रथम कहा', यथा—"जन्म-महोत्सव देखउँ जाई।" (दो० ७५ चौ० ४), से "प्राकृत सिसु इव लीला, देखि · " (दो० ७७), तक।

राम - उदर देखेउँ जग नाना। देखत बनइ न जाइ बखाना॥५॥
तहँ पुनि देखेउँ राम सुजाना। मायापति कृपाल भगवाना॥६॥
करउँ बिचार बहोरि बहोरी। मोह कलिल ब्यापित मति मोरी॥७॥
उभय घरी महँ मैं सब देखा। भयउँ भ्रमित मन मोह बिसेखा॥८॥

शब्दार्थ—मोह कलिल = मोह रूपी दलदल, मोह का गदला आवरण।

अर्थ—श्रीरामजी के पेट में मैंने बहुत से जगत् देखे जो देखते ही बनते थे, बखाने नहीं जा सकते॥५॥ वहाँ फिर सुजान, मायापति, कृपालु, भगवान् श्रीरामजी को देखा॥६॥ मैं बार-बार विचार करता था। मेरी बुद्धि मोह-रूपी दलदल एव मोह के गँदले आवरण से व्याप्त थी॥७॥ दो ही घड़ी में मैंने सब देखा, मन में विशेष मोह होने से मैं थक गया।

विशेष—(१) 'तहँ पुनि देखउँ राम '—'राम' क्योंकि सबमें रमण करनेवाले हैं, उदरवाले ब्रह्माड में भी मेरे साथ रहे। 'सुजाना'—क्योंकि मेरे मन के मोह को उन्होंने जान लिया और जानकर माया प्रेरित की, इससे साथ ही 'मायापति' भी कहा, माया मोहित होने पर भी कृपा रक्खी, दुःख न होने पाया, इससे 'कृपाल' और भक्त के हित करने से 'भगवान्' कहा है। ऐश्वर्य दिखाने से भी 'भगवान्' कहा है।

'करउँ बिचार बहोरि बहोरी। '—बार-बार विचार करने पर भी मन को प्रबोध नहीं होता था, यही मोह-रूपी दलदल मे बुद्धि का फँस जाना है।

(२) 'उभय घरी महँ मैं सब देखा।'—उपर्युक्त सब दृश्य दूसरी अवस्था मे देखे थे, जब फिर अपनी वास्तविक स्थिति में प्राप्त हुए, तब जान पडा कि यह सब तो दो ही घड़ी म हुआ था। इसीलिये 'बीते मनहुँ कल्प सत एका।' कहा गया है। जैसे कोई स्वप्न में दीर्घकाल की घटना देखे और जागने पर उसे जान पड़े कि यह सब तो १० मिनट मे ही हुआ, मैं तो अभी ही सोया हूँ।

इस कौतुक का रहस्य यह है कि परधाम में जीवों की स्वाभाविक स्थिति से विशेष सुख देने के लिये श्रीसीतारामजी जगत् की रचना कर जीवों को उनके अनादि कर्मानुसार अपनी माया से मोहवश कर देते हैं। जैसे माता बच्चे को शय्या पर शयन करा देती है कि सो कर उठेगा तो भूख लगेगी और फिर दूध पीकर विशेष सुख पावेगा एवं पुष्ट होगा। बच्चे प्रायः दो ही घड़ी सोते हैं, यदि देरी होने लगी तो माता चिंतित होकर जगाने का यत्न करती है। जीव मोह वश होता है, यही इसका सोना है, नानात्व जगत् का व्यवहार स्वप्न देखना है। नित्य धाम की दो ही घड़ी में यह यहाँ के सैकड़ों कल्प का चक्कर लगा लेता है। फिर भगवान् प्रकृति के द्वारा इसके जाग्रत होने की प्रेरणा करते हैं और यह नाना साधनों में प्रवृत्त होता है। ज्ञानोपासना एवं प्रेम की रीति से भगवान् की प्राप्ति की चाह होना भूख से रोना है। अत्यन्त प्रेम ही क्षुधा का वास्तविक रूप है। इसीसे कहा है—"प्रन्नगारि सुनु प्रेम सम, भजन न दूसर आन।" "रामहि केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जाननिहारा॥" (अ॰ दो॰ १३६); उत्कृष्ट इच्छा पर भगवान् को पाता है, तो इसे अत्यन्त सुख होता है, फिर वही अवस्था इसकी नित्य रहती है। सदा वैसा ही सुखी रहता है। "न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते।" (छां॰ ८।१५।१); कहा ही है। नित्य धाम में पुनः प्राप्त होने पर इसे इस जगत् के सब व्यापार वहाँ की दो ही घड़ी में हो जाते हैं।

(३) 'भयउँ श्रमित मन मोह बिसेखा'—विशेष मोह से जो सैकड़ों कल्प भ्रमण किया, उसके श्रम को समझकर विशेष व्याकुलता हुई, यही प्रेम की विशेषावस्था है, जो कि—"नाचत ही निसि दिवस मर्‌यो।···" (वि॰ ९१); इस पद में कही गई है। अब इसी पर आगे बिहँसकर (कृपा कर) बाहर निकालना; अर्थात् मोह निवृत्त करना है। यद्यपि—'उभय घरी महँ···' यह कथन मुख से निकलने पर का है, तथापि प्रसंग से यह घटना पहले की है, निकलना तो आगे दोहे में कहते हैं—

दोहा—देखि कृपाल बिकल मोहि, बिहँसे तब रघुबीर।
बिहँसत ही मुख बाहेर, आयउँ सुनु मतिधीर॥
सोइ लरिकाई मो सन, करन लगे पुनि राम।
कोटि भाँति समुझावउँ, मन न लहइ बिश्राम॥८२॥

अर्थ—कृपालु श्रीरामजी मुझे व्याकुल देखकर तब विशेष हँसे। हे धीर बुद्धि! सुनो, (उनके) हँसते ही मैं बाहर आ गया॥ श्रीरामजी फिर मुझसे वही लड़कपन करने लगे, मैं अनेकों प्रकार से मन को समझाता था, पर मन विश्राम नहीं पाता था; अर्थात् मुझे शान्ति नहीं मिलती थी॥८२॥

विशेष—(१) 'देखि कृपाल बिकल मोहि'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम 'मोहि बिलोकि राम मुसुकाहीं।' है। पुनः 'बिहँसत तुरत गयउँ मुख माहीं।' उपक्रम है और यहाँ—'बिहँसत ही मुख बाहेर आयउँ...' यह उपसंहार है। हँसने के साथ मुख खुला और ये बाहर आ गये। अतः, बिहँसना ही कृपा है। 'मति धीर' का भाव यह कि मेरे मोह की कथा आपने सावधान होकर सुनी है। अतः, धीर मति हैं; यथा—"श्रवन पुटन्हि मन पान करि, नहि अघात मति धीर।" (दो॰ ५१); काकजी ने पहले ही कहा था—"सुनहु सो सावधान हरि जाना।" (दो॰ ७७); तदनुसार ही इन्होंने 'मति धीर' होकर सुना है, आश्चर्य चरित सुनकर बुद्धि भ्रम में नहीं पड़ी।

(२) 'सोइ लरिकाई मो सन...' यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"प्राकृत सिसु इव लीला, देखि...कवन चरित्र करत प्रभु..." (दो० ७७) है। 'सोइ'—जो पूर्व 'मोसन करहिं बिबिध बिधि क्रीड़ा।' से 'जाउँ समीप गहन पद...' में कही गई है।

(३) 'मन न लहइ बिश्राम'—मन को समझाते हैं कि ये परब्रह्म हैं। अभी इन्होंने ही अपनी अनन्त शक्ति दिखाई है। पर फिर वैसी ही क्रीड़ा देखकर सोचने लगते हैं कि क्या वह सब मैंने स्वप्न में तो नहीं देखा? फिर विचारते हैं कि नहीं, स्वप्न तो सोने पर होता है, मैंने तो यह सब जाग्रत् में ही देखा है, इत्यादि संकल्प-विकल्प से मन स्थिर नहीं होता।

ऐसे ज्ञानी-भक्त शिरोमणि भी प्रभु के रहस्य के मर्म नहीं समझ पाते, यही तो इसकी *अगमता है*, कहा भी है– "चरित राम के सगुन भवानी। तरकि न जाहिं बुद्धि बल बानी॥" (लं० दो० ७१); तथा "सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होइ।" (दो० ७३)।

ईश्वर की लीला के मर्म को उसकी ही कृपा से जीव कुछ समझ सकता है, जैसे कि यहाँ पर आगे श्रीकाकजी शरण होंगे, तो प्रभु-कृपा से शान्ति पा जायँगे। सतीजी ने भी अपने तर्कों से कुछ निश्चय नहीं कर पाया। प्रभु के जनाये से ही जाना है, कहा भी है—"जाने बिनु भगति न जानिबो तिहारे हाथ समुझि सयाने नाथ पगनि परत।" (वि० १५१); अतः, प्रभु के चरित में संदेह न करके उनका भजन करना चाहिये; यथा—"अस बिचारि जे तज्ञ बिरागी। रामहिं भजहिं तर्क सब त्यागी॥" (लं० दो ७१); तथा–"तजु संसय भजु राम पद।" (बा० दो० ११५); इत्यादि। भजन करने से प्रभु की कृपा होती है; यथा– "मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥" (बा० दो० २००); फिर जो कुछ संदेह भी होते हैं, वे स्वतः दूर होते जाते हैं। जगत् की विचित्र घटनाओं को समझ-समझकर उन संदेहों की निवृत्ति स्वयं होती जाती है।

देखि चरित यह सो प्रभुताई। समुझत देह-दसा बिसराई॥१॥
धरनि परेउँ मुख आव न बाता। त्राहि त्राहि आरत-जन-त्राता॥२॥
प्रेमाकुल प्रभु मोहि बिलोकी। निज माया-प्रभुता तब रोकी॥३॥
कर-सरोज प्रभु मम सिर धरेऊ। दीनदयाल सकल दुख हरेऊ॥४॥

अर्थ—यह बाल-चरित देखकर और वह प्रभुता समझकर मुझे शरीर की दशा भूल गई (देह की सुध-बुध नहीं रह गई)॥१॥ हे आर्त्तजन के रक्षक! रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये'—(ऐसा कहकर) मैं पृथिवी पर गिर पड़ा, (फिर) मुख से वचन नहीं आता (निकलता)॥२॥ प्रभु ने मुझे प्रेम से व्याकुल देखकर तब उन्होंने अपनी माया की प्रबलता रोकी॥३॥ दीन दयालु प्रभु ने अपना हस्तकमल मेरे शिर पर रक्खा, और मेरा सब दुःख हर लिया॥४॥

विशेष—(१) 'देखि चरित यह'—उपर्युक्त "सोइ लरिकाई"। 'सो प्रभुताई' जो "बिहँसे सो सुनु चरित बिसेसा।" से "बिहँसत ही मुख बाहर..." तक ऊपर कही गई। 'समुझत देह दसा बिसराई' जिनके उदर में असंख्यों ब्रह्मांड हैं, वे भक्तों के लिये इतने सुलभ होकर उनके उद्धार करने के लिये माधुर्य लीला कर रहे हैं, ऐसे कृपालु और भक्त वत्सल हैं, यह समझकर मैं प्रेम से मुग्ध हो गया।

(२) 'त्राहि त्राहि...'—यहाँ मोह माया से रक्षार्थ प्रार्थना है, ऐसा कहने से प्रभु दुःख हरते हैं; यथा—"त्राहि त्राहि आरति हरन" (सुं० दो० ४५)।

(३) 'धरनि परेउँ मुख आव न बाता।···प्रेमाकुल ···' में क्रमशः कर्म, वचन और मन की शरणागति हुई। प्रभु का विरद है कि वे सभीत सरणागत की अवश्य रक्षा करते हैं; यथा—"जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रान की नाई॥" (सुं॰ दो॰ ४४); श्रीभुशुंडिजी बहुत भ्रमण करने के पीछे प्रभु की शरण हुए तब उनका दुःख दूर हुआ। पर श्रीकौशल्याजी ने शीघ्र ही डरकर शरणागति की थी; यथा—"तनु पुलकित मुख बचन न आवा। नयन मूँदि चरनन्हि सिर नावा॥ बिसमयवंत देखि महतारी।" (बा॰ दो॰ २०१) इसमें क्रमशः वचन, कर्म और मन की शरणागति है। इससे उनका दुःख शीघ्र ही मिट गया था।

(४) 'निज माया प्रभुता तब रोकी।'—प्रभु के रोकने से ही उनकी माया रुकती है; यथा—"निज माया कै प्रबलता, करषि कृपानिधि लीन्ह।" (बा॰ दो॰ ११७); "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।" (गीता ७।१४)।

'कर सरोज प्रभु···'—इन कर-कमलों का ऐसा ही प्रभाव है; यथा—"सीतल सुखद छाँह जेहि करकी मेटति पाप ताप माया।" (वि॰ १३८)।

यहाँ यह चरितार्थ हुआ कि ईश्वर विषयक मोह उनकी ही शरणागति से उनकी कृपा द्वारा निवृत्त होता है और प्रेमाकुल होने ही पर प्रभु की कृपा होती है। तब सम्यक् प्रकार से माया निवृत्त होती है।

कीन्ह राम मोहि बिगत बिमोहा। सेवक - सुखद कृपा - संदोहा॥५॥
प्रभुता प्रथम बिचारि बिचारी। मन महँ होइ हरष अति भारी॥६॥
भगत बछलता प्रभु कै देखी। उपजी मम उर प्रीति बिसेखी॥७॥
सजल नयन पुलकित कर जोरी। कीन्हिउँ बहु बिधि बिनय बहोरी॥८॥

अर्थ—सेवक को सुख देनेवाले और कृपा से परिपूर्ण श्रीरामजी ने मुझे विमोह रहित कर दिया॥५॥ उनकी पहले वाली (प्रथम देखी हुई) प्रभुता विचार-विचारकर मेरे मन में अत्यन्त भारी आनंद होने लगा (एवं अब भी होता है)॥६॥ प्रभु की भक्त वत्सलता देखकर मेरे हृदय में बहुत प्रीति उत्पन्न हुई॥७॥ प्रेमाश्रुपूर्ण नेत्र और रोमांचित शरीर से एवं हाथ जोड़कर, फिर मैंने बहुत प्रकार से विनती की॥८॥

विशेष—(१) 'कीन्ह राम मोहि ···'—'बिगत बिमोहा' क्योंकि पहले विशेष मोह कहा गया है; यथा—"भयउँ भ्रमित मन मोह बिसेखा।" वही 'कोटि भाँति समुझावउँ···' पर भी नहीं जाता था, यहाँ निवृत्त हो गया। 'सेवक सुखद'—क्योंकि सुख दिया और कृपा करके विमोह दूर किया, इससे 'कृपा संदोहा' कहा है। भारी मोह दूर होने से सुख होता ही है, यथा—"बिगत मोह मन हर्ष बिसेखी।" (बा॰ दो॰ ११८)

(२) 'प्रभुता प्रथम बिचारि···'—पहले भारी मोह था, वह दूर हुआ और फिर भारी प्रभुता देखी, उसे विचारकर भारी हर्ष होता है। प्रभु की कृपा-पूर्णता पर भी हर्ष होता है कि जिनकी इतनी प्रभुता है, उन्होंने मुझपर इतना अपनापन माना, भारी कृपा की—यह विचारकर अत्यन्त भारी हर्ष हो रहा है।

(३) 'भगत बछलता ··'—मोह नाश करना, शिर पर हाथ फेरना भक्त वत्सलता है, इसे अभी देखा और प्रभुता प्रथम की देखी हुई है, उसे यहाँ विचार-विचारकर हर्ष होता है। 'प्रीति बिसेषी' का स्वरूप आगे 'सजल नयन···' से कहा है।

(४) 'मम उर प्रीति' 'कर जोरी' और 'विनय' में क्रमशः मन, कर्म और वचन के भाव हैं।

दोहा—सुनि सप्रेम मम बानी, देखि दीन निज दास।
वचन सुखद गंभीर मृदु, बोले रमानिवास॥
काकभुसुंडि माँगु बर, अति प्रसन्न मोहि जानि।
अनिमादिक सिधि अपर रिधि, मोच्छ सकल सुख खानि॥८३॥

अर्थ—मेरी प्रेम सहित वाणी सुनकर और अपने दास को दीन देखकर रमापति श्रीरामजी सुख देनेवाले गंभीर और कोमल वचन बोले। हे काकभुशुण्डिजी! मुझे अत्यन्त प्रसन्न जानकर वर माँगिये। अणिमादिक अष्टसिद्धियाँ और ऋद्धियाँ तथा सब सुखों की खान मोक्ष॥८३॥

विशेष—(१) 'सुनि सप्रेम···'—वाणी प्रेमाकुल हृदय से निकली है; यथा—"प्रेमाकुल प्रभु मोहि बिलोकी।" इसीसे यह 'सप्रेम' है और उसे 'सुनि' कहा गया, क्योंकि वह श्रवणप्रिय है। दशा नेत्रों से देखी जाती है, इससे उसका देखना कहा है। "धरनि परेउँ.. त्राहि त्राहि..." यह दीनता है; यथा—"त्राहि त्राहि आरति हरन.. अस कहि करत दंडवत देखा।...दीन वचन सुनि प्रभु मन भावा।" (सु० दो० ४५); इसी दशा के प्रति कहा है—"देखि दीन प्रभु के मन भायउँ।" (ल० दो० ११), "कृत भूप बिभीषन दीन रहा।" (ल० दो० १०१)। 'देखि दीन निज दास' का यों भी अर्थ होता है कि मुझे दीन और अपना (अनन्य) दास जानकर, क्योंकि इतना मोहित होने पर भी मैं दूसरे की शरण नहीं गया।

(२) 'वचन सुखद' वचन कानों को सुखदायक हैं; यथा—"श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा।" (दो० ५१); 'गंभीर'—गूढ़ हैं; यथा—"गगन गिरा गंभीर भइ, हरनि सोक सदेह।" (बा० दो० १८६); 'मृदु'—कोमल एवं मधुर हैं। 'रमा निवास'—यह उदार दातृत्व का सूचक है।

(३) 'अति प्रसन्न मोहि जानि', 'आजु देउँ सब···' ये वचन श्रवण सुखद हैं और 'माँगुवर'; 'माँगु जो तोहि भाव' ये गंभीर हैं, क्योंकि इनमें पूर्णभक्ति के माँगने का आशय गुप्त रूप में है। मृदु तो सभी हैं।

पुन "अनिमादिक सिधि · मुनि दुर्लभ गुन जे जगजाना॥" तक माँगने की वस्तुओं को गिनाया। इसमें गंभीर आशय यह है कि मेरा सच्चा भक्त, चतुर और धीर होगा तो इनमें लोभ नहीं करेगा; यथा—"रीझेउँ देखि तोरि चतुराई। माँगेहु भगति मोहि अति भाई॥" (दो० ८४), "माँगहु बर बहु भाँति लोभाये। परम धीर नहिं चलहिं चलाये॥" (बा० दो० १४४), "अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुकुति निरादर भगति लुभाने॥" (दो० ११८)।

'अनिमादिक' से अष्ट सिद्धियाँ कही गई हैं, क्योंकि ये ही भक्तों के काम की भी हैं। 'अपर रिधि' से नव निधियाँ अभिप्रेत हैं।

(४) 'सकल' शब्द से 'सिधि', 'रिधि' और 'मोच्छ' इन तीनों को कहा है कि ये सब सुख की खान हैं।

ज्ञान बिवेक बिरति बिज्ञाना। मुनि दुर्लभ गुन जे जग नाना ॥१॥
आजु देउँ सब संसय नाहीं। माँगु जो तोहि भाव मन माहीं ॥२॥
सुनि प्रभु बचन अधिक अनुरागेउँ। मन अनुमान करन तब लागेउँ ॥३॥
प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही ॥४॥

अर्थ—ज्ञान, विवेक, वैराग्य, विज्ञान (एवं और भी) जो जगत् में मुनियों को भी दुर्लभ गुण हैं ॥१॥ आज मैं यह सब दूँगा, इसमें संदेह नहीं है, जो तेरे मन को भावे सो माँग ले ॥२॥ प्रभु के वचन सुनकर अधिक अनुराग हुआ, तब मैं मन में विचार करने लगा ॥३॥ कि प्रभु ने मुझे सब देने को कहा सही, पर अपनी भक्ति देने की (बात) नहीं कही ॥४॥

विशेष—(१) 'ज्ञान विवेक बिरति बिज्ञाना।'—'ज्ञान' और 'वैराग्य' का स्वरूप आ० दो० १४ में देखिये। 'विवेक'—आ० दो० ६ चौ० १ में और विज्ञान का स्वतंत्र प्रसंग—"तब बिज्ञान निरूपिनी" से "तेज रासि बिज्ञान मय॥" (दो० ११७); तक आगे कहा जायगा कि प्रकृति-वियुक्त जीवात्मा का ज्ञान विज्ञान कहाता है। प्रकृति के तीनों गुणों की तीनों अवस्थाओं से अपनेको पृथक् साक्षात्कार करना विज्ञान है। वैराग्य के चार भेद भी कहे गये हैं; यथा—"वैराग्यमाद्यं यतमान संज्ञं क्वचिद्विरागो व्यतिरेक संज्ञम्। एकेन्द्रियाख्यं हृदिराग सौक्ष्म्यं तस्याप्यभावस्तु वशीकृताख्यम्।" (शुक्तिसुधासागर); अर्थ—१ यतमान अर्थात् विषयों को पूर्णरीति से न त्याग सकने पर भी उनके मिलने का आग्रह छोड़ देना, २—व्यतिरेक अर्थात् किसी-किसी विषय को छोड़ देना, जैसे बिना लोन की दाल आदि का खाना, ३—एकेन्द्रिय अर्थात् प्रवृत्ति रहने पर भी मन में विषयों के अनुराग की शिथिलता होने के कारण केवल वाह्य इन्द्रियों से ही विषय सेवन करना, ४—वशी कृत्य अर्थात् वाह्येन्द्रियों से भी विषय सेवन में उदासीनता—ये चारों उत्तरोत्तर विशेष अवस्थाएँ हैं।

(२) 'आजु देउँ सब ...'—भाव यह कि प्रभु जिसे देते हैं, उसे तत्काल ही दे देते हैं, जैसे कि श्रीशवरीजी से भी कहा है—"तो कहँ, आजु सुलभ भइ सोई।" 'माँगु जो तोहिं भाव मन माहीं।' में यह भी ध्वनि है कि उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त भी जो मागोंगे, दे दूँगा, भाव यह कि भक्ति भी दे दूँगा, संदेह नहीं है। यहाँ के 'भाव मन माहीं' के अनुसार ही आगे श्रीभुशुंडिजी कहेंगे—"मन भावत बर मागउँ स्वामी।" ये ज्ञान आदि को न चाहकर केवल अविरल भक्ति ही माँगेंगे। श्रीसुतीक्ष्णजी भी प्रभु के निजदास हैं, पर उन्होंने प्रभु की रुचि से पहले ज्ञान आदि को लेकर तब फिर अपनी रुचि से भक्ति माँगी है और इन्होंने स्वयं सबको छोड़कर भक्ति ही माँगी है, इससे इनकी भक्त निष्ठा उनसे अधिक है।

(३) 'अधिक अनुरागेउँ'—प्रेम तो पूर्व से ही विशेष था, यथा—"भगत बछलता प्रभु कै देखी। उपजी मम उर प्रीति बिसेखी॥" पर यहाँ प्रभु की अपने ऊपर अधिक रीझ देखकर और अधिक अनुराग हो गया। तब ऐसे प्रभु की भक्ति से और गुणों की तुलना करने लगे।

भगतिहीन गुन सब सुख ऐसे। लवन-बिना बहु बिंजन जैसे ॥५॥
भजन हीन सुख कवने काजा। अस बिचारि बोलेउँ खगराजा ॥६॥
जौ प्रभु होइ प्रसन्न बर देहू। मो पर करहु कृपा अरु नेहू ॥७॥

मन भावत बर माँगउँ स्वामी। तुम्ह उदार उर अंतरजामी ॥८॥

अर्थ—भक्ति के बिना सब गुण और सब सुख ऐसे हैं कि जैसे लोन के बिना (अलोने) बहुत से व्यंजन (भोजन के पदार्थ) हों ॥५॥ भक्ति हीन सुख किस काम के ? ऐसा विचार कर, हे खग-राज ! मैंने कहा ॥६॥ हे प्रभो ! यदि आप प्रसन्न होकर वर देते हैं, और मुझपर कृपा और स्नेह करते हैं ॥७॥ तो, हे स्वामिन् ! मैं अपने मन को भानेवाला वर माँगता हूँ। आप उदार हैं और हृदय के भीतर की (बात) जाननेवाले हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'भगति हीन गुन सब सुख ऐसे। ··'—प्रभु ने इन्हें ऊपर दो चीजें देने को कही थीं—एक तो सब सुख , यथा—"अनिमादिक · सकल सुख खानि।" और सब गुण ; यथा—"ज्ञान विवेक··मुनि दुर्लभ गुन जे जग जाना।" उन्हीं दोनों पर यहाँ ये विचारते हैं। ऊपर 'सकल सुख सही' में सुख को प्रथम कहा है, तब यहाँ 'गुन सब' कहा, क्योंकि इसी क्रम से प्रभु ने देने को भी कहा था। फिर 'सुख' को यहाँ 'गुन सब' के साथ कहा है, क्योंकि दोनों को भक्ति विना सीठा कहना है।

(२) 'भजन हीन सुख कवने काजा'—भक्ति के साथ सुख स्थिर रहता है ; यथा—"तथा मोच्छ सुख सुनु खग राई। रहि न सकइ हरि भगति बिहाई ॥" (दो० ११८)। अन्यथा व्यर्थ-सा ही है ; यथा—"राम बिमुख संपति प्रभुताई। जाय रही पाई बिनु पाई ॥" (सु० दो० २१)।

(३) 'जौ प्रभु होइ प्रसन्न ··'—प्रभु ने प्रथम 'अति प्रसन्न मोहिं जानि' कहा है। फिर वही प्रसन्नता 'आजु देउँ सब ··' आदि से भी प्रकट की है। उसी को लेकर ये माँगते हैं। दीन जानकर रक्षा पर सन्नद्ध हैं, यह कृपा है और अपना जानकर करुणा कर रहे हैं, यह स्नेह है। प्रसन्नता, कृपा और स्नेह तीनों मुझपर हैं, तो मुझे मेरा अभीष्ट अवश्य ही प्राप्त होगा। जैसे कि सु० दो० ३२–३३ में श्रीहनुमान्‌जी पर आपने तीनों को दिखाया है और उन्हें माँगने पर परम दुर्लभ अनपायिनी भक्ति दी है। पुन दो० ३४ में सनकादिक को भी माँगने पर वैसी ही भक्ति दी है।

(४) 'मन भावत बर माँगउँ·· '—भाव यह कि जो ज्ञान आदि आपने गिनाये हैं, वे मेरे मन-भावत नहीं हैं। जो भाता है वह आगे कहता हूँ। 'तुम्ह उदार'—भाव यह कि जो उदार दाता होगा, वही अपनी प्यारी वस्तु देगा, भक्ति आपको बहुत प्यारी है, यथा—"पुनि रघुबीरहि भगति पियारी।" (दो० ११५) 'उदारो दातृ महत' अर्थात् महादानी को उदार कहते हैं, इस विशेषण से काकजी श्रीरामजी को 'महादानि अनुमानि' (मनुप्रसंग), और 'जनकहँ कछु अदेय नहिं मोरे।' (नारदप्रसंग), का स्मरण कराते हैं।'अंतरजामी' का भाव यह कि मेरे हृदय की यह सच्ची भावना है, उसे आप जानते ही हैं, यथा—"सबके उर अंतर बसहु, जानहु भाव कुभाव।" (अ० दो० २५७), यदि ठीक ठीक मेरी यही वासना है और आप उदार हैं तो अवश्य दें।

दोहा—अबिरल भगति बिसुद्ध तव, श्रुति-पुरान जो गाव।
जेहि खोजत जोगीस मुनि, प्रभु-प्रसाद कोउ पाव ॥
भगत-कलपतरु प्रनत - हित, कृपासिंधु सुख-धाम।
सोइ निज भगति मोहि प्रभु, देहु दया करि राम ॥८४॥

अर्थ—हे भक्तों के कल्पवृक्ष ! हे शरणागत हितकारी ! हे कृपासागर ! हे सुख के निवासस्थान ! हे प्रभो ! हे श्रीरामजी ! मुझे दया करके यही अपनी निज (अनन्य) भक्ति दीजिये। जिस अविरल विशुद्ध आपकी भक्ति को श्रुति और पुराण गाते हैं, जिसे योगीश्वर और मुनि ढूँढ़ते हैं और जिसे आपकी ही कृपा से कोई पाता है ॥८४॥

विशेष—(१) 'अविरल भगति···'—यहाँ कई निदर्शनों (उदाहरणों) से अभीष्ट वस्तु माँगते हैं कि जिससे उसमें कुछ अंतर न पड़े। 'अविरल' अर्थात् सघन, तैलधारावच्छिन्न, एकरस निरंतर स्नेह-वृत्ति रहनेवाली—यह वस्तु (भक्ति) नाम-निदर्शन। २—'विशुद्ध' यह गुण निदर्शन। ३—'श्रुति पुरान जो गाव' यह प्रमाण निदर्शन।४—'जेहि खोजत···' यह शिष्ट परिमहत्व रूप निदर्शन। ५—'प्रभु प्रसाद कोउ पाव' यह अपने उपायों से असाध्यत्व और केवल राम कृपा साध्यत्व से दुर्लभता रूप निदर्शन है।

(२) 'जेहि खोजत··कोउ पाव' से योगीश्वरों और मुनियों का इसके लिये लालायित रहना एवं इसकी उत्कृष्टता दिखाई। 'कोउ पाव'; यथा—"कहुँ कहुँ वृष्टि सारदी थोरी। कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी॥" (कि॰ दो॰ १५), योगीश-मुनियों में भी किसी एक पर प्रभु की प्रसन्नता होती है, तभी वे पाते हैं।

पहले 'उदार' कहा था, तदनुसार ही यहाँ 'भक्त कल्पतरु' आदि चार विशेषण दिये हैं। आप भक्त कल्पतरु हैं, भक्तों के सब मनोरथ पूर्ण करते हैं; यथा—"जाइ निकट पहिचानि तरु, छाँह समनि सब सोच। माँगत अभिमत पाव जग, राव रंक भल पोच॥" (अ॰ दो॰ २६७), जैसे उससे चाहे जितना माँगा जाय, वह देता है और पूर्ण बना रहता है; वैसे ही आप भक्तों के सब मनोरथ पूर्ण करते हुए भी प्रसन्न बने रहते हैं। आप कल्पतरु रूप हैं और मैं आपका 'निज दास' हूँ। आप प्रणतहित हैं और मैं प्रणत हूँ; यथा—"धरनि परेउँ...त्राहि त्राहि..." अतः, भक्ति देकर मेरा हित कीजिये। पहले कल्पतरु कहकर फिर प्रणतहित कहने का भाव यह कि वह अनहित भी देता है, पर आप हित ही करते हैं; यथा—"जेहि बिधि होइहि परम हित, नारद सुनहुँ तुम्हार। सोइ हम करब...येहि बिधि हित तुम्हार मैं ठयऊ।" (बा॰ दो॰ १३२)। आप कृपासिंधु हैं और मैं दीन हूँ; यथा—"देखि दीन" आप सुखधाम हैं और मैं दुखी हूँ; यथा—"भयउँ श्रमित मन मोह बिसेषा।" इन सब प्रकार से हित करने में आप 'प्रभु' हैं, अर्थात् समर्थ हैं। इन गुणों से मुझे रमाइये, इस अभिप्राय से 'राम' भी कहा है। 'प्रभु प्रसाद कोउ पाव' के अनुसार 'देहु दया करि' कहा है।

श्रीभुशुंडिजी के प्रति रामगीता

एवमस्तु कहि रघुकुल-नायक। बोले बचन परम सुखदायक ॥१॥
सुनु बायस तैं सहज सयाना। काहे न माँगसि अस बरदाना ॥२॥
सब सुखखानि भगति तैं माँगी। नहिं जग कोउ तोहि सम बड़ भागी ॥३॥
जो मुनि कोटि जतन नहिं लहहीं। जे जप जोग अनल तनु दहहीं ॥४॥
रीझेउँ देखि तोरि चतुराई। माँगेहु भगति मोहि अति भाई ॥५॥

अर्थ—'ऐसा ही हो' अर्थात् यह भक्ति तुझे प्राप्त हो—ऐसा कहकर रघुकुल के शिरोमणि श्रीरामजी परम सुखदेनेवाले वचन बोले ॥१॥ हे काक ! सुन, तू स्वाभाविक ही चतुर है, ऐसा वरदान क्यों न माँगता ?

अर्थात् ऐसा माँगना तेरे योग्य ही है ॥२॥ सब सुखों की खान भक्ति तूने माँगी है, संसार में तेरे समान बड़भागी कोई नहीं है ॥३॥ जिसे वे मुनि भी करोड़ों उपाय करके पाते हैं जो जप, योग और अग्नि से एवं योगानल से शरीर को जला डालते हैं ॥४॥ तेरी चातुरी देखकर मैं रीझ गया, तूने भक्ति माँगी जो मुझे अत्यन्त प्रिय है ॥५॥

विशेष—(१) 'एवमस्तु' के साथ ही 'रघुनायक' कहने का भाव यह है कि सभी रघुवंशी उदार दानी होते आये हैं, आप तो उस कुल में श्रेष्ठ ही हैं, फिर क्यों न ऐसे दाता हों ? 'परम सुख दायक'—पूर्व के वचन सुखदायक थे ; यथा—"बचन सुखद गंभीर मृदु..." और ये वचन परम सुखदायक हैं। इसके कई कारण हैं—(१) पहले के कहे हुए पदार्थ भी प्रभु दे रहे हैं और भक्ति भी। (२) अपना अनुमान ठीक निकला, उसीकी प्रशंसा प्रभु ने भी की। (३) स्वामी ने 'बड़भागी' और 'सहज सयाना' आदि कहकर अपनी प्रसन्नता प्रकट कर इनकी सराहना की। (४) इन्हें सदा के लिये माया रहित कर दिया, इत्यादि।

इस प्रसंग से यह भी जनाया कि भक्ति का चाहनेवाला ही चतुर और बड़भागी है, यथा—"परिहरि सकल भरोस, रामहि भजहिं ते चतुर नर।" (अ॰ दो॰ १); "चहूँ चतुर कहँ नाम अधारा।" (बा॰ दो॰ ११); "सोइ गुनज्ञ सोई बड़भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी॥" (कि॰ दो॰ ११)। पुनः ज्ञान आदि का चाहनेवाला भागी है और भक्ति का इच्छुक बड़भागी है।

(२) 'सब सुखखानि'—पहले मोक्ष के साथ भी 'सकल सुख खानि' शब्द है, उसमें 'सकल' के अर्थ में ऋद्धि, सिद्धि भी हैं और यहाँ केवल भक्ति को ही उन सब सुखों की खान कहा है। भक्ति से वह मोक्ष सुख भी मिलता है; यथा—'अनइच्छित आवइ बरिआईं' कहा है।

(३) 'जो मुनि कोटि जतन...'—कहकर भक्ति को विना यत्न अपनी कृपा से सुलभ दिखाया। 'चतुराई' क्योंकि उपर्युक्त सुखों और गुणों के प्रलोभन में नहीं पड़ा। पुन. विना श्रम के दुर्लभ पदार्थ प्राप्त किया। 'मोहि अति भाई'—ज्ञानादि भाते हैं, भक्ति अति भाती है, इसी से इसकी यहाँ प्रशंसा भी करते हैं।

(४) 'जोग अनल तनु दहहीं' ; यथा—"जोग अगिनि करि प्रगट तब।" (दो॰ ११७), "जोगानल जरी" (बा॰ दो॰ ६८); "तपसानल मैं जुग पुंज जरइ" (क॰ उ॰ ५५)।

सुनु बिहंग प्रसाद अब मोरें। सब सुभ गुन बसिहहिं उर तोरें ॥६॥
भगति ज्ञान बिज्ञान बिरागा। जोग चरित्र रहस्य बिभागा ॥७॥
जानब तैं सबही कर भेदा। मम प्रसाद नहिं साधन खेदा ॥८॥

अर्थ—हे पक्षी ! सुन अब मेरी प्रसन्नता से सब शुभ गुण तेरे हृदय में बसेंगे ॥६॥ भक्ति, ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य, योग, चरित्र, चरित्रों के रहस्य एवं रहस्य (अर्थात् गुप्त चरित्र) आदि सबके विभागों के भेदों को तू मेरी प्रसन्नता से ही जानेगा, तुझे साधन (करके जानने) का कष्ट न होगा ॥७-८॥

विशेष—(१) 'भगति ज्ञान...'—इनके विभाग और भेद। भक्ति के भेद यथा—"भगति निरूपन बिबिध बिधाना।" (बा॰ दो॰ ३६); ज्ञान के भेद सप्त भूमिका रूप में आगे दो॰ ११७ में कहे गये हैं और सरस ज्ञान का स्वरूप आ॰ दो॰ १४ में देखिये। वैराग्य के चार विभाग और विज्ञान प्रसंग ऊपर दो॰ ८२ चौ॰ १ में देखिये। योग के आठ अंग यम-नियम आदि हैं। 'चरित्र' के अनेक भेद हैं, कल्प

भेद एवं एक कल्प के चरित में भी जन्म, बाल, पौगंड किशोर आदि अवस्था के चरित्रों में भेद होते हैं। वन, युद्ध, राज्य आदि के चरित्रों में भी रस भेद से नाना प्रकार होते हैं। 'रहस्य'; यथा—"अउरउ राम रहस्य अनेका।" (बा० दो० ११०) के प्रसंग पर देखिये।

इन सबका चरितार्थ आगे है, श्रीभुशुण्डिजी ने आगे ज्ञान, भक्ति आदि के भेदों का वर्णन किया है। प्रभु अत्यन्त प्रसन्न हैं, इससे माँगने के अतिरिक्त भी बहुत-से वर देते चले जाते हैं।

(३) 'नहिं साधन खेदा'; यथा—"बिनु श्रम तुम्ह जानब सब सोऊ।" (दो० ११३); यह लोमशजी ने कहा है। साधन खेद ज्ञान दीपक में देखिये।

दोहा—माया-संभव भ्रम सब, अब न ब्यापिहहिं तोहि।
जानेसु ब्रह्म अनादि अज, अगुन गुनाकर मोहि॥
मोहि भगत प्रिय संतत, अस बिचारि सुनु काग।
काय बचन मन मम पद, करेसु अचल अनुराग॥८५॥

अर्थ—माया से उत्पन्न सभी भ्रम अब तुझे न व्यापेंगे। मुझे अनादि, अजन्मा, प्राकृत गुणों से रहित और दिव्य गुणों की खान, ब्रह्म जानना। हे काक! सुन, मुझे भक्त सदैव प्रिय हैं, ऐसा विचार कर तन, वचन और मन से मेरे चरणों में अटल प्रेम करना॥८५॥

विशेष—(१) 'माया संभव भ्रम सब...'—'भ्रम सब' जैसे कि पर स्वरूप में भ्रम होना; यथा—"भ्रमते चकित राम मोहि देखा।" (दो० ७८); स्व स्वरूप में भ्रम एवं और भी सब प्रकार के भ्रम जो कि माया से उत्पन्न होते हैं, वे अब न व्यापेंगे। इसका इनमें चरितार्थ भी है; यथा—"तब ते मोहि न व्यापी माया। जब ते रघुनायक अपनाया॥" (दो० ८८)।

प्रभु जिसे अपनाते हैं वह माया से अभय हो जाता है; यथा—"अब न तुम्हहि माया नियराई।" (बा० दो० १३०)—श्रीनारदजी। "अब जनि कबहूँ ब्यापइ, प्रभु मोहि माया तोरि।" (बा० दो० २०२)—श्रीकौशल्याजी।

(२) 'जानेसु ब्रह्म अनादि अज...'—ऐसा जानते रहोगे, तो तुम्हें माया न व्यापेगी। इस ज्ञान से पाप भी नष्ट हो जाते हैं; यथा—"यो मामजमनादिं च वेत्ति लोक महेश्वरम्। असंमूढः समर्त्येषु सर्व पापैः प्रमुच्यते॥" (गीता १०।३), अर्थात् जो मुझे सब लोकों का महान् ईश्वर और जन्म एवं आदि रहित जानता है, वही मोह रहित होकर सब पापों से छूट जाता है।

(३) 'मोहि भगत प्रिय...'—पहले जानना कहा गया, तब यहाँ 'अस बिचारि' में प्रतीति कहकर तब 'करेसु अचल अनुराग' कहते हैं—यही क्रम है; यथा—"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥ प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।" (दो० ८८)।

(४) 'काय बचन मन...'—तन से कैंकर्य आदि, वचन से गुण-गान, मन से ध्यान एवं मानस-पूजा। इन तीनों प्रकार से भजन करने का विधान वि० १०४-१०५ मे देखिये। 'अचल अनुराग; यथा—"चातक रटनि घटे घटि जाई। बढ़े प्रेम सब भाँति भलाई॥" (अ० दो० २०४)।

इनकी तीनों प्रकार की भक्ति दो० ५६ में इनकी चर्चा-प्रसंग में देखिये।

अब सुनु परम बिमल मम बानी। सत्य सुगम निगमादि बखानी ॥१॥
निज सिद्धांत सुनावउँ तोही। सुनु मन धरु सब तजि भजु मोही ॥२॥
मम माया-संभव संसारा। जीव चराचर बिबिध प्रकारा ॥३॥

अर्थ—अब मेरी परम निर्मल वाणी सुन, जो सत्य है, सुगम है और जिसका वेद आदि ने बखान किया है ॥१॥ मैं तुझे अपना सिद्धान्त (निर्णय) सुनाता हूँ, सुनकर मन में धारण कर और सब छोड़कर मेरा भजन कर ॥२॥ मेरी माया से उत्पन्न संसार में अनेक प्रकार के स्थावर-जंगम जीव हैं ॥३॥

विशेष—(१) 'अब सुनु परम बिमल···'—समल, विमल और परम विमल—तीन प्रकार की वाणी होती हैं। यहाँ प्रभु की वाणी तीन बार तीन तरह के विशेषणों के द्वारा कही गई हैं। १—'बचन सुखद गंभीर मृदु···' समल है, क्योंकि इसमें ऋद्धि, सिद्धि और मोक्ष आदि का प्रलोभन है। २—'परम सुखदायक' विमल है, क्योंकि इसमें ज्ञान आदि सहित भक्ति का वरदान है। ३—यह परम विमल है, क्योंकि इसमें प्रभु अपना सिद्धान्त कहते हैं।

पुनः परम विमल कहकर सत्य आदि विशेषणों से उसमें सब प्रकार के मलों का निराकरण भी किया है, वह सत्य है—उसमें झूठ-रूपी मल नहीं है। सुगम है—कठिनता रूपी मल से रहित है। निगमादि बखानी है—श्रुति-विरुद्धता रूपी मल से रहित है।

(२) 'सब तजि भजु मोहीं'—सब अर्थात् लौकिक तथा पारलौकिक सब धर्मों को एवं और सब साधनों एवं विकारों आदि को छोड़कर मेरा भजन कर ; यथा—"सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।" (गीता १८।६६); यही गीता का परम वाक्य है। श्रीसुग्रीवजी ने भी ऐसा ही कहा है ; यथा—"सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥ ये सब राम-भगति के बाधक। कहहिं संत तब पद अवराधक॥ सत्रु-मित्र दुख सुख जग माहीं। मायाकृत परमारथ नाहीं॥ अब प्रभु कृपा करहु येहि भाँती। सब तजि भजन करउँ दिन राती॥" (कि० दो० ६ में)

(३) 'मम माया संभव संसारा' ; यथा—"लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया॥" (बा० दो० २२५)।

सब मम प्रिय सब मम उपजाये। सबते अधिक मनुज मोहि भाये ॥४॥
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुतिधारी। तिन्ह महँ निगम धर्म अनुसारी ॥५॥
तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ज्ञानी। ज्ञानिहु ते अति प्रिय बिज्ञानी ॥६॥
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा ॥७॥

अर्थ—वे सब मुझे प्रिय हैं (क्योंकि) सब मेरे उत्पन्न किये हुए हैं। परन्तु इन सबमें मनुष्य मुझे विशेष अच्छे लगते हैं ॥४॥ उन मनुष्यों में ब्राह्मण, ब्राह्मणों में भी वेदों को धारण-करनेवाले (वेदज्ञ एवं

जिन्हें वेद कंठ हो), उनमें से भी वेद-धर्म पर चलनेवाले ॥५॥ फिर उनसे भी वैराग्यवान (अधिक) प्रिय हैं और फिर उनसे अधिक प्रिय ज्ञानी हैं, ज्ञानी से भी अत्यन्त प्रिय विज्ञानी है ॥६॥ फिर इनसे भी अधिक प्रिय मुझे अपना (अनन्य) दास है, जिसे मेरी ही गति है, दूसरे की आशा नहीं है ॥७॥

विशेष—(१) पहले 'मम माया संभव संसारा' कहा और फिर यहाँ 'मम उपजाये' भी कहा है ; अर्थात् अपनी माया के द्वारा मैं ही सबको पैदा करता हूँ ; यथा—"मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।" (गीता ९।१०); "ता सां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रद. पिता ॥" (गीता १४।४) ।

(२) 'सब मम प्रिय' ; यथा—"अखिल विश्व यह मोर उपाया । सब पर मोहि बराबरि दाया ॥" (दो॰ ८६) ; अर्थात् सभी के हित पर मेरी दृष्टि रहती है ! फिर भी अधिकारी का तारतम्य कहते हैं, भाव यह कि जीवों को कर्म करने की स्वतंत्र शक्ति है । उसके अनुरोध से प्रियत्व में तारतम्य है, यह समदर्शिता ही है कि यथायोग्य फल देते हैं । सबसे श्रेष्ठ साधन भक्ति है । अतः, इसमें अधिक प्रियत्व कहा है । इस सिद्धान्त से माया का स्वतंत्र कर्तृत्व और ईश्वर की निरपेक्षता स्वतः खंडित हो गई ।

(३) 'निज दासा' कहकर उत्तरार्द्ध में उसका अर्थ खोला है कि जो अनन्यगति हो ; यथा— "एक बानि करुना निधान की । सो प्रिय जाके गति न आन की ॥" (आ॰ दो॰ ४)—यह सुतीक्ष्णजी ने कहा है, ये भी अनन्य भक्त हैं ; यथा—"मनक्रम बचन राम पद सेवक । सपनेहुँ आन भरोस न देवक ॥" (आ॰ दो॰ ६) । 'न दूसरि आसा, ; यथा—"एक भरोसो एक बल, एक आस बिस्वास । एक राम घन स्याम हित, चातक तुलसी दास ॥" (दोहावली २७७) ।

पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं । मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं ॥८॥
भगतिहीन बिरंचि किन होई । सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई ॥९॥
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी । मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी ॥१०॥

अर्थ—मैं तुमसे फिर फिर सत्य कहता हूँ कि मुझे सेवक के समान कोई भी प्रिय नहीं है ॥८॥ भक्तिहीन ब्रह्मा ही क्यों न हो, वह भी मुझे सब जीवों के समान ही प्रिय है ॥९॥ और भक्तिवाला अत्यन्त नीच प्राणी भी (क्यों न हो वह) मुझे प्राण प्रिय है—ऐसी मेरी बानि (स्वभाव-आदत) है ॥१०॥

विशेष—(१) 'पुनि पुनि सत्य कहउँ···'—यहाँ ज्ञानी और विज्ञानी से भी निज दास का अधिक प्रियत्व कहा गया है, इसपर अर्थवाद की शंका हो सकती है कि भक्ति कराने के लिये उत्तेजना देते हुए ऐसा कहा गया है । इस कारण से फिर फिर सत्य कहकर इसे तत्त्ववाद सिद्ध करते हैं; यथा—"पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा । सत्य सत्य पन सत्य हमारा ॥ पुनि पुनि अस कहि कृपा निधाना ।" (बा॰ दो॰ १५१) । यहाँ आदि, मध्य और अन्त में तीन बार सत्य शब्द कहा गया है, यथा—"सत्य सुगम निगमादि बखानी ।"; "पुनि पुनि सत्य कहउँ"; "सत्य कहउँ खग तोहि" इससे भी 'पुनि पुनि' कहा है । पुन भक्त प्रियत्व भी इस प्रसग में बार-बार कहा गया है; यथा—"मोहिं भगति प्रिय सतत", "प्रिय निज दासा ।"; "मोहिं सेवक

सम प्रिय कोउ नाही।"; "मोहि प्रान प्रिय···"; "सुचि सेवक मम प्रान प्रिय" इन सब बातों की सत्यता प्रतिपादन करने के लिये यहाँ 'पुनि पुनि सत्य···' कहा गया है।

(२) 'भगतिहीन बिरंचि···'—ब्रह्माजी जगत् भर में श्रेष्ठ हैं, क्योंकि सबके निर्माता हैं, पर वे भी यदि भक्ति हीन हो जायँ, तो मुझे 'अति प्रिय' न रह जायँगे, तब और जीवों की क्या बात? भाव यह कि अति प्रियत्व भक्ति से ही है।

(३) 'भगतिवंत अति नीचउ प्रानी।···'—'अति नीचउ' अर्थात् श्वपच आदि अंत्यज ही क्यों न हो। भक्ति से यदि उसका प्रियत्व मुझमें है, तो वह भी मुझे प्राण प्रिय है; यथा—"तुलसी प्रभु सुभाव सुरतरु सों ज्यों दर्पन मुख कान्ति।" (वि० २११)। तथा—"ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।" (गीता ९।२९)। इसपर अ० दो० २१८ चौ० ३-५ भी देखिये। 'प्रान प्रिय' अर्थात् अत्यंत प्रिय; यथा—"देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।" (बा० दो० २०७)।

वर्णाश्रम की ऊँचाई-निचाई देह-धर्म लेकर कही जाती है। भगवान् का आत्मसम्बन्धी प्रियत्व है। कहा भी है—"साहु ही को गोत गोत होत है गुलाम को।" (क० उ० १०७)। भगवान् जाति आदि देह व्यवहारों से अलग हैं। जो सर्वत्र से परांमुख होकर अनन्य-गति हो जाता है, वह उन्हीं के गोत्र का रह जाता है। तब सजातीय में प्रियत्व अधिक होना भी स्वाभाविक है।

दोहा—सुचि सुसील सेवक सुमति, प्रिय कहु काहि न लाग।
श्रुति पुरान कह नीति असि, सावधान सुनु काग ॥८६॥

अर्थ—पवित्र, सुशील और उत्तम बुद्धिवाला सेवक कहो, किसको प्यारा नहीं लगता? अर्थात् सभी को प्रिय लगता है। हे काक! सावधान होकर सुन, वेद-पुराण ऐसी नीति कहते हैं ॥८६॥

विशेष—(१) 'सुचि'—स्वप्न में भी स्वामि धर्म से न डिगनेवाले; यथा—"अस बिचारि सुचि सेवक बोले। जे सपनेहुँ निज धर्म न डोले॥" (अ० दो० १८५); शुचिता मन, वचन और कर्म के भेद से तीन प्रकार की होती है; यथा—"मन क्रम बचन राम पद सेवक। सपनेहुँ आन भरोस न देवक॥" (आ० दो० ९); तीनों प्रकार की अनन्यता ही शुचिता है। आगे स्वयं प्रभु शुचि सेवक के लक्षण कहते हैं; यथा—"सर्व भाव भज कपट तजि···सुचि सेवक मम प्रान प्रिय।" (दो० ८७); सुशील अर्थात् जिसपर सब प्रसन्न रहें। सुमति अर्थात् समय साधक एवं परमार्थ मतिवाला।

भुशुंडिजी में ये तीनों गुण हैं—

'सुचि'; यथा—"देखि दीन निज दास।" (दो० ८१), "यह मम भगत करम मन बानी।" (दो० ११२)। सुसील'; यथा—"तहँ रह काग भुसुंडि सुसीला।" (दो० ६१); "रिषि मम महत सीलता देखी।" (दो० ११२)। 'सुमति'; यथा—"मति अकुंठ हरि भगति अखंडा।" (दो० ६२)।

(२) 'प्रिय कहु काहि न लाग' यह लोकमत और 'श्रुति पुरान कह' यह वेद मत कहकर इस सिद्धान्त को दोनों मत से पुष्ट किया। कहा भी है—"लोक वेद मत मंजुल कूला।" (बा० दो० ३८)। 'सावधान सुनु' क्योंकि यह प्रभु का 'निज सिद्धान्त' और उनकी 'परम विमल वाणी' है। इसपर कह चुके हैं; यथा—"सुनि मन धरु सब तजि भजु मोहीं।" (दो० ८१); यह विना सावधानी से सुने हुए न होगा; यथा—"नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥" (आ० दो० ३४); यह श्रीशबरीजी से कहा है।

एक पिता के बिपुल कुमारा। होहिं पृथक गुन सील अचारा॥१॥
कोउ पंडित कोउ तापस ज्ञाता। कोउ धनवंत सूर कोउ दाता॥२॥
कोउ सर्वज्ञ धर्मरत कोई। सब पर पितहि प्रीति सम होई॥३॥
कोउ पितु-भगत बचन-मन-कर्मा। सपनेहुँ जान न दूसर धर्मा॥४॥
सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना। जद्यपि सो सब भाँति अयाना॥५॥

अर्थ—एक पिता के बहुत-से पुत्र पृथक्-पृथक् गुण, स्वभाव और आचरणवाले होते हैं॥१॥ कोई पंडित होता है, कोई तपस्वी, कोई ज्ञानी, कोई धनी, कोई शूर वीर, कोई दानी॥२॥ कोई सर्वज्ञ और कोई धर्मपरायण होता है, पर सभी पर पिता का एक-सा प्रेम होता है॥३॥ कोई मन, वचन और कर्म से पिता का भक्त होता है, स्वप्न में भी दूसरा धर्म नहीं जानता॥४॥ वह पुत्र पिता को प्राण के समान प्रिय होता है, यद्यपि वह सब प्रकार से अज्ञान ही है॥५॥

विशेष—(१) 'एक पिता के···'—ऊपर श्रुति-पुराण के प्रमाण देकर अब लोक-प्रमाण देते हैं' पृथक् गुण, शील, आचारवाले हैं, इसीसे कोई पंडित, कोई तापस आदि पृथक्-पृथक् वृत्तिवालों का होना कहते हैं 'बिपुल कुमारा'—यह दृष्टान्त है, आगे दार्ष्टान्त में भगवान् अपनी बहुत संतानों कहेंगे; यथा—"जीव चराचर जेते।···" उसीके अनुरोध से 'विपुल' कहा है। 'कुमारा' कहा है, कुमारी भी होती हैं, पर उन्हें नहीं कहा, क्योंकि वे अबला हैं, केवल पिता के आश्रित हैं। पुत्रों में पुरुषार्थ होता है, उसीसे वे पंडित आदि होते हैं। उसी तारतम्य के दिखाने का यहाँ प्रयोजन है, इससे कुमारों को ही कहा है।

(२) 'कोउ पितु भगत···'—वह पिता की सेवा को ही एक मात्र धर्म जानता है। यह सब भुशुंडिजी में है; यथा—"यह मम भगत करम मन बानी।" (दो० ११२), 'सपनेहुँ जान न दूसर धर्मा'; यथा—"भजन हीन सुख कवने काजा।" (दो० ८१)।

यहाँ ईश्वर पिता है, बृहस्पति आदि पंडित, प्रचेता आदि तापस, सनकादि ज्ञाता, कुवेर धनवंत, दैत्य शूर, हरिश्चन्द्र आदि दाता, लोमश आदि सर्वज्ञ, शिवि-दधीचि आदि धर्म रत और ध्रुव, प्रह्लाद एवं अंबरीप आदि पितु-भक्त हैं।

(३) 'सब भाँति अयाना'—इसमें पाण्डित्य आदि कोई गुण नहीं हैं, इसीसे यह पितृ भक्ति को ही सर्वस्व समझता है। पिता इसके अज्ञान पर दृष्टि न देकर इसे प्राण के समान प्रिय मानता है। और सबों को अपने अपने गुणों का भी गौरव है, इससे वे पिता की सामान्य भक्ति करते हैं।

येहि बिधि जीव चराचर जेते। त्रिजग देव-नर-असुर-समेते ॥६॥
अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाया ॥७॥
तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया। भजइ मोहि मन बच अरु काया ॥८॥

शब्दार्थ—त्रिजग (तिर्यक्) = मनुष्य के अतिरिक्त पशु पक्षी सर्प आदि जिनका खाया हुआ आहार तिरछा होकर पेट में जाता है, वे तिर्यक् कहाते हैं, यथा—'त्रिजग देव नर जो तनु धरऊँ। तहँ तहँ राम भजन अनुसरऊँ ॥' (दो॰ १०१), उपाया (उपाना—पैदा करना) = उपजाया हुआ।

अर्थ—इस प्रकार तिर्यक, देव, मनुष्य, असुर समेत जितने भी जड़ और चेतन जीव हैं, (इनसे पूर्ण) यह सम्पूर्ण जगत् मेरा पैदा किया हुआ है और सबपर मेरी बराबर दया है ॥६–७॥ पर इनमें से जो मद और माया छोड़कर मन, वचन और तन से (मुझको) भजता है (वह) ॥८॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि' अर्थात् उपर्युक्त दृष्टान्त के अनुसार

दृष्टान्त	दार्ष्टान्त
(१) एक पिता के बिपुल कुमारा।	अखिल बिस्व यह मोर उपाया।
(२) होहिं पृथक गुन सील अचारा। कोउ पंडित' से 'धर्मरत' तक।	जीव चराचर जेते। त्रिजग देव नर असुर। इन सबके भिन्न भिन्न गुण स्वभाव और आचरण होते हैं।
(३) सब पर पितहि प्रीति सम होई।	सब पर मोहि बराबरि दाया।
(४) कोउ पितु भगत बचन मन कर्मा।	भजइ मोहिं मन बच अरु काया
(५) सपनेहु जान न दूसर धर्मा।	परिहरि मद माया, कपट तजि
(६) सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना।	सुचि सेवक मम प्रान प्रिय।
(७) जद्यपि सो सब भाँति अयाना।	भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। —जीव चराचर कोइ।

(२) 'परिहरि मद माया'—पाण्डित्य आदि गुणों का मद छोड़कर और नानात्व जगत् की दृष्टि रूपी माया छोड़कर। मद भक्ति का कंटक कहा गया है। जाति, विद्या, बड़ाई, रूप, यौवन आदि पाँच प्रकार के मद कहे गये हैं। माया के त्याग बिना परलोक साधन नहीं बनता, यथा—"तजि माया सेइय परलोका।" (कि॰ दो॰ २२)। जगत् मात्र को ईश्वर का शरीर मानते हुए उससे प्रेम बर्ताव करना हरि भक्ति ही है। मैं मोर का बर्ताव माया है, इसका त्याग करना चाहिये।

दोहा—पुरुष नपुंसक नारि वा, जीव चराचर कोइ।
सर्व भाव भज कपट तजि, मोहि परम प्रिय सोइ॥

सो०—सत्य कहउँ खग तोहि, सुचि सेवक मम प्रानप्रिय।
अस विचारि भजु मोहि, परिहरि आस भरोस सब ॥८७॥

अर्थ—पुरुष हो, नपुंसक हो, स्त्री हो, अथवा चाहे स्थावर-जंगम कोई भी जीव हो, (जो ही) कपट छोड़कर सर्व भाव से मुझे भजे, वही मुझे परम प्रिय है। हे खग ! मैं तुमसे सत्य कहता हूँ कि मुझे शुचि सेवक प्राण प्रिय है, ऐसा विचार कर सब आशा-भरोसा छोड़कर मुझे भज ॥८७॥

विशेष—(१) 'पुरुष अधिकारी'—नारी अर्द्ध-अधिकारिणी और नपुंसक अनधिकारी हैं। साथ ही चराचर भी कहकर कोई भी जीव हो सबको सूचित किया गया है।

(२) 'सर्व भाव'—जगत् में माता, पिता, बंधु, सखा, धन, सर्वस्व आदि सम्बन्धी जितने भाव हैं। उन सब भावों से प्रभु ही का भजन करे, यथा—"माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः। सर्वस्वं मे रामचन्द्रो दयालुर्नान्यं जाने नैव जाने न जाने॥" भगवान् ने श्रीमुख से भावों को स्वीकार किया है ; यथा—"पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।···गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृद् ॥" (गीता ९।१७-१८)। गीता ९।३० के 'अनन्य भाक्' और १८।६२ के 'सर्व भावेन' का भी यही भाव है। श्रीगोस्वामीजी ने भी कहा है; यथा—"यहि जग में जहँ लगि या तनु की प्रीति प्रतीति सगाई। ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहु सिमिटि यक ठाईं।" (वि० १०३) पुनः वि० ७९ में भी ११ भाव कहे गये हैं, इन सब भावों से भगवान् ही का भजन करना चाहिये।

पूर्व कहा गया था कि नीच प्राणी भी भक्त हो तो वह मुझे प्राण प्रिय है और यहाँ कहते हैं— 'परिहरि मद माया' भाव यह कि नीचों में भी अपने अनुरूप मद होता ही है और माया का सम्बन्ध तो सभी से है ही। यह भी भाव है कि पापी भी भक्त होने से शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है और वह माया का भी अंत पा जाता है ; यथा—"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितोहि सः॥ क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।" (गीता ९।३०-३१)।

'पुरुष नपुंसक नारि वा ··' ; यथा—"मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः। स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥" (गीता ९।३२)।

(३) 'भजु मोहिं, परिहरि आस भरोस सब।' ; यथा—"यह बिनती रघुबीर गोसाईं। और आस बिश्वास भरोसो हरउ जिय की जड़ताई॥ चहउँ न सुगति, सुमति, संपति, कछु रिधि सिधि बिपुल बड़ाई। हेतु रहित अनुराग राम-पद बढ़उ अनुदिन अधिकाई॥" (वि० १०३)। आशा दुःख रूपा है, इसी से यह

त्याज्य है ; यथा—"अब तुलसिहि दुख देति दयानिधि ! दारुन आस पिसाची ।" (वि० १६३) आशा त्याग से भक्ति की शोभा है ; यथा—"बिनु घन निर्मल सोह अकासा । हरिजन इव परिहरि सब आसा ॥" (कि० दो० १५)। औरों की आशा करने से स्वामी के विश्वास की हीनता सिद्ध होती है और विना विश्वास भक्ति कहाँ ? यथा—"मोर दास कहाइ नर आसा । करइ त कहहु कहा बिस्वासा ॥" (दो० ४५) ; "बिनु बिस्वास भगति नहिं ।" (दो० ९०)।

प्रभु की इस सिद्धान्त भूता विमल वाणी के उपक्रम में कहा गया था—"काय बचन मन मम पद, करेसु अचल अनुराग ।" (दो० ८५) ; यहाँ उसी का उपसंहार है—"अस बिचारि भजु मोहि, परिहरि..."

कबहूँ काल न ब्यापिहि तोही । सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोही ॥१॥
प्रभु बचनामृत सुनि न अघाऊँ । तनु पुलकित मन अति हरषाऊँ ॥२॥
सो सुख जानइ मन अरु काना । नहिं रसना पहिं जाइ बखाना ॥३॥
प्रभु सोभा सुख जानहिं नयना । किमि कहि सकहिं तिन्हहिं नहिं बयना ॥४॥
बहु बिधि मोहि प्रबोधि सुख देई । लगे करन सिसु-कौतुक तेई ॥५॥

अर्थ—तुझे कभी काल नहीं व्याप्त होगा, मेरा निरंतर स्मरण और भजन करना ॥१॥ प्रभु के वचनामृत सुनकर तृप्ति नहीं होती थी, शरीर से रोमांचित होकर मन में अत्यन्त हर्ष होता था ॥२॥ वह सुख मन और कान ही जानते हैं, जिह्वा से उसका बखान नहीं हो सकता ॥३॥ प्रभु की शोभा का सुख नेत्र जानते हैं, पर वे कैसे कह सकें ? उनके वाणी तो है नहीं ॥४॥ बहुत प्रकार मुझे समझाकर सुख देकर फिर वही शिशु लीला करने लगे ॥५॥

विशेष—(१) 'कबहूँ काल न ब्यापिहि तोही । सुमिरेसु...' ; यथा—"नाम पाहरु राति-दिन, ध्यान तुम्हार कपाट । लोचन निज पद यंत्रित, प्रान जाहिं केहि बाट ॥" (सुं० दो० ३०); 'निरन्तर'; यथा—"अति अनन्य जे हरि के दासा । रटहिं नाम निसि दिन प्रति स्वासा ॥" (वैराग्य सं० ४०)। भगवान् में एकरस चित्तवृत्ति का लगा रहना स्मरण है और साथ ही प्रतिमा-रूप में अथवा मानसी मूर्त्ति में कैंकर्यरत रहना भजन है, इससे काल का नहीं व्यापना कई प्रकार से होता है—

(क) जैसा समय आता है, वैसी मनुष्यों की वृत्ति हो जाती है। किन्तु भगवान् के भजन-स्मरण से चित्त शुद्ध सात्त्विक ही रहता है। अन्त तक ऐसे ही रहते हुए शरीर त्याग होने पर वह भगवान् को ही पाता है। फिर सदा के लिये काल के फंदे से छूट जाता है। मृत्यु के समय का दुःख भी उसे नहीं व्याप्त होता, यथा—"राम-चरन दृढ़ प्रीति करि, बालि कीन्ह तनु त्याग। सुमनमाल जिमि कंठ ते, गिरत न जानै नाग ॥" (कि० दो० १०)।

(ख) श्रीनारदजी से भगवान् का वचन है—"मतिर्मयि निबद्धेयं न विपद्येत कर्हिचित् । प्रजा सर्गनिरोधेऽपि स्मृतिश्चमदनुग्रहात् ॥" (भाग० १।६।२५) अर्थात् मेरे अनुग्रह से तुम्हारी बुद्धि अचल

बनी रहेगी, कल्पान्त होने पर भी इस जन्म की स्मृति बनी रहेगी। यह बात आगे भुशुंडिजी कहते हैं; यथा—"सुधि मोहिं नाथ जन्म बहु केरी। सिवप्रसाद मति मोह न घेरी॥" (दो० ९५)। अत, जन्मान्तर की स्मृति रहना भी काल का नहीं व्याप्त होना है।

यहाँ पर आगे दो० ९६ मे श्रीगरुडजी इसी बात का प्रश्न भी करेंगे कि तुम्हें काल क्यों नहीं व्याप्त होता। उसके उत्तर मे एक तो यहाँ का यह वरदान है फिर श्रीलोमशजी के और श्रीशिवजी के भी वरदान आगे कहे जायँगे।

(२) 'प्रभु बचनामृत सुनि न अघाऊँ।' यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"एवमस्तु कहि रघुकुल-नायक। बोले बचन परम सुखदायक॥" (दो० ८४) है। 'न अघाऊँ'—अमृत से तृप्ति होती है, परन्तु प्रभु बचनामृत से नहीं होती थी।

(३) 'सो सुख जानइ...'—वचन कानों ने सुना और मन ने उसके आनन्द का अनुभव किया। अतः, ये ही जानते हैं। जिह्वा ने तो अनुभव किया नहीं तो वह कैसे कहे ? यह अनिर्वचनीय कहने की एक रीति है; यथा—"गिरा अनयन नयन बिनुबानी।" (बा० दो० २२८) इसपर भी कहा गया है। 'जानहिं नयना' का भाव ऊपर की चौपाई मे आ गया।

(४) 'बहु बिधि मोहि प्रबोधि...'—ऊपर—"एवमस्तु कहि" से "कबहूँ काल न व्यापिहि तोहीं। ..." तक बहुत प्रकार से समझाना कहा गया है कि कई वरदान दिये; इनकी बुद्धि की सराहना की; अपनी रीझ कही; सर्वगुण सम्पन्न किया; माया रहित किया। अपने ऐश्वर्य का उपदेश किया, निश्चल भक्ति करना कहा और फिर अपनी विमल वाणी मे निज सिद्धान्त भी समझाया कि शुचि सेवक मुझे प्राणप्रिय हैं, इसपर बार-बार प्रतिज्ञा भी की, फिर इन्हें काल से भी अभय किया।

(५) 'सिसु कौतुक तेई'—'तेई' अर्थात् उपर्युक्त—"किलकत मोहि धरन जब धावहिं" से "जाउँ समीप गहन पद···" इत्यादि, एवं वैसी और भी क्रीड़ाएँ जो पूर्व करते थे।

यहाँ तक भुशुंडि प्रति राम-गीता की समाप्ति हुई।

सजल नयन कछु मुख करि रूखा। चितइ मातु लागी अति भूखा॥६॥
देखि मातु आतुर उठि धाई। कहि मृदु बचन लिये उर लाई॥७॥
गोद राखि कराव पय पाना। रघुपति-चरित ललित कर गाना॥८॥

अर्थ—नेत्रों में आँसू भरकर मुख को कुछ रूखा (उदास) करके माता की ओर देखकर (सूचित किया कि) अत्यन्त भूख लगी है॥६॥ देखकर बड़ी शीघ्रता से माता उठकर दौड़ीं और कोमल वचन कहकर छाती से लगा लिया॥७॥ गोद में लेकर दूध पिलाती हैं, श्रीरघुनाथजी के सुन्दर चरित गान करती हैं॥८॥

विशेष—(१) 'चितइ मातु लागी...'—अभी बोल नहीं सकते, इससे चेष्टा-द्वारा क्षुधा को सूचित

किया। 'देखि मातु आतुर...'—शीघ्र उठ दौड़ीं और मृदु वचन कहा कि मैं बलिहारी जाऊँ, बड़ी भूख लगी है, अभी दूध पियो—यह इसलिये कि कहीं रोने न लगें। और भी मृदु वचन हैं; यथा—"नहरू छबीले छौना छगन मगन मेरे कहत मल्हाइ मल्हाई।" (गी० बा० १९) इत्यादि।

(२) 'रघुपति चरित ललित'; यथा—"मैं कछु करब ललित नर-लीला।" (आ० दो० २३); अर्थात् प्राकृत बालकों की सी बाल लीला, जिसमें ऐश्वर्य कुछ भी न जान पड़े। 'कर गाना'; यथा—"सुभग सेज सोभित कौसल्या रुचिर राम सिसु गोद लिये।...बाल केलि गावत हलरावत पुलकित प्रेम-पियूष पिये। ..." (गी० बा० ७)।

सोरठा—जेहि सुख लागि पुरारि, असुभ बेष कृत सिव सुखद।
अवधपुरी - नर - नारि, तेहि सुख महँ संतत मगन॥
सोई सुख लवलेस, जिन्ह बारक सपनेहुँ लहेउ।
ते नहिं गनहिं खगेस, ब्रह्म-सुखहि सज्जन सुमति॥८८॥

अर्थ—जिस सुख के लिये सुख देनेवाले, कल्याण रूप, त्रिपुरारि श्रीमहादेवजी ने अमंगल वेष धारण किया; अवधपुरी के स्त्री-पुरुष उसी सुख में सदैव डूबे रहते हैं। उस सुख का लवलेश (अत्यन्त अल्पांश) मात्र जिन्होंने एक बार स्वप्न में भी प्राप्त किया, हे गरुड़जी! वे सुंदर बुद्धिमान् सज्जन ब्रह्म-सुख को कुछ नहीं गिनते॥

विशेष—(१) 'जेहि सुख लागि···' श्रीशिवजी इसलिये अशुभ वेष बनाये रहते हैं कि जिससे किसी से विशेष सम्पर्क नहीं रहे। जितनी ही संसार से विरक्ति रहती है, उतना ही प्रभु की सान्निध्य वृत्ति का अधिक सुख मिलता है। श्रीशिवजी का इष्ट बाल-रूप है; यथा—"बंदउँ बाल-रूप सोइ रामू।" (बा० दो० ११२); पर कहा गया है। यही ध्यान इन्होंने श्रीलोमशजी के द्वारा श्रीभुशुंडिजी को भी दिया है। यहाँ उसी रूप का क्रीड़ा-सुख का प्रसंग भी है।

श्रीशिवजी असंग रहकर ध्यान किया करते हैं, परन्तु पुरारि ऐसे समर्थ भी संतत एकरस आस्वादन नहीं कर पाते। उसी सुख में श्रीअवधपुरी के सामान्य स्त्री-पुरुष निरंतर निमग्न रहते हैं। अतः, व्यवहार में रत भी श्रीअवधवासी श्रीशिवजी से अधिक बड़भागी हैं।

(२) 'असुभ बेष'; यथा—"कुंडल कंकन पहिरे ब्याला। तनु बिभूति पट केहरि छाला॥ गरल-कंठ उर नर सिर माला। असिव बेष सिव धाम कृपाला॥" (बा० दो० ९१); अशुभ वेष से औरों का अमंगल होता होगा, इस शंका के निवारण करने के लिये 'सिव सुखद' और 'पुरारि' कहा गया है कि वे स्वयं कल्याणमय हैं, उन्होंने त्रिपुर को मारकर तीनों लोकों को सुखी किया है।

'ते नहिं गनहिं···'—ब्रह्म-सुख और आनंदों की अवधि है, पर भक्ति से प्राप्त होनेवाले परमानंद के

समस्त वह अत्यंत तुच्छ हो जाता है। राजा श्रीजनकजी और सनकादिक के प्रसंग में दिखाया गया है— देखिये दो० ४२ और बा० दो० २१५ चौ० ५। ये लोग 'सज्जन' और 'सुमति' भी हैं। जो असज्जन और दुर्बुद्धि 'अहमम मलिन जन' हैं, वे तो इसे जानते ही नहीं।

मैं पुनि अवध रहेउँ कछु काला। देखेउँ बालबिनोद रसाला ॥१॥
राम-प्रसाद भगति बर पायउँ। प्रभु-पद बंदि निजाश्रम आयउँ ॥२॥
तब ते मोहि न ब्यापी माया। जब ते रघुनायक अपनाया ॥३॥
यह सब गुप्त चरित मैं गावा। हरिमाया जिमि मोहि नचावा ॥४॥

अर्थ—फिर मैं कुछ समय तक श्रीअवध में रहा और रसीले बालविनोद देखे ॥१॥ श्रीरामजी की प्रसन्नता से मैंने भक्ति का वरदान पाया और प्रभु के चरणों की वंदना करके अपने आश्रम पर आया ॥२॥ जबसे श्रीरघुनाथजी ने मुझे अपना लिया, तबसे मुझे माया नहीं व्याप्त हुई ॥३॥ जिस प्रकार भगवान की माया ने मुझे नचाया, वह सब गुप्त चरित मैंने कहा ॥४॥

विशेष—(१) 'कछु काला'—पाँचवें वर्ष की समाप्ति तक; यथा—"बरस पाँच तहँ रहउँ लुभाई।" (दो० ७४); यहाँ अवस्थानन्य का आदर्श दिखाया गया है। 'रसाला'—विशेष रस- (आनंद) मय।

(२) 'जब ते रघुनायक अपनाया।'—प्रभु जिसे कृपा करके अपनाते हैं, उसे फिर माया नहीं व्याप्त होती; यथा—"करि करुना भरि नयन बिलोकहु तब जानउँ अपनायो।" (गी० सुं० ४४), प्रभु ने श्रीभुशुंडिजी के शिर पर हाथ फेरा और उन्हें सदा के लिये माया से अभय किया. यथा "माया-संभव भ्रम सब, अब न व्यापिहहिं तोहिं ॥" (दो० ८५); यही अपनाना है। वि० २६८ भी देखिये।

(३) 'यह सब गुप्त चरित···'—यह रहस्य और अपना मोह अभी तक मैंने किसी से नहीं कहा था, क्योंकि ये कहने की बातें नहीं हैं। उपक्रम में ही कहा था—"परम रहस्य मनोहर गावउँ।" (दो० ७१); अर्थात् यह गोपनीय रहस्य है।

उपक्रम—	उपसंहार (यहाँ)
१. बाल चरित बिलोकि हरषाऊ। (दो० ७४)	देखेउँ बाल बिनोद रसाला।
२. तब तब अवधपुरी मैं जाऊँ। („ „)	प्रभु पद बंदि निजाश्रम आयउँ।
३. परम रहस्य मनोहर गावउँ। („ ७१)	यह सब गुप्त चरित मैं गावा।
४. रघुपति प्रेरित ब्यापी माया। („ ७७)	हरि माया जिमि मोहि नचावा।

इस गुप्त चरित का प्रसंग दो० ७७ चौ० १ से प्रारम्भ होकर यहाँ समाप्त हुआ।

श्रीभुशुंडिजी का 'निजी अनुभव'

निज अनुभव अब कहउँ खगेसा। बिनु हरिभजन न जाहि कलेसा ॥५॥
राम-कृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम-प्रभुताई ॥६॥

जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहि प्रीती ॥७॥
प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई ॥८॥

शब्दार्थ—अनुभव = वह ज्ञान जो साक्षात् करने से प्राप्त हो, परीक्षा द्वारा प्राप्त ज्ञान, तजरबा, यथा—"मोहि सम यह अनुभयेउ न दूजे।" (अ॰ दो॰ २)।

अर्थ—हे खगेश! अब मैं अपना अनुभव किया हुआ ज्ञान कहता हूँ कि बिना भगवान् के भजन के क्लेश नहीं छूटते ॥५॥ हे खगराज! सुनो, बिना श्रीराम कृपा के श्रीरामजी की प्रभुता नहीं जानी जा सकती ॥६॥ बिना (प्रभुता) जाने विश्वास नहीं होता और बिना विश्वास के प्रीति नहीं होती ॥७। बिना प्रीति के भक्ति दृढ नहीं होती जैसे कि हे खगपति! (बिना स्नेह अर्थात् तेल के) जल की चिकनाई (दृढ़ नहीं रहती) ॥८॥

विशेष—(१) 'बिनुहरि-भजन न जाहि कलेसा।', यथा—"जब कब रामकृपा दुख जाई। तुलसिदास नहिं आन उपाई॥" (वि॰ १२७), क्लेश—दो॰ ७८ चौ॰ १ में देखिये। यह अनुभव की बात है, इसलिये इसे आगे पुष्ट करते हुए 'सुनु खगराई' कहकर इसका वर्णन प्रारंभ करते हैं। श्रोता की प्रतीति के लिये अंत में वक्ता लोग अपना अनुभव भी कहते हैं। इसका उपसंहार—"अस बिचारि मति धीर " (दो॰ ९०), पर करेंगे। ऐसे ही श्रीशिवजी ने भी कहा है, यथा—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत सब सपना॥" (आ॰ दो॰ ३८), 'अब'—अभी तक श्रीरामजी का कथन कहा, अब अपना अनुभव कहता हूँ।

श्रीरामजी के भजन से उनकी कृपा होती है, यथा—"भजत कृपा करहहि रघुराई।" (बा॰ दो॰ २११), और श्रीराम-कृपा से दुःख दूर होता है, ऊपर प्रमाण लिखा गया है, किन्तु भजन दृढ़ चाहिये, उसका साधन आगे कारणमाला अलंकार से कहते हैं कि हरि के भजन से श्रीराम कृपा, श्रीराम कृपा से प्रभुता का ज्ञान, प्रभुता के ज्ञान से प्रभु में विश्वास, विश्वास से प्रीति और प्रीति से भक्ति दृढ होती है। इस प्रकार श्रीराम-भजन ही साधन और फिर वही साध्य भी है। अन्यत्र भी कहा है—"जाने बिनु भगति न जानिबो तिहारे हाथ समुझि सयाने नाथ पगनि परत।" (वि॰ २५१), "तुम्हरेइ भजन प्रभाव अघारी। जानउँ महिमा कछुक तुम्हारी॥" (आ॰ दो॰ ११)। श्रीराम कृपा से विशुद्ध संत मिलते हैं, उनसे श्रीरामजी की प्रभुता का ज्ञान हो जाता है, यथा—"संत बिसुद्ध मिलहिं परितेही। चितवहिं राम-कृपा करि जेही॥ राम कृपा तव दरसन भयऊ। तव प्रसाद सब संसय गयऊ॥" (दो॰ ६८)।

(२) 'जल कै चिकनाई'—चिकनाई का अर्थ स्निग्धता है, प्रीति का पर्याय नाम स्नेह है। स्नेह तैल को भी कहते हैं। यहाँ स्नेह को नहीं रखकर प्रीति शब्द कहकर प्रतीति के साथ अनुप्रास मिलाया गया है। प्रीति की जगह पर 'स्नेह' वाले पर्याय की ओर संकेत करते हुए 'चिकनाई' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसके अन्वय में 'जिमि खगपति' के आगे 'स्नेह बिना' ये दो शब्द विवक्षित समझे जाने चाहिये। अन्वय इस प्रकार होगा "हे खगपति! प्रीति बिना भक्ति नहिं दृढाई जिमि स्नेह बिना जल कै चिकनाई नहिं दृढाई।" अर्थ—हे गरुड़! प्रीति बिना भक्ति दृढ नहीं होती, जैसे तैल बिना जल की चिकनाई दृढ नहीं रहती। तिल, रेंडी, सरसों आदि के तैलों की चिकनाई स्थिर होती है, वह तैल यदि जल में मिला हो तो उसकी चिकनाई स्थिर रहती है। भाव यह है कि जल-मात्र शरीर पर चुपड दें, तो थोडी देर में ही चिकनाई नहीं रहती है और तैल मिला हुआ जल चुपडें तो वह स्निग्धता देर तक दृढ रहती है। ऐसे ही प्रीति बिना

जब तक सत्संग रहता है, भक्ति भी रहती है, संग छूटा कि फिर वह नहीं रह जाती। यदि प्रीति रहती है तो हृदय में दृढ़ भक्ति बनी रहती है।

जैसे श्रीसतीजी को पहले श्रीशिवजी के कहने-मात्र से प्रतीति नहीं हुई, जब उन्होंने परीक्षा करके श्रीरामजी का महत्त्व जाना तब उनकी प्रभुता में प्रतीति हुई। फिर श्रीरामजी में स्थिर प्रीति हुई कि जिससे दूसरे जन्म में भी कथा ही पर उनका चित्त रहा। पुन. श्रीपार्वतीजी की श्रीशिवजी में प्रीति थी, यथा—"सती मरत हरि सन बर माँगा। जनम जनम सिव-पद-अनुरागा॥" (बा० दो० ६४); इसी से श्रीशिवजी में उनकी दृढ़ भक्ति हुई; यथा—"नित नव चरन उपज अनुरागा। बिसरी देह तपहि मन लागा॥" (बा० दो० ७३); सप्तर्षि की कठिन परीक्षा में उनके खंडन करने पर भी वह प्रीति नहीं छूटी।

सो०—बिनु गुरु होइ कि ज्ञान, ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।
गावहिं बेद-पुरान, सुख कि लहिय हरि-भगति-बिनु॥
कोउ बिश्राम कि पाव, तात सहज संतोष बिनु।
चलै कि जल बिनु नाव, कोटि जतन पचिपचि मरिय॥८९॥

शब्दार्थ—'पच मरना' मुहावरा है; अर्थात् जी तोड़कर बहुत श्रम से कोई काम करना।

अर्थ—क्या विना गुरु के ज्ञान हो सकता है? क्या वैराग्य-विना ज्ञान हो सकता है? (इसी तरह) वेद-पुराण कहते हैं कि भगवान् की भक्ति के विना क्या सुख की प्राप्ति हो सकती है? हे तात! स्वाभाविक संतोष के विना क्या कोई शान्ति पा सकता है? क्या जल के विना नाव चल सकती है? चाहे करोड़ों उपाय करके पच-पच मरिये॥८९॥

विशेष—(१) 'बिनु गुरु होइ कि ज्ञान'''—भाव यह कि ज्ञान के लिये गुरु और वैराग्य, इन दोनों की आवश्यकता है। प्रथम श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु प्राप्त हों, तब उनसे सत्-असत् का ज्ञान हो, फिर जानकर असत् के त्याग करने के लिये शिष्य में वैराग्य वृत्ति भी चाहिये, अन्यथा गुरु-उपदेश व्यर्थ हो जायगा। असत् से चित्त वृत्ति पृथक हुए विना सत् में स्थिरता नहीं होगी। सत् का ग्रहण कर उसमें स्थिरता ही ज्ञान है। देह और तत्सम्बन्धी वर्त्ताव असत्-स्थिति है। आत्मा और तत्सम्बन्धी वर्त्ताव अर्थात् हरि भक्ति सत् है। जीवात्मा भगवान् का अंश है, उनकी वस्तु है। अतः, उनके लिये रहना अर्थात् उनकी भक्ति करना ही इसका उपयुक्त धर्म है। इस स्थिति पर आरूढ़ होना ज्ञान का प्राप्त करना है।

गुरु का अर्थ है—'अज्ञान रूपी अंधकार का नष्ट करनेवाला।'; यथा—"गु शब्दस्त्वन्धकारः स्याद्रु-शब्दस्तन्निरोधकः अन्धकारनिरोधित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते॥"

'सुत वित-देह-गेह-स्नेह' रूपी नानात्व दृष्टि ही अज्ञान है; यथा—"सुत-वित नारि-भवन ममता निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी।" (वि० १४०); ज्ञानी गुरु लोग इन ममताओं को त्यागे हुए रहते हैं; यथा—"ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी।" (कि० दो० १५)। अतः, वे अपने आचरण और उपदेश से औरों की ममता (उपर्युक्त असत्) का त्याग करा सकते हैं। फिर अपने आचरण से ही भक्ति भी दृढ़ कर सकते हैं।

जैसे दर्पण और सूर्य दोनों के योग से मुख देखा जाता है, वैसे ही वैराग्य और गुरु दोनों से ज्ञान होता है।

(२) 'सुख कि लहिय हरि भगति बिनु'—हरि भक्ति बिना सुख नहीं ; यथा—"श्रुति पुरान सद्ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥" से "जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला।" (दो १५१) तक, इसमें ९ असंभव दृष्टान्तों से पुष्ट किया गया है कि भक्ति बिना सुख नहीं मिलता। पुनः सुख के लिये स्वाभाविक संतोष की भी आवश्यकता है, यह भी आगे कहते हैं—

(३) 'कोउ बिश्राम कि पाव···'—इसमें सहज संतोष जल और विश्रामवृत्ति-निर्वाह नाव का चलना है। सहज संतोष से सुख होता है ; यथा—"जथा लाभ संतोष सुख" (दोहावली ६२); आगे दो अर्द्धालियों में इसे ही पुष्ट करेंगे कि संतोष से कामनाएँ नाश होती हैं, तब सुख शांति प्राप्त होती है और कामनाओं के मिटने का साधन श्रीराम-भजन भी कहेंगे, इस तरह प्रत्येक बात के दो-दो साधन कहते हैं।

बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं॥१॥
राम-भजन बिनु मिटहिं कि कामा। थल-बिहीन तरु कबहुँ कि जामा॥२॥
बिनु बिज्ञान कि समता आवइ। कोउ अवकास कि नभ बिनु पावइ॥३॥

अर्थ—बिना संतोष के कामनाएँ नहीं नाश होतीं और कामनाओं के रहते स्वप्न में भी सुख नहीं होता॥१॥ राम-भजन के बिना क्या कामनाएँ मिट सकती हैं ? (अर्थात् कभी नहीं) क्या स्थल (भूमि) के बिना कभी वृक्ष जमा है ? (अर्थात् कभी नहीं) ॥२॥ क्या बिना विज्ञान के सबमें समता भाव आ सकता है ? क्या बिना आकाश के कोई अवकाश (स्थान, बीच) पा सकता है ? (अर्थात् कभी नहीं) ॥३॥

विशेष—(१) 'बिनु संतोष न काम नसाहीं।' ; यथा—"जिमि लोभहिं सोखइ संतोषा।" (कि॰ दो॰ १५) ; संतोष बिना कामनाएँ बनी रहती हैं ; यथा—"नहि संतोष तौ पुनि कछु कहहू।" (बा॰ दो॰ १०२) ; 'काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं।' ; यथा—"पाकारिजित काम बिश्राम हारी।" (वि॰ ५८) ; 'राम भजन बिनु मिटहिं कि कामा।'—श्रीराम-भजन करनेवालों की सब कामनाएँ श्रीरामजी के विषय में ही हुआ करती हैं। उनकी इन्द्रियाँ उन्हीं को अपना विषय बनाये हुए तृप्त रहती हैं। जैसे कि नेत्रों से उनका रूप, श्रवणों से उनका यश, मन से उन्हीं की भावना को ग्रहण करते हुए इन्द्रियों को अन्यत्र जाने का अवकाश ही नहीं रहता। इस तरह काम-रूपी वृक्ष के उगने के लिये स्थल ही नहीं रहता।

काम नाश का सामान्य उपाय संतोष कहा गया, ऐसे ही काम के रहते हुए सुख के न रहने के लिये भी सामान्य ही कथन है ; यथा—'बिनु संतोष न···काम अछत सुख···' परन्तु इनके दूसरे साधन काकु द्वारा जोर देकर कहे गये ; यथा—"राम भजन बिनु मिटहिं कि कामा।' 'सुख कि लहिय हरि भगति बिनु।' इस प्रकार कहने के भाव ये हैं कि संतोष हो जाय और काम नाश भी हो जाय, तब भी हरि भजन करना चाहिये, जिससे संतोष और सुख की स्थिरता बनी रहे। क्योंकि हरि-भजन करने से परम समर्थ भगवान् रक्षक रहते हैं ; यथा—"सीम कि चापि सकइ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥" (बा॰ दो॰ १२५)।

(२) 'बिनु बिज्ञान कि समता आवइ'—जैसे आकाश में सब ओर जाने का अवकाश रहता है। वैसे ही विज्ञान होने पर सब ओर समता का संयोग प्राप्त होता है। प्रकृति-वियुक्त जीवात्मा के ज्ञान को

विज्ञान कहते हैं कि जीव प्रकृति के तीनों गुणों के प्राधान्य में होनेवाली तीनों अवस्थाओं से पृथक् हैं। गुणों के द्वारा ही तीनों अवस्थाओं के कार्य होते हैं, जिनसे शत्रु-मित्र आदि भाव मन में आया करते हैं। जब इन कार्यों को जीव अपने से भिन्न समझ लेता है तो गुणों के विकार रूप राग-द्वेष आदि को गुणों पर ही डाल देता है, फिर किसी के प्रति उसकी विषमता हो ही नहीं सकती। विज्ञान—दो० ११७ में देखिये। कहा भी है—"तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः। गुणागुणेषु वर्तंत इति मत्वा न सज्जते॥" (गीता ३।२८) ; अर्थ—परन्तु हे अर्जुन! गुण विभाग और कर्म विभाग के तत्त्व को जाननेवाला (ज्ञानी) सम्पूर्ण गुण ही गुणों में वर्तते हैं—ऐसा मानकर नहीं आसक्त होता है; अर्थात् पंच महाभूत, अंतःकरण, इन्द्रियाँ और विषय के समुदाय गुण विभाग हैं और इनकी परस्पर चेष्टाएँ कर्म-विभाग हैं। इन दोनों विभागों से आत्मा को पृथक् अर्थात् निर्लेप जानना ही इनका तत्त्व जानना है।

ऊपर जैसे संतोष और सुख की प्राप्ति श्रीराम-भजन से कही गई, वैसे यह विज्ञान भी भजन से शीघ्र प्राप्त होता है; यथा—"मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥" (गीता १४।२६); अर्थात् अनन्य भक्ति से भी गुणातीत अवस्था प्राप्त होती है।

भाव यह कि इन सबके मूल रूप श्रीराम-भजन में ही जीवों को लगना चाहिये। इन सब उपर्युक्त दृष्टान्तों से 'बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा।' की ही पुष्टि होती है।

श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई। बिनु महि गंध कि पावइ कोई॥४॥
बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा। जल बिनु रस कि होइ संसारा॥५॥
सील कि मिल बिनु बुध-सेवकाई। जिमि बिनु तेज न रूप गोसाँई॥६॥

अर्थ—बिना श्रद्धा के धर्म नहीं होता, क्या बिना पृथिवी (तत्त्व) के कोई गंध पाता है?॥४॥ बिना तप के क्या (कोई) तेज का विस्तार कर सकता है? क्या बिना जल-तत्त्व के संसार में रस हो सकता है?॥५॥ क्या पंडितजन की सेवा बिना शील मिल सकती है? अर्थात् नहीं, जैसे कि हे गोसाईं! बिना तेज (अग्नितत्त्व) के रूप नहीं हो सकता है॥६॥

विशेष—(१) 'श्रद्धा बिना धर्म...'—पृथिवी तत्त्व में ही गंध गुण रहता है, वैसे ही श्रद्धा में धर्म रहता है, श्रद्धा बिना धर्म व्यर्थ हो जाता है; यथा—"अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्। असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥" (गीता १७।२८)। पृथिवी में गंध गुण है, उससे सबकी वासना-पूर्ति होती है। वैसे ही श्रद्धा पूर्वक धर्म से सब प्रकार की वासनाएँ पूरी होती हैं।

(२) 'बिनु तप तेज...'—जलतत्त्व में ही रस गुण रहता है, वैसे ही तपस्या में ही तेज रहता है। तप से इन्द्रिय निग्रह होकर मन निर्मल होता है, विषय रूपी काई मन मुकुर से छूटती है, और फिर तेज का विस्तार होता है।

(३) 'सील कि मिल...'—अग्नितत्त्व में ही रूप रहता है, वैसे ही बुधों की सेवा से ही शील (सद्वृत्ति) प्राप्त होती है। उनकी शिक्षा से एवं उनकी रीति रहस्य देखने से यह (सेवक) भी शीलवान् हो जाता है।

निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा। परस कि होइ बिहीन समीरा ॥७॥
कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा। बिनु हरिभजन न भव-भय नासा ॥८॥

अर्थ—आत्म सुख (स्वस्वरूपानन्द) बिना क्या मन स्थिर (शान्त) हो सकता है ? क्या पवन-तत्त्व के बिना स्पर्श हो सकता है ? ॥७॥ क्या बिना विश्वास के कोई भी सिद्धि हो सकती है ? (कभी नहीं, इसी तरह) बिना हरि-भजन के भव-भय का नाश नहीं हो सकता ॥८॥

विशेष—(१) 'निज सुख बिनु मन ..'—वायु-तत्त्व में ही स्पर्श गुण रहता है, वैसे ही आत्म सुख में ही मन की स्थिरता हो सकती है, अन्यत्र नहीं। वायु का स्थिर करना दुष्कर है, वैसे मन का स्थिर होना भी कठिन है ; यथा—"चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥" (गीता ६।३४) ; मन विषयों के लिये चंचल रहता है, पर जब वह आत्मसुख पा जाता है, तो स्थिर हो जाता है ; यथा—"ब्रह्म पियूष मधुर सीतल जो पै मन सो रस पावै। तौ कत मृगजल रूप विषय कारन निसि बासर धावै ॥" (वि० १६) ; अर्थात् जो तीनों तापों से रहित शीतल, विषय निम्ब की कटुता रहित मधुर और मृत्युधर्म से रहित अमृत रूप ब्रह्मानंद है, यदि मन उसका अनुभव कर पावे, तो क्या मृगतृष्णा रूप विषय का लोलुप हो ?

यहाँ ब्रह्मानंद जीव के स्वस्वरूप प्रयुक्त सुख को कहा गया है जो कि उपासना द्वारा प्राप्त होता है यथा—"ब्रह्मानंद मगन कपि, सबके प्रभु-पद प्रीति।" (दो० १५) ; इसी को 'नित्य सुख' एवं 'आत्म सुख' भी कहते हैं बा० दो० २१ चौ० १-२ भी देखिये। यहाँ जो कोई इन्द्रिय-सुख प्रसंग लेकर प्राकृत सुख का अर्थ करते हैं, वह इससे अयुक्त है कि वह क्षण मात्र स्थिर कर फिर और अधिक चंचल करता है ; यथा—"पावक काम भोग घृत ते सठ कैसे परत बुझायो।" (वि० १९९) ; और यहाँ तो मन का शान्त होना कहा गया है।

(२) 'कवनिउँ सिद्धि कि...'; यथा—"भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ। याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥" (बा० मं० श्लो० २)। तथा—"गुरु के बचन प्रतीति न जेही। सपनेहुँ सुगम न सुख सिधि तेही ॥" (बा० दो० ७९)।

'बिनु हरि भजन न भव भय नासा।'—"बिनु गुरु होइ कि ज्ञान" से "बिनु बिस्वासा" तक बीस विनोक्ति उदाहरण कहकर कहते हैं कि इसी तरह हरि-भजन बिना भव-भय का नाश नहीं होता। भाव यह कि यह बात बीसो बिस्वा सिद्धान्त भूत है ; अर्थात् अटल सिद्धान्त है।

"बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा।" (दो० ८८) ; उपक्रम है और "बिनु हरि भजन न भव भय नासा।" उपसहार है पर पुन.—"राम भजन बिनु मिटहि कि कामा।" उपक्रम है और "बिनु हरि भजन न भव भय नासा।" उपसंहार है। इस प्रसंग के बीच में आकाश, पृथिवी, जल, अग्नि, पवन और इनके गुण अवकाश, गंध, रस, रूप और स्पर्श कहे गये। यहाँ तत्वों का कोई क्रम नहीं है, विनोक्तिअलंकार के साथ स्वाभाविक दृष्टान्त दिये गये हैं।

भुशुंडिजी के अनुभव पर रहस्यात्मक दृष्टि।

(क) विज्ञान होना चित्त का धर्म है ; यथा—"योगो विरागः स्मरणं ज्ञानं विज्ञानमेव च।

उच्चाटनं तथा ज्ञेयं चित्तस्यांशानिषट् यथा ।।" (जिज्ञासापंचक) ; समता भी चित्त में ही कही जाती है ; यथा—"चित्त दिया भरि धरै दृढ़, समता दियटि वनाइ ।" (दो० ११७) ; आकाश के साहाय्य से चित्त की निष्पत्ति भी कही गई है ; यथा—"वायोः सकाशाच्चित्तं च नभोंऽशाच्च प्रवर्त्तते ।।" (जिज्ञासापंचक) ; इसलिये आकाश के दृष्टान्त के साथ विज्ञान द्वारा चित्त में समता प्राप्त करना कहा गया है ।

बुद्धि के द्वारा श्रद्धा समेत धर्म होते हैं ; यथा—"जपो यज्ञस्तपस्त्याग आचारोऽध्ययनं तथा । बुद्धेश्चैव षडङ्गानि ज्ञातव्यानि मुमुक्षुभिः ।।" (जिज्ञासापंचक)। बुद्धि की निष्पत्ति पृथिवी तत्व के साहाय्य में कही गई है ; यथा—"बुद्धिर्जाता क्षितेरपि ।" (जिज्ञासापंचक) ; इसलिये पृथिवी के दृष्टान्त द्वारा श्रद्धापूर्वक धर्म द्वारा बुद्धि को शुद्ध करना कहा गया है ।

तपस् अग्नि का नाम है, अग्नि के साहाय्य में अहंकार की निष्पत्ति कही गई है; यथा "अहंकारोग्नि संजातः" (जिज्ञासापंचक) ; अहंकार शरीर का होता है, वह जल-तत्व के रस-गुण द्वारा रसना से विविध रसों से पोषित शरीर के द्वारा विकार को प्राप्त होता है । इसलिये इसकी शुद्धि के लिये जल-तत्त्व के दृष्टान्त द्वारा तप से शुद्ध होना कहा गया है कि तप से इन्द्रिय-निग्रह होकर तेज विस्तार होने पर देहाभिमान नाश होगा । फिर शुद्ध हृदय होने पर बुधों की सेवा द्वारा सद्वृत्ति प्राप्त होती है ।

मन वायु की तरह चंचल है । इससे इसे वायु के दृष्टान्त के द्वारा आत्मसुख से शांत होना कहा गया है ।

इस तरह यहाँ अंतःकरण चतुष्टय का साधन भी कहा गया है कि आकाश की तरह चित्त में अवकाशत्व, पृथिवी में गंध की तरह बुद्धि में वासना, अहंकार में अग्नि की-सी उष्णता और मन में वायु की-सी चंचलता स्वाभाविक है, पर ये सब इन-इन साधनों से शुद्ध हो जाते हैं ।

(ख) आकाश विना अवकाश के, पृथिवी विना गंध के, जल विना रस के, अग्नि विना रूप के और वायु विना स्पर्श के संसार में नहीं देखे जाते । अपने-अपने गुणों से युक्त ही रहते हैं । इनकी इन्द्रियाँ क्रमशः श्रवण, नासिका, रसना, नेत्र और त्वचा अपने-अपने देवताओं के विषय शब्द, गंध, रस, रूप और स्पर्श को ही ग्रहण करते हैं । ये सब अपने-अपने विषयों में अनन्य हैं । वैसे ही जीव ईश्वर का अंश है । अतः, इसे भी ईश्वर में अनन्य होकर उन्हीं को अपना विषय बना लेना चाहिये ; अर्थात् अपने आश्रित इन्द्रियों को अपने हाथ मे करके इन्हें अपने विषय रूप भगवान् में लगाना चाहिये । नेत्र से प्रभु के दर्शन, हाथ से उनका कैंकर्य आदि इन रूपों में उनकी भक्ति करनी चाहिये--इन दृष्टान्तों का यह भी तात्पर्य है, क्योंकि यहाँ हरि-भक्ति का प्रसंग है ।

दोहा—बिनु बिस्वास भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिं न राम ।
राम-कृपा बिनु सपनेहुँ, जीव न लह बिश्राम ॥
सो०—अस बिचारि मतिधीर, तजि कुतर्क संसय सकल ।
भजहु राम रघुबीर, करुनाकर सुंदर सुखद ॥९०॥

अर्थ—विना विश्वास के भक्ति नहीं होती, भक्ति विना श्रीरामजी द्रवीभूत नहीं होते (कृपा नहीं

करते) और श्रीरामजी की कृपा के बिना जीव स्वप्न में (कभी) भी विश्राम नहीं पाता। हे मति धीर! ऐसा विचार कर समस्त कुत्सित तर्कणाएँ और संशय छोड़कर, करुणा की खान सुंदर और सुख देनेवाले रघुवीर श्रीरामजी को भजो ॥९०॥

विशेष—(१) 'बिनु बिस्वास भगति नहिं···'—यहाँ कारणमाला और विनोक्ति अलंकार है। 'जीव न लह बिश्राम' यह उपसंहार है। इसका उपक्रम—"कोउ बिश्राम कि पाव·· " (दो० ८९) से है। पुनः—"राम-कृपा बिनु सुनु···" (दो० ८८); उपक्रम है और यहाँ "राम-कृपा बिनु सपनेहुँ···" वह उपसंहार है। अतः, इस अनुभव-कथन-प्रसंग में श्रीराम-कृपा ही को प्रधान दिखाते हुए इसी का सम्पुट किया गया है।

यहाँ विश्वास बिना भक्ति का नहीं होना कहा गया और पूर्व—"संकर-भजन बिना नर, भगति न पावइ मोरि।" (दो० ४५); कहा गया था। दोनों की एकता इस प्रकार होगी कि श्रीशिवजी विश्वास-रूप ही हैं—बा० मं० श्लो० २ देखिये। भक्तों के विश्वास की परीक्षा भी होती है; यथा—"गरजि तरजि पाषान बरषि पवि प्रीति परषि जिय जानै।" (वि० ६५)। 'न लह बिश्राम', यथा—"द्रवैं जानकी कंत, तब छूटइ संसार-दुख।" (दोहावली १३९)।

(२) 'अस बिचारि' —जैसा ऊपर 'बिनु हरि-भजन न जाहि कलेसा।' से यहाँ तक कहा गया कि हरि-भजन ही करना जीव का कर्त्तव्य है। 'मतिधीर'—धीर बुद्धिवाला ही ऐसा विचार करके उसमें तत्पर होता है। 'तजि कुतर्क संसय सकल'—यहाँ कुतर्क और संशय त्यागने को कहते हैं, क्योंकि गरुड़जी में ये दोनों बातें पहले हुई थीं।

अमुक कार्य इन्होंने क्यों किया? यह कुतर्क है और ये ईश्वर हैं कि जीव? यह संशय है। यथा—"चिदानंद संदोह, राम बिकल कारन कवन।" (दो० ५८);—यह कुतर्क है और "देखि चरित अति नर अनुसारी। भयउ हृदय मम संसय भारी॥" (दो० ५८)—यह संशय है। 'सकल'—जो पूर्व—"करत बिचार उरग आराती।" से "खेद खिन्न मन तर्क बढ़ाई। भयउ मोह बस···" (दो० ५८) तक कहा गया। संशय होने से कुतर्क होते हैं; यथा—"संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता। दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता॥" (दो० ९३)। अतः, संशय कारण और कुतर्क कार्य हैं।

(३) 'भजहु राम रघुबीर'—प्रथम 'राम' कहकर ऐश्वर्य कहा गया, गरुड़जी ने कहा था—"खर्ब निसाचर बाँधेउ, नागपास सोइ राम।" (दो० ५८); "चिदानंद संदोह, राम बिकल कारन कवन।" (दो० ६); अर्थात् श्रीरामजी को परब्रह्म मानते हैं, इससे वही नाम कहकर फिर इन्हीं को 'रघुबीर' कहकर सूचित किया कि वे ही ये रघुकुल में पंच वीरता धारण किये हुए अवतरित हैं, इन्हें कौन बाँध सकता है? वह तो इन्होंने नरनाट्य किया था। रघुबीर हैं, अतः उपास्य हैं; यथा—"बीर महा अवराधिये साधे सिधि होय। सकल काम पूरन करै जानै सब कोय॥" (वि० १०८); और बड़े कोमल स्वभाववाले हैं, भजन करने से कृपा करते हैं, यथा—"करुनामय मृदु राम-सुभाऊ।" (अ० दो० ३१); "भजत कृपा करिहहिं रघुराई।" (बा० दो० १११); 'करुनाकर सुंदर सुखद'—करुणामय हैं; यथा—"करुनामय रघुनाथ गोसाईं" (अ० दो० ८७); इन्हें दीन जानकर इनपर कृपा की, शिर पर हाथ फेरा, इससे इन्होंने करुणाकर कहा है। 'सुंदर'; यथा—"प्रभु-सोभा सुख जानइ नयना॥" (दो० ८७) 'सुखद'; यथा—"बहु बिधि मोहि प्रबोधि सुख देई।" (दो० ८७), इत्यादि समझकर इन विशेषणों को कहा है। स्वभाव करुणाकर और सुखद है, स्वरूप सुंदर है।

निज अनुभव प्रसंग समाप्त हुआ।

निज मति सरिस नाथ मैं गाई। प्रभु-प्रताप महिमा-खगराई ॥१॥
कहेउँ न कछु करि जुगुति बिसेखी। यह सब मैं निज नैनन्हि देखी ॥२॥

अर्थ—हे खगराज ! हे नाथ ! मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार प्रभु के प्रताप और उनकी महिमा को कहा ॥१॥ मैंने कुछ विशेष युक्ति से बढ़ाकर नहीं कहा; किन्तु यह सब मैंने अपनी आँखों से देखा है ॥२॥

विशेष— (१) 'निज मति सरिस' का भाव यह है कि प्रभु का प्रताप एवं महिमा बहुत है, मैंने अपनी मति के अनुसार जितना कहते बना, उतना कहा; यथा—"मति अनुहारि सुबारि गुन-गान-गनि मन अन्हवाय ॥" (बा॰ दो॰ ४३); "तदपि जथा श्रुत जसि मति मोरी। कहिहउँ···" (बा॰ दो॰ ११३)।

श्रीरामजी का भजन करने से माया डरती है, भव-भय नाश होता है—यह सब प्रताप है और प्रभु की भुजा सर्वत्र देखी, उनके उदर में ब्रह्मांड-समूह देखा, त्रिदेव प्रभु की सेवा करते हैं—यह सब महिमा है।

(२) 'कहेउँ न कछु करि जुगुति···'—श्रीरामजी हमारे इष्टदेव हैं, इससे यह न समझें कि इन्होंने युक्ति-विशेष से काव्यालंकार की रीति से कुछ बढ़ाकर कहा है। इसलिये पुष्ट प्रमाण देते हैं कि यह सब लीलाएँ मैंने अपनी आँखों से ही देखी हैं और ज्यों-की-त्यों सत्य ही कही हैं।

"सुनु खगेस रघुपति प्रभुताई। कहउँ जथामति कथा सुहाई ॥" (दो॰ ७३) उपक्रम है और यहाँ—"निज मति सरिस नाथ मैं गाई। प्रभु-प्रताप-महिमा खगराई ॥" उपसंहार है। इन १७ दोहों में प्रभुता का वर्णन है।

अमित महिमा-प्रसंग

महिमा - नाम - रूप - गुन - गाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा ॥३॥
निज-निज मति मुनि हरि-गुन गावहिं। निगम सेष सिव पार न पावहिं ॥४॥
तुम्हहि आदि खग मसक प्रजंता। नभ उड़ाहिं नहिं पावहिं अंता ॥५॥
तिमि रघुपति-महिमा अवगाहा। तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा ॥६॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी की महिमा, नाम, रूप और गुणों की कथा सब अमित हैं तथा श्रीरघुनाथजी (स्वयं भी) अनंत हैं ॥३॥ मुनि अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार भगवान् के गुण गाते हैं, वेद, शेष और श्रीशिवजी भी उनका पार नहीं पाते ॥४॥ तुमसे लेकर मच्छड़ तक जितने (भी बड़े छोटे) पक्षी हैं सब आकाश में उड़ते हैं, पर अंत नहीं पाते; इसी तरह, हे तात ! श्रीरघुनाथजी की अगाध महिमा है, उसकी क्या कभी कोई थाह पा सकता है ? अर्थात् नहीं पा सकता ॥५-६॥

विशेष—(१) 'महिमा-नाम-रूप-गुनगाथा'—इन सबका वर्णन आगे करते हैं—'महिमा'; यथा—"तुम्हहिं आदि खग···" से "तिमि रघुपति महिमा अवगाहा। तात···" तक से उपक्रम करके

आगे "थाह कि पावइ कोइ" तक महिमा ही है। पर इसी में शेष तीन (नाम, रूप और गुण) भी कहे गये हैं—'नाम'; यथा—"तीरथ अमित कोटि सत पावन। नाम अखिल अघ पूग नसावन॥" 'रूप'; यथा—"राम काम सत कोटि सुभग तन" एवं—'निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै।" 'गुनगाथा'; यथा—"राम अमित गुन सागर" एवं—"सारद सेष महेस बिधि, आगम निगम पुरान। नेति नेति कहि जासु गुन, करहिं निरंतर गान॥" (बा०-दो० १२); "राम अनंत अनंत गुन, अमित कथा बिस्तार।" (बा० दो० ३३)।

(२) 'निगम सेष सिव'—जब ये भी पार नहीं पाते तब और कौन कहकर पार पायेगा ?

(३) 'तुम्हहि आदि खग ···'—पक्षियों में श्रीगरुड़जी सबसे बड़े हैं और मशक अत्यंत छोटे हैं, ये दोनों बड़ाई और छोटाई की अवधि हैं। दोनों ही अपनी-अपनी शक्ति-भर आकाश में उड़ते हैं, पर पार नहीं पाते। 'तिमि रघुपति महिमा···'—वैसे ही रघुपति-महिमा का वर्णन अपने-अपने सामर्थ्य-भर कवि लोग करते हैं, पर पार नहीं पाते, केवल अपनी-अपनी वाणी पवित्र करने के लिये ही गुण गाते हैं, पार पाने के लिये नहीं। वैसे ही—'निज मति सरिस नाथ मैं गाई।' भी कहा गया है। तथा—"अहं हि पृष्टोऽर्यमणो भवद्भिराचक्ष आत्मावगमोऽत्र यावान्। नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्त्रिणस्तथा समं विष्णुगतिं विपश्चितः॥" (भाग० १।१८।२३) अर्थात् श्रीसूतजी ऋषियों से कहते हैं—जो मुझे विदित है, वह मैं यथामति कहता हूँ, जैसे पक्षिगण अपनी शक्ति-भर आकाश में उड़ते हैं, वैसे ही विद्वान् लोग अपनी बुद्धि-भर (भगवान् की) लीला का वर्णन करते हैं।

राम काम सतकोटि सुभग तन। दुर्गा कोटि अमित अरिमर्दन॥७॥
सक्र कोटिसत सरिस बिलासा। नभ सतकोटि अमित अवकासा॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी अनंत कामदेवों के समान सुन्दर शरीरवाले हैं, अनंत करोड़ दुर्गा के समान असंख्य शत्रुओं के नाश करनेवाले हैं॥ ७॥ असंख्य इन्द्रों के समान उनका भोग-विलास है। असंख्य आकाशों के समान अनंत अवकाश (विस्तार) वाले हैं॥८॥

विशेष—(१) 'राम काम सतकोटि···'—ऊपर कहा गया—'तात कबहु कोउ पाव कि थाहा।' उसी महिमा की अनंतता को यहाँ पुष्ट करते हैं। सृष्टि में जिस गुण में जो उत्कृष्ट है, उसी की उपमा को चुनकर शाखाचन्द्रन्याय से उसीमें कोटि-कोटि गुण कहकर अनंतता दिखाते हैं। अंत में सबों को एकत्र कर उन्हें जुगनू-समूह कहकर श्रीरामजी को सूर्यवत् कहेंगे, इस प्रकार प्रभु को निरुपम सिद्ध करेंगे। रूप में काम, शत्रुमर्दन में दुर्गा, भोग में इन्द्र इत्यादि रीति से एक एक विषय की महिमा कहते हैं—

पहले काम की उपमा से शृंगार-रस कहते हैं, फिर आगे और रसों को कहेंगे। काम तीनों लोकों में सबसे अधिक सुन्दर है और श्यामवर्ण है। ऐसे असख्य कामदेव भी प्रभु के सौन्दर्य के सामने ऐसे हैं, जैसे सूर्य के आगे जुगनू; यथा—"अंग अंग पर वारियहि, कोटि कोटि सत काम।" (बा० दो० १२०); अर्थात् कामदेव तो राई के समान इनकी सुन्दरता पर निछावर की वस्तु है, तब वह उपमा को कैसे पा सकता है ? - यहाँ रूप का वर्णन है।

'दुर्गा कोटि···'—शत्रु को नाश करने की शक्ति में दुर्गा देवी का महत्त्व शिव आदि से भी अधिक कहा गया है। वैसी अमित दुर्गा की शक्ति भी—प्रभु की शक्ति के आगे—सूर्य के आगे खद्योत की तरह अल्प है। यहाँ वीरत्व कहा गया है।

(२) 'सक्र कोटि सत···'—भोग मे इन्द्र से हद है ; यथा—"भोगेन मघवानिव" (मूल० रा० वल्मी०); "मघवा से महीप विषय-सुख-साने।" (क० उ० ४३)। उसी प्रकार के कोटि इन्द्र को भी उपर्युक्त रीति से तुच्छ दिखाया गया है।

'नभ सतकोटि ··'—जिनके रोम-रोम में और उदर मे असंख्य ब्रह्मांड है, उनके अवकाश की क्या थाह ? एक-एक ब्रह्मांड के आकाश का तो पता ही नहीं चलता ; यथा—"तुम्हहि आदि खग मसक प्रजता। नभ उड़ाहि नहिं पावहिं अंता॥" ऊपर कहा गया है। तथा—"स भूमिंध्ठ सर्वतः स्पृत्वा त्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥" (पुरुषसूक्त) अर्थात् वह ईश्वर सब तरफ से पृथिवी को स्पर्श करता हुआ दश अंगुल उससे भी अधिक स्थित है, भाव यह है कि आकाश के विस्तार से भी अधिक है।

दोहा—मरुत कोटिसत बिपुल बल, रबि सतकोटि प्रकास।
ससि सतकोटि सुसीतल, समन सकल भव-त्रास॥
काल कोटिसत सरिस अति, दुस्तर दुर्ग दुरंत।
धूमकेतु सतकोटि सम, दुराधरष भगवंत॥९१॥

शब्दार्थ—दुस्तर = दुःख से तरने योग्य, जिसका पार पाना कठिन हो। दुर्ग = दुर्गम, जहाँ दुःख से पहुँच हो, जिनका समझना कठिन हो। दुरंत = जिसका अंत नहीं। दुराधर्ष = जिसका दमन करना कठिन हो। दुर् उपसर्ग का प्रयोग इन अर्थों में होता है—निषेध, दूषण, दुःख। धूमकेतु = अग्नि।

अर्थ—असंख्य पवनदेव के समान उनका विशाल एवं बहुत बल है, असंख्य सूर्य के समान प्रकाश है। वे असंख्य चन्द्रमा के समान सुन्दर (दुःखद नहीं), शीतल और समस्त भव-भय के शमन (नाश) करनेवाले हैं॥ असंख्य कालों के समान अत्यंत दुस्तर, दुर्गम और दुरन्त हैं। भगवान् असंख्य अग्नि के समान दुराधर्ष और षडैश्वर्यवान् हैं॥ ९१॥

विशेष—(१) पवनदेव बल मे और सूर्य तेज में सबसे अधिक हैं ; यथा—"पवन-तनय बल पवन समाना।" (कि० दो० २९); "रवि सम तेज सो बरनि न जाई।" (दो० ११); 'सुसीतल'—चन्द्रमा तो केवल शरदातप को हरता है, यथा—"सरदातप निसि ससि अपहरई।" (कि० दो० १६) और प्रभु तो भव-त्रास को हर लेते हैं। चन्द्रमा की शीतलता बहुतों को दुःखद भी होती है, पर प्रभु 'सुसीतल' अर्थात् सुन्दर (अनुकूल) शीतल हैं।

(२) 'दुस्तर दुर्ग दुरंत', यथा—"अंडकटाह अमित लयकारी। काल सदा दुरतिक्रम भारी॥" (दो० ९३), 'धूमकेतु सत···'—अग्नि की करालता, यथा—"जुग षट् भानु देखे प्रलय कृसानु देखे सेष मुख अनल बिलोके बार-बार हैं।" (क० सु० २०)।

प्रभु अगाध सतकोटि पताला। समन कोटिसत सरिस कराला॥१॥
तीरथ अमित कोटि सम पावन। नाम अखिल अघ-पूग नसावन॥२॥
हिमगिरि कोटि अचल रघुबीरा। सिंधु कोटिसत सम गंभीरा॥३॥
कामधेनु सतकोटि समाना। सकल कामदायक भगवाना॥४॥

शब्दार्थ—पाताल = पृथिवी के नीचे के सात लोकों में अंतिम लोक—अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल। ये क्रमशः एक के नीचे दूसरे हैं, पाताल सबसे नीचे है। गहराई के अगाध (अथाह) होने में इसकी उपमा दी जाती है।

अर्थ—प्रभु असंख्य पातालों के समान अथाह हैं। असंख्य यमराजों के समान कराल (भयंकर) हैं ॥१॥ उनका नाम अनन्त कोटि तीर्थों के समान पवित्र करनेवाला और समस्त पाप-समूह का नाशक है। २॥ रघुवीर श्रीरामजी करोड़ों हिमालय पहाड़ों के समान अचल (अटल, स्थिर) और असंख्य समुद्रों के समान गहरे हैं ॥३॥ भगवान् श्रीरामजी असंख्य कामधेनुओं के समान समस्त कामनाओं के देनेवाले हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'अगाध' और 'गभीर' में यह अंतर है कि अगाध का अर्थ अथाह है और गंभीर का अर्थ गहरा है, पर अथाह नहीं। उदाहरण—"कृपासिंधु सिव परम अगाधा। प्रगट न कहेउ मोर अपराधा॥" (बा० दो० ५७); "सुनु खगेस प्रभु कै असि बानी। अति अगाध जानहिं मुनि ज्ञानी॥" (उ० दो० १११); "कहि न सकत कछु अति गभीरा। प्रभु प्रभाव जानत मतिधीरा॥" (बा० दो० ५२)।

पाताल अत्यन्त अगाध है और यमराज अत्यन्त कराल हैं, पर वे भी जिस रावण का कुछ न कर सके, उसे भी श्रीरामजी ने मारा है।

(२) 'तीरथ अमित कोटि सम पावन' नाम' '—तीर्थ साढ़े ३३ करोड़ तो स्वयं हैं, इसलिये इनसे कोटिशत गुण दिखाने के लिये 'अमित कोटिसत' कहा गया है। ये सब नाम-रूपी सूर्य के आगे खद्योत के समान हैं।

(३) 'हिमगिरि कोटि अचल' '—आपमें भय, शंका और काम-क्रोध आदि क्षोभ नहीं कर सकते एवं सभी प्रकार शरीर से भी आप अचल हैं।

(४) 'कामधेनु सत कोटि '—कामधेनु तीन ही फल देती है, श्रीरामजी मोक्ष भी देते हैं। यद्यपि जो फल एक कामधेनु देगी, वही शतकोटि भी, तथापि शतकोटि कहकर उसमें भी अतिशयता दिखाई। एक में परिमित और शतकोटि में अपरिमिति का भाव है।

सारद कोटि अमित चतुराई। बिधि सतकोटि सृष्टि निपुनाई ॥५॥
बिष्णु कोटि - सम पालनकर्त्ता। रुद्र कोटिसत सम संहर्त्ता ॥६॥
धनद कोटिसत सम धनवाना। माया कोटि प्रपंच - निधाना ॥७॥
भार धरन सतकोटि अहीसा। निरवधि निरुपम प्रभु जगदीसा ॥८॥

अर्थ—असंख्य शारदाओं के समान अपरिमित चतुरता और असंख्य ब्रह्माओं के समान सृष्टि-रचना की निपुणता है ॥५॥ करोड़ों विष्णुओं के समान पालनकर्त्ता, असंख्य रुद्रों के समान संहारकर्त्ता हैं ॥६॥ असंख्य कुबेरों के समान धनवान् और करोड़ों मायाओं के समान प्रपंच (सृष्टि) के आधार हैं ॥७॥ असंख्य शेषों के समान (ब्रह्मांडों के) बोझ धारण करनेवाले हैं। (कहाँ तक कहा जाय) जगत् के ईश्वर प्रभु श्रीरामजी सीमा और उपमारहित हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'चतुराई'—यहाँ वाणी और बुद्धि की चातुरी कही गई है, क्योंकि शारदा बुद्धि के देवता ब्रह्माजी की शक्ति और वाग्देवी है। प्रभु की वचन-रचना पर श्रीपरशुरामजी ने कहा है—"जयति वचन रचना अति नागर।" (बा० दो० २८४)। सृष्टि की रचना जगत् में अत्यन्त उत्कृष्ट है, उसके रचयिता ब्रह्माजी हैं, इसीसे किसी भी अलौकिक रचना में वे स्मरण किये जाते हैं; यथा—"बिधिहिं बंदि तिन्ह कीन्ह अरंभा। बिरचे कनक कदलि के खंभा॥" (बा० दो० २८६); तथा—"जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी।" (बा० दो० २०२)। रुद्र संहारकर्त्ता और विष्णु पालनकर्त्ता एक-एक ब्रह्मांड के ही हैं। प्रभु असंख्य ब्रह्मांडों के सम्यक् आधार हैं। तीनों कार्य सर्वत्र उन्हीं की सत्ता से होते हैं।

(२) 'माया कोटि प्रपंच निधाना।'—माया के कार्य आपकी ही सत्ता और प्रेरणा से होते हैं; यथा—"एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥" (आ० दो० १४); "मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।" (गीता ९।१०); "लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया॥" (बा० दो० २२४)। अतः, उससे कोटि गुणा कहना युक्त ही है।

(३) 'भार धरन सत कोटि अहीसा।'—श्रीशेषजी एक ब्रह्मांड शिर पर धारण करते हैं, प्रभु रोम-रोम में अगणित ब्रह्मांड धारण किये हुए हैं।

'निरवधि' अर्थात् प्रभु का आदि, मध्य और अंत किसी के जानने में नहीं आता।

छं०—निरुपम न उपमा आन राम-समान राम निगम कहै।
जिमि कोटिसत खद्योत सम रबि कहत अति लघुता लहै॥
येहि भाँति निज निज मति बिलास मुनीस हरिहि बखानहीं।
प्रभु भाव-गाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं॥

शब्दार्थ—बिलास = प्रचार, प्रसार; यथा—"इहाँ जथामति मोर प्रचारू।" (अ० दो० २८७)।

अर्थ—वेद कहते हैं कि श्रीरामजी उपमा-रहित हैं, उनकी कोई दूसरी उपमा है ही नहीं, श्रीरामजी के समान श्रीरामजी ही हैं। जैसे सूर्य को असंख्य खद्योतों के समान कहने से अत्यंत लघुता होती है॥ वैसे ही इस प्रकार अपनी अपनी बुद्धि विलास के अनुसार मुनीश्वर भगवान् का वर्णन करते हैं। प्रभु भक्तों के भाव को ग्रहण करनेवाले और अत्यन्त कृपालु हैं, वे प्रेमपूर्वक वर्णन को प्रेमसहित सुनकर सुख मानते हैं॥

विशेष—(१) 'निरुपम न उपमा ...'—निगम भगवान् की निज वाणी है, यदि कहीं भी उपमा होती, तो वे अवश्य कहते, यथा—"अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच...कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्चप्रोताश्चेति स होवाच गार्गी मातिप्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्यपप्तदनतिप्रश्न्यां वै देवतामति पृच्छसि गार्गि मातिप्राक्षीरिति ततो ह गार्गी वाचक्नव्युपरराम॥" (बृह० ३।६।१) अर्थात् (जब कहोल ब्राह्मण चुप हो गया) इसके पीछे वचक्नु की कन्या गार्गी ने इन याज्ञवल्क्यजी से प्रश्न किया, वह बोली कि हे याज्ञवल्क्यजी! [पहले गार्गी के प्रश्नों पर याज्ञवल्क्यजी ने उत्तरोत्तर श्रेष्ठ लोकों का वर्णन करते हुए प्रजापति (ब्रह्मा) के लोक को ब्रह्मलोक में ओतप्रोत (अन्तर्व्याप्त) कहा, उसपर भी गार्गीजी पूछती हैं—]

ब्रह्मलोक किसमें ओत और प्रोत है, ऐसा प्रश्न होने पर याज्ञवल्क्यजी ने स्पष्ट कहा कि हे गार्गि ! मुझसे अधिक मत पूछ, नहीं तो तेरा शिर गिर पड़ेगा। (क्योंकि) जो देवता अधिक प्रश्न किये जाने के योग्य नहीं है, उस देवता के प्रति तू अधिक पूछती है। हे गार्गि ! इस प्रकार मत अधिक पूछ, तब वह वचक्नु की कन्या गार्गी चुप हो गई।

भाव यह है कि ब्रह्मलोक-पति सगुण ब्रह्म श्रीरामजी से विशेष कोई है क्या ? ऐसा पूछने पर श्रुति शिर गिर पड़ने का भय दिखाती है ; यथा—"राम मनुज बोलत असि बानी। गिरहिं न तव रसना अभिमानी॥" (लं० दो० ३१)। तथा—"तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्। पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥" (श्वे० ६।७) अर्थात् वह ईश्वरों का महान् ईश्वर, देवताओं का परम देव, पतियों का परम पति और पर से भी श्रेष्ठ है। उस भुवनेश्वर और पूज्य देव को हम जानते हैं। एवं "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।" (श्वे० ६।८) अर्थात् उसके समान और उससे अधिक कोई नहीं है। श्रीमुख वचन है—"आप सरिस खोजउँ कहँ जाई।" (बा० दो० १४१), "जेहि समान अतिसय नहिं कोई।" (आ० दो० ५)—यह श्रीअत्रिजी ने कहा है। "उपमा खोजि-खोजि कवि लाजे॥"''इन्ह सम ये उपमा उर आनी॥" (बा० दो० ३११), तब शंका हो सकती है कि फिर उपमाएँ दी तो जाती हैं; ऊपर भी दी गई हैं, उसपर कहते हैं—'जिमि कोटि सत ''' अर्थात् असंख्यों जुगनू जैसे सूर्य की उपमा नहीं हो सकते, वैसे ही असंख्य काम, दुर्गा आदि भी उनके सौंदर्य-शक्ति आदि की उपमा नहीं हो सकते। 'अति लघुता लहै'—वक्ता, उपमान और उपमेय, तीनों को लघुता प्राप्त होती है। वक्ता की लघुता यों होती है कि ऐसी हीन उपमा देते हुए उसकी ओछी बुद्धि क्यों न लजाई ? यथा "उपमा सकल मोहिं लघु लागी।'''सिय बरनिय तेहि उपमा देई। कुकवि कहाय अजस को लेई॥" (बा० दो० २४६)। उपमा की लघुता यों कि वह पासंग बराबर भी नहीं है, तो क्यों दी गई ? यथा—"उपमा सकल मोहिं लघु लागीं।" (बा० दो० २४६)। उपमेय की लघुता यों है कि कहाँ तो मन बुद्धि से भी परे प्रभु हैं, जिनके रोम-रोम में कोटि-कोटि ब्रह्मांड हैं। उनकी उपमा इस एक मायिक ब्रह्मांड में कैसे हो सकती है ? फिर सुमेरु को सेर के-समान कहना सुमेरु गिरि का अपमान करना है।

फिर मुनियों ने जो अपनी बुद्धि-भर कहा है, वह तो अपनी वाणी पवित्र करने के लिये और इससे कि भावग्राहक प्रभु इसको अपनी सेवा (भक्ति) मानकर इसमें सुख मान लेते हैं, क्योंकि जीवों पर उनकी कृपा है, इसीसे वे इसको सेवा मान लेते हैं। समझते हैं कि इसकी इतनी ही पहुँच है, पर प्रेम तो मुझमें इसका सच्चा है इसी पर प्रसन्न होते हैं। कृपालु होने से अपनी लघुता पर क्रोध नहीं करते ; यथा—"सुर साधु चाहत भाव सिंधु कि तोष जल अंजलि दिये।" (बा० दो० ३२५); "तुम्ह परिपूरन काम जान सिरोमनि भाव प्रिय।" (बा० दो० ३३१); इसपर बा० दो० २७ चौ० ५–११ भी देखिये।

(२) 'सप्रेम मुनि सुख मानहीं'; यथा—"तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरे।" (बा० दो० ३४१); लघुता पर क्रोध न करना कृपालुता और उससे सुख मानना 'अति कृपालुता' है। 'मानहीं'—वे मान लेते हैं, पर यह वर्णन इस योग्य है नहीं ; यथा—"वेद बचन मुनि मन अगम, ते प्रभु करुनाअयन। बचन किरातन्ह के सुनत, जिमि पितु बालक बैन॥'''रामहि केवल प्रेम पियारा।" (अ० दो० १३६)।

दोहा—राम अमित गुन - सागर, थाह कि पावइ कोइ।
संतन्ह सन जस कछु सुनेउँ, तुम्हहिं सुनायेउँ सोइ॥

सो०—भाववस्य भगवान, सुख-निधान करुना-भवन।
तजि ममता मद मान, भजिय सदा सीता-रमन ॥९२॥

अर्थ—श्रीरामजी अमित गुणों के समुद्र हैं, क्या कोई थाह पा सकता है ? (कि उनमें कितने गुण हैं और प्रत्येक गुण कितनी मात्रा में है)। मैंने जैसा कुछ संतों से सुना है, वही आपको सुनाया॥ भाव के वश रहनेवाले, षडैश्वर्य पूर्ण और करुणा के स्थान श्रीसीताजी के पति (श्रीरामजी) का सदा ममता, मद और मान छोड़कर भजन करना चाहिये ॥९२॥

विशेष—(१) 'राम अमित गुन सागर···'—यहाँ पर 'सौंदर्य', 'वीरत्व' आदि कहते हुए 'करुना-भवन' तक ३३ गुण कहे गये, वे एक-एक गुण सागर के समान अगाध हैं अप्रमेय हैं। किन्तु इतने ही गिने-गिनाये गुण श्रीरामजी में नहीं हैं, प्रत्युत 'अमित' हैं और वे सब गुण समुद्रवत् अथाह ही हैं। 'थाह कि पावइ कोइ' अर्थात् कोई भी थाह नहीं पाता। तब शंका होती है कि वर्णन का प्रयास व्यर्थ ही है, उसपर आगे कहते हैं—'भाववस्य···'

(२) 'संतन्ह सन जस कछु सुनेउँ'—इस तरह कहने की शिष्ट वक्ताओं की रीति है—देखिये बा० दो० १२०, चौ० ४-५; बा० दो० ११३, चौ० ४, इत्यादि।

(३) 'भाववस्य भगवान ···'—वे भगवान् हैं, जीवों की गति जानते हैं कि इनकी इतनी ही गति है, यथार्थ परत्व न जान ही सकें और न कह ही सकें। अत, वे यथार्थ कथन की अपेक्षा नहीं करते। केवल इनके प्रेम भाव से वश हो जाते हैं। पुन. भगवान् हैं अर्थात् षडैश्वर्यों से उत्पत्ति पालन और संहार करनेवाले हैं। फिर उनकी प्रशंसा करके कोई उन्हें क्या बड़ाई देगा ? वे स्वयं सुख के निधान हैं, उन्हें कोई गुण वर्णन करके क्या सुख देगा ? पर वे करुणा के स्थान हैं, इससे जीवों पर उनकी दया रहती है। अत, इनके प्रेम-भाव मात्र पर प्रसन्न होते हैं। इनकी अल्प सेवा से वश हो जाते हैं इसलिये ममता, मद और मान आदि विरोधियों का त्याग कर उनका भजन करना चाहिये।

(४) 'सीतारमन'—सुशीलता के सम्बन्ध से कहा गया है; यथा—"सुनि सीतापति सील सुभाउ।" (वि १००)। वा, शक्ति और शक्तिमान् दोनों का साथ-साथ भजन करना चाहिये, कहा भी है—"सो सीता पति भजन को, प्रगट प्रताप प्रभाउ।" (अ० दो० २४३)।

उपक्रम	उपसंहार
१. महिमा नाम रूप ··सकल अमित ··	राम अमित गुन सागर
२ तिमि रघुपति महिमा···पाव कि थाहा	थाह कि पावइ कोइ
३. भजहु राम रघुबीर···सुंदर सुखद	भगवान सुखनिधान करना भवन·· भजिय

भाव-रहस्य

भजन में भाव ही से सरसता होती है, गीता मे भी कहा है—"न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥" (२।६६) अर्थात बिना भावना के सुख शाति नहीं प्राप्त होती। श्रीगोस्वामीजी ने 'भाव-वस्य ' इस दोहे मे भाव का रहस्य खोला है। पहले 'भगवान्' विशेषण से भक्ति के स्वरूप का प्रादुर्भाव

होना कहा है कि प्रभु ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज, इन छहों ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं। इनके ज्ञान बल से सहार, ऐश्वर्य वीर्य से उत्पत्ति और शक्ति तेज से पालन का कार्य होता है। जिसके द्वारा ये तीनों कार्य होते हैं, वही उपास्य होता है यथा—"तज्जलानिति शान्त उपासीत" (छान्दो॰ ३।१४।१) अर्थात् इसी (ब्रह्म), से जगत् उत्पन्न होता है, इसीमे लय होता है, इसीमे चेष्टा करता है, इसलिये शान्त होकर इसकी उपासना करे। तात्पर्य यह है कि जैसे क्षेत्र (खेत) को जो बोता है (उत्पन्न करता है), सींचता एव रक्षा करता (पालता) है और जो उसे काटकर उसके अन्न को लेता (सहारकर्त्ता) है, वही उस खेत का स्वामी है, उसके अन्न का भोक्ता है, उस खेत का अन्न उसके ही लिये है। वैसे ही जगत् के तीनों कार्य करने से भगवान् ही इस (जगत् भर) के उपास्य देव हैं। सब जीव उन्हीं के भोग्य हैं, शेष हैं, सब की स्थिति उन्हीं के लिये रहनी चाहिये। प्रत्येक अवस्था मे ये उन्हीं के लिये हैं।

अत, स्थूल शरीराभिमानी होने पर हाथों से सेवा, नेत्रों से दर्शन, कानों से यशश्रवण, वाणी से गुण-गान आदि उनकी नवधाभक्ति करनी चाहिये। सूक्ष्म शरीराभिमानी रहने पर प्रेमाभक्ति और कारण शरीराभिमान शोधन के लिये पराभक्ति करनी चाहिये। नवधा से 'ममता' की शुद्धि होती है, जगत् से ममता हटकर भगवान् में ही दृढ होती है। प्रेमाभक्ति से बुद्धि आदि के द्वारा होनेवाले विद्या, विवेक आदि के 'मद' नाश होते हैं। पराभक्ति की प्रारभिक विरहावस्था मे ही वासनामय एव सूक्ष्म अहकारमय कारण शरीर जल जाता है। कारण शरीर यथा—"घृतपूरन कराह अतरगत ससि प्रतिबिंब लखावै।" (वि॰ ११५), (इस पद के तीन चरणों मे तीनों शरीरों का वर्णन है) तथा—"ससृति-मूल सूलप्रद नाना। सकल सोकदायक अभिमाना॥" अत, पराभक्ति से 'मान' का नाश हो जाता है। तब शुद्ध तुरीयावस्था से 'भजिय सदा सीतारमन' कहा गया है कि सदा एकरस निर्बाध श्रीसीतारमण का भजन करना चाहिये। भगवान् तुरीय रूप हैं, यथा—"तुरीयमेव केवलम्।" (अ॰ दो॰ ३) यह श्रीअत्रिजी ने कहा है। साथ ही 'भजामि भाववल्लभ' भी कहा है कि वे भाव प्रिय हैं। अत, भाव-सहित भजन से ही प्राप्त होते हैं।

जीव भगवान् की सेवा करने के लिये उनके साथ किसी भाव से ही रहता है, जैसे कि ससार में भी दो व्यक्ति साथ रहते हैं, तो किसी नाते से ही रहते हैं। भक्ति मे नाते की बड़ी ही आवश्यकता है, यथा—"तोहिं मोहिं नाते अनेक मानिये जो भावै। ज्यों त्यों तुलसी कृपाल चरन सरन पावै॥" (वि॰ ७९), नाते (सम्बन्ध) से भगवान् स्नेह बधन में बँध जाते हैं, उसे त्याग नहीं सकते, यथा—"तैं उदार मैं कृपन, पतित मैं तैं पुनीत श्रुति गावै। बहुत नात रघुनाथ तोहिं मोहिं अब न तजे बनि आवै।" (वि॰ ११३), नाते सहित स्नेह पूर्वक भजन करना भाव सहित भजन कहा जाता है। भगवान् के विषय में शृगार, सख्य, दास्य, वात्सल्य और शात, ये पाँच प्रकार के रसात्मक भाव प्रसिद्ध हैं। पाँचों, पाँच प्रकार के नाते सहित ही होते हैं। पाचों की भावना तुरीयावस्था से ही की जाती है। उपर्युक्त रीति से तीनों अवस्थाओं के शोधनकाल मे यह भावना साधन रूप मे रहती है। तुरीया प्राप्त होने पर निर्बाध एक रस होती है।

(५) 'सीतारमन' यह सेव्य का विशेषण देकर शृगार भाव की प्रधानता भी कही गई है। शृगार में कान्ता भाव से आराधन होता है, इसलिये इसमें सीता रमण का ही ध्यान रहता है। अन्य रसों मे सीता रमण कहने का भाव यह है कि सब भाववाले श्रीसीताजी के सहित ही भगवान् की आराधना करते हैं। श्रीसीताजी ही जीव मात्र की पुरुषकार रूपा हैं। इनकी ही कृपा से प्रथम निर्मल मति मिलती है। तब जीव में शेषत्व-योग्यता आती है। जैसे माता शृगार करके पिता के गोद मे देती है, तब वह बच्चे

को हर्ष से गोद में लेता है। ये ही जीवों के दोषों को क्षमा कराकर इन्हें श्रीरामजी के सम्मुख कराती हैं। यह जयंत आदि की प्रपत्ति से प्रसिद्ध है। अतः, सब भाववाले इनके आश्रयण से ही अपनेको कृतार्थ मानते हैं; यथा—"सब बिधि सानुकूल लखि सीता। भे निसोच उर अपडर बीता॥" (अ० दो० २४१)। श्रीभरतजी, ये सख्यरस के हैं। "अब कृतकृत्य भयउँ मैं माता। आसिष तव अमोघ बिख्याता॥" (सुं० दो० १६)—श्रीहनुमान्‌जी, ये दासरस के हैं। पुनः वात्सल्यवाले श्रीदशरथजी और श्रीकौशल्याजी ने भी श्रीसीताजी को ही प्राण का अवलंब कहा है—देखिये अ० दो० ५६ चौ०, ७ और अ० दो० ८१, चौ० ६।

'सुख निधान करुना भवन' का भाव यह है कि भाव सहित भजन से प्रभु शीघ्र करुणा करते हैं और सुख देते हैं। जैसे द्रौपदीजी ने देवर के नाते से (भाव सहित) पुकारा, तो तुरत करुणा करके प्राप्त हुए और उनके दुःख दूरकर उन्हें सुखी किया। भाव के ही वश होकर अर्जुन का सारथ्य करके उन्हें सुख दिया, इत्यादि।

श्रीगरुड़जी की कृतज्ञता

सुनि भुसुंडि के बचन सुहाये। हरषित खगपति पंख फुलाये॥१॥
नयन नीर मन अति हरषाना। श्रीरघुपति-प्रताप उर आना॥२॥

अर्थ—श्रीभुशुंडिजी के सुहावने वचन सुनकर हर्षित होकर पक्षिराज श्रीगरुड़जी ने अपने पक्ष फुलाये (पुलकित हुए)॥ १॥ उनके नेत्र सजल हो गये, वे मन मे अत्यन्त हर्षित हुए और उन्होंने श्रीरघुनाथजी का प्रताप हृदय मे धारण किया॥२॥

विशेष—(१) 'बचन सुहाये'—उपर्युक्त सब वचन प्रभु के गुणयुक्त, श्रीरामपरत्वपरक एवं उपदेशमय हैं, सत्कार एवं प्रेमपूवक कहे गये हैं, इससे 'सुहाये' कहे गये। इन वचनों को 'सुहाये' कहकर इनसे पूर्व के वचन "सब बिधि नाथ पूज्य तुम्ह मेरे। कृपापात्र रघुनायक केरे॥" (दो० ९१); आदि अपनी प्रशसावाले वचनों को 'असुहाये' भी सूचित किया कि वे श्रीगरुड़जी को नहीं सुहाये थे।

(२) 'पख फुलाये'—यह रोमाच एव आनंदित होना है, जैसे कि वर्षा काल में मेघों को देखकर मयूरगण हर्ष से पख फैलाकर आनंद से नाचने लगते हैं।

(३) 'नयन नीर मन··'—ऊपर की चेष्टा मे केवल 'हरषित' कहा गया था, भीतर विशेष आनद है, भीतर न समाया तो नेत्रादि के द्वारा किंचित बाहर भी आ गया। भीतर के 'अति हर्ष' के कारण उत्तरार्द्ध में कहते हैं—'श्रीरघुपति प्रताप उर आना।'—पहले रघुपति में मोहवश मनुष्य-बुद्धि आ गई थी। अब उन्हें ब्रह्म निश्चय किया, गौरव की दृष्टि हुई, तब 'श्री' विशेषण भी दिया। पहले हृदय में भ्रम और सशय भरे हुए थे, अब उसमें राम-प्रताप है।

उपक्रम में कहा गया था—"सुनु खगेस रघुपति प्रभुताई। कहउँ जथामति कथा सुहाई॥" (दो० ७२), यहाँ उपसहार करते हुए कहा—"सुनि भुसुंडि के बचन सुहाये॥" इस बीच मे श्रीभुशुंडिजी ने श्रीगरुड़जी के लिये सात बार 'सुनु' 'सुनहु' कहकर सावधान किया है। बीच मे कहीं यह नहीं कहा गया कि श्रीगरुड़जी ने सुना है। यहाँ 'सुनि भुसुंडि के बचन सुहाये' कहकर उनका सुनना सूचित किया गया है।

पहले श्रीरामजी को ब्रह्म तो मानते थे, पर उनके 'रघुपति' सगुण रूप में वह प्रताप न पाकर संशय किया था ; यथा—'देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं' यह संदेह अब चला गया, इससे रघुपति-रूप में भी वह प्रताप माना। अतः, 'श्रीरघुपति प्रताप उर आना।' कहा गया है। ऐश्वर्य सम्बन्ध से 'श्री' विशेषण दिया गया है।

पाछिल मोह समुझि पछताना। ब्रह्म अनादि मनुज करि माना ॥३॥
पुनि-पुनि काग-चरन सिर नावा। जानि राम सम प्रेम बढ़ावा ॥४॥

अर्थ—पिछला मोह समझकर पछताया (खेद की बात है कि) अनादि ब्रह्म को मैंने मनुष्य करके मान लिया था ॥३॥ बार-बार काकजी के चरणों में शिर नवाया और उन्हें श्रीरामजी के समान जानकर प्रेम बढ़ाया ॥४॥

विशेष—(१) 'पाछिल मोह समुझि पछताना।'—'पाछिल' कहकर सूचित किया गया कि वह मोह अब नहीं रह गया। क्या मोह था, इसे उत्तरार्द्ध में खोलते हैं; यथा—"ब्रह्म अनादि मनुज करि जाना" इसे पाछिल कहकर पूर्वकथित दो० ५७-५८ और ६८ के 'देखउँ सो प्रभाव कछु नाहीं।' 'भयउ मोह बस'; 'अति मोह'; 'राम बिकल कारन कवन'; 'देखि चरित अति नर अनुसारी'; 'संसय भारी' के भाव स्पष्ट किये कि वहाँ इन्हें श्रीरामजी में प्राकृत मनुष्य बुद्धि आ गई थी। पर वहाँ कहीं यह बात खोली नहीं गई थी।

(२) 'पुनि पुनि काग चरन सिर नावा।'—इससे कृतज्ञता प्रकट की ; यथा—"मो पहिं होइ न प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा ॥" (दो० १२४)। ये पक्षिराज हैं, नीच पक्षी को क्यों प्रणाम कर रहे हैं ? इस शंका के निवारणार्थ "जानि राम सम···" कहा गया है।

'जानि राम सम'—जिसे माया एवं उसके परिवार काम आदि न व्याप्त होवें, वह श्रीरामजी के समान है ; यथा—"अतिसय प्रबल देव तव माया।" से "सो नर तुम्ह समान रघुराया ॥" (कि० दो० २०) तक ; यह श्रीसुग्रीवजी ने कहा है। यह सब काकजी में जानकर इन्हें श्रीरामजी के समान जाना। पूर्व इन्हें विशुद्ध संत माना था ; यथा—"संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही।" (दो० ६८) ; अब यहाँ 'राम सम' जानना कहा गया। इससे दिखाया कि संत-भगवंत एक ही हैं ; यथा—"संत भगवंत अंतर निरंतर नहीं।" (वि० ५७), पुनः आगे इन्हें गुरु भी कहा है, गुरु में ईश्वर-बुद्धि होनी चाहिये ; यथा—"यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।" (श्वे० ६।२३) ; अर्थात् गुरु में ईश्वर के समान भक्ति करनी चाहिये। 'प्रेम बढ़ावा'—पहले चरित सुनने पर प्रेम हुआ था ; यथा—"सहित बिनय अनुराग" (दो० ६९) ; अब वह बढ़ चला, इसीसे यहाँ बार-बार प्रणाम करते हैं, राम-सम मानते हैं और गुरु भी मान लिया। आगे उस गुरुत्व का महत्त्व कहते हैं—

गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई ॥५॥

अर्थ—गुरु के बिना कोई भवसागर पार नहीं होता, चाहे वह ब्रह्माजी और शिवजी के समान ही (क्यों न) हो ॥५॥

विशेष—(१) पहले श्रीगरुडजी ने श्रीरामचरित सुना, तब श्रीभुशुंडिजी को विशुद्ध संत माना था; यथा—"संत बिसुद्ध मिलहिं प्रभु तेही। · " (उ० दो० ६८) ; पुनः यहाँ राम-परत्व कहा और

अपने मोह-कथन के साथ वार-बार 'सुनु' कह-कहकर उपदेश दे भगवान् के सम्मुख किया, उनका मोह दूर किया। अतः, अब गरुड़जी ने इन्हें गुरु माना और बार-बार प्रणाम किया। अंतिम उपदेश 'भावबस्य भगवान···' में गुरुत्व का रहस्यात्मक भाव भी कहा और बीच में यह भी कहा - 'बिनु गुरु होइ कि ज्ञान' इससे गुरु करने की अनिवार्य आवश्यकता देखी। अतः, गुरु-भाव किया, फिर यहाँ गुरुत्व का महत्त्व कहते हैं।

(२) 'भवनिधि तरइ न कोई'—कोई भी, इतने ही पर समझा जाता कि मनुष्य-मात्र के लिये यह कथन है। इसपर 'बिरंचि संकर' को भी कहकर दिखाया कि जो ब्रह्मा चारों वेदों के वक्ता और श्रीशिवजी त्रिभुवन-गुरु हैं। सामर्थ्य में जगत्-भर के रचयिता और संहारकर्त्ता हैं, उन्हें भी गुरु की आवश्यकता है। इन दोनों के गुरु श्रीरामजी ही हैं, उन्हीं से इन्हें श्रीराम-मंत्रराज की प्राप्ति हुई है, यथा—"त्वत्तो वा ब्रह्मणो वापि ये लभन्ते षडक्षरम्···" (श्रीरामतापनीय उ०)।

इसपर शंका हो सकती है कि वेद ही से सबका गुरुत्व है। वह तो ब्रह्माजी स्वयं जानते हैं और शिवजी सम्पूर्ण ज्ञान के पात्र हैं, फिर इन्हें भी गुरु की आवश्यकता क्यों हुई ? इसका समाधान यह है कि ब्रह्म अप्रमेय है, वह परिमित शक्तिशाली बुद्धि आदि इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण में नहीं आ सकता। जैसे नेत्र की परिमित पुतली से परिमित स्थल पर्यंत ही दिखाई पड़ता है वैसे ही परिमित शक्ति के साधनों से परिमित ही पदार्थ प्राप्त होते हैं। श्रुति भी कहती है; यथा—"नास्त्यकृतः कृतेन" (मुंडक० १।२।१२); अर्थात् कृत (किये हुए उपायों से) अकृत रूप ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती। साथ ही उपाय भी श्रुति ने ही बतलाया है; यथा—"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्···" अर्थात् उस ब्रह्म के जानने के लिये गुरु के पास जाय। प्राचीन रीति से ब्रह्म-विद्या का कानों-कान ही आना पाया जाता है। वैसे ही मंत्र-योग की भी परंपरा है। मंत्र के अर्थ में सम्पूर्ण ब्रह्म-विद्या रहती है। जैसे ब्रह्मविद्यात्मक वेद-मंत्रों में भगवान् की शक्ति है, क्योंकि वे उन्हीं की साँस हैं। वैसे ही मंत्र भी भगवान् से प्रकट होकर परंपरा द्वारा कानों-कान से गुरुओं को प्राप्त रहते हैं, उसमें भगवान् की अपरिमित गुरुत्वशक्ति रहती है वही श्रवण-द्वारा मुमुक्षु में प्राप्त होती है। उसके प्रकाश से मुमुक्षु यत्न करके अपरिमित भगवान् को प्राप्त करता है। जैसे भगवान् ने गीता में अपनी दिव्य चक्षु देकर श्रीअर्जुन को अपना पररूप दिखाया है। अन्यत्र भी भगवान् ने कहा है; यथा—"ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।" (गीता १०।१०), अर्थात् उन्हें मैं वह बुद्धियोग देता हूँ; जिससे वे मुझे पाते हैं। भगवान् की गुरुत्व शक्ति गुरु में मानकर ही उन्हें परब्रह्म-रूप कहा गया है, यथा—"गुरुरेव परंब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः।" तथा—"आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्। न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेव मयो गुरुः॥ ··· शुश्रूषमाण आचार्यं सदोपासीत नीचवत्॥" (भाग० ११।१७।२७-२८); उसी गुरुत्व-शक्ति से शिष्य के मोह का संहार उसके हृदय में दिव्य गुणों की उत्पत्ति और भक्ति द्वारा उस शिष्य का पालन होता है। इसी से गुरु को त्रिदेव-रूप भी कहा गया है; यथा—"गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।" ब्रह्माजी और शिवजी की शक्ति परिमित है, इसी लिये उन्हें भी गुरु की आवश्यकता कही गई है।

श्रीगोस्वामीजी ने राम-मंत्र एवं नाम के लिये दीक्षा लेकर स्वयं जपने का उपदेश किया है, यथा—"बेगि बिलंब न कीजिये लीजै उपदेस। महामंत्र जपिये सोई जो जपत महेस।" (वि० १०८)। तथा—"करनधार सदगुरु दृढ़ नावा।" (दो० ४३), "बिनु गुर होइ कि ज्ञान" (दो० ८९); "सदगुरु बेद बचन बिस्वासा।" (दो० १११)। तथा—"बंदउँ गुरु-पद-कंज,···" (बा० मं० सो० ५); "एवं—गुरु-पद-पंकज सेवा···" (आ० दो० १५) भी देखिये।

अर्थ—आप सर्वज्ञ (तीनों कालों के सब पदार्थों के ज्ञाता हैं), तत्त्वज्ञान के ज्ञाता, अविद्या-रूपी तम से परे, उत्तम बुद्धिवाले, सुशील और सीधे (निश्छल) आचरणवाले हैं ॥१॥ ज्ञान-वैराग्य-विज्ञान-धाम और श्रीरघुनाथजी के प्रिय दास हैं, तब किस कारण यह देह पाई ? हे तात ! मुझसे सब समझा-कर कहिये ॥२॥-३॥ हे स्वामिन् ! यह सुंदर श्रीराम-चरित-सर आपने कहाँ पाया ? हे आकाशगामी पक्षि ! कहिये ॥४॥

विशेष—(१) 'तुम्ह सर्बज्ञ ···'—श्रीभुशुंडिजी की सरलता, सुशीलता और सुमति को तो गरुड़जी ने स्वयं देखा है। शेष विशेषण वरदान में पाये हुए हैं ; 'सर्बज्ञ तज्ञ'; यथा—"जानब तैं सबही कर भेदा।"; 'तम पारा' "माया संभव भ्रम सब, अब न व्यापिहहिं तोहिं।" और 'प्रिय दासा'—"सुचि सुसील सेवक सुमति, प्रिय कहु काहि न लाग।" तथा—"ज्ञान बिबेक बिरति बिज्ञाना।···आजु देउँ सब" इत्यादि।

(२) 'कारन कवन देह यह पाई।'—भाव यह कि उपर्युक्त विशेषणवाले का काक शरीर हो, यह असंभव-सा जान पड़ता है। अतः, इसे बुझाकर कहिये, यह मुझे पहेली-सा गूढ़ लगता है। ऐसे ही पार्वतीजी को भी परम संदेह हुआ था—देखिये दो० ५३ भी। 'प्रिय दासा' का भाव यह कि दास का शरीर तो स्वामी के अनुरूप चाहिये, पर काक-तन तो उनके बहुत अयोग्य है। 'सरल' पर दो० ९४ देखिये।

(३) 'राम-चरित सर सुंदर···'—यह प्रश्न "प्रथमहिं अति अनुराग भवानी। राम-चरित सर कहेसि बखानी॥" (दो० ६३) में कहे हुए 'सर' के विषय में है। अथवा सर अर्थात् मानसर; अर्थात् रामचरितमानस (संपूर्ण) के विषय में यह प्रश्न है। 'नभगामी' का भाव यह कि आप आकाश-मार्ग में ब्रह्मांड-भर विचरे होंगे, आपने इसे किस स्थल पर पाया है ?

नाथ सुना मैं अस सिव पाहीं। महा-प्रलयहुँ नास तव नाहीं ॥५॥
मुधा बचन नहिं ईश्वर कहई। सोउ मोरे मन संसय अहई ॥६॥
अग-जग-जीव नाग-नर-देवा। नाथ सकल जग काल कलेवा ॥७॥
अंडकटाह अमित लयकारी। काल सदा दुरतिक्रम भारी ॥८॥

सो०—तुम्हहिं न ब्यापत काल, अति कराल कारन कवन।
मोहि सो कहहु कृपाल, ज्ञान-प्रभाव कि जोग-बल॥

दो०—प्रभु तव आश्रम आये, मोर मोह भ्रम भाग।
कारन कवन सो नाथ सब, कहहु सहित अनुराग ॥९४॥

अर्थ—हे नाथ ! मैंने श्रीशिवजी से ऐसा सुना है कि महाप्रलय में भी आपका नाश नहीं होता ॥५॥ ईश्वर श्रीशिवजी झूठ वचन नहीं कहते (अतः,) यह भी मेरे मन में संदेह है ॥६॥ हे नाथ ! नाग, नर देवता, चर और अचर सभी जीव एवं सारा संसार ही काल का कलेवा है ॥७॥ असंख्यों ब्रह्मांडों का लय करनेवाला काल सदा ही भारी अनिवार्य है ॥८॥ अत्यंत भयंकर काल आपको नहीं व्याप्त होता, इसका

क्या कारण है ? हे कृपालो ! मुझसे कहिये कि यह ज्ञान का प्रभाव है या कि योगबल का प्रभाव है ? हे प्रभो ! आपके आश्रम मे आते ही मेरा मोह और भ्रम चला गया, इसका क्या कारण है ? हे नाथ ! यह सब प्रेम सहित कहिये ॥९४॥

विशेष—(१) 'नाथ सुना···'—श्रीशिवजी ने पहले तो "बहु कालीना"···"मैं जब तेहि सन कहा बुझाई।" (दो॰ ११) इतना ही कहा था, पर यहाँ स्पष्ट कहा गया है। अतएव वहाँ के 'कहा बुझाई' मे ही यह भी कहा जाना माना जायगा। महाप्रलय मे सृष्टिमात्र का नाश हो जाता है। ब्रह्माजी के एक दिन पर प्रलय और उनकी सौ वर्ष की आयु बीतने पर महाप्रलय होता है। उसमे भगवान् के अतिरिक्त और कोई नहीं रहता। (कहा जाता है कि श्रीभुशुडिजी और मारकंडेय मुनि उस समय सशरीर भगवान् मे ही प्रवेश कर जाते हैं क्योंकि इनके शरीर दिव्य हैं,) यद्यपि अभी इन्हें यहाँ रहते २७ ही कल्प बीते, महाप्रलय अभी नहीं हुआ, तथापि यह प्रभाव इन्हें सदा के लिये प्राप्त हैं। यही श्रीशिवजी ने कहा है।

(२) 'मुधा बचन···'—सामान्य देवता भी झूठ नहीं कहते और ये तो महादेव हैं, ईश्वर हैं। तो असत्य कैसे कहेंगे ? यथा—"सभु गिरा पुनि मृषा न होई।" (बा॰ दो॰ ५॰) और फिर महाप्रलय की व्यवस्था समझने पर सन्देह नहीं मिटता।

(३) 'अग जग'—स्थावर-जगम, प्राण-रहित-प्राण-सहित, 'नाग नर देवा'—क्रमश पाताल, पृथ्वी और स्वर्गलोक के जीव, 'सकल जग' में ब्रह्माड-भर एवं ब्रह्माजी भी आ गये। 'कलेवा' अर्थात् इतने मात्र से उसकी तृप्ति नहीं होती, बालभोग मात्र ही होता है। आगे 'अंडकटाह अमित ··' से उसका भोजन कहते हैं। 'कटाह' अर्थात् कड़ाह रूप है, जैसे कडाह मे घी-तेल तप्त होते हैं, वैसे ही ब्रह्माड मे जीव वासना के द्वारा त्रिविध तापों से तपते रहते हैं, काल ऐसा कराल है कि उन सबको फलों की तरह भक्षण कर जाता है ; यथा—"ते फल भच्छक कठिन कराला। तव डर डरत सदा सोउ काला॥" (आ॰ दो॰ १२)। फल खाते देर नहीं लगती, यथा—"मैं बानर फल खात न बारा।" (लं॰ दो॰ २२) ऐसे ही काल शीघ्रता में ब्रह्माडों को खा जाता है। इसी से उसे 'दुरति क्रम भारी' कहते हैं कि उससे कोई बच नहीं सकता। वह 'अति कराल' है इससे किसी पर दया नहीं करता। 'कृपाल'—कृपा करके इसका रहस्य कहिये, इसके जानने की मुझे बड़ी इच्छा है।

(४) 'ज्ञान प्रभाव कि जोग बल'—ज्ञानी ज्ञान-प्रभाव से देह-धर्म से सर्वथा असग रहते हैं, काल के धर्म देह ही पर व्याप्त होते हैं, वे आत्मरूप मे लीन रहते हैं, क्या इस तरह काल का जीतना है ? अथवा योग बल से देह ही सिद्ध कर ली जाती है, जिस काल मे जो तत्त्व रहता है उसी मे मिलकर बने रहते हैं ?

(५) 'प्रभु तव आश्रम ··'—यहाँ तक चार प्रश्न हुए—(१) काक तन क्यों मिला ? (२) रामचरित सर कहाँ मिला ? (३) आपको काल क्यों नहीं व्याप्त होता ? (४) आपके आश्रम मे आने से मेरे मोह भ्रम दूर हो जाने का क्या कारण है ? इनका उत्तर क्रम से श्रीभुशुंडिजी देंगे। इनके बहुत प्रश्न पार्वतीजी के प्रश्नों से मिलते हैं, यहाँ कुछ अधिक भी हैं। दो॰ ५४–५५ देखिये। वहाँ कहा भी है - "ऐसिय प्रश्न बिहँग पति, कीन्ह काग सन जाय।"

(६) 'सब कहहु'—भाव यह कि अब प्रश्न पूरे हो गये, इन सबके उत्तर कहिये। चारो प्रश्नों के कारण कहिये। 'सब कारन' का भाव यह कि किसी में अधिक कारण हों, तो उन सब कारणों को कहिये।

'सहित अनुराग'—मुझे आर्त्त-विनीत जिज्ञासु शिष्य जानकर प्रेम-पूर्वक समझाकर कहिये।

गरुड़जी के प्रश्नों के उत्तर

गरुड़-गिरा सुनि हरषेउ कागा। बोलेउ उमा परम अनुरागा ॥१॥
धन्य-धन्य तव मति उरगारी। प्रश्न तुम्हारि मोहि अति प्यारी ॥२॥
सुनि तव प्रश्न सप्रेम सुहाई। बहुत जनम कै सुधि मोहि आई ॥३॥
सब निज कथा कहउँ मैं गाई। तात सुनहु सादर मन लाई ॥४॥

अर्थ—हे उमा ! श्रीगरुड़जी की वाणी सुनकर काक भुशुण्डिजी हर्षित हुए और परम अनुराग पूर्वक बोले ॥१॥ हे उरगारि गरुड़जी ! आपकी बुद्धि धन्य है, धन्य है ! आपके प्रश्न मुझे अत्यन्त प्यारे लगे ॥२॥ आपके प्रेम भरे सुहावने प्रश्न सुनकर मुझे अपने अनेक जन्मों की सुधि हो आई ॥३॥ मैं अपनी सब कथा गाकर (विस्तारपूर्वक) कहता हूँ, हे तात ! मन लगाकर सादर सुनो ॥४॥

विशेष—(१) यहाँ श्रीगरुडजी और श्रीभुशुडिजी में समशीलता स्पष्ट है—

श्रीगरुडजी	श्रीभुशुण्डिजी
१ कहहु सहित अनुराग	बोलेउ उमा परम अनुरागा।
२ ताहि प्रसंसि बिबिध बिधि	धन्य धन्य तव मति उरगारी।
३ सब कहहु सकल कहहु	सब निज कथा कहउँ।
४ सादर कहहु	सादर सुनहु मन लाई।
५ सुनि हरषित खगपति पख	गरुड गिरा सुनि हरषेउ कागा।

(२) 'परम अनुरागा'—श्रीगरुडजी ने 'सहित अनुराग' कहने की प्रार्थना की थी। अत, श्रीभुशुडिजी परम अनुराग सहित बोले। आगे के कथन में इनका अनुराग प्रकट है।

(३) 'धन्य धन्य तव मति ', यथा—"धन्य धन्य गिरिराज कुमारी।" (बा० दो० १११)।

'प्रश्न अति प्यारी'—ग्रन्थकार ने प्रश्न शब्द को प्राय स्त्रीलिंग में अधिक कहा है, यथा—"प्रश्न उमा कै सहज सुहाई। छल निहीन सुनि सिव मन भाई॥" (बा० दो० ११०)। यहाँ भी 'सुहाई' और 'अति प्यारी' कहकर छल रहित सूचित किया है। आगे भी कहा है, यथा—"कहेउँ तात सब प्रश्न तुम्हारी।" (दो० ११६)।

जप तप मख सम दम ब्रत दाना। बिरति बिबेक जोग बिज्ञाना ॥५॥
सब कर फल रघुपति-पद-प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा ॥६॥
येहि तनु राम-भगति मैं पाई। ताते मोहि ममता अधिकाई ॥७॥
जेहि ते कछु निज स्वारथ होई। तेहि पर ममता कर सब कोई ॥८॥

अर्थ—जप, तप, यज्ञ, शम, दम, व्रत, दान, वैराग्य, विवेक, योग और विज्ञान ॥५॥ इन सबका फल श्रीरघुनाथजी के चरणों में प्रेम होना है, इसके बिना कोई कल्याण नहीं पाता ॥६॥ इस शरीर से

मैंने श्रीराम-भक्ति प्राप्त की है, इसीसे इसमें मेरी अधिक ममता है ॥७॥ जिससे अपना कुछ स्वार्थ होता है उसपर सभी कोई ममत्व करते हैं ॥८॥

विशेष—(१) श्रीगरुड़जी ने काक शरीर पाने का कारण पूछा था, वह तो पीछे कहेंगे, यहाँ पहले यह कह रहे हैं कि मुझे यह तन क्यों प्रिय है ?

(२) 'जप तप···सब कर फल···'—इन सबसे यदि राम-प्रेम नहीं हुआ तो इन्हें निष्फल ही समझना चाहिये ; यथा—"धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः । नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥" (भाग॰ १।२।८) । यही मत श्रीवसिष्ठजी और श्रीशिवजी का भी है ; यथा—"तव पद पंकज प्रीति निरंतर । सब साधन कर यह फल सुंदर ।" (दो॰ ४८) ; "जहँ लगि साधन वेद बखानी । सब कर फल हरि भगति भवानी ॥" (दो॰ ११५) ।

(३) 'तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा ।'—और धर्म एवं साधनों की बात ही क्या, ज्ञान की परम अवस्था को पहुँचकर भी बिना भक्ति क्षेम नहीं होता; यथा—"जे ज्ञान मान बिमत्त तव भव हरनि भगति न आदरी । ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी ॥" (दो॰ १२); यह वेदों ने कहा है । रघुपति पद प्रेमवाले की पुनरावृत्ति नहीं होती ; यथा—"मद्भक्ता यान्ति मामपि ।" (गीता ७.२३); और "मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।" (गीता ८।१६) ।

(४) 'येहि तन···'—पहले भक्ति को सब साधनों का फल एवं कल्याणकारिणी कहकर तब कहते हैं कि ऐसी भक्ति तो मुझे इसी तन से मिली । अतः, इसमें ममता अधिक होना उचित ही है ।

(५) 'जेहि ते कछु···'—शरीर पर ममता करना अविवेक है ; यथा—"सेवहिं लखन सीय रघुबीरहिं । जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहिं ॥" (अ॰ दो॰ १४१) । उसपर कहते हैं कि संसार में रीति है कि जिससे अपनी कुछ भी स्वारथ-सिद्धि होती है, उसपर सभी ममता करते हैं ; यथा—"सुर नर मुनि सब कै यह रीती । स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती ॥" (कि॰ दो॰ ११) और मेरा तो इस तन से परम एवं सच्चा स्वार्थ सिद्ध हुआ है । यह आगे कहते हैं—

सो॰—पन्नगारि असि नीति, श्रुति-सम्मत सज्जन कहहिं ।
अति नीचहु सन प्रीति, करिय जानि निज परमहित ॥
पाट कीट ते होइ, तेहि ते पाटंबर रुचिर ।
कृमि पालइ सब कोइ, परम अपावन प्रान-सम ॥९५॥

अर्थ—हे गरुड़ ! ऐसी नीति है, यह वेद सम्मत है और सज्जन लोग (भी) कहते हैं कि अपना परम हित होता हुआ जानकर अत्यन्त नीच से भी प्रेम कर लेना चाहिये ॥ (देखिये) रेशम कीड़े से होता है और उससे सुन्दर पीताम्बर आदि रेशमी वस्त्र बनते हैं, इसीसे यद्यपि वह परम अपवित्र है तो भी, उस कीड़े को सब कोई प्राण के समान पालते हैं ॥९५॥

विशेष—(१) 'असि नीति···'—जो मैंने 'सब कोई' की लोक-रीति कही है, वही नीति और श्रुति-सम्मत भी है । अतः, यह लोक-वेद (उभय) मत है ।

(२) 'अति नीचहु सन प्रीति, करिय '—भाव यह कि यों तो अति नीच से प्रीति नहीं करनी चाहिये, यथा—"बुध नहिं करहिं अधम कर संगा।" (दो० १०५) पर परम हित की प्राप्ति देखकर प्रीति करनी ही चाहिये।

(३) 'पाट कीट ते होइ • '—चीन और बंगाल देश में अधिकतर रेशम के कीड़े होते हैं। यह कीड़ा प्रथम बड़ी-सी तितली होती है, यह सरसों भर का गोल अंडा देती है। अंडे से सूत्र के समान कीड़े निकलते हैं जो तूत आदि की कोमल पत्तियाँ खाते हैं, जब ये दो-तीन अंगुलों के हो जाते हैं तब उनपर खोल पड़ जाता है। जब वे खोल से निकलते हैं तब उनके १६ पैर और १२ आँखें हो जाती हैं। वे रेशम उगल-उगल कर गेंद सरीखा एक गोला बनाकर उसी के भीतर बन्द रहते हैं। कुछ दिन पर गोला फोड़कर निकलने पर तितली रूप हो जाते हैं। उस समय इनके छः पैर और दो आँखें और दो पंख हो जाते हैं। लोग उस गोले को रूई के समान तूँब कर रेशम कर लेते हैं। उस रेशम को सूत के समान कातकर उसी से पाटम्बर आदि तरह-तरह के रेशमी वस्त्र बनाते हैं। यह कीड़ा बड़ा अपावन माना जाता है—(श्रीबैजनाथजी की टीका से उद्धृत)।

स्वारथ साँच जीव कहँ येहा। मन-क्रम बचन राम-पद नेहा॥१॥
सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तनु पाइ भजिय रघुबीरा॥२॥
राम-बिमुख लहि बिधि सम देही। कबि कोबिद न प्रसंसहिं तेहीं॥३॥
राम-भगति येहि तन उर जामी। ताते मोहि परम प्रिय स्वामी॥४॥
तजउँ न तनु निज इच्छा मरना। तनु बिनु बेद भजन नहि बरना॥५॥

अर्थ—जीव का सच्चा स्वार्थ यही है कि उसका मन, कर्म और वचन से श्रीरामजी के चरणों में स्नेह हो॥१॥ वही शरीर पवित्र और सुन्दर है जिसे पाकर उससे श्रीरघुनाथजी का भजन किया जाय॥२॥ राम विमुख यदि ब्रह्मा के समान शरीर पा जाय तो भी कवि और कोविद उसकी प्रशंसा नहीं करते॥३॥ इस तन से मेरे हृदय में श्रीराम भक्ति जमी (पैदा एवं वृद्धि हुई) इसी से हे स्वामी! यह मुझे परम प्रिय है॥४॥ मैं शरीर नहीं छोड़ता, यद्यपि मरना अपनी इच्छा पर है, क्योंकि बिना शरीर के भजन करना वेद नहीं वर्णन करते॥५॥

विशेष—(१) 'स्वारथ साँच जीव कह येहा।'—उपर्युक्त दृष्टान्त पर कहा जा सकता है कि आपका इस काक तन से कौन-सा बड़ा स्वार्थ है? उसपर कहते हैं कि मुझे इससे सच्चे स्वार्थ की सिद्धि हुई। लौकिक-सुख-साधक पदार्थ झूठे स्वार्थ हैं, क्योंकि उनमें रत होने से परिणाम में भव दुःख होता है। श्रीरामजी की अनन्य भक्ति करना ही सच्चा स्वार्थ है, यही परम परमार्थ है, यथा—"सखा परम परमारथ येहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू॥' (अ० दो० ९२) लौकिक पदार्थ मोह-मूलक हैं, यथा—"सरग नरक जहँ लगि ब्यवहारू॥ देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं। मोह मूल परमारथ नाहीं॥" (अ० दो० ९१), मनुष्य देह पाने की सफलता परमार्थ-साधन में ही है, यह पुरजन गीता प्रसंग में भी विस्तार से कहा गया, इसी से इसे ही यहाँ जीव का सच्चा स्वार्थ कहा गया है, यथा—"मनुज देह सुर साधु सराहत सो सनेह सिय पी के।" (वि० १७५)।

(२) 'सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा ।'—राम-भक्त के शरीर स्पर्श से दूसरे भी पवित्र होते हैं; यथा—"जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइये ।" (वि० १३६)। 'जो तनु पाय···'— इसी में देह की सफलता है; यथा—"देह धरे कर यह फल भाई । भजिय राम सब काम बिहाई ॥" (कि० दो० २३ ।

(३) 'राम बिमुख लहि···'- भाव यह कि चाहे वह तीनों लोकों का रचयिता, नियन्ता एवं पितामह आदि ही क्यों न हो, पर राम-विमुख होने से वह भी 'पावन' और 'सुभग' नहीं है। यथा—"भगति हीन बिरंचि कि न होई । सब जीवहु सम प्रिय मोहिं सोई ॥ भगतिवंत अति नीचउ प्रानी । मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी ॥" (दो० ८५)।

(४) 'राम भगति येहि तन उर जामी ।'— 'जामी' पद से शरीर को भूमि, हृदय को थाल्हा और भक्ति को वृक्ष जनाया । इसका बीज शिवाशीर्वाद से पड़ा, फिर लोमश-गुरु की कृपा से अंकुरित होकर बढ़ चला एवं दृढ़ हो गया ।

(५) 'तजउँ न तनु निज इच्छा मरना ।'—लोमशजी की आशिष से मृत्यु अपनी इच्छा पर है,- यथा—"सदा राम प्रिय होब तुम्ह,···कामरूप इच्छा मरन, ज्ञान बिराग निधान ।" (दो० ११३) फिर भी इस देह को नहीं छोड़ते, इसका कारण आगे कहते हैं—

(६) 'तनु बिनु वेद भजन नहिं बरना ।'—भाव यह कि भक्ति सहित ही जीवन रखना उत्तम है। वह शरीर बिना हो नहीं सकता । जब कोई शरीर रखना ही है तब वही क्यों न रक्खूँ ? जिससे मेरा परम उपकार हुआ है । इस कारण से उसी काक तन पर मेरी प्रीति है । ध्वनि यह भी है कि नर देह, द्विज देह आदि में मुझे भक्ति-सुख नहीं मिला था, तब उनकी इच्छा क्यों करूँ ? यथा—"सो तनु राखि करब मैं काहा । जेहि न प्रेम पन मोर निबाहा ॥" (अ० दो० १५४)।

दृष्टान्त और दार्ष्टान्त—कृमि परम अपावन वैसे काक-तन परम अपावन; कृमि से स्वार्थ और काक-तन से सच्चा-स्वार्थ राम-प्रेम ; स्वार्थवश कृमि को सब पालते हैं और मैं काक-तन को परम प्रिय मानता हूँ ; रेशम सम्बन्ध से कृमि पावन और राम-भक्ति सम्बन्ध से काक-तन पावन है ।

श्रीगरुड़जी के प्रथम प्रश्न में भुशुंडिजी ने काक-तन नहीं बदलने का उत्तर दे दिया । अब आगे काक-तन पाने का कारण कहते हैं—

प्रथम मोह मोहि बहुत बिगोवा । राम-बिमुख सुख कबहुँ न सोवा ॥६॥
नाना जन्म कर्म पुनि नाना । किये जोग जप तप मख दाना ॥७॥
कवन जोनि जनमेउँ जहँ नाहीं । मैं खगेस भ्रमि भ्रमि जग माहीं ॥८॥

शब्दार्थ—बिगोना (सं० विगोपन) = बिगाड़ना, नष्ट करना ।

अर्थ—पहले मोह ने मुझे बहुत नष्ट किया, मैं श्रीराम-विमुख रहते हुए कभी भी सुख से नहीं सोया ॥६॥ अनेक जन्म ले लेकर फिर उनमें अनेक प्रकार के योग, जप, तप, यज्ञ, दान आदि अनेक कर्म किये ॥७॥ हे पक्षिराज ! ऐसी कौन योनि है जिसमें मैंने फिर-फिर कर बार-बार जगत् में जन्म न लिया हो ; अर्थात् बार-बार चौरासी को भोगा है ॥८॥

(२) 'अति नीचहु सन प्रीति, करिय···'—भाव यह कि यों तो अति नीच से प्रीति नहीं करनी चाहिये ; यथा—"बुध नहिं करहिं अधम कर संगा।" (दो० १०५) पर परम हित की प्राप्ति देखकर प्रीति करनी ही चाहिये ।

(३) 'पाट कीट ते होइ···'—चीन और बंगाल देश में अधिकतर रेशम के कीड़े होते हैं। यह कीड़ा प्रथम बड़ी-सी तितली होती है, यह सरसों भर का गोल अंडा देती है। अंडे से सूत्र के समान कीड़े निकलते हैं जो तूत आदि की कोमल पत्तियाँ खाते हैं, जब ये दो-तीन अंगुलों के हो जाते हैं तब उनपर खोल पड़ जाता है। जब वे खोल से निकलते हैं तब उनके १६ पैर और १२ आँखें हो जाती हैं। वे रेशम उगल-उगल कर गेंद सरीखा एक गोला बनाकर उसी के भीतर बन्द रहते हैं। कुछ दिन पर गोला फोड़कर निकलने पर तितली रूप हो जाते हैं। उस समय इनके छः पैर और दो आँखें और दो पंख हो जाते हैं। लोग उस गोले को रूई के समान तूँब कर रेशम कर लेते हैं। उस रेशम को सूत के समान कातकर उसी से पाटम्बर आदि तरह-तरह के रेशमी वस्त्र बनाते हैं। यह कीड़ा बड़ा अपावन माना जाता है—(श्रीबैजनाथजी की टीका से उद्धृत)।

स्वारथ साँच जीव कहँ येहा। मन-क्रम-बचन राम-पद नेहा ॥१॥
सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तनु पाइ भजिय रघुबीरा ॥२॥
राम-बिमुख लहि बिधि सम देही। कवि कोबिद न प्रसंसहिं तेही ॥३॥
राम-भगति येहि तन उर जामी। ताते मोहि परम प्रिय स्वामी ॥४॥
तजउँ न तनु निज इच्छा मरना। तनु बिनु बेद भजन नहिं बरना ॥५॥

अर्थ—जीव का सच्चा स्वार्थ यही है कि उसका मन, कर्म और वचन से श्रीरामजी के चरणों में स्नेह हो ॥१॥ वही शरीर पवित्र और सुन्दर है जिसे पाकर उससे श्रीरघुनाथजी का भजन किया जाय ॥२॥ राम-विमुख यदि ब्रह्मा के समान शरीर पा जाय तो भी कवि और कोविद उसकी प्रशंसा नहीं करते ॥३॥ इस तन से मेरे हृदय में श्रीराम-भक्ति जमी (पैदा एवं वृद्धि हुई) इसी से हे स्वामी ! यह मुझे परम प्रिय है ॥४॥ मैं शरीर नहीं छोड़ता, यद्यपि मरना अपनी इच्छा पर है, क्योंकि विना शरीर के भजन करना वेद नहीं वर्णन करते ॥५॥

विशेष—(१) 'स्वारथ साँच जीव कह येहा।'—उपर्युक्त दृष्टान्त पर कहा जा सकता है कि आपका इस काक तन से कौन-सा बड़ा स्वार्थ है ? उसपर कहते हैं कि मुझे इससे सच्चे स्वार्थ की सिद्धि हुई। लौकिक-सुख-साधक पदार्थ झूठे स्वार्थ हैं, क्योंकि उनमें रत होने से परिणाम में भव-दुःख होता है। श्रीरामजी की अनन्य भक्ति करना ही सच्चा स्वार्थ है, यही परम परमार्थ है ; यथा—"सखा परम परमारथ येहू। मन क्रम वचन राम-पद नेहू ॥" (अ० दो० ९३); लौकिक पदार्थ मोह-मूलक हैं ; यथा—"सरग नरक जहँ लगि व्यवहारू॥ ··देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं। मोह मूल परमारथ नाहीं ॥" (अ० दो० ९१) ; मनुष्य देह पाने की सफलता परमार्थ-साधन में ही है, यह पुरजन गीता प्रसंग में भी विस्तार से कहा गया, इसी से इसे ही यहाँ जीव का सच्चा स्वार्थ कहा गया है ; यथा—"मनुज देह सुर साधु सराहत सो सनेह सिय पी के।" (वि० १०५)।

(२) 'सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा ।'—राम-भक्त के शरीर स्पर्श से दूसरे भी पवित्र होते हैं; यथा—"जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइये ।" (वि० ११६) । 'जो तनु पाय···'— इसी में देह की सफलता है; यथा—"देह धरे कर यह फल भाई । भजिय राम सब काम बिहाई ॥" (कि० दो० २३ ।

(३) 'राम बिमुख लहि···'- भाव यह कि चाहे वह तीनों लोकों का रचयिता, नियन्ता एवं पितामह आदि ही क्यों न हो, पर राम-विमुख होने से वह भी 'पावन' और 'सुभग' नहीं है । यथा—"भगति हीन बिरंचि कि न होई । सब जीवहु सम प्रिय मोहिं सोई ॥ भगतिवंत अति नीचउ प्रानी । मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी ॥" (दो० ८५) ।

(४) 'राम भगति येहि तन उर जामी ।'— 'जामी' पद से शरीर को भूमि, हृदय को थाल्हा और भक्ति को वृक्ष जनाया । इसका बीज शिवाशीर्वाद से पड़ा, फिर लोमश-गुरु की कृपा से अंकुरित होकर बढ़ चला एवं दृढ़ हो गया ।

(५) 'तजउँ न तनु निज इच्छा मरना ।'—लोमशजी की आशिष से मृत्यु अपनी इच्छा पर है,- यथा—"सदा राम प्रिय होव तुम्ह,···कामरूप इच्छा मरन, ज्ञान बिराग निधान ।" (दो० ११३) फिर भी इस देह को नहीं छोड़ते, इसका कारण आगे कहते हैं—

(६) 'तनु बिनु वेद भजन नहिं बरना ।'—भाव यह कि भक्ति सहित ही जीवन रखना उत्तम है । वह शरीर विना हो नहीं सकता । जब कोई शरीर रखना ही है तब वही क्यों न रक्खूँ ? जिससे मेरा परम उपकार हुआ है । इस कारण से उसी काक तन पर मेरी प्रीति है । ध्वनि यह भी है कि नर देह, द्विज देह आदि में मुझे भक्ति सुख नहीं मिला था, तब उनकी इच्छा क्यों करूँ ? यथा—"सो तनु राखि करब मैं काहा । जेहि न प्रेम पन मोर निबाहा ॥" (अ० दो० १५४) ।

दृष्टान्त और दार्ष्टान्त—कृमि परम अपावन वैसे काक-तन परम अपावन ; कृमि से स्वार्थ और काक तन से सच्चा-स्वार्थ राम-प्रेम ; स्वार्थवश कृमि को सब पालते हैं और मैं काक-तन को परम प्रिय मानता हूँ ; रेशम सम्बन्ध से कृमि पावन और राम-भक्ति सम्बन्ध से काक-तन पावन है ।

श्रीगरुड़जी के प्रथम प्रश्न में भुशुंडिजी ने काक-तन नहीं बदलने का उत्तर दे दिया । अब आगे काक-तन पाने का कारण कहते हैं—

प्रथम मोह मोहि बहुत बिगोवा । राम-बिमुख सुख कबहुँ न सोवा ॥६॥
नाना जन्म कर्म पुनि नाना । किये जोग जप तप मख दाना ॥७॥
कवन जोनि जनमेउँ जहँ नाहीं । मैं खगेस भ्रमि भ्रमि जग माहीं ॥८॥

शब्दार्थ—बिगोना (सं० विगोपन) = बिगाड़ना, नष्ट करना ।

अर्थ—पहले मोह ने मुझे बहुत नष्ट किया, मैं श्रीराम-विमुख रहते हुए कभी भी सुख से नहीं सोया ॥६॥ अनेक जन्म ले लेकर फिर उनमें अनेक प्रकार के योग, जप, तप, यज्ञ, दान आदि अनेक कर्म किये ॥७॥ हे पक्षिराज ! ऐसी कौन योनि है जिसमें मैंने फिर-फिर कर बार बार जगत् में जन्म न लिया हो ; अर्थात् बार-बार चौरासी को भोगा है ॥८॥

विशेष—(१) 'प्रथम मोह मोहि ···'—'प्रथम' शब्द से जनाया कि यह श्रीशिवजी के वरदान के पूर्व की बात है। आगे—"प्रथम जन्म के चरित अब, कहउँ···" से स्पष्ट है। यह भी भाव है कि संसार में आने में प्रथम मोह ही कारण है; यथा—"मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥" (दो० १२०); 'मोह ··बिगोवा'—मोह ने बुद्धि को भ्रमित करके नष्ट कर दिया। राम-विमुख होना बिगोना अर्थात् नष्ट होना है; यथा—"जिन्ह येहि बारि न मानस धोये। ते कायर कलिकाल बिगोये॥" (बा० दो० ४२)।

(२) 'राम-विमुख सुख कबहुँ न सोवा।'—इससे जनाया कि राम भक्त ही सुख से सो सकता है; यथा—"प्रीति राम-नाम सों, प्रतीति राम-नाम की, प्रसाद राम नाम के पसारि पायँ सूति हौं॥" (क० उ० ६९)। "जागैं जोगी जंगम···सोवै सुख तुलसी भरोसे एक राम के॥" (क० उ० १०९); राम-विमुख को स्थिरता कहाँ? यथा—"नाचत ही निसि दिवस मर्यो। तब ही ते न भयो हरि थिर जब ते जिव नाम धर्यो॥" (वि० ९१); "हरि पद विमुख काहु न लह्यो सुख···" (वि० ८७)।

(३) 'नाना जन्म ···'—प्रत्येक जन्म में नाना प्रकार के योग, जप, आदि कर्मों को एवं इस प्रत्येक कर्म को भी नाना प्रकार से किया। 'नाना' का अन्वय प्रत्येक कर्म के साथ भी है।

'कवन जोनि···'—राम-भक्त के कर्म भक्ति-रूप एवं निष्काम होकर किये जाते हैं और वे श्रीरामजी को अर्पित किये जाते हैं। श्रीराम-विमुख में ये बातें नहीं होतीं, इसीसे कर्मानुसार वे नाना योनियों में भ्रमते हैं; यथा—"भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे॥" (दो० १२)। इसपर क० उ० १२४–१२५ भी देखिये।

देखेउँ करि सब करम गोसाईं। सुखी न भयउँ अबहिं की नाईं॥९॥
सुधि मोहि नाथ जन्म बहु केरी। सिव-प्रसाद मति मोह न घेरी॥१०॥

अर्थ—हे गोस्वामी! मैंने सब कर्म करके देख लिया, पर इस समय की तरह सुखी कभी नहीं हुआ॥९॥ हे नाथ! मुझे श्रीशिवजी के प्रसाद से बहुत जन्मों की सुध है और मेरी बुद्धि को मोह ने नहीं घेरा॥१०॥

विशेष—(१) 'देखेउँ करि सब कर्म गोसाईं।···'—मैं कुछ वेद शास्त्र आदि की एवं मुनियों से सुनी हुई नहीं कहता, किन्तु मैंने स्वयं सब कर्म करके उनका अनुभव किया है। 'सुखी न भयउँ'—भाव यह कि सुख होने के ही साधन वे कर्म हैं और उसी दृष्टि से किये गये पर मैं उनसे 'अबहिं की नाईं' सुखी नहीं हुआ, जैसा नित्य एवं अपरिणामी सुख अब है, वैसा पूर्व नहीं मिला था, वे सुख भी मिलते थे, तो अनित्य एवं क्षणिक होते थे, परिणाम में दुःख ही होता था, यथा—"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।" (गीता ९।२१)।

(२) 'सुधि मोहि नाथ ··'—श्रीशिवजी ने कृपा करके वर दिया था—"कवनेउँ जन्म मिटिहि नहिं ग्याना।" (दो० १०८), 'सिव प्रसाद' दीपदेहली है। अनेक जन्मों की कथा कहेंगे, तो स्मृति कैसे है? इसपर शिव-प्रसाद कहकर उसका समाधान करते हैं।

शंका—श्रीशिवजी की प्रसन्नता से तो इन्हें भक्ति मिल ही गई, तो उसके बाद के जन्मों के चरित को श्रीराम-विमुखता का फल कैसे कहा?

समाधान—श्रीशिवजी का वर है—"राम-भगति उपजिहि उर तोरे।" (दो० १०८)। जब तक वह भक्ति श्रीलोमशजी के द्वारा सर्वांग पूर्ण नहीं हुई थी, तब तक वह मोह बना रहा, इससे उतने अंशों में राम-विमुखता रही। या, श्रीशिवजी के प्रसाद से उससे पूर्व के भी जन्मों की सुध हो आई।

दोहा—प्रथम जन्म के चरित अब, कहउँ, सुनहु बिहगेस।
सुनि प्रभु-पद-रति उपजइ, जाते मिटहिं कलेस॥
पूरब कल्प एक प्रभु, जुग कलिजुग मल-मूल।
नर अरु नारि अधर्म-रत, सकल निगम प्रतिकूल॥९६॥

अर्थ—हे पक्षीराज! अब मैं अपने प्रथम जन्म के चरित कहता हूँ, सुनिये। इसे सुनने पर प्रभु के चरणों में अनुराग उत्पन्न होता है, जिससे (अविद्या आदि पंच) क्लेश मिट जाते हैं॥ हे प्रभो! पूर्व एक कल्प में कलियुग नाम का एक पापों का मूल युग हुआ। जिसमें स्त्री और पुरुष सभी अधर्मरत और वेद के विरोधी थे॥९६॥

विशेष—(१) 'प्रथम जनम के···'—सुधि तो और जन्मों की भी है, पर जिस प्रथम जन्म से मनुष्य तन पाया और श्रीराम-भक्ति का योग लगा, श्रीशिवजी की कृपा हुई, उसी जन्म से कहता हूँ। अपने चरित कहने में आत्मप्रशंसा रूपी दोष होता है, इसपर भी कहने का कारण कहते हैं कि उसे सुनकर प्रभु-पद में रति होगी, क्लेश मिटेंगे। या, अपने चरित में अपनी हीनता कहेंगे, वह श्रीगरुड़जी संभवतः न सुनें कि गुरु का परिवाद मैं क्यों सुनूँ? उसपर उसका उत्तम फल कहा।

(२) 'पूरब कल्प एक···'—श्रीभुशुंडिजी को यहाँ रहते हुए २७ कल्प बीत गये, उससे पहले की तो वह बात अवश्य है, इससे बहुत पुराने समय की बात है। 'एक' का भाव यह कि ऐसा कराल कलिकाल अभी तक दूसरा नहीं हुआ।

तेहि कलिजुग कोसलपुर जाई। जन्मत भयउँ सूद्रतनु पाई॥१॥
सिव-सेवक मन क्रम अरु बानी। आन देव निंदक अभिमानी॥२॥
धन-मद-मत्त परम बाचाला। उग्र बुद्धि उर दंभ बिसाला॥३॥

अर्थ—उस कलियुग मे अयोध्या में जा मैंने शूद्रतन पाकर जन्म लिया॥१॥ मन, कर्म और वचन से मैं श्रीशिवजी का सेवक, और देवों का निंदक और अभिमानी था॥२॥ धन के मद से मतवाला, परम वाचाल, भयंकर तीक्ष्ण बुद्धिवाला था और मेरे हृदय मे बड़ा भारी दंभ था॥३॥

विशेष—(१) 'सिव-सेवक···'—'मन क्रम बानी' दीपदेहली है, शिव-सेवा और अन्य देव-निन्दा दोनों के साथ है। 'निंदक' के साथ 'अभिमानी' कहने का कारण यह कि शुद्ध शिव-सेवक तो भगवान् श्रीरामजी एवं उनके और रूपों में श्रद्धा रखते हैं, क्योंकि शिव सेवा का फल ही राम-भक्ति है; यथा—"सिव सेवा कर फल सुत सोई। अविरल भगति राम-पद होई॥" (दो० १०५)। पर मुझे

शिव-सेवक होने का अभिमान था, इससे मैं अन्य देवों की निन्दा करता था, पुनः स्वभावतः अभिमान के कारण समझानेवाले पर क्रुद्ध होता था। 'आन देव' से यहाँ हरि का तात्पर्य है, आगे 'करउँ विष्णुकर द्रोह' स्पष्ट कहा गया है।

(२) 'धन-मद-मत्त···'—धन के मद से वक्रता आ ही जाती है, देखिये दो० ७०। 'परम बाचाला'—बड़ा बकवादी था, अपने आगे दूसरे को वाद में ठहरने नहीं देता था। दूसरे की सुनता ही नहीं था। 'धन-मद-मत्त' कहकर 'बाचाला' कहने का भाव यह कि अपनी ही प्रभुता बड़बड़ाया करता था। साथ ही 'उग्रबुद्धि' भी कहकर दिखाया कि अपने पक्ष-समर्थन में बुद्धि-तीक्ष्ण थी, पर वह अन्याय को न्याय सिद्ध करने में ही लगी रहती थी, यह क्रूरता थी। 'उरदंभ'—ऊपर से सन्मार्गी बना रहता था कि लोग मुझे श्रेष्ठ मानें।

जदपि रहेउँ रघुपति-रजधानी। तदपि न कछु महिमा तब जानी ॥४॥
अब जाना मैं अवध-प्रभावा। निगमागम पुरान अस गावा ॥५॥
कवनेहुँ जन्म अवध बस जोई। राम-परायन सो परि होई ॥६॥
अवध-प्रभाव जान तब प्रानी। जब उर बसहिं राम धनु-पानी ॥७॥

अर्थ—यद्यपि मैं श्रीरघुनाथजी की राजधानी में रहा, तथापि उस समय उसका कुछ माहात्म्य नहीं जाना था ॥३॥ अब मैंने अवध का प्रभाव जाना—शास्त्र, वेद और पुराणों ने ऐसा कहा है कि किसी भी जन्म में जो कोई श्रीअवध में निवास करता है, वह अवश्य रामानुरागी हो जाता है ॥५-६॥ जीव श्रीअवध का प्रभाव तभी जानता है, जब धनुष-बाण धारण किये हुए श्रीरामजी उसके हृदय में निवास करते हैं ॥७॥

विशेष—(१) 'जदपि रहेउँ···'—वहाँ रहते हुए प्रभाव अवश्य जानना चाहता था, पर मैं अभिमानी था, इस कारण नहीं जान पाया। आगे कहते हैं कि श्रीरामजी के बिना हृदय में बसे हुए श्रीअवध का प्रभाव कोई नहीं जान पाता और वे अभिमानी से दूर रहते हैं। महिमा के बिना जाने श्रीअवध के वास का यथार्थ फल नहीं प्राप्त हुआ।

(२) 'अब जाना मैं···'—श्रीरामजी की कृपा से और २७ कल्पों के भजन और अनुभव से जाना। श्रीरामजी की राजधानी का प्रभाव बिना उनकी कृपा नहीं जाना जा सकता।

(३) 'कवनेहुँ जन्म···'—कीट-पतंग, पशु आदि किसी भी योनि में जन्म पाकर वहाँ रहने से उसे राम-भक्ति प्राप्त होती है।

(४) 'जब उर बसहिं राम धनुपानी।'—श्रीरामजी जब धनुर्बाण धारण किये हुए हृदय में बसते हैं, तब हृदय शुद्ध हो जाता है; यथा—"तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मत्सर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥" (सुं० दो० ४६); 'धनु पानी' अर्थात् द्विभुज राम-रूप ही, क्योंकि श्रीअवध के देवता ये ही हैं।

यहाँ निगम आदि का सिद्धान्त कहा कि किसी भी जन्म में जो श्रीअवधवास करे, वह मरे कहीं भी, पर दूसरे जन्म में राम-भक्त अवश्य होता है। पुनः श्रीअवधवास होने पर जब श्रीरामजी हृदय में बसें, तभी श्रीअवध-प्रभाव जाना जाता है। ये दोनों बातें श्रीभुशुण्डिजी में ही चरितार्थ हैं। इनका श्रीअवध-

वास हुआ था, इसीसे दूसरे जन्म में रामभक्ति हुई ; यथा—"रघुपतिपुरी जनम तव भयऊ।···पुरी प्रभाव अनुग्रह मोरे। राम भगति उपजिहि उर तोरे ॥" (दो० १०८)। जब से श्रीलोमशजी ने श्रीरामजी का ध्यान बतलाया, तब से श्रीरामजी इनके हृदय में भी बसते हैं; यथा—"मुनि उर राखि राम सिसु रूपा ! निज आश्रम आवउँ खगभूपा ॥" (दो० ११३), इससे कहते हैं—'अब जाना'। 'उर बसहिं' का भाव भी स्पष्ट हुआ कि श्रीरामजी का ध्यान हो।

'अवध प्रभावा'—अयोध्या माहात्म्य पहले कहा गया है। वेद के प्रमाण भी पूर्व दिये गये हैं।

सो कलिकाल कठिन उरगारी। पाप-परायन सब नर-नारी ॥८॥

दोहा—कलिमल ग्रसे धर्म सब, लुप्त भये सद-ग्रंथ।
दंभिन्ह निज मति कल्पि करि, प्रगट किये बहु पंथ ॥
भये लोग सब मोहबस, लोभ ग्रसे सुभ कर्म।
सुनु हरिजान ज्ञान-निधि, कहउँ कछुक कलि-धर्म ॥९७॥

BHARATIYA ... LIB

शब्दार्थ—कल्पित=मनमाना, कल्पना द्वारा रचा हुआ, झूठा।

अर्थ—हे श्रीगरुड़जी ! वह कलिकाल बड़ा कठिन था, उसमें सब स्त्री-पुरुष पाप में निमग्न थे ॥८॥ कलि के पापों ने सब धर्मों का ग्रास कर लिया (नाश कर दिया), सद्ग्रंथ लुप्त हो गये, पाखंडियों ने अपनी बुद्धि से गढ़-गढ़कर बहुत-से मार्ग प्रकट कर दिये ॥ सब लोग मोहवश हो गये, शुभ कर्मों को लोभ ने ग्रस लिया (अर्थात् धन आदि के लोभ से ही धर्म किया जाने लगा) हे ज्ञाननिधान हरिवाहनजी ! सुनिये, मैं कलि के कुछ धर्म कहता हूँ ॥९७॥

विशेष—(१) 'सो कलिकाल कठिन ··'—'सो' अर्थात् दो० ९६ से जिसका वर्णन प्रारंभ किया था, बीच में अपने जन्म आदि कहने लगे थे। अब फिर वहीं से प्रसंग लेते हुए कहा है। 'सो कलि ··' भाव यह कि और कलिकाल सामान्य हुए, पर वह बड़ा कठिन था जिसमें मेरा जन्म हुआ था। वहाँ 'नर अरु नारि अधर्मरत' कहा था, वही यहाँ 'पाप परायन सब नर-नारी ॥' कहा। इसके बीच में अपना जन्म कहकर जनाया कि मेरा जन्म भी वैसा ही पाप-परायण था।

(२) 'कलिमल ग्रसे धर्म सब'—पाप की अधिकता से धर्म नहीं रह जाते ; यथा—"करै क्रोध जिमि धर्महि दूरी।" (कि० दो० १४)। धर्म के न रह जाने से धर्म प्रवर्त्तक सद्ग्रंथ भी लुप्त हो जाते हैं, उनके नाम मात्र सुने जाते हैं, कहीं उनकी प्रवृत्ति नहीं रह जाती।

(३) 'दंभिन्ह निज मति···'—सद्ग्रन्थों का लुप्त होना कहकर साथ ही दंभियों के निज मति 'कल्पित पंथ' कहकर सूचित किया कि इन्होंने सद्ग्रन्थों को लुप्त किया, अपने मन-गढ़ंत कपोल-कल्पित कुछ चमत्कृत बातें लिख-लिख कर नये-नये ग्रन्थ निर्माण किये कि लोग इनपर चलें। उनमें प्राचीन महर्षियों के नाम देकर लोगों को भ्रम में डाल दिया कि कौन से सद्ग्रन्थ हैं, यथा—"हरित भूमि तृन संकुल, समुझि परै नहि पंथ। जिमि पाखंड बाद ते, गुप्त होहिं सद्ग्रन्थ ॥" (कि० दो० १४)। आज दिन भी

कुछ नये मत वालों ने अपने समाज के विद्वानों को प्राचीन महर्षियों के नाम दिये हैं कि जिससे उनके द्वारा लिखे हुए ग्रन्थों को लेकर वे आगे के लोगों को भ्रम में डाल सकें। प्राचीन ग्रन्थों में भी क्षेपक प्रसंग मिला दिये हैं कि यह भी उन्हीं ग्रन्थों का मत सिद्ध हो जाय। यहाँ तक कि वाल्मीकीय रामायण और तुलसीकृत रामायण में बहुत कथाएँ क्षेपक की मिला दी गई हैं। उनमें कुछ प्रामाणिक और कुछ मन-गढ़ंत हैं।

सद्ग्रन्थ सूर्य-चन्द्रमा के समान हैं, उनके सामने दंभियों के मत जुगनू के समान हैं; *यथा*—"निसि तम घन खद्योत बिराजा। जनु दंभिन्ह कर मिला समाजा॥" (कि० दो० १४)। ये लोगों के हृदय के अज्ञान-तम को दूर करने में समर्थ नहीं हैं। जहाँ सद्ग्रन्थों की प्रवृत्ति नहीं रहती, वहीं दंभियों के प्रभाव पड़ते हैं, जैसे अंधेरे में जुगनू चमकते हैं।

(४) 'लोभ ग्रसे सुभ कर्म'— हृदय में लोभ है, धन अधिक मिलता तो करते, पर वह नहीं देखते इससे शुभ कर्म नहीं करते, इसीसे शुभ कर्मों का लोप हो गया। कलि के प्रभाव से 'भये लोग सब मोह बस' और इसीसे लोभवश भी हुए। 'सुनु हरिजान ज्ञाननिधि'—भाव यह कि आप तो उपासना और ज्ञान में पूर्ण हैं। इससे सुनने पर यह आपके मन पर बाधा नहीं कर सकेगा और इससे लोक-शिक्षा होगी। इसलिये सुनिये। 'कहउँ कछुक'—वैकारिक बातें अधिक न कहूँगा—"थोरेहि महँ जानिहहिं सयाने।"

(५) 'बहु पथ'; यथा—"बेद पुरान बिहाइ सुपंथ कुमारग कोटि कुचाल चली है।" (क० उ० ८५); "आगम बेद पुरान बखानत मारग कोटिक जाहिं न जाने।···धर्म सबै कलिकाल ग्रसे ·····" (क० उ० १०५)।

कलि-धर्म-वर्णन

बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति-बिरोध-रत सब नर-नारी॥१॥
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम-अनुसासन॥२॥
मारग सोइ जा कहँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥३॥
मिथ्यारंभ दंभ - रत जोई। ता कहँ संत कहइ सब कोई॥४॥

अर्थ—चारों वर्णाश्रमों के धर्म नहीं रह जाते, सब स्त्री पुरुष वेद के विरोध में लगे रहते हैं॥१॥ ब्राह्मण वेदों के बेचनेवाले और राजा प्रजा को खा जानेवाले होते हैं, कोई भी वेद की आज्ञा नहीं मानता॥२॥ जिसे जो भाता है वही उसका (प्रामाणिक) मार्ग है, जो डींग मारता (बढ़-बढ़ कर बातें करता) है वही पंडित है॥३॥ जिसके कार्यों का आरंभ (मूल) ही मिथ्या है और जो पाखंड-रत है, उसीको सब कोई संत कहते हैं॥४॥

विशेष—(१) 'बरन धर्म नहिं · '—चारों वर्णों और चारों आश्रमों के धर्म पृथक्-पृथक् और नियमित हैं; पर कलि में कोई अपने धर्म पर स्थित नहीं रहता। ब्राह्मण शूद्रों के कर्म और शूद्र ब्राह्मणों के कर्म करने लगते हैं। ऐसे ब्रह्मचर्याश्रम के धर्म अधूरे छोड़ संन्यास ग्रहण कर लेते और फिर वर्ण संकर हो गृही हो जाते हैं। वे किसी भी वर्ण और आश्रम के नहीं रह जाते, इत्यादि रीति से भ्रष्टाचारी हो जाते हैं।

'श्रुति विरोध रत···'—सभी वेदों में कहे हुए धर्मों पर आक्षेप करने का साहस करते हैं कि अमुक बात ठीक नहीं, इत्यादि।

(२) 'द्विज श्रुति बेचक'—वेद का बेचना यह कि धन के लोभ से अनधिकारी को वेद पढ़ाते हैं। ऋषियों की प्राचीन परम्परागत पठन-पाठन रीति से लोभवश अन्यथा करते हैं। लोभवश वेद के अर्थों का अनर्थ करते हैं। 'द्विज श्रुति बेचक' कहकर 'भूप प्रजासन' कहने का भाव यह कि ब्राह्मण लोभी होने से बुद्धिहीन और असदाचार से तेज-रहित हो गये, इससे वे राजाओं पर शासन करने से असमर्थ हो गये, तब राजा लोग उच्छृंखल हो गये। प्रजा के लूटने के लिये नई-नई कुचालें निकालते हैं; यथा—"मम मूरति महिदेव-मई है। तिन्ह की मति रिस, राग, मोह, मद, लोभ, लालची लीलि लई है॥ राज समाज कुसाज कोटि कटु कल्पत कलुष कुचाल नई है।" (वि० १३९)।

'भूप प्रजासन'—जैसे बकरी पालनेवाला उसके दूध से तृप्ति न देख उसी को खा लेता है। वैसे ही प्रजा के द्वारा प्राप्त होनेवाले उचित कर से तृप्त न होकर उन्हें नाना प्रकार से कष्ट देकर उनका धन हरण करते हैं, यही खून चूसना प्रजा को खा जाना है।

राजा को चाहिये कि प्रजा से कर थोड़ा ले और फिर वह भी उन्हीं की रक्षा में लगावे। यह सब दोहावली ५०७ से ५११ तक और कुराज की व्यवस्था ५१२ से ५१५ तक देखिये।

जब ब्राह्मण और क्षत्रिय धर्म भ्रष्ट हुए तब शेष प्रजा भी वैसी ही धर्म-भ्रष्ट होती है, यथा—"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥" (गीता ३।२१)—अर्थात् श्रेष्ठ लोगों के अनुसार ही सामान्य लोग भी चलते हैं।

(३) 'पंडित सोइ जो गाल बजावा'; यथा—"पाण्डित्ये चापलं वचः।" (भाग० १२।२।४); अर्थात् पाण्डित्य के विषय में वचन की चपलता ही मुख्य होती है, झूठ गप हाँकनेवाला पंडित कहाता है।

(४) 'मिथ्यारंभ दंभ रत ···'—हृदय से श्रद्धा नहीं पर दुनिया को ठगने के लिये कोई धर्म कार्य-धर्मशाला, मंदिर, पाठशाला आदि के निर्माण का काय छेड़ देते हैं। उसी के नाम पर माँग-माँग कर धन बटोरते हैं और अपनेको परोपकारी एवं निष्काम महात्मा होने का दंभ रचे हुए रहते हैं, वे सत कहाते हैं। 'सब कोई'—जो उनकी माया को नहीं समझते, वे लोग।

सोइ सयान जो परधन-हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी॥५॥
जो कह झूठ मसखरी जाना। कलिजुग सोइ गुनवंत बखाना॥६॥
निराचार जो श्रुति-पथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी सो बिरागी॥७॥
जाके नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥८॥

शब्दार्थ—आचारी = आचार विचार एवं पवित्रता से रहनेवाला।

अर्थ—जो पराया धन हरण करे वही सयाना, जो दंभ करे वही बड़ा आचारी, जो झूठ बोले और हँसी दिल्लगी जाने, वही कलियुग में गुणवान् कहा जाता है॥५-६॥ जो सदाचार रहित और वेद मार्ग का त्याग किये हुए हैं, वे ही कलियुग में ज्ञानी और वैरागी कहाते हैं॥७॥ जिसके बड़े बड़े नाखून और बड़ी-बड़ी जटाएँ हों, कलिकाल में वही तपस्वी नाम से विख्यात है॥८॥

विशेष (१) 'कह झूठ मसखरी जाना'—झूठी बातें कहना और मसखरी करना जाने। मसखरी अर्थात् भाड़ों की-सी नकल करना जाने। भाव यह कि सत्य और शील का कोई ग्राहक नहीं। 'श्रुति-पथ'—काण्डत्रय अर्थात् कर्म, उपासना, ज्ञान इन श्रुति पथ-साधनों को त्यागे हुए हैं। चाहिये तो वेद के अनुसार विषय-रस को त्याग करना, पर वे वेद-विधान को ही त्यागते हैं। कहते हैं—"त्रैगुण्य विषया वेदाः" (गीता २।४५) का यही अर्थ है कि त्रिगुणात्मक वेद का ही त्याग करना वैरागी का काम है। विरागी के वास्ते कहा ही है—"तृन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी।" (आ० दो० १७)। (इसका वास्तविक अर्थ आ० दो० १४ चौ० ८ में देखिये) ज्ञानी का लक्षण शास्त्र के अनुसार विरक्ति से रहना, ब्रह्मनिष्ठ होना और सदाचार से रहना है, पर जो निराचार एवं श्रुति विरुद्ध आचरणवाले हैं, कलि में वे ही ज्ञानी हैं।

(२) 'सोइ तापस···'—कर्त्तव्य से प्रयोजन नहीं, वेष-मात्र से तपस्वी कहाते हैं। 'प्रसिद्ध'—सच्चे तपस्वी को तो कोई जानता ही नहीं, पर ये प्रसिद्ध रहते हैं।

दोहा—असुभ बेष भूषन धरे, भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर, पूज्य ते कलिजुग माहिं॥

सो०—जे अपकारी-चार, तिन्ह कर गौरव मान्य तेइ।
मन क्रम बचन लबार, तेइ बकता कलिकाल महँ॥९८॥

शब्दार्थ—चार = चाल, व्यवहार, आचरण। लबार = झूठे।

अर्थ—जो अमंगल वेष और अमंगल आभूषण धारण करें, जो भक्ष्य (खाद्य), अभक्ष्य (अखाद्य अर्थात् मद्य, मांस, मूत्र, पुरीष आदि) खाते हैं, वे ही योगी और वे ही सिद्ध पुरुष हैं और उन्हीं की कलियुग में प्रतिष्ठा है (जहाँ-तहाँ पूजे जाते हैं)।। जो औरों के अहित करने के स्वभाव (चाल) वाले हैं, उनका बड़ा गौरव (बड़प्पन) है और वे प्रतिष्ठा के योग्य समझे जाते हैं। जो मन-वचन-कर्म से झूठे (गपोड़िये) हैं, वे ही कलिकाल में वक्ता कहे जाते हैं॥९८॥

विशेष—(१) 'असुभ बेष···'; यथा—"असुभ बेष कृत सिव सुखद।" (दो० ८८) अर्थात् मुंडमाला, हड्डी आदि धारण, चिताभस्म लेपन आदि अशुभ वेष हैं—यहाँ, अघोर पंथ पर लक्ष्य है।

(२) 'मन क्रम बचन लबार'—मन में कुछ, वचन में कुछ और कर्म में कुछ और ही हैं, तीनों से झूठे बर्तावबाले हैं। झूठे किस्से कह-कह कर लोगों को रिझाते हैं। जिस समाज से कुछ प्राप्ति की आशा देखी, उसी में प्रवेश करके व्याख्यान देने लगे। उन्हीं के वक्तृत्व की लोगों में प्रशंसा होती है। सत्यवादी विद्वानों की कहीं पूछ नहीं।

नारि बिबस नर सकल गोसाईं। नाचहिं नट मरकट की नाईं॥१॥
सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना॥२॥
सब नर काम-लोभ-रत क्रोधी। देव-बिप्र-श्रुति-संत-बिरोधी॥३॥

गुन मंदिर सुंदर पति त्यागी। भजहिं नारि परपुरुष अभागी ॥४॥
सौभागिनी विभूषन - हीना। विधवन्ह के श्रृंगार नवीना ॥५॥

अर्थ—हे गोसाईं गरुड़जी ! सब मनुष्य स्त्रियों के विशेष वश होकर नट के वानर की तरह नाचते हैं (अर्थात् जैसे छड़ी के संकेत से नट बन्दर को नचाता है, वैसे सब नर स्त्री की भौंह के इशारे पर नाचते हैं, पशुवत् लाचार हैं) ॥१॥ ब्राह्मणों को शूद्र ज्ञानोपदेश करते हैं और जनेऊ पहनकर कुत्सित दान लेते हैं ॥२॥ सब मनुष्य काम, लोभ और क्रोध में तत्पर और देवता, ब्राह्मण, वेद और संत के विरोधी हैं ॥३॥ सुंदर गुणों के स्थान और सुंदर रूपवाले पति को त्याग कर अभागिनी स्त्रियाँ पराये पुरुष की सेवा एवं उससे प्रीति करती हैं ॥४॥ सौभाग्यवती (सधवा) स्त्रियाँ तो आभूषणरहित होती हैं और विधवाओं के नित्य नये शृंगार होते हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'सूद्र द्विजन्ह···'– उपर्युक्त 'बरन धर्म नहिं···' का चरितार्थ यहाँ दिखाते हैं कि ब्राह्मण आदि वर्णत्रय को शूद्र ज्ञान उपदेश करते हैं। यह ब्राह्मणों का धर्म है, इसे शूद्रों ने ग्रहण किया है। 'मेलि जनेऊ'—उन्हें यज्ञोपवीत कोई क्यों देने लगा, इसी से वे स्वयं पहन लेते हैं। भाव यह कि 'द्विज चिन्ह जनेउ' मात्र रह गया, उतने ही से विप्र बन जाते हैं और निःसंकोच होकर चारों वर्णों को ज्ञानोपदेश करते हैं। दान-दक्षिणा लेने में भी निःशंक हो जाते हैं। 'कुदान' जैसे शय्या दान, गज दान इत्यादि, जिसे ब्राह्मण भी लेने में संकोच करते हैं।

(२) 'काम-लोभ रत क्रोधी'– कहकर उन्हें नरक के अधिकारी जनाया, क्योंकि कामादि 'नरक के पंथ' कहे गये हैं सुं० दो० ३८ देखिये।

'नारि बिबस···'—पशुवत् हो रहे हैं ; यथा—"नट मर्कट इव···" (कि० दो० ६)।

(३) 'गुन मंदिर सुंदर पति त्यागी।···'—स्त्रियों को पतिव्रता होना चाहिये, वृद्ध, रोगवश एवं अंध, बधिर पति का भी अपमान नहीं करना चाहिये। तब सर्वगुण सम्पन्न एवं सुन्दर पति का त्यागना तो अत्यन्त गर्हित है। 'भजहिं'—उन्हें इष्टदेव की तरह मान कर प्रीति से उनकी सेवा करती हैं, अनुरक्त होती हैं। परिणाम को नहीं देखतीं कि इस दुष्कर्म से नरक होगा, फिर जन्म होने पर तरुण अवस्था में ही विधवा होना होगा ; यथा—"बिधवा होइ पाइ तरुनाई।" "रौरव नरक कल्प सत परई।" (आ० दो० ५)। इसी से 'अभागी' कहा है।

(४) 'सौभागिनी बिभूषन हीना।···'—सुहागिनियों को षोड़श शृंगार करना चाहिये और विधवाओं को नहीं, पर कलि में उल्टा ही होता है। सुहागिनियाँ गरीब हैं इससे शृंगार-सामग्री नहीं पातीं और विधवाएं परपति-रति से धनी हैं, इससे शृंगार युक्त रहती हैं। वा, सौभाग्यवती पति को रिझाना तो जानती ही नहीं, इससे भूषण वस्त्र बाँधकर धर रखती हैं। जब कहीं मेले एवं निमंत्रण आदि में जाना होता है, तब दिखाने के लिये पहनती हैं।

क्या उस समय गुरु लोग उपदेश नहीं करते थे ? इसपर आगे कहते हैं—

गुरु सिख बधिर अंध कर लेखा। एक न सुनइ एक नहिं देखा ॥६॥
हरइ सिष्य धन सोक न हरई। सो गुरु घोर नरक महँ परई ॥७॥

विशेष (१) 'कह झूठ मसखरी जाना'—झूठी बातें कहना और मसखरी करना जाने। मसखरी अर्थात् भाड़ों की-सी नकल करना जाने। भाव यह कि सत्य और शील का कोई ग्राहक नहीं। 'श्रुति-पथ'—काण्डत्रय अर्थात् कर्म, उपासना, ज्ञान इन श्रुति पथ-साधनों को त्यागे हुए हैं। चाहिये तो वेद के अनुसार विषय-रस को त्याग करना, पर वे वेद-विधान को ही त्यागते हैं। कहते हैं—"त्रैगुण्य विषया वेदाः" (गीता २।४५) का यही अर्थ है कि त्रिगुणात्मक वेद का ही त्याग करना वैरागी का काम है। विरागी के वास्ते कहा ही है—"तृन मम सिद्धि तीन गुन त्यागी।" (आ० दो० १४)। (इसका वास्तविक अर्थ आ० दो० १४ चौ० ८ में देखिये) ज्ञानी का लक्षण शास्त्र के अनुसार विरक्ति से रहना, ब्रह्मनिष्ठ होना और सदाचार से रहना है, पर जो निराचार एवं श्रुति विरुद्ध आचरणवाले हैं, कलि में वे ही ज्ञानी हैं।

(२) 'सोइ तापस···'—कर्त्तव्य से प्रयोजन नहीं, वेष-मात्र से तपस्वी कहाते हैं। 'प्रसिद्ध'—सच्चे तपस्वी को तो कोई जानता ही नहीं, पर ये प्रसिद्ध रहते हैं।

दोहा—असुभ बेष भूषन धरे, भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर, पूज्य ते कलिजुग माहिं॥

सो०—जे अपकारी-चार, तिन्ह कर गौरव मान्य तेइ।
मन क्रम बचन लबार, तेइ बकता कलिकाल महँ॥९८॥

शब्दार्थ—चार = चाल, व्यवहार, आचरण। लबार = झूठे।

अर्थ—जो अमंगल वेष और अमंगल आभूषण धारण करें, जो भक्ष्य (खाद्य), अभक्ष्य (अखाद्य अर्थात् मद्य, मांस, मूत्र, पुरीष आदि) खाते हैं, वे ही योगी और वे ही सिद्ध पुरुष हैं और उन्हीं की कलियुग में प्रतिष्ठा है (जहाँ-तहाँ पूजे जाते हैं)॥ जो औरों के अहित करने के स्वभाव (चाल) वाले हैं, उनका बड़ा गौरव (बड़प्पन) है और वे प्रतिष्ठा के योग्य समझे जाते हैं। जो मन-वचन-कर्म से झूठे (गपोड़िये) हैं, वे ही कलिकाल में वक्ता कहे जाते हैं॥९८॥

विशेष—(१) 'असुभ बेष···'; यथा—"असुभ बेष कृत सिव सुखद।" (दो० ८८) अर्थात् मुंडमाला, हड्डी आदि धारण, चिताभस्म लेपन आदि अशुभ वेष हैं—यहाँ, अघोर पंथ पर लक्ष्य है।

(२) 'मन क्रम वचन लबार'—मन में कुछ, वचन में कुछ और कर्म में कुछ और ही हैं, तीनों से झूठे बर्ताववाले हैं। झूठे किस्से कह-कह कर लोगों को रिझाते हैं। जिस समाज से कुछ प्राप्ति की आशा देखी, उसी में प्रवेश करके व्याख्यान देने लगे। उन्हीं के वक्तृत्व की लोगों में प्रशंसा होती है। सत्यवादी विद्वानों की कहीं पूछ नहीं।

नारि बिबस नर सकल गोसाईं। नाचहिं नट मरकट की नाईं॥१॥
सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना॥२॥
सब नर काम-लोभ-रत क्रोधी। देव-बिप्र-श्रुति-संत-बिरोधी॥३॥

वेदान्तिनो भान्ति फाल्गुणे बालका इव ।" (शंकराचार्य) । पर हृदय में आसुरी वृत्ति है कि लोभ वश ब्रह्म-हत्या भी कर डालते हैं; यथा—"कलौ काकिणिकेऽप्यर्थे विगृह्य त्यक्तसौहृदाः । त्यक्ष्यन्ति च प्रियान्प्राणान्हनिष्यन्ति स्वकानपि ॥" (भाग॰ १२।३।४१); अर्थात् कलियुग में कौड़ी के लिये भी विरोध करके लोग प्रेम रहित बनकर माता-पिता आदि स्वजनों को मार डालेंगे और अपने भी प्रिय प्राण खो देंगे। 'कहहिं न दूसरि बात'—वर्णाश्रम धर्म छोड़कर खान-पान में स्वतंत्र हो गये हैं, इसके लिये ब्रह्मज्ञानी बनते हैं कि हमारी दृष्टि में सब ब्रह्म है, भेद-दृष्टि में ही आचार-विचार है। पर लोभ ऐसा कि अति अल्प हानि पर भी अवध्यों का वध करते हैं।

(२) 'बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन···'—वाद करते हैं, प्रमाण वेदों के भी सुनाते हैं कि ब्रह्मज्ञानी ही ब्राह्मण है ; यथा—"अथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः ॥" (बृह॰ ३।८।१०); अर्थात्—हे गार्गि ! जो इस अक्षर ब्रह्म को जान (साक्षात्) करके इस लोक से परलोक जाता है, वही ब्राह्मण है। हमें ब्रह्मज्ञान है। अतः, हम ही ब्राह्मण हैं, तुम कैसे ब्राह्मण बनते हो ? (ब्रह्मज्ञान से भी ऋषियों की ब्राह्मण संज्ञा होती है, किन्तु जातीय ब्राह्मणत्व भाव और है, वह तो विप्रवंश में जन्म होने से ही माना जाता है।) वा, तुम विप्र-मात्र हो, हम विप्रवर हैं—ऐसा कहते हैं। इसपर यदि वह कुछ उत्तर देता है, तो डाँटकर फटकारते हैं कि न मानोगे तो डंडे से खबर ली जायगी। भाव यह कि इन्होंने धर्म को सर्वथा त्याग दिया है ; यथा—"सोचिय सूद्र विप्र अवमानी। मुखर मान प्रिय ज्ञान गुमानी ॥" (अ॰ दो॰ १७२)।

परत्रिय लंपट कपट सयाने। मोह-द्रोह-ममता लपटाने ॥१॥
तेइ अभेदवादी ज्ञानी नर। देखा मैं चरित्र कलिजुग कर ॥२॥
आपु गये अरु तिन्हहूँ घालहिं। जे कहुँ सतमारग प्रतिपालहिं ॥३॥

अर्थ—जो पर-स्त्री के व्यभिचारी, कपट चतुर, मोह द्रोह-ममता में लपटे हुए हैं ।१॥ वे ही मनुष्य अभेदवादी ज्ञानी हैं, यह चरित्र मैंने उस कलियुग का देखा ॥२॥ स्वयं तो गये बीते हैं ही, जो कोई कहीं सन्मार्ग का पालन करते हैं उनको भी वे नष्ट करते हैं ॥३॥

विशेष- (१) 'तेइ अभेदवादी ज्ञानी···'—ऊपर जो 'ब्रह्म ज्ञान बिनु···' कहा गया था, उसीको यहाँ स्पष्ट किया कि वह अभेदवादरूप ब्रह्मवाद है ; यथा—"सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा।" (दो॰ ११०); पहले लंपटता आदि के सयाने कहे गये कि उन्हें इन कामों में शीघ्र कोई भाँप नहीं पाता, यदि किसीने लख लिया, तो अभेदवादी ज्ञानी बन जाते हैं कि हमारी दृष्टि में अपना-पराया नहीं है। हम सबको आत्मा जानते हैं, मोह से देह पोषते हैं; द्रोह से पर हानि में निरत रहते हैं, ममता से पर-धन, पर-स्त्री आदि को अपना मानते हैं। ये सब दोष ब्रह्मज्ञान के महान् विरोधी हैं ; यथा—"नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः । नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥" (का॰ १।२।२३) ; अर्थात् वैराग्य रहित, दुश्चरित्र (पर-स्त्री लंपट), चञ्चलचित्त, संशय-शील और उद्विग्न हृदयवाले के ज्ञान से वह ब्रह्म नहीं प्राप्त होता। पर ये इन दोषों में लपटे हुए रहते हैं। 'देखा मैं'—सुनी हुई नहीं कहता, किन्तु मैंने अपनी आँखों से देखा है।

(२) 'तिन्हहू घालहिं। जे कहुँ···'—कलि में सन्मार्गी इने-गिने ही होते हैं, इससे 'जे कहुँ' कहा है। वे भी इनसे नहीं बचने पाते हैं, उनसे भी कुतर्क कर उनका सन्मार्ग छुड़ा देते हैं कि क्या कर्म-कीच में

मातु पिता बालकन्हि बोलावहिं । उदर भरै सोइ धर्म सिखावहिं ॥८॥

अर्थ—गुरु और शिष्य का तो अंधे और बहरे का-सा बर्ताव है, एक (शिष्य) सुनता नहीं, दूसरा (गुरु) देखता नहीं ॥६॥ जो गुरु शिष्य का धन हरण करता है और उसका शोक नहीं निवारण करता, वह घोर नरक में पड़ता है ॥७॥ माता-पिता बालकों को बुलाते हैं और जिससे पेट भरे, वही धर्म सिखाते हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'गुरु सिष···'—गुरु लोग उपदेश देते हैं, पर शिष्य सुनते ही नहीं, विषयों में आसक्त रहते हैं। गुरु भी अंधे हैं जो बिना शिष्य की श्रद्धा एवं गुण अवगुण देखे चेला कर लेते हैं। बातें बनाते हैं कि किसी का गुण-अवगुण क्यों देखूँ ? पर वस्तुत. स्वार्थवश अंधे हैं. उन्हें कान फूँककर पूजा लेने से काम है। शिष्य से यह भी नहीं कहते कि पाँच सात माला मंत्र तो अवश्य नित्य जपना होगा। स्वार्थ पर दृष्टि किये हुए कुछ सिखाते भी हैं, तो वह इन्हें स्वार्थी समझकर इनकी बातें सुनता ही नहीं।

(२) 'हरइ सिष्य धन···'—गुरु को चाहिये कि विचार कर शिष्य करे, फिर जब तक शिष्य अपने भजन नियम में दृढ़ न हो जाय, उसे पास रक्खे। इस प्रकार उसका शोक हरण करना चाहिये। किन्तु जो पूजा लेने के लिये बहुत कुछ माहात्म्य सुनाते हैं, धर्म-संकट डालते हैं, फिर अनिष्ट का भय दिखाते हैं, इन रीतियों से उसे शिष्य करके उसके धन हरण करते हैं, ऐसे गुरु ही घोर नरक को जाते हैं, शिष्य को क्या सुधारेंगे ?

(३) 'मातु पिता···'—'बोलावहिं' भाव यह कि सत्संग में जाता है तो डरकर वहाँ से बुला लेते हैं कि साधु-संग से यह भी भिक्षुक हो जायगा, बिगड़ जायगा; अर्थात् पारमार्थिक विद्या का बीज भी नहीं पड़ने देते जो आगे अवश्य फलदायक हो।

'उदर भरै सोइ···'—पेट-पोषण की ही विद्या सिखाते हैं और उसी को स्वधर्म प्रतिपादन करते हैं कि हमारे कुल का यही धर्म है, हम करते हैं तुम भी यही सीखो और करो। उदर-पोषण मात्र से नरक होता ही है; यथा—"नरक प्रद उदर भरउँ।" (वि० १९१)। इसपर दो० ४६ चौ० ४–६ भी देखिये।

दोहा—ब्रह्म-ज्ञान-बिनु नारि-नर, कहहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागि लोभबस, करहिं बिप्र-गुरु-घात॥
बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन, हम तुम्ह ते कछु घाटि।
जानइ ब्रह्म सो बिप्रवर, आँखि देखावहिं डाँटि॥९९॥

अर्थ—स्त्री-पुरुष ब्रह्मज्ञान के अतिरिक्त दूसरी बात ही नहीं कहते और लोभ-वश कौड़ी के लिये विप्र और गुरु की हत्या करते हैं॥ शूद्र द्विजों से कहते हैं कि क्या हम तुमसे कुछ कम हैं और डाँटकर आँख दिखाते हैं (अर्थात् धमकाते और आँख गुरेरते हैं) कि जो ब्रह्म जाने वही श्रेष्ठ ब्राह्मण है ॥९९॥

विशेष—(१) 'ब्रह्म ज्ञान बिनु···'- कर्म और उपासना में कुछ करना है और विधि-निषेध एवं विचार-आचार का झंझट है, इससे उसकी तो चर्चा भी नहीं करते और ज्ञान वार्ता सुगम है, उसीको कहते हैं, यद्यपि उसके कर्म करने में सर्वथा असमर्थ हैं; यथा—"वाक्योच्चार्यं समुत्साहात्तत्कर्मकर्त्तुमक्षमाः। कलौ

सब नर कल्पित करहिं अचारा। जाइ न बरनि अनीति अपारा ॥१०॥

शब्दार्थ—वृषली = वृषल (शूद्र) जाति की स्त्री, कुलटा। लोलुप - तृष्णावंत।

अर्थ—ब्राह्मण अपढ़ (जिन्हें अक्षर तक का ज्ञान नहीं), लोलुप, कामी, सदाचार रहित, शठ (अपनी हानि-लाभ न समझनेवाले) और शूद्रा एवं कुलटा स्त्रियों के स्वामी होते हैं ॥८। शूद्र अनेक प्रकार के जप, तप, व्रत करते और व्यास गद्दी पर बैठ कर पुराण कहते हैं ॥९॥ (कहाँ तक गिनाऊँ ?) सभी मनुष्य मनमाना आचरण करते हैं, इतनी अपार अनीति होती है कि कही नहीं जाती ॥१०॥

विशेष—(१) 'विप्र निरच्छर···'—ऊपर अभेदवादी ज्ञानियों का वर्णन किया। यहाँ से वर्ण व्यवस्था कहते हैं कि विप्रों को वेद-शास्त्र का ज्ञान होना चाहिये, वे एक अक्षर भी नहीं जानते, लोलुप हैं, तृष्णावश अत्यन्त नीचों के यहाँ भी खाते हैं, जिससे रहा-सहा कुल सम्बन्धी तेज भी खो बैठते हैं। कामी, दुराचारी और शठ ऐसे हैं कि वृषली-स्वामी बन बैठे हैं ; अर्थात् ब्राह्मण शूद्रवत् हो गये।

(२) 'सूद्र करहिं जप···'—जप वैदिक मंत्रों का; तप वानप्रस्थ रीति का, व्रत ब्रह्मचर्य आदि का ; अर्थात् ये ब्राह्मणों के कर्म करते हैं। कहा भी है—"शिश्नोदर पराद्विजाः"; "शूद्राः प्रतिग्रहीष्यन्ति तपोवेषोपजीविनः। धर्मं वदयन्त्यधर्मज्ञा अधिरुह्योत्तमासनम् ॥" (भाग० १२।३।३२-३८) ; अर्थात् ब्राह्मण केवल स्त्री-भोग और पेट भरना ही जानेंगे। अधर्मज्ञ शूद्र तपस्या करने का ढोंग फैलाकर जीविका चलानेवाले बन व्यासगादी आदि पर बैठकर धर्म का उपदेश करेंगे,कथा कहेंगे और दान ग्रहण करेंगे।

(३) 'सब नर कल्पित ··'—सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मणों और सबसे छोटे शूद्रों को कहकर बीच में क्षत्रिय और वैश्य का भी वही हाल जना दिया। 'कल्पित'—मनु आदि की व्यवस्था को त्यागकर मनमाना करते हैं। प्राचीन नीति के विरुद्ध अनीति करते हैं।

दोहा—भये बरन-संकर, कलि, भिन्न सेतु सब लोग।
करहिं पाप पावहिं दुख, भय रुज सोक बियोग ॥
श्रुति-संमत हरि-भक्ति-पथ, संजुत बिरति बिवेक।
तेहि न चलहिं नर मोहबस, कल्पहिं पंथ अनेक ॥१००॥

शब्दार्थ—वर्णसंकर = व्यभिचार से उत्पन्न, दोगला।

अर्थ—कलि में सब लोग वर्णसंकर और भिन्नसेतु (श्रुति-विरुद्ध मार्गों पर चलनेवाले) हो गये। सब लोग पाप करते हैं और (उसके प्रति) दुःख, भय, रोग, शोक और वियोग पाते हैं ॥ वैराग्य-विवेक सहित भगवद्भक्ति वेद-सम्मित मार्ग है, उसपर लोग मोह के वश नहीं चलते और मोह वश मनमाने अनेक मार्गों की कल्पना करते हैं ॥१००॥

विशेष—(१) 'भिन्न सेतु'—संसार सागर से पार होने के लिये जो वैदिक विधान हैं, वे ही सेतु हैं, उनसे पृथक् चलना 'सेतु भिन्न' होना है। या, वर्णसंकर के साहचर्य से भिन्न सेतु का अर्थ जाति

पड़े हो ? यह सब मूर्खों के लिये है। आत्मज्ञान के समान शीघ्र मुक्त करनेवाला और साधन नहीं है और वह केवल अपनेको ही ब्रह्म मान लेने पर हो गया, बस। इस तरह उन्हें भी अपने ही रंग में लाते हैं।

कल्प कल्प भरि एक एक नरका। परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तरका॥४॥
जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा।५॥
नारि मुई गृह संपति नासी। मूड़ मुड़ाइ होहिं सन्यासी॥६।
ते बिप्रन्ह सन आपु पुजावहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहिं॥७॥

अर्थ- वे लोग कल्प-कल्प भर एक-एक नरक मे पड़ते हैं, जो तर्क करके वेदों मे दूषण लगाते हैं॥४॥ तेली (तेल पेरनेवाले), कुम्हार, स्वपच, किरात (बहेलिये), कोल (भील) और कलवार (मद बनानेवाले) जो वर्णों में अधम हैं॥५॥ वे स्त्री के मरने पर और घर की संपत्ति नष्ट हो जाने पर शिर मुँड़ाकर सन्यासी होते हैं॥६॥ वे ब्राह्मणों से अपनेको पुजाते हैं, अपने हाथों ही अपने दोनों लोकों (इह लोक और परलोक) को नष्ट करते हैं॥७॥

विशेष—(१) 'दूषहिं श्रुति करि तरका'—कहते हैं कि स्वर्ग नरक क्या किसी ने देखा है ? वहाँ जाकर किसी ने पत्र भेजा है ? ये सब तो राजनीतिवाले ऋषियों ने प्रजा को त्रास दिखाने के लिये कल्पना करके लिख दिये हैं। पुन , वेदों में जो कर्म, ज्ञान, उपासना, प्रपत्ति और सदाचार्याभिमान आदि उपाय कहे गये हैं, इन्हें भी तर्क करके खंडन करते हैं। ऐसे लोग कल्पों तक नरक भोगते हैं, कहा है—"अतुलित महिमा वेद की, तुलसी किये बिचार। जेहि निंदित निंदित भये, बिदित बुद्ध अवतार॥" (दोहावली ४६४)।

(२) 'जे बरनाधम '-ये चार वर्णों से बाहर होने से वर्णाधम कहे जाते हैं। वेदों ने ब्राह्मणों और तीव्र वैराग्यवानों को ही सन्यास धारण की आज्ञा दी है, पर कलि मे हीन जातियों के लोग और वे भी घर की विषयोपभोग सामग्री के नाश होने पर सन्यासी बनते हैं। पेट पालने के लिये ही यह स्वांग करते हैं। 'मूँड़ मुड़ाइ'—बस, पैसे दो पैसे में मूँड़ मुड़ाकर सन्यासी बन जाते हैं, सन्यास को इतना सुगम कर लिया है। पहले तो जन्म से अधम थे, अब कर्म से भी अधम हो गये।

(३) ते बिप्रन्ह सन '—लोक ख्याति है कि 'जगद्गुरु ब्राह्मण' 'ब्राह्मण-गुरु सन्यासी' इससे ब्राह्मण लोग सन्यासियों को स्वाभाविक पूजते हैं, और भोजन देते हैं, इसीसे ये ब्राह्मणों के ही द्वार-द्वार पर अधिक फिरते हैं और उन्हीं से अपनेको पुजाते हैं।

'उभय लोक निज हाथ नसावहिं'—कपट प्राय कभी खुल ही जाता है, तब इस लोक में भी पूजा पा जाते हैं। अथवा दंभ सिद्धि के लिये इस लोक का सुख भी नहीं भोग कर पाते और मरने पर यमपुर में तो ऐसे लोगों की भली प्रकार से पूजा होती ही है , अर्थात् कराल दंड मिलता है।

यदि कहा जाय कि ब्राह्मण ही इन्हें क्यों पूजते हैं ? उसपर कहते हैं—

बिप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ बृषली स्वामी॥८॥
सूद्र करहिं जप तप-ब्रत नाना। बैठि बरासन कहहिं पुराना॥९।

सब नर कल्पित करहिं अचारा। जाइ न बरनि अनीति अपारा ॥१०॥

शब्दार्थ—वृपली = वृपल (शूद्र) जाति की स्त्री, कुलटा। लोलुप - तृष्णावंत।

अर्थ—ब्राह्मण अपढ़ (जिन्हें अक्षर तक का ज्ञान नहीं), लोलुप, कामी, सदाचार रहित, शठ (अपनी हानि-लाभ न समझनेवाले) और शूद्रा एवं कुलटा स्त्रियों के स्वामी होते हैं ॥८। शूद्र अनेक प्रकार के जप, तप, व्रत करते और व्यास गद्दी पर बैठ कर पुराण कहते हैं ॥९॥ (कहाँ तक गिनाऊँ ?) सभी मनुष्य मनमाना आचरण करते हैं, इतनी अपार अनीति होती है कि कही नहीं जाती ॥१०॥

विशेष—(१) 'विप्र निरच्छर…'—ऊपर अभेदवादी ज्ञानियों का वर्णन किया। यहाँ से वर्ण व्यवस्था कहते हैं कि विप्रों को वेद-शास्त्र का ज्ञान होना चाहिये, वे एक अक्षर भी नहीं जानते, लोलुप हैं, तृष्णावश अत्यन्त नीचों के यहाँ भी खाते हैं, जिससे रहा-सहा कुल सम्बन्धी तेज भी खो बैठते हैं। कामी, दुराचारी और शठ ऐसे हैं कि वृपली-स्वामी बन बैठे हैं ; अर्थात् ब्राह्मण शूद्रवत् हो गये।

(२) 'सूद्र करहिं जप…'—जप वैदिक मंत्रों का; तप वानप्रस्थ रीति का, व्रत ब्रह्मचर्य आदि का; अर्थात् ये ब्राह्मणों के कर्म करते हैं। कहा भी है—"शिश्नोदर पराद्विजाः"; "शूद्राः प्रतिग्रहीष्यन्ति तपोवेषोपजीविनः। धर्मं वक्ष्यन्त्यधर्मज्ञा अधिरुह्योत्तमासनम् ॥" (भाग० १२।३।३२-३८); अर्थात् ब्राह्मण केवल स्त्री-भोग और पेट भरना ही जानेंगे। अधर्मज्ञ शूद्र तपस्या करने का ढोंग फैलाकर जीविका चलानेवाले बन व्यासगादी आदि पर बैठकर धर्म का उपदेश करेंगे, कथा कहेंगे और दान ग्रहण करेंगे।

(३) 'सब नर कल्पित…'—सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मणों और सबसे छोटे शूद्रों को कहकर बीच में क्षत्रिय और वैश्य का भी यही हाल जना दिया। 'कल्पित'—मनु आदि की व्यवस्था को त्यागकर मनमाना करते हैं। प्राचीन नीति के विरुद्ध अनीति करते हैं।

दोहा—भये बरन-संकर, कलि, भिन्न सेतु सब लोग।
करहिं पाप पावहिं दुख, भय रुज सोक बियोग ॥
श्रुति-संमत हरि-भक्ति-पथ, संजुत बिरति बिवेक।
तेहि न चलहिं नर मोहबस, कलपहिं पंथ अनेक ॥१००॥

शब्दार्थ—वर्णसंकर = व्यभिचार से उत्पन्न, दोगला।

अर्थ—कलि में सब लोग वर्णसंकर और भिन्नसेतु (श्रुति-विरुद्ध मार्गों पर चलनेवाले) हो गये। सब लोग पाप करते हैं और (उसके प्रति) दुःख, भय, रोग, शोक और वियोग पाते हैं ॥ वैराग्य-विवेक सहित भगवद्भक्ति वेद-सम्मित मार्ग है, उसपर लोग मोह के वश नहीं चलते और मोह वश मनमाने अनेक मार्गों की कल्पना करते हैं ॥१००॥

विशेष—(१) 'भिन्न सेतु'—संसार सागर से पार होने के लिये जो वैदिक विधान हैं, वे ही सेतु हैं, उनसे पृथक् चलना 'सेतु भिन्न' होना है। वा, वर्णसंकर के साहचर्य से भिन्न सेतु का अर्थ जाति

मर्यादा तोड़ने का है, मनु आदि ने जो जातीय रीति की मर्यादा बाँध दी है, उसे तोड़कर लोग उच्छृंखल हो गये और पाप करने लगे। इससे दुःख पाते हैं। यह तो इह लोक का बिगड़ना कहा गया, आगे 'श्रुति संमत···' से परलोक साधन का भी बिगड़ना कहते हैं—

(२) 'श्रुति संमत हरि भक्ति पथ···'—ऊपर भिन्न सेतु कहकर श्रुति विरुद्ध मार्ग और उनका फल दुःख आदि कहा। अब यहाँ श्रुति संमत मार्ग हरि-भक्ति कहते हैं। श्रुति का सम्मित मार्ग काण्डत्रय है, भक्ति ही में तीनों कांडों का समन्वय है। कर्म का परिणाम वैराग्य है और विवेक का अर्थ ज्ञान है। उपासना रूपा भक्ति स्वयं है ही। ईश्वर में परा अनुरक्ति होना भक्ति है। उसके लिये पहले वैराग्य चाहिये, जिससे इन्द्रियाँ विषय से हटकर ईश्वर के अनुभव में प्रवृत्त हों। पुनः विवेक से जब विचार होगा कि जीव ईश्वर का ही अंश है अतएव इसे सर्वात्मना उसीमें अनुरक्त होना चाहिये। तब इन्द्रियों के साथ प्रीति पूर्वक भगवान् के उपकारों को समझ-समझ कर उनकी भक्ति करेगा; इस तरह विवेक भी साथ ही है। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है; यथा—"सम जम नियम फूल फल ज्ञाना। हरि पद रति रस बेद बखाना॥" (बा॰ दो॰ ३६); "जुग बिच भगति देव धुनि धारा। सोहति सहित सुबिरति बिचारा॥" (बा॰ दो॰ ३१); "कहहिं भगति भगवंत कै, संजुत ज्ञान बिराग।" (बा॰ दो॰ ४४); "राम भगति जहँ सुरसरि धारा। सरसइ ब्रह्म-बिचार प्रचारा॥ बिधि निषेध मय कलि मल हरनी। करम कथा रबि नंदिनि बरनी॥" (बा॰ दो॰ १); इत्यादि सर्वत्र वैराग्य-विवेक सहित ही भक्ति को कहा है, यही वेद सम्मित मार्ग है। इसके विरुद्ध जो अनेक मत हैं वे मोह वशीभूत जीवों के विलास हैं।

बहु दाम सँवारहि धाम जती। बिषया हरि लीन्हि न रहि बिरती॥१॥
तपसी धनवंत दरिद्र गृही। कलि कौतुक तात न जात कही॥२॥
कुलवंति निकारहिं नारि सती। गृह आनहिं चेरि निबेरि गती॥३॥
सुत मानहिं मातु-पिता तब लौं। अबलानन दीख नहीं जब लौं॥४॥
ससुरारि पिआरि लगी जब ते। रिपु रूप कुटुंब भये तब ते॥५॥

अर्थ—संन्यासी बहुत धन लगाकर घर एवं धन धाम दोनों सजाते हैं, विरक्ति नहीं रह गई, उसे विषयों ने हर लिया॥१॥ तपस्वी धनवान और गृहस्थ दरिद्र हो गये, हे तात! कलियुग का खेल कहा नहीं जाता॥२॥ लोग कुलीन पतिव्रता स्त्री को निकाल देते हैं और उत्तम चाल (रीति) को त्यागकर घर में दासी को लाकर रखते हैं॥३॥ पुत्र माता-पिता को तभी तक मानते हैं कि जब तक उन्होंने स्त्री का मुख नहीं देखा॥४॥ जब से ससुराल प्यारी लगी, तब से परिवार के लोग शत्रु रूप हो गये॥५॥

विशेष—(१) 'बहु दाम सँवारहिं···'—'सँवारहिं' दीपदेहली है। शरीर निर्वाह मात्र द्रव्य और घर की विरक्ति में भी आवश्यकता रहती है कि जिससे शरीर से भजन हो सके। पर कलि के प्रभाव से बहुत द्रव्य और बहुत भारी घर सँवारने में लग गये, जिससे व्यवहार ने रही-सही विरक्ति भी ले ली। 'तपसी धनवंत दरिद्र गृही'- कलि ने तपस्वी को धन देकर और गृही का धन हरकर दोनों को नष्ट किया। तपस्वियों को तप से च्युत किया, भोग में लगा दिया और गृही को धन बिना धर्म से रहित किया। जिसे त्याग चाहिये, उसे धन दिया और जिसे धन चाहिये, उसे दरिद्र कर दिया, ऐसा निष्ठुर कलि का खेल है।

(२) 'कुलवंति' कुल का धर्म पालनेवाली, सती, पतिव्रता।

(३) 'तब लौं' चाहिये कि जन्म-भर पिता की सेवा करें और अंत में उनकी क्रिया एवं गया में पिंड-दान भी करे ; यथा—"जीवितस्य पितुर्वश्यस्तन्मृते भूरि भोजने । गयायां पिंडदानेन त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता ॥" पर ये नहीं मानते ।

(४) 'ससुरारि पियारि···' ; यथा—"पितृभ्रातृसुहृज्ज्ञातीन्हित्वा सौरतसौहृदाः । ननांदृश्यालसंवादा दीनाः स्त्रैणाः कलौ नराः ॥" (भाग० १२।३।३७) ; अर्थात् स्त्री में आसक्त लोग, पितृवर्ग, भाइयों, मित्रों और जातिवालों को छोड़कर साली-सालों की सलाह पर चलनेवाले हो जायँगे ; अतः, सब दीन रहेंगे ।

नृप पाप-परायन धर्म नहीं । करि दंड बिडंब प्रजा नितहीं ॥६॥
धनवंत कुलीन मलीन अपी । द्विज चिह्न जनेउ उघार तपी ॥७॥
नहिं मान पुरान न बेदहि जो । हरि-सेवक संत सही कलि सो ॥८॥
कबिबृंद उदार दुनी न सुनी । गुन दूषक ब्रात न कोपि गुनी ॥९॥
कलि बारहिं बार दुकाल परै । बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै ॥१०॥

अर्थ—राजा पाप-रत हो गये, उनमें धर्म नहीं रह गया, नित्य ही प्रजा को निरपराध दंड देते हैं [एक दंड नीति मात्र है, अन्याय पूर्वक होने से उसकी भी विडम्बना (फजीहत) ही है,] ॥६॥ निश्चय ही मलीन होने पर भी धनी कुलीन माने जाते हैं जनेऊ मात्र द्विज होने का और उघारे (वस्त्र रहित) रहना तपस्वी का चिह्न रह गया ॥७॥ जो वेदों और पुराणों को नहीं मानता, कलियुग में वही ठीक भगवद्भक्त और संत कहा जाता है ॥८॥ कवियों के झुण्ड देख पड़ते हैं, पर दुनिया (जगत्) में उदार (दाता) सुना नहीं जाता । गुणों में दोष लगानेवाले बहुत हैं और गुणी कोई भी नहीं है ॥९॥ कलियुग में बार-बार अकाल (दुर्भिक्ष) पड़ता है, सब लोग विना अन्न के दुखी होकर मरते हैं ॥१०॥

विशेष—(१) 'नृप पाप परायन···'—धर्म नहीं है, इसीसे नीति के तीन चरण नहीं रह गये, केवल दंड नीति है, उसका भी निरपराध पर प्रयोग होता है, इससे नीति की फजीहत ही है । 'पाप-परायन' होने से 'दंड' मात्र है । राम-राज्य में धर्म पूर्ण था, इससे 'दंड-नीति' का नाम भी नहीं था । 'द्विज चिह्न जनेउ'—कर्म-धर्म रह नहीं गया कि जिससे उनका ब्राह्मणत्व समझा जाय, किसीने पूछा तो जनेऊ दिखा देते हैं कि देखिये हम ब्राह्मण हैं । श्रीलक्ष्मणजी ने व्यंग में श्रीपरशुरामजी से कहा है ; यथा—"भृगुकुल समुझि जनेउ बिलोकी ।" इसी तरह तपस्वी में तपस्तेज तो रह नहीं गया और न कोई तपोवृत्ति रह गई, केवल उघार बदन रहने से वे तपस्वी कहाते हैं ।

(२) 'धनवंत कुलीन···'—भाव यह कि कुलीन जो धनहीन हैं उन्हें तो कोई पूछता नहीं । जो निश्चय करके मलीन हैं, पर धनी हैं, उन्हीं से सब नाता लगाते हैं । शास्त्र में कहा है कि कुल-क्रिया में न्यून एवं मलीन से विवाह करने पर कुलीनता नहीं रह जाती । पर कलि में धन में ही सब गुण रह गये हैं ; यथा—"यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः स धार्मिको सः श्रुतिवान्गुणज्ञः । स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति ॥" (भर्तृहरि) ।

(३) 'नहिं मान पुरान···'—कहते हैं कि हम उन हरि के उपासक हैं जिनकी साँस से वेद हुआ है, हमें वेद की अधीनता से क्या काम ? यथा—"साखी सब्दी दोहरा, कहि कथनी उपखान । भगति

निरूपहिं कलि भगत, निंदहिं बेद पुरान ॥" (दोहावली ५५४)। 'हरि सेवक' सामान्य और 'संत' विशेष के भाव से कहा है।

(४) 'दुखी सब लोग मरैं' दुखी तो कलि में सब दिन रहते हैं, पर दुकाल में तो मर ही जाते हैं। 'दुकाल' अर्थात् दुष्काल, अकाल।

दोहा—सुनु खगेस कलि कपट हठ, दंभ द्वेष पाखंड।
मान मोह मारादि मद, ब्यापि रहे ब्रह्मंड॥
तामस धर्म करहिं नर, जप तप व्रत मख दान।
देव न बरषहिं धरनी, बये न जामहिं धान।१०१॥

अर्थ—हे गरुडजी ! सुनिये, कलियुग में ब्रह्मांड-भर में कपट, हठ, दम्भ, द्वेष, पाखंड, मान, मोह, काम आदि (काम, क्रोध, लोभ) और मद व्याप्त हो गये॥ लोग जप, तप, यज्ञ, व्रत और दान आदि धर्म तामस वृत्ति से करते हैं। (मेघ के) देवता पृथिवी पर जल नहीं बरसाते, बोने पर धान भी नहीं जमता॥१०१॥

विशेष—(१) 'कपट' अर्थात् मित्र आदि से दुराव, हठ जो बात मन और मुँह में आ गई, ठीक न भी हो तो उसी पर अड़ जाना। दिखाने के लिये वेष वृत्ति दंभ है। कर्म-धर्म श्रद्धाहीन होने से पाखंड मय होते हैं।

(२) 'तामस धर्म करहिं···'—धर्म (कर्म), जप, तप, यज्ञ, व्रत और दान, ये सब तीन-तीन प्रकार के होते हैं, सात्त्विक, राजस और तामस। सात्त्विक उत्तम, राजस मध्यम और तामस निकृष्ट कहे गये हैं। गीता अ० १७—१८ में इनका विस्तृत वर्णन है। कलि में लोग तामस ही धर्म करते हैं, तामस यज्ञ, तप, दान के स्वरूप गीता १७।१३—१९-२२) में और कर्म गीता १८।२५ में देखिये। तामस कर्म असत् कहे गये हैं, ये निष्फल होते हैं। इसी से कहते हैं कि पृथिवी पर पानी नहीं बरसता और बोने से धान भी नहीं जमता।

अबला कच भूषन भूरि छुधा। धन हीन दुखी ममता बहुधा॥१॥
सुख चाहहिं मूढ़ न धर्म रता। मति थोरि कठोरि न कोमलता॥२॥
नर पीड़ित रोग न भोग कहीं। अभिमान विरोध अकारनहीं॥३॥
लघु जीवन संबत पंच दसा। कलपांत न नास गुमान असा॥४॥
कलिकाल बिहाल किये मनुजा। नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा॥५॥

अर्थ—स्त्रियों के बाल ही भूषण हैं (और भूषण नहीं हैं, बाल ही मात्र है, उसी के बढ़ाने-सँवारने में लगी रहती हैं), भूख बहुत लगती है (अर्थात् बार-बार भोजन करने से भी तृप्ति नहीं होती)। धन-रहित होने से दुखी रहती हैं, फिर भी प्राय बहुत प्रकार से ममता रहती है॥१॥ मूर्खा हैं, सुख चाहती हैं पर

धर्म में प्रेम नहीं है। बुद्धि थोड़ी है और (वह भी) कठोर है, कोमलता छू नहीं गई ॥२॥ मनुष्य रोगों से पीड़ित हैं, सुख भोग कहीं नहीं है, बिना कारण ही अभिमान और विरोध करते हैं ॥३॥ जीवन (आयु) थोड़ा, पाँच दस = १५ एवं ५० तथा हद १०५ वर्ष का है, पर गर्व ऐसा है कि कल्पान्त (४ अर्ब ३२ लाख वर्ष) होने पर भी उसका नाश नहीं होने का ॥४॥ मनुष्यों को कलिकाल ने बेहाल (हैरान) कर डाला, कोई बहिन बेटी को नहीं मानता ॥५॥

विशेष—(१) 'कच भूषन'—रहे सहे भूषण बेच खाये हैं, केश ही रखाना रह गया, अथवा सुकुमारता के बहाने भी भूषण न पहनकर बालमात्र ही का शृङ्गार करती हैं; यथा—"लावण्ये केशधारणम्" (भाग० १२।२।६)। 'ममता बहुधा'- अपनी चीजों पर बहुत मोह है। 'बहुधा' प्रायः, बहुत प्रकार का। 'सुख चाहहिं मूढ़···'— धर्म से सुख होता है ; यथा—"बरनाश्रम निज-निज धरम, निरत बेद पथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहिं भय सोक न रोग ॥" (दो० ३०), ये धर्म नहीं करतीं, पर सुख चाहती हैं, इसी से इन्हें मूढ़ कहा है। 'कठोरि' अर्थात् ठोस, जिसमें कुछ उपदेश न धँसे। 'नर पीड़ित रोग···' भोग से रोग होता है; यथा—"भोगे रोग भयं" (भर्तृहरि.), पर यहाँ भोग कहीं नहीं, तब भी रोग से दुखी हैं। 'अकारन ही'; यथा—"बयर अकारन सब काहू सों।" (दो० ३९); 'पच दसा' -के अर्थ दस-पाँच वर्ष, पुनः १५, ५० और 'अंकानां वामतो गतिः' की रीति से १०५ वर्ष भी होते हैं, इससे आगे तो प्राय कोई नहीं जी सकता, यह भाव है।

(२) 'अनुजा तनुजा' पर कुदृष्टि करना, कलि के द्वारा बिहाल होना ; अर्थात् अत्यन्त पराजित होना हीन दशा है, इससे इसे अत्यन्त गर्हित पाप कहा है।

नहिं तोष बिचार न सीतलता। सब जाति कुजाति भये मँगता ॥६॥
इरिषा परुषाच्छर लोलुपता। भरि पूरि रही समता बिगता ॥७॥
सब लोग बियोग बिसोक हये। बरनाश्रम-धर्म - अचार गये ॥८॥
दम दान दया नहि जानपनी। जड़ता परबंचनताति घनी ॥९॥
तनु पोषक नारि-नरा सगरे। पर निंदक जे जग मो बगरे ॥१०॥

शब्दार्थ—जानपनी = जानकारी, बुद्धिमानी। जड़ता = मूर्खता, किंकर्त्तव्यविमूढ़ता।

अर्थ— न सतोष, न विचार (विवेक) और न शीतलता (सहनशीलता) है। अतः, जाति-कुजाति (ऊँच-नीच) सभी लोग भिक्षुक हो गये (अर्थात् जिन्हें भिक्षा नहीं माँगना चाहिये, उन्होंने भी भिक्षा का ही पेशा कर लिया, वा भूख के मारे वे सभी भिक्षाटन करते हैं ॥६॥ ईर्ष्या (डाह), कठोर वचन, छल और लालचपन पूर्ण भर गया, समता चली गई (अर्थात् सबमें विषमता रह गई) ॥७॥ सब लोग वियोग और विशेष शोक से मारे गये, वर्णाश्रम के धर्म और आचरण उठ गये (न रह गये) ॥८॥ दम, दान, दया और बुद्धिमानी नहीं रह गई। मूर्खता और दूसरों को ठगना, यह अत्यन्त अधिक हो गया ।९॥ स्त्री-पुरुष सभी शरीर के पालन-पोषण में लगे रहनेवाले हैं। जो पराये की निन्दा करनेवाले हैं, वे ससार में फैले हुए हैं ॥१०॥

विशेष—(१) 'नहिं तोष ··'—चित्त में संतोष नहीं, बुद्धि में विचार नहीं और अहंकार में शीतलता नहीं रह गई। 'इरिषा', यथा —"पर संपदा सकहु नहिं देखी। तुम्हरे इरिषा ··" (बा० दो० १३५);

निरूपहिं कलि भगत, निदहिं वेद पुरान ॥" (दोहावली ५५४)। 'हरि सेवक' सामान्य और 'संत' विशेष के भाव से कहा है।

(४) 'दुखी सब लोग मरैं' दुखी तो कलि में सब दिन रहते हैं, पर दुकाल में तो मर ही जाते हैं। 'दुकाल' अर्थात् दुष्काल, अकाल।

दोहा—सुनु खगेस कलि कपट हठ, दंभ द्वेष पाखंड।
मान मोह मारादि मद, ब्यापि रहे ब्रह्मंड॥
तामस धर्म करहिं नर, जप तप ब्रत मख दान।
देव न बरषहिं धरनी, बये न जामहिं धान ॥१०१॥

अर्थ—हे गरुड़जी ! सुनिये, कलियुग में ब्रह्मांड-भर में कपट, हठ, दम्भ, द्वेष, पाखंड, मान, मोह, काम आदि (काम, क्रोध, लोभ) और मद व्याप्त हो गये॥ लोग जप, तप, यज्ञ, व्रत और दान आदि धर्म तामस वृत्ति से करते हैं। (मेघ के) देवता पृथिवी पर जल नहीं बरसाते, बोने पर धान भी नहीं जमता ॥१०१॥

विशेष—(१) 'कपट' अर्थात् मित्र आदि से दुराव, हठ जो बात मन और मुँह में आ गई, ठीक न भी हो तो उसी पर अड़ जाना। दिखाने के लिये वेष-धृत्ति दंभ है। कर्म-धर्म श्रद्धाहीन होने से पाखंड मय होते हैं।

(२) 'तामस धर्म करहिं…'—धर्म (कर्म), जप, तप, यज्ञ, व्रत और दान, ये सब तीन-तीन प्रकार के होते हैं, सात्त्विक, राजस और तामस। सात्त्विक उत्तम, राजस मध्यम और तामस निकृष्ट कहे गये हैं। गीता अ० १७—१८ में इनका विस्तृत वर्णन है। कलि में लोग तामस ही धर्म करते हैं, तामस यज्ञ, तप, दान के स्वरूप गीता १७।१३—१९-२२) में और कर्म गीता १८।२५ में देखिये। तामस कर्म असत् कहे गये हैं, ये निष्फल होते हैं। इसी से कहते हैं कि पृथिवी पर पानी नहीं बरसता और बोने से धान भी नहीं जमता।

अबला कच भूषन भूरि छुधा। धन हीन दुखी ममता बहुधा ॥१॥
सुख चाहहिं मूढ़ न धर्म रता। मति थोरि कठोरि न कोमलता ॥२॥
नर पीड़ित रोग न भोग कहीं। अभिमान बिरोध अकारनहीं ॥३॥
लघु जीवन संबत पंच दसा। कलपांत न नास गुमान असा ॥४॥
कलिकाल बिहाल किये मनुजा। नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा ॥५॥

अर्थ—स्त्रियों के बाल ही भूषण हैं (और भूषण नहीं हैं, बाल ही मात्र है, उसी के बढ़ाने-सँवारने में लगी रहती हैं), भूख बहुत लगती है (अर्थात् बार-बार भोजन करने से भी तृप्ति नहीं होती)। धन-रहित होने से दुखी रहती हैं, फिर भी प्रायः बहुत प्रकार से ममता रहती है ॥१॥ मूर्खा हैं, सुख चाहती हैं पर

धर्म में प्रेम नहीं है। बुद्धि थोड़ी है और (वह भी) कठोर है, कोमलता छू नहीं गई ॥२॥ मनुष्य रोगों से पीड़ित हैं, सुख भोग कहीं नहीं है, विना कारण ही अभिमान और विरोध करते हैं ॥३॥ जीवन (आयु) थोड़ा, पाँच दस = १५ एवं ५० तथा हद १०५ वर्ष का है, पर गर्व ऐसा है कि कल्पान्त (४ अर्ब ३२ लाख वर्ष) होने पर भी उसका नाश नहीं होने का ॥४॥ मनुष्यों को कलिकाल ने बेहाल (हैरान) कर डाला, कोई बहिन बेटी को नहीं मानता ॥५॥

विशेष—(१) 'कच भूषन'—रहे सहे भूषण बेच खाये हैं, केश ही रखाना रह गया, अथवा सुकुमारता के बहाने भी भूषण न पहनकर बालमात्र ही का शृङ्गार करती हैं; यथा—"लावण्ये केशधारणम्" (भाग० १२।२।६)। 'ममता बहुधा'- अपनी चीजों पर बहुत मोह है। 'बहुधा' प्रायः, बहुत प्रकार का। 'सुख चाहहिं मूढ़···'— धर्म से सुख होता है; यथा—"बरनाश्रम निज-निज धरम, निरत वेद पथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहिं भय सोक न रोग ॥" (दो० २०), ये धर्म नहीं करतीं, पर सुख चाहती हैं, इसी से इन्हें मूढ़ कहा है। 'कठोरि' अर्थात् ठोस, जिसमें कुछ उपदेश न धँसे। 'नर पीड़ित रोग···' भोग से रोग होता है; यथा—"भोगे रोग भयं" (भर्तृहरिः); पर यहाँ भोग कहीं नहीं, तब भी रोग से दुखी हैं। 'अकारन ही'; यथा—"बयर अकारन सब काहू सों।" (दो० ३६); 'पंच दसा' -के अर्थ दस-पाँच वर्ष, पुनः १५, ५० और 'अंकानां वामतो गतिः' की रीति से १०५ वर्ष भी होते हैं, इससे आगे तो प्रायः कोई नहीं जी सकता, यह भाव है।

(२) 'अनुजा तनुजा' पर कुदृष्टि करना, कलि के द्वारा विहाल होना; अर्थात् अत्यन्त पराजित होना हीन दशा है, इससे इसे अत्यन्त गर्हित पाप कहा है।

नहिं तोष विचार न सीतलता। सब जाति कुजाति भये मँगता ॥६॥
इरिषा परुषाच्छर लोलुपता। भरि पूरि रही समता बिगता ॥७॥
सब लोग बियोग बिसोक हये। बरनाश्रम-धर्म अचार गये ॥८॥
दम दान दया नहिं जानपनी। जड़ता परबंचनताति घनी ॥९॥
तनु पोषक नारि-नरा सगरे। पर-निंदक जे जग मो बगरे ॥१०॥

शब्दार्थ—जानपनी = जानकारी, बुद्धिमानी। जड़ता = मूर्खता, किंकर्त्तव्यविमूढ़ता।

अर्थ— न संतोष, न विचार (विवेक) और न शीतलता (सहनशीलता) है। अतः, जाति-कुजाति (ऊँच-नीच) सभी लोग भिक्षुक हो गये (अर्थात् जिन्हें भिक्षा नहीं माँगना चाहिये, उन्होंने भी भिक्षा का ही पेशा कर लिया, या भूख के मारे वे सभी भिक्षाटन करते हैं ॥६॥ ईर्ष्या (डाह), कठोर वचन, छल और लालचपन पूर्ण भर गया, समता चली गई (अर्थात् सबमें विषमता रह गई) ॥७॥ सब लोग वियोग और विशेष शोक से मारे गये, वर्णाश्रम के धर्म और आचरण उठ गये (न रह गये) ॥८॥ दम, दान, दया और बुद्धिमानी नहीं रह गई। मूर्खता और दूसरों को ठगना, यह अत्यन्त अधिक हो गया ॥९॥ स्त्री-पुरुष सभी शरीर के पालन-पोषण में लगे रहनेवाले हैं। जो पराये की निन्दा करनेवाले हैं, वे संसार में फैले हुए हैं ॥१०॥

विशेष—(१) 'नहिं तोष···'—चित्त में संतोष नहीं, बुद्धि में विचार नहीं और अहंकार में शीतलता नहीं रह गई। 'इरिषा'; यथा —"पर संपदा सकहु नहिं देखी। तुम्हरे इरिषा···" (बा० दो० १३५);

ईर्ष्या से ही क्रोध में परुष (कठोर) वचन भी निकलते हैं। 'लोलुपता'--कुत्ते की तरह जीभ लपलपाते रहते हैं, ललचाते रहते हैं। छर अर्थात् छल, इसमें 'रलयोर भेद' से 'र' का 'ल' करके अर्थ किया गया है।

(२) 'बियोग बिसोक हये' प्रिय जनों के वियोग से विशेष शोक होता है, उससे 'हए' (हने) अर्थात् मर भी जाते हैं। पुत्र हानि, इष्ट हानि आदि शोक में लोग मर भी जाते हैं। भारी शोक होता है, इससे मर जाते हैं। यह हरि विमुखता का फल है, यथा—"बहु रोग बियोगन्ह लोग हये। भवदंघ्रि निरादर के फल ये॥" (दो० ५)। 'तनुपोषक' आश्रितों को भुलाकर अपने ही शरीर का पोषण करनेवाले, अच्छे-अच्छे भोजनादि का संग्रह करनेवाले। पुनः तन पोषण मात्र में प्रवृत्ति रह गई, धर्म-कर्म पर दृष्टि भी नहीं देते। 'पर निंदक' का परमेश्वर निंदक भी अर्थ होता है।

दोहा—सुनु ब्यालारि काल कलि, मल अवगुन आगार।
गुनउँ बहुत कलिजुग कर, बिनु प्रयास निस्तार॥
कृतजुग त्रेता द्वापर, पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि, नाम ते पावहिं लोग॥१०२॥

अर्थ—हे सर्पों के शत्रु श्रीगरुड़जी! सुनिये, कलिकाल पाप और अवगुणों का घर है। इस कलियुग में गुण भी बहुत हैं कि बिना परिश्रम ही भव से छुटकारा हो जाता है॥ सतयुग, त्रेता और द्वापर में जो गति योग, यज्ञ और पूजन से प्राप्त होती है, वही गति कलियुग में लोग केवल भगवान् के नाम से पा जाते हैं॥१०२॥

विशेष- (१) 'गुनउँ बहुत'—गुण तो एक ही है कि बिना श्रम केवल नाम-स्मरण और यश गान मात्र से निस्तार होता है पर इसे बहुत कहा है, क्योंकि युगों के बहुत धर्मों की अपेक्षा यही भारी है, यथा—"नाम काम तरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जगजाला॥" (बा० दो० २६), "कलि जुग केवल हरि गुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥" यह आगे कहा है।

(२) 'कृतजुग त्रेता द्वापर' के क्रम से 'जोग मख पूजा' कहना था, पर छन्दानुरोध से एवं 'विपरीत क्रम यथासंख्य' अलंकार दिखाने के लिये 'पूजा मख अरु जोग' कहा गया है, अर्थ क्रम से करना चाहिये। योग, यज्ञ, पूजन में उत्तम समय, द्रव्य और परिश्रम की अपेक्षा होती है। अतः, संदेह होता कि इनमें उससे कुछ उत्तम गति अवश्य मिलती होगी, इसपर कहते हैं—'जो गति होइ सो' अर्थात् वही, दूसरी नहीं यथा—"कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः। द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्त्तनात्॥" (भाग० १२।३।५२), इसका अर्थ दोहार्थ से मिलता हुआ ही है।

कृतजुग सब जोगी बिग्यानी। करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी॥१॥
त्रेता बिबिध जग्य नर करहीं। प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरहीं॥२॥
द्वापर करि रघुपति-पद-पूजा। नर भव तरहिं उपाय न दूजा॥३॥
कलिजुग केवल हरि-गुन-गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥४॥

शब्दार्थ—गाहा (गाथा) = कथा; यथा—"कीन्ह चहउँ रघुपति गुनगाहा।" (बा० दो० ७)

अर्थ—सतयुग में सब लोग योगी और विज्ञानी होते हैं, उसमें प्राणी भगवान् का ध्यान करके संसार सागर तर जाते हैं ॥१॥ त्रेता में मनुष्य अनेक प्रकार के यज्ञ करते हैं और सब प्रभु को कर्मों का समर्पण कर भव पार होते हैं ॥२॥ द्वापर में मनुष्य श्रीरघुनाथजी के चरणों की पूजा करके भव पार होते हैं, दूसरा उपाय नहीं है ॥३॥ और कलियुग में केवल भगवान् के गुणों की कथा गाने से ही मनुष्य भव-सागर की थाह पा जाते हैं ॥४॥

विशेष—(१) उपर्युक्त दोहे में कही हुई बातों का विस्तार यहाँ किया गया है।

(२) 'कृत जुग सब ··कलिजुग केवल···'—सतयुग के आने पर सबकी बुद्धि धर्ममय हो जाती है, इससे सभी योगी और विज्ञानी होते हैं। कलियुग में 'केवल' कहकर सतयुग में चारों की प्रवृत्ति सूचित की। यहाँ भव-निवृत्ति के चार उपाय कहे गये हैं—योग (ज्ञान), ईश्वरार्पित यज्ञ, पूजन और हरि-गुणगान। सतयुग में चारों रहते हैं, पर उनमें योग-विज्ञान के द्वारा हरि-ध्यान प्रधान है। त्रेता में यज्ञ, पूजन और गुणगान, ये तीन ही रह जाते हैं, इनमें यज्ञ प्रधान है। द्वापर में पूजन और गुणगान, दो ही रह जाते हैं, इनमें से पूजन ही प्रधान रहता है और कलियुग में केवल गुणगान रह गया।

केवल का यह भी भाव है कि यश गान मात्र ही तो है अतः, अत्यन्त सुगम है, वा, दूसरा उपाय इसमें है ही नहीं, यही एक रह गया है ; यथा—"कलौ युगे कल्मषमानसानामन्यत्रधर्मे खलुनाधिकारः ;" 'गावत' का भाव यह कि गाने मात्र की देरी है, तुरत भव थाह मिल जाती है। योग, यज्ञ, आदि में जन्म भर करने पर कहीं फल की प्राप्ति होती है। अन्यत्र भी ऐसा ही कहा गया है; यथा—"मज्जन फल पेखिय ततकाला। काक होहिं पिक बकउ मराला॥" (बा० दो० २), अर्थात् कथा सत्संग से शीघ्र ही लोग बाहर-भीतर शुद्ध हो जाते हैं, विवेकी-सदाचारी हो जाते हैं। तब भव में डूबने का डर नहीं रह जाता। विवेक से उसका अंदाजा हो जाता है; यथा—"पुनि बिवेक पावक कहँ अरनी।" (बा० दो० ३०)। पैदल चलने की भाँति सत्संग से आयु समाप्त कर भवसागर पार हो जाते हैं। यह कलियुग में सुलभता है।

और युगों में 'भव तरहीं' कहा है, भाव यह कि उन्हें बीच में डर बना रहता है, भव की थाह नहीं मिलती। पर ये तत्काल ही निर्भीक हो जाते हैं। पुनः इन्हें बिना परिश्रम ही तरना होता है और उन्हें बहुत प्रयास करना पड़ता है। उनमें विघ्नों की शंका रहती है, इसमें यह भी नहीं है, हरि रक्षक हैं। अतः, बड़ा अंतर है।

यहाँ के चारो युगों के साधनों के साथ हरि का ही सम्बन्ध कहा गया है ; अर्थात् सब उपायों के द्वारा हरि ही आराध्य हैं। तात्पर्य यह कि शुष्क ज्ञान से भव नहीं छूटता ; यथा—"जे ज्ञान मान बिमत्त तव भव हरनि भगति न आदरी। ते···परत हम देखत हरी॥" (दो० १२); यज्ञ भी हरि-समर्पण से ही सफल होता है ; यथा—"हरिहि समरपे बिनु सत्कर्मा। ··नासहिं बेगि···" (अ० दो० २०); "नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरंजनम्। कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥" (भाग १।५।१२)। पूजा भी भगवान् की ही भव हरनेवाली होती है, देवांतर की नहीं, क्योंकि देवता तो स्वयं भव में पड़े हुए हैं; यथा —"भव प्रवाह संतत हम परे।" (लं० दो० १०८)—यह देवताओं ने कहा है। "भवताप भयाकुल पाहि जनम्।" (दो० १३)—यह श्रीशिवजी ने भी कहा है। ये लोग दूसरे को कैसे तार सकते हैं ? कलि मे भी हरि ही के गुणगान को कहा है।

इन चारों अर्द्धालियों के भाव बा० दो० २६ चौ० ३–७ में भी देखिये।

कलिजुग जोग न जज्ञ न ग्याना। एक अधार राम-गुन-गाना ॥५॥
सब भरोस तजि जो भज रामहि। प्रेम-समेत गाव गुन-ग्रामहि ॥६॥
सोइ भव तर कछु संसय नाहीं। नाम-प्रताप प्रगट कलि माहीं ॥७॥
कलि कर एक पुनीत प्रतापा। मानस पुन्य होहिं नहिं पापा ॥८॥

अर्थ—कलियुग में केवल रामगुणगान ही एक अवलंब है, न योग है, न यज्ञ और न ज्ञान ही (का अवलंब है। अतः,) ॥५॥ सब (योगादि) का भरोसा छोड़कर जो श्रीरामजी का भजन करते और प्रेम सहित उनके गुण समूह को गाते हैं, वे ही भव तर जाते हैं इसमें कुछ संदेह नहीं है, कलियुग में नाम का प्रताप प्रकट (प्रत्यक्ष) है ॥६-७॥ कलियुग का एक पवित्र प्रताप है कि इसमें मानसिक पुण्य (तो पुण्य में परिगणित) होते हैं, मानसिक पाप नहीं ॥८॥

विशेष—(१) 'जोग न जज्ञ न ग्याना।'—'न' का अर्थ यह नहीं कि इनकी सत्ता ही नहीं रह गई किंतु 'एक अधार' के अनुरोध से भाव यह कि इनका आधार नहीं लिया जा सकता, क्योंकि मलीन युग के कारण लोगों के मन, वचन, कर्म प्रायः मलीन होने से उन योग आदि के साधन करने के योग्य नहीं रह गये हैं; यथा—"ग्रसे कलिरोग जोग संयम समाधि रे।" (वि० ६६); एवं वि० १२८, १५५, १८४, १७३ आदि पदों को तथा क० उ० ८६-८७ आदि छंदों को देखिये।

ऊपर क्लेश-हरण संबंध से हरिनाम दिया गया है, क्योंकि भव क्लेश है। यहाँ 'राम गुन गाथा' कहकर उपर्युक्त 'हरि' को भी श्रीरामजी का ही विशेषण जनाया, यथा—"रामाख्यमीशं हरिम्" (बा० मं० श्लोक ६)।

(२) 'सब भरोस तजि···'—योगादि का भरोसा रहने से राम-भजन में पूर्ण निर्भरता न आयेगी और न प्रेम सहित गुणगान ही होगा; यथा—"येहि ते तव सेवक होत मुदा। मुनि त्यागत जोग भरोस सदा ॥" (दो० १३)।

(३) 'संसय नाहीं'—जब प्रभु में ही अनन्य 'भरोस' होकर प्रेम से गुणगान करते हुए भजन करेगा, तब कुछ भी संदेह नहीं है, वह अवश्य भव तरेगा।

पहले 'हरि गुन' फिर 'राम गुन' और यहाँ 'नाम प्रताप' कहा है, इस तरह तीनों की एकता कही गई। नाम बीज रूप है चरित उसका विवरण है, जैसे कि बा० दो० ६ में 'बिस्व बिदित गुन एक' कहा गया, फिर उसे ही आगे 'यहि महँ रघुपति नाम उदारा' कहा है। अन्य युगों में योगादि के साथ में नाम प्रताप था अतएव अप्रकट था, कलि में प्रत्यक्ष है। और युगों में जब और साधनों से भी काम चल जाता था, तब नाम में लोगों की कम प्रवृत्ति थी। अब तो यही एकमात्र उपाय रह गया; यथा—"कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ।" (बा० दो० २१)। इसी से 'नाम-प्रताप' का ही डंका बज रहा है; यथा—"नाम लेत कलि कालहूँ हरि पुरहि न गा को ॥ राम नाम महिमा करै काम भूरुह आको। साखी वेद पुरान है तुलसी तन ताको ॥" (वि० १५२)।

(४) 'कलि कर एक पुनीत प्रतापा।' और तो सब बातें इसमें अपुनीत ही हैं, एक यही पुनीत प्रताप है, यह सबसे प्रधान है इसके आगे और सब तुच्छ हैं। यह पवित्र गुण और युगों में नहीं है। और युगों में मानस पुण्य तो पुण्य में गिने जाते थे। साथ ही मानस पाप भी पाप में गिन लिये जाते थे, उनका फल भोगना पड़ता था।

(५) 'मानस पुन्य होहिं नहिं पापा।' जिस पुण्य का संकल्प मन में किया गया, पर किसी विघ्न से एवं किसी प्रकार की असमर्थता से उसे कर नहीं सका, तो उस पुण्य का फल मिल जायगा। परन्तु पाप का संकल्प जब तक मन में है, तब तक मनुष्य उसके पाप का भागी नहीं होता। वह पाप कर्म द्वारा किया जायगा तभी उसका बुरा फल होगा।

पुण्य तो और युगों की तरह होते हैं, पर पाप ही इसमें नहीं होते, पुनीत प्रताप केवल मानस पाप के फलप्रद न होने में है, पर श्रीमद्भागवत के ऐसे ही प्रसंग से यहाँ के 'होहिं' की जगह—पुण्य-कर्म संकल्प शीघ्र सिद्ध हो जाते हैं और पाप कर्म करने ही पर फल प्रद होते हैं—ऐसा कहा है; यथा—"नानुद्वेष्टि कलिं सम्राट् सारंग इव सारभुक्। कुशलान्याशु सिद्ध्यन्ति नेतराणि कृतानि यत्॥" (भाग० १।१८।७) अर्थात् राजा परीक्षित ने कलि को नहीं मारा, क्योंकि वे भ्रमर की तरह सार पदार्थ के ग्रहण करनेवाले हैं, उन्होंने कलि में एक बड़ा गुण देखा कि इसमें पुण्य कर्म शीघ्र सिद्ध हो जाते हैं और पाप कर्म करने ही पर मनुष्य उसके पाप का भागी होता है। इसमें पुण्य के विषय में संकल्प मात्र से सिद्धि नहीं कही गई, किन्तु इतना ही है कि वे पुण्य कर्म शीघ्र हो जाते हैं, अन्य युगों में देर में सिद्ध होते थे।

पर मानस के मत से मानस पुण्य के संकल्प मात्र से उसके फल की प्राप्ति हो जाती है, पर पाप कर्म के संकल्प की फल प्राप्ति उसके करने ही पर होती है। इसपर यदि कोई कहे कि हम नित्य ही संकल्प कर लिया करें कि हम एक लक्ष ब्राह्मण को भोजन करावेंगे तो क्या इसका फल मिल जायगा? इसका उत्तर यही है कि मानस पुण्य वही है कि जिसका मन में स्वतः संकल्प आ गया कि करेंगे, पर कर न सका। जानकर संकल्प किया करना तो वंचकता है मानस पुण्य नहीं।

इस युग में करुणा निधान भगवान् ने ऐसा प्रताप इसलिये रक्खा है कि इसमें जीवों के तन और वचन से ही बहुत पाप होते हैं, यदि मानस पाप भी गिने जायँगे, तो 'पाप पयोनिधि जन मन मीना।' होने से पाप का इतना भार शीघ्र बढ़ जायगा कि प्रलय करना पड़ेगा। इसीलिये इसमें यह प्रताप रक्खा गया।

मानस पाप भी वही क्षन्तव्य हैं, जो अपनी शक्ति से अनिवार्य हैं, स्वभावतः हो आते हैं। जान-बूझकर मन से पाप संकल्प करना भी वंचकता है। पुनः मन से संकल्प होते-होते वह पाप कर्म रूप में भी आ ही जायगा।

दोहा—कलिजुग सम जुग आन नहिं, जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम-गुन-गन बिमल, भव तर बिनहिं प्रयास॥
प्रगट चारि पद धर्म के, कलि महँ एक प्रधान।
जेन केन बिधि दीन्हे, दान करइ कल्यान॥१०३॥

अर्थ—यदि मनुष्य विश्वास करे तो कलियुग के समान दूसरा युग नहीं है, (क्योंकि इसमें केवल) श्रीरामजी के निर्मल गुणों के गान करने से विना परिश्रम ही मनुष्य भव पार हो जाता है॥ धर्म के चार चरण (सत्य, दया, तप और दान) प्रसिद्ध हैं (पर) कलियुग में एक चरण प्रधान (यह) है कि जिस किसी भी प्रकार से दान देने से वह कल्याण करता है॥१-२॥

विशेष—(१) 'कलि जुग सम जुग आन नहिं'—और तीन युगों से यह उत्तम है, क्योंकि इसमें बिना परिश्रम भव पार होने का उपाय है। औरों में आजीवन साधन-श्रम उठाने पर भी निश्चय नहीं रहता कि भव पार हो जायँगे। किंचित् चूक होने पर गिर जाना होता है। इस युग में राम गुण एवं राम नाम उपाय है, यह नित्य निरुपाधि एवं अल्पायास में सिद्ध होनेवाला है; यथा—"राम नाम जपु तुलसी नित निरुपाधि।" (बरवा रा० उ०); 'जो नर कर बिस्वास'—बहुत फल प्रद एवं अल्पायास साध्य सुनकर सहसा प्रतीति नहीं होती और बिना प्रतीति के प्रीति नहीं होती; यथा—"बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।" (दो० ८८); बिना प्रीति प्रतीति के सिद्धि नहीं होती; यथा—"कवनिउँ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।" (दो० ८९); "तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि फिरि पचि मरै मरो सो। राम नाम बोहित भवसागर चाहै तरन तरो सो॥" (वि० १७३); तथा—"कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान्गुणः। कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगः परं व्रजेत्॥" (भाग० १२।३।५१); अर्थात् दोषों की खान कलियुग में एक महान् गुण है कि कृष्ण भगवान् के नाम और गुण के कीर्तन करने से मनुष्य निर्लिप्त होकर परम पद पाता है। श्रीमद्भागवत-माहात्म्य में भी कहा है कि परीक्षित महाराज ने यही गुण कलि का देखकर इसे नहीं मारा कि यह तो इसमें महान् गुण है; यथा—"यदा मुकुन्दो भगवान्क्ष्मां त्यक्त्वा स्वपदं गतः। तद्दिनात्कलिरायातः सर्वसाधनबाधकः। दृष्टो दिग्विजये राज्ञा दीनवच्छरणागतः। न मया मारणीयोऽयं सारङ्ग इव सारभुक्॥ यत्फलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना। तत्फलं लभते सम्यक्कलौ केशवकीर्तनात्॥" (भाग० मा० १।६६–६८)।

(२) 'प्रगट चारि पद …'—ऊपर राम गुण से भव-तरने का उपाय कहा, पर जिसे सहसा विश्वास न हो और कल्याण कामना हो तो वह जैसे कैसे कुछ दान करे, उससे हृदय शुद्ध होने पर फिर राम गुण में विश्वास और प्रेम होगा। 'येन केन बिधि'—का भाव यह कि श्रद्धापूर्वक एवं विधि सहित हो, चाहे बिना श्रद्धा, बिना विधि, देखा सीखी, डर से, स्पर्धा से एवं चाहे जैसा भी दे, कलि में वह सब कल्याण करेगा।

योग, यज्ञ, पूजा और गुणगान से भव तरना कहा गया, पर दान से कल्याण ही कहा गया, तात्पर्य यह कि दानमात्र से भव नहीं छूटता। हाँ, हृदय शुद्ध होकर फिर उन साधनों द्वारा एवं कीर्त्तन-भजन से उसका भव छूटेगा।

(३) 'दान करइ कल्यान'; यथा—"सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृप।"; "कलौ तु धर्म हेतूनां तुर्यांशः।" (भाग० १२।३।१८–२४); अर्थात् सत्य, दया, तप और दान, ये धर्म के चार चरण हैं। (कहीं-कहीं सत्य, शौच, दया, दान भी चरण कहे गये हैं।) कलि में तो धर्म के कारण रूप चारों चरणों में चौथा दानमात्र अवशिष्ट रहेगा।

नित जुग धर्म होहिं सब केरे। हृदय राम माया के प्रेरे॥१॥
सुद्ध सत्त्व समता बिग्याना। कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना॥२॥

अर्थ—श्रीरामजी की माया की प्रेरणा से सबके हृदय में सब युगों के धर्म प्रत्येक युगों में हुआ करते हैं॥१॥ शुद्ध सत्त्वगुण (वृत्ति), समता, विज्ञान और मन में प्रसन्नता जान पड़ती—यह सतयुग का प्रभाव है॥२॥

विशेष—(१) 'नित जुग धर्म होहिं …'—प्रत्येक युगों में चारों युगों के धर्म नित्य होते हैं, श्रीरामजी की माया द्वारा इनकी प्रेरणा हुआ करती है। इसे काल धर्म कहते हैं; यथा—"काल धर्म नहिं

व्यापहिं तेही।" यह आगे कहा है। युग का धर्म शरीर में व्याप्त हो जाता है, जैसे जाड़े में शीत और गर्मी में गर्म। जिस समय में जो युग होता है, उसकी वृत्ति प्रधान रहती है, शेष तीन के धर्म समय-समय पर आ जाते हैं। कोई-कोई नित्य के चार पहर में क्रमशः चारों युगों की वृत्ति मानते हैं; यथा—"कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम्। अनेन क्रमयोगेन भुवि प्राणिषु वर्तते ॥" (भाग० १२।२।२१); कोई यों अर्थ करते हैं कि वर्त्तमान युग का धर्म सबके हृदय में नित्य होता है। आगे युग धर्म की पहचान बतलाते हैं—

(२) 'सुद्ध सत्व'—प्रायः गुणों की मिश्रित वृत्ति रहती है, पर यहाँ केवल सत्त्वगुण की वृत्ति रहने का तात्पर्य है, जिसमें रजो गुण आदि की वृत्ति न हो। 'समता'—सब जीवों में समता भाव हो एवं सबमें ईश्वर को समान भाव से देखने की वृत्ति हो। 'बिज्ञाना'—प्रकृति-वियुक्त आत्मा का ज्ञान हो ; अर्थात् तीन गुणों एवं तीनों अवस्थाओं की वृत्तियों को अपनेसे भिन्न प्रकृति के मानता हो और प्रसन्न मन हो।

सत्त्व बहुत रज कछु रति कर्मा। सब बिधि सुख त्रेता कर धर्मा ॥३॥
बहुरज स्वल्प सत्त्व कछु तामस। द्वापर धरम हरप भय मानस ॥४॥
तामस बहुत रजोगुन थोरा। कलि-प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा ॥५॥

अर्थ—सत्त्वगुण अधिक हो, कुछ रजोगुण भी हो, कर्मों में प्रीति हो और सब प्रकार से सुख हो—यह त्रेता का धर्म है ॥३॥ रजोगुण बहुत हो, सत्त्वगुण बहुत थोड़ा हो, कुछ तमोगुण हो, मन में हर्ष और भय हो—यह द्वापर का धर्म है ॥४॥ तमोगुण बहुत हो, कुछ रजोगुण हो और चारों ओर विरोध हो—यह कलियुग का प्रभाव है।

विशेष—(१) 'सत्त्व बहुत रज ...'—त्रेता में समता छूटकर कर्म में भी प्रवृत्ति होती है, यह रजोगुण का प्रभाव है। सत्त्व बहुत होने से कर्म तो सात्त्विक हैं, पर उनमें कुछ रजोगुण प्रभाव से अहं बुद्धि एवं मान बड़ाई का भी विचार हो आता है। जब ऐसी प्रवृत्ति हो और सब प्रकार का सुख हो, तब समझना चाहिये कि त्रेता का धर्म हृदय में प्रेरित हो रहा है।

(२) 'बहुरज स्वल्प सत्त्व...'—जब ऐसे कार्य में प्रवृत्ति हो जिसमें सत्त्व गुण थोड़ा हो, पर हो वह सत्कर्म ही, उसमें मान-प्रतिष्ठा की चाह विशेष से हर्ष हो और कुछ मानसी चिन्ता से भय भी हो। तब उसे द्वापर का धर्म जानना चाहिये।

(३) 'तामस बहुत...'—जब विशेष तमोगुणी कर्म—उच्चाटन, मारण, मोहन आदि की प्रवृत्ति हो, तब कलियुग का धर्म समझना चाहिये। जैसे कि भगवान् कृष्ण के परधाम जाने पर जब युधिष्ठिर के मन में विकार उत्पन्न होने लगे तब उन्होंने निश्चय कर लिया कि कलियुग आ गया—ऐसा श्रीमद्भागवत में कहा गया है।

सतयुग में पूर्ण सत्त्व गुण रहता है। त्रेता में चतुर्थांश रजोगुण भी आ जाता है। द्वापर में दो भाग रजो गुण, एक भाग सत्त्व और एक भाग तमोगुण रहता है। कलि में तीन भाग तमोगुण, एक भाग रजोगुण और सत्त्व तो दैवयोग से कुछ-कुछ कहीं-कहीं रहता है।

सतयुग में धर्म के चारों चरण पूर्ण रहते हैं, त्रेता में एक पाद 'सत्य' नहीं रह जाता, द्वापर में 'सत्य शौच' दो नहीं रह जाते और कलि में तीन नहीं रह जाते, एक दान मात्र रह जाता है।

श्रीमद्भागवत १२।३।२६-३० के मिलान से भी यहाँ के भाव स्पष्ट हो जायँगे, यथा—"सत्त्व रजस्तम इति दृश्यते पुरुषे गुणाः। कालसंचोदितास्ते वै परिवर्त्तन्त आत्मनि॥ प्रभवन्ति यदा सत्त्वे मनोबुद्धीन्द्रियाणि च। तदा कृतयुगं विद्यात् ज्ञाने तपसि यद्रुचि॥ यदा धर्मार्थकामेषु भक्तिर्भवति देहिनाम्। तदा त्रेता रजो वृत्तिरिति जानीहि बुद्धिमान्॥ यदा लोभस्त्वसन्तोषो मानोदम्भोऽथमत्सर.। कर्मणां चापि काम्यानां द्वापरं तद्रजस्तम'॥ यदा मायानृतंतन्द्रानिद्राहिंसाविषादनम्। शोको मोहो भयं दैन्यं सकलिस्तामसः स्मृतः॥" इनके अर्थ सरल हैं और विस्तार भय से भी नहीं लिखे जाते।

बुध जुग-धर्म जानि मन माहीं। तजि अधर्म रति धर्म कराहीं॥६॥
कालधर्म नहिं ब्यापहिं ताही। रघुपति-चरन प्रीति अति जाही॥७॥
नटकृत विकट कपट खग-राया। नट सेवकहि न ब्यापइ माया॥८॥

अर्थ—पंडित लोग युगों का धर्म मन में जानकर अधर्म छोड़कर धर्म में प्रेम करते हैं॥६॥ जिसकी श्रीरघुनाथजी के चरणों में अत्यन्त प्रीति होती है, उसे काल के धर्म नहीं व्याप्त होते॥७॥ हे पक्षिराज! नट (बाजीगर) का किया हुआ कपट चरित (इन्द्रजाल) विकट होता है, पर वह माया उस नट के सेवक को नहीं व्याप्त होती॥८॥

विशेष—(१) 'बुध जुग धर्म जानि···'—जानना और फिर अधर्म आदि दोषों का त्यागना पंडित का ही काम है; यथा—"जिमि बुध तजहिं मोह मद माना।" (कि॰ दो॰ १४); जन लक्षणों से जान लिया जाय, तब तुरत उसका उपाय करे, जैसे कि जब कलि का धर्म मन में जाने तब कीर्त्तन में लग जाय, ऐसे ही जब जिस युग की वृत्ति हो, वैसा ही भजन करे। तब उसके प्रतिकूल वृत्ति रूप अधर्म छूट जायँगे।

(२) 'कालधर्म नहिं···'; यथा—"कबहूँ काल न ब्यापिहि तोहीं। सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोहीं॥" (दो॰ ८७); इसीको आगे दृष्टान्त से समझाते हैं—

(३) 'नट कृत विकट कपट ···'—यहाँ 'कपट' कहकर फिर उसे ही 'माया' भी कह, कपट का अर्थ नट की माया (झूठी माया) स्पष्ट किया है। 'नट सेवकहि'—सेवा से प्रसन्न होकर नट जिसके अनुकूल हो जाता है और अपने कपट के भेद बतला देता है, यथा—"सो नर इंद्रजाल नहिं भूला। जापर होइ सो नट अनुकूला॥" (आ॰ दो॰ ३८), उसे माया झूठी ही जान पड़ती है औरों को तो वह विकट ही दीखती है। रुपड़े का रुपया बना देना, वस्त्र जला देना फिर वैसा ही कर देना, आम फला देना, फिर गुप्त कर देना, शरीर काटकर फिर वैसा ही दिखा देना आदि औरों को सत्य और विकट जान पड़ते हैं। ऐसे युग के अनुसार गुण दोष युक्त माया के व्यापार औरोंको सत्य ही जान पड़ते हैं, पर हरिभक्त उस भुलावे में नहीं पड़ते, यथा—"येहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच वियोगी॥" से "सखा परम परमारथ येहू। मन क्रम बचन राम-पद-नेहू॥" (अ॰ दो॰ ९२) तक।

दोहा—हरि-माया-कृत दोष-गुन, बिनु हरि-भजन न जाहिं।
भजिय राम तजि काम सब, अस बिचारि मन माहिं॥

अर्थ—भगवान् की माया के किये हुए दोष और गुण बिना भगवद्भजन के नहीं जाते, ऐसा मन में विचार कर सब काम छोड़कर श्रीरामजी का भजन करना चाहिये एवं करो।

विशेष—दोष और गुण ; यथा - "सुनहु तात माया कृत, गुन अरु दोप अनेक।" (दो० ४३) ; इसमें 'गुन अरु दोष' कहा है, क्योंकि वहाँ संत गुण वर्णन का प्रसंग था और यहाँ कलि के दोष वर्णन का प्रसंग है, इससे 'दोष-गुन' कहा है, दोष को ही प्रधानता दी है, इससे पहले कहा है। वा, छंदानुरोध से भी ऐसा कहा गया है।

भजन से दोष हरण के सम्बन्ध में 'हरि' पद दिया गया है। जिन हरि की माया है, उन्हीं के भजन से जायगी। उपर्युक्त नट-सेवक का दृष्टान्त यहाँ भी है। 'काम सब'—संसार सम्बन्धी समस्त कामनाएँ। तजि काम अर्थात् निष्काम होकर।

कलि धर्म-वर्णन प्रसंग समाप्त हुआ।

तेहि कलि-काल बरष बहु, बसेउँ अवध बिहगेस।
परेउ दुकाल बिपति बस, तब मैं गयउँ बिदेश ॥१०४॥

गयउँ उजेनी सुनु उरगारी। दीन मलीन दरिद्र दुखारी ॥१॥
गये काल कछु संपति पाई। तहँ पुनि करउँ संभु सेवकाई ॥२॥

अर्थ—हे खगराज ! उसी कलिकाल में मैं बहुत वर्षों तक श्रीअवध में रहा। अकाल पड़ा तब मैं विपत्ति के वश होकर परदेश गया ॥१०४॥ हे गरुड़ ! सुनिये, दीन, मलीन (शरीर से मैला और मन से उदास), दरिद्र, और दुखी होकर मैं उज्जैन गया ॥१॥ कुछ समय बीतने पर कुछ धन सम्पदा पाकर फिर वहाँ श्रीशिवजी की सेवा करने लगा ॥२॥

विशेष—(१) 'तेहि कलि-काल···'—पहले—"पूरब कलप एक प्रभु, जुग कलि जुग मल मूल।" (दो० ९६) से प्रसंग लिया, पुनः "कहउँ कछुक कलि धर्म।" (दो० ९७) ; तक कहकर उसे छोड़ फिर 'कलि धर्म' कहते हुए ऊपर तक कहा, अब फिर वही पूर्व प्रसंग लेते हैं—'तेहि कलि काल···'

(२) 'परेउ दुकाल' ; यथा—"यह निसिचर दुकाल सम अहई।" (लं० दो० ६८)—देखिये। दुकाल का अर्थ दुष्काल अर्थात् अकाल। दुकाल की ध्वनि से दो वर्ष का बराबर अकाल एवं अवर्षणवाला अकाल सूचित किया। एक साल तक लोग बचे-बचाये अन्न से जीते हैं, फिर मरने लगते हैं।

(३) 'तब मैं गयउँ बिदेस ; यथा—"ईति भीति जनु प्रजा दुखारी। त्रिविध ताप पीड़ित ग्रह भारी॥ जाइ सुराज सुदेस सुखारी।" (अ० दो० २३४) ; सुदेश को आगे कहते हैं।

(४) 'गयउँ उजेनी···'—उज्जैन मालवा प्रदेश की राजधानी है यह सदा हरा भरा रहता है और महादेवजी की पुरी है। अतः, इष्ट-धाम और सुदेश जानकर वहाँ गये। इसे ही अवंतीपुरी (अवंतिका) कहते हैं, यह मोक्षदा सप्त पुरियों में से है।

'दीन मलीन···'—क्षुधार्त होने से दीन होकर मन से दुखी, वस्त्रादि एवं चेष्टा से भी मलीन और द्रव्य हीनता से दरिद्र था ; इन्हीं कारणों से दुखारी था।

(५) 'गये काल कछु···'—थो पार वर्ष में, व्यापार एवं चाकरी आदि से कुछ सम्पत्ति पाई, उससे दरिद्र नहीं रह गया, भारी दुःख निवृत्त हो गया; यथा—"नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।" (दो० १२०)।

'तहँ पुनि करउँ···'—पहले श्रीअवध में था, तब भी शिव-सेवा करता था; यथा—"सिव सेवक मन क्रम अरु बानी।" (दो० ९६); पर वह सेवा अकाल से दुखी होने पर छूट गई थी, अब फिर करने लगा।

> विप्र एक वैदिक सिव-पूजा। करइ सदा तेहि काज न दूजा ॥३॥
> परम साधु परमारथ-बिंदक। संभु-उपासक नहिं हरि-निंदक ॥४॥
> तेहि सेवउँ मैं कपट समेता। द्विज दयाल अति नीति-निकेता ॥५॥

अर्थ—एक ब्राह्मण वेद विधि से सदा श्रीशिवजी की पूजा करते थे, उन्हें दूसरा कोई काम नहीं था ॥३॥ वे परम साधु और परमार्थ के जाननेवाले थे, श्रीशिवजी के उपासक थे, पर हरि के निंदक नहीं थे ॥४॥ मैं कपट सहित उनकी सेवा करता था, वे ब्राह्मण अत्यन्त दयालु और नीति के स्थान थे ॥५॥

विशेष—(१) 'वैदिक सिव-पूजा'—पूजा तीन प्रकार की होती है—वैदिक, पौराणिक और तांत्रिक। वैदिक सात्त्विक, पौराणिक रजोगुणी और तांत्रिक तमोगुणी। वैदिक पूजा वेद मंत्रों से होती है, वैदिक पूजक का किसी से विरोध नहीं होता। तांत्रिक प्रायः वैष्णवों से द्वेष करते हैं। इससे शिवोपासना भी वैदिक एवं प्राचीन दिखाई गई।

'करइ सदा तेहि काज न दूजा।'—यह कर्म की उत्तमता है। 'परम साधु परमारथ-बिंदक' होना मन की और 'नहिं हरि निंदक' यह वचन की उत्तमता कही गई। 'काज न दूजा'—यही उपासना की श्रेष्ठता है, सदा उसी में लगा रहना।

(२) 'परम साधु'—मन और इन्द्रिय साधे हुए, निष्कपट, परोपकारी और प्रियवादी थे। 'परमारथ बिंदक'—ज्ञानोपासनादि के सिद्धान्त ज्ञाता एवं उनपर आरूढ़ वृत्तिवाले। 'नहिं हरि निंदक'—यही शास्त्र रीति है कि अपनी उपासना में दृढ़ रहे, किसी की निंदा नहीं करे। मूढ़ उपासक ही ईश्वर रूपों में भेद मानकर दूसरे रूपों की निंदा करते हैं।

(३) 'तेहि सेवउँ मैं'—सदा स्नान कराऊँ, धोती धोऊँ, पूजा की वस्तु ला दूँ, 'कपट समेता'—मन से उनमें प्रेम नहीं था, किंतु उनसे विद्या पढ़कर अपनी मान प्रतिष्ठा चाहता था। भीतर का स्वार्थी भाव छिपाये रखता था।

'द्विज दयाल अति ···'—वे दयालुता आदि बहुत गुणों से युक्त थे। 'नीति निकेता'—नीति मात्र से यहाँ धर्म नीति का तात्पर्य है। नीति यह कि जो अपनी सेवा करे, उसका अवश्य कुछ हित करना और उसे कुछ देना चाहिये, आगे देना भी कहते हैं—

> बाहिज नम्र देखि मोहि साँई। बिप्र पढ़ाव पुत्र की नाँई ॥६॥
> संभु-मंत्र मोहि द्विजबर दीन्हा। सुभ उपदेस बिबिधि बिधि कीन्हा ॥७॥
> जपउँ मंत्र सिव-मंदिर जाई। हृदय दंभ अहमिति अधिकाई ॥८॥

अर्थ—हे स्वामी ! मुझे ऊपर से नम्र देखकर ब्राह्मण मुझे पुत्र की तरह पढ़ाते थे ॥६॥ उन ब्राह्मण श्रेष्ठ ने मुझे श्रीशिवजी का मंत्र दिया और अनेक प्रकार से कल्याणकारी उपदेश किया ॥७॥ मैं श्रीशिवजी के मंदिर में जाकर मंत्र जपा करता था , परन्तु मेरे हृदय मे दंभ और अहंकार बढ़ता ही गया (कि मेरे समान शिवोपासक दूसरा नहीं है) ॥८॥

विशेष—(१) 'बाहिज नम्र' से उपर्युक्त 'कपट समेता' का भाव स्पष्ट हुआ कि मैं उनके देखाव में ही नम्र था, भीतर से नहीं । 'पुत्र की नाई'—अत्यन्त वात्सल्य प्रीति पूर्वक । मुझसे कुछ भेद नहीं रखते थे ।

(२) 'संभु-मंत्र'—पंचाक्षरी 'ॐनम. शिवाय' यह मंत्र दिया । मंत्रदीक्षा के साथ ही सदुपदेश देना चाहिये, वही शुभ उपदेश किया । एवं शुभ आचरण का भी उपदेश किया ।

(३) 'हृदय दंभ'—इसी से शिव मंदिर ही मे जाकर मंत्र जपता था कि सब लोग मुझे जापक और भजनानंदी जाने ।

दोहा—मैं खल मल-संकुल मति, नीच जाति बस मोह ।
हरिजन द्विज देखे जरउँ, करउँ बिष्णु कर द्रोह ॥

सो०—गुरु नित मोहि प्रबोध, दुखित देखि आचरन मम ।
मोहि उपजइ अति क्रोध, दंभिहि नीति कि भावई ॥१०५॥

अर्थ—मैं दुष्ट, पाप पूर्ण बुद्धि, नीच जाति और मोह वश था । हरि भक्तों और ब्राह्मणों को देखते जलता और विष्णु से द्रोह करता था ॥ गुरुजी मुझे नित्य ही बहुत समझाते थे (क्योंकि) वे मेरा आचरण देखकर दुखी होते थे । (पर उससे) मुझे अत्यन्त क्रोध उत्पन्न होता था, क्या दंभी को नीति (धार्मिक रीति) कभी अच्छी लगती है ? (कभी नहीं) ॥१०५॥

विशेष—(१) 'मैं खल' क्योंकि गुरु द्रोही था, 'मल संकुलमति नीच जाति' था, इसी से दुष्टाचरण पर ग्लानि नहीं आती थी । 'बस मोह'—क्योंकि शास्त्र मत नहीं समझता था । 'हरिजन द्विज देखे जरउँ'—वैष्णवों को देखकर जलता था, क्योंकि वे विष्णु को पर मानते थे । ब्राह्मणों से द्रोह करता था, क्योंकि वे मुझे शूद्र समझकर मेरी दंभात्मक वासना के अनुसार मुझे प्रतिष्ठा नहीं देते थे । उन्हें देखकर मुझे आग-सी लग जाती थी कि वे क्या मुझसे बड़े हैं ? 'करउँ विष्णु कर द्रोह'—उपासना की ओट से अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिये वैष्णवों से वाद करता एवं विष्णु की न्यूनता दिखाते हुए उनकी निन्दा भी करता था । पहले 'आन देव निंदक अभिमानी' था, मंत्रोपदेश और धन भी पाकर अब विष्णु द्रोही हो गया ।

पहले अपनेको खल कहा, फिर 'हरिजन द्विज···' से खल के लक्षण भी कहे हैं ; यथा—"मातु-पिता गुरु बिप्र न मानहिं । ··बिप्र द्रोह सुर-द्रोह बिसेषा । दंभ कपट जिय धरे सुबेषा ॥" (दो० ३१) ।

(२) 'गुरु नित मोहि प्रबोध ··'—तुम्हें अपनी उपासना करनी चाहिये, दूसरे की निंदा से क्या प्रयोजन ? उपासक को वाद करना मना है, सबसे विरोध होने से बड़ी हानि होती है—इत्यादि । 'आचरन

मग'—दंभी, अभिमानी, द्वेषी आदि । यह सब देखकर पछताते थे कि ऐसे को नाहक शिष्य किया, मेरी भी बदनामी होती है । 'मोहि उपजै अति क्रोध' का कारण भी यहां है; यथा—'दंभिहि नीति कि भावई' अर्थात् मुझे यह धर्म नीति नहीं भाती थी कि ब्राह्मण तेरे पूज्य हैं, उनसे बराबरी नहीं करनी चाहिये । पुनः वैष्णवों से द्रोह नहीं करना चाहिये, क्योंकि तुम्हारे इष्ट श्रीशिवजी भी वैष्णव नारद आदि का आदर करते हैं—इत्यादि ।

एक बार गुरु लीन्ह बोलाई । मोहि नीति बहु भाँति सिखाई ॥१॥
सिव-सेवा कर फल सुत सोई । अबिरल भगति राम-पद होई ॥२॥
रामहि भजहिं तात सिव-धाता । नर पाँवर कै केतिक बाता ॥३॥
जासु चरन अज सिव अनुरागी । तासु द्रोह सुख चहसि अभागी ॥४॥

अर्थ—एक दिन गुरुजी ने मुझे बुला लिया और बहुत प्रकार से नीति (धार्मिक-रीति) सिखाई ॥१॥ कि हे पुत्र ! श्रीशिवजी की सेवा का फल यही है कि श्रीरामजी के चरणों में अविरल (सदा एक रस) भक्ति हो ॥२॥ हे तात ! श्रीशिवजी और श्रीब्रह्माजी भी श्रीरामजी को भजते हैं (तब भला) नीच मनुष्यों की क्या बात है ? ॥३॥ श्रीब्रह्माजी और श्रीशिवजी जिनके चरणों के अनुरागी हैं, अरे अभागी ! तू उनसे द्रोह करके सुख चाहता है ? ॥४॥

विशेष—(१) 'एक बार' का भाव यह कि पहले सामान्य रीति से जहाँ कहीं मिल जाते, इन्हें समझाते थे, जब न मानते देखा, तब विशेष रीति से समझाने के लिये एकान्त में अपने स्थान पर बुलाना पड़ा; क्योंकि बाहर समझाने पर इनका क्रोध देखकर अनुमान किया कि यह दंभी है, इससे दूसरों के सामने अपनी न्यूनता नहीं सह सकता । ये क्रोधवश कभी गुरुजी के यहाँ जाते भी न थे । 'एक बार' से इसे अंतिम बार का उपदेश भी जनाया कि फिर ऐसा संयोग नहीं लगा । 'गुरु लीन्ह बोलाई'—क्योंकि न शिक्षा देने से गुरु इनके पाप के भागी होते । पुनः वे शान्त महात्मा थे, इससे इनकी अवज्ञा पर क्रुद्ध न होकर कल्याण करने की ही चेष्टा करते थे ।

(२) 'नीति बहु भाँति'—वेद-शास्त्र और लोक-रीति आदि—जैसे कि वैर विरोध से तेरी प्रतिष्ठा नहीं रहेगी, तेरे सम्बन्ध से लोग मुझे भी बुरा-भला कहेंगे । ईश्वर-निंदा भारी पाप है, यह तू क्यों करता है, एक तो पर निंदा ही भारी पाप है, दूसरे हरिजन और हरि की निंदा का तो क्या कहना ?

'नीति बहु भाँति सिखाई'—यहाँ चारों नीतियाँ सिखाई गईं; यथा—"रामहि भजहिं तात सिव धाता ॥"—साम, "सिव सेवा कर फल सुत सोई ।···"—दाम, "नर पाँवर कै केतिक बाता ।"—भेद और "तासु द्रोह सुख चहसि अभागी ॥"—दंडनीति है ।

(३) 'रामहि भजहिं तात सिव धाता ।'; यथा—"देखे सिव बिधि बिष्णु अनेका । अमित प्रभाव एक तें एका ॥ बंदत चरन करत प्रभु सेवा । बिबिध बेष देखे सब देवा ॥" (बा० दो० ५४) ।

(४) 'तासु द्रोह सुख चहसि अभागी ।'—श्रीशिवजी भी जिन श्रीरामजी से भव दुःख हरण की प्रार्थना करते हैं; यथा—"भव ताप भयाकुल पाहि जनं" (दो० १३); उन भव-भंजन के पद-विमुख होने से तू अभागी है ; यथा—"ते नर नरक रूप जीवत जग भव भंजन पद बिमुख अभागी ॥" (वि० १४०);

श्रीशिवजी इष्ट-द्रोह से निज द्रोही मानेंगे, इससे भी तुझे सुख नहीं मिलेगा; यथा—"जिमि सुख लहइ न संकर द्रोही।" (कि० दो० १६)।

हर कहँ हरिसेवक गुरु कहेऊ। सुनि खगनाथ हृदय मम दहेऊ ॥५॥
अधम जाति मैं बिद्या पाये। भयउँ जथा अहि दूध पियाये ॥६॥
मानी कुटिल कुभाग्य कुजाती। गुरु कर द्रोह करउँ दिन-राती ॥७॥
अति दयाल गुरु स्वल्प न क्रोधा। पुनि पुनि मोहि सिखाव सुबोधा ॥८॥

अर्थ—गुरुजी ने श्रीशिवजी को हरि सेवक कहा—यह सुनकर, हे खगराज! मेरा हृदय जल उठा ॥५॥ अधम जातिवाला मैं विद्या पाने से ऐसा हो गया, जैसा (विषैला) सर्प दूध पिलाने से (अधिक विषैला) हो जाता है ॥६॥ अभिमानी, कुटिल, दुर्भाग्यवाला, कुजाति मैं दिन-रात गुरु से द्रोह करने लगा।७॥ गुरुजी अत्यन्त दयालु थे, उनको किंचित् भी क्रोध नहीं था, वे बार-बार उत्तम ज्ञान की शिक्षा देते रहे ॥८॥

विशेष—(१) 'हृदय मम दहेऊ'—मैं श्रीशिवजी के समक्ष हरि की न्यूनता प्रतिपादन किया करता था, पर गुरुजी ने उसके सर्वथा विरुद्ध कहा कि श्रीशिवजी को ही हरि का सेवक कहा, सुनते ही मेरा हृदय जल गया। पुनः गुरु के प्रति परुष वचन आदि से प्रतिकार कर नहीं सका, इससे हृदय जलता ही रह गया ; यथा—"बहइ न हाथ दहइ रिस छाती।" (बा० दो० २७१) ; क्रोध से हृदय जलते हुए सोचता था कि ये गुरु कैसे ? जो इष्ट की न्यूनता कहते हैं, हमने तो पहले इन्हें विद्वान् समझा था, पर ये तो कुछ नहीं जानते, इत्यादि। क्रोध में ऐसी ही हीन बुद्धि हो जाती है।

गुरु पर ऐसी-ऐसी अयोग्य कल्पनाएँ क्यों हुईं ? इसपर कहते हैं—

(२) 'अधम जाति मैं···'—सर्प को दूध पिलाने से उसका विष बढ़ता है, दूध सात्त्विक वस्तु है, तमोगुण हारक है, पर कुपात्र के योग से विष बढ़ानेवाला हुआ। वैसे ही विद्या उत्तम वस्तु है, अज्ञान-हारक है। पर गुरुजी ने मुझ कुपात्र को पुत्रवत् मानकर विद्या पढ़ाई कि मेरा अज्ञान दूर हो। पर नीच जाति (कुपात्र) होने के कारण मेरी दुष्टता और भी बढ़ गई। पहले 'आन देव निंदक' था, अब हरिजन और विष्णु का भी द्रोही हो गया, यही विष बढ़ना है। सर्प पालनेवाले को ही काटता है, वैसे मैं 'गुरु कर द्रोह करउ दिन राती।' द्रोह करता कि ये कब मरें कि मेरा मान बढ़े।

आगे सर्प होने का शाप होगा, उसका बीज अभी से पड़ गया, सर्प की उपमा दी गई।

(३) 'मानी कुटिल कुभाग्य कुजाती।'—'मानी'; यथा—"अहमिति अधिकाई।" (दो० १०४); आगे भी कहा है—"गुरु आयउ अभिमान ते, उठि नहिं कीन्ह प्रनाम।" (दो० १०६) ; धन का अभिमान, विद्या एवं अनन्य उपासना का भी अभिमान था। 'कुटिल'; यथा—"मैं खल हृदय कपट कुटिलाई।" यह आगे कहा है। पाप बुद्धि होने से टेढ़ी चाल थी। 'कुभाग्य'; यथा—"तासु द्रोह सुख चहसि अभागी।" यह ऊपर कहा गया। मेरा कुभाग्य उदय हुआ। आगे शाप होना है, इससे मैं सदुपदेश को और ही भाँति समझता था। 'कुजाती'; यथा—"जनमत भयउँ सूद्र तनु पाई।" (दो० ६६); "अधम जाति मैं···" उपर्युक्त।

ये मानी आदि दोष ही गुरु-द्रोह के कारण हैं। उनसे मैं दिन-रात द्रोह करता था। तब भी उन्हें

'स्वल्प न क्रोध' हुआ। क्रोध होना स्वाभाविक था, यथा—"सुनु प्रभु बहुत अवज्ञा किये। उपज क्रोध ज्ञानिन्ह के हिये॥" (दो० ११०)। पर उन्हें क्रोध नहीं आया, क्योंकि वे 'अति दयाल' थे।

अपनी कुटिलता और उसपर गुरु की अति दयालुता एवं उनका क्षमा शील स्वभाव भुशुंडिजी २७ कल्प तक नहीं भूले; यथा—"एक सूल मोहि बिसर न काऊ। गुरु कर कोमल सील सुभाऊ॥" (दो० १०८)।

(४) 'पुनि पुनि मोहि सिखाव सुबोधा।'—यह गुरु धर्म है, इसका वे बराबर निर्वाह करते ही रहे।

जेहि ते नीच बड़ाई पावा। सो प्रथमहिं हति ताहि नसावा॥९॥
धूम अनल-संभव सुनु भाई। तेहिं बुझाव घन पदवी पाई॥१०॥
रज मग परी निरादर रहई। सब कर पद-प्रहार नित सहई॥११॥
मरुत उड़ाव प्रथम तेहि भरई। पुनि नृप नयन किरीटन्हि परई॥१२॥

अर्थ—नीच मनुष्य जिससे बड़ाई पाता है, वह हठ करके पहले उसी का नाश करता है॥९॥ हे भाई! सुनो, धुवाँ अग्नि से उत्पन्न होता है, पर वही मेघ की पदवी पाकर (अर्थात् कई संयोगों से मेघ रूप में परिणत हो जाने पर अपने उत्पन्न करनेवाले) उसी अग्नि को बुझाता है॥१०॥ धूल मार्ग में पड़ी हुई निरादर से रहती है, सब (राह चलनेवालों) की लातों की मार नित्य सहती है (अर्थात् नित्य प्रति सबका लतियाना सहती है, नीच है करे क्या?)॥११॥ पर जब उसे पवन उड़ाता है (ऊँचा उठाता है, ऊर्ध्व गति देता है) तब पहले तो वह नीच धूल उसी को भर देती है; अर्थात् शुद्ध पवन को धूलमय (मैला) कर देती है, फिर राजाओं के (भी) नेत्रों और किरीटों में जाकर पड़ती है (धूम और रज की नीचता उपकारी के विरुद्ध में अधिक बढ़ जाती है)॥१२॥

विशेष—धूम नीच है, क्योंकि कड़वा होता है, मैला होता है, आँखों को हानिकर होता है और फिर अपने पैदा करनेवाले ही को नष्ट करता है। रज, यथा—"लातहु मारे चढत सिर, नीच को धूरि समान।" (अ० दो० २२६), धूम और रज का प्रसंग बा० दो० ६ चौ० ६–१२ में भी देखिये।

धूम और रज दोनों आकाशगामी भी हुए, तब भी इनकी नीचता नहीं गई, प्रत्युत और बढ़ गई, अपने उपकारी के ही प्रतिकूल हुए। वैसे ही—"जेहि ते नीच बड़ाई पावा। सो प्रथमहि हति ताहि नसावा।" अर्थात् मैं नीच यही चाहता था कि इन गुरु के रहते मेरी प्रतिष्ठा न जमने पायेगी, ये न रहें तो अच्छा।

सुनु खगपति अस समुझि प्रसंगा। बुध नहिं करहिं अधम कर संगा॥१३॥
कबि कोबिद गावहिं अस नीती। खल सन कलह न भल नहि प्रीती॥१४॥
उदासीन नित रहिय गोसाँई। खल परिहरिय स्वान की नाँई॥१५॥
मैं खल हृदय कपट कुटिलाई। गुरु हित कहहिं न मोहि सोहाई॥१६॥

अर्थ—हे गरुड़! सुनिये, बुद्धिमान् लोग इस प्रकार इस बात को समझकर अधम का संग नहीं करते॥१३॥ कवि और पंडित ऐसी नीति कहते हैं कि दुष्ट से न झगड़ा ही अच्छा है न प्रीति ही॥१४॥ हे

गोसाईं ! खल से नित्य उदासीन (तटस्थ अर्थात् शत्रु-मित्र भाव से रहित) रहना चाहिये, उसका कुत्ते की तरह त्याग करना चाहिये ॥१५॥ मैं खल था, मेरे हृदय में कपट और कुटिलता भरी थी, गुरु हित की बात कहते थे, पर मुझे वह अच्छी नहीं लगती थी ॥१६॥

विशेष—(१) 'अस समुझि प्रसंगा'—'अस' जैसा ऊपर चौ० ९-१२ में कहा गया।

(२) 'कवि कोविद'—कवि अर्थात् काव्य ग्रंथों के रचयिता, कोविद अर्थात् उन ग्रंथों के भाष्यकार एवं वक्ता। 'खल सन कलह न भल नहिं प्रीती'—दुष्टों की प्रीति से कलंक होता है और उनके पापों का भागी होना होता है; यथा—"तत्संसर्गी च पंचमः" यह मनु ने कहा है और कलह करने से पीड़ा होती है। तब फिर निर्वाह कैसे किया जाय, उसपर कहते हैं—

(३) 'उदासीन नित···'—उनसे उपेक्षा भाव रहने दे, श्वान की तरह उनको दूर ही रहने दे। श्वान की उपमा से जनाया कि जैसे कुत्ता प्रीति करने से हाथ मुँह चाटता है, अशुद्ध कर देता है और वैर करने से काट खाता है, जिससे लोग मर भी जाते हैं। वैसे ही खल प्रीति करने से अपना-सा बनाते हैं, यथा—"आपु गये अरु तिन्हहूँ घालहिं। जे कहुँ सतमारग प्रतिपालहिं॥" (दो० ११); और वैर करने से मार ही डालते हैं। श्वान चांडाल कहाता है, उसके छू जाने पर स्नान करना पड़ता है। वैसे खलों को अस्पृश्य समझना चाहिये। उनसे दूर रहना चाहिये। प्रभु ने श्रीमुख से भी कहा है, यथा—"भूलेहु संगति करिय न काऊ।" (दो० ३८)।

जगत् में तीन ही तरह के व्यवहार हैं—मित्रता, शत्रुता और उदासीनता; यथा—"उदासीन अरि-मीत हित···" (बा० दो० ४); इनमें खलों से उदासीनता ही रखनी चाहिये।

(४ 'मैं खल हृदय कपट···'—ऊपर गुरु द्रोह का कारण और उसपर नीति कही, अब फिर अपना प्रसंग जो—'पुनि पुनि मोहिं सिखाव सुबोधा।' पर छोड़ा था, वही लेते हैं—'गुरु-हित कहहिं न मोहिं सुहाई।' 'हृदय कपट कुटिलाई'—बाहर से तो उनका शिष्य कहाता था, पर भीतर से अपना मान बढ़ाने की इच्छा रहती थी कि गुरुजी भी मुझे श्रेष्ठ मानें, मेरे ही अनुकूल हो जायँ। इस बुद्धि से उनका उपदेश नहीं सुनता था।

दोहा—एक बार हर-मंदिर, जपत रहेउँ सिव-नाम।
गुरु आयउ अभिमान ते, उठि नहिं कीन्ह प्रनाम॥
सो दयाल नहिं कहेउ कछु, उर न रोष लवलेस।
अति अघ गुरु-अपमानता, सहि नहिं सके महेस॥१०६॥

अर्थ—एक दिन मैं श्रीशिवजी के मंदिर में श्रीशिवजी का नाम जपता था। (उस समय वहाँ) गुरुजी आये (पर) अभिमान के कारण मैंने उठकर उनको प्रणाम नहीं किया॥ वे दयालु थे (इससे मेरी इस धृष्टता पर) उन्होंने कुछ भी नहीं कहा और उनके हृदय में अत्यन्त अल्प भी क्रोध नहीं हुआ। (पर) गुरु का अपमान करना अत्यन्त भारी पाप है, इससे उसे महादेवजी नहीं सह सके॥१०६॥

विशेष—(१) 'सिव-नाम'—नाम और मंत्र अभेद माना जाता है; यथा—"षडक्षरमनुं साक्षात्तथा युग्मात्तरं वरम्।" (मत्स्यपुराण); 'अभिमान ते'—यह नहीं कि ध्यान में रहा, आँखें मूँदे

हुए था, किन्तु देखते हुए भी अहंकार से नहीं उठा कि इनको यथार्थ ज्ञान नहीं है, इसीसे इष्ट में इनकी निष्ठा नहीं है, तब ये गुरु कैसे ? मुझे यथार्थ ज्ञान है, मैं जप निष्ठ हूँ, यदि कुछ कहेंगे, तो यही कह दूँगा कि इष्ट का जप करते हुए किसी के आने पर नहीं उठना चाहिये।

(२) 'अति अघ'—शास्त्र में कहा है कि गुरुजनों के आने पर खड़ा न होने से एवं उनको प्रणाम न करने से आयु क्षीण होती है। द्विज-द्रोह, हरि-द्रोह आदि भारी अघ हैं और गुरु अपमान अति अघ है। इसके समान और पाप नहीं है। 'सहि नहि सके'—भाव यह कि 'अन्य देव निंदा', 'द्विज द्रोह', 'हरि द्रोह' तक सहते गये, पर इस अत्यन्त पाप को नहीं सह सके, क्योंकि 'महेस' अर्थात् महान् ईश (समर्थ) हैं, पाप का उचित दंड देने में महान् समर्थ हैं, और ईश्वर अर्थात् न्यायशील हैं।

मंदिर माँझ भई नभ-बानी। रे हतभाग्य अज्ञ अभिमानी ॥१॥
जद्यपि तव गुरु के नहिं क्रोधा। अति कृपाल चित सम्यक बोधा ॥२॥
तदपि साप सठ देहउँ तोही। नीति-बिरोध सोहाइ न मोही ॥३॥
जौं नहि दंड करउँ खल तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुति-मारग मोरा ॥४॥

अर्थ—मंदिर के बीच में आकाशवाणी हुई कि अरे नष्ट भाग्य! अरे मूर्ख! अरे अभिमानी! यद्यपि तेरे गुरु को क्रोध नहीं है, (क्योंकि) वे अत्यन्त कृपालु चित्त हैं और उन्हें परिपूर्ण ज्ञान है ॥१-२॥ तथापि रे शठ! मैं तुझको शाप दूँगा, क्योंकि नीति का विरोध मुझे नहीं सुहाता ॥३॥ अरे खल! यदि मैं तेरा दंड न करूँ, (तुझे दंड न दूँ) तो मेरा वेद मार्ग दूषित हो जायगा ॥४॥

विशेष—(१) 'मंदिर माँझ'—यह महाकालेश्वर श्रीशिवजी का मंदिर है। 'हत भाग्य', यथा—"जासु चरन अज सिव अनुरागी। तासु द्रोह सुख चहसि अभागी॥" (दो० १०५), पुनः गुरु खुश होकर मेरी सेवा से तू सुख चाहता था, वह भाग्य तेरा गुरु अपमान करने से नष्ट हो गया, अब सुख तो गया, दुःख पावेगा। 'गुरु हित कहहिं न मोहि सुहाई।' अतः, 'अज्ञ' कहा गया है और गुरु को उठकर प्रणाम नहीं किया, इससे 'अभिमानी' कहा गया है। अपमान करने पर भी शिष्य के प्रति क्रोध नहीं किया, इससे अति कृपाल चित' कहा और 'सम्यक् बोधा' भी, सम्यक् अर्थात् यथार्थ, सत्य, यथा—"सत्य तथ्यमृतं सम्यक्—इत्यमरः।" यथार्थ ज्ञान से सबमें ब्रह्म को समान भाव से देखते हैं कि वह न्यायशील सर्वज्ञ ब्रह्म ही सबके द्वारा सब कार्य कराता है, अतएव मानापमान को समान मानते हैं, उसकी ही उचित देन मानते हैं।

(२) 'जौं नहि दंड करउँ '—यदि कहा जाय कि जिसका अपमान हुआ वह तो कुछ कहता ही नहीं, आपको क्या प्रयोजन ? उसपर कहते हैं—यदि तेरा दंड न किया जायगा, तो मेरा वेद मार्ग दूषित होगा, सब यही कहेंगे कि धर्माचरण से क्या होता है ? देखो श्रीशिवजी के सामने ही तो इसने गुरु का अपमान किया तब भी इसका कुछ नहीं बिगड़ा। 'श्रुति मारग', यथार्थ—"आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्। न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः॥" (भाग० ११।१७।२७)। "यस्य देवे पराभक्तिर्यथादेवे तथा गुरौ" (श्वे० ६।२३)। तो वेद में जो गुरु-द्रोही की घोर गति कही गई है, वह विश्वास योग्य नहीं है। 'मोरा'—जिस मार्ग पर मैं आरूढ़ हूँ और जिसे मैं अपना मार्ग मानता हूँ। श्रीशिवजी भी वेद-मार्ग के ही अनुयायी हैं, इससे उसे मेरा श्रुतिमार्ग कहते हैं। श्रुतिमार्ग का स्वरूप आगे कहते हैं—'जे सठ ।'

जे सठ गुरु सन इरिषा करहीं। रौरव नरक कोटि जुग परहीं ॥५॥
त्रिजग जोनि पुनि धरहिं सरीरा। अयुत जन्म भरि पावहिं पीरा ॥६॥
बैठि रहेसि अजगर इव पापी। सर्प होहि खलमल मति व्यापी ॥७॥
महा-विटप - कोटर महँ जाई। रहु अधमाधम अधगति पाई ॥८॥

शब्दार्थ—अयुत = दस हजार की संख्या, अगणित। कोटर = पेड़ का खोखला भाग, खोढर। अधगति = दुर्गति, अधोगति, नीच गति।

अर्थ—जो शठ गुरु से ईर्ष्या करते हैं, वे करोड़ों युगों तक रौरव नरक में पड़े रहते हैं ॥५॥ फिर (उस नरक से निकलने पर) तिर्यक् योनियों में शरीर धारण करते हैं और दस हजार जन्मों तक जन्म-जन्म-भर पीड़ा पाते हैं ॥६॥ अरे पापी! तू अजगर (सर्प) की तरह बैठा रहा, अरे दुष्ट! तेरी बुद्धि में पाप व्याप्त हो गया है, तू सर्प होगा ॥७॥ अरे अधम से भी अधम! अधोगति को पाकर बड़े भारी वृक्ष के खोढर में जाकर रह ॥८॥

विशेष—(१) 'जे सठ गुरु सन···'—यह वेद-शासन कहा गया कि कोई गुरु से ईर्ष्या नहीं करे, जो करेगा उसे 'रौरव नरक ··' यह दंड होगा।

(२) 'जे सठ'—जो सुनते जानते हैं, पर बात उनके हृदय मे नहीं बैठती, वे ही शठ हैं। ईर्ष्या अर्थात् बराबरी का अभिमान करना, डाह करना।

'रौरव नरक'—रुरु नाम के कीड़े महाक्रूर होते हैं, ये सर्पों से भी अधिक विषैले होते हैं, ये जिस नरक में रहते हैं उसे रौरव नरक कहते हैं। जो प्राणी इस पापी के हाथ से निरपराध मारे गये हैं, वे ही रुरु नाम के कीड़े होकर इससे बदला लेते हैं, वे इस पापी के मांस को चारों ओर से नोचते हैं। इस नरक का वर्णन भाग० ५।२६ में है।

(३) 'त्रिजग जोनि'—जिनके पेट का चारा तिरछा पचता है, वे तिर्यक् कहे जाते हैं। भाग० ३।१० में दस प्रकार की सृष्टियों में इन्हें आठवीं सृष्टि कहा है। इनके २८ भेद भी कहे गये हैं। इन्हें तीनों काल का ज्ञान नहीं होता, इनमें तमोगुण अधिक होता है, केवल आहार और मैथुन में तत्पर रहते हैं, सूँघने से ही इष्ट अर्थ को जानते हैं, इनके हृदय में विचार नहीं होता; यथा—"तिरश्चामष्टमः सर्गः सोऽष्टाविंशद्विधोमतः। अविदोभूरितमसो घ्राणज्ञो हृद्यवेदिनः ॥"। गऊ आदि द्विशफ कहाते हैं, क्योंकि इनके खुर बीच से फटे हुए होते हैं। गर्दभ आदि एकशफ कहे जाते हैं; क्योंकि इनके खुर बीच मे फटे नहीं होते। कुत्ता आदि भूचर और मगर आदि जलचर एवं कंक, गृध्र आदि खेचर, इन जन्तुओं की पंचनख संज्ञा होती है। ये एकशफ, द्विशफ और पंचनख ही उपर्युक्त २८ भेदवाले हैं।

'अयुत जन्म भरि···'—जन्म-मरण के दुःख और वैखरी वाणी नहीं होने का दुःख एवं और भी बहुत तरह के दुःख भोगते हैं। यहाँ तक वैदिक विधान कहा, आगे अपना शाप कहते हैं—

(४) 'बैठि रहेसि अजगर इव···'—अजगर सर्प बड़ा भारी और स्थूल होता है, इसीसे यह इधर-उधर हिल-डोल नहीं सकता, साँस द्वारा बकरी, हिरन आदि पशुओं को खींचकर निगल जाता है। यहाँ भाव यह है कि तू अजगर की तरह अचल बैठा रहा, गुरु के आने पर हिला-डोला नहीं। अतः, न

हिलनेडोलनेवाला ही सर्प (अजगर) होगा। अजगर भारी होने के कारण भारी वृक्षों के खोढर में रहते हैं, इससे यही स्थान भी कहा गया। प्राय आचरण के अनुसार ही शाप दिया जाता है, जैसे पक्षपात करने से श्रीभुशुंडिजी को पक्षी होने का शाप हुआ और मगर की तरह देवल ऋषि के पैर खींचने से हूहू गंधर्व ने मगर होने का शाप पाया, यह श्रीमद्भागवत गजेन्द्र प्रसंग में कहा गया है।

(५) 'मल गति व्यापी'—गुरु से द्रोह करना एव उनका अपमान करना मल (पाप) है। 'अधमाधम'—औरों से ईर्ष्या अधमता है, गुरु से ईर्ष्या महा अधमता है।

(६) 'अधगति'—मनुष्य होकर फिर नीच सर्प-योनि में जाना दुर्गति एव अधोगति है। या, शिर नीचे पूँछ ऊपर, इस तरह रह। जैसे त्रिशंकु की दशा प्रसिद्ध है। गुरु-द्रोही की ऐसी ही दशा होती है। गुरु सेवा से ऊर्ध्वगति पाता, उनसे विमुख हुआ। अत, अधोगति पायेगा।

दोहा—हाहाकार कीन्ह गुरु, दारुन सुनि सिव-स्राप।
कंपित मोहि बिलोकि अति, उर उपजा परिताप॥
करि दंडवत सप्रेम द्विज, सिव सनमुख कर जोरि।
बिनय करत गदगद स्वर, समुझि घोर गति मोरि॥१०७॥

अर्थ—श्रीशिवजी का कठिन शाप सुनकर गुरुजी ने हाहाकार किया। मुझे अत्यन्त काँपता हुआ देखकर उनके हृदय में अत्यन्त दु ख हुआ॥ प्रेमपूर्वक दडवत् प्रणाम करके वे ब्राह्मण श्रीशिवजी के सम्मुख हाथ जोड़कर, मेरी भयकर गति समझकर, गद्गद वाणी से स्तुति करने लगे॥१०७॥

विशेष—'हाहाकार कीन्ह गुरु'—गुरु में जो अति दयालुता ऊपर कही गई थी, वह यहाँ चरितार्थ है कि अपने द्रोह करनेवाले का भी दु ख पड़ना नहीं सह सके। 'कंपित'—भय से काँपने का कारण यह है कि जिसके बल पर मैं देवान्तरों का अपमान करता था, जिसका अनन्य बनकर मैं किसी को कुछ नहीं मानता था, वही शाप देते हैं तो अब कौन रक्षक होगा? 'दारुन स्राप'—अधोगति एव घोर गति को दारुण शाप कहा गया है। 'उर उपजा परिताप'—जिसपर पुत्रवत् स्नेह था, उसकी मूर्खता से उसपर भारी विपत्ति देखकर दु ख हुआ, यह उनका सत लक्षण है, यथा—"निज परिताप द्रवै नवनीता। पर दुख द्रवहिं सत सुपुनीता॥" (दो॰ १२४)। 'सिव सम्मुख'—मदिर में जो श्रीशिवजी मूर्त्ति रूप में थे उनके सामने, क्षमा कराने के लिये प्रेमपूर्वक गद्गद वाणी से विनय करने लगे।

छं॰—नमामीशमीशान निर्वाणरूपं। विभुं व्यापकं ब्रह्मवेदस्वरूपं।
निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं। चिदाकाशमाकाशवासं भजेऽहं।
निराकारमोंकारमूलं तुरीयं। गिराज्ञानगोतीतमीशं गिरीशं।
करालं महाकालकालं कृपालं। गुणागार संसारपारं नतोऽहं।

शब्दार्थ—नमामीशमीशान = नमामि ईशम् ईशान। ईशान = शिवजी का एक नाम। निज = स्वतंत्र। निर्विकल्प = परिवर्तन-रहित, सदा एकरस, निर्विकल्प-समाधि-अवस्था में सदा रहनेवाले। चिदाकाश = चैतन्य आकाश = ज्ञान से आकाश के समान निर्लिप्त।

अर्थ—हे श्रीशिवजी! शासन करनेवाले, मोक्ष-स्वरूप, समर्थ, व्यापक, ब्रह्म और वेद-स्वरूप (आप) को मैं नमस्कार करता हूँ। स्वतंत्र, तीनों गुणों से रहित, निर्विकल्प, चेष्टा-रहित, चैतन्यता से आकाशवत् निर्लिप्त, आकाश में निवास करनेवाले (अनंत) आपको मैं भजता हूँ॥ निराकार, ओंकार के मूल, सदा तुरीयावस्था में रहनेवाले, वाणी, ज्ञान और इन्द्रियों से परे, ईश्वर, कैलासपति, भयंकर, महाकाल के भी काल (मृत्युजेता), कृपालु, गुणों के घर और संसार से परे, आपको मैं नमस्कार करता हूँ॥

विशेष—यह छंद भुजंगप्रयात वृत्त है, इसके प्रत्येक चरण में चार यगण होते हैं। इस छंद के द्वारा स्तुति करने का भाव यह है कि आपके शाप से यह सर्प की गति को जाता है—भुजंग अर्थात् सर्प, प्रयात अर्थात् जाता है। इसपर कृपा कीजिये।

पुनः यगण का देवता जल है, इसी गण के छंद से स्तुति कर मानों श्रीशिवजी को जल चढ़ाकर प्रशान्त कर रहे हैं, क्योंकि वे इनके शिष्य पर क्रुद्ध हैं।

'ब्रह्म-वेद-स्वरूपं'—ब्रह्म प्रतिपाद्य है और वेद उसका प्रतिपादक है, आप दोनों रूप हैं। 'निजं' अर्थात् आप अपने आप हैं स्वतंत्र हैं। 'निर्विकल्पं'—आप सदा एकरस रहते हैं। 'ओंकार मूलं'—ओंकार (प्रणव) सबका मूल है, आप उसके भी मूल हैं। 'गिरा ज्ञान गोतीतं' आप हमारी वाणी, हमारे ज्ञान और हमारी इन्द्रियों की पहुँच से परे हैं। 'करालं महाकाल कालं' से शंका होती है कि इनकी सेवा कोई कैसे करेगा? उसपर 'कृपालं' भी कहा गया है कि भक्तों के लिये बड़े कृपालु हैं; यथा—"औढर दानि द्रवत पुनि थोरे" (वि॰ १); करालता और कृपालुता दोनों विरोधी बातें एक साथ दिखलाकर प्रभुत्व प्रतिपादन किया गया है। 'संसार पारं' अर्थात् प्रकृति से परे हैं, आपमें प्रकृति का सम्बन्ध नहीं है।

तुषाराद्रिसंकाशगौरं गभीरं। मनोभूतकोटिप्रभाश्रीशरीरं।
स्फुरन्मौलिकल्लोलिनी चारु गंगा। लसद्भालबालेंदु कंठे भुजंगा।
चलत्कुंडलं भ्रू सुनेत्रं विशालं। प्रसन्नाननं नीलकंठं दयालं।
मृगाधीशचर्मांबरं मुंडमालं। प्रियं शंकरं सर्वनाथं भजामि।

शब्दार्थ—मनोभूत = कामदेव। श्री = शोभा। स्फुरत् = चलती हुई, शोभित।

अर्थ—हिमालय पहाड़ के सदृश गौरवर्ण, गंभीर, जिनके शिर के जटाजूट पर सुन्दरी श्रीगंगाजी कल्लोल करती हुई धीरे-धीरे चल रही हैं, करोड़ों कामदेवों की कान्ति (छटा) के समान शोभा जिनके शरीर मे विराजमान है, ललाट पर द्वितीया का बाल चन्द्रमा और कंठ में सर्प शोभित है॥ कानों में कुंडल डोल रहे हैं, सुन्दर भौं हैं और विशाल नेत्र हैं, प्रसन्नवदन, नीलकंठ वाले, दयालु, बाघांबर धारी, मुंड-माल पहने हुए, सबके स्वामी एवं प्रिय श्रीशङ्करजी को मैं भजता हूँ॥

विशेष—'तुषाराद्रि'''—यहाँ स्वरूप का वर्णन है। गभीरं अर्थात् अगाध हैं; यथा—"कृपासिंधु सिव परम अगाधा। प्रगट न कहेउ मोर अपराधा॥" (बा० दो० ५७); अर्थात् आप गांभीर्य-गुण युक्त हैं। 'प्रियं शंकरं'—सबके कल्याणकर्त्ता हैं, इसीसे सबको प्रिय हैं। 'प्रसन्नाननं' से अखंडानंद जनाया। 'नीलकंठं' के साथ 'दयालं' कहकर हालाहल पान करने की विरद का स्मरण कराया है। 'मुंडमालं' आदि से भयंकर होने का संदेह होता, इसलिये 'प्रियं' भी कहा है। 'भजामि' के 'मि' को दीर्घ-उच्चारण करना चाहिये; अन्यथा छंदोभंग होगा।

प्रचंडं प्रकृष्टं प्रगल्भं परेशं। अखंडं अजं भानुकोटिप्रकाशं।
त्रयः शूलनिर्मूलनं शूलपाणिं। भजेऽहं भवानीपतिं भावगम्यं।
कलातीत कल्याणकल्पांतकारी। सदा सज्जनानन्ददाता पुरारी।
चिदानंद - संदोह मोहापहारी। प्रसीद प्रसीद प्रभो मन्मथारी।

शब्दार्थ—प्रकृष्ट = सबमें श्रेष्ठ, उत्तम। प्रगल्भ = प्रतिभाशाली, निर्भय।

अर्थ—प्रचंड (अत्यन्त तेज बलवाले), सबमें श्रेष्ठ, बड़े प्रतिभाशाली, परमेश्वर, अखंड, अजन्मा और करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशवाले, (दैहिक, दैविक, भौतिक) तीनों प्रकार के शूलों (दुःखों) को निर्मूल करनेवाले, हाथ में त्रिशूल धारण किये हुए, भाव द्वारा भक्तों को प्राप्त होनेवाले, भवानी के पति, आपको मैं भजता हूँ॥ कलाओं से परे अर्थात् सर्वकलापूर्ण, कल्याण और कल्पान्त (प्रलय) करनेवाले, सज्जनों को सदा आनंद देनेवाले, त्रिपुर के शत्रु, चिदानंद की राशि, मोह को नाश करनेवाले, मन को मथनेवाले कामदेव के शत्रु, हे प्रभो! प्रसन्न होइये, प्रसन्न होइये॥

विशेष—(१) 'प्रगल्भं'—विद्या वाद आदि में किसी से न हारनेवाले, 'त्रय. शूल निर्मूलनं' के साथ 'शूलपाणिं' कहने का भाव यह कि तीनों शूलों को नाश करने के लिये ही आप त्रिशूल लिये रहते हैं। 'सज्जनानन्द दाता' के साथ 'पुरारी' कहने का भाव यह कि सज्जनों के सुख के लिये ही आपने त्रिपुर को मारा है। 'चिदानंद संदोह' होने से आप 'मोहापहारी' हैं। 'प्रसीद' के साथ 'मन्मथारि' कहने का भाव यह कि काम को दंड देकर फिर आपने उसपर प्रसन्नता भी की है, वैसे ही इसने अपराध पर दंड पाया, अब इसपर भी कृपा की जाय।

(२) 'अखंडं'; यथा—"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥" (ईश० १), अर्थात् वह पूर्ण है, यह पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण निकलता है, पूर्ण का पूर्ण लेकर पूर्ण ही शेष रहता है।

न यावद् उमानाथपादारविंदं। भजंतीह लोके परे वा नराणां।
न तावत्सुखं शांति संतापनाशं। प्रसीद प्रभो सर्वभूताधिवासं।
न जानामि योगं जपं नैव पूजां। नतोऽहं सदा सर्वदा शंभु तुभ्यं।
जराजन्मदुःखौघतातप्यमानं। प्रभो पाहि आपन्नमामीश शंभो।

अर्थ—हे उमापति ! जब तक आपके चरण-कमलों को (मनुष्य) नहीं भजते, तब तक मनुष्यों को इस लोक में अथवा परलोक में सुख, शान्ति प्राप्ति और उनके संताप का नाश नहीं हो सकता। हे सब प्राणियों में निवास करनेवाले प्रभो ! प्रसन्न होइये ॥ न तो मैं योग जानता हूँ, न जप और न पूजा ही। हे सब कुछ देनेवाले, कल्याण की उत्पत्ति करनेवाले शंभु ! मैं आपको सदा प्रणाम करता हूँ। हे प्रभो ! बुढ़ापा, जन्म, (और मरण) के दुःख समूह से जलते हुए मुझ दुखी की रक्षा कीजिये, हे समर्थ शंभो ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥

विशेष—(१) यह स्तुति संस्कृत मिश्रित भाषा छन्द में है, इसीसे यहाँ 'नाशं', और 'वासं' शब्द ऊपर के द्वितीयान्त अनुप्रास के मिलान के अनुसार रक्खे गये हैं। संस्कृत के अनुसार 'नाशः' 'वासः' हैं। ऐसा ही 'शंभु तुभ्यं' अनुप्रास ही मिलाने के लिये है, नहीं तो 'त्वां' होता। भाषा में अर्थ की संगति से ठीक हैं। ऐसे ही 'कृपाल' 'दयालं' आदि भी भाषा की ही दृष्टि से हैं।

(२) 'सर्वभूताधिवासं' के साथ प्रसीद कहने का भाव यह कि आप सबके हृदय में बसते हैं, फिर भी जीव दुखी रहें, यह योग्य नहीं, अतएव आप प्रसन्न हों जिससे सबके दुःख दूर हों।

(३) 'न जानामि योगं ···'–इन सबका भरोसा मुझे कुछ नहीं है, केवल आपकी शरण हूँ, नमस्कार मात्र का भरोसा है।

(४) 'तातप्यमानं···'—अतिशयेन पुनः-पुनः तप्यमानं। आपन्न अर्थात् दुखी। 'सर्वदा' अर्थात् सब कुछ देनेवाले।

इस अष्टक में श्रीशिवजी की परब्रह्म रूप में स्तुति की गई है। यहाँ स्तुतिवाद प्रसंग है। कल्पान्तर में श्रीशिवजी के द्वारा भी सृष्टि के उत्पत्ति आदि तीनों कार्य पुराणांतर में पाये जाते हैं। वह महत्त्व लेकर स्तुति की गई है। सिद्धान्त विषय तो इन्हीं वैदिक मुनि ने शिष्य के तत्त्वोपदेश समय कहा है; यथा—"सिव सेवा कर फल सुत सोई। अविरल भगति राम पद होई ॥ रामहि भजहिं तात सिव धाता ॥" (दो॰ १०५) पूर्व "लिंग थापि बिधिवत करि पूजा।" (लं॰ दो॰ १); पर भी लिखा जा चुका है। इसी युक्ति से लिंग-पुराण आदि का मत भी दिखा दिया गया है; क्योंकि पूज्य ग्रंथकार का 'नाना पुराण निगमागम सम्मत···' भी कहने का संकल्प है। देवता के अन्य कल्प का परत्व भी स्तुतिवाद में कहा जाता है। ऐसे ही स्तुतिवाद के द्वारा बा॰ दो॰ ६७ एवं बा॰ दो॰ २३४ में शक्तिपरत्व भी कहा गया है, जिससे दुर्गा सप्तशती एवं कालिका पुराण आदि का मत आ गया।

श्लोक—रुद्राष्टकमिदं प्रोक्तं विप्रेण हरतोषये।
ये पठन्ति नरा भक्त्या तेषां शम्भुः प्रसीदति ॥

अर्थ—यह रुद्र भगवान् का अष्टक (आठ वृत्तों में किया हुआ स्तव) ब्राह्मण के द्वारा हर को प्रसन्न करने के लिये कहा गया है, जो मनुष्य इसे भक्ति पूर्वक पढ़ते हैं उनपर शंभु (श्रीशिवजी) प्रसन्न होते हैं।

विशेष—यह छंद भी भाषा का ही अनुष्टुप छंद है। क्योंकि 'तोषये' की जगह 'तुष्टये' संस्कृत से शुद्ध होता है। कई प्रतियों में 'तुष्टये' भी मिलता है, पर विशेष में 'तोषये' ही है। यह स्तुति श्रीशिवजी की प्रसन्नता के लिये की गई है, इसीसे भक्ति पूर्वक इसके पढ़ने से श्रीशिवजी का प्रसन्न होना इसका फल कहा गया है।

दोहा—सुनि बिनती सर्बज्ञ सिव; देखि बिप्र-अनुराग।
पुनि मंदिर नभ-बानी, भइ द्विजबर बर माँग॥
जौं प्रसन्न प्रभु मो पर, नाथ दीन पर नेहु।
निज पद भगति देइ प्रभु, पुनि दूसर बर देहु॥
तव मायाबस जीव जड़, संतत फिरइ भुलान।
तेहि पर क्रोध न करिय प्रभु, कृपासिंधु भगवान॥
संकर दीनदयाल अब, येहि पर होहु कृपाल।
साप अनुग्रह होइ जेहि, नाथ थोरेही काल॥१०८॥

अर्थ—सर्वज्ञ श्रीशिवजी ने विनय को सुना और (अपनेमें) ब्राह्मण का अनुराग देखा, तब मंदिर में फिर आकाशवाणी हुई कि हे ब्राह्मण-श्रेष्ठ! वर माँग॥ (ब्राह्मण बोले) हे प्रभो! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं और, हे नाथ! यदि आपका (मुझ) दीन पर स्नेह है तो, हे प्रभो! पहले अपने चरणों की भक्ति देकर फिर दूसरा वर (और भी) दीजिये॥ आपकी माया के वश जीव जड़ होकर निरंतर भूला-भटका फिरता है। हे प्रभो! हे कृपासागर! हे भगवन्! उस जड़ जीव पर क्रोध नहीं कीजिये॥ हे कल्याण करनेवाले और दीनों पर दया करनेवाले शंकरजी! अब इसपर कृपालु होइये जिससे, हे नाथ! थोड़े ही समय में इसका शाप अनुग्रह हो जाय॥१०८॥

विशेष—(१) 'देखि बिप्र अनुराग'—विप्र का मन, वचन, कर्म से अनुराग प्रकट है; यथा—'करि दंडवत'—कर्म, 'सप्रेम'—मन और 'गदगद स्वर' यह वचन का अनुराग है। स्तुति के पद-पद में अनुराग पूर्ण है। 'नभबानी'—जिस कथन में देवता या कहनेवाला आकाश (अन्तरिक्ष) में अदृश्य रहता है, उसे आकाशवाणी कहते हैं।

(२) 'जौं प्रसन्न···'—भाव यह कि जो मुझपर प्रसन्न हों तो अपने चरणों की भक्ति दीजिये और जो मुझ दीन पर स्नेह है, तो दूसरा वर भी दीजिये। यहाँ विप्र की सावधानता प्रकट है कि पहले भक्ति माँगी, तब प्रस्तुत विषय माँगने को कहा। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा गया है, यथा—"जौं प्रभु होइ प्रसन्न बर देहू। मो पर करहु कृपा अरु नेहू॥" (दो० ८१-८४) देखिये।

(३) 'तव माया बस जीव जड़···', यथा—"तव माया बस फिरउँ भुलाना।" (कि० दो० १); "तव बिषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे। भव पथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे॥" (दो० १२); वे ही भाव यहाँ भी हैं। 'तेहि पर क्रोध न करिय'—भाव यह कि जड़ (अज्ञ) होने से वे दया के पात्र हैं, क्योंकि उन्हें भले बुरे का ज्ञान ही नहीं है। फिर आप 'प्रभु', 'कृपासिंधु' और 'भगवान' से हैं। भाव यह कि प्रभु होने से शापानुग्रह में समर्थ हैं, कृपासिंधु होने से कृपा करके क्षमा कर सकते हैं और भगवान् होने से जीवों की गति अगति के विधान में निपुण हैं एवं उन्हें ऐश्वर्य देने में भी समर्थ हैं। 'संकर' आप कल्याण करने में 'शं-कर' इस नाम से प्रसिद्ध हैं। अतः, इसका भी कल्याण करें।

यहाँ ब्राह्मण की निपुणता है कि स्वामी की आज्ञा भी रहे और शाप के अनुग्रह द्वारा इसका कल्याण भी हो। अन्यथा अयुत जन्म न जाने कब तक पूरे हों और कब तक यह रौरव नरक भोगे। अतः, 'थोर ही काल' में अनुग्रह माँगा।

यहि कर होइ परम कल्याना। सोइ करहु अब कृपानिधाना ॥१॥
विप्र-गिरा सुनि पर-हित-सानी। एवमस्तु इति भइ नभ-बानी ॥२॥
जदपि कीन्ह येहि दारुन पापा। मैं पुनि दीन्ह क्रोध करि सापा ॥३॥
तदपि तुम्हारि साधुता देखी। करिहउँ येहि पर कृपा बिसेखी ॥४॥

अर्थ—हे कृपानिधान! अब वही कीजिये जिससे इसका परम कल्याण हो ॥१॥ परोपकार में सनी हुई ब्राह्मण की वाणी सुनकर 'ऐसा ही हो' यह आकाशवाणी हुई ॥२॥ यद्यपि इसने अत्यन्त घोर पाप किया है और फिर मैंने इसे क्रोध करके शाप भी दिया है तथापि तुम्हारी साधुता देखकर इसपर विशेष कृपा करूँगा ॥३-४॥

विशेष—(१) 'परम कल्याना' शापानुग्रह होना कल्याण है और फिर यथार्थ बोध सहित भगवद्भक्ति होना परम कल्याण है, यही विधान आगे होगा। राम-भक्ति एवं अप्रतिहत गति आदि श्रीशिवजी ही देंगे।

(२) 'परहित सानी'—शिष्य ने बार-बार पहले अवज्ञा की थी, फिर उसने श्रीशिवजी के सामने भी अपमान किया और उसका फल पाया, ईश्वर विधान से भी उसका दोष सच्चा निकला, तब भी उसके ही उद्धार के लिये स्तुति की और वर माँगा, क्षमा कराई—यह पर-हित की काष्ठा है। 'एवमस्तु' में पूर्व के वरदान 'भक्ति याच्ञा' की भी सिद्धि हो गई।

(३) 'दारुन पापा'—गुरु-अपमान करना दारुण पाप है, इसका वैसा ही फल भी ऊपर श्रीशिवजी ने कहा है; यथा—"जे सठ गुरु सन···' इत्यादि। दारुण पाप देखकर क्रोध हुआ और शाप दिया गया, वैसे ही क्रम से कहा भी गया है।

(४) 'तदपि तुम्हारि साधुता देखी।···'—भाव यह कि इसके आचरण तो इस योग्य नहीं थे, पर मैं तुम्हारी साधुता देखकर प्रसन्न हुआ हूँ, इससे तुम्हारा कहा करूँगा। 'साधुता'; यथा—"पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाव खगराया ॥" (दो॰ १२॰); पुनः—"संत असंतन्हि कै असि करनी। जिमि कुठार चंदन आचरनी ॥ काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई ॥" (दो॰ ३६); यह श्रीरामजी का श्रीमुख वचन भी यहाँ चरितार्थ है। 'कृपा बिसेषी'—जितना तुमने माँगा उससे भी अधिक कृपा करूँगा—आगे 'औरउ एक आसिषा मोरी।···' आदि से प्रकट है। (यहाँ क्रोध कृपा का फल दे रहा है)।

छमासील जे पर-उपकारी। ते द्विज मोहि प्रिय जथा खरारी ॥५॥
मोर स्राप द्विज ब्यर्थ न जाइहि। जन्म सहस अवश्य यह पाइहि ॥६॥
जनमत मरत दुसह दुख होई। येहि स्वल्पउ नहिं ब्यापिहि सोई ॥७॥
कवनेउँ जन्म मिटिहि नहिं ज्ञाना। सुनहि सूद्र मम बचन प्रमाना ॥८॥

अर्थ—हे द्विज ! जो क्षमाशील और पर-उपकार करनेवाले हैं, वे मुझे खरारि श्रीरामजी के समान प्रिय हैं।५॥ हे द्विज ! मेरा शाप व्यर्थ न जायगा, यह अवश्य सहस्र जन्म पायेगा ॥६॥ (परन्तु) जन्म लेते और मरते समय दुःसह दुःख होता है, वह इसे कुछ भी नहीं व्याप्त होगा ॥७॥ किसी जन्म में ज्ञान नहीं मिटेगा, हे शूद्र ! मेरा प्रमाण (सदा सत्य होनेवाला) वचन सुन ॥८॥

विशेष—(१) 'छमासील जे'''—क्षमा शील अर्थात् क्षमामय स्वभाव है, क्षमा का त्याग कभी नहीं होता। ऐसे संत और भगवंत में अंतर नहीं है, इसी से खरारी के समान प्रिय कहा। क्षमाशीलता श्रीरघुनाथजी के समान अन्यत्र नहीं पाई जाती; यथा—"छमि अपराध छमाय पाँय परि इतो न अनत समाउ॥" (वि० १००), इससे खरारी के समान प्रिय कहा। यह भी जनाया कि उसकी बात मैं कभी नहीं टालता और वह मुझे सब भावों से प्रिय है; यथा—"नाथ वचन पुनि मेटि न जाहीं।" (बा० दो० ७१), "सेवक स्वामि सखा सिय पी के।" (बा० दो० १४)। वा, यहाँ सेवकों को स्वामी के समान कहने में प्रेम मात्र में समता है।

(२) 'मोर स्राप द्विज व्यर्थ न जाइहि।'''—वचन की रक्षा करना सत्पुरुषों का लक्षण है और ऋषियों और देवताओं के शाप व्यर्थ नहीं होते, यह नियम भी जनाया। केवल उसके भोग में सुलभता कर देंगे। 'जन्म सहस'''—भाव यह कि शाप अयुत जन्म के लिये हुआ था, उस दस हजार का एक हजार ही कर देंगे, यह अनुग्रह किये देते हैं। उसमें भी और अनुग्रह यह कि इसे जन्म-मरण समय के क्लेश नहीं व्याप्त होंगे और जो प्राणियों का जन्म लेते और मरते समय ज्ञान नष्ट हो जाता है, वह इसका नहीं होगा। सौ कल्पों का रौरव नरक नहीं होगा—यह विशेष कृपा है।

(३) 'जनमत मरत दुसह दुख होई।'—जन्म का कष्ट अत्यन्त दुःसह है, पहले तो असहाय जीव को माता के गर्भ में लम्बे समय तक भाँति भाँति के क्लेश होते हैं, फिर जन्म समय संकीर्ण योनि द्वार से निकलने में असह्य यन्त्रणा भोगनी पड़ती है, जैसे सोनार सोने चाँदी के तार छेद में डालकर पतला करता है वैसे ही यह योनि से निकाला जाता है; यथा—"आगे अनेक समूह संसृति, उदर गति जान्यो सोऊ। सिर हेठ, ऊपर चरन, संकट बात नहिं पूछै कोऊ॥ सोनित पुरीष जो मूत्र मल कृमि कर्दमावृत सोवही। कोमल शरीर, गँभीर बदन, सीस धुनि धुनि रोवही॥" "प्रेखो जो परम प्रचंड मारुत कष्ट नाना तैं सह्यो। सो ज्ञान ध्यान बिराग अनुभव जातना पावक दह्यो॥ अति खेद ब्याकुल अल्प बल छिन एक बोलि न आवई। तव तीव्र कष्ट न जान कोउ सब लोग हर्षित गावई॥" (वि० १३६)।

जन्म-समय का दुःख भाग० ३।३१।१–२३ में विस्तार से कहा गया है।

मृत्यु काल में भी महान् कष्ट होता है। कहते हैं कि हजार बिच्छुओं के एक साथ डंक मारने पर जैसी वेदना होती है, वैसी ही मृत्यु काल में होती है। अथवा जैसे शरीर का चमड़ा उधेड़ने में कष्ट हो, क्योंकि ऊर्ध्व श्वास पंच प्राणों को एक साथ मिलाता है, सबको मिलाकर एक झटके से सबको एकदम शरीर से निकालता है।

मृत्यु काल का दुःख भी भाग० ३।३०।१४–२० में विस्तार से कहा गया है।

(४) 'मिटिहि नहिं ग्याना'—पूर्व जन्म के ज्ञान से तात्पर्य है, इसमें संसार-दुःख की निवृत्ति हुई। 'सुनहि सूद्र'—अब शूद्र से कहने लगे कि जिससे उसका डर छूट जाय और उसका आश्वासन हो। 'बचन प्रमाना', यथा—"बोले गिरा प्रमान।" (बा० दो० १५१), "करि पितु बचन प्रमान।" (अ० दो० ५१)।

रघुपति-पुरी जन्म तव भयऊ। पुनि तैं मम सेवा मन दयऊ ॥९॥
पुरी-प्रभाव अनुग्रह मोरे। राम-भगति उपजिहि उर तोरे ॥१०॥
सुनु मम वचन सत्य अब भाई। हरितोषन व्रत द्विज-सेवकाई ॥११॥
अब जनि करहि विप्र अपमाना। जानेसु संत अनंत समाना ॥१२॥

अर्थ—(एक तो) श्रीरघुनाथजी की पुरी में तेरा जन्म हुआ और फिर तूने मेरी सेवा में मन लगाया ॥९॥ पुरी के प्रभाव और मेरी दया से तेरे हृदय में राम-भक्ति उत्पन्न होगी ॥१०॥ हे भाई ! अब मेरा सत्य वचन सुन—ब्राह्मण-सेवा ही भगवान् को प्रसन्न करने का व्रत है ॥११॥ अब विप्र का अपमान मत करना, संत को भगवान् के समान जानना ॥१२॥

विशेष—(१) 'रघुपति-पुरी जन्म तव भयऊ।···'—उपर्युक्त प्रमाण वचन यहाँ से कहते हैं—पुरी में जन्म हुआ मानो सुक्षेत्र में बीज पड़कर जमा और अब हमारा अनुग्रह रूपी जल पाकर उत्तमा भक्ति उत्पन्न होगी; यथा—"संकर भजन बिना नर, भगति न पावइ मोरि।" (दो० ४५); "सिव सेवा कर फल सुत सोई। अविरल भगति राम-पद होई ॥" (दो० १०५)।

ब्राह्मण की क्षमाशीलता पर इतने मुग्ध हैं कि वरदान-पर-वरदान देते जाते हैं, अघाते नहीं। राम-भक्ति का वर देकर फिर द्विज-सेवा की शिक्षा देते हैं कि जिससे फिर इस तरह की चूक न हो। द्विज-सेवा से जब भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं तब फिर उस भक्त का सँभाल रखते हैं, पुनः भय नहीं रह जाता। 'सत्य अब' का भाव यह कि यही बात पहले कही जाती तो तू सत्य न भी मानता, पर अब तो देख लिया कि तूने कपट से ही ब्राह्मण की सेवा की थी तो भी तुझे श्रीराम-भक्ति मिल रही है, यदि प्रेम भाव से करेगा, तो उसके फल का क्या कहना ?

(२) 'अब जनि करहि···'—भाव यह कि पूजा करनी चाहिये, न बन पड़े तो अपमान तो न करे। अभी तक जो किया सो किया, उसका फल भी देख लिया, अब न करना संत को भगवान् के बराबर ही मानना। संत, विप्र एवं गुरु के अपमान से शाप दिया गया, यदि वे ही तुमपर कृपा न करते, तो कौन गति हुई थी, समझ ले। इससे मेरे इन वचनों को सत्य मान और इन्हें दृढ़ रूप से धारण कर।

इंद्र-कुलिस मम सूल बिसाला। कालदंड हरिचक्र कराला ॥१३॥
जो इन्हकर मारा नहिं मरई। बिप्र-द्रोह-पावक सो जरई ॥१४॥
अस बिवेक राखेहु मन माहीं। तुम्ह कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥१५॥
औरउ एक आसिषा मोरी। अप्रतिहत गति होइहि तोरी ॥१६॥

अर्थ—इन्द्र के वज्र, मेरे विशाल शूल, काल के दंड और विष्णु भगवान् के भयंकर चक्र ॥१३॥ इन सबके मारने पर भी जो नहीं मरता, वह भी विप्र द्रोह रूपी अग्नि से भस्म हो जाता है ॥१४॥ ऐसा विवेक मन में धारण कर रखना (इससे) तुमको संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं होगा ॥१५॥ मेरा एक और भी आशीर्वाद है कि तेरी गति अप्रतिहत होगी, अर्थात् कहीं भी चाहोगे जा सकोगे, कोई तुम्हारी गति को

रोक नहीं सकेगा। गति का ज्ञान अर्थ भी होता है, आगे श्रीलोमशजी भी इनके ज्ञान को खंडन नहीं कर सकेंगे, यह भी इसी वर में है ॥१६॥

विशेष—(१) ऊपर विप्र सेवा का फल कहकर अब उनके अपमान का फल कहते हैं—

(२) 'इंद्र कुलिस···'—कुलिश से बढ़कर घातक त्रिशूल है, त्रिशूल से कालदंड और उससे भी अधिक कराल भगवान् का चक्र है। शत्रु विनाश के लिये इन आयुधों से बढ़कर संसार में और आयुध नहीं हैं।

(३) 'जो इन्हकर···'—इससे विप्रद्रोह की अत्यन्त भीषणता दिखाई; यथा—"जिमि द्विज द्रोह किये कुल नासा।" (कि॰ दो॰ १६)। पुन. बा॰ दो॰ १६४ में कपटी मुनि ने विप्रकोप पर बहुत कहा है—देखिये।

(४) 'अस बिबेक राखेहु···'—स्मरण रहने से चूक नहीं होगी। फिर विप्र की अनुकूलता से सब कुछ सुलभ होगा।

(५) 'औरउ एक आसिषा···'—यह अपनी ओर से विशेष कृपा है। गुरुजी की अनुमति से भी अधिक।

दोहा—सुनि सिववचन हरषि गुरु, एवमस्तु इति भाखि।
मोहि प्रबोधि गयउ गृह, संभु-चरन उर राखि॥
प्रेरित काल बिंधिगिरि, जाइ भयउँ मैं व्याल।
पुनि प्रयास बिनु सो तनु, तजेउँ गये कछु काल॥
जोइ तनु धरउँ तजउँ पुनि, अनायास हरिजान।
जिमि नूतन पट पहिरइ, नर परिहरइ पुरान॥
सिव राखी श्रुति नीति अरु, मैं नहिं पावा क्लेस।
येहि बिधि धरेउँ बिबिध तनु, ज्ञान न गयउ खगेस॥१०९॥

अर्थ—श्रीशिवजी के वचन सुनकर हर्षित होकर गुरुजी 'एवमस्तु' कह और मुझे बहुत समझा श्रीशिवजी के चरणों को हृदय में रखकर घर गये॥ काल की प्रेरणा से मैं विन्ध्याचल में जाकर सर्प हुआ और फिर कुछ काल बीतने पर विना परिश्रम मैंने वह (सर्प) शरीर भी त्याग दिया॥ हे हरि-वाहन ! जिस शरीर को भी मैं धारण करता फिर उसे विना परिश्रम ही छोड़ देता था, जैसे मनुष्य पुराना वस्त्र छोड़ देता है और नया वस्त्र पहन लेता है॥ श्रीशिवजी ने श्रुति की नीति रक्खी और मैंने दुःख भी नहीं पाया। हे पक्षिराज ! इस प्रकार मैंने तरह-तरह के शरीर धारण किये, (पर) मेरा ज्ञान नहीं गया॥१०९॥

विशेष—(१) 'एवमस्तु इति भाषि'—यह गुरुजी का भी आशीर्वाद हुआ। 'मोहि प्रबोधि'—मेरा आश्वासन कर। 'संभु चरन उर राखि—यही वर माँगा था। अत, उसी में प्राप्त होकर गये। 'प्रयास बिनु'—क्योंकि इसका वरदान ही मिला है—'येहि स्वल्पउँ नहिं व्यापहि सोई।', 'गयउ गृह'—उपसंहार है, इसका उपक्रम—"गुरु आयउ अभिमान तें, उठि नहिं कीन्ह प्रनाम।" (दो० १०६) है। 'हरषि गुरु'—पहले शिष्य की दशा पर परिताप हुआ था, स्तुति करने पर सफलता हुई, इससे हर्ष हुआ।

(२) 'जोइ तनु धरउँ '—पूर्व ज्ञान रहने से उन शरीरों में आसक्ति नहीं हो पाती थी, समय पर उसे त्यागने में हर्ष होता था कि शीघ्र हजार जन्म की पूर्ति हो जाय। जैसे वस्त्र उतारने और पहनने में श्रम नहीं होता, वैसे अनायास ही शरीरों का ग्रहण और त्याग होता था, यथा—"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥" (गीता २।२२), इसका अर्थ दोहे से मिलता हुआ है।

(३) 'सिव राखी श्रुति नीति' यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा' है। यहाँ तक श्रीशिवजी ने अपना वचन पूरा किया। क्योंकि देवता सत्यवादी होते हैं। 'ज्ञान न गयउ'—ऐसा वर ही मिला था, यथा—"कवनेउँ जन्म मिटिहि नहिं ज्ञाना।"। 'येहि विधि', यथा—'जिमि नूतन पट ··' पर कहा गया।

यहाँ उपर्युक्त 'मानस पुन्य होइ नहि पापा।' का चरितार्थ भी हुआ कि जब तक गुरु से मन में द्रोह करते थे, कुछ न हुआ, जब कर्म से भी अपमान किया, तब शीघ्र ही दंड मिला।

त्रिजग देव नर जोइ तनु धरऊँ। तहँ तहँ राम-भजन अनुसरऊँ॥१॥
एक सूल मोहि बिसर न काऊ। गुरु कर कोमल सील सुभाऊ॥२॥
चरम देह द्विज कै मैं पाई। सुर-दुर्लभ पुरान श्रुति गाई॥३॥
खेलउँ तहूँ बालकन्ह मीला। करउँ सकल रघुनायक लीला॥४॥

अर्थ—तिर्यग्योनि और देवता, मनुष्य, (आदि के) जिस जिस शरीर को धारण करता था उस-उस शरीर में राम भजन करता था॥१॥ एक शूल मुझे कभी नहीं भूला—गुरुजी का कोमल शील-स्वभाव (अर्थात् यह दुःख हृदय से कभी नहीं गया, जो मैंने ऐसे गुरु का अपमान किया था)॥२॥ अंतिम देह मैंने ब्राह्मण की पाई, यह देह देवताओं को भी दुर्लभ है—ऐसा वेद पुराण कहते हैं॥३॥ उस द्विज देह में भी मैं बालकों में मिलकर खेला करता था, (खेल में भी) सब श्रीरघुनाथजी की लीलाएँ ही करता था॥४॥

विशेष—(१) 'त्रिजग देव नर '—पहले शाप से सर्प के हजार जन्म हुए, यह एवं और भी तिर्यक् शरीरों के समाप्त होने पर पूर्व सुकृत के अनुसार देव तन मिला, जब पाप और पुण्य समान रह गये, तब मनुष्यों में शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय होकर पीछे ब्राह्मण तन मिला। 'चरम' अर्थात् अंतिम, पिछला। ऐसे ही श्रीजड़ भरतजी को भी और शरीरों के भोगने में ज्ञान बना रहता था, उन्हें भी अंतिम (चरम) देह ब्राह्मण ही की मिली, उसीसे सद्गति हुई, यथा—"चरमशरीरेण विप्रत्व गतमाहु॥" (भाग० ५।६ २), 'सुर दुर्लभ'—मनुष्य देह ही सुर दुर्लभ है। फिर ब्राह्मण देह का क्या कहना? 'खेलउँ तहूँ'—ज्ञान नहीं गया। गुरुजी और शिवजी के वचन स्मरण थे, इससे बचपन के खेल में भी भगवान् ही का लीलानुकरण करता था।

(२) 'एक सूल···' का यह भी भाव है कि ऐसे स्वभाववाले गुरु से वियोग हुआ। इसका दुःख बना ही रहता है।

प्रौढ़ भये मोहि पिता पढ़ावा। समुझउँ सुनउँ गुनउँ नहिं भावा ॥५॥
मन ते सकल बासना भागी। केवल रामचरन लय लागी ॥६॥
कहु खगेस अस कवन अभागी। खरी सेव सुरधेनुहि त्यागी ॥७॥
प्रेममगन मोहि कछु न सोहाई। हारेउ पिता पढ़ाइ पढ़ाई ॥८॥

अर्थ—बड़ा होने पर मुझे पिता पढ़ाने लगे। मैं समझूँ, सुनूँ और विचार भी करूँ, तो भी (विद्या पढ़ना मुझे) अच्छा नहीं लगता था ॥५॥ मेरे मन से सब बासनाएँ भाग गईं (सांसारिक वासनाएँ नहीं रह गईं) केवल श्रीरामजी के चरणों में लय लग गई ॥६॥ हे श्रीगरुड़जी ! कहिये तो ऐसा कौन अभागी होगा कि जो कामधेनु को छोड़कर गदही की सेवा करे ? ॥७॥ (श्रीरामजी के) प्रेम में डूबा हुआ रहने से मुझे कुछ और नहीं सुहाता था, पिता पढ़ा-पढ़ाकर हार गये ॥८॥

विशेष—(१) 'समुझउँ सुनउँ गुनउँ नहिं भावा।'—पिता सांसारिक स्वार्थ साधन की विद्या पढ़ाते थे। उसे समझता था, पिता का धर्म है कि पुत्र को अवश्य शिक्षा दें, इससे ये पढ़ाते हैं। अतः, उनके वचन सुन लेता था। पर विचार करने पर वह विद्या मेरे मन को नहीं भाती थी। क्योंकि वह लोक के पदार्थों की देनेवाली थी और मेरे मन से लौकिक वासनाएँ निवृत्त हो चुकी थीं। तब उन वासनाओं की पूर्त्ति करनेवाली विद्या में कैसे मन लगे ?

(२) 'केवल रामचरन लय लागी'—जैसे मृदंग-वीणादि बाजा और हस्तपाद आदि की गति राग में मिल जाने को लय कहते हैं। वैसे ही इन्द्रिय-मन आदि की वृत्ति प्रेम-पूर्वक प्रभु के चरणों में लगी, कभी अलग नहीं होती थी। यह लय दशा सब ओर से वासना हटने पर ही प्राप्त होती है ; यथा—"सकल बासना हीन जे, राम भगति रस लीन। नाम सुप्रेम पियूष ह्रद, तिन्हहुँ किये मन मीन॥" (बा॰ दो॰ २२); लय में एक रस तैल धारावत् अविच्छिन्न सुरति प्रभु में लगी रहती है।

(३) 'खरी सेव सुरधेनुहि त्यागी।'—मुंडकोपनिषद १।१।३-५ में कहा गया है कि दो विद्याएँ पढ़नी चाहिये। पहले अपरा विद्या चारो-वेद शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद, ज्योतिष आदि पढ़े, फिर परा विद्या पढ़े, जिससे परा पर ब्रह्म जाना जाय। (अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥) परा विद्या का निचोड़ राम-भक्ति है ; यथा—"भक्त्यामामभिजानातियावान्यश्चास्मि तत्वत.।" (गीता १८।५५) ; जिसे सिद्ध पदार्थ ही प्राप्त है, वह साधन-रूपा अपरा विद्या क्यों पढ़े ? उसमें लगना भाग्यहीनता है, अपरा विद्या तो इन्हें पूर्व जन्म की पढ़ी हुई स्मरण थी ही, श्रीशिवजी ने कहा ही था; यथा-'कवनेउँ जन्म मिटिहि नहिं ग्याना।' इनकी दृष्टि फल-रूपा परा विद्या पर ही रहती थी। कहा भी है—"कीबे कहा, पढ़िये को कहा ···" (क॰ उ॰ १०४) ; देखिये।

(४) 'हारेउ पिता पढ़ाइ पढ़ाई'—पिता का मुझपर बहुत स्नेह था, वे अपना उचित कर्त्तव्य करते थे कि बार-बार पढ़ाने से इसका मन लग जायगा। पर मैं प्रेममग्नता से उधर मन ही न देता था कि जिससे पिता उसका आग्रह न करें। 'हारेउ'—वे सफल मनोरथ नहीं हुए।

भये कालबस जब पितु-माता । मैं बन गयउँ भजन जन-त्राता ॥९॥
जहँ जहँ बिपिन मुनीश्वर पावउँ । आश्रम जाइ जाइ सिर नावउँ ॥१०॥
बूझउँ तिन्हहि राम-गुनगाहा । कहहिं सुनउँ हरषित खगनाहा ॥११॥
सुनत फिरउँ हरिगुन अनुवादा । अव्याहत गति संभु-प्रसादा ॥१२॥

अर्थ—जब माता-पिता मर गये तब मैं जन रक्षक (श्रीरघुनाथजी) का भजन करने के लिये बन में चला गया ॥९॥ वन में जहाँ-जहाँ मुनीश्वरों को (सुन) पाता था, उनके आश्रमों में जा-जाकर उनको प्रणाम करता था ॥१०॥ हे श्रीगरुड़जी ! उनसे मैं श्रीरामजी के गुणों की कथा पूछा करता था, वे कहते थे और मैं हर्ष सहित सुना करता था ॥११॥ (इस तरह) हरि गुणानुवाद (अनुवाद अर्थात् बार-बार कथन) सुनता हुआ फिरा करता था । श्रीशिवजी की कृपा से मेरी अव्याहत गति थी (अर्थात् इच्छा मात्र से जहाँ चाहता, वहाँ पहुँच जाता था, बिना परिश्रम और बिना रोक-टोक के सर्वत्र पहुँच जाता था) ॥१२॥

विशेष—(१) 'भये कालबस जब पितु माता ।...'—भाव यह कि जीतेजी उनकी सेवा को अपना कर्त्तव्य समझकर घर नहीं छोड़ा, अन्यथा उन्हें दुःख होता । श्रीनारदजी भी दासी पुत्र होने पर ऐसी ही प्रतीक्षा में थे, माता के मरने पर घर छोड़कर वन को गये । 'जन त्राता'—पहले घर में पुत्र के रक्षक माता पिता भी रहते हैं । घर छूटने पर भगवान् ही उसके रक्षक रह जाते हैं, वे अपने जन की सर्वत्र रक्षा करते हैं—यह भरोसा रखकर मैं वन को गया । इससे 'जन त्राता' कहा गया है । पुनः वन एकान्त एवं सात्त्विक स्थल होने से भजन का उत्तम स्थल है, इससे वहाँ गया कि वहाँ सत्संग भी विशेष प्राप्त होगा, वही आगे कहते हैं—'जहँ जहँ बिपिन...'

(२) 'सुनउँ हरषित'—श्रीरामचरित सुनकर हर्ष होना ही चाहिये ; यथा—"कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती । सुनि हरि चरित न जो हरषाती ॥" (बा० दो० ११२) । यहाँ तक इनकी दो भक्तियाँ हुईं—"प्रथम भगति संतन्ह कर संगा । दूसरि रति मम कथा प्रसंगा ॥" (आ० दो० ३४) ।

'हरिगुन अनुवादा' ; यथा—"सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः । स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान् । एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानाम-संभेदाय..." (बृ० ४।४।२२) ; अर्थात् (वही ब्रह्म) सब (श्रीब्रह्माजी और श्रीशिवजी आदि) को भी अपने वश में रखनेवाला है, सबका शासन करनेवाला है, सबका अधिपति है । वह अच्छे कर्म से न तो बड़ा होता है और न असत्कर्म से छोटा । यह सबका ईश्वर है, यह सबका मालिक है, यह सबका पालक है, यह (सबका पार लगानेवाला) सेतु (पुल) है, इन भूर्भुवः लोकों की रक्षा के लिये इनका धारण करने-वाला है । एवं—"स च सर्वगुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्धनः ।" (वाल्मी० १।१।१७) ; "गुणैर्विरुरुचे रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः ।" (वाल्मी० २।१।१२) ; तथा—"गुन सागर नागर बर बीरा ।" (बा० दो० २४० ; "निज निज मति मुनि हरि गुन गावहिं ।" से "राम अमित गुन सागर, थाह कि पावइ कोइ" (उ० दो० ९०–९२), इत्यादि ।

छूटी त्रिविधि ईषना गाढ़ी । एक लालसा उर अति बाढ़ी ॥१३॥
रामचरन-बारिज जब देखउँ । तब निज जन्म सफल करि लेखउँ ॥१४॥

जेहि पूछउँ सोइ मुनि अस कहई। ईस्वर सर्व भूतमय अहई ॥१५॥
निर्गुन मत नहिं मोहि सोहाई। सगुन ब्रह्मरति उर अधिकाई ॥१६॥

अर्थ—तीनों प्रकार की प्रबल (सुत, वित, लोक) एषणाएँ (इच्छाएँ) छूट गईं और केवल एक यही लालसा हृदय में अत्यन्त बढ़ी ॥१३॥ कि जब श्रीरामजी के चरण-कमलों के दर्शन पाऊँ तब अपना जन्म सफल हुआ समझूँ ॥१४॥ जिस मुनि से पूछता था वही ऐसा कहता था कि ईश्वर सर्वभूतमय है ॥१५॥ यह निर्गुण मत मुझे नहीं सुहाता था, हृदय में सगुण ब्रह्म पर बहुत प्रीति बढ़ती जाती थी ॥१६॥

विशेष—(१) 'त्रिविधि ईषना गाढ़ी'—इनसे छुटकारा पाना दुष्कर है, इससे 'गाढ़ी' कहा है; यथा—"सुत वित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी ॥" (दो० ७०)—देखिये। यहाँ इनकी शुद्ध मुमुक्षुता कही गई है। 'सर्वभूतमय'—ईश्वर जड़-चेतन सबमें व्यापक है; यथा—"देस काल दिसि बिदिसहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं ॥" (बा० दो० १८४); "देस काल पूरन सदा बद बेद पुरान। सबको प्रभु सबमें बसै सबकी गति जान ॥" वि० १००), इत्यादि। आकाशवत् सर्व व्यापक है, यही सर्वान्तर्यामी भाव जानना उसका दर्शन है। 'निर्गुन मत नहिं…'—'ईस्वर सर्वभूतमय अहई' यही निर्गुण मत है, वह मुझे नहीं सुहाता था। 'सगुन ब्रह्मरति उर अधिकाई' एवं 'रामचरन बारिज जब देखउँ' यह लालसा सगुण ब्रह्मरति है। श्रीशिवजी के प्रसाद से श्रीरामजी में भक्ति तो पूर्व ही उत्पन्न हो चुकी। वह अब दिनोंदिन बढने लगी कि जिनमें कृपा, वात्सल्य आदि गुण पूर्ण हैं, ऐसे मनोहर रूपवाले प्रभु के कब दर्शन हों? 'तब निज जन्म सफल करि लेखउँ'—भाव यह कि सामान्य भक्ति भी करने से जन्म-सफलता नहीं होती, जब तक प्रभु के दर्शन न हों; यथा—"आजु सुफल जग जनम हमारा। देखि तात बिधु बदन तुम्हारा ॥" (बा० दो० ३५१), प्रभु के दर्शनों की लालसा दिन दूनी रात-चौगुनी बढ़नी चाहिये।

(२) 'जेहि पूछउँ सोइ…'—इससे जान पड़ता है कि उस समय सगुणोपासक मुनीश्वर थोड़े थे और निर्गुण मतवाले अधिक थे। या, वे मुनि लोग अभी इन्हें अधिकारी नहीं समझते थे।

दोहा—गुरु के बचन सुरति करि, राम-चरन मन लाग।
रघुपति-जस गावत फिरउँ, छन छन नव अनुराग ॥
मेरु-सिखर बटछाया, मुनि लोमस आसीन।
देखि चरन सिर नायउँ, बचन कहेउँ अति दीन ॥
सुनि मम बचन बिनीत मृदु, मुनि कृपाल खगराज।
मोहि सादर पूछत भये, द्विज आयहु केहि काज ॥
तब मैं कहा कृपानिधि, तुम्ह सर्वज्ञ सुजान।
सगुन ब्रह्म अवराधन, मोहि कहहु भगवान ॥११०॥

अर्थ—गुरुजी के वचन स्मरण कर श्रीरामजी के चरणों में मन लग गया। मैं क्षण-क्षण नवीन प्रेम से श्रीरघुनाथजी का यश गाता फिरता था और क्षण-क्षण पर मेरे हृदय में नये-नये अनुराग उत्पन्न होते थे॥ सुमेरु पर्वत के शिखर पर बरगद की छाँह में, लोमश मुनि को बैठे देखकर मैंने उनके चरणों में शिर नवाया और अत्यन्त दीन वचन कहे॥ मेरे अत्यन्त नम्र कोमल वचन सुनकर, हे गरुड़जी! कृपालु मुनि ने मुझसे सादर पूछा कि हे ब्राह्मण देव! आप किस कार्य के लिये आये हैं? तब मैंने कहा कि हे कृपानिधान! आप सर्वज्ञ और सुजान हैं। हे भगवन्! मुझसे सगुण ब्रह्म की उपासना कहें॥११॥

विशेष—(१) 'गुरु के वचन...'—निर्गुण मत न सुहाने का कारण कहते हैं—गुरुजी ने कहा था—"सिव-सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति राम-पद होई॥ रामहिं भजहिं तात सिव धाता। नर पामर कै केतिक बाता॥" (दो॰ १०५); पुनः श्रीशिवजी के वरदान पर भी गुरुजी ने 'एवमस्तु' कहा था, जिससे 'राम-भगति उपजिहि उर तोरे।' यह गुरु-वचन सिद्ध है। इससे निश्चय हो गया कि मुझे अवश्य करके श्रीरामजी की अविरल भक्ति प्राप्त होगी। इस दृढ़ विश्वास से राम-भक्ति में ही मन लगा।

(२) 'मुनि लोमस'—"ये मुनि पुराणों के अनुसार अमर माने गये हैं।" (हिन्दी-शब्द-सागर); यथा—"चिर जीवन लोमस ते अधिकाने।" (क॰ उ॰ ४१); कहा जाता है कि ये ब्रह्माजी के पुत्र हैं। जब एक ब्रह्मा मरते हैं, तब ये अपना एक रोम (लोम) उखाड़कर फेंक देते हैं कि क्षण-क्षण में कौन भद्र हो (बाल बनवावे)? इसीसे इनकी ख्याति लोमश नाम से है।

(३) 'वचन कहेउँ अति दीन'—यह आर्त्त अधिकारी का लक्षण है; यथा—"गूढ़उ तत्त्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं॥" (बा॰ दो॰ १०६); यहाँ आर्त्त होकर प्रश्न किया क्योंकि ये महान् ऋषि हैं और पूर्व कई स्थलों से निराश हो चुके हैं। फिर भी यह विश्वास है कि जब मुझे श्रीरामजी में प्रीति उपज रही है तो उनके दर्शन अवश्य होंगे। न जाने उन मुनि लोगों ने मुझे अनधिकारी समझकर तो सगुणोपासना नहीं कही, इससे यहाँ उत्तम अधिकारी बनकर प्रश्न किया।

(४) 'वचन विनीत मृदु'—उपर्युक्त 'अति दीन' वचन का ही यह विशेषण है। दीन वचनों से मुनि को दया आई और उन्होंने सादर पूछा।

(५) 'तब मैं कहा...'—दया करके सादर पूछा, इससे 'कृपानिधि' कहा है। आप 'सर्वज्ञ' हैं, अतः, मेरे मन की भी जानते हैं। 'सुजान' हैं; अतः, मेरे अभीष्ट सगुण ब्रह्म की आराधना भी भली प्रकार जानते हैं। 'भगवान्' विशेषण से उन्हें ऐश्वर्यवान् सूचित किया। षडैश्वर्यों में दो-तीन ऐश्वर्य भी जिसमें होते हैं उसे भी आदरार्थ भगवान् कहा जाता है। ऐसे ही परतत्त्व की जिज्ञासा करते हुए युधिष्ठिरजी ने व्यासजी को भी कहा है; यथा—"भगवन्योगिनां श्रेष्ठ..." (रामस्तवराज श्लोक ३)। 'अवराधन' अर्थात् आराधना, उपासना।

तब मुनीस रघुपति-गुन-गाथा। कहे कछुक सादर खगनाथा॥१॥
ब्रह्म-ज्ञान-रत मुनि बिज्ञानी। मोहि परम अधिकारी जानी॥२॥
लागे करन ब्रह्म-उपदेसा। अज अद्वैत अगुन हृदयेसा॥३॥

अर्थ—तब (मेरे पूछने पर) हे खगराज! मुनिश्रेष्ठ ने आदरपूर्वक कुछ रघुपति के गुणों की कथा कही॥१॥ ब्रह्म-ज्ञान में सदा लीन रहनेवाले वे विज्ञानी मुनि मुझे परम अधिकारी जानकर॥२॥ ब्रह्म का

उपदेश करने लगे कि वह अजन्मा, अद्वितीय, निर्गुण और हृदय का ईश्वर है, अर्थात् अंतर्यामी रूप से हृदय में रहकर प्रेरणा करता है ॥३॥

विशेष—(१) 'कहि कछुक'—कुछ ही क्यों कहा ? इसका कारण आगे कहते हैं कि वे—'ब्रह्म ज्ञान रत ' अर्थात् एक तो वे ब्रह्म ज्ञान में रत विज्ञानी थे, दूसरे उन्होंने मुझे परम अधिकारी जाना। अपना सिद्धान्त कहना सबको अनुकूल होता है और उसके योग्य परम अधिकारी के लक्षण भी मुझमें उन्होंने देखे कि यह ब्राह्मण शरीर है और इसे वैराग्यपूर्वक जिज्ञासा उठी है। ब्रह्म विद्या के अधिकारी के लक्षण, यथा—"तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्त चित्ताय शमान्विताय॥ येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥" (मुंडक० १।२।१३), अर्थात् उस साधन के लिये उद्यत, अच्छी तरह से शांत चित्तवाले, वासना त्यागी शिष्य के लिये जिससे अक्षर ब्रह्म का ज्ञान हो, वह यथार्थ ब्रह्म विद्या का विद्वान् गुरु उपदेश करे।

(२) 'लागे करन ब्रह्म-उपदेसा।'—पहले सगुण के कुछ चरित कहकर कहा कि यह लीला माया से ही है। ब्रह्म अपनी माया को ग्रहण कर यह चरित करता है। शुद्ध ब्रह्म तो—'अज अद्वैत अगुन हृदयेसा' आदि विशेषणों से विशिष्ट है।

'अज अद्वैत · ' से 'बारि बीचि इव गावहिं बेदा।' तक ब्रह्म उपदेश है, इसी को आगे 'निर्गुन मत' भी कहा है यथा—"निर्गुन मत मम हृदय न आवा।" यहाँ के 'अज' आदि विशेषणों के भाव पूर्व कहे गये हैं।

अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभव-गम्य अखंड अनूपा॥४॥
मन-गो-तीत अमल अबिनासी। निर्बिकार निरवधि सुखरासी॥५॥
सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥६॥

अर्थ—(वह) कला, चेष्टा, नाम और रूप (इन सबसे) रहित है, अनुभव से जानने योग्य है, अखंड है, उपमा रहित है॥४॥ मन और इन्द्रियों से परे है, निर्मल है और विनाश रहित है। विकार रहित, सीमा रहित और सुख की राशि है॥५॥ वेद कहते हैं कि तू वही है, उसमें और तुझमें भेद नहीं है। जैसे जल और जल की लहर में (भेद नहीं है)॥६॥

विशेष—(१) 'अकल'—वह घटता बढ़ता नहीं कि आज दो वर्ष का है कल चार का। 'अनीह'—उसमें किसी प्रकार की चेष्टा नहीं होती। 'अनाम अरूपा'—नाम रूप भौतिक एवं परिमित वस्तु के होते हैं, वह तो चिति मात्र है, अतएव 'अनुभव गम्य'—अनुभव से ही जाना जाता है कि वह 'अखंड' अर्थात् सर्वत्र एक रस पूर्ण है। 'अनूपा'—उसे किसी उपमा से नहीं समझाया जा सकता, क्योंकि उसके समान कोई उपमा नहीं है, इत्यादि और विशेषणों के भाव पूर्व आ गये हैं।

(२) 'सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। '—जो तत्त्व ब्रह्म है वही तू है। वह—"प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी॥" (दो० ७१) है, वैसे तू भी यमादि साधनों से प्रकृति पार (तीन अवस्थाओं और तीन गुणों से पर) होकर 'निरीह बिरज अबिनासी' ब्रह्म के समान हो जायगा। जैसे वह 'तुरीयमेव केवलम्' है वैसे तू भी कैवल्य मुक्त स्वरूप हो जायगा। सेवक बनने की क्या आवश्यकता है?

इसे निर्गुण मत कहा है, क्योंकि प्रकृति पार (गुणातीत) इसका होना फल है। आगे 'बारि बीच इव' से भी तात्त्विक एकता ही सिद्ध की गई है। जैसे जल और उसकी लहर एक तत्त्व हैं, जल ही जल हैं, वैसे ही जीव और ब्रह्म तत्त्वतः एक हैं, जैसे वायु की उपाधि से ऊँचा उठने से लहर भिन्न रूप में देख पड़ती है। वैसे ही वासना रूपी उपाधि से जीव भिन्न प्रकारों में देख पड़ते हैं, वासना ध्वंस से कैवल्य स्वरूप होकर उपर्युक्त रीति से अभेद हो जाते हैं। अभेद का अर्थ तुल्य रूपता का है, आगे स्पष्ट है; यथा—'जीव कि ईस समान।' (दो० १११)।

'सो तैं' यह 'तत्व मसि' का अर्थ है। इसपर काकजी का जो सिद्धान्त है, वह आगे 'उत्तर प्रति उत्तर' में कहा जायगा।

बिबिध भाँति मोहि मुनि समुझावा। निर्गुन मत मम हृदय न आवा ॥७॥
पुनि मैं कहेउँ नाइ पद सीसा। सगुन उपासन कहहु मुनीसा ॥८॥
राम-भगति-जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना ॥९॥
सोइ उपदेस कहहु करि दाया। निज नयनन्हि देखउँ रघुराया ॥१०॥

अर्थ—मुनि ने मुझे अनेक प्रकार से समझाया, पर निर्गुण मत मेरे हृदय मे नहीं बैठा ॥७॥ चरणों में शिर नवाकर मैंने फिर कहा कि हे मुनीश्वर ! मुझसे सगुण ब्रह्म की उपासना कहिये ॥८॥ राम-भक्ति रूपी जल मे मेरा मन मछली हो रहा है, (तब) हे चतुर मुनीश्वर ! (यह उससे)-कैसे अलग हो सकता है ? ॥९॥ दया करके वही उपदेश कीजिये जिससे मैं श्रीरघुनाथजी को अपनी आँखों से देखूँ ॥१०॥

विशेष—(१) 'मम हृदय न आवा'—भाव यह कि हृदय में तो सगुण उपासना का भाव है, निर्गुण मत के लिये जगह कैसे मिल सकती है ? जब कि दोनों की परिस्थिति अन्योन्य विरुद्ध है।

(२) 'पुनि मैं कहेउँ नाइ पद सीसा'—मुनि एक बार पहले सगुण परक विषय कह चुके, इससे निश्चय हुआ कि वह विषय जानते हैं, इससे फिर प्रार्थना की, नहीं तो न करते। 'पुनि' का भाव यह कि एक बार पहले—"सगुन ब्रह्म अवराधन, मोहि कहहु भगवान।" यह कह चुके हैं, अब दोबारा फिर कहा। मुनि की बात काटकर बीच में अपनी बात कहना धृष्टता है, इससे क्षमा के लिये 'नाइ पद सीसा' कहा है। पहले 'सगुन ब्रह्म अवराधन' कहा था और यहाँ 'सगुन उपासन' कहा, इस तरह दोनों को एकार्थी जनाया।

(३) 'राम भगति जल…'—पहले 'सगुन उपासन' कहा था, उसी को यहाँ 'राम भगति जल' कहा है और इसके विरुद्ध मे निर्गुण मत को सूखा स्थल जनाया। इन्द्रियों के विषय जल रूप कहे गये हैं; यथा—"विषय बारि मन मीन…" (वि० १०२); वैसे ही अत्यन्त प्रेम पूर्वक मन ने सब इन्द्रियों के विषय श्रीरामजी को ही बना लिया है। अत, उनसे पृथक् होना इसके लिये वैसे ही दुष्कर है जैसे जल से मछली का पृथक् होकर जीना। इस तरह अपनेको अत्यन्त आर्त्त अधिकारी जनाया कि मुनि मुझे अधिकारी जानकर अवश्य कहें। मीन का जल में सच्चा स्नेह है—दोहावली ३१७-३१८ देखिये। 'प्रबीना'—भाव यह कि आप तो चतुर हैं विचार करें कि मछली जल से अलग नहीं जी सकती। अतः, उसे जल में ही रखना उचित है।

शंका—जब इनका स्नेह मीनवत् था ही, तो जिज्ञासा की क्या आवश्यकता ?

समाधान—अभी इन्हें श्रीरामजी के साक्षात् दर्शन नहीं हुए, उसके लिये तड़प रहे हैं, इससे भक्ति की पूर्णावस्था नहीं प्राप्त हुई, इससे आवश्यकता है।

(४) 'सोइ उपदेस कहहु'''—आर्त्त पर दया करनी चाहिये। अतः, दया करके वही उपदेश कीजिये, जिसके लिये पूर्व प्रार्थना की गई है; यथा—"रामचरन बारिज जब देखउँ। तब निज जन्म सफल करि लेखउँ ॥" (दो० १०१); भाव यह है कि सगुण उपासना का मुख्य तात्पर्य यही है—'निज नयनन्हि देखउँ' अनुभव से एवं ध्यान से नहीं, प्रत्युत प्रत्यक्ष देखूँ।

भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहउँ निर्गुन उपदेसा ॥११॥
मुनि पुनि कहि हरि-कथा अनूपा। खंडि सगुन मत अगुन निरूपा ॥१२॥
तब मैं निर्गुन मत करि दूरी। सगुन निरूपउँ करि हठ भूरी ॥१३॥
उत्तर प्रतिउत्तर मैं कीन्हा। मुनि-तन भये क्रोध के चीन्हा ॥१४॥

अर्थ—पहले अवधपति श्रीरामजी को नेत्र भर देखकर तब निर्गुण ब्रह्म का उपदेश सुनूँगा ॥११॥ मुनि ने फिर अनुपम हरिकथा कहकर सगुण मत का खंडन कर निर्गुण मत का निरूपण (प्रतिपादन) किया ॥१२॥ तब मैं निर्गुण मत को दूर (खंडन) कर बहुत हठ करके सगुण मत का निरूपण करता ॥१३॥ मैंने उत्तर प्रति-उत्तर किया, अर्थात् उत्तर पर उत्तर दिया, (तब) मुनि के शरीर में क्रोध के चिह्न उत्पन्न हुए ॥१४॥

विशेष—(१) 'भरि लोचन बिलोकि'''—आँख भर देखना जहाँ कहा जाता है, वहाँ दर्शनों की अत्यंत लालसा समझी जाती है, यही इन्हें है, इसीसे बार-बार दर्शनों ही को कहते हैं—(१) 'रामचरन बारिज जब देखउँ।''' (२) 'सगुन ब्रह्म अवराधन, मोहि कहहु''' 'सगुन उपासन कहहु''' (३) 'सोइ उपदेस कहहु करि दाया। निज नयनन्हि देखउँ रघुराया ॥" (४) 'भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब'''।'

'तब सुनिहउँ निर्गुन उपदेसा।'—मुनि ने दो बार प्रार्थना पर भी इनकी बात नहीं सुनी और अपना ही पक्ष कहते रहे तब श्रीभुशुंडिजी ने अपने अभीष्ट पर उन्हें लाने का यह तीसरा उपाय किया कि आपके कैवल्य साधन में भी तो "ईश्वर प्रणिधानाद्वा" (यो० सू० १।२३) के अनुसार उपासना कही गई है। अतः, चित्त शुद्धि के लिये भी मुझे प्रथम सगुण ब्रह्म अवधेश श्रीरामजी के दर्शनों का उपाय कहिये, तब फिर आकर निर्गुण उपदेश सुनूँगा।

यह कथन वास्तव में व्यंग्य से उपेक्षा परक है, जैसे कहीं सत्संग में कोई अपनी ही कविता की बार-बार बड़ाई करके उसी को बार-बार सुनाता है। तब कोई आवश्यक प्रसंग रुका हुआ देखकर लोग कह देते हैं कि अच्छा मैं इसे चलते समय नोट कर लूँगा, अब अमुक प्रसंग होने दीजिये। अन्यथा विचार किया जाय कि जब श्रीकाकजी को सगुण के साक्षात् दर्शन भी हो गये। तब श्रीलोमशजी के पास निर्गुण-उपदेश लेने के लिये क्या काकजी आये? २७ कल्प तो बीत गये। पूर्व बिना पहचान के आये थे, अब तो गुरु का नाता भी हो गया है। पर सगुण-दर्शन के पीछे श्रीकाकजी ने निर्गुण मत की चर्चा भी नहीं की। क्यों करें? जनक-विश्वामित्र संवाद बा० दो० २१५ देखिये, तथा—"ब्रह्मानंद हृदय दरस सुख लोचननि

अनुभये उभय सरस राम जाने हैं।" (गी॰ या॰ ५१); "अवलोकि रामहि अनुभवत मनु ब्रह्म सुख सौ गुन दिये।" (जानकीमंगल ४५); अर्थात् निर्गुण के ब्रह्मानंद की अपेक्षा सगुण-दर्शन का आनंद सौ गुणा है।

(२) 'मुनि पुनि कहि हरिकथा···'—जैसे पूर्व—'कहे कछुक रघुपति गुनगाथा' का प्रसंग कहा गया। वैसे ही फिर कहा और फिर उसका खंडन करके निर्गुण मत को ही सिद्धान्त किया कि सगुण मे हानि-लाभ, शोक-मोह आदि व्यवहार प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, तब वह उपासकों के चित्त के विकार कैसे शुद्ध करेगा? पुनः अवतार किसी निमित्त से होता है, फिर पीछे निर्गुण ही में उसका पर्यवसान होता है। अतः, वह अनित्य है, निर्गुण नित्य एक रस रहता है। अतः, निर्गुण का ही ध्यान श्रेष्ठ है। शीघ्र मुक्ति देनेवाला है, सगुण की उपासना से बहुत काल में कहीं चित्त-शुद्धि होती है, फिर निर्गुण-उपदेश से ही कैवल्य पद मिलता है, इत्यादि।

(३) 'तब मैं निर्गुन मत करि दूरी।···'—पहले तो मैंने विनीत जिज्ञासु रूप में ही प्रश्न किया, फिर भी आर्त्त भाव से प्रार्थना पूर्वक प्रश्न किया: किन्तु जब वे समाधान न करके मेरे इष्ट पक्ष का खंडन ही करते रहे, तब मैंने विचारा कि मैं तो इन्हें आचार्य मानकर प्रश्न करता हूँ और ये विपक्षी बनकर मेरे इष्ट पक्ष का खंडन करते हैं। मुझे शक्ति भर अपने इष्ट की न्यूनता न सहनी चाहिये, ऐसा विचार कर मैंने निर्गुण मत को खंडन करके दूर कर दिया और फिर उन्हीं प्रमाणों से हठ पूर्वक सगुण को सर्वोपरि निरूपण करने लगा।

(४) उत्तर प्रति उत्तर मैं कीन्हा'—मुनि ने 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ रूप मे 'सो तैं ताहि तोहि नहि भेदा। बारि बीचि इव···' कहा है, मुनि का अर्थ इस अर्द्धाली के प्रसंग में कहा गया। श्रीभुशुंडिजी ने प्रति-उत्तर रूप मे ऐसा अर्थ किया कि—वाक्य के गूढ़ अभिप्राय प्रकट करने के लिये ही उपमा दी जाती है। 'वारि बीचि इव' यह उपमा 'तत्त्वमसि' के भाव को प्रकट कर देती है। तत्-त्वं-असि अर्थात् वही-तू है। इसका अर्थ श्रुति के प्रकरण के अनुसार करना चाहिये, पूरी श्रुति इस प्रकार है; यथा—"स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" (छां॰ ६।८।७); अर्थात् वह जो यह अणिमा है एतद्रूप (ब्रह्मात्मक) ही यह सब है, वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेत केतो! वही तू है। इसके पूर्व की श्रुति "यथा सौम्य एकेन मृत्पिण्डेन ··" (छां॰ ६।१) में सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म जगत् का कारण कहा गया। उसी को आगे "सदेव सौम्य···" (छां॰ ६।२) इस श्रुति मे 'सत्' संज्ञा से कहा गया। पुनः "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" (छां॰ ६।२।३)। मे 'तत्' शब्द से कहा गया। (यह भूमिका में स्पष्ट किया गया है)। उसी 'तत्' शब्द से कहे हुए सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म को यहाँ भी 'तत्' शब्द से कहा है और 'त्वं' शब्द श्वेत केतु के लिये है। अत., 'तत्त्वमसि' का अर्थ हुआ—वह ईश्वर तू है। सर्वज्ञ ईश्वर और अल्पज्ञ जीव का प्रत्यक्ष ऐक्य देखा नहीं जाता। अतः, सत्यवादिनी श्रुति का अभिप्राय यहाँ कुछ विशेष अर्थ से है—वह यह कि जो 'सत्' एक है वही अनेक प्रकार का हुआ और जैसा एक है वैसा ही अनेक है। एक का नाम 'सत्' ही उचित है और उसी के अनेक होने पर अनेक का एक ही 'ब्रह्म' ऐसा नाम चल सकेगा। जब आकार भिन्न हुए तब व्यवहार के लिये उन आकारों के भिन्न-भिन्न नाम रक्खे गये। जैसे इससे पूर्व के 'मृत्पिण्ड' के विकारों के नामों के दृष्टान्त से कहा गया है।

स्पष्टार्थ यह हुआ कि जो 'सत्' प्रलय में एक ही था—वही तू (श्वेतकेतु आदि जो नाना हुए हैं) है। सत् चिदचित् से विशिष्ट और तू भी चिदचित् से विशिष्ट है जगत् के सब व्यष्टि आकार चिदचित्-विशिष्ट ही हैं। प्रत्येक प्राणी देह (अचित्) जीवात्मा (चित्) और अंतर्यामी ब्रह्म (ईश्वर) से विशिष्ट रहते हैं। शरीरी ब्रह्म के प्राधान्य से शरीर रूप चिदचित् भी ब्रह्म संज्ञा से कहे जाते हैं। इस तरह श्वेत केतु

को ब्रह्म का शरीर एवं नियाम्य कहकर गुरुजी ने उसका अहङ्कार दूर किया कि शरीर के गुण, विद्या आदि के वैभव शरीरी के ही हैं, शरीर रूप जीव को उनका अभिमानी नहीं होना चाहिये। यह प्रसंग उद्दालक महर्षिजी ने अपने पुत्र श्वेत केतु के विद्या के अहंकार दूर करने के लिये ही छेड़ा था।

इस तरह ईश्वर के अंशभूत अनंत जीव उसके शरीर हैं। जैसे जल से लहरें उठती हैं, फिर उसीमें लय हो जाती हैं। वैसे ही ईश्वर से जीवों के द्वारा सृष्टि होती है, फिर प्रलय में सब जीव उसी ईश्वर में प्राप्त होते हैं।

जैसे जल और लहर एक तत्त्व हैं; वैसे ब्रह्म और जीव दोनों सच्चिदानंद स्वरूप हैं। जल से लहर है, लहर से जल नहीं। वैसे ही ईश्वर से जीव की सत्ता है। जीव से ईश्वर की नहीं; यथा—"मत्स्थानि सर्व भूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।" (गीता ९।४): अर्थात् जीव अंश है। जल एक, लहरें अनन्त, वैसे ही ईश्वर एक और जीव अनन्त; यथा—"सत्यपि भेदापगमे नाथ! तवाहं न मामकीनस्त्वम्। सामुद्रोहि तरंगः कचन समुद्रोहि तारंगः॥" अर्थ—हे नाथ! हमारे और आपमें भेदों के नाश होने पर भी आपका मैं हूँ, आप मेरे (अंश) नहीं है। जैसे समुद्र का तरंग है, समुद्र से उत्पन्न है; किन्तु तरंग से समुद्र उत्पन्न नहीं है।

इस दृष्टान्त के अनुरोध से अंश-अंशी, आधार-आधेय आदि सम्बन्ध जीव और ईश्वर में सिद्ध हैं।

लोमशजी का अभिप्राय यह था कि तरंग की उपाधि दूर होने से वह जल ही हो जाता है। वैसे ही साधन द्वारा वासना ध्वंस होने पर जीव भी ब्रह्म के समान भाव में कैवल्य मुक्त हो जाता है, यह आगे भुशुंडिजी के "जीव कि ईस समान" इस आक्षेप वचन से स्पष्ट है। किन्तु भुशुंडिजी यह सिद्ध करते हैं कि जीव ईश्वर का अंश है उसके ही आधार पर इसकी स्थिति-प्रवृत्ति है। अतएव उसकी उपासना करना ही इसका धर्म है। जैसा—'तज्जलानितिशान्तमुपासीत।' इस श्रुति के आधार पर दो० ६२ में कहा गया। बराबर बनने की चेष्टा करना धृष्टता है, अतएव आपका मत अग्राह्य है।

पुनः जो आपने कैवल्य साधक को शीघ्र मुक्त होना कहा वह भी ठीक नहीं; गीता १२।१–७ देखिये। वहाँ कैवल्य साधक (अव्यक्त-उपासक) को अत्यन्त क्लेश और उसकी सिद्धि अत्यन्त दुःख से कही गई है। साथ ही सगुणोपासक की सुगम और 'अचिरात्' अर्थात् अल्पकाल में ही सिद्धि कही गई है। सगुणोपासक के हरि-रक्षक रहते हैं और कैवल्य को स्वयं सब विघ्नों का सामना करना पड़ता है; यथा—"जनहि मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही॥" (आ० दो० ४१); अतएव आपका मत क्लेशप्रद, दुःख से साध्य एवं सविघ्न होने से अग्राह्य है। इत्यादि बहुत प्रकार के प्रत्युत्तर से उनके मत का खंडन किया।

'मुनि तनु भये क्रोध के चीन्हा।'—भाव यह कि मननशील मुनि थे, पर क्रोध इतना हो आया कि उसे वे भीतर नहीं रख सके, उनके शरीर में क्रोध के चिह्न प्रकट हो गये। नेत्र लाल हो गये, शरीर पर ललाई आ गई, होठ फड़कने लगे, इत्यादि।

सुनु प्रभु बहुत अवज्ञा किये। उपज क्रोध ज्ञानिन्ह के हिये॥१५॥
अति संघरषन जौं कर कोई। अनल प्रगट चंदन ते होई॥१६॥

अर्थ—हे प्रभो! सुनिये, बहुत अनादर करने से ज्ञानी के हृदय में भी क्रोध उत्पन्न हो जाता है॥१५॥ यदि कोई चंदन की लकड़ी को (आपस में) अत्यन्त रगड़े तो उसमे (भी) आग प्रकट हो जाती है॥१६॥

विशेष—(१) ज्ञानी चंदन काष्ठ के समान शीतल होते हैं। पर जैसे चंदन भी काष्ठ है। अतः, उसमें गुप्त रूप में अग्नितत्त्व रहता ही है, वैसे ज्ञानी भी देहधारी हैं। अतः, रज-तम आदि गुणों के सूक्ष्मांश शरीर धारण पर्यंत दबे हुए रहते हैं। उनके विकार काम-क्रोध आदि को वे शमदम आदि गुणों से दबाये रहते हैं। ये अति विषय पाकर प्रकट हो जाते हैं ; यथा—"विषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदय का नर बापुरे॥" (दो० १२१) ; चंदन में अत्यन्त रगड़ से अग्नि प्रकट होती है, वैसे ही ज्ञानी भी सामान्य अवज्ञा पर क्रोध नहीं करते, जब अति हो जाता है, तब वे क्रोध को नहीं रोक सकते।

(२) 'सुनु प्रभु···'—यद्यपि आगे श्रीभुशुंडिजी स्वयं कहेंगे—"नहि कछु रिषि दूषन।···लीन्ही प्रेम परिच्छा मोरी॥" तथापि परिस्थिति के अनुकूल समाधान करना यहाँ ठीक ही है ; यथा—"तात तीनि अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ। मुनि बिज्ञान धाम मन, करहिं निमिष महँ छोभ॥" (आ० दो० ३८)।

दोहा—बारंबार सकोप मुनि, करइ निरूपन ज्ञान।
मैं अपने मन बैठ तब, करउँ बिबिध अनुमान॥
क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान।
मायावस परिछिन्न जड़, जीव कि ईस समान।१११॥

अर्थ—मुनि बार-बार क्रोध सहित ज्ञान का निरूपण करते थे, तब मैं अपने मन में बैठे-बैठे अनेक प्रकार के अनुमान करता था॥ कि बिना द्वैतबुद्धि के क्या क्रोध हो सकता है ? और द्वैत क्या बिना अज्ञान के हो सकता है ? (अतः,) माया के वश, परिमित (अणु-स्वरूप) और जड़ जीव क्या ईश्वर के समान हो सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं॥१११॥

विशेष—(१) 'क्रोध कि द्वैत···'—अर्थात् अज्ञान से द्वैत होता है और द्वैत से क्रोध होता है। ज्ञान के विरुद्ध वृत्ति को अज्ञान कहते हैं। ज्ञान ; यथा—"ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥" (आ० दो० १४) ; अर्थात् सबमें परमात्मा को समान देखने से द्वैत भाव नहीं रहता। सब जीव भगवान् के शरीर हैं। अतः, जीवों के द्वारा सुख-दुःख की प्राप्ति उन-उन कर्मानुसार भगवान् की प्रेरणा से होती है। प्रभु सर्वज्ञ एवं न्यायशील हैं; अतः, सब ठीक ही करते हैं। ऐसा विचार रहने से किसी से भी शत्रु-मित्र आदि भाव नहीं होते। क्योंकि फिर कोई जीव प्रीति-बैर का कर्त्ता नहीं रह जाता।

द्वैत तो नानात्व दृष्टि से होता है ; यथा—"जननि जनक गुरु बंधु सुहृद पति सब प्रकार हितकारी। द्वैत रूप तम कूप परौं नहिं अस कछु जतन बिचारी॥" (वि० ११३) ; अर्थात् जननी आदि इन सब रूपों के द्वारा सब प्रकार से हित करनेवाले आप ही हैं ; ये सब आपके ही शरीर हैं। इस ऐक्य दृष्टि के विरुद्ध द्वैत-रूप अर्थात् उन्हें पृथक्-पृथक् सत्तावान मानने पर उन-उनके ऋणी होने से तमकूप (अज्ञान-मय भवकूप) में पड़ूँगा, इस द्वैत रूप अज्ञान से रक्षा का यत्न विचारिये—यह प्रार्थना है।

तात्पर्य यह कि नानात्व दृष्टि ही अज्ञान है, उसीसे द्वैत होता है और द्वैत से क्रोध ; यथा—"जौं निज मन परिहरै बिकारा। तौ कत द्वैत-जनित संसृत दुख संसय सोक अपारा॥ सत्रु मित्र मध्यस्थ तीन ये मन कीन्हे बरियाईं। त्यागब गहब उपेच्छनीय अहि हाटक तृन की नाईं॥" (वि० १२४)।

(२) 'मायावस परिछिन्न जड़···'—ईश्वर स्वतंत्र है, माया उसके वश है, जीव मायावश है, यथा—"यन्मायावशवर्तिविश्वमखिलं ब्रह्मादि देवासुरा." (बा॰ मं॰ श्लोक ६)। पुन ईश्वर विभु (व्यापक) है, अतएव अपरिछिन्न (अपरिमित) है, और जीव स्वरूपत. अणु होने से परिमित है, इसीसे वद्ध मुक्त होनेवाला है, ईश्वर-विमुख होने से बद्ध होनेवाला और सम्मुख होने से मुक्त होनेवाला है तथा मायावश होकर देहाभिमानी होने पर अपनेको देहमात्र मानते हुए भी परिच्छिन्न होता है। जड़ प्रकृति के परिणाम रूप देह मे तन्मय (मज्ञानिष्ठ) होने से जड़ भी कहा जाता है और ईश्वर नित्य चिद्रूप है। तब परतत्र जीव स्वतत्र ईश्वर के समान कैसे हो सकता है ?

लोमशजी सिद्ध ज्ञानी हैं, फिर भी इन्हें क्रोध आ गया। उसपर विचार करने लगे कि इन्हें भी अज्ञान हुआ, तभी द्वैत बुद्धि हुई और उसी से इन्होंने क्रोध किया। साराश यह कि मायावश परिच्छिन्न और जड़ जीव ईश्वर के समान नहीं हो सकता। जीव का ज्ञान सदा एकरस नहीं रह सकता, संयोगवश खंडित हो सकता है और ईश्वर तो अखंड ज्ञान है, इसका निर्णय पहले हो आया, यथा—"ज्ञान अखंड एक सीतावर। मायावस्य जीव सचराचर॥ जौ सब के रह ज्ञान एक रस। ईश्वर जीवहि भेद कहहु कस॥" (दो॰ ७७)—यह प्रसग देखिये।

जीवों को अज्ञानी से ज्ञानी और ज्ञानी से अज्ञानी बनाना ईश्वर के हाथ है, यथा—"बंध मोच्छ-प्रद सर्ब पर, माया प्रेरक सीव॥" (आ॰ दो॰ १५); "जो चेतन कहँ जड करै, जड़हिं करै चैतन्य। अस समर्थ रघुनायकहि, भजहिं जीव ते धन्य॥" (दो॰ ११९), अर्थात् जीव और ईश्वर मे परतत्र-स्वतत्र भेद है। वह कभी भी ईश्वर के समान नहीं हो सकता।

ईश्वर जो प्रकृति पार (निर्गुण) है, यह स्वाभाविक है और इसके प्रकृति पार (गुणातीत) होने के लिये जो (भक्ति हीन) कैवल्य ज्ञान का साधन है, वह भी हरि-कृपा से ही प्रारम्भ होता है, यथा—"सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौ हरि-कृपा हृदय बस आई॥" (दो॰ ११६) वह भी घुणाक्षर न्याय से सिद्ध होता है, क्योंकि साधक परिच्छिन्न (परिमित) शक्ति शाली है। इससे जीव ईश्वर के समान नहीं है।

कबहुँ कि दुख सब कर हित ताके। तेहि कि दरिद्र परसमनि जाके॥१॥
परद्रोही की होहिं निसंका। कामी पुनि कि रहहि अकलंका॥२॥
बंस कि रह द्विज अनहित कीन्हे। कर्म कि होहिं स्वरूपहि चीन्हे॥३॥
काहू सुमति कि खल सँग जामी। सुभगति पाव कि पर-त्रियगामी॥४॥

अर्थ—सबका हित चाहने से क्या कभी दुःख हो सकता है ? जिसके पास पारसमणि है क्या उसे दारिद्र्य (कगाली) का दुःख हो सकता है ? ॥१॥ क्या दूसरे से द्रोह रखनेवाला शका-रहित हो सकता है ? और क्या कामी कलक-रहित रह सकता है ? ॥२॥ क्या ब्राह्मण का अनभल करने से वश रह सकता है ? क्या अपने स्वरूप के पहचानने पर कर्म हो सकते हैं ? ॥३॥ क्या दुष्ट के सग से किसी मे सुन्दर बुद्धि उत्पन्न हुई है ? क्या पर स्त्री गामी शुभ (कल्याण) गति पा सकता है ? ॥४॥

विशेष—(१) 'कबहुँ कि दुख ···'—सबका हित करना धर्म है, यथा—"परहित सरिस धर्म नहि भाई।" (दो॰ ४०), धर्म से सुख होता है—दो॰ २० देखिये।

'तेहि कि दरिद्र···'; यथा—"हरहु दरिद्रहि पारस पाये।"-(अ० दो० २०१); 'परद्रोही की होहिं निसंका।'—जो दूसरे से वैर करता है, उसे स्वयं भी शत्रु के प्रतिकार का भय रहता है; यथा—"ताहि कि संपति सगुन सुभ, सपनेहुँ मन विश्राम। भूत द्रोहरत···" (लं० दो० ७७)।

(२) 'बंस कि रह···'; यथा—"दहइ कोटि कुल भूसुर रोसू।" (अ० दो० १२५); "जिमि द्विज-द्रोह किये कुल नासा।" (कि० दो० १६). क्योंकि "तप-बल बिप्र सदा बरियारा। तिन्ह के कोप न कोउ रखवारा॥" (बा० दो० १६४)। ब्रह्म-कुल-द्रोही भगवान् को भी नहीं सुहाता; यथा—"मोहि न सुहाइ ब्रह्म-कुल-द्रोही॥" (आ० दो० ३१)।

'कर्म कि होहिं··'—स्व-स्वरूप ज्ञान होने पर कर्म की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसे आत्म-सुख में ही संतोष रहता है; यथा—"यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः। आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥" (गीता ३।१७); यथा—"जहँ तहँ रहे पथिक थकि नाना। जिमि इन्द्रियगन उपजे ज्ञाना॥" (कि० दो० १४); किन्तु ज्ञानी को भी लोक-संग्रह के लिये कर्म करना कहा गया है; यथा—"लोक-संग्रह मे वापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि॥" (गीता ३।२०), "कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥" (गीता ३।२५); अर्थात् ज्ञानी निर्लिप्त भाव से कर्म करता है, तो वह कर्म उसे फल-प्रद नहीं होता, जैसे भूना हुआ अन्न अंकुरित नहीं होता; यथा—"ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः॥" (गीता ४।१९); अतः, 'होहिं' का दूसरा अर्थ 'फल-प्रद होहिं' भी होगा।

'कामी पुनि कि रहइ···'—अर्थात् कामी को कलंक (अपयश) होता ही है। आगे कहा है—"बिनु अघ अजस कि पावइ कोई।" इससे जाना गया कि कामी होना पाप है; यथा—"परद्रोही परदार रत, परधन पर अपवाद। ते नर पाँवर पापमय···" (दो० ३९)।

'काहू सुमति कि···'; यथा—"को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मते चतुराई॥" (अ० दो०२३); "बिनसइ उपजइ ज्ञान जिमि, पाइ कुसंग सुसंग॥" (कि० दो० १५)।

'सुभगति पाव कि···'—ऊपर कामी को कलंक लगना कहकर उसका इहलोक बिगड़ना कहा गया कि उसे लोक में अपयश होता है और यहाँ उसकी शुभगति (सुगति) अर्थात् उसके परलोक का बिगड़ना कहा है, क्योंकि पर-स्त्री गमन से धर्म नाश हो जाता है; यथा—"कुतोऽभिलषिणं स्त्रीणां परेषां धर्मनाशनम्।" (वाल्मी० ३।१।५), अर्थात् धर्म-नाशक पर-स्त्री संसर्ग की तो आपने अभिलाषा ही नहीं की यह श्रीसीताजी ने श्रीरामजी से कहा है। उपर्युक्त 'कामी' और यहाँ का 'पर-तिय-गामी' दोनोंएक ही हैं, पर दो जगहों में दो बातें कही गई हैं—'कामी' के प्रसंग से लोक बिगड़ना और 'परतियगामी' के प्रसंग से परलोक बिगड़ना कहे गये हैं—इससे पुनरुक्ति नहीं है।

'कबहुँ कि दुख···' से 'धर्म कि दया-सरिस हरि-जाना।' तक १८ दृष्टान्तों से यह सिद्ध कर रहे हैं कि जैसे ये सब अमुक-अमुक कारण से ही होते हैं, वैसे ही बिना अज्ञान के द्वैत और द्वैत बिना क्रोध नहीं होता। अतः, क्रोधवश होने से मुनि का ज्ञान खंडित हो गया, तब ये अखंड ज्ञान ईश्वर के समान कैसे हैं? (पुनः इन नाना कारणों से नाना प्रकार के विकारों को प्राप्त होनेवाला जीव स्वाभाविक निर्विकार नित्य एकरस रहनेवाले ब्रह्म के समान कैसे हो सकता है?)

भव कि परहिं परमात्मा बिंदक। सुखी कि होहिं कबहुँ हरि निंदक॥५॥

राज कि रहइ नीति बिनु जाने। अघ कि रहहिं हरिचरित बखाने॥६॥

पावन जस कि पुन्य बिनु होई। बिनु अघ अजस कि पावइ कोई ॥७॥
लाभ कि कछु हरि-भगति समाना। जेहि गावहिं श्रुति संत पुराना ॥८॥
हानि कि जग येहि सम कछु भाई। भजिय न रामहि नर-तनु पाई ॥९॥

अर्थ—क्या परमात्मा को जाननेवाले एवं प्राप्त करनेवाले भव में पड़ते हैं? क्या भगवान् की निंदा करनेवाले कभी सुखी होते हैं? ॥५॥ क्या बिना नीति जाने राज्य रह सकता है? क्या भगवान् के चरित कीर्त्तन से पाप रह सकते हैं? ॥६॥ क्या पुण्य के बिना पवित्र यश होता है? क्या बिना पाप के कोई अपयश पाता है? ॥७॥ क्या हरि-भक्ति के समान दूसरा कोई लाभ है कि जिसे वेद, संत और पुराण गाते हैं? ॥८॥ हे भाई! क्या संसार में इसके समान कोई हानि है कि मनुष्य-शरीर पाकर (भी) श्रीरामजी का भजन न करे? ॥९॥

विशेष—(१) 'भव कि परहिं···'—वे तो मुक्त हो जाते हैं; यथा—"जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होइ जाई।" (अ० दो० १२६); हरि-निंदक सुखी नहीं होते; क्योंकि—"हरि-गुरु-निंदक दादुर होई। जनम सहस्र पाव तनु सोई॥" (दो० १२०), जनमत मरत दुसह दुख होई।" (दो० १०८); 'राज कि रहइ नीति बिनु जाने।'; यथा—"राज नीति बिनु धन बिनु धरमा।···नासहिं बेगि नीति असि सुनी॥" (आ० दो० २०)। 'अघ कि रहहिं···'—हरि-चरित पापों का नाशक है; यथा—"समन पाप संताप सोक के।" (बा० दो० ३१)।

(२) 'पावन जस कि···'—यश अपावन भी होता है, कुकर्म एवं पाप वृत्ति से भी यश होता है जैसे रावण आदि का यश। श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीपरशुरामजी को व्यंग्य से गर्भ के बालकों को मारने पर कहा है; यथा—"लखन कहेउ मुनि सुजस तुम्हारा।···" (बा० दो० २७३)। यह अपावन यश है। इससे कहा है—कि पावन यश पुण्य कर्म से ही होता है।

(३) 'लाभ कि कछु···'; यथा—"लाभ कि रघुपति-भगति अकुंठा।" (लं० दो० २५); अर्थात् यह सर्वोपरि लाभ है। यदि कोई कहे कि हम लाभ बिना ही रहेंगे! उसपर आगे हानि भी दिखाते हैं—'हानि कि जग···'—नर-तन-हरि भजन के लिये ही मिलता है; यथा—"मनुज देह सुर साधु सराहत सो सनेह सिय पीके।" (वि० १७५); यदि इस तन से भक्ति नहीं की तो भगवान् की निर्हेतु कृपा से प्राप्त यह अमूल्य पदार्थ व्यर्थ गया। इन्द्रियाँ भक्ति में न लगेंगी, तो विषय में तो रत रहेंगी ही, उसपर कहा है—"नर-तनु पाइ बिषय···ताहि कबहुँ भल···" (दो० ४३-४४) देखिये।

अघ कि पिसुनता सम कछु आना। धर्म कि दया-सरिस हरिजाना ॥१०॥
येहि बिधि अमिति जुगुति मन गुनऊँ। मुनि उपदेस न सादर सुनऊँ ॥११॥

अर्थ—चुगली के समान क्या कोई और पाप है? हे हरि-वाहन! दया के समान क्या कोई और धर्म है? ॥१०॥ इस प्रकार मैं अगणित युक्तियाँ मन में विचारता रहा और मुनि का उपदेश आदर-पूर्वक नहीं सुनता था (अर्थात् वे बकते जाते थे और मैं उसपर कान न देता और न उधर दृष्टि ही रखता था) ॥११॥

विशेष—(१) 'पिसुनता' का अर्थ चुगली है और यह निंदा का भी उपलक्षक है। अतः, "पर-निंदा सम अघ न गिरीसा।" (दो० १२०) से विरोध नहीं।

(२) 'येहि विधि अमित···'—'क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु···' की पुष्टि में जैसी ये १८ युक्तियाँ कही गईं, वैसी अगणित युक्तियों को उस समय मैं विचारता रहा। थोड़ी-सी युक्तियाँ संकेत के लिये कह दीं, इसी प्रकार की अगणित युक्तियाँ वहाँ मन में आई थीं।

तात्पर्य यह कि जैसे ये सब कार्य बिना कारण के नहीं होते, वैसे बिना अज्ञान के द्वैत और द्वैत बुद्धि बिना क्रोध नहीं हो सकता। यहाँ की १८ युक्तियों पर कहा जाता है कि मानों ये १८ पुराणों के सार सिद्धान्त हैं।

पुनि पुनि सगुन पच्छ मैं रोपा। तब मुनि बोलेउ बचन सकोपा ॥१२॥
मूढ़ परम सिख देउँ न मानसि। उत्तर प्रतिउत्तर बहु आनसि ॥१३॥
सत्य बचन बिस्वास न करही। बायस इव सब ही ते डरही ॥१४॥

अर्थ—मैंने बारबार सगुणोपासना का ही पक्ष आरोपण (स्थापित) किया, तब मुनि कुपित होकर कोपयुक्त वचन बोले ॥१२॥ अरे मूढ़! मैं तुझे परम (सर्वोत्तम) शिक्षा देता हूँ, तू उसे नहीं मानता और बहुत से उत्तर और प्रत्युत्तर देता है ॥१३॥ तू सत्य वचन पर विश्वास नहीं करता, कौए की तरह सभी से डरता है ॥१४॥

विशेष—(१) पहले जब 'उत्तर प्रति उत्तर' किया था, तब तो मुनि के तन पर क्रोध के चिह्न ही देख पड़े थे। पुनः फिर-फिर सगुण पक्ष के आरोपण करने से वे कोपयुक्त हो गये। इससे सिद्ध हुआ कि वे अपने पक्ष में परास्त हो गये, उत्तर न बनने पर क्रोध हुआ और फिर क्रोध से कठोर वचन बोले, (जो आगे कहा है); यथा—"क्रोध के परुष वचन बल" (अ॰ दो॰ ३८); इस तरह उत्तरोत्तर क्रोध की वृद्धि हुई। मुनि के मन, तन, वचन--तीनों में क्रोध की प्रवृत्ति हुई—"उपज क्रोध ज्ञानिहुँ के हिये।"—मन, "मुनि तन भये क्रोध के चीन्हा।"--तन और "बोले बचन सकोपा।" यह वचन है।

(२) 'परम सिख'—अर्थात् निर्गुण मत ही परम शिक्षा है, इसीसे परम हित होता है और यही सत्य वचन है, यह आगे कहते हैं। इससे सूचित करते हैं कि सगुण मत न परम शिक्षा है और न सत्य वचन ही। यह मुनि का चरम प्रयास है। 'न मानसि' अर्थात् परम शिक्षा का अनादर करता है, उससे अपना अनहित मानता है। 'आनसि'—युक्ति ही नहीं; किन्तु अन्य शास्त्रों के प्रमाण भी ला-लाकर (उत्तर में) देता है।

(३) 'बायस इव···'; यथा—"काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥" (अ॰ दो॰ ३०१), अर्थात् हमसे डरता है कि बहकाकर हमारा अमूल्य जीवन ठग लेंगे। छल मय वचनों से मुझे ठग न लें।

सठ स्वपच्छ तव हृदय बिसाला। सपदि होहि पच्छी चंडाला ॥१५॥
लीन्ह स्राप मैं सीस चढ़ाई। नहि कछु भय न दीनता आई ॥१६॥

अर्थ—अरे शठ! तेरे हृदय में अपना बड़ा भारी पक्ष है, तू शीघ्र चांडाल पक्षी हो जा ॥१५॥ मैंने शाप को शिर पर चढ़ा लिया; अर्थात् शिर नवाकर स्वीकृति दिखाई, उससे न तो मुझे कुछ भय हुआ और न दीनता ही आई ॥१६॥

विशेष—(१) 'मठ स्वपच्छ तव हृदय बिसाला'—विशाल हठ; यथा—"तब मैं निर्गुन मत करि दूरी। सगुन निरूपउँ करि हठ भूरी॥"; "उत्तर प्रति उत्तर मैं कीन्हा।"; "पुनि पुनि सगुन पच्छ मैं रोपा।"; "भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहउँ निर्गुन उपदेसा॥" इत्यादि। हृदय में अपना पक्ष भरा है, इससे पक्षी होने का शाप दिया। पक्षियों में भी चांडाल पक्षी अर्थात् कौआ होने का शाप दिया। "काकः पक्षिषु चांडालः" ऐसा चाणक्य नीति में कहा गया है। कौआ होने को कहा, क्योंकि—'वायस इव सब ही ते डरहीं।" यह पूर्व कह चुके हैं।

(२) 'लीन्ह स्राप मैं···'—जैसे देवताओं का पुष्प आदि प्रसाद शिरोधार्य किया जाता है, वैसे शाप को मैंने सहर्ष मान लिया। सर्व-उर प्रेरक प्रभु श्रीरामजी का प्रसाद जाना, आगे स्पष्ट कहा गया है—"उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन॥ कृपा सिंधु ··" इसीसे भय और दीनता भी नहीं आई कि जिससे डर कर मुनि से दीन होकर विनती करता। जैसे कि श्रीशिवजी के शाप पर कहा गया है—"कंपित मोहि बिलोकि गुरु···" फिर दीन होकर मेरी ओर से गुरुजी ने स्तुति की थी। एवं श्रीनारदजी से हरगणों ने डरकर दीन होकर विनती की थी।

भय और दीनता इससे भी नहीं आई कि श्रीशिवजी का वर है ही कि किसी जन्म में ज्ञान नहीं मिटेगा, तो क्या चिंता है? भजन तो उस देह से भी करूँगा। प्रभु की इच्छा में संतुष्ट रहना अपना कर्त्तव्य है।

इष्ट के बल पर किसीसे न डरना भी संत लक्षण है; यथा—"बैर न बिग्रह आस न त्रासा।" (दो० ४५); "सुमिरेहु मोहि डरपेहु जनि काहू॥" (बं० दो० ११०), "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।" (तैत्त० २।९); अर्थात् जो ब्रह्म के आनंद को जानता है, उसको किसी से भय नहीं होता।

दोहा—तुरत भयउँ मैं काग तब, पुनि मुनि पद सिर नाइ।
सुमरि राम रघुबंस-मनि, हरषित चलेउँ उड़ाइ॥
उमा जे राम-चरन-रत, बिगत-काम-मद-क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं बिरोध॥११२॥

अर्थ—तब (शाप देते ही) तुरत मैं कौआ हो गया, फिर मुनि के चरणों में शिर नवाकर और रघुकुल श्रेष्ठ श्रीरामजी का स्मरण कर मैं हर्ष पूर्वक उड़ चला॥ हे उमा! जो श्रीरामजी के चरणानुरक्त हैं और काम-मद-क्रोध रहित हैं, वे जगत् को अपने प्रभु मय देखते हैं, तब वैर किससे करें?॥११२॥

विशेष—(१) 'तुरत भयउँ मैं काग' क्योंकि शाप था—'सपदि होहि पक्षी चंडाला' वही शरीर काक शरीर हो गया, शरीर छोड़कर गर्भवास से जन्म लेना न पड़ा, क्योंकि 'सपदि' कहा गया था। 'पुनि' अर्थात् फिर एवं दुवारा, फिर अर्थात् कौआ होने पर, दुवारा यह कि पहले आये थे तब भी प्रणाम किया था; यथा—"देखि चरन सिर नायउँ"; अत., यह उपक्रम का प्रणाम और यहाँ 'पुनि मुनि पद सिर नाइ।' यह उपसंहार का प्रणाम है। 'राम रघुबंस मनि'—अर्थात् सगुण श्रीरामजी, 'राम' मात्र से कहीं यह न समझा जाय कि मुनि के डर से निर्गुण राम को मान लिया, उपासना बदल दी; इसलिये साथ ही सगुण बोधक 'रघुबंस मनि' भी कहा है। 'हरषित चलेउँ उड़ाइ' यह 'भय न दीनता आई' का चरितार्थ है। पुनः हर्ष बने रहने का

कारण आगे दोहे में श्रीशिवजी कहते हैं। 'मुनि पद सिर नाइ'—क्योंकि श्रीशिवजी ने आज्ञा दी थी—"जानेसु संत अनंत समाना।" (दो० १०८)।

(२) 'उमा जे रामचरन रत···'—यहाँ उमा को आश्चर्य हुआ कि निरपराध शाप पर भी भुशुंडिजी को भय एवं क्रोध क्यों न हुआ, उसपर श्रीशिवजी कहते हैं—'जे राम चरन रत···', 'जे' कहकर पार्वतीजी को चित्रकेतु के शाप का भी स्मरण कराते हैं जो भाग० ६।१७ में कहा गया है कि रुद्राणी ने उन्हें शाप दिया और उन्होंने स्वीकार कर लिया और वे प्रसन्न बने रहे; यहाँ की घटना भी ऐसी ही थी। अतः, उसे भी लेकर राम-भक्तों की वृत्ति कहते हैं कि वे जगत् को अपने प्रभुमय देखते हैं; यथा—"जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राम मय जानि। बंदउँ सबके पद कमल," सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥" (बा० दो० ७); सातवँ सम मोहि मय जग देखा।" (आ० दो० ३५); "मयि सर्वमिदं प्रोक्तं सूत्रे मणिगणा इव।" (गीता ७।७); "वासुदेवः सर्वमिति" (गीता ७।१९)। तथा—"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥" (ईश० ६); अर्थात् जो सब प्राणियों को भगवान् में ही देखता है और भगवान् को सब प्राणियों में देखता है, तब वह किसी प्राणी की निन्दा एवं घृणा नहीं करता, इत्यादि ऐसे ही कि० दो० ३ भी देखिये।

सुनु खगेस नहिं कछु रिषि दूषन। उर-प्रेरक रघुबंस-बिभूषन॥१॥
कृपासिंधु मुनि मति करि भोरी। लीन्ही प्रेम परिच्छा मोरी॥२॥

अर्थ—हे गरुड़जी! सुनो, (शाप देने में) लोमश ऋषि का कुछ भी दोष नहीं, रघुकुल भूषण श्रीरामजी सबके उर प्रेरक हैं॥१॥ कृपासागर (श्रीरामजी) ने मुनि की बुद्धि भोली करके मेरे प्रेम की परीक्षा ली॥२॥

विशेष—(१) 'सुनु' कहकर अब भुशुंडिजी का संवाद कहते हैं, ऊपर दोहे में श्रीशिवजी का कथन था। उसमें श्रीशिवजी ने उमा को समाधान किया था। यहाँ उसी का समाधान भुशुंडिजी भी गरुड़जी से करते हैं, गरुड़जी को भी संदेह था कि ज्ञानी मुनि होकर उन्होंने ऐसा कराल शाप क्यों दे दिया और फिर ब्राह्मण ने कुछ विरोध नहीं किया, क्या कारण है? उसपर भुशुंडिजी कहते हैं—'नहिं कछु रिषि दूषन' भाव यह कि ऋषि ने परवश होकर वैसा किया था, प्रेरक प्रभु ने उनकी मति फेरकर वैसा कहलाकर मेरे प्रेम की परीक्षा ली है। मति ठीक होने पर तो उन्होंने ही श्रीरामजी की उत्तम उपासना का उपदेश किया है। अतः, वे शुद्ध रामोपासक थे।

(२) 'कृपासिंधु मुनि मति···'—जब ऋषि निर्दोष हुए तो वह दोष प्रभु पर आता, इसलिये यहाँ कहते हैं कि वे कृपा के समुद्र हैं, इस परीक्षा में भी उनकी बड़ी कृपा है। भक्तों का महत्त्व प्रकट करने के लिये और उससे संसार को उपासना दृढ़ता की शिक्षा देने के लिये परीक्षा लेते हैं और स्वयं उसमें भी दृढ़ता देकर निर्वाह करते हैं।

'प्रेम परिच्छा' यह कि निर्गुण मत की प्राप्ति का संयोग पाकर मेरी प्रेम भक्ति में दृढ़ रहता है कि नहीं।
(३) यहाँ तक 'कारन कवन देह यह पाई' का उत्तर समाप्त हुआ।

रामचरितसर पाने के प्रश्न का उत्तर

मन बच क्रम मोहि निज जन जाना । मुनि मति पुनि फेरी भगवाना ॥३॥
रिषि मम महत सीलता देखी । राम-चरन बिस्वास बिसेखी ॥४॥
अति बिसमय पुनि पुनि पछिताई । सादर मुनि मोहि लीन्ह बोलाई ॥५॥

अर्थ—मन, वचन और कर्म से मुझे अपना दास जान लिया, तब भगवान् ने मुनि की बुद्धि फेर दी ॥३॥ ऋषि ने मेरी महती (अत्यन्त) सहनशीलता और श्रीरामजी के चरणों में विशेष विश्वास देख-कर ॥४॥ अत्यन्त विस्मित हो बार-बार पछताकर उन्होंने मुझे आदर पूर्वक बुला लिया ॥५॥

विशेष—(१) 'मन बच क्रम मोहि निज जन जाना ।'—मन ; यथा—"राम भगति जल मम मन मीना ।"; "निर्गुन मत मम हृदय न आवा ।" ; "मैं अपने मन बैठि तब" से "येहि बिधि अमित जुगुति मन गुनऊँ ।" तक । बचन –"उत्तर प्रति उत्तर बहु आनसि"; "तब मैं निर्गुन मत करि दूरी । सगुन निरूपउँ करि हठ भूरी ॥" ; "पुनि पुनि सगुन पच्छ मैं रोपा ।" कर्म—"लीन्ह साप मैं सीस चढ़ाई ।" "तुरत भयउँ मैं काग तब, पुनि मुनि पद सिर नाइ ।" ; "महत सीलता देखी ।"

भाव यह कि जिसके इस तरह के मन, वचन और कर्म हों, वे ही भगवान् के 'निज जन' अर्थात् अनन्य दास हैं । 'पुनि फेरी'—श्रीरामजी ने ही प्रेरणा करके मुनि की वैसी मति कर दी थी, अब फिर पूर्ववत् कर दी । तब न निर्गुण पक्ष रह गया और न वह क्रोध ।

(२) 'महत सीलता'– कहा गया है—"सील कि मिल बिनु बुध सेवकाई ।" (दो० ८९); वह इनमें ही चरितार्थ हुआ । इनके वैदिक ब्राह्मण गुरु बड़े सुशील थे ; यथा—"एक सूल मोहि बिसर न काऊ । गुरु कर कोमल सील सुभाऊ ॥" (दो० १०९); उनकी सेवा इन्होंने कपट से ही की थी, तब भी ये सुशील हो गये ।

इसपर यह भी कहा जाता है कि भुशुंडिजी ने पहले परम सुशील अपने गुरु का अपमान किया था, उसी के फल स्वरूप में लोमशजी के द्वारा यह शाप है और भुशुंडिजी की सुशीलता पर लोमशजी पछता रहे हैं, इसके प्रति ये इनपर बड़ी कृपा करेंगे—यह प्रेरक प्रभु का न्याय है, क्यों न हो—"करम प्रधान बिस्व रचि राखा ।" (अ० दो० २१८) ।

(३) 'बिस्वास बिसेषी'—विश्वास पूर्व से ही था, शाप से चांडाल पक्षी होने पर वह पक्ष नहीं छोड़ा और न दीन हुए । इससे 'बिसेषी' कहा है ।

(४) 'अति बिसमय'—मुनि अपना दोष समझकर डरे कि मुझसे भागवतापराध हुआ, उसका प्रश्न कुछ और था मैं कुछ और कहने लगा, उसपर भी उसे शाप दिया – इसका बार-बार पश्चात्ताप करने लगे । पुनः बड़ा आश्चर्य माना कि मैंने इसकी बुद्धि की थाह नहीं पाई थी, यह तो बड़ा गुणवान् और गंभीर था ।

मम परितोष बिबिध बिधि कीन्हा । हरषित राम-मंत्र तब दीन्हा ॥६॥
बालकरूप राम कर ध्याना । कहेउ मोहि मुनि कृपानिधाना ॥७॥
सुंदर सुखद मोहि अति भावा । सो प्रथमहि मैं तुम्हहिं सुनावा ॥८॥

अर्थ—अनेक प्रकार से मेरा संतोष किया, फिर हर्षित होकर मुझे राम मंत्र दिया ॥६॥ कृपासागर मुनि ने मुझे बालक-रूप श्रीरामजी का ध्यान बतलाया ॥७॥ सुन्दर और सुख देनेवाला वह ध्यान मुझे बहुत ही अच्छा लगा, उस ध्यान को मैंने पहले ही आपसे सुनाया है (अतः, फिर न कहूँगा) ॥८॥

विशेष—(१) 'मम परितोष ···'—मुनि पछताते हुए कहने लगे कि हम बहुत विचारते हैं कि मेरी बुद्धि उस प्रकार कैसे हो गई कि मैं तुम्हें कैवल्य ज्ञानी बनाऊँ ? कुछ विचार में नहीं आता। होन-हो यह जगन्नियंता परमेश्वर की ही प्रेरणा थी। उसकी कृति में संतुष्ट रहना ही जीव-मात्र का कर्त्तव्य है। अब तुम चिन्ता नहीं करो, मैं तुम्हें परम गोप्य, सर्वोपरि सिद्धान्तभूता सगुण ब्रह्म श्रीरघुनाथजी की उपासना बतलाता हूँ। इस काक देह से तुम्हें अत्यंत महत्व प्राप्त होगा। मैं और भी कल्याणपरक वरदान तुम्हें दूँगा, जिनसे यह शाप-प्रसंग तुम्हें कल्याणमय हो जायगा, इत्यादि।

'हरषित राम मंत्र मोहि दीन्हा।'—'हरषित' का भाव यह है कि पूर्व की ग्लानि दूर हो गई, अब शिष्य के कल्याण में हर्षपूर्वक तत्पर हुए, तब श्रीराम मंत्र दिया। श्रीराम-मंत्र से षडक्षर तारक ब्रह्म संज्ञक राम-मंत्र अभिप्रेत है, क्योंकि भगवान् श्रीशिवजी और भगवान् व्यासजी ने इसीको 'परंजाप्य' कहा है। यह श्रीरामतापनीयोपनिषद् और सनत्कुमार-संहिता के श्रीरामस्तवराज में प्रसिद्ध है। अगस्त्य-संहिता आदि में इसकी बहुत महिमा कही गई है। ऋग्वेद संहिता अ०, ८ अ० ६, व, ११ से इस मंत्र का उद्धार है। इसके जापक श्रीब्रह्माजी और श्रीशिवजी भी हैं। यह श्रीरामतापनीयोपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है। श्रीगोस्वामीजी ने भी इसकी दीक्षा के लिये अत्यावश्यकता कही है ; यथा—"बेगि बिलंब न कीजिये लीजै उपदेस। महामंत्र जपिये सोई जो जपत महेस ॥" (वि० १०८)। मंत्र देकर उसका शाब्दिक अर्थ एवं मुख्यार्थ रूप ध्यान और उपासना-विधि बतलाना चाहिये, यह भी—'बालक रूप ···' से कहते हैं—

(२) 'बालक-रूप राम कर ध्याना।'—यह ध्यान पूर्ण माधुर्यमय है। ध्येय-रूप के गुण-वर्णन में मंत्र का शब्दार्थ भी कहा गया और साथ ही आराधन (उपासना) रीति भी बतलाई गई। यह सब ध्यान में आ गया। अन्यथा 'सगुन ब्रह्म अवराधना, मोहि कहहु भगवान।' यह प्रश्न साकांक्ष ही रह जाता। 'सुंदर सुखद ···' का वर्णन पहले हो ही चुका है। 'तब दीन्हा' से इस मंत्र को दुष्प्राप्य भी कहा गया। 'कृपानिधि कहकर 'सगुन ब्रह्म अवराधना' का प्रश्न किया था, प्राप्त होने पर यहाँ भी 'कृपानिधाना' कहा गया है।

मुनि मोहि कछुक काल तहँ राखा। रामचरित-मानस तब भाखा ॥९॥
सादर मोहि यह कथा सुनाई। पुनि बोले मुनि गिरा सुहाई ॥१०॥
रामचरित-सर गुप्त सुहावा। संभु-प्रसाद तात मैं पावा ॥११॥
तोहि निज भगत राम कर जानी। ताते मैं सब कहेउँ बखानी ॥१२॥

अर्थ—मुनि ने मुझे कुछ समय तक वहाँ रक्खा तब श्रीरामचरितमानस का वर्णन किया ॥९॥ आदरपूर्वक यह कथा सुनाकर फिर मुनि मुझसे ये सुन्दर वचन बोले ॥१०॥ हे तात ! सुन्दर गुप्त रामचरित-सर मैंने श्रीशिवजी की कृपा से पाया है ॥११॥ तुम्हें श्रीरामजी का निज (खास, अनन्य) भक्त जाना; उससे मैंने सब बखान कर तुमसे कहा ॥१२॥

विशेष—(१) 'कछुक काल तहँ राखा।'—क्योंकि सम्पूर्ण कथा की प्राप्ति बिना कुछ समय रहे नहीं हो सकती। 'सादर'—वात्सल्यपूर्वक।

(२) 'राम-चरित-सर गुप्त सुहावा ...'—यह श्रीगरुड़जी के इस प्रश्न—"राम चरित-सर सुंदर स्वामी। पायहु कहाँ कहहु नभ-गामी ॥" (दो० ९९) का उत्तर है। यहाँ श्रीरामचरितमानस की परंपरा भी कही। दो० ६३ चौ० ७ भी देखिये।

यहाँ पर यह शंका होती है कि बालकांड दो० २९ में तो कहा है कि—"सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। राम-भगति-अधिकारी चीन्हा ॥" और यहाँ लोमशजी के द्वारा पाना कहते हैं—यह विरोध क्यों? इसका उत्तर बा० दो० २९ चौ० ४ में ही लिखा गया है—वहीं देखिये। तात्पर्य यह है कि श्रीशिवजी ने लोमशजी के द्वारा दिया।

(३) 'गुप्त'—गोप्य रहस्य है, अधिकारी को देना चाहिये यह भाव है, यथा—'अधिकारी चीन्हा' ऊपर प्रमाण कहा गया है। पुन आगे दो० १२७ की आठों अर्द्धालियों में कहा गया है। यहाँ भी आगे—'तोहि निज भगत...' आदि से यही कहा है।

रामभगति जिन्हके उर नाहीं। कबहुँ न तात कहिय तिन्ह पाहीं ॥१३॥
मुनि मोहि बिबिधि भाँति समुझावा। मैं सप्रेम मुनिपद सिरनावा ॥१४॥
निज कर कमल परसि मम सीसा। हरषित आसिष दीन्ह मुनीसा ॥१५॥
रामभगति अबिरल उर तोरे। बसिहि सदा प्रसाद अब मोरे ॥१६॥

अर्थ—हे तात! जिनके हृदय में राम भक्ति नहीं हो उनसे कभी भी (इसे) न कहना ॥१३॥ मुनि ने मुझे अनेक प्रकार से समझाया तब मैंने प्रेमपूर्वक मुनि के चरणों में मस्तक नवाया ॥१४॥ अपने कर-कमल से मेरा शिर स्पर्श कर (शिर पर हाथ फेरकर) हर्षित होकर मुनीश्वर लोमशजी ने मुझे आशीर्वाद दिया ॥१५॥ कि अब मेरी प्रसन्नता (अनुकूलता) से तेरे हृदय में अविरल (सदा एकरस) पूर्ण भक्ति सदा ही बसेगी ॥१६॥

विशेष—'बिबिध भाँति'—एक भाँति के अधिकारी अनधिकारी को कहकर फिर यहाँ 'बिबिध भाँति' पद दे दिया कि इसका विस्तार आगे दो० १२७–१२८ में कहना ही है। पुन विविध भाँति से और मंत्र रहस्य सम्बन्धी शिक्षा भी सूचित की गई है, जैसे कि 'रहस्यत्रय' एवं तत्सम्बन्धी 'अकार-त्रयी' आदि।

(२) 'मैं सप्रेम मुनि-पद सिर नावा।'—यह कृतज्ञता का प्रणाम है, यथा—"मो पहिं होइ न प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहि बारा ॥" (दो० १२४), गुरु प्रणाम में प्रेम एवं पुलक होना ही चाहिये, अन्यथा जीवन व्यर्थ हो जाता है; यथा—"रामहि सुमिरत रनभिरत, देत परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहि न पुलक तन, ते जग जीवत जाय ॥" (दोहावली ४२)।

महाप्रलय में भी भुशुंडिजी के नाश न होने तथा उनके आश्रम में आते ही गरुड़जी का मोह नाश होने के प्रश्नों के उत्तर।

दोहा—सदा रामप्रिय होहु तुम्ह, सुभ-गुन-भवन अमान।
कामरूप इच्छा-मरन, ज्ञान-बिराग-निधान ॥

जेहि आश्रम तुम्ह बसब पुनि, सुमिरत श्रीभगवंत ।
ब्यापिहि तहँ न अविद्या, जोजन एक प्रजंत ॥११३॥

अर्थ—तुम सदा श्रीरामजी को प्रिय और श्रीरामजी तुमको प्रिय होंगे। तुम सदा शुभगुण धाम,
मानरहित और कामरूप (इच्छित रूप धारी) होगे। मृत्यु तुम्हारी इच्छा पर रहेगी (अर्थात् तुम्हारी
इच्छा बिना मृत्यु नहीं होगी) और तुम ज्ञान-वैराग्य-निधान होगे ॥ और जिस आश्रम में तुम श्रीभगवान्
का स्मरण करते हुए निवास करोगे, वहाँ एक योजन पर्यन्त (तक) अविद्या माया नहीं व्याप्त होगी ॥११३॥

विशेष—(१) 'इच्छा मरन' से प्रलय में नाश से रहित किया। 'गुन-भवन' से गुणों के घर
बढ़कर औरों को भी गुण देने की शक्ति दी। पुनः शुभ गुण आदि के अभिमान न हों, इससे 'अमान' भी
कहा। 'जेहि आश्रम' का भाव यह कि जहाँ कहीं भी तुम रहो। 'सदा राम प्रिय'; यथा—"रघुनायक के
तुम्ह प्रिय दासा।" (दो० ११); 'सुमिरत श्रीभगवंत' से ऐश्वर्य-सहित श्रीरामजी का स्मरण करना सदा के
लिये आवश्यक कहा है। 'श्री' विशेषण से श्रीसीताजी के साथ जनाया और यह भी कि जो जो भगवान्
कहे जाते हैं, उन्हें षडैश्वर्यों के उतने अंश इन्हीं से प्राप्त होते हैं; ऐश्वर्यों के मूल कारण श्रीरामजी ही हैं—
बा० दो० १८ चौ० १-२ देखिये।

(२) 'जेहि आश्रम' से यह वरदान आश्रम के लिये है, श्रीभुशुंडिजी के लिये आगे—'काल कर्म...'
से कहते हैं।

शंका—यहाँ कहते हैं कि लोमशजी के वरदान से और उसपर भी ब्रह्म-वाणी का प्रमाण है कि
अविद्या नहीं व्याप्त होगी और पूर्व दो० ८८ चौ० ४ में कहा है—"तब ते मोहि न ब्यापी माया। जब ते
रघुनायक अपनाया॥" ऐसा भेद क्यों ?

समाधान—यहाँ अविद्या माया की निवृत्ति का वरदान है और श्रीरामजी ने तो इनपर विद्या
माया की प्रेरणा की थी, प्रसंगानुसार वहाँ उस विद्यामाया से भी निर्भीकता कही गई है।

(३) 'जोजन एक प्रजंत'—आश्रम के चारों ओर चार-चार कोश तक, क्योंकि ध्यान आदि चार
प्रकार से स्मरण करोगे, यह भी ध्वनि से कहा है।

काल कर्म गुन दोष सुभाऊ। कछु दुख तुम्हहिं न ब्यापिहि काऊ॥१॥
राम-रहस्य ललित बिधि नाना। गुप्त प्रकट इतिहास पुराना॥२॥
बिनु श्रम तुम्ह जानब सब सोऊ। नित नव नेह रामपद होऊ॥३॥
जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरि-प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं॥४॥

अर्थ—काल, कर्म, गुण, दोष और स्वभाव-जनित दुःख कुछ भी तुम्हें कभी न व्याप्त होंगे॥१॥
अनेकों प्रकार के सुंदर राम-रहस्य जो इतिहास और पुराणों में गुप्त वा प्रगट हैं॥२॥ यह सब भी तुम
बिना परिश्रम के जानोगे और तुम्हारा नित्य नया अनुराग श्रीरामजी के चरणों में होगा; अर्थात् अनुराग
उत्तरोत्तर बढ़ता ही जायगा॥३॥ जो इच्छा तुम मन में करोगे हरि कृपा से वह कुछ भी दुर्लभ नहीं होगी
(सबकी पूर्ति होगी)॥४॥

• **विशेष**—(१) 'काल कर्म गुन '—यह गरुडजी के प्रश्न—"तुम्हहिं न ब्यापत काल " (द० ६४), का यहाँ उत्तर है। इसपर दो० २१ भी देखिये। 'निनु श्रम'—किसी से एव स्वय भी पढ़ने की आवश्यकता नहीं होगी। ऊपर 'राम-भगति अविरल उर तोरे। बसिहि' मे तो 'प्रसाद अन मोरे' कहा है। पर यहाँ 'इच्छा-पूर्त्ति' मे 'हरि-प्रसाद' कहा है। क्योंकि इच्छाएँ बहुत तरह की होती हैं, उनकी पूर्त्ति हरि के आश्रय विना असभव है। भस्मासुर के वर की पूर्त्ति भगवान् के द्वारा ही हुई है। यहाँ हरि ने भी अपना प्रसाद असदिग्ध दिखाने के लिये तुरत ही 'एवमस्तु' आकाश-वाणी के द्वारा कहा है, आगे स्पष्ट है।

सुनि मुनि आसिष सुनु मतिधीरा। ब्रह्मगिरा भइ गगन गँभीरा ॥५॥
एवमस्तु तव बच मुनि ज्ञानी। यह मम भगत कर्म मन बानी ॥६॥
सुनि नभगिरा हरष मोहि भयऊ। प्रेममगन सब संसय गयऊ ॥७॥
करि बिनती मुनि-आयसु पाई। पदसरोज पुनि पुनि सिर नाई ॥८॥
हरष सहित येहि आश्रम आयउँ। प्रभु-प्रसाद दुर्लभ वर पायउँ ॥९॥

अर्थ—हे धीर बुद्धि! सुनिये, मुनि की आशिष सुनकर आकाश मे गभीर ब्रह्मवाणी हुई ॥५॥ कि हे ज्ञानी मुनि! तुम्हारा वचन ऐसा ही हो, अर्थात् तुम्हारा आशीर्वाद सत्य हो, यह कर्म, मन और वचन से मेरा भक्त है ॥६॥ आकाशवाणी सुनकर मुझे हर्ष हुआ, मैं प्रेम मे मग्न हो गया, सब सदेह जाता रहा ॥७॥ मुनि की विनती करके और उनकी आज्ञा पा उनके चरण कमलों मे बार बार शिर नवा कर ॥८॥ हर्षपूर्वक मैं इस आश्रम पर आया। प्रभु श्रीरामजी की कृपा से दुर्लभ वर पाया ॥९॥

विशेष—(१) 'मुनि ज्ञानी'—ज्ञानियों के शाप और आशिष दोनों सफल होते हैं, वह हेतु दिखाते हुए 'एवमस्तु' कहा है। 'हरष मोहि भयऊ'—क्योंकि भगवान् ने भी मुझे अपना भक्त स्वीकार किया और मुनि के सभी आशीर्वादों की सफलता में निस्सदेह कर दिया।

(२) 'सब ससय गयऊ'—पहले मन में यह सशय था कि मैंने मुनि की बहुत अवज्ञा की थी और साधु अवज्ञा से सब कल्यान की हानि होती है, यथा—"साधु अवज्ञा तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कै हानी ॥" (सुं० दो० ४१), कहीं मुनि के वचन मेरे सतोष निमित्त ही न हों, पर जब आकाशवाणी ने भी एवमस्तु कहा, तब सशय निवृत्त हुए।

यहाँ तक इन्हें तीन की आशिष से भक्ति हुई—

पहले श्रीशिवजी ने कहा—"पुरी-प्रभाव अनुग्रह मोरे। राम भगति उपजिहि उर तोरे ॥" (दो० १०८), तब से श्रवन-कीर्त्तन आदि की नवधा भक्ति हुई; यथा—"सुनत फिरउँ हरि-गुन अनुवादा।" "रघुपति जस गावत फिरउँ " (दो० १०९-११०) फिर लोमशजी का वरदान हुआ—"राम भगति अविरल उर तोरे। बसिहि सदा प्रसाद अब मोरे ॥" इसीकी पुष्टि ब्रह्म गिरा से भी हुई कि यह मन, वचन, कर्म से मेरा अनन्य भक्त है। जब जब प्रभु के अवतार होते हैं, इसी अविरल प्रेम भक्ति से ये जाकर दर्शन करते हैं, यथा—"बरष पाँच तहँ रहउँ लुभाई।" (दो० ७५), इसी अभिलाषा से मुनि के पास आये थे, यथा—"निज नयनन्हि देखउँ रघुराया।" (दो० ११०), यहाँ उसकी पूर्त्ति हुई। अभी भी भक्ति की पूर्ण रूपता नहीं हुई, इसीसे प्रभु के 'प्राकृत सिसु लीला' में मोह होगा, तब प्रभु श्रीरामजी की कृपा से 'अविरल

विशुद्ध भक्ति' पावेंगे—दो० ८४ देखिये। तब भक्ति की पूर्णता पर पहुँचेंगे। इसी पर कृतार्थ होकर श्रीभुशुडिजी ने कहा है; यथा—"तब ते मोहि न व्यापी माया। जब ते रघुनायक अपनाया॥" (दो० ८८)।

(३) 'करि बिनती' यह कि इसी तरह कृपा बनी रहे, पुन. यह भी कि चरणों के दर्शन हुआ करें बालक जानकर छोह बनाये रक्खें, इत्यादि।

'पुनि पुनि सिर नाई'—यह कृतज्ञता है, क्योंकि अभिलाषा से कहीं अधिक कृपा हुई। 'आयसु पाई'—मुनि ने सादर बुलाया था; यथा—'सादर मुनि मोहिं लीन्ह बोलाई।' अत, उनसे आज्ञा लेकर गये, यह शिष्टाचार है और मुनि को आदर देना है; यथा—"निज-निज गृह गये आयसु पाई।" (दो० ४६)।

(४) 'हरष सहित येहि···'—मैं कृतार्थ हो गया, इससे हर्ष सहित आया। 'प्रभु प्रसाद···'—ऐसा वर कोटि प्रकार के पुरुषार्थों से न प्राप्त होता। परम समर्थ प्रभु के ही प्रसाद से ऐसा हुआ।

"मेरु सिखर वट छाया, मुनि लोमस आसीन। देखि चरन सिर नायउँ ·" (दो० ११०); उपक्रम है और यहाँ—'करि बिनती मुनि ··हरष सहित येहि आश्रम आयउँ।' यह उपसंहार है।

इहाँ बसत मोहि सुनु खग-ईसा। बीते कलप सात अरु बीसा॥१०॥
करउँ सदा रघुपति गुन-गाना। सादर सुनहि बिहंग सुजाना॥११॥
जब जब अवधपुरी रघुबीरा। धरहिं भगत-हित मनुज सरीरा॥१२॥
तब तब जाइ रामपुर रहऊँ। सिसु लीला बिलोकि सुख-लहऊँ॥१३॥
पुनि उर राखि राम-सिसु-रूपा। निज आश्रम आवउँ खगभूपा॥१४॥
कथा सकल मैं तुम्हहि सुनाई। काग-देह जेहि कारन पाई॥१५॥
कहेउँ तात सब प्रश्न तुम्हारी। राम-भगति-महिमा अति भारी॥१६॥

अर्थ—हे श्रीगरुड़जी! सुनिये, यहाँ रहते हुए मुझे सत्ताईस कल्प बीत गये॥१०॥ मैं यहाँ पर सदा श्रीरघुनाथजी के गुण गान करता हूँ और प्रवीण पक्षी लोग आदर सहित सुनते हैं॥११॥ जब-जब रघुवीर श्रीरामजी अवधपुरी में भक्तों के कल्याण के लिये मनुष्य शरीर धारण करते हैं॥१२॥ तब-तब मैं जाकर श्रीरामजी की पुरी में रहता और उनकी शिशु-लीला देखकर आनंद प्राप्त करता हूँ॥१३॥ फिर, हे गरुड़! बाल रूप श्रीरामजी को हृदय में रखकर अपने आश्रम में आता हूँ॥१४॥ जिस कारण मैंने काक शरीर पाया, वह सब कथा आपको सुनाई॥१५॥ हे तात! मैंने आपके सब प्रश्नों के उत्तर कह दिये। श्रीराम-भक्ति की महिमा अत्यन्त भारी है॥१६॥

विशेष—(१) 'बीते कलप सात अरु बीसा।'—आजकल संकल्प पढ़ते हुए लोग 'अष्टाविंशतिमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे' कहते हैं। इससे जान पड़ता है कि इसी कल्प में श्रीगरुड़जी श्रीभुशुडिजी के पास गये थे। प्रलय में अविद्या कृत पदार्थों का ही नाश होता है, श्रीलोमशजी के वरदान से इनके आश्रम के पास एक योजन तक अविद्या नहीं है, इसीसे इनका नाश नहीं होता।

यहाँ मुनि के आशीर्वाद का चरितार्थ दिखाया गया है—

१ "राम भगति अविरल उर तोरे, बसिहि सदा। · सदा राम प्रिय होहु ·"	"करउँ सदा रघुपति गुन गाना।" से "पुनि उर राखि राम ··" तक

विशेष—(१) 'काल कर्म गुन…'—यह गरुड़जी के प्रश्न—"तुम्हहिं न व्यापत काल……" (उ० ९४); का यहाँ उत्तर है। इसपर दो० २१ भी देखिये। 'बिनु श्रम'—किसी से एवं स्वयं भी पढ़ने की आवश्यकता नहीं होगी। ऊपर 'राम-भगति अबिरल उर तोरें। बसिहि' में तो 'प्रसाद अब मोरे' कहा है। पर यहाँ 'इच्छा-पूर्ति' में 'हरि-प्रसाद' कहा है। क्योंकि इच्छाएँ बहुत तरह की होती हैं, उनकी पूर्ति हरि के आश्रय बिना असंभव है। भस्मासुर के वर की पूर्ति भगवान् के द्वारा ही हुई है। यहाँ हरि ने भी अपना प्रसाद असंदिग्ध दिखाने के लिये तुरत ही 'एवमस्तु' आकाश-वाणी के द्वारा कहा है, आगे स्पष्ट है।

सुनि मुनि आसिष सुनु मतिधीरा। ब्रह्मगिरा भइ गगन गँभीरा ॥५॥
एवमस्तु तव बच मुनि ज्ञानी। यह मम भगत कर्म मन बानी ॥६॥
सुनि नभगिरा हरष मोहि भयऊ। प्रेममगन सब संसय गयऊ ॥७॥
करि बिनती मुनि-आयसु पाई। पदसरोज पुनि पुनि सिर नाई ॥८॥
हरष सहित येहि आश्रम आयउँ। प्रभु-प्रसाद दुर्लभ बर पायउँ ॥९॥

अर्थ—हे धीर बुद्धि! सुनिये, मुनि की आशिष सुनकर आकाश में गंभीर ब्रह्मवाणी हुई ॥५॥ कि हे ज्ञानी मुनि! तुम्हारा वचन ऐसा ही हो; अर्थात् तुम्हारा आशीर्वाद सत्य हो, यह कर्म, मन और वचन से मेरा भक्त है ॥६॥ आकाशवाणी सुनकर मुझे हर्ष हुआ, मैं प्रेम में मग्न हो गया, सब संदेह जाता रहा ॥७॥ मुनि की विनती करके और उनकी आज्ञा पा उनके चरण कमलों में बार-बार शिर नवा कर ॥८॥ हर्षपूर्वक मैं इस आश्रम पर आया। प्रभु श्रीरामजी की कृपा से दुर्लभ वर पाया ॥९॥

विशेष—(१) 'मुनि ज्ञानी'—ज्ञानियों के शाप और आशिष दोनों सफल होते हैं, वह हेतु दिखाते हुए 'एवमस्तु' कहा है। 'हरष मोहि भयऊ'—क्योंकि भगवान् ने भी मुझे अपना भक्त स्वीकार किया और मुनि के सभी आशीर्वादों की सफलता में निस्संदेह कर दिया।

(२) 'सब संसय गयऊ'—पहले मन में यह संशय था कि मैंने मुनि की बहुत अवज्ञा की थी और साधु-अवज्ञा से सब कल्यान की हानि होती है; यथा—"साधु-अवज्ञा तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कै हानी ॥" (सुं० दो० ४१); कहीं मुनि के वचन मेरे संतोष निमित्त ही न हों, पर जब आकाशवाणी ने भी एवमस्तु कहा; तब संशय निवृत्त हुए।

यहाँ तक इन्हें तीन की आशिष से भक्ति हुई—

पहले श्रीशिवजी ने कहा—"पुरी-प्रभाव अनुग्रह मोरे। राम-भगति उपजिहि उर तोरे ॥" (दो० १०८); तब से श्रवन-कीर्त्तन आदि की नवधा भक्ति हुई, यथा—"सुनत फिरउँ हरि-गुन अनुवादा।" "रघुपति जस गावत फिरउँ…" (दो० १०९–११०), फिर लोमशजी का वरदान हुआ—"राम-भगति अबिरल उर तोरे। बसिहि सदा प्रसाद अब मोरे॥" इसीकी पुष्टि ब्रह्म-गिरा से भी हुई कि यह मन, वचन, कर्म से मेरा अनन्य भक्त है। जब-जब प्रभु के अवतार होते हैं, इसी अविरल प्रेम भक्ति से ये जाकर दर्शन करते हैं; यथा—"बरप पाँच तहँ रहउँ लुभाई।" (दो० ७४); इसी अभिलाषा से मुनि के पास आये थे; यथा—"निज नयनन्हि देखउँ रघुराया।" (दो० ११०); यहाँ उसकी पूर्ति हुई। अभी भी भक्ति की पूर्ण-रूपता नहीं हुई, इसीसे प्रभु के 'प्राकृत सिसु लीला' में मोह होगा, तब प्रभु श्रीरामजी की कृपा से 'अबिरल

विशुद्ध भक्ति' पावेंगे—दो० ८४ देखिये। तब भक्ति की पूर्णता पर पहुँचेंगे। इसी पर कृतार्थ होकर श्रीभुशुंडिजी ने कहा है; यथा—"तब ते मोहि न ब्यापी माया। जब ते रघुनायक अपनाया॥" (दो० ८८)।

(३) 'करि बिनती' यह कि इसी तरह कृपा बनी रहे, पुनः यह भी कि चरणों के दर्शन हुआ करें बालक जानकर छोह बनाये रक्खें, इत्यादि।

'पुनि पुनि सिर नाई'—यह कृतज्ञता है; क्योंकि अभिलाषा से कहीं अधिक कृपा हुई। 'आयसु पाई'—मुनि ने सादर बुलाया था; यथा—'सादर मुनि मोहिं लीन्ह बोलाई।' अतः, उनसे आज्ञा लेकर गये, यह शिष्टाचार है और मुनि को आदर देना है; यथा—"निज-निज गृह गये आयसु पाई।" (दो० ४६)।

(४) 'हरष सहित येहि…'—मैं कृतार्थ हो गया, इससे हर्ष सहित आया। 'प्रभु प्रसाद…'—ऐसा वर कोटि प्रकार के पुरुषार्थों से न प्राप्त होता। परम समर्थ प्रभु के ही प्रसाद से ऐसा हुआ।

"मेरु सिखर बट छाया, मुनि लोमस आसीन। देखि चरन सिर नायउँ…" (दो० ११०); उपक्रम है और यहाँ—'करि बिनती मुनि…हरष सहित येहि आश्रम आयउँ।" यह उपसंहार है।

इहाँ बसत मोहि सुनु खग-ईसा। बीते कलप सात अरु बीसा॥१०॥
करउँ सदा रघुपति गुन-गाना। सादर सुनहिं बिहंग सुजाना॥११॥
जब जब अवधपुरी रघुबीरा। धरहिं भगत-हित मनुज सरीरा॥१२॥
तब तब जाइ रामपुर रहऊँ। सिसु लीला बिलोकि सुख-लहऊँ॥१३॥
पुनि उर राखि राम-सिसु-रूपा। निज आश्रम आवउँ खगभूपा॥१४॥
कथा सकल मैं तुम्हहि सुनाई। काग-देह जेहि कारन पाई॥१५॥
कहेउँ तात सब प्रस्न तुम्हारी। राम-भगति-महिमा अति भारी॥१६॥

अर्थ—हे श्रीगरुड़जी! सुनिये, यहाँ रहते हुए मुझे सत्ताईस कल्प बीत गये॥१०॥ मैं यहाँ पर सदा श्रीरघुनाथजी के गुण-गान करता हूँ और प्रवीण पक्षी लोग आदर सहित सुनते हैं॥११॥ जब-जब रघुवीर श्रीरामजी अवधपुरी में भक्तों के कल्याण के लिये मनुष्य-शरीर धारण करते हैं॥१२॥ तब-तब मैं जाकर श्रीरामजी की पुरी में रहता और उनकी शिशु-लीला देखकर आनंद प्राप्त करता हूँ॥१३॥ फिर, हे गरुड़! बाल रूप श्रीरामजी को हृदय मे रखकर अपने आश्रम में आता हूँ॥१४॥ जिस कारण मैंने काक शरीर पाया, वह सब कथा आपको सुनाई॥१५॥ हे तात! मैंने आपके सब प्रश्नों के उत्तर कह दिये। श्रीराम-भक्ति की महिमा अत्यन्त भारी है॥१६॥

विशेष—(१) 'बीते कलप सात अरु बीसा।'—आजकल संकल्प पढ़ते हुए लोग 'अष्टाविंशतिमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे' कहते हैं। इससे जान पड़ता है कि इसी कल्प मे श्रीगरुड़जी श्रीभुशुंडिजी के पास गये थे। प्रलय में अविद्या कृत पदार्थों का ही नाश होता है, श्रीलोमशजी के वरदान से इनके आश्रम के पास एक योजन तक अविद्या नहीं है, इसीसे इनका नाश नहीं होता।

यहाँ मुनि के आशीर्वाद का चरितार्थ दिखाया गया है—

१ "राम भगति अबिरल उर तोरे, बसिहि सदा।…सदा राम प्रिय होहु…"	"करउँ सदा रघुपति गुन गाना।" से "पुनि उर राखि राम…" तक

विशेष—(१) 'काल कर्म गुन ···'—यह गरुड़जी के प्रश्न—"तुम्हहिं न ब्यापत काल ···" (दो॰ ९४); का यहाँ उत्तर है। इसपर दो॰ २१ भी देखिये। 'बिनु श्रम'—किसी से एवं स्वयं भी पढ़ने की आवश्यकता नहीं होगी। ऊपर 'राम-भगति अबिरल उर तोरे। बसिहि' में तो 'प्रसाद अब मोरे' कहा है। पर यहाँ 'इच्छा-पूर्त्ति' में 'हरि-प्रसाद' कहा है। क्योंकि इच्छाएँ बहुत तरह की होती हैं, उनकी पूर्त्ति हरि के आश्रय बिना असंभव है। भस्मासुर के वर की पूर्त्ति भगवान् के द्वारा ही हुई है। यहाँ हरि ने भी अपना प्रसाद असंदिग्ध दिखाने के लिये तुरत ही 'एवमस्तु' आकाश-वाणी के द्वारा कहा है, आगे स्पष्ट है।

सुनि मुनि आसिष सुनु मतिधीरा। ब्रह्मगिरा भइ गगन गँभीरा ॥५॥
एवमस्तु तव बच मुनि ज्ञानी। यह मम भगत कर्म मन बानी ॥६॥
सुनि नभगिरा हरष मोहि भयऊ। प्रेममगन सब संसय गयऊ ।७॥
करि बिनती मुनि-आयसु पाई। पदसरोज पुनि पुनि सिर नाई ॥८॥
हरष सहित येहि आश्रम आयउँ। प्रभु-प्रसाद दुर्लभ बर पायउँ ॥९॥

अर्थ—हे धीर बुद्धि ! सुनिये, मुनि की आशिष सुनकर आकाश में गंभीर ब्रह्मवाणी हुई ॥५॥ कि हे ज्ञानी मुनि ! तुम्हारा वचन ऐसा ही हो ; अर्थात् तुम्हारा आशीर्वाद सत्य हो, यह कर्म, मन और वचन से मेरा भक्त है ॥६॥ आकाशवाणी सुनकर मुझे हर्ष हुआ, मैं प्रेम में मग्न हो गया, सब सन्देह जाता रहा ॥७॥ मुनि की विनती करके और उनकी आज्ञा पा उनके चरण कमलों में बार बार शिर नवा कर ॥८॥ हर्षपूर्वक मैं इस आश्रम पर आया। प्रभु श्रीरामजी की कृपा से दुर्लभ वर पाया ॥९॥

विशेष—(१) 'मुनि ज्ञानी'—ज्ञानियों के शाप और आशिष दोनों सफल होते हैं, वह हेतु दिखाते हुए 'एवमस्तु' कहा है। *'हरष मोहि भयऊ'—क्योंकि भगवान् ने भी मुझे अपना भक्त स्वीकार* किया और मुनि के सभी आशीर्वादों की सफलता में निस्सदेह कर दिया।

(२) 'सब संसय गयऊ'—पहले मन में यह संशय था कि मैंने मुनि की बहुत अवज्ञा की थी और साधु-अवज्ञा से सब कल्यान की हानि होती है, यथा—"साधु-अवज्ञा तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कै हानी ॥" (सुं॰ दो॰ ४१), कहीं मुनि के वचन मेरे संतोष निमित्त ही न हों, पर जब आकाशवाणी ने भी एवमस्तु कहा ; सब संशय निवृत्त हुए।

यहाँ तक इन्हें तीन की आशिष से भक्ति हुई—

पहले श्रीशिवजी ने कहा—"पुरी-प्रभाव अनुग्रह मोरे। राम-भगति उपजिहि उर तोरे ॥" (दो॰ १०८), तब से श्रवन-कीर्त्तन आदि की नवधा भक्ति हुई; यथा—"सुनत फिरउँ हरि-गुन अनुबादा।" "रघुपति जस गावत फिरउँ ···" (दो॰ १०३–११०), फिर लोमशजी का वरदान हुआ—"राम-भगति अबिरल उर तोरे। बसिहि सदा प्रसाद अब मोरे ॥" इसीकी पुष्टि ब्रह्म-गिरा से भी हुई कि यह मन, वचन, कर्म से मेरा अनन्य भक्त है। जब-जब प्रभु के अवतार होते हैं, इसी अविरल प्रेम भक्ति से ये जाकर दर्शन करते हैं, यथा—"बरप पाँच तहँ रहउँ लुभाई।" (दो॰ ७४); इसी अभिलाषा से मुनि के पास आये थे ; यथा—"निज नयनन्हि देखउँ रघुराया।" (दो॰ ११०); यहाँ उसकी पूर्त्ति हुई। अभी भी भक्ति की पूर्ण रूपता नहीं हुई, इसीसे प्रभु के 'प्राकृत सिसु लीला' में मोह होगा, तब प्रभु श्रीरामजी की कृपा से 'अविरल

विशुद्ध भक्ति' पावेंगे—दो० ८४ देखिये। तब भक्ति की पूर्णता पर पहुँचेंगे। इसी पर कृतार्थ होकर श्रीभुशुण्डिजी ने कहा है; यथा—"तब ते मोहि न व्यापी माया। जब ते रघुनायक अपनाया॥" (दो० ८८)।

(३) 'करि बिनती' यह कि इसी तरह कृपा बनी रहे, पुन यह भी कि चरणों के दर्शन हुआ करें बालक जानकर छोह बनाये रक्खें, इत्यादि।

'पुनि पुनि सिर नाई'—यह कृतज्ञता है; क्योंकि अभिलाषा से कहीं अधिक कृपा हुई। 'आयसु पाई'—मुनि ने सादर बुलाया था; यथा—'सादर मुनि मोहिं लीन्ह बोलाई।' अत., उनसे आज्ञा लेकर गये, यह शिष्टाचार है और मुनि को आदर देना है, यथा—"निज-निज गृह गये आयसु पाई।" (दो० ७६)।

(४) 'हरप सहित येहि ··'—मैं कृतार्थ हो गया, इससे हर्ष सहित आया। 'प्रभु प्रसाद ··'—ऐसा वर कोटि प्रकार के पुरुषार्थों से न प्राप्त होता। परम समर्थ प्रभु के ही प्रसाद से ऐसा हुआ।

"मेरु सिखर बट छाया, मुनि लोमस आसीन। देखि चरन सिर नायउँ ··" (दो० ११०); उपक्रम है और यहाँ—'करि बिनती मुनि ··हरप सहित येहि आश्रम आयउँ।" यह उपसंहार है।

इहाँ बसत मोहि सुनु खग-ईसा। बीते कलप सात अरु बीसा॥१०॥
करउँ सदा रघुपति गुन-गाना। सादर सुनहिं बिहंग सुजाना॥११॥
जब जब अवधपुरी रघुबीरा। धरहिं भगत-हित मनुज सरीरा॥१२॥
तब तब जाइ रामपुर रहऊँ। सिसु लीला बिलोकि सुख-लहऊँ॥१३॥
पुनि उर राखि राम-सिसु-रूपा। निज आश्रम आवउँ खगभूपा॥१४॥
कथा सकल मैं तुम्हहि सुनाई। काग-देह जेहि कारन पाई॥१५॥
कहेउँ तात सब प्रश्न तुम्हारी। राम-भगति-महिमा अति भारी॥१६॥

अर्थ—हे श्रीगरुडजी! सुनिये, यहाँ रहते हुए मुझे सत्ताईस कल्प बीत गये॥१०॥ मैं यहाँ पर सदा श्रीरघुनाथजी के गुण-गान करता हूँ और प्रवीण पक्षी लोग आदर सहित सुनते हैं॥११॥ जब-जब रघुवीर श्रीरामजी अवधपुरी में भक्तों के कल्याण के लिये मनुष्य शरीर धारण करते हैं॥१२॥ तब-तब मैं जाकर श्रीरामजी की पुरी में रहता और उनकी शिशु-लीला देखकर आनंद प्राप्त करता हूँ॥१३॥ फिर, हे गरुड़! बाल रूप श्रीरामजी को हृदय में रखकर अपने आश्रम में आता हूँ॥१४॥ जिस कारण मैंने काक शरीर पाया, वह सब कथा आपको सुनाई॥१५॥ हे तात! मैंने आपके सब प्रश्नों के उत्तर कह दिये। श्रीराम भक्ति की महिमा अत्यन्त भारी है॥१६॥

विशेष—(१) 'बीते कलप सात अरु बीसा।'—आजकल संकल्प पढ़ते हुए लोग 'अष्टाविंशतिमें कलियुगे कलिप्रथमचरणे' कहते हैं। इससे जान पड़ता है कि इसी कल्प में श्रीगरुड़जी श्रीभुशुण्डिजी के पास गये थे। प्रलय में अविद्या कृत पदार्थों का ही नाश होता है, श्रीलोमशजी के वरदान से इनके आश्रम के पास एक योजन तक अविद्या नहीं है, इसीसे इनका नाश नहीं होता।

यहाँ मुनि के आशीर्वाद का चरितार्थ दिखाया गया है—

१ "राम भगति अविरल उर तोरे, बसिहि सदा। 'सदा राम प्रिय होइ ··"	"करउँ सदा रघुपति गुन गाना।" से "पुनि उर राखि राम ··" तक

२ "जेहि आश्रम तुम्ह बसब" से "कछु दुख तुम्हहि न व्यापिहि काऊ।" तक	"इहाँ बसत मोहि सुनु खग ईसा। बीते कलप सात अरु बीसा॥"
३ "जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं॥"	"निज प्रभु दरसन पायउँ" "प्रभु प्रसाद दुर्लभ वर पायउँ।"
४ "सुमिरत श्री भगवंत"	"करउँ सदा रघुपति गुन गाना।"

(२) 'पुनि उर राखि···'- पाँच वर्ष तो लगातार रहता हूँ, फिर शिशु-चरित के पश्चात् चला आता हूँ।

(३) 'काग देह जेहि कारन पाई'—काक देह पाने का कारण मुख्य था, उसी के अंतर्गत शेष प्रश्नों के उत्तर भी आ गये। इसी से साथ ही यह भी कहते हैं—'कहेउँ तात सब प्रस्न तुम्हारी।' किन प्रश्नों के कौन उत्तर हैं, ये उन-उन प्रसंगों पर लिखे जा चुके हैं।

"सब निज कथा कहउँ मैं गाई।" (दो० ९४), उपक्रम है और "कहेउँ तात सब प्रस्न तुम्हारी।" यह उपसंहार है। लगभग २० दोहों में यह प्रसंग भी समाप्त हुआ। साथ ही इसका तात्पर्य भी कहते हैं —"राम भगति महिमा अति भारी।" आगे इसी भक्ति की महिमा कहते हुए कैवल्य ज्ञान की न्यूनता कहते हैं—

भक्ति-महिमा

श्रीगरुड़जी के प्रश्नों से उनकी दृष्टि में ज्ञान की विशेषता पाई जाती है, वे प्रत्येक बार के वर्णन में ज्ञान को प्रथम और भक्ति को पीछे कहते हैं, यथा—"ज्ञान विरति बिज्ञान निवासा। रघुनायक के तुम्ह प्रिय दासा॥"; "ज्ञान प्रभाव कि जोग बल।" इसपर भुशुंडिजी ने स्पष्ट रूप में कहा है—"जोग बिज्ञाना॥ सब कर फल रघुपति पद प्रेमा।" (दो० ९५), पुन. लोमशजी के सवाद से तो स्पष्ट कर के ही दिखाया है, इसी का निष्कर्ष आगे भी कहते हैं। पुन अभी गरुड़जी कहेंगे—"ज्ञानहि भगतिहि अंतर केता।" तब फिर भुशुंडिजी उत्तर में "भगतिहि ज्ञानहि नहिं कछु भेदा।" कहकर भक्ति को आगे कहकर उसकी अधिकता सूचित करेंगे।

दोहा—ताते यह तनु मोहि प्रिय, भयउ राम-पद-नेह।
निज प्रभु दरसन पायउँ, गये सकल संदेह॥
भगति-पच्छ हठ करि रहेउँ, दीन्हि महारिषि साप।
मुनि-दुर्लभ बर पायउँ, देखहु भजन-प्रताप॥११४॥

अर्थ—मुझे यह शरीर इससे प्रिय है कि इससे मेरा श्रीरामजी के चरणों में स्नेह हुआ, मैंने अपने प्रभु के दर्शन पाये और मेरे सब संदेह दूर हो गये॥ मैं हठ करके भक्ति के पक्ष में दृढ़ रहा जिससे महर्षिजी ने मुझे शाप दिया। (पर अंत में) मुनियों को भी जो वर दुर्लभ हैं, वे सब मैंने पाये—यह भजन का प्रताप देखिये॥११४॥

विशेप—'ताते···'—काकभुशुण्डि प्रिय होने के तीन कारण कहते है - १ इससे राम पद में स्नेह हुआ, २ निज-प्रभु-दर्शन पाया, ३ सकल सदेह गया। कहा भी है—"जेहि सरीर रति राम सों, सोइ आदरहिं सुजान।" (दोहावली १४२); 'भगति पच्छ हठ ···'—भक्ति में दृढ़ता का यह फल है कि शाप भी उलटकर आशीर्वाद हो गया। ऐसे महर्षि से हठ एवं वाद-विवाद पर भी हानि के बदले लाभ ही हुआ। भाव यह कि इसमें गिरने की शंका नहीं है; यथा—"न मे भक्तः प्रणश्यति" (गीता ९।३१), "तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयिबद्धसौहृदाः। त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकप-मूर्धसु प्रभो ॥" (भाग॰ १०।२।३३); यह नारदादि ने भगवान् से कहा है कि आपके चरण विमुख ज्ञान की पूर्णावस्था से भी गिर पड़ते हैं, पर आपके भक्त लोगों की वैसी दशा नहीं होती, आपके द्वारा रक्षा पाकर वे निर्भय होते हैं।

जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान-हेतु श्रम करहीं ॥१॥
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहिं पयलागी ॥२॥

अर्थ—जो ऐसी भक्ति को (जिसका प्रताप ऊपर कहा गया) जानकर छोड़ देते हैं और केवल ज्ञान (रुक्ष ज्ञान, कैवल्य ज्ञान) के लिये परिश्रम करते हैं ॥१॥ वे जड़ घर की कामधेनु को त्यागकर दूध के लिये मदार खोजते-फिरते हैं ॥२॥

विशेप—(१) 'केवल ज्ञान हेतु···', यथा—"श्रेयःश्रुतिं भक्ति मुदस्यते विभो क्लिश्यन्ति जे केवलबोधलब्धये। तेपामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुपावघातिनाम् ॥" (भाग॰ १०।१४।४); अर्थात् समस्त कल्याणरूपा आपकी भक्ति को छोड़कर जो केवल ज्ञान के लिये क्लेश करते हैं, उन्हें क्लेश ही हाथ लगता है। जैसे किसी मूर्ख ने एक किसान को देखा कि उसने धान कूटकर चावल लेकर खाया। यह देख वह मजदूरी आदि धंधा छोड़ पड़ी हुई धान की भूसी लाकर कूटने लगा। थक गया और हाथ मे फफोले पड़ गये, इतने मे वायु का बवंडर आया और भूसी उड़ गई। कुछ न रह गया, क्योंकि चावल उसमे था ही नहीं, तब मूर्ख के हाथ मे श्रम-सूचक फफोले ही दिखाने को रह गये, वैसे इस रुक्ष ज्ञानी को यम-नियम आदि के श्रम एवं कष्ट ही कहने सुनने को रहते हैं, हाथ कुछ नहीं लगता।

श्रीगोस्वामीजी ने 'खोजत आक' के दृष्टान्त से और भी विशेषता दिखाई है किसी मूर्ख ने देखा कि कोई दवा के लिये मदार से कुछ दूध ले रहा है। बस, इसने विचारा कि कामदुहा गऊ पालने की झंझट क्यों करूँ ? उस गऊ को निकाल दिया कि जिससे मनमाना दूध प्राप्त होता। चला मदार से दूध लाने। मदार उतने कहाँ कि पर्याप्त दूध मिले, धोखे से उसका दूध आँख में लग गया, वह अंधा भी हो गया। वैसे कैवल्य ज्ञानी को मूर्खता है। इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति स्वाभाविक है, इन्हीं से यदि भगवान् को ही विषय बना ले; अर्थात् उन्हीं को नेत्रों से देखे, कान से उन्हीं का यश सुने, इत्यादि रीति से भक्ति करना घर की कामधेनु है—इसका ही पालन करे। इसीसे ज्ञान, वैराग्य आदि सभी वांछित गुण प्राप्त होते हैं, इसमें विघ्न का भय नहीं है, अंत में साधक भगवान् को प्राप्त होता है। पर इसे न कर यह चला ज्ञान दीपक के साधन द्वारा कैवल्य प्राप्त करने। अंत में माया के धोखे में पड़ गया, ज्ञान दीपक बुझ गया। फिर तो 'बुद्धि विकल भइ विषय बतासा। ··· तेहि विधि दीप को बार बहोरी।' अर्थात् बुद्धि रूपी नेत्र से भी अंधा हो गया—यह आगे ज्ञानदीपक प्रसंग में प्रत्यक्ष है।

यहाँ भक्ति कामधेनु है, ज्ञान आक है और सुख दूध है।

सुनु खगेस हरिभगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई ॥३॥
ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी ॥४॥

अर्थ—हे पक्षिराज ! सुनिये, जो लोग भगवान् की भक्ति को छोड़कर अन्य उपायों से सुख चाहते हैं ॥३॥ वे शठ हैं, वे मूर्ख विना नाव के तैरकर ही जड़ करनी से महा समुद्र को पार करना चाहते हैं ॥४॥

विशेष—भाव यह कि हरि-भक्ति से ही सुख मिल सकता है। भवसागर पार होने पर जो सुख मिलता है, उसी को यहाँ सुख कहा है। वह अन्य उपायों से नहीं मिल सकता। अन्य उपाय यहाँ योग, ज्ञान, वैराग्य आदि हैं जिनसे भक्ति का सम्बन्ध नहीं है। इसीको रूपक से दिखाते हैं कि भव-सागर महा समुद्र है। जल आदि के समुद्र इससे बहुत छोटे हैं, यथा—"नाथ नाम तव सेतु, नर चढि भव सागर तरहिं ॥ यह लघु जलधि तरत कति बारा।" (लं० दो० १), भवसमुद्र विषय वारि से पूर्ण है। योगादि करना तैरना है, महासमुद्र को हाथों से तैर कर पार करना मानवी शक्ति से असम्भव है, पहले तो उतना तैरने का बल पुरुषार्थ ही नहीं होता। कुछ दूर तैरे भी तो ग्राह आदि जल-जन्तु ही निगल जाते हैं, उनसे ही बचना कठिन है। वैसे ही विषय वारि से निर्लिप्त रहकर योगादि साधनों से उनके परिणाम तक निबहना असम्भव है। आगे घुणाक्षर न्याय से यही कहा गया है। यदि कोई साहस करे भी और संसार के विषयों से निर्लिप्त रहकर साधन में लगे, तो इसमें पुत्र, मित्र, स्त्री आदि ग्राह आदि जन्तुओं की तरह निगल जानेवाले चारों ओर से मुँहवाये रहते हैं, अर्थात् अपने अपनेमें स्नेह दिखाकर उसमें ही इसकी आयु निगल जाते हैं। इनसे बचे भी तो अंत तक निबहना कठिन है, इत्यादि।

भक्ति नाव है, भगवान् इसके केवट रहते हैं, इसे सुख पूर्वक पार कर देते हैं, यथा—"ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः। अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसार सागरात्। भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥" (गीता १२।६-७)।

सारांश यह कि भक्ति छोड़कर और साधनों से सुख चाहना मूर्खता है।

सुनि भुसुंडि के बचन भवानी। बोलेउ गरुड़ हरषि मृदु बानी ॥५॥
तव प्रसाद प्रभु मम उर माहीं। संसय सोक मोह भ्रम नाहीं ॥६॥
सुनेउँ पुनीत राम-गुन-ग्रामा। तुम्हरी कृपा लहेउँ बिश्रामा ॥७॥

अर्थ—हे भवानी ! भुशुंडिजी के वचन सुनकर गरुड़जी प्रसन्न होकर कोमल वाणी बोले ॥५॥ हे प्रभो ! आपकी प्रसन्नता से मेरे हृदय में संशय, शोक, मोह और भ्रम नहीं रह गये ॥६॥ मैंने पवित्र श्रीरामजी के गुण समूह सुने और आपकी कृपा से विश्राम पाया (अर्थात् मुझे शांति मिली) ॥७॥

विशेष—(१) 'सुनि भुसुंडि के बचन भवानी।' यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"गरुड़ गिरा सुनि हरषेउ कागा। बोलेउ उमा परम अनुरागा ॥" (दो० ९४) है। इन बीस दोहों में गरुड़जी के चारों प्रश्नों के उत्तर हो गये। 'बोलेउ गरुड़ हरषि मृदु बानी।'—इसी तरह गरुड़जी की वाणी पर पहले काकजी को भी हर्ष हुआ था, यथा—"गरुड़ गिरा सुनि हरषेउ कागा।" (दो० ९४)।

(२) 'संसय सोक मोह भ्रम नाहीं'—पहले ये चारों थे, यथा—"भयउ हृदय मम संसय भारी।",

"मोहि भयउ अति मोह"; "सोइ भ्रम अब हित करि मैं माना।" (दो० ६८); "खेद खिन्न मन तर्क बढ़ाई" (दो० ५८)।

यहाँ तर्क के तीन प्रसंगों मे उत्तरोत्तर अधिक लाभ दिखाया गया है—

प्रथम प्रसंग—गयउ मोर संदेह, सुनेउ सकल रघुपति चरित। भयउ राम पद नेह, तव प्रसाद वायस तिलक।···तव प्रसाद सब संसय गयऊ॥ (दो० ६८)।

द्वितीय प्रसंग—तव प्रसाद मम मोह नसाना। रामरहस्य अनूपम जाना॥
प्रभु तव आश्रम आये, मोर मोह भ्रम भाग॥ (दो० ९४॥)

तृतीय प्रसंग—तव प्रसाद प्रभु मम मन माहीं। संसय सोक मोह भ्रम नाहीं॥
सुनेउँ पुनीत राम-गुन-ग्रामा।

प्रसाद की आवृत्ति तीनों बार में है। पहली बार 'रघुपति चरित' सुनना कहा है, क्योंकि उसमे दो० ६३ चौ० ७ से दो० ६७ चौ० ६ तक सम्पूर्ण चरित कहा गया है। उससे 'संदेह' निवृत्ति कही गई है। दूसरी वार 'राम रहस्य अनूपम' जानना कहा गया है और 'मोह भ्रम' की निवृत्ति कही गई है। वह दो० ६६ चौ० ५ से दो० ८२ तक है, उसमे गुप्त चरित हैं—प्रभु का रूप, उनके विषय में मोह, प्रभु का सहज स्वभाव, उनकी क्रीड़ा, महिमा और भुशुंडिजी के अनुभव आदि हैं। तीसरी बार गरुड़जी के ४ प्रश्नों के उत्तर हैं—दो० ९४ चौ० ५ से दो० ११४ चौ० ४ तक 'पुनीत राम गुन ग्रामा' सुनना कहा गया है, क्योंकि इसमें आदि से अंत तक पवित्र भक्ति ही का महत्त्व प्रतिपादित है। कलि धर्म के वर्णन मे भी उसके 'पुनीत प्रताप' एवं 'बिनु प्रयास निस्तार' से परम पुनीतता ही है।

संशय, मोह, शोक और भ्रम—प्रभु के परब्रह्म होने मे अनिश्चय होना संशय है जो पहले सुना था कि ब्रह्म हैं, किंतु रण बंधन से संदेह हो गया था। बंधन ही निश्चय किया था—यह मोह था। राम परत्व हृदय से चला गया था, उसका शोक था। श्रीरामजी को प्राकृत बालक मान लेना भ्रम था।

"ज्ञानहि भगतिहि अंतर केता"—प्रकरण

(पाँचवाँ प्रश्न और उसका उत्तर)

एक बात प्रभु पूछउँ तोही। कहहु बुझाइ कृपानिधि मोही॥८॥
कहहिं संत मुनि बेद पुराना। नहि कछु दुर्लभ ज्ञान समाना॥९॥
सोइ मुनि तुम्ह सन कहेउ गुसाईं। नहिं आदरेहु भगति की नाईं॥१०॥
ज्ञानहि भगतिहि अंतर केता। सकल कहहु प्रभु कृपानिकेता॥११॥

अर्थ—हे प्रभो! मैं आपसे एक बात पूछता हूँ, हे दयासागर! वह मुझे समझाकर कहिये॥८॥ संत, मुनि, वेद और पुराण कहते हैं कि ज्ञान के समान कुछ भी दुर्लभ नहीं है॥९॥ हे गोस्वामी! वही (ज्ञान) मुनि ने आपसे कहा, पर आपने भक्ति के समान उसका आदर नहीं किया॥१०॥ हे कृपा-निधान! हे प्रभो! ज्ञान और भक्ति में कितना अंतर है? यह सब मुझसे कहिये॥११॥

विशेष—(१) 'एक बात'—पूर्व के चार प्रश्नों के उत्तर तो हो गये, उसी में एक बात की शंका और भी हो आई। वह मेरी दृष्टि मे 'एक ही' अर्थात् भारी है, अतः, इसे पूछता हूँ। उत्तर देने का सामर्थ्य दिखाते हुए 'प्रभु' और कृपा करके कहने के लिये 'कृपानिधि' भी कहा है, क्योंकि बार-बार प्रश्न करने से कहीं अप्रसन्न न हो जायँ।

(२) 'नहि कछु दुर्लभ ज्ञान समाना।'—आगे ऐसा ही भुशुण्डिजी भी कहेंगे—"अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद।" (दो० ११८); तथा—"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।" (गीता ४।३८)।

(३) 'सोइ मुनि तुम्ह सन कहेउ'; यथा—"लागे करन ब्रह्म उपदेसा।" से "बारि बीचि इव गावहि बेदा।" तक। इसे ही निर्गुण मत, ब्रह्म-उपदेश एवं ज्ञान कहा है। 'नहिं आदरेहु'—क्योंकि उसे चित्त लगाकर सुनते भी नहीं थे; यथा—"मुनि उपदेस न सादर सुनेऊँ।" और उसपर उत्तर प्रति उत्तर करके उसे खंडन भी किया है तो क्या आपका मत उपर्युक्त संत, मुनि, वेद और पुराण से भिन्न है ? यह बात मेरी समझ मे नहीं आती।

(४) 'सकल कहहु'—सामान्य रीति से तो एक ही बात का प्रश्न है कि 'ज्ञान और भक्ति में कितना अंतर है'; पर भुशुंडिजी के समाधान से कई प्रकार के अंतर (भेद) प्रकट हुए हैं—एक तो पुंसत्व-स्त्रीत्व का, दूसरा साधन में कठिनता और सुगमता का और तीसरा दीपक और मणि का-सा अंतर कहा गया है, यही 'सकल' पद का आशय है। 'प्रभु कृपानिकेता' का भाव ऊपर चौ० ८ का ही यहाँ भी है, यहाँ भी कई प्रकार के भेदों को पूछा है।

सुनि उरगारि बचन सुख माना। सादर बोलेउ काग सुजाना॥१२॥
भगतिहि ज्ञानहि नहि कछु भेदा। उभय हरहिं भव-संभव खेदा॥१३॥
नाथ मुनीस कहहिं कछु अंतर। सावधान सोउ सुनु बिहंगबर॥१४॥
ज्ञान बिराग जोग बिज्ञाना। ये सब पुरुष सुनहु हरिजाना॥१५॥
पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती। अबला अबल सहज जड़ जाती॥१६॥

अर्थ—गरुड़जी के वचन सुनकर सुजान काक भुशुंडिजी ने सुख माना और वे आदर पूर्वक बोले ।१२। कि भक्ति में और ज्ञान में कुछ भेद नहीं है, दोनों संसार जनित दुःख को हरते हैं (अर्थात् भव खेद हरण सामर्थ्य मे दोनों समान हैं) ॥१३॥ (पर) हे नाथ ! मुनीश्वर लोग कुछ भेद कहते हैं, हे खगराज ! उसको भी सावधान होकर सुनिये ॥१४॥ हे हरिवाहन ! सुनिये, ज्ञान, वैराग्य योग और विज्ञान, ये सब पुरुष वर्ग (पुँल्लिंग) हैं, [यद्यपि ज्ञान आदि नपुंसक हैं, पर भाषा में नपुंसक उभय लिंग (पुंसत्व-स्त्रीत्व) में ही माना जाता है] ॥१५॥ पुरुष का प्रताप सब प्रकार प्रबल होता है और अबला (स्त्री) स्वाभाविक ही निर्बल और जड़ जाति (जड़ स्वभाव) होती है ॥१६॥

विशेष—(१) 'मुनीस कहहिं' का भाव यह कि श्रीगरुड़जी ने संतों-मुनियों आदि का प्रमाण दिया है, यथा—'कहहिं संत मुनि बेद पुराना।...' अतः, उन्हींके प्रमाण से काकजी भेद भी कह रहे हैं कि जिन्हें वे

प्रमाण मानते हैं। मुनीश्वर लोगों ने वेद-शास्त्र के अनुसार निश्चय करके मनन किया है। अतः, उनका कथन ठीक है।

(२) 'सावधान सोउ सुनु'—मन, मति और चित लगाकर सुनो, क्योंकि इसका अभिप्राय बड़ा गूढ़ है।

पहले तो भक्ति को घर की कामधेनु और ज्ञान को मदार के समान कहा था, यहाँ अभेद कहते हैं, यह क्यों? इसपर कहा है कि भव-खेद-हरण मात्र में तुल्यता है जो भेद हैं उन्हें भी सावधान होकर सुनो।

(३) 'ज्ञान बिराग जोग बिज्ञाना। ···'—भाव यह कि इनका करनेवाला अपने पुरुषार्थ का बल रखता है, पुरुषार्थ-निष्ठ होने से पुरुष है; यथा—"यो यच्छ्रद्धः स एव सः।" (गीता १७।३)।

(४) 'अबला अबल···'—यह स्वभाव से ही अबल रहती है, पुरुष के अधीन रहती है, सामने होते डरती है, इससे अबला है। पर स्वभाव से जड़ होती है, डाँट-फटकार सहकर भी अपना हठ रखती है, हानि-लाभ का विचार नहीं करती, इसीसे पुरुष इससे हार मान लेता है।

दोहा—पुरुष त्याग सक नारिहि, जो बिरक्त मतिधीर।
न तु कामी बिषयाबस, बिमुख जो पद रघुबीर॥
सो०—सोउ मुनि ज्ञान-निधान, मृग-नयनी बिधुमुख निरखि।
बिबस होइ हरिजान, नारि बिष्णु माया प्रगट॥११५॥

अर्थ—जो पुरुष वैराग्यवान् और धीरबुद्धि हो वह स्त्री को त्याग सकता है। कामी जो विषयों के वश है और रघुवीर-पद-विमुख है वह नहीं॥ पर हे हरिवाहन! (जो विरक्त मतिधीर है) वह ज्ञान-निधान मुनि भी मृगनयनी के चन्द्रसमान मुख को देखकर उसके विशेष वश हो जाता है, क्योंकि विष्णु भगवान् की माया प्रकट स्त्री स्वरूप है॥११५॥

विशेष—(१) 'न तु' शब्द के तरह-तरह के अर्थ किये जाते हैं। पर इसमें 'तु' पादपूर्त्ति के लिये है; यथा—"तु हि च स्म ह वै—पाद पूरणे।" (रूप माला-अव्ययार्थ भाग); अतः, न' मात्र का अर्थ लेना चाहिये—'नहीं'।

अन्यत्र 'नत' का अर्थ 'नहीं तो' लिया गया है, वह ठीक है, पर यहाँ तो 'न तु' है। 'बिषया' पद का अर्थ भी 'विषय' मात्र है, इसे इस तरह भी प्रयोग करने की ग्रन्थकार की रीति है; यथा—"बिषया बन पाँवर भूलि परे।" (दो० १३); "बिषया हरि लीन्हि न रहि बिरती।" (दो० १००)।

(२) 'बिरक्त' के विरुद्ध में 'कामी' और 'मतिधीर' के विरुद्ध में 'बिषयाबस' (विषयवश) कहा गया है। कामी और विषयवश (अधीरमति) भी यदि रघुवीर की शरण हो, तो उसे भी माया नहीं व्याप्त होती; यथा—"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरंति ते।" (गीता ७।१४)—यह भाव भी गर्भित है।

(३) 'नारि बिष्णु माया प्रगट'—इससे जाना जाता है कि स्त्री के द्वारा इन्द्र आदि भी जीते

गये हैं ; यथा—"(याभिः) शक्रादयोऽपि विजितास्त्वबला. कथं ताः" (भर्तृहरि) ; अर्थात् जिन्होंने इन्द्र आदि को जीत लिया, वे अबला कैसी ? भाव यह कि वे तो परम प्रबला हैं। सामान्य देव की माया इन्द्र आदि को नहीं जीत सकती 'नारि विष्णु' कहा गया है 'प्रगट' का भाव यह कि प्रकट स्त्रियों में यह बात है, अप्रकट जो ऋद्धि-सिद्धि आदि हैं, उनका तो कहना ही क्या ?

> इहाँ न पच्छपात कछु राखउँ। बेद-पुरान संत मत भाखउँ ॥१॥
> मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा ॥२॥
> माया भगति सुनहु तुम दोऊ। नारि-बर्ग जानइ सब कोऊ ॥३॥
> पुनि रघुबीरहि भगति पियारी। माया खलु नर्तकी बिचारी ॥४॥

अर्थ—मैं यहाँ कुछ पक्षपात रखकर नहीं कहता हूँ, किन्तु वेद-पुराणों और संतों का जो सिद्धान्त मत है, यह कहता हूँ ॥१॥ हे पन्नगारि ! यह अनुपम (अनोखी) रीति है कि स्त्री के रूप पर स्त्री नहीं मोहित होती ॥२॥ और आप सुनें कि माया और भक्ति ये दोनों ही स्त्री वर्ग (अर्थात् स्त्रीलिंग) हैं, यह सब कोई जानते हैं ॥३॥ फिर (उसपर भी) रघुवीर श्रीरामजी को भक्ति प्यारी है और माया विचारी (तो) निश्चय ही नाचनेवाली नटिनी है ॥४॥

विशेष—(१) 'इहाँ न पच्छपात कछु राखउँ।'—प्राय लोग अपने अभीष्ट मत का पक्ष करते हैं, पर मैं यहाँ पक्षपात रखकर नहीं कहता हूँ, किन्तु सत्य सिद्धान्त कह रहा हूँ। भाव यह कि वाद-विवाद में अपना पक्ष सिद्धि के लिये पक्षपात करना भी नीति है, जैसे कि मैंने श्रीलोमशजी के निर्गुण पक्ष लेने पर उनके प्रति शास्त्रार्थ में उनका मत खंडन करके अपना मत सिद्ध किया है। पर जहाँ कोई जिज्ञासु निर्णय चाहता हो वहाँ वही कहना चाहिये, जो सत्य हो, भाव यह कि यहाँ आप यथार्थ निर्णय चाहते हैं, इससे मैं सत्य ही कहता हूँ।

(२) 'मोह न नारि नारि के रूपा।···'—'मोह' का अर्थ यहाँ कामातुर होने का है कि कैसी भी सुंदर स्त्री हो, परन्तु उसे देखने पर दूसरी स्त्री के हृदय में कामोद्दीपन नहीं होता। भक्ति स्वयं नारि-वर्ग होने से स्त्री है, वह माया रूपा स्त्री की छटा पर मोहित नहीं होती। जैसे पुरुष स्त्री को देखकर मोहित (कामासक्त) हो जाता है। *वैसे ही पुरुषवर्गवाले ज्ञान आदि माया स्त्री को देखकर मोहित हो जाते हैं।*

जैसे स्त्री स्त्री के साथ रहकर भी उसपर नहीं मोहित होती वैसे भक्तिवाले माया के साथ रहकर भी उसपर नहीं मोहित होते। इसपर "जिमि हरिजन हिय उपज न कामा।" (कि॰ दो॰ १४), तथा "करहिं सकल सुर दुर्लभ भोगा।" (दो॰ १४) प्रसंग भी देखिये। परन्तु पुरुष स्त्री के साथ रहकर मोह जाते हैं। इसी से ज्ञानी को सदा माया त्याग की शिक्षा दी गई है।

तात्पर्य यह कि भक्ति इन्द्रियों से की जाती है, इन्द्रियाँ भगवान् का अनुभव करती हुई प्राकृत विषयों की अपेक्षा कहीं अधिक सुख पाती हैं, तो वे मायिक विषयों की ओर क्यों ताकेंगी ? भक्तों का विषय अपनी कामना से नहीं होता, भगवान् के लिये ही उनकी सब कामनाएँ होती हैं, यथा—"कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया।" (भाग॰ ९।४।२०) यह अम्बरीषजी के विषय में कहा गया है। गीता ।०७ में भी यही भाव है। तथा—"राम-चरन पंकज प्रिय जिन्हहीं। विषय-भोग बस करहिं कि तिन्हहीं ॥" (अ॰ दो॰ ८३)।

पर ज्ञान आदि साधनों में इन्द्रियों की सहज वृत्तियों को रोकना होता है फिर उन्हें दूसरा कोई वैसा आधार नहीं रहता; यथा—"साधन कठिन न मन कहँ टेका।" (दो० ४४); इससे वे विषयों पर बलात् दौड़ती हैं।

(३) 'पुनि रघुवीरहि भगति पियारी।…'—कहीं-कहीं स्त्री भी और-और स्त्रियों को ठग लेती है, उसपर कहते हैं कि जो स्त्री अपने समर्थ पति से त्यागी हुई होती है, उस (दोषवती) पर ही औरों का प्रभाव पड़ता है। भक्ति अनन्या होने से पतिव्रता है, अतएव प्यारी है, पति-रघुवीर उसके रक्षक हैं। भक्ति पटरानी है, उनकी बगल में बैठनेवाली है। माया नटिनी दासी है; यथा—"सोइ प्रभु भ्रूबिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥" (दो० ७१); नृत्य आदि के कारण राजा उसका कुछ आदर भले ही कर दे, पर इतना सामर्थ्य उसमें कब हो सकता है कि वह पटरानी पर आँख उठावे ? 'बिचारी'—भक्ति के सामने उसका कुछ चारा (वश) नहीं चलता, दासी ही तो ठहरी !

भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥५॥
राम-भगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी॥६॥
तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥७॥
अस बिचारि जे मुनि बिज्ञानी। जाचहिं भगति सकल सुखखानी॥८॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी भक्ति के अनुकूल (उसपर प्रसन्न) रहते हैं, इसी से माया उससे अत्यन्त डरती है॥५॥ उपमा-रहित और उपाधि-रहित श्रीराम-भक्ति जिसके हृदय में सदा निर्विघ्न बसती है॥६॥ उसे देखकर माया सकुचाती है, किंचित् भी अपनी प्रभुता नहीं कर सकती॥७॥ ऐसा विचार कर जो विज्ञानी मुनि हैं वे समस्त सुखों की खानि भक्ति की याचना करते हैं॥८॥

विशेष—(१) 'भगतिहि सानुकूल…'—भक्ति पर प्रभु की अनुकूलता सर्वत्र कही गई है, तथा—"भगति अवसहि बस करी।" (आ० दो० ११); "राम सदा सेवक-रुचि राखी।" (अ० दो० २१८); "जो अपराध भगत कर करई। राम-रोष-पावक सो जरई॥" (अ० दो० २१७)। इसी से माया भक्ति से डरती है। 'अति डरपति'—श्रीरामजी से डरती है, भक्ति से अति डरती है। क्योंकि माया का कार्य भक्ति के प्रतिकूल है; यथा—"देखा जीव नचावइ जाही। देखी भगति जो छोरइ ताही॥" (बा० दो० २०१)। 'डरति' न कहकर 'डरपति' कहकर अक्षरों से भी उसके डर की अधिकता कही गई है।

(२) 'निरुपम निरुपाधी'—भक्ति की उपमा को कोई साधन नहीं पहुँचते, क्योंकि इससे परब्रह्म भी वश हो जाता है। इसमें साक्षात् प्रभु ही रक्षक रहते हैं, इससे इसमें किसी उपाधि (उत्पात, उपद्रव) की शंका नहीं है। किन्तु इसे अवाध्य रूप से (सदा एकरस) हृदय में बसाना चाहिये, इसलिये 'बसइ अबाधी' भी कहा है। निर्गुण भक्ति औपाधिक है, क्योंकि उसमें सेवक-सेव्य भाव न रहने से प्रभु रक्षक नहीं रहते, अपनी ही परिमित शक्ति से विघ्नों का सामना करना पड़ता है। अन्यत्र भी कहा गया है; यथा—"राम नाम जपु तुलसी नित निरुपाधि।" (बरवा ४८)।

कोई-कोई उपाधि का अर्थ धर्म-चिंता लेते हैं कि और धर्मों की चिन्ता को यह भक्ति छुड़ा देनेवाली है; यथा—"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।" (गीता १८।६६); और 'अबाधी' को भक्ति का ही विशेषण मानकर उपद्रव-रहित का भी अर्थ ले लेते हैं।

विशेष—(१) इस एक ही अर्द्धाली में शुद्ध जीव का स्वरूप कहा गया है, क्योंकि सूक्ष्म तत्त्व का वर्णन भी सूक्ष्म ही शब्दों में किया जाता है। बद्ध जीव का लक्षण भी एक ही अर्द्धाली में कहा गया है; यथा—"हरष-बिषाद ज्ञान-अज्ञाना। जीव-धरम अहमिति अभिमाना॥" (बा० दो० ११५)—वहाँ भी देखिये।

(२) 'ईश्वर अंस'—श्रुति, गीता और पुराणों में जीव ईश्वर का अंश कहा गया है, यथा—"अंशो नाना व्यपदेशात्···।" (ब्र० सू० २।३।४३);तथा–"यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते स्वरूपाः। तथाक्षराद्विविधाः सोम्यभावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥" (मुंडक २।१); अर्थात् जैसे प्रज्वलित अग्नि से हजारों चिनगारियाँ कण-रूप में निकलती हैं, इसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से विविध जीव उत्पन्न होते हैं। पुन. ब्रह्म ही में लय हो जाते हैं। "ममैवांशो जीव-लोके जीवभूतः सनातनः।" (गीता १५।७); अर्थात् इस देह में यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है। "चिन्मात्रं श्रीहरेरंशं सूक्ष्ममक्षरमव्ययम्। कृष्णाधीनमिति-प्राहुर्जीवं ज्ञानगुणाश्रयम्॥" (स्कंदपुराण); अर्थात् यह जीव चिन्मात्र है, श्रीहरि का अंश है, सूक्ष्म, अक्षर एवं अव्यय है और इसे कृष्ण भगवान के अधीन कहा जाता है, यह जीव ज्ञान-रूपी गुण का आश्रय है।

चिनगारी की तरह अंश कहने से समझा जाता है कि जैसे चिनगारी अग्नि से निकलने पर नाश हो जाती है, वैसे ही जीव भी/नाशवान होगा, उसपर कहते हैं कि 'जीव अविनासी' है। अविनाशी की व्यवस्था दो ही प्रकार से हो सकती है, या तो विभु हो अथवा अणु। यहाँ विभु (व्यापक) जीव को कह नहीं सकते, क्योंकि ईश्वर का अंश कहा जा चुका है। अतएव अणु ही मानना होगा। पुनः उत्तरार्द्ध में 'अमल' अर्थात् कामादि मलरहित, एकरस रहनेवाला अर्थात् सद्रूप (सत् रूप) कहा जायगा। उससे भी अणु-स्वरूप ही मानना पड़ेगा। अतः, जीवात्मा अणु परिमाण ही है; यथा—"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश॥" (मुं० ३।१।१) अर्थात् जिसमें पंचविध प्राण प्रविष्ट हैं, यह अणु परिमाण आत्मा सावधानी से जानने योग्य है। "बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥ नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः। यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते॥" (श्वे० ५।९-१०); अर्थात् बाल के अग्र भाग के सौ भाग करे, उनके एक भाग के पुनः सौ भाग करने पर जितना वह एक भाग हो, उतना ही परिमाणवाला जीव तत्त्व होता है और वह अनंत एवं असंख्य है। वह स्त्री, पुरुष, नपुंसक नहीं है; किन्तु जिस जिस शरीर को ग्रहण करता है उसी-उसी से मिल जाता है। तथा—"अणुमात्रोऽप्ययं जीवः स्वदेहं व्याप्य तिष्ठति। यथा व्याप्य शरीराणि हरिचन्दन विन्दुवत्॥" (स्कंदपुराण); अर्थात् यह जीव अणु परिमाण होते हुए भी सब शरीर में व्याप्त होता है, जिस प्रकार मलय चन्दन का एक विन्दु शरीर के एक देश में रहते हुए भी अपने धर्मभूत सुगंध के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में सुगंधि को प्रकट करता है, उसी प्रकार जीव अणुपरिमाण होते हुए भी अपने धर्म-भूत ज्ञान के द्वारा सर्वांग देह में व्याप्त होता है।

उपर्युक्त रीति से 'अविनासी' कहकर जीव का अणुत्व कहा। इसपर भी अणु स्वरूप जीवात्मा के प्रकृति-परमाणुओं की तरह जड़ होने की शंका होती, इसलिये 'चेतन' भी कहा है, क्योंकि—"अणुत्वे सति चेतनत्वं जीवस्य लक्षणम्।" अर्थात् अणु होते हुए चेतन होना जीव का लक्षण है। जीवात्मा स्वयं चिद्रूप है और स्वधर्म भूत ज्ञान का आश्रय भी है, इसीसे यह 'चेतन' कहा जाता है, यथा—"अरे वाऽयमात्मा विज्ञान घन एव।" (बृह० २।४।१२); अर्थात् श्रीयाज्ञवल्क्यजी श्रीमैत्रेयीजी से कहते हैं—अरे मैत्रेयि! यह आत्मा विज्ञान घन-स्वरूप है। "एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा

कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः । स परेऽक्षरे आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥" (प्रश्नो० ४।६) ; अर्थात् यह ही देखनेवाला, स्पर्श करनेवाला, सुननेवाला, सूँघनेवाला, चखनेवाला, संकल्प करनेवाला, जाननेवाला, करनेवाला और विज्ञानात्मा—जीव पुरुष है । यह अविनाशी परमात्मा में स्थित है ।

इन दोनों प्रमाणों से जीव की उपर्युक्त ज्ञान स्वरूपता और ज्ञानाश्रय होने की ज्ञान-गुणकता सिद्ध हुई ।

'अमल' अर्थात् कामादि मलरहित, एकरस रहनेवाला अर्थात् (सद्रूप) सत्-रूप है ।

'सहज सुखरासी' अर्थात् स्वाभाविक आनन्द-स्वरूप है ।

उपर्युक्त रीति से 'अमल, चेतन, सहज सुखरासी' से क्रमशः 'सत्-चित्-आनन्द' अर्थात् जीव का सच्चिदानन्द स्पष्ट रूप स्पष्ट हुआ ।

ये ही 'सत्-चित्-आनन्द' तीनों लक्षण छः प्रकार में भी कहे गये हैं ; यथा—"तृतीय पदेन मकारेण ज्ञानानन्दस्वरूपो ज्ञानानन्दगुणकोऽणुपरिमाणो देहादिविलक्षणः स्वयं प्रकाशो नित्यरूपो जीवः प्रतिपाद्यते ।" (अग्र स्वामि कृत-रहस्यत्रय) इन छहों में प्रथम के तीन के आधार पर अगले तीन रहते हैं, जैसे कि—'ज्ञानानन्द स्वरूपता' से 'देहादि विलक्षणता' रहती है, क्योंकि यह बोध रहता है कि मैं तो ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ, यह मलिन, दुःखमय एवं हेय शरीर रूप कैसे हूँ ? इस ज्ञान से इसमें देहाभिमानियों के प्रतिकूल आत्म लक्षण रहते हैं, यह उपर्युक्त 'सहज सुखरासी' के अर्थ में है । तथा—'ज्ञानानन्द गुणक' होने से यह 'स्वयं प्रकाश' रहता है । क्योंकि इसे यह बोध रहता है कि मैं स्वरूप से ही ज्ञान का आश्रय अर्थात् ज्ञान-गुणक हूँ, मेरा ज्ञान-रूप प्रकाश बुद्धि एवं ज्ञानेन्द्रिय आदि की क्रिया से नहीं है । मैं स्वयं प्रकाश रूप हूँ । जीवात्मा अपने धर्म भूत ज्ञान के प्रकाश से शरीर के एक देश में रहते हुए भी समग्र इन्द्रिय-अंतःकरण को चैतन्य किये रहता है ; यथा—" यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमंरविः । क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥" (गीता १३।३३) ; यह उपर्युक्त—'चेतन' के अर्थ में आया । पुनः 'अणु परिमाण' होने से 'नित्यरूप' है, यह ऊपर 'अविनासी' के अर्थ में कहा गया । यह उपर्युक्त 'अमल' के अर्थ की सत्-रूपता में आया । जीव की नित्यरूपता को श्रुति भी कहती है ; यथा—"नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां एको बहूनां यो विदधाति कामान् ।" (श्वे० ६।१।१३) । भगवान् श्रीरामानन्दाचार्य ने जीव के इन लक्षणों को मंत्रार्थ प्रसंग में स्पष्ट लिखा है ; यथा "ज्ञानानन्दस्वरूपोऽवगतिसुखगुणो मेन वेद्योऽणुमानो, देहादेरप्य पूर्वो विविदित विविधस्तत्प्रियस्तत्सहायः । नित्यो जीवस्तृतीयेन तु खलु पदतः प्रोच्यते स्वप्रकाशो, जिज्ञासूनां सदेत्थं शुभनतिसुमते शास्त्रवित्सज्जनानाम् ॥" (श्रीवैष्णवमताब्ज भास्कर ३।६) । अर्थात्—हे शुभकार्यों में सुन्दर बुद्धिवाले सुरसुरानन्द ! (राम मंत्र के बीज के). तृतीयाक्षर मकार से शास्त्रज्ञ सज्जन जिज्ञासुओं के सदा वेद्य (जानने योग्य), ज्ञान आनन्द स्वरूप तथा ज्ञान और सुख आदि गुणोंवाला अणु परिमाणवाला, देह-इन्द्रिय आदि से विलक्षण, बद्ध आदि भेदों से अनेक प्रकारवाला प्रसिद्ध, परमात्मा का प्रिय, मोक्ष आदि में परमात्मा ही जिसका उपाय है, जो नित्य है और स्वप्रकाश है—यह जीव कहा जाता है ।

इनके उदाहरण—

चेतन—"निज सहज अनुभव रूप तू खल भूलि अब आयो कहाँ ?" (वि० १३६) ।

अमल—"निर्मल निरामय एकरस तेहि हर्ष सोक न व्यापई ।" (वि० १३६) ।

सहज सुखरासी—"आनंद सिंधु मध्य तव वासा । बिनु जाने कत मरसि पियासा ॥" (वि० १३६) ।

(३) 'तेहि बिलोकि माया''—इतना डरती है कि इसे देखकर ही सकुच जाती है; क्योंकि इसपर स्वामी का अत्यन्त प्यार है।

(४) 'अस बिचारि'—ज्ञान-मार्ग को सबाध्य और भक्ति-मार्ग को अबाध्य विचार कर, यह भेद समझकर विज्ञानी मुनि भी भक्ति ही माँगते हैं, कुछ मैं ही इसका पक्षपाती नहीं हूँ। 'सकल सुखखानी', यथा—"सब सुखखानि भगति तैं माँगी।" (दो॰ ८४), "भगति तात अनुपम सुखमूला।" (आ॰ दो॰ १५)।

दोहा—यह रहस्य रघुनाथ कर, बेगि न जानइ कोइ।
जो जानइ रघुपति-कृपा, सपनेहु मोह न होइ॥
औरउ ज्ञान भगति कर, भेद सुनहु सुप्रबीन।
जो सुनि होइ राम-पद, प्रीति सदा अबिछीन॥११६॥

अर्थ—यह श्रीरघुनाथजी का गुप्तचरित्र कोई भी शीघ्र नहीं जान पाता, जो जानता है वह श्रीरघुनाथजी की कृपा से ही (उस ज्ञाता को) फिर स्वप्न में भी मोह नहीं होता॥ हे परम प्रवीण श्रीगरुडजी! ज्ञान और भक्ति का और भी भेद सुनिये, जिसके सुनने से श्रीरामजी के चरणों में कभी भी क्षीण न होनेवाली (एकरस रहनेवाली) प्रीति होती है॥११६॥

विशेष—(१) 'यह रहस्य'—एकान्त में कही जानेवाली बात रहस्य कहलाती है। भगवान् श्रीरामजी ने जो श्रीभुशुण्डिजी से ऐकान्तिक क्रीड़ा करते हुए कहा था—"मोहिं भगत प्रिय संतत" "भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी॥" (दो॰ ८५) वही रहस्य ऊपर कहा गया, यथा—"भगतिहि सानुकूल रघुराया।" से 'जाचहिं भगति सकल सुखखानी॥' तक। पुन माया और भक्ति क्या हैं, भक्ति श्रीरामजी को प्रिय है, इससे माया उससे डरता है—यह सब रहस्य है। 'जो जानइ रघुपति-कृपा', यथा "जाने बिनु भगति न जानिबो तिहारे हाथ समुझि सयाने नाथ! पगनि परन।" (वि॰ २५१)। "सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।" (अ॰ दो॰ १२६), अन्यथा ब्रह्मादि भी प्रभु के मर्म को नहीं जान पाते, यथा—"त्वं हि लोकगतिर्देव न त्वां केचित्प्रजानते॥" (वाल्मी॰ ७।११०।१०), "बिधि हरि संभु नचावनि हारे॥ तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा। और तुम्हहिं को जाननि हारा॥" (अ॰ दो॰ १२६)।

(२) 'औरउ'—भाव यह है कि दो भेद पहले कहा गया कि ज्ञानादि पुरुषवर्ग माया को त्यागकर पुन उसमें मोहित हो जाते हैं, पर भक्ति स्त्रीत्व के कारण उसमें मोहित नहीं होती। फिर दूसरा भेद यह कि भक्ति पर श्रीरामजी की अनुकूलता देखकर माया नर्त्तकी इससे डरती है, बाधा करने नहीं आ सकती। पर ज्ञान में यह बात नहीं है, ज्ञानी को तो अपने ही बल से सामना करना है। अब आगे तीसरा भेद कहते हैं, इसमें ज्ञान को दीपक-रूप और फिर भक्ति को चिंतामणि रूप कहकर महान अंतर दिखावेंगे कि ज्ञान में साधन की कठिनता है, वह भी घुणाक्षर न्याय ही से सिद्ध हो तो हो, फिर भी अनेकों विघ्न हैं। पर भक्ति-चिंतामणि में साधन सुगमता है, विघ्नों का डर नहीं है और यह अपरिमित प्रभाववाली है, इत्यादि भेद जानने पर फिर भक्ति ही में दृढ श्रद्धा होगी, तब उस श्रद्धा से श्रीरामजी के चरणों में अविच्छिन्न (अटूट, लगातार) प्रीति होगी और उससे यह भक्ति दृढ होगी यथा—"प्रीति बिना नहिं भगति दृढाई।" (दो॰ ८८)। ध्वनि यह है कि यद्यपि आपके संशय, शोक, मोह और भ्रम दूर हो गये, तथापि अभी

आपको अविच्छिन्न राम-पद प्रेम नहीं प्राप्त हुआ, इसीसे शुष्क ज्ञान को श्रेष्ठ समझ रहे हैं। पर अब जो भेद कहूँगा, इससे श्रीरामजी के चरणों मे आपकी अटूट प्रीति होगी।

कथा कहने से पहले ही माहात्म्य कहा जाता है, तब उसके सुनने में विशेष मन लगता है, इसलिये यहाँ ही माहात्म्य कहा गया है।

पहले भेद मे कहा गया कि ज्ञान माया को त्यागता है और फिर उसपर मोहित होकर स्वयं बँध जाता है। दूसरे मे ज्ञानी को अपने ही बल से वचना कहा, वचना न वचना सदिग्ध रक्खा। इस तीसरे भेद मे यह दिखावेंगे कि ज्ञानी सातवीं भूमिका तक पहुँच जाता है और सावधान रहता है, तब भी माया उसे अपनी प्रबलता से ठग लेती है। इसपर जो प्रवीण होगा, वह अवश्य ही उस ज्ञान से मुँह मोडकर भक्ति की शरण लेगा, इसीसे कहा है—'जो सुनि होइ राम पद '

ज्ञान-दीपक-प्रसंग

सुनहु तात यह अकथ कहानी। समुझत बनइ न जाइ बखानी ॥१॥

अर्थ—हे तात! यह अकथ कहानी सुनिये। यह समझते ही बनती है, पर कही नहीं जा सकती ॥१॥

विशेष—(१) 'सुनहु' से श्रीगरुडजी को सुनने के लिये सावधान किया। 'तात' से अपना वात्सल्य शिष्य पर दिखलाया। 'यह अकथ' कहकर इस ज्ञान कहानी को अनधिकारी के प्रति 'अकथ्य' अर्थात् नहीं कहने योग्य कहा, क्योंकि यह वेद-रहस्य है, कहा भी है—"ममतारत सन ज्ञान कहानी। ऊसर बीज बये फल जथा॥" (सु० दो० ५०), अतएव उपसन्न, सम्यक् प्रशान्त चित्त और शमान्वित अधिकारी से ही कहना चाहिये, अन्यथा इसका अनादर होगा। 'अकथ' के साथ ही 'कहानी' शब्द भी कहा है, अर्थात अधिकारी शिष्य के प्रति कहने की परपरा से यह वार्त्ता आई है, अत कहानी है भाव यह कि आप अधिकारी हैं, इससे हम आप से कहते हैं, सुनें।

(२) 'समुझत बनइ न जाइ बखानी'—भाव यह कि इतने सूक्ष्म विषय की वार्ता है कि यह बुद्धि से समझते ही बनती है, पर वाणी से कहने मे नहीं आती, यथा—"आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैवचान्य। आश्चर्यवच्चैनमन्य शृणोति श्रुत्वाप्येन वेद न चैव कश्चित्॥" (गीता २।२९), अर्थात जीव तत्त्व इतना सूक्ष्म है कि इसका देखना, कहना, सुनना और जानना, सभी आश्चर्य रूप हैं। उसी जीव तत्त्व का इसमें मायावश होना और फिर साधन द्वारा मुक्त होना कहा जायगा। अत, इसका यथार्थ कहा जाना तो असभव-सा है, हाँ, बडी कठिनाई से लक्ष्य मात्र कहा जायगा, यथा—"केसव कहि न जाइ का कहिये" (वि० १११)। भाव यह कि यह समझकर अनुभव करने की चीज है। समझना भी कठिन है। उपसहार में कहा है—"समुझत कठिन" (दो० ११८)। अत, गुरु मुख से श्रवण कर इसका अनुभव हो सकता है, यथा—"बिनु गुरु होइ कि ज्ञान।" (दो० ८९), "ब्रह्म-सुखहि अनुभवहिं अनूपा।" (बा० दो० २१)।

ईश्वर अस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी ॥२॥

अर्थ—जीव ईश्वर का अश है, अविनाशी है, चेतन, निर्मल और स्वाभाविक सुख की राशि है ॥२॥

सो मायावस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं ॥३॥

अर्थ—हे गोसाईं! ऐसा वह जीव माया के वश हो गया, तोते और बन्दर की तरह (स्वयं) बँध गया ॥३॥

विशेष—(१) 'सो' जो ऊपर 'ईश्वर अंस ...' में कहा गया। 'मायावस'—माया (प्रकृति) तीनों गुणों की साम्यावस्था को कहते हैं; यथा—"सत्व रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिरिति" (सांख्यसूत्र) तथा—"सो हरि माया सब गुनखानी।" (मा० दो० १११)। इसी के गुण विषम होकर महत्तत्व आदि होकर जीवों के बाँधनेवाले होते हैं, यथा—"सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति संभवाः। निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्। सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ॥" (गीता १४।५-६)।

माया जड़ है और जीव चेतन है, जड़ पदार्थ चेतन को कैसे बाँध सकता है? और चेतन स्वयं कैसे जड़ के वश होता है? इस शंका के निवारण के लिये कहते हैं—'बँध्यो कीर मरकट की नाईं।'—यहाँ दृष्टान्त में 'बँध्यो' कहा है और दार्ष्टान्त में 'मायावस' होना। भाव यह कि बँध जाने की तरह वश हो गया।

तोते को फँसाने के लिये खेत में दो खड़ी लकड़ियाँ गाड़, उन दोनों पर एक बेड़ी लकड़ी रखकर उसमें एक नलिनी (चुँगली) पहना देते हैं। तोते स्वभाव से ही ऊँचे पर से दाने चुगते हैं; अतः, ज्यों ही वे चुँगली पर बैठकर बाली चुगने के लिये नीचे को झुकते हैं, त्यों ही वह चुँगली घूम जाती है और तोते उलटा टँग जाते हैं; तब बहेलिया आकर पकड़ लेता है और उन्हें पिंजड़े में रख देता है।

वैसे ही यहाँ रजोगुण और तमोगुण दोनों बगल की खड़ी लकड़ियाँ हुए। सत्त्वगुण बीच की बेड़ी लकड़ी हुआ, बुद्धि नलिनी और प्राकृत सुख बाली (चारा) हुए। जीव-रूपी सुग्गा बुद्धि-रूपा नलिनी पर बैठकर सुख-रूपा बाली के लिये ज्योंही झुका (चाहा) त्यों ही नलिनी घूमने के समान बुद्धि भ्रमित हुई और वह गर्भ में उल्टा टँग गया, तब जन्म काल रूपी बहेलिये ने संसार रूपी पिंजड़े में बंद कर लिया; यथा—"भूमि परत भा ढाबर पानी। जिमि जीवहि माया लपटानी॥" (कि० दो० १४)।

बंदर फँसाने के लिये छोटे (सँकरे) मुँह के घड़े में दाना भरकर उसे भूमि में गाड़ देते हैं, मुँह खुला रहता है, कुछ दाने ऊपर भी छींट देते हैं। बंदर आकर घड़े में हाथ डालकर अन्न की मुट्ठी बाँध लेता है, *फिर लोभ एवं मोह से मुट्ठी खोलता नहीं*, तब फँसा हुआ रह जाता है, इतने में मदारी आकर उसके गले में रस्सी लगाकर बाँध लेता है और उसे नचाता-फिरता है।

वैसे ही जगत् छोटे मुँह का घड़ा है। "जननी जनक बन्धु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥" (सुं० दो० ४७)। इन दसों का स्नेह जगत् की दसो दिशाएँ हैं। इनमें सुख और वासना दाने हैं, उनकी ममता रूपी मुट्ठी बाँध ली है। अतः, तीनों गुणरूपा तीन लड़वाली रस्सी में गला बँधा लिया और लोभ वश अनेक नाच नाचता है; यथा—"लोभ मनहि नचाव कपि ज्यों गरे आसा डोरि।" (वि० १४१)।

इस प्रकार यहाँ दो उपमाएँ दो प्रकार के बंधनों के लिये हैं, एक उपमा गर्भवास तक के लिये दूसरी सांसारिक जीवन के लिये है। तोता और बंदर स्वयं अज्ञान से बँधते हैं। वैसे ही जीव भी स्वयं माया वश होता है। तोते और बंदर अपनेको बँधा हुआ समझते हैं, पर वे नलिनी और मुट्ठी खोल दें तो छूट जायँ। वैसे ही जीव भी जगत् की वासना और ममता छोड़ दें, तो छूट जाय। इसे कोई दूसरा बाँधे हुए नहीं है।

जीव चेतन है, इसलिये इसे तोता और वंदर इन चेतनों की उपमायें दी गईं और माया जड़ है, इस-
लिये उसे लकड़ी और घड़ा आदि जड़ों की ही उपमाएँ दी गईं ।

'सो ''गोसाईं'—जीव का भी विशेषण मान सकते हैं कि वह था तो राजा पर इस दशा को प्राप्त
हो गया; यथा—"निष्काज राज बिहाइ नृप इव स्वप्न कारागृह परयो ॥" (वि॰ १११)।

जड़ चेतनहिं ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई ॥४॥

अर्थ—जड़ और चेतन में गाँठ पड़ गई (वह गँठबंधन) यद्यपि मूठा है तथापि उसके छूटने में
कठिनता है ॥४॥

विशेष—(१) जड़ माया और चेतन जीव इन दोनों का विवेक नहीं होना बंधन है, जीव (पुरुष)
के सम्बन्ध से प्रकृति (माया) चेतन-सी भासती है और प्रकृति के सम्बन्ध से पुरुष जड़वत् भासता है।
इस तरह का अन्योन्य अध्यास (भ्रम) होना, एक के धर्म का दूसरे में अध्यास होना, तादात्म्य हो जाना—
चेतन और जड़ का गँठबंधन है, यही चिज्जड़ ग्रन्थि कही जाती है। 'जदपि मृषा'—यह गाँठ पड़ना मिथ्या
है, क्योंकि जड़-चेतन दोनों विरुद्ध स्वभाववाले हैं। एक तम तो दूसरा प्रकाश, एक विषय तो दूसरा विषयी;
एक अनित्य तो दूसरा नित्य। इनका सम्बन्ध कैसा ? एक का दूसरे में अध्यास होना भ्रम मात्र है। देह
के धर्म मानापमान आदि का सुख-दुःख जीव को होता है। जीव के धर्म हर्ष-विषाद, ज्ञान-अज्ञान आदि
का आश्रय बुद्धि अहंकार आदि भासते हैं। यह भ्रम मात्र है। पर छूटना कठिन है; यथा—"भ्रम न सकइ
कोउ टारि" "कर्म कि होहिं स्वरूपहिं चीन्हे।" (दो॰ १११)।

(२) 'परि गई' यह शिष्य के समझाने के लिये कहा गया है, यह ग्रन्थि अनादि काल से पड़ी
हुई मानी जाती है।

तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी ॥५॥

अर्थ—(जब से जड़-चेतन की गाँठ पड़ गई) तब से जीव संसारी हो गया, न गाँठ छूटे और न
वह सुखी हो ॥५॥

विशेष—(१) 'तब ते'—ससार चक्र अनादि काल से ऐसा ही चला आता है, जीव का भी माया
से अनादि काल से ही सम्बन्ध है; यथा—"विधि प्रपंच अस अचल अनादी।" (अ॰ गो॰ २८१); केवल
समझाने के लिये 'तब ते' कहा गया है। तथा—"जिव जब ते हरिते बिलगान्यो। तब ते देह गेह निज
जान्यो। माया बस सरूप बिसरायो। तेहि भ्रम ते नाना दुःख पायो॥" (वि॰ १३६)। 'भयो संसारी'
अर्थात् संसार के विषयों में लिप्त रहनेवाला जीव अपने ईश्वरांश भाव की सच्चिदानंद स्वरूपता का ऐश्वर्य
खोकर ससारी हुआ। स्थूल शरीर छूटा करता है, पर सूक्ष्म शरीर से यह वासना लिये हुए नाना
योनियों में भ्रमण करता रहता है; यथा—"कवन जोनि जनम्यो जहँ नाहीं। मैं खगेस भ्रमि भ्रमि जग
माहीं॥" (दो॰ ६५)।

(२) 'ग्रंथि न छूट न होइ सुखारी'; यथा—"तुलसि दास मैं मोर गये बिनु जिय सुख कबहुँ कि
पावै॥" (वि॰ १२०), बिना ग्रंथि छूटे सहज स्वरूप की प्राप्ति नहीं और उसके बिना सुख नहीं। किसी
भी उपाय से ग्रन्थि छूटनी चाहिये, इस प्रकार यहाँ प्रथम साधन 'मुमुक्षुता' का वर्णन हुआ।

श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई ॥६॥

अर्थ—श्रुतियों और पुराणों ने बहुत से उपाय कहे हैं ; पर (उनसे) यह ग्रन्थि छूटती नहीं , किन्तु अधिक-अधिक उलझती जाती है ॥६॥

विशेष—(१) श्रुति-पुराण सत्य ही कहते हैं और बहुत उपाय कहे हैं, इससे इस चिज्जड़ ग्रंथि का छूटना अत्यावश्यक सूचित करते हुए, उन्होंने इसकी कठिनता दिखाई है। 'बहु उपाय'; यथा—" बहु उपाय संसार तरन कहँ बिमल गिरा श्रुति गावै। तुलसिदास 'मैं मोर' गये बिनु जिय सुख कबहुँ न पावै ॥" (वि० १२०)। 'मैं मोर' यही ग्रन्थि है।

कर्म, ज्ञान और उपासना ये ही उपाय हैं, इनसे भी ग्रन्थि नहीं छूटती। इसका कारण आगे 'जीव हृदय तम मोह बिसेषी।' कहा है, 'मोह अर्थात् देहाभिमान सहित सब साधन किये जाते हैं, इससे कर्मों में फलेच्छा, ममता और कर्त्तृत्वाभिमान हो जाते हैं, उनसे और भी उलझाव होता जाता है; यथा—"छूटै मल कि मलहि के धोये।" (दो० ४८); ज्ञान में अहंकार आदि दोष और उपासना में दंभ लोभ आदि आ जाते हैं ; यथा—"करम कलाप परिताप पाप साने सब ज्यों सुफूल फूलै तरु फोकट फरनि ॥ दंभ लोभ लालच उपासना बिनास नीके सुगति साधन भई उदर भरनि। योग न समाधि निरुपाधि न बिराग ज्ञान बचन बिशेष बेष कहूँ न करनि ॥" (वि० १८४), "करतहुँ सुकृत न पाप नसाहीं। रक्त बीज जिमि बाढ़त जाहीं ॥" (वि० ११८)।

भाव यह कि पहले मोहांधकार दूर करके उपाय किया जाय तो सफलता की आशा हो। देहाभिमान (मोह) की निवृत्ति तभी होती है कि जब यह अपनेको एवं सब जगत् को भगवान् का शरीर जानता है, तब शरीरी होने से इसके सब उपायों के कर्त्ता भगवान् ही रहेंगे। इसी के लिये भगवान् ने जहाँ तहाँ विराट् रूप दिखा कर अपने को जगत् भर का शरीरी दिखाया है। और उसकी दुर्लभता पर कहा भी है—"नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥" (गीता ११।५३)।

भगवान् को अपना और जगत् का शरीरी जान कर उपासना करना उक्त ग्रंन्थि छूटने का एक उपाय है। दूसरा कैवल्य ज्ञान साधन है, जिसे आगे—'अस संयोग ईस...' से कहेंगे। इन्हीं दोनों उपायों को गीता अ० १२ में 'एवं सतत युक्ता ये...' इस श्लोक में कहकर फिर इनका तारतम्य भी कहा है। वहाँ भगवान् ने कैवल्य साधन रूप अक्षरोपासना को अत्यन्त कठिन और भगवदुपासना को सुलभ एवं शीघ्र फलप्रद कहा है। वैसा ही प्रसंग यहाँ भी है। पहले कैवल्य साधन की कठिनता कहकर भक्ति चिंतामणि की महिमा में उसका सौलभ्य और शीघ्र फलप्रदत्व कहा है।

जीव हृदय तम मोह बिसेखी। ग्रंथि छूटि किमि परइ न देखी ॥७॥

अर्थ—जीव के हृदय में मोह रूपी अंधकार बहुत है, गाँठ देख नहीं पड़ती तब वह छूटे कैसे ? ॥७॥

विशेष—(१) 'तम मोह'; यथा—"मोह न अंध कीन्ह केहि केही।" (दो० ६६) मोह अविवेक को कहते हैं वही देहाभिमान है; यथा—"सेवहिं लषन सीय रघुबीरहिं। जिमि अविवेकी पुरुष सरीरहिं ॥" (अ० दो० १४१)। देह तो प्रकृति का परिणाम है, इसके द्वारा होनेवाले उपाय प्रकृति के गुणों से होते हैं, पर यह मूढ़ता से अहंकार करके कर्त्ता बन जाता है। इसी से उक्त ग्रंथि और-और अरुझती जाती है। अत , इस मोहांधकार को हटाने के लिये प्रकाश की आवश्यकता है, जिससे गाँठ देख

पड़े, तब छोड़ी जाय ; अन्यथा ममता रूपी सूक्ष्म सूत्रों को अंधेरे में टटोलकर इधर-उधर खींचने से और भी अरुझन दृढ़ होगी, इसलिये दीपक जलाना चाहिये।

अस संयोग ईस जब करई। तबहुँ कदाचित सो निरुअरई ॥८॥

अर्थ—जब ईश्वर ऐसा संयोग कर दे (जैसा आगे कहते हैं) तब भी कदाचित् ही वह छूट जाय तो छूट जाय (अर्थात् छूटने में संदेह है) ॥८॥

विशेष—(१) ईश्वर ने कृपा करके मोक्ष साधन के लिये अपने अंश रूप जीव को दुर्लभ साज रूपी शरीर दिया है; यथा—"कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥" (दो० ४३) वैसे ही इस शरीर के उद्देश्य-पूर्ति के लिये कृपा करके यह संयोग भी कर दे कि आगे कहे हुए सब साज मिलते जायँ। सात्त्विक श्रद्धा प्राप्त हो और उससे खूब धर्माचरण हो, इत्यादि। सात्त्विक श्रद्धा आदि से अंत तक एक रस बनी रहे, यह भी ईश कृपा बिना नहीं हो सकता ; क्योंकि—"नित जुग धर्म होहिं सब केरे। हृदय राम माया के प्रेरे ॥ ..काल धर्म नहिं ब्यापहिं ताही। रघुपति चरन प्रीति अति जाही ॥" (दो० १०३) ; इस तरह यह संयोग भी कृपासाध्य है, क्रिया साध्य नहीं।

(२) 'तबहुँ कदाचित'''—कार्य सिद्धि में संदेह है, क्योंकि साधन कठिन है और साधक जीव संसारी होने से रोगी है ; यथा—"मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।" से "येहि बिधि सकल जीव जग रोगी। हरष सोक भय प्रीति बियोगी ॥" तक (दो० १२०–१२१)। रोगी जीव कठिन साधनों का सामना नहीं कर सकता। पुनः 'अकृतोपास्ति ज्ञान' अर्थात् जिसमें उपासना की सहायता नहीं है, ऐसा ज्ञान सिद्ध नहीं होता ; यथा—"जे ज्ञान मान बिमत्त तव भव हरनि भगति न आदरी। ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी ॥" (दो० १२) ; 'सो'—वह चित्-अचित् की गाँठ, 'निरुअरई'—ग्रंथि भेदन हो जाय, सदा के लिये अध्यास मिट जाय।

सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौ हरि-कृपा हृदय बस आई ॥९॥

अर्थ—यदि भगवान् की कृपा से सात्विकी श्रद्धा रूपी सुंदर गऊ हृदय (रूपी घर) में आ कर बसे ॥९॥

विशेष—(१) ज्ञान साधन को दीपक के रूपक मे कहना है, दीपक में घी पहले ही चाहिये। उस घी के लिये दुधार गौ को प्रथम कहा है ; जैसे वहाँ गौ की प्रथम ही आवश्यकता है, वैसे ही सब धर्मों मे श्रद्धा की प्रथम ही आवश्यकता है ; यथा—"श्रद्धा बिना धर्म नहि होई।" (दो० ६१)। श्रद्धा भी सात्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार की होती है। यहाँ सात्विक का ही प्रयोजन है ; यथा—"श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।" (गीता ४।३९); अर्थात् श्रद्धावान् ज्ञान को प्राप्त करता है, जो साधन मे तत्पर और जितेन्द्रिय हो। 'धेनु सुहाई'—'धेनु' का अर्थ 'नई ब्याई हुई गऊ' परन्तु नई (तुरत) ब्याई हुई गऊ का भी दूध निषिद्ध माना जाता है। अतः, 'सुहाई' भी कहा है कि यह एक मास की ब्याई हुई हो गई हो। अतः, उसका दूध घी शुभ कर्म के योग्य हो सकता है। जैसे श्रद्धा राजसी तामसी भी होती है वैसे ही गऊ भी असुहाई होती है जो अभी महीने के भीतर की ब्याई है, अथवा जिसका बछड़ा मर गया हो एवं जो दूध कम देती हो। सात्विकी श्रद्धा का हरिकृपा से ही हृदय में बसना कहा है—

(२) 'जौ हरि कृपा हृदय बस आई ।'—हरि जीवों का क्लेश हरण करनेवाले हैं और सत्त्व गुण के अधिष्ठातृ देवता भी हैं। इससे उनकी कृपा से ऐसी रुचि होती है ; यथा—"अति हरि कृपा जाहि पर होई। पाउँ देइ येहि मारग सोई ॥" (दो० ११८) ; 'बस आई'—अचल होकर बसे, फिर चली न जाय। 'जौ···हृदय बस'—भाव यह कि हृदय में अभी मोह तम है, सवत्सा गौ अँधेरी जगह में रहना नहीं चाहती। वैसे मोह वशीभूत जीव के हृदय में सात्विक श्रद्धा नहीं रहती, हरिकृपा से ही ठहरती है। इससे सत्कर्म में हर्ष-पूर्वक इच्छा होती है, और पारमार्थिक वृत्ति होती है ।

यहाँ से ज्ञान की सप्तभूमिका प्रारंभ है, सात्विक श्रद्धा के लिये आते ही तामस और राजस का नाश हो गया। इस अर्द्धाली में श्रद्धा सम्पत्ति का वर्णन हुआ, जो कि षट् संपत्तियों में पाँचवी है। (विवेक, विराग और शम, दम, उपरम, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान—ये षट् संपत्ति एवं मुमुक्षुता—ये साधन चतुष्टय के भेद हैं, इनसे सम्पन्न होकर साधक ज्ञान का अधिकारी कहा जाता है)। आगे धेनु का अहार कहते हैं—

जप तप व्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धरम अचारा ॥१०॥

अर्थ—अगणित जप, तप, व्रत, यम और नियम आदि अनेक कल्याणकारक धर्म और सदाचार जो श्रुतियों ने (विधि रूप में) कहे हैं ॥१०॥

विशेष—(१) गौ के लिये उत्तम चारा हरे तृण चाहिये, वे श्रद्धा-रूपा गऊ के सम्बन्ध में क्या हैं, उन्हें यहाँ कहते हैं—

जप तप आदि यहाँ सात्विक ही अभिप्रेत हैं, जप आदि के वर्णन पूर्व आ चुके हैं—बा० दो० ३६ चौ० १०, १४ में देखिये और भी बहुत जगह आ चुके हैं। जप यज्ञों में श्रेष्ठ है ; यथा—"यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि।" (गीता १०।२५) ; इसीसे इसे प्रथम कहा है, जप यज्ञ को ही कहा है, क्योंकि यह अहिंसात्मक है। जप ; यथा—"तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग अराती ॥" (बा० दो० १०७) ; तप ; यथा—"बिसरी देह तपहि मन लागा ॥" (बा० दो० ७३) ; व्रत-यथा "हरि तोषन व्रत द्विज सेवकाई।" (दो० १०८) ; 'जप, तप, व्रत और शुभ धर्माचार ये सब उपरम के अंग हैं। उपरम स्वधर्मानुष्ठान को कहते हैं, यह षट् संपत्तियों में तीसरा है। 'यम नियम' समाधान के अंग हैं, समाधान षट् संपत्तियों में छठा है। 'तप' से तितिक्षा का वर्णन है, यह षट् सम्पत्तियों में चौथी है।

यम पाँच हैं—"अहिंसा सत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा ।"

अहिंसा—"परम धरम श्रुति बिदित अहिंसा।" (दो० १२०) ।

सत्य—"कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी।" (अ० दो० १२६) ।

अस्तेय—"धन पराव बिष ते बिष भारी।" (अ० दो० १२६) ।

ब्रह्मचर्य—"ब्रह्मचर्य ब्रत रत मति धीरा। तुम्हहिं कि··· ।" (बा० दो० १२८) ।

अपरिग्रह—"जानत अर्थ अनर्थ रूप तम कूप परब येहि लागे। तदपि न तजत स्वान अज खर ज्यों रहत बिषय अनुरागे ॥" (वि० ११७) । विषयों के अर्जन, रक्षण, क्षय और संग से हिंसादि दोष होते हैं, अतएव इनका त्यागना अपरिग्रह है ।

नियम भी पाँच हैं—"शौचसंतोष तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।"

शौच—"सकल सौच करि जाइ नहाये ।" (बा० दो० २२६) ।

संतोष—"आठवँ जथा लाभ संतोषा ।" (अ० दो० ३५) ।

तप—"कछु दिन भोजन बारि बतासा । किये कठिन···।" (बा० दो० ७३) ।

स्वाध्याय—वेद पाठ एवं मंत्र जप ; यथा—"नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू । भगत सिरोमनि भे प्रह्लादू ।" (बा० दो० २५) ।

ईश्वर प्रणिधान—सब कर्मों का ईश्वरार्पण करना ; यथा—"प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरहीं ।" (दो० १०२) ।

'अपारा'—भाव यह कि इन यम-नियम आदि के एक-एक अंग भी असाध्य हैं, फिर यह रोगी जीव क्या पार पावेगा ?

सुभ धर्म अचारा—इसमें उपर्युक्त के अतिरिक्त सभी कर्मों के अंग आ गये । शुभ अर्थात् जो विधि-रूप में कहे गये हैं ।

तेइ तृन हरित चरै जब गाई । भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई ॥११॥

अर्थ—उसी हरी घास को जब गौ चरे तब भाव-रूपी शिशु बछड़ा पाकर पेन्हावे ॥११॥ (पेन्हाना अर्थात् दुहते समय थन में दूध आना) ।

विशेष—(१) 'तेइ तृन हरित'—ऊपर जो जप-तप आदि के साथ 'सुभ' कहा गया था । उसी के जोड़ में चारे के सम्बन्ध में 'हरित' कहा गया है । हरे चारे से दूध विशेष होता है, गौ उसे रुचि से चरती है, वह चारा सात्त्विक होता है । सूखी घास और भूसे आदि से गऊ की उतनी तृप्ति नहीं होती और इनसे दूध भी कम होता है । 'चरइ'—गऊ को घर में बाँध रखना निषेध है, वह जब बाहर जाकर चरती है तब प्रसन्न रहती है और उसका स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है जिससे उसका दूध रोगहारक होता है । 'गाई' पहले 'धेनु' अर्थात् सवत्सा गऊ कहा था और यहाँ चरने के सम्बन्ध से गऊ कहा है, क्योंकि चरने के लिये गऊ अकेले जाती है, बच्चा साथ में नहीं रहता; यथा—"जनु धेनु बालक बच्छ तजि गृह चरन बन परबस गईं ।" (दो० ६) ।

ज्ञान-प्रसंग मे हरा चारा चरना यह कि सात्त्विक श्रद्धापूर्वक रुचि एवं उत्साह से शुभ धर्माचरण करे और उसी में तृप्त रहे; यथा—"नित नव राम प्रेम पन पीना । बढ़त धरम दल मन न मलीना ॥" (अ० दो० ३२४) ।

गऊ जितने प्रकार के तृण खाती है, उनके सात्त्विक परिणाम का स्वारस्य दूध होता है, राजसिक परिणाम से उसके शरीर का पोषण होता है और तामस परिणाम से गोबर होता है । इसी तरह सात्त्विक श्रद्धा से रुचिपूर्वक किये हुए स्वधर्मानुष्ठान यम-नियमादि से परम धर्म होता है ।

जैसे हरे चारे से गऊ के बिना और कोई भी दूध नहीं निकाल सकता, वैसे ही श्रद्धाहीन शुभ धर्म से भी प्रयोजन नहीं सधता; यथा—"श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई ।" (दो० ८९), तथा—"अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् । असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥" (गीता १७।२८) ।

(२) 'भाव बच्छ सिसु ···'—बछड़े को शिशु कहा है, छोटे बछड़े को देखकर गऊ को अधिक वात्सल्य होता है, इससे उसके रोगों को जीभ से चाटकर वह अच्छा करती है, उसे देखकर वह अधिक पेन्हाती है और दूध भी अधिक देती है। यदि बछड़ा बड़ा हो जाता है तो गऊ दूध कम देने लगती है। भाव शब्द पुँल्लिग है, उसके जोड में वत्स ही कहा है, बछिया नहीं।

ज्ञान प्रसंग में श्रद्धारूपिणी धेनु का सात्त्विक भाव अबोध बच्चा है, वह छल-कपट नहीं जानता, इससे बहुत प्यारा है। चरने के समय भी उसका ध्यान बच्चे की ओर ही लगा रहता है। भाव यह कि सब धर्माचरण नवीन प्रीतिभाव से करे, भाव हत न होने पावे; दंभ आदि न आने पावें।

'पाइ पेन्हाई'—जब गऊ हार से चरकर लौटती है तब बालक बछड़े को पाकर द्रवीभूत हो जाती है, उसके थनों में दूध आ जाता है। इसी तरह श्रद्धा से धर्माचरण करने से भावोन्मुख होकर वह श्रद्धा परम धर्म प्रसव में समर्थ होती है; यथा—"दिन अंत पुर रुख स्रवत थन हुंकार करि धावत भईं॥" (दो॰ १)।

नोइनि वृत्ति पात्र बिस्वासा। निर्मल मन अहीर निज दासा ॥१२॥

अर्थ—वृत्ति को नोइनि, विश्वास को दोहनी और अपने अधीन दासवत् निर्मल मन को अहीर बनावे ॥१२॥ (नोवना अर्थात् दुहते समय रस्सी से गाय के पैर बाँधना, जिस रस्सी से पैर बाँधते हैं उसे नोइनि कहते हैं)।

विशेष—(१) वृत्ति को नोइनि की तरह श्रद्धा के चरणों में लगा देना चाहिये जिसमें वह अचल स्थिर रहे। बिना नोई हुई गऊ का दुहना निषेध है। पुन यह भी भय रहता है कि कहीं गऊ पैर चला दे तो सब दूध ही गिर पड़े।

(२) 'पात्र बिस्वासा'—विश्वास को पात्र बनावे, जिसमें दूध रक्खा जाय, वह पात्र छिद्ररहित हो; अर्थात् दृढ विश्वास हो, यथा—"कवनिउँ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।" (दो॰ ८१)।

'निर्मल मन अहीर'–अहीर दुहनेवाला होता है। वैसे यहाँ मन अहीर है, पर वह निर्मल हो, काम-सकल्प वाला मन मलीन होता है। अत, काम-सकल्प रहित मन निर्मल हो, नहीं तो श्रद्धा-गऊ को वह छुटका देगा।

'निज दासा'—अहीर अपने अधीन न हो और समय पर दुहने न आवे, तो भी काम बिगड़ जाता है, इससे 'निज दासा' कहा है। वैसे ही यहाँ निर्मल मन भी अपने अधीन हो।

गऊ पेन्हाने पर वह सेवक अहीर नोइनि लगाकर जब देखता है कि बछड़ा अब अपनी पुष्टि के लिये योग्य मात्रा में दूध पी चुका तो वह उसे हटाकर दोहनी में दूध दुहता है। वैसे ही निर्मल मन-रूपी सेवक श्रद्धा को निश्चल करने के लिये वृत्ति लगावे। इस तरह कि जब धर्माचरण से कृतकृत्य होकर श्रद्धा अंत-र्मुखी हो और धर्मों के सात्त्विक परिणाम से सात्त्विक भाव की पुष्टि करने लगे; तब निर्मल और निज-वशीभूत मन की वृत्ति लगाकर श्रद्धा को अचल कर ले। नहीं तो सात्त्विक भाव (शुद्ध भाव) के हटाते

समय श्रद्धा छटक जायगी। और यदि सात्त्विक भाव न हटाया जायगा तो वह अनुष्ठित धर्म के समस्त सात्त्विक परिणाम रूपी दूध को पी जायगा। मन के सात्त्विक भाव में अनुरक्त होने से भी सुख के साथ बन्धन होता है। अतएव, सात्त्विक भाव को धीरे-धीरे हटाकर मन को पूर्ण विश्वास का पात्र बनाने के लिये उसे श्रद्धा में लगा दे।

इस अर्द्धाली में शम (मनोनिग्रह) कहा गया, जो षट् संपत्तियों में पहला है।

यहाँ तक सात्त्विक श्रद्धा नामक ज्ञान की पहली भूमिका हुई। इसमें शुभाचरण, भाव, धृत्ति, विश्वास और निर्मल मन, ये पाँच अङ्ग कहे गये।

सारांश यह कि हरि-कृपा से जब हृदय में सात्विक श्रद्धा आ बसे और उससे खूब धर्माचरण हो, जिसमें श्रद्धा पुष्ट होती जाय और धर्म के साथ रजस् और तमस् के पराजित होने से सात्विक भाव हो, तब वह श्रद्धा द्रवीभूत होती है। धर्माचरण का सात्विक परिणाम अहिंसा (दया) भाव में प्रकट होता है। तब वशीभूत निर्मल मन को श्रद्धा के चरणों में लगा दे और दृढ़ विश्वास करके अहिंसा में स्थित हो, प्राणि मात्र को अभय दे। भाव यह कि जब तक धर्मव्रतधारी के हृदय में दया की प्रवृत्ति न हो तब तक जानना चाहिये कि परम धर्म का उदय अभी नहीं हुआ।

परम धरममय पय दुहि भाई। अवटै अनल अकाम बनाई ॥१३॥

अर्थ—हे भाई! परम धर्ममय दूध दुह कर निष्कामता रूपी अग्नि बनाकर उस पर (इस) दूध को औंटे ॥१३॥

विशेष—(१) 'परम धर्म'; यथा—"परम धर्म श्रुति विदित अहिंसा।" (दो० १२०); "धर्म कि दया सरिस हरिजाना।" (दो० १११) 'मय' का भाव यह कि धर्म का परिणाम दयामय है, क्योंकि दया (अहिंसा) में ही सब धर्मों का स्वारस्य है; यथा—"दया में बसत देव सकल धरम" (वि० २९६); 'मयट्' प्रत्यय बहुत के अर्थ में भी होता है, उससे यह अर्थ होगा कि इसमें परम धर्म अधिक है, कुछ जल आदि विकार भी हैं, जिन्हें औंट कर जलाया जायगा। 'पय दुहि' विश्वास रूपी पात्र में ही पय दुहा जा सकता है, अन्य पात्र में बिगड़ जायगा। भाव के द्वारा पन्हवा कर मन ने श्रद्धा-गऊ से दुहकर विश्वास में रख दिया। 'भाई' यह गरुड़जी के प्रति प्रियत्व है।

(२) 'अवटै अनल अकाम बनाई।'—गुणाधिक्य के लिये, घनीभाव के लिये और जल-रूपी अवगुण नाश करने के लिये उसे पाक करे; यथा—"गहि गुन पय तजि अवगुन बारी।" (अ० दो० २३१)। कामनाएँ ईंधन रूपा हैं, उन्हें जला कर निष्कामता रूपी अग्नि प्रचंड करे। निष्काम वृत्ति अहिंसा से पैदा होती है। कामना-मात्र-त्याग के ध्यान से ताप होता है, अतएव उसे अग्नि कहा है। निष्कामता से परम धर्ममय पय गाढ़ा होता है, उसमे घनत्व पैदा हो जाता है। भाव यह कि जितनी क्रिया करे निष्काम करे तो परम धर्म पुष्ट होता है।

दूध में जल का अंश रहता है, वह औंटने से जल जाता है, वैसे ही धर्म का साथ सुख और स्वर्ग से है। कामनाएँ इन्हीं की होती हैं, अतएव इन्हें निष्कामता से जला डाले।

तोष मरुत तब छमा जुड़ावै। धृति सम जावन देइ जमावै ॥१४॥

अर्थ—तब क्षमा और सन्तोष रूपी वायु से उसे ठंढा करे, तब धैर्य-वृत्ति समता का जावन देकर उसे जमावे ॥१४॥

विशेष—(१) निष्कामता से परम धर्ममय दूध का कामांश जल गया, किन्तु इससे वह संतप्त हो उठा। तब क्षमा मंद मंद व्यजन चला कर संतोष-रूपी वायु प्रकट कर उसे ठंढा करे। संतोष के प्राप्त कराने में क्षमा ही समर्थ है, वही इस दूध को शीतल करे।

अहिंसा, निष्कामता, संतोष और क्षमा, चारों अंग मिलकर जो परम धर्म हुआ, वही 'परम धर्म' नामक ज्ञान की दूसरी भूमिका हुई।

तात्पर्य यह कि अहिंसा में प्रतिष्ठित होने पर निष्कामता से अहिंसागत कामना के अंश को दूर करे, उससे जो ताप होता है उसे क्षमा द्वारा संतोष से शीतल करे।

(२) 'धृति सम जावन देइ जमावै।'—'धृति'; यथा—"धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रिय-क्रियाः। योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्विकी॥" (गीता १८।३३) अर्थात् जिस एक-रस धैर्य वृत्ति से मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाएँ धारण होती हैं, वह धृति सात्विकी है। इस धैर्य वृत्ति से समता का जावन दिया जाय; अर्थात् हानि लाभ, सुख दुख, निन्दा-स्तुति आदि द्वंद्वों के सम्पर्क में अंतःकरण एक-रस रहे। तब उपर्युक्त दया भाव ठोस हो जाता है। यही दूध जमकर दही होने के समान है। यही 'सम धृति' नामक ज्ञान की तीसरी भूमिका है।

पहले तृण का परिणाम दूध हुआ, फिर दूध का दूसरा परिणाम दही हुआ। इस सम धृति के पश्चात् मुदिता वृत्ति उत्पन्न होगी।

मुदिता मथै विचार-मथानी। दम अधार रजु सत्य सुबानी ॥१५॥
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता। बिमल बिराग सुभग सुपुनीता ॥१६॥

अर्थ—मुदिता (पर-सुख में आनंदित होने की वृत्ति) रूपी माथ (माँठ) में (उस दही को डाल कर), विचार रूपी मथानी से, इन्द्रिय-दमन रूपी आधार (खम्भा आदि) में सत्य एवं उत्तम वाणी रूपी रस्सी लगाकर ॥१५॥ तब दही को मथ कर निर्मल, सुभग और अत्यन्त पवित्र वैराग्य रूपी मक्खन निकाल ले ॥१६॥

विशेष—(१) जिस पात्र में दही जमाया जाता है, उससे बड़े दूसरे पात्र में, जिसे माथ (माँठ) या महेड़ा आदि कहते हैं, पलटकर मथानी से उसे मथते हैं। खंभे में रस्सी लगाकर उससे मथानी चलाई जाती है और दही मथकर मक्खन निकाला जाता है, यह दृष्टान्त है। यहाँ मुदिता वृत्ति माथ है, विचार मथानी है, दम खभा है और सत्य और उत्तम (गुरु एवं शास्त्र की) वाणी डोरी है। उसके खींचने के अनुसार विचार-मथानी घूमेगी। शास्त्र-मर्यादा के अनुसार तर्क होगा तब यह दही मथित होकर वैराग्य रूपी नवनीत (मक्खन) प्रसव कर सकेगा।

'बिचार', यथा—"येहि तनु कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥" (दो॰ ४४)।

"जिउ जबते हरिते बिलगान्यो।" इस पद में आदि से "अजहुँ तो करु विचार मन माँही।" (वि० १३१) तक। "परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।" (मुंडक ।१।२।१२); अर्थात् मुमुक्षु कर्म द्वारा प्राप्त होनेवाले लोकों को अनित्य जानकर वैराग्य को प्राप्त होवे, क्योंकि कृत (कर्म) से अकृत (ब्रह्म) की प्राप्ति नहीं होती, इत्यादि।

'दम अधार'—भाव यह कि विषय-रसों से इन्द्रियाँ रुकें, तब अंतःकरण से विचार हो पावे। 'सत्य सुबानी'—गुरु एवं शास्त्रों की वाणी को सत्य और उत्तम तथा प्रिय मानकर विचार करे, तभी उनके तथ्य पर निष्ठा होगी।

(२) 'तब मथि काढ़ि लेइ···'—सारासार विचार करने पर जो निर्णय हुआ, वह नवनीत रूप 'बिमल बिराग सुभग सुपुनीता।' है 'बिमल'—जिसमें वासना आदि मल नहीं हैं। 'सुभग'—जिसमें मंदता आदि की कुरूपता नहीं है। 'सुपुनीता'—जिसमे मान, ईर्ष्या आदि की अपुनीतता नहीं है। पुनः रागरहित होने से विमल है, तीव्रतर होने से सुन्दर है और असार संसार को अपुनीत मानकर उसे त्याग सार तत्त्व-ग्रहण रूपी विवेक के साक्षात्कार में तत्पर होने से सुपुनीत है।

यहाँ 'दम' से षट् सम्पत्तियों में दूसरा अंग भी आया। पुनः इन दोनों अर्द्धालियों से 'विराग' नामक ज्ञान की चौथी भूमिका हुई। वैराग्य साधन-चतुष्टय मे दूसरा है, यह भी यहाँ आ गया। पहला 'विवेक' शेष है, वही अगली (पाँचवीं) भूमिका मे कहा जायगा।

दोहा—जोग अगिनि करि प्रगट तब, कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावै ज्ञान-घृत, ममता मल जरि जाइ॥

अर्थ—तब योग रूपी अग्नि प्रगट करके शुभाशुभ कर्म-रूपी ईंधन लगाकर (जलावे)। ममता रूपी मैल जल जाय, ज्ञान रूपी घी रह जाय, तब बुद्धि उसे ठंढा करे॥

विशेष—(१) 'जोग अगिनि करि···'—वैराग्य उत्पन्न हो जाने से योग का अधिकार हो गया। चित्त-वृत्ति का निरोध करके सत् लक्ष्य मे एकाग्र होना योग है और वह वैराग्य तथा अभ्यास से होता है। वैराग्य द्वारा चित्त-वृत्ति का निरोध हुआ, वैराग्य का निवास चित्त-वृत्ति में हुआ। अभी वैराग्य मक्खन-रूप है उसमें अशुभ कर्मों का स्मरण रूपी जल और शुभ कर्मों की चाह रूपी छाँछ मिश्रित है। उसे योगाग्नि को प्राण-अपान के संघर्ष से प्रकट करके अर्थात् हठयोग करके मन और वायु को रोके; यथा—"जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं।" (कि० दो० १०)। इसमें शुभाशुभ कर्म का स्मरण भी नहीं रह जाता, संचित और क्रियमाण कर्मों का नाश हो जाता है, केवल प्रारब्ध रह जाता है; यथा—"कह मुनीस हिमवंत सुनु, जो विधि लिखा लिलार। देव दनुज नर नाग मुनि, कोउ न मेटनिहार॥" (बा० दो० ६८)।

(२) 'ममता मल जरि जाइ'—विराग में जो यह धारणा रही कि ये सब विषय विलास मेरे वश मे हैं, मैं इनके वश नहीं हूँ, यह ममता रूपी मल था, वह योगाग्नि से जल गया। तब बुद्धि ज्ञान-घृत को सिरावती अर्थात् भिन्न करके उसमे जो मान रूपी उष्णता है, उसे बुद्धि रूपी स्त्री विवेचन द्वारा शीतल करती है।

इस तरह शुभाशुभ कर्म और ममता तक के देह-सम्बन्ध रूपी असत् को त्यागकर सत् (स्वस्वरूप)

ग्रहण रूपी विवेक के होने से 'स्व-स्वरूप ज्ञान' नामक ज्ञान की पाँचवीं भूमिका हुई। यहाँ साधन-चतुष्टय का विवेक भी आ गया।

तब विज्ञान निरूपिनी, बुद्धि बिसद घृत पाइ।
चित्त दिया भरि धरै दृढ़, समता दियटि बनाइ॥

अर्थ—तब विज्ञान (प्रकृति वियुक्त आत्मा का ज्ञान) निरूपण करनेवाली बुद्धि स्वच्छ घी पाकर, चित्त रूपी दीया (दीपक) भरकर, समता रूपी दृढ़ दियट बनाकर, उसपर दृढ़ करके उसे धरे (रक्खे)।

विशेष—यहाँ दीपक-रूप चित्त है, उसमें ज्ञान घृत भरकर धरे; अर्थात् चित्त वृत्ति सम्यक् प्रकार से स्व-स्वरूप पर रहे। क्योंकि उसे प्रकृति के तीनों गुणों और तीनों अवस्थाओं से पृथक् साक्षात्कार करना है, उस चित्त की एकाम स्थिति के दृढ़ समता-रूपी दियट भी चाहिये, समता; यथा—"बंदउँ संत समान चित्त, हित अनहित नहिं कोउ।" (बा० दो० ३); ऐसे ही संत (साधु) का चरित कपास का चरित कहा गया है, नीरस, विशद और गुणमय कहकर उसके फल का वर्णन किया गया है; यथा—"साधु चरित सुभ चरित कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू॥" (बा० दो० १); अपना कार्य जिससे हो, उसे फल कहा गया है। जैसे तलवार का फल, बरछे का फल इत्यादि, वैसे साधु चरित (आचरण) का फल उनकी देह-वृत्ति है। जो नीरस है; अर्थात् विषय रस से रूखी है। सत्त्वमय होने से विशद है और शुभ गुणमय है। ऐसे ही देह से तीनों अवस्थाओं का पृथक् करना और तुरीयावस्था की प्राप्ति आदि आगे कही जायँगी। विषयी की तीनों अवस्थाएँ सरस होने से मलिन और अवगुणमय होती हैं, वे अन्योन्य ऐसी सनी हुई होती हैं कि उनका पृथक्करण नहीं हो सकता; यथा—"काम क्रोध मद लोभ रत, गृहासक्त दुख रूप। ते किमि जानहिं रघुपतिहि, मूढ़ परे तम कूप॥" (दो० ७३)।

तीनि अवस्था तीनि गुन, तेहि कपास ते काढ़ि।
तूल तुरीय सँवारि पुनि, बाती करइ सुगाढ़ि॥

अर्थ—कपास से तीनों (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति) अवस्थाएँ और तीनों (सत्त्व, रज, तम) गुण—इनको निकालकर तब तुरीयावस्था रूपी रुई को सँवारकर (अर्थात् धुनकर रुई का पहल और प्यूरी बनाकर) सुंदर कड़ी बत्ती बनावे॥

विशेष—(१) ऊपर दीपक, घी, दियट का प्राप्त होना कहा गया, अब उसमें बत्ती चाहिये, तब जलाया जाय, बत्ती के लिये शुद्ध रुई चाहिये—उसी को यहाँ कहते हैं कि रुई कपास के फल की होती है। कपास के फलों में तीन फालें या बुडरियाँ होती हैं, जिनके ऊपर छिलका होता है और तीनों फालों में बिनौले होते हैं, ये सब मिलकर कपास कहलाते हैं। इनमें बिनौले और छिलके पृथक् कर लिये जायँ, तब शुद्ध रुई रह जाती है।

वैसे ही यहाँ ऊपर देहवृत्ति कपास-फल की तरह कही गई। उसमें तीन अवस्थाएँ छिलके हैं और तीनों गुण उसके भीतर के बिनौले हैं। उनको पृथक् करे; अर्थात् इनके द्वारा होनेवाले कार्यों को अपनेसे पृथक् समझे कि तीनों गुणों के द्वारा तीनों अवस्थाओं की कार्य-सत्ता है और आत्मा उनका साक्षी मात्र है,

सब व्यापार गुणों से ही होते हैं; यथा—"नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्। पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन्॥ प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥" (गीता ५।८–९), अर्थात् मैं कुछ नहीं करता। देखना-सुनना आदि सभी कार्य इन्द्रियाँ करती हैं, ऐसा तत्त्वज्ञानी माने। पुनः, "गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।" (गीता ३।२८); अर्थात् गुण ही गुणों में परस्पर वर्त्त रहे हैं, ऐसा मानकर ज्ञानी इनसे लिप्त नहीं होता। "प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकार विमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते॥" (गीता ३।२७); अर्थात् प्रकृति के गुणों से सब कर्म किये जाते हैं, अहंकार से मूढ़ ही अपनेको कर्त्ता मानता है। इत्यादि विचारों से आत्मा को तीनों गुणों और तीनों अवस्थाओं से पृथक् साक्षात्कार करे। तब वह इनकी वृत्तियों से असंग रहकर एक रस आत्म चिंतवन कर सकेगा। तीनो अवस्थाओं और उनके साथ गुणों की व्यवस्था बा० दो० ३२५ में 'जनु जीव उर चारिउ अवस्था' के प्रसंग में देखिये।

(२) जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति के साथ क्रमशः सत्त्व, रजस्, तमस् का सम्बन्ध रहता है। इनकी वृत्तियों से असंग रहने से तज्जन्य हर्ष-विषाद आदि का संसर्ग नहीं रहेगा, तब शुद्ध तुरीयावस्था प्राप्त होगी, जो शुद्ध स्वरूप आत्मा की अवस्था है।

(३) 'तूल तुरीय सँवारि ···'—'सँवारना' यह कि कोपों के संस्कार को दूर करे। 'सुगाढ़ि'—दृढ़ मोटी अर्थात् तुरीयावस्था के संस्कारों को भली भाँति घनीभूत करे, सुदृढ़ एक आत्मवृत्ति ही रहे।

सो०—येहि बिधि लेसै दीप, तेज रासि बिज्ञानमय।
जातहि जासु समीप, जरहिं मदादिक सलभ सब ॥११७॥

अर्थ—इस प्रकार तेज राशि विज्ञानमय दीपक जलावे, जिसके समीप जाते ही मद आदि सब पतंगे जल जायँ ॥११७॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि'—उपर्युक्त विधियों से अविधि न होने पावे। जैसे बत्ती घी में डुबाकर तब जलाई जाती है। वैसे ही उपर्युक्त तुरीया की एकत्र वृत्ति को आत्म-स्वरूप में लीन कर दे, तब उसे योगाग्नि से लेस दे। 'तेज रासि' अर्थात् उससे अनुभव प्रकाश समूह होता है; यथा—"आतम अनुभव सुख सुप्रकासा।" यह आगे कहा है। 'बिज्ञान मय'—मयट् प्रत्यय यहाँ तद्रूप मे ही है। यहाँ तक विज्ञान अर्थात् प्रकृति-वियुक्त आत्मा के ज्ञान का साक्षात्कार हुआ।

(२) 'जातहि जासु समीप ···'—दीपक जलने पर पतंगे उसपर आ गिरते हैं। वे तुरत जलते जाते हैं, यदि दीपक की बत्ती आदि दुर्बल हों तो बहुत पतंगों के एक साथ गिरने से वह दीपक ही बुझ जाता है। पर यहाँ तो बाती 'सुगाढ़ि' कही गई है। अतः, सभी मद आदि पतंगे जल जायँगे।

मद, मत्सर आदि बहुत पतंगे हैं, यथा—"यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमित को बरनइ पारा॥" (दो० ७०)। यहाँ मद को आदि में कहकर भाव स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रकृति के परिणाम रूप देह एवं गुणों से ही जाति, विद्या, महत्त्व आदि के मद होते हैं। यहाँ पर तीनों गुणों और तीनों अवस्थाओं से आत्मा सर्वथा संगरहित हो चुका है, तब मद आदि की पहुँच वहाँ तक कैसे होगी। मद की तरह और भी सब विकार गुण-संग से ही होते हैं।

यहाँ तक विज्ञान नामक ज्ञान की छठी भूमिका हुई।

सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा। दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा ॥१॥

अर्थ—'वह मैं हूँ' यह अखंड वृत्ति ही उस दीपक की परम प्रचंड लौ है। (भाव यह कि यह वृत्ति अखंड एकरस बनी रहे, लय न टूटे) ॥१॥

विशेष—(१) 'सोहमस्मि' अर्थात् सः, अहं, अस्मि अर्थात् वह, मैं, हूँ। इसमें सः शब्द व्याकरण की रीति से सर्वनाम है, वह मुख्य संज्ञा के पश्चात् आता है, जैसे—यज्ञदत्त घर गया, वह नहीं आया। यहाँ पर इस प्रसंग में ऊपर 'ईश्वर अंस...' में ईश्वरांश शुद्ध जीव ही का मायावश होना कहा गया है। अतः, 'सः' शब्द उसी के लिये है। ब्रह्म की ऊपर कहीं चर्चा नहीं है। हठात् उसका अर्थ करने से 'अन्येन भुक्तं अन्येन वान्तम्' अर्थात् 'दूसरे ने खाया और दूसरे ने वमन किया' रूप दोष उपस्थित होगा।

अतः, जो जीव माया (प्रकृति) वश हुआ था, उसी को प्रकृति (माया) वियुक्त होने पर अपना स्वरूप साक्षात्कार हुआ। तो उसी का 'सोहमस्मि' से अनुसंधान है कि मैं वही—'ईश्वर अंश रूप अविनाशी जीव शुद्ध सच्चिदानंद स्वरूप हूँ।' यहाँ ब्रह्मात्मक रूप से ही जीव का लक्ष्य है। इस दृष्टि से 'अहं ब्रह्मास्मि' एवं 'सोऽहमस्मि' ब्रह्म परक भी युक्त ही है। पर जीव भाव त्याग पूर्वक ब्रह्म भाव नहीं, वरन् ईश्वरांश की ब्रह्मात्मक रूप से अर्थात् ब्रह्म को अपना आत्मा अर्थात् (अभिन्न) मानकर ही उपासना की जाती है। पूर्व 'बारि बीचि इव गावहिं वेद।' में कही हुई तात्त्विक एकता भी रहती है।

इस प्रकार जीवात्मा की ब्रह्मात्मक रूप में उपासना श्रुतियाँ भी कहती हैं; यथा—"ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते। तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति। अर्चिषोऽहः। अह्न आपूर्यमाणपक्षम्। आपूर्यमाणपक्षाद्यान् षण्मासानुदङ्ङादित्य एति। मासेभ्यो देवलोकम्। देवलोकादादित्यम्। आदित्याद्वैद्युतम्। तान्वैद्युतात्पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान्गमयति। तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः॥" (बृहदा० ६।२।१५)। अर्थात्—जो (साधक) इस प्रकार पचाग्नि को जानते हैं; अर्थात् द्युलोक मेघ, पृथिवी, पुरुष और स्त्री रूप अग्नि—में श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न और रेत, में अनुरक्त होकर रहनेवाले प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) की ब्रह्मात्मक रूप से—उपासना करते हैं और जो अरण्य में रहकर श्रद्धापूर्वक सत्य शब्द वाच्य भगवान् की उपासना प्रत्यगात्मा में करते हैं, वे दोनों अर्चिष (अग्नि) के अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं, अर्थात् उससे संयुक्त होते हैं। अर्चिष् से दिन, दिन से शुक्लपक्ष, शुक्लपक्ष से उत्तरायण के छ मास, उन मासों से देव लोक, देवलोक से आदित्य, आदित्य से चन्द्र और चन्द्र से विद्युत को प्राप्त होते हैं। उस वैद्युत लोक से ब्रह्म के मन से उत्पन्न हुआ देव पुरुष वहाँ आकर उसे ब्रह्मरूप लोक में ले जाता है। उस लोक में वह निरतिशय आनंद और ऐश्वर्य से युक्त तथा भगवान् से सनाथ होकर निवास करता है, उसको पुनः संसार बंधन में नहीं आना पड़ता।

इस श्रुति में प्रकृति-वियुक्त जीवात्म साक्षात्कारवाले की मुक्ति कही गई है। ब्रह्मसूत्र-आनन्द भाष्य ४।३।१५ में तथा गीता अ० १२।१-५ में विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के भाष्यकारों ने प्रौढ़ प्रमाणों के साथ ब्रह्म की और प्रकृति वियुक्त जीवात्मा की, दोनों उपासनाएँ प्रतिपादित की हैं। यह भी कि जीवात्मोपासना कठिन है और परमात्मोपासना उससे सरल है। विशेष विवेचन वहीं देखना चाहिये॥

यहाँ जीवात्मोपासना का ही प्रसंग है, इसकी ब्रह्मात्मक रूप से ही उपासना होती है। "आत्मेति तूप गच्छन्ति ग्राहयन्ति च।" (ब्र० सू० आनन्द-भाष्य ४।१।३); पर विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में भी 'अहं ब्रह्म' ऐसी अभिन्न उपासना स्वीकार की गई है। अतः, यहाँ पर मुझे 'सोहमस्मि' का ब्रह्म परक अर्थ करने में अड़चन नहीं होती, पर यहाँ ऊपर ब्रह्म की चर्चा नहीं है। तो 'सः' से ब्रह्म कैसे लिया जाय?

श्रुतियों में जहाँ 'सोऽहमस्मि स एवाहमस्मि' ब्रह्म परक कहा गया है, वहाँ प्रथम ब्रह्म का वर्णन करके, यथा—"य एव चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मि।" (छा० ४।१२।१); तथा—"य एव विद्युति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि।" (छां० ४।१३।१)।

इन्हीं दोनों प्रकार की उपासनाओं के अभिप्राय से श्रीगोस्वामीजी ने भी दो ही प्रकार की मुक्तियों का विधान किया है, यथा—"राम चरन रति जो चहइ, अथवा पद निर्वान।" (दो० ११८), इसमें ब्रह्मोपासक की 'राम-चरन रति' से और 'जीवात्मोपासक' की कैवल्य परक 'निर्वाण पद' से मुक्तियाँ कही गई हैं। 'अथवा' शब्द से निर्वाण पद को भिन्न प्रकार की ही मुक्ति कहा है।

(२) 'वृत्ति अखंडा'—'वह मैं हूँ' यह वृत्ति खंडित न होने पावे, एक रस बनी रहे। निर्वात दीपक की भाँति अचल चित्त बना रहे। यही उस दीपक की प्रचंड लौ है। 'परम प्रचंडा'—माया की सेना प्रचंड है; यथा—"व्यापि रह्यो संसार महँ, माया कटक प्रचंड।" (दो० ७१)। उसके भस्म करने का सामर्थ्य दिखाते हुए इसे 'परम प्रचंड' कहा है।

आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भवमूल भेद भ्रम नासा॥२॥

अर्थ—आत्म-अनुभव-सुख इस ज्ञान दीपक का सुन्दर प्रकाश जब होता है, तब संसार के मूल भेद भ्रम का नाश होता है॥२॥

विशेष— 'आतम अनुभव सुख'—अर्थात् स्व-स्वरूपानन्द, इसे ही ब्रह्मानन्द भी कहते हैं, क्योंकि 'अहंब्रह्मास्मि' इस वृत्ति से और ब्रह्म के साधर्म्य प्राप्त होने से इसे ब्रह्म के समान ही सुख प्राप्त होता है, इसी सुख के प्रति कहा है "निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा।" (दो० ८९), तथा—"ब्रह्मपियूष मधुर सीतल जो पै मन सो रस पावे। तौ कत मृगजल रूप विषय कारन निसिवासर धावे।" (वि० ११६)। "ब्रह्म सुखहि अनुभवहिं अनूपा।" (बा० दो० २१)।

'तब भव मूल भेद भ्रम नासा।'—भव-मूलक भेद का नाश हो जाता है, जिसे भ्रम से मान लिया था कि मैं एवं जगत् ईश्वर से भिन्न हैं, अर्थात् सब उसके शरीर रूप नहीं हैं। नानात्व भ्रम ही भेद भ्रम है, वह नाश हो जाता है। भेद तीन प्रकार के कहे गये हैं, यथा—"वृक्षस्य स्वगता भेदा पत्र पुष्प फलादिभि। वृक्षान्तरे सजातीयो विजातीय शिलादित।" (पचदशी), यहाँ पर भव मूलक भेद का नाश होना कहा गया है। सजातीय और विजातीय ये दोनों भेद भव मूलक हैं, इन्हीं का नाश होता है। स्वगत भेद जो शरीर शरीरी सम्बन्ध का है, वह रहता है, किन्तु वह भव मूलक नहीं है, यथा—"निज प्रभु मय देखहिं जगत, केहि सन करहि बिरोध।" (दो० ११२), यह भेद अभेदवादी लोमशजी की विजय पर उपादेय रूप में कहा गया है।

पुन सूर्य पूर्ण ज्ञानवान् माने गये हैं, यथा—"तेषामादित्यवज्ज्ञान प्रकाशयति तत्परम्।" (गीता ५।१६), उनका भी ब्रह्म के साथ शरीर-शरीरी भेद है, यथा—"य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्य शरीरं य आदित्यमतरोयमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत॥" (बृहदा० ३।७।९), इस श्रुति में सूर्य रूप जीव का प्रेरक एवं शरीरी ब्रह्म कहा गया है।

प्रबल अविद्या कर परिवारा। मोह आदि तम मिटइ अपारा॥३॥

अर्थ—प्रबल अविद्या के प्रबल परिवार मोह आदि अपार तम मिट जाते हैं॥३॥

विशेष—दीपक से अँधेरा नाश होता है, ज्ञान दीपक से मोह आदि अपार अंधकार नाश होते हैं। मोह आदि ; यथा—"मोह न अंध कीन्ह केहि केही।" से 'यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमित को बरनइ पारा ॥" (दो० ६१-७०) तक ; 'प्रबल अविद्या'; यथा—"सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं ॥" (दो० ७०)। परिवार की प्रबलता ऊपर कही ही गई है। पुनः "मुनि बिज्ञान धाम मन, करहिं निमिष महँ छोभ।" (आ० दो० ३८); 'अपारा' ; यथा—"प्रबल अमित को बरनइ पारा।" (दो० ७०)। इस प्रसंग के आदि में ही कहा था—"जीव हृदय तम मोह बिसेषी" उसी 'बिसेषी' को यहाँ 'अपारा' कहा है। 'मिटइ'; यथा—"ज्ञान उदय जिमि संसय जाहीं।" (कि० दो० १५)।

तब सोइ बुद्धि पाइ उजियारा। उर-गृह बैठि ग्रंथि निरुआरा ॥४॥

अर्थ—तब वही (विज्ञान निरूपिणी) बुद्धि उजाला पाकर हृदय रूपी अपने घर में बैठकर गाँठ को खोलती है ॥४॥

विशेष—(१) ग्रंथि का स्वरूप पहले ही 'जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई।' में कहा गया। उसका स्थूलांश तो छठी भूमिका में छूट गया, पर अभी प्रारब्ध भोग के साथ-साथ उसका सूक्ष्मांश शेष है। वही खोलना है। 'पाइ उजियारा'—पूर्व "जीव हृदय तम मोह बिसेषी।" था, वह मिट गया; यथा -"मोह आदि तम मिटइ अपारा।"—तब उजियाला मिला, अब ग्रंथि देख पड़ने लगी। तब खोलना कहा गया है। 'उर गृह बैठि'—अंत.करण में ही बुद्धि भी है; अतः, हृदय ही उसका घर है। 'बैठि'—अभी तक वह अपार तम के मिटाने में व्यग्र थी, अब बैठने पाई।

(२) 'निरुआरा'—जैसे महीन सूत्रों की अरुझनि हो, वैसे ही यह अत्यन्त झीनी वासनाओं की ग्रन्थि है, सुलझाना बहुत ही कठिन है।

छोरन ग्रंथि पाव जौं सोई। तब यह जीव कृतारथ होई ॥५॥

अर्थ—यदि यह बुद्धि गाँठ खोलने पावे तो यह जीव कृतार्थ हो जाय।

विशेष—(१) 'जौं' से खोल पाने में संदेह जनाया कि माया खोलने नहीं देगी। आगे माया का विघ्न करना कहते हैं। 'कृतारथ होई'—जो जीव का कृत्य (कर्तव्य) है, वह पूरा हो जाय। फिर शेष आयु को जीवन्मुक्त होकर बितावे ; यथा—"ऋषिराज ! राजा आजु जनक समान को।···गाँठ बिनु गुन की कठिन जड़ चेतन की, छोरी अनायास साधु सोधक अपान को ॥" (गी० बा० ८६)। "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।" (गीता ३।२०), "आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रंथाअप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥" (भाग० १।७।१०); इसमें ग्रन्थि छूटने पर भी भक्ति करना कहा गया है। कैवल्य ज्ञानी का कालक्षेप; यथा—"देहोऽपि दैववशगः ··" इसका अर्थ दो० ४२ में देखिये।

(२) 'सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा।' से यहाँ तक 'सोऽहमस्मि परम विज्ञान' नामक भूमिका हुई। इन भूमिकाओं को कोई-कोई आत्मा का प्रस्थान भी कहते हैं।

यहाँ का कैवल्य ज्ञान प्रकरण बहुत अंशों में योग दर्शन से मिलता है; यथा—"पुरुषार्थशून्यानां गुणाना प्रति प्रसव· कैवल्यम्। स्वरूप प्रतिष्ठा वा चित्ति शक्तिरिति ॥" (यो० सू० ४।३४); अर्थात् पुरुषार्थ शून्य हो, बुद्धि की वृत्तियों का प्रतिलोम होकर आत्मा और प्रकृति का यथार्थ ज्ञान करा करके बुद्धि को

स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना ही कैवल्य मुक्ति है। यह योग दर्शन के मोक्षपाद का अंतिम सूत्र है। यहाँ छठी भूमिका तक गुणों का प्रतिप्रसव कहा गया। पुनः जो आगे माया की प्रेरणा से ऋद्धियों और सिद्धियों के विघ्न कहे गये हैं। वे भी योग-दर्शन के ही ज्ञान-साधन में होते हैं और जो आगे ग्रन्थि छूटने पर कैवल्य पद प्राप्ति कही गई है, यही 'स्वरूप प्रतिष्ठा' है। इसे ही निर्वाण पद भी कहते हैं।

यहाँ तक ज्ञान साधन की कठिनता कही गई, आगे उसके विघ्न दिखाते हैं—

छोरत ग्रंथि जानि खगराया। बिघ्न अनेक करइ तब माया ॥६॥
रिद्धि-सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई ॥७॥

अर्थ—हे पक्षिराज ! ग्रन्थि को खोलते हुए जानकर तब माया अनेक विघ्न करती है ॥६॥ हे भाई ! वह बहुत ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ भेजती है; वे आकर बुद्धि को लोभ दिखाती हैं ॥७॥

विशेष—(१) 'छोरत ग्रन्थि जानि···'—पहले भी माया की ओर से ये विघ्न होते ही थे, पर वे सामान्य थे। जीव माया के वश था ही वह इसे जैसे चाहती थी, नचाती थी; यथा—"जेहि बहु बार नचावा मोही।" (दो॰ ५८)। वे विघ्न इसे विघ्न न जान पड़ते थे। अब शुद्ध हुआ तो बहुत दुःखद लगते हैं। पुनः अभी तक नटिनी को रानी बनाये हुए उसके अधीन था, अब उसे निकाल दिया और उसने भी देखा कि अब यह मेरे हाथ से जाता है, तब स्वयं अधिक विघ्न करने पर उद्यत हुई। आत्मानुभव के प्रकाश से अब माया का दिव्य रूप दिखाई पड़ने लगा। पहले उसके सामान्य रूप से मोहादिक के द्वारा विघ्न होते थे, जब उनसे कुछ न बन पड़ा और दीपक जल गया, तब वह स्वयं विघ्न करने में लगी। 'खगराया'—भाव यह कि आप तो राजा हैं। अतः, जानते हैं कि स्वतंत्रता चाहनेवालों का मार्ग कैसा कठिन होता है।

(२) 'रिद्धि सिद्धि'—इनके नाम पूर्व आ गये हैं। 'प्रेरइ बहु भाई'—यद्यपि ज्ञानी को चाह नहीं है तथापि वे स्वयं माया की प्रेरणा से आती हैं। 'आई' से स्पष्ट है। 'लोभ दिखावहिं'—बहुत-सी संपत्तियाँ जहाँ-तहाँ से आने लगती हैं। सिद्धियाँ अपनी शक्ति देने का लोभ दिखाती हैं। सिद्धियों की शक्ति सुंदर कांड में कुछ श्रीहनुमान्‌जी के प्रसंग में दिखाई गई। उनके लोभ में पड़कर बहुधा संत करामात दिखलाने लग जाते हैं। उन्हें स्वर्ग के भी चरित देख पड़ते हैं। मिट्टी की वस्तुएँ सोने की देख पड़ती हैं, इत्यादि। इसी में ज्ञान भ्रष्ट हो जाता है।

'लोभ दिखावहिं आई'—आकर प्रीति दिखाती है—यह साम है। 'रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु' यह दान है। पुनः यह भी सुझाती है कि जिसके हित में तुम लगी हो, मुक्त होते ही वह तुम्हें भी छोड़ देगा—यह भेद है। इतने से काम न चलते देखा तो और भी उपाय करती हैं।

कलबल छल करि जाहिं समीपा। अंचल बात बुझावहिं दीपा ॥८॥

शब्दार्थ—कलबल (कल = कला, विद्या, युक्ति)=युक्ति का बल, दाँव-पेंच।

अर्थ—दाँवपेंच और छल करके पास जाती है और अंचल की वायु से दीपक को बुझा देती है ॥८॥

विशेष—(१) ऋद्धि, सिद्धि आदि स्त्री-वर्ग हैं, स्त्रियाँ अंचल से दीपक बुझाती हैं। अंचल की हवा दूर तक नहीं जाती, इसलिये अंचलवात से बुझाना एवं इससे उसका समीप जाना कहा है। बुद्धि तो

अपने स्थल पर काम मे लगी है। ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ अपने प्रयोजन साधने के लिये समीप जाती हैं। बुद्धि का इनसे प्रेम एवं उसे इनकी चाह नहीं है, तो वह इन्हें क्यों समीप आने देगी। अत, ये 'कल बल छल' से समीप जाती हैं। 'कलबल' तक नीति रही, पर इनसे काम न चला, तो छल करती है। धर्म सबंध के ऐश्वर्य दिखाकर फँसाने की चेष्टा करती है। इस युक्ति से समीप पहुँच जाती है।

(२) 'अचल बात'—बात का उपमेय विषय व्रत विषय का लोभ है; यथा—"विषय समीर बुद्धि कृत भोरी।"; "लोभ बात नहिं ताहि बुझावा।" यह आगे कहा है। अत, अंचल विषयक तात्पर्य माया रूपी नारी से है, यथा—"तिन्ह महँ अति दारुन दुखद, माया रूपी नारि।" (आ॰ दो॰ ४३)। "देखि रूप मुनि बिरति बिसारी।", "हे बिधि मिलइ कवनि बिधि बाला॥" (बा॰ दो॰ १३०)। मोह आदि तम हैं, नारी 'निविड़ रजनी अँधियारी' है। नारी ही माया का परम बल है, यथा—"येहि के एक परम बल नारी। तेहि ते उबर सुभट सोइ भारी॥" (आ॰ दो॰ ३७) इसका विषय बात रोग मे भी कहा है, यथा—"काम बात·· " (दो॰ १२०)। 'बुझावइ दीपा'—स्त्री-विषय पर वृत्ति जाते ही ब्रह्मात्मक वृत्ति नहीं रह जाती, क्योंकि ये दोनों वृत्तियाँ एक दूसरे के विरुद्ध हैं; यथा—"देखहिं चराचर नारि मय, जे ब्रह्ममय देखत रहे।" (बा॰ दो॰ ८५)। इससे सब किया कराया नाश हो जाता है।

होइ बुद्धि जौं परम सयानी। तिन्ह तन चितव न अनहित जानी॥९॥
जौं तेहि बिघ्न बुद्धि नहिं बाधी। तौ बहोरि सुर करहिं उपाधी॥१०॥

अर्थ—यदि बुद्धि परम सयानी हुई तो वह अनहित समझकर उनकी ओर दृष्टि नहीं करती॥९॥ जो उस विघ्न से बुद्धि को बाधा नहीं हुई तब फिर देवतागण उपाधि करते हैं॥१०॥

विशेष—(१) 'होइ बुद्धि जौं ..'—'जौं' से परम सयानी होने में सदेह सूचित किया, सयानापन यह है कि अपने प्रयोजन पर दृष्टि रक्खे। परम सयानापन यह कि उसपर बहुत विघ्न भी आवें तो भी अभीष्ट की रक्षा कर ले। अत, जो परम सयानी बुद्धि हुई तो वह उनसे अपना अनहित समझकर उन्हें नहीं चाहती। ऐसे ही अवसर का लक्ष्य करके कहा है, यथा—"निज घर की घरबात बिलोकहु हौ तुम्ह परम सयानी।" (वि॰ ५)—भाव यह कि अपने स्वामी का लाभ देखो।

(२ 'तिन्ह तन चितव न'—देखने से उसपर स्नेह आ ही जाता है, यथा—"देखि रूप मुनि बिरति बिसारी। बड़ी बार लगि रहे निहारी॥" पुन —"माया बिबस भये मुनि मूढ़ा।" (बा॰ दो॰ — १३०—१३२), अत , उनकी ओर देखे ही नहीं। जब तक बुद्धि स्थिर रहती है, तब तक वे समीप नहीं आ सकतीं, बुझाना तो दूर रहा। 'अनहित जानी'—यह अपनेको हित रूप मे दिखाती है, पर हमारे स्वामी का अनहित करनेवाली है ऐसा जान कर। सद्सद्विवेकनी बुद्धि आत्मा की पतिव्रता स्त्री के समान है, यथा—"व्यवसायात्मिकाबुद्धिरेकेह कुरुनदन। बहुशाखा ह्यनताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥" (गीता २।४१)।

(३) 'जौं तेहि बिघ्न···'— जौं' का भाव यह कि न बाधित होने ही में सदेह है, बाधित होने मे नहीं। 'तौ बहोरि' अर्थात् तत्पश्चात्। 'सुर करहिं उपाधी'—यह भी माया का कर्तव्य है, यही देवताओं से उपाधि करवाती है, क्योंकि देवता भी तो उसके वश हैं, यथा—"देव दनुज नर नाग मनुज सब माया बिबस बिचारे।" (वि॰ १०१), "यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिल ब्रह्मादिदेवासुरा।" (बा॰ मं॰ श्लो॰ ६) पुन देवता स्वय भी स्वार्थी हैं, यथा—"आये देव सदा स्वारथी।" (ल॰ दो॰ १०८);

देवता मनुष्यों को अपना भोग्य (पशु) मानते हैं, क्योंकि मनुष्यों के ही शुभाशुभ कर्मों से उनका भोग रहता है, इससे वे नहीं चाहते कि ये ब्रह्म का साक्षात्कार कर पावें ; यथा "यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान्भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः ॥" (बृह० १।४।१०) : अर्थात् जैसे बहुत-से पशु मनुष्य को भोग देते हैं, इसी प्रकार एक-एक मनुष्य देवताओं को भोग देता है। एक पशु का छीना जाना ही अप्रिय होता है, तो बहुतों का छीना जाना क्यों न अप्रिय हो ? इसलिये देवताओं को यह प्रिय नहीं कि मनुष्य उस ब्रह्म को जाने।

'करहिं उपाधी'—धर्म-सम्बन्ध लगाकर विघ्न करते हैं, नेत्र के देवता प्रेरणा करते हैं कि ईश्वर की लीला देखने चलो, पग के देवता कहते हैं कि अमुक तीर्थ को चलना ही चाहिये, वहाँ ले जाकर स्त्रियों के मुंड से संयोग करा देते हैं, इत्यादि।

इंद्रिय-द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना ॥११॥

अर्थ—(इस देह-गृह में) इन्द्रिय-द्वार नाना प्रकार के झरोखे हैं, वहाँ-वहाँ (उन झरोखों पर) इन्द्रिय-देवता स्थान (थाना) जमाये बैठे हुए हैं ॥११॥

विशेष—(१) 'इंद्रिय-द्वार'—अर्थात् इन्द्रियों के गोलक-इन्द्रियाँ दस हैं—श्रवण आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और वाणी आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ। इनके पृथक-पृथक् विषय और देवता हैं—

ज्ञान-इन्द्रिय	विषय	देवता	कर्म-इन्द्रिय	विषय	देवता
(१) श्रवण	शब्द	दिशा	(१) वाणी	भाषण	अग्नि
(२) त्वचा	स्पर्श	वायु	(२) हाथ	ग्रहण	इन्द्र
(३) चक्षु	रूप	सूर्य	(३) पैर	गमन	यज्ञविष्णु
(४) जिह्वा	रस	वरुण	(४) उपस्थ	प्रस्राव	प्रजापति
(५) नासिका	गंध	अश्विनीकुमार	(५) गुदा	मलविसर्ग	यम

इन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं, दिखलाई नहीं पड़तीं, उनके द्वार दिखलाई पड़ते हैं, इन्हीं द्वार-रूपी झरोखों से निकलकर इंद्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण करती हैं। 'झरोखा नाना'—इंद्रियाँ दस हैं, पर इनमें श्रवण, नेत्र, नासिका, हाथ और पैर के दोहरे (दो-दो) झरोखे हैं और त्वचा में रोमकूप अगणित छिद्र हैं, इसीसे 'नाना' विशेषण दिया गया है।

(२) 'बैठे करि थाना'—थाना अर्थात् अड्डा, रक्षा के लिये चौकी; जहाँ से उस केन्द्र की रक्षा हो—उसे थाना कहते हैं। वहाँ जो अधिकारी बैठता है उसका उस केन्द्र पर अधिकार होता है। वैसे ही इंद्रिय द्वार पर उसके देवता का अधिकार रहता है, देवता लोग अपने-अपने द्वार पर अधिकार जमाये बैठे हुए हैं। भाव यह कि वहाँ से उनको भोग मिलता था, वृत्तियों के न उठने से भोग मिलना बंद हो गया है। अतः, वे वृत्तियों के उठाने के लिये यत्न करते ही हैं।

आवत देखहिं विषय-बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी ॥१२॥

अर्थ—वे देवता (जब) विषय-रूपी हवा का झोंका आते देखते हैं, तब बल-पूर्वक किवाड़ खोल देते हैं ॥१२॥

विशेष—(१) जब बुद्धि भुलावे में नहीं आई तब माया ने यही उपाय सोचा कि किसी तरह दीपक बुझ जाय और दीपक बुझाने में हवा का झोंका समर्थ होता है। उसी के डर से तो बुद्धि ने उर-गृह में दीपक जलाकर गाँठ खोलना प्रारंभ किया है। माया की प्रेरणा से सब प्रकार के विषयों के झोंके आने लगते हैं। 'आवत देखहिं'—ये देवता लोग इंद्रिय-द्वार से देखते हैं कि झोंका आ गया, तब''

(२) 'तब हठि देहिं कपाट उघारी'—बुद्धि आसन और मुद्रा-द्वारा इंद्रिय-द्वार-झरोखों को बन्द करके उर-गृह में बैठी थी, ये हठ करके झरोखे का किवाड़ खोल देते हैं। बुद्धि मना करती ही रह जाती है, ये उसकी एक नहीं सुनते। (कारण यह कि यहाँ साधक को मधुमती भूमिका की प्राप्ति होती है और वह सिद्धियों में आसक्त हो जाता है)।

कपाट का खोलना यह है कि सम्मुख प्राप्त विषयों के लिये इंद्रियों की वृत्ति जाग्रत् कर देते हैं। दम को मिटा देना ही कपाट खोल देना है। विषय-सुख के प्रति हर्ष होना ज्ञान-दीपक में विषय बयारि की ठोकर लगना है।

झरोखे अनेक हैं। सब ओर से झकोरे आने लगे, तो दीपक कहाँ ठहर सकता है, बुद्धि किस-किसको रोकेगी?

जब सो प्रभंजन उर-गृह जाई। तबहिं दीप-विज्ञान बुझाई ॥१३॥
ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा। बुद्धि बिकल भइ बिषय-बतासा ॥१४॥

अर्थ—जब वह पवन का झकोरा हृदय-रूपी घर में जाता है तभी विज्ञान-दीपक बुझ जाता है ॥१३॥ गाँठ छूटी नहीं और वह प्रकाश भी जाता रहा, विषय-रूपी पवन से बुद्धि व्याकुल हो गई ॥१४॥

विशेष—(१) 'प्रभंजन'— पहले 'बिषय बयारी' कहा गया था और फिर दीपक बुझाने में उसका सामर्थ्य परक नाम 'प्रभंजन' अर्थात् प्रकर्ष करके भंजन करनेवाला कहा गया, क्योंकि इसने विज्ञान निरूपिणी बुद्धि का बना-बनाया घर ही चौपट कर दिया। यह धैर्य रूपी खंभ का तोड़नेवाला है। 'तबहिं'—शीघ्र ही, जिससे बुद्धि रक्षा का कोई उपाय न कर सके। 'दीपविज्ञान बुझाई'—झोंकों से पल-मात्र में दियट कहीं, दीपक कहीं बत्ती कहीं गिरी और वह बुझ गई। क्षण-भर में ही सर्वस्व का पता नहीं, साधक दिव्य विषयों में लिप्त हो गया। सोऽहमस्मि वृत्ति जाती रही, कहा ही है—"जोग सिद्धि फल समय जिमि, जतिहि अविद्या नास ॥" (अ० दो० २१)।

(२) 'ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा।'—गाँठ छोड़ने के लिये ही सब प्रयास किया गया, परन्तु वह नहीं हो पाया। 'सो प्रकासा'—जो 'आतम अनुभव सुख सुप्रकासा।' था, वह 'सोऽहमस्मि' वृत्ति के द्वारा था, जब वह वृत्ति ही नहीं रह गई, तब प्रकाश कैसे रहे?

'बुद्धि बिकल भइ'—क्योंकि घोर परिश्रम व्यर्थ गया, स्वामी के उद्धार का मनोरथ नष्ट हुआ और विषय बयारि के झकोरों की चपेट लगी। बुद्धि ने ही सब कुछ किया; अतएव हानि पर वही विकल हुई। विकल होने से किंकर्त्तव्य विमूढ हो गई।

इंद्रिन्ह सुरन्ह न ज्ञान सोहाई। बिषय भोग पर प्रीति सदाई ॥१५॥
बिषय-समीर बुद्धि कृत भोरी। तेहि बिधि दीप को बार बहोरी ॥१६॥

अर्थ—इंद्रियों और उनके देवताओं को ज्ञान नहीं अच्छा लगता, (क्योंकि) विषय-भोग पर निरंतर उनकी आसक्ति रहती है (वे क्षणमात्र भी विषय का वियोग नहीं सह सकते) ॥१५॥ विषय-रूपी प्रचंड वायु ने बुद्धि को पगली बना दिया, अब फिर से, ज्ञान दीपक को उस विधि से कौन जला सकता है ? अर्थात् सामर्थ्यवाली बुद्धि पगली हो गई। अत, फिर से यह जल नहीं सकता। भाव यह कि इसे इस जन्म में मोक्षप्राप्ति असंभव है ॥१६॥

विशेष—(१) 'इंद्रिन्ह सुरन्ह न ज्ञान सोहाई ।'—इसपर ऊपर की अर्द्धाली १० भी देखिये। ज्ञान होने से मनुष्य विषय विमुख हो जाता है। उससे देवताओं के भोग मे कमी आने लगती है। उपनिषदों मे कहा है कि सृष्टि के प्रारम्भ मे विराट् की उत्पत्ति हुई। पुन उसके क्षुधा-तृषा से युक्त होने पर, भूख-प्यास से दुखी होकर इंद्रिय देवताओं ने अपनी तृप्ति के लिये ब्रह्मदेव से व्यष्टि शरीर रचने की प्रार्थना की। तब ब्रह्मदेव ने ऊपर दाँतवाली गौ रची, उससे वे लोग तृप्त नहीं हुए, बोले कि 'नायमलमिति' (अर्थात् यह हमारे लिये यथेष्ट नहीं है)। तब ऊपर-नीचे दोनों दाँतोंवाला घोड़ा रचा, वे बोले कि इससे भी हमारा काम नहीं चलेगा, तब मनुष्य की रचना की, उसे देखकर देवता बड़े प्रसन्न हुए और बोले 'अलम्, अलम्' अर्थात् इसीसे हमारा काम चलेगा अत, देवता इंद्रियों के साथ यथास्थान अंगों में प्रवेश कर गये। अतएव ऐसे भोग-साधन (रूप मनुष्य) का विषय-विमुख होकर ज्ञानी होना उन्हें नहीं सुहाता।

शंका—देवताओं मे सूर्य आदि भी तो हैं, जो कि नेत्र के देवता और ज्ञानी हैं।

समाधान—देवता जिस अंश से इंद्रिय स्थानों पर रहते हैं, उस अंश से विषय रस ही चाहते हैं, जैसे भले लोग भी स्त्री (युवती) के पास चपलता करते हैं।

(२) 'बिषय समीर बुद्धि '—'समीर' शब्द का अर्थ 'अच्छी तरह चलनेवाला' है, वही यहाँ वायु के विषय मे ग्रहण किया गया है कि विषय का अंधड़ बंद नहीं होता, चला ही करता है। तब जिस उपर्युक्त विधि से दीपक जलाया गया, साहस भग्न होने से उसका दोबारा होना असंभव है, ऊपर कहा ही गया है कि कार्य साधनेवाली बुद्धि पगली हो गई। अत, अविधि से उक्त बातें साध्य नहीं हैं।

दोहा—तब फिरि जीव बिबिधि बिधि, पावइ संसृत-क्लेस ।
हरि-माया अति दुस्तर, तरि न जाइ बिहगेस ॥
कहत कठिन समुझत कठिन, साधन कठिन बिबेक ।
होइ घुनाच्छर न्याय जौ, पुनि प्रत्यूह अनेक ॥११८॥

अर्थ—ज्ञान विमुख होकर तब जीव अनेक प्रकार से संसारी क्लेश पाता है, हे गरुड़जी ! हरि माया अत्यन्त दुस्तर है, तरी नहीं जाती ॥ विवेक कहने मे कठिन, समझने में कठिन और साधने मे भी कठिन है, यदि घुणाक्षर न्याय से हो जाय तो भी उसमे अनेक विघ्न हैं ॥११८॥

विशेष—(१) 'तब फिरि'—'सोऽहमस्मि' वृत्ति के नहीं रहने से साधक ज्ञान से मुँह मोड़कर दिव्य विषयों में लिप्त हो गया। पुन मुमुक्षुता होना असम्भव है। 'जीव'—यह पहले अपनेको ब्रह्मात्मक मानता था, अब पुन विषयी जीव हो गया। 'बिबिध बिधि '—जन्म, जरा, मरण आदि, एव पंचक्लेश—अविद्या अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश (मृत्यु का भय)।

(२) 'हरि-माया अति दुस्तर···'; यथा—"हरि-माया कर अमित प्रभावा। बिपुल बार जेहि मोहि नचावा' (दो० ५१); इत्यादि। आसुरी और दैवी माया दुस्तर हैं और हरि-माया अति दुस्तर है। जब आसुरी और दैवी माया का ही तरना दुस्तर है; यथा—"जानि न जाइ निसाचर-माया।" (सुं० दो० ५१); "सुर माया सब लोग बिमोहे" (अ० दो० १०१) तब हरि-माया का तरना क्यों न अति दुस्तर हो; यथा—"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।" (गीता ७।१४)—इसमें स्पष्ट कहा गया है कि हरि की शरण हुए बिना हरि-माया का तरना अत्यन्त कठिन है। 'बिहगेस'- विघ्न का प्रकरण 'खगराया' कहकर आरम्भ किया यथा; या—"छोरत ग्रंथि जानि खगराया।" अतएव 'बिहगेस' कहकर उसकी समाप्ति भी की है।

(३) कहत कठिन···'—भाव यह है कि पहले तो इसे कोई कह नहीं सकता, यदि कहनेवाला कोई हो भी तो समझनेवाला दुर्लभ है, यदि यह भी हो तो उसका साधन करनेवाला मिलना कठिन है। भाव यह कि यह केवल कहना ही भर है। इसके साधक नहीं मिल सकते। श्रीमुख से श्रीरामजी ने भी कहा है; यथा—"ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका।।" (दो० ४४)।

(४) 'होइ घुनाच्छर न्याय···'—जैसे घुनों के काटने में, दैवयोग से कभी-कभी लकड़ी में अक्षर बन जाते हैं, किन्तु उसके उद्देश्य से नहीं बन सकते। वैसे ही यह विवेक-साधन दैवयोग से हो जाय तो हो जाय, परन्तु फिर भी इसमें अनेकों विघ्न हैं। यहाँ 'सोऽहमस्मि' वृत्ति' तक पहुँचना घुण से अक्षर बन जाने की तरह हुआ। 'पुनि प्रत्यूह' का भाव यह है कि जैसे घुण से अक्षर बन तो गया, पर फिर कहीं काटते हुए कीड़े ने, उस अक्षर को भी काट डाला। ऐसे ही इसके 'सोऽहमस्मि' वृत्ति तक पहुँचने पर यदि प्रारब्ध समाप्त होकर शरीरपात हो जाय, तो यह कैवल्य पद पा जाय, नहीं तो फिर कहीं माया के फंदे में पड़ गया तो सब श्रम व्यर्थ हो जाता है।

यहाँ 'घुनाच्छर न्याय' कहकर उपक्रम के "अस संयोग ईस जब करई। तबहुँ कदाचित् सो निरुअरई।।" को चरितार्थ किया। उपक्रम —'अकथ कहानी'; । 'समुझत बनै न' उपसंहार -'कहत कठिन समुझत कठिन। पुनः उपक्रम—"जदपि मृषा छूटत कठिनाई।" उपसंहार—"हरिमाया अति दुस्तर, तरि न जाइ बिहगेस।।" .

ज्ञान - पंथ , कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा।।१।।
जो निर्बिघ्न पंथ निर्बहई। सो कैवल्य परम पद लहई।।२।।
अति दुर्लभ कैवल्य परमपद। संत पुरान निगम आगम बद।।३।।

अर्थ—ज्ञान-मार्ग कृपाण की धार है, हे गरुड़ ! इस मार्ग पर से गिरते देर नहीं लगती।।१।। जो इस मार्ग में निर्विघ्न निबह जाता है, वह कैवल्य-मुक्ति-रूपी परम पद प्राप्त करता है।।२।। संत, पुराण, निगम और आगम सभी कहते हैं एवं बाजी लगाते हैं कि कैवल्य परम पद अत्यन्त दुर्लभ है।।३।।

विशेष—(१) 'ज्ञान-पंथ कृपान ···'—कृपाण द्विधारा तलवार को कहते हैं, सामान्य तलवार पर ही चढ़ना कठिन है, यथा—"तिय चढ़िहहिं पतिव्रत-असि धारा।" (बा० दो० ६६); यह ज्ञान-मार्ग उससे भी अत्यन्त सूक्ष्म है, इसे कृपाण की धार ही समझिये, मार्ग क्या है निरावलम्ब मार्ग में एक रेखा है। तार पर या रस्से पर चलनेवाले बड़ी सावधानी से समता बनाये हुए पैर रखते हैं, जरा भी वैषम्य हुआ कि गिरे और यहाँ तो कृपाण की धार पर चढ़ना और चलना है, अत इसमें गिरते देर नहीं लगती; यथा—

"जे ज्ञान-मान विमत्त तव भव हरनि भगति न आदरी। ते पाइ सुर-दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥" (दो० १२), तथा—"क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥" (कठ० ।१।१४); अर्थात् ज्ञान-मार्ग छुरे की पैनी धार है, (उसे) कवि लोग दुर्गम और दुरत्यय मार्ग कहते हैं।

यहाँ अत्यन्त सूक्ष्म साधन का नहीं हो सकना गिरना है और साधन में चूक जाना पैर का फटना है। 'जौ निर्विघ्न'—विघ्न ऊपर बहुत-से कहे गये, वे सब होते हैं; अतः, निबहना संदिग्ध है।

(२) 'अति दुर्लभ ··'—विदेह का अधिकार पद है; यथा—"भरतहि होइ न राज-मद, विधि-हरि-हर-पद-पाय।" (अ० दो० २३१), कैवल्य उससे भी श्रेष्ठ है, इससे इसे 'परम पद' कहा गया है। इसकी दुर्लभता यों भी है कि प्रथम तो ब्राह्मण-शरीर ही दुर्लभ है; यथा—"चरम देह द्विज के मैं पाई। सुर दुर्लभ पुरान श्रुति गाई॥" (दो० १०९); उस शरीर में भी विरति, विवेक, ज्ञान और विज्ञान का होना मुनि-दुर्लभ है, यथा—"ज्ञान विवेक बिरति बिज्ञाना। मुनि-दुर्लभ गुन जे जगजाना॥" (दो० ८१); उन गुणों के होते हुए भी उनके फल-स्वरूप कैवल्य परम पद की प्राप्ति अति दुर्लभ है।

'संत-पुरान-निगम-आगम बद।'—वेद-पुराण आदि के कहने पर जब जिस विषय को संत लोग अनुभव करके अनुमोदन करते हैं, तब वह सर्वजगत के योग्य सिद्धान्त रूप होता है; यथा—"बेद पुरान उदधि घन साधू।" (बा० दो० ३५); पर इसकी महत्ता को सभी एक स्वर से कहते हैं, अतएव यह यथार्थ ही है कि कैवल्य प्राप्त करना परम पुरुषार्थ की सिद्धि है।

इस प्रसंग के उपक्रम में कहा गया था, यथा—"वेद-पुरान-संत-मत भाखउँ।" (दो० ११५)। और यहाँ इसके उपसंहार में भी कहा है, यथा—"संत-पुरान-निगम-आगम बद।"

राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरियाईं॥४॥
जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करइ उपाई॥५॥
तथा मोच्छ-सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरिभगति बिहाई॥६॥

अर्थ—श्रीरामजी का भजन करते हुए वही अत्यन्त दुर्लभ मुक्ति, इच्छा न करने पर भी, बरियाई आकर प्राप्त होती है॥४॥ जैसे विना स्थल (गहरी भूमि) के जल रह नहीं सकता, चाहे कोई करोड़ों उपाय करे॥५॥ उसी प्रकार, हे गरुड़जी! सुनिये, मोक्ष सुख भगवान् की भक्ति को छोड़कर रह ही नहीं सकता॥६॥

विशेष—(१) 'राम भजत सोइ ··'—इतने प्रयास से होनेवाली जो मुक्ति है, वह राम-भक्ति से अनिच्छित कैसे आ जायगी? इसका उत्तर यह है कि यहाँ जीव का प्रकृति वियुक्त (तीन अवस्थाओं और तीन गुणों तक से पृथक्) होकर स्व-स्वरूप में स्थित होना और उस 'आतम-अनुभव सुख सुप्रकास' से ग्रंथि निर्मुक्ति कर अंत में संसार-दुःख से छूटकर कैवल्य परम पद पाना फल कहा गया है, यथा—"उभय हरहि भव-संभव खेदा।" यही फल भक्ति से अन इच्छित इस तरह आता है, यथा—"मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥" (आ० दो० ३५), जीव का सहज स्वरूप—'ईश्वर अंस जीव···' में जो कहा गया वही है, उसी का शुद्ध रूप में साक्षात् करना ही कैवल्य का भी उद्देश्य कहा गया।

इस 'मम दरसन ··' की चौपाई को श्रीरामजी ने श्रीशबरीजी से नवधा भक्ति वर्णन करने के पीछे

फल-रूप में कहा है ; यथा—"सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे।" अतः, "जोगिवृंद दुर्लभ गति जोई। तो कहँ आजु सुलभ भइ सोई॥" क्योंकि—"मम दरसन फल···" बस, यह प्रसंग यहीं समाप्त हो गया।

यहाँ सकल प्रकार की भक्ति में नवधा के ही नव अंग नहीं ; किन्तु प्रेमा और परा को भी समझना चाहिये, क्योंकि इसकी प्रेमा भक्ति प्रसिद्ध है ; यथा—"शबर्या पूजितः सम्यग्रामो दशरथात्मजः॥" (वाल्मी॰ मू॰)। अतः, इसने अच्छी तरह से श्रीरामजी के दर्शन किये हैं, इसीसे यह अपने सहज स्वरूप को प्राप्त हुई। उसीका महत्व श्रीरामजी ने कहा है। दर्शन इस प्रकार होते हैं—

स्थूल शरीराभिमानी जीव प्रथम नवधा भक्ति सहित श्रीरामजी के दर्शन करता रहता है, इसमें इन्द्रियों के विषय भगवान् ही रहते हैं। अतः, चित्तवृत्ति भगवान् में ही रहती है। फिर प्रेमा भक्ति के द्वारा सूक्ष्म शरीर के दोषों को शुद्ध करता हुआ श्रीरामजी में चित्त रखता है और बुद्धि से उन्हीं की कृपा, दया आदि गुणों का विचार होने पर मन समग्र इन्द्रिय-वृत्तियों-सहित प्रीति के उमंग मे निमग्न रहता है। अतः, दर्शनों मे बाधा नहीं पड़ती। पुनः पराभक्ति के दृढ़ अनुराग के प्रारंभ में ही विरहाग्नि के द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म-वासनामय कारण शरीर भस्म होने से साधक तुरीयावस्था को स्वतः प्राप्त होता है। इसी अवस्था में यहाँ 'सोऽहमस्मि' वृत्ति कही गई है। इस पराभक्ति में भगवान् में गाढ़-स्मृति स्वतः एकरस रहती है ; यथा—"सरग नरक अपबरग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनुबाना॥" (अ॰ दो॰ १३०) ; इससे ज्ञान-प्रसंग की माया-कृत बाधाएँ जो ग्रंथि छोड़ने में कही गई हैं, कुछ नहीं कर सकतीं ; यथा—"भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥" (दो॰ ११५), अतः, यह उक्त ग्रंथियों से भी निर्मुक्त हो जाता है ; यथा—"तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः। त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥" (भाग॰ १०।२।३३)।

यहाँ तक ये सब कार्य केवल श्रीराम-दर्शन से हुए। अवस्थानुसार मनादि इन्द्रियों के लिये आधार-रूप मे नवधादि भक्तियाँ थीं, जिसकी ज्ञान में त्रुटि है—"न मन कहँ टेका।" (दो॰ ४४) दर्शन-फल को श्रुतियाँ भी कहती हैं ; यथा—"भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्यकर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥" (मुंडक॰ २।२।८) ; अर्थात् उस परमात्मा के देखने पर (साक्षात्कार होने पर) हृदय की जड़-चेतन की ग्रन्थि कट जाती है और सर्व संशय निवृत्त हो जाते हैं, प्राचीन कर्मों के विनाश हो जाते हैं। फिर शरीर-शरीरी रूप मे स्व स्वरूप स्थिति रहने से क्रियमाण कर्म अहंकार-रहित होते हैं और प्रारब्ध कर्म भोग देकर समाप्त हो जाता है। इस तरह तीनों कर्मों के क्षय होने से देहरहित होने पर मुक्त कहाता है।

(२) 'अनइच्छित आवइ···' का भाव यह है कि यह केवल श्रीराम-स्नेह चाहता है, वे दशाएँ स्वतः आती जाती हैं, कहावत है—"खेती करिय अनाज-हित सहज घास भुस होइ।" मुक्ति-रूपी फल के चाहने में श्रीरामजी और उनकी भक्ति साधनांग हो जाते हैं, इसीसे भक्त लोग मुक्ति नहीं चाहते। परन्तु—"यान्ति मद्याजिनोऽपिमाम्।" (गीता ९।२५) ; तथा—"मद्भक्ता यान्ति मामपि।" (गीता ७।२३) की रीति से वे भगवान् को ही प्राप्त होते हैं। और—"यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धामपरम मम।" (गीता १५।६) ; तथा—"मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।" (गीता ८।१६) आदि प्रमाणों से वे निर्मुक्त होकर ही नित्यधाम में रहते हैं।

(३) 'जिमि थल बिनु ··तथा मोच्छ सुख ··'—गहरा स्थल भक्ति है, मोक्ष सुख-जल-रूप है। ऊपर जो अनिच्छित आना कहा था, उसे ही दृष्टान्त द्वारा सरल करते हैं कि भजन करते हुए वह सुख

अनायास ही आता है ; यथा—"जेहि सुख लागि पुरारि ··सोई सुख लवलेस···" (दो० ८८) देखिये। "मम गुन-ग्राम-नाम-रत, गत ममता मद-मोह। ताकर सुख सोइ जानइ, परानंद संदोह॥" (दो० ४६); "जिन्हके मन मगन भये हैं रस सगुन तिन्हके लेखे अगुन मुकुति कवनि॥" (गी० बा० ५)। "अवलोकि रामहिं अनुभवत मनु ब्रह्म सुख सौ गुन दिये।" (जानकीमंगल ४५)।

अस बिचारि हरि-भगत सयाने। मुक्ति निरादरि भगति लुभाने॥७॥
भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अबिद्या नासा॥८॥

अर्थ—ऐसा विचारकर चतुर हरि-भक्त मुक्ति का निरादर करके भक्ति पर लुभाये रहते हैं॥७॥ भक्ति करते हुए बिना यत्न और परिश्रम के संसार के मूल अविद्या का नाश होता है॥८॥

विशेष—(१) 'अस बिचारि'—जैसा ऊपर ज्ञान की घुणाक्षर-न्याय से सिद्धि एवं उससे हरि-माया का 'अति दुस्तर' होना कहा गया है। पुनः वही 'अति दुर्लभ कैवल्य परम पद' श्रीराम-भजन से अनायास प्राप्त होता है और भक्ति से ही मोक्षसुख की अक्षय स्थिति है, इत्यादि विचार कर जो सयाने हरिभक्त हैं, वे—'मुक्ति निरादरि···'; यथा—"भजन-हीन सुख कवने काजा।" (दो० ८३)। उसी मुक्ति-साधन को श्रीलोमशजी कहते थे, पर श्रीभुशुंडिजी ने उसे नहीं माना और भक्ति के लिये लुभाये हुए उनसे हठ की थी, शाप तक सह लिया, पर भक्ति का लोभ नहीं छोड़ा। उसी पर गरुड़जी ने यह प्रश्न किया था ; यथा—"नहि आदरेहु भगति की नाईं।" (दो० ११४); उसी का यहाँ उत्तर है कि मैं ही ऐसा नहीं करता; किन्तु सभी सयाने हरि भक्त करते हैं। इसी पर श्रीरामजी ने श्रीभुशुंडिजी को 'सहज सयाना' कहा था ; यथा—"सुनु बायस तैं सहज सयाना। काहे न माँगसि अस बरदाना॥" (दो० ८४)।

(२) 'भगति करत बिनु ···'—भाव यह कि ज्ञान में बहुत यत्न और श्रम करना पड़ता है। परन्तु भक्ति में दूसरा यत्न और परिश्रम नहीं करना पड़ता। भक्ति में भक्ति मात्र ही करनी पड़ती है, वह तो सुख-साध्य है ही। पुनः बिना यत्न-प्रयास के ही इससे अविद्या का नाश हो जाता है। इसी पर आगे दृष्टान्त देते हैं—

भोजन करिय तृपिति हित लागी। जिमि सो असन पचवै जठरागी॥९॥
असि हरि-भगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सोहाई॥१०॥

अर्थ—भोजन तृप्ति के लिये किया जाता है उस भोजन को जठराग्नि पचा देती है॥९॥ इस प्रकार हरि-भक्ति सुगम और सुख देनेवाली है। ऐसा कौन मूढ़ होगा, जिसे वह अच्छी न लगे॥१०॥

विशेष—(१) भोजन करने का मुख्य फल तृप्ति है और उसका पचाना आनुषंगिक है। वह जठराग्नि के द्वारा बिना प्रयास एवं बिना यत्न के ही होता रहता है। इसी तरह हरि-भजन सुन्दर भोजन है, प्रेम-सहित भजन करते हुए इन्द्रिय अंतःकरण सहित जीव को उससे तृप्ति हुआ करती है ; यथा—"कबहूँ कवि राघव आवहिंगे। मेरे नयन चकोर प्रीति बस राकाससि मुख दिखरावहिंगे॥ मधुप मराल मोर चातक ह्वै लोचन बहु प्रकार धावहिंगे। अंग अंग छबि भिन्न भिन्न सुख निरखि निरखि तहँ तहँ छावहिंगे॥" (गी० सुं० १०)। इन्द्रियों को अपना विषय ग्रहण करना चिर-अभ्यस्त होने से सुगम एवं

सुखदायी रहता है। भक्ति हीन विषय नरक देनेवाले हैं, अविद्यात्मक हैं। और, वही विषय भक्ति के रूप में अर्थात् श्रीरामजी के रूप देखने एवं उनके यश सुनने आदि में श्रीराम-प्राप्ति रूप मोक्ष के साधक होते हैं। भगवत्सम्बन्धी दिव्य विषय से इन्द्रियाँ तृप्त होती हैं और प्रारब्ध-वृत्तियाँ भी भक्ति रूप में परिणत होकर समाप्त होती जाती है। विषयानुराग-रूपी विकार भस्म होता जाता है, पचता जाता है। (भक्ति-संबंधी व्यवहार भी अविद्यात्मक नहीं होता) भक्ति रूप में ही परिणत हो जाता है। इसमें जठराग्नि-रूपा इष्टरूपा है।

(२) 'असि हरि-भगति···'; यथा—"भगति करत बिनु जतन प्रयासा।" से "पचवै जठरागी" तक। प्रयास-रहित होने से सुगम और संसृति मूल अविद्या नाशक होने से भक्ति को सुखदायी कहा है। 'को अस मूढ़ न जाहि सुहाई।'—भाव यह कि जो सयाने हैं, वे तो लुभाये हुए रहते हैं, ऊपर कहा गया। जिन्हें नहीं सुहाती वे मूढ़ हैं, मूढ सयाने का उल्टा है। भक्ति 'सुगम सुखदाई' है और ज्ञान 'अगम प्रत्यूह अनेका' है; अर्थात् दुर्गम और दुःखदायी है। उसके पीछे पचना मूढ़ता है। यह ध्वनि है।

दोहा—सेवक-सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।
भजहु राम-पद-पंकज, अस सिद्धांत बिचारि॥
जो चेतन कहँ जड़ करइ, जड़हि करइ चैतन्य।
अस समर्थ रघुनायकहि, भजहिं जीव ते धन्य॥११९॥

अर्थ—हे गरुड़जी! सेवक-स्वामि (अर्थात् मैं सेवक हूँ, श्रीरामजी मेरे स्वामी हैं इस) भाव के बिना संसार तरना नहीं हो सकता—ऐसा सिद्धान्त विचार कर श्रीरामजी के चरण कमल का भजन करो॥ जो चेतन को जड़ कर देते हैं और जड़ को चेतन—ऐसे समर्थ श्रीरघुनाथजी को जो जीव भजते हैं, वे धन्य हैं॥११९॥

विशेष—(१) 'सेवक-सेव्य भाव'; यथा—"अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥" (अ॰ दो॰ १०); तथा—"दासभूताः स्वत सर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः॥" पुन बृहदा॰ ३।७।३ के 'यस्य पृथवी शरीरम्' से लेकर २३ वें मंत्र तक जल, अग्नि, वायु, आकाश आदि और जीवात्मा को भी भगवान् का शरीर कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि पाँचों तत्वों के शरीर सहित जीव भगवान् का शरीर है, वे इसके शरीरी हैं। शरीरी स्वामी और शरीर सेवक होता है, यथा—"सेवक कर पद नयन से···" (अ॰ दो॰ ३०६), शरीरी (जीवात्मा) अपने शरीर पर शासक होता है और उसका भोक्ता है, शरीर उसका भोग्य है। इसी तरह सभी जीव अपनी देह सहित भगवान् के सेवक, नियाम्य और भोग्य हैं, भगवान् स्वामी, नियामक और भोक्ता हैं श्रुति सिद्धान्तानुसार इसी भाव से भव-तरण होता है, अतएव इसी भाव से श्रीरामजी के चरण-कमल का भजन करना चाहिये।

(२) 'जो चेतन कहँ जड़ करइ···'—यदि कहा जाय कि उपर्युक्त जड चेतन की गाँठ कैसे छूटेगी? उसपर कहते हैं कि श्रीरामजी उस अध्यास के छुड़ा देने में समर्थ हैं—यह दो॰ ११६ चौ॰ ४ मे कहा गया है। जैसे कि श्रीनारदजी चेतन थे सो जड़ हो गये, उन्होंने इष्ट ईश्वर पर भी क्रोध किया और ध्रुव जड़ (अज्ञान) बालक थे, वे सर्वशास्त्र के ज्ञाता हो गये, शङ्ख स्पर्श द्वारा भगवान् ने उन्हें सम्पूर्ण विद्या दे दी। तथा—

"मसकहि करइ बिरंचि प्रभु, अजहि मसक ते हीन। अस विचारि तजि संसय, रामहि भजहि प्रवीन॥" (दो० १२२); "तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई।" (लं० दो० ३१), "माया जीव काल के करम के सुभाव के करैया राम वेद कहैं साँची मन गुनिये।" (हनु० बा० ४४)। "ईसनि, दिगीसनि, जोगीसनि, मुनीस नि हूँ, छोड़ति छोड़ाये ते, गहाये ते गहति।" (वि० २४६) इत्यादि। 'ते' से 'जे' का अध्याहार कर लेना चाहिये, जे जीव—स्त्री, पुरुष शूद्र, अन्त्यज, पशु आदि कोई भी हों।

(३) 'ते धन्य', यथा—"सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तनु पाइ भजिय रघुबीरा॥" (दो० ९५)।

ज्ञान-सिद्धान्त (एवं ज्ञान-दीपक) प्रकरण समाप्त।

भक्ति-चिन्तामणि-प्रकरण

कहेउँ ज्ञान-सिद्धांत बुझाई। सुनहु भगति-मनि कै प्रभुताई॥१॥
राम-भगति चिंतामनि सुंदर। बसइ गरुड़ जाके उर अंतर॥२॥
परम प्रकास रूप दिन-राती। नहिं कछु चहिय दिया घृत बाती॥३॥
मोह-दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा॥४॥

अर्थ—ज्ञान का सिद्धान्त मैंने समझाकर कहा, (अब) भक्ति (रूपिणी) मणि की प्रभुता सुनिये॥१॥ हे गरुड़! श्रीराम भक्ति सुन्दर चिन्तामणि है, वह जिसके हृदय में बसे॥२॥ वह दिन-रात परम-प्रकाश-रूप रहता है, उसे दीपक, घृत और बत्ती कुछ भी नहीं चाहिये॥ ॥ मोह-रूपी दरिद्र उसके पास नहीं आता और न लोभ रूपी वायु उसे बुझाता है॥४॥

विशेष—(१) 'कहेउँ ज्ञान-सिद्धान्त बुझाई।' यह उपसंहार है, इसका उपक्रम "कहहु बुझाइ कृपानिधि मोही।" (दो० ११४) है। ज्ञान-भक्ति का अंतर पूछा था, उसमें ज्ञान का स्वरूप कहा गया, आगे भक्ति का भी कहते हैं, तब दोनों का अंतर स्पष्ट हो जायगा। भक्ति को चिंतामणि के रूपक से कहते हैं। 'प्रभुताई' अर्थात् ऐश्वर्य, वह यह कि ज्ञान दीपक-रूप एवं सबाध्य है और भक्ति चिन्तामणि रूप एवं अबाध्य है, भक्ति के गुण यहाँ से कहते हैं। 'चिंतामनि सुंदर'—यह स्वरूप से सुंदर है और चिंतित पदार्थ देती है, अत गुण से भी सुन्दर है।

(२) 'परम प्रकास'—ज्ञान-दीपक को 'तेजरासि' और उसकी शिखा को 'परम प्रचंड' कहा था, उसीके जोड़ मे इससे यहाँ 'परम प्रकास रूप' कहा है। 'दिन राती'—दीपक एवं सामान्य मणि का प्रकाश रात ही में रहता है, दिन में सूर्य के प्रकाश मे वह लीन हो जाता है। पर भक्ति चिंतामणि का प्रकाश रातो दिन एकरस रहता है। क्योंकि भक्त के हृदय मे श्रीरामजी का रूप बसता है, उनके रूप का प्रकाश सहज ही हृदय मे रहता है, यथा—"भरत हृदय सिय राम-निवासू। तहँ कि तिमिर जहँ तरनि-प्रकासू॥" (अ० दो० २९४), अत, सब बातों का ज्ञान सदा एकरस रहता है।

'नहिं कछु चहिय···'—वहाँ विज्ञानमय दीपक में चित्त दिया, ज्ञान घृत और तुरीयावस्था रूपी रुई की बत्ती की आवश्यकता थी, तब आत्मानुभव-सुख-रूपी प्रकाश हुआ था। पर भक्ति-मणि सहज ही प्रकाश रूपा है, इसमें ज्ञान-विज्ञान आदि की अपेक्षा नहीं है। प्रभु की माधुरी में इन्द्रिय अंत.करण की वृत्तियाँ एकत्र होकर स्वत चकोरवत् लगी रहती हैं।

(३) 'मोह दरिद्र···'- मोह देहाभिमान को कहते हैं, इसमें दरिद्रता यह है कि शरीर-पोषण के लिये संसार-भर की वस्तुओं से भी मनोरथ-पूर्ति नहीं हो सकती। कुछ-न-कुछ कमी रूपी दरिद्रता रहती है। यह मोह भक्ति-मणि के पास भी नहीं आता, क्योंकि भक्ति के द्वारा भक्त के इन्द्रिय अंत.करण को अहर्निशि दिव्य सुख मिला करता है जैसे चिंतामणि से अर्थ, धर्म, काम प्राप्त होते रहते हैं। 'नहिं आवा' का भाव यह कि दीपक के नीचे तम आ जाता है, पर यहाँ तो पास ही नहीं आने पाता। मोह ही वहाँ तम और यहाँ दरिद्र कहा गया है। वह 'अंचल वात' एवं 'विषय समीर' से बुझ जाता है। पर यहाँ उस लोभ से कुछ हानि नहीं, क्योंकि यहाँ तो इन्द्रियों को दिव्य भोग मिलता ही है, वे प्राकृत विषयों का लोभ क्यों करेंगी? यथा—"राम-चरन-पंकज प्रिय जिन्हहीं। विषय-भोग बस करइ कि तिन्हहीं॥" (अ० दो० ८२)।

प्रबल अविद्या-तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ-समुदाई॥५॥
खल कामादि निकट नहिं जाहीं। बसइ भगति जाके उर माहीं॥६॥

अर्थ—अविद्या का प्रबल अंधकार मिट जाता है, सब (मदादि) पतंगों का समुदाय हार बैठता है॥५॥ कामादि दुष्ट उसके निकट नहीं जाते जिसके हृदय में भक्ति बसती है॥६॥

विशेष—(१) 'प्रबल अविद्या तम···'—ज्ञान-दीपक में 'प्रबल अविद्या कर परिवारा।' नाश हुए और यहाँ स्वयं अविद्या ही, यह विशेषता है। भक्तों के अविद्यात्मक भाव 'मैं' 'मोर' प्रभु को अर्पित रहते हैं; यथा—"मम नाथ! यदस्ति योऽस्म्यहं सकलं तद्धि तवैव माधव।" (आलवंदार स्तोत्र ५६)। जब वह अविद्या ही नहीं रही तो उसके परिवार कहाँ से आवेंगे? 'सकल सलभ' से ज्ञान-दीपक के ही 'मदादिक' को जानना चाहिये; नहीं तो नाम देते। 'हारहिं'– दीपक-प्रसंग में जलना कहा है, पर यहाँ मणि है, इससे हारना ही कहा कि इस पर इनका वश नहीं चलता।

(२) 'खल कामादि··'; यथा –"तात तीनि अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ। मुनि बिज्ञान धाम मन, करहिं निमिष महँ छोभ॥" (आ० दो० ३८)। जब ये पास ही नहीं जा पाते, तो हानि क्या करेंगे? भक्तों की कामना दासत्व की ही होती है; यथा—"कामं च दास्ये न तु काम काम्यया।" यह भाग० ९।४।२० अंबरीष प्रसंग में कहा गया है।

खल कामादि चोर हैं, वे यहाँ भक्ति के प्रकाश से डरते हैं।

गरल सुधा सम अरि हित होई। तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई॥७॥
ब्यापहिं मानस-रोग न भारी। जिन्हके बस सब जीव दुखारी॥८॥

अर्थ—विष अमृत के समान और शत्रु मित्र के समान हो जाते हैं, उस मणि के बिना कोई सुख नहीं पाता॥७॥ भारी मानस रोग, जिनके वश होकर सब जीव दुखी रहते हैं, उसको नहीं व्याप्त होते॥८॥

विशेष—(१) 'गरल सुधा सम'- इन्द्रिय विषय ही विष हैं; यथा—"नर तनु पाइ बिषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥" (दो० ४३); श्रवण आदि इन्द्रियों के विषय भगवान् को ही बनाना भक्ति है, वे ही विषय भक्ति-रूप में अमृत होकर जन्म-मरण के नाशक होते हैं। 'अरि हित होई' इन्द्रियों के साथ मन ही विषयी होने से जीव का शत्रु है और वही भक्तिनिष्ठ हो जाने से मित्र हो जाता है; यथा—"आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः।" (गीता ६।५); 'तेहि मनि बिनु···', यथा—"सुख हित कोटि उपाय निरंतर करत न पाय पिराने।···तुलसी चित चिंता न मिटइ बिनु

चिंतामनि पहिचाने ॥" (वि० २३५) तथा—"गरल सुधा रिपु करइ मिताई। गरुड़ सुमेरु ··राम कृपा करि चितवा जाही ॥" (सुं० दो० ४); अर्थात् भक्त पर प्रभु-कृपा करते हैं।

चिंतामणि के प्रभाव से विष नहीं व्याप्त होता और उसके सामने शत्रु भी मित्र हो जाता है, वैसे यहाँ श्रीलोमशजी का शाप विषवत् था, वह अमृत हो गया और वे मुनि हो शत्रु से मित्र हो गये – यह चरितार्थ भी है।

(२) 'व्यापहिं मानस रोग न भारी···'—जैसे चिंतामणि के प्रभाव से रोग नहीं होता, वैसे भक्ति-मणि के प्रभाव से भारी मानस-रोग नहीं व्याप्त होते। जिनका वर्णन आगे दो० १२० में विस्तार से है। साथ ही—'रघुपति-भगति सजीवन मूरी।' उपाय भी कहा गया है। जो प्रथम से ही भक्ति में रत हैं, उन्हें वे रोग होते ही नहीं। 'जिन्ह के बस सब जीव दुखारी।'; यथा—"जिन्हते दुख पावहिं सब लोगा।" (दो० १२०)।

राम-भगति-मनि उर बस जाके। दुख लवलेस न सपनेहु ताके ॥९॥
चतुर-सिरोमनि तेइ जग माहीं। जे मनि लागि सुजतन कराहीं ॥१०॥

अर्थ—श्रीरामभक्ति-रूपी मणि जिसके हृदय में बसती है, उसको स्वप्न में भी लेश-मात्र दुःख नहीं होता ॥९॥ संसार में वे ही लोग चतुरों में श्रेष्ठ हैं जो इस मणि के लिये पूर्ण यत्न करते हैं ॥१०॥

विशेष—'चतुर सिरोमनि तेइ '—यहाँ तीन प्रकार के चतुर उत्तरोत्तर अधिक दिखाये गये हैं; यथा—१—"अस विचारि जे मुनि विज्ञानी। जाचहिं भगति सकल सुखखानी ॥" (दो० ११५); ये मोक्ष-सुख पाकर भक्ति माँगते हैं। २—'हरि-भगत सयाने' जो मुक्ति का निरादर करके भक्ति में लुब्ध हैं। ३—ये चतुरशिरोमणि हैं। अतः मुक्ति का आदर निरादर कुछ नहीं करते, उसमें अपना समय अपव्यय न करके केवल भक्ति के लिये यत्न करते हैं। सुजतन—तन, मन, धन से तत्पर रहते हैं। भक्ति को परम अलभ्य मानते हैं। क्या यत्न करते हैं, इसे आगे कहते हैं। मणि पर्वतों की खान से यत्नपूर्वक प्राप्त की जाती है, ये भक्ति मणि के लिये सुयत्न करते हैं।

भक्ति-मणि-प्राप्ति के यत्न

सो मनि जदपि प्रगट जग अहई। राम-कृपा बिनु नहि कोउ लहई ॥११॥
सुगम उपाय पाइबे केरे। नर हत-भाग्य देहिं भटभेरे ॥१२॥

अर्थ—यद्यपि वह मणि जगत् में प्रकट है तो भी विना श्रीराम-कृपा के उसे कोई नहीं पाता ॥११॥ उसकी प्राप्ति के उपाय सुगम ही हैं, पर भाग्य-हीन मनुष्य उनको ठुकरा देते हैं ॥१२॥

विशेष—(१) 'सो मनि जदपि···'—चतुर-शिरोमणि के सुयत्न से प्राप्त होना कहने से भक्ति मणि अगम जान पड़ी, उसपर कहते हैं कि वह तो वेद-पुराणों के द्वारा जगत् में प्रकट है, पर श्रीराम कृपा से मिलती है ; यथा – "नाथ एक बर मागउँ, राम कृपा करि देहु। जन्म जन्म तव पद कमल, कबहुँ घटइ जनि नेहु ॥" (दो० ४९) ; और उसका साधन भी सुगम है, भाव यह है कि श्रीरामजी की कृपा जीवमात्र पर है, उन्होंने निर्हेतुकी कृपा से नर-देह दी है, और भक्ति में श्रद्धा प्रकट करने के लिये शास्त्र-पुराणों से उसका महत्त्व प्रगट किया है पुनः वे ही सत्संग का भी संयोग कर देते हैं। तब उसका उपाय सुगम हो जाता है।

उसपर भी जिनका भाग्य फूटा हुआ है, वे उसे ठुकरा देते हैं। जैसे किसी अंधे के पैर में बहुमूल्य मणि लगे, तो वह उसे ठुकरा दे।

(२) 'भटभेरे' = धक्का, टक्कर, ठोकर ; यथा—"कबहुँक हौं संगति प्रभाव तें जाउँ सुमारग नेरो। तब करि क्रोध संग कुमनोरथ देत कठिन भटभेरो॥" (वि॰ १४३)।

पावन पर्वत बेद पुराना। राम-कथा रुचिराकर नाना॥१३॥
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान बिराग नयन उरगारी॥१४॥
भाव-सहित खोजइ जो प्रानी। पाव भगति-मनि सब सुखखानी॥१५॥

अर्थ—वेद-पुराण पवित्र पर्वत हैं, उनमें नाना प्रकार की राम कथाएँ इन पर्वतों की सुन्दर खानें हैं॥१३॥ सज्जन इन खानों के भेदी हैं, सुंदर बुद्धि कुदाल है, हे गरुड़जी! ज्ञान और वैराग्य नेत्र हैं॥१४॥ जो प्राणी भाव सहित खोजे, वह सब सुखों की खान भक्ति-रूपी मणि प्राप्त करे॥१५॥

विशेष—(१) 'पावन पर्वत '—सब पर्वतों में मणि की खानें नहीं होतीं और वे सब पर्वत पावन भी नहीं होते। पर वेद-पुराण पावन हैं। वेद-पुराणों में भी सर्वत्र रामकथा ही नहीं होती, जहाँ तहाँ होती है। जैसे पर्वतों में कहीं-कहीं मणि खानें होती हैं। मणि की खानों को भेदी ही जानते हैं वैसे ही इसे भी सत लोग ही जानते हैं कि भक्ति-सम्बन्धी रामकथाएँ कहाँ-कहाँ हैं। अत, संग करने से वे बतलायेंगे। उनसे जानी भी जायँ, तो उन खानों से भक्ति-तत्त्व ग्रहण करने की सुन्दर बुद्धि भी चाहिये, यथा—"हरिहर-पद-रति मति न कुतर्की। तिन्हँ कहँ मधुर कथा रघुबर की॥" (बा॰ दो॰ ८), कुदाल से खोदने पर भी मिट्टी से भरी हुई मणियाँ निकलती हैं, उनके पहचानने के लिये उत्तम दृष्टि चाहिये। अत, ज्ञान विराग नेत्र चाहिये। बुद्धि-रूपी गोलक में ज्ञान और चित्त-रूपी गोलक में वैराग्य-रूप नेत्र होने चाहिये। क्योंकि राम कथा में प्रभु के कृपा, दया, सौशील्य आदि गुणों और उनकी महिमा आदि के ज्ञान से भक्ति होती है। उनसे वैराग्यवान् भक्तिपरक भाव ग्रहण करते हैं और विषयी मोह को प्राप्त होते हैं यथा "उमा राम-गुन गूढ, पंडित मुनि पावहिं बिरति। पावहिं मोह बिमूढ, जे हरि बिमुख न धर्म-रति॥" (आ॰ मं॰ सो॰), नेत्र दो होते हैं और वे अन्योन्य सहायक होते हैं, यथा—"ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।" (दो॰ ८९)। वैसे ही ज्ञान और विराग दो कहे गये और वे अन्योन्य सहायक भी हैं।

बा॰ दो॰ १—"श्रीगुरु-पद-नख-मनिगन जोती।" से "सूझहिं राम-चरित-मनि-मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥" तक भी ऐसा ही प्रसग है। वहाँ भी गुरु की भक्ति के द्वारा हृदय के विमल नेत्र ज्ञान विराग का खुलना और उनकी दिव्य दृष्टि से श्रीरामचरित मणि-माणिक का प्राप्त होना कहा गया है। पर वहाँ रामचरित ही मणि माणिक, वेद पुराण पर्वत-खान में कहा गया है और यहाँ वेद-पुराण पर्वत, रामचरित खान और भक्ति मणि है—यह भेद है।

(२) 'भाव सहित खोजइ '—यहाँ भाव सहित खोजना कहा गया है, क्योंकि प्रभु 'भाववश्य' हैं, 'भावग्राहक' हैं – दो॰ ६२ देखिये। भाव से वश होकर कृपा करते हैं, तब उस मणि की प्राप्ति करा देते हैं, यथा—"राम-कृपा बिनु नहिं कोउ लहई।" यह ऊपर कहा ही है। अंत में भी यही बात कही गई है, यथा—"रामचरन-रति जो चहइ भाव सहित सो यह कथा, करउ श्रवन पुट पान॥" (दो॰ १२८), 'जो प्रानी'—प्राणि-मात्र कोई भी हों, सभी इसके अधिकारी हैं। 'सब सुख-खानी', यथा—"सब सुखखानि भगति तैं माँगी।" (दो॰ ८४)।

मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा ॥१६॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा ॥१७॥
सब कर फल हरि-भगति सुहाई। सो बिनु संत न काहू पाई ॥१८॥
अस बिचारि जोइ कर सतसंगा। राम-भगति तेहि सुलभ बिहंगा ॥१९॥

अर्थ—हे प्रभो ! मेरे मन में तो ऐसा विश्वास है कि श्रीरामजी के दास श्रीरामजी से भी बढ़कर हैं ॥१६॥ (उस अधिकता को दिखाते हैं—) श्रीरामजी समुद्र हैं तो धीरबुद्धि सज्जन मेघ हैं, भगवान् श्रीरामजी चन्दन के वृक्ष हैं तो सज्जन पवन हैं ॥१७॥ सब (साधनों) का फल सुन्दर राम-भक्ति है, वह बिना सन्त के किसी ने नहीं पाई ॥१८॥ ऐसा विचार कर जो कोई भी सत्संग करे, हे गरुड़ ! उसे श्रीराम-भक्ति सुलभ है ॥१९॥

विशेष—(१) 'राम ते अधिक राम कर दासा'—कहकर फिर उसे दो दृष्टान्तों से समझाते हैं कि श्रीरामजी समुद्र की तरह अगाध हैं, अगणित गुणगणों से पूर्ण हैं, उनमें से संत लोग भक्तों के उद्धार करनेवाले गुणों को ग्रहण कर सर्वत्र सबको प्राप्त कराते हैं। जैसे समुद्र से मेघ मीठा जल ग्रहण कर जगत् का कल्याण करते हैं, यथा—"वेद पुरान उदधि घन साधू॥ बरषहिं राम-सुयस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी ॥" (बा० दो० ३५)। शेष जगत्-व्यापार-सम्बन्धी गुण अगाध हैं, उन्हें खारे जल की तरह छोड़ देते हैं, क्योंकि उन गुणों से जीवों का वैसा प्रयोजन नहीं है और न जीव उन अमित गुणों को धारण ही कर सकते हैं। यथा—"यावानर्थउदपाने सर्वतः संप्लुतोदके। तावान्सर्वेषुवेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥" (गीता २।४६)।

(२) 'चंदन तरु हरि संत समीरा ।'—मलयगिरि पर चन्दन जाति का प्रधान वृक्ष है, वायु के द्वारा जहाँ तक उसकी सुगंधि पहुँचती है, वहाँ तक के कड़ुवे-कसैले वृक्ष भी चन्दन के समान सुगंधवाले हो जाते हैं, वैसे ही संत लोग शुद्ध (वासनारहित) होकर, हरि की उपासना कर, उनके साधर्म्य लक्षण प्राप्त करते हैं, फिर अपने सत्संग और आचरण द्वारा औरों को भी वैसे ही भगवान् के साधर्म्य लक्षण प्राप्त करा देते हैं ; यथा—"निज संगी निज सम करत, दुर्जन मन दुख दून। मलयाचल हैं संत जन, तुलसी दोष बिहून ॥" (वैराग्य सं० १८) ; [इसमें 'दून' शब्द जलाने के अर्थ में है । दू (धातु-परस्मै- दुनोति, दून या दून) = १ जलाना, भस्म करना। २ सताना। दुःखी करना (संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ]। साधर्म्य लक्षण से ही संत-भगवंत अभेद कहाते हैं ; यथा—"संत भगवंत अंतर निरंतर नहीं···" (वि० ५७) ; यही इनका भी चंदन होना है ।

(३) 'सब कर फल ···'—यहाँ 'सब' के साथ 'साधन' का अध्याहार कर लेना चाहिये। बहुत स्थलों पर कहा गया है ; यथा—"जप तप व्रत मख सम दम दाना। बिरति बिबेक जोग बिज्ञाना ॥ सबकर फल रघुपति पद-प्रेमा ।" (दो० ९४) ; यथा—"जप-तप नियम जोग निज धर्मा ।" से "तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल यह सुन्दर ॥" (दो० ४८)।

पूर्व कहा गया—'राम-कृपा बिनु नहिं कोउ लहई ।" और यहाँ कहते हैं—"सो बिनु संत न काहू पाई ।" दोनों में विरोध नहीं है, क्योंकि श्रीराम-कृपा से ही विशुद्ध संत मिलते हैं ; यथा—"संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम-कृपा करि जेही ॥" (दो० ३८) ; और संत के संग से भक्ति मिलती है ।

(४) 'अस बिचारि'—जैसा ऊपर कहा गया कि संत के द्वारा ही श्रीरामजी के गुणों का बोध

होता है, फिर उन्हीं के सत्संग से भक्ति प्राप्त होती है। जो "मोरे मन प्रभु···" से "सो बिनु संत न काहू पाई।" तक कहा गया है।

दोहा—ब्रह्म पयोनिधि मंदर, ज्ञान संत सुर आहि।
कथा सुधा मथि काढ़हिं, भगति मधुरता जाहि॥
बिरति चर्म असि ज्ञान मद, लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाइय सो हरि-भगति, देखु खगेस बिचारि॥१२०॥

अर्थ—ब्रह्म (वेद) क्षीरसागर, ज्ञान मंदराचल और संत लोग देवता हैं, जो उस समुद्र को मथकर कथा रूपी अमृत निकाल लेते हैं, जिसमें भक्ति ही मिठास है॥ जो वैराग्य रूपी ढाल से (अपनी रक्षा करते हुए) और ज्ञान रूपी तलवार से मद-लोभ मोह रूपी शत्रुओं को मारकर जय प्राप्त करती है, वह हरिभक्ति ही, हे गरुड़! विचार कर देखिये॥१२०॥

विशेष—(१) देवताओं ने अमृत के लिये क्षीरसमुद्र मथा, फिर उसे पीकर जब अमर और बलवान् हुए, तब उन्होंने असुरों को जीता। वैसे ही वेद-रूपी समुद्र को संत लोग अपने ज्ञान द्वारा मथ उसमें से मधुर भक्तिमय राम-कथा रूपी अमृत निकालकर मद-लोभ मोह आदि शत्रुओं को जीत लेते हैं। यहाँ केवल देवता ही मथनेवाले हैं, यह विशेषता है।

वेद क्षीरसागर की तरह अगाध और स्वच्छ ज्ञानमय है। ज्ञान-मंदर की तरह गुरुता-युक्त है। सात्त्विक होने से संत देव-तुल्य हैं। अमृत से बढ़कर कथा है, जिसमें भक्ति मिठास प्रधान है। यहाँ वाणी रस्सी की जगह है।

(२) 'बिरति चर्म'; यथा—"बिरति चर्म संतोष कृपाना।" (दो० ७८)।

(३) 'देखु खगेस बिचारि' पूर्व कहा गया था—"राम-भगति महिमा अति भारी।" (दो० ११३), उसीको यहाँ तक पुष्ट किया, पुनः यहाँ कहा था—"मुनि दुर्लभ वर पायउँ, देखहु भजन प्रताप।" (दो० ११४); उसीको यहाँ भी पुष्ट करके कहा है, यथा—'देखु खगेस बिचारि' विचार करने से कई प्रकार के अंतर देख पड़े—

ज्ञान-दीपक	भक्ति चिंतामणि
१ आतम अनुभव सुख सु प्रकासा। इसमें दीपक के कई साज हैं	परम प्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिय दिया घृत बाती।
२. प्रबल अबिद्या कर परिवारा (मिटइ)।	प्रबल अबिद्या तम मिटि जाई।
३ मोह आदि तम मिटइ अपारा।	मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। खल कामादि निकट नहिं जाहीं।
४. जरहिं मदादिक सलभ सब	हारहिं सकल सलभ समुदाई।
रिद्धि सिद्धि बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई। · अचल बात बुझावहिं दीपा	लोभ बात नहिं ताहि बुझावा।

यहाँ तक 'ज्ञानहि भगतिहि अंतर केता।' का उत्तर समाप्त हुआ।

चौथा प्रसंग—सप्तप्रश्नोत्तर

पुनि सप्रेम बोलेउ खगराऊ। जौं कृपाल मोहि ऊपर भाऊ ॥१॥
नाथ मोहि निज सेवक जानी। सप्त प्रश्न मम कहहु बखानी ॥२॥
प्रथमहि कहहु नाथ मतिधीरा। सब ते दुर्लभ कवन सरीरा ॥३॥
बड़ दुख कवन कवन सुख भारी। सोउ संछेपहिं कहहु बिचारी ॥४॥

अर्थ—फिर पक्षिराज श्रीगरुड़जी प्रेम-पूर्वक बोले कि हे कृपालु ! जो आपका मुझपर प्रेम है ॥१॥ तो, हे नाथ ! मुझे अपना सेवक जानकर मेरे सात प्रश्नों के उत्तर बखानकर कहिये ॥२॥ हे नाथ ! हे मतिधीर ! पहले तो कहिये कि सबसे दुर्लभ शरीर कौन सा है ? ॥३॥ और यह भी संक्षेप में ही विचारकर कहिये कि सबसे बड़ा दु:ख कौन है और कौन सुख सबसे भारी है ? ॥४॥

विशेष—(१) 'जौं कृपाल···', यथा "जौं मोपर प्रसन्न सुखरासी। · तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना।" (बा० दो० १०७); 'सब ते दुर्लभ कवन सरीरा।' इस प्रश्न का कारण यह भी है कि ये सब शरीरों को कई-कई बार धारण कर चुके हैं और इन्हें उन सब जन्मों की सुधि भी है; यथा—"कवनि जोनि जनमेउँ जहँ नाहीं।···सुधि मोहि नाथ जन्म बहु केरी।" (दो० ९५); अतएव सबके दु:ख-सुख को अच्छी तरह जानते हैं। इन्होंने कहा भी है, यथा—"देखेउँ करि सब करम गोसाईं। सुखी न भयउँ अबहिं की नाईं।" (दो० ९५), अतः ये यथार्थ कहेंगे।

(२) 'सप्त प्रश्न', यथा—१—सबते दुर्लभ कवन सरीरा। २- बड़ दुख कवन। ३—कवन सुख भारी। ४-संत असंत मरम·· तिन्हकर सहज । ५—कवन पुन्य···। ६—कवन अघ परम कराला। ७—मानस रोग कहहु···।

संत असंत मरम तुम्ह जानहु। तिन्हकर सहज सुभाव बखानहु ॥५॥
कवन पुन्य श्रुति बिदित बिसाला। कहहु कवन अघ परम कराला ॥६॥
मानस-रोग कहहु समुझाई। तुम्ह सर्बज्ञ कृपा अधिकाई ॥७॥

अर्थ—आप संत और असंत का मर्म जानते हैं (अतएव) उनका सहज (जो जन्म से अनायास पड़ा हो) स्वभाव बखानकर कहिये ॥५॥ (फिर) कहिये कि कौन पुण्य श्रुति में बड़ा करके प्रसिद्ध है, और कौन पाप परम विकराल है ॥६॥ मानस-रोग क्या हैं ? इन्हें समझाकर कहिये, आप सब कुछ जाननेवाले हैं और मुझपर आपकी विशेष कृपा है ॥७॥

विशेष—'मरम तुम्ह जानहु' क्योंकि आपको वर मिला है, यथा—"जानब तैं सब ही कर भेदा।" (दो० ८४), 'सहज सुभाव'—जो सदा अनायास बना रहता हो। 'श्रुति बिदित'—यद्यपि आप वर से भी सब जानते हैं, तथापि आपने बार-बार कहा है— "वेद पुरान संतमत भाखउँ।" "श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई।" (दो० ११५—११६); इत्यादि, इससे श्रुति से भी प्रमाणित हो—ऐसा मैंने पूछा है। 'मानस रोग···'—इसे इसलिये समझाकर कहलाते हैं कि इसके समझे रहने पर उपाय करना सुगम होता है, यदि कहें

कि हम क्या जानें ? उसपर कहते हैं कि आप सर्वज्ञ हैं, वरदान के द्वारा सब कुछ जानते हैं और आप की मुझ- पर विशेष कृपा है, अतएव कृपा करके कहिये।

सप्त प्रश्नों के उत्तर

तात सुनहु सादर अति प्रीती। मैं संछेप कहउँ यह नीती ॥८॥
नर-तनु सम नहिं कवनिउँ देही। जीव चराचर जाचत जेही ॥९॥
नरक-स्वर्ग - अपवर्ग - निसेनी। ज्ञान-बिराग-भगति सुभ देनी ॥१०॥
सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर। होहिं बिषयरत मंद मंदतर ॥११॥
काँच किरिच बदले ते लेहीं। कर ते डारि परसमनि देहीं ॥१२॥

अर्थ—श्रीभुशुण्डिजी ने कहा कि हे तात! अत्यन्त आदर और प्रेम से सुनो, मैं यह नीति (लोक मे निश्चित सदाचार) सक्षेप से अति प्रीतिपूर्वक कहता हूँ ।।८।। मनुष्य-शरीर के समान कोई शरीर नहीं है, चर-अचर सभी जीव इसकी याचना करते हैं ।।९।। यह शरीर नरक, स्वर्ग और मोक्ष की सीढ़ी है, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और कल्याण का देनेवाला है ।।१०।। इस नर) शरीर को धारण करके जो मनुष्य भगवान् का भजन नहीं करते, किन्तु विषयों में आसक्त हो जाते हैं, वे मन्द ही नहीं, किन्तु मदों मे मदतर हैं ।।११।। (पुन कैसे हैं कि) पारसमणि को हाथ से फेंक देते है और उसके बदले में वे काँच का टुकड़ा (वठा) लेते हैं ।।१२।।

विशेष—(१) 'तात सुनहु सादर '—भाव यह है कि सादर और प्रीतिपूर्वक सुनना श्रोता की नीति है। (और थोड़े शब्दों मे सारा तत्त्व कहना वक्ता की नीति है, यह भी गर्भित है।) 'नरतनु सम ' श्रेष्ठता कहकर उत्तरार्द्ध में प्रमाण भी देते हैं कि इसीसे इसे चराचर जीव माँगते हैं, क्योंकि 'नरक सरग • ' भाव यह कि 'साधन धाम मोक्ष कर द्वारा' यही शरीर है, शेष सब शरीर भोग साधन के ही हैं। दिव्य तनवाले देवता भी भोगी ही होते हैं, तो हीन शरीरवालों की कौन बात? यथा "हम देवता परम अधिकारी। स्वारथ-रत तव भगति बिसारी॥ भव प्रवाह सतत हम परे।" (लं० दो० १०८)।

(२) 'मद मंदतर'—जो नर तन से भजन नहीं करते, वे मद हैं और जो विषय रत होते हैं, वे सो मदतर (महामद) हैं। फिर इसे दृष्टान्त से समझाते हैं– 'काँच किरच ' अर्थात् काँच का फूटा टुकड़ा एक तो किसी काम का नहीं है, दूसरे हाथ में गड़ जाने की चीज है, पर उसकी झूठी चमक देखकर उसे लोग उठा लेते हैं। और जो स्पर्श मात्र से लोहे को सोना कर देती है, ऐसी अमूल्य पारस- मणि को फेंक देते हैं। दो० ४३ चौ० १ ३ भी देखिये।

नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं। संत-मिलन सम सुख जग नाहीं ॥१३॥
पर - उपकार बचन-मन-काया। संत सहज सुभाउ खगराया ॥१४॥
संत सहहिं दुख पर-हित लागी। पर-दुख-हेतु असंत अभागी ॥१५॥

अर्थ—ससार मे दरिद्र के दुःख (दारिद्र्य अर्थात् निर्धनता) के समान दूसरा दुःख नहीं है, सत

समागम के समान संसार में कोई सुख नहीं है ॥१३॥ हे पक्षिराज ! वचन, मन और कर्म से परोपकार करना सन्तों का सहज स्वभाव है ॥१४॥ संत पराये हित के लिये दुःख सहते हैं और भाग्यहीन असंत (खल) पराये दुःख के लिये दुःख उठाते हैं ॥१५॥

विशेष—(१) 'नहि दरिद्र सम दुख ···'—कहा है ; यथा—"वरं वनं व्याघ्रगजेंद्रसेवितं द्रुमालयं पत्रफलाम्बुभोजनम् । तृणानि शय्या वसनं च वल्कलं न बंधुमध्ये धनहीनजीवनम् ॥" (सु० २० भा०) ; श्रीभुशुंडिजी स्वयं इसे भोग चुके हैं ; यथा—"परेउ दुकाल बिपति बस, तब मैं गयउँ बिदेस ॥ गयउँ उजैनी सुनु उरगारी । दीन मलीन दरिद्र दुखारी ॥" (दो० १०४) ; इस दुःख में व्याकुल होकर स्त्री भी संग त्याग देती है औरों का क्या कहना ? इसमें क्षुधा-दुःख से बुद्धि ही नष्ट हो जाती है ।

(२) 'संत-मिलन सम सुख जग नाहीं ।'—क्योंकि संतों के संग से संसारी वासना ही नष्ट हो जाती है ; यथा—"संत-संग अपवर्ग कर···" (दो० ३३) ; "तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला यक अंग । तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत्संग ॥" (सुं० दो० ४); इत्यादि । श्रीभुशुंडिजी ने यह भी स्वयं अनुभव किया है कि वे एक ही परम साधु (वैदिक मुनि) के संग से कैसी उत्तम गति को प्राप्त हुए ।

(३) 'पर-दुःख हेतु असंत अभागी ।'—पाप करते हुए जब पूर्व के सुकृत नष्ट हो गये, तब भाग्यहीन होने पर ही ऐसी वृत्ति हुई, इससे अंत में भी नरक-दुःख भोगेंगे, अतएव इन्हें अभागी कहा है ; यथा—"एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये, सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये । तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये, ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥" (भर्तृहरि) ।

भूर्जतरू सम संत कृपाला । परहित निति सह बिपति बिसाला ॥१६॥
सन इव खल परबंधन करई । खाल कढ़ाइ बिपति सहि मरई ॥१७॥

शब्दार्थ—भूर्जतरु= भोजपत्र का वृक्ष, यह हिमालय पहाड़ पर १४००० फीट की ऊँचाई तक का पाया जाता है । इसकी छाल कई परतों में होती है और कागज के समान पतली होती है, प्राचीन काल में इसपर ग्रन्थ लिखे जाते थे । तांत्रिक लोग इसे पवित्र मानते हैं और इसीपर प्रायः यंत्र-मंत्र आदि लिखते हैं । लोग इसे वस्त्र की जगह भी पहनते हैं और इससे मकान भी छाते हैं ।

अर्थ—कृपालु संत भोजपत्र के वृक्ष के समान सदा पराये की भलाई के लिये भारी विपत्ति सहते रहते हैं ॥१६॥ खल सन के समान दूसरों को बाँधते हैं (उसके लिये) अपनी खाल खिंचवाकर विपत्ति सहकर मर जाते हैं ॥१७॥

विशेष—(१) संत भोजपत्र-वृक्ष के समान कष्ट सहकर परहित करते हैं और खल सन की तरह कष्ट उठाकर पराया अनहित करते हैं । भेद यह है कि संत 'कृपाला' हैं कृपा करके जीवों के लिये भारी दुःख सहकर भी उनका हित करते हैं ; यथा—"नारद देखा बिकल जयंता । लागि दया कोमल चित संता ॥" (आ० दो० १); 'निति' अर्थात् के लिये, वास्ते । 'बिसाला'—संत की विपत्ति को विशाल विशेषण दिया गया है, क्योंकि इसमें उनकी शोभा है । खलों को मरना कहा है, पर संतों को नहीं, क्योंकि ये परहित में प्राण छोड़ देते हैं, तब इनका यश चिरकाल तक संसार में रहता है । पर खलों के मरने पर उनका नाम कोई नहीं लेता । जैसे भोजपत्र पवित्र है वैसे संत भी पवित्र होते हैं ।

(२) 'सन इव...'—सनई या पटुए के पौधे काटकर पानी में सड़ाये जाते हैं, फिर पटक-पटककर धोये जाते हैं, पीछे उनकी खाल निकाली जाती है, फिर उनका रेशा-रेशा अलग करके बटा जाता है, तब वह रस्सी होकर दूसरों को बाँधने में समर्थ होता है। ऐसे ही खल अपनी दुर्दशा सहकर भी दूसरों के काम बिगाड़ते हैं; यथा—"पर अकाज लगि तनु परिहरहीं। जिमि हिम उपल कृषी दलि गरहीं।" (बा० दो० ४)।

खाल निकलवाने की विपत्ति दोनों सहते हैं, पर संत दया-वश और खल क्रूरता-वश। एक हित के लिये, दूसरा अनहित के लिये।

खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी ॥१८॥
पर-संपदा बिनासि नसाहीं। जिमि ससि हति हिम उपल बिलाहीं ॥१९॥

अर्थ—हे सर्पों के शत्रु श्रीगरुड़जी! सुनिये, खल बिना स्वार्थ के ही सर्प और मूसे के समान दूसरों का अपकार करते हैं ॥१८॥ दूसरे की सम्पत्ति का नाश करके (स्वयं भी ऐसे) नष्ट हो जाते हैं, जैसे ओले खेती का नाश करके स्वयं भी नष्ट हो जाते (गल जाते) हैं ॥१९॥

विशेष—'अहि मूषक इव'—सर्प दूसरे के प्राण ले लेता है, पर उससे इसका कुछ लाभ नहीं होता और मूसा कपड़े, कागज आदि काटकर नष्ट कर देता है, पर वह उसका खाद्य नहीं है, अतः, उससे इसका कुछ लाभ नहीं होता। एक तो प्राण हरता और दूसरा धन नष्ट करता है, अर्थात् 'जान-माल' दोनों के प्रति दो दृष्टान्त दिये गये। खल में ये दोनों बातें एकत्र ही हैं। स्वार्थवश तो प्रायः लोग दूसरे की हानि पर चित्त नहीं देते, पर ये तो बिना स्वार्थ ही सबका अहित करते हैं, तभी तो भर्तृहरिजी ने कहा है—'ते के न जानीमहे' यह ऊपर लिखा गया है।

दुष्ट उदय जग आरति-हेतू। जथा प्रसिद्ध अधम ग्रहकेतू ॥२०॥
संत उदय संतत सुखकारी। बिस्व-सुखद-जिमि इंदु तमारी ॥२१॥

अर्थ—दुष्ट का उदय (उन्नति) जगत् के दुःख का हेतु (कारण) होता है जैसा कि नीच ग्रह केतु प्रसिद्ध है ॥२०॥ संतों का उदय सदा सुख का करने वाला है जैसे कि चन्द्रमा और सूर्य का उदय संसार को सुखदायक है ॥२१॥

विशेष—(१) 'दुष्ट उदय जग आरति-हेतू।'—इसे "उदय केतु सम हित सब ही के।" (बा० दो० ४); में देखिये। केतु का उदय थोड़े काल के लिये होता है, उतने ही में वह बहुत ही हानि करता है। वैसे दुष्टों का उदय थोड़े काल के लिये ही होता है, यथा—"निष्फल होहिं सब उद्यम ताके। जिमि पर द्रोह निरत मनसा के ॥" (लं० दो० १०)। पर इतने ही में ये बहुत परहानि करते हैं, इसी पर तो कहा है—"कुम्भकरन सम सोवत नीके।" (बा० दो० ४)।

(२) 'संत उदय संतत सुख कारी।'—संत का उदय संतत कहा गया, क्योंकि इनसे विश्व को सुख है, जैसे चन्द्रमा और सूर्य का उदय सदा हुआ करता है और उनसे संसार का हित होता है; यथा—"जग-हित हेतु बिमल बिधु पूषन।" (बा० दो० १९); देखिये। सूर्य और चन्द्र इन दोनों उपमाओं से रातों-दिन निरंतर सुख देना कहा गया है। सूर्य दिन ही में सुख देता है और चन्द्रमा रात ही में, परन्तु संत दिन-रात दोनों में सुखद हैं। सूर्य के प्रकाश से तम का नाश होता है, संत के ज्ञान प्रकाश से संशय-मोह दूर होते हैं।

चन्द्रमा ताप हरता है और संत तापत्रय हरण करते हैं। सूर्य सबको सुखद नहीं और चन्द्रमा भी सब को सुखद नहीं होता। दोनों की उपमा से संतों को सर्व सुखद जनाया है। संत-असंत का मिलान—

१. स्वभाव—पर-उपकार बचन मन काया। खल बिनु स्वारथ पर अपकारी।
२. कार्य — संत सहहिं दुख परहित लागी। पर दुख हेतु असंत अभागी।
३. { दोनों के वृत्त-रूप } भूर्ज तरू सम संत कृपाला। सन इव खल परबन्धन करई।
पर हित निति सह बिपति बिसाला॥ खाल कढ़ाइ बिपति सहि मरई॥
४. { दोनों के उदय } संत उदय संतत सुखकारी। दुष्ट उदय जग आरत हेतू।
बिस्व सुखद जिमि इंदु तमारी॥ जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू॥

परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा। पर-निंदा सम अघ न गिरीसा ॥२२॥
हर-गुरु-निंदक दादुर होई। जन्म सहस्र पाव तनु सोई ॥२३॥
द्विज-निंदक बहु नरक भोग करि। जग जनमइ बायस सरीर धरि ॥२४॥

अर्थ—अहिंसा परम धर्म है, यह वेदों में प्रसिद्ध है। परनिंदा के समान पाप-पर्वतराज नहीं है; अर्थात् इसके समान भारी पाप और नहीं है ॥२२॥ श्रीशिवजी और श्रीगुरुजी की निन्दा करनेवाला मेढ़क होता है। एक हजार जन्म तक वही (दादुर) शरीर पाता है ॥२३॥ ब्राह्मण की निन्दा करनेवाला अनेक नरक भोग कर फिर संसार में कौए का शरीर धारण करता है ॥२४॥

विशेष—(१) 'परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा।' यह उत्तर प्रश्न के अनुसार ही है; यथा—"कवन पुन्य श्रुति-बिदित बिसाला।" यह इसका प्रश्न था।

'परनिंदा'—जो अपनी ओर से बनाकर किसीपर दोषारोपण किया जाता है, उसे अपवाद एवं निन्दा कहते हैं; यथा—"अगुन अमान जानि तेहि, दीन्ह पिता बनवास। ··" (लं० दो० ३०); इसी पर कहा है—"जब तेहि कीन्ह राम कै निंदा।" इसमें रावण ने श्रीरामजी पर झूठा ही दोषारोपण किया था। जो दोष जिसमें हो, उसका कहा जाना परिवाद है। यह किसी के सुधार के लिये कहा जाना दूषित नहीं है। पर उसके दुखाने के उद्देश्य से कहना यह भी पाप ही है। गुरुजनों का परिवाद भी कहना मना है। वाल्मीकीय रामायण में दोनों एक साथ कहे गये हैं; यथा—"बहूनां स्त्री सहस्राणां बहूनांचोपजीविनाम्। परिवादोऽपवादो वा राघवे नोपपद्यते॥" (२।१२।२७) अर्थात् हजारों स्त्रियाँ और हजारों उपजीवी हैं, पर श्रीरामजी के सम्बन्ध में कोई भी परिवाद (सकारण दोष-कथन) या अपवाद (अकारण दोष-कथन) नहीं सुना गया है—यह राजा दशरथजी ने कहा है।

भारी पाप पहाड़ के समान कहा जाता है; यथा—"पाप-पहाड़ प्रगट भइ सोई।" (अ० दो० ११); यहाँ परनिंदा को सब भारी पापों से भी भयंकर कहा है। दो० ४० चौ० १–२ भी देखिये।

(२) 'द्विज-निंदक ··'—द्विज निंदक बहुत नरक भोगने पर भी पाप से शुद्ध नहीं हो सकता है। पीछे जगत् में चाण्डाल पक्षी होकर उसे जन्म लेना पड़ता है, कि जिस जीभ से निंदा की है उसीसे विष्ठा खाना पड़े। इसे हर-गुरु निंदा से भी अधिक पाप जनाया, क्योंकि उसमें मेढ़क होने पर केवल निंदा करनेवाली जीभ ही छीन ली जाती है, जिह्वा-रहित तन मिलता है, इतना ही कहा गया है।

सुर-श्रुति-निंदक जे अभिमानी। रौरव नरक परहिं ते प्रानी ॥२५॥
होहिं उलूक संत-निंदा-रत। मोह-निसा प्रिय ज्ञान-भानु गत ॥२६॥
सबकै निंदा जे जड़ करहीं। ते चमगादुर होइ अवतरहीं ॥२७॥

अर्थ—जो अभिमानी प्राणी देवताओं और श्रुतियों की निंदा करते हैं, वे रौरव नरक में पड़ते हैं ॥२५॥ जो संत-निन्दा में तत्पर रहते हैं वे उल्लू होते हैं, (क्योंकि) उन्हें मोह-रूपी रात्रि प्रिय है और उनका ज्ञान रूपी सूर्य जाता रहा (डूब गया) ॥२६॥ जो मूर्ख सबकी निन्दा करते हैं, वे चमगादड़ होकर जन्म लेते हैं ॥२७॥

विशेष—(१) सुर श्रुति की अधीनता उचित है, जो अभिमानी होता है, वही इनकी निन्दा करता है, इसी से उसके लिये कराल दंड कहा गया है। संत ज्ञानवान् होते हैं, जिसकी ज्ञान में श्रद्धा होगी और जो सन्तों से ज्ञान प्राप्त कर मोह निवृत्ति चाहेगा, वह तो संतों की भक्ति ही करेगा। जो निन्दा करता है, उसे मोहनिशा प्रिय है और वह ज्ञान रहित है। उलूक को रात प्रिय होती है और वह सूर्य से विमुख रहता है, प्रकृति के जोड़ से ये भी उलूक होते हैं।

(२) सबकी निन्दा करनेवाले जड़ कहे गये, क्योंकि एक की भी निन्दा भारी पाप है, वे इसे नहीं जानते, इसीसे सबकी निन्दा करते हैं। फिर उन्हें चमगादड़ होना पड़ता है कि जिस मुख से उन्होंने सबकी निन्दा की है; उसी मुख से भोजन और मलत्याग करना दोनों ही काम करें, पुनः सदा उल्टे टँगे रहें। भाव यह कि उनका मुख ही गुदा है।

सुनहु तात अब मानस रोगा। जिन्ह ते दुख पावहिं सब लोगा ॥२८॥
मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला ॥२९॥
काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा ॥३०॥
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजइ सन्यपात दुखदाई ॥३१॥

अर्थ—हे तात! अब मानस रोग सुनो, जिनसे सभी लोग दुःख पाते हैं ॥२८॥ मोह सब रोगों की जड़ है, फिर उससे बहुत से शूल उत्पन्न होते हैं ॥२९॥ काम वात है, अपार लोभ कफ है और क्रोध पित्त है जो नित्य छाती जलाया करता है ॥३०॥ हे भाई! जो ये तीनों भाई प्रीति करते हैं तो दुःख देनेवाला सन्निपात उत्पन्न होता है ॥३१॥

विशेष—(१) 'दुख पावहिं सब लोगा।'—शारीरिक रोग सब, सबके नहीं होते और वे सब दिन रहते भी नहीं। पर मानस-रोग सबके होते हैं और सामान्यतया सब दिन रहते हैं, यथा—"मानस-रोग कछुक मैं गाये। हहिं सबके लखि बिरलेन्ह पाये।" यह आगे कहा गया है। इससे सबको इनसे दुःख पाना स्पष्ट है।

आगे मानस-रोगों का वर्णन शारीरिक रोगों के रूपक से करते हैं—

(२) 'मोह सकल···'—इसका उपमेय-मात्र कहा गया है, उपमान भी मोह के ही अर्थ से

आ जाता है। मोह अविवेक को कहते हैं कि जिससे लोग अपने आत्म-रूप को भूलकर देह ही को आत्मा मानते हैं, उसी से फिर नाना रोग होते हैं। इन्द्रिय-पोषण मे विषयों के सम्बन्ध से राग-द्वेष, मद, मत्सर आदि सभी होते हैं। वैसे वैद्यक मे मोह मूर्च्छा को कहते हैं जिससे रोगी को अपनी देह की सुध नहीं रहती। भाव यह कि जो अपनी देहपर दृष्टि रखता है, प्रकृति के अनुकूल आहार-विहार रखता है, उसके रोग नहीं होते और जो अपने रूप (देह) पर दृष्टि नहीं रखता उसके आहार-विहार की विषमता से नाना प्रकार के रोग और तज्जन्य शूलें होती हैं।

(३) 'काम बात कफ लोभ '—वायु की प्रकृति शीतल है, वैसे ही काम की प्रवृत्ति भी प्रीत्यात्मक होती है। जैसे पित्त दाहक है, वैसे क्रोध भी दाहक है; यथा "बहइ न हाथ दहइ रिस छाती।" (बा० दो० २०१), लोभ उत्तरोत्तर धन-प्राप्ति से बढता है, वैसे कफ की भी अपार वृद्धि होती है, लोभ का पार नहीं, निन्नानवे का फेर प्रसिद्ध है, वैसे कफ भी बहुत बढ़ता है। 'सन्निपात'—दो० ७० चौ० १ देखिये। बात, पित्त, कफ इन तीनों के एक साथ बिगड़ने से सन्निपात होता है, वही यहाँ 'प्रीति करहिं' से एक साथ तीनों का होना सूचित किया गया है।

बिषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना ॥३२॥
ममता दादु कंडु इरषाई। हरष बिषाद गरह बहुताई ॥३३॥

अर्थ—अनेक प्रकार की कठिनाइयों से प्राप्त होनेवाले विषयों के जो मनोरथ हैं, वे ही सब प्रकार के शूल हैं, उनके नाम कौन जानता है ? ॥३२॥ ममता दाद है, ईर्ष्या खाज है और हर्ष-विषाद की अधिकता गहरा गले का रोग है ॥३३॥

विशेष—(१) 'बिषय मनोरथ ...'—शब्दादि विषयों के नाना प्रकार के मनोरथ होते रहते हैं, जिनकी प्राप्ति दुर्गम है, मनोरथ-हानि से दुःख होता है। जिस इन्द्रिय के विषय-मनोरथ की हानि होती है, उस शूल को उसी अंग का समझना चाहिये। जैसे नेत्र का विषय नृत्य आदि देखना है, उसकी अप्राप्ति में मन को नेत्र-सम्बन्धी पीडा होती है।

(२) 'ममता दादु ...'—दाद एक प्रकार का त्वचा-रोग है, शरीर पर उभरे हुए चकत्ते पड़ जाते हैं जिनमें बहुत खुजली होती है। इसके खुजलाने में क्षणिक सुख होता है, यथा—"न मसजिद मे न काबे मे न बुतखाने में पाया है। मजा जो आज हमने दाद खुजलाने में पाया है॥" यह कहावत है परन्तु पीछे बड़ी जलन होती है। वैसे ही देह सम्बन्धियों मे प्रणय होना ममता का मूल है, स्नेह के कारण उनकी समीपता प्रिय लगती है, यही खुजलाने का क्षणिक सुख है। पर उनके वियोग में फिर बड़ी जलन होती है—यह ममता है। 'कडु इरषाई'—खाज भी त्वचा का ही रोग है, रक्त-विकार इसका मूल है, यह छूत से भी होता है। वैसे ही ईर्ष्या भी कुसंग से कुटिल स्वभाव होने पर कुछ कारण लेकर होने लगती है, मन मे खेद बना रहना खुजलाना और उसकी जलन है। इर्ष्या, यथा—"देखि न सकहिं पराइ बिभूती॥" (अ० दो० ११); "पर-सपदा सकहु नहिं देखी। तुम्हरे इरिषा कपट बिसेखी॥" (बा० दो० १३५)।

'हरष बिषाद गरह ...'—अभीष्ट पूर्ति पर हर्ष और उसकी हानि पर विषाद होता है। गरह का अर्थ गले का रोग है, यह घेघा कहाता है, शोथ रोगों मे है, कफ-बात इसका मूल है, यह पानी के विकार से होता

है, गला पढ़कर लटक पड़ता है, भीतर नसों में पीड़ा होती है। हर्ष होना शोथ और नसों में पीड़ा होना विषाद है।

पर सुख देखि जरनि सोइ छई। कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई ॥३४॥
अहंकार अति दुखद डमरुआ। दंभ कपट मद मान नेहरुआ ॥३५॥

अर्थ—पराया सुख देखकर जो जलन होती है वह क्षय रोग है। दुष्टता और मन की कुटिलता कुष्ट (कोढ़) रोग है ॥३४॥ अहंकार अत्यन्त दुःखद डमरुआ रोग है और दंभ कपट मद मान नहरुआ रोग हैं ॥३५॥

विशेष—(१) क्षयी—यह एक प्रसिद्ध राज रोग है, इसमें रोगी का फेफड़ा सड़ जाता है और सब देह धीरे-धीरे गलती जाती है, शरीर गर्म रहता है, खाँसी आती है और बदबूदार कफ निकलता है उसमें कुछ रक्त का अंश रहता है। इसके आरंभ में ही योग्य चिकित्सा हो तो साध्य होता है नहीं तो यह रोग असाध्य हो जाता है।

इसी तरह पर-सुख देखकर जलनेवालों का हृदय सदा जला करता है; वे भीतर-ही-भीतर घुलते जाते हैं, उनका शरीर सूखता जाता है; यथा—"खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी ॥" (दो॰ ३८)।

(२) कुष्ट—यह रक्त और त्वचा सम्बन्धी रोग है, यह संक्रामक (छूत से फैलने वाला) और पुरुषानुक्रमिक होता है। यह १८ प्रकार का कहा जाता है। पर सामान्यतया दो प्रकार का होता है, एक श्वेत और दूसरा गलित, जिसमें हाथ पैर की अँगुलियाँ गल-गल कर गिर जाती हैं। मानस रोगों में 'दुष्टता' (वचन, कर्म से सबकी बुराई करना) गलित कुष्ट है और 'मन की कुटिलता' जिसमें गुप्त रीति से दूसरे की बुराई की जाती है, यह श्वेत कुष्ट है, यह महाकुष्ट है, यह स्वभाव पूर्वज से एवं कुसंग से भी होता है, इससे असाध्य है, यह फूट कर बहता नहीं, भीतर बहुत जलन रहती है। गलित कुष्ट साध्य कहा जाता है। 'मन कुटिलई' वाले ऊपर से साफ बने रहते हैं, वैसे ही श्वेत कुष्ट भी ऊपर श्वेत होता है, पर भीतर जलन होती है।

डमरुआ—यह मेद रोग कहा जाता है, मेद इसका मूल है। कुपथ्य से मेद के बढ़ने और पवन के रुकने पर जठराग्नि बढ़ती है, तब अधिक भोजन से मेद बढ़ता है जिससे बड़ी पीड़ा के साथ पेट बढ़ता जाता है और रुधिर, मांस, वीर्य घटता जाता है और दुर्बलता होती जाती है।

इसी तरह अहंकार भी मानापमान आदि पीड़ा लिये हुए धन-विद्या आदि कुपथ्य पाकर मेद की तरह बढ़ता है। अहं की वृद्धि पेट फूलना है। ज्ञान-विचार आदि का नाश होना रुधिर आदि का नाश है और अज्ञान दुर्बलता है।

(३) नहरुआ—यह रोग प्रायः कमर के नीचे भाग में होता है, जल के साथ एक कीड़े के प्रविष्ट होने के कारण यह रोग होता है, इसमें पहले किसी स्थान पर सूजन होती है, उसपर फुंसी होकर उसके फूटने से छोटा सा घाव होता है। उस घाव से डोरी की तरह का कीड़ा धीरे-धीरे निकलने लगता है, यह प्राय. गजों तक लंबा होता है, यह कीड़ा सफेद रंग का होता है। इससे कभी-कभी पैर आदि बेकाम हो जाते हैं। इसे धीरे-धीरे निकालते जायँ तो यह कुछ दिनों में डोरी-सी निकल जाती है। यदि यह काट दिया जाय या टूट जाय

तो बड़ी जलन होती है और वह फोड़ा फिर दूसरी जगह से निकलता है। इसे वैद्यक में 'स्नायुक्त' कहते हैं। मालवा और राजपूताने में यह रोग बहुत सुना जाता है।

ऐसे ही मानस रोग में 'दंभ कपट मद मान' लोभ एवं मान्यता आदि से उत्पन्न होते हैं। मान सूजन, मद फुंसी, दंभ फूटना और कपट नस का निकलना है, कपट का खुलना नस का टूटना है, इससे भी बड़ी पीड़ा होती है।

तृष्णा उदरवृद्धि अति भारी। त्रिविध ईषना तरुन तिजारी ॥३६॥
जुग विधि ज्वर मत्सर अविवेका। कहँ लगि कहउँ कुरोग अनेका ॥३७॥

अर्थ—तृष्णा, अत्यन्त भारी जलंधर (जलोदर) रोग है, सुत-वित और लोक (प्रतिष्ठा), ये तीन प्रकार की इच्छाएँ प्रबल तिजारी हैं ॥३६॥ मत्सर और अविवेक दो प्रकार के ज्वर हैं, कहाँ तक कहूँ, ये कुत्सित रोग अगणित हैं ॥३७॥

विशेष—(१) उदर वृद्धि अर्थात् जलंधर; बात इसका मूल है, यह मंदाग्नि में कुपथ्य करने से होता है, वात बढ़ने से वातोदर, कफ बढ़ने से कफोदर और जल बढ़ने से जलोदर, इत्यादि आठ प्रकार के इसके भेद हैं। बिना पीड़ा के पेट बढ़ता है, देह से दुर्बल होकर उठने बैठने में रोगी अशक्त हो जाता है।

ऐसे ही तृष्णा से भी तृप्ति नहीं होती, क्षण-क्षण बढ़ती ही जाती है, वह मरते समय तक पूरी नहीं होती, इसीसे इसे 'अति भारी' कहा है। "तृष्णा केहि न कीन्ह बौराहा।" (दो० ११) ; भी देखिये।

(२) 'त्रिविध ईषना तरुन तिजारी।'—तीसरे दिन आने वाले ज्वर को तिजारी कहते हैं। 'तरुन' क्योंकि यह दो दिन पीछे नवीन होकर आती है। इसी प्रकार तीनों प्रकार की इच्छाएँ भी नवीन-नवीन उठा करती हैं; इस पर—"सुत वित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी ॥" (दो० ७०) भी देखिये।

(३) 'जुग बिधि ज्वर ···'—दो प्रकार के इस ज्वर को द्वंद्वज्वर कहते हैं, इसका मूल अजीर्ण है, अजीर्ण पर भोजन करने से वात-पित्त कोप करते हैं, उससे यह ज्वर होता है। यहाँ मत्सर पित्त और अविवेक बात का कोप है, (जुग बिधि ज्वर पर बहुत प्रकार के मत हैं)।

दोहा—एक व्याधिबस नर मरहिं, ये असाधि बहु व्याधि।
पीड़हिं संतत जीव कहँ, सो किमि लहइ समाधि ॥
नेम धरम आचार तप, ज्ञान जज्ञ जप दान।
भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं, रोग जाहिं हरिजान ॥१२१॥

अर्थ—एक ही रोग के वश होकर लोग मर जाते हैं और ये तो बहुत-से असाध्य रोग हैं जो निरंतर जीव को दुःखित करते रहते हैं, तब वह कैसे समाधि (मन की एकाग्रता) को प्राप्त हो सकता है ? ॥

हे गरुड़ ! फिर नियम, धर्म, सदाचार, तप, ज्ञान, यज्ञ, जप और दान आदि करोड़ों ओषधियाँ (इन्हीं के लिये) हैं पर रोग नहीं जाते ॥१२१॥

विशेष—'एक व्याधि बस · ·'—एक ही व्याधि यदि असाध्य हो जाती है, तो लोग मर जाते हैं और यहाँ तो बहुत सी असाध्य व्याधियाँ हैं। 'बहु व्याधि'—जो व्याधियाँ मोह से लेकर अविवेक तक ऊपर कही गई, ये सब कुरोग हैं और असाध्य हैं। 'पीडहिं सतत'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"जिन्हते दुख पावहिं सब लोगा।" (दो० १२०) है। ये असाध्य रोग सदा बने रहते हैं, रोग-जनित पीड़ा भी बनी ही रहती है। 'समाधि'- अष्टांग योग की अंतिम अवस्था है। यहाँ मन की स्थिरता एवं शांति से तात्पर्य है। मन की स्थिरता आत्म-सुख की प्राप्ति से ही होती है, यथा—"निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा।" (दो० ८९), यह परम पुरुषार्थ के फल की अवस्था है।

असाध्य रोगों की भी तो दवा की जाती है, यहाँ क्यों नहीं की जाती, उस पर कहते हैं—'नेम धर्म आचार तप ' अर्थात् लोग दवाइयाँ किया ही करते हैं, पर उनसे रोग नहीं जाते।

एहि बिधि सकल जीव जगरोगी। सोक हरष भय प्रीति बियोगी ॥१॥
मानस-रोग कछुक मैं गाये। हहिं सबके लखि बिरलेन्ह पाये ॥२॥
जाने ते छीजहिं कछु पापी। नास न पावहिं जन परितापी ॥३॥
बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदय का नर बापुरे ॥४॥

अर्थ—इस प्रकार संसार के सभी प्राणी रोगी हैं, शोक हर्ष, भय प्रीति (आदि द्वन्द्वों के वश) वियोगी (अस्थिर) रहते हैं ॥१॥ मैंने कुछ थोड़े से मानस रोग वर्णन किये, ये रोग हैं तो सब को ही, पर विरले ही मनुष्यों ने इनको लख पाया है एवं लख पाते हैं ॥२॥ जान लेने से मनुष्यों को विशेष ताप देनेवाले ये पापी कुछ कम हो जाते हैं, पर नाश को नहीं प्राप्त होते ॥३॥ विषय रूपी कुपथ्य पाकर मुनियों के हृदय में भी अंकुरित हो आते हैं, तब बेचारे मनुष्य क्या हैं ? ॥४॥

विशेष—(१) 'मानस रोग कछुक मैं गाये।'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"सुनहुँ तात अब मानस रोगा। जिन्हते दुख पावहिं सब लोगा॥" (दो० १२०), है। इसके बीच में कुछ मानस रोग कहे गये। 'कछुक'—क्योंकि ये बहुत हैं, यथा—"ये असाध्य बहु ब्याधि।" "कहँ लगि कहउँ कुरोग अनेका।" ऊपर कहा गया। 'हहिं सबके लखि बिरलेन्ह पाये'—इनकी प्रवृत्ति और उनका लखना वि० १४७ में लिखा गया है, यथा—"कृपासिंधु ताते रहउँ निसि दिन मन मारे। महाराज लाज आपु ही निज जाँघ उघारे॥ मिले रहैं, मार्‌यो चहैं, कामादि सँघाती। मो बिनु रहैं न मेरियै जारैं छल छाती॥ बसत हिये हित जानि मैं सब की रुचि पाली। कियो कथिक कोदंड हौं जड़ कर्म कुचाली॥ देखी सुनी न आजु लौं अपनायत ऐसी। करैं सबै, सिर मेरे ही फिरि परै अनैसी॥ बड़े अलेखी लखि परे परिहरे न जाहीं। असमंजस में मगन हौं लीजै गहिबाहीं॥ बारक बलि अवलोकिये कौतुक जन जी को। अनायास मिटि जायगो संकट तुलसी को॥"

जान लेने पर भी नहीं छूटते, क्योंकि मनुष्यों के सामर्थ्य से असाध्य हैं, यथा—"लोभ, मोह, मद, काम, क्रोध रिपु फिरत रैन दिन घेरे। तिनहिं मिले मन भयो कुपथ रत फिरै तिहारेहि फेरे॥" (वि० १४७) "तुम अपनायो तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै।" (वि० २६८)।

(२) 'छीजहिं कछु'—जानने पर कुछ संयम और ओषधि की जाती है, इससे कुछ नाश होते हैं, पर उनकी जड़ें बनी रहती हैं, इससे जल रूपी कुपथ्य पाकर फिर भी अंकुरित हो आते हैं। 'मुनिहु हृदय'; यथा—"मुनि बिज्ञान धाम मन, करहिं निमिष महँ छोभ" (आ० दो० ३८) देखिये। मुनि लोग सदा ओषधि ही करते रहते हैं और संयम से रहते भी हैं। जब उनके भी हृदय में अंकुरित हो आते हैं, तब विषयी बेचारों की क्या गणना है ?

जैसे रोगी कुपथ्य की ओर दौड़ता है वैसे मानस रोगी विषयों के लिये दौड़ते हैं। 'अंकुरे'—मानस रोग (मोह आदि) के बीज यम-नियमादि-रूपी सूखी मिट्टी में दबे रहते हैं, विषय वारि-रूपी कुपथ्य पाते ही ये अंकुरित हो आते हैं।

राम-कृपा नासहिं सब रोगा। जौ एहि भाँति बनै संजोगा ॥५॥
सद्गुरु बैद बचन बिस्वासा। संजम यह न विषय कै आसा ॥६॥
रघुपति-भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी ॥७॥
येहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं। नाहित जतन कोटि नहिं जाहीं ॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी की कृपा से यदि इस प्रकार संयोग बन जाय (जैसा आगे कहते हैं) तो सब रोग नष्ट हो जाते हैं ॥५॥ सद्गुरु रूपी वैद्य के बचन में विश्वास हो, विषयों की आशा न रक्खे, यह संयम (परहेज) है ॥६॥ श्रीरघुनाथजी की भक्ति संजीवनी बूटी है, बुद्धि श्रद्धा से परिपूर्ण हो, यही अनुपान है ॥७॥ इस प्रकार भले ही वे रोग नष्ट हो जाते हैं नहीं तो करोड़ों (अन्य) उपायों से नहीं जाते ॥८॥

विशेष—(१) 'राम कृपा नासहिं सब रोगा'; यथा—"जब कब राम कृपा दुख जाई। तुलसि दास नहिं आन उपाई ॥" (वि० १२७); कृपा कैसे समझी जाय ? यह उत्तरार्द्ध में कहते हैं—'जौ एहि भाँति बनै संजोगा' भाव यह कि ऐसा संयोग अपने अधीन नहीं है। 'नासहिं'—भाव यह कि अवश्य नष्ट हो जायँगे, संदेह नहीं।

ज्ञान के साधन में भी 'अस संयोग ईस जब करई।' कहा गया था। वैसे ही यहाँ भी संयोग श्रीरामजी के हाथ ही कहा गया है; यथा- "तुलसिदास यह जीव मोह रजु जोइ बाँध्यो सोइ छोरै।" (वि० १०२)।

(२) 'सदगुरु बैद' अर्थात्—समीचीन गुरु रूपी वैद्य—श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु सद्गुरु कहाते हैं; यथा-"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥" (मुंडक० १।२।१२) अर्थात् वे साधन करके ब्रह्मनिष्ठ हों और श्रुतियों के द्वारा शिष्य के संशय निवृत्त कर सकें; यथा—"सदगुरु मिले जाहिं जिमि, संसय भ्रम समुदाय ॥" (कि० दो० १६) देखिये। शिष्य भी साधन में कटिबद्ध, प्रशांत चित्त, शमान्वित और श्रद्धालु होना चाहिये; यथा—"तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ॥ येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥" (मुंडक० १।२।१३)। 'बचन बिस्वासा'—विश्वास से श्रद्धा पुष्ट होती रहेगी, पुनः संयम के विषय में भी विश्वास ही काम देगा। वैद्य की दवा में विश्वास हो और उसके कहे हुए संयम में भी तत्पर रहे, तब रोग नष्ट होते हैं। वैसे ही गुरु के द्वारा प्राप्त उपाय में दृढ़ विश्वास हो, और विषय-त्याग का संयम भी करे। वैद्य मिर्चा-खटाई आदि से संयम रखने को कहते हैं यहाँ विषय खटाई आदि कुपथ्य हैं, उनसे संयम रक्खे। वैद्य संजीवनी देते समय अनुपान भी बतलाते

है कि अमुक वस्तु के साथ यह दवा सेवन की जाय। वैसे ही इस भक्ति रूपी जड़ी का अनुपान परिपूर्ण श्रद्धा है। पहले संयम कहकर दवा कही गई, क्योंकि संयम बहुत आवश्यक है, अन्यथा दवा व्यर्थ हो जाती है, वैसे ही इन्द्रिय विषय के संयम बिना साधन व्यर्थ हो जाते हैं; यथा—"दसहुँ दसहु कर संयम जो न करिय जिय जानि। साधन वृथा होहिं सब मिलहिं न सारँगपानि॥" (वि० २०३), 'सजीवनि मूरी'—सजीवनी बूटी के सेवन से मृतप्राय प्राणी भी जी उठते हैं, वैसे ही भक्ति भक्त के असाध्य रोग (भव-रोग) के नाश करने में अव्यर्थ ओषधि है; यथा—"कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त प्रणश्यति।" (गीता ९।३१), अर्थात् भगवान् के भक्त का नाश नहीं होता, वे नित्य अमरत्व (मुक्ति) पाते हैं।

भक्ति पूर्ण श्रद्धा से करनी चाहिये, यथा—"भक्त्याहमेकया ग्राह्य श्रद्धयात्मा प्रिय सताम्। भक्ति पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥" भाग० ११।१४।२१); अर्थात् संतों के प्रिय आत्मा रूप मैं केवल श्रद्धायुक्त भक्ति के द्वारा वश में हो सकता हूँ। मेरी भक्ति चाण्डाल आदि को भी पवित्र हृदय बनाने में समर्थ है।

(३) 'येहि विधि भलेहि ·'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"राम कृपा नासहि सब रोगा। जौं येहि भाँति बनै संजोगा॥" है। इसके बीच में कही हुई विधि ही मानस रोग के नाश का उपाय है।

जानिय तब मन बिरुज गोसाईं। जब उर बल-बिराग अधिकाई॥९॥
सुमति छुधा बाढ़इ नित नई। बिषय आस दुर्बलता गई॥१०॥
बिमल-ज्ञान-जल जब सो नहाई। तब रह राम-भगति उर छाई॥११॥

अर्थ—हे गोसाईं! तब जानना चाहिये कि मन नीरोग हो गया, जब हृदय में वैराग्य रूपी बल बढ़े॥९॥ उत्तम बुद्धि रूपी भूख नित्य नवीन बढ़ती जाय और विषयों की आशा रूपी दुर्बलता चली जाय॥१०॥ जब वह (रोग निर्मुक्त प्राणी) निर्मल ज्ञान रूपी जल से स्नान करता है तब उसके हृदय में श्रीरामभक्ति छा रहेगी॥११॥

विशेष—(१) 'बल बिराग अधिकाई'—जब लौकिक-पारलौकिक सभी विषयों से वैराग्य हो जाय एक भक्ति में दृढ निष्ठा रह जाय और विषयों को अनहित जानकर उनकी ओर नहीं देखे।

रोग दूर होने पर पहले शरीर में बल बढ़ने लगता है, भूख दिनोंदिन बढ़ने लगती है और शरीर की कृशता दूर होती जाती है, तब नीरोग होने पर स्नान (आरोग्यता का विशेष स्नान) कराया जाता है, ये सब बातें यहाँ कहते हैं—

(२) वैराग्य बल, सुमति भूख, विषयों की आशा दुर्बलता और विमल ज्ञान स्नान का जल है। भाव यह कि मानस रोगों के नष्ट होने पर पहले शरीर में कुछ वैराग्य रूपी बल आता है, फिर दिनों दिन बुद्धि विमल होती जाती है उससे भक्ति की चाह भूख की तरह नित्य नई होती रहती है जिससे वैराग्य रूपी बल अधिक होता जाता है, भगवान् में लगती हुई इन्द्रियाँ जगत् से नीरस होती जाती हैं। यही दुर्बलता का दूर होना है। तब साधक विमल ज्ञान से 'निज प्रभु मय' जगत् को देखने लगता है और पूर्ण रूप से परा भक्ति उसके हृदय में छा जाती है। वह राम भक्ति अहर्निशि एक रस बनी रहती है, यही उसका छा रहना है, यथा—"सरग नरक अपबरग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना॥" (अ० दो० १३०)।

सिव अज सुक सनकादिक नारद । जे मुनि ब्रह्म-बिचार-बिसारद ॥१२॥
सबकर मत खगनायक येहा । करिय राम-पद-पंकज नेहा ॥१३॥

अर्थ—श्रीशिवजी, श्रीब्रह्माजी, श्रीशुकदेवजी, श्रीसनक-सनंदन-सनातन और सनत्कुमारजी एवं श्रीनारदजी (आदि) जो मुनि ब्रह्म-तत्त्व-विचार में परम निपुण हैं ॥१२॥ उन सब का मत, हे श्रीगरुड़जी ! यही है कि श्रीरामजी के चरण कमलों में स्नेह करना चाहिये ॥१३॥

विशेष—(१) 'पद पंकज नेहा' ; यथा—"मन मधुकर पनकरि तुलसी रघुपति पद कमल बसैहौं ।" (वि० १०५) ; श्रीशिवजी का मत इसी ग्रंथ में सर्वत्र है, मानस में एक घाट ही इनका है । यथा—"ये नराधमलोकेषु रामभक्तिपरांमुखाः । जपं तपं दया शौच शास्त्राणामवगाहनम् ॥ सर्वं वृथा बिना येन शृणु त्वं पार्वति प्रिये ॥" (रुद्रयामल) ; श्रीब्रह्माजी का मत भी इसी ग्रंथ की उनकी स्तुति आदि से प्रसिद्ध भक्ति परक ही है । पुन दो० ११४ चौ० १ की टीका में 'श्रेय श्रुति' ' यह श्लोक देखिये । शुकदेवजी का मत, यथा -"यस्यामल नृपसदस्सुयशोऽधुनापि गायन्त्यघघ्नमृषयोदिगिभेन्द्रपट्टम् । तन्नाकपाल-वसुपालकिरीटजुष्टपादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये ॥" (भाग० ९।११।२१) ; सनकादिक का मत ; यथा—"देहि भगति संसृति सरि तरनी ।" (दो० ३४), तथा सनत्कुमार संहिता में रामस्तवराज इनका ही कथित है जिसमें श्रीरामभक्ति ही परम प्राप्य कही गई है, वही नारदजी का भी अभीष्ट है, क्योंकि वह नारद कृत स्तुति ही है, जिसका सनकादि ने वर्णन किया है । इस ग्रंथ में भी श्रीनारदजी का भक्ति-मत जगह-जगह पर है । नारद भक्ति सूत्र एक भक्ति-दर्शन है, यह श्रीनारदजी की ही रचना है, इत्यादि ।

'करिय राम पद पंकज नेहा'—यह इस ग्रंथ का तात्पर्य निर्णय है, इसे विस्तार-पूर्वक आगे "सतपंच चौपाई मनोहर..." इस छंद के प्रकरण में कहा जायगा । इसी निर्णीत मत को पुष्टि आगे को जाती है—

श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं । रघुपति भगति बिना सुख नाहीं ॥१४॥
कमठ-पीठ जामहिं बरु बारा । बंध्यासुत बरु काहुहि मारा ॥१५॥
फूलहिं नभ बरु बहु बिधि फूला । जीव न लह सुख हरि-प्रतिकूला ॥१६॥

अर्थ—वेद-पुरान (आदि) सभी ग्रंथ कहते हैं कि श्रीरघुनाथजी की भक्ति के विना सुख नहीं हो सकता ॥१४॥ कछुए की पीठ पर बाल भले ही जम आवें और बाँझ का पुत्र भले ही किसी को मार आवे ॥१५॥ आकाश में भले ही (चाहे) अनेक प्रकार के फूल फूलें (ये सब असंभव चाहे हो जायँ), पर भगवान् से प्रतिकूल होकर जीव सुख नहीं पा सकता ॥१६॥

विशेष—(१) 'श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं । ..'—ऊपर ईश्वरों और मुनीश्वरों का मत कहा, इसी पर भगवान् की वाणी एवं श्वासरूप वेदों और उनके उपबृंहणरूप पुराणों का एवं और भी सद्ग्रन्थों का प्रमाण दिया कि श्रीरामभक्ति विना सुख नहीं मिल सकता । आगे अपना निर्णय किया हुआ अपेल सिद्धान्त भी कहते हैं, उसी मत को आगे नव असंभव दृष्टान्तों से पुष्ट करते हैं कि 'रघुपति भगति बिना सुख नाहीं ।' यहाँ 'रघुपति' कहकर उपर्युक्त 'राम पद पंकज नेहा' की अतिव्याप्ति दूर की । भाव यह कि दाशरथि रामजी की ही भक्ति करनी चाहिये ।

पूर्व भी कहा है—"गावहिं बेद पुरान" सुख कि लहिय हरि भगति बिनु।" (दो० ८९), "सुनु खगेस हरि भगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई। ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥" (दो० ११५)।

कमठ की पीठ पर बाल जमना तीनों काल में असंभव है, ऐसे ही बंध्या के पुत्र होना और आकाश में फूल फूलना भी असंभव है। जब बंध्या के पुत्र हो ही नहीं सकता तो वह मारेगा कैसे? पुनः आकाश में स्थल ही नहीं है कि उसमें वृक्ष उगें और उनमें फूल हों।

तृषा जाइ बरु मृग-जल-पाना। बरु जामहिं सस सीस बिषाना॥१७॥
अंधकार बरु रबिहि नसावै। राम-बिमुख न जीव सुख पावै॥१८॥
हिम ते अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई॥१९॥

दोहा—बारि मथे घृत होइ बरु, सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि-भजन न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल॥

अर्थ—मृग-तृष्णा रूपी जल के पीने से प्यास चाहे बुझ जाय (तो बुझ जाय), खरहे (खरगोश) के शिर पर सींग चाहे जम आवें और अंधकार चाहे सूर्य का नाश कर दे (ये सब असंभव चाहे संभव हो जायँ), पर राम-विमुख होकर जीव सुख नहीं पा सकता॥१७–१८॥ पाले से चाहे अग्नि प्रकट हो जाय परन्तु राम-विमुख होकर कोई सुख नहीं पा सकता॥१९॥ जल के मथने से घी चाहे हो जाय और बालू से तेल चाहे निकल आवे, पर यह अटल सिद्धान्त है कि बिना हरि-भजन के संसार नहीं तरा जा सकता॥

विशेष—(१) मृग-तृष्णा का जल झूठा है; यथा - "जथा भानुकर बारि। जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकै कोउ टारि।" (बा० दो० ११७); उससे प्यास बुझना असंभव है। 'अंधकार बरु रबिहि नसावै।'—अंधकार सूर्य के सामने नहीं हो सकता, तब सूर्य का नाश करना तो उसके लिये असंभव ही है; यथा—"रबि सन्मुख तम कबहुँ कि जाहीं।" (दो० ७१); "तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू।" (अ० दो० २१९); 'राम बिमुख न जीव सुख पावै।' जैसे कि जयन्त को किसी ने शरण नहीं दी; यथा—"राखि को सकै राम कर द्रोही।" से "सब जग ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥" (आ० दो० १) तक। 'सुख पाव न कोई'—ऊपर 'न जीव सुख पावै' कहा गया था और यहाँ 'कोई' में यह ध्वनि है कि जीव (सामान्य) की क्या ईश्वर कोटि के ब्रह्मा आदि भी सुख नहीं पा सकते।

(२) 'बारि मथे घृत···'; यथा—"लोके भवतु चाश्चर्यं जलाज्जन्म घृतस्य च। सिक्तायाश्च तैलं तु यत्नाद्यातु कथंचन॥ विना भक्तिं न मुक्तिश्च भुजमुत्थाय चोच्यते।" (सत्योपाख्यान १५।१६–१७)। "सिकतया खलु तैलमथापिवा घृतमपामथनाद्यदिचेद्भवेत्। भगवतो भजनेन विना नरः नहि कदापि तरेद्भव-सागरम्॥"

यहाँ तक 'कमठ पीठ' से लेकर ९ असंभव दृष्टान्त कहे गये। ९ संख्या की सीमा है, इससे यह भाव निकला कि ऐसी असंख्य असम्भव बातें चाहे हो जायँ तो हो जायँ, पर हरि-भजन बिना कोई भी भवसागर नहीं तर सकता। इसे 'अपेल सिद्धान्त' कहा है। अपेल अर्थात् न टालने योग्य, न हटा सकने योग्य,

यथा—"आयेहु तात बचन मम पेला।" (बा॰ दो॰ २१). 'अपेल सिद्धान्त' कहकर इसे सर्वतंत्र सिद्धान्त कहा है कि जिसे विद्वानों के सब वर्ग या सब सम्प्रदाय मानते हों।

पहले शिव अज आदि का निर्णीत मत कहा; यथा—'करिय राम पद पंकज नेहा।' फिर उसे श्रुति पुराण एवं सब ग्रन्थों से प्रमाणित किया; यथा—'रघुपति भगति बिना सुख नाहीं।' पुनः उसे ही नव प्रकार के असंभव दृष्टान्तों से भी पुष्ट किया, तब 'यह सिद्धान्त अपेल' कहा, भाव यह कि जो मत इस प्रकार से प्रामाणिक हो, वही 'अपेल सिद्धान्त' कहायेगा। पहले 'सुख नाहीं' कहा, फिर उसी को 'न भव तरिय' कहकर जनाया कि भव पार होकर जीव सुख ही पाता है।

उपक्रम—'रघुपति भजन बिना सुख नाहीं।' और उपसंहार—'बिनु हरि भजन न भव तरिय' है। इतने में 'करिय राम-पद-पंकज नेहा' को पुष्ट किया गया है।

मसकहि करइ बिरंचि प्रभु, अजहि मसक ते हीन।
अस बिचारि तजि संसय, रामहि भजहिं प्रबीन॥

श्लोक—विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे।
हरिं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरंति ते॥१२२॥

अर्थ—प्रभु (चाहे) मच्छड़ को ब्रह्मा कर दें और ब्रह्मा को मच्छड़ से भी छोटा कर दें—ऐसा विचारकर चतुर लोग संशय छोड़कर श्रीरामजी का भजन करते हैं॥ मैं आपसे विशेष निश्चित किया हुआ सिद्धान्त कहता हूँ, मेरे वचन अन्यथा (व्यर्थ) नहीं हैं, जो मनुष्य भगवान् का भजन करते हैं वे अति दुस्तर संसार को तर जाते हैं॥१२२॥

विशेष—(१) 'अस बिचारि'—पहले तो 'करिय राम-पद-पंकज नेहा।' को अपेल सिद्धान्त कहा, फिर यह कहा कि प्रभु ऐसे समर्थ हैं कि भजन करने से अनुकूल हों तो मच्छड़ को ब्रह्मा बना सकते हैं और जो उनसे विमुख हो; उस ब्रह्मा को भी मच्छड़ से हीन दशा को पहुँचा सकते हैं, अतः वे प्रवीणों के उपास्य हैं; यथा—"मसक बिरंचि बिरंचि मसक सम करहु प्रभाव तुम्हारो। यह सामर्थ्य अछत मोहिं त्यागहु नाथ तहाँ कछु चारो॥" (वि॰ ६४), "जो चेतन कहँ जड़ करइ, जड़हि करइ चैतन्य। अस समर्थ रघुनायकहि, भजहिं जीव ते धन्य॥" (दो॰ ११९)। यहाँ सामर्थ्य दिखाने के सम्बन्ध से 'प्रभु' कहा है।

(२) 'विनिश्चितं वदामि'—पहले शिव-ब्रह्मा आदि का मत कहा, फिर उसे श्रुति-पुराण आदि से पुष्ट किया, तब असंख्य असंभव दृष्टान्तों से जोर देकर अपने मत से भी उसे ही अपेल सिद्धान्त कहा। अब उसे ही विशेष निश्चित सिद्धांत करके फिर से श्लोक में जोर देते हुए कहते हैं कि हरि भजन से ही दुस्तर भवसागर का तरण होता है, दूसरे उपायों से नहीं।

हरि भजन को कई तरह से निश्चित किया—(क) राम-भक्ति से ही सुख की प्राप्ति एवं भवतरण होता है। (ख) श्रीराम-भक्ति बिना सुख नहीं मिलता। (ग) श्रीरामजी के विमुख एवं प्रतिकूल होने से सुख नहीं मिलता। सारांश यह कि श्रीराम-भजन करने ही से सुख मिलता है।

यह श्लोक नग स्वरूपिणी वृत्त का है, आ॰ दो॰ ३ अत्रि-स्तुति इसी छंद में है।

यहाँ तक श्रीगरुड़जी के प्रश्नों के उत्तर कह दिये, आगे प्रकरण की इति लगाते हैं—

कहेउँ नाथ हरि-चरित अनूपा । ब्यास समास स्वमति अनुरूपा ॥१॥
श्रुति-सिद्धांत इहइ उरगारी । राम भजिय सब काज बिसारी ॥२॥

अर्थ—हे नाथ ! मैंने अनुपम एव सरस श्रीरामचरित को कहीं विस्तार से और कहीं संक्षेप से अपनी बुद्धि के अनुसार कहा ॥१॥ हे श्रीगरुड़जी ! श्रुतियों का यही सिद्धान्त है कि सब काम भूलकर श्रीराम-का भजन करना चाहिये ॥२॥

विशेष—(१) 'हरि चरित अनूपा'—पहले समग्र श्रीरामचरित कहकर फिर जो श्रीगरुड़जी के प्रश्नों के उत्तर दिये थे, उनमें कई प्रश्न भुशुंडिजी के चरित परक थे और फिर इधर भी सात प्रश्नों में कुछ मानस रोग एव सत-असत स्वभाव आदि कहे गये हैं। पर सबका उपसंहार करते हुए उन्हें भी हरि चरित ही कहा है, क्योंकि ये सब प्रसंग भी श्रीरामचरित के ही पोषक हैं अतएव उसी के अंग हैं। सत स्वभाव की उत्तमता भी श्रीरामचरित ही है। श्रीरामजी की ही कृपा से संतों में उत्तम गुण आते हैं।

(२) 'कहेउँ नाथ हरि चरित अनूपा।'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"प्रथमहि अति अनुराग भवानी। रामचरित सर कहेसि बखाना॥" (दो० ६१) से हुआ है। 'स्वमति अनुरूपा'—के भाव पूर्व कई जगह आ गये हैं। 'अनूप' का अर्थ सरस भी होता है, यथा—"देखि मनोहर सैल अनूपा।" (कि० दो० १२), वह प्रवर्षण गिरि सरस भी था।

'ब्यास समास'—जहाँ-जहाँ 'बखाना' 'गाना' ये शब्द कहे गये हैं, वहाँ विस्तार पूर्वक और जहाँ जहाँ अपूर्ण क्रियायें हैं और बखाना आदि शब्द नहीं हैं, वहाँ संक्षेप में कहा गया है। यहाँ के अंतिम सात प्रश्नों में भी दो ही विस्तार से कहे गये हैं, क्योंकि इनके प्रश्न के साथ ही 'बखानहु' और 'कहहु समुझाई' कहा गया था। इसी तरह सर्वत्र जानना चाहिये।

(३) 'श्रुति सिद्धान्त इहइ ···'—वेदों ने स्तुति में स्वयं अपना सिद्धान्त कहा है, यथा—"जे ज्ञान मान बिमत्त तव भव हरनि भगति न आदरी। •मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं॥" (दो० १२)। आगे श्रीशिवजी भी कहते हैं, यथा—"श्रुति सिद्धान्त नीक तेहि जाना। •जो छल छाड़ि भजै रघुबीरा॥" (दो० १२९)। 'राम भजिय सब काज बिसारी।', यथा—"देह धरे कर यह फल भाई। भजिय राम सब काम बिहाई॥" (कि० दो० २२), तथा—"धाये धाम काम सब त्यागी।" (बा० दो० ११९)। "चले सकल गृह काज बिसारी।" (बा० दो० २३१), "तजि हरि भजन काज नहिं दूजा।" (दो० ५६) आदि में बिसारी के भाव आ गये हैं। 'बिसारी' का भाव यह कि छोड़ देने मात्र से काम नहीं, उनकी सुध भी नहीं रहने पावे, अर्थात् श्रद्धा और प्रेम पूर्वक भजन होने चाहिये कि इन पर चित्त ही नहीं जाय।

प्रभु रघुपति तजि सेइय काही । मोहि-से सठ पर ममता जाही ॥३॥
तुम्ह बिज्ञान रूप नहिं मोहा । नाथ कीन्हि मो पर अति छोहा ॥४॥
पूछेहु राम कथा अति पावनि । सुक सनकादि संभु-मन-भावनि ॥५॥

अर्थ—समर्थ स्वामी श्रीरघुनाथजी को छोड़कर किसकी सेवा की जाय कि मुझ ऐसे शठ पर भी जिनका ममत्व है ॥३॥ हे नाथ ! आप विज्ञान रूप हैं, आपको मोह नहीं था, आपने तो मुझपर (यह)

अति कृपा की है कि जो शुक सनकादि एवं शिवजी के मन को प्रिय लगनेवाली अत्यन्त पवित्र राम-कथा पूछी है ॥४-५॥

विशेष—(१) 'प्रभु रघुपति तजि'''—पहले सर्व तंत्र सिद्धान्त से यह प्रतिपादन कर आये कि श्रीरामजी का भजन करना चाहिये। अब श्रीरामजी में उत्तम स्वामित्व-लक्षण भी कहते हैं कि वे 'प्रभु' हैं; अर्थात् अघटित घटना को घटित कर देनेवाले हैं। पुनः 'रघुपति' हैं; अर्थात् रघु आदि परम उदार राजाओं के कुल में श्रेष्ठ हैं। अतः, आश्रितों के लिये सब प्रकार श्रेय विधान करनेवाले हैं। पुनः सुलभ इतने हैं कि मुझ ऐसे शठ पर भी ममता रखते हैं, एक श्रीरामजी ही शठ सेवक पर ममत्व रखते हैं; यथा—"सठ सेवक की प्रीति रुचि, रखिहहिं राम कृपालु। उपल किये जल जान जेहि, सचिव सुमति कपि भालु॥" (बा० दो० २८); अपनी शठता भुशुंडिजी ने स्वयं कही है और साथ ही प्रभु की ममता भी दिखाई है; यथा—"राम कृपा आपनि जड़ताई।" से "बहु बिधि मोहि प्रबोधि सुख देई।" (दो० ७१–८७) तक, इसमें प्रभु इन्हें ग्रहण करना चाहते थे और ये भागते थे, परन्तु भागने नहीं पाये। प्रभु ने ग्रहण कर नाना प्रकार के वर देकर इन्हें कृतार्थ किया, वही उदाहरण देते हैं। अतएव ऐसा उत्तम स्वामी और कोई नहीं है जिसका भजन किया जाय, यथा—"नाहिन भजिबे जोग बियो। श्रीरघुबीर समान आन को पूरन कृपा हियो।'' तुलसिदास को प्रभु कोसलपति सब प्रकार बरियो॥" (गी० सुं० ४६)। "भजिबे लायक सुखदायक रघुनायक सरिस सरनप्रद दूजो नाहिन।" (वि० २०७); भाव यह कि सब प्रकार समर्थ और आश्रित वत्सल श्रीरामजी ही हैं।

(२) 'तुम्ह बिज्ञान रूप'; यथा—"गरुड़ महाज्ञानी गुनरासी।" (दो० ५४); अतः मोह नहीं है। 'नाथ कीन्हि मोपर अति छोहा।'—राजा का सेवक के घर आना छोह है और फिर सत्संग का सुख देना 'अति छोह' है; यथा—"तुम्हहिं न संसय मोह न माया। मोपर नाथ कीन्हि तुम्ह दाया॥" (दो० ९१)।

(३) 'अति पावनि'; यथा—"मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई॥" (दो० १२५); 'सुक सनकादि संभु मनभावनि'— शुक मनभावनि, जैसे कि श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण परक चरित में भी श्रीरामजी का परत्व वर्णन करते हुए श्रीशुकदेवजी ने महापुरुष शब्द से श्रीरामजी की ही वंदना की है; यथा—"ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिंचिनुतं शरण्यम्। भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वंदे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥ त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्। मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥" (११।५।३३-३४) अन्यत्र तो इनकी निष्ठा प्रसिद्ध ही है। सनकादि मनभावनि, यथा—"आसा बसन ब्यसन यह तिन्हहीं। रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं॥" (दो० ३२); "जीव-मुक्त ब्रह्म पर, चरित सुनहि तजि ध्यान।" (दो० ४२)। संभु मन भावनि; यथा—"सिव प्रिय मेकल-सैल-सुता-सी।" (बा० दो० ३०)।

सत-संगति दुर्लभ संसारा। निमिष दंड भरि एकउ बारा॥६॥
देखु गरुड़ निज हृदय बिचारी। मैं रघुबीर-भजन अधिकारी॥७॥
सकुनाधम सब भाँति अपावन। प्रभु मोहि कीन्ह बिदित जगपावन॥८॥

अर्थ—संसार में निमेष भर, दंड भर या एक बार का भी सत्संग मिलना दुर्लभ है॥६॥ हे गरुड़! अपने हृदय में विचार कर देखिये तो क्या मैं रघुवीर भजन का अधिकारी हूँ? अर्थात् नहीं हूँ॥७॥ मैं पक्षियों में अधम, सब प्रकार से अपवित्र हूँ, ऐसे मुझको भी प्रभु ने जगत्-पावन कर दिया—यह बात जगत् प्रसिद्ध है॥८॥

विशेष—(१) 'सत संगति दुर्लभ···'; यथा—"बिनु सतसंग बिवेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥" (बा॰ दो॰ ३) देखिये। तथा—"महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च॥" (नारद-भक्ति सूत्र ३९)। 'निमिष दंड भरि एकउ बारा।', यथा—"तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला एक अंग। तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग॥" (सुं॰ दो॰ ४) देखिये, भाव यह कि जितना ही अधिक सत्संग का संयोग हो, उतना ही उसे परम लाभ मानना चाहिये। पल-भर का सत्संग भी व्यर्थ नहीं जाता, पृथिवी में पड़े हुए बीज की तरह कभी अंकुरित होता ही है। 'मैं रघुबीर भजन अधिकारी' इस काकु कथन द्वारा अपने को अनधिकारी कहकर उसे आगे "सकुनाधम सब भाँति अपावन।···" से स्पष्ट किया है कि कौआ चाण्डाल पक्षी है, आचरण से भी भ्रष्ट होता है, उसे जगत भर में प्रसिद्ध पावन कर दिया; यथा—"पठइ मोह मिस खगपति तोहीं। रघुपति दीन्ह बड़ाई मोहीं॥" (दो॰ ११); अर्थात् महा ज्ञानी का भी उपदेष्टा पद मुझे प्राप्त कराया।

दोहा—आजु धन्य मैं धन्य अति, जद्यपि सब बिधि हीन।
निज जन जानि राम मोहि, संत-समागम दीन॥
नाथ जथामति भाखेउँ, राखेउँ नहिं कछु गोइ।
चरित-सिंधु रघुनायक, थाह कि पावइ कोइ॥१२३॥

अर्थ—यद्यपि मैं सब प्रकार से तुच्छ (गया बीता) हूँ, तथापि मैं आज धन्य हूँ, अति धन्य हूँ कि श्रीरामजी ने मुझे अपना सेवक जानकर संत-समागम दिया॥ हे नाथ! मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार कहा है, कुछ भी बात छिपा नहीं रक्खी। श्रीरघुनाथजी के चरित समुद्र के समान अगाध हैं, क्या कोई उनकी थाह पा सकता है?॥१२३॥

विशेष—(१) 'आजु धन्य मैं ···'—क्योंकि सत्संग की एक घड़ी भी धन्य है; यथा—"धन्य घरी सोइ जब सतसंगा।" (दो॰ १२७), मुझे तो बहुत काल का सत्संग मिला, अतएव मैं अति धन्य हूँ। बार-बार धन्य कहने का भाव यह है कि 'समागम' के साथ दर्शन-स्पर्श की भी प्राप्ति का स्मरण करते हैं; यथा—"जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइये॥" (वि॰ १३६)। अतिम 'समागम' पद से उसके साथ के दर्शन स्पर्श भी आ गये हैं।

(३) 'जथामति' और 'चरित सिंधु' के भाव पूर्व कई जगह आ गये हैं। 'राखेउँ नहि कछु गोइ' कहकर पूर्व कथित "पाइ उमा अति गोप्यमपि सज्जन करहिं प्रकास" (दो॰ ११) का चरितार्थ दिखाया गया है

(२) 'निज जन'; यथा—"मन क्रम बचन राम पद सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक॥ देखि दसा निज जन मन भाये॥" (आ॰ दो॰ ६)। "जनहि मोर बल···" (आ॰ दो॰ ४३), अर्थात अनन्य भक्त ही निज जन हैं।

सुमिरि राम के गुनगन नाना। पुनि पुनि हरष भुसुंडि सुजाना॥१॥
महिमा निगम नेति करि गाई। अतुलित बल प्रताप प्रभुताई॥२॥

सिव अज पूज्य चरन रघुराई। मो पर कृपा परम मृदुलाई ॥३॥
अस सुभाव कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ ॥४॥

अर्थ--श्रीरामजी के नाना गुण-गणों का स्मरण करके बार-बार सुजान श्रीभुशुंडिजी हर्षित हो रहे हैं ॥१॥ जिन श्रीरघुनाथजी के अतुलित बल, प्रताप और प्रभुता की महिमा वेदों ने 'न इति' कहकर गाई है ॥२॥ जिन श्रीरघुनाथजी के चरण श्रीशिवजी और श्रीब्रह्माजी से पूज्य हैं, (ऐसे) उन प्रभु की मुझ-पर परम कृपा है, यह उनकी परम कोमलता है ॥३॥ ऐसा स्वभाव न कहीं सुनता हूँ और न कहीं देखता हूँ, हे खगराज ! मैं किसे रघुपति के समान गिनूँ (मानूँ) ? अर्थात् ऐसा अत्यन्त महिमावान् और अत्यन्त कोमल स्वभाववाला और कोई है ही नहीं ॥४॥

विशेष—(१) 'गुनगन नाना' जैसा कि दो० ९०-९२ में विस्तार से कहते हुए अंत में कहा है—'राम अमित गुनसागर, थाह कि पावइ कोइ' पुनः 'रामकृपा आपनि जड़ताई' के वर्णन मे जो गुण कहे गये हैं, उन सबका यहाँ स्मरण करते हैं। 'पुनि पुनि हरष'—जैसे-जैसे भिन्न भिन्न गुणों पर चित्त जाता है वैसे वैसे बार-बार पुलक पर-पुलक होते हैं। पुनः आगे श्रीरामजी की अतुलित महिमा और अपनी तुच्छता का मिलान करना कहा है उसपर भी बार-बार पुलकावली का होना जानना चाहिये; यथा—"करहिं जोग जोगी जेहि लागी।" से "मोर भाग राउर गुन गाथा। कहि न सिराहिं सुनहु रघुनाथा॥" (बा० दो० ३४८–३४१) तक।

(२) 'अतुलित बल प्रताप प्रभुताई।', यथा—"अतुलित बल अतुलित प्रभुताई।" (आ० दो० १); यह जयंत ने परीक्षा करके कहा है। पुन दो० ९०-९२ में भी देखिये।

(३) 'अस सुभाव कहुँ ···'—इतने बड़े होकर अत्यन्त तुच्छ जीवों पर भी ऐसी कोमलता ! यथा—"ठाकुर अतिहि बड़ो सील सरल सुठि। ध्यान अगम सिवहू, भेंट्यो केवट उठि॥" से "स्वामी को सुभाव कह्यो सो जब उर आनिहै। सोच सकल मिटिहैं, राम भलो मानिहै॥" (वि० १३५), तथा—"जेहि समान अतिसय नहिं कोई। ताकर सील कस न अस होई॥" (बा० दो० ५)। श्रीरामजी के स्वभाव के ज्ञाता श्रीभरतजी हैं, यथा—"मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ।" (अ० दो० २५९); इनके द्वारा अयोध्याकांड में बहुत कहा गया है। पुन. "जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥" (दो० १), श्रीभरतजी ने इस स्वभाव का अनुभव भी खूब किया है ; यथा—"भरत भाग्य प्रभु कोमलताई। सेष कोटि सत सकहिं न गाई॥" (दो० १०) इत्यादि। तथा वि० ७१, १००, १६२ आदि पदों को भी देखिये।

साधक सिद्ध बिमुक्त उदासी। कबि कोबिद कृतज्ञ संन्यासी ॥५॥
जोगी सूर सुतापस ज्ञानी। धर्म-निरत पंडित बिज्ञानी ॥६॥
तरहिं न बिनु सेये मम स्वामी। राम नमामि नमामि नमामी ॥७॥
सरन गये मो-से अघ-रासी। होहिं सुद्ध नमामि अबिनासी ॥८॥

अर्थ—साधक, सिद्ध, विमुक्त (जीवन्मुक्त), उदासीन (जगत् से निर्लिप्त), कवि (काव्यकर्त्ता एवं सारासार वेत्ता), कोविद (पंडित भाष्यकर्त्ता), कृतज्ञ (कर्त्तव्यज्ञाता), सन्यासी, योगी, शूरवीर, अच्छे तपस्वी, ज्ञानी, धर्मपरायण, पंडित (शास्त्रवेत्ता) और विज्ञानी भी विना मेरे स्वामी श्रीरामजी की

सेवा किये नहीं तर सकते, मैं उन श्रीरामजी का नमस्कार करता हूँ। नमस्कार करता हूँ!! नमस्कार करता हूँ!!! ॥५-७॥ जिनकी शरण में जाने से मुझ-ऐसे पाप राशि भी शुद्ध हो जाते हैं, उन अविनाशी श्रीरामजी को मैं नमस्कार करता हूँ ॥८॥

विशेष—(१) 'साधक'—जो सिद्धि के लिये यत्न करते हैं। 'सिद्ध' अर्थात् जो सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। दो० ८५ चौ० ५-७ और दो० ८६, चौ० २-३ में जिन्हें श्रीरामजी ने पुत्र रूप और सामान्य प्रिय कहा है। प्राय उन्हीं को यहाँ गिनाकर श्रीभुशुण्डिजी यह बतलाते हैं कि यद्यपि वे सब भी प्रभु के पुत्र ही हैं, तथापि भक्ति बिना वे भी भव से नहीं छूटते। 'राम नमामि नमामि नमामी'—तीन बार कथन बहुवचन हैं; अत, अनन्त प्रणाम सूचित किया है; यथा—"नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्व पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥" (गीता ११।३९)। यह कथा की पूर्ति पर नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण किया है।

ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है—"तपस्विनो दानपरा यशस्विनो मनस्विनो मन्त्रविद सुमङ्गला। क्षेम न विन्दन्ति विना यदर्पणं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमोनम॥ किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुक्कसा आभीरकङ्का यवना खसादय:। येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रया शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नम॥' (भाग० २।४। ७-१८)

'मो से अघरासी'—ऊपर बड़ों-बड़ों को दुर्लभ स्वामी के ऐश्वर्य को देखते हुए तीन बार कहकर असंख्य प्रणाम किये। पर यहाँ अपने से महान पापी के उद्धारक कहते हुए एक ही बार 'नमामि' कहा है। भाव यह है कि महान् पापियों को भी 'सकृत प्रणाम' से ही अपना लेते हैं। भक्त जिस समय प्रभु की महिमा और फिर अपने हृदय की व्यवस्था को देखता है तो अपनेको अत्यन्त ही तुच्छ पाता है। यह भी भाव है कि उपर्युक्त गुणगणवाले भी बिना भक्ति के नहीं तरते। पर सर्वगुणहीन अन्त्यज तक प्रभु की शरण मात्र होने एव सकृत प्रणाम मात्र से तर जाते हैं।

दोहा—जासु नाम भव-भेषज, हरन घोर त्रय-सूल।
सो कृपाल मोहि तो पर, सदा रहउ अनुकूल॥
सुनि भुसुंडि के बचन सुभ, देखि राम-पद-नेह।
बोलउ प्रेम-सहित गिरा, गरुड़ बिगत संदेह॥१२४॥

अर्थ—जिनका नाम भव रोग की ओषधि और भयकर तीनों (जन्म, जरा, मरण एव दैहिक, दैविक, भौतिक ताप रूपी) शूलों का हरण करनेवाला है, वे कृपालु मुझपर और तुमपर सदा अनुकूल रहें॥ श्रीभुशुण्डिजी के शुभ वचन सुनकर और उनका श्रीरामजी के चरणों में स्नेह देखकर श्रीगरुड़जी प्रेम सहित वाणी बोले, उनका सदेह नितान्त जाता रहा॥१२४॥

विशेष—(१) 'जासु नाम भव भेषज', यथा—"नाम लेत भव सिंधु सुखाहीं।" (बा० दो० २४), "तव नाम जपामि नमामि हरी। भव रोग महागद मान अरी।" (दो० १४), 'हरन घोर त्रय सूल', यथा—"जासु नाम त्रय ताप नसावन।" (सु० दो० ३८), 'मोहि तो पर'—यह सभी श्रोता-वक्ता का उपलक्षक है। अनुकूल अर्थात् प्रसन्न। 'बचन सुभ'—श्रुति सिद्धान्त, राम भक्तिरस साने, संशय-नाशक और श्रोता वक्ता के लिये आशीर्वाद से युक्त होने से वचन को शुभ कहा है। 'देखि राम-पद-नेह',

यथा—"सुमिरि राम के गुनगन नाना। पुनि पुनि हरष भुसुंडि सुजाना॥" और "राम नमामि..." से इस प्रसंग में क्रमशः वचन, मन और कर्म का स्नेह प्रकट हुआ।

मैं कृतकृत्य भयउँ तव बानी। सुनि रघुबीर भगति-रस-सानी॥१॥
राम-चरन नूतन रति भई। मायाजनित बिपति सब गई॥२॥

अर्थ—रघुवीर श्रीरामजी के भक्ति-रस में सनी हुई आपकी वाणी सुनकर मैं कृतार्थ हो गया॥१॥ श्रीरामजी के चरणों में नवीन प्रीति हुई और जो विपत्ति माया से उत्पन्न हुई थी, वह सब जाती रही॥२॥

विशेष—(१) ऊपर 'जासु नाम भव-भेषज...' पर श्रीभुशुंडिजी ने अपनी कथा समाप्त की। 'सुनि भुसुंडि के बचन सुभ...' यहाँ से श्रीशिवजी का कथन है, इन्होंने ही बा० दो० १२० पर भुशुंडि-गरुड़ के संवाद का आवाहन (उपक्रम) किया था। यहाँ उस संवाद की इति (उपसंहार) भी लगाते हैं।

(२) 'मैं कृतकृत्य'- जिस कृत्य के लिये श्रीशिवजी की आज्ञा से यहाँ आया था, वह कर चुका। अभिलाषा पूरी हो गई। 'रघुबीर-भगति-रस-सानी।'—जितने प्रसंग कहे गये हैं, सबके उद्देश्य भक्ति-प्रतिपादन में ही हुए हैं। पुनः सम्पूर्ण चरित की समाप्ति पर—"सिव अज सुक सनकादिक नारद।". से "विनिश्चितं वदामि ते..." तक बहुत ही दृढ़ अपेल सिद्धान्त-रूप में भक्ति ही कही गई है। 'नूतन रति भई'—पूर्व भी राम-पद-प्रेम था, पर वह नाग पाश-बंधन देखकर नष्ट हो गया था। अब कथा सुनने पर मोह नष्ट होकर दृढ़ भक्ति हुई। ऐसी भक्ति पूर्व नहीं थी, इससे भी इसे 'नूतन' कहा है।

(३) 'मायाजनित बिपति...'- मोह, संशय, भ्रम आदि माया से होते हैं, पूर्व—"यह सब माया कर परिवारा।" (दो० ७०) के प्रसंग में कहे गये हैं। श्रीशिवजी ने कहा था—"होइहि मोह जनित दुख दूरी।" (दो० ६१); उसका यहाँ पर चरितार्थ हुआ, श्रीगरुड़जी स्वयं कह रहे हैं कि मेरे सब दुख दूर हो गये। पुनः वहाँ श्रीशिवजी ने कहा था—"राम-चरन होइहि अति नेहा।" वह भी यहाँ हुआ; यथा—'राम-चरन नूतन रति भई।' यह कहा गया है।

मोह-जलधि बोहित तुम भये। मो कहँ नाथ बिबिध सुख दये॥३॥
मो पहिं होइ न प्रतिउपकारा। बंदउँ तव पद बारहि बारा॥४॥

अर्थ—आप मुझको मोह-रूप समुद्र में (डूबते हुए से बचाने के निमित्त) जहाज-रूप हुए, हे नाथ! आपने मुझे बहुत प्रकार के सुख दिये॥३॥ उनका प्रति-उपकार (बदला चुकाना) मुझसे नहीं हो सकता, इससे मैं आपके चरणों की बार-बार वन्दना करता हूँ॥४॥

विशेष—(१) 'बिबिध सुख दये'—पहले सम्पूर्ण चरित सुनाकर और संशय निवृत्त कर, सुख दिया। फिर तरह-तरह के प्रश्नों के उत्तर देते हुए तरह तरह के सुख दिये। अनेकों प्रकार के श्रीराम-रहस्य बतलाकर सुख दिये, इत्यादि भाव 'बिबिध' शब्दों में कहे गये हैं।

(२) 'होइ न प्रतिउपकारा'—भाव यह है कि मैं सदा आपका ऋणी ही बना रहूँगा। बार-बार चरण-वन्दना से कृतज्ञता और अत्यन्त प्रेम प्रकट किया है।

पूरन काम राम अनुरागी। तुम्ह सम तात न कोउ बड़भागी ॥५॥
संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित-हेतु सबन्ह कै करनी ॥६॥

अर्थ—आप पूर्णकाम हैं एवं पूर्णकाम श्रीरामजी के अनुरागी हैं। हे तात! आपके समान कोई बड़भागी नहीं है ॥५॥ संत, वृक्ष, नदी, पर्वत और पृथिवी, इन सबकी करनी पराये हित के लिये ही होती है ॥६॥

विशेष—(१) 'पूरन काम', यथा—"जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं॥" (दो० ११४), यह आशीर्वाद प्राप्त है, फिर आपको कोई आवश्यकता ही क्यों होगी, जिसे कोई देकर पूरी करेगा। 'बड़भागी'—रामानुरागी होने से कहा है; यथा—"अहह धन्य लछिमन बड़भागी।" (दो० १)—देखिये।

(२) 'संत बिटप'—श्रीभुशुंडिजी संत हैं, इन्हीं की करनी के उदाहरण रूप में बिटप आदि कहे गये हैं। जैसे वृक्ष आदि का परोपकार-निरत होना स्वाभाविक है, वैसे ही—"पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाव खगराया॥" (दो० १२०); आप स्वयं तो निष्काम भाव से श्रीराम-भक्त हैं और वृक्ष आदि की तरह परोपकारनिष्ठ हैं, जैसे वृक्ष आदि प्रत्युपकार नहीं चाहते, वैसे आपको भी प्रत्युपकार की आवश्यकता नहीं है।

इसी तरह सुं० दो० ५८ के 'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी।...' में भी पाँच कहे गये हैं। वहाँ एक जड़ और चार चेतन हैं और यहाँ एक चेतन और चार जड़ कहे गये हैं। वहाँ ढोल की तरह चारों की व्यवस्था और यहाँ वृक्ष आदि चारों की तरह संत की व्यवस्था कही गई है। श्रीभुशुण्डिजी विशुद्ध संत हैं, यथा—"संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही।" (दो० ६८)।

संत-हृदय नवनीत-समाना। कहा कबिन्ह परि कहइ न जाना ॥७॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता ॥८॥

अर्थ—'संत का हृदय मक्खन के समान है'—ऐसा कवियों ने कहा है, पर कहना उन्होंने नहीं जाना (अर्थात् ठीक उपमा देते न बनी, क्योंकि), मक्खन तो अपने पर ताप लगने से ही पिघलता है और परम पुनीत संत जन पराये दुःख से (परदुःख देखकर) द्रवीभूत होते हैं ॥७-८॥

विशेष—'कहा कबिन्ह'—भाव यह कि कवियों को संतों के हृदय की अगाधता का क्या पता? जैसे योद्धा के हृदय को दाढ़ी नहीं जानता।

यथार्थ में मक्खन और संत-हृदय में समानता नहीं है। मक्खन जब स्वयं तपाया जाता है, तब पिघलता है। इस तरह अपने दुःख में दुखी होना तो दुष्टों में भी होता ही है। पर संतों में यह विलक्षणता है कि वे अपना दुःख ईश्वर-विहित न्याय समझकर सह लेते हैं पर वे दूसरे के दुःख को नहीं सह सकते, द्रवीभूत हो जाते हैं; यथा—"नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता॥" (आ० दो० १)। भक्तमाल की टी० भ० र० बोधिनी में लिखा है कि किसीने बैल पर सोंटा मारा, उसे देखकर परम संत 'केवलरामजी' (कूबाजी) की पीठ पर उसका बरार (सोंटे का चिह्न) पड़ गया, उन्होंने उसके दुःख को ऐसा तदाकार अनुभव किया कि व्याकुल हो गये।

मक्खन जाड़े में कड़ा रहता है, पर सन्त-हृदय सब दिन दयापूर्ण रहने से कोमल ही रहता है, यथा—"कोमल चित दीनन्ह पर दाया।" (दो० ३७)।

जीवन जन्म सुफल मम भयऊ। तव प्रसाद सब संसय गयऊ ॥९॥
जानेहु सदा मोहि निज किंकर। पुनि पुनि उमा कहइ बिहंगवर ॥१०॥

अर्थ—मेरे जीवन और जन्म दोनों सफल हुए, आपकी कृपा से सब संशय दूर हो गये ॥९॥ 'मुझे सदैव अपना दास जानियेगा'—हे उमा ! पक्षिश्रेष्ठ गरुड़ बार-बार यही कह रहे हैं ॥१०॥

विशेष—'जीवन जन्म सुफल'—भाव यह कि मोह दूर नहीं होता तो सदा के लिये भव में पड़ता। राम-विमुख के जीवन और जन्म दोनों व्यर्थ हो जाते हैं, क्योंकि नर-तन की प्राप्ति का परम लाभ श्रीराम-प्रेम ही है; यथा—"पावन प्रेम राम चरन जन्म लाभ परम।" (वि० १३१), 'जानेहु सदा मोहि निज किंकर'—भाव यह है कि मैं आजीवन आपका दास हूँ, आज्ञा देते रहियेगा, यह पूर्वोक्त 'मोपहि होइ न प्रति-उपकारा।...' का निर्वाह है। कृतज्ञता-प्रकट करने की यही रीति है 'पुनि पुनि'—यह अत्यंत प्रेम का सूचक है।

दोहा—तासु चरन सिर नाइ करि, प्रेमसहित मतिधीर।
गयउ गरुड़ बैकुंठ तब हृदय राखि रघुबीर ॥
गिरिजा संत-समागम, सम न लाभ कछु आन।
बिनु हरि-कृपा न होइ सो, गावहिं बेद-पुरान। १२५॥

अर्थ—उसके चरणों में प्रेम-सहित शिर नवाकर और हृदय में श्रीरघुवीर को धारण करके तब श्रीगरुड़जी वैकुंठ को गये ॥ हे गिरिजे ! संत समागम के समान दूसरा कोई लाभ नहीं है, पर वह (संत-समागम) बिना भगवान् की कृपा के नहीं होता ऐसा वेद और पुराण कहते हैं ॥१२५॥

विशेष—(१) 'तासु चरन सिर नाइ'—यह बर्ताव संग एवं गुरु-बुद्धि से हुआ, अन्यथा पहले आये थे तब तो श्रीभुशुंडिजी ने ही इन्हें राजा मानकर इनकी पूजा की थी, यथा—"करि पूजा समेत अनुरागा।" (दो० ६३); अब श्रीगरुड़जी तत्त्वोपदेश प्राप्त कर श्रीभुशुंडिजी को गुरु-भाव से प्रणाम करके गये। 'मतिधीर'—भाव यह कि अब संदेह-निवृत्ति होने से बुद्धि की व्याकुलता निवृत्त हो गई। 'गयउ गरुड़ बैकुंठ तब'-यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"गयउ गरुड़ जहँ बसै भुसुंडा।" (दो० ६२); से हुआ था। गरुड़-भुशुंडि-संवाद का प्रसंग—"तुम्ह जो कही यह कथा सुहाई। काग भुसुंडि गरुड़ प्रति गाई॥" (दो० ५२); से प्रारंभ हुआ था, उसकी पूर्त्ति यहाँ पर श्रीशिवजी ने की। 'हृदय राखि रघुबीर'—राम-रूप में ही मोह हुआ था कि नागपाश से क्यों बँध गये, अब वह निवृत्त हो गया, श्रीरामजी को पञ्चवीरतायुक्त रघुवीर जानकर हृदय में बसाया, इनमें ही परमात्मभावना की, श्रीभुशुंडिजी ने कहा भी था—"प्रभु रघुपति तजि सेइय काही।" (दो० १२१), 'सम न लाभ कछु आन'; यथा—"संत-मिलन सम

सुख जग नाहीं।" (दो० १२०); 'बिनु हरि कृपा न होइ सो', यथा—"जब द्रवै दीनदयाल राघव साधु संगति पाइये।" (वि० १३६)।

कहेउँ परम पुनीत इतिहासा। सुनत श्रवन छूटहिं भव-पासा ॥१॥
प्रनत-कल्पतरु करुना-पुंजा। उपजइ प्रीति राम-पद-कंजा ॥२॥
मन-क्रम-बचन जनित अघ जाई। सुनहि जे कथा श्रवन मन लाई ॥३॥

अर्थ—(श्रीशिवजी कहते हैं कि) मैंने परम पवित्र इतिहास कहा, जिसे कानों से सुनते ही संसार के बंधन छूट जाते हैं ॥१॥ शरणागतों के कल्पवृक्ष और करुणा की राशि श्रीरामजी के चरण कमलों में प्रीति उत्पन्न होती है ॥२॥ जो कथा को मन लगाकर सुनते हैं उनके मन, कर्म और वचन, तीनों से उत्पन्न पाप नष्ट हो जाते हैं ॥३॥

विशेष—(१) 'कहेउँ परम पुनीत इतिहासा'— यह उपसंहार है, इसका उपक्रम "सुनहु परम पुनीत इतिहासा।" (दो० ५७), से हुआ था। इस गरुड़ भुशुंडि संवाद की कथा में 'परम पुनीत' शब्द का ही संपुट है। परम पुनीतता आगे—'सुनत श्रवन ' से 'मनलाई' तक कहते हैं, भाव यह है कि मन लगाकर कानों से सुनने पर ही भवपाश छूटेगा, श्रीरामजी में प्रीति होगी और मन कर्म, वचन के पाप भी छूटेंगे। भव पाश छूटना ज्ञान, श्रीरामजी में प्रीति होना उपासना और पाप छूटने में कर्म का फल प्राप्त होना कहा गया, भाव यह है कि इस कथा के श्रवण करने से कांड-त्रय की आराधना का फल होगा।

(२) 'उपजइ प्रीति ', यथा—"रामचरन रति जो चहइ, अथवा पद निर्बान। भाव सहित सो यह कथा, करउ श्रवन पुट पान॥" (उ० दो० १२८) "ता ये शृण्वन्ति गायन्तिह्यनुमोदन्ति चादृता। मत्परा श्रद्दधानाश्च भक्ति विन्दन्ति ते मयि॥ भक्तिं लब्धवत साधो किमन्यदवशिष्यते। मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि।" (भाग० ११।२६।२९-३०) ' इसका उपक्रम—"उपजइ राम चरन बिस्वासा।" (दो० ५७), है और यहाँ 'उपजै प्रीति ' पर उपसंहार कहा है। 'मन क्रम बचन जनित अघ', यथा—"जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कवि कहहीं॥" (अ० दो० १६६) देखिये। ये सब पाप कथा से छूटते हैं, यथा—"य एतद्देवदेवस्य विष्णोः कर्माणि जन्म च। कीर्तयेच्छ्रद्धया मर्त्यः सर्वपापैः प्रमुच्यते॥" (भाग० ११।३१।२७)।

तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ग्यान निपुनाई ॥४॥
नाना कर्म धर्म ब्रत दाना। संजम दम जप तप मख नाना ॥५॥
भूत-दया द्विज-गुरु-सेवकाई। बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई ॥६॥
जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरिभगति भवानी ॥७॥
सो रघुनाथ-भगति श्रुति गाई। राम कृपा काहू एक पाई ॥८॥

अर्थ—तीर्थ यात्रा (आदि) साधन समूह, योग-वैराग्य और ज्ञान, तीनों में निपुणता ।४॥ अनेक प्रकार के कर्म, धर्म, व्रत और दान, अनेकों संयम, दम जप, तप और यज्ञ ।५॥ प्राणि-मात्र पर दया,

ब्राह्मण और गुरु की सेवा, विद्या, विनम्रता और विवेक में उत्कृष्टता ॥६॥ इत्यादि जहाँ तक साधन वेदों ने बखान किये हैं, हे भवानी ! इन सबका फल हरिभक्ति ही है ॥७॥ वह श्रुतियों की गाई हुई (प्रतिपादित) श्रीरघुनाथजी की भक्ति श्रीरामजी की कृपा से किसी एक ने पाई है ॥८॥

विशेष—'तीर्थाटन साधन…'—श्रीवसिष्ठजी ने दो० ४८ चौ० १-४ में लगभग इन्हीं साधनों का यही फल कहा है अतः, वहाँ के ही भाव यहाँ भी लगा लेना चाहिये। 'राम-कृपा काहू एक पाई'—इस दुर्लभता को भी श्रीपार्वतीजी ने दो० ५३ चौ० १-७ में क्रमानुसार विस्तार से कहा है। उस भक्ति की प्राप्ति श्रीरामकृपा से ही होती है, इसको श्रीभुशुंडिजी ने ही कहा है; यथा-"अविरल भगति बिसुद्ध तव, श्रुति पुरान जो गाव। जेहि खोजत जोगीस मुनि, प्रभु प्रसाद कोउ पाव ॥" (दो० ८४); 'श्रुति गाई' यथा—"श्रुति-सम्मत हरि-भक्ति पथ,…" (दो० १००)।

दोहा—मुनिदुर्लभ हरि भगति नर, पावहिं बिनहिं प्रयास।
जे यह कथा निरंतर, सुनहिं मानि बिस्वास ॥१२६॥

अर्थ—जो मनुष्य विश्वास मानकर यह कथा निरंतर सुनते हैं, वे बिना परिश्रम ही वह भक्ति पा जाते हैं, जो मुनियों को भी दुर्लभ है ॥१२६॥

विशेष—'मुनि-दुर्लभ'; यथा—"जो मुनि कोटि जतन नहिं लहहीं। जे जप जोग अनल तन दहहीं ॥" (दो० ८४); यह श्रीरामजी ने ही श्रीमुख से श्रीभुशुंडिजी से कहा है वहीं देखिये। भाव यह कि जो भक्ति मुनियों को बड़े परिश्रम से भी दुर्लभ है और श्रीभुशुंडिजी को भी बड़े श्रम से प्राप्त हुई है। वही भक्ति इस कथा से परिश्रम बिना ही मिलती है, पर शर्त इतनी है कि विश्वास मानकर और निरंतर इसे सुनना चाहिये। विश्वास भी कथा से ही उपजता है; यथा—"उपजइ राम-चरन-बिस्वासा।" (दो० ५४); अर्थात् पहले यों ही श्रद्धा से सुनने लग जाय, तब विश्वास हो जायगा और फिर विश्वासपूर्वक निरंतर श्रवण से उक्त भक्ति प्राप्त होगी।

सोइ सर्वज्ञ गुनी सोइ ज्ञाता। सोइ महिमंडित पंडित दाता ॥१॥
धर्म-परायन सोइ कुलत्राता। राम-चरन जाकर मन राता ॥२॥
नीति-निपुन सोइ परम सयाना। श्रुति-सिद्धांत नीक तेहि जाना ॥३॥
सोइ कबिकोबिद सोइ रनधीरा। जो छल छाँड़ि भजइ रघुबीरा ॥४॥

अर्थ—जिसका मन श्रीरामजी के चरणों में अनुरक्त है (वस्तुतः) वही सर्वज्ञ है, वही गुणवान् है, वही जाननेवाला है, वही पृथिवी का भूषण है, वही पंडित है, वही दानी है, वही धर्मपरायण और वही कुल-रक्षक है। १-२॥ जो छल छोड़कर रघुवीर श्रीरामजी का भजन करे, वही नीति मे कुशल है, उसीने श्रुतियों का सिद्धान्त अच्छी तरह जाना है, वही कवि है, वही कोविद है और वही रणधीर है ॥३-४॥

विशेष—'सोइ सर्वज्ञ…'; यथा—"सोइ सर्वज्ञ तज्ञ सोइ पंडित। सोइ गुन गृह विज्ञान अखंडित ॥ दच्छ सकल लच्छन जुत सोई। जाके पद-सरोज-रति होई ॥" (दो० ४८); यह श्रीवसिष्ठजी

ने कहा है। 'नीति-निपुन' से यहाँ धर्म-नीति का भाव है। 'परम सयाना'—जिस कार्य के लिये मनुष्य शरीर मिला है, उसे साध लेना ही परम सयानापन है। 'श्रुति सिद्धांत नीक तेहि जाना।'; यथा—"श्रुति सिद्धांत इहइ उरगारी। राम भजिय सब काज बिसारी॥" (दो० १२२)—देखिये। पुनः सब वेदों से जानने योग्य भगवान् ही हैं; यथा—"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" (गीता १५।१५); और भगवान् के ज्ञान का फल उनका भजन करना है; यथा—"यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्। स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥" (गीता १५।१९)। इसके 'सर्वविद्' में उपर्युक्त 'सर्वज्ञ' आदि के भाव भी हैं। 'धर्मपरायन'—मुमुक्षु को शुद्धि के लिये धर्म की आवश्यकता होती है, वह धर्म ईश्वर के ज्ञान से ही यथार्थ होता है, जैसे कि श्रीयाज्ञवल्क्यजी ने शुद्धि के प्रकरण में लिखा है कि जीव की शुद्धि ईश्वर ज्ञान से होती है; यथा—"क्षेत्रज्ञस्य विशुद्धिः ईश्वरज्ञानात्।" 'महि-मंडित'—उसके निवास से पृथिवी का वह भाग शोभा पाता है। 'रन-धीरा' जो रण में सम्मुख जूझता है वह भी अर्चिरादि मार्ग से भक्तों की तरह परधाम को प्राप्त होता है, इसीसे तुल्य मानकर कहा गया है। अथवा, यहाँ इन्द्रिय विजयी से तात्पर्य है। 'छल छाड़ि'—किसी प्रकार की स्वार्थ बुद्धि ही छल है, यथा—"सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई।" (अ० दो० ३००); तथा अ० दो० १०७ भी देखिये। 'कुलत्राता'—क्योंकि हरि भक्त होने से उसके पितर तर जाते हैं।

धन्य देस सो जहँ सुरसरी। धन्य नारि पतिब्रत अनुसरी॥५॥
धन्य सो भूप नीति जो करई। धन्य सो द्विज निज धर्म न टरई॥६॥
सो धन धन्य प्रथम गति जाकी। धन्य पुन्य-रत-मति सोइ पाकी॥७॥
धन्य घरी सोइ जब सतसंगा। धन्य जन्म द्विज-भगति अभंगा॥८॥

अर्थ—वह देश धन्य है जहाँ श्रीगंगाजी हैं, वह स्त्री धन्य है जो पातिव्रत धर्म का अनुसरण करे (अर्थात् उसपर चले)॥५॥ वह राजा धन्य है जो नीति करता है, वह ब्राह्मण धन्य है जो धर्म से नहीं टलता॥६॥ वह धन धन्य है कि जिसकी प्रथम गति होती है (अर्थात् जो परोपकार एवं दान में लगता है), पुण्य में लगी हुई बुद्धि धन्य है, वही बुद्धि पक्की (दृढ़ निश्चयात्मिका) है॥७॥ वही घड़ी धन्य है जिसमें सत्संग हो, वह जन्म धन्य है जिसमें ब्राह्मण की अखंड भक्ति हो॥८॥

विशेष—(१) 'जहँ सुरसरी'—श्रीगंगाजी परम पुनीता, मनोहरचरिता एवं पापनाशिनी हैं। इससे वह देश धन्य है, जहाँ इनका प्रवाह है, क्योंकि वहाँ के लोग इनके 'दरस परस-मज्जन-पान' से कृतार्थ हुआ करते हैं। श्रीगंगाजी की महिमा पूर्व बहुत जगह लिखी जा चुकी है। 'धन्य नारि पतिब्रत ···'—पतिव्रता के धर्म, अनुसूया-सीता मिलन प्रसंग आ० दो० ४-५ में देखिये। पतिव्रता अपने आचरण से दोनों (पिता और पति के) कुलों को पवित्र करती है, यथा—"पुत्रि पवित्र किये कुल दोऊ। सुजस धवल जग कह सब कोऊ॥" (अ० दो० २८६)।

(२) 'सो धन धन्य ···'—धन की तीन गतियाँ हैं—दान भोग और नाश; यथा—"दानं भोगो नाशः तिस्रः गतयो भवन्ति वित्तस्य। यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति॥" (भर्तृहरि), अर्थात् जो न देता है और न भोगता है, उसका धन नाश ही होता है। उत्तम गति दान ही है, यथा—"येन केन बिधि दीन्हे दान करइ कल्यान।" (दो० १०३)। दूसरी गति भोग मध्यम है, तीसरी गति नाश होना निकृष्ट है।

(३) 'धन्य घरी सोइ ···'—क्योंकि लव-मात्र के सत्संग के बराबर स्वर्ग अपवर्ग के सुख भी नहीं तुलते—सुं० दो० ४ देखिये। तब घड़ी-भर तो बहुत है।

यहाँ जितने धन्य कहे गये हैं, ठीक इनके उल्टे अ० दो० १७१ में शोचनीय कहे गये हैं, दोनों स्थलों के भाव मिलान से स्पष्ट हो जायँगे—

१—सोचिय बिप्र जो बेद बिहीना। तजि निज धर्म बिषय लय लीना।	धन्य सो द्विज निज धर्म न टरई।
२—सोचिय नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान-समाना॥	धन्य सो भूप नीति जो करई।
३—सोचिय बयस कृपन धनवानू। जो न अतिथि-सिव-भगति सुजानू॥	सो धन धन्य प्रथम गति जाकी।
४—सोचिय सूद्र बिप्र अवमानी।	धन्य जन्म द्विज भगति अभंगा।
५—सोचिय पुनि पति-बंचक नारी।	धन्य नारि पतिब्रत अनुसरी।
६—सोचनीय सबही बिधि सोई। जो न छाँड़ि छल हरिजन होई॥	जो छल छाँड़ि भजै रघुबीरा।··· सो कुल धन्य ··श्रीरघुबीर परायन।

दोहा—सो कुल धन्य उमा सुनु, जगत-पूज्य सुपुनीत।
श्रीरघुबीर-परायन, जेहि नर उपज बिनीत॥१२७॥

अर्थ—हे उमा! सुनो, वह कुल धन्य है, जगत् पूज्य है और परम पवित्र है, जिसमें श्रीरघुबीर का अनुरागी, विनम्र स्वभाववाला मनुष्य पैदा हो॥१२७॥

विशेष—यथा—"धन्य धन्य माता पिता, धन्य पुत्र बर सोइ। तुलसी जो रामहि भजै, जैसेहु कैसेहु होइ॥" (वैराग्य सं० ३६)। तथा—"आस्फोटयन्ति पितरो नृत्यन्ति च पितामहा मद्वंशे वैष्णवो जातः स नस्त्राता भविष्यति॥ कुल पवित्र जननी कृतार्था वसुंधरा भागवती च धन्या। स्वर्गस्थिता ये पितरोऽपि धन्या येषा कुले वैष्णवनामधेयम्॥" (पद्मपुराण) तथा—"मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवता सनाथा चेयं भूर्भवति।" (नारद-भक्ति-सूत्र ७१), अर्थात् (प्रेमी भक्तों का आविर्भाव देखकर उनके) पितर-गण प्रमुदित होते हैं, देवता नाचने लगते हैं और यह पृथिवी सनाथ हो जाती है।

भाव यह कि अधम ही कुल क्यों न हो, यदि उसमें एक भी भागवत हो गया तो वह अन्य पुनीत वर्णों से भी पवित्र और जगत् पूज्य हो जाता है। ब्राह्मण और देवता आदि पुनीत हैं और यह सुपुनीत है, वे अपनेको ही तार सकते हैं और यह जगत् भर को तार देनेवाला है।

आगे कथा के अधिकारी का वर्णन करते हैं—

मति अनुरूप कथा मैं भाखी। जद्यपि प्रथम गुप्त करि राखी॥१॥
तव मन प्रीति देखि अधिकाई। तब मैं रघुपति-कथा सुनाई॥२॥

अर्थ—मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार कथा कही, यद्यपि मैंने पहले इसे गुप्त कर रक्खा था ॥१॥ जब तुम्हारे मन में (कथा में) प्रीति की अधिकता देखी तब मैंने तुमको श्रीरघुनाथजी की कथा सुनाई ॥२॥

विशेष—(१) 'मति अनुरूप कथा मैं भाखी।'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"मैं निज मति अनुसार, कहहुँ उमा सादर सुनहुँ ॥" (बा० दो० ११०) देखिये। 'जद्यपि प्रथम गुप्त करि राखी।', यथा—"रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमय सिवासन भाखा॥" (बा० दो० ३४)।

(२) 'तब मन प्रीति देखि···'—भाव यह कि यह परम गोप्य पदार्थ है, अनधिकारी एवं श्रद्धा-हीन को कभी नहीं सुनाना चाहिये। श्रीपार्वतीजी के मन की प्रीति; यथा—"जौं मोपर प्रसन्न सुख रासी।" से "प्रस्न उमा के सहज सुहाई॥" (बा० दो० १०७–११०) तक। "बोलीं गिरिजा बचन बर, मनहुँ प्रेम रस सानि।" से "उमा बचन सुनि परम बिनीता। राम-कथा पर प्रीति पुनीता॥ हिय हरषे कामारि तब, संकर सहज सुजान।" (बा० दो० ११९–१२०) तक।

यह न कहिय सठ ही हठसीलहि। जो मन लाइ न सुन हरिलीलहि ॥३॥
कहिय न लोभिहि क्रोधिहि कामिहि। जो न भजइ सचराचर स्वामिहि ॥४॥
द्विज-द्रोहिहि न सुनाइय कबहूँ। सुरपति-सरिस होइ नृप जबहूँ ॥५॥

अर्थ—शठ से, हठी स्वभाववाले से और जो हरि-लीला को मन लगाकर न सुनता हो, उससे इसे नहीं कहना चाहिये ॥३॥ लोभी, क्रोधी और कामी से न कहे कि जो सचराचर स्वामी श्रीरामजी का भजन नहीं करता हो ॥४॥ ब्राह्मण-द्रोही को—चाहे वह इन्द्र के समान राजा ही क्यों न हो—कभी नहीं सुनाना चाहिये ॥५॥

विशेष—'यह न कहिय ··'—यहाँ से तीन अर्द्धालियों में अनधिकारी के लक्षण कहकर तब अधिकारी के कहेंगे। शठ, जो जानकर भी सुमार्ग में नहीं लगे। हठशील, जो अपने ही मत पर दुराग्रह करनेवाला हो। 'लोभिहि'—लोभी का चित्त कथा में बैठे हुए भी धन बटोरने पर रहता है, इससे कथा का निरादर होता है। कामी की भी वही व्यवस्था है, काम-वृत्ति तो और भारी दुर्गुण है; यथा—"क्रोधिहि सम कामिहि हरि कथा। ऊसर बीज बये फल जथा॥" (सुं० दो० ५७)। क्रोधी का स्वरूप पाप-मय रहता है, कथा सुनते समय भी उसकी हिंसात्मक वृत्ति रहती है। अत, यह भी अधिकारी नहीं है। 'द्विज-द्रोही'—यह भगवान् का भी द्रोही है; यथा—"मम मूरति महिदेवमई है।" (वि० १३९)। भगवान् स्वयं ब्रह्मण्य देव हैं।

पहले भी अनधिकारी के लक्षण कहे गये हैं; यथा—"राम भगति जिन्हके उर नाहीं। कबहुँ न तात कहिय तिन्ह पाहीं॥" (दो० ११२); "जदपि जोषिता नहि अधिकारी।" (बा० दो० १०९)।

भाग० ११।२९।३०–३१ में भी ऐसे ही अनधिकारी और अधिकारी गिनाये गये हैं।

आगे अधिकारी वर्ग गिनाते हैं—

राम-कथा के तेइ अधिकारी। जिन्हके सतसंगति अति प्यारी ॥६॥
गुरुपद-प्रीति नीति रत जेई। द्विज-सेवक अधिकारी तेई ॥७॥
ता कहँ यह बिसेष सुखदाई। जाहि प्रानप्रिय श्रीरघुराई ॥८॥

अर्थ—श्रीराम-कथा के वे ही लोग अधिकारी हैं कि जिनको सत्संगति अत्यन्त प्यारी है ॥६॥ जो गुरु-चरण के अनुरागी हैं और जो नीति में तत्पर रहते हैं एवं जो द्विज-सेवक हैं, वे ही अधिकारी हैं ॥७॥ और, जिसको श्रीरघुनाथजी प्राणों के समान प्रिय हैं, उसको तो यह बहुत ही सुख देनेवाली है ॥८॥

विशेष— (१) सत्संग के प्रेमी, गुरुपद प्रेमी, नीति रत और द्विज-सेवक बहुत होते हैं, अतएव उनके साथ बहुवचन के 'जिन्ह', 'जेई', 'तेई' के प्रयोग हुए हैं। श्रीरघुनाथजी को प्राण-प्रिय माननेवाला कोई विरला ही होता है; यथा—"कोउ यक पाव भगति जिमि मोरी।" (कि॰ दो॰ १५); "प्रभु प्रसाद कोउ पाव।" (दो॰ ८४ ; इत्यादि, इसी से इसके साथ 'ता कहँ' एकवचन का प्रयोग हुआ है।

(२) सत्संग प्रेमी; यथा—"जो नहाइ चह येहि सर भाई। सो सत्संग करउ मन लाई॥" (बा॰ दो॰ ३८)। 'गुरु-पद-प्रीति'; यथा—"ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत।" (भाग॰ १०।१३।३) अर्थात् स्नेही शिष्य से गुरु लोग गुह्य रहस्य भी कह देते हैं। तथा—"जदपि जोषिता नहिं अधिकारी। दासी मन क्रम बचन तुम्हारी॥" (बा॰ दो॰ १०१)।

(३) 'बिसेष'—क्योंकि इसे इष्ट चरित में पूर्ण निष्ठा के कारण और अधिक सुख होगा, इससे श्रद्धापूर्वक सुनेगा।

आगे कथा-श्रवण का फल कहते हैं—

दोहा—राम-चरन रति जो चहै, अथवा पद-निर्बान।
भावसहित सो यह कथा, करउ श्रवन-पुट पान॥१२८॥

अर्थ—जो श्रीरामजी के चरणों में प्रेम चाहे अथवा निर्वाण पद चाहे, वह इस कथा (रूपी अमृत) को भाव (प्रीति और श्रद्धा) सहित कान रूपी दोनों के द्वारा पान करे॥१२८॥

विशेष—'राम-चरन रति जो चहै'; यथा—"जे येहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥ होइहहिं राम-चरन अनुरागी। कलिमल रहित सुमंगल भागी॥" (बा॰ दो॰ १४); भक्त चार प्रकार के होते हैं, वे सब रामचरण रति के चाहनेवालों में ही हैं, ये भक्ति का कुछ फल नहीं चाहते, केवल प्रभु ही को चाहते हैं, अतएव देहावसान पर प्रभु ही को प्राप्त होते हैं, वहाँ सायुज्य मुक्ति के ही भोक्ता होकर रहते हैं, पर यहाँ उनकी फल पर दृष्टि नहीं रहती; यथा—"अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादरि भगति लुभाने॥" (दो॰ ११८)।

दूसरे प्रकार के अधिकारी वे हैं जो योग आदि साधनों के द्वारा कैवल्य पद चाहते हैं, जिसे ज्ञान-दीपक के प्रसंग में कहा है। वे 'अहं ब्रह्मास्मि' की वृत्ति से निर्वाण पद पाते हैं, वे राम-पद-प्रीति रहित हैं, इससे उन्हें वहाँ भगवत्कैंकर्य का सौभाग्य नहीं प्राप्त होता।

पुनः और भी राम-पद-प्रीति रहित राक्षस लोगों ने राम-बाण आदि से पापमुक्त होकर निर्वाण पद पाया है।

कथा के सुनने से पाप रहित होकर एवं कैवल्य-साधन-निष्ठ होने पर कैवल्य-पद भी मिल सकता है; यथा—"पुनि बिबेक पावक कहँ अरनी।" (बा॰ दो॰ ३०)—यह कहा ही है।

इसी तरह गीता में भी कर्म-योग और सांख्य-योग के दो प्रकार के विधान हैं, उन्हें भी ये ही दो प्रकार की मुक्तियाँ मिलती हैं—कर्म-योगी को राम-चरण-रति और सांख्य-योगी को कैवल्य पद।

राम-कथा गिरिजा मैं बरनी। कलि-मल-समनि मनोमल-हरनी ॥१॥
संसृति-रोग सजीवन मूरी। रामकथा गावहिं श्रुति सूरी ॥२॥
येहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति-भगति केर पंथाना ॥३॥
अति हरिकृपा जाहि पर होई। पाउँ देइ येहि मारग सोई ॥४॥
मन-कामना-सिद्धि नर पावा। जे यह कथा कपट तजि गावा ॥५॥
कहहिं सुनहि अनुमोदन करहीं। ते गोपद इव भवनिधि तरहीं ॥६॥

शब्दार्थ—सूरी (सं॰ सूरिन्) = विद्वान्, ज्ञानी, आचार्य। पंथाना = मार्ग।

अर्थ—हे गिरिजे। मैंने कलिमल को नाश करनेवाली और मन के मल को हरनेवाली श्रीराम-कथा का वर्णन किया ॥१॥ श्रीराम कथा भव रोग (नाश करने) के लिये सजीवनी जड़ी है – ऐसा श्रुतियों के विद्वान् लोग कहते हैं ॥२॥ इसमें सात सुंदर सीढ़ियाँ हैं, ये श्रीरघुनाथजी की भक्ति का मार्ग हैं ॥३॥ जिसपर भगवान की अत्यन्त कृपा होती है, वही इस मार्ग पर पैर देता (रखता) है ॥४॥ जो मनुष्य इस कथा को कपट छोड़कर गाते हैं, वे मनोरथ की सिद्धि पाते हैं ॥५॥ जो इसे कहते, सुनते और अनुमोदन करते हैं, वे भवसागर को गौ के खुर के (जल के) समान पार कर जाते हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'राम-कथा गिरिजा मैं बरनी।'—श्रीशिवजी अपने संवाद की इति लगाते हैं। 'कलिमल समनि ॰', यथा—"रघुबंस भूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम राम धाम सिधावहीं ॥" (दो॰ १२१), 'संजीवन मूरी'—यह भव-रोग को नाश करके अमर (नित्य) लोक प्राप्त कराती है। दो॰ १२१ चौ॰ ७ भी देखिये।

(२) 'येहि महँ रुचिर सप्त सोपाना।', यथा—"सप्त प्रबंध सुभग सोपाना। ज्ञान नयन निरखत मन माना ॥" (बा॰ दो॰ ३६)—देखिये। ये सातों श्रीरामजी की भक्ति की क्रमोन्नति के सात विभाग हैं, प्रत्येक कांड का फलश्रुति से स्पष्ट हो जाता है, अंतिम सीढ़ी 'अविरल हरिभक्ति' की है। वही पूर्ण भक्ति है, यथा—"गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहि लगत राज डगरो सो।" (वि॰ १०३)। 'कपट तजि'—मान, बड़ाई, लोक दिखाव, एवं और कामनाओं की सिद्धि की वासना रखना कपट है—दो॰ ११०६ चौ॰ ४ भी देखिये

(३) 'कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं', यथा—"मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्। कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥" (गीता १०।९)। अर्थात् कहते, सुनते और इसीमें आनंद मानते हैं, मनन करते हैं।

यहीं श्रीशिवजी ने अपना कथन समाप्त किया।

सुनि सब कथा हृदय अति भाई। गिरिजा बोली गिरा सोहाई ॥७॥
नाथ कृपा मम गत संदेहा। राम-चरन उपजेउ नव नेहा ॥८॥

दोहा—मैं कृतकृत्य भइउँ अब, तव प्रसाद बिस्वेस।
उपजी राम-भगति दृढ़, बीते सकल कलेस ॥१२९॥

अर्थ—(श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) सब कथा सुनने पर वह श्रीपार्वतीजी के हृदय में बहुत अच्छी लगी, वे सुन्दर वाणी बोलीं ॥७॥ हे नाथ! आपकी कृपा से मेरा संदेह जाता रहा और श्रीरामजी के चरणों में नया प्रेम उत्पन्न हुआ ॥८॥ हे विश्वेश (सब जगत् के स्वामी)! आपके प्रसाद से मैं अब कृतार्थ हुई, मुझमें दृढ़ श्रीराम-भक्ति उत्पन्न हुई और मेरे सब दुःख बीत गये (निवृत्त हुए) ॥१२९॥

विशेष—(१) 'सुनि सब कथा ···'—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—"सुनु सुभ कथा भवानि ···" (बा॰ दो॰ १२०) से हुआ था। इतने बीच में शिव-पार्वती का संवाद रहा। इनके संवाद का आवाहन श्रीयाज्ञवल्क्यजी ने किया था। अतः, वे ही यहाँ से इनके संवाद की इति लगाते हैं।

(२) 'नाथ कृपा गत मम संदेहा।'—उपक्रम में श्रीगिरिजाजी ने बार-बार कृपा करके कथा कहने के लिये कहा था और संदेह-निवृत्ति की प्रार्थना की थी। अतः, यहाँ कृतार्थ होने पर भी उन्होंने कृपा से ही संदेह निवृत्ति कही। पुनः उपक्रम में "बिस्वनाथ मम नाथ पुरारी।" (बा॰ दो॰ १०९); कहा था, वैसे ही यहाँ उपसंहार में भी 'तव प्रसाद बिस्वेस' कहा है।

(३) 'उपजेउ नव नेहा'—यहाँ अंत में कहने का तात्पर्य यह कि अभी जो रामरहस्य और ज्ञान-भक्ति के भेद सुन चुके हैं, उनकी फल-श्रुति में भुशुण्डिजी ने कहा है; यथा—"जो सुनि होइ राम पद, प्रीति सदा अविछीन ॥" (दो॰ ११६)। वही अविच्छिन्न प्रेम हुआ, उसे ही 'नूतन रति' कहा है। श्रीगरुड़जी का वैकुण्ठ जाना कहा गया है; यथा—"गयउ गरुड़ बैकुण्ठ तब" पर यहाँ श्रीपार्वतीजी का कहीं जाना नहीं कहा गया, क्योंकि इनका संवाद कैलास पर हुआ है, वहाँ ये सदा रहते ही हैं; यथा—"परम रम्य गिरिबर कैलासू। सदा जहाँ सिव उमा निवासू॥" (बा॰ दो॰ १०४)।

श्रीगरुड़जी और श्रीपार्वतीजी के संदेह समान थे, इससे इनके अंतिम वाक्य भी समान ही हैं दोनों के मिलान से पूर्वोक्त भाव ही यहाँ पार्वती-प्रसंग में भी लग जायँगे—

श्रीपार्वतीजी—	श्रीगरुड़जी—दो॰ १२५
१ गिरिजा बोली गिरा सोहाई।	बोलेउ प्रेम सहित गिरा गरुड़ ··
२ मैं कृतकृत्य भइउँ अब, तव प्रसाद···	मैं कृतकृत्य भयउँ तव बानी
३ राम-चरन उपजेउ नव नेहा	राम-चरन नूतन रति भई
४ बीते सकल कलेस	माया-जनित बिपति सब गई
५ नाथ कृपा मम गत संदेहा	तव प्रसाद सब संसय गयऊ

यहाँ तक शिव-पार्वती संवाद की इति लग गई, अब उसकी फल-श्रुति कहते हुए चार अर्द्धालियों में श्रीयाज्ञवल्क्यजी अपने संवाद की भी इति लगाते हैं—

यह सुभ संभु-उमा-संवादा। सुख संपादन समन बिषादा॥१॥
भव-भंजन गंजन संदेहा। जन रंजन सज्जन-प्रिय येहा॥२॥

• अर्थ—(श्रीयाज्ञवल्क्यजी श्रीभरद्वाजजी से कहते हैं कि) यह कल्याण-कारक शंभु-उमा-संवाद, सुख प्राप्त करानेवाला और दुखों का नाशक है ॥१॥ यह भव का नाशक, सन्देहों का नाशक, प्राणिमात्र एवं भक्तों को आनन्द देनेवाला और सज्जनों को प्रिय है ॥२॥

विशेष—श्रीयाज्ञवल्क्यजी ने उपक्रम में कहा था—"कहउँ सो मति अनुहारि अब, उमा-संभु-संवाद ॥" (बा० दो० ४७); वैसे यहाँ उपसंहार में भी कहते हैं—'यह सुभ संभु उमा सवादा ।' उपक्रम मे साथ ही फल भी कहा था; यथा "सुनु मुनि मिटिहि बिषाद" (बा० दो० ४७); वैसे ही यहाँ उपसंहार मे भी कहा है; यथा—"सुख सपादन समन बिषादा ।' 'भव भंजन गंजन संदेहा'; यथा—"निज संदेह मोह भ्रम हरनी । करउँ कथा भव सरिता तरनी ॥" (बा० दो० ३०); 'जन-रंजन', यथा—"बुध बिश्राम सकल जन रंजनि" (बा० दो० ३०) । 'सज्जन प्रिय येहा ।', यथा—"सज्जन कुमुद चकोर चित, हित बिसेषि बड़ लाहु ।" (बा० दो० ३२); इत्यादि कथा-प्रारम्भ के समय की सब प्रतिज्ञायें पूरी हुईं—यह सूचित किया गया है ।

राम-उपासक जे जग माहीं । येहि सम प्रिय तिन्हके कछु नाहीं ॥३॥
रघुपति - कृपा जथामति गावा । मैं यह पावन चरित सोहावा ॥४॥

अर्थ—संसार में जो रामोपासक हैं, उनको इसके समान प्रिय कुछ नहीं है ॥३॥ श्रीरघुनाथजी की कृपा से मैंने यह सुहावन पवित्र चरित अपनी बुद्धि के अनुसार वर्णन किया ॥४॥

विशेष—(१) 'राम-उपासक जे जग माहीं ।···'—उपासना परात्पर, अशेषकारणपर, सर्वनियंता एवं सर्वलोकशरण्य तथा कृपा, सौशील्य आदि सौलभ्य गुण से विशिष्ट ईश्वर की की जाती है । ये सब बातें इस ग्रन्थ में श्रीरामजी में ही दिखाई गई हैं । ऐसा ही ग्रन्थ श्रीराम उपासकों का इष्ट होना चाहिये; यथा—"जेहि महँ आदि मध्य अवसाना । प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना ॥" (दो० ६०), यह वचन श्रीशिवजी ने श्रीगरुड़जी से कहा है, तदनुसार ही इन्होंने काकजी से जाकर सुना भी है । गरुड़-भुशुण्डिजी का संवाद उपासना घाट का ही है ।

(२) 'रघुपति - कृपा···'—श्रीरामजी ने कृपा कर जैसी मति दी तदनुसार कुछ गाया—यह कथन की शिष्ट परम्परा है । यह कहते हुए श्रीयाज्ञवल्क्यजी अपने प्रसंग की इति लगाते हैं । उपक्रम में इन्होंने कहा था—"तात सुनहु सादर मन लाई । कहउँ राम कै कथा सुहाई ॥" (बा० दो० ४६); वैसे ही यहाँ उपसंहार में भी कहते हैं—'गावा । मैं यह पावन चरित सुहावा ।' 'पावन' आदि के भाव पूर्व बहुत स्थलों पर लिखे जा चुके हैं । इसी अर्द्धाली पर इनका कथन समाप्त हुआ ।

इस ग्रंथ की आदि में ही—'वंदेऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ।' कहकर श्रीरामजी को अशेषकारणपर कहा है, साथ ही 'यत्पादप्लव एक एव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम्' से श्रीरामजी को ही मुमुक्षुओं के उपास्य भी कहा है । फिर मध्य मे सती मोह, मनु-प्रसंग, जनक समागम, परशुराम पराजय एवं वाल्मीकि, अत्रि, अगस्त्य आदि के समागम से श्रीरामजी का ही परत्व प्रतिपादन किया गया है, विभीषण-शरणागति से सर्वलोक-शरण्यत्व दिखाया गया है । पुन. वेद एवं ब्रह्मा आदि की स्तुति से भी सर्वत्र श्रीरामजी का ही परात्परत्व दिखाया गया है । श्रीभुशुण्डिजी ने भी बहुत परत्व एव सौलभ्य का भी वर्णन किया है । ये सब मध्य के परत्व प्रसग हैं । पुनः अंत के छंद में क्रमश: श्रीरामजी के नाम, चरित

और रूप का सर्वोपरि परत्व कहते हुए यहाँ सिद्धान्त कहते हैं—'राम समान प्रभु नाहीं कहूँ।' इत्यादि उपास्य के सर्वाङ्ग वर्णन होने से यह ग्रन्थ उपासकों को अति प्रिय है।

पुनः श्रीरामचरित का उपक्रम "राम नाम कर अमित प्रभावा।" (बा॰ दो॰ ४५) से हुआ है। "प्रिय लागहु मोहि राम" पर उपसंहार हुआ है। मध्य का किष्किंधा कांड है। उसके उपक्रम के दो श्लोकों मे पहला रूप के ध्यान का है। दूसरा नाम परत्व-प्रकाशन में अद्वितीय है, तिलक देखिये। उस कांड के अंत में भी "जासु नाम अघ खग बधिक" कहकर राम नाम परत्व ही कहा गया है।

ग्रंथकार अंत मे भी प्रतिज्ञा करते हैं—"मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं" अर्थात् नाम परत्व प्रकाशक चरित को जानकर मैंने इसकी रचना की।

श्रीराम-नाम के अर्थ में श्रीरामजी का पूर्ण परत्व है। नाम-वंदना प्रसंग एवं विशेषकर उसका 'विधि-हरि-हर-मय' का अर्थ देखिये।

ऐकान्तिक उपासना की रीति पतिव्रता की-सी होती है; यथा—"खड्गधाराव्रती प्रथम रेखा प्रगट शुद्धमति युवति पति प्रेम पागी॥" (वि॰ ११); यह श्रीभरतजी की अनन्य भक्ति के विषय में कहा गया है कि तलवार की धारा पर चलने के व्रत की तरह जो पातिव्रत्य धर्म है, उस तरह के अनन्य व्रत मे आपकी सबसे प्रथम गणना है। पतिव्रता पति में प्रेम करती है, पति के भाव के अनुकूल उसके सम्बन्धियों को भी सामान्य रीति से मानती है। वैसे ही उपासक लोग गुरु द्वारा प्राप्त परात्पर रूप की उपासना करते हैं और भगवान के अन्य रूपों को उन्हीं के अंश, कला, विभूति मानते हैं। जैसे चातक स्वाति बुंद में ही निष्ठा रखना है, वैसे ही ये इष्ट रूप में निष्ठा रखते हैं: यथा—"लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जल धर अभिलाखे॥ निदरहिं सरित सिंधु सर बारी। रूप बिंदु जल होहिं सुखारी॥ तिन्ह के हृदय सदन सुख दायक। बसहु बंधु सिय सह रघुनायक॥" (अ॰ दो॰ १२७) देखिये।

ऐसे उपासकों के लिये इसके समान सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ दूसरा नहीं है।

आगे श्रीगोस्वामीजी अपने कथा-प्रसंग की इति लगाते हैं—

येहि कलिकाल न साधन दूजा। जोग जज्ञ जप तप व्रत पूजा॥५॥
रामहि सुमिरिय गाइय रामहि। संतत सुनिय राम-गुन-ग्रामहि॥६॥

अर्थ—इस कलिकाल में योग, यज्ञ, जप, तप, व्रत और पूजन आदि दूसरा कोई साधन नहीं है॥५॥ श्रीरामजी का ही स्मरण कीजिये, श्रीरामजी का ही यश गान कीजिये और श्रीरामजी के ही गुण-समूह को सदा सुनिये॥६॥

विशेष—(१) 'येहि कलिकाल···'—जोग यज्ञ आदि शुभ कार्य हैं, इनके लिये शुभ समय चाहिये, कलि अशुभ-प्रधान है। पुनः ये साधन अल्पायु, अल्पबुद्धि, अल्प धन, रोगी आदि से साध्य नहीं हैं। योग, पूजा और जप में मन की एकाग्रता चाहिये। तप और व्रत में शरीर नीरोग चाहिये। इससे कलिकाल में ये साध्य नहीं हैं; यथा—"कलिजुग जोग न जज्ञ न ज्ञाना।" (दो॰ १०२) देखिये। 'न दूजा'—न होनेवाले दूसरों को इसमें गिना दिया। जो हो सकता है उसे आगे कहते हैं—

(२) 'रामहि सुमिरिय···'—भाव यह कि एकान्त अवसर और चित्त एकाग्र हो तो स्मरण

कीजिये। अधिकारी श्रोता मिलें तो गाइये और अच्छे वक्ता मिलें तो सुनिये। सतत उन्हीं में चित्तवृत्ति रखिये—यह भाव है। अथवा, सुनने, गाने एवं स्मरण करने में, जिसमें अधिक प्रवृत्ति हो वह कीजिये पर सदा लगे रहिये। ऐसा क्यों करें? इसपर आगे कहते हैं—

जासु पतित-पावन बड़ बाना। गावहि कवि श्रुति संत पुराना ॥७॥
ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई। राम भजे गति केहि नहि पाई ॥८॥

अर्थ—'जिसका पतितों को पवित्र करना बड़ा बाना है'—यह कवि श्रुति, संत और पुराण गाते हैं ॥७॥ हे मन! कुटिलता छोड़कर उसका भजन कर, श्रीरामजी का भजन करके किसने सद्गति नहीं पाई? अर्थात् सभीने पाई है ॥८॥

विशेष—(१) 'जासु पतित पावन बड़ बाना।'—बाने तो अनेक हैं, जैसे—दीन दयाल यथा—"दीन दयाल बिरद संभारी। " (सु० दो० २६) एवं "असरन सरन दीन जन गाहक।" (दो० ५०), इत्यादि, पर यह पतित पावन बड़ा बाना है, यथा—'मैं प्रभु पतित पावन सुने।" (वि० १३०) देखिये।

(२) 'ताहि भजहि मन '—श्रीगोस्वामीजी का मन से संवाद है, आपने अपने मन की ओट से सुजनों के प्रति भी कहा है, यथा—"मोरे मन प्रबोध जेहि होई।" (बा० दो० ३०), "स्वान्त सुखाय तुलसी " (बा० मं० श्लोक ७), इत्यादि। इससे मन को उपदेश करते हुए कथा का उपसंहार भी करते हैं। 'तजि कुटिलाई'—भजन करने में मन की कुटिलता बाधक है, इसीलिये इसके त्याग की शिक्षा दी गई है, यथा—"सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई॥" (दो० ४५)। दूसरों की आशा, भय, कुतर्क आदि मन की कुटिलाइयाँ हैं।

छं०—पाई न केहि गति पतित-पावन राम भजि सुनु सठ मना।
गनिका अजामिल व्याध गीध गजादि खल तारे घना।
आभीर जमन किरात खस स्वपचादि अति अघ-रूप जे।
कहि नाम बारक तेपि पावन होहिं राम नमामि ते ॥१॥

अर्थ—अरे शठ मन! पतित पावन श्रीरामजी का भजन करके किसने गति नहीं पाई? अर्थात् सभी ने पाई है। गणिका (पिङ्गला), अजामिल, व्याध (वाल्मीकिजी), गृध्र (जटायुजी) और गजेन्द्र आदि बहुत समूह खलों को उन्होंने तार दिया। आभीर (जो समुद्र को दुःख दिया करते थे), यवन (जिसने हराम कहा है), किरात (चित्रकूट के भील आदि), खश (खश देशवासी, पहाड़ी, नेपाल-गढ़वाल दर्शों में यह एक जाति है), श्वपच (वाल्मीकि नामक जो राजा युधिष्ठिर के यज्ञ में वरण किये गये थे), इत्यादि जो अत्यन्त पाप की मूर्त्तियाँ ही हैं। वे भी एक बार जिनका नाम लेकर पवित्र हो जाते हैं, उन श्रीरामजी को मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥

विशेष—(१) गणिका आदि की कथाएँ बा० दो० २४ चौ० ७, अ० दो० १७४, सु० दो० ४९

चौ० ५ एवं बा० दो० १८ चौ० ५ में आ गई हैं। 'कहि नाम बारक'; यथा—"बारक राम कहत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ॥" (अ० दो० २१६)।

शास्त्रों में नाम का महत्व ऐसा ही है ; यथा—"अंतकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्। यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥" (गीता ८।५) ; "जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा॥" (आ० दो० ३०) ; इत्यादि पहले बहुत लिखा जा चुका है।

यदि कहा जाय कि प्रायः जापकों में वैसी सफलता नहीं देखी जाती, तो उत्तर यह है कि उनमें श्रद्धा और विश्वास की कमी है, कहा ही है—"श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई। बिनु महि गंध कि पावइ कोई॥···कवनिउँ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।" (दो० ८९) ; श्रद्धा-विश्वासपूर्वक नाम-जप से श्रीगोस्वामीजी ऐसे हुए हैं, इन्होंने तो कई बार शपथ खाकर कहा है कि मैं श्रीराम नाम ही से कृतार्थ हुआ हूँ। और भी श्रीनामदेवजी, श्रीकबीरजी एवं श्रीस्वामी युगलानन्य शरणजी अयोध्याजी आदि प्रसिद्ध महात्मा अभी थोड़े दिन पहले के हैं। सब नाम-आराधन ही से उत्तम गति को प्राप्त हुए हैं।

दूसरा कारण यह भी है कि नाम जपते हुए लोग प्रायः नामापराध भी किया करते हैं, उनका बचाना बहुत आवश्यक है। वे दस नामापराध पद्मपुराण में प्रसिद्ध हैं, महात्माओं में तो बहुत ही प्रसिद्ध हैं।

'पतित-पावन बड़ बाना' कहकर उसकी सिद्धि श्रीराम-नाम के द्वारा ही यहाँ उदाहरण-रूप में कही गई, कहा भी है—"पतितपावन राम नाम सों न दूसरो।" (वि० ६६) ; मन के प्रति ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि इसे विश्वास नहीं होता, इसी से 'सठ मना' कहा है। जिसके हृदय में शिक्षा का ठौर न हो, वह शठ है। ऐसे शठ के लिये पतितों की गति पाने के उदाहरण देते हैं। मन यदि कहे कि मुझे बहुत काल से दसो इन्द्रियों के द्वारा मलिनता छा गई है, वह कैसे शुद्ध होगी ? उसपर गणिका आदि की गति दिखाते हैं। जैसे गणिका का पृथिवी के गुंडों से संग था, वह तोते को नाम रटाने के संयोग से तर गई, वैसे जीव की बुद्धिविषयों के पीछे इंद्रिय देवों के साथ व्यभिचारिणी वेश्या हो गई। हृदय में एकाग्रता नहीं आती, तब मंत्रार्थ एवं रूप पर वृत्ति रक्खे बिना नाम जप करना, तोते को रटाने के समान है, जीभ ही तोता है; यथा—"कीर ज्यों नाम रटै तुलसी ···' (क० उ० ६०); जैसे तोते को पढ़ाती हुई वेश्या की और उस तोते की साथ ही मृत्यु हुई, दोनों तर गये वैसे ही पूरी आयु तक नाम-रटन करते हुए इस तरह जप से भी मुक्ति हो जायगी इसमें संदेह नहीं। वेश्यागामी अजामिल लिंगेन्द्रिय का प्रमादी था। व्याध वाल्मीकिजी पूर्वावस्था में हजारों ब्राह्मणों की हिंसा करनेवाले थे। अतः, हस्तेन्द्रिय के प्रमादी थे। गृध्र जटायुजी पैर के प्रमादी थे, पक्षियों में पक्ष ही पैर हैं, उन्हीं से उड़कर उन्होंने सूर्य का अपमान करना चाहा था। गजेन्द्र मुख के प्रमादी थे, हाथी की सूँड़ ही उसका मुख है, वह उसी से वृक्षादि उखाड़ने का प्रमाद करता है। इस एक श्रेणी में कर्मेन्द्रिय के प्रमादी कहे गये।

म्लेच्छ यवन स्पर्श योग्य नहीं था, त्वचा का प्रमादी था। किरात नेत्रों से देखकर लोगों के धन-वस्त्र आदि चुराते थे और हिंसा भी करते थे। अतः, नेत्र के प्रमादी थे। खस जाति के लोगों में प्रसिद्ध भक्त नहीं पाया जाता। अतः, क्रमानुसार इसे रसना का प्रमादी जानना चाहिये। ऐसे ही आभीरों को श्रवण का प्रमादी जानना चाहिये। श्वपच जाति नासिका के मलिन होते हैं, श्वान-गीदड़ आदि को भी खाकर पचा जाते हैं, उसकी दुर्गन्ध से उन्हें वमन नहीं होता, इत्यादि इस श्रेणी में ज्ञानेन्द्रिय के प्रमादियों को कहा है।

अब मन को दिखाते हैं कि देखा ? क्या तेरे प्रत्येक इन्द्रिय के द्वारा इन दसो से अधिक पाप हुए हैं ? जब ये सब जैसे-तैसे नाम लेने से तर गये, तब तू क्यों नहीं तरेगा ? अतएव श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक नाम

जप, अवश्य कल्याण होगा। कहा भी है—"बिबसहुँ जासु नाम नर कहहीं। जनम अनेक रचित अघ दहहीं ॥ सादर सुमिरन जे नर करहीं। भव-बारिधि गोपद इव तरहीं ॥" (बा० दो० ११८)।

श्रीमद्भागवत में भी कहा है—

"साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा। वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ॥" अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्। सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः ॥" (६।२।१४– ८); अर्थात् पुत्र आदि के नाम-संकेत से, परिहास में, स्तोभ या तिरस्कार-पूर्वक भी भगवान् का नाम लेने से सम्पूर्ण पाप नाश होते हैं। अज्ञान अथवा ज्ञान-पूर्वक लिया हुआ पुण्यश्लोक भगवान् का नामकीर्तन मनुष्य के पापों को उसी प्रकार जला देता है जैसे किसी प्रकार भी डाला हुआ ईंधन अग्नि में भस्म हो ही जाता है। "अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्। तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥" (३।३३।७); अर्थात् अहो, जिसकी जिह्वा पर आपका पवित्र नाम रहता है वह चाण्डाल भी श्रेष्ठ है; क्योंकि जो आपके नाम का कीर्तन करते हैं, उन श्रेष्ठ पुरुषों ने तप, यज्ञ, तीर्थ स्नान, वेदाध्ययन आदि सब कुछ कर लिया। "पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्त्वा वा विवशोऽब्रुवन्। हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात् ॥" (१२।१२।४६); अर्थात् कोई भी गिरते, पड़ते, छींकते और दुःख से आर्त होते समय विवश होकर यदि ऊँचे स्वर से 'हरये नमः' पुकारता है तो वह सब पापों से छूट जाता है।

ग्रंथकार ने इस छंद में अपने दैन्य (प्रपत्ति) घाट के अन्तर्गत कर्मकांड के फल की प्राप्ति दिखाई है। पतितों का पावन होना शुभ-कर्म का फल है। तीनों घाटों के वक्ताओं का आवाहन इन्होंने ही किया है, अतएव यहाँ कर्म-घाटवाले याज्ञवल्क्यजी का मत प्रपत्ति के अन्तर्गत दिखाया। आगे छन्द में अविद्या निवृत्ति से ज्ञान का फल और फिर तीसरे छन्द 'सुंदर सुजान···' में स्वरूप का वर्णन एवं महत्व होने से उपासना का सर्वस्व प्राप्त होना दिखायेंगे, क्योंकि शरणागति में काण्डत्रय (कर्म, ज्ञान, उपासना) की व्यवस्था अनायास स्वयं हो जाती है; यथा—"भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः। प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ॥ इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः। भवन्ति वै भागवतस्य राजंस्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात् ॥" (भाग० ११।२।४२–४३), अर्थात् जैसे भोजन करते हुए प्रत्येक ग्रास पर क्रमशः तुष्टि, पुष्टि और क्षुधा-निवृत्ति साथ ही होती जाती हैं, वैसे ही शरणागति करते हुए भक्ति, परेशानुभव (ज्ञान) और विधिवत्कर्मानुष्ठान का फल वैराग्य स्वतः होता जाता है।

रघुबंस-भूषन-चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं।
कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम राम-धाम सिधावहीं।
सतपंच चौपाई मनोहर जानि जो नर उर धरे।
दारुन अबिद्या पंचजनित बिकार श्रीरघुबर हरे ॥२॥

अर्थ—जो मनुष्य रघुवंश-भूषण का यह चरित कहते हैं, सुनते हैं या गाते हैं, वे कलिमल और मन के मल को धोकर बिना परिश्रम ही श्रीराम-धाम को (अर्चिरादि मार्ग से) जाते हैं ॥ जो मनुष्य सत्संग की चौपाई को मनोहर जानकर हृदय में धारण करते हैं, किया है एवं करेंगे। उनके दारुण—पंचपर्वा-अविद्या-जनित विकारों को रघुवर श्रीरामजी हरण करते हैं, किया है एवं करेंगे ॥

विशेष—इस छंद में श्रीशिवजी के ज्ञानघाट का तात्पर्य आना दिखाते हैं, पहले चरित के द्वारा हृदय की शुद्धि कहते हैं, साथ ही श्रीराम धाम की प्राप्ति भी अभी ही छंद के पूर्वार्द्ध में कह देते हैं, हृदय-शुद्धि के पीछे अविद्या निवृत्ति होने पर परधाम की प्राप्ति होती है; यथा—"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥" (ईशा०); अर्थात् अविद्या वाच्य कर्म से पाप शुद्ध कर विद्यावाच्य ज्ञानोपासना से मुक्ति होती है। अविद्या-निवृत्ति आगे उत्तरार्द्ध मे कहेंगे, यही ज्ञानोपासना का कार्य है। फिर वहाँ धाम प्राप्ति न कहकर इसी पूर्वार्द्ध के 'राम-धाम सिधावहीं' से तात्पर्य जनावेंगे। कलिमल और मनोमल छूटना निष्काम शुभकर्म का फल है, वह चरित से कहा गया, क्योंकि—"धर्ममार्गं चरित्रेण" (राम० ता० उ०); पूर्व भी कहा है—"राम-कथा गिरिजा मैं बरनी। कलिमल-समनि मनोमल हरनी ॥" (दो० १२८)।

पुन: सम्पूर्ण चरित के पठन-पाठन से जब कोई इस ग्रंथ का तात्पर्य समझकर उसे हृदय मे धारण करेगा, तब उसका अविद्या-जनित विकार सदा के लिये नहीं रह जायगा, यही आगे 'सतपंच चौपाई...' से कहते हैं—

'सतपंच चौपाई मनोहर'

इस 'सतपंच चौपाई' के अर्थ लोगों ने बहुत प्रकार से किये हैं, कोई सात-पाँच से अल्पार्थ लेते हैं, पर उस अर्थ में 'जानि' व्यर्थ हो जाता है और यदि अमुक अमुक हैं—ऐसा कहा जाय, तो शेष चौपाइयों का अपमान होता है। तथा १२, ३५, ५७, १०५, ५०० के चुनने से भी शेष का अनादर होता है। अतः, वैसा अर्थ करना अयोग्य है, क्योंकि—"कहेउँ राम बन गवन सुहावा ॥"; "रावनारि जस पावन" आदि सब प्रसंगों की चौपाइयाँ मनोहर हैं। और जो ५१०० ग्रंथ सख्या का अर्थ लेते हैं, वह संख्या भी गणना में ठीक नहीं होती, क्योंकि १६,१६ मात्राओं के चार चरणों की चौपाइयाँ होती हैं, इस रीति से गणना करने पर कम ही होती हैं। अतः, जो अर्थ प्रसंग के अनुकूल हो और उसमे शब्दार्थ भी ठीक-ठीक घटित हो, वही करना चाहिये।

ऊपर 'रघुवंस-भूषन चरित यह...'—इस छंद के पूर्वार्द्ध मे सम्पूर्ण चरित का फल समष्टि मे कह दिया गया। यहाँ इस 'सतपंच चौपाई' से ग्रंथ के आवान्तर की एक खास बात कहते हैं; वह है—ग्रन्थ का मुख्य तात्पर्य—जिसके जानने की बड़ी आवश्यकता है, इसी से 'जानि' कहा गया है।

ग्रन्थ के तात्पर्य निर्णय करने में मीमांसक आचार्य अत्यन्त निपुण होते हैं। इस विषय में उनका प्राचीन एव सर्वमान्य श्लोक है; यथा—"उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥' अर्थात् उपक्रम-उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति, ये छः तात्पर्य-निर्णय के साधन हैं।

उपक्रम-उपसंहार

उपक्रम—ग्रंथकर्त्ता जिस उद्देश्य से ग्रंथ लिखता है, उसे आरंभ करते हुए प्रकट करता है और उस उद्देश्य की पूर्त्ति पर ग्रंथ को समाप्त करता है, जैसे गीता में भगवान् ने अर्जुन का शोच निवारण करने के लिये—"अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्..." (गीता २।११); से उपदेश का उपक्रम किया और उस शोच की निवृत्ति प्रकट करते हुए उसका उपसंहार किया है; यथा—"अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः।" (१८।६६); अर्थात् अर्जुन के शोच को लेकर ग्रन्थारंभ हुआ और उसी की निवृत्ति पर समाप्त हुआ।

इसी तरह इस श्रीरामचरितमानस का प्रारम्भ (उपक्रम)—"जनक-सुता-जग जननि जानकी।···" (बा॰ दो॰ १७) से हुआ है, क्योंकि इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य श्रीसीतारामजी हैं, ये दोनों अभिन्न हैं, इनकी चर्चा यहीं से है। अतः, उपक्रम की चौपाई इससे पूर्व रक्खी गई है; यथा—"सुक सनकादि भगत मुनि नारद। जे मुनिवर बिज्ञान बिसारद॥ प्रनवउँ सबहि धरनि धरि सीसा। करहु कृपा जन जानि मुनीसा॥" इसके पूर्व वंदना ही है।

यह चौपाई वन्दना-क्रम से भिन्न रक्खी गई है, क्योंकि पूर्व व्यास आदि मुनि एवं वाल्मीकिजी की वंदना हो गई, वहीं इसे भी रखना चाहता था। सब वंदना के पीछे—"बंदउँ प्रथम भरत के चरना।" से प्रारम्भ करके श्रीलक्ष्मणजी, श्रीशत्रुघ्नजी, श्रीहनुमान्‌जी, श्रीसुग्रीवजी, श्रीजाम्बवान्‌जी, श्रीविभीषणजी और श्रीअंगदादि तक नित्य पार्षदों की वंदना हुई। साथ ही—"रघुपति चरन उपासक जेते। खग मृग सुर नर असुर समेते॥ बंदउँ पद सरोज तिन्ह केरे। जे बिनु काम राम के चेरे॥" से जो मुक्त होकर दिव्य रूप से 'बिनु काम' अर्थात् निष्काम भाव से नित्य पार्षदों के साथ कैंकर्यनिष्ठ हैं उनकी भी वंदना की, नहीं तो खग-मृग आदि के प्राकृत रूपों में 'पद सरोज' पद असंगत है। यहीं पर वंदना पूरी हुई। अब इन सबके सेव्य श्रीसीतारामजी की वंदना की आवश्यकता हो सकती थी, पर बीच में "सुक सनकादि···" का वरण किया गया है। इसमें 'भगत' शब्द दीपदेहली है; अर्थात् हे सुक-सनकादि भक्तो और हे भक्त नारद मुनि एवं और जो मुनिश्रेष्ठ विज्ञान में विशारद (निपुण) हैं, मैं आप सबसे पृथिवी शिर धरकर प्रणाम एवं प्रार्थना करता हूँ कि मुझे अपना जन जानकर मुझपर कृपा करो; अर्थात् इस अपने जन के यहाँ आओ और आकर इस ग्रन्थ में बिराजो।

प्रयोजन यह है कि यह ग्रन्थ निवृत्ति-परक है। अतः, प्रवृत्ति की ओर से माया विरोध करेगी, तब पंचायत होगी ही। इसलिये अपने पक्ष (मुमुक्षु जीव पक्ष) के दो सत्पंच, शुक-सनकादि का वरण किया, क्योंकि ये लोग प्रतिपक्षी के मेली नहीं हैं। जैसे कि श्रीशुकदेवजी जन्म ही से घर से निकल चले, मायिक सृष्टि के जात-कर्म आदि संस्कारों को भी ग्रहण नहीं किया। सनकादि भी शिशु-अवस्था में ही नित्य-स्थिति माँगकर रहते हैं कि जिससे मायिक विकारों के मूल एवं प्रवृत्ति-जनक काम का संसर्ग ही न हो, काम; यथा—"प्रजनश्चास्मि कंदर्पः।" (गीता १०।२८); इस काम की प्रवृत्ति शरीर में पाँच वर्ष की (शिशु) अवस्था के पीछे होती है। तब भी ये लोग भजन-द्वारा सावधान रहते हैं; यथा—"सुक सनकादि मुक्त बिचरत तेउ भजन करत अजहूँ।" (वि॰ ८६); और तीसरे सत्पंच श्रीनारदजी हैं, इन्हें मध्यस्थ (सरपंच) रूप में वरण किया है, क्योंकि इन्हें 'मुनि' विशेषण अधिक भी दिया गया है, ये उभय पक्ष के मान्य भी हैं, क्योंकि रावण-कंस आदि के यहाँ भी इनका सत्कार होता था और इधर के तो देवर्षि ही हैं। उभय पक्ष के ज्ञाता भी हैं; यथा—"अस कहि चले देवरिषि करत राम गुन गान। हरि माया बल बरनत, पुनि पुनि परम सुजान॥" (उ॰ दो॰ ५१) तथा व्यास-वाल्मीकि के भी गुरु हैं।

यहाँ अपने पक्ष के पंचों और सरपंच को भी 'भगत' विशेषण देकर अपना तात्पर्य जनाया कि मैं भक्ति-परक ही विषय लिखूँगा। पुनः विज्ञान-विशारद मुनियों को सदस्य रूप में बैठाया कि जिससे मेरा भक्तिमत विज्ञान युक्त ही हो। अतः, आप लोग विज्ञान परक अनुमति देते रहें। ऐसे ही शुक आदि तीनों से भक्ति-परक सहायता चाहते हैं कि जिससे पचायत में मेरी हार नहीं हो। इस तरह उपक्रम में मुख्य तात्पर्य भक्तिमत की सिद्धि का है, इतना प्रबंध करके ग्रन्थारम्भ किया।

उपसंहार—उत्तरकांड दो॰ १२१ की चौ॰—"बिमल ज्ञान जल जब सो नहाई। तब रह राम-भगति उर छाई॥" पर श्रीगरुड़जी के सातों प्रश्नों के उत्तर पूरे हो गये। अन्त में भक्ति का ही सिद्धान्त किया

गया। आगे फिर कोई विषय नहीं है। बस, यहीं पर पंचायत ठन पड़ी; यथा—"सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म बिचार बिसारद ॥ सब कर मत खगनायक येहा। करिय राम पद पंकज नेहा ॥" यही सत्पचों की चौपाई है। इसमें सोलह-सोलह मात्राओं के चारो चरण हैं, यही उपसंहार की चौपाई है। उपक्रम की चौपाई की पहली अर्द्धाली 'सुक सनकादि···' मे जो-जो शब्द थे, प्राय: वेही यहाँ भी आये हैं, केवल प्रथम 'सिव अज' ये दो नाम अधिक हैं। जैसे मानस के प्रत्येक प्रसंग में उपक्रम-उपसंहार के शब्दों का मेल सर्वत्र है, वैसे ही यहाँ भी है। यहाँ पाँच पंचों के नाम आये हैं, इनमें तीन उपक्रमोक्त ही हैं। दो (शिव-अज) के नाम प्रथम दिये गये हैं, क्योंकि ये माया की ओर से प्रवृत्ति पक्ष के सत्पंच हैं, माया मुद्दई (वादी) है, उसी की ओर से चैलेंज (ललकार) है। श्रीब्रह्माजी बुद्धि के देवता हैं और जीवों के कर्मानुसार सृष्टि के विस्तारकर्त्ता हैं। श्रीशिवजी अहंकार के देवता हैं और कालानुसार संहार-कर्त्ता हैं। दिन-रात एवं प्रलय-रूप काल के नियंता सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि इनके (आश्रित) नेत्र-रूप हैं। बुद्धि की कार्यावस्था त्रिधा अहंकार है, उसी से सृष्टि का विस्तार होता है। काल से गुणवैषम्य होता है; यथा—"कालाद्गुणव्यतिकर:" (भाग० २।५।२२); और प्रारब्ध कर्म से स्वभाव निष्पन्न होता है। अत:, काल, कर्म, गुण, स्वभाव के नियंता ब्रह्मा-शिव ही हैं। यही चारो प्रवृत्ति के अङ्ग हैं; यथा—"फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल करम सुभाव गुन घेरा ॥" (उ० दो० ४३); और प्रवृत्ति के विकार-रूप हिरण्यकशिपु और रावण आदि के वर देनेवाले भी ये ही दोनों हैं। पर ये सत्-पक्ष के भी पूर्ण ज्ञाता है। अत:, ये ही दो उस पक्ष के सत्-पंच हैं।

माया के प्रवृत्ति पक्ष में पिता-वर्ग हैं और निवृत्ति परक जीव के पक्ष मे पुत्र-वर्ग हैं। जैसे कि सनकादि के पिता श्रीब्रह्माजी हैं और शुकदेवजी के पिता श्रीव्यासजी हैं और साथ ही ये श्रीशिवजी के अंश भी हैं; यथा—"यन्नामवैभवं श्रुत्वा शंकराच्छुकजन्मना। साक्षादीश्वरतां प्राप्त: पूजितोऽहं मुनीश्वरै: ॥" (शुकदेव-संहिता); "व्यासपुत्र: शिवांशश्च शुकश्च ज्ञानिनां वर: ॥" (ब्रह्मवैवर्त्त पुराण अ० १०), इनकी कथा इस प्रकार है कि एक समय श्रीशिवजी श्रीपार्वतीजी को अमरकथा श्रीराम-नाम का अर्थ परत्व सुनाते थे। यद्यपि श्रीशिवजी ने करताली बजाकर पक्षियों को उड़ा दिया था, पर संयोग से एक अंडा जो कि बयंडा (सूखा हुआ अंडा) हो गया था, कहीं समीप ही था। वह सुनते ही सचेत हो गया। कथा सुनते हुए किसी समय श्रीपार्वतीजी को निद्रा आ गई, तो वही तोता हूँ-हूँ करने लगा। यह जानते ही छल से तत्त्व लेना जानकर श्रीशिवजी ने उसपर त्रिशूल छोड़ा। वह उड़ता हुआ व्यास पत्नी के मुख मे प्रवेश कर गया। वही तोता शुकदेव रूप में प्रकट हुआ। वे ही श्रीशुकदेवजी जन्म ही से परम विरक्त हुए। कर्म-वश जीवों का जन्म होता है और प्रवृत्ति बढ़ती है। वह कर्म माया के पक्ष में है। अत:, उधर पिता पक्ष है। दिगंबर और ज्ञानी श्रीशिवजी के प्रति वैसे ही दिगंबर और ज्ञानी शुकदेवजी वाद करते हैं। श्रीब्रह्माजी के चारों मुखों के प्रति उनके चारों पुत्र (सनक, सनातन, सनंदन और सनत्कुमार) हैं। श्रीनारदजी ध्यान दिये हुए विचारते जाते हैं और सदस्य रूप विज्ञान-विशारद मुनि लोग भी सुन रहे हैं।

प्रवृत्ति पक्ष—माया का व्यापार श्रीरामजी का खेल है; यथा—"जग पेखन तुम्ह देखनि हारे। विधि हरि संभु नचावनि हारे ॥" (अ० दो० १२६); "जो माया सब जगहि नचावा।···सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा ॥ सो दासी रघुवीर कै" (दो० ७१), एवं—"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ॥" (गीता ७।१४); और यह अनादि काल से है; यथा—"विधि प्रपंच अस अचल अनादी।" (अ० दो० २८१)। अत:, यह भी किसी भाँति संतुष्ट रक्खी जाय।

निवृत्ति पक्ष—सच्चिदानन्द स्वरूप जीव ईश्वर का अंश है और यह अविनाशी है; यथा—"ईश्वर अंस

इसी तरह इस श्रीरामचरितमानस का प्रारम्भ (उपक्रम)—"जनक-सुता-जग जननि जानकी।···" (बा॰ दो॰ १७) से हुआ है, क्योंकि इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य श्रीसीतारामजी हैं, ये दोनों अभिन्न हैं, इनकी चर्चा यहीं से है। अतः, उपक्रम की चौपाई इससे पूर्व रक्खी गई है; यथा—"सुक सनकादि भगत मुनि नारद। जे मुनिवर बिज्ञान बिसारद॥ प्रनवउँ सबहि धरनि धरि सीसा। करहु कृपा जन जानि मुनीसा॥" इसके पूर्व वंदना ही है।

यह चौपाई वन्दना-क्रम से भिन्न रक्खी गई है, क्योंकि पूर्व व्यास आदि मुनि एवं वाल्मीकिजी की वंदना हो गई, वहीं इसे भी रखना चाहता था। सब वंदना के पीछे—"बंदउँ प्रथम भरत के चरना।" से प्रारम्भ करके श्रीलक्ष्मणजी, श्रीशत्रुघ्नजी, श्रीहनुमान्‌जी, श्रीसुग्रीवजी, श्रीजाम्बवान्‌जी, श्री-विभीषणजी और श्रीअंगदादि तक नित्य पार्षदों की वंदना हुई। साथ ही—"रघुपति चरन उपासक जेते। खग मृग सुर नर असुर समेते॥ बंदउँ पद सरोज तिन्ह केरे। जे बिनु काम राम के चेरे॥" से जो मुक्त होकर दिव्य रूप से 'बिनु काम' अर्थात् निष्काम भाव से नित्य पार्षदों के साथ कैंकर्यनिष्ठ हैं उनकी भी वंदना की, नहीं तो खग-मृग आदि के प्राकृत रूपों में 'पद सरोज' पद असंगत है। यहीं पर वंदना पूरी हुई। अब इन सबके सेव्य श्रीसीतारामजी की वंदना की आवश्यकता हो सकती थी, पर बीच में "सुक सनकादि···" का वरण किया गया है। इसमें 'भगत' शब्द दीपदेहली है; अर्थात् हे सुक-सनकादि भक्तो! और हे भक्त नारद मुनि एवं और जो मुनिश्रेष्ठ विज्ञान में विशारद (निपुण) हैं, मैं आप सबको पृथिवी शिर धरकर प्रणाम एवं प्रार्थना करता हूँ कि मुझे अपना जन जानकर मुझपर कृपा करो; अर्थात् इस अपने जन के यहाँ आओ और आकर इस ग्रन्थ में विराजो।

प्रयोजन यह है कि यह ग्रन्थ निवृत्ति-परक है। अत', प्रवृत्ति की ओर से माया विरोध करेगी, तब पंचायत होगी ही। इसलिये अपने पक्ष (मुमुक्षु जीव पक्ष) के दो सत्पंच, शुक-सनकादि का वरण किया, क्योंकि ये लोग प्रतिपक्षी के मेली नहीं हैं। जैसे कि श्रीशुकदेवजी जन्म ही से घर से निकल चले, मायिक सृष्टि के जात-कर्म आदि संस्कारों को भी ग्रहन नहीं किया। सनकादि भी शिशु-अवस्था में ही नित्य-स्थिति माँगकर रहते हैं कि जिससे मायिक विकारों के मूल एवं प्रवृत्ति-जनक काम का संसर्ग ही न हो, काम; यथा—"प्रजनश्चास्मि कंदर्प·।" (गीता १०।२८); इस काम की प्रवृत्ति शरीर में पाँच वर्ष की (शिशु) अवस्था के पीछे होती है। तब भी ये लोग भजन-द्वारा सावधान रहते हैं; यथा—"सुक सनकादि मुक्त बिचरत तेउ भजन करत अजहूँ।" (वि॰ ८६), और तीसरे सत्पंच श्रीनारदजी हैं, इन्हें मध्यस्थ (सर-पंच) रूप में वरण किया है, क्योंकि इन्हें 'मुनि' विशेषण अधिक भी दिया गया है, ये उभय पक्ष के मान्य भी हैं, क्योंकि रावण-कंस आदि के यहाँ भी इनका सत्कार होता था और इधर के तो देवर्षि ही हैं। उभय पक्ष के ज्ञाता भी हैं; यथा—"अस कहि चले देवरिषि करत राम गुन गान। हरि माया बल बरनत, पुनि पुनि परम सुजान॥" (ब॰ दो॰ ५१) तथा व्यास-वाल्मीकि के भी गुरु हैं।

यहाँ अपने पक्ष के पंचों और सरपंच को भी 'भगत' विशेषण देकर अपना तात्पर्य जनाया कि मैं भक्ति-परक ही विषय लिखूँगा। पुन. विज्ञान-विशारद मुनियों को सदस्य रूप में बैठाया कि जिससे मेरा भक्तिमत विज्ञान युक्त ही हो। अतः, आप लोग विज्ञान परक अनुमति देते रहें। ऐसे ही शुक आदि तीनों से भक्ति-परक सहायता चाहते हैं कि जिससे पचायत में मेरी हार नहीं हो। इस तरह उपक्रम में मुख्य तात्पर्य भक्तिमत की सिद्धि का है, इतना प्रबंध करके ग्रन्थारम्भ किया।

उपसंहार—उत्तरकांड दो० १२१ की चौ०—"बिमल ज्ञान जल जब सो नहाई। तब रह राम-भगति उर छाई॥" पर श्रीगरुडजी के सातो प्रश्नों के उत्तर पूरे हो गये। अन्त में भक्ति का ही सिद्धान्त किया

गया। आगे फिर कोई विषय नहीं है। बस, यहीं पर पंचायत ठन पड़ी; यथा—"सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म बिचार बिसारद॥ सब कर मत खगनायक येहा। करिय राम पद पंकज नेहा॥" यही सतपंचों की चौपाई है। इसमें सोलह-सोलह मात्राओं के चारो चरण हैं, यही उपसंहार की चौपाई है। उपक्रम की चौपाई की पहली अर्द्धाली 'सुक सनकादि···' में जो-जो शब्द थे, प्रायः वेही यहाँ भी आये हैं, केवल प्रथम 'सिव अज' ये दो नाम अधिक हैं। जैसे मानस के प्रत्येक प्रसंग में उपक्रम-उपसंहार के शब्दों का मेल सर्वत्र है, वैसे ही यहाँ भी है। यहाँ पाँच पंचों के नाम आये हैं, इनमें तीन उपक्रमोक्त ही हैं। दो (शिव-अज) के नाम प्रथम दिये गये हैं, क्योंकि ये माया की ओर से प्रवृत्ति पक्ष के सत्पंच हैं, माया मुद्दई (वादी) है, उसी की ओर से चैलेंज (ललकार) है। श्रीब्रह्माजी बुद्धि के देवता हैं और जीवों के कर्मानुसार सृष्टि के विस्तारकर्त्ता हैं। श्रीशिवजी अहंकार के देवता हैं और कालानुसार संहार-कर्त्ता हैं। दिन-रात एवं प्रलय-रूप काल के नियंता सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि इनके (आश्रित) नेत्र-रूप हैं। बुद्धि की कार्यावस्था त्रिधा अहंकार है, उसी से सृष्टि का विस्तार होता है। काल से गुणवैषम्य होता है; यथा—"कालाद्गुणव्यतिकरः" (भाग० २।५।२२); और प्रारब्ध कर्म से स्वभाव निष्पन्न होता है। अतः, काल, कर्म, गुण, स्वभाव के नियंता ब्रह्मा-शिव ही हैं। यही चारो प्रवृत्ति के अङ्ग हैं; यथा—"फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल करम सुभाव गुन घेरा॥" (उ० दो० ४३); और प्रवृत्ति के विकार-रूप हिरण्यकशिपु और रावण आदि के वर देनेवाले भी ये ही दोनों हैं। पर ये सत-पक्ष के भी पूर्ण ज्ञाता है। अतः, ये ही दो उस पक्ष के सत्-पंच हैं।

माया के प्रवृत्ति पक्ष में पिता-वर्ग हैं और निवृत्ति परक जीव के पक्ष मे पुत्र-वर्ग हैं। जैसे कि सनकादि के पिता श्रीब्रह्माजी हैं और शुकदेवजी के पिता श्रीव्यासजी हैं और साथ ही ये श्रीशिवजी के अंश भी हैं; यथा—"यन्नामवैभवं श्रुत्वा शंकराच्छुकजन्मना। साक्षादीश्वरतां प्राप्तः पूजितोऽहं मुनीश्वरैः॥" (शुकदेव-संहिता); "व्यासपुत्रः शिवांशश्च शुकश्च ज्ञानिनां वरः॥" (ब्रह्मवैवर्त्त पुराण अ० १०), इनकी कथा इस प्रकार है कि एक समय श्रीशिवजी श्रीपार्वतीजी को अमरकथा श्रीराम-नाम का अर्थ परत्व सुनाते थे। यद्यपि श्रीशिवजी ने करताली बजाकर पक्षियों को उड़ा दिया था, पर संयोग से एक अंडा जो कि बयंडा (सूखा हुआ अंडा) हो गया था, कहीं समीप ही था। वह सुनते ही सचेत हो गया। कथा सुनते हुए किसी समय श्रीपार्वतीजी को निद्रा आ गई, तो वही तोता हूँ-हूँ करने लगा। यह जानते ही छल से तत्त्व लेना जानकर श्रीशिवजी ने उसपर त्रिशूल छोड़ा। वह उड़ता हुआ व्यास-पत्नी के मुख मे प्रवेश कर गया। वही तोता शुकदेव रूप में प्रकट हुआ। वे ही श्रीशुकदेवजी जन्म ही से परम विरक्त हुए। कर्म-वश जीवों का जन्म होता है और प्रवृत्ति बढ़ती है। वह कर्म माया के पक्ष में है। अतः, उधर पिता पक्ष है। दिगंबर और ज्ञानी श्रीशिवजी के प्रति वैसे ही दिगंबर और ज्ञानी शुकदेवजी वाद करते हैं। श्रीब्रह्माजी के चारों मुखों के प्रति उनके चारों पुत्र (सनक, सनातन, सनंदन और सनत्कुमार) हैं। श्रीनारदजी ध्यान दिये हुए विचारते जाते हैं और सदस्य रूप विज्ञान-विशारद मुनि लोग भी सुन रहे हैं।

प्रवृत्ति पक्ष—माया का व्यापार श्रीरामजी का खेल है; यथा—"जग पेखन तुम्ह देखनि हारे। बिधि हरि संभु नचावनि हारे॥" (अ० दो० १२६); "जो माया सब जगहि नचावा।···सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥ सो दासी रघुबीर कै" (दो० ७१); एवं—"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया॥" (गीता ७।१४); और यह अनादि काल से है; यथा—"विधि प्रपंच अस अचल अनादी।" (अ० दो० २८१)। अतः, यह भी किसी भाँति संतुष्ट रक्खी जाय।

निवृत्ति पक्ष—सच्चिदानन्द स्वरूप जीव ईश्वर का अंश है और वह अविनाशी है; यथा—"ईश्वर अंस

जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥ सो माया बस भयो गोसाँई। बँध्यो कीर मर्कट की नाईं॥ जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई।" (दो॰ ११६); अंश का अर्थ भाग, हिस्सा है, जो जिसका भाग होता है, वह उसके लिये होता है—यह मुहावरा है कि 'हमारा भाग तुमने कैसे ले लिया ?' इसी तरह जीव ईश्वर के लिये है; अर्थात् यह उसी का दास है। यह निज स्थिति से पृथक् होकर मायावश नाना दुःख पाता है; यथा—"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। मनः-षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि- कर्षति॥" (गीता १५।७); इसका दुःख छूटना परम आवश्यक है।

इस तरह उभय पक्ष के वाद का बीज रूप कहा गया, वाद बहुत विस्तार से हुआ, तब श्रीनारदजी ने विचारा कि गोस्वामीजी के तात्पर्य से दोनों पक्षों का अविरोध है; यथा—"तब रह राम भगति उर छाई।" यह इनका अंतिम सिद्धान्त-वाक्य है। इसी से दोनों पक्षवाले निर्विकार रहते हैं; यथा—"सिव-बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥" (ल॰ दो॰ २१); "ब्रह्माशंभुफणीन्द्रसेव्यमनिशं" (सुं॰ मं॰); यथा—"सुक सनकादि मुक्त बिचरत तेउ भजन करत अजहूँ॥" (वि॰ ८६); "जीवन्मुक्त ब्रह्म पर, चरित सुनहिं तजि ध्यान।" (दो॰ ४२); फिर वाद क्यों ? इसके अंतर्भाव को मैं समझा दूँ तो अवश्य ही उभय पक्ष सन्तुष्ट हो जायँगे। ऐसा विचार कर आपने निर्णय किया—"करिय राम पद-पंकज नेहा।" इसका भाव समझकर उभय पक्ष संतुष्ट हो गये और सदस्यों ने भी एक स्वर से अनुमोदन किया। अतः, यही "सब कर मत" हुआ।

'करिय राम-पद-पंकज नेहा।' के भाव—यहाँ 'पद' शब्द में सर्वाङ्ग का भाव है, क्योंकि—"पद पंकज सेवत सुद्ध हिये॥"; "पद पंकज प्रेम न जे करते।" (उ॰ दो॰ १३); आदि से सर्वाङ्ग सेवा समझी जाती है। पद का अर्थ स्वरूप, लोक और चरण का जहाँ तहाँ पाया जाता है। अथवा चरण शरीर का मूल आधार है, तो मूल के कथन से सर्वाङ्ग आ गये।

पंकज (पंक=कीचड़, ज=जायमान) अर्थात् कमल कीचड़ से जायमान है, पर वह उससे निर्लिप्त रहता है। वैसे जीव भी कर्म-कीच में चित्त द्वारा सना हुआ है; यथा—"कर्म कीच चित सान्यो।" (वि॰ ८८); वह इन 'पद पंकज' के स्नेह से कर्म कीच से निर्लिप्त रहेगा, कर्म-कीच; यथा—"विषय बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।" (वि॰ १०२), इससे निर्लिप्त हो जायगा; यथा—"जे बिरंचि निरलेप उपाये। पदुम पत्र जिमि जग जल जाये॥" (अ॰ दो॰ ११६)।

श्रीरामजी के सब अंगों में पाँच अंग कमल के समान कहे जाते हैं; यथा—"श्रीरामचन्द्र कृपालु भजु मन हरन भव भय दारुनं। नव कंज लोचन, कंज मुख, कर कंज, पद कंजारुनम्।'' नव नील नीरज सुन्दरम्।" (वि॰ ४५); इस पद में मन के लिये पाँच अंग कमल के आधार कहे गये हैं। कमल का स्नेही भ्रमर षट्पद कहाता है। वैसे ही मन भी षट्पद एवं विषय-रस-लोलुप कहाता है; यथा—"मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।'''श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च। अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥" (गीता १५।७–९), भ्रमर को कमल में ही रस, रूप (शोभा), गंध, कोमलता और पराग-रूप से पाँचो विषय मिल जाते हैं, इसी से वह इसे नहीं छोड़ता। यहाँ तक कि संध्या समय कमल के सम्पुटित होने के साथ वह स्वयं भी उसमें बंद हो जाता है और काष्ठ-छेदन में निपुण होता हुआ भी भ्रमर स्नेह के कारण कमलपत्रों को नहीं काटता। ऐसे ही जीव भी मन-रूपी भ्रमर के द्वारा श्रीरामजी के कमल रूप पाँच अंगों में स्नेह करके पाँचो विषय प्राप्त करता हुआ भी, संसार से पृथक् (निर्लिप्त) होगा और उनमें ही स्नेह से बँध जायगा, उन्हें फिर कभी नहीं छोड़ेगा; यथा—"रामचरन पंकज प्रिय जिन्हहीं। विषय भोग

बस करइ कि तिन्हहीं ॥" (अ० दो० ६१); "राम-चरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू ॥" (बा० दो० १६)। आगे पाँचो अंगों में पाँचो गुण दिखाते हैं—

रस—श्रीरामजी के नेत्र कमल में कृपा-गुण रस है; यथा "सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आये जल राजिवनयना ॥" (सुं० दो० ३१); "कृपा-दृष्टि रघुवीर बिलोकी। किये सकल नर नारि बिसोकी।" (दो० ५); इसी कृपा-गुण से अवतार होता है; यथा—"भये प्रगट कृपाला।" (बा० दो० १९१); "कृपासिंधु मानुष तनु धारी।" (सुं० दो० ३८); अवतार लेकर चरित करते हैं, उसके गान में रसना तृप्त होगी।

कोमलता—मुख-कमल में वचनों के द्वारा कोमलता-गुण है; यथा—"कहि बातें मृदु मधुर सुहाई।" "कहि मृदु मधुर मनोहर वचना।" (बा० दो० २२४); इनके सुनने में कानों को सुख मिलेगा; यथा—"सुख पाइहैं कान सुने बतियाँ कल आपुस में कछु पै कहिहैं।" (क० अ० २१)। "भाई सों कहत बात कौसिकहि सकुचात बोल घनघोर से बोलत थोर-थोर हैं।" (गी० बा० ७१)। इस तरह ठौर-ठौर के भाषण सुनने में श्रवण तृप्त होंगे।

गंध—कर-कमल में सुगंध-गुण है, इसके दान से पानेवालों की फिर वासना नहीं रह जाती; यथा—"जोइ याँच्यो सोइ याचकता बस फिरि बहु द्वार न नाच्यो।" (वि० १६२); तथा—"कनक कुधर केदार " (क० उ० ११५); में उत्कृष्ट रीति से दातृत्व वर्णित है। यहाँ नासिका की तृप्ति होगी, परमार्थ-पक्ष में संसार-वासना ही गंध-विषय मे प्रधान रूप में ली जाती है, इतर आदि गौण हैं। पुनः श्रीरामजी के शरीर मे सौगंध-गुण भी है, उसकी भावना से भी नासिका-तृप्ति होती है।

पराग- पद-कमल में पराग-गुण है जिससे स्पर्श-विषय के भारी पाप से अहल्या शुद्ध हुई; यथा—"परसि जासु पद पंकज धूरी। तरी अहल्या कृत अघ भूरी ॥" (बा० दो० २१); इस माहात्म्य के साथ स्मरण से करोड़ों जन्मों के त्वचा के दोष रूप स्पर्श विषय-विकार शुद्ध होंगे, यहाँ त्वचा की तृप्ति हुई।

शोभा—यहाँ तक के चार अंग अनुरागवर्द्धक लाल रंग कमल के समान हैं। सर्वाङ्ग शरीर नील कमल के समान श्याम-शोभा-गुण-युक्त है; यथा—"सोभा सींव सुभग दोउ बीरा। नील पीत जलजाभ सरीरा।" (बा० दो० १२१), "स्याम शरीर सुभाय सुहावन।" (बा० दो० ३१६), श्रीरामजी श्याम रूप होने से शृंगारमय हैं, क्योंकि शृंगार-रस श्याम ही कहा जाता है; यथा—"जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप ॥" (बा० दो० २८१); इस शोभा मे लोचन कृतार्थ होंगे; यथा—"निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करउँ उरगारी ॥" (दो० ७४)।

इस प्रकार मन अपने पाँचो विषयों के रूप में श्रीरामजी में ही रमण कर कृतार्थ होगा। अतः, इन्द्रियग्राम के साथ माया प्रसन्न हो गई, क्योंकि इसमें उसे—"जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुक पावहीं।" (कि० दो० १४); की विपत्ति अब न होगी। जीव-पक्ष भी प्रसन्न हो गया। क्योंकि वह इस पचांग कमल के ध्यान से भवसागर की विपत्ति से मुक्त हो जायगा; यथा—"भुज प्रलंब कंजारुन लोचन। स्यामल गात प्रनत भव-मोचन ॥" (सुं० दो० ४४), "पाथोद गात सरोज मुख राजीव आयत लोचनं। नित नौमि राम कृपालु बाहु बिसाल भव-भय मोचनम् ॥" (आ० दो० ३१)।

निदान, ग्रन्थकार ने अपना भक्ति सिद्धान्त सत्पंचों एवं सदर्थों के द्वारा भी निश्चित पाकर आगे नव असंभव दृष्टान्तों से इसे ही पुष्ट किया है; यथा—"श्रुति पुरान सद्ग्रन्थ कहाहीं। रघुपति भगति बिना

सुख नाहीं ॥ कमठ पीठ जामहिं बरु बारा ।" से "बारि मथे घृत होइ बरु, सिकता ते बरु तेल । बिनु हरि-भजन न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल ॥" (उ० दो० १२२) तक ; इसमें नव दृष्टान्तों से 'अपेल सिद्धान्त' कहा गया है । नव गिनती की सीमा है । अतः, ऐसे असंख्य दृष्टान्तों का भाव सूचित किया गया है ।

बस, इसके आगे मानस के चारों घाटों का विसर्जन प्रारंभ हो गया । अतः, उपक्रम और उपसंहार से इस रामचरितमानस ग्रन्थ का तात्पर्य—"करिय राम-पद-पंकज-नेहा ।" जाना गया । शेष अभ्यास आदि पाँचों से भी दिखाते हैं—

अभ्यास—ग्रन्थ-भर में भक्ति ही का सर्वोपरि महत्त्व बार-बार वर्णित है ; यथा—"राम-भगति जहँ सुरसरि धारा ।" (बा० दो० ९) ; "सम जम नियम फूल फल ज्ञाना । हरि-पद रति-रस बेद बखाना ।" (बा० दो० ३११) ; "जुग बिच भगति देव धुनि धारा । सोहति सहित सुबिरति बिचारा ॥" (बा० दो० ३१), "कहहिं भगति भगवंत कै, संयुत ज्ञान बिराग ॥" (बा० दो० ४४), "सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू ॥" (अ० दो० २७६) ; "रामहि केवल प्रेम पियारा ।" (अ० दो० १३६) ; "सबते सो दुर्लभ सुरराया । राम भगति-रत गत मद माया ॥" (दो० ५३) ; "श्रुति सिद्धान्त इहइ उरगारी । राम भजिय सब काम बिसारी ॥" (दो० १२२) इत्यादि ।

अपूर्वता—जिसके समान फल प्राप्ति प्रकारान्तर से न हो सके ; यथा—"सुनु खगेस हरि-भगति बिहाई । जो सुख चाहहिं आन उपाई ॥ ते सठ महासिंधु बिनु तरनी । पैरि पार चाहहिं जड़ करनी ॥" (दो० ११४) ; एवं "सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि ।" (दो० ११९) ।

फल—अनेक प्रकार से जिसे फल-रूप में कहा गया हो ; यथा—"जहँ लगि साधन बेद बखानी । सब कर फल हरि-भगति भवानी ॥" (दो० १२५) । "जप-तप-नियम जोग निज धरमा ।" से "तव पद-पंकज प्रीति निरंतर । सब साधन कर फल यह सुंदर ॥" (दो० ४८) तक; "बेद पुरान संत मत येहू । सकल सुकृत फल राम सनेहू ॥" (बा० दो० २६) ; "सब कर फल हरि भगति सुहाई ।" (दो० ११९) ; "सब कर फल रघुपति-पद-प्रेमा ।" (दो० ९४) ; इत्यादि बार-बार सब साधनों का फल हरि भक्ति ही कही गई है ।

अर्थवाद प्रशंसा-वचन, कवि अपने अभीष्ट मत की जहाँ-तहाँ प्रशंसा भी करता है और दृष्टान्तों एवं इतिहासों से भी उसे ही पुष्ट करता है । भक्ति की महत्ता इतनी अधिक है कि बढ़ाकर कहने के लिये उपयुक्त शब्द ही नहीं मिलेंगे । इस ग्रन्थ में प्रायः सब इतिहासों से भक्ति की पुष्टि की गई है । इसी तरह एक लोमश-भुशुंडि का शास्त्रार्थ भी है । जिसमें ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की महिमा अत्यन्त अधिक कही गई है । तथा—"सब सुख-खानि भगति तैं माँगी ।" (दो० ८४) ; इत्यादि ।

उपपत्ति—विपक्ष-मत का खंडन करके स्वसिद्धान्त का मंडन करना उपपत्ति है । भक्ति सेवक-सेव्य भाव में होती है । रूक्ष ज्ञान में 'अहं ब्रह्मास्मि' 'सोऽहमस्मि' आदि के अनुसंधान से ब्रह्म के समान होने की चेष्टा की जाती है । अतः, वह भक्ति का विपक्षी है । भक्ति की उपपत्ति ग्रन्थकार ने प्रधानतया लोमश-भुशुंडि संवाद से की है । इसमें अनेक युक्तियों से सगुण-भक्ति का मंडन और निर्गुन-मतरूप रूक्षज्ञान का खंडन किया गया है ; यथा—"निरगुन मत नहिं मोहि सुहाई । सगुन ब्रह्म-रति उर अधिकाई ॥ तब मैं निर्गुन मत करि दूरी । सगुन निरूपउँ करि हठ भूरी ॥ बारंबार सकोप मुनि, करइ निरूपन ज्ञान । मैं अपने मन बैठि तब, करउँ बिबिध अनुमान ॥" से "येहि बिधि अमित जुगुति मन गुनेउँ ।···पुनि-पुनि

सगुन पच्छ मैं रोपा।" (दो० १११); "सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥ ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका।···भगति सुतंत्र सकल सुखखानी॥" (दो० ४४); इत्यादि।

इस प्रकार उपर्युक्त छहों लिंगों से इस (श्रीरामचरितमानस) ग्रन्थ का मुख्य तात्पर्य—'करिय राम-पद-पंकज-नेहा।' यह सिद्ध हुआ, जिसे सत्पंचों ने निर्णय किया है।

मूल के शब्दों पर विचार—

'सतपंच चौपाई'—पंच तीन प्रकार के होते हैं—असत्पंच, पंच और सत्पंच। असत्पंच वे हैं जो झूठ कहकर भी प्रतिपक्षी का नाश करते हैं। पंच वे हैं जो स्वपक्ष लिये हुए सत्य कहें। सत्पंच वे हैं जो यथार्थ निर्णय करें! ऐसा ही यथार्थ निर्णय उक्त सत्पंचों ने किया है। उन सबकी चौपाई का सिद्धान्त-वाक्य—'करिय राम-पद-पंकज-नेहा।' मनोहर है। क्योंकि इसके अर्थ में पाँचों प्राकृत-विषयों से मन का हरा जाना कहा गया, पाँचों विषय ही भक्तिरूप हो गये। 'जानि'—उपक्रमादि लिंगों से वही चौपाई जानी भी गई। 'उर धरे'—उर में धारण करना, प्रेम-करना ही उसका भाव है। 'दारुन अविद्या पंच '— तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अंधतामिस्र, ये उत्तरोत्तर प्रशस्त विकाररूप अविद्या के पाँच पर्व अर्थात् गाँठें हैं। तम अर्थात् स्वरूप विस्मृति; मोह अर्थात् देह में अहं बुद्धि, महामोह अर्थात् विषयभोग से वासना-तृप्ति की इच्छा; तामिस्र अर्थात् भोगेच्छा के प्रतिघात पर क्रोध; अंधतामिस्र अर्थात् भोग-साधनरूप शरीर के अंत पर मरण अपना समझना; इसी अंतिम वृत्ति के अनुसार जीव का भवसागर में पड़ना, इस पंच-पर्वा अविद्या का विकार है। प्रमाण—"तमोऽविवेको मोहस्य ह्यन्तःकरणविभ्रमः। महामोहस्य विज्ञेयो ग्रामभेदसुखेच्छया:॥ मरणंह्यंधतामिस्रं तामिस्रं क्रोध उच्यते। अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूतामहात्मनः॥" (कठ० टीका); तथा—"ससर्जाग्रेऽन्धतामिस्रमथ तामिस्रमादिकृत्। महामोहञ्च मोहञ्च तमश्चाज्ञानवृत्तयः॥" (भाग० ३।१२।२)। यहाँ उक्त तात्पर्यरूपा भक्ति के द्वारा पञ्चपर्वा अविद्या के विकाररूप भव-भय की निवृत्ति दिखाई गई।

पुनः यथा—"एक दुष्ट अतिशय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥" (आ० दो० १४); यह दारुण अविद्या अपने पंच विषयरूपी विकारों से भव में डालती है; यथा—"पाँचें पाँच परस रस सब्द गंध अरु रूप। इन्हकर कहा न कीजिये बहुरि परब भवकूप।" (वै० २०२); इन पाँचों विषयों का विकार हरण एवं उनका भक्तिरूप होकर भव-निवर्तक होना उक्त भक्ति से कहा गया। 'श्रीरघुबर हरे'— रघुवर श्रीरामजी ने अपने पञ्च-अंग कमलों की 'श्री' अर्थात् शोभा एवं उनके गुणों से पाँचो विकारों को हरण किया—यह भी लिखा गया।

अतएव यही सिद्धान्तभूत अर्थ है, क्योंकि प्रसंगानुसार है, और इसमें शब्दों की पूर्णतया सार्थकता है।

सुंदर सुजान कृपानिधान अनाथ पर कर प्रीति जो।
सो एक राम अकाम हित निर्बान-प्रद सम आन को।
जाकी कृपा लवलेस ते मतिमंद तुलसीदासहूँ।
पायो परम बिश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥३॥

अर्थ—सौन्दर्य निधान, सुजान और कृपासागर, जो अनाथों पर प्रीति करते हैं—ऐसे एक श्रीरामजी ही हैं, इनके समान, बिना किसी कामना के हित करनेवाला तथा निर्वाण (मुक्ति) देनेवाला दूसरा कौन है ? अर्थात कोई नहीं है ॥ जिनकी लव-लेशमात्र कृपा से मंद बुद्धि मुफ तुलसीदास ने भी परम विश्राम पाया, उन श्रीरामजी के समान प्रभु कहीं भी नहीं है ॥

विशेष—(१) इस छंद में श्रीभुशुंडिजी के उपासना-घाट का तात्पर्य आता दिखाया गया है। 'सम आन को' यह अंत में होने से सुन्दर आदि सब विशेषणों के साथ है। आप सभी गुणों में अद्वितीय हैं। सुन्दरों में अद्वितीय हैं, मनु-शतरूपा, विश्वामित्रजी, जनकजी, परशुरामजी, दंडक वन के ऋषि-गण एवं विरोधी वर्ग खर-दूषणादि के प्रसंग में आपके सौंदर्य का वर्णन देखिये। व्याह की शोभा में त्रिदेवपर्यन्त मोहित हो गये। सुजानों में अद्वितीय हैं, यथा—"नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ ॥" (अ० दो० २ ३); "जान सिरोमनि कोसलराऊ।" (बा० दो० १७); तथा, भक्तों के हृदय की गति को जानते हैं ; यथा—"सब के उर अंतर बसहु, जानहु भाव-कुभाव।" (अ० दो० १५७), कृपानिधानता में अद्वितीय हैं, 'कृपू-सामर्थ्ये' धातु से कृपा शब्द निष्पन्न होता है, तदनुसार कृपा का अर्थ है कि जब प्रभु अपने सामर्थ्य के अधीन जीवों की प्रवृत्ति का अनुमान करते हैं कि मेरी ही असावधानता से ये जीव दुखी हो रहे हैं, मैं सँभालता तो इनकी दुर्दशा क्यों होती ? तब इनके दोष उनकी दृष्टि में नहीं रह जाते और इनपर दया आती है, फिर इनके उद्धार का संयोग करते हैं, यह तो सामान्य जीवों की बात है, पर जो विरोधी-वर्ग है, उसपर भी आप कृपा करते हैं ; यथा—"खल मनुजाद द्विजामिष भोगी। पावहिं गति जो जाँचत जोगी।·· " "अस कृपालु को कहहु भवानी ॥" (लं० दो० ४४); 'अनाथ पर कर प्रीति जो'—बालि के भय से श्रीसुग्रीवजी की रक्षा कहीं भी नहीं हो सकी, उन्होंने सब भुवनों में दौड़कर देख लिया। अंत में श्रीरामजी की ही शरण ली, तब रक्षा पाई। श्रीरामजी स्वार्थ पर दृष्टि करते तो बालि से ही प्रीति करते। उसने कहा ही है कि आप मुझसे कहते तो मैं बिना श्रम रावण को बाँध कर आपके यहाँ ला देता। वाल्मीकीय रामायण में प्रसिद्ध है, पर आप तो अनाथ के हित हैं, इससे बालि की गालियाँ भी सहीं, पर अनाथ की ही रक्षा की।

सच्चा अनाथ होना चाहिये, जो सर्वात्मना औरों की आशा-भरोसा छोड़कर अनन्योपायता-वृत्ति से एक-मात्र प्रभु श्रीरामजी की ही शरण होता है, वही अनाथ है ; यथा—"एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जा के गति न आन की।" (आ० दो० ६)।

(२) 'अकामहित' अर्थात् निर्हेतु उपकार करनेवाले ; यथा—"अस प्रभु दीनबंधु हरि, कारन रहित कृपाल।" (बा० दो० २११); यह अहल्योद्धार पर कहा गया है। तथा—"ते तुम्ह राम अकामपियारे।" (आ० दो० ५) देखिये। पुनः यथा—"इहै जानि चरननि्ह चित लायो। नाहिन नाथ अकारन को हित तुम्ह समान पुरान श्रुति गायो ॥" (वि० २१३)। श्रीप्रह्लादजी ने भी कहा है—"अहंत्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रय.।" (भाग० ७।१०।६); अर्थात्, आप सेवकों से कोई स्वार्थ नहीं चाहते। 'निर्वानप्रद'—निर्वाण से यहाँ सभी प्रकार की मुक्तियों का तात्पर्य है, कैवल्यमात्र नहीं। श्रीरामजी नाम, रूप, लीला, धाम, इन चारों के द्वारा मुक्ति देने में अद्वितीय हैं। जैसे कि खर दूषण आदि शत्रुओं को भी निर्वाणपद दिया ; यथा—"राम राम कहि तन तजहिं, पावहिं पद निर्वान।" (आ० दो० २०)। काशी में पाँच कोश के भीतर जन्तु-मात्र को भी मुक्ति मिलती है, यह राम नाम ही की शक्ति है। चरित के विषय में कहा ही है—"रामचरन रति जो चहै, अथवा पद निर्बान। भाव सहित सो यह कथा, करउ श्रवन पुट पान ॥" (दो० १२८); धाम ; यथा—"अवध तजे तनु नहि संसारा।" (बा० दो०

१४)। रूप से भी असुरों तक को निर्वाण पद दिया और अंत में अवध के प्राणी मात्र को मुक्त किया। कहा भी है—"राम सरिस को दीन हितकारी। कीन्हें मुकुत निसाचर झारी॥" (लं० दो० ११२)। जो भक्त एवं प्रपन्न मुक्त हुए उनका तो कहना ही क्या?

उपास्य के योग्य सब लक्षणों में आप अद्वितीय हैं। पहले तो अपने सौंदर्य से सहज ही में उपासक के चित्त को आकर्षित कर लेते हैं; यथा—"रूपौदार्यगुणैः पुंसां दृष्टिचित्तापहारिणम्।" (वाल्मी० २।३।२९)। पुनः सुजानता से उसके हृदय के भावों को जानकर उसकी रुचि को पूरी करने के लिये कृपानिधान हैं। जो सब प्रकार गया-बीता है, जिसका कहीं भी ठिकाना नहीं; ऐसे अनाथों से भी आप प्रीति करते हैं, यह अद्वितीय सौलभ्यगुण है; यथा—"सब बिधि हीन दीन अति जड़ मति जा कहँ कतहुँ न ठाउँ। आये सरन भजौं न तजौं तेहि यह जानत रिषिराउ॥" (गी० सुं० ४५); पुनः आप भक्तों से कुछ कामना भी नहीं रखते कि जिसमें उसकी असावधानी से उसमें त्रुटि पड़ने पर उसका त्याग कर दें। 'एक राम'—भक्तों को रमाने में भी आप अद्वितीय हैं; यथा—"राम नाम भुविख्यातमभिरामेण वा पुनः।" (रामतापनीय उ०), इन्हीं गुणों को विचारते हुए तो दंडकवन के ऋषियों ने कहा है—"परा त्वत्तो गतिर्वीर पृथिव्यां नोपपद्यते। परिपालय न. सर्वान्राक्षसेभ्यो नृपात्मज॥" (वाल्मी० ३।६।२०); तारा ने भी कहा है—"निवासवृक्ष. साधूनामापन्नानां परागतिः। आर्त्तानां संश्रयश्चैव यशसश्चैक भाजनम्॥" (वाल्मी० ४।१५।१९-२०); ब्रह्माजी ने कहा है—"त्वं हि लोकगतिर्देव" (वाल्मी० ७।११०।१०)। तथा—"भजिवे लायक सुखदायक रघुनायक सरिस सरनप्रद दूजो नाहिन।" (वि० २०७)—देखिये।

उत्तरार्द्ध छंद में उक्त गुणों से लाभ उठाने का प्रत्यक्ष प्रमाण अपना ही देते हैं—

(३) 'जाकी कृपा लवलेस···'—कृपा लवलेश कौन-सी है? इसपर दो बार की कृपा के प्रमाण मिलते हैं—एक बार श्रीचित्रकूट में दर्शन देना और दूसरी बार विनयपत्रिका पर सही करना; यथा—"तुलसी तोको कृपालु जो कियो कोसलपाल चित्रकूट को चरित चेतु चित करि सो॥" (वि० २६४)। इस प्रसंग की कथा गोस्वामीजी के चरित में प्रसिद्ध है और लोक-प्रसिद्ध भी है कि श्रीहनुमान्जी की कृपा से चित्रकूट रामघाट पर इन्हें श्रीरामजी के दर्शन हुए। उस समय ये चन्दन घिसते थे और श्रीरामजी तिलक करते थे। तब शुक रूप से श्रीहनुमान्जी ने इन्हें यह दोहा पढ़कर सावधान किया है; यथा—"चित्रकूट के घाट पै, भै संतन की भीर। तुलसिदास चंदन घिसैं, तिलक देत रघुवीर॥" उस समय आप प्रभु की छवि में देह-दशा भूल गये, रात में आकर श्रीहनुमान्जी ने फिर सावधान किया है। पुनः काशी असीघाट पर कलि ने एक रात इन्हें धमकाया कि यदि तुम अपनी पोथी जल में न डुबा दोगे, तो मैं तुम्हारी दुर्दशा करूँगा। उस समय भी इन्होंने श्रीहनुमान्जी से प्रार्थना की। श्रीमारुतिजी ने विनयावलि लिखने की अनुमति दी। तब आपने विनयपत्रिका लिखी, उसे स्वीकृत कर, कृपा करके श्रीरामजी ने उसपर सही कर दी; यथा—"मारुति मनरुचि भरत की लखि लखन कही है।···सकल सभा सुनि लै उठी जानी रीति रही है।···परी रघुनाथ हाथ सही है।" (वि० २७९)।

यहाँ 'अभय' कर देने ही 'परम विश्राम' पाना कहा गया है; यथा—"अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥" (वाल्मी० ६।१८।३३)।

(४) 'राम समान प्रभु नाहीं कहूँ।'—उपर्युक्त रीति से उपास्य लक्षण-सम्पन्न स्वामी श्रीरामजी के समान और कहीं भी कोई नहीं है, इसपर वि० २१५-२१८ पदों को पढ़िये। उपक्रम में कहा था—"वंदेऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीश हरिम्।" (बा० मं० श्लो० ६); वैसे यहाँ उपसंहार में भी कहा है—

"रामै समान प्रभु नाहीं कहूँ।" पुनः उपक्रम—"स्वान्तः सुखाय" (बा० मं० श्लो० ७); का भी उपसंहार यहाँ 'पायो परम विश्राम' कहा गया है।

यहाँ तक तीन छन्दों में क्रमशः कर्म, ज्ञान और उपासना के फल की प्राप्ति नाम, चरित और रूप के द्वारा कहकर आगे एक दोहे में शरणागति करने का स्वरूप और दूसरे में उसकी वास्तविक स्थिति माँगना कहेंगे।

दोहा—मो सम दीन न दीन-हित, तुम समान रघुबीर।

अस बिचारि रघुबंस-मनि, हरहु बिषम भव-भीर॥

अर्थ—हे रघुवीर! मेरे समान कोई दीन नहीं है और न आपके समान कोई दीनों का हित करने-वाला ही है। ऐसा विचारकर, हे रघुवंशमणि! आप मेरे भव-भय (संसार के आवागमन) का हरण करें।

विशेष—'मो सम दीन न'—यह मुमुक्षु की योग्यता है; यथा—"तुम सम दीनबंधु न दीन कोउ मो सम सुनहु नृपति रघुराई।···यह जिय जानि दास तुलसी कहँ राखहु सरन समुझि प्रभुताई॥" (वि० २४२), यह पूरा पद पढ़ने योग्य है। 'रघुबीर' पद से पाँचों प्रकार की वीरता से युक्त एवं रक्षा करने में परम समर्थ सूचित किया गया है। 'रघुबंसमनि'—का भाव यह है कि रघुवंशी सब शरणागतवत्सल एवं उदार होते आये हैं, आप उस कुल में शिरोमणि हैं, अतएव मेरी अवश्य रक्षा करेंगे। 'हरहु बिषम भव-भीर'—यह कहकर 'गोप्तृत्व वरण' शरणागति की है, अपनी रक्षा करने के लिये स्वामी से प्रार्थना की है भगवान् यद्यपि अंतर्यामी हैं, सब जानते हैं, फिर भी प्रपन्न जब उन्हें रक्षा करने के लिये वरण करता है, तब वे उसकी रक्षा करते हैं। 'भव-भीर'-का भाव यह कि मैं इस भय से डरा हुआ आपकी शरण को प्राप्त हुआ हूँ, आप 'अभयं सर्व भूतेभ्यो ददामि' इस अपने व्रत के अनुसार मेरी रक्षा करें। तथा—"जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं॥" (सुं० दो० ४३) यह भी श्रीमुख-वचन है।

रक्षा का विधान कैसे किया जाय? तुम क्या चाहते हो? इसपर कहते हैं—

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।

तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहि राम॥१३०॥

अर्थ—जैसे कामी को स्त्री प्यारी लगती है और जैसे लोभी को दाम (द्रव्य) प्रिय लगता है वैसे ही हे श्रीरघुनाथजी! हे श्रीरामजी! आप मुझे निरन्तर प्रिय लगें॥१३०॥

विशेष—(१) ऊपर 'भव-भीर' से रक्षा के लिये प्रार्थना की। वह भव (संसार का आवा-गमन भगवान् की प्राप्ति से ही छूटता है; यथा—"मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।" (गीता ८।१६); और भगवान् की प्राप्ति उनके निरंतर स्मरण-रूपा भक्ति से होती है; यथा—"यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः॥ तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर च। मय्यर्पित मनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्।" (गीता ८।६-७), निरन्तर स्मरण बिना गाढ़ प्रेम के नहीं होता, इसलिये वैसे प्रेम की याचना करते हैं—

प्रेम के लिये दो उदाहरण देते हैं—कामी और लोभी का। कामी को स्त्री कैसी प्रिय लगती है,

यह यथार्थ वही अनुभव कर सकता है, जो उस फंदे में कभी पड़ा हो। श्रीगोस्वामीजी ने स्वयं इस प्रेम का भली भाँति अनुभव किया है जो इनके जीवन-चरित से स्पष्ट है। तथा—"जप तप कछु न होइ तेहि काला। हे विधि! मिलइ कवन बिधि बाला॥" (बा० दो० १३०)—यह नारद मोह प्रसंग में कहा गया है। तथा—"ज्यों सुभाय प्रिय लगति नागरी नागर नवीन को। त्यों मेरे मन लालसा करिये करुनाकर पावन प्रेम पीन को॥" (वि० २३३), अर्थात् नवीन नागर (कामी) जब किसी नवयौवना नागरी (स्त्री) पर आसक्त हो जाता है तब वह स्त्री उसके हृदय में और आँखों में स्वाभाविक ही बसी रहती है। उसके ध्यान करने के लिये उसे आसन लगाकर बैठने की आवश्यकता नहीं रहती। उठते-बैठते, सोते-जागते उसका मन वहीं पर रहता है। यदि किसी कारण से वियोग हो भी जाता है, तो भी वह मन से उसके साथ ही रहता है। प्रिया के सम्बन्ध की कोई भी वस्तु उसके प्रेमोद्गार का हेतु होती है। वह उसके दर्शनों के लिये सदा लालायित रहता है। वियोग की जैसी दशा होती है, उसका दिग्दर्शन प्रभु ने स्वयं भी कराया है, यथा—"कामिन्ह कै दीनता दिखाई।" (अ० दो० ३८), वह उस नायिका के प्रेमवश भाई-बंधु तक को छोड़ देता है, सर्वस्व एवं प्राण भी निछावर कर देता है। शरीर के सब सुख-दुःख भूल जाता है। वह उसे सुन्दरता एवं गुणों से पूर्ण ही देखता है। उसके सताने पर परीक्षा लेना मानता है और उसकी कृपा पर परम अनुग्रह मानता है। उसके द्वारा अपमान में भी अपना सम्मान समझता है। यहाँ तक कि जो कोई उसके नाम गुण आदि सुनाता है, उसे वह भी प्रिय हो जाता है इत्यादि लोक में कामी की प्रीति देखी जाती है।

(२) 'कामिहि नारि पियारि जिमि'—कहकर श्रीगोस्वामीजी प्रभु के विषय में वैसी ही प्रीति की दशा चाहते हैं कि मेरी स्वाभाविक प्रीति श्रीरामजी में सदा एकरस बनी रहे। प्रभु के ही नाम, रूप, लीला और धाम में मैं सदा लगा रहूँ। प्रभु के सम्बन्धी संत प्यारे लगें, उनके प्रेम में प्राकृत कुटुंब आदि की ममता छूट जाय। प्रभु का वियोग असह्य हो, इत्यादि।

पुनः दूसरा उदाहरण लोभी के धन प्रियत्व का देते हैं, यथा—"सुनु सठ सदा रंक के धन ज्यों छिन-छिन प्रभुहि सँभारहि।" (वि० ८५), अर्थात् लोभी धन के लिये सदा रंक बना रहता है। बार-बार गिनता है कि कितना बढ़ा, या किसी ने कुछ ले तो नहीं लिया। शरीर पर आघात सहना मंजूर रहता है, पर धन की रक्षा होनी चाहिये। बीमारी में ओषधि के निमित्त भी खर्च करना कठिन होता है। यहाँ तक कि इसी वृत्ति से मरने पर वह सर्प होकर उस धन की रक्षा के लिये भी उसपर आकर बैठता है।

इसी तरह श्रीगोस्वामीजी चाहते हैं कि मैं क्षण क्षण पर आपही का स्मरण करता रहूँ। किसी भी अवस्था में आपसे मेरा चित्त न हटे। मरने पर भी आपको न भूलूँ। जन्मान्तर में भी आपकी भक्ति करता रहूँ, यथा—"पायों नाम चारु चिन्तामनि उर करतें न खसैहौं। स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहि कसैहौं॥" (वि० १०६)।

धन के संग्रह में दुःख, उसकी रक्षा में दुःख और उसकी हानि में भी दुःख ही होता है। तो भी लोभी उसे नहीं छोड़ते। इसी तरह प्रेम के लिये चाहे जितने कष्ट भोगने पड़ें, तो भी वह न छूटे। लोगों के निन्दा करने पर भी चित्त न हटे।

प्रश्न—एक ही उदाहरण में सब भाव आ सकते थे, दो क्यों दिये गये?

उत्तर—(क) कवि की इच्छा पर यह बात निर्भर है। वह एक विषय पर कभी एक ही और कभी दो, चार, छः उदाहरण दे देता है। इसी विषय पर विनय २६६ में नीर मीन, जीव का सुख, जीवन,

संसार को सूर्य कहा है और उसके व्यष्टि रूप नानात्व को किरण। जगत् दस दिशामय कहा जाता है, नानात्व में उसकी दस दिशाओं को भी मानसकार ने दिखाया है, यथा—"जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥ सबकै ममता ताग बटोरी। ०" (सु० दो० ४०), इसमें जननी आदि दश गिनाये गये हैं। इन्हें स्वतंत्र रूप से उपकारी मानकर जो जीव इनमें ममता-रूप तागों में बंधा हुआ है, वह जब इन सबको श्रीरामजी के शरीर-रूप में जानेगा, तब इन सबके द्वारा हुए उपकार श्रीरामजी के निश्चित होने पर, इन सब (व्यष्टि जगत्) से ममता हटाकर श्रीरामजी में ही दृढ प्रीति करेगा, क्योंकि इन्हीं ने सब रूपों से पालन-पोषण आदि उपकार किये हैं, इस ज्ञान पर वह ममता यहाँ एकत्र होगी, यही डोरी का बटना है। फिर किसी भले बुरे कार्य के सम्बन्ध का कोई भी मित्र शत्रु न रह जायगा, समदर्शित्व अनायास रहेगा। तबराग द्वेष आदि अग्निमय दोषों की ज्वाला से वह नहीं जलेगा।

वही चराचरात्मक जगत् अज्ञान दृष्टि से श्रीरामजी से पृथक् देखने पर सूर्य की तरह ममता-रूपी तीक्ष्ण किरणों द्वारा त्रिविध तापों से जलानेवाला होता है, यथा—"सुर मुनि मनुज दनुज अहि किंनर मैं तनु धरि सिर काहि न नायो। जरत फिरत त्रय ताप पाप बस काहु न हरि करि कृपा जुड़ायो॥ (वि० १४२), "जोरे नये नाते नेह फोकट फीके। देह के दाहक गाहक जी के॥" (वि० १७६)।

(२) 'भक्त्यावगाहन्ति ये', यथा—"कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं॥" (बा० दो० ४०), इस प्रकार के स्नान से उपर्युक्त संसार सूर्य की घोर किरणों से नहीं जलेगा, यथा—"मन करि बिषय अनल बन जरई। होइ सुखी जो येहि सर परई॥" (बा० दो० ३४)। विषय सम्बन्ध से राग-द्वेष होते हैं, वे दाहक होते हैं, मानस के मनन करने से उनसे शान्ति मिलेगी। उपर्युक्त ज्ञान (श्रीरामजी को जगत् का शरीरी जानना) प्राप्ति होने से शीतलता-रूपा शान्ति मिलेगी।

(३) 'मानवा' पद में अंतिम वर्ण 'व' है, यही 'व' इस ग्रन्थ के आदि 'वर्णानां' में भी है। 'व' तंत्र शास्त्र से अमृतबीज है। अत, इस ग्रन्थ में अमृतबीज का सम्पुट है। इसे पढने-सुननेवाले अमर पद रूपी नित्य धाम पावेंगे। उन्हें मृत्यु-संसार-सागर का स्पर्श नहीं होगा।

(४) यहाँ 'अविरल हरि भक्ति' ही सप्तम सोपान की फलित अवस्था है, यही 'कामिहि नारि ' का भी भाव है। इसके सातो सोपानों की उत्तरोत्तर अवस्था और उनके भाव बा० दो० ३६ चौ० १ में देखिये। सातो काडों की फलश्रुतियाँ क्रमश शुभकर्म एव सुख, प्रेम वैराग्य, विमल वैराग्य, विशुद्ध संतोष, ज्ञान, विज्ञान और अविरल हरिभक्ति कही गई। ये ही मुमुक्षु की उत्तरोत्तर श्रेष्ठ अवस्थाएँ हैं, इसी पर कहा है, यथा—"येहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति-भगति केर पथाना॥" (दो० १२८)।

दोहा—संबत खँडे ग्रहे अंक ससि, आसिन पूरनमासि।
सनिबासर पूरन भयो, तिलक सुजन सुखरासि॥

इति शुभम्

श्रीसीतारामार्पणमस्तु